नरेन्द्र कोहली

महासमर

बन्धन

एक

बन्धन

महासमर-1

नरेन्द्र कोहली

वाणी प्रकाशन

बृहस्पतिदेव पाठक
कृष्णमोहन श्रीमाली
तथा
अवधनारायण मुद्गल
के लिए

वाणी प्रकाशन
4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली *110 002*
शाखा
अशोक राजपथ, पटना *800 004*
फ़ोन: +91 11 23273167 फ़ैक्स: +91 11 23275710
www.vaniprakashan.in
vaniprakashan@gmail.com
BANDHAN: MAHASAMAR-1
by Narendra Kohli
ISBN: 978-93-5072-891-8
Novel/A Story of Mahabharat
© लेखकाधीन
प्रथम संस्करण (श्री नरेन्द्र कोहली जी का 75वाँ जन्मदिन) 2015
इस पुस्तक के किसी भी अंश को किसी भी माध्यम में प्रयोग करने के लिए प्रकाशक से लिखित अनुमति लेना अनिवार्य है।
वाणी प्रकाशन का लोगो मक़बूल फ़िदा हुसेन की कूची से

आने वाली पीढ़ी के नाम...

हमारे समय के कालजयी लेखक

नरेन्द्र कोहली हिन्दी के ही नहीं अपितु तमाम भारतीय भाषाओं के उन विरले लेखकों में से एक हैं जिन्हें 'सम्पूर्ण साहित्यकार' की संज्ञा दी जा सकती है। साहित्य की लगभग सभी गद्य विधाओं–उपन्यास, कहानी, व्यंग्य, नाटक, निबन्ध, आत्मकथा तथा आलोचना इत्यादि में विपुल सृजन करने वाले नरेन्द्र कोहली अकेले ऐसे रचनाकार हैं जिनके प्रशंसकों तथा पाठकों की संख्या का सही-सही अन्दाज तथा अनुमान लगाना कठिन है।

'अभ्युदय', 'महासमर', 'सैरन्ध्री', 'हिडिम्बा', 'कुन्ती' तथा 'न भूतो न भविष्यति' जैसे आधुनिक क्लासिक या कहें कि कालजयी कृति की रचना करने वाले इस विलक्षण रचनाकार की संवेदना-परिधि में सम्पूर्ण भारतीय समाज, तमाम विविधताओं तथा जटिलताओं के साथ गम्भीर साँस लेता प्रतीत होता है। भारतीय संस्कृति के प्रत्येक पक्ष को सही परिप्रेक्ष्य में उजागर करने वाले इस साहित्यकार ने रामायण तथा महाभारत कथा को युग सापेक्ष तथा शाश्वत मानवीय अस्मिता के साथ विश्लेषित किया है। उनकी दृष्टि सम्पन्नता तथा बौद्धिक प्रखरता के आलोक में जीवन और जगत् के सभी रहस्य पाठकों के सामने एक नये संसार की तरह से प्रस्तुत हुए हैं।

कालजयी रचनाकार की सबसे बड़ी विशेषता यही होती है कि वह अपने साहित्य में एक समानान्तर संसार की रचना करते हुए जातीय स्मृतियों का एक अनमोल खजाना आनेवाली पीढ़ियों तथा अपने समकालीन समाज के लिए गढ़ता है।

यह भी कह दें कि दुनिया की महान् से महान् कृति भी समाज को सन्तुष्ट नहीं कर सकती परन्तु श्री कोहली का लेखन सभी वाद-विवादों से परे अपने पाठक वर्ग में उतना ही पूजनीय है जितने महाकवि तुलसीदास का रामचरितमानस तथा महर्षि वेद व्यास का महाभारत।

प्राचीन के लौह तत्त्वों को भी अपनी जादुई कलम के स्पर्श से कंचन में परिवर्तित करनेवाले इस महान् रचनाकार का साहित्य आपको भूत, वर्तमान तथा भविष्य के सभी रहस्य समझने तथा परखने की दृष्टि प्रदान करता है। नरेन्द्र कोहली के साहित्य को नयी साज-सज्जा के साथ पाठकों को सौंपते हुए वाणी प्रकाशन प्रतिष्ठान स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करता है।

–अरुण माहेश्वरी
प्रकाशक

अनुक्रम

1

2

3

4

5

6

7

8

9

10

11

12

13

14

15

16

17

18

19

20

21

22

23

24

25

26

27

28

29

30
31
32
33
34
35
36
37
38
39
40
41
42
43
44
45
46
47
48
49
50
51
52
53
54
55
56
57
58
59
60

61

62

63

64

65

66

67

68

69

70

1

यह असम्भव था।

घटना से पूर्व तो इसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती थी; घटित हो जाने के बाद भी देवव्रत को इसका विश्वास नहीं हो रहा था। ऐसा सम्भव कैसे था?...

'असम्भव! असम्भव' मन-ही-मन देवव्रत ने अनेक बार दुहराया।

पर राजा शान्तनु का रथ जा चुका था–सत्य यही था।

हस्तिनापुर का नगर-द्वार 'वर्द्धमान' नव-वधू के समान सजाया गया था। राज्य के उच्च अधिकारी और असंख्य सामान्य जन, राजा की अगवानी के लिए नगर-द्वार पर उपस्थित थे। और उस सारे समुदाय के शीर्ष पर थे–देवव्रत! देवव्रत अधिकारी नहीं, प्रजा नहीं–पुत्र थे! शान्तनु के एकमात्र पुत्र! और रुकना तो दूर, राजा का रथ तनिक धीमा भी नहीं हुआ। राजा ने चलते हुए रथ में से भी खड़े हो कर अधिकारियों और प्रजा का अभिवादन स्वीकार करने का कष्ट नहीं किया। किसी ने राजा की एक झलक भी नहीं देखी। रथ का कोई गवाक्ष नहीं खुला, कोई यवनिका नहीं हिली।

अहंकार!

प्रजा की इतनी उपेक्षा। यही अहंकार राजवंशों को खा जाता है।...प्रजा और अधिकारियों को भूल भी जायें तो देवव्रत तो पुत्र हैं...राजा शान्तनु उनके पिता हैं...पिता। कैसे पिता हैं शान्तनु?...

देवव्रत की आँखों के सामने अपना शैशव घूम गया। पिता को छोड़ कर माता अलग हो गयी थीं। इस विलगाव के कारण उन दोनों में से किसको कितनी पीड़ा हुई, यह देवव्रत नहीं जानते–पर स्वयं अपनी पीड़ा को वे कभी नहीं भूल पाये। प्रत्येक बालक के माता-पिता दोनों होते हैं–उनके माता-पिता, हो कर भी नहीं थे। देवव्रत ने सदा यही पाया था कि न माँ सहज थीं, न पिता। माँ चाहती थीं कि देवव्रत पिता के पास रहें, ताकि पुरुकुल के योग्य उनका लालन-पालन हो और पिता कुछ इतने उदभ्रान्त थे कि उन्हें ध्यान ही नहीं था कि उनका एक पुत्र भी है। पत्नी से वंचित होने की पीड़ा इतनी प्रबल थी कि उन्होंने कभी सोचा ही नहीं कि अपने एकमात्र पुत्र को वे कितना वंचित कर रहे हैं।...देवव्रत का शैशव, बाल्यावस्था, किशोरावस्था, तरुणाई–वय के ये सारे खण्ड विभिन्न ऋषियों के साथ उनके आश्रमों के कठोर अनुशासन में कट गये। तपस्वी गुरुओं के कठोर अनुशासन से निबद्ध कर्तव्यमिश्रित स्नेह उन्हें बहुत मिला, किन्तु माता-पिता का सर्वक्षमाशील वात्सल्य...

और तभी से देवव्रत के मन में परिवार, समाज और संसार को ले कर अनेक प्रश्न उठते रहे हैं।...परिवार क्या है? पति-पत्नी का परस्पर आकर्षण एक-दूसरे को सम्मान और स्वतन्त्रता देने में है या अपने सुख के लिए अन्य प्राणी को अपनी इच्छाओं का दास बना लेने में? यदि दूसरे पक्ष के सुख के लिए स्वयं को खपा देना परिवार का आधार है तो दूसरे पक्ष की कामना ही क्यों होती है? स्त्री-पुरुष विवाह क्यों करते हैं–अपनी रिक्ति को भरने के लिए या दूसरे पक्ष के अभावों को दूर करने के लिए, या परस्पर एक-दूसरे का सहारा बन, अपनी-अपनी अपूर्णता को पूर्णता में बदलने के लिए?...वात्सल्य क्या है? व्यक्ति, सन्तान अपने सुख के लिए चाहता है? क्या सन्तान वह खिलौना नहीं है, जिसे बालक अपने खेलने के लिए माँगता है? बालक को खिलौने का सुख कभी अभीष्ट नहीं हुआ। माता-पिता सन्तान के लिए स्वयं को नहीं तपाते–वे तपते हैं तो अपने अभावों से तपते हैं। खिलौना टूट जाये तो बच्चा इसलिए नहीं रोता कि खिलौने को टूट कर कष्ट हुआ होगा, वह तो इसलिए रोता है कि उसकी सम्पत्ति नष्ट हो गयी है। जिससे खेल कर उसे सुख मिलता था, वह आधार नष्ट हो गया है।...

देवव्रत के मन में प्रश्नों के हथौड़े चलते ही रहते हैं– सन्तान-सुख,...वात्सल्य सुख...सुख है क्या? अपनी सुविधा को सुख मानते हैं या अपने अहंकार की पुष्टि को या मन की अनुकूलता को?...देवव्रत अपने मन की प्रतिकूलता को बहुत जल्दी अनुकूलता में बदल लेते हैं। किन्तु बात देवव्रत की नहीं है, बात तो राजा शान्तनु की है...

...माता के द्वारा पिता को सौंप दिये जाने के पश्चात से राजा शान्तनु उनकी ओर कुछ उन्मुख हुए थे। देवव्रत को लगने लगा था कि वात्सल्य के कुछ छींटे उन पर भी पड़े थे। गृहस्थी के सुख की कुछ कल्पना उनके मन में भी जागने लगी थी। परिजनों के सम्बन्धों को सामाजिक आवश्यकता और कर्तव्य से हट कर भावात्मक स्तर पर वे भी देखने लगे थे–पर ऐसे ही समय में पिता की ओर से यह उपेक्षा...देवव्रत के हाथ, पिता के चरण-स्पर्श के लिए उठे-के-

उठे ही रह गये। पिता का रथ रुका ही नहीं...

देवव्रत का मन क्षुब्ध हो कर जैसे उन पर धिक्कार बरसाने लगा था। वे किसी से कोई अपेक्षा करते ही क्यों हैं? वे अपने भीतर ही सम्पूर्णता क्यों नहीं खोज लेते? क्या आवश्यकता है उन्हें, किसी के प्यार की? पिता ने प्यार से सिर पर हाथ फेरा तो क्या, और नहीं फेरा तो क्या? ये अपेक्षाएँ ही तो अन्तत: निराशा को जन्म देती हैं और निराशा दुख का कारण बनती है। दुख से बचना है तो अपेक्षाओं से बचना होगा...उनका मन एक बार सदा के लिए क्यों नहीं मान लेता कि जीवन, मात्र एक कठोर कर्तव्य है–जिसका निर्वाह करना ही पड़ता है। यह स्नेह, प्यार, वात्सल्य...ये सब तो समयानुसार ओढ़े गये छल-छदम् मात्र हैं, जो दूसरों को भी धोखा देते हैं और स्वयं अपने लिये भी छलों का प्रासाद खड़ा कर लेते हैं। पिता को अपनी पत्नी प्रिय थी, इसलिए उसके मोह में अपने होठों को सिये बैठे रहे। माँ ने एक के पश्चात एक कर, सात पुत्रों को गंगा में बहा दिया। पिता के मन में वात्सल्य होता, तो माँ का हाथ न पकड़ लेते?...हाँ! देवव्रत की बारी आयी तो उन्होंने माँ का हाथ पकड़ा भी था। पर पत्नी से दूर होने का इतना शोक हुआ उन्हें कि उनका एक पुत्र अभी जीवित भी था...जिस पुत्र की रक्षा के लिए पत्नी की इच्छा के प्रतिकूल चले थे...उसी पुत्र को भूल गये। उन्हें कभी ध्यान भी आया कि देवव्रत कहाँ है?...जीवित भी है या...पत्नी के वियोग में पगलाकर...

देवव्रत का प्रवाह अटका...आज उनका भी तो व्यवहार उन्मत्त का-सा ही था...कहीं पिता अस्वस्थ तो नहीं हैं?...स्थितियाँ बदलते ही सारे निष्कर्ष बदल जाते हैं। यदि राजा सच-मुच अस्वस्थ हैं, तो प्रजा द्वारा अपना स्वागत देखने के लिए या प्रजा का अभिनन्दन स्वीकार करने के लिए वह कैसे रुकते। रोगी के लिए सामाजिक व्यवहार आवश्यक नहीं होता। शिष्टाचार के नियम उसके लिए नहीं होते: औपचारिकता की अपेक्षा उससे नहीं की जाती।...यदि ऐसा न होता, तो देवव्रत को खड़े देख कर भी सारथि वल्गा न खींचता और रथ हाँक कर न ले जाता?...असम्भव!

आत्मलीन देवव्रत अपने रथ तक आये।

"चलो।" उन्होंने सारथि को आदेश दिया, "पिता जी के पास।"

एक क्षण के लिए उनके मन में आया भी कि अधिकारियों और प्रजा से भी कह दें कि राजा अस्वस्थ हैं।...पर बिना किसी प्रमाण के ऐसी बात कैसे कही जा सकती है। यह तो उनका अनुमान मात्र था। पहले उनको पिता का आचरण दम्भपूर्ण लग रहा था, अब एक उन्मत्त या रोगी का-सा।...जाने सच्चाई क्या है।...पिता अस्वस्थ हों, उन्मत्त हों, क्षुब्ध हों...वे सारे सम्बन्धों से उदासीन हो उठते हैं।...पता नहीं, पिता का मन-तुरंग एक दिशा में ही क्यों सरपट भागता है। उसके सुम के नीचे एक हल्की-सी कंकड़ी भी आ जाये तो उसका सारा सन्तुलन बिगड़ जाता है। फिर वह न तो अपनी दिशा में ही अग्रसर हो सकता है और न किसी और दिशा का ध्यान उसे रहता है। पीठ के बल, भूमि पर पड़ा हुआ, चारों टाँगें आकाश की ओर उठाये, झटके खाता और देता रहता है, उसके मुख से यातना के सीत्कार ही फूटते हैं...

जब पिता, माँ के मोह में पड़े थे...पता नहीं, वह प्रेम था या मोह! क्या अन्तर है प्रेम और मोह में?...कभी-कभी देवव्रत को मोह, प्रेम, श्रद्धा, भक्ति... सब अलग-अलग मूर्तिमान होते दिखायी देते हैं और कभी सब गड्ड-मड्ड हो जाते हैं...इस समय तो वे यह भी स्पष्ट नहीं समझ पा रहे कि यह पिता का प्रमाद था या उन्माद... ऐसी अस्पष्ट-सी स्थिति में देवव्रत राज्य के अधिकारियों को क्या कह सकते हैं। वे लोग अपने राजा की अगवानी के लिए आये थे। राजा आ चुके हैं। नगर में प्रवेश कर चुके हैं। सम्भवत: इस समय अपने महल में होंगे। यदि थोड़ी देर रुक कर, उन्होंने प्रजा का अभिवादन स्वीकार कर लिया होता तो प्रजा उनका जय-जयकार कर, उन पर पुष्प-वर्षा कर अपने-अपने घर लौट जाती।...राजा रुके नहीं हैं, तो प्रजा तो जायेगी ही।

देवव्रत को लगा, वे स्वयं भी सहज नहीं हो पा रहे हैं। उनके भीतर के द्वन्द्व और असमंजस, उन्हें कुछ स्पष्ट निर्णय नहीं करने देते और वे निष्क्रिय-से खड़े रह जाते हैं। उनकी निष्क्रियता के भी तो अनेक अर्थ लगाये जा सकते हैं। सम्भव है कि इस समय उनके इस प्रकार चुपचाप चले जाने के विषय में भी पीछे टीका-टिप्पणी हो रही हो। लोग राजा शान्तनु के आचरण के स्थान पर उन्हीं के आचरण की समीक्षा कर रहे हों।

पर अब देवव्रत लौट नहीं सकते थे। उनका रथ काफ़ी आगे बढ़ आया था।

2

पिता के महल का वातावरण प्रवास से लौटे राजा के घर-जैसा नहीं था। उनसे मिलने आये मन्त्रियों, सेनापतियों, अधिकारियों, कुटुम्बियों और सेवकों की भीड़ वहाँ नहीं थी। उल्लास का खुला वातावरण भी नहीं था। मौन का तनाव कुछ अधिक कठोरता से व्याप्त था।

देवव्रत तेज़ डगों से चलते हुए द्वारपाल तक आये, "पिता जी के चरणों में मेरा प्रणाम निवेदित करो।"

चाह कर भी उनके मुख से 'चक्रवर्ती' 'सम्राट' या 'राजा' जैसा शब्द नहीं निकला था। उनका ममत्व अपने पिता के लिए आन्दोलित था, चक्रवर्ती की चिन्ता उन्हें नहीं थी।

"युवराज!" द्वारपाल का स्वर अनुशासनबद्ध न होकर, आत्मीय था, "चक्रवर्ती स्वस्थ नहीं हैं।"

देवव्रत का अनुमान ठीक ही था। वस्तुत: पिता स्वस्थ नहीं थे। द्वारपाल उनका प्रणाम निवेदित करने के लिए भीतर नहीं जा रहा था। सम्भवत: उसे ऐसा ही आदेश दिया गया था। किन्तु, वह उन्हें भीतर जाने से रोक भी नहीं रहा था।

यदि पिता ने किसी के भी प्रवेश का निषेध किया है तो द्वारपाल का कर्तव्य है कि उन्हें भीतर जाने से रोके; और यदि पिता ने ऐसा कोई आदेश नहीं दिया है तो उसे चाहिए कि भीतर जा कर उनका प्रणाम निवेदित करे...पर देवव्रत की तर्क-शृंखला यहीं रुक गयी। उन्हें लगा कि द्वारपाल के मन में भी कुछ स्पष्ट नहीं है। यहाँ सब कुछ अस्पष्ट है। ऐसी अस्पष्टता और द्वन्द्व की स्थिति में बेचारा द्वारपाल भी क्या करेगा–यही न कि न स्वयं भीतर जाने का साहस कर पायेगा और न उन्हें रोकने की धृष्टता...

"राजवैद्य को सूचना दी गयी है क्या?"

"नहीं!"

"क्यों!"

"सम्भवत: चक्रवर्ती का यही आदेश है।"

देवव्रत कुछ सोचते हुए-से खड़े रहे।

"अमात्य कहाँ हैं?" सहसा उन्होंने पूछा।

"वे चक्रवर्ती के साथ यहाँ नहीं आये थे।"

देवव्रत का माथा ठनका: अमात्य क्यों नहीं आये? वे पिता के साथ गये थे। वे अवश्य जानते होंगे कि पिता अस्वस्थ हैं। वे क्यों नहीं आये? और राजवैद्य क्यों नहीं बुलाये गये?...

अनुमान से सब कुछ नहीं जाना जा सकता। पिता से साक्षात्कार करना ही होगा।

देवव्रत ने कक्ष में प्रवेश किया।

पिता थके हुए-से, या असहाय रोगी के समान नहीं लेटे थे। वे अपने पलंग पर औंधे मुँह पड़े थे। पहली दृष्टि में तो देवव्रत को लगा कि शायद पिता रो रहे हैं और स्वयं को सँभालने के प्रयत्न में ही बिस्तर पर औंधे हो गये हैं...देवव्रत के पग पृथ्वी से चिपक-से गये। कितने कष्ट में हैं पिता। हस्तिनापुर के चक्रवर्ती, पुरुराज, वीरवर शान्तनु अपने कक्ष में अकेले पड़े असहाय-से रो रहे हैं...मनुष्य कोई भी क्यों न हो–बलवान, ज्ञानी, चक्रवर्ती...आख़िर मनुष्य है। शरीर और मन के नियमों का दास। संसार के सुख-दुख से मुक्ति नहीं है उसकी।...तो फिर जीवन में वह सुख-दुख मानता ही क्यों है? वह जीवन को कार्य-करण के नियमों के अधीन क्यों नहीं समझता? जब यह सब अवश्यंभावी है तो इतने हाथ-पैर पटकने से क्या लाभ? क्यों लपकता है मनुष्य लोभ और लाभ की ओर? क्या पा जायेगा वह उसमें? चक्रवर्ती शान्तनु स्वयं अपनी इच्छा से सुख पाने के लिए मृगया के लिए गये थे। क्या सुख मिला? पड़े हुए आहत मृग के समान हाथ-पैर पटक रहे हैं...कैसी पीड़ा है पिता को? कहीं आखेट में कोई गहरा घाव तो नहीं खा गये? पर नहीं। पिता शारीरिक घाव खा कर उसकी पीड़ा से रोने वालों में से नहीं हैं। और यदि वैसा होता तो अमात्य साथ आये होते और इस समय यहाँ वैद्यों और शल्य चिकित्सकों का जमघट लगा होता...

सहसा शान्तनु ने करवट बदली और जैसे अपनी किसी भीतरी पीड़ा से विवश हो कर, उन्होंने अपने वक्ष पर दो-तीन घूँसे लगाये, मानो किसी उठते हुए आवेग को दबा रहे हों। उनका गहरा नि:श्वास उनकी पीड़ा का भी प्रतीक था और उत्तेजना का भी। उन्होंने अपने समूचे शरीर को अकड़ाया और सारे संयम और नियन्त्रण के बावजूद अपनी

दोनों टाँगें उठा कर पलंग पर पटक दीं। लगा, वे अभी नियमित रूप से छटपटाते हुए हाथ-पैर पटकने लगेंगे।

तो पिता शारीरिक रूप से अस्वस्थ नहीं थे–देवव्रत ने सोचा–उनका मन उद्विग्न था। पर है तो उद्विग्नता भी रोग ही...

"पिता जी!" देवव्रत ने आगे बढ़, पिता के चरण छुए।

शान्तनु ने न उठ कर पुत्र को गले से लगाया, न कोई आशीष दी। लोकाचार के अभ्यास की बाध्यता थी जैसे, अपनी हथेली देवव्रत के सिर पर रख दी।

देवव्रत ने देखा, पिता के चेहरे पर पीड़ा के तनाव की स्पष्ट रेखाएँ थीं। एक लम्बे प्रवास के बाद पुत्र को देख कर भी उनकी आँखों में वात्सल्य तो क्या एक हल्का-सा औपचारिक हास भी नहीं उतरा था। विचित्र भाव थे पिता की आकृति पर: कभी ताप से दग्ध होते हुए निरीह जीव की पराजय...कभी उग्र मानसिकता की दिग्दाह करने की व्यग्र हिंसा। दोनों में से एक भी भाव कुछ अधिक क्षणों तक टिक नहीं पाता था।...

देवव्रत को लगा, वे पिता से अपनी अवहेलना की शिकायत नहीं कर पायेंगे। इस प्रकार पीड़ा में तड़पता हुआ मनुष्य, दूसरों की भावना का क्या सम्मान कर पायेगा।...फिर देवव्रत ने तो बहुत पहले ही स्वयं को समझा लिया था कि वे अपने पिता से...पिता से क्या, किसी से भी कोमलता और स्नेह की कोई अपेक्षा नहीं करेंगे।

"आप अस्वस्थ हैं पिता जी?"

शान्तनु ने एक क्षण के लिए स्थिर दृष्टि से पुत्र की ओर देखा और फिर जैसे सायास, अस्त-व्यस्त-से उठ खड़े हुए। अपने उत्तरीय को ठीक करने की व्यस्तता में इधर-उधर टहलते हुए, वे उत्तर को टालते रहे। देवव्रत के मन में जिज्ञासा जागी: वे प्रश्न को टाल रहे हैं, या स्वयं देवव्रत को ही टाल रहे हैं...और पिता की आँखों में थोड़ी-थोड़ी देर के लिए उभरने वाला अपने प्रति उपालम्भ का वह हल्का-सा आभास...

पर उपालम्भ का कारण?

"अस्वस्थ नहीं हूँ पुत्र!" शान्तनु अपना मन कुछ स्थिर कर के बोले, "चिन्तित हूँ...चिन्ता से पीड़ित हूँ। चिन्ता की चिता का दाह सह रहा हूँ।"

देवव्रत के मन में आया, कहें, 'पिता जी! आप उदभ्रान्त लगते हैं। आपका आचरण...।' पर देवव्रत ने कुछ कहा नहीं।

"राजवैद्य को सूचना क्यों नहीं दी गयी पिता जी?"

"कोई लाभ नहीं।"

"कारण जान सकता हूँ?" देवव्रत का स्वर अत्यन्त विनीत था।

"मुझे रोग नहीं, क्षोभ है। मेरी चिन्ता का समाधान वैद्य के पास नहीं है।"

"चक्रवर्ती सम्राटों को भी चिन्ताएँ होती हैं क्या?" देवव्रत को लगा, अपने मन से पूछा गया यह प्रश्न असावधानीवश उनके मुख से सशब्द निकल गया था। पर प्रश्न का दूसरा भाग उन्होंने अपने मन में ही रोक लिया था, 'चिन्ताओं को दूर नहीं कर सकते तो यह साम्राज्य फिर किस काम का है?'

शान्तनु ने पुत्र को नये सिरे से देखा: यह देवव्रत अनेक बार क्षत्रिय राजपुत्रों के समान नहीं, वनवासी वैरागियों के समान बातें करने लगता है। वनवासी ऋषियों के सान्निध्य में बिताया गया इसका आरम्भिक जीवन इसे राजपुत्रों की मानसिकता नहीं दे पाया है। शान्तनु को पहले इसका आभास हुआ होता तो वह पुत्र को आश्रमों में छोड़ने के स्थान पर, आचार्यों को ही राजमहल में बुला लेते।...न चाहते हुए भी वनवासियों के विरुद्ध उनका आक्रोश वाणी पा ही गया, "चक्रवर्ती सम्राटों को ही तो चिन्ताएँ होती हैं पुत्र! कंगले वनवासियों के पास ऐसा होता ही क्या है, जिसकी वे चिन्ता करें।"

"अभाव की चिन्ता भी चिन्ता होती है पिता जी!" देवव्रत सहज भाव से बोले, "वरन वह असुविधा भी होती है।"

पर अधिकांश कथ्य, शब्दों के असहयोग के कारण उनके मन में ही रह गया: यदि साम्राज्यों के साथ चिन्ताएँ ही जुड़ी हैं तो इतनी ललक से व्यक्ति साम्राज्य स्थापित करने के लिए लपकता ही क्यों है? क्या मनुष्य इतनी-सी बात नहीं समझता कि उसका स्वार्थ किसमें है? उसे किसका ग्रहण करना है, किसका त्याग? यदि साम्राज्य चिन्ताओं का घर है तो मनुष्य को चाहिए कि वह उसे त्याज्य माने...

"होगी!" शान्तनु ने उनकी बात पर अधिक ध्यान नहीं दिया। वे अपनी चिन्ता में कहीं और गहरे उतर गये थे,

"जाने क्यों गंगा ने मेरे सात पुत्रों को जीवन-मुक्त कर दिया...।"

पिता जब भी इस घटना की ओर संकेत करते हैं, देवव्रत समझ नहीं पाते कि उनके मन में पत्नी की स्मृति जागी है या पुत्रों की। सात पुत्रों को जीवन-मुक्त करने वाले के लिए जो भाव पिता के मन में होना चाहिए था, उसका लेश मात्र भी शान्तनु के मन में नहीं था। कदाचित उन सारी हृदय-विदारक घटनाओं के बाद भी आज तक उन्हें अपनी पत्नी के रूप की स्मृति मुग्ध करती थी। सन्तान को जीवन-मुक्त करने वाली उस पत्नी से अब भी इन्हें वितृष्णा नहीं हुई थी। सन्तान भी उन्हें प्यारी रही होगी, तभी तो उन्होंने पत्नी को रुष्ट किया था; किन्तु सन्तान या पत्नी में से वे किसी को नहीं चाहते–दोनों को चाहते हैं। किन्तु यदि दोनों में से किसी एक को चुनना हो तो किसे चुनेंगे वे?...देवव्रत समझ नहीं पा रहे थे।

"अब तुम मेरे एकमात्र पुत्र हो।" शान्तनु पुन: बोले, "और मुझे बार-बार लगता है कि एक पुत्र का पिता, पुत्रहीन व्यक्ति से भी अधिक दुखी होता है।"

"क्यों पिता जी?"

"पुत्र!" पहली बार शान्तनु का स्वर कुछ कोमल हुआ, "किसी मनुष्य के प्राण यदि एक निरीह और असहाय पक्षी में बन्द कर दिये जायें और पक्षी को स्वतन्त्र रूप से उड़ने के लिए मुक्त छोड़ दिया जाये तो उस व्यक्ति की स्थिति क्या होगी?"

देवव्रत ने कोई उत्तर नहीं दिया। वे पिता की बात पूरी होने की प्रतीक्षा कर रहे थे।

"आकाश में गरुड़, श्येन तथा अन्य हिंस्र पक्षी हैं। धरती पर स्थान-स्थान पर बहेलियों के जाल बिछे हैं। किसी के लक्षित बाण या लक्ष्य-भ्रष्ट शस्त्र का वह निशाना हो सकता है।...उस पक्षी की कोई हानि नहीं भी होती, तो भी आशंकाओं के कारण उस व्यक्ति की क्या स्थिति होगी, जिसके प्राण उसमें बन्द हैं; और यदि पक्षी वह मारा गया तो उस व्यक्ति का क्या होगा?" शान्तनु ने जैसे उत्तर पाने के लिए देवव्रत की ओर देखा; और फिर स्वयं ही बोले, "तुम मेरे एकमात्र पुत्र हो देवव्रत! मेरे प्राण तुममें बसते हैं। तुम एक क्षण के लिए भी मुझसे विलग होते हो तो मेरी आत्मा व्याकुल हो उठती है...।"

देवव्रत के मन में आया कि पिता का प्रतिवाद करे–यदि यह सच होता तो नगर-द्वार पर अगवानी के लिए आये खड़े पुत्र की अवहेलना कर पिता अपने महल में न आ गये होते। उसे स्वस्थ और प्रसन्न पा कर, उन्होंने उसे वहीं गले लगा लिया होता...पुत्र इतना ही प्रिय था, तो उसे इस प्रकार नगर में अकेला छोड़ कर नदियों के कछारों और बीहड़ वनों में मृगया का सुख पाने के लिए भटक न रहे होते।...और अब, जब पुत्र सामने खड़ा है, तो उसे उत्साहपूर्वक गले लगा कर सन्तोष प्रकट करने के स्थान पर, उद्विग्नता को गले लगाये न पड़े होते।

पर देवव्रत ने यह सब कहा नहीं।

"तुम शस्त्रधारी योद्धा हो पुत्र!" शान्तनु पहले की तुलना में कुछ आश्वस्त दिख रहे थे, "सदा युद्धों के लिए सन्नद्ध रहते हो। पर कुशल-से-कुशल योद्धा भी किसी-न-किसी दिन युद्ध में वीरगति पाता ही है। यदि किसी दिन तुम्हें वीरगति मिली तो मेरा क्या होगा पुत्र? हस्तिनापुर के साम्राज्य का क्या होगा? हमारे वंश का क्या होगा? मेरी सद्गति कैस होगी?..."

देवव्रत के कान खड़े हो गये। क्या पिता उनके विवाह का प्रस्ताव करने वाले हैं? क्या वंश-वृद्धि के नाम पर पिता उनको घेर कर गृहस्थी की बेड़ियाँ पहनाना चाहते हैं?...देवव्रत ने अपने शैशव में अपने माता-पिता के सम्बन्ध में, उनकी गृहस्थी के विषय में जो कुछ जाना और देखा-सुना है...उसके बाद उनके मन में गृहस्थी के लिए कोई विशेष आकर्षण नहीं रह गया था। अपनी माता और पिता की पीड़ा का लेशमात्र भी स्मरण होते ही, उनका मन इन सम्बन्धों से मुक्त होने के लिए पँख फड़फड़ाने लगता था। नारी का आकर्षक-से-आकर्षक रूप भी देवव्रत के मन में कहीं वितृष्णा जगा जाता था ...देवव्रत ने अपने भीतर कभी ऐसी रिक्ति का अनुभव नहीं किया, जिसे भरने के लिए नारी के सान्निध्य की आवश्यकता हो। आज तक किसी नारी का रूप उनकी आँखों में नहीं उतरा, जो उन्हें रात-रात भर जगाये रख सकता। ...विवाह...अभी तो बार-बार उनका मन एक ही प्रश्न पूछ रहा है कि व्यक्ति विवाह करता ही क्यों है? शरीर सुख के लिए? वंश-वृद्धि के लिए? समाज और राष्ट्र के लिए? किसके लिए है यह सारा हाहाकार?...

"गंगा के जाने के बाद मैंने दूसरा विवाह नहीं किया।" शान्तनु कह रहे थे, "आज भी नहीं करना चाहता। पर एक पुत्र..." उन्होंने रुक कर देवव्रत को देखा, "जिसका पुत्र होता ही नहीं, उसे कुछ छिनने का भय नहीं होता, पर जिसका एक ही पुत्र हो, वह सदा उसके के लिए...।"

देवव्रत पिता से सहमत नहीं हो पा रहे थे: पिता को अपनी चिन्ता है या पुत्र की? उनकी चिन्ता अपने लिए है या पुत्र के लिए? उन्हें अपने पुत्र के लिए साम्राज्य चाहिए या अपने साम्राज्य के लिए पुत्र चाहिए? अपना वंश वे क्यों चलाना चाहते हैं–अपनी सद्गति के लिए?...पिता ने यह चिन्ता तो कभी नहीं की कि यदि उनका देहान्त हो गया तो उनके पुत्र का संरक्षक कौन होगा? यदि राज्य नष्ट हो गया तो पुत्र के उपभोग के लिए सम्पत्ति कहाँ से आयेगी?...वे क्यों नहीं सोचते कि जब वे स्वयं ही नहीं रहेंगे तो वंश का उन्हें करना ही क्या है? जब पुत्र ही नहीं रहेगा; तो साम्राज्य किसके लिए चाहिए उन्हें?

"आप मेरे विषय में चिन्ता न करें पिता जी!" देवव्रत समझ नहीं पा रहे थे कि वे पिता को आश्वासन दे रहे हैं या उपालम्भ, "इस पृथ्वी पर अभी ऐसा पुरुष पैदा नहीं हुआ, जिसके हाथों मुझे वीरगति प्राप्त होने की कोई सम्भावना हो।"

"तुम्हारी वाणी सत्य हो पुत्र!" शान्तनु का स्वर अब भी उतना ही उत्साहशून्य था, "किन्तु पिता का हृदय इतनी ही बात से सन्तुष्ट नहीं हो सकेगा। मेरे मन में जब यह सम्भावना अंकुरित होने लगती है कि नश्वर प्राणी के शरीर का नाश होना ही है, कहीं मेरा एकमात्र पुत्र असमय ही काल-कवलित हो गया तो...मेरा हृदय फट-फट जाता है पुत्र! इकलौती सन्तान के पिता की मन:स्थिति तुम समझ सकोगे क्या?"

"आप विश्राम करें पिता जी!" देवव्रत बोले, "मृगया की थकान दूर हो जायेगी तो आपका मन भी कुछ स्थिर हो जायेगा। शरीर की अत्यधिक थकान से कभी-कभी मन अनावश्यक रूप से आशंकाग्रस्त हो जाता है।"

किन्तु देवव्रत स्पष्ट देख रहे थे कि उनके इस वाक्य ने पिता पर कोई प्रभाव नहीं डाला था। उनकी आँखें कैसे तो देख रही थीं, देवव्रत को: जैसे पूछ रही हों–'तू मेरी बात क्यों नहीं समझता देवव्रत?'

3

देवव्रत अपने महल में लौट आये, पर उनका मन पिता के प्रासाद में ही रह गया...पिता क्या सचमुच इस बात से भयभीत हैं कि उनका एक ही पुत्र है, और वह किसी दिन युद्ध में वीरगति पा जायेगा? जिनके दो पुत्र होते हैं; क्या उन्हें यह चिन्ता नहीं सताती? दो पुत्र भी युद्ध में वीरगति पा सकते हैं। दो ही क्यों, युद्ध में तो सैकड़ों-हज़ारों व्यक्ति वीरगति पा सकते हैं। किसी राजा के सौ पुत्र भी होंगे, तो युद्ध में सारे-के -सारे मारे जायेंगे। वंश-का-वंश ही नष्ट हो जायेगा। युद्ध ही क्यों, बिना युद्ध के भी–सगर के पुत्र कपिल मुनि के एक शाप से ही भस्म हो गये थे...पुत्रों की संख्या कितनी हो कि व्यक्ति निश्चिन्त हो सके कि उसका वंश नष्ट नहीं होगा?...

देवव्रत मन-ही-मन हँस पड़े। पुत्रों की संख्या का क्या है...स्वयं चक्रवर्ती शान्तनु के आठ पुत्रों ने जन्म लिया था। क्या हुआ उनका?...

पर व्यक्ति अपनी वंश-परम्परा को बनाये ही क्यों रखना चाहता है?...जब देवव्रत इस संसार में नहीं रहेंगे तो इससे उन्हें क्या अन्तर पड़ेगा कि संसार में कोई ऐसा व्यक्ति है या नहीं, जो स्वयं को उनका वंशज मानता है? क्या मनुष्य का दायित्व मात्र अपना शरीर रहने तक नहीं है? यह धन-सम्पत्ति, सुख-भोग...सारा कुछ तो शरीर के लिए ही है। जब शरीर ही नहीं रहेगा...

देवव्रत को लगा, वे अपने मस्तिष्क में सदा घुमड़ने वाले प्रश्नों के चक्रव्यूह में फँसते जा रहे हैं। ऐसे प्रश्न सदा ही उनके मस्तिष्क में उमड़ते-घुमड़ते रहते हैं। व्यक्ति का जीवन क्या है? व्यक्ति जीवित क्यों रहना चाहता है? क्यों डरता है वह मृत्यु से?...

युद्धरत जातियों को सैनिकों की आवश्यकता होती है। कदाचित इसलिए आर्यों ने इस प्रकार के सिद्धान्त बनाये थे कि पुत्र न होने पर व्यक्ति की सद्गति नहीं होगी। किन्तु यह तो युद्धरत समाज का ही चिन्तन हो सकता है।...पुत्र के रूप में मनुष्य अपने ही जीवन का विकास करता है। वृद्धावस्था में जब वह दुर्बल और असहाय हो जाता है तो वह देखता है कि युवा पुत्र उसकी सेवा कर रहे हैं। उसकी रक्षा कर रहे हैं। उसकी सम्पत्ति की रक्षा कर रहे हैं...और यदि वह निर्धन है, तो उसका भरण-पोषण कर रहे हैं...। तो अपनी सुख-सुविधा के लिए ही तो पुत्र चाहता है वह। यदि उसके कुटुम्ब या समाज के लोग वृद्धावस्था में भी उसकी देखभाल की सम्यक व्यवस्था कर दें, तो भी वह अपने वंश को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए इतना ही प्रयत्नशील होगा क्या?...देवव्रत के मन में कई तर्क और अनेक उदाहरण सिर उठा रहे थे...स्वयं देवव्रत की माता ने एक-एक कर अपने सात पुत्रों को गंगा को समर्पित किया था। उन्होंने तो वंश की वृद्धि की चिन्ता नहीं की थी...देवव्रत स्वयं अपने मन को टटोलते हैं तो उन्हें अपने वंश के लिए कोई व्यग्रता दिखायी नहीं पड़ती ...संन्यासियों को अपने वंश को अमर बनाने की चिन्ता नहीं होती, राजाओं को होती है...संसार से विदा होते हुए अपना राजपाट छोड़ कर जाने का दुख सह्य नहीं होता राजाओं को। स्वयं तो काल से लड़ नहीं सकते, तो यह मार्ग ढूँढ़ा है उन्होंने। इतना सन्तोष तो रहे कि धन-सम्पत्ति अपने पुत्र के हाथों में छोड़ कर आये हैं...शायद इसलिए देवव्रत को अपने वंश की चिन्ता नहीं है, शान्तनु को है...तो क्या शान्तनु राजा हैं और देवव्रत संन्यासी? ...देवव्रत का मन हुआ कि ज़ोर से हँस पड़े...

पर सहसा ही देवव्रत का मन दूसरी ओर चल निकला।...देवव्रत और शान्तनु के वंश में तो न कोई भेद है, न विरोध। देवव्रत की वंश-परम्परा भी तो चक्रवर्ती शान्तनु की ही वंश-परम्परा है।...तो फिर वंश की रक्षा के लिए पिता देवव्रत का विवाह करने की सोच रहे हैं क्या?

देवव्रत विचित्र मन:स्थिति में पड़ गये थे। अपने विवाह के नाम से ही उनके सामने एक विराट प्रश्न-चिन्हन आ खड़ा होता था। पिता ने ठीक कहा था कि जब माँ उन्हें छोड़ कर चली गयी थी तो उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया था। पर दूसरा विवाह क्यों नहीं किया था?–इसलिए कि वे अपनी स्थिति से सन्तुष्ट थे या...शायद माँ के साथ सम्बन्धों के कारण ही...अपनी पत्नी के प्रति आसक्ति के कारण या अपनी पत्नी के प्रति वितृष्णा के कारण?...

उनके पिता ने माँ को गंगा-तट पर देखा था और तत्काल मुग्ध हो उठे थे। उनके विषय में पिता ने कोई खोज, कोई पूछ-पड़ताल नहीं की थी। वह कौन थी? किसकी बेटी थी? कहाँ रहती थी? उसके सम्बन्धी और अभिवावक कौन थे? कहाँ थे? उसके साथ विवाह के लिए किसकी अनुमति की आवश्यकता थी?...पिता ने कुछ नहीं पूछा था...कुछ जानना नहीं चाहा था?...रक्त की शुद्धता के लिए दृढ़ आग्रही आर्यों के इस सम्राट ने माँ के कुल-गोत्र को जानने का

तनिक भी तो प्रयत्न नहीं किया था।...आर्य लोग नारी को स्वतन्त्र नहीं मानते। मनु कहते हैं कि नारी अपने पिता, पति अथवा पुत्र के अधीन होती है; किन्तु सम्राट शान्तनु ने तो कभी जानना नहीं चाहा कि वे किसके अधीन थीं।...माँ के सौन्दर्य को देख कर पिता इतने अभिभूत हो गये थे कि उन्होंने उनसे तत्काल विवाह कर लिया था।

पर यह दैहिक आकर्षण गृहस्थी का आधार नहीं बन सका। ...देवव्रत के मन को यह प्रश्न निरन्तर परशु की धार के समान काटता रहता है...क्या मात्र दैहिक आकर्षण गृहस्थी का आधार बन सकता है? पर उन्हें कोई स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता। प्रत्येक स्त्री-पुरुष एक-दूसरे की ओर देह के सौन्दर्य को देख कर ही तो आकृष्ट होते हैं। पिता भी हुए थे। पर कहाँ चली गृहस्थी? क्या साथ रहना और सन्तानें उत्पन्न करना गृहस्थी है? शारीरिक आकर्षण में एक-दूसरे के साथ बँधे रहना और चाह कर भी सम्बन्ध-विच्छेद न कर पाना तो यातना है...देवव्रत को सदा लगता है कि यह शारीरिक सौन्दर्य तो फन्दा है...बहेलिये का जाल! भोला पक्षी दाना चुगने के लिए आता है और जाल का पता उसे तब चलता है, जब वह उड़ने में असमर्थ हो चुका होता है। दुख का आवरण कितना मोहक बनाया है प्रकृति ने...पिता को देखते ही देवव्रत के मन में बार-बार एक ऐसे ही पक्षी का चित्र उभरता है, जिसके पँजे जाल की फाँस में बँध चुके हैं। पँखों पर लासा लग चुका है। वह पँख फड़फड़ा कर रह जाता है, पर उड़ नहीं पाता। आत्मा मुक्त होने को फड़फड़ा रही है, विवेक बार-बार चेतावनी दे रहा है और आँखें मुग्ध भाव से दाने को देख रही हैं।...

देवव्रत की आँखों के सम्मुख कोई सुन्दर नारी-वदन आता है, तो उनका विवेक जैसे कशाघात करने लगता है– सावधान! सावधान!!

सुन्दर नारी-वदन ही क्यों, देवव्रत को इस संसार की प्रत्येक आकर्षक वस्तु एक चेतावनी-जैसी लगती है! कई बार तो उन्हें लगता है कि उनके मन में आकर्षण और वितृष्णा के भाव चिपक कर एक हो गये हैं। जहाँ कहीं आकर्षण जागता है, वितृष्णा अपने कान खड़े कर, उस मृग-शावक के समान उठ खड़ी होती है, जो प्रत्येक शब्द को आखेटक की पदचाप मान कर डर जाता है।...पता नहीं देवव्रत अपनी इन आशंकाओं से मुक्त क्यों नहीं हो पाते?...क्यों वे अपने अन्य सम-व्यस्कों के समान सुख के लिए लालायित नहीं हो पाते?...क्या यह भी अपनी माँ के कारण?...

कहते हैं माँ ने अपनी सात सन्तानों को एक-एक कर गंगा नदी को समर्पित कर दिया था।...पिता उन्हें रोक नहीं पाये थे। सन्तान के मोह में, माँ की मनमानी को रोकने का प्रयत्न करते, तो उन्हें भय था कि माँ उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कर, उन्हें छोड़ कर चली जाती।...सन्तान का मोह! ओह! देवव्रत के लिए यह भी सुनी-सुनायी बात ही है। माँ के मन में कभी उनके लिए मोह नहीं जागा। गयीं-तो-गयीं। देवव्रत ने उन्हें फिर कभी नहीं देखा। माँ के मन में मोह नाम का कोई भाव ही नहीं था शायद। नारी-मन की तनिक-सी ममता कहीं माँ को छू गयी होती, तो वे इस प्रकार जन्म दे-दे कर अपने सात पुत्रों को गंगा नदी को समर्पित कर देतीं? जिसके मन में सात पुत्रों के लिए मोह नहीं जागा, वे देवव्रत के प्रति ही क्यों अनुरक्त होतीं...माँ के मन में पति के प्रति ही कौन-सा अनुराग था? जिसके साथ इतने वर्षों तक पत्नी के रूप में रहीं, जिसकी आठ-आठ सन्तानों को जन्म दिया, उसकी किसी इच्छा का रत्ती-भर सम्मान नहीं था उनके मन में। वे तो जैस पति से लड़ कर अलग होने का बहाना खोज रही थीं। अपनी सन्तानों को एक-एक कर जीवनमुक्त करके अपने पति के मर्म को आहत करने का प्रयत्न कर रही थीं...

जाने कैसी नारी थी वह! जाने किस बाध्यता में उसने चक्रवर्ती शान्तनु से विवाह किया था, जाने किस मजबूरी में आठ-आठ सन्तानों को जन्म दिया था...

...और पिता। पिता के साथ रहते हुए भी आज तक देवव्रत ने पिता के व्यवहार में अपने प्रति मोह का कभी कोई प्रमाण नहीं पाया। यदि सचमुच वे अपने एकमात्र पुत्र के सुरक्षित जीवन के लिए इतने ही आशंकित थे तो उन्हें नव-प्रसूत कुक्कुटी के समान अपने बच्चे पर पँखों को फैलाये, गर्दन अकड़ाये कुट-कुट करते हुए सशंक दृष्टि से इधर-उधर देखते हुए, पुत्र की रक्षा करनी चाहिए थी। और वे हैं कि उन्हें कभी पुत्र का ध्यान ही नहीं रहा...हाँ। देवव्रत को बताया गया है कि उनके जन्म के पश्चात जब माँ ने उन्हें भी गंगा नदी को सौंपना चाहा तो पिता ने माँ की बाँह थाम ली थी। माँ ने चुपचाप देवव्रत को पिता की गोद में डाल दिया और स्वयं घर छोड़ कर चली गयीं।...इस प्रसंग को ले कर, देवव्रत के मन में बहुत बार ऊहापोह होता है, तो उन्हें लगता है कि शायद माँ ने इस घर को कभी अपना घर ही नहीं माना। तभी तो इस प्रकार छोड़ कर जा सकीं। नहीं तो अपना घर ऐसे छोड़ा जाता है क्या?

देवव्रत सोचते हैं तो अपने माता-पिता, दोनों को ही अद्‌भुत पाते हैं। पिता नारी-सौन्दर्य के मोह में बँधे, अपनी सन्तानों को मृत्यु की गोद में जाते देखते रहे–कुछ नहीं बोले। उनके लिए जीवन का एकमात्र सत्य, नारी-देह का आकर्षण ही है क्या?...देवव्रत जानते हैं कि कुछ जीव ऐसे होते हैं, जिनके नर अपनी सन्तानों की हत्या कर देते हैं,

पर तब उनकी मादा, उन नरों से अपनी सन्तान की रक्षा के लिए संघर्ष करती है। मादाओं में केवल सर्पिणी ही अपनी सन्तानों को खा जाती है।

पर माँ सर्पिणी नहीं थीं।

कैसी होगी देवव्रत की माँ?

कहते हैं कि माँ में देव-जाति का सौन्दर्य अपूर्व रूप में विद्यमान था। अलौकिक सौन्दर्य। तभी तो पिता अपने मोह और विवेक का सन्तुलन बनाये नहीं रख सके।...लोगों का तो कहना है कि वे स्वयं शरीरधारिणी गंगा थीं, जो वसुओं को शापमुक्त करने आयी थीं। शायद ऐसा ही हो।...यदि माँ ने अपनी पहली सन्तान को गंगा में डुबो कर, अपने भी प्राण दे दिये होते, तो सारी किंवदन्तियों के बावजूद देवव्रत यही मानते कि उनकी माँ, पिता के साथ रह कर प्रसन्न नहीं थीं। इसलिए शायद वे नहीं चाहती थीं कि उनकी सन्तान सम्राट शान्तनु के महल में पले। किन्तु वे तो अपनी सन्तानों को जल-समाधि भी देती रहीं और चक्रवर्ती के साथ पत्नीवत रहती भी रहीं।

शायद किवंदन्तियों में ही कोई सच्चाई हो कि वे स्वयं देवी गंगा थीं और किसी शापवश या किसी कर्तव्यवश भूलोक पर आयी थीं। नहीं तो मानवीय वृत्तियों को जीतना सहज है क्या। मानव-जाति की आज तक की सारी साधना क्या है–मानवीय सीमाओं का अतिक्रमण ही तो! आज तक न काम को जीत पायी मानव जाति और न वात्सल्य को। पर माँ...वात्सल्य की इतनी घोर उपेक्षा।

किन्तु देवव्रत साधारण मनुष्य हैं। वे देवलोक के विषय में कुछ नहीं जानते। अतीन्द्रिय संसार से उनका कोई परिचय नहीं है। जन्मान्तरवाद का प्रत्यक्ष अनुभव उनको नहीं है। वे तो इस भौतिक समाज और मानवीय ज्ञान एवं तर्क की परिधि के भीतर सोचते हैं। और जब वे सोचते हैं तो उनका मन कभी विषाद से फटने लगता है, कभी आश्चर्य से...

यह ठीक है कि माता-पिता ही सन्तान को जन्म देते हैं; पर सन्तान क्या उनकी ऐसी व्यक्तिगत सम्पत्ति है, जिसे वे लोग जब चाहें नष्ट कर दें? क्या माँ को यह अधिकार था कि वे अपनी सन्तानों को इस प्रकार जीवन-मुक्त कर देतीं? यह जीवन किसकी सम्पत्ति है? कौन इसे उत्पन्न करता है? और किसे इसको नष्ट करने का अधिकार है? क्या सन्तति का जन्म प्रकृति का विधान नहीं है? क्या स्त्री-पुरुष उस विधान के उपकरण मात्र नहीं हैं? प्रकृति स्त्री-पुरुष के माध्यम से अपनी सृष्टि को आगे चलाती है; तो जीवन किसी स्त्री अथवा पुरुष की सम्पत्ति कैसे है? सन्तान–अपनी ही सही–पर क्या माता-पिता को इतना अधिकार दिया जा सकता है कि वे उसे जीवन-मुक्त कर दें?...और सामाजिक विधान क्या है? समाज चुप-चाप कैसे देखता रहा कि चक्रवर्ती शान्तनु के पुत्र एक-एक कर जीवन मुक्त किये जा रहे हैं?...और शासन तन्त्र? शासन का विधान? क्या यह कृत्य निरीह हत्या परिधि में नहीं आता? पर जब स्वयं चक्रवर्ती ही चुप रहे, जिनकी सन्तानें थीं–तो कोई और कैसे बोलता? सम्राट के अतिरिक्त शासन-तन्त्र है ही कहाँ? पिता और सम्राट दोनों ही चुप थे...

कैसा दाम्पत्य-जीवन रहा होगा उनके माता-पिता का? पिता, अपनी सन्तान को जीवन-मुक्त करने वाली के रूप के मोह-जाल में फँसे मानसिक दास के समान, या किसी वनस्पति के समान, अपने हृदय को वाणी दिये बिना, उस स्त्री के साथ रहने का कष्ट और सुख-दुख भोगते रहे। नारी-सुख।...देवव्रत के मन में वितृष्णा जागती है...

और माँ किस बाध्यता में रहती रहीं, पिता के साथ? हाँ! बाध्यता ही तो रही होगी। नहीं तो क्यों नहीं वे सम्राट को पति के रूप में अंगीकार कर, इस घर को अपना घर मान, अपनी गृहस्थी बसा, सुखपूर्वक स्थायी रूप से रह सकीं यहाँ? क्यों बार-बार सम्बन्ध-विच्छेद का बहाना ढूँढ़ती रहीं। सम्राट के मर्म पर ऐसे क्रूर आघात करती रहीं? और अन्तत: अवसर मिलते ही चली भी गयीं...

पिता जितने ही दुर्बल दिखायी देते हैं, माँ उतनी ही दृढ़, कठोर, अटल...

एक ही तथ्य के कितने भिन्न और विरोधी रूप हो सकते हैं ...देवव्रत मुस्कुराये...दिव्य आकार दिया जाये, तो यही घटना उनकी माँ को कितना गौरव प्रदान करती है; स्वयं देवी गंगा, वसुओं को शाप-मुक्त करने के लिए, नारी-देह धारण कर पृथ्वी पर आयीं और अपनी इच्छा और प्रवृत्ति के विरुद्ध, एक साधारण मनुष्य की पत्नी बन कर, उसकी सन्तानों को जन्म देती रहीं–उस मनुष्य की सन्तानों को, जिससे उनको कोई लगाव नहीं था। कर्तव्य समझ कर, अपनी इच्छा के विरुद्ध...

पर यदि वे स्वयं देवी गंगा ही थीं तो अपने दिव्य शरीर के साथ तो मानव की पत्नी बन, उसकी सन्तानों को जन्म देने नहीं आयी होंगी। मानवी के रूप में कहीं तो जन्म लिया होगा–पर कहाँ? उनके माता-पिता का किसी को

पता नहीं। उनके जन्म, शैशव, उनके सम्बन्धियों की कोई सूचना नहीं।...वे चक्रवर्ती को गंगातट पर मिल गयी थीं–उनका कोई मायका नहीं, देवव्रत की ननिहाल नहीं...और फिर वे गयीं कहाँ?...

वे मानवी थीं या देवी–देवव्रत नहीं जानते, पर पिता के विषय में वे बहुधा सोचते हैं–पिता का जीवन कैसा रहा होगा? पहले क्षण से ही उन्होंने पत्नी के रूप-सौन्दर्य के सम्मुख दासत्व स्वीकार कर लिया था। शरीर का साहचर्य तो रहा होगा, पर क्या कभी मन का साहचर्य भी उन्हें मिला? यदि पत्नी अपनी इच्छा का तनिक भी विरोध होने पर घर छोड़ जाने को तैयार बैठी हो तो कैसा दाम्पत्य-जीवन होगा?...जहाँ पति, पत्नी की ओर या तो लोभ की दृष्टि से देखे या भय से–वह परिवार होगा क्या?

सुख क्या होता है? सुख का स्वरूप क्या है? वही, जिससे वंचित होने से पिता डरते रहे? क्या सुख पाया पिता ने? जब तक साथ रहे, त्रस्त हो कर रहे। साथ भी रहे और तृषित भी रहे। जिस सुख के मोह से पिता, माँ को अपने घर लाये थे–वह सुख बड़ा था, या उनके रुष्ट होने का, त्याग कर चली जाने का आतंक? माँ ने निकट रह कर, पिता के मन में जिस कामना को बार-बार जगाया होगा–पिता उस कामना की यातना से अधिक तड़पे होंगे या सहवास के सुख से अधिक सुखी हुए होंगे?...

पिता के लिए देवव्रत के मन में कभी करुणा उभरती है, कभी दया। लोग कहते हैं कि सम्राट शान्तनु ने अपनी पत्नी के चले जाने के बाद स्त्री-सुख सर्वथा त्याग दिया। वे इस ओर से वीतराग हो कर, देवव्रत को प्राप्त करने तक, पितावत प्रजा का पालन करते रहे।...सम्राट शान्तनु के राज्य में कोई अन्याय नहीं था, अत्याचार नहीं था, स्वार्थ और दमन नहीं था...ठीक कहते हैं लोग। पर देवव्रत को लगता है कि आज भी पिता उसकी कामना में तड़प रहे हैं, जिसके मन में उनके लिए कभी कोई आकर्षण नहीं रहा...

संयम में शान्ति होती है, सन्तुलन होता है; किन्तु पिता तो माँ के चले जाने के बाद से भयंकर रूप से अशान्त रहे। उन्होंने आठ पुत्रों में से बचे हुए, अपने एकमात्र पुत्र की कभी सुध नहीं ली।...देवव्रत को उन्होंने जन्म के बाद से कभी नहीं देखा। कभी देखने की कामना नहीं की। देवव्रत वसिष्ठ के आश्रम में रहे, परशुराम के आश्रम में रहे, बृहस्पति के पास रहे, शुक्राचार्य के निकट रहे...आर्य और देव ऋषियों के आश्रमों में अनेक वर्ष बिताये देवव्रत ने। माता का उन्हें पता नहीं था, पिता उनकी ओर से सर्वथा उदासीन थे...तो क्या करते देवव्रत हस्तिनापुर लौट कर...क्या कहें देवव्रत–पिता के मन में माँ के लिए प्रेम था...या आसक्ति थी...माँ के आचरण ने उनके मन में वितृष्णा जगायी थी या यह मात्र प्रतिक्रिया थी उस आसक्ति की?

इतने दीर्घ काल तक पिता को याद नहीं आया कि उनका केवल एक पुत्र है। आज अचानक क्या हो गया कि वे अपने एकमात्र पुत्र के जीवन और अपनी वंश-परम्परा के लिए चिन्तित हो उठे हैं।

देवव्रत के मन में प्रश्नों का एक भरा-पूरा वन उग आया था...

4

वृद्ध अमात्य का व्यवहार, पिता के व्यवहार से भी अधिक अप्रत्याशित था।

अमात्य के चेहरे पर चिन्ता की एक भी रेखा नहीं थी। उनका व्यवहार सर्वथा सहज और सामान्य था, जैसे या तो चक्रवर्ती किसी परेशानी में न हों, या फिर उनकी परेशानी से अमात्य का किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध न हो।

अमात्य ने देवव्रत को सम्मानोचित आसन दे कर सहास पूछा, "युवराज ने कैसे कष्ट किया?"

देवव्रत क्षण-भर के लिए कुछ कह नहीं सके। वे समझ नहीं पा रहे थे कि चक्रवर्ती की अस्वस्थता को ले कर वे भ्रम में थे या अमात्य अज्ञानी थे।

"चक्रवर्ती स्वस्थ नहीं हैं।" अन्त में देवव्रत ने धीरे से कहा।

"मुझे मालूम है युवराज!"

तो फिर उनके उपचार की व्यवस्था क्यों नहीं की गयी?"

"कौन करता युवराज?"

"क्यों? आप करते।"

"उपचार मेरे वश का नहीं है।"

"राजवैद्य के वश का तो है।"

"उनके वश का भी नहीं है।"

देवव्रत रुक गये। यदि पिता ने सच ही कहा है कि उन्हें वंश-रक्षा की चिन्ता है तो सचमुच यह रोग राजवैद्य के वश का नहीं है। ऐसी स्थिति में...पर मन्त्री को राजा की चिन्ता की गम्भीरता का तो पता होना ही चाहिए...

"तो किसके वश का है अमात्य?"

मन्त्री का हास सहसा लुप्त हो गया, जैसे वे कोई बहुत कठोर बात कहने जा रहे हों, "अब तो सब कुछ आपके ही हाथ में है युवराज!"...और धीरे से उन्होंने जोड़ा, "और सच पूछा जाये तो शायद आपके हाथ में भी नहीं है।"

देवव्रत किंकर्तव्यविमूढ़-से खड़े रह गये...उनके हाथ में क्या था?...आख़िर मन्त्री क्या कहना चाहते हैं...

पुन: मन्त्री ही बोले, "युवराज! महाराज काम-ज्वर से पीड़ित हैं। इसलिए राजवैद्य उनकी कोई सहायता नहीं कर सकते।"

देवव्रत के मन में जैसे बहुत कुछ उलझ गया, और साथ ही बहुत कुछ सुलझ भी गया...तो इसलिए इतने वर्षों के पश्चात अचानक पिता को याद आया है कि देवव्रत उनका एकमात्र पुत्र है।–इस लम्बी अवधि में पिता न तो काम से विरक्त हुए थे, न उसका शमन कर पाये थे। उन्हें केवल कोई उपयुक्त पात्र नहीं मिला था...

माँ को देख कर भी पिता की यही अवस्था हुई होगी। तभी तो उन्होंने उनका परिचय तक पाने की आवश्यकता नहीं समझी और उनकी प्रत्येक शर्त स्वीकार की। पिता को जब काम-ज्वर होता है तो उसके ताप से सबसे पहले उनके विवेक को पक्षाघात हो जाता है।...कौन है वह स्त्री, जिसने पिता की धमनियों में इतने वर्षों से सोये ज्वार को फिर से जगा दिया है?...

"पर पिता जी ने इस विषय में मुझसे तो कुछ नहीं कहा..."

"वयस्क पुत्र के सम्मुख अपने नये विवाह की इच्छा कौन पिता प्रकट कर सकता है, राजकुमार?" मन्त्री का स्वर अब भी गम्भीर था, "यही तो चक्रवर्ती का द्वन्द्व है...।"

"क्या?"

"वे इस कन्या के बिना जी नहीं सकेंगे, और उससे विवाह वे कर नहीं पायेंगे।"

"विवाह क्यों नहीं कर पायेंगे?" देवव्रत सहज भाव से कह गये, "क्या केवल इसलिए कि उनका एक वयस्क पुत्र भी है। पहले भी तो प्रौढ़ राजाओं ने नये विवाह किये हैं।"

"किये हैं।" मन्त्री बोले, "पर उसके लिए किसी-न-किसी को मूल्य भी चुकाना ही पड़ा है। ययाति ने फिर से युवावस्था की कामना की थी तो पुरु को वृद्धावस्था अंगीकार करनी पड़ी थी।"

देवव्रत ने ध्यान से मन्त्री को देखा। वे मन्त्री के चेहरे से वह सब कुछ पढ़ लेने का प्रयत्न कर रहे थे, जो मन्त्री की वाणी ने नहीं कहा था।

"क्या बात है अमात्य?"

"युवराज!" मन्त्री बोले, "यमुना के तट पर दासराज नामक केवट-प्रमुख का स्थान है। उसकी पुत्री अत्यंत रूपवती है। चक्रवर्ती ने पुत्री को देखते ही उसके पिता के सम्मुख पाणिग्रहण का प्रस्ताव रखा था; किन्तु दासराज की शर्त को सुन कर चुपचाप लौट आये।"

"ऐसी क्या शर्त है अमात्य?"

"ऐसे अवसरों पर एक ही शर्त होती है युवराज!" मन्त्री बोले, "नयी रानी के पुत्र को राज्याधिकार और पहले पुत्र का अधिकारच्युत होना।...इसलिए मैंने कहा था युवराज! कि अब सब कुछ आपके वश में है...।"

देवव्रत समझ नहीं पाये कि वे क्या कहें...क्या मन्त्री उनके सामने यह प्रस्ताव रख रहे हैं कि वे अपने अधिकारों से उदासीन हो जायें? जो बात पिता अपने मुख से नहीं कह सके, क्या उसे ही वे मन्त्री के माध्यम से कहलवा रहे हैं?...क्या पिता की यही इच्छा है? ...पर यदि पिता की यह इच्छा हो भी तो यह एक कामासक्त व्यक्ति की इच्छा है। आसक्ति की स्थिति में विवेक स्थिर नहीं रहता। और इस समय तो पिता भी समझ रहे हैं कि यह माँग उचित नहीं है।...वे जानते हैं कि यह उचित नहीं है, इसलिए देवव्रत से कुछ कह नहीं सके, पर उनकी इच्छा है कि यह 'अनुचित' भी किसी प्रकार सम्भव हो जाये, तभी तो उन्होंने दूसरे पुत्र की इच्छा व्यक्त की थी। तभी तो मन्त्री ने उनके सामने प्रकारान्तर से यह प्रस्ताव रखा...

देवव्रत के मन में जैसे घृणा का उत्स फूट आया: यह है पिता का रूप। वात्सल्यमूर्ति जनक और पिता। कामासक्ति का वेग इतना अबूझ और प्रहारक है कि पिता, पुत्र से इस प्रकार झूठ बोलता है। पिता यह नहीं कह सके कि अपनी पहली पत्नी से अलग हो कर, संयम का जो कामरहित जीवन उन्होंने बिताया, वह मात्र एक प्रतिक्रिया थी।...पुरुष की समस्त आसक्ति नारी में है और जिस दिन वह नारी उसे छोड़ जाती है, उस दिन यह सारी सृष्टि उसके लिए माया का प्रपंच हो जाती है।...और जिस दिन फिर कोई नारी उसके सम्मुख आ खड़ी होती है, उस दिन फिर से सृष्टि मोहिनी रूप धारण करके हँसने लगती है।...पिता ने अपने पिछले अनुभव से कुछ नहीं सीखा। उन्होंने नहीं देखा कि यह आकर्षण प्रेम नहीं है, यह विवेक की हत्या है, यह मोहासक्ति का जाल है। माँ ने भी इसी आसक्ति के मूल्य के रूप में पिता को अपनी इच्छा का दास बनाया था। माँ के जाने के बाद पिता ने यह नहीं सोचा कि उन्हें दासता से मुक्ति मिल गयी है, वे पुन: नयी स्वामिनी की खोज में निकल पड़े। अब उन्हें मिली है दासराज की कन्या, जो अपने मूल्य के रूप में पिता से उनकी अगली पीढ़ी की भी दासता माँग रही है...ययाति ने पुरु से उसका यौवन माँगा था तो स्पष्ट कहा था कि अभी यौवन के भोगों से उनकी तृप्ति नहीं हुई है; इसलिए यदि पुरु उन्हें अपना यौवन दे दे तो वे उसे अपना राज्य दे देंगे...और चक्रवर्ती शान्तनु अपने पुत्र से कह रहे हैं कि वे दूसरा पुत्र पाना चाहते हैं। वे उनसे उनका पैतृक अधिकार छीनना चाहते हैं, वह भी पुत्र-प्रेम के नाम पर...वे क्या करें, ऐसे पिता के लिए?...

लौटते हुए देवव्रत का मस्तक द्वन्द्वों के मारे झनझना रहा था...किस दुविधा में झोंक दिया पिता तुमने? देवव्रत भी जैसे एक देवव्रत न रह कर अनेक हो गये हैं। एक मन कुछ कहता है, दूसरा कुछ और।...पिता कामासक्त हो रहे हैं तो हों। विवाह करना चाहते हैं, करें। राज्य किसी और को देना चाहते हैं, दें। देवव्रत को कोई आपत्ति नहीं है। देवव्रत किसी की इच्छा के मार्ग में विघ्न-स्वरूप नहीं आना चाहते। देवव्रत को किसी का राज्य नहीं चाहिए।...पर अधिकार की बात देवव्रत के मन में अधिक खटकती है। पौरव-वंश का यह राज्य, देवव्रत का अधिकार है। वे इसके न्यायसिद्ध युवराज हैं। प्रजा उन्हें चाहती है।...यदि देवव्रत से उनकी कोई निजी वस्तु माँगी जाती तो दान करने में उन्हें रंचमात्र भी कष्ट नहीं होता। किसी दीन-हीन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए त्याग करने में कोई बुराई नहीं है...किन्तु किसी की अनुचित-असामयिक इच्छा के लिए अपना न्यायोचित अधिकार छोड़ना धर्म-संगत है क्या?...जब माँ ने एक-एक कर सात पुत्रों को जीवन-मुक्ति दी थी, तो पिता अपनी कामासक्ति के कारण अपने और अपनी सन्तानों के अधिकार के विषय में कुछ नहीं कह सके थे।...आज फिर वे अपनी उसी कामासक्ति के कारण देवव्रत के धर्म-संगत न्यायोचित अधिकार की बात नहीं सोच पा रहे हैं।...ठीक है कि उन्होंने देवव्रत को अपना अधिकार त्यागने के लिए नहीं कहा है। वे चाहें तो उन्हें पदच्युत भी कर सकते हैं, वह भी उन्होंने नहीं किया है...किन्तु अपने पलंग पर औंधे मुँह लेट, हाथ-पैर पटक-पटक कर अपनी पीड़ा का प्रदर्शन करते हुए, क्या वे अपने पुत्र को अप्रत्यक्ष रूप से बाध्य नहीं कर रहे कि वह अपना शासनाधिकार त्याग दे...आज यदि देवव्रत अपना अधिकार नहीं छोड़ते तो आने वाली प्रत्येक पीढ़ी उन्हें पितृ-द्रोही के रूप में धिक्कारेगी कि वे अपने पिता के सुख के लिए राज-सुख नहीं त्याग सके... राज-सुख...देवव्रत का मन इस शब्द पर अटक गया...क्या होता है राज-सुख? पिता चक्रवर्ती सम्राट हैं। राज्य में उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई

एक तिनका नहीं तोड़ सकता...पर क्या वे सुखी हैं? चक्रवर्ती सम्राट एक सामान्य युवती का अनुग्रह पाने के लिए हाथ-पैर पटक रहा है।...कहाँ है राज-सुख? यदि राज्य से ही कोई सुखी हुआ होता...और जिस सुख के लिए आज वे इतने आतुर हो रहे हैं...वह भी कोई सुख है क्या? ऐसा ही सुख पाने के लिए पिता पहले भी तड़पे होंगे।...पर कोई सुख मिला? पिछले अनेक वर्षों से उस सुख से वंचित हो कर तड़पते हुए तो उन्हें देवव्रत देख रहे हैं...कैसी बुद्धि पायी है मनुष्य ने...देवव्रत की आँखों के सामने प्रात:काल का दृश्य घूम गया...

गोशाला में उनकी सबसे प्रिय गाय है—कपिला। एकदम निष्कलंक रंग, जैसे दूध की ही बनी हुई हो। इसी से देवव्रत ने उसका नाम कपिला रख छोड़ा है। बछड़ा भी उसका वैसा ही हुआ है—जैसे कपिला का बछड़ा न हो, कपास का गोलक हो। देवव्रत ने उसका नामकरण किया है—धवल। उनका ग्वाला सूरज उसे 'धौला' कहता है।

सुबह दूध दुहने के लिए जब सूरज धवल की रस्सी खोलने लगता है तो माँ के पास जाने की उतावली में धवल भयंकर उछल-कूद मचाता है। इतनी उछल-कूद कि कभी-कभी सूरज के लिए रस्सी खोलना असम्भव हो जाता है। उसी खींचतान में निमिष मात्र के काम में कई पल लग जाते हैं।...और देवव्रत के मन में हर बार आता है—कैसा नासमझ है धवल। सूरज उसी की इच्छा पूरी कर रहा है, और अपनी उतावली में धवल ही इच्छा के मार्ग में विघ्न उपस्थित कर रहा है...मनुष्य भी अपनी आकांक्षा की तीव्रता में भूल जाता है कि उसका हित किसमें है। वह नहीं जानता कि जिस इच्छा की पूर्ति के लिए वह सिर झुकाये वनैले सूअर के समान दौड़ लगा रहा है, उस इच्छा की पूर्ति उसे कितना सुख देगी और कितना दुख...यदि शान्तनु यह कुरु साम्राज्य पा कर भी सुखी नहीं हैं तो देवव्रत को ही इस राज्य से क्या मिल जायेगा...नहीं चाहिए देवव्रत को यह राज्य। पिता जिसे चाहें, दे दें। इस छोटे-से राज्य के लिए देवव्रत पितृ-द्रोही नहीं कहलायेंगे...

पर देवव्रत को लगा, उनके अपने मन के ही किसी और कोने में से कोई दूसरा ही स्वर उठ रहा है।...ठीक है, देवव्रत को राज्य का मोह नहीं है। वे बिना राज्य के भी सन्तुष्ट रह सकते हैं। वे अपनी इच्छा से अपना अधिकार छोड़ सकते हैं। व्यक्ति रूप में उनके इस त्याग को शायद सराहा भी जायेगा ...किन्तु व्यक्ति का आदर्श समाज के आदर्शों से भिन्न होगा क्या? व्यक्ति देवव्रत त्याग करे, पर समाज के सामने भी वे यही आदर्शों रखेंगे क्या?...अपने अधिकारों के लिए लड़ना समाज का धर्म है, या अपने अधिकारों को त्यागना?...हस्तिनापुर का राज्य पिता की कोई ऐसी निजी सम्पत्ति तो है नहीं कि वे इसे जब, जिसे चाहें दे दें; और किसी को उससे कोई अन्तर न पड़े। इस प्रकार राज्य का अपहरण कर जो व्यक्ति कल हस्तिनापुर के राज-सिंहासन पर बैठेगा, वह समाज अधिकारों की क्या चिन्ता करेगा...वह प्रजा के साथ क्या न्याय करेगा?...और सबसे बड़ा प्रश्न तो यह है कि देवव्रत का क्षात्र-धर्म क्या कहता है? यदि कोई उनके राज्य का अपहरण करना चाहे तो वे अपना अधिकार छोड़ देंगे क्या? इस प्रकार कहीं समाज, देश और राष्ट्र चलते हैं? संन्यासियों की त्याग-वृत्ति इस सृष्टि के क्रम को चलाये नहीं रख सकती। क्षात्र-धर्म तो समाज के पालन में है, अन्याय के प्रतिकार में है, अपहरणकर्ता का विरोध करने में है...

पर यहाँ कौन अपहरण कर रहा है?...अपहरण ही तो है। सेना ले कर आक्रमण न किया, एक वचन की आड़ में उनका राज्य छीन लिया। यह शत्रुता ही तो है...देवव्रत को लगा, उनके मन में उस अज्ञात युवती और उसके पिता दासराज के विरुद्ध आक्रोश संचित हो रहा है, वे अजाने ही उन्हें अपना शत्रु मानने लगे हैं।...पर तुरन्त ही वह सावधान हो गये।...वे उस युवती को नहीं जानते, न वह युवती उन्हें जानती है, फिर उसके विरुद्ध मन में प्रतिहिंसा का भाव पालने का क्या अर्थ?...सावधान देवव्रत! जो अपने मन में होता है, वही सारे संसार में भासित होने लगता है। यदि वे अपने मन में प्रतिहिंसा पालेंगे तो उन्हें सब ओर अपने विरुद्ध हिंसा ही होती दिखायी देगी... उस युवती का उनसे क्या विरोध! वह तो चक्रवर्ती से एक अनुचित माँग की पूर्ति का मूल्य माँग रही है। राजाओं के इस प्रकार के अनमेल विवाहों के पहले अपने दौहित्र के लिए राज्याकांक्षा तो प्रत्येक कन्या का पिता करता ही है। केकयराज ने भी कैकयी के कन्यादान से पूर्व चक्रवर्ती दशरथ के सम्मुख यही शर्त रखी थी...पर राम ने न कभी भरत को अपना विरोधी समझा, न भरत के नाना को...

पर अधिकार की रक्षा की बात?...देवव्रत को लगा, अब अधिकार पर उनका अधिक बल नहीं है। समाज, देश और राष्ट्र अपने अधिकारों के लिए लड़ें; पर देवव्रत अपना राज्याधिकार छोड़ सकते हैं। वह उस राज्याधिकार के लिए अपने कुल में कलह क्यों करें, जो किसी को सुखी नहीं बना सका। देवव्रत तो सुख को खोज रहे हैं, राज्य को नहीं।...शायद वे राज्य को छोड़ कर ही अधिक सुखी हो सकें। पिता को दासराज की पुत्री प्राप्त होगी—दासराज को अपने दौहित्र के लिए राज्य मिलेगा। दोनों सुखी होंगे...देवव्रत के मन में राज्य की कोई कामना नहीं है...

किन्तु तत्काल ही जैसे देवव्रत का मन बदल गया।...क्या सोच रहे हैं वह? वह पिता को सुखी करना चाह रहे हैं; दासराज, उसकी पुत्री और उसके दौहित्र को सुखी करना चाह रहे हैं...पर सुख है क्या? एक वृद्ध की एक युवती के लिए विवेकशून्य आसक्ति किसे सुख देगी? उनका दाम्पत्य जीवन, पिता को कितना काम-सुख देगा और कितनी काम-यातना? पिता के मन में उस कन्या के लिए आसक्ति उनका प्रेम नहीं है। सुख यदि कहीं मिलता है तो केवल प्रेम में मिलता है। प्रेम भी वह, जिसमें प्रतिदान की कामना ही न हो, केवल दान ही दान हो। पिता, इस प्रकार के प्रेम से परिचित ही नहीं हैं। वे पुन: काम-यातना में तड़पने की व्यवस्था कर रहे हैं।...और वह कन्या! क्या सुख पायेगी वह! केवट की कन्या, राजप्रासाद में आयेगी तो अपनी हीन-भावना से ही मर जायेगी। मरेगी नहीं तो दूसरों को मारने का प्रबन्ध करेगी। लोगों की दृष्टि और वाणी उसका परिहास करेगी और वह अपनी प्रतिहिंसा का बल निर्बलों पर प्रकट करेगी। उसके सामने सबसे निर्बल होंगे राजा शान्तनु। वह स्वयं भी पीड़ा पायेगी और उन्हें भी पीड़ित करेगी।...चक्रवर्ती का विवेक इस समय संज्ञा-शून्य है, अचेत है। वह नहीं जानते कि उनका सुख किस बात में है। अबोध बालक या उन्मादी व्यक्ति की इच्छाएँ तो पूरी नहीं की जा सकतीं। यह तो उनके हित में नहीं है...और दासराज-कन्या तो मात्र प्रतिशोध ले रही है। उसे इसमें क्या सुख मिलेगा?...यदि देवव्रत सचमुच अपने पिता को सुखी देखना चाहते हैं तो उन्हें पिता को इस कन्या के मोह-जाल से मुक्त करना होगा। वह कन्या तो उनकी यातना है। बालक अग्नि को पकड़ना चाहे तो उसकी इच्छा पूरी नहीं होनी देनी चाहिए। और इस समय देवव्रत ही पिता को इस भावी आपत्ति से मुक्त रख सकते हैं...वे चाहें तो अपना राज्याधिकार त्यागना अस्वीकार कर दें...पिता, न उस कन्या को पा सकेंगे, न काम-यातना भोगेंगे।...

किन्तु तभी उनके मन में एक भयंकर काली मूर्ति ठठा कर हँस पड़ी।

"कौन है तू?" देवव्रत ने पूछा।

"मुझे नहीं पहचाना?" काली मूर्ति हँसी, "मैं तेरे मन का कलुष हूँ। बहुत चतुर समझता है तू अपने-आपको। समझता है कि कुतर्कों और अतर्कों से तू पिता को पराजित कर देगा और जीवन का सुख-भोग करेगा। राज्याधिकार तू नहीं छोड़ेगा और वंश-वृद्धि के नाम पर अपना विवाह करेगा। स्पष्ट क्यों स्वीकार नहीं करता कि तुझे राज्य भी चाहिए और स्त्री सुख भी...।"

"हे भगवान!" देवव्रत ने अपना सिर पकड़ लिया, "मैं क्या सोच रहा हूँ।" उन्होंने अपना सिर उठा कर आकाश की ओर देखा, "क्या इच्छा है तेरी?"

5

प्रात: बहुत जल्दी हस्तिनापुर का नगर-द्वार खुल गया और अश्वारोही सैनिकों के अनेक गुल्म द्वार से बाहर निकल कर मार्ग के दोनों ओर प्रयाण की आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े हो गये। सैनिक यद्यपि सशस्त्र थे, फिर भी वे युद्ध-वेश में न हो कर मांगलिक वेश में थे, जैसे किसी समारोह के लिए तैयार हुए हों। अश्वारोहियों के पश्चात रथों की बारी आयी। सबसे आगे वाले रथ पर युवराज देवव्रत विराजमान थे। दूसरा रथ सेनापति का था और तीसरा मन्त्री का। चौथा रथ सबसे बड़ा, सुविधासम्पन्न और अलंकृत था। किन्तु यह रथ ख़ाली था। उसमें दो दासियाँ अवश्य थीं; किन्तु स्पष्टत: यह रथ दासियों की सवारी के लिए नहीं था।

देवव्रत ने अपनी भुजा उठा कर प्रयाण का संकेत किया और उनका रथ सबसे आगे दौड़ चला। रथों के आगे बढ़ते ही, अश्वारोही उनके पीछे-पीछे चल पड़े। ऐसे अवसरों पर सामान्यत: सेना के साथ जो अन्न और वस्त्रों से भरे छकड़े चलते थे–वे इस छोटी-सी सेना के साथ नहीं थे।

हस्तिनापुर नगर गंगा के तट पर था; किन्तु हस्तिनापुर का राज्य मुख्यत: गंगा और यमुना के दोआब के बीच बसा हुआ था। गंगा के दोनों तटों के साथ-साथ आर्यों के प्रमुख नगर बसे हुए थे; इसलिए गंगा का जल उनके पीने, नहाने तथा खेतों को सींचने का ही प्रमुख स्रोत नहीं था, उनकी परिवहन-व्यवस्था भी बहुत कुछ गंगा के जल पर निर्भर करती थी। गंगा के कारण ही उनके नगर एक सूत्र में जुड़े हुए थे और आवश्यकता होने पर, स्थल-मार्ग की तुलना में जल-मार्ग से त्वरित यात्रा की जा सकती थी। किन्तु यमुना के साथ अभी उनका इतना गहरा सम्बन्ध नहीं हुआ था। वैसे तो मथुरा जैसा प्रसिद्ध नगर, यमुना के तट पर ही बसा हुआ था; किन्तु उसमें परिवहन अधिक नहीं था। जलचरों की संख्या अधिक होने के कारण उसका जल बहुत सुरक्षित नहीं माना जाता था। यदा-कदा उसमें चलने वाली नौकाएँ किसी-न-किसी विपत्ति में फँस जाया करती थीं। फिर भी केवटों की विभिन्न जातियाँ किसी-न-किसी रूप में यमुना से अपनी आजीविका प्राप्त करने का प्रयत्न निरन्तर कर ही रही थीं। यमुना में से मछलियाँ पकड़ने और नौकाएँ चलाने का अधिकांश कार्य ये केवट-जातियाँ ही करती थीं।

मध्याह्न के आस-पास देवव्रत का रथ यमुना-तट के एक केवट-ग्राम के बाहर रुक गया। उनके रुकते ही अन्य रथ और पीछे आने वाले अश्वारोही भी रुक गये। यमुना-तट पर खेलने वाले कुछ बच्चे और घाटों पर नहाते या कपड़े धोते हुए स्त्री-पुरुष, सैनिकों को देख कर चौंक उठे। कुछ क्षण स्तम्भित रहने के पश्चात वे घबरा कर ग्राम की ओर भाग गये। नौकाओं में बैठे केवट स्त्री-पुरुषों ने अपनी नौकाएँ तटों से हटा कर मध्य धारा में डाल दीं, ताकि सैनिक उन तक न पहुँच सकें।

देवव्रत ने मुस्कुरा कर सेनापति की ओर देखा, "इन्हें अभय कर दो सेनापति।"

सेनापति के संकेत पर एक सैनिक ने उच्च स्वर में घोषणा की, "ग्राम-प्रमुख, पंच-गण तथा साधारण स्त्री-पुरुष सुनें। यह कोई सैनिक अभियान नहीं है, जिससे किसी को हानि की आशंका हो। यह हर्ष का अवसर है। कुरुओं के युवराज, राजकुमार देवव्रत, अपने एक निजी कार्य से आपके प्रमुख दासराज से मिलने के लिए पधारे हैं। वे सारी प्रजा को अभय दे रहे हैं। प्रजा निर्द्वन्द्व भाव से अपने कार्य में लगी रहे।"

देवव्रत ने मन्त्री की ओर देखा, "अमात्य नेतृत्व करें।"

मन्त्री राजा शान्तनु के साथ यहाँ आ चुके थे, इसलिए मार्ग से भली-भाँति अवगत थे। वे आगे-आगे चले और दासराज के कुटीर के सामने आ कर खड़े हो गये।

दासराज ने बाहर निकल कर स्वागत किया, "पधारें युवराज!"

"दासराज! मैं एक विशेष प्रयोजन से उपस्थित हुआ हूँ।" दासराज द्वारा दिये गये आसन पर बैठने के पश्चात देवव्रत बोले, "आशा है आप मुझे निराश नहीं करेंगे।"

"युवराज, आदेश करें।"

देवव्रत ने वृद्ध दासराज को देखा: उसके चेहरे पर न चिन्ता थी, न भय। वह अत्यन्त निर्द्वन्द्व भाव से बैठा प्रतीक्षा कर रहा था।

"मैं, अपने पिता चक्रवर्ती शान्तनु की रानी बनाने के लिए आपसे आपकी पुत्री देवी सत्यवती की याचना करने

आया हूँ।"

"पुत्री है तो उसके लिए याचक भी आयेंगे ही।" दासराज हँसा, "वैसे यह मेरा सौभाग्य है कि याचना एक अत्यन्त सम्मानित कुल की ओर से आयी है।"

देवव्रत चुपचाप दासराज की ओर देखते रहे।

थोड़ी देर में दासराज ने सिर उठा कर देवव्रत को देखा, "यदि मैं कन्या-दान न करुँ तो याचना का स्वरूप क्या होगा–अपहरण?"

देवव्रत को लगा, अपमान से उनका रोम-रोम सुलग उठा है...अपहरण करना होता तो इतनी याचना की क्या आवश्यकता थी। राजा शान्तनु या देवव्रत के संकेत-भर से, कन्या का हरण हो जाता; किन्तु आर्यों की मर्यादा उसकी अनुमति नहीं देती।

दूसरे ही क्षण देवव्रत को लगा...अपमान या क्रोध का कोई प्रसंग नहीं है। दासराज एक साधारण केवट है। बहुत सुशिक्षित भी नहीं है कि समझता हो कि उसके मुख से निकले शब्द किसी के मन में क्या भाव जगायेंगे।...वैसे भी बहुत सम्भव है कि अब तक उसके साथ राजाओं और सैनिकों का यही व्यवहार रहा हो।

...देवव्रत को अपने ऊपर भी कुछ आश्चर्य हुआ। इधर क्या हो गया है कि वे एक ही वस्तु, व्यक्ति या घटना के विषय में दो विरोधी दृष्टिकोणों से सोचने लगे हैं, जैसे वे एक व्यक्ति न हों...या उनके भीतर दो व्यक्ति बैठे हों और दोनों एक-दूसरे के निपट विरोधी ढंग से सोचते हों...

"नहीं! हरण नहीं होगा।" देवव्रत बहुत स्पष्ट शब्दों और दृढ़ स्वर में बोले, "पर आप ऐसा क्यों सोचते हैं, दासराज!"

"युवराज! मैं अपनी स्थिति को अच्छी तरह जानता हूँ।" दासराज ने बड़े निर्भीक स्वर में कहा, "सत्यवती मेरी कन्या है, पर उसकी रक्षा का मेरे पास कोई साधन नहीं है। आप समर्थ हैं। आपके पास सैनिक हैं, शासन-तन्त्र है। आप या राजा शान्तनु उसका हरण करना चाहें तो मैं कैसे रोक सकता हूँ।"

देवव्रत मुस्कुराये, "दासराज आश्वस्त रहें। कोई आपकी कन्या का हरण नहीं करेगा। क्षत्रियों में कन्या के हरण का प्रचलन अवश्य है, किन्तु हरण वहीं होता है, जहाँ कन्या की रक्षा के लिए उसके पक्ष से लड़ने-वाले सशस्त्र योद्धा हों। आपके पास अपने बचाव के लिए सशस्त्र योद्धा नहीं हैं: आपकी कन्या का हरण क्षत्रिय धर्म के अनुकूल नहीं है। आपने न कन्या के लिए स्वयंवर रचाया है, न आपकी कन्या वीर्यशुल्का है।"

"तो?"

"कन्या तभी हमारे साथ जायेगी, जब आप अपनी इच्छा से मेरे पिता की भार्या के रूप में उसका दान करेंगे।"

"और यदि मैं स्वेच्छा से कन्या-दान न करूँ तो आप लौट जायेंगे?"

"नहीं!" देवव्रत के मुख से अकस्मात ही निकल गया। उनका चेहरा आरक्त हो गया, जैसे शरीर का सारा रक्त मस्तक की ओर दौड़ पड़ा हो...पर दूसरे ही क्षण जैसे ज्वार में भाटा आया। उनका मन कुछ शान्त हुआ और वाणी स्थिर, "मैं जानता हूँ, आप हमारी याचना अस्वीकार नहीं करेंगे।"

देवव्रत ने दासराज को देखा: इस बार प्रौढ़ वय का यह व्यक्ति उन्हें शालीन, दृढ़ और व्यावहारिक लगा। जाने प्रतिदिन कितने-कितने लोगों से उसे निपटना पड़ता होगा...और उनमें से अनेक लोग उससे कहीं अधिक समर्थ, बुद्धिमान, चतुर, ज्ञानी, धनवान, सत्तावान और शक्तिशाली होते होंगे। उन सबके साथ व्यवहार ने उसे सिखाया है कि किस प्रकार समर्थ लोगों को अप्रसन्न किये बिना, अपनी बात पर टिके रहना है और अपने स्वाभिमान की रक्षा करनी है।

"युवराज!" दासराज ने कहा, "मैं कुछ समझ नहीं पाया।"

"क्या दासराज?"

"मेरी अस्वीकृति की दशा में न आप वापस लौटेंगे और न बल-प्रयोग करेंगे।...तो क्या करेंगे आप?"

"दासराज! हम कन्या का मूल्य चुकायेंगे।" देवव्रत का स्वर दृढ़ किन्तु समझाने का भाव लिये हुए था, "आप कन्या के पिता हैं, कन्या-दान आप करेंगे ही। बात केवल इतनी-सी ही है कि वर आपको अनुकूल जँचना चाहिए। मैं जानता हूँ कि आपकी कसौटी पर खरे उतरने के मार्ग की जो बाधाएँ हैं, उन्हें दूर करने में मैं समर्थ हूँ। आप अपनी आपत्ति कहें।"

दासराज कुछ देर तक देवव्रत का चेहरा देखते रहे, फिर बोले, "किस मुख से कहूँ। मैं संकोच से गड़ा जा रहा

हूँ। कहीं ऐसा न हो कि अपने हित की रक्षा करने के प्रयत्न में मैं किसी और के प्रति अन्याय कर बैठूँ। किसी और के प्रति... जो न दुष्ट है, न अन्यायी, और न ही मेरा शत्रु है। अपना हित करने में किसी दूसरे का अहित तो नहीं करना चाहिए न युवराज!"

"न्यायसंगत व्यवहार की माँग में किसी का भी अहित नहीं होता दासराज!" देवव्रत कुछ सोचते हुए बोले, "आप अपनी बात कहें।"

"युवराज! आप भी अनुभव कर रहे होंगे," दासराज पुन: बोला, "कि यह स्थिति सामान्य नहीं है।"

"जी!"

"एक ओर कुरुपति हैं और दूसरी ओर यह केवट।" दासराज हँसा, "वर और कन्या के वय में अन्तर भी असाधारण है। फिर वर का पिता, कन्या के पिता से याचना नहीं कर रहा, वरन वर का पुत्र कन्या के पिता से याचना कर रहा है।"

"इससे क्या अन्तर पड़ेगा दासराज?"

"बहुत!" दासराज बोला, "जब पिता अपने पुत्र के लिए कन्या की याचना करे तो कन्या के पिता को उसके भविष्य की चिन्ता नहीं होती। पिता अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति पुत्र को देगा ही। पर युवराज! वर्तमान स्थिति में मुझे अपनी पुत्री के भविष्य की चिन्ता करनी ही होगी।"

"क्यों दासराज!"

"क्योंकि पुत्र की सम्पत्ति पिता के पास लौट जाये, इसका कोई विधान नहीं है।"

"पर उसकी आवश्यकता ही क्यों पड़ेगी?"

"पड़ेगी।"

"कैसे?"

"स्पष्ट कहूँ?"

"नि:संकोच!"

"राजा शान्तनु किसी भी रूप में मेरी पुत्री सत्यवती के लिए उपयुक्त नहीं हैं...उनकी उपयुक्तता केवल इसी बात पर टिकी है कि वे देश के राजा हैं।" उसने रुक कर देवव्रत की ओर देखा।

देवव्रत कुछ नहीं बोले।

"सत्यवती केवल यह सोच कर राजा की भार्या बनेगी कि उसकी दरिद्रावस्था समाप्त होगी और उसका पुत्र यमुना में नौकाएँ खेने वाला केवट न हो कर हस्तिनापुर का राजा होगा। पर..."

"पर क्या?"

"पर हस्तिनापुर के राज्य का युवराज विद्यमान है। वह बुद्धिमान, योद्धा, शक्तिशाली और लोकप्रिय है। अपने पिता के पश्चात वह राज्य, धन-सम्पत्ति, कुल-गोत्र सबका स्वामी होगा।" दासराज ने रुक कर देवव्रत की ओर देखा, "ऐसे में मेरी पुत्री और उसकी सन्तानों का भविष्य क्या होगा युवराज! दासी-पुत्र का जीवन बिताने से केवट बने रहना क्या बुरा है?"

"नहीं!" देवव्रत पूरी दृढ़ता से बोले, "वे दासी-पुत्र नहीं होंगे।"

"तो क्या होंगे?"

"जो आप चाहें।" देवव्रत सहज भाव से बोले।

"मैं तो केवल इतना चाहूँगा कि जब मैं अपनी कन्या का हाथ चक्रवर्ती के हाथ में दे रहा हूँ तो वह चक्रवर्ती की रानी बन कर ही रहे। उसकी सन्तान, राजा की सन्तान हो।"

"ऐसा ही होगा दासराज!"

"प्रमाण?"

"आप क्या प्रमाण चाहते हैं?"

"सत्यवती का ज्येष्ठ पुत्र हस्तिनापुर का युवराज हो।"

"स्वीकार है।" देवव्रत बोले, "ऐसा ही होगा।"

आश्चर्य से दासराज का मुख खुल गया, "आप समझ रहे हैं युवराज! कि मैं क्या माँग रहा हूँ।"

"पूरी तरह से समझ रहा हूँ दासराज!" देवव्रत न केवल शान्त थे, वरन मुस्कुरा रहे थे।

"आप युवराज नहीं रहेंगे। पिता के पश्चात आपको राज्य नहीं मिलेगा। आप एक साधारण जन हो जायेंगे। कुरुओं का यह विराट साम्राज्य आपका नहीं होगा...।"

देवव्रत को लगा कि वह दासराज की कुटिया में नहीं बैठे, वे जैसे किसी खुले स्थान में आ बैठे हैं, जहाँ कोई सीमा नहीं है, बन्धन नहीं है, स्वार्थ नहीं है, अर्जन नहीं है। यहाँ पृथ्वी का आकर्षण नहीं है, वायु का दबाव नहीं है। मन में लोभ नहीं है। ग्रहण नहीं है...

उनके मन में एक नारी-मूर्ति उभरी, जो फैलती-फैलती उनके सम्पूर्ण अस्तित्त्व में समा गयी और फिर दसों दिशाओं में उसका स्वर फैला, 'देवव्रत! तू बच गया। तेरा मन मुक्त हुआ। तू प्रपंच से छूट गया। तू सुखी रहेगा पुत्र! ग्रहण में केवल दुख है। त्याग सात्विक है पुत्र। मैं तो तुझे इस मोह-चक्र से तभी मुक्त कर देती, जब तेरा जन्म हुआ था, पर तेरे पिता ने मेरी इच्छा पूरी नहीं होने दी...'

देवव्रत को लगा, वह नारी-मूर्ति उनकी माँ ही थी...

दासराज देवव्रत को देखता रहा; शायद देवव्रत को समझ में आ जाये कि वे क्या छोड़ रहे हैं। पर देवव्रत में कोई प्रतिक्रिया नहीं जागी। उनका चेहरा अधिक-से-अधिक शान्त होता गया, उनकी आत्मा अधिक-से-अधिक प्रसन्न होती चली गयी...

"पर मैं कैसे इसका विश्वास करूँ" अन्त में दासराज चिन्तित स्वर में बोला।

"मैं आपको वचन दे रहा हूँ।"

"मेरे पास सिवाय आपका वचन मान लेने के और कोई उपाय भी तो नहीं है।..."

"दासराज!" देवव्रत का स्वर आवेश में कुछ ऊँचा हो गया, "कुरुवंशियों का वचन ही प्रमाण होता है। ऐसा न होता तो चक्रवर्ती स्वयं आपको वचन दे कर कन्या को ले जा सकते थे। तब देवव्रत के यहाँ आने की कोई आवश्यकता नहीं थी।"

"शान्त हों युवराज!" दासराज ने दीन मुद्रा बना कर हाथ जोड़ दिये, "दासराज ने अपना जीवन कुरुवंशियों में नहीं बिताया, जिनका वचन ही प्रमाण होता है। वह तो आठों प्रहर उन लोगों में रहता आया है, जिनका वचन केवल पाखण्ड है। वचन को सत्य मान लेने का मुझे अभ्यास नहीं है युवराज!" वह रुक कर सायास मुस्कुराया, "वैसे भी एक असहाय निर्बल वृद्ध की आशंकाओं का बुरा न मानें। जहाँ ममता होती है, वहाँ आशंका होती है, और जहाँ आशंका होती है, वहाँ संदेह भी होता है।"

"आशंकाओं को किसी का विश्वास कर आश्वस्त भी तो होना चाहिए।"
देवव्रत का स्वर अब भी आहत था।

"आश्वस्त हुआ।" दासराज ने अपने दोनों हाथ ऊपर उठा दिये, "किन्तु तर्क तो सुनेंगे आप?"

"क्यों नहीं!" देवव्रत ने तत्काल कहा, किन्तु उनका मन पुन: खटक गया ...यह व्यवहारसिद्ध वृद्ध केवट अपने तर्कों से अब किस प्रपंच की रचना करने जा रहा है...

"कुरुवंशियों का वचन ही प्रमाण है।" दासराज बोला, "और यह भी आपने ही कहा है कि आपके स्थान पर चक्रवर्ती वचन नहीं दे सकते थे, इसलिए आपको आना पड़ा।"

"मैं सहमत हूँ।"

"तो इसका अर्थ है कि पुत्र के स्थान पर उसका पिता वचन नहीं दे सकता; क्योंकि यह सम्भावना हो सकती है कि पुत्र, पिता द्वारा दिये गये वचनों की रक्षा न करे..."

"कुरु-वंश में इसका अर्थ है कि पुत्र के स्थान पर वचन देकर पिता पुत्र के प्रति अन्याय नहीं करना चाहता।"

"यही सही।" दासराज हँसा, "कुरु-वंश में पिता, पुत्र के स्थान पर स्वयं वचन देना उचित नहीं समझता। इसलिए चक्रवर्ती ने आपके स्थान पर वचन नहीं दिया।"

"जी!"

"आप भी अपने भावी पुत्रों के स्थान पर स्वयं वचन देना उचित नहीं मानेंगे।"

"जी!"

दासराज कुछ क्षणों तक मौन बैठा रहा और देवव्रत उसके मौन में से उसका मन्तव्य पढ़ने का प्रयत्न करते रहे। अन्त में दासराज ही बोला "आप सत्यवती के पुत्र के लिए अपना राज्याधिकार छोड़ रहे हैं।...मैं आपका विश्वास कर रहा हूँ; किन्तु कल आप विवाह करेंगे, आपके पुत्र होंगे, वे बड़े होंगे..." दासराज अपनी पूरी तन्मयता के साथ देवव्रत

के चेहरे को देख रहा था, "सम्भव है कि वे आपसे सहमत न हों। सम्भव है कि वे अपना अधिकार माँगें। सम्भव है कि वे आपसे कहें कि आपको अपना राज्याधिकार, अपने जीवन का सुख और भोग छोड़ने का पूरा अधिकार है; किन्तु आपको क्या अधिकार है कि आप चक्रवर्ती शान्तनु के ज्येष्ठ पुत्र की ज्येष्ठतम सन्तान से हस्तिनापुर के राज्य का उत्तराधिकार छीन लें?...आप अपने पुत्र के स्थान पर यह वचन कैस दे रहे हैं कि वह अपने उचित, नैतिक, पारम्परिक और वैधानिक अधिकार की माँग नहीं करेगा?..."

दासराज ने अपनी बात समाप्त की और देवव्रत की ओर देखा। अपनी बात समाप्त करते-करते दासराज हाँफ गया था। उसे लग रहा था, जैसे मार्ग में बाधास्वरूप पड़ी भारी शिलाओं को हटा-हटा कर अपना मार्ग प्रशस्त कर आगे बढ़ने वाला व्यक्ति दस डग चलते-चलते हाँफ जाता है, वैसे ही उसकी वाणी अपने संकोच और मर्यादा की शिलाओं को तोड़ कर इतने शब्द कहने में ही हाँफ गयी थी...

उसकी दृष्टि देवव्रत पर टिकी थी: क्या कहते हैं देवव्रत? सम्भव है, वे मौन रह जायें, सम्भव है वे हँस कर टाल जायें, सम्भव है वे रुष्ट हो जायें...

और देवव्रत अपने मन के कल्पना-लोक में कहीं अपने पिता के चरणों में जा बैठे थे, 'पिता! मैंने आपको काम-सुख के अभाव में पीड़ित देखा।...मैंने आपको कामयातना में तड़पते देखा। मैंने आपके सारे जीवन को कामासक्ति की याचना में असन्तुलित होते देखा।...आपने मुझे दर्शाया कि काम-सुख, काम-सुख नहीं है, सुख का प्रपंच है। यह तो मृगतृष्णा है। प्राणी उसकी कामना में कष्ट पाता है, अपने विवेक का वध कर क्षणिक सुख भोगता है और फिर उस भोग के मूल्य 'दुख' को सहन कर, पुन: उस सुख की कामना में तड़पता है...आपने मुझे इस दुश्चक्र से मुक्त कर दिया पिता!...शायद मैं स्वयं अपने बल पर काम के बन्धन न तोड़ पाता। कदाचित मैं भी उसके पाश में बँधा, बलि-पशु के समान ऐंठता और तड़पता रहता...फिर पत्नी और सन्तान के मोह में कर्म के बन्धन में बँधता, और इस दुश्चक्र से कभी मुक्त न हो पाता।...पिता। आपने मुझे यह यातना प्रत्यक्ष दर्शाई, उसका स्वरूप समझने में सहायता दी; और जब अन्त में मुझे उस यातना से सदा के लिए मुक्त हो जाने का अवसर प्रदान कर रहे हैं।...पिता। मैं आपको प्रणाम करता हूँ...'

"युवराज!" अपने शब्दों की कोई प्रतिध्वनि न पाकर दासराज ने पुन: पुकारा।

देवव्रत की आँखों में शून्य के स्थान पर दासराज की पहचान लौटी। उनके मुख पर सहज मुस्कान आयी और उल्लसित होकर उन्होंने कहा, "दासराज! मैं आपको वचन देता हूँ कि मेरा पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र...कोई भी, कभी भी, आपसे, मुझसे, और आपकी पुत्री की सन्तान से अपने पैतृक राज्याधिकारी की माँग नहीं करेगा..." वे बिना रुके ही कहते गये, "मैं सूर्य, पृथ्वी और पवन को साक्षी मानकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं आजीवन अविवाहित रहूँगा...।"

मन्त्री के शरीर पर जैसे बिजली गिरी, "गांगेय! युवराज! यह क्या किया आपने!"

देवव्रत के होंठों पर अपार्थिव मुस्कान थी, "मैंने स्वयं को बचा लिया अमात्य प्रवर! अब मेरे लिए जीवन न यम-फाँस है, न काम-पाश! मेरे मन में न स्त्री की कामना है, न सम्पत्ति की, न अधिकार की। माता मुझे जीवन-मुक्त कर आख़िर और किन दुखों से बचाना चाहती थीं...।"

देवव्रत उदास नहीं थे। उनके चेहरे पर न कोई पश्चात्ताप था, न द्वन्द्व का अन्धकार। उनके चेहरे पर सफलता और मुक्ति का उल्लास था।

दासराज ने हाथ जोड़ दिये, "युवराज! आप मनुष्य नहीं हैं। आप देवता हैं। आप सचमुच पवित्र गंगा के पुत्र हैं, जो धरती के मल में से केवल इसलिए बहती है कि अपने दोनों किनारों को सींच सके। उन पर बसने-वाली भूखी प्रजा को अन्न, जल और जीवन दे सके। आप धन्य हैं देव।" उसका स्वर भर्रा आया, "और मैं ऐसा चाण्डाल हूँ, जिसने आप जैसे देव-पुरुष से उनके जीवन का सम्पूर्ण सुख छीन लिया। मैंने आपका सब कुछ छीन लिया...।"

देवव्रत ने दासराज के कंधे पर प्रेमभरा हाथ रखा, "आप नहीं जानते दासराज! कि आपने मुझे क्या-क्या दे दिया। उठिए! मोह त्यागिये और अपनी पुत्री और मेरी माँ देवी सत्यवती की विदाई का प्रबन्ध कीजिये।"

6

सत्यवती को उसकी सखियाँ ले कर बाहर आयीं तो देवव्रत ने पहली बार उसे देखा: उन्हें विश्वास नहीं हुआ कि दासराज के इस कुटीर में ऐसी कन्या रहती आयी होगी। दासराज की ऐसी पुत्री? न वैसा वर्ण, न वैसा रूप। दासराज की पत्नी भी साथ ही थी। उसके रूप में कुछ भी असाधारण नहीं था। सत्यवती सचमुच असाधारण सुन्दरी थी। केवट-कन्या तो वह लग ही नहीं रही थी। लगता था जैसे किसी आर्य राजकुमारी ने नाटक में अभिनय करने के लिए केवट-कन्या का नेपथ्य ग्रहण किया हो।...उसका वय पच्चीस वर्षों से ऊपर ही रहा होगा। सामान्यतः केवट-घरों में इस वय तक कन्याएँ अविवाहित नहीं रहतीं।...सम्भव है कि दासराज को कोई उपयुक्त वर न मिला हो...सम्भव है, सत्यवती किसी विशेष प्रकार के घर की इच्छा रखती हो...

"यह आपकी ही पुत्री है दासराज?" देवव्रत के मन का प्रश्न उनके अधरों तक आ ही गया।

"मैं इसका पिता हूँ युवराज। जनक नहीं।" दासराज न कहा, "मछलियाँ पकड़ने गये केवटों ने इसे भी यमुना की जलधारा में बहते पाया था। इसका रंग-रूप और तेज़ बताता है कि यह किसी क्षत्रिय राजा की कन्या है।"

सत्यवती अपनी सखियों से विदा हो कर अपने पिता के पास आयी। कुछ बोली नहीं। उसने चुपचाप दासराज के कंधे से अपना माथा टिका दिया, जैसे लड़खड़ा कर गिर पड़ने से बचने के लिए व्यक्ति किसी स्तम्भ का सहारा लेता है।

दासराज ने अपनी बाँह में भर कर बेटी को सहारा दिया। उसका स्वर भर्रा आया था, पर शब्द स्पष्ट थे, "बेटी! मैं आजीवन तुझे अपने घर में नहीं रख सकता था। तुझे किसी क्षत्रिय राजा या राजकुमार के साथ जाना ही था। स्वेच्छा से न भेजता तो वे बलात ले जाते। इस सौदे में तेरे सुख के लिए जो मैं अधिक से आकि माँग सकता था, वह मैंने माँग लिया है। अब तेरे लिए भगवान से यही माँगता हूँ कि तू अपने पति के घर सुखी रहे...।"

दासराज के शब्द खो गये। आगे की बात कहने के लिए उन्होंने अपनी हथेली से सत्यवती का कंधा थप थपा दिया, जैसे कह रहे हों, 'जा बेटी। जा। हमारे साथ तेरा सम्बन्ध यहीं तक का था।'...

सत्यवती ने एक बार आँखें उठा कर भरपूर दृष्टि से दासराज को देखा। उसकी आँखों में कोई भाव नहीं था– जैसे मनुष्य की आँखें न हों, देखने भर का कोई यन्त्र हो।

वह धीरे-धीरे चलती हुई रथ तक आयी। दासियों ने उसे सहारा दिया और वह अपने लिए लाये हुए ख़ाली रथ पर आरूढ़ हो गयी। उसे बैठ गयी देख देवव्रत अपने रथ में आ गये और बिना कुछ सोचे और कहे, अपने अभ्यास के अनुसार प्रयाण का संकेत देने के लिए अपनी बाँह उठा दी। रथ चल पड़े। उनके पीछे-पीछे अश्वारोही चले।...यमुना का तट छोड़ कर उनका दल कच्चे मार्ग पर आ गाया। कच्चा मार्ग समाप्त होते ही, रथ और अश्व राजमार्ग पर सरपट भाग चले।

सत्यवती के बाहर आते ही देवव्रत के मन में पहला भाव प्रसन्नता और उल्लास का ही जागा था। उससे भी ऊपर उनके मन में शायद कोई बहुत बड़ा असाधारण मूल्य चुका कर कुछ असम्भव उपलब्ध कर लेने का भाव था।... देवव्रत ने आज अपने सारे भौतिक सुखों को तिलांजलि दे कर पिता के जीवन के इस खण्ड में, उनकी मनोकामना को पूरा किया था।...शायद यह अपने पूर्वज पुरु से भी बड़ा त्याग था। पुरु ने तो एक निश्चित अवधि के लिए पिता ययाति की वृद्धावस्था ले कर, उन्हें अपना यौवन दिया था। अपना यौवन दे कर पुरु वृद्ध हो गये थे, शरीर से भी और मन से भी; इसलिए उनके मन में यौवन के सुखों की आकांक्षा भी नहीं रही होगी, किन्तु देवव्रत ने तो अपना यौवन रख लिया और उसके सुख त्याग दिये, सुखों के अभाव में जलने के लिए। पुरु ने बदले में, अनधिकारी होते हुए भी, अपने पिता से उनका राज्य पाया था। देवव्रत ने अधिकारी होते हुए भी अपना राज्य छोड़ दिया था।...देवव्रत ने अपने सारे बन्धन तोड़ दिये थे। उन्हें सुख का प्रपंच अब कभी वंचित नहीं कर पायेगा। वे मुक्ति की आनन्दावस्था में विचरण करेंगे...

पर दासराज ने क्या कहा था अपनी पुत्री से...'तुझे किसी क्षत्रिय राजा या राजकुमार के साथ जाना ही था'...क्या दासराज अपनी पुत्री को चक्रवर्ती की पत्नी बना कर भी प्रसन्न नहीं हैं–इससे अधिक और क्या कामना हो सकती है एक पिता की? केवट की कन्या राजरानी बन गयी, कुरु राज्य के भावी शासकों की माता बन गयी...पर हाँ। समयवस्क, समविचार, समव्यवहार जीवन-संगी का सुख तो उसे नहीं मिलेगा। उसने केवल पाया ही नहीं, बहुत कुछ

खोया भी है।...जब दशरथ और कैकेयी तक का जीवन सन्तुलित और सुखी नहीं रह सका, राम और भरत जैसे भाइयों को भी उस असन्तुलन का दुख उठाना पड़ा, तो और कोई कहाँ से सुख पायेगा।...क्या आज से कुरु वंश के महलों में भी वृद्ध राजा की युवती भार्या की कथा दुहराई जायेगी?...'तो क्या हो गया?' देवव्रत ने स्वयं ही प्रतिवाद किया, 'कैकेयी राम को वनवास ही तो देगी। मैं तो पहले ही स्वयं को वनवासित कर चुका।'

'ठीक है।' जैसे किसी और मन ने कहा, 'कभी सत्यवती के मन में भी बैठ कर देख–वह अपने लिए कैसे वर की कामना कर रही थी। उसने भी तो अपने वर, अपने प्रेमी, अपने पति का कोई चित्र बनाया होगा। और वह चित्र किसी भी दशा में महलों में सोने के पलंग पर पड़े एक कामातुर वृद्ध राजा का नहीं होगा, जो अपनी आसक्ति के कारण, अनेक लोगों की इच्छाओं और कामनाओं का दमन कर सकता है...'

देवव्रत के मन में अपराध-बोध जागा...वे एक ही दिशा में अपने चिन्तन के तुरंग क्यों दौड़ाये लिये जाते हैं? क्यों नहीं सोचते कि मार्ग दूसरी ओर से भी चलता है।...क्या कर बैठे वे! हो सकता है कि सत्यवती के प्रेम का लक्ष्य कोई युवक रहा हो–कोई केवट, कोई तपस्वी, नदी पार करने-वाला कोई व्यापारी, जब-तब मिल जाने-वाला कोई सेना-अधिकारी...तभी तो विदा करते समय दासराज के शब्दों में इतनी असहायता थी, इतनी हताशा थी।...तब क्यों देवव्रत को नहीं लगा कि दासराज के शब्दों में अपनी पुत्री को राजरानी बनाने का उल्लास कहीं नहीं है...तब क्यों नहीं सोचा उन्होंने कि भौतिक सुख ही जीवन का अन्तिम सुख नहीं है, राजा की रानी बनना ही किसी युवती के मन की अन्तिम अभिलाषा नहीं है...देवव्रत ने अपने लिए मान लिया कि सुख, धन में नहीं है, इसलिए उन्होंने राज्य का त्याग कर दिया; तो उन्होंने यह कैसे मान लिया कि सत्यवती का सुख धन में है?...केवल इसलिए क्योंकि सत्यवती एक निर्धन की कन्या है?...ऐसा क्यों नहीं सोचा उन्होंने कि केवट के घर से राजमहल में ला कर उन्होंने सत्यवती के वे सारे सुख छीन लिए हैं, जो उसे केवट की उस कुटिया में उपलब्ध थे। राजमहल में उसके लिए जिन सुखों की कल्पना वे कर रहे हैं, सम्भव है कि सत्यवती के लिए वे सुख, सुख ही न हों...

देवव्रत को लगा, उनका एक और मन है, जो ढेर सारा आक्रोश संचित कर रहा है...। पर सत्यवती के मन में बैठ कर वे बहुत नहीं सोच सके। उनका क्षत्रिय मन जैसे बहुत आवेश के साथ बोला, 'सारे शास्त्र कहते हैं कि माता-पिता की इच्छा का पालन, उनकी इच्छा की पूर्ति–मानव का पहला धर्म है। उन्हें आज तक यही उपदेश दिया गया था। आज जब उन्होंने अपने जीवन का सर्वस्व दे कर अपने पिता के लिए उनके जीवन का सबसे बड़ा सुख ख़रीद लिया है, तो इस प्रकार की आपत्तियों का क्या अर्थ?...श्रवण कुमार अपने माता-पिता की इच्छा-पूर्ति के कारण अमर हो गया। दशरथ-पुत्र राम इसी प्रकार अपने पिता की इच्छा पूरी करने के लिए वन चले गये और अपने यौवन का सर्वश्रेष्ठ काल, राजमहलों में नही, भयंकर वनों में बिता आये।...देवव्रत ने भी वही किया है...'

पर तर्क तो जैसे नाग-जाल हो रहा था। सहस्त्रों नाग एक-दूसरे से गुँथे पड़े थे। न किसी के शरीर का पता लगता था, न पूँछ का। बस फन-ही-फन दिखायी पड़ते थे। यदि कहीं किसी की पूँछ दिखायी भी पड़ती थी, तो जब तक देवव्रत उसे पहचान पाते थे, वह एक नया फन बन कर उठ खड़ी होती थी। और वही फन सबसे अधिक भयंकरता से फुफकारने भी लगता था कि सबसे पहले मुझसे ही निबट लो...

इस बार उन्हें लगा कि प्रश्नों का दुमुँहा नाग फुफाकर रहा हैः 'पहले यह निर्णय कर देवव्रत! कि तूने भौतिक कष्टों से बचने के लिए भौतिक सुखों को त्यागा है या पिता की कामना-पूर्ति के लिए अपने सुखों को तिलांजलि दे कर स्वयं को जीवन के प्रत्येक सुख से वंचित किया है?'...

उन्हें लगा कि इस दुमुँहे नाग के दोनों मुँहों को एक साथ पकड़ पाना शायद उनके लिए सम्भव नहीं है...वे तो जैसे इन दोनों ही प्रकार के गौरव से गौरवान्वित होने का सुख प्राप्त कर रहे थे। पर दोनों बातें कैसे हो सकती हैं? यदि धन, सत्ता और नारी से प्राप्त सुखों में सार नहीं है तो उन्होंने कोई त्याग नहीं कियाः जो श्रेयस्कर था, वही किया।...पर यदि पिता की कामना का संयोग सामने खड़ा नहीं होता, तो क्या तब भी वे इन सुखों को असार मान कर त्याग देते?

और यदि ये सुख असार हैं तो वह पिता के लिए उन सुखों को क्यों जुटा रहे हैं? क्यों नहीं उन्हें भी इन सुखों की निस्सारता दिखाते।...क्यों उनके सामने प्रलोभन रखते हैं? क्यों उन्हें उन सुखों की ओर और भी प्रवृत्त कर रहे हैं? क्या पुत्र के रूप में वह अपने कर्तव्य का पालन कर रहे हैं?...

और सहसा उनका मन इन शब्दों पर अटक गया...कर्तव्य का पालन ही तो कर रहे हैं वह। पिता की आज्ञा का पालन तो अधम पुत्र भी करता है; वे तो पिता की इच्छा का पालन कर रहे हैं।...यही उनका धर्म था। पुत्र के रूप में यही उनका परम धर्म था।

उन्हें लगा, उनके मन के सारे उद्वेग शान्त हो गये। थोड़ी देर पहले जो मन, सागर की उत्ताल तरंगों को झेल रहा था, जिसमें प्रत्येक क्षण एक ज्वार उठ रहा था, वह सहसा ही शान्त हो गया था। सारे संशयों ने पालतू कुत्ते के समान अपने स्वामी के सामने सिर टेक दिया था और पूँछ हिला रहे थे।...देवव्रत दिग्विजयी के समान उन्हें देख रहे थे...

पर सागर अधिक देर तक शान्त नहीं रहा। उसमें फिर से प्रश्नों की लहरें उठने लगीं: 'पिता और पुत्र का क्या सम्बन्ध है?'

देवव्रत जिस समाज में रहते हैं, वह समाज मानता है कि पिता ने पुत्र को जन्म दिया है। पिता ने पुत्र का पालन-पोषण किया है। इसलिए पुत्र पर पिता का पूर्ण अधिकार है। पुत्र, पिता की सम्पत्ति है। पुत्र, पिता के लिए जो भी कर दे, वह कम है। यह शरीर पिता का है, यह प्राण पिता के हैं...पर देवव्रत बहुत समय तक वनों और आश्रमों में रहे हैं। उन्होंने प्रकृति को बहुत निकट से देखा है–वनस्पति को भी और पशु-जगत को भी। वनस्पति की उत्पत्ति, विकास और अवसान–तीनों को देखने से प्रकृति का स्वरूप उनके सामने प्रकट हुआ है।...वर्षा ॠतु आती है तो धरती का कण-कण जैसे सृष्टि करने को आतुर हो उठता है। कहीं, किसी प्रकार बीज डाल दिया जाये, किसी पौधे की शाखा तोड़ कर लगा दी जाये, पृथ्वी उसे अपने गर्भ में धारण कर सप्राण कर देती है। उन पौधों का विकास होता है। उनमें फूल और फल आते हैं और वे पौधे फिर से अपने बीज में परिणत हो जाते हैं।...यह तो प्रकृति का चक्र है। इसे ही माया का प्रपंच कहते हैं क्या? शून्य में से आकार प्रकट होता है और फिर वह आकार सिमट कर शून्य में समा जाता है...

पिता भी तो उसी प्रकार सृष्टि को आगे बढ़ाने का उपकरण मात्र है। उस पूरे वृत्त की निकटतम कड़ी। वह भी तो किसी और पौधे का बीज है, जो कुछ और पौधे उगाने का माध्यम बनता है। जो कुछ उसे प्रकृति से मिला है, वह उसे वापस प्रकृति को दे रहा है।...फिर अधिकार किस बात का माँगता है वह?

प्रकृति ने उसके मन में ममता भरी है, ताकि सन्तान का पालन-पोषण हो। मनुष्य अपनी वंचना को दूर करने के लिए सन्तान की इच्छा करता है–वंचित सन्तान की सुविधा के लिए स्वयं शरीर धारण नहीं करता। सन्तान में वह अपना विकास पाता है, इसलिए उसकी रक्षा करता है। उसका पोषण करता है...किन्तु देवव्रत ने अनेक बार देखा है कि सन्तान के समर्थ होने पर, पिता उसे अपने सुख का उपकरण मानने लगता है। पिता क्यों चाहता है कि उसके असमर्थ बुढ़ापे को सुखी बनाने के लिए, युवा सन्तान अपनी सारी जिजीविषा का दमन कर ले। अवसान की ओर बढ़ता हुआ पौधा क्यों चाहता है कि विकासोन्मुख पौधा पल्लवित और पुष्पित न हो?...पिता क्यों अपने पुत्र की ऊर्जा, प्राणवत्ता और उल्लास को स्वतन्त्र रूप से विकसित होने नहीं देना चाहता? क्यों वह चाहता है कि वह अपना सामर्थ्य, अपना उल्लास, अवसानोन्मुखी पिता की झोली में डाल दे...?

पिता भी तो मनुष्य है। उसमें भी मानवीय दुर्बलताएँ हैं। उसकी बुद्धि भी उसे धोखा दे सकती है। फिर उसकी ही इच्छाएँ, कामनाएँ, निर्णय क्यों सत्य हैं? पिता और पुत्र की इच्छाएँ दो स्वतन्त्र व्यक्तियों की इच्छाएँ होने के कारण समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। फिर पिता की इच्छा पूर्ति ही क्यों धर्म है?...

सहसा देवव्रत चौंके!...यह सब क्या चल रहा है उनके मन में–पितृद्रोह? क्या वे अपनी इच्छा से किये गये अपने निर्णय से असन्तुष्ट हैं? क्या उन्हें पश्चात्ताप हो रहा है?...

और देवव्रत ने जीवन में पहली बार अपना रूप पहचाना...उनके चिन्तन और कर्म के धरातल अलग-अलग हैं। गुरुकुलों में पढ़े हुए शास्त्र, गुरुजनों के उपदेश और नीतियाँ–बहुत गहरे उतर गये हैं ये सब, उनके रक्त में। कर्म करने की बारी आती है तो वे शास्त्र के नियमों को धर्म मानते हैं...पर चिन्तन के क्षणों में उनका मन उन नियमों के विरुद्ध अनेक प्रश्न उठाता है। शास्त्र के धर्म की मूलभूत सत्ता को चुनौती देता है।...कुछ कर नहीं पाते देवव्रत। उनका व्यवहार शास्त्र के धर्म को छोड़ नहीं पाता; और उनका मन अपने प्रश्नों से मुक्त नहीं होता।

इस द्वन्द्व से देवव्रत का निस्तार नहीं है।...

पिता ने सत्यवती को पाने की इच्छा की थी। पुत्र-धर्म का निर्वाह करने के लिए, वे अपने पिता की इच्छा-पूर्ति हेतु सत्यवती को उसके पिता से माँग लाये हैं।...पर जब उनका मन प्रश्न उठाने लगता है कि पिता की एक अनुचित इच्छा की पूर्ति उनका धर्म क्यों है? सत्यवती को उसकी इच्छा जाने बिना, शान्तनु की पत्नी बनने के लिए, देवव्रत को सौंप देने का दासराज को क्या अधिकार था?...किन्तु उन्हें इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं मिलता...धर्म क्या है? अधिकार क्या है? स्थापित अधिकार को चुपचाप मान लेना धर्म है या अधिकार के औचित्य का प्रश्न उठाना धर्म है?...देवव्रत का सिर जैसे प्रश्नों के ज्वार से फटने लगा–धर्म क्या है?...धर्म क्या है?...देवव्रत कुछ भी समझ नहीं

पाते...उनका मन जैसे हार मान कर अपना सिर टेक देता है...धर्म की गति अति सूक्ष्म है देवव्रत!...

7

रथ चला तो सत्यवती ने पहली बार दृष्टि उठा कर देवव्रत को देखने का प्रयत्न कियाः यह कौन पुरुष है, जो अपने जीवन का मूल्य दे कर अपने वृद्ध पिता का सुख ख़रीद कर ले जा रहा है?

आगे-आगे दो अश्वारोही दौड़े जा रहे थे; कदाचित वे हस्तिनापुर में पूर्व-सूचना देने के लिए जाने वाले धावक थे। उनके पीछे देवव्रत का रथ था। उसके पीछे-पीछे दो रथ और थे, और तब वह रथ चल रहा था, जिसमें सत्यवती बैठी हुई थी। रथ के पीछे-पीछे अनेक अश्वारोही दौड़ रहे थे...जाने वे रथ की रक्षा के लिए थे, या मात्र उसका पीछा करने के लिए थे, या शायद राजा लोग मानते हों कि उससे उनकी शोभा बढ़ती है...पर सत्यवती को तो ऐसा ही लग रहा था जैसे उसके ग्राम के बच्चे किसी बड़े वाहन को देख कर खेल-खेल में ही उसके पीछे दौड़ने लगते थे...

सत्यवती नहीं जानती थी कि इनमें किसका क्या पद है। पिछली बार जब स्वयं हस्तिनापुर के राजा शान्तनु आये थे, तब भी इसी प्रकार का जमघट लगा था उसके गाँव में। तब पहली बार उसने मन्त्री, अमात्य, सेनापति...और जाने ऐसे ही कितने नये-नये शब्द सुने थे। तब से वह इन शब्दों को सुनती आयी थी। उनके अर्थ वह कुछ-कुछ समझती भी थी और बहुत कुछ नहीं भी समझती थी।...इस बार भी वैसे ही बहुत सारे लोग, और बहुत सारे शब्द आये थे। अन्तर केवल इतना था कि इस बार राजा के स्थान पर युवराज आये थे।

युवराज की पीठ ही दिखायी पड़ रही थी, चेहरा नहीं दिख रहा था। सत्यवती के मन में बहुत इच्छा थी कि वह इस युवराज का चेहरा देखे। बाबा ने कहा था कि यह व्यक्ति दूसरों से एकदम भिन्न दिखायी देता है...उसका व्यवहार दूसरों से भिन्न था...पर क्या चेहरा भी...

सत्यवती का अपना रंग-रूप घर में न अम्मा से मिलता था, न बाबा से। बाबा ने बताया था कि मछलियाँ पकड़ने के लिए गये हुए कुछ निषादों को वह यमुना की धारा में बहती हुई मिली थी। उसका रंग-रूप और वस्त्र इत्यादि देख कर बाबा को विश्वास हो गया था कि वह किसी क्षत्रिय राजा की सन्तान थी। उसके वस्त्र, उसके बह कर आने की दिशा और विभिन्न राज-परिवारों के विषय में सुनी-सुनायी चर्चाओं के आधार पर बाबा यह अनुमान ही लगाते रह गये थे कि वह किस राजा की पुत्री है...उसके माता-पिता का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिला था और बाबा को, उसके राजकुमारी होने का कोई लाभ नहीं हुआ था। धीरे-धीरे बाबा के मन में यह भी स्पष्ट हो गया था कि यदि यह पता लगा भी लें कि सत्यवती किसकी पुत्री है, तो भी वे उसे उस राजा को शायद सौंप न पाएँ। सौंप देंगे तो एक तो पली-पलाई सन्तान हाथ से निकल जायेगी, फिर राजा से पुरस्कार-स्वरूप जो धन मिलेगा, उस पर उन निषादों का अधिकार अधिक बनता है, जिन्हें वह नदी में बहती हुई मिली थी...न सत्यवती ने कोई ऐसा व्यक्ति देखा था, और न बाबा ने ही, जो लाभ या स्वार्थ का अवसर आने पर एक कौड़ी भी किसी के लिए छोड़ देगा। नदी में जाल तो सब मिल कर ही डालते हैं; पर जिसके हाथ जो मछली लगती है, उसका मूल्य वही हथिया लेता है। सत्यवती बाबा को इसलिए सौंप दी गयी, क्योंकि वह मछली नहीं थी; और उस बच्ची को हाट में बेच कर उसका कोई मूल्य प्राप्त नहीं किया जा सकता था...

जब राजा शान्तनु आये थे तो ग्राम में हल-चल मच गयी थी। सत्यवती को तो सारी बात उनके लौट जाने के बाद ही मालूम हुई थी। उनके लौट जाने के बाद बाबा ने कहा था, "बेटी! जब तू छोटी-सी थी, तब बहुत सोचा करता था कि तेरे जनक को खोज कर तुझे उन्हें सौंप दूँ और बदले में अपने लिए थोड़ी सुख-सुविधा जुटा लूँ। पर तब वह हो नहीं सका। अब तू सयानी हो गयी है, और मुझे भी तुझसे अपनी सन्तान से बढ़ कर मोह है।...अब तो तू पराये घर जायेगी ही; पर बेटी के रूप में नहीं, पत्नी और पुत्रवधू के रूप में। बेटी को ससुराल के लिए विदा करते हुए, माँ-बाप अपनी सुख-सुविधा का ध्यान नहीं करते। उस समय तो वे बेटी का ही सुख देखते हैं।"

सत्यवती चुपचाप बाबा को देखती रह गयी थी।

"तू राजा के घर से विदा होती बेटी! तो किसी युवराज से ब्याही जाती और ससुराल में राजरानी बनती। तेरा पुत्र बड़ा हो कर राजा बनता।" बाबा ने कहा था, "पर तू इस असहाय दासराज के घर से विदा होगी, इसलिए तेरा स्वयंवर नहीं हो सकता। हम तो मछली बेचने-वाले हैं बेटी। अपनी ओर से तो प्रयत्न करेंगे ही कि मछली महँगी-से-महँगी बिके। पर बेचनी तो उसी भाव पड़ेगी, जिस भाव का ग्राहक मिलेगा। मछली का भाव वही होता है बेटी! जिस भाव उसे ग्राहक ख़रीद ले...।"

"मैं समझी नहीं बाबा!" सत्यवती ने कहा था।

"मेरी दृष्टि में तेरा मूल्य बहुत ऊँचा है सत्यवती!" बाबा ने कहा था, "मेरा वश चले तो सारे संसार में से सबसे सुन्दर और बलिष्ठ क्षत्रिय राजकुमार को मैं तेरा वर चुनूँ...पर वे लोग हमारी पहुँच से परे हैं बेटी!...भाग्य से आज राजा शान्तनु तेरा हाथ माँगने आये हैं...।"

सत्यवती ने दासराज की ओर देखा था, जैसे पूछ रही हो, 'कौन शान्तनु?'

"हस्तिनापुर के राजा! कुरुराज शान्तनु!"

सत्यवती की दृष्टि झुक गयी थी। इस विषय में क्या कहती बाबा से।

"उनका वय तुमसे बहुत अधिक है पुत्री! तुम्हारी तुलना में उनको वृद्ध ही कहा जायेगा...।"

सत्यवती कुछ नहीं बोली थी।

"मैं इस सौदे में से ही अधिक-से-अधिक कमाना चाह रहा हूँ बेटी!" बाबा ने कहा था, "मैंने उनसे कहा है कि यदि वे वचन दें कि उनके पश्चात तुम्हारा पुत्र हस्तिनापुर का राजा होगा, तो मैं तुम्हारा विवाह उनसे कर सकता हूँ।"

इस सारे सौदे में सत्यवती क्या कहती!

बाबा ही कहते गये थे, "वैसे तो झूठ बोलने में किसी का क्या ख़र्च होता है। राजा कह दें कि हाँ! सत्यवती का पुत्र ही उनके बाद राजा बनेगा; और वह उसे राजा न बनायें, तो कोई क्या कर लेगा। सबसे बड़ी बात तो यह है बेटी!" दासराज का स्वर कुछ धीमा हो गया, "कि पुत्र तो राजा बनेगा, पिता के देहान्त के बाद! जब राजा, शान्तनु दिवंगत हो जायेंगे, तो उनसे कौन पूछने जायेगा कि उन्होंने अपने वचन को क्यों नहीं निभाया।...पर फिर भी यह राजा मुझे कुछ भला आदमी लगता है।"

"कैसे?" सत्यवती पूछे बिना नहीं रह सकी थी।

"उसने वचन नहीं दिया है। वह झूठा वचन नहीं देना चाहता, इसलिए चुपचाप लौट गया है।"

सत्यवती की समझ में यह गोरखधन्धा नहीं आ रहा था।

"शान्तनु का एक बेटा है देवव्रत!" बाबा ने बताया था, "वह युवक है और बलिष्ठ है। युद्ध प्रवीण और शूरवीर भी है। यदि राजा ने उसको युवराज-पद से वंचित किया, तो सम्भव है कि वह विद्रोह कर दे। और सत्या!" बाबा रुक कर जैसे कुछ सोचने लगे, "यदि राजा मान भी गये, तो भी उनके देहान्त के बाद तुम्हारा नन्हा बालक देवव्रत से लड़ कर अपना अधिकार ले पायेगा क्या?"

जिस देवव्रत से स्वयं राजा शान्तनु डर रह थे, उससे लड़ कर सत्यवती का पुत्र राज्य कैसे ले लेता।...राजा शान्तनु अपनी राजधानी लौट गये और दासराज सोचता ही रहा गया कि उसने अधिक के लोभ में कहीं कम को भी खो तो नहीं दिया।...

और तब स्वयं युवराज देवव्रत आये। उनसे बात कर जब बाबा ने सत्यवती को बताया कि पिता तो एक छोटा-सा वचन नहीं दे पाया था, पुत्र बड़े-बड़े दो वचन दे रहा है...सत्यवती को विश्वास नहीं हुआ था। पिता के दूसरे विवाह से देवव्रत को ऐसा कौन-सा लाभ होने जा रहा था, जिसके लिए देवव्रत ने आजीवन अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा कर ली थी? यह प्रतिज्ञा पिता को प्रसन्न करने के लिए ही तो की थी न। पर, पिता को प्रसन्न करके क्या मिलेगा देवव्रत को–राज्य ही तो? पर वही राज्य ही तो त्यागने की प्रतिज्ञा कर ली है उन्होंने। केवल राज्य ही नहीं–स्त्री-सुख भी। क्यों की यह प्रतिज्ञा? इससे देवव्रत को कौन-सा सुख मिलेगा?...

बाबा ने कहा तो कुछ नहीं था, पर मन-ही-मन वे सशंक थे। सत्यवती को तो एकदम विश्वास नहीं हो रहा था।...पर कठिनाई तो यह थी कि वे यह भी नहीं मान पा रहे थे कि देवव्रत की प्रतिज्ञा झूठी है। यदि देवव्रत वह सब-कुछ नहीं करना चाहता था, जो कुछ वह कह रहा था, तो उसके लिए कहीं अधिक सरल था कि वह प्रतिज्ञा करता ही नहीं। झूठी प्रतिज्ञा को तोड़ कर कलंकित होने से तो अप्रतिज्ञा अधिक सरल थी...

देवव्रत को समझ पाना न तो पिता के लिए सम्भव था, न पुत्री के लिए। विदा से पहले बाबा ने सत्यवती को इतना ही कहा था, "पुत्री! नींव मैंने डाल दी है, अब उस पर प्रासाद उठाने का काम तो यथासमय तुम्हें ही करना है। स्वयं अपने-आप पर भरोसा रखना और किसी पर भी पूरा विश्वास मत करना।" बाबा ने जैसे उसे अपने जीवन के अनुभव का सम्पूर्ण निचोड़ दिया था, "संसार में न सज्जनों का अभाव है, न दुष्टों का। कौन जाने देवव्रत से किस सुख के प्रलोभन ने ऐसे त्याग की प्रतिज्ञाएँ करवायी हैं।...बस तुम अपना अधिकार मत छोड़ना।"

पिता के अनुभव के सामने सत्यवती क्या कहती! उसे जीवन का अनुभव ही क्या था; और मनुष्य की परख ही कितनी थी। मनुष्यों से अधिक तो वह मछलियों को ही पहचानती थी...और मछलियों का तो नियम ही था...बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है...पर मनुष्यों में? सत्यवती सोचती है तो उसे लगता है कि मनुष्यों के विषय में कोई एक सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। मानव-समाज में भी अधिकांशतः मत्स्य-न्याय ही चल रहा है...अपने से छोटों को खा कर ही लोग बड़े बनते हैं शायद। ...अब शान्तनु भी तो देवव्रत को खा ही रहे हैं...पर मनुष्यों में बड़ी मछलियाँ, छोटी मछलियों की रक्षा करती भी देखी गयी हैं...जिसका जो अनुभव हो...

और सत्यवती को अपना अनुभव नहीं भूलता...

पहले तो अन्य निषाद कन्याओं के समान सत्यवती भी मछली व्यवसाय में ही लगा दी गयी थी! कभी-कभी मछलियाँ पकड़ने भी जाती थी, पर अधिकांशतः उसका काम पकड़ कर लायी गयी मछलियों को सँभालना ही था। वह मछलियों के इतने निकट रही थी, मछलियों के इतने बीच रही थी कि उसके वस्त्रों में ही नहीं, उसके अंगो में भी जैसे मछली की गन्ध समा गयी थी। और कोई कहता, सो कहता, उसे स्वयं अपने-आपसे ही गन्ध आने लगी थी–वह स्वयं अपने-आपको मत्स्य-गन्धा मानने लगी थी। तब बाबा ने मछलियों का काम उससे छुड़वा लिया था। उसे धर्मार्थ नाव पर भेज दिया था।

यमुना को पार करने के लिए दिन-भर यात्री लोग आया-जाया करते। निषादों की असंख्य नौकाएँ दिन-भर नदी में चलती ही रहती थीं। पर बाबा ने सत्यवती को यात्रियों की वैसी किसी नाव पर नियुक्त नहीं किया था, जो शुल्क ले कर यात्रियों को नदी पार कराती थीं। ऐसी किसी नाव पर अपनी असाधारण सुन्दरी, युवती पुत्री को नियुक्त करना दासराज को अच्छा नहीं लगा था।...उन नौकाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के लोग आते थे। साधारण यात्रियों के साथ धनी व्यापारी भी आते थे। देश-विदेश घूमे हुए लोग आते थे। उनके पास धन का आकर्षण था, चतुराई-भरी बातों का माया-जाल था...सत्यवती अभी नादान थी। जीवन तथा लोगों को अच्छी तरह समझती नहीं थी। ऐसे ही किसी प्रलोभन के भ्रमजाल में फँस जायेगी तो जाल में फँसी मछली का-सा कष्ट पायेगी...

दासराज ने अपनी प्रिय पुत्री को धर्मार्थ नौका पर नियुक्त किया था। ...यमुना के तट पर अनेक ऋषियों के आश्रम थे। तपस्वियों की तपोभूमियाँ थीं। साधु-संन्यासी, ऋषि-मुनि, सिद्ध-साधक आते-जाते ही रहते थे। उनसे नदी पार कराने का क्या शुल्क लेना। उनके पास शुल्क देने के लिए होता भी क्या था। वन के कन्दमूल-फल। उनसे अधिक तो स्वयं निषादों के पास ही बहुत कुछ था...उन तपस्वियों को धर्मार्थ नौका पर ही नदी पार करायी जाती थी। उसी धर्मार्थ नौका पर नियुक्ति की थी दासराज ने सत्यवती की। तपस्वी नारी-सौन्दर्य से उदासीन थे। धर्म का धर्म रहेगा और युवती सत्यवती पुरुष की दृष्टि से सुरक्षित भी रहेगी...

उसी नौका पर एक दिन ऋषि पराशर आये थे। जब आये थे तो बहुत आत्मलीन थे, जैसे किसी गहरी समस्या में डूबे हुए हों। अपने परिवेश से असम्पृक्त। जैसे ब्रह्माण्ड उनके पिण्ड से बाहर नहीं, उनके भीतर ही हो। नौका में बैठते हुए उन्होंने यह भी नहीं देखा कि नाव में कोई और है या नहीं, या नौका को चला कौन रहा है। उन्होंने यह भी नहीं पूछा कि नौका चलेगी भी या नहीं, और चलेगी तो कब चलेगी...

जब काफ़ी समय बीत गया, दूसरा कोई यात्री भी नहीं आया; और पराशर कुछ बोले भी नहीं तो सत्यवती को सब कुछ बड़ा अटपटा-सा लगने लगा। यमुना के एकान्त घाट पर लगी हुई नौका और उसमें बैठे हुए पराशर और सत्यवती! सत्यवती अपने नारीत्व अथवा यौवन के प्रति कभी इतनी सजग नहीं हुई थी।...

इस अटपटी अवस्था से मुक्त कैसे हो? दूसरा यात्री जाने कब आये? आये, न आये। आख़िर वह कब तक इस युवक तपस्वी के साथ, इस एकान्त स्थान में नौका पर बैठी रहेगी...ठीक है, तपस्वी उसे कुछ कह नहीं रहा। वह तो उसकी ओर देख भी नहीं रहा...पर सत्यवती का मन...उसका बोध...क्यों न सत्यवती उसे दूसरे किनारे पर छोड़ आये? दूसरे यात्रियों का होना क्यों आवश्यक है? यात्रियों की संख्या का तो कोई नियम नहीं है...

सत्यवती ने चप्पू सँभाल लिए।

नाव चली तो पराशर का ध्यान जैसे कुछ बँटा। उनकी उचटती हुई दृष्टि सत्यवती पर भी पड़ी और फिर जैसे फिसलती हुई आगे बढ़ कर यमुना के जल पर टिक गयी। दृष्टि टिकी तो जैसे उसे कुछ याद आया...उसके मार्ग में एक नारी-बदन आया था...तपस्वी की दृष्टि प्राकृतिक सौन्दर्य में लुब्ध न रह कर वापस नारी-सौन्दर्य पर लौट आयी। इस बार पराशर की जो दृष्टि सत्यवती की ओर लौटी थी, वह निर्वैयक्तिक नहीं थी, वह असावधान भी नहीं थी, वह मूक

भी नहीं थी...वह एक पुरुष की दृष्टि थी, जो नारी के सौन्दर्य के भाव से दीप्त थी...दृष्टि आ कर सत्यवती की आँखों पर टिकी। सत्यवती की आँखें झुक गयीं। वह एकाग्र हो कर यमुना के जल को ताक रही थी, पर इस तथ्य के प्रति पूरी तरह सचेत थी कि युवक तपस्वी की दृष्टि ने अब संकोच छोड़ दिया है। वह ढीठ हो गयी है।...पराशर की दृष्टि सत्यवती की पलकों पर से जैसे फिसल कर गिरी और उसका आवरण क्षत हो गया। इस आवरण के भीतर सिमटे तरल पदार्थ को अब मर्यादित रखना कठिन था। वह सत्यवती के पूरे चेहरे पर फैल गया...वह सत्यवती की ग्रीवा से होता हुआ उसके कंधों पर थोड़ी देर टिका और फिर उसके सारे शरीर पर फैल गया। पराशर की दृष्टि जैसे देखती नहीं थी, छूती थी। वह जहाँ से हो कर बढ़ती थी, जैसे रोम-रोम को सहला जाती थी। सत्यवती का शरीर थर-थर काँप रहा था।...उसकी समझ में एकदम नहीं आ रहा था, कि उसका मन इतना घबरा क्यों रहा है। वह पहली बार नाव नहीं चला रही थी, न पहली बार कोई युवा पुरुष उसकी नाव में बैठा था। उसे किस बात की व्याकुलता थी? युवा तपस्वी की दृष्टि में प्रशंसा थी और वह प्रशंसा सत्यवती के शरीर को जितना पिघला रही थी, उसका मन उतना घबरा रहा था। वह लगातार अपने मन से पूछ रही थी कि यह सब क्या था?...पर मन था कि कोई उत्तर ही नहीं दे रहा था...

"तुम बहुत सुन्दर हो सुनयने!" तपस्वी पहली बार बोला।

"मेरा नाम सत्यवती है तपस्वी!" सत्यवती समझ नहीं पा रही थी कि तपस्वी उसका नाम बिना पूछे क्यों उसे अपनी इच्छा से 'सुनयने' कह रहा है।

"तुम बहुत ही सुन्दर हो सत्यवती!" इस बार तपस्वी निःस्संकोच बोला, "तुम्हारे नयन, तुम्हारे अधर, तुम्हारी ग्रीवा, तुम्हारी आकृति, तुम्हारा अंग-संचालन...ओह सत्यवती! तुम नहीं जानतीं कि तुमने मेरे मन को किस प्रकार मथ कर रख दिया है।"

सत्यवती लगातार अपने-आपसे पूछ रही थी कि वह इतना डर क्यों रही है?...अपने रूप की प्रशंसा सबको अच्छी लगती है, और फिर वह भी नारी...तपस्वी उसके रूप की प्रशंसा कर रहा था और वह इस प्रकार भयभीत हो रही थी, जैस सामने कोई भयंकर संकट आ खड़ा हुआ हो।...उसके रूप की प्रशंसा करता तपस्वी कितना कमनीय लग रहा था और उसका मन जैसे मुष्टि प्रहार कर-कर के उसे कह रहा था, 'सत्यवती! सावधान। सावधान सत्यवती!'

सहसा सत्यवती सचेत हुई। उसके हाथ काँप रहे थे। उसके चप्पू सीधे नहीं पड़ रहे थे। नाव डोल रही हो, तो भी कोई आश्चर्य की बात नहीं।...वह अपने मार्ग से भटक गयी थी। यह यमुना का कोई और क्षेत्र था...एक छोटा-सा द्वीप निकट था...द्वीप में कमल-ही-कमल खिले हुए थे...सत्यवती को लगा, उसके मन में भी कमल-वन खिल आया है; किन्तु साथ ही उसके माथे पर पसीना भी उग आया था, जैसे कमल-दलों पर ओस की बूँदें आ टिकी हों...

तपस्वी अपने स्थान से उठ खड़ा हुआ, "संयम असम्भव हो गया है देवसुन्दरी! तुम अप्सरा होते हुए निषाद-कन्या का वेश बनाये क्यों बैठी हो।"

तपस्वी ने उसकी ओर पग बढ़ाया।

नाव डगमगा गयी। सत्यवती ने उसे द्वीप के साथ टिका दिया। उसके मुँह से जैसे अनायास ही निकल गया, "मैं निषाद-कन्या ही हूँ तपस्वी! मत्स्य-गन्धा हूँ मैं। मेरे शरीर से मत्स्य की गन्ध आती है।"

तपस्वी खुल कर हँस पड़ा और उसने जैसे स्वतःचालित ढंग से सत्यवती की बाँह पकड़ कर उसे उठाया, "मछलियों के बीच रह कर, मत्स्य-गन्धा हो गयी हो; पर हो तुम काम-ध्वज की मीन! मेरे साथ आओ। इस कमल-वन में विहार करो और तुम पद्म-गन्धा हो जाओगी।"

सत्यवती जैसे तपस्वी द्वारा सम्मोहित हो गयी थी। उसने अपनी बाँह छुड़ाने का प्रयत्न नहीं किया...पर उसका विवेक जैसे हाथ में कशा लिए लगातार उसे पीट रहा था, 'यह ठीक नहीं है सत्यवती! यह ठीक नहीं है। सँभल जा। तू जानती भी है, तेरे माता-पिता क्या कहेगे। तेरा समाज क्या कहेगा। तेरा यह शरीर, तेरा अपना नहीं है। इस पर तेरे समाज का अधिकार है। उससे पूछे बिना न तू इससे सुख उठा सकती है, न किसी को इससे सुख दे सकती है।'...पर शरीर था कि विवेक की बात पर कान ही नहीं धर रहा था। उसका रोम-रोम शिकायत कर रहा था कि तपस्वी ने उसकी बाँह ही क्यों थाम रखी है, वह उसके शरीर को क्यों नहीं थामता...क्रमशः शरीर के उद्घोष में विवेक का स्वर कहाँ डूब गया, उसे पता भी नहीं लगा...

दोनों द्वीप पर आये और बिना किसी योजना के अनायास ही एक-दूसरे की इच्छाओं को समझते चले गये। तपस्वी इस समय तनिक भी आत्मलीन नहीं था। उसका रोम-रोम सत्यवती की ओर उन्मुख ही नहीं था, लोलुप

याचक के समान एकाग्र हुआ उसकी ओर निहार रहा था...सत्यवती को लग रहा था, जैसे वह मत्स्य-गन्धा नहीं, मत्स्य-कन्या है। यह सरोवर ही उसका आवास है। चारों ओर खिले कमल उसके सहचर हैं।...वे दोनों दो तितलियों के समान आगे-पीछे उड़ रहे थे, जो कभी किसी फूल की पँखुड़ी पर जा बैठती हैं, कभी किसी अधखिली कली पर...

उन्हें पता ही नहीं चला कि वे कब, कहाँ और कितनी देर तैरे। कितनी देर फूलों में रहे। कितने कमल उन्होंने तोड़े। कितने कमलों से तपस्वी ने सत्यवती का शृंगार किया।...सत्यवती के केशों में कमल के फूल गुँथे थे, उसके गले में कमलों के हार झूम रहे थे, इतने कि उसका वक्ष कमलमय हो गया था। उसकी कलाइयों में कमल-वलय थे, उसकी कटि में कमल की करधनी थी, उसके पैरों में कमल की पैंजनियाँ थीं और वह स्वयं कमल-सरोवर बनी हुई तपस्वी की भुजाओं के कगारों में इठला रही थी। तपस्वी उसे बार-बार प्यार कर रहा था, "मेरी पद्म-गन्धा, मेरी पद्म-गन्धा...।"

सत्यवती को लग रहा था, उसके रोम-रोम में जैसे कमल-गन्ध समा गयी है, उसके श्वास जैसे कमल-गन्ध से महक रहे हैं और उसके हृदय का ज्वार, सागर की किसी भी उत्ताल-लहर से कम ऊँचा नहीं था...

रथ रुक गया। आगे जाते हुए रथ पहले ही रुक चुके थे, पीछे आने वाले दल ने भी रुकने के संकेत में अपनी दाहिनी भुजाएँ उठा रखी थीं।

सत्यवती जैसे स्वप्न से जागी...वह यमुना के उस द्वीप के कमल सरोवर के तट पर नहीं थी, वह कुरुकुल का अंग बनने के लिए रथ में हस्तिनापुर जा रही थी...

उसने औचक ही चरणों में बैठी दासियों की ओर देखा, जैसे पूछना चाह रही हो– 'क्या हस्तिनापुर आ गया?' साथ ही लग रहा था कि उनके मुख से 'हाँ' निकलते ही, उसके शरीर से जैसे प्राण भी निकल जायेंगे...

"स्वामिनी! थोड़ा विश्राम कर लें!" सारथि ने बहुत आदरपूर्वक हाथ जोड़ कर कहा, "हस्तिनापुर पहुँचने में अभी प्रहर भर और लगेगा।"

सत्यवती कुछ समझ नहीं पा रही थी...आज तक वह एक निषाद-कन्या थी, जो यमुना में धर्मार्थ नाव चला कर यात्रियों को नदी पार कराती थी। लोग उसे आदेश देते थेः मीठा-कड़वा कुछ भी कह देते थे। ऐसा रथ, सारथि और रथी देखती तो भय से सत्यवती के प्राण सूख जाते थे...और आज यह सारथि, इतने विनीत भाव से उसे स्वामिनी कह रहा था और वह उसी सम्बोधन की मर्यादा में बँधी उससे यह भी पूछ नहीं पा रही थी कि उसे थोड़ा जल मिल सकेगा क्या?

वह कुछ कहती या कहने के लिए सोच पाती, उससे पहले ही उसे देवव्रत अपनी ओर आते दिखायी दिये।...इसी पुरुष को वह कितना देखना चाह रही थी। पर उसे अपनी ओर आते देख सत्यवती की आँखें ही नहीं उठ रही थीं: नहीं! यह नारी की लज्जा नहीं थी। उस लज्जा का अनुभव उसने केवल ऋषि पराशर के सम्मुख किया था। अन्य पुरुष जैसे उसके लिए पुरुष ही नहीं थे।... तो फिर क्यों नहीं देख पाती वह कौरवों के इस युवराज की ओर? उसके राज-वैभव का आतंक था या इस देव-पुरुष को सदा के लिए वंचित करने की अपराध भावना?

सेवकों ने एक घने वृक्ष की छाया में बैठने के लिए आसन लगा दिया। पीने के लिए जल और खाने के लिए कुछ फल रख दिये।

देवव्रत ने आ कर बहुत ही कोमल स्वर मे कहा, "माता! कुछ जलपान कर लें।"

सत्यवती ने अकबकाकर देवव्रत की ओर देखा। इस वय के युवक के मुख से अपने लिए 'माता' सम्बोधन की उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी। सम्भवतः वय की दृष्टि से युवराज उससे बड़े थे...किन्तु सम्बन्ध...हाँ! सम्बन्ध की दृष्टि से सत्यवती, देवव्रत के पिता की पत्नी होने जा रही है...तो पुत्र ही तो होंगे देवव्रत...

सत्यवती कुछ बोली नहीं।...सम्बन्ध कुछ भी हो, किन्तु अभी तक भीतर से वह एक साधारण निषाद-कन्या ही थी, जिसने अपने जीवन में पाठशाला या गुरुकुल का कभी मुँह भी नहीं देखा था। घर में साधारण खाना पकाना सीखा था, बाहर निकली तो मछलियों और नौकाओं के विषय में ज्ञान प्राप्त किया...उसकी भाषा तो वैसी नहीं है, जैसी देवव्रत बोलते हैं, न ही उसका स्वर उतना शालीन हो पायेगा...वह चाहे भी, तो भी नहीं...फिर देवव्रत तो राजकुमार हैं, कुरु राज्य के युवराज! सत्यवती न उस राजसी वेशभूषा, राजसी व्यवहार, राजसी वैभव के आतंक को धो सकती है, न अपने मन को चुप करा सकती है।...उसके मन में जैसे कोई बूढ़ा सुग्गा जम कर बैठ गया था, जो देवव्रत का विचार आते ही अपना रटा हुआ वाक्य घोषणा के रूप में दुहराने लगता था, 'सत्यवती! तूने इसका सब कुछ चुरा लिया है।'...सच ही तो, देवव्रत अब युवराज कहाँ रहे? यह रथ, यह किरीट, ये आभूषण, ये राजसी

ठाठ...यह सब तो अब सत्यवती की भावी सन्तान का है। यह तो देवव्रत तभी तक ढो रहे हैं, जब तक सत्यवती की सन्तान जन्म नहीं लेती...

वह रथ से उतरी। दासियों ने सहारा दिया। पर रथ से उतर आने पर भी सत्यवती के मन में यह भय बना ही रहा कि कहीं उसके पैर लड़खड़ा न जायें।

सत्यवती आसन पर बैठ गयी तो देवव्रत अश्वारोहियों की ओर लौट गये। अब सत्यवती थी और दो दासियाँ। अपनी सामान्य स्थिति में सत्यवती को इन दासियों से तनिक भी भय नहीं लगता। वह बहुत सहजता से उनसे समानता का व्यवहार कर सकती थी। उनके गले में बाँहें डाल, उल्लास से नाच भी सकती थी; किन्तु जिस पद पर उसे ला बैठाया गया था–उसकी मर्यादा इसमें थी कि वह उनके साथ समानता का व्यवहार न करे। उनसे बड़ी बन कर दिखाये...स्वयं को ऊँचा और उन्हें नीचा माने ...और यह सब उसे आता नहीं था...

प्यास लग रही थी। क्या करे वह? सत्यवती ने पात्र उठा कर पानी पी लिया...यदि वह राज-परिवार की मर्यादा के उपयुक्त नहीं है, तो न सही। पानी तो उसे पीना ही है। प्यास तो राजाओं को भी लगती ही होगी और पानी तो वे भी अपने हाथ से उठा कर ही पीते होंगे। कोई बच्चे तो हैं नहीं कि दास-दासियाँ, माता-पिता के समान अपने हाथ में पात्र ले कर उन्हें पानी पिलाते होंगे...

पानी पी कर उसने पात्र चौकी पर रखा तो एक दासी ने अपने दोनों हाथों में फल उठा कर, अत्यन्त सम्मानपूर्वक उसकी ओर बढ़ाये।

सत्यवती ने एक फल उठा लिया। फल उसके लिए नया था। जाने क्या नाम था उसका। यमुना-तट के अपने परिचित वनों में से किसी वृक्ष पर उसने ऐसा फल नहीं देखा था। इन राज-परिवारों में फल भी जाने किन वृक्षों से आते हैं...

यात्रा पुनः आरम्भ हुई। जाने क्यों सत्यवती के कानों में देवव्रत का सम्बोधन ‘माता’ ‘माता’ बार-बार गूँजता ही चला गया...उसकी आँखों की पुतलियों से एक सद्यःजात बालक जैसे चिपक गया...नन्हा-सा बालक था–आँखें बड़ी-बड़ी, जैसे किसी मद में डूबी हुई हों। होंठ कोमल और सुन्दर आकार के थे, पर वह किसी गम्भीर वयस्क के समान उन्हें बन्द किये हुए था। साँवला रंग था।...नन्हे-से शिशु के समान न तो उसके चेहरे पर दिव्य मुस्कान थी और न वह किसी शारीरिक या मानसिक पीड़ा से रो रहा था...वह शान्त भी नहीं था...वह तो जैसे किसी गहन चिन्तन में डूबा हुआ था...

कमल सरोवर वाले यमुना के द्वीप से लौट कर सत्यवती घर आयी तो अम्मा ने हल्के से पूछा था, “क्या बात है सत्या! आज बहुत देर कर दी।”

सत्यवती क्या कहती...उसे तो ध्यान ही नहीं था कि वह कहाँ गयी, किस समय गयी, किस समय लौटी...उसे तो अपने चारों ओर कमल-वन खिले हुए दिखायी पड़ रहे थे और उसकी नासिका में जैसे कमल-गन्ध स्थायी रूप से जम गयी थी। उसे स्वयं अपने आपसे अब भी मत्स्य-गन्ध नहीं, कमल-गन्ध आ रही थी। वह पद्म-गन्धा थी।...और इसका ध्यान आते ही भय से जैसे अपने भीतर सिमट गयी...अम्मा ने भी यह पद्म-गन्ध सूँघ ली तो?...

“हाँ माँ! देर हो गयी।”

वह भीतर चली गयी। माँ भी अपने कामों में लग गयी। दो-एक बार किसी-न-किसी कारण से माँ ने पुकार कर उसे बाहर आने के लिए कहा भी, तो वह टाल गयी, “बहुत थक गयी हूँ माँ!”

माँ ने फिर नहीं पुकारा और सत्यवती अपने में डूबती चली गयी।

...आज जैसे सारा संसार ही बदल गया था उसके लिए। संसार इतना मादक है, यह उसने इससे पहले कभी नहीं जाना था। सुख मन में है, शरीर में है या बाहर संसार में है?...उसने कभी सोचा था यह! आज मन में जाने कैसा उल्लास था, शरीर का रोम-रोम पुलक से भर गया था। संसार के अनेक रहस्य अनायास ही उसके सामने खुल गये थे और जाने क्यों संसार और भी रहस्यपूर्ण हो गया था। भीतर जैसे एक चिनगारी-सी फूटी और ‘अग्नि’ को पाने की व्याकुलता में प्राण अधीर हो उठे थे...

किन्तु मादकता की इस घनी परत के नीचे कहीं बाबा का ध्यान भी सुगबुगा रहा था...यदि बाबा को इस बात की सूचना हो गयी तो? बाबा उसके इस सम्बन्ध को किस दृष्टि से देखेंगे?...प्रसन्न होंगे? दुःखी होंगे? या कुछ भी नहीं

कहेंगे?...

प्रसन्न कैसे होंगे?...अपनी पुत्री के किसी पुरुष से विवाह-पूर्व सम्बन्धों को जान कर कोई पिता कभी प्रसन्न हुआ है कि बाबा होंगे। निषादों में तो आये दिन कोई-न-कोई ऐसा झगड़ा-टण्टा खड़ा होता ही रहता है...जब कभी किसी कन्या के इस प्रकार के सम्बन्ध का पता बाबा को लगा, बाबा ने बहुत निर्मम हो कर उसे दण्डित किया है। और अब अपनी ही पुत्री...

...और फिर एक निषाद-कन्या के एक निषाद-पुत्र से सम्बन्ध की बात कुछ भिन्न भी है। उनका तत्काल विवाह हो सकता है। उनके विवाह में न माता-पिता को विशेष आपत्ति होती है, और न निषाद समाज को।...किन्तु सत्यवती की बात और है...बाबा की दृढ़ धारणा है कि वह राज-कन्या है ...किसी क्षत्रिय राजा की पुत्री! उसका विवाह, बाबा निषाद समाज में नहीं करना चाहेंगे। वे उसके लिए किसी क्षत्रिय राजकुमार का स्वप्न देख रहे हैं...पर वह तपस्वी निषाद नहीं है, तो क्षत्रिय राजकुमार भी नहीं है...बाबा किसी भी रूप में इस विवाह के लिए तैयार नहीं होंगे...जीवन की कोई सुख-सुविधा नहीं है, उस तपस्वी के पास। होने की कोई सम्भावना भी नहीं है।

उसके मन ने करवट बदली...बाबा को बताना बहुत आवश्यक है क्या?...कल भी वह अपनी नौका ले कर तपस्वी के पास चली जाये और लौट कर न आये तो?...वे, वहीं, उस द्वीप पर अपने लिए एक कुटिया बना सकते हैं। उनके खाने के लिए वन में बहुत फल हैं; पीने के लिए यमुना का जल है; क्रीड़ा के लिए वह कमल-सरोवर है...

उसका तन जैसे पुलक उठा।

पर कैसा हठी था मन। उसका सुख, मन से देखा ही नहीं जा रहा था। तत्काल मन ने एक दूसरी ही युक्ति सामने ला रखी...नाव खेना केवल सत्यवती को ही नहीं आता। सारे निषाद यही काम करते हैं। सत्यवती तो केवल यात्रियों को यमुना के आर-पार, लाने-ले जाने की ही अभ्यस्त है, निषाद युवक तो अपनी नौकाओं में बहुत दूर-दूर की यात्राएँ करते हैं। वह द्वीप उनकी पहुँच से बाहर नहीं है। सत्यवती और तपस्वी कितने दिन छिपे रह सकते हैं, उनकी आँखों से। वे सायास या संयोग से, किसी भी दिन उस द्वीप पर भी पहुँच सकते हैं।...नहीं। सत्यवती अपनी दुर्गति नहीं करवाना चाहती। वह अपने बाबा के मुख से अपने लिए वही दण्ड उच्चरित होते नहीं सुनना चाहती, जो ऐसी स्थिति में अन्य निषाद कन्याओं के लिए होता है...

प्रातः सत्यवती कुछ जल्दी ही तैयार हो गयी। वह जब बड़े उत्साह में गुनगुनाती घर से बाहर निकली तो अम्मा ने पीछे से टोका, "अरी इतनी मग्न हुई-सी कहाँ चली जा रही है, इतनी भोर को?"

सत्यवती चौंकी। बिना कुछ बताये ही अम्मा बहुत कुछ समझ रही हैं। वे जानती हैं कि वह मग्न है।...सत्यवती ने मन को चेताया, 'चौकस रहना। भोली नहीं हैं अम्मा हमारी। आकाश पर उड़ते पक्षी को पहचानने वाला धोखा खा भी जाये, पर अम्मा तो निषाद-पुत्री भी हैं और निषाद-पत्नी भी। निषाद-पुरुष तो केवल नाव चलाता है, या जाल फैलाता है। वह शरीर से बलिष्ठ हो सकता है, पर जल के भीतर की थाह तो निषाद-स्त्रियाँ ही पा सकती हैं। वे नाव में बैठी हुईं जल की ऊपरी थिरकन को देख कर बता सकती हैं कि उसके भीतर कौन-सी मछलियाँ हैं और कितनी संख्या में हैं। निषाद-पुरुष जाल फेंकने से पहल अपनी स्त्री की ओर अवश्य देखता है। संकेत मिलता है तो जाल उछाल देता है, नहीं तो जाल उसके हाथ में ही सिमटा रहता है।...जिनकी आँखें, जल की अथाह गहराई में सब कुछ देख लेती हैं, उन निषाद-स्त्रियों की मुखिया–अम्मा–अपनी बेटी के चेहरे को देख यह नहीं भाँप पायेंगी कि उसके मन में क्या है? चेहरे से मन की दूरी ही कितनी है? और सत्यवती का मन उतना गहरा भी तो नहीं है, जितना कि यमुना का जल...अम्मा से कुछ छिपा कर रखना कठिन ही होगा...'

"अपनी नौका पर जा रही हूँ अम्मा!" सत्यवती ने सहज होने का प्रयत्न किया।

वह बाहर आ गयी थी और नहीं चाहती थी कि लौट कर अम्मा के सामने पड़े। ऐसा न हो कि अम्मा उसके चेहरे से कुछ और भी भाँप लें। "दो-चार फेरे अधिक लगा लेगी तो कौन बदले में राज्य पा जायेगी।" अम्मा ने पीछे से कहा, "धर्मार्थ नौका पर इतनी भोर जाने का कोई धर्म नहीं है। वहाँ कौन बैठा तेरी बाट जोह रहा है।"

"जाने कोई दुखिया रात से ही अटका हो कि भोर हो तो उस पार जाये।"

सत्यवती स्वयं हैरान थी कि वह क्या कह गयी।

पर अम्मा इस सरलता से मानने-वाली थीं क्या, "पथिक है या चकवा।" वे बोलीं, "कि रात-भर चकवी से

विलग हो रोता रहा हो।"

सत्यवती का मन कह रहा था, 'वह चकवा ही है अम्मा! रात-भर बापुरे की आँख नहीं लगी होगी।'...पर उसके विवेक ने जैसे जिह्वा को-सी दिया, 'चुप रह दुष्ट! तू तो सत्यानाश करा कर रहेगी।'

सत्यवती कुछ नहीं बोली, तो अम्मा ही बोली, "तेरे यात्री तो तापस-तपस्वी होते हैं। वे प्रातः अपनी पूजा-उपासना में लगे होंगे। इस ब्रह्म मुहूर्त में नदी पार करने को उत्सुक तो कोई तपोभ्रष्ट योगी ही होगा।"

सत्यवती का मन नाच-नाच कर कह रहा था, 'अम्मा! जाने वह कैसा योगी है, पर मैं उसी की जोगन हूँ। तू मुझे रोक कर अपने तप से भ्रष्ट मत कर।'

पर सत्यवती को रुकना पड़ा। न रुकती और अम्मा हठ पकड़ जातीं तो संकट और भी बढ़ जाता।...पर यह रुकना कितना तड़पा गया था सत्यवती को। जितनी देर घर में रही, जाल में फँसी मछली के समान तड़पती रही।...घर से जब चली तो ऐसे चली, जैस धनुष से बाण छूटा हो।...एक बार मन में आया भी कि वह तो ऐसे भागी जा रही है, जैसे सचमुच तपस्वी सारी रात वहीं बैठा रहा हो। जाने वह कहाँ होगा...जाने उसका स्थान कहाँ है। कहीं है भी या रमता जोगी...

पर उसने अपनी आशंकाओं को हठपूर्वक झटक दिया और जैसे उनसे खेल-सा करती हुई बोली, 'हाँ! हाँ! मेरे तपस्वी का स्थान यमुना के तट पर मेरी नौका के पास है। वह तपस्या कर रहा होगा, मेरे दर्शनों के लिए।...'

पर उसका परिहास चल नहीं पाया। जाने अचानक क्या हुआ...हृदय धक-सा रह गया...वह तपस्वी है...ऋषि पराशर। तपस्वी को कोई मोह-ममता नहीं होती। किसी भी क्षण मन में समा गया कि यह सब मोह-माया है, तो सारे बन्धन तोड़ कर चल देगा योगी।...संसार के सारे सुख-वैभव को ठुकरा कर तपस्या करने वाले तपस्वी को सत्यवती का रूप बाँध लेगा क्या? उसका तपस्वी साधारण संन्यासी नहीं है कि गृहस्थी से परेशान हो कर, केश बढ़ा, आँखें मूँद कर बैठ गया हो...वह ऋषि पराशर है, वसिष्ठ का पौत्र, शक्ति का पुत्र, जिसकी राज-परिवारों मे भी मान्यता है। ये आर्य राजा कितना सम्मान करते हैं ऋषियों का। एक बार किसी राजकुमारी को भी माँग लें, तो राजा के मुख से 'ना' नहीं निकलेगा...

आशा-निराशा के बीच ऊच-चूब करती सत्यवती, यमुना-तट पर अपनी नौका के पास पहुँची थी और देख कर अवाक खड़ी रह गयी थीः तपस्वी उसकी नौका में समाधि लगाये बैठा था।

सत्यवती का मन हुआ, दौड़ कर जाये और अपने तापस के गले में बाँहें डाल दे...पर आस-पास अनेक निषाद स्त्री-पुरुष थे। वैसे भी सत्यवती का मन तो बौराया हुआ था। उसकी मान कर चलती तो सब मटियामेट हो जाता।

उसने बहुत धीरे से नाव में पैर रखा ताकि न नाव डोले, न तपस्वी का ध्यान भंग हो। बिना शब्द किये, उसने चप्पू उठा लिए और नाव को खिसकाया। नाव डोली तो तपस्वी ने आँखें खोल दीं और उसके अधरों पर एक अलौकिक मुस्कान आ विराजी...

"बड़े कच्चे साधक हो।" सत्यवती वक्रता से मुस्कुरायी, "इतनी-सी बात से समाधि भंग हो गयी।"

"तपस्या के वरदान-सी तुम आयीं तो समाधि का सुख चाहिए किसको?" वह मुस्कुराया।

"यह क्यों नहीं कहते कि बगुले के समान आँखें मूँदने का नाटक कर, मछली के आने की राह देख रहे थे। मछली दिखी तो उचक ली। अब ध्यान कर करना ही क्या है।" जाने कौन-सी ऊर्जा उसे इतना वाचाल बना रही थी।

तपस्वी हँसा। उसके श्यामल चेहरे पर उसके उजले दाँतों की पंक्ति सत्यवती के मन में मेघों भरे आकाश में उड़ती बगुलों की पाँत का बिम्ब जगा गयी।

"तपस्वी! तुम्हें मेरी बात बुरी तो नहीं लगी?"

"बुरी क्यों लगेगी?"

"समाज में तुम्हारी प्रतिष्ठा है और मैं...।"

"तुम कवयित्री हो पद्मगंधा! तुम्हारे मुख से प्रकृति का संगीत झरता है।" तपस्वी ने उसे मुग्ध दृष्टि से देखा, "तुम अपना महत्त्व नहीं जानतीं। कैसे जानोगी! तुम्हारे पास अपनी दृष्टि है, मेरी नहीं। मैंने आज तक केवल अपनी माँ का सौन्दर्य ही देखा था और उसी पर मुग्ध था...!"

"तुम्हारी माँ बहुत सुन्दर है?" सत्यवती ने उसे टोक दिया, "कहाँ रहती हैं तुम्हारी अम्मा?"

"मेरी माँ तो सब जगह रहती हैं।"

"सब जगह?"

"हाँ! सब जगह! मैं तो माता प्रकृति की बात कर रहा हूँ।" तपस्वी की आँखों का मुग्ध भाव क्रमशः उसके चेहरे पर संचित होता जा रहा था, "मैंने आज तक प्रकृति से सुन्दर कुछ भी नहीं देखा था। पर कल तुम्हें देखा, तो लगा, प्रकृति का सारा सौन्दर्य तुममें केन्द्रीभूत हो गया है। पद्मगंधे! तभी मेरी समझ में आया कि माँ की आवश्यकता पुरुष को तभी तक होती है, जब तक वह अबोध होता है। बोध होने पर उसे माँ की नहीं, प्रिया की आवश्यकता होती है, जिससे वह अपने वयस्क प्रेम की प्रतिध्वनि पा सके..."

"तपस्वी! तुम्हारी बात मेरी समझ में नहीं आ रही।"

"शब्दों का अर्थ समझना आवश्यक नहीं प्रिये! मेरे मन का अर्थ तुम समझ रही हो।" तपस्वी मुस्कुराया, "वयस्क होने पर पुरुष समझता है कि माँ प्रकृति का सारा सौन्दर्य नारी में संचित होता है; और नारी-सौन्दर्य का केन्द्रीयभूत स्वरूप तुम हो पद्मगंधे!"

सचमुच सत्यवती उसके शब्द नहीं समझ रही थी, पर उसके मन को समझ रही थी। उसके लिए इतना ही पर्याप्त था कि तपस्वी उसकी प्रशंसा कर रहा था। शब्द न भी समझे तो क्या। जब यज्ञ होता है और ऋषि लोग ऋचाओं का गायन करते हैं तो भी सत्यवती को शब्द समझ में नहीं आते, पर सत्यवती समझती है कि वे ईश्वर की उपासना कर रहे हैं।

नौका फिर उसी द्वीप में आ लगी थी। तपस्वी ने उसका हाथ पकड़ कर उसे नौका से उतारा।...पर आज सत्यवती का मन उल्लसित होते हुए भी आशंकित था। वह सरोवरों में कमल-दलों के बीच, तपस्वी के साथ मत्स्य-कन्या के समान तैरना नहीं चाहती थी...वह उद्यानों में दो तितलियों के समान पुष्प-पराग का पान करते हुए उड़ना नहीं चाहती थी...वह आज एकान्त वृक्ष की छाया में तपस्वी के पास बैठ कर शान्ति से कुछ गम्भीर बातें करना चाहती थी...जाने एक ही दिन में वह इतनी प्रौढ़ कैसे हो गयी थी...

"तपस्वी! तुम्हें यह तो नहीं लगता कि मैं तुम्हारी तपस्या के मार्ग में विघ्न बन कर आयी हूँ?" वह अत्यन्त गम्भीर थी।

तपस्वी ने दोनों हाथों से उसके कंधे थाम लिए, "पद्मगंधे! तुम मेरी तपस्या की बाधा नहीं, तपस्या की परिणति हो...।"

सत्यवती नहीं समझ पायी कि वह उसकी प्रशंसा कर रहा है या नहीं।

"आज तुम कुछ न भी कहो," वह बोली, "पर कल तुम्हें लगने लगे कि मेरे कारण तुम तपोभ्रष्ट हो गये हो। तुम्हें मुझसे वितृष्णा हो जाये तो मैं कहीं की नहीं रहूँगी...बाबा मुझे ऋषि विश्वामित्र की कहानी सुनाया करते थे। ऋषि मेनका के साथ तो विहार करते रहे, पर जब शकुन्तला गोद में आ गयी तो उसे फेंक, वन में तपस्या करने चल दिये।"

तपस्वी मुस्कुराया, "चिन्ता मत करो प्रिये! प्रत्येक तपस्वी विश्वामित्र नहीं होता। तुमने हमारे उन महान तपस्वियों के विषय में नहीं सुना, जो गृहस्थ हैं। अपनी पत्नी और सन्तान के साथ रह कर साधना करते हैं।..." तपस्वी ने सत्यवती को अपनी बाँहों में ले लिया, "और विश्वामित्र ने मेनका को नहीं छोड़ा था। मेनका ने ही विश्वामित्र को छोड़ दिया था। वह किसी की पत्नी नहीं हो सकती थी। वह तो इन्द्र के दरबार की अप्सरा थी। ऋषि की तपस्या भंग करने आयी थी। अपना लक्ष्य पूरी कर इन्द्रलोक लौट गयी।...क्या तुम भी मुझे छोड़ कर चली जाओगी?"

सत्ययवती क्या कहती! वह स्वयं नहीं जानती थी कि उसके भाग्य में क्या है। वह अम्मा और बाबा पर इतनी आश्रित थी कि स्वयं स्वतन्त्र रूप से कोई निर्णय करने की बात वह सोच ही नहीं सकती थी। बाबा इस विवाह के लिए तैयार होंगे क्या?...

और तपस्वी अपनी मौज में कहता जा रहा था, "हम हिमालय की तलहटी में किसी ऐसे स्थान पर एक कुटिया बनायेंगे, जहाँ पास ही कोई स्वच्छ नदी बहती हो। हो सकता है कि मैं एकान्त साधना न कर कोई आश्रम स्थापित करूँ। शिष्यों की कोई कमी नहीं होगी। मैं शिष्यों को पढ़ाऊँगा। साधना कर अपना आध्यात्मिक अनुभव बढ़ाऊँगा और तुम गृहस्थी के छोटे-बड़े काम सँभालना। शेष समय में तुम भी अध्ययन करना। तुम्हारी बुद्धि तीक्ष्ण है। अधिक समय नहीं लगेगा। बहुत जल्दी विदुषी हो जाओगी। मैं तुम्हारे आनन से पढ़ सकता हूँ, तुम असाधारण महत्त्व की नारी हो। नौका खेने के लिए भगवान ने तुम्हें यह रूप नहीं दिया है...।"

सत्यवती के मन की आशंकाएँ अट्ठहास कर हँस उठीं। सत्यवती का मन हुआ, चीत्कार कर कहे, "तपस्वी! ऐसे स्वप्न न दिखाओ, जिनके टूटने से हृदय से लहू टपकने लगे।"

एक ओर तपस्वी था, दूसरी ओर बाबा। जाने वे क्या कहें। यदि वे न माने तो? सत्यवती के पास तो कोई विकल्प नहीं है। शायद तपस्वी के पास हो।

"और यदि बाबा हमारे विवाह के लिए न माने तो?" अन्ततः उसके मुख से निकल ही गया।

"तो हम गान्धर्व विवाह कर लेंगे।" तपस्वी तनिक भी विचलित नहीं हुआ।

"वह क्या होता है।" सत्यवती ने पूछा।

"जब वर और कन्या माँ प्रकृति को साक्षी मान किसी वृक्ष के चारों ओर सप्तपदी...।"

"नहीं! मुझे शकुन्तला और दुष्यन्त वाला विवाह नहीं करना है।" सत्यवती अनायास ही कह गयी, "मेरे बाबा कण्व ऋषि नहीं हैं। वे मुझे क्षमा नहीं करेंगे। और फिर तुम दुष्यन्त के समान मुझे छोड़ गये तो मैं कहाँ-कहाँ प्रमाणित करती रहूँगी कि मैं तुम्हारी पत्नी हूँ।"

तपस्वी ने शान्त दृष्टि से उसे देखा, "तुम क्या चाहती हो पद्मगंधे?"

"अपने बाबा का आशीर्वाद!"

"और यदि वह न मिला तो?"

"तो...तो...।" सत्यवती कुछ कह नहीं पायी।

"प्रिये!" तपस्वी का स्वर और भी मधुर हो गया, "वयस्क हो जाने पर जैसे पुरुष को माता की नहीं, पत्नी की आवश्यकता होती है।"

"मैं जानती हूँ तपस्वी!" सत्यवती बोली, "किन्तु बाबा से पूछे बिना नहीं।"

तपस्वी कुछ देर मौन रहा, जैसे किसी द्वन्द्व में उलझ गया हो। फिर धीरे-से बोला, "तो कमलनयने! अपने बाबा से पूछ लो कि वे कन्यादान करेंगे या नहीं। या कहो तो मैं उनसे तुम्हारी याचना करूँ?..."

"नहीं!" सत्यवती बोली, "मैं ही पूछूँगी।"

तपस्वी मौन रहा। कुछ नहीं बोला, उसकी आँखों से झरते अनुराग के सोते सूख गये थे। वहाँ चिन्ता की कँटीली झाड़ियाँ उग आयी थीं।

"मैं चलूँ?" सत्यवती ने पूछा।

"जाओ।" तपस्वी के स्वर में हल्की-सी थरथराहट थी, "मैंने इसी द्वीप का बन्दी होने का निर्णय किया है। मैं यहीं तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा। यहाँ अपनी कुटिया बनाऊँगा। यदि तुम्हारे बाबा ने मेरे साथ विवाह की स्वीकृति दे दी तो यहाँ हमारी गृहस्थी बसेगी; अन्यथा यह मेरी साधना-भूमि हो जायेगी।"

सत्यवती ने कुछ नहीं कहा। उसका मन रोने-रोने को हो रहा था। तपस्वी के मुख की ओर देखने का उसका साहस नहीं हो रहा था।...वह जानती थी, यदि अब भी तपस्वी उसे थाम लेता और कहता, 'सत्यवती! तुम मेरी हो।' तो शायद सत्यवती घर भी न लौट पाती। किन्तु उसका विवेक उसे लगातार चौकस कर रहा था, 'सत्यवती! उठ! चल! इससे पहले कि तपस्वी फूट पड़े, तू चल पड़। नहीं तो बहुत देर हो जायेगी।...'

सत्यवती का ध्यान सहसा बहिर्मुखी हुआ।

रथ के आगे-आगे चलनेवाला दल धीमा हो गया था और हस्तिनापुर का नगर-द्वार दिखायी पड़ रहा था।

'लगता है कि हस्तिनापुर आ गया।...' जानते-बूझते हुए भी सत्यवती ने अपने मन को विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया।

सत्यवती का मन जैसे अपने सारे विस्तार को अतीत में से समेट रहा था। इस समय वर्तमान बहुत महत्त्वपूर्ण था। दासराज का अपनी पोष्य पुत्री को क्षत्रिय राजा से ब्याहने का स्वप्न पूरा होने जा रहा था।...किन्तु सत्यवती ने तो इस प्रकार का कोई स्वप्न नहीं देखा था। उसके लिए तो वर्तमान का प्रत्येक क्षण एक चुनौती था। प्रत्येक निमिष उसकी परीक्षा ले रहा था। जाने कैसी-कैसी अपेक्षाएँ थीं उससे। जाने कुरुकुल की रानी बन कर उसे क्या-क्या करना था...आश्वासन था तो यही था कि राजा शान्तनु उसे देख चुके थे, उसे पसन्द कर चुके थे और याचना उनकी ओर से ही हुई थी। देवव्रत एक बहुत बड़ा मूल्य दे कर उसे लाये थे।...इस राजकुल में सहज ही उसकी अवहेलना नहीं हो सकती थी। उसका अपमान ही करना होता तो उसे इस प्रकार याचना करके क्यों माँगा जाता।...पर फिर भी उसे दास-दासियों और कर्मचारियों के उपहास का पात्र नहीं बनना था...

रथ रुक गया।

देवव्रत का अश्व आगे बढ़ा। द्वार के सैनिकों ने झुक कर उन्हें प्रणाम किया और युवराज देवव्रत की जय-जयकार के साथ द्वार खुल गया। साथ आये सैनिक सिमट कर एक टुकड़ी के रूप में सत्यवती के रथ के पीछे खड़े हो गये।

नगर के भीतर से सजी-धजी राजकन्याओं का एक दल प्रकट हुआ। उन्होंने युवराज की आरती उतारी और उनको तिलक लगाया। आगे आ कर उन्होंने उत्सुक नेत्रों से सत्यवती को भी देखा। उसका भी स्वागत कर, उस पर पुष्प-वर्षा कर वे लौट गयीं।

देवव्रत ने आगे-आगे नगर में प्रवेश किया। उनके पीछे-पीछे सत्यवती का रथ था। मार्ग के दोनों ओर उत्सव के माँगलिक वेश में सज्जित सैनिक खड़े युवराज की जय के गगन-भेदी उद्धोष कर रहे थे। दोनों ओर के भवनों की अटारियों पर स्त्रियाँ सोलहों शृंगार किये खड़ीं अपनी उल्लसित हँसी के साथ-साथ फूलों की पँखुड़ियाँ बिखेर रही थीं...

सत्यवती ने ऐसा वैभवशाली नगर पहले नहीं देखा था...और यह तो नगर का वैभव था। राजा का वैभव कैसा होगा...

और तभी सत्यवती ने अपने मन को पहचाना...वह शायद देवव्रत के वैभव, सत्ता और लोकप्रियता से आतंकित हो उठा था।...ऐसा लग रहा था, जैसे यह सब कुछ देवव्रत का ही था। सैनिक अपने युवराज को देख कर कितने प्रसन्न थे। लोगों के मन में कितना स्नेह था उसके लिए।...जब लोगों को पता चलेगा कि सत्यवती के बाबा ने सत्यवती सौंप कर देवव्रत से उसके सारे अधिकार छीन लिए हैं, तो उनके मन में सत्यवती के लिए कैसा भाव जागेगा? सत्यवती हस्तिनापुर की महारानी बनने आयी है...शायद इतने में भी किसी को आपत्ति न होती। महारानी बन कर, सत्यवती देवव्रत का कुछ नहीं छीन रही थी; किन्तु सत्यवती की सन्तान तो देवव्रत से उसका युवराजत्व भी छीन लेगी। यह राज्य देवव्रत का नहीं रहेगा, यह नगर देवव्रत का नहीं रहेगा...तो यह प्रजा सत्यवती और उसकी सन्तान के विरुद्ध खड़ी नहीं हो जायेगी?...बाबा ने कहा था, वह सत्यवती को, देवव्रत जैसे समर्थ व्यक्ति को वंचित करने के लिए भेज रहे हैं...

और यदि देवव्रत अपने अधिकारों के लिए अड़ जाये? उससे उसके अधिकारों को कौन छीन सकता है?...सत्यवती की दृष्टि देवव्रत की पीठ पर टिक गयी।...यह वीर मूर्ति...उनका धनुष...उसका खड्ग...सत्यवती का मन अपनी असहायता पर रोने-रोने को हो आया...

रथ राजभवन के द्वार पर आ कर रुक गया। दासियाँ रथ से नीचे उतर आयीं। प्रासाद से निकल-निकल कर दास-दासियों की एक पूरी सेना उनके स्वागत के लिए खड़ी हो गयी।

देवव्रत ने आ कर हाथ जोड़ कर निवेदन किया, "माता! पधारें! यह आपका प्रासाद है। आप विश्राम करें।"

अत्यन्त सुन्दरी दासियों ने आगे बढ़ कर हाथ जोड़े, "देवी! पधारें।"

सत्यवती रथ से उतर आयी। दासियाँ मार्ग दिखाती रहीं और वह चुपचाप आगे बढ़ती गयी।...

सब कुछ युवराज देवव्रत पर ही निर्भर है–सत्यवती का मन कह रहा था–वही उसका सबसे बड़ा सहायक हो सकता है और वही सबसे बड़ा विरोधी...पर बाबा ने उसे इसलिए कुरुकुल के राजप्रासाद में नहीं भेजा था कि वह देवव्रत को अपना विरोधी बना कर, प्रत्येक अधिकार और सुख-सुविधा से वंचित हो जाये...

सन्ध्या समय सत्यवती को एकदम अनमनी देख कर बाबा ने पूछा था, "क्या बात है सत्या! इतनी उदास क्यों हो?"

"कुछ नहीं बाबा! यूँ ही सोच रही थी।"

"ओह-हो! अब हमारी बिटिया सोचने भी लगी है।" बाबा हँसे थे, "क्या सोच रही हो सत्या?"

"यमुना-तट पर इतने तपस्वी रहते हैं। वे लोगा अपना सब कुछ छोड़ कर अपने-आपको तपा रहे हैं। और दूसरी ओर हम लोग हैं, जो दिन भर– सूर्योदय से सूर्यास्त तक नौका चलाना, यमुना में जाल डालना, मछली पकड़ना, उसे सँभालना और फिर हाट में जा कर बेचना...हम एक दूसरे प्रकार से अपने-आपको तपा रहे हैं..."

बाबा ने चकित हो कर उसे देखा, "तो सचमुच सत्या बड़ी हो गयी है। वह तो बड़ी-बड़ी बातें सोचने लगी है।...पर तू यह सब क्यों सोचती है सत्या?"

मुस्कुराने के लिए सत्यवती को प्रयत्न करना पड़ा, "बाबा! जान-बूझ कर नहीं सोचती। जैसे किसी भी हलचल से नदी में लहरें उठती हैं, वैसे ही किसी भी दृश्य या ध्वनि से मेरे मन में विचार उठते हैं। सोचती हूँ...कौन अधिक सुखी है–दिन-भर मरते-खपते हमारे केवट-मछुए या सबकुछ त्याग, वनों में जा बैठे ये तापस-सन्यासी।"

बाबा स्पष्ट रूप से चिन्तित हो उठे थे, "बेटी! न मैं बहुत बुद्धिमान हूँ, न विद्वान और न चिन्तक! मैंने तो जो सीखा है, अपने जीवन से सीखा है। तुमने अपनी तुलना संन्यासियों से की है; किन्तु मैंने आज तक अपनी तुलना राजाओं और राज-परिवारों से की है।" बाबा ने स्नेह-भरी एक दृष्टि सत्यवती पर डाली, "सुखी तो केवल राज-परिवार है। उसके पास सबकुछ हैः धन-सम्पत्ति, अधिकार-सेवक, सैनिक-शस्त्र...सबकुछ! हम, वह सब प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। तपस्वी तो वे लोग हैं बेटी! जो उपलब्धियों से निराश हो चुके हैं। उन्होंने सुख-सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रयत्न ही छोड़ दिया है। उन्होंने शस्त्र डाल दिये है; संघर्ष त्याग दिया है; महासमर से मुख मोड़ लिया है। वे लोग जीवन से हार चुके हैं पुत्री!"

पर सत्यवती को तो अपना तपस्वी कभी भी हारा हुआ, उदास, परेशान, हताश नहीं लगा था।...जब पहली बार उसकी नाव में आ कर बैठा था तो बड़ा आत्मलीन-सा था। कितना शान्त और आश्वस्त। उसके पश्चात जब वह सत्यवती पर मुग्ध हुआ तो उसके नयनों का उल्लास तो कोई सीमा ही नहीं जानता था। उसे सत्यवती हताश और निराश कैसे मान ले। निराश तो वह तब हुआ था, जब सत्यवती ने कहा था कि शायद बाबा विवाह के लिए न मानें...

"बाबा!"

बाबा ने उसकी ओर देखा, "क्या बात है बेटी?"

"कहीं ऐसा तो नहीं कि हम उसके पीछे पड़े हैं, जो हमें नहीं मिल सकता और इसलिए हम सुखी नहीं हैं..."

बाबा हँस पड़े, "और तपस्वी इस सत्य को जान गये हैं कि हमें सुख नहीं मिल सकता, इसलिए उनके पास धन का सुख चाहे न हो, सन्तोष का सुख तो है...।"

"हाँ बाबा!"

बाबा गम्भीर हो गये, "तू जब नौका चलाती है तो तेरे शरीर को श्रम करना पड़ता है न?"

"हाँ बाबा!"

"तू उसे सुख मानती है या दुख?"

"वह तो मेरा सहज धर्म है बाबा! न सुख, न दुख!"

"उस समय तेरी नाव किसी नौका के आगे होती है, किसी के पीछे।"

"हाँ बाबा!"

"पर फिर भी आगे-पीछे किसी समय तू नदी पार कर ही जायेगी।"

"हाँ।"

"और यदि तू नाव चलाये ही नहीं। इसी किनारे बैठी रहे तो तू सुखी होगी या दुखी?"

"दुखी होऊंगी बाबा!"

"क्यों बेटी?"

"क्योंकि एक तो मेरा शरीर अपना श्रम-धर्म नहीं निभायेगा तो आलसी हो कर जुड़ता जायेगा और दूसरे मैं कभी नदी पार नहीं कर पाऊँगी।"

"ठीक है बेटी! बाबा बोले, "राजा लोग वे हैं, जो नदी के पार पहुँच गये हैं। हम वे लोग हैं, जो आगे-पीछे अपनी नौकाएँ चला रहे हैं। तपस्वी वे हैं, जो नदी के इस ओर, यह मान कर बैठ गये हैं कि हम नदी के पार पहुँच ही नहीं सकते।"

सत्यवती कई क्षणों तक चुपचाप बाबा को देखती रही, फिर जैसे साहस जुटा कर बोली, "एक बात पूछूँ बाबा!"

"पूछ बेटी!"

"आप बुरा तो नहीं मानेंगे?"

"तू इतनी बुरी बात पूछने वाली है क्या?"

"नहीं! पर आप कहीं यह न मान लें कि मैं अशिष्ट हो गयी हूँ। बड़ो के साथ विवाद करती हूँ।"

"नहीं बेटी! तू पूछ। क्या पूछती है।"

"बाबा! नौकाओं की दौड़ में चाहे कोई जीते या हारे; प्रत्येक नाविक हाँफ जाता है। पर किनारे पर खड़ा दर्शक किसी की भी जीत-हार में नहीं है, इसलिए प्रत्येक स्थिति में प्रसन्न है। सांसारिक जीव क्या नौका-दौड़ का प्रतिस्पर्धी और तपस्वी किनारे पर खड़ा दर्शक नहीं है?"

"साधारण गृहस्थ दौड़ का प्रतिस्पर्धी नहीं होता बेटी। वह तो चल रहा होता है। वह केवल अपना धर्म निभा रहा है, इसलिए दुखी नहीं है।" बाबा ने कहा, "मैं अपना धर्म निभा रहा हूँ। तू अपना निभा! निश्चित रूप से तू राज-कन्या है सत्यवती। तू किसी राजा को ही प्राप्त करेगी। मैं पहुँचूँ-न-पहुँचूँ–तू नदी के पार पहुँचेगी; तू राज-वधू होगी पुत्री! यदि किसी सन्यासी को ही सौंपना होता, तो मैं कब से तेरा कन्यादान कर चुका होता बेटी!"

"मैं अपनी बात नहीं कह रही बाबा!" सत्यवती ने कुछ अतिरिक्त प्रयत्न के साथ कहा।

"तू अपनी बात नहीं कह रही, पर मैं तेरी बात कह रहा हूँ।" बाबा मुस्कुराये, "तू राज-कन्या है। तेरा धर्म त्याग में नहीं, ग्रहण में है। मछली पानी में ही जीवित रहती है सत्यवती! हवा में आते ही उसके प्राण निकल जाते हैं–हवा कितनी भी सुखद क्यों न हो। तू त्यागमय जीवन में जीवित नहीं रह पायेगी।" बाबा उठ कर बाहर जाने को तैयार हुए, पर द्वार के बाहर जाते-जाते वे फिर लौट आये, "और तू इतना सोचा मत कर बेटी! अभी सोचने का वय नहीं है तेरा! सोचने का काम तू मुझ पर और अपनी अम्मा पर छोड़ दे।..."

बाबा चले गये और सत्यवती सोचती ही रह गयी; क्या बाबा उसके विषय में सब कुछ जानते हैं? यदि जानते हैं तो इतने शान्त कैसे हैं? और नहीं जानते तो इतना सटीक कैसे बोल गये, जैसे सारी बात उसी के विवाह को ले कर चल रही हो...

बाबा कहते हैं कि वह राज-कन्या है–वह उसका विवाह किसी राजकुमार से ही करेंगे...तब कैसा होगा जीवन सत्यवती का?...दास-दासियाँ, हाथी-घोड़े, रहने के लिए प्रासाद...यात्रा के लिए रथ और साथ चलने के लिए अंग-रक्षक...सत्यवती की कल्पना में सब कुछ बहुत सजीव हो उठता है, पर जैसे ही अपनी कल्पना में वह राजकुमार की छवि आँकने का प्रयत्न करती है, तपस्वी पराशर की आकृति आ कर उसकी कल्पना के सारे चित्रों को वैसे ही ढँक लेती है, जैसे इन्द्रधनुष आ कर सारे आकाश पर आरोपित हो जाता है।

सत्यवती के कण्ठ से एक गहरा दुस्वास फूटा, 'कहीं मेरा तपस्वी ही कोई राजकुमार होता...'

अगले दिन से सत्यवती का नाव चलाना दूभर हो गया। वह नाव में बैठती तो उसे लगता कि उसकी नाव तपस्वी के टापू की ओर भागती जा रही है। हर समय उसके चप्पू अपनी नाव को उस टापू से दूर ठेलते रहते और सारे प्रयत्नों के बाद भी नौका उसी टापू की ओर बढ़ जाती। अन्ततः हार कर सत्यवती नाव को किनारे से लगा कर अपना सिर पकड़, रेत पर बैठ जाती ...जाने नाव में ही कोई हठी प्रेत आ बैठा था, जो उसे किसी दूसरी दिशा में चलने ही नहीं देता था, या सत्यवती का अपना ही दिशा-ज्ञान खो गया था ...या कभी-कभी उसे लगने लगता था कि उसकी नाव में दो लम्बी रस्सियाँ बँधी हुई हैं। एक का सिरा टापू में बैठे तपस्वी के हाथ में है और दूसरी का सिरा हाथ में पकड़े, बाबा अपने स्थान पर खड़े हैं। जैसे ही सत्यवती नौका में बैठती है, दोनों अपनी-अपनी रस्सियाँ खींचने लगते हैं। उसी क्षण से सत्यवती का मन काँपने लगता है...तपस्वी युवक है, बलवान है। बाबा बूढ़े हैं, निर्बल हैं।...कहीं तपस्वी जीत ही न जाये। तपस्वी को पा कर सत्यवती प्रसन्न होगी; किन्तु अपने बाबा को पराजित देख कर उसका मन टूट जायेगा...

अन्ततः उसे अपने-आपको साधना ही पड़ाः वह तपस्वी के पास नहीं जायेगी। वह तपस्वी से नहीं मिलेगी।...किन्तु उसे लगा, उसका तन और मन दोनों ही रुग्ण होते चले जा रहे हैं। तपस्वी के पास वह जायेगी नहीं और अन्यत्र कहीं जाने का उसका मन ही नहीं होता था। जीवन का रस जैसे सूख गया था।

अम्मा ने एक दिन गहरी दृष्टि से उसे देखा, "क्या हुआ है तुझे?"

"कुछ भी तो नहीं अम्मा!"

"तो होंठ क्यों सूख रहे हैं तेरे? चेहरा क्यों पीला पड़ गया है?"

"नहीं तो! ऐसा तो कुछ नहीं है।"

अम्मा चुपचाप उसे देखती रहीं और फिर उन्होंने बाबा को भी पुकार लिया।

बाबा आये तो अम्मा बोली, "देख रहे हो अपनी लाड़ली को? क्यों सूखती जा रही है यह?"

"द्वन्द्व है इसके मन में!" बाबा बहुत शान्त स्वर में बोले, "तपस्वी या राजकुमार?"

अम्मा की दृष्टि और भी तीखी हो गयी, "पुरुष-संग किया है तूने?"

सत्यवती क्या कहती। न स्वीकार कर सकती थी, न अस्वीकार। उसने चुपचाप सिर झुका दिया।

"कौन है वह?" अम्मा की आँखें लाला होने लगीं।

पर बाबा ने अद्भुत धैर्य का प्रमाण दिया। उन्होंने अम्मा के कंधे पर हाथ रखा, "शान्त रहे सत्या की माँ! बेटी

है हमारी! शत्रु नहीं है।"

"काम तो उसने शत्रु का-सा ही किया है।" अम्मा शान्त नहीं हुई, "इसे तो चीर कर यमुना में डाल दो। मच्छ खा जायें इसे।"

"नहीं!" बाबा की शान्ति तनिक भी भंग नहीं हुई, "इसने बेटी का धर्म निभाया है। हमें माता-पिता का धर्म निभाना है।"

"क्या कहना चाहते हो?"

बाबा अपने गहरे स्वर में बोले, "एक तपस्वी में अनुरक्त हुई थी सत्या। मुझसे इसने संकेतों में पूछा और मैंने अपना निर्णय संकेतों में दे दिया। तब से सत्या एक बार भी नहीं मिली उस तपस्वी से।" बाबा की आँखों में स्नेह उमड़ आया, "इसने लाज रख ली मेरी। अब मुझे इसकी लाज रखनी है।"

"कानीन सन्तान को जन्म दे कर यह तुम्हारी लाज रख रही है," अम्मा सन्तुष्ट नहीं थीं।

"नहीं!" बाबा बोले, "तपस्वी तो कानीन सन्तान में भी अधर्म नहीं देखता। न ही वह गान्धर्व-विवाह को धर्म-विरुद्ध मानता। पर अब क्षत्रिय राजा कानीन सन्तान के पक्ष में नहीं हैं।...यदि सत्या का विवाह किसी राजकुमार से करना है तो इस तथ्य को अब छिपाना होगा। सत्या तपस्वी की भार्या नहीं बनेगी, कन्या ही रहेगी।...यह सबकुछ मान कर क्या सत्या ने मेरी लाज नहीं रखी?"

अम्मा कुछ नहीं बोली; पर उनके हाव-भाव बता रहे थे कि वह बाबा से सहमत नहीं है।

बाद की सारी व्यवस्था बाबा ने स्वयं ही कर दी थी। प्रसव के बहुत पहले से ही वह अपने ग्राम से हट गयी थी। प्रसव तपस्वी के उसी टापू में हुआ था और सत्यवती ने अपने हाथों से वह बालक अपने तपस्वी, ऋषि पराशर को सौंपा था, "इसका ध्यान रखना।"

तपस्वी के मुखड़े पर अब वह बावरापन दिखायी नहीं देता था, न सत्यवती का सान्निध्य उसे उन्मादी बनाता था। इस अवधि में जहाँ इधर सत्यवती ने अपने-आपको साध लिया था, उधर तपस्वी ने भी स्वयं को कस लिया लगता था।

तपस्वी ने बड़ी स्निग्ध मुस्कान बिखेरी थी शिशु पर, "निश्चिन्त रहो। तुम नहीं मिलीं तो अब मेरा सबकुछ यही है—कृष्ण द्वैपायन।"

सत्यवती ने एक दृष्टि बालक पर डालीः उसकी सोयी-सोयी गम्भीर-सी आँखें। उसका वह श्यामल वर्ण। हलके अरुण होंठ और आकर्षक मुस्कान! फिर तपस्वी की ओर देखा, "इसे कानीन सन्तान मान कर धिक्कारोगे तो नहीं?"

तपस्वी मुस्कुराया, जैसे सत्यवती ने कोई पागलपन की बात कही हो, "सृजन पुण्य है देवि! सृष्टि का लक्ष्य ही सृजन है। सृजन में सहायक हो कर हम स्रष्टा की आज्ञा का पालन करते हैं। धरती में से जब भी कोई पौधा जन्म लेता है, तो क्या हमने कभी सोचा कि इसके जन्म के पूर्व सामाजिक विधि-विधान का पालन किया गया अथवा नहीं। हम प्रत्येक पौधे का स्वागत करते हैं; क्योंकि वह स्रष्टा की मुस्कान है।...और यह तो मानव-सन्तान है...।" पराशर ने स्नेह से शिशु के माथे पर हाथ रखा।

"तो हमारा समाज उसे क्यों बुरा मानता है?" सत्यवती पूछे बिना नहीं रह सकी।

तपस्वी की मुस्कान को परे धकेल, आवेश की आभा झलकी, "प्रभु की धरती को क्षत्रिय राजा न केवल आपस में बाँट लेना चाहते हैं, वरन अनन्त काल तक उसे अपनी सम्पत्ति बनाये रखना चाहते हैं। जब तक धरती रहेगी, तब तक वे जीवित रह नहीं सकते, इसलिए उसे अपने उत्तराधिकारियों को सौंपने से पहले प्रमाणित कर लेना चाहते हैं कि उत्तराधिकारी उनका वैध आत्मज ही है, औरस सन्तान।" पराशर की मुस्कान ने उनके आवेश को जीत लिया, "तपस्वी के पास क्या है देवि! जिसे सौंपने के लिए वह प्रकृति की प्रक्रिया में अपना विधान अड़ाये। सृष्टि प्रकृति का विधान है, मनुष्य का विधान तो उसका अहंकार है।..."

सत्यवती चुपचाप खड़ी अपने तपस्वी को देखती रहीः कैसा महान है यह तपस्वी। संकीर्णता और संकुचितता का नाम भी नहीं। उदार जैसे कि आकाश...

बड़ी देर के बाद इतना ही पूछ पायी, "मुझसे रुष्ट तो नहीं हो?"

तपस्वी फिर मुस्कुराया, "तुम मिलतीं तो गृहस्थी बसती। न मिलीं तो साधना विकसी। तपस्वी के लिए तो सब ओर उपलब्धि ही है। वंचना कहीं नहीं है।"

सत्यवती लौट आयी। और आज तक वह एक क्षण के लिए भी भूल नहीं पायी कि उसका तपस्वी उसे इसलिए नहीं मिला क्योंकि वह राजकुमार नहीं था। उसका नन्हा कृष्ण द्वैपायन उससे छूट गया क्योंकि राजा कानीन पुत्र को स्वीकार नहीं करता, ऋषि ही स्वीकार कर सकता है।...राजवधू बनने के लिए बहुत बड़ा मूल्य चुकाया था सत्यवती ने...और जब उसने मूल्य चुकाया ही है तो वह अपने अधिकार डंके की चोट पर लेगी...बाबा ने यदि उसे राजरानी बनाना चाहा है तो अब वह राजरानी भी बनेगी और राजमाता भी...तपस्वी ने तो कहा था कि उसके लिए सब ओर उपलब्धि ही उपलब्धि है। कहीं ऐसा न हो कि सत्यवती के लिए सब ओर वंचना ही वंचना हो...

8

"मैंने सब कुछ सुन लिया है पुत्र!"

शान्तनु ने एक लम्बे असुविधाजनक मौन के बाद कहा और सायास देवव्रत की ओर देखा। उन्हें लगा कि वे सहज रूप से देवव्रत की ओर देख नहीं पायेंगे; किन्तु मुँह मोड़ कर भी वे शान्त नहीं रह पायेंगे...वस्तुतः अब देवव्रत से उनका वह सम्बन्ध नहीं रहा, जो आज तक था। उन्होंने अपने इस पुत्र को जाना ही नहीं था। उन्हें तो समय-समय पर कुछ सूचनाएँ मिलती रही थीं–पहले पुत्र-जन्म की, फिर गंगा द्वारा उसे जल में प्रवाहित करने के प्रयत्न की। उन्होंने देवव्रत के प्राणों की रक्षा की थी; किन्तु उसके लिए देवव्रत को पहचानने की कोई आवश्यकता नहीं थी–गंगा की गोद में जो भी शिशु होता, उसे वे अपना पुत्र मान कर, उसके लिए चिन्तित हो जाया करते थे। वह तो उनका अपना मोह था। उस शिशु, जिसका नाम देवव्रत था, को तो वह आज तक नहीं जान पाये...गंगा चली गयी थी और वे विक्षिप्त हो उठे थे। उन्हें किसी बात का ध्यान नहीं था, किसी चीज़ का होश नहीं था। गंगा के वियोग से जन्मी उग्रता और हिंसा को दबाये रखने के लिए उन्होंने आखेट का सहारा लिया था; और वर्षों तक वनों में भटकते रहे थे। उन्होंने समझा था कि महादेव शिव के समान उन्होंने भी अपनी उग्रता में 'कामदेव' को भस्म कर दिया है...पर देवव्रत के निकट वे तब भी नहीं आ पाये थे। वे इतना ही जानते थे कि उनका एक पुत्र है–देवव्रत जो आज इस ऋषि के आश्रम में है, तो कल उस ऋषि के आश्रम में। वे उसकी प्रशंसा सुनते रहे: युद्ध में बहुत कुशल है, शास्त्रों में पारंगत है, चरित्रवान है...पर देवव्रत को वह जान तब भी नहीं पाये...सहसा उन्होंने यमुना-तट पर सत्यवती को देखा और तब उन्होंने अपने-आपको जाना।...वे शिव नहीं थे। उनके मन में 'काम' का दहन नहीं हुआ था–उन्होंने उसे अपनी उग्रता में दबा मात्र रखा था। सत्यवती के रूप ने उस उग्रता को शान्त कर दिया था, हिंसा को उसका वास्तविक स्वरूप समझा दिया था। वह तो वस्तुतः उनकी कामेच्छा ही थी, जो सृष्टि न कर पाने की अपनी अतृप्ति में ध्वंसात्मक रूप ग्रहण कर चुकी थी। सत्यवती के सौन्दर्य ने उसे अपने वास्तविक रूप में परिणत कर दिया था–कामेच्छा में।

और तब शान्तनु को लगा था कि गांगेय जैसा उनका पुत्र है ही क्यों? उनका कोई भी पुत्र न हुआ होता तो वह सुविधा से, बिना किसी अपराध-बोध के सत्यवती से विवाह कर लेते। विवाह को, उनकी आवश्यकता और अधिकार ही नहीं, उनका धर्म भी माना जाता।...उन्हें लगा कि गंगा को जाना ही था...वह जानती थी कि उसे जाना ही है; शायद इसलिए वह उनके पुत्रों को जीवन-मुक्त करती जा रही थी, ताकि उन्हें दूसरे विवाह में असुविधा न रहे। पर वह ही व्यर्थ के मोह में पड़ गये थे।

तब उन्होंने अपने हृदय को पहचाना था। गांगेय के लिए उनके मन में कोई मोह नहीं था। वह तो उनके मार्ग की बाधा था। सत्यवती सामने थी...उनका विवाह हो सकता था; पर गांगेय जैसे पुत्र...पुत्र केवल सुख के लिए ही नहीं होता। पुत्र जीवन में बाधा भी होता है...गंगा इसे भी जल में प्रवाहित कर देती तो क्या क्षति हो जाती...आज वह उनके विवाह के मार्ग की बाधा है। वह उनसे उनके जीवन के परम सुख को छीन रहा है...वह उनका शत्रु है। जीवन में उन्हें इतना वंचित तो उनके शत्रुओं ने भी कभी नहीं किया...

उन्होंने काम के वेग को पहचाना था। काम जब मन से निकल, रक्त के माध्यम से शरीर की सारी शिराओं में समा जाता है तो उसे झेल पाना सम्भव नहीं है...कम-से-कम शान्तनु के लिए तो सम्भव नहीं ही है। शान्तनु के मन में अवसाद ही नहीं घिरता, आक्रोश भी जागता है। उनके वश में होता तो वह पृथ्वी को फोड़ देते, सृष्टि को ध्वस्त कर देते।...पर यह सब उनके वश में नहीं था। अब तो यह भी उनके वश में नहीं था कि धनुष-बाण उठा कर आखेट के लिए वन में चल देते...अब तो इस दुर्निवार आघात को सहना ही था...नरक में कैसी यातना दी जाती है, वह नहीं जानते थे, पर वह जानते थे कि वह यातना भी इस भयंकर काम-यातना से अधिक कष्टकर नहीं होगी...उन्हें लगा था कि उनके अपने पुत्र इस गांगेय ने उन्हें बलात पकड़ कर अग्नि के झरने के नीचे खड़ा कर दिया है और कह रहा है "जल!"

पर आज वही गांगेय उनके सामने बैठा था, कितना समर्थ, कितना त्यागी...जैसे अपने मचलते हुए हठ में एड़ियाँ रगड़-रगड़ कर रोते हुए पुत्र के लिए कोई समर्थ पिता उसकी मनचाही वस्तु ले आया हो, बिना इस बात की चिन्ता किये, कि उस वस्तु का मूल्य कितना अधिक है...किन्तु पिता कोई वस्तु दे तो पुत्र सहज उल्लास के साथ साधिकार उस वस्तु को थाम लेता है...न उसे पिता की कृपा के बोझ की अनुभूति होती है, न कोई अपराध-बोध उसे

भीतर से गलाता है...किन्तु पुत्र के हाथों...वह भी उसे वंचित करके...

"तुमने जो प्रतिज्ञा की है गांगेय!" अन्त में शान्तनु बड़ी कठिनाई से बोले, "वह कठिन ही नहीं, असम्भव प्रतिज्ञा है। तुमने भीषण कर्म किया है। मैं तुम्हें क्या दे सकता हूँ पुत्र! तुम जैसे पुरुष को कोई दे भी क्या सकता है। मुझे लगता है कि तुम्हारा जन्म किसी से कुछ लेने के लिए हुआ ही नहीं है। तुम आजीवन दोगे। लोग याचक होंगे, तुम दाता होगे। जीवन तुमको कभी कुछ नहीं देगा, तुमसे पायेगा ही पायेगा। मैंने तुम्हें कभी नहीं पहचाना था पुत्र! आज तुम्हारे व्यक्तित्व का एक स्फुलिंग देखा है। मैं इस पहचान के अवसर पर फिर से तुम्हारा नामकरण कर रहा हूँ–तुम अपनी इस प्रतिज्ञा के कारण आज से भीष्म कहलाओगे।"

भीष्म ने आँखें उठा कर पिता को देखा: वे भी आज अपने पिता का नया रूप देख रहे थे, "मैंने तो मात्र पुत्र का धर्म निभाया है आर्य!"

शान्तनु की आँखें भीष्म की आँखों पर टिक गयीं, "तुम-सा पुत्र पाने की कामना प्रत्येक पिता करेगा।" पर सहसा उनका मन जैसे बदल गया, "तुम-सा पुत्र पा कर पिता, पुत्र पर ही गर्व करने योग्य रह जाता है, स्वयं अपने-आप पर गर्व करने का साहस वह नहीं कर पायेगा।"

"आर्य!"

"हाँ पुत्र!" शान्तनु शून्य में देखते रहे, जैस भीष्म की ओर देखने से स्वयं को सायास रोक रहे हो, "वह मेरी कामना थी, याचना नहीं।"

"इसमें याचना की कोई आवश्यकता नहीं थी पिता जी!" भीष्म कुछ संकुचित हुए, "पिता की कामना-भर जानना ही पुत्र के लिए पर्याप्त होता है।"

"शायद ऐसा ही हों," शान्तनु बोले, "किन्तु कामना व्यक्तिगत विषय है। वह तब तक सामाजिक विषय नहीं बनती, जब तक कर्म में परिणत न हो जाये। कर्म पर समाज का नियन्त्रण है पुत्र! कामना पर नहीं।...कामना की कोई सीमा भी नहीं है, इसलिए उस पर कोई बन्धन भी नहीं है...किन्तु कर्म के साथ ऐसा नहीं है।"

भीष्म अपने पिता को देख रहे थे...वे उल्लसित नहीं थे, जैसी कि उनके विषय में भीष्म की कल्पना थी। वे किसी ग्लानि में भस्मीभूत हो रहे थे, पीड़ा जैसे उनकी शिराओं को एक-एक कर काट रही थी...

"जीवन में कई क्षण आत्मसाक्षात्कार के आते हैं पुत्र!" शान्तनु जैसे अपने-आपसे कह रहे थे, "मैंने अपने कर्मों के माध्यम से नहीं, तुम्हारे कर्म के माध्यम से स्वयं को जाना है।...मुझे ऐसा लगता है कि मेरे भीतर एक अन्धी कामना है, जो जाग्रत विवेक से बँधी हुई है।...कामना अन्धी है। वह कुछ देखती-समझती नहीं। वह सामाजिक तो नहीं ही है, मानवीय भी नहीं है। वह तो शुद्ध पशु-जगत की कामना है। उसकी कोई सीमा नहीं है। कोई मर्यादा नहीं है। उसके लिए कोई समाज नहीं है, कोई सम्बन्ध नहीं है। शुद्ध पशु-वृत्ति है।...पर मेरा विवेक जाग्रत है। वह सामाजिक भी है और मानवीय भी। वह जानता है कि मेरी मर्यादा क्या है। अन्धी कामना को भी वह पहचानता है। जैसे लौह-चूर्ण के कण विवश हो कर चुम्बक की ओर भागते हैं, वैसे ही मेरे शरीर के रक्त-कण गंगा और सत्यवती की ओर भागे थे। काम के आवेश में वे ऐसे ही पागल हो उठते हैं पुत्र। विधाता ने मेरा शरीर कुछ ऐसा ही बनाया है। किन्तु, मेरे विवेक ने मुझे पग-पग पर अपनी मर्यादा समझायी है...मैंने चाहे कितनी पीड़ा सही हो, किन्तु मैंने गंगा को अपनी इच्छा के विरुद्ध अपने सुख के लिए नहीं रोका...मैंने राजा होते हुए अपने सामर्थ्य के बावजूद सत्यवती को बलात प्राप्त नहीं करना चाहा।...अधिकर होने पर भी मैंने तुमको वंचित कर सत्यवती को प्राप्त नहीं किया..."

"पिता जी!" भीष्म ने कहना चाहा...

"सुनो पुत्र!" शान्तनु ने उन्हें कहने नहीं दिया, "आज बाँध टूटा है तो कह लेने दो। आज तुम्हारे दान ने तुम्हें ऊँचा उठा दिया है। याचक होने के कारण मैं पिता के स्तर से नीचे आ गया हूँ। इसलिए सम-धरातल पर तुमसे यह सब कह पा रहा हूँ। यह क्षण बीत जायेगा तो हम फिर पिता-पुत्र के सम्बन्धों में बँधे, इस धरातल पर ये बातें नहीं कर पायेंगे...।"

"कहिए आर्य!"

"इसलिए कहता हूँ कि मैं कामना के धरातल पर बहुत नीच व्यक्ति हूँ; किन्तु कृत्य के धरातल पर मैंने कुछ भी कलुषित नहीं किया। विवेक की मर्यादा में आबद्ध मैंने अपने कर्म को कलंकित नहीं किया।...पर तुम्हारे कर्म के फल को प्राप्त कर मैं पुनः कर्म-बन्धन में फँस रहा हूँ।...काम, विवेक के लिए मादक द्रव्य है पुत्र! जब तक काम का आधिपत्य है, विवेक निश्चेष्ट रहता है। काम का ज्वार उतर जाता है तो विवेक बताता है कि वह व्यवहार, वह कामना, वह

चिन्तन–सब जैसे उन्मत्त का स्वप्न था।...ऐसे ही ज्वार उतरने पर, मैंने कभी यह नहीं माना कि काम जीवन का श्रेय है। वह मेरी बाध्यता है। मेरी दुर्बलता है...” शान्तनु रुके और फिर बोले, “मेरा विवेक आज भी मुझे चेतावनी दे रहा है, किन्तु तुम्हारे कर्म के फल को ग्रहण करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पा रहा। उसे स्वीकार कर रहा हूँ। कर्म तुम्हारा है, स्वीकृति मेरी है...कह नहीं सकता कि कर्म-बन्धन कितना तुम्हें बाँधेगा और कितना मुझे...।”

शान्तनु के मन में चल रहे विचारों के झंझावात का कुछ-कुछ आभास भीष्म को मिल रहा था। उनके पिता ‘वह’ नहीं थे, जो उन्होंने सोचा था...

“मैंने तो स्वयं को कर्म-बन्धनों से मुक्त करने के लिए ही यह सब किया है तात!” भीष्म धीरे-से बोले, “अब न मैं विवाह करूँगा, न भार्या होगी, न सन्तान! कर्म का मार्ग बन्द हो गया है। फिर बन्धन....”

“उसका विचार करने का समय अभी नहीं आया पुत्र!” शान्तनु धीरे-से बोले, “मेरी इच्छा है कि तुमने मुक्त होने के लिए कर्म किया है, तो तुम्हें मुक्ति ही मिले; किन्तु भीष्म! कर्म का फल मेरी इच्छा से नहीं, सृष्टि के नियमों के अधीन है।...मैं तुम्हें आशीर्वाद के सिवाय और दे ही क्या सकता हूँ।...फिर भी तुम्हें एक वरदान देना चाहता हूँ।”

भीष्म ने आँखें उठा कर पिता की ओर देखा।

“मैं तुम्हें प्रकृति के नियमों से मुक्त नहीं कर सकता; किन्तु तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा से स्वेच्छा-मुक्ति का वरदान दे रहा हूँ। बन्धन तुम्हारा अपना है, मेरी ओर से कोई बाध्यता नहीं है।”

9

सत्यवती के द्वार पर आ कर शान्तनु के पग थम गये। उन्हें लगा कि उनका लौट जाना ही ठीक है।...पर तभी विवेक ने फटकारा, 'नव-वधू के द्वार से लौट जाने का क्या अर्थ?' सत्यवती अब उनकी पत्नी थी...उनके इस विवाह तक की घटनाओं की यात्रा अब जैसे पृष्ठभूमि में चली गयी थी। उसका औचित्य-अनौचित्य, उसके प्रतिबन्ध- परिबन्ध, इस विवाह के कारण राज-परिवार के सम्बन्धों और अधिकारों का नया सन्तुलन...सबकुछ अपने स्थान पर बहुत महत्त्वपूर्ण...पर उन सबसे महत्त्वपूर्ण एक तथ्य था...सत्यवती अब उनकी पत्नी थी...वे उसके द्वार से लौट नहीं सकते थे। उनका यह संकोच या उनके व्यवहार पर झीनी-सी ग्लानि की यह परत, इस तथ्य को नकार नहीं सकती थी। उनका आचरण अब सत्यवती के पति के अनुकूल होना चाहिए।...

शान्तनु ने कक्ष में प्रवेश किया।

सत्यवती ने खड़ी हो, हाथ जोड़ कर उनका स्वागत किया। शायद उसके अधरों ने हल्के-से हिल कर कहा भी, "पधारें महाराज!" पर वह इतना अस्पष्ट था कि कहा-अनकहा, एक जैसा ही रह गया।

शान्तनु सत्यवती को एकटक देखते रह गये: अपूर्व सौन्दर्य था। ऐसी स्त्री को देख कर, शान्तनु के मन में उसकी कामना जाग उठे, तो शान्तनु क्या करें?...

"बैठो देवि!" उन्होंने सत्यवती के कंधे पर हथेली से हल्का-सा दबाव डाल कर बैठने का आग्रह किया।

सत्यवती की इच्छा हुई कि चिहुँक कर पीछे हट जाये, या आँखें तरेर कर राजा को देखे। पर इस इच्छा के साथ-साथ उसका विवेक भी जागा: अब राजा उसके पति थे। उसका पति विवाह के पश्चात प्रथम मिलन में अपने प्रेम को स्पर्श के माध्यम से संप्रेषित कर रहा था; और सत्यवती चाह रही थी कि वह उसके हाथ को झटक दे...अच्छा हुआ कि उसे ठीक समय पर विवेक ने टोक दिया, नहीं तो कहीं सचमुच ही वह कुछ कर बैठती, तो कितना अशोभन होता...पर सत्यवती भी क्या करे...तपस्वी उसे छूता था तो लगता था किसी ने उसके शरीर पर कमल की पाँखुड़ी रख दी है, और साथ-ही-साथ मन में कमल-वन खिल आता था...और राजा शान्तनु ने क्षण-भर को उसके कंधे पर हाथ रखा तो उसे लगा कि कंधे पर बिच्छू रेंग रहा है...

पर सत्यवती को यदि राजरानी बने रहना है और राजमाता बनना है तो उसे इस बिच्छू को भी कमल की पँखुड़ियों का-सा सम्मान देना होगा...

सत्यवती ने अपने शरीर को देखा: आज तक यह शरीर सुख का माध्यम था–उसके लिए भी और तपस्वी के लिए भी! उस 'सुख' के साथ न समाज था, न पद, न धन, न भविष्य...कुछ नहीं।...पर आज इस शरीर का रूप बदल गया है...वह स्वयं सुख पाये, न पाये; पर यदि राजा को सुख दे सके तो हस्तिनापुर का राज्य उसी का है।

सत्यवती बैठ गयी और शान्तनु ने ध्यान दिया कि ऐसे समय में सत्यवती की ओर से अपेक्षित वाक्य, "आप भी पधारें आर्य!" नहीं कहा गया। निश्चित रूप से उसकी शिक्षा-दीक्षा, राज-परिवारों के अनुरूप नहीं हुई थी।...पर यह तो शान्तनु को पहले ही सोचना चाहिए था। उन्होंने सत्यवती की शिक्षा-दीक्षा, शील-शिष्टाचार अथवा कोई अन्य गुण देख कर उसकी कामना नहीं की थी...या फिर यह सत्यवती का संकोच मात्र ही था...

सत्यवती के प्रबल आकर्षण और मन में उठते हुए उत्ताल धिक्कार में बँधे शान्तनु पल-भर के लिए किंकर्तव्यविमूढ़-से खड़े रह गये। सत्यवती राज वैभव से आतंकित सिमटी-सी बैठी थी और शान्तनु उसके रूप से त्रस्त याचक-से बने खड़े थे।

अन्ततः शान्तनु ही बोले, "सत्यवती! किसी प्रकार का कोई कष्ट तो नहीं हुआ?" सत्यवती ने नकार में सिर हिला दिया।

"मेरे प्रति कोई विरोध, कोई रोष, कोई उपालम्भ तो नहीं मन में?" शान्तनु का स्वर बहुत ही धीमा हो गया था।

सत्यवती ने फिर नकार में सिर हिला दिया।

"मैं बहुत ही अभागा व्यक्ति हूँ, सत्यवती।"

सत्यवती ने पहली बार चौंक कर सिर ऊपर उठाया, कुरुराज अभागे कैसे हैं? मेरे बाबा ने तो कहा था कि पूर्व

जन्मों के संचित अनन्त पुण्यों के फलस्वरूप मनुष्य राजपरिवार में जन्म का लेता है। और फिर पुरुओं का-सा राजपरिवार!

शान्तनु को लगा, सत्यवती उतनी मितभाषिणी नहीं है, जितनी वह समझ रहे थे। अब तक न बोलने के पीछे कदाचित उसका संकोच ही था। संकोच का अवरोध एक बार हट जायेगा, तो प्रवाह का अभव नहीं रहेगा।

"शायद तुम ठीक कह रही हो सत्या!" शान्तनु रुके, "तुम्हारे बाबा तुम्हें इसी नाम से पुकारते हैं न?"

सत्यवती के चेहरे पर उल्लास दमका–बाबा द्वारा पुकारे जाने वाले नाम में कितनी आत्मीयता थी। उसके मन में कहीं एक अनाम-सी इच्छा उठ रही थी कि वह कहे कि उसका तपस्वी उसे 'पद्मगंधा' कह कर पुकारता था...पर शायद कुरुराज को उसके शरीर में से पद्मगंध नहीं आ रही थी। वैसे भी सैरिन्ध्रियों ने उसे कैसी-कैसी तो तरल सुगन्धों से नहला दिया था। उसके शरीर की वह नैसर्गिक पद्मगंध अब रह ही कहाँ गयी होगी। राजप्रासाद में कमल-ताल की गंध आ भी कैसे सकती है...तपस्वी कहता था, सत्यवती माता प्रकृति के सौन्दर्य का पुँजीभूत स्वरूप है...कुरुराज क्या कहेंगे...वह सैरिन्ध्रियों की कला की पराकाष्ठा है...

"पर फिर भी मैं अभागा हूँ।" शान्तनु पुनः बोले, "मेरी कामना और कर्म में सन्तुलन नहीं है। मेरी कामना का अतिरेक इतना प्रचण्ड है कि उसका कोई तर्क और विवेक नहीं रह जाता; और मेरा कर्म बहुत भावुक, न्यायी और तर्कशील है।" वे रुके, "मेरी बात समझ रही हो?"

"नहीं!" सत्यवती ने ईमानदारी से स्वीकार कर लिया। वह तपस्वी की भी आधी बातें समझ नहीं पाती थी। राजा की बात भी समझ नहीं पायी, तो क्या आश्चर्य है।

शान्तनु मुस्कुराये, "यह भी विचित्र स्थिति है, मेरी जीवन-संगिनी, मेरे दुर्भाग्य को नहीं समझ पा रही।..."

"मैं...मैं..." सत्यवती अपनी स्थिति स्पष्ट करना चाह रही थी।

"कोई बात नहीं सत्या!" शान्तनु पुनः मुस्कुराये, "इस प्रकार समझ लो कि जिस स्त्री की मैंने अपनी पहली पत्नी के रूप में आकांक्षा की थी, वह मुझे मिल तो गयी; किन्तु उससे दाम्पत्य सुख नहीं मिला।...अब दूसरी बार जिसकी आकांक्षा की, वह भी मिल गयी, किन्तु उसे शायद मैं दाम्पत्य सुख दे न पाऊँ।"

"क्यों? ऐसा क्यों?" सत्यवती अचकचा गयी।

शान्तनु ने उसे देखा, "तुम नहीं समझतीं?"

"नहीं।"

"हमारे वय का अन्तराल!" शान्तनु धीरे-से बोले, "यद्यपि कामेच्छा मुझमें अब भी कम नहीं है। तुम्हें देख कर मैं विह्वल भी बहुत हो गया था। तुम्हें पा कर मैं प्रसन्न भी बहुत हूँ। किन्तु, मैं यह भूल नहीं सकता कि वय में मैं तुमसे बहुत बड़ा हूँ। तुम्हारी युवावस्था के लिए, मैं प्रायः वृद्ध हूँ। मेरा विवेक नहीं मानता कि मैं तुम्हारे लिए उपयुक्त वर हूँ। मेरे लिए तुम उपयुक्त पत्नी हो–यह भी मैं नहीं मानता। यह तो मेरे पुरुष की, तुम्हारी स्त्री के प्रति आसक्ति मात्र है। पति और पत्नी–स्त्री और पुरुष ही नहीं होते। वे उससे बहुत कुछ अधिक होते हैं। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध अल्पकालीन हैं। पति-पत्नी सम्बन्ध दीर्घकालीन हैं। पति-पत्नी सम्बन्ध में अनेक समझौते करने पड़ते हैं। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं होता–यदि कोई होता भी है, तो वह दाम्पत्य-सम्बन्धों की दृष्टि से होता है।...मैं यह सब कुछ जानता था...।" उन्होंने रुक कर सत्यवती की ओर देखा, "समझ रही हो?"

सत्यवती उनकी ओर देखती-भर रही, बोली कुछ भी नहीं।

"यह सब मैं उस समय भी समझता था, जिस समय मैंने तुम्हारे पिता से तुम्हारी याचना की थी। इसलिए मैंने तुम्हारे पिता की शर्तें नहीं मानीं। शर्तें अनुचित थीं, क्योंकि मेरी याचना अनुचित थी।...इच्छा अनुचित थी।...पर उस पर मेरा कोई वश नहीं था। किन्तु कर्म पर मेरा वश था। इसलिए मैंने अपना कर्म अनुचित नहीं होने दिया।..." उन्होंने अपनी बात रोक कर, पूरे कक्ष का एक चक्कर लगाया, "भीष्म ने मेरी इच्छा देखी।..."

"भीष्म कौन?" सत्यवती ने अनायास ही पूछ लिया।

"देवव्रत।" शान्तनु बोले, "मैंने उसका नया नामकरण किया है–भीष्म। उसने काम ही ऐसा किया है।...जो कुछ उसने किया, वह उसी के योग्य है। पर मैं नहीं जानता कि जो कुछ उसने किया है, वह हमारे लिए हितकर भी है या नहीं–हमारे लिए, अर्थात मेरे लिए, भीष्म के लिए, तुम्हारे लिए।...मुझे कई बार लगा है सत्या! कि प्रकृति ने मनुष्य को पूर्ण बनाया है, पर उसका नाश आवश्यक है–अन्यथा वह अनश्वर हो जायेगा।...और उसके नाश के लिए प्रकृति ने मनुष्य में किसी-न-किसी एक अविवेकी इच्छा को स्थापित कर दिया है, ताकि अपने नाश का दायित्व भी

मनुष्य के अपने ही सिर पर रहे। मनुष्य के मन में जब इच्छाएँ जन्म लेती हैं, तो वह नहीं जानता कि वे उसके लिए हितकर हैं या नहीं। किन्तु प्रकृति जानती है। इसलिए वह मनुष्य की इच्छाएँ पूरी नहीं करती। तब मनुष्य प्रकृति से रुष्ट हो कर स्वयं कर्म करता है। कर्म का फल प्रकृति रोक नहीं सकती।...तब अपने अहित का दायित्व भी मनुष्य के अपने कंधों पर ही होता है।" शान्तनु रुक गये, "तुम्हारा क्या विचार है।"

सत्यवती के कण्ठ में कुछ अटका; और फिर प्रयत्नपूर्वक उसने कह ही दिया, "मैं आपकी बात ठीक-ठीक समझ नहीं पा रही हूँ महाराज!"

शान्तनु कुछ निराश हुए: क्षण-भर को लगा कि कैसी पत्नी चुनी है उन्होंने। गंगा ने तो उन सारे वर्षों में एक बार भी नहीं कहा था कि वह उनकी बात नहीं समझती।...और यह इस पहली भेंट के एक खण्ड में ही कई बार कह चुकी है कि वह उनकी बात नहीं समझ रही है।

पर दूसरे ही क्षण, उन्होंने स्वयं को सँभाला...सत्यवती को उसके रूप के लिए ही चुना है उन्होंने। वह रूप उसमें अभी है, और उनके जीवन-पर्यन्त रहेगा।...उसकी समझ के विषय में कुछ भी जानने का प्रयत्न नहीं किया था उन्होंने...और सहसा उन्हें लगा, कि दूसरों को भ्रम में रखने के लिए वह जो भी कहें, किन्तु अपने-आप से, स्वयं को नहीं छिपा सकेंगे वे। उसका कोई लाभ भी नहीं है। वह आत्मसाक्षात्कार कर रहे थे, उसके वास्तविक और नैसर्गिक रूप में...सत्यवती को उन्होंने उसके रूप पर आसक्त हो कर चाहा था...केवल रूप...माँसल रूप...कामेच्छा ही थी इस इच्छा के मूल में...उन्होंने दूसरा पुत्र पाने के लिए उसे नहीं चाहा था...उसे उन्होंने जीवन-संगिनी के रूप में नहीं चाहा...वस्तुतः उन्होंने उसे 'मनुष्य' के रूप में नहीं, एक 'वस्तु' के रूप में चाहा है...केवल भोग के लिए।...इस वय में पुरुष, धर्मपत्नी या जीवन-संगिनी को पाने के लिए विवाह नहीं करता। वह विवाह करता है अभुक्त काम के लिए। उसे पत्नी नहीं चाहिए, उसे चाहिए रमणी।...और रमणी में रूप ही पर्याप्त है, अन्य गुणों की अपेक्षा नहीं है...और वह यह क्यों कहते हैं कि भीष्म ने उनकी इच्छा देखी, कर्म नहीं,...उन्होंने स्वयं भीष्म से कहा था कि एक-ही पुत्र का पिता सन्तानहीन व्यक्ति के समान होता है, अतः वे दूसरी सन्तान पाना चाहते हैं...क्या भीष्म के लिए, यह पिता का आदेश नहीं था?...

सत्यवती की इच्छा हुई कि वह सो जाये। कैसी तो नींद आ रही थी उसे। शरीर को तो यात्रा ने थका दिया था और मस्तिष्क को राजा की बातों ने...पर वह सो कैसे सकती थी। शान्तनु राजा ही नहीं, उसके पति भी थे। वे उससे बातें कर रहे थे, और वह सो जाये।...पर यदि राजा उसे अनुमति दे भी दें तो क्या वह सो पायेगी? कैसा अटपटा-सा लग रहा था उसे। एक सर्वथा अपरिचित व्यक्ति, न केवल उसके कक्ष में उपस्थित था, बल्कि उसके पलंग के एकदम पास खड़ा था...यदि इस व्यक्ति के स्थान पर उसका तपस्वी होता, तो वह उसकी गोद में सिर रख कर सो जाने में एक निमिष का भी विलम्ब न करती...पर यह राजा...

"तुम्हें नींद आ रही है क्या?" सहसा शान्तनु ने पूछा।

"पर मैं सोऊँगी नहीं।" सत्यवती ने निर्द्वन्द्व उत्तर दिया, "बाबा ने कहा था कि जब तक राजा सो न जाये, मुझे सोना नहीं चाहिए।"

"ओह!" शान्तनु बोले, "तुम्हारे बाबा बहुत समझदार व्यक्ति हैं।"

शान्तनु आ कर सत्यवती के पास बैठ गये। सत्यवती कुछ और सिमटी। पर अब शान्तनु की शिराओं में काम-मद लहरा रहा था। ...सत्यवती की मनोदशा जानने का उनके पास अवकाश नहीं था। उनके लिए यही पर्याप्त था कि सत्यवती उनके पास थी और वह उनके अनुकूल हो या न हो, पर उनके प्रतिकूल नहीं थी।

शान्तनु ने जब सत्यवती को अपनी बाँहों में लिया, तो एक क्षण को उन्होंने अनुभव किया कि सत्यवती की त्वचा उनके स्पर्श से समर्पण के लिए शिथिल न हो कर, विरोध में कुछ संकुचित हुई थी...पर यह भाव उनके आवेग में वैसे ही बह गया, जैसे कोई छोटी-सी टहनी गंगा की लहरों के साथ बह जाती है...

शान्तनु सो गये; किन्तु सत्यवती को बहुत देर तक नींद नहीं आयी।...

थोड़ी देर पहले तक यह पुरुष उसके लिए अपरिचित था...राजा था, कुरुकुल का सम्राट! उससे बहुत धनी, सत्ता-सम्पन्न, विद्वान और शायद महान! सत्यवती क्या थी उसके सामने: एक निर्धन केवट-प्रमुख की पुत्री। न शिक्षित, न राज-परिवारों के विधि-विधान को जानने वाली–पर इस सम्राट के भीतर बैठे पुरुष ने, सत्यवती के नारी-

सौन्दर्य के सम्मुख घुटने टेक दिये थे—और अब सत्यवती, शान्तनु के समान हो गयी थी—कहीं अधिक शक्तिशालिनी भी।...उसके पास रूप और यौवन था। बाबा कहते थे, पूर्णचन्द्र को देख कर सागर विह्वल हो उठता है और उसकी उद्दाम तरंगें चन्द्रमा के चरण छूने को लोटती हैं, बार-बार ऊपर उचक-उचक कर धरती पर अपना सिर फोड़ती हैं। वैसे ही सत्यवती पर दृष्टि पड़ते ही शान्तनु की धमनियों में काम-ज्वार उठेगा। राजा सत्यवती के चरणों में सिर पटकेगा...और उस समय वह इतना दुर्बल हो जायेगा कि सत्यवती की आँख के संकेत पर पालतू कुत्ते के समान दौड़ता फिरेगा। सत्यवती ने अपनी शक्ति का प्रभाव देख लिया है। उसे अब यह मालूम होना चाहिए कि किस कार्य में उसका हित है, कार्य तो वह करवा ही लेगी...

...क्या कह रहे थे राजा कि जो इच्छा हमारे हित में नहीं होती, प्रकृति उसे पूरा नहीं करती है...क्या तपस्वी का सत्यवती को न मिलना उसके हित में है? उस प्रिय-दर्शन पुरुष का सत्यवती को न मिलना, सत्यवती के हित में कैसे हो सकता है...शायद, सारा जीवन सत्यवती के नयनों में, उसकी कल्पना में पराशर की छवि तैरती रहेगी और उसके हृदय को पीड़ा देती रहेगी...अब तो पराशर ही नहीं, नन्हा कृष्ण द्वैपायन भी तो है।...अपने प्रियजनों का किसी से जीवन-पर्यन्त छिन जाना उसके लिए कैसे हितकर हो सकता है?...राजा जाने क्या-क्या सोचते और कहते हैं...

पर सत्यवती का चिन्तन एक ही स्थान पर स्थिर नहीं रह सका...उसके अपने ही मन में एक विरोधी स्वर उठा: वह यह क्यों मानती है कि उसकी इच्छा होने पर भी प्रकृति ने उसे पराशर से नहीं मिलाया।...बाबा से बात कर, उसकी अपनी इच्छा ही तो शिथिल हो गयी थी...उसने बाबा की इच्छा के साथ अपनी इच्छा का तादात्म्य कर दिया था...बाबा मानते थे कि धन के अभाव में तपस्वी के साथ उसका जीवन सुखद नहीं होगा...सम्भव है कि ऐसा ही होता। यादि सत्यवती और पराशर का विवाह हो जाता और कालान्तर में धन के अभाव में उसे कोई असुविधा होती तो उसका सारा रोष अपने तपस्वी पर ही बरसता। तब यदि उनमें झगड़ा होता...दोनों का साथ रहना यातनापूर्ण हो जाता...तो क्या उसके स्थान पर प्रकृति ने ठीक निर्णय नहीं किया? उसका प्रिय उसे नहीं मिला, किन्तु उसका प्रिय, अप्रिय तो कभी नहीं होगा।

तो क्या शान्तनु की रानी बनना ही उसके लिए हितकर था?...एक समवयस्क, सम्बुद्धि और सजातीय वर उसके हित में नहीं था?...शायद नहीं...बाबा के ही समान, सत्यवती के मन में भी कहीं गहरे वैभव और सत्ता की भूख थी...प्रकृति ने उसे वही दे दिया, जो सत्यवती ने चाहा था...कुछ पाने के लिए उसका मूल्य भी चुकाना ही पड़ता है। सत्यवती ने सुख-सुविधाओं के लिए अपने प्यार का मोल चुकाया है...

प्रकृति ने उसकी इच्छा पूरी की है या उसका हित साधा है? या उसकी इच्छा और हित-साधन मिल कर एक हो गये हैं?...और देवव्रत भीष्म!...क्या इस प्रौढ़ पति के पुत्र के रूप में भीष्म को पाना भी उसके हित में था?...

बाबा ने कहा था, 'भीष्म से सावधान रहना। वही तुम्हारा सबसे बड़ा शत्रु हो सकता है।...'

उसकी इच्छा पूरी हुई या प्रकृति की?

सत्यवती कुछ भी समझ नहीं पा रही थी।

10

"हमारी सन्तान को शस्त्रों और शास्त्रों महासमर-1 की शिक्षा कौन देगा?" सत्यवती ने इतने सहज रूप में पूछा, जैसे दैनिक कार्यक्रम सम्बन्धी कोई प्रश्न हो।

कुछ क्षणों तक शान्तनु कुछ समझ ही नहीं पाये: किसकी बात कर रही है सत्यवती? भीष्म को अब क्या शस्त्रों और शास्त्रों के शिक्षण की आवश्यकता है?...पर सहसा उनकी दृष्टि सत्यवती के चेहरे पर टिक गयी: सत्यवती अब साधारण निषाद-कन्या नहीं रह गयी थी। सैरिन्ध्रियों की कला तो अपना कार्य करती ही रही थी; पर शिक्षिकाओं ने उसकी रुचि के परिष्कार और विकास में भी कम श्रम नहीं किया था। और सबसे महत्त्वपूर्ण तो सत्यवती की अपनी ग्रहण-शक्ति थी। जिस तीव्रता से उसने स्वयं को अपने नये वातावरण में ढाला था, वह अद्भुत थी। कुछ वर्षों में तो शायद कहने पर भी कोई विश्वास न करे कि सत्यवती का जन्म राज-परिवार में नहीं हुआ था और उसका पालन-पोषण एक निषाद के आँगन में हुआ था।...और उसके चेहरे का यह उल्लास...क्या कहा था उसने...हमारी सन्तान को...

"सत्या! क्या तुम माँ बनने-वाली हो?"

सत्यवती ने कटाक्ष से शान्तनु को देखा और स्वीकृति में सिर झुका लिया।

शान्तनु का मन हुआ, तत्काल भीष्म को बुलायें और उसे पिता के सच्चे हृदय से आशीर्वाद दें।...उन्होंने उससे कहा था, 'एक पुत्र का पिता, सन्तानहीन व्यक्ति जैसा होता है।'...उसने अपना सर्वस्व त्याग कर उन्हें दूसरी सन्तान प्राप्त करने का अवसर उपलब्ध करा दिया।...उन्हें लगा कि उनका मन, भीष्म के आभार में इतना विगलित हो गया है, कि कहीं भीष्म उनके सामने आ खड़ा होता तो राजा और पिता–दोनों की मर्यादा भूल कर, वह पुत्र के चरणों में ही लोट जाते।

"आपने बताया नहीं।" सत्यवती ने अपना झुका हुआ सिर उठाया।

शान्तनु ने अनुभव किया, हृदय की गद-गदावस्था से उनकी आँखें भीग आयी हैं।

"मैं अभी दूसरी सन्तान का मुख देखने की सम्भावना की विह्वल अवस्था से ही उबर नहीं पाया और तुम सन्तान की शिक्षा-दीक्षा तक पहुँच गयीं।"

"आपकी होगी दूसरी सन्तान।" सत्यवती अनियन्त्रित आवेग के साथ बोली, "मेरी तो पहली ही है न!"

कहने को तो वह कह गयी, पर कहते ही जैसे उसके दाँतों ने उसकी जीभ काट ली: 'मूर्खे! कृष्ण द्वैपायन को भूल गयी तू? इतनी जल्दी?'

सत्यवती का हृदय उमड़ा। मन में आया कि तत्काल राजा को बता दे, कि उसका एक कानीन पुत्र भी है–कृष्ण द्वैपायन! वहाँ, यमुना के उस द्वीप पर, तपस्वी की कुटिया में पल रहा है। राजा उसका मस्तक सूँघ कर उसे अपना पुत्र स्वीकार कर लें। आख़िर वह उन्हीं के क्षेत्र से उत्पन्न सन्तान है; फिर वह शान्तनु का पुत्र क्यों नहीं हो सकता?

पर जैसे उसी क्षण उसके विवेक ने उसे फटकारा, 'सत्यवती! पागल मत बन! तू राजा के औरस पुत्र, कुरु-वंश के युवराज, भीष्म को अपना पुत्र नहीं मान पायी, तो राजा तेरे कृष्ण द्वैपायन को कैसे अपना पुत्र स्वीकार कर लेगा।...कहीं यह न हो कि राजा कुपित हो जाये; और तेरी इस अजन्मी सन्तान को भी अपनी सन्तान न माने। ऐसा न हो कि अपनी पहली सन्तान को राज-वैभव दिलाने के प्रयत्न में वह अपनी दूसरी, इस अजन्मी सन्तान को भी वंचित कर दे...तपस्वी ने कहा था, क्षत्रिय राजा कानीन सन्तान को सम्मानजनक नहीं मानते। बाबा ने भी संकेत किया था कि वह राजप्रासाद में अपनी कानीन सन्तान की चर्चा न करे...यदि कहीं राजा को संदेह हो गया...और संदेह उसे हो सकता है। राजा लोग इस विषय में तनिक भी उदार नहीं हैं। ईर्ष्या उनका सर्वप्रथम गुण है...उसे संदेह हो गया, तो वह यही मानेगा कि सत्यवती की इस अजन्मी सन्तान का पिता भी वही तपस्वी है...'

"तुम क्या चाहती हो प्रिये!" शान्तनु बोले, "जो चाहोगी, वही प्रबन्ध हो जायेगा।"

राजा ने जैसे आदेश पाने के लिए सत्यवती की ओर देखा।

सत्यवती ने राजा की याचक दृष्टि को पहचाना। उस दृष्टि ने सचमुच शान्तनु को याचक और सत्यवती को राजरानी बना दिया था।...सत्यवती ने बहुधा पाया था कि उसका अपना मन चाहे उसे आज भी निषाद-कन्या ही मानता रहे, किन्तु शान्तनु की दृष्टि उसे भूमि से उठा कर महारानी के समान कुरुओं के राजसिंहासन पर बैठा देती है;

और स्वयं हाथ जोड़ कर याचक के समान उसके सामने खड़ी हो जाती है।

"मेरा पुत्र शिक्षा ग्रहण करने ऋषि कुलों या आश्रमों में नहीं जायेगा।"

शान्तनु ने उसे आश्चर्य से देखा, "क्या कह रही हो सत्यवती? क्षत्रिय राजकुमार वनों में जा कर ऋषियों के शिष्यत्व में उनके आश्रमों में ही विद्या ग्रहण करते हैं। यही परिपाटी है।"

"परिपाटी विधाता का अन्तिम विधान नहीं है।" सत्यवती कुछ उग्रता से बोली, "परिपाटी को स्वीकार या अस्वीकार किया जा सकता है। उसका संशोधन किया जा सकता है। हम नयी परिपाटी का निर्माण कर सकते हैं। यदि राजकुमार आश्रम तक जा सकता है, तो गुरु राजमहल तक भी आ सकता है। मेरा पुत्र आश्रम में नहीं जायेगा।"

शान्तनु ने कुछ रोष और कुछ दुख के साथ सत्यवती की ओर देखा: जब उन्होंने इस निषाद-कन्या से विवाह किया था, तो उन्होंने सोचा भी नहीं था कि इसके मुख में जिह्वा भी होगी। और आज यह इस प्रकार बोल रही है कि राजा शान्तनु को ही जैसे चुप करा देगी। शताब्दियों के अनुभव, चिन्तन और प्रयोग के पश्चात सहस्त्रों ऋषियों ने मिल कर कुछ परिपाटियाँ स्थापित की हैं।...और वह स्वयं, अकेली, एक ही क्षण में नयी परिपाटी बनाने का दम्भ कर रही है। नयी परिपाटी बनाना तो बहुत बड़ी बात है, यह पुरानी परिपाटी को समझती भी है?...या यह निषाद-कन्या समझती है कि राजप्रासाद में चरण पड़ जाने से यह सम्पूर्ण सृष्टि में सबसे अधिक समझदार प्राणी हो गयी...यदि ऐसा समझती भी हो तो क्या बड़ी बात है–अज्ञान ही तो अहंकार को स्फीत करता है...

"तुम अपने पुत्र को आश्रम में नहीं भेजना चाहती।" शान्तनु जैसे अपने चिन्तन के बीच अनायास ही कह गये, "किन्तु यह तुम्हारे पुत्र के हित में नहीं होगा।"

"अपने पुत्र का हित और अहित मैं अच्छी तरह समझती हूँ।" सत्यवती का स्वर पर्याप्त आक्रामक था।

शान्तनु का मन हुआ कि उसे डाँट दें: क्या समझती है वह अपने पुत्र का हित और अहित! उसके ममता के वृत्त में स्थान ही कितना है, विवेक के लिए। अपनी जड़ता को वह अपती बुद्धिमत्ता समझती है...

पर सत्यवती के साथ बिताये गये इतने दिनों में ही वे अपने विषय में बहुत कुछ नया जान गये थे–स्वयं को कुछ अधिक ही पहचान गये थे।...

इन दिनों में उन्हें गंगा भी बहुत याद आयी थी। गंगा के छोड़ जाने के बाद से शान्तनु भीतर से बहुत ही दीन हो गये थे, ऊपर से चाहे वे कितने कठोर बने रहे हों...मन कुछ इतना उद्विग्न रहता था कि सत्यवती का रोष क्या, उसकी हल्की-सी उपेक्षा भी उन्हें विचलित कर देती थी। वे जानते थे, उसके रुष्ट होते ही, उनकी अपनी शान्ति नष्ट हो जायेगी; और वह तब तक सहज नहीं हो पाएँगे, जब तक कि सत्यवती को प्रसन्न ही न कर लें।...सत्यवती के विवेक पर उन्हें तनिक भी भरोसा नहीं था। वे जान गये थे कि उसकी आत्मा बहुत उदात्त भी नहीं है। अपने सीमित स्वार्थों में प्रसन्न है सत्यवती!...पर अब जैसी भी है उनकी पत्नी है। उसे वे त्याग नहीं सकते थे। जाने क्यों उससे अलग होने की कल्पना के जागते ही उनके पैरों तले की भूमि निकल जाती थी।...और अब तो उसके गर्भ में उनकी अपनी सन्तान पल रही है...सन्तान-सम्बन्धी विवाद के कारण ही तो गंगा उनको छोड़ गयी थी। और अब फिर सन्तान के विषय में विवाद...तब प्रश्न सन्तान के जीवन का था, अब उसकी शिक्षा का है...

"देखो!" शान्तनु ने उसे समझाना चाहा, "आश्रम में गुरु ही स्वामी होता है, पालक होता है, आश्रयदाता और अभिभावक होता है। इसलिए वहाँ उसका गुरुत्व जागता है। उसकी आत्मा उदात्त होती है। उसका विवेक और शिष्य के प्रति स्नेह, सब कुछ सचेत होता है। आश्रम में शिष्य, गुरु के सान्निध्य में रह कर, इन सारे भावों को ग्रहण करता है..."

"शिष्य को ज्ञान ग्रहण करना है या गुरु के भाव को?" सत्यवती ने उनकी बात काट दी, "शास्त्रों से बुद्धि जागती है, ज्ञान-वर्धन होता है, तो ऐसा आश्रम में भी होगा और राजप्रासाद में भी। शास्त्रों के विषय में राजकुमारों को सूचना वन के आश्रम में भी दी जा सकती है और राजमन्दिर में भी। शस्त्रों का अभ्यास राजकुमार वन के वृक्षों की छाया में करें या राजा के उद्यान में–क्या अन्तर है।" सत्यवती ने बात बदली, "और मैं तो चाह ही रही हूँ कि मेरा पुत्र गुरु से ज्ञान ग्रहण करते हुए भी यह न भूले कि स्वामी वही है। गुरु उसे शिक्षा देने-वाला राज-कर्मचारी-भर है। गुरु में उदात्त तत्त्व जागता है या नहीं–मेरे लिए यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। मेरे लिए तो महत्त्वपूर्ण यह है कि मेरे पुत्र का शौर्य बढ़ता है। उसमें रजस-तत्त्व जागता है। वह जानता और मानता है कि वह राजा है, स्वामी है। उसका शस्त्र-ज्ञान बढ़ता है, वह अपने शत्रुओं का दमन करने में सफल होता है..."

"सत्यवती!" शान्तनु के स्वर में अधैर्य का आभास होने लगा था, "ज्ञान और बल, बुद्धि और वीरता–ये सब

सात्विकता के साथ ग्रहण किये जायें तो मनुष्य उदात्तता की ओर बढ़ता है और देवत्व को प्राप्त करता है। ये ही गुण यदि निकृष्ट भावों के साथ ग्रहण किये जायें तो मनुष्य का अहंकार स्फीत होता है और उसका पशुत्व जागता है। विद्या और ज्ञान, कला और कौशल, चिन्तन और मनन, शस्त्र और शास्त्र–ये सब हमारे ऋषियों ने मनुष्य को देवता बनाने के लिए रचे हैं, उसे सम्पूर्ण पशु बनाने के लिए नहीं।" उन्होंने रुक कर क्षण-भर सत्यवती को देखा, "और जो गुरु राजप्रासाद के कर्मचारी के रूप में तुम्हारे पुत्र को शिक्षा देगा, उसके भीतर गुरुत्व के स्थान पर क्षुद्रत्व जागेगा। आठों याम जो गुरु वैभव के सान्निध्य में रहेगा–वह हीन भावना से पीड़ित होगा और अर्जन की प्रवृत्ति से ग्रस्त होगा। वह अपनी विद्या, ज्ञान, कला-कौशल और बुद्धि का व्यवसाय करना चाहेगा। अपने ज्ञान और क्षमताओं का मुक्त हस्त दान कर, अपने शिष्यों को आगे बढ़ता देख कर, कृतकृत्य नहीं होगा। वह अपने शिष्य को जो कुछ देगा, वह उत्कोच होगा; और जो कुछ अपने पास ही रोक रखेगा, वह उसका व्यवसाय-कौशल या रण-नीति होगी। ऐसा गुरु आकाशवत अपने शिष्यों का विकास नहीं होने देगा, अपने लाभ-हानि को देखते हुए, उनका रक्षण और पोषण करेगा। वह गुरु नहीं होगा अधीनस्थ कर्मचारी होगा–वह न्याय-अन्याय, विवेक-अविवेक, उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म का भेद नहीं करेगा–वह स्वार्थ-नीति से परिचालित होगा।...और यह अनिष्टकारी होगा। हमारे चिन्तकों ने बुद्धिजीवी को राजनेता से श्रेष्ठतम माना है। राजा को ऋषि की बुद्धि से परिचालित होना चाहिए; जो ऋषि राजाओं के आदेशों की परिधि में घिर कर चिन्तन करता है, वह ज्ञान की नहीं पाखण्ड की वृद्धि करता है।..."

शान्तनु ने रुक कर सत्यवती की ओर देखा: उसकी आँखों में उन्होंने अपने लिए तिरस्कार का भाव पाया। उन्हें लगा, जैस सत्यवती ने उनकी बात सुनी ही न हो; सुनी हो तो ग्रहण न की हो। वस्तुतः सत्यवती के मन में तर्क-पद्धति नहीं थी, दृढ़-बद्ध धारणाएँ थीं। वह तर्क के मार्ग की यात्रा नहीं करती थी, अपने लक्ष्य पर धारणाओं के बाण चलाती थी। जाने बूढ़ा दासराज इसे किस प्रकार समझाता होगा...पर शायद दासराज की बुद्धि के साथ इसका जो तादात्म्य है, वही इन दोनों के चिन्तन के साम्य का आधार रहा होगा। आख़िर दासराज ने अपनी देख-रेख में अपने ढंग से ही तो इसका बौद्धिक विकास किया होगा। तभी तो इन पिता-पुत्री को, भीष्म को उसके समस्त अधिकारों से वंचित करते हुए क्षण-भर भी नहीं लगा।...फिर पिता और पति में भेद होता है। नारी-मन कहीं पिता को समर्थन दे कर और पति का उल्लंघन कर तुष्टि पाता है। पति ही उसका निकटतम मित्र है, और वही उसका घोरतम शत्रु। पति-विजयिनी नारी ही तो स्वयं को सारे नियमों से मुक्त पाती है...यही गंगा ने किया और वही अब यह सत्यवती भी करना चाहती है।...

विचित्र स्थिति है–शान्तनु सोच रहे थे–सत्यवती की सन्तान उनकी भी सन्तान थी–जैसे गंगा की प्रत्येक सन्तान, उनकी सन्तान थी। पर गंगा ने भी अपनी सन्तानों पर सर्वाधिकार की घोषणा की थी और अब यह सत्यवती भी वही कर रही है। वे जनक भी हैं और पिता भी...किन्तु उनके हाथों में केवल दायित्वों के बन्धन हैं, अधिकार-दण्ड उनके पास नहीं है।

"ठीक है।" सहसा वे बोले, "तुम्हारे पुत्र की शिक्षा-दीक्षा राजप्रासाद में ही होगी। भीष्म को अब शासन नहीं करना है; वह गुरु-कार्य ही करे! वह शस्त्र और शास्त्र–दोनों की ही शिक्षा देने में समर्थ है।"

"क्यों? भीष्म क्यों?" सत्यवती, शान्तनु से सहमत नहीं हो सकी, "भीष्म राजकुमार है, राजगुरु नहीं। उसमें गुरु की योग्यता कहाँ है?"

"उसमें विश्व-गुरु होने की योग्यता है।" शान्तनु की दृष्टि आकाश की ओर उठ गयी और स्वर स्वप्निल हो गया, जैस वे पृथ्वी पर नहीं, किसी और लोक में जी रहे हों, "जो व्यक्ति अपना और अपनी अगली पीढ़ियों का समग्र लौकिक सुख, किसी एक व्यक्ति के सुख के लिए इतनी सरलता से त्याग सकता है, उससे बड़ा अनासक्त और कौन होगा। अनासक्ति गुरु का पहला गुण है।...और फिर तुम्हारा राजकुमार..."

"युवराज!" सत्यवती ने तत्काल संशोधन किया।

"हाँ! हाँ! युवराज!" शान्तनु बोले, "तुम्हारा युवराज राजप्रासाद में शिक्षा ग्रहण करेगा; उसके गुरु के मन में राज-वैभव के सान्निध्य के कारण क्षुद्रत्व भी विकसित नहीं होगा–क्योंकि वह राजसेवक कर्मचारी नहीं होगा, स्वामी होगा। उसके पास राजकुमार का अधिकार भी होगा, गुरु का भी...।"

"नहीं!" सत्यवती का स्वर कुछ आदेशात्मक हो गया था, "मैं यह नहीं भूल सकती कि मेरे कारण भीष्म वंचित हुआ है।...और वह भी इसे कभी नहीं भुला पायेगा।...और इस वंचना के कारण वह मेरे पुत्र को वंचित करे–इस सम्भावना को मैं कभी जन्म नहीं लेने दूँगी।"

"वह सम्भावना कहाँ है सत्यवती?"

"भीष्म मेरे युवराज का गुरु होगा, तो इसी की सम्भावना है। मैं इस षड्यन्त्र में आपकी सहायक नहीं हो सकती।"

अवाक शान्तनु, सत्यवती को देखते ही रह गये।

जब और चुप नहीं रह सके तो बोले, "तुम्हें अपने पुत्र के सन्दर्भ में भीष्म से किसी प्रकार के अनिष्ट की आशंका है?"

"अनिष्ट की नहीं, प्रतिशोध की!" सत्यवती के स्वर में कहीं संकोच का एक कण भी नहीं था।...उसके लिए यह अनुमान या आशंका न हो कर, पूर्ण सत्य था।

"भीष्म ऐसा व्यक्ति नहीं है।" शान्तनु दृढ़ता से बोले, "तुम उसे आज तक समझ नहीं पायीं।"

"अपना दाना छीनने वाले को तो चींटी भी काट लेती है, भीष्म तो मनुष्य है।" सत्यवती स्थिर वाणी में बोली, "मछली के एक बोझ के पीछे मैंने मछुवारों को एक-दूसरे की हत्या करते हुए देखा है।"

"तो सत्यवती! तुमने आज तक मछुआरे ही देखे हैं, क्षत्रिय राजकुमार नहीं।" शान्तनु रोषपूर्वक बोले, "जो निर्बलों की रक्षा के लिए अपने प्राण दे देते हैं। तुम हीन कोटि के मनुष्यों में पली हो तो इसका अर्थ यह नहीं है कि सृष्टि में उत्कृष्ट कोटि के लोगों का अस्तित्व ही नहीं है।"

"हम निर्धन हैं, इसलिए हीन हैं?" सत्यवती जैसे तड़प कर बोली।

"निर्धन हीन नहीं होते।" शान्तनु बोले, "निर्धन तो ऋषि-मुनि-तपस्वी भी हैं। मैं तो जीवन-मूल्यों की बात कर रहा हूँ। मानव के रूप में व्यक्ति धन से हीन या श्रेष्ठ नहीं होता। व्यक्ति श्रेष्ठ होता है, अपने आचरण से; और उसके आचरण की पृष्ठभूमि में होते हैं उसके मूल्य! भीष्म का आचरण देखो। कुरु-राज्य उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखता। जीवन के सुख-भोग उसके लिए कोई महत्त्व नहीं रखते; और तुम्हारा विचार है कि वह तुम्हारे पुत्र से–अपने भाई से प्रतिशोध लेगा?"

"देखिए! आप कुछ भी कहें।" सत्यवती का स्वर शान्तनु के लिए स्पष्ट उपेक्षा लिए हुए था, "इस विषय में मैं अपनी बुद्धि पर ही विश्वास करना चाहूँगी। अपनी सन्तान के जीवन और भविष्य के विषय मे निर्णय करने का अधिकार मैं अपने पास ही रखना चाहूँगी। और मेरा स्पष्ट निर्णय है कि मैं अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा का दायित्व भीष्म पर नहीं छोड़ना चाहती। जिससे मेरे पुत्र के अनिष्ट की सर्वाधिक आशंका है, उसे मैं अपने पुत्र का गुरु नियुक्त नहीं कर सकती।"

शान्तनु ने क्रोध-भरी दृष्टि से सत्यवती को देखा, जैसे अभी कोई बहुत ही कड़वी बात कह देंगे; और फिर अकस्मात ही जैसे ज्वार का भाटा आरम्भ हो गया। क्रोध को वह गरल-घूँट के समान पी गये। इस बार बोले तो उनका स्वर अत्यन्त शान्त था, "तेरी ही इच्छा पूर्ण हो सत्यवती! मैं समझ लूँगा कि तेरे पुत्र के भाग्य में अच्छा गुरु नहीं था।...मैं तुमसे विवाद नहीं करना चाहता। निर्णय तुम्हारा ही रहेगा; किन्तु तुम्हें कुछ सूचनाएँ अवश्य देना चाहता हूँ। सुनोगी?"

"कहिए।" सत्यवती ने कहा; किन्तु उसकी भंगिमा स्पष्ट कह रही थी कि शान्तनु की बात सुनने की उसे तनिक भी इच्छा नहीं है। जो कुछ भी वह सुनेगी उपेक्षा की रुई से मुँदे कानों से ही सुनेगी।

"भीष्म मनुष्य नहीं, देवता है।" शान्तनु बोले, "वह मेरा पुत्र है; किन्तु मेरे मन में उसका सम्मान किसी महापुरुष से कम नहीं है। यदि कहीं वह तुम्हारे पुत्रों का गुरु बन जाता, तो उनमें भी देवत्व जगा देता। वह धर्म का आधार है। उसके स्पर्श मात्र से तुम्हारे पुत्रों की आत्मा स्वर्णमयी हो जाती।...भीष्म से अपने पुत्रों को दूर कर उनको वंचित करोगी। भीष्म का तो अब बिगड़ने को कुछ शेष रहा ही नहीं। उससे तो अब संसार को पाना-ही-पाना है, वह संसार से कुछ ग्रहण तो करेगा ही नहीं।"

"कह चुके?" सत्यवती ने पूर्ण उपेक्षा से पूछा।

"हाँ!"

"तो मेरी बात भी सुन लीजिए।" वह दृढ़तापूर्वक बोली, "यदि मैं आपकी बात मान भी लूँ कि भीष्म मेरे पुत्रों की हत्या नहीं करेगा, उनकी रक्षा करेगा। यदि मैं विश्वास कर भी लूँ कि भीष्म देवता है–त्याग, दया, ममता और क्षमा की मूर्ति है; और मेरे पुत्र उसके सान्निध्य से वैसे ही हो जायेंगे," उसका स्वर और भी प्रखर हो गया, "तो मैं अपने पुत्रों को उसकी छाया से भी दूर रखना चाहूँगी।"

"क्यों?" शान्तनु के लिए यह सब अत्यन्त अप्रत्याशित था।

"क्योंकि मैं अपने पुत्रों को भीष्म जैसा त्यागी-संन्यासी नहीं बनाना चाहती, जिसे तनिक-से प्रयत्न से ही कोई पूर्णतः वंचित कर जाये।" वह बोली, "मैं चाहूँगी, मेरे पुत्र राजकुमार बनें, संन्यासी नहीं। मैं चाहूँगी कि वे अपना अधिकार त्यागने के स्थान पर अपने अधिकारों के लिए लड़ मरें। यह संसार जूझ मरने-वाले लोगों का क्षेत्र है। मैं भीष्म जैसे कापुरुष को अपने पुत्रों का गुरु नियुक्त नहीं करूँगी।"

शान्तनु ने सत्यवती की आँखों में भयंकर हिंसा देखी।

"मैंने तो सुना था कि स्त्री दया, माया, ममता, करुणा और उदारता की मूर्ति होती है।" शान्तनु जैसे अपने-आप से कह रहे थे।

"मैं वैसे नारी नहीं हूँ। और न ऐसा कोई आदर्श पालने की मेरी इच्छा है, जिसमें बाँधकर मुझे मूर्ख बनाया जा सके।" सत्यवती बोली, "आपने यह भी सुन रखा होगा कि नारी वासना भी है और माया भी। उसमें इच्छाएँ होती हैं। वह पृथ्वी के मृण्मय तत्त्वों से बनी है, इसलिए उसमें भोग और भोग के अधिकार की लालसा होती है। वह पृथ्वी के समान प्रत्येक वस्तु पर अपना अधिकार चाहती है। धन, वैभव, सत्ता–सबकी माया व्यापती है मुझे। मैं कुरुकुल की रानी हूँ और हस्तिनापुर के सम्राट की माँ के रूप में राजमाता भी बनना चाहती हूँ। निवृत्ति, अध्यात्म, त्याग, बलिदान की बातें नहीं भातीं मुझे।...और मैं चाहूँगी कि मेरे पुत्र भी ऐसे ही हों।"

शान्तनु अवाक-से सत्यवती को देखते रह गये। जिस स्पष्ट रूप से उसने अपने स्वरूप को स्वीकार किया था, उसके बाद कहने को कुछ रह ही कहाँ जाता था। शान्तनु का मन हुआ कि कहें कि 'यदि तुमने अपने विषय में सच-सच बताया है, तो देवि! तुम्हें पा कर अपनी कल्पनाओं में जिस स्वर्ग का मैंने निर्माण किया था, वह ध्वस्त हो चुका।'...पर कहने का कोई अवसर तो होता...

"तुम्हारी इच्छा पूरी होगी।" शान्तनु बोले, "तुम्हारे पुत्रों की शिक्षा का दायित्व भीष्म पर नहीं होगा। तुम्हारे पुत्र ऋषिकुलों या गुरुओं के आश्रमों में भी नहीं जायेंगे। तुम्हारे पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा, राजप्रासाद में ही होगी।"

"उनका गुरु कौन होगा?"

"कोई असाधारण मनीषी, कोई ऋषि तो राजप्रासाद का कर्मचारी बन कर आयेगा नहीं।" वे बोले, "राजाश्रित कोई ब्राह्मण उनके आचार्य का कार्य सँभालेगा।"

"ठीक है।" सत्यवती कुछ सन्तुष्ट-सी हुई, "मैं नहीं चाहती कि मेरे पुत्र ऋषियों और गुरुओं के अधिक प्रभाव में आयें। मैं तो यह समझती हूँ कि भीष्म का बचपन भी यदि आश्रमों में न बीता होता, तो वह सांसारिक सुखों से इस प्रकार विरक्त न होता।...इसलिए मैं नहीं चाहती कि वह मेरे पुत्रों के अधिक सम्पर्क में आये।"

"तुम्हारी यह इच्छा भी पूरी होगी।"

शान्तनु उठ कर कक्ष से बाहर चले गये।

रात को बहुत देर तक शान्तनु को नींद नहीं आयी। एक समय था जब स्वयं उन्हें भीष्म से विरोध था कि वह इतना उदासीन और उदार क्यों है। तब उन्होंने भी यही सोचा था कि इस उदासीनता के मूल में उसका शैशव ही है...ऋषियों का सान्निध्य और उनका शिक्षण।...किन्तु आज वे स्पष्ट देख रहे थे कि उदासीनता कितनी उदात्त होती है और आसक्ति कितनी क्षुद्र! ऋषियों की अनासक्त-उदार दृष्टि जीवन की संकीर्णताओं से ऊपर उठ कर, बहुत दूर तक देखती है, और इसलिए वही स्वस्थ दृष्टि है। वे जीवन के यथार्थ को समझते हैं शायद! इसलिए जीवन-सरोवर के ऊपर से काई हटा कर, वे स्वच्छ जल ही पीते हैं। भीष्म वंचित हुआ और शान्तनु की कामना पूर्ण हुई, किन्तु दोनों में से सुखी कौन है–भीष्म या शान्तनु? निश्चित रूप से निष्काम भीष्म, पूर्णकाम शान्तनु से अधिक सुखी है। कामना, सुख का नहीं, छलना और यातना का दूसरा नाम है।...कामनाओं के प्रपंच को शान्तनु से अधिक अब और कौन समझ सकता है...कामना पूर्ण होने पर भी कोई कभी पूर्णकाम हुआ है क्या? क्या माँगा था उन्होंने, और क्या पाया...। गंगा के व्यवहार से ही चकित थे शान्तनु।...और अब यह सत्यवती।...शान्तनु ने देवव्रत को पाना चाहा, तो गंगा छोड़ गयी...अब दूसरी सन्तान और दूसरी पत्नी की इच्छा की तो वह उनको पहली सन्तान से ही वंचित करना चाहती है...कैसी होती है नारी? कैसी-तर्क-पद्धति है उसकी? और क्या चाहती है वह?...वह अपना हित-अहित, अपना स्वार्थ तक नहीं समझती। शान्तनु समझाना चाहें, तो भी समझने को तैयार नहीं है, या समझने की क्षमता ही नहीं दी, स्रष्टा ने उसे? क्या इसीलिए नारी को वामा कहा जाता है?...जो भुजाएँ उसके पुत्रों की रक्षक होंगी, उन्हें ही काट डालना

चाहती है वह।

और शान्तनु की इच्छा से आयी है वह इस घर में। शान्तनु की प्रार्थना पर! माँग कर आग लाये हैं शान्तनु, अपने घर की नींव में धरने के लिए, ताकि उनका घर चल जाये।...और आज यदि वे चाहें तो सत्यवती को त्याग पायेंगे क्या? सत्यवती के रुष्ट मात्र होने के भय से तो वे ऐसे विचलित हो जाते हैं कि जब तक उसे मना न लें, तब तक उनकी व्याकुलता उनका पीछा नहीं छोड़ती...अलग होने की तो बात ही क्या? उनकी यह विवेकशून्य कामुकता!...कैसी दुर्बलता दे दी है माँ सृष्टि ने इस कठोर, समर्थ और परुष पुरुष को। उनकी यह मूर्ख आसक्ति जाने क्या-क्या दिखायेगी उन्हें!

11

भीष्म के सामने एक विराट शून्य आ खड़ा हुआ था।

उनके आस-पास के सारे परिवेश में उनके आचरण की उपलब्धि की गूँज थी...आज तक किसी ने स्वेच्छा से इतनी कठोर प्रतिज्ञा नहीं की थी। दशरथी राम ने पिता की सुविधा के लिए राज्य छोड़ा था–चौदह वर्षों के लिए। इस त्याग से वह अवतार हो गये...भीष्म ने तो अपने पिता के सुख के लिए, सदा के लिए राज्य छोड़ दिया था...राज्य ही नहीं, नारी सुख भी!...कम बड़ी उपलब्धि थी यह? पर इस उपलब्धि के पश्चात उनके सामने इतना बड़ा शून्य क्यों है! उपलब्धि से व्यक्ति कहीं भराव का अनुभव करता है, रिक्ति का नहीं। उपलब्धि और शून्य साथ-साथ नहीं चलते...

क्या भीष्म के मन में पश्चात्ताप है?

वह आत्मनिरीक्षण करते हैं। अपने मन का कोना-कोना छान मारते हैं। नहीं!...कहीं एक कण-भर भी पश्चात्ताप नहीं है। उन्होंने जो प्रतिज्ञा की है–ठीक की है। वह किसी आवेश या भावुकता में की गयी प्रतिज्ञा नहीं है, जिससे सहज होते ही वंचित होने का अहसास हो।...नहीं! भीष्म वंचित भी नहीं हुए हैं।...फिर से वही स्थिति आये...फिर वही विकल्प उनके सामने हों, तो भीष्म फिर से वही प्रतिज्ञा करेंगे...इस प्रतिज्ञा और इस त्याग ने उनके अस्तित्व को एक उदात्त धरातल पर ला कर खड़ा कर दिया है।...नहीं! यह उनका अहंकार नहीं है। उनके भीतर अहंकार का कलुष जमा नहीं हो रहा है। पर इस सच्चाई से वे कैस मुँह मोड़ सकते हैं कि त्याग से आदमी ऊँचा उठता है। अपने इस एक कृत्य से वे अपने पिता से भी जैसे बड़े हो गये हैं। कल तक वे मात्र युवराज होने के कारण आदरणीय थे; आज वे वयोवृद्ध मन्त्रियों और प्रौढ़ सेनापतियों के लिए व्यक्ति के रूप में भी पूज्य हो गये हैं। उन्होंने जैसे अपने वय से बड़ा हो कर दिखा दिया है। काल की इकाइयों को बौना कर दिया है...पर यहीं से जैसे भीष्म के लिए एक निरर्थकता का-सा बोध भी जन्म लेने लगा है।

एक लम्बी आयु है भीष्म के सामने। पर क्या करना है, इस आयु का उन्हें? किसलिए चाहिए भीष्म को लम्बी आयु?...सौ शरद जीने की कामना करते हैं वैदिक ऋषि। भीष्म को सौ शरद जी कर क्या करना है?...भोग के लिए? ग्रहण के लिए? विस्तार के लिए? रक्षण के लिए? त्याग के लिए? दान के लिए? आत्मविकास के लिए?...

भीष्म के मन में अब किसी भोग का आकर्षण नहीं है। भोगों का चरम–नारी सुख, उन्होंने त्याग दिया है, अब जीवन में धन-सम्पत्ति, वैभव, भूमि, प्रासाद...किसके लिए चाहिए भीष्म को? जिसने कुरु-राज्य छोड़ दिया उसके लिए कोई भी सम्पत्ति कोई अर्थ रखती है क्या?...अकस्मात ही जैसे भीष्म के लिए इस संसार का प्रपंच संकुचित हो गया था। माया-जाल सिमट गया था..

यह राज्य उनका नहीं है। वे प्रजा के युवराज नहीं हैं। यह प्रजा उनकी नहीं है। अब उनका कोई अधिकार नहीं है, और इसलिए उनका कोई दायित्व भी नहीं है। किसका न्याय करना है उन्हें? किसका पालन करना है, और किसकी रक्षा करनी है?...प्रजा उनकी है ही नहीं...

भीष्म समझ नहीं पा रहे थे कि सहसा उनकी आँखों के सामने से कोई धुँधलका साफ़ हो गया है या सारा कुछ धुँधला हो गया है...जब सारे भोग शरीर का क्षय करते हैं, तो व्यक्ति उन्हें भोगता क्यों है? जब सब कुछ त्यागना ही है तो ग्रहण किसलिए?...त्याग के लिए ग्रहण? अर्थात जो अन्तिम लक्ष्य है, जहाँ तक पहुँचना है, उसी के विपरीत आचरण?...प्रकृति मनुष्य से चाहती क्या है?...वह जन्म ले और इस माया-जाल के प्रति आकृष्ट हो, आसक्त हो, उसे ग्रहण करने के लिए अपना विकास करे। एक-एक वस्तु को प्राप्त करता चले...और सहसा वह अनुभव करे कि वस्तुएँ तो वहीं-की-वहीं हैं, किन्तु उसकी अपनी ही पकड़ ढीली पड़ रही है। वस्तुएँ उससे छिन नहीं रहीं–वह स्वयं ही उन्हें ग्रहण करने में असमर्थ होता जा रहा है। उसके दाँत चबाते नहीं। आँखें देखती नहीं। कान सुनते नहीं। हाथ पकड़ते नहीं। पैर चलते नहीं। उसके शरीर के वे सारे अंग, भोग तक पहुँचने के लिए उसके सारे उपकरण, न केवल असमर्थ हो रहे हैं, वरन उलट कर उसी को पीड़ा दे रहे हैं...एक मन ही है जो याचना करता ही चला जाता है...उसका आकर्षण कम नहीं होता। वह जैसे इन्द्रियों के अभाव में भी इस सुख-सम्पदा में धँसता चलता है...तब या तो अगले जन्म की तृष्णा पालता है, या अपनी सन्तान के माध्यम से भोग की ओर बढ़ता है–प्रकृति उसके साथ परम्परा को चलाये चलने का खेल खेलती है...

पर भीष्म के साथ तो यह खेल भी नहीं चलेगा। भीष्म की कोई सन्तान नहीं होगी, कोई परम्परा नहीं होगी,

पुनर्जन्म भी नहीं होगा। क्या करना है भीष्म को पुनर्जन्म का। जो कुछ इस जीवन में छोड़ा है, उसे भोगने के लिए दूसरा जन्म...यदि यह सब भोगने के लिए होता, तो इसी जन्म में क्यों त्याग देते उसे भीष्म...त्यागा है तो इस चक्र से मुक्ति पाने के लिए...उसको चलाने या बढ़ाने के लिए नहीं...

तो फिर भीष्म के लिए क्या करणीय है? इस शरीर और जीवन की कोई सार्थकता नहीं? पर आत्महत्या पाप है। इस शरीर को तो बनाये रखना होगा।...क्यों बनाये रखना होगा?...धर्म?...अर्थ...काम?...मोक्ष?...अर्थ और काम उनके लिए नहीं हैं। मोक्ष तो धर्म पर चलने से ही मिलेगा।...पर क्या है भीष्म का धर्म? क्या भीष्म का धर्म अन्य व्यक्तियों से भिन्न होगा? प्रत्येक व्यक्ति का एक ही धर्म है या...सबको अपना-अपना धर्म खोज निकालना पड़ता है? राजा शान्तनु निषाद-कन्या में आसक्त हुए–उनका धर्म था, उससे विवाह करना। उन्हें और सन्तान चाहिए थी, वंश को चलाये रखने के लिए, राज्य के रक्षण के लिए...उनका धर्म था विवाह करना। सत्यवती के पिता का धर्म था, कन्या-दान से पूर्व अपनी पुत्री और उसकी सन्तान के अधिकारों की रक्षा की व्यवस्था।...उन्होंने वही किया। ...तो फिर भीष्म का ही क्यों यह धर्म था कि वे अपने अधिकारों की रक्षा न करते? उनका धर्म, त्याग क्यों था?...क्या उनका धर्म नहीं था कि वह इसका विरोध करते और आवश्यक होने पर शस्त्र-प्रयोग करते?...पुत्र के रूप में उनका धर्म था त्याग; और व्यक्ति के रूप में उनका धर्म था, अपने अधिकारों की रक्षा ...। वे पुत्र हैं या व्यक्ति? प्रत्येक पुत्र व्यक्ति भी होता है; और प्रत्येक व्यक्ति पुत्र भी होता है। वह पुत्र पहले है या व्यक्ति?...

सहसा उनके मन में एक बहुत पुराना दृश्य जैसे साकार हो उठा, मानो किसी संग्रहालय में से किसी ने कोई बहुत पुराना चित्र निकाल कर उसकी धूल झाड़, उनके सामने सजा दिया हो...

गंगा-तट के वन में मृगया के बाद भीष्म थक कर एक वृक्ष के नीचे बैठ गये थे। उनके आस-पास कोई भी बड़ा पशु नहीं था। कुछ पक्षियों के स्वर वृक्षों के ऊपर से आ रहे थे। पास ही एक कुक्कुट बड़ी स्फूर्ति से, धरती पर से कुछ चुग रहा था। सम्भवतः किसी प्रकार के खाद्य पदार्थ के कुछ दाने हों, या कोई कीट-पतंग हो। वह बड़ी तीव्रता से अपनी चोंच के चार-पाँच प्रहार धरती पर करता और फिर गर्दन उठा कर एक बार अपने चारों ओर की धरती और वायुमण्डल का सर्वेक्षण करता और पुनः चुगने लग जाता।

भीष्म बड़ी रुचि से उसे देख रहे थे। उसका दाना चुगना तो उनकी समझ में आ रहा था; किन्तु जिस ढंग से वह रह-रह कर चारों ओर का सर्वेक्षण करता था, वह उनके मन में अनेक प्रकार की जिज्ञासाएँ उत्पन्न कर रहा था। क्या यह उसकी सतर्कता थी? क्या वह आशंकित था कि कोई उसका दाना छीन लेगा या कोई उसके प्राण हर लेगा?...या यह उसका अहंकार था? क्या वह चारों ओर देख कर यह जताना चाहता था कि यह मेरी विचरण-भूमि है। देखो मैं कितना सुखी हूँ। क्या व्यक्ति का सुखी होना ही पर्याप्त नहीं है? उस सुख का प्रदर्शन भी अवश्य होना चाहिए? क्या विपन्नता से तुलना किये बिना सम्पन्नता का कोई महत्त्व नहीं है?

भीष्म के मन में आया कि एक बाण मार कर अभी उसका सारा अहंकार चूर कर दें। इतना छोटा-सा जीव, जिसे बाण तो क्या, कोई कंकड़ी भी दे मारे तो प्राण निकल जाये; कोई हाथों में पकड़ उसकी गर्दन मरोड़ दे, या वह किसी भी बड़े जीव के पैर के नीचे आ जाये, तो उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाये...वही जीव इस प्रकार वक्ष फुलाये, स्फीत अहंकार लिए घूम रहा है, जैसे सारी सृष्टि का स्वामी हो...

तत्काल उनके मन में एक धिक्कार उठा: क्या यह भीष्म का अपना अहंकार नहीं है? उनसे भी तो बड़ी शक्तियाँ हैं। अपने स्थान पर बैठा स्रष्टा, भीष्म को देख कर भी, इसी प्रकार मुस्कुरा रहा होगा...बड़ा धनुश-बाण लिए घूम रहा है, जैसे सारी सृष्टि का संहार कर डालेगा। अभी आकाश से बिजली टूटे तो भीष्म यहीं बैठा-बैठा क्षार हो जायेगा। धरती में एक दरार पड़े और भीष्म उसके भीतर समा जायेगा। अभी भीष्म की हृदयगति रुक जाये, तो भीष्म बैठा-बैठा ही सो जायेगा।...तब कहाँ रहेगा, भीष्म का अहंकार...कि वह एक क्षण में बाण से इस कुक्कुट को मुत्यु-शैया पर सुला सकता है?...

तभी वृक्षों के पीछे एक और वैसा ही कुक्कुट प्रकट हुआ। भीष्म को लगा, यह पहले का ही कोई सम्बन्धी होगा। इनका परिवार भी यहीं कहीं आस-पास होगा...पर उसे देखते ही पहले कुक्कुट के मुख से क्रोध-भरी ध्वनियाँ निकलने लगीं। उसकी गर्दन तन गयी। गर्दन के पँख फैल गये और वह पूर्णतः रौद्र मुद्रा में आ गया। यही स्थिति दूसरे कुक्कुट की हुई और वे दोनों विधिवत लड़ने लगे। उनके पँजों और चोंचों का प्रहार कठोरतर और क्रूरतर होता गया और उनके कण्ठ उग्रतर युद्ध-घोष करने लगे।

कुछ ही क्षणों में दोनों के शरीर से अनेक स्थानों से पँख झड़ गये थे और रक्त की लालिमा उभर आयी थी। किन्तु उनका युद्ध-वेग शिथिल नहीं हुआ: वह उग्रतर ही होता चला गया।

थोड़ी देर में उनके शरीरों से रक्त-बिन्दु टपकने लगे थे और गर्दनें तथा टाँगें, रक्त से भीग आयी थीं।

बिना किसी पूर्व-योजना या चिन्तन के, अनायास ही भीष्म उनकी ओर बढ़ गये और उन्हें धमकाया, "भागो! व्यर्थ क्यों रक्तपात कर रहे हो?"

दोनो कुक्कुट भाग गये, पर भीष्म वहीं बैठे सोचते रहे: किसलिए लड़ रहे थे ये कुक्कुट? क्यों अपना रक्त बहा रहे थे; और क्यों एक-दूसरे के प्राण लेने पर तुले हुए थे? कौन-सी सम्पत्ति है, जिसके लिए इतना रक्तपात हुआ? वन में इन दोनों और वैसे ही सहस्रों कुक्कुटों के लिए प्रकृति ने भोजन उपलब्ध करा रखा है। वह तो सबको देती है, फिर ये एक-दूसरे की हत्या करने पर क्यों तुले हुए थे?...यदि कहीं वे इन कुक्कुटों की भाषा समझ सकते और उनसे यह प्रश्न पूछते, तो सम्भवतः उनका उत्तर होता: 'अधिकार-रक्षा के लिए!'

तभी उन्हें लगा, जब मनुष्य अकेला-दुकेला लड़ता है या सेनाएँ ले कर एक-दूसरे पर आक्रमण करता है, तो विधाता भी इसी प्रकार हँसता होगा, 'मूर्खो! तुम सबके लिए पर्याप्त है सृष्टि के पास। फिर क्यों व्यर्थ युद्ध करते हो?'

और आज फिर भीष्म के मन में अधिकार की बात उठी थी। अपने अधिकार के लिए भीष्म विरोध करते–किसका? अपने पिता का? अपने अजन्मे भाइयों का?...क्या छिन गया है भीष्म का? किस बात का अभाव है उनको? संघर्ष करके और ऐसा क्या मिल जायेगा भीष्म को, जिससे उन्हें किसी नये सुख, किसी नयी उपलब्धि की अनुभूति होगी?

...और सहसा उन्हें लगा, उनके मन में किसी के लिए कोई विरोध नहीं है। किसी से कोई शिकायत नहीं है उन्हें...न पिता से, न माता से...किसी और से भी नहीं...

उन्हें बड़ा हल्का-हल्का-सा लगा, जैसे मन में कोई उल्लास समा गया हो। सत्यवती को पा कर पिता प्रसन्न हैं। अपनी भावी सन्तान के लिए राज्य का आश्वासन पा कर माता सत्यवती प्रसन्न हैं...। भीष्म कृतकृत्य हो गये...उन्हें अपने लिए कुछ नहीं चाहिए...

उनकी इच्छा हुई, चल कर माता-पिता से मिल आयें। बहुत दिनों से वह उधर गये भी नहीं थे।

दासियाँ भीष्म को सत्यवती के कक्ष में नहीं ले गयीं। उन्हें एक बड़े और सुसज्जित कक्ष में बैठा दिया गया था; और महारानी को सूचना देने की बात कह कर दासियाँ चली गयी थीं।

प्रासाद का यह खण्ड नया नहीं था, और न भीष्म ही इस कक्ष में पहली बार आये थे; किन्तु यहाँ सब-कुछ परिवर्तित हो चुका था। इतना, कि कक्ष को पहचानना कठिन हो रहा था। सारी साज-सज्जा बदल डाली गयी थी, और अब तक जिन वस्तुओं को इस कक्ष में देखने के वे अभ्यस्त थे, उनमें से एक भी यहाँ नहीं थी। यहाँ तक कि सारी दासियाँ भी नयी और अपरिचित ही लगीं।

थोड़ी देर में एक दासी लौटी, "राजकुमार! महारानी इस समय अस्वस्थ हैं। आपसे भेंट कर सकने में असमर्थ हैं।"

"माता अस्वस्थ हैं?" भीष्म ने जैसे अपने-आपसे कहा, "मुझे तो कोई सूचना नहीं थी। माता यहाँ नहीं आ सकतीं, तो मैं ही भीतर चलता हूँ। चलो, मार्ग दिखाओ।"

"क्षमा करें राजकुमार!" दासी बहुत विनीत भाव से बोली, "आपको भीतर ले चलने की अनुमति नहीं है। महारानी आपसे भेंट करने की इच्छुक नहीं हैं।"

भीष्म ने आश्चर्य से दासी को देखा: क्या कह रही है यह मूर्खा? माता उनसे भेंट करने की इच्छुक नहीं हैं।...वह अस्वस्थ हैं। मिल सकने की स्थिति में नहीं हैं। उनका मन अशान्त है। वे एकान्त चाहती हैं...कोई भी कारण हो सकता है।...पर यह कह रही है कि वे मिलने की इच्छुक नहीं हैं...इन नयी दासियों के साथ यह बड़ी समस्या है। इन्हें भाषा के सम्यक उपयोग का ज्ञान नहीं है। कुछ भी कह देंगी। उनके शब्दों से क्या ध्वनित हो रहा है, इसका इन्हें तनिक भी आभास नहीं है।...अब इस समय भीष्म माता के स्वास्थ्य की चिन्ता करें या इस दासी को व्याकरण और साहित्य पढ़ायें...

"राजवैद्य आये थे क्या?"

"आर्य! प्रातः आये थे।"

"मैं कोई सहायता कर सकता हूँ?"

"महारानी ने ऐसा कोई आदेश नहीं दिया है।"

"अच्छा! उनका ध्यान रखना। मैं फिर किसी समय आ जाऊँगा।"

भीष्म लौट आये।

उनका मन अधिक समय तक दासी की भाषा, उसके शिष्टाचार और उसकी विनय पर नहीं अटका। सम्भवतः माता का मन ठीक नहीं था। उन पर कार्य का बोझ भी तो बहुत है: वह कुरु-साम्राज्य की महारानी हैं। उनके स्वास्थ्य की देख-भाल होनी ही चाहिए...। '...युवराज!' उनका मन कहीं अपने ऊपर ही हँसा, 'अभी कल तक तो तुम युवराज थे।' विधि का विधान भी कितना नाटकीय है। किसी को किसी भी प्रकार का पूर्वाभास नहीं होता कि कौन-सी घटना, इच्छा या प्रवृत्ति, आगामी किस बड़ी घटना का कारण बन जायेगी।...माता सत्यवती का पहला पुत्र हस्तिनापुर का युवराज हो और फिर यहाँ का सम्राट हो–इसलिए विधाता ने माता गंगा के हाथों, भीष्म के सात बड़े भाइयों को जीवन-मुक्त करा दिया...और भीष्म के मन को आसक्ति से शून्य कर दिया। जब विधि ने यही रच रखा था, तो गंगा के आठों पुत्र कैसे जीवित रह सकते थे...

सन्ध्या समय शान्तनु प्रासाद में लौटे। सबसे पहले वह सत्यवती के पास गये।

"कैसी हो सत्या?"

"ठीक हूँ! आपका दिन कैसा बीता?"

"सभा में बहुत काम था। थक गया हूँ।" शान्तनु ने किरीट उतार कर दासी के हाथों में पकड़ा दिया, "भीष्म बहुत सारा काम सँभाल लिया करता था, पर इधर वह एक प्रकार से वैरागी हो गया है–दिन-भर अध्ययन, चिन्तन और मनन में डूबा रहता है।...वैसे उसका दोष भी क्या है," शान्तनु आ कर सत्यवती के पास बैठ गये, "जब मैंने ही उसका युवराजत्व छीन लिया; जब उसे कौरवों का राजा ही नहीं बनना है; जब उसे प्रजा का पालन ही नहीं करना है, तो वह कार्य किसके लिए करे। राज-काज में अपना मस्तिष्क क्यों खपाये। ऐसे में उसमें ज्ञान और साधना की प्रवृत्ति बढ़ रही है, तो अनुचित भी क्या है।..."

सत्यवती बोली तो उसका स्वर कुछ अधिक ही उत्तेजित था, "मुझे बार-बार न सुनायें। उसने स्वयं वचन दिया था। उसे किसी ने बाध्य नहीं किया था।"

"सत्या!" शान्तनु जैसे अपने क्षोभ को सन्तुलित कर रहे थे, "तुम्हें कौन सुना रहा है। मैंने तो एक बात कही है।"

"हाँ! कही तो बात ही है, पर मैं उसका अभिप्राय समझती हूँ।" वह बोली, "यदि आप समझते हैं कि यह सब सुन कर, मैं दया से विगलित हो कर, उसे उसके वचन से मुक्त कर दूँगी, तो यह आपकी भूल है।...मैं इतनी कोमल-हृदया नहीं हूँ।"

शान्तनु हँसे; पर उस हँसी का खोखलापन स्वयं उन्हें ही चौका गया, "तुम्हें ऐसी ही परिस्थितियों से मुक्त रखने के लिए, वह तुमसे दूर रहता है। और शायद सब कुछ भूलने के लिए ही इस प्रकार चिन्तन-मनन में लगा रहता है।"

"कोई नही लगा रहता वह चिन्तन-मनन में," सत्यवती तमक कर बोली, "और न वह मुझसे दूर ही रहता है।...वह आज यहाँ आया था।"

शान्तनु चौंके, "भीष्म यहाँ आया था?"

"हाँ!"

"क्या बातें हुई?"

"मैं उससे नहीं मिली।"

"क्यों?"

"मेरी इच्छा।" सत्यवती कुछ और तीखी पड़ी "और भविष्य में भी उससे नहीं मिलूँगी। आप अपने भीष्म से कह दें, कि वह मेरे प्रासाद में न आया करे। मुझे उससे मिलने में कोई रुचि नहीं है।"

शान्तनु ने कुछ रोष से सत्यवती को देखा, फिर जैसे उस रोष को पी गये। स्वयं को कुछ संयत किया और बोले,

“कह दूँगा।” फिर जैसे इतने से सन्तुष्ट न हो पाये हों, “क्या मैं पूछ सकता हूँ उसका दोष क्या है?”

“दोष हो या न हो।” सत्यवती बोली, “इसमें विवाद की क्या बात है। मैं उससे नहीं मिलना चाहती।”

शान्तनु कुछ नहीं बोले।

“एक बात और है।” थोड़ी देर बाद सत्यवती बोली।

“क्या?”

“मेरे पुत्र चित्रांगद का युवराज्याभिषेक कर दिया जाये। सारी प्रजा और स्वयं भीष्म भी देख ले कि हस्तिनापुर का युवराज कौन है।”

शान्तनु अपने चिन्तन में डूबे-डूबे, जैसे बड़ी बाध्यता में बोले, “तुम्हारी इच्छा पूरी होगी।”

12

शान्तनु अपने परामर्श-कक्ष में बैठे सूचनाएँ सुन रहे थे। एक के बाद एक चर आ रहा था और विभिन्न क्षेत्रों के समाचार उन्हें दे रहा था। शान्तनु मानो राजा की दिनचर्या मात्र पूरी कर रहे थे...उन समाचारों में कुछ भी असाधारण नहीं था...कुछ समाचार पड़ौस के राज्यों के विषय में थे, कुछ अपनी प्रजा के विषय में, कुछ सेना और सेनापतियों के विषय में...

अगला चर हाथ जोड़ कर खड़ा था, कह कुछ भी नहीं रहा था। इस व्यतिक्रम से शान्तनु का ध्यान भंग हुआ, "क्या बात है?"

चर ने पुनः हाथ जोड़े, "राजन! बड़े द्वन्द्व में हूँ। कहने योग्य भी नहीं लगता, किन्तु आपको सूचित किये बिना भी नहीं रहा जाता।"

कुछ क्षणों तक शान्तनु सोचते रहे: ऐसी कौन-सी बात है कि चर के मन में द्वन्द्व है। कुछ भयभीत-सा भी लग रहा है।

"कहो।" वे बोले, "अभय देता हूँ।"

"महाराज।" चर बोला, "राजपरिवार के सदस्यों पर दृष्टि रखने के लिए हमारी नियुक्ति नहीं हुई है। मेरी इच्छा भी वह नहीं थी। फिर भी मेरी दृष्टि में एक बात आयी है। आपको सूचित करना चाहता हूँ।"

चर फिर मौन हो गया और शान्तनु फिर से सोचने लगे।

अन्ततः शान्तनु ही बोले, "राजपरिवार के किसी सदस्य ने कुछ अनुचित किया है क्या?"

"मैं उसे अनुचित कर्म तो नहीं कहूँगा; किन्तु उससे भविष्य में प्रजा के अनिष्ट की सम्भावना उत्पन्न होने का अवसर आ सकता है। इसलिए उसकी रोकथाम...।"

शान्तनु ने चर की पूरी बात नहीं सुनी: ऐसा कौन-सा कर्म है, जो अनुचित तो नहीं है, किन्तु भविष्य में उससे अनिष्ट की सम्भावना है?...

"स्पष्ट कहो चर।" वे बोले, "मेरा आदेश है।"

"महाराज! राजकुमार भीष्म ने गंगा-तट पर एक कुटीर का निर्माण करवाया है; और वह अपना अधिकांश समय उसी में व्यतीत करते हैं।..."

शान्तनु के मन में आया कि कहें: 'गंगा-तट पर भीष्म ने एक कुटिया बनवा ली है, तो क्या हुआ? यह सारी भूमि उसी की है। सारा कुरु-राज्य उसका है। वह चाहे तो प्रासादों के नगर का निर्माण करवा ले...' किन्तु दूसरे ही क्षण उनका ध्यान सत्यवती की ओर चला गया।...क्या यह भी सत्यवती की ओर से उपालम्भ दे रहा है? क्या यह सत्यवती की ओर से भीष्म पर चित्रांगद की भूमि हड़पने का आरोप लगा रहा है?...पर नहीं। इसे उसकी क्या आवश्यकता है...उसने कहा है कि कर्म अनुचित नहीं है; किन्तु भविष्य में प्रजा का अनिष्ट...क्या इसका संकेत भविष्य में सम्भावित भीष्म और चित्रांगद के संघर्ष की ओर है? पर नहीं। उसने कहा है कि भीष्म अपना अधिकांश समय गंगा-तट की कुटीर में व्यतीत करता है...तो क्या वह राजप्रासाद में नहीं रहता?...

"भीष्म क्या करता है कुटीर में?" सहसा उन्होंने पूछा।

"चिन्तन-मनन, ध्यान...।"

शान्तनु के मस्तिष्क में विद्युत कौंध गयी...गंगा-तट की कुटिया में भीष्म चिन्तन-मनन और ध्यान करता है...इस वय में...क्या वह वानप्रस्थ की ओर बढ़ रहा है?–लगा, उनके मन ने जैसे कशा फटकारते हुए, भीष्म को डाँटा, 'क्या कर रहे हो वत्स! यह तुम्हारा वानप्रस्थ का वय नहीं है। तुम्हें कुटिया में नहीं, प्रासाद में रहना चाहिए। जीवन के भोगों से विमुख नहीं, उनमें प्रवृत्त होना चाहिए...।' और उनका अपना विवेक जैसे भीष्म का रूप धारण कर उनके सम्मुख खड़ा हो गया, 'तात! मैंने अपना ब्रह्मचर्य आश्रम पूर्ण कर लिया है। गृहस्थ आश्रम आपको समर्पित कर दिया है। अब उसके आगे वानप्रस्थ ही तो है। अतीत तो कभी भी नहीं लौटता। वर्तमान के द्वार बन्द हो जायें, तो फिर भविष्य की ओर ही देखना पड़ता है। मैं भी आगे ही चल रहा हूँ पिता जी।' उनकी कल्पना जैसे साक्षात हो गयी, 'मैं कुछ अनुचित तो नहीं कर रहा तात?'

उसे अनुचित कैसे कह दें शान्तनु! वह तो कुछ भी अनुचित नहीं कर रहा। जो सुनता है, उसकी प्रशंसा करता

है। उसे सराहता है। उसकी युवावस्था में ही लोग उसकी महानता बखानने लगे हैं...पर शान्तनु अपने उस मन का क्या करें, जो उन्हें बार-बार धिक्कार रहा है कि गंगा को रुष्ट कर, जिस देवव्रत को उन्होंने बचाया था, उसे पाल-पोस कर, इतना बड़ा कर, उन्होंने अपने हाथों से उसी गंगा को समर्पित कर दिया है। गंगा-तट पर रह कर वह जीवन-मुक्त तो नहीं हुआ, पर वह गंगा का ही हो गया, ऐसे में वह शान्तनु के काम का नहीं रहेगा।

वे अपने चिन्तन से उबरे। देखा, सामने चर खड़ा था। बोले, "तुम जाओ चर! और हाँ! शेष लोगों से कह दो। अब और कोई न आये। शेष चरों की बात फिर कभी सुनूँगा। इस समय मेरा मन स्वस्थ नहीं है।..."

चर के चेहरे का रंग उड़ गया, "क्या मेरी सूचना से महाराज का मन अस्थिर हो गया?"

शान्तनु के मन में आया, उसे डपट कर भगा दें; पर डपटने का कोई कारण तो हो। किसी प्रकार धैर्य रख कर बोले, "अस्थिरता तो मेरे अपने मन में है चर! तुम्हारी सूचना ने तो उसे जगा दिया है। जाओ! तुम्हारा कोई दोष नहीं है। तुम्हारा कोई अहित नहीं होगा।"

चर ने बड़ी शालीनता से हाथ जोड़ कर सिर झुकाया, "राजा के हित में सबका हित है; और राजा के अहित में ही सबका अहित है, देव!"

शान्तनु चर को बाहर जाते देखते रहे...क्या कह गया चर? भीष्म ने वानप्रस्थ ग्रहण कर लिया तो भविष्य में अनिष्ट होगा। राजा का भी अहित होगा, प्रजा का भी।...सिद्धान्त रूप में शान्तनु चर की बात से सहमत नहीं हो सकते। हो सकता है, वह चर का भी सत्य न हो, मात्र उसका शिष्टाचार ही हो। राजा की चाटुकारिता ही हो।...किन्तु भीष्म के संदर्भ में वह सत्य ही बोल गया है। भीष्म का वानप्रस्थी हो जाना, न शान्तनु के लिए शुभ है, न प्रजा के लिए। और उनका मन कहता है कि यह सत्यवती और उसके पुत्रों–चित्रांगद और विचित्रवीर्य के लिए भी शुभ नहीं है।...

शान्तनु को लगा, उनके हृदय में पुत्र-शोक की विह्वलता है...आज उन्हें अनुभव हो रहा था कि मनुष्य का सहज मन प्रकृति ने कुछ ऐसा बनाया है कि त्रिकालसत्य आदर्शों पर स्वयं चलने का तो वह साहस ही नहीं करता, अपने प्रियजनों को उन आदर्शों की ओर बढ़ते देख कर भी कोई प्रसन्न नहीं होता...राम, राज्य को त्याग कर वनवास के लिए चले गये थे। तो दशरथ उनके त्याग से प्रफुल्लित नहीं हुए थे। उन्होंने उसी शोक में प्राण दे दिये थे। ...शान्तनु ने तो भीष्म के त्याग को बहुत सराहा था; किन्तु उसका वानप्रस्थ ग्रहण करना...शान्तनु के मन में रह-रह कर टीस उठ रही थी...शायद सत्यवती ने इसका अनुमान बहुत पहले कर लिया था, तभी तो उसने बहुत स्पष्ट और कठोर शब्दों में कहा था कि उसे अपने पुत्रों के लिए भी भीष्म का सान्निध्य और साहचर्य काम्य नहीं है...

सहसा उनका मन चेता। उन्हें लगा, वह समय से बहुत पहले ही शोक करने बैठ गये हैं। अभी तो कुछ भी नहीं बिगड़ा है। भीष्म जीवित है और स्वस्थ है। अभी उसने गंगा-तट पर एक कुटिया मात्र बनायी है। अभी वह चिन्तन-मनन और ध्यान ही कर रहा है...यदि अभी भी वे प्रयत्न करें तो सम्भवतः भीष्म इस मार्ग पर आगे नहीं बढ़ेगा!...हाँ। आगे नहीं बढ़ेगा। तो? संसार में स्थिर तो कुछ भी नहीं है। भीष्म जहाँ खड़ा है, वहीं खड़ा नहीं रहेगा, आगे भी नहीं बढ़ेगा...तो क्या पीछे लौट आयेगा? क्या सम्भव है, पीछे लौटना? धनुष से छूटा हुआ बाण क्या वापस तूणीर में लौटा है कभी?...और भीष्म के वापस लौटने का क्या अर्थ है? क्या शान्तनु उससे कहें कि वह फिर से युवराज बन जाये और विवाह कर ले...यदि वह ऐसा कुछ कर दें तो सत्यवती मान जायेगी क्या?...और स्वयं भीष्म?...

राजा को बहुत देर तक किंकर्तव्यविमूढ़ बैठा देख कर, वृद्ध मन्त्री विष्णुदत्त ने चिन्ता प्रकट की, "राजन् का स्वास्थ्य...?"

"स्वास्थ्य तो ठीक है," शान्तनु का उत्तर था, "किन्तु लगता है कि अब राजकाज सँभाले रखने की स्थिरता मन में नहीं रही।"

"ऐसा क्या हो गया, राजन्?"

"सारथि को रथ लाने के लिए कहलवा दें।..."

रथ में बैठ कर भी शान्तनु तय नहीं कर पाये कि वह कहाँ जायें...अपने प्रासाद में जा कर अपने अकेले कक्ष में औंधे मुँह पड़े रहें, या भीष्म के पास जा कर, उसे समझा-बुझा कर लौटा लाने का प्रयत्न करें...या सत्यवती के पास जा कर अनुरोध करें कि वह अपने पिता की ओर से, भीष्म को उसके वचनों से मुक्त कर दे...

सारथि ने रथ हाँक अवश्य दिया था, किन्तु उसका असमंजस स्पष्ट था। राजा ने उसे कोई स्पष्ट आदेश नहीं

दिया था। और राजा की यह विचलित मनःस्थिति देख कर कुछ पूछने का उसका साहस भी नहीं हो रहा था।...राजा की यह भंगिमा उसके लिए नयी नहीं थी। राजा में रजस तत्त्व कुछ अधिक ही था। उनके आवेश का आरोह-अवरोह बहुत उग्र और स्पष्ट होता था।...जब पहली बार यमुना-तट पर सत्यवती को देख कर, दासराज से याचना कर, राजा निराश हुए थे–तब भी उनकी स्थिति कुछ ऐसी ही हो गयी थी, शायद इससे भी कहीं हीनतर।

"महाराज विश्राम करेंगे?" अन्ततः सारथि ने पूछा।

"हाँ।" शान्तनु पूर्णतः अन्यमनस्क थे।

"किस प्रासाद में ले चलूँ?"

शान्तनु जैसे निद्रा से जागे, "महारानी सत्यवती के प्रासाद में।"

"महाराज आज कुछ असमय पधारे हैं।" सत्यवती के मन में कोई विशेष उल्लास नहीं था, "सब शुभ तो है?"

"तुमसे कुछ बातें करनी हैं सत्या!" शान्तनु सत्यवती के कक्ष की ओर बढ़ चले, "महत्त्वपूर्ण बात है, इसलिए चाहूँगा कि पूर्ण एकान्त हो। दासियों को भी हटा दो।"

सत्यवती ने उनके पीछे कक्ष में प्रवेश किया और कमाट भिड़ा दिये, "क्या बात है महाराज?" और उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना उसने स्वयं ही कहा, "क्या आप तक भी सूचना पहुँचा दी गयी।"

सत्यवती, पलंग पर लेट गये शान्तनु के पास आ कर बैठ गयी।

'तो क्या सत्यवती भी जानती है?' शान्तनु ने मन-ही-मन सोचा; किन्तु पूछा, "कौन-सी सूचना?"

"जिसे सुन कर इस समय आप यहाँ चले आये हैं।" शान्तनु को लगा, सत्यवती का स्वर कुछ ऊँचा ही नहीं, अशिष्ट भी हो गया है। पर उनका मन कह रहा था कि सत्यवती का यह व्यवहार भीष्म के वानप्रस्थ के कारण नहीं हो सकता।

"क्या हुआ सत्या?" शान्तनु का स्वर अनपेक्षित रूप से शान्त था, "तुम कुछ क्षुब्ध लग रही हो।"

"आपको मन्त्री विष्णुदत्त ने कुछ नहीं कहा?"

"नहीं तो।" और शान्तनु मन-ही-मन चकित होते हुए सोच रहे थे कि विष्णुदत्त से सम्बन्धित ऐसी कौन-सी बात थी, जिसके कारण सत्यवती इतनी क्रुद्ध है और विष्णुदत्त ने न केवल उसकी चर्चा ही नहीं की, उल्टे वह शान्तनु के स्वास्थ्य के विषय में अपनी चिन्ता प्रकट करता रहा।

"आज युवराज भ्रमण के लिए गये थे..."

"कौन?" शान्तनु अनायास ही पूछ बैठे–'भ्रमण के लिए कौन गया' वह सोच रहे थे, 'भीष्म तो गंगा-तट पर कुटिया बनाये बैठा है...।'

"युवराज चित्रांगद।" सत्यवती ने एक-एक शब्द बलपूर्वक कहा।

ओह...यह उस दस बरस के छोकरे की चर्चा भी नाम से नहीं 'युवराज' पद से करती है...जैसे हर क्षण अपने-आपको भी याद दिलाती रहती है और उन्हें भी कि युवराज भीष्म नहीं, चित्रांगद है।...लगता है, अभी भी उसे आठों प्रहर एक ही आशंका खाये जा रही है कि भीष्म, चित्रांगद से उसका 'युवराज' पद छीन न ले।

"तो क्या हुआ?" शान्तनु ने पूछा, "चित्रांगद का भ्रमण करने जाना कोई ऐसी घटना तो नहीं, जिसकी सूचना राजा को अवश्य दी जाये।"

"एक वाटिका के बाहर जा कर सारथि ने रथ रोक दिया। युवराज ने कारण पूछा तो सारथि ने बताया कि वह राजोद्यान है। भीतर पदाति ही जा सकता है–रथ के लिए मार्ग नहीं है। युवराज ने उससे कहा कि राजोद्यान उनकी निजी सम्पत्ति है। यदि वह चाहते हैं कि रथ भीतर जाये तो सारथि का कर्तव्य है कि वह रथ को भीतर ले जाये। किन्तु सारथि ने उनकी आज्ञा का पालन नहीं किया। उसे इस अपराध के लिए दण्डित करने हेतु, युवराज ने उसे कशा से पीटा..."

शान्तनु को लगा, कशा सारथि की पीठ पर नहीं, उनकी अपनी पीठ पर पड़ा हो। दस वर्षों का यह उद्दण्ड छोकरा अपने-आपको युवराज समझता है, इसलिए वह जिस-तिस को अपराधी मान कर दण्डित करने के लिए कशा से पीटता है...ये सारथि, परिचारक तथा अन्य राजकर्मचारी, वय में उससे बहुत बड़े हैं। वह राजपरिवार की मर्यादा और प्रासाद के विधि-विधान को जानते हैं। उनका दायित्व है कि वे राजकुमार को राजकुल की मर्यादा से परिचित करायें...और इस शिक्षा के लिए अनुगृहीत होने के स्थान पर, वह उनको दण्डित करता है...यह शील-शिष्टाचार

सिखाया है, सत्यवती द्वारा नियुक्त अध्यापकों और आचार्यों ने उसे?

किन्तु अपने मन के बवण्डर को उन्होंने अपने तक ही रोके रखा। पूछा, "फिर क्या हुआ?"

"होना क्या था," सत्यवती बोली, "कुछ होता, इससे पहले ही आपका वह बूढ़ा विष्णुदत्त वहाँ आ पहुँचा; और इस प्रकार पूछताछ करने लगा, जैसे वह युवराज से भी अधिक अधिकार सम्पन्न कोई राजकर्मचारी हो। युवराज ने उसे बताया कि सारथि उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर रहा है, तो सारथि को प्रताड़ित करने के स्थान पर, आपका वह विष्णुदत्त युवराज को ही समझाने लगा कि सारथि ठीक कह रहा है। राजोद्यन के भीतर रथ ले जाने का नियम नहीं है। युवराज को क्रोध तो बहुत आया; किन्तु मन्त्री की वृद्धावस्था का विचार कर, उन्होंने उस पर कशा का प्रहार नहीं किया। अपने नन्हे से हाथ का एक चाँटा-भर मार कर, वे यह कह कर लौट आये कि वह महाराज के सम्मुख मन्त्री और सारथि पर अभियोग प्रस्तुत करेंगे...।"

सहसा शान्तनु के मन में सत्यवती के लिए दया उमड़ आयी: यह बेचारी अपने पुत्र की ममता और उसके युवराजत्व के महत्त्व से ऐसी त्रस्त है कि उसका विवेक जैसे मर ही गया है। वह समझ नहीं पा रही कि उन तीनों में अपराधी यदि कोई है तो स्वयं चित्रांगद है। दण्ड मिलना चाहिए, तो चित्रांगद को ही मिलना चाहिए। दस वर्षों का यह छोकरा अपने युवराजत्व से ही इतना मदान्ध हो गया है कि वह अपने अधिकार की कोई सीमा ही नहीं समझता। नियम, मर्यादा और धर्म को भी नहीं समझता।...कल, जब यह मदान्ध राजकुमार, राजा के रूप में हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठेगा, तो इसका अहंकार आज की तुलना में कहीं अधिक स्फीत हो चुका होगा। तो क्या वह राजसभा में बैठा, अपने हाथों, राजदण्ड से लोगों को पीटा करेगा? क्या वह इस बात को समझ पायेगा कि वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति अपने ही पाप को भोगता है; किन्तु राजा का पाप शतगुणित हो कर, लौट कर फिर उसी पर पड़ता है...

शान्तनु को चुप देख, सत्यवती पुनः बोली, "क्या विष्णुदत्त ने आपसे चर्चा की?"

"नहीं।" शान्तनु बोले, "किन्तु तुम्हें चित्रांगद को समझाना चाहिए कि राजकुमारों की भी कोई मर्यादा होती है।"

सत्यवती की आँखें आश्चर्य और क्रोध से फैल गयीं। वह अवाक बैठी शान्तनु को देखती रही।

शान्तनु के मन में आया कि कहें, 'युवराज की माँ की भी मर्यादा होती है।...'

पर उन्होंने कहा नहीं। उठ कर चुपचाप कक्ष से बाहर चले गये। अब भीष्म की चर्चा व्यर्थ थी।

13

भीष्म को कुछ नयी अनुभूतियाँ हो रही थीं।

प्रासाद का जीवन भिन्न ही प्रकार का जीवन था। ऐसा कभी नहीं होता था कि किसी दूसरे राजा के प्रासाद को देख कर यह तुलना मन में न जागे कि उसका प्रासाद सुन्दर है या मेरा; उसका प्रासाद विस्तृत है या मेरा? कुटिया में आने के बाद से उन्होंने कभी तुलना नहीं की कि किसी और की कुटिया उनसे छोटी है या बड़ी? इसका क्या अर्थ है?...क्या सचमुच भौतिक सुख-सुविधाओं में कोई अन्तर नहीं है? सारा प्रपंच मन का ही है? मन मान जाये कि बड़ा वह है, जो सबसे अधिक अर्जित करता है, तो दूसरों को वंचित करके भी वह तुष्ट होता है। उसे तनिक भी पीड़ा नहीं होती कि उसके ग्रहण के लिए, कितने लोगों को त्याग करना पड़ा। और मन यह मान ले कि जो सबसे अधिक त्याग करे, वही सबसे बड़ा है, तो सब-कुछ छोड़-छाड़ कर भी वही अपने को श्रेष्ठ, उत्तम और महान मानता है। मुख्य तो 'अहंकार' है। अहं तुष्ट हो जाये, तो व्यक्ति सुखी हो जाता है। चाहे भूखा रह ले, चाहे अफर कर खा ले।...अहंकार भी तो अनेक प्रकार का हो सकता है...धन का, बल का, बुद्धि का, चरित्र का, त्याग का...यहाँ तक कि निर्धनता का भी...पर अहंकार तो पतन के मार्ग पर ही ले जायेगा...तो अहंकार से ही मुक्ति पानी होगी...

पर अहंकार तो तभी गलेगा, जब मन में तुलना न हो। और तुलना का नाश करने के लिए तृष्णा का नाश करना पड़ेगा। लोभ से पीछा छुड़ाना पडेगा...

भीष्म का मन मुक्त हो कर विचार-क्षेत्र में विचरण करने लगा: राजा के पास सब कुछ होता है, शान्ति नहीं होती। वह अपनी व्याकुलता में युद्ध करता है, आखेट करता है, द्यूत खेलता है, विवाह रचाता है...और एक तपस्वी है कि अपने पास कुछ न होते हुए भी, उसे भूमि पर अधिकार की इच्छा नहीं होती; वन में रहते हुए भी आखेट की कामना उसे नहीं सताती; धन का पूर्ण अभाव होने पर भी वह द्यूत की ओर अग्रसर नहीं होता; स्त्री-विहीन होते हुए भी वह स्त्री की कामना नहीं करता...क्यों? जिसके पास है, वह और अधिक पाने की कामना करता है; और जिसके पास नहीं है, उसे अपना अभाव सालता ही नहीं है...क्या इसलिए कि राजा के पास सब-कुछ है तथा उसे और अधिक मिलने की पूरी सम्भावनाएँ हैं? क्या प्राप्ति की सम्भावना होने पर मन का लोभ और अधिक जागता है? क्या इसलिए राजा नगरों का निर्माण करता है और तपस्वी नगरों से भाग कर वनों में चला जाता है...जहाँ न तुलना, न सम्भावना, न लोभ, न तृष्णा...

यदि भीष्म कुरु-राज्य के युवराज होते, तो उनके सामने राजा बनने की सम्भावना होती, चक्रवर्ती होने का लोभ होता। वे राजसूय और अश्वमेध यज्ञों की बात सोचते। सेना का संगठन करते। युद्धों की तैयारी करते...किन्तु जब राज्य ही नहीं है, तो इसका विस्तार कैसा?...कैसे सुखी हैं भीष्म! वे वचन-बद्ध हैं। किसी प्रकार की सम्भावना नहीं है, तो फिर लोभ कैसा...

किसी की आहट से उनकी विचार-शृंखला टूटी।

सिर उठा कर देखा: महाराज का सारथि सामने खड़ा था। उसने हाथ जोड़ कर प्रणाम किया।

"आओ अश्वसेन!" भीष्म ने उसका स्वागत किया, "कैसे आये? महाराज प्रसन्न हैं न?"

"महाराज ने आपको स्मरण किया है राजकुमार!" अश्वसेन बोला, "मैं रथ लाया हूँ।"

भीष्म का मन बुझ-सा गया।...फिर रथ, सारथि, नगर, प्रासाद, राजा, अधिकार...वे उस संसार में नहीं लौटना चाहते।...किन्तु पिता की आज्ञा...

निर्णय करने में उन्हें कुछ ही क्षण लगे: पिता जी ने बुलाया है, तो जाना ही होगा। अपने मन की शान्ति से, पिता का सुख बड़ा है।

"चलो!" उन्होंने अपना उत्तरीय सँभाला और उठ खड़े हुए।

शान्तनु ने भीष्म का स्वागत किया, "आओ पुत्र! अब तो तुमसे भेंट तभी हो सकेगी, जब विशेष रूप से तुम्हें बुलाया जाये।"

भीष्म को पिता के स्वर में उपालम्भ की गंध आयी।...वैसे पिता का उपालम्भ अपने स्थान पर ठीक ही था। भीष्म बहुत दिनों से इधर नहीं आये थे। अब भी पिता न बुलाते, तो शायद वह न ही आते।...पिता कह सकते हैं कि

भीष्म के मन में उनके लिए अब कोई मोह नहीं रहा: क्या कहें भीष्म? ऐसे उपालम्भ का उत्तर भी तो नहीं दिया जा सकता। यदि वह कहें कि सचमुच पिता के प्रति उनके मन में कोई मोह नहीं रहा, तो-न-तो यह सत्य होगा, न शालीन!...यदि पिता की हल्की-सी पीड़ा भी बहुत गहरे में जा कर चुभती है और वे पिता को उस पीड़ा से बचाने के लिए कुछ भी कर सकते हैं...तो पिता पुनः पूछेंगे, कि ऐसी स्थिति में, वह उनसे मिलने क्यों नहीं आते? उनसे दूर क्यों भागते हैं?...तो क्या वह पिता को सच बता पायेंगे? क्या पिता नहीं जानते कि माता सत्यवती के निकट जाते ही भीष्म को आभास होने लगता है कि उन्हें वहाँ पसन्द नहीं किया जाता। और भीष्म को अपनी अवज्ञा अच्छी नहीं लगती। क्या भीष्म पिता को बता पायेंगे कि वह उनके और माता सत्यवती के बीच नहीं आना चाहते। वह नहीं चाहते कि उनके कारण पिता को माता की ओर से कुछ ऐसा सुनना या सहना पड़े जो उनके लिए दुखद हो; और उनकी यह दूसरी गृहस्थी भी उनके लिए प्रसन्नतादायिनी न रह जाये।...पिता को इन छोटी-छोटी असुविधाओं से बचाने के लिए, उनके जीवन को और अधिक सुखद और विघ्नरहित बनाने के लिए ही तो भीष्म अपने-आपको पिता से ही नहीं, सम्पूर्ण राज-परिवार से...और क्रमशः इस राज-समाज से काटने का प्रयत्न कर रहे हैं...

यदि भीष्म ने ऐसा कुछ भी कहा तो पिता यह मानेंगे कि वह उनसे रुष्ट है; और उस रोष के कारण वह उनसे दूर हटने का प्रयत्न कर रहा है। कोई बड़ी बात नहीं, यदि वह यह मान लें कि माता सत्यवती और उनके पुत्रों चित्रांगद और विचित्रवीर्य से पाये गये अपमान का प्रतिशोध भीष्म अपने पिता से ले रहे हैं। इस वृद्धावस्था में पिता को यह सब अच्छा नहीं लगेगा कि उनका वयस्क और समर्थ पुत्र उनका प्रतिस्पर्धी हो गया है; और उनको वह वही देना चाहता है, जो कुछ उसने पाया है...

भीष्म अच्छी तरह जानते हैं कि यह सत्य नहीं है। पिता ने अपना जीवन अपने लिए जिया है। वह भीष्म के जनक हैं और उन्होंने उन्हें माता गंगा के हाथों जीवन-मुक्त होने से बचाया अवश्य है; किन्तु उसके बाद से उनके जीवन में, भीष्म के लिए कोई भी स्थान नहीं रहा है...पर भीष्म अपना सारा जीवन उनके लिए बिता रहे हैं, उनकी प्रसन्नता के लिए, उनकी सुख-सुविधा के लिए।

जाने क्यों आज तक भीष्म के मन में अपने पिता के विरुद्ध कोई भी स्थायी विरोध नहीं जन्मा।...उनके मन में पिता के प्रति अनुराग है या दया। उन्हें लगता है कि उनके पिता का जीवन भाग्य के हाथों का खिलौना रहा है। शान्तनु राजा हो कर भी कभी सुखी नहीं हुए। अपनी क्षमताओं ने उन्हें कोई सुख नहीं दिया। उनकी उपलब्धियाँ उनके लिए क्लेशकारी ही हुईं।...इस वृद्धावस्था में सत्यवती जैसी असाधारण सुन्दरी को पत्नी के रूप में पा कर भी, उससे जो सुख उन्हें मिला है, वह इस विवाह से प्राप्त असुविधाओं और झंझटों के सामने बहुत छोटा है। उन्हें इस वार्द्धक्य में दो-दो पुत्र मिले; पर वे पुत्र उनके लिए चिन्ता के ही विषय हो गये हैं, हर्ष और उल्लास के नहीं...

"मैंने सोचा, आप अपने राज-काज में व्यस्त होंगे।" अंततः में भीष्म बोले, "मेरी मनःस्थिति भी इधर बहुत बदली है। मुझे एकान्त कुछ अधिक ही प्रिय लगने लगा है। तपस्वियों, मुनियों और मनीषियों से वार्तालाप अधिक सुखद लगता है...।"

"मुझे कुछ ऐसी सूचनाएँ मिली हैं पुत्र!" शान्तनु बोले, "इनसे मुझे प्रसन्नता भी होनी चाहिए थी...।"

भीष्म ने पिता की ओर देखा: क्या कहना चाह रहे हैं पिता? उन्हें क्यों प्रसन्नता होनी चाहिए थी?

"पहली बात तो यह है कि तुमने मेरी इच्छा के अनुकूल मेरे विवाह में सहयोग ही नहीं किया, नयी गृहस्थी दी और स्वयं मेरे मार्ग में से कुछ इस प्रकार हट गये कि न मेरे मन में तुम्हें ले कर कोई दायित्व जागे, न अपराध-बोध। दूसरे, तुम अपने आध्यात्मिक उत्थान की ओर बढ़ रहे हो, अधिक समर्थ बन रहे हो...।"

"कैसे पिता जी?" भीष्म पूछे बिना नहीं रह सके।

"ग्रहण से त्याग बड़ा होता है पुत्र!" शान्तनु बोले, "ग्रहण करने-वाले से त्याग करने-वाला अधिक समर्थ है।...इस वय में तुम सेनाएं ले कर दिग्विजय कर रहे होते, तो भी तुम समर्थ माने जाते; किन्तु अपनी शूरवीरता, अपने शस्त्र-ज्ञान और अपने युद्ध-कौशल को पूर्णतः विस्मृत कर, अपने समस्त रजस-तत्त्वों का दमन कर–अपने जिस व्यक्तित्व का विकास तुम कर रहे हो, वह अधिक समर्थ व्यक्ति का रूप है। पर पुत्र!"

शान्तनु रुक गये।

भीष्म उन्हें देखते रहे: क्या है पिता के मन में? पता नहीं पिता के मन में भाव स्पष्ट नहीं था, या वह उपयुक्त शब्दों की प्रतीक्षा में थे।

"मैंने तुमसे कहा था कि अकेले पुत्र का पिता निःसंतान व्यक्ति से भी अधिक दुखी होता है।" कुछ क्षणों के बाद

शान्तनु बोले, "अब तुम्हारे अतिरिक्त मेरे दो पुत्र और हैं। यदि सच-सच कहूँ, तो अब मैं अनुभव कर रहा हूँ कि तुम अकेले थे तो मैं न केवल पुत्रवान था, वरन सौ पुत्रों-वाले पिता के समान पुत्रवान था।...चित्रांगद और विचित्रवीर्य को मैंने पाया तो है पुत्र! पर तुम्हें खो कर ही...।"

"ऐसा क्यों कहते हैं पिता जी!" भीष्म बोले, "मैं जीवित हूँ। आपके पास हूँ। आप आदेश करें।"

"नहीं! तुम्हें आदेश नहीं दूँगा।" शान्तनु बोले, "मैं स्वीकार करता हूँ कि तुम्हारे और मेरे बीच चित्रांगद और विचित्रवीर्य खड़े हैं। मैं तुम तक पहुँचना चाहूँ तो मुझे उन दोनों को बीच में से हटाना होगा...।"

"नहीं! पिता जी! उसकी कोई आवश्यकता नहीं है।"

"वह मुझ पर छोड़ दो।" शान्तनु बोले, "मैं तो यह कह रहा हूँ कि तुम्हारे बदले मैंने दो पुत्र पाये हैं। और वे दोनों पुत्र ऐसे हैं कि जिन्हें पा कर पिता निःसन्तान हो जाता है...।"

भीष्म कुछ नहीं बोले। चुपचाप पिता की ओर देखते रहे।

"तुमने भी सुना होगा।" शान्तनु पुनः बोले, "चित्रांगद अत्यन्त उद्दण्ड और क्रोधी किशोर के रूप में प्रसिद्धि पा रहा है। किसी का भी अपमान कर देना, या किसी को भी पीड़ित या प्रताड़ित करना, उसके लिए सहज सामान्य है। अभी चौदह वर्ष का हुआ है और धनुष-बाण हाथ में लिए युद्ध-आह्वान उच्चरित करता फिरता है। तुम योद्धा हो पुत्र! किन्तु तुमने लागों को युद्ध के लिए उकसाया नहीं। तुम युद्ध-प्रिय नहीं थे। वह योद्धा भी नहीं है...और युद्ध नहीं, क्रूरता और हिंसा उसका व्यवसाय हो गया है।...मैं अनवरत रूप से इस आशंका के दंश को अपने हृदय में अनुभव कर रहा हूँ कि किसी दिन वह द्वन्द्व-युद्ध में मारा जायेगा।..."

भीष्म का मन उमड़ आया कि पिता को सान्त्वना दें: भला पुत्र की मृत्यु की आशंका से भयभीत और दुखी पिता से बढ़ कर भी कोई पीड़ित हो सकता है...किन्तु वे रुक गये। कुछ सोचते रहे और फिर बोले, "पिता जी! माता सत्यवती के साथ विवाह से पूर्व, आप इसी प्रकार की आशंका मेरे लिए पाल रहे थे। ऐसा क्यों है कि हस्तिनापुर के कुरु-सम्राट चक्रवर्ती राजा शान्तनु सदा अपने पुत्रों की भावी मृत्यु की आशंका से पीड़ित रहते हैं। कहीं ऐसा न हो कि आप अपनी इन आशंकाओं को मानसिक रोग बना लें।"

शान्तनु कुछ संकुचित हुए; पर फिर सायास मुस्कुराए, "ऐसा नहीं है पुत्र! आज मुझे सच बोलने दो। तुम्हारे विषय में मेरी आशंका वास्तविक नहीं थी–उसका प्रयोजन मात्र इतना था कि मुझे सत्यवती से विवाह करने का एक व्यावहारिक आधार मिल सके।...किन्तु चित्रांगद के विषय में यह पूर्णतः सत्य है। जिस प्रकार वह अपनी क्षमता और दूसरे की शक्ति का मूल्यांकन किये बिना जिस-तिस से उलझता फिरता है, उसका परिणाम कभी भी शुभ नहीं हो सकता। वह किसी भी दिन...।"

"ऐसा नही होगा पिता जी!" भीष्म बीच में बोले, "और यदि ऐसा होगा भी तो क्षत्रियों के लिए वीरगति पाना सौभाग्य का लक्षण माना गया है।"

"यह वीरगति नहीं होगी।" शान्तनु दुखी स्वर में बोले, "न्याय के पक्ष में अत्याचार का दमन करते हुए युद्ध में वीरगति पाना गौरव का ही लक्षण है; किन्तु व्यर्थ रक्तपात करते हुए अपने अपराधों के दण्डस्वरूप प्राण गँवाना, दस्यु की मृत्यु है। मुझे इसी का भय है भीष्म!" शान्तनु रुके नहीं, "और दूसरा है विचित्रवीर्य! वह बारह वर्ष का हुआ है, और कामुकता की ओर उसके चरण जिस गति से बढ़ रहे हैं, वह भयंकर है...।"

"आप उन्हें रोकते क्यों नहीं?"

"रोक नहीं सकता पुत्र।"

भीष्म ने चकित दृष्टि से पिता को देखा।

"उन्हें रोकने का मुझे अधिकार नहीं है।"

"क्यों?" भीष्म के स्वर में हल्का-सा आवेश था, "पर क्यों?"

शान्तनु असहाय भाव से हँसे, "यह भी मेरे साथ नियति का परिहास है पुत्र! गंगा के पुत्र भी गंगा के ही रहे; सिवाय तुम्हारे उनमें से कोई भी शान्तनु का पुत्र न हो पाया।...वही स्थिति अब सत्यवती के पुत्रों की है...वे सत्यवती के ही पुत्र हैं, शान्तनु के नहीं! उनके प्रति शान्तनु के सैकड़ों दायित्व और कर्तव्य हैं, पर उसे अधिकार एक भी नहीं है।..."

"आप क्या कह रहे हैं पिता जी?" यह सब भीष्म के लिए इतना आकस्मिक था कि वह समझ ही नहीं पा रहे थे कि वह क्या कहें।

"यही सत्य है पुत्र!" शान्तलु बोले, "मैं उन दोनों में से किसी को भी अनुशासित करने का प्रयत्न करूँ तो सत्यवती उनके आड़े आ जाती है। वह तुरन्त मुझे समझाने लगती है कि वे राजकुमार हैं, उनका इस प्रकार दमन नहीं किया जाना चाहिए।...इस प्रकार उनका तेज नष्ट हो जायेगा।...चित्रांगद को कुछ कहूँ तो वह मुझे समझाने लगती है कि वह युवराज है। युवराज का अहंकार तो पुष्ट होना ही चाहिए। उनके मन में यह दृढ़-बद्ध धारणा होनी ही चाहिए कि वे अन्य मनुष्यों से श्रेष्ठ हैं। उसको अधिकार है कि वह किसी को भी दण्डित करे, अपमानित करे...। मैं यदि उसे समझाऊँ कि राजकुमार या युवराज की भी कोई मर्यादा होती है, तो वह इस प्रकार तड़पने लगती है, जैसे मैं चित्रांगद का युवराजत्व छीन रहा हूँ।..."

"उनको आप पर विश्वास नहीं है?"

"तनिक भी नहीं! उसे यह कहने में भी संकोच नहीं है कि वह मेरे किसी वचन का विश्वास नहीं करती। मैं आश्वासन के रूप में, समझाने के लिए जो कुछ कहता हूँ, उसे वह मेरा पाखण्ड मानती है। इसलिए मैं जितना ही अपना स्नेह जताता हूँ, जितना ही अधिक उसे विश्वास दिलाता हूँ, वह उतनी ही प्रचण्ड हो जाती है..." शान्तनु अत्यन्त हताश स्वर में बोले; "उस समय वह जो कुछ मेरे विषय में कहती है, वह यदि कोई सुन ले, तो वह सहज रूप में यही विश्वास करेगा कि मुझ जैसा कोई पापी नहीं है, और उस जैसी दुखिनी नारी इस सारी सृष्टि में नहीं है।"

शान्तनु जितना खुलते जा रहे थे, भीष्म का असमंजस उतना ही बढ़ता जा रहा था। कहाँ वह समझते थे कि उनके पिता-सरीखा कोई सुखी नहीं है और कहाँ...पिता तो मानों हृदय में ज्वालामुखी छिपाये फिर रहे थे। उनके लिए भी अब यह सब असह्य हो गया था, तभी तो वह पुत्र के सम्मुख इस प्रकार खुल पड़े थे।

"क्या उन्हें कुछ भी समझाया नहीं जा सकता?" अन्ततः भीष्म ने पूछा।

"मैं जितना अधिक समझाने का प्रयत्न करता हूँ, वह मुझसे उतनी ही रुष्ट होती जाती है। उसके मन में मेरे प्रति दृढ़-बद्ध धारणाएँ हैं कि...मैं झूठा हूँ, पाखण्डी हूँ, कामुक और अत्याचारी हूँ। मैं अपनी मधुर वाणी से उसका सर्वस्व हरण कर उसे गलियों की भिखारिणी बना देना चाहता हूँ। जब मैं अपने प्रेम और अपनी सद्भावना के प्रमाण प्रस्तुत करता हूँ तो वह हँस कर मुझे टाल देती है, 'तुम शब्दों से मेरी भावना को झुठला नहीं सकते। तुम्हारे तर्क कुछ भी प्रमाणित करें, पर सत्य क्या है मैं जानती हूँ।'"

भीष्म पिता की ओर देख रहे थे: क्या चक्रवर्ती शान्तनु इतने असहाय हो गये हैं?

"तुम्हें विचित्र लगेगा वत्स! यदि मैं तुम्हें बताऊँ कि मैं उससे किस सीमा तक डरने लगा हूँ।" शान्तनु बोले, "मैं यह मानने लगा हूँ कि वह निर्धन परिवार से राजमहल में आयी है, इसलिए निर्धनता का प्रेत उसका पीछा नहीं छोड़ रहा। पुनः अपनी पहली स्थिति में लौट जाने का भय उसे इतना सताने लगा है कि वह सहज नहीं रह पाती। तनिक-सी बात में उसे लगने लगता है कि मैं उससे मुक्त होने का बहाना ढूँढ रहा हूँ। उसके मन से यह बात जाती ही नहीं कि मैं अन्ततः कोई-न-कोई षड्यन्त्र रच कर उसके पुत्र के हाथों से अधिकार छीन लूँगा।...वह स्पष्ट शब्दों में, अभिधा में कहती है कि वह निर्धन परिवार की बेटी है, उसकी पीठ पर कोई राजपरिवार नहीं है, इसलिए मैं उस पर अत्याचार कर रहा हूँ।...वह तो यहाँ तक कहती है कि मैं इतना अहंकारी तथा कामुक हूँ कि कोई भी स्त्री मेरे साथ रह ही नहीं सकती। गंगा को भी मैंने ही घर से निकाल दिया था और उसके विषय में एक झूठी कथा प्रचलित कर दी थी कि वह मुझे छोड़ गयी है।..."

"पिता जी!"

"हाँ भीष्म!" शान्तनु बोले, "उसे यदि बिलख-बिलख कर यह सब कहते हुए सुनो, तो तुम भी विश्वास कर लोगे कि तुम्हारा पिता उतना ही दुष्ट है, जितना वह कह रही है।..."

"इतनी अमानवीय है वह?"

"रुग्ण है। उसके मनोविकारों ने उसके चिन्तन को विकृत कर दिया है। कुछ बद्धमूल धारणाओं के कारण, उसकी दृष्टि बदल गयी है। अब जिस विकृत दृष्टि से वह जीवन को देखती है–उसके लिए प्रमाण जुटाने कठिन नहीं हैं। रस्सी पड़ी हो तो भी मनोविकारों या दृष्टिदोष के कारण वह साँप ही दिखायी देगी।"

"पर मुझे तो कभी ऐसा नहीं लगा।" भीष्म कुछ सोचते हुए बोले, "किसी और ने भी कभी इस प्रकार चर्चा नहीं की।"

"नहीं! किसी तीसरे के सामने उसका कभी ऐसा व्यवहार नहीं होता।" शान्तनु का स्वर धीमा पड़ गया, जैसे अपने-आपसे बातें कर रहे हों, "मैं ही उसका सबसे अधिक आत्मीय हूँ। मैं ही सबसे अधिक प्रेम देता हूँ उसे।...और वह

मेरे ही प्रति इतनी क्रूर है। मुझ पर ही उसका सबसे अधिक अविश्वास है।...तंग आ कर कई बार सोच चुका हूँ कि उसे त्याग दूँ, या स्वयं ही कहीं चला जाऊँ...।"

भीष्म ने चौंक कर पिता की ओर देखा।

"पर वह भी तो कर नहीं पाता मैं!" वह बोले, "अभी तो कभी कुछ अनुचित किया नहीं मैंने, तो वह इतने आरोप लगाती है मुझ पर। यदि उसे त्याग दिया, या स्वयं कहीं चला गया, तो क्या कुछ नहीं कहेगी वह। हस्तिनापुर की वीथियों और पथों पर वह मुझे अत्यन्त क्रूर और अत्याचारी सिद्ध करती फिरेगी–और कौन विश्वास नहीं करेगा उसका? प्रजा कहेगी, शान्तनु है ही ऐसा। उसने पहले गंगा को भी त्याग दिया था।...उसे रोते-चिल्लाते देख कर, मेरी प्रजा मुझे उसी दृष्टि से देखेगी, जिस दृष्टि से आज मुझे चित्रांगद और विचित्रवीर्य देखते हैं।..."

भीष्म ने पूछा कुछ नहीं; किन्तु इतना जानने को वह अत्यन्त उत्सुक थे कि चित्रांगद और विचित्रवीर्य अपनी माता के व्यवहार के विषय में क्या सोचते हैं। "जब वह अपनी आशंकाओं से दुखी हो कर, रोती-चिल्लाती है और मुझ पर अनेक प्रकार के आरोप लगाती है," शान्तनु स्वयं ही बोले, "तो मेरे वे दोनों पुत्र शब्दों में तो कुछ नहीं कहते; किन्तु उनकी जो आँखें मेरी ओर उठती हैं, वे बहुत कुछ कह जाती हैं। वे मुझसे पूछती हैं कि आख़िर उनकी माँ को परेशान क्यों करता हूँ? और मेरी इच्छा होती है कि या तो अपना सिर प्रासाद की दीवारों से दे मारूँ या अपने बाल नोच लूँ..."

शान्तनु चुप हो गये।

भीष्म तो जैसे पिता का इतना दुख सुन कर अवाक ही रह गये थे। वह क्या कहते।...एक ओर भीष्म का मन जैसे कह रहा था, 'नारी का मोह ऐसा ही होता है। पिता ने अपने पहले अनुभव से कुछ नहीं सीखा, तो यह तो होना ही था...' पर दूसरी ओर भीतर-ही-भीतर उनका अपना मन ही उन्हें धिक्कारने लगा था–'तू तो आज तक समझे बैठा था कि तूने पिता को सुखी करने के लिए इतना बड़ा त्याग किया है। तेरा अहंकार स्फीत हो कर आकाश को छूने लगा था कि आज तक अपने पिता को सुखी करने वाला, तेरे जैसा कोई सुपुत्र ही पैदा नहीं हुआ है।...पर क्या सुख दिया तूने पिता को? उनके जीवन को तूने नरक बना दिया है।...उन्होंने सत्यवती को चाहा था...किन्तु तुझसे कुछ माँगा तो नहीं था। तुझसे माँगा इसलिए नहीं था, क्योंकि उसके अनौचित्य को उनका विवेक देख रहा था–तूने उसके अनौचित्य को नहीं देखा; और सत्यवती को लाकर उनके सम्मुख खड़ा कर दिया। कैसा पापी है तू...'

"आप अपने अपयश के भय से इस यातना को कब तक ढोंएंगे पिताजी?"

भीष्म को यह कहने के लिए भी प्रयत्न करना पड़ा।

"अपयश की ही बात होती, तो शायद मैं किसी और ढंग से सोचता" शान्तनु बोले, "वस्तुतः सत्यवती से अलग हो कर शायद मैं तो मुक्त हो जाऊँगा, किन्तु वैसी स्थिति में चित्रांगद और विचित्रवीर्य पूर्णतः उसके अधिकार में होंगे। उनके विषय में सारे निर्णय वह करेगी। वह पूर्णतः उसके संरक्षण में होंगे। उसकी इच्छा के अनुसार उन्हें जीवन व्यतीत करना होगा।...और जैसे भी हैं, वे मेरे पुत्र हैं वत्स!" शान्तनु की आँखें भीग आयीं, "मैं उन्हें पूर्णतः उस स्त्री के भरोसे कैसे छोड़ दूँ, जो इतने मनोविकारों से ग्रस्त है। वह उनका भी जीवन नरक बना सकती है और अपने असन्तुलित क्षणों में उनके लिए वही निर्णय ले सकती है, जो गंगा ने अपने पुत्रों के विषय में लिया था।..." उन्होंने रुक कर भीष्म की ओर देखा, "और भी एक बात है भीष्म!"

"क्या पिता जी?"

"वह स्वस्थ होती। ठीक ढंग से सोच-समझ सकती और उसका व्यवहार दूषित होता...तो कदाचित मैं कब से उसका त्याग कर चुका होता। पर वह रुग्ण है। उसकी चिन्तन-प्रक्रिया विकृत है। वह ठीक से सोच नहीं पाती है...। उसका त्याम मैं कैसे कर सकता हूँ पुत्र! रोगी की सेवा की जाती है, उसे त्यागा नहीं जाता। उसे त्याग देने पर उसे जो शारीरिक और मानसिक कष्ट होगा, उसके लिए मैं स्वयं को कैसे क्षमा कर पाऊँगा...।"

"तो मुक्ति का कोई मार्ग नहीं है पिताजी?"

"नहीं! कोई मार्ग नहीं है।" शान्तनु बोले, "प्रकृति सर्वोच्च न्ययाधीश है; और न्याय करने वाला कठोर भी होता है वत्स! प्रत्येक व्यक्ति अपने पाप को भोगता ही है। मैं भी अपने पाप को ही भोग रहा हूँ...।"

भीष्म के मन में फिर वैसी ही टीस उठी, जैसे सत्यवती को देख कर लौटे हुए पीड़ित पिता को देख कर उनके मन में उठी थी। उनका मन तड़प उठा: क्या करें भीष्म? उन्होंने पिता के सुख के लिए सब कुछ त्यागा था। पिता सुखी रहें, इसलिए उन्होंने स्वयं को पिता से दूर कर लिया था...और पिता यह सब भोगते रहे...

"क्या मैं कुछ भी नहीं कर सकता पिताजी?"

"क्यों नहीं कर सकते?" शान्तनु के स्वर में कुछ उत्साह जागा, "तुम कुछ करो, इसके लिए ही तुम्हें बुलाया है।"

"आदेश दें पितजी!"

"पितृवत प्रजा का पालन करने के लिए कुछ उदार होना पड़ता है पुत्र! उसके सुख-दुख में उसके साथ चलना पड़ता है। समृद्धि के समय उससे कर उगाहा जाता है तो विपत्ति के समय उस पर व्यय भी किया जाता है। वैसे भी राजा का धन अपने भोग के लिए कम, प्रजा के सुख के लिए अधिक होता है पुत्र!"

भीष्म कुछ नहीं बोले। वे इस भूमिका के पश्चात आने वाले मुख्य वक्तव्य को सुनने को उत्सुक थे।

"भीष्म! सत्यवती को मेरी उदारता प्रिय नहीं है।" शान्तनु बोले, "प्रजा के लिए व्यय करने का मेरा प्रत्येक प्रस्ताव उसको पीड़ित करने लगता है। वह यह मान लेती है कि हस्तिनापुर के राजकोष में जो कुछ है, वह उसके पुत्रों की सम्पत्ति है। यदि उस सम्पत्ति से मैं उनके लिए प्रासाद बनवाता हूँ, दास-दासियों का क्रय करता हूँ, भोजों का आयोजन करता हूँ, मणि-माणिक्य खरीदता हूँ–सत्यवती और उसके पुत्रों के लिए भोग-विलास की सामग्री उपलब्ध कराता हूँ, तो उसकी दृष्टि से मैं उचित ही करता हूँ। मुझे यही करना चाहिए। यह मेरा दायित्व ही नहीं, धर्म भी है। किन्तु, यदि मैं प्रजा के सुख के लिए, एक छोटी-सी राशि भी व्यय करता हूँ, तो वह यह सोच कर अत्यन्त व्याकुल हो जाती है कि मैं उसके पुत्रों की सम्पत्ति का अपव्यय ही नहीं कर रहा, जान-बूझ कर उसके पुत्रों के मार्ग में कंटक बोने का षड्यन्त्र कर रहा हूँ। वह मान लेती है कि मैं अपने जीवन में सारा राजकोष लुटा दूँगा और जब मैं मरूँगा तो उसके और उसके पुत्रों के लिए कुछ भी बचा नहीं रहेगा और वे कंगालों की भाँति वीथियों और पथों पर मारे-मारे फिरेंगे, या उसके अपने सम्बन्धियों के समान गंगा के किसी घाट पर मछलियाँ पकड़-पकड़ कर अपना जीनव-यापन करेंगे।...इस कल्पना को वह इतना घनीभूत कर लेती है कि वह उसके लिए जीवन का सबसे बड़ा सत्य हो जाता है; और वह उस सम्भावित काल्पनिक स्थिति से बचने के लिए, वर्तमान में मुझसे वास्तविक युद्ध छेड़ देती है..."

"क्या?" भीष्म के मुख से अनायास ही निकल गया।

"हाँ! पुत्र!" शान्तनु बोले, "ये मेरे निजी जीवन के कुछ ऐसे प्रसंग हैं, जिनकी मैं किसी के सामने चर्चा भी नहीं कर सकता। किसी से बाँट कर अपना बोझा हल्का नहीं कर सकता।...अपनी और अपने वंश की अपयश से रक्षा करने के लिए, मैं प्रत्येक क्षण उससे डरता रहता हूँ। चक्रवर्ती शान्तनु अपनी पत्नी के भय से पीला पड़ जाता है कि कहीं वह अपने कुल में चली आयी पूज्य-पूजन की परम्परा को खण्डित न कर दे, कहीं वह किसी आदरणीय का अपमान न कर दे, कहीं वह अपने सार्वजनिक प्रलाप से इस भरत वंश की कीर्ति को कलुषित न कर दे..."

भीष्म चुपचाप अपने पिता की ओर देखते रहे।

"इस भरत वंश का भविष्य मुझे बहुत उज्ज्वल नहीं दिखता वत्स! मैं जीवित रहते, अपनी प्रजा का समुचित पालन नहीं कर सकता...और मेरे पश्चात चित्रांगद और विचित्रवीर्य अपनी इस माँ की सहायता से हस्तिनापुर को नाश के मार्ग पर ही ले जायेंगे। स्वयं भी नष्ट हो जायेंगे, और प्रजा का भी विनाश करेंगे।"

भीष्म के मन में उत्सुकता फन काढ़ कर खड़ी हो गयी: क्या चाहते हैं पिता? इस पूर्व पीठिका का उत्तर खण्ड?

"इस राज्य को नष्ट होने से बचाने के लिए, भरत वंश की ख्याति की रक्षा के लिए, हमें कुछ करना होगा पुत्र!" शान्तनु बोले, "अन्यथा...।"

भीष्म का मन कह रहा था, 'या तो ऐसा कुछ होगा नहीं! ...सम्भव है कि यह पिता के वृद्ध और दुर्बल स्नायु-तन्त्र की आशंकाओं की ही माया हो...या यदि ऐसा ही कुछ हो गया। कुरु-साम्राज्य ध्वस्त हो ही गया। इस साम्राज्य का नाम बदल गया ...शान्तनु के बाद हस्तिनापुर के सिंहासन पर कोई तो दूसरा पुरुष बैठेगा ही, यदि वह पुरुष कुरु-कुल का अंश न हुआ...तो क्या अन्तर आ जायेगा!...धरती तो यही रहेगी, प्रजा भी यही रहेगी...ईश्वर की सृष्टि में क्या परिवर्तन हो जायेगा?'

पर यह सब वह अपने पिता से नहीं कह सकते थे। पिता राजा थे, और राजाओं के समान सोचते थे। भीष्म के समान तटस्थ हो कर वह अपने राज्य के विषय में कैस सोचते?

"आपकी क्या इच्छा है पिताजी?"

"पुत्र! इच्छा होते हुए भी मैं तुम्हें युवराज नहीं बना सकता। यह जानते हुए भी कि कुरु साम्राज्य की रक्षा करने, उसे शक्तिशाली और समृद्ध बनाने; भरत वंश की कीर्ति को बढ़ाने में एकमात्र तुम ही समर्थ हो–मैं राज्य तुम्हें

नहीं सौंप सकता।”

“मुझे कुरु साम्राज्य नहीं चाहिए पिताजी! मुझे राज्य नहीं चाहिए...।”

“जानता हूँ पुत्र! तुम्हें कुछ नहीं चाहिए।” शान्तनु बोले, “पर यह भी तो जानता हूँ कि आज कुरु वंश और कुरु साम्राज्य को तुम्हारी आवश्यकता है।” उन्होंने अपनी दृष्टि को पूरी तन्मयता से भीष्म के चेहरे पर टिका दिया, “तुम युवा हो, शक्तिशाली हो, समर्थ हो, शस्त्रविद्या और रणनीति में दक्ष हो, सैनिकों, सेनापतियों और कुरु प्रमुखों के प्रिय हो...तुम बलात् यह राज्य हस्तगत कर लो पुत्र!...”

“पिताजी!” प्रस्ताव की अप्रत्यशितता से जैसे भीष्म बौखला उठे, “आप क्या कह रहे हैं पिताजी! यह सम्भव नहीं है।”

“तो कुरु साम्राज्य का अक्षुण्ण रहना भी सम्भव नहीं है।”

भीष्म कुछ शान्त हुए, “मैंने प्रतिज्ञापूर्वक राज्य त्यागा है। अब उसके लिए मैं बल-प्रयोग करूँ? जिन कारणों से मैं प्रजा का प्रिय हूँ, उन कारणों का आधार नष्ट कर दूँ! अपनी जिस प्रतिज्ञा पर मैं गर्व करता हूँ...उसे स्वयं भंग कर दूँ? यह असम्भव है पिताजी!”

“यदि मैं ऐसी आज्ञा दूँ तो?”

“आपकी आज्ञा धर्म-विरुद्ध होगी।”

“तुम अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ोगे, चाहे तुम्हारे पिता टूट जायें।”

भीष्म ने पिता को देखा। कुछ देर जैसे साहस संचित किया और बोले, “प्रतिज्ञा तोड़ी तो न केवल भीष्म टूटेगा, वरन भरत वंश का कीर्ति-कलश भी टूट कर गिर जायेगा।...आप मुझे इसके लिए बाध्य न करें।” वह उठ खड़े हुए, “मुझे खेद है कि मैं आज्ञाकारी पुत्र होने का यश अक्षुण्ण नहीं रख सका।”

पिता को प्रणाम कर भीष्म द्वार की ओर चल पड़े।

शान्तनु अपने स्थान पर बैठे, भीष्म को जाते हुए देखते रहे, जैसे कुरु साम्राज्य के उत्कर्ष को राजप्रासाद से दूर होते हुए देख रहे हों।

14

"भीष्म आपके पास क्यों आया था?"

"मैंने उसे बुलाया था।" शान्तनु सहज रूप में कह गये; और तब उनका ध्यान सत्यवती की ओर गया। उसकी वाणी में उसका विरोध बहुत मुखर हो कर आया था।...उसने जब भीष्म के चित्रांगद और विचित्रवीर्य के साथ मिलने पर आपत्ति की थी, शान्तनु को तब भी पीड़ा हुई थी। बहुत प्रयत्न करने पर भी वे सत्यवती को समझा नहीं पाये थे कि भीष्म के प्रति इस प्रकार का द्वेष सत्यवती के लिए लाभदायक नहीं होगा। भीष्म का उससे क्या बिगड़ेगा–और तब से उन्होंने मान लिया था कि भीष्म उन्हीं का पुत्र है, सत्यवती का नहीं; और यदि वह सत्यवती का पुत्र नहीं है तो वह चित्रांगद और विचित्रवीर्य का भी भाई नहीं है...पर सत्यवती यह चाहती है कि वह उनका भी पुत्र न रहे...

"क्यों बुलाया था उसे?"

शान्तनु की इच्छा हुई कि एक बार पूरी कठोरता से सत्यवती को डपट दें। वह राजा हैं, पिता हैं...। उनकी इच्छा होगी तो वह जिसे चाहेंगे, उसे बुलायेंगे, मिलेंगे। वह किस अधिकार से भीष्म को उनसे और उनको भीष्म से मिलने से रोकना चाहती है?...पर दूसरे ही क्षण जैसे वे चेत गये।...यहाँ वह न राजा हैं, न पिता। यहाँ वे पति हैं, और पति-पत्नी का सम्बन्ध अपने ही नियमों से परिचालित होता है...। सत्यवती भीतर-ही-भीतर उफन रही है। यदि उन्होंने उसकी इच्छा के प्रतिकूल कुछ कह दिया और वह अपना सन्तुलन खो बैठी तो वह कुहराम मचा देगी। उनका पारिवारिक झगड़ा खुल कर सामने आ जायेगा। राजा और रानी का पारस्परिक विरोध...भीष्म के प्रति सत्यवती की दुर्भावना–सब कुछ प्रकाशित हो जायेगा। हस्तिनापुर के घर-घर में चर्चा होगी और आस-पास के अनेक विद्रोही जन-प्रमुख इस गृह-कलह का लाभ उठाने के विषय में सोचने लगेंगे। उनकी सीमा से लगे हुए राज्यों के क्षत्रिय राजा अपनी सेनाएँ सजाने लगेंगे। पारिवारिक-कलह, राजनीतिक कलह का रूप धारण कर लेगी...

वह सत्यवती से झूठ बोल कर उसे टाल भी सकते थे...किन्तु सामान्यतः वह झूठ बोलते नहीं थे...और यदि सत्यवती को उनके अपने प्रासाद से यह सूचना मिल सकती है कि भीष्म उनसे मिलने आया था, तो यह सूचना भी मिल सकती है कि पिता-पुत्र में क्या बातें हुई थीं। बहुत सम्भव है कि सत्यवती का कोई गुप्तचर उनके निजी सेवकों में हो...ऐसे में उनका झूठ खुलते एक क्षण नहीं लगेगा।...रोष में सत्यवती असन्तुलित हो जाती है...और असन्तुलन किसी मर्यादा को नहीं मानता। ऐसी स्थिति में अपने दास-दासियों के सामने जो कुछ शान्तनु को सुनना पड़ेगा, वह शोभनीय नहीं होगा...और यदि झूठ न भी खुला...तो भी वे उसके खुलने के भय से सदा आतंकित रहेंगे...

"सत्यवती!" शान्तनु का स्वर नियन्त्रित था, "मेरा वार्द्धक्य अपनी शक्ति दिखा रहा है। मैं दिन-प्रति-दिन अक्षम होता जा रहा हूँ। मेरी मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ क्षीण हो रही हैं...।"

"तो राजवैद्य को बुलाया होता।" सत्यवती बोली, "भीष्म क्या कर सकता है इसमें? वह क्या पुरु के समान अपना यौवन आपको दे देगा?"

"क्या उसने पहले ही अपना यौवन मुझे दे नहीं दिया?" शान्तनु के स्वर में खीझ थी, "तुम्हारे पिता ने उससे जीवन का प्रत्येक सुख-भोग, हँसी-ख़ुशी, आशा- उल्लास–सब कुछ छीन नहीं लिया? क्या चाहती हो तुम उससे?"

सत्यवती भी कुछ उग्र हुई, "मैंने या मेरे पिता ने कुछ नहीं छीना है उससे! उसने स्वेच्छा से सब-कुछ त्यागा है। और किसी ने उससे कुछ छीना ही है, तो छीनने वाले आप हैं, आप! छीना भी आपने ही, और दोषारोपण भी आप ही कर रहे हैं।..."

"हाँ! मैंने ही सब-कुछ छीना है।" शान्तनु का स्वर अवरोह पर था, "पापी तो मैं ही हूँ। मैंने ही पिशाच बन कर अपने पुत्र का रक्त पी डाला है।"

"जब रक्त पी ही डाला है, तो अब किसलिए बुलाया था उसे? अब उस रक्तहीन लोथ को दूर कहीं फेंक क्यों नहीं देते?"

"नहीं!..." शान्तनु जैसे किसी प्रेत-लोक से बोल रहे थे, "अभी उसके पास हड्डियाँ हैं, माँस है...अभी से कैसे छोड़ दूँ उसे?"

शान्तनु की स्थिति देख कर सत्यवती सहम उठी...पहली बार उसके मन में विचार आया...राजा स्वस्थ नहीं लग रहे, कहीं उन्हें कुछ हो गया तो?...उनकी आँखों में जो यह प्रेत-लोक की छाया है, यह कोई मनोविकार है या मृत्यु

का आभास?...

"क्या हो गया है आपको?" सत्यवती का स्वर कुछ कोमल हुआ, "मैं तो केवल इतना ही पूछ रही थ कि क्यों बुलाया था भीष्म को? क्या काम था आपको उससे?..." और सत्यवती जैसी डगमगा गयी, "आप न बताना चाहें तो न बतायें।"

अपनी उस उद्विग्नता में भी शान्तनु की दृष्टि से यह छिपा नहीं रह सका कि उनकी असहजावस्था को देख कर सत्यवती कुछ विचलित हो गयी थी।...क्या है सत्यवती के मन में? कहीं ऐसा तो नहीं कि वह उन पर इस प्रकार अपना पूर्णाधिकार चाहती है कि जो कुछ शान्तनु के पास है, वह उसका हो जाये। उनके माध्यम से वह कुरुकुल पर, कुरु साम्राज्य पर, अपना अक्षुण्ण अधिकार स्थापित कर लेना चाहती है। इसलिए चाहती है कि शान्तनु का किसी के साथ कोई सम्बन्ध न रहे, कोई सम्पर्क न रहे, उन पर किसी का कोई अधिकार न रहे। शान्तनु रहें, पूर्णतः स्वस्थ, समर्थ और शक्तिशाली रहें...और उन पर एकछत्र अधिकार रहे सत्यवती का...वह सत्यवती की सत्ता के उपकरण मात्र रहें...पर उपकरण का अस्तित्व आवश्यक है, उसका समर्थ रहना, कार्य-सक्षम रहना अनिवार्य है, अन्यथा...सत्यवती का अधिकार-सूत्र शिथिल ही नहीं होगा, टूट भी सकता है...

"सत्य जानना चाहती हो?"

सत्यवती ने सहमति में सिर हिलाया।

"जब अपने शरीर को असमर्थ होता देखता हूँ, शक्ति को क्षीण होता हुआ पाता हूँ, तो मैं डर जाता हूँ।" उन्होंने सत्यवती की ओर देखा।

सत्यवती कुछ नहीं बोली, चुपचाप उनकी ओर देखती रही।

"मुझे लगता है कि मेरी आयु अब शेष होने जा रही है। मैं अधिक समय तक जीवित नहीं रहूँगा..." वह कुछ रुके और फिर बोले, "मुझे अपनी कोई चिन्ता नहीं है। जीवन में जो कुछ पाया और खोया है, इसके बाद ऐसा कुछ नहीं रहा, जिसे पाने या भोगने के लिए और जीवित रहना चाहूँ..." उन्होंने रुक कर सत्यवती को देखा, "तुम्हारी भी चिन्ता नहीं है मुझे! तुम पर्याप्त समर्थ हो...किन्तु चिन्ता मुझे अपने इन पुत्रों की है–चित्रांगद और विचित्रवीर्य की।"

"क्यों? इनकी क्या चिन्ता है आपको?" सत्यवती का स्वर पर्याप्त शुष्क था, "चित्रांगद सिंहसनासीन होगा और हमारा पालन करेगा।"

"यही तो चिन्ता है मुझे।" शान्तनु बोले, "राजपुत्र समर्थ होता है तो सिंहासनासीन होता है। वह राजा, सम्राट और चक्रवर्ती बनता है...किन्तु..."

"किन्तु क्या?" सत्यवती का भय इन दो शब्दों के पीछे से भी बोल रहा था।

"किन्तु यदि राजपुत्र समर्थ नहीं हुआ तो उसका जीवित रहना भी कठिन हो जाता है।"

"क्या कहना चाहते हैं आप?" सत्यवती का भय प्रकट हो गया।

"पड़ोसी राजा ही नहीं, उसके अपने अमात्य, सेनापति और जन-प्रमुख, दुर्बल राजा के शत्रु होते हैं। वे उसे जीवित नहीं रहने देना चाहते, क्योंकि राजपुत्र के जीवन में उसका अधिकार भी अक्षुण्ण बना रहता है।"

सत्यवती के चेहरे पर उसका भय जैसे घनीभूत हो गया, "नहीं!..."

"तुम्हारे नकार देने से प्रकृति के सत्य तो नहीं बदल जायेंगे।" शान्तनु बोले, "अपनी क्षमता-भर मुझे अपने इन पुत्रों के समर्थ होने तक की व्यवस्था, उनकी रक्षा का प्रबन्ध करना है।"

सत्यवती ने आँखों में प्रश्न भर कर शान्तनु की ओर देखा; किन्तु शान्तनु स्पष्ट देख रहे थे कि उसकी आँखों में उत्सुकता और जिज्ञासा से अधिक अविश्वास और विरोध है।...सत्यवती का यह अविश्वास शान्तनु को तोड़ देने के लिए पर्याप्त था। न केवल उनका सारा उत्साह ही जाता रहा; उन्हें लगा, उनके शरीर से जैसे प्राण ही निकल गये हों। उनकी बोलने की इच्छा ही चुक गयी...

प्रतीक्षा सत्यवती के लिए असह्य थी: जाने शान्तनु किस प्रकार की व्यवस्था की बात सोच रहे हैं।

"कैसा प्रबन्ध करना चाह रहे हैं आप?" सत्यवती को पूछना ही पड़ा।

"मैं चाहता हूँ..." शान्तनु फिर रुक गये, जैसे या तो उन्हें शब्द ही न मिल रहे हों, या फिर अब भी उनके मन में द्वन्द्व था कि बतायें या न बतायें?

"कैसा प्रबन्ध करना चाह रहे हैं आप?" सत्यवती ने फिर पूछा।

"यदि मैं न रहूँ, तो भी कोई ऐसा हो, जो बाहरी और भीतरी विरोधों, षड्यन्त्रों और आक्रमणों से चित्रांगद

और विचित्रवीर्य की रक्षा करता रहे...।"

"कौन है वह–भीष्म?" सत्यवती ने तड़प कर पूछा।

शान्तनु ने देखा, क्षण-भर पहले की दुर्बल, डरी और सहमी हुई सत्यवती, एक ही क्षण में जैसे सिंहनी बन गयी थी।

उन्होंने बड़ी बाध्यता में सिर हिलाया, "हाँ।"

और सिंहनी ने न केवल गर्जना ही की, उसने उन पर छलाँग भी लगा दी, उसके सारे दाँत, उनके बीसों नख, उसकी दृष्टि, उसकी ध्वनि...सब कुछ मिल कर, जैसे शान्तनु के चिथड़े-चिथड़े कर देना चाहते थे..., "इस पृथ्वी पर अब धर्म नहीं रह गया है। नरक हो गयी है यह पृथ्वी। कोई किसी का विश्वास कैसे करेगा। इससे तो अच्छा है कि पृथ्वी फट जाये। आकाश टूट पड़े। सागर लील ले, या इस पृथ्वी को अग्नि ही जला दे। महाश्मशान हो जाये यह सारा...मृत्यु, मृत्यु...।"

शान्तनु को लगा, सत्यवती पागल हो गयी है। सम्भव है कि अपनी इस मानसिक स्थिति में वह अपने वस्त्र फाड़ दे और श्मशान की डाकिनी-पिशाचिनी के समान उछल-उछल कर नाचने लगे और शान्तनु के ही शरीर में कहीं अपने दाँत गड़ा दे...मृत्यु...मृत्यु...मृत्यु...

"सत्यवती!" शान्तनु ने उसे बाँहों से पकड़ा, "सत्यवती! क्या हो गया है तुम्हें?"

"क्या हो गया है।" सत्यवती ने झटके से अपनी बाँह छुड़ा ली, "भरत वंश का चक्रवर्ती अपनी पत्नी को दिये वचनों को भूल गया है। भूल ही नहीं गया, जान-बूझ कर उन वरदानों को वापस ले रहा है। सत्य, धर्म, न्याय...।"

शान्तनु और धैर्य नहीं रख सके। कुछ उग्र हो कर बोले, "मुख से शब्द निकालने से पहले कुछ सोच लेना चाहिए। पहली बात तो यह है कि मैंने तुम्हें न कोई वचन दिया है, न वरदान...।"

सत्यवती क्रुद्ध नागिन के समान फुफकारी, "झूठ बोल लो। सब-कुछ अस्वीकार कर दो। अब कह दो कि तुमने मुझसे विवाह भी नहीं किया है। चित्रांगद और विचित्रवीर्य तुम्हारे पुत्र भी नहीं हैं।..."

शान्तनु को लगा, उनका संयम अब टूट जायेगा और बहुत सम्भव है कि उनका हाथ सत्यवती पर उठ जाये।

उन्होंने स्वयं को सँभाला और यथासम्भव संयत स्वर में बोले, "प्रतिज्ञाएँ भीष्म ने की हैं; और वह आज भी उन पर अटल है तथा भविष्य में भी रहेगा...।"

"वह भी अटल है और तुम भी अटल हो। तुम जैसे धूर्त्त तो मैंने देखे ही नहीं।" सत्यवती वैसे ही चिल्लाती रही, "वह युवराज नहीं बनेगा, मेरे पुत्रों का अभिभावक बनेगा। वह चक्रवर्ती नहीं बनेगा, चक्रवर्ती का नियन्ता बनेगा। वह राजा नहीं होगा, पर राजसत्ता उसकी होगी। वह प्रजा पर शासन नहीं करेगा, मेरे पुत्र पर शासन करेगा। मेरा पुत्र राजसिंहासन पर बैठेगा, पर तुम्हारे उस देवव्रत भीष्म का चाकर रहेगा...।"

सत्यवती खड़ी हाँफ रही थी।

शान्तनु सत्यवती की ओर देखते रहे: शायद वह कुछ और बोले; किन्तु वह कुछ नहीं बोली।

अन्ततः शान्तनु ही बोले, "विष-वमन हो चुका हो तो अब मेरी बात सुनो। न मैं तुम्हारे पुत्रों को राज्य से वंचित कर रहा हूँ, न भीष्म उनका राज्य लेना चाहता है। मैं तो उस बेचारे पर एक अतिरिक्त बोझ डालने जा रहा था, ताकि मेरी मृत्यु के पश्चात तुम लोग–तुम और तुम्हारे पुत्र–सुखी और सुरक्षित रह सको। पर लगता है कि यह विधाता की इच्छा के अनुकूल नहीं है।...आज तक तो नहीं दिया, किन्तु आज तुम्हें अपनी ओर से एक वरदान दे रहा हूँ...तुम्हारे और तुम्हारे पुत्रों के विषय में मैं अपनी ओर से कोई निर्णय नहीं लूँगा।...और चेतावनी के रूप मे कह रहा हूँ कि मेरी मृत्यु के पश्चात भी तुमने भीष्म से शत्रुता निभायी तो अपने, अपने पुत्रों और हस्तिनापुर के राज्य के नाश के लिए तुम उत्तरदायी होगी–केवल तुम।"

शान्तनु को लगा, उनका वक्ष जैसे खोखला हो गया है; और वे हाँफ रहे हैं...

वे जाने के लिए उठ खड़े हुए।

15

भीष्म गंगा पार कर अपने कुटीर में पहुँचे तो समझ नहीं पा रहे थे कि उन्हें दुख अधिक था या आश्चर्य। उन्होंने अपने जीवन का सारा सुख त्याग कर पिता की मनोकामना पूरी की थी, उन्हें जीवन का चरम सुख प्रदान करना चाहा था। वह चरम सुख, इस परम दुख और यातना में कैसे बदल गया? क्या ऐसा भी होता है कि कोई मनुष्य पुष्पवाटिका लगाये और वह वाटिका हिंस्र-पशुओं की माँद में बदल जाये?

वह जितना ही सोचते जाते थे, उनके मन में दुख की पहेली शनैःशनैः दीर्घाकार होती जाती थी। उनके मन में समय-समय पर बार-बार उठने वाला प्रश्न एक बार फिर से गहराने लगा था: क्या मनुष्य का विवेक, मनुष्य की निर्णय शक्ति और मनुष्य का कर्म अपने-आपमें कोई अर्थ नहीं रखता?–राजा शान्तनु ने सत्यवती को देखा था तो उनका मन उसे पाने के लिए तड़प-तड़प उठा था–उन्होंने ही क्या, भीष्म ने भी सोचा था कि माता सत्यवती को पा कर पिता चरम सुखी होंगे–पर परिणाम वह नहीं हुआ। जो परिणाम है, वस्तुतः सत्य वही है। मनुष्य की इच्छा सत्य नहीं है।...इच्छा तो उसे प्रायः धोखा दे जाती है।...मनुष्य की इच्छा, उसके विवेक पर आधृत नहीं है या उसकी बुद्धि भी उसकी इच्छा की अनुवर्तनी हो जाती है...पिता को तड़पते देख कर देवव्रत ने भी तो यही सोचा था कि किसी प्रकार उनकी इच्छा पूरी कर दी जाये। देवव्रत ने तब यह विचार तो नहीं किया था कि वह इच्छा धर्म-संगत है या नहीं। धर्म-संगत तो प्रकृति का व्यवहार ही है, स्रष्टा की इच्छा। मनुष्य तो स्वार्थी है। संकीर्ण बुद्धि से मात्र अपने सुख-दुख की बात सोचता है। प्रकृति समग्र सृष्टि के सुख-दुख के लिए चिन्तित है। प्रकृति के निकट तो वही जायेगा, जो उदार है, व्यापक है। वही प्रकृति के विवेक को धारण करेगा। संकीर्णता और स्वार्थ तो मूर्खता का दूसरा नाम है ...देवव्रत को तभी सोचना चाहिए था कि प्रकृति ने स्त्री-पुरुष का आकर्षण सृजन के लिए बनाया है, उद्वेग और उत्तेजना का आनन्द लेने के लिए नहीं। प्रकृति का नियम सम-वयस्क युग्मों का समर्थन करता है, ताकि वह सन्तान उत्पन्न कर उनके पालन-पोषण की क्षमता भी रखें–सत्यवती के पिता ने अपने लोभ के कारण अर्थ को प्रमुखता दी थी, राजा शान्तनु ने काम को–और देवव्रत ने प्रकृति पर अपनी इच्छा आरोपित की थी; किन्तु आज भीष्म देख रहे हैं कि उन तीनों की बुद्धि ने उनके साथ छल किया था।

प्रकृति का न्याय तो सीधा है, पानी में दूध मिलाया जायेगा, तो वह उसमें मिल कर अपना अस्तित्व खो देगा...मक्खन को पानी में मिलाया जायेगा, तो वह उसके ऊपर-ऊपर तैरता रहेगा, न उसमें मिलेगा, न विलीन होगा, न अपना अस्तित्व खोयेगा...देवव्रत ने अपनी इच्छा का दूध प्रकृति की जलधारा में मिला दिया था। अपनी इच्छा के दूध को उन्होंने धर्म और विवेक की मथनी से मथ कर नवनीत में परिणत नहीं किया था...

और आज फिर पिता एक और इच्छा प्रकट कर रहे हैं। राज्याधिकार और सन्तान के मोह में लिप्त उनकी बुद्धि फिर उन्हें प्रेरित कर रही है कि वह कुरु साम्राज्य भीष्म को अर्पित कर दें।... पर क्या उनकी यह इच्छा भी उनकी पूर्णासक्ति की ही उपज नहीं है? क्या उन्होंने धर्म और न्याय की दृष्टि से देखा है कि उनके इस कृत्य का परिणाम क्या होगा?–आज भी भीष्म, पहले के ही समान अपने पिता की यातना दूर करने के लिए, उनकी इच्छा पूरी करने के लिए लपक कर आगे बढ़ें तो क्या वह उन्हें कुछ सुख दे पायेंगे?–कहीं ऐसा तो नहीं कि वह उनकी इच्छा पूरी करने के प्रयत्न में एक नया और बड़ा नरक तैयार कर दें...कुरु वंश में जन्म ले कर वह राज्य का लोभ करें? अपनी प्रतिज्ञा को भंग करें? दिया हुआ वचन लौटा लें?...

सहसा उनका मन दूसरी ओर चल पड़ा: एक ओर पिता की इच्छा है और दूसरी ओर उनकी अपनी। अब पिता का स्वार्थ नहीं बोल रहा, उनकी आसक्ति चाहे बोल रही हो...पर वह एक वंश की ओर से बोल रहे हैं, प्रजा के हित की बात सोच रहे हैं...उनका तर्क व्यापक है।...और भीष्म तो केवल अपनी बात सोच रहे हैं, केवल अपनी प्रतिज्ञा की बात, केवल अपनी कीर्ति और ख्याति की बात, या बहुत हो तो अपने चरित्र की बात...तो किसका तर्क व्यापक है, और किसका संकीर्ण?...

भीष्म जैसे प्रश्न-चिह्नों से बिंध गये। उनकी गति जड़ हो गयी।

इस दृष्टि से तो पिता का ही तर्क व्यापक था...तो क्या भीष्म पिता की आज्ञा का पालन करें, उनकी इच्छा पूरी करें?...

तत्काल भीष्म सावधान हो गये: उनकी कल्पना में बिन्दु-सरीखी एक नारी-मूर्ति उभरी और फिर क्रमशः

विराट होती चली गयी। उसकी तरंगें भीष्म के रक्त के कण-कण में समा गयीं... भीष्म ने जैसे सम्मोहनावस्था में पहचाना–वह गंगा थी, उनकी माँ। उस मूर्ति के अधर निःशब्द कुछ कह रहे थे। भीष्म सुन कुछ नहीं रहे थे। वह मात्र समझ रहे थे। मातृ-मूर्ति कह रही थी, 'पुत्र! अपनी प्राकृतिक दुर्बलताओं को मत जागने दे। किसी भी ओट में नहीं। पिता की इच्छा और आज्ञा की ओट में भी नहीं...।'

और सहसा भीष्म जैसे जाग उठे: क्या हो गया था उनको? क्या उनका अपना लोभ, पिता की इच्छा की ओट ले कर कुछ अनर्थ करने जा रहा था...? या सचमुच ही उन्हें सोचना चाहिए कि प्रजापालन बड़ा धर्म है या प्रतिज्ञा पालन? धर्म और न्याय से पूर्ण शासन कर सामान्य जन का हित करना उनका धर्म है या अपने चरित्र का उत्थान और विकास? व्यक्ति अपने प्रति प्रतिबद्ध है या सृष्टि के प्रति?–स्वार्थ तो स्वार्थ ही है, चाहे भौतिक सुख की दृष्टि से हो या आध्यात्मिक उत्थान की दृष्टि से...तो क्या भीष्म स्वार्थी हो रहे हैं?...

उनका विवेक जैसे फिर से अड़ गया: यह सारा चिन्तन भी उनकी प्राकृतिक दुर्बलताओं से परिचालित है। कौन कह सकता है कि वे राज्याधिकार पाने के लिए, प्रजापालन का बहाना नहीं खोज रहे हैं? क्या प्रमाण है कि कल जब चित्रांगद राज्य सँभालेगा, तो वह उनसे श्रेष्ठतर राजा नहीं बनेगा?

और फिर इच्छा तो इच्छा ही है, चाहे प्रजापालन की हो या आत्म-विकास की! इसका निर्णय कौन करेगा कि कौन-सी इच्छा धर्मानुकूल है। इच्छा, पिता की हो या भीष्म की...इच्छा तो एक व्यक्ति की इच्छा ही है...और भीष्म अपने अनुभव से जानता हैं कि मनुष्य अपने-आपको कितना ही बुद्धिमान क्यों न माने, वह नहीं जानते कि कौन-सी इच्छा उसके लिए शुभ है...और सत्य तो यह है कि वह यह भी नहीं जानता कि उसका हित क्या है...उसके लिए शुभ क्या है...

प्रश्न...प्रश्न...प्रश्न...भीष्म कुछ भी निर्णय नहीं कर पाते कि सत्य क्या है? धर्म क्या है? उनका दायित्व क्या है?...और जब भीष्म यह निर्णय नहीं कर पाते, तो वह जानते हैं कि जो कुछ उनके सामने कर्तव्य-रूप में आ जाये, वही उन्हें करना है। निर्णय कदाचित उनके हाथ में है ही नहीं...और धर्म अभी उनकी समझ में नहीं आ रहा...

16

चक्रवर्ती शान्तनु के निजी कक्ष में शायद पहले कभी इतने लोग एक साथ नहीं आये होंगे।

महाराज अपने पलंग पर लेटे थे। महारानी सत्यवती उनके सिरहाने के साथ लग कर बैठी थीं। वृद्ध मन्त्री और राजपुरोहित सामने खड़े थे। चित्रांगद और विचित्रवीर्य माँ से कुछ हट कर बैठे थे। राजवैद्यों का एक पूरा दल अपने सहचरों और सहकर्मियों के साथ कक्ष में उपस्थित था। अनेक दास-दासियाँ आदेशों की प्रतीक्षा में हाथ बाँधे खड़े थे।

पर शान्तनु को उस सारी भीड़ में से जैसे कोई दिखायी ही नहीं पड़ रहा था। उनके मन में केवल एक ही चित्र था। वे आँखें खोल कर देखते थे और भीष्म को वहाँ न पा कर उनकी आँखों का शून्य गहरा जाता था।

भिषगाचार्य ने एक नया घोल तैयार किया था। बोले, "राजन्! इसे पी लें। आप तत्काल स्फूर्ति का अनुभव करेंगे।"

"देवव्रत को बुलाओ।" शान्तनु ने धीरे-से कहा, "अब मुझे औषध की आवश्यकता नहीं है।"

सत्यवती का कलेजा धक्क-सा रह गया: राजा क्या कर रहे हैं? वह औषध नहीं ले रहे और भीष्म को बुला रहे हैं–भीष्म को नहीं, देवव्रत को।... कहीं ऐसा न हो कि इस अन्तिम समय में, चलते-चलते, वे राज्याधिकार फिर से देवव्रत को थमा जायें...और एक बार इनके मुख से ऐसा कुछ निकल गया तो कुरु-प्रमुख किसी भी स्थिति में चित्रांगद को राज-सिंहासन पर बैठने नहीं देंगे... इस व्यक्ति ने अपने सारे जीवन में सत्यवती को इसी प्रकार अपने पँजों पर खड़े रखा...जाने कब वह फिर से महारानी से निषाद पुत्री हो जाये...जाने कब उसके पुत्र, युवराज से सामान्य राजकुमार और सामान्य राजकुमार से दासीपुत्र हो जायें...

"आपको औषध की आवश्यकता नहीं है राजन्!" इस बार राजपुरोहित बोले, "किन्तु हमें आपकी आवश्यकता है। महारानी को देखिए, वह कैसी आतुर बैठी हैं। अपने इन किशोर पुत्रों को देखिए। इन दास-दासियों पर दृष्टि डालिए। प्रासाद के बाहर सारा हस्तिनापुर खड़ा बिलख रहा है।"

"देवव्रत को बुलाओ।" शान्तनु पुनः बोले।

"संदेहवाहक गया है महाराज!" मन्त्री ने कहा, "राजकुमार आते ही होंगे। आप तब तक औषध का सेवन कर कुछ स्वस्थ हो लें।"

शान्तनु ने कुछ कहे बिना, अपना मुख खोल दिया। भिषगाचार्य ने औषध उनके मुख में उँड़ेल दी। औषध को गले से नीचे उतार कर शान्तनु बोले, "आचार्य वसुभूति! आप अनुष्ठान की तैयारी करें।"

शान्तनु को लगा, अब उनमें या तो बोलने की ही शक्ति नहीं रही है या शायद बोलने की इच्छा ही समाप्त हो गयी है। उनका मस्तिष्क पूर्णतः जाग रहा था। वह सब कुछ देख और समझ रहे थे। उनकी सोचने की क्षमता समाप्त नहीं हुई थी...

उनकी आवश्यकता किसी को हो या न हो, अब वह अधिक दिन चल नहीं पायेंगे। वह नहीं जानते कि उनकी आयु की कुछ ही घड़ियाँ शेष हैं या उन्हें यमराज कुछ दिन और जीने देंगे...पर वह जानते हैं कि अभी उन्होंने अपने इस जीवन के दायित्व पूरे नहीं किये हैं। सत्यवती–सत्यवती ने अभी चालीस वर्ष भी पूरे नहीं किये हैं। उसके सामने अभी पहाड़-सा जीवन है। दो पुत्र हैं, जो पूर्णतः अबोध हैं...कैसे सँभालेगी वह उनको?...संसार पुष्पों की सेज नहीं है...ये सारे लोग, जो इस समय उनके बहुत आत्मीय बने खड़े हैं, उनके नेत्र मूँदते ही भेड़ियों का रूप धारण कर लेंगे–राजसिंहासन तो वस्तु ही ऐसी है, जो मनुष्य में सोये पशु को न केवल जगा देती है, उसे सक्रिय भी कर देती है। जाने क्या होता है कि सिंहासन मिलने की सम्भावना उपस्थित होते ही मनुष्य के सिर पर सींग उग आते हैं, उसकी दाढ़ विकराल हो जाती है, अँगुलियों के नख तीखे हो जाते हैं और मन में रक्तपिपासा जाग उठती है... शान्तनु नहीं रहेंगे तो कुटुम्बी और सहयोगी भी सत्यवती के जीवन के ग्राहक हो जायेंगे...रक्तपिपासु पशु...सत्ता का लोभ...ओह! इधर उनके नयन मुँदे और उधर उनके इन अबोध पुत्रों की हत्या हो जायेगी...उनकी रानी की भी हत्या हो सकती है...उसका अपहरण भी हो सकता है...वह किसी की दासी भी हो सकती है या मात्र एक भिखारिन भी...नहीं। सत्यवती अब भी सुन्दर है...उसे प्राप्त करके कोई भी राजा अपना सौभाग्य मानेगा...

पर क्या शान्तनु को आज भी सत्यवती का मोह है?...जितना और जैसा जीवन उन्होंने सत्यवती के साथ

बिताया है, क्या वे चाहेंगे कि उन्हें फिर से जीवन मिले और सत्यवती ही उनकी पत्नी हो?...क्या शान्तनु कुछ भी निर्णय नहीं कर पा रहे हैं...सत्यवती ही क्यों, शान्तनु किसी के विषय में भी निर्णय नहीं कर पा रहे...सारा जीवन ऐसा ही था...इच्छाओं, आकांक्षाओं, कामनाओं के बवण्डर में फँसा जीवन...किसी-न-किसी लक्ष्य के लिए संघर्ष या प्रतीक्षा...उपलब्धि का क्षण कितना छोटा था...तैयारी, प्रतीक्षा, संघर्ष की अवधि कितनी लम्बी...और फिर ऐसा क्या था जीवन में, जिसने उन्हें केवल सुख दिया...पीड़ा और दुख नहीं दिया...राज्य? पत्नी? सन्तान? धन? सम्पत्ति? सत्ता?...कुछ भी तो ऐसा नहीं था...तो क्या शान्तनु पुनः यह जीवन चाहेंगे?...आज भी, इस क्षण भी शान्तनु 'न' नहीं कह पाते...

मन बहुत हठी है। विवेक उसे बहुत समझाता है; और मन है कि बहरा हो जाता है। सुनता कुछ नहीं, ठहर कर सोचता भी नहीं, बस माँगता ही जाता है।...इस मन के सामने, सत्यवती का प्रश्न आता है, तो वह सत्यवती का केवल रूप देखता है, और किसी तथ्य से कुछ लेना-देना नहीं है उसे...

मन में एक ही बात आती है...वह अपनी पत्नी को छोड़े जा रहे हैं। दो पुत्र भी हैं...राज्य भी छोड़ रहे हैं। पर राज्य को तो कोई-न-कोई सँभाल ही लेगा। किन्तु वह कब चाहते हैं कि राज्य को कोई सँभाले...सँभालनेवाला, उनका अपना पुत्र ही होना चाहिए।

सहसा उनका चिन्तन एक नये पथ पर मुड़ गया: उनका राज्य, उनकी पत्नी, उनके पुत्र...यह सब उनका होता, तो वह इस प्रकार इन सबको छोड़ने को बाध्य होते? प्रकृति उन्हें यही तो समझा रही है कि यह सब उनका नहीं है, तभी तो छूटा जा रहा है...पर वे समझ पा रहे हैं क्या...

"देवव्रत!" उनके होंट धीरे से बुदबुदाये।

सत्यवती आगे बढ़ आयी। चित्रांगद भी माँ से सट कर खड़ा हो गया। मन्त्री और राजपुरोहित भी आगे आये।...पर वह इतना ही समझ पाये कि राजा कुछ कहना चाह रहे हैं, पर कह नहीं पा रहे...

'देवव्रत!' शान्तनु ने मन-ही-मन पुकारा, 'तुम इनका पालन- पोषण करना...दोनों बालक अबोध हैं और सत्यवती नासमझ। उसके प्रभाव से अपने इन दोनों भाइयों को बचाये रखना...।'

उन्हें लगा कि उनकी बात देवव्रत तक पहुँच रही है। देवव्रत उनकी बात सुन रहा है...और सहसा जैसे देवव्रत ने पूछा, 'पिताजी। यदि माता सत्यवती ने मुझे भी आपके ही समान असहाय कर दिया तो?...',

'तो...तो...।' शान्तनु को कोई उत्तर नहीं सूझा।

राजपुरोहित ने उनका कंधा हिला कर उन्हें जगाया, "महाराज। गांगेय देवव्रत भीष्म आये हैं।"

शान्तनु की आँखें खुल गयीं। भीष्म उन पर झुके हुए, पुकार रहे थे, "पिताजी।"

शान्तनु को लगा, भीष्म अपना प्रश्न दुहरा रहे हैं, 'पिताजी! यदि माता सत्यवती ने मुझे भी आपके ही समान असहाय कर दिया तो?'

शान्तनु ने बहुत प्रयत्नपूर्वक कहा, 'तब भी तुम अपना धर्म ही करना पुत्र!'

पर होंठ हिल कर ही रह गये। कुछ अटपटी-सी ध्वनियाँ निकलीं भी, पर कोई सार्थक शब्द उच्चरित नहीं हुआ।

भीष्म उन्हें पुकारते ही रह गये, "पिताजी! पिताजी!"

शान्तनु ने कोई उत्तर नहीं दिया, और उनके नेत्र मुँद गये।

सत्यवती का हृदय जैसे काँप उठा: राजा, भीष्म को कुछ कहते-कहते यमलोक चले गये थे। इसी क्षण यदि भीष्म यह घोषणा कर दे कि चक्रवर्ती उसे ही राज्य दे कर गये हैं तो?...चित्रांगद और विचित्रवीर्य दोनों मिल कर भी भीष्म का कुछ नहीं बिगाड़ पायेंगे। यदि प्रयत्न करेंगे तो सम्भवतः एक ही झटके में भीष्म उनके रुण्ड से मुण्ड को पृथक कर दे...सत्यवती की दृष्टि अनायास ही चारों ओर घूम गयी...वहाँ एक व्यक्ति भी तो ऐसा नहीं था, जिसे वह भीष्म के विरुद्ध अपना सहायक मान सके...मन्त्री, राजपुरोहित, कुरु जनप्रमुख...अन्य रानियों पर जब विपत्ति आती होगी, तो उनके पिता या भाई अपनी सेनाएँ ले कर आ जाते होंगे, पर सत्यवती का कौन है?...उसके बाबा, उनके निषाद...क्या करेंगे, वे अपनी नौकाओं और चप्पुओं से...मछलियाँ पकड़ने-वाले जालों और अपनी टोकरियों से...कहाँ हैं उनके पास रथ, घोड़े, धनुष-बाण, आज्ञाकारी सैनिक...

बाबा ने ठीक कहा था, 'बलिष्ठ का विरोध!'...अब इस समय भीष्म का दिया हुआ वचन क्या करेगा। वचन तलवारों की धार तो नहीं काट सकता। यदि भीष्म ने राज्य हस्तगत कर लिया, तो किसके पास जायेगी सत्यवती

गुहार करने? किससे मागँगी वह न्याय?...

न्याय!...

और जैसे सत्यवती का अपना प्रश्न, पलट कर उसके अपने सामने खड़ा हो गया...आज भीष्म द्वारा राज्याधिकार हस्तगत करना अन्याय है, या भीष्म से उसका युवराजत्व छिन जाना?...

पर सत्यवती आज तक ऐसे प्रश्नों की अवहेलना ही करती आयी है। उसे क्या लेना है इन प्रश्नों से। न्याय और अन्याय से!...वह तो केवल यह जानती है कि उसने राजा से एक व्यवहार किया था...वह व्यवहार न्याय था, अन्याय था...जो भी था। वह एक समझौता था। पर उस समझौते को ले कर वह किसके न्यायाधिकरण में जाये...यहाँ तो समझौता करने-वाले भी वही हैं, न्याय करने-वाले भी वही हैं, देने-वाले भी वही हैं और छीनने-वाले भी वही हैं...

सत्यवती को चक्कर आ गया। उसे पता ही नहीं चला कि कब वह भूमि पर आ बैठी और शायद वैसे ही धरती पर लेट भी जाती, यदि भीष्म तत्काल आगे बढ़ कर उसे पकड़ न लेते।

"माता।" भीष्म ने बहुत स्नेह से पुकारा।

सत्यवती ने कुछ नहीं कहा। उसकी आँखें खुलीं। उसने भीष्म को देखा और आँखें फिर से बन्द हो गयीं। लगा, वह अचेत हो जायेगी।

"माता!" भीष्म ने पुनः पुकारा "माता! आप धैर्य रखें। आपका कष्ट कम करने के लिए भीष्म से जो भी हो सकेगा...।"

सहसा चित्रांगद अप्रत्याशित वेग से झपट कर सत्यवती के पास आया। उसने सत्यवती को इस प्रकार पकड़ा, मानो माँ की रक्षा के लिए उसे भीष्म के हाथों से छीन रहा हो, "आप कष्ट न करें।" उसका स्वर अशिष्ट होने की सीमा तक शुष्क था, "पिता नहीं रहे, पर मैं अभी हूँ। माँ की देख-भाल मैं कर लूँगा। उसके लिए आपकी सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।"

क्षण-भर के लिए भीष्म के चेहरे पर तेज झलका, लगा कि अभी कोई बहुत कठोर वचन उच्चरित होगा–पर अगले ही क्षण जैसे वह सँभल गये। उनके चेहरे पर कटाक्ष का भाव आया और वह भी दब गया।...अन्ततः असहायता का भाव ही शेष रह गया। बहुत धीर-धीरे बोले, "मैं भूल गया था कि तुम बड़े हो गये हो।"

भीष्म न केवल उठ खड़े हुए, सत्यवती से कुछ दूर भी हट गये। इच्छा हुई कि तत्काल कक्ष से बाहर निकल जायें; पर फिर ध्यान आया: पिता का देहान्त अभी-अभी हुआ है। शोक का समय है। यह न विरोध और मान का अवसर है, न शिक्षण का। इस समय भीष्म का यहाँ से चला जाना भी अनेक प्रकार की उलझनों को जन्म देगा...

सत्यवती के जैसे प्राण लौटे।

उसने देखा कि किस असहायावस्था में उसके अपने पुत्र, उसके अपने चित्रांगद ने उसे न केवल उबार लिया, वरन भीष्म को परे झटक दिया।...भीष्म समझता होगा, कि चित्रांगद छोटा बच्चा है...पर वह छोटा नहीं है...सत्यवती ही कहाँ समझती थी; पर वह चक्रवर्ती शान्तनु का पुत्र है। सिंह का शिशु भी सिंह की क्षमताओं से युक्त होता है।

कितना कम आँका था सत्यवती ने अपने पुत्र को। वह भयभीत थी कि जैसे भीष्म, चित्रांगद को निगल ही जायेगा और सत्यवती को उठा कर गंगा किनारे पटक आयेगा...पर कैसा सहम गया भीष्म, चित्रांगद के तेज के सामने! अब तक तो वह युवराज था, पर आज से, इस क्षण से वह हस्तिनापुर का सम्राट है। उससे भीष्म को ही नहीं, सबको डरना होगा। राजा की शक्ति तो उसकी दण्ड-शक्ति ही है। दण्ड के भय से ही साम्राज्य चला करते हैं...

सत्यवती को लगा, वह शान्तनु की मृत्यु से अनाथ नहीं हुई, वस्तुतः सनाथ हुई है। इतने वर्षों के दाम्पत्य जीवन के पश्चात भी वह चक्रवर्ती की ओर से आश्वस्त नहीं थी।...जाने कब चक्रवर्ती का पुत्र-प्रेम जाग जाये और वह भीष्म का राज्याभिषेक कर दें। तब शान्तनु की पत्नी होते हुए भी, वह न महारानी रहती, न राजमाता। शान्तनु उसे कभी भी पूर्ण सुरक्षा का भाव नहीं दे पाये–पर आज, इस क्षण से चित्रांगद सम्राट हो गया है। हस्तिनापुर का शासन, धन, सम्पत्ति, सत्ता, सेना, सब-कुछ उसी का है...और माता को न कोई त्याग सकता है, न अपदस्थ कर सकता है...अब सत्यवती वस्तुतः राजपरिवार पर अपना नियन्त्रण स्थापित करेगी...चक्रवर्ती के साथ विवाह तो एक लक्ष्य की ओर प्रयाण था। वह यात्रा का आरम्भ था। सारा दाम्पत्य जीवन, जैसे यात्रा और यात्रा के अन्त की प्रतीक्षा था। लक्ष्य तक तो वह अब पहुँची है...उसका लक्ष्य तो राजमाता बनना था...यह उपलब्धि का क्षण है, वंचना का नहीं।

सत्यवती जैसे अधिकार-मद से तन गयी, "महामन्त्री और आचार्य वसुभूति! महाराज की अन्त्येष्टि की

व्यवस्था करें।"

भीष्म को कहने के लिए...सान्त्वना, संवेदना, आदेश...किसी भी प्रयोजन के लिए सत्यवती के पास कोई शब्द नहीं था–अब उसके लिए भीष्म का कोई अस्तित्व नहीं था। राजा के देहावसान के साथ सत्यवती की सत्ता के लिए, भीष्म का अस्तित्व, उसके अस्तित्व की वह भयावनी छाया...सब-कुछ समाप्त हो गया था...

सत्यवती ने अनुभव किया, आज एक लम्बी अवधि के पश्चात वह आशंका-शून्य हुई है, भयरहित, मुक्त...

17

"राजकुमार!"

भीष्म ने मस्तक उठा कर देखा: कुरु साम्राज्य के महामन्त्री विष्णुदत्त उनके सामने खड़े थे।

"महामन्त्री!" भीष्म ससम्मान उठे, "आप यहाँ!"

महामन्त्री के अधरों पर एक स्निग्ध मुस्कान प्रकट हुई, "जब कुरु-कुल के युवराज...।"

"किस युग की बात कर रहे हैं तात!" भीष्म प्रशान्त स्वर में बोले, "अब तो मैं क्या, हस्तिनापुर का बच्चा-बच्चा भूल चुका है कि मैं कभी युवराज भी था।"

महामन्त्री का स्वर कुछ मन्द हुआ, "न सही युवराज, राजकुमार सही। न सही राजकुमार, राज-बन्धु सही। विशेषणों और सम्बोधनों से क्या बनता-बिगड़ता है महाप्राण! तथ्य तो वही रहेगा।...यदि आप गंगा-तट पर आश्रम बना कर रह रहे हैं, तो शेष लोगों के लिए ठौर-ठिकाना और कहाँ होगा।"

भीष्म हँसे, "ऐसा क्या हो गया पूज्यवर?"

महामन्त्री ने आँखें उठा कर आकाश की ओर देखा, "हे प्रभु! कहाँ गये वे दिन, जब क्षत्रिय राजा, वृद्ध ब्राह्मण को पूज्य माना करते थे?"

भीष्म को लगा, ये मन्त्री के मात्र सहज उद्गार ही नहीं थे। ये शब्द भीष्म की प्रशस्ति मात्र के लिए भी नहीं कहे गये थे। इनमें से तो वृद्ध महामन्त्री का आहत सम्मान बोल रहा था।

"क्या बात है काका?" भीष्म का स्वर स्नेहमिश्रित हो उठा, "आप कुछ व्यथित दिखायी देते हैं।"

"हाँ वत्स!" वृद्ध आ कर चटाई पर बैठ गये, "व्यथित तो हूँ ही।"

"कोई कष्ट है आपको?"

"कष्ट-ही-कष्ट हैं राजकुमार। अब हस्तिनापुर में कष्ट-ही-कष्ट हैं।"

भीष्म उन्हें धैर्यपूर्वक देखते रहे: यदि हस्तिनापुर का महामन्त्री कष्ट में है, तो साधरण जन की क्या स्थिति होगी?

"आपने जब यहाँ यह आश्रम स्थापित किया था, तो मैं बहुत चिन्तित हो उठा था।" महामन्त्री बोले, "पर आज सोचता हूँ कि आपने ही भविष्य का ठीक अनुमान लगाया था। हस्तिनापुर की राजसभा में बैठ कर अपमानित होने से तो बहुत अच्छा है कि व्यक्ति वन में चला जाये, नदी-तट पर कुटिया बना ले, या तपस्या करने के लिए हिमालय-क्षेत्र में चला जाये।"

"महामन्त्री! हस्तिनापुर की राजसभा में स्थान पाना सम्मान का प्रतीक समझा जाता है।"

"नहीं वत्स! अब वह सम्मान का कारण नहीं रहा।" मन्त्री बोले, "किसी वयोवृद्ध मन्त्री, किसी तपस्वी ब्राह्मण, किसी विद्वान, शुभचिन्तक, किसी वीर योद्धा को अपशब्द कह देना, किसी का राजसभा में खड़े-खड़े पानी उतार देना, नये सम्राट के लिए तनिक भी असहज नहीं है।"

"पूज्य-पूजन में निष्ठा नहीं है महाराज की?"

"महाराज की निष्ठा केवल दूसरों का अपमान करने में है। ऐसा राजा हस्तिनापुर के सिंहासन पर कभी नहीं बैठा, जिसने प्रत्येक सभासद का अपमान करने का व्रत धारण किया हो।"

"आचार्य क्या कहते हैं?"

"आचार्य!" मन्त्री हँसे, "राजकृपा पर पला एक ब्राह्मण। वह साधारण राजकर्मचारी है। उसका क्या प्रभाव है राजसत्ता पर!"

"राजपुरोहित?"

"वे हस्तिनापुर छोड़ने की सोच रहे हैं।"

भीष्म हतप्रभ रह गये: कैसा समाचार लाये हैं महामन्त्री। ...पिछले कुछ दिनों से कोई-न-कोई आता-जाता, उनके कानों में कोई-न-कोई नयी बात डाल जाता था। हस्तिनापुर में सब-कुछ ठीक नहीं है, इतना तो वह समझ रहे थे, किन्तु भरत वंश का राजा, शील-शिष्टाचार को तिलांजलि दे देगा, यह उन्होंने नहीं सोचा था। किसी ने ठीक-ठीक बताया भी नहीं था...किसी ने आवश्यकता नहीं समझी या किसी ने साहस नहीं किया?...

"राजमाता का भी कोई नियन्त्रण नहीं है चक्रवर्ती पर?" अन्ततः भीष्म ने पूछा।

"राजमाता का विचार है कि सम्राट का व्यवहार, सम्राटों के अनुकूल होना चाहिए। प्रजा का धर्म है कि वह सम्राट की इच्छा का सम्मान करे।"

"शील हस्तिनापुर के सम्राटों का आभूषण रहा है।" भीष्म बोले, "चिन्तन सदा कर्म से ऊँचा रहा है। ऋषियों के सम्मुख राजाओं के सिर झुके हैं।"

"मुझे आप क्षमा करेंगे राजकुमार।" महामन्त्री बोले, "मुझे तो लगता है कि सम्राट चित्रांगद में भी महिष्मतिपति हैहेयराज सहस्रार्जुन की आत्मा आ समायी है। उनके मन में किसी के प्रति कोई सम्मान नहीं है। विद्या, ज्ञान, तपस्या, चरित्र, शूरता, स्वामिभक्ति...किसी गुण को वह नमस्य नहीं मानते। हस्तिनापुर अब गुणियों का केन्द्र नहीं रहा। उद्धतता का साम्राज्य है हस्तिनापुर में...।"

भीष्म थोड़ी देर तक मौन बैठे रहे; किन्तु ऊपर का मौन भी उनके मन की उथल-पुथल को छिपा नहीं पा रहा था।...उनके मन में पहले चिन्ता जागी, चिन्ता ने क्षोभ को जन्म दिया। उनके धैर्य ने बलात क्षोभ को दबाया तो असहायता उपजी और असहायता से विरक्ति ने जन्म लिया।

"सम्राट का राज्य है, उनकी सभा है।" अन्ततः भीष्म बोले, "उनकी इच्छा है, जिस प्रकार चाहें राज्य को चलायें, जिस प्रकार चाहें अपने सहयोगियों से व्यवहार करें। उस विषय में मुझे चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है।"

"इसलिए तो मैंने पहले ही कहा कि आपने बहुत उपयुक्त निर्णय लिया था। भूल हमसे ही हुई। आख़िर हम क्यों राजधानी और राजसभा से चिपके बैठे हैं। मुझे आपसे पहले वानप्रस्थी हो जाना चाहिए था।"

"तो राजा को मन्त्रणा कौन देगा?"

"जिसका राज्य है, वही चलाये; जैसे मन में आये वैसे चलाये। मेरी ही मन्त्रणा क्यों आवश्यक है। युवराज देवव्रत भीष्म को स्वतन्त्रता है कि वे गृहस्थाश्रम के वय में वानप्रस्थी हो जायें, और इस वृद्ध विष्णुदत्त को संन्यास के वय में भी वानप्रस्थी होने की अनुमति नहीं है?"

"आपने स्वयं ही तो कहा है तात! कि सम्राट बहुत विचारशील नहीं हैं; ऐसे में क्या उन्हें महामन्त्री विष्णुदत्त की बुद्धि, विवेक, अनुभव और ज्ञान का लाभ उपलब्ध नहीं होना चाहिए?"

"एक प्रश्न पूछता हूँ वत्स!" विष्णुदत्त ने यथासम्भव अपनी वाणी में वात्सल्य ढाला, "असत्य भाषण तुम्हारे चरित्र में नहीं है, पर उत्तर देना अस्वीकार मत करना।"

"पूछिए!" भीष्म ने कह तो दिया; किन्तु प्रश्न-जाल में फँस, कुछ अवांछ्य कहने को बाध्य होने की घबराहट उनके मन में समा गयी।

"चक्रवर्ती शान्तनु की अन्तिम क्रिया के पश्चात देवव्रत भीष्म ने कितनी बार हस्तिनापुर में प्रवेश किया है?"

"एक बार भी नहीं।"

"क्यों?"

"मैं अपने मन में से रजस तत्त्व दूर करने के लिए, राजकाज तथा राजपरिवार से असम्पर्क चाहता हूँ।"

"यदि चक्रवर्ती के देहावसान के पश्चात राजमाता ने आपकी बाँह थाम कर कहा होता, 'पुत्र! तुम्हारे ये दोनों भाई बहुत छोटे हैं। उन्हें तुम्हारे संरक्षण की आवश्यकता है।' तो क्या तब भी आप राजपरिवार से असम्पर्क चाहते?"

"मैंने स्वेच्छा से राज्य त्यागा है। आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने की प्रतिज्ञा की है। ऐसे में क्या मुझे संसार से विरक्त होने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए?"

"आप मेरे प्रश्न को टाल रहे हैं राजकुमार!" महामन्त्री आग्रहपूर्वक अपनी बात पर अड़ गये, "क्या यह सत्य नहीं है कि अपने छोटे भाई चित्रांगद के एक वाक्य में अनादर का भाव देख कर आप सब कुछ झटक कर यहाँ आ बैठे हैं? हम तो वहाँ प्रतिदिन अपमान का गरल पीते हैं...और तब भी आप चाहते हैं कि हस्तिनापुर के राज्य को सुचारु रूप से चलाये रखने के लिए हम सम्राट चित्रांगद की राजसभा में बने रहें...।"

भीष्म ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया।

"क्या कुरुओं के राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए आपका कोई कर्तव्य नहीं है?" महामन्त्री ने पुनः पूछा।

"विष्णु काका!" भीष्म के चेहरे पर मुस्कान थी, पर वाणी में व्यथा स्पष्ट थी, "मैंने चक्रवर्ती शान्तनु को संसार से विदा होते देखा है। मनुष्य जब चलता है तो सब कुछ यहीं पड़ा रह जाता है। इतना जान लेने के बाद तो मनुष्य को

यह समझ लेना चाहिए कि राज्य किसी का नहीं है...।"

"आप ठीक कह रहे हैं, किन्तु जीवन-पर्यन्त तो उसका पालन क्षत्रिय राजा करते आये हैं। क्या अपने पूर्वजों के इस राज्य के प्रति आपका कोई धर्म नहीं है?"

'धर्म,...भीष्म का मन, इस शब्द पर अटक गया...पिता ने देह छोड़ने से पहले, कुछ कहना चाहा था। कुछ कह नहीं पाये थे। जो अस्पष्ट शब्द हल्के से कुछ बुदबुदा पाये थे, उनमें से एक शब्द धर्म भी था।...तब से ही भीष्म अनवरत इस चिन्तन में लगे हैं कि उनका धर्म क्या है?...क्या है उनका धर्म? माता सत्यवती और उनके पुत्रों का पालन-पोषण?...कुरु वंश के राज्य की रक्षा, समृद्धि, विस्तार, हस्तिनापुर की प्रजा का पालन? क्या है उनका धर्म? ...पर यह सब तो संसार की ओर प्रवृत्ति है...उन्होंने तो स्वयं को इनसे मुक्त करने के लिए प्रतिज्ञाएँ की थीं...

"मैं अपने धर्म को ही खोज रहा हूँ काका!" उनका स्वर सचमुच शान्त था।

"तो वत्स! तुम्हें कुछ सूचनाएँ और दे दूँ। सम्भव है धर्मशोध में उससे कुछ सहायता मिले।" महामन्त्री बोले, "साम्राज्य की सीमाओं से लगे राज्यों में से एक भी राज्य ऐसा नहीं है, जो हस्तिनापुर को अपना मित्र समझता हो।"

"कारण?"

"सम्राट चित्रांगद का स्वभाव! वे प्रायः मृगया पर जाते हैं। पड़ोसी राज्यों की सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं। उधर से प्रतिवाद होता है, तो उनकी अवमानना करते हैं, और उन्हें रण-निमन्त्रण भेजते हैं। क्षत्रिय राजाओं के अतिरिक्त, नाग, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, राक्षस, किसी को भी तो छोड़ा नहीं उन्होंने।...मुझे यह जान कर तनिक भी आश्चर्य नहीं होगा कि वे सारे राज्य हस्तिनापुर के विरुद्ध संगठित हो रहे हों...।"

"क्या राजमाता यह जानती हैं?"

"आप बार-बार राजमाता के विषय में पूछते हैं," महामन्त्री पूरी शालीनता से बोले, "मैं उनका अनादर नहीं करना चाहता। राजमाता के प्रति पूरा सम्मान दर्शाते हुए भी मैं यह कहना चाहूँगा राजकुमार! कि वे 'माता' हैं, राजनीतिज्ञ नहीं। वे मातृत्व-गौरव में सहज रूप से स्वीकार करती हैं कि हस्तिनापुर के सम्राट सदा ही दिग्विजय करते रहे हैं। वर्तमान सम्राट कोई नयी बात तो नहीं कर रहे।"

"यह तो सत्य ही है मन्त्री प्रवर।" भीष्म बोले, "युद्ध और मृगया क्षत्रियों के व्यसन रहे ही हैं।"

"तो यह भी सत्य है राजकुमार! कि व्यसन व्यक्ति का पतन भी करता है और हनन भी।"

"क्या आपको ऐसी कोई आशंका है?"

"आशंका।" महामन्त्री बोले, "कुछ दिनों में यह तथ्य प्रमाणित होने जा रहा है।"

"क्या?"

"आपको केवल दो सूचनाएँ देना चाहूँगा: पहली यह कि अनेक कुरु-प्रमुख आपके पास आने की तैयारी कर रहे हैं...।"

"मेरे पास। मेरे पास क्यों?"

"आपको सूचित करने के लिए कि सम्राट चित्रांगद को सहन करना कठिन हो रहा है। यदि आप चाहते हैं कि कुरु वंश को कुलद्रोह का सामना न करना पड़े, यदि आप हस्तिनापुर को भीतरी कलह से बचाना चाहते हैं तो कृपया राज्य का नियन्त्रण अपने हाथों में ले लें। कहीं ऐसा न हो कि भरत वंश यहीं समाप्त हो जाये और कोई अन्य कुरु-प्रमुख सिंहासन पर बैठ कर हस्तिनापुर में नया राजवंश स्थापित करे...।"

भीष्म की आँखों में क्षण-भर के लिए क्षात्र-तेज झलका और अगले ही क्षण उन्होंने पूर्ववत शान्त मुद्रा धारण कर ली, "और दूसरी सूचना क्या है काका?"

"हस्तिनापुर की सेनाएँ गन्धर्वराज की सेना से पिछले ढाई-तीन वर्षों से टकरा रही हैं। हमारी सेनाएँ इतनी सक्षम नहीं हैं कि गन्धर्व सेनाओं को पराजित कर अपनी सीमाओं से खदेड़ दें; और सम्राट में इतनी राजनीतिक समझ नहीं है कि वह गन्धर्वराज से कोई संधि कर लें। क्रमशः गन्धर्व सेनाएँ कुरुक्षेत्र तक आ पहुँची हैं। हस्तिनापुर से कुरुक्षेत्र की दूरी से तो आप परिचित होंगे ही।...अब गन्धर्वराज और हस्तिनापुर के सम्राट में कदाचित द्वैरथ-युद्ध हो...परिणाम ईश्वर के हाथ में है।"

महामन्त्री मौन हो गये। भीष्म भी कुछ नहीं बोले। वे मौन अवश्य थे, किन्तु शान्त नहीं थे। उनके हृदय का मन्थन उनके चेहरे पर से स्पष्ट पढ़ा जा सकता था...

"मैं राजकुमार से तत्काल कोई उत्तर नहीं चाहता, न ही सारी समस्याओं का समाधान प्राप्त करने के लक्ष्य से

मैं यहाँ आया था। मैं जानता हूँ, यह राजसभा या मन्त्रणा-गृह नहीं है—यह तपोभूमि है।" महामन्त्री ने कहा, "तपस्या का एक अंग मनन भी है। मैं चाहता हूँ कि राजकुमार इन समस्याओं के संदर्भ में भी मनन करें, ताकि कल आप मुझे यह न कह सकें कि हस्तिनापुर के किसी हितैषी ने आपको सूचना तक नहीं दी...।"

महामन्त्री उठ खड़े हुए। हाथ जोड़ कर उन्होंने भीष्म को प्रणाम किया। हाथ तो भीष्म के भी उठे, किन्तु उनका मन कहीं और था...

महामन्त्री को भीष्म ने कोई उत्तर नहीं दिया था। उन्होंने ने उत्तर माँगा भी नहीं था। किन्तु अपने मन को भीष्म टाल नहीं सकते थे...

आज तक वह अपने धर्म का पालन करते आये थे। प्राण छोड़ते समय कदाचित पिता ने भी उन्हें धर्म का पालन करने का ही आदेश दिया था...आज फिर मन्त्री, हस्तिनापुर का राज्य...और... और...उनका अपना विवेक बार-बार उन्हें धर्म-पालन के लिए कोंच रहा है...पर क्या है उनका धर्म?...

हस्तिनापुर के पड़ोसी राजा संगठित हो रहे हैं। राजसभा के कुरु-प्रमुख सम्राट से मुक्त होने के लिए चंचल हो रहे हैं...और गन्धर्वराज, हस्तिनापुर सम्राट चित्रांगद से द्वैरथ-युद्ध करने की तैयारी में हैं...गन्धर्वराज मात्र शस्त्रास्त्रों का ही नहीं दिव्यास्त्रों और कुछ देवास्त्रों का भी ज्ञाता है। वह रणकुशल दक्ष योद्धा है। उसने अनेक शत्रुओं को सम्मुख युद्ध में पराजित कर उनका वध किया है। वह युद्धकला का पगा हुआ, सिद्धहस्त योद्धा...और दूसरी ओर हस्तिनापुर का सम्राट, जिसने या तो वन्य-पशुओं को अपने बाणों से बींधा है या कशा से अपने घोड़ों को प्रताड़ित किया है...युद्ध का कोई अनुभव भी है सम्राट को?—ऐसे में द्वैरथ-युद्ध घातक हो सकता है...

महामन्त्री कह गये हैं कि हस्तिनापुर की सेनाएँ गन्धर्वों के साथ लड़ने में सक्षम नहीं हैं। तो और कौर-सा वीर है, जो सम्राट को इस आत्मवध से बचाये?...कोई नहीं है? यदि कोई हो भी तो जिस सम्राट से किसी को प्रेम न मिला हो, उसके लिए कौन अपने प्राण देगा!...

तो क्या यह भीष्म का धर्म नहीं है कि वे अपने उस अबोध छोटे भाई की रक्षा करें, शत्रु गन्धर्वराज का वध करें और कुरु-राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखें?...

कदाचित क्षत्रिय राजकुमार के रूप में तो उनका यही धर्म है...किन्तु भीष्म ने राज्य-त्याग किया है, तो क्या फिर से राजनीति में लिप्त होना...युद्ध करना...क्या यह राज-कार्य में हस्तक्षेप नहीं है?...और वह अनादर,...वह उपेक्षा...और वह अपमान?...

भीष्म कुरु-राज्य की रक्षा करने जायें; छोटे भाई के अभिभावक बन कर उसका हित-साधन करने जायें...और कल उन पर यह आरोप लगे कि वे अपनी प्रतिज्ञा तोड़ रहे हैं...

महामन्त्री ने कहा है कि कुछ कुरु-प्रमुख भी आ रहे हैं, उनसे निवेदन करने। पिता ने भी तो एक बार कहा था कि वह राज्य को हस्तगत कर लें...वह किसी भी कारण से इधर पग बढ़ायेंगे...तो माना यही जायेगा कि भीष्म अपनी प्रतिज्ञा तोड़ रहे हैं...और यह कलंक भीष्म सहन नहीं करेंगे...

कहीं वे गन्धर्वराज से भयभीत तो नहीं हैं?

...वे स्तम्भित रह गये...उनका अपना कायर...कलुषित रूप उनकी आँखों के सम्मुख खड़ा था।

और तभी मन के किसी कोने में एक अट्ठहास गूँजा—यह अट्ठहास माता गंगा का ही था। वह कह रही थीं, 'गांगेय! यह मृगतृष्णा है। इसके कोटि-कोटि रूप हैं। इसे हर रूप में पहचान।...'

भीष्म को लगा, उनका अन्तर्मन शान्त हो रहा है।

18

संदेशवाहक बहुत शीघ्रता में आया हुआ लगता था। राजकीय शिष्टाचार का पूरा निर्वाह करने की ओर उसका ध्यान नहीं था। वह बुरी तरह हाँफ रहा था। कदाचित बिना रुके, बिना विश्राम किये, वह दौड़ता ही चला आया था...

सत्यवती ने उसकी ओर सतेज दृष्टि से देखा; किन्तु दूसरे ही क्षण उसकी दृष्टि में से तेज जैसे तिरोहित हो गया। जिज्ञासा की लहर उठी और उसके पीछे-ही-पीछे जैसे आशंका का ज्वार उठ खड़ा हुआ। सत्यवती, अब रानी नहीं थी, राजमाता नहीं थी, राजपरिवार की सदस्या भी नहीं थी...वह अब केवल माता थी। उसका पुत्र कुरुक्षेत्र में गन्धर्वराज के साथ द्वैरथ-युद्ध के लिए गया था...

संदेशवाहक को भी जैसे शब्द नहीं मिल रहे थे। उसके होंठ बोलने के लिए खुलते थे और फिर बिना बोले ही बन्द हो जाते थे। या शायद वे बोलते थे और उनकी ध्वनि सत्यवती तक नहीं पहुँचती थी।

"बोलो संदेशवाहक!" सत्यवती अपने स्वर की आतुरता को स्वयं पहचान रही थी, "बोलो! मैं तुम्हें आज्ञा दे रही हूँ।"

संदेशवाहक के होंठ, एक बार फिर काँपे और उसने सिर झुका लिया।

"राजाज्ञा की अवहेलना...!" सत्यवती स्वयं नहीं समझ पायी कि वह अपने-आप से पूछ रही थी, संदेशवाहक से कुछ कह रही थी, या उस पर आरोप लगा रही थी।

"नहीं! राजमाता!" संदेशवाहक जैसे आतंकित हो कर बोला, "समाचार ही ऐसा है कि कण्ठ से ध्वनि नहीं फूटती।"

सत्यवती के मन में आया कि जो शब्द संदेशवाहक के मुख से ध्वनित नहीं हो रहे, उन शब्दों को सत्यवती ध्वनि प्रदान करे–"क्या सम्राट...?"

अगले ही क्षण उसने स्वयं को सँभाला। वह एक माँ के आशंकित मन की भयावहता को इस प्रकार अशुभ शब्द क्यों प्रदान करना चाहती है। संदेशवाहक कोई और संदेश भी लाया हो सकता है। हो सकता है कि चित्रांगद पराजित हुआ हो, बन्दी हुआ हो, आहत हुआ हो...

'बाबा कहते थे, सत्यवती किसी क्षत्रिय राजा की पुत्री थी।' उसके मन ने कहा, 'यदि ऐसा है तो वह एक क्षत्रिय माता के समान पुत्र की वीरगति को क्यों स्वीकार करना नहीं चाहती...क्यों उसकी अपमानजनक पराजय की कल्पना कर रही है?...केवल इस आशा में कि उसका पुत्र जीवित तो रहेगा...।'

"बोलो संदेशवाहक!" इस बार सत्यवती के स्वर में न आदेश था, न राजमाता का तेज! वह जैसे अत्यन्त साधारण नारी के रूप में, समान धरातल पर सन्देशवाहक से वार्तालाप कर रही थी।

"राजमाता!" सत्यवती के कोमल स्वर ने शायद संदेशवाहक को कुछ बल प्रदान किया था, "अत्यन्त शोक का समय है। हस्तिनापुर के दुर्भाग्य से कुरुक्षेत्र के युद्ध में सम्राट ने वीरगति पायी है...।"

सत्यवती खड़ी नहीं रह सकी। दासियों ने सँभाल न लिया होता तो शायद वह लड़खड़ा कर गिर ही पड़ी होती।

...तो वही हुआ, जिसकी आशंका थी।...सत्यवती ने लाखों बार अपने मन को समझाया था कि विधाता के साथ उसकी कोई शत्रुता नहीं है कि जिसने उसका पति छीना, वह उसका पुत्र भी छीन लेगा ...पर वही हुआ था। सत्यवती की विधाता के साथ कोई शत्रुता नहीं थी; पर विधाता को उसके साथ कोई-न-कोई शत्रुता अवश्य थी...जिससे प्रेम किया...विधाता ने ऐसी दुर्बुद्धि दी कि उसे सत्यवती ने स्वयं ही त्याग दिया। पुत्र दिया तो कानीन पुत्र...बाबा को सत्यवती का कानीन पुत्र स्वीकार नहीं था...वह वहाँ पल रहा है पराशर के आश्रम में! कहते हैं कि बड़ा तेजस्वी ऋषि बन रहा है। लोग उस तरुण को अभी से महाऋषि के समान पूजने लगे हैं...पर सत्यवती उसे अपना नहीं कह सकती...वह सारे समाज का है, सारे आर्यावर्त का है, पर सत्यवती का नहीं है।...और जो पति मिला, चाहे वृद्ध ही सही, उसे भी विधाता ने छीन लिया...और अब चित्रांगद...

सत्यवती के मुख से रुदन का चीत्कार फूट चला।

यह संकेत था या आदेश...सारे राजप्रासाद में करुण चीत्कार उमड़ चले।...रुदन और आवेश का पहला ज्वार कुछ शान्त हुआ तो जैसे सत्यवती की चेतना जागी: अब क्या रह गया है उसके पास? विचित्रवीर्य ही तो! बारह वर्ष

का एक कोमल-सा, निरीह राजकुमार! चित्रांगद जितना उग्र था, विचित्रवीर्य उतना ही उग्रताशून्य! चित्रांगद सदा खड्ग भाँजता रहता था, तो विचित्रवीर्य को कदाचित कभी याद ही नहीं रहता था कि उसकी कटि में एक खड्ग भी बँधा है...उसका समय तो योद्धाओं में नहीं, दासियों में ही कट जाता था...

सत्यवती का हृदय जैसे अकस्मात ही डूबने लगा...यही एक बालक रह गया था।...राजा शान्तनु का देहान्त हुआ था तो चित्रांगद इतना समर्थ तो था कि वह भीष्म से कह सका कि वह अपनी माता को सँभाल सकता है। उसके प्रखर क्षात्र-तेज के सामने जैसे भीष्म हतप्रभ हो कर, शून्य में विलीन हो गया था। सत्यवती ने सुना था कि वह गंगा के पार कहीं कुटिया बना कर तपस्या कर रहा था...पर अब! अब सत्यवती की रक्षा के लिए शेष था, यह विचित्रवीर्य, जो आँख उठा कर भीष्म की ओर देख भी नहीं पायेगा...

सत्यवती ने यह भी सुना था कि हस्तिनापुर की राजसभा से लगातार भीष्म को संदेश भेजे जा रहे थे कि वह आ कर राज्य सँभाले।...यदि भीष्म ने प्रजा के हित का बहाना कर, हस्तिनापुर का राज्य हस्तगत कर लिया, तो फिर उसे विवाह करने से भी कौन रोकेगा? और यदि उसने विवाह किया, तो उसकी पत्नी...वास्तविक राजकुमारी...किसी शक्तिशाली राजकुल की कन्या... सत्यवती को, एक केवट की पुत्री को...इस राजप्रासाद में टिकने देगी क्या? वह अपने पुत्र के युवराजत्व के मार्ग में आने-वाले इस कोमल विचित्रवीर्य को जीवित रहने देगी क्या? क्यों नहीं अपने मार्ग के कण्टक को वह सदा के लिए समाप्त कर देगी? आख़िर भीष्म–हस्तिनापुर के वास्तविक युवराज–को भी तो सत्यवती ने अपने व्यवहार से अपना राज्य त्याग कर गंगा-पार कहीं कुटिया बना कर रहने के लिए बाध्य किया ही था।

यदि भीष्म अपनी इच्छा से लौट आया या हस्तिनापुर की राजसभा उसे लौटा लायी तो इस बार न विचित्रवीर्य बच पायेगा, न सत्यवती...

क्यों न सत्यवती विचित्रवीर्य को ले कर यहाँ से भाग जाये...यमुना के तट पर, या यमुना के पार! अपने बाबा के पास...उसके पास हस्तिनापुर का राज्य नहीं रहेगा। वह राजमाता नहीं रहेगी, उसका पुत्र युवराज नहीं रहेगा–पर वे दोनों जीवित तो रहेंगे, सुरक्षित तो रहेंगे...

सत्यवती की बुद्धि लगातार जैसे हस्तिनापुर छोड़ कर, किसी को कोई सूचना दिये बिना, चुपचाप भाग जाने की योजना बना रही थी...और उसका हृदय टूट-टूट कर कई छोटे-छाटे टुकड़ों में बँटता जा रहा था।

...क्या इसलिए उसने विवाह किया था वृद्ध शान्तनु से कि वह अपने और अपने पुत्र के प्राणों की रक्षा के लिए, राज्य, धन-सम्पत्ति...सब-कुछ छोड़ कर भाग जाये...तो फिर ऋषि पराशर ही क्या बुरा था...सन्तान की ही ममता थी, तो वह नन्हा कृष्ण द्वैपायन ही क्यों अग्राह्य था।–यदि तब सत्यवती बाबा के लोभ और अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के तर्क-जाल में न फँसी होती, तो अपने कमल-वन में, अपने तपस्वी पति और आश्रम में पलने-वाले अपने बच्चों के बीच सुखी न होती? पति का प्रेम तो उसे उसका तापस भी दे सकता था और वात्सल्य-सुख के लिए कृष्ण और कृष्ण जैसी अनेक सन्तानें...उसने अपना वह सारा सुख त्यागा था, राज्यवैभव के लिए...और आज वह सोच रही है कि राज्य को त्याग कर चुपचाप निकल जाये...

परिचारिका ने आ कर हाथ जोड़े।

"राजमाता! महामन्त्री और आचार्य वसुभूति राजमाता के दर्शनों के लिए पधारे हैं।"

"आने दो।" सत्यवती के मुख से मात्र अभ्यासवश निकल गया और अगले ही क्षण उसका मन हुआ कि वह चीख कर कहे कि मुझे किसी से नहीं मिलना है। मैं किसी महामन्त्री, आचार्य या सेनापति से नहीं मिलना चाहती...

पर तब तक महामन्त्री और आचार्य कक्ष में प्रवेश कर चुके थे।

महामन्त्री ने प्रणाम किया। आचार्य आशीर्वाद दे कर बोले, "राजमाता! अत्यन्त शोक का समय है; किन्तु दैव ने हमें शोक मनाने का भी अवकाश नहीं दिया है। अत्यन्त संकट का काल आन उपस्थित हुआ है।...हस्तिनापुर की जो सेना, सम्राट के रहते हुए कुरुक्षेत्र में गन्धर्वराज को नहीं रोक पायी, वह पराजित सेना, सम्राट की अनुपस्थिति में, गन्धर्वराज को हस्तिनापुर में भी नहीं रोक पायेगी। गन्धर्वराज यदि हस्तिनापुर पर चढ़ आया तो हमारे पास ऐसा कोई उपाय ही नहीं है कि हम उसका सामना कर सकें। ऐसी स्थिति में हमें नगर-द्वार खोल कर उसका स्वागत करना होगा; और प्रजा को उसकी दया पर छोड़ देना होगा।..."

"नहीं।" सत्यवती के मुख से अनायास ही जैसे चीत्कार फूटा।...उसने तो और कुछ सोचा ही नहीं था। वह तो बस एक भीष्म के ही विषय मे सोच रही थी। उसे तो अपना एकमात्र शत्रु भीष्म ही दिखायी दे रहा था।...उसने यह क्यों नहीं सोचा, कि प्रत्येक राजा, राज्य-लोलुप होता है, वह अपने राज्य के विस्तार का इच्छुक होता है। गन्धर्वराज

यदि सम्राट चित्रांगद से युद्ध कर रहा था, तो मात्र क्रीड़ा नहीं कर रहा था–उसके पीछे कोई लक्ष्य भी था। अपने पार्वत्य प्रदेश को पीछे छोड़ कर वह मैदानी क्षेत्र में नीचे उतर आया था और तीन वर्षों से अनवरत उसकी सेनाएँ हस्तिनापुर की राजकीय सेनाओं से टकरा रही थीं, तो किसी लोभ से ही तो। ...धिक्कार है सत्यवती की बुद्धि को कि शस्त्र-परिचालन करते, युद्ध की विभीषिका फैलाते, हत्याएँ करते हुए गन्धर्वराज जैसे उस प्रत्यक्ष शत्रु को उसने नहीं देखा; और गंगा-तट पर तपस्या करते हुए उस निरीह शत्रु भीष्म के चारों ओर वह मकड़े के समान अपना विचारों का जाला बुनती रही...

"राजमाता।" इस बार महामन्त्री ने कहा, "राज्य की रक्षा हमारा पहला कर्तव्य है। इसलिए इस शोक के अवसर पर भी हम प्रमाद नहीं कर सकते।...हमें हस्तिनापुर की रक्षा के लिए कुछ-न-कुछ करना ही पड़ेगा। अन्यथा न केवल गन्धर्वराज की, हस्तिनापुर पर चढ़ आने की दुःसम्भावना है, वरन मुझे तो अपनी सीमाओं पर पांचालों और मत्स्यों के भी शस्त्र चमकते दिखायी पड़ते हैं।...राजमाता! जिस स्थान से भूमि नीचे धँस जाती है, वहाँ चारों ओर से पानी बह कर आ जाता है। वही स्थिति राज्य की है। राज्य सैनिक दृष्टि से दुर्बल हो जाये, तो चारों ओर को राजाओं की सेनाएँ जल के समान बह कर वहाँ एकत्रित होने लगती हैं...।"

सत्यवती के अश्रु जैसे सूख गये। उसने अपनी आँखें पूरी तरह से खोल कर महामन्त्री पर टिकायीं, "पानी को रोकने के लिए महामन्त्री का प्रस्ताव क्या है?"

"या तो भूमि को मिट्टी पाट कर ऊँचा करना होगा, या उसके चारों ओर एक ऊँची प्राचीर बनानी होगी।"

"दोनों मे से उत्तम क्या है?"

"उत्तम तो भूमि का ऊँचा उठना ही है; किन्तु उसके लिए समय भी चाहिए और साधन भी।" महामन्त्री बोले, "जब तक हम साधन जुटायेंगे, तब तक तो यहाँ जल-प्लावन हो जायेगा। इसलिए हम तो तत्काल प्राचीर बनाने की बात ही सोच सकते हैं।"

"प्राचीर बनाने के साधन हैं राज्य के पास?"

"प्राचीर तो बनी-बनायी तैयार खड़ी है, राजमाता!" महामन्त्री बोले, "केवल उसको चल कर हस्तिनापुर तक आने के लिए तैयार करना है।"

"कौन भीष्म?" सत्यवती के मन में उसके अपने ही शब्दों ने एक धमाका कर दिया।

"राजमाता ने ठीक पहचाना!" महामन्त्री की मुद्रा शान्त थी, किन्तु वे प्रसन्न लग रहे थे, "राजकुमार का इस वय में वीतराग होना, न कुरु वंश के लिए शुभ है और न हस्तिनापुर राज्य के लिए! इस समय कुरु वंश और हस्तिनापुर राज्य दोनों ही इतने असुरक्षित और असहाय हो रहे हैं कि उनके भविष्य को ले कर हम सब चिन्ता-पीड़ित हो उठे हैं।...और यह सब राजकुमार देवव्रत भीष्म जैसे महायोद्धा के वर्तमान रहते हुए...! हम जानते हैं कि उन्हें राज्य का मोह नहीं है; किन्तु पिता के न रहने पर माता और भाई की रक्षा और पालन का दायित्व तो उन्हें निभाना चाहिए। उन्हें राज्यासक्ति न हो, किन्तु उन्हें धर्मासक्ति तो है। माता और भाई के रक्षण और पालन-पोषण का धर्म त्याग, तपस्या द्वारा वह किस धर्म की साधना कर रहे हैं? कुरु वंश और हस्तिनापुर के राज्य की रक्षा उनका सर्वप्रथम धर्म है...।"

सत्यवती के मन में उनचास प्रभंजन चल रहे थे। वह महामन्त्री से कहना चाहती थी कि वह कुछ समय के लिए चुप हो जाये और उसे अकेली छोड़ दे...वह सोचना चाहती थी, जानना चाहती थी, किसी से पूछना चाहती थी...पर यह बूढ़ा महामन्त्री था कि बोलता ही जा रहा था, और अपने इस वाणी-प्रवाह के साथ उसके मस्तिष्क को भी भगाये लिए जा रहा था। न थमने देता था, न साँस लेने देता था...

'भीष्म हस्तिनापुर में आ जाये तो हस्तिनापुर की सेना गन्धर्वराज को पराजित करने में समर्थ हो जायेगी?' सत्यवती जैसे प्रश्न नहीं पूछ रही थी, अपने मुख से उच्चरित होने-वाले निर्णय को पीछे धकेल रही थी, टाल रही थी।

शोक का काल था इसलिए महामन्त्री हँसे नहीं, नहीं तो उनकी मुद्रा कदाचित अट्टहास करना चाहती थी, राजकुमार भीष्म हस्तिनापुर में आ जायें और कुरु सेना का संचालन स्वीकार कर लें तो हम गन्धर्वों की ही नहीं, गन्धर्वों, पांचालों और मत्स्यों की सम्मिलित सेना को एक ही बार में धराशायी कर सकते हैं।" महामन्त्री तनिक रुक कर बोले, "राजमाता! सत्य यह है कि राजकुमार के हस्तिनापुर में पग धरते ही गन्धर्वराज पर्वतों को फलाँगता हुआ, अपनी राजधानी में जा छिपेगा, जैसे कोई भीत मूषिक समर्थ शत्रु देख कर अपने बिल में जा घुसता है। और पांचाल तथा मत्स्य अपनी राजधानी से बाहर निकलने का साहस भी नहीं करेंगे।"

महामन्त्री सत्यवती को ढाढस दे रहे थे, उसका मनोबल बढ़ा रहे थे...और सत्यवती को लग रहा था कि उसका मन जैसे धरती में धँसता जा रहा था...इतना समर्थ और शक्तिशाली है भीष्म! भीष्म जो उसका शत्रु है। वह शक्तिशाली शत्रु अपनी इच्छा से उन लोगों से दूर जा बैठा है, और सत्यवती सुरक्षित है।...और अब यह महामन्त्री उस शत्रु को हस्तिनापुर में ला बसाना चाहता है...

"इस कार्य में विलम्ब नहीं होना चाहिए, राजमाता!" सत्यवती को लगा कि महामन्त्री में जैसे उसके मन को पढ़ने ही क्षमता है। वह देख रहा है कि सत्यवती के मन में क्या है। शायद इसलिए वह उसके भीष्म-विरोध को कम करने के लिए अपने प्रयत्न में और भी उग्र हो गया है, "विलम्ब से शत्रुओं का आत्मबल बढ़ेगा। हमें तत्काल ही गन्धर्वों से कुरुक्षेत्र ही नहीं, पूरा धर्मक्षेत्र छीनना होगा। नहीं तो राज्य की सीमाएँ बहुत संकुचित हो जायेंगी। संकुचित सीमाएँ किसी भी राज्य के लिए श्रेयस्कर नहीं होतीं, राजमाता!"

महामन्त्री ने रुक कर सत्यवती की ओर देखा, "आदेश दें, राजमाता!"

"क्या बुलाने से भीष्म आ जायेगा?"

"राजमाता आदेश दें!" महामन्त्री ने आग्रह किया।

सत्यवती का मस्तिष्क त्वरित गति से सोच रहा था: यह निर्णय ही दीर्घगामी होगा! यदि भीष्म आ गया और राज्य बच गया तो भीष्म से फिर किसी और व्याज से मुक्ति पायी जा सकती है...किन्तु यदि भीष्म को नहीं बुलाया; और गन्धर्वराज हस्तिनापुर में आ गया तो वह सत्यवती और विचित्रवीर्य का वध भी कर सकता है, जैसे उसने चित्रांगद का वध किया है...

"आदेश दें राजमाता!" महामन्त्री ने पुनः आग्रह किया।

"तो जाइए, महामन्त्री! आचार्य! आप भी चले जाइए।"...और कहते-कहते भी सत्यवती सोच रही थी, कहीं वह भूल तो नहीं कर रही, कहीं यह निर्णय उसके लिए घातक तो नहीं होगा–"जा कर भीष्म से कहिये कि मैंने उसे बुलाया है।"

महामन्त्री और आचार्य वसुभूति चले गये और सत्यवती जैसे पछाड़ खा कर भूमि पर लोट गयी...पता नहीं उसने क्या कर दिया...चित्रांगद का वध गन्धर्वराज ने कर दिया और अब सत्यवती ने स्वयं भीष्म को बुलाया है...किसलिए? विचित्रवीर्य के वध के लिए?...

पर जैसे सत्यवती का अपना मन भी कुछ और ही वाणी बोल रहा था...क्यों वह बुद्धि से काम नहीं लेती...क्या उसके बाबा ने ऐसे ही एक संकट के जाल में फँस कर, अपनी बुद्धि की तीक्ष्णता से उसके सूत्र काट नहीं दिये थे...उन्होंने राजा शान्तनु और युवराज देवव्रत को एक ही वार में धराशायी कर दिया था।...सत्यवती ने बाबा से क्या सीखा आज तक?...क्यों वह भीष्म की प्रतिज्ञा को तलवार के रूप में धारण कर, उसके प्रहार से भीष्म को हस्तिनापुर से दूर भगाये हुए है। क्यों वह उसकी प्रतिज्ञा को अपना कवच नहीं बनाती, क्यों वह शत्रु के प्रत्येक वार को भीष्म की प्रतिज्ञा-रूपी ढाल पर नहीं रोकती!...सत्यवती इतने वर्षों तक बाबा के साथ रही, कुछ तो सीखा होता उनसे...छोटे-से केंचुए को बंसी में लगा कर केवट लोग बड़े-बड़े मत्स्यों को बाँध लाते हैं। यदि वह केंचुए के डर से बड़ी मछलियों को दूर भगाते रहेंगे तो अपना पेट कैसे पालेंगे।...केवट-बुद्धि तो इसमें है सत्यवती! कि भीष्म बंसी में फँसा हो और बंसी तेरे हाथ में हो। जैसे-जैसे तू घुमाये, वैसे-वैसे वह घूमे। बंसी में फँसा रहे और तेरे इंगितों पर नाचता रहे। न तुझे निगल सके, और न तुझे छोड़ कर जा सके। दास बन कर रहे आयु-भर...

और सहसा जैसे सत्यवती के मन में कोई प्रकाश-भर आया–'बड़ी मूर्खता की तूने सत्यवती!' उसने अपने-आपसे कहा, 'तूने भीष्म के पिता की पत्नी होने के अधिकार को भीष्म का बन्धन नहीं बनाया। तूने उसके रज्जु को समेटने में बहुत जल्दी की। उस रज्जु से भीष्म को बाँधा भी तो जा सकता था...'

किन्तु अगले ही क्षण जैसे वह फिर सहम गयी: उसने महामन्त्री के कहने पर भीष्म को आमन्त्रित किया है। निश्चित रूप से भीष्म के हस्तिनापुर में पग धरते ही राज्य के सारे अधिकार उसे सौंप दिये जायेंगे। उससे हस्तिनापुर सबल होगा, कुरु वंश निर्वीर्य होने से बच जायेगा...किन्तु महामन्त्री से सत्यवती ने यह नहीं पूछा कि स्वयं उसका और विचित्रवीर्य का भविष्य क्या होगा?...निष्कासन? विचित्रवीर्य की हत्या?...पर यह सब पूछने का अब अवसर नहीं था। जो कुछ होना था, वह तो हो चुका। अब तो जो सामने आयेगा, उसे देखना होगा, झेलना होगा...सत्यवती कहीं अपने बाबा की बुद्धि और धैर्य पा जाती तो...

वह विचित्रवीर्य को केंचुए के समान उस महामत्स्य के सम्मुख डाल देगी–देखना यह है कि यह महामत्स्य केंचुए को निगल कर चल देता है या उसके मोह में बँध कर, बंसी के संकेत पर नाचता है...

19

भीष्म ने आ कर सत्यवती को प्रणाम किया, "माता ने मुझे स्मरण किया?"

राजा शान्तनु की मृत्यु के पश्चात हस्तिनापुर छोड़ने वाले भीष्म को भी सत्यवती ने देखा था और आज चित्रांगद की मृत्यु पर लौटने वाले भीष्म को भी वह देख रही थी। जो भीष्म हस्तिनापुर से गया था, वह राजकुमार था–कृतसंकल्प, कर्म में समर्थ, संघर्षशील और अधिकार सम्पन्न; और जो भीष्म हस्तिनापुर लौटा था, वह संन्यासी था–उदासीन, कृशकाय, स्वप्निल आँखों वाला।...सत्यवती ने अपने मन को पहचाना: वह युवराज देवव्रत से भयभीत थी, वह शायद राजकुमार भीष्म से भी आशंकित थी...पर इस सन्यासी से क्या आशंका और क्या भय? यह तो वही त्यागी देवव्रत है, जिसने अपना राजपाट, सुख-वैभव, जीवन के सारे आकर्षण सत्यवती के चरणों पर रख कर हाथ जोड़ कर कहा था, 'माता! हस्तिनापुर चलो।'

सहसा सत्यवती चेती: क्या हो रहा है उसको? उसका यही सरल रूप था, जो पराशर के प्रेम में बहा कर ले गया था उसको। उस समय यदि बाबा ने उसे सहारा न दिया होता तो जीवन-भर के लिए वह तपस्वी की पत्नी हो कर रह गयी होती।...आज भीष्म को देख कर भी उसका वही सरल रूप जाग गया तो वह भीष्म को युवराज बना कर, विचित्रवीर्य को जीवन-भर के लिए उसका अनुचर बना देगी।

सत्यवती सँभल कर बोली, "भीष्म! चित्रांगद नहीं रहा...तुम्हारा क्रोध अब भी शेष है क्या?"

"क्रोध?" भीष्म कुछ चकित स्वर में बोले, "कैसा क्रोध माता?"

"क्रोध नहीं था तो मुझे और अपने छोटे भाइयों को इस प्रकार असहाय क्यों छोड़ दिया? चित्रांगद तीन वर्षों तक गन्धर्वों से लड़ता रहा, तुम उसकी सहायता के लिए क्यों नहीं आये? चित्रांगद की मृत्यु का समाचार भी तुम्हें मिला होगा। उसके बाद भी तुमने हमारी सुध नहीं ली। अब भी बुलाये जाने पर ही आये हो...शोक और मृत्यु के अवसर पर कोई किसी को निमन्त्रित तो नहीं करता पुत्र।"

भीष्म को लगा, उनके मन में कहने के लिए आँधियों के समान कोटि-कोटि शब्द उमड़-घुमड़ रहे हैं, किन्तु उनकी जिह्वा जैसे जड़ हो गयी है। कितने उपालम्भ थे, उनके मन में, किन्तु उपालम्भ देने का मुँह नहीं था...पिता की मृत्यु के पश्चात माता और छोटे भाइयों को सँभालना उनका धर्म था...किन्तु वह हस्तिनापुर छोड़ कर चले गये थे...जब वह हस्तिनापुर से गये थे, तो कैसे अपमानित हो कर गये थे...चित्रांगद ने ही तो अपमानित किया था उन्हें...पर अब वह इस संसार में नहीं था...माता सत्यवती पुत्र-शोक से विह्वल थीं...इस समय उनसे कैसे कहा जा सकता था...

भीष्म चुप ही रह गये।

सत्यवती ने दासी से कहा, "राजकुमार को तुरन्त बुला कर लाओ।" और भीष्म की ओर मुड़ी, "तुम्हारे पिता नहीं हैं। चित्रांगद भी अब नहीं है। गन्धर्वराज कुरुक्षेत्र में बैठा है। हो सकता है, वह हत्यारा मेरे पुत्र का वध कर, अब हस्तिनापुर को हस्तगत करने के लिए इस दिशा में चल भी पड़ा हो। वह हत्यारा भरतों की राजधानी में आयेगा। उसे रोकने-वाला यहाँ कोई नहीं होगा। वह तुम्हारी माता का वध कर, तुम्हारे भाई का शिरोच्छेद कर भरत वंश को समाप्त कर, कुरुओं के सिंहासन पर गर्व से बैठेगा...क्या ऐसी स्थिति में भी तुम अपनी कुटिया में समाधि लगाये बैठे रहना पसन्द करोगे?"

"माता!..." भीष्म कुछ कह नहीं पाये। उन्हें लग रहा था, वह जैसे बहुत स्वार्थी हो उठे थे। वह अपने सुख-दुख के लिए अधिक चिन्तित थे; अपने कुल, परिवार और वंश को भूल गये थे। वह अपनी ही दृष्टि में कैसे अपराधी-से हो उठे थे, "माता! वह तो चित्रांगद की इच्छा..."

पर सत्यवती ने उन्हें बोलने नहीं दिया, "अब अविवेकी चित्रांगद की इच्छा सर्वोपरि हो गयी; और तुम्हारा धर्म, विवेक, दायित्व...सब कुछ नहीं। तुम उसे समझा सकते थे, डाँट सकते थे, दण्डित कर सकते थे।"

भीष्म के मन में आया, कहे, 'उस समय तो आप भी चुप ही रह गयी थीं...और फिर चित्रांगद सम्राट था...।'

वे जानते थे उन्होंने यदि ऐसा कुछ कहा, तो सत्यवती का उत्तर होगा, 'सम्राटों का भी तो नियमन होता है।'

तभी विचित्रवीर्य ने कक्ष में प्रवेश किया।

भीष्म ने देखा: जितना उसे वह छोड़ कर गये थे, उससे कुछ बड़ा वह हुआ तो अवश्य था, किन्तु उससे अधिक हृष्ट-पुष्ट नहीं हुआ था। कुछ स्वस्थ भी नहीं लग रहा था। झूमता-सा ऐसे आया था, जैस मद्य के प्रभाव में हो...कहीं अत्यधिक विलास...

"भाई को प्रणाम करो।" सत्यवती ने आदेश दिया।

विचित्रवीर्य ने अनबूझे से ढंग से हाथ जोड़ दिये और सिर झुका कर खड़ा हो गया।

"नहीं!" सत्यवती ने कठोर स्वर में आदेश दिया, "साष्टांग दण्डवत।"

विचित्रवीर्य ने एक बार माँ की ओर देख कर आँखें झपकायीं, और जैसे पीछा छुड़ाने के लिए वह भीष्म के सम्मुख भूमि पर लेट गया।

भीष्म ने तत्काल उसे उठा लिया। उठाते हुए, वह उसे इस योग्य भी नहीं लगा, जिसे वक्ष से लगाया जा सके। वह तो जैसे गोद में उठाने योग्य ही था।

"भीष्म।" सत्यवती ने कहा, "तुम अपनी प्रतिज्ञा पर अटल हो, इसलिए तुम तो सिंहासनारूढ़ होगे नहीं। अब रह गया यह–विचित्रवीर्य! भरत वंश का एकमात्र उत्तराधिकारी। चाहो तो इसकी रक्षा करो। इसके सिर पर संरक्षण का हाथ रखो।...और..." सत्यवती ने रुक कर भीष्म को देखा, "न चाहो, तो इसे असहाय छोड़ जाओ। कोई शत्रु इसका वध कर देगा, और भरत वंश सदा के लिए समाप्त हो जायेगा। कुरु राज्य नष्ट हो जायेगा...जो तुम्हारी इच्छा हो।"

भीष्म के चेहरे पर असमंजस के स्पष्ट भाव उभरे।

"तुमने प्रतिज्ञा की थी देवव्रत!" सत्यवती ने उसे प्रखर दृष्टि से देखा, "कि तुम्हारे पिता के पश्चात हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर मेरा पुत्र बैठेगा।"

"हाँ, माता!"

"यदि तुमने विचित्रवीर्य की रक्षा का भार नहीं लिया, तो मैं मानूँगी कि तुम अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर नहीं रहे...तुम स्वयं तो सिंहासनासीन नहीं हो रहे, किन्तु तुम ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर रहे हो, जिनमें मेरा पुत्र सिंहासन पर न बैठ सके।...असहयोग भी तो विरोध का ही रूप है।"

"माता!"

"हाँ भीष्म।"

भीष्म स्वयं को रोक नहीं पाये। विगलित स्वर में बोले, "मेरा असहयोग है, न विरोध। मैं तो अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर रहा हूँ। वही मेरा धर्म है। मैं धर्म से मुख नहीं मोड़ूँगा, माता।..." उन्होंने रुक कर सत्यवती को देखा, "न विचित्रवीर्य असहाय रहेगा, न भरत वंश समाप्त होगा; और न कुरु राज्य समाप्त होगा।"

"कौन रक्षा करेगा इसकी?" सत्यवती मानो भीष्म को उद्दीप्त कर रही थी।

"भीष्म।" भीष्म ने उत्तर दिया, "आपका यह पुत्र!"

"वचन देते हो?"

"वचन देता हूँ कि हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठ कर विचित्रवीर्य और उसकी सन्तानें–पीढ़ियों तक कुरु-प्रदेश पर शासन करेंगी।"

"तुम धन्य हो भीष्म!"

सत्यवती की आँखों में क्षण-भर के लिए विजय की दीप्ति चमकी और अगले ही क्षण उसकी आँखों से आँसू बह चले।

20

भीष्म को जैसे विश्वास ही नहीं हो रहा था: क्या यह सम्भव है? कुरुओं का युवराज विचित्रवीर्य इस स्थिति में!...

उनका मन हुआ, वह वापस लौट जायें: विचित्रवीर्य को इस निर्लज्ज स्थिति में देखना न उनके लिए सुखद था, न विचित्रवीर्य के लिए ही। उसे यह जताना क्यों आवश्यक है कि इस स्थिति में उसे देखा गया है। फिर कभी, कोई उचित अवसर देख कर उसे समझा देना ही पर्याप्त होगा।

पर तभी भीष्म ने देखा कि उस समूह में से एक स्त्री की दृष्टि उन पर पड़ गयी है। वह संकोच से ढके-छिपे संकेतों से विचित्रवीर्य को कुछ बताने का प्रयत्न कर रही है...भीष्म स्वयं ही नहीं समझ पाये कि वह मात्र उत्सुकता में ही खड़े रह गये कि देखें कि आगे क्या होता है, या वह सचमुच अपनी उपस्थिति जताना चाहते थे...किसी भी कारण से हो, पर वह खड़े रहे और देखते रहे...

विचित्रवीर्य उस स्त्री की बात क्या और कितनी समझा–यह वह जान नहीं पाये; किन्तु इतना समझ गये कि वह जान गया है कि वह स्त्री वहाँ किसी और के उपस्थित रहने की बात कह रही है।

विचित्रवीर्य ने पीछे पलट कर देखा।

अब भीष्म के हट जाने का कोई अर्थ नहीं था। वह अपने स्थान पर खड़े, विचित्रवीर्य पर अपनी उपस्थिति से पड़ने-वाला प्रभाव देखते रहे।

उन्हें देख कर विचित्रवीर्य की आँखों में संकोच नहीं जन्मा। न उसने दृष्टि फेरी, न आँखें झुकायीं। वह देखता रहा। उसकी आँखों में से जिज्ञासा का भाव समाप्त हुआ और भावशून्यता प्रकट हुई। और फिर भावशून्यता में से उद्दण्डता और क्रोध एक साथ प्रकट हुए। वह धीरे-से कुछ बोला।

उसके शब्द स्पष्ट नहीं थे। भीष्म समझ नहीं सके कि वह क्या कह रहा था। पर इतना तो अनुमान किया ही जा सकता था कि उसका व्यवहार विनययुक्त नहीं था। उन शब्दों में भीष्म के लिए स्पष्ट अवहेलना थी।

भीष्म दो-चार पग और आगे बढ़ गये, ताकि स्पष्ट सुन सकें कि वह क्या कह रहा है।

इस बार विचित्रवीर्य बोला तो उसकी जिह्वा लड़खड़ा अवश्य रही थी, किन्तु शब्द इतने अस्पष्ट भी नहीं थे कि समझे भी न जा सकें।

“क्यों आये तुम?” उसने जैसे भीष्म को धमकाने का प्रयत्न किया, “जानते नहीं हो कि कुरु राजाओं के राजप्रासादों में कर्मचारी लोग बिना अनुमति के नहीं आ-जा सकते।”

भीष्म को लगा, विचित्रवीर्य ने उन्हें पहचाना नहीं है। वह उनके एकदम निकट आ गये। उसके चारों ओर बैठी स्त्रियाँ जैसे घबरा कर उठ खड़ी हुईं।

“तुम लोग जाओ।” भीष्म ने कहा।

“तुम कौन होते हो उन्हें भेजने वाले?” विचित्रवीर्य बोला, “वे मेरे आदेश से आयी हैं, मेरे ही आदेश से जायेंगी।”

“तुमने मुझे पहचाना नहीं विचित्रवीर्य!” भीष्म बोले, “क्या सुरा ने तुम्हें इतना बेसुध कर दिया है?”

विचित्रवीर्य अकड़ कर उठ खड़ा हुआ, “मैंने तुम्हें पहचान लिया है। तुम कुरुओं के अपदस्थ राजकुमार देवव्रत भीष्म हो। पर तुमने शायद मुझे नहीं पहचाना। मैं कुरुओं का भावी सम्राट विचित्रवीर्य हूँ। मेरी एक आज्ञा पर तुम्हारा शिरोच्छेद हो सकता है। जाओ! अपनी महत्ता जताने का प्रयत्न मत करो।”

भीष्म की आँखों के सम्मुख वह दृश्य घूम गया, जब माता सत्यवती ने विचित्रवीर्य को आदेश दिया था; और वह उन्हें साष्टांग दण्डवत प्रणाम करने के लिए भूमि पर लेट गया था। माता ने आँखों में अश्रु भर कर कहा था, ‘तुम हमसे रुष्ट न होते तो चित्रांगद इस प्रकार गन्धर्वराज के हाथों मारा न जाता...।’

भीष्म जानते हैं, वह सत्यवती और उसके पुत्रों से तब भी रुष्ट नहीं थे, आज भी रुष्ट नहीं हैं। वह तो कुरु राज्य और अपने पिता के इस परिवार से उदासीन मात्र हो गये थे। उस उदासीनता के लिए माता ने उन्हें उपालम्भ दिया था।...यदि आज भी वह विचित्रवीर्य को इस प्रकार देख कर उदासीन बने रहे तो यह किशोर मदिरा राक्षसी के हाथों मारा जायेगा; और माता फिर उन्हें आँखों में अश्रु भर कर उपालम्भ देंगी...

चित्रांगद गन्धर्वराज के हाथों मारा गया था, पर वह विचित्रवीर्य को सुरा राक्षसी के हाथों मरने नहीं देंगे...

"विचित्रवीर्य!" वह बोले।

"युवराज कहो।" विचित्रवीर्य अकड़ कर बोला।

बहुत प्रयत्न से साधा हुआ भीष्म का संयम टूट गया। उनका एक ज़ोरदार तमाचा विचित्रवीर्य के गाल पर पड़ा, "ये युवराज के लक्षण हैं!" वह गरज कर बोले, "कुरु-वंश के गौरव को कलंक लगाने-वाले! अपने गुरुजनों को आदेश दे रहा है कि वह तुझे युवराज सम्बोधित करें!"

भीष्म ने उसकी बाँह पकड़ कर उसे घसीटा, "चल अभी तेरा पूर्ण राज्याभिषेक करता हूँ।"

वह उसे घसीटते हुए माता सत्यवती के कक्ष तक ले गये। विचित्रवीर्य ने भी न हाथ छुड़ाया, न किसी प्रकार का विरोध किया।...या शायद सुरा का मद ही उसे त्याग गया था।

आहट पा कर सत्यवती अभी सोच ही रही थी कि किसी दासी को पुकारे कि भीष्म ने ला कर विचित्रवीर्य को उसके सम्मुख खड़ा कर दिया है, "माँ! यह सुरा में बेसुध, निर्वस्त्र दासियों और गणिकाओं के बीच बैठा, विहार कर रहा था। मुझे देख कर इस निर्लज्ज ने संकोच से आँखें झुकायी तक नहीं, उल्टे मुझे आदेश दे रहा था कि मैं इसे नाम से न पुकार कर, युवराज कह कर सम्बोधित करूँ...और ...।" भीष्म ने रुक कर सत्यवती को देखा।

"और क्या?"

"और आवेश में मैंने इसे चाँटा मार दिया है।" भीष्म ने धीरे-धीरे कहा।

क्षण-भर के लिए सत्यवती हतप्रभ-सी खड़ी रह गयी। उसका शरीर और मस्तिष्क–सब-कुछ जैसे जड़ हो गया।...और अगले ही क्षण उसके भीतर कोई द्रवण-प्रक्रिया आरम्भ हो गयी। उसे लगा कि सत्यवती के प्राण दो भागों में बँट गये हैं...एक सत्यवती एक ज़ोरदार चाँटा भीष्म के गाल पर लगाना चाहती थी और चीख कर कहना चाहती थी, 'तेरा यह साहस कि तू मेरे पुत्र पर हाथ उठाये, कुरु-वंश के होने वाले सम्राट पर!'...और दूसरी सत्यवती भीष्म को आशीर्वाद दे कर कहना चाहती थी, 'पुत्र! तूने यही चाँटा चित्रांगद को मारा होता, तो वह उस गन्धर्वराज के हाथों क्यों मारा जाता!'...और शायद एक तीसरी सत्यवती भी थी जो एकदम सहम कर चुप हो गयी थी। वह डर रही थी और सोच रही थी...आज इस भीष्म ने चाँटा मारा है...कल यह खड्ग उठायेगा...इसे तूने क्यों बुला लिया हस्तिनापुर में सत्यवती?...

पर सत्यवती के वे सारे रूप चुप रहे...उसके मन का एकतारा लगातार बजता जा रहा था–'सत्यवती! सँभल जा। फिर कोई भूल मत कर बैठना।...इतनी जल्दी मत भूल कि चित्रांगद का वध करने-वाला गन्धर्वराज कुरुक्षेत्र से आगे बढ़ चुका था। उसने सुना कि हस्तिनापुर से भीष्म के पास संदेशवाहक गया है तो उसके पग थम गये और कान खड़े हो गये कि भीष्म का उत्तर क्या है...इधर भीष्म ने गंगा पार कर हस्तिनापुर में पाँव रखा और उधर गन्धर्वराज सरस्वती पार कर अपनी राजधानी की ओर बढ़ गया।...भीष्म तो चित्रांगद के वध का प्रतिशोध लेने के लिए गन्धर्वों की राजधानी तक जाता, किन्तु मन्त्रियों और स्वयं सत्यवती ने ही उसे रोक लिया।...कहीं ऐसा न हो कि भीष्म पर्वतों में गन्धर्वराज के पीछे भटकता फिरे और इधर पांचाल और मत्स्य बढ़ कर कुरुओं की सीमा तक आ जायें।...चित्रांगद तो गया, अब सत्यवती को विचित्रवीर्य की रक्षा करनी है। केवल शत्रुओं के खड्ग से ही नहीं रोग, शोक और विलास से भी...'

सत्यवती बोली तो उसका स्वर शान्त था, "विचित्रवीर्य! तुम जाओ पुत्र! अपने-आपको सँभालो और गुरुजनों का आदर करना सीखो। कुरु-वंश में गुरुजनों का अनादर अक्षम्य अपराध है।"

विचित्रवीर्य ने ढँकी-छिपी आँखों से माँ को देखा: कहाँ गया माँ का वह रूप–जो कहा करती थी, 'भीष्म उनका शत्रु है।'...पर आज माँ का एक दूसरा ही रूप उसके सामने था। वह दृष्टि झुकाये-झुकाये ही बाहर चला गया।

विचित्रवीर्य के कक्ष से बाहर जाने तक सत्यवती चुपचाप खड़ी रही। जब वह कक्ष से निकल गया तो सत्यवती ने दासी को आदेश दिया, "बाहर द्वार पर खड़ी रहो। मुझे राजकुमार भीष्म से कुछ अत्यन्त गोपनीय बातें करनी हैं। जब तक मैं अगला आदेश न दूँ, कक्ष में कोई भी प्रवेश नहीं करेगा–कोई भी नहीं!"

दासी ने सिर झुकाया और हाथ जोड़ कर बाहर निकल गयी। तब सत्यवती ने भीष्म की ओर देखा, "बैठो पुत्र!"

भीष्म बैठ गये।

उनके सामने वाले मंच पर सत्यवती स्वयं बैठी और बोली, "भीष्म! विचित्रवीर्य की स्थिति मेरे लिए कई

दिनों से चिन्ता का विषय बनी हुई है। मैं सोच ही रही थी कि तुमसे इस विषय में भी परामर्श करूँ, कि तुमने स्वयं ही उस समस्या का साक्षात्कार कर लिया।"

"यह सब कब और कैसे हुआ, माता?" भीष्म, सत्यवती से सम्बोधित थे और पूछ जैसे अपने-आप से रहे थे, "यह तो कुरु-कुल का संस्कार नहीं है?"

सत्यवती कुछ देर तक भूमि की ओर देखती रही और फिर जैसे साहस बटोर कर बोली, "मैं नहीं जानती कि इसमें कितना दोष मेरा है। जब मेरे मन में अपने लिए धिक्कार उठता है तो मुझे लगता है कि यह मेरा ही पाप है!..."

"आपका पाप? क्या कह रही हैं माता?"

"हाँ पुत्र!" सत्यवती बोली, "जब तुम्हारे पिता ने इन बच्चों को ऋषिकुल में भेजना चाहा था, तो मैंने ही उनका विरोध किया था। चित्रांगद के अहंकार और विचित्रवीर्य के विलास की अग्नि प्रचण्ड होती रही और मैं उसकी उपेक्षा करती रही। ...यही मानती रही कि दूसरों का तिरस्कार और जीवन के समस्त भोगों में आसक्ति ही जैसे क्षत्रिय कुल के लक्षण हैं। इनके पिता सिर पर थे नहीं; और मैंने वैभव तथा अधिकार के मध्य रहते हुए, संयम और विनय के महत्त्व को नहीं समझा।...तो इनका अनुशासन कौन करता?...तुम थे; पर तुम अपने इन भाइयों को पराया मानते रहे।...आज तुमने इसे चाँटा मारा है, तो मेरा मन कहता है कि तुमने बड़े भाई के अधिकार का पहली बार प्रयोग किया है। अतः मानती हूँ कि तुम बड़े भाई का दायित्व भी निभाओगे!"

"क्या करना होगा, माँ?"

"मैं क्या कहूँ पुत्र!" सत्यवती अपने असमंजस से उबर नहीं पायी थी, "यह कैसे कहूँ कि इस पुत्र को जीवन के भोग से निरत कर दो; पर यह भी नहीं देख सकती कि भोग–जो क्षत्रियों का शृंगार है, मेरे पुत्र का काल बने।"

"आप ठीक कहती हैं माता!"

"तो क्या कोई ऐसा मार्ग है, जिससे इसका नियमन हो सके?"

"पुरुष के विलास का नियमन उसकी पत्नी करती है माता! गणिकाएँ नियमन का नहीं, पतन का साधन होती हैं।" भीष्म रुके, "अब मैं आपको क्या समझाऊँ, पत्नी का धर्म भी उसका पति ही है, और भोग भी। वह न अपने धर्म का नाश देख सकती है और न अपने भोग का क्षय। इसलिए अविवाहित पुरुष चाहे तो धर्म अर्जित कर सकता है, किन्तु जीवन को भोग नहीं सकता। और यदि वह भोग की ओर अग्रसर होगा तो अपनी आत्मा तथा शरीर का नाश करेगा। धर्म और भोग दोनों चाहिए तो एकमात्र मार्ग विवाह ही है।" भीष्म ने रुक कर सत्यवती को देखा, "जहाँ तक मैं अपने पिता को जानता हूँ, उनमें कामासक्ति का बाहुल्य था; किन्तु विवाह-विहीन भोग की ओर वह कभी नहीं बढ़े। इसलिए उन्होंने अपना नाश नहीं किया।"

"तो विचित्रवीर्य का विवाह करवा दो।"

"हाँ! एक मार्ग यह भी है।" भीष्म का विचार-प्रवाह जैसे बाधित हो उठा, "किन्तु, किन्तु विचित्रवीर्य का वय विवाह-योग्य है क्या?"

"नहीं!" सत्यवती का उत्साह जैसे भंग हो गया था, "वह तो अभी पन्द्रह वर्ष का ही है।"

"अभी तो उसके शारीरिक और मानसिक विकास का समय है।" भीष्म बोले, "हमारा प्रयत्न होना चाहिए कि वह अभी दस वर्ष संयम और अनुशासन का जीवन व्यतीत करे।"

सत्यवती ने भीष्म को देखा: यह क्या सम्भव था?

पर वह कुछ बोली नहीं।

भीष्म को कुछ संदेह हुआ, "क्या आप सहमत नहीं हैं?"

"सहमत तो हूँ, पुत्र! मेरी इच्छा है कि ऐसा हो...पर क्या विचित्रवीर्य संयम कर पायेगा?"

"हमें प्रयत्न तो करना चाहिए।"

"अवश्य करो और भगवान करे तुम सफल होओ।" सत्यवती बोली, "मैं तो एक ही बात चाहती हूँ कि अब अपने इस छोटे भाई का दायित्व तुम स्वीकार करो। यह बात मैं बहुत दिनों से कहना चाह रही थी, पर कह नहीं पायी। आज भी यदि तुमने उसे चाँटा न मारा होता, तो शायद यह बात मैं कह नहीं पाती।..." सत्यवती ने रुक कर भीष्म की प्रतिक्रिया को निहारा, जैसे सोच रही हो, कि आगे कहे या न कहे; और फिर एक निर्णय-अनिर्णय की-सी स्थिति में कह गयी, "उसके शिक्षण और अनुशासन को देखो। उचित समय पर उसके विवाह का निर्णय करो। उसके लिए कन्या ढूँढो। जब ठीक समझो, यथाशीघ्र उसका राज्याभिषेक करो। उसे उठा कर उसके पैरों पर खड़ा कर

दो।...पिता के बिना अकेली माँ कितनी अक्षम होती है...ओह! मुझसे न तो अपने पुत्र का क्षय देखा जाता है, न कुरु-वंश का नाश, न हस्तिनापुर के राज्य का पतन!"

भीष्म ने सत्यवती का यह रूप कभी नहीं देखा था: द्रवित स्थिति और एकदम पारदर्शी। पुत्र की ममता के ताप ने जैसे इस नारी का सारा कलुष विगलित कर बहा दिया था...

वह उल्लसित हो कर सत्यवती को आश्वासन देना चाहते थे, पर दायित्व का बोझ जैसे उनके उल्लास को आच्छादित कर रहा था। गम्भीर स्वर में उन्होंने इतना ही कहा, "आप चिन्तित न हों। ऐसा कुछ नहीं होगा।"

"काश! कि मैं तुम्हारे आश्वासन से आश्वस्त हो सकती।" सत्यवती की चिन्ता दूर नहीं हो पायी, "पर विचित्रवीर्य की स्थिति देखती हूँ, तो उसके भविष्य के प्रति आस्थावान नहीं हो पाती।...तुम और विचित्रवीर्य, इस वंश-सरिता के सहज प्रवाह के दो मार्ग थे। तुम्हें मैंने अवरुद्ध कर दिया है, इसलिए यदि यह सरिता विचित्रवीर्य के माध्यम से प्रवाहित न हुई, तो न केवल यह सरिता विलीन हो जायेगी; उसका कलंक भी मुझ पर ही होगा। और यह मेरे लिए असह्य है...। "

सत्यवती के बोलने के साथ-साथ भीष्म उस दायित्व का बोझ अधिक-से-अधिक अनुभव कर रहे थे। पर उन्हें अपने संकल्प का भरोसा था, और कर्म पर विश्वास! बोले, "मैंने पहले ही आपसे कहा था, आप निश्चिन्त रहें। विचित्रवीर्य ही नहीं, उसकी सन्तानों की कई पीढ़ियाँ, हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठ, इस कुरु प्रदेश पर शासन करेंगी।"

"तथास्तु पुत्र! तथास्तु!" सत्यवती के स्वर में हल्का-सा उल्लास जागा!

भीष्म चले गये और सत्यवती अपने एकान्त चिन्तन में लौटी तो उसका हृदय जैसे फिर से अनेक आशंकाओं में घिर गया: यह क्या किया सत्यवती तूने? सब कुछ भीष्म पर छोड़ दिया?...वह विचित्रवीर्य को सिंहासन पर बैठा भी दे और स्वयं नियन्ता बना रहे, तो शासन तो उसी का होगा...

किन्तु जाने कहाँ से सत्यवती के मन में एक बिम्ब जागा!—कुम्भ स्वतन्त्र है। सक्षम है। किन्तु यदि उसे जल भरना है तो अपना कण्ठ रज्जु के फन्दे में फँसाना ही होगा। कुँए की गहराई तक गिरना ही होगा। फिर वह रज्जु ही उसे खींच कर ऊपर लायेगी और जल प्राप्त कर लेने पर, रज्जु को अनावश्यक मान कर उससे कुम्भ के कण्ठ को मुक्त किया जायेगा। रज्जु भूमि पर पड़ी रहेगी और कुम्भ पनिहारन के सिर पर स्थापित होगा।...यदि वह विचित्रवीर्य के कुम्भ में राज्य का जल भरना चाहती है तो भीष्म रूपी रज्जु का फन्दा विचित्रवीर्य के कण्ठ में डालना ही होगा...एक बार जल भर जाये। कुम्भ उसे धारण करने में समर्थ हो जाये, तो रज्जु भूमि पर पड़ी रहेगी और कुम्भ पनिहारन के सिर पर स्थापित होगा...

वैसे भी भीष्म के हस्तिनापुर में आ जाने से न केवल गन्धर्वों, पांचालों और मत्स्यों की सेनाओं की रण-भेरियाँ शान्त हो गयी हैं, वरन हस्तिनापुर में प्रतिदिन उठने-वाले संशय और बवण्डर भी शान्त हो गये हैं। अब कुरुप्रमुख नये राजवंशों की स्थापनाओं के स्वप्न नहीं देखते।...वैसे भी अट्ठारह वर्षों से भीष्म अपने वचन का निर्वाह कर रहा है। एक क्षण के लिए भी उसने अपनी प्रतिज्ञा की अवहेलना में रुचि नहीं दिखायी।...अब तो उसका प्रचण्ड आवेगों का वयस भी बीत चुका। वह धीर, गम्भीर और शान्त हो गया है। नहीं! वह सत्यवती को धोखा नहीं देगा...

'काश! मैं इसका विश्वास कर पाती!' सत्यवती ने दीर्घ निःश्वास छोड़ा।

अपने आवास पर पहुँच कर भीष्म ने आचार्य को बुलाया। आचार्य ने आने में विशेष विलम्ब नहीं किया।

"अपने शिष्य की प्रगति के विषय में आपका क्या विचार है आचार्य?" भीष्म ने सीधा प्रश्न किया।

आचार्य जैसे असावधानी में पकड़ लिए गये थे। अचकचा कर उन्होंने भीष्म की ओर देखा, "मैं समझा नहीं राजकुमार!"

"इसमें ऐसी कौन-सी बात है, जिसे आप समझ नहीं पा रहे हैं आचार्य?" भीष्म मुस्कुरा कर बोले, "आप विचित्रवीर्य के आचार्य हैं। मैं उसका बड़ा भाई और अभिभावक हूँ। मैं जानना चाहता हूँ कि उसकी शिक्षा-दीक्षा कैसी चल रही है। उसका शास्त्र-ज्ञान कितना बढ़ा है? शस्त्र-विद्या उसने कहाँ तक सीखी है? उसका चरित्र संयम और अनुशासन को कितना आत्मसात कर पाया है? उसका धर्म-बोध और दायित्व-बोध कितना विकसित हुआ है? शासन-तन्त्र के विषय में वह कितना जान पाया है? आचार्य! वह भावी शासक है, इस कुरु प्रदेश का। उसे जन्म तो उसके

माता-पिता ने दिया है, किन्तु उसे राजा बनाना तो आपका काम है।"

"आप ठीक कह रहे हैं, राजकुमार!" आचार्य ने कुछ इस प्रकार कहा, जैसे सहमति प्रकट न कर रहे हों, उपालम्भ दे रहे हों, "राजकुमार विचित्रवीर्य भी अच्छी तरह समझता है, या शायद वह एक ही बात समझता है कि उसे आगे चल कर हस्तिनापुर का शासक बनना है...।"

"तो?" भीष्म ने आचार्य के स्वर की कड़वाहट को पहचाना।

"उसके मस्तिष्क में दायित्व से पहले अधिकार है, और अर्जन से पूर्व भोग है।"

"ऐसा क्यों है?" भीष्म का स्वर, आचार्य को अभियोग के समान चुभा, "आप उसके आचार्य हैं। क्या आपको नहीं लगता कि यह उसका उचित विकास नहीं है। आपको उसका अनुशासन करना चाहिए था।"

"चाहिए तो था।" आचार्य का स्वर भी उग्रता के तत्त्व लिए हुए था, "पर उसका अधिकार मुझे दिया गया क्या?"

"आप कहना क्या चाहते हैं आचार्य?"

"आप जानना चाहते हैं तो बता रहा हूँ: इससे पहले किसी ने जानना नहीं चाहा; अतः किसी को मैंने बताया भी नहीं।" आचार्य बोले, "विचित्रवीर्य को यह बोध अधिक है कि वह राजकुमार है, युवराज है; और हस्तिनापुर का भावी सम्राट है। उसे यह बोध बहुत कम है कि मेरा शिष्य है, उसे बहुत कुछ सीखना है, जो कुछ सीखना है, मुझसे सीखना है; और सीखने के लिए विनय और नम्रता अनिवार्य गुण हैं।"

"क्या उसका व्यवहार शिष्योचित नहीं है?"

"कभी नहीं रहा।" आचार्य बोले, "उसने स्वयं को मेरा अन्नदाता अधिक समझा, शिष्य कम।"

भीष्म ने आहत दृष्टि से आचार्य को देखा; और फिर जैसे अपना रोष जताते हुए पूछा, "आपने कभी उसके व्यवहार की सूचना किसी को दी–उसके अभिभावकों को?"

आचार्य के मन में छिपी वितृष्णा, प्रकट हो कर उनके चेहरे पर आ गयी, "राजा शान्तनु स्वर्गवासी हुए। आप हस्तिनापुर छोड़ गये। सम्राट चित्रांगद और राजमाता यह मानते थे कि राजकुमारों का अनुशासन, नियन्त्रण या उनकी इच्छाओं का नियमन, उनके तेज का ह्नास करता है। अतः राजकुमारों के आचार्य को भी चाहिए कि वह एक क्षण के लिए भी उन्हें यह न भूलने दे कि वह राजकुमार हैं और उनका आचार्य एक निर्धन ब्राह्मण!...एक बार सम्राट चित्रांगद से चर्चा की थी कि विचित्रवीर्य का मेरे प्रति व्यवहार शिष्योचित नहीं है; वह स्वयं को मेरा स्वामी और पालनकर्ता मानता है; तो उन्होंने निर्द्वन्द्व भाव से कहा था कि 'वह ठीक ही समझता है। जो वास्तविकता है, उसे हमें समझना भी चाहिए और स्वीकार भी करना चाहिए।'"

"पर यह असामयिक भोग! इस वय में सुरा का अबाध पान–यह सब तो राजमाता ने भी नहीं चाहा था।..."

"परिणाम इच्छा के नहीं, कर्म के अनुकूल होता है राजकुमार!" आचार्य बोले, "सम्राट चित्रांगद ने और शायद विशेष रूप से राजमाता ने विचित्रवीर्य को मेरे अनुशासन में नहीं बँधने दिया, तो उसका परिणाम यह भी हुआ कि वह उनके अनुशासन में भी नहीं बँधा। बालक पहले अपने अभिभावक के नियन्त्रण को चुनौती देता है, बाद में अध्यापक को। विचित्रवीर्य पहले राजमाता के हाथों से निकल गया था, मेरे हाथों से तो बहुत बाद में निकला।"

"जो भी हुआ हो।" भीष्म बोले, "पर यह परिणाम सुखद नहीं है।"

"मैं जानता हूँ।" आचार्य सहमत थे, "किन्तु जिस समाज में अध्यापक, आचार्य और गुरु का सम्मान अभिभावक नहीं करेगा, उसकी सन्तान को यही दुर्दिन देखना पड़ेगा।"

"शाप न दें, आचार्य!" भीष्म धीरे-से बोले, "हमें तो अब युवराज को सीधे मार्ग पर लाना है। मुझे सहयोग दीजिए।"

"आप गुरु के महत्त्व की प्रतिष्ठा करें, तो उसके अनुशासन और अधिकार की प्रतिष्ठा भी होगी।" आचार्य बोले, "यद्यपि बहुत विलम्ब हो चुका है, पर हम प्रयत्न तो कर ही सकते हैं।"

"तो ठीक है।" भीष्म ने कहा, "हम फिर से एक बार प्रयत्न कर देखें।"

21

राजवैद्य ने विचित्रवीर्य की नाड़ी देखी और आँखें बन्द किये देर तक बैठे सोचते रहे। भीष्म उत्सुकता से राजवैद्य की ओर देखते रहे: क्या निदान है राजवैद्य का? पर वैद्य थे कि आँखें ही नहीं खोल रहे थे।

सत्यवती उत्कण्ठा के मारे स्वयं को रोक नहीं सकी, "क्या बात है वैद्यराज! आप कुछ बोलते क्यों नहीं?"

राजवैद्य ने आँखें खोलीं, पर अभी भी वह सोच ही रहे थे कि कुछ बोलें या न बोलें...और जब बोले, तो इतना ही कहा, "मैं आपसे एकान्त में कुछ बातें करना चाहता हूँ।"

"औषध का प्रभाव क्यों नहीं हो रहा वैद्यराज?" सत्यवती ने फिर पूछा।

राजवैद्य ने सत्यवती के प्रश्न का उत्तर नहीं दिया; बोले, "क्या हम किसी अन्य कक्ष में वार्तालाप कर सकते हैं?"

भीष्म ने संकेत किया। प्रतिहारिणी आगे चली। वे लोग दूसरे कक्ष में आ गये।

"मैंने आपसे पिछली बार भी कहा था कि राजकुमार के शरीर में इतनी शक्ति नहीं है कि वह रतिकर्म में प्रवृत्त हों। आपने इस बात का ध्यान नहीं रखा। औषध अपना काम तभी कर सकती है, जब रोग उत्पन्न करने और उसका विस्तार करने-वाले कृत्य बन्द किये जायें।..."

"पर युवराज ने ऐसा कुछ नहीं किया।" सत्यवती बोली, "मैंने उसे मना कर दिया था और उसने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक मैं अनुमति नहीं दूँगी, वह किसी स्त्री के निकट भी नहीं जायेगा।"

"पर क्या उस प्रतिज्ञा की रक्षा की गयी?" वैद्य का स्वर कुछ कटु था।

सत्यवती की दृष्टि सहज ही भीष्म की ओर चली गयी: प्रत्येक पुरुष देवव्रत नहीं होता...पुत्र तो विचित्रवीर्य भी शान्तनु का ही है, किन्तु...

सत्यवती ने वैद्य के प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। कक्ष से बाहर आ कर उसने प्रतिहारिणी को आदेश दिया, "युवराज की परिचारिका को बुलाओ।"

"राजमाता!" राजवैद्य ने उसके कक्ष में लौट आने पर कहा, "युवराज ने बहुत छोटे वयस से सुरा और सुन्दरी का आस्वादन आरम्भ कर दिया है। वह भी बहुत अधिक मात्रा में। मैं राज-भय त्याग कर स्पष्ट शब्दों में आपसे कह रहा हूँ, यदि उनका यह अभ्यास सर्वथा बन्द न हुआ, तो युवराज के जीवन की रक्षा संसार का कोई भी वैद्य नहीं कर पायेगा।"

"पर मैं कह रही हूँ कि जब से आपकी औषध आरम्भ हुई है, वह स्त्री के निकट भी नहीं गया है।" सत्यवती का स्वर कुछ कठोर था।

"आप मुझे क्षमा करेंगी।" राजवैद्य निर्भीक स्वर में बोला, "पर मैं इसका विश्वास नहीं कर सकता।..."

तभी प्रतिहारिणी द्वार पर प्रकट हुई, उसके साथ विचित्रवीर्य की परिचारिका भी थी।

परिचारिका को भीतर भेज कर प्रतिहारिणी ने कपाट बन्द कर दिये। परिचारिका हाथ जोड़ कर खड़ी हो गयी।

"परिचारिके।" इस बार भीष्म बोले, "सच बोलना! जानती हो न, मिथ्याभाषण इस राजकुल में दण्डनीय है।"

"हाँ आर्य!"

"क्या युवराज विचित्रवीर्य पिछले सप्ताह में, स्त्री-सम्पर्क में आये थे?"

परिचारिका ने सत्यवती की ओर देखा और आँखें झुका लीं।

"बोलो।" सत्यवती ने कहा, "गोपनीयता लाभकारी नहीं है। निर्भय हो कर सच बोलो।"

"हाँ राजमाता!" परिचारिका का स्वर पहले तो लड़खड़ाया, किन्तु तत्काल ही सध गया, "पाँच नयी दासियाँ युवराज की सेवा में रही हैं।"

न चाहते हुए भी राजवैद्य के मुख पर प्रसन्नता प्रकट हो ही गयी, "राजमाता! युवराज यदि संयम से रहें, तो मेरी औषध अब भी चमत्कार दिखा सकती है।"

सत्यवती ने परिचारिका को जाने का संकेत किया और बोली, "वैद्यराज! मैं पूरा प्रयत्न करूँगी कि आपके

निर्देशों का पालन हो। मैं अपना पुत्र खो नहीं सकती।"

राजवैद्य प्रणाम कर चले गये।

पर जैसे सत्यवती के अपने मन ने उसके शब्दों को स्वीकार नहीं किया। उसकी अपनी कनपटियों पर कोई मूसलों से ढोल बजा-बजा कर घोषणा कर रहा था, ऐसा नहीं हो सकता सत्यवती! ऐसा नहीं हो सकता...जब समय था और तेरे दोनों पुत्र, तेरे नियन्त्रण में थे; जब वे बालक थे, और उन्हें समझाया जा सकता था, तब तो तुमने स्वयं, उन्हें भोग की ओर प्रेरित किया...भूल गयीं तुम? जब तुम हृदय से चाहती थीं कि भीष्म से छीना गया राज-वैभव तुम्हारे पुत्र भोगें। भोग का माहात्म्य तुमने ही तो पढ़ाया था अपने पुत्रों को, 'तुम राजपुत्र हो। तुम्हारा जीवन भोग के लिए है। संयम का पाठ उनको पढ़ाया जाता है, जिनके पास भोगने को कुछ नहीं होता।'...और सत्यवती कैसे भूल सकती थी, अपने उन दिनों के ऊहापोह को। 'संयम' शब्द कानों में पड़ते ही, सत्यवती की पीठ पर जैसे कशाघात होता था। संयम को ही अंगीकार करना था तो सत्यवती ऋषि-पत्नी बन कर रही होती...अपना वरेण्य मीत तो मिलता पति के रूप में।...राजा शान्तनु की पत्नी हो कर भी पुत्रों को संयम का ही पाठ पढ़ाना था, तो अपने यौवन को एक वृद्ध की वासना-तृप्ति के लिए समर्पित करने का क्या लाभ?...

सत्यवती का मन जैसे उसे धिक्कारने लगा, 'तुमने भीष्म से उसका भोग छीना। देख! तेरा एक पुत्र तो जीवित नहीं रहा। दूसरा किसी भोग को भोगने योग्य नहीं रहा। जिसे वंचित किया, वंचना उसके लिए अमृत बन गयी, जिन्हें समृद्ध करना चाहा, समृद्धि उनके लिए विष हो गयी। बाबा ने समझा कि वह तुम्हारा हित कर रहे हैं और तुमने समझा कि तुम अपने पुत्रों का हित कर रही हो। कैसे मूर्ख हो, तुम दोनों! तुम्हारी स्वार्थ-बुद्धि तो इतना भी नहीं जानती कि हित क्या है और अहित क्या...'

सत्यवती के पैर-तले की धरती जैसे घूम गयी। उसे चक्कर आ गया। भीष्म ने आगे बढ़ कर सहारा दिया, "माता!"

"भीष्म!" सत्यवती मंच पर अधलेटी-सी हो गयी, "मेरी बुद्धि तो अचेत हो रही है पुत्र! कुछ समझ में नहीं आता...यह सब क्या हो रहा है; और विचित्रवीर्य का भविष्य..."

"आप अधिक चिन्ता न करें माता!" भीष्म धीरे-से बोले, "मुझे तो आप भी स्वस्थ नहीं लग रही हैं।"

"चिन्ता कैसे न करूँ पुत्र!" सत्यवती की असहायता पूरी तरह फूट पड़ी, "विचित्रवीर्य की स्थिति शोचनीय है। क्या उसके जीवन की रक्षा हो पायेगी?"

"क्यों नहीं!" भीष्म पूरे विश्वास के साथ बोले, "राजवैद्य ने स्पष्ट कहा है कि वह संयम से रहे तो अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा। संयम कोई असम्भव शर्त तो नहीं माता!"

"उसे संयम सिखाया नहीं गया।" सत्यवती के चेहरे पर विषाक्त मुस्कान थी, "राज-भोग को मैं जीवन का सुख मानती थी; नहीं जानती थी कि वह विष है।..."

"माता!"

"भीष्म!" सत्यवती ने कातर स्वर में कहा, "मैं जितना सोचती हूँ, मेरा मन उतना ही निराश होता जाता है।"

"कैसी चिन्ता है माता! आपको?"

"कौन-सी चिन्ता मुझे नहीं है।" सत्यवती की आँखों में अश्रु झलके, "चित्रांगद नहीं रहा, मुझे लगता है कि विचित्रवीर्य भी शायद न रहे। वह नहीं रहा तो महाराज शान्तनु के इस वंश का क्या होगा पुत्र?"

भीष्म भीतर-ही-भीतर जैसे सहम गये, पर ऊपर से मुस्कुरा कर बोले, "आपके विवाह के पहले पिता को भी यही चिन्ता थी कि मैं उनका एकमात्र पुत्र हूँ...यदि मेरी मृत्यु हो गयी तो!...और अब आपको चिन्ता है कि विचित्रवीर्य न रहा तो!..." उन्होंने अपने स्वर में विश्वास ढाला, "क्या हुआ है विचित्रवीर्य को? सुरा और सुन्दरी का अतिरेक! अब संयम से रहेगा तो ऊर्जा के अतिरिक्त ह्नास की क्षतिपूर्ति हो जायेगी। वह स्वस्थ हो जायेगा...।"

"ईश्वर करे, तुम्हारी वाणी सत्य हो पुत्र!" सत्यवती बोली, "पर तुम विवाह करोगे नहीं। विचित्रवीर्य को संयम से रहने का आदेश दूँ तो तुम दोनों भाई सन्तानविहीन ही रहोगे।...और यदि उसे गृहस्थ बनने की अनुमति दूँ तो वह अपने रोग के कारण मर जायेगा।"

पहली बार भीष्म को लगा कि सत्यवती की बात पूर्णत: उपेक्षणीय नहीं है...क्या सचमुच ऐसी स्थिति आ सकती है कि इस भरत वंश का कोई उत्तराधिकारी ही न रहे?...और यदि ऐसा हो ही गया तो?...

भीष्म को लगा, उनका मन दुष्कल्पनाएँ बुनने में शायद सत्यवती के मन से भी आगे निकल गया है...वैद्य तो

रोगी को आश्वासन देता ही रहता है...कोई भी वैद्य कभी नहीं कहेगा, कि अब रोगी के जीवन की आशा नहीं है...यदि विचित्रवीर्य सचमुच ही मृत्यु के कगार पर पहुँच ही गया है, तो उसका भविष्य क्या है?–एक संयमी जीवन, जिसमें न विवाह है, न पत्नी, न सन्तान? ...या संयम के कुछ वर्षों के जीवन से स्वास्थ्य लाभ...पर यह आश्वासन कौन दे सकता है कि स्वास्थ्य लाभ होने पर, विचित्रवीर्य अपना संयम निभा पायेगा?...या प्रकृति उसे स्वस्थ होने तक, संयम बरतने के लिए जीवन देगी ही?

...भीष्म को लगा कि माता सत्यवती का द्वन्द्व न केवल उनके अपने मन में आ धँसा है, वरन उसकी पीड़ा अत्यन्त भयंकर रूप से उन्हें प्रताड़ित कर रही है ...यदि कहीं विचित्रवीर्य को विधाता ने दीर्घ जीवन न दिया या वह भरत वंश को उत्तराधिकारी न दे सका...तो कहीं यह दायित्व फिर से भीष्म पर न आ पड़े ...भीष्म अपनी प्रतिज्ञा के उल्लंघन की कल्पना भी नहीं कर सकते। धर्म को तिलांजलि दे कर जीवन का क्या लाभ?...

और यदि कहीं संकट की कोई घड़ी आयी। विवाह से पूर्व ही विचित्रवीर्य का देहान्त हो गया...तो कोई यह कह कर तो भीष्म को लांछित नहीं करेगा कि भीष्म ने अस्वस्थ और रोगी विचित्रवीर्य का विवाह नहीं होने दिया, ताकि वह कुरु-वंश का उत्तराधिकारी उत्पन्न करने से पूर्व ही चल बसे; और हस्तिनापुर का राज्य फिर से भीष्म को मिल जाये...ऐसा लांछन...इतना बोझ वहन कर भीष्म जीवित नहीं रह सकेंगे...

उनकी दृष्टि सत्यवती की ओर उठी: वह आतुर भाव से उनकी ओर देख रही थी, "क्या सोच रहे हो भीष्म?"

"विचित्रवीर्य का असंयम इस कारण तो नहीं कि वह अविवाहित है?" भीष्म का स्वर गम्भीर और ठहरा हुआ था, जैसे किसी लम्बी चिन्तन-प्रकिया का निष्कर्ष एक सूत्र के रूप में दे रहे हों, "यदि उसका विवाह कर दिया जाये तो क्या उसकी रानी उसके भोग को सन्तुलित और सुनियन्त्रित नहीं कर देगी?"

"यह चर्चा तुमने पहले भी की थी पुत्र! किन्तु राजवैद्य ने उसे स्त्री-प्रसंग से दूर रहने का परापर्श दिया है।"

"सत्य है।" उनकी आँखें नहीं उठीं: कहीं माता उनकी आँखों में न देख लें कि भीष्म के मन में क्या है। भीष्म की आशंकाएँ और भय उनके अपने थे। उनसे वह माता का बोझ और नहीं बढ़ाना चाहते थे। माता तक तो वह उनके पुत्र के लाभ की बात ही पहुँचाना चाहते थे, "पर संयम इसलिए तो है कि वह स्वस्थ हो कर एक सुखी जीवन जी सके। सुखी वह तभी हो पायेगा, जब सुख उसे सन्तुलित मात्रा में मिले। उसे 'भोग' रोगी नहीं कर रहा माता! भोग की असन्तुलित मात्रा, उसका रोग है। भोग को सन्तुलित करने के लिए ही तो मानव-समाज ने विवाह का आविष्कार किया है।..."

सत्यवती के तपते मन पर भीष्म का कथन, चन्दन का लेप कर गया...ठीक तो कह रहा है भीष्म! नारी-पुरुष के उन्मुक्त सम्बन्धों की पीड़ा, यातना और अव्यवस्था को देख कर ही तो मानव-समाज ने विवाह की परिकल्पना की होगी...क्या विचित्रवीर्य के जीवन की विडम्बना का भी यही निदान नहीं है...

"पर विचित्रवीर्य का वयस अभी विवाह-योग्य नहीं है।" सत्यवती ने कहा।

"उसका वयस तो रति-प्रसंग के योग्य भी नहीं है; सुरा-पान के योग्य भी नहीं है।"

सत्यवती क्या कहती। यही बात कहीं वह पहले समझ गयी होती। राजा शान्तनु के कहने की सार्थकता उसने समझी होती, तो वह चित्रांगद को इस प्रकार क्यों गँवाती: और विचित्रवीर्य के प्राणों पर संकट क्यों आता। ...राजा ने ठीक ही कहा था, 'पँख उगने से पहले पक्षी अपने शिशुओं को नीड़ के बाहर नहीं जाने देते; और क्षत्रिय राजा ब्रह्मचर्य आश्रम की अवधि पूरी होने तक अपने राजकुमारों को राजप्रासादों में घुसने नहीं देते। कच्ची मिट्टी का भाँड बना कर कुम्भकार उसे तपने के लिए भट्टी में छोड़ देता है। पकने से पहले वह उस पर पानी की बूँद भी नहीं पड़ने देता; और पक जाने पर आकण्ठ जल भी कुम्भ का कुछ बिगाड़ नहीं सकता। ऋषिकुल राजकुमारों को तपाने-वाली भट्टियाँ हैं। राजकुमार उनमें तप कर जब अपनी राजधानियों में लौटते हैं तो पके हुए कुम्भ होते हैं। फिर उनमें कण्ठ तक भोग सामग्री भर दी जाये, या उन्हें भोग-सरोवर में डुबो भी दिया जाये, तो उनका कुछ नहीं बिगड़ता।...'

पर सत्यवती ने यही माना था कि भीष्म के प्रति अपने प्रेम के कारण राजा उसके पुत्रों को वंचित करने के लिए ही ऐसे सिद्धान्तों को गढ़ रहे थे ...अब भीष्म कह रहा है कि वह अपने कच्चे, गीले कुम्भ में थोड़ा-सा जल डाल ही दे, ताकि उसकी पेंदी गीली रहे और वह जल की तृष्णा में, सरोवर में आकण्ठ डूबने का प्रयत्न न करे...सम्भव है कि उस थोड़े-से जल से, उसकी पेंदी गल जाये या कुम्भ ही भहरा जाये।...पर यदि उसकी पेंदी को भी गीला न किया गया तो बहुत सम्भव है कि कुम्भ अपनी शुष्कता दूर करने के लिए सरोवर में छलाँग लगा दे, या अवसर मिलने पर अपनी चिर तृष्णा मिटाने के लिए आकण्ठ पान कर ले...

परिचारिका कह रही थी...पाँच-पाँच दासियाँ विचित्रवीर्य की सेवा में...

"मेरी समझ में तो कुछ भी नहीं आ रहा भीष्म!" सत्यवती बोली, "शायद तुम्हीं ठीक कह रहे हो पुत्र!...तो फिर किसी उपयुक्त राजकुमारी का संधान करो, जिसकी वृत्ति राजसिक नहीं, सात्विक हो...।"

सत्यवती लौट कर अपने कक्ष में आयी तो उसे लगा कि उसके शरीर में एकदम प्राण नहीं हैं, जाने उसकी सारी ऊर्जा कैसे समाप्त हो गयी थी...हाथ तक हिलाने की इच्छा नहीं हो रही थी।

वह आ कर पलंग पर लेट गयी।

"देखो!" उसने परिचारिका से कहा, "मैं विश्राम करना चाहती हूँ। बहुत आवश्यक होने पर ही किसी को आने देना...।"

उसने आँखें बन्द कर लीं। सारा दृश्य जगत विलुप्त हो गया; किन्तु नींद उसे तब भी नहीं आयी।

बन्द आँखों के सम्मुख यमुना के मध्य एक द्वीप उभर आया। द्वीप में एक आश्रम था और उसमें बैठा था कृष्ण द्वैपायन।...अब वह शिशु नहीं था। युवा हो चुका था। ब्रह्मचर्य की अवधि पूरी कर चुका था। पता नहीं उसने गृहस्थाश्रम स्वीकार किया या नहीं...

सत्यवती की बन्द आँखों के सामने कृष्ण द्वैपायन की मूर्ति साकार होने लगी: युवा ऋषि! साँवला रंग। सिर पर जटाएँ। लम्बी दाढ़ी और श्मश्रु! वह पद्मासन लगाये, आँखें मूँदे, ध्यान में लीन था...

और जाने अकस्मात ही क्या हुआ...कृष्ण द्वैपायन की जटाएँ खुल गयीं। दाढ़ी विलीन हो गयी। वल्कल वस्त्रों के स्थान पर रेशमी वस्त्र आ गये। सुन्दर केश विन्यास हो गया। ध्यान में मग्न आँखें खुल गयीं। उनमें अध्यात्म की तटस्थता नहीं, लालित्य था और एक चमक थी।...कृष्ण द्वैपायन, अपने आसन से उठा और राजसिंहासन पर आ बैठा। सत्यवती ने अपने हाथों से उसे विभिन्न प्रकार के आभूषण पहनाये और अन्त में उसके मस्तक पर किरीट रख दिया...

चारणों ने जयघोष किया, 'हस्तिनापुर के सम्राट चक्रवर्ती कृष्ण द्वैपायन की जय!'

सत्यवती ने अपने हाथ जोड़ दिये। उसकी आँखें ऊपर आकाश की ओर उठ गयीं, 'हे प्रभु! कहीं ऐसा सम्भव हो पाता...।'

22

भीष्म के द्वारा भेजे गये दूतों ने विभिन्न राज्यों से लौट कर जो संदेश उन्हें दिये, वे न केवल निराशाजनक थे, वरन कुरु वंश के लिए अत्यधिक अपमानजनक भी थे। जिन राजपरिवारों ने केवल नकारात्मक उत्तर भेजा था, उन्होंने तो मात्र इतना ही कहा कि विचित्रवीर्य का वय अभी विवाह-योग्य नहीं है। कुछ राजकुलों ने यह भी नहीं छिपाया था कि वह विचित्रवीर्य को स्वस्थ नहीं मानते। किन्तु, अन्य अनेक राजाओं ने इससे आगे बढ़ कर भी उत्तर दिये थे–'कुरु वंश का अब सम्मान ही क्या है? बूढ़ा राजा मर चुका है, क्षत्रिय राजकुमार सन्यास धारण कर चुका...अब वह विचित्रवीर्य सम्राट बनने-वाला है, जिसके शरीर में निषाद माता का रक्त है...निर्बल, रोगी, निर्वीर्य...ऐसे राजकुमार से कौन अपनी पुत्री का विवाह करेगा...'...कुछ राजाओं ने तो कुरु राज्य और कुरु वंश के सम्बन्ध में अनेक भविष्यवाणियाँ भी कर डाली थीं। उनका विचार था कि कुछ ही दिनों में या तो विचित्रवीर्य स्वयं ही मर जायेगा, या कोई दासी उसका गला घोंट देगी, या फिर कोई शक्तिशाली राजा उसका वैसे ही वध कर देगा, जैसे गन्धर्वराज ने चित्रांगद को मार डाला था...फिर कहाँ कुरु राज्य और कहाँ कुरु वंश...

दूत आते रहे और संदेश सुनाते रहे। भीष्म उन्हें सुनते रहे और आहत होते रहे...राजमाता पूछती थीं, 'कहीं से कोई संदेश आया?' और भीष्म निर्णय नहीं कर पाते थे कि क्या कहें...राजमाता को वह ठीक-ठीक बता देते तो कितना कष्ट होता उन्हें। और भीष्म ने तो उन्हें वचन दे रखा था कि हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर विचित्रवीर्य और उसके उत्तराधिकारी शासन करेंगे...

अन्ततः वह बात टाल देते, "दूत तो आ-जा रहे हैं; किन्तु अभी कुरु वंश की वधू बनने योग्य, कोई उपयुक्त कन्या नहीं मिली है...।"

अ से हो कर लौटा।

"राजकुमार!" उसने कहा, "काशिराज की विवाह योग्य तीन कन्याएँ हैं–अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका! वय की दृष्टि से वे तीनों ही युवराज विचित्रवीर्य से बड़ी हैं। सबसे छोटी, अम्बालिका का वय युवराज से कुछ ही अधिक होगा...।"

"क्या काशिराज हमारे युवराज के साथ अम्बालिका का सम्बन्ध करने को तैयार हैं?" भीष्म ने पूछा।

"नहीं!"

"कारण?"

"वह अपनी तीनों कन्याओं का स्वयंवर रच रहे हैं। उसमें वह देश-विदेश के राजाओं और राजकुमारों को आमन्त्रित कर रहे हैं। उनका कहना है कि युवराज विचित्रवीर्य स्वयंवर में भाग लेने के लिए सादर आमन्त्रित हैं। उसके पश्चात निर्णय राजकुमारियाँ स्वयं ही करेंगी।"

क्या वे कन्याएँ वीर्य-शुल्का हैं?

"नहीं आर्य!" दूत ने उत्तर दिया, "वहाँ मात्र स्वयंवर है। राजकुमारियाँ अपना वर चुनने के लिए पूर्णतः स्वतन्त्र हैं। उनका निर्णय ही काशिराज को मान्य होगा।"

भीष्म समझ रहे थे कि काशिराज ने उनका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया है, किन्तु स्पष्ट अस्वीकार भी नहीं किया है...उन्होंने एक मध्यम मार्ग निकाल लिया है...इस प्रस्ताव के लिए भीष्म न तो काशिराज को दोषी ठहरा सकते थे, न इसे अपना अपमान मान सकते थे। क्षत्रिय राजाओं में न केवल अपनी कन्याओं का स्वयंवर रचने का प्रचलन था वरन स्वयंवर अत्यन्त सम्मानजनक प्रथा समझी जाती थी। कुछ राजपरिवार अभी तक पुरानी परम्परा का निर्वाह भी कर रहे थे। वे वर पक्ष से अपनी इच्छानुसार धन ले कर, अपनी कन्या उन्हें सौंप देते थे। पर इसे आर्यावर्त के राजा अब बहुत सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते थे, जैसे वे कानीन-पुत्र और बहु-पतित्व का एकदम आदर नहीं करते थे।...विचित्र प्रकार का संक्रान्ति काल था–भीष्म सोचते चले गये–धन ले कर कन्या-दान शुद्ध रूप से पुरुष-प्रधान समाज की पैशाचिक वृत्ति थी। उसमें नारी को किसी प्रकार का कोई अधिकार नहीं था। वह किसी पशु या पदार्थ के समान अपने पिता अथवा भाई की इच्छा से किसी भी पुरुष को, कोई भी शुल्क ले कर प्रदान की जा सकती थी।...कानीन-पुत्र की प्रथा भी उसी समाज की देन थी। वह स्त्री को 'सृष्टि' का माध्यम मानता था। ऋतु-दर्शन होते

ही 'स्त्री' से अधिक-से-अधिक सन्तान प्राप्त करने का प्रयत्न। कन्या पिता के घर हो तो कानीन सन्तान, भार्या बन कर पति के घर आ गयी हो तो औरस-पुत्र...पर अब राजपरिवारों को कानीन-पुत्र मान्य नहीं हैं...किन्तु ऋषि आज भी उसे धर्मानुकूल ही पाते हैं–भीष्म का चिन्तन-प्रवाह चलता गया–बहुपतित्व इसके प्रतिकूल मातृसत्तात्मक समाज का अवशेष है। वहाँ स्त्री-प्रधान है। वह चाहे तो एक साथ कुल के अनेक पुरुषों से विवाह कर सकती है...

पर भीष्म यह सब क्यों सोच रहे हैं। उनकी समस्या तो और है। उन्हें विचित्रवीर्य के लिए एक उपयुक्त पत्नी चाहिए...काशिराज ने विचित्रवीर्य को भी आमन्त्रित किया है।...भीष्म यह नहीं कह सकते कि काशिराज ने कुरुओं की कहीं अवमानना की है।...किन्तु क्या विचित्रवीर्य को उनकी कोई कन्या स्वेच्छा से स्वीकार करेगी?... वह रोग-जर्जर शरीर, वह निस्तेज चेहरा, दुर्बल मन...विचित्रवीर्य का स्वास्थ्य इस योग्य नहीं था कि वह काशी तक की यात्रा भी कर सकता...

"दूत! तुम जाओ। विश्राम करो।" उन्होंने कहा।

दूत चला गया और भीष्म चिन्ता में डूब गये...कैसे होगा विचित्रवीर्य का विवाह?...स्थिति की इस गम्भीरता की कल्पना उन्होंने नहीं की थी। वह समझते थे कि क्षत्रियों के सर्वश्रेष्ठ कुलों से बहुत सुन्दर राजकुमारियाँ चाहे विचित्रवीर्य के लिए न मिल सकें, सम्राटों की पुत्रियों से चाहे उसका सम्बन्ध न हो सके, किन्तु साधारण राजपरिवारों से भी कोई कन्या विचित्रवीर्य के लिए नहीं मिल पायेगी...यह तो उन्होंने कभी नहीं सोचा था...

अब क्या कर सकते हैं वह?

कहीं से शुल्क दे कर भी कन्या मिल सकती, तो वह पीछे नहीं हटते। वीर्य-शुल्क होती तो विचित्रवीर्य के स्थान पर वह स्वयं जाते और वीरता का शुल्क स्वयं चुका कर विचित्रवीर्य के लिए कन्या ले आते। किन्तु काशिराज ने तो स्वयंवर किया है। अन्य राजा भी यही करेंगे। स्वयंवर का प्रचलन बढ़ रहा है। इसमें मात्र कन्या की इच्छा से वर चुना जाता है...और विचित्रवीर्य में ऐसा कुछ नहीं है कि कोई भी राजकुमारी उसे स्वयंवर में चुन ले...

तो क्या किसी कुरु-प्रमुख की कन्या से विचित्रवीर्य का विवाह कर दें या सूत वंश की किसी सुन्दरी से...या...या...किसी दासी से?...

पर नहीं! विचित्रवीर्य पर ही निषाद-कन्या का पुत्र होने का कलंक पर्याप्त नहीं है क्या, कि उसकी सन्तानों को कुछ और भी सुनना पड़े...विचित्रवीर्य की पत्नी तो किसी किरीटधारी राजा की पुत्री ही होनी चाहिए। हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठने-वाली अगली पीढ़ियाँ क्षत्रिय समाज में किसी प्रकार भी उपेक्षित नहीं होनी चाहिए...

अगले ही दिन सत्यवती ने पुन: पूछा, "विचित्रवीर्य के विवाह के लिए कोई व्यवस्था...?"

भीष्म की इच्छा हुई कि पूछें, 'आप उस निर्बल, अस्वस्थ, रोगी और असंयमी लड़के के विवाह के लिए इतनी आतुर क्यों हैं? क्या आप यह नहीं समझतीं कि ऐसे वर के लिए कन्या कहीं से नहीं मिल सकती। और यदि कहीं से कोई कन्या मिल भी गयी तो विचित्रवीर्य का शरीर और मस्तिष्क, उसका दुर्बल स्नायु-तन्त्र...दाम्पत्य जीवन का बोझ सह पायेंगे क्या?'

पर भीष्म जानते थे कि वह राजमाता को न ऐसा कुछ कह सकते हैं, न उनसे कोई ऐसा प्रश्न पूछ सकते हैं।...कुरुओं का राजसिंहासन भीष्म का था, उन्होंने स्वयं अपनी इच्छा से उसे त्यागा है। अब यदि वह एक भी ऐसा प्रश्न करेंगे, तो उसका अभिप्राय कहीं यह न समझ लिया जायेगा कि वह अपने त्याग पर पछता रहे हैं...कोई यह अर्थ न निकाले कि वह इस प्रतीक्षा में हैं कि विचित्रवीर्य का कोई उत्तराधिकारी न हो और कुरुओं का राज्य पुन: भीष्म के हाथ में आ जाये?...नहीं! भीष्म के मन मे ऐसा कुछ नहीं है, और वह ऐसा कुछ सुनना भी नहीं चाहते।...

गंगा-पार अपनी कुटिया में कितने प्रसन्न थे वह! न राज्य, न राज्य की समस्याएँ, न राज्य के उत्तराधिकारी की चिन्ता।...धीरे-धीरे कितनी भली प्रकार वह समझ रहे थे कि जिसे राज्य का धन, वैभव और सत्ता माना जाता है, वह और कुछ नहीं है, एक भ्रमजाल है। उसमें व्यक्ति एक बार प्रवेश कर जाये, तो उसके बन्धनों में बँधता ही जाता है। वह स्वयं को स्वामी समझता है और क्रमश: उस धन-वैभव और सत्ता का दास बनता जाता है–कैसे उसका भोग करूँ, कैसे उसकी रक्षा करूँ, कैसे उसका विस्तार करूँ–वह न स्वयं अपने आपको जान पाता है, न अपने स्रष्टा ब्रह्म को। वह तो उस माया का सेवक...नहीं बन्दी बन कर रह जाता है...

पर अब माया से मुक्ति का वह सुख भीष्म के लिए नहीं है।...उन्होंने राज्य त्याग दिया। पर त्यागना भी पर्याप्त नहीं है। जिसके लिए त्यागा है, उसके पास वह सुरक्षित रहना चाहिए...त्याग कर भी राज्य के झंझटों से वह मुक्त नहीं

हैं। उन्होंने माता सत्यवती को वचन दिया है कि हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर विचित्रवीर्य और उसकी सन्तानों की पीढ़ियाँ शासन करेंगी...

तो क्या करें भीष्म?

वह न तो स्वयं को इतना अक्षम मानते हैं कि अपने वचन का पालन न कर सकें और न वह इन राजाओं और सम्राटों को कुरु-कुल का अपमान करने देंगे...जब उन्होंने वचन दिया वै तो वह उसे पूरा करेंगे...चाहे कुछ हो...अपने धर्म का पालन तो उन्हें करना ही होगा...

काशी में स्वयंवर हो रहा है। एक नहीं, तीन-तीन कन्याओं का। क्षत्रिय समाज ने कन्याओं को अपना वर चुनने का अधिकार दिया है...पर साथ ही क्षत्रिय राजा के लिए कन्या-हरण भी गौरव का विषय है...

भीष्म चौंके।...क्या है उनके मन में? क्या वह काशिराज की कन्याओं के हरण की बात सोच रहे हैं?...किसी राजा की ओर से कन्यादान का प्रस्ताव नहीं आया है...विचित्रवीर्य इस योग्य नहीं है कि किसी स्वयंवर में जा कर किसी राजकुमारी का मन जीत सके।...तो फिर कुरु-कुल की लाज बचाने के लिए, कुरु-वंश के उत्तराधिकार की रक्षा के लिए, और अपने वचन को पूरा करने के लिए भीष्म को ही उद्यम करना पड़ेगा...

क्षत्रिय राजा कन्याओं का हरण करते हैं।...हाँ! पर अपने विवाह के लिए। और भीष्म ने अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा की है...फिर हरण में कन्या की अपनी इच्छा भी होती है...कन्या की इच्छा के विरुद्ध उसका हरण तो अपहरण हुआ...पर कन्या की इच्छा क्या है, यह कौन जानता है...इससे पहले कि कन्या अपने लिए वर का चुनाव करे, अपनी इच्छा प्रकट करे, भीष्म इन कन्याओं का हरण कर लें?

...पर क्या यह धर्मसंगत होगा?

कन्याओं का उनकी इच्छा के विरुद्ध, या कम-से-कम उनकी इच्छा के अभाव में हरण तो अधर्म होगा...

किन्तु भीष्म को लगा कि उनकी इच्छा के विरुद्ध धर्म के तर्क उनके मस्तिष्क में टिक नहीं रहे। अपनी प्रतिज्ञा के पालन की इच्छा उनके मन में इतनी दुर्दान्त थी कि अपने विरुद्ध कोई तर्क वह सुन ही नहीं रही थी।...उनकी इच्छा ने फुफकार कर कहा, 'क्षत्रिय द्वारा युद्ध-निमन्त्रण दे कर, शस्त्र बल के द्वारा, सार्वजनिक रूप से कन्या का हरण, अधर्म कैसे हो सकता है? युद्ध तो क्षत्रिय का धर्म है। युद्ध में कुछ भी विजय किया जा सकता है–धरती, गोधन, सम्पत्ति, स्त्री...प्रत्यक्ष युद्ध में वीरतापूर्वक किया गया प्रत्येक कृत्य धर्म है...'

किन्तु भीष्म को अपने लिए स्त्री नहीं चाहिए...कहीं कोई भ्रम न रहे...विचित्रवीर्य के लिए कन्या-जय वह कैसे करें?...

'क्यों' उनके मन ने तर्क किया, 'राजाओं के लिए उनके सेनापति विजय प्राप्त करते हैं। भीष्म भी हस्तिनापुर के राजसिंहासन के...' उनका मन रुक गया, 'क्या हैं राजसिंहासन के?–सेवक, सेनापति, मन्त्री, जनप्रमुख...?'

और उनके एक अन्य मन ने उन्हें डाँटा, 'सावधान भीष्म! तू राजा बन कर राज्य के मोह में नहीं फँसा तो अन्य पदों का क्या है।...तू राजसिंहासन का कुछ नहीं है। तू एक सभासद भी नहीं है। तू तो अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर!'

'हाँ!' उन्होंने सोचा, 'मैं अपने प्रतिज्ञा-धर्म का पालन करूँ। मैं अपने छोटे भाई के लिए कन्या-हरण कर लाऊँ। इसमें धर्म-विरुद्ध क्या है?...'

'पर धर्म एकांगी तो नहीं है भीष्म!' उनके मन ने कहा, 'कहीं तुम अपनी इच्छा पूर्ण करने के अपने बलशाली अहंकार को ही तो धर्म का पट नहीं पहना रहे? तुम्हें सोचना चाहिए कि कन्या की इच्छा क्या है।...'हाँ! सोचना तो चाहिए।' उन्होंने मन के साथ तर्क किया, 'किन्तु विवाह के संदर्भ में तो कन्या की इच्छा कई बार उसके पिता भी नहीं पूछते...। वह दान की वस्तु है। काशिराज ने उसका दान न किया। भीष्म अपने क्षात्र-बल से उसे जीत लायें और उसका दान कर दें...'

पर भीष्म का मन हँसा, 'साहसिक का दान भी कभी दान हुआ है क्या? ...वह मात्र अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए अपनी इच्छा बलात दूसरों पर आरोपित कर रहे हैं।'...उन्होंने मन को डाँटा, 'जब उन्होंने अपने पिता शान्तनु के लिए माता सत्यवती को प्राप्त करने के लिए दासराज को वचन दिया था, तब भी सत्यवती की इच्छा की चिन्ता उन्होंने नहीं की थी। राज्य त्यागने की प्रतिज्ञा की थी तो कुरु प्रदेश की प्रजा की इच्छा ही चिन्ता उन्होंने नहीं की थी...और जब अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा की थी तो कुरु-वंश के भविष्य की चिन्ता भी नहीं की थी...तो अब ही वह काशिराज की कन्याओं की चिन्ता क्यों करें...उन्होंने प्रतिज्ञा की है। वह अपनी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे। यही उनका धर्म

है।'

अपनी प्रतिज्ञाओं के अंधड़ के नीचे से एक धीमा-सा कोमल स्वर भी उन्हें सुनायी दे रहा था, 'तूने कंचन और कामिनी से दूर रहने के लिए प्रतिज्ञाएँ की थीं, या संसार में धँसे रहने के लिए?...'

और जैसे भीष्म लौट कर उस क्षण में जा खड़े हुए, जब वह माता सत्यवती को हस्तिनापुर लाये थे और पिता से मिलने गये थे। पिता ने कहा था, 'कर्म तुम्हारा है, स्वीकृति मेरी है...कह नहीं सकता कि कर्म-बन्धन कितना तुम्हें बाँधेगा और कितना मुझे...।'

'पिता!' भीष्म ने आकाश की ओर देखा।

23

"वीरसेन! रथ रोक दो।" भीष्म ने अपने सारथि को आदेश दिया।

वीरसेन ने घोड़ों की वल्गा खींची; किन्तु कहे बिना नहीं रह सका, "अभी नगर दूर है राजकुमार!"

"हमें नगर से दूर ही रहना है!" भीष्म ने धीरे-से कहा।

वीरसेन अपेक्षा-भरी दृष्टि से भीष्म की ओर देखता ही रह गया; किन्तु भीष्म और कुछ नहीं बोले। सारथि के मन में अनेक प्रश्न थे: जब काशिराज की कन्याओं के स्वयंवर के लिए आये हैं, तो नगर के बाहर वन में रुकने का क्या अर्थ है, कोई मृग्या के लिए तो आये नहीं हैं।...पर वह राजकुमार से यह सब कह नहीं सकता था। उसे तो आदेश का पालन ही करना था।

भीष्म समझ रहे थे कि वीरसेन के मन में क्या है; किन्तु उसे इससे अधिक कुछ बताने का औचित्य वह नहीं मानते थे। अभी तो बहुत कुछ उनके अपने मन में भी स्पष्ट नहीं था, कि उन्हें क्या करना है, किस समय करना है; और किस विधि से करना है। इतना निश्चित था कि वह यहाँ से विचित्रवीर्य के लिए पत्नी प्राप्त करके ही जायेंगे...

उन्हें या हस्तिनापुर के राज्य को काशी-नरेश ने इस स्वयंवर के लिए स्वयं निमन्त्रण नहीं भेजा था। हाँ! हस्तिनापुर के दूतों से अवश्य कहलवा दिया था।...ऐसा कोई नियम तो नहीं था कि बिना निमन्त्रण के स्वयंवर में जाया नहीं जा सकता था; किन्तु अधिक सम्माननीय तो यही था कि हस्तिनापुर के राजकुमारों को भी निमन्त्रित किया जाता।...इस समय तो विचित्रवीर्य की पत्नी के रूप में उन्हें किसी उपयुक्त राजकन्या की खोज थी ही, अन्यथा भी शायद काशिराज द्वारा की गयी हस्तिनापुर की इस अवहेलना का दण्ड देने के लिए उन्हें काशी तक की यात्रा करनी ही पड़ती।...जो भी हो, वह नगर में प्रवेश कर, स्वयंवर के लिए आमन्त्रित क्षत्रिय समाज के बीच रहना नहीं चाहते थे। राजकर्मचारियों को यह सूचित करने की उनकी तनिक भी इच्छा नहीं थी कि निमन्त्रण के अभाव में भी वह स्वयंवर में सम्मिलित होने के इच्छुक हैं। न वह यह विचार किसी के मन में आने देना चाहते हैं कि काशिराज ने चाहे हस्तिनापुर की कितनी ही उपेक्षा क्यों न की हो, हस्तिनापुर काशी की उपेक्षा नहीं करता...

भीष्म रथ से उतर आये थे और गंगा के इस तट-प्रदेश को निहार रहे थे। गंगा तो हस्तिनापुर में भी थी। सहसा उनका ध्यान इस ओर गया...अब तक तो उन्होंने सोचा ही नहीं था। हस्तिनापुर और काशी में तो यह एक विशिष्ट सम्बन्ध है। यह दोनों नगरियाँ गंगा के तट पर बसी हुई हैं। इनका पालन-पोषण गंगा ने ही किया है। ये दोनों गंगा की पुत्रियाँ हैं...और भीष्म तो गंगा के ही पुत्र हैं। तो फिर काशी ने हस्तिनापुर के साथ सौहार्दपूर्ण व्यवहार करने के स्थान पर यह उपेक्षा का भाव क्यों अपनाया है...यदि काशिराज ने हस्तिनापुर को भी बन्धु के रूप में अपने आयोजन में सम्मिलित होने का निमन्त्रण भेजा होता तो शायद भीष्म अत्यन्त सद्भावना के साथ आये होते। उन्होंने विचित्रवीर्य के लिए काशिराज से एक राजकुमारी की याचना की होती। काशी के इस मांगलिक आयोजन में आत्मीय बन्धु के रूप में सम्मिलित हुए होते...तब वह क्यों इस प्रकार नगर से बाहर, आमन्त्रित राज-समाज से विलग, वन में ठहरते...

उनकी दृष्टि गंगा-तट पर वृक्षों के एक झुण्ड पर पड़ी। कैसे पाँच-छह वृक्ष एक साथ जुड़े खड़े थे, जैसे परस्पर गले मिल रहे हों, या किसी गोपनीय परामर्श में संलग्न हों। छाया की दृष्टि से यह अच्छा स्थान था। तट से बहुत दूर भी नहीं था। कगार के नीचे उतरते ही गंगा की धारा थी। काशी आने-जाने वाले मार्गों से भी यह स्थान हट कर था। यहाँ रहने पर सभी आने-जाने वालों की दृष्टि में व्यर्थ ही पड़ने से भी वह बच जायेंगे। वह नहीं चाहते थे कि वे प्रत्येक यात्री की दृष्टि में पड़ कर एक व्यर्थ की-सी उत्सुकता और जिज्ञासा को प्रेरित करें। लोग जानना चाहें कि यहाँ कौन ठहरा है, और जब पता चल जाये तो पूछें कि क्यों ठहरा है?...उनके द्वारा सूचनाएँ काशी तक पहुँचें और काशी की वीथियों में यह चर्चा फैल जाये कि भीष्म किसी दस्यु के समान वन में छिपे बैठे हैं...

"वीरसेन!" उन्होंने पुकार कर कहा, "इस स्थान पर अपना शिविर स्थापित करो!"

"राजकुमार!"

उन्होंने वीरसेन की ओर देखा: शायद वह यही कहना चाह रहा था कि वह वन में क्यों शिविर स्थापित कर रहे हैं, पर कहने का साहस नहीं कर पा रहा था।...

"वीरसेन! हम आमन्त्रित नहीं हैं। अपनी इच्छा से आये हैं। अत: काशिराज के आतिथ्य का लाभ नहीं उठाना चाहते।"

वीरसेन कुछ समझा, कुछ नहीं समझा। पर इससे अधिक की अपेक्षा भी वह नहीं कर सकता था। समझ गया कि राजकुमार में मन में बहुत कुछ है, पर शायद वे गोपनीय योजनाएँ हैं। उसे केवल आज्ञाओं का पालन करना है; अत: आज्ञापालन से ही सन्तुष्ट रहना होगा।

पीछे-पीछे आने-वाले दोनों रथ भी आ पहुँचे। उनमें कुछ सेवक थे और शेष शस्त्र-ही-शस्त्र। भीष्म अपने साथ एक भी योद्धा नहीं लाये थे।...

स्वयंवर-मण्डप एक व्यापक क्षेत्र को घेर कर बनाया गया था। यह स्थल नगर-प्राचीर के भीतर गंगा के घाटों के साथ लगता था और आमन्त्रित राजाओं के डेरे भी निकट ही थे। सैनिकों और सेवकों का स्थान वहाँ से कुछ हट कर था।

भीष्म स्वयंवर स्थल पर पहुँचे तो अनेक क्षत्रिय राजा अपने दो-एक निजी सेवकों के साथ वहाँ वर्तमान थे। काशिराज के सेवक और व्यवस्थापक लगातार उनके सत्कार में लगे हुए थे। स्वयंवर के आरम्भ होने के अभी कोई लक्षण नहीं थे; किन्तु शायद ये राजा लोग अभी से उसकी अपेक्षा भी नहीं रखते थे। यह शायद उनका सामाजिक स्नेह-मिलन था। वे परस्पर परिचय बढ़ाने में लगे थे। सम्भव है कि अनेक प्रकार के व्यक्तिगत और राजकीय सम्बन्ध यहाँ टूटते और जुड़ते हों। भीष्म को इसका कोई अनुभव नहीं था। भीष्म कभी इस सामाजिकता के अंग ही नहीं रहे। आज भी उनकी इसमें कोई रुचि नहीं थी...

भीष्म ने तटस्थ भाव से उस राज-समाज का निरीक्षण किया: विभिन्न वेश-भूषाओं में सजे, विभिन्न आकृतियों के राजा और राजकुमार एकत्रित थे वहाँ। अधिकांशत: नवयुवक थे, जो भीष्म को अत्यन्त चुभती हुई दृष्टि से देख रहे थे...सहसा भीष्म का ध्यान अपने वय की ओर चला गया: वह अब पचपन वर्ष के होने को आये थे। केशों में कहीं-कहीं सफेदी आ गयी थी। दाढ़ी की श्वेत रेखाएँ तो दूर से भी दिखायी देती थीं...सहसा जैसे उन्हें उन नव-युवकों की दृष्टि का अर्थ समझ में आने लगा...कदाचित वे समझ रहे थे कि भीष्म भी स्वयंवर के प्रत्याशी हैं...भीष्म के भीतर जैसे एक चुहल-सी मचल गयी...स्वयंवर का प्रत्याशी और भीष्म!

उनकी दृष्टि अपने-आप से हट कर एक प्रौढ़ वय के राजा पर पड़ी: यह क्या कर रहा है यहाँ? सम्भवत: वह भी भीष्म के ही समान, किसी और के लिए आया होगा।...भीष्म के समान? पर भीष्म के समान कहाँ है वह। भीष्म के केश और दाढ़ी की श्वेतता उन्हें अपने वय से भी अधिक दिखा रही थी और उस प्रौढ़ राजा ने कदाचित अपने नापित...या शायद सैरिन्ध्री की सहायता से उस श्वेतता को कलुषित कर रखा था...रंगे हुए बाल! भीष्म के मन में वितृष्णा जागी, क्या इन काले दिखने-वाले बालों से ही व्यक्ति युवक हो जायेगा? केशों की कालिमा क्या मुखाकृति की झुर्रियों को भी छिपा लेगी? और यदि झुरियाँ छिप भी जायें तो व्यक्ति का यौवन लौट आयेगा? युवा होना महत्त्वपूर्ण है या युवा दिखना? और किसलिए चाहिए इनको यौवन? नये विवाह के लिए? किसी राजकुमारी को भ्रमित करने के लिए? काम के दास बने रहने के लिए? यदि काम इन्हें छोड़ रहा है तो यह अपनी मुक्ति को पहचानने के स्थान पर लोलुप पँजों से उसे पकड़ने का प्रयत्न कर रहे हैं...केश ही नहीं रंगे, और भी अनेक आयोजन किये हैं...लगता है, गंगा-जी में नहीं नहाये, सुगन्धित सरोवर में डुबकी लगा कर आये हैं...

उद्घोषक ने स्वयंवर की कार्यवाही आरम्भ होने की घोषणा की। राजा लोग अपने-अपने स्थानों पर आ गये; और भीष्म को भी परिचालर को अपना परिचय देना पड़ा, "सम्राट शान्तनु के पुत्र, हस्तिनापुर के राजकुमार देवव्रत भीष्म!"

परिचारकों ने आश्चर्य से उनकी ओर देखा; पर तत्काल ही उनके लिए सम्मानपूर्ण स्थान की व्यवस्था कर दी गयी।

भीष्म का परिचय क्षण-भर में ही जैसे बहते हुए जल के समान फैलता चला गया। उनसे छिपा नहीं रहा कि अनेक उत्सुक और अनेक विरोधी दृष्टियाँ उन्हें देख रही थीं और अनेक प्रकार के स्वर भी उनके कानों से आ-आ कर टकरा रहे थे। स्पष्टत: कहने-वाले लोग या तो सावधान नहीं थे या वे इस रूप में सावधान थे कि परस्पर के वार्तालाप में कही हुई उनकी बात, इतने उच्च स्वर में तो कही ही जाये कि भीष्म उसे सुन अवश्य लें।

"हमने तो सुना था कि भीष्म ने संन्यास ले लिया है।"

"सन्यास का तो पता नहीं, पर हाँ! यह तो मुझे भी बताया गया था कि उसने आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करने की प्रतिज्ञा की थी।"

"ब्रह्मचर्य का पालन करने की ही तो प्रतिज्ञा की थी, स्वयंवर में सम्मिलित न होने की तो प्रतिज्ञा नहीं की

थी।"

"अरे तो यहाँ ही कौन उसके गले में जयमाला डालने को उत्सुक बैठा है। बेचारा बैठा है, राजकुमारियों को देख कर कुछ नयन-सुख प्राप्त कर लेगा, तो किसी का क्या बिगड़ जायेगा...।"

"पर इसने तो राज्य भी त्याग दिया था न?"

"हाँ।"

"तो राजकुमारियों के स्वयंवर में इसे किसने घुसने दिया?"

भीष्म की इच्छा हुई कि मुड़ कर कहने-वाले उस व्यक्ति को तनिक देखें।...पर दूसरे ही क्षण उनका विवेक जागा...क्यों देखना चाहते हैं, वह उस व्यक्ति को?...अभी तो वह मात्र स्वर ही है। यदि उन्होंने उस व्यक्ति को देख लिया तो वह स्वर साकार हो कर उनको विरोधी, अपमान करने-वाला दिखने लगेगा। ऐसे में उनका हाथ अपने धनुष पर चला जायेगा...और क्षत्रिय का हाथ अपने धनुष पर चला जाये तो परिणाम प्रलयंकारी भी हो सकता है...

उनके चिन्तन ने नया मोड़ लिया...स्वयंवर में उनका उपस्थित होना मात्र, यदि क्षत्रिय राजाओं के इस समाज में यह प्रतिक्रियाएँ जगा रहा है, तो यदि उन्होंने काशिराज से आग्रह किया कि वह उन्हें विचित्रवीर्य के साथ विवाह करने के लिए, एक कन्या प्रदान कर दें...तो क्या प्रतिक्रिया होगी इस राज-समाज में?...

इस बीच काशिराज सभास्थल में आ गये; और स्वयंवर के सम्बन्ध में अपनी इच्छा और प्रतिज्ञाओं की घोषणा कर रहे थे, "मेरी ज्येष्ठ पुत्री अम्बा है..."

भीष्म की दृष्टि अम्बा पर पड़ी...राजकुमारी सुन्दर थी...असाधारण सुन्दरी! कैसे तेज से राज-समाज को देख रही थी, जैसे चुनौती दे रही हो...है कोई तुम में, जो मेरा पति बनने योग्य हो?...उसकी बड़ी-बड़ी आँखें थोड़ी देर के लिए झुकतीं भी तो पुन: उठ कर जैसे राजाओं के उस समाज में किसी को खोजने लगतीं...उसमें वयसन्धि का विभ्रम नहीं था...नव-यौवना का संकोच नहीं था। वह तो पूर्ण युवती थी, जो अपने पति को सहज अधिकार के रूप में खोज रही थी।

उसका वय सत्ताइस-अट्ठाइस वर्ष से कम नहीं रहा होगा। सम्भव है, उससे वर्ष-दो वर्ष अधिक ही हो...अभी तक काशिराज ने राजकुमारी का...अम्बा का...विवाह क्यों नहीं किया?...इस वयस तक तो राजकुमारियाँ अविवाहित नहीं रहती हैं...

सहसा भीष्म के मन में एक नया भाव जन्मा–'स्वयंवर' का तो अर्थ यही है, जहाँ राजकुमारी स्वयं अपने पति का वरण कर सके। उसके लिए आवश्यक है कि राजकुमारी विकसित बुद्धि की तो हो। कम वय की राजकुमारियाँ स्वयं वर चुनने का दायित्व नहीं निभा सकतीं। वे तो स्वयंवर का नाम ही करती हैं, वस्तुत: वे अपने पिता की ही इच्छा के अनुकूल चलती हैं...अम्बा, वस्तुत: स्वयंवर के लिए उपयुक्त वय में है...पर वय...हाँ! विचित्रवीर्य अभी छोटा है, कठिनाई से अभी सत्रह वर्ष का होगा। अम्बा उसके लिए उपयुक्त पत्नी नहीं हो सकती...

पर अम्बा सुन्दरी है। हस्तिनापुर की राजवधू होती तो राजप्रासाद की शोभा होती...और तभी जैसे भीष्म के भीतर का चिंतक जाग उठा–'क्या सुन्दर है अम्बा में?' भीष्म की दृष्टि उठ कर अम्बा की मुखाकृति को निहारने लगी–'क्या सुन्दर है इस राजकुमारी में? क्या असाधारण है?'

'कुछ भी ऐसा सुन्दर नहीं है भीष्म!' उनके विवेक ने कहा, 'यौवन का आकर्षण ही सब-कुछ होता है।...प्रकृति ने मनुष्य को बनाया ही ऐसा है। नारी के रूप में लोहे के कण डाल दिये हैं और पुरुष की दृष्टि में चुम्बक के तत्त्व! आकर्षण, नारी के रूप में नहीं, दुर्बलता पुरुष के हृदय में होती है...तुमने मात्र अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा नहीं की है; तुमने ब्रह्मचर्य-पालन की प्रतिज्ञा की है। तुमने अपने पिता को देखा है: उन्होंने काम-सुख कम, काम-यातना अधिक पायी। यह जो कुछ भी कहलाता है, यह दुख का मायावी मुखौटा है। तुम्हें मुखौटे के पीछे छिपे चेहरे को पहचानना होगा।...अपने हृदय के चुम्बक को घिस कर, चूर्ण बना कर बहा दे। तेरा संकल्प प्रकृति के बन्धनों को तोड़ने का है, अपनी सीमाओं के अतिक्रमण का है। प्रकृति के माया-जाल से निकलना है, तो उन खूँटों को पहचान, जो प्रकृति ने तुझे दास बनाये रखने के लिए, तेरे भीतर रखे हैं...'

भीष्म ने अपने मस्तिष्क को झटका। यह सब क्या सोच रहे हैं वह?...वह यहाँ विचित्रवीर्य के लिए एक पत्नी प्राप्त करने के लिए आये हैं। और उन्होंने देख लिया है कि अम्बा वय की दृष्टि से विचित्रवीर्य की पत्नी होने योग्य नहीं है...इससे अधिक राजकुमारी में उनकी रुचि का अर्थ...

और तभी दूसरी राजकुमारी आयी और काशिराज ने घोषणा की, “यह मेरी दूसरी पुत्री है अम्बिका!”

भीष्म ने देखा: अम्बिका, अम्बा से कम-से-कम पाँच-सात वर्ष अवश्य छोटी होगी। विचित्रवीर्य की पत्नी होने के लिए, वह भी बड़ी ही थी; किन्तु इनका अन्तराल कम था। आपद्धर्म के रूप में उसका विवाह विचित्रवीर्य से किया जा सकता था, यद्यपि वह आदर्श युगल नहीं होता...अम्बिका की मुखाकृति पर अम्बा जैसा तेज नहीं था। उसके रूप में प्रखरता के स्थान पर कोमलता थी। वह जैसे बौरायी-सी खड़ी थी और शायद चाहती थी कि या तो तत्काल यहाँ से हट जाये, या फिर अपनी आँखें बन्द कर ले...

तभी तीसरी राजकुमारी आयी। और काशिराज ने कहा, “यह मेरी तीसरी पुत्री है अम्बालिका!”

अम्बालिका...यह अम्बिका से भी चार-पाँच वर्ष छोटी थी। सुन्दर थी...किशोरी-सी। हो सकता है, विचित्रवीर्य से दो-एक वर्ष बड़ी हो...किन्तु तीनों बहनों में वय की दृष्टि से वही विचित्रवीर्य के निकटतम थी...

‘काशिराज ने अपनी बड़ी पुत्रियों का विवाह आज तक क्यों नहीं किया?’ भीष्म के मन में प्रश्न पुन: गूँजा, ‘क्या उनको भी अपनी पुत्रियों के लिए उपयुक्त वर नहीं मिला?...पर अम्बा को देख कर यह तो नहीं लगता कि ऐसी रूपवती राजकुमारी को कोई वर ही नहीं मिला होगा...या कोई और कारण?...’

राजकुमारियाँ वरमाला हाथों में लिए मंच को छोड़ नीचे उतर आयीं।

...भीष्म जैसे स्वप्नलोक से जागे...वह दार्शनिक चिन्तन करने, या विश्व-भर की समस्याओं को सुलझाने यहाँ नहीं आये हैं।...उनका निश्चित उद्देश्य है। वह अपने धर्म का पालन करने आये हैं।...उनका वचन...

राजकुमारियाँ धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थीं। काशिराज के परिचारक उन्हें एक-एक राजा और राजकुमार का परिचय दे रहे थे। उनका परिचय समाप्त होता, तो राजा के अपने चारण उनकी प्रशंसा आरम्भ कर देते। राजकुमारियाँ सुनती रहतीं और फिर आगे बढ़ जातीं।

...सामान्यत: स्वयंवरों में राजकुमारियाँ एक बार सारे स्वयंवर-स्थल में घूम कर प्रत्याशियों का परिचय प्राप्त कर लेती हैं–ऐसा भीष्म ने सुना था–और फिर अपने चुनाव के अनुसार दूसरी बार जा कर अपने प्रिय व्यक्ति के गले में जयमाला डाल देती हैं। किन्तु...भीष्म हल्की चिन्ता के साथ सोच रहे थे, ‘यदि यह चुनाव, पहले हो चुका हो। राजकुमारी या उसके पिता पहले से निर्णय कर चुके हों कि सम्बन्ध कहाँ होना है, तो फिर स्वयंवर तो एक आडम्बर मात्र ही रह जाता है।...’ और भीष्म की चिन्ता जैसे घनीभूत-सी होने लगी, ‘यदि काशिराज की इन पुत्रियों ने भी पहले ही यह निर्णय कर लिया हो और भीष्म तक पहुँचने से पूर्व ही उन्होंने अपना वर चुन लिया तो?...जयमाला गले में डालते ही, विवाह सम्पन्न हो गया मान लिया जायेगा।...ऐसे में विवाहिता राजकुमारियों का अपहरण नहीं किया जा सकता...वह अधर्म होगा, अन्याय...ऐसा तो दस्यु लोग ही करते हैं...’

राजकुमारियाँ कुछ और आगे आ गयी थीं...पर भीष्म को लग रहा था कि उनकी आगे बढ़ने की गति अत्यन्त धीमी है। ऐसे तो उन्हें भीष्म तक पहुँचने में बहुत समय लगेगा...उनके मन में काशिराज के परिचारकों के प्रति खीझ जन्मी, क्यों उन्होंने भीष्म को यहाँ, इतनी दूर बैठा दिया...और सहसा वह चीझ पलट कर स्वयं भीष्म के अपने ऊपर आरूढ़ हो गयी। वह यहाँ बैठे ही क्यों? वह स्वयंवर में प्रत्याशी के रूप में भाग लेने नहीं आये हैं। तो फिर वह स्वयंवर के सारे नियम, सारे प्रतिबन्ध क्यों स्वीकार कर रहे हैं...या तब यदि वह इस स्थान पर बैठ भी गये थे तो अब क्यों उठ खड़े नहीं होते...वह उठें, आगे बढ़ें और कहें कि वह इस स्वयंवर के किसी नियम को नहीं मानते...

ऊहापोह में समय बीत रहा था और राजकुमारियाँ आगे बढ़ रही थीं। अब वे भीष्म से बहुत दूर नहीं थीं और संयोग से अभी तक उनमें से किसी राजा या राजकुमार को चुना नहीं था...

भीष्म की चिन्ता कुछ कम हुई। अब इतने थोड़े-से समय में ऐसा सम्भव नहीं है कि तीनों-की-तीनों राजकुमारियाँ किसी का वरण कर लें...

और क्रमश: वे आ कर भीष्म के सम्मुख खड़ी हुईं। भीष्म ने देखा: अम्बा उनकी ओर देख रही थी, एक परख भरी दृष्टि से। उसकी दृष्टि में जिज्ञासा थी, कई प्रश्न थे।...अम्बिका की दृष्टि इतनी झुकी हुई थी, कि उसकी आँखें प्राय: बन्द-सी लग रही थीं। अम्बालिका का जैसे अपना कोई अस्तित्व नहीं था, वह अपनी बहनों के साथ बँधी-बँधी चल रही थी...दबी-झुकी, संकुचित-सी...

परिचारक ने भीष्म का परिचय दिया, “राजकुमारी! यह हस्तिनापुर के राजकुमार देवव्रत हैं। इन्होंने अपने पारिवारिक कारणों से, स्वेच्छा से राज्याधिकार त्याग दिया है; और आजीवन ब्रह्मचर्य के पालन की प्रतिज्ञा की है।

इन्हीं प्रतिज्ञाओं के कारण इनके पिता ने इन्हें 'भीष्म' की संज्ञा दी है। विवाह न करने की प्रतिज्ञा करने-वाले यह राजकुमार इस स्वयंवर में..."

और तभी भीष्म उठ खड़े हुए, "ठहरो परिचारक! देवव्रत भीष्म इस स्वयंवर में विवाह के प्रत्याशी के रूप में नहीं आया है।"

अम्बा ने जैसे चौंक कर भीष्म को देखा और भीष्म को लगा कि अम्बिका की आँखें भी जैसे खुल गयीं और अम्बालिका की अन्यमनस्कता भी कुछ दूर हो गयी। आस-पास बैठे राजाओं की आँखों में भी अनेक प्रश्न उभर आये थे।

भीष्म ने अपना स्वर ऊँचा किया और घोषणा-सी करते हुए कहा, "काशिराज, काशी का राजपरिवार और उपस्थिति सभी राजागण सुनें। मैं इस क्षत्रिय समाज के सम्मुख काशी की इन राजकुमारियों का हरण कर रहा हूँ। आप सब वीर हैं, शस्त्रधारी हैं और योद्धा हैं। मेरे साथ युद्ध करने और मुझे रोकने के लिए आप स्वतन्त्र हैं। मेरा वध कर, इन राजकुमारियों को पुन: प्राप्त भी कर सकते हैं।...यदि मेरा वध हुआ तो राजकुमारियाँ स्वयंवर में विधिपूर्वक अपना वर चुनने में स्वतन्त्र हैं और यदि आप पराजित हुए तो मैं क्षत्रिय धर्म के अनुसार इन्हें हस्तिनापुर ले जाऊँगा।"

भीष्म ने अपना विशाल धनुष उठाया, "राजकन्याओ! मण्डप से बाहर चलो। वहाँ मेरा रथ प्रतीक्षा कर रहा है...!"

अम्बा ने दृष्टि उठा कर अपने पिता की ओर देखा: काशिराज किंकर्तव्यविमूढ़-से खड़े कभी भीष्म को देख रहे थे, कभी अपनी कन्याओं को; और कभी राजाओं की उपस्थित भीड़ को।...पिता ने शायद अपनी कन्याओं के हरण जैसी किसी घटना की कल्पना भी नहीं की थी। उन्होंने अपनी सेना को ऐसी किसी आपात स्थिति के लिए सन्नद्ध भी नहीं रखा था। जहाँ-तहाँ कुछ प्रहरी अवश्य खड़े थे; किन्तु वे राजसी शोभा के ही अंग थे। वे भीष्म के साथ युद्ध जैसे दुर्धर्ष कृत्य के लिए किसी भी रूप में प्रस्तुत नहीं थे।...और वैसे भी अम्बा को बहुत संदेह था कि पिता की सेना यदि तैयार हो कर लड़ने भी आये, तो क्या भीष्म जैसे योद्धा का सामना कर पायेगी?

तो फिर पिता ने स्वयंवर जैसा जोखिमपूर्ण आयोजन क्यों किया? जहाँ इतने राजा एकत्रित हों...और सारे-के-सारे योद्धा हों, वहाँ इस प्रकार की स्थिति तो उपस्थित हो ही सकती है। कोई भी राजा युद्ध की चुनौती दे सकता है...या कहीं, पिता को इन उपस्थित राजाओं का ही तो भरोसा नहीं था। कहीं इन्हीं राजाओं की शक्ति पर ही तो अपनी सुरक्षा का विश्वास नहीं किये बैठे थे पिता...

उसकी दृष्टि राजाओं की उपस्थित भीड़ पर पड़ी: वे सबके सब खड़े थे। उनके हाथों में धनुष-बाण नहीं, बहुमूल्य उत्तरीय थे। उनकी भुजाओं में अंगद और कंगन थे, गले में बहुमूल्य रत्नमालाएँ थीं...

"राजकन्याओ!" भीष्म ने उन्हें पुन: सम्बोधित किया, "मुझे बल प्रयोग न करना पड़े। तुम लोग चल कर रथ में बैठो। तब तक यह राज-समाज सोच ले कि इसे युद्ध करना है या नहीं।"

दोनों छोटी बहनों ने अम्बा की ओर देखा। अम्बा शायद अपना निर्णय ले चुकी थी। उसने संकेत किया, "चलो।"

राजकन्याएँ चलीं तो अम्बा को ही नहीं, स्वयं भीष्म को भी आश्चर्य हुआ कि योद्धाओं का वह समाज उनके मार्ग में आड़े आने के स्थान पर फटता चला गया और उनके लिए मार्ग बनता गया...

काशिराज ने चीत्कार किया, "राजागण! मेरा क्या है, मैं मान लूँगा कि मैंने स्वयंवर में अपनी पुत्रियाँ वीर्यशुल्का घोषित कर दीं। भीष्म ने वीरता दिखायी और उन्हें हर कर ले गया; पर तुम लोग संसार को क्या मुख दिखाओगे?..."

रथ पर पग धरते समय अम्बा की दृष्टि एक बार फिर राजाओं पर पड़ी। ...सौभराज शाल्व ने अपना उत्तरीय शरीर से हटा दिया था। वह चिल्लाया, "भीष्म! रुको। तुम ऐसे नहीं जा सकते। और कोई तुमसे लड़े या न लड़े; पर मैं तुम्हें इस प्रकार नहीं जाने दूँगा। ठहरो! मैं कवच धारण कर लूँ...।"

भीष्म मुस्कुराये, "शाल्व! मैं खड़ा हूँ। तुम ही क्यों, इन सारे राजाओं से कहो कि ये लोग युद्ध-वेश सजा लें; कवच पहन लें; अस्त्र-शस्त्र धारण कर लें; रथ और सारथि मँगवा लें। मैं तुम्हें असावधान पा कर आकस्मिक आक्रमण कर कन्याओं को ले कर भाग जाने वाला दस्यु नहीं हूँ। मैं भरत वंश का क्षत्रिय हूँ। चुनौती दे चुका। अब तुम्हें तैयारी के लिए समय दे रहा हूँ। युद्ध का अवसर भी दूँगा। बिना युद्ध किये इन कन्याओं का हरण कर ले गया तो इन राजकुमारियों का ही महत्त्व कम हो जायेगा। मैं नहीं चाहता कि कल कोई कहे कि भीष्म ने उन कन्याओं का हरण किया, जिनके लिए युद्ध करने को कोई राजकुमार तैयार नहीं था।"

राजकुमारियाँ रथारूढ़ हुईं और भीष्म अपना धनुष ले कर सन्नद्ध खड़े हो गये। नगर से बाहर, शिविर में छोड़े हुए दोनों रथों को भी उनके सारथि हाँक लाये। उनमें शस्त्रास्त्र लदे थे। वे दोनों रथ, भीष्म के रथ के दायें-बायें खड़े हो गये।

भीष्म आश्वस्त थे। उनके पास पर्याप्त शस्त्रास्त्र थे। शस्त्र-परिचालन का कौशल उन्हें अपने महान गुरुओं से मिला था; और उनके विश्वसनीय सेवक उनके साथ थे। यह सारा राज-समाज मिल कर भी उनके सम्मुख टिक नहीं पायेगा...

अम्बा जैसे एक आँख से शाल्व को देख रही थी और दूसरी आँख से भीष्म को। शाल्व के सेवक उसके लिए कवच और शस्त्रास्त्र ले आये थे और वह कवच धारण कर रहा था। भीष्म आश्वस्त खड़े मुस्कुरा रहे थे–कैसा आत्मविश्वास था भीष्म में! ऐसा योद्धा तो अम्बा ने पहले कभी नहीं देखा था।

थोड़ी ही देर में स्वयंवर का मण्डप, रणक्षेत्र में परिणत हो गया। परिचारक हट गये, दासियाँ विलुप्त हो गयीं। राज-परिवार और उनके सम्बन्धी कहीं दिखायी नहीं दे रहे थे। जिन काशिराज को आतिथेय के रूप में इतना समर्थ होना चाहिए था, कि वे सारे क्षत्रिय राजा परस्पर लड़ पड़ते तो वह इन सबका अनुशासन कर सकते, इनकी सुरक्षा का दायित्व ले सकते; वह दूर एक कोने में असहाय-से खड़े थे...जाने क्या था उनके मन में!

युद्ध शाल्व ने ही आरम्भ किया। पहला बाण उसी ने छोड़ा, किन्तु तब तक अन्य अनेक राजा युद्ध के लिए तैयार हो गये थे। विभिन्न शस्त्रों की झंकार और मानव-कण्ठों का कोलाहल बहुत था, किन्तु प्रमुख तो धनुष ही था। दोनों ओर से बाण चल रहे थे।...किन्तु अम्बा ने आश्चर्य से देखा: कहीं ऐसा आभास नहीं हो रहा था कि एक ओर अकेले भीष्म हैं और दूसरी ओर अनेक वीर और युद्ध-प्रिय राजा! बराबर का युद्ध था। जितने बाण इतने सारे राजा मिल कर छोड़ते थे, उन सबका तोड़ अकेले भीष्म के पास था। शाल्व और अन्य राजाओं के बाण भीष्म तक नहीं पहुँच रहे थे। भीष्म के बाण उन्हें मार्ग में ही निरस्त कर देते थे।...और तब शायद अम्बा ने पहली बार समझा था कि युद्ध शरीर का बल नहीं था, युद्ध शायद मन का साहस भी नहीं था, युद्ध तो मात्र-कौशल था। शस्त्रों का ज्ञान था। शस्त्रास्त्रों का चुनाव था। अकेले भीष्म का कौशल, इतने राजाओं के सम्मिलित बल पर भारी पड़ रहा था। आख़िर भीष्म के बाणों में क्या था कि शेषनाग के समान वे शत्रुओं के शस्त्रास्त्रों को ऐसे खा लेते थे, जैसे वे मात्र केंचुए हों। लगता था कि सम्मिलित राज-समाज केवल अन्धाधुन्ध बाण फेंक रहा था, जैसे कोई भीड़ लक्ष्यहीन पथराव कर रही हो; और भीष्म इस प्रकार निश्चित शस्त्र-परिचालन कर रहे थे, जैसे उनका एक-एक लक्ष्य देखा और परखा हुआ हो...

आधे प्रहर में ही स्पष्ट हो गया कि भीष्म के विरुद्ध युद्ध करने की क्षमता उस सारे राज-समाज की सम्मिलित शक्ति में भी नहीं है। अब तक प्राय: राजाओं का युद्धोत्साह भी क्षीण हो गया था; केवल एक शाल्व ही पूरे उत्साह के साथ बाण चलाता जा रहा था।

"क्षत्रिय!" भीष्म बोले, "मैं तुम्हारे उत्साह की प्रशंसा करता हूँ और तुम्हारे साहस के लिए भी मेरे मन में सम्मान है। पर, मैं यहाँ कन्या-हरण के लिए आया हूँ, निरीह हत्याओं के लिए नहीं।...अब यदि युद्ध आगे चला, तो तुम्हारे साथी युद्ध छोड़ जायेंगे और तुम वीरगति प्राप्त करोगे।...इसलिए मैं अब अपना रथ चलाता हूँ। तुम चाहो तो मेरा रथ रोक लो।"

भीष्म ने अपने सारथि को संकेत किया। उनके रथ ने सारे युद्ध-क्षेत्र में एक चक्कर लगाया, जैसे सर्वेक्षण कर रहा हो; और नगर के बाहर जाने वाले मार्ग पर मुड़ गया।

भीष्म का कथन सत्य प्रमाणित हुआ। सारे राजा जहाँ-के-तहाँ खड़े रहे। बस अकेले शाल्व का रथ उनके पीछे चला; और उसके बाणों के साथ-साथ उसका स्वर भी भीष्म तक पहुँचा, "रुक जाओ भीष्म! तुम मुझे पराजित किये बिना युद्ध-क्षेत्र से इस प्रकार नहीं भाग सकते।"

भीष्म के संकेत पर सारथि ने रथ रोक दिया।

"युद्ध की इच्छा पूरी कर लो।" वे बोले, "भीष्म-युद्ध से भागने की कल्पना भी नहीं कर सकता।"

भीष्म के बाणों की गति सहसा ही बहुत तीव्र हो गयी। अम्बिका ने भय से आँखें बन्द कर लीं। अम्बालिका ने मुँह फेर लिया; और अम्बा कभी शाल्व को देख रही थी, कभी भीष्म को; जैसे निर्णय करना चाहती हो कि दोनों में अधिक वीर कौन है?

शाल्व का सारथि आहत हो कर चलते रथ से गिर कर भूमि पर लुढ़क गया। सारथि विहीन रथ के घोड़े, बाणों की बौछार से अनियन्त्रित हो कर इतनी असावधानी से दौड़ रहे थे, जैसे अभी रथ को उलट देंगे और रथी को भूमि

पर पटक कर अपने ही रथ के पहियों से कुचल देंगे...

तभी भीष्म के बाणों ने एक-एक कर दोनों घोड़ों को मार गिराया। रथ रुक गया।

भीष्म अपने रथ से उतर कर शाल्व के पास पहुँचे; उन्होंने अपना खड्ग उसके वक्ष पर रखा...

अम्बा का मन हुआ कि वह अम्बिका के समान आँखें बन्द कर ले। पर न अम्बा आँखें बन्द कर पायी और न भीष्म ने खड्ग का प्रयोग बन्द किया।

भीष्म बोले, "मै निरीह हत्याएँ नहीं करता। स्वयंवर वध के लिए होता भी नहीं। मेरा लक्ष्य पूरा हो गया। अब मत कहना कि भीष्म रणक्षेत्र से भागा है।"

शाल्व भूमि पर पड़ा-पड़ा, फटी-फटी आँखों से भीष्म को देखता रहा। उसकी आँखों में मृत्यु का साक्षात्कार था...

भीष्म ने खड्ग कोश में डाला। लौट कर रथारूढ़ हुए और बोले, "चलो सारथि!"

24

काशी को पीछे छोड़ कर रथ काफ़ी आगे बढ़ गया था, पर भीष्म सतर्क प्रहरी के समान सन्नद्ध बैठे रहे। अम्बा उन्हें देखती रही और सोचती रही कि यह व्यक्ति अब विश्राम क्यों नही करता? अब क्यों तन कर धनुष हाथ में लिए बैठा है? क्या समझता है वह कि काशी-नरेश अपनी सेनाएँ ले कर उसका पीछा करेंगे?...अम्बा का मन हुआ कि वह इस स्थिति में भी हँस पड़े। पर वह हँसी नहीं। उसने अपनी दोनों छोटी बहनों को देखा: कैसी सहमी बैठी हैं, जैसे किसी पक्षी के डरे हुए शावक हों। उसका मन हुआ कि अपनी इन दोनों छोटी बहनों को अंक में समेट कर आश्वासन दे। डरने की क्या बात है? काशी में भी तो वे स्वयंवर में ही खड़ी थीं–विवाह के लिए। विवाह तो उनका अब भी हो ही जायेगा। अन्तर इतना ही है कि काशी के स्वयंवर में उनके सामने अनेक राजकुमार थे, राजा थे। वे उनमें से किसी एक को चुन सकती थीं, पर अब उनके सामने विकल्प नहीं था। भीष्म की इच्छा ही उनकी नियति थी, वही उनका भविष्य था।...वैसे पिता को भी क्या आपत्ति हो सकती थी। पिता इतना ही तो चाहते थे कि उनका विवाह हो जाए; तो विवाह तो हो ही जायेगा। ऐसे में पिता को सैन्य-संग्रह की, रक्तपात करने की क्या आवश्यकता थी। पिता, इस बात को समझते थे। शायद इसलिए वह शान्त रहे। वह स्वयं किसी वर को चुनते, तो उसका दायित्व उन पर होता। उसके अच्छा या बुरा होने पर टीका-टिप्पणी की जाती! पुरानी प्रथा के अनुसार वह अपनी कन्याओं को दान करते हुए उनके विनिमय में शुल्क लेते, तो शायद क्षत्रिय समाज उनकी निंदा करता।...आजकल अनेक राजघरानों में यह चेतना घर कर गयी है कि कन्या के विक्रय और उसके विवाह में अन्तर है। विवाह एक सम्मानजनक प्रथा है, जिसमें एक नये परिवार से सम्बन्ध जोड़ा जाता है। उसमें पिता कन्यादान करता है और साथ ही अपनी क्षमता-भर उपहार-स्वरूप कन्या को दहेज दिया जाता है। दहेज जितना अधिक होगा, ससुराल की में कन्या का सम्मान भी उतना ही अधिक होगा। कन्या ससुराल में जाकर वहा सारी सम्पत्ति पुत्रों को उत्तराधिकार में मिलती है। भाई अपनी बहन को कुछ नहीं देंगे, इसलिए पिता अपनी पुत्री को घर से विदा करते हुए, अपनी सम्पत्ति में से उसका अंश उसे दे देता है...

पिता कुछ भी सोचते, उनको तीन बेटियाँ विदा करने के लिए काफ़ी कुछ देना पड़ता...अब विवाह तो इस ढंग से भी हो ही जायेगा; पिता को न कुछ देना पड़ा, न न देने के लिए निंदा का भाजन बनना पड़ा।...यह सब सोचने पर पिता को प्रसन्नता नहीं होगी कि उनकी पुत्रियों को युद्ध-निमन्त्रण दे कर, भरे-पूरे क्षत्रिय समाज में से हर लिया गया। वे हस्तिनापुर के राजपरिवार में गयीं। वीर क्षत्रियों का प्रमुख और प्रसिद्ध वंश...

क्या ऐसी ही किसी घटना की प्रतीक्षा में पिता ने आज तक अम्बा और अम्बिका का वय-प्राप्त होने पर भी विवाह नहीं किया था, या अपने अन्य कार्यों में व्यस्त रहते हुए उन्हें अवकाश ही नहीं मिला था। पिता, अन्यत्र इतने व्यस्त थे, उनमें सांसारिक व्यावहारिकता नहीं थी, वह पुत्रियों की ओर से उदासीन थे, या किन्हीं कारणों से वह उनका विवाह ही करना नहीं चाहते थे?...

अम्बा को आज भी याद है कि जिस दिन वह सोलह वर्ष की हुई थी, उसी दिन माँ ने पिताजी से कहा था कि वह अपनी कन्या के लिए वर ढूँढने का प्रयत्न करें। तब अम्बिका दस वष की थी, और अम्बालिका पाँच वष की।

पिता ने हल्के-से गुनगुनाते हुए-से स्वर में कुछ ऐसा कहा था कि क्षत्रिय राजाओं को बहुत सारे काम होते हैं। स्त्रियों के समान केवल शादी-विवाह की ही सोचते रहना उनके लिए जीवन का लक्ष्य नहीं होता।

माँ ने कुछ याचना और कुछ उपालम्भ के-से मिश्रित स्वर में कहा था कि पिता को पिता का दायित्व निभाना ही पड़ेगा, चाहे वह सामान्य जन हो या राजा। रानी यह कह कर प्रसव से इन्कार नहीं कर सकती कि वह रानी है। वह भी सामान्य नारी के समान सन्तान को जन्म देती है; और उसका पालन-पोषण करती है।

माँ और पिता में ऐसी कहा-सुनी अम्बिका की सोलहवीं वर्षगाँठ पर भी हुई थी और फिर अम्बालिका की सोलहवीं वर्षगाँव पर भी। और अन्त में तो माँ ने झल्ला कर यहाँ तक कह दिया था, 'पुत्रियों के विवाह नहीं करोगे तो ये किसी की भार्या बन कर सन्तान उत्पन्न करने के स्थान पर, हमारी कन्याओं के रूप में ही सन्तान को जन्म देंगी। उनकी कानीन सन्तान को स्वीकार करोगे तुम?'

'ऋषि तो कानीन सन्तान को भी उतना ही पवित्र और सम्मानजनक मानते हैं।' पिता ने निश्चिन्त भाव से कहा था।

'पर क्षत्रिय समाज तो अब कानीन सन्तान को स्वीकार करने में आनाकानी करने लगा है न!' माँ ने कहा था,

'आनाकानी ही क्यों, हमारा समाज तो अब इसे कलंक मानने लगा है।'

पिता ने कुछ कहा नहीं, पर उनका भाव कुछ ऐसा ही था, जैसे कह रहे हों, 'मानता है तो मानता रहे।'

क्रमश: माँ का आग्रह उग्र होता गया और पिता उदासीन होते गये। लगता था, जैसे वह इस विषय में कुछ सुनना ही नहीं चाहते थे; पर माँ ने अपना आग्रह नहीं छोड़ा। किन्तु, इस आग्रह का भी दबाव माँ के मन पर ही था, पिता के मन पर नहीं। परिणामत: माँ रोगिणी हो कर शैया से लग गयीं। माँ का आग्रह जिस अनुपात में बढ़ रहा था, उसी अनुपात में उनका रोग भी बढ़ रहा था; या जिस मात्रा में उनका रोग बढ़ रहा था, उसी अनुपात में उनका आग्रह भी बढ़ रहा था।

और फिर एक दिन सौभ नरेश शाल्व पिता से मिलने के लिए आये। किसी राजा का पिता से मिलने के लिए आना कोई नयी बात नहीं थी; पर इस प्रकार का राजा पहली बार ही आया था। उसने अम्बा को कैसी-कैसी आँखों से तो देखा था। जाने उन आँखों में क्या था कि अम्बा का मन जैसे उसकी ओर उमड़-उमड़ आता था, मानो सागर की उत्ताल लहरें पूर्णिमा के राकेश की ओर खिंच-खिंच जाती हैं।

"राजकुमारी! तुम अत्यन्त सुन्दरी हो, असाधारण सुन्दरी! कहीं तुम उर्वशी तो नहीं हो।"

अम्बा का चिर-तृषित मन कैसा तो हो गया था। आज तक किसी ने उसे ऐसी आँखों से नहीं देखा था। आज तक किसी ने उसके रूप का बखान इन शब्दों में नहीं किया था। अम्बा आज तक यह जानती ही नहीं थी, कि पुरुष की ऐसी दृष्टि और उसके ऐसे शब्दों का प्रभाव नारी-मन पर क्या होता है।...उसके हृदय के कपाट जैसे पहली बार किसी आगन्तुक के खटखटाने पर खुले थे। आगन्तुक उसकी ओर देख रहा था, जैसे सोच रहा हो कि द्वार खटखटा तो दिया है, पर अब प्रवेश भी करना है क्या?...और अम्बा सोच रही थी, कपाट खोल तो दिये हैं, पर सामने आगन्तुक को देख कर संकोच से कपाट फिर से भिड़ा देने चाहिए या...पर यदि उसने कपाट भिड़ा दिये और आगन्तुक उस अस्वीकृति से निराश हो कर लौट गया तो? उसने दूसरी बार कपाट खटखटाये ही नहीं तो?...

पर शाल्व ने इस असमंजस को अधिक देर तक नहीं टिकने दिया। बोला, "राजकुमारी! मैं तुमसे विवाह करना चाहता हूँ। तुम मेरी पत्नी बनना चाहोगी?"

"यह पिताजी को स्वीकार नहीं होगा।" जाने कैसे अम्बा ने बिना सोचे-समझे ही कह दिया।

"क्यों?"

क्यों–यह तो अम्बा स्वयं भी नहीं जानती थी। क्या ऐसा है भी, वह यह भी नहीं जानती थी। उसने तो माँ के द्वारा पिता पर लगाये गये आक्षेपों को सच मान कर ऐसा कह दिया था।...

"क्यों?" शाल्व ने पुन: पूछा।

"पता नहीं!" वह बोली, "मुझे ऐसा ही लगता है।"

"अम्बे!" शाल्व ने पहली बार उसे उसके नाम से सम्बोधित किया, "मैं सौभ का किरीटधारी राजा हूँ। मुझे काशिराज अस्वीकार कैसे कर सकते हैं?"

"आपको अस्वीकार करने की बात नहीं है।" अम्बा बोली, "वह शायद मेरा विवाह ही नहीं करना चाहते।"

"क्यों?" पुन: वही प्रश्न।

"मैं नहीं जानती!" अम्बा सहज भाव से कह गयी, "मुझे ऐसा लगता है।"

और कहने के साथ ही जैसे वह डर गयी, कहीं शाल्व ने पूछ लिया कि उसे ऐसा क्यों लगता है–तो?

पर शाल्व ने 'क्यों' नहीं पूछा। उसने कहा, "यदि काशिराज तुम्हारा विवाह मेरे साथ नहीं करेंगे, तो मैं तुम्हारा हरण करूँगा। यद्यपि मैं चाहता नहीं, किन्तु यदि आवश्यकता हुई तो मैं तुम्हारे पिता के साथ युद्ध भी करूँगा। संहार करना पड़ा तो संहार भी करूँगा। मैं रक्त की नदी में तैर कर, युद्ध-क्षेत्र में सहस्रों शवों को रौंद कर भी तुम्हें उठा कर ले जाऊँगा।"

अम्बा को शाल्व और भी अद्‌भुत लगने लगा। उसकी बातें अम्बा को बहुत प्रिय लगीं, जैसे वह युद्ध और रक्तपात की बातें न कर, उद्यान में खिल आये वसन्त के पुष्पों की चर्चा कर रहा हो।

"मैं तुम्हारे बिना जी नहीं सकता, राजकुमारी!"

अम्बा को लगा जैसे किसी ने अमृत घोल कर उसके कानों में टपका दिया हो।

पर जब शाल्व ने यह चर्चा काशिराज से की, तो उन्होंने एक बार भी मना नहीं किया। वह सहज तैयार थे। शाल्व

चाहे तो अम्बा को आज ही ले जाये, इसी क्षण...

पर इस बार माँ, पुत्री के विवाह के लिए इतनी तत्पर नहीं दिखीं। उनका विचार था कि राजकुमारियाँ इस प्रकार ब्याह नहीं दी जातीं। उनके विवाहों में समारोह होते हैं, लोगों का जमघट होता है। राजा की मर्यादा भी कुछ होती है या नहीं?

"तो?" पिता ने पूछा।

"अम्बा का विवाह हो भी गया तो अम्बिका और अम्बालिका का क्या होगा?" माँ ने पूछा था, "उनका भी विवाह करना है या नहीं? या उन्हें भी अम्बा की अवस्था तक बैठा कर प्रतीक्षा करोगे कि शाल्व जैसा कोई राजा आ कर स्वयं ही याचना करे?"

पिता ने माँ की ओर देखा, "पहेलियाँ मत बुझवाओ। अपना मन्तव्य स्पष्ट रूप से कहो।"

"क्षत्रिय राजा के समान स्वयंवर कीजिए। सारे जम्बूद्वीप के राजाओं को आमन्त्रित कीजिए।" माँ ने कहा, "अम्बा शाल्व का वरण करे और अम्बिका तथा अम्बालिका भी अपने मन-भावन चुन लें। मैं एक बार में ही इन तीनों को योग्य वरों को अर्पित कर मुक्त हो जाऊँ। जितने वर्ष मैंने अम्बा के लिए याचना भरी प्रतीक्षा की है, उतने-उतने वर्ष अब मैं इन दोनों के लिए प्रतीक्षा नहीं कर सकती।"

पिता सहमत हो गये।...और अम्बा सोचती ही रह गयी कि यदि पिता को स्वयंवर में कोई आपत्ति नहीं थी, तो उन्होंने पहले ही क्यों ऐसा नहीं किया। स्वयंवर आयोजित करने में उन्हें कठिनाई ही क्या थी?

स्वयंवर के लिए तैयारियाँ हुईं। इतने प्रत्याशी आये।...और अम्बा को लगा कि काम इतना ही सरल था...यदि विवाह के लिए निमन्त्रण-भर ही भिजवाना था, तो पिता इतने वर्षों से माँ के आग्रह की उपेक्षा क्यों कर रहे थे?...पर इस प्रश्न का उत्तर उसके पास था नहीं; और पिता से वह पूछ नहीं सकती थी...

स्वयंवर में भी कोई कठिनाई होती है, इसका आभास तो तब हुआ, जब भीष्म ने उठ कर अपने मन्तव्य की घोषणा की।...शाल्व ने तो केवल कहा ही था कि वह सहस्रों शवों को लाँघ कर, रक्त की नदी में से तैर कर उसका हरण कर ले जायेगा, किन्तु भीष्म ने तो सचमुच धनुष उठा लिया था। अम्बा को ही नहीं, अम्बिका और अम्बालिका को भी जैसे हाँक कर ला, रथ में बैठा लिया...

शाल्व बहुत वीरता से लड़ा था। उसका तेज दर्शनीय था। उसकी एक-एक उक्ति, एक-एक क्रिया, एक-एक भंगिमा के साथ, अम्बा के मन में ज्वार उठता था—यह सब मेरे लिए है।...नारी को तो अपने महत्त्व का आभास ही तब होता है, जब पुरुष उसके लिए अपने प्राणों का दाँव लगाता है...आज तक तो उसने सोचा ही नहीं था कि वह भी इस योग्य है कि उसके लिए कोई युद्ध करे, अपना रक्त बहाये या किसी दूसरे की हत्या करे...

अम्बा मुग्ध होती रही और शाल्व हारता रहा। जब उसके घोड़ों ने दम तोड़ दिया और उसका सारथि भूमि पर पड़ा कराह रहा था, तब उसने शाल्व को देखा। उसका असहाय क्रोध भी दर्शनीय था।...और तब अम्बा ने उसके विजेता भीष्म को जैसे पहली बार देखा था: राजसी वंश में मानो कोई सन्यासी हो। अलंकरण का नाम भी नहीं। मुख पर किसी प्रकार का भावावेश नहीं—विजय का दर्प भी नहीं। सहज रूप से भीष्म ने, बिना क्षोभ अथवा उल्लास के, शाल्व को जीत लिया था। और जीतने के पश्चात भी युद्ध की चुनौती देने वाले शाल्व के विरुद्ध इस व्यक्ति के मन में कोई वैर-विरोध, भय-द्वेष—कुछ भी तो नहीं था। कण्ठ पर रखा खड्ग हटा कर कैसे उससे कहा था, 'भीष्म निरीह हत्याएँ नहीं करता।'

रथ जब चला तो प्रहरी के समान खड़े भीष्म को अम्बा ने पुन: देखा: कैसी दृढ़ता थी, इस व्यक्ति की मुखाकृति पर। कठिन श्रम...या तपस्या से कसा शरीर! दाढ़ी और सिर के कुछ केश कहीं-कहीं से सफेद होने लगे थे, पर अवस्था बहुत अधिक नहीं थी। प्रसाधन की उपेक्षा ने, या फिर सांसारिक प्रलोभनों की कठोर अवहेलना ने ही शायद एक विशेष प्रकार की रुक्षता पैदा कर दी थी, इस व्यक्तित्व के चारों ओर...वह रुक्षता भी कैसी आकर्षक थी...

25

प्रयाग के निकट, गंगा के तट पर भीष्म ने सारथि का रुकने को संकेत किया।

रथ रुक गया। भीष्म रथ से उतरे।

अम्बिका और अम्बालिका उनकी ओर डरी-डरी देख रही थीं।

अम्बिका और अम्बालिका का भय देख कर, भीष्म कुछ विचलित हो गये। उनकी आँखों में असमंजस उतरा। सान्त्वना के लिए जैसे हाथ आगे बढ़ा और कुछ सोच कर संकुचित हो गया।

उन्होंने अम्बा की ओर देखा: उसकी दृष्टि में सहज जिज्ञासा थी। उस खुली हुई सहज आत्मीयता ने जैसे भीष्म को असहज कर दिया। उन्होंने दृष्टि फेर ली, माना उन आँखों का सामना करने का साहस न कर पा रहे हों।

अम्बा के अधरों पर मुस्कान की चाँदी फैलते-फैलते जैसे सिमट गयी।

"हम यहाँ थोड़ा विश्राम करेंगे।" भीष्म मुड़ गये; पर पग आगे बढ़ाने से पहले बोले, "तुम थक गयी होगी!" वह दो पग आगे बढ़ गये, और फिर जैसे उन्हें कुछ याद आ गया, "इच्छा हो तो मुँह-हाथ धो लो। गंगा का जल तुम्हारा श्रम हर लेगा।..."

अम्बा को लगा, वह बहुत देर से भीष्म के साथ वार्तालाप करने का कोई अवसर ढूँढ रही है...पर अपहृत राजकुमारी की भी एक मर्यादा है, वह अपहरणकर्ता के प्रति आत्मीयता प्रदर्शित नहीं कर सकती...और फिर भीष्म की सतर्क उपेक्षा...नहीं शायद उपेक्षा नहीं, तटस्थता...नहीं! तटस्थता भी नहीं, दूरी रखने का सायास उपक्रम...

किन्तु भीष्म के एक वाक्य ने जैसे उसके वाग्प्रवाह का अवरोध हटा दिया था। वह अनायास ही कह गयी, "हम जानती हैं। गंगा तो हमारी माँ है।"

भीष्म जैसे तड़प कर पलटे: गंगा तो उनकी माँ है। यह और कौन है, जो गंगा को अपनी माँ बता रही है।

अम्बा पर दृष्टि पड़ते ही उनका आवेश कुछ संयमित हो गया, "वह कैसे?"

"हम काशी के निवासी हैं।" अम्बा के स्वर में न उनका भय था, न उनसे संकोच, "हम गंगा को अपनी माँ ही मानते हैं।"

'मानते हैं...' भीष्म होंठों-ही-होंठों में बुदबुदाये, और फिर स्पष्ट रूप से बोले, "थोड़ा जल-पान भी कर लो।"

वह पलट कर दो डग भर चुके थे, किन्तु किसी अदमनीय आन्तरिक आकांक्षा के दबाव में फिर मुड़ कर बोले, "अम्बे! अपनी छोटी बहनों से कहो, भय या असुविधा का कोई कारण नहीं है। उन्हें सान्त्वना दो। कुरु-कुल में नारी सम्मान की पात्र है। उनका कोई अहित नहीं होगा।"

अम्बा को भीष्म के मुख से अपना नाम सुनना अच्छा लगा: और वह उसे किस अधिकार से यह काम सौंप रहे हैं?...

उसकी इच्छा हुई कहे, 'आप निश्चिन्त रहें आर्य!' पर फिर कैसा तो लगा, मुख से शब्द नहीं निकले।

अन्य दोनों रथ भी आ गये थे। सेवकों ने बैठने की उचित व्यवस्था कर दी थी। भीष्म के कहे अनुसार जल-पान का भी कुछ प्रबन्ध था...

अम्बा ने देखा: अम्बिका और अम्बालिका–दोनों वैसे ही परस्पर जुड़ी हुईं, सहमी-सी बैठी थीं। मन हुआ कि उनसे कहे, कि यदि स्वयंवर के बाद उनके चुने हुए वर काशि-नरेश द्वारा विदा करायी हुई उनकी डोली ले कर जाते, तो उनकी स्थिति इससे कुछ भिन्न होती क्या?...पर कहा नहीं। जानती थी, दोनों कोई उत्तर नहीं देंगी! और मान लो कि उन्होंने कह दिया, 'स्थिति भिन्न नहीं होती; तो भी वे इसी प्रकार भीत-संकुचित बैठी होतीं। पहली बार ससुराल जाती हुई वधू ऐसी ही तो भीत-संकुचित होती है।...'

हस्तिनापुर में प्रवेश करने से पहले वे लोग दो बार और भी रुके। अम्बा को लगा, भीष्म क्रमश: सहज होते जा रहे थे। अब वे विजेता भीष्म, अपहरणकर्ता भीष्म, उनके प्रहरी भीष्म न हो कर, उनके अभिभावक थे। वे तीनों उनके संरक्षण में ही नहीं थीं, मानों सम्मान्य अतिथि थीं। उनकी सुख-सुविधा का ध्यान रखना भीष्म का काम था। वे प्रयत्न कर रहे थे कि उन्हें यथासम्भव कोई कष्ट न हो। पर यात्रा तो यात्रा ही है। यात्रा में प्रासादों की सुख-सुविधाएँ कहाँ से जुटाई जा सकती हैं।...

हस्तिनापुर के द्वार पर उनका भव्य स्वागत किया गया। कुरु-कन्याओं ने उनकी आरती उतारी। सजे-धजे सैनिकों ने उनकी अगवानी की। और अम्बा सोचती रही...यदि भीष्म उनके अपहरण की बात सोच कर ही गये थे, तो अपने साथ अपनी सुरक्षा के लिए, युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए, सेना ले कर क्यों नहीं गये? क्या यह व्यक्ति मानता है कि सारे आर्यावर्त के राजाओं और उनकी सेनाओं से यह अकेला ही युद्ध कर उन्हें पराजित कर सकता है? इतना विश्वास है इसको, अपने युद्ध-कौशल और शस्त्र-विद्या पर?...इतना साहसी है यह? साहसी है या दुस्साहसी?...अम्बा की इच्छा हुई कि भीष्म के हाथ को अपनी हथेलियों में ले कर, उनकी आँखों में आँखें डाल कर, मुस्कुरा कर उन्हें आदेश दे कि वह फिर कभी ऐसा दुस्साहस नहीं करेंगे...और फिर वह स्वयं, अपनी ही कल्पना से लजा गयी...क्या वह जीवन-भर स्वयंवरों में कन्याओं का हरण ही करते रहेंगे?...एक लाज भरी हल्की-सी मुस्कान उसके अधरों के कोने में उभरी और तत्काल सिमट गयी...

राजप्रासाद में उनका स्वागत राजमाता सत्यवती ने किया।

राजमाता ने उन्हें मुस्कुरा कर देखा-परखा। उनके सामने ही उनके रूप की प्रशंसा में चार-छह वाक्य कहे। वैसे न भी कहतीं तो उनके चेहरे की प्रफुल्लता बता रही थी कि उन्हें काशिराज की कन्याएँ पसन्द आ गयी हैं। उन्होंने कृतज्ञ दृष्टि से भीष्म की ओर क्षण भर को देखा और फिर परिचारिका की ओर देख कर कहा, "यात्रा से थकी हुई आयी हैं। इनके विश्राम की व्यवस्था करो।"

"पधारें!" परिचारिका ने सम्मानपूर्वक झुक कर, हाथ से मार्ग का संकेत किया।

अम्बिका और अम्बालिका आदेश का पालन करने की बाध्यता में चुपचाप परिचारिका के पीछे चल पड़ीं; पर अम्बा को यात्रा-भर में परिचित हो गये इस व्यक्ति को छोड़ कर पुन: अपरिचित लोगों के साथ जाने की तनिक भी इच्छा नहीं थी। नारी-सुलभ लज्जा ने उसे पर्याप्त रोका, किन्तु उसकी आँखें, भीष्म की ओर उठ ही गयीं।

"जाओ अम्बे! विश्राम करो।" भीष्म ने भावना-शून्य तटस्थ स्वर में कहा।

अम्बा के पास अब और कोई विकल्प नहीं था।

अम्बा के जाने के पश्चात सत्यवती, भीष्म की ओर मुड़ी, "राजकुमारियाँ सुन्दर हैं।" वह बोली, "किन्तु भीष्म! विचित्रवीर्य के लिए तो अम्बालिका ही पर्याप्त थी, तुम तीनों को हरण कर लाये।..."

राजमाता ने पूछा नहीं था; किन्तु भीष्म को लगा, जैसे उनसे स्पष्टीकरण माँगा जा रहा हो। क्षण-भर रुक कर बोले, "एक रानी तो किसी राजा के लिए पर्याप्त नहीं हुई माता! और फिर विचित्रवीर्य तो नारी-सौन्दर्य का गुणग्राहक है। बार-बार तो सम्राट को रानी उपलब्ध कराने के लिए जाना शायद सम्भव न हो। एक ही बार में अधिकतक लाभ...।" भीष्म ने हँस कर वाक्य अधूरा छोड़ दिया।

माता भी हँसी, "हाँ! जब तीन राजकुमारियाँ एक ही स्थान पर उपलब्ध थीं, तो...।" सहसा वह रुकीं, "पर पुत्र! क्या अम्बा का वय विचित्रवीर्य से बहुत अधिक नहीं है? बड़ी तो शायद अम्बिका भी है, पर अम्बा...।"

"हाँ! बड़ी तो है।" भीष्म बोले, "पर...स्वयंवर के बीच...किसका हरण हो और किसका न हो, यह चुनाव ही नहीं किया मैंने!"

"चलो ठीक है।"

भीष्म अपने कक्ष में आये तो जैसे माता सत्यवती फिर से उनके सम्मुख आ खड़ी हुईं, 'तुम जानते हो कि अम्बा वय में बहुत बड़ी है विचित्रवीर्य से। वह उसकी पत्नी होने योग्य नहीं है। तो फिर क्यों हरण कर लाये उसका? क्यों?? क्यों???'

क्या राजमाता के इस प्रश्न का कोई विशेष तात्पर्य था?...वह पूछ रही थीं, या कुछ कहना चाहती थीं? क्या कहना चाहती थीं? ...और भीष्म का अपना मन अनेक प्रश्न कर रहा था उनसे! केवल प्रश्न ही नहीं कर रहा था, अनेक आरोप भी लगा रहा था...और भीष्म थे कि उन प्रश्नों को टाल नहीं पा रहे थे...वह बिस्तर से उठ कर बैठ गये: उन्हें लगा वह सहसा ही बहुत अशान्त हो उठे हैं।...यदि तीनों बहनों का विवाह विचित्रवीर्य के साथ कर दिया गया, तो निश्चित रूप से विचित्रवीर्य को वय के कारण अम्बा शेष दोनों की अपेक्षा कम प्रिय हो! सम्भवत: वह उसे एकदम प्रिय न हो...बलात हर कर लायी गयी राजकन्या यदि अपने पति के द्वारा उपेक्षित होगी तो उसके जीवन में जीने-योग्य क्या रह जायेगा?...क्या होगा अम्बा के जीवन का?...भीष्म ने बड़े गर्व के साथ घोषणा की थी कि, 'वह निरीह

हत्याएँ नहीं करते।' पर यह क्या है? यह क्या निरीह हत्या नहीं है? अम्बा अपना शेष सारा जीवन उपेक्षिता, परित्यक्ता स्त्री के रूप में व्यतीत करेगी तो क्या करेगी सारा जीवन, सिवाय भीष्म को कोसने के? यह तो वध से भी अधिक कष्टप्रद हुआ। किसी को सारा जीवन तिल-तिल कर जलाना...

इससे तो अच्छा है कि अम्बिका और अम्बालिका का विवाह विचित्रवीर्य से कर दिया जाये...और अम्बा...? अम्बा का विवाह किससे हो? भीष्म से? उन्हें लगा कि उनके मन में कोई खलनायक अट्टहास कर रहा है...

भीष्म ने बहुत चाहा कि उस खलनायक को अपने मन से खदेड़ दें; किन्तु वह उससे कहीं अधिक धृष्ट था, जितना उन्होंने सोचा था।

'इसमें अवांछनीय क्या है?' खलनायक ने गम्भीर हो कर पूछा।

'अवांछनीय!' भीष्म का जैसे सारा संयम टूट गया था, 'इसमें वांछनीय क्या है। मैंने प्रतिज्ञा की है कि मैं आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा।'

खलनायक हँसा, 'अनेक ऋषियों ने विवाह किये हैं। सन्तानें उत्पन्न की हैं। किन्तु, वे संसार के अन्यतम ब्रह्मचारी माने जाते हैं।'

'पर मेरे ब्रह्मचर्य का अर्थ है, अविवाहित रहना। स्त्री-प्रसंग से दूर रहना।'

'किन्तु दासराज ने तो इतना ही चाहा था कि तुम्हारी कोई सन्तान न हो, ताकि उसके दौहित्र को राज्य-प्राप्ति में किसी प्रकार की कठिनाई न हो। उसे तुम्हारे चरित्र से, तुम्हारे ब्रह्मचर्य से, तुम्हारे आध्यात्मिक उत्थान से कुछ लेना-देना नहीं है।'

'उन्हें न सही, पर मुझे तो सारा कुछ सोचना-समझना है।' भीष्म बोले, 'मैंने कंचन और कामिनी की माया को पहचान लिया है, तभी तो मैंने ऐसी प्रतिज्ञा की है। मैं माया के इन सारे बन्धनों को तोड़ देना चाहता हूँ, जिनमें बँध कर व्यक्ति सुख के लोभ में किसी ओर लपकता है और अन्तत: मृग-तृष्णा के भँवर में फँस कर कष्ट पाता है।'

'तोड़ सके?' खलनायक ने पूछा, 'अम्बा को देखते ही तुम्हारे मन में कामना नहीं जागी? सच बोलना।'

भीष्म जैसे उस पर आँखें गड़ाये, चुपचाप पड़े रहे।

'बोलो!' उसने आग्रह किया, 'देखो! मुझसे कुछ छिपाना मत!'

'छिपाना क्या है!' भीष्म ने जैसे खलनायक को अपने साथ एकाकार ही कर लिया, 'मैं बन्धन तोड़ना चाहता हूँ; पर मैंने यह तो नहीं कहा कि मैं बन्धन तोड़ने में सफल हो गया हूँ। इतना ही सरल होता बन्धन तोड़ना तो श्मशान-वैराग्य के क्षण में प्रत्येक व्यक्ति ने मोह-माया के बन्धन तोड़ दिये होते। प्रत्येक व्यक्ति मुक्त हो गया होता। विचित्र स्थिति है हमारी। जीव जैसे माया के सरोवर में आकण्ठ डूबा खड़ा है। अपने हाथों से वह शरीर के किसी अंग से पानी को परे धकेलता है और पानी है कि द्विगुणित आग्रह से पुन: लौट आता है। यह भी तभी तक, जब तक वह सजग है, सचेत है। उसकी चेतना तनिक-सी शिथिल हुई नहीं कि उसका पैर फिसलता है और वह जल में डूब जाता है। माया का यह जल उसके प्राण ही ले लेता है।'

'इसलिए तो कहता हूँ,' खलनायक फिर से उनके बीच से निकल आया और दूर खड़ा हो कर, विरोधी के समान बोला, 'जब मुक्ति नहीं है, तो व्यर्थ ही उस जल को धकेलने का श्रम क्यों करते हो। न जल को परे हटा पाओगे, न शान्ति से खड़े रह पाओगे। जब अन्तत: डूबना ही नियति है तो जल से लड़-लड़ कर क्यों हाँफ रहे हो? जल से विरोध छोड़ो। उसकी शीतलता का सुख लो। उसमें थोड़ी क्रीड़ा करो। तैरो, नहाओ, छींटे उड़ाओ, डुबकी लगाओ–देखो, वह तुम्हारे शरीर और मन को कितना सुख देता है।'

पर भीष्म का विवेक खलनायक से तनिक भी सहमत नहीं हो सका; 'नियति चाहे डूबना हो, किन्तु नीति तो संघर्ष ही है।'

'निश्चित पराजय सामने खड़ी हो तो संघर्ष का क्या लाभ?'

'क्षत्रिय तो वीरगति को भी लाभ ही मानता है।'

खलनायक ने मुँह बिचका कर उन्हें देखा, जैसे कहना चाहता हो, 'क्षत्रिय तो मूर्ख है;' किन्तु उसने कहा नहीं। बोला, 'तुमने बन्धनों से मुक्त होने के लिए प्रतिज्ञाएँ कीं; पर क्या तुम मुक्त हो? क्या तुम्हें नहीं लगता कि साधारण गृहस्थ अपनी गृहस्थी से बँधा हुआ तो है, किन्तु उसे उस बन्धन की स्थिरता भी प्राप्त है और स्निग्धता भी!...और तुम तो किसी अन्य के खेत में स्वेद बहाने-वाले मूर्ख हो, जिसकी न धरती अपनी है, न उपज!...अब तो समझ जाओ। जब

कृषि-कर्म ही करना है, तो अपने खेतों में आओ। प्रजा का ही पालन करना है, तो अपनी प्रजा का पालन करो। गृहस्थी ही चलानी है; तो अपनी गृहस्थी चलाओ...।'

भीष्म जैसे क्रोध से जल उठे, और फिर क्रोध का अवरोह रुदन में बदल गया। उन्हें लगा, उनकी आँखों में पानी आ गया है और उनका मन आज किसी के कंधे पर मस्तक टेक कर, सशब्द रुदन करना चाहता है: उसके मन में आज भी यह कलुष है?...इस खलनायक के रूप में उनके अपने मन का ही तो कोई अंश बोल रहा है...उन्होंने तो समझा था कि उन्होंने अब तक अपने मन का कलुष धो-पोंछ डाला था। अब उनके मन में न लोभ है, न भय; न द्वेष, न ईर्ष्या; न अपना, न पराया।...पर नहीं! उनके मन में तो सब-कुछ है। ...ऊपर से चाहे जो भी हो, किन्तु मन से तो वह किसी भी साधारण जन से तनिक भी भिन्न नहीं हैं।...उनके मन में भी तो वह सारा मल और अन्धकार ढका हुआ पड़ा है, जो मनुष्य के पैर-तले की धरती खिसका कर उसे प्रवाह के साथ बहा ले जाता है...

हृदय का आवेग इतना बढ़ा कि वह कक्ष में बैठ नहीं पाये। वे अपने कक्ष से बाहर निकल आये।

प्रतिहारी ने आ कर सिर झुकाया, "आज्ञा करें देव!"

"कुछ नहीं!" भीष्म बोले, "तुम विश्राम करो। मैं माँ गंगा के दर्शन करूँगा।"

"अभी स्नान का समय नहीं हुआ देव!" प्रतिहारी बोला।

"घाट पर नहीं जा रहा हूँ।" भीष्म बोले, "थोड़ी देर तक छत पर टहलूँगा, खुले आकाश के नीचे। वहीं से माँ के दर्शन करूँगा।"

"देव का मन अशान्त है...।"

पर भीष्म ने उसे कोई उत्तर नहीं दिया, वह चुपचाप सीढ़ियाँ चढ़ गये।

छत पर से गंगा की धारा स्पष्ट दिखायी दे रही थी। चाँदनी का प्रकाश इतना स्वच्छ था, मानो किसी से सहस्रों दीपाधार बाल रखे हों।

गंगा की धारा बहती जा ही थी...खेतों को सींचती, नगरों की पिपासा शान्त करती, नौकाओं को गोद में खेलाती...कितनी आतुरता से चली जा रही थी...सरित्पत्ति के पास! सागर में जाकर विलीन ही तो होना था माँ गंगा को; फिर भी कितनी आतुरता से बहती जा रही थी।

'तुमने ठीक ही कहा था भीष्म!' जैसे माँ का स्वर भीष्म के मन में गुंजित हुआ, 'नियति चाहे पराजय हो, पर नीति तो संघर्ष ही है। पुत्र! क्षत्रिय की परम गति है वीरगति! वह उसकी पराजय नहीं है।'

...और भीष्म को लगा, मानो माँ ने उनके केशों में अपनी लहरों की अँगुलियाँ फिरा कर, उनके मस्तिष्क का समस्त उद्वेग हर लिया हो...।

26

विचित्रवीर्य का राज्याभिषेक धूमधाम से हुआ।

सत्यवती को इतना सुख शायद चित्रांगद के सम्राट बनने पर भी नहीं मिला था। चित्रांगद सम्राट तो बना था, पर अपने विवाह से पहले ही वह वीरगति को प्राप्त हो गया था।...पर विचित्रवीर्य के साथ वैसा सम्भव नहीं था। वह स्वयं अपनी प्रकृति से ही युद्ध-प्रिय नहीं था। न वह मृगया के लिए जायेगा, न द्वन्द्व-युद्ध के लिए।...और फिर चित्रांगद के समय भीष्म उसका सहायक नहीं था। भीष्म हस्तिनापुर में ही नहीं था। किसी शत्रु को सहज ही ज्ञात हो सकता था कि हस्तिनापुर के राजा को भीष्म का समर्थन प्राप्त नहीं है।...विचित्रवीर्य पूर्णत: भीष्म के संरक्षण में था। भीष्म उसकी रक्षा के लिए वचनबद्ध था।...और पहले तो सत्यवती ने भीष्म की वीरता की चर्चा ही सुनी थी। उस पर बहुत विश्वास नहीं था उसको। किन्तु, जब से वह काशिराज की कन्याओं का हरण करके लाया था, तब से उसकी वीरता के विषय में धारणा ही बदल गयी थी सत्यवती की। उसने भीष्म के सारथि वीरसेन को बुला कर सारा विवरण पूछा था, उस अभियान का। वीरसेन ने उसे बताया था कि स्वयंवर में उपस्थित सारे राजा एक ओर थे और अकेले भीष्म दूसरी और। उधर से सहस्रों बाणों की वर्षा हो रही थी, जैसे शेषनाग अपने सहस्रों फनों से एक साथ फुफकार रहे हों; और दूसरी ओर अकेले भीष्म थे–शान्त, आत्मविश्वस्त और आवेगशून्य। जाने क्या जादू था उनकी बाण-विद्या में कि उनके सामने शत्रुओं के उन सहस्रों बाणों की स्थिति ऐसी हो जाती थी, जैसे आँधी के विपरीत उड़ने-वाले पत्तों की। एक बाण भी नहीं पहुँच पाया था उनके रथ तक। न वीरसेन को एक भी बाण लगा, न रथ में बैठी राजकन्याओं को।...

सत्यवती नहीं जानती थी कि वीरसेन के विवरण में कितना सत्य था और कितनी अतिशयोक्ति। पर इतना तो सत्य था ही कि भीष्म उस स्वयंवर में से काशिराज की तीनों कन्याओं का हरण करके लाया था। वहाँ सम्पूर्ण आर्यावर्त के राजा वर्तमान थे। वे लोग भीष्म के मित्र नहीं थे, न उनको भीष्म द्वारा यह कन्याहरण रुचिकर हुआ होगा। उन्होंने अवश्य ही भीष्म का विरोध किया होगा। युद्ध हुआ होगा।...और यदि सत्यवती यह मान ले कि उन राजाओं ने भीष्म का विरोध नहीं किया था, युद्ध भी नहीं हुआ था...तो ऐसा उन राजाओं के भीष्म के प्रति स्नेह और सौहार्द के कारण नहीं हुआ होगा। भीष्म के तेज और शूरवीरता के कारण ही उन लोगों को साहस नहीं हुआ होगा कि वे भीष्म का विरोध करें।...इतना आतंक भी है भीष्म का...और वही भीष्म आज विचित्रवीर्य के रक्षक के रूप खड़ा है...तो विचित्रवीर्य को किसी का क्या भय हो सकता है।...चित्रांगद ने भी अपनी वीरता के स्थान पर भीष्म की वीरता का आश्रय लिया होता, तो इस प्रकार यमराज की दृष्टि उस पर न पड़ी होती। यदि भीष्म गन्धर्वराज को पराजित करता, तो सम्भव है कि हस्तिनापुर का राज्य कुछ और विस्तार पाता। गन्धर्वों की बहुत सारी भूमि अपने साम्राज्य में मिलायी जा सकती...और यदि किसी कारण से भीष्म गन्धर्वराज को पराजित न कर पाता और अपने प्राणों से हाथ धोता, तो मान लिया जाता कि हस्तिनापुर राज्य का एक महारथी नहीं रहा...इसके पश्चात चित्रांगद को गन्धर्वराज से लड़ने की आवश्यकता ही नहीं थी। वह उससे किसी प्रकार की सन्धि कर सकता था...पर अब चित्रांगद नहीं था, विचित्रवीर्य था। विचित्रवीर्य को चित्रांगद के अनुभवों से भी लाभ उठाना चाहिए। भीष्म जैसे समर्थ व्यक्ति का पूरा उपयोग होना चाहिए। भीष्म की भुजाएँ, साम्राज्य की रक्षा करें और साम्राज्य का भोग करे विचित्रवीर्य। प्रजा का पालन करे भीष्म, और उसका स्वामी हो विचित्रवीर्य ...भीष्म को 'धाय' बना दिया जाये, जिसे माता के दायित्व तो सारे निभाने पड़ें, अधिकार उसे एक भी न हो...

एक क्षण के लिए सत्यवती के मन में एक प्रश्न जागा: क्या उसे भीष्म से तनिक भी स्नेह नहीं है? उसके प्रति सत्यवती के मन में कोई भी कोमल भावना नहीं है?...पर सत्यवती ने उस प्रश्न को टिकने नहीं दिया। प्रश्न की उस चिनगारी पर उसने जल का एक पूरा भाँड उलट दिया: 'प्रेम तो मुझे पराशर से भी था...'

पराशर के नाम से ही उसे कृष्ण द्वैपायन की स्मृति भी हो आयी।...सुना है कृष्ण अब ऋषि बन गया है। पिता के समान पूज्य माना जाने लगा है...किन्तु कैसी बाध्यता है सत्यवती की कि वह उसे विचित्रवीर्य के राज्याभिषेक में भी नहीं बुला पायी। यज्ञ करने-वाले पुरोहित के रूप में भी नहीं...

राज्याभिषेक के तत्काल बाद विचित्रवीर्य के विवाह की तैयारियाँ आरम्भ हो गयीं। सत्यवती का वश चलता तो वह राज्याभिषेक के साथ ही या उसके अगले ही क्षण विचित्रवीर्य का विवाह कर देती: किन्तु भीष्म ही नहीं, मन्त्रि-

परिषद का भी यही कहना था कि हस्तिनापुर के सम्राट का विवाह पूर्ण समारोह के साथ होना चाहिए...

सत्यवती उन्हें कैसे बताती कि वह पुत्र के विवाह के लिए कैसी व्यग्र है...पता नहीं चित्रांगद की असामयिक मृत्यु ने उसका मन कैसा तो कर दिया है। उसके मन में अनहोनी का भय समा गया है।...फिर भी किसी प्रकार उसने धैर्य रखा।...समारोह की तैयारी होती रही। प्रासादों का अलंकरण हुआ। फिर नगर का प्रसाधान हुआ। स्थान-स्थान पर तोरण खड़े किये गये। मार्ग चौड़े किये गये। साज-सज्जा के लिए जो सम्भव था, वह हुआ। अभ्यागतों के ठहरने के लिए व्यवस्था की गयी।...आगन्तुक राजाओं के साथ उनके रथ होंगे...रथों के साथ घोड़े होंगे, सारथि होंगे, सेवक होंगे, कुछ सैनिक होंगे...सबको ठहरने का स्थान चाहिए। उनको ठहराने के लिए गंगा के पार जैसे मण्डपों का एक नया नगर ही बसा दिया गया।

...निमन्त्रण भेजने का कार्य अलग चल रहा था। भीष्म को लग रहा था कि निमन्त्रण भेजने का काम भी अपने-आप में कम श्रम-साध्य नहीं है। पहले तो यही निश्चय करते-करते मस्तक में पीड़ा होने लगती है कि किसे निमंत्रित किया जाए और किसे नहीं। फिर उन लोगों के सम्मान के अनुकूल दूत का चयन। और दूतों को भेजने की व्यवस्था। उनके लिए घोड़े-रथ।...इस समय जब हस्तिनापुर में ही इतना कार्य पड़ा था, आधी क्षमता अतिथियों को निमन्त्रण भेजने में लग रही थी।...आमन्त्रित राजा हस्तिनापुर में आ जायेंगे और उनके आवास, खान-पान तथा सम्मान की समुचित व्यवस्था नहीं होगी तो क्या उन्हें अच्छा लगेगा?...और यदि यहाँ पूरी व्यवस्था कर दी गयी और अतिथियों तक निमन्त्रण ही न जा सका तो?...

अम्बा अपने कक्ष में ही बैठी बहुत कुछ देखती और सुनती रही। अनायास ही उसके कानों में विभिन्न प्रकार की सूचनाएँ पड़ती रहती थीं। कुछ दासियाँ उसे बता जाती थीं। कुछ परस्पर चर्चा के बहाने, उसे सुना जाती थीं। जब से वह हस्तिनापुर में आयी थी, यहाँ कुछ-न-कुछ हो ही रहा था।...पहले उसने विचित्रवीर्य के राज्याभिषेक की चर्चा सुनी। सब लोग इतने उल्लसित थे, पर उसे तनिक भी अच्छा नहीं लगा। किन्तु उसकी इच्छा का महत्त्व ही क्या था। जब काशी में ही उसकी इच्छा से कुछ नहीं हुआ, तो यह तो हस्तिनापुर था। ...पर फिर भी उसके चिन्तन पर तो कोई बन्धन नहीं था। वह जो चाहे सोच सकती थी, कल्पना कर सकती थी।...

सैरिन्ध्री ने अम्बा के कंगनों का नाप लिया और भर दृष्टि उसे देखा, “साम्राज्ञी बन कर राजकुमारी देव कन्याओं से अधिक सुशोभित होंगी।”

“साम्राज्ञी!” अम्बा चौंकी, “पर सम्राट के रूप में तो राजमाता सत्यवती के पुत्र विचित्रवीर्य का अभिषेक हुआ है न?”

“हाँ! क्यों?” सैरिन्ध्री मुस्कुरायी, “उन्हीं की तो साम्राज्ञी बनेंगी आप।”

“पर हमारा हरण करने वाले तो राजकुमार भीष्म थे।” न चाहते हुए भी अम्बा के मुख से निकल ही गया।

“हाँ। महाराजकुमार ही थे हरण करने वाले।” वह बोली, “हमारे सम्राट तनिक भी युद्धप्रिय नहीं हैं। इसलिए ऐसे कार्य महाराजकुमार ही करते हैं।”

अम्बा ने देखा, उसके चेहरे पर एक रहस्यमयी मुस्कान थी।

अम्बा ने कुछ नहीं कहा। सैरिन्ध्री चली गयी।

परिचारिका आयी तो अम्बा ने उससे पूछा, “हम यहाँ बन्दिनी तो नहीं हैं न?”

परिचारिका ने दाँतों-तले जिह्वा दबा ली, “हस्तिनापुर की भावी साम्राज्ञी ऐसी बात क्यों सोचती हैं?”

“मैं चाहूँ तो महाराजकुमार भीष्म से साक्षात्कार कर सकती हूँ?”

परिचारिका मुस्कुरायी, “इतनी-सी बात! सम्राट के विवाह-समारोह की तैयारियाँ चल रही हैं, इसलिए महाराजकुमार को अवकाश नहीं मिलता; अन्यथा वे स्वयं ही अब तक कई बार आपका कुशल समाचार पूछने आ चुके होते।”

“बुलाने पर आयेंगे?”

“क्यों नहीं।” परिचारिका बोली, “महाराजकुमार तो किसी अकिंचन याचक की इच्छा पर भी दौड़े चले आयेंगे। आप तो भावी साम्राज्ञी हैं।...”

“तो मुझ पर एक कृपा कर।” अम्बा बोली, “उन्हें अविलम्ब बुला ला।”

परिचारिका ने देखा: अभी तक सहज-स्वाभाविक रूप में बात करने-वाली अम्बा अकस्मात ही असहज हो उठी थी। कितनी व्यग्र लग रही थी वह।

"कोई विशेष प्रयोजन?"

"हाँ! है तो विशेष ही। किन्तु उन्हीं को बताऊँगी।"

सचमुच भीष्म के आने में तनिक भी विलम्ब नहीं हुआ। शायद वह कहीं समीप ही उपस्थित थे और परिचारिका के सूचित करते ही आ गये थे।

"क्या बात है अम्बे?"

कैसा आत्मीय सम्बोधन था–अम्बा ने सोचा–एक व्यक्ति एक ही समय में कैसे इतना आत्मीय और इतना पराया एक साथ हो सकता है।

"आप बहुत व्यस्त हैं?"

भीष्म ने उसे देखा: क्या यही पूछने के लिए अम्बा ने उसे बुलाया था? बोले, "आजकल हस्तिनापुर में सब ही व्यस्त हैं।" और फिर उनकी मुद्रा में थोड़ा-सा परिहास का रंग घुल गया, "तुम्हारे विवाह की तैयारियाँ हो रही हैं।"

"मेरे विवाह की या आपके सम्राट के विवाह की?" अम्बा के स्वर में व्यंग्य की धार स्पष्ट थी।

भीष्म ने चौंक कर उसे देखा, "क्या बात है?"

"कुछ नहीं।" अम्बा बोली, "मैंने तो मात्र एक जिज्ञासा की थी।"

"किन्तु विवाह तो वर और वधू, दोनों का होता है।"

"तो वर सम्राट विचित्रवीर्य हैं और वधुएँ–हम तीनों बहनें?"

"हाँ। क्यों?"

"तो फिर हमारा हरण करने तुम क्यों गये थे?"

भीष्म चौंके: क्या हो गया है? अम्बा को वह उन्हें 'आप' के स्थान पर अकस्मात ही 'तुम' कहने लगी है और उसके स्वर में कैसा चीत्कार है यह! यह प्रश्न नहीं था। यह तो जैसे आरोप था, आक्षेप था।

"विचित्रवीर्य तुम लोगों का हरण करने में समर्थ नहीं था। मैंने उसके साथ विवाह करवाने के लिए ही तुम लोगों का हरण किया था।"

"तो यह कहा होता, काशी के स्वयंवर-मण्डप में।" अम्बा का स्वर, जैसे स्वर नहीं था, पीड़ा का चीत्कार था।

भीष्म अवाक् खड़े अम्बा को निहारते रहे।...क्या कहना चाहती है राजकुमारी? क्या अर्थ है इसका?...हाँ। ठीक है कि स्वयंवर में उन्होंने इतना ही कहा था कि वे इन कन्याओं का हरण कर ले जा रहे हैं।...यह शायद नहीं कहा था कि वे उनका विवाह विचित्रवीर्य से करेंगे।...पर उससे क्या? यह तो हरणकर्ता की इच्छा है कि वह अपहृत कन्याओं का विवाह जिससे चाहे कर दे...

"राजकुमारी! तुम्हारे परिचारक ने मेरा परिचय देते हुए कहा था कि मैंने आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करने की प्रतिज्ञा की है।"

"हमारे परिचारक ने तो कहा था महाराजकुमार!" अम्बा का स्वर वैसे ही तेजोमय था, "किन्तु उस परिचय से ही क्षुब्ध हो कर तुमने हम तीनों के हरण की घोषणा की थी।..."

भीष्म समझ रहे थे कि अम्बा का अभिप्राय क्या है।...पर क्या लाभ! वह असम्भव था।...पर फिर भी भीष्म का वक्ष कैसा शीतल हो गया था। मन था कि जैसे द्रवित ही होता जा रहा था। पर यह द्रवणशीलता रोकी न गयी तो महँगी पड़ सकती है।

"हाँ।" भीष्म बोले, "मुझे उस सारे वातावरण में एक व्यंग्य की गंध आ रही थी। मुझे लगा कि सब लोग जैसे मुझ पर कटाक्ष कर रहे हैं।...पर शायद भूल मेरी ही थी। मुझे यह घोषणा कर देनी चाहिए थी। मैं चूक गया...।"

"तो महाराजकुमार! एक चूक मुझसे भी हो गयी थी", अम्बा की वाणी की करुणा, भीष्म के वक्ष को जैसे छील दे रही थी, "मैं भी तब तुम्हें नहीं बता पायी कि मैं अपनी इच्छा और अपने पिता की सहमति से सौभ नरेश राजा शाल्व को अपने पति के रूप में वर चुकी हूँ। स्वयंवर में तुमने मेरा हरण न किया होता, तो मैं उन्हीं का वरण करती।" उसने रुक कर भीष्म को देखा, "तुम धर्मज्ञ हो महाराजकुमार! इस सूचना के पश्चात जो तुम्हारी इच्छा हो, करो।"

भीष्म के मन में क्षोभ उठा। मन हुआ, पूछें, 'जब शाल्व मुझसे युद्ध कर रहा था, जब वह अपने प्राणों पर खेल

रहा था; तब तुम चुपचाप क्यों बैठी रहीं? वह कोई कौतुक था क्या? क्यों नहीं बोलीं तब तुम? मैं उसी क्षण तुम्हें रथ से उतार कर शाल्व को समर्पित कर देता।...तब तुम मुँह खोलतीं, तो मेरी समझ में आ भी जाता कि क्यों शाल्व अपने प्राण देने पर तुला हुआ था। क्यों वही इतना उग्र हो गया था। क्यों उसी ने मेरे विरुद्ध अभियान छेड़ा था।...' पर भीष्म कुछ पूछ नहीं सके।...अम्बा ने उन्हीं का तर्क तीखे बाण के समान उन्हीं की ओर लौटा दिया था।

"इतना तो मैं अपनी धर्म-बुद्धि से कह सकता हूँ कि ऐसी स्थिति में तुम्हारा विवाह विचित्रवीर्य के साथ नहीं होना चाहिए।" भीष्म अत्यन्त शान्त स्वर में बोले, "किन्तु कोई निर्णय करने से पहले मुझे धर्मज्ञ ब्राह्मणों और माता सत्यवती से पूछना पड़ेगा।"

"यदि वे न मानें तो मेरा विवाह मेरी इच्छा के विरुद्ध विचित्रवीर्य से होगा?" अम्बा बोली, "क्या महाराजकुमार की प्रतिज्ञा की चिन्ता किये बिना उनका विवाह किसी और की इच्छा से हो सकता है?"

"नहीं।" भीष्म रोष के साथ बोले, "मेरी प्रतिज्ञा को भंग करने का अधिकार किसी को नहीं है।"

"तो महाराजकुमार, मेरी प्रतिज्ञा का भी महत्त्व समझें और उसकी रक्षा करने में मेरे सहायक हों।"

अम्बा की बात का उत्तर देने के लिए भीष्म को उपयुक्त शब्द नहीं मिल रहे थे। वह देख रहे थे कि इतने क्षोभ में भी अम्बा का मस्तिष्क अत्यन्त सन्तुलित था–वह भीष्म को उन्हीं के तर्कों में बाँध रही थी। और भीष्म थे कि सिवाय छटपटा कर रह जाने के और कुछ नहीं कर पा रहे थे।

"मैं प्रयत्न करूँगा।" भीष्म बोले और अम्बा पर दृष्टि डाले बिना बाहर चले गये।

अम्बा ने जाते हुए भीष्म को देखा: वे पीड़ित थे–क्या अपराध-बोध से? या कोई और बात थी? वे अम्बा की आँखों में देखने का साहस नहीं कर पा रहे थे...अम्बा को लगा, भीष्म को पीड़ित कर, वह भी प्रसन्न नहीं है...

विवाह-कार्य सम्पन्न करवाने के लिए आये विद्वान और धर्म के ज्ञाता ब्राह्मणों को भीष्म की बात सुन कर निर्णय करने में एक क्षण भी नहीं लगा। जो कन्या, मन-ही-मन किसी अन्य पुरुष का वरण कर चुकी है, वह एक प्रकार से उस पुरुष की विवाहिता ही है, अत: किसी अन्य पुरुष से उसका विवाह नीति-संगत नहीं है।...वैसे भी यदि अम्बा का विवाह विचित्रवीर्य से न भी हो, तो भी विचित्रवीर्य के लिए दो रानियाँ पर्याप्त थीं।...

राजवैद्य का परामर्श नहीं माँगा गया था, फिर भी उन्होंने एकान्त में भीष्म से कहा, "महाराजकुमार! सम्राट के लिए एक ही रानी पर्याप्त है। एकाधिक रानियाँ सम्राट के स्वास्थ्य के लिए शुभ नहीं हैं।"

"अपना मन्तव्य स्पष्ट कहें वैद्यराज।"

"बड़ी राजकुमारी ने तो अस्वीकार कर ही दिया है; सम्भव हो तो दूसरी राजकुमारी का विवाह भी किसी अन्य स्थान पर कर दें। सम्राट के लिए तीसरी राजकुमारी ही पर्याप्त है।"

"यह आपका निश्चित मत है?"

"सम्यक सुचिन्तित।" राजवैद्य बोले, "मैं तो सम्राट को एक पत्नी की अनुमति भी जोखिम ही मानता हूँ।"

इन विचारों को ले कर भीष्म सत्यवती के पास पहुँचे। सत्यवती ने भीष्म की सारी बात सुनी और पूछा, "तुम्हारा क्या मत है?"

भीष्म ने देखा: सत्यवती के चेहरे की सहज उत्फुल्लता विलीन हो गयी थी। कदाचित यह सारा प्रसंग ही उसके मनोनुकूल नहीं था।...तो क्या माता चाहती हैं कि तीनों राजकुमारियों का विवाह विचित्रवीर्य के साथ हो?...पर क्यों? क्या लाभ? मनोनुकूल एक पत्नी भी पति के लिए जीवन-भर का आनन्द होती है।

पर माता ने उनका मत पूछा था। वह समझ रहे थे कि माता को उनका मत पसन्द नहीं आयेगा; किन्तु सत्य तो बोलना ही पड़ेगा, "मेरा विचार है कि विद्वान ब्राह्मणों का मत ही स्वीकार्य है।"

"अर्थात?"

"अम्बा का विवाह विचित्रवीर्य के साथ न किया जाये?"

"पर तुमने उसका हरण तो उसी प्रयोजन से किया था।"

"हाँ।" भीष्म बोले, "किन्तु तब तक मुझे मालूम नहीं था कि वह शाल्व की अनुरागिनी है।...और फिर..." भीष्म ने रुक कर सत्यवती को देखा, "आपने भी तो कहा था कि उसका वय विचित्रवीर्य से अधिक है।"

"हाँ। पर यह भी तो कहा था कि राजकुमारी सुन्दर है।"

तो यह कारण है–भीष्म ने सोचा–राजमाता को सुन्दर राजकुमारी का मोह है। माता का मन शायद सन्तान से भी

अधिक लोभी होता है। सन्तान भोग को विष मान भी ले तो माता सन्तान को भोग से निरत नहीं होने देगी। वह अपने मोह में अपनी सन्तान के लिए उस विष का संचय ही नहीं करेगी, उसके पान का आग्रह भी करेगी...

सहसा सत्यवती की मुखाकृति पर आवेश झलका, "वह शाल्व की अनुरागिनी थी, या वाग्दत्ता थी...तो इतने दिनों तक वह मौन धारण किये क्यों बैठी रही? हरण के समय तुम्हें बताती। काशी से हस्तिनापुर आने तक के बीच में बहुत समय था। हस्तिनापुर आने के पश्चात भी इतने समय तक वह वाक्-शून्य प्रस्तर-प्रतिमा बनी रही। अब, जब विवाह की पूर्ण तैयारी हो चुकी है, तो आज शाल्व के प्रति उसका अनुराग जाग उठा है। हस्तिनापुर के राजपरिवार की मर्यादा के साथ खिलवाड़ कर रही है वह।"

भीष्म चुपचाप सुनते रहे। उन्हें कहना ही क्या था।

पर शायद राजमाता का आवेश चुका नहीं था, "तुमने उससे पूछा नहीं कि वह आज तक मौन क्यों रही?"

"नहीं।"

"क्यों?"

"कोई लाभ नहीं। जब वह किसी अन्य पुरुष का वरण कर ही चुकी है...।"

भीष्म चुप हो गये; किन्तु उनका मन चीत्कार करता रहा, 'राजमाता! तुम तो नारी हो। क्यों नहीं समझतीं नारी-मन को। यदि अम्बा से यह प्रश्न पूछा गया, तो वह हस्तिनापुर के राजकुल की मर्यादा के लिए घातक भी हो सकती है।'

भीष्म चुप रहे। सत्यवती भी कुछ नहीं बोली।

"तो?" अन्ततः भीष्म ने ही पूछा।

"उसे पुनर्विचार का एक अवसर और दो।"

"उसकी इच्छा के विरुद्ध?"

"अपहृत राजकुमारियों की अपनी कोई इच्छा नहीं होती।" सत्यवती ने प्रायः आदेशात्मक स्वर में कहा।

भीष्म थोड़ी देर खड़े विचार करते रहे: कहें या न कहें?...

"कोई और बात भी है?"

"हाँ! माता!" भीष्म धीरे से बोले, "राजवैद्य का मत है कि सम्राट के लिए एक से अधिक रानियाँ हित कर नहीं हैं।"

सत्यवती के चेहरे पर चिन्ता की रेखाएँ उभरीं। और फिर जैसे उसने अपनी इच्छा के विरुद्ध कहा, "तो फिर अम्बा को जाने दो।..."

भीष्म मुड़े।

"किसी दासी को आदेश दो," सत्यवती ने जोड़ा, "कि उसे कह आये कि वह अपनी इच्छानुसार कहीं भी जाने के लिए स्वतन्त्र है।"

भीष्म ने सत्यवती की ओर देखा, तो उनकी आँखों में प्रतिवाद था। किन्तु उनकी वाणी ने प्रतिवाद नहीं किया। धीरे से बोले, "मैं उपयुक्त व्यवस्था कर देता हूँ।"

और भीष्म जब कक्ष के द्वार तक पहुँचे तो उन्हें लगा कि उन्होंने राजमाता की एक सिसकी में लिपटे हुए धीमे-से शब्द सुने, 'यदि मेरा चित्रांगद जीवित होता।...'

भीष्म ने पलट कर नहीं देखा। देखने का क्या लाभ?...माता की स्वामित्व तृष्णा का शायद कोई अन्त नहीं था।

"राजकुमारी!" भीष्म ने कहा। "विद्वान ब्राह्मणों का मत है कि यदि तुम सौभराज शाल्व की अनुरागिनी हो, तो तुम्हारा विवाह सम्राट विचित्रवीर्य के साथ नहीं होना चाहिए। अतः हस्तिनापुर का राजकुल तुम पर से अपने स्वामित्व का अधिकार और प्रतिबन्ध हटा रहा है।"

अम्बा ने भीष्म की ओर देखा: एक सुखद सूचना देने का अभिनय करने के पूर्ण प्रयत्न के बाद भी उनकी वाणी में से उल्लास नहीं, विषाद ही ध्वनित हो रहा था।

...भीष्म ने भी देखा, इस सूचना को सुन कर अम्बा के जिस आह्लाद की कल्पना उन्होंने की थी–वह किसी भी अंश में प्रकट नहीं हुआ था।

भीष्म अम्बा के उत्तर की प्रतीक्षा करते रहे, किन्तु अम्बा कुछ बोली नहीं। और उनके अपने पास कहने को और कुछ था नहीं।...

अन्ततः मौन को अम्बा ने ही तोड़ा, "तुम क्रूर हो भीष्म! निष्कासन के समय भी 'अम्बा' कह कर सम्बोधित नहीं कर सके।..."

अम्बा का एक वाक्य, भीष्म के हृदय में उतना ही उत्पात कर गया, जितना उनचास पवन मिल कर सागर तल पर मचा सकते हैं।...किन्तु उस उत्पात को प्रकट करने से मर्यादा भंग होती, भीष्म की प्रतिज्ञा दुर्बल पड़ती...। उत्पात का दमन वे कर नहीं सकते थे। पर उसे अनदेखा तो किया ही जा सकता था। अब तो उन्हें पर्याप्त अभ्यास भी हो गया था, चीजों को अनदेखा करने का। सबसे अधिक अनदेखा तो उन्होंने अपने हृदय की भावनाओं को ही किया था...।

"मेरा सारथि वीरसेन तुम्हें मेरे रथ में सौभनरेश शाल्व के पास ले जायेगा।" भीष्म अपने स्वर को यथासाध्य सन्तुलित करके बोले, "इच्छा तो थी कि जैसे काशी से लाया था, वैसे ही स्वयं अपने रथ में बैठा कर तुम्हें सौभ ले जाता और स्वयं अपने हाथों तुम्हें तुम्हारे प्रिय को समर्पित करता। किन्तु हस्तिनापुर में सम्राट के विवाह का आयोजन है। सारे दायित्व मुझ पर हैं। मैं हस्तिनापुर छोड़ नहीं पाऊँगा।..."

अम्बा का चेहरा कुछ और आक्रामक हो गया, "दाह चन्दन- काष्ठ से हो, या बबूल की लकड़ी से–शव के लिए दोनों में कोई भेद नहीं है।"

"राजकुमारी! शव-दाह करते हुए जो अपना हृदय दग्ध होता है, चन्दन-काष्ठ उस पर हल्का-सा शीतल लेप कर देता है।" भीष्म कहे बिना नहीं रह सके।

अम्बा के चेहरे पर छाये अन्धकार में हल्की-सी दरक पड़ गयी, जैसे प्रभात के समय काले अन्धकार के सलेटी होने से पड़ती है।

"आश्वस्त हुई!" अम्बा के स्वर की कटुता की धार कुछ मन्द हो गयी थी, "इसी को पर्याप्त मानूँगी।"

"एक अनुग्रह मुझ पर करना।" भीष्म बोले, "मार्ग में ही कहीं रथ छोड़ मत देना। वीरसेन को अपने गन्तव्य तक पहुँचने देना। मार्ग में विघ्न मत डालना। तुम्हें शाल्व के पास पहुँचा कर, उसकी ओर से संदेश ले कर वीरसेन लौटेगा, तो ही मेरे मन को सन्तोष होगा।"

"तुम्हारे सन्तोष को अपनी उपलब्धि मानूँगी।" अम्बा की आँखें डबडबा आयीं।

अम्बा अपनी बहनों से विदा लेने गयी, तो वे दोनों ही अत्यन्त विचलित हो उठीं। अपनी दशा छिपाने के लिए अम्बिका ने अपनी आँखें बन्द कर लीं और अपने जबड़े कस लिए। किन्तु, अम्बालिका, अम्बा के जाने की सूचना पा कर भय से एकदम पीली पड़ गयी; और घबराहट के मारे उसके शरीर में हल्की-सी कँपकँपी दौड़ गयी, "दीदी! हम यहाँ अकेली कैसे रहेंगी?"

अपने विषाद के बीच भी, अम्बा अपनी मुस्कान रोक नहीं पायी, "पगली। यदि हम तीनों का इस प्रकार एक साथ हरण न हुआ होता, और तुम अपने मनभावन वर के साथ अपने ससुराल गयी होतीं, तो वहाँ भी तुम्हारे साथ तुम्हारी दीदी होती क्या?"

अम्बालिका का स्वर कुछ खुला, "पर दीदी! वहाँ हम अपने ससुराल में होतीं। यहाँ इस प्रकार अपरिचित अपहरणकर्ताओं के बीच।..."

अम्बिका की आँखें खुल गयीं। वह अम्बालिका की बात पर हल्के से मुस्कुरायी पर बोली कुछ नहीं।

"अब तुम अपरिचित अपहरणकर्ताओं के बीच नहीं हो।" अम्बा गम्भीर स्वर में बोली, "सम्राट के साथ तुम दोनों के विवाह का आयोजन हो रहा है। तुम दोनों साम्राज्ञियाँ बनोगी। यह तुम्हारा ससुराल ही तो है।...फिर तुम दोनों तो साथ हो, अकेली तो मैं जा रही हूँ।" अम्बा ने रुक कर देखा: आसपास कोई नहीं था, "और एक बात याद रखना।"

दोनों बहनें अम्बा के निकट सरक आयीं।

अम्बा धीमे स्वर में बोली, "यहाँ तुम्हारे सबसे बड़े हितैषी, तुम्हारा हरण करके लाने वाले महाराजकुमार भीष्म ही हैं। आवश्यक होने पर, उनसे कहने से मत चूकना।"

अम्बा ने अपनी आँखें पोंछीं और उठ खड़ी हुई, "अच्छा। चलती हूँ।"

वह कक्ष से बाहर निकली तो देखा, वीरसेन उसकी प्रतीक्षा में खड़ा था–अकेला।

अम्बा को निराशा हुई।...

'किस बात की निराशा है?'–उसने अपने-आपसे पूछा–'भीष्म उससे विदा ले कर जा चुके हैं...और फिर अब भीष्म आयें न आयें...।'

पर उसने पूछ ही लिया, "महाराजकुमार नहीं आये?"

"उन्होंने कहा था कि आपसे कह दूँ कि उन्हें कार्यवश अन्यत्र जाना पड़ रहा है। वे आ नहीं सकेंगे। आप उन्हें क्षमा करें।" वीरसेन ने बताया।

अम्बा कुछ नहीं बोली। चुपचाप चलती हुई बाहर आयी। रथ तैयार खड़ा था। वह उसमें जा बैठी।

रथ चला तो अम्बा की आँखें अनायास ही प्रासाद की ओर उठ गयीं ...शायद किसी गवाक्ष से दो नयन झाँक रहे हों...शायद किसी द्वार पर कोई अपनी आँखों में विषाद की छाया लिए खड़ा हो...

पर कहीं कोई बात नहीं थी।

अम्बा के मन में भावों के कई द्वन्द्व परस्पर गुँथे हुए, एक-दूसरे को परास्त करने का प्रयत्न कर रहे थे...

अब कोई आये या न आये, गवाक्ष से एक जोड़ी आँखें झाँकें या ना झाँकें, किसी द्वार पर कोई निराश-सा खड़ा हो या न हो...क्या अन्तर पड़ेगा...वह तो जा ही रही है...भीष्म अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर रहा है...

पर इन द्वन्द्वों के आवेग को झेलते हुए क्या वह शाल्व के साथ प्रसन्न रह पायेगी?...शाल्व उसे पा कर कितना प्रसन्न होगा। कितने उत्साह से उसका स्वागत करेगा। अपने प्राणों को जोखिम में डाल कर उसने भीष्म से युद्ध किया था। अपने प्राणों के मूल्य पर भी जिसे वह पा नहीं सका...वह भीष्म की अनुकम्पा से, उसे सहज ही प्राप्त हो गयी...उसके जीवन में तो उत्सव होगा...किन्तु अम्बा के मन की यह ग्रन्थि...अपनी इस ग्रन्थि के साथ शाल्व के उत्सव को झेल पायेगी अम्बा?...

यदि भीष्म उसके मार्ग में न आया होता...उसने शाल्व के कण्ठ में जयमाला डाल दी होती। वे पति-पत्नी आजीवन प्रेम-युगल का-सा उत्सव मनाते रहते...पर विधाता की क्रीड़ा-वृत्ति कैसे परितृप्त होती ...अब यह एक कलंक...एक फफोला...एक क्षत ले कर जीना...और कहीं उसका कोई घाव उद्घाटित हो गया, तो दाम्पत्य जीवन में उत्पन्न होने वाली समस्याएँ...ओ मेरे विधाता!...

अम्बा का मस्तक उसकी हथेली पर आ टिका।

हस्तिनापुर का नगर-द्वार आ गया।

अम्बा की चेतना बर्हिमुखी हुई। उसने चारों ओर देखाः शायद नगर-द्वार के बाहर भीष्म रथ पर बैठे थे। वीरसेन ने उनके निकट पहुँच कर वल्गा खींच ली।

"राजकुमारी! मैं तुम्हें हस्तिनापुर लाया था," भीष्म धीरे-से बोले, "इसलिए तुम्हें हस्तिनापुर से विदा करने का दायित्व भी मेरा ही है। मैंने सोचा, इस अवसर पर मेरा उपस्थित न होना, शालीन कृत्य नहीं होगा...।"

"कृपा है तुम्हारी भीष्म!" अम्बा बोली, "जाते हुए एक कृपा की याचना और कर रही हूँ।"

"क्या?"

"एक अभिभावक के समान मेरी बहनों की देख-भाल करना।" अम्बा ने अत्यन्त कोमल स्वर में कहा, "वे दोनों मूर्ख होने की सीमा तक अबोध हैं। देखना, उन्हें कोई कष्ट न हो।"

"मुझे तुम्हारा वचन याद रहेगा अम्बे!" भीष्म ने कहा, और रथ से परे हट गये।

वीरसेन अपने स्वामी का संकेत समझ गया। उसने रथ हाँक दिया।

अम्बा और अम्बालिका का विचित्रवीर्य के साथ बहुत धूमधाम से विवाह हुआ। भीष्म इस विवाह के विभिन्न कार्यों में ऐसे जुटे हुए थे, जैसे वर उन्हीं का पुत्र हो, और वधुएँ उनकी पुत्रियाँ।

कुछ लोगों ने टोका भी! स्वयं माता सत्यवती ने समझाया, "इस प्रकार अपने साथ अत्याचार मत करो। ऐसा न हो तुम्हारा स्वास्थ्य ढीला पड़ जाये। फिर इन सारे कार्य-कलाप को सँभालेगा कौन?"

पर भीष्म जैसे स्वयं अपने हठ के दास हो गये थे। विचित्रवीर्य के विवाह के सम्बन्ध में हुए प्रत्येक समारोह के नियन्ता वे ही थे। कहीं किसी भी कार्य में न्यूनता न रह जाये...

और मन-ही-मन भीष्म जानते थे कि वह अपने-आपसे लड़ रहे थे। विदा होती हुई अम्बा की वह छवि, उनके

हृदय में ऐसी अंकित हुई थी कि मिटना तो दूर, वह तनिक-सी धूमिल भी नहीं हुई।...एकान्त का एक क्षण मिलते ही जैसे हृदय में अंकित अम्बा की छवि सजीव हो उठती, 'तुमने मेरे साथ अत्याचार किया है भीष्म!...शाल्व के प्रति मेरा आकर्षण अवश्य था, क्योंकि मेरे जीवन की वाटिका में पवन का कोई दूसरा झोंका आया ही नहीं था।...किन्तु जब तुम आये, मुझे अपने हृदय को टटोलना पड़ा...शाल्व के लिए मेरे मन में क्या था...अनुराग? या...तुमने मेरा हरण किया...और मैं तुम्हारी वीरता पर रीझ-रीझ गयी। कोई संदेह नहीं कि शाल्व ने भी वीरता दिखायी थी। वह अनेक राजाओं के साथ मिल कर अपनी 'प्रिया' के लिए तुमसे लड़ पड़ा था...और तुम अकेले...मैंने तुम्हारा रूप देखा, तुम्हारा संकल्प देखा, तुम्हारा साहस और धैर्य देखा, तुम्हारी शस्त्र-कला देखी, तुम्हारा युद्ध-कौशल देखा...और जैसे-जैसे तुम्हारी तुलना शाल्व से करती रही, तुम पर रीझती गयी।...वह हस्तिनापुर तक की यात्रा...तुम्हारे एक सम्बोधन 'अम्बे' पर मेरा हृदय जाने कैसी-कैसी कल्पनाएँ कर गया। मेरे जीवन में जो वसन्त कभी नहीं जागा था, वह तुम्हारा एक सम्बोधन जगा गया...और अन्ततः तुमने जैसे मुझे हिमालय के उच्चतम शिखर से सागर की अतल गहराई में धक्का दे दिया, 'मैंने तुम तीनों का हरण विचित्रवीर्य के साथ विवाह करने के लिए किया था...'

भीष्म अपने मन में बोलती अम्बा की छवि को बड़ी कठिनाई से चुप कराते।...वे मानते थे, यह सब उनका भ्रम है। नहीं! शायद यह भ्रम भी नहीं है, उन्होंने आज तक अपनी जिन कामनाओं का बलात दमन किया था, उन सबने ही मिल कर जैसे अम्बा का रूप धारण कर लिया था...उनका अपना हृदय ही उन्हें छल रहा था।...वे समझते थे कि उन्होंने अपनी कामनाओं को जीत लिया है, काम को पराजित कर दिया है। पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। अधिक-से-अधिक, उन्होंने अपने संकल्प से उन सबको दबा रखा है। उनके संकल्प के शिथिल होने का कोई बहाना उपस्थित हुआ और उनकी सारी दुर्बलताएँ साँप-बिच्छुओं के समान कुलबुलाने लगती हैं...और ऐसे में भीष्म का मन काँप-काँप जाता है...युवावस्था में अपनी दुर्बलताओं को वे संकल्पपूर्वक बाँधे रहे...और प्रौढ़ावस्था या वृद्धावस्था आने पर उनका संकल्प शिथिल हो जाये...तब अपने पिता के समान बढ़ी अवस्था में उनका काम जागा तो क्या होगा भीष्म का? प्रतिज्ञा निभाने का यश उतना नहीं मिलता जितना दुर्बल पड़ने पर अपयश...क्या अन्नत में भीष्म के भाग्य में कलंक ही लिखा है?...

भीष्म जैसे स्वयं अपने-आप पर मुस्कुराये:...उन्होंने पिता को काम-यातना में तड़पते देख कर समझा था कि उनके अपने मन में जैसे काम का आकर्षण है ही नहीं। तभी तो वैसी प्रतिज्ञा कर पाये थे वे।...उनका विवेक आज भी जानता है कि काम तो एक दाम है, जीव को बाँधने के लिए...किन्तु मन...मन मानता है क्या?...कैसे तड़पता है मन...और विवेक खड़ा देखता ही रह जाता है।...कहीं एक क्षण के लिए विवेक सोया और मन ने अनर्थ किया...

पिता ने उनकी प्रतिज्ञा सुन कर उनका नाम भीष्म रख दिया था। सारा संसार यह मानता है कि भीष्म जैसा दृढ़ संकल्प किसी में नहीं है। दृढ़ता और संकल्प...भीष्म का मन हुआ, स्वयं पर ज़ोर-ज़ोर से हँसें। वे जानते हैं अपने संकल्पों को...अम्बा ने कैसे डिगा दिया है उनके संकल्प को...नहीं अम्बा ने क्या डिगाया है। उनका अपना मन ही इतना लोलुप है कि लपके बिना नहीं रहता...बाहर क्या रूप है भीष्म का...और भीतर...

भीष्म को लगा, वे अपने-आपसे डरने लगे हैं।

27

विचित्रवीर्य प्रातः जागा, तो उसे हल्का-सा ज्वर था। शरीर बहुत दुर्बल लग रहा था और सिर का भारीपन भी कुछ बढ़ गया था...वैसे उसके लिए अपनी इस अवस्था में कोई नवीनता नहीं थी। वर्षों से वह ऐसा ही चल रहा था। वह तो एक प्रकार से उसका अभ्यस्त भी हो गया था।...मन तनिक स्वस्थ हुआ और तन ने साथ दिया तो दासियों को बुला लिया।...शरीर दुर्बल लगा, मन भारी हुआ तो मदिरा के कई पात्र...फिर न शरीर की दुर्बलता का भान रहता, न मन के भारीपन का।...पर जब से भीष्म और माता सत्यवती में कोई समझौता हो गया था, तब से दासियों की अपेक्षा उसे अपना अधिक समय ब्राह्मणों की संगति में बिताना पड़ता था; और मदिरा से अधिक उसे राजवैद्य की तिक्त औषधियों का पान करना पड़ता था।...और ऊपर से माता ने भीष्म के साथ मिल कर उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचा था।...उन्होंने उसे सम्राट बना दिया था। सम्राट बनने तक उसे कोई आपत्ति नहीं थी, किन्तु उसके बाद प्रतिदिन जा कर राजसभा में सिंहासन पर बैठे रहना और मन्त्रियों, जन-प्रमुखों, ब्राह्मणों...और जाने किस-किसके भाषण सुनना...और फिर उन पर विचार करना...यह सब विचित्रवीर्य के वश का नहीं था। इससे तो अच्छा था कि उसे मदिरा का एक भाँड दे कर, अपने कक्ष में छोड़ दिया जाता...

"आर्यपुत्र!"

विचित्रवीर्य ने आँखें खोलीं: अम्बिका और अम्बालिका, दोनों ही सामने खड़ी थीं।...ये दोनों इस प्रकार एक-दूसरी से क्यों जुड़ी रहती हैं–उसने सोचा–जब देखो, तब एक साथ! विचित्रवीर्य तो दो दिन में ही ऊब जाये, यदि उसे किसी एक के साथ इस प्रकार जुड़ कर रहना पड़े।

"उठिए।" अम्बिका बोली, "विलम्ब हो रहा है। राजसभा आपकी प्रतीक्षा में है।"

'राजसभा।' विचित्रवीर्य का मन हुआ, वह ऊँचे स्वर में चिललाये...पर उसके सिर का भारीपन उसे चिल्लाने की अनुमति ही नहीं दे रहा था। इससे पहले कि वह सिर के भारीपन पर खीझता, उसका ध्यान दूसरी ओर चला गया, "मैं आज सभा में नहीं जाऊँगा।..." वह धीरे-से बोला, "मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है।"

अम्बिका ने उसके माथे पर हाथ रखा: उसे ज्वर का आभास हुआ।... उसने अम्बालिका की ओर देखा। अम्बालिका ने उसका तात्पर्य समझ कर अपनी हथेली विचित्रवीर्य के माथे पर रखी।

"ज्वर है।" वह बोली।

"माता को सूचित करें?" अम्बिका ने पूछा।

"माता को क्या सूचित करना है!" विचित्रवीर्य ने खीझ कर कहा, "मुझे विश्राम करने दो।"

"पर माता को सूचित करने में क्या आपत्ति है आपको?"

"क्योंकि मैं बच्चा नहीं हूँ, कि मेरे सम्बन्ध में प्रत्येक छोटी-बड़ी बात की सूचना माता को दी जाये।"

"तो क्या हैं आप?"

"मैं अब युवक हूँ।"

"आपके यौवन से पर्याप्त परिचित हैं हम!" अम्बिका के स्वर का कटाक्ष प्रत्यक्ष था।

"क्या परिचित हो यौवन से..." विचित्रवीर्य की खीझ उभरी; किन्तु अगले ही क्षण उसका स्वर दब गया, "अस्वस्थ हूँ इन दिनों, अतः दुर्बल हूँ।"

"तो माता को सूचित क्यों नहीं करने देते?"

"जाओ! सूचित कर दो माता को।" विचित्रवीर्य की खीझ मुखर हो उठी, "वे वैद्य को बुलाएँ। वैद्य मुझे विष के समान तिक्त औषधियाँ पिलायें।...जाओ। बता दो माता को।"

किन्तु सत्यवती को बताने के लिए किसी को जाना नहीं पड़ा। वह स्वयं ही कक्ष में आ गयी, "क्या बताना है माता को?"

"आर्यपुत्र का स्वास्थ्य?..." अम्बिका बोली।

"क्या हुआ मेरे बच्चे को।" सत्यवती झपट कर विचित्रवीर्य के पास आयी और उसके माथे पर हाथ रख कर बोली, "इसे तो ज्वर है।"

उसने अम्बिका की ओर देखा: अम्बिका ने सिर झुका लिया, जैसे इसमें उसी का दोष हो। अम्बालिका जा कर

अम्बिका के पीछे खड़ी ही नहीं हुई, उसने स्वयं को बड़ी बहन की ओट में पूर्णतः छिपा लिया था।

सत्यवती ने साथ आयी परिचारिका की ओर आँखें फेरीं, "राजवैद्य को सूचित करो। तुरन्त! किसी तीव्रगामी अश्वारोही को भेजो...या ऐसा करो, किसी सारथि को भेजो, वैद्य को अपने रथ पर बैठा कर ले आये।"

"जो आज्ञा।" परिचारिका चली गयी।

सत्यवती की इच्छा हुई, पीछे से पुकार कर कहे कि किसी को भेज कर भीष्म और महामन्त्री को भी सूचित कर दे...किन्तु फिर कुछ सोच कर चुप ही रही।

परिचारिका चली गयी।

उन्हें अब राजवैद्य की प्रतीक्षा ही करनी थी। पर इतनी देर तक सत्यवती निष्क्रिय तो नहीं बैठ सकती थी।...वह जा कर विचित्रवीर्य के सिरहाने बैठ गयी।

"लाओ! तुम्हारा सिर दबा दूँ मेरे लाल!"

विचित्रवीर्य ने संकोच से अपनी पत्नियों की ओर देखा।

सत्यवती की दृष्टि ने उसकी आँखों का पीछा किया; और सहसा वह रोष मिश्रित स्वर में बोली, "खड़ी देख क्या रही हो। तुम्हारा पति अस्वस्थ है। उसकी सेवा करनी चाहिए। पैर दबाओ अपने पति के।"

अम्बिका और अम्बालिका ने एक-दूसरी की ओर देखा और एक मूक समझौते के अधीन आ कर विचित्रवीर्य के पैरों के पास, पलंग के दोनों ओर बैठ गयीं। वे दोनों धीरे-धीरे पति की टाँगें चाँपने लगीं।

विचित्रवीर्य ने एक झुरझुरी-सी ली और अपनी टाँगें खींच लीं। उसने सत्यवती की ओर देखा, "बन्द करो माँ! यह सब।"

"क्यों?" सत्यवती चकित थी, "क्या बात है मेरे लाल? कोई असुविधा हुई? क्या शरीर को आराम नहीं मिलता?"

"इनके स्पर्श से मेरे शरीर का ताप बढ़ता है।"

अम्बिका और अम्बालिका ने संकोच से दृष्टि भूमि में गाड़ ली।

सत्यवती को विचित्रवीर्य की असुविधा समझने में थोड़ा समय लगा। ...समझने के पश्चात उसे थोड़ा आश्चर्य हुआ।...पत्नी का स्पर्श भी उसके शरीर में ताप बढ़ाता है...इतना कामातरेक है विचित्रवीर्य में...

राजवैद्य ने आ कर विचित्रवीर्य की नाड़ी देखी। सम्राट की आँखों, जिह्वा और त्वचा का परीक्षण किया। थोड़ी देर सोचते रहे और बोले, "राजमाता! मेरे साथ आयें।" उसने मुड़ कर अम्बिका और अम्बालिका की ओर देखा, "आप लोग जायें। सम्राट को विश्राम की आवश्यकता है।"

राजवैद्य के साथ सत्यवती दूसरे कक्ष में आयी।

"क्या बात है वैद्यराज?"

"सम्राट की कामेच्छा असाधारण रूप में प्रबल है। शरीर दुर्बल है।...और आपने उन्हें एक नहीं, दो-दो सुन्दरी पत्नियाँ उपलब्ध करा रखी हैं।..."

सत्यवती को लगा, राजवैद्य ने पूरी बात नहीं कही थी।

"स्पष्ट कहें वैद्यराज!"

"और स्पष्ट क्या कहूँ राजमाता!" राजवैद्य ने सिर झुका लिया। उसका स्वर और भी धीमा हो गया, "मुझे सम्राट में क्षय रोग के लक्षण दिखायी दे रहे हैं।..."

सत्यवती फटी-फटी आँखों से राजवैद्य को देखती रही...शब्द जैसे सारे-के-सारे खो गये थे...

"मैंने तो राजमाता से पहले भी निवेदन किया था कि सम्राट को स्त्री-प्रसंग से दूर रखें।" राजवैद्य के शब्दों में विषाद की ध्वनि स्पष्ट थी, "सम्राट के विवाह से पहले भी मैंने महाराजकुमार से निवेदन किया था कि सम्राट के स्वास्थ्य के लिए एक पत्नी भी जोखिम का कारण हो सकती है। फिर भी दो रानियाँ...।"

"किन्तु राजाओं के लिए दो रानियाँ कोई अतिरिक्त विलास का प्रमाण नहीं है वैद्यराज!" सत्यवती के स्वर में प्रतिवाद की ध्वनि थी।

"वे राजा सैकड़ों योजन की यात्रा घोड़े की पीठ पर करते हैं और आठ-आठ प्रहर शस्त्र-परिचालन करते हुए भी थकते नहीं हैं राजमाता! हमारे सम्राट का शारीरिक स्वास्थ्य उस कोटि का नहीं है।" राजवैद्य ने कहा, "कृपया रानियों

को सम्राट से दूर रखें ताकि न तो रानियों पर सम्राट के रोग का प्रभाव पड़े और न ही सम्राट व्यर्थ ही कामोत्तेजना के कारण अपने स्वास्थ्य का और भी क्षय करें...।"

सत्यवती का मन जैसे एकदम बुझ गया।

क्या है यह सब? कौन-सा पाप किया है सत्यवती ने, जिसका उसे यह दण्ड मिल रहा है। पहले अपना प्रिय तापस छूटा, नन्हे कृष्ण द्वैपायन को त्यागा; फिर वृद्ध पति पाया, विधवा हुई, चित्रांगद छोड़ गया और अब यह विचित्रवीर्य...क्या यह सब केवल इसलिए कि सत्यवती और उसके बाबा ने राज्य का लोभ किया, या इसलिए कि उसने भीष्म के अधिकार का अपहरण किया...पर क्या पाया उसने? सब कुछ तो खोया ही खोया है...क्या यह सब उसका अपना कृत्य है...या किसी और का?...भगवान का या मनुष्य का?...

सत्यवती को लग रहा था कि वह या तो सशब्द रो पड़ेगी और दीवारों से अपना सिर टकरायेगी, या फिर वह किसी का मुँह नोच लेगी...उसे मालूम तो होना चाहिए कि उसी के साथ यह सब क्यों हो रहा है?...राजवैद्य कहता है कि उसने भीष्म को बताया था कि सम्राट के लिए एक भी पत्नी...तो भीष्म बार-बार क्यों कहता रहा कि विचित्रवीर्य का विवाह कर दिया जाये? वह विचित्रवीर्य को पत्नी उपलब्ध कराने के लिए इतना व्यग्र क्यों था?...इसलिए कि पत्नी को पा कर अपनी कामासक्ति के कारण विचित्रवीर्य अपने स्वास्थ्य का नाश कर ले और प्राणों से हाथ धोये...हाँ! क्यों नहीं चाहेगा, भीष्म ऐसा? ...वह कैसे भूल सकता है कि उसे राज्याधिकार से अपदस्थ करने वाली मैं हूँ ...मुझे और मेरी सन्तान को वह सुखी देख ही कैसे सकता है।...जब चित्रांगद मृत्यु से जूझ रहा था, तो यह तपस्या का ढोंग कर गंगा पार अपनी कुटिया में जा बैठा था।...कोई बड़ी बात नहीं है, यदि इसी ने गन्धर्वराज को उकसा कर चित्रांगद से लड़ने को भेजा हो।...और अब मुझसे मीठी-मीठी बातें कर, मेरे पुत्र को पत्नी का लोभ दिखा, तीन-तीन कन्याओं का हरण कर लाया...वह जानता था कि विचित्रवीर्य के लिए काम-प्रसंग घातक है, तो भी वह तीन-तीन कन्याएँ हर लाया...

यह भीष्म मेरा और मेरी सन्तान का नाश करके ही छोड़ेगा...

सत्यवती आवेश में बाहर निकली। सारथि को रथ लाने का संकेत किया और रथारूढ़ हो कर कहा, "महाराजकुमार के प्रासाद में ले चलो।"

भीष्म के प्रतिहारी ने राजमाता को प्रणाम किया।

"महाराजकुमार हैं?"

"हैं राजमाता!" उसने कहा, "वे सारथि वीरसेन से चर्चा कर रहे हैं। वीरसेन अभी-अभी सौभ से लौटे हैं।"

सत्यवती ने और जिज्ञासा व्यर्थ समझी। कक्ष में प्रवेश किया तो जिस व्यक्ति पर सबसे पहले उसकी दृष्टि पड़ी, वह अम्बा थी। लम्बी-ऊँची गौर-वर्णा नारी। बड़ी-बड़ी काली आँखें, तीखी नाक, लम्बे काले बाल, आकर्षक नारी अवयव। पूर्ण और विकसित नारीत्व की स्वामिनी!...किन्तु इस समय थकी हुई, एक लम्बी यात्रा से धूल-धूसरित। बिखरे हुए केश। कुछ-कुछ लालिमा लिए आँखें, जैसे अभी-अभी रोई हो...

पर यह यहाँ क्या कर रही है? यह तो सौभ गयी थी।

"राजकुमारी तुम!" सत्यवती का आश्चर्य प्रकट हो ही गया।

पर अम्बा ने न तो राजमाता के प्रश्न का उत्तर दिया: और न प्रणाम ही किया। उसने उपेक्षा से मुख फेर लिया; और सत्यवती को लगा, उसने ओट में हो कर अपनी आँखें पोंछी हैं।

भीष्म और वीरसेन ने राजमाता को प्रणाम किया।

"भीष्म! यह?" सत्यवती ने पूछा।

"हाँ माता! शाल्व ने राजकुमारी को स्वीकार नहीं किया। वह कहता है कि वह क्षत्रिय राजा है। युद्ध में जीत सकता तो जीत लेता, वह भीष्म का दिया दान नहीं ले सकता।" भीष्म धीरे से बोले।

"पूरी बात क्यों नहीं बताते तुम!" सहसा अम्बा रुदन और आक्रोश-भरे स्वर में बोली, "मुझसे सुनो राजमाता!" उसकी आँखें सत्यवती पर जम गयीं, "वह कहता है कि जिस क्षण भीष्म ने स्वयंवर-मण्डप में मेरी बाँह पकड़ मुझे अपने रथ पर बैठाया–मैं उसी क्षण से स्वयंवर में जीती हुई भीष्म की वीर्यशुल्का पत्नी हो गयी। और जो धर्मतः भीष्म की पत्नी है, उसे धर्मज्ञ सौभराज शाल्व अपनी पत्नी के रूप में कैसे स्वीकार कर सकता है। वह परस्त्रीगामी नहीं बनना चाहता।..."

"पर यह झूठ है।" सत्यवती का मन ऐसा काँपा, जैसे आकाश उस पर टूट पड़ा हो, या धरती फट गयी हो और वह रसातल तक गिरती ही चली जा रही हो।

"झूठ और सच का निर्णय कौन करेगा राजमाता–एक स्त्री का स्वार्थ?"

"क्या कहना चाहती हो?" सत्यवती को लग रहा था, जैसे उसके चारों ओर सहस्त्रों भूत-पिशाच जाग कर अट्टहास कर रहे हों।

"मैं सम्राट शान्तनु के ज्येष्ठ पुत्र की भार्या हूँ। मुझे मेरा अधिकार मिलना चाहिए।"

"तुम झूठी हो।" सहसा सत्यवती असह्य वेदना से फट पड़ी, "भीष्म ने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने की प्रतिज्ञा की है। वह तुम्हारा हरण अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य के लिए करके लाया था। तुमने स्वयं ही कहा था कि तुमने मन-ही-मन सौभराज शाल्व का वरण कर रखा है। अन्यथा तुम्हारा विवाह विचित्रवीर्य से हो ही जाता और तुम कुरु साम्राज्य की साम्राज्ञी होतीं।"

"वह तो मैं हूँ ही!" अम्बा एक-एक शब्द को चबा-चबा कर बोली, "किन्तु मैं शान्तनुनन्दन देवव्रत भीष्म की भार्या हूँ। हस्तिनापुर के राजकुल को मुझे इसी रूप में स्वीकार करना होगा।..."

सत्यवती का मन हुआ कि वह चीख कर इतना रोये कि राजप्रासाद की दीवारें हिल जायें–वह क्या इस प्रकार प्रवंचित होने के लिए कुरुकुल की रानी बन कर आयी थी। शान्तनु और भीष्म ने जो वचन दिये थे, उनको यह स्त्री इस प्रकार उससे छीन लेगी...या क्या यह भी भीष्म का ही तो कोई षड्यन्त्र नहीं है। वह एक ही दाँव में अपनी दोनों प्रतिज्ञाओं का निराकरण कर लेना चाहता है।...

"भीष्म!" सत्यवती ने चीत्कार किया।

"धैर्य धारण करें माता!" भीष्म ने यथासम्भव शान्ति से कहा, किन्तु उनके मन की उद्वेलित स्थिति अनुद्घाटित न रह सकी। फिर वे सारथि की ओर मुड़े, जैसे इस बवण्डर में वे कुछ देर तक उसका अस्तित्व भूल गये हों, और अब सहसा ही उसके प्रति सचेत हो गये हों, "तुम जाओ वीरसेन! थके हुए हो। नहाओ, धोओ! विश्राम करो।"

और तब उन्होंने सत्यवती से कहा, "आप आसन ग्रहण करें माता! काशी की राजकुमारी इस समय अत्यन्त उद्वेलित मनःस्थिति में है। वह दुखी है। उसकी पीड़ा मैं समझता हूँ...।"

"मुझे बहलाने का प्रयत्न मत करो।" अम्बा बीच में ही बोली, "यदि तुम क्षत्रिय हो, तो मैं भी क्षत्रिय-कन्या हूँ। तुम अपनी प्रतिज्ञा पर अटल हो, तो मैं भी अपना संकल्प पूरा करूँगी।"

"सुनो राजकुमारी!" भीष्म बोले, "तुम्हारे दुर्भाग्य पर मुझे दुख है; किन्तु तुम्हारा अपराधी मैं नहीं हूँ।...तुम्हारे अपहरण में कहीं अधर्म नहीं था। तुमने शाल्व के प्रति अपना अनुराग प्रकट करके भी कोई अन्याय नहीं किया। और शाल्व का तुम्हें अंगीकार न करने का कारण भी धर्म-विरुद्ध नहीं है...।"

"सबने अपने धर्म का ही निर्वाह किया है तो यह अधर्म क्यों हो रहा है?" अम्बा क्षुब्ध स्वर में बोली, "पिता के घर से मैं स्वयंवर में हरी गयी। अतः मैं लौट कर अपने पितृ-कुल में नहीं जा सकती। जो मुझे हर कर लाया, वह मुझे ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा में बँधा हुआ है; और जो मुझसे प्रेम करता था और विवाह करना चाहता था, वह मुझे इसलिए अंगीकार नहीं कर रहा, क्योंकि वह मेरा हरण नहीं कर सका...जब किसी ने भी अधर्म नहीं किया, किसी ने पाप नहीं किया, किसी ने अन्याय नहीं किया–तो फिर यह सारी यातना मेरे ही लिए क्यों?...तुम क्यों नहीं मेरे समान वन-वन और नगर-नगर भटक रहे?..."

"राजकुमारी! यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है।" भीष्म यथासम्भव शान्त स्वर में बोले, "कभी-कभी जीवन में परिस्थितियों के ऐसे विचित्र समीकरण बन जाते हैं कि व्यक्ति कष्ट भी पाता है, और उसके लिए किसी को दोषी भी नहीं ठहरा सकता। तुम ऐसी ही एक स्थिति में खड़ी हो इस क्षण!...किन्तु ऐसी कोई कठिनाई नहीं है, जिसका पार हम धैर्य और विवेक से नहीं पा सकते। तुम धैर्य रखो। हम तुम्हारी सहायता करेंगे। तुम पितृ-कुल में लौटना चाहो तो, विचित्रवीर्य से विवाह करना चाहो तो..."

और सहसा सत्यवती के मन में ज्वार उठा, 'नहीं! नहीं!! भीष्म, ऐसा मत करना। राजवैद्य विचित्रवीर्य को स्त्री-प्रसंग से दूर रखने का आदेश दे रहा है और तुम उसके लिए एक और पत्नी की व्यवस्था कर रहे हो...हत्या करोगे क्या उसकी?'

पर सत्यवती बोली कुछ नहीं।

"क्या बात है माता? आप इतनी उद्विग्न क्यों हैं?" भीष्म ने पूछा।

किन्तु इससे पहले कि सत्यवती कोई उत्तर देती, अम्बा बोली, "मुझे न अब पितृ-कुल में लौटना है, न निर्वीर्य विचित्रवीर्य से विवाह करना है, न कुरु-कन्या बन कर हस्तिनापुर में रहना है, न सौभ-नरेश शाल्व के पास जाना है...।"

"तो क्या इच्छा है राजकुमारी?"

"मैं जिसकी भार्या हूँ, वह मुझे अंगीकार करे। मुझे कुरुकुल में अपना उचित, उपयुक्त, धर्मयुक्त स्थान प्राप्त हो, नहीं तो...।"

"नहीं तो?"

"नहीं तो मैं अपने अपमानित जीवन के प्रतिकार-स्वरूप भीष्म! कोई भयंकर कृत्य करूँगी..." उसने भीष्म की ओर देखा, "इस एक स्त्री के सुख के लिए, तुम मेरा जीवन इस प्रकार नष्ट नहीं कर सकते। यह अपने जिस वंश के सुख के लिए यह सब कर रही है, मैं उस वंश का सम्पूर्ण नाश कर दूँगी।..."

सत्यवती की इच्छा हुई कि वह अपनी आँखें बन्द कर ले: उसके सामने काशिराज की पुत्री अम्बा नहीं, जो उसे और उसके वंश का सर्वनाश करने पर तुली हुई थी, यह तो कोई भयंकर कृत्या थी, शापग्रस्त, उद्विग्न प्रेतात्मा...यदि उसकी बात मान ली जाये। सत्यवती यदि भीष्म को उससे विवाह करने की अनुमति दे दे, तो अगले ही क्षण हस्तिनापुर की साम्राज्ञी के रूप में अधिकार ग्रहण कर, भीष्म का राज्याभिषेक करवायेगी और सम्भव है कि विचित्रवीर्य को बधिकों के हवाले कर दे...और यदि उसकी बात न मानी जाये तो...कहीं वह भीष्म का वध न करवा दे...भीष्म का, जिसका जीवन, सम्पूर्ण कुरु-साम्राज्य का जीवन है...भीष्म की आवश्यकता आज सत्यवती से अधिक किसे होगी...अपने प्रासाद से चलते हुए सत्यवती ने सोचा था कि भीष्म उसका सबसे बड़ा शत्रु है...तब वह उसका नाश चाह रही थी...किन्तु इस समय अम्बा उसे समझा रही थी कि भीष्म का नाश, सत्यवती का ही नाश है...अम्बा भीष्म को उससे छीन लेना चाहती है...जीवित या मृत!...अम्बा भीष्म की नहीं, सत्यवती की सबसे बड़ी शत्रु है।...भीष्म ठीक कहता है कि कभी-कभी परिस्थितियों के ऐसे समीकरण आ उपस्थित होते हैं...सत्यवती ने तो अम्बा को कभी हानि नहीं पहुँचायी...

"तो अम्बे!" भीष्म के स्वर में सहसा किंचित माधुर्य घुल गया, "विधाता का यही विधान है, तो वही सही! मैं नहीं जानता था कि दुर्बलता का एक क्षण इस प्रकार हमारे विनाश की घड़ी ले आयेगा।"

सत्यवती को लगा, अम्बा के चेहरे पर भी हल्की-सी कोमलता उभरी, "तुम जानते हो भीष्म! मैं तुम्हारी प्राण भी हूँ और विनाश भी।" और सहसा, वह फिर तटस्थ हो गयी, "तो क्या सोचा है मेरे लिए?"

"राजकुमारी! तुम्हारी इच्छा इस जन्म में तो पूरी नहीं कर पाऊँगा।"

"यह अन्तिम उत्तर है?"

"सर्वथा अन्तिम!"

"तो फिर मुझे शैखावत्य मुनि के आश्रम तक पहुँचवाने की व्यवस्था कर दो, ताकि मैं हस्तिनापुर के विनाश का प्रबन्ध कर सकूँ।"

"जैसी तुम्हारी इच्छा!" भीष्म बोले। उन्होंने परिचारिका को बुला कर आदेश दिया, "राजकुमारी थकी हुई हैं। उनके स्नान, भोजन और विश्राम का प्रबन्ध करो।"

अम्बा परिचारिका के पीछे चली तो उसने एक दृष्टि भीष्म पर भी डाली। भीष्म ने देखा, उसकी आँखों में कितनी करुणा थी...और कितनी प्रचण्डता।

"दीदी हस्तिनापुर आयी तो हैं," अम्बिका ने कहा, "किन्तु हमसे मिलने की उन्होंने तनिक भी उत्सुकता नहीं दिखायी।"

"क्यों?" अम्बालिका ने किसी अबोध बालिका के समान जिज्ञासा की।

"भगवान जाने।" अम्बिका बोली, "वे इस प्रकार क्यों बदल गयी हैं।"

"कहीं ऐसा तो नहीं कि उनका विवाह नहीं हो रहा तो...।"

"तू तो एकदम पागल है अम्बालिका।" अम्बिका के स्वर में स्नेह-मिश्रित डाँट थी, "अपने दुर्भाग्य में वे हमारा स्नेह चाहेंगी या हमारा विरोध।"

"उन्हें ईर्ष्या भी तो हो सकती है।"

"फिर वही मूर्खता-वाली बात।" अम्बिका ने इस बार स्पष्ट रूप से डाँटा, "उन्होंने सम्राट से विवाह करने में अनिच्छा न दिखायी होती तो वे साम्राज्ञी होतीं, इस समय। जो वस्तु उन्होंने स्वयं अपनी इच्छा से ठुकरा दी, उसके लिए क्या ईर्ष्या करेंगी हमसे।"

"तो फिर क्यों मिलने नहीं आयीं हमसे?"

"वे ही जानें कि उनके मन में क्या है," अम्बिका ने कहा, "किन्तु मुझे लगता है कि वे इतनी परेशान हैं कि उन्हें अपनी ही सुध नहीं है, ऐसे में उन्हें हमारा स्मरण कहाँ से आयेगा।"

"परेशानी में ही तो व्यक्ति आत्मीय जनों को याद करता है।" अम्बिका समझ नहीं पायी कि अम्बालिका, अम्बा के व्यवहार के प्रति अपना विरोध प्रकट कर रही थी, या बिना सोचे-समझे उसने एक सिद्धान्त-वाक्य उछाल दिया था, जैसे कि उसकी आदत थी।

"आत्मीय जन का स्मरण करता है, कोई अपनी करुणा के क्षण में, कोई अपनी असहायता के क्षण में।" अम्बिका ने जैसे छोटी बहन को समझाया, "अम्बा दीदी में करुणा और असहायता है ही नहीं। तुम जानती हो, उनका क्रोध और विरोध कितना प्रचण्ड होता है। उनके आत्मविश्वास ने कभी किसी से सहायता माँगी है क्या? वे स्वयं को इतना समर्थ मानती हैं कि जिसके पीछे पड़ जायेंगी, उसे प्राप्त करके ही छोड़ेंगी।"

"किसे प्राप्त करेंगी–महाराजकुमार भीष्म को?" अम्बालिका ने कहा, "शाल्व के पीछे तो पड़ी नहीं। नहीं तो उनके साथ तो तत्काल विवाह हो जाता। उन्होंने तो ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा कर नहीं रखी।"

"कहती तो तुम ठीक हो।" अम्बिका जैसे अपने-आपसे बातें कर रही थी, "पर मुझे लगता है कि सौभराज शाल्व तो उनके मन से उसी क्षण उतर गया था, जिस क्षण उन्होंने महाराजकुमार भीष्म को देखा था। जैसे-जैसे वे महाराजकुमार को जानती गयीं; उन पर मुग्ध होती गयीं। नहीं तो जैसी वे हैं–यदि सौभराज को चाहतीं, तो महाराजकुमार के रथ से कूद पड़ी होतीं। कैसी मौन-मूक बनी बैठी रहीं। तनिक-सा भय भी नहीं माना महाराजकुमार का। उनसे वार्तालाप के लिए भी उत्सुक रहीं।...मुझे लगता है अम्बालिके!" अम्बिका ने रुक कर अम्बालिका को देखा, "कि वे कदाचित इसी भ्रम में रहीं कि महाराजकुमार स्वयं ही उनके साथ विवाह करेंगे..."

"दीदी! क्या तुम्हें ऐसा नहीं लगा था?"

"लगा तो मुझे भी यही था," अम्बिका बोली, "पर मुझे तो वे एक अत्यन्त रुक्ष और हिंस्र प्रौढ़ योद्धा लगे थे। मुझे उनके सारे व्यक्तित्व में कहीं कोई कोमल और स्निग्ध भाव दिखायी ही नहीं दिया था। इसलिए मेरे मन में उनके प्रति कोई आकर्षण नहीं जागा था। मुझे तो वे केवल एक कन्या-अपहर्ता दिखायी पड़े थे, जो हमें, हमारी और हमारे अभिभावकों की इच्छा के विरुद्ध बलात अपहृत कर ले जा रहे थे।...पर मुझे विश्वास है कि दीदी को महाराजकुमार स्वयंवर में ही भा गये थे, या जब वे रथ में बैठीं और उनके लिए शाल्व और भीष्म युद्ध कर रहे थे, तो वे परीक्षा कर रही थीं, कि श्रेष्ठ वीर कौन है। वे वास्तविक वीर्य-शुल्का हैं...।"

अम्बालिका चुपचाप बैठी अपनी बहन को देखती रही। बोली कुछ नहीं।

"क्यों? तुझे ऐसा नहीं लगता?"

"सम्भव है कि ऐसा ही हो।" अम्बालिका बोली, "पर यदि ऐसा था, तो उन्होंने स्वयं महाराजकुमार से यह क्यों कहा कि वे मन-ही-मन शाल्व का वरण कर चुकी हैं?" अम्बालिका पहली बार अबोध बालिका से कुछ बड़ी हो कर बोली, "मैं तो अपने प्रिय के सम्मुख कभी इस प्रकार, किसी अन्य पुरुष को अपना प्रेमी न बताऊँ।"

"सम्भवतः कोई न बताये," अम्बिका मंद स्वर में बोली, "किन्तु यदि वे ऐसा न कहतीं तो उनका विवाह भी हमारे ही समान कुरु-सम्राट विचित्रवीर्य के साथ कर दिया जाता...।"

"तो क्या इससे भी बुरा होता दीदी! जो अब उनके साथ हुआ है?"

अम्बिका ने एक बार अम्बालिका को देखा, जैसे सोच रही हो कि क्या यह सच-मुच कुछ नहीं समझती?

"उन्होंने एक दाँव तो खेला, एक जोखिम तो झेला। अब सफल नहीं हुईं, यह दूसरी बात है। सफल हो गयी होतीं तो उन्हें शाल्व जैसा समवयस्क, सक्षम योद्धा और समर्थ पुरुष, पति के रूप में मिला होता।" फिर जैसे दूसरा विचार मन में कौंधा, "और वैसे अब भी क्या बिगड़ा है। वह इस समय महाराजकुमार भीष्म के पीछे पड़ी हैं। कौन जानता है कि वे उन्हें प्राप्त करने में सफल हो ही जायें।"

"सफल हो भी जायें तो क्या," अम्बालिका जैसे इस सारे विचार का उपहास करती हुई-सी बोली, "वे साम्राज्ञी नहीं हो सकतीं।"

अम्बिका के मन में आया, अम्बालिका को डाँट दे: कैसी मूर्ख है यह।...पर फिर उसके प्रति हल्का-सा स्नेह उमड़ा। सच मुच यह मूर्खा तो शैशव से ही ऐसी रही। तीनों में सबसे छोटी थी। हर बात में बड़ी बहनों की बराबरी करती और अपने खिलौनों को भी उनकी उपयोगी वस्तुओं से बहुमूल्य बताती। वे दिन अभी बहुत पीछे नहीं छूटे, जब वह अपने गुड्डे राजकुमार को वास्तविक वीरों से बड़ा योद्धा मानती थी; और सबको धमकाया करती थी कि अपने गुड्डे राजकुमार को कह कर वह उनको पिटवा देगी। आज भी वह, वही कर रही थी।

"सुन अम्बालिके! छोटी बच्ची नहीं है अब तू। तुझे जीवन का कुछ यथार्थ तो समझना चाहिए।" अम्बिका बोली, "नारी को पति के रूप में सम्राट से पहले एक पुरुष की आवश्यकता होती है...और महाराजकुमार सम्राट चाहे न हों, पर सम्राटों के नियन्ता वे ही हैं।...मुझे लगता है कि दीदी ने ठीक ही किया। इस अवस्था तक उन्होंने एक पति की प्रतीक्षा की है। तो अब वह अपनी इच्छानुसार अपना प्रिय पुरुष ही पति के रूप में स्वीकार करेंगी, नहीं तो पुरुष-संग नहीं करेंगी।" अम्बिका का स्वर कुछ मंद हुआ और उदास भी, "दीदी हम जैसी नहीं हैं। हम तो पदार्थ हैं, वस्तु...दीदी मनुष्य हैं। उनमें प्राण हैं...इच्छा है, इच्छा को मनवाने के लिए संघर्ष की क्षमता है..."

"क्यों? हम मनुष्य नहीं हैं, हममें प्राण नहीं हैं?"

"अरे हमारा अस्तित्व भी कोई अस्तित्व है।" अम्बिका बोली, "निर्जीव पदार्थ के समान कोई उठा लाया और अपनी इच्छानुसार किसी की गोद में डाल दिया। क्या अन्तर है ऐसे प्राणों के होने या ना होने में; अस्तित्व और अनस्तित्व में। हम हुईं, न हुईं–एक जैसी हैं अम्बालिके।"

लगा, अम्बालिका का ध्यान अम्बिका की बात से हट कर कहीं और चला गया। अपनी अन्यमनस्कता में शायद उसने उसकी बात सुनी भी नहीं। कुछ देर तक अपने उसी लोक में टँगी रह कर वह वापस लौटी, "तुम साम्राज्ञी बन कर प्रसन्न नहीं हो दीदी?"

"तुम प्रसन्न हो?" अम्बिका ने पलट कर पूछा; और फिर जैसे अम्बालिका का उत्तर आवश्यक नहीं समझा, "हाँ। तुम प्रसन्न हो भी सकती हो। तुम्हें यह तो दिख रहा है कि तुम कुरु-सम्राट की पत्नी हो। कुरु-साम्राज्य तुम्हारा है, ये प्रासाद, नगर, सेनाएँ, धन, सम्पत्ति...पर तुम यह नहीं समझ पा रही हो कि तुमने खोया क्या है। जो तुमने खोया है, वह प्राथमिक है, और जो तुमने पाया है, वह आनुषंगिक है। मनुष्य की मूल आवश्यकता वह है, जो तुमने खोया है। और जो तुमने पाया है, वह तुम्हारी आवश्यकता नहीं, तुम्हारे अहं के सन्तोष का कारण हो सकता है, प्रदर्शन की वस्तु हो सकती है...।"

अम्बालिका कुछ देर तक अपलक अम्बिका को निहारती रही और फिर बोली, "तुमने फिर वही सब कहना आरम्भ कर दिया, जो मेरी समझ में नहीं आता।"

"ओह अम्बालिके! क्यों यह सब तेरी समझ में नहीं आता।" अम्बिका जैसे आवेश में बोली; और फिर उसका स्वर कुछ धीमा हुआ, "अच्छा ही है कि तुम नहीं समझतीं, नहीं तो तुम भी मेरे ही समान कुढ़तीं। दीदी हैं कि समझती हैं तो कुछ करने में भी समर्थ हैं, तुम हो कि समझती ही नहीं हो।...एक मैं हूँ कि समझती भी हूँ और कुछ कर भी नहीं सकती...।"

28

प्रातः भीष्म से मिलने के लिए आने-वाले प्रथम व्यक्ति राजवैद्य थे।

"कहिए वैद्यराज!" भीष्म बोले, "कैसे कष्ट किया?"

"महाराजकुमार!" राजवैद्य बहुत धीरे-से बोले, "अपने धर्म का निर्वाह करने आया हूँ।"

"राजवैद्य का धर्म?" भीष्म ने वैद्य की ओर कुछ चकित हो कर देखा; और जैसे अपने-आप से पूछाः 'राजवैद्य का ऐसा कौन-सा धर्म है, जिसके निर्वाह के लिए उसे उनके पास आना पड़ा है।'

"राजवैद्य का नहीं, वैद्य का धर्म।"

"वैद्य का धर्म तो रोगी के निकट होता है वैद्यराज!" भीष्म बोले, "उसके निर्वाह के लिए आप मेरे निकट..."

"आपने सत्य ही कहा महाराजकुमार!" राजवैद्य ने कहा, "वैद्य के धर्म का निर्वाह रोगी के निकट होता है; किन्तु कभी-कभी हमारा धर्म द्वन्द्वयुक्त हो उठता है।"

"मैं समझ नहीं पा रहा वैद्यराज!" भीष्म सचमुच चकित थे, "आप अच्छे वैद्य और ज्योतिषी–दोनों माने जाते हैं; किन्तु इस प्रकार पहेलियाँ...आपको तो स्पष्टवक्ता होना चाहिए।"

"महाराजकुमार ने पुनः सत्य ही कहा है।" राजवैद्य ने कहा, "किन्तु जैसा कि मैंने अभी-अभी निवेदन किया है न, कि कभी-कभी हमारा धर्म द्वन्द्वयुक्त हो जाता है...।"

भीष्म ने कुछ नहीं कहाः वे वैद्य की ओर प्रतीक्षारत दृष्टि से देखते रहे। जाने वे क्या कहना चाहते हैं।

"सम्राट रुग्ण हैं।" वैद्य ने धीरे-से कहा, "किन्तु वे एक रोगी के समान हमारे नियन्त्रण में नहीं हैं। हमारी इच्छा उन पर पूर्णतः लागू नहीं हो सकती। उनकी अपनी इच्छा सर्वोपरि है।...आप मेरी बात समझ रहे हैं न महाराजकुमार?"

"समझ रहा हूँ वैद्यराज!" भीष्म बोले, "आप कहिए।"

"विधाता ने हमारा जो यह शरीर बनाया है, यह बहुत समर्थ है और दूसरी ओर बेचारा बहुत असहाय है–पराधीन जो ठहरा। विधाता ने शरीर की आवश्यकताओं को अभिव्यक्ति देने के लिए मन को उसके साथ लगा दिया है; किन्तु मन स्वेच्छाचारी है। वह शरीर की आवश्यकताओं को समझने और अभिव्यक्त करने में मनमानी करता है। परिणाम यह है कि उसके कारण शरीर को कष्ट होता है।...भोग की इच्छा शरीर की भी है, और मन की भी; किन्तु भोग का कर्म करना पड़ता है शरीर को..."

"आप यह आयुर्विज्ञान मुझे क्यों पढ़ा रहे हैं वैद्यराज?" भीष्म कुछ अटपटा गये थे। राजवैद्य का व्यवहार आरम्भ से ही उनकी समझ में नहीं आ रहा था।

"महाराजकुमार धैर्य रखें।" राजवैद्य मुस्कुराये, "सारी गुत्थियों को सुलझाऊँगा; आपकी सारी जिज्ञासाओं का समाधान करूँगा।..."

भीष्म धैर्यपूर्वक बैठ गये। जाने इस वृद्ध राजवैद्य को आज यह क्या सूझी है।

"भोग की जितनी आवश्यकता शरीर को है, उतना भोग पा कर शरीर प्रसन्न होता है; किन्तु मन अपनी स्वेच्छाचारिता नहीं छोड़ता। उसे भुगतना कुछ नहीं पड़ता न! वह तो स्वामी है। दास तो शरीर है। तो स्वामी की इच्छा पूरी करने के लिए भी शरीर को ही श्रम करना पड़ता है। और स्वामी है कि अपने दास के सुख-दुख की चिन्ता नहीं करता। तब जितना भोग शरीर पर आरोपित किया जाता है, वह भोग नहीं शरीर का क्षय होता है...आप समझे महाराजकुमार?"

"समझ गया," भीष्म जैसे अपने-आप में डूबे हुए-से बोले, "क्या आप सम्राट के स्वास्थ्य की सूचना दे रहे हैं?"

"हाँ महाराजकुमार! अब समय आ गया है कि आप सम्राट के शरीर और रोग की स्थिति समझ लें।" राजवैद्य बोले, "सम्राट का मन न केवल शरीर की आवश्यकता और क्षमता को नहीं समझता, वरन उसके प्रति सर्वथा आततायी हो गया है। उनका शरीर क्षय के सोपान चढ़ता जा रहा है, और उनका मन भोग का आह्वान करता जा रहा है। वैद्य का धर्म रोग का निदान करना, और उसके लिए औषध प्रस्तुत करना है। सम्राटों का नियन्त्रण, वैद्य का कर्म नहीं है। वह सम्राट के आत्मीय जनों का कर्म है।...इसलिए मैं यह सूचना आपको देने आया हूँ कि सम्राट का रोग हमारी पहुँच से बाहर जा रहा है। उन्हें सँभालना कठिन हो रहा है।...यदि आप सम्राट को सँभाल लेंगे, तो आज भी

हमारा विश्वास है कि हम उनके रोग को सँभाल लेंगे...।" राजवैद्य ने रुक कर भीष्म को देखा, "आपने देखा महाराजकुमार! कभी-कभी वैद्य का धर्म रोगी के निकट नहीं, रोगी के आत्मीय जनों के निकट भी होता है।"

भीष्म गम्भीर दृष्टि से वैद्य की ओर देखते रहे। फिर धीरे-से बोले, "कोई चिन्ताजनक बात तो नहीं है।"

"अब वैद्य के रूप में आपके सम्मुख बोल रहा हूँ," राजवैद्य ने कहा, "बात चिन्ताजनक स्थिति तक पहुँच गयी है, और बहुत ही शीघ्र चिन्तातीत स्थिति में पहुँच जायेगी।"

"आपने राजमाता को बताया?"

"ऐसी स्थिति में रोगी के सामने हम स्पष्ट और सत्य नहीं बोल सकते।" राजवैद्य ने कहा, "रोगी के ऐसे आत्मीय को भी हम ठीक स्थिति नहीं बता सकते, जो उसे सुन कर स्वयं रुग्ण हो जाये। आप समझ रहे हैं न मेरी बात..." राजवैद्य ने उन्हें देखा, "सम्राट और राजमाता को रोग की स्थिति के विषय में ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता।...मैंनें आपको कहा था कि वैद्य का धर्म स्पष्ट बोलना है; किन्तु कभी-कभी हमारा धर्म द्वन्द्वयुक्त हो जाता है।"

राजवैद्य चले गये और भीष्म बैठे-के-बैठे रह गये।...इसलिए तो आये थे राजवैद्य कि अपने मन की चिन्ता भीष्म के मन में उतार कर स्वयं निश्चिन्त हो जायें। अब यह भीष्म का काम था कि वे सोचें कि किस-किसको सूचना देनी है, कैसे देनी है और कब देनी है...

भीष्म जानते थे कि ऐसी सूचना पा कर राजमाता पर जैसे पहाड़ टूट पड़ेगा।...सह पायेंगी वे प्रकृति के इस क्रूर प्रहार को?...जाने प्रकृति इस प्रकार की क्रीड़ा क्यों करती है?...कभी-कभी भीष्म का मन, बच्चों के समान एक परीलोक की कल्पना करता है, जहाँ किसी को कोई कष्ट नहीं है, कोई दुख नहीं है, कोई अभाव नहीं। सब लोग स्वस्थ, सुखी और प्रसन्न हैं। सब के पास अपनी इच्छाओं से अधिक धन और सुख-सुविधा है। सब लोग एक-दूसरे से प्यार करते हैं; घृणा, लोभ, विरोध और भय का कहीं नाम भी नहीं है...

और फिर भीष्म सोचते हैं कि भगवान ने भी ऐसा ही संसार बनाया होता, तो उसका क्या बिगड़ जाता? उसने क्यों ऐसा संसार बनाया, जिसमें दुख, पीड़ा और अभाव हैं; घृणा, द्वेष, और विरोध है; हिंसा, वंचना और तिरस्कार है?...सोचते-सोचते भीष्म प्रकृति की विडम्बनाओं पर पहुँच जाते...प्रत्येक व्यक्ति कहीं-न-कहीं दुखी है...और सबसे बड़ी बात यह है कि जिसको वह अपना सुख मान कर बढ़ता है वही उसको दुख देता है...राजमाता ने क्या सोचा था, उन्होंने जो सुख अपने पुत्र को उपलब्ध कराने के लिए जीवन का दाँव लगाया था, वही सुख आज विचित्रवीर्य के लिए यम-फाँस बन गया है। किसी की सन्तान अभाव से मर जाये, तो वह किसी प्रकार सन्तोष कर लेगा कि उसके पास था ही नहीं, पर उसने स्वेच्छा से भोग उपलब्ध करा कर पुत्र को मृत्यु के मुख में धकेला हो?...क्या प्रत्येक व्यक्ति अपने ही पाप को नहीं भुगत रहा?...कोई अपनी चतुराई को भुगत रहा है, और कोई अपनी मूर्खता को; कोई अपनी व्यावहारिकता को भुगत रहा है, और कोई सिद्धान्तों को...

पर यह समय दार्शनिक गुत्थियाँ सुलझाने का नहीं था, इस समय तो विचित्रवीर्य के स्वास्थ्य की चिन्ता करनी होगी...और माता सत्यवती को सूचना...

परिचारक ने कक्ष में प्रवेश कर भीष्म को प्रणाम किया।

"क्या है?" भीष्म ने पूछा।

"महाअथर्वण जाबालि के आश्रम से दो ब्रह्मचारी द्वार पर उपस्थित हैं महाराजकुमार! वे आपके दर्शनों की अनुमति चाहते हैं।"

भीष्म के मन के सारे विचार वायु में विलीन हो गयेः महाअथर्वण के आश्रम के ब्रह्मचारी! क्या संदेश लाये हैं वे...भीष्म का महाअथर्वण से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रहा है।...वे किसी असुविधा में फँस कर कोई कष्ट तो नहीं पा रहे? या राज्य से किसी प्रकार की सहायता चाहते हैं...या संरक्षण?...सामान्यतः ऋषिकुल अर्थ की समस्या ले कर राजधानियों में कम ही उपस्थित होते हैं...उनकी बड़ी समस्या रक्षण की होती है, दुष्ट-दलन की...पर महाअथर्वण स्वयं ही सक्षम हैं...

"आने दो।" अपने विचारों के बीच में से उबर कर भीष्म बोले।

परिचारक चला गया और ब्रह्मचारियों ने कक्ष में प्रवेश किया।

भीष्म ने उन्हें प्रणाम किया, जैसे वे महाअथर्वण के ब्रह्मचारी न हों, स्वयं महाअथर्वण हों।

"कहें ब्रह्मचारिगण! महाअथर्वण ने क्या संदेश भेजा है।"

"हम आपके लिए एक सुखद समाचार लाये हैं महाराजकुमार!" एक ब्रह्मचारी ने कहा, "आपके गुरु महाभार्गव भगवान परशुराम के आश्रम से हमारे आश्रम में यह सूचना आयी है कि वे आज से तीसरे दिन कुरुक्षेत्र में पवित्र सरस्वती के तट पर हमारे आश्रम में पदापर्ण करेंगे। उन्होंने आपसे भेंट करने की इच्छा प्रकट की है।...किन्तु वे हस्तिनापुर में प्रवेश करना नहीं चाहते, अतः उनकी इच्छा है कि आप कुरुक्षेत्र में पधारने का कष्ट करें।"

भीष्म के लिए यह सूचना सचमुच सुखद थी और आकस्मिक भी। जब से भीष्म ने भगवान परशुराम के आश्रम से विदाई ली है, वे लौट कर आश्रम में नहीं जा पाये; और आश्रम के बाहर भी उनकी अपने गुरु से कहीं भेंट नहीं हो पायी। अब वर्षों बाद उनसे मिलने का अवसर प्राप्त हो रहा है।

"मैं अवश्य उनके दर्शन करूँगा।" भीष्म बोले, "यह मेरा सौभाग्य है कि उन्होंने मुझे स्मरण किया है।...वैसे वे हस्तिनापुर में आते तो मुझे प्रसन्नता होती।"

ब्रह्मचारी मुस्कुराया, "कुरुश्रेष्ठ! हम तो उनके शिष्यों द्वारा दी गयी एक सूचना ले कर आपके सम्मुख उपस्थित हुए हैं। आपका निमन्त्रण उन तक पहुँचाने की स्थिति में हम नहीं हैं।"

"ओह!" भीष्म जैसे सचेत हुए।...ब्रह्मचारी ठीक कह रहा है, "अच्छा! आप लोग विश्राम करें।" भीष्म ने परिचारक को बुलाया, "इनका पूर्ण सत्कार हो। ये मेरे गुरु का सन्देश ले कर आये है।"

संयोग से राजवैद्य की सूचना के बाद ही भगवान परशुराम के आगमन का संदेश भी मिला था। भीष्म को लगा, एक की आड़ में दूसरी सूचना भी राजमाता को दी जा सकती है। अन्यथा राजमाता तक विचित्रवीर्य के रोग की सूचना पहुँचाना विकट कार्य हो रहा था।

उन्होंने सत्यवती को भगवान परशुराम के आगमन की सूचना दी और बोले, "मैं कल ही कुरुक्षेत्र के लिए प्रस्थान करना चाहूँगा। सम्भवतः मुझे दो-तीन दिन लग जायें।...आप विचित्रवीर्य के स्वास्थ्य का ध्यान रखें," और भीष्म ने सामान्य रूप में सूचना देने के साथ-साथ प्रयत्न किया कि राजमाता इस सूचना की गम्भीरता भी समझें, "राजवैद्य का कहना है कि सम्राट उनके नियन्त्रण में नहीं हैं, इसलिए औषध के नियन्त्रण में भी नहीं हैं। यदि स्थिति न बदली तो सम्राट का स्वास्थ्य चिन्ताजनक हो जायेगा और फिर उनके लिए अश्विनीकुमार भी कुछ नहीं कर पायेंगे।"

सत्यवती की आँखें भीष्म के चेहरे को टटोल रही थीं: क्या चर्चा हुई है राजवैद्य और भीष्म में? वह चिन्ताजनक बात को साधारण बना कर कह रहा है या साधारण बात को चिन्ताजनक बना रहा है?...और सहसा सत्यवती के मन में एक दूसरा ही विचार उभरा, "भीष्म! मैंने सुना है कि परशुराम और महाअथर्वण जाबालि दोनों ही महान वैद्य भी हैं। वे अपनी औषधियों और मन्त्रबल से मृत व्यक्ति में भी प्राण डाल सकते हैं। क्या यह सत्य है पुत्र?"

"सत्य है माता।"

"तो मैं भी तुम्हारे साथ कुरुक्षेत्र जाऊँगी भीष्म!" सत्यवती बोली, "मैं उन दोनों ऋषियों से विचित्रवीर्य का जीवन माँगूँगी। ऐसा क्यों है कि राजवैद्य की कोई औषधि उसका उपचार नहीं कर पा रही है। अवश्य ही राजवैद्य के ज्ञान में कहीं कोई कमी है। या तो वे विचित्रवीर्य के रोग का ठीक निदान नहीं कर पा रहे हैं, या फिर उसके लिए उचित औषधि नहीं ढूँढ पा रहे हैं।"...सत्यवती ने भीष्म को देखा, "ऐसे में यदि संयोग से इन दो महान ऋषियों के दर्शन का अवसर उपलब्ध हुआ ही है, तो हम क्यों न उसका लाभ उठायें...।"

भीष्म के मन में आवेश-सा उठा। इच्छा हुई, कहें, 'माता! न राजवैद्य के ज्ञान में कोई न्यूनता है न औषधि का अभाव; किन्तु कोई रोगी, रोग की अवस्था में भी यदि सात्विक जीवन का पालन नहीं करेगा तो कोई भी वैद्य उसकी रक्षा नहीं कर सकता..."।

पर राजमाता को यह सब कहना सरल था क्या?...भीष्म ने मात्र इतना ही कहा, "जैसी आपकी इच्छा।"

29

भीष्म हस्तिनापुर से चले तो ऐसा नहीं लग रहा था कि कोई शिष्य अपने गुरु से मिलने जा रहा हो।...वह तो किसी राज-परिवार की पूरी शोभा-यात्रा थी।...

राजमाता, भगवान परशुराम से मिलने भी जाना चाहती थीं, और हस्तिनापुर में छूटे विचित्रवीर्य की चिन्ता भी उन्हें पर्याप्त थी। उनका वश चलता तो वे पुत्र और पुत्र-वधुओं को भी साथ ही ले चलतीं; किन्तु राजवैद्य ने इसकी अनुमति नहीं दी थी। उनका विचार था कि स्वास्थ्य की इस स्थिति में यात्रा, सम्राट के लिए कष्टप्रद तो होगी ही, अस्वास्थ्यकर भी हो सकती है।...

विचित्रवीर्य साथ नहीं चल सकता था, इसलिए अम्बिका और अम्बालिका भी साथ जा कर क्या करतीं। किन्तु पुत्र को पीछे छोड़ कर जाने से पहले राजमाता ने उसकी देख-भाल, सेवा-शुश्रूषा तथा औषध-सेवन इत्यादि का पर्याप्त प्रबन्ध किया। वैद्यों, परिचारिकाओं, दासियों तथा रानियों को अनेक निर्देश दिये गये...और फिर राजमाता की अपनी तैयारी आरम्भ हुई...

भीष्म अकेले कहीं जाते हैं, तो कब जाते हैं, कब लौट आते हैं–किसी को पता भी नहीं चलता। उनका आना-जाना तो लगा ही रहता है। किन्तु राजमाता का साथ जाना, बिना सबकी आँखों में आये कैसे रह सकता था। राजपुरोहित और महामन्त्री को भी भगवान परशुराम के दर्शनों का अवसर उपलब्ध हो रहा था। उन्होंने भी साथ चलने की अनुमति चाही।

आगे-आगे भीष्म, सत्यवती, महामन्त्री, विष्णुदत्त और राज-पुरोहित वसुभूति के रथ थे। उनके पीछे सेवकों, सैनिकों और सामग्री से भरे हुए रथ और छकड़े थे। यह सब, जैसे भीष्म की इच्छा के अनुकूल नहीं था।...वे तो एक शिष्य के रूप में जा कर अपने गुरु के चरणों में बैठना चाहते थे, जैसे वे अपने आश्रम-वास के दिनों में बैठा करते थे। उनकी बालकावस्था जैसे फिर से लौट आयी थी...और कोई बालक यह कब चाहता कि उसके परिवार के लोग उसके और उसके गुरु के सम्बन्धों को अपने प्रभाव या उपस्थिति से कोई और रूपाकार दे दें...

जन्म के तत्काल बाद ही भीष्म को माता गंगा त्याग गयी थीं, और पिता उद्विग्न और भ्रान्त-से वनों में मृगया करते घूम रहे थे...भीष्म के जीवन का वह काल विभिन्न गुरुओं के आश्रमों में ही बीता था। वैसे तो प्रत्येक राजकुमार के ब्रह्मचर्य की अवधि गुरुकुलों में ही व्यतीत होती है; किन्तु उनकी स्थिति भीष्म की-सी नहीं होती।...भीष्म राजकुमार थे, उनके माता-पिता, दोनों ही वर्तमान थे; किन्तु उनकी देखभाल करने के लिए या उनके साथ अपना कुछ समय बिताने का अवकाश, न पिता को था, न माता को।...माता शायद नारी-स्वातन्त्र्य पर किसी प्रकार की आँच नहीं आने देना चाहती थीं, इसलिए पिता से पृथक पूर्णतः स्वतन्त्र रूप में अपना जीवन व्यतीत कर रही थीं। और पिता अपने मन के घाव को भरने की प्रतीक्षा में वन्य पशुओं को घाव देने में समय व्यतीत कर रहे थे।...इसलिए भीष्म को आश्रम में ही रहना था...अपनी शिक्षा-दीक्षा के लिए भी और इसलिए भी कि हस्तिनापुर के राजप्रासाद में ऐसा कोई नहीं था, जो उनकी प्रतीक्षा कर रहा हो...

गुरु परशुराम कठोर अनुशासन के प्रतिष्ठाता थे। उनके लिए कोई भूल छोटी और कोई भूल बड़ी नहीं थी। प्रत्येक भूल, मात्र एक भूल थी; इसलिए वह अक्षम्य थी। वे किसी भूल को क्षमा नहीं करते थे...एक बार किसी एक शिष्य द्वारा अपनी भूल के लिए क्षमा-याचना पर उन्होंने कहा था, 'तुम परशुराम के शिष्य हो। अपनी भूल के लिए क्षमा नहीं, दण्ड माँगना सीखो।' उन्होंने सारे आश्रमवासियों से कहा था, 'न्याय और सत्य का सिद्धान्त यह कहता है कि यदि हम अपने धनात्मक कार्य के लिए पुरस्कार की अपेक्षा करते हैं, तो अपने ऋणात्मक कार्य के लिए दण्ड की अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। कर्म-सिद्धान्त को काट कर आधा मत करो। फल तो प्रत्येक कर्म का होगा–ऋणात्मक कर्म का भी और धनात्मक कर्म का भी। तुम एक को पुरस्कार कहते हो और एक को दण्ड। एक की अपेक्षा तुम्हें है, दूसरे की नहीं। प्रकृति के नियम सार्वभौमिक हैं; वे आंशिक सत्य नहीं हैं।...परशुराम के शिष्य को सत्यवादी होने के नाते सत्य का सामना करना चाहिए।'

अश्व पूरे वेग से भाग रहे थे। रथ के पहियों की गड़गड़ाहट एक व्यापक निनाद के समान सारे परिवेश में छायी हुई थी। रथ के हिचकोले भी कम नहीं लग रहे थे,...किन्तु भीष्म जैसे अपने अतीत के साथ एकतार हो चुके थे। उनके स्मृति-पटल पर आश्रम की अनेक घटनाएँ–विशेषकर गुरु से सम्बन्धित घटनाएँ–अभियानपूर्वक वैसे ही छाती जा रही

थीं, जैसे सागर की लहरें सागर-वेला पर अधिकारपूर्वक अपने-आपको आरोपित करती हैं...

गुरु का अनुशासन कठोर था, किन्तु गुरु स्वयं कठोर नहीं थे। अनुशासन के संदर्भ में वह रूक्ष हो जाया करते थे, किन्तु उनके मन में कितना स्नेह था अपने शिष्यों के प्रति।...

आश्रमवासी विद्यार्थियों के माता-पिता कभी-न-कभी आ कर मिल जाया करते थे। कभी-कभी तो कोई अपने बच्चे को ले जाया करते थे–कुछ दिन अपने साथ रखने के लिए, या फिर भ्रमण के लिए–किन्तु बालक देवव्रत के साथ तो उस सारी अवधि में एक बार भी ऐसा नहीं हुआ था...गुरु ने दो-चार बार कहा भी कि देवव्रत का मन आश्रम के जीवन से ऊबने लगेगा। उसे भी तो थोड़ा मनोरंजन चाहिए। आश्रम के एकरस उबाऊ जीवन में कोई तो परिवर्तन हो...किन्तु जब उसके माता-पिता को ही चिन्ता नहीं थी तो...

शरद ऋतु आयी। गुरु और गुरु-पत्नी भ्रमण के लिए तैयार हुए। वे हिमालय के मनोरम आश्रमों में जाने-वाले थे। कुछ आश्रमवासी उदास भी थे। गुरु और गुरु-पत्नी आश्रम में न हों, तो सारे आचार्यों, मुनियों और ब्रह्मचारियों के होते हुए भी आश्रम कैसा उजाड़-सा लगने लगता है, जैसे आत्मा न रहे तो सारे अवयवों के वर्तमान रहते भी, शरीर में कोई सौन्दर्य नहीं रह जाता।...

और तभी गुरु ने देवव्रत को बुला भेजा। देवव्रत मन में कुछ आशंकाएँ ले कर गुरु के सम्मुख उपस्थित हुआ, जाने गुरु क्या कहें, क्या न कहें...

'देवव्रत!' गुरु ने स्नेह से कहा, 'पुत्र! तुम बहुत दिनों से आश्रम के बाहर नहीं गये हो। तुम्हारा मन ऊब रहा होगा। हम कल भ्रमण के लिए आश्रम छोड़ रहे हैं। तुम हमारे साथ चलने के लिए तैयार हो जाओ। तुम्हें हम प्रकृति के कुछ अद्‌भुत दृश्य दिखायेंगे। हिमालय की मनोरम छटा।...अध्ययन की एकरसता का बोझ मस्तिष्क से कुछ दिनों के लिए झटक दो।...

स्वयं को बहुत संयत करने पर भी देवव्रत पूछ ही बैठा, 'और कौन-कौन जा रहा है गुरुदेव?'

'मैं, तुम्हारी गुरु-पत्नी, तीन-चार मुनि और तुम!'

देवव्रत का बहुत मन था कि कहे, 'गुरुवर! अपने संगी-साथी मित्रों के बिना, मुझे इस भ्रमण में क्या आनन्द आयेगा।'...पर उसी समय उसके विवेक ने कहा, 'मूर्ख! यह गुरु की अनुकम्पा है। वह तुझे अपने साथ भ्रमण के लिए ले जा रहे हैं, जैसे माता-पिता अपने पुत्र को ले जाते हैं।'

और देवव्रत ने गद-गद्‌ हो कर हाथ जोड़ दिये थे।

...और सचमुच वह भ्रमण कितना अच्छा रहा। गुरु उन स्थानों से परिचित थे। उस यात्रा के लिए आवश्यक उपकरणों का उनको ज्ञान था, अपेक्षित सावधानियों से उनका परिचय था। उन दुरूह और दुर्गम क्षेत्रों के आश्रमों में उनका सम्मान था। तीन मास के उस भ्रमण में गुरु ने उन्हें इतना कुछ नवीन और मनमोहक दिखा दिया, जो कदाचित देवव्रत अपने-आप कभी न देख पाते...

अन्ततः जब भीष्म ने अध्ययन पूरा कर आश्रम छोड़ा तो विदाई के समय कितने स्नेह से गुरु-पत्नी ने कहा था, 'पुत्र! तुम्हारा एक घर तो वह है, जहाँ तुमने जन्म लिया है; और दूसरा घर यह है; जहाँ तुमने शिक्षा पायी है। जैसे हस्तिनापुर का आकर्षण तुम्हें खींचता रहा है, वैसे ही इस आश्रम को भी याद करना...'

और अब भीष्म सोचते हैं कि उन्हें यह स्वीकार करते हुए संकोच होता है कि उन्होंने आश्रम को कभी वैसे स्मरण नहीं किया, जैसे कोई अपने घर को याद करता है। कभी अवसर ही नहीं आया कि वह लौट कर गुरु और गुरु-पत्नी के चरणों में सिर नवाते।...एक आश्रम से दूसरे आश्रम में भटकते रहे, और अन्त में हस्तिनापुर में आ कर फँस गये। एक बार आ गये तो आ गये, फिर हस्तिनापुर छोड़ कर जाना उनके लिए सम्भव नहीं हुआ।...

धर्मक्षेत्र में सरस्वती नदी के दर्शन होते ही, भीष्म जैसे अपने सुख-संसार से बाहर आये...अब वह भगवान परशुराम के आश्रम के ब्रह्मचारी नहीं हैं...तब से अब तक के बीच, काल का एक लम्बा अन्तराल है। वे छोटे बालक नहीं हैं...वयस्क हैं। प्रौढ़ता की ओर बढ़ रहे हैं...राजा तो वे नहीं हैं, किन्तु कुरु-साम्राज्य के कर्ता-धर्ता हैं। आज वे गुरु से प्रायः उसी प्रकार मिलने जा रहे हैं, जैसे शायद तब बालकों के अभिभावक उनसे मिलने आया करते थे। वयस्क, प्रौढ़ और वृद्ध–समान धरातल पर गुरु से मिलने के इच्छुक, किन्तु उनके प्रति सम्मान, आदर और श्रद्धा का भाव लिए हुए...

सहसा उनकी दृष्टि उठी–सामने, मार्ग पर चार अश्वारूढ़ ब्रह्मचारी उद्दण्डता से न केवल उनका मार्ग रोके खड़े

थे, वरन उन्हें रुक जाने का संकेत भी कर रहे थे...

भीष्म का आक्रोश जागाः मन में आया कि चार बाण छोड़ कर अभी इन्हें धराशायी कर दें।...पर फिर अपने आवेश को समझाया...जाने क्या कहना चाह रहे हैं ब्रह्मचारी...

रथ रोक कर सारथि वीरसेन ने पूछा, "क्या चाहते हो ब्रह्मचारी?"

"हम भगवान परशुराम के शिष्य हैं। आपके स्वागत के लिए आये हैं।" एक ब्रह्मचारी ने आगे बढ़ कर कहा, "भगवान आ गये हैं। आश्रम में आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। आइए।"

उन्होंने अपने अश्व मोड़े और सरपट भाग चले।

भीष्म के मन ने उन्हें धिक्काराः कितना साधा है, उन्होंने आज तक अपने-आपको; किन्तु मन का अहंकार नहीं गया। न क्रोध मिटा, न रजोगुण से मुक्ति पायी।...वे उनके स्वागत के लिए खड़े थे और भीष्म उन पर बाण-प्रहार करने की सोच रहे थे...उन्हें क्यों याद नहीं रहा कि उनके गुरु महाभार्गव साधारण वनवासी तापस नहीं हैं, वे शस्त्रास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित और युद्ध-कला के अन्यतम विशारद हैं। जैसे अश्व महाभार्गव के आश्रम में होते हैं, और कहीं नहीं होते। उनके साधारण शिष्य बड़े-बड़े अतिरथियों से अधिक दक्षता से अश्व-संचालन करते हैं...

सामने, सरस्वती के तट पर भगवान परशुराम का अस्थायी आश्रम दिखायी दे रहा था। आश्रम क्या था, छोटा-मोटा युद्ध-शिविर ही था। सशस्त्र ब्रह्मचारी प्रहरी के रूप में खड़े थे।

रथ रुके और प्रहरी आगे बढ़े।

"पधारिए!" एक प्रहरी बोला, "रथों से उतर आइए। रथों तथा अश्वों की व्यवस्था हमारे साथियों पर छोड़ दीजिए। आप लोग आइए, भगवान आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

अपने रथों तथा सेवकों को प्रहरियों के पास छोड़, भीष्म, सत्यवती, विष्णुदत्त और वसुभूति आगे बढ़े। प्रहरी-नायक ने उन्हें आगे चल कर एक ब्रह्मचारी तक पहुँचा दिया। वह उन्हें ले कर आगे चला।

चारों ओर अस्थायी कुटीर बने थे। उनके मध्य में से हो कर एक मार्ग जाता था, जो आश्रम के केन्द्र तक पहुँचाता था। वहीं भगवान परशुराम स्वयं विद्यमान थे...

भीष्म ने गुरु को देखाः जिन दिनों भीष्म ने उनके चरणों में बैठ कर विद्याभ्यास किया था, उन दिनों वे युवक थे। अब वे प्रौढ़ वय पार कर वार्द्धक्य की ओर जा रहे थे। केशों और दाढ़ी में पर्याप्त मात्रा में धवलता आ चुकी थी। उनका गौरवर्ण अब जैसे हिम-ताप सह कर ताम्रवर्णी हो गया था। शरीर पर माँस कुछ कम हो गया था, किन्तु वे पूर्णतः स्वस्थ और प्रसन्न दिखायी दे रहे थे।

भीष्म ने उनके चरणों में प्रणाम किया।

"धर्म में तुम्हारी आस्था दृढ़ रहे।" परशुराम ने आशीर्वाद दिया, "प्रसन्न तो हो वत्स?"

"आपकी कृपा है गुरुवर!"

"तुम्हारे यश के साम्राज्य का तो ख़ूब विस्तार हो रहा है। अब तुम देवव्रत से भीष्म हो गये हो। तुमने राज्य छोड़ा; पत्नी और सन्तान का मोह छोड़ा। उनके माध्यम से प्राप्त होने वाले सारे सुख त्याग दिये।"...गुरु ने प्रसन्न-वदन कहा, "पुत्र! जैसे भोजन में से नमक और मीठा निकाल दिया जाये तो शेष स्वाद अपने-आप छूट जाते हैं, वैसे ही धन और नारी का मोह छोड़ दिया जाये तो जीवन के शेष मोह तो अपने-आप ही छूट जाते हैं। क्या तुम्हें ऐसा नहीं लग रहा?"

"अभी तो इतना ही लग रहा है गुरुदेव!" भीष्म बोले, "कि सारे राग-द्वेष, जीवन के सारे भोग और स्वाद, मैंने बलात दबा रखे हैं। तनिक-सा अवसर मिलते ही सब सिर उठा देते हैं। मुक्त तो अभी मैं किसी से भी नहीं हो पाया।"

"कोई बात नहीं!" परशुराम बोले, "अभी बहुत समय है तुम्हारे पास। धर्म पर दृढ़ रहो। मैंने तुम्हारे धर्म की ही परीक्षा लेने के लिए तुम्हें यहाँ बुलाया है देवव्रत भीष्म!"

"परीक्षा तो उत्तीर्ण होने का स्वर्णावसर है गुरुदेव!" भीष्म बोले, "आप आदेश दें।"

"तनिक धैर्य रखो।" परशुराम मुस्कुराये, "इतने वर्षों के पश्चात तुमसे भेंट हुई है। थोड़ा सुख-संवाद तो हो ले।" परशुराम मुस्कुरा रहे थे, किन्तु उनकी मुस्कान के मेघों के पीछे तपते हुए प्रखर सूर्य का आभास भीष्म को हो रहा था।...

"ये तुम्हारी माता हैं—सत्यवती?" गुरु ने पूछा।

"हाँ! गुरुदेव! ये मेरी माता हैं। ये आचार्य वसुभूति हैं और ये हैं कुरु-राज्य के महामन्त्री आर्य विष्णुदत्त।"

सबने प्रणाम किया। गुरु ने आशीर्वाद की मुद्रा में हाथ उठाया।

सत्यवती का मन हुआ कि भगवान से तत्काल अपने विचित्रवीर्य के स्वास्थ्य की चर्चा करे। वे यदि कोई औषध दें...

"महर्षि! एक निवेदन मैं भी करना चाहती हूँ।"

"तुम्हारी व्यथा भी सुनूँगा राजमाता।" परशुराम बोले, "किन्तु तुम लोग थके हुए आये हो। जाओ, थोड़ा विश्राम करो।...सन्ध्या समय भेंट भी होगी और चर्चा भी।"

परशुराम उन्हें छोड़ कर चले गये।

उनके एक शिष्य ने आगे बढ़ा कर कहा, "इधर पधारें राजमाता!"

सत्यवती के पास कोई विकल्प नहीं था। वह देख रही थी, जिस राजसत्ता के मोह में उसने अपना तापस छोड़ा था, उसका इस तपस्वी परशुराम के सम्मुख तनिक भी मूल्य नहीं था।...

सन्ध्या समय सूचना मिलने पर कि गुरु उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, भीष्म सभामण्डप में आये। उन्हें लगा, यह मात्र गुरु की भेंट ही नहीं है। यह तो कुछ और है। प्रातः भी गुरु की मुस्कान के पीछे से उनका जो तेज झाँक रहा था, वह भीष्म की समझ में नहीं आया था।...इस समय भी मण्डप में पूरा समाज जुटा था।...गुरु ने कहा था कि वे भीष्म के धर्म की परीक्षा लेने आये हैं...

"आओ देवव्रत भीष्म!" गुरु ने कहा, "वहाँ बैठो।"

गुरु ने भीष्म को अपने साथ का आसन नहीं दिया था। वह आसन उनके ठीक सम्मुख, कुछ दूरी पर था। गुरु सचमुच ही उनकी परीक्षा लेने वाले थे।...क्या मौखिक परीक्षा? या...

भीष्म बैठ गये। सत्यवती, विष्णुदत्त और वसुभूति को भी बैठने के लिए ससम्मान आसन दिया गया।

"ये मेरे साथ शैखावत्य ऋषि बैठे हैं।" परशुराम बोले, "और ये रजोगुण से देदीप्यमान महापुरुष हैं राजा होत्रवाहन! ये काशी की राजकुमारी अम्बा के नाना हैं।..."

भीष्म को लगा, उनके कानों के नीचे नगाड़े बज उठे हैं...अत्यन्त दुखी और पीड़ित हो कर अम्बा ने जब हस्तिनापुर त्यागा था, तो वह शैखावत्य ऋषि के आश्रम में ही गयी थी...और अब अम्बा के नाना का भगवान परशुराम और शैखावत्य ऋषि के साथ वहाँ वर्तमान होना...क्या अर्थ है इसका?

भीष्म के मन में अनेक बवण्डर एक साथ उठने लगेः गुरुवर का इस प्रकार यहाँ आ उपस्थित होना आकस्मिक है, या इसका भी सम्बन्ध अम्बा से ही है। क्या अम्बा के नाना किसी विशेष प्रयोजन से गुरुवर को साथ ले कर आये हैं?...धर्मक्षेत्र में पवित्र सरस्वती नदी के तट पर गुरु ने कोई ऐसा आदेश दे दिया, जो भीष्म के धर्म के विरुद्ध पड़ा तो?...पर तभी उनके मन में बैठी गुरु की आस्था बोली, 'भीत पशु के समान प्रत्येक शब्द पर मत भड़क...शब्द त्रास का ही पर्याय नहीं है, शब्द तो संगीत भी होता है...गुरु ऐसा आदेश देंगे ही क्यों? गुरु का सारा जीवन धर्ममय है...उनका चिन्तन, उनका कर्म, उनका जीवन–सब-कुछ धर्म के निमित्त है, तो फिर वे धर्म-विरोधी आदेश देंगे ही क्यों?'

"देवव्रत!" गुरु बोले, "तुम्हारा सारा यश तुम्हारे त्याग पर आधृत है। यद्यपि संसार में असंख्य लोग बिना राज्य और बिना नारी के अपना जीवन व्यतीत करते हैं; और फिर भी वे महान नहीं कहलाते। किन्तु तुमने जिस प्रकार प्रतिज्ञापूर्वक सहज उपलब्ध भोगों का त्याग किया है, वह प्रशंसनीय है। यह देख कर मुझे प्रसन्नता हुई है कि तुम रजोगुण से परास्त नहीं हुए।...किन्तु वत्स! क्या तुमने कभी सोचा कि व्यक्ति प्रतिज्ञा क्यों करता है?"

"मैंने तो...।"

परशुराम ने भीष्म को अपना वाक्य पूरा नहीं करने दिया, "तुमने तो प्रतिज्ञा इसलिए की थी कि तुम्हारे पिता की आकांक्षापूर्ति के मार्ग में जो बाधा है, वह हट जाये।"

"हाँ गुरुदेव!"

"अर्थात दूसरों के सुख के लिए, उनके हित के लिए।...उसमें तुम्हारा अपना स्वार्थ तो कोई नहीं था।"

"अपना स्वार्थ भी था," भीष्म निस्संकोच बोले, "मैं धर्म की ओर अग्रसर होना चाहता था। भोग, धर्म का विरोधी है। मुझे अपनी इस प्रतिज्ञा से भोग से दूर रहने का अवसर मिल रहा था। मैंने उस संयोग का लाभ उठाया।"

"अर्थात धर्म तो दूसरे के हित में ही है, उसके कारण संसार के जिन भोगों से तुम्हें वंचित होना पड़ा, उन्हें भी

तुमने अपना हित माना। तुम्हें अपना कष्ट भी अपना धर्म प्रतीत हुआ। जिसे सारा संसार वंचित होना कहता है, तुमने उसे ही अपनी उपलब्धि माना।..."

भीष्म चुपचाप गुरु की ओर देखते रहेः जाने गुरु की यह तर्क-शृंखला उन्हें किस निष्कर्ष तक ले जाये...कहीं वे भीष्म के लिए कोई जाल तो नहीं बुन रहे हैं?...

"तो भीष्म!" गुरु पुनः बोले, "इतना तो निश्चित है कि तुमने अपने जीवन में धर्म के इस तत्त्व को तो ग्रहण किया ही है कि सांसारिक दृष्टि से परहित करते हुए, तुम अपना स्वार्थ नहीं देखोगे..." और गुरु ने अपनी बात रोक कर, शिविर के पृष्ठ भाग की ओर से आती हुई अम्बा का स्वागत किया, "आओ बेटी!"

भीष्म के मन में जैसे कोई विस्फोट हुआः तो यह भी यहीं है।...अब उन्हें और अनुमान लगाने की आवश्यकता नहीं है। सारी स्थिति पूर्णतः स्पष्ट हो चुकी थी। यह सारा समारोह इसी का है। यह अपने नाना होत्रवाहन के पास गयी होगी। वे उसे ले कर शैखावत्य ऋषि के पास पहुँचे होंगे। और शैखावत्य ऋषि ने भीष्म से अपनी बात मनवाने का एकमात्र मार्ग देखा होगा, गुरु का आदेश...

अम्बा ने सब लोगों को नमसकार किया और नत-मस्तक बैठ गयी।

"वत्य भीष्म!" परशुराम ने कहा, "प्रत्येक कन्या के पिता की इच्छा होती है कि वह उपयुक्त वर खोज कर अपनी कन्या उसे सौंप दे। अम्बा के पिता ने भी यही कामना की थी।...तुमने स्वयंवर- मण्डप में से उसका हरण किया, तो फिर तुमने उसके साथ विवाह क्यों नहीं किया?"

"ब्रह्मचर्य के पालन की अपनी प्रतिज्ञा के कारण।"

"स्वयंवर में यह घोषणा क्यों नहीं की?"

भीष्म कुछ अटपटा-से गये, "किन्तु मेरी प्रतिज्ञा की घोषणा स्वयं काशिराज के चारण ने की थी।"

"तुमने उस घोषणा से सहमति प्रकट नहीं की, वरन तुमने अपनी ओर से घोषणा की कि तुम राजकन्याओं का हरण कर रहे हो।" परशुराम बोले, "इसका अर्थ यह भी तो हो सकता है कि तुम उस सूचना से सहमत नहीं थे। अतः उसका विरोध करने के लिए कन्याओं का हरण कर रहे थे।"

"मेरा अभिप्राय यह नहीं था।"

"किन्तु इस भ्रम के लिए अवकाश तो हो सकता था।" परशुराम बोले, "मान लो कि तुम्हें देख कर अम्बा तुम पर मुग्ध हो गयी हो। उसकी हार्दिक इच्छा हो कि तुम उससे विवाह कर लो..."

अम्बा ने तमक कर परशुराम की ओर देखाः ऋषि क्या कह रहे हैं? कहीं उन्होंने अम्बा के हृदय का सत्य तो नहीं जान लिया...

"मनुष्य की यह दुर्बलता है कि वह सांसारिक तथ्यों और घटनाओं को भी अपनी इच्छाओं में रंग कर देखता है। तटस्थ व्यक्ति के लिए वह दृष्टि दूषित हो सकती है, किन्तु उस व्यक्ति का सत्य वही होता है।...ऐसी स्थिति में यदि अम्बा ने यही समझा हो कि तुम उससे विवाह करने के लिए ही उसका हरण कर रहे हो, तो तुम उसे क्या कहोगे?"

"उसका दृष्टिदोष!"

"तो क्या तुम्हारे लिए उचित नहीं था कि उसके दृष्टिदोष का परिमार्जन करते?"

भीष्म कुछ देर चुपचाप बैठे रहे और फिर धीरे-से बोले, "गुरुदेव! स्वयंवर की उत्तेजना में, सम्भवतः मेरे मन में यह बात नहीं आयी। क्या मेरे संदर्भ में मानवीय दुर्बलता के लिए आप तनिक भी अवकाश नहीं छोड़ेंगे?"

लगा, परशुराम का स्वर जैसे स्नेह से आर्द्र हो गया, "मानवीय दुर्बलताएँ तो प्रत्येक मनुष्य में हैं पुत्र! तुम्हारे ही संदर्भ में मैं इतना कठोर कैसे हो सकता हूँ।" वे बोले, "किन्तु तुम्हारी इस नगण्य-सी चूक से इस कन्या का जीवन नष्ट होने जा रहा है।" उन्होंने अम्बा की ओर संकेत किया, "शाल्व ने इसे ग्रहण नहीं किया, क्योंकि हरण के क्षण से वह इसे तुम्हारी पत्नी मानता है।"

"पापं शान्तम्! गुरुदेव!" भीष्म बोले, "मैंने तीनों कन्याओं का हरण किया था। दो का विवाह मैंने अपने छोटे भाई के साथ कर दिया है। यदि हरण के क्षण से देवी अम्बा को मेरी पत्नी मान लिया जायेगा, तो अम्बिका और अम्बालिका का हस्तिनापुर के सम्राट के साथ विवाह भी असम्भव हो जायेगा।"

परशुराम ने एक क्षण रुक कर सोचा, फिर बोले, "यह शाल्व की मान्यता है पुत्र!"

"तो गुरुदेव! किसी और की मान्यता मेरा बन्धन कैसे हो सकती है?"

परशुराम का धैर्य छीजने लगा था। उन्होंने अपने शिष्य के साथ लम्बा तर्क-वितर्क कर लिया था। बोले, "मैं

यह नहीं कह रहा हूँ। मेरी दृष्टि तो केवल एक बात पर हैः तुमने इसका हरण किया और शाल्व ने इसे अस्वीकार किया। तुम दोनों की इस कन्दुक-क्रीड़ा में अम्बा का जीवन नष्ट हो रहा है। इस अत्याचार की अनुमति मैं नहीं दे सकता। तुम्हें इसको ग्रहण करना होगा।"

"क्या आपने यही बात शाल्व से भी कही है?" भीष्म ने पूछा।

"नहीं!"

"क्यों?"

"राजकुमारी की ऐसी इच्छा नहीं थी।"

भीष्म की दृष्टि अनायास ही अम्बा पर जा टिकी। अम्बा का मुख लज्जा से अरुण हो रहा था...और उसकी आँखें झुक कर प्रायः बन्द हो गयी थीं।

"क्यों?" भीष्म बोले, "जब राजकुमारी ने अपनी इच्छा से शाल्व का वरण किया था, तो अब वह क्यों चाहती है कि आप मुझे ही आदेश दें?..." गुरु का उत्तर सुने बिना भीष्म पुनः बोले, "यदि राजकुमारी ने सौभराज के वरण की बात न कही होती, तो उनका विवाह हस्तिनापुर के सम्राट के साथ हो चुका होता। तब यह समस्या भी नहीं उठती।" भीष्म ने रुक कर गुरु को देखा, "राजकुमारी अपनी वर्तमान स्थिति को मेरी और शाल्व की कन्दुक-क्रीड़ा के कारण नहीं, अपने मन के द्वन्द्वों और हृदय के लोभ के कारण पहुँची हैं।...एकनिष्ठता के अभाव का परिणाम यही हो सकता था गुरुदेव! अन्यथा शाल्व या विचित्रवीर्य..."

"वह विचित्रवीर्य को नहीं, तुम्हें अपने पति के रूप में पाना चाहती है।"

"इस जीवन में यह सम्भव नहीं है गुरुवर!"

"किन्तु यह अन्याय होगा।" परशुराम बोले। उन्होंने भरपूर आँखों से भीष्म को देखा, जैसे उन्हें सम्मोहित करने का प्रयत्न कर रहे हों, "भीष्म! क्या तुम नहीं देख रहे कि तुम्हारी प्रतिज्ञा अपने लक्ष्य से भटक गयी है। जिस प्रतिज्ञा का लक्ष्य परहित था, वह अब परपीड़न करने लगी है?" उनके स्वर ने समझाने की भंगिमा अपनायी, "तुम्हारी प्रतिज्ञा का लक्ष्य पूरा हुआ...सत्यवती का पुत्र हस्तिनापुर के सिंहासन पर आसीन है। उसका विवाह हो चुका है। उसकी सन्तान भी होगी और कुरुओं का राज्य सँभालेगी।...अब यदि तुम अम्बा का जीवन नष्ट होने से बचाने के लिए विवाह कर लेते हो, तो किसी का अपकार तो नहीं ही होता, उपकार अवश्य होता है...।"

सत्यवती का मन हुआ, चीत्कार कर कहे, "नहीं ऋषिश्रेष्ठ! ऐसा अनर्थ मत कीजिए।...यह अम्बा राजकुमारी नहीं नागिन है। इसका जन्म सत्यवती को डसने के लिए ही हुआ है। कहीं भीष्म ने इसे अंगीकार कर लिया...यदि इसने उसे पति बनाया, तो यह उसे हस्तिनापुर का सम्राट भी अवश्य बनायेगी...अम्बा के साथ अन्याय न हो...पर सत्यवती का भी सर्वनाश न हो...गुरुवर! प्रतिद्वन्द्वी पक्ष भीष्म और अम्बा नहीं हैं...सत्यवती और अम्बा हैं...और सत्ता है भीष्म! जो स्त्री भीष्म को प्राप्त करेगी, वह हस्तिनापुर की सारी सत्ता को भी हस्तगत करेगी...सत्यवती ने भीष्म को पुत्र के रूप में प्राप्त किया...और अम्बा उसे पति-रूप में प्राप्त करना चाहती है...सत्यवती अपने अनुभव और सहज बुद्धि से जानती है कि पुरुष पर उसकी माँ से अधिक उसकी पत्नी का नियन्त्रण होता है। माँ बन कर स्त्री प्रतिद्वन्द्विता में सदा हारी है...अम्बा के अधिकारों की रक्षा अवश्य करें ऋषिवर! किन्तु मुझे वंचित करके नहीं, मेरे अधिकारों को मुझसे न छीनें..."

पर सत्यवती को लगा, अभी इसका अवसर नहीं आया है। अभी तो भीष्म ही गुरु की बात स्वीकार नहीं कर रहा...

"और पुत्र!" परशुराम कह रहे थे, "पिता ने तुम्हें आज्ञा भी नहीं दी थी। उनकी इच्छा मात्र जान कर, तुमने जीवन के सारे भौतिक सुखों को तिलांजलि दे दी थी।...गुरु का अधिकार, पिता से भी अधिक होता है। मैं तुम्हें आज्ञा दे रहा हूँ, अम्बा को ग्रहण करो। गृहस्थी के सुख का भोग करो और अम्बा को सुखी करो।"

"यह आपका आदेश है?"

"हाँ।"

"और यदि मैं इस आदेश का पालन करने में स्वयं को असमर्थ पाऊँ तो?"

परशुराम ने भीष्म को इस प्रकार देखा, जैसे भीष्म ने कोई बहुत ही अप्रत्याशित और बचकानी बात कह दी हो। फिर जैसे स्वयं को बहुत सहेज कर बोले, "कुरुकुल के राजकुमारों से यह अपेक्षित नहीं है कि वे गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करें। फिर भी यदि तुम मर्यादा का उल्लंघन करोगे, तो मुझे मर्यादा की प्रतिष्ठा के लिए कुछ करना होगा।"

भीष्म ने गुरु को देखा, जैसे पूछ रहे हों, 'क्या करेंगे आप?'

"मर्यादा की प्रतिष्ठा के लिए मुझे तुम्हें बाध्य करना होगा कि तुम मेरी आज्ञा का पालन करो।" परशुराम बोले, "शब्दों से नहीं मानोगे, तो मुझे शस्त्रबल की सहायता लेनी होगी।..." उन्होंने भीष्म को देखा, "गुरु से युद्ध करोगे?"

भीष्म को धक्का लगा। उन्हें गुरु से यह अपेक्षा नहीं थी कि वे इस सीमा तक उन पर दबाव डालेंगे।...गुरु से युद्ध...अपने आप में ही यह कम कलंक नहीं है...और यदि गुरु से पराजय...एक वृद्ध ब्राह्मण से पराजय...क्षत्रिय समाज में मुँह दिखाने लायक नहीं रह जायेंगे भीष्म!...और यदि कहीं विजय प्राप्त कर ली...गुरु को पराजित किया...हठी गुरु का वध करना पड़ा...तो गुरु-हत्या, ब्रह्म-हत्या का अपराध...कैसे संकट में डाल दिया गुरु आपने...?

फिर जैसे भीष्म ने सायास स्वयं को शान्त किया...गुरु को समझाना चाहिए। गुरु समझ जायेंगे...

"मुझे कुछ कहने की अनुमति है, या आपका आदेश हो चुका?" भीष्म ने बहुत विनीत भाव से पूछा।

"कहो।"

"गुरु से तर्क करने का अपराध क्षमा करें।" भीष्म बोले।

"बोलो। मेरी अनुमति है।" परशुराम हँसे, "तर्क में कोई दोष नहीं, कुतर्क मत करना।"

गुरु हँस रहे थे, अर्थात अभी उनका धैर्य चुका नहीं था। अभी युद्ध की स्थिति नहीं आयी थी, अभी वे शान्त थे और दूसरे व्यक्ति की बात ग्रहण कर सकते थे। एक बार क्रुद्ध हो जायें, तो फिर किसी की सुनते ही नहीं।

"धर्म ने क्षत्रिय को शस्त्र धारण करने की अनुमति क्यों दी?"

"न्याय के लिए। अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए शस्त्र धारण करना दस्यु-वृत्ति है। शस्त्र धारण किया जाता है, सामान्य जन के हित के लिए। दलित, दमित प्रजा के उद्धार के लिए।"

"अपनी इच्छा किसी अन्य पर आरोपित करने के लिए तो नहीं गुरुदेव?"

"नहीं।" परशुराम बोले, "वह आततायी का काम है। धर्म उसकी अनुमति नहीं देता।"

"तो आप अपनी और राजकुमारी की इच्छा मुझ पर आरोपित करने के लिए शस्त्र-बल का आश्रय क्यों ले रहे हैं?"

परशुराम के चेहरे पर आकस्मिक जल-प्लावन के समान आवेश छा गया।...पर जाने कहाँ से उनकी स्मृतियों में से निकल कर एक नन्हा-सा बालक, उनकी आँखों के सम्मुख खड़ा हो गया, जो उनकी ही प्रत्येक बात को मोड़ कर, फिर उनके ही मार्ग में खड़ा कर देता था; और यह सोच कर हँसता था कि उसने उनका मार्ग अवरुद्ध कर दिया है, और गुरु को जैसे अब प्रत्यावर्तन ही करना पड़ेगा।...बालक देवव्रत सदा यही करता आया था...

गुरु के अधरों पर मुस्कान जागी।

"काशी की राजकन्या से मेरा विवाह करवाने के लिए धनुष उठाने में कौन-सा धर्म है गुरुदेव?"

"नारी के सम्मान की रक्षा, प्रत्येक प्राणी का धर्म है देवव्रत भीष्म!" परशुराम बोले, "एक अबला राजकन्या नगर-नगर भटक रही है; और दो शस्त्रधारी सत्तावान योद्धा उसका अपमान कर रहे हैं। उन्हें न्याय को स्वीकार करने के लिए बाध्य करने हेतु, अथवा उन्हें उनके अपराध का दण्ड देने के लिए मुझे शस्त्र उठाना पड़ रहा है पुत्र।...यह मेरी अहम्मन्यता नहीं है, न ही अपनी इच्छा का आरोपण। इच्छा केवल सर्वनियन्ता की है। वही इच्छा धर्म कहलाती है। मैं धर्म को वाणी दे रहा हूँ: या तो अम्बा को पत्नी के रूप में अंगीकार करो, अथवा अपने प्राण दे कर अपने अपराध का परिमार्जन करो।"

परशुराम उठ खड़े हुए, "धनुष उठाओ।"

"ठहरें गुरुदेव!" भीष्म शान्त स्वर में बोले, "क्षत्रिय युद्ध-दान से मुँह नहीं मोड़ सकता, आह्वान चाहे गुरु की ओर से ही आया हो। पर, पहले युद्ध की अनिवार्यता से तो सहमत हो लूँ।" उन्होंने रुक कर गुरु की ओर देखा, "आपकी आज्ञा का पालन करूँ तो मेरी प्रतिज्ञा की रक्षा कैसे होगी?"

"यह तो तुम्हें अम्बा का हरण करते हुए सोचना चाहिए था!" लगा, जैसे परशुराम का धैर्य चुक गया था, "एक प्रतिज्ञा तुमने की है, और दूसरी प्रतिज्ञा मैंने की है–असहायों की सहायता की। राजकुमार हो, इसलिए तुम्हें एक अबला के साथ दुर्व्यवहार करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। समाज के उच्च वर्ग की स्वेच्छाचारिता से मैं पहले ही बहुत पीड़ित हूँ...।" और सहसा वे क्षण-भर के लिए रुक कर, नये आवेश के साथ बोले, "तुम तो मेरे शिष्य हो। तुम पर विशेष दायित्व है कि तुम निर्बल और असहाय लोगों की सहायता करो।...तुम नारी की मर्यादा की रक्षा न करो–यह मैं कैसे सम्भव होने दूँगा।...जिनका कोई रक्षक नहीं, उनका रक्षक मैं हूँ।"

"मैं आपकी प्रतिज्ञा से परिचित हूँ।" भीष्म बोले, "नारी की मर्यादा की रक्षा के आपके आदेश का भी पालन होगा। काशी की राजकन्या कुरु-कन्या के रूप में हस्तिनापुर में आश्रय पा सकती है...।"

"नहीं!" अम्बा का स्वर चीत्कार भरा था, "मुझे आश्रय का अभाव नहीं है।"

"आप लोगों की अनुमति से एक बात मैं भी कहना चाहूँगा।" होत्रवाहन ने सारे वार्तालाप में पहली बार अपना मुख खोला, "यह न समझा जाये कि अम्बा सर्वथा अनाथ है, और उसे कोई आश्रय चाहिए।...वह अपने पिता के पास लौट सकती है। मेरे पास रह सकती है। शैखावत्य ऋषि के आश्रम में रह सकती है।...प्रश्न उसके जीवन की सार्थकता और सम्मान का है। पिता अथवा नाना के घर जीवन को व्यतीत करने में किसी भी युवती के जीवन की सार्थकता नहीं है। उसे अपना मन-भावन पति मिले, ताकि उसका यौवन सार्थक हो और सन्तति के रूप में उसके जीवन का विकास हो। यह आवश्यक है।" उन्होंने भीष्म को देखा, "प्रश्न यह है कि क्या कुरु राजकुमार उसे पत्नी के रूप में अंगीकार करने को प्रस्तुत हैं? यदि हाँ, तो मुझे कुछ कहना ही नहीं है।...और यदि नहीं, तो अम्बा का जीवन नष्ट होगा। ऐसी स्थिति में कुरु राजकुमार एक सम्भावनापूर्ण महत्त्वाकांक्षी जीवन नष्ट करने के अपराधी हैं। उसके लिए उन्हें दण्डित होना होगा।"

"बोलो भीष्म!" परशुराम कुछ व्यग्र हो कर बोले, "अम्बा को भार्या के रूप में अंगीकार करते हो?"

"अपनी प्रतिज्ञा के कारण असमर्थ हूँ।"

"तो धनुष उठाओ।"

"किन्तु मैं दोषी नहीं हूँ गुरुदेव!" भीष्म के दाहिने हाथ ने धनुष उठाया..."और साथ ही मैं गुरु-हत्या का अपराध नहीं करना चाहता...।"

परशुराम ने ये वाक्य उपेक्षा भरे कानों से सुने। उन्होंने धनुष साधा। लगा कि वे बाण छोड़ेंगे।

भीष्म उनके सामने खड़े थे। उन्होंने भी धीरे-से अपने धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाई...न परशुराम का ब्रह्मतेज उन्हें डिगा पाया था, न क्षात्र-तेज...

"भृगुश्रेष्ठ!" सहसा जाबालि बोले, "क्या युद्ध अनिवार्य है?"

"हाँ!"

"दोषी भीष्म ही है?"

"हाँ!"

"क्या भीष्म का वध करने से अन्याय का प्रतिकार हो जायेगा?"

"और कोई विकल्प नहीं है!"

"राजकन्या की मनोकामना पूर्ण हो जायेगी?..."

परशुराम को लगा, अभी तक उनके असमंजस ने उन्हें छोड़ा नहीं है...वे न्याय के लिए भीष्म का वध कर रहे हैं, या अपने सिद्धान्तों में बँध कर अम्बा की कामनापूर्ति का साधन बन रहे हैं...?

और सहसा राजमाता सत्यवती उठ कर आयीं और हाथ जोड़ कर परशुराम के सामने खड़ी हो गयीं, "ऋषिवर! धर्म क्या है, यह आप जानते हैं। मैं तो एक अबोध सांसारिक स्त्री हूँ। किन्तु इतना आश्वासन तो मैं भी आपको दे सकती हूँ कि अम्बा का जीवन व्यर्थ नहीं जायेगा। मैं उसकी सास बनने को भी प्रस्तुत हूँ और माँ भी। वह चाहे तो विचित्रवीर्य से विवाह कर मेरी पुत्रवधू बन जाये, हस्तिनापुर की साम्राज्ञी; या चाहे तो मेरी पुत्री बन जाये...यदि वह इन दोनों में से कुछ भी स्वीकार नहीं करती तो वह असहाय नहीं है, वह अनाथ नहीं है। वह विनाश का हठ ठाने, हस्तिनापुर को ध्वस्त करने वाली कृत्या है; और आप न्याय की आस्था लिए अपनी सांसारिक अव्यावहारिकता में नारी-मन को समझे बिना, उसके उपकरण बन रहे हैं। क्या आप नहीं देख पा रहे हैं कि वह भीष्म की कामानुरागिनी है; और इससे कम में वह कहीं समझौता नहीं करेगी। वह न्याय के लिए नहीं, वासना के लिए हठ कर रही है।...मैं तो आपसे विचित्रवीर्य का जीवन माँगने आयी थी, और आप मुझसे भीष्म को भी छीन रहे हैं...।"

परशुराम अवाक्-से सत्यवती को देखते रहे...और फिर जैसे कुछ चिन्तित हो गये...उनका धनुष शिथिल होता दिखायी दिया।

और तभी भीष्म बोले, जैसे लोहे को गर्म देख कर उस पर समय से प्रहार कर लेना चाहते हों, "गुरुवर! मैं राजकुमारी का अपराधी नहीं हूँ। उसने स्वयं अपने मुख से शाल्व के प्रति अनुराग और वरण की बात कही। वह स्वयं अपना प्राप्य छोड़ कर चली गयी...।"

परशुराम ने अम्बा की ओर देखा, "कुछ कहना चाहती हो, राजकुमारी?"

"ऋषिश्रेष्ठ! मुझे भी दुर्बलता के एक क्षण का क्षमादान मिले।" अम्बा बोली, "दुर्बलता के उस क्षण में मैं भीष्म-प्रतिज्ञा को लौह प्राचीर मान, विचित्रवीर्य से बचने के लिए, शाल्व के पास चली गयी थी। तब भी मन में कहीं था कि शायद वह मेरी चपलता थी; किन्तु शाल्व की अस्वीकृति ने मेरे सम्मुख अपनी स्थिति तथा कामना दोनों को स्पष्ट कर दिया...।"

"एक बात मैं भी कहूँ महर्षि!" हस्तिनापुर के वृद्ध महामन्त्री विष्णुदत्त बोले, "अनुमति है?"

"कहें ब्राह्मणदेव!" परशुराम बोले, "मैं जल्दी में नहीं हूँ। आज सबकी सुन कर ही निर्णय करूँगा।"

"हस्तिनापुर का साम्राज्य और कुरुओं का राजवंश तो महाराजकुमार भीष्म के बाहुबल पर टिका ही है; इस समस्त प्रदेश के लोगों की धर्म के प्रति आस्था भी शान्तनुनन्दन भीष्म के आधार पर ही टिकी है।" उन्होंने रुक कर परशुराम को देखा, "महाभार्गव! यद्यपि भीष्म के विवाह से, सबसे अधिक प्रसन्नता व्यक्तिगत रूप से मुझे ही होगी; किन्तु आप बतायें कि यदि भीष्म ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी तो आर्यावर्त का सामान्य जन किसके वचन पर विश्वास कर पायेगा?...यदि अपनी प्रतिज्ञा पर टिके रहने के लिए भीष्म, आप जैसे धर्मधुरन्धर से दण्डित होंगे तो प्रजाजन की धर्म में आस्था की रक्षा कौन करेगा?..."

परशुराम अब तक द्विविधाग्रस्त थे, अब वे चिन्ताग्रस्त हो गये। चिन्ता ने जैसे उनकी ऊर्जा को निचोड़ लिया था। कर्म बाधित हो गया था।...थोड़ी देर में वे अम्बा से सम्बोधित हुए, "राजकुमारी! क्या चाहिए तुम्हें–लोक-धर्म, लोक-हित और मर्यादा की रक्षा करते हुए, अपने जीवन का सम्मानजनक समाधान या भीष्म?"

"भीष्म!" अम्बा ने निर्द्वन्द्व स्वर में कहा, "भीष्म मेरा है। हस्तिनापुर का राज्य मेरा है। उससे कम मुझे कुछ भी स्वीकार्य नहीं है।"

परशुराम की आँखें भीष्म की ओर उठीं।

"इस जन्म में तो यह सम्भव नहीं है गुरुवर!" भीष्म के स्वर में पीड़ा थी।

अम्बा की आँखों में अश्रु आ गये, "तो मेरे लिए तुम्हें दूसरा जन्म लेना पड़ेगा। तुम्हारा यह जीवन या तो मेरा हो कर रहेगा, या समाप्त कर दिया जायेगा।..."

परशुराम की आँखों में से अनिर्णय और असमंजस के जाले मिट गये। चेहरे पर स्पष्टता की द्युति आयी, "यह तो धर्मयाचना नहीं, काम-याचना है। परशुराम ने असहाय जन को न्याय दिलाने की प्रतिज्ञा की थी, कामनाओं के बवण्डर में भटकते लोगों की इच्छाओं की पूर्ति के लिए मैं शस्त्र नहीं उठा सकता।..."

"तो?" अम्बा उनकी ओर देख रही थी।

"तुम अपना प्रयत्न किसी और माध्यम से चलाये रखो राजकुमारी!" परशुराम बोले, "मैं अब तुम्हारी कोई सहायता नहीं कर पाऊँगा। होत्रवाहन!" परशुराम ने अम्बा के नाना को सम्बोधित किया, "तुम राजकुमारी को अपने साथ ले जाओ...परशुराम आज एक महा-अपराध से बच गया है।"

"भीष्म!" अम्बा का स्वर थरथरा रहा था, "मैं अपना जीवन तपस्या में दग्ध कर दूँगी, ताकि तुम्हारा यह जीवन, जो मेरा नहीं हो सका, नष्ट हो सके।..."

"मुझे दुख ही होगा राजकुमारी!"

"मरूँगी भी तो यह कामना ले कर कि अगले जन्म में तुम्हारे इस शरीर को नष्ट कर दूँ, जो तुम्हारी सीमा है। हमारे मिलन में विघ्न-स्वरूप खड़ा, तुम्हारा यह शरीर, जितनी जल्दी विलीन हो जाये, उतना ही अच्छा..." अम्बा उठ कर खड़ी हो गयी, "न्याय माँगने से नहीं मिलता। वह तो प्राप्त करना पड़ता है।"

अम्बा ने और किसी की ओर नहीं देखा। वह सिर झुकाये, जैसे इस अस्थायी आश्रम से बाहर जाने के लिए चल पड़ी।

होत्रवाहन ने एक क्रुद्ध दृष्टि भीष्म पर डाली और शायद उसकी वही दृष्टि परशुराम की ओर भी मुड़ती; किन्तु कुछ सोच कर वह रुका और उठ कर अम्बा के पीछे-पीछे चला गया।

भीष्म की दृष्टि बहुत दूर तक अम्बा का पीछा करती रही...

अम्बा बहुत दुखी थी, इसमें कोई संदेह नहीं।...भीष्म उसके लिए स्वयं को दोषी नहीं मानते; किन्तु अम्बा के दुख के निमित्त तो वे थे ही...वह कैसे कह सकते थे कि अम्बा के दुख से उनका कुछ भी लेना-देना नहीं था...

पर यह सब क्या था?

उन्होंने अम्बा को अंगीकार किया होता, तो वे अवश्य कर्म-बन्धन में बँध गये होते।...किन्तु क्या वे पूरी दृढ़ता से कह सकते हैं कि उसे त्याग कर वे मुक्त हो गये हैं...क्या इस त्याग के फलस्वरूप अम्बा ने उन्हें ऋणात्मक रूप में ही सही, बाँध नहीं लिया है?...अम्बा का ऋण तो उन पर है ही। उन्हें उसका ऋण तो चुकाना ही होगा। उसके दुख का प्रतिकार…या उसे स्वयं को शान्त करने का अवसर तो देना ही होगा…

पिता ने ठीक ही कहा था—ग्रहण ही नहीं, त्याग भी एक कर्म होता है। उस कर्म का भी फल होता है। वह कर्म भी व्यक्ति को बाँधता है…

भीष्म ने अपने लिए तो कुछ नहीं चाहा था; उन्होंने तो मात्र पिता के प्रति अपना धर्म निभाना चाहा था। पिता की इच्छा पूर्ण करने के लिए, जिसे माता बना कर ले आये, उस सत्यवती की इच्छा का सम्मान वे कैसे न करते…और माता सत्यवती की इच्छा पूरी करते-करते, वे अम्बा की इच्छा के जाल में कहाँ से आ फँसे? …यद्यपि उन्होंने अम्बा की इच्छा पूरी नहीं की। उसके जाल में वे बँधे नहीं; पर क्या सचमुच नहीं बँधे? क्या कह गयी है अम्बा…यह जन्म…अगला जन्म…क्या वे पूर्ण विश्वास के साथ कह सकते हैं कि वे अम्बा के साथ जन्म-जन्मान्तर के लिए बँध नहीं गये?…

भीष्म का मन कोई स्पष्ट उत्तर देने की स्थिति में नहीं था।

हस्तिनापुर लौटते हुए, अपने रथ में बैठी सत्यवती समझ नहीं पा रही थी कि वह प्रसन्न थी या अप्रसन्न! उसने हस्तिनापुर से कुरुक्षेत्र की यात्रा की थी कि वह भगवान परशुराम तथा महाअथर्वण जाबालि से अपने पुत्र विचित्रवीर्य के स्वास्थ्य के लिए कोई औषध माँग ले, कोई मन्त्र सीख ले। पर क्या कर पायी वैसा कुछ?...विचित्रवीर्य का तो नाम भी उसकी जिह्वा पर नहीं आया...और वह हाथ जोड़ कर परशुराम से भिक्षा माँगती रही, भीष्म के जीवन की...

परशुराम यदि भीष्म से युद्ध करते, उसे पराजित करते, उसका वध करते, तो क्या छिन जाता सत्यवती का? उसे तो उल्टे लाभ ही था; उसके मार्ग का एक शूल तो दूर होता। भीष्म हस्तिनापुर के सिंहासन पर नहीं बैठा; किन्तु वह जानता है कि इस सिंहासन का वास्तविक अधिकारी वही है। सत्यवती भी जानती है; कुरु-प्रमुख भी जानते हैं; प्रजा भी जानती है। भीष्म का अस्तित्व ही सबको याद दिलाता रहता है कि सत्यवती और उसके पुत्रों ने भीष्म से उसका राज्याधिकार छीना है...उसकी उपस्थिति मात्र, लोगों की दृष्टि में सत्यवती को अपराधिनी बना जाती है...

और सत्यवती हस्तिनापुर से कुरुक्षेत्र तक गयी–भीष्म के जीवन की याचना करने के लिए...

पर सत्यवती–उसका मन बोला–यदि परशुराम भीष्म को पराजित करते, तो उनकी इच्छा पूरी होती। सम्भवत: वे उसका वध नहीं करते।...वह उनका शिष्य है...उन्हें प्रिय है...और फिर जीवित रह कर उनके लिए उपयोगी हो सकता है। भीष्म के वध से तो अम्बा के जीवन की समस्या का समाधान नहीं हो सकता था। वह तो भीष्म की मृत्यु की कामना भी नहीं कर रही थी। वह भीष्म को प्राप्त करना चाह रही थी...और यदि अम्बा, भीष्म को प्राप्त कर लेती, तो उसके माध्यम से वह हस्तिनापुर का राज्य भी प्राप्त करना चाहती।...जब निषाद-कन्या सत्यवती राज्य के लोभ का संवरण नहीं कर सकी, तो अम्बा तो राज-कन्या है। वह क्या राज्याधिकार प्राप्त किये बिना मानती? ...कभी नहीं...

पर भीष्म की प्रतिज्ञा?

सत्यवती को लगा, उसके मन में कोई ज़ोर का अट्टहास कर हँसा, पुरुष की प्रतिज्ञा।...क्या अर्थ है, पुरुष की प्रतिज्ञा का?...नारी ही उससे प्रतिज्ञाएँ करवाती है, और नारी ही उसकी प्रतिज्ञाएँ तुड़वाती हैं...सत्यवती, माता बन कर भीष्म से ऐसी प्रतिज्ञाएँ करवा सकी, तो अम्बा पत्नी बन कर उसकी प्रतिज्ञाएँ तुड़वा नहीं सकती?...भीष्म चाहे नारी की शक्ति को न जानता हो, पर सत्यतवी तो जानती है।...पुरुष के जीवन में नारी, मादक वसन्त के रूप में आती है। उस समय क्या पुरुष का विवेक, और क्या उसका संकल्प...पुरुष का अपना विवेक और संकल्प काम करता रहे, तो समझना चाहिए कि नारी का मद उसे अभी चढ़ा ही नहीं है...और यदि आरम्भ में उसका प्रतिरोध कुछ दिन बना भी रहे, तो नारी दीमक के समान, उसकी जड़ों में धँस कर सब कुछ खोखला कर देती है; और पुरुष को पता भी नहीं लगता कि क्रमश: उसका क्षय हो चुका है। उसको तो बोध ही तब होता है, जब उसकी जड़ें पूर्णत: नष्ट हो चुकी होती हैं, और वह धराशायी हो जाता है।...शान्तनु में क्या आत्मबल नहीं था, या विवेक नहीं था, या संकल्प नहीं था...किन्तु सत्यवती के सामने एक भी चली उसकी?...सत्यवती क्या जानती नहीं कि उनकी इच्छाएँ क्या थीं। उनका वश चलता तो चित्रांगद और विचित्रवीर्य का पालन-पोषण ऐसा होता, जैसा कि हुआ।...वे उन्हें किसी गुरुकुल में भेज देते। जब तक वे दोनों भाई गुरुकुल से लौटते, तब तक भीष्म हस्तिनापुर का लोकप्रिय सम्राट हो चुका होता; और वे दोनों भाई अपने गुरुओं से यह शिक्षा प्राप्त करके आते कि बड़ा भाई पिता के समान होता है। वे दोनों भीष्म के आज्ञाकारी और अनुरागी छोटे भाई होते। भीष्म उनकी बाँह पकड़ कर, उन्हें सिंहासन पर बैठाता भी, तो वे कूद कर नीचे आ जाते।...नारी का स्पर्श करने से पहले बीस बार सोचते, कि धर्म क्या है...सत्यवती को वे राजपुत्र न लग कर ऋषिपुत्र ही लगते।...

...किन्तु सत्यवती ने शान्तनु की चलने नहीं दी। पुरुष स्वयं को कितना ही शक्तिशाली माने, कितना भी संकल्पवान और दृढ़प्रतिज्ञ माने...वह सब तभी तक है, जब तक नारी उसे विजय करने के अभियान पर नहीं निकलती...भीष्म को अम्बा के मोह से बचा कर, सत्यवती ने भीष्म की नहीं, अपनी और विचित्रवीर्य की ही रक्षा की है। वह परशुराम और जाबालि से, विचित्रवीर्य के लिए औषध और मन्त्र नहीं लायी, किन्तु धर्मक्षेत्र से वह उसके लिए भीष्म रूपी रक्षा-कवच अवश्य लौटा लायी है...

हस्तिनापुर पहुँचते ही सत्यवती को सूचना मिली कि सम्राट का स्वास्थ्य ठीक नहीं है। उपचार चल रहा है।

वह भागती हुई विचित्रवीर्य के कक्ष में पहुँची। देखा: विचित्रवीर्य के पलंग को घेर कर राजवैद्य, उनके सहयोगी और उनके शिष्य खड़े हैं। कक्ष के एक कोने में अम्बिका और अम्बालिका बहुत तटस्थ भाव से बैठी हैं; जैसे वे बैठने-भर को बैठी हों, अन्यथा उनका रोगी से कुछ भी लेना-देना न हो...

सत्यवती को अपनी पुत्रवधुओं का तटस्थ व्यवहार कभी भी रुचिकर नहीं हुआ था। मनुष्य किसी अपरिचित को भी कष्ट में देखता है, तो प्रभावित हुए बिना नहीं रहता; और ये हैं कि अपने रुग्ण पति के निकट भी काष्ठ-प्रतिमाओं के समान, बिना किसी भावना और बिना किसी अभिव्यक्ति के बैठी रहती है। जो कुछ पूछ लो, उसका उत्तर दे देंगी, जो कुछ कह दो, वह कर देंगी...और फिर वैसी-ही गुम-सुम, भावहीन, निष्प्राण।...इनसे तो अम्बा ही अच्छी। कम से कम मुँह खोल कर कहती तो है कि किससे प्रेम करती है और किससे घृणा...

सत्यवती, विचित्रवीर्य की ओर बढ़ी। वैद्यों के उस समूह ने राजमाता के लिए मार्ग बनाया।

"कैसे हो पुत्र?" राजमाता ने सम्राट के ललाट पर हाथ फेरा।

सत्यवती को स्वयं लगा कि उसका हाथ काँप रहा है और वाणी जैसे थरथरा रही है।

विचित्रवीर्य एकदम पीला पड़ गया था और बहुत ही दुर्बल लग रहा था। उसने हल्के से पलकें झपकायीं और फिर से आँखें बन्द कर लीं।

सत्यवती ने राजवैद्य की ओर देखा।

"हम प्रयत्न कर रहे हैं राजमाता।" राजवैद्य ने कहा, "पर हमें अधिक आशा नहीं है।"

सत्यवती की इच्छा हुई, खींच कर एक चाँटा राजवैद्य के झुर्रियों से भरे चेहरे पर दे मारे: ऐसी बात कहने का उसे साहस कैसे हुआ?

पर उसका हाथ उठा नहीं। केवल इतना ही पूछ सकी, "क्या सचमुच कोई आशा नहीं?"

"विधाता की इच्छा राजमाता!" और राजवैद्य अपने सहयोगियों को कोई नवीन औषधि तैयार करने की विधि समझाने लगे।

सत्यवती को लगा, उसकी सारी ऊर्जा, जैसे दीनता में परिणत हो गयी; और दीनता खीझ में। उसका मन जैसे अपने-आप से ही लड़ रहा था। उसके मन में आक्रोश ही आक्रोश था। इच्छा हो रही थी कि या तो अपना ही सिर दीवार से दे मारे, या सामने आये व्यक्ति का मुँह नोच ले।...और सत्यवती स्वयं ही नहीं समझ पा रही थी कि कष्ट और क्रोध के इस क्षण में, बार-बार उसके मन में क्रोध के लक्ष्य के रूप में भीष्म की ही छवि क्यों उभरती है...जाने क्यों उसे लगता है कि भीष्म पहले दिन से जानता था कि सत्यवती की सन्तान, हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर नहीं बैठ सकेगी। वह जीवित ही नहीं रहेगी, तो शासन कैस करेगी।...इसलिए तो बिना किसी आनाकानी के, उसने प्रतिज्ञा कर ली थी।

उसने देखा, कि राजवैद्य पीछे हट गये। उन्होंने अपने एक शिष्य को संकेत किया। शिष्य ने वस्त्र से सम्राट का मुँह ढाँप दिया। राजवैद्य आ कर राजमाता के सम्मुख भूमि पर ही बैठ गये, "राजमाता! सम्राट नहीं रहे।..."

सत्यवती ने सूनी-सूनी आँखें उठा कर राजवैद्य की ओर देखा, जैसे जो कुछ उसको कहा गया था, वे शब्द ही थे, उनका अर्थ कुछ नहीं था।...या यदि उनका कुछ अर्थ था भी, तो वह उसकी समझ में नहीं आया था। शब्द जैसे कानों से केवल टकराये और लौट गये। मस्तिष्क में उनका प्रवेश ही नहीं हआ।

राजवैद्य के सारे सहकर्मी और शिष्य आ कर राजवैद्य के साथ, राजमाता के सम्मुख भूमि पर बैठ गये।

भीष्म पहले से जानता रहा होगा—सत्यवती के मन में विचार नहीं, मानो मरुभूमि का अन्धड़ चल रहा था—शुष्क, तप्त और रेतीला।...वह जानता था कि चित्रांगद भी नहीं रहेगा और विचित्रवीर्य भी...सम्राट शान्तनु के देहान्त के पश्चात गंगा के पार जा कर तपस्या करना उसका ढोंग मात्र तो नहीं था? कहीं वह उस समय भी चित्रांगद की मृत्यु के लिए ही तो कोई साधना नहीं कर रहा था?...मारण-मन्त्र की सिद्धि?...अथर्वण परम्परा से परिचय है भीष्म का।...उसी के प्रयोगों से तो यह सब नहीं हो रहा? भीष्म के मार्ग में आने वाले व्यक्ति एक-एक कर संसार से विदा हो गये।...शान्तनु...चित्रांगद...विचित्रवीर्य...अभी भी भीष्म, गुरु के बुलाने के व्याज से कुरुक्षेत्र गया था। वहाँ महाभार्गव परशुराम भी थे और महाअशर्वण जाबालि भी। धर्मक्षेत्र में साधना का फल भी जल्दी मिलता है।...और फिर पवित्र सरस्वती नदी का तट...कहीं भीष्म ने, अपने गुरु से मिल कर कोई अनुष्ठान ही तो नहीं किया था, जिसके प्रभाव से राजवैद्य और उसके सहयोगी खड़े देखते रह गये, उनकी औषधियाँ विचित्रवीर्य के कण्ठ के नीचे

उतरती रहीं और उसका रोग बढ़ता गया।...मारण-मन्त्र से ऐसा ही तो होता है।...पर उसकी भी क्या आवश्यकता थी–सहसा सत्यवती के मन ने पलटा खाया–साधना की क्या आवश्यकता थी: एक राजवैद्य को सिद्ध करना ही पर्याप्त था भीष्म के लिए।...तभी तो राजवैद्य की औषधियाँ विचित्रवीर्य को जीवन प्रदान करने के स्थान पर, उसे मृत्यु की ओर धकेलती रहीं...और जिस समय उसका अन्तकाल आने को था, भीष्म उठ कर अपने गुरु से मिलने के लिए कुरुक्षेत्र चला गया, ताकि विचित्रवीर्य की मृत्यु के समय, भीष्म को हस्तिनापुर में अनुपस्थित पा कर, उसे कोई दोषी न ठहरा सके...

सत्यवती भय के मारे भीतर तक काँप उठी...वह चारों ओर से न केवल अपने शत्रुओं से घिर गयी है, वरन हत्यारों के जाल में आकण्ठ बँधी पड़ी है। मुक्त होना तो दूर, हिलना भी चाहे तो हिल नहीं सकती...निषाद-कन्या सत्यवती से अधिक, जाल की माया को कौन समझेगा। जाल में फँस गयी मछली कैसे तड़प-तड़प कर कूदती है, और कूद-कूद कर तड़पती है, ताकि जाल से बाहर निकल सके।...जाल के भीतर से उसे आकाश भी दिखायी देता है, और धरती भी, और जल भी। यदि कुछ दिखायी नहीं देता, तो जाल ही दिखायी नहीं देता। जब मछली तड़प-तड़प कर कूदती है, तो आश्चर्य और पीड़ा से सोचती होगी कि जाने कौन-सी वस्तु उसे जल तक पहुँचने से रोक रही है...शायद यह भी सोचती हो कि कूद कर जाल से बाहर आ जायेगी, तो जल में ही गिरेगी...या आस-पास खड़े मनुष्य उसे उठा कर, जल में डाल देंगे और वह जीवन पा जायेगी...वह अबोध यह नहीं जानती कि जाल से बाहर भी उसके लिए मृत्यु ही है। अपने चारों ओर खड़े जिन मछुआरों से वह सहायता की अपेक्षा कर रही है, उन्हीं लोगों ने तो उसके प्राण लेने का षड्यन्त्र रचा था...

क्या जानती थी सत्यवती कि यमुना-तट की मछुवारिन, हस्तिनापुर में आ कर मछली बन जायेगी...इन लोगों ने विचित्रवीर्य की हत्या की है, ये सत्यवती की भी हत्या कर सकते हैं...

हत्या न भी करें, तो अब सत्यवती का क्या रह गया है हस्तिनापुर में! जिस सम्राट की वह पत्नी थी, वह सम्राट नहीं रहा। जिन दो सम्राटों की वह माँ थी, वे दोनों सम्राट नहीं रहे। अब न वह महारानी है, न राजमाता...उसके अधिकार का कौन-सा प्रमाण है अब हस्तिनापुर में? उसकी आज्ञाओं का पालन कोई क्यों करेगा अब?...क्या भीष्म उसे हस्तिनापुर से निकाल देगा?...कहाँ जायेगी वह?...बाबा के पास?...बाबा अब और भी वृद्ध हो गये होंगे, और भी असमर्थ। वे क्या सहायता कर पायेंगे सत्यवती की?...सत्यवती क्या अब फिर से धर्मार्थ नाव खे सकेगी?...यात्रियों को यमुना पार करवा सकेगी?...मछलियाँ पकड़ने के लिए जाल फेंक सकेगी? जाल समेट सकेगी?...

तो और कौन-सा ठिकाना है उसके लिए?

कृष्ण द्वैपायन...क्या कृष्ण द्वैपायन का आश्रम उसका घर बन सकेगा?...पर वह तो तपस्वी है...कुटीरों में रहता है। वनों-पर्वतों में भटकता फिरता है।...समाधि लगाये बैठा रहता है...

सत्यवती को लगा, कृष्ण द्वैपायन का आश्रम चाहे सुविधाजनक न हो, किन्तु उसका विचार मात्र ही उसमें सुरक्षा का भाव जगा गया है...उसका कृष्ण द्वैपायन अब प्रतिष्ठित ऋषि है...अपने पिता से भी अधिक सम्मान का अधिकारी हो गया है वह...कृष्ण...कृष्ण...

किन्तु भीष्म!...

ऋषि कृष्ण द्वैपायन अधिक शक्तिशाली है या महाराजकुमार भीष्म? क्या उसका कृष्ण, भीष्म के सम्मुख ठहर पायेगा?...कहीं भीष्म ने उसकी भी हत्या करवा दी तो?...पर नहीं! कृष्ण ब्राह्मण है...ब्रह्महत्या का साहस भीष्म भी नहीं कर पायेगा।...फिर उसका कृष्ण, हस्तिनापुर के प्रासादों में नहीं रहता, जहाँ भीष्म का आदेश चलता हो। वह राजवैद्य की औषधि भी नहीं खाता...और मन्त्र-तन्त्र, साधना तथा सिद्धियाँ...इनमें तो कृष्ण द्वैपायन स्वयं ही बहुत समर्थ है...कहीं वह आ जाये, तो भीष्म की सारी ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ धरी रह जायें...तो फिर सत्यवती ने पहले क्यों उसे स्मरण नहीं किया?...

सत्यवती ने कक्ष की स्थिति का सर्वेक्षण किया।...अनेक लोग कक्ष में आ गये थे। मन्त्री, सभासद, कुरु-प्रमुख, पुरोहित, ब्राह्मण...और भीष्म।

भीष्म कैसा तो स्वामी सरीखा बैठा है। सब उसी का मुख ताक रहे हैं, उससे आज्ञाएँ ले रहे हैं। उसके आदेशों का पालन कर रहे हैं।...ऊपर से कैसा दुखी दिख रहा है पाखण्डी। मन-ही-मन प्रसन्न हो रहा होगा कि अब तो यह राज्य मेरा ही है। अपने भाइयों के रक्त से सना हुआ राज्य! क्या सुख मिलेगा, तुझे इस राज्य से?...

और अगले ही क्षण सत्यवती की दृष्टि, एक कोने में बैठी हुई अम्बिका और अम्बालिका पर पड़ी–ये अभी तक यहीं बैठी हैं, काष्ठ की पुत्तलिकाएँ–हिलीं नहीं, डुलीं नहीं, रोईं भी नहीं...

तभी सत्यवती के मन में एक नया प्रश्न उठा: 'इनका क्या होगा?...' इनकी स्थिति भी तो अब सत्यवती जैसी ही है। जिस सम्राट की ये रानियाँ हैं, वह अब नहीं रहा। इनका कोई पुत्र भी नहीं है...तो क्या भीष्म इन्हें भी हस्तिनापुर से निकाल देगा? इनकी हत्या कर देगा?...या...या...इनसे विवाह कर लेगा?...हाँ! इनसे विवाह भी तो कर सकता है भीष्म! वही तो इनका हरण करके भी लाया था। क्षत्रिय समाज में कोई उसकी निन्दा भी नहीं करेगा... हस्तिनापुर का सिंहासन रिक्त नहीं रहेगा।...उस पर किसी-न-किसी को तो बैठना ही है।...पहला अधिकार भीष्म का ही बनता है।...सारे मन्त्री, सभासद, कुरु-प्रमुख...सब उसी से निवेदन करेंगे कि वह सता अपने हाथ में ले।... पहले वह राजसत्ता हस्तगत करेगा...और फिर अम्बिका और अम्बालिका से विवाह कर लेगा...कर ले, सत्यवती, कर भी क्या सकती है...राज्य भी भीष्म का और रानियाँ भी भीष्म की है।...क्या अन्तर पड़ेगा, यदि भीष्म ने अम्बा से विवाह न कर, उसकी छोटी बहनों से विवाह कर लिया है।...और क्या विश्वास है भीष्म का; यह उन तीनों का हरण करके लाया था। इन दो के साथ विवाह कर सकता है, तो तीसरी के साथ भी कर सकता है...वह पास के ही किसी वन में, इसे प्राप्त करने के लिए तपस्या का ढोंग कर रही होगी...

वे लोग विचित्रवीर्य के शव को बाहर ले जा रहे थे। उसके वक्ष में देर से फँसा चीत्कार फूटा, "मेरे लाल!"

वह वेग से शव के पास आयी।

भीष्म के संकेत पर वे लोग ठहर गये।

सत्यवती ने वस्त्र हटाया। विचित्रवीर्य का चेहरा वैसा ही था, जैसा थोड़ी देर पहले उसने देखा था: रोगी, दुर्बल और शक्तिहीन।

उसके मुख से सिसकी फूटी! पेट के तल में कैसी-कैसी तो पीड़ा हुई और आँखों से अश्रु वह निकले, "मेरे लाल!"

भीष्म ने सत्यवती के दोनों कंधों पर हाथ रखे, जैसे स्नेह की ऊर्जा संचारित कर रहे हों, "माता!"

सत्यवती का मन हुआ, झटक दे उसके हाथ–पाखण्डी कहीं का। भीतर से इतना कुटिल और ऊपर से इतना सरल।...

किन्तु सत्यवती ने उसके हाथ झटके नहीं।...जब तक भीष्म ही उसे नहीं झटकता, तब तक सत्यवती का उसे झटकना स्पृहणीय नहीं है।

उसने भीष्म की ओर देखा।

"माता! धैर्य! सर्वनियन्ता की इच्छा के विरुद्ध हम कर ही क्या सकते हैं?"

"धैर्य! किसका मुख देख कर धैर्य धारण करूँ अब?"

"मैं हूँ न माता! आपका दुखी पुत्र! आप हैं, मैं हूँ और विचित्रवीर्य की ये रानियाँ! दुख में हमें एक-दूसरे का ही तो सहारा है।..."

सत्यवती भीष्म की ओर देखती रह गयी: क्या सचमुच यह दुखी है?...इसे क्या दुख है?...

विचित्रवीर्य का शव अन्तिम स्नान के लिए ले जाया जा चुका था। कक्ष में से अधिकांश राजकर्मचारी और ब्राह्मण जा चुके थे। किन्तु अनेक नये लोग आ भी रहे थे। जिस-जिसको सूचना मिल रही थी, वही भागता चला आ रहा था।

सत्यवती का ध्यान अम्बिका और अम्बालिका पर टिका हुआ था।...इन्हें भी भीष्म ही लाया था हस्तिनापुर, और सत्यवती को भी वही लाया था। सत्यवती के लिए उसने वचन-दान दिया था; इनके लिए रण-दान। न सत्यवती के सम्राट बचे, न इनके! बचा है केवल भीष्म!

...सहसा सत्यवती का ध्यान दूसरी ओर चला गया।...शान्तनु का देहान्त हुआ था, तो सत्यवती को लगा था कि उसे हस्तिनापुर के राजमहलों से निकाल बाहर फेंका जायेगा; किन्तु ऐसा नहीं हुआ। उसे उसकी सन्तान ने बचा लिया था।...जो सत्यवती रानी नहीं रही थी, वह राजमाता बन गयी थी...तो क्या यही प्रक्रिया इन दोनों रानियों के साथ नहीं हो सकती! क्या वे राजमाताएँ नहीं बन सकतीं?...कैसे?...

क्या वह कृष्ण द्वैपायन को हस्तिनापुर बुला ले, द्वैपायन भी तो उसी राजमाता का पुत्र है, जिसके पुत्र विचित्रवीर्य और चित्रांगद थे? जब वे सम्राट बन सकते थे, तो कृष्ण द्वैपायन क्यों नहीं बन सकता? राजमाता सत्यवती, स्वयं अपने हाथों से उसके सिर पर किरीट रखेगी, उसके भाल पर तिलक करेगी; और उसका हाथ पकड़

कर उसे राजसिंहासन पर बैठायेगी।

सत्यवती को लगा, आज फिर वैसा ही एक अवसर आया है, जैसा शान्तनु और चित्रांगद की मृत्यु पर आया था...राजरानी या राजमाता होना सरल नहीं है। पति की मृत्यु का शोक हुआ था सत्यवती को...किन्तु पुत्र के सम्राट बनने की प्रसन्नता भी हुई थी।...आज फिर वैसा ही अवसर आया है...विचित्रवीर्य का शव अभी यहीं पड़ा है, और वह द्वैपायन के राजतिलक की तैयारियाँ कर रही है...

पर अगले ही क्षण सत्यवती की कल्पना में भीष्म सजीव हो कर आ खड़ा हुआ। उसके कंधे पर धनुष था, पीठ पर तूणीर और हाथ में नग्न खड्ग। एक बार उसने उपेक्षा-भरी दृष्टि से सत्यवती की ओर देखा और आगे बढ़ कर सिंहासन पर बैठे कृष्ण द्वैपायन पर खड्ग से प्रहार किया। कृष्ण द्वैपायन का सिर, धड़ से अलग हो कर भूमि पर लोट गया। रक्त-स्नात धड़ थोड़ी देर तक सिंहासन पर टिका, किन्तु वह सँभल नहीं पाया, और डोलता हुआ नीचे आ गिरा...

सत्यवती फटी-फटी आँखों से सब कुछ देखती रही और फिर जैसे उसके भीतर से उसका प्रेत बोला, 'यह तुमने क्या किया भीष्म! ब्रह्म-हत्या कर दी?'

'वह ब्राह्मण नहीं था!' हाथ में रक्त-रंजित खड्ग लिए खड़े भीष्म ने अत्यन्त उद्दण्डता से कहा, 'वह कुरु-वंश के सिंहासन पर अनधिकृत रूप से बैठने वाला दस्यु था। दस्यु का वध करना क्षत्रिय का धर्म है।'

'पर वह हस्तिनापुर का सम्राट था।'

'वह हस्तिनापुर का सम्राट कैसे हो सकता है। वह कुरु वंशी नहीं था।'

'कुरु वंशी नहीं था तो क्या हुआ।' सत्यवती बोली, 'वह मेरा पुत्र था—राजमाता सत्यवती का पुत्र! पूर्व सम्राटों का भाई था वह!'

'किन्तु वह शान्तनु-पुत्र नहीं था।' भीष्म ने अत्यन्त रूक्ष वाणी में कहा, 'इस सिंहासन पर केवल शान्तनु-पुत्र ही बैठ सकता है।...और शान्तनु-पुत्र, अब केवल मैं हूँ। राजा शान्तनु अब और पुत्र उत्पन्न नहीं कर सकते...।'

सत्यवती ने धिक्कार बरसाती दृष्टि से भीष्म को देखा, 'और तुम्हारी प्रतिज्ञा?'

'कौन-सी प्रतिज्ञा?'

'कि तुम हस्तिनापुर का सिंहासन त्याग रहे हो।'

'राजा तो सिंहासन को त्याग सकता है, पर सिंहासन राजा को नहीं त्याग सकता। हस्तिनापुर के सिंहासन पर किसी शान्तनु-पुत्र को तो बैठना ही होगा।'

'पर तुमने मुझे वचन दिया था कि हस्तिनापुर पर विचित्रवीर्य और उसके पुत्रों की पीढ़ियाँ शासन करेंगी।'

'उस वचन पर मैं आज भी दृढ़ हूँ।'

'तो कुरु प्रदेश पर विचित्रवीर्य का पुत्र शासन करेगा?'

'हाँ! पर विचित्रवीर्य का पुत्र है कहाँ?'

भीष्म ने इतनी ज़ोर से अट्टहास किया कि सत्यवती के कान झनझना उठे।

सामने खड़ा प्रतिहारी कह रहा था, "राजमाता! महाराजकुमार ने निवेदन किया है कि आप दिवंगत सम्राट को अन्तिम आशीर्वाद देने के लिए पधारें।"

सत्यवती की कल्पनाएँ छिन्न-भिन्न हो गयीं।

"चलो।" वह उठ खड़ी हुई।

"दीदी!"

अम्बिका ने दृष्टि उठा कर देखा: अम्बालिका का वर्ण पीला पड़ गया था। वह इतनी डरी हुई लग रही थी, जैसे अपनी आँखों के सामने कोई भयानक शत्रु खड़ा देख रही हो।

अम्बिका ने आगे बढ़ कर उसे कंधों से थामा। उसके शरीर में हल्की-सी सिहरन थी, जैसे काँप रही हो।

"क्या बात है अम्बालिके?"

"मुझे बहुत डर लग रहा है दीदी!"

'किस बात के लिए?"

"सम्राट जो नहीं रहे।"

"तो इतनी व्याकुल क्यों है?" अम्बिका ने उसे समझाते हुए कहा, "सम्राट ने तुझे ऐसा कौन-सा सुख दिया था, जो अब छिन जायेगा।"

"नहीं दीदी! सुख की बात नहीं है।" अम्बालिका अपने काँपते होंठों से बड़ी कठिनाई से बोल पायी, "सम्राट नहीं हैं। मुझे लग रहा है कि कहीं कोई अनर्थ न हो जाये।"

"किस अनर्थ की आशंका है अम्बालिके!" अम्बिका ने उसे सँभालने का प्रयत्न किया, "पिता के घर से अपनी इच्छा के विरुद्ध हरण हुआ। पत्नी के रूप में, अपनी इच्छा के विरुद्ध एक रोगी कामुक को सौंप दी गयीं हम–जिसका शरीर न सुख प्राप्त कर सकता था, न प्रदान कर सकता था। ...चाहो तो उसकी मृत्यु को अनर्थ कह लो, और चाहो तो इसे मुक्ति कह लो।"

अम्बालिका ने आश्चर्य से अम्बिका को देखा, "तुम्हें कोई अन्तर नहीं लगता दीदी?"

"अन्तर उसे लगे, जो जीवित प्राणी हो।" अम्बिका बोली, "मुझे लगता है कि मैं एक निर्जीव पदार्थ हूँ, जिसकी अपनी कोई इच्छा नहीं है; और यदि इच्छा होती भी है, तो उसका कोई अर्थ नहीं होता।" उसने रुक कर अम्बालिका को देखा, "पहले सोचती थी, मैं युवती हूँ, सुन्दरी हूँ, राजकुमारी हूँ।...पर तब जाना कि अपहरण भी सुन्दरी राजकुमारियों के ही होते हैं। राजकुमारियाँ शायद विजय में प्राप्त की गयी निर्जीव वस्तुएँ होती हैं–जिनका आदान-प्रदान भी हो सकता है।"

"मुझे तो महाराजकुमार भीष्म पर बहुत क्रोध आता है। उन्होंने क्या यह प्रतिज्ञा भी कर रखी है कि संसार में सबको वे ही पत्नियाँ उपलब्ध करायेंगे।" अम्बालिका के आवेश ने उसका भय कुछ कम कर दिया था, "सम्राट शान्तनु के लिए भी वे ही पत्नी लायेंगे, और सम्राट विचित्रवीर्य के लिए भी।...समय से अपना विवाह किया होता; अपनी सन्तान होती; किसी के लिए पत्नी जुटाने की चिन्ता ही न व्यापती।"

"तुझे लगता है कि यह सब भीष्म का दोष है?"

"हाँ!" अम्बालिका ने सिर हिला दिया।

"और मुझे लगता है कि यह सब राजमाता सत्यवती की राज्य-लिप्सा का ही परिणाम है।" अम्बिका जैसे सशब्द चिन्तन कर रही थी, "उन्हें शान्तनु से विवाह करना था, करतीं; नहीं करना था, न करतीं। भीष्म से वचन ले कर, उनके गले में फंदा डाल दिया।...तुमने देखा नहीं, अपने वचन के फंदे में कैसे कसे हुए हैं भीष्म! और उन्हें बाँधने वाली हैं राजमाता। राजमाता की पलक झपकती है और भीष्म के गले का फंदा कसने लगता है। आठों प्रहर महाराजकुमार सतर्क रहते हैं कि कहीं किसी प्रकार उन पर वचन-भंग का आरोप न लगाया जा सके...।"

"अब हमारा क्या होगा दीदी?"

"क्या होना है अम्बालिके!" अम्बिका बोली, "जो कुछ हुआ है, अब उससे अधिक और क्या हो जायेगा?"

"हमें सती होने को तो नहीं कहेंगे?"

अम्बिका कुछ देर तक मुग्ध दृष्टि से अम्बालिका को देखती रही।...यह बात तो उसके मस्तिष्क में आयी ही नहीं थी। कहाँ तक सोच गयी अम्बालिका...

"तुम्हें मृत्यु से भय लगता है?"

"तुम्हें नहीं लगता दीदी?"

"नहीं!" अम्बिका बोली, "मेरी तो इच्छा होती है कि या तो मुझे एक निर्जीव पदार्थ के समान छोड़ दिया जाये, कोई मुझसे कुछ भी न चाहे, या...।"

"या क्या दीदी?"

"या मुझे मरने का अधिकार दिया जाये।"

"तुम मरना चाहती हो!"

"हाँ! और तू जीना चाहती है क्या?"

"मालूम नहीं! पर मुझे मरने से भय लगता है।"

"मैं सोचती हूँ, जीवन में ऐसा क्या है, जो मर कर छिन जायेगा।" अम्बिका जैसे अपने-आप से कह रही थी।

"तुम्हें किसी वस्तु की इच्छा नहीं होती?"

"नहीं।" अम्बिका निर्द्वन्द्व रूप से बोली, "इच्छा का क्या लाभ अम्बालिके! इच्छाओं की मृगतृष्णा में ही फँसी

हैं, हमारी राजमाता। अपनी भी दुर्गति करवा रही हैं, और हमारी भी।"

"तो क्या करें वे?" अम्बालिका ने पूछा।

"राज्य भीष्म को सौंपें और वनवास करें।" अम्बिका ने निःश्वास छोड़ा, "उनकी मुक्ति हो और हमारी भी।"

"क्या कह रही हो दीदी!"

"अम्बालिके! मैं ठीक कह रही हूँ। कुछ नहीं है जीवन में। और हमारे वश में तो कुछ भी नहीं है। मैंने तो अपनी आँखें बन्द कर ली हैं। जो घटित होना है, हो जाये। यदि अभी भी हम राजमाता के लिए किसी उपयोग की हैं, तो वे हमें सहेज कर रखेंगी; और यदि हमारा कोई उपयोग नहीं है, तो फिर कदाचित्! हमें सती होने का आदेश मिल जायेगा।"

"ऐसा न कहो दीदी!" अम्बालिका फिर से पीली पड़ गयी, "मुझे तो बहुत भय लग रहा है।"

31

सत्यवती बहुत देर से सोच रही थी, किन्तु निश्चय नहीं कर पा रही थी कि भीष्म को किन शब्दों में कहे। पर कहना तो था ही। कहीं ऐसा न हो कि वह अपने संकोच में कहे नहीं, और भीष्म कोई और निर्णय कर ले।

बात तो करनी ही होगी! सत्यवती इस जीवन को ऐसे अपनी मुट्ठी में से निकल जाने नहीं देगी।

उसने भीष्म को बुला भेजा।

भीष्म आये तो बोली, "अब कुरुओं का सिंहासन खाली रहेगा क्या? भरतवंश का अब अन्त हो जायेगा?"

भीष्म ने सूक्ष्म दृष्टि से देखा: क्या है माता के मन में? अच्छा होता कि वे स्पष्ट बता देतीं कि वे क्या चाहती हैं। भीष्म का कार्य सरल हो जाता।

किन्तु राजमाता अपनी ओर से कुछ नहीं कह रही थीं।

अन्तत: भीष्म ही बोले, "सभा बुलायी है। कुरु-प्रमुखों तथा भरतवंशी राजाओं के सम्मुख समस्या रखूँगा। सम्राट शान्तनु के वंश में अब कोई उत्तराधिकारी शेष नहीं है।...आगे वे जो निर्णय करें।"

"और तुम? तुम सम्राट शान्तनु के वंशज नहीं हो क्या?"

इसी बात का भय था भीष्म को। वह जानते थे कि इस समय शान्तनु के एकमात्र पुत्र होने के नाते, उनके सामने यह समस्या आयेगी।

"सम्राट शान्तनु का वंशज तो मैं हूँ।" भीष्म बोले, "किन्तु अपनी प्रतिज्ञा के पश्चात धर्मत: मैं राज्य का अधिकारी नहीं हूँ।...जो बात सम्भव नहीं है, उसकी चर्चा करने से क्या लाभ?"

"चाहे भरत का वंश नष्ट हो जाये, कुरुओं का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाये। मेरा मन टूक-टूक हो जाये..."

भीष्म की दृष्टि और वाणी दोनों ही स्थिर थीं, "व्यक्ति, वंश, राज्य बड़ा है माता! या धर्म? सत्य पर चलना ही धर्म है। मैं सत्य नहीं छोड़ सकता; अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ सकता," भीष्म ने जैसे अपनी बात को और भी बलपूर्वक कहा, "व्यक्ति, वंश या राज्य का स्वार्थ देखा जाये, तो संसार में न सत्य रहेगा, न धर्म!"

"तुम्हारे पिता का साम्राज्य नष्ट हो जाये और तुम खड़े देखते रहो, तो तुम्हारे जीवन का लाभ ही क्या है भीष्म?"

शब्द, भीष्म के गले तक आये; किन्तु उनका मुख नहीं खुला। आवेश से चेहरा लाल हो गया!

"उत्तर क्यों नहीं देते?"

"भीष्म अपना जीवन, परिवार के स्वार्थ के धरातल पर नहीं–सत्य के धरातल पर जीता है माता!"

"सत्य!" सत्यवती को जैसे उन्माद हो आया। कुपित हो कर, पूर्ण धिक्कार के साथ बोली, "सत्य, मात्र एक प्रतिज्ञा के पालन में नहीं होता।"

भीष्म की जिज्ञासा-भरी दृष्टि सत्यवती की ओर उठी।

"एक प्रतिज्ञा याद है, और दूसरी की चर्चा भी नहीं।"

"कौन-सी प्रतिज्ञा माता?"

"तुमने मुझे वचन नहीं दिया था कि हस्तिनापुर पर विचित्रवीर्य के वंशज राज्य करेंगे?"

भीष्म ने चकित हो कर सत्यवती को देखा, जैसे उसके क्रोध को समझने में असमर्थ हों, "किन्तु विचित्रवीर्य ने अपने पीछे, अपना कोई वंशज छोड़ा ही नहीं...।"

"दो-दो रानियाँ छोड़ गया है–युवा, सुन्दर, सृजन की क्षमता से भरपूर! तुम चाहो तो वे अब भी हस्तिनापुर के राजसिंहासन के उत्तराधिकारी को जन्म दे सकती हैं...।"

भीष्म चुपचाप सत्यवती की ओर देखते रहे।

"तुम उन्हें ग्रहण करो। उनके साथ विवाह कर लो।"

भीष्म अवाक् से खड़े माता को देखते रहे: इस समय सत्यवती उन्हें शान्तनु की पत्नी नहीं लग रही थी; कुरु साम्राज्य की राजमाता भी नहीं...वह तो एक साधारण नारी थी, जिसकी इच्छाएँ और कामनाएँ केवल अपना लक्ष्य देखती हैं...उसे न धर्म की चिन्ता है, न सत्य की, न आदर्श की, न सिद्धान्त की, न आचरण की...वह केवल अपनी कामना और इच्छा को जानती है...सृष्टि के किसी अन्य तत्त्व का उसे बोध नहीं है...पर साधारण मनुष्य तो ऐसा ही

होता है...भीष्म ने सोचा, 'जो अपनी सुविधाओं के लिए नियमों का निर्माण करता है, और अपनी इच्छापूर्ति के लिए उन नियमों को तोड़ता है...न तो उसके लिए सृष्टि के शाश्वत नियमों का कोई अस्तित्व है, और न उनके उल्लंघन से होने वाले अनर्थ का ज्ञान...।'

भीष्म अपनी ही दो प्रतिज्ञाओं में बँधे, अपने ही आमने-सामने खड़े थे...विचित्रवीर्य का क्षेत्र–उसकी पत्नियाँ! उनसे उत्पन्न सन्तान, विचित्रवीर्य की ही सन्तान मानी जायेगी।

"माता!" भीष्म बोले, "धर्मत: ऐसी परिस्थिति में नियोग का विधान है। आप किसी गुणी, विद्वान और सदाचारी ब्राह्मण को सन्तानोत्पत्ति के लिए नियुक्त करें। वह विचित्रवीर्य के क्षेत्र से उसके उत्तराधिकारी को उत्पन्न करे।"

सत्यवती ने तीक्ष्ण दृष्टि से भीष्म को देखा, जैसे कोई कठोर बात कहने की तैयारी में हो।

भीष्म की उत्सुकता जागी, किन्तु उन्होंने उसकी आँखों में झाँकने का प्रयत्न नहीं किया। ऐसा न हो कि सत्यवती और भी उत्तेजित हो उठे।

सत्यवती ने देखा, भीष्म कुछ नहीं कह रहे।

"और यदि मैं तुम्हें ही नियुक्त करूँ तो?"

भीष्म ने आहत दृष्टि से माता को देखा, जैसे कहना चाह रहे हों, 'माता, इस प्रकार बार-बार मेरी परीक्षा मत लो। अन्तत: मैं भी एक मनुष्य ही हूँ। मानवीय दुर्बलताएँ मुझमें भी हैं; और अभी पूर्णत: मरी नहीं हैं। ऐसा न हो कि मेरी भी कामेच्छा जाग उठे...'

"यदि आप ऐसा कुछ करेंगी, तो विचित्रवीर्य की नहीं, भीष्म की सन्तान सिंहासन पर बैठेगी।" भीष्म का स्वर कुछ प्रखर हो चला था, "हमें ऐसा प्रयत्न करना है कि शासनाधिकार विचित्रवीर्य की ही सन्तान का रहे...और भीष्म सत्य से स्खलित न हो।...नियोग के लिए पुरुष अज्ञात होना चाहिए। यथासम्भव वह उस नारी के सम्पर्क में पुन: न आये। उसके मन में राग न हो, केवल धर्म हो...। इसके विरुद्ध कुछ भी होगा, तो धर्म की रक्षा नहीं हो पायेगी माता।"

सत्यवती के मन में द्वन्द्व जागा: उसके अपने ही मन में जैसे दो पक्ष हो गये थे।...एक मन कह रहा था, सत्यवती! बहुत हुआ। तूने विधाता के विरुद्ध बहुत संघर्ष कर लिया! नहीं है राज्य का भोग, तेरी सन्तान के भाग्य में। छोड़ दे यह हठ! विधाता की इच्छा के सम्मुख समर्पण कर दे।...सौंप दे यह राज्य भीष्म को, विचित्रवीर्य की पत्नियाँ भी उसे प्रदान कर। भीष्म की सन्तान को मिलता है राज्यभोग, तो मिलने दे। खोल दे अपनी मुट्ठी! त्याग दे यह सब! संघर्ष के मार्ग से हट जा। शान्ति प्राप्त कर...

किन्तु उसके मन का दूसरा पक्ष, प्रचण्ड हो कर, पहले पक्ष को धिक्कार रहा था,...सत्यवती ने कम त्याग नहीं किया है, कम संघर्ष नहीं किया है, और न ही कम सहा है...क्या इसलिए कि न केवल शासन, सत्ता, अधिकार, धन, धान्य, मणि-माणिक्य–जीवन का सारा भोग भीष्म को सौंप दे...साथ-ही-साथ विचित्रवीर्य की यह दो सुन्दरी, रूपवती, युवती पत्नियाँ भी समर्पित कर दे उसे...ताकि भीष्म छक कर जीवन का भोग करे, सत्यवती प्रतिदिन अपने क्षत-विक्षत मन पर नमक के छिड़काव का अनुभव करे...?

नहीं! सत्यवती ऐसा कभी नहीं होने देगी!

नहीं चलता शान्तनु का वंश तो न चले; सत्यवती का ही वंश चले।...अपरिचित ब्राह्मण को ही नियुक्त करना है, तो वह अपने द्वैपायन को ही क्यों न नियुक्त करे...उसके एक पुत्र की सन्तान राजभोग नहीं कर सकी, तो दूसरे पुत्र की सन्तान करे। वह द्वैपायन को जीवन का सुख नहीं दे सकी, तो उसके वंशजों को साम्राज्य सौंप कर उसकी क्षतिपूर्ति करे...

"आप किसी कामनामुक्त सदाचारी ब्राह्मण को ही नियुक्त करें," भीष्म पुन: बोले, "आपकी इच्छा की भी पूर्ति होगी; और मैं भी अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा कर पाऊँगा। किन्तु..."

"किन्तु क्या?"

"अम्बिका और अम्बालिका की इच्छा?"

सत्यवती चौंकी: काशिराज की पुत्रियों की इच्छा?...यह भीष्म आजकल उन पर बहुत दयालु है। उनकी इच्छा पर चलना चाहता है। उनका मन नहीं दुखाना चाहता।...और उन राजपुत्रियों को द्वैपायन स्वीकार न हुआ तो?

सत्यवती का उन्माद लौट आया, "उनकी इच्छा का क्या अर्थ? वे न चाहेंगी तो कुरुओं का वंशज ही उत्पन्न

नहीं होगा?...या तुम कहोगे, नियुक्त पुरुष के सम्बन्ध में भी उनकी सम्मति ली जाये, ताकि वे चाहें तो अपने पूर्व-प्रेमियों को आमन्त्रित कर अपनी जारज सन्तान को हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बैठा कर उसे दूषित करें..."

"नहीं माता!" सत्यवती का यह उन्माद और उसके स्वर का तिरस्कार भीष्म को चुभ रहा था, किन्तु दोनों रानियों का यश भी विचारणीय है–इस तथ्य की वे उपेक्षा नहीं कर पा रहे थे, "कम से कम सन्तान की कामना तो उनके मन में हो। नियुक्त पुरुष को वे धर्म की इच्छा के रूप में तो स्वीकार कर सकें।"

सत्यवती का सुन्दर चेहरा, आवेश विकृत हो उठा, "जब तुमने उनका हरण किया था, तो तुमने उनकी इच्छा जानने का प्रयत्न किया था?"

भीष्म दुख-मिश्रित आश्चर्य से सत्यवती को देखते रहे। कटुता का एक ज्वार उनके भीतर भी उठा; किन्तु यह कोई अवसर नहीं था, कटु होने का। उन्होंने बार-बार देखा था कि तनिक-सी भी असुविधा अथवा इच्छा के प्रतिकूल कुछ होने पर, सत्यवती औचित्य और मर्यादा की सारी सीमाएँ लाँघ जाती थी। उस समय कदाचित उसका एकमात्र लक्ष्य होता था, कि वह सामने खड़े व्यक्ति को कठोर-से-कठोर, मार्मिक आघात पहुँचाए; इतना कि वह पीड़ा से बिलबिला उठे। दूसरा व्यक्ति जितना पीड़ित होगा, सत्यवती को उतना ही संतोष होगा।...आज फिर कुछ वैसा ही अवसर आया था।

"वह आपद्धर्म था माता!"

"तो यह भी आपद्धर्म ही है पुत्र!' सत्यवती और भी कठोर होती गयी, "मुझे पौत्र की आवश्यकता है; और उसे विचित्रवीर्य की रानियाँ ही जन्म दे सकती हैं। यह उन्हें करना ही होगा।"

भीष्म को लगा...ठीक ही तो कह रही हैं माता! एक परम्परा और एक समाज की आवश्यकता के सामने एक व्यक्ति की इच्छा का महत्त्व ही क्या है! हरण, भीष्म की इच्छा नहीं, कुरु-कुल की आवश्यकता थी। उसमें भीष्म का अपना कोई स्वार्थ नहीं था।...आज भी भरत वंश की अनेक व्यतीत पीढ़ियाँ कदाचित उनकी ओर टकटकी लगाए खड़ी है, अनागत-अजन्मे वंशज अपेक्षा-भरी दृष्टि से उन्हें निहार रहे हैं। माता सत्यवती की इच्छा है–

तो फिर भीष्म का धर्म क्या है?

"ठीक है माता!" अन्तत: भीष्म का स्वर सहज हो गया, "आप रानियों की इच्छा न पूछें। किसी सदाचारी, कुलीन, ब्राह्मण को नियुक्त कर दें।"

सत्यवती के आवेश का ज्वार भी कुछ उतरा; किन्तु उसका गर्जन-तर्जन अभी शेष था। वह नहीं जानती थी कि भीष्म उसके प्रस्ताव का समर्थन करेगा या नहीं! कहीं ऐसा न हो कि द्वैपायन का नाम सुनते ही, भीष्म बिदक जाये। ...कहीं उसे न लगे कि सत्यवती अपना नया राजवंश स्थापित कर रही है। भीष्म को परख लेना, अच्छी तरह पक्का कर लेना आवश्यक था।

"नहीं! ब्राह्मण नहीं।"

"तो?"

"तुम नियोग करो।"

"माता!" भीष्म को लगा, सहज उत्तेजना से उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया, "असंभव को संभव करने का सामर्थ्य मुझमें नहीं है।...और वह आप में भी नहीं है।"

"मैं तुम्हें प्रतिज्ञा से मुक्त करती हूँ।"

"उसका अधिकार आपको नहीं है।"

"मैं तुम्हें आदेश दे रही हूँ।"

भीष्म ने क्रुद्ध आहत सिंह के समान सत्यवती को देखा, "गुरु परशुराम ने अम्बा को अंगीकार करने का आदेश मुझे दिया था। उसका परिणाम भी आपने देखा था।"

"मेरी आज्ञा का उल्लंघन करोगे?"

"नहीं! मात्र आपकी पूर्व आज्ञा का ही पालन करता जाऊँगा।"

"पुत्र-धर्म का निर्वाह नहीं करोगे?"

धर्म–भीष्म मन-ही-मन मुस्कुराये–व्यक्ति का धर्म...पुत्र का धर्म...शिष्य का धर्म...राजकुमार का धर्म...और मनुष्य का धर्म...संसार में बहुत से धर्म हैं माता। क्यों जन्म लिया है मनुष्य ने? प्रकृति ने कैसे-कैसे प्रलोभन उत्पन्न किये हैं, मनुष्य के लिए; कैसे-कैसे आकर्षण...और कैसी-कैसी दुर्बलताएँ...

और तभी भीष्म को लगा, उसके मन में कहीं बहुत गहरे, माता गंगा का स्वर गूँज रहा है, 'यह सब मृग-मरीचिका है देवव्रत!...किसी भी कुतर्क में बँध कर इस दौड़ में सम्मिलित मत होना।'

एक ओर माता सत्यवती का आदेश था, और दूसरी ओर माता गंगा का…

वे मुस्कुरा कर बोले, "धर्म की गति अत्यन्त सूक्ष्म है माता।"

किन्तु सत्यवती का ध्यान, धर्म की गति की ओर नहीं था। कामना के तीव्र थपेड़े, उसकी समस्त प्रवृत्तियों को एक ही ओर बहाए लिए जा रहे थे, "भीष्म! यदि तुम नियोग नहीं करोगे, तो जो मनुष्य मैं नियुक्त करूँगी, उसे स्वीकार करना पड़ेगा। करोगे?"

"अवश्य माता!"

"कुरु-प्रमुखों ने विरोध किया, भरत-वंशी राजाओं ने अस्वीकार किया, पुरोहितों ने आपत्ति की, मन्त्रियों ने विघ्न खड़े किये…तो भी तुम मेरा समर्थन करोगे?"

"करूँगा माता!"

"तो मैं नियुक्त करती हूँ, महामुनि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास को…!"

"वेदव्यास! पराशर-पुत्र वेदव्यास!" भीष्म अचकचाए-से खड़े सत्यवती को देखते रहे; "वे इस निमन्त्रण को स्वीकार कर लेंगे?"

"हाँ!"

"आप इतने विश्वास के साथ कैसे कह सकती हैं माता?"

"तुम्हें तो कोई आपत्ति नहीं है न?"

"नहीं! वे स्वीकर करें, तो मुझे क्या आपत्ति है।"

"वे अस्वीकार नहीं करेंगे!"

"आप इतनी आश्वस्त कैसे हैं?"

सत्यवती ने भीष्म की आँखों में देखा, जैसे झाँक कर उनके मन को पहचान लेना चाहती हो।…और फिर उसने अपने मन से पूछा, 'बता दूँ!'

मन ने मना नहीं किया।

"पुत्र!" सत्यवती बोली, "अपना एक गोपन रहस्य तुम्हें बताने जा रही हूँ।"

भीष्म अनुमान लगाते-से लगे: कैसा रहस्य?...और बात वेदव्यास से माता सत्यवती के रहस्य पर कैसे चली गयी।

"तुम्हारी दृष्टि में मेरा सम्मान तो कम नहीं होगा?"

"पुत्र की दृष्टि में माता का सम्मान कभी कम नहीं होता।"

सत्यवती के मन में लहर उठी: एक बार अपने इस पुत्र को वक्ष से लगा ही ले।…किन्तु उसने स्वयं को सँभाला। भावुकता में वह अपना और अपनी अगली पीढ़ियों का भविष्य नष्ट नहीं कर सकती।

"भीष्म! उस पराशर-पुत्र की माँ, मैं ही हूँ। वह मेरा कानीन पुत्र है।"

भीष्म के चेहरे पर विस्मय था; और सहसा वह विस्मय प्रसन्नता में बदल गया, "वेदव्यास तो मेरे भाई हुए।"

"हाँ पुत्र! मेरे सम्बन्ध से वह तुम्हारा भाई ही है।"

"तो फिर वही नियोग करे।" भीष्म बोले।

"उसे आमन्त्रित करो। वह आयेगा।"

महामुनि कृष्ण द्वैपावन व्यास ने कक्ष में प्रवेश किया तो सत्यवती की आँखें उत्सुकता, लालसा और ममता लिए हुए बड़ी व्यग्रता से उठीं; किन्तु अगले ही क्षण पुत्र पर दृष्टि पड़ने से पूर्व ही जैसे महामुनि के तेज से या अपने अपराध-बोध से उसकी आँखें झुक गयीं…यह सत्यवती का वह पुत्र था, जिसे वह उत्पन्न होते ही, पिता की गोद में फेंक आयी थी। उसे सत्यवती ने जन्म अवश्य दिया था, किन्तु माता बन कर उसके पालन-पोषण…

वेदव्यास ने अपने कमण्डल से जल ले कर छिड़का, "राजमाता! तुम्हारा कल्याण हो।"

सत्यवती द्वन्द्व में बँधी खड़ी थी: वह आगे बढ़ कर पुत्र के समान महामुनि को अपने अंक में भर ले या महामुनि का सम्मान देते हुए उन्हें प्रणाम करे!...

उसने दृष्टि उठा कर देखा: श्याम वर्ण का शीतघाम में तपा हुआ एक लम्बा शरीर, उसके सम्मुख खड़ा था। जटाएँ पिंगल वर्ण की, दाढ़ी-मूँछ लम्बी। कहीं-कहीं केशों में सफेदी। वल्कल वस्त्र धारी, प्रौढ़-सा लगने वाला यह सन्यासी, उसका अपना पुत्र था?...सत्यवती का मन जैसे साक्षी नहीं दे रहा था। उसकी आँखों में तो वह नन्हा-सा कृष्ण बसा था, जो अनायास ही उच्च स्वर में रो उठा था।…

लेकिन अब तक वह सुनती आयी थी कि पराशर-पुत्र महामुनि हो गया है…और यही वह महामुनि है। तो यही उसका पुत्र भी होगा…और सहसा उस जटाजूट वाली मुखाकृति में से बहुत कुछ जैसे कट-छँट गया, कुछ पिघल गया, कुछ विलीन हो गया…सत्यवती को लगा, और कुछ वही हो या न हो, किन्तु ये आँखें और अधर उसी के कृष्ण द्वैपायन के ही थे…बड़ी-बड़ी, सोई-सोई-सी आँखें 'ॐ' का उच्चार करते-से अधर…

"महामुनि। आसन ग्रहण करें।" अन्ततः सत्यवती ने कहा।

व्यास बैठ गये।

सत्यवती ने संकेत किया। दासियाँ बाहर चली गयीं। कक्ष में पूर्ण एकान्त था।

"महामुनि!" अपनी बात कहने के लिए सत्यवती को अपने सम्पूर्ण आत्मबल का आश्रय लेना पड़ रहा था, "क्या महर्षि पराशर ने आपको, आपकी माँ का भी परिचय दिया था?"

"हाँ माता!" व्यास मुस्कुराये, "समाज नहीं जानता, किन्तु मैं जानता हूँ कि मेरी माता आप है। इसलिए आपका संदेश मिलते ही तत्काल चला आया। पिता का विचार था कि इस तथ्य के प्रचार से आपका अलाभ होगा। इसलिए इस तथ्य को यथासम्भव गोपन ही रखा गया है।"

"तो वत्स! तो फिर मुझे माँ के समान प्यार भी कर लेने दो।" सत्यवती ने पास आ कर, व्यास का मुख अपनी हथेलियों में लिया; उनकी आँखों में देखा, उनकी जटाओं पर हाथ फेरा और उन्हें वक्ष से लगा लिया।

कितना समय बीत गया था, इस पुत्र को अंक में भरे हुए।…

इस बीच उसके केश शुष्क और रुखड़े हो गये थे। उसकी त्वचा चिक्कण नहीं रह गयी थी। माथे पर चिन्तन और चिन्ता की कितनी ही लकीरें खिंच गयी थीं।

'तापस।' सत्यवती ने जैसे मन-ही-मन पराशर को सम्बोधित किया, 'कैसे पाला है, तुमने मेरा यह पुत्र? चित्रांगद और विचित्रवीर्य अब रहे नहीं, नहीं तो तुम्हें मैं दिखाती–कैसे थे उनके केश, कैसी थी उनकी त्वचा, और कैसा था उनका वर्ण…देखने से ही राजकुमार लगते थे।…पर तुम्हें उनसे क्या…वे तुम्हारे पुत्र नहीं थे…पर मेरे तो ये तीनों ही पुत्र हैं…।'

"पुत्र! पिता ने तुम्हें क्या बहुत कठोरता से पाला था?"

व्यास हँसे, "माँ! कोमल रह कर तपस्या नहीं होती।"

"तुमने कभी मुझे भी स्मरण किया पुत्र?"

"शैशव में बहुत याद करता था माँ!…जब दूसरे बालकों को अपनी माताओं के साथ देखता था।"

"फिर?"

"फिर माता प्रकृति को पहचानने लगा…"

'ठीक पराशर वाली बातें।' सत्यवती ने सोचा।

"…और उसके पश्चात माता सरस्वती से परियच हो गया।"

"तुमने मुझे बहुत कोसा होगा पुत्र! सोचा होगा, कैसी कठोर थी मैं, जो तुम्हें त्याग कर चली आयी।" सत्यवती बोली।

व्यास मुस्कुराये, "नहीं माँ! एक बार भी ऐसा नहीं सोचा।"

"तुम्हें मुझसे प्रेम है?"

"पुत्र अपनी माँ से प्रेम नहीं करेगा क्या?"

"तो फिर मैंने जो तुम्हें वंचित किया, उसके लिए तुमने मुझे भला-बुरा क्यों नहीं कहा?"

"तुमने मेरी प्रत्येक आवश्यकता पूरी की है माँ! वंचना कैसी?"

"मैंने?"

"हाँ! तुमने मुझे गर्भ में रखा। जन्म दिया। और फिर पालन-पोषण और विद्याभ्यास के लिए पिता को सौंप दिया। इससे अधिक प्रेम, मोह का दूसरा नाम है। वंचना का प्रश्न ही कहाँ है।"

सत्यवती की आँखों में आँसू आ गये, "यह सब तुम्हारे पिता के विचार हैं, या तुम स्वयं भी ऐसा ही सोचते हो?"

"पिता ने मुझे यह सिखाया है; और मेरे अनुभव ने उसे पुष्ट किया है।"

सत्यवती ने मन-ही-मन पराशर को नमस्कार किया, 'तापस! कैसे पालन किया है, तुमने मेरे पुत्र का। मैं तो अपने राज-लोभ में उसे छोड़ आयी; और तुमने उसके मन में मेरी छवि अंकित की...धन्य हो तुम तपस्वी! तुम महान हो।'

"कितने दिन हस्तिनापुर में ठहरोगे पुत्र?"

"अकस्मात चला आया हूँ, इसलिए अधिक दिन नहीं रुकूँगा। तुम अपनी मनोवांछा कहो माँ!" व्यास का स्वर बहुत शान्त था, "सन्यासी को वैसे भी सांसारिक भोग के स्थानों से दूर ही रहना चाहिए; और राजप्रासाद तो भोग के केन्द्र हैं माँ! यह स्थान मेरे लिए नहीं है; और मैं ऐसे स्थानों के लिए नहीं हूँ।"

बहुत प्रयत्न करने पर भी, सत्यवती अपने मन में उठती, पराशर के प्रति परिवाद की भावना का दमन नहीं कर पायी, 'ऐसे पाला है, तुमने मेरे पुत्र को कि वह मेरे योग्य न रहे, और मैं उसके योग्य न रहूँ।'

"राजप्रासाद में क्या दोष है पुत्र?"

"दोष तो किसी भी वस्तु अथवा स्थान में नहीं है माँ!" वेदव्यास उस प्रश्न से तनिक भी विचलित नहीं हुए थे, "किन्तु प्रत्येक वस्तु और स्थान का अपना गुण होता है। राज-वैभव, रजोगुणी भोग का प्रतीक है। उसके सामीप्य से मनुष्य का मस्तिष्क रजोगुणी हो जाता है। मेरे जीवन का, मेरी साधना और तपस्या का लक्ष्य, रजोगुण नहीं है माँ! मैं सत्त्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हूँ। यहाँ रह कर मैं अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर नहीं हो पाऊँगा।...व्यक्ति को अपना लक्ष्य निश्चित करना पड़ता है, अपनी प्रकृति को समझना पड़ता है। उसी के अनुरूप कोई गणिका के आवास की ओर बढ़ता है और कोई मन्दिर के द्वार की ओर।" व्यास ने रुक कर माँ की ओर देखा, "व्यक्ति जिसे अखाद्य मान ले, उसे अपनी थाली में परोस कर उसको एकटक देखता नहीं रहता।"

'ठीक कहते हो पुत्र!' सत्यवती मन-ही-मन बोली, 'हमने भी अपना-अपना लक्ष्य ही निश्चित किया था; तभी तो मैं हस्तिनापुर के राजप्रासाद में चली आयी और तुम्हारे पिता, उस द्वीप के अपने कुटीर में।'

"अपना अभिप्राय कहो माँ!"

"पुत्र!" सत्यवती का स्वर कुछ भारी हो आया, "चित्रांगद पहले ही चला गया था, अब विचित्रवीर्य भी नहीं रहा। भीष्म अपनी प्रतिज्ञा के कारण न राज-काज करेगा, न विवाह! शान्तनु के वंश का कोई उत्तराधिकारी नहीं है, और न हस्तिनापुर का राजा। मेरी इच्छा है कि विचित्रवीर्य की रानियों से सन्तान उत्पन्न करने के लिए मैं तुम्हें नियुक्त करूँ..."

सत्यवती रुक गयी और व्यास कुछ नहीं बोले।

"मेरी दोनों पुत्र-बधुएँ सुन्दर भी हैं और युवा भी।..."

"इन गुणों का मेरे लिए कोई अर्थ नहीं है माँ!" व्यास बोले, "ये गुण केवल मन के काम को उद्वेलित और आकर्षित करते हैं। मेरे भीतर अब काम नहीं, मात्र धर्म है। धर्म, नारी के रूप और यौवन से, न तो आन्दोलित होता है, न आकर्षित!"

सत्यवती का मन कुछ खिन्न-सा हो गया; समझ नहीं पायी कि पुत्र की इस उपलब्धि पर प्रसन्न हो, अथवा

नारी-सौन्दर्य की इस अवहेलना पर शोक करे। सोचा, कहे, 'पुत्र! यदि तुम्हारे पिता भी इसी प्रकार काम को जीत चुके होते, तो क्यों वे मुझसे आसक्त होते; और क्यों तुम्हारा जन्म होता।'...पर यह सब कहा नहीं; बोली, "तुम्हारा धर्म क्या कहता है पुत्र?"

"इस वंश और राज्य को इस विकट स्थिति से निकालने में, मैं धर्म-सम्मत सहायता करूँ।" व्यास बोले, "किन्तु माँ! मेरे मन में राग नहीं है। वे मेरे भाई की रानियाँ न होतीं, तुम इस वंश की राजमाता न होतीं, तो भी मेरा धर्म यही कहता।"

सत्यवती को पुत्र की यह तटस्था प्रिय नहीं लगी। पूछा, "तो?"

"बड़ी रानी एक वर्ष तक संयम से रह, साधना कर, पवित्र हो, धर्मपूर्वक आचरण करे...।"

"कृष्ण!" सत्यवती ने जैसे प्रेम, आग्रह और अनुरोध, एक सम्बोधन में उँड़ेल दिये, "हम इतनी प्रतीक्षा नहीं कर सकते पुत्र! सिंहासन दीर्घकाल तक रिक्त नहीं रह सकता।"

व्यास कुछ चिन्तन करते रहे, फिर बोले, "अच्छा माँ! बड़ी रानी जब ऋतु स्नान कर ले, तो मुझे सूचित करना। वे कामेच्छा से नहीं, धर्मत: सन्तान की इच्छा से अपने शयन-कक्ष में मेरी प्रतीक्षा करें। मैं अपरूप बना कर आऊँगा। मेरे मन में काम नहीं, धर्म होगा। वह मेरे अपरूप को देख कर विचलित न हो। मुझे निमित्त मान वह ईश्वर से सन्तान की कामना करे।...भरत-वंश, निर्वंश नहीं होगा माँ।"

व्यास उठ खड़े हुए।

"तत्काल जाओगे पुत्र?"

"हाँ माँ! मेरा जीवन, तपस्या और धर्म के लिए है; राग के लिए उसमें कोई स्थान नहीं है।"

"जैसी तुम्हारी इच्छा!" सत्यवती मन में कुलबुलाता एक प्रश्न रोक नहीं सकी, "विवाह कर लिया है पुत्र?"

"हाँ माता! महाअथर्वण जाबालि की पुत्री वाटिका मेरी पत्नी है; और एक छोटा-सा पुत्र भी है शुक्र!"

व्यास चले गये; और सत्यवती पछाड़ खा कर पलंग पर आ गिरी, "कैसी लीला है, तुम्हारी विधाता! मेरे जिन पुत्रों ने भोग माँगा था, उन्हें तुमने आयु नहीं दी; और जिसे आयु दी, उसके जीवन में भोग के लिए कोई अवकाश ही नहीं छोड़ा...।"

33

दर्पण के सम्मुख बैठी अम्बिका ने एक बार अपने रूप को निहारा: उसे लगा, कि वह अब अपने मन के उस अन्धकारपूर्ण काल्पनिक भावनात्मक लोक से बाहर निकल आयी थी। आज उसकी दृष्टि दर्पण में अपने रूप के प्रतिबिम्ब पर पड़ रही थी; और उसका मन एक सिहरन का-सा अनुभव कर रहा था।...वह युवती है और सुन्दरी भी! उसका रूप आज भी पुरुष मन को तरंगायित कर सकता है। उसकी इच्छा हो तो उसके रूप का इन्द्रजाल किसी भी पुरुष के लिए एक मोहक बन्धन बन सकता है। उसका यह रूप अमूल्य निधि है। इसे यत्नपूर्वक सँभाल कर रखना चाहिए...माता सत्यवती के पास भी रूप ही तो था, जिसने पहले, राजा शान्तनु के मन को सम्मोहित किया था, फिर उनके विवेक को दग्ध कर निस्तेज कर दिया। क्रमश: राजा की धर्म-बुद्धि, दायित्व-बोध, वात्सल्य–सब जैसे कोई मादक द्रव्य पी कर सो गये थे। जाग्रत रहा, तो बस सत्यवती का रूप–नारी का रूप मूल्यवान निधि है–विजेताओं का विजेता!

जीवन की इच्छा अम्बिका के भीतर अंगड़ाइयाँ ले-ले कर जाग रही थी। संसार में इतना कुछ है।...सृष्टि ने उन सुखों का सृजन इसलिए तो नहीं किया था कि व्यक्ति उनकी ओर पीठ किये बैठा रहे।...निराशा तो जीवन में कई बार आती है...कौन ऐसा मनुष्य है, जिसके जीवन में कभी निराशा न आयी हो। पर उस निराशा को जीवन की पूँजी के रूप में वक्ष से चिपका कर, तो नहीं बैठ जाना चाहिए। उसे जीवन से बाहर ठेलने का प्रयत्न ही तो मनुष्य का जीवन-संघर्ष है।...निराशा को जीवन से निकाला जायेगा, तो उससे जो शून्य बनेगा, वह रिक्त नहीं रहेगा–आशा आ कर उसमें डेरा डालेगी। आशा तभी टिकेगी, जब कुछ अर्जन होगा।...पर अर्जन तो कोई उपलब्धि नहीं है।

उसका मन जैसे ठिठक गया...उसके तर्क के पग किस ओर उठ रहे थे?...अर्जन की ओर? भोग की ओर?...पर तर्क रुका नहीं। वह जैसे आज बहुत ही संघर्षशील हो रहा था...

अर्जन कोई उपलब्धि नहीं है, पर विसर्जन ही क्या उपलब्धि है? रिक्ति को भरना तो उपलब्धि हो सकती है; किन्तु पूर्ति को रिक्ति में परिवर्तित करना क्या उपलब्धि हुई...और रिक्ति से रिक्त तक जीना भी क्या जीवन हुआ...

पर अम्बिका क्या करती। अब तक तो उसका जीवन, उसके साथ कुछ ऐसी ही क्रीड़ा करता आया था। महाराजकुमार भीष्म ने जब उन तीनों बहनों का हरण किया था, तो वह अम्बालिका के ही समान काँप-काँप उठी थी।...और जब सशस्त्र युद्ध हुआ था, तो उस रक्तपात को देख-देख कर कुछ ऐसी वितृष्णा हुई कि उसने अपनी आँखें बन्द कर ली थीं। ...तभी उसे लगा था कि यह जीवन जीने योग्य नहीं है, जिसकी कामनाओं को पूरा करने के लिए, दूसरों की इच्छाओं का विरोध और दमन ही नहीं करना पड़ता, रक्तपात भी करना पड़ता है। दूसरों के प्राण लेने पड़ते हैं।...पर महाराजकुमार ने किसी के प्राण नहीं लिए–शाल्व के भी नहीं...और तभी अम्बिका को लगा था, भीष्म ऐसे क्रूर नहीं हैं...

काशी से हस्तिनापुर आते-आते, अम्बा के आत्मबल के सहारे, अम्बिका का मन भी कुछ सँभला था। सोचा था, तीनों बहनें इकट्ठी रहेंगी, एक-दूसरे का सुख-दुख देख-सुन लेंगी। किसी प्रकार जीवन काट लेंगी। न सही जीवन का सारा सुख...सुख-ही-सुख जीवन में आज तक मिला ही किसे है...किन्तु भीष्म ने कैसी क्रूरता की। ला कर तीनों-की-तीनों को, विचित्रवीर्य के चरणों में पटक दिया। अम्बा दीदी–जैसा उनका स्वभाव था–अपना पल्ला झाड़ कर पृथक हो गयीं। और अपनी भीरु अम्बालिका के साथ रह गयी अम्बिका।...सम्भव है, अम्बिका को विचित्रवीर्य से ही प्रेम हो जाता। देखने में वह सुदर्शन था, किशोर था; सामाजिक विधान से वह उसका पति था।...पर वह जीवित ही कितने दिन रहा। उसे कामावेश में देख कर अम्बिका को उस पर दया आ जाती थी।...और जैसे-जैसे उसे जाना, अम्बिका को मालूम हुआ...पति के रूप में अम्बिका और अम्बालिका को मिला था, विलास-जर्जर शरीर तथा अहंकार और मद जैसे मानसिक रोगों से ग्रस्त वह पुरुष विचित्रवीर्य!...क्या रह गया था जीवन में!...वह काम-सम्बन्धों के सर्वथा अनुपयुक्त था।...पर शायद राजमाता अपने पुत्र को विवाहित देखना चाहती थीं।...वे शायद पौत्र का मुख भी देखना चाहती थीं...या फिर साम्राज्यों के अधिपति होते ही कामुक और विलासी हैं। विचित्रवीर्य को भोग का अधिकार, अनायास ही मिल भी तो बहुत जल्दी गया था।...उन्हीं दिनों में अम्बिका को लगने लगा था, कि हस्तिनापुर के राजप्रासाद में कुछ नहीं है, मात्र राजमाता सत्यवती की महत्त्वाकांशाओं की क्रीड़ा है। सब लोग उनकी इच्छाओं की

काष्ठ-पुत्तलिकाएँ हैं–महाराजकुमार भीष्म भी।…और राजमाता में अधिकार और स्वामित्व, अर्जन और भोग का भाव बहुत अधिक है…

और तब विचित्रवीर्य का देहान्त हो गया।…मृतक के सारे संस्कार हो गये। राजमाता की ओर से पति के शव के साथ चितारोहण का आदेश उन्हें नहीं मिला।…और अम्बिका ने फिर से जीवन की ओर से अपनी आँखें मूँद ली थीं। …जीवन में रह ही क्या गया था। न आशा, न निराशा, न भोग, न त्याग; न वैभव, न विपदा…जीवन तो जैसे किसी अन्धी गली के अन्त तक आ कर रुक गया था, और उसे वहीं रुके रहना था…

किन्तु आश्चर्यजनक ढंग से राजमाता ने अम्बिका को जीवन की ओर आकृष्ट करना आरम्भ कर दिया। राजमाता ने समझाया कि अम्बिका अभी युवती है, उसके सम्मुख एक लम्बा जीवन है, जीने के लिए। कोई तो व्याज उसे चाहिए जीने का–कोई कर्म, कोई गति-विधि, कोई आशा-अपेक्षा, कोई आस्था…कोई तो केन्द्र उसे चाहिए, जिसके चारों ओर वह कोल्हू के बैल के समान चक्कर लगा कर जीवन का समय पूरा कर सके; कुछ तो ऐसा हो, जिसके आस-पास, अपनी भीतरी ऊर्जा का जाला बुन कर, वह उसमें मकड़े के समान लटक सके।…

अम्बिका स्मरण करती है, तो कितने ही दृश्य उसकी आँखों के सामने घूम जाते हैं।…

राजमाता उसके अँधेरे जीवन में कोई गवाक्ष खोलने का प्रयत्न करने के लिए सिर पटक-पटक कर रह गयीं… पर अम्बिका का मन भी जैसे अन्धकार से चिपट कर रह गया था। उसे लगने लगा था कि यह अन्धकार ही, उसका जीवन था। यदि यह अन्धकार भी उससे छिन गया, तो उसका जीवन भी उससे छिन जायेगा।…न वह अपने रूप की ओर देख पाती थी, न अपने वय की ओर। तो ऐसे में अपने से बाहर निकल कर, अन्य लोगों की ओर क्या देखती।…

उसे लगता था कि उसके अपने भीतर एक बहुत बड़ी गुफा थी–काली और अँधेरी! उसका मन उसी गुफा में भटक रहा था।...उसका हरण... विचित्रवीर्य के साथ विवाह...अम्बा दीदी का संघर्ष...रोगी सम्राट की काम-चेष्टाएँ...सम्राट की मृत्यु...हस्तिनापुर की अनिश्चितता...ये सारी घटनाएँ जैसे ढूहों के समान उसके मन की अँधेरी गुफा में जमी पड़ी थीं, और उसका मन था कि कौए के समान एक ढूह से उड़ता था, तो दूसरे ढूह पर जा बैठता था। दूसरे से उड़ता था, तो तीसरे पर जा बैठता था। उसने कभी सोचा ही नहीं कि इन ढूहों और गुफा के बाहर एक भरा-पूरा संसार है, जहाँ सूर्यास्त के बाद फिर सूर्योदय होता है; अन्धकार के पश्चात फिर प्रकाश आता है; पतझड़ के पश्चात वसन्त होता ही है, और संसार विविध वर्णों के असंख्य सुन्दर पुष्पों से लद जाता है तथा वृक्षों पर स्वादिष्ट फल प्रकट होते हैं...उसने कभी सोचा ही नहीं कि उस काली गुफा के बाहर खुले पर्वत हैं। उन पर्वतों में शीतल जल के स्रोत हैं, सुन्दर प्रपात हैं, उनसे नदियाँ निकलती हैं और इठलाती हुई सहस्रों योजनों तक धरती की पिपासा शान्त करती हैं, उसे जीवन देती हैं...जीवन...

उसने जीवन के विषय में तो सोचा ही नहीं, वह तो बस उस काली गुफा को ही जानती थी...

तब एक दिन राजमाता ने अपने लिए एक पौत्र की कामना प्रकट की थी; पर अम्बिका को क्या लेना-देना था, सत्यवती के पौत्र से...राजमाता को तो अनेक पुत्र चाहिए थे; पुत्रों के लिए राज्य चाहिए था; राज्य का उत्तराधिकारी चाहिए था; उत्तराधिकारी उत्पन्न करने के लिए राजकुमारियाँ चाहिए थीं; राजकुमारियों के हरण के लिए भीष्म चाहिए थे; भीष्म को बाँध रखने के लिए वचन चाहिए था; वचन के परिणामस्वरूप दास चाहिए थे...सब ओर दास-ही-दास, आज्ञापालन करने वाली काष्ठ-पुत्तलिकाएँ...राजमाता ने कभी नहीं सोचा था कि संसार में कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिनको इन सारे सम्बन्धों और पदार्थों में कोई रुचि नहीं होती...सुखों के इस प्रपंच में, उन्हें कोई रस नहीं आता...ये ही सारे सुख तो भोगे थे विचित्रवीर्य ने। क्या मिला उसे? क्षय रोग!...प्रत्येक व्यक्ति को विधाता द्वारा नियत अपना जीवन जी कर, संसार से विदा हो जाना है। पुत्रों-पौत्रों का क्या करना है किसी को?...

पर राजमाता अगली बार आयीं तो उन्होंने अपने पौत्र की नहीं, अम्बिका के पुत्र की चर्चा की। अम्बिका की चेतना ने उनकी बात को रत्ती-भर भी ग्रहण नहीं किया–जाने क्या कह रही थीं राजमाता! अम्बिका को न सन्तान की कोई इच्छा थी, न उसकी कोई सम्भावना।...

"तुम्हें पुत्र नहीं चाहिए क्या?" राजमाता ने जैसे उसे धिक्कारते हुए कहा, "तुम नारी नहीं हो? तुम्हारे भीतर सृजन की तनिक भी इच्छा नहीं है?"

अम्बिका ने आँखें तो राजमाता की ओर फेरीं; किन्तु वह उन्हें देख नहीं रही थी...वह तो अपने मन की अँधेरी गुफा में प्रश्नों के गुँजलक से उलझी हुई थी। पर वह न भी बोलती, तो राजमाता उसका पिण्ड तो नहीं छोड़ देतीं। बोलना तो उसे पड़ेगा ही...

"किसी को सन्तान की इच्छा होती ही क्यों है–मैं तो यह ही समझ नहीं पाती राजमाता।" अम्बिका धीरे-से बोली, "गर्भ में सन्तान का पोषण, प्रसव, फिर उसका पालन-पोषण, उसकी शिक्षा-दीक्षा...और फिर प्रत्येक क्षण उसके किसी अनिष्ट की आशंका..." उसने सत्यवती को देखा, "क्यों चाहते हैं लोग सन्तान? क्या सुख है उसका?"

सत्यवती इस प्रकार के प्रश्न के लिए शायद प्रस्तुत नहीं थी। उसकी तो दृढ़बद्ध धारणा थी कि सन्तान की इच्छा सबको ही होती है। प्रकृति ने वात्सल्य का भाव प्रत्येक जीव में प्रतिष्ठित किया है। कोई जीव सृष्टि की सृजनेच्छा का विरोध कैसे कर सकता है?...पर उसके सामने बैठी थी अम्बिका...जो न केवल यह कह रही थी कि उसे सन्तान नहीं चाहिए, वरन यह पूछ रही थी कि किसी को भी सन्तान की इच्छा ही क्यों होती है?

थोड़ी देर तक सत्यवती कुछ सोच नहीं पायी; किन्तु अपना पक्ष तो उसे प्रबल रूप से प्रस्तुत करना ही था, "कोई बीज क्यों रोपता है? पौधा क्यों उगता है? हिम-आतप से उसकी रक्षा क्यों करता है? क्या सुख है पौधे से?" उसने अम्बिका को देखा, "उस पर अपना समय और श्रम ही नहीं; धन भी लगाना पड़ता है।"

"मैं भी यही सोचती हूँ," अम्बिका बोली, "क्यों रोपते हैं लोग पौधे? शायद उनका समय नहीं कटता।"

"यही मान लो।" सत्यवती बोली, "तुम भी समय काटने के लिए एक पुत्र उत्पन्न करो।"

अम्बिका ने सत्यवती को देखा, जैसे पुष्टि करना चाहती हो कि सत्यवती अपना मानसिक सन्तुलन तो नहीं खो बैठी।

"मुझे अपना समय काटने में कोई असुविधा नहीं है राजमाता! और दूसरे, उसने सत्यवती को देखा, "आर्यपुत्र के देहावसान के पश्चात अब पुत्र-जन्म की कोई "संभावना है क्या?"

"है।"

"कैसे?"

"नियोग से।"

अम्बिका जैसे आकाश से गिर पड़ी, "मैं आपकी गोशाला की गाय नहीं हूँ। न आपके लिए पौत्र उत्पन्न करने का कोई यन्त्र हूँ।"

"पुत्री!" सत्यवती बहुत कोमलता से बोली, "सन्तान उत्पन्न करने से नारी, न गाय बन जाती है, न यन्त्र! सृजन तो नारी का धर्म है। कौन-सी स्त्री ऐसी है, जो संभव होने पर भी सन्तान को जन्म नहीं देती?"

पर अम्बिका शान्त नहीं हुई, "अपने अनुराग के बन्धन में बँध, किसी पुरुष को अपना प्रिय मानना; उससे विवाह कर आजीवन संग रहने का संकल्प करना...और फिर अपने प्रेम के प्रमाण के रूप में सन्तान उत्पन्न करना, नारी के जीवन का गौरव हो सकता है; किन्तु मात्र सन्तान उत्पन्न करने के लिए किसी अपरिचित पुरुष के साथ सहवास..."

सत्यवती अम्बिका को देखती रही; और मन-ही-मन तौलती रही कि कहे या न कहे।...अन्ततः स्वयं को रोक नहीं पायी। धीर-धीरे एक-एक शब्द को स्पष्ट करते हुए बोली, "कोई अपरिचित पुरुष नहीं आयेगा तुम्हारे पास। तुम्हारे ज्येष्ठ आयेंगे...।"

सत्यवती कह तो गयी, किन्तु उसके पश्चात रुक कर अम्बिका की प्रतिक्रिया देखने का उसका भी साहस नहीं हुआ! वह उठ कर चली गयी...

अम्बिका अकेली हुई तो उसकी उत्तेजना कुछ मंद हुई। सत्यवती के शब्द जैसे वायुमण्डल से लौट-लौट कर उसके कानों से टकराने लगे...'तुम्हारे अपने ज्येष्ठ आयेंगे।...' तो राजमाता ने मात्र उसे परामर्श नहीं दिया है।...उन्होंने सोच लिया है, निश्चय कर लिया है। पुरुष भी नियुक्त कर दिया है।...अम्बिका का प्रतिरोध कब तक चल पायेगा। इस कुल में तो ऐसा सम्भव ही नहीं है कि राजमाता ने एक निर्णय ले लिया हो, और वह कार्यान्वित न हो।...राजमाता की गोद में एक पौत्र तो डालना ही पड़ेगा अम्बिका को–चाहे हँस कर डाले, चाहे रो कर।...अम्बिका इतना तो समझती ही है कि हस्तिनापुर का राजसिंहासन रिक्त नहीं रह सकता...उस पर बैठने वाला जन्म तो लेगा ही...राजमाता की इच्छा, उसे जन्म दे कर ही रहेगी...

सोने के लिए, रात को अम्बिका अपने शयनकक्ष में आयी, तो उसे तत्काल नींद नहीं आयी। उसका ध्यान जाने कहाँ-कहाँ भटकता फिरा...विचित्रवीर्य की छवि उसकी आँखों के सामने आ खड़ी हुई...वह भी सुन्दर था, किन्तु कितना कोमल...नहीं, शायद कोमल नहीं, दुर्बल, निर्वीर्य अशक्त...चेहरे पर रक्त की आभा नहीं, क्षत्रियत्व का तेज

नहीं...आँखों में ज्वाला नहीं, वाणी में मेघों का गर्जन नहीं...और भीष्म!...क्या अवस्था होगी भीष्म की?...सत्यवती के विवाह के समय चौबीस-पच्चीस वर्ष के रहे होंगे। विवाह नहीं हुआ था, तब तक उनका। तब से अब तक बीस वर्ष हुए होंगे...चवालीस-पैंतालीस वर्ष के होंगे अब।...पर कैसे उदासीन हैं, अपनी अवस्था से, अपने रूप से। अपने सुदर्शन रूप को वृद्धों के समान दाढ़ी में ऐसे छिपा लिया है, जैसे रूप का कोई मूल्य ही न हो। अपनी अवस्था से भी दस वर्ष अधिक दिखते हैं।...किन्तु कोई ध्यान से देखे तो, उस सारी असावधानी के पीछे से भी उनका रूप झाँकने लगता है। कैसा तेजस्वी रूप है। वैसा वर्ण तो इस कुरुकुल में और किसी का भी नहीं है...जैसे त्वचा के नीचे कई दीपक प्रकाशित हों। त्वचा से छन-छन कर प्रकाश निकलता है।...वे आँखें। बहुत बड़ी नहीं हैं आँखें, किन्तु कैसी निर्मल और पारदर्शी हैं। कभी स्नेह उँड़ेलती हैं, और कभी रक्षा का आश्वासन देती हैं। ये ही आँखें थीं, जो काशी के स्वयंवर मण्डप में अग्नि-वमन कर रही थीं।...शान्त हो जायें, तो कैसी शीतलता बरसती है उनसे।...अम्बिका का मन कहता है कि अम्बा दीदी का चुनाव ठीक था। शाल्व क्या था भीष्म के सामने–मूषिक! कैसे दहाड़ता हुआ आया था, जैसे सिंह हो। भीष्म के बाणों का सामना क्षण-भर के लिए भी नहीं कर पाया।...और भीष्म ने कैसे उसे जीवन-दान दिया था, 'मैं निरीह हत्याएँ नहीं करता शाल्व! जा, लौट जा।'...क्षत्रियों में और कौन है इतना दयालु और इतना वीर? हाथ आये अपने शत्रु को कौन इस प्रकार जीवित छोड़ देता है? पर भीष्म को जैसे किसी का भय ही नहीं है। शाल्व जीवित रहेगा, तो क्या कर लेगा उनका?...क्यों वे निरीह हत्याएँ करें?...कितनी दया है, उनके मन में।...दया न होती तो अपने पिता को दुखी देख कर ऐसी भीषण प्रतिज्ञाएँ कैसे कर लेते?...यह दया ही तो थी कि पिता को उनकी शेष आयु में भी सुख मिले, भीष्म को चाहे आयु-भर सुख का आभास भी न हो...

पर अपनी वेश-भूषा और रूप के विषय में कितने उदासीन हैं भीष्म! इसी वय में कैसे वृद्ध से दिखने का प्रयत्न कर रहे हैं।...इस कुल में उन्हें वृद्ध का पद तो मिल ही गया है। सिर पर न पिता, न पितामह, न कोई बड़ा भाई...यहाँ तक कि माता भी नहीं, जो माता है भी, वह वय में उन जैसी ही, और बच्चों के समान मचल-मचल कर, एड़ियाँ रगड़-रगड़ कर हर समय कुछ-न-कुछ माँगने वाली...

परिस्थितियों ने वृद्ध बना दिया है भीष्म को।...पर वह अपने रूप की कितनी भी उपेक्षा करें, कितने ही बाबा बनने का प्रयत्न करें...पर क्या इस प्रौढ़ बुद्धि और दृढ़ संकल्प ने उनको और भी आकर्षक नहीं बना दिया है?... क्या नारी अपने पति के रूप में इसलिए अवस्था में अपने से बड़ा पुरुष नहीं चाहती कि उसे पुरुष का किशोर रूप अविवेकी लगता है? नारी कदाचित अपने चेहरे पर परिपक्वता की एक रेखा भी पड़ने देना नहीं चाहती, किन्तु पुरुष की परिपक्वता उसे अच्छी लगती है...

प्रात: भी, रात की अनेक बातें जैसे छिन्न-भिन्न रूप में उसके मस्तिष्क में घूम रही थीं। कुछ देर तक वह उन्हीं के विषय में सोचती रही; और फिर जाने क्या हुआ: वह उठ कर सीधी दर्पण के सम्मुख जा बैठी–'मुझे अपने रूप की रक्षा करनी होगी। मैं भीष्म नहीं हूँ कि संसार से उदासीन हो कर, किसी को आकृष्ट करने की अपनी क्षमता बढ़ा सकूँ...उदासीन पुरुष को आकृष्ट करने में नारी अपनी सफलता मानती है, और उदासीन नारी को पुरुष का कदाचित त्याज्य मान लेता है।'

वह अपने रूप के संदर्भ में सजग हुई तो अपने प्रसाधन के प्रति भी अचेत नहीं रही। वेश-भूषा की रुचि भी सक्रिय हो उठी। अब वह वस्त्रों का भी चुनाव करने लगी थी।...कभी-कभी कक्ष से बाहर वाटिका में भी निकल जाती थी। वाटिका में उसकी दृष्टि अब पुष्पों पर टिकती थी। उनके सौन्दर्य को उसकी आँखें, एकटक निहारती थीं। उनकी सुगन्ध उसके मन को गुदगुदा जाती थी; और अम्बिका के मुख से किसी एक गीत का काई बोल झरने लगता था...

सत्यवती की दृष्टि से कुछ भी छिपा नहीं था। वह अपनी और बीसियों दासियों की आँखों से सब कुछ देख रही थी...उसने अम्बिका के शृंगार के लिए विशेष सैरिन्ध्रियाँ नियुक्त कर दी थीं। प्रसाधन की सामग्री के ढेर लगा दिये गये थे। अम्बिका के मन में इच्छाओं, कामनाओं और आशंकाओं को जगाने के सारे प्रयत्न किये जा रहे थे...

और सहसा अम्बिका के चारों ओर हलचल मच गयी। सारी दासियाँ, परिचारिकाएँ और सैरिन्ध्रियाँ बहुत त्वरित गति से कक्ष से बाहर निकल गयीं। केवल अम्बिका की निजी सेविका मर्यादा ही पास आ कर धीरे-से बोली,

"स्वामिनी! वे आ रहे हैं–नियुक्त पुरुष!"

वह भी भाग गयी।

क्षण-भर में चारों ओर नीरवता और निर्जनता व्याप गयी। ऐसी नीरवता कि अम्बिका को अपने हृदय का स्पन्दन अपने कानों में नगाड़ों के समान सुनायी देने लगा।

और फिर किसी की धीर-गम्भीर पद-चाप सुनायी दी।

अम्बिका ने बिना आँखें उठाये, अपने कानों से पद-चाप को पहचानने का प्रयत्न किया...पद-चाप बड़ी नियमित गति से उसके निकट आ रही थी। उसने कक्ष में प्रवेश किया और थम गयी। क्षण-भर में कपाट बन्द हो गये।

अम्बिका की दृष्टि ऊपर उठने के स्थान पर, संकुचित हो कर और भी नीचे झुक गयी।

पद-चाप उसके पलंग के एकदम निकट आ गयी। अम्बिका के कान व्यग्र हो कर जैसे पँजों के बल उठ खड़े हुए थे।...'शब्द...कोई शब्द...उनका कोई शब्द...'

"देवि!"

नागिन के फन उठाने की-सी गति से, अम्बिका ने अपना मस्तक उठाया। उसके सम्मुख एक लम्बी काया खड़ी थी: घाम-शीत में तपा-पका काला वर्ण। लम्बी, बेढब दाढ़ी, सिर पर जटाएँ...सारे शरीर पर चुपड़ा हुआ घी...

"कौन?" अनायास ही उसके मुख से निकल गया।

"तुम्हारा ज्येष्ठ!" वेदव्यास ने शान्त, तरंग-शून्य स्वर में कहा, "राजमाता का कानीन पुत्र वेदव्यास। तुम नियोग के लिए प्रस्तुत हो देवि?"

अम्बिका का मन हुआ, चीत्कार कर कहे, 'नहीं!' उठ कर खड़ी हो जाये। एक धक्का इस बीभत्स काया को लगाये और भागती हुई कक्ष से बाहर निकल जाये।

पर अगले ही क्षण जाने क्या हुआ। उसका शरीर एकदम शिथिल हो गया। वह बिस्तर पर लेटी नहीं, निर्जीव हो कर गिर पड़ी।

असहायता के ऐसे क्षण उसके जीवन में पहले कभी नहीं आये थे।...अम्बिका ने अपने पुराने अभ्यास के अनुसार आँखें मूँद लीं...उसे पहले ही सोचना चाहिए था कि भीष्म ने स्त्री-संग न करने की प्रतिज्ञा की थी; और वे अपनी प्रतिज्ञा कभी नहीं तोड़ते...

34

सत्यवती व्यास की प्रतीक्षा में थी। जाने से पूर्व वह माँ से मिलने तो आयेगा। इतना शिष्टाचार तो निर्मोही तपस्वी भी निभाते हैं।...

व्यास सचमुच आये।

"विदा लेने आया हूँ माँ!"

सत्यवती की आँखों में आँसू आ गये, "ऐसा क्षण कब आयेगा पुत्र! जब तुम कहोगे, माँ! मैं तुम्हारे पास रहने आया हूँ।"

"ऐसा क्षण कभी नहीं आयेगा माँ!"

"तो हम कभी साथ नहीं रहेंगे? हम माँ-बेटे के भाग्य में क्या वियोग ही लिखा है?" सत्यवती का मन बहुत दुखी था।

"नहीं। ऐसा नहीं है माँ!" व्यास शान्त और स्थिर स्वर में बोले, "हमारे एक साथ रहने की पूरी सम्भावना है; किन्तु हस्तिनापुर के राजप्रासाद में नहीं।"

"तो कहाँ?"

"यमुना के द्वीप में बसे, मुनि कृष्ण द्वैपायन के आश्रम में।"

सत्यवती का मन एकदम हिल्लोलित हो उठा। उसका मन हुआ, कहे, 'यदि उस आश्रम में ही रहना था, तो मैंने अपने तापस को ही क्यों छोड़ा होता...। पुत्र के साथ क्यों, मैं पति के साथ ही आश्रम में रही होती।...'

"तुम्हारा पुत्र अब वयस्क हो गया है माँ!" व्यास बोले, "जैसा भी है, उसका अपना आश्रम है। उस आश्रम में अनेक लोगों का पालन-पोषण होता है।...अत: सम्बन्ध कोई भी हो, तुम्हारा पुत्र किसी राजा का आश्रित हो कर नहीं रह सकता।..."

सत्यवती के मन के भीतर फिर कोई बोला, 'तो पुत्र! तुम्हारी माँ यहाँ महारानी थी। अब राजमाता है। वह किसी की आश्रित हो कर क्यों रहे। वह तुमसे कम समर्थ नहीं है। वह भी सहस्रों लोगों का भरण-पोषण कर सकती है...और तापसों के समान नहीं, राजसी ठाठ से...।'

पर ये शब्द उसकी जिह्वा पर नहीं आये। बोली, "कुछ क्षण रुको कृष्ण! तुम से कुछ बातें करनी हैं।" सत्यवती ने आसन की ओर संकेत किया, "बैठो।"

व्यास बैठ गये।

"सच-सच बताना।" सत्यवती ने आग्रह किया।

"कृष्ण द्वैपायन कभी झूठ नहीं बोलता।"

"टालना भी मत।"

"टालना भी झूठ का ही एक रूप है।"

"अम्बिका ने तुम्हारा स्वागत किया।"

"नहीं। वह किसी और के स्वागत के लिए तत्पर थी, किन्तु अप्रत्याशित रूप में मुझे देख कर वितृष्णा से भर उठी। उसने अपनी आँखें बन्द कर लीं।"

"तो?"

"तुम्हारे प्रयोजन में उसने बाधा नहीं डाली माँ! तुम्हें पौत्र प्राप्त होगा।" व्यास बोले, "किन्तु उसके मन में धर्म नहीं, काम था। मुझे भय है कि तुम्हारा यह पौत्र कहीं कामान्ध न हो।"

सत्यवती कुछ देर तक चुपचाप व्यास को देखती रही, जैसे मन-ही-मन कुछ सोच रही हो। अन्तत: इस विषय को यहीं समाप्त करने का निश्चय कर बोली, "भीष्म से तुम्हारी भेंट हुई?"

"हाँ!"

"उसने तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया?"

"बहुत सौहार्दपूर्ण! अत्यन्त आत्मीय।"

"वह तुम्हें अपना विरोधी तो नहीं मानता?"

"नहीं तो।" व्यास चकित हास के साथ बोले, "हममें विरोध है ही कहाँ।"

"विरोधी न सही, प्रतिस्पर्धी माना?"

"हममें प्रतिस्पर्धा भी नहीं है माँ!" व्यास बोले, "हम एक-दूसरे को कुछ दे ही सकते हैं। एक-दूसरे को वंचित करने का भाव हमारे मन में नहीं है।"

"अपनी माँ से कुछ छिपाओ मत पुत्र।"

"माता! कभी-कभी लोकहित में कुछ बातों पर मौन रह जाना अवश्य पड़ता है; किन्तु झूठ बोलने के अर्थ में छिपाना, मेरी प्रकृति में नहीं है।" व्यास ने उठने का उपक्रम किया, "अच्छा। अब चलूँगा।"

"नहीं। नहीं!!" सत्यवती के स्वर में हल्का-सा चीत्कार था, "अभी नहीं।"

वेदव्यास के लिए सत्यवती का यह चीत्कार आकस्मिक भी था और पीड़ादायक भी। वह रुक गये, "क्या बात है माँ!"

"मेरे मन में पिछले कई वर्षों से कुछ प्रश्न उथल-पुथल मचा रहे हैं पुत्र!" सत्यवती ने व्यास की ओर देखा, "और मेरी विडम्बना यह है कि न तो मैं स्वयं उनका समाधान ढूँढ पायी; और न वे प्रश्न किसी से पूछ पायी।" सत्यवती जैसे साँस ले कर बोली, "चित्रांगद और विचित्रवीर्य अपनी अबोधावस्था में ही संसार छोड़ गये; और कोई मेरा अपना था नहीं। तुम थे तो इतनी दूर...।"

व्यास मुस्कुराये, जैसे कोई वृद्ध किसी शिशु की अटपटी बातों पर हँसता है, "ऐसे भी कौन-से प्रश्न हैं, जिन्हें मेरी माँ आज तक किसी से पूछ ही नहीं पायी?"

"तुम मुस्कुरा रहे हो द्वैपायन!" सत्यवती ने कहा, "पर जब-जब वे प्रश्न मेरे अपने मन के सम्मुख आये, मुझे अपने-आप से भय लगने लगा।"

व्यास कुछ गम्भीर हुए, "वे कैसे प्रश्न हैं मेरी माँ!"

"पुत्र! मेरे प्रति भीष्म की शत्रुता क्या तिरोहित हो गयी?" सत्यवती ने धीरे-से पूछा, "या क्या कभी वह तिरोहित हो पायेगी?"

व्यास ने माँ की ओर देखा, जैसे अपनी आँखों से कोई तरल पदार्थ माँ की आँखों में उँड़ेल रहे हों, "माँ! भीष्म कभी तुम्हारा शत्रु नहीं था।..."

"तो उसने नियोग को अस्वीकार क्यों किया? क्यों तुम्हें नहीं लगता कि वह नहीं चाहता कि विचित्रवीर्य का उत्तराधिकारी जन्म ले?"

व्यास हँसे, "तुम बहुत भोली हो माँ! अपनी आशंकाओं को संसार पर आरोपित कर, उन्हें सत्य मान लेती हो।...भीष्म का यदि विचित्रवीर्य के उत्तराधिकारी से विरोध होता, तो वे मेरा स्वागत क्यों करते?"

"तो उसने अस्वीकार क्यों किया?"

"क्योंकि वे अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा करना चाहते थे।"

"चाहे उससे किसी की हानि हो?" सत्यवती बोली, "जिसकी हानि होगी, वह तो उसे अपना शत्रु मानेगा ही।"

"अपनी हानि और लाभ से शत्रुता और मित्रता को नापना स्वार्थ-जन्म वृत्ति है माँ!" व्यास बोले, "मित्रता भावना से होती है, कर्म से नहीं; और नीति सदा ही शत्रुता और मित्रता से निरपेक्ष होती है।"

"तो भीष्म मेरा शत्रु नहीं है?"

"नहीं।"

"कब से?"

"वे कभी तुम्हारे शत्रु नहीं थे।"

"तो मुझे सदा ऐसा क्यों लगता है?"

"क्योंकि तुम भीष्म की शत्रु हो...।"

सत्यवती की आँखों में विरोध भी था और क्षोभ भी: यह सब उसका अपना पुत्र कह रहा है। जिस पर उसने सबसे अधिक विश्वास किया...पर कृष्ण द्वैपायन उसका अपना पुत्र है–वह जो कुछ कह रहा है, उसमें कोई तथ्य होना चाहिए...

सत्यवती मन-ही-मन जैसे कुछ उलझ गयी; पर साथ ही जैसे बहुत कुछ सुलझ भी गया। पर वह सुलझना उसके लिए कोई सुखद नहीं था। जैसे उस सुलझने को वह अपनी आँखों से ओझल ही रखना चाहती थी, "क्या ये

दोनों एक ही बात नहीं हैं पुत्र! कोई मेरा शत्रु है, तो मैं उसकी शत्रु हूँ; और मैं जिसकी शत्रु हूँ, वह भी मेरा शत्रु है।"

"सामान्य व्यवहार में कदाचित ऐसा ही होता है माँ!" व्यास बोले, "किन्तु भीष्म जैसे लोगों के संदर्भ में, यह सच नहीं है। शत्रुता का विष तुम्हारे मन में था, इसलिए उसका कष्ट तुम ही पा रही थीं माँ। भीष्म के मन में तुम्हारी शत्रुता का विष कभी प्रतिबिम्बित नहीं हुआ। इसलिए भीष्म न कभी तुम्हारे शत्रु बने; और न कभी उन्होंने तुमसे शत्रुता पालने का कष्ट पाया।"

सत्यवती चुपचाप मुखर आँखों से पुत्र को देखती रही। उसकी स्थिति विचित्र थी। उसकी बुद्धि, कृष्ण द्वैपायन का तर्क स्वीकार कर रही थी, पर उसका मन उस तथ्य को ग्रहण नहीं कर पा रहा था।

"पर पुत्र! मैं भीष्म की शत्रु क्यों थी? भीष्म ने मेरा कुछ नहीं छीना था। मैंने भीष्म का राज्य छीना था; भीष्म को मेरा शत्रु होना ही चाहिए था।..."

व्यास मुस्कुराये, "तुम यह समझती रहीं कि तुमने भीष्म का राज्य छीना, इसलिए तुम्हारे मन में अपराध-बोध था। यही अपराध-बोध निरन्तर इस आशंका में बदल रहा था कि भीष्म अपना छिना हुआ राज्य पुन: प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे। अत: वे तुम्हारे शत्रु बन जायेंगे। तुम अपनी शत्रुता भीष्म के मन में प्रतिबिम्बित देखती रहीं।..."

"पर भीष्म मेरा शत्रु क्यों नहीं था?" सत्यवती आश्चर्य से बोली, "मैंने उसका राज्य छीना था।"

"भीष्म यह नहीं मानते कि उनका राज्य छीना गया।" व्यास शान्त भाव से बोले, "वे यह मानते हैं कि उन्होंने अपना राज्य स्वयं त्याग दिया है।"

सत्यवती देख रही थी, उसका पुत्र कृष्ण द्वैपायन, भीष्म की चर्चा आदरपूर्वक कर रहा था, "पर उसे राज्य त्यागने के लिए बाध्य किसने किया?"

"भीष्म मानते हैं कि ग्रहण और त्याग, किसी के बाध्य करने से नहीं, अपनी इच्छा से किया जाता है।"

"अपनी इच्छा से कोई राज्य क्यों त्यागेगा?"

"क्योंकि राज्य उनके लिए अनावश्यक था।" व्यास बोले, "अनावश्यक के त्याग से व्यक्ति हल्का हो जाता है।"

"क्या वह यह कहता है?" सत्यवती ने पूछा और फिर जैसे उत्तर की आवश्यकता उसे नहीं रही, "यदि वह ऐसा कहता है, तो झूठ बोलता है। ऐसा कौन व्यक्ति है, जिसे राज्य की आवश्यकता नहीं है?"

"मुझे आवश्यकता नहीं है।" व्यास मुस्कुराये, "क्या तुम्हें मेरा विश्वास नहीं है, माँ?"

"तुम पराशर के पुत्र हो।" सत्यवती ने कहा, "भीष्म शान्तनु का बेटा है।"

"कभी-कभी कोई कृष्ण द्वैपायन, राजा शान्तनु के घर भी जन्म ले लेता है।" व्यास पूरी गम्भीरता से बोले, "तुम तो भीष्म के राज्य-त्याग का निमित्त मात्र बनीं माँ! नहीं तो वे किसी और व्याज से यह त्याग कर देते।...इसलिए उनके मन में तुम्हारे विरुद्ध कुछ नहीं है। तुम आज तक अपने ही कलुष से जलीं माँ! भीष्म ने तुम्हें कभी नहीं तपाया।"

"मुझे विश्वास नहीं होता पुत्र!" सत्यवती बोली, "ऐसा त्याग क्या मानव के लिए संभव है।?"

"विवेकी व्यक्तियों के लिए, अपने सुख के निमित्त कोई भी त्याग साधारण बात है।"

"तुम अत्यन्त बुद्धिमान हो पुत्र! तुम्हारी बात में मुझे संदेह नहीं करना चाहिए।" सत्यवती बोली, "किन्तु मेरा मन आज भी यही कहता है कि ग्रहण का नाम सुख है; त्याग का दुख। अर्जन से लोग सुखी होते हैं, विसर्जन से दुखी।...राज्य-त्याग से भीष्म को दुखी होना ही चाहिए था।"

व्यास माँ को देखते रहे, जैसे कोई युक्ति सोच रहे हों, जो माँ की समझ में आ सके।...सहसा उन्होंने पूछा, "अपने विवाह से पहले, जब तुम अपने बाबा के घर में थीं माँ! तो क्या तुम सुखी थीं?"

"हाँ पुत्र! तब मैं अत्यन्त सुखी थी।"

"जब तुम्हारे पास प्रासाद नहीं थे; रथ नहीं थे; दास-दासियाँ नहीं थीं; स्वर्ण नहीं था, मणि-माणिक्य नहीं थे; सत्ता और शासन नहीं था; सेना और महारथी नहीं थे। तो भी तुम सुखी थीं माँ?"

"हाँ पुत्र! तब भी मैं सुखी थी।"

"और जब तुम कुरु साम्राज्य की महारानी बन कर हस्तिनापुर आयीं, तो तुम सुखी थीं माँ?"

सत्यवती ने तत्काल उत्तर नहीं दिया। वह कुछ सोचती रही।

"भली प्रकार सोच लो।"

“मुझे लगता है कि मैं हस्तिनापुर में एक दिन भी सुखी नहीं रही।” सत्यवती बोली, “वंचित और अपमानित होने का भय। विरोध, अनिष्ट और शत्रुता के भाव...।”

“तब तुम महारानी थीं। कुरु साम्राज्य तुम्हारा था। तुम्हारे एक संकेत पर सहस्रों लोगों के रुण्ड से मुण्ड अलग हो सकते थे; राजा कंगाल हो सकते थे, पथ के भिखारी किरीटधारी हो सकते थे।...तब भी तुम सुखी नहीं थी माँ?”

“नहीं पुत्र! तब भी मैं सुखी नहीं थी।”

“तो माँ। मन में धारण करो कि धन, सत्ता और शक्ति में सुख नहीं है।”

“तो लोग धन, सत्ता और शक्ति क्यों चाहते हैं पुत्र?”

“वह एक मद है, जो रक्त को उफ़नाता है। उससे उत्तेजना का अनुभव होता है। वह सुख नहीं है। सुख का भ्रम उससे अवश्य उत्पन्न होता है। उत्तेजना अपने-आप में कष्ट है। उसके अवसान की आशंका भय है।...और उसका अवसान पीड़ा है।”

“तो मुझे सुख कैसे मिलेगा पुत्र?”

“तुम हस्तिनापुर न आतीं, पराशर की कुटिया में जातीं, तो ही सुखी होतीं।” व्यास मुस्कुराये, “अब तुम मेरे साथ चलो। इस उत्तेजना से दूर हो, अपने स्नायुतन्त्र को कुछ शान्ति दो।”

“पर यह सब छोड़ा भी तो नहीं जाता।”

“कोई मद सरलता से नहीं छोड़ा जाता।” व्यास बोले, “यह बन्धन इतनी सुविधा से तोड़ा जाता, तो प्रत्येक व्यक्ति तोड़ देता।”

“तुम ठीक कहते हो पुत्र।” सत्यवती ने अपने गवाक्ष से मानो सारे हस्तिनापुर पर दृष्टि डाली, “मेरे पौत्र-प्रपौत्र...उनका पालन-पोषण, उनकी रक्षा, उनका राज्य, उनका धन...किसे सौंप दूँ यह सब?”

“भीष्म को।”

“भीष्म को ही सौंपना होता, तो उससे छीनती ही क्यों पुत्र?”

“तो तुम्हारे मोह के बन्धन टूटने का समय अभी नहीं आया माँ!” व्यास बोले, “कुछ और वंचित हो लो, कुछ और यातनाएँ सह लो...।”

“मैं बन्धनों की नहीं, सुख की बात कर रही हूँ पुत्र!”

“बद्धजीव कभी सुखी नहीं हो सकता माँ!” व्यास बोले, “जब तक तुम अपने बन्धनों को पहचानोगी नहीं, उन्हें अपने दुखों का कारण नहीं मानोगी, उन्हें तोड़ने का संकल्प नहीं करोगी...तब तक भीष्म तुम्हें अपने शत्रु दिखायी पड़ेंगे।...और तुम सुखी नहीं हो सकोगी माँ!”

“पुत्र! अपनी माँ को शाप मत दो।”

“यह शाप नहीं, मात्र तथ्य-कथन है मेरी माँ”

35

अम्बिका ने ज़ोर से अपना मस्तक झटका; किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। उसे लगा, उसके मस्तक की शिराएँ फट जायेंगी।...तो फिर फट ही जायें।...

उसने अपनी आँखें मूँद लीं!...जो होना है, सो हो। सृष्टि उसके वश में तो है नहीं, कि उसकी इच्छा के बाहर कुछ न हो...

आज तक कभी कुछ उसकी इच्छा के अनुकूल हुआ है क्या?...भीष्म के द्वारा हरी गयी, विचित्रवीर्य को सौंपी गयी...विजय के फलस्वरूप प्राप्त निर्जीव पदार्थ।...कोई उसे सजीव, संवेदनशील प्राणी नहीं मानता; और वह स्वयं को निर्जीव पदार्थ मान नहीं पायी।...इतना कुछ होने के बाद भी नहीं। आज भी नहीं।...वह पदार्थ नहीं है। मनुष्य है, नारी है...और राजकुमारी है। पर अपहरण भी तो राजकुमारियों के ही होते हैं।...अभिशाप है, राजकुमारी होना भी!

अम्बिका बहुत सोचती है।...और कोई काम भी तो नहीं है उसको। बैठी-बैठी थक जाती है, तो लेट जाती है; और लेटी-लेटी थक जाती है, तो बैठ जाती है।...और बैठी हो या लेटी हो, वह सोचती ही रहती है: कभी अपने विषय में, कभी राजमाता के विषय में...। उसके विचार जाने कहाँ-कहाँ भटकते रहते हैं, जैसे विचार न हों–आकाश पर फैले मेघ-खण्ड हों, जो पवन के झकोरों के साथ, कहीं-से-कहीं उड़ जाते हैं...

अपने विषय में सोचती है, तो कभी-कभी नारी होने के विषय में भी सोचती है...क्या नारी होना ही अपने-आपमें असमर्थता का पर्याय है? क्या पराधीन होना, शोषित होना, कष्ट सहना और चुप रहना–यही नारी की नियति है?...पर अम्बा भी तो नारी है। वह कहीं चुप नहीं रही। उसने बहुत स्पष्ट रूप में अपनी बात कही और अपनी मनमानी की...सफल वह भी नहीं हुई...पर सफल तो प्रत्येक पुरुष भी नहीं होता...क्या भीष्म सफल हैं? वे तो समर्थ पुरुष हैं...पर क्या वे सत्यवती के दास हो कर नहीं रह गये हैं?...

सत्यवती! राजमाता सत्यवती!...पहले अम्बिका उसके विषय में नहीं जानती थी, किन्तु राजमाता के कानीन पुत्र वेदव्यास को जान कर वह राजमाता के विषय में और भी बहुत कुछ जान गयी है...और वह सब जानने के पश्चात अम्बिका समझ नहीं पाती कि वह सत्यवती को क्या कहे।...कभी वह उसे राजशक्ति द्वारा, अपने प्रेमी के आलिंगन से बलात घसीट कर लायी गयी वंचिता नारी लगती है...और कभी राज-भोग की लिप्सा में रत, अपने नैसर्गिक प्रेमी को तिरस्कृत कर, वैभव के आलिंगन में स्वेच्छा से बँधने वाली लोलुप स्त्री।...

वैभव के आलिंगन में बँधने से पहले अपना भविष्य सुरक्षित करना चाहा था सत्यवती ने...या राजशक्ति से आंतकित हो, अपने प्रेमी को त्यागने का मूल्य माँगा था उसने?...सत्यवती के पिता ने जब अपनी आशंकाओं के फंदे में, भीष्म का दम घोंटना चाहा था, तो वह बूढ़ा निषाद नहीं जानता था कि वह अपनी पोषिता पुत्री के लिए रक्षा-कवच नहीं, काशिराज की कन्याओं के लिए यम-फाँस तैयार कर रहा था।...

दूसरे ही क्षण अम्बिका को लगने लगता, कि उसके दुर्भाग्य का कारण सत्यवती नहीं, भीष्म है।...भीष्म को, सदा दूसरों के लिए उनके मनोनुकूल स्त्रियाँ जुटाने का रोग क्यों है। शान्तनु को सत्यवती मिलती, न मिलती, भीष्म को इतना विकट संकल्प करने की क्या आवश्यकता थी! विचित्रवीर्य का विवाह होता, न होता; भीष्म को क्या पड़ी थी कि वह इस दुष्कृत्य में प्रवृत्त होता...संसार में अनेक लोग अविवाहित रह जाते हैं, अनेक लोगों को अपने मनोनुकूल जीवन-साथी नहीं मिलते। अनेक लोगों को अयोग्य पुरुष या स्त्री के साथ जीवन काटना पड़ता है...

पर तभी भीष्म की वह विराट मूर्ति उसकी आँखों के सम्मुख आ खड़ी होती थी। गरिमा-मण्डित भीष्म जैसे जिह्वा हिलाये बिना ही अपने मन की बात कह रहे थे...पिता काम-पीड़ा में ऐंठ रहे हों, तो योग्य पुत्र अपना सुख-स्वार्थ कैसे देखे? वह निर्लिप्त भी कैसे रहे?...भीष्म ने अपने लिए तो कभी कुछ नहीं चाहा। शान्तनु ने सत्यवती को चाहा। सत्यवती ने कभी यह तो नहीं कहा कि वह पराशर की वाग्दत्ता है; उसके पुत्र की माँ है; वह शान्तनु से विवाह नहीं करेगी।...उसने तो उस विवाह का मूल्य चाहा था...अपना सुखी भविष्य! नहीं तो भीष्म, प्रेमी-युगल को पृथक करने का हठ कभी न करते।...

...पर क्या भीष्म जानते हैं कि वे अपने वचन की रक्षा के लिए, काशिराज की पुत्रियों पर कितना अत्याचार कर रहे हैं?...वचन देने और निबाहने का श्रेय मिले भीष्म को, और उसका मूल्य चुकाएँ काशिराज की पुत्रियाँ!...

अम्बिका का मन काँप-काँप उठता है!

यदि कुरुवंश के नाम की ओट ले कर, सत्यवती के वंशज इस सिंहासन पर नहीं बैठेंगे तो हस्तिनापुर की प्रजा की कौन-सी क्षति हो जायेगी?...नहीं! यह राजमाता सत्यवती की इच्छा है। इसे पूरा होना ही होगा। भीष्म उसके माध्यम होंगे, अपना सुख त्याग कर; और अम्बिका अपनी बलि देगी, मानसिक और शारीरिक पीड़ा सह कर...अम्बिका को अपना वंश नहीं चलाना है, फिर भी उसे सन्तान उत्पन्न करनी होगी। सन्तान का उसे मोह न हो, व्यास के प्रति उसके मन में अनुराग न हो, पर उसे यह सब सहन करना ही होगा–यह राजमाता का आदेश है।...अम्बिका स्त्री नहीं है–वह एक नारी शरीर है। वह पदार्थ है, साधन है–किसी दूसरे की इच्छा पूर्ति के लिए...

नियोग!

पर क्या अम्बिका के मन में पुरुष की कामना नहीं है?...नारी, पुरुष की कामना करे–यह नैसर्गिक सिद्धान्त क्या अम्बिका पर लागू नहीं होता? न सही वंश, न सही सन्तान, न सही राज-वैभव का लोभ...पर पुरुष की कामना? एक युवा, सुन्दर, स्वस्थ, बलिष्ठ पुरुष की कामना...

अम्बिका अपने मन के सारे कोने छान आयी है। उसे कहीं यौवन, स्वास्थ्य और पौरुष की कामना नहीं मिली। शरीर के धरातल पर उसे कुछ भी नहीं चाहिए। उसका शरीर किसी सुख को स्वीकार नहीं करता। वह किसी को सुख नहीं दे सकती। वह यदि कुछ चाहती है तो यही...कि उसे कोई राजपुत्री न माने, राजवधू न माने...बस। उसे किसी एक कोने में पड़ी रहने दिया जाये...किसी अपदार्थ के समान...या...या फिर उसे मरने का अधिकार दिया जाये...

हाँ! नियोग का विधान ऋषियों ने बहुत सोच-समझ कर किया है। पर सामाजिक विधान तो जीवित स्त्री-पुरुष की इच्छाओं और आवश्यकताओं पर टिका होना चाहिए। जीवित लोगों को, मृतकों की काल्पनिक इच्छाओं की बलि बनाने का नाम तो सामाजिक विधान नहीं है।...आज अम्बिका एक अनाथ विधवा होती, उसे अपने जीवन के अवलम्ब के रूप में एक पुत्र की कामना होती...वह पुत्र की कामना में तड़प रही होती...तब यदि वह किसी अनजान-अपरिचित, सदाचारी ऋषि के पास सन्तानेच्छा से जाती, तो वह अपने पुत्र के साथ-साथ, नियोग के सामाजिक विधान को भी आशीर्वाद देती...पर सास की इच्छा से पुत्रवधू के साथ बलात्कार का विधान...यह कैसा नियोग है...नहीं! अम्बिका को पुत्र की तनिक भी इच्छा नहीं है...

अम्बिका को ज़ोर की उबकाई आयी। लगा, उल्टी होगी!

परिचारिकाओं ने भाग कर पात्र की व्यवस्था की। अम्बालिका ने बहन को सहारा देने के लिए, कंधों से पकड़ा, "दीदी!"

अम्बिका को फिर उबकाई आयी। वह पलंग के पास रखे पात्र पर झुकी। लगा, पेट की अन्तड़ियाँ तक उलट कर बाहर आ जायेंगी।...पर निकला कुछ भी नहीं...वह निष्प्राण-सी हो कर लेट गयी...

"बस उबकाइयाँ आती हैं और प्राण निकाल लेती हैं।" वह हाँफती हुई बहुत मंद स्वर में बोली, "या तो उल्टी ही हो ले...।"

"प्रात: से कितनी बार हो चुकी।" अम्बालिका ने पूछा।

अम्बिका कुछ नहीं बोली। लेटी-लेटी हाँफती रही।

"पाँचवीं!" एक परिचारिका ने बहुत धीर-से कहा।

"कुछ खाया भी है?" अम्बालिका ने पुन: पूछा।

"मन नहीं होता।" अम्बिका बोली, "और हठपूर्वक कुछ खा लूँ, तो उल्टी में निकल जाता है।"

"प्राण देने पर तुली हैं।" परिचारिका ने फिर धीरे-से कहा, जैसे अम्बिका से छुपा कर अम्बालिका को बताना चाह रही हो। किन्तु स्वर इतना धीमा भी नहीं था कि अम्बिका सुन ही न सकती।

"क्यों दीदी!" अम्बालिका का स्वर इतना डरा हुआ था, जैसे अम्बिका वस्तुत: मृत्यु के कगार पर खड़ी हो, "तुम ऐसा क्यों कर रही हो?"

"तुम तो पगली हो अम्बालिका!" अम्बिका बोली, "इसने कहा और तुमने मान लिया।"

"तो तुम कुछ खाती क्यों नहीं? इतना खाओ कि कितनी भी उल्टियाँ हों, फिर भी कुछ-न-कुछ तो पेट में रह ही जाये।"

अम्बिका मुस्कुरायी, जैसे शिशु की बाल-बुद्धि पर कोई वयस्क मुस्कुराता है।

"मैंने कोई मूर्खता की बात की दीदी?"

"मूर्खता की नहीं, अतिशय प्रेम की, स्नेह की।" अम्बिका के चेहरे पर विषाद घुली मुस्कान थी, "तुम समझ

नहीं रही हो कि मेरे भीतर भोजन की अनिच्छा नहीं, भोजन से वितृष्णा है; और किसी प्रकार ठोक-पीट कर कोई खिला दे, तो उसके निकल जाने तक जो कष्ट मुझे होता है, उसे मुझे ही भोगना है।"

"देवि! राजवैद्य आये हैं।" परिचारिका ने सूचना दी।

"आने दो।"

राजवैद्य ने आ कर प्रणाम किया, "कैसा जी है महारानी का?"

"वैसी ही हूँ!" अम्बिका ने शिष्ट किन्तु तटस्थ स्वर में कहा।

राजवैद्य ने नाड़ी देखी, "महारानी! आपको पौष्टिक भोजन की आवश्यकता है।" उसने मुड़ कर मर्यादा को देखा, "क्या खा रही हैं महारानी?"

अम्बिका ने मर्यादा की ओर देखा।

मर्यादा ने अपनी स्वामिनी की आँखों की भाषा पढ़ी और बोली, "महारानी वह सब कुछ खा रही हैं, जो आपने परामर्श दिया था।"

अम्बिका सन्तुष्ट हुई और वैद्यराज के माथे पर चिन्ता की रेखाएँ उभर आयीं, "औषध भी खायी थी–पूरी?"

"हाँ आर्य!"

"आश्चर्य है।" राजवैद्य खिन्न दिखायी पड़ने लगे, "औषध का प्रभाव क्यों नहीं है...।"

कुछ देर तक मनन के पश्चात वे बोले, "अच्छा! मैं एक नयी औषध दे रहा हूँ। मेरे साथ किसी को औषधालय तक भेज दो। औषध ले आयेगा।"

राजवैद्य प्रणाम कर चले गये। मर्यादा ने उनके साथ एक भृत्य को भेज दिया।

"हमारा क्या होगा दीदी?" एकान्त होते ही अम्बालिका ने पूछा।

"क्यों? क्या होगा?" छोटी बहन के इस विचित्र प्रश्न पर अम्बिका मुस्कुरायी।

"जाने क्या होगा!" अम्बालिका अपनी बात गम्भीरता से कहती गयी, "मुझे हर समय लगता रहता है कि मेरा कोई अनिष्ट होने वाला है। कुछ ऐसा, जो मेरे लिए बहुत भयानक होगा। जीना दूभर हो जायेगा...।"

"तो क्या होगा।" अम्बिका बहुत सन्तुष्ट स्वर में बोली, "मर जायेंगे।"

"नहीं! मुझे लगता है, मुझे मरने भी नहीं दिया जायेगा।" वह थोड़ी देर तक रुक कर कुछ सोचती रही, फिर जैसे अपनी बात का स्पष्टीकरण दिया, "मुझे लगता है कि मुझे कोई ऐसा रोग हो जायेगा कि मैं बिस्तर से उठ भी नहीं पाऊँगी।...हिलडुल नहीं सकूँगी। यातना और अपमान का जीवन होगा मेरा।...या मुझे लगता है कि कोई मुझे राजप्रासाद से निकाल देगा; और मैं हस्तिनापुर अथवा किसी अन्य नगर की वीथियों में, मार्गों पर भिक्षा माँगती फिरूँगी।...मेरे पास न रहने को ठिकाना होगा, न तन ढँकने को उपयुक्त वस्त्र होंगे; न खाने को भोजन होगा...जितना सोचती हूँ दीदी! उतना ही मेरा भय बढ़ता जाता है...मैं वह सारा कष्ट कैसे सहूँगी...।"

"तुझे कोई कष्ट नहीं होगा पगली!" अम्बिका ने कुछ चकित हो कर अम्बालिका को देखा और उसे सान्त्वना देने का गम्भीर प्रयास किया, "तू ऐसा क्यों सोचती है। संसार में तो भिखारियों के बच्चे भी जी लेते हैं। हम-तुम तो काशिराज की कन्याएँ हैं–राजकुमारियाँ! हम कुरुकुल की वधुएँ हैं। भीष्म हमारे रक्षक हैं...और फिर तू क्यों डरती है अम्बालिके! मैं हूँ। मेरे होते, तुम क्यों घबराती हो।"

"तुम तो हो दीदी!" अम्बालिका बोली, "पर ऐसे ही तो अम्बा दीदी हमें छोड़ गयी थीं। मुझे बार-बार लगता है कि तुम भी मुझे छोड़ जाओगी। मुझे क्यों ऐसा लगता है दीदी! कि मैं कुछ ऐसे दुष्ट लोगों के चंगुल में फँस जाऊँगी, जो मुझे बहुत पीटेंगे। मेरी त्वचा फट जायेगी, माँस उड़-उड़ कर ऐसे गिरेगा, जैसे धुनिये की ताँत से कट-कट कर रुई गिरती है। हड्डियाँ टूट जायेंगी...और इतनी पीड़ा होगी, इतनी पीड़ा होगी कि मैं सह नहीं पाऊँगी...या सोचती हूँ दीदी! कि कोई मुझे अग्नि में झोंक देगा। मैं अग्नि में ऐसे जलूँगी, जैसे सूखा काष्ठ जलता है। मेरा माँस जलेगा और मुझे इतनी पीड़ा होगी, इतनी पीड़ा होगी...।"

इस बार अम्बिका ने उसे सान्त्वना नहीं दी। उसने गम्भीरता से पूछा, "तब तू क्या सोचती है अम्बालिके! जब इतनी पीड़ा होगी, जिसे तू सह नहीं सकेगी, तो तू क्या करेगी?"

अम्बालिका ने बड़ी बहन को देखा और देखती रही, जैसे सोच रही हो कि कहे या न कहे; और फिर जैसे निर्णय करके बोली, "सोचती हूँ कि पीड़ा असह्य हो जायेगी तो मर जाऊँगी।"

"ठीक सोचती है तू!" अम्बिका ने उसे मृत्यु से विरत करने का कोई प्रयत्न नहीं किया, "यही सोचा कि–हमारा

अधिक-से-अधिक अनिष्ट यही हो सकता है कि हम मर जायेंगी।...तू यही सोचा कर कि ईश्वर है। उसमें आस्था रख। वह बड़ा न्यायी है। उसके पास प्रत्येक समस्या का समाधान है: उसने जीवन की समस्याओं का समाधान बनाया है, मृत्यु! वह प्रत्येक व्यक्ति को उसके कष्टों से मुक्त करता है। जब सब कुछ अलभ्य हो जाये, तो मृत्यु तो सुलभ हो ही जाती है...।"

"मैं भी यह सब सोचती हूँ दीदी!" अम्बालिका धीरे-से बोली, "फिर जाने सहसा क्या हो जाता है कि मुझे मृत्यु से भी भय लगने लगता है। मुझे लगता है कि मैं मर जाऊँगी और मेरा मन भय से काँप-काँप उठता है...।"

अम्बालिका का वर्ण भय से पीला हो गया। आँखें भयभीत हो कर बड़ी हो गयीं। उसके अधर सूख गये। लगा, जैसे वह हल्के-हल्के काँप रही है...

"तू जा, विश्राम कर अम्बालिके!" अम्बिका ने स्नेह से उसके कपोल थपथपाये, "तू तो मुझसे भी अधिक अस्वस्थ है।" अम्बिका ने स्वर ऊँचा कर पुकारा, "मर्यादे।"

"स्वामिनी!" मर्यादा कपाट खोल कर कक्ष के भीतर आयी। उसके हाथ में औषध थी।

"यह क्या है?" अम्बिका ने समझते हुए भी पूछा।

"औषध!" मर्यादा ने कहा, "राजवैद्य ने भिजवायी है।"

"इसे यहाँ रख दे।" अम्बिका बोली, "और अम्बालिका को इसके कक्ष तक पहुँचा दे। इसकी देखभाल के लिए किसी को कह दे। सम्भव हो तो राजमाता और राजवैद्य को भी सूचना भिजवा दे। इसका स्वास्थ्य ठीक नहीं है।"

"क्या हुआ देवी को?" मर्यादा चकित थी।

"यह तो बहुत ही रुग्ण है री! शरीर स्वस्थ है, पर मन स्वस्थ नहीं है। ऐसे में शरीर भी कितने दिन स्वस्थ रहेगा इसका।"

मर्यादा कुछ बोली नहीं। उसने औषध रख दी और कुछ असमंजस की-सी स्थिति में कहा, "चलें देवि!"

मर्यादा ने अम्बालिका को एक बाँह से थाम रखा था और अम्बालिका भी ऐसे चल रही थी, जैसे यह अवलम्ब उसके लिए अनिवार्य था।

अम्बिका उन दोनों को कक्ष से बाहर जाते हुए देखती रही।...वे लोग कक्ष से निकले तो कपाट बन्द हो गये। कक्ष में एकान्त हो गया।

अम्बिका अपने स्थान से उठी। उसने औषध को देखा। मिट्टी के भाँड के भीतर एक ताम्र-पात्र था। उसमें कोई तरल पदार्थ था। उसने ताम्र-पात्र उठा लिया। गवाक्ष तक आयी और सारा तरल पदार्थ बाहर उँड़ेल दिया। ताम्र-पात्र को यथास्थान रख दिया और आ कर अपने बिस्तर पर लेट गयी।

उसके चेहरे पर सन्तोष की पूर्ण आभा थी।

निशीथ काल में अम्बालिका अपने कक्ष में, पलंग पर बैठी, आशंकित मन से अनिवार्य कष्ट के रूप में नियुक्त पुरुष वेदव्यास की प्रतीक्षा कर रही थी...

वर्ष-भर पूर्व इसी प्रकार अम्बिका ने उनकी प्रतीक्षा की थी।–अम्बालिका सोच रही थी–किन्तु फिर भी कितना अन्तर था। अम्बिका के मन में उत्साह था, चाहे वह बलात ही उत्पन्न किया गया हो।...जैसे भी हो, पर अम्बिका ने मन को मना लिया था, परिस्थितियों से समझौता कर लिया था और चाहे भ्रम के कारण ही सही, प्रसन्न मन लिए प्रतीक्षा कर रही थी...अम्बालिका के मन में कोई भ्रम भी नहीं है...अम्बिका के भ्रमों के साथ-साथ उसके भ्रम खण्डित हो चुके हैं। वह यथार्थ का साक्षात्कार कर रही है...साहस से नहीं, भयभीत, प्रकम्पित मन से...

अम्बिका ने समझा था कि वह अन्न-जल त्याग देगी, औषध नहीं लेगी, तो वह भी अम्बा के मार्ग पर चली जायेगी। इस प्रकार वह अपने प्राण भी त्याग देगी और अपनी अजन्मी सन्तान को भी देह-मुक्त कर देगी...पर उसके मन की हुई नहीं। उसके अपने व्यवहार से उसका कष्ट अवश्य बढ़ता गया। ...गर्भस्थ शिशु तो अत्यन्त स्वार्थी होता ही है। वह अपना पोषण करता गया। उसने चाहे माँ का रक्त पिया हो, माँस खाया हो अथवा अस्थियाँ चबायी हों, किन्तु वह अपना पोषण करता गया...अम्बिका का प्रसव-काल उसके लिए 'काल' ही था। पीला पड़ा चेहरा, उदर को छोड़, शेष सूखी हुई काया, सारे शरीर पर उभरी हुई नीली नंगी नाड़ियाँ। कैसी कंकाल हो कर रह गयी थी अम्बिका। छोटी-मोटी दाइयों से ले कर राजवैद्य तक घबराये हुए थे कि यह प्रसव कैसे होगा। मुख से कहता कोई नहीं था, किन्तु भय सबके मन में ही समाया हुआ था कि कहीं माता और शिशु दोनों के ही प्राण न चले जाएँ... अम्बिका ने प्रसव में कष्ट चाहे कितना ही क्यों न पाया हो; किन्तु शिशु को देखते ही सब के मुख पर मुस्कान आ गयी थी। यदि किसी बहुत आशावादी ने भी कल्पना की थी तो इतनी ही की थी, कि कोई सूखा-सा, दुर्बल, मुँदी आँखों वाला, कठिनाई से साँस लेता हुआ, एक जीवित शिशु जन्म लेगा...किन्तु नवजात शिशु को देखते ही सब चकित हो गये। शिशु न केवल स्वस्थ था, वरन कुछ अतिरिक्त रूप से हृष्ट-पुष्ट भी था।...

उसे देख कर अम्बिका के चेहरे पर भी जीवन जागा। उसकी इच्छा के अभाव में ही सही, पर जो शिशु उसकी गोद में आ पड़ा था, वह मोहक था और माँ के मन में अपने प्रति ममता ही नहीं, जीवन के प्रति आस्था भी जगाता था।

परिचारिकाओं में राजमाता तक समाचार पहुँचाने की जैसे होड़ लग गयी। जो समाचार पहुँचायेगी, उसकी झोली मणि-माणिक्य से भर दी जायेगी...

नहला-धुला कर शिशु राजमाता की गोद में दिया गया, तो वह सोया हुआ था।...सत्यवती ने जाना कि माता के रूप में सन्तान को जन्म देने, और मातामही के रूप में नहाये-धोये स्वच्छ, मोहक, नवजात शिशु को गोद लेने के सुख में बहुत अन्तर है। माता का अनुभव तो कृषक का-सा अनुभव है, जिसने धरती जोती और बोई है; मिट्टी, पानी और कीचड़ में शरीर को खपाया है, शीत-घाम में स्वयं को तपाया और जलाया है...और तब अपने खलिहान में अन्न का ढेर देखा है।...किन्तु मातामही का अनुभव तो परोसे हुए थाल को प्राप्त करने का है...

किस पर गया है शिशु? सत्यवती की आँखें सूक्ष्म निरीक्षण कर रही थीं ...इसमें क्या अम्बिका का है क्या द्वैपायन का है? कहीं सत्यवती की भी कोई झलक है क्या? कहीं से पराशर की भी छवि का कोई अंश ग्रहण किया है क्या इसने?...

शिशु गौर वर्ण का था। द्वैपायन जैसा कृष्ण वर्ण नहीं था वह! और कैसा हृष्ट-पुष्ट! जैसे विधाता ने उसे बनाया ही राज्य करने के लिए हो! इन भुजाओं से वह धनुष-परिचालन करेगा, खड्ग चलायेगा, गदा का संचालन करेगा। सोता है...पर कैसी मोटी-मोटी आँखें हैं। क्षण-भर को भी पलकें उठाता है, तो द्वैपायन जैसी बड़ी-बड़ी, सोई-सोई-सी आँखें अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं।...सत्यवती का मन जैसे बालक ने सम्मोहित कर लिया था। आह्लाद के अश्रु उसकी आँखों में भर-भर आये।...यह होगा भावी कुरु-सम्राट। भरत-वंशी राजाओं का स्वामी। यह धारण करेगा इस राष्ट्र को। इसका नाम होगा... धृतराष्ट्र...

किन्तु हस्तिनापुर और राजमाता की यह प्रसन्नता दीर्घकालीन सिद्ध नहीं हुई। एक मास के भीतर ही धृतराष्ट्र के व्यवहार से अम्बिका को ही नहीं, दासियों और परिचारिकाओं को भी कुछ संदेह होने लगा। राजवैद्य ने बहुत सारे

निरीक्षण किये और भयदमित क्षीण स्वर में कहा, "कदाचित बालक की आँखों में रूप ही है, दृष्टि नहीं है। मयूर-पँख के समान...।"

अम्बिका ऐसी दिखी, जैसे किसी ने उसके कपोलों पर बीसियों चाँटे दे मारे हों। कुछ समय के लिए वह स्तम्भित और अवाक् रह गयी। फिर उसने आँखें मूँद लीं; और सिर झुका दिया, "मेरे साथ तो यही होना था।"

किन्तु राजमाता इतनी सरलता से मान जाने वाली नहीं थी। सत्यवती जैसे पागल हो गयी। उसने राजवैद्य को फटकारा कि इस प्रकार के दुखदायी और कष्टकारक शब्दों को मुख से निकालने से पहले राजवैद्य को कम से कम, एक सहस्र बार सोचना चाहिए। क्या उन्हें ज्ञात नहीं है कि इस उक्ति के गलत प्रमाणित होते ही, उसका सिर, उसके धड़ पर नहीं रहेगा।...

राजवैद्य ने सिर झुका कर सब कुछ सुना; और धीरे-से कहा, "राजमाता का कोप उचित ही है; किन्तु बिना पूर्ण प्रमाण के ऐसी बात मुख से निकालने का साहस मैं कर भी कैसे कर सकता हूँ?"

"किन्तु इतना हृष्ट-पुष्ट बालक, ऐसे निर्दोष नयनों वाला बालक दृष्टिहीन हो ही कैसे सकता है?"

राजवैद्य सोचते रहे: राजमाता से क्या कहें और क्या न कहें। सामान्यत: राजवैद्य इतने भयभीत नहीं होते–सम्राटों से भी नहीं। किन्तु राजमाता इस समय अत्यन्त दुखी हैं, और अपने मानसिक सन्तुलन को बनाये रखना, उनके लिए सम्भव नहीं है। वह परम स्वतन्त्र हैं। उनके सिर पर कोई दूसरा नहीं है। इस अवस्था में न कोई उनको समझा सकता है, न उनका विरोध कर सकता है। एक बार भूल अथवा आवेश में भी कोई दण्ड उनके मुख से उच्चरित हो गया, तो उसे कोई निरस्त नहीं कर पायेगा।...

पर कुछ तो कहना ही था: अन्तत: बोले, "मैं क्या कर सकता हूँ राजमाता। यह तो ईश्वर की सृष्टि है। उसी की इच्छा से चलती है। मानवीय धरातल पर तो मैं यही कह सकता हूँ कि गर्भवती माता के भोजन में कुछ तत्त्वों का नितान्त अभाव होने से ही गर्भस्थ शिशु में इस प्रकार का कोई दोष रह जाता है।..."

राजमाता का क्रोध अम्बिका की ओर मुड़ा, "यह अभागिनी ही नहीं चाहती थी कि मुझे स्वस्थ और समर्थ पौत्र प्राप्त हो।...इसी ने निराहार रह-रह कर गर्भस्थ पौत्र को पौष्टिक तत्त्वों से वंचित रखा। इसी ने अपने सारे गर्भ-काल में रो-रो कर अपनी आँखें फोड़ीं।...इसी ने गर्भ-धारण के समय आँखें मूँद लीं कि शिशु नेत्रहीन ही जन्मे।" राजमाता का क्रोध था कि बढ़ता ही जाता था, "अभागिनी ने यह नहीं सोचा कि मेरा पौत्र है, तो इसका भी पुत्र है। बड़ा हो कर हस्तिनापुर का सम्राट होगा, तो राजमाता भी तो यही बनेगी..." और सत्यवती की डाँट-फटकार जैसे प्रलाप में बदलती चली गयी, "अभागिनी न होती, तो विधवा जीवन का शाप क्यों पाती। आते ही दुष्टा ने पति को खाया और अब पुत्र के नेत्रों का प्रकाश पी गयी...।" और तब उसका क्रोध भीष्म पर बरसा, "एक यह भीष्म है कि ऐसी अभागी राजकुमारियों का हरण कर लाया। एक तो विवाह से पहले ही चली गयी। दूसरी दोनों ने वैधव्य भोगा; और अब सन्तान...संसार में और कोई राजकुल नहीं था, या और कोई राजकुमारी नहीं थी..."

सत्यवती ने एक-एक कर सबको कोसा। सबकी अपने शत्रुओं में गणना की। सब के मन का खोट बखाना। एक अपशब्द नहीं कहा तो अपने कृष्ण द्वैपायन व्यास को। एक वही तो उसका अपना था...

जब सब पर इच्छा भर बरस चुकी तो सत्यवती असहायावस्था रोने बैठ गयी। राजमाता को इस प्रकार सार्वजनिक रूप में उच्च स्वर में इतनी दीन और असहाय हो कर रोते, आज तक किसी ने नहीं देखा था–शान्तनु, चित्रांगद और विचित्रवीर्य की मृत्यु पर भी नहीं।

अम्बालिका, राजमाता को देखती थी और चकित हो कर सोचती थी कि सत्यवती एक ही समय में इतनी समर्थ, अधिकारयुक्त, नियन्ता; और दूसरी ओर दीन, असहाय और आर्त्त कैसे हो जाती है। जो इस प्रकार क्रुद्ध हो कर सबसे लड़ सकती है, वह इस प्रकार अनाथ के समान रोती क्यों है।...और कितनी क्रूर है राजमाता: जैसे वाणी का कोई संयम ही नहीं है। जितनी क्रूर, कठोर और प्रहारक शब्दावली हो सकती है, उसका क्षमता भर प्रयोग करती है राजमाता...किसी का सम्मान, सौहार्द, उपकार...किसी का कोई अस्तित्व नहीं है राजमाता के सामने...यहाँ तक कि भीष्म का भी नहीं...

और जब सत्यवती कुछ शान्त हुई तो उसने पुन: सोचना आरम्भ किया...पौत्र तो उसे चाहिए ही। पहला जन्मान्ध है, तो अम्बिका, दूसरे को जन्म दे...एक प्रसव के पश्चात नारी न तो मर जाती है, न वन्ध्या हो जाती है। वरन पहले प्रसव के पश्चात तो वह आश्वस्त करती है कि वह उर्वरा भूमि है, उसमें प्रजनन शक्ति है, वह सृजन की प्रतीक है...तो

अम्बिका दूसरी बार गर्भ धारण करे...यह कोई ईश्वरीय नियम तो है नहीं, कि पहलौठी की सन्तान जन्मान्ध हो तो प्रत्येक सन्तान नेत्रहीन होगी...

किन्तु तभी सत्यवती की विचारधारा पलटी...अम्बिका ने अभी-अभी प्रसव किया है। अभी शीघ्र गर्भाधान सम्भव नहीं है। उसे समय लगेगा।...दो वर्ष...एक वर्ष...कम से कम समय लगे, तो भी समय तो लगेगा ही। वैसे भी उसके स्वास्थ्य की स्थिति ठीक नहीं है। तत्काल गर्भाधान सम्भव नहीं है...और सत्यवती प्रतीक्षा नहीं कर सकती।–सत्यवती का ध्यान अम्बालिका की ओर गया। अम्बिका ही क्यों, अम्बालिका क्यों न हस्तिनापुर को सम्राट दे। अम्बिका बड़ी है। कुल-परम्परा की दृष्टि से पहले उसका अधिकार है। पर उसने स्वयं अपनी मूर्खता से अपना अधिकार खोया है।...अब अम्बालिका की बारी है...

सत्यवती ने अम्बालिका को बुलाया। उसके व्यवहार में न स्नेह था, न स्नेह का छद्म। वह तो शुद्ध शासक का व्यवहार था–आदेशात्मक; आदेश का विरोध करने पर दण्डित किये जाने की चेतावनी से युक्त!

"सुनो राजवधू!" सत्यवती ने कहा, "मैंने अम्बिका को बहुत समझाया और मनाया था। किन्तु अब तुम्हें समझाने और मनाने का न मेरे पास समय है, न धैर्य! तुम्हें स्पष्ट कह रही हूँ, हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बैठने के लिए, और शान्तनु का वंश चलाने के लिए मुझे एक पौत्र की आवश्यकता है।...और तुम्हें वह पौत्र मुझे देना होगा। नियोग से उस पौत्र का जन्म होगा और उस पुरुष को नियुक्त मैं करुँगी।..."

अम्बालिका क्या कहती!

वह तो वैसे ही संघर्ष, अथवा विरोध की तनिक-सी सम्भावना से भयभीत हो जाती थी। किसी की शक्ति और अधिकार का विरोध तो वह कर ही नहीं पाती थी।...सत्यवती तो राजमाता थी, उसकी सास! अपने अधिकारों का भरपूर प्रयोग करने वाली।...और इस समय तो वह अपनी पीड़ा और क्रोध के उन्माद में सर्वथा अमानवीय हो रही थी...

अम्बालिका ने चुपचाप सिर झुका दिया।...उसकी अनिच्छा स्पष्ट थी; किन्तु विरोध करने की उसकी अक्षमता भी उतनी ही प्रत्यक्ष थी...

"और सुन अम्बालिके!" सत्यवती ने कुछ और प्रखर हो कर कहा, "मैंने अम्बिका को नहीं बताया था; किन्तु तुम्हें किसी भ्रम में नहीं रखना चाहती। मैंने अपने कानीन पुत्र, महामुनि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास को नियुक्त किया है। किसी और भ्रम में मत रहना। ऋतु-स्नान के पश्चात अपने शयन-कक्ष में उसी की प्रतीक्षा करना। जब वह आये तो उसका प्रसन्न-वदन स्वागत करना। धर्मत: उससे सन्तान की याचना करना। उसकी उपेक्षा या अपमान मत करना।"

अम्बालिका के मन में आया कि कहे यदि राजा या राजमाता के आदेश से ही प्रजा का मन अनुकूल हो जाता, भावनाएँ संचालित हो सकतीं; तो फिर राजपरिवारों के लिए समस्या ही क्या थी।...पर मन की तो गति ही बड़ी विचित्र है। वह तो सदा का ही विद्रोही है–चाहे अम्बालिका जैसी भीत नारी का ही मन क्यों न हो। वह तो कोई आदेश मिलते ही, उसके विपरीत चलने लगता है।...राजमाता इस बात को क्यों नहीं समझतीं। जिस नारी का मन पुरुष-विशेष को देख कर द्रवित नहीं होता, वह क्या राजादेशों से और भी संकुचित नहीं हो जायेगा। और अम्बालिका के मन में तो न केवल पुरुष-संग की इच्छा नहीं है, वरन वह तो भयभीत है इन सारे प्रसंगों से। पता नहीं अम्बालिका के शरीर और मन का इस दृष्टि से अभी पर्याप्त विकास नहीं हुआ है, या इस संदर्भ में उसके अनुभव ही इतने भयावह रहे हैं...

पर अम्बालिका, राजमाता के आदेश का विरोध नहीं कर सकती थी। राजमाता की शक्ति एक बात थी; अम्बालिका का अपना मन ही इतना साहस करने की बात नहीं सोच सकता था।...उसका रक्षा-कवच मात्र काल था। जब तक ऋतु-काल नहीं आता, तब तक वह सुरक्षित थी।...किन्तु उसका अपना शरीर ही उसका शत्रु हो गया। राजमाता के आदेश से वह इतनी भयभीत हो गयी कि तत्काल ऋतुमति हो उठी।

राजमाता की निरीक्षण दृष्टि उस पर टिकी हुई थी। उससे कुछ भी छिपाया नहीं जा सकता था।...और अम्बालिका के ऋतुकाल की पुष्टि होते ही सत्यवती ने वेदव्यास को बुलाने के लिए अश्वारोही दौड़ा दिये।...

और उसी के परिणामस्वरूप आज अम्बालिका इस वधू-वेश में अपने कक्ष में बैठी थी तथा नियुक्त पुरुष की प्रतीक्षा कर रही थी। उसे अम्बिका के समान कोई भ्रम नहीं था। वह जानती थी कि उसके पास कौन आ रहा है...पर उसे क्या, कोई भी हो–उसे किसी में रुचि नहीं है। अम्बिका भाग्यवान थी–संसार में कोई तो था, जिसकी वह कामना कर सकती

थी, प्रतीक्षा कर सकती थी। अम्बालिका के लिए ऐसा कोई नहीं था।

जिस दिन राजमाता ने उसे आदेश दिया था, तब से अब तक, उस आने वाले क्षण को जाने वह कितनी बार जी चुकी थी। उसकी कल्पना में वह क्षण, जाने कितनी बार साकार हो चुका था; और वह भय से मर-मर गयी थी...

अम्बालिका अपनी प्रकृति का विश्लेषण करती है तो पाती है कि उसे निर्जन वन में यदि कोई सिंह दिखायी दे जाये, तो उसके पग, आत्मरक्षा में भागने के स्थान पर, स्तम्भित हो कर वहीं खड़े हो जायेंगे; उसका कण्ठ, सहायता के लिए किसी को पुकारने के स्थान पर, सूख कर ऐसा कंटकित हो जायेगा कि एक शब्द तक न निकलेगा...

सब दासियाँ विदा हो गयीं। 'नियुक्त' पुरुष के आने का समय हो गया था। चारों और भयानक नीरवता थी। और अम्बालिका का मन कितनी ही बार भय से चीत्कार करने-करने को हो आया था। कई बार सोचा, यदि चिल्ला नहीं सकती, तो उच्च स्वर में या तो हँस पड़े, या गाने लगे।...

तभी कक्ष के द्वार पर नियुक्त पुरुष प्रकट हुए।

भय के मारे अम्बालिका की दृष्टि उठ ही नहीं रही थी, पर उसने बलात दृष्टि उठायी। नियुक्त पुरुष को देखा: यह थे राजमाता के कानीन पुत्र, महामुनि कृष्ण दैपायन वेदव्यास! उनके रूप के किसी कोण से भी नहीं लगता था कि वह उस सुन्दरी राजमाता के पुत्र हैं।...उसके हृदय की गति जैसे थम गयी। मन भीतर-ही-भीतर कहीं डूब गया। भय के मारे सारा शरीर पाण्डु हो गया।...वह न उठ सकी, न महामुनि व्यास का स्वागत कर सकी। महामुनि उसके पलंग के पास आये, तो अम्बालिका स्वयं नहीं समझ सकी कि वह अशक्त हो कर लेट गयी अथवा अचेत हो कर गिर पड़ी...

37

"अम्बिके! तुमने अम्बालिका के पुत्र को देखा?" सत्यवती ने पूछा।

"हाँ! देखा है आर्ये!"

"कैसा है?"

"सुन्दर है।"

सत्यवती ने एक बार घूर कर अम्बिका को देखा, फिर जैसे अपना क्रोध जताती हुई बोली, "सुन्दर है का क्या अर्थ? क्या तुमने देखा कि बालक दुर्बल है। उसका वर्ण पाण्डु है। पता नहीं, जीवित भी रहेगा अथवा नहीं। और जीवित रहेगा, तो कितने दिन!"

"मैंने यह सब नहीं सोचा माता!" अम्बिका बोली, "बालक पाण्डु वर्ण का अवश्य है, किन्तु इससे उसकी आयु तथा शारीरिक और मानसिक क्षमताओं का क्या सम्बन्ध?"

"सम्बन्ध है।" सत्यवती का स्वर अभी तक कठोर बना हुआ था, "राजवैद्य का कहना है कि बालक के शरीर में रक्त की कमी है, इसीलिए उसका वर्ण पाण्डु है। गर्भ की स्थिति में भी उसके शरीर में रक्त की कमी रही होगी। सम्भवत: उसके अंगों का पूर्ण विकास न हुआ हो, और शरीर में इतनी क्षमता न हो कि उसे लम्बी आयु प्राप्त हो सके।"

अम्बिका ने कोई उत्तर नहीं दिया।

सत्यवती ने ही पूछा, "बताओ! युवराज कौन होगा–धृतराष्ट्र या पाण्डु?"

अम्बिका के मन में जैसे यह प्रश्न था ही नहीं, इसलिए कुछ देर तक तो वह अवाक्-सी सत्यवती को देखती रही, और फिर जैसे कुछ सूझ गया हो; बोली, "आपकी इच्छा! जिसे चाहें बना दें! मेरा कोई आग्रह नहीं है।"

सत्यवती कुछ उग्र हुई, "तुम्हारी इच्छा जानने का प्रयत्न नहीं कर रही हूँ। उन दोनों बच्चों की अपूर्णता की बात कह रही हूँ। धृतराष्ट्र जन्मान्ध है और पाण्डु रोगी। दोनों में से कोई भी इस योग्य नहीं है कि युवराज बनाया जा सके।...कुरु-वंश और कुरु साम्राज्य की आज भी वही स्थिति है, जो इन दोनों के जन्म के पूर्व थी। विचित्रवीर्य के दो-दो पुत्र होते हुए भी, हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठने योग्य कोई नहीं है।"

अम्बिका जैसे इन चर्चाओं से सर्वथा ऊब चुकी थी: या अपनी उदासीन तटस्थता के कारण उसे कभी इन चर्चाओं में रुचि थी ही नहीं। अपनी वितृष्णा को गोपन नहीं रख पायी तो बोली, "तो इसमें मेरा क्या दोष है?"

"तो दोष किसका है?" सत्यवती ने कोमलता का छद्म भी उतार दिया, "तुम दोनों बहनें कुरुकुल की शत्रु हो रही हो और अपनी भी। तुम दोनों ने जानबूझ कर, सायास अपने स्वास्थ्य की उपेक्षा की और इस प्रकार की सन्तानें उत्पन्न कीं, जिनसे मेरी कमना पूरी न हो सके। जाने किस धातु की बनी हो तुम दोनों कि न अपना लाभ समझती हो, न स्वार्थ। समझती हो कि उसमें केवल मेरा स्वार्थ है। और मुझसे जाने कैसी शत्रुता है तुम लोगों को, कि मेरी इच्छानुसार कर्म करके भी मुझे सन्तोष नहीं होने दिया। राजवैद्य के निर्देश मान कर तुम लोग अपने भोजन की व्यवस्था ठीक रखतीं और इस प्रकार पँगु और रुग्ण सन्तानें उत्पन्न न कर, स्वस्थ बालकों को जन्म देतीं तो क्या बिगड़ जाता तुम्हारा?"

अम्बिका के मन में बवण्डर-सा उठ खड़ा हुआ। उसका मन हुआ कि सत्यवती को फटकार दे: कहाँ तो अम्बिका आज तक यह मानती आयी है, कि इस राजकुल में उसके साथ भयंकर अन्याय हुआ है और उसकी इच्छाओं की भयंकर उपेक्षा, और कहाँ राजमाता उस पर आरोप लगा रही है कि उन दोनों बहनों ने उसके विरुद्ध जैसे कोई षड्यंत्र किया हो।

किन्तु आज तक अम्बिका ने अपने मन के बवण्डरों को दबाना ही सीखा था; उन्हें अभिव्यक्ति उसने कभी नहीं दी। आज भी नहीं दी। बोली, "क्या चाहती हैं आप?"

"मुझे एक स्वस्थ पौत्र दो।" इस बार राजमाता का स्वर कुछ कोमल हो आया था।

"अब फिर?"

"हाँ! एक बार और।"

अम्बिका ने कुछ कहा नहीं! आँखें मूँद कर सिर झुका दिया।

राजमाता सन्तुष्ट हो कर लौट गयीं।

अम्बिका स्वयं अपने-आपको समझ नहीं पा रही थी।

उसने कभी अपने लिए सन्तान की इच्छा प्रकट नहीं की थी...और व्यास की सन्तान को जन्म देने की उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी।...पर धृतराष्ट्र के प्रति उसके मन में तनिक भी मोह नहीं है–ऐसा वह नहीं मानती। जन्म के पश्चात धृतराष्ट्र ने उसके मन में ममता जगायी थी। उसकी बालक्रीड़ा को देख कर, उसे उल्लास का अनुभव होता था। उसके नेत्रहीन होने की बात सुन कर उसे दुख भी हुआ। कितनी बार मन तड़प-तड़प गया, यदि उसके लिए कुछ हो सकता, तो वह अवश्य करती।...कई बार मन में प्रश्नों के तीखे त्रिशूल चुभे–क्या सचमुच उसी के किसी दोष के कारण उसका पुत्र नेत्रहीन हो गया?...और किसी का कोई दोष नहीं? वैद्यों का, व्यास का, राजमाता का, विधाता का–किसी का कोई दोष नहीं? जो कुछ हुआ, वह अम्बिका के कारण हुआ? अम्बिका की इच्छा से हुआ? क्या सब कुछ अम्बिका की इच्छा से ही होता है?...यदि अम्बिका की इच्छा से ही होता, तो क्या यह नियोग होता?...

अब राजमाता ने फिर नियोग का आदेश दिया है...क्या यह भी अम्बिका की इच्छा है? और यदि यह अम्बिका की इच्छा नहीं है, तो उस पर किसी और की इच्छा क्यों आरोपित की जा रही है?...और फिर कब तक वह इस प्रकार दूसरों की इच्छाओं का बोझ ढोयेगी?...पहली बार उसने स्वयं को समझा लिया था कि कुरुकुल की आवश्यकता सचमुच इतनी महत्त्वपूर्ण है कि यदि अम्बिका जैसी राजकुमारी की इच्छा का दमन हो रहा है; तो कोई बात नहीं। एक राजवंश के लाभ के लिए, अम्बिका इतना कष्ट उठाने के लिए बाध्य की जा रही है, तो यह पीड़ा इतनी भीषण नहीं है कि बचने के लिए एक राजवंश के समाप्त हो जाने की पीड़ा को सहन करना पड़े...पर अब अम्बिका समझती है कि न तो राजवंश की आवश्यकता का कोई अन्त है, और न राजमाता की इच्छा का। एक बार अम्बिका इस सारी यातना को ओढ़ चुकी, एक बार अम्बालिका...किन्तु वह राजवंश आज भी याचक बना वहीं का वहीं खड़ा है, और जाने कब तक खड़ा रहेगा...

सहसा अम्बिका के मन की जैसे कोई दमित वासना जागी, 'यदि इस बार राजमाता ने भीष्म को नियुक्त किया तो?'

अम्बिका को लगा, इस दमघोंटू वातावरण में जैसे मुक्त पवन का ऊर्जादायक झकोरा आया...

पर दूसरे ही क्षण अम्बिका का मन बुझ गया: तृष्णा, किसी भी समस्या का समाधान नहीं है। वह भ्रम है, धोखा है। मनुष्य को नचाते जाने का उपक्रम है। पिछली बार भी अपने एक भ्रम के कारण तृष्णा जागी थी; और वह आज भी उसे भुगत रही है। जब तक वह अपनी सारी कामनाओं को एक सिरे से ही नष्ट नहीं कर देगी, चाहे कामनाएँ कितनी ही सुन्दर क्यों न हों–तृष्णा उसे यह नाच नचाती ही रहेगी।...उसे नियोग में सहयोग नहीं करना है। उसे सन्तान नहीं चाहिए। सुन्दर, स्वस्थ और प्रत्येक रूप में समर्थ सन्तान भी नहीं।...उसके मन में किसी भी पुरुष की कामना नहीं है।...राजमाता किसी को भी नियुक्त करे...

और तब अम्बिका के मन में अपनी असमर्थता जागी...उसके यह कह देने से तो कोई नहीं मान जायेगा कि उसकी इच्छा नहीं है...उसकी आँखें आकाश की ओर उठ गयीं, और उनमें जल भर आया, 'हे ईश्वर! कैसी दासता दी है तूने? राजकुमारी भी बनाया, राजवधू भी...और फिर दासी बना दिया...दासी भी एक स्त्री की, जिसके मन में कभी दया नहीं जगती।...पुरुष होता, तो कभी तो उसके प्रति कोमल होता, कभी तो उसका मन नारीत्व के सम्मुख दुर्बल होता...पर यह नारी...सत्यवती! राजमाता सत्यवती!...'

जाने कैसे अम्बिका के मन में सत्यवती की मूर्ति जागी!...जब भीष्म ने सत्यवती को उसके बाबा के घर से ला कर बूढ़े चक्रवर्ती शान्तनु के कक्ष में डाल दिया था, तो सत्यवती के मन पर भी कदाचित वही सब बीता होगा, जो इस समय अम्बिका के मन पर बीत रहा है। वह भी रोई होगी। पीड़ा से तड़पी होगी। स्वयं को असमर्थ पा कर, उसने भी भूमि पर अपना माथा फोड़ा होगा।...पर आज उसकी वह स्थिति नहीं है। तब वह स्वयं असहाय थी, आज वह दूसरों को असहाय बनाने में समर्थ है। इसके लिए उसने कोई युक्ति खोजी होगी। कोई-न-कोई कर्म किया होगा...

और अम्बिका के मन में मंद हँसी जैसा एक हल्का-सा प्रकाश फैल गया। ...वह असमर्थ और असहाय अवश्य है; किन्तु यह मान कर चुपचाप बैठे रहने से तो वह समर्थ और सक्षम नहीं बन जायेगी। कोई युक्ति उसे भी करनी होगी, कोई कर्म...वह राजमाता के आदेश को अस्वीकार नहीं कर सकती, उसका विरोध नहीं कर सकती: किन्तु उससे टकराये बिना–उससे बचने का प्रयत्न तो कर सकती है...वह प्रत्येक अवसर पर आदेश को सुनते ही कर्म की ओर से आँखें मूँद लेती है। इस बार वह कर्म की ओर से आँखें खुली रखे और राजमाता के आदेश की ओर से कान मूँद ले, तो कैसा रहे?

उसकी इच्छा हुई कि इस संदर्भ में वह अम्बालिका से चर्चा करे। परामर्श करे। सम्भव है कि दोनों बहनें मिल कर कोई युक्ति निकालने में सफल हो सकें।...पर तभी उसके मन में संदेह प्रेत भी जागा।...अम्बा होती तो बात और थी: उसमें साहस था। अम्बालिका बहुत कोमल है। साहस तो उसमें जैसे है ही नहीं। कहीं चर्चा से ही डर कर पीली पड़ गयी तो? पाण्डु को जन्म देने के पश्चात से तो उसका मन और स्नायु तन्त्र इतना दुर्बल हो गया है कि किसी भी प्रकार का बोझ नहीं सह सकती। यदि गोपनीयता का बोझ भी उसके लिए सह्य नहीं हुआ तो...कहीं उसने यह बात उगल दी...नहीं! अम्बालिका नहीं। यदि गोपनीयता का सहचर किसी को बनाना ही होगा तो कोई और...अम्बालिका नहीं!

बड़ी रात गये तक अम्बिका बिस्तर पर करवटें बदलती रही...इच्छा होने पर भी वह सो नहीं पा रही थी; और मस्तिष्क था कि सोच-सोच कर जैसे निढाल हो गया था। न कोई समाधान सूझ रहा था, न कोई सहायक दिखायी पड़ रहा था।...कई बार मन में आया कि यदि और किसी से नहीं कह सकती, तो भीष्म से ही बात करे।...अम्बा ने भी तो भीष्म से ही बात की थी। वे धर्मज्ञ हैं। अम्बा के एक बार कहने पर ही उन्होंने उसे ससम्मान शाल्व के पास भेज दिया था। वह तो अम्बा का भाग्य ही उसका शत्रु हो गया कि शाल्व ने उसे अस्वीकार कर दिया, अन्यथा भीष्म की ओर से न सहयोग का अभाव था, न प्रयास की न्यूनता...यदि अम्बिका भी उन्हें साफ-साफ, स्पष्ट शब्दों में कह दे कि उसकी नियोग से तनिक भी सहमति नहीं है, तो बहुत सम्भव है कि उनकी धर्म-बुद्धि जाग उठे और वह उसे सत्यवती के आधिपत्य से वैसे ही मुक्त कर दें, जैसे उन्होंने अम्बा को अपने आधिपत्य से मुक्त किया था...

अम्बिका का मन पुन: ठिठक गया: वह धर्म का आश्रय लेने की सोच रही थी। भीष्म थे भी धर्मज्ञ और धर्मनिष्ठ! धर्म से वह टल नहीं सकते।... किन्तु धर्म है भी तो कितनी विचित्र वस्तु! गीली मिट्टी के लोंदे के समान है धर्म! जिसकी जो इच्छा होती है, वह उसको वैसा ही आकार दे देता है। गीली मिट्टी उसे कुछ भी नहीं कहती। तनिक भी विरोध अथवा प्रतिरोध नहीं करती। और वह व्यक्ति धर्म की उस गीली प्रतिमा को उठा कर अपने संकल्प की भट्टी में झोंक देता है। वहाँ वह प्रतिमा पकने लगती है। जल का जो तत्व उसे लचीला बना रहा था, उसे भट्टी का ताप सुखा डालता है। अब धर्म की वह प्रतिमा कितनी कोमल और कितनी कठोर हो जाती है। उसके आकार में परिवर्तन का तनिक-सा प्रयत्न उसे तोड़ने लगता है। और वह व्यक्ति अपने धर्म के आकार को अपरिवर्तनशील मान कर, उसे परिवर्तित करने के प्रयत्न को ही अधर्म मान लेता है और क्रुद्ध हो उठता है...

भीष्म जिन धारणाओं में पके हैं, उन्हें वह धर्म मानते हैं और उन पर दृढ़ हैं। अपनी प्रतिज्ञा के पक्के हैं। माता-पिता की आज्ञा का पालन वह धर्म मानते हैं। क्षत्रियों द्वारा स्त्रियों की इच्छा के विरुद्ध उनका अपहरण भी धर्म मानते हैं। नारी को अपने पति की वंश-वृद्धि का माध्यम भी मानते ही होंगे—नहीं तो, सत्यवती की नियोग द्वारा पौत्र प्राप्त करने की इच्छा का समर्थन न करते।...अब यदि अम्बिका की इच्छा सुन कर उनके धर्म ने यही कहा कि सास, माता के स्थान पर होती है; अत: सास की आज्ञा का पालन ही पुत्रवधू का धर्म है, तो अम्बिका क्या कहेगी?...इस पुरानी पीढ़ी ने कितने ही अनुचित्त, अन्यायपूर्ण, और भ्रमयुक्त विचारों को अपना धर्म मान कर इतनी निष्ठा से अपने कण्ठ से लगा रखा है कि उसे देख कर अम्बिका को आश्चर्य होता है कि इतने भले लोगों ने इतने अशुभ और अकल्याणकारी विचारों और सिद्धान्तों को कैसे इतनी मान्यता दे रखी है...पर अम्बिका उनकी निष्ठा के सम्मुख नतमस्तक है। अपने जीवन और प्राणों का मूल्य दे कर भी, अपने मान्य धर्म का निर्वाह करते हैं वे लोग। इतनी निष्ठा न होती तो भीष्म हस्तिनापुर का राज्य इस प्रकार सत्यवती की गोद में न डाल देते। अम्बा जैसी सुन्दरी राजकन्या कितने आग्रह से उनके आलिंगन के लिए बाँहें फैलाये खड़ी रही; और भीष्म ने अपने तड़पते मन को संकल्प की कठोर मुट्ठी में भींच कर उसके प्राण हर लिए।

पर अम्बिका इस प्रकार का कोई धर्म स्वीकार नहीं कर सकती, जिसमें उसका दम घुटता हो। न वह सास की अनुचित्त आज्ञाओं के पालन को अपना धर्म मानती है, और न असहायता में दिये गये वचनों के पालन को।...वह तो अपने धर्म का पालन करेगी। अपनी प्रकृति के धर्म का। जीवन की वह पद्धति उसका धर्म नहीं हो सकती, जिसमें उसका दम घुटता हो...मछली का धर्म जल में ही जीना है: धरती पर जीने का प्रयत्न उसका धर्म नहीं हो सकता। मनुष्य का धर्म वायु-मण्डल में जीना ही है, वह सागर-तल के भीतर जीने को अपना धर्म कैसे मान सकता है?...आज यदि अम्बिका का धर्म, सत्यवती और भीष्म के धर्म के प्रतिकूल पड़ रहा है, तो वह अपने ही धर्म का निर्वाह करेगी...

"मर्यादा! तुम विवाहित तो नहीं हो?"

"नहीं स्वामिनी!" मर्यादा ने आश्चर्य से अम्बिका की ओर देखा: यह सोई-सोई-सी आत्मलीन रानी, जिसने आज तक पूरी तरह आँखें खोल कर, मर्यादा का चेहरा भी कभी नहीं देखा, वह आज उसे 'दासी' सम्बोधित न कर, नाम से पुकार रही है और उसके व्यक्तिगत जीवन में रुचि ले रही है।

"क्यों पूछ रही हैं आप?" मर्यादा से पूछे बिना नहीं रहा गया, "कोई विशेष कारण?"

"विशेष क्या होगा मेरे जीवन में!" अम्बिका का स्वर फिर वैसे ही तटस्थ और उदासीन हो गया।

अपने प्रश्न से अम्बिका का उल्लास बुझते देख, मर्यादा को सचमुच पीड़ा हुई। जाने रानी क्या कहना चाहती थीं,...और कुछ पूछने का उसका साहस नहीं हुआ।

किन्तु मौन बहुत देर तक निभा नहीं। स्वयं अम्बिका ने ही पुन: कहा, "यदि दिन की सेवा के स्थान पर तुम्हें रात्रि के समय मेरे साथ रहना पड़े, तो बहुत असुविधा होगी मर्यादा?"

"नहीं स्वामिनी! एकदम नहीं! यह तो मेरा सौभाग्य होगा।" मर्यादा बोली, और उसके मन ने रानी की दोनों उक्तियों को जोड़ कर, जैसे अपना उल्लास लौटा लिया, "इसलिए पूछ रही थीं, आप मेरे विवाह की बात।" वह कुछ मुखर हो उठी, "मुझे तनिक भी असुविधा नहीं है महारानी! वहाँ अकेली अपनी कोठरी में पड़ी रहती हूँ। यहाँ आपके सान्निध्य में रहूँगी। न एकान्त सतायेगा; न लम्पटों द्वारा पीड़ित किये जाने का भय।"

"तो मैं तुम्हारे अधिकारी से कह दूँगी। वह स्थायी रूप में तुम्हारी नियुक्ति यहाँ कर देगा।"

"महारानी बहुत दयालु हैं।" मर्यादा ने हाथ जोड़ कर सिर झुका दिया।

रात के समय मर्यादा, अम्बिका के कक्ष में आयी तो उसने देखा, महारानी पलंग पर लेटी थीं। कदाचित सोने की तैयारी में थीं। किन्तु पलंग के साथ ही, भूमि पर एक और बिस्तर लगा था। यह किसके लिए था? क्या मर्यादा के लिए?...नहीं! उसके लिए कैसे हो सकता है। दासी से यह तो अपेक्षित ही नहीं था कि वह रात को सोयेगी। वह उसका कार्य-काल था। उसका कर्तव्य था कि वह महारानी के कक्ष के कपाट के साथ लगी बैठी रहे। तनिक-से शब्द पर महारानी की सेवा में उपस्थित हो। उनकी आज्ञा का पालन करे। उनकी असुविधा की सूचना राजमाता को दे।...और यथासम्भव प्रहरी और रक्षिका का भी कार्य करे...

किन्तु यदि महारानी की इच्छा से बिस्तर यहाँ लगाया गया है, तो वह उसके स्थान में परिवर्तन भी नहीं कर सकती।...इस संदर्भ में वह महारानी से पूछ भी नहीं सकती।...

वह कुछ देर असमंजस में खड़ी रही और फिर जा कर कक्ष के द्वार के पास बैठ गयी।

अम्बिका ने करवट ली, "मर्यादे!"

मर्यादा ने निकट जा कर हाथ जोड़े, "आज्ञा महारानी!"

"द्वार पर क्यों बैठी हो?"

"मेरा स्थान वहीं है महारानी!"

अम्बिका ने दीर्घ नि:श्वास छोड़ा, "कौन जानता है कि किसका स्थान कहाँ है। व्यक्ति समझता कहीं और है, और स्थान होता कहीं और है।"

"मैं समझी नहीं स्वामिनी!"

"क्या करेगी समझ कर पगली! मनुष्य जब तक भ्रम में रहता है, सुखी रहता है। समझ कर तो फिर दुख-ही-दुख है।"

मर्यादा चुप रही। समझ नहीं पायी कि क्या कहे।

"तू जानती है कि तेरा स्थान कहाँ है?" अन्तत: अम्बिका ने पूछा।

मर्यादा ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"नहीं जानती?"

मर्यादा को लगा, अब चुप रहना उचित नहीं होगा। बोली, "मेरा स्थान तो महारानी की इच्छा पर निर्भर करता है।"

"तुम बहुत समझदार हो।" अम्बिका जैसे उसकी प्रशंसा में भी उदासीन थी, "मेरी इच्छा है कि तुम द्वार से चिपकी मत बैठी रहो। यहाँ मेरे पलंग के पास आ कर इस बिस्तर पर लेट जाओ।" और फिर उसने रुक कर मर्यादा की ओर देखा, "कोई असुविधा तो नहीं होगी?"

"असुविधा कैसी! यह तो मेरा सौभाग्य है।" मर्यादा ने किसी यन्त्र के समान उत्तर दिया; किन्तु वह अपने मन का असमंजस प्रकट किये बिना रह नहीं सकी, "महारानी! दासी का काम आपकी रक्षा करना भी है।"

अम्बिका को उसका अभिप्राय समझने में दो पल लगे। समझ गयी तो बोली, "मेरे इन तुच्छ प्राणों को यहाँ कोई भय नहीं है मर्यादे! इस राजप्रासाद में मेरी मृत्यु से किसी को कोई लाभ नहीं पहुँचेगा।..." वह रुकी, "और तू मेरी रक्षा तो यहाँ से भी कर सकती है।...वस्तुत: मैं चाहती भी यही हूँ कि तू मेरी रक्षा करे।"

मर्यादा, अम्बिका की बातों का मर्म भाँप नहीं पा रही थी। उसे लग रहा था, महारानी आज कुछ बहकी हुई हैं।

वह अम्बिका के निकट आयी और धीरे से बोली, "कोई विशेष बात है महारानी?"

अम्बिका ने उसकी आँखों में झाँका। वहाँ उसे विश्वास और आश्वासन मिला। बोली, "कपाट बन्द कर दे और यहाँ आ कर, इस बिस्तर पर लेट जा। तुझसे कुछ बातें करनी हैं।"

मर्यादा की जिज्ञासा कुछ व्यग्र हो उठी: जाने क्या बात है? इस राजप्रासाद में आज तक किसी ने उससे इस प्रकार वार्तालाप नहीं किया था।

उसने कपाट भिड़ा दिये, और आ कर अपने लिए बिछाये गये बिस्तर पर बैठ गयी।

"आराम से लेट जा!"

"मैं आराम से ही हूँ महारानी!" वह बोली, "आप कहें, मैं सुन रही हूँ। या..." वह उठ खड़ी हुई, "आप चाहें तो आपके चरण चाँप दूँ। नींद सरलता से आ जायेगी।"

"नहीं।" अम्बिका बोली, "उस सबकी आवश्यकता नहीं है। तू लेट जा और सोने का प्रयत्न कर। जब तक नींद नहीं आती कुछ बातें करेंगे।"

कोई विकल्प न पा, मर्यादा लेट गयी।

"मर्यादे!" अम्बिका का स्वर बदला हुआ था, "दासी के समान नहीं, सखी के समान उत्तर दे–क्या समय आने पर तू मेरी रक्षा करेगी?"

मर्यादा ने चौंक कर देखा: आज क्या हो गया है महारानी को? वह उसे सखी बता रही हैं–उसे, एक दासी को!

"तेरे प्राणों पर आँच नहीं आयेगी।" अम्बिका पुन: बोली, "किसी की रक्षा के लिए सदा अपने प्राण ही नहीं देने होते; कभी-कभी स्वयं को अधिक उपयोगी बनाना होता है। कभी किसी के काम आना होता है।"

"मेरा अस्तित्व किस दिन के लिए है महारानी!" इस बार उत्तर देने में मर्यादा को तनिक भी समय नहीं लगा, "आप आज्ञा करें। प्राण भी देने पड़े, तो दूँगी।"

"सच कहती है मर्यादे!"

"शपथपूर्वक कहती हूँ महारानी?"

"तू वचन देती है सखि?"

"वचन देती हूँ।" मर्यादा का मन कुछ डोला भी, किन्तु उसने अपनी वाणी को तनिक भी डोलने नहीं दिया।

"विश्वासघात तो नहीं करेगी?"

"यदि ऐसा हो तो महारानी मेरे जीवित शरीर से चर्म उतरवा लें।"

"नहीं मर्यादे!" अम्बिका का स्वर बहुत ही आर्द्र था, "ऐसा कुछ भी नहीं है। तू यदि विश्वासघात भी करेगी, तो तुझे दण्ड नहीं मिलेगा, कोई असुविधा नहीं होगी। तेरे सिर कोई पाप भी नहीं होगा।" अम्बिका ने रुक कर करवट बदली और उसकी ओर देखा, "किसी प्रकार का कोई भय नहीं है, तेरे लिए। मैं एक सखी के समान तेरा विश्वास कर रही हूँ। कर लूँ?"

"अवश्य महारानी।"

"तो ठीक है।" अम्बिका बोली, "अब सब कुछ भूल कर सो जा।"

"जो आज्ञा।"

मर्यादा ने करवट बदली। आँखें मूँदीं और सोने की मुद्रा बनायी। किन्तु उसने पाया कि जब वह आयी थी, तब फिर भी उसकी आँखों में कुछ नींद थी; किन्तु इस वार्तालाप के पश्चात तो जैसे नींद का कोई अस्तित्व ही नहीं था।...जाने रानी के मन में क्या था? किस प्रकार का आश्वासन चाहती थीं वह? कैसी रक्षा?...

सहसा अम्बिका ने फिर पूछा, "तू दासी क्यों बनी सखि?"

मर्यादा के मन में आया, रानी से कहे, उसे दासी के रूप में ही सम्बोधित करें। कहीं उनकी यह अनुकम्पा अन्य

लोगों की आँखों की किरकिरी हो, उसके लिए कोई कठिनाई ही उत्पन्न न कर दे।...किन्तु यह कहने के लिए भी तो कोई उपयुक्त अवसर होना चाहिए...

"अपनी बाध्यता के कारण महारानी!"

"क्या बाध्यता थी?"

"निर्धनता!"

"पिता हैं?"

"हैं!"

"कहाँ?"

"ग्राम में हैं।"

"कृषि-योग्य भूमि है?"

"किसी समय थी; अब नहीं है।"

"छिन गयी?"

"हाँ महारानी!"

"कारण?"

"द्यूत के लिए किया गया ऋण।"

"तो अब क्या करते हैं पिता तुम्हारे?"

"ग्राम में छोटी-छोटी चाकरियाँ करते हैं–कभी किसी के खेत में, कभी किसी के घर में।"

अम्बिका कुछ देर चुप रही। फिर धीरे से बोली, "तुमने बहुत दुख पाया है सखि!"

"अब तो अभ्यस्त हो गयी हूँ महारानी! पहले बहुत खलता था।" मर्यादा का संकोच धीर-धीरे क्षीण हो रहा था, "पहले बहुत कष्ट होता था, तो इसके लिए कभी किसी को दोषी ठहराती थी, कभी किसी को। कभी लगता था, पिता दोषी हैं, उन्होंने सब कुछ द्यूत में दाँव पर लगाया। कभी लगता था, राजा दोषी है, जिसके राज्य में यह सारा अन्याय होता है। कभी लगता था, सारा दोष उसी विधाता का है, जिसने हमारे भाग्य का लेख लिखा है।"

"दोष देने से क्या होगा सखि!" अम्बिका बोली, "मुझे लगता है कि हमें अपने दुर्भाग्य से निकलने का प्रयत्न करना चाहिए। दोषी ढूँढने का विशेष लाभ नहीं है।"

मर्यादा कुछ नहीं बोली। कैसे कहे महारानी से कि निकलना तो वह भी चाहती है, अपने इस दुर्भाग्य से–किन्तु साधन और सामर्थ्य कहाँ हैं!...

"मर्यादे! तू जातनी है कि तू युवती है?"

मर्यादा को हँसी आ गयी। महारानी आज परिहास पर उतारू हैं, "कौन अपनी अवस्था को नहीं जानता महारानी!"

"क्या यौवन की शक्ति को भी जानती है?"

"जानती हूँ महारानी! यौवन की शक्ति को।" मर्यादा के स्वर में प्रसन्नता नहीं थी, "प्रत्येक लम्पट की आँखें चिपकी रहती हैं, इस यौवन के साथ!"

"यौवन चला जायेगा, तो लम्पटों की आँखें तुम्हारी ओर उठेंगी भी नहीं। जानती हो?"

"उसी दिन की प्रतीक्षा कर रही हूँ महारानी!"

"पगली है तू!" अम्बिका बोली, "यह नहीं सोचती कि यौवन बीत गया तो राजप्रासाद से भी निकाल दी जायेगी। वृद्धा दासियों की किसको आवश्यकता है यहाँ?"

"उतनी दूर तक मैंने कभी सोचा नहीं महारानी!"

अम्बिका बातें करती जा रही थी, और उसके अपने मन का उद्वेग बढ़ता जा रहा था। जाने क्या-क्या सोच रही होगी मर्यादा अपने मन में...और जब वह अपनी वास्तविक बात पर पहुँचेगी...

"तुम जानती हो मर्यादे! तुम सुन्दरी भी हो?"

"महारानी आज परिहास की मुद्रा में हैं।"

"नहीं! परिहास नहीं कर रही हूँ पगली!" अम्बिका बोली, "तुम्हें यथार्थ से अवगत करा रही हूँ।"

"दासियों के सौन्दर्य का क्या अर्थ महारानी! वह उनका अनिष्ट ही करता है। इष्ट तो इससे कभी किसी का हुआ

नहीं।"

"मर्यादे!" अम्बिका अपने पलंग के एकदम किनारे पर आ गयी। उसने हाथ बढ़ा कर मर्यादा को छुआ, "क्या तू दासत्व से मुक्त होना चाहती है?"

"कौन नहीं चाहेगा महारानी?" मर्यादा बोली, "किन्तु यह सम्भव कहाँ है?"

"उसी को सम्भव बनाने का उपाय बता रही हूँ सखि!" अम्बिका बोली, "कुछ मेरा उपकार कर, कुछ राजवंश का। तेरा उपकार अपने-आप हो जायेगा।"

मर्यादा उत्तेजना में उठ कर बैठ गयी, "पहेलियाँ न बुझाएँ महारानी! स्पष्ट कहें।"

"अब स्पष्ट ही कह रही हूँ। सुन।" अम्बिका बोली, "राजमाता को हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बैठाने के लिए एक पौत्र चाहिए।"

"उनके तो दो पौत्र हैं।"

"एक जन्मान्ध है, दूसरा रुग्ण। उन्हें विकलांग नहीं, एक हृष्ट-पुष्ट, स्वस्थ और समर्थ पौत्र चाहिए।" अम्बिका ने मर्यादा की ओर देखा, "दो पौत्र नियोग से उत्पन्न हुए थे, अब तीसरा होगा।" वह बोली, "मेरी इस सहवास के लिए रंचमात्र भी इच्छा नहीं है। वेदव्यास तपस्वी हैं, महामुनि हैं, किन्तु पुरुष के रूप में मुझे वह किचिंत भी सह्य नहीं है।...वह तो क्या, मुझे किसी भी पुरुष की कोई कामना नहीं है। मेरी इच्छा है...।"

अम्बिका कह नहीं सकी। चुप हो गयी।

"क्या इच्छा है महारानी! आपकी?"

"तुम रुष्ट तो नहीं हो जाओगी सखि?"

"एक दासी के रोष का क्या अर्थ महारानी।" मर्यादा बोली, "वैसे आपको वचन देती हूँ, रुष्ट नहीं होऊँगी।"

अम्बिका थोड़ी देर उसे चुपचाप देखती रही; फिर धीरे से बोली, "मेरी इच्छा है कि इस बार वेदव्यास के पास, मेरे स्थान पर तुम चली जाओ...।" उसकी दृष्टि झुक गयी। मर्यादा की ओर देखने का उसका साहस नहीं हुआ।

थोड़ी देर नीरवता रही। फिर मर्यादा ही बोली, "क्षमा हो महारानी! क्या आप समझती हैं कि यह तथ्य गोपन रह पायेगा?"

"यह गोपनीय तब तक है मर्यादे! जब तक योजना है।" मर्यादा के उत्तर से अम्बिका का विश्वास लौटा, "जब घटना घट जायेगी, तो गोपनीयता की आवश्यकता ही नहीं है।"

"उससे लाभ क्या होगा महारानी!" मर्यादा के स्वर में आशंका बोल रही थी, "वेदव्यास मुझे अवश्य पहचान लेंगे। कोई विलासी राजपुरुष होता तो कदाचित सुरा के उन्माद और रात्रि के अन्धकार के कारण वह यह भेद नहीं कर पाता कि उसकी सहवागिनी महारानी अम्बिका है अथवा दासी मर्यादा। किन्तु महामुनि वेदव्यास न तो मदिरोन्मत्त होंगे, और न उनकी दृष्टि अन्धकार के कारण भ्रमित हो पायेगी। वह मुझे पहचान लेंगे, और बात राजमाता तक पहुँचेगी..."

"ठीक कहती हो सखि!" अम्बिका मुस्कुरायी, "यही तो मैं चाहती हूँ कि तुम अपने यौवन, सौन्दर्य और सेवा से महामुनि को प्रसन्न कर लो। महामुनि पहचान जायेंगे कि उन्हें प्रसन्न करने वाली स्त्री अम्बिका नहीं, मर्यादा है। राजमाता जान लें कि अम्बिका, उनकी योजनाओं की सहभागिनी नहीं है; और वह यह भी जान लें कि उनके पौत्र की माता दासी मर्यादा है।"

"उससे क्या लाभ होगा महारानी?" मर्यादा ने पुनः पूछा, "क्या आपको यह नहीं लगता कि इस भेद के खुलते ही दासी और दासी-पुत्र को या तो कारागार में डाल दिया जायेगा; या उन्हें राज्य से निष्कासित कर दिया जायेगा।...और आपको फिर भी नियोग में सहयोग करना होगा...।"

"नहीं सखि! ऐसा नहीं होगा।" अम्बिका पूरे विश्वास के साथ बोली, "मेरी उपेक्षा उन्हें ज्ञात हो जानी चाहिए...और तुम्हारा और तुम्हारी सन्तान का अहित नहीं हो सकता।"

"क्यों?"

"क्योंकि वेदव्यास की सन्तान और उसकी माता की रक्षा, राजमाता प्रत्येक मूल्य पर करेंगी।"

"क्यों? इन राजप्रासादों में दासी-पुत्रों की रक्षा कब-कब होती है महारानी?"

"तुम्हारी सन्तान, मात्र दासी की सन्तान नहीं होगी–वह वेदव्यास की सन्तान होगी।"

"किन्तु वह मात्र एक नियुक्त पुरुष है। उसकी सन्तान का क्या करना है महारानी को। मैं उनके पुत्र स्वर्गीय

सम्राट का क्षेत्र नहीं हूँ, कि मेरी सन्तान–राजसन्तान हो सके।"

"वेदव्यास मात्र नियुक्त पुरुष नहीं हैं मर्यादे!" अम्बिका जैसे एक-एक शब्द को चबाकर कह रही थी, "वे राजमाता सत्यवती के कानीन पुत्र हैं। उनके द्वारा उत्पन्न दासी-पुत्र भी राजमाता का पौत्र होगा...।"

मर्यादा का मुख आश्चर्य से खुला का खुला रह गया, "आप सच कह रही हैं महारानी?"

"एकदम सत्य!" अम्बिका बोली, "और अत्यन्त गोपनीय भी।"

मर्यादा अवाक-सी अम्बिका को देखती रही।

"अब सहमत हो?" अम्बिका ने पूछा, "तुमने कहा था कि तुम मेरी रक्षा करोगी!"

"आपकी आज्ञा के एक-एक शब्द का पालन होगा स्वामिनी!" मर्यादा पहली बार इतनी दृढ़ता से बोली, "मुझे लगता है कि इस योजना से हम दोनों का ही उद्धार होगा।"

"ओह, मेरी प्राण सखि!"

अम्बिका की इच्छा हो रही थी कि मर्यादा को अंक में भर ले।

वेदव्यास माता के कहने पर आ तो गये थे; किन्तु एक अनाम-सा संकोच उनके मन में आसन लगाये बैठा था।...नियोग का अर्थ क्या है?...क्या आवश्यक नहीं कि स्त्री स्वयं धर्मतः सन्तान की कामना करे?

पिछली दोनों बार उन्होंने देखा था; न अम्बिका इसके लिए इच्छुक थी, न अम्बालिका। उनके मन में सन्तान की ही कामना नहीं थी, या नियुक्त पुरुष द्वैपायन उन्हें मान्य नहीं थे?...यदि उनके मन में धर्मतः सन्तान की कामना नहीं थी, तो नियोग उनके साथ अत्याचार था; और यदि द्वैपायन उन्हें मान्य नहीं थे, उनका काम्य पुरुष कोई और था...किसी पुरुष-विशेष में उनकी आसक्ति थी, तो यह व्यभिचार था...

ऐसी स्थिति में उनका धर्म क्या है?

किन्तु यदि माता की इच्छा-पूर्ति उनका धर्म है, तो और कुछ उनको सोचना ही नहीं चाहिए...किन्तु यदि माता की इच्छा अनुचित हो? माता की इच्छा यदि किसी और के अधिकार का हनन करती हो?...तो वह अनेक धर्मों में श्रेष्ठतम धर्म का चुनाव करेंगे–वह सर्वांगपूर्ण धर्म नहीं भी हो तो सकता।... कर्म के समान, धर्म भी क्या अनेक श्याम-श्वेत तन्तुओं से मिल कर बना है? क्या एक धर्म अपने गर्भ में कोई अधर्म भी सँजाये रखता है?...

वह अम्बिका के कक्ष के द्वार पर पहुँच गये थे।

चारों ओर नीरवता थी। आस-पास कोई दासी अथवा परिचारिका नहीं थी। वह द्वार से ही देख सकते थे कि अम्बिका अपने पलंग पर बैठी, उनकी प्रतीक्षा कर रही थी...

उनके मन में एक प्रश्न शूल के समान चुभा: क्या आज भी वह उन्हें देखते ही आँखें बन्द कर लेगी? पिछली बार, उन पर दृष्टि पड़ते ही उसकी आँखों में कैसा भय समा गया था...

उनके मन ने उन्हें धिक्कार: अपने मानापमान से वह इतने प्रभावित होते हैं? क्या आज तक वे निन्दा-स्तुति में समभाव स्थापित नहीं कर पाये?...क्या एक नारी की अवहेलना उन्हें इस प्रकार उद्वेलित कर जाती है?...

पर दूसरे ही क्षण उनके विवेक ने मन के इस प्रवाह को साधा: ऐसी बात नहीं है। वह यहाँ काम के आकर्षण में नहीं आये हैं। वह किसी रूपसी की प्रशंसा या प्रसन्नता नहीं चाहते हैं। उनके मन में धर्म है। वह धर्म के निमित्त आये हैं। उस नारी के नयनों में उन्हें अपने प्रति आसक्ति की नहीं, सधर्म स्वागत के भाव की अपेक्षा होती है। वह न मिले तो उन्हें अपराध-बोध होने लगता है: कहीं वह अधर्म के भागी तो नहीं हो रहे...

वह कक्ष में आये। कक्ष में प्रकाश अत्यन्त क्षीण था। मात्र एक कोने में एक ही दीपक जल रहा था। अम्बिका के चेहरे पर अवगुंठन था। वह उसके भाव नहीं देख सके। उसकी आँखों में स्वागत था या निषेध, उल्लास था या वितृष्णा?...उन्हें लगा, इस बार माता ने जान-बूझ कर इस धूमिल प्रकाश में उसे अवगुंठन में ढँक कर, उनके सम्मुख प्रस्तुत किया है, ताकि उसके चेहरे और नयनों में अपने प्रति अवहेलना का भाव देख कर वह आहत न हों...

अम्बिका अपने स्थान से उठी। वह उनके सम्मुख धरती पर घुटनों के बल बैठ गयी। उसने हाथ जोड़े और मस्तक नवाया।

द्वैपायन को आश्चर्य हुआ।

क्या यह सब माता, उससे बलात करा रही थीं, या सचमुच ही वह अपने सहज उल्लास से उनका स्वागत कर रही थी।

"पधारें!" उसने बड़े समारोहपूर्वक मार्ग-दर्शन कर उन्हें पलंग पर ला बैठाया। वह बैठ गये तो एक चौकी ला कर उनके सामने रखी और उनके लिए फल परोसे।

"ग्रहण करें आर्य!"

उसका यह सारा कार्य-व्यापार, द्वैपायन पर्याप्त विस्मय से देख रहे थे। क्या सचमुच अम्बिका का उनके प्रति भाव इतना बदल गया था...पर यह अवगुंठन?

और सहसा उनके मन में संदेह जागा। उन्होंने क्षण-भर उसकी ओर देखा और पूछा, "यह अवगुंठन क्यों देवि?"

"आपका अनुग्रह पाने के लिए आर्य!"

"अवगुंठन का अनुग्रह से क्या सम्बन्ध?" और अगले ही क्षण उन्होंने पूछा, "तुम कौन हो?"

अवगुंठन हट गया, "एक दासी।"

"क्या नाम है तुम्हारा?"

"मर्यादा!"

द्वैपायन सोचते रहे: छल का साहस किसने किया?

"अम्बिका ने तुम्हें भेजा है?"

"हाँ आर्य!"

"क्यों?"

"उनका मन नियोग को स्वीकार नहीं कर सका।"

"तो तुम्हें भेजने की क्या आवश्यकता थी?"

"भय के कारण!"

"किसका भय था?"

"राजमाता का।"

द्वैपायन चुप हो गये...किन्तु उनका मन बोलता रहा...उन्हें पहले ही समझ जाना चाहिए था।...पिछली बार भी अम्बिका को ही नहीं, अम्बालिका को भी बाध्य किया गया होगा, तभी तो उन्होंने उनके साथ वैसा व्यवहार किया।...इस बार फिर वही हुआ होगा। अम्बिका विरोध नहीं कर सकी, तो उसने यह उपाय किया...किन्तु राजमाता और द्वैपायन में अन्तर है। वह नारी अथवा सन्तान के मोह में यहाँ नहीं आये थे। वह तो धर्म का निर्वाह करने आये थे।

वह उठ खड़े हुए, "तुम मुक्त हो मर्यादा! तुम्हारे लिए कोई बाध्यता नहीं है कि तुम महारानी अम्बिका के स्थान पर सन्तान उत्पन्न करो।"

मर्यादा प्रसन्न नहीं हुई। उसका सहज उल्लास भी विलीन हो गया, "देव मुझ से रुष्ट हैं क्या?"

"नहीं।" द्वैपायन बोले, "अम्बिका से कह दो, राजमाता से भयभीत होने का कोई कारण नहीं है। वह अब किसी को बाध्य नहीं करेंगी–यह मेरा वचन है।"

मर्यादा ने झुक कर द्वैपायन के चरण पकड़ लिए, "महारानी की बात महारानी जानें। मैं अपनी बात जानती हूँ। प्रस्ताव महारानी का था; किन्तु मेरी इच्छा न होती तो वह मुझे बाध्य न करतीं।"

"तुम किस लोभ में आयी हो?"

"आर्य! मैं राजकुल की एक दीन-हीन दासी हूँ। मेरे भाग्य में न गृहस्थी है, न पति, न सन्तान! मेरे जीवन का कोई अवलम्ब नहीं है।...यदि आपकी अनुकम्पा हो तो मैं आपसे धर्मतः एक पुत्र की कामना करती हूँ।"

द्वैपायन चिन्तनलीन हो गये: अब स्थिति बदल गयी थी। मर्यादा–अम्बिका के द्वारा बाध्य कर भेजी हुई, एक असहाय दासी नहीं थी। वह स्वेच्छा से, उनसे धर्मतः एक पुत्र की कामना कर रही थी। धर्मतः वह उसकी याचना अस्वीकार नहीं कर सकते। रानी और दासी की याचना में कोई अन्तर नहीं है। पुत्र की कामना में भेद नहीं हो सकता। वह दरिद्रता का उपहास नहीं कर सकते...

"तुम्हारी इच्छा पूरी होगी देवि!" अन्ततः वह बोले, "तुम पुत्रवती बनोगी। तुम्हारा पुत्र, मेरे सम्बन्ध के कारण धृतराष्ट्र और पाण्डु का भाई होगा। राजकुमारों के भाई की माता होने के कारण, तुम दासी नहीं रहोगी।"

मर्यादा ने उनके सम्मुख भूमि पर अपना मस्तक टेक दिया।

सत्यवती अत्यन्त चिन्तित और व्याकुल थी!

"अब क्या होगा पुत्र! अम्बिका अपनी अनिच्छा प्रकट कर देती, तो मैं उसे बाध्य नहीं करती।..." उसने रुक कर संशय-युक्त दृष्टि से द्वैपायन को देखा, "क्या मैं अम्बालिका को पुनः तैयार करूँ।"

"नहीं।" द्वैपायन बहुत स्पष्ट स्वर में बोले, "नियोग की भी सीमा है माँ! यदि मैं कुरु-वंश के लिए तीन से अधिक सन्तानें उत्पन्न करूँगा, तो 'नियुक्त-पुरुष' के स्थान पर व्यभिचारी कहलाऊँगा।"

"तुम अपने धर्म की बात कह रहे हो।" सत्यवती क्षुब्ध थी, "किन्तु मेरा धर्म कुछ और है। मुझे कुरु-वंश के लिए उत्तराधिकारी चाहिए। मैं इस वंश और इस राज्य को समाप्त नहीं होने दूँगी।"

"ईश्वर की इच्छा, मनुष्य की इच्छा से बड़ी होती है।" द्वैपायन बोले, "माँ! तुमने अपनी ओर से प्रयत्न करके देख लिया। तुम्हारे तीन पौत्र हैं...।"

"तीन नहीं, दो।" सत्यवती ने बात काटी, "तीसरे को तो अम्बिका ने सम्भव ही नहीं होने दिया।"

"तीसरे का जन्म होगा।" द्वैपायन बोले, "उसकी माता मर्यादा होगी।"

"मर्यादा दासी है, और विचित्रवीर्य का क्षेत्र नहीं है। उसका पुत्र न राजपुत्र हो सकता है, न मेरा पौत्र!"

"राजमाता ऐसी बात कह सकती हैं; किन्तु मेरे लिए उन तीनों में कोई अन्तर नहीं है। जिसे चाहो युवराज बना लो।"

"पर...।"

"पर क्या माँ! राज्य-संचालन तो वैसे भी भीष्म ही करेंगे। युवराज तथा राजकुमार अभी छोटे हैं।"

सत्यवती चुपचाप द्वैपायन को देखती रही जैसे कोई कठोर बात कहना चाह रही हो, किन्तु कह नहीं पा रही हो।

"मुझसे सहमत नहीं हो माँ?"

"तुमसे कैसे सहमत हो सकती हूँ।" सत्यवती जैसे अपने आक्रोश का गला घोंट कर बोली, "तुम ऋषिकुल में पले संन्यासी। तुम्हारे लिए आरोग्य और रोग में अन्तर नहीं, दासी और महारानी मे अन्तर नहीं; युवराज के होने-न-होने में अन्तर नहीं...।"

द्वैपायन हँस पड़े, "सच कहती हो माँ! सारे भेद, आभास मात्र हैं। मूल स्थिति में कोई अन्तर नहीं है। अस्तित्व और अनस्तित्व तक में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही विश्वनियन्ता के दो रूप हैं।"

"यही बात मैंने भीष्म में देखी थी", सत्यवती बोली, "उसके लिए ग्रहण और त्याग में कोई अन्तर नहीं, मित्र और शत्रु में कोई अन्तर नहीं।...इसलिए मैंने चित्रांगद और विचित्रवीर्य को ऋषि-कुलों में नहीं जाने दिया।..."

"तो उससे तुमने क्या पाया माँ!" द्वैपायन का स्वर शान्त था, "यदि उन्हें ऋषि-कुलों में भेजा होता, तो जिस वय में उनका देहावसान हुआ, उसमें वे ब्रह्मचर्य का पालन कर जीवन जीने की पद्धति सीख रहे होते। वे, यह पद्धति सीख कर आते,...स्वयं भी सुखी होते और तुम्हें भी सुख देते...।"

"मैंने उन्हें सुख भोगने के लिए ही राजप्रासाद में पाला था।"

"'सुख' और 'भोग' दो अलग स्थितियाँ हैं माँ!" द्वैपायन बोले, "'सुख' एक मानसिक स्थिति है, जो भोग के अभाव में भी सम्भव है। या शायद अधिक सत्य यही है कि सुख, भोग के अभाव में ही सम्भव है। और भोग तो दुख का प्रवेश-द्वार है माँ! भोग ने कभी किसी को सुखी नहीं किया।"

"यह सन्यासियों का दर्शन है द्वैपायन! मैं इसे अंगीकार नहीं कर सकती। नहीं कर सकी। इसे स्वीकार कर सकी होती, तो शायद तुम्हारे तपस्वी पिता को भी अंगीकार कर पाती। तब राजप्रासाद में नहीं, आश्रम में जीवन व्यतीत करती।"

"विश्वास करो माँ! तुम अपने वर्तमान जीवन से अधिक सुखी जीवन पातीं।"

सत्यवती ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया।

"छोड़ो! इस विषय में विवाद कर क्या होगा!" थोड़ी देर बाद वह बोली, "...अतीत को पीसने-छीनने से क्या लाभ! वर्तमान मेरे सामने है। दासी मर्यादा का पुत्र न राजकुमार हो सकता है, न युवराज! हाँ इतना ध्यान अवश्य रखूँगी कि वह तुम्हारा पुत्र है, इसलिए उसे कोई कष्ट न हो। तुम्हारे पुत्र की माता होने के नाते, मर्यादा अब दासी नहीं रहेगी: पर न वह रानी हो सकती है, न मेरी पुत्रवधू!"

"जैसी तुम्हारी इच्छा माँ!" द्वैपायन सदा के समान शान्त थे, "मैं तो केवल इतना कह रहा था कि तुमने तीन बार प्रयत्न करके देख लिया; किन्तु तुम्हें मनोनुकूल पौत्र नहीं मिला। नियति का संकेत समझो और धैर्य धारण करो। ऐसा न हो कि तुम अपने दर्प में अपने लिए कोई और समस्या उत्पन्न कर लो। जो बहुत वेग से भागता है, वह बहुत शीघ्र थक जाता है माँ!"

द्वैपायन उठ खड़े हुए।

सत्यवती कुछ नहीं बोली और व्यास अपनी सहज मंथर गति से कक्ष के बाहर निकल गये।

सत्यवती अपने स्थान पर बैठी सोचती रही: द्वैपायन कह गया है कि मैं और पौत्र प्राप्त करने का प्रयत्न न करूँ। क्या समझता है वह कि मैं किसी भी ब्राह्मण को बुला कर नियुक्त कर दूँगी।...क्या वह इतनी-सी बात नहीं समझता, कि मैंने उसे 'कोई भी ब्राह्मण' समझ कर नहीं बुलाया था।...मैंने अपने वंश को अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न किया है। वह नहीं आयेगा, तो और भी कोई नहीं आयेगा...भीष्म भी नहीं!

पर युवराज? तो फिर युवराज, धृतराष्ट्र और पाण्डु में से कोई एक बन जाये। मर्यादा का पुत्र तो किसी भी स्थिति में युवराज नहीं हो सकता।...क्या ऐसा सम्भव नहीं है कि धृतराष्ट्र और पाण्डु एक हो जायें। आँखें पाण्डु की हों और शरीर धृतराष्ट्र का...सत्यवती को एक पूर्ण पौत्र तो मिले...

युवराज का निर्णय भीष्म पर छोड़ना होगा क्या? द्वैपायन तो कह गया है कि वह उनमें कोई भेद नहीं करता। उसके लिए सब समान हैं...सत्यवती भी सबको समान मान पाती तो...

भीष्म ने गवाक्ष में से देखा: फुलवारी में बच्चे खेल रहे थे। हाँ! ये बच्चे फुलवारी में ही खेलने योग्य थे। बारह वर्ष का धृतराष्ट्र नेत्रहीन होने के कारण फुलवारी में ही खेल सकता था: अन्यथा कुरुकुल का बारह वर्षीय कुमार या तो ऋषिकुल का कठोर जीवन व्यतीत करते हुए, शस्त्राभ्यास कर रहा होता, या फिर किसी बीहड़ वन में मृगया खेल रहा होता। किन्तु धृतराष्ट्र जन्मान्ध है। युद्ध का अभ्यास उसके लिए अनावश्यक है। शरीर के व्यायाम के लिए वह शस्त्रों का अभ्यास कर ले, वह एक भिन्न बात है, अन्यथा शस्त्राभ्यास उसके किसी काम का नहीं है। धृतराष्ट्र ने उसमें विशेष रुचि भी नहीं दिखाई है।...उससे छोटा है पाण्डु। प्रायः ग्यारह वर्षों का हो चुका है, किन्तु अभी तक तनिक भी कठोर कार्य नहीं कर सकता। कठोर काम, उससे कोई करवाये भी क्या। यदि एक पक्ष तक उसका स्वास्थ्य ठीक रहता है...आज हँस रहा है, खेल रहा है, सारी फुलवारी में भाग-दौड़ रहा है—निश्चय ही कल वह अपने अंग-अंग में पीड़ा का राग गायेगा।...भीष्म ने कई बार सोचा है कि उसे क्षत्रियों के कठोर जीवन का कुछ आस्वादन करायें; किन्तु न तो उसमें उसकी क्षमता प्रतीत होती है, न वह सहमत होता है, और न राजमाता सत्यवती भीष्म को इसको अनुमति देती हैं।...वैसे मन से वह बहुत महत्त्वाकांक्षी प्रतीत होता है। चाहता है कि मान लिया जाये कि वह संसार का महान धनुर्धर है; किन्तु उसके लिए जो अभ्यास चाहिए—उसके लिए, न उसके पास समय है, न धैर्य, न ऊर्जा।...कुछ है तो केवल...दर्प! कुरुओं के राजवंश में जन्मा है: सब कुछ सहज प्राप्त है। कोई उसकी आलोचना नहीं कर सकता, कोई उसके दोष नहीं गिना सकता, कोई उसे अनुशासित नहीं कर सकता। भीष्म ने जब थोड़ा-सा प्रयत्न किया, तो उसने रो-रो कर आकाश सिर पर उठा लिया।...करना कुछ नहीं चाहता, कर कुछ नहीं सकता; किन्तु मानता है स्वयं को वह संसार का सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी, योद्धा, अश्वारोही और रथारोही; और चाहता है कि शेष लोग भी इसका विश्वास करें। अहंकारी है, चित्रांगद जैसा...नहीं! चित्रांगद का विरोध किया जाता, तो वह क्रुद्ध हो कर आक्रामक हो जाता था, किन्तु पाण्डु क्रुध हो कर रो पड़ता है। आत्मपीड़न में बहुत विश्वास है उसका। क्रुद्ध हो जायेगा, तो दूसरे से छीनने के स्थान पर, अपना सब कुछ उसे दे डालेगा; और उसे पीड़ा पहुँचाने के स्थान पर स्वयं को पीड़ा पहुँचायेगा...मन का सरल है बेचारा! धृतराष्ट्र के समान धूर्त्त नहीं है। मन में जो कुछ है, वही उसकी जिह्वा पर है, वही उसके व्यवहार में भी है। धृतराष्ट्र को जन्मान्ध कर ईश्वर ने उससे सृष्टि का बहुत कुछ छिपा लिया है वैसे ही धृतराष्ट्र ने अपने मन का बहुत कुछ अन्य लोगों से छिपाना सीख लिया है। वाणी और व्यवहार का बहुत मीठा है, किन्तु मन में बहुत कटुता है उसके। भाग्य ने उसे वंचित किया है, तो वह भी दूसरों को वंचित करने में तनिक संकुचित नहीं होता।...बड़ा हो कर भयंकर स्वार्थी होगा यह धृतराष्ट्र...इससे पाण्डु की रक्षा कौन करेगा?...अभी तो बालक है पाण्डु, परिवार के बड़ों के बीच रहता है—चारों ओर से संरक्षित और सुरक्षित है। किन्तु बड़े हो कर तो जीवन को स्वयं झेलना पड़ता है। सारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जीवन तो बहुत कठोर है।...तब यह रोगी, कोमल मन का बालक क्या करेगा? और कुछ नहीं कर पायेगा तो कितना दुखी होगा।...इतना भावुक है...दुख का बोध भी इसे अतिरेकपूर्ण होगा...

और यह विदुर! अब दस वर्षों का तो यह भी हो गया है। खेल तो यह भी रहा है—बालक है, तो खेलेगा ही—किन्तु जैसे उसका मन खेल में नहीं लगता। पोथियों में उसका मन अधिक रमता है। इतने छोटे-से मुख से, जब बड़े-बड़े प्रश्न करता है, तो भीष्म को कुछ विचित्र ही लगता है: धर्म क्या है? नीति क्या है? सृष्टि का स्वरूप क्या है? ईश्वर का स्वरूप क्या है? समाज क्यों है? राज्य की आवश्यकता क्या है? राजा का कर्तव्य क्या है?...उसके विषय में सोचते हैं तो भीष्म को लगता है कि विदुर के साथ अन्याय हो रहा है। इसकी प्राकृतिक भूमि हस्तिनापुर का राजप्रासाद नहीं, कृष्ण द्वैपायन का आश्रम ही है।...पर यह नियोग से उत्पन्न सन्तान है, व्यास इसे पुत्र के रूप में अपने आश्रम में नहीं ले जा सकते। गुरु के रूप में भी वह इसे कैसे ले जायें—राजमाता सत्यवती ने कुरुकुल के राजकुमारों का ऋषिकुलों में जाना ही बन्द कर दिया है। जब राजकुमार ही नहीं जायेंगे, तो यह दासी-पुत्र कैसे गुरुकुल में जायेगा?

कृप इन सबसे बड़ा है! पिता शान्तनु अपने अन्तिम दिनों में ऋषि शरद्वान की इन दो जुड़वाँ सन्तानों—कृप और इसकी बहन कृपी को—वन से अपने साथ ले आये थे। उनका पालन-पोषण यहीं हुआ है। तब से वे राजवंश के आश्रितों के रूप में ही रह रहे हैं। ब्राह्मण-पुत्रों के साथ कृप की शिक्षा-दीक्षा हुई है; और कृपी ने भी ब्राह्मण कन्याओं के साथ विद्या प्राप्त की ही होगी। बीच में एक बार ऋषि शरद्वान आये थे। अपने बच्चों से मिल गये थे; और तब ही कृप

को धनुर्विद्या का न केवल कुछ ज्ञान दे गये थे, वरन अच्छा अभ्यास भी करा गये थे। कृप मेधावी है और परिश्रमी भी। धनुर्विद्या का निरन्तर अभ्यास कर रहा है। कई बार भीष्म से भी चर्चा करता है, और भीष्म कई बातें उसे बता भी देते हैं।...कृप का कुछ लाभ पाण्डु के शस्त्राभ्यास में हो रहा है। भीष्म उसे जो कुछ सिखाते हैं, उसका अभ्यास धीरे-धीरे कृप ही उसे कराता रहता है। अभी ऐसी स्थिति नहीं आयी कि भीष्म, पाण्डु को किसी युद्धाचार्य को सौंप दें...

और भीष्म का ध्यान कृप से हट कर उसकी जुड़वाँ बहन कृपी की ओर चला गया। यदि कृप वयस्क हो गया है, तो कृपी का भी तो वही वय है। उसके विवाह की चिंता भी करनी होगी। कोई उपयुक्त वर देख कर उसका विवाह अब कर देना चाहिए...

विवाह तो इन लड़कों के भी करने हैं—धृतराष्ट्र, पाण्डु, विदुर...अब इन सबके पिता वह ही हैं।...भीष्म मन-ही-मन हँस पड़े...क्या सोचता है मनुष्य, और क्या होता है...वह गृहस्थी के जंजाल में नहीं पड़ना चाहते थे...और प्रकृति ने कितनी बड़ी गृहस्थी उनके चारों ओर जुटा दी है—माता सत्यवती, अम्बिका, अम्बालिका, मर्यादा, धृतराष्ट्र, पाण्डु, विदुर, कृप, कृपी...जब इतना बड़ा कुटुम्ब है, तो उसके लिए धन-सम्पत्ति, दास-दासियाँ, आचार्य-सैनिक, गोशाला, अश्वशाला...सब कुछ तो चाहिए...

पर यह सब किसका है? भीष्म का तो नहीं है। वह तो संरक्षक मात्र हैं।...यह सब तो भावी युवराज का है। पर भावी युवराज कौन है? इनके नियुक्त-जनक ने तो अपना निर्णय बड़ी दार्शनिक मुद्रा में दिया था...

द्वैपायन ने कहा था, उनकी दृष्टि में सारे जीव समान हैं। प्रकृति ने सबको समान अधिकार दिये हैं। सब अपनी-अपनी क्षमताओं के अनुसार कार्य करते हैं, और सब अपनी-अपनी क्षमताओं के अनुसार भोग करते हैं। भगवान सूर्य, किसी जाति, वर्ण अथवा लिंग का भेद नहीं करते। जिसे उनसे जितना ताप और प्रकाश चाहिए, वह ले सकता है। माँ गंगा किसी से यह नहीं पूछतीं कि वह कौन है और जल क्यों लेना चाहता है। पवन देव किसी को स्पर्श से वंचित नहीं करते।...

वैसे ही द्वैपायन का मन धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर में कोई अन्तर नहीं करता। वे तीनों ही उनके स्नेह के भाजन हैं।...उनका अपना साम्राज्य अध्यात्म का साम्राज्य है। वह उसका वितरण करते समय, किसी को भी वंचित नहीं करेंगे। नेत्रहीन होने पर भी धृतराष्ट्र द्वैपायन के ज्ञान-भण्डार, अध्यात्म साम्राज्य में से, जो और जितना चाहेगा, प्राप्त कर सकता है। द्वैपायन के पास उसके लिए कुछ भी अदेय नहीं है। पाण्डु उससे अवस्था में छोटा है और शरीर से दुर्बल है; किन्तु अधिकार की दृष्टि से वह उससे तनिक भी हीन नहीं है। द्वैपायन उसे अपने स्वत्व में से देते हुए, तनिक भी संकोच नहीं करेंगे।...और विदुर अवस्था में सबसे छोटा है, सामाजिक दृष्टि से कदाचित किंचित हीन है; किन्तु द्वैपायन का ज्ञान तो किसी को दासी-पुत्र नहीं मानता। वह न किसी को दासी मानता है, न स्वामिनी। प्रकृति ने तो किसी को दास अथवा स्वामी नहीं बनाया। यह सामाजिक विधान है। और कोई सामाजिक विधान, किसी संन्यासी तपस्वी के चिन्तन का नियन्त्रण नहीं करता। सन्यासी ने समाज का त्याग कर दिया है।...द्वैपायन के लिए तीनों बालक एक समान हैं। अब रजोगुण की दृष्टि से, सामाजिक विधान की दृष्टि से, कुल-परम्परा की दृष्टि से, राजनीति की आवश्यकता की दृष्टि से भीष्म विचार करें कि हस्तिनापुर के सिंहासन का उत्तराधिकारी कौन है!

भीष्म जितना ही सोचते हैं, उतना ही उलझते जाते हैं: यह निर्णय उनके लिए सरल नहीं है। बालकों के रूप में वे तीनों उनको भी समान रूप से प्रिय हैं। पक्षपात उनके मन में भी नहीं है; किन्तु वह द्वैपायन के समान संन्यासी नहीं हैं, कि समस्या का समाधान किये बिना, उसे किसी और पर डाल; स्वयं अपनी कुटिया में जा कर समाधिस्थ हो जायें।...पर शायद द्वैपायन ने समस्या के समाधान की उपेक्षा नहीं की है, उससे आँखें नहीं चुरायी हैं।...उनके लिए कदाचित यह समस्या है ही नहीं!...उनके पिता के मन में भी इस प्रकार का भेद नहीं था। उनके लिए पुत्र, पुत्र ही था: सामाजिक विधान से चाहे वह किसी वर्ग के अन्तर्गत आता हो। इसलिए उन्होंने द्वैपायन को पुत्र-रूप में स्वीकार किया; उसका पालन-पोषण किया; उसे शिक्षा-दीक्षा दी; उसे साधना और तपस्या के मार्ग पर डाला; और आज वह महामुनि व्यास है।...पराशर के लिए यह सब सम्भव हुआ, क्योंकि वह वनवासी तपस्वी थे, उन्हें समाज में नहीं रहना था...

किन्तु सत्यवती तपस्विनी नहीं थी: उसे समाज में रहना था। इसलिए वह अपने इस कानीन पुत्र को फेंक कर चली आयी। कभी पलट कर उसकी ओर देखा नहीं। उसकी खोज-ख़बर नहीं ली। उसके रोग-शोक का समाचार प्राप्त करने का कोई प्रयत्न नहीं किया।...कभी किसी के सम्मुख नाम भी नहीं लिया कृष्ण द्वैपायन का...

गृहस्थ और संन्यासी, सामाजिक और समाज-विमुक्त में अन्तर तो है ही।

कुरु साम्राज्य के संरक्षक-अभिभावक के रूप में न सोच, व्यक्ति भीष्म के रूप में सोचें, तो कदाचित वह भी इन जाति, वर्ण और कुल भेदों को भेद न मानें...भेद तो संकुचित दृष्टि का परिणाम है। विभाजन तो अपनी सीमा और अक्षमता के कारण करता है मनुष्य! आकाश और सागर तो अपना विभाजन नहीं करते। यह तो मनुष्य ही है, जो धरती का भी विभाजन करता है, आकाश का भी और सागर का भी! कुरुकुल सारी सृष्टि पर शासन नहीं कर पाता, इसलिए वह सारी सृष्टि को एक दृष्टि से नहीं देखता। वह अपने आधिपत्य के अधीन धरती को अपनी, और उसके बाहर की धरती को परायी मानता है। हम प्रत्येक मनुष्य को अपना भाई या पुत्र नहीं मान पाते, उतना आत्म-विस्तार नहीं कर पाते, इसलिए उन्हें पराया मान लेते हैं...

भीष्म यह सब सोच सकते हैं, पर उस पर चल नहीं सकते। वह विभिन्न वर्गों में विभाजित मानव-समाज में रहते हैं। उन्हें उसी सामाजिक विधान के अनुसार चलना होगा।...और इस समय तो उन्हें कुरुकुल के उत्तराधिकारी का चुनाव करना है। कुरु साम्राज्य का अधिकारी कौन है?...

सबसे बड़ा धृतराष्ट्र है; कुल-परम्परा की दृष्टि से उसी को युवराज होना चाहिए। शासन का अधिकार उसी का है...किन्तु वह जन्मान्ध है। उसने संसार को देखा ही नहीं है। वह राज-काज कैसे चलायेगा?...और जो राज-काज चला नहीं पायेगा, उसको राज-काज सौंपने का अर्थ?

...किन्तु भीष्म का मन बहुत कोमल है। वह धृतराष्ट्र की बात सोचता है, तो बार-बार द्रवित हो उठता है। जो बेचारा अन्धा है, जिससे प्रकृति ने जीवन का एक बड़ा सुख और अधिकार छीन लिया है–उससे मानव-समाज भी उसके अधिकार छीन ले?...जो पहले से ही वंचित है, उसे कोई अवलम्ब देने, कोई अतिरिक्त सुविधा दे कर, अन्य लोगों के सम-धरातल पर लाने के स्थान पर, उसे और भी वंचित कर दे?...

भीष्म को लगा, उनका मन दोनों ओर से सोच रहा है। व्यक्ति धृतराष्ट्र की ओर से सोचते हैं, तो लगता है, उस जन्मान्ध बालक का संसार और भी अन्धकारपूर्ण न किया जाये। शासक उसे ही बनाया जाये। उसकी सहायता के लिए पाण्डु और विदुर हैं ही। वह उसके आदेशानुसार चलेंगे, उसे उचित परामर्श और सहायता देंगे, तो क्यों वह शासन चला नहीं सकेगा? अवश्य चला सकेगा। वह सब भाइयों में बड़ा है। शासन का अधिकार उसी का है। वह अधिकार उसे दिया जाना चाहिए...

पर भीष्म का एक दूसरा मन है, जो उस विशाल जन-समुदाय की ओर से सोचता है, जो कुरुओं की प्रजा है।...उस प्रजा ने क्या अपराध किया है, कि उसे एक जन्मान्ध राजा दिया जाये–जो न देख सके, न जान सके, न स्वयं निर्णय ले सके। जो दूसरों की सूचनाओं की बैसाखी पर चले, दूसरों की आँखों से देखे और उसी पर विश्वास कर, अपने निर्णय करे...व्यक्ति को अधिकार दिलायें या समग्र प्रजा को? व्यक्ति और समाज में से किसी एक को वंचित होना ही है, तो व्यक्ति वंचित हो–समाज वंचित क्यों हो...

धृतराष्ट्र राजा नहीं बनेगा, तो भी राजपरिवार के सदस्य के रूप में, राज-वैभव के बीच अपना जीवन व्यतीत करेगा। केवल शासनाधिकार से वंचित होगा...साथ ही शासन के दायित्वों से मुक्त रहेगा। शासन का अधिकार, राज-वैभव के भोग के लिए नहीं, प्रजा के पालन के लिए है। वह अधिकार कम, दायित्व अधिक है; और यदि अक्षम व्यक्ति पर दायित्व डाला जायेगा, तो वह उसका समुचित निर्वाह कैसे करेगा? यह उसके साथ भी अन्याय नहीं है क्या? प्रजा के साथ तो अन्याय है ही...

अन्याय तो पाण्डु और विदुर के साथ भी होगा।...धृतराष्ट्र नेत्रहीन है, इसलिए दो नेत्रवानों को उसका दास बना दिया जाये। वे केवल उसके लिए देखें, उसके लिए सोचें!...यह कैसा न्याय होगा भीष्म का...प्रकृति ने तो एक व्यक्ति को जन्मान्ध बनाया है और भीष्म...

...विदुर दासी-पुत्र है। उसे न राजसभा कुरुओं का युवराज स्वीकार करेगी, न राजमाता करेंगी। दासी, मर्यादा को कौन कुरुकुल की पुत्र-वधू और राजमाता स्वीकार करेगा...

तो विकल्प कहाँ है।...पाण्डु को ही युवराज बनाना होगा। दुर्बल है, रुग्ण है...किन्तु राजपुत्र है, विकलांग नहीं है। रुग्णावस्था में शैया पर न पड़ा हो, तो सक्षम और स्वस्थ लगता है। शरीर का भी कोमल है, और मन का भी; शायद प्रजा की पीड़ा ही समझ पाये...

भीष्म की आँखें आकाश की ओर उठ गयीं: इतिहास का यह कैसा क्षण है विधाता! एक पूरे राज्य की प्रजा को योग्य और समर्थ राजा ही नहीं मिल रहा! क्या भविष्य है इस प्रजा का?...

हस्तिनापुर के आसपास के वनों में, सप्ताह भर की मृगया के पश्चात राजकुमार और उनके मित्र लौटे थे। शस्त्र-परिचालन के प्रशिक्षण के नाम पर भीष्म उनसे कोई कठोर अभ्यास करा नहीं पाते थे। मृगया ही एकमात्र ऐसी क्रीड़ा थी, जिसमें उन्हें बहला-फुसला कर लगाया जा सकता था। इसी व्याज से वह कुछ शारीरिक व्यायाम करते थे और कठिन वन्य-जीवन की कुछ असुविधाएँ झेलने के अभ्यस्त होते थे।

मर्यादा ने विदुर का मुँह-हाथ धुलाया और केशों में अँगुलियाँ फेर प्यार किया, "कैसा लगा पुत्र! तुम्हें मृगया का जीवन?"

विदुर ने माँ की ओर देखा: क्यों पूछ रही हैं माँ? कोई विशेष कारण, या सामान्य-सा वार्तालाप?...

"अच्छा नहीं लगा?" मर्यादा ने पुनः पूछा।

"अच्छा लगने को उसमें है क्या माँ!" विदुर धीरे से बोला, "उन निरीह पशुओं के घर में घुस कर, अपने शस्त्र-बल से उनका अकारण वध! मेरी तो समझ में नहीं आती क्षत्रियों की यह क्रीड़ा!"

"यह तो क्षत्रिय-जीवन का अभ्यास है पुत्र! क्षत्रिय मृगया नहीं करेगा, तो युद्ध के समय शत्रु का सामना कैसे करेगा?"

किन्तु विदुर के चेहरे पर तनिक भी सहमति प्रकट नहीं हुई। वहाँ तो जैसे वितृष्णा घनीभूत हो कर बैठ गयी थी, "मैं शस्त्राभ्यास का विरोध नहीं कर रहा था।" विदुर बोला, "किन्तु निरीह मृगों, असहाय मृग-शावकों, कोमल शशकों और अबोध पक्षियों के वध से कौन-सा शस्त्राभ्यास होता है। कठोर जीवन का ही अभ्यास करना है, अपनी शूर-वीरता का ही प्रमाण प्रस्तुत करना है, तो जायें सघन वन में; और सिंहो के आमने-सामने खड़े हो कर, उन पर बाणों का प्रहार करें।"

"आर्य भीष्म राजकुमारों को इतने जोखम में नहीं डाल सकते पुत्र!" मर्यादा ने पुनः उसे समझाने का प्रयत्न किया, "धृतराष्ट्र सिंहों का वध करने जायेगा, तो मृगया सिंह करेंगे, राजकुमार नहीं। युवराज पाण्डु भी इतने सक्षम और सबल नहीं हैं। वैसे भी मृगया में कभी-कभार कोई दुर्घटना हो ही जाती है। इतनी कठिनाई से प्राप्त किये गये युवराज को इस प्रकार नहीं खोया जा सकता।"

"तो सत्य को स्वीकार क्यों नहीं कर लेते। शूर-वीरता के पाखण्ड की क्या आवश्यकता है।" विदुर के स्वर में किंचित आक्रोश का भाव था, "अन्धे धृतराष्ट्र को हवा में लक्ष्यहीन बाण छोड़ते देखता हूँ, तो उसके मुख पर एकाग्रता के भाव देख कर मुझे हँसी आ जाती है; और फिर जब कोई सेवक किसी और के बाण से मारा गया कोई शशक ला कर, उसके सामने रख देता है; और राजकुमार को उसके लक्ष्य-भेद पर बधाई देता है; तो मुझे क्रोध आता है माँ!"

मर्यादा मुस्कुरायी; पर फिर पुत्र को समझाने के लिए बोली, "पुत्र! जन्मान्ध राजकुमार का मन तो रखना होगा। वह बेचारा पहले ही इतना पीड़ित है। उसके लिए इतना भी नहीं किया जायेगा, तो उसका मन टूट जायेगा।"

"मुझे मालूम नहीं माँ!" विदुर बोला, "कि धृतराष्ट्र का हित किसमें है: उसे उसकी वीरता और शस्त्र-परिचालन की पारंगतता का झूठा विश्वास दिलाने में या स्पष्ट शुद्ध सत्य उसके सम्मुख रख देने में। दम्भ भरा असत्य जीवन जीने से अच्छा है कि व्यक्ति स्वच्छ और सत्य जीवन व्यतीत करे, चाहे वह असुविधापूर्ण ही क्यों न हो।"

मर्यादा ने मन ही मन सोचा: 'अपने जनक के समान ही तापस है यह विदुर तो।'

"मुझे तो लगता है कि इस समस्त क्षत्रिय-जीवन के चिन्तन की धुरी ही कहीं भ्रमित हो गयी है।"

"वह कैसे पुत्र?" मर्यादा अपनी मुट्ठी पर चिबुक रख कर सुनने की गम्भीर मुद्रा बना कर बैठ गयी। वह स्वयं ही समझ नहीं पा रही थी कि उसकी इस मुद्रा में कितनी गम्भीरता थी और कितना परिहास।

"क्षत्रिय का संकल्प हिंसा नहीं है।" विदुर बोला, "क्षत्रिय का संकल्प है न्याय! न्यान को स्थापित करने के लिए ही, हिंसा का अवलम्ब ग्रहण किया जाता है। किन्तु अब क्षत्रियों की हिंसा में से न्याय विलीन हो गया है।...भोग की अनुमति क्षत्रिय को दी गयी, ताकि उसमें रजोगुण बना रहे। अब रजोगुण का तो पता नहीं, भोग-ही-भोग रह गया है क्षत्रियों के जीवन में–स्त्री, सुरा और द्यूत!...ये सब रजोगुण के लक्षण नहीं है माँ। यह तो पाखण्ड है रजोगुण का।..."

लगा, कि विदुर के पास अभी कहने को और भी बहुत कुछ है; किन्तु असहायता की मुद्रा में अपनी भुजाएँ शून्य

में उछाल वह चुप रह गया।

मर्यादा विस्मय से अपने इस पुत्र को देखती रही। अभी मात्र सोलह वर्ष का तो हुआ है विदुर; और संसार भर की बातें, सोचता और जानता है। मर्यादा ने तो कभी यह सब नहीं सोचा-समझा। उसके मार्ग में जो कुछ सहज रूप से आया, उसने उसे चुपचाप स्वीकार किया...पर अब उसे लगने लगा है कि पुत्र बड़ा हो रहा है। उसकी बुद्धि, माता की बुद्धि से अधिक विकसित है; उसका शरीर, माता के शरीर से अधिक सक्षम है; उसने माता से अधिक संसार देखा है...जैसे-जैसे समय बीतता जायेगा, यह अन्तराल बढ़ता ही जायेगा। अब तक पुत्र आश्रित था, माता उसकी अभिभावक थी; किन्तु अब माता आश्रित हो जायेगी और पुत्र उसका अभिभावक होता जायेगा। मर्यादा का हृदय कृतज्ञता से विगलित हो गया...किस-किसके प्रति...'हे प्रभु! तेरा कोटिशः आभार। तूने मुझ जैसी अकिंचन दासी को ऐसा पुत्र दिया...।'...उसे लगा, उसका मन महामुनि के भी चरणों में लोट रहा है, जिन्होंने यह जानते हुए भी कि वह महारानी अम्बिका नहीं, दासी मर्यादा है–उसे यह पुत्र दिया।...वह महारानी अम्बिका की भी कृतज्ञ थी, जिन्होंने उससे सखी-भाव बनाया और उसके जीवन में यह अवसर आया...और भीष्म! कैसे महान हैं भीष्म! जिन्होंने इस दासी-पुत्र को कभी राजकुमारों से कम नहीं माना...

"और यह धृतराष्ट्र तो बहुत ही दुष्ट है माँ!"

मर्यादा ने निषेध भरी आँखों से उसे देखा, "नहीं पुत्र! ऐसा कुछ नहीं कहते। वह तुम्हारा बड़ा भाई है।"

"तभी तो कह रहा हूँ।" विदुर बोला, "या तो मान ले कि वह नेत्रहीन है, इसलिए लक्ष्य-वेध-प्रतिस्पर्धा में भाग नहीं लेगा।...मैं तो ऐसी किसी प्रतिस्पर्धा में भाग लेता ही नहीं। किन्तु वह एक ओर तो पाण्डु से स्पर्धा करेगा और दूसरी ओर कोई-न-कोई याचना करता रहेगा।"

"क्या हुआ पुत्र?"

"पाण्डु ने कहा भी कि हम क्रीड़ा के लिए आये हैं, मन बहला कर लौट जायेंगे। इसमें स्पर्धा का प्रश्न ही कहाँ है। किन्तु धृतराष्ट्र उसके पीछे ही पड़ गया कि दिखायी नहीं देता तो क्या हुआ, वह लक्ष्य-वेध में पाण्डु से अधिक दक्ष है। अन्ततः प्रतिस्पर्धा का अवसर आ गया। तब धृतराष्ट्र ने कहा कि पाण्डु भी आँखों पर पट्टी बाँध ले। पाण्डु सहमत हो गया माँ!"

"उसने ठीक ही किया पुत्र!" मर्यादा बोली, "धृतराष्ट्र बड़ा भी है, और नेत्रहीन भी! उसका मन तो रखना ही चाहिए।"

"पाण्डु उसका मन रखे, यह तो ठीक है माँ! किन्तु धृतराष्ट्र यह समझे कि वह पाण्डु से श्रेष्ठ धनुर्धर है; और पाण्डु को हीन मान कर बार-बार उस पर व्यंग्य करे। यह सब तो अनुचित है माँ!"

"है तो अनुचित ही पुत्र! पर वह अपनी हीनता को ढँकने का प्रयत्न करेगा ही।" मर्यादा ने पुत्र को टाला, "इसे छोड़ो। प्रतिस्पर्धा में क्या हुआ?"

"धृतराष्ट्र ने कहा कि पाण्डु की आँखों पर पट्टी बाँधने का भी कोई लाभ नहीं है, क्योंकि वह अपनी आँखों से उस लक्ष्य को भली प्रकार देख चुका है। इसलिए धृतराष्ट्र उससे दस डग आगे रह कर बाण चलायेगा। पाण्डु ने यह भी स्वीकार कर लिया। पाण्डु ने दस डग पीछे से भी लक्ष्य-वेध किया। धृतराष्ट्र का बाण वन के वृक्षों में कहीं खो गया। किन्तु धृतराष्ट्र यह स्वीकार करने को ही तैयार नहीं था, कि उसका बाण लक्ष्य पर नहीं लगा। सबके एक स्वर में कहने पर अन्ततः वह यह तो मान गया; किन्तु इस बात पर अड़ गया कि उसे दस डगों के स्थान पर पन्द्रह डग आगे रह कर बाण चलाने का अवसर दिया जाना चाहिए था।"

"तो उसे पन्द्रह डग आगे खड़ा कर देते। पाण्डु का क्या बिगड़ जाता। उस बेचारे नेत्रहीन बालक का मन बहल जाता।"

"कहती तो ठीक हो माँ! मेरे मन में भी दया उमड़ती है, तो मैं भी यही सोचता हूँ। जब उसे इस प्रकार अड़ते देखता हूँ, तो सोचता हूँ कि वह तो किसी-न-किसी कारण से लड़ने का प्रपंच करेगा ही। उसकी दुष्टता के लिए पाण्डु को क्यों दण्डित किया जाये...और कब तक दण्डित किया जाये। उसमें तो एक बार भी बड़प्पन नहीं जागता। कभी तो वह भी छोटे भाई के प्रति उदार हो।"

"तुमसे तो स्पर्धा नहीं करता धृतराष्ट्र?"

"नहीं! मुझसे स्पर्धा नहीं करता–एक तो मैं स्वयं को शस्त्रधारी नहीं गिनता, दूसरे वह मुझे राजकुमार नहीं, दासी-पुत्र मानता है।"

"वह तुम्हें जो भी गिने पुत्र! पर तुम उसे सदा अपना बड़ा भाई मानना। उसका आदर करना। उसे सम्मान और प्रेम देना।" मर्यादा की आँखों में अश्रु आ गये, "उसकी माँ बड़ी अभागिनी है पुत्र! और मैं उसकी बहुत कृतज्ञ हूँ। धृतराष्ट्र को कुछ मत कहना, नहीं तो उसकी माँ का मन दुखेगा।"

"मैं तो उसे कुछ नहीं कहता माँ!" विदुर बोला, "वह ही कभी-कभी अपने राजसी दम्भ में बहुत कुछ बुरा-भला कह देता है।"

"ऐसे में तुम क्या करते हो पुत्र?"

"मैं चुपचाप दूर हट जाता हूँ। समझ जाता हूँ कि उसके रक्त में मत्सर की मात्रा कुद अधिक हो गयी है। जब शान्त होगा, मत्सर कुछ नमित होगा। अपने आप मुझे बुलायेगा, तो चला जाऊँगा।"

"तो वह स्वयं बुलाता है?"

"हाँ! बुलाता भी है; और फिर वही जताता है!"

"तो वह दुष्ट तो नहीं पुत्र!"

"नहीं! दुष्ट नहीं है, किन्तु पाखण्डी है। उसकी प्रकृति सरल नहीं है।"

"अच्छा छोड़ो इनको।" मर्यादा ने विषय बदल दिया, "जब तू मृगया के लिए जाता है; और तेरे बाण के सामने निरीह मृग और शशक आते हैं, तो तू क्या सोचता है?"

"मेरी वध की इच्छा नहीं होती माँ! मैं या तो बाण चलाता ही नहीं, या लक्ष्य की उपेक्षा कर जाता हूँ।" विदुर बोला, "इच्छा होती है कि अन्य लोगों को भी रोक दूँ–'व्यर्थ रक्तपात मत करो।' पर मैं जानता हूँ कि कोई मेरी बात नहीं मानेगा।...मैं जब अन्याय, हिंसा और क्रूरता को रोक नहीं सकता, तो उसका सहयोगी क्यों बनूँ? सच कहता हूँ माँ! यदि मुझमें क्षमता होती तो मैं मृगों की ओर से राजकुमारों के विरुद्ध लड़ता। किन्तु वह कर नहीं सकता; इसलिए एक प्रकार से निष्क्रिय हो कर, एक ओर बैठ जाता हूँ।..."

"तेरे मन में कभी यह लालसा तो नहीं जागती विदुर! कि तू भी उन्हीं के समान राजकुमार होता?" मर्यादा ने पूछा।

"नहीं माँ! मैं तो सोचता हूँ कि अच्छा है कि मैं राजकुमार नहीं हूँ; नहीं तो मुझे भी व्यर्थ में रक्तपात करना पड़ता। स्वार्थ के लिए अन्याय का समर्थन करना पड़ता। सत्य से अधिक पाखण्ड से प्रेम करता। तृष्णा, अधिकार-लालसा, प्रतिस्पर्धा–यह सब मानवता का शृंगार नहीं है माँ! इनसे किसी का न उद्धार होता है, न उत्थान! इनसे पतन ही होता है।"

"आर्य भीष्म को देख!" मर्यादा ने पुत्र के मन की थाह लेने के लिए कहा, "वह तो वास्तविक राजकुमार हैं; किन्तु उनमें तो ऐसा कोई दोष नहीं है, जिन्हें तू गिन रहा है।"

विदुर ने एक क्षण के लिए माँ को अपनी आँखों से तौला, फिर बोला, "सत्य कहूँ माँ! तुझे बुरा तो नहीं लगेगा?"

"बोल पुत्र! तू सत्य ही बोल!" मर्यादा बोली, "मुझे बुरा लगे, तो भी सत्य ही बोल।"

"महाराजकुमार भीष्म में मुझे कोई दोष नहीं दिखता। वह मानवीय गुणों की उदात्त मूर्ति हैं; किन्तु माँ...।"

मर्यादा ने प्रश्नवाचक दृष्टि से उसे देखा।

"वह पितामही की तृष्णाओं के वाहक तो बने ही हैं। उन्हें राजमाता की प्रत्येक उचित-अनुचित बात का समर्थन तो करना ही पड़ा है।" विदुर बोला, "मुझे भय है कि कहीं वह धृतराष्ट्र के पाप के भी वाहक न बनें।..."

मर्यादा ने एक भीत और आशंकित दृष्टि से विदुर को देखा और फिर उसे अंक में भर लिया, "तू सत्य कहता है मेरे लाल!"

"तू खिन्न क्यों है पुत्र?" अम्बालिका ने पाण्डु से पूछा, "लोग मृगया से लौटते हैं, तो प्रसन्न होते हैं।"

"मृगया में उनके साथ धृतराष्ट्र नहीं होता।" पाण्डु ने अप्रत्यक्ष रोष के साथ कहा।

"धृतराष्ट्र नहीं! भैया कह।" अम्बालिका ने उसे टोका।

"हाँ! हाँ!! भैया।"

"क्या हुआ भैया को?"

"भैया को क्या होना है।" पाण्डु बोला, "जो कुछ होना है, वह तो मुझे ही होना है। एक तो छोटा हूँ; दूसरे नेत्र

हैं मेरे पास! मैं देख सकता हूँ न!"

"कैसी बातें कर रहा है तू?" अम्बालिका बोली, "छोटा होना तो सदा सुविधा का कारण होता है। देख तो, मैं अपनी बहनों में छोटी हूँ, तो सदा वे मेरी रक्षा करती आयी हैं। मैं उनकी ओट में छिप कर ही सदा कठिनाइयों से बचती रही।" अम्बालिका ने कुछ चकित दृष्टि से पुत्र को देखा, "और आँखें तो सौभाग्य का चिह्न हैं पुत्र! आँखें न होने के कारण, देखा नहीं बेचारे धृतराष्ट्र को–कैसा कठिन जीवन है उसका!"

"आँखें ने होने से बहुत सुविधा है भैया को।" पाण्डु बोला, "जो काम न करना चाहे, उसके लिए उनके पास एक ही उत्तर है–मैं देख नहीं सकता। मैं यह काम कैसे करूँगा। और जो कुछ उन्हें चाहिए, उसकी माँग का उनके लिए सब से प्रबल कारण है–मैं देख नहीं सकता, तो मुझे यह वस्तु भी नहीं मिलेगी?..."

"क्षुब्ध मत हो पुत्र!" अम्बालिका ने अपने स्नेह से उसे शांत करना चाहा, "मुझे बताओ कि हुआ क्या है?"

पाण्डु ने भी स्वयं को थोड़ा शांत किया। वह बहुत शीघ्र आवेश में आ जाता था; और यह उत्तेजना उसके मस्तिष्क और स्नायु-मण्डल को त्रस्त कर देती थी। पुनः सहज होने में कितना समय लग जाता था पाण्डु को।

"मैंने आज अपने बाणों से दो मृग मारे।" पाण्डु धीरे-से बोला, "भैया के बाण से कोई आहत तक नहीं हुआ। भैया दुखी थे। मैंने कहा, चिन्ता मत करो। शिविर में लौट कर मैं कह दूँगा कि एक मृग उनके बाण से मरा है। सेवकों और परिचारकों में उनका सम्मान बना रहेगा। मेरी इस बात से वह आश्वस्त हुए। धीरे-धीरे वह मुझसे सहज रूप में बातें भी करने लगे; और तब बोले, 'पाण्डु! क्या ऐसा नहीं हो सकता कि तुम कह दो कि दोनों मृग मैंने ही मारे हैं। तुम्हारी धनुर्विद्या को तो सब जानते ही हैं। तुम्हारा सम्मान तो कम होगा नहीं, मेरा सम्मान थोड़ा बढ़ जायेगा।'...मैं उनकी बात सुन कर अवाक् रहा गया। वह यह क्यों समझ नहीं पाते कि यदि मैं ऐसा कुछ कहता हूँ तो मेरी स्थिति कितनी उपहासास्पद हो जायेगी। उन्होंने नेत्रहीन हो कर दो-दो मृग मारे, और मैंने नेत्रवान हो कर एक भी नहीं।...मैंने उन्हें समझाने का प्रयत्न किया। किन्तु वह कहाँ मानते हैं। चिढ़ते चले गये। पहले दीन हो कर रुआँसे हो गये–'मैं देख नहीं सकता, इसलिए सब मेरी अवहेलना करते हैं। मेरी भी आँखें होतीं, तो तुम देखते कि मैं कैसी मृगया करता। हाँ!...जन्मान्ध का कोई क्यों साथ देगा...' जब मैं इतने पर भी सहमत नहीं हुआ, तो व्यंग्य करने लगे। '...कोई बहुत दक्षता की बात नहीं है, दो मृगों को मार गिराना। आँखें होने पर, साधारण वनवासी भी दो-दो मृग गिरा सकता है। बात तो तब है कि मेरे ही समान आँखें न हों और तब बाण-सन्धान करो।' और उसके पश्चात क्षोभ में अपना सिर पीटने लगे, 'सब जानते हैं कि मैं अन्धा हूँ। देख नहीं पाता। मृगया में मेरा क्या काम! पर नहीं। ये लोग मेरा अपमान करने के लिए अवश्य ही मुझे साथ लायेंगे। सब लोग मुझे जताना चाहते हैं, कि मैं अन्धा हूँ, विकलांग हूँ, निकम्मा हूँ...।' मैंने समझाने के लिए कहा, भैया!...उन्होंने मेरा हाथ झटक दिया, 'मत कहो मुझे भैया! कोई नहीं है मेरा भाई। कोई मुझसे प्रेम नहीं करता। मैं इतना प्रेम करता हूँ इससे। और यह है कि लोगों की दृष्टि में मेरा सम्मान बचाए रखने के लिए इतना-सा त्याग भी नहीं कर सकता।'..."

"फिर क्या हुआ?" अम्बालिका ने पूछा।

"होना क्या था।" पाण्डु बोला, "एक ही रट थी उनकी, 'मुझसे थोड़ा-सा भी प्रेम है तुमको, तो ये दोनों मृग मुझे दे दो'।"

अम्बालिका कुछ बोली नहीं, उसे देखती रही।

"और फिर बोले, वह इतना प्रेम करते हैं मुझसे–इसलिए मैं दोनों मृग उन्हें दे दूँ।...देखा आपने उनका तर्क: मैं उनसे प्रेम करता हूँ, इसलिए मृग उन्हें दे दूँ। वह मुझसे प्रेम करते हैं, इसलिए मृग उन्हें दे दूँ। प्रेम की एक ही कसौटी है उनकी, कि मैं उनकी इच्छाएँ पूरी करता रहूँ। वह भी कहीं थोड़ा-बहुत मेरा ध्यान कर सकते हैं–ऐसा उनका प्रेम नहीं कहता।"

"तुम्हारा झगड़ा निबटा कि नहीं?" अम्बालिका ने मुस्कुरा कर पूछा।

"झगड़ा तो निबटाना ही था। निबटा दिया मैंने।" पाण्डु के स्वर में झगड़ा निबटने का सन्तोष नहीं था।

क्या किया तुमने?

"दोनों मृग दे दिये उन्हें।...और जब शिविर पर मित्र लोग मेरी कोमलता का परिहास कर रहे थे, भैया धृतराष्ट्र मंद-मंद मुस्कुरा रहे थे, जैसे वे मृग सचमुच उन्होंने ही मारे हों।"

अम्बालिका के चेहरे पर चिन्ता की रेखाएँ उभरीं: यदि पाण्डु इसी प्रकार सारा जीवन धृतराष्ट्र को सन्तुष्ट करता रहेगा, तो भोग पायेगा अपने जीवन को!

"उनसे समझौता करने की तो कब एक ही विधि है," पाण्डु बुदबुदा रहा था, "जो उनका है, वह उनको दे दो; और जो उनका नहीं है, वह भी उनको दे दो।"

"ओह! मेरे प्रभु।" अम्बालिका को लगा, उसे चक्कर आ गया है।

"धृतराष्ट्र! तुम्हारे कारण मृगया में लोगों को असुविधा तो नहीं हुई?" अम्बिका ने, मृगया से लौट कर सुस्ताते हुए धृतराष्ट्र से पूछा।

धृतराष्ट्र की ज्योतिहीन आँखें माँ की ओर उठीं। उनमें कोई भाव नहीं था; किन्तु चेहरे पर थोड़ा विरोध झलका। अगले ही क्षण जैसे किसी ने गीले कपड़े से चेहरे के वे सारे कठोर, विरोधी और तिक्त भाव पोंछ डाले। उसके चेहरे पर अत्यन्त कोमल, दीन और याचक के-से भाव आ विराजे। उसने बहुत मधुर वाणी में कहा, "माँ! मैं अभागा जन्मान्ध किसी को क्या परेशान करूँगा। परेशान तो वे लोग मुझे करते हैं। भला जिसे दिखायी तक न देता तो, उसे मृगया में ले जाने का क्या तर्क है। पर उनकी इच्छा...।"

अम्बिका अब तक अपने पुत्र की यह विनीत मुद्रा अच्छी तरह पहचानने लगी थी। और वह धृतराष्ट्र को जितना पहचानती जाती थी, उतना ही वह उसे पराया लगने लगा था। बाहर का संसार उसके लिए अन्धकारमय है; किन्तु अपने हृदय के अन्धकार में उसने एक दूसरा ही संसार बसा रखा है। वह संसार अम्बिका के लिए एकदम अपरिचित है। वह जब चेहरे पर एक दीन-याचक मुस्कान चिपका कर, इतने मधुर कण्ठ से बोलता है, तो अम्बिका के तन-बदन में आग लग जाती है। यह धृतराष्ट्र अब माँ से भी छल-छन्द करना सीख गया है।...और ऐसे ही क्षण में वह उसे अपना पुत्र नहीं लगता—वह उसे सत्यवती का पौत्र-मात्र दिखायी देता है...

"धृतराष्ट्र! तुम यह नाटक मेरे सामने मत किया करो।" अम्बिका के स्वर में रोष उभर आया, "क्या मैं नहीं जानती कि तुम्हें वे अपनी क्रीड़ा अथवा मृगया में सम्मिलित न करें, तो तुम कैसा बवण्डर मचाते हो। तब तुम कहने लगते हो कि तुम जन्मान्ध हो, इसलिए कोई तुमसे प्रेम नहीं करता; कोई तुम्हें पास बैठाना नहीं चाहता; कोई तुमसे बात करना नहीं चाहता...।"

"तो क्या अनुचित कहता हूँ।" धृतराष्ट्र बोला, "देखा नहीं तुमने, पाण्डु सदा कहता है कि वह मुझसे प्रेम करता है। पर कैसा प्रेम करता है, जानती हो?"

"वह सचमुच तुमसे बहुत प्रेम करता है।" अम्बिका बोली।

"हाँ! बहुत प्रेम करता है।" धृतराष्ट्र ने मुँह बनाया, "मृगया के लिए ले जा कर बीहड़ वनों में मुझे धकेल देगा। मृग मेरे बाणों से मरेंगे। पर नेत्रहीन हूँ न! देख नहीं सकता। उन लोगों के समान भाग-दौड़ नहीं सकता। इसलिए वे दौड़ कर जायेंगे। मृग को घसीट लायेंगे; और घोषणा कर देंगे कि मृग को उन्होंने मारा है।"

अम्बिका ने बलात अपने आक्रोश को दबाया, "तुम्हें कैसे मालूम है कि मृग तुम्हारे ही बाण से मारा गया?"

"मैं जानता हूँ।" धृतराष्ट्र पूरे आत्मविश्वास के साथ बोला, "जब मृग को बाण लगता है, वह चीत्कार कर, गिर पड़ता है, तो मैं जान जाता हूँ कि मृग को मेरा ही बाण लगा है।"

अम्बिका समझ नहीं पायी कि वह धृतराष्ट्र को अबोध मान कर उसके हट पर हँसे या इसे उसकी धूर्त्तता मान कर उसके प्रति अपना रोष प्रकट करे। जाने, वह जानते-बूझते अपनी हीनता की क्षति-पूर्ति के लिए: ऐसी बातें करता है, या अपने मन की इच्छाओं के जाल में अपनी अन्धी आँखों के स्वप्नों को पक्षियों के समान पोषित करता रहता है।

उसे पुत्र पर दया आ गयी। क्यों वह सत्य का साक्षात्कार करना नहीं चाहता। क्यों वह स्वीकार नहीं करता कि यह सब उसके लिए असम्भव है; उसका जीवन क्षत्रिय राजकुमारों की गतिविधियों से स्पर्धा नहीं कर सकता। यदि वह सचमुच अपनी अन्धी निष्ठा में अपने मन की इन असम्भव कल्पनाओं को सत्य मान कर पोषित करता रहेगा तो उसका भावी जीवन और भी कठिन, जटिल और विकृत होता जायेगा। कहीं वह अपना मानसिक सन्तुलन ही न खो बैठे...

"क्या तुम्हारे बाण से आहत होने वाले मृगों का चीत्कार, अन्य मृगों से भिन्न होता है?" अम्बिका ने पूछा।

"हाँ!" धृतराष्ट्र अपने स्थान से तनिक भी डिगने के लिए प्रस्तुत नहीं था।

"तुम उस चीत्कार को कैसे पहचानते हो?"

"जन्मान्ध हूँ। इसलिए मुझे ध्वनियों से बहुत-कुछ जानने का अभ्यास है।" वह बोला, "जैसे मैं यह नहीं समझ सकता कि तुम वस्तुओं को आँखों से कैसे देखती हो, और कैसे पहचानती हो, वैसे ही तुम यह कैसे समझ सकती हो कि

मैं कानों से कैसे सुनता हूँ और कैसे पहचानता हूँ।"

"कान मेरे पास भी हैं।" अम्बिका बोली।

"आपके कान हैं: सनेत्रों के कान। नेत्रहीनों के कान नहीं।"

अम्बिका अवाक्-सी बैठी रही: कैसे समझाए, अपने इस पुत्र को कि यह हठ उसके लिए कल्याणकारी नहीं है।...

"और भी कोई प्रमाण है तुम्हारे पास," अन्ततः वह बोली, "अपने कानों के अतिरिक्त!"

"हाँ!" वह बोला, "जब वे अगली मृगया में मुझे फिर आमन्त्रित करते हैं, तो मैं समझ जाता हूँ कि वे मेरे मारे हुए मृगों को भूले नहीं हैं। यदि मुझे साथ ले जाने का उन्हें कोई लाभ न होता, तो वे क्यों आग्रहपूर्वक मुझे निमन्त्रित करते?"

"ओह?" अम्बिका के मुख से निकला।...एक बार व्यक्ति, एक भ्रम को सत्य मान ले तो जैसे उसके प्रमाण उसे मिलते ही चले जाते हैं।...

"पर वहाँ अन्य लोग भी होते हैं।" अम्बिका ने उसके साथ तर्क करने का प्रयत्न किया, "स्वयं महाराजकुमार भीष्म वहाँ होते हैं। वह अन्याय सहन नहीं करेंगे। ऐसा सम्भव ही नहीं है कि तुम्हारे बाण से मरे मृग को कोई और अपना बता दे।"

अम्बिका को लगा, धृतराष्ट्र जैसे चिल्ला पड़ेगा। उसका मुख आवेश से लाल हो गया था। किन्तु वह चिल्लाया नहीं। अम्बिका के देखते-देखते, उसका लाल मुख काला हो गया–जैसे तपाया हुआ लोहा, पानी में डाल दिया गया हो। अम्बिका ने पहली बार अनुभव किया कि मन में विकृत भाव हों, तो चेहरा कैसे विकृत हो जाता है।...

"भीष्म! महाराजकुमार भीष्म!" धृतराष्ट्र जैसे आने दाँत पीस रहा था, "जिस व्यक्ति ने मेरा राज्य उठा कर पाण्डु को दे दिया, वह एक मरे हुए मृग के लिए मेरा पक्ष लेगा!"

अम्बिका के वक्ष पर जैसे किसी ने ज़ोर का घूँसा दे मारा हो। उसकी आँखें फटी-की-फटी रह गयीं: यह उसका पुत्र है। अम्बिका का पुत्र! कुछ क्षणों तक उसका मस्तिष्क जैसे जड़ हो गया, जिह्वा निस्पन्द हो गयी। एक शब्द भी नहीं निकला, उसके मुख से।...

जब चेतना कुछ लौटी तो, वह क्रोध से बोली, "यह राज्य तेरा कैसे हो गया रे?"

"मैं सम्राट विचित्रवीर्य का ज्येष्ठ पुत्र हूँ। युवराज बनने का अधिकार केवल मेरा था।"

अम्बिका के मन में आया कि खींच कर एक चाँटा इस नेत्रहीन मूर्ख के गाल पर लगाये: जड़-मूर्ख! सम्राट विचित्रवीर्य का ज्येष्ठ पुत्र...

"सम्राट शान्तनु के ज्येष्ठ पुत्र ने तो कभी नहीं कहा, कि कुरु साम्राज्य उनका है, जो कि वस्तुतः है।" अम्बिका बोली, "और तुम, जो उनकी दया पर पल रहे हो, तुम उनके विषय में यह सोचते हो।"

"उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि वह राज्य नहीं करेंगे।" धृतराष्ट्र उसी आक्रोश के साथ बोला, "मैंने ऐसी कोई प्रतिज्ञा नहीं की है।..."

"तेरे लिए प्रकृति ने प्रतिज्ञा की है कि तू राज्य नहीं करेगा।" अम्बिका उसी आवेश के साथ बोली, "ईश्वर तुझे शासक बनाना चाहता, तो तेरे नेत्रों की ज्योति क्यों छीन लेता।"...

"ईश्वर ने नहीं छीनी मेरे नेत्रों की ज्योति...।" धृतराष्ट्र रुक गया।

"तो किसने छीनी है–मैंने?"

धृतराष्ट्र जैसे अपनी वाणी के प्रवाह को बाँधने का प्रयत्न कर रहा था।

"बोल! बोलता क्यों नहीं!" अम्बिका चिल्लाई।

"हाँ तुमने।" बाँध टूट गया; जल-प्रवाह बह चला, "मुझे पितामही ने सब कुछ बता दिया है, तुम नहीं चाहती थीं कि मेरा जन्म हो। तुमने भूखी रह-रह कर और कष्ट सह-सह कर, मुझे अन्धा कर दिया। तुम तो चाहती थीं कि मेरे प्राण ही निकल जायें; किन्तु ईश्वर की इच्छा यह नहीं थी। तुम्हारे सारे प्रयत्नों के पश्चात भी मैं जीवित रहा माँ!...और...और..."

"और क्या?"

"और तुम देखना। तुम्हारे, मौसी अम्बालिका के, पाण्डु के और स्वयं भीष्म के प्रयत्नों के पश्चात भी मैं हस्तिनापुर पर राज्य करूँगा। मुझे कोई नहीं रोक सकेगा..."

अम्बिका को लगा, या तो धृतराष्ट्र उन्मादावस्था में बक रहा है, या उस पर किसी पिशाच का आवेश आ गया है...

"मेरा मन ठीक ही कहता है", अम्बिका का स्वर बहुत शान्त था, "कि तू मेरा पुत्र नहीं, अपनी पितामही का ही पौत्र है...।"

"हाँ! हाँ!! मैं पितामही का ही पौत्र हूँ।" धृतराष्ट्र का स्वर और ऊँचा उठ गया, "वह तुम्हारा पुत्र होने से कहीं अधिक गौरवपूर्ण है। वह निषाद-कन्या हो कर आज राजमाता बनी बैठी हैं, और तुम राजकन्या हो कर यहाँ एक बन्दिनी मात्र हो–एक साधारण दासी के समान! मुझे तो खेद इसी बात का है, कि मैं तुम्हारा पुत्र क्यों हूँ...।"

सहसा धृतराष्ट्र उठ खड़ा हुआ। उसने अपनी छड़ी उठायी। दो बार फर्श पर बजायी और अपने जाने-पहचाने मार्ग पर धीरे-धीरे चलता हुआ, कक्ष से बाहर निकल गया।

अम्बिका अपने स्थान पर बैठी रह गयी, जैसे उसके प्राण किसी ने खींच लिए हों।...

जाने कितना समय लग गया, उसे अपना आपा लौटाने में: और जब अपने आपे में लौटी तो वह अपने-आपसे एक प्रश्न पूछ रही थी, 'क्या सचमुच सत्यवती की उपलब्धि मुझसे बड़ी है?'

...और उसे लगा कि जिस प्रकार दूसरों को वंचित कर, सत्यवती निषाद कन्या से राजमाता बनी है; अवसर मिलने पर भी अम्बिका उस मार्ग पर नहीं चलेगी। अपना जीवन उसे दूसरी बार भी जीना पड़े, तो भी वह अपने ही मार्ग पर चलेगी, सत्यवती के मार्ग पर नहीं...उसे न अपने किये पर कोई पश्चात्ताप था, और न अपने चिन्तन में कोई विकार दिखायी दे रहा था...

भीष्म स्वयं ही चकित थे: जाने कैसे उनके मन में यह धारणा जम गयी थी कि पाण्डु का राज्याभिषेक करके उनका दायित्व समाप्त हो जायेगा और वह अपनी इच्छा का शान्त और एकान्त जीवन व्यतीत करने को स्वतन्त्र होंगे। क्या हो गया दायित्व समाप्त?...क्या अब वह हस्तिनापुर को छोड़ कर जा सकते हैं? क्या अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए, उनका हस्तिनापुर में रहना अब आवश्यक नहीं है? क्या माता सत्यवती को दिया गया वचन पूरा हो गया?...

वह मन-ही-मन हँसे। स्वयं ही सोचा और उसे सत्य मान लिया। इस ओर ध्यान ही नहीं गया कि यह सब उनकी अपनी इच्छाओं की मृग-तृष्णा है...वह माता सत्यवती के पास पहुँचे थे...

"माता! पाण्डु का राज्याभिषेक हो गया है। विचित्रवीर्य का पुत्र सम्राट के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है।...अब अनुमति हो तो, मैं हस्तिनापुर छोड़ कर...।"

सत्यवती समझ गयी, "संन्यास लेना चाहते हो?"

"हाँ, माता!"

"पुत्र भीष्म!" सत्यवती का स्वर बहुत मधुर था, "हस्तिनापुर के घर-घर घूम जाओ। एक-एक बालक से पूछो। तब तुम्हें पता लगेगा कि तुम तो कब का सन्यास ले चुके। कोई कोर-कसर शेष है क्या तुम्हारे संन्यास में! राजप्रासाद में रहते हो और भूमि पर शयन करते हो। तुम्हारे दास-दासियाँ राज-भोज खाते हैं और तुम तपस्वियों का-सा भोजन करते हो। राज-कर्मचारी, दास-दासियाँ, प्रजा–सब नाना प्रकार के भोगों और मनोरंजनों में आसक्त होते हैं और तुम अपनी साधना में रत रहते हो। साधारण-से-साधारण दण्डधर भी अपने अधिकार का उपभोग करता है, और तुम सम्राटों के नियन्ता हो कर भी, राज्याधिकार का अंश तक ग्रहण नहीं कर रहे। राज-वैभव में रहते हो और तुम्हें न राज्य का लोभ है, न वैभव का मद! सन्यासी तो तुम हो ही!"

भीष्म हँसे, "यह संन्यास कहाँ है माता! चारों ओर तो सांसारिक प्रपंच है। एक क्षण के लिए भी तो ध्यान ब्रह्म में रम नहीं पाता। इसे संन्यास कैसे माना...।"

"यह संन्यास से भी कठिन साधना है भीष्म!" सत्यवती बोली, "द्वैपायन कहता था, वह इस परिवेश में नहीं रह सकता। तुम संन्यासी हो कर भी इस परिवेश में रह रहे हो। तुम्हारी साधना उससे भी कठोर है।"

"मैं माता प्रकृति की गोद में जाना चाहता हूँ।" भीष्म धीर-से बोले, "मानव-निर्मित नगर में व्यक्ति ईश्वर की विराटता को विस्मृत कर बैठता है। वह विराट् प्रकृति ही है, जो उस विराटता का साक्षात्कार कराती है और मनुष्य को उसकी तुच्छता से मुक्त करती है।"

इस बार सत्यवती कुछ नहीं बोली। मौन बैठी भूमि को ताकती रही।

"आप सहमत नहीं हैं माता?" भीष्म ने पूछा।

"मैं तुम्हारी पीड़ा समझती हूँ पुत्र!" सत्यवती बोली, "और इस बार मैं तुम्हें तुम्हारा वचन भी याद नहीं दिला रही। वचन के अनुसार तुमने पाण्डु को सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया है...और वचन में से यदि कुछ शेष भी हो, तो मैं तुम्हें उससे मुक्त करती हूँ! किन्तु पुत्र!..."

भीष्म ने सत्यवती की ओर देखा।

"धृतराष्ट्र जन्मान्ध है। विदुर पोथी-चतुर ज्ञानी है। रह गया एक पाण्डु–जो ठण्डी हवा के झोंके से भी अस्वस्थ हो जाता है। मैंने चित्रांगद और विचित्रवीर्य को भी सिंहासन पर बैठते देखा है पुत्र! किन्तु क्या हुआ–एक को शत्रु खा गया और एक को रोग लील गया।...अब इतनी कठिनाई से तो इस पाण्डु को पाया है। तुम समझते हो कि वह इतना समर्थ हो गया है कि वह द्वैषी राजाओं से लड़ लेगा, कुरु-प्रमुखों की कूट-नीति को झेल लेगा और रोगों के आक्रमणों को ध्वस्त कर देगा?" सत्यवती ने भीष्म को सीधे देखा, "वह अभी मात्र एक तरुण ही तो है। विवाह तक नहीं हुआ उसका। एक युद्ध तक का अनुभव नहीं है उसे। और आपत्ति-विपदा में कौन है उसके सिर पर? एक अन्धा, अनुत्तरदायी भाई, जीवन के प्रति वीतराग माता, और वृद्धावस्था के द्वार पर खड़ी मैं असहाय अभागिनी...।"

"ऐसा न कहो माता!"

"कहने दो पुत्र!" वह बोली, "हमारे सिर पर कौन है?"

भीष्म कुछ देर बैठे सोचते रहे, और फिर उठे, "अच्छा माता!"

"क्या निश्चय किया?"

"माता! यद्यपि तुमने भी मुझे मुक्त कर दिया है; पिता ने भी मुझे इच्छा-मुक्ति का वरदान दिया था; किन्तु...कदाचित अभी मेरी मुक्ति का समय नहीं आया।"

"यही तो मैं कह रही हूँ।"

भीष्म अपने प्रासाद में चले गये।...उनके मन में कहीं स्पष्ट होता जा रहा था कि यह संसार तो चक्र है, यह चलता ही रहेगा। ऐसा सम्भव नहीं है कि चक्र रुक जाये और भीष्म मुक्त हो जायें।...जब कभी भी वह चाहेंगे, उन्हें इस चलते चक्र से ही कूदना पड़ेगा...

ठीक कहा था माता ने...पाण्डु भी चित्रांगद के ही समान है। भीष्म जैसे युवराज के होते हुए भी शान्तनु चिन्तित हो उठे थे...पाण्डु का तो अभी विवाह भी नहीं हुआ। पाण्डु का विवाह हो। उनकी सन्तान हो। शान्तनु का वंश भी गंगा की अजस्र धारा के समान बहता हुआ दिखायी दे...तब कदाचित भीष्म का दायित्व पूरा हो सके...

"महाराजकुमार!" प्रतिहारी ने आ कर प्रणाम किया।

भीष्म ने जैसे अपने विचारों को झटक कर उसकी ओर देखा।

"महारानी अम्बिका पधारी हैं।"

"सम्मानपूर्वक लिवा लाओ।" भीष्म चकित भी थे और चिन्तित भी। अम्बिका उनके प्रासाद में...।

अम्बिका ने आ कर उन्हें प्रणाम किया।

"पधारो!" भीष्म के मुख से इतना ही निकला।

अम्बिका मुस्कुरायी, "आप चकित होंगे कि मैं यहाँ क्यों आयी!"

उसकी मुस्कान देख, भीष्म आश्वस्त हुए: चिन्ता की कोई बात नहीं थी।

"आज पहली बार आपके प्रासाद में प्रवेश करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।"

भीष्म विस्मित थे: अम्बिका का यह रूप उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था–वह तो चुपचाप, संकुचित, सोती हुई-सी बच्ची के समान थी, जो बड़ों के सामने मुख नहीं खोल सकती थी।...पर आज वह छोटी बच्ची जैसे बड़ी हो गयी थी। वह उनसे एक वयस्क के समान मिलने आयी थी। कुछ वाचाल भी लग रही थी।...कितना अच्छा लगता है, बच्चों का बड़ा हो जाना। जब वे आश्रित न रह कर, अवलम्ब हो जाते हैं, मित्र बन जाते हैं। कैसा पुनर्नवा होता है उनका सम्पर्क, जैसे ऊर्जा का स्रोत पुनर्जीवित हो जाता है...पर तभी तक, जब तक वे लोग उद्दण्डता पर नहीं उतर आते...

"संयोग ही है।" भीष्म बोले, "अन्यथा मेरे प्रासाद में तुम्हारा प्रवेश निषिद्ध तो नहीं था।...सम्बन्ध से तुम मेरी अनुज-वधू हो, किन्तु वय की दृष्टि से तुम मेरी पुत्र-वधू के समान हो...यह तो मैं आज ही अनुभव कर रहा हूँ कि घर में पुत्र-वधू आती है तो श्वसुर को कैसी उत्फुल्लता होती है।"

अम्बिका का मन जैसे प्रफुल्लित हो उठा: हस्तिनापुर में उसका ऐसा स्वागत तो आज तक नहीं हुआ था।

"तात!" वह बोली, "समझिए कि इसी सम्बन्ध से आपको एक कष्ट देने आयी हूँ।" उसका स्वर कुछ धीमा हो गया, "आज तक अपनी समस्याओं को मैंने स्वयं ही सुलझाने का प्रयत्न किया है। समस्या सुलझ जाती, तो कोई बात ही नहीं–नहीं सुलझती, तो मैं उसकी ओर से आँखें बन्द कर लेती थी...जो होना है, हो ले...।"

भीष्म कुछ बोले नहीं। उसकी बात पूरी हो जाने की प्रतीक्षा करते रहे।

"किन्तु आज मैं आँखें बन्द नहीं कर सकी।" उसने कहा, "क्योंकि इससे मेरी नहीं, मेरे कुछ प्रियजनों की हानि होने की आशंका है।"

"किनकी हानि होने की आशंका है?" भीष्म अभी निर्णय नहीं कर पाये थे कि समस्या सचमुच गम्भीर है, या मात्र अम्बिका के कोमल मन की आशंका है।

"धृतराष्ट्र की, पाण्डु की, आपकी...।"

भीष्म कुछ गम्भीर हुए, "क्या बात है अम्बिके?"

"धृतराष्ट्र मेरा पुत्र अवश्य है," वह बोली, "किन्तु मेरे वश में नहीं है। मैं न उसके चिन्तन को अनुशासित कर पाती हूँ, न उसके व्यवहार को नियन्त्रित। इसलिए जो उसके मन में आता है, वह बोलता और करता है।...अपनी कल्पनाओं को ही नहीं, अपनी आशंकाओं और रोगी मन की विकृतियों को भी वह यथार्थ मान लेता है। उसी के अनुसार आचरण करने का प्रयत्न करता है।"

"यह तो उसके लिए स्वाभाविक ही है अम्बिके! प्रकृति ने उसे वंचित किया है, तो वह भी कहीं प्रकृति को वंचित करेगा ही।" भीष्म बोले, "किन्तु बात क्या है?"

"वह कहता है, 'मैं भीष्म नहीं, धृतराष्ट्र हूँ। मैंने राज्य और नारी का त्याग नहीं किया है। मेरा राज्य तो छीन कर पाण्डु को दे दिया है, पर अब यदि मेरा विवाह भी नहीं हुआ, तो मैं शान्त नहीं बैठूँगा'।"

भीष्म के कानों में जैसे कुछ सर्वथा अनपेक्षित और अकल्पनीय प्रवेश कर रहा था। उन्होंने कभी सोचा भी नहीं था कि कुरुकुल में जन्म ले कर, धृतराष्ट्र की अवस्था का कोई लड़का, इस प्रकार की बातें करेगा। अपनी इस अवस्था में भीष्म ने इस विषय में न कभी कुछ सोचा था और न परिवार के बड़ों के साथ कभी इस प्रकार की चर्चा की थी।...पर शायद समय पर्याप्त आगे बढ़ गया था। अब शायद भीष्म जैसे पुत्र नहीं होते, जो अपने जीवन को अपने माता-पिता की सम्पत्ति समझते हैं: अब शायद धृतराष्ट्र जैसे ही पुत्र होते हैं, जो अपने माता-पिता को अपनी सम्पत्ति समझते हैं...तो क्या करें भीष्म?...इस व्यवहार के लिए न धृतराष्ट्र को दण्डित किया जा सकता है, और न उसे त्यागा जा सकता है। वह भी इसी परिवार में रहेगा और भीष्म भी! वह कदाचित कुछ अधिक अधिकारपूर्वक रहेगा। भीष्म उसे सहन करेंगे। उसे परिवर्तित नहीं कर सकेंगे...तो स्वयं को परिवर्तित करेंगे...कैसी पीढ़ी में भीष्म ने जन्म लिया है, जिसने अपनी पिछली पीढ़ी के किसी अनुचित व्यवहार के विरुद्ध मुख नहीं खोला। अब वे अपनी अगली पीढ़ियों का अन्याय देखेंगे और चुप रहेंगे...क्योंकि वे उनसे विच्छिन्न हो नहीं सकते, उन्हें विच्छिन्न कर नहीं सकते...

"तो उसे विवाह से कौन रोक रहा है।"...भीष्म कह तो गये, किन्तु उनके ध्यान में यह बात आये बिना नहीं रही कि माता सत्यवती से चर्चा करने के पश्चात उनके मन मे भी केवल पाण्डु के विवाह की बात आयी थी। जन्मान्ध धृतराष्ट्र के विवाह की बात तो उन्होंने सोची ही नहीं थी।

"रोक तो कोई नहीं रहा।" अम्बिका का स्वर अत्यन्त शालीन था, "किन्तु वह जानता है कि किसी स्वयंवर में कोई राजकुमारी उसका वरण नहीं करेगी। कोई पिता अपनी कन्या का विवाह एक जन्मान्ध के साथ करने की बात नहीं सोचेगा। किसी कन्या का हरण वह कर नहीं सकता...।"

"उसे भय है कि वह अविवाहित रह जायेगा?"

"कुछ ऐसा ही है।" अम्बिका बोली, "वह स्वयं समर्थ नहीं है इसलिए उसके विवाह की व्यवस्था किसी और को करनी पड़ेगी। और वह 'कोई और' सिवाय आपके और कौन हो सकता है तात!"

भीष्म आज पहली बार अम्बिका से इतनी बात कर रहे थे, किन्तु वह अनुभव कर रहे थे कि मानसिक रूप से, कदाचित अम्बिका उनसे, उनकी अपेक्षा कहीं अधिक आत्मीय रही है...

"उसकी अपेक्षा कहीं बहुत अनुचित तो नहीं है।" भीष्म जैसे उसे आश्वासन दे रहे थे।

अम्बिका ने उन्हें विरोध और स्नेह, भर्त्सना और प्रशंसा की मिश्रित एक विचित्र दृष्टि से देखा, "उसकी अपेक्षाओं को रहने दीजिए। वह तो इसे अपना अधिकार समझता है।...पर तात! मैं अपनी दृष्टि से आपके विषय में सोचती हूँ, तो मुझे बड़ी पीड़ा होती है...।"

भीष्म ने उसे ऐसे देखा, जैसे कोई वयस्क, अपने किसी बालक को अपने लिए व्यर्थ चिन्ता करने पर देखता है, "कैसी पीड़ा!"

"कुछ अनुचित कह जाऊँ तो क्षमा करेंगे," अम्बिका बोली, "और कहीं आपका मन दुखा जाऊँ...।"

"नहीं! तुम कहो।" भीष्म बोले, "तुम्हारी किसी भी बात से मेरा मन नहीं दुखेगा पुत्री!" भीष्म की आँखों में भावुकता के आँसू आ गये।

अम्बिका के सारे शरीर में जैसे एक सिहरन दौड़ गयी।

"पहले आप पर एक वृद्ध के लिए युवती पत्नी जुटाने का भार पड़ा, उसके लिए जो मूल्य आपको चुकाना पड़ा–उसे हम सब जानते हैं।" उसने रुक कर भीष्म को देखा, "उसके पश्चात आपको एक निर्वीर्य रोगी के लिए पत्नियाँ जुटाने का कर्तव्य सौंपा गया, उसका जो मूल्य हमें चुकाना पड़ा–उसे आप जानते हैं।"

वह रुक गयी। कदाचित वह पहले भीष्म की प्रतिक्रिया देख लेना चाहती थी। वह इतने वर्षों में आज पहली बार अपना मुख खोल कर उनसे चर्चा कर रही थी...

"हाँ! हाँ!! बोलो!!!" भीष्म ने तनिक भी बुरा नहीं माना। तथ्यों का क्या बुरा मानना।

"इस बार एक जन्मान्ध, विकृत मस्तिष्क राजकुमार के लिए पत्नी जुटाने की समस्या है।..." वह रुक-रुक कर बोली, "यदि ऐसा सम्भव हो कि उसका मूल्य न आपको चुकाना पड़े...न उस कन्या को...।" और फिर जैसे उसने

अपना सम्पूर्ण आत्मबल समेट कर कहा, "तात! कृपा कर किसी कन्या का हरण कर, उसे ला धृतराष्ट्र की बाँहों में मत धकेल दीजिएगा। यह मेरी प्रार्थना है...।" अम्बिका की आँखों से अश्रु टपक पड़े।

अम्बिका को सान्त्वना देने के लिए भीष्म कुछ कहने ही जा रहे थे, कि रुक गये। अब उन्हें आवेश में कुछ नहीं कहना था।...थोड़ी देर के पश्चात वह बोले, "अम्बिके! मैं तुम्हारी समस्या समझ गया हूँ। जाओ धृतराष्ट्र को कह दो कि मैं जान गया हूँ कि वह भीष्म नहीं है। उसे संसार के भोग चाहिए। उन्हें वह स्वयं अपने लिए जुटा नहीं पायेगा–यह सूचना भी मुझे मिल गयी है। वह भोग उसके लिए जुटाये जायेंगे। राज्य, भोग नहीं है; इसलिए उसके लिए राज्य जुटाना मेरा धर्म नहीं है। राज्य का दायित्व है, जो उसी को सौंपा जाता है, जिसमें उसकी क्षमता हो। राज्य पर सबसे पहला अधिकार प्रजा का होता है।" वह रुके। उन्होंने अम्बिका पर एक भरपूर दृष्टि डाली और बोले, "यह कहना बड़ा कठिन है पुत्री! कि धृतराष्ट्र के विवाह का मूल्य किसी को नहीं चुकाना पड़ेगा; किन्तु प्रयत्न करूँगा कि यह मूल्य कम-से-कम हो।...और तुम्हें यह वचन देता हूँ कि अब धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर–किसी के लिए भी पत्नी उपलब्ध कराने के लिए किसी कन्या का हरण नहीं होगा।"

आभार से दबी हुई-सी; नत-मस्तक अम्बिका उठ खड़ी हुई, "आपके प्रति कृतज्ञता किन शब्दों में व्यक्त करूँ तात!" वह बोली, "आज जीवन में पहली बार बोध हुआ है कि मैं भी कुछ कर सकने में समर्थ हूँ।"

"तुम बहुत समर्थ हो अम्बिके! तुमने राजमाता सत्यवती का प्रतिरोध किया है। कौन कहेगा कि तुम असमर्थ हो।" भीष्म बोले, "सदा सुखी रहो।..."

"मुझे तो अब मुक्ति का आशीर्वाद दीजिए तात!" अम्बिका मंद स्वर में बोली, "इस कुरुकुल में बहुत सारा विष संचित हो गया है। भविष्य में और भी अधिक संचित होने की सम्भावना है। आशीर्वाद दीजिए कि उसके प्रभाव दिखाने से पहले ही संसार छोड़ जाऊँ।"

भीष्म की इच्छा हुई कि पूछें, 'कैसा विष?' किन्तु फिर कुछ सोच कर टाल गये, जाने अम्बिका किन रहस्यों को उद्घाटित करे। और भीष्म अब सोये हुए सर्पों की बाँबी में हाथ नहीं डालना चाहते थे। यदि सर्प थे भी और सोये हुए थे, तो अच्छा है कि वे सोये ही रहें। भीष्म की आँखों से ओट में ही रहें।

"मुक्ति तो सबको चाहिए।" भीष्म एक असहाय-से वृद्ध के समान कह रहे थे, "किन्तु मुक्ति का भी एक क्षण होता है अम्बिके!"

अम्बिका चली गयी; और भीष्म पुनः चिन्ता में डूब गये।...उनका चिन्तन कदाचित अपनी आवश्यकताओं तक ही सीमित रहा है। तभी तो उन्होंने केवल पाण्डु के विवाह की बात सोची थी। धृतराष्ट्र और विदुर के विवाह की चिन्ता, उन्होंने नहीं की थी। किन्तु, ये लड़के अब बड़े हो गये हैं। एक नयी पीढ़ी अब तैयार हो गयी है। विवाह तो इन सबका ही होना है। धृतराष्ट्र ठीक कहता है–वह भीष्म नहीं है। उसने राज्य और नारी त्याग की प्रतिज्ञा नहीं की है।...भीष्म की आँखों ने प्रकृति की क्रीड़ा के ऊपरी आडम्बर के नीचे की पीड़ा का संसार देखा है। इसलिए उन्होंने इस क्रीड़ा में भाग न लेने का निर्णय किया है। किन्तु शेष लोग तो खिलाड़ी हैं। वे खेलेंगे ही।...भीष्म खेल नहीं रहे, किन्तु उन्हें खिलाड़ियों के आस-पास बने रहना है, उनकी वस्तुओं का ध्यान रखना है, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति का यथासम्भव प्रयत्न करना है; शायद थोड़ा-सा उनका निरीक्षण-नियन्त्रण भी करना है, ताकि वे लोग नियमों का उल्लंघन न करें...

विवाह तो इन तीनों ही लड़कों का होना है। उसकी चिन्ता भीष्म को ही करनी है।...हाँ! कृप और कृपी! उन्हें भी तो शान्तनु ही लाये थे। उनका पालन-पोषण भी यहीं हुआ है।...उनके विवाह के सन्दर्भ में भी भीष्म ही को सोचना था शायद।...किन्तु उनसे अधिक तो कृप ही अपने दायित्व के प्रति जागरूक था। वह पिछले सप्ताह ही कृपी को ले कर भरद्वाज आश्रम गया था। कदाचित भरद्वाजनन्दन द्रोण के साथ कृपी का विवाह होगा...पर भरद्वाज और द्रोण दोनों का पांचालों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। पांचाल और कुरु सदा से ही जैसे प्रतिस्पर्धी रहे हैं। यह प्रतिस्पर्धा अनेक बार विरोध और शत्रुता में परिणत हुई है।...कृप कुरुओं और पांचालों–दोनों से सम्बन्ध कैसे बनाये रख सकता है?...

पर भीष्म इस समय अपने दायित्व की सोचें।...

पाण्डु के विवाह को ध्यान में रख कर राज-परिवारों की विवाह-योग्य जिन कन्याओं की सूचना उन्हें मिली थी, उनमें से गान्धारराज सुबल की पुत्री गान्धारी, कुन्तिभोज की पोषिता पुत्री पृथा, और मद्रराज शल्य की छोटी बहन माद्री, ही उन्हें अपने वंश के अनुकूल जँची थीं। राजा देवक की कन्या पारंसवी भी स्वीकार्य थी; किन्तु वह

दासी-पुत्री थी। यदि देवक स्वीकार करें, तो उसका विवाह विदुर से हो सकता है। विदुर का सम्बन्ध किसी राजकुमारी से तो हो नहीं पायेगा—न देवक की दासी-पुत्री को कोई राजकुमार स्वीकार करेगा।...वह और विदुर एक-दूसरे के लिए उपयुक्त और मान्य वर-वधू होंगे...

कुन्तिभोज ने अपनी पुत्री पृथा का स्वयंवर आयोजित किया है। उसका निमन्त्रण हस्तिनापुर के राजकुमारों के लिए आया है। धृतराष्ट्र जन्मान्ध है, विदुर दासी-पुत्र है। केवल पाण्डु ही स्वयंवर में सम्मिलित हो सकता है। स्वयंवर में कोई परीक्षण नहीं है। कुन्ती वीर्यशुल्का घोषित नहीं की गयी है। ...पाण्डु को वहाँ कोई विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिए। देखने-सुनने में बुरा नहीं है। हस्तिनापुर का सम्राट है। भरत-वंशी राजाओं का स्वामी है।...क्यों अस्वीकार करेगी पृथा उसे?...

किन्तु स्वयंवर-मण्डप में, जयमाला लिए खड़ी कन्या, किसी को भी स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकती है। यदि पृथा ने किसी और का वरण कर लिया, तो?...तो शेष बचीं: सुबल-कन्या गान्धारी तथा शल्य-भगिनी माद्री।...गान्धारी वय की दृष्टि से माद्री से बड़ी है, अतः वह धृतराष्ट्र के योग्य है। पाण्डु के योग्य माद्री ही होगी।...स्वयंवर में तो पाण्डु को स्वयं ही जाना है, वहाँ भीष्म का कोई काम नहीं है...किन्तु धृतराष्ट्र के लिए गान्धारी, पाण्डु के लिए माद्री और विदुर के लिए पारंसवी को प्राप्त करना तो भीष्म का ही काम है।

42

गान्धार के राजप्रासाद के एक एकान्त कक्ष में गान्धारराज सुबल, राजकुमार शकुनि और हस्तिनापुर के मन्त्री कणिक विचार-विमर्श में लीन थे।

"महामन्त्री!" सुबल ने कहा, "स्वेच्छा से कोई अपनी कन्या का विवाह जन्मान्ध राजकुमार से कैसे कर देगा?... मैं तो यह समझ ही नहीं पा रहा कि आप ऐसा अकल्पनीय प्रस्ताव ले कर कैसे आये। आपने पाण्डु के साथ विवाह की बात कही होती, तो मैं सोचता कि आपने हमें किसी सम्मान-योग्य समझा। पर आप तो..."

कणिक तनिक भी हतप्रभ नहीं हुआ। उसके चेहरे पर न विरोध के भाव उपजे, न उदासीनता के। लगता था, जैसे या तो उसने सुबल की बात सुनी ही नहीं, या वह उसे अपने अनुकूल ही लगी।

"गान्धारराज!" कणिक का स्वर अत्यन्त शान्त था, "राज-वंश क्या अपनी सन्तानों का विवाह व्यक्तिगत सुख-दुख के लिए करते हैं? उसमें कहीं व्यक्तिगत लाभ-हानि की बात होती भी है?...आप भली प्रकार जानते हैं कि राजपरिवारों के सम्बन्ध राजनीति से ही परिचालित होते हैं।...आप मुझे बतायें, आपकी सीमाओं से लगने वाला कोई भी राज्य आपका मित्र है?"

सुबल कुछ क्षण सोचता रहा और फिर बोला, "नहीं! कोई नहीं!"

"क्या गान्धार को चारों ओर से अपने पड़ोसी राज्यों के आक्रमण का भय नहीं है?"

"है।" इस बार शकुनि बोला।

"युद्ध की स्थिति में क्या आप उनकी शक्ति को ध्वस्त कर पायेंगे?"

पिता और पुत्र, दोनों ही चिन्ताग्रस्त दिखायी पड़े। उनके पास कदाचित कोई उत्तर नहीं था।

"आपकी सेना इतनी सक्षम है क्या?" कणिक ने पुनः पूछा।

"नहीं!" सुबल ने धीरे से स्वीकार किया।

"क्यों?"

"शायद गान्धार लोग अच्छे सैनिक नहीं होते।"

"तो दूसरे राज्यों से अच्छे प्रशिक्षक क्यों नहीं मँगवाते? दूसरे राज्यों के सैनिक क्यों नहीं भरती करते?"

"उतना धन नहीं है मेरे पास!"

"इसलिए कहता हूँ," कणिक बोला, "कि राजवंशों के विवाह-सम्बन्ध भी राजनीति पर आश्रित होते हैं। अच्छा गान्धारराज!" सहसा कणिक का स्वर कुछ कठोर हो गया, "यदि हस्तिनापुर के योद्धा आपके पड़ोसी अमित्र राज्यों से मिल कर आपकी सीमाओं पर कोई विषम स्थिति उत्पन्न करें?..."

"नहीं!" अनायास ही सुबल का भय प्रकट हो गया, "पहले ही मेरे बहुत सारे शत्रु हैं। मैं शत्रुओं की संख्या बढ़ाना नहीं चाहता...और कुरुओं के शक्तिशाली राज्य का विरोध तो एकदम नहीं चाहता।"

"हस्तिनापुर की मित्रता चाहते हैं?"

"सम्भव हो तो।" शकुनि बोला।

"उसमें असम्भव क्या है।" कणिक बोला, "धृतराष्ट्र से गान्धारी का सम्बन्ध कर दें।..." और कणिक का स्वर किसी विशाल नद के समान प्रवाहित हो चला, "आप चारों ओर से शत्रुओं से घिरे हैं। हस्तिनापुर उस वृत्त से बाहर है और आपके शत्रुओं की पीठ पर है। जिस दिन आपके शत्रु गन्धार की ओर चलेंगे, उसी दिन हस्तिनापुर की सेनाएँ उनकी राजधानियों की ओर प्रयाण करेंगी। हम आपको सैनिक देंगे, सैनिक प्रशिक्षण देंगे; और अधिक सैनिकों, शस्त्रास्त्रों तथा अश्वों एवं रथों के लिए धन का प्रबन्ध कर देंगे।"

"मैं इतना सुख पाऊँ और मेरी पुत्री वहाँ जन्मान्ध पति को पा कर सिर धुन-धुन कर मर जाये?"

"गान्धारराज! हस्तिनापुर में गान्धारी अपना सिर नहीं धुनेगी। वह वैभव के बीच स्वर्ग का सुख पायेगी। भरत, पुरु, ययाति और शान्तनु के वंश की रानी होगी वह! दास-दासियाँ, हाथी-घोड़े, रथ और यान, प्रासाद, उद्यान, स्वर्ण, मणि-मणिक्य–क्या नहीं है वहाँ!..."

"यह सब क्या पति का अभाव दूर कर देंगे?"

"धृतराष्ट्र सुदर्शन राजकुमार है। आँखें न होने से कोई पुरुष पुंसत्वहीन तो नहीं हो जाता। धृतराष्ट्र स्वयं नहीं

देख सकता, तो क्या हुआ। उसके लिए देख सकने वाले और बहुत लोग हैं। एक कन्या के विवाह से यदि सारे परिवार की समस्याओं का समाधान...। अच्छा! इसे यहीं छोड़ें।" सहसा कणिक का स्वर बदला, "मान लिया कि आपने धृतराष्ट्र से गान्धारी का विवाह करना अस्वीकार किया। हम चुपचाप लौट भी गये। अपने मन में हमने आपके प्रति न मित्रता रखी, न अमित्रता। हम उदासीन ही रहे।...किन्तु आपके पड़ोसी राज्य तो उदासीन नहीं रहेंगे। उनमें से किसी राजा की इच्छा हुई और उसने गान्धार पर आक्रमण किया। राजकुमार शकुनि को बन्दी कर, या उनका वध कर, राजकुमारी गान्धारी का हरण कर लिया।...आपको याद होगा, हस्तिनापुर के महाराजकुमार भीष्म भी काशिराज की तीनों कन्याओं का हरण कर लाये थे। क्षत्रियों के लिए यह कोई नयी बात नहीं है। यह उनका सनातन धर्म है।...हरण के पश्चात गान्धारी किसे सौंपी जायेगी या किस स्थिति में अपना जीवन व्यतीत करेगी–इस पर आपका कोई वश होगा?"

सुबल और शकुनि–दोनों ही मौन रहे, जैसे मन-ही-मन कणिक की बातों पर विचार कर रहे हों।

"आप वृद्ध हो रहे हैं," कणिक पुनः बोला, "और राजकुमार कोई ऐसे योद्धा नहीं हैं...।"

"नहीं। वह योद्धा नहीं है।" सुबल ने कहा, "वह क्षत्रियों की तीन क्रीड़ाओं में से केवल द्यूत में ही पारंगत है। युद्ध और मृगया में उसकी विशेष गति नहीं है।"

"तो फिर एक बार द्यूत ही खेल लीजिए।"

"द्यूत!" शकुनि की आँखों में जैसे ज्योति जागी।

"द्यूत ही तो है।" कणिक बोला, "गान्धारी को दाँव पर लगा दीजिए; और देखिए आपका पासा किस ओर पड़ता है।"

"तुम बातों में बहुत चतुर हो महामन्त्री।" सुबल ने निष्कम्प स्वर में कहा, "तुम्हारे स्वामी के भाग्य से मुझे ईर्ष्या हो रही है।"

"तो मैं आपकी सहमति मान लूँ।"

"इस त्वरित गति से मैं तुम्हारे साथ नहीं चल पाऊँगा।" सुबल बोला, "बूढ़ा हूँ। थक जाऊँगा। वैसे भी हमारे इस पर्वतीय प्रदेश में बहुत गति से नहीं भागा जाता।..."

"तो।"

"दो-एक दिन प्रतीक्षा करो। मुझे कुछ सोच लेने दो।"

"जैसी महाराज की इच्छा।" कणिक उठ कर खड़ा हो गया।

सन्ध्या समय सुबल ने कणिक को राजप्रासाद में बुलाया।

"आपने क्या निर्णय किया महाराज?" कणिक ने प्रणाम कर पूछा।

"एक छोटे से राज्य के अधिपति का अपना क्या निर्णय हो सकता है महामन्त्री!" सुबल के स्वर में तनिक भी उल्लास नहीं था, "हमें तो यह निर्णय करना है कि हमें किस चक्रवर्ती का चाकर होना है।"

"महाराज इतने दीन क्यों हैं?"

"शिष्टाचार छोड़ो महामन्त्री! प्रातः की तुम्हारी बातों ने मुझे सत्य का साक्षात्कार करा दिया है।" सुबल ने कहा, "मैंने यही निश्चय किया है कि यदि अपने दासत्व को मैत्री की ओट में छिपाना ही है, तो फिर मैत्री के लिए किसी ऊँचे कलश वाले राजप्रासाद को ही चुना जाये।"

"तो हस्तिनापुर से ऊँचा कलश किसका है?"

"किसी का नहीं!"

"तो आप सहमत हैं।"

"सहमत तो हूँ।" सुबल बोला, "किन्तु चाहता हूँ कि कुछ बातें आप मेरी भी मान लें।"

"क्या?" कणिक के चेहरे पर उल्लास उतना मुखर नहीं रहा था।

"विवाह पुरुषपुर में नही, हस्तिनापुर में हो। हम अपने जन्मान्ध जामाता का सत्कार अपनी राजधानी में नहीं कर पायेंगे।" कणिक की प्रतिक्रिया देखने के लिए सुबल रुक गया।

"इसमें हमारी पूरी सहमति है।" कणिक ने उत्तर दिया, "राजकुमार धृतराष्ट्र के लिए पुरुषपुर तक की यात्रा सुविधाजनक नहीं है।"

"ठीक है!" सुबल बोला, "गान्धारी के साथ-साथ शकुनि भी हस्तिनापुर जायेगा। वह हस्तिनापुर में ही रहेगा–कौरव राजसभा के सम्मानित सदस्य के रूप में। कोई यह न कहे कि गान्धारराज ने भीष्म के पराक्रम से त्रस्त हो कर अपनी कन्या एक जन्मान्ध को अर्पित कर दी। मेरी इच्छा है कि सारा राज-समाज यह देखे कि गान्धारराज, कुरु-साम्राज्य का सम्मानित समधी है। गान्धार का राजकुमार हस्तिनापुर के शासन-तन्त्र का महत्त्वपूर्ण उपकरण है।..."

कणिक के मन में चिन्ता जागी:...राजनीति के द्यूत में वह, सबल हो कर भी कहीं इस धूर्त्त सुबल से मार न खा जाये।...यदि शकुनि हस्तिनापुर पहुँच गया और वहाँ के राजकाज में भाग लेने लगा, तो गान्धारी का बल बढ़ेगा...किन्तु गान्धारी कुरुकुल की वधू बन कर हस्तिनापुर जा रही है। राजवधू के भाई को कैसे कहा जा सकता है कि वह बहन के स्नेहवश उसके निकट न रहे?...और यदि कणिक इस प्रस्ताव को अस्वीकार भी कर दे और यह सम्बन्ध हो जाये...गान्धारी ज्येष्ठ राजकुमार की रानी होगी। कुरुकुल में उसका अधिकार अधिक होगा या मन्त्री कणिक का? राजकुल के सम्बन्धों में रानी का ही महत्त्व अधिक होगा...और तब यदि रानी ने अपने भाई को सस्नेह हस्तिनापुर बुला कर उसे ससम्मान वहाँ ठहरा लिया, तो कणिक क्या करेगा!

"सम्बन्धियों का व्यवहार तो उनके स्नेह-सम्बन्धों पर निर्भर करता है, गान्धारराज! उसमें प्रतिबन्धों का क्या काम!"

"तो ठीक है।" गान्धारराज बोला, "गान्धारी और शकुनि पहले शुभ मुहूर्त में हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान करेंगे।"

43

हस्तिनापुर के मुख्य द्वार पर आ कर कणिक का रथ रुक गया। आगे-पीछे दौड़ते अश्वारोही थम गये।

सबको रुकते देख, शकुनि ने भी सारथि को रथ रोकने का आदेश दिया। उसका अनुमान था कि अब हस्तिनापुर आने ही वाला होगा। पिछले पड़ाव से जब हस्तिनापुर में सूचना देने के लिए अश्वारोही दौड़ाये गये थे, तभी से शकुनि के अनुमानों के अश्व भी दौड़ पड़े थे। उसकी कल्पना जैसे किसी तीव्रगामी खग पर आरूढ़ हो कर, आकाश में पँख फैला रही थी।...गान्धार की घाटी बहुत पीछे छूट गयी थी। मार्ग में अनेक पार्वत्य प्रदेश भी आये थे। अनेक छोटी-बड़ी नदियाँ। अनेक वनों में से हो कर भी आना पड़ा। समतल भूमि तो जैसे समाप्त होने को ही नहीं आती।...शकुनि को इन सबने बहुत थका डाला था।...भौगोलिक परिवर्तनों के साथ-साथ मानवों की आकृति भी बदलती चली गयी थी। उनका रूपाकार, उनकी भाषा, उनका व्यवहार, शिष्टाचार! शकुनि ने इतनी लम्बी यात्रा पहले कभी नहीं की थी। उसने कभी ऐसी यात्रा के विषय में सोचा भी नहीं था। ये तो कुरु लोग ही थे, जो गान्धार तक का समाचार रखते थे, और वहाँ तक पहुँचने का साहस करते थे...

मार्ग में उसका गान्धारी से विशेष वार्तालाप भी नहीं हुआ था। वह अपनी कल्पनाओं और दुश्चिन्ताओं में मग्न अवश्य था, फिर भी वह गान्धारी से वार्तालाप करने का प्रयत्न करता रहा था; किन्तु गान्धारी जाने किन लोकों में खोयी हुई थी। उसने आवश्यकता-भर शब्द भी अपनी जिह्वा से नहीं कहे। शब्दों की इतनी कृपण तो गान्धारी कभी नहीं रही थी...पर शकुनि ने उसे अधिक कुरेदा भी नहीं! उसके पास अपनी ही दुश्चिन्ताएँ क्या कम थीं!...

और फिर सम्भव है कि गान्धारी भी अपनी ही किन्हीं दुश्चिन्ताओं में डूबी हो। विदाई के समय पिता ने शकुनि से कहा था, "पुत्र! तुझे शकुनि तब मानूँगा, जब तू गान्धारों की इस पराजय को, कौरवों के यम-फाँस में परिणत कर दे।" वे कुछ रुके थे, "सम्भवतः हमारी पराजय का यह क्षण, गान्धारी के अभ्युत्थान के लिए ही आया हो। तुम उसी का प्रयत्न करना। कौरवों के शासन-तंत्र में तुम्हारी गति जितनी ही बढ़ती जायेगी, मुझे उतनी ही प्रसन्नता होगी।"

...पता नहीं उन्होंने गान्धारी से क्या कहा था; किन्तु कुछ तो उससे भी कहा ही होगा। मूल कार्य तो गान्धारी का ही था। वही कौरवों की कुल-वधू बनेगी। वही उनके परिवार में प्रवेश कर रही है। उसे ही अपनी जड़ें उस धरती में फैलानी हैं। देखना है, कि वह इस धरती में से कितनी ऊर्जा खींच पाती है। उसकी शक्ति और अधिकार से ही शकुनि को भी शक्ति और अधिकार प्राप्त होंगे।...किन्तु कहीं गान्धारी अपने पिता और भाई से ही रुष्ट न हो।...कहीं उसके मन में आ गया कि उन्होंने अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए, या राज्य की हानि के भय से, उसे एक जन्मान्ध पुरुष को समर्पित कर दिया है–तो उसका रोष कौरवों पर न हो कर गान्धारों पर भी वज्रपात करेगा।...पर उसने ऐसा एक भी शब्द कहा नहीं है..

शकुनि रथ से उतर आया।

राजकुल के अनेक लोग उसका स्वागत करने के लिए नगर-द्वार पर उपस्थित थे।

भीष्म आगे बढ़ आये, "स्वागत गान्धारकुमार! हस्तिनापुर में तुम्हारा स्वागत है।" और फिर उन्होंने परिचय कराया, "यह माता सत्यवती हैं।"

शकुनि ने आगे बढ़ कर उनके चरण छुए।

"कहाँ है मेरी पौत्र-वधू?" सत्यवती की आँखों में उसके हृदय की व्यग्रता अत्यन्त मुखर थी।

"अभी उपस्थित करता हूँ।"

शकुनि ने अपने रथों के निकट जाकर दासियों को संकेत किया। केसनी और वासन्ती ने मुख्य राजकीय रथ में से अवगुण्ठनवती गान्धारी को हाथों का अवलम्ब दे कर उतारा।

सत्यवती में और धैर्य नहीं था। वह आगे बढ़ी और गान्धारी को अपनी भुजाओं में बाँध लिया।

शकुनि ने धीरे से गान्धारी के कान में कहा, "राजमाता सत्यवती हैं। प्रणाम करो।"

किन्तु सत्यवती ने उसे प्रणाम करने का भी अवसर नहीं दिया। उसे कन्धों से पकड़ कर अपनी भुजाओं की दूरी पर रख उसका अवगुण्ठन उठाया: नेत्रों पर यह पट्टी!...

"यह पट्टी क्यों है गान्धारकुमार?" सत्यवती की वाणी में आशंका और यत्किंचित रोष की मात्रा थी।

शकुनि क्या कहता: वह तो स्वयं हतप्रभ, अवाक्-सा खड़ा था।

उत्तर स्वयं गान्धारी ने दिया, "आर्ये पितामही! जिसका पति प्रज्ञा-चक्षु हो, उस स्त्री को अपने चर्म-नेत्रों का उपयोग करने का कोई अधिकार नहीं है।"

सत्यवती स्तब्ध खड़ी रह गयी। उसने इस प्रकार की किसी प्रतिक्रिया की कल्पना भी नहीं की थी।...यह गान्धारी का धर्म था अथवा प्रतिरोध...यह उसका शील था अथवा रोष...बड़ी देर के पश्चात उसके मुख से शब्द उच्चरित हुए, "मैंने तो समझा था कि तुम धृतराष्ट्र का अवलम्ब बनोगी। धृतराष्ट्र तुम्हारी ही आँखों से देखेगा।"

"कोई सती नारी, किसी भी क्षेत्र में अपने पति से स्पर्धा नहीं करती पितामही!" गान्धारी ने स्थिर वाणी में कहा।

सत्यवती ने पहली बार, गान्धारी पर एक तटस्थ दृष्टि डाली: अत्यन्त गौर वर्ण की यह लम्बी-ऊँची, हृष्ट-पुष्ट किशोरी, किसी भी पुरुष का मन मोह सकती थी। रूप और यौवन का तेज तो था ही गान्धारी में; किन्तु उसकी दृढ़ता।...कहीं ऐसा तो नहीं उसके नेत्रों में कोई दोष हो, जिसे वह इस व्याज से छिपा रही हो।...या कोई और बात! किन्तु वह इसे सतीत्व की संज्ञा दे रही है। वाक्चातुर्य कम नहीं है इस किशोरी के पास। अपने इस कृत्य को ऐसे गौरवपूर्ण शब्दों में प्रस्तुत कर रही है, जिससे न कोई आपत्ति कर सके: और न ही विरोध...ऐसे ही कोई चौबीस-पच्चीस वर्ष पूर्व भीष्म अम्बिका और अम्बालिका को भी लाया था–लगता था, उनके मुख में जिह्वा नहीं है। आज तक नहीं बोल पायीं कभी सत्यवती के सामने!...किन्तु गान्धारी, अम्बिका और अम्बालिका जैसी नहीं है।...हाँ! अम्बा तेजस्विनी थी। कहीं यह गान्धारी दूसरी अम्बा ही न हो...

सत्यवती ने अपने मस्तक को झटका: यह अवसर सोचने और स्मरण करने का नहीं है। वह तो अपनी पौत्र-वधू का स्वागत करने आयी है।

"आओ गान्धार कन्ये!" सत्यवती गान्धारी का हाथ पकड़ उसे अपने रथ की ओर ले चली, "तुम मेरी प्रथम पौत्र-वधू हो। ज्येष्ठा।"

"किन्तु साम्राज्ञी नहीं हूँ मैं।"

जाने कैसा विष था गान्धारी के शब्दों में कि सत्यवती के सारे शरीर में पीड़ा लहरें लेने लगी; जैसे गान्धारी ने एक वाक्य न कहा हो, किसी नागिन ने डस लिया हो सत्यवती को।

अतिथियों को सम्मानपूर्वक ठहरा देने के पश्चात सत्यवती अपने कक्ष में अकेली हुई तो उसका मस्तिष्क दिन-भर की घटनाओं की जुगाली करने लगा:

गान्धारी चुप रही होती, कुछ न बोली होती, या संकोच से उसने सिर झुका लिया होता, तो उसके रूप पर वारी-वारी गयी होती सत्यवती! कैसा गौर वर्ण है उसका, जो कभी नवनीत जैसा लगता है, कभी सिन्दूर जैसा। ऐसा वर्ण कि हाथ लगाते मैला हो जाये। काया कैसी लम्बी है, जैसे देवदारु का वृक्ष हो। नाक तीखी है, चिबुक में कैसा मनोहारी घुमाव है।...घने, लम्बे केश हैं उसके; प्रकाश की किरणों के साथ जैसे उनका रंग बदलता है। कभी नीले लगते हैं कभी पीले।...ऐसे में मन होता है, उसकी पट्टी खुलवा कर देखा जाये, आँखें कैसी हैं उसकी।...जाने किससे सुना था, सत्यवती ने कि गान्धार-कन्याओं के नेत्रों की पुतलियाँ या तो नीली होती हैं, या हरित!...

पर सत्यवती का मन कैसा भीरु हो रहा था आज!...कहीं ऐसा न हो कि आग्रह करने पर गान्धारी अपने सतीत्व के आदर्शों की दुहाई दे।...कहीं वह अपने शब्दों से सत्यवती को अपराधिनी ही न बना दे,...फिर यह भी तो सम्भव है कि गान्धारी आँखों की पट्टी खोल, पलकें उठाये तो वहाँ झील का नीला-नीला स्वच्छ जल न हो, वहाँ ज्वालामुखी का लावा हो, जो सत्यवती को भस्म कर दे।...अभी घर में प्रवेश किया नहीं और कैसा उपालम्भ कर दिया है उसने...ज्येष्ठा तो हूँ, किन्तु साम्राज्ञी नहीं हूँ...'

कैसी चाल चली है गान्धारी ने...हस्तिनापुर में प्रवेश से पहले ही उसने आँखों पर पट्टी बाँध ली है। उसने कौरवों का वैभव भी नहीं देखा। उसने सत्यवती का न रूप देखा है, न अधिकार। उसने भीष्म की गरिमा भी नहीं देखी। किस बात से प्रभावित होगी वह, जब उसने कुछ देखा ही नहीं।...और सत्यवती है कि उसे देख-देख कर जैसे हतप्रभ होती जा रही है।...

कहीं भ्रम से भीष्म पुनः अम्बा को ही तो हस्तिनापुर में आमन्त्रित नहीं कर बैठा? किस तेज के साथ उसने कहा था: भीष्म भी उसका था, और कौरवों का साम्राज्य भी। गान्धारी ने भी संकेत दिया है...वह 'ज्येष्ठा है, पर...विवाह के पश्चात यदि वह भी यह बखेड़ा ले कर बैठ जाय कि राज्य धृतराष्ट्र का है, पाण्डु का नहीं...तो?

सत्यवती को व्यक्तिगत रूप से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि सिंहासन पर पाण्डु बैठता है, या धृतराष्ट्र! दोनों ही उसके पौत्र हैं।...किन्तु ऐसी महत्त्वाकांक्षिणी नारी से सत्यवती को भय लगता है...

वह नेत्रों पर पट्टी बाँध कर आयी है...कहीं कुरु-वंश की अवहेलना करने के लिए तो नहीं? अन्धा पति मिलने का प्रतिवाद तो नहीं है यह?...कहीं वह यह तो नहीं जताना चाहती कि उसे कुरु-वंश की न कोई चिन्ता है, न भय! कहीं वह यह तो नहीं चाहती कि उससे रुष्ट हो कर, हम उसे मुक्त कर दें।...हस्तिनापुर से निकाल दें...अम्बा ने भी तो मुक्त होने के लिए शाल्व की ओट ली थी, यद्यपि शाल्व ने उसे स्वीकार भी नहीं किया था।

...पता नहीं, गान्धारी को रोकना कुरु-वंश के हित में है, या अम्बा के समान मुक्त कर देना...

विवाह के पश्चात अगली रात धृतराष्ट्र और गान्धारी को एकान्त मिला, तो धृतराष्ट्र बोला, "तुमने यह क्या किया गान्धार कुमारी! तुमने मेरे लिए अपने नेत्रों पर पट्टी क्यों बाँध ली?"

गान्धारी मुस्कुरायी; यद्यपि वह जानती थी कि उसकी मुस्कान का कोई अर्थ नहीं है। धृतराष्ट्र को चाहे 'प्रज्ञा-चक्षु' कहा जाय; किन्तु नारी के मुख की मुस्कान देखने के लिए पुरुष को चर्म-चक्षुओं का ही अवलम्ब ग्रहण करना पड़ता है।...और धृतराष्ट्र की हथेलियों की त्वचा कितनी ही संवेदनशील क्यों न हो, वह गान्धारी के कपोलों की मुस्कान को नहीं छू पायेगी। उसके पति के श्रवण ही थे, जो उसे बता सकते थे कि गान्धारी हँस रही है या रो रही है...

वह बोली, "जिसके लिए पैरों में बेड़ियाँ डालीं, कलाइयाँ जिसके नाम के कंगनों से निगड़ बद्ध हुईं, उसके लिए आँखों पर पट्टी बाँध ली, तो क्या ऐसा महान कार्य कर दिया!"

"तुम बहुत प्रिय-भाषिणी हो गान्धार राजनन्दिनी!" धृतराष्ट्र बोला, "किन्तु इतना बड़ा त्याग–एक उस पुरुष के लिए, जिसे तुमने कभी देखा नहीं, जिससे कभी वार्तालाप नहीं किया...।"

"यह त्याग नहीं है आर्यपुत्र! यह स्वीकार है।"

"स्वीकार? कैसा स्वीकार?"

"आपका! आपके व्यक्तिगत का! आपकी शक्ति और सीमाओं का।"

धृतराष्ट्र कुछ देर तक चुप बैठा रहा। फिर बोला, "तुम ठीक कह रही हो प्रिये! लोग मुझे 'अन्धा' कहने से डरते या सकुचाते हैं; इसलिए उन्होंने एक मधुर-सा शब्द खोज लिया है; 'प्रज्ञा-चक्षु'। अपने-आपको भी धोखा देते हैं, और मुझे भी। प्रज्ञा-चक्षु तो वस्तुतः तुम हो।"

"कैसे-आर्यपुत्र!"

"जिस क्षण तुम्हें मालूम हुआ होगा कि मैं अन्धा हूँ, तुम समझ गयी होगी कि नेत्रहीन व्यक्ति कितना ईष्यालु होता है।" धृतराष्ट्र बोला, "तुमने मुझको अस्वीकार कर दिया होता, तो मैं जीवन भर तुमसे कभी मिलता या न मिलता; किन्तु मन में तुम्हारे लिए घोर शत्रुता पालता रहता। तुम्हारे प्रति घृणा के विष को अपने मन में बहुत सँभाल कर रखता, चाहे उस विष से भगवान शिव के कण्ठ के समान मेरा सारा शरीर ही नीला हो जाता..." वह रुका, "और यदि तुम मुझे स्वीकार तो कर लेतीं, पर आँखों पर पट्टी न बाँधती, तो प्रतिक्षण मेरा हृदय यह सोच-सोच कर जला करता कि तुम्हारे लिए दृश्य भी है और शब्द भी, किन्तु मेरे लिए मात्र शब्द ही है। मैं यह सोचता कि तुम संसार के सौन्दर्य को देख रही हो, उस पर मुग्ध हो रही हो।...तुम्हारे रूप को प्रत्येक पुरुष लोलुप दृष्टि से देख रहा है; और मुझे उसका आभास भी नहीं हो रहा।...और यदि कहीं हस्तिनापुर आ कर, मुझे देखने के पश्चात तुमने यह पट्टी बाँधी होती, तो मैं सोचता कि मुझे देख कर तुम्हें मुझसे घृणा हो गयी है। पुनः मुझे न देखना पड़े, इसलिए तुमने अपने नेत्र बन्द कर लिए हैं।..."

"इतने ईर्ष्यालु हैं आप?" गान्धारी सशब्द हँसी।

"ईर्ष्यालु तो मैं इससे भी अधिक हूँ प्रिये! जब से तुम्हारे रूप के विषय में सुना है, प्रत्येक दृष्टियुक्त पुरुष से ईर्ष्या कर रहा हूँ।"

गान्धारी पुनः हँसी, "मैं नहीं मानती कि आप इतने ईष्यालु हैं।"

"क्यों? क्यों नहीं मानतीं तुम?" धृतराष्ट्र ने आश्चर्य से पूछा।

"इतने ही ईर्ष्यालु होते आप," गान्धारी का स्वर कुछ धीमा हो गया, "तो अपना राज्य, छोटे भाई को दिये जाने पर इस प्रकार शान्त न रहते आप!"

धृतराष्ट्र स्तब्ध रह गया, जैसे साँप सूँघ गया हो: क्या कह दिया गान्धारी ने? नहीं! कहाँ हाथ रख दिया गान्धारी ने, किस घाव पर...

स्तब्धता को चीर कर तीन शब्द धृतराष्ट्र की जिह्वा पर आ सके, "धीरे बोलो गान्धारी।"

"क्यों?"

"कोई सुन लेगा।" वह बोला, "तुम नहीं जानतीं। इस सारे हस्तिनापुर में मैं एकदम अकेला हूँ। पितामही सत्यवती, पितृव्य भीष्म, पाण्डु, विदुर, यहाँ तक कि मेरी अपनी माता अम्बिका–सब मेरे विरुद्ध पाण्डु के पक्ष में हैं।

मन्त्रिगण, कुरु-प्रमुख, सैनिक–सब उसके पक्ष में हैं। मैं एकदम अकेला हूँ।"

गान्धारी ने टटोल कर धृतराष्ट्र का हाथ अपनी हथेलियों में लिया और स्नेह से उसे दबाया।

धृतराष्ट्र को अपार सान्त्वना मिली।

"अब आप अकेले नहीं हैं।" गान्धारी बोली, "मैं हूँ आपके साथ! मैं और आप एक हैं। मेरे साथ शकुनि है, पिता गान्धारराज हैं, गान्धार का राज्य है। हम सब आपके हैं।...बताइये! आप अकेले हैं?"

धृतराष्ट्र अपने मन में विस्मय लिए, अन्धी आँखों से अपनी नव-विवाहिता को देखता रहा–यह सब तो सोचा ही नहीं था उसने। उसने तो बस एक पत्नी माँगी थी: स्त्री के रूप में। उसे संगिनि मिल जायेगी, यह तो वह जानता ही नहीं था।

"बोलिए! आप अकेले हैं?" गान्धारी ने फिर पूछा।

"यह सब तो मैंने सोचा ही नहीं था।" धृतराष्ट्र के मुख से अनायास ही निकल गया, "ओह मेरी प्रियतमा! तुम मेरी रति ही नहीं, शक्ति भी हो। तुमने तो मुझे एक ही क्षण में कामदेव भी बना दिया, और उसे भस्म कर देने वाले महादेव भी।"

धृतराष्ट्र ने गान्धारी को अपने अंक में समेट लिया।

गान्धारी धैर्यपूर्वक धृतराष्ट्र के अंक में पड़ी रही। उसका आवेश जब कुछ कम हुआ, तो स्वयं को सहेज कर बोली, "आर्यपुत्र! यह राज्य आपका है; और आपका ही रहेगा।"

"इस न्याय को हस्तिनापुर में मान्यता प्राप्त नहीं है प्रिये!" धृतराष्ट्र बोला, "पितृव्य भीष्म तथा पितामही सत्यवती ने निर्णय किया है कि जन्मान्ध राजकुमार सिंहासन का अधिकारी नहीं हो सकता।"

"ठीक निर्णय दिया है उन्होंने!" गान्धारी बोली।

"ठीक निर्णय दिया है?" धृतराष्ट्र चकित था।

"हाँ!" गान्धारी बोली, "जन्मान्ध ज्येष्ठ राजकुमार सिंहासन का अधिकारी नहीं है; किन्तु सिंहासन का अधिकार उसी का है।"

"पहेलियाँ मत बुझाओ गान्धारी!"

"अधिकार उसी का है।" गान्धारी बोली, "इसका अर्थ यह है कि उसके स्थान पर जो कोई भी सिंहासन पर बैठ रहा है, वह ज्येष्ठ राजकुमार के निमित्त शासन-कार्य चला रहा है, जैसे आज तक आपके पितृव्य भीष्म ने चलाया है। राज्य ज्येष्ठ राजकुमार का ही रहेगा और...।"

"और?"

"जिस दिन ज्येष्ठ राजकुमार का पुत्र जन्म लेगा, उसे हस्तिनापुर का युवराज घोषित किया जायेगा।"

"गान्धारी!"

"हाँ आर्यपुत्र!" गान्धारी का स्वर स्थिर और शांत था, "आप पितृव्य और पितामही से चर्चा करें।...और यह वचन आपको मैं देती हूँ कि पाण्डु का पुत्र जन्म ले, उससे पहले मैं आपके पुत्र का प्रसव करूँगी..."

"गान्धारी!"

धृतराष्ट्र को लगा, आज जैसे उसका नया जन्म हुआ था, उसका सौभाग्य उदित हुआ था...गान्धारी उसकी पत्नी ही नहीं थी, वह तो उसकी भाग्यलक्ष्मी थी...कितना अकेला, दुर्बल और असहाय समझ रहा था, वह अपने-आपको। उसकी इच्छा अवश्य थी; किन्तु उसे किंचित भी आशा नहीं थी कि वह या उसका कोई उत्तराधिकारी कभी हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बैठ पायेगा। किन्तु गान्धारी...जैसे कोई आशा, आस्था और शक्ति की देवी, उसके सामने अवतरित हुई थी।...अब कहाँ निर्बल था धृतराष्ट्र...उसके रक्त के एक-एक कण में स्फूर्ति और उल्लास भर आया था...

कितना कृतज्ञ था वह गान्धारी का। उसकी इच्छा हो रही थी, अपनी नवोढ़ा के चरणों में लोट जाये...

अपनी उसी विह्वल अवस्था में वह बोला, "तुमने मुझे इतना कुछ अकस्मात ही दे डाला प्रिये! कि मैं...कि मैं..." धृतराष्ट्र को जैसे शब्द नहीं मिल रहे थे। और सहसा वह बोला, "तुम भी मुझसे कुछ माँग लो।"

गान्धारी हँसी, "आर्यपुत्र! आपके पास अब ऐसा क्या है, जो मेरा नहीं है?"

धृतराष्ट्र पुनः हतप्रभ हो गया: अपनी प्रेमगर्विता, नव-विवाहिता से वह हृदय की इस विगलित अवस्था में कैसे कह सकता था, कि उसके पास एक कण भी ऐसा है, जिस पर उसकी प्रियतमा का अधिकार नहीं है।...कैसी वाक्

चतुर है यह गान्धारी। क्षण नहीं लगता कि व्यक्ति की जिह्वा भी बँध जाती है और हाथ भी।...

"ऐसा तो कुछ भी नहीं है प्रिये।"

"मैं पहले ही जानती थी।" गान्धारी खिलखिलायी, "मेरी ही सम्पत्ति में से कुछ मुझे दान करना चाहते हैं। बड़े चतुर हैं आप तो।"

धृतराष्ट्र का स्वर जैसे आत्मकरुणा से ही भीग गया, "समझता तो मैं यही था प्रिये! किन्तु यह ज्ञान नहीं था कि तुम्हारे सामने मेरी कोई चतुराई नहीं चलेगी।"

"आपको पा कर मुझे सब कुछ मिल गया।" गान्धारी अत्यन्त आश्वस्त स्वर में बोली, "हाँ, यह अवश्य है कि नारी हूँ। नारी की दुर्बलताएँ मेरे मन में भी हैं। पितृगृह से बहुत दूर चली आयी हूँ। अन्य स्त्रियों के समान अपने पति के साथ पितृगृह जाना चाहूँगी, तो इतनी दूर की यात्रा में आपको कष्ट होगा।...।"

"अकेली जाओगी?" धृतराष्ट्र को मिलन की पहली रात्रि में विरह की बात नहीं सुहायी।

"अकेली जा तो सकती हूँ।" गान्धारी बोली, "किन्तु जाऊँगी नहीं। पति के बिना अकेले पितृगृह जाने में नारी का सम्मान नहीं है।" फिर जैसे उसका स्वर कुछ विगलित हुआ, "कोई बात नहीं। आप चिन्ता न करें। मैं गान्धार नहीं जाऊँगी। किसी से नहीं मिलूँगी। अपनी इच्छाओं का दमन कर लूँगी।"

धृतराष्ट्र से गान्धारी के स्वर की पीड़ा सही नहीं गयी। बोला, "इच्छाओं का दमन क्यों करती हो। तुम नहीं जा सकतीं; तो वे लोग तो आ सकते हैं।..." और सहसा जैसे धृतराष्ट्र को कोई समाधान मिल गया, "शकुनि हस्तिनापुर में ही क्यों नहीं रह जाता। तुम्हारे पास रहेगा। उसके यहाँ रहने से तुम्हारा पितृगृह ही यहाँ आ जायेगा। जब इच्छा होगी, भाई से मिल सकोगी।..."

"क्या यह शोभनीय है?"

"शोभनीय-अशोभनीय क्या हैं इसमें?" धृतराष्ट्र बोला, "छोटा भाई है तुम्हारा। बहन के प्रेम में यहीं रह गया तो क्या हुआ।"

"भगिनी का आश्रित हो कर रहना किसी भाई को शोभा नहीं देता।" गान्धारी बोली, "वह कौन कुरुओं की राजसभा का सदस्य है कि हस्तिनापुर में स्थायी रूप से रहे।"

धृतराष्ट्र आत्मविश्वास के साथ हँसा, "इसमें कठिनाई ही क्या है। उसे राजसभा का सम्मानित सदस्य बना दिया जायेगा। वह कुरुओं के शासन-तन्त्र का एक प्रमुख अंग होगा। बहन का आश्रित बन कर वह क्यों रहे। वह कुरु-प्रमुख बन कर रहेगा।"

"आप कितने अच्छे हैं।" गान्धारी ने अपना सारा शरीर ढीला छोड़ दिया।

45

कुन्ती का मन आतंकित भी था और बुझा भी; जैसे एक भारी बोझ उसके मस्तक पर भी हो और वक्ष पर भी।

सखियाँ, शृंगार-परिचारिकाएँ, सैरिन्ध्रियाँ–सब ही उल्लसित और प्रसन्न मुख-मुद्रा और हृदय लिए आस-पास डोल रही थीं। आती-जाती वे चुहल कर जातीं। कोई नया समाचार दे जातीं।

कुन्तिभोज का राजप्रासाद आज बहुत ही सक्रिय था। चारों ओर लोग-ही-लोग थे।...और कुन्ती सोच रही थी: यही प्रासाद था, जो इतना नीरव हुआ करता था। पिता और पुत्री–कुन्तिभोज और कुन्ती, किसी नये व्यक्ति से मिलने, बात करने को तरस जाया करते थे। परिवार में कोई और था नहीं। सम्बन्धी भी कम ही थे। जनक शूरसेन और भाई वासुदेव तो एक बार भी नहीं आये। शायद पृथा को एक बार राजा कुन्तिभोज को समर्पित करके, उसके मन में अपने प्रति मोह नहीं जगाना चाहते थे वे लोग। पर उससे क्या...मनुष्य की प्रकृति तो नहीं बदल सकती।...अतिथियों के प्रति ललक कुन्ती के मन में भी थी और कदाचित कुन्तिभोज के मन में भी।...और एक बार अतिथि के रूप में आये थे दुर्वासा...

कुन्ती याद करती है तो उसके मन का बोझ बढ़ने लगता है।...और जाने कैसा एक भय उसके मन में समा जाता है।...क्या इतना बड़ा अपराध किया है उसने कि वह किसी को मुख नहीं दिखा पायेगी?...पिता कुन्तिभोज ने यही कहा था...किसी को पता न चले, किसी को सूचना न हो। पिता ही नहीं, पूरे वंश के सम्मान का प्रश्न है...और कुन्ती के तो सारे जीवन का...

सखियाँ जब बताती थीं कि कोई और नया नरेश स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए आया है, कोई किरीटधारी, कोई अधिपति, कोई शूरवीर...तो कैसी प्रसन्नता होती थी उसके मुख पर! जैसे प्रत्येक आगन्तुक के साथ, स्वयंवर का महत्त्व बढ़ता जा रहा हो; और कुन्ती के लिए विकल्प का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा हो।...किन्तु कुन्ती थी कि प्रत्येक नये नाम के साथ वह और भी अधिक संकुचित हो जाती थी...जैसे प्रत्येक नये नाम के साथ उसका दायित्व बढ़ रहा हो, या उसके मन का बोझ कुछ और भारी हो गया हो...

कई बार उसके मन में आया कि यह प्रवंचना है, धोखा है। जिस किसी के कण्ठ में भी वह वरमाला डालेगी–वह उसका प्रिय होगा, मित्र होगा, पति होगा, जीवन भर का साथी होगा। उन दोनों का सम्बन्ध, परस्पर प्रेम और विश्वास का होगा।...उसके साथ इस प्रकार का धोखा...यह उचित नहीं है...धर्म नहीं है...यदि बात केवल उसके अपने व्यक्तित्व तक ही सीमित होती, तो कदाचित वह आत्म-स्वीकृति ही पसन्द करती–सत्य और धर्म के नाम पर न सही, अपने मन का बोझ कम करने के लिए, अपनी मानसिक शान्ति के लिए। एक बार कह सकती, स्वीकार कर सकती, तो कम-से कम निर्दोष और स्वच्छ नयनों से, किसी को निःशंक भाव से देख तो सकती। पर बात केवल उसके व्यक्तित्व तक ही सीमित नहीं है। वह एक वंश का अंग है, एक राजपरिवार की प्रतिनिधि...उसके साथ-साथ वे सब कलंकित होंगे, वे सब, जिस-जिसका उसके साथ सम्बन्ध है। जिसका उसके साथ जितना अधिक और जितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, वह उतने ही अधिक अपयश का भागी होगा; और उतना ही अधिक अपमानित होगा।...स्वयं अपने-आपको तो कुन्ती डुबो भी सकती है, किन्तु अपने सारे परिवार और वंश को वह किस प्रकार पाप-पँक में धकेल दे?...किन्तु अपने इस गहराते हुए पाप-बोध का वह क्या करे?...

कुन्ती की पुकार हुई। उसे बाहर रंग-मण्डप में बुलाया जा रहा था।

कुन्ती भारी मन से उठी...यह सारा शृंगार, यह स्वर्ण की तारों से खचित उत्तरीय, ये आभूषण और पुष्प-सज्जा...कैसे बोझ हो रहे थे, कुन्ती के लिए...

"राजकुमारी! तुम प्रसन्न नहीं हो?" एक सखी ने कहा भी।

कुन्ती कुछ कहती, इससे पूर्व ही वृद्धा धात्री ने सखी को टाल दिया, "लज्जा और संकोच, कुलीन कन्याओं का शील है मूर्ख! तू क्या चाहती है कि साधारण, कुल-शील-विहीन उच्छृंखल कन्याओं के समान, राजकुमारी भी अपने विवाह के अवसर पर इतराती फिरे।"

धात्री के उत्तर ने उस एक सखी के प्रश्न को ही नहीं अन्य सारी सखियों के सम्भावित प्रश्नों को एकदम निरस्त कर दिया था।

किसी और ने धात्री का समर्थन किया, "सचमुच यह उच्छृंखलता का अवसर नहीं है। जीवन का एक अत्यन्त

गम्भीर सोपान है; और कन्या के सामने तो जैसे आशंकाओं और प्रश्नों का संसार ही जुट आता है।”

कुन्ती धीरे-धीरे चलती हुई स्वयंवर-मण्डप में आयी। यहाँ चारों ओर लोग-ही-लोग थे। उस भीड़ को क्या देखती कुन्ती। और देखती भी तो किसी पर दृष्टि टिकती क्या उसकी? इतनी भीड़ में तो सारे चेहरे जैसे गड्ड-मड्ड हो गये थे।...और फिर सहस्त्रों जोड़ी आँखें उसी पर टिकी हुई थीं। नहीं, शायद कुछ आँखें उस पर टिकी हुई थीं, कुछ उसे तौल रही थीं, कुछ उसे छील रही थीं।...नहीं! इतनी आँखों का सामना कुन्ती नहीं कर सकती थी। ...उसने मस्तक झुका लिया। उसकी आँखें धरती पर जा टिकीं। माँ धरती! तू ही सबका सहारा है...

चारण आये। उन्होंने कुन्तिभोज के कुल का परिचय दिया...कुल की प्रशंसा में जो कुछ कहा जा सकता था, कहा...और कुन्ती को लगा कि उसके कुल की प्रशंसा में कहा गया एक-एक शब्द या तो अश्वों की टापों के समान, उसके कानों पर बज रहा है, या फिर कील के समान उसके वक्ष पर ठोका जा रहा है...उन शब्दों से उसका कुल जितना ऊँचा उठता जा रहा है, उसका अपना व्यक्तित्व उतना ही तुच्छ होता जा रहा है। ऐसा कुल, और ऐसी यह कुन्ती...

दोनों ओर से सखियों ने कुन्ती को थाम लिया और कुन्ती पग-पग धरती हुई आगे बढ़ी। सखियों ने जब उसे एक स्थान पर ला ठहराया, तो उसने देखा कि चारण उससे पहले वहाँ खड़े थे। और सामने, स्वयंवर में आये प्रत्याशी और अभिलाषी राजाओं की पंक्तियाँ थीं।...तो अब उसे एक-एक नृप के सामने ले जा कर खड़ा किया जायेगा। उसका परिचय दिया जायेगा। वह राजा अपनी दृष्टि से उसे तौलता रहेगा; और उसी समय में उसे भी उस राजा या राजकुमार को देख-परख लेना है। वहीं खड़े-खड़े निर्णय कर लेना है।...उसे उस व्यक्ति को स्वीकार या अस्वीकार कर देना है...

कुन्ती को लगा, घबराहट से उसकी टाँगें काँप रही हैं।

क्यों किया पिता ने यह स्वयंवर?–उसने सोचा अपने-आप ही कोई निर्णय कर लेते। अपनी इच्छानुसार किसी राजा को चुन कर कुन्ती का उससे विवाह कर देते, तो क्या कुन्ती मना कर देती? क्यों डाला कुन्ती पर यह बोझ? कुन्ती ने तो पुत्री के रूप में कभी इतना अधिकार नहीं माँगा था, जो उसे इस प्रकार विक्षिप्त कर दे। वह तो पिता की आज्ञा मान कर ही सन्तुष्ट थी...पर पिता भी क्या करते...उनके पास राजाओं के संदेश आ रहे थे। कुन्ती की चर्चा आर्यावर्त्त के अनेक राजप्रसादों में हो रही थी। उसके रूप की सुगन्ध कई राज्यों की सीमाओं का उल्लंघन कर गयी थी।...और ये आर्य योद्धा...ये तो थे ही ऐसे। जहाँ कहीं युद्ध, द्यूत या सुन्दरी स्त्री की सूचना मिली, व्याकुल हो कर तत्काल उसी दिशा में अश्व दौड़ा देते थे। जाने कैसे लोग थे ये...संसार के भोग में इतने अनुरक्त, इतने आसक्त...तनिक-से सुख के लिए प्राणों पर खेल जाने वाले...पिता भी क्या करते। किस राजा के अनुरोध को स्वीकार करते; और किसकी याचना को अस्वीकार कर, उसके रोष को आमन्त्रित करते।...नहीं! पिता किसी से भयभीत नहीं थे; किन्तु अकारण शत्रुता बढ़ाने का लाभ?...उन्होंने इसीलिए कुन्ती के स्वयंवर का मार्ग चुना। जिस-जिसको कुन्ती की आकांक्षा हो, वह भोजपुर में आ जाये और अपने भाग्य का परीक्षण कर ले...किन्तु पिता ने यह तो नहीं सोचा था कि इससे कुन्ती के मस्तक पर दायित्व का बोझ कितना बढ़ जायेगा...

राजा कुन्तिभोज के चारण एक प्रत्याशी का परिचय दे लेते, तो उस राजा के अपने चारण उसकी विरुदावली आरम्भ कर देते...और कुन्ती को लग रहा था कि वह मूक और बधिर होती जा रही है। कुछ बोलने की तो उससे अपेक्षा ही नहीं थी। किन्तु, अब जैसे उसे कुछ सुनायी भी नहीं पड़ रहा था। शब्द उसके कानों से टकरा-टकरा कर वायु-मण्डल में विलीन होते जा रहे थे। उन शब्दों का कोई अर्थ नहीं था, कुन्ती के लिए...

“राजकुमारी। आप इतनी संकोची तो कभी नहीं थीं।”

कुन्ती सँभली। उसके पैर शायद डगमगा गये थे; और सखी को, उसे गिरने से बचाने के लिए पर्याप्त प्रयास करना पड़ा था।

पग सीधे पड़े और शरीर सँभल गया, तो कुन्ती का ध्यान सखी के शब्दों पर गया...वह कह रही थी कि कुन्ती इतनी संकोची तो नहीं थी...और कुन्ती बार-बार सोच रही थी कि वह इतनी संकोची क्यों हुई...वह ठीक समय पर दृढ़तापूर्वक ‘न’ कहना सीख जाती, तो संकोच में अपनी इच्छा के विरुद्ध कर्म करने को क्यों बाध्य होती–उसका असमंजस और संकोच ही तो खा गया उसको...

उसके कान चारणों के शब्दों पर अटके। वे परिचय दे रहे थे...हस्तिनापुर के सम्राट पाण्डु का...वे लोग उसके कुल का यशोगान कर रहे थे...भरत, पुरु, ययाति, शान्तनु, भीष्म...इस कुल के विषय में बहुत कुछ सुन रखा था उसने। अनेक असाधारण महापुरुषों का सम्बन्ध था इस वंश से। विस्तृत और शक्तिशाली साम्राज्य था। उनके अधीन

अनेक माण्डलिक राजा थे। धर्म, धन तथा वीरता के लिए प्रसिद्ध था यह वंश।...कुन्ती ने दृष्टि उठायी...पाण्डु उसकी ओर देख कर मुस्कुराने का प्रयत्न कर रहा था...वय छोटा था अभी! चेहरे पर तरुणाई फूट रही थी। नयन-नक्श आकर्षक थे...पर वर्ण कैसा पीला था, जैसे स्वर्ण का रंग।...क्या हस्तिनापुर में इतना स्वर्ण है कि वहाँ के लोगों का रंग पीला पड़ जाता है...कुन्ती का मस्तिष्क बड़े वेग से काम कर रहा था... हस्तिनापुर के राजप्रासाद में ही कानीन पुत्र का सम्मान हुआ है। हस्तिनापुर में वेदव्यास उतने ही सम्मानित हैं, जितने कि स्वयं देवव्रत भीष्म।...हस्तिनापुर में किसी ने कानीन पुत्र के लिए सत्यवती का तिरस्कार नहीं किया...और अधिरथ भी हस्तिनापुर में ही हैं, अधिरथ...हस्तिनापुर...कानीनपुत्र...भरत-वंश...

कुन्ती का मस्तक फिर से चकराने लगा था।...अभी वह अवश हो जायेगी, और सखियाँ उसे भुजाओं से पकड़, आगे बढ़ा ले जायेंगी। चारण किसी अन्य राजा अथवा राजकुमार का गुणगान करने लगेंगे...

उसमें जैसे कोई आकस्मिक ऊर्जा जागी।...उसने एक ही क्षण में, झटके के साथ, वरमाला पाण्डु के गले में डाल दी!

कुन्ती के कानों में जैसे नगाड़े बजने लगे। उसे लगा, अभी चारों ओर से कोलाहल मच जायेगा, 'कुन्ती! तूने यह क्या किया?' 'कुन्ती! तूने सारे राजाओं का परिचय भी प्राप्त नहीं किया?' 'कुन्ती! तेरा निर्णय ठीक नहीं हुआ।' और शायद अनेक राजा अभी कवच पहन-पहन कर, धनुष-बाण हाथों में लिए, युद्ध के लिए उद्यत दिखायी पड़ेंगे! स्वयंवरों में यही तो होता है...खड्ग चमकेंगे...स्वयंवर-मण्डप अभी रक्त में स्नान करेगा...

किन्तु अपने मस्तक के बवण्डर को थोड़ा नियन्त्रित कर, उसने देखा कि यह सब उसके मस्तिष्क के भीतर घटित हो रहा था।..स्वयंवर-मण्डप में कार्य सम्पन्न होने का उल्लास था...कुन्तिभोज हर्षित मुद्रा में, उसकी ओर बढ़ रहे थे...पिता उसके निर्णय से रुष्ट नहीं थे...तो क्या कुन्ती ने अपने उन्माद के एक क्षण में जो निर्णय लिया, वही सर्वोत्तम निर्णय था?...

कुन्तिभोज ने आ कर उसे कण्ठ से लगा लिया, "पुत्री! तूने मेरी समस्त आशाएँ पूरी कर दीं। हस्तिनापुर के सम्राट से श्रेष्ठ वर की कल्पना भी मेरे मन में नहीं थी।..."

कुन्ती का मन उल्लास-भरा नृत्य कर रहा था; किन्तु उसके मन का कोई अंश था, जो डरा-सहमा, किसी अन्धकारमय कोने में बैठा सोच रहा था: अभी इन राजाओं की भृकुटियाँ चढ़ जायेंगी। अभी इन सबके खड्ग कोश से बाहर आ जायेंगे...ऐसी तो क्षत्रियों की कोई सभा होती ही नहीं, जिसमें पूर्ण सहमति हो जाये और रक्तपात न हो। स्वयंवर में विधिवत जो कन्या को पा जाये, उस राजा का एक पक्ष होता है; और जो कन्या को बलात् पाने का प्रयत्न करते हैं, उनका दूसरा पक्ष।...जिसमें दो विरोधी पक्ष न हों, ऐसा स्वयंवर तो कोई होता ही नहीं।...और फिर रक्तपात न भी होता तो क्या...किसी के लिए भी क्या कठिन था यह कह देना, कि इस कुन्ती से इसके अतीत के विषय में पूछो। पूछो इससे कि...

और बस! इतने में ही यह पाण्डु अपने कण्ठ में पड़ी वरमाला को छिन्न-छिन्न कर देगा। कहेगा, 'मैं क्षत्रिय राजा हूँ! हस्तिनापुर का सम्राट। सनातन धर्म कुछ भी रहा हो। ऋषि कुछ भी मानते हों। राज-समाज उसका आदर करे ही, यह तनिक भी आवश्यक नहीं है...'

किन्तु कुन्ती के लिए यह सुखद आश्चर्य ही था कि ऐसा कुछ नहीं हुआ। राजाओं का वह समाज, जो किंकर्तव्यविमूढ़-सा अपने स्थान पर खड़ा था, सहसा लहर के समान आगे बढ़ा और उसने उसके पिता को स्वयंवर सम्पन्न होने पर बधाई दी।...और उसके पश्चात तो लहर-पर-लहर आती चली गयी...एक-से-एक ऊँची! जैसे राज-समाज न हो, कोई सागर हो जो पूर्ण चन्द्रमा को देख, उसके चरणों में लोटने को व्याकुल हो उठा हो...

चारों ओर बधाई और जय-जयकार की ध्वनियाँ थीं। वे ध्वनियां भी अधिक देर तक नहीं टिकीं...राजागण एक-एक कर विदा हो गये; और स्वयंवर-मण्डप में रह गये थे राजा कुन्तभोज के दास, सेवक और सैनिक; स्वयं राजा कुन्तिभोज, कुन्ती और उसके द्वारा वरण किया गया–हस्तिनापुर का सम्राट पाण्डु!...किसका प्रताप था यह–कुन्ती के वीर पिता कुन्तिभोज का या उसके 'वर' सम्राट पाण्डु का?...

कुन्ती चकित दृष्टि से बारी-बारी उन दोनों को देख रही थी।

हस्तिनापुर आने से पहले कुन्ती ने मथुरा और भोजपुर का वैभव देखा था। यादवों का वैभव कम नहीं था; किन्तु हस्तिनापुर को देखने के पश्चात ही उसे मालूम हुआ कि वैभव क्या होता है। ऊँट जब तक पर्वत के नीचे न आये, तब तक वह कैसे जान सकता है कि वास्तविक ऊँचाई क्या होती है। कुन्तिभोज कितने भी वीर क्यों न रहे हों–भोजपुर का राज्य हस्तिनापुर के साम्राज्य से बहुत छोटा था। वहाँ भी दास-दासियों का अभाव नहीं था। बाहर निकलने पर साथ शस्त्रधारी सैनिक भी चलते थे...किन्तु वे दास-दासियाँ, सेवक-चाकर, सैनिक-प्रतिहारी–सब जैसे उनके आत्मीय थे, परिवार के अंग।...अब अपनी धात्री को वह दासी मान सकती है क्या? राग के उस तन्तु को वह कैसे भूल सकती है, जिसने उन दोनों को बाँध रखा था।...कोई माता भी उससे अधिक क्या करती, जो कुछ धात्री ने किया...किन्तु हस्तिनापुर में 'दासी' को 'दासी' ही समझा जाता था...वैभव का मद राजपरिवार में स्पष्ट था...एक पितृव्य भीष्म थे, जिनके विषय में उसने आते ही सुना था कि वह राजप्रासाद में रहते हुए भी, राजपरिवार के संरक्षक और अभिभावक होते हुए भी, तपश्चर्या का जीवन व्यतीत कर रहे हैं–किसी तापस सन्यासी के समान...

कपाट कुछ खटके।

कुन्ती ने दृष्टि उठा कर देखा: पाण्डु ने कक्ष में प्रवेश किया। आस-पास बैठी दासियाँ प्रणाम कर कक्ष से बाहर चली गयीं। किसी ने बाहर से कपाट भिड़ा दिये। सम्भवत: बाहर भी दासियाँ बैठी थीं...

पाण्डु आ कर पलंग पर बैठ गया। थोड़ी देर चुपचाप टकटकी लगाये, कुन्ती को देखता रहा। कुन्ती की दृष्टि क्रमश: नीचे झुकती चली गयी; दृष्टि के साथ ग्रीवा भी झुक गयी; और जब कटि-भी कमान के समान झुकने लगी तो पाण्डु ने तर्जनी से कुन्ती के चिबुक के नीचे टेक दी, "कितनी लजीली हो तुम!" वह बोला, "और कितनी सुन्दर!"

अवसर मिलते ही कुन्ती ने बलात् ऊपर उठाया हुआ चेहरा, फिर से झुका लिया। वह अपने रूप की प्रशंसा करने वाले इस कामनीय पुरुष की आँखों में निसंकोच कैसे देख सकती थी...और कुन्ती की अपनी आँखों में तो उसका अतीत भी था...कहीं उसके पति की दृष्टि, उसके अतीत पर पड़ गयी तो...

पाण्डु ने उसे इस प्रकार संकुचित नहीं रहने दिया। उसने कोमल किन्तु दृढ़ पकड़ से उसका अवगुण्ठन ही नहीं, उत्तरीय ही उतार कर पृथक् कर दिया। अपनी दोनों हथेलियों में उसने कुन्ती का मुखड़ा थाम लिया, उसे निहारा और उसके हाथ मुखड़े से ग्रीवा से कंधों पर आ गये...

"मैंने तुम्हारे रूप की बहुत प्रशंसा सुनी थी कुन्ती! किन्तु तुम उससे भी कहीं अधिक सुन्दर हो!...ऐसा रूप-वैभव और ऐसा शील!..."

पाण्डु के हाथ, कुन्ती के कंधों से हटे और उसने कुन्ती को अपने अंक में बाँध लिया। अंक कसता जा रहा था...और कुन्ती का मन द्रवित होते-होते, इस स्थिति तक पहुँच गया कि उसकी भुजाएँ भी प्रत्यालिंगन के लिए हिलीं।

सहसा ही पाण्डु ने अपनी पकड़ ढीली कर दी...

कुन्ती को जैसे झटका लगा। उसकी मुँदी हुई आँखें खुल गयीं। उसने पाण्डु को देखा: उसका चेहर उत्तेजना में रक्ताभ हो रहा था। नासिका के नीचे, पतली मूँछों के ऊपर छोटे-छोटे स्वेदकण चमक रहे थे, किन्तु आँखों में कैसी अवशता थी...

पाण्डु ने अपना सिर कुन्ती की गोद में डाल दिया, "मुझे अपने विषय में बताओ। मैंने तुम्हारे विषय में सुना भी बहुत कुछ है।...मुझे लगता है कि मैं तुम्हारी प्रशंसा सुन-सुन कर ही तुमसे प्रेम करने लगा था। बहुत भावुक हूँ मैं, कल्पनाशील भी। कोई बात मेरे मन में बैठ जाये तो अपनी तीव्र कल्पना से उसे ऐसा जीवन्त कर लेता हूँ कि चाहे संसार के लिए असत्य हो, पर मेरे लिए वह सत्य हो जाती है।...मैंने सुना है कि तुम्हारा एक नाम पृथा भी है।..."

पाण्डु उठ कर बैठ गया। इस समय कुन्ती और पाण्डु एकदम आमने-सामने थे। अब कुन्ती में उतना संकोच नहीं रह गया था। पहले आलिंगन और पहले सम्भाषण का संकोच दूर हो चुका था।...पाण्डु के चेहरे का आवेश शान्त हो गया था। वह कुछ सहज लग रहा था...पर कुन्ती को अपने शरीर का ताप कम करने में कठिनाई हो रही थी...किन्तु शायद पाण्डु का व्यवहार अधिक संगत था...पहले उन्हें एक-दूसरे का परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए। परिचय से ही तो आत्मीयता का जन्म होगा। आत्मीयता से प्रेम का; और प्रेम के आधार पर कामासक्ति...

"मेरा वास्तविक नाम तो पृथा ही है; कुन्ती नाम तो मुझे राजा कुन्तिभोज की दत्तक पुत्री के रूप में मिला।"

कुन्ती ने धीरे से कहा, "मैं नहीं जानती कि आपको ज्ञात है या नहीं कि मथुरा के वृष्णि प्रमुख शूरसेन मेरे जनक थे। उन्होंने मुझे अपनी बुआ के पुत्र राजा कुन्तिभोज को दे दिया था।"

"क्यों?"

"राजा कुन्तिभोज की कोई सन्तान नहीं थी।"

"पर हमारे विवाह में तो न तुम्हारे जनक शूरसेन उपस्थित थे और न तुम्हारे भाई वसुदेव!"

"मेरे जनक अपना नश्वर शरीर त्याग चुके हैं।" कुन्ती का स्वर उदास हो गया, "और आपने सुना होगा कि मेरे भाई वसुदेव और भाभी देवकी को कंस ने बन्दी बना रखा है।"

"ओह!" पाण्डु को लगा कि यह विषय आरम्भ कर, उसने भूल की है।

"राजा कुन्तिभोज ने कंस को समझाया नहीं?..."

"कंस को कौन समझायेगा। उसने अपने पिता को बन्दी कर लिया है। वह यादवों का सारा शासन-तन्त्र नष्ट कर रहा है। वह पूर्ण रूप से परम स्वतन्त्र आततायी राजा बन गया है। यादवों की सभा की भी वह एक नहीं सुनता।"

"मेरे अज्ञान को क्षमा करना कुन्ती!" पाण्डु बोला, "मैंने कभी इधर ध्यान नहीं दिया, इसलिए स्थिति से पूर्णत: अवगत नहीं हूँ। पर सोचता हूँ कि राजा कुन्तिभोज कंस से युद्ध क्यों नहीं करते?"

"कह नहीं सकती कि वास्तविक स्थिति क्या है। मैं मथुरा से दूर रही हूँ। सारा संघर्ष ब्रज-मण्डल के भीतर है।...वैसे भी कंस को मगधराज जरासंध का संरक्षण प्राप्त है। युद्ध हुआ, तो दोनों और से यादवों का ही नाश होगा...। भाई वसुदेव...।" कुन्ती की आँखों में अश्रु आ गये।

"रोओ नहीं प्रिये!"

कुन्ती के अश्रु देख कर पाण्डु स्वयं को रोक नहीं सका। उसने सान्त्वना देने के लिए, कुन्ती को अपनी बाँहों में समेट लिया।...कुन्ती का द्रवित मन जैसे कोई सहारा खोज रहा था। उसने अपना मस्तक पाण्डु के कंधे के साथ टिका दिया।

"मैंने अनुपयुक्त अवसर पर यह विषय छेड़ दिया कुन्ती!" पाण्डु ने कुन्ती के माथे का चुम्बन किया। केशों में अँगुलियाँ फिरायीं; और उसकी हथेलियाँ कुन्ती की पीठ पर आ गयीं।

कुन्ती भी सजग हुई।...आज उसके विवाह की प्रथम रात्रि थी...अपने भाई-भाभी के कष्टों को याद कर रोने के लिए, यह कोई बहुत उपयुक्त अवसर नहीं था।...उसके लिए जीवन में और अनेक अवसर आयेंगे।

कुन्ती ने अपने अश्रु पोंछ लिए, "मुझे जीवन ने कई अवसरों पर बहुत रुलाया है आर्यपुत्र!..." और कुन्ती को लगा, अब उसने स्वयं ही एक अनुपयुक्त विषय छेड़ा है। कहीं पाण्डु इसी संदर्भ में प्रश्न पूछने लगे, तो कहाँ तक छिपायेगी वह अपना अतीत...घबरा कर कुन्ती ने अपना चेहरा पाण्डु के वक्ष में डुबो दिया...

पाण्डु का शरीर फिर से कसने लगा था। कुन्ती का यह देह-वैभव उसकी भुजाओं में था; और रक्त का संचार जैसे वेगवान ही नहीं हुआ था, तप्त भी हो गया था। पर यह सारा रक्त उसके मस्तक में ही क्यों चढ़ने लगता था। मस्तक जैसे फटने लगता था; और आँखें चक्षु-कोटरों को फाड़ कर बाहर निकलने लगती थीं...यह उत्तेजना...इसे नियन्त्रित करना होगा...

"सुना है, तुम्हारे पिता, राजा कुन्तिभोज अत्यन्त धर्मप्राण व्यक्ति हैं।" पाण्डु ने चर्चा का विषय एकदम बदल दिया। सम्भवत: ऋषियों-मुनियों और धर्म की चर्चा से, उसे इस प्राणघातक आवेश से मुक्ति मिले...

पति द्वारा विषय-परिवर्तन कुन्ती को भला लगा। समझ गयी कि उसे ही इस अटपटी स्थिति से मुक्त करने के लिए उसके प्रिय ने बात को दूसरी ओर मोड़ दिया है...

कुन्ती मुस्कुरायी, "पिता की धर्म-वृत्ति के विषय में मैं अधिक नहीं जानती; किन्तु ऋषि-मुनियों की सेवा वह अवश्य करते थे। अनेक ऋषि भोजपुर में आया करते थे।"

पाण्डु की विचित्र स्थिति थी—उसका हृदय जैसे वक्ष फाड़ कर बाहर निकल आना चाहता था। कुन्ती!...सुन्दरी कुन्ती...युवती कुन्ती...देह का यह आकर्षण...कामदेव जैसे पाण्डु के रक्त के एक-एक बिन्दु में अपने पाँचों बाणों का विष एक साथ ही घोल रहा था...काम की उत्तेजना...उफान-ही-उफान ...किन्तु रति कहीं निकट नहीं थी पाण्डु के,...रति के बिना तो काम अपने ताप में ही जल कर भस्म हो जायेगा...भगवान महादेव को अपना तीसरा नेत्र खोलने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी...किन्तु अपने साथ-साथ, वह पाण्डु का शरीर भी भस्म कर जायेगा...

कुन्ती ने पाण्डु को देखा। काम से आविष्ट पाण्डु अन्यमनस्क-सा था। जाने कहाँ ध्यान था पाण्डु का...या सम्भव

है कि इस प्रथम साक्षात्कार में, इस अल्प परिचय में काम का यह आवेग, उसके सुसंस्कृत मन को अशोभनीय लग रहा हो...सम्भवत: वह स्वयं को नियन्त्रित कर रहा हो...पति-पत्नी में कुछ घनिष्ठ परिचय हो ले, वे कुछ और आत्मीय बन जायें...प्रेम उपजे भावों का तादात्म्य हो, तो काम प्रेम का एक अंग बन कर जीवन को सुखद बनाये...उस परिचय, आत्मीयता और प्रेम के अभाव में देह-सम्बन्ध ...कामुकता तो कोई अच्छा गुण नहीं है...

कुन्ती का मन पाण्डु पर मुग्ध होता जा रहा था। देखो तो कितना कष्ट पा रहे हैं, आत्म-संयम में। जैसे अपने-आपसे युद्ध कर रहे हों...वह क्या नहीं जानते कि कुन्ती भी क्षत्रिय-पुत्री है...क्षत्रिय-समाज को जानती है।...कितना ताप है क्षत्रियों के रक्त में...युद्ध, सेज और क्रीड़ा-मण्डप...यही तो प्राण हैं उनके...

"सुना है कि दुर्वासा ऋषि भी एक बार आये थे, तुम्हारे राजप्रासाद में।" पाण्डु स्पष्टत: बात को आगे चलाने का प्रयत्न कर रहा था। उसका शरीर आवेश से काँप रहा था...

कुन्ती को जैसे सर्प-दंश लगा हो।...यह चर्चा को किस ओर ले जा रहे हैं...कहीं इन्हें ज्ञात तो नहीं...भोजपुर से चलते हुए, हस्तिनापुर के मार्ग में, या हस्तिनापुर में आने पर, किसी ने इन्हें बता तो नहीं दिया...क्यों इन्होंने दुर्वासा का ही नाम लिया?...

कुन्ती एक झटके से पाण्डु की भुजाओं में से मुक्त हो गयी।

पाण्डु के शरीर का ताप कुछ कम हुआ। उसे लगा, जैसे उसके तपते मस्तक को वायु का कोई शीतल झकोरा, कुछ शान्त कर गया हो...

"हाँ! आये थे।" कुन्ती ने कुछ साहस कर कहा, "मैंने कहा न कि भोजपुर के राजप्रासाद में ऋषि-मुनि, चिन्तक-विचारक, साधक-तपस्वी, सब आया ही करते थे। पिता उन सबका आदर करते थे। उनका स्वागत करते थे। उनकी सहायता करते थे।"

साहस कर कुन्ती कह तो गयी, किन्तु उसका विवेक उसे लगातार रोक रहा था: वह गलत दिशा में बढ़ रही है। ये निर्दोष बातें, उसके लिए यम-फाँस बन सकती हैं।

पाण्डु अपने भीतर के आवेश से लड़ रहा था; किन्तु कुन्ती पर तनिक भी प्रकट नहीं होने देना चाहता था। अनमना-सा, उसे बातों में लगाये रखना चाहता था। बात समाप्त होते ही मौन छा जाता था। मौन होते ही जैसे कुन्ती उससे रति की अपेक्षा करेगी...और पाण्डु पर फिर कामावेश छा जायेगा। उसका मस्तक फटने लगेगा, उसकी आँखें, कोटरों से बाहर निकलने-निकलने को हो जायेंगी...और उसकी रति-इच्छा फिर भी पूरी नहीं होगी...

"ऋषि क्या करने आते थे भोजपुर में?" उसने फिर एक प्रश्न उछाल दिया।

कुन्ती ने निरीक्षक दृष्टि से देखा: क्यों कुरेद रहा है इतना। क्या इसे सचमुच कुछ मालूम हो गया है?

"साधना करते थे ऋषि। कोई प्रयोग। ज्ञान के क्षेत्र में कोई नया शोध।..."

"पर दुर्वासा तो बहुत क्रोधी ऋषि माने जाते हैं।"

"क्रोधी तो वह हैं ही...वरन...एक प्रकार से विक्षिप्त-से हैं।" कुन्ती को लगा अब वह शायद और नहीं रोक पायेगी। उसके स्वर में शायद कोई थरथराहट आ गयी है। उसका कण्ठ सूख रहा था। यदि इस विषय पर बात और चलती रही, तो कहीं ऐसा न हो कि या तो वह चीत्कार कर उठे, या फिर उसे चक्कर आ जाये..

"उन्हें सन्तुष्ट करना तो बहुत कठिन होगा।" पाण्डु का अपने साथ लगातार युद्ध चल रहा था...वह अपने लोभ और संयम में, काम और विवेक में कोई संगति नहीं बैठा पा रहा था। एक ओर उसकी इच्छा होती थी कि वह यहाँ से भाग जाये...और दूसरी ओर कुन्ती का रूप, कुन्ती की देह का आकर्षण, उसे अनवरत अपनी ओर खींच रहा था...

"ऐसे व्यक्ति को सन्तुष्ट करना तो कठिन है ही।" कुन्ती ने कह तो दिया, किन्तु उसे लगा कि उसके स्वर का प्रवाह जैसे थम गया है, उसका कण्ठ सूख गया है।

"तुम लोगों ने उनकी बहुत सेवा की होगी।"

कुन्ती के लिए अब यह असह्य था...अब यह वार्तालाप यहाँ न रुका, तो फिर इसका कोई अन्त नहीं है...

उसने जैसे अपना सारा आत्मबल समेटा, अपने संकोच को बलात् परे धकेला और बड़ी कठिनाई से बोली, "आर्यपुत्र! आज की रात हमारे बीच यह ऋषि और उनकी तपस्या क्यों आ खड़ी हुई है...।"

और अपने अन्तिम शस्त्र के रूप में कुन्ती ने स्वयं को जैसे पाण्डु के अंक में उँड़ेल दिया...

कुन्ती के शरीर को पाण्डु ने अपनी भुजाओं में थाम लिया। उसका आलिंगन कसने लगा। लगा, उस पर काम

का उन्माद छा गया है...और दूसरे ही क्षण उसके चेहरे पर किसी भीतरी यातना के चिह्न उभरे।...उसकी भुजाएँ ढीली पड़ गयीं।...वह हाँफ रहा था। उसका चेहरा एकदम विकृत हो उठा था।

"मेरा मन ठीक नहीं है।" उसने कहा।

वह उठा और कक्ष से बाहर निकल गया।

कुन्ती अवाक् बैठी रह गयी।

उसके दुर्भाग्य ने उसका पीछा नहीं छोड़ा...वह सोच रही थी...किसी प्रकार उसके पति को सूचना मिल ही गयी...यही होना था। उसके साथ! मूर्खता का और क्या परिणाम हो सकता है।

और सहसा उसे लगा कि उसके मन में पाण्डु के प्रति अपार क्रोध भर आया है।...उसे क्या अधिकार है, कुन्ती को इस प्रकार पीड़ित करने का। अबोधावस्था में हुई कोई भूल क्या इतनी महत्त्वपूर्ण होती है कि उसके लिए किसी का सारा जीवन नष्ट कर दिया जाये।...ऐसा ही कुछ करना था, तो विवाह से पहले ही खोज-बीन कर ली होती। स्वयंवर में न आया होता...और इतनी ही घृणा थी उसे, इस तथ्य से, तो अपनी पितामही का सम्मान क्यों करता है...क्या इससे ऐसी कोई भूल नहीं हुई होगी। क्षत्रिय राजकुमार–जिसके आस-पास इतनी दासियाँ विद्यमान रहती हैं, क्या इसके पग एक बार भी नहीं डगमगाये होंगे...और फिर यह तो सम्राट है हस्तिनापुर का...कल यदि कुन्ती को उसके विषय में ऐसी ही कोई सूचना मिल जायेगी, तो क्या कुन्ती भी उसे इसी प्रकार छोड़ कर चल देगी?

कुन्ती बड़ी देर तक बैठी हुई मन-ही-मन फुँकती रही...पति के विरुद्ध मन-ही-मन आक्रोश संचित करती रही...और जब आक्रोश का वेग आकाश छूने लगा, तो कुन्ती को लगा कि वह और ऊपर न जा कर क्षितिज की ओर झुकने लगा है...पति से रुष्ट हो कर क्या होगा? वह गंगा तो है नहीं कि शान्तनु को छोड़ कर चली जाये; और फिर कहीं उसकी चर्चा भी न हो।...पाण्डु को छोड़ जायेगी, तो जायेगी कहाँ?...पिता कुन्तिभोज के यश पर कालिमा पोतने भोजपुर जायेगी क्या? पिता ने अपनी कीर्ति की रक्षा के लिए उस नवजात शिशु को भोजपुर से इतनी दूर भिजवा दिया था।...कुन्ती लौट कर भोजपुर जायेगी, तो अपने पिता की निष्कलुष कीर्ति को नष्ट नहीं कर देगी?...तो क्या वह मथुरा जायेगी? पर अब मथुरा में कौन था? कंस के शासन में कौन-सा सुख मिलेगा उसे?

पुरुषों का समाज है, तो इसमें पुरुषों की ही इच्छा चलेगी। वह पति से रुष्ट हो कर न इस घर में रह सकेगी, न पितृ-गृह में। उसे पति से कोई-न-कोई समझौता करना ही पड़ेगा।...पति से समझौता तो पति की इच्छा के अनुकूल ही होगा...जो वह चाहेगा, जैसा वह चाहेगा...

कुन्ती सारी रात सोचती रही...उसका भविष्य कैसा होगा? जीवन का क्या स्वरूप होगा? उसके उन सारे स्वप्नों का क्या होगा, जो उसने कुन्तिभोज की पुत्री के रूप में देखे थे: या पाण्डु की ग्रीवा में वरमाला डालने के पश्चात हस्तिनापुर की साम्राज्ञी के रूप में देखे थे। साम्राज्ञी के स्वप्न तो आठ प्रहर भी जीवित नहीं रहे; सम्राट ने एक झटके में ही सब कुछ ध्वस्त कर दिया!...

अपने प्रासाद के एक एकान्त कक्ष में पाण्डु पलंग पर उत्तान लेटा था। उसकी आँखे जैसे कक्ष की छत से चिपक गयी थीं और कुछ देख भी नहीं रही थीं। आँखों की कोरों से अश्रुकण अपने-आप बहते जा रहे थे।...पाण्डु ने स्वयं को इतना असहाय कभी नहीं पाया था।...हस्तिनापुर का सम्राट और इतना असहाय! कुन्ती उसकी दासी नहीं है, जिसे वह अपनी इच्छानुसार झटक कर अपना पिण्ड छुड़ा ले। वह उसकी पत्नी है, जिसे वह स्वयंवर में से प्राप्त कर, विवाह कर लाया है। क्षत्रियों में इसे गौरव का विषय समझा जाता है।...कुन्ती ने उसके रूप पर मुग्ध हो कर या उसकी वंश-परम्परा अथव साम्राज्य की शक्ति को देख कर, उसके गले में वरमाला डालो थी।...वह आजीवन उसके साथ रहेगी...एक-दो रातों की बात नहीं है कि किसी व्याज से वह उसे टाल दे...स्वयं रुष्ट हो जाये, कहीं चला जाये, उसे कहीं भेज दे।...कब तक मुँह छिपाता रहेगा उससे?...इससे तो कहीं अच्छा था कि वह पितृव्य भीष्म के समान स्त्री-प्रसंग से दूर रहने की प्रतिज्ञा कर लेता। वह प्रतिज्ञा शायद इतनी कठिन नहीं होती, जब कभी नारी-प्रसंग उठता, तब उसकी परीक्षा होती: किन्तु यह तो आजीवन, आठों पहर, बारहों मास...प्रत्येक क्षण कृत्या के समान उसके कण्ठ में अपने दाँत गड़ाये, उसका रक्त पीती रहेगी...और यदि कहीं उसने इसकी चर्चा अन्य लोगों से कर दी तो?...परिवार के वृद्ध जनों में, राज्य के कर्मचारियों में, दास-दासियों में यह चर्चा होगी कि पाण्डु...

किन्तु पितृव्य के समान वह प्रतिज्ञा कैसे कर सकता था? पता नहीं उनके मन को नारी लुब्ध कैसे नहीं करती?

उनका मन ही किसी अन्य धातु का बना हुआ है...या उनका संकल्प ही इतना दृढ़ है। पाण्डु के शरीर का तो एक-एक रोम, नारी का रूप देखते ही सनसनाने लगता है। लोभ इतना अधिक है और क्षमता सर्वथा शून्य! या तो कामना ही न होती, या फिर क्षमता भी होती। कामना और क्षमता के इस असन्तुलन में कहीं वह पागल न हो जाये...

पाण्डु को कुछ करना होगा: या तो वह वैद्यों की सहायता ले, या अपने मन को सन्तुलित करे, या फिर वह यहाँ से कहीं दूर चला जाये...कुन्ती से दूर...जहाँ कोई उसकी क्षमता की परीक्षा लेने वाला न हो!

सहसा पाण्डु को लगा कि उसके भीतर कहीं कोई आहत पशु बैठा हुआ है। घाव उसके मन पर भी है–अपमान का घाव: और शरीर पर भी– शारीरिक कष्ट का घाव! थोड़ी-थोड़ी देर में कहीं कोई एक टीस उठती है और उस पशु की दृष्टि अपने घाव पर जा पड़ती है।...उसके शरीर का कष्ट भी बढ़ जाता है और मानसिक पीड़ा भी। और तब पशु का दर्प जागता है। उसकी दृष्टि अपने तीक्ष्ण नखों पर पड़ती है; उसे अपने दाँतों का नुकीलापन और जबड़ों की शक्ति याद आती है। उसका मन होता है कि सामने पड़ने वाले प्रत्येक जीव को वह चीर-फाड़ कर रख दे। उसके आस-पास कोई जीव ही न रहे, जो उसका उपहास कर सके, उसे अपमान का घाव दे सके!

पर तभी पाण्डु का विवेक जागा: यह क्या होता जा रहा है उसे? क्या उसके मन में इतनी हिंसा संचित है? यदि ऐसा है तो अपनी इस घातक पीड़ा में किसी भी समय उसके भीतर के पशु पर से उसके विवेक का नियन्त्रण शिथिल हो सकता है...और ऐसी स्थिति में वह विवेक-शून्य पशु किसी भी और कितने ही जीवों के प्राण ले सकता है। पाण्डु अपनी क्षमता से अवगत है। व्यक्तिगत वीरता तो एक ओर, पाण्डु के पास पितृव्य भीष्म के सान्निध्य और निरीक्षण में संगठित, हस्तिनापुर की प्रशिक्षित-अनुशासित सबल सेना है। यदि कहीं उस सेना को ले कर पाण्डु हिंसा पर उतर आया तो?

पाण्डु की बुद्धि का कोई और आयाम जागा: जिस बात से वह भयभीत हो रहा है, वही बात उसकी समस्या का समाधान भी हो सकती है। वह सेना ले कर अपने राज्य से बाहर निकल जाये...अमित्र राज्यों पर आक्रमण करे, उन्हें नमित करे, पराजित करे, दण्डित करे। अपने मन की इस सारी अपमानित हिंसा को वह संहार के लिए मुक्त कर दे...और इस सारे कृत्य को दिग्विजय के नाम से गौरवान्वित करे!

पाण्डु के मन में योजनाएँ बनती चली गयीं। कौन-सी वाहिनियाँ साथ जायेंगी, कौन-सी हस्तिनापुर में रहेंगी। कितनी संख्या पर्याप्त होगी। कितने योजन तक वह अपनी सेना को बिना पराजित हुए, आगे बढ़ा ले जा सकता है। मार्ग कौन-सा होगा। कौन-सी ऋतु किस प्रदेश में पड़ेगी। किस राज्य से उसे क्या उपलब्ध हो सकता है...

प्रभात के निकट आने पर उसे लगा: अब वह अपमान से आहत और कुन्ती के भय से त्रस्त हो कर, हस्तिनापुर की प्रजा से मुँह छिपाता नहीं फिरेगा। वह सुनियोजित ढंग से दिग्विजय करेगा: और भरत-वंश के नये कीर्तिमान स्थापित करेगा।

सूर्य की पहली किरण ने जब उसके प्रासाद को छुआ तो वह अत्यन्त हल्के कुन्ती की निन्द्रा कुछ विलम्ब से ही टूटी। वह बहुत थोड़ी देर के लिए ही सो पायी थी शायद! सिर भारी और आँखें जल रही थीं। मन में अवसाद का धुआँ भी अभी तक था।...उसे अपनी स्थिति समझने और कल रात की बातें याद करने के लिए कुछ प्रयत्न करना पड़ा। जैसे-जैसे उसे बातें याद आती गयीं, उसका सिर कुछ और भारी होता गया...जो कुछ घटित हुआ था, वह कल के साथ ही समाप्त नहीं हो गया...वह तो अब प्रत्येक रात्रि को घटित होगा, या शायद उससे भी कुछ अधिक भयंकर...यदि कहीं उसने ये बातें परिवार के गुरुजनों को बता दीं...पता नहीं कैसे संक्रान्ति काल में से हो कर जा रहा है यह समाज!...ऋषि हैं कि परम्परा से चले आते हुए सनातन धर्म की पवित्रता, उपयोगिता और उच्चता को आज भी उतना ही महत्त्व देते हैं, और राज-समाज है कि निरन्तर बदलता जा रहा है, अपनी नयी मान्यताएँ स्थापित करता जा रहा है–मानअपमान के नये मानदण्ड! राजाओं का भी एक वर्ग, कन्यादान के समय, शुल्क स्वीकार करता है; और दूसरा वर्ग है, कि जब कन्या-दान करता है, उसके साथ यथासम्भव अधिक-से-अधिक यौतुक अपनी ओर से देता है। ...ऋषि सन्तानोत्पत्ति को धर्म मानता है, प्रकृति की इच्छा के साथ सहयोग। कानीन सन्तान, औरस सन्तान, नियोग से सन्तान।...और राज-समाज कानीन पुत्र को तो त्याग ही चुका, नियोग द्वारा उत्पन्न सन्तान को भी औरस सन्तान के समान सम्मानित नहीं मानता।...कहीं बहुपतित्व है, कहीं बहुपत्नीत्व...और कहीं मात्र एकपत्नीत्व।...कुन्ती को लगता है कि ऋषियों ने जो नियम बनाये, वे समाज का हित ध्यान में रखकर बनाये हैं; और वे लोग आज भी उसी पर दृढ़ हैं।...उसमें उनका निजी स्वार्थ नहीं है...किन्तु राज-समाज जो नियम बना रहा है, वह अपने स्वार्थ और अहंकार के आधार पर बना रहा है। उसमें व्यक्तिगत दृष्टि ही है...समाज का हित उनके ध्यान में नहीं है...तभी तो समाज की दृष्टि

संकीर्ण होती जा रही है...और कुन्ती जैसी अबोध किशोरी, पापिष्ठा घोषित की जा रही है...

दासी आयी, "महारानी को निन्द्रा आयी।"

"बहुत कम सो पायी हूँ।" कुन्ती ने सहज भाव से कहा और उबासी ली।

दासी मुस्कुरायी, "यही स्वाभाविक था स्वामिनी!"

कुन्ती ने उसका अर्थ ग्रहण किया: किन्तु न उसका प्रतिवाद कर सकी, न उसके साथ मिल कर मुस्कुरा सकी। क्या बताती वह दासी को, कि जो कुछ हुआ, वह स्वाभाविक ही था–किसी भी पुरुष के लिए स्वाभाविक! क्योंकि पुरुष का स्वभाव ही कठोर है–कठोर नहीं, शायद क्रूर! पिता कुन्तिभोज जैसा सहृदय व्यक्ति भी कितना क्रूर हो उठा था, उस समय–वह भी एक नवजात शिशु के प्रति। दासी के हाथ भिजवा दिया...तनिक भी क्षमाशील नहीं है पुरुष! बिना पूछे, बिना दूसरे पक्ष को स्पष्टीकरण का तनिक भी अवसर दिये, वह उसे दण्डित करता है।...दुर्वासा ने तो कहा था कि यह पाप नहीं है...पर कुन्ती कहती है कि यदि समाज के बदलते मापदण्ड उसे पाप मानते भी हैं, तो वह पाप भी तो पुरुष का ही है। उसके लिए कुन्ती क्यों दण्डित हो...

पर दासी से यह सब कहना व्यर्थ था। वह बेचारी तो महारानी की काम-क्रीड़ा की कल्पना कर रही थी...

"सम्राट कहाँ हैं?"

दासी गम्भीर हो गयी, "ठीक-ठीक सूचना तो मुझे नहीं है महारानी! आपकी आज्ञा हो, तो पता लगा कर आऊँ!"

कुन्ती को यह कल्पना ही असंगत लगी कि उसकी दासी विभिन्न प्रासादों के एक-एक कक्ष में झाँकती फिरे कि सम्राट कहाँ हैं। जो सुनेगा, वह उसे कामदेव की लीला ही मानेगा और नव-वधू की इस व्यग्रता पर हँसेगा।...कुन्ती के लिए जगहँसायी के वैसे ही पर्याप्त कारण हैं, वह उनमें कुछ और जोड़ना नहीं चाहती...

"नहीं! रहने दो।" कुन्ती बोली, "मैं तो केवल यह जानना चाहती थी, कि यदि वह राजसभा में गये हों, तो मैं थोड़ा विश्राम और कर लूँ।"

दासी के चेहरे पर फिर मुस्कान आयी: जाने वह और क्या विचित्र कल्पना कर रही थी। किन्तु उसने मुस्कान दबा ली। बोली, "वैसे सुनने में आया है कि सम्राट ने दिग्विजय के लिए प्रस्थान की इच्छा प्रकट की है और हस्तिनापुर में सैनिक हलचल बहुत बढ़ गयी है।"

"ओह!" कुन्ती के मुख से निकला।

जाने क्या सोच कर दासी घबरा गयी, "यह बहुत विश्वसनीय समाचार नहीं है महारानी! बस सुनी-सुनायी बात ही समझें।"

"तू घबरा मत!" कुन्ती बोली, "समाचार विश्वसनीय हो या अविश्वसनीय, तेरे ऊपर उसका कोई प्रभाव पड़ने नहीं जा रहा।"

दासी चली गयी और कुन्ती लेट गयी।

...तो शायद उसने किसी को बताया नहीं है।...अपनी पत्नी के कलंक को उद्घाटित कर उसका भी तो गौरव नहीं बढ़ेगा। उस बात को तो शायद पचा गया है, किन्तु मुझसे दूर रहने की व्यवस्था कर रहा है। दिग्विजय के बहाने, एक लम्बे समय तक हस्तिनापुर से बाहर रहेगा।...इस बीच बहुत समय होगा। सम्भव है, उसका मस्तिष्क शान्त हो जाये...सम्भव है कि कुन्ती को ही कोई समाधान सूझ जाये...सम्भव है कि...

सत्यवती को सूचना मिली और उसने तत्काल भीष्म को बुला भेजा।

"यह लड़का क्या कर रहा है भीष्म?"

भीष्म को सत्यवती की बात समझने में कुछ समय लगा, "कौन? पाण्डु?"

"हाँ"! सत्यवती उत्तेजित स्वर में बोल रही थी, "कल अभी वधू को ले कर घर आया है; और आज से दिग्विजय के लिए प्रस्थान की घोषणा कर रहा है। रात भर में वीरता के सागर में यह कैसा उफान ला दिया नव-वधू ने?"

भीष्म कुछ सोचते रहे। फिर बोले, "सम्भव है, कुन्ती ने अपने प्रेम का कोई मूल्य माँगा हो–वीरत्वपूर्ण मूल्य।"

"क्या यह सम्भव है?"

"मैं क्या जानूँ माता!" भीष्म हँसे, "मेरा तो इस क्षेत्र में कोई अनुभव नहीं है। किन्तु जीवन में जो कुछ देखा-

सुना है, उसके आधार पर कह सकता हूँ कि नारी, पुरुष से अपने प्रेम का कुछ भी मूल्य माँग सकती है।"

"मुझे उपालम्भ दे रहे हो?"

"नहीं माता! ऐसा अपराध मैं कैसे कर सकता हूँ।" भीष्म बोले, "मैं तो पुरुष की प्रकृति की चर्चा कर रहा हूँ।"

"यह भी तो हो सकता है कि कुन्ती उसके मन को भायी न हो।" सत्यवती बोली, "वह उससे बचने के लिए भाग रहा हो।"

"यह भी सम्भव है।" भीष्म कुछ सोचते हुए बोले।

"तो उसे रोको!"

"कुरुकुल के सम्राट को दिग्विजय पर जाने से कैसे रोका जा सकता है?"

"सम्राट है तो क्या हुआ, है तो लड़का ही।" सत्यवती बोली, "समझा दो, डाँट दो, अपनी या मेरी शपथ दे दो।"

भीष्म मन-ही-मन मुस्कुराये...क्या समझती हैं माता सत्यवती! ये लड़के अब वैसे ही लड़के हैं क्या! इस परिवर्तित नयी पीढ़ी की प्रकृति को नहीं जानतीं माता। वे इन लड़कों को भी भीष्म ही समझती हैं। वैसे वे चित्रांगद और विचित्रवीर्य को ही अपनी मनमानी करने से नहीं रोक पायीं, तो पाण्डु तो एक पीढ़ी और आगे का लड़का है...नयी पीढ़ी के सम्मुख भीष्म की इस बढ़ती हुई असहायता को समझ पायेंगी माता सत्यवती...

"इस वंश में वीर-कर्म के लिए आगे बढ़ते हुए युवकों को न तो हतोत्साहित किया जाता है न उन्हें कायरता सिखायी जाती है।"

"भीष्म! चित्रांगद और विचित्रवीर्य तो गये: किन्तु मैं नहीं चाहती कि कुरुकुल का एक और सम्राट निस्सन्तान अपनी आयु पूरी करे और हमें फिर से वंश बचाने के लिए, नये सिरे से अभियान चलाना पड़े।"

भीष्म हँसे, "आप उसकी चिन्ता न करें। पाण्डु बहुत अक्षम नहीं है, फिर हस्तिनापुर की सेना उसके साथ है। युद्ध में पराजय अथवा वीरगति की स्थिति नहीं आयेगी।" भीष्म रुके, "हाँ! इस व्याज से पाण्डु कुछ क्षेत्र और जीत लेगा। युद्ध के जीवन का कुछ अनुभव उसे हो जायेगा। कोई क्षति नहीं होगी।"

"तुम तो प्रत्येक बात को इतना निश्चित मान लेते हो," सत्यवती बोली, "और हस्तिनापुर की सेना प्रशिक्षित और सक्षम है तो क्या; दुर्घटना कहाँ नहीं हो सकती?"

"दुर्घटना तो हस्तिनापुर में भी हो सकती है माता!"

"पर युद्ध में उसकी सम्भावना तो कहीं अधिक होती है।"

"सम्राटों के किरीट भी तो युद्धों से ही ऊँचे होते हैं।"

"तुम समझते क्यों नहीं हो! वह लड़का पागल हो रहा है। इतनी-सी अवस्था। न युद्ध का अभ्यास, न अनुभव! उठ कर चल देगा युद्ध करने। उसका क्या है, वहाँ वह वीरगति पा कर शान्ति से सो जायेगा, और यहाँ वक्ष पीटने को रह जायेंगी हम–मैं, उसकी माँ और नव-वधू!..."

"कोई ऐसा नहीं चाहेगा माता!" भीष्म अत्यन्त धैर्य से बोले, "किन्तु जब कुरु वंश का सम्राट दिग्विजय के लिए प्रस्थान की घोषणा करता है, तो उसकी वीरता की अग्नि को प्रज्वलित ही किया जाता है, उसे मंद करने की परम्परा नहीं है।"

"तो फिर तुम उसके साथ जाओ।"

"मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु स्वयं सम्राट पाण्डु को यह प्रिय नहीं होगा।"

"क्यों?"

"मेरे साथ जाने से दिग्विजय का श्रेय पाण्डु को नहीं मिलेगा। लोग यही मानेंगे कि विजय मेरे कारण मिली। सम्राट लोग दिग्विजय के लिए अपने पिता अथवा पितृव्य को साथ ले कर नहीं चलते। दिग्विजय तो सम्राट को ही करने दीजिए।"

"पुत्र! तुम इतने निश्चिन्त कैसे हो! तुमने कितनी कठिनाई से उसका पालन-पोषण कर, उसे बड़ा किया है। तुम्हें क्या उसकी तनिक भी माया नहीं व्यापती?"

"मुझे हस्तिनापुर का सैनिक बल आश्वस्त करता है।"

"तो क्या वह जायेगा ही?"

"उसे जाने ही दें।"

"मेरा आदेश भी उसे नहीं रोकेगा?"

"युद्ध अथवा सैनिक अभियानों के संदर्भ में सम्राट का आदेश ही अन्तिम होता है।"

सत्यवती ने भीष्म को पथराई-सी आँखों से देखा; फिर जैसे अपने भीतर से विष का आह्वान किया और उसे भीष्म पर उँड़ेल दिया, "मुझे तो तुम भी विक्षिप्त हो गये लगते हो।"

सत्यवती का यह रूप बहुत दिनों बाद जागा था। भीष्म ने विचार किया। माता सत्यवती को आज फिर अपनी सन्तति पर संकट आया लग रहा था–यदि उनको कोई आश्वासन नहीं मिला तो उनकी हीन-वृत्तियाँ जागेंगी और उनके विवेक को त्रस्त कर देंगी।

सत्यवती की उस कटुता को वह अनदेखा कर गये, "आपको ऐसा क्यों लगता है?"

सत्यवती का जैसे सारा धैर्य चुक गया, "अरे इतनी-सी बात नहीं समझते तुम! लड़का अपनी पत्नी से रुष्ट हो कर भागा जा रहा है। पत्नी न भाये तो उसका विकल्प युद्ध में शत्रु के हाथों वीरगति पाना तो नहीं है! यह आत्महत्या है।"

बात भीष्म के मन में उतर गयी।...उनका ध्यान पहले इस ओर नहीं गया था।...भीष्म को इस क्षेत्र का कोई अनुभव नहीं था।...वैसे पिता शान्तनु के साथ भी तो यही हुआ था। जब माता गंगा उन्हें छोड़ गयी थीं, तो वह कैसे उदभ्रान्त से हो गये थे। कहीं पाण्डु के साथ भी वही तो नहीं हुआ...

तभी उनका ध्यान मद्रराज शल्य की बहन माद्री की ओर गया: दूतों ने सूचना दी थी कि वह अपूर्व सुन्दरी थी।...उसके विषय में उन्होंने पहले सोचा भी था। दूतों ने यह भी बताया था कि मद्र देश के लोग अभी अपनी पुरानी परम्परा पर ही चल रहे हैं। वे कन्यादान करते हुए, उसके विनिमय में शुल्क स्वीकार करते हैं। यदि भीष्म माद्री के लिए पर्याप्त शुल्क दें, तो शल्य को कोई आपत्ति नहीं होगी...उसके हरण की बात अब भीष्म नहीं सोचते, उन्होंने अम्बिका को वचन दे दिया है...

"माता!" भीष्म बोले, "यदि पाण्डु अपने वंश की वीरता के आवेग में अथवा दिग्विजय की अपनी महत्त्वाकांक्षा के कारण सैनिक अभियान पर जा रहा है, तो उसे रोकना कठिन है; और मैं उसे रोकना चाहूँगा भी नहीं। किन्तु..."

"भीष्म।" सत्यवती ने कुछ कहना चाहा।

"मेरी बात सुन लें," भीष्म बोले, "यदि वह अपनी पत्नी से रुष्ट हो कर सैनिक अभियान पर जा रहा है, तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, कि वह नहीं जायेगा...।"

"ओह भीष्म! तुम प्रत्येक बात में इतने आश्वस्त कैसे रहते हो?"

"आप देख लीजिएगा।" भीष्म बोले, "यदि वह आसक्ति के खण्डित होने के कारण हिंस्र हो कर युद्ध करने जा रहा है, तो मैं उसकी आसक्ति को अन्यत्र पुनरारोपित कर दूँगा। उसकी दृष्टि पत्नी पर से हटेगी ही नहीं, तो वह शस्त्र की ओर देखेगा कैसे!"

"किन्तु तुम्हारे प्रयास से पहले ही वह निकल गया तो?"

"मैं उसे सम्भव नहीं होने दूँगा।"

भीष्म पाण्डु के पास आये, तो वह बहुत व्यस्त दिखायी पड़ने का प्रयत्न कर रहा था, किन्तु भीष्म की परीक्षक दृष्टि ने उसे व्यस्त से अधिक अस्त-व्यस्त ही पाया।

"सुना है पुत्र, तुम दिग्विजय के लिए जा रहे हो।"

"हाँ तात!" पाण्डु बोला, "कुरु-जांगल के आस-पास के राजा उपद्रवी हो गये हैं, उन्हें अनुशासित करना होगा।"

"किन्तु अभी तो तुम कल ही नव-वधू को ले कर आये हो।"

पाण्डु कुछ देर तक भीष्म को देखता रहा। फिर बोला, "राज-धर्म विलास से पराजित हो जायेगा, तो प्रजा का पालन कैसे होगा..."

उसके शब्दों की कृत्रिमता भीष्म से छिपी नहीं रही; किन्तु उसकी ओर संकेत करना, उसके लिए अपमानजनक होता। बोले, "मैं तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ पुत्र! तुम राज-धर्म का दायित्व समझते हो। किन्तु..."

"आज्ञा करें तात!"

"सैनिक अभियान न आधे मन से सफल होते हैं, न आधी तैयारी से।"

"मैं पूरी तैयारी कर रहा हूँ।" वह बोला।

"मुझे तुम पर विश्वास है पुत्र!" भीष्म बोले, "किन्तु मेरा एक आग्रह है।"

"आदेश दें।"

"कुरु-वंश सन्तान के अभाव से पीड़ित है। इसलिए मेरी इच्छा है कि तुम्हारी अधिक सन्तानें हों। इसलिए तुम्हारा एक और विवाह हो।"

पाण्डु के चेहरे पर हल्की-सी घबराहट आयी, "उसकी क्या आवश्यकता है?"

"आवश्यकता है।" भीष्म बोले, "यदि एक पत्नी अस्वस्थ हो, तो राजा को दूसरी पत्नी की आवश्यकता होती है। एक से न निभे तो दूसरी अनिवार्य हो जाती है।...या तुम समझ लो कि यह मेरी इच्छा है।"

पाण्डु ने कुछ नहीं कहा। चुपचाप भीष्म को देखता रहा।...किन्तु उसके मन का एक अंश अभी भी निराशा के विरुद्ध लड़ रहा था...सम्भव है कि मैं और कुन्ती, एक-दूसरे के अनुकूल न हों...सम्भव है कि एक स्त्री के संदर्भ में पराजित पुंसत्व, दूसरी स्त्री के प्रसंग में विजयी हो जाये। सम्भव है, कुन्ती के प्रसंग में हुई यातना, दूसरी पत्नी के संग, आनन्द में बदल जाये।

"मद्रपति शल्य से मैं उसकी छोटी बहन माद्री की याचना करने जा रहा हूँ।"

"सैनिक अभियान से उसका क्या सम्बन्ध है तात?"

"है।" भीष्म बोले, "मैं अपने साथ मन्त्री कणिक, पुरोहित वसुभूति, अनेक ब्राह्मणों और चतुरंगिणी सेना ले कर जा रहा हूँ। पीछे तुम्हारे पास किसी अभियान के लिए पर्याप्त सेना नहीं होगी। अत: दिग्विजय की तैयारी करते रहो; किन्तु जब तक मैं लौटूँ नहीं, प्रयाण मत करना...।"

पाण्डु ने मुग्ध दृष्टि से भीष्म को देखा: कदाचित पितृव्य उसकी समस्या कुछ-कुछ समझ रहे थे। वह सम्राट का विरोध अथवा निषेध नहीं कर रहे, किन्तु उसे कीलित तो कर ही रहे हैं।...

"आप मुझे रोक तो रहे हैं।" पाण्डु बोला, "किन्तु अब मेरा राजप्रासाद में लौटना कठिन है। आपके आने तक मैं सैनिक स्कन्धावार में ही रहूँगा और सैनिकों को अनवरत शस्त्राभ्यास कराऊँगा।"

"मुझे स्वीकार है।" भीष्म उठ खड़े हुए।

47

"आर्यपुत्र!" गान्धारी ने कहा, "मैंने सुना है कि देवर पाण्डु अपनी नव-वधू को प्रासाद में छोड़, स्वयं सैनिक स्कन्धावार में जा बैठे हैं।"

"सुना तो मैंने भी है।" धृतराष्ट्र ने उत्तर दिया।

"इसका अर्थ?"

"पाण्डु दिग्विजय के लिए जाना चाहता है।"

"देवर दिग्विजय के लिए जायेंगे, तो हस्तिनापुर का कामकाज कौन सँभालेगा?"

"पितृव्य भीष्म हैं।" धृतराष्ट्र ने सहज भाव से उत्तर दिया, "वह ही सदा से सँभालते आये हैं।"

"एक बात कहूँ?" गान्धारी ने अत्यन्त कोमल स्वर में पूछा।

"कहो।"

"शकुनि कह रहा था कि जब तक आप दोनों भाई छोटे थे, तब तो पितृव्य को राज-काज सँभालना ही था; किन्तु अब आप लोग वयस्क हो गये हैं; और अपने दायित्व स्वयं पूरे करने में समर्थ हैं।" गान्धारी बोली, "अब जब देवर दिग्विजय के लिए जा रहे हैं, पीछे से राज-काज आपको सँभालना चाहिए।"

"यदि मैं राज-काज सँभाल सकता, तो सिंहासन पर पाण्डु क्यों बैठता।" धृतराष्ट्र के स्वर में कुड खीझ थी, "क्या शकुनि नहीं जानता कि मुझे राजा क्यों नहीं बनाया गया?"

"वह जानता है।" गान्धारी पर धृतराष्ट्र की खीझ का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, "किन्तु उसका कहना है कि स्थायी रूप से आपके हाथों में राज्य नहीं दिया गया, तो क्या हुआ। अस्थायी रूप से–जब तक देवर हस्तिनापुर से बाहर हैं–मन्त्रियों की सहायता से आप राज-काज सँभाल ही सकते हैं। पितृव्य अब वृद्ध हो रहे हैं; उन्हें राज-काज से मुक्त किया जाना चाहिए। अन्ततः जब वह संसार से विदा हो जायेंगे, तब देवर की सहायता कौन करेगा–आप ही तो। यदि अभी से आप थोड़ा-थोड़ा कर, यह कार्य नहीं करेंगे, तो जब पूरा भार आप पर पड़ेगा, तब आप क्या करेंगे।"

"तुम्हें मालूम है गान्धारी, मैं जन्मान्ध हूँ।"

"शकुनि का कहना है कि राज्य के वास्तविक स्वामी तो आप ही हैं। वस्तुतः आपकी सहायता करने के लिए ही पाण्डु को यह भार सौंपा गया है। जब पाण्डु हस्तिनापुर में उपलब्ध नहीं है, तो शासन का अधिकार किसी अन्य को सौंपने के स्थान पर, आप स्वयं सँभालें।...आपको थोड़ी असुविधा तो होगी; किन्तु मन्त्रियों से आपका विचार-विमर्श होता रहेगा और राज्य के सभासदों से सम्पर्क बना रहेगा। आप अपनी सुविधानुसार अपने पक्ष के कुछ मन्त्री भी नियुक्त कर सकेंगे, ताकि जब हमारा पुत्र राज-काज सँभालने के योग्य हो जाये, तो वे मन्त्री हमारे पक्ष से बोल सकें।"

धृतराष्ट्र को लगा, गान्धारी उसे एक बहुत ही मधुर स्वप्न दिखा रही थी: कहीं यह स्वप्न सच हो पाता।...हस्तिनापुर का साम्राज्य उसके हाथों में लौट आयेगा। यह सब कुछ उसका अपना होगा।...धन-सम्पत्ति, राज्य-सेना, प्रासाद-सम्पदा, दास-दासियाँ...उसके पश्चात उसका पुत्र राजा होगा...किन्तु...किन्तु...परिवार का सारा अधिकार तो पितृव्य भीष्म के हाथ में है। वह ऐसा सम्भव होने देंगे क्या...वह तो माने बैठे हैं कि जन्मान्ध होने के कारण, अब धृतराष्ट्र का राज्य पर कोई अधिकार ही नहीं रहा...वे कहेंगे, 'राज्य पर राजा का नहीं, प्रजा का अधिकार होता है। प्रजा का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि उसे एक सुयोग्य राजा मिले, जो उसका धर्मतः पालन कर सके।...और जन्मान्ध व्यक्ति, जो अपना ही पालन नहीं कर सकता, वह प्रजा का क्या पालन करेगा...।'

"क्या पितृव्य भीष्म ऐसा होने देंगे?" धृतराष्ट्र के मन का संशय उसकी जिह्वा पर आ गया।

"राज्य पितृव्य भीष्म का नहीं, आपके पिता सम्राट विचित्रवीर्य का था।" गान्धारी कुछ उग्रता से कह गयी; किन्तु तत्काल उसका स्वर नम्र हो गया, "शकुनि कहता है कि राज्य मिलता नहीं, उसे प्राप्त किया जाता है। राजनीति का पहला धर्म है–उद्यम।"

"किन्तु उद्यम का आधार अधिकार होता है, जहाँ अधिकार ही मेरी ओर न हो।"

"शकुनि अधिकार-विहीन, उद्यम में विश्वास करता है।" गान्धारी बोली, "सफलता सम्पूर्ण अधिकारों की कसौटी है। जो अपने उद्यम में सफल हो जाता है, अधिकार स्वतः उसके अनुकूल हो जाते हैं।"

"शकुनि राजनीतिज्ञ है या शास्त्र-निर्माता?"

"वह कहता है कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ को शास्त्र-निर्माता भी होना पड़ता है; और प्रत्येक शास्त्र-निर्माता, कहीं-न-कहीं राजनीतिज्ञ भी होता है।"

धृतराष्ट्र अपनी अन्धी आँखें गान्धारी की ओर उठाये, चुपचाप पलकें झपकाता रहा। वह समझ नहीं पा रहा था कि वह क्या कहे। गान्धारी की बातें उसे प्रिय लग रही थीं, किन्तु उसका विवेक कहीं उसे टोक रहा था। उसने आज तक जो नीति-शास्त्र पढ़ा था, या जिसकी चर्चा उसके आस-पास होती रही थी–उसमें व्यापक सामाजिक हितों के संदर्भ में पहले नीति का निर्णय होता था; और नीति का निर्णय ऋषि-मुनि, चिन्तक-विचारक किया करते थे। राजनीति तो नीति की अनुचरी होती है...किन्तु शकुनि कह रहा है...

यदि धृतराष्ट्र ऋषियों की नीति पर चलता रहा–तो ठीक कहता है शकुनि कि तब राज्य उसे नहीं मिल सकता–और यदि राज्य उसे चाहिए, तो नीति और धर्म का आग्रह छोड़ना होगा...पर नीति कहती है कि धर्म का आग्रह छोड़ने से, अन्याय का जन्म होता है; और अन्याय के जन्म के साथ ही विनाश की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है...

गान्धारी धृतराष्ट्र के उत्तर की प्रतीक्षा करती रही थी; किन्तु धृतराष्ट्र ने कुछ नहीं कहा तो वह समझ गयी कि वह अपने मन के किसी द्वन्द्व में खो गया है। उसने बात को दूसरी ओर मोड़ा, "कुन्ती क्या तनिक भी सुन्दर नहीं है?"

धृतराष्ट्र अपने ऊहापोह से बाहर आया, "देख तो मैं सकता नहीं; किन्तु सुना है कि अत्यन्त सुन्दर है कुन्ती।"

"युवती नहीं है?"

"बीस वर्ष की अवस्था है उसकी।"

"फिर भी देवर उसे छोड़ कर दिग्विजय करने जा रहे हैं?"

"यह क्षत्रिय-धर्म है।"

गान्धारी हँसी, "सब स्थानों के बीच में धर्म मत लाया कीजिए। दिग्जिवय और युवती नारी दोनों सपत्नियाँ हैं। पुरुष दिग्विजय भी करता है, तो नारी का मन जीत कर, उसके शरीर पर अधिकार पाने के लिए। यदि वह नारी को छोड़ कर दिग्विजय के लिए जाता है, तो उसका अर्थ है..."

"क्या अर्थ है?"

"नारी शक्ति की पराजय।"

"क्या कहना चाहती हो?"

"कुन्ती, देवर के मन को बाँध नहीं पायी।"

धृतराष्ट्र कुछ नहीं बोला।

"आपको प्रसन्नता नहीं हुई?" गान्धारी ने पूछा।

"इसमें प्रसन्नता की क्या बात है?" धृतराष्ट्र समझ नहीं पाया।

"कुन्ती से पाण्डु को युवराज प्राप्त नहीं होगा। हमारा पुत्र, पहले जन्म लेगा, और हम प्रयत्न करेंगे कि वह युवराज घोषित हो।"

धृतराष्ट्र को लगा, उसके मन से धर्म, नीति, श्रेय–सब कुछ विलीन हो गया है। उसके मन में तो केवल राजनीति है–शकुनि की राजनीति।...

मद्रराज शल्य ने स्वयं नगर-द्वार पर आ कर भीष्म का स्वागत किया, "कुरुकुल तिलक! आपका स्वागत है।"

भीष्म को अत्यन्त सम्माननीय अतिथि के रूप में, राजप्रासाद में लाया गया। साथ आये हुए मन्त्री, पुरोहित और ब्राह्मणों को राजकीय सम्मान के साथ ठहराया गया। सैनिकों को स्कन्धावार में स्थान मिला।

आदर-सत्कार हो चुका तो शल्य ने पूछा, "कहिये महाराजकुमार! कैसे कष्ट किया?"

भीष्म ने शल्य को अपनी आँखों में तौला: अभी युवक था शल्य। संसार का बहुत अधिक ज्ञान, उसको नहीं रहा होगा; किन्तु आत्मविश्वास उसमें कूट-कूट कर भरा हुआ था।

"मद्रराज!" भीष्म ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा, "मैं अपने भ्रातुष्पुत्र, हस्तिनापुर के सम्राट पाण्डु की दूसरी पत्नी के रूप में वरण करने योग्य एक सुन्दरी राजकुमारी का संधान कर रहा हूँ। मेरे दूतों ने सूचना दी है कि आपकी छोटी बहन माद्री इस योग्य है। मैं उसे प्राप्त करने के लिए आया हूँ।"

"महाराजकुमार!" शल्य बोला, "कुरुकुल इतना सम्माननीय है कि अपनी बहन का विवाह, आपके कुल में, मुझे तनिक भी आपत्ति नहीं है। किन्तु आप उसे दूसरी रानी बनाना चाहते हैं। इसका अर्थ है कि सम्राट पाण्डु विवाहित हैं।"

"हाँ।" भीष्म बोले, "हमारे कुल में बहुपत्नीत्व प्रचलित है। राजा की अनेक रानियाँ हो सकती हैं।"

"बहुपतित्व का भी प्रचलन है क्या?" शल्य ने सहज भाव से पूछा।

"नहीं।" भीष्म स्वयं ही समझ नहीं पाये कि उनके स्वर में क्रोध था अथवा अहंकार, "हमारा कुल पूर्णत: पितृसत्ताप्रधान है। बहुपतित्व का अस्तित्व हमारे यहाँ नहीं है।"

"कुरुओं में नहीं है, किन्तु पांचालों में तो है।"

"हाँ। पांचालों में अब भी यदा-कदा कोई उदाहरण देखने को मिल जाता है। यद्यपि उनमें भी अब पितृसत्ता बढ़ती जा रही है, और जैसे-जैसे पितृसत्ता बढ़ेगी, वैसे-वैसे बहुपतित्व समाप्त होता जायेगा।"

"पड़ोसी राज्य का आपके समाज और परिवार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा?"

भीष्म को अब शल्य कुछ-कुछ उद्दण्ड लगने लगा था और भीष्म का क्षात्र तेज अपने-आपको आहत पाने लगा था।...ऐसी स्थिति में सहज भाव से वह माद्री के हरण की बात सोच सकते थे; किन्तु अम्बिका को दिया गया वचन...

"पांचाल हमारे पड़ोसी अवश्य हैं," भीष्म ने अपने स्वर को नियन्त्रित रखने का प्रयास किया, "किन्तु उनसे हमारी बहुत मैत्री कभी नहीं रही।"

"अब द्रुपद वहाँ का राजा है?"

"हाँ। उसका राज्याभिषेक हो गया है।"

"उससे भी मैत्री की कोई सम्भावना नहीं है?" शल्य ने पूछा।

"जिन राज्यों की सीमाएँ मिलती हैं, उनमें सौहार्द के स्थान पर, प्रतिस्पर्धा ही अधिक होती है।" भीष्म ने एक नीति-वाक्य में सारी स्थिति स्पष्ट कर दी।

"अच्छा तो महाराजकुमार!" शल्य बोला, "प्रत्येक कुल की अपनी-अपनी परम्परा और रीति है। हमारे कुल की भी एक रीति है।"

"क्या?" भीष्म चौंके, विघ्न के रूप में तो शल्य परम्परा का प्रश्न नहीं उठा रहा।

"हमारे यहाँ कन्या-दान के समय शुल्क लेने की परम्परा है।"

"किन्तु यह तो कोई अच्छी परम्परा नहीं।" भीष्म बोले, "यद्यपि हमारे पास न तो धन का अभाव है और न कुरुकुल की वधू पर व्यय करने में कोई संकोच।"

"परम्परा अच्छी है या बुरी," शल्य दृढ़ वाणी में बोला, "उसका निर्णय मैं नहीं करूँगा। मैं केवल उसका निर्वाह करूँगा।"

"ठीक है।" भीष्म बोले, "शुल्क हम देंगे।"

"आपके साथ चतुरंगिणी सेना है। कहीं आप कन्या-हरण का संकल्प ले कर तो नहीं आये हैं?"

"नहीं! हम शुल्क देंगे।" भीष्म बोले, "और आपकी अपेक्षा के अनुरूप देंगे।...किन्तु आप इस तथ्य से तो

परिचित होंगे कि अब प्राय: सम्पूर्ण आर्यावर्त्त में स्वयंवर की प्रथा चल पड़ी है। कन्या का पिता, कन्या द्वारा वरण किये गये पुरुष के साथ उसका विवाह करता है; और अपनी ओर से यथेष्ट यौतुक साथ देता है।"

"मैं जानता हूँ।"

"फिर भी आप कन्या का शुल्क लेने की इस प्राचीन और दूषित परम्परा को छोड़ना नहीं चाहते?" भीष्म ने केवल जिज्ञासावश पूछा, "आप जानते हैं कि अन्य लोग इसके लिए मद्र को हीन दृष्टि से देखते हैं।"

"जानता हूँ।" शल्य शान्त और आश्वस्त स्वर में बोला, "किन्तु मैं उन लोगों से सहमत नहीं हो पाता! इसलिए अपने कुल की परम्परा की ही रक्षा करना उत्तम मानता हूँ।"

"सारे आर्यावर्त्त में इसे कन्या का विक्रय कहा जा रहा है। इससे पति के कुल में कन्या का सम्मान कम होता है।" भीष्म बोले, "क्या आपको यह नहीं लगता कि क्रय कर लायी गयी दासी और शुल्क दे कर लायी गयी वधू में कोई अन्तर नहीं रह जाता।"

लगा, कि शल्य कुछ उत्तेजित हो उठा है। किन्तु तत्काल ही उसने स्वयं को संयत कर लिया, "मैंने कई बार इस विषय में सोचा है।" वह बोला, "किन्तु मुझे सदा लगा है कि हमारे जिन कुल-वृद्धों ने यह परम्परा चलाई थी, वे मूर्ख नहीं थे।..."

भीष्म कुछ नहीं बोले। वे शल्य की बात पूरी होने की प्रतीक्षा करते रहे।

"नहीं जानता कि मातृ-प्रधान समाज में क्या स्थिति थी, किन्तु पितृ-प्रधान समाज में नारी और पुरुष को समान अधिकार प्राप्त नहीं हैं।" शल्य बोला, "ऐसे में नारी को पुरुष के अधीन रहना ही है। वह उसकी चल-सम्पत्ति के ही समान है। तो उसका सम्मान पति की इच्छा के अनुरूप ही होगा।..."

"इसलिए तो कह रहा हूँ कि यदि वर-पक्ष, कन्या का शुल्क चुका कर उसे प्राप्त करेगा, तो उसे अपनी क्रीत दासी ही समझेगा। वह उसको पत्नी और कुलवधू का सम्मान कैसे दे सकेगा?" भीष्म बोले।

"मैं आपसे सहमत नहीं हूँ कुरुश्रेष्ठ!" शल्य बोला, "सम्मान तो अपने प्रेम और विश्वास पर निर्भर है; और उसे स्त्री अपने गुणों से अर्जित करती है। यदि आप शुल्क दे कर प्राप्त की गयी कन्या का सम्मान नहीं कर सकते, तो नि:शुल्क आयी हुई और अपने साथ यौतुक लाने वाली कन्या का सम्मान कैसे करेंगे?"

"क्यों?" भीष्म बोले, "पति-कुल यह मानेगा कि वह क्रीत दासी नहीं है। उनके समधी की पुत्री है। उनकी सम्पत्ति के सागर में उसके पितृकुल से भी धन की एक सरिता आ कर मिली है। वह उनकी लक्ष्मी बढ़ाने वाली है। उनके वैभव में उसका भी योगदान है, अत: उसका अधिकार भी है।..."

शल्य ने नकार में सिर हिलाया, "जब कन्या पति-कुल के वैभव-सागर में पितृकुल से सम्पत्ति ला कर मिलाने वाली सरिता है, तो पति-कुल कभी नहीं चाहेगा कि सम्पत्ति का प्रवाह रुके या क्षीण हो। वे तो सदा ही उससे इसलिए रुष्ट रहेंगे कि उस सरिता का पाट और भी चौड़ा क्यों नहीं होता। उसका प्रवाह और भी तीव्र क्यों नहीं होता। उसका जल कभी-कभी सूख क्यों जाता है।" शल्य ने रुक कर भीष्म की ओर देखा, "मैं तो मानता हूँ कि ऐसे में एक पति संख्यातीत पत्नियाँ चाहेगा, क्योंकि उससे उसके अर्थ और काम, दोनों की वृद्धि होती है। उससे नारी का सम्मान और भी कम होगा, क्योंकि पूर्व-विवाहित पत्नियों की मृत्यु अथवा निष्कासन से पति-कुल की कुछ भी क्षति नहीं हो रही है। उल्टे वह कुल लाभ में रहता है। वह एक और वधू लायेंगे। उसके साथ और यौतुक आयेगा। उनका वैभव और बढ़ेगा...।"

भीष्म ने जैसे पहली बार मद्रराज को ध्यान से देखा: यह युवक अन्य राजाओं के समान साधारण व्यक्ति नहीं था। युग-परिवर्तन के प्रवाह में सहज ही उसके पग फिसल नहीं गये थे। वह अपने स्थान पर अत्यन्त दृढ़तापूर्वक खड़ा था।...अन्य राजा और राजपरिवार उसे क्या कहेंगे, इसकी उसे तनिक भी चिन्ता नहीं थी। आर्यावर्त्त के समस्त राजपरिवार अब बदल रहे हैं, और उनके मध्य वह एक पुरातनपन्थी, समयातीत व्यक्ति किसी और युग की स्मृति के समान ध्वंसावशेष के रूप में खड़ा है...किसी प्रकार की हीन-भावना से पीड़ित नहीं था वह। शायद इसलिए वह पांचालों के विषय में भी पूछ रहा था। उनसे भी सहानुभूति होगी शल्य को; उन्होंने भी अपनी अनेक प्राचीन प्रथाएँ अभी तक छोड़ी नहीं थी।...और ऐसा भी नहीं है कि वह अन्धविश्वासी हो कर अपनी परम्पराओं का मात्र रूढ़िपालन कर रहा हो। उसने, उनके विषय में सोचा है; वह अपने पक्ष में तर्क दे रहा है...अपने पक्ष की प्रतिष्ठा वह इतने बलपूर्वक कर रहा है कि स्वयं भीष्म को लगने लगा है कि कहीं उनका ही पक्ष दुर्बल तो नहीं...

"पर मद्रराज!" भीष्म बोले, "आपको यह नहीं लगता कि एक बार कन्या का शुल्क स्वीकार कर लेने से, उस

पर उसके पितृ-कुल का कोई अधिकार नहीं रह जाता। श्वसुर कुल उसके साथ दुर्व्यवहार करे, उसे यातना दे, उसकी हत्या कर दे–तो भी पितृकुल कुछ कहने का अधिकारी नहीं है।"

"आप ठीक कह रहे हैं," शल्य तत्काल बोला, जैसे उसे विचार करने की तनिक भी आवश्यकता न हो; और वह पहले ही इन प्रश्नों पर पूर्ण विचार कर चुका हो, "किन्तु स्वयंवर के पश्चात यौतुक दे कर, भेजी गयी कन्या पर क्या उसके पितृकुल का कोई अधिकार रह जाता है? राजा कुन्तिभोज आपत्ति करें कि सम्राट पाण्डु के दूसरे विवाह में कुन्ती को आपत्ति है, क्योंकि सपत्नी के आ जाने पर उसका महत्त्व, पति की दृष्टि में कम हो जायेगा, तो क्या आप राजा कुन्तिभोज को आपत्ति करने का अधिकार देंगे? आप अपने भ्रातुष्पुत्र का दूसरा विवाह नहीं करेंगे?"

भीष्म ने क्षण-भर सोचा: यह व्यक्ति उन्हें तर्कजाल में बाँध रहा है। तर्क में भीष्म को तनिक भी आपत्ति नहीं थी। विवाद में अनेक नये तर्क और दृष्टिकोण सामने आते हैं। उनसे व्यक्ति का मस्तिष्क खुलता है; और उसका चिन्तन-संसार व्यापक होता है। किन्तु भीष्म यह भी जानते हैं कि तर्क उदार नहीं होता। वह संकीर्ण और संकुचित होता है। वह अपने विरोधी तर्कों के साथ समझौता नहीं करता।...संवेदना उदार और व्यापक होती है। किन्तु सामाजिक समस्याओं का समाधान तो तर्क से ही होगा।...

अन्तत: वे बोले, "राजा कुन्तिभोज को ऐसी आपत्ति करने का अधिकार हम नहीं देंगे। यद्यपि कुन्ती पर हम उनका पूर्ण अधिकार स्वीकार करते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि पाण्डु भी उनकी इच्छा का दास हो गया। यौतुक अपनी कन्या को दी गयी भेंट मात्र है, वह जामाता को क्रय करने का शुल्क नहीं है। यदि हम शुल्क ले कर कन्या के विक्रय का समर्थन नहीं करते, तो यौतुक दे कर जामाता को क्रय करने का समर्थन कैसे कर सकते हैं?"

"ठीक!" शल्य मुस्कुराया, "और यदि कुन्ती यह शिकायत करे कि हस्तिनापुर में उस पर अत्याचार हो रहा है, तो क्या कुन्तिभोज उसे वापस भोजपुर ले जा सकते हैं?"

"नहीं!" भीष्म बोले, "विवाह के पश्चात हमारी वधुएँ अपने पितृकुल में नहीं लौटतीं।"

शल्य खुल कर हँसा, "तो फिर शुल्क लेने और यौतुक देने में क्या विशेष अन्तर हुआ?"

भीष्म ठीक-ठीक समझ नहीं पाये कि वे शल्य से तर्क में पराजित हुए हैं या वह वैसे ही उन्हें पराजित मान रहा है।...और क्या सचमुच ही शुल्क ले कर कन्या-दान एक श्रेष्ठतर सामाजिक व्यवस्था है?...

कुछ देर मौन रह कर वे बोले, "मद्रराज! प्रकृति की विकट व्यवस्था है कि अलग-अलग परिवारों में जन्मे और पले स्त्री और पुरुष को विवाह के पश्चात एक-ही स्थान पर रहना होता है। उन दोनों में से एक को अपना परिवार छोड़ कर, दूसरे के परिवार में जाना होता है।...मैं समझता हूँ कि मानव-समाज विभिन्न प्रकार के प्रयोग कर रहा है; और अभी तक किसी एक व्यवस्था को सर्वगुणसम्पन्न मान कर सन्तुष्ट नहीं हुआ है। जो समाज मात्र एक ग्राम तक सीमित है; और जहाँ निजी सम्पत्ति के उत्तराधिकार की समस्या नहीं है, उनकी व्यवस्था सरल है। वर-वधू के रहने के लिए, अन्य लोगों के ही समान एक नया कुटीर बना दिया जाता है। न वधू, वर के परिवार का अंग हो, और न वर, वधू के परिवार का। वे अपना नया परिवार बनायेंगे। वहाँ निजी सम्पत्ति नहीं है अथवा उसके उत्तराधिकार की समस्या नहीं है। सामूहिक सम्पत्ति होने के कारण, व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात उसकी सम्पत्ति वापस समाज के कोष में लौट जाती है। किन्तु जो समाज एक ग्राम तक सीमित नहीं है–जैसे क्षत्रियों का राज-समाज–उसमें तो या वर को वधू के घर जाना होगा, या वधू वर के घर जायेगी। राज-परिवारों के पास सम्पत्ति भी है, अत: उसके उत्तराधिकार की भी समस्या है। हम पिता की सम्पत्ति का अधिकारी पुत्र को ही मानते हैं, अत: विवाह के पश्चात वर अपना घर नहीं छोड़ता, वधू ही उसके घर आ जाती है..."

"यहाँ तक तो आपसे हमारा कोई मतभेद नहीं है।" शल्य अब तक पर्याप्त वाचाल हो चुका था, "किन्तु हम यह मानते हैं कि पिता की सम्पत्ति का अधिकारी पुत्र है। और सन्तान भी माता-पिता की सम्पत्ति ही है। अत: जब कन्या, वधू के रूप में अपने श्वसुर-कुल जाती है, तो पिता अथवा भाई की सम्पत्ति ही जा रही है, अत: उन्हें उसका शुल्क मिलना चाहिए।"

"और हम यह मानते हैं कि पिता का उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र ही है," भीष्म बोले, "किन्तु उत्तराधिकार में जहाँ उसे धन-सम्पत्ति और राज्य मिलता है, वहीं उसे पिता के दायित्व भी मिलते हैं। पुत्री अथवा भगिनी के भरण-पोषण का दायित्व भी ऐसा ही दायित्व है। और जब कन्या, वधू के रूप में श्वसुर-कुल में चली जाती है, तो उसके भरण-पोषण का दायित्व, वर अथवा उसके पिता को सौंप दिया जाता है। उसी के लिए वधू के साथ यौतुक भी प्रदान किया जाता है...वह एक प्रकार से पिता की सम्पत्ति में से उसका भाग है।" भीष्म सहसा रुके, "किन्तु मेरा मूल

प्रश्न अब भी अनुत्तरित है: शुल्क ले कर प्रदान की गयी कन्या की सुरक्षा और सम्मान का दायित्व किसका है?"

"उसके पति का।"

"यदि वह उसका निर्वाह न करे तो?"

"तो समाज का।" शल्य बोला, "प्रश्न यह नहीं है कि वधू यौतुक ले कर आयी है या शुल्क दे कर–वह उस परिवार और समाज की सदस्या है–उसके भरण-पोषण, रक्षा और सम्मान के लिए उसका परिवार उत्तरदायी है; और यदि परिवार अपना दायित्व पूर्ण नहीं करता, तो यह समाज का कर्तव्य हो जाता है। परिवार उस समाज का अंग है, इसलिए समाज का दायित्व है कि वह उस परिवार का अनुशासन करे।"

भीष्म को लगा, कि इस विषय में उनका शल्य से कोई मतभेद नहीं है। वस्तुत: समाज का गठन ही इसलिए किया गया है कि मनुष्य, मनुष्य का शोषण न करे, उसका घात न करे, उसका अपमान न करे। इसलिए किसी भी अन्याय और अनाचार का विरोध, न तो एक व्यक्ति का दायित्व है, न एक परिवार का। वह तो सम्पूर्ण समाज का दायित्व है। पुत्री किसी की भी हो, वधू भी किसी की हो–किन्तु यह तो समाज का ही दायित्व है कि वह देखे कि कोई शोषित न हो, असुरक्षित न हो, अपमानित न हो...भीष्म मन-ही-मन हँसे...और तर्क तो दो-धारों वाला खड्ग है, जिस ओर चला दिया जाये, विरोधी को काट देगा...कोई वधू का सम्मान इसलिए करता है, क्योंकि वह अपने साथ पर्याप्त यौतुक लायी है; कोई इसलिए करता है कि पर्याप्त शुल्क चुकाया है। क्रय करके लायी गयी अपनी बहुमूल्य वस्तु को कोई क्यों नष्ट करना चाहेगा।...

"अच्छा मद्रराज!" भीष्म मुस्कुराये, "इस विवाद का निर्णय तो कठिन है, कि कौन-सी प्रथा श्रेष्ठतर है। उसका निर्णय, आज और अभी हो भी नहीं सकता। कदाचित काल-चक्र उसका निर्णय करना भी नहीं चाहता। एक बार इसका निर्णय हो गया, तो फिर परिवर्तन रुक जायेगा; और प्रकृति कभी नहीं चाहेगी कि परिवर्तन का चक्र थम जाये।..."

शल्य ने सहमति में सिर हिला दिया।

"पाण्डु और माद्री के सम्बन्ध के विषय में हमारा एकमत होना आवश्यक है।"

"मैं तो अपनी सहमति दे चुका।" शल्य बोला।

"आप उसके विषय में और कुछ जानना नहीं चाहते?"

"मेरे लिए इतनी सूचना पर्याप्त है कि राजा कुन्तिभोज की पुत्री ने स्वयंवर में स्वेच्छा से सम्राट पाण्डु के कण्ठ में जयमाला पहनायी थी।" शल्य बोला, "यदि सम्राट वरेण्य न होते, तो कुन्ती यह चुनाव कभी न करती।"

भीष्म के मन में आया कि पूछें कि क्या वह यह भी नहीं जानना चाहता कि वे पहले विवाह के पश्चात इतनी जल्दी पाण्डु का दूसरा विवाह क्यों करना चाहते हैं?...पर वे कुछ बोले नहीं। यदि शल्य के मन में इस संदर्भ में कोई आशंका नहीं है, तो वे ही व्यर्थ के विघ्न क्यों खड़े करें।

"तो आप इस सम्बन्ध के लिए सहमत हैं?"

"पूर्णत:!"

"अमात्य!" भीष्म बोले, "मद्रराज को उपहार के रूप में वस्त्राभूषणों, बहुमूल्य मणि-माणिक्यों और उपयोगी वस्तुओं के इतने शकट दिये जायें जो उनके शुल्क की अपेक्षा से कहीं अधिक हों; और हमारे तथा उनके सम्मान के अनुकूल हों।"

अमात्य उठ खड़े हुए, "महाराजकुमार के आदेश का पालन होगा।"

कुन्ती का मन रोने-रोने को हो रहा था।

कैसे पुरुष को पति के रूप में वरा उसने, जो रुष्ट भी होता है तो बताता नहीं कि उसके रोष का कारण क्या है।...क्या सचमुच किसी ने उसे कुन्ती के अतीत के विषय में बता दिया है?...पर कब? जब वह पहली रात, कुन्ती के पास आया था, तो कैसा मुग्ध था उस पर! तब तक उसके मन में कुन्ती का विरोध नहीं था, तो शयनकक्ष में एक-दूसरे के सान्निध्य में बैठ कर, एक-दूसरे पर आसक्त और मुग्ध होते हुए, कैसे उसके मन में कुन्ती का अतीत उद्घाटित हो उठा? या वह पहले से जानता था और केवल उसकी परीक्षा ले रहा था?...नहीं! यह सम्भव नहीं है। यदि उसके मन में पहले से ही यह बात होती, तो वह मुग्ध होने का अभिनय भी नहीं कर सकता था...

ओह पिता! क्यों तुमने यह स्वयंवर रचाया। अब किससे कहे कुन्ती कि उसका पति उस पर लुब्ध नहीं, उससे रुष्ट है।...कुन्ती ने ही तो वरा था उसे। यह उसका अपना निर्णय था। उसका दायित्व किसी और पर डाल कर, वह अपना भाग्य मान धैर्य भी तो धारण नहीं कर सकती थी...उसी ने तो बिना सोचे-विचारे, अपने अतीत से संचालित हो, पाण्डु के कण्ठ में वरमाला डाल दी थी...

तो क्या अब कुन्ती के लिए कोई आशा नहीं? पाण्डु उसके पास कभी नहीं लौटेगा? वह उस नव-निर्मित प्रासाद के समान खड़ी-खड़ी खण्डहर हो जायेगी, जिसमें कभी किसी का आवास नहीं रहा?...नहीं! ऐसा नहीं हो सकता! शायद समय का अन्तराल पाण्डु के रोष की उग्रता को कम कर दे। वे एक-दूसरे के निकट आयें, विचार-विनिमय करें, किसी एक संधि तक पहुँचें।...तब वह पाण्डु को समझाएगी कि वह जैसी भी है, उसकी पत्नी है। वह उससे प्रसन्न रहे, या अप्रसन्न: किन्तु पत्नी को त्यागने का कोई सामाजिक-विधान नहीं है। गौतक ने अहल्या को त्यागा था, तो राम और विश्वामित्र के कहने पर पुन: उसे स्वीकार भी किया था। पति, पत्नी को त्याग दे तो पत्नी स्वयं को अपमानित-तिरस्कृत अनुभव करती है, समाज भी उसे आदर की दृष्टि से नहीं देखता। किन्तु पति को यह भूलना नहीं चाहिए कि उसकी मर्यादा और उसका गौरव उस समय उसी परित्यक्ता पत्नी के हाथ में होता है। वह अपने पति की मर्यादा और लाज को ढोती रहे, अपनी उपेक्षा और अवमानना को चुपचाप सहती रहे, तो पति की मर्यादा सुरक्षित रहती है।...कहीं परित्यक्ता पत्नी ही उच्छृंखलता पर उतर आये, तो पति की मर्यादा की रक्षा कौन करेगा...पर इन सब बातों का अवकाश कहाँ है कुन्ती के लिए? पाण्डु ने उसे त्यागा ही होता–दोनों पृथक हो गये होते, तो कदाचित यही माना जाता कि उनमें परस्पर मतभेद हैं। जाने दोषी कौन है! पर दूषित तो कोई नहीं होता।...पाण्डु के लिए दूसरी पत्नी आ गयी–माद्री!... कहते हैं, अत्यन्त सुन्दर है। पाण्डु उसके साथ रहेगा। दोनों जीवन के सुखों का भोग करेंगे। तब अनकहे ही, कुन्ती दोषी ही नहीं, दूषित भी मान ली जायेगी...

कुन्ती को लगा, वह पाण्डु का मुँह नोच लेना चाहती है, 'पापी! त्यागना ही था, तो त्याग देता। इस प्रकार कलंकित करने का क्या अर्थ?...'

सहसा उसका आक्रोश अजाने ही दूसरी दिशा में मुड़ गया...और एक यह खलनायक है; भीष्म! निस्पृह, त्यागी, महात्मा भीष्म! जो पति-पत्नी को किसी संधि तक पहुँचने का अवसर ही नहीं देना चाहता।...धर्मनिष्ठ पितृव्य भीष्म! लोग उसका नाम बहुत आदर और सम्मान के साथ लेते हैं।...स्वयं तो विवाह नहीं किया, किन्तु दूसरों के लिए पत्नियाँ खूब जुटाई हैं। जाने क्या सन्तोष मिलता है उनको...कहीं अपनी क्षति-पूर्ति ही तो नहीं करते। अपनी पत्नी का अभाव जब खलता होगा, तो अन्य किसी के लिए, एक पत्नी का प्रबन्ध कर देते हैं...पर कभी उन्होंने स्त्री की ओर से भी सोचा है?...कभी तो सोचा होता...सत्यवती, अम्बिका, अम्बालिका और माद्री क्या सोचती हैं? उन सबके मन में शुभकामनाएँ हैं भीष्म के लिए अथवा वे सब शापित करती हैं उनको? कौन आयी है, इनमें से अपनी इच्छा से?...

कहते हैं कि वह धर्मात्मा हैं। पर कैसे धर्मात्मा हैं भीष्म? केवल अपनी टेक पर अड़े रहना ही तो धर्म नहीं हो सकता। सृष्टि में इतने जीव हैं, सबको यहीं रहना है। उन सबकी सुविधाओं के बीच सामंजस्य खोजना ही तो धर्म है, न्याय है, नीति है।...पर भीष्म तो दूसरे पक्ष की सुनते ही नहीं..कैसे धर्मात्मा हैं वह?...एक बार भी कुन्ती से नहीं पूछा, 'पुत्री! कल पाण्डु तुम्हें ब्याह कर लाया है और आज दिग्विजय के लिए जा रहा है। क्यों? क्या तुम दोनों में कोई कहा-सुनी हुई? कोई मतभेद? क्या तुम पाण्डु को नहीं भायीं? या पाण्डु तुम्हें प्रिय नहीं लगा?'...कुछ नहीं पूछा भीष्म ने; और उठ कर चल दिये माद्री को लाने। क्यों उन्होंने मान लिया कि पाण्डु को कुन्ती प्रिय नहीं लगी? और यदि ऐसा

हुआ, तो उसमें कुन्ती का ही दोष क्यों है?...पाण्डु को तत्काल दूसरी पत्नी क्यों चाहिए?...उन्होंने, उनके दाम्पत्य-जीवन में स्थिरता लाने के लिए उन्हें समझना क्यों आवश्यक नहीं समझा? यदि आज कुन्ती कहे, कि उसे पाण्डु प्रिय नहीं तो क्या भीष्म उसके लिए दूसरे पति का प्रबन्ध करने चल देंगे?...

सहसा कुन्ती को लगा: उसका यह दर्प, कदाचित उसकी कोई सहायता नहीं करेगा! यह समाज, मात्र पुरुषों का है। यहाँ पुरुष का ही आधिपत्य है, उसके ही अंहकार की रक्षा होगी, उसकी सुविधाओं के लिए विकल्प जुटाए जायेंगे। वह चाहेगा तो निर्जीव पदार्थ के समान स्त्री को उठा कर कण्ठ से लगा लेगा; और चाहेगा तो उसे झटक कर दूर फेंक देगा तथा एक नये खिलौने के समान दूसरी स्त्री को चुन लेगा।...कितनी असहाय है कुन्ती! वह दुर्वासा के सम्मुख असहाय सिद्ध हुई, जनक शूरसेन और पिता कुन्तिभोज के सम्मुख भी...और अब वह पाण्डु के सम्मुख भी अपदार्थ सिद्ध हो रही है...

किन्तु पितामही, राजमाता सत्यवती कैसे इतनी समर्थ हो गयी हैं?...क्या वे भी पुत्री और पत्नी के रूप में कुन्ती के ही समान असमर्थ रही हैं; और आज समर्थ हैं, क्योंकि वह माता हैं, पितामही हैं। कदाचित स्त्री जननी बन कर ही, पुरुष पर, समर्थ पुरुष पर अपना पूर्ण अधिकार स्थापित कर सकती है...

पर कुन्ती ने जिसे जन्म दिया है, उसे वह बहुत पीछे छोड़ आयी है। वह अनाकांक्षित ही उसकी गोद में आया था; कैसा हृष्टपुष्ट था, कैसा स्वस्थ और तेजस्वी! पर कुन्ती ने उसे त्याग दिया। जननी का अधिकार-जाल समेट लिया। अब वह समर्थ हो भी जाये, तो क्या? उसके सामर्थ्य का क्या लाभ होगा कुन्ती को?...और...और पाण्डु यदि उससे इसी प्रकार दूर भागता रहा, तो वह फिर कभी जननी बन भी पायेगी क्या? सामर्थ्यवान पुरुष की जननी?...

...भाग्य ने उसके लिए कोई विकल्प नहीं छोड़ा है। उसे पाण्डु के दर्प, अहंकार और उपेक्षा को ही नहीं, उसकी प्रताड़ना को भी मौन-मूक सहना होगा। यदि माद्री ही पाण्डु की प्रिया हो गयी, तो उसके इस अधिकार को भी मान्यता देनी होगी।...उसे अपनी शक्ति को किसी प्रकार बनाये रखना है...उसे समर्थ बनाना होगा...जननी...। वह पाण्डु को त्याग नहीं सकती, उसकी उपेक्षा नहीं कर सकती, उसके विरुद्ध नहीं जा सकती।...उसको पुत्र पाण्डु से ही प्राप्त होंगे, अत: उसे अधिकार भी पाण्डु से ही मिलेंगे...

50

"भीष्म!" सत्यवती अत्यन्त हताश लग रही थी, "तुम्हारा अनुमान असत्य सिद्ध हुआ। पाण्डु अब भी दिग्विजय पर जा रहा है। माद्री का आकर्षण उसे रोक नहीं पाया।"

भीष्म चुपचाप बैठे थे। वे सत्यवती की बात सुन भी रहे थे; और नहीं भी सुन रहे थे। उनकी गम्भीर मुद्रा बता रही थी कि वे किसी गहन चिन्ता में हैं। सहसा वे अम्बालिका की ओर मुड़े, "तुम्हें कुछ बताया है, पाण्डु ने?"

"नहीं तात!" वह बोली, "उसने मुझे तो कुछ नहीं बताया। मैं ही उसके आस-पास घूमती रही हूँ। वह स्वयं तो कोई चर्चा करता ही नहीं; यदि मैं प्रयत्न करती भी हूँ, तो टाल जाता है!"

"कुछ तो कहता ही होगा।" सत्यवती के स्वर में अधैर्य अत्यन्त स्पष्ट था, "कैसी माँ हो तुम! जिसे अपने गर्भ में रखा, उसके मन में प्रवेश नहीं कर सकतीं। पता नहीं, कैसी हैं आजकल की माताएँ।"

अम्बालिका ने जिस दृष्टि से सास को देखा, उसमें तनिक भी सम्मान नहीं था; किन्तु जब बोली, तो उसकी वाणी संयत ही थी, "मुझे तो लगता है कि मैं उससे बात करने लगती हूँ, तो वह भागने का कोई-न-कोई बहाना खोजने लगता है। कुरेदती हूँ, तो दार्शनिकता बघारने लगता है। तर्क करती हूँ, तो खीझ कर लड़ने लगता है।..."

"किन्तु पाण्डु ऐसा तो नहीं था। वह सदा आज्ञाकारी पुत्र और विनीत बालक रहा है।" सत्यवती जैसे झल्ला कर बोली, "धृतराष्ट्र के व्यवहार के विषय में अम्बिका तक शिकायत करती है; किन्तु पाण्डु की शालीनता में तो कभी किसी ने संदेह नहीं किया।"

"आप ठीक कहती हैं माता!" अम्बालिका धीरे से बोली, "मुझे भी कभी उससे कोई शिकायत नहीं रही; किन्तु कुन्ती के साथ प्रथम रात्रि व्यतीत करने के पश्चात से ही, उसका व्यवहार अत्यन्त उद्धत हो गया है।"

"तो कुन्ती ने ही माता और मातामही के विरुद्ध उसके मन में असन्तोष जगाया होगा।" सत्यवती तीव्र स्वर में बोली, "ये आजकल की लड़कियाँ..." उसके चेहरे पर वितृष्णा का भाव उभरा, "श्वसुर कुल में पग बाद में पड़ेगा, और गृहदाह ये पहले आरम्भ कर देंगी।"

"नहीं! ऐसी बात नहीं है माता!" भीष्म बोले, "मैं नहीं समझता कि कुन्ती का इसमें तनिक भी दोष है। जो पत्नी अपने पति को बाँध नहीं पायी, वह उसे उसकी माता और मातामही के विरुद्ध क्या भड़काएगी!"

"तुम्हें क्या पता है इस विषय में?" सत्यवती पूरे रोष के साथ बोली, "तुम सबको अपने ही समान समझते हो।" और उसने रुक कर भीष्म को देखा, "कहीं तुम्हारी ही तो छाया नहीं है पाण्डु पर। तुम्हें भी नारी का आकर्षण नहीं व्यापता; और वह भी दो-दो सुन्दरी युवती पत्नियों को छोड़ कर, दिग्विजय के लिए भागा जा रहा है।"

भीष्म के मन में चिन्तन की एक नयी दिशा उद्घाटित हुई: माता सत्यवती के उपालम्भ में कहीं कोई तथ्य तो नहीं? कहीं पाण्डु को भी काम-सुख, काम-यातना ही तो नहीं लगता? कहीं नारी का सौन्दर्य उसे भी मृग-तृष्णा ही तो दिखाई नहीं देता?...किन्तु यदि ऐसा होता, तो वह कुन्ती के स्वयंवर में क्यों जाता? माद्री के साथ विवाह के लिए क्यों सहमत हो जाता?...क्या बात है–वह नारी-सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट तो होता है, उसकी ओर बढ़ता भी है; किन्तु उसके निकट जा कर, जैसे पलट कर भागता है। क्या यह भी उसका दर्प ही है, कि पत्नी से पहली रात ही ऐसी अनबन हो जाती है, कि पुन: वह उसके निकट ही नहीं जाना चाहता...

भीष्म मुस्कुराये, "मेरी छाया पड़ी होती माता! तो दिग्विजय के लिए इतना व्याकुल भी न होता। मैं तो स्वयं चकित हूँ," भीष्म रुके, "कि वह सैनिक अभियान के लिए इतना उत्कण्ठित क्यों है। वह तो जैसे सम्राट चित्रांगद के समान आक्रामक और उग्र हो रहा है।...हमारी सीमाओं पर कोई आक्रमण नहीं हो रहा। कोई सम्राट का युद्ध के लिए आह्वान नहीं कर रहा और वह दो-दो नवोढ़ाओं को छोड़, इस आतुरता से युद्ध के लिए भाग रहा है...।"

"वह सब कुछ नहीं है।" सत्यवती अधीरता से बोली, "आजकल के लड़के और लड़कियों में तनिक भी धैर्य नहीं है। न ये कुछ सुनने को तैयार हैं, न वे कुछ सहने को। क्रोध तो जैसे इनकी नाक पर धरा रहता है। पता नहीं अपने-आपको समझते क्या हैं। अरे पति-पत्नी में तो निर्वाह ऐसे ही होता है: तू दो मेरी मान ले और मैं दो तेरी मान लूँ...।"

भीष्म मन-ही-मन मुस्कुराये: माता सत्यवती वय की दृष्टि से उतनी वृद्धा हुई नहीं, जितनी अपने व्यवहार और चिन्तन में हो गयी हैं।...उन्हें अपनी अगली पीढ़ियों का व्यवहार अत्यन्त आपत्तिजनक लगता है...वे अपना समय भूल गयीं–उन्होंने प्रत्यक्ष रूप में अपने पति पर कितने कठोर प्रतिबन्ध लगाये थे।...और अपने एकान्त में, जब पति

अथवा प्रेमी, काम-याचना की भूमिका में अपने अहंकार को सर्वथा तिलांजलि दे चुका होता है—जाने क्या-क्या प्रतिबन्ध लगाती होंगी। जाने कैसी इच्छाएँ प्रकट करती होंगी।...इनसे विवाह कर, राजा शान्तनु का वह सम्राटों वाला तेज रह पाया था क्या? और इन्होंने ही तो अपने पुत्रों में वह दर्प भरा था, जो संसार में किसी और के अधिकार को स्वीकार ही नहीं करता था...और अब ये...अपने विवाह के पश्चात वे यह भी नहीं चाहती थीं कि भीष्म अपने पिता से पिल पायें...इनकी चिन्तन-पद्धति कैसी एकांगी है। वे अपने तर्क को स्वयं अपने ऊपर लागू कर कभी नहीं देखतीं। भीष्म को कभी भी यह नारी तर्क-शास्त्र समझ में नहीं आया था, जो केवल बोलता था, सुनता कुछ भी नहीं था। तर्क-पद्धति किसी नियम से नहीं, मात्र अपने स्वार्थ अथवा सुविधा से परिचालित होती थी...और सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह था कि जो सब कुछ इन्होंने स्त्री अथवा पत्नी के अधिकार के रूप में स्वयं पाया था, वही सब न वे पुत्र-वधुओं को देने को प्रस्तुत थीं, न पौत्र-वधुओं को। अधिकार पा कर, अथवा समर्थ होने पर, नारी का दमन-चक्र नारी के ही विरुद्ध कुछ अधिक ही तीव्र गति से चलने लगता है...

"भीष्म!" सत्यवती उनसे सम्बोधित थी, "मैं सोचती हूँ कि यदि पाण्डु कुछ नहीं बताता, तो कुन्ती और माद्री से ही पूछा जाये कि बात क्या है? इन दोनों के आ जाने के बाद, पाण्डु शान्ति से हस्तिनापुर में टिक क्यों नहीं रहा?"

"सम्भवत: पति-पत्नी के मध्य की कोई ऐसी गोपनीय बात हो, जो वे किसी अन्य व्यक्ति को बताना न चाहते हों। कोई अशोभन प्रसंग! आपकी पौत्र-वधुओं को आपके पौत्र के विरुद्ध कोई ऐसी शिकायत हो, जिसका परिमार्जन आप भी न कर सकें...।"

"तात!" सहसा अम्बालिका बोली। उसका स्वर अत्यन्त धीमा और शालीन ही नहीं, एक सीमा तक संकुचित भी था।

भीष्म ने उसकी ओर देखा।

"एक निवेदन मेरा भी है।"

"बोलो अम्बालिके!"

"यदि पाण्डु अपने दर्प में, दिग्विजय करने जा रहा है, तो और बात है। मैं कामना करूँगी कि मेरा पुत्र दिग्विजयी हो कर लौटे। अपनी रानियों के साथ सुखी जीवन व्यतीत करे और अपनी प्रजा का धर्मत: पालन करे। किन्तु तात...!" उसने रुक कर पुन: भीष्म की ओर देखा, "यदि पाण्डु और उसकी पत्नियों के मध्य कुछ ऐसा घटित हुआ है कि वे लोग परस्परा सुखी दाम्पत्य जीवन व्यतीत नहीं कर सकते तो एक कृपा मुझ पर कीजिएगा...।"

"क्या अम्बालिके?"

"कृपया उसके लिए और रानियों की व्यवस्था मत कीजिएगा।"

"इसकी तो बुद्धि ही भ्रष्ट हो गयी है।" भीष्म से पहले ही सत्यवती बोल उठी, "हस्तिनापुर के सिंहासन के लिए युवराज चाहिए या नहीं!"

"युवराज आपको गान्धारी से प्राप्त हो जायेगा।" अम्बालिका बोली, "माता! संसार में कोई भी सिंहासन रिक्त नहीं रहा। प्रत्येक सिंहासन अपना उत्तराधिकारी स्वयं ही चुन लेता है। राजाओं द्वारा मनोनीत युवराज बैठे रह जाते हैं, और सिंहासन चल कर स्वयं किसी को कंधों पर उठा लेता है।"...

भीष्म ने अम्बालिका को देखा: वह जैसे विषाद की साकार मूर्ति लग रही थी। कितनी पीड़ा थी, उसके स्वर में; और कैसा वैराग्य। भीष्म ने उसके विषय में न कभी अधिक जाना था, न सोचा था। उसे हस्तिनापुर के राजप्रासाद में ला कर जैसे वे भूल ही गये थे कि उसका भी कोई अस्तित्व है।...आज वे देख रहे थे कि उसका अस्तित्व ही नहीं था...उस अस्तित्व में कहीं बहुत गहरे जैसे दुख का कोई उद्गम था।...जब माता सत्यवती हस्तिनापुर के राजप्रासाद में आयी थीं, तो दर्प से जगमगाया करती थीं; किन्तु अम्बिका और अम्बालिका तो जैसे पहले व्यथा की अग्नि से जल कर काली होती गयीं; और अन्तत: जल कर भस्म-सी श्वेत हो गयीं। तप्त अंगार-सी वे कभी नहीं जलीं, दर्प का दाह उनमें कभी नहीं जागा...और आज अम्बालिका क्या कह रही है, जैसे माता अपने पुत्र के विषय में चर्चा न कर रही हो, कोई वैरागी संसार-चक्र में फँसे लोगों को उससे बचने का उपदेश कर रहा हो...

"ऐसा क्यों सोचती हो अम्बालिके?" भीष्म बोले, "क्यों तुम नहीं चाहतीं कि हस्तिनापुर के सिंहासन पर तुम्हारे पौत्र का अधिकार हो?"

"मेरा पौत्र जन्म ले और अधिकार-दण्ड हाथ में ले कर, सम्राट के रूप में हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठे, तो मुझे प्रसन्नता ही होगी।" अम्बालिका बोली, "मानव सुलभ तृष्णाएँ मुझमें भी बहुत हैं। किन्तु संसार की तृष्णा में जल

कर बहुत कष्ट पाया है तात! कभी कोई अपनी तृष्णा में जलता है; और कभी किसी एक की तृष्णा, अन्य लोगों को दग्ध करती है। उस दाह को मैंने बहुत सहा है। अब नहीं चाहती कि कोई और मेरी तृष्णाओं का दाह सहे और संसार को शापित करे।" उसने रुक कर भीष्म को देखा, "क्या आपको नहीं लगता कि कुरु-कुल के माथे पर परित्यक्ता स्त्रियों का बोझ वैसे ही बहुत अधिक है। मुझ पर दया करें, और किसी भी ब्याज से उस बोझ को न बढ़ायें।..."

लगा, उसका कण्ठ अवरुद्ध हो गया और सहसा ही वह उठ कर चली गयी।

सत्यवती आँखें तरेरे जाती हुई अम्बालिका को देखती रही और उसके आँखों से ओझल होते ही अपनी घृणा का उसने वमन किया, "जिसे देखो वही अपने-आपको बहुत बुद्धिमान समझता है, जैसे साम्राज्यों का नीति-संचालन उसी की बुद्धि से प्रेरित होता है। राजमाता बनना कोई इतना सरल नहीं है।" और वह भीष्म की ओर मुड़ी, "पुत्र भीष्म! क्या सोचा है तुमने?"

"माता! पुत्र और पौत्र को आप समझा भी सकती हैं और आदेश भी दे सकती हैं; किन्तु सम्राट के सम्मुख तो केवल विचारार्थ प्रस्ताव ही रखे जा सकते हैं। स्वीकार करना, न करना सम्राट की अपनी इच्छा पर निर्भर करता है।"

"ओह सम्राट!" सत्यवती बोली।

"आर्यपुत्र!" गान्धारी उल्लसित स्वर में बोली, "आपने सुना, देवर दिग्विजय के लिए जा रहे हैं।"

"सुना है।" धृतराष्ट्र बोला, "किन्तु इसमें तुम्हारी इतनी रुचि क्यों है प्रिये?"

इस बार गान्धारी सशब्द हँसी, "क्यों! मेरी रुचि क्यों नहीं है। देवर दिग्विजय करेंगे। नये-नये राज्य जीतेंगे। कुरु-साम्राज्य का विस्तार करेंगे। धन-सम्पत्ति लायेंगे, दास-स्त्रियाँ लायेंगे..."

"और ला कर सब तुम्हारे आँचल में डाल देंगे?"

"नहीं! सब कुछ कुन्ती और माद्री को सौंप देंगे, जिनके पास वे एक-एक रात जा कर, दूसरी बार गये ही नहीं।"

वह मुक्त कण्ठ से हँस रही थी।

"मेरी समझ में पाण्डु का यह व्यवहार एकदम नहीं आया।" धृतराष्ट्र बोला, "अरे तुम्हें कैसी स्त्री चाहिए!...मैंने तो सुना है कि कुन्ती और माद्री दोनों ही बहुत सुन्दर और आकर्षक युवतियाँ हैं। जिसने भी उन्हें देखा है, उसी ने उनकी प्रशंसा की है। और मान लो कि जैसी स्त्री तुम्हें चाहिए, वैसी वे नहीं भी हैं, तो क्या! तुम्हें वैसी स्त्री खोजने और प्राप्त करने से कोई रोक तो नहीं रहा। ये वैसी नहीं हैं, तो क्या, स्त्रियाँ तो हैं। इनका अपमान क्यों करते हो।" धृतराष्ट्र रसिक भाव से बोला, "मैं अच्छा हूँ। देख ही नहीं पाता। स्त्री सुन्दर है या असुन्दर–यह समस्या ही नहीं उठती मेरे सामने! स्पर्श से जान जाता हूँ कि स्त्री का शरीर है। बस पर्याप्त है मेरे लिए।"

"चुप रहिए आप!" गान्धारी ने डाँटा, "हर समय अपना ऐसा बखान मत किया कीजिए। जो कह रही हूँ, उसको गम्भीरता से समझने का प्रयत्न कीजिए।"

"क्या है?" धृतराष्ट्र गम्भीर हो गया, "कोई विशेष बात है क्या?"

"आपको विशेष नहीं लगती!" गान्धारी बोली, "मैं यह मानती ही नहीं कि देवर को वीरता का ताप चढ़ा है और वे सच मुच दिग्विजय करने जा रहे हैं।"

"तो?"

"कुन्ती के साथ प्रथम रात्रि बिता कर जब वे भागने लगे थे, तो मैंने समझा था कि कुन्ती से बनी नहीं। किन्तु उन्हें तो माद्री के साथ भी एक ही रात व्यतीत करके दिग्विजय का ताप पुन: व्याप गया।"

"तो माद्री भी नहीं भायी होगी।"

"नहीं।" गान्धारी अत्यन्त दृढ़ और निश्चयात्मक स्वर में बोली, "यदि प्रथम भेंट के पश्चात पुरुष पुन: अपनी पत्नी के निकट नहीं जाना चाहता, तो उसका अर्थ है कि वह पत्नी को मुख दिखाने योग्य नहीं है। उसकी आँखें अपनी पत्नी के सम्मुख उठ नहीं सकतीं...।"

"तुम्हारा अभिप्राय है कि पाण्डु रति-दान में असमर्थ है।"

"आप ठीक समझे।"

"असम्भव!"

"क्यों! असम्भव क्यों है?"

"ऐसा योद्धा पुरुष, इतना अक्षम कैसे हो सकता है।"

"मैं वैद्यक नहीं जानती।" गान्धारी बोली, "अपने स्त्री मन में केवल इतना ही जानती हूँ कि पौरुष पराजित हो जाये, तो पुरुष स्त्री की आँखों में देख नहीं सकता।"

"पर ऐसा किसी ने कहा तो नहीं है।"

"कौन कहेगा?" गान्धारी बोली, "इस तथ्य को देवर अपने मुख से स्वीकार करेंगे क्या? कोई भी पुरुष स्वीकार करेगा क्या?"

"तो कुन्ती और माद्री ने ही कहाँ उस पर ऐसा आरोप लगाया है।"

"सम्भव है, वे भी समझ न पायी हों...।"

धृतराष्ट्र का स्वर कुछ हठी हो गया था, "जिस स्त्री के पास पाण्डु गया था, वह तो उसकी अक्षमता को समझ नहीं पायी; और महारानी गान्धारी अपने कक्ष में बैठी-बैठी ही, सब कुछ समझ गयीं। चमत्कार है।"

"आप चाहे इसे परिहास में उड़ा दें," "गान्धारी अपनी बात पर अड़ी हुई थी, "किन्तु आप देख लीजियेगा, मेरा अनुमान शत-प्रतिशत सत्य प्रमाणित होगा।"

धृतराष्ट्र कुछ देर तक मौन बैठा रहा; किन्तु उसके चेहरे के भाव कह रहे थे कि अभी वह गान्धारी की बात स्वीकार नहीं कर पाया है। अपने मन की कई प्रकार की उलझनों से लड़ते रहने के पश्चात वह बोला, "इसका अर्थ है कि पाण्डु एक और विवाह करेगा।"

गान्धारी ने धृतराष्ट्र के स्वर में निहित तृष्णा को पहचाना: उसे धृतराष्ट्र की यह लोलुपता कभी अच्छा नहीं लगी थी। वह जानती थी कि उस समाज में समर्थ पुरुष एकाधिक विवाह करते हैं। राजपरिवारों में तो जैसे नियमत: बहुपत्नीत्व का प्रचलन था। फिर भी धृतराष्ट्र का इस प्रकार अन्य स्त्रियों के लिए लालायित रहना, उसके मन पर जैसे खरोंच लगा जाता था–वह भली प्रकार जानती थी कि धृतराष्ट्र का स्त्री-प्रसंग केवल उसी तक सीमित नहीं था। जहाँ आस-पास इतनी दासियाँ, परिचारिकाएँ तथा अन्य स्त्रियाँ बिखरी हुई हों और राजपरिवार के सदस्यों की आज्ञा का पालन करने के लिए उत्कण्ठित भी हों तथा बाध्य भी–वहाँ वह धृतराष्ट्र को क्या दोष दे; किन्तु धृतराष्ट्र का इस प्रकार स्त्री के नाम पर लार टपकाना, उसे तनिक भी अच्छा नहीं लगता था। अपने पति के सारे व्यवहार में से उसे यही ध्वनित होता हुआ सुनाई पड़ता था कि गान्धारी धृतराष्ट्र के लिए पर्याप्त नहीं थी–उसे पा कर वह पूर्णकाम नहीं था...

किन्तु इस संदर्भ में उससे रुष्ट होने, अथवा उससे विवाद करने का कोई लाभ नहीं था।

"देवर एक विवाह और करें, या सौ–उनका उत्तराधिकारी जन्म नहीं लेगा। हस्तिनापुर को उनसे युवराज नहीं मिलेगा...।"

"तुम ऐसी भविष्यवाणी इतने निश्चित स्वर में कैसे कर सकती हो?" धृतराष्ट्र की इच्छा तो बहुत थी कि वह गान्धारी की बात को सच मान ले, वरन उसके मन की तीव्रतम कामना थी कि गान्धारी की बात सत्य हो; किन्तु उसकी व्यावहारिक बुद्धि उसके लिए कोई प्रमाण भी माँगती थी।

गान्धारी थोड़ी देर चुप रही और फिर बहुत धीमे स्वर में बोली, "सत्य बता दूँ?"

धृतराष्ट्र उसके स्वर से ही समझ गया कि उसके पास कोई निश्चित प्रमाण है, या कम-से-कम ऐसा प्रमाण अवश्य है, जिसे वह निश्चित मानती है।

"बताओ।"

गान्धारी का स्वर कुछ और मंद हो गया। वह बोली, "मुझे शकुनि ने बताया है।"

"क्या?"

"उसने इस संदर्भ में जानकारी पाने के लिए देवर को टटोला था।"

"कैसे?"

"उसने देवर को बधाई दी और कहा कि आशा है कि हमें युवराज के जन्म का समाचार शीघ्र मिलेगा। उसका नाम तो सोच लिया है न?"

"तब?"

"देवर ने कोई उत्तर नहीं दिया; किन्तु उनकी प्रतिक्रिया अत्यन्त हिंस्र थी, जैसे वह शकुनि को मार ही डोलेंगे।"

"ओह!"

अपने भाई की अक्षमता जान कर धृतराष्ट्र को तनिक भी दुख नहीं हुआ। उसे लगा, वह भी गान्धारी के समान

उल्लसित हो कर कहना चाहता था कि यह प्रसन्नता का विषय है। उसके भीतर जैसे अहंकार का भाव जागा: वह जन्मान्ध है तो क्या हुआ; पाण्डु के सामन निर्वीर्य नहीं है। पाण्डु सम्राट है तो क्या, वह पूर्ण पुरुष तक नहीं है। वह रण-क्षेत्र में शत्रु की सेना का सामना कर सकता है, किन्तु अपनी पत्नी के सम्मुख आँखें नही उठा सकता।...गान्धारी कहती है कि पाण्डु एक भी पुत्र उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि यह सत्य है, तो धृतराष्ट्र उससे कहीं श्रेष्ठ और समर्थ है। धृतराष्ट्र इतनी सन्तानें उत्पन्न करेगा कि भविष्य में कुरु-वंश, केवल उसी के नाम से जाना जायेगा।

"मैं कई बार सोचता हूँ गान्धारी! कि कहीं तुम मुझे व्यर्थ ही सुनहले स्वप्न तो नहीं दिखा रहीं...यदि कहीं ऐसा न हुआ तो?"

"ये मात्र स्वप्न नहीं हैं आर्यपुत्र! हमारी यह कामना मूर्तिमती होगी। हस्तिनापुर के सिंहासन पर सम्राट पाण्डु के पश्चात हमारा पुत्र ही आसीन होगा।"

धृतराष्ट्र के चेहरे पर ऐसा उल्लास जागा, जैसे उसने अपने पुत्र को सिंहसनासीन होते देख लिया हो।

कुन्ती को आश्चर्य हुआ: माद्री, और उससे मिलने के लिए आयी है। पर क्यों?...उसने तो एक क्षण के लिए भी नहीं सोचा कि उसे माद्री से मिलना चाहिए। उसके मन में न तो माद्री को देखने की उत्सुकता थी, न उसे भय था कि माद्री उसका अधिकार, धन-सम्पत्ति या पति छीन लेगी–वह सब उसे मिला ही कब था।...न कुन्ती के मन में लोकाचार की ही बात उठी थी कि वह कुरु-कुल की नयी वधू के स्वागत का शिष्टाचार निभाये।

उसने मान लिया था कि उसके साथ जो दुर्घटना घटनी थी, वह घट चुकी। स्रष्टा को जो खिलवाड़ उसके जीवन के साथ करना था, वह कर चुका। अब कुन्ती एक अनावश्यक, अपदार्थ, व्यर्थ-सी वस्तु के रूप में इस राजप्रासाद में पड़ी रहेगी। जब तक माद्री नहीं आयी थी, तब तक फिर भी कुन्ती के मन में कहीं कोई आशा थी कि पाण्डु उसके पास लौट आयेगा, उसे स्वीकार कर लेगा; और वे एक सुखद दाम्पत्य जीवन व्यतीत कर पायेंगे।...किन्तु माद्री आ गयी थी। जिसने भी उसे देखा था, उसे असाधारण सुन्दरी बताया था–नारी-सौन्दर्य की पराकाष्ठा। वह आकर्षक थी, मोहक थी, निर्मम-से-निर्मम पुरुष के मन को लुभा सकती थी।...तब कहाँ अवकाश था, पाण्डु के लौट आने का। यदि कभी उसका मन माद्री से ऊब भी गया, तो वह तीसरा विवाह करेगा; लौट कर कुन्ती के पास क्यों आयेगा। यदि दूसरा विवाह करते हुए, उससे किसी ने कुछ नहीं पूछा, तो तीसरा करने पर ही कौन पूछेगा।...

...कुन्ती को लगा, वह अपने भाग्य को कितना भी दोष दे, किन्तु वह पाण्डु को क्षमा नहीं कर सकती। यदि उसे कुन्ती के अतीत का कोई आभास हो ही गया था, कोई सूचना मिल ही गयी थी, तो वह कुन्ती से बात तो करता। उसे स्पष्टीकरण का अवसर तो देता। कुन्ती का तिरस्कार ही करना था तो कोई सम्मानजनक संधि तो करता...आधी रात को उठ कर चल दिये...दूसरे की भावनाओं का रत्ती-भर भी सम्मान नहीं। कुन्ती क्या बात करने के भी योग्य नहीं थी, लांछित करने योग्य भी नहीं...

पाण्डु तो पाण्डु! अब यह माद्री और आ गयी है। उसे भी तो मालूम होगा कि पाण्डु की एक पत्नी पहले भी है, जिसे वह पहली रात ही काम-क्रीड़ा के मध्य अतृप्त छोड़ आया है।...क्या बाध्यता थी उसकी, कि वह पाण्डु से ही विवाह करे। जब वह इतनी ही सुन्दर है, स्रष्टा ने उसे यौवन का वैभव भी भरपूर दिया है, तो संसार में पुरुषों का अभाव है क्या? क्या वह किसी और राजा, राजकुमार या सम्राट को नहीं चुन सकती थी। पाण्डु की दूसरी पत्नी बनना क्या इतना ही सम्मानजनक था कि वह किसी और राजा की पट्टमहिषी नहीं बनना चाहती थी?

कुन्ती का मन माद्री को पाण्डु से भी अधिक दोषी ठहरा रहा था। यदि नारी ही, दूसरी नारी पर अत्याचार न करना चाहे तो पुरुष क्या कर सकता है। जाने क्यों, स्त्रियाँ ही स्त्रियों की शत्रु हो जाती हैं...

परिचारिका ने माद्री के आने की सूचना दी तो कुन्ती के मन में पहली प्रतिक्रिया हुई कि वह कहलवा दे कि वह उससे मिलना नहीं चाहती। किन्तु उसके विवेक की काली बिल्ली, जैसे क्रोध के तीव्रगामी रथ का रास्ता काट गयी।...द्वार पर आये व्यक्ति के साथ अशिष्ट व्यवहार नहीं करना चाहिए...जाने क्या सोच कर आयी है माद्री...जाने क्या कहना चाहती है...

"उन्हें सादर लिवा लाओ।" कुन्ती बोली।

माद्री आयी और अनिश्चय में कुन्ती के सम्मुख, खड़ी-की-खड़ी रह गयी।

कुन्ती ने उसे देखा: सत्य ही अद्‌भुत सुन्दरी थी माद्री। देवकन्या-जैसी। उसने सुन रखा था, मद्रदेश के सौन्दर्य के विषय में; किन्तु यह तो मद्र-सौन्दर्य का भी जैसे चमत्कार थी।...पर कैसी अस्वस्थ सी लग रही थी, पूर्णत: ध्वस्त, जैसे उसका सर्वस्व हरण हो गया हो...और कहाँ कुन्ती ने सोचा था, कि पाण्डु को पा कर माद्री प्रसन्नता के ज्वार के भाल पर मयूर-सी नृत्य कर रही होगी, कुन्ती को वंचित कर, उसका अहंकार जैसे स्वयं अपने-आप पर ही मुग्ध हो रहा होगा...

"आओ माद्री!"

माद्री आगे बढ़ी अवश्य; किन्तु असमंजस में फिर खड़ी रह गयी कि वह आगे बढ़ कर कुन्ती के चरणों पर लोट जाये, या उसके कंधे पर सिर रख कर रो पड़े।

कुन्ती ने उसके असमंजस को पहचाना। यह भी जाना कि उसके और माद्री के वय में कदाचित बहुत अन्तर

नहीं था: फिर भी वह बड़ी थी, क्योंकि वह पाण्डु की पहली पत्नी थी।...उसकी और माद्री की काया में भी अन्तर था। माद्री कोमल थी, अधिक लम्बी भी नहीं थी। आकार-प्रकार को देखते हुए, समवयस्क होने पर भी, कुन्ती उससे बड़ी ही लग रही थी। वैसे भी कुन्ती को उससे बड़ी होना ही था–माद्री उसके द्वार पर आयी थी।

उसने आगे बढ़ कर माद्री को गले से लगा लिया।

माद्री का जाने कब का बँधा, धैर्य का बाँध टूट गया। उसे वह कंधा, मिल गया था, जिस पर सिर रख कर वह रो सकती थी।

वह फफक पड़ी, "दीदी!"

उसके एक सम्बोधन मात्र से जैसे कुन्ती के हृदय की सारी दुश्शंकाएँ धुल गयीं। हृदय पिघल कर जैसे आतुर हो कर माद्री की ओर दौड़ा। उसे लगा, जाने कब की बिछुड़ी उसकी अपनी छोटी बहन आ मिली है। कुन्ती ने उसे अपने वक्ष में भींच लिया।...वह भी तो कब से प्रतीक्षा कर रही थी कि उसे कोई अपना मिले और उसके कंधे पर सिर रख कर, अथवा उसे हृदय से लगा कर वह रो सके।

थोड़ी देर में शान्त हो कर दोनों अलग हुईं।

और अश्रु पोंछते हुए कुन्ती का ध्यान इस ओर गया कि वे दोनों तो अपने सहज आवेश में ही रोती रहीं; अभी कुन्ती ने उससे यह तो पूछा ही नहीं कि उसके रोने का कारण क्या है।

"माद्री!" कुन्ती ने बहुत कोमल स्वर में उसे पुकारा।

"दीदी! मुझे कोई बताता क्यों नहीं कि मेरा दोष क्या है?"

कुन्ती चुपचाप उसे देखती रही: तो क्या पाण्डु ने उसके साथ भी वैसा ही व्यवहार किया? पर क्यों?...अपने विषय में तो कुन्ती ने मान लिया था कि उसका अतीत...पर माद्री?...प्रत्येक स्त्री का अतीत होता है क्या? विवाह के पश्चात पत्नी बन कर, जब वह पाण्डु की सेज पर आ जाती है, पाण्डु को तभी उसका पता लगता है क्या?...

कुन्ती ने उसे बैठाया। उसके आँसू पोंछे। और तब अत्यन्त धैर्य से पूछा, "क्या बात है माद्री! मुझे विस्तार से बताओ।"

माद्री उसे हस्तिनापुर में अपने स्वागत, और फिर पाण्डु से अपने मिलन की कहानी सुनाती रही; और कुन्ती को लगता रहा कि वह माद्री की नहीं, कुन्ती की ही कहानी है। केवल एक नाम का अन्तर था, अन्यथा सब कुछ वैसे-का-वैसा ही था।...वह चकित थी: ऐसा क्यों हुआ और कैसे हुआ?

कुन्ती ने पूर्ण तन्मयता से सब कुछ सुना। जब माद्री चुप हुई तो कुन्ती बोली, "क्या तुम्हें अपने विवाह से पहले मेरे विषय में मालूम था?"

"मालूम था।"

"तो फिर तुमने विवाह की स्वीकृति क्यों दी?"

"स्वीकृति!" माद्री चकित हो कर बोली, "मुझसे किसने पूछा? मुझसे स्वीकृति माँगी ही किसने?...मैंने स्वयंवर में वरण नहीं किया है उनका। मुझे तो भैया ने सौंप दिया पितृव्य भीष्म को।"

"तुम्हारे भैया को मालूम नहीं था कि सम्राट विवाहित हैं?"

"मालूम होगा।...मैं नहीं जानती...मालूम होगा भी तो क्या। बहुपत्नीत्व तो सारे देश में प्रचलित है।"

"बहुपत्नीत्व तो प्रचलित है," कुन्ती बोली, "किन्तु यह तो पूछना ही चाहिए कि पहली पत्नी के विरुद्ध ऐसा कौन-सा आरोप है, जिसके कारण दूसरा विवाह किया जा रहा है।"

"आप ठीक कह रही हैं दीदी!" माद्री बोली, "पूछना तो चाहिए; किन्तु निश्चित रूप से भैया ने यह सब नहीं पूछा होगा। सम्बन्ध करने की दृष्टि से हस्तिनापुर का राजपरिवार उनके लिए पर्याप्त कुलीन है। संभव है कि उनके मन में कहीं रहा होगा कि भोजराज की पालित पुत्री हस्तिनापुर के सम्राट के लिए पर्याप्त कुलीन नहीं है।"..माद्री अपने प्रवाह में कहती चली गयी। उसने एक बार भी देखने का प्रयत्न नहीं किया कि उसके कथन का कुन्ती पर क्या प्रभाव हुआ है, "मेरे लिए उन्हें उनकी अपेक्षा से अधिक शुल्क दिया गया है; और दीदी! यदि भैया ने स्वेच्छा से यह निर्णय न किया होता, तो उन्हें बाध्य हो कर यही निर्णय करना पड़ता।"

"क्यों?"

"पितृव्य भीष्म के साथ चतुरंगिणी सेना भी थी। वह मात्र शोभा के लिए तो नहीं थी न!"

"ओह!" कुन्ती के मुख से निकला।

माद्री कदाचित अपने प्रश्न के उत्तर की अपेक्षा में कुन्ती की ओर देखती रही, और कुन्ती जैसे अपने भीतर डूबती चली गयी। कुन्ती नहीं जानती कि पाण्डु ने उसके साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया। माद्री भी नहीं जानती।...किन्तु इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि कारण वह नहीं है, जो कुन्ती ने सोचा था। कारण शायद वह भी नहीं है, जो माद्री ने सोचा था। कुलीन राजकुमारियाँ पा कर राजा लोग उनसे विवाह के लिए लालायित हो उठते हैं, किन्तु अकुलीन कुमारियों को अपने अधिकार में पा कर वे उसकी उपेक्षा कर, सेज छोड़ कर भाग नहीं जाते; अन्यथा इतनी अधिक मात्रा में दासी-पुत्रों का जन्म न होता...कुलीनता-अकुलीनता का भाव पाण्डु के मन में है या नहीं, किन्तु माद्री के मन में है।...किन्तु पाण्डु की उपेक्षा का कारण? कारण तो पाण्डु के मन में ही है। वही बतायेगा कि उसने ऐसा क्यों किया, अथवा वह ऐसा क्यों करता है...और माद्री! कुन्ती ने माद्री की कल्पना, दूसरों का अधिकार छीनने वाली एक दुष्ट स्त्री के रूप में की थी; किन्तु वह कुलीन राजकुमारी तो स्वयं ही इतनी दुखी है। उसकी कुलीनता के पास तो अपना ही कोई अधिकार नहीं है, वह दूसरों का अधिकार क्या छीनेगी। पोषिता राजकुमारी कुन्ती ने कम-से-कम आर्य राजकुमारियों के समान स्वयंवर में स्वेच्छा से पाण्डु का वरण किया था, और यह जन्म से कुलीन राजकुमारी माद्री तो एक वस्तु के समान शुल्क ले कर भीष्म को सौंप दी गयी, कि वे उसे किसी को भी प्रदान कर सकते हैं।...उस दुखी स्त्री से क्या विरोध!...वे दोनों ही परिस्थितियों की दुष्टता से पीड़ित हैं, दोनों ही असहाय हैं, दोनों को ही किसी की सहायता चाहिए।...उन दोनों में परस्पर विरोध न हो कर, सहयोग होना चाहिए। वंचित जन यदि परस्पर ही वैर-विरोध रखेंगे, तो उनकी सहायता कौन करेगा। कदाचित परस्पर सहयोग से वे कभी अपना अधिकार प्राप्त कर सकें...

"दीदी! वह ऐसा क्यों कर रहे हैं?" माद्री ने पुन: पूछा, "दासियों ने मुझे बताया, कि वे दिग्विजय के लिए जा रहे हैं।"

"सुनो माद्री!" इस बार कुन्ती का स्वर पर्याप्त स्थिर था, "मैं भी नहीं जानती कि हमें किस अपराध के लिए दण्डित किया जा रहा है। किन्तु अपने स्तर पर मैंने निश्चय किया है कि मैं अपने पति के इस व्यवहार के विरुद्ध गुहार करने पितृव्य अथवा पितामही के पास नहीं जाऊँगी। मैंने तो इसकी चर्चा माता अम्बालिका से भी नहीं की है; और न ही करूँगी। यह सारा व्यवहार पति-पत्नी के बीच की बात है। अत: उसकी चर्चा भी हमारे मध्य ही रहेगी। यदि तुम भी मुझसे सहमत हो, तो तुम भी यही करो। इन बातों की चर्चा किसी से मत करो। किसी से अपने पति की शिकायत मत करो। अवसर आने पर हम उससे ही पूछेंगी, कि इस व्यवहार का क्या अर्थ है। हमारा ऐसा कौन-सा दोष है, जिसके कारण हमें इस प्रकार तिरस्कृत और अपमानित किया जा रहा है!...मुझसे सहमत हो?"

"हाँ दीदी!" माद्री ने अपने अश्रु पोंछे।

"ऐसे नहीं! सोच-समझ कर, अच्छी प्रकार विचार कर कहो।"

"सोच लिया।" माद्री बोली, "मैं आपके साथ हूँ। जैसा आप कहेंगी, मैं वैसा ही करुँगी।"

कुन्ती मुस्कुरायी, "तुम तो बहुत भोली हो सखि! तत्काल सब कुछ मान जाती हो।...और जानती हो, क्या सोचा था मैंने तुम्हारे विषय में?"

"क्या?" माद्री ने पूरी आँखें खोल कर, कुन्ती को देखा।

कुन्ती उन आँखों को देखती रह गयी।

"क्या देख रही हो?" माद्री ने पलके झपकायीं।

"तुम्हें कहीं मेरी ही डीठ न लग जाये बहना!" कुन्ती बोली, "सचमुच बहुत सुन्दर हैं तुम्हारे नयन! वह तो अभागा है, जो इन नयनों की भी उपेक्षा करके चला गया। वह क्रोध का नहीं, दया का पात्र है।"

"तुमने मेरे विषय में क्या सोचा था दीदी?"

"सोचा था, तुम कोई दुष्ट कृत्या हो, जो मेरा सर्वस्व हरण करने आयी हो।"

"और मैंने सोचा था कि मुझसे मेरा पति छीनने वाली तुम हो। जब वे अर्द्धरात्रि में ही मेरी शैया से उठ कर चले गये, तो मैंने सोचा कि शायद वह सीधे तुम्हारे पास ही आये हैं। यह तो जब मुझे मालूम हुआ कि वह दिग्विजय के लिए जा रहे हैं और वे तुम्हारे कक्ष में भी नहीं आते, तब मैंने तुमसे मिलने का निर्णय लिया।"

"हम एक-दूसरी के विरुद्ध नहीं, एक-दूसरी के साथ हैं।" कुन्ती बोली, "जीवन में जो कुछ मिलेगा–दोनों को मिलेगा। एक-दूसरी को वंचित कर, हमें कुछ भी प्राप्त नहीं करना है।"

"ठीक है दीदी!" माद्री जैसे पूर्णकाम हो कर, कुन्ती के गले लग गयी।

अम्बालिका के व्यवहार ने भीष्म को बहुत कुछ सोचने के लिए बाध्य कर दिया था।...उन्हें फिर से एक बार लगने लगा था कि उन्हें अपने कृत्यों की निर्मम समीक्षा की आवश्यकता है। जब तक अम्बालिका काशिराज की पुत्री थी; और भीष्म को हस्तिनापुर के सिंहासन तथा कुरु-वंश को समाप्त होने से बचाने के लिए उसकी आवश्यकता थी, तब तक वे कठोर भी हो सकते थे और क्रूर भी। अम्बालिका की भावनाओं को अनदेखा भी कर सकते थे।...किन्तु अब, वह भी कुरु-वंश का उतना ही महत्त्वपूर्ण अंग है, जितने कि वह स्वयं हैं। शायद भीष्म से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है वह–वह राजमाता है।

वैसे अम्बालिका का चिन्तन ठीक ही है। भीष्म भी तो कुछ ऐसा ही सोचते थे; यदि एक वंश निर्वंश हो जायेगा, तो सृष्टि की कौन-सी हानि हो जायेगी। कितनी ही छोटी-बड़ी नदियाँ आ कर गंगा में मिल जाती हैं, तो प्रकृति का कौन-सा अनिष्ट हो जाता है। स्वयं गंगा जा कर सरित-पति में विलीन हो जाती है...तो क्या अनर्थ हो जाता है।...क्यों माता सत्यवती उत्तराधिकार के प्रश्न को ले कर इतनी हाय-हाय मचाये रहती हैं...जाने उनके मन में कौन-सी आशंकाएँ हैं, जो उन्हें शान्ति से बैठने नहीं देतीं, और वे भीष्म को निष्क्रिय नहीं रहने देतीं। निष्क्रिय तो शायद भीष्म स्वयं भी नहीं रहते–वे उन्हें निष्काम भी नहीं रहने देतीं। कभी-कभी भीष्म को लगने लगता है कि पिता जो उन्हें कर्म-बन्धन का शाप दे गये थे, वह न केवल उन्हें बाँधता गया है, वरन अनेक लोगों की परस्पर विरोधी इच्छाओं की क्रीड़ा का कन्दुक बनाता रहा है। भीष्म अपने-आप में स्वयं होते, केवल अपनी इच्छाओं, अपेक्षाओं और चिन्तन को ढोते, तो जैसे भी होते, एक व्यक्ति तो होते। एक प्रकार के व्यक्ति तो होते। किन्तु अब तो वे स्वयं एक व्यक्ति ही नहीं हैं। वचनों और संकल्पों में बँधे, अनेक लोगों के चिन्तन और अपेक्षाओं के बन्धनों से कसे...जैसे उनके अपने भीतर ही अनेक विरोधी व्यक्ति साँस ले रहे हैं...वे न कोई निर्द्वन्द्व निर्णय कर पाते हैं, न कोई निष्कम्प कर्म! चिन्तन का जंजाल उन्हें लगातार अनेक विरोधी दिशाओं में खींचता रहता है।...कहीं इन सबका परिणाम यह तो नहीं होने जा रहा कि वे किसी की भी अपेक्षाओं पर पूरे न उतर पायें, किसी एक निर्द्वन्द्व न्याय की प्रतिष्ठा न कर पायें। क्या उनका सारा जीवन द्वन्द्वों, विरोधों, अनिर्णयों का एक उलझा हुआ जाल बन कर रह जायेगा...

सामने कौरवों का स्कन्धावार था।

उनका चिन्तन रुक गया। उन्हें याद हो आया: वे पाण्डु से मिलने आये थे। सम्भवत: यह उनका अन्तिम प्रयत्न था–शायद पाण्डु दिग्विजय का विचार कुछ दिनों के लिए छोड़ दे। माता सत्यवती भी तो यही चाहती थीं कि वह दो-चार वर्ष सुख से अपनी पत्नियों के साथ रह ले। माता सत्यवती प्रपौत्र का मुख देख लें, सिंहासन के उत्तराधिकारी का युवराज्याभिषेक हो ले; उसके पश्चात पाण्डु एक बार नहीं, दस बार दिग्विजय हेतु जाये।

भीष्म का रथ बिना किसी रोक-टोक के सम्राट के मण्डप के सम्मुख आ कर रुका।

पाण्डु ने स्वयं आ कर उनका स्वागत किया, "पधारें तात!"

भीष्म कुछ चकित थे। स्कन्धावार और पाण्डु को देख कर कहीं यह नहीं लगता था कि यह शान्ति-काल है, और कुरु सम्राट अपनी राजधानी के स्कन्धावार में हैं। पाण्डु तो जैसे युद्ध-क्षेत्र के मध्य में खड़ा था, और युद्ध आरम्भ हो चुका था।

"तुम तो वत्स! युद्ध के लिए पूर्णत: सन्नद्ध दिखायी देते हो।"

पाण्डु के आनन पर पराक्रम का दर्प चमका, "तात! मुझे लगता है कि इस भरत-खण्ड के राजा यह समझने लगे हैं कि कुरु-वंश में अब कोई योद्धा नहीं रहा। जाने कैसे उन्होंने मान लिया है कि आप वृद्ध हैं, और युद्ध से निरस्त हो चुके हैं। भैया धृतराष्ट्र जन्मान्ध हैं, और मुझे उन्होंने रोगी, भीरु, कायर...जाने क्या-क्या मान लिया है। मैं उन्हें दिखा देना चाहता हूँ कि कुरु-सम्राटों का सामर्थ्य तनिक भी कम नहीं हुआ है। हस्तिनापुर की सेना आज भी उतनी ही सक्षम और समर्थ है..."

भीष्म को लगा, वे मन-ही-मन मुस्कुरा रहे हैं।...पाण्डु जो कुछ कह रहा है, कहीं वे सब उसके अपने मन के ही तो भ्रम नहीं हैं।

"वत्स!" भीष्म बहुत शान्त स्वर में बोले, "हमारी सीमाओं पर किसी ने आक्रमण किया है? कहीं किसी अन्य राजा के सैनिक हमारी सीमाओं के भीतर घुस आये हैं क्या?"

"उनका इतना साहस ही कैसे हो सकता है?" पाण्डु बोला, "यदि किसी ने ऐसा किया होता, तो मैं अपने स्कन्धावार में बैठा होता क्या!"

"तुम्हें किसी ज्योतिषि ने बताया है कि दिग्विजय के लिए यही एकमात्र शुभ मुहूर्त है?"

"नहीं तो।" पाण्डु कुछ हतप्रभ हुआ, "मैंने तो किसी ज्योतिषाचार्य से इस विषय में परामर्श ही नहीं किया है।"

"पुत्र! क्या तुम्हें मालूम नहीं कि अपनी निश्चित योजना के बिना राजा केवल तब लड़ता है, जब उस पर शत्रु आक्रमण कर देता है। उस समय उसकी निष्क्रियता घातक होती है, अत: उसे त्वरित गति से समर में उतरना पड़ता है।" भीष्म ने रुक कर उसे देखा, "और यदि राजा अपनी योजना के अनुसार दिग्विजय के लिए निकलता है, तो अपने अमात्यों, महारथियों, सभा-प्रमुखों, ज्योतिषाचार्यों, कुल-वृद्धों तथा कोषाध्यक्ष–सबसे परामर्श कर, पूरी तैयारी के पश्चात ही वह दिग्विजय के लिए बाहर निकलता है। तुमने इनमें से कुछ भी किया है क्या पुत्र?"

"नहीं तात!" पाण्डु ने स्पष्ट स्वीकार किया।

"क्यों?" भीष्म का स्वर अब भी शान्त था।

पाण्डु कुछ देर तक मौन बैठा रहा। फिर बोला, "मैंने उसकी आवश्यकता नहीं समझी।" उसने रुक कर भीष्म के चेहरे पर से उनकी प्रतिक्रिया को पढ़ा और बोला, "कृपया यह न समझें कि मेरे मन में किसी की उपेक्षा है, अथवा मैं किसी की अवमानना करना चाहता हूँ।...बात केवल इतनी-सी है कि मैं यह समझता हूँ कि यदि मैं सम्राट हूँ तो मुझे सम्राटों के समान ही आत्म-निर्भर होना चाहिए। यदि मुझे एक सैनिक अभियान के लिए इतने लोगों का परामर्श ही नहीं, अनुमति भी लेनी है, तो मैं कैसा सम्राट हूँ।" उसके चेहरे पर दर्प दमका, "मैं चाहता हूँ कि जिधर से मैं निकल जाऊँ, लोग जान जायें कि इधर से कुरु सम्राट पाण्डु का रथ गया है।"

"तुम्हारी मन:स्थिति मुझे अत्यन्त उग्र लग रही है।"

"आपने ठीक पहचाना पितृव्य।"

"पुत्र! यह वीरता का नहीं, हिंस्रता का लक्षण है।"

पाण्डु ने जैसे चकित हो कर भीष्म की ओर देखा, "आपने कैसे जाना तात!" और फिर वह आत्मस्वीकृति में कहता चला गया, "मैं आज तक किसी को बता नहीं पाया। निश्चय नहीं कर पाया कि किसको बताऊँ। पर मेरा मन हिंसा के भावों से आप्लावित हो रहा है। तात! मैं हिंस्र पशु हो रहा हूँ। मेरी इच्छा होती है कि जो सामने पड़े, उसे फाड़ खाऊँ। जाने क्यों ध्वंस का राग इतना गूँजता है मेरे मन में। इसलिए दिग्विजय के लिए जा रहा हूँ। किसी को शत्रु घोषित कर, उसे ललकार कर, उस पर अपनी हिंसा उँडेल सकूँगा। यहाँ मेरे हाथों कोई अनर्थ हो गया, तो किस-किसको स्पष्टीकरण देता फिरूँगा।..."

आत्मस्वीकृति के पश्चात पाण्डु जैसे असहाय-सा हो गया।

"तुम जानते हो पुत्र! कि स्वयं को समर्थ पा कर मनुष्य में पौरुष जागता है, और असहाय पा कर हिंसा!"

"मैं यह सब कुछ नहीं समझता आर्य! मेरे भीतर इस समय विध्वंस का ताण्डव हो रहा है। इससे पहले कि मेरा मस्तक अपने ही आवेश से फट जाये, मैं यहाँ से भाग कर, युद्ध-क्षेत्र में चला जाना चाहता हूँ।"

भीष्म चुपचाप बैठे सोचते रहे: इस असन्तुलित मन:स्थिति में पाण्डु का युद्ध-क्षेत्र में जाना, उचित है क्या? यह कोई रोग है क्या? कहीं चित्रांगद भी तो इसी रोग से ग्रस्त नहीं था? यदि कुछ ऐसा ही है, तो पाण्डु का भी अन्त कहीं वही न हो जो चित्रांगद का हुआ।...और यदि वह पाण्डु को बलात् रोक लेते हैं–किसी भी प्रकार उसे सहमत कर, समझा कर, आदेश दे कर, उस पर दबाव डाल कर...तो कहीं सचमुच ही उसका मस्तक न फट जाये।...वे भली प्रकार जानते हैं कि पाण्डु बहुत स्वस्थ नहीं है। शरीर से चाहे वह नीरोग हो भी, किन्तु उसका स्नायु-तन्त्र बहुत दुर्बल है। उसकी सहन-क्षमता बहुत कम है। आवेश उसे बहुत जल्दी ग्रस लेता है, किन्तु उस आवेश की तीव्रता उसका स्नायु-तन्त्र सह नहीं पाता और भय बना रहता है कि कहीं आवेश का दमन, विस्फोट की स्थिति ही उत्पन्न न कर दे। उसके आवेश को बहिर्गमन का अवसर तो देना ही होगा–चाहे उसमें कुछ जोखिम ही हो...

"किधर जाओगे वत्स?" भीष्म बोले, "मेरा तात्पर्य है, दिग्विजय के लिए किस दिशा में जाओगे?"

"जरासंध के राज्य के दक्षिण में मगध और उत्तर में विदेह की ओर!" पाण्डु बोला, "हमारे साथ उनका व्यवहार बहुत मैत्रीपूर्ण नहीं है, या कहिये कि उनके साथ हमारा असम्पर्क है।"

भीष्म का मन हुआ, कहें, 'कि यदि उन्हें नीचा ही दिखाना है, यदि उनसे कर ही प्राप्त करना है, तो वे सेना ले कर चले जाते हैं। पाण्डु क्यों अपने प्राणों को संकट में डालता है?'...किन्तु कहा नहीं। अनावश्यक हिंसा के वे पक्षपाती

नहीं थे; और फिर पाण्डु इस समय हिंसा के उन्माद में ग्रस्त था। भीष्म के युद्ध करने से पाण्डु का उन्माद कैसे उतरेगा।...वह अपने इस उन्माद में भी समझदारी की बात कर रहा था। वह मगध की ओर जा रहा था, किन्तु जरासंध से भिड़ने की उसकी कोई आकांक्षा नहीं थी...और वह विदेह की ओर जा रहा था...यदि कहीं वह पांचाल और मत्स्य की ओर चल पड़ता, तो अपने प्राणों से हाथ धो बैठता।

"एक बात और पूछूँगा वत्स!" भीष्म बोले, "अन्यथा न मानना।"

"पूछें तात!"

"क्या तुम्हें नहीं लगता कि दो-दो विवाह कर, अपनी नवोढ़ाओं के साथ थोड़ा-सा भी समय बिताये बिना इस प्रकार अनिश्चित काल के लिए दिग्विजय हेतु निकल जाना, कुछ थोड़ा-सा अस्वाभाविक है।" भीष्म बोले, "मेरा तात्पर्य है कि नारी का सामीप्य किसी पुरुष के मन में वैराग्य जगाता है, किसी के मन में भक्ति जगाता है, किसी के मन में आसक्ति जगाता है...।"

"जाने क्यों मेरे मन में वह हिंसा जगाता है।" पाण्डु ने भीष्म की बात बीच में ही काट दी, "मुझे लगता है कि मैं अधिक देर उनके संग रहा, तो मैं अपना नियन्त्रण खो बैठूँगा; और कोई-न-कोई अनर्थ हो जायेगा।..."

अम्बालिका बैठ गयी तो कुन्ती ने जैसे प्रश्नवाचक दृष्टि से अपनी सास को देखा। कुन्ती को स्वयं अपने ऊपर आश्चर्य हुआ कि उसका व्यवहार ऐसा क्यों है। एक सास का अपनी पुत्रवधू से मिलने आना कोई असामान्य बात तो थी नहीं। फिर...?...और साथ-ही-साथ कुन्ती ने अनुभव किया कि उसके मन में आश्चर्य के साथ-साथ एक अजाना-सा भय भी समाता जा रहा है।...

"कुन्ती!" अम्बालिका बोली, "कैसी हो बहू?"

कुन्ती का मन हुआ कि शिष्टाचारवश ही कोई ऐसा वाक्य कह दे, जिसका अर्थ हो कि ठीक हूँ, या जिसका कोई अर्थ न हो।...पर उससे वह एक वाक्य भी न बोला गया। एक असहाय-सी मुस्कान उसके अधरों पर आ कर जैसे ठिठक गयी।

"अपने पति के युद्धों और विजयों के समाचार पा कर कैसा लगता है कुन्ती?" अम्बालिका ने फिर पूछा।

कुन्ती इस बार भी समझ नहीं पायी कि क्या उत्तर दे। क्या कह दे–कि जिस पुरुष के प्रति उसके मन में अभी पत्नी-भाव ही उत्पन्न नहीं हुआ है, जिसकी विजय और पराजय का समाचार उसके मन में कोई स्पन्दन ही उत्पन्न नहीं कर पाता–उसके युद्धों और विजयों के समाचार का वह क्या करे। उसे तो यह समाचार उतना भी नहीं छूते, जितना नगर में किसी नये व्यापारी के आगमन का समाचार।...उसे आज तक लगा ही नहीं कि उसका एक पति है, जो इस समय उससे दूर है। वह युद्ध कर रहा है। युद्ध में वह जीत रहा है।...और युद्ध में वह पराजित भी हो सकता है। शत्रु के हाथों वीरगति भी पा सकता है।...ये सारे समाचार, प्रश्न, समस्याएँ, पुलक, आशंकाएँ...उसके लिए कुछ नहीं हैं। कोई अर्थ नहीं रखते उसके लिए।...

उसके मन में जो प्रश्न हैं, वे कुछ और हैं। वह कभी स्वयं अपने आपसे पूछती है, और कभी अपने विधाता से। प्रश्नों की यह शृंखला टूटती ही नहीं। अब तो जैसे वह न प्रश्नों से खीझती है, न उनके उत्तरों की अपेक्षा करती है। कभी-कभी जैसे वह अत्यन्त तटस्थ भाव से इन प्रश्नों पर मुस्कुराने लगती है...

क्या देखा था उसने पाण्डु में? क्या जानती थी वह पाण्डु के विषय में? सीधे जा कर उसके गले में वरमाला डाल दी, जैसे कोई विक्षिप्त व्यक्ति अपनी इच्छा से चलता हुआ कारागार में प्रवेश कर जाये और रक्षक से कहे कि अब तुम कपाट बन्द कर दो, अर्गला लगा दो, चाहो तो ताला भी लगा दो।...यही तो किया था उसने। स्वेच्छा से आ कर हस्तिनापुर के इस राजप्रासाद रूपी कारागार में बन्दिनी हो गयी थी।...और किसी से पूछ भी नहीं सकती थी कि वह क्यों बन्दी है? उसका अपराध क्या है?

परेशान हो कर वह स्वयं अपने आप से लड़ने लगती थी...उसके जनक शूरसेन ने एक बार राजा न होने की हीन भावना से, उसे राजा कुन्तिभोज को समर्पित कर दिया था। उनके मन में शायद कहीं हो कि वह राजा नहीं हो सकते, किन्तु उनकी पुत्री राजकुमारी हो जाये।...क्या उसी इतिहास का पुनरावर्तन नहीं हुआ था, कुन्ती के जीवन में? इतिहास-चक्र इतनी जल्दी पूरा-का-पूरा घूम गया था? उसने सम्राट को देखा तो जयमाला उसके कण्ठ में डाल दी।...एक साधारण राजा की पालित पुत्री सम्राट के महत्त्व के सम्मुख अपने पाँव स्थिर न रख सकी।...

"तुमने सुना होगा," कुन्ती से कोई उत्तर न पा कर अम्बालिका बोली, "पाण्डु ने अनेक राजाओं को पराजित किया है। पान्चालों की भी कुछ क्षति की है उसने। दक्षिण मगध के एक राजा का तो वध ही कर दिया है। विदेहों को भी जीत लिया है उसने।"

"हाँ! सुनती रहती हूँ।" चाह कर भी कुन्ती अपने चेहरे पर प्रसन्नता का भाव नहीं ला सकी।

"तुम्हें इससे कोई प्रसन्नता नहीं होती?"

कुन्ती को लगा, उसकी चोरी पकड़ी गयी थी। उसका हृदय भय के मारे काँप उठा। किन्तु दूसरे ही क्षण उसके भीतर का सुरक्षा-भाव सशस्त्र उठ खड़ा हुआ: भयभीत होने की क्या बात है? पाण्डु को उसके साथ रह कर सुख नहीं मिला...और इस कारण उसे कोई अपराधी नहीं मानता...

"नहीं! ऐसी तो कोई बात नहीं।" प्रयत्न करने पर भी वह नहीं कह सकी कि उसे बहुत प्रसन्नता होती है

अम्बालिका ने उसे एक परीक्षक की दृष्टि से देखा और फिर उसकी आँखों में स्नेह का भाव फूट पड़ा, "तुम मुझसे डरो नहीं पुत्री! और न ही मुझे पराया समझो। मैं पाण्डु की माँ अवश्य हूँ, पर तुम मुझे सास न मान, अपनी माँ

ही समझो।" अम्बालिका ने रुक कर उसकी प्रतिक्रिया जाननी चाही, "मैं तो एक प्रकार से तुमसे क्षमा माँगने आयी थी, और देखने आयी थी कि तुम्हारी पीड़ा तुम्हारे लिए असह्य तो नहीं है...।"

कुछ उत्तर देना तो दूर, इस बार तो कुन्ती समझ ही नहीं पायी कि अम्बालिका क्या कह रही है...

"किस बात की क्षमा राजमाता!" अनायास ही कुन्ती के मुख से निकल गया।

"राजमाता नहीं, केवल माता कहो पुत्री!"

कुन्ती का मन जैसे द्रवित हो उठा। ऐसी लालसा से तो उसकी अपनी माता ने भी कभी आग्रह नहीं किया था।

"किस बात के लिए क्षमा, माता!"

"अपने पुत्र के दुर्व्यवहार के लिए बेटी!" अम्बालिका बोली, "वह तुम्हें और माद्री को ब्याह कर क्या लाया, बन्दिनी बना कर छोड़ गया। अपनी नवोढ़ाओं के साथ कोई इस प्रकार का व्यवहार करता है।" और आगे कुछ कहने के लिए जैसे, अम्बालिका ने ऊर्जा संचित की, "मैं तो यह जानने आयी थी दुहिते! कि तुम लोगों में कोई मन-मुटाव हुआ है, अथवा मात्र इतिहास अपने-आपको दुहरा रहा है...।"

कुन्ती ने इस बार सहज विश्वास से अम्बालिका को देखा और उसके मन ने अपने-आपसे पूछा: क्या सचमुच इस स्त्री का मातृत्व इतना उदार है कि यह पुत्र के साथ पुत्रवधू को भी उसकी परिधि में ले ले?

"हममें मन-मुटाव तो कोई नहीं हुआ...।"

"क्या वह तुम्हारे निकट आया?"

"निकट आते-आते दूर चले गये।"

अम्बालिका चुपचाप कुन्ती को देखती रही। फिर जैसे अपने-आपसे ही बोली, "मैने सुना है कि वह पराजित राजाओं से कर के रूप में उपलब्ध अपार धन-सम्पत्ति अपने साथ ला रहा है: गोधन, अश्वधन, हस्तिधन, रत्न, मणियाँ, मोती, मूँगे, स्वर्ण, रजत...। वह कुरु-वंश को लक्ष्मी से आकण्ठ पूरित करेगा। माता सत्यवती हर्ष से फूली न समायेंगी। पितृव्य भीष्म उस पर गर्व करेंगे। प्रजाजन उसका जय-जयकार करेंगे।...किन्तु...किन्तु..." लगा जैसे आगे कहने के लिए वह साहस नहीं बटोर पर रही हैं, "किन्तु पुत्री। तुम दोनों–उसकी रानियाँ–तुम और माद्री–दोनों ही कंगाल...रहोगी..." अम्बालिका की आँखों में जैसे विक्षिप्ति प्रकट हुई, "कुरुकुल की रानियों का भाग्य यही है। हस्तिनापुर में इतिहास इसी प्रकार अपने-आपको दुहराता है।"

कुन्ती के मन में अपनी सास के प्रति सहानुभूति भी जागी और एक भय भी अंकुरित हुआ–क्या हो गया है राजमाता को? कैसी बहकी-बहकी बातें कर रही हैं।...पर न तो वह आगे बढ़ कर अपनी सास को स्नेह से अपनी बाँहों में समेट पायी और न भयभीत हो कर पीछे ही हट सकी। वह अपने स्थान पर कीलित-सी खड़ी रह गयी...

"मैं तो यह कहने आयी थी बेटी!" अम्बालिका ने स्वयं को सँभाल लिया था, "कि यदि कभी दुख असह्य हो जाये, तो मेरे पास चली आना। मेरे पास तुम्हें देने को कुछ नहीं है। तुम्हारा सुख भी शायद न बाँट सकूँ। किन्तु दुख बाँटने की मुझमें अपार क्षमता है...।"

अम्बालिका उठ खड़ी हुई। उसने अपनी आँखें पोंछीं और कक्ष से बाहर निकल गयी। उसने कुन्ती को इतना समय भी नहीं दिया कि वह उसके चरण-स्पर्श कर सकती।

अम्बालिका चली गयी और कुन्ती स्तम्भित-सी बैठी रही। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि राजमाता कुछ पूछने आयी थीं या बताने! वे कुन्ती का दुख बाँटने आयी थीं, या अपना दुख जताने...

पर इतना तो कुन्ती समझ ही गयी थी कि उसकी सास, राजमाता हो कर भी सुखी नहीं हैं। भौतिक सुखों का अभाव तो उन्हें नहीं ही होगा, किन्तु भावनात्मक रूप में शायद करुणा ही उनमें स्थायित्व ग्रहण कर चुकी है...कुन्ती को अपनी सास का दुख, कहीं अपने दुख से भी बड़ा लग रहा था...या फिर कुन्ती अपनी सास के समान कोमल नहीं थी। यादवों की पुत्री थी कुन्ती! कुन्तिभोज के कठोर अनुशासन में पली। शरीर से भी कोई ऐसी दुर्बल नहीं थी। कुन्ती कभी इतनी निरीह नहीं होगी, इतनी दीन नहीं होगी। दुख, असुविधाएँ, अभाव, विपरीत परिस्थितियाँ...इन सबके लिए तैयार है कुन्ती? उसका भाई वसुदेव और भाभी देवकी...वे दोनों आज भी कंस के कारावास में हैं निगड़बद्ध!..किसी मित्र अथवा सम्बन्धी राजा या जन-प्रमुख का साहस नहीं है कि वह कंस के विरुद्ध एक शब्द भी कहे...और फिर एक के पश्चात एक सन्तान का वध...जीवन बहुत कठोर है कुन्ती!...

पर जीवन व्यतीत करने का कोई तो व्याज चाहिए...पति नहीं तो पुत्र!...एक सन्तान के जन्म के पश्चात यदि पाण्डु ने उसके साथ ऐसा व्यवहार किया होता, तो शायद कुन्ती के लिए जीवन व्यतीत करना इतना कठिन न होता।

वह उसी के बहाने अपना जीवन व्यतीत कर लेती।

और सहसा उसके ध्यान में एक नवजात बालक का बिम्ब उभरा। कैसा गोल-सा आनन था उसका, और वर्ण कैसा अनुरागम था, जैसे स्वयं बाल सूर्य हो, अरुण। स्वयं सूर्य न हो, सूर्यपुत्र हो...पिता कुन्तिभोज ने उसे धात्री को सौंप दिया था।...वह यहीं है...हस्तिनापुर में...किसी सूत अधिरथ के घर...उसका मन अपनी कल्पना में हस्तिनापुर की एक-एक वीथि में उस अधिरथ को खोजता फिरता है; किन्तु उसके मुख से यह नाम प्रस्फुटित ही नहीं होता।...किसी ने पूछ लिया कि वह अधिरथ को क्यों खोज रही है?...तो क्या उत्तर देगी वह!...कहीं उपलब्धि के लोभ में उसे वंचना ही हाथ लगी तो?

जाने क्या था कुन्ती के भाग्य में!

पाण्डु हस्तिनापुर लौट आया।

कुन्ती ने सुना कि सम्राट के हस्तिनापुर लौटने पर उनका अत्यन्त भव्य स्वागत हुआ है। उनके साथ अपार धन आया है; और वे पराजित राजाओं के सैनिकों का भी एक विशाल समूह अपने साथ लाये हैं। अब कौरवों की सेना और भी सशक्त और समर्थ हो गयी है।...नगर में अनेक उत्सव हो रहे थे। सम्राट पितृव्य भीष्म से मिलने गये। माता सत्यवती से मिलने गये। अपनी माता से मिलने गये। अपने भाइयों–धृतराष्ट्र और विदुर से भी मिलने गये। सबको उन्होंने अपार धन और अमित प्रसन्नता दी।...किन्तु न उन्होंने कुन्ती को कहीं बुलाया और न कुन्ती कहीं गयी।...जाने कुन्ती को क्या हो गया था। उसके मन में एक बार भी नहीं आया कि इतनी लम्बी अवधि के पश्चात लौट कर आये हुए अपने पति को कहीं किसी गवाक्ष से देख तो ले; कहीं अपनी एक झलक भर उसे दिखा तो दे। लगता था, जैसे वह संवेदन-शून्य हो गयी है। उसके साथ जैसा भी व्यवहार किया गया, उससे उसको कोई विरोध नहीं है, और भविष्य में जैसा भी व्यवहार किया जायेगा, उसका भी कोई प्रतिवाद वह नहीं करेगी। कुन्ती किसी भी स्थिति में जी सकती है; वह किसी भी स्थिति में जी लेगी। जो अपने माता-पिता से दूर, एक स्नेहशील किन्तु कठोर अनुशासनप्रिय व्यक्ति के घर में, उसकी प्रत्येक आज्ञा मान कर भी उल्लसित मन से रही, जिसने दुर्वासा जैसे औघड़ और विक्षिप्त ऋषि को अपनी प्रत्येक इच्छा का दमन करके भी प्रसन्न रखा, जिसने कुन्तिभोज की मर्यादा के लिए अपना समस्त वात्सल्य दान कर दिया और कष्ट की अभिव्यक्ति के रूप में एक लम्बा नि:श्वास तक नहीं छोड़ा, वह कुन्ती पाण्डु-पत्नी के रूप में भी जी लेगी–उपेक्षिता पत्नी, परित्यक्ता पत्नी, अपमानिता पत्नी...शायद विधाता ने कुन्ती को कुछ ऐसे ही परीक्षणों के लिए जन्म दिया है। वह सरिता की सृष्टि करता है, जो स्वेच्छा से उन्मुक्त रूप में कहीं भी उल्लासपूर्वक बहती रहे, तो उन शिलाओं का भी निर्माण करता है; जो उस धारा के दबाव में अनवरत घिसती रहें, पिसती रहें और बालुकाकण बन कर भी लगातार धारा की इच्छा के अनुकूल इधर से उधर भटकती रहें...विधाता की मानव सृष्टि में कदाचित उस शिला का कार्य कुन्ती को ही सौंपा गया है...

और राजमाता अम्बालिका भी तो जाते-जाते यही कह गयी थीं कि उसका पति कितनी ही विजयों से अलंकृत क्यों न हो, कितना ही धन जीत कर क्यों न लाये, वह सदा कंगाल ही रहेगी...। वे अधिक जानती हैं, अपने पुत्र को। न जानती होतीं, तो ऐसी बात कहने के लिए, क्यों आतीं! कितनी दुखी थी वे...अपने लिए? या कुन्ती के लिए?...

ऐसी बन्ध्या मन:स्थिति में भी कुन्ती का ध्यान माद्री की ओर गया: क्या पाण्डु उसके कक्ष में गये हैं? वह कुन्ती से अधिक कमनीय है; शुल्क चुका कर लायी गयी है; और वह मानती है कि वह कुलीन भी है–क्या इन बातों का प्रभाव पाण्डु पर भी है?–

पर यह प्रश्न उसने किसी से पूछा नहीं...और न ही दासियों, परिचारिकाओं तथा प्रतिहारिणियों के वार्तालाप में कहीं माद्री का नाम आया...

संध्या के अन्तिम चरण में, जब अभी पूर्ण अन्धकार नहीं हुआ था, कुछ दासियाँ दौड़ती हुई आयीं, "महारानी! महाराज पधार रहे हैं।"

कुन्ती को विश्वास नहीं हुआ! क्या पाण्डु के सारे कार्य समाप्त हो गये? क्या उसे कुन्ती का स्मरण हो आया? क्या सचमुच उसे कुन्ती से कोई लगाव है? वह उससे प्रेम करता है? अपनी दिग्विजय में भी कुन्ती का ध्यान उसे आया होगा?...

कुन्ती का मन कहीं द्रवित हो गया।...उसे लगा, इस सूचना मात्र से ही, पाण्डु के विरुद्ध उसके मन में जन्मा आक्रोश, विरोध, उपालम्भ, परिवाद...सब कुछ घुल गया है। वह कदाचित जिज्ञासावश भी उससे पूछना नहीं चाहती थी, कि उसने अब तक कुन्ती से ऐसा व्यवहार क्यों किया?...होगी उसकी कोई बाध्यता...कौन बाध्य नहीं है? कुन्ती ही क्या स्वतन्त्र रही है अब तक? अपने मन का कर पायी है? या जो कुछ किया है उसने, वह सब उसकी अपनी इच्छा थी?...

एक बार पाण्डु आ जाये। कुन्ती उसे अपनी खुली बाँहों में स्वीकार करेगी। कुन्ती के पास बहुत उदार हृदय है। वह बहुत कुछ क्षमा कर, नये सिरे से सम्बन्धों को आरम्भ कर सकती है...

दासियों ने ठीक सूचना दी थी। पाण्डु कुन्ती के प्रासाद में आ रहा था। जैसे-जैसे वह निकट आता जा रहा था,

दास-दासियों का कोलाहल बढ़ता जा रहा था। उनका सम्राट बहुत दिनों के पश्चात राजधानी में लौटा था। वह विजयी हो कर आया था। धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्य ही नहीं, नया क्षात्र-तेज भी अर्जित करके आया था।

अन्ततः पाण्डु ने कुन्ती के कक्ष में प्रवेश किया।

कुन्ती उसके स्वागत में उठ कर खड़ी हो गयी; किन्तु उसकी समझ में तब भी नहीं आया कि उसे शिष्टाचारवश, देश के राजा और अपने पति की वन्दना और अभ्यर्थना करनी थी, या पत्नी के रूप में, प्रेम, काम, आदर, सम्मान तथा आत्मीयता के साथ सहज रूप से अपनी वाणी, भंगिमा, और स्पर्श से अपना हर्ष प्रकट करना चाहिए था; या फिर विरहिणी प्रिया के रूप में परदेस से लौटे कान्त के कण्ठ में झूल जाना चाहिए था।...वह कुछ समझ नहीं पा रही थी। आज तक उसे न किसी ने बताया था, और न उसका अपना मन तय कर पाया था, कि इस घर में उसका स्थान क्या है? उसका अधिकार क्या है?

"कैसी हो कुन्ती?"

पाण्डु की दृष्टि झुकी हुई नहीं थी। पहली रात कुन्ती को छोड़ जाने का अपराध-बोध भी नहीं था...लज्जा, ग्लानि, पश्चात्ताप, संकोच...कुछ नहीं था उसकी आँखों में। उसकी आँखों से अखण्ड आत्मविश्वास झाँक रहा था; और आनन पर तेज और अधिकार दिपदिपा रहे थे..."

कुन्ती को लगा; पाण्डु सचमुच सुदर्शन है। साँचे में ढला-सा उसका पुष्ट शरीर, तेजस्वी आँखें, आकर्षक मुखमुद्रा, पीत होने तक की सीमा का गौर-वर्ण; और राजसी अधिकार तथा वैभव का झिलमिलाता प्रकाश...कुल मिला कर किसी भी युवती के लिए पाण्डु आकर्षक युवक था...

"पधारिए!" कुन्ती इतना ही कह पायी।

पाण्डु सहज रूप से बैठ गया, "बहुत दिनों के पश्चात लौटा हूँ न हस्तिनापुर में। सब कुछ बड़ा अच्छा और आकर्षक लग रहा है। नये-नये क्षेत्रों, देशों और प्रदेशों में घूमने का अपना सुख तो होता है, किन्तु अपने देश जैसा आकर्षण कहीं नहीं हो सकता।..."

"मैं आपके भोजन की व्यवस्था करूँ?" कुन्ती को इन बातों में कोई रुचि नहीं थी। भूगोल की जिज्ञासाएँ नहीं थीं, उसके मन में। न वह देश-विदेश के यात्रा-विवरण ही सुनना चाहती थी। उसका मन तो जैसे अपना और पाण्डु का सम्बन्ध स्थिर करने के लिए तड़प रहा था। पाण्डु, उसके सामने अपना मन खोल कर रख दे। क्या सोचता है वह उसके विषय में? क्या अपेक्षाएँ हैं उसकी?...

"हाँ! भोजन यहीं करूँगा। तुम्हारे साथ!"

कुन्ती के ताप पर जैसे किसी ने चन्दन का लेप कर दिया। उसके इतने दिनों की प्रतीक्षा सार्थक हुई थी...

दासी को कुछ आदेश दे कर कुन्ती ने स्वयं अपने हाथों से चौकी पाण्डु के मंच के सम्मुख रखी। और एक छोटा मंच ले कर वह पाण्डु के सम्मुख बैठ गयी।

"कभी मुझे स्मरण कर आपका मन उदास हुआ? कभी मुझसे मिलने की इच्छा हुई या...?" कुन्ती की आँखों में एक चमक कौंध गयी।

"युद्ध में किसे अवकाश होता है, इन बातों का।" पाण्डु जैसे अपने युद्धावेश में उठ खड़ा हुआ, "कोई एक छोटा-मोटा युद्ध नहीं लड़ा है मैंने। युद्ध पर युद्ध! दिग्विजय इसी का नाम है। सैनिक लड़ते हैं, विश्राम करते हैं, थकते हैं, घायल अथवा अस्वस्थ होते हैं, किन्तु राजा केवल लड़ता-ही-लड़ता है। न वह थक सकता है न अस्वस्थ हो सकता है। एक बार राजा शिथिल पड़ जाये, तो सैनिक तो युद्ध करना ही नहीं चाहते।..." उसने रुक कर कुन्ती को देखा, जैसे अपनी बात और भी प्रभावशाली ढंग से कहना चाहता हो, "मैंने इन सारे राजाओं को दिखा दिया है कि क्षत्रिय किसे कहते हैं, और युद्ध क्या होता है। ये लोग तो समझते हैं कि सिर पर किरीट रख लेने और कटि में खड्ग बाँध लेने से ही कोई राजा हो जाता है।...राजा बाद में होता है, योद्धा पहले होता है। तुम समझ सकती हो कि भैया धृतराष्ट्र को राजा क्यों नहीं बनाया गया।..."

दासियाँ भोजन ले कर आ गयी थीं। पाण्डु को यह व्यवधान निश्चित रूप से अच्छा नहीं लगा था। भोजन से अधिक रुचि उसे अपनी बातों में थी।...कुन्ती समझ रही थी, इन बातों से पाण्डु का अहंकार स्फीत हो रहा था। कुछ लोग अपनी जिह्वा से स्वादेन्द्रियों का नहीं, वाकेन्द्रियों का ही काम लेते हैं। पाण्डु भी शायद उन्हीं में से था...पर कुन्ती को, उसकी इन बातों में तनिक भी रुचि नहीं थी। वह राजा के अहंकार को पुष्ट करने की नहीं, उससे तादात्म्य

स्थापित करने की इच्छुक थी। यदि पाण्डु उससे अपने मन की बात करता, अपने राग-द्वेष को प्रकट करता, उसका सुख-दुख सुनना चाहता...तो शायद वह रात भर बातें ही करती रहती, एक बार भी उसे भोजन याद न आता...

कुन्ती ने अपनी ओर से कोई असुविधा नहीं जतायी, न ही उसने दासियों को वहाँ से शीघ्र हटाने की कोई आतुरता दिखायी। अत्यन्त धैर्य से उसने दासियों के हाथों से थाल ले कर, स्वयं एक-एक वस्तु पाण्डु की थाली में परोसी। साथ-ही-साथ वह कुछ-न-कुछ पूछती भी रही। पाण्डु 'हाँ' 'ना' में अपना उत्तर भी देता रहा, किन्तु स्पष्ट था कि उसकी उसमें तनिक भी रुचि नहीं थी, और वह चाहता था कि यह व्यवधान शीघ्र दूर हो, और वह अपनी बात कहे।

अन्ततः दासियाँ हटीं। कुन्ती ने पाण्डु से भोजन करने का अनुरोध किया।

पाण्डु ने अपना हाथ बढ़ाया अवश्य, किन्तु हाथ को कोई जल्दी नहीं थी।

वह बोला, "राजा तो भैया धृतराष्ट्र भी बन सकते थे; किन्तु वे योद्धा नहीं बन सकते थे। जन्मान्ध व्यक्ति कैसे तो युद्ध-क्षेत्र में जायेगा और कैसे युद्ध करेगा। एक तो वह शस्त्र चला ही नहीं पायेगा, और यदि चलायेगा भी तो अपनी ही सेना का संहार करेगा।" पाण्डु हँसा, "इसलिए वे हस्तिनापुर में बैठे हुए भी, राज्य की केवल देखभल कर सकते हैं, राजा नहीं हो सकते; और मैं देश-विदेश में योद्धा के रूप में अपनी धाक जमाता हुआ, हस्तिनापुर का सम्राट हूँ।..."

"हाँ! बहुत वीर हैं आप!" कुन्ती ने थोड़ी खीर और परोस दी।

पर शायद पाण्डु की अभी इस चर्चा से सन्तुष्टि नहीं हुई थी। बोला, "पांचालों का तो अब साहस ही नहीं होगा, कभी हमारी ओर आँख उठाने का। द्रुपद बहुत समझता था अपने-आपको। कह दिया उससे, यह मत समझना कि पितृव्य भीष्म वृद्ध हो गये हैं, तो अब हस्तिनापुर में कोई योद्धा ही नहीं रहा। पांचाल का सारा गोधन हाँक लाया हूँ। मुझे किसी ने कहा कि वे समझते हैं कि इन सारे कार्यों के लिए मुझे पितृव्य उकसा रहे हैं, इसलिए वे उनसे अपनी शत्रुता बाँधे बैठे हैं। समझते हैं कि एक वृद्ध भीष्म का वध कर देंगे तो सारा कौरव बल समाप्त हो जायेगा।" पाण्डु उच्च स्वर में हँसा, "मूर्ख यह नहीं जानते कि कुरुओं की पीढ़ियाँ की पीढ़ियाँ योद्धाओं से बनी हैं। एक पीढ़ी के समाप्त हो जाने से...।"

"आपके पुत्र भी वीर ही होंगे।" कुन्ती ने उसकी बात बीच में ही काट दी, "उन्हें भी आप यही सिखायेंगे कि वे द्रुपद के पुत्रों से युद्ध करें...।"

"हाँ!" पाण्डु जैसे बिना सोचे-समझे बोल गया।

किन्तु कुन्ती स्पष्ट देख रही थी कि पाण्डु का उत्साह वैसे ही बुझ गया, जैसे एक फूँक से दीपक की लौ बुझ जाती है।

कुन्ती के मन में आवेश-सा उठा। बहुत कुछ था उसके मन में कहने को।...किन्तु जैसे उसने स्वयं को थाम लिया: कुछ कहने का अवसर नहीं था यह। रूठा पति एक लम्बी अवधि के पश्चात घर लौटा हो तो ऐसा कुछ कहना, फिर से रूठने का बहाना बन जाता है। आज वह पति को केवल रिझायेगी, मनायेगी, आमन्त्रित करेगी।...उपालम्भ फिर कभी सही...

पाण्डु ने थाली परे सरका दी। कुन्ती ने दासी को बुलाना आवश्यक नहीं समझा। स्वयं ही हाथ धुला दिये।

पाण्डु उठ कर पलंग पर आ बैठा।

कुन्ती ने द्वार पर खड़ी दासी को संकेत किया, "बर्तन उठा कर ले जा। और देख हमारे एकान्त में विघ्न न पड़े।"

"तुम नहीं खाओगी?" पाण्डु ने पूछा।

"आपके दर्शन ही मेरी भूख मिटाने के लिए पर्याप्त हैं।"

पाण्डु ने विशेष आग्रह नहीं किया। उसने कुन्ती की इस भावात्मक उक्ति को जैसे तथ्य के रूप में ही स्वीकार कर लिया था।

कुन्ती आ कर, पलंग पर पाण्डु के निकट बैठ गयी।

पाण्डु ने उसे देखा, "तुम्हारा वर्ण कुछ फीका पड़ गया है। क्या मेरी अनुपस्थिति में बहुत चिन्ता करती रही हो?"

कुन्ती को लगा, पाण्डु के आने के समय से वह इसी वाक्य की प्रतीक्षा करती रही थी। उसका मन कुछ रीझा।

रीझी आँखों से बोली, "आप युद्ध करने जायेंगे, तो चिन्ता नहीं होगी मुझे?"

"योद्धाओं की पत्नियाँ चिन्ता करने लगीं, तो पति निश्चिन्त हो कर लड़ेगा कैसे?"

"तो योद्धा की पत्नी उससे प्रेम भी न करे?" कुन्ती के नयनों में निमन्त्रण था।

"वीर पुरुष का जीवन एक बड़ी विकट समस्या है," पाण्डु की आँखों में उत्तेजना का मद छलकने लगा, "एक ओर शत्रु खड्ग का वार करते हैं और दूसरी ओर सुन्दरियों के कटाक्षों के बाण। किस-किससे बचाये कोई अपने-आपको।"

"कवच पहन कर क्यों नहीं आये?" कुन्ती हँसी, "बाणों से रक्षा का तो वही एक साधन है।"

"कवच पहन कर आऊँ तो हृदय कवच को ही कोसेगा, कि इन बाणों को मुझ तक आने क्यों नहीं देते...।"

पाण्डु के शब्द जैसे आवेश में लड़खड़ाने लगे थे। उसका रक्त जैसे मस्तिष्क पर चढ़ने लगा था। चेहरा रक्तिम हो गया था, और आलिंगन इतना कस गया था कि कुन्ती की साँस रुकने लगी थी।

"ऐसे तो मेरा दम घुट जायेगा वीरवर!" उसने मुस्कुराने का प्रयत्न किया, "आप अपनी प्रिया से प्रेम-निवेदन कर रहे हैं या किसी शत्रु का अस्थि-भंजन कर रहे हैं।"

पाण्डु ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसकी उत्तेजना की यह कौन-सी स्थिति थी, कुन्ती समझ नहीं पायी: उसकी आँखें जैसे अपने गोलकों से बाहर निकल पड़ रही थीं; और उनमें काम का मद नहीं था, यातना के स्पष्ट संकेत थे...और तभी उसका आलिंगन एकदम शिथिल पड़ गया।

"क्या हुआ?" कुन्ती के स्वर में चिन्ता थी।

पर पाण्डु कुछ बोला नहीं। उसकी उत्तेजना क्लान्ति में परिणत हो गयी थी और वह सर्वथा नि:शक्त-सा पड़ा हाँफ रहा था।

"क्या हुआ?" कुन्ती ने फिर पूछा; और उसे अपनी भुजाओं में लेने का प्रयत्न किया।

पाण्डु ने उसके हाथ झटक दिये। कुछ बोला नहीं। अपने ही हाथों से उसने अपना वक्ष भींच लिया, जैसे हृदय में असह्य पीड़ा हो रही हो।

कुन्ती अवाक् बैठी रही। वह निश्चय ही बहुत पीड़ा में था। ऐसी ही पीड़ा, उसे तब भी हुई थी, जब वह पहली बार उसके पास आया था, और फिर आधी रात के समय, उत्तेजना के बीच ही उसे छोड़ भागा था।...तो क्या कामोत्तेजना से पाण्डु की यह दशा हो जाती है, क्या इसलिए वह अपनी दो-दो नवोढ़ाओं को छोड़ दूर-दूर के देशों में जा कर योद्धा बनने का प्रयत्न करता है। शैया पर अपनी पराजय को वह युद्ध-क्षेत्र की विजय से ढँकना चाहता है?...

पाण्डु की श्वास-प्रक्रिया कुछ सन्तुलित हुई। उसने जैसे अपने प्राणों को समेटा और उठ खड़ा हुआ।

"क्या हुआ? कहाँ जा रहे हैं?"

"विदुर का विवाह है।" वह जैसे-तैसे बोला, "मुझे एक काम याद आ गया है।"

कुन्ती देखती ही रह गयी; और पाण्डु कक्ष से निकल गया।

55

“पारंसवी!” विदुर का स्वर नम्र भी था और कोमल भी, “आशा है कि तुम्हें ज्ञात होगा कि कुरुकुल में मेरी क्या स्थिति है!”

पारंसवी इस प्रकार की जिज्ञासा के लिए तनिक भी तैयार नहीं थी। कहाँ वह विवाह के पश्चात पहली बार अपने पति से मिलने का संकोच लिए नतमस्तक बैठी थी।...सुना था, उसके पति बहुत विद्वान हैं, गम्भीर हैं, धार्मिक, सदाचारी और सज्जन हैं...उनकी महानता सुनते-सुनते पारंसवी अपनी ही आँखों में कहीं बहुत छोटी हो गयी थी...और फिर विवाह के पश्चात यह पहला मिलन...पति और पत्नी का...पुरुष और स्त्री का...पति विद्वान हो, धार्मिक और सदाचारी हो तो क्या...पति, पुरुष ही तो है...पहली बार अपनी पत्नी से, स्त्री से मिलेगा, तो प्रेम की बात करेगा; स्त्री के आकर्षण की चर्चा करेगा, शृंगार...पारंसवी एकदम संकुचित हो गयी। उसका शरीर और मन जितना सिमट सकता था, वह उससे भी अधिक सिमट गयी...

और उसके पति पूछ रहे हैं कि उनकी स्थिति कुरुकुल में क्या है? क्या वे अपने कुल का बखान सुनना चाहते हैं, या कुरुकुल में अपना महत्त्व जताना चाहते हैं?...क्या कहे वह?...

“जानती हो?”

पारंसवी कुछ नहीं बोली: जाने वे क्या पूछना चाह रहे थे।

“उत्तर क्यों नहीं देती प्रिये! मुझसे बात भी नहीं करना चाहतीं क्या?” विदुर का स्वर और भी मृदुल हो गया।

कितना आग्रह कर रहे हैं।...अब भी न बोली, तो वह उसे संकोच नहीं मानेंगे, अभद्रता मानेंगे।...

“आप सम्राट के भाई हैं।” उसने अत्यन्त मंद स्वर में किसी प्रकार कह दिया।

“हाँ! भाई तो हूँ।” विदुर किंचित मुस्कुराये, “पर जब हस्तिनापुर के राज्याधिकार की बात आयी तो सबसे बड़े होने के कारण धृतराष्ट्र के विषय में पहले सोचा गया; जन्मान्ध होने के कारण उन्हें राज्य नहीं मिला। पाण्डु के विषय में विचार किया गया। वह रुग्ण है, पाण्डु रोग से पीड़ित–स्नायविक तनाव का रोगी। व्यक्ति बहुत भला है, किन्तु उसका स्नायु-तन्त्र अधिक बोझ नहीं सह सकता। थोड़े से दबाव से भयंकर आवेश में आ जाता है और उस आविष्टावस्था में, यदि समर्थ हो तो भयंकर रूप से हिंस्र हो उठता है; असमर्थ हो तो सब कुछ छोड़ भागता है। रोगी होने के नाते राज्य उसे भी नहीं मिलना चाहिए था।...”

पारंसवी ने पहली बार दृष्टि उठा कर निस्संकोच भाव से अपने पति को देखा: क्या कहना चाह रहें हैं वे? क्या हस्तिनापुर का राज्य इन्हें मिलना चाहिए था? क्या वह राज्याधिकार के अभिलाषी हैं?...

“तीसरा भाई मैं हूँ; किन्तु दासीपुत्र हूँ। भाई तो हूँ, किन्तु समान अधिकार प्राप्त नहीं है मुझे।” विदुर बोला, “पितृव्य भीष्म ने हम तीनों के विवाह की व्यवस्था की; किन्तु ध्यान रखा कि धृतराष्ट्र तथा पाण्डु की पत्नियाँ राजदुहिताएँ हों और मेरी पत्नी राजा की पुत्री तो हो, किन्तु रानी से नहीं...दासी से।” वह पारंसवी की ओर मुड़ा, “मेरी बात समझ रही हो न!...मैं सम्राट पाण्डु का भाई तो हूँ किन्तु सम्राट विचित्रवीर्य का क्षेत्रज पुत्र नहीं हूँ!”

“आपको इसका दुख है?” इस बार पारंसवी का स्वर संकोच-शून्य था, “आपकी पत्नी क्षत्रिय राजकुमारी न हो कर, दासीपुत्री है–इस बात से अप्रसन्न हैं आप?” पारंसवी को स्वयं ही अपने स्वर में, कहीं किंचित रोष का आभास हुआ।

“नहीं!...नहीं...!” विदुर मुस्कुराया और शायद अपना स्नेह संचरित करने के लिए उसने पारंसवी के कंधों पर अपने दोनों हाथ रख दिये। प्रथम स्पर्श के कारण पारंसवी के शरीर की सिहरन का अनुभव करते हुए भी, उसने अपने हाथ नहीं हटाए। उस स्पर्श में कायाकर्षण नहीं था, एकात्मता थी, तादात्म्य था, “ऐसा भूल कर भी नहीं समझना। मैं तो जीवन, समाज और कुरुकुल में अपनी और तुम्हारी स्थिति स्पष्ट करने का प्रयत्न कर रहा था। कहीं तुम मुझे कुरुकुल का राजकुमार और सम्राट का भाई समझ कर बहुत ऊँची अपेक्षाएँ अपने मन में पाल लो। मैं प्रसन्न हूँ कि पितृव्य ने मेरे लिए तुम्हें चुना। कहीं किसी क्षत्रिय राजकुमारी से मेरा विवाह हो गया होता, तो कदाचित वह मुझे हीन दृष्टि से देखती रहती...”

पारंसवी कुछ नहीं बोली। जाने विदुर के मन में क्या था...

“मुझमें अपने जनक व्यासदेव के कुछ गुण हैं। रजोगुण मुझमें नहीं है। क्षत्रिय राजकुमार बनने की भी मेरी

कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं है। इसीलिए मैंने शस्त्रविद्या नहीं सीखी। न युद्ध किया, न करने की इच्छा है। मैं शान्तिप्रिय व्यक्ति हूँ। सृष्टि के सारे जीवों के लिए शान्ति चाहता हूँ। इसलिए शस्त्रों और उनके परिचालन की विधि के विषय में जानने से अधिक मैंने यह खोजने का प्रयत्न किया है कि युद्ध के कारण क्या हैं? युद्ध का स्वरूप क्या है? युद्ध के परिणाम क्या हैं? क्या युद्ध मनुष्य को सुखी बना सकता है? क्या तुम सुखी होना नहीं चाहतीं पारंसवी?"

"कौन सुखी होना नहीं चाहता आर्यपुत्र!" पारंसवी सहज भाव से बोली। उसका मन जैसे उल्लसित हो कर कह रहा था, 'मैं जानती थी, मेरा पति भिन्न है, दूसरों से भिन्न! साधारण व्यक्ति नहीं है मेरा पति।'

"तो सुखी तो वही व्यक्ति हो सकता है देवि! जो यथार्थ का साक्षात्कार करे, उसे स्वीकार करे; क्योंकि सुख भौतिक परिस्थितियों में नहीं, मानसिक अनुकूलता में है।" विदुर बोला, "मैने स्वीकार कर लिया है कि कुरुकुल में मेरी विचित्र स्थिति है। कौतुकी विधाता शायद कौतुकवश ही कभी-कभी बड़ी विचित्र स्थितियाँ खड़ी कर देता है। मैं इस कुल का अंश हूँ भी और नहीं भी हूँ। मैं धृतराष्ट्र और पाण्डु का भाई हूँ; किन्तु इस कुल का धन, मेरा धन नहीं है। मेरे लिए वह पराया धन ही है। मेरे मन में उसकी कोई लालसा भी नहीं है। पराया धन अधिकृत कर, कोई सुखी नहीं हो साकता। उससे मानसिक शान्ति नहीं मिल सकती। ऋषि सब कुछ त्याग कर भी सुखी रहते हैं; और राजा सब कुछ पा कर भी तड़पते रहते हैं। इसलिए मैं यह मानता हूँ कि जिसका देय है, उसको दे दो। यदि न्यायपूर्ण देय, दे दिया जाए, तो लेने वाला तो सुखी होता है देने वाला भी सुखी होता है। संसार में सारे झगड़े, मतभेद और युद्ध केवल इसलिए हैं, कि न्यायपूर्ण देय, दिया नहीं जा रहा। या तो लोग दूसरों का धन अधिकृत किये बैठे हैं, या करने के प्रयत्न में हैं।..."

पारंसवी ने विस्मय से अपने पति को देखा। उसने पहचाना: उसके मन में गर्व था, अपने पति के लिए। कैसे विद्वान...कैसे महान हैं उसके पति...

"मेरी बड़ी इच्छा है कि धृतराष्ट्र भी स्वीकार कर ले कि यह राज्य अब पाण्डु का है। इससे वे दोनों भी सुखी रहेंगे और कुरुकुल में शान्ति बनी रहेगी। किन्तु न वह यथार्थ को स्वीकार करना चाहता है, और न परायी सम्पत्ति से अपना मोह ही हटा पा रहा है...उसके ये सारे प्रयत्न किसी दिन कुरुकुल के दुर्दिन लाएँगे।..."

"क्या ज्येष्ठ धृतराष्ट्र हस्तिनापुर का राज्य प्राप्त करना चाहते हैं?" पारंसवी के सम्मुख जैसे सूचनाओं का एक नया संसार खुल रहा था।

"वह राज्य चाहता भी है और नहीं भी!..." विदुर जैसे अपने-आपसे ही बातें कर रहा था।

"ये दोनों बातें कैसे सम्भव हैं?"

"वह असम्भव को ही सम्भव करने के प्रयत्न में है।" विदुर बोला, "वह प्रजा पालन का दायित्व ग्रहण करना नहीं चाहता, किन्तु राज-वैभव और राजसत्ता के भोग का अधिकार चाहता है।..."

"भोग!" पारंसवी चकित थी, "किन्तु आर्य ज्येष्ठ तो प्रज्ञा चक्षु हैं।"

"हाँ! है तो जन्मान्ध! किन्तु संयम उसमें तनिक भी नहीं है! वह नहीं जानता कि इन्द्रियाँ स्वतन्त्र हो कर कैसे-कैसे अनर्थ कर सकती हैं।...और वह जानना भी नहीं चाहता। वह अबाध भोग का इच्छुक है। जन्मान्ध होने के कारण ही कदाचित अपने सीमित संसार में सिवाय भोग के उसे और कुछ भी दिखायी नहीं देता। भोग की इस इच्छा ने उसे इतना स्वार्थी बना दिया है कि वह किसी का भी, किसी भी सीमा तक अनिष्ट कर सकता है...।"

"वह राज्य-प्राप्ति का प्रयत्न भी कर रहे हैं?" पारंसवी को लगा, जैसे उसके पति ने अकस्मात ही उसके सम्मुख किसी राजनीतिक षड्यन्त्र का उद्घाटन कर दिया हो।

"प्रयत्न...।" विदुर आत्मलीन-सा, चलता-चलता कक्ष के दूसरे सिरे तक जा पहुँचा, "प्रयत्न तो वह कर रहा है, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से नहीं।" आवेश में विदुर का स्वर हल्का-सा ऊँचा उठ गया, "इससे तो अच्छा होता है वह प्रत्यक्ष प्रयत्न करता। भरत-वंशी राजाओं और कुरु-वृद्धों की सभा का आयोजन करवाता और उनके सम्मुख अपने राज्य की माँग रखता। या फिर वह सैन्य-संग्रह कर युद्ध करता...किन्तु जो कुछ वह कर रहा है...।"

विदुर ने वितृष्णा में अपने सिर को झटक दिया।

"क्या कर रहे हैं वे?"

"वह पाण्डु को बार-बार उकसाता है कि किसी-न-किसी बहाने से हस्तिनापुर से बाहर रहे—भ्रमण के बहाने, युद्ध के बहाने, आखेट के बहाने, स्वयंवर के बहाने...ताकि राज्य पाण्डु का रहे, उसका भोग धृतराष्ट्र करता रहे।...उसका परामर्शदाता! वह शकुनि! धूर्त, लम्पट और भोगी। वह किसी दिन कुरुकुल का नाश ला कर रहेगा।..."

"किन्तु ज्येष्ठ पाण्डु इस षड्यन्त्र को भाँप क्यों नहीं पाते? क्या वे इतने ही अबोध हैं?"

"अबोध तो वह नहीं है।" विदुर बोला, "और कम महत्त्वाकांक्षी भी नहीं है; मैंने कितनी ही बार उसे समझाने का भी प्रयत्न किया है। किन्तु, जाने अपनी किस दुर्बलता के कारण वह बार-बार उसकी बातों में आ जाता है।..." विदुर की चिन्ता उसके चेहरे पर प्रत्यक्ष हो आयी थी।

पारंसवी कुछ देर चुप रही: उसके पति चिन्तित हैं, तो स्थिति अवश्य ही गम्भीर होगी। किन्तु कहीं उन दोनों भाइयों के झगड़े में उलझ कर उसके पति किसी असुविधा में न पड़ जायें।

"आपको भय नहीं लगता–आर्यपुत्र?"

"किस बात का भय?"

"कहीं धृतराष्ट्र और शकुनि आपका कोई अनिष्ट न करें...।"

विदुर हँसा। उसकी हँसी में न अहंकार था, न आत्मविश्वास; किन्तु उसमें निर्भीकता अवश्य थी, "निम्नकोटि के लोग अपनी आजीविका से भयभीत रहते हैं, मध्यम कोटि के मृत्यु से; और उत्तम कोटि के लोग केवल अपयश से।" वह पारंसवी की ओर मुड़ा, "अब तुम ही बताओ देवि! मुझे किससे भयभीत होना चाहिए, और किसलिए भयभीत होना चाहिए?..."

पारंसवी, पति का संकेत समझ गयी: सचमुच भयभीत होने की कोई बात नहीं थी। भयभीत वे लग भी नहीं रहे थे।

और सहसा विदुर को ध्यान आया: वह अपनी पत्नी से आज पहली बार मिल रहा है, और अभी तक वह एक नीतिज्ञ के समान ही उससे दूर खड़े-खड़े बातें करता रहा है। यह तो न पति का रूप है, न प्रेमी का...और फिर यह पहली भेंट है उसकी, अपनी जीवन-संगिनी से...

वह पारंसवी के निकट आया। उसके सामने बैठ गया...एकदम सम्मुख! पारंसवी ने संकोच से सिर झुका लिया। विदुर ने उसके चिबुक को अपनी अँगुलियों से उठाया, उसके कंधों पर अपनी दोनों हथेलियाँ रखीं और उसकी आँखों में देखा, "जिस व्यक्ति को तुमने पति के रूप में पाया है, वह रसिक कम, और नीतिज्ञ ही अधिक है प्रिये! अपनी रुक्षता के लिए मुझे क्षमा करती रहना; किन्तु स्मरण रखना, प्रेमी का प्रेम अस्थिर होता है, आवेशपूर्ण होता है, किसी पहाड़ी नदी के समान! और पति का प्रेम धीर, गम्भीर होता है, गहरा और मन्थर–गंगा के समान। उसमें आवेश और उफान चाहे न आये, किन्तु वह सदा भरा-पूरा है। वह अकस्मात ही बहा कर चाहे न ले जाये, किन्तु पार अवश्य उतारता है।"

"मैं समझती हूँ।" पारंसवी ने पूर्ण विश्वास के साथ अपना कपोल विदुर की हथेली पर टिका दिया, "किन्तु आर्यपुत्र! बाढ़ तो गंगा में भी आती है।"

विदुर हँसा, "आती है, मात्र वर्षा ऋतु में; और उससे क्षति ही होती है प्रिये! जाने क्या-क्या नष्ट हो जाता है।"

पारंसवी हतप्रभ नहीं हुई, "बाढ़ उतर जाती है, तो उजड़े परिवार फिर से बस जाते हैं। खेतों में नयी उपजाऊ मिट्टी आ जाती है। समग्र रूप से बहुत हानि नहीं होती।"

विदुर की भुजाएँ, आलिंगन के लिए फैल गयीं, "तो फिर मेरे प्रेम के प्लावन से भयभीत मत होना मेरी विदुषी प्रिये!"

"अच्छा एक बात बताइये," पारंसवी इस बार कुछ अधिक चपल हो उठी थी, "मैं भी दासीपुत्री हूँ, आपकी माता भी पहले दासी-कर्म ही करती थीं–क्या आपको लगता है कि यह तथ्य, समाज में हमारे निरादर का कारण बनेगा?"

"दुराचारी चाहे कितने ऊँचे वंश का क्यों न हो, सदा निरादर पाता है; और सदाचार से रहने वाला व्यक्ति अन्ततः आदर पायेगा ही।" विदुर का स्वर स्पष्ट और निर्द्वन्द्व था, "आदर न धन से मिलता है, न ज्ञान से, न यश से, न कुल से–आदर केवल आचरण से मिलता है देवि! इसलिए मेरा सबसे अधिक बल आचरण की शुद्धता पर है। आचरण शुद्ध रहे तो अनादर का कोई भय नहीं है।" विदुर हँसा, "और प्रिये! वंश मैंने स्वयं नहीं चुना, यह इस समाज की व्यवस्था थी। मुझे अपने वंश और जन्म पर लज्जित अथवा संकुचित होने की क्या आवश्यकता है। यदि किसी को लज्जित होना ही है, तो स्वयं समाज लज्जित हो।" उसने अपनी दोनों हथेलियों में पारंसवी का चेहरा थाम लिया, "और मेरी प्रिये! तुम्हें भी स्वयं को हीन समझने की आवश्यकता नहीं है। हमारे आस-पास बहुत सारे उच्चवंशीय, कुलीन क्षत्रिय राजकुमार हैं...उन सबके आचरण को देख कर मेरा मस्तक लज्जा से झुक जाता है।...अच्छा है कि मैं

वैसा कुलीन नहीं हूँ।...”

कुन्ती की दासियाँ दो दिन अनवरत दौड़ती रहीं, कि सम्राट कहाँ हैं।...

जब तक विदुर के विवाह की धूमधाम थी, हस्तिनापुर में उत्सव का-सा अवसर था। विवाह का इतना कोलाहल था कि कोई भी, कहीं भी व्यस्त हो सकता था, या छिप सकता था। बहुत पूछने पर कुछ कर्मचारियों ने यह तो बताया कि उन्होंने सम्राट को देखा है, किन्तु वे आपे में नहीं थे। विवाह के उत्सव में भी, वे न शान्त थे न प्रसन्न। वह आवेश में थे, क्रोध में थे, खीझे हुए थे...और निरन्तर आदेश पर आदेश देते जा रहे थे।

विवाह का कोलाहल थमा तो दासियाँ सूचना लायीं कि सम्राट आखेट के लिए वन की ओर जा रहे हैं। रथशाला और अश्वशाला में, जैसे युद्ध स्तर पर तैयारी हो रही है। सम्राट शीघ्रतिशीघ्र हस्तिनापुर से निकल जाना चाहते हैं। जाने कैसी त्वरा थी उनको।

कुन्ती का मन हुआ अपना सिर किसी दीवार से दे मारे; कैसा पति मिला है उसे। एक बार उसके पास आता है; उसे अपनी भुजाओं में घेरता है; और फिर अकस्मात ही उसे छोड़ कर चल देता है, जैसे उससे रूठ गया हो। पर कुन्ती ने क्या किया है? कोई उसे, उसका दोष तो बताये...

जब पहली बार ऐसा हुआ तो कुन्ती अनेक अनुमान लगाती रही थी। जब माद्री आ गयी तो कुन्ती ने मान लिया कि पाण्डु को उसमें रुचि नहीं थी। किन्तु वह तो माद्री को भी छोड़ कर, दिग्विजय करने चला गया था। दिग्विजय से लौटा, तो कुन्ती के पास लौटा था।...और अब यह आखेट!

उसकी इच्छा हुई, पलंग पर औंधी जा पड़े और खूब रोये...किन्तु अगले ही क्षण उसने रोने का विचार स्थगित कर दिया...रोने से कोई लाभ नहीं था। वह पड़ी-पड़ी रोती रहेगी और कोई झाँकने तक नहीं आयेगा। पाण्डु अपना रथ सजा कर आखेट के लिए चल देगा, निरीह पशुओं पर अपने शस्त्रों की धार का परीक्षण करता रहेगा; और कुन्ती यहाँ कारागार में बन्द, बन्दिनी-सी पड़ी, असहाय रोती रहेगी...कुन्ती ने जीवन में यह तो नहीं सीखा है। वह भी क्षत्राणी है। जीवन जीने का अधिकार उसे भी है...और जीवन में ऐसा बहुत कुछ है, जो अपने-आप नहीं मिलता, माँगने पर भी नहीं मिलता, उसे उद्यम करके प्राप्त करना पड़ता है...

"महारानी माद्री पधारी हैं।"

उसका विचार-प्रवाह भंग हुआ। मस्तक उठा कर देखा; सामने दासी खड़ी थी।

"उन्हें ससम्मान लिवा लाओ।" कुन्ती ने अपनी डबडबायी आँखें पोंछीं और मन को साधा; जाने माद्री क्या कहने आयी है! माद्री बहुत स्वस्थ मनःस्थिति में नहीं थी। लगता था, वह भी बहुत रोयी है और बहुत भटकी है। इस समय वह अत्यन्त क्षुब्ध थी और तनिक-से स्पर्श से ही पुनः रोने को तैयार बैठी थी।

"आओ माद्री!"

"वे यहाँ नहीं हैं क्या?"

"कौन?" कुन्ती ने आश्चर्य से पूछा।

"आर्यपुत्र!"

कुन्ती की मुस्कान में कटुता थी, "तुम्हारा विचार है कि वह आखेट के व्याज से, मेरे पास छिपे बैठे रहते हैं। मैं उन्हें इतनी प्रिय तो नहीं हूँ माद्री!"

माद्री चुप रही, जैसे उसे कुन्ती का विश्वास न हो रहा हो; और फिर सहसा ही अपने क्षोभ में फट पड़ी, "दिग्विजय के एक लम्बे अन्तराल के पश्चात फिर परसों आये थे, वे मेरे पास। वैसे ही पिछली बार के समान, उत्तेजित कर, बीच में सब छोड़ कर भाग गये: 'विदुर का विवाह है।' विदुर के विवाह का ऐसा कौन-सा काम था, जो उन्हें आधी रात को करना था। मैं कहती हूँ, मुझे इस प्रकार अपमानित करने की क्या आवश्यकता थी?–नहीं भाती उन्हें मैं, तो न आते मेरे पास! मैं स्वीकार कर लेती कि मैं शुल्क क्रीता दासी हूँ...।"

"माद्री!" कुन्ती अपनी पीड़ा भूल गयी, "बैठ जाओ बहन! मन को तनिक शान्त करो। तुम जानती हो कि हम दोनों, समान रूप से वंचित हुई हैं...।"

माद्री ने कुछ कहा नहीं। चुपचाप बैठ गयी।

कुन्ती ने संकेत किया। दासी ने पानी ला कर उसका मुख धुलाया और पोंछने का वस्त्र दिया।

"माद्री! तुम जानती हो, जिस समाज में हमारा पालन-पोषण हुआ है, उसमें इस प्रकार नारी का अपमान पुरुष ही कर सकता है। वह हमारा तिरस्कार कर किसी अन्य स्त्री से सम्बन्ध स्थापित कर सकता है, विवाह कर सकता है।...पर हमने जब एक बार उसके कण्ठ में जयमाला डाल दी तो अब हमारे लिए और कोई विकल्प नहीं है। उसकी प्रिया बन कर रहें, तिरस्कृत बन कर रहें, परित्यक्ता बन कर रहें, विधवा बन कर रहें, उसके साथ सती हो जायें, पर हम रहेंगी उसी की। स्वामी क्षेत्र को वन्ध्या छोड़ सकता है, उसे त्याग सकता है, और क्षेत्र अर्जित कर सकता है; किन्तु क्षेत्र को अधिकार ही नहीं है कि वह स्वामी से उसके व्यवहार का कारण पूछे या उसके व्यवहार का प्रतिकार करे।...हमें अपनी परिस्थितियों से तो समझौता करना सीखना ही पड़ेगा...।"

माद्री कुछ स्वस्थ हुई तो कुन्ती बोली, "सच मानोगी, तुम्हारे आने से ठीक पहले, मैं भी तुम्हारे ही समान विकल थी और सोच रही थी कि जो स्वतः न मिले, उसे प्रयत्न करके प्राप्त करना पड़ता है, उद्यमपूर्वक...।"

"कैसे?" माद्री के मन में कुछ आशा जागी।

"हम या तो स्वयं आर्यपुत्र के पास जायें, या माता अम्बालिका के पास, अथवा पितृव्य भीष्म के पास...।"

"रोयें? गिड़गिड़ायें? जा कर कहें कि हम असहाय नारियाँ हैं, हमें इस प्रकार अपमानित मत करो।" माद्री का क्षोभ जैसे पुनः प्रज्जवलित हो उठा, "मेरे नारीत्व का इतना अपमान!"

आवेश के मारे उसका कण्ठ रुद्ध हो गया।

कुन्ती समझ रही थी, जिस रूप और यौवन की देवता भी कृतज्ञतापूर्वक याचना करेंगे, उसका पाण्डु ऐसा तिरस्कार कर रहा था...अपमान और तिरस्कार की जिस ज्वाला में वह स्वयं जल रही थी, माद्री को उसकी आँच कुछ और प्रखरता से जला रही थी।

"हम उनसे यह तो कह सकती हैं कि हम आखेट में अपने पति के साथ जाना चाहती हैं।"

"वह वहाँ भी हमसे भागा तो?"

"कहाँ जायेगा भाग कर...हस्तिनापुर?" कुन्ती किंचित मुस्कुरायी।

माद्री को कुन्ती से ईर्ष्या हुई; यह स्त्री इन परिस्थितियों में भी मुस्कुरा सकती है।...उसने स्वयं को सँभाला, और बोली, "याचना ही करनी है, तो मैं और किसी के पास नहीं जाऊँगी...अपने पति के ही पास जाऊँगी।"

"वही सही!"

पाण्डु को खोज निकालने में उन्हें अधिक श्रम नहीं करना पड़ा। वह अश्वशाला में, आखेट के लिए जाने वाल अश्वों का चयन करता हुआ मिल गया। अश्वशाला में अपनी दोनों पत्नियों को इस प्रकार आकस्मिक रूप से देख कर वह चकित रह गया।

"क्या है?"

"आपसे एक अनुरोध है।" कुन्ती बोली।

"बोलो!"

"हम लोग चाहती हैं...।"

माद्री की बात कुन्ती ने बीच में ही काट दी, "क्या अच्छा नहीं है कि हम एकान्त में बात करें?"

पाण्डु को लगा, कुन्ती ने उसे सार्वजनिक रूप से अपमानित होने से बचा लिया। उनका इस प्रकार अन्य लोगों की उपस्थिति में दिया गया कोई भी उपालम्भ, उसकी अनेक दुर्बलताओं का भ्रम खोल देगा। वह तत्काल सहमत हो गया।

माद्री को भी लगा, अश्वशाला ऐसे अनुरोध के लिए उपयुक्त स्थान नहीं था, जहाँ न आग्रह किया जा सके, न अनुरोध और न विरोध...

पाण्डु स्वयं अपने रथ का सारथ्य कर, उन्हें प्रासाद के अपने खण्ड में ले आया।

"हमारे एकान्त में विघ्न न पड़े।" उसने दासी को आदेश दिया।

"बैठो!" उसने कुन्ती और माद्री से एक साथ कहा।

उसकी घबराहट उसके चेहरे पर परिलक्षित हो रही थी: यह पहला अवसर था कि वह अपनी दोनों पत्नियों का एक साथ सामना कर रहा था; और निश्चित रूप से वे बहुत शान्त मन से उसके पास नहीं आयी थीं।

"कहो।" उसने सयत्न कहा।

माद्री ने कुन्ती की ओर देखा।

कुन्ती ने अत्यन्त शान्त स्वर में कहा, "हमने सुना है कि कल आप आखेट हेतु, वनों की ओर जा रहे हैं।"

"हाँ!" पाण्डु उपेक्षा-भरे स्वर में कुछ कृत्रिम उग्रता से बोला, "आर्य सम्राट अपने विनोद के लिए आखेट करने जाया ही करते हैं। वे युद्ध में शत्रु और आखेट में हिंस्र पशुओं का वीरतापूर्वक सामना करते हैं...।"

"वह कभी अपनी पत्नी का सामना भी करते हैं या उसके सामने से सदा ही पीठ दिखा कर भाग जाते हैं?" माद्री कुछ इतने अकस्मात रूप में फट पड़ी थी कि कुन्ती उसे सँभालने का कोई प्रयत्न भी नहीं कर पायी, "बार-बार हमें अपने क्षत्रियत्व और वीरता का झाँसा मत दो। अपने पौरुष की बात करो।...कब तक इस प्रकार हस्तिनापुर से भागते रहोगे?"

क्रोध और आवेश से पाण्डु का आनन रक्तिम हो उठा। उसकी आँखें, जैसे उबल-उबल कर कोटरों से बाहर आने को हो गयीं...

"शान्त हो जायें आर्यपुत्र!" कुन्ती अत्यन्त नम्र स्वर में बोली, "किसी भी प्रकार आपका अनादर करना हमारा अभीष्ट नहीं है। पर हम चाहती हैं कि हम तीनों अपनी समस्या को समझें और उसके समाधान का शोध करें।"

"क्या समस्या है?" पाण्डु का आवेश पूर्णतः शान्त नहीं हुआ था। उसकी स्थिति ऐसे व्यक्ति की थी, जो जानता था कि सागर की आती हुई लहर से वह टकरायेगा, तो उसका अस्तित्व ही नहीं रह पायेगा, किन्तु फिर भी अपनी शारीरिक और मानसिक जड़ता के कारण, वह लहर के सामने से हट जाने का भी प्रयत्न नहीं कर पा रहा था।

"समस्या है...।"

किन्तु कुन्ती ने माद्री को फिर बोलने नहीं दिया, "समस्या तो एक ही है आर्यपुत्र!" वह बोली, "आप कभी दिग्विजय के लिए चले जाते हैं, कभी आखेट के लिए। हमें आपकी संगति-लाभ का अवसर ही नहीं मिलता।...और यह क्रम तो इसी प्रकार चलेगा। आप कुरुकुल के चक्रवर्ती सम्राट हैं। आपकी व्यस्तताएँ तो कम होंगी नहीं। ऐसे में हमारी तृष्णा कैसे शान्त होगी। युद्ध में तो हम आपके साथ जा नहीं सकतीं; किन्तु क्या यह सम्भव नहीं है कि हम आखेट में आपके साथ चलें?"

"आखेट में?" पाण्डु उसी प्रकार तुनक कर बोला, "वहाँ स्त्रियों का क्या काम है? तुम्हें न शस्त्र चलाना आता है, न तुममें हिंस्र पशुओं का सामना करने का साहस है। वहाँ क्या तुम लोग मेरा आखेट करोगी?"

"संकल्प तो यही है!" कुन्ती अत्यन्त मधुर ढंग से मुस्कुरायी।

माद्री का आवेश भी पर्याप्त रूप से दमित हो चुका था।

पाण्डु को लगा, वह कुन्ती के इस रूप का विरोध नहीं कर पायेगा। उससे झगड़ नहीं पायेगा...किन्तु आग से बचने के लिए सरोवर में कूदने वाला व्यक्ति अग्नि को साथ ले कर क्यों कूदेगा।

"नहीं! मुझे असुविधा होगी।" पाण्डु बोला, "मैं आखेट करूँगा, या तुम लोगों को बचाऊँगा। सुन्दरियों को साथ ले कर आखेट करने की रीति मेरी नहीं है—ऐसे अद्‌भुत कर्म, मैं नहीं करता।"

"सुन्दरियों को शयन-कक्ष में कामोत्तेजना में छोड़, भाग जाने का अद्‌भुत कर्म आप करते हैं...।"

"ठहरो माद्री!" कुन्ती शान्त स्वर में बोली, "वीरवर आर्यपुत्र! यदि आप और आपके वीर सैनिक कुछ हिंस्र पशुओं से दो युवतियों की रक्षा नहीं कर सकते तो आपका आखेट पाखण्ड है। अपने शस्त्रों को आग लगा दीजिए; सैनिकों को शस्त्र-धर्म से मुक्त कीजिए और स्वयं भी ब्राह्मणवेश धारण कीजिए।" उसने थम कर पाण्डु को देखा, "मेरी उद्दण्डता क्षमा कीजियेगा। किन्तु मैंने आपसे कहा न कि हम अपनी समस्याओं का सामधान खोजेंगे। वह साथ रह कर ही सम्भव है। यदि आप प्रासाद में हमारे साथ नहीं रह सकते, तो हम वन में आपके साथ रहेंगी। यह हमारा अन्तिम निर्णय है। क्यों माद्री?"

"अन्तिम और दृढ़ निर्णय!" माद्री बोली, "और यदि आप सहमत नहीं हुए, तो हम इसी संदर्भ में पितृव्य भीष्म से प्रार्थना करने को बाध्य होंगी।"

भीष्म का नाम, पाण्डु के कानों से कशा के समान टकराया।...उसे लगा कि अब विकल्प उसके सामने भी नहीं है। कहीं ये दोनों पितृव्य के पास पहुँच गयीं तो...

"अच्छा! ठीक है। तुम लोग संग चलो।" उसने अपनी कृत्रिम उग्रता अभी तक छोड़ी नहीं थी, "किन्तु स्मरण रहे, मैं आखेट के लिए जा रहा हूँ, तुम्हारे आमोद-प्रमोद के लिए नहीं। वहाँ मेरे आखेट में बाधा न पड़े।"

"आर्यपुत्र के आदेश का पालन होगा।" कुन्ती धीरे से बोली।

भीष्म ने स्पष्ट देखा था कि पाण्डु मृगया-हेतु वन जाने के लिए जितना उत्सुक था, धृतराष्ट्र उसे भेजने के लिए उससे भी अधिक उतावला था। पाण्डु के आदेशों का पालन हुआ, उसने जो चाहा, उसकी व्यवस्था हुई; किन्तु धृतराष्ट ने एक बार भी उससे यह नहीं पूछा कि वह मृगया के लिए क्यों जा रहा है। अभी-अभी तो वह दिग्विजय से लौटा था। बीच में एक सप्ताह का भी तो अन्तराल नहीं पड़ा था। विदुर के विवाह का अवसर न होता तो कदाचित पाण्डु एक सप्ताह भी हस्तिनापुर में न रुकता।...धृतराष्ट्र ने न केवल उसके प्रयाण के लिए प्रसन्नता से व्यवस्था करवाई, उसके साथ अनेक दास और परिचारक अपनी ओर से भी भेज दिये थे। जहाँ तक भीष्म जानते थे, वे सब धृतराष्ट्र के गूढ़ पुरुष थे जो निश्चित रूप से पाण्डु के सम्बन्ध में सूचनाएँ भेजने के लिए साथ भेजे जा रहे थे। धृतराष्ट्र, पाण्डु के लिए वन में इतनी सुविधाओं का प्रबन्ध करा देना चाहता था कि उसे हस्तिनापुर के प्रासाद का अभाव कभी न खटके..

क्या चाहता था धृतराष्ट्र? क्या वह पाण्डु के विरुद्ध कोई राजनीतिक षड्यन्त्र रच रहा था? क्या वह चाहता था कि पाण्डु हस्तिनापुर से दूर-ही-दूर रहे...और भीष्म यह देख कर भी कुछ चकित थे कि अब धृतराष्ट्र पर्याप्त स्वतन्त्र और स्वाधीन हो गया था। शासकीय ही नहीं, पारिवारिक विषयों में भी वह इस बात की प्रतीक्षा नहीं करता था कि माता सत्यवती अथवा भीष्म इस विषय में कोई निर्णय करें। वह तत्काल स्वयं निर्णय कर, आदेश दे देता था। पता नहीं वह मानसिक दृष्टि से इतना परिपक्व और प्रौढ़ हो गया था, इतना समर्थ हो गया था, उसका आत्मविश्वास इतना समृद्ध हो गया था, या उसको गान्धारी तथा शकुनि की मन्त्रणा अत्यन्त अनुकूल पड़ रही थी ...पहले जहाँ वह स्वयं को सदा असहाय तथा तटस्थ मानता था, अब वहीं अधिकार और अधिकार के प्रयोग के लिए, उसकी लालसा बढ़ती जा रही थी...

धृतराष्ट्र के मन में कदाचित अपने जन्मान्ध होने का खेद प्रबलतर होता जा रहा था; और सत्ता-प्राप्ति की इच्छा शक्तिशाली होती जा रही थी...भीष्म कभी-कभी सोचते थे तो चकित रह जाते थे कि जो जितना विकलांग और अक्षम है, सत्ता के पीछे वही क्यों इतना भाग रहा है? जो समर्थ है, अधिकारी है, सत्ता उसे क्यों इतनी आवश्यक नहीं लगती। क्या सत्ता का इच्छुक वही है, जो उसका दुरुपयोग करना चाहता है। सारे दुर्वृत्त क्यों सत्ता के आस-पास मण्डलाकार घिर आते हैं और साधुवृत्ति वाले लोग, उससे किसी प्रकार मुक्ति पाना चाहते हैं...

धृतराष्ट्र की बात तो फिर भी भीष्म समझते हैं, किन्तु पाण्डु क्यों हस्तिनापुर से भागा-भागा फिरता है? अपने पहले विवाह के पश्चात जब वह दिग्विजय के लिए निकला था तो भीष्म ने माना था कि वह कुन्ती की अवहेलना करने अथवा उससे दूर रहने के लिए ऐसा कर रहा है, इसलिए उन्होंने उसके लिए दूसरी पत्नी की व्यवस्था की थी। फिर भी वह दिग्विजय के लिए चला गया, तो वे उसकी मनःस्थिति समझ नहीं पाये।...उसने कहा था कि अपनी रानियों के निकट आते ही, उसके मन में हिंसा जागती है। किन्तु अब तो वह दोनों पत्नियों को साथ ले कर गया है।...यदि वह कहता कि वह अपनी रानियों के साथ वन-विहार करने जा रहा है, तो भीष्म समझते कि उसके मन में कामदेव ने अपना पसारा फैलाया है। किन्तु जैसी सूचनाएँ उनको मिलती रही हैं, उनके अनुसार पाण्डु अपनी दोनों पत्नियों में से किसी एक की भी ओर इतना आकृष्ट नहीं हुआ कि हस्तिनापुर के प्रासादों का एकान्त भी उसे पर्याप्त न लगता। अपनी रानियों को ले कर वन-विहार के लिए वह राजा जाता है, जो इतना उन्मुक्त विलास चाहता है कि राजप्रासादों की दीवारें भी उसे अपने एकान्त में बाधा लगती हैं; या फिर वह राजा जाता है, जो राजधानी की एकरसता से ऊब कर कोई परिवर्तन चाहता है, किन्तु पाण्डु के संदर्भ में तो इनमें से कुछ भी उपयुक्त नहीं लगता...पाण्डु भी क्या सम्राट शान्तनु के समान उद्भ्रान्त हो गया है। वे भी तो इसी प्रकार राजधानी को छोड़ कर, वनों और नदियों के कछारों में घूमा करते थे। किन्तु वे तो अपनी पत्नी के विलग हो जाने के कारण काम-पीड़ा...कहीं पाण्डु भी तो काम-यातना से ही पीड़ित नहीं है? किन्तु पाण्डु की पत्नियाँ तो उसे छोड़ कर नहीं गयी हैं...

भीष्म को लगा, उनके मन के कुछ प्रश्न जैसे पिघलने लगे हैं, और उन प्रश्नों के शवों में से ही कुछ उत्तर जन्म लेने लगे हैं...यह वही काम-यातना नामक चाण्डालिनी ही है, जो पाण्डु के पीछे पड़ी है। काम-पीड़ा ही मनुष्य को इतना चंचल, व्याकुल और उद्भ्रान्त कर देती है। पत्नी निकट हो या न हो।...भीष्म को अपने पिता और अधिक याद आते गये...उन्हें भी काम-सुख से अधिक काम-यातना ही मिली थी अपनी पत्नी से।...कामदेव है ही ऐसा मायावी; जो सुख के मुखौटे के पीछे पीड़ा को छिपाये रहता है। कामदेव ही क्यों...सारी सृष्टि ही माया की क्रीड़ा है। प्रत्यक्ष कुछ

होता है और वास्तविकता कुछ और होती है। सारी यातनाएँ कितने आकर्षक मोहों का आवरण ओढ़े हुए हैं...सुन्दर कामिनी शरीर का, प्रिय पुत्र का, स्वर्णिम सिंहासन का, प्रेमातुर प्राणाधिक प्रिय भाई का...सब मोह हैं, मनुष्य के विवेक को भ्रमित करने के लिए...कहीं ऐसा तो नहीं कि पाण्डु काम-सुख से खिंचा हुआ हस्तिनापुर आता हो, और काम-पीड़ा पा कर वापस लौट जाता हो...और इस बार धृतराष्ट्र ने पाण्डु की दोनों पत्नियों को भी साथ कर दिया हो, ताकि पाण्डु हस्तिनापुर लौटे ही नहीं। वन में ही उसकी सुख-सुविधाओं का प्रबन्ध होता रहे...और हस्तिनापुर में केवल धृतराष्ट्र रहे...अकेला, स्वामी सरीखा...

"आओ भीष्म!" सत्यवती बोली, "मैं आज प्रातः से ही तुमसे मिलना चाह रही थी।"

"क्या बात है माता?"

"मेरा मन इस पाण्डु के लिए बहुत चिन्तित रहने लगा है।"

"क्यों माता?"

"एक तो इसलिए पुत्र! कि तुम्हारे पिता के पश्चात! हस्तिनापुर का यह पहला सम्राट है, जो अपने पूर्ण अधिकारों के साथ सिंहासन पर बैठा है, वयस्क है, स्वतन्त्र है, सत्ता सँभालने में समर्थ है।"

"यह तो शुभ लक्षण है माता!"

"तभी तो चिन्तित रहती हूँ कि इतने समय के पश्चात तो ऐसा राजा आया है: और उसके पैरों में ऐसा चल-चक्र है कि वह हस्तिनापुर में टिकता ही नहीं।"

"तो भी चिन्ता की क्या बात है माता!" भीष्म, सत्यवती को मात्र सान्त्वना देने के लिए कहते जा रहे थे, "राजा को तो अपने राज्य में भ्रमण करते रहना चाहिए। विभिन्न स्थानों का निरीक्षण करते रहना चाहिए। प्रजा-जनों से मिलते रहना चाहिए। इससे उसका अपनी प्रजा से सम्पर्क बढ़ता है, वह अधिक सचेत रहता है...वह अधिक समर्थ बनता है।"

"वह तो ठीक है।" सत्यवती बोली, "पर वह भ्रमण कहाँ करता है रे! कभी युद्ध करता है, कभी मृगया। जोखम के काम हैं। लगता है, स्वयं से ही रुष्ट है जैसे। ऐसा ही मेरा चित्रांगद था। किसी-न-किसी से भिड़ना ही था उसको। परिणाम शुभ तो नहीं हुआ न! वही स्थिति अब इसकी है।...मैंने सुना है कि पांचालों को इसने इतना पीड़ित किया है कि वे कौरवों के परम शत्रु हो गये हैं। मुझे कुछ ऐसी भी सूचनाएँ मिली हैं कि द्रुपद का विचार है कि यह सब तुम करवा रहे हो। अतः वह तुमसे शत्रुता पाल रहा है...।"

"तो क्या हो गया माता!" भीष्म बोले, "जिन राज्यों की सीमाएँ मिलती हैं, उनमें मित्रता कम ही होती है। कुरुओं और पांचालों में तो मित्रता की परम्परा कभी रही ही नहीं!..."

"और अब मृगया के लिए गया है।" सत्यवती ने जैसे भीष्म की बात सुनी ही नहीं, "वहाँ जा कर सिंहों और हिंस्र पशुओं से भिड़ेगा। नयी-नवेली दो पत्नियाँ साथ ले गया है। मुझे तो लगता है कि पगला गया है।"

"पगला नहीं गया है माता!" भीष्म हँसे, "नया-नया विवाह हुआ है। एक नहीं, दो-दो पत्नियाँ साथ हैं। योद्धा, युद्ध-क्षेत्र से लौटेगा, तो कामदेव का आह्वान नहीं सुनेगा क्या! क्षत्रिय तो जीवन को भरपूर भोगता है। ग्रहण करता है तो समग्र को, और त्यागता है तो समग्र को। उन्हें जीवन भोगने दो।"

"जीवन यहाँ भी तो भोगा जा सकता था।" सत्यवती अपनी भीतरी व्याकुलता से आविष्ट थी, "यहाँ प्रासाद हैं, दास-दासियाँ हैं, कामिनियाँ हैं, खाद्य पदार्थ हैं, मद्य-मदिरा-सुरा...क्या नहीं है?"

भीष्म हँसे, "यहाँ भाई-भाभियाँ हैं, माताएँ हैं, पितृव्य हैं, पितामही हैं, राज्य के दायित्व हैं, और जन-संकुलता है।..." भीष्म मन-ही-मन सोचते जा रहे थे कि जिन तथ्यों से वह स्वयं सहमत नहीं हैं, उनसे वे सत्यवती को क्यों बहला रहे हैं, "यहाँ न मुक्त विहार हो सकता है, न उन्मुक्त व्यवहार। यहाँ वे यह नहीं भूल सकते कि वे राजा और रानी हैं, उनकी मर्यादा है। वहाँ वे प्रकृति के जीव होंगे। उन्मुक्त विहार करेंगे।..."

"और हस्तिनापुर में छोड़ गये हैं इस नराधम धृतराष्ट्र और उस दुर्वृत्त पापी शकुनि को..." सत्यवती बोली।

"उनसे आपका क्या विरोध है माता?"

सत्यवती ने सठियाये-से ढंग से भीष्म को देखा, "क्या तुम नहीं जानते कि धृतराष्ट्र के हाथों कोई दासी सुरक्षित नहीं है और शकुनि के आस-पास, सिवाय जुआरियों और मद्यपों के और किसी का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। जब लम्पटता, व्यभिचार, सुरापान और द्यूत–ये सारे एकत्रित हो जायेंगे, तो कौन-सा अनर्थ होने से रह जायेगा

पुत्र?"

"आजकल यही तो क्षत्रिय राजपुत्रों के आभूषण हैं माता!" भीष्म के स्वर में विषाद का विष घुला हुआ था, "सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि यह सब शासन के केन्द्र से हो रहा है। हीन-वृत्तियों को गौरवान्वित किया जा रहा है।"

"ये लोग राजा राजकुमार हैं अथवा दुर्वृत्त आततायी गुण्डे।" सत्यवती जैसे अपने-आपसे पूछ रही थी, "जो अपराधी हैं, वे ही न्यायकर्ता के आसन पर आसीन हैं। तो अपराधियों को दण्डित कौन करेगा?...मेरा पाण्डु ऐसा नहीं है। उसे हस्तिनापुर में रहना चाहिए।...मुझे तो सोच-सोच कर भय-सा लगने लगा है।"

"किस बात का भय माता!"

"अरे जब दुष्ट, मद्यप और व्यभिचारी लोगों के हाथों में सत्ता आ जायेगी तो कौन-सा दुराचार होने से रह जायेगा। हत्याएँ नहीं होंगी या बलात्कार नहीं होंगे। जब ऐसे निर्लज्ज और पापी शासक होंगे, तो कोई न्याय माँगने कहाँ जायेगा।"

"चिन्तिन न हों माता! अभी आपका भीष्म इतना असमर्थ नहीं हुआ है।" भीष्म ने सत्यवती को सान्त्वना दी।

"नहीं हुआ है, तो हो जायेगा।" सत्यवती बोली, "मुझे लगता है कि सब कुछ मेरे हाथों से निकल गया है। तुम्हारे हाथों से भी निकल गया है। अब तुम्हारे हाथ में कोई भी अधिकार नहीं रह गया है। है न?"

"नहीं माता! ऐसा कैसे हो सकता है।" भीष्म ने हँसने का प्रयत्न किया।

"ऐसा नहीं है तो शकुनि को गान्धार भेज दो; और जैसे तुमने एक बार अविनीत व्यवहार करने पर, विचित्रवीर्य को चाँटा मारा था, वैसे ही धृतराष्ट्र को चाँटा मारो। जिन दासियों के साथ वह अत्याचार करे, उनका न्याय करो।"

भीष्म स्तम्भित-से खड़े रहे: क्या ऐसा सम्भव है?...राजा धृतराष्ट्र को न दण्डित किया जा सकता है, न सत्ताच्युत किया जा सकता है। तो माता सत्यवती ठीक कह रही हैं।

"नहीं कर सकते न!" सत्यवती बोली, "तभी तो कहती हूँ कि समय बदल गया है। तुम्हारे पिता चाहते तो मेरा अपहरण कर सकते थे, मुझे असत्य वचन दे कर वंचित कर सकते थे। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। तुमने वचन दिया और आज तक निभाया।" वह भीष्म की ओर मुड़ी, "और धृतराष्ट्र से कहो कि कोई एक दिन ऐसा बता दे, जिस दिन उसने झूठ न बोला हो। किसी को झूठा वचन न दिया हो। झूठा वचन और आश्वासन देना तो जैसे शासक का जन्मसिद्ध अधिकार हो गया है।"

भीष्म चुप खड़े रहे। क्या कहते।

"इसीलिए कहती हूँ, पाण्डु को शीघ्र वापस बुलाओ।" सत्यवती बोली, "इन दुर्वृत्तों को दण्डित चाहे न कर पाये, किन्तु स्वयं तो वह गुण्डई नहीं करेगा न!"

"प्रयत्न करूँगा माता!" भीष्म धीरे से बोले।

पाण्डु, कुन्ती और माद्री के पहुँचने से पहले ही कर्मचारियों ने शिविर स्थापित कर दिया था और सब कुछ व्यवस्थित-सा ही लग रहा था।

अपने लिए नियत मण्डप में प्रवेश कर कुन्ती और माद्री अभी आसन पर बैठी ही थीं कि पाण्डु बोला, "तुम लोग थोड़ा विश्राम करो। मैं शेष व्यवस्था देख कर आता हूँ।"

"व्यवस्था तो हो ही चुकी है।" माद्री जैसे इस उन्मुक्त वातावरण में अधिक चपल हो गयी थी।

पाण्डु के भाल पर खीझ की रेखाएँ प्रकट हुईं, "रथ से उतर कर मंच पर आसीन हो जाने से व्यवस्था नहीं हो जाती महारानी! और यह राजप्रासाद भी नहीं है, जहाँ प्रबन्ध-पटु कर्मचारी और स्थापित प्रबन्ध-परम्पराएँ हों।"

माद्री शायद कुछ और भी कहती, किन्तु कुन्ती ने उसे मौन रहने का संकेत किया। माद्री ने जैसे बलात् स्वयं को रोका और अपने इस आत्मदमन को सह्य बनाने के लिए दूसरी ओर देखने लगी।

माद्री और कुन्ती की ओर से जब न कुछ कहा गया, न कोई प्रतिक्रिया प्रकट की गयी तो पाण्डु के लिए जैसे वहाँ खड़े रहने का कोई कारण नहीं रह गया। वह व्यस्त-सा मण्डप से निकल कर बाहर चला गया।

"जाने किस बात से खीझे रहते हैं?" माद्री ने अपने दमित क्रोध को वाणी दी, "विवाह को अभी समय ही कितना हुआ है कि यह इस प्रकार व्यवहार कर रहे हैं।...यहाँ हम वन-विहार के लिए आये हैं, न कि किसी तपस्वी के आश्रम में मौन साधना करने...मुख से शब्द निकला नहीं कि हिंस्र व्याघ्र के समान झपट पड़ते हैं..."

"माद्री!" कुन्ती अत्यन्त शान्त स्वर में बोली, "मैं तुम्हारी पीड़ा समझती हूँ बहन!...मैं भी तो उसी स्थिति में जी रही हूँ: और उसी मनःस्थिति को झेल रही हूँ। मेरा परामर्श है कि कुछ धैर्य से काम लो। उन्हें समझने का प्रयत्न करो।"

"तुम्हें उन पर तनिक भी क्रोध नहीं आता? तुम्हारे मन में एकदम विरोध नहीं जागता?" माद्री बोली, "कैसी नारी हो तुम! मेरे भाई ने तो शुल्क ले कर मेरा दान कर दिया है। मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। किन्तु तुमने तो स्वयंवर में उसका वरण किया है। अपने साथ यौतुक ले कर आयी हो। तुम उनसे डरती क्यों हो?"

कुन्ती को स्मरण हो आया: अभी शायद पिछली ही भेंट में माद्री ने अपने कुलीन होने की बात की थी–राजपुत्री!...और वही माद्री अपनी पराधीनता, अपनी असमर्थता और बाध्यता की चर्चा कर रही है...

किन्तु यह सब कहने और सोचने का यह अवसर नहीं था।

"मुझे ऐसा लगता है माद्री! कि आर्यपुत्र हमसे नहीं, अपने-आपसे लड़ रहे हैं।...दुख तो दूसरों से लड़ने वालों को भी होता है, किन्तु स्वयं अपने-आपसे लड़ने वाला व्यक्ति जिस प्रकार की यातना पा रहा होता है, हमें उसे भी समझना चाहिए...।"

"तुमको उनसे बहुत सहानुभूति है?" माद्री के स्वर में अब भी उग्रता और रोष का दंश था।

"बात सहानुभूति की नहीं है।" कुन्ती बोली, "समस्या तो अपना जीवन जीने के लिए एक मार्ग निकालने की है।"

"क्या अभिप्राय है दीदी! तुम्हारा?"

"माद्री!" कुन्ती बोली, "हमारा विवाह आर्यपुत्र के साथ हुआ है। हमें अपना जीवन उनके साथ ही व्यतीत करना है। अब यह हमारी अपनी बुद्धि पर निर्भर करता है कि हम उसे कितने सरल, सहज, सुचारु और सुव्यवस्थित ढंग से जी सकती हैं।...जैसे यह मण्डप मृगया-काल तक के लिए हमारा आवास है...यह हमारे अपने विवेक पर निर्भर है कि इसका उपयोग किस प्रकार अधिकतम सुविधाओं के लिए कर सकती हैं...।"

"मुझे तो न वह समझ में आता है, न तुम!" माद्री का मन अब भी शान्त नहीं था।

साँझ झुकने लगी थी, जब पाण्डु आया।

उसे देखते ही माद्री जैसे पुनः भड़क उठी, "यह वन-विहार है या कारागार! हमें ला कर यहाँ पटका और स्वयं विलीन हो गये।"

पाण्डु की भृकुटियाँ फिर से चढ़ गयीं, "यह मृगया है, वन-विहार नहीं। राज-परिवार के उस दल के लिए,

जिसमें तुम जैसी सुकुमारी नारियाँ भी हों, शिविर स्थापित करना साधारण कार्य नहीं होता। आस-पास का प्रदेश न समतल है, न सुविधाजनक। आस-पास सभ्यजनों का कोई नगर, ग्राम अथवा जनपद भी नहीं है। यहाँ इस असुविधाजनक सघन वन में, तुम लोगों के लिए राजसी सुविधाएँ जुटानी हैं मुझे...।"

"राजसी सुविधाओं का अभाव नहीं था हस्तिनापुर में। उन्हें जुटाने के लिए यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी?..."

पाण्डु कदाचित कुछ और उग्र हो कर उत्तर देता: किन्तु उससे पहले ही कुन्ती ने स्थिति सँभाल ली, "चुप रहो माद्री!" वह पाण्डु की ओर मुड़ी, "आर्यपुत्र! सचमुच आप सुविधाएँ जुटाने के लिए इस प्रकार उद्विग्न और व्याकुल न हों।" बात को और अधिक प्रभावकारी बनाने के लिए वह मुस्कुरायी, "माद्री भी कुछ अनुचित तो नहीं कह रही। सुविधाओं की तो सचमुच हस्तिनापुर में कमी नहीं थी। हम तो आपकी संगति के चाव में आपके साथ आयी हैं। यदि यहाँ भी हमें आपका सान्निध्य नहीं मिला, तो हमें यह मृगया रुचिकर कैसे लगेगी...।"

कुन्ती की वाणी के माधुर्य और उसकी भंगिमा की कोमलता के सामने पाण्डु की उग्रता टिक नहीं पायी; किन्तु उसने व्यवहार की कठोरता नहीं छोड़ी, "तुम्हें मृगया रुचिकर न लगे तो हस्तिनापुर लौट जाओ।" वह रुका, "मैं यह कहने आया था कि मैं पुनः जा रहा हूँ। भोजन के लिए भी नहीं आऊँगा। तुम लोग भोजन कर लेना। न मेरी प्रतीक्षा करना और न मुझे बुलाने का आग्रह।"

माद्री और कुन्ती दोनों ही अवाक्-सी जाते हुए पाण्डु को देखती रहीं।

"यह हमारा अपमान करने के लिए हमें साथ लाया है।" माद्री न अपने क्रोध को रोक पा रही थी, न कष्ट को।

"नहीं! वह हमारा अपमान करने के लिए साथ नहीं लाया: हम साथ आयी हैं, इसलिए हमारा अपमान कर रहा है...या शायद स्वयं को अपमान से बचाने के लिए, हमसे भाग रहा है।" कुन्ती धीरे से बोली।

"अपनी पत्नियों के साथ मधुर व्यवहार करना, उनके साथ सुख से समय व्यतीत करना–क्या यह अपमानजनक होता है?"

"यह तो समय ही बताएगा।" कुन्ती ने कहा।

माद्री को लगा, पाण्डु के विरुद्ध उसके मन में एकत्रित आक्रोश का एक अंश कुन्ती के विरुद्ध स्थानान्तरित होता जा रहा है।

भोजन के समय तक पाण्डु नहीं लौटा। भोजन लाने वाली दासी तथा द्वार पर खड़े प्रहरियों को पता नहीं था सम्राट कहाँ हैं।...और न कुन्ती में इतना साहस था, न माद्री में कि वे इस सघन वन में, रात के इस अन्धकार में, पाण्डु को खोजने के लिए निकल पड़तीं।

"यह तो सरासर अपमान है दीदी!"

कुन्ती कुछ नहीं बोली।

"बोलती क्यों नही दीदी?"

"क्या बोलूँ! इस अपमान को आदर में परिवर्तित करने का कोई मार्ग दिखायी पड़े तो बोलूँ।"

"यदि ऐसा अपमानित जीवन ही व्यतीत करना है, यदि इस प्रकार की यातनाएँ ही सहनी हैं," माद्री बोली, "तो मैं आत्मघात कर लूँगी।"

कुन्ती इस स्थिति में भी मुस्कुरायी, "वह तो कोई भी, कभी भी कर सकता है।"

"इसे परिहास मत समझना दीदी!" माद्री की वाणी, किसी भी क्षण आक्रोश से विकृत हो सकती थी, अथवा पीड़ा से रुँध सकती थी, "मैं जीवित रहूँगी तो अपने ढंग से, अन्यथा जीवन को समाप्त कर दूँगी।"

"मैं तुम्हारी बात को परिहास नहीं समझती माद्री।" कुन्ती बोली, "किन्तु मैं जीवन को समाप्त करने से श्रेष्ठ, उसे अपने अनुकूल करना समझती हूँ। और जीवन को अपने अनुकूल करने के लिए बहुत कुछ सहन करना पड़ता है, साहस करना पड़ता है।"

"सह नहीं रही क्या मैं?"

"क्षमा करना।" कुन्ती का स्वर गम्भीर था, "यह सहना भी कोई सहना है। पति से मतभेद हो गया, कहा-सुनी हो गयी...।" उसने रुक कर माद्री को देखा, "मेरा अभिप्राय कुछ और मत समझना बहन! मैं तुम्हारी व्यथा को छोटा नहीं कर रही। उस पीड़ा को स्वयं भी सहन कर रही हूँ। किन्तु पूरी निष्ठा से एक बात कहना चाहती हूँ। सुनोगी?"

लगता था, कुन्ती की शान्ति का प्रभाव माद्री पर भी पड़ा था। उसकी मुद्रा भी शान्त हुई, "कहो। सुनूँगी।"

"मैं यादव कन्या हूँ। यादवों ने अनेक असह्य अत्याचार सहे हैं और अब भी सह रहे हैं। तुम्हें मालूम है, मेरे भाई वसुदेव और भाभी देवकी को बन्दी बना कर कंस ने कारागार में डाल रखा है।...उनकी सद्यःजात सन्तानों की वह एक-एक कर हत्या कर रहा है...तुम्हारे पति द्वारा किया गया अपमान क्या उस पीड़ा से भी बड़ी यातना है?" वह रुकी और फिर बोली, "हमने अपने सामाजिक और व्यक्तिगत अनुभवों से जाना है कि जीवन बहुत विराट है। उसके असंख्य पक्ष हैं। उसमें सब कुछ व्यक्ति के अनुकूल नहीं होता। उसका स्वाभिमान और सम्मान शाश्वत और अक्षत नहीं है। शाश्वत है उसका प्रयत्न, अनवरत उद्यम, अपराजेय आस्था, अविचलित बुद्धि और विवेक।" माद्री को लगा कि कुन्ती ने अपने अश्रु पोंछे हैं, "कई बार कोई तुम्हारा देय तुम्हें नहीं देता; अनेक बार तुम्हारा प्राप्य तुम्हें प्राप्त नहीं होता; किन्तु अनेक बार तुम्हें प्राप्त हो चुकने के बाद तुम्हें उनसे वंचित कर दिया जाता है...तुम्हें सब कुछ सहना पड़ता है, मौन-मूक...।"

"तुमने क्या यह सब सहा है बहन?" माद्री ने अबोध शिशु के समान पूछा।

"मैं जननी-जनक से दूर, भोजपुर में अपने पिता राजा कुन्तिभोज की छत्रछाया में पली। और भाभी के विषय में बता चुकी हूँ। पति का व्यवहार तुम देख ही रही हो। और...और..."। कुन्ती की आँखें मुँद गयीं। उसकी बन्द आँखों के सम्मुख एक और कुन्ती थी, जो एक नन्हा-सा शिशु कुन्तिभोज की गोद में डालती हुई अपने नयनों से टपकते हुए अश्रुओं से उसे नहला रही थी...

"तुमने बहुत सहा है बहन।"

प्रायः लगभग आधी रात में पाण्डु लौटा।

माद्री और कुन्ती–दोनों ही जाग रही थीं।

"तुम लोग थक गयी होगी। मैं भी थक चुका हूँ।" पाण्डु बोला, "प्रातः जल्दी ही आखेट के लिए जाना है। सो जाओ।"

न माद्री ने कोई उत्तर दिया, न कुन्ती ने। पाण्डु को उत्तर की कोई अपेक्षा थी भी नहीं थी। वह अपने बिस्तर पर लेट गया।

वे सोयीं या नहीं, पाण्डु जान नहीं सका। वे अपने बिस्तरों पर इतनी निश्चल पड़ी हुई थीं कि कहना कठिन था कि वे निद्रा में अचेत हैं, या जाग रही हैं और सायास दम साधे पड़ी हैं। पाण्डु के लिए यह सब जानना आवश्यक भी नहीं था।

स्वयं पाण्डु को निद्रा नहीं आ रही थी। उसे पिछली कई रातों से या तो नींद आयी ही नहीं थी, या बहुत कम आयी थी। वह समझ रहा था कि वह भीषण रूप से थका हुआ है। उसने सायास स्वयं को थकाया था। वह चाहता था कि उसका मन और शरीर इतना थक जाये, इतना थक जाये कि वह अचेत हो कर गिर पड़े और गहरी निद्रा में खो जाये। उसे यह चेतना ही न रहे कि उसके आस-पास कौन है, उसका किससे क्या सम्बन्ध है, और उससे किसको क्या अपेक्षा है...

किन्तु ऐसा हो नहीं रहा था। उसका शरीर और मस्तिष्क इतना-इतना थक जाते थे कि टूटने-टूटने को हो जाते थे। वह स्वयं को जितना अधिक थकाता था, उससे नींद उतनी ही दूर भाग जाती थी। उसे लगता था कि वह पागल हो जायेगा...

कुन्ती के स्वयंवर में जाने से पहले, वह अपने विषय में क्या जानता था? कुछ भी तो नहीं। भैया धृतराष्ट्र जन्मान्ध होने पर भी स्त्री-प्रसंग में रुचि लिया करते थे और कदाचित उन्हें किसी किशोरी या युवती के निकट आते ही जैसे उसकी गन्ध आ जाती थी।...विदुर की रुचि गम्भीर विषयों की ओर अधिक थी। वह शास्त्रों की बात करता था। जीवन और जगत के प्रश्नों की चर्चा करता था। सृष्टि के विषय में कई शाश्वत प्रश्न थे उसके मन में। अवसर मिलते ही वह उनकी चर्चा करता था। उसकी जिज्ञासाएँ अनन्त थीं...

किन्तु अपने विषय में पाण्डु इतना ही जानता था कि उसे राजा बनना था; और उसके लिए उसे योद्धा भी बनना था। शस्त्र-शिक्षा में उसे कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई थी। शरीर में चाहे असाधारण राक्षसी बल न रहा हो; किन्तु शस्त्र-परिचालन की दक्षता प्राप्त करना कठिन नहीं था। रण-कौशल के लिए शारीरिक-क्षमता के साथ जिस बुद्धि की आवश्यकता होती है, वह उसमें पर्याप्त थी। उसे कभी किसी प्रकार भी आभास नहीं हुआ कि उसके व्यक्तित्व में कहीं कोई न्यूनता है।...वर्ण पीला होने के कारण, कई बार वैद्यों ने ऐसे संकेत किये थे कि पाण्डु रोग के लक्षण हैं;

किन्तु वह रोग, पाण्डु के जीवन में कभी बाधा-स्वरूप उपस्थित नहीं हुआ था।

...और तभी उसने अपने मन में उठता काम-भाव पहचाना था। नर-नारी सम्बन्धों के प्रति जिज्ञासा जगी थी। नारी-सौन्दर्य उसमें एक मद-सा भर देता था। आँखें नारी-रूप को देखना चाहती थीं, कान नारी-कण्ठ को सुनना चाहते थे...और फिर उसमें स्पर्श की इच्छा जागी थी। कैसा मादक विचार था स्पर्श का। पाण्डु सोचता था, तो चकित रह जाता था...नारी-तत्त्व का अभाव नहीं था, हस्तिनापुर के राजप्रासाद में...चारों ओर दासियाँ, परिचारिकाएँ और प्रतिहारिणियाँ बिखरी पड़ी थीं। युवराज के रूप में वह उनके लिए कितना महत्त्वपूर्ण था। उसके एक संकेत पर अनेक-अनेक नारी शरीर उसके सम्मुख आत्म-समर्पण कर देते...किन्तु उसने पाया कि युद्ध-क्षेत्र का साहसी और शूर पाण्डु काम-क्षेत्र में पर्याप्त भीरु था। जाने क्यों उसका मन किसी के सम्मुख अपने इस आकर्षण...अपनी इस दुर्बलता को स्वीकार नहीं करना चाहता था। जैसे वह चाहता था कि उसे स्पर्श कर वह सुख मिल भी जाये, और कोई यह जान भी न पाये; और न यह कह ही पाये कि पाण्डु किसी दासी या परिचारिका के शरीर के आकर्षण में दुर्बल हो गया था।...अब वह हस्तिनापुर का सम्राट था...दासी और सम्राट का धरातल समान नहीं होता...किन्तु काम-सुख तो समता स्वीकार करके ही मिल सकता था...ऊहापोह की इस सारी प्रक्रिया में पाण्डु ने यही पाया कि काम-भाव के जागते ही उसका सारा शरीर तपने लगता है, सारे रक्त में जैसे एक मादक द्रव्य घुल जाता है, सारी चेतना मद-संचरण की-सी स्थिति में होती है और मन जैसे तृष्णा के सागर में ऊँची-से-ऊँची लहर के साथ टकरा कर चूर-चूर हो जाना चाहता है...

तभी कुन्ती के स्वयंवर का निमन्त्रण मिला था। पितृव्य भीष्म की भी इच्छा थी कि पाण्डु उस स्वयंवर में सम्मिलित हो।...कैसी विचित्र उत्तेजना थी वह! कैसी मादक! पाण्डु ने कुन्ती को देखा...सम्पूर्ण नारी थी वह–सुन्दर, आकर्षक, मधुर, विकसित नारी शरीर के सम्पूर्ण वैभव से आपादमस्तक सम्पन्न! ओह कुन्ती! उसके सम्मुख तो घुटने टेक कर भी कहना पड़े, 'कुन्ती! मैं तुम्हारा याचक हूँ।' तो पाण्डु को कोई आपत्ति नहीं होगी...पर क्या कुन्ती उसे स्वीकार करेगी?

और पाण्डु के हर्ष और आश्चर्य की कोई सीमा नहीं रही, जब उसने देखा कि कुन्ती ने द्वन्द्व विहीन निष्कम्प हाथों से वरमाला उसके कण्ठ में पहना दी...

...पाण्डु की आँखों के सम्मुख विवाहोपरान्त कुन्ती से अपनी प्रथम भेंट का दृश्य घूम गया...

जब कुन्ती को पहली बार छुआ था पाण्डु ने...तो जैसे उसके रक्त के कण-कण में विद्युत की लहरें दौड़ गयी थीं। सारा रक्त मस्तक की ओर दौड़ा था। पाण्डु जैसे काम-सुख से मत्त हो उठा था...किन्तु तभी जैसे उसकी श्वास-प्रक्रिया बाधित होने लगी थी, वक्ष में शूल-सा उठा था और मस्तक फटने-फटने को हो गया था।

सागर-तट तक जा कर भी तृषित ही लौट आया था पाण्डु। कुन्ती उसके लिए सचमुच सागर ही थी।...नारी-सौन्दर्य और नारी-सुख का अथाह सागर, जिसमें उत्ताल तरंगें उठ रही थीं...। पाण्डु...तृषित, पाण्डु उसकी आरे बढ़ता था। तरंगें उसे भिगोती थीं। वह उसमें डूबता जाता था...आकंठ। किन्तु जल का पहला बिन्दु ही अधरों से लगता था और उसका लवण कष्ट देने लगता था...पाण्डु समझ जाता था, यह उसके लिए निषिद्ध जल था...अपनी तृष्णा और निषिद्ध जल के मध्य मृग के समान दौड़ते-दौड़ते वह हाँफ-हाँफ कर निर्जीव हो गया था...

अगले ही दिन पाण्डु ने अपने राजवैद्य से एकान्त में चर्चा की थी। वैद्य ने उसकी सारी बात सुन, और नाड़ी परीक्षण कर रहा था, "सम्राट! स्नायु-मण्डल की दुर्बलता शायद कामोत्तेजना सहन न कर पाये। आप काम-प्रसंगों से दूर रहें और औषध लें। सम्भव है कि कुछ विश्राम और कुछ औषध-बल से आपका स्नायु-मण्डप इतनी शक्ति प्राप्त कर ले कि यदा-कदा आप रति-सुख प्राप्त कर सकें। वर्तमान स्थिति में तो रति-सुख आपके लिए घातक भी हो सकता है।..."

तभी पाण्डु ने दिग्विजय की योजना बनायी थी। उसने सोचा था कि वह इसी बहाने कुन्ती से दूर भी रहेगा और औषध का सेवन भी करता रहेगा। किन्तु तभी पितृव्य भीष्म ने अपने अज्ञान में उसे माद्री मृग-तृष्णा में फँसा दिया था...

पाण्डु की लालसा उसे बार-बार प्रयोग दुहराने के लिए कशा लगाती रही, और उसका विवेक उसकी काम-ज्वाला पर ठण्डे जल की वर्षा करता रहा।...वह दिग्विजय भी कर आया...किन्तु न कुन्ती के संदर्भ में ही उसके स्नायु-तंत्र ने क्षमता अर्जित की थी, न माद्री के संदर्भ में...उसे दोनों के सान्निध्य से लज्जित हो कर भागना पड़ा था–

किन्तु पाण्डु का दर्प! उसका दर्प पराजय स्वीकार नहीं कर रहा था। वह स्वयं को असमर्थ, अक्षम, अपुरुष,

विकलांग, पंगु...कुछ भी मानने को तैयार नहीं था। वह पुरुष था, युवा था, वीर था, हस्तिनापुरर का सम्राट था...वह अपनी पत्नियों के सम्मुख, अपनी प्रजा के सम्मुख, परिवार के गुरुओं के सम्मुख कैसे स्वीकार कर ले कि वह पौरुष से रिक्त है...

उसने मृगया की योजना बनायी थी; और कुन्ती तथा माद्री ने उसे वन-विहार का रूप दे डाला था।...किन्तु पाण्डु के मन में इस समय हिंसा-ही-हिंसा थी। अपनी असमर्थता जैसे उसे हिंस्र से हिंस्रतर बनाती जा रही थी। उसका विवेक जैसे मदान्ध होता जा रहा था...वह नाश कर देगा, ध्वस्त कर देगा...

पाण्डु को नींद नहीं आयी और चारों ओर वन के पशु-पक्षियों और शिविर के मनुष्यों के जागने के प्रमाण मिलने लगे...

पाण्डु ने दाँतों से अपने होंठ काट लिए। आखेट के लिए वन में आया हुआ पाण्डु, प्रातः सो नहीं पायेगा। वह तो रात को ही अपने कर्मचारियों को नियुक्त करके आया था...

वह झल्ला कर उठ बैठा। उसकी दृष्टि कुन्ती और माद्री पर पड़ी। इस समय तो वे निश्चित रूप से सो रही थीं...

उसने निषंग कसा, धनुष उठाया और मण्डप से बाहर निकल आया।

प्रतिहारी चौंक कर उठ बैठे। वे असावधानी में पकड़े गये थे। सम्भवतः राजा समझ गये हों कि वे लोग रात को सो भी गये थे।...

किन्तु पाण्डु का ध्यान उस ओर नहीं था। इस समय तो वह किसी हिंस्र सिंह से भिड़ जाना चाहता था। अपने मन की सारी हिंसा को वह पूर्णतः रिक्त कर देना चाहता था। मन होता था कि धनुष-बाण भी त्याग दे और सिंह से मल्ल-युद्ध करे। एक बार शरीर क्षत-विक्षत हो जाये, मन अपनी इच्छा भर हिंसा-कृत्य कर ले। शायद उसकी आत्मा कुछ हल्की हो जाये।

सहसा उसका ध्यान अपने कुछ कर्मचारियों और सैनिकों की ओर गया। वे उसके पीछे-पीछे आ रहे थे, कदाचित उसकी रक्षा और सहयोग के विचार से।

"लौट जाओ।" पाण्डु ने आदेशात्मक स्वर में कहा, "मुझे किसी की आवश्यकता नहीं है।"

वे किंकर्तव्य-विमूढ़-से खड़े रह गये: राजाज्ञा का पालन करें, अथवा अपने कर्तव्य का? किन्तु राजा ने निश्चित शब्दों में उनके आने का निषेध किया है। वह कुछ क्षुब्ध भी दिखायी दे रहे थे। ऐसा न हो कि अपने कर्तव्य का पालन करते-करते, वे दण्ड के भागी बन जायें...

पाण्डु ने पगडण्डी छोड़ दी और सघन वन में घुस गया।

कल रात्रि को पाण्डु ने अपने सहयोगियों के साथ आखेट का जो स्वरूप निर्णीत किया था, उसे वह भूल चुका था। इस समय तो वह अकेला ही किसी अत्यन्त भयंकर तथा जोखिम-पूर्ण संकट में कूद पड़ना चाहता था, जैसे मस्तक की पीड़ा से व्याकुल हो कर कोई व्यक्ति अपना मस्तक शिला पर दे मारे...

उसे लग रहा था कि उसके सारे शरीर में जैसे एक ज्वर व्याप्त था, जिसका ताप निरन्तर बढ़ता ही जा रहा था। और वह ताप, सारा का सारा, उसके मस्तक में केन्द्रित होता जा रहा था।

सहसा पाण्डु ठिठक गया।

उसकी आँखों के सम्मुख, थोड़ी दूरी पर एक मृग-युगल, काम-क्रीड़ा में लीन था। या तो पाडु के पगों की इतनी आहट ही नहीं थी कि वन के इन सचेत प्राणियों को वह सुनायी पड़ती और वे वहाँ से भाग जाते, या शायद वे कामाराधना में इतने समाधिस्थ थे, कि उन्हें अपने परिवेश की कोई चेतना ही नहीं रह गयी थी।...

मृगी कटाक्ष से मृग की ओर देख रही थी, और मृग जैसे उसकी दृष्टि के इन्द्रजाल में बँधा हुआ, उसकी ओर खिंचता चला गया। दोनों ने एक-दूसरे को सूँघा, चाटा। किलोलें कीं। एक-दूसरे के आगे-पीछे भागे-दौड़े। और मृग ने जैसे अपनी भुआओं में मृगी को समेटा...

पाण्डु का मस्तक फटने-फटने को आया...जो सुख वन के एक साधारण पशु को भी प्राप्त है—महाराज पाण्डु उसके भी अधिकारी नहीं हैं—इतना असमर्थ है हस्तिनापुर का सम्राट।...आक्रोश का भयंकर ज्वार जैसे पाण्डु की शिराओं से फूट कर बाहर निकलना चाहता था। सम्राट पाण्डु का राजसी दर्प यह कैसे स्वीकार कर लेगा कि वह स्वयं को इन पशुओं से भी हीन और असमर्थ मान ले।...पाण्डु इतना असमर्थ नहीं है। जो सुख पाण्डु के लिए नहीं है, वह संसार में किसी के लिए नहीं रहेगा...

पाण्डु ने आवेश में तूणीर से बाण खींचा, प्रत्यंचा पर रखा; प्रत्यंचा खींची और अगले ही क्षण, बाण मृग के वक्ष

में धँस गया। मृग ने एक करुण चीत्कार किया और मृगी को छोड़ कर भूमि पर लेट गया...उसके शरीर की ऐंठन पाण्डु के नेत्रों से छुपी नहीं थी। पाण्डु ने किसी पशु या मनुष्य को आहत हो कर मरते हुए, कोई पहली बार नहीं देखा था: वीर क्षत्रियों के जीवन का तो वह सामान्य-सा क्रम था; किन्तु यह मृग, जो अभी अपनी प्रिया के आस-पास क्रीड़ा कर रहा था; उसे मुग्ध कर रहा था, और उस पर मुग्ध हो रहा था; उसके शरीर को सुख दे रहा था, और उससे सुख पा रहा था–अब अपने ही रक्त के वृत्त में पड़ा इस प्रकार ऐंठ रहा था, जैसे उसकी एक-एक नाड़ी को कोई रस्सी के समान बँट रहा हो। उसकी आँखें पीड़ा से जैसे बाहर की ओर उबल पड़ी थीं–कुछ ऐसी ही काम-यातना पाण्डु को स्त्री-सान्निध्य में होती थी; किन्तु यह काम-यातना नहीं, मृत्यु-यातना थी...

मृगी को जैसे पहले तो कुछ समझ में ही नहीं आया था कि मृग को हुआ क्या है।...क्या यह भी कोई नयी काम-लीला है, जिससे उनका सुख कुछ और बढ़ सके?...किन्तु नहीं।...और तब शायद मृगी यम का प्रत्यक्ष रूप देख और समझ सकी। उसने आकाश की ओर देख कर एक करुण चीत्कार किया, जिसने पाण्डु का हृदय भी दहला दिया...और उदभ्रान्त-सी वृक्षों के एक झुण्ड में विलीन हो गयी। पता नहीं वह अपने संगी की इस आकस्मिक मृत्यु से मूढ़ हो गयी थी या अपनी काम-पीड़ा की यातना को असह्य पा कर अनिर्णय में भाग गयी थी। अपने झुण्ड को बुलाने गयी थी...या...उन्हें सूचित करने गयी थी कि वन में एक ऐसा नृशंस मनुष्य आया है, जो कामारि शिव के पश्चात अब दूसरी बार कामदेव को भस्म कर देने पर तुला हुआ है...या मात्र उन्हें अपने प्राण बचाने के लिए सावधान करने गयी थी...

पाण्डु मृग के पास आया। मृग एक करवट गिरा पड़ा था। उसकी दो टाँगें धरती पर थीं, और दो ऐंठ कर वायु-मण्डल में ही रह गयी थीं। उसकी आँखें अपने कोटरों से बाहर निकल पड़ रही थीं...उसके चेहरे पर मृत्यु की यातना थी...या काम-यातना?...

पाण्डु को लगा, वह उस मृग का नहीं, उसका अपना चेहरा है। यदि वह कुन्ती और माद्री से भागेगा नहीं, तो उसका चेहरा भी इतना ही पीड़ित और यातनापूर्ण हो कर इसी प्रकार निर्जीव हो जायेगा।...किन्तु पाण्डु मरना नहीं चाहता। जीवन के सम्पूर्ण सुखों को प्राप्त करने के प्रयत्न में मृत्यु को प्राप्त होना श्रेयस्कर है, या एक सुख को त्याग कर जीवित रहना?...वह इस सुख की इच्छा छोड़ ही क्यों नहीं देता?...प्रकृति ने काम-सुख, सृष्टि के प्रत्येक जीव को दिया है...कीट-पतंग को भी...वनस्पति जगत को भी...पाण्डु किस-किसकी हत्या करेगा? किस-किसका नाश करेगा पाण्डु? किस-किसका चेहरा काम-यातना से, इसी प्रकार विकृत कर मृत्यु की यातना में परिवर्तित करेगा?...इस सुख को पाण्डु सृष्टि में से मिटा सकता है क्या? नहीं! तो फिर यह व्यर्थ का रक्तपात क्यों?...यह मृग-युगल अपने सुख में लीन था–पाण्डु ने अपनी प्रतिहिंसा में उनसे वह सुख तो छीन लिया–किन्तु पाण्डु को उससे क्या मिला?...पाण्डु का लक्ष्य क्या है? अपने सुख की प्राप्ति या दूसरों को उसके सुख से वंचित करना?...

दूसरों को सुखी देख कर, पाण्डु का वंचित हृदय, अपनी प्रतिहिंसा से संचालित हो कर संसार भर का सुख छीनने का प्रयत्न करेगा...संसार में विरोध, कष्ट, दुख, क्लेश बढ़ेगा...क्या अपने चारों ओर एक तामसिक नरक का निर्माण कर पाण्डु आनन्दित होगा?...वह तो और दुखी होगा। प्रतिहिंसा ने किसी को आज तक सुखी किया है क्या?

किन्तु उसके लिए रजोगुण-परिचालित क्षत्रिय-वृत्ति नहीं, सतोगुण-नियन्त्रित तापस-वृत्ति चाहिए। पितृव्य गांगेय भीष्म ने भी तो सब प्रकार से समर्थ होते हुए भी, अपने पिता के सुख के लिए, अपना सुख सदा-सर्वदा के लिए त्याग दिया था। उससे उनको यश और सम्मान मिला। वह सुखी ही हुए।...उन्होंने भी प्रतिहिंसा का मार्ग अपनाया होता, तो वह मात्र कुरुकुल के ही विनाश के कारण न बनते, सम्पूर्ण विश्व को श्मशान बना डालते। किन्तु दूसरों को सुख से वंचित कर, वह कदापि सुखी न हो पाते। इसीलिए तो उन्होंने त्याग का मार्ग अपनाया।...पाण्डु को भी, भीष्म के मार्ग पर चलना चाहिए। तपस्या और त्याग का मार्ग! शायद वह उससे सुखी हो सके...

पाण्डु मृग के पास और खड़ा नहीं रह सका। किसी जीवित मृगि ने उसे आज तक कभी कुछ नहीं कहा था, किन्तु यह मृत मृग जाने, जीवन के कौन-कौन से भेद उसे समझाता जा रहा था...

पाण्डु भूल गया कि उसका शिविर किधर है। वह भूल गया कि उसके साथ कुन्ती और माद्री हैं, सैनिक और कर्मचारी हैं, दास और दासियाँ हैं। वह विक्षिप्त-सा आगे बढ़ता चला गया, जिधर उसके पग उठे...

और थोड़ी ही दूर जा कर उसने देखा: वनवासी तपस्वियों के कुछ कुटीर थे। तो यह कोई आश्रम होगा। हाँ! शायद किंदम ऋषि का आश्रम है, यहीं कहीं। वही होगा...मन्त्रों के उच्चारण का मधुर स्वर सुनायी पड़ने लगा था। कुटीरों के मध्य से कहीं यज्ञ का धुआँ भी उठ रहा था...

पाण्डु के हाथों ने जैसे स्वतः ही शस्त्र त्याग दिये और मंद गति से चलता हुआ, वह जा कर आश्रमवासियों के पीछे बैठ गया...

प्रार्थना के पश्चात कुलपति ने अपनी आँखें उठायीं, "स्वागत महाराज पाण्डु! मैं किंदम, अपने आश्रम में आपका स्वागत करता हूँ।"

पाण्डु ने खड़े हो कर प्रणाम किया, "आपने मुझे पहचान लिया कुलपति!"

"हमें सूचना थी कि आप मृगया के लिए यहाँ आये हैं।" किंदम बोले, "यह पता नहीं था कि आप हमारी उपासना में सम्मिलित होने के लिए प्रातः ही आ जायेंगे। आप सुखी तो हैं सम्राट?"

पाण्डु को लगा कि ऋषि ने उसके घाव को ऐसे छील दिया है कि अब उसके लिए स्वयं को सँभालना बड़ा कठिन हो गया है। पाण्डु की मनःस्थिति ऐसी थी कि न वह माँ के कंधे से लग कर रो सकता था, न पत्नी के वक्ष से। क्या करे वह, किस से कहे...

वह आगे बढ़ कर ऋषि के चरणों में गिर पड़ा। उसकी आँखों से अश्रु बह निकले, "सुख कहाँ है ज्ञानधाम?"

ऋषि ने आश्चर्य से उसे देखा: सम्राट को क्या हो गया है?

"क्यों, क्या मृगया में सुख नहीं है?" ऋषि किंदम मुस्कुरा रहे थे।

"मैं मृगया के लिए नहीं आया था।" पाण्डु अवरुद्ध कण्ठ से बोला, "मैं तो अपनी यातना को भूलने के लिए आया था। अपने-आपसे भाग कर आया था। आखेट तो एक बहाना मात्र था।..."

ऋषि गम्भीर हो गये। उन्होंने ध्यान से पाण्डु को देखा। उसके किरीटविहीन सिर पर हाथ रखा, केशों को स्नेह से सहलाया, "उठो! मेरी कुटिया में आओ।"

ऋषि के पीछे-पीछे पाण्डु उनकी कुटिया में आया। ऋषि अपने आसन पर बैठ गये। उन्होंने अपने सामने रखे मंच की ओर संकेत किया, "बैठो! यह समय मेरी एकान्त साधना का है। इस समय इस कुटिया में कोई नहीं आयेगा। तुम्हारा रहस्य, रहस्य ही रहेगा। अपनी व्यथा कह डालो।"

पाण्डु ने अश्रु पोंछे और मंच पर बैठ गया, "अब रहस्य को रहस्य रखने की भी इच्छा नहीं है ऋषिवर! मैं और घुट नहीं सकता। अपने यथार्थ को स्वीकार करना चाहता हूँ"

"कहो!"

पाण्डु अपनी बात कह चुका तो ऋषि बोले, "वह आश्रम का मृग रहा होगा; तभी वह तुम्हें देख कर भागा नहीं राजन्! आश्रम के मृग, मनुष्य के सामीप्य के अभ्यस्त होते हैं। तुमने मृग का वध कर अच्छा नहीं किया। आश्रम के मृग आखेट के लिए नहीं होते।"

"मुझसे वह भूल हुई है," पाण्डु बोला, "मैं उसका प्रायश्चित्त करने को भी प्रस्तुत हूँ। किन्तु ऋषिवर! मुझे इस कष्ट से मुक्ति कैसे मिलेगी?"

"जैसे उस मृग को मिली।"

"अर्थात?"

"काल के द्वारा!"

"नहीं!" पाण्डु चौंक उठा, "नहीं! क्या काम-सुख की इच्छा इतना बड़ा अपराध है, जिसका दण्ड मात्र मृत्यु ही है?"

"मैं न अपराध की बात कह रहा हूँ, न दण्ड की।" ऋषि बोले, "मैं तो केवल इतना कह रहा हूँ राजन्! कि कामना दुख का द्वार है। और दुख का अन्त मृत्यु के द्वारा ही होता है।"

"अर्थात सुख कुछ नहीं है?" पाण्डु ने पूछा।

"सुख आत्मक्षय का तीव्रगामी माध्यम है।" ऋषि बोले, "जिसे हम सुख कहते हैं, वह जीवनी-शक्ति का मात्र त्वरित क्षय है। सुख की कामना ही दुख का कारण है। दुख से छूटना है तो कामना को त्याग दो।" ऋषि ने रुक कर पाण्डु को देखा, "वस्तुतः वह मृग तुम्हारा गुरु था, मार्ग-दर्शक था। उसने तुम्हें जीवन का एक रहस्य समझाने के लिए अपने प्राणों का मूल्य चुकाया है। उसने तुम्हें समझाया है: शान्ति का एक ही मार्ग है–कामना का त्याग! सुख और दुख–दोनों एक ही सत्य के दो पक्ष हैं। दोनों की जननी कामना है; और दोनों का परिणाम मानसिक अशान्ति है।

शान्ति चाहते हो तो दुख के साथ सुख को भी छोड़ो! कामना का त्याग करो। त्याग में शान्ति है, आनन्द है। कामना दुख है, वासना यातना है। कामवासना तो मृत्यु ही है। काम में प्रवृत्त होगे तो यम के गाल में समाओगे; काम से दूर रहोगे तो भीष्म के समान यशस्वी जीवन पाओगे।" ऋषि ने पाण्डु की ओर देखा, "यद्यपि वह मृग हमारे आश्रम का था, तथापि अब वह तुम्हारा है। तुम चाहो तो उसे ले जा सकते हो। उसका मांस और चर्म प्राप्त कर सकते हो।"

पाण्डु ने उठ कर ऋषि को प्रणाम किया। वह कुटीर से बाहर निकल आया। हत मृग की ओर वह नहीं गया। उसके मन में मृगया का आह्लाद नहीं था। न मृग के मांस की इच्छा थी, न उसका चर्म प्राप्त करने का उत्साह।...उस मृग के मांस और चर्म की इच्छा वह कैसे करता, जिसने एक गुरु के समान उसे जीवन की समस्याओं का समाधान दिया था। वह न सामान्य मृग था, न साधारण पशु–वह तो उसको जीवन का मूल तत्त्व समझाने वाला तत्त्वदर्शी, सत्यद्रष्टा था।

लौटते हुए पाण्डु ने अपने शस्त्र नहीं उठाये। दृढ़ और कदाचित एक निर्णय पर पहुँचे हुए निर्द्वन्द्व मन से वह शिविर में लौटा।...जिस सत्य का साक्षात्कार उसने कर लिया था, उसका कुछ आभास, उसे, अन्य लोगों को भी देना था। अपने निर्णय को प्रचारित करना था।

माद्री ने पाण्डु को देखते ही मुँह फेर लिया; किन्तु कुन्ती ने जैसे सहज स्वर में पूछा, "कहाँ गये थे आप?"

"सुख की खोज में!"

"मिला?"

"कह नहीं सकता; किन्तु ज्ञान मिला। सत्य का कुछ-कुछ आभास होने लगा है मुझे।"

"क्या?"

"सुख की कामना एक मृग-तृष्णा है। वह दुख का प्रवेश-द्वार है।"

कुन्ती का मन हुआ अट्टहास कर उठे: हस्तिनापुर का सम्राट पाण्डु आज कैसी बातें कर रहा है। नाटक तो नहीं कर रहा?...किन्तु पाण्डु के चेहरे के भावों को देखते हुए, न उसे हँसने का साहस हुआ, न कुछ कहने का...

"मैं गृहस्थ आश्रम का त्याग कर संन्यास की दीक्षा ले रहा हूँ।" कुछ देर के पश्चात पाण्डु ने स्वयं कहा।

कुन्ती को यह आभास तो हो गया था कि कोई महत्त्वपूर्ण बात है; किन्तु संन्यास?...अभी विवाह को दिन ही कितने हुए हैं? कितने दिन एक साथ रह पाये हैं वे लोग? पति-पत्नी के रूप में वस्तुतः वे एक साथ रहे भी हैं क्या?

किन्तु क्यों? क्या इसलिए कि पाण्डु ने जैसा कहा था कि उसे सत्य का आभास होने लगा है? सत्य का आभास...कहीं इसी कारण से ही तो वह विवाह के बाद से उन दोनों से नहीं भागता रहा? पर भागना ही था तो विवाह क्यों किया था? संन्यास ही लेना था, तो गृहस्थी क्यों बसायी?...

"अपनी पत्नियों के विषय में क्या सोचा है?"

"संन्यासी की पत्नियाँ नहीं होतीं। संन्यासी का किसी से कोई सम्बन्ध नहीं! भाई नहीं, बन्धु नहीं, माता-पिता नहीं। पत्नी नहीं, सन्तान नहीं।" पाण्डु ने कुछ रुक कर कुन्ती को देखा, "पिता ने मुझे छोड़ दिया था। माता और भाइयों को मैं छोड़ आया हूँ। सन्तान है नहीं। पत्नियों से भी मैं सम्बन्ध-विच्छेद करता हूँ। मैं संन्यासी हो कर रहूँगा। तपस्या करूँगा। जीवन में ग्रहण का सुख मुझे नहीं मिला...अब मैं त्याग का सुख खोजूँगा। न सही शरीर का सुख, आत्मा का सुख ही सही...।"

कुन्ती का बहुत मन हो रहा था कि पूछे कि यदि आत्मा का सुख नहीं मिला, तो क्या करोगे?...किन्तु उसने पूछा, "आप कहाँ जायेंगे? कहाँ रहेंगे?"

"पर्वतों पर। वनों में। कहीं भी। जहाँ मन रमे।"

"मैं...हम कहाँ जायें? मैं और माद्री?"

पाण्डु जैसे सोचने के लिए रुका और फिर बोला, "अपने पितृकुल में लौट जाओ।"

"विवाह के पश्चात कोई आर्य नारी अपने पितृकुल में लौटी है क्या?" कुन्ती बोली, "और पति से विलग हो कर तो कभी नहीं। पति द्वारा त्याग दिये जाने पर सीता प्रसव के लिए भी अपने पितृकुल में नहीं लौटी थीं।"

"तो हस्तिनापुर लौटा जाओ।"

"हस्तिनापुर में हमारे सारे सम्बन्ध आपके माध्यम से हैं। बीच की कड़ी न हो तो, सारे सम्बन्ध, निर्बन्ध हो जाते हैं। आप समझते हैं कि आपकी अनुपस्थिति में हमें हस्तिनापुर में सम्मान मिलेगा?"

"तो क्या चाहती हो?"

"आपके साथ रहूँगी!"

"तुम नहीं चाहतीं कि मैं संन्यास लूँ?"

"आप संन्यास क्यों लेना चाहते हैं?" कुन्ती बोली, "ऋषियों ने तो पचहत्तर वर्ष के वयस में संन्यास का विधान किया है। अभी आपका वय ही क्या है। अभी तो पितृव्य ने भी संन्यास नहीं लिया।"

"मेरे जनक वेदव्यास तो अपने शैशव से ही संन्यासी हैं।"

"वह राजपुत्र नहीं, ऋषिपुत्र हैं।" कुन्ती बोली, "ऋषि-जीवन का लक्ष्य भोग नहीं है, किन्तु क्षत्रिय जीवन भोग को मान्यता देता है। आप भोगों से तृप्त हो चुके क्या?"

पाण्डु जैसे सायास एक कटु हास अपने मुख पर लाया, "भोग! भोग आरम्भ होगा, तो तृप्ति की स्थिति आयेगी।" वह रुक गया: कहे, न कहे किन्तु उसने ऋषि किंदम के सामने कहा था, 'अब रहस्य को रहस्य रखने की भी इच्छा नहीं है ऋषिवर! मैं और घुट नहीं सकता। अपने यथार्थ को स्वीकार करना चाहता हूँ।...' "क्या तुम अब तक समझ नहीं पायीं देवि! कि मैं भोग से तृप्त हो कर संन्यास नहीं ले रहा। गृहस्थ जीवन मेरे लिए कष्टप्रद हो रहा है।"

"किन्तु क्यों?" कुन्ती कुछ आवेश में बोली, "भोग आरम्भ नहीं हुआ और आप संन्यास ले रहे हैं। गृहस्थ जीवन अंकुरित भी नहीं हुआ, और वह आपके लिए कष्टप्रद हो रहा है। क्यों? क्या हमारे व्यवहार में कोई दोष है? हमारे भाव में कोई अभाव है, हमारे व्यक्तित्व में किसी प्रकार की न्यूनता है? क्या हमने किसी भी प्रकार आपको वंचित किया है?..."

"नहीं कुन्ती! नहीं! तुम दोनों में कोई दोष नहीं है।"

"तो?"

"दोष मुझ में है। मैं पिता नहीं बन सकता।"

कुन्ती के लिए यह आघात बहुत आकस्मिक नहीं था; अतः शीघ्र ही सँभल गयी, "यह आप कैसे जानते हैं?"

"मैं पूर्ण पति नहीं हूँ। रति-सुख का आकर्षण मुझे विक्षिप्त बना देता है; किन्तु वह मेरे लिए यम-पाश है। यह अभाव सर्प-दंश के समान मुझे सताता रहता है। मैं मुक्ति चाहता हूँ। इस कष्ट को मैं और नहीं सह सकता...मेरे सामने एक ही मार्ग है...संन्यास। संन्यासी के लिए न पिता होना आवश्यक है, न पति।..."

कुन्ती चुपचाप अपने पति को देखती रही: सचमुच उसने आज तक अपनी ही व्यथा समझी थी, पाण्डु की नहीं। कुन्ती यह मानती रही कि पाण्डु उसका अपमान कर रहा है, किन्तु जिस अपमान से वह स्वयं को बचाना चाह रहा था, उसका कुन्ती को तनिक भी आभास नहीं था।

"विवाह से पूर्व आपको ज्ञात नहीं था क्या?" कुन्ती स्वयं ही समझ नहीं पायी कि यह उसका आक्षेप था या मात्र जिज्ञासा।

"नहीं! इसकी कल्पना तक नहीं थी मेरे मन में।" पाण्डु का मस्तक ऊपर नहीं उठ रहा था।

कुन्ती के भीतर जैसे सागर-मन्थन हो रहा था। एक साथ ही अनेक विरोधी विचार जैसे पूर्ण शक्तिशाली ज्वार के समान एक-दूसरे से टकरा रह थे। एक ओर कष्ट की भावना थी, एक ओर वंचित होने की, एक ओर आक्रोश का पर्वत था और दूसरी ओर करुणा का निर्झर...

एक लम्बे मौन के पश्चात कुन्ती बोली, "आर्यपुत्र! मैं आपकी वेदना समझती हूँ। किन्तु आपका निर्णय मुझे मान्य नहीं है।"

"क्यों?"

"दम्पत्ति में से एक रोगी हो जाये, तो दूसरा उसे त्याग तो नहीं देता।"

"मैं रोगी नहीं हूँ।" पाण्डु बोला, "मैं...मैं अपूर्ण हूँ...विकलांग हूँ।"

"युद्ध में वीर पतियों का अंग-भंग हो जाता है," कुन्ती बोली, "तो उनकी पत्नियाँ उन्हें त्याग तो नहीं देतीं। उन पर गर्व करती हैं।"

"पर मैं पति होने के ही योग्य नहीं हूँ।" पाण्डु का आनन लज्जा से रक्तिम हो उठा था।

"मुझे उससे कोई शिकायत नहीं है।" कुन्ती शान्त थी, "यौन-सुख का बहुत लोभ नहीं है मुझे। मेरे लिए वह जीवन का पर्याय नहीं है। आप यही मान लीजिए कि मैं आपकी पत्नी नहीं, आश्रिता हूँ। आपके द्वारा संरक्षित हूँ। मेरे पास और कहीं जाने का, रहने का कोई आश्रय नहीं है!...बाध्य हूँ। आपकी रक्षिता, आश्रिता हो कर रहना चाहती हूँ।"

"कुन्ती!"

"हाँ आर्यपुत्र! मैं आपसे पृथक हो कर हस्तिनापुर में नहीं रहना चाहती।" कुन्ती ने भावुक स्वर में कहा, "आश्रिता ही होना है, तो अपने पति की आश्रित हो कर रहूँगी, जेठ-जेठानी की नहीं। अपने पति के साथ रति-सुख-विहीन जीवन जीना, किसी सम्बन्धी की दया और करुणा पर जीने से कहीं अधिक श्रेयस्कर और सम्मानजनक है।" कुन्ती ने थम कर, पाण्डु को देखा, "और..."

पाण्डु ने दृष्टि उठा कर कुन्ती को देखा। लगा, वह अपेक्षाकृत पर्याप्त सहज हो चुका था।

"संन्यासी वह होता है जो या तो तृप्त हो चुका हो, या विरक्त हो चुका हो।" वह समझाते हुए बोली, "आप न तृप्त हैं, न विरक्त। आप मात्र असफल हैं। आप क्षत्रिय हैं। आपकी आस्था पलायन में नहीं, उद्यम में होनी चाहिए। आपको सफलता के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए।"

पाण्डु जैसे स्पष्ट समझ नहीं पा रहा था, "क्या कहना चाहती हो?"

"आपको संन्यासी नहीं, तपस्वी बनना चाहिए...अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तपस्या करनी चाहिए...तब तक, जब तक फल-प्राप्ति न हो जाये..." कुन्ती जैसे अपने एक-एक शब्द को कील के समान पाण्डु के मस्तिष्क में ठोकती जा रही थी, "आपने एक बार संन्यास ग्रहण किया, तो उसका अर्थ है कि आपने परिवार, अपने समाज, अपने राज्य, अपने अधिकार–सबसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। सबको त्याग दिया।...तब हस्तिनापुर के राजा धृतराष्ट्र होंगे।...और यदि कभी आप लौट कर आना चाहें, अपना राज्य पुनः प्राप्त करना चाहें, तो वह आपको प्राप्त नहीं होगा। आप उसके अधिकारी नहीं होंगे।...यदि विधाता की कृपा से, किसी चमत्कार से, आप एक भी पुत्र के पिता बन सके, तो हस्तिनापुर का राज्य आपके पुत्र को नहीं मिलेगा, क्योंकि आप अपना राज्य त्याग चुके होंगे। आर्य धृतराष्ट्र जन्मान्ध हैं; किन्तु उन्होंने संन्यास ग्रहण नहीं किया। वह उस अंधता में भी हस्तिनापुर के राज्य को सँभाले हुए हैं–चाहे आपके स्थान पर ही, आपके नाम पर ही। यदि उनका कोई पुत्र जन्म लेगा, तो हस्तिनापुर का सम्राट वही होगा, आपका पुत्र नहीं!...इसलिए कहती हूँ, संन्यास की बात मत कीजिये। अपने अधिकार का त्याग मत कीजिये।"

पाण्डु चकित दृष्टि से कुन्ती को देखता रहा: उसने यह सब क्यों नहीं सोचा? वह यह सब क्यों नहीं सोच पाता? ऐसा क्यों होता है कि तनिक-सी उत्तेजना से इतना अव्यस्थित, इतना हिंस्र हो जाता है कि या तो दूसरे का नाश कर दे, या स्वयं अपना ही नाश कर ले। कुन्ती ठीक कहती है...राम चौदह वर्षों तक वन में रहे, किन्तु अयोध्या के शासन का उनका अधिकार बना रहा। लौट कर उनका राज्याभिषेक हुआ।...

तो पाण्डु इतना निराश क्यों है?...कुन्ती ठीक कहती है कि उसे उद्यम करना चाहिए। तपस्वी का जीवन...। उसने कितनी कथाएँ सुनी हैं, जिसमें अनेक तपस्वियों ने अपने असम्भव लक्ष्य प्राप्त किये हैं। प्रयत्न से, तपस्या से, किसी की कृपा से जीवन के अभाव दूर हो सकते हैं। बहुत सम्भव है कि ऋषियों की संगति से, किसी महापुरुष की दया से, आश्रमवासी वैद्यों के उपचार से उसके शरीर और आत्मा में ऐसी ऊर्जा का संचार हो सके कि उसका असामर्थ्य दूर हो सके। वह पति बन सके, पिता बन सके...और यदि ऐसा हो गया तो संन्यासी लौट कर गृहस्थाश्रम में नहीं आ सकेगा।...संन्यासी का जीवन भी तो तपस्या का जीवन ही है।...पाण्डु अनेक कामनाएँ छोड़ कर, एक कामना के लिए तपस्या करे...

पाण्डु टहलता रहा, सोचता रहा। सोचता रहा और टहलता रहा।

सहसा उसने रुक कर पूछा, "माद्री! क्या तुम भी ऐसा ही सोचती हो?"

कुन्ती मुस्कुराई: कहाँ यह व्यक्ति निराशा में सब कुछ छोड़ कर भाग रहा था, और अब तनिक-सी आशा बँधने पर कुछ भी छोड़ना नहीं चाहता। कुन्ती का साथ रहना पर्याप्त नहीं है...माद्री भी रहे...कुन्ती भली-भाँति समझती है, भावनात्मक आवेश में पाण्डु कुछ भी कर ले किन्तु उसकी भोग की वृत्ति समूल नष्ट नहीं हो सकती। वह कितना भी प्रयत्न कर ले, वह जीवन से विरक्त नहीं हो सकता...

माद्री एक विचित्र दृष्टि से पाण्डु को देख रही थी: उसके लिए यह सब कल्पनातीत तीव्र गति से घटित हो रहा था: पाण्डु की आत्मस्वीकृति और उसका सब कुछ त्याग कर संन्यास का संकल्प–यह सब कुछ जैसे उसे बौरा गया था। उसका मस्तिष्क जैसे जड़ हो कर एक स्थान पर ठहर गया था। वह कुछ भी सोच नहीं पायी थी।...पाण्डु के प्रश्न का जो तात्कालिक उत्तर उसके मन में उठा था, वह पाण्डु के लिए सुखद नहीं हो सकता था...

किन्तु कुन्ती ने माद्री को कुछ भी कहने का अवसर नहीं दिया। वह उसके कुछ भी कहने से पूर्व ही बोली, "हम दोनों में कभी कोई ऐसी चर्चा नहीं हुई है; किन्तु मेरा विचार है कि वह मुझसे सहमत ही होगी। उसे समय दें; ताकि वह विचार कर सके...।"

पाण्डु पुनः टहलने लगा: वह जैसे अपने द्वन्द्व से युद्ध कर रहा था। कुन्ती का कहा वह टाल नहीं पा रहा था, और उसके भीतर का कोई मन, कुन्ती का कहा मान रहा था। टहलते-टहलते जैसे वह अपने-आपसे बातें करने लगा था, "अनेक वनवासी गृहस्थ होते हैं। ऋषियों के भी परिवार होते हैं। कुन्ती शायद ठीक ही कहती है। मुझे भी अपनी पत्नियों के साथ रह कर ही तपस्या करनी चाहिए। भोग का सुख मिले या त्याग का। कुछ तो मिलेगा ही।" वह मुड़ा, "अच्छा कुन्ती! मैं अपने तपस्वी जीवन की सूचना देने के लिए बाहर जा रहा हूँ। सारे सैनिक और कर्मचारियों को हस्तिनापुर लौट जाने की आज्ञा दे आता हूँ। कहलवा देता हूँ कि हम तीनों तपस्वी जीवन व्यतीत करने के लिए हिमालय की ओर जा रहे हैं। तपस्या पूरी होने तक हस्तिनापुर हमारी प्रतीक्षा करे।"

पाण्डु मण्डप से बाहर चला गया।

"यह तुमने क्या किया दीदी?" पाण्डु के बाहर निकलते ही माद्री ने कुन्ती से कहा, "कैसा निर्णय ले लिया तुमने। और साथ ही मेरी ओर से भी वचन दे दिया।"

"क्या मैंने ठीक नहीं किया?" कुन्ती ने शान्त स्वर में पूछा।

माद्री थोड़ी देर तक निःशब्द खड़ी रही; फिर बोली, "क्या हमने पाण्डु से विवाह इसलिए किया था कि हमें राज-भोग छोड़ कर, वनों-पर्वतों में, तपस्वियों का जीवन व्यतीत करना पड़े?"

"नहीं! विवाह तो इसलिए नहीं किया था।" कुन्ती बोली, "किन्तु अब विवाह हो चुका है।"

"यदि मैं कहूँ," माद्री आवेश में बोली, "कि हमारे विवाह की धर्म-सम्मत अपेक्षाओं पर पाण्डु पूरा नहीं उतरता, इसलिए मैं इस विवाह को धर्म-सम्मत नहीं मानती। मैं तपस्विनी का जीवन नहीं जीना चाहती। मैं रति-सुख-विहीन गृहस्थ जीवन की इच्छुक नहीं हूँ।..." उसने मुख दूसरी ओर फेर लिया, "मैं पुंसत्वहीन पति के साथ रहना नहीं चाहती।"

कुन्ती ने जैसे उसे अविश्वास से देखा, "तो क्या करना चाहती हो?"

"मैं ऐसे पति का त्याग करूँगी।" माद्री बोली।

"त्याग!" कुन्ती भौचक खड़ी उसे देख रही थी, "कभी पत्नी ने भी पति का त्याग किया है?"

"उसने अभी हमें खड़े-खड़े ही त्याग नहीं दिया था। पुरुष जो चाहे कर सकता है। स्त्री को एक पुंसत्वहीन पति को त्यागने का भी अधिकार नहीं है?"

कुन्ती पर माद्री के आवेश का प्रभाव पड़ा। माद्री सचमुच तेजस्विनी थी; और उसकी न्याय की इच्छा में औचित्य भी था।

"माद्री! मानव-प्रकृति की सहज प्रतिक्रिया तो कदाचित यही है।" कुन्ती बोली, "जब पहली भेंट में वह मेरा तिरस्कार कर चल दिये थे, तो मेरा मन भी यही कहता था कि उठ कर चल दूँ, या दूसरी बार जब वह मेरे पास आयें तो मैं भी दुत्कार दूँ।..."

"मन की पहली और सहज प्रतिक्रिया ही न्याय-संगत और सच्ची प्रतिक्रिया होती है। हमें वही करना चाहिए।" माद्री बोली, "यह कहाँ का न्याय है कि पुरुष चाहे तो नारी का सत्कार करे, चाहे तो तिरस्कार। नारी को सब कुछ वैसा ही स्वीकार करना होगा, जैसी पुरुष की इच्छा है। जैसे नारी का अपना कोई अस्तित्व ही न हो, इच्छा न हो, विचार न हो। नारी मनुष्य नहीं है क्या? जड़ पदार्थ है? पाषाण है?..."

"मैं तुमसे सहमत हूँ माद्री!" कुन्ती बोली, "तुम न्याय की बात कर रही हो। किन्तु सहज प्रतिक्रिया तो मात्र हमारी इच्छा है। हमारे अहम की प्रतिक्रिया अधिक-से-अधिक वह भावनात्मक न्याय है; और मेरी बहना! भावनात्मक न्याय ही सामाजिक न्याय नहीं होता। वह उससे भिन्न होता है। भावनात्मक न्याय का सम्बन्ध मात्र मेरे व्यक्तिगत से, मन से, मेरी इच्छा और मेरे चिन्तन से है; किन्तु जिस समाज में हम रहते हैं, वह केवल मेरे मानसिक संसार का नाम नहीं है।..."

"क्या कहना चाहती हो?" माद्री ने कुन्ती को बीच में ही टोक दिया।

"तुम्हारे भाई ने शुल्क ले कर तुम्हें पितृव्य भीष्म को सौंपा था। पितृव्य भीष्म ने तुम्हें पाण्डु को उसकी पत्नी के रूप में सौंपा। अब तुम अपने पति को छोड़ कर जाना चाहो, तो कहाँ जा सकती हो?"

"मद्रदेश!"

"शुल्क स्वीकार कर लेने पर तुम्हारे भाई का तुम पर कोई अधिकार नहीं रहा। तुम मद्रदेश जाओगी तो

तुम्हारे पीछे-पीछे हस्तिनापुर के सैनिक जायेंगे।"

"मैं किसी अन्य पुरुष से विवाह कर लूँगी।" माद्री बोली।

"आर्येतर जातियों में तो अस्थायी पतित्व की चर्चा सुनी है मैंने, किन्तु आर्यों में तो मुझे एक भी उदाहरण नहीं मिला।" कुन्ती बोली, "ऐसा सम्भव होता तो सम्राट विचित्रवीर्य के देहान्त के पश्चात हमारी सास हस्तिनापुर मे ही क्यों पड़ी रहतीं? वह क्यों न किसी अन्य राजकुमार से विवाह कर लेतीं।"

"तो स्त्री का कोई अधिकार नहीं है?" माद्री जैसे हताश हो गयी।

"माता का अधिकार है, स्त्री का नहीं।" कुन्ती बोली, "पितामही सत्यवती का पितृव्य भीष्म के माध्यम से सारे कुरुकुल पर एकछत्र साम्राज्य है; किन्तु उनकी इच्छा के विरुद्ध अम्बा उनसे कुछ भी नहीं करा पायीं।"

"किन्तु वह अन्याय है।" माद्री बोली, "नारी को पशु के समान बेचना, या बन्दी बनाना–कभी भी न्याय नहीं माना जा सकता। वह पुरुष की सम्पत्ति नहीं है।"

कुन्ती मुस्कुरायी, "मैं तो तुमसे सहमत हूँ। इसलिए मैंने सामाजिक न्याय की बात की थी। जिस समाज में हम रह रही हैं, उसका न्याय यही है। मेरी व्यावहारिक बुद्धि कहती है कि जब तक हम इस न्याय को बदल नहीं सकतीं, तब तक उसके अन्तर्गत, हमें अपना अधिकतम प्राप्य चुन लेना चाहिए। मैंने वही किया है। तुम भी विचार कर लो। भावात्मक न्याय पा सको, तो पा लो, नहीं तो सामाजिक न्याय को स्वीकार कर लो।"

माद्री चिन्तामग्न हो गयी। उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

"आओ दीदी!" अम्बालिका ने अपने कक्ष में अम्बिका का स्वागत किया।

अम्बिका ने आगे बढ़ कर अम्बालिका को अपनी भुजाओं में भर लिया, "मेरी बहन!"

अम्बिका कई दिनों के पश्चात इधर आयी थी। सोच तो वह कई दिनों से रही थी, किन्तु किसी-न-किसी उलझन में फँसी हुई, आ ही नहीं पायी। अम्बालिका ने कहीं आना-जाना प्रायः बन्द ही कर दिया था। अम्बिका ने कई बार उपालम्भ भी दिया; किन्तु अम्बालिका पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जीवन में लिप्त तो वह पहले भी बहुत नहीं थी; किन्तु पाण्डु के विवाह के पश्चात से वह और भी अधिक उदासीन हो गयी थी। और अब...

आलिंगन छोड़ अलग हुईं तो अम्बिका ने पाया, उसकी अपनी आँखें तो आर्द्र हो आयी थीं, किन्तु अम्बालिका वैसी ही वीतराग बनी हुई थी। न उसे बहन का स्नेह द्रवित कर पाया था, न उसका अपना दुख।

"पाण्डु ने यह क्या किया," अम्बिका ने बात आरम्भ की, "यह कोई वय है संन्यास लेने का।"

अम्बालिका का हाथ कुछ ऐसी ही मुद्रा में उठा, जैसे कहने वाली हो, 'जो विधाता की इच्छा', किन्तु अगले ही क्षण, जैसे उसकी प्रतिक्रिया बदल गयी। बोली, "उसने संन्यास धारण नहीं किया है दीदी!"

"तो?"

"वह तपस्या के लिए गया है, जैसे पहले दिग्विजय के लिए गया था, और फिर मृगया के लिए।...अपनी समस्या पूरी कर लौट आयेगा।"

अम्बिका कुछ क्षणों के लिए हतप्रभ रह गयी; फिर स्वयं को सँभाला, "यह तो तुमने अच्छा समाचार दिया। मैं तो सन्यास का नाम सुन कर घबरा गयी थी। तपस्या करने गया है, तो लौट कर तो आयेगा। सन्‌यासी का तो घर लौटने का ही निषेध है।"

अम्बालिका कुछ नहीं बोली, जैसे जो कहना था, कह चुकी; अब और कुछ कहना आवश्यक नहीं था।

कुछ क्षणों तक दोनों के मध्य जैसे एक मौन-सा स्थिर हो गया। उस असंवाद में भी अम्बालिका असहज नहीं थी। मौन अथवा असंवाद जैसे उसकी मनःस्थिति हो गयी थी। किन्तु अम्बिका को यह स्थिति स्वीकार्य नहीं थी। उसे यह सब अटपटा लग रहा था।

"किन्तु ऐसी तपस्या की भी इस वय में पाण्डु को क्या आवश्यकता थी," अम्बिका ने जैसे अपने-आप से ही कहा, "पितामही राजप्रासादों में जीवन का भोग करें, पितामह-सरीखे पितृव्य राजनीति देखें और पौत्र वन में तपस्या करे। उलटी रीति है न!..."

"इस परिवार में ऋजु है ही क्या?" अम्बालिका को कुरेदने में अम्बिका सफल हो गयी थी, "वृद्ध बैठे रहते हैं और बालकों की अकाल मृत्यु हो जाती है। ज्येष्ठ पुरुष कर्मचारियों के समान आदेशों का पालन करते हैं और कनिष्ठ राजसिंहासन पर बैठ कर उन्हें आदेश देते हैं।...यहाँ तो सब कुछ है ही उलटा। जाने क्यों हस्तिनापुर में गंगा, सागर से हिमालय की ओर नहीं बहती!"

अम्बिका समझ नहीं सकी कि अम्बालिका के मन में वयो-वृद्धों के लिए आक्रोश था या तरुणों के प्रति।

"पाण्डु को जाना ही था, तो स्वयं चला जाता," अम्बिका पुनः बोली, "किन्तु दोनों रानियों को साथ ले जाने की क्या आवश्यकता थी। वे क्या गयीं, घर की सारी शोभा ही चली गयी। कैसा नीरव और निर्जन लगता है यह प्रासाद। उन्होंने जीवन में ऐसा क्या देख लिया कि वे भी तपस्या करने चल पड़ीं। तुम्हें उन्हें रोकना चाहिए था।..."

"मैं कब रोकती? वे तो मृगया से ही आगे बढ़ गये।"

"नहीं! जब मृगया के लिए जा रही थीं।"

"तब तो उन्होंने कहा था कि वे वन-विहार के लिए जा रही हैं। वन-विहार से कैसे रोक लेती मैं उन्हें?" अम्बालिका बोली, "और दीदी! मैं नहीं चाहती कि इतिहास अगली ही पीढ़ी में दुहराया जाये। वे जहाँ भी रहें, जैसे भी रहें, अपने पति के साथ रहें। हमारे समान असहाय और आश्रयहीन हो कर, सास के नियन्त्रण में बन्दी जीवन व्यतीत करने से तो यही अच्छा है।"

"कहती तो ठीक हो अम्बालिके।" अम्बिका जैसे कुछ सोच रही थी, "पर वधुएँ हस्तिनापुर में होतीं, तो पाण्डु के शीघ्र लौटने की भी सम्भावना होती। उन तीनों का इस प्रकार चला जाना, मुझे शुभ नहीं लगता, और वह भी

विशेष कर, इन परिस्थितियों में...।"

अम्बालिका ने जैसे पहली बार पूरे ध्यान से अम्बिका को देखा, "परिस्थितियों को क्या हुआ है दीदी!"

"धृतराष्ट्र कह रहा है कि पाण्डु ने संन्यास ले लिया है। इसका अर्थ समझती हो?"

"इसका अर्थ है कि पाण्डु कभी लौट कर हस्तिनापुर नहीं आयेगा। उसका कोई पुत्र नहीं है; अतः हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर, तब तक धृतराष्ट्र का आधिपत्य बना रहेगा, जब तक धृतराष्ट्र का कोई पुत्र राज्य सँभालने के योग्य न हो जाये।"

"इसमें क्या अन्तर है दीदी! राजा तो माता सत्यवती का पौत्र ही होगा।"

पर अम्बिका ने जैसे, अम्बालिका की बात सुनी ही नहीं, "मेरे मन में तो शंका है कि कहीं धृतराष्ट्र ने ही पाण्डु को तपस्या के लिए प्रोत्साहित न किया हो। वह शैशव से ही बड़ा भाई हो कर भी अपनी चक्षुहीनता के कारण पाण्डु को वंचित करता रहा है। मुझे मालूम है कि कैसे वह अपनी दीनता जता कर और पाण्डु के भ्रात-प्रेम को उभार कर, उसे किस-किस प्रकार से वंचित करता रहा है।..."

"इन बातों से कोई अन्तर नहीं पड़ता दीदी।" अम्बालिका वैसे ही उदासीन बनी रही।

"बहुत अन्तर है अम्बालिके।" अम्बिका बोली, "शैशव से मेरा अभ्यास था कि मैं परिस्थितियों की ओर से, आँखें मूँद लेती थी। जानती हो, यह अभ्यास कब तक चलता रहा?"

"कब तक?"

"पहली बार नियुक्त पुरुष के रूप में वेदव्यास के आने तक!"

"फिर?"

"फिर मैंने आँखें मूँदनी बन्द कर दीं। उद्यम और प्रयास में मेरी आस्था जागी और जब दूसरी बार वह आये तो मैंने मर्यादा को उनके पास भेज दिया।...तब से मैं आँखें नहीं मूँदती। उद्यम करती हूँ। इसलिए तुमसे भी कहने आयी हूँ कि यह कभी स्वीकार मत करना कि पाण्डु ने संन्यास ले लिया है; और वह कभी हस्तिनापुर नहीं लौटेगा। मैं नहीं चाहती कि धृतराष्ट्र को कभी भी यह विश्वास हो कि वह हस्तिनापुर का सर्वाधिकारयुक्त स्वतन्त्र राजा है...।"

"क्यों दीदी?"

"नहीं तो वह अत्यन्त उच्छ्रंखल हो जायेगा।" अम्बिका बोली, "जाने पाण्डु क्यों चला गया। नहीं तो पाण्डु और विदुर मिल कर, धृतराष्ट्र को सँभाले रहते।...अब मुझे केवल विदुर का ही भरोसा है।"

अम्बिका बोली कुछ नहीं, उदास-सी बनी बैठी रही। किन्तु उसकी उस उदासीन दृष्टि से भी स्पष्ट था कि वह समझ नहीं पा रही कि अम्बिका किस कारण से व्याकुल है।

"अम्बालिके! मैं नहीं कहती कि मेरा धृतराष्ट्र दूध का धुला है; किन्तु यह जो शकुनि ग्रहण के समान उसको निगलता जा रहा है, उससे धृतराष्ट्र की वक्रता और भी कालिमा में लिप्त होती जा रही है।" अम्बिका ने रुक कर अम्बालिका को देखा, "तुम अपने परिवेश से इतनी उदासीन रहती हो, अपने-आप में ही इतनी उलझी रहती हो कि तुम्हें पता ही नहीं चलता कि बाहर क्या हो रहा है।"

"क्या हो रहा है?"

"शकुनि हस्तिनापुर में द्यूत-क्रीड़ा को लोकप्रिय बना रहा है।"

"जिसे द्यूत प्रिय है, वह खेलेगा ही; उसमें शकुनि को क्या करना है।" अम्बालिका बोली।

"वह धृतराष्ट्र के माध्यम से उसे राजकीय प्रश्रय दिलवा रहा है। राज्य की ओर से उसे प्रोत्साहित किया जा रहा है, उसके लिए सुविधाएँ जुटाई जा रही हैं। उसे इतना सम्मानजनक बनाया जा रहा है कि कुलीन परिवारों में उसका प्रवेश हो सके। लोग अपने मित्रों और अभ्यागतों को द्यूत के लिए आमन्त्रित करें। पिता-पुत्र और भाई-भाई परस्पर अपने मनोरंजन के क्षणों में द्यूत-क्रीड़ा से मन बहलाएँ।...इसका परिणाम जानती हो?" अम्बिका के स्वर में आवेग की खनक थी, "राजसभा में विद्वानों से अधिक जुआरियों का सम्मान होगा। जुआरियों का दुराचार सम्मानित होगा और भले लोगों के चरित्र लांछित होंगे।"

"तुम हस्तिनापुर की बात कह रही हो।" अम्बालिका धीरे-से बोली, "मैंने तो सुना है कि अब सारे ही राजवंशों में मद्यपान और द्यूतक्रीडा सम्मानित क्रियाएँ होती जा रही हैं। सारे आर्यावर्त के क्षत्रिय राजा, इन्हें अपना शृंगार मानने लगे हैं। द्यूत भी क्षत्रियों का आखेट के ही समान प्रिय और गौरवपूर्ण व्यवहार हो गया है। क्षत्रियों के लिए जैसे युद्ध और मृगया से पीछे हटना अपमानजनक हो गया है, वैसे ही द्यूत-क्रीड़ा से वितृष्णा भी।"

"तुमने ठीक ही सुना है।" अम्बिका ने स्वीकार किया।

"तो फिर एक धृतराष्ट्र के लिए ही क्यों चिन्तित हो?"

"क्योंकि उसके सिर पर द्यूत-सम्राट शकुनि आरूढ़ है।" अम्बिका बोली, "व्यभिचार, मद्यपान, दुर्वृत्ति और गुण्डागर्दी–सब कुछ द्यूत के माध्यम से हस्तिनापुर में प्रवेश कर रहा है।...और हम कुछ नहीं कर सकतीं; क्योंकि महारानी गान्धारी के भाई शकुनि को यह सब बहुत प्रिय है।...दुष्टता की सम्पूर्ण मूर्ति है राजा का श्याल!..."

"ये दासियाँ क्या कह रही हैं!" गान्धारी के स्वर में उपालम्भ-भाव था।

धृतराष्ट्र ने अपनी अन्धी आँखें उनकी ओर फेरीं, "क्या कह रही हैं?"

"आपने आज राजसभा में आदेश दिया है कि पाण्डु जहाँ कहीं भी हो, समय-समय पर हस्तिनापुर के दूत उसके पास जाते रहें; उसके कुशल-क्षेम का समाचार लाते रहें; उसे हस्तिनापुर के समाचार देते रहें और पाण्डु, कुन्ती और माद्री के लिए आवश्यक सामान वहाँ पहुँचाते रहें।"

"क्या कुछ अनुचित किया?" धृतराष्ट्र ने अत्यन्त अबोध भाव से पूछा, "क्या मुझे अपने एकमात्र अनुज और उसकी पत्नियों के लिए इतना भी नहीं करना चाहिए। वह हस्तिनापुर का सम्राट था। राज-वैभव में पला था। उसने जीवन में कष्ट जाना भी नहीं था। अब तुम चाहती हो कि मैं उसकी इतनी भी खोज-खबर न रखूँ कि वह कहाँ है? क्या कर रहा है? तप कर रहा है, भोग कर रहा है या सैन्य-संगठन कर रहा है।" उसने रुक कर अपनी अन्धी पलकें झपकायीं, "राजनीति के आचार्य मन्त्री कणिक कहते हैं कि अपने शत्रु की भी खोज-खबर रखो; और वह तो मेरा भाई है।"

गान्धारी मौन रह गयी: वह अपने पति के शब्दों को ग्रहण करे, या उन शब्दों के पीछे की ध्वनि को? उसका भ्रातृ-प्रेम सत्य है या उसकी राजनीति! भाई की सुख-सुविधा का ध्यान रखना एक बात है और राजनीति की दृष्टि से किसी की खोज-खबर रखना और!...

"हस्तिनापुर में पितृव्य भीष्म हैं, पितामही सत्यवती हैं, माता अम्बिका हैं, काकी अम्बालिका हैं, भाई विदुर हैं, मन्त्री हैं, पुरोहित हैं, सेनापति हैं, कुरु-वृद्ध हैं...पाण्डु उन सबका प्यारा है। सब चाहते हैं कि पाण्डु की देख-भाल की जाये, उसकी सुख-सुविधा का ध्यान रखा जाये," धृतराष्ट्र के चेहरे पर विनय का भाव प्रकट हुआ, "एक अभागा धृतराष्ट्र ही ऐसा है क्या, जो अपने अनुज और उसकी पत्नियों की ओर से उदासीन हो जाये। यदि वर्ष में दो बार कुछ वस्त्र और अन्न भेजने से मेरा अनुज और उसकी पत्नियाँ सुविधा से पर्वतों पर तपस्या करते रह सकते हैं और उन्हें हस्तिनापुर आने का कष्ट नहीं करना पड़ता, तो राजा धृतराष्ट्र क्या उनके लिए इतना भी नहीं कर सकता।"

गान्धारी के मन में कोई संशय नहीं रहा: अब तक धृतराष्ट्र को वह भली-भाँति पहचानने लगी थी। अपनी जन्मान्धता ने धृतराष्ट्र को बहुत विनयी और मिष्टभाषी बना दिया था, और इस नाटक को वह गान्धारी के सम्मुख भी नहीं छोड़ता था।

"ज्येष्ठ भ्राता के रूप में आपका प्रयत्न तो यही होना चाहिए, कि आपके संन्यासी भाई को, नियम तोड़ कर घर कभी न लौटना पड़े।" गान्धारी बोली, "उसने संकल्प किया है तो हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम उसके निर्वाह में उसके सहायक हों।"

"तुम मेरी आदर्श सहधर्मिणी हो।" धृतराष्ट्र लेट गया, "मेरी पूरी सहायता करना चाहती हो तो मुझे शीघ्रातिशीघ्र एक पुत्र दो, जिसे मैं हस्तिनापुर का युवराज घोषित कर दूँ।"

गान्धारी धीरे-धीरे चलती हुई, धृतराष्ट्र के निकट पहुँची, "इच्छा तो मेरी भी यही है आर्यपुत्र!"

विदुर घर लौटा तो बहुत थका हुआ था। आते ही जैसे निष्प्राण-सा पड़ रहा।

"क्या बात है?" पारंसवी कुछ चिन्तित हो कर उसके निकट आयी, "आर्यपुत्र अत्यन्त क्लान्त दिखायी देते हैं।"

"इस राजसभा में उपस्थित रहना दिन-प्रति-दिन कठिन होता जा रहा है।" विदुर बोला, "स्वयं धृतराष्ट्र, उसका साला यह शकुनि और इनके मन्त्री, जिस प्रकार की बातें करते हैं–उनमें मेरा दम घुटता है। कुरुओं की राजसभा में अब न प्रजापालन की चर्चा होती है; न सत्य की, न दर्शन की, न मानव-हित की। वहाँ होती है नीतिविहीन राजनीति। समझ में नहीं आता कि वह राजाओं की सभा है कि दुर्वृत्तों का जमावड़ा। इच्छा होती है कि सब कुछ यहीं छोड़-छाड़ कहीं और चला जाऊँ।"

"कहाँ जायेंगे आर्यपुत्र! आजकल राजनीति सब कहीं ही, दुर्वृत्ति की पर्याय हो गयी है।" पारंसवी बोली, "पितृव्य भीष्म उन्हें नहीं रोकते क्या?"

"उन्होंने आरम्भ में दो-एक बार शकुनि को टोका था, किन्तु राजा धृतराष्ट्र को वह अच्छा नहीं लगा। पितृव्य ने राजसभा में आना प्रायः छोड़ दिया है। या तो वह उपस्थित ही नहीं होते, या फिर अन्यमनस्क और उदासीन-से बैठे रहते हैं।"

"सम्राट पाण्डु वन चले गये। पितृव्य उदासीन हो गये।" पारंसवी बोली, "अब आप भी सभा त्यागने की बात सोचते हैं, तो राजसत्तासम्पन्न इन दुर्वृत्तों की स्वेच्छाचारिता में कहीं कोई विघ्न-बाधा रह जायेगी क्या?"

विदुर थोड़ी देर चिन्तन-मुद्रा में मौन बैठा रहा। फिर बोला, "तुम ठीक कहती हो। मुझे राजसभा से हटना नहीं चाहिए। इनकी राजनीति के विरोध में विदुर-नीति का उद्घोष कुरुओं की राजसभा में होता रहना चाहिए। किन्तु तुम्हें क्या बताऊँ, वहाँ जाने के विचार से ही, मेरा मन कैसे विद्रोह करने लगता है; उनकी मुखाकृतियाँ देखते ही मुझे वितृष्णा होने लगती है; और उनकी बातें सुन कर कैसे मेरा रक्त जलता है। राजसभा से निर्वृत्त होता हूँ, तो मुझे कारागार से छूटने का-सा सुख मिलता है।"

"ठीक है।" पारंसवी बोली, "शस्त्र का त्याग तो आप कर ही चुके हैं; अब नीति का त्याग तो मत कीजिये।"

"तुम्हारी मन्त्रणा ही धर्म-संगत है।" विदुर ने स्नेह से अपनी पत्नी की ओर देखा, "नीति का रणक्षेत्र नहीं छोड़ूँगा–मेरा क्षात्रधर्म यही होगा।"

वे लोग प्रातःकाल से ही चल रहे थे। जहाँ कहीं थकान अधिक लगती थी, वहाँ थोड़ी देर के लिए रुक भी जाते थे। पाण्डु ने पाया था कि कुन्ती थकती तो होगी, किन्तु थकान की चर्चा वह शायद ही करती थी।...हाँ! माद्री अवश्य पूछती थी कि 'विश्राम-स्थल अभी नहीं आया?'...'क्या हमें चलते हुए पर्याप्त समय नहीं हो गया?' '...क्या हमें अब थोड़ा विश्राम नहीं कर लेना चाहिए?' निश्चित रूप से माद्री, कुन्ती से अधिक कोमलांगी थी। वैसे तो कुन्ती की काया भी, माद्री की काया से अधिक पुष्ट लगती थी, किन्तु पाण्डु को लगता था कि कुन्ती का मन कुछ अधिक दृढ़ था–संकल्पवान, कदाचित हठीला। एक बार किसी बात को मन में धारण कर लेती थी, तो उसे इतने गहरे में उतार लेती थी कि ऊपर से पता भी नहीं चलता था; और वह जैसे प्रकट करने के लिए उचित अवसर की प्रतीक्षा में रहती थी। उसकी सहनशीलता का अनुभव पाण्डु को हो रहा था...माद्री भी साथ-साथ चल रही थी, किन्तु जाने क्यों उसकी प्रत्येक भंगिमा से पाण्डु को लगता था कि वह केवल इसलिए साथ चल रही है कि यदि कहीं वह साथ न चली तो कुन्ती, पाण्डु पर अपना सर्वाधिकार स्थापित कर लेगी। कदाचित पति के छिन जाने का भय ही उसके लिए प्रेरक तत्त्व था। और ऐसा लग रहा था कि वह पति को खोने के लिए किसी भी रूप में प्रस्तुत नहीं थी, पति चाहे जैसा भी हो...

वे लोग पहले कुछ समय तक नागशत पर्वत पर रहे थे। वहाँ तपस्वियों का एक आश्रम भी था और अनेक ग्राम भी निकट थे। आश्रम और ग्रामों में कोई बहुत पार्थक्य नहीं था। अनेक बार तो कई आश्रमवासी, ग्रामों में भी कई-कई दिन रह आते थे।...वहाँ से आगे चल कर वे चैत्ररथ पर्वत पर आये थे। चैत्ररथ से कालकूट और वहाँ से हिमालय तथा गन्धमादन को पार करते हुए वे इन्द्रद्युम्न सरोवर के तट पर आ गये थे। वहाँ वे कई दिन रुके रहे। पाण्डु को वह स्थान अत्यन्त मनोरम लगा था। वहाँ से चल कर वे हंसकूट पर्वत पर पहुँचे थे; और अब शतशृंग पर्वत की ओर जा रहे थे...

इन दिनों पाण्डु अपने मन में झाँकता तो उसे बहुत कुछ नया दिखायी देता था, जो पहले उसके मन में नहीं था।...मन पहले से बहुत स्वस्थ और शान्त लग रहा था। पता नहीं यह इस जलवायु का प्रभाव था, या प्रकृति के सौन्दर्य का। ऊँची-ऊँची चोटियाँ। वनस्पति के नये-नये रूप। कहीं-कहीं पुष्पों का सागर। मद-मस्त करने वाला ऐसा सुखद पवन। स्थान-स्थान पर भूमि से फूटते हुए जलस्रोत और उनका वह मधुर निनाद...। हस्तिनापुर के राजप्रासाद की संकीर्णताओं में मन न तो कभी इतना विशद हो सकता था, न इतना उदार। न वहाँ इतनी स्वच्छता थी, और न इतनी उन्मुक्तता।...मार्ग में जहाँ-जहाँ वे रुके, वहाँ लोग कितने सरल थे। आश्रमवासी तो आश्रमवासी, ग्रामवासियों ही ऋजुता भी मन को मुग्ध कर लेती थी। न उनके मन में कोई विशेष इच्छाएँ थीं, और न इतना राग-द्वेष। उन्हें जो कुछ चाहिए था, वह उन्हें प्रकृति से ही प्राप्त होता था। वे मात्र परस्पर उनका आदान-प्रदान ही करते थे। ऐसा लगता था जैसे ये सब लोग, एक अत्यन्त उदार माँ के ढेर सारे बच्चे हैं, जिसे जो कुछ चाहिए, वह माँ से माँग लेता है। माँ किसी का भी तिरस्कार नहीं करती।...कैसी सहजता और प्रेम से आग्रह करते थे वे लोग, वहीं ठहर जाने का। उनके आग्रह का निरादर कैसे किया जा सकता था। थोड़े-थोड़े दिन रुकते-रुकते वे लोग आगे बढ़ते आये थे।...

पाण्डु के अपने मन के द्वन्द्व मिट गये थे...अब उसका अपना ऐसा कोई रहस्य नहीं था, जिसके बोझ का अनुभव वह निरन्तर अपने वक्ष पर करता। उसके मन में अपना रहस्य खुल जाने का भी अब कोई भय नहीं था।...कुन्ती और माद्री के साथ अब उसका सहज सम्बन्ध था। वह बिना किसी संकोच, द्वन्द्व अथवा ग्रन्थि के उनके साथ सहज व्यवहार कर सकता था। उनका सामना होते ही, न उसके मन की दरिद्रता जागती थी, न हीनता-बोध।...उनका साक्षात्कार होते ही पहले के समान खीझ का भाव उसे व्याकुल नहीं करता था।...और हिंस्र भाव से शस्त्र ले कर, किसी पर टूट पड़ने की इच्छा भी अब उसमें नहीं उठती थी...कभी-कभी तो चकित हो कर वह सोचता था कि कोई युद्ध करता ही क्यों है? आखेट में ऐसा कौन-सा सुख है, जिसके लिए व्यक्ति, हाथ में धनुष-बाण लिए हुए, हाँफता हुआ, पशुओं के प्राणों का शत्रु बना, उनके पीछे-पीछे निर्जन वनों में मारा-मारा भागता फिरता है...

सन्ध्या होने को आयी थी। थके हों या न थके हों, पर अब विश्राम करने का मन था। रात्रि से पहले वे शतशृंग तक पहुँचना चाहते थे। कदाचित सामने शतशृंग का ही आश्रम था...

आश्रमवासियों ने पाण्डु, कुन्ती और माद्री को शतशृंग आश्रम के कुलपति के निकट पहुँचा दिया। कुलपति को प्रणाम कर, उनके संकेत पर, वे उनके सम्मुख रखे आसनों पर बैठ गये।

कुलपति ने प्रश्नवाचक दृष्टि से उनकी ओर देखा।

"मैं हस्तिनापुर के स्वर्गीय सम्राट विचित्रवीर्य का पुत्र पाण्डु हूँ आर्य कुलपति! ये दोनों मेरी पत्नियाँ हैं–कुन्ती और माद्री!"

"तुम लोगों का स्वागत है वत्स!" कुलपति ने मधुर मुस्कान के साथ कहा।

"मैं अपना राज्य, राज्याधिकार, राजभोग त्याग कर आया हूँ ऋषिवर!" पाण्डु बोला, "मैं अब तपस्या करना चाहता हूँ।"

"कैसी तपस्या?" ऋषि ने पूछा।

"जैसी आप आज्ञा करें।" पाण्डु अत्यन्त विनीत था।

"राजन्! मैं तुम्हें तपस्या की आज्ञा क्यों दूँगा?" ऋषि मुस्कुराये, "तपस्या तो व्यक्ति अपनी आत्मा के आदेश पर करता है।"

पाण्डु संकुचित हो गया: जो कुछ वह कह रहा था, वह कदाचित राजसभाओं का शिष्टाचार था। और जिस ऋषि के सम्मुख वह बैठा था, वह न राजसभाओं के अभ्यस्त थे, न उनके शिष्टाचार के। वह केवल सत्य के अभ्यस्त थे। उनका परिचय मात्र सत्य से ही था।

"मैं अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कर, वृक्षों की छाल के वस्त्र धारण कर, फल-मूल खा कर, वन में सदैव तप करूँगा। दोनों समय स्नान कर, हवन किया करूँगा और स्वल्पाहारी बन, शरीर को सुखा डालूँगा। माथे पर जटाजूट धारण करूँगा। शीत-घाम, हिम-आतप, सहन करता हुआ भूख-प्यास की चिन्ता न कर, शरीर का दमन करूँगा और तपश्चर्या में प्रवृत्त होऊँगा। एकान्त में रहा करूँगा। हिंसा को सर्वथा त्याग दूँगा...।"

पाण्डु ने रुक कर ऋषि की ओर देखा: वह अपना अभिप्राय समझाने के लिए पर्याप्त कह चुका अथवा अभी कुछ और कहना चाहिए?

"राजन्!" ऋषि ने अपनी अधमुँदी आँखें खोलीं, "अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण करने के लिए यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी? क्या वह हस्तिनापुर में सम्भव नहीं था?"

"हस्तिनापुर में...।" बहुत प्रयत्न कर पाण्डु ने कहा, "हस्तिनापुर में मैं सम्राट था आर्य कुलपति! और सम्राट ब्रह्मचारी नहीं होते।"

"तो तुमने ब्रह्मचर्य और राज्य में से ब्रह्मचर्य का वरण किया है?"

"हाँ आर्य!"

"अब तुम सम्राट नहीं हो?"

"नहीं!"

"वह सब क्यों त्याग आये?"

यही तो वह प्रश्न था, जिसका सामना पाण्डु नहीं करना चाहता था। इसी प्रश्न से बचने के लिए तो वह अपने समाज से सहस्रों योजन दूर चला आया था। कुन्ती और माद्री के सम्मुख तो उसने अपनी पुंसत्वहीनता स्वीकार कर ली थी; क्या सम्पूर्ण संसार के सम्मुख उसे अपनी यह हीनता स्वीकार करनी पड़ेगी?...

"सन्तान की प्राप्ति के लिए ऋषिवर!" अन्ततः पाण्डु बोला, "सन्तान के अभाव में मेरा जीवन सार्थक नहीं है। हस्तिनापुर का युवराज..."

ऋषि मुस्कुराये, "राज्य त्याग दिया है; किन्तु उसका मोह साथ ले आये हो; और कदाचित राज-दर्प भी।"

"आर्य!..." पाण्डु नहीं जानता था कि वह क्या कहना चाह रहा था।

"राजन्! जो याचक है, वह स्वयं को त्यागी कहे–यह दर्प ही तो है।" ऋषि बोले, "जो अर्जन का इच्छुक हो, वह विसर्जन नहीं कर सकता। तुम पहले अपने मन को स्थिर कर लो। तुम पीछे कुछ छोड़ आये हो, या उसे भविष्य में एक लम्बी अवधि तक धारण किये रखने के लिए भोग की और अधिक क्षमता अर्जित करने आये हो। तुम याचक हो, अथवा दाता? ग्रहण करोगे अथवा त्यागोगे! तुम अपने जल की वर्षा कर अपना अस्तित्व विलीन करने वाले परजन्य हो; अथवा और अधिक जल-धारण की क्षमता प्राप्त करने के इच्छुक मेघा?"

"ऋषिवर! मैं...।"

किन्तु ऋषि ने उसे बोलने नहीं दिया, "इन प्रश्नों का उत्तर मुझे नहीं, तुम्हारे मन को चाहिए। राजन्! तपस्या और साधना में भेद है। तुम्हें शायद साधना की आवश्यकता है। तुम तपने नहीं सधने आये हो। साधनरिक्त होने नहीं, साधन-सम्पन्न बनने आये हो। साधना के लिए मन की एकाग्रता चाहिए। वैविध्यपूर्ण संसार से अपना मन समेट कर,

किसी एक बिन्दु, इच्छा अथवा मार्ग पर केन्द्रित करना पड़ता है। एक अपने लक्ष्य को छोड़ कर, शेष सब कुछ त्यागना पड़ता है, सबका मोह छोड़ना पड़ता है। किन्तु इस त्याग के कारण, उस व्यक्ति को विरक्त नहीं, समुचित अनुरक्त मानना चाहिए।" वह रुके, "तुम लोगों के ठहरने की व्यवस्था मुनि प्रबन्धक कर देंगे। जाओ! विश्राम करो। जब विश्राम हो चुके तो मनन करना। साधना के लिए मनन अत्यन्त आवश्यक होता है। पहले मन का निरीक्षण करो: उसमें क्या-क्या भरा है। जब तक उसका सर्वेक्षण नहीं करोगे, तब तक यह कैसे जानोगे कि तुम्हारे मन में क्या-क्या है? जब जानोगे कि क्या-क्या है, तो पहचानोगे कि किसका कितना मूल्य है। मूल्य आँक लोगे, तो निर्णय कर सकोगे कि क्या आवश्यक है, क्या अनावश्यक। तब जान पाओगे, क्या रखना है, क्या फेंकना है।..." उनकी मुद्रा अत्यन्त वात्सल्यपूर्ण थी, "तुम कहते हो कि तुम अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करोगे...क्या तुम अपने कण्ठ में पड़े ब्रह्मचर्य के नाग-पाश से मुक्त होने के लिए अत्यन्त व्याकुल नहीं हो?...जिस कर्म की क्षमता तुममें नहीं है, तुम उस कर्म को न करने का संकल्प कर रहे हो...।"

पाण्डु ने चकित हो कर, कुलपति की ओर देखा।

"यह पाखण्ड है पुत्र! अपने मन को भ्रमित करने की माया। दो-दो युवती पत्नियों को साथ ले कर इस युवावस्था में तपस्या करने का संकल्प करने वाले पुरुष में ब्रह्मचर्य-स्खलन की क्षमता नहीं होती पुत्र! जाओ! जो कुछ मैंने कहा है, उस पर विचार करो। जब किसी निर्णय पर पहुँच जाओ तो मुझे बताना। सम्भव हो तो कल सन्ध्या समय, मुझे मिलना। जाओ।" मुनि प्रबन्धक का एक युवा ब्रह्मचारी, उन्हें उनके कुटीरों तक लाया। सबके लिए एक-एक पृथक कुटीर था।

"जब तक आप आश्रम में हैं, ये कुटीर आपके ही हैं। आप विश्राम करें। जल इत्यादि यहीं उपलब्ध है। भोजन के समय मैं आपको बुला कर ले जाऊँगा।"

वे तीनों अपने-अपने कुटीर में चले गये।

माद्री को नींद नहीं आ रही थी।

उसने अपने जीवन के विषय में कभी अधिक नहीं सोचा था। मद्रराज की कन्या को अधिक सोचने की आवश्यकता ही क्या थी। वह जिस समाज का अंग थी, वह जीवन का सम्पूर्ण भोग करता था। पिता की छत्र-छाया बहुत अधिक नहीं मिली थी, किन्तु भैया शल्य, वात्सल्यपूर्ण पिता से किसी भी रूप में कम नहीं थे। उन्होंने माद्री को पुत्री के ही समान पाला था। एक बड़ा प्रासाद, वस्त्रों का भण्डार, सुरुचिपूर्ण और स्वादिष्ट व्यंजनों का वैविध्यपूर्ण भोजन, दास-दासियाँ, झुकते हुए मस्तक और जुड़ते हुए हाथ।...

और तब वय-संधि का काल आया था। माद्री के तन और मन में अनेक परिवर्तन हुए थे। संसार को देखने की दृष्टि बदल गयी थी। उसके मन में अनेक नये प्रश्न, अनेक जिज्ञासाएँ उत्पन्न हुई थीं। युवा पुरुषों के प्रति विभ्रम और आकर्षण दोनों ही एक साथ उसके मन में आ समाये थे। मन, एक ओर जैसे मद्य-सरोवर में हिलोरें लेता रहता और दूसरी ओर यह राजसी वैभव अब अपर्याप्त लगने लगा था। मन व्याकुल था, अधीर। एक प्रकार की रिक्ति-सी थी मन में—शून्य! न सखियों की संगति सन्तोषजनक लगती थी, न परिवार वालों की।...

और तब आये थे कुरुश्रेष्ठ भीष्म!

भीष्म और शल्य भैया उसके विषय में चर्चा कर रहे थे और उसकी सखियाँ उसके तन और मन को गुदगुदा रही थीं...उसे उसके सौभाग्य पर बधाइयाँ दे रही थीं; वह कुरुराज पाण्डु की पत्नी बनने जा रही थी...और साथ-ही-साथ वह उसे उसके अपने शरीर के विषय में कितना कुछ नया बता रही थीं...इस शरीर से सुख दे पाने की क्षमता, सुख प्राप्त करने की क्षमता...मन की सारी अधीरता और शरीर की सारी तन्द्रा का समाधान उसके सामने प्रकट हो रहा था...

अब पाण्डु ने उसे ला पटका है, शतश्रृंग पर्वत के इस आश्रम में। रहने को यह कुटिया है। पहनने को अभी तो अपने वस्त्र हैं, पर इनके पश्चात? वल्कल? मद्रराज शल्य की बहन को कितना बड़ा सौभाग्य और कैसा अतुलनीय वैभव मिला है—कुरुराज पाण्डु की पत्नी बन कर!...भूमि पर सोना और कन्द-मूल खाना...और वय-संधि के स्वप्न?...मन की आतुरता और तन के आलस का समाधान...कुरुराज का अखण्ड ब्रह्मचर्य? या कुलपति द्वारा बताया गया उनके गले पड़ा ब्रह्मचर्य का नाग-पाश?

कहाँ गया दिग्विजयी सम्राट का दर्प? क्षत्रिय सम्राट पाण्डु का दर्प?...

और सहसा माद्री का ध्यान कुन्ती की ओर चला गया।...एक वह भी तो है, जो कौरवों की साम्राज्ञी बन कर आयी थी। उसने भी तो वही सब भोगा और सहा है। किन्तु जब पाण्डु उन्हें मुक्त कर रहा था, तब कुन्ती ने निश्चय किया कि उसे ऐसे पति से भी मुक्ति नहीं चाहिए। उसे पति चाहिए ही, जैसा भी है।...माद्री ने अपना स्वतन्त्र निर्णय नहीं किया था...वह कुन्ती के साथ चली आयी थी; किन्तु अभी तक उसका मन न उस निर्णय को स्वीकार कर पाया है, और न इस व्यवस्था को।...उसकी ऐसी कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं है: न त्याग की, न तपस्या की, न भोग-शून्य जीवन की।...उसे ऐसे जीवन का करना ही क्या है? उसके लिए भोग और जीवन पर्याय हैं। जिस क्षण से जीवन का भोग निषिद्ध हो गया, उसी क्षण से जीवन थम गया। जीवन का समाप्त होना तो उसकी समझ में आता है, उसका थम जाना, उसकी समझ में नहीं आता। किन्तु कुन्ती शायद ठीक कहती है: जहाँ व्यक्ति को भावनात्मक न्याय न मिले, वहाँ उसे सामाजिक न्याय ही स्वीकार करना पड़ता है...

पाण्डु रात भर सोचता रहा था: उसे अपने जीवन से क्या चाहिए?...नींद उसे बहुत कम आयी थी। जितनी देर सो सका, सोया; और शेष समय अपने विचारों से मल्लयुद्ध करता रहा। वह तो कुलपति ने ही सन्ध्या समय मिलने के लिए कहा था, अन्यथा वह प्रात: ही उनसे जा मिलता।

कुन्ती प्रातः ही उठ कर स्नान कर आयी थी। कदाचित वह आश्रम की सामूहिक प्रार्थना और यज्ञ में भी सम्मिलित हुई थी; और अब आश्रमवासिनी स्त्रियों के साथ मिल कर आश्रम के बालकों के भोजन इत्यादि का प्रबन्ध कर रही थी।...उसे देख कर ऐसा नहीं लगता था कि वह भोजराज कुन्तिभोज की पुत्री और हस्तिनापुर के सम्राट की पत्नी है। उसने इतने सहज रूप में आश्रम के जीवन को स्वीकार कर लिया था, जैसे वह सदा से यहीं रहती आयी हो।

पाण्डु देख रहा था: आश्रम का जीवन सामूहिक जीवन था, यहाँ जैसे कोई 'व्यक्ति' था ही नहीं। आश्रम में ब्रह्मचारी भी थे और गृहस्थ भी। स्त्रियाँ भी और पुरुष भी। बालक तो थे ही। किन्तु किसी का अपना, कुछ भी निजी नहीं था। यदि कोई वन से फल लाया था, कन्द-मूल लाया था, ईंधन के लिए लकड़ियाँ लाया था, पशुओं के चारे के लिए वृक्षों के हरे पत्ते लाया था–कुछ भी उसका अपना नहीं था, इसलिए कोई एकाकी और असहाय भी नहीं था। सब एक-दूसरे की सहायता के लिए तत्पर थे...

एक महिला, कुछ शिशुओं को नहला कर लायी; किन्तु वे शिशु उसकी अपनी सन्तान नहीं थे। आश्रम की प्रत्येक महिला, शिशुओं की ममतामयी माता थी। आश्रम का कोई भी पुरुष, उसके लिए वात्सल्यपूर्ण पिता था।...

किशु आश्रम की गौवों का प्रबन्ध कर था। वह उस समय गोशाला में दूध दूह रहा था। उसकी पत्नी दया पशुओं को खिलाने के लिए हरे पत्तों का एक बोझ लायी थी। वह गर्भवती थी, और थकी हुई-सी लग रही थी। उसने पत्तों का बोझ बाहर फेंका और अपनी कुटिया के भीतर चली गयी। उसके साथ आश्रम की एक महिला भी थी। थोड़ी देर में वह महिला बाहर निकली। दो-एक वृद्धाएँ कुटिया में गयीं। फिर दो-एक ब्रह्मचारी 'भाभी' 'भाभी' पुकारते हुए आये। अन्त में कुलपति स्वयं आये।...

पाण्डु को लगा वहाँ कुछ असाधारण घटा है। लोग चिन्तित नहीं थे, किन्तु गम्भीर थे। निश्चित रूप से वह किसी प्रबन्ध में लगे थे। किन्तु किशु क्यों नहीं आया? वह क्यों अपने काम में ही लगा है?

पाण्डु का मन हुआ कि उठ कर जाये, देखे: क्या हुआ है वहाँ? पर दूसरे ही क्षण जैसे उसकी इच्छा समाप्त हो गयी: जिसकी पत्नी है, वह देखे। पाण्डु को इस सब से क्या लेना-लेना...दूसरे के काम में टाँग अड़ाने का क्या लाभ...

कुन्ती आयी तो उससे पाण्डु ने पूछा।

"दया अचेत हो गयी थी।" कुन्ती ने बताया, "सब लोग उसके उपचार का प्रबन्ध कर रहे थे।"

"उसकी अस्वस्थता की सूचना उसके पति को क्यों नहीं दी गयी?" पाण्डु के स्वर में असन्तोष था।

"उसे सूचना थी।"

"फिर वह आया क्यों नहीं?"

"वह काम कर रहा था। आश्रम के बच्चों के लिए दूध की आवश्यकता थी। जब तक दूध दुहा नहीं जाता, गौवें चरने के लिए वन में नहीं जा सकती थीं।"

"ये सारे कार्य क्या उसकी पत्नी के प्राणों से अधिक महत्त्वपूर्ण थे?"

"नहीं!" कुन्ती बोली, "किन्तु उसकी पत्नी का उपचार हो रहा था।"

"यहाँ कोई परायी नहीं है। सब एक-दूसरे के समान रूप से आत्मीय हैं।"

पाण्डु चकित रह गया था; व्यक्ति की वैयक्तिकता का इतना दमन...यह सामूहिकता का प्रथम पाठ था...या यह व्यक्ति की निजता का विस्तार था...। अपने-पराये का भाव जैसे ये अंकुरित ही नहीं होने देते थे। तभी तो यहाँ ईर्ष्या-द्वेष नहीं था।...पर कैसी कठोर साधना थी यह–निजत्व का सम्पूर्ण विसर्जन! आत्मीयता का इतना विस्तार!

क्या पाण्डु के लिए यह सम्भव होगा? क्या वह कभी भूल पायेगा कि वह हस्तिनापुर का सम्राट है?...कुलपति ने कल उसे यही समझाया था कि जिसे वह त्याग समझ रहा था, वस्तुतः वह अधिक ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त करने की इच्छा मात्र थी।...वैसे भी जब वह साधारण बनने का प्रयत्न करता था, तो एक प्रकार का अहंकार उसके भीतर

स्फीत होने लगता था कि देखो मैं कितना महान हूँ कि असाधारण हो कर भी साधारण बनने का प्रयत्न कर रहा हूँ। वह अपने अहंकार को विगलित करने का प्रयत्न करता तो वह और भी स्फीत होता चला जाता।...और पाण्डु को लगता कि वह कभी भी साधारण व्यक्ति नहीं हो पायेगा। कुन्ती ही थी, जो सहज भाव से सबकी सेवा कर लेती थी, सबको अपना मान लेती थी। क्षण में अत्यन्त साधारण और क्षणभर में अत्यन्त महिमामयी बन जाती थी...

सन्ध्या समय पाण्डु कुलपति के सम्मुख उपस्थित हुआ।

"आओ राजन्!" कुलपति ने उसका स्वागत किया, "लगता है कि तुमने कुछ मनन किया है।"

पाण्डु कुछ संकुचित-सा बैठा रहा; फिर बोला, "ब्रह्मर्षि! मैं तो अपने ऊहापोह को ही जानता हूँ। क्या उसी को मनन कहा जायेगा?"

ऋषि मुस्कुराये, "चलो! अपने ऊहापोह की ही बात कहो!"

"कल आपके साथ हुए वार्तालाप के विषय में सोचता रहा हूँ।...मुझे ऐसा लगता है। कि मैंने कुछ भी त्यागा नहीं है–न राज्य, न उसका मोह! मैं तो अपने राज्य से वैसे ही दूर आ गया हूँ, जैसे दिग्विजय अथवा मृगया के लिए चला गया था। दिग्विजय के समय मैं समझता रहा कि मैं कुरुकुल की कीर्ति का विस्तार कर रहा हूँ, मृगया के अवसर पर मैंने समझा कि मैं व्यक्तिगत शौर्य प्रमाणित कर रहा हूँ...किन्तु वस्तुतः मैं अपनी पत्नियों से पलायन कर रहा था। तब मैंने अपनी वास्तविकता स्वीकार नहीं की थी।...शायद कल तक मैं पुनः वही कर रहा था। किन्तु कल रात और आज सारा दिन मैं सोचता रहा हूँ।...मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि मेरे मन में पुत्र-प्राप्ति की प्रबल आकांक्षा है।"

"पुत्रवान क्यों बनना चाहते हो?"

"कदाचित पितृ-ऋण से मुक्त होने के लिए...।"

"कदाचित हस्तिनापुर के सिंहासन पर अपनी मृत्यु के पश्चात भी, अपने पुत्र के माध्यम से अधिकार बनाये रखने के लिए?" ऋषि बोले।

"शायद ऐसा ही हो।"

"पुत्र की इच्छा है; स्त्री-सुख की नहीं?"

क्षण भर के लिए पाण्डु मौन रहा; फिर बोला, "मुझे औरस पुत्र की कामना है।"

ऋषि मुस्कुराये, "शब्द-क्रीड़ा से तथ्य नहीं बदला करते राजन्! सत्य यही है कि नारी का आकर्षण तुम्हारे मन से गया नहीं है।"

"शायद ऐसा ही है ऋषिवर!" पाण्डु बोला, "औरस-पुत्र पाने के लिए जैसी साधना आप कहेंगे, मैं करूँगा।"

"वत्स! राजप्रासाद त्याग आये हो, तो राज-दर्प भी त्याग दो। प्रकृति से युद्ध तुम्हारे लिए स्पृहणीय नहीं है। प्रकृति की शरण में जाओ। सम्भव है, लम्बी साधना के पश्चात तुम्हें वरदान मिल जाये।"

"मैं क्या करूँ?"

"संयम से रहो। साधना करो। योग्य चिकित्सकों से अपना उपचार कराओ। सम्भव है कि प्रकृति तुम्हें वह शक्ति प्रदान कर दे, जो प्रत्येक पुरुष में विद्यमान है। तब तुम्हें स्त्री-सुख भी मिल सकता है; और सम्भवतः औरस-पुत्र भी।"

"उसमें कितना समय लगने की सम्भावना है ऋषिवर?"

"यह तो विधाता ही बता सकते हैं।" ऋषि बोले, "यह साधना दीर्घकालीन हो सकती है: और अन्ततः प्रकृति की कृपा हो ही जाये, यह भी आवश्यक नहीं है।"

"आर्य कुलपति!" पाण्डु का स्वर सर्वथा दीन हो गया, "यदि मैं स्त्री-सुख और उत्तराधिकारी की कामना न करता, तो राज-सुख तो मेरे पास था ही। आप जो मार्ग बता रहे हैं, उससे तो सम्भव है कि मेरी कामना अपूर्ण ही रह जाये और मैं अपने राज्य से भी वंचित हो जाऊँ।"

"स्पष्ट कहो पाण्डु!" ऋषि बोले, "मुझसे दुराव मत करो। मन में जो कुछ है निःसंकोच कहो।"

"हस्तिनापुर का राज्य मैं भैया धृतराष्ट्र को सौंप कर आया हूँ। यदि मुझसे पहले धृतराष्ट्र को पुत्र-प्राप्ति हो गयी, तो वह उसे युवराज घोषित कर देंगे।..." पाण्डु बोला, "उसके पश्चात पुत्र-प्राप्ति भी व्यर्थ ही जायेगी ऋषिवर! उसे राज्य नहीं मिल पायेगा।"

"तो पुत्र-प्राप्ति और काम-सुख को विलग कर दो राजन्!" ऋषि बोले, "काम-सुख की क्षमता के लिए साधना

करो; और पुत्र-प्राप्ति के लिए उपाय!"

पाण्डु कुछ समझ नहीं पाया!

"राज्य के उत्तराधिकारी के लिए, अपने क्षेत्र से पुत्र-प्राप्ति हेतु नियोग का आश्रय लो।" ऋषि बोले, "और अपनी क्षमताओं की प्राप्ति के लिए धैर्यपूर्वक, संयम, साधना और उपचार के मार्ग से प्रकृति की शरण में जाओ।"

पाण्डु मन-ही-मन कुछ सोचता हुआ बैठा रहा। न कुछ बोला, न जाने के लिए उठा।

"क्या बात है राजन्!" ऋषि विनोद की मुद्रा में थे, "क्या सोचने लगे?"

"ऋषिवर!" पाण्डु संकोच के साथ बोला, "क्या ऐसी कोई तपस्या नहीं है, कोई आध्यात्मिक साधना, कोई मन्त्र, कोई यज्ञ, कोई ऐसी विधि, जिससे, चाहे अल्पकाल के लिए ही हो, मेरा पौरुष समर्थ हो जाये और मैं सन्तान उत्पन्न कर सकूँ?" पाण्डु के आनन पर अबोध किन्तु हठी, अपनी इच्छा से आविष्ट, असहाय बालक का-सा भाव था।

"इसलिए मैंने कहा था, कि तुम अपना दर्प त्याग नहीं सके; उलटे बहुत कुछ त्यागने का दर्प संचित कर लिया है तुमने!" ऋषि हँसे, "प्रकृति से बलात कुछ छीनने का दर्प त्याग दो पुत्र! प्रकृति के अनुकूल बनो! उसकी शरण में जाओ। वह बहुत उदार है। वात्सल्य के मोह से अभिभूत माँ के समान! किन्तु, उससे बलात् कुछ प्राप्त करने का प्रयत्न अत्यन्त विनाशकारी है।...और तुम भौतिक सिद्धियों के लिए आध्यात्मिक साधनों का प्रयोग करना चाहते हो। यह बहुत बड़ी भूल है।" ऋषि की दृष्टि उसकी आँखों पर जम गयी, "आध्यात्मिक साधना, बन्धनों से मुक्ति के लिए है; और अधिक बन्धनों की याचना के लिए नहीं। माँगना है तो प्रभु से यह माँगो कि वह तुमको इस कामना-पाश से मुक्त करे; उससे यह प्रार्थना मत करो कि तुम्हारी सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति कर, तुम्हें कामनाओं के पँक में और धँसाता चला जाये।"

पाण्डु ने कोई उत्तर नहीं दिया; किन्तु उसकी भंगिमा से स्पष्ट था कि वह ऋषि के उत्तर से न सहमत था, न सन्तुष्ट।

"क्यों? सहमत नहीं हो?" ऋषि ने पूछा।

"आपसे असहमत कैसे हो सकता हूँ।" पाण्डु ने शिष्टाचारवश मुस्कुराने का प्रयत्न किया, "किन्तु प्रकृति के प्रति मेरा वह दृष्टिकोण हो नहीं सकता। मैं प्रकृति को शत्रु-भाव से देखता आया हूँ। उसने मुझे उन क्षमताओं से भी वंचित किया है, जो कीट-पतंग तक को उपलब्ध हैं। मेरे लिए उन सुखों को वर्जित कर दिया है, जो प्रत्येक जीव का जन्म-सिद्ध अधिकार है।..." आवेश से पाण्डु का आनन रक्तिम हो उठा था।

"आवेश से बचो वत्स! हम विचार कर रहे हैं; और विचार के लिए आवेश हलाहल विष है।" ऋषि बोले, "जीवों के जन्मसिद्ध अधिकार किसने निश्चित किये हैं? बानर में वे क्षमताएँ नहीं होंगी, जो नर में हैं–यह निर्णय किसका है?"

"प्रकृति का!"

"तुममें कौन-सी क्षमता होगी, कौन-सी नहीं, इसका निश्चय कौन करेगा?"

"प्रकृति!"

"प्रकृति ने निश्चय किया है कि तुम्हें काम-क्षमता नहीं दी जायेगी; मात्र उसकी इच्छा दी जाएगी। अब तुम चाहो तो प्रकृति से शत्रुता पालो, युद्ध करो, उससे बलात क्षमताएँ प्राप्त करने के प्रयत्न में अपनी सुख-शान्ति का त्याग करो; क्षोभ और असन्तोष के रोगी बन कर, अन्ततः विक्षिप्तता को प्राप्त हो जाओ।" ऋषि ने पाण्डु को देखा, "और यदि चाहो, तो उसके अनुकूल बनो, उसकी शरण में जाओ। उससे प्रार्थना करो कि उसने जो क्षमता तुम्हें नहीं दी, उसकी कामना से भी तुम्हें मुक्त करे। यदि तुम 'काम' को जीत लोगे वत्स! तो आत्मजयी हो जाओगे। सम्भव है कि, जिसे तुम प्रकृति की वंचना समझते हो, वह तुम्हारे लिए प्रकृति का वरदान सिद्ध हो।" ऋषि मुस्कुराये, "मनुष्य तुम्हें वंचित करे, तो उसे अपने अनुकूल बनाओ। प्रकृति वंचित करे तो उसके अनूकूल बनो। वंचक को अनुकूल करने के लिए भौतिक साधन हैं, प्रकृति के अनुकूल हो जाने का नाम आध्यात्मिक साधना है ...।"

कुलपति के साथ वार्तालाप कर, पाण्डु के मन में अनेक तथ्य स्पष्ट हुए, किन्तु उससे प्रसन्नता नहीं हुई। ऋषि के जीवन की साधना, मात्र सत्य की खोज थी। वह कदाचित निस्पृह थे। उनके अनुसन्धान का जो भी निष्कर्ष हो, वह उन्हें स्वीकार्य था।... किन्तु पाण्डु तो अनुसन्धित्सु नहीं था, वह तो याचक था। उसको तो सत्य भी वही चाहिए था, जो उसकी कामना के अनूकूल पड़े....

आरम्भ के कुछ दिन, पाण्डु के लिए निराशा और मानसिक यातना से भरे हुए थे। अनेक बार तो उसके मन में आया भी कि वह हस्तिनापुर छोड़ व्यर्थ ही यहाँ आया। इससे तो अच्छा था, कि वहीं रहता, शासन करता, राज-वैभव भोगता। नियोग से ही पुत्र प्राप्त करना था, तो वह तो हस्तिनापुर में भी हो सकता था। धृतराष्ट्र, विदुर और स्वयं उसका जन्म भी तो हस्तिनापुर में ही हुआ था, नियोग से। यहाँ, शतशृंग के आश्रम में आने की क्या आवश्यकता थी?....कई बार उसके मन में आया भी कि वह अब भी लौट जाये। अब भी क्या बिगड़ा था।....

किन्तु पाण्डु का एक और मन था जो इन परिस्थितियों में हस्तिनापुर लौट चलने के लिए एकदम सहमत नहीं था...उस मन की चर्चा वह ऋषि से करता, तो वह उसे उसका दर्प ही कहते...अपनी अपूर्णता को कुन्ती और माद्री के सम्मुख स्वीकार करने में कितना समय लगा था उसको!...अब वह अपनी अपूर्णता, अक्षमता–सम्पूर्ण हस्तिानापुर के सम्मुख स्वीकार करे?...इसी से बचने के लिए तो वह अपनी राजधानी छोड़, इस एकान्त में चला आया था। वह कह आया था कि वह अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करेगा।...राजधानी में वह 'ब्रह्मचर्य' और 'तपस्या' की ओट नहीं ले सकता...यदि यहाँ कोई उपचार हो सके, तो देवताओं का वरदान ले कर वह विजयी के रूप में हस्तिानापुर में प्रवेश करेगा। किन्तु शायद विजेता का यह दर्प, उसके भाग्य में नहीं था।...

तो क्या ऋषि का प्रस्ताव ही, उसकी समस्या का अन्तिम समाधान है?

उसके पिता विचित्रवीर्य की परिस्थितियाँ भिन्न थीं।...उनका देहान्त होने के पश्चात सन्तान के लिए वेदव्यास को नियुक्त किया गया था। वह यह देखने के लिए जीवित नहीं थे कि उनकी पत्नियाँ किसी अन्य पुरुष के संसर्ग में आयी हैं। वह सन्तान तो उनकी नहीं ही है, अब उनकी पत्नी का शरीर भी उनका नहीं है... किन्तु पाण्डु अपनी आँखों के सम्मुख यह सब कैसे सहन करेगा। उसके भीतर बैठे पुंसत्वहीन पुरुष का अहंकार...उसका हृदय टूक-टूक नहीं हो जायेगा। ऐसा न हो कि नियोग के लिए आये उस नियुक्त पुरुष को देख कर, आवेश, क्रोध और क्षोभ से पाण्डु के मस्तिष्क में कोई विस्फोट हो जाये।...या...या पहले के समान उसका हिंस्त्र रूप लौट आये और वह उस पुरुष पर प्रहार कर बैठे...

पाण्डु उठा और जा कर उसने अपना सिर शीतल जल की धारा के नीचे डाल दिया। कहीं ऐसा न हो कि वास्तविक घटना से पूर्व, उसकी कल्पना भर के आवेश से ही वह विक्षिप्त हो जाये।

संयोग से, उधर से जाते हुए आयुर्वेदाचार्य ने उसे देख लिया।

"यह क्या कर रहे हैं राजन्!" वह बोले, "इतने शीतल जल में इस प्रकार सिर को डुबोये रखने से आप अपनी कोई क्षति कर बैठेंगे।"

पाण्डु सँभला। उसने सिर जल से बाहर निकाला।

"क्या बात है?" आयुर्वेदाचार्य ने पूछा।

"कुछ नहीं।" पाण्डु धीरे से बोला, "स्वयं ही कुछ परिस्थितियों की कल्पना कर, क्षोभ से विक्षिप्त हो रहा हूँ। उससे बचने के लिए ही यह कर बैठा।"

"आप मेरे साथ आयें।"

आयुर्वेदाचार्य उसे अपने चिकित्सा-कुटीर में ले गये। शान्ति से बैठने को कहा। सिर और शरीर सुखाया। नाड़ी देखी और बोले, "आपका स्नायु-तन्त्र दुर्बल है। अपनी कल्पना को यथार्थ समझने की भूल न करें; और अप्रसन्न करने वाली कल्पनाएँ न करें। आपके लिए कोई भी उत्तेजना घातक हो सकती है। आप अपना उपचार करें और संयम से रहें।"

"मैं इसी उद्देश्य से यहाँ आया हूँ आचार्य!"

"तो आज से ही मैं आपका शारीरिक उपचार आरम्भ करता हूँ। आप अपना मानसिक उपचार स्वयं करें; तथा

आत्मा के उपचार के लिए आर्य कुलपति के पास जायें।"

उपचार तथा स्वतः चिन्तन-मनन से पाण्डु का मन कुछ शान्त हुआ। उससे पुनः अपनी समस्याओं पर विचार करने के लिए कहा गया। यह ठीक परामर्श था। उसे सबसे पहले यह निश्चय कर लेना चाहिए कि वह अब भी गृहस्थ है अथवा उसने गृहस्थाश्रम का त्याग कर वानप्रस्थ अंगीकार कर लिया है। यदि वह गृहस्थाश्रम त्याग चुका है, तो उसे हस्तिनापुर के राज्य तथा उसके उत्तराधिकारी की चिन्ता छोड़ देनी चाहिए। उसे स्त्री-सुख और पुत्र की इच्छा त्याग कर आध्यात्मिक साधना में लीन हो जाना चाहिए।...और यदि स्त्री-सुख की कामना उसके मन में अभी है, हस्तिनापुर का राज्य उसे अपने लिए और अपने पुत्र-पौत्रों के लिए चाहिए, तो वह कुलपति के प्रस्ताव पर विचार करे। आध्यात्मिक साधना के स्थान पर वह भौतिक साधनों की सहायता से अपना मनोरथ पूर्ण करे...

रात भर पाण्डु को नींद नहीं आयी। विचारों और तर्कों का कशाघात उसे किसी एक करवट चैन से लेटने नहीं देता था। वह किसी एक निष्कर्ष पर पहुँच नहीं रहा था। जैसे ही किसी एक निश्चय पर पहुँचने की सम्भावना होती, वैसे ही उसका विरोधी तर्क अपना कशा फटकारता हुआ सामने आ खड़ा होता...इसी ऊहापोह में प्रायः रात निकल गयी।...और प्रातः जब सूर्योदय हो रहा था, सारा आश्रम निद्रा त्याग, कर्मरत होने की तैयारी में था, तब पाण्डु सोच रहा था कि उसे इस प्रश्न को छोड़ देना चाहिए, कि उसके लिए श्रेयस्कर क्या है! उसे तो अपना सत्य स्वीकार कर लेना चाहिए।...और अपना सत्य स्वीकार करने का अर्थ अपनी सीमाओं को स्वीकार करना ही है।...उसकी सीमा है कि वह कामेच्छा को त्याग नहीं सकता। राज-वैभव को छोड़ना नहीं चाहता। लाख तपस्वी जीवन व्यतीत करे, किन्तु वह तपस्या, जीवन के भोग के लिए है, उसके त्याग के लिए नहीं...

सन्ध्या समय जब एकांत मिला तो वह कुन्ती के पास जा बैठा। कुन्ती सहज रूप से बैठी हुई अपने पुराने वस्त्र सी रही थी कि उसे देख कर कोई कह ही नहीं सकता था कि उसने कभी वैभव के दिन भी देखे होंगे...

"कुन्ती! मुझे लगता है कि हमने हस्तिनापुर त्याग कर भूल की है।" वह धीरे से बोला।

कुन्ती ने विस्मय से उसकी ओर देखा, "आज हस्तिनापुर का स्मरण कैसे हो आया?"

"धृतराष्ट्र को तुम नहीं जानती!" पाण्डु बोला, "उसे अपना जन्मान्ध होना याद नहीं है; केवल मुझसे बड़ा होना याद है। इसलिए वह मानता है कि राज्य उसका ही है।"

"किन्तु यह चर्चा ही आप क्यों कर रहे हैं?" कुन्ती ने पूछा।

"हमें हस्तिनापुर से सम्पर्क बनाये रखना चाहिए। हमारा समाचार वहाँ पहुँचना चाहिए। ऐसा न हो कि जब हम लौट कर हस्तिनापुर जायें, तो वहाँ हमें कोई पहचानने वाला ही न हो!"

"आप हस्तिनापुर वापस लौटने की बात सोचते हैं?"

"हाँ! क्यों नहीं! मैं हस्तिनापुर का राजा हूँ। हस्तिनापुर मेरा है।"

"कब लौटना चाहते हैं?"

"पुत्र प्राप्ति के पश्चात!"

कुन्ती ने चकित होकर पाण्डु की ओर देखा, "कब है उसकी सम्भावना?"

"यह तो तुम पर निर्भर करता है।"

"मुझ पर?" कुन्ती और भी चकित हो गयी।

"चकित मत होओ प्रिये!" पाण्डु धीरे से बोला, "औरस पुत्र उत्पन्न करने की क्षमता मुझमें नहीं है, अतः क्षेत्रज-पुत्र की सम्भावना को आपद्धर्म के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा।..."

"तो?"

"तुम नियुक्त पुरुष से देव-प्रदत्त सन्तान प्राप्त करने का प्रयत्न करो।"

"मैं!" कुन्ती समझ नहीं पा रही थी कि वह क्या कहे: पाण्डु के इस प्रस्ताव को स्वीकार करे? उसका विरोध करे?

"इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है देवि!" पाण्डु बोला, "ईश्वर ने तो केवल स्त्री और पुरुष को बनाया है और उसका लक्ष्य है सृष्टि! समाज और समाज- धर्म तो मनुष्य ने अपने अनुभव से, अपनी सुविधा के लिए बनाये हैं। तुम्हें शायद ज्ञात हो कि नारी-पुरुष सम्बन्ध अनेक समाजों में, अनेक प्रकार से नियन्त्रित होते हैं। पहले कानीन पुत्र भी समाज में मान्य था। अनेक ऋषि उसे अब भी धर्म-सम्मत मानते हैं...।"

"मुझे मालूम है।" कुन्ती ने जैसे खीझ कर पाण्डु की बात बीच में ही काट दी।

इस बार चकित होने की बारी पाण्डु की थी, "तुम्हें मालूम है?"

"हाँ!" कुन्ती जैसे कुछ सँभल गयी थी, "दुर्वासा ऐसी मन्त्रणा मुझे दे चुके हैं।"

"क्या कहा था उन्होंने?"

"उन्होंने ने कहा था जब स्त्री ऋतुमती हो जाये तो सन्तान उत्पन्न करना उसका धर्म है। पुत्र, पुत्र है; चाहे वह कानीन पुत्र ही क्यों न हो। जब तक स्त्री स्वतन्त्र थी, तब तक रक्त-सम्बन्ध केवल माता के माध्यम से निर्धारित किये जाते थे; और तब कानीन पुत्र समाज में उतना ही सम्मानित था, जितना कि औरस पुत्र! जब से समाज में पुरुष का अधिकार बढ़ा है तब से रक्त-सम्बन्ध पुरुष के माध्यम से निर्धारित होने लगे हैं; और जैसे-जैसे सम्पत्ति के उत्तराधिकार का महत्व बढ़ता जा रहा है, स्त्री के अधिकार उतने ही कम होते जा रहे हैं। यह सब पुरुष का षड्यन्त्र है...।"

"मन्त्रणा क्या थी?" पाण्डु अधीर हो उठा।

"ऋतु स्नान के पश्चात यदि स्त्री पति-विहीन हो तो किसी देव-शक्ति का ध्यान कर, किसी श्रेष्ठ पुरुष को, उस देव-शक्ति का प्रतिनिधि मान, उससे देव-प्रदत्त सन्तान प्राप्त करनी चाहिए।..."

"यही तो मैं कह रहा हूँ।" पाण्डु के स्वर में उल्लास था।

"क्या कह रहे थे आप?" कुन्ती जैसे आवेश में बोली, "कानीन पुत्र मान्य है आपको?"

"नहीं देवि!" पाण्डु बोला, "वह ऋषियों की बात है। कानीन पुत्र अब राज-समाज में मान्य नहीं है; किन्तु यदि औरस पुत्र के अभाव में, पति की अनुमति से स्त्री नियुक्त पुरुष के माध्यम से देव-प्रदत्त पुत्र प्राप्त करे, तो वह राज-समाज को मान्य है। तुम्हारा पुत्र, मेरे क्षेत्र में उत्पन्न होने के कारण मेरा क्षेत्रज पुत्र होगा; अतः वह हस्तिनापुर के सिंहासन का अधिकारी होगा।"

कुन्ती के मन में इतना कुछ एक साथ ही घटित हो रहा था कि उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या कहे और क्या करे! मन में एक आवेग उठता था कि यदि पाण्डु को कुन्ती का पुत्र स्वीकार्य था तो...एक छोटा-सा शिशु, टुकुर-टुकुर ताकता हुआ...कुन्ती के मन में कैसी तो पीड़ा उठ रही थी ...इच्छा होती थी कि सब कुछ बता दे...किन्तु दूसरे क्षण याद आ जाता था कि वह बार-बार कह रहा था कि अब राज-समाज में कानीन पुत्र मान्य नहीं था...और फिर भोज-कुल का सम्मान, कुन्तिभोज का यश...

"क्या कहती हो?" पाण्डु ने अधीर हो कर पूछा।

"सोचूँगी!" कुन्ती बोली।

पाण्डु आश्वस्त हो गया: यह कुन्ती की सहमति ही थी।

भीष्म स्वयं ही रथ-संचालन कर रहे थे। सारथि ने कहा भी था, पर्याप्त आग्रह भी किया था; किन्तु भीष्म जैसी उन्मुक्तता और उल्लास की मनःस्थिति में थे, उसमें एक सारथि का साथ भी उन्हें नहीं चाहिए था। उन्मुक्तता को गति की आवश्यकता थी, इसलिए उन्होंने रथ ले लिया था, ताकि उसे वेग से हाँकते हुए, उनका उल्लास क्षितिज की ओर दौड़ता हुआ दिखायी दे। उनका मन हो रहा था कि वे अपने सारे बन्धनों, सीमाओं, मर्यादाओं का अतिक्रमण कर, आज निर्बन्ध पवन के समान बहें, गंगा के जल के समान स्वच्छन्द अठखेलियाँ करें, मेघों के खुले आकाश पर, अपनी इच्छा से विचरण करें। कितनी उन्मुक्त है प्रकृति। अपने संसर्ग में आने वाले जीवों को भी मुक्त करती है; और भीष्म हैं कि उन्होंने आज तक स्वयं को भी बाँधा है, और दूसरों को भी बाँधने का ही प्रयत्न किया है...

वे हस्तिनापुर से बहुत दूर निकल आये थे। नगर की प्राचीर के साथ-साथ बसे ग्राम ही नहीं, उनके खेत-खलियान भी बहुत पीछे छूट गये थे। अब भीष्म थे, गंगा का जल था; और अबाध गति से बहता मुक्त पवन था। भीष्म के मन में जैसे एक हूक सी उठीः वे पवन ही क्यों न हो सके। पवन नहीं हुए, तो उसके कंधों पर अनायास, उसकी गति के अनुकूल बहता कोई पक्षी ही हो जाते।...पर भीष्म के भाग्य में कहाँ था ऐसा। वे तो मर्यादाओं, प्रतिज्ञाओं, संकल्पों और सिद्धान्तों में बँधे एक बद्ध जीव थे।...

उनके मन का उल्लास जैसे अवरोह पर आ गया था...

पर वे ऐसा नहीं होने देंगे।

उन्होंने वल्गा खींच ली। अश्व रुक गये। वे रथ से उतरे। अश्वों को खोला और उन्हें जल के निकट ला कर छोड़ दिया। उनके पुट्ठों पर थपकी दी, "तुम भी स्वतन्त्रता और स्वछन्दता का भोग करो।"

वे एक शिला पर बैठ गये और गंगा के जल में पाँव डाल दिये। गंगा के जल का स्पर्श होते ही कैसी तो स्फूर्णा जागती है, भीष्म के मन में। गंगा के तट पर आते ही ऐसा लगता है, जैसे अपनी माता की गोद में आ गये हों।... क्या केवल इसलिए कि उनकी माता का नाम भी गंगा था?... कैसे निश्चिन्त हो जाते हैं, जैसे अब उन पर कोई दायित्व नहीं है, जो करना होगा; माँ स्वयं ही कर लेंगी...

आज प्रातः ही युधिष्ठिर के जन्म का समाचार पा कर भीष्म कैसे सहज ही उत्फुल्ल हो उठे थे। जाने क्यों उसी क्षण से ही उन्हें लगने लगा था कि अब उनका त्राता आ गया है। उनके दायित्व पूर्ण हो गये हैं। अब वह विश्राम कर सकते हैं। विश्रामपूर्ण जीवन...तपस्या का जीवन नहीं, विश्राम का जीवन...वानप्रस्थ...संन्यास...नहीं केवल विश्राम का जीवन, जिसमें कोई नियम, विधान, दायित्व, बन्धन कुछ न हो...बाहर से उन पर कोई बाध्यता आरोपित न की जाये, जो कुछ हो, उनकी इच्छा के अनुकूल हो...

किन्तु उनका जिज्ञासु मन मौन नहीं रहा...वे कैसे यह मान बैठे हैं कि युधिष्ठर ही उनका त्राता है? चित्रांगद उनका त्राता नहीं हो सका; यद्यपि वह भीष्म को कुरुओं के राजवंश के दायित्वों से मुक्त करने के लिए भीषण रूप से उत्सुक था। विचित्रवीर्य कभी अपने ही दायित्व नहीं सँभाल पाया, तो भीष्म के कंधों पर रखा जुआ, वह कहाँ से अपने कंधों पर रख लेता। फिर धृतराष्ट्र का जन्म हुआ, किन्तु वह जन्मान्ध था; उसे कुरु-वंश का कर्णधार कैसे बनाया जा सकता था।... और पाण्डु! पाण्डु ने राजकाज सँभाला भी, तो हस्तिनापुर में कभी टिका नहीं...।

माता सत्यवती ने बाँध रखा है भीष्म को: और भीष्म हैं कि कुरुकुल में जन्म लेने वाले प्रत्येक युवराज को, उत्कण्ठित हो अपना त्राता मान लेते हैं; और प्रतीक्षा करते हैं कि कब वह वयस्क हो, और कब उन्हें इन दायित्वों से मुक्त करे।...किन्तु वे भूल जाते हैं कि यह काँटा निषाद कन्या, माता सत्यवती का है। मुक्त होने के लिए मत्स्य जितना अधिक प्रयत्न करता है, काँटा उतना ही उसके कण्ठ में और भी धँसता जाता है...किसी भी युवराज ने उनकी अपेक्षा पूरी नहीं की।...अब आया है युधिष्ठिर! भीष्म का मन कहता है, युधिष्ठर इस युद्ध में स्थिर रहेगा। वह वस्तुतः हस्तिनापुर का युवराज बनेगा। वह सम्राट बनेगा और समर्थ तथा धर्मज्ञ शासक के रूप में प्रजा का पालन करेगा।...अब पुत्र पा कर कदाचित पाण्डु भी सन्तुष्ट हो जायेगा और वापस हस्तिनापुर लौट आयेगा। युधिष्ठिर सम्राट बनेगा तो उसकी सहायता और मार्ग-निर्देशन के लिए कुल-वृद्धों के रूप में धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर तीनों उसके निकट होंगे। कुन्ती, माद्री, गान्धारी, अम्बिका और अम्बालिका होंगी–फिर भीष्म का ही, राजप्रासाद के इस खूँटें से बँधे रहना क्यों आवश्यक है?...

भीष्म को गंगा तट की अपनी कुटिया बहुत याद आती है। उनका मन जैसे आठों प्रहर वहीं लौट जाने के लिए छटपटाता रहता है। जाने भीष्म की प्रकृति में ऐसा क्या है कि वे इस भीड़-भाड़, भाग-दौड़ के नागरिक जीवन को छोड़; दूर कहीं किसी निर्जन स्थान में आलोड़न-विलोड़न-विहीन शान्त जीवन जीना चाहते हैं–ठहरा हुआ, विश्राम का जीवन!....कोई भी सरिता-तट उन्हें लुभाने लगता है, कोई अद्‌भुत प्राकृतिक स्थान उन्हें मोह लेता है, कोई वन-प्रान्तर उन्हें क्षण-भर विश्राम कर लेने का निमन्त्रण देने लगता है। उनकी इच्छा होती है कि वहीं रह जायें...प्रकृति के निकट जाते ही, उन्हें लगने लगता है, जैसे वे अपने घर में लौट आये हैं।...

उन्होंने ज़ोर-ज़ोर से पैर चलाये और एक लय में बहने वाले जल को एकदम विक्षुब्ध कर दिया। अब उनके पैरों के आस-पास पानी कम, जल के बुद्-बुद् ही अधिक थे।...उनके मस्तिष्क में भी जैसे कोटि-कोटि बुद्‌बुदों का उफान आया था; और वह फूट-फूट कर फिर से जैसे शून्य में विलीन होते जा रहे थे...संन्यासी जीवन की इच्छा करने वाले इस भीष्म में क्षात्र-तेज था। जाने ग्रहों की कैसी संधि पर उनका जन्म हुआ था कि न वे पूर्णतः राजा हो पाते थे, न संन्यासी; न वे गृहस्थ हो पाये और न वैरागी। न उनसे यह राजप्रासाद छोड़ा जाता है, और न राजाओं के समान उसमें रहा ही जाता है। आज वे राजप्रासाद में संन्यासी के समान रह रहे हैं, कहीं ऐसा न हो कि जब कभी संन्यासी के समान रहने का अवसर आये, तो वे अपनी कुटिया में राजा के समान रहने की इच्छा करें...

भीष्म का मन बहुत भटकता है। उन्हें लगता है कि वे अपने लिए कुछ नहीं चाहते हैं। उनके मन में कोई इच्छा नहीं है। किन्तु तनिक से असावधान होते ही, उनके मन में असंख्य योजनाएँ जन्म लेने लगती हैं...कुरु-वंश को ऐसा होना चाहिए, राजाओं का व्यवहार ऐसा होना चाहिए, प्रजा का आचरण ऐसा होना चाहिए...उन्हें लगता है कि वे राज-परिवार ही नहीं, सारी सृष्टि को अपनी इच्छा से चलाना चाहते हैं। जब इच्छाएँ प्रबल होती हैं, तो लगता है कि वे सारी सृष्टि को नये सिरे से व्यवस्थित करना चाहते हैं।...जैसे स्रष्टा की इच्छा के भी आड़े आना चाहते हैं...

भीष्म उठ खड़े हुए। वे नहीं जानते कि वे क्या चाहते हैं। ग्रहण और त्याग, निवृत्ति और प्रवृत्ति के ऐसे द्वन्द्व पर खड़े हैं वे।...आजीवन स्त्री-प्रसंग से दूर रहने की प्रतिज्ञा कर, उन्होंने सन्तानोत्पत्ति से स्वयं को मुक्त कर लिया; किन्तु कुरुकुल की प्रत्येक सन्तान के जन्म की प्रतीक्षा वे जिस प्रकार करते हैं, वैसे कोई गृहस्थ भी क्या करता होगा...

भीष्म कुछ अन्यमनस्क-से हो उठे। अपने पैर उन्होंने जल से बाहर खींच लिए।

भीष्म को अपने ही मन की ऐसी कटूक्तियाँ अच्छी नहीं लगतीं। उन्हें लगता है कि यह ऊहापोह, उन्हें उनकी प्रतिज्ञा से कहीं दूर हटाता है। यह उनके अपने मन का छल है जैसे। एक व्यक्ति को उसका अपना मन ही छलने लगे, तो उसका विवेक उसे कब तक स्थिर रख पायेगा।...वैसे भीष्म जानते हैं कि मन की सुन कर ही वे प्रसन्न रह सकते हैं, विवेक की सुन कर नहीं। किन्तु स्वयं को प्रसन्न रखना भीष्म के जीवन का ध्येय नहीं है। यदि ऐसा होता, तो उनका जीवन इस ढर्रे पर न चल रहा होता, जिस पर कि वह चल रहा है।...उन्हें तो बस अब भविष्य की ओर ही देखना है। युधिष्ठिर बड़ा होगा, वह हस्तिनापुर का राज्य और कुरु-वंश को सँभालेगा, तो भीष्म सन्तुष्ट मन से वानप्रस्थ ग्रहण करेंगे...कुछ वर्ष और हैं, वे बीत ही जायेंगे। पिता ने उन्हें इच्छा-मुक्ति का वरदान दिया है। पर मुक्ति की इच्छा भी तो उन्हें तब ही होगी, जब उन्हें लगेगा कि अब वे मुक्त होने की स्थिति में हैं। यदि आज, इसी क्षण वे अपने उस वरदान का उपयोग करना चाहें, तो कौन रोक लेगा उन्हें। किन्तु हस्तिनापुर का सम्राट पाण्डु तपस्या करने हिमालय पर जा बैठा है, जो अयोग्य भी है और दुष्ट मन्त्र-दाताओं की संगति में भी। युवराज युधिष्ठिर के जन्म की सूचना ही आज पहुँची है हस्तिनापुर में। ऐसे में वे इच्छा-मुक्ति चाहें भी तो कैसे?...किन्तु अब जैसे उन्हें अवधि का छोर दिखायी देने लगा है-युधिष्ठिर के समर्थ होने तक...

भीष्म सोचते हैं तो उन्हें लगता है कि इस बार जब वे राजप्रासाद छोड़ेंगे, तो हस्तिनापुर के निकट कुटिया नहीं बनायेंगे, जहाँ हस्तिनापुर की सूचनाएँ वायु-मण्डल में गूँजती रहें। उन्हें राजधानी और राजपरिवार से कुछ दूर निकल जाना चाहिए। यदि वे राजपरिवार के निकट रहेंगे, तो बाहरी कोलाहल ही इतना होता रहेगा, कि अपनी आत्मा का स्वर वे सुन ही नहीं पायेंगे। ऐसे में वे शान्त और निष्काम कैसे हो पायेंगे।...गंगा-तट के किसी ग्राम में साधारण कृषक के समान रह सकेंगे वे? या किसी वन-प्रान्तर में साधारण संन्यासी के समान? वे हिमालय के ही किसी आश्रम में क्यों नहीं चले जाते?...उनके मन में आता है कि एक बार वे उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक का सारा जम्बूद्वीप देख लें। कोई बहुत मनोरम-सा स्थान देख कर, वहीं अपनी कुटिया डाल लें। किसी को मालूम भी न हो कि वे कुरु-वंश के देवव्रत भीष्म हैं। एक बार वे अपने पद और व्यक्तित्व का ही नहीं, अपने वंश के गौरव का भी बोझ अपने सिर से उतार कर देखें...कितने हल्के और शान्त रह पाते हैं वे...अपने मन का जीवन जी पाते हैं या नहीं...

भीष्म हस्तिनापुर लौटे तो प्रायः सन्ध्या हो आयी थी। उन्हें अच्छा लगा, आज का प्रायः सारा दिन वे शान्त प्रकृति के निकट व्यतीत करके आये थे।

"जय हो महाराजकुमार"

भीष्म ने अपने विचारों से बाहर निकल कर देखा: प्रतिहारी हाथ जोड़े खड़ा था।

"क्या बात है?"

"आर्य! माता सत्यवती ने आपसे भेंट करने की इच्छा व्यक्त की है।"

"माता सत्यवती!" भीष्म जैसे अपने-आपको सूचित कर चुप रह गये।

उन्हें लगा कि यह सूचना उन्हें कोई प्रसन्नता नहीं दे पायी थी। यह तो प्रवाहशील धारा के मार्ग में अवरोध जैसी कोई भावना ले कर आयी थी।...इधर उनकी कुछ विचित्र मनःस्थिति हो गयी थी। माता सत्यवती से उनका कोई विरोध नहीं था। वे उन्हें कुछ अप्रिय भी नहीं लगती थीं। भीष्म, उनकी प्रत्येक इच्छा और आज्ञा को प्राणपण से पूरा करने के इच्छुक भी थे। उनसे मिल कर आना उन्हें अच्छा भी लगता था। माता की न वे अवज्ञा करना चाहते थे, न उपेक्षा, न निरादर। फिर भी उनका बुलावा आने पर वे एक प्रकार की असुविधा का अनुभव करने लगते थे।...माता सत्यवती के मानसिक संसार में केवल अपनी योजनाएँ थीं। वे शायद यह सोच ही नहीं सकती थीं कि कोई व्यक्ति अपने किसी अन्य काम में भी व्यवस्त हो सकता है, या किसी समय कोई व्यक्ति उनके पास आने में असुविधा का अनुभव कर सकता है। दूसरे व्यक्ति को स्वतन्त्र आचरण का लाभ शायद वे देना नहीं चाहती थीं। और इस समय भीष्म, माता सत्यवती ही नहीं, परिवार, समाज, राज्य–सबके बन्धनों से मुक्त हो कर अपने स्वच्छन्द मनोसंसार में विचरण करने का स्वप्न देख रहे थे, जहाँ वे हों और उनकी माता प्रकृति...

"माता को सूचना दो कि मैं आ रहा हूँ।" उन्होंने प्रतिहारी से कहा।

"जो आज्ञा!" प्रतिहारी चला गया।

भीष्म ने माता सत्यवती को प्रणाम किया; और एक ही क्षण में वे समझ गये कि माता किसी चिन्ता में निमज्जित हैं।

"बैठो भीष्म!" सत्यवती नें कहा और परिचारिका की ओर देखा।

परिचारिका ने हाथ जोड़े और कक्ष से बाहर निकल गयी।

"क्या आप पाण्डु-पुत्र के जन्म से प्रसन्न नहीं हैं?"

सत्यवती सायास हँसी, "लगता है कि तुम पाण्डु-पुत्र के जन्म की सूचना पाते ही हस्तिनापुर से निकल गये थे। उसके पश्चात हस्तिनापुर में क्या घटित हुआ, उसकी सूचना तुम्हें नहीं है!"

"कुछ विशेष घटित हुआ क्या?" भीष्म ने पूछा। उनका अपना मन भी जैसे इस खोज में निकल गया था कि ऐसा क्या घटित हो सकता है...

"धृतराष्ट्र-पत्नी अस्वस्थ है।" सत्यवती धीरे से बोली।

"गान्धारी?"

"गर्भपात के लक्षण हैं; और वैद्यों से स्थिति सँभल नहीं रही। निरन्तर रक्तस्राव हो रहा है," सत्यवती ने रुक कर भीष्म की ओर देखा, "कौन्तेय का जन्मोत्सव मनाऊँ या गान्धारी के गर्भपात का शोक? जाने विधाता ने मेरे भाग्य में क्या लिख रखा है कि जब मैं हर्ष मनाने के लिए अपनी आँखें खोलती हूँ, तो विषाद का दैत्य अपना विराट आकार लिए मेरे सामने आ खड़ा होता है।"

भीष्म कुछ नहीं बोले: चिन्ता ने जैसे उनकी जिह्वा को जकड़ लिया था।

"किन्तु आज प्रातः तक तो ऐसी कोई सूचना नहीं थी।" भीष्म जैसे सायास बोले, "राजवैद्य गान्धारी की पूरी तत्परता से देखभाल कर रहे थे। फिर यह अकस्मात ही..."

"यही तो दैव का षड्यन्त्र है।" सत्यवती बोली, "सूचना दे कर कोई अनिष्ट नहीं करता। अकस्मात ही वज्रपात होता है।"

"राजवैद्य क्या कहते हैं?"

"वह प्रयत्न कर रहे हैं।" सत्यवती बोली, "पर तो प्रयत्न करते ही रहते हैं। विचित्रवीर्य के प्राण बचाने के लिए भी वह प्रयत्न करते ही रहे थे। मेरा तो राज-वैद्यों पर से विश्वास ही उठ गया है।"

"तो?" भीष्म ने सत्यवती की ओर देखा।

"मैनें तत्काल कृष्ण द्वैपायन को बुला भेजा था। वह किसी भी राजवैद्य से बड़ा वैद्य है। वह मन्त्र-द्रष्टा भी है, और मन्त्र-उपचारक भी। वह अवश्य कोई-न-कोई उपाय करने में सफल होगा।"

"वह आ गये क्या?"

"हाँ! अपराह्न में ही आ गया था। इस समय धृतराष्ट्र के प्रासाद में है।"

भीष्म को पूर्ण विश्वास था कि कृष्ण द्वैपायन गान्धारी का उपचार करने में पूर्णतः सफल होंगे। वे वैद्य नहीं, प्राणदाता माने जाते थे। सामान्य जन तो विश्वास करता था कि उनके पास संजीवनी है, जिससे वे मृत को भी जीवित कर सकते हैं।

भीष्म की इच्छा हुई कि पूछें, 'आपने मुझे किसलिए बुलाया था? मात्र सूचना ही देनी थी तो प्रतिहारी के माध्यम से सूचना भी भेजी जा सकती थी।'...किन्तु उन्होंने पूछा नहीं। कदाचित माता सत्यवती घबरा गयी थीं; और घबराहट के क्षणों में वे भीष्म को बुला ही लिया करती थीं।

"आप चिन्तित न हों।" भीष्म बोले।

"चिन्तित न होऊँ!" सत्यवती के स्वर में क्षोभ था, जैसे भीष्म ने कुछ बहुत अनुचित कह दिया हो, "मैं देख रही हूँ कि इस वंश पर विधाता का जैसे कोई अभिशाप है। यहाँ कोई पूर्ण पुरुष जन्म ही नहीं लेता...।"

भीष्म की इच्छा हुई की पूछें कि माता ऐसा क्यों कह रही हैं?...किन्तु मन में उठे सारे प्रश्न तो वे नहीं पूछ सकते थे।

सत्यवती, स्वयं ही बोली, "चित्रांगद पूर्णायु नहीं था। विचित्रवीर्य को न आयु मिली न सन्तान! धृतराष्ट्र जन्मान्ध है, पाण्डु पलायन कर गया, विदुर दासी-पुत्र है...और अब जन्म से पूर्व ही वज्रपात होने लगे हैं...।"

भीष्म बल दे कर कहना चाहते थे कि माता युधिष्ठिर के जन्म से क्यों सन्तुष्ट नहीं होतीं।...किन्तु वे जानते थे कि सत्यवती, सन्तान, विशेष कर पुत्र के जन्म को कितना मूल्यवान समझती हैं। इसलिए प्राप्त सन्तान की ओर ध्यान न दे कर, भावी सन्तान के छिन जाने की आशंका से ही पीड़ित हैं...

व्यास आये तो चिन्तित वह भी थे। किन्तु उनके चिन्तित होने और सत्यवती की चिन्ता में अन्तर था। उनकी आँखों में उनकी प्रसन्नता की सहज ज्योति न हो कर, विषादपूर्ण गम्भीरता थी। इससे अधिक चिन्तित शायद वह होते ही नहीं थे।

भीष्म को देख, उनके आनन पर एक हल्की स्मित आयी। भीष्म ने उनका आलिंगन किया।

आलिंगन मुक्त हो कर, वह सत्यवती की ओर मुड़े, "मैंने औषध दे दी है। रक्तस्राव रुक गया है। गर्भपात नहीं होगा। गर्भस्थ शिशु स्वस्थ है। उस दृष्टि से चिन्ता का कोई कारण नहीं है माता। किन्तु...।"

"किन्तु क्या?"

"गान्धारी रुग्ण है। उसके रोग का उपचार मेरे पास भी नहीं है।"

सत्यवती पुनः चिन्तित हो उठी, "रोग गम्भीर है?"

"असाध्य!"

"ऐसा कौन-सा रोग है गान्धारी को, जो तुम्हारे लिए भी असाध्य है कृष्ण!" सत्यवती बोली, "मैं तो यही समझती हूँ, तुम वैद्यों के भी राजवैद्य हो।"

"मुझे औषधियों का कुछ ज्ञान है। इसलिए कुछ लोग मुझे भी वैद्य मान लेते हैं।" व्यास मुस्कुराये, "किन्तु वैद्य के लिए सारे ही रोग असाध्य होते हैं माँ! वह तो मात्र औषध ही दे सकता है। रोगों को साधना तो रोगी का ही कार्य है।..."

सत्यवती ने पलट कर कुछ इस प्रकार व्यास को देखा, जैसे या तो वह व्यास का कहा गया, एक भी शब्द समझ न पायी हो, या फिर व्यास ने कोई बहुत ही तर्कशून्य बात कह दी हो, "रोगी ही रोग को साध सके, तो फिर औषध की आवश्यकता ही क्या है रे?"

व्यास पुनः मुस्कुराये, "ठीक कहती हो माँ! रोगी अपने रोग को साध नहीं सकता, किन्तु उसे साधने की क्षमता उसके अपने भीतर ही होती है। औषध, उस क्षमता को प्रेरित और पुष्ट करती है। किन्तु यदि रोगी में वह क्षमता ही न हो, तो औषध भी अपनी मृत्यु आप ही मर जाती है।"

सत्यवती या तो अपने असमंजस के कारण चुप रही या हताशा के कारण। पर वह अधिक देर तक चुप रह नहीं

पायी, "तो उसके रोग का उपचार नहीं होगा? वह मृत्यु को प्राप्त होगी क्या?"

इस बार व्यास मुस्कुरा भी नहीं पाये। गम्भीर स्वर में बोले, "मृत्यु को तो प्रत्येक जीव प्राप्त होता है माता! वह शोक का कारण नहीं है। काल के पाश से कहीं भी, कोई भी मुक्त नहीं है। किन्तु गान्धारी के रोग के लक्षण भयंकर हैं। यह रोग संक्रमणशील है। और यदि उसका संक्रमण रोका न गया, तो वह समस्त कौरववंश का नाश कर देगा...।"

सत्यवती की आँखें, जैसे फटने को हो आयीं।

भीष्म अब तक कुछ और ही सोच रहे थे, किन्तु व्यास का अन्तिम वाक्य, उनके चिन्तन की दिशा बदल गया। निश्चित रूप से व्यास, वह नहीं कह रहे थे, जो माता सत्यवती समझ रही थीं।

"द्वैपायन!" भीष्म बोले, "ऐसी अनर्थकारी वाणी मत बोलो। हमारी मान्यता है कि तुम्हारी वाणी भावी घटनाओं को जन्म देती है। जो कुछ तुम कह दोगे, वह सम्भव हो कर रहेगा।..."

व्यास कुछ नहीं बोले। उन्होंने अपनी आँखें उठा कर, जैसे आकाश पर से कुछ पढ़ा।

इस बार भीष्म सत्यवती से सम्बोधित हुए, "कृष्ण वह नहीं कह रहा है माता! जो आप समझ रही हैं। आप शान्त हों। गान्धारी स्वस्थ है। उसका गर्भस्थ शिशु स्वस्थ है। समय पा कर उसका प्रसव होगा।"

"तो यह क्या कह रहा है? गान्धारी के रोग और वंश नाश का क्या सम्बन्ध है? गान्धारी सन्तान को जन्म नहीं भी देगी, तो कौरवों के वंश का नाश नहीं होगा। युधिष्ठिर है, और...और...युधिष्ठिर के और भाई भी जन्म लेंगे।" सत्यवती के शब्दों में उसके हृदय की पीड़ा, उसकी शंकाएँ, आशंकाओं के विरुद्ध चलता हुआ उसका संघर्ष...और जाने क्या-क्या था।

"स्पष्ट कहो द्वैपायन!" भीष्म जैसे सायास बहुत कोमल स्वर में बोल रहे थे, "गान्धारी के रोग से जिस अनिष्ट का आशंका हमें थी, तुम उससे भी बहुत बड़े अनिष्ट की घोषणा कर रहे हो।"

"शारीरिक रोग तो एक छोटी, अस्थायी और व्यक्तिगत आशंका का ही कारण हो सकता है गांगेय!" व्यास बोले, "किन्तु अस्वस्थ प्रवृत्तियाँ...।"

"स्पष्ट कहो!" भीष्म का असंयम उनके आनन पर दिखायी पड़ने लगा था।

"गान्धारी का रक्त-स्राव किसी शारीरिक अस्वस्थता अथवा किसी आन्तरिक उत्पात से नहीं हुआ था...।"

"तो?"

"गर्भ पर बाहर से किसी भारी और कठोर वस्तु से आघात किया गया था...।"

"क्यों?" भीष्म जैसे ऐसी असम्भावित कल्पना नहीं कर पा रहे थे।

"ताकि वह गर्भ नष्ट हो जाये।"

"यह तो हत्या है।" सत्यवती के स्वर में चीत्कार था, "किसने किया है यह अपराध? कौन है कौरवों का ऐसा भयानक शत्रु?"

"द्वेष!"

"द्वेष तो शत्रु है ही; किन्तु प्रहार किसने किया?" सत्यवती जैसे अपराधी को खोज, उसे दण्डित करने के लिए प्रचण्ड हो रही थी!

"प्रहार स्वयं गान्धारी ने किया था माता!" व्यास का स्वर शान्त था।

"गान्धारी ने?" सत्यवती विश्वास नहीं कर पा रही थी, "कोई अपने ही गर्भ को नष्ट क्यों करेगा?"

"कोई व्यक्ति आत्महत्या क्यों करता है माता?"

"क्योंकि वह अत्यन्त दुखी होता है; उसके दुख का कोई निवारण नहीं होता।"

"नहीं!" व्यास बोले, "दुख का कोई अस्तित्व नहीं है। भौतिक परिस्थितियों में केवल सुविधा और असुविधा है। भौतिक असुविधाओं की अति भी हो जाये, तो व्यक्ति आत्महत्या नहीं करता। मनुष्य भूखा रह कर जीता है, अपमानित हो कर भी जीवित रहता है, शोषित, पीड़ित, रोगी और दास हो कर भी जीवन से निराश नहीं होता।"

"क्या कहना चाहते हो पुत्र?"

"दुख का अस्तित्व व्यक्ति के मानसिक रोग के रूप में होता है। वह अपने उस रोग के दैत्य के आकार को जब चाहे, जितना चाहे बढ़ा लेता है। स्वयं-पोषित उस दैत्य को असाध्य मान कर, उसके सम्मुख मस्तक टेक भी देता है।"

"गान्धारी से इसका क्या सम्बन्ध है?" सत्यवती अधीर हो कर बोली।

"जिस प्रकार रोगी व्यक्ति आत्मघात करता है, उसी प्रकार वह अपने गर्भ का घात भी करता है।" व्यास बोले,

“गान्धारी को जब युधिष्ठिर के जन्म की सूचना मिली, तो उसके मन में एक ही बात आयी कि अब उसका पुत्र वय में युधिष्ठिर से छोटा होगा, अतः वह कौरव-साम्राज्य का युवराज नहीं होगा। अर्थात अब गान्धारी राजमाता नहीं बन पायेगी...।”

भीष्म के मस्तिष्क में जैसे वाष्प उठा और उसने उनके कान बन्द कर दिये। व्यास ने और क्या कहा, वे सुन नहीं सके; किन्तु व्यास की बात वे समझ गये थे।...

कितनी बड़ी साध पाल रखी थी गान्धारी ने; और युधिष्ठिर के जन्म ने उसका नाश कर दिया था। इतनी हताश हो गयी गान्धारी कि उसने आवेश में अपने ही गर्भस्थ शिशु का नाश कर देना चाहा...धृतराष्ट्र और गान्धारी आज तक इस तथ्य को स्वीकार नहीं कर पाये हैं कि हस्तिनापुर का राज्य, उनका नहीं पाण्डु का है। वे यह मान कर चल रहे हैं कि यदि राज्य धृतराष्ट्र को नहीं मिला, तो धृतराष्ट्र के पुत्र को मिलेगा...

ठीक कहते हैं व्यास कि गान्धारी ‘द्वेष’ के रोग से ग्रस्त है। और यह रोग संक्रमणशील है। यह माता से पुत्र को मिलेगा। द्वेष, द्वेष को जन्म देगा और अन्ततः नाश होगा, महानाश! कौरव-वंश के लिए यह स्थिति सुख़कर नहीं होगी...

कहाँ भीष्म ने सोचा था कि युधिष्ठिर के जन्म के साथ कौरवों के लिए आशा का नया सूर्य उदय हुआ है; और कहाँ...

पाण्डु कई दिनों से युधिष्ठिर को चलना सिखा रहा था। अँगुली पकड़ कर तो वह महीने भर से चल रहा था; पर अँगुली छोड़ते ही वह भूमि पर बैठ जाता था। किन्तु पाण्डु ने अपना प्रयत्न नहीं छोड़ा था। प्रयत्न छोड़ने-जैसी कोई बात भी नहीं थी। पाण्डु जानता था कि जो बच्चा बैठने लगता है, वह खड़ा भी होता है; जो खड़ा होता है, वह एक पग उठा कर चलने का प्रयत्न भी करता है; और जो पग उठाता है, वह चलना भी सीखता है।

पाण्डु और युधिष्ठिर आमने-सामने खड़े थे। पाण्डु के दोनों हाथ की तर्जनियाँ, युधिष्ठिर ने नन्ही-मुन्ही हथेलियों में थाम रखी थीं। पाण्डु एक पग पीछे हट जाता था और युधिष्ठिर एक पग आगे बढ़ आता था।...

पूर्ण विश्वस्त हो कर युधिष्ठिर जब आठ-दस डग भर चुका, तो पाण्डु ने अपने बायें हाथ की तर्जनी बलात् छुड़ा ली; किन्तु युधिष्ठिर न तो लड़खड़ाया, न उसने दूसरी अँगुली छोड़ी। पाण्डु की दाहिनी तर्जनी के ही सहारे, आगे बढ़ता गया।...और तभी पाण्डु ने दाहिनी तर्जनी भी छुड़ा ली और झपट कर युधिष्ठिर से पाँच-सात डग की दूरी पर जा खड़ा हुआ। युधिष्ठिर डगमगाया; किन्तु गिरा नहीं। वह बैठा भी नहीं। पिता के निकट जाने के लिए नन्हें-नन्हें डगमगाते पैरों से आगे बढ़ता ही गया; और गिरने से पूर्व ही उसने जा कर पिता को थाम लिया। पाण्डु ने उसे अपने साथ लिपटा लिया। उसके चेहरे को अपनी हथेलियों में थाम कर उसकी आँखों में देखा: कितना प्रसन्न था युधिष्ठिर और कितना आत्मविश्वास था उसकी आँखों में।

पाण्डु ने उसे गोद में उठा कर, उसका चुम्बन किया; और फिर उसे अपने वक्ष में भींच लिया: ठीक नाम रखा है इसका कुलपति नें...युधिष्ठिर–युद्ध में स्थिर! नहीं हटेगा वह अपने युद्ध से पीछे। कुन्ती ने उसे धर्मराज के पुत्र के रूप में गर्भ में धारण किया था। युधिष्ठिर का युद्ध न्याय के क्षेत्र में होगा। वह अन्याय के मार्ग पर नहीं चलेगा।...

पाण्डु को लगा, वह हर्षातिरेक से नृत्य कर उठेगा। उसके मन में पुत्र की इच्छा अवश्य थी; किन्तु वह, यह नहीं जानता था कि पुत्र के सुख का आयाम इतना विस्तृत है।...उसे लगा, यह सुख उससे अकेले नहीं सँभलेगा, उसे इस सुख को किसी के साथ बाँट लेना चाहिए।...इस सुख की पहली अधिकारिणी तो कुन्ती है। उसी ने इसके लिए सबसे अधिक कष्ट सहा है...किन्तु कुन्ती तो आश्रम में आ कर कुछ ऐसी हो गयी है, जैसे सदा की आश्रमवासिनी ही रही हो। इस समय अन्य स्त्रियों के साथ या तो वन में लकड़ियाँ बटोरने गयी होगी, या कहीं पशुओं के लिए पत्तों का प्रबन्ध कर रही होगी। सम्भवतः आश्रम की शिशु-शाला में कोई कार्य कर रही हो, या पाकशाला में।...श्रम से तो वह जैसे थकती ही नहीं है।

आश्रम के जीवन का अंग तो पाण्डु भी बना। कौन कहेगा कि पाण्डु आश्रमवासी नहीं है। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि वह हस्तिनापुर का राजा है; जो यहाँ तपस्या करने आया है। पाण्डु स्वयं भी आज तक इस तथ्य को भुला नहीं पाया, न ही अपना राज-दर्प छोड़ पाया है। इसलिए वह आश्रम की उपासना का अंग तो बना, किन्तु उनके श्रम का अंग नहीं बन पाया।...कदाचित आश्रमवासियों ने भी उसे शारीरिक श्रम के अयोग्य मान लिया था, एक प्रकार का रोगी...और माद्री न उपासना का अंग बन पायी, न श्रम का। उसके लिए यह लोक इतना भिन्न था और इतना अनावश्यक कि उसका मन आश्रम की किसी भी गति-विधि में रमता ही नहीं था। कभी-कभी तो पाण्डु को लगता था कि आश्रम और उसके लोगों की गम्भीर से गम्भीर बात भी माद्री के लिए उपाहासास्पद ही नहीं थी, उनके प्रति उसके मन में पर्याप्त स्थूल विरोध था...और आश्रमवासियों ने शायद उसे भी एक प्रकार की मानसिक रोगिणी मान कर मुक्त छोड़ रखा था...उसे राज-मद का रोग था...

पाण्डु, युधिष्ठिर को ले कर अपनी कुटिया में आया।

माद्री उसकी अपेक्षा के अनुकूल ही, अपनी कुटिया में बैठी थी। उसे लौटते देख, वह भी उसकी कुटिया में आ गयी।

"माद्री! आज युधिष्ठिर, बिना मेरी अँगुली थामे, अपने-आप पाँच-सात डग चला।"

"बड़ी प्रसन्नता की बात है।" माद्री ने अत्यन्त औपचारिक ढंग से कहा, "अच्छा है कुन्ती दीदी की दूसरी संतान होने से पूर्व, यह अपने-आप भागने-दौड़ने लगे।"

पाण्डु समझ नहीं सका कि माद्री ने सहज रूप से यह बात कह दी थी अथवा उसने पाण्डु को प्रसन्न करने के लिए, सायास यह विषय छेड़ा है। वह जानती थी कि पाण्डु को यह विषय बहुत प्रिय है।

"माद्री!" पाण्डु अधिक ऊहापोह में नहीं पड़ा, "आज मैं युधिष्ठिर को चलना सिखा रहा था, तो मेरे मन में बड़ी ही गम्भीर और रोचक बात आयी।"

माद्री के मन में कोई उत्सुकता नहीं जागी। वह जानती थी कि आजकल पाण्डु जीवन की अनेक समस्याओं और प्रश्नों पर मनन करता रहता है। उनमें से अनेक सिद्धान्त-सूत्र बनाता रहता है। दैनन्दिन की छोटी-मोटी साधारण घटनाओं में से बड़े और व्यापक संकेत खोजता रहता है।...यह शायद उसकी साधना का परिणाम था। उसकी इस प्रकार की बातें सुन कर माद्री के मन में प्रायः विरोध जागता था। उसे पाण्डु का यह सारा आध्यात्मिक चिन्तन, मूर्खतापूर्ण वंचना लगती थी। कभी-कभी तो पाण्डु की ऐसी बातें सुन कर, वह एकदम डर जाती थी। यदि पाण्डु इसी मार्ग पर और आगे बढ़ता गया, तो वह दिन दूर नहीं, जब जीवन के सारे सुख-भोगों की शेष सारी सम्भावनाएँ भी समाप्त हो जायेंगी। पाण्डु का अध्यात्म माद्री को एक दस्यु के रूप में दिखायी देता था, जो उसके सुखी जीवन का सर्वस्व हरण करने आया था।...

फिर भी उसने पूछा, "क्या?"

"मैं एक पग पीछे हटा, तो युधिष्ठिर एक पग आगे बढ़ा।..."

"तो?"

"मुझे लगा, कि न मैं, मैं हूँ; न युधिष्ठिर, युधिष्ठिर है। न हम पिता-पुत्र हैं। हम तो मात्र दो पीढ़ियाँ हैं, सृष्टि चक्र की दो कड़ियाँ। नयी पीढ़ी के एक पग आगे बढ़ने के लिए आवश्यक है कि पुरानी एक पग पीछे हटे...और नयी पीढ़ी पूरी तरह सावधान हो कर, अपने दृढ़ पगों पर चले, उसके लिए आवश्यक है कि पुरानी पीढ़ी, उसके मार्ग से हट जाये।"

माद्री के मन में एक खीझ उठी। मन हुआ कि कहे कि एक छोटे-से बच्चे को चार पग चलना क्या सिखा लिया—पीढ़ियों के अन्तराल की बात सोचने लगे, उनके परस्पर सम्बन्धों की चर्चा करने लगे। किन्तु खीझ का क्या लाभ था। वह जानती थी, पाण्डु इस समय एक ऐसे लोक में जी रहा है, जिसमें माद्री का कोई अस्तित्व ही नहीं था।

"देखती हूँ। आपको बच्चे बहुत अच्छे लगते हैं!"

"किसे अच्छे नहीं लगते!"

"पर आपको यह नहीं लगता कि बच्चों के पालन-पोषण के लिए यह उचित भूमि नहीं है?"

"क्यों?" पाण्डु बोला, "जलवायु की दृष्टि से यह भूमि बहुत अच्छी है। यहाँ के लोग बहुत अच्छे हैं: सात्विक विचारों वाले उदार लोग। यहाँ किसी को यह नहीं कहना पड़ता कि अमुक से मत मिलना, वह अच्छा व्यक्ति नहीं है।..."

"यहाँ राजपुत्रों के योग्य वैभव नहीं है।" माद्री का स्वर कुछ प्रखर हो उठा, "यहाँ पल कर बच्चा एक साधारण आश्रमवासी, वनवासी या ग्रामवासी ही बन पायेगा। मयूरों के मध्य पल कर, गरुड़ भी पेड़ की ऊँचाई तक ही उड़ पायेगा। यहाँ रहेंगे, तो आपके पुत्र भी दो धोतियों, एक यज्ञोपवीत और एक कुटीर में ही प्रसन्न हो जायेंगे। उन्हें वन के वृक्षों के फल और कन्दमूल सबसे स्वादिष्ट भोजन लगेंगे। वे या तो नारी के शृंगार को समझ नहीं पायेंगे, या पुष्पों के शृंगार को ही प्रसाधन की सीमा मान लेंगे।..."

पाण्डु की आँखों में पहले कुछ अस्थिरता आयी, फिर चिन्ता और फिर व्यग्रता, "क्या चाहती हो तुम?"

"हम हस्तिनापुर कब लौटेंगे?"

पाण्डु जानता था कि माद्री इस वैभव-शून्य, साधनामय सरल जीवन से प्रसन्न नहीं है। इसके अनुशासन से कभी-कभी उसका अपना मन भी विद्रोह करता था। बीच-बीच में उसके मन में भोग की इच्छा जागती थी; किन्तु यह भी सत्य था कि माद्री उसे अध्यात्म; साधना और तपस्या के वन में खोने नहीं देती थी। वह थोड़े-थोड़े अन्तराल के पश्चात उसकी भोगाग्नि को कुरेद देती थी, उस पर आच्छादित भस्म को अपने तप्त श्वासों से उड़ा देती थी।

"हम हस्तिनापुर लौटेंगे, अपनी साधना पूरी करके।"

"एक पुत्र तो आपको मिल ही गया है, दूसरे को जन्म देने की तैयारी में हैं कुन्ती दीदी!" माद्री बोली, "और क्या होगा अब साधना से?"

"माद्री!" न केवल पाण्डु का स्वर शान्त था, वरन उसमें किंचित स्नेह का भी पुट था, "राजवंश में एक पुत्र पर्याप्त नहीं है। वह अल्पआयु भी हो सकता है, जैसे मेरे पिता और पितृव्य चित्रांगद हुए। वह राज्य के अयोग्य भी हो सकता है, जैसे धृतराष्ट्र हुए।...उसमें राज्य के प्रति अरुचि भी हो सकती है, जैसे पितृव्य भीष्म में है...। यदि मैं चाहता

हूँ कि हस्तिनापुर पर मेरा पुत्र ही राज्य करे और स्थिरता एवं दृढ़ता से करे, तो मुझे पाँच-सात पुत्र चाहिए।" वह पल भर थमा, जैसे सोच रहा हो कि आगे कहे या न कहे; और फिर बोला, "फिर मेरी साधना ही तो मेरा उपचार है। आर्य कुलपति ने बहुत समझाया है, किन्तु मैं अपना राज-दर्प नहीं छोड़ पाया हूँ: मैं पाण्डु हूँ। कुरु-वंश का पाण्डु। राजवंश और वह भी ऐसे वैभवशाली राजवंश में जन्म ले कर भी जीवन के भोग से आप्यायित नहीं हुआ, तो धिक्कार है मेरे जीवन को। मैं प्रकृति से, भोग का अधिकार प्राप्त करके रहूँगा।" पाण्डु का स्वर आवेशमय होता गया, "वह नहीं देगी, तो मैं छीन कर लूँगा उससे।"

"कोई आशा है?"

"मुझे लगता है कि मेरी उत्तेजना की आरोह-गति संयमित हो रही है। मैं अपनी उत्तेजना को धारण करने में पहले से कहीं अधिक सक्षम हूँ।"

"आयुर्वेदाचार्य क्या कहते हैं?" माद्री ने पूछा।

"उनका विचार है कि इसी गति से मेरे स्नायु-मण्डल की शक्ति विकसित होती रही तो मैं बहुत शीघ्र ही सामान्य पुरुष के समान समर्थ हो जाऊँगा।" पाण्डु ने माद्री को देखा, "वैसे तो मैं अपने देवप्रदत्त पुत्रों से भी पूर्णतः सन्तुष्ट हूँ; किन्तु जिस क्षण मेरी रति-क्षमता विकसित हो गयी और मुझे एक औरस पुत्र प्राप्त हो गया, अथवा उसकी सम्भावना अंकुरित हो गयी, उसी क्षण हस्तिनापुर के सम्राट की शोभायात्रा अपनी राजधानी की ओर प्रयाण करेगी।"

"वह क्षण मेरे लिए कितनी प्रसन्नता का होगा," माद्री बोली, "मुझे लगेगा कि मैं मृत्युलोक से जैसे अपने जीवन में पुनः लौट आयी हूँ।"

"मैं तुम्हारी मनःस्थिति समझता हूँ प्रिये!" पाण्डु बोला, "किन्तु मैं अपनी अक्षमता के बन्धन में बँधा यहाँ बैठा हूँ। मैं तनिक भी आध्यात्मिक व्यक्ति नहीं हूँ। मैं कैसे बताऊँ कि मेरे मन में सांसारिक भोग की कितनी लालसा है। पर मुझे कभी-कभी लगता है कि मैं कोई अभिशप्त आत्मा हूँ—मुझे शापित करके भेजा है विधाता ने: मेरे सम्मुख छत्तीसों व्यंजनों से सजी थालियाँ रखी रहें; किन्तु मैं उनमें से एक कौर भी न खा सकूँ। तुम और कुन्ती जैसी सुन्दर पत्नियाँ हों और रति मेरे लिए वर्जित प्रदेश हो। मैं देखूँ, कामना करूँ...और अतृप्त रहूँ।"

सहसा उसकी दृष्टि युधिष्ठिर पर पड़ी: वह उठ कर खड़ा हो गया था और डगमगाये पगों से कुटिया की दीवार की ओर बढ़ रहा था। उसने तीन-चार डग भरे; और कुटिया की दीवार थाम ली। थोड़ी दूर तक दीवार के सहारे से चलता रहा; और तब कुटिया का द्वार आ गया। थामने को कुछ नहीं था। किन्तु उसने अपना साहस नहीं छोड़ा। वह सहारे के लिए, पाण्डु अथवा माद्री की ओर नहीं पलटा। न ही वह चलना स्थगित कर भूमि पर बैठा। वह डगमगाते पगों से कुटिया के बाहर निकल गया...

पाण्डु स्वयं को संयत नहीं कर पाया। उसने हर्षातिरेक में तालियाँ बजायीं और बच्चों के समान किलकारी मारते हुए, युधिष्ठिर के पीछे-पीछे कुटिया से बाहर निकल गया।

बाहर खुला मैदान था, किन्तु भूमि समतल नहीं थी। युधिष्ठिर ढाल की ओर बढ़ा; किन्तु डगमगा कर पृथ्वी पर बैठ गया। अगले ही क्षण वह पुनः उठा और चल पड़ा।...वह भी जैसे अपनी उपलब्धि समझ रहा था और इस नयी उपलब्धि का आनन्द उठाने के लिए अधिक-से-अधिक व्यग्र हो रहा था।...

सहसा उधर से कुलपति आ निकले। कदाचित वे किसी अस्वस्थ आश्रमवासी को उसकी कुटिया में मिल कर आ रहे थे या...

उन्होंने युधिष्ठिर की विजय-यात्रा देखी। बढ़ कर उसके दोनों हाथ थाम लिए। उसे दो-चार पग चलाया; और उठा कर वक्ष से लगा लिया, "चिरंजीवी हो वत्स!"

युधिष्ठर को पुनः भूमि पर खड़ा कर, उन्होंने पाण्डु से पूछा, "कैसे हो राजन्?"

"आपकी कृपा है, आर्य कुलपति!" पाण्डु बोला, और फिर उसकी प्रसन्नता का उद्रेक जैसे उससे सँभल नहीं पाया, "आपने देखा, आज युधिष्ठिर स्वयं चलने लगा है।"

"प्रसन्न हो?" कुलपति ने पूछा।

"बहुत!"

"अपनी निजता की परिधि व्यापक करो राजन्! प्रत्येक असमर्थ की समर्थ होने में सहायता करो; और उसे समर्थ होते देख कर, प्रसन्नता पाओ। तुम देखोगे जीवन कितना आनन्ददायक है।"

कुलपति चले गये।

पाण्डु अपनी कुटिया में लौट आया; क्या कह गये कुलपति? क्या अभिप्राय था उनका?–हाँ! ठीक ही तो कहा कुलपति ने। आश्रम में और भी तो बालक हैं। सबने चलना सीखा है, बोलना भी! किन्तु पाण्डु ने कभी उनकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। वह युधिष्ठिर के ही दो डग भरने से इतना प्रसन्न क्यों है? कुलपति के लिए सारे शिशु एक समान हैं। कोई भी बालक चले, उन्हें उतनी ही प्रसन्नता होगी। उन्होंने अपनी निजता एकदम विलीन कर दी है; वह समाज में जीते हैं, या मानव मात्र में।...किन्तु शायद पाण्डु से यह नहीं होगा।...उसे तो अपना उत्तराधिकारी चाहिए, चाहे औरस हो या क्षेत्रज, जो हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठ सके...

वह तपस्या करने आया अवश्य है; किन्तु तपस्वी बनने नहीं आया। वह कदाचित तपस्वी बन नहीं सकता। उसकी प्रकृति ही वह नहीं है।...वह तो उपलब्धि, अर्जन और भोग के सुख को ही जानता है; इन सबके बिना जीवन क्या होगा, उसकी तो उसे कोई कल्पना ही नहीं है...

तभी कुन्ती आयी। गर्भवती कुन्ती कैसी तेजस्विनी लगती थी। किन्तु पर्याप्त थकी हुई।

वह आते ही भूमि पर बैठ गयी।

“क्या लकड़ियाँ काटकर आयी हो?” पाण्डु ने पूछा।

“नहीं!” कुन्ती के थके हुए चेहरे पर भी एक सन्तुष्ट मुस्कान फैल गयी, “इतनी शक्ति अब कहाँ!...इस बार सन्तान की कामना करते समय नियोग से पहले मैंने वायुदेव का आह्वान किया था; और नियुक्त पुरुष को उन्हीं का प्रतिनिधि स्वीकार किया था। लगता है कि इस बार वायु के समान भारी-भरकम भीम शिशु गर्भ में आ बैठा है। अपना शरीर भी मुझसे उठाये नहीं उठता।...अब सोच लिया है...और सन्तान नहीं। दो पर्याप्त हैं...अब और इतना कष्ट नहीं सहा जाता।...”

पाण्डु के चेहरे पर सहमति नहीं उभरी; किन्तु उसने असहमति जतायी नहीं। धैर्य बँधाता हुआ बोला, “साहस मत छोड़ो। प्रत्येक परीक्षा से पहले मन ऐसे ही घबराता है। सन्तान पाने में कष्ट तो...किन्तु फिर उसका सुख...।”

कुन्ती कुछ नहीं बोली!

पाण्डु ने भी इस विषय में कुछ कहना-सुनना उचित नहीं समझा। विषयान्तर करने के लिए बोला, “इस बार बहुत दिनों से हस्तिनापुर से कोई दूत नहीं आया।”

“वनवास में भी राजदूतों की प्रतीक्षा क्यों करते हैं आप?”

“तुम्हारे पास अच्छे वस्त्र नहीं हैं अब!...हस्तिनापुर से इस बार कुछ अच्छे वस्त्र आने चाहिए!”

“यहाँ लोगों का काम मृगचर्म से भी चल जाता है और वल्कल वस्त्रों से भी।”

“माद्री हस्तिनापुर लौटने के लिए कह रही थी।” पाण्डु ने वार्तालाप की दिशा पुनः मोड़ दी।

कुन्ती ने एक निःश्वास छोड़ा और उठ खड़ी हुई। उसने एक शब्द भी नहीं कहा।...

शिशु को नहला-धुला, उसे स्वच्छ वस्त्र में लपेट कर, परिचारक ने उसे गान्धारी के पास ला लिटाया, “बहुत सुन्दर और हृष्ट-पुष्ट बालक है महारानी!”

गान्धारी ने करवट बदली। एक बार मन में तीव्र इच्छा हुई कि अपनी आँखों पर बँधी पट्टी नोच कर फेंक दे। एक बार देखे तो सही कि उसका यह सुन्दर और हृष्ट-पुष्ट बालक कैसा है।...उसे लगा कि यदि उसने बलात् स्वयं को नहीं रोका, तो उसके हाथ स्वतः ही उसकी बँधी पट्टी नोच डालेंगे।...और तब उसका संकल्प, दृढ़ता, उसका सम्मान, उसकी प्रतिष्ठा...सब कुछ नष्ट हो जायेगा...

उसने अपनी मुट्ठियाँ कस कर बाँध लीं। पर दूसरे ही क्षण उसने अपना दायाँ हाथ बढ़ा कर पुत्र को टटोलना आरम्भ किया।...यदि उसने अपनी दृष्टि को अवरुद्ध कर रखा है, तो स्पर्श से तो वंचित नहीं है वह! वह आँखों से नहीं, अपने हाथों से पुत्र को देखेगी...यह सिर...ये केश...! जन्म के समय ही इतने केश...माथा...और ये आँखें...सावधान गान्धारी! शिशु की आँखें कोमल होती हैं!...आँखे बन्द हैं...

“सो रहा है क्या?” उसने पूछा।

“हाँ महारानी!” परिचारिका बोली, “नन्हें महाराज सो रहे हैं। आँखें भी बन्द हैं, और मुट्ठियाँ भी। केवल अधर थोड़े-थोड़े खुले हैं। मुस्कुरा रहे हैं।...”

परिचारिका की वाणी, एक ओर गान्धारी को सुख दे रही थी और दूसरी ओर वह जैसे उसके हृदय को चीरती जा रही थी...नन्हें महाराज!...क्या उसका पुत्र हस्तिनापुर का राजा हो पायेगा? कुन्ती के पुत्र के जन्म का समाचार पा कर ईर्ष्या की कैसी अग्नि धधक उठी थी, उसके मन में। उसने तो अपनी ओर से इस बालक को नष्ट ही कर दिया था। उसने सोचा था–क्या करना है पुत्र को जन्म दे कर, यदि वह राजा नहीं बन सकता। पुत्र तो सबके होते हैं,...सब राजा तो नहीं होते।...किन्तु गान्धारी को तो अपने पुत्र को राजा ही बनाना था...परिचारिका उसे ‘नन्हें महाराज’ कह रही थी...क्या अनुचित कह रही थी...? महाराज का पुत्र ‘नन्हा महाराज’ ही तो होगा...पर कुरु-वंश तो मानता है कि वास्तविक महाराज पाण्डु है, जो शतशृंग पर्वत पर बैठा है...

गान्धारी का हाथ आगे बढ़ा...यह नासिका है...कैसी उठी हुई नासिका है, नुकीली, तीक्ष्ण...और यह चिबुक...ग्रीवा...स्कन्ध...

“कैसे हैं तुम्हारे नन्हें महाराज?”

“गौर वर्ण है महारानी! आँखें जितनी मैं देख पायी हूँ, कंजी हैं। नहाते ही सो गये, इसलिए अधिक नहीं देख पायी।” परिचारिका बोली, “केश काले हैं। लगता है, अपने मामा पर गये हैं।”

गान्धारी को लगा, वे परिचारिका के शब्द नहीं हैं, जैसे कोई तीक्ष्ण धार का शस्त्र है, जो उसके हृदय को चीरता चलता है और आदेश देता है, ‘अपनी आँखों की पट्टी नोच डाल; और अपनी आँखों से देख, अपने नन्हें महाराज को...।’ किन्तु उसे इस लोभ का संवरण करना होगा...उसकी सारी प्रतिष्ठा, इस पट्टी पर टिकी है...

“महाराज को सूचना दी गयी?”

“सबसे पहले उन्हें ही सूचना दी गयी थी महारानी!” परिचालिका बोली, “कुरुश्रेष्ठ भीष्म, राजमाता अम्बिका, पितामही महारानी सत्यवती, महात्मा विदुर–सबको ही सूचना भिजवायी गयी है। महाराज आ गये हैं। प्रतीक्षा कर रहे हैं। बुलाऊँ?”

“बुला ला!”

परिचारिका ने जा कर कपाट खोला और दासियों का सहारा लेता हुआ धृतराष्ट्र अन्दर आया।

“कैसी हो गान्धारी?”

“ठीक हूँ।”

“कहाँ है बालक? स्वस्थ तो है न?”

“आप बैठें महाराज! नन्हें महाराज को मैं अभी आपकी गोद में देती हूँ।” परिचारिका ने शिशु को उठा लिया, “अभी सोये हैं।”

धृतराष्ट्र बैठ गया और परिचारिका ने बालक उसकी गोद में दे दिया।

"स्वस्थ तो है न?" धृतराष्ट्र ने उसे टटोलते हुए पूछा, "भिषगाचार्य इसे देख गये हैं?"

"बालक स्वस्थ है राजन्!" परिचारिका ने बलपूर्वक कहा।

"भिषगाचार्य इसे देख गये हैं?" धृतराष्ट्र ने पुनः पूछा। उसके स्वर में आग्रह था।

"उसकी आवश्यकता नहीं है महाराज!"

"किसी को शीघ्र भेजो। जा कर भिषगाचार्य को बुला लाये।"

धृतराष्ट्र के इस आग्रह पर परिचारिका हतप्रभ-सी रह गयी; किन्तु अधिक कहने का उसका साहस नहीं हुआ।

गान्धारी समझ रही थी कि धृतराष्ट्र के मन में क्या है...जन्मान्ध पिता को चिन्ता है कि उसकी सन्तान तो दृष्टियुक्त है न!...और फिर स्वयं गान्धारी ने अपने गर्भ को नष्ट करने का प्रयत्न किया था...कहीं उसके कारण तो इस कोमल बालक की कोई क्षति नहीं हुई...सहसा जैसे गान्धारी काँप गयी...कहीं उसके अपने प्रहार के कारण ही बालक विकलांग हो गया तो?...कुन्ती और उसके पुत्र की तो वह कोई हानि नहीं कर पायी, कहीं अपनी ही कोई क्षति कर बैठी तो?

धृतराष्ट्र बालक को गोद में लिए बैठा, अपने हाथों से उसे टटोलता रहा; और सहसा बोला, "गान्धारी! इसका नाम सुयोधन रखेंगे!"

"अच्छ नाम है।" गान्धारी बोली।

"यह अपना युद्ध भली-भाँति लड़ कर आया है। सारे प्रहारों का निवारण किया है इसने। और..." वह रुका, जैसे कहने में संकोच का अनुभव कर रहा हो; किन्तु फिर कह ही गया, "और आगे भी इसे बहुत कठोर और लम्बा युद्ध करना है।...सुयोधन ही ठीक रहेगा न?"

"ठीक है!"

"लाइए! नन्हें महाराज को मुझे दे दें राजन्!"

परिचारिका ने बालक को गान्धारी के निकट लिटा दिया।

"युद्ध तो यह करेगा; किन्तु उसकी सुरक्षा का प्रबन्ध तो आप ही करेंगे। यदि आपने यह प्रबन्ध नहीं किया तो, तो युद्ध का अवसर ही नहीं आयेगा।"

"उसकी चिन्ता तुम मत करो!" धृतराष्ट्र उठ खड़ा हुआ, "मैं तो करूँगा ही। हमारा कार्य साधने में शकुनि भी कुछ कम नहीं है।"

"कुरुवृद्धो! भरतवंशी राजाओ और सभासदो!" धृतराष्ट्र ने राजसभा को सम्बोधित किया, "राजकुमार युधिष्ठिर, राजकुमार सुयोधन से बड़ा है–इसलिए वह हस्तिनापुर का युवराज होगा। इस बात में न मुझे संदेह है, न आपको। इस संदर्भ में कोई भी शंका नहीं है। किन्तु मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि क्या युधिष्ठिर के पश्चात सुयोधन को हस्तिनापुर का राज्य मिलेगा? क्या युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के पश्चात सुयोधन का युवराज्याभिषेक होगा?"

धृतराष्ट्र चुप हो गया! सभा में सन्नाटा छा गया। कैसा अनपेक्षित प्रश्न था...और फिर एक मर्मर ध्वनि आरम्भ हो गयी। सभासद असहमत से, जैसे परस्पर विवाद कर रहे थे। राजा को दो-टूक उत्तर देने के लिए कदाचित कोई भी प्रस्तुत नहीं था।

जब पर्याप्त समय व्यतीत हो गया और कोई स्पष्ट उत्तर नहीं आया, तो धृतराष्ट्र ने पुनः पूछा, "सभा की क्या मंत्रणा है?"

अन्ततः कणिक ने उठ कर पूछा, "राजन्! आपका प्रश्न विचारिणीय है। प्रश्न अपने-आप में स्पष्ट है। किन्तु उस प्रश्न की पृष्ठभूमि स्पष्ट नहीं है। इस प्रश्न की आवश्यकता का महत्त्व हम समझ नहीं पा रहे राजन्!"

धृतराष्ट्र की इच्छा हुई, चीत्कार कर कहे, 'मेरी आँखें नहीं थीं; किन्तु मेरे पुत्र में तो कोई दृष्टि-दोष नहीं है। मुझे राज्य नहीं दिया, पर उसे तो दो!'

किन्तु, वह समझ रहा था कि यह सब कहने का यह अवसर नहीं था। धीरे से बोला, "मैं राज्य की भावी नीति निर्धारित करना चाहता हूँ। इसीलिए चाहता हूँ कि सभा आज निर्णय कर दे कि राज्य-प्राप्ति के संदर्भ में सुयोधन की क्या स्थिति है?"

भीष्म के मन में आया कि वह धृतराष्ट्र को डाँट दें: स्पष्टतः वह पाण्डु के राज्य से उसके पुत्रों को वंचित करने का प्रपंच रच रहा था। उसकी यह कामना-मात्र; न्याय और औचित्य से इतनी दूर थी कि उसके लिए उसकी भर्त्सना

होनी चाहिए थी।...वह कुरुकुल में परस्पर द्रोह और द्वेष का बीजारोपण कर रहा था। वह यह आग्रह नहीं कर रहा था कि पाण्डु को शतशृंग पर्वत से बुला कर उसका राज्य उसे सौंप दिया जाये। न यह कह रहा था कि उसके पुत्र युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक किया जाये। वह अपने पुत्र के लिए निर्लज्जतापूर्वक राज्य माँग रहा था। अन्यायी।...ये लक्षण अच्छे नहीं थे। इस प्रकार तो नियम, परम्पराएँ, सिद्धान्त...सब पीछे छूट जायेंगे; और व्यक्ति आगे आ जायेगा। और जब दृष्टि में सिद्धान्त नहीं, व्यक्ति होता है, तो निर्णय न्याय के आधार पर नहीं, व्यक्ति की इच्छा के आधार पर होते हैं। व्यक्ति की इच्छा, उसकी रुचि-अरुचि, उसकी प्रकृति, उसकी परिस्थितियों पर निर्भर करती है–वह समाज के हित में ही हो यह आवश्यक नहीं है। स्वेच्छाचारिता कभी भी शुभ नहीं होती; और राजा की स्वेच्छाचारिता तो किसी भी समाज के लिए विनाश का ही संकेत है। यदि धृतराष्ट्र इसी मार्ग पर आगे बढ़ा, तो भविष्य में यह सभा से कुछ पूछेगा भी नहीं, स्वयं ही सारे निर्णय लिया करेगा...

अपने मन में ताने-बाने बुनते हुए भीष्म ने देखा, विदुर उठ कर खड़ा हो गया है।

"राजन्! पहले यह निर्णय करें कि राज्य किसका है?" विदुर बोला, "यदि राजा आप हैं, तो युवराज सुयोधन ही होगा। तब बीच में युधिष्ठिर नहीं आता। किन्तु आपने स्वयं अभी यह स्वीकार किया है कि युवराज युधिष्ठिर ही है। इसका तात्पर्य यह है कि हस्तिनापुर के राजा महाराज पाण्डु हैं, जो शतशृंग पर्वत पर तपस्या कर रहे हैं। यदि राजा, महाराज पाण्डु हैं, और युवराज युधिष्ठिर तो युधिष्ठिर के पश्चात राज्य का अधिकारी उसका पुत्र, और पुत्र न होने पर उसका अनुज होगा। यदि आप यह प्रस्तावित करते हैं कि युधिष्ठिर के पश्चात राज्य सुयोधन को मिले, तो या तो आपकी धारणा यह है कि राजा पाण्डु का दूसरा पुत्र नहीं होगा, और युवराज युधिष्ठिर भी पुत्रविहीन ही रहेगा; या आप सुयोधन को युधिष्ठिर का युवराज घोषित कर राजा पाण्डु तथा युवराज युधिष्ठिर की भावी सन्तानों का मार्ग अवरुद्ध कर देना चाहते हैं।..."

"किन्तु यह राज्य मेरा था।" धृतराष्ट्र आवेश के साथ बोला, "दृष्टिहीन होने के कारण मुझे नहीं मिला। अब मेरा पुत्र है, जो स्वस्थ है, दृष्टिवान...।"

"राज्य तो कुरुश्रेष्ठ भीष्म का था।" विदुर ने सहज भाव से उत्तर दिया, "किसी कारण से उन्होंने राज्य छोड़ दिया, तो लौट कर वह उनकी सन्तान को नहीं मिला।"

"उनकी सन्तान है ही नहीं।" धृतराष्ट्र तत्काल बोला।

"इसीलिए नहीं है कि संभव हो कर वह आपके समान अनीति का मार्ग न पकड़ ले।" विदुर बोला, "आपका यह प्रस्ताव अनुचित, अनीतिपूर्ण और राजधर्म के विरुद्ध है। मेरा मत है कि सुयोधन को राजपद से, राज्य केन्द्र से, सत्ता और शासन के स्रोत से जितना दूर रखा जाये, उतना ही अच्छा है। आप उसे सिंहासन के जितना निकट लायेंगे, राजवंश में विरोध और शत्रुता का बीज, उतना ही गहरा बोयेंगे। परिवार में परस्पर शत्रुता, उसके नाश की द्योतक है। आप इस विचार का पूर्ण त्याग कर दें। यह वासना आत्मघातिनी है महाराज!"

धृतराष्ट्र के चेहरे पर असन्तोष स्पष्ट रूप से उभर आया। विदुर का तर्क उसे मान्य नहीं था, "ब्राह्मण वर्ग का क्या मत है?"

"हम धर्मज्ञ विदुर से सहमत हैं।" उत्तर मिला।

धृतराष्ट्र के मन में कटुता-ही-कटुता भर आयी; इन बुद्धिजीवियों से अपने पक्ष-समर्थन की अपेक्षा ही व्यर्थ है। ये राज्य के आश्रय में रहेंगे, उससे जीवन-यापन की सुविधाएँ भी प्राप्त करेंगे; और अपनी स्वतन्त्रता भी बनाये रखेंगे, न्याय और नीति के नाम पर राजा का विरोध भी करेंगे।...धृतराष्ट्र के मन में आया कि इन सारे गुरुकुलों, आश्रमों और विद्याकेन्द्रों को बन्द करवा दें। क्यों नहीं राजकर्मचारी यह काम कर सकते? इन बुद्धिजीवी ब्राह्मणों पर राजकोष के धन का अपव्यय करने का क्या लाभ? इससे तो अच्छा है कि राजभृत्यों को अधिक धन दिया जाये, ताकि वे और अधिक झुक कर अभिवादन करें, राजा की प्रत्येक इच्छा को विधाता की इच्छा मानें; और राजा के विरोधियों पर उनका आघात प्रबलतर हो। या तो बुद्धिजीवी भी राजभृत्य बन जायें, या फिर राज्य की सीमाओं से निकल जायें...

किन्तु धृतराष्ट्र का यह सब कह नहीं सका। उसे बहुत कुछ अपने मन में रखने का अभ्यास था। बोला, "अमात्य-वर्ग का क्या मत है?"

"मन्त्रिप्रवर विदुर ने समुचित व्यवस्था दी है। राजवंश के हित के लिए, राज्य की सुरक्षा के लिए तथा प्रजा के कल्याण के लिए, सुयोधन को राजसत्ता से दूर रखा जाये।"

भीष्म मौन धारण किये बैठे थे। उन्होंने अभी तक धृतराष्ट्र के विरोध में एक शब्द भी नहीं कहा था। धृतराष्ट्र

के मन में एक आशा जागीः कदाचित पितृव्य ही उसका पक्ष लें। वह एक बार उनसे भी पूछ ही ले। किन्तु उसके मन में भय भी जागाः भीष्म ने भी वही कहा, जो विदुर ने कहा है–तो क्या लाभ?...जिस मौन में वह अपना समर्थन खोज रहा है, कहीं वह विदुर से ही मौन सहमति न हो।...

तभी द्वारपाल ने संदेश दिया, "महाराज! शतशृंग पर्वत पर महाराज पाण्डु से मिलने के लिए गये, राजदूत लौट आये हैं। वे महाराज के दर्शन करना चाहते हैं।"

"लिवा लाओ।"

दूतों ने आ कर निवेदन किया, "महराज पाण्डु अपने परिवार के साथ सकुशल हैं। महारानी कुन्ती ने दूसरे पुत्र को जन्म दिया है, जो आसाधारण रूप से हृष्ट-पुष्ट और विशालकाय है। उसका नाम भीम रखा गया है।..."

दूत बहुत कुछ कहते रहे; किन्तु धृतराष्ट्र के कान बाहर के स्वरों के लिए जैसे बन्द हो गये थे। उसका अपना मन ही इतना चीत्कार कर रहा था कि बाहर के स्वर भीतर प्रवेश ही नहीं कर पा रहे थे: युधिष्ठिर के पश्चात भीम! अर्थात युधिष्ठिर का युवराज भी आ गया।...अब सुयोधन के लिए राज्य प्राप्त करने की कोई संभावना नहीं है, कोई नहीं...केवल धृतराष्ट्र की अन्धता के कारण...ओह विधाता।...

"आर्यपुत्र!" आयुर्वेदाचार्य द्वारा दी गयी औषधि, पाण्डु की ओर बढ़ाते हुए माद्री ने कहा, "कितना समय हो गया, आपको यह औषध-सेवन करते?"

"समय तो पर्याप्त हो गया है। क्यों?"

"कुछ लाभ भी हुआ या मात्र तिक्त वनस्वतियाँ खाने का अभ्यास भर हुआ है?"

पाण्डु ने औषध थाम ली और आँखें उठा कर माद्री को देखाः कुन्ती की तुलना में माद्री की रुचि सदा ही प्रसाधनों में अधिक रही थी। नेपथ्य की विधियाँ भी कदाचित वह कुन्ती से अधिक जानती थी और उसके पास उसके लिए समय भी अधिक था।...कुन्ती एक तो आश्रम के सारे श्रम-कार्यक्रम में भाग लेती थी; और दूसरे, उसे युधिष्ठिर के साथ-साथ भीम को भी थोड़ा समय देना पड़ता था। उसका कामिनी रूप तो कभी भी मुखर नहीं था; किन्तु अब तो वह पूर्णतः 'माता' ही बन गयी थी। वह पाण्डु की पत्नी थी, और पत्नी ही बने रहने में सन्तुष्ट थी; प्रिया बनने का प्रयत्न उसने कभी नही किया था।...किन्तु माद्री...वह कुन्ती से भी अधिक सुन्दर थी, फिर भी शृंगार का ऐसा कोई अवसर या प्रयत्न उससे उपेक्षित नहीं हो सकता था, जो उसके रूप के आकर्षण में तनिक-सी भी वृद्धि कर सकता हो।...यहाँ, इस पर्वत पर, तपस्वियों के इस आश्रम में प्रसाधन के बहुत अधिक साधन नहीं थे, फिर भी उसकी केश-सज्जा प्रतिदिन परिवर्तित होती थी। उसका पुष्प-सम्भार अवश्य होता था। नित नये-नये पुष्प, कहीं-न-कहीं से वह प्राप्त कर लेती थी। अपने परिधान के प्रति भी वह अत्यन्त सजग थी। हस्तिनापुर से आये हुए मूल्यवान और आकर्षक वस्त्र उसी के पास थे। कुन्ती तो आवश्यकता-भर वस्त्र ही स्वीकार करती थी।...

"मैंने कुछ पूछा था।" माद्री ने पाण्डु से कुछ उत्तर न पा कर कहा।

"आयुर्वेदाचार्य का कहना है कि लाभ हो रहा है।"

"आपका अपना क्या विचार है?"

"मेरा विचार क्या हो सकता है; व्यवहार ही बता सकता है।" पाण्डु बोला, "व्यवहार की मुझे अभी अनुमति नहीं है। आयुर्वेदाचार्य का कहना है कि मैं कामावेग से बचूँ। शारीरिक और मानसिक उत्तेजना मेरे लिए हितकारी नही है।"

माद्री के नयनों में खिली चंचलता की ज्योत्स्ना जैसे आकस्मिक ढंग से बुझ गयी, "कब तक चलेगा यह क्रम! आयुर्वेदाचार्य न आपका उपचार करते हैं, और न हमें हस्तिनापुर जाने की अनुमति देते हैं।...और कुन्ती ने तीसरी बार गर्भ धारण किया है।"

"अपना अभिप्राय स्पष्ट कहो।"

"स्पष्ट कहूँ? सुन सकेंगे?"

"प्रयत्न करूँगा।"

"उत्तेजित तो नहीं होंगे?"

"संयत रहूँगा।"

"मैं कुन्ती से अधिक कुलीन हूँ, उससे अधिक सुन्दर भी; और वयस भी मेरा उससे कम ही है...।"

"तो?"

"तो भी आपने मुझे क्या बना रखा है?" माद्री का स्वर कुछ प्रखर हो गया, "पहले ही मैं कनिष्ठ रानी होने के कारण उसके अधीन थी; अब वह तीन पुत्रों की माता होगी और मैं पुत्रहीना!" माद्री ने रुक कर पाण्डु को देखा, "मैं दीदी से ईर्ष्या तो नहीं करती, किन्तु हीनता का अनुभव तो करने ही लगी हूँ।...वह भी आपकी पत्नी है, मैं भी; तो फिर आपके सारे पुत्र, क्यों उसी के गर्भ से उत्पन्न हों?"

पाण्डु की दृष्टि उसकी ओर उठी तो वह सहज नहीं थी। वह तीक्ष्ण दृष्टि से उसे देर तक चुपचाप देखता रहा।

अन्ततः माद्री को ही पूछना पड़ा, "ऐसे क्यों देख रहे हैं?"

"एक बात मैं भी पूछना चाहता हूँ। पर्याप्त कटु है। सुन सकोगी?"

"क्यों नहीं।"

"बुरा तो नहीं मानोगी?"

"मान भी गयी तो क्या। आपकी महारानी तो कुन्ती हैं।"

"तब नहीं पूछूँगा।"

"नहीं!" माद्री मुस्कुरायी, "रुष्ट न हों। पूछें। मैं बुरा नहीं मानूँगी।"

पाण्डु ने अपने-आपको साधा, जैसे कोई दुःस्साहस का कार्य करने जा रहा हो, "तुम्हें रति-सुख चाहिए या मातृत्व सुख?"

माद्री ने तत्काल उत्तर नहीं दिया। फिर बोली, "यह प्रश्न पर्याप्त अपमानजनक है। रुष्ट होने का मुझे पूर्ण अधिकार है। कभी आपने कुन्ती से भी यह पूछा है?"

"कुन्ती से पूछने का प्रश्न नहीं है।" पाण्डु बोला, "उसने कभी माता बनने की भी इच्छा प्रकट नहीं की। उसने जो कुछ किया है, मेरी इच्छा से, मेरी आज्ञा के अधीन किया है।...उससे मैं यह प्रश्न कैसे कर सकता हूँ; उसने तो कभी मुझे भी रिझाने का प्रयत्न नहीं किया...।"

माद्री कुछ नहीं बोली।

"तुमने उत्तर नहीं दिया।"

माद्री जैसे क्षण-भर को संकुचित हुई; फिर बोली, "स्पष्ट कहने की अनुमति हो तो कहूँगी कि चाहिए तो मुझे रति-सुख भी; किन्तु व्यभिचार नहीं चाहती। अतः इन परिस्थितियों में केवल मातृत्व से ही सन्तोष कर लूँगी।...मैं देखती हूँ कि माँ बन कर कुन्ती कितनी गरिमामयी हो गयी है...।"

"मैं कुन्ती से चर्चा करूँगा।" पाण्डु उठते हुए बोला और कुटिया से बाहर चला गया।

माद्री खड़ी देखती ही रह गयीः शायद उसने पाण्डु को आहत कर दिया था। पाण्डु चलता ही जा रहा था–निरुद्देश्य, लक्ष्यहीन! उसे लग रहा था, वह पुनः उसी मन-स्थिति में पहुँच गया है, जिसमें कभी वह दिग्विजय हेतु निकल पड़ता था, कभी आखेटार्थ। आज भी उसकी इच्छा हो रही थी, वह चलता-चलता कहीं दूर निकल जाये...इन पर्वतों के पार, इस आश्रम से दूर, कुन्ती और माद्री से दूर।...उसे आश्चर्य हो रहा था कि आज उसमें हिंसा का पुराना ज्वार क्यों नहीं जागा था? क्यों आज वह धनुष-बाण ले कर किसी की हत्या करना नहीं चाहता था। आज उसकी सारी हिंसा अपने ही विरुद्ध जागी थी...

विवाह के पश्चात उसे कुन्ती और माद्री का सामना करना पड़ा था और उसने स्वयं को कितना असमर्थ और हीन अनुभव किया था। किन्तु उसका दर्प स्वयं को किसी से राई बराबर भी न्यून मानने को तैयार नहीं था। इसीलिए वह अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए कटिबद्ध हो गया था; और युद्ध के लिए निकल पड़ा था। किन्दम ऋषि के आश्रम के निकट उसने इसी प्रकार उस मृग से स्वयं को हीन अनुभव किया था और उसका वध कर दिया था... संन्यास लेने का संकल्प किया था, तो कुन्ती ने ही उसे आश्वासन दिया था कि वे दोनों पत्नी के रूप में भी उससे ऐसी कोई अपेक्षा नहीं करेंगी, जिसका सामर्थ्य उसमें न हो...

कुन्ती ने आज तक अपने वचन का निर्वाह किया था; किन्तु आज माद्री ने...वह समझ रहा था कि उसकी शारीरिक अक्षमता दूर हो रही है...उसके घावों पर जैसे त्वचा तक की एक हल्की परत जम गयी है...अब वह पहले के समान उद्विग्न नहीं है, उसका आत्मविश्वास लौट रहा है...किन्तु आज माद्री के एक आग्रह ने सिद्ध कर दिया कि जिसे वह शिला का आधार समझ रहा था, वह मात्र कायी थी, जो जल के तल पर तैर कर उसके मन में ठोस भूमि का भ्रम उत्पन्न कर रही थी...वह अब भी उतना ही पीड़ित और उद्विग्न था...वह आज भी पुरुष के रूप में स्त्री के सम्मुख, उतना ही पीड़ित, दीन-हीन, असहाय और लघु था।

किन्तु आज उसका मन आत्म-पीड़न के लिए व्याकुल था। अब वह किसी और का वध नहीं करना चाहता था; आज वह अपना ही सिर फोड़ लेना चाहता था...पता नहीं यह उसकी दीनता थी, पीड़ा थी, वैराग्य था...उसे लगा था, उसे अब किसी वस्तु का मोह नहीं है, किसी व्यक्ति का भी नहीं, ऐसी कोई क्षति नहीं है, जिससे वह पीड़ित हो सके...इस संसार में अब किसी वस्तु में उसकी आसक्ति नहीं थी...

सहसा उसका ध्यान युधिष्ठिर और भीम की ओर चला गया...और उसका वह तीसरा पुत्र जो कुन्ती के गर्भ में पल रहा था...युधिष्ठिर अब पाँच-एक वर्षों का हो चला था; किन्तु अपने वय के बालकों की तुलना में बहुत गम्भीर था। उसी की तुलना में ढाई वर्ष का भीम बहुत उद्यमी था। वह ढाई वर्ष छोटा हो कर भी युधिष्ठिर के बराबर का ही दिखता था। जब बोलने लगा था तो उसका वास्तविक वय मालूम होता था। बालक तो सारे ही अबोध होते हैं; किन्तु भीम तो जैसे शैशव और ऊर्जा की साक्षात मूर्ति ही था। दिन-भर खेलता रहता था। भागता, दौड़ता, गिरता, उठता।

न उसे चोट लगती थी, न वह भयभीत होता था। जिस-तिस से बातें करने लगता; और अपनी भोली बातों से उसका मन मोह लेता था।...और भोजन में कितनी रुचि है उसकी। प्रत्येक क्षण खाने को ही माँगता रहता है। अभी से युधिष्ठिर के बराबर भोजन करता है...और कितना स्नेह है उसे माँ से; पाण्डु से भी। कभी कुन्ती के पीछे पड़ जाता है कि मुझे गोद में उठा; और कभी स्वयं उसे गोद में उठाने का प्रयत्न करता है...

और कुन्ती।...कुन्ती के गर्भ की पूर्णावस्था थी। तीसरे नियोग के लिए उसने देवराज इन्द्र का ध्यान किया था; और नियुक्त पुरुष इन्द्र का प्रतिनिधि माना था। उसकी तीसरी देवप्रदत्त सन्तान, इन्द्र की सन्तान थी...

सहसा पाण्डु के पग थम गये।

अपने इन पुत्रों को छोड़ कर वह कहाँ जा रहा है? इनके बिना रहा जायेगा उससे?...और किसी में उसकी आसक्ति न सही; अपने जीवन का भी उसे मोह नहीं...किन्तु युधिष्ठिर?...भीम?...और वह तीसरा...

उसे लगा, अपनी सन्तान से उसे मोह है। सन्तान होती ही ऐसी है। उन्हें संसार से संघर्ष करने के लिए, अकेला और असहाय छोड़ कर पाण्डु कहीं भी सुख नहीं पा सकता। न भोग में, न त्याग में।...अब तो उनके साथ ही उसकी गति है...

उसके मन में इतना मोह है सन्तान के लिए, तो माद्री के मन में क्यों नहीं होगा। चाहे कुन्ती और माद्री में परस्पर कितना ही स्नेह हो, किन्तु हैं तो सपत्नियाँ ही। कुन्ती के तीन-तीन पुत्र हों और माद्री का एक भी नहीं...व्यर्थ ही पाण्डु ने उस पर संदेह किया कि वह उसकी असमर्थता जता रही थी। वह वस्तुतः सन्तान की कामना ही कर रही थी...

पाण्डु ने आकाश की ओर देखाः सन्ध्या हो चली थी। वह आश्रम से जाने कितनी दूर चला आया था। ऐसा तो कभी-कभी आखेट के दिनों में होता था कि किसी वन्य पशु के पीछे अन्धाधुन्ध अश्व दौड़ाते हुए, यह भी स्मरण नहीं रहता था कि अपने शिविर से कितनी दूर चले आये हैं; और किस-किस मार्ग को पीछे छोड़ते आये हैं। लगता है आज भी पाण्डु अपने दर्प-रूपी वन्य पशु के पीछे, इन वन में भटक गया था।...

सन्ध्या ढले पाण्डु अपनी कुटिया में लौटा। कुन्ती वहाँ उसकी प्रतीक्षा कर रही थी।

"कहाँ चले गये थे आर्यपुत्र?"

"वन में भटक गया था।"

"भटक गये थे, या भटक रहे थे?"

"अब जो समझ लो।"

"उद्विग्न हैं क्या?"

पाण्डु कुछ नहीं बोला।

"आपको आयुर्वेदाचार्य ने स्पष्ट कहा है कि उद्विग्नता से स्वयं को बचायें।" कुन्ती स्नेह से बोली, "अब ऐसा क्या है जिसके लिए आप उद्विग्न होते हैं। दो सुन्दर स्वस्थ पुत्र हैं, तीसरा जन्म लेने को है।"

पाण्डु, कुन्ती के निकट आ गयाः कुन्ती के चेहरे पर क्या था! क्या था उसकी आँखों में। उसे देख कर पाण्डु का मन द्रवित हो जाता था। हठात पाण्डु की इच्छा होती थी, उसके केश सहलाये, उसे अपनी भुजाओं मे भर ले, या...या...या फिर उसकी गोद में सिर रख कर बहुत-बहुत रोये...किन्तु इस सारे कार्य-व्यापार में कहीं कोई उत्तेजना नहीं थी, कोई स्नायविक तनाव नहीं था।...कैसी तो शान्ति थी, जो मन को विशद कर देती थी...

"कुन्ती!" वह बोला।

कुन्ती उसकी मुद्रा से ही समझ गयीः उसके मन में कोई विशेष बात थी।

"मैं युधिष्ठिर और भीम को ले कर चिन्तित हूँ।"

"इस सात्विक वातावरण में भी चिन्ता?" कुन्ती बोली, "क्या चिन्ता है आर्यपुत्र?"

"उन्हें सौतेली माँ का ताप न लगे।"

कुन्ती क्षण-भर तो भाव-शून्य दृष्टि से उसे देखती रही, फिर जैसे समझ कर बोली, "माद्री ने कुछ कहा क्या?"

"हाँ। उसे यह तथ्य साल रहा है कि तुम तीन पुत्रों की माता होने जा रही हो; और उसकी एक भी सन्तान नहीं है।"

कुन्ती कुछ नहीं बोली।

पाण्डु भी मौन बैठा रहा।

एक लम्बा समय चुपचाप निकल गया।

अन्ततः पाण्डु ही बोला, “अर्जुन के पश्चात चौथे पुत्र के लिए किस देव-शक्ति का ध्यान करोगी?”

“यह अर्जुन कौन है?”

“हमारा तीसरा पुत्र।”

“अभी जन्म उसका हुआ नहीं, और नामकरण पहले हो गया।”

“हाँ। तुम्हें अच्छा नहीं लगा?”

“नहीं। अच्छा है।” कुन्ती बोली, “किन्तु यदि इस बार कन्या हुई तो?”

“नहीं, कन्या नहीं होगी। मेरा मन कहता है कि पुत्र की याचना कर, इन्द्र का ध्यान करने पर, कन्या का जन्म नहीं होगा।”

“चलो ठीक है।” कुन्ती बोली, “पुत्र होगा; और उसका नाम अर्जुन होगा। किन्तु एक बात अभी से स्पष्ट कर दूँ; मैं चौथा नियोग नहीं करूँगी।”

“क्यों?”

“पुत्र की कामना से तीन नियोग ही धर्म-संगत हैं। इससे अधिक को धर्मतः व्यभिचार कहा गया है।”

“तो मेरी एक बात मानो।” पाण्डु ने धीरे-से कहा।

“क्या?”

“जो मंत्रणा तुम्हें दुर्वासा ने दी थी, वही तुम माद्री को दो। तुम व्यभिचार से बच जाओगी; और माद्री पुत्रवती हो जायेगी। उसकी दृष्टि भी सौतेली माँ की न रह कर, ‘माँ’ की हो जायेगी।”

निर्णय तक पहुँचने में कुन्ती को समय नहीं लगा। बोली, “जैसी आपकी इच्छा।”

“तुम्हारा क्या विचार है, उसे किस देव-शक्ति का ध्यान करना चाहिए?” पाण्डु ने पूछा।

“अश्विनी कुमार कैसे रहेंगे,” कुन्ती कुछ सोचती हुई बोली, “संभव है कि उनकी कृपा से आपके स्वास्थ्य में भी सुधार हो जाये; और हमें एक और सुन्दर तथा अरोग्यमूर्ति पुत्र मिल जाये।”

कुन्ती के आनन पर माद्री या उसकी सम्भावित सन्तान के लिए तनिक भी वैमनस्य नहीं था।

पाण्डु का मन प्रसन्न हो गया, “तुम्हारी इच्छा पूरी हो।”

जातकर्म तथा नामकरण संस्कार कर, कुलपति ने पाँचों पाण्डवों को आशीर्वाद दिया, "सदा नीति और न्याय के मार्ग पर चलो पुत्रो। यही तुम्हारा शाश्वत धर्म है। लोभ और भय के कारण सत्पथ से विचलित मत होना। विधाता ने तुम्हें दैवी-सम्पत्ति दी है, आसुरी सम्पत्ति एकत्रित करने का प्रयत्न मत करना। अपने स्वार्थ के लिए, अपनी सुविधा के लिए, न दूसरे की सुख-सुविधा छीनना, न किसी के नैतिक अधिकार का हनन करना। विधाता ने सृष्टि रची है, तो उसे कुछ नियमों के अधीन ही रचा है; और नियमों के अधीन ही उसका संचालन हो रहा है। वे नियम ही सत्य हैं पुत्र! और उन पर चलना ही नीति है। तुम नीति कभी न छोड़ना।" कुलपति ने रुक कर उन्हें देखा, "अभी तुम्हारी अवस्था कम, और बुद्धि अविकसित है। मेरी सारी बातें समझ नहीं पाओगे। यह तुम्हारे माता-पिता और गुरुओं का कर्तव्य है कि जैसे-जैसे तुम्हारी बुद्धि विकसित हो, तुम्हें ये बातें समझाते चलें। तुम उनकी शिक्षा पर श्रद्धा रखना और उस पर मनन करना। धीरे-धीरे सब कुछ तुम्हारी समझ में आ जायेगा।"

उन्होंने खड़े हो कर बालकों पर पवित्र जल छिड़का और उनके सिर पर हाथ रख कर आशीर्वाद दिया।

वे चलने को उद्यत हुए, "राजन्! अपनी सुविधा से मेरी कुटिया में आना।"

"मुझे तो सुविधा ही है आर्य कुलपति!" पाण्डु उनके साथ चल पड़ा, "मैंने नैतिकता की बातें बहुत सुनी हैं ऋषिवर! और मेरी उन पर पूर्ण श्रद्धा भी है; किन्तु इधर कुछ देश-भ्रमण से, कुछ विभिन्न समाजों के सम्पर्क में आने से, नीति और नैतिकता को ले कर मेरे मन में कुछ संशस जागे हैं, कुछ जिज्ञासाएँ हैं। मैं कई दिनों से सोच रहा था कि आपसे उनकी चर्चा करूँ!"

"अवश्य करो वत्स!" कुलपति रुके नहीं, वे चलते गये, "चर्चा से ही मन के संशय मिटते हैं। यह भी मनन का ही एक रूप है।"

"मैं यह सोचता हूँ कि नैतिकता क्या है?..." पाण्डु बोला, "मेरी पितामही गंगा मेरे पितामह शान्तनु को त्याग कर चली गयी थीं। सोचता हूँ कि पत्नी का इस प्रकार पति को त्याग कर चले जाना, नैतिक है क्या?"

ऋषि हँसे, "गंगा और शान्तनु का समाज भिन्न था। गंगा, उस समाज का अंग थी, जहाँ स्त्री शर्तों पर ही जीवन व्यतीत करती है; इसलिए उसका पति को त्याग देना, कुछ भी अनैतिक नहीं था। यह तो समाज-भेद के कारण मान्यताभेद है राजन्! उत्तर कुरु में आज भी स्त्री-पुरुष सम्बन्ध पूर्णतः स्वच्छन्द हैं। वहाँ पति-पत्नी सम्बन्धों की परिकल्पना ही नहीं है। इस शतशृंग के आस-पास बसनेवाले जन-सामान्य में बहुपतित्व की प्रथा है, जबकि आर्यावर्त्त के राजवंशों में बहुपत्नीत्व की प्रथा है। आपके कुरु-जांगल प्रदेश और पांचाल में ही कितना भेद है। कुरु-जांगल की तुलना में, पांचाल में नारी अधिक स्वतन्त्र है, और वहाँ बहुपतित्व अभी प्रचलित भी है। ऋषि कानीन पुत्र को धर्म-सम्मत मानते हैं, राजवंश नहीं मानते। क्षेत्रज पुत्र को आज का समाज धर्म-सम्मत और सामाजिक विधान के अनुरूप मानता है; कौन जाने भविष्य का समाज उस पर भी आपत्ति करे।" ऋषि ने अपनी कुटिया में प्रवेश किया, "यह तो सामाजिक व्यवस्था है राजन्! सामाजिक-व्यवहार की मर्यादा!" ऋषि अपने आसन पर बैठ गये, "आसन ग्रहण करो।"

पाण्डु बैठ गया, तो वे पुनः बोले, "मैं जिस नीति की बात कर रहा हूँ, वह मानवनीति है। कोई भी समाज अपने अनुभव और बुद्धि के अनुसार सामाजिक-व्यवहार के नियम बनाता है और अनुभव की परिपक्वता के साथ, उनमें परिवर्तन करता चलता है।...किन्तु मैं जिस नीति की बात कर रहा हूँ, वह व्यापक नीति है। हमें अपना चिन्तन न तो आत्मसीमित रखना चाहिए, न संकीर्ण। देश, काल, तथा समाज का एक व्यापक बिम्ब होना चाहिए, हमारे सामने। जब नीति कहती है कि 'सत्य बोलो।' तो इसलिए नहीं कि सत्य बोलने से आकाश से अमृत टपकने लगेगा। वह हम इसलिए कहते हैं कि यदि समाज में सत्य बोलेंगे तो उनका परस्पर विश्वास बना रहेगा, व्यवहार में सुविधा रहेगी, जीवन में संघर्ष सरलता से पार किये जा सकेंगे; किन्तु यदि एक व्यक्ति दूसरे से झूठ बोलेगा, किसी को किसी के शब्द पर विश्वास नहीं रहेगा, तो सामाजिक व्यवहार में असुविधाएँ बहुत बढ़ जायेंगी; और यह परस्पर का अविश्वास उस समाज को नष्ट कर देगा। तुम देखोगे कि व्यक्ति रूप में सुख-दुख पृथक विषय है; किन्तु समाज में सुख वहीं है, विकास, उन्नति और शक्ति वहीं है, जहाँ व्यापक सामाजिक हित को ध्यान में रख कर सद्व्यवहार किया जाता है।...नीति तो अत्यन्त व्यापक और दूरगामी धारणा है राजन्! इसमें तो हम सारी सृष्टि के अनन्त काल तक को ध्यान

रखते हैं; सारा जीव-जगत, वनस्पति जगत, नदियाँ, पर्वत, धरती–किसी की भी सर्वथा उपेक्षा, सृष्टि को सह्य नहीं है। अतः नीति कहती है कि उनसे लाभ उठाओ, उनसे होनेवाली हानि से स्वयं को बचाओ; किन्तु उनकी क्षति मत करो।...मैंने राजकुमारों को इसी नीति का उपदेश देने के लिए कहा है।"

पाण्डु सुनता रहा। ऋषि मौन हो गये तो भी पाण्डु बैठा, उनकी बातों पर मनन करता रहाः पितामही सत्यवती ने विवाह के समय कदाचित अपना ही स्वार्थ देखा था, कुरुकुल की अथवा सम्पूर्ण प्रजा के कल्याण की अवधारणा उनके मन में नहीं होगी; अन्यथा वे पितृव्य भीष्म को इस प्रकार राज्याधिकार से वंचित न करतीं। यदि भीष्म शासन करते तो प्रजा, धृतराष्ट्र के इस अन्ध शासन से अवश्य अधिक सुखी रहती। प्रजा का सुख ही राजवंशों के जीवन-काल की वृद्धि करता है। क्या पितामही के स्वार्थ ने कुरुओं के राजवंश और कुरु-जांगल की प्रजा–दोनों का ही अहित नहीं किया? क्या वह उनकी अनीति नहीं थी?

"किस विचार में खो गये वत्स?" ऋषि ने पूछा।

पाण्डु का विचार-क्रम भंग हो गया, जैसे वह अपनी समाधि से जागा हो, "क्षमा करें आर्य कुलपति! मैं अपने परिवार के विषय में सोचने लग गया था।"

"कोई अत्यन्त गोपनीय बात न हो तो कहो। उसका समाधान करने में यथा क्षमता तुम्हारी सहायता करूँगा।"

"नहीं! गोपनीय तो कुछ नहीं है आर्य!" पाण्डु बोला, "संकोच यही है कि गुरुजनों के आचरण पर संशय करना क्या अनीति होगी?"

ऋषि हँसे, "सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से, वह शिष्टाचार-विरुद्ध हो सकता है; किन्तु सत्य पाने के लिए हमें विचार करना होगा। जहाँ विचार रुके, वहाँ संशय करना होगा। संशय में चिन्तन-मनन, विचार-विनिमय करना होगा। और अन्ततः अपना मार्ग पाने के लिए सत-असत का विचार करना होगा पुत्र! अन्यथा मानव का चिन्तन-सार्थ तो यहीं रुका रह जायेगा।"

"पूज्य! मैं बहुधा सोचता हूँ कि हम सत-असत, उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म, नीति-अनीति, न्याय-अन्याय इत्यादि पर बहुत विचार करते हैं; किन्तु संसार में सदा देखते हैं कि असत और अधर्म पर चलनेवाला व्यक्ति, अनीति और अन्याय को अंगीकार करने वाला समाज सदा सुखी रहता है और सत, उचित, धर्म, तथा न्याय, नीति के मार्ग पर चल कर लोग सदा दुख, कष्ट तथा यातना ही पाते आये हैं। इसलिए नैतिक विधान में लोगों की आस्था नहीं रह पाती!"

"कोई उदाहरण दे सकते हो वत्स!" ऋषि बोले।

"मेरी पितामही ने, पितृव्य भीष्म को वंचित किया और राजमाता बनीं...।"

ऋषि हँस पड़े, "तुम सत्यवती को सुखी मानते हो? जिसने अपनी अनीति के कारण वैधव्य पाया, जिसके दो-दो पुत्र अकाल-काल-कवलित हुए, उसे सुखी मानते हो? अपनी सीमित दृष्टि से मत देखो पुत्र! दृष्टि को व्यापक तथा विशद कर देखोः कुरुकुल के सारे दुखों-कष्टों का मूल है, सत्यवती की अनीति। उसने केवल अपने लिए नहीं, अपनी भावी पीढ़ियों के लिए भी कष्ट-बीज बोया है...।"

"किन्तु क्या पितृव्य ने उदार हो कर, कुछ नहीं खोया? कोई कष्ट नहीं पाया?"

"पाने और खोने का, उपलब्धि और वंचना का गणित, प्रकृति ने इतना सरल नहीं बनाया वत्स! यह भीष्म का मन ही जानता है कि उदार हो कर, उसने क्या-क्या पाया है; और जहाँ कहीं भी वह वंचित हुआ है, वहाँ कारण उसकी उदारता नहीं अनीति है।..."

"पितृव्य भीष्म और अनीति?"

"पिता पुत्र के लिए कन्या लाये–यह तो प्रचलन है समाज का; युवजन विवाह करें, और सन्तान उत्पन्न करें–यह नियम है सृष्टि का। किन्तु भीष्म ने इसके विपरीत कर्म किया। वानप्रस्थ के वय में उसने पिता को गृहस्थाश्रम में प्रवेश कराया–यह अनीति हुई! अनेक बार उदारता के आवरण में हम पाप करते हैं राजन्!"

"ओह!" पाण्डु का मस्तिष्क जैसे स्तब्ध रह गयाः यह तो कभी सोचा ही नहीं था उसने...

"पुत्र! अब मैं अपनी बात कहूँ।" ऋषि बोले, "मैंने तुम्हें बुलाया था, इसी प्रकार की एक चेतावनी देने के लिए...।"

पाण्डु ने ऋषि की ओर देखा, तो उसकी आँखों में आश्चर्य था।

"तुम्हें आश्चर्य हो रहा है।" ऋषि मुस्कुराये, "पुत्र-कामना अत्यन्त स्वाभाविक है। प्रकृति के नियमों के अनुकूल

है। अतः पूर्णतः नैतिक है। अब तुम्हारे पाँच देव-प्रदत्त पुत्र हैं राजन्! इसके पश्चात और लोभ मत करना। उन्हीं पाँच से सन्तोष करो।"

"और मेरा औरस पुत्र?" पाण्डु की वाणी में अत्यन्त दीन याचक बोल रहा था।

"औरस पुत्र की संभावना के विषय में तो आयुर्वेदाचार्य ही बता पायेंगे।" ऋषि बोले, "किन्तु मैं समझता हूँ कि यदि इन पाँच पुत्रों के पश्चात तुम्हें विधाता ने एक औरस पुत्र दे दिया, तो तुम अपने इन देव-प्रदत्त पुत्रों का न तो सम्मान कर पाओगे, न उनसे प्रेम कर पाओगे। कोई आश्चर्य की बात नहीं, यदि तुम उनकी उपेक्षा ही करने लग जाओ। इसलिए मेरा परामर्श है पुत्र! कि अब औरस पुत्र की कामना छोड़ो। तुम्हारे पुत्र अभी छोटे हैं; तुम्हें उनका पालन-पोषण करना है।...पालन-पोषण तो उनका यहाँ भी हो जायेगा, किन्तु यहाँ उनका विकास ऋषि-पुत्रों के समान होगा। राजकुमार के विकास के लिए यहाँ उपयुक्त वातावरण नहीं है। अतः तुम निर्णय करो कि तुम्हें अभी यहीं निवास करना है, या हस्तिनापुर लौट जाना है।"

"क्या मैं यहाँ और निवास नहीं कर सकता?" पाण्डु ने पूछा।

"पुत्र! मेरी ओर से ऐसा कोई आग्रह नहीं है। यह ऋषि कुल है; यहाँ न किसी को बन्दी रखा जा सकता है, न किसी को निष्कासित किया जाता है। मैंने तुम्हारे पुत्रों के कल्याण को ध्यान में रखते हुए, तुम्हारे विचारार्थ यह प्रस्ताव रखा है।"

पाण्डु अपनी कुटिया में आया!

उसे लगा, कुलपति से वार्तालाप के पश्चात जैसे वह पहले जैसा पाण्डु ही नहीं रह गया था। वह तो जैसे भूल ही गया था कि उसने हस्तिनापुर क्यों छोड़ा था; और यहाँ, इस आश्रम में वह एक लक्ष्य ले कर आया था।...आज कुलपति के प्रस्ताव ने जैसे समय के सारे आवरणों को उठा कर, उसे पुनः अपने जीवन के कुछ मूलभूत प्रश्नों के आमने-सामने खड़ा कर दिया था।

कुलपति ने ठीक ही तो कहा था कि यदि वह पुत्र ही प्राप्त करने आया था, तो उसे देवप्रदत्त पाँच पुत्र मिल चुके हैं। अब उसका आश्रम में रहने का कोई कारण नहीं था। उसे अपने पुत्रों की, राजकुमारों के अनुरूप शिक्षा-दिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए था...

पर पाण्डु केवल पिता ही नहीं बनना चाहता था, वह पति भी बनना चाहता था।...वह पूर्ण पुरुष बनना चाहता था...जब तक वह यहाँ था, उसके मन में एक आशा थीः उसका उपचार हो रहा था। कदाचित उसकी रति-क्षमता को बल मिल रहा था। कदाचित उसकी अक्षमता समाप्त हो जाये। कदाचित वह पूर्ण पुरुष बन सके।...जब तक वह यहाँ था, उसे अपनी पत्नियों का सामना केवल पति के रूप में करना पड़ता था, पुरुष के रूप में नहीं। सबको ज्ञात था कि वह संयमपूर्वक, तपस्वी जीवन व्यतीत कर रहा था।...किन्तु एक बार वह हस्तिनापुर लौट गया तो उसके ये सारे कवच कट कर गिर जायेंगे। वह कवचहीन होगा; कोई आवरण नहीं रहेगा। उसे सर्व समर्थ पुरुष के रूप में सबका सामना करना पड़ेगा। पत्नियाँ, परिवार, प्रजा...सब जानना चाहेंगे...

पाण्डु को लगा, बहुत दिनों के पश्चात आज फिर उसका मन हिंस्र हो रहा था। उसके भीतर सृजन का नहीं, विनाश का भाव जाग रहा था। इच्छा होती थी कि सामने पड़नेवाली प्रत्येक वस्तु को ध्वस्त कर दे। पर्वतों को अपनी मुट्ठियों में पकड़े और चूर्ण कर दे। स्त्री नामक शरीर को अपनी भुजाओं में ले और उसकी अस्थियों के चटकने का संगीत अपने कानों से सुने...

सहसा पाण्डु चौंका।

वह विक्षिप्त होता जा रहा है क्या?

वह यह क्यों सोचता है कि सर्वथा पुंसत्व शून्य है? वह यहाँ आ कर वर्षों से संयमपूर्वक रह रहा है। नियमित साधना करता रहा है। औषधि-सेवन करता रहा है। क्या उसके सामर्थ्य का कुछ भी विकास नहीं हुआ? आयुर्वेदाचार्य का कहना है कि अभी रति-सुख उसके लिए यम-पाश मात्र है, किन्तु आयुर्वेदाचार्य को क्या मालूम! वे तो उसकी नाड़ी का परीक्षण मात्र करते हैं। किसी भी कर्म की क्षमता का पता तो कर्म में लीन होने पर ही हो सकता है। जब तक व्यक्ति जल में कूद कर, हाथ-पैर चला कर नहीं देखेगा, कैसे जान पायेगा कि वह तैर सकता है या नहीं। उसका प्रशिक्षक उसे जल में कूदने की अनुमति भी न दे और कहता रहे कि अभी उसमें तैरने की क्षमता विकसित नहीं हुई है, तो क्या उसका कथन उचित माना जायेगा?

पाण्डु, कुन्ती की कुटिया में आया।...कुन्ती वहाँ नहीं थी। वह अवश्य ही ब्राह्मणों को भोजन कराने गयी

होगी।...पाण्डु ने सोचा...उसे तो कोई-न-कोई कार्य लगा ही रहता है। कभी आश्रम का, कभी अपना, कभी बच्चों का। नारी जब माँ बन जाती है, तो शायद उसे पति की आवश्यकता नहीं रहती। बच्चों की तो एक-एक बात की चिन्ता होती है, पति का ध्यान भी नहीं होता, कि वह किन बीहड़ों में भटक रहा है...उसके तन और मन में आग लगी हुई है...कुन्ती के मन में तो शायद कामेच्छा कभी उठी ही नहीं...विवाह के पश्चात जब पहली बार पाण्डु उसके पास गया था, तो भी कुन्ती की ओर से कोई उत्कण्ठा नहीं थी। वह उसे मध्य-मार्ग में छोड़ भागा था, तो भी उसकी प्रतिक्रिया तनिक भी आवेगमयी नहीं थी। उसने कभी किसी व्याज से भी पाण्डु के स्वास्थ्य के विषय में नहीं पूछा था, उसकी अक्षमता पर कभी असन्तोष नहीं जताया...और अब तो उसके पास तीन-तीन पुत्र थे...तीन ही क्यों, नकुल और सहदेव भी सदा अपने भाइयों के साथ रहते थे, इसलिए अधिकांशतः वे भी कुन्ती के ही पास होते थे। माद्री ने जैसे इन जुड़वाँ भाइयों को जन्म मात्र दे कर अपना स्त्रीत्व प्रमाणित कर दिया था।...वह माँ से अधिक स्त्री ही बनी रहना चाहती थी। अनेक बार प्रकारान्तर से पाण्डु के स्वास्थ्य के विषय में भी पूछती रहती थी...क्या वह उसकी प्रतीक्षा नहीं कर रही थी? क्या वह उसे आमन्त्रित नहीं करती रहती? क्या उसने जताया नहीं कि वह रति-सुख की आकांक्षिणी है?

पाण्डु माद्री की कुटिया में आया।

माद्री कुटिया मे अकेली थी। नकुल तथा सहदेव वहाँ नहीं थे।

पाण्डु ने कुटिया के द्वार पर खड़े हो कर देखाः वह शायद स्नान करके आयी थी। केश-सज्जा कर चुकी थी; और अब पुष्प-सज्जा कर रही थी। कैसी आत्मलीन-सी थी। मद्रदेश के किसी गीत की कोई कड़ी गुनगुना रही थी।

पाण्डु उसके निकट आ गया।

उसने चौंक कर, जैसे सायास सलज्ज मुस्कान उसकी ओर उछाली, "क्यों आये आप? क्या आपको मालूम नहीं कि जब कोई स्त्री अपना शृंगार कर रही हो, तो पुरुष को उसके कक्ष में प्रवेश नहीं करना चाहिए?"

"चाहे वह स्त्री उस पुरुष की पत्नी ही हो?"

"हाँ! चाहे पत्नी ही हो।" माद्री के आनन पर मुस्कान थी, जिसमें आपत्ति कम, निमंत्रण अधिक था, "अन्न जब तक पक न जाये, उसे खाना वर्जित है, चाहे वह अन्न आपका अपना ही हो।"

"विधाता ने तुम्हारा शृंगार करके ही पृथ्वी पर भेजा था प्रिये।" पाण्डु हँसा, "तुम्हें शृंगार की क्या आवश्यकता है? पुष्प भी कहीं अपना शृंगार करते हैं?"

माद्री ने कौतुक भरी आँखों से उसे देखाः आज तापस पाण्डु कहाँ है। यह तो कोई रसिक प्रेमी खड़ा है उसके सामने–कामदेव का उपासक!

किसी निर्णय पर पहुँचने से पहले माद्री ने उसकी परीक्षा कर लेनी उचित समझी, "आज की साधना कर ली? ध्यान हो गया?"

"माद्री!" पाण्डु आतुर स्वर में बोला, "बाहर निकल कर देखो, पवन में कितनी मादकता है। सृष्टि कैसा पुष्प-संभार किये बैठी है, जैसे सृष्टि न हो, सम्पूर्ण निमंत्रण हो। ऐसे में साधना की बात मत करो।"

"पवन तो कई बार मादकता के सागर भर-भर लाया। सृष्टि ने प्रतिवर्ष पुष्प-संभार किया," माद्री बोली, "किन्तु मेरे कामदेव ने कभी आँखें खोल कर पुष्पों को निहारा ही नहीं, तो कोई क्या करे!"

"आओ सुमध्यमे! आज हम अपनी भूल सुधारें, प्रकृति का सौन्दर्य निहारें।"

"सत्य कह रहे हैं आर्यपुत्र!"

"हाँ प्रिये!" पाण्डु बोला, "पद्मासन लगा कर वसन्त ऋतु को नहीं निहारा जा सकता। उसके लिए प्रिया का सान्निध्य चाहिए।"

"कुन्ती कहाँ है?"

"वह ब्राह्मणों को भोजन करा रही है।"

"बच्चे?"

"सब उसी के साथ हैं।"

"तो?"

"आओ!" पाण्डु ने माद्री को हाथ पकड़ कर उठाया।

सिहरे रोमों वाले दो शरीर विद्युत-संचरित हो गयेः चार नयनों में मदिरा का ज्वार उठा।

दो किशोर प्रेमियों के समान वे भागते हुए वन में निकल गये।

वन सचमुच बहुत ही सुन्दर हो रहा था। प्रकृति क्या थी, वासकसज्जा नायिका थी। चैत्र मास का वह पार्वत्य प्रदेश। सरोवरों में कमल खिल आये थे...

पाण्डु के मन में आवेग उठा, "यह सब हस्तिनापुर में कहाँ?..."

माद्री विस्मित थीः आज वस्तुतः पाण्डु का वह तपस्वी रूप कहीं खो गया था। वह संयम, वह साधना, वह ध्यान...पाण्डु सब कुछ विस्मृत कर चुका था। कामदेव उसके अंग-अंग में जाग रहे थे–उसे देख-देख कर माद्री का मन स्वतः द्रवित होता जा रहा था, आतप के स्पर्श से हिम-खण्ड विगलित होते जाते हैं...उसे लगा कि जैसे धरती के किसी खण्ड पर जब कोमल दूर्वा ने कामना भरी आँखों से आकाश की ओर ताका था, तो दैवात कहीं से एक बड़ी शिला आकर उस पर जम गयी थी। दूर्वा का अंग-भंग हुआ था। उसका श्वास लेना दूभर हो गया था। शरीर पीला पड़ गया था। बाहर से तो उसके अस्तित्व का कोई आभास भी नहीं मिलता था और उसने स्वयं भी मान लिया था कि अब उसमें प्राण शेष नहीं है...किन्तु, आज अकस्मात ही जैसे वायु के वेग ने शिला को पर्वत की ढाल पर धकेल दिया था।...दूर्वा ने पाया कि उसके अंग चाहे पीले पड़ चुके हैं, किन्तु उसमें जीवन अपनी सम्पूर्ण प्राणवत्ता के साथ विद्यमान है। मद भरे पवन ने उसे छेड़ा है, उसमें संजीवनी का संचार हुआ है, उसकी जिजीविषा जागी है...उसकी सम्पूर्ण कामनाएँ यौवन को प्राप्त हो गयी हैं...

और उस सम्मोहनावस्था में भी माद्री को पाण्डु के शारीरिक स्वास्थ्य का ध्यान हो आया।...कहीं ऐसा न हो कि पाण्डु किसी कठिनाई में पड़ जाये। आयुर्वेदाचार्य ने उसे नारी-संग की अनुमति नहीं दी है...किन्तु माद्री का चिरतृषित मन, विवेक की इस चेतावनी की अवज्ञा करना चाहता था। उसका रोम-रोम जैसे पाण्डु को पुकार रहा था। उसके भीतर चलने वाला आकांक्षा का बवण्डर इतना प्राणवान था कि उसकी गति ने माद्री के श्रवण ऐसी सारी चेतावनियों और सावधानियों के लिए बधिर कर दिये थे। उसकी उन्मत्त वासना, दावाग्नि के समान प्रचण्ड होती जा रही थी।...मन ने कहा,...अनेक बार इच्छाओं की शक्ति ही संकल्प वन जाती है; और संकल्प शरीर और मन में क्षमताएँ उत्पन्न करता है...आयुर्वेदाचार्य की औषधियाँ तो क्षमता को पुष्ट करेंगी। क्षमताओं को जगाना तो संकल्प का ही काम है...संभव है कि उन्हें प्रेरित न किया जाये तो वे क्षमताएँ कभी भी स्पन्दित न हों...

पाण्डु ने माद्री का हाथ पकड़ा; और सरोवर में उतर गया।

किन्तु तैरने की रुचि न पाण्डु में थी, न माद्री में। जल में भीग जाने के कारण, माद्री के वस्त्र, शरीर से चिपक कर जैसे पारदर्शी हो गये थे। और पाण्डु का उन्माद अपनी भयंकर स्थिति में पहुँच गया। उसने माद्री को अपनी भुजाओं में उठाया और जल से बाहर निकल आया।

माद्री कोमल दूर्वा पर लेटी हुई थी।

पाण्डु की उत्तेजना जैसे उसके शरीर के रक्त में घुल गयी थी और सारा रक्त उसके मस्तक की ओर दौड़ रहा था।

माद्री ने सहास पाण्डु की चेष्टाओं को देखा, जैसे उन्हें प्रोत्साहित कर रही हो; किन्तु अगले ही क्षण पाण्डु के चेहरे और आँखों में जैसे यातना और विकार के चिह्न प्रकट हुए।

माद्री का विवेक सचेत हुआ, "आर्यपुत्र!..." किन्तु उसकी चेष्टाएँ और इच्छाएँ जैसे पाण्डु को और भी उत्तेजित करती जा रही थीं।

पाण्डु की आँखें उबलने-उबलने को हुई। उसके वक्ष में असह्य पीड़ा हुई, उसका संकल्प पीड़ा से लड़ रहा था। वह कामान्ध होकर, अपने कष्ट को अनदेखा कर रहा था।...और अगले ही क्षण उसके हाथों ने माद्री को छोड़, अपने हृदय को थाम लिया। वह अपनी पीड़ा में ऐंठा और लुढ़कता हुआ, माद्री से दो पग दूर जा कर शान्त हो गया...

माद्री ने पहले तो आश्चर्य से देखा और दूसरे ही क्षण भयानक आशंका से पीड़ित हो कर उसने हृदय-द्रावक चीत्कार किया। वह झपट कर पाण्डु से लिपट गयी, "आर्यपुत्र!"

पाण्डु धरती पर सर्वथा मौन पड़ा था, निश्चेष्ट! उसके चेहरे पर यातना के भाव जैसे स्थायी हो कर जम गये थे। उसके शरीर में कहीं कोई स्पन्दन नहीं था।...और तब माद्री ने अपने मन की आशंका को समझा: आयुर्वेदाचार्य ऐसे ही तो नहीं कहते थे कि रति-सुख पाण्डु के लिए यम-पाश होगा...

रोती हुई माद्री अपनी कुटिया की ओर भागी।...संकट के इस क्षण में कुछ समझ नहीं आ रहा था,...वह भाग कर कुन्ती के पास पहुँच जाना चाहती थी। वह उसे बताना चाहती थी कि पाण्डु अस्वस्थ हैं। कुन्ती चल कर देखे कि

कहीं कुछ अघटनीय तो नहीं घट गया...

कुलपति के आदेशानुसार चिता तैयार की गयी।

आश्रमवासियों ने पाण्डु के शरीर को उठा कर सम्मानपूर्वक चिता पर रखा।

"पुत्र युधिष्ठिर!" कुलपति ने कहा, "तुम आ कर पिता को अग्नि दो।"

युधिष्ठर आगे बढ़ता, उससे पहले ही कुन्ती बोली, "ठहरो पुत्र!" और वह माद्री की ओर मुड़ी, "माद्री! जो होना था, वह हो गया। उसके लिए मैं क्या कहूँ। तुम्हें शाप दूँ, तुम्हें कोसूँ कि तू मेरे पति को खा गयी, या बहन तुझे आशीष दूँ कि तूने मेरे कामाकांक्षी पति को कुछ तो सुख दिया!" उसने माद्री के कंधे पर हाथ रखा, "अब जीवन के दायित्वों को समझ। इन पुत्रों को सँभाल। इनका पालन-पोषण कर..."

"और तुम दीदी?"

"मैं अपने पति के साथ चितारोहण करने जा रही हूँ।"

"नहीं!" माद्री के स्वर में जैसे चीत्कार था, "यह संभव नहीं है। आर्यपुत्र के साथ मैं चितारोहण करूँगी।"

"मैं ज्येष्ठा हूँ माद्री! यह अधिकार मेरा है।"

"तुम बड़ी उदार हो, उदार हो।" माद्री एकदम दीन हो गयी, "अपने अधिकार का दान मुझे दो। मैं उनकी मृत्यु का कारण हूँ, मुझे प्रायश्चित करने दो।"

"नहीं!" कुन्ती बोली, "कोई तुम्हें हत्या की अपराधिनी नहीं मान रहा। कोई तुम्हें दण्डित नहीं कर रहा। यह विधि का विधान है, इसके लिए तुम दोषी नहीं हो।"

"मैं अभुक्त काम हूँ, मैं तृषित हूँ। मैं अतृप्त वासना ले कर जी नहीं सकूँगी। मुझे उनके साथ, दूसरे लोक तक जाना होगा, ताकि मेरी कामना की पूर्ति हो सके। और दीदी!" माद्री ने जैसे अनुनय की, "मैं जीवित रही तो बहुत संभव है कि मैं जीवन की कठोरताओं का सामना न कर पाऊँ। संभव है, मैं अपनी दुर्बलताओं के आवेग को न झेल पाऊँ। संभव है मैं अपनी ममता को संतुलित न कर पाऊँ; तुम्हारे पुत्रों को अपने पुत्र न मान पाऊँ; कौन्तेयों और माद्रेयों में मेरी भेद-दृष्टि न मिटे।...और दीदी! नकुल और सहदेव भी तुम्हारे ही पुत्र हैं। मैं तो उनकी जननी मात्र हूँ, माता तो तुम्हीं हो। मुझे पूरा विश्वास है, तुम इन पाँचों में कोई भेद नहीं करोगी। तुम इनका पालन-पोषण करो दीदी! मुझे आर्यपुत्र के साथ जाने दो।..."

कुन्ती चुप बैठी, सोचती रही।

"तुम बड़ी हो दीदी! महान हो। उदार हो। अपनी छोटी बहन को, यह छोटा-सा दान न दोगी?" माद्री बोली, "मैं तो स्वार्थिनी हूँ, अपने जन्म से। मुझे स्वार्थ के सिवाय और कुछ नहीं सूझता। मेरा जीवन जीने योग्य नहीं होगा। आर्यपुत्र के साथ मुझे जाने दो दीदी!"

कुन्ती की आँखों में अश्रु आ गये। उसने पहले अपना दाहिना हाथ बढ़ा कर माद्री के सिर पर रखा और फिर जैसे स्वयं को सँभाल नहीं पायी। वह फफक कर रो पड़ी और माद्री से लिपट गयी।

पाण्डु और माद्री की अस्थियों को समेट, उनकी पोटली बाँध, वे लोग आश्रम की ओर चल पड़े। आगे-आगे कुलपति थे। उनके साथ अनेक प्रौढ़ और वृद्ध तपस्वी चल रहे थे। उनके पीछे, सिर झुकाये आठ वर्ष का बालक युधिष्ठिर जैसे घिसट रहा था। आश्रमवासियों की भीड़, उनको चारों ओर से घेरे हुए थी, जैसे आपदाओं से उसकी रक्षा के लिए कवच बन जाना चाहती हो।

उन्होंने आश्रम में प्रवेश किया। अस्थियों की पोटली को वृक्ष की शाखा में टाँग कर, वे आगे बढ़े।

अपनी कुटिया के सामने के खुले क्षेत्र में कुन्ती बैठी थी। वर्ष-भर का सहदेव उसकी गोद में बैठा, अपनी अबोध आँखों में विचित्र प्रश्न लिए, अपने परिवेश की घटनाओं को समझने का प्रयत्न कर रहा था। नकुल यद्यपि कुन्ती की गोद में नहीं था, किन्तु उसके साथ सट कर बैठा हुआ स्वयं को जैसे गोद की-सी सुरक्षा में पा रहा था। भीम और अर्जुन पास खड़े, उदास आँखों से चारों ओर देख रहे थे। आश्रम की प्रायः स्त्रियाँ कुन्ती को घेर कर बैठी थीं।

"कुन्ती! तुमने कुछ सोचा पुत्री?"

कुन्ती अपनी तल्लीनता से बाहर आयी। कुलपति उससे ही पूछ रहे थे।

"किस विषय में आर्य?"

"अपने भविष्य के विषय में: इन बच्चों के भविष्य के विषय में!"

सहसा कुन्ती के सामने जैसे बिजली कौंध गयी: कुलपति के शब्द मानों वज्रों से टकरा कर टूटने की-सी भयंकर ध्वनि लिए हुए थे; उनका अर्थ सूर्य के समान असह्य प्रकाश लिए हुए था...उसके सम्मुख आँखें अंधी हो रही थीं...क्या पूछ रहे हैं कुलपति! क्या पाण्डु के देहान्त के साथ ही कुन्ती का सम्बन्ध इस आश्रम से भी टूट गया? पिता का घर छूटा। पति का राज्य छूटा।...पति की छाया तो थी। राजप्रासाद हो, वन हो, कोई आश्रम हो, कुन्ती को अपने भरण-पोषण, सुरक्षा, सम्मान की रक्षा...किसी बात की चिन्ता नहीं थी। इसीलिए तो पति, पत्नी का सौभाग्य माना जाता है...अब पाण्डु नहीं हैं। कुन्ती असहाय है, और ये छोटे-छोटे पाँच बालक...यदि इस आश्रम से भी सम्बन्ध टूट गया तो....

"इन छोटे-छोटे अबोध बालकों को ले कर कहाँ जाऊँ आर्य कुलपति!" कुन्ती की दीनता मुखर हो उठी, "मै अपने सम्बन्धियों से बहुत दूर आ चुकी हूँ। भौतिक दूरी भी बहुत है, और भावात्मक दूरी भी।...वैसे भी सम्बन्धियों का ही आश्रय ग्रहण करना होता, तो मैं तब ही हस्तिनापुर चली गयी होती, जब महाराज पाण्डु ने तपस्या का संकल्प किया था।"

कुलपति थोड़ी देर तक चुपचाप कुन्ती को देखते रहे, फिर बोले, "इतनी दीन और भयभीत क्यों हो पुत्री! तुम्हारी वाणी में इतनी असहायता क्यों है?"

"अपने इन पाँच अबोध बालकों के साथ मैं असहाय विधवा..."

कुलपति ने वाक्य पूरा नहीं होने दिया, "तुम असहाय नहीं कुन्ती! न तुम्हारे पुत्र अनाथ हैं। यदि सारे संसार में तुम्हारा कोई नहीं है, तो यह आश्रम तुम्हारा है ही। यह तुम्हारा घर है। यहाँ तपस्वियों की पत्नियाँ भी रहती हैं और तपस्विनियाँ भी! वृद्ध संन्यासी भी रहते हैं, और ब्रह्मचारी बालक भी! तुम्हारे ये पुत्र, आश्रम में किसे अपने पुत्रों से प्रिय नहीं हैं; किसके लिए तुम आदरणीय और स्नहेशील आश्रमवासिनी नहीं हो।" वे रुक कर कुछ अधिक शान्त स्वर में बोले, "तुम स्वयं को आश्वस्त कर लो, तो मैं अपनी बात कहूँ।"

"मैं आश्वस्त हुई पूज्य कुलपति!" कुन्ती के चेहरे का विषाद कुछ हल्का हुआ, "यदि आप मुझे और मेरे बच्चों को यहाँ आश्रय देंगे तो हम बिना किसी को कोई कष्ट दिये, अपना जीवन व्यतीत कर लेंगे।"

कुलपति हँस पड़े, "वय की दृष्टि से तो नहीं, हाँ! परिस्थितियों की दृष्टि से तुम्हारे लिए उचित है कि तुम यहीं रह कर तपस्या करो। पर तुम्हारे बालक? इनका भविष्य क्या है?"

"ये भी अन्य ब्रह्मचारियों के समान यहीं रह लेंगे।" कुन्ती का स्वर फिर से आशंकित हो उठा था, "यहाँ अन्य भी तो अनेक बालक हैं।"

"यहाँ अनेक ब्राह्मणकुमार हैं।" कुलपति शान्त स्वर में बोले, "किन्तु महाराज पाण्डु ने इसलिए तो पुत्रों की आकांक्षा नहीं की थी कि वे किसी आश्रम में रह कर आजीवन तपस्या करें। अपने पति की इच्छा को समझने का प्रयत्न

करो, उसका आदर करो।" कुलपति नें पाँचों पाण्डवों को देखा, "इन्हें ऋषि-पुत्रों के समान रहने का कुछ-कुछ अभ्यास हो गया है; किन्तु ये ऋषि-कुमार नहीं हैं। ये क्षत्रिय राजकुमार हैं। इनका भविष्य आश्रमों में नहीं, राजसभाओं और युद्ध-क्षेत्रों में है।" कुलपति रुके, "महाराज पाण्डु जीवन से तृप्त हो कर तपस्या करने नहीं आये थे। वह याचक तपस्वी थे। उनका तप एक याचना था, आग्रह था। वे पुत्र चाहते थे, जो उनके पश्चात हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठें, प्रजा का पालन करें। उन्हें अपने उत्तराधिकारी की आवश्यकता थी। युधिष्ठिर कुरु साम्राज्य का युवराज है कुन्ती! उसे राज्य से वंचित मत करो। अपने पति की इच्छापूर्ति का प्रयत्न करो।"

कुन्ती का मन सुनने से अधिक सोचना चाहता था...इन पर्वतों के नीचे एक भरा-पूरा जीवन है, राज्य है, प्रासाद है, सेनाएँ हैं, सुख-भोग है...किन्तु इन सबके विषय में सोचते ही उसका मन काँपने लगता है...राज्य और राजपरिवार...उनकी मर्यादाएँ, बन्धन और आकांक्षाएँ...कुन्तिभोज का प्रासाद...उस प्रासाद ने उसका पहला पुत्र छीना था...उस प्रासाद की अपनी मर्यादा थी...युधिष्ठिर आठ वर्षों का है, 'वह' आज बारह वर्षों का होगा...राजवंश को उत्तराधिकारी चाहिए था, उसका मूल्य चुकाना पड़ा अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका को...पाण्डु ने भी उत्तराधिकारी के लिए ही दूसरा विवाह किया...और जीवन के सुख-भोग!...सुख का भोग ही तो था, जिसके लिए पाण्डु ने अपने प्राण दिये। यदि पाण्डु स्वयं को इस भोग से विरत कर सका होता, तो क्यों कुन्ती आज यहाँ असहाय विधवा के समान बैठी होती...

कुन्ती जितना सोचती है, उसे जीवन के भोगों से उतनी ही वितृष्णा होती है। ये भोग, ये आशा-आकांक्षाएँ, ये मर्यादाएँ–कहीं ये उससे, उसके पुत्रों को ही न छीन लें। अपने पुत्रों के साथ वह कुटिया में सूखी रोटी खा कर भी सन्तुष्ट रह लेगी। क्या करना है कुछ और पा कर...और किसी की भी इच्छा-आकांक्षा पूरी करके...

"संसार में सारी इच्छाएँ किसकी पूरी हुई हैं आर्य कुलपति!" कुन्ती के चेहेरे पर जैसे पूर्ण वैराग्य था, "इच्छाओं के पीछे ही महाराज ने अपने प्राण दे दिये। अभुक्त काम की पूर्ति की इच्छा को ले कर ही माद्री उनके साथ सती हुई।...अब मेरी इच्छा यही है कि मैं अपने पुत्रों के साथ आश्रम का सात्विक जीवन ही व्यतीत करूँ।"

"पुत्र तुम्हारे हैं, जैसे चाहो उनका विकास करो।" कुलपति बोले, "किन्तु सोच लो, कहीं यह तुम्हारा श्मशान वैराग्य तो नहीं। इस मनःस्थिति में जीवन के दूरगामी निर्णय मत करो।... और फिर पुत्री!" कुलपति का स्वर कुछ और मंद हो गया, "अपने जीवन की प्रतिक्रिया स्वरूप उनका जीवन बाधित मत करो। अपने जीवन के निष्कर्ष उन पर आरोपित मत करो। बालकों के लिए भविष्य के द्वार कम-से-कम उस समय तक उन्मुक्त रहने दो, जब तक वे स्वयं सोचने में समर्थं नहीं हो जाते। तब वे स्वयं निश्चय करेंगे कि उन्हें कैसा जीवन चाहिए। वे क्या बनना चाहते हैं। उनकी प्रकृति और आवश्यकता को समझो। उससे पूर्व ही कोई निर्णय मत करो।"

"तो मैं क्या करूँ गुरुवर?"

"इन्हें संसार के निकट ले जाओ। भरा-पूरा जीवन दो। इन्होंने तपस्या और साधना, त्याग और आकांक्षा के जीवन की एक झलक यहाँ देखी है। अब इन्हें संसार का अर्जन, उपलब्धि, भोग और आकांक्षा का जीवन भी देखने दो। तब वे स्वयं निर्णय करेंगे कि उन्हें कैसा जीवन चाहिए...।"

"इन्हें कैसा जीवन चाहिए।" कुन्ती जैसे अपने-आपसे कह रही थी, "इन्हें शान्ति और संतोष का जीवन चाहिए। कैसे सुखी हैं ये यहाँ: न स्पर्धा है न ईर्ष्या। न भोग की अंधी दौड़, न छीना-झपटी। न आडम्बर, न प्रदर्शन।" उसने कुलपति की ओर देखा, "और आप जहाँ ले जाने के लिए कह रहे हैं..."

"अपने इन पुत्रों को देखो।" कुलपति ने पाँचों पाण्डवों की ओर, अपने हाथ से संकेत किया, "ये, जिन्हें राजसी वैभव में पलने का पूरा अधिकार है, यहाँ वन में वंचितों का-सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जिन्हें राजप्रासादों के प्रांगण में, युद्धों में तपे हुए शस्त्र-व्यवसायियों से युद्ध और शस्त्र-परिचालन की शिक्षा मिलनी चाहिए, यहाँ आश्रम में विशेष क्या सीख पायेंगे। यहाँ युद्ध का क्या प्रयोजन, और वहाँ वह, मुख्य कर्तव्य और दायित्व होगा।"

"तो इसमें क्या हानि है कुलपति!" कुन्ती बोली, "वे युद्धविहीन सात्विक जीवन ही जी लें। मेरी आँखों के सामने बने रहें। खाते-खेलते रहें–इससे अधिक मुझे कुछ नहीं चाहिए।"

"तुम्हें कुछ नहीं चाहिए, क्योंकि तुम अपने जीवन की घटनाओं की बन्दिनी हो।" कुलपति ने कहा, "किन्तु इन बालकों को जीवन से बहुत कुछ चाहिए। जीवन को इन बालकों से बहुत कुछ चाहिए। अपनी अल्पज्ञता अथवा अदूरदर्शिता में अपने पुत्रों का विकास अवरुद्ध मत करो। यह पाप है।"

"मैं तो उनकी ही सुरक्षा और सुख-शान्ति चाहती हूँ।"

"इसे तुम्हारी भीरुता कहूँ, या ममत्व-जनित स्वकेन्द्रित सीमित दृष्टि!" कुलपति का स्वर कुछ ऊँचा हुआ, "महारानी! प्रकृति ने प्रत्येक व्यक्ति में संजीवनी की एक सुनिश्चित मात्रा भरी है। जीवन का अतिभोग पाप है, अतः असफल होता है। जीवन का अभोग भी पाप है, अतः विकार उत्पन्न करता है। संजीवनी का न अतिव्यय करो, न अल्प व्यय, न ही अपव्यय!" कुलपति का स्वर प्रायः आदेशात्मक हो गया, "उठो! व्यर्थ के संशय और मोह को त्याग दो। महाराज पाण्डु अपनी असमर्थता के कारण तपस्या करने आये थे; ये बालक तपस्या करने नहीं आये हैं। ये संजीवनी और जिजीविषा से भरे-पूरे हैं। ये अक्षम नहीं हैं। इन्हें अक्षम लोगों का जीवन जीने के लिए बाध्य मत करो। यह पाप है।" वे क्षण-भर रुके और बोले, "महाराज पाण्डु और महारानी माद्री की अस्थियाँ भी हस्तिनापुर जायेंगी। उन्हें हस्तिनापुर पहुँचना ही चाहिए। वहाँ राजसी मर्यादा से उनका अन्तिम संस्कार होगा।"

"और वहाँ तक ही यात्रा!" कुन्ती बोली, "इन पाँच बालकों के साथ हस्तिनापुर तक की यात्रा।...अब हमारे साथ न परिचारक हैं, न रथ, न अश्व!"

"कोई चिन्ता नहीं! ऋषि और ऋषिपुत्र पदाति ही यात्रा करते हैं। हम तुम्हारे साथ चलेंगे। तुम्हें हस्तिनापुर तक पहुँचाने का दायित्व हमारा है।" कुलपति का स्वर कुछ धीमा हुआ, "तुम लोग हमारे पास महाराज पाण्डु की थाती हो। तुम्हें तुम्हारे परिजनों और सम्बन्धियों तक पहुँचाना हमारा धर्म है।...और...।" वे रुके, "राजा और रानी की अस्थियाँ राजधानी न पहुँचें तो, राजा का संस्कार नहीं होगा: मृत राजा का संस्कार नहीं होगा, तो नये राजा का राज्याभिषेक कैसे होगा!...उठो पुत्री! यात्रा की तैयारी करो। हम कल प्रातः हस्तिनापुर के लिए चल पड़ेंगे।"

हस्तिनापुर नगर के 'वर्धमान' नामक द्वार पर आ कर कुलपति रुक गये।

द्वारपाल इस प्रकार के सार्थ को कदाचित पहली बार ही देख रहे थे। इतने वृद्ध ऋषि-मुनि, युवा तापस, एक तीस-बत्तीस वर्ष की युवती, जो न वनवासिनी लगती थी, न नागरी! पाँच छोटे-छोटे बालक...

"महाराज को सूचना दो कि शतशृंग पर्वत से ऋषि-समुदाय आया है," कुलपति ने कहा, "हम उन्हें महारानी कुन्ती, महाराज पाण्डु के पाँच देव-प्रदत्त पुत्र, तथा महाराज पाण्डु और महारानी माद्री की अस्थियाँ सौंपने आये हैं।"

द्वारपाल किंकर्तव्यविमूढ़ खड़ा रह गयाः उसे स्थिति को समझने में कुछ क्षण लगे। और जब वह समझा, तो जैसे आकाश से गिर पड़ा। तत्काल अनेक अश्वारोही राजप्रासादों की ओर दौड़ पड़े।

कुन्ती, आम के एक विशाल वृक्ष के नीचे बैठ गयी। वह थकी हुई थी; और शायद उससे अधिक उसके बच्चे थक गये थे। नकुल और सहदेव तो एक डग भी नहीं चले थे; किन्तु निरन्तर यात्रा ने उन्हें गोद में भी थका दिया था। युधिष्ठिर सारा रास्ता चलता आया था।...भीम को तो चलना ही था। उसके उस भारी-भरकम शरीर को कौन उठाता।...अर्जुन कुछ चला था–कुछ युवा तपस्वियों की गोद और कंधों पर यात्रा कर रहा था।

कुन्ती ने छाया में वस्त्र बिछा कर, नकुल और सहदेव को लेटा लिया। अर्जुन उसके पास बैठ गया। भीम अब भी थका नहीं लग रहा था। वह बड़ी उत्सुकता से इधर-उधर देख रहा था। कभी द्वारपालों और प्रहरियों के शस्त्रों को देखता, कभी गंगा की धारा को। उसने इतनी विशाल नदी का अब तक नहीं देखी थी।...युधिष्ठिर एक ओर बैठ गया था। वह थका हुआ कम था, चिन्तित अधिक था। कुन्ती उसे देखती है, तो उसके मन में करुणा उमड़ आती है...इस आठ वर्ष के बालक को पिता की मृत्यु ने प्रौढ़ बना दिया था। गम्भीर तो वह अपनी प्रकृति से था ही। अब इस दुर्घटना से जैसे वह स्वयं को अपनी माता और भाइयों का अभिभावक समझने लगा था। मार्ग में उसने कितनी बार कुन्ती से पूछा था, "माँ! तुम थक तो नहीं गयीं?" कितनी बार उसने नकुल अथवा सहदेव को गोद में उठा कर चलने का प्रस्ताव रखा था। कितनी बार उसने अर्जुन को सान्त्वना दी थी और भीम को मार्ग में चलते हुए वृक्षों के पत्ते अथवा पुष्ट नष्ट करने, पत्थरों को पैरों से लुढ़काने, किसी पशु-पक्षी को कंकड़ी दे मारने से मना किया था। "नृशंस मत बनो।" उसने कहा था, "वे भी तुम्हारे ही समान जीव हैं। उनमें प्राण हैं। उन्हें भी कष्ट का अनुभव होता है।"

कुलपति साथ थे, इतने तपस्वी थे। वे अपना दायित्व समझते थे और उसी दायित्व से बँधे, इतनी लम्बी और कठिन यात्रा कर रहे थे।...फिर भी युधिष्ठिर बार-बार अपने दायित्व-बोध से इस प्रकार का व्यवहार कर उठता था। मार्ग भर वह अपनी माँ और भाइयों का ध्यान रखता आया था। उसका वश चलता तो शायद वह उन ऋषियों का दायित्व भी अपने कंधों पर उठा लेता।

यह हस्तिनापुर था...कुन्ती सोच रही थी...वह यहाँ की महारानी थी! वह जब पहली बार आयी थी, तो कैसे तोरण सजे थे। सैनिकों ने कैसी सज-धज के साथ स्वागत किया था। कुल-ललनाएँ आरती उतारने आयी थीं...और आज वह एक असहाय विधवा के रूप में, अपने पुत्रों के साथ द्वार के बाहर बैठी है। वह नहीं जानती कि उसका कोई अपना यहाँ था या नहीं। उसका कोई अधिकार, इस नगर के शासन-तन्त्र...

तपस्वियों ने झाड़-पोंछ कर स्थान स्वच्छ कर लिया था। वृक्षों के नीचे बैठने के लिए अनेक स्थानों पर मृग-चर्म और कुशासन बिछा दिये थे। पात्रों में गंगाजल ला कर रख दिया था, और फलों के संग्रह के लिए दत्तचित्त हो गये थे।

यहाँ खुले आकाश के नीचे टिकने वाला यह कोई पहला दल नहीं था ...कुन्ती सोच रही थी...अनेक बार यहाँ हस्तिनापुर की सेनाओं ने डेरे डाले होंगे। कई बार वहाँ संन्यासियों के समुदाय टिके होंगे। समय-समय पर याचकों की भीड़ लगी होगी। नगर में प्रवेश की अनुमति न मिलने के कारण, उन्हें महीनों यहाँ टिकना पड़ा होगा।...जल के लिए पास ही गंगा बह रही थी। गंगा के तट पर अनेक घाट बने हुए थे। घनी छाया वाले अनेक बड़े-बड़े फलदायक वृक्ष थे।...

सहसा कुन्ती सजग हुईः क्या सोच रही है वह? क्यों सोच रही है? क्या कहीं उसके मन में आशंका है कि उन्हें हस्तिनापुर में प्रवेश की अनुमति नहीं मिलेगी; और उन्हें यहीं द्वार के बाहर, गंगा के तट पर, वृक्षों की छाया में टिकना

पड़ेगा...नहीं ऐसा संभव नहीं है। वह महाराज पाण्डु की पत्नी है–महारानी कुन्ती। युधिष्ठिर हस्तिनापुर का युवराज है, भावी सम्राट। उनके अधिकार को कौन चुनौती दे सकता है...

और वह स्वयं ही समझ नहीं पा रही थी कि उसके भीतर छुपे, कुन्ती के अनेक रूपों में से वास्तविक कुन्ती कौन-सी है...

तभी एक रथ नगर-द्वार से बाहर निकला। उस पर राजकुल की ध्वजा फहरा रही थी।

रथ राजमार्ग से नीचे उतर आया; और आ कर उनके पड़ाव के पास थम गया।

कुन्ती बहुत ध्यान से देख रही थीः रथ में से उतरने वाला व्यक्ति विदुर था।...

कुन्ती को लगा, सूचना मिलने के पश्चात एक क्षण भी नहीं रुका होगा विदुर। वह भागता चला आया होगा। विदुर के शरीर पर एक भी आभूषण नहीं था। एक साधारण-सी धोती बाँध रखी थी उसने। उसके आनन पर आत्मतोष का अभाव नहीं था, यद्यपि इस समय भाई की मृत्यु के समाचार ने उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर विषाद पोत रखा था।

"भाभी!" वह आ कर कुन्ती के पास घुटनों के बल बैठ गया।

कुन्ती के कण्ठ में एक सिसकी आ फँसी, "तुम्हारे भतीजों को ले कर राज-परिवार के द्वार पर आयी हूँ।..."

विदुर कुछ सन्तुलित हुआ। उसने एक-एक कर पाँचों को देखाः सब आश्रमवासी ब्रह्मचारियों के वेश में थे। राजकुमार होने का एक भी चिह्न उनके शरीर पर नहीं था। इस वय में, पिता के देहान्त से त्रस्त पाँच बालक...

"अपने काका को प्रणाम करो।" कुन्ती ने आदेश दिया।

युधिष्ठिर, भीम यहाँ तक कि छोटे-से अर्जुन ने भी उठ कर, बड़ी श्रद्धा से विदुर के चरण छुए। जैसे ही उनमें से कोई एक, उसके चरण छूता और वह उन्हें आशीर्वाद देता, उसकी कल्पना में एक धृतराष्ट्र-पुत्र उभरता–सुयोधन, सुशासन...कोई भी। वे भी कभी-कभी पिता के कहने पर विदुर के चरण छूते थे। पर उनके हाथ ही चरणों का स्पर्श करते थे, उनका मन कभी तनिक भी नहीं झुका। उनका व्यवहार पूर्णतः स्पष्ट कर देता था कि उनका शरीर जितना झुक रहा है, उनका मन ठीक उतना ही तन रहा है। कितना औद्धत्य था उनकी मुखाकृतियों परः बड़े बाप के बड़े बेटों का वह दर्प!...उनकी प्रत्येक भंगिमा कहती थी कि वे बालक नहीं राजकुमार हैं...और ये पाण्डवः सरल, विनयी, शालीन...तापसों के आश्रमों की छाया...

"भाभी! भैया सचमुच बहुत जल्दी चले गये।...अभी चालीस वर्ष के भी नहीं हुए थे। हस्तिनापुर की छल-छन्द की राजनीति में, इन बच्चों के पिता के रूप में समर्थ संरक्षक की आवश्यकता...।"

कुन्ती ने चौंक कर विदुर को देखा, "क्या बात है विदुर! सच-सच बताना। क्या हम हस्तिनापुर में सुरक्षित नहीं हैं?"

विदुर सँभल गया। उसे कुछ और अधिक सोच-विचार कर मुख से शब्द निकालने चाहिए। कुन्ती पहले ही बहुत दुखी है। उसे सांत्वना की आवश्यकता है...आशंकाओं से तो वह और भी उद्विग्न हो उठेगी...

"पितृव्य भीष्म अभी जीवित हैं और पर्याप्त समर्थ हैं। कुरुकुल की रक्षा वह ही कर रहे हैं भाभी!" विदुर बोला, "जो मेरे लिए संभव है, वह मैं भी करूँगा ही।"

तभी भीष्म का रथ रुका और वे उसमें से उतरे।

पिछले दस वर्षों में, उनमें बहुत अन्तर नहीं आया था। फिर भी इस समय कुछ थके-से लग रहे थे। उन्होंने हाथ का सहारा दे कर, माता सत्यवती को रथ से उतारा। वह अत्यन्त वृद्धा लग रही थीं; और थके होने का नहीं, टूटे होने का आभास दे रही थीं; जैसे यहाँ तक आते-आते भी बहुत रो चुकी हों और जीवन का सत्त्व निचुड़ कर उनके शरीर से निकल गया हो।

सत्यवती जितने वेग से भाग सकती थी, उतने वेग से सीधी कुन्ती की ओर भागी।

कुन्ती का मन भर आया। उसके अपने घाव तो छिले ही, इस वृद्धा राजमाता के लिए भी उसके मन में करुणा जागी।

"विधाता ने यह क्या कर दिया पुत्री?" सत्यवती फफक-फफक कर रो पड़ी, "उससे मेरा कोई सुख नहीं देखा जाता। जो मेरा सहारा बनता है, वही चला जाता है। हस्तिनापुर का यह सिंहासन बड़ा हत्यारा है रे! इस पर जो सम्राट बैठता है, वही यमलोक चला जाता है।"

कुन्ती के गले से लग, सत्यवती रोती भी गयी और बोलती भी गयी। उसके सारे उद्गारों में कुन्ती का दुख कहीं नहीं थाः वह सारा सत्यवती का अपना ही दुख था। उसका पौत्र नहीं रहा था, हस्तिनापुर का सम्राट नहीं रहा था; कुरुकुल की क्षति हुई थी...किन्तु कुन्ती का पति नहीं रहा था, उसकी भी कोई क्षति हुई थी, इसके लिए सत्यवती की उक्तियों में एक भी शब्द नहीं था।....सत्यवती रो-रो कर निढाल होती जा रही थी...कभी रोने लगती, कभी चिल्लाने लगती, कभी विधाता से लड़ने लगती, और कभी अपना वक्ष और माथा पीटने लगती...

कुन्ती अपना दुख भूल, माता सत्यवती के इस विक्षिप्त क्षोभ और दुख को शान्त करने का प्रयत्न करती रही...

भीष्म, रथ से उतर कर पहले कुलपति के पास गये। उनसे वार्तालाप करते रहे। कुलपति के शब्द, कुन्ती के कानों तक नहीं पहुँच रहे थे, किन्तु उनके संकेतों से वह समझ रही थी कि वे अस्थियों, कुन्ती तथा बालकों के विषय में सूचनाएँ दे रहे हैं।

वहाँ से उठ कर भीष्म कुन्ती के पास आये।

कुन्ती ने उनके चरण स्पर्श किये तो फफक पड़ी।

भीष्म ने अपना संरक्षण का हाथ उसके सिर पर रखा। कुछ देर मौन रहे और फिर बोले, "मैं सचमुच बहुत अभागा हूँ पुत्रि! पिता का देहान्त हुआ था, तो मैंने मान लिया था कि अपनी आयु भोग कर सबको ही जाना है।...किन्तु उसके पश्चात चित्रांगद और विचित्रवीर्य गये, जो मुझसे बहुत छोटे थे।...और अब पाण्डु!...कभी-कभी सोचता हूँ विधाता ने मुझे इतनी आयु क्यों दी–इसलिए कि मैं जीवित रहूँ और यह कष्ट सहूँ।...जाने क्या लीला है उसकी।..." उन्होंने स्वयं को सँभाला, "तुमने अच्छा किया पुत्री! जो हस्तिनापुर लौट आयीं। अपने घर जैसा सुख कहीं नहीं होता।..." वे कुछ सोच कर रुक गये। फिर बोले तो उनका स्वर पर्याप्त सधाव पा चुका था, "मैं आते हुए धृतराष्ट्र को भी सूचना भिजवा आया हूँ। वह भी आ रहा होगा। महर्षि वेदव्यास को भी सूचना भिजवायी है। शोक के ऐसे अवसरों पर, माता सत्यवती को वह ही सँभाल पाते हैं।...कुलपति से भी चर्चा हुई है। वे लोग विश्राम कर, वापस शतशृंग लौट जायेंगे। पाण्डु और माद्री की अस्थियों के अन्तिम संस्कार के पश्चात हम शोक के बारह दिन, यहीं, गंगा के तट पर ही व्यतीत करेंगे। शोक-काल की समाप्ति पर ही हम हस्तिनापुर में प्रवेश करेंगे।" किसी और के रथ के आने के शब्द पर, उन्होंने दृष्टि उठायी, "लो धृतराष्ट्र और गान्धारी भी आ गये हैं। ये साथ में सुयोधन और सुशासन को क्यों ले आये...।" और भीष्म ने पलट कर पाण्डवों की ओर देखा, "आओ बच्चो! मेरे पास।" युधिष्ठिर को पहले उन्होंने अपनी बाँहों में भरा। उसके केशों पर हाथ फेरा, "तुम युधिष्ठिर हो?"

सहमे-से युधिष्ठिर ने सिर हिला दिया।

"मैं तुम्हारा पितामह हूँ।" भीष्म ने उसे दोनों भुजाओं से थाम कर, उसकी आँखों में देखा, "तुम हस्तिनापुर के युवराज हो। बड़े हो कर सम्राट बनोगे। तब यह मत भूल जाना कि सम्राट से उसका पितामह बड़ा होता है।" और सहसा उनका हास्य विलीन हो गया, "किन्तु पुत्र! जैसे-जैसे तुम समर्थ होते जाओगे, पितामह असमर्थ होते जायेंगे।"

उन्होंने भीम को अपनी भुजाओं में लिया, "तुम तो मल्ल युद्ध में प्रवीण होगे भीम! गदा-युद्ध भी सीखना। तुम्हारा कोई भाई तुम्हारे समान बलवान नहीं है।"

अर्जुन अभी उनके आलिंगन में ही था कि धृतराष्ट्र, गान्धारी, सुयोधन और सुशासन आ गये।

कुन्ती ने देखाः सुयोधन और सुशासन सचमुच राजकुमारों की वेश-भूषा में थे। इस शोक के अवसर पर भी धृतराष्ट्र और गान्धारी राजसी संभार के साथ आये थे।

धृतराष्ट्र बहुत दीन-सा हो कर रो रहा था। विलाप की-सी शैली में उसने कितनी ही बार कहा, "मेरे भाई! यम को प्राण ही चाहिए थे, तो मेरे प्राण ले जाता। तुम क्यों गये।..."

कुन्ती न फफक कर रो पाय, न कुछ कह पायी। स्तब्ध-सी मौन बैठी रही। सहसा भीष्म बोले, "सुयोधन! अपने भाइयों से गले मिलो।"

सुयोधन ने विरोध के-से भाव से पाण्डवों की ओर देखाः उसके मन की वितृष्णा उसके मन में फूटी, "इनसे?"

"क्यों!" भीष्म बोले, "ये तुम्हारे भाई हैं।"

"इतने गंदे!"

"चुप!" गान्धारी ने उसे डाँटा, "वे यात्रा करके आये हैं।"

भीष्म किसी विवाद में नहीं पड़े। उन्होंने सुयोधन को पकड़ा और युधिष्ठिर को बुलाया। दोनों को बलात ठेल कर गले मिलाया, "ये तुम्हारे भाई हैं," वे बोले, "भाई जैसा भी हो, जिस स्थिति में हो, उससे प्रेम करना चाहिए। तुम

लोगों को आजीवन स्नेहपूर्वक एक साथ रहना है।"

"पितामह! ये लोग हस्तिनापुर में ही रहेंगे क्या?" सुयोधन ने पूछा।

भीष्म ने उसे गहरी दृष्टि से देखा, "हस्तिनापुर इनका घर है। लोग भ्रमण अथवा प्रवास से लौट कर, अपने घर में ही रहते हैं।"

"पर इनके लिए प्रासाद कहाँ है?" उसने पूछा।

"नहीं है तो बन जायेगा।" भीष्म बोले।

"नया क्यों बनेगा!" गान्धारी के मुख से अनायास निकल गया, किन्तु तत्काल ही उसने अपनी भूल को सुधारा, "जहाँ हम रहते हैं, वहीं वे भी रह लेंगे। एक ही परिवार के लिए, दो प्रासादों की आवश्यकता नहीं होती।" और उसने पलट कर सुयोधन को डाँटा, "तू चुप रह। बड़ों की बात में तू अपनी टाँग मत अड़ा।"

कुन्ती के मन में जैसे प्रचण्ड झंझावात उठाः कोई यह नहीं कह रहा कि हस्तिनापुर का स्वामी घर लौट आया है। वह महाराज पाण्डु के प्रासाद में रहेगा; और उनके सिंहासन पर बैठेगा।...ऐसा कहाँ लग रहा है कि वे लोग अपने घर लौटे हैं। वे तो जैसे किसी विपत्ति में पड़ कर, अपने किसी धनी सम्बन्धी के द्वार पर आ पड़े हैं, उनके आश्रितों के समान...। निश्चित रूप से हस्तिनापुर में बहुत कुछ बदल गया है...वे जिन्हें अपना घर देख-भाल के लिए सौंप कर, प्रवास के लिए गये थे, वे लोग न केवल उनके घर के स्वामी बन बैठे हैं, बल्कि यह भी भूल गये हैं, कि यह सम्पत्ति किसकी है?...

भीष्म को धृतराष्ट्र बहुत चिन्तित लगा। किस बात से चिन्तित है वह– पाण्डु के निधन से या कुन्ती और पाण्डवों के हस्तिनापुर लौट आने से?...

शोक के बारह दिनों तक नगर के बाहर निवास कर, तेरहवें दिन राजपरिवार और प्रमुख नागरिकों ने नगर में प्रवेश किया।

वेदव्यास विदा लेने के लिए माता सत्यवती के पास गये। इस बार के हस्तिनापुर आगमन में वे पहली बार माता से एकान्त में मिल रहे थे।

"यह सब क्या है पुत्र?" सत्यवती की आँखों से अश्रु बह रहे थे, और स्वर जैसे कण्ठ में फँस रहा था, "मेरे ही साथ ऐसा क्यों होता है कि जिस पर मैं अपने जीवन की आशाएँ टिकाती हूँ, वही आधार शून्य में विलीन हो जाता है।"

"आशाएँ नहीं माता!" व्यास बोले, "आकांक्षाएँ कहो।"

"आकांक्षा ही सही! क्या दोष है आकांक्षाओं में? आकांक्षा, पाप है क्या?"

"नहीं माँ! आकांक्षा पाप नहीं हैः आकांक्षा दुख और सुख का संगम है, अशान्ति का पर्याय है।" व्यास का स्वर गम्भीर था, "आकांक्षा और शान्ति" दोनों की कामना एक साथ नहीं की जा सकती। प्रकृति के नियम इसकी अनुमति नहीं देते।"

"तो क्या व्यक्ति आकांक्षा न करे?"

"करे। किन्तु तब न सुख से डरे, न दुख से। शान्ति की कामना न करे। शान्ति न सुख में है, न दुख में। शान्ति तो इन दोनों से निरपेक्ष होने में है।"

"मेरी समझ में यह सब कुछ नहीं आता।" सत्यवती अपने लड़खड़ाते स्वर में बोली, "मैंने तो एक साधारण मनुष्य के समान अपने सुख के लिए, सन्तान की कामना की थी; और तब मैं अपनी सन्तान के सुख के लिए, उनके जीवन और समृद्धि की कामना करती रही हूँ। क्या तुम्हारी प्रकृति की दृष्टि में यह पाप है जो वह बार-बार मेरी सन्तान छीन लेती है?"

"नहीं! यह पाप नहीं है," व्यास बोले, "किन्तु सुख का अस्तित्व ही दुख से निरपेक्ष नहीं है। दुख नहीं चाहती हो, तो सुख भी मत चाहो।"

पर सत्यवती जैसे व्यास की उक्तियों का कोई प्रभाव ही ग्रहण नहीं कर रही थी। वह बिलखती जा रही थी, "चित्रांगद गया, विचित्रचीर्य गया, अब पाण्डु गया। माँ होकर मैंने पुत्रों की मृत्यु देखी, पौत्र की मृत्यु देखी...और क्या-क्या देखना बदा है, मेरे भाग्य में। इससे तो अच्छा था कि विधाता मुझे ही उठा ले...।"

"माँ!" व्यास ने आगे बढ़कर सत्यवती के कंधे पर सान्त्वना का हाथ रखा, "तुम अपनी पिछली कामनाओं से बँधी दुख पा रही हो; और आज एक और कामना कर रही हो। यह बद्धावस्था है, वह बद्ध जीव कभी सुखी नहीं होता। स्वयं को इन बन्धनों से मुक्त करो। तुम्हारी अवस्था अब बँधने की नहीं, मुक्ति के प्रयास की है माँ।"

सहसा सत्यवती के अश्रु सूख गये। उसका पुराना तेज जागा, "तेरे मन में कभी कोई कामना जन्म नहीं लेती? तू क्या कभी दुखी नहीं होता, तू क्या पूर्णतः मुक्त हो चुका है?...बोल! यदि ऐसा है, तो मैं विधाता को छोड़ तेरी शरण में आ जाऊँ। तुझ पर निर्भर रहूँ। तेरे चरणों में पड़ी रहूँ।..."

व्यास ने अपनी आँखें मूँद लीं, जैसे सायास स्वयं को शान्त करने का प्रयत्न कर रहे हों, या सत्यवती के आवेश की लहर को अपने ऊपर से बह जाने की अवधि तक स्वयं को सायास शान्त रखना चाहते हों।

"मेरी शरण में मत आओ माँ! मेरे आश्रम में आओ।" व्यास बोले, "इस रजोगुणी वातावरण से बाहर निकलो। रजोगुण का बोझ सहने, उसके सुख-दुख के झकोरे सहने का सामर्थ्य अब न तुम्हारे मन में है, न शरीर में।...आओ! मेरे साथ रहो। मेरी जीवन-पद्धति को देखो कि मुझमें कामना है या नहीं! और है, तो उसका स्वरूप क्या है।...माँ! प्रकृति चाहती है कि मनुष्य पहले अपने मन और शरीर का विकास करे, फिर जीवन के सुख-भोग की कामना करे, उसका अर्जन करे, उसका भोग करे...और इससे पूर्व कि प्रकृति उसे दी गई भोग की क्षमताएँ उससे छीनकर उसे अक्षम बना दे, व्यक्ति स्वयं ही भोग की कामना त्यागने लगे। ताकि संसार त्यागते हुए, सांसारिक सुखों में उसका मोह न रह जाये। तुम्हारा समय अब जीवन से निरस्त होने का है माँ! अपने मन को संसार से अनिर्लिप्त करो। मेरे साथ मेरे आश्रम में चलो।"

"कुरुकुल की व्यवस्था किये बिना?" सत्यवती बोली, "तू समझता है कि मैं मरनेवाली हूँ। मैं तुझे बता रही हूँ कि मुझे कुछ नहीं होने जा रहा।"

व्यास चकित-से खड़े अपनी माँ को देख रहे थेः उनकी माँ कैसी स्त्री है। किसी और ने इस प्रकार अपने पति, पुत्रों और पौत्र की मृत्यु का दुख झेला होता, तो संसार के सारे सुख-वैभव से उसे वितृष्णा हो गयी होती। और यह है कि अभी कुरुकुल की व्यवस्था की बात सोच रही है। इसके रजोगुण में तनिक भी ह्नास नहीं हुआ है। प्रत्येक सम्राट की मृत्यु से जैसे राजसत्ता इसके हाथों में लौट आती है, इसके रजोगुण में वृद्धि होती है और इसे फिर से राजमद चढ़ जाता है...

"जब काल किसी का आह्वान करता है, तो व्यवस्था का समय नहीं देता। जो पीछे रह जाते हैं, वे व्यवस्था करते रहते हैं।" व्यास का स्वर शान्त किन्तु अत्यन्त क्रूर था।

"तू काल है क्या?" सत्यवती जैसे उसे नोच खाना चाहती थी।

"नहीं माँ! मैं काल नहीं हूँ। मैं तो काल-सत्य का शब्द हूँ। काल, सत्य का पर्याय है। शब्द भी वही है। इसलिए मैं सत्य के साथ-साथ शब्द का भी साधक हूँ।" व्यास बोले, "अपनी मुट्ठियाँ खोल दो और जीवन को उसमें से रीत जाने दो। अपने संवाद तुम बोल चुकीं, अब मंच से हट जाओ। आगंतुकों को स्थान दो। हस्तिनापुर में बने रहना, तुम्हारे लिए अब सुखद होगा क्या? धृतराष्ट्र पर भी तुम्हारा कोई विशेष नियन्त्रण नहीं है, उसके पुत्र तुम्हारे नियन्त्रण में रहेंगे क्या?...नहीं रहेंगे। परिवार में तुम अपनी सत्ता को छिन्न-भिन्न होते देखोगी। नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयत्न करोगी; और इस प्रयत्न में अपने नियन्त्रण, अधिकार और सत्ता के चीथड़े होते देखोगी; और दिन-प्रतिदिन और अधिक पीड़ा पाओगी। मेरे आश्रम में चलो माँ। तुम यहाँ रहीं तो विक्षिप्त हो जाओगी।"

सत्यवती ने अत्यन्त कठोर दृष्टि से व्यास को देखा, "तू समझता है कि मैं उन्मत्त हो रही हूँ। ऐसी कोमल होती तो लोगों ने कब से मुझे नोच खाया होता।"

"तो भी चलो माँ!" व्यास बोले, "मैं भी तो तुम्हारा पुत्र हूँ। कभी मेरे पास भी रहो।"

"और हस्तिनापुर?"

"भीष्म हैं न!"

"भीष्म बहुत धूर्त हैं।" सत्यवती की आँखों में सचमुच की विक्षिप्तता चमकी, "वह जानता है कि हस्तिनापुर का राजसिंहासन हत्यारा है। इसलिए वह स्वयं उस पर नहीं बैठता। जिसे अपना शत्रु समझता है, उसे उस पर बैठा देता है; और वह काल-कवलित हो जाता है...।"

माँ की स्थिति देखकर व्यास विचलित हो उठे, "मेरे साथ चलो माँ। मैं तुम्हें कुछ मन्त्र दूँगा। उनसे अपना मन स्थिर कर, साधना करना कि हस्तिनापुर का सिंहासन हत्यारा न रहे।"

"सच कहता है पुत्र तू?"

"हाँ माँ!"

"और अम्बिका तथा अम्बालिका? उन्हें छोड़ दूँ? वे मेरी पुत्र-वधुएँ हैं। मेरे जाने के पश्चात् कोई उनका अपहरण कर ले तो?"

"उनसे पूछ लो। वे हस्तिनापुर में रहना चाहें तो रहें; मैं यहीं उनकी सुरक्षा का प्रबन्ध कर दूँगा। किन्तु उनके लिए भी श्रेयस्कर यही है कि वे भी हमारे साथ चलें। आश्रम कहीं अधिक सुरक्षित है।"

तभी कक्ष में भीष्म ने प्रवेश किया। सत्यवती उसकी ओर मुड़ी, "द्वैपायन मुझे अपने साथ ले जाना चाहता है। मैं जाऊँ पुत्र?"

"माँ!" भीष्म के कुछ कहने से पहले ही व्यास बोले, "पुत्र यह तो कह सकता है; कि मेरे साथ आओ; यह कैसे कहेगा कि मुझसे दूर जाओ।...मुझे ही कहने दो। भीष्म से कुछ मत कहलवाओ।"

सत्यवती ने पुनः भीष्म की ओर देखाः वे अब तक मौन ही खड़े थे। उनकी मुखाकृति पर असमंजस था। कुछ कह नहीं रहे थे किन्तु बहुत कुछ कहते भी जा रहे थे।

"तुम बहुत मौन रहे हो भीष्म!" अन्ततः सत्यवती ही बोली, "तुमने अपना बहुत दमन किया है पुत्र!...और उसका सबसे बड़ा कारण मैं ही रही हूँ...।"

व्यास चकित थे; अभी कुछ क्षण पहले माता भीष्म को धूर्त्त कह रही थीं...

"माँ!" भीष्म ने कुछ कहना चाहा।
"आज तक मैं ही कहती आयी हूँ, और तुम सुनते ही आये हो पुत्र! आज भी मुझे ही कहने दो।" सत्यवती का ध्यान 'माँ' के सम्बोधन पर अटका। भीष्म ने सदा 'माता' कहकर ही सम्बोधित किया था। 'माँ' तो केवल द्वैपायन ही कहा करता है, किन्तु आज भीष्म भी 'माँ' ही कह रहा है। "मैंने तुम्हारा बहुत दमन किया है, तुम्हें सदा वंचित किया है। तुमने मेरे ही कारण ऐसी भीषण प्रतिज्ञाएँ की थीं।...मैंने जो कुछ चाहा, तुमने वही किया। फिर भी मेरी कुछ इच्छाएँ पूरी हुईं, कुछ नहीं हुईं। मैं जानती हूँ कि तुम्हारे पिता ने तुम्हें उसी दिन उन प्रतिज्ञाओं से मुक्त कर दिया था, जिस दिन तुम हस्तिनापुर पहुँचे थे। फिर भी तुम उन प्रतिज्ञाओं से बँधे रहे...।"
"हाँ माता! क्योंकि ये प्रतिज्ञाएँ मेरी थीं।"
"ठीक है पुत्र! प्रतिज्ञाएँ तुम्हारी ही थीं; फिर भी बाँधनेवाली मैं थी। आज मैं तुम्हारा बन्धन खोल रही हूँ।...मैं तुम्हें तुम्हारी दोनों प्रतिज्ञाओं से मुक्त करती हूँ। मैं द्वैपायन के साथ उसके आश्रम में जा रही हूँ। द्वैपायन कहता है कि यह मुझे सुख और दुख के बन्धन से मुक्त कर देगा। जब मैं मुक्ति की ओर जा रही हूँ, तो तुम्हें क्यों बाँधें रखूँ। तुम मुक्त हो पुत्र! किन्तु मैं जा रही हूँ। चाहती हूँ कि अम्बिका और अम्बालिका भी मेरे साथ ही चलें। तुम्हें हस्तिनापुर में छोड़कर जा रही हूँ–पीछे की व्यवस्था देखने के लिए।...चाहो तो युधिष्ठिर के वयस्क होने तक तुम सिंहासन पर आसीन हो जाओ।"
व्यास खिलखिलाकर हँस पड़े, "तुम भीष्म को मुक्त कर रही हो माँ! या उन्हें फिर से एक बार बाँध रही हो?"
व्यास अपनी माँ को समझ नहीं पा रहे थेः सचमुच इस समय माँ का उदात्त भाव जागा था और वह अपनी भूल का अनुभव कर, पश्चात्ताप स्वरूप भीष्म को मुक्त कर रही थी...या...वह हस्तिनापुर के सिंहासन को वस्तुतः हत्यारा मानकर, उस पर भीष्म को बैठा उनके प्राण लेना चाहती थी...
"अरे पीछे रहेगा, तो व्यवस्था नहीं देखेगा क्या? बेचारा धृतराष्ट्र देख नहीं सकता। विदुर ही कौन बहुत सांसारिक जीव है, कि वह कुछ कर लेगा। पोथीमित्र है, वह तो। पोथियों में घिरा बैठा रहेगा। तो फिर धृतराष्ट्र और पाण्डु के बच्चों को कौन देखेगा?"
"मैं देखूँगा माता! आप चिन्ता न करें!" भीष्म की आँखों के सम्मुख आठ वर्षों के असहाय और हताश युवराज युधिष्ठिर का चित्र जागा।
"मैं जानती हूँ कि तुम्हें हस्तिनापुर से ऐसा कोई मोह नहीं है। तुम्हारा वश चले तो तुम भी वन जाना चाहोगे। किन्तु, यह द्वैपायन मुझे बलात् अपने साथ ले जा रहा है। मैं जा रही हूँ; तुम इन बच्चों का पालन-पोषण करना। तुम धार्तराष्ट्रों और पाण्डवों के, कुरुओं की इस नयी पीढ़ी के अभिभावक हो। कुरुकुल के रक्षक हो। जैसे भी सम्भव हो, कुरुकुल की रक्षा करना। मेरे सुख के लिए ऐसा करोगे?"
"करूँगा माता!"
"तो मैं जा रही हूँ। आवश्यक होने पर मुझे बुला लेना।"
भीष्म मौन खड़े रहे।
"सुखी रहो पुत्र!"

अम्बिका ने सत्यवती के साथ वन जाने का प्रस्ताव सुना तो अपने निर्णय में एक क्षण भी नहीं लगाया। उसने स्वीकृति में सिर हिलाया और उसकी आँखों में अश्रु आ गये।
"तुम रो रही हो?" सत्यवती ने पूछा, "हस्तिनापुर छोड़ने का दुख है? दुख तो मुझे भी है पुत्रि! किन्तु द्वैपायन चाहता है कि मैं उसके साथ चलूँ।"
"नहीं माता! रोना कैसा! आजकल तो सुख की आशंका से भी मेरी आँखों में अश्रु भर आते हैं।" वह बोली, "मोह तो मेरे मन में है, किन्तु मैं उसे अपने पैरों तले कुचलकर, उस पर खड़ी हूँ। पर चलने से पहले विदुर से मिल आऊँ।"
"विदुर से?"
"हाँ माता।"
"धृतराष्ट्र और गान्धारी से नहीं?"
"नहीं!"

"जाओ! मिल आओ!"

विदुर को आशीर्वाद देकर अम्बिका बैठ गयी, "मैं माता सत्यवती के साथ वनवास के लिए जा रही हूँ पुत्र!" वह बोली, "तुम्हारी माता की मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। उसने बड़े कठिन समय में मेरी रक्षा की थी। अब मैं तुमसे याचना करने आयी हूँ: मेरी अनुपस्थिति में मेरे पुत्र की रक्षा करना।"

"आप निश्चिंत रहें राजमाता।" विदुर बोला।

"राजमाता नहीं, माता कहो।" अम्बिका बोली, "माता के रूप में मैं तुम्हें आदेश दे रही हूँ कि तुम अपने अन्तिम समय तक, अपनी क्षमता भर धृतराष्ट्र की रक्षा करोगे। कैसी भी कठिन स्थिति आये, वह कितना ही कटु बोले, तुम्हारा तिरस्कार करे, किन्तु तुम उसका त्याग नहीं करोगे।"

विदुर मौन रहा, जैसे कुछ सोच रहा हो।

"करोगे?" अम्बिका ने पूछा।

"करूँगा!"

"वचन देते हो?"

"वचन देता हूँ।"

"तुम शस्त्रधारी नहीं हो। उसकी रक्षा कैसे करोगे?"

"मैं यथाक्षमता उसे नीति और न्याय का परामर्श दूँगा। न्याय, धर्म का दूसरा नाम है माता! वह न्याय की रक्षा करेगा, तो न्याय उसकी रक्षा कर लेगा।"

"मैं सन्तुष्ट हुई पुत्र!" अम्बिका बोली, "कभी उसका अनुचित समर्थन मत करना। वह कितना भी विरोध करे, किन्तु उसे नीति से डिगने मत देना। वह तुम्हें अपना शत्रु समझे, तो भी उसकी इच्छापूर्ति के लिए अनुचित का समर्थन मत करना।..."

"ऐसा ही होगा माता!"

रात पर्याप्त बीत चुकी थी, जब भीष्म वेदव्यास से मिलने आये।

"आप! इस समय!" व्यास को आश्चर्य हुआ।

"एकान्त इसी समय मिल सकता था द्वैपायन!"

"एकान्त क्यों चाहिए था कुरुश्रेष्ठ?"

"कुरुश्रेष्ठ नहीं! भाई कहो!" भीष्म बोले, "यह दो भाइयों की चिन्ता है–अपनी माता के विषय में।"

व्यास कुछ नहीं बोले। धैर्यपूर्वक भीष्म की ओर देखते रहे।

"मुझे लगता है, तुम माता को उनकी इच्छा के विरुद्ध बलात् अपने साथ ले जा रहे हो।"

"हाँ?"

"क्यों?"

"इस स्वार्थपूर्ण रजोगुणी वातावरण में वे प्रायः विक्षिप्त हो चुकी हैं। यदि और अधिक यहाँ रहीं, तो पूर्णतः उन्मत्त हो जायेंगी।" व्यास बोले, "उन्होंने सम्पत्ति और सत्ता के साथ अपने प्राणों का तादात्म्य कर लिया है। प्रत्येक सम्राट् की मृत्यु उनके मसतक पर आशंका रूपी शिला का आघात करती है। उन्हें लगता है कि अब सम्पत्ति और सत्ता उनसे छिन जायेगी...और उनके प्राण निकल जायेंगे। ऐसे व्यक्ति का सत्ता के केन्द्र के पास रहना न उसके अपने लिए अच्छा है, न शासन के लिए।"

"वहाँ उन्हें शान्ति मिलेगी?"

"प्रयत्न तो यही है!"

"उनके लौटने की सम्भावना...?"

"रोगी को रोग के कारणों की ओर नहीं लौटना चाहिए।"

"तुम मुझसे अधिक समझते हो द्वैपायन!" भीष्म उठ खड़े हुए।

अगले दिन प्रातः हस्तिनापुर का सम्पूर्ण राजपरिवार नगर के मुख्य द्वार तक आया। उनके साथ अश्वारोही सैनिक भी थे; रथ भी थे; किन्तु यह शोभा-यात्रा नहीं थी। सबसे आगेवाले रथ पर स्वयं भीष्म थे, उनके साथ व्यास थे और थीं राजमाता सत्यवती। उनका रथ रुका तो पीछे आनेवाले सारे रथ और अश्व रुक गये।

भीष्म के पश्चात् व्यास रथ से उतरे। उन्होंने माता सत्यवती को बाँह का अवलम्ब देकर रथ से उतारा।

पीछे के रथों में से अम्बिका, अम्बालिका, धृतराष्ट्र, गान्धारी, कुन्ती, सुयोधन, सुशासन, युधिष्ठिर और भीम उतरे।

द्वार के सम्मुख इतने लोग एकत्रित थे; किन्तु सब मौन थे। सब जैसे किंकर्तव्यविमूढ़ थे। किसी अनजाने भय से ग्रस्त कि कहीं उनसे कुछ अशोभनीय, कुछ अनुचित न कहा जाये।

व्यास आगे बढ़े। वे भीष्म से आलिंगनबद्ध हुए। धृतराष्ट्र, गान्धारी, कुन्ती और बच्चों को उन्होंने आशीर्वाद दिया और बोले, "तुम सबका कल्याण हो; अब तुम सब यहाँ से नगर में लौट जाओ। आगे हम सब पदाति ही जायेंगे। वनवास के लिए जाते हुए, रथों में यात्रा उचित नहीं है।" और वे सत्यवती की ओर मुड़े, "चलो माता!"

शब्दों के अनुकरण में जैसे सत्यवती के पग उठे, किन्तु हृदय उमड़कर पीछे आया। वह लौटी। धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्ती को प्यार किया। यथासम्भव सारे बच्चों को भी अपने साथ लिपटाया, उनके केशों पर हाथ फेरा, उनका मुख चूमा..."मैं जल्दी लौटूँगी।"

भीष्म देख रहे थे।

व्यास ने आगे बढ़कर सत्यवती की बाँह पकड़ी, "चलो माता!"

सत्यवती मुड़ी और चली; किन्तु वह चलना, चलना था या घिसटना। कितना वह अपनी इच्छा से चल रही थी; और कितना उसे व्यास चला रहे थे? वह हस्तिनापुर छोड़ रही थी, पर क्या हस्तिनापुर उससे छूट रहा था?

भीष्म स्वयं समझ नहीं पाये कि उनके मन में सत्यवती के लिए करुणा थी या ईर्ष्या! कैसी बद्ध जीव थीं, माता सत्यवती। क्या नहीं सहा उन्होंने, क्या नहीं झेला,; किन्तु प्रकृति के इतने कशाघात भी क्या उन्हें कुछ समझा पाये। कैसी है मनुष्य की बुद्धि; दुख झेलता है, तड़पता है, उससे मुक्ति चाहता है...किन्तु उसके कारणों से स्वयं को मुक्त कर नहीं पाता...

और सत्यवती की अपनी इच्छा के विरुद्ध, व्यास बलात् उन्हें, बाँह थामकर कल्याण के मार्ग पर लिये जा रहे हैं।...

सत्यवती भीष्म के सम्मुख आयी। रुकी। एक बार डबडबाई आँखों से उसने देखा और सिर झुका लिया, "कुरुकुल की रक्षा करना।"

उसके घिसटते पग आगे बढ़ गये।

भीष्म का मन जैसे चीत्कार कर रहा था: 'जब मैं इसी प्रकार मुक्ति के पथ पर बढ़ा था, तो मुझे क्यों रोक लिया था माँ! और आज भी मेरे पग वन की ओर उठना चाहते हैं और मेरे पगों को तुम निगड़बद्ध कर रही हो। ...तुम्हारे पग उठते नहीं हैं, फिर भी तुम हस्तिनापुर के इस इन्द्रजाल से मुक्त होती जा रही हो...'

उनके मन में आया कि वेग से जायें; व्यास के सम्मुख खड़े होकर उसे रोक लें और उससे पूछें, 'तुम इसी प्रकार मेरी बाँह थामकर, मुझे हस्तिनापुर से निकाल क्यों नहीं ले जाते?'

पर उनके पग आगे बढ़ने के स्थान पर पीछे की ओर मुड़े: उनके सम्मुख अंधा धृतराष्ट्र खड़ा था, आँखों पर पट्टी बाँधे गान्धारी खड़ी थी, अपने असहाय-से बच्चों के साथ आशंकित-सी कुन्ती खड़ी थी।

वे स्थिर पगों से आकर कुरुओं की नयी पीढ़ी के बीच खड़े हो गये। उनका एक हाथ युधिष्ठिर के कंधे पर था, दूसरा सुयोधन के...उनके तृषित नेत्र, दूर जाती हुई सत्यवती, अम्बिका और अम्बालिका को ऐसे देख रहे थे, जैसे यात्रा के आरम्भिक स्थान पर खड़ा पथिक, अपनी यात्रा पूर्ण कर गन्तव्य तक पहुँचे हुए व्यक्ति को देखता है...या कोई बन्दी अपने संगी बन्दी को मुक्त होकर, कारागार से बाहर जाते हुए देखता है।...

□□□

नरेन्द्र कोहली

महासमर

अधिकार

दो

अधिकार
महासमर-2

नरेन्द्र कोहली

वाणी प्रकाशन

गुरुवर डॉ. विजयेन्द्र स्नातक के लिए सादर

वाणी प्रकाशन
4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली 110 002

शाखा
अशोक राजपथ, पटना 800 004
फ़ोन : +91 1123273167 फ़ैक्स : +91 1123275710

www.vaniprakashan.in
vaniprakashan@gmail.com

ADHIKAR : MAHASAMAR-2
by Narendra Kohli

ISBN : 978-93-5072-892-5
Novel/A Story of Mahabharat

© लेखकाधीन
प्रथम संस्करण (श्री नरेन्द्र कोहली जी का 75वाँ जन्मदिन) 2015

इस पुस्तक के किसी भी अंश को किसी भी माध्यम में प्रयोग करने के लिए प्रकाशक से लिखित अनुमति लेना अनिवार्य है।

वाणी प्रकाशन का लोगो मक़बूल फ़िदा हुसेन की कूची से

आने वाली पीढ़ी के नाम...

हमारे समय के कालजयी लेखक

नरेन्द्र कोहली हिन्दी के ही नहीं अपितु तमाम भारतीय भाषाओं के उन विरले लेखकों में से एक हैं जिन्हें 'सम्पूर्ण साहित्यकार' की संज्ञा दी जा सकती है। साहित्य की लगभग सभी गद्य विधाओं—उपन्यास, कहानी, व्यंग्य, नाटक, निबन्ध, आत्मकथा तथा आलोचना इत्यादि में विपुल सृजन करने वाले नरेन्द्र कोहली अकेले ऐसे रचनाकार हैं जिनके प्रशंसकों तथा पाठकों की संख्या का सही-सही अन्दाज तथा अनुमान लगाना कठिन है।

'अभ्युदय', 'महासमर', 'सैरन्ध्री', 'हिडिम्बा', 'कुन्ती' तथा 'न भूतो न भविष्यति' जैसे आधुनिक क्लासिक या कहें कि कालजयी कृति की रचना करने वाले इस विलक्षण रचनाकार की संवेदना-परिधि में सम्पूर्ण भारतीय समाज, तमाम विविधताओं तथा जटिलताओं के साथ गम्भीर साँस लेता प्रतीत होता है। भारतीय संस्कृति के प्रत्येक पक्ष को सही परिप्रेक्ष्य में उजागर करने वाले इस साहित्यकार ने रामायण तथा महाभारत कथा को युग सापेक्ष तथा शाश्वत मानवीय अस्मिता के साथ विश्लेषित किया है। उनकी दृष्टि सम्पन्नता तथा बौद्धिक प्रखरता के आलोक में जीवन और जगत् के सभी रहस्य पाठकों के सामने एक नये संसार की तरह से प्रस्तुत हुए हैं।

कालजयी रचनाकार की सबसे बड़ी विशेषता यही होती है कि वह अपने साहित्य में एक समानान्तर संसार की रचना करते हुए जातीय स्मृतियों का एक अनमोल खजाना आनेवाली पीढ़ियों तथा अपने समकालीन समाज के लिए गढ़ता है।

यह भी कह दें कि दुनिया की महान् से महान् कृति भी समाज को सन्तुष्ट नहीं कर सकती परन्तु श्री कोहली का लेखन सभी वाद-विवादों से परे अपने पाठक वर्ग में उतना ही पूजनीय है जितने महाकवि तुलसीदास का रामचरितमानस तथा महर्षि वेद व्यास का महाभारत।

प्राचीन के लौह तत्त्वों को भी अपनी जादुई कलम के स्पर्श से कंचन में परिवर्तित करनेवाले इस महान् रचनाकार का साहित्य आपको भूत, वर्तमान तथा भविष्य के सभी रहस्य समझने तथा परखने की दृष्टि प्रदान करता है। नरेन्द्र कोहली के साहित्य को नयी साज-सज्जा के साथ पाठकों को सौंपते हुए वाणी प्रकाशन प्रतिष्ठान स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करता है।

— अरुण माहेश्वरी
प्रकाशक

अधिकार
महासमर-2

1

सन्ध्या समय भी युधिष्ठिर को अन्यमनस्क-सा कक्ष में बैठा देख कुन्ती को अच्छा नहीं लगा।

"तुम बाहर खेलने क्यों नहीं जाते युधिष्ठिर?" कुन्ती बोली, "दिन-भर गुरु-गम्भीर बने, कक्ष में घुसे बैठे रहते हो। तुम तो अभी से वृद्ध हो गये लगते हो।"

"जाता तो हूँ।" युधिष्ठिर ने जैसे अपना पक्ष प्रस्तुत किया, "आचार्य के पास जाता हूँ। वे जिन शस्त्रों का अभ्यास कराते हैं, करता हूँ। जो शस्त्र-शिक्षा देते हैं, उसे ग्रहण करता हूँ।"

"किन्तु इस समय सारे बालक उद्यान में खेल रहे हैं, तुम क्यों भीतर घुसे बैठे हो?"

युधिष्ठिर ने उत्तर में कुछ कहा नहीं, केवल एक बार माँ की ओर देखा-भर; और सिर झुका लिया।

कुन्ती युधिष्ठिर की उस दृष्टि को देख कर जैसे स्तम्भित रह गयी : क्या था उन आँखों में? वे तो किसी बालक की अबोध उल्लास से आकण्ठ निमज्जित आँखें नहीं थीं। उन आँखों में तो किसी प्रौढ़ की मूक पीड़ा थी। उनमें आक्रोश भी था, प्रतिरोध भी; और अपनी असहायता की एक निरीह स्वीकृति भी!

"क्या बात है पुत्र?" कुन्ती के मन की करुणा जागी। उसने अनेक बार देखा था कि उसे अपना बड़े-से-बड़ा दुःख भी इस प्रकार विचलित नहीं कर पाता था; किन्तु अपने इस अधिकार-विहीन अभिभावक पुत्र युधिष्ठिर की यह निरीह मूक पीड़ा उसे कहीं भीतर तक बहुत गहरे तड़पा जाती थी।

"कोई विशेष बात नहीं माँ!" युधिष्ठिर ने मुख फिरा लिया।

"बात कैसे नहीं है!" कुन्ती उसके निकट चली आयी। उसने युधिष्ठिर के मुख को अपनी हथेलियों में थाम, अपनी ओर फेरा। उसकी आँखों में सीधे देखते हुए बोली, "सदा सत्य बोलो पुत्र! अप्रिय भी हो तो सत्य ही बोलो। माँ को पीड़ा पहुँचती हो तो भी सत्य बोलो! झूठ से समस्या का समाधान नहीं होता, उसकी उपेक्षा होती है। कपोत अपनी आँखें बन्द कर ले तो मार्जार का अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता।"

युधिष्ठिर जैसे तड़प कर उठ बैठा, "मैं झूठ नहीं बोलता माँ!"

"मैं तुम्हारा विश्वास करती हूँ पुत्र! जिस क्षण कुन्ती को अपने पुत्रों पर विश्वास नहीं रह जायेगा, उसी क्षण उसके जीवन में कोई सार भी नहीं रह जायेगा।" कुन्ती ने रुक कर पुत्र को देखा, "तुमने कहा कि कोई बात नहीं। तुम मुझसे कुछ छिपा रहे हो।"

युधिष्ठिर ने निश्छल और विश्वस्त दृष्टि से माँ की ओर देखा, "मैंने कहा था, कोई विशेष बात नहीं है।" और अकस्मात ही जैसे उसके प्रतिरोध का बाँध ध्वस्त हो गया और उसका आक्रोश मार्ग पा कर प्रवाहित हो चला, "सुयोधन कहता है कि प्रासाद का उद्यान उसके तथा उसके भाइयों के खेलने के लिये है। उसके पिता ने यदि कृपापूर्वक हमें प्रासाद में ठहरने की अनुमति दे दी है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि हम सारे प्रासाद के स्वामी हो गये कि स्वेच्छा से जहाँ-कहीं घूमते फिरें...हमें अपनी मर्यादा पहचाननी चाहिए।" उसने रुक कर माँ को देखा, "अब बताओ! यह कोई ऐसी बात है, जिसे विशेष रूप से उल्लेखनीय मान कर मैं तुम्हें बताता।..."

कुन्ती स्तम्भित रह गयी। यह बालक इतने बड़े अपमान को इस प्रकार चुपचाप पी गया। माँ को बताना भी नहीं चाहता!...

और सहसा युधिष्ठिर ने आ कर कुन्ती का हाथ पकड़ लिया, "हम अपने घर कब जायेंगे माँ?"

कुन्ती को लगा, उसकी आँखों में अश्रु भर आये हैं और यदि उसने स्वयं को नियन्त्रित नहीं किया तो वे टपक पड़ेंगे।

"कौन-सा घर पुत्र?"

युधिष्ठिर ने हतप्रभ हो कर माँ की ओर देखा, "क्या हमारा कोई घर नहीं है?"

कुन्ती ने उसके प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया। वह तो जैसे स्वयं ही अपने-आपसे युधिष्ठिर के प्रश्न का उत्तर माँग रही थी : कौन-सा घर है उसका अपना? उसके जनक का घर? उसके पिता का घर? उसके पति का घर?...क्या

कोई घर उसका अपना नहीं है?

"इससे तो अच्छा है माँ!" युधिष्ठिर ने उसका हाथ पकड़ कर झकझोरा, "हम लोग ऋष्य शृंग के आश्रम में लौट जायें। वहाँ कभी किसी ने हमें यह तो नहीं कहा कि वह आश्रम हमारा नहीं है। कुटीर हमारा नहीं है, क्षेत्र हमारा नहीं है, या सरोवर हमारा नहीं है। तुम हमें हस्तिनापुर क्यों ले आयी माँ! जहाँ कुछ भी हमारा नहीं है?"

सहसा ही कुन्ती अपनी हताशा से उबरी।...उसके युधिष्ठिर में रजोगुण का आधिक्य नहीं है। वह झगड़ कर किसी वस्तु पर अपना अधिकार नहीं जतायेगा। अधिकार के विवाद में वह त्याग को ही अंगीकार करेगा।...यह स्थिति ठीक नहीं है। उसे अपने अधिकार के प्रति सचेत करना होगा।...

"यही हमारा घर है पुत्र! हमें और कहीं नहीं जाना है।" सहसा उसका स्वर आदेशात्मक हो गया, "हस्तिनापुर तुम्हारा है। तुम कुरु साम्राज्य के युवराज हो। तुम कहाँ जाने की बात कर रहे हो?"

युधिष्ठिर को तत्काल, माँ की बात का कोई उत्तर नहीं सूझा। वह दृष्टि में एक शून्य लिये, माँ की ओर देखता रह गया। और फिर जैसे उसे कुछ सूझ गया, "यदि हस्तिनापुर हमारा है, तो हम अपने लिये एक नया प्रासाद क्यों नहीं बनवा लेते? हम सुयोधन के प्रासाद में क्यों रह रहे हैं? वे लोग हमारे यहाँ रहने से असन्तुष्ट हैं। उन्हें स्थान का अभाव लगता है। उन्हें असुविधा होती होगी माँ!"

कुन्ती के मन में आया कि युधिष्ठिर को वह अपनी भुजाओं में समेट ले। उसे अपने वक्ष से लगा ले। उसके मस्तक का चुम्बन कर कहे, 'चिरायु हो मेरे लाल! तुमने कितना उदार हृदय पाया है।'

किन्तु उसकी भुजाएँ अपने स्थान से हिली नहीं। मन को उसने दृढ़ किया और बोली, "यह हस्तिनापुर का राजप्रासाद है पुत्र। हस्तिनापुर का राजा इसी में रहता है। तपस्या के लिये जाने से पूर्व मैं और तुम्हारे पिता इसी प्रासाद में रहते थे। अपने पिता के उत्तराधिकारी के रूप में तुम्हें इसी प्रासाद में रहना है। हस्तिनापुर के युवराज को यहाँ से हट कर कहीं नहीं जाना है। भावी सम्राट यदि अपना प्रासाद भी छोड़ देगा तो राज्य त्यागने में उसे कितना समय लगेगा?"

"तुम ठीक कहती हो माँ! किन्तु अब यहाँ राजा धृतराष्ट्र रहते हैं। एक प्रासाद के लिये यह सब...।"

"बात प्रासाद की नहीं, अधिकार की है पुत्र!" कुन्ती बोली, "मैं तुम्हारे मन में प्रासाद का लोभ नहीं जगा रही! मैं तुम्हें अपने अधिकार के लिये संघर्ष करना सिखा रही हूँ।...तुम्हारे पितृव्य राजा नहीं हैं, मात्र राज्यपाल हैं। राजा तुम्हारे पिता थे और अब तुम होगे।"

युधिष्ठिर ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह मन-ही-मन सोच रहा था कि यदि माँ यह कहती कि हमारे पास रहने के लिये दूसरा कोई स्थान नहीं है, तो संघर्ष की बात उसकी समझ में भी आती। पर...

"अच्छा! यह बताओ।" थोड़ी देर पश्चात कुन्ती स्वयं ही बोली, "शिक्षण के समय कृपाचार्य का व्यवहार तुम्हारे साथ कैसा है? कहीं वे भी तो यह नहीं कहते कि तुम अध्ययन के लिये यहाँ क्यों आये हो?"

"आचार्य का व्यवहार...।" युधिष्ठिर जैसे निर्णय नहीं कर पा रहा था, "उन्हें मुझसे कोई विरोध नहीं लगता।" वह फिर रुका, "किन्तु माँ! ऋष्य शृंग के आचार्य और ही प्रकार के थे। कृपाचार्य वैसे तो नहीं हैं।"

"मैं समझती हूँ पुत्र!" कुन्ती धीरे से बोली, "तुम जाओ। सन्ध्या समय बाहर खुली वायु में खेलना चाहिए। कक्ष के भीतर घुसे रहना, तुम्हारे स्वास्थ्य के लिये अच्छा नहीं है।"

युधिष्ठिर उठा और जैसे बलात स्वयं को घसीट कर बाहर ले गया।

कुन्ती उसे देखती रही और सोचती रही : कहीं वह इन नन्हें कोमल कंधों पर उनके सामर्थ्य से भारी बोझ तो नहीं डाल रही? किन्तु यदि वह बोझ नहीं डालेगी, तो ये कंधे बोझ उठाने के अभ्यस्त कैसे होंगे? वे दृढ़ कैसे होंगे?... युधिष्ठिर का स्वभाव वह जानती है। वह किसी से कुछ लेना नहीं चाहता, देना ही चाहता है। किन्तु देने के लिये भी तो स्वयं अपने पास बहुत कुछ होना चाहिए...

तभी कहीं से दौड़ता हुआ भीम आया। स्वेद से सारा शरीर गीला। वह हाँफ रहा था। निश्चय ही कहीं खेल रहा होगा। खेल से कभी उसका मन नहीं भरता। वह थकता भी तो नहीं है।...एक दिन कौतूहल में, मात्र परीक्षा लेने के लिये, खेलने के लिये जाते हुए भीम को रोक लिया था, "देखो! यह नकुल बहुत रो रहा है। इसे थोड़ी देर बाहर टहला लाओ।"

कुन्ती का विचार था कि वह उसका विरोध करेगा। हठ करेगा कि उसे खेलना है। ऐसे में वह नकुल को कहाँ ले जायेगा।...या कदाचित वह कहे कि ढाई वर्ष के नकुल को कैसे उठायेगा। वह भारी है...या कि उसे उठाने में उसे असुविधा होगी।...

किन्तु भीम ने उसके द्वारा कल्पित एक भी उत्तर नहीं दिया। उसने हँसते हुए दोनों हाथ बढ़ा दिये, "आ जा नकुल! बैठा-बैठा आलसी मत बन! चल, कुछ व्यायाम कर आयें।"

कुन्ती चकित रह गयी। एक बार तो मन में आया : भीम को रोक दे; बहुत हो चुकी परीक्षा। कहीं ऐसा न हो कि नकुल को गोद में उठाये-उठाये, भीम भी लुढ़क जाये। दोनों के नाक-मुँह और घुटने छिल जायें। भीम इतना चंचल है। नकुल को गोद में ले कर भी वह शान्ति से तो बैठेगा नहीं।...किन्तु दूसरे ही क्षण उसने अपने मन को दृढ़ किया। एक बार देखे तो सही कि भीम करता क्या है।...

भीम, नकुल को ले कर मुड़ा तो उसकी दृष्टि सहदेव पर पड़ी। बोला, "तू घर में बैठा क्या करेगा भाई! तू भी आ जा!..."

और जब तक कुन्ती आगे बढ़ कर उसे रोकती, उसने नकुल को उठाये-उठाये ही थोड़ा झुक कर दूसरे हाथ से सहदेव को उठा लिया। कुन्ती जहाँ की तहाँ रुक गयी। भीम को दोनों बालकों को उठाने में तनिक भी असुविधा नहीं हुई थी, वह सहज रूप से मुस्कुरा कर अर्जुन से कह रहा था, "अज्जू! तू मेरे कंधों पर बैठ जा। मैं तुम तीनों को उठा कर उद्यान के दस चक्कर लगाऊँगा।"

कुन्ती को प्रसन्नता हुई। भीम, वस्तुतः भीम था। वह ढाई वर्ष बड़े युधिष्ठिर के बराबर लम्बा हो चुका था, और उससे अधिक शक्तिशाली दिखायी देता था। यदि कुन्ती उसे न रोके, तो निश्चय ही वह नकुल और सहदेव को ले कर बाहर उद्यान में चला जायेगा...

"रुको भीम!"

भीम ने रुक कर माँ की ओर देखा।

"बच्चों को गोद से उतार दो।"

"अभी तो तुम कह रही थीं माँ! कि इन्हें बाहर घुमा लाऊँ।"

"ठीक है। कह रही थी! पर अब तुमसे एक बात पूछनी है।"

"तो पूछो!"

"अरे, तो ऐसे ही खड़ा रहेगा क्या—दोनों बच्चों को उठाये हुए। थक जायेगा।"

"यह तो मेरा व्यायाम है।" भीम हँसा, "मैं तो पाठशाला में भी सबसे अधिक बोझ उठाता हूँ। बोझा उठा कर दौड़ सकता हूँ।"

"वह सब तो ठीक है।" कुन्ती बोली, "पर तू इनको उतार कर नीचे बैठा। तब ही तुझसे बात करूँगी।"

"अरे माँ!" भीम ने अपनी अनिच्छा जतायी और नकुल तथा सहदेव को उतार कर आसन पर बैठा दिया, "पूछो! क्या पूछ रही हो!"

उस दिन तो कुन्ती को उससे कुछ विशेष नहीं पूछना था, किन्तु आज उसके मन में कुछ चुभते हुए प्रश्न थे।

भीम जल पी कर उल्टे पाँव लौटने लगा तो कुन्ती ने टोका, "भीम!"

भीम ने माँ की ओर देखा।

"तुम उद्यान में खेलते हो तो क्या सुयोधन तुम्हें भी रोकता है?"

"हाँ!" भीम जैसे हुलस कर बोला, "उसने मुझसे कहा कि उद्यान उसके और उसके भाइयों के खेलने के लिये है। मैं वहाँ नहीं खेल सकता।"

"तो तुमने क्या कहा?"

"मैंने कहा मैं तो खेलूँगा। वह यदि रोक सके तो रोक ले। यह कह कर मैं दौड़ा—वेग से माँ! पवन वेग से!..."

कुन्ती कल्पना कर रही थी कि वह किस वेग से दौड़ा होगा। वह तो है ही वायु-पुत्र!

"फिर?"

"मैं दौड़ा माँ! उसने अपने भाइयों को संकेत किया। भाई भी तो उसके इतने सारे हैं, जैसे कोई सेना हो।... उसके भाइयों ने एक-दूसरे के हाथ पकड़ लिये और मेरा मार्ग रोक कर खड़े हो गये। मैंने उनके निकट पहुँचते ही अपनी भुजाएँ फैला दीं। मेरे वेग से उनका बन्धन ढीला पड़ गया। किन्तु मैंने अपनी एक-एक भुजा में एक-एक सुयोधन-भ्राता को थाम लिया था। वे थोड़ी देर तक तो मेरे साथ घिसटे। फिर मैंने उन दोनों के सिर एक-दूसरे के साथ बजाये और उन्हें वहीं लुढ़कता-पुढ़कता छोड़ कर भाग गया। जब पलट कर उनकी ओर पुनः आया तो सुयोधन ने उन्हें बहुत बुलाया, बहुत उकसाया; किन्तु कोई भी मेरे मार्ग में नहीं आया।" भीम मन खोल कर हँसा।

"सुयोधन ने भी नहीं रोका तुझे?"

"वह स्वयं तो साहस ही नहीं करता। बस अपने भाइयों को आदेश देता रहता है। वह मुझे रोकने का साहस नहीं कर सकता।"

कुन्ती भीम की बात से सन्तुष्ट हुई; किन्तु उसका आशंकित मन पूछे बिना नहीं रह सका, "कोई तेरे साथ खेलता भी है, या तू अकेला ही सारे उद्यान में डोलता फिरता है!"

"नहीं! मेरे मित्र है माँ! वह युयुत्सु है न! उसके कई साथी हैं। कई बार विकर्ण भी हमारे साथ खेलता है।...और माँ! कोई न भी खेले मेरे साथ, तो क्या! मैं अकेला भी बहुत सारे खेल खेल सकता हूँ।"

"अकेला क्या खेलेगा तू?"

"मैं पवन के साथ स्वर्धा करता हूँ।" भीम बोला, "देखता हूँ कि मैं बड़ा धावक हूँ या वह?"

"तो क्या सिद्ध हुआ?"

"वेग तो मेरा ही उससे अधिक है।" भीम बोला, "किन्तु जाने कैसे वह मुझ से पहले ही गन्तव्य पर पहुँच जाता है।"

"तू तो पगला है एकदम!" कुन्ती हँसी, "क्या तू नहीं जानता कि पवन तो प्रत्येक स्थान पर पहले से ही विद्यमान है।"

"ओह!" भीम का निश्छल अट्टास गूँजा, "तो फिर पवन के साथ स्पर्धा ही व्यर्थ है।"

"और कौन-सी क्रीड़ाएँ हैं तेरी—अकेले की?"

"कुछ नहीं सूझता तो मैं वृक्षों को हिलाने का प्रयत्न करता हूँ। उन्हें हिला कर उनके फल गिराने का। उन्हें जड़ से उखाड़ने का।"

"क्या किसी पेड़ को उखाड़ने में तू सफल हुआ?"

"नहीं!" भीम फिर उच्च स्वर में हँसा, "किन्तु आज तक कोई वृक्ष भी मुझे जड़ से नहीं उखाड़ पाया माँ!"

"कैसा बुद्धू है तू!" कुन्ती हँसी, "तेरी जड़ें हैं ही कहाँ, जो कोई तुझे जड़ से उखाड़ सके।"

"बुद्धू! तुम मुझे बुद्धू कहती हो।" भीम ने हुमक कर बोला, "तुमने ध्यान नहीं दिया माँ! कैसा चतुर हूँ मैं कि ऐसा खेल चुना है, जिसमें कभी मैं पराजित हो ही नहीं सकता। जब कभी उखड़ा, पेड़ ही जड़ से उखड़ेगा, मैं तो उखड़ सकता ही नहीं।"

कुन्ती कुछ बोली नहीं, सम्मोहित-सी अपने इस चिन्ता शून्य उन्मुक्त पुत्र को देखती रही। ऐसा ही कहीं युधिष्ठिर भी हो पाता तो!....

"तेरे इन खेलों के नियम कौन बनाता है?" क्षण-भर रुक कर कुन्ती ने पूछा।

"मैं स्वयं बनाता हूँ!"

"सब लोग अपने-अपने नियम बनाने लगेंगे तो खेल सम्भव कैसे होंगे?" कुन्ती ने उसे उकसाया।

"धोती बाँधने के सब अपने-अपने नियम बना लेते हैं, तो भी सबके लिये धोती बाँधना सम्भव होता है न!"

कुन्ती चकित नेत्रों से उसे देखती रही, "धोती बाँधने का नियम?"

"हाँ!" भीम बोला, "मेरी धोती एड़ी से बीस अँगुल ऊँची होती है, और सुयोधन की चार अँगुल! वह मानता है कि नियमतः धोती एड़ी से चार अँगुल ही ऊँची होनी चाहिए। इसलिये वह मुझे गँवार कहता है और मैं उसे मूर्ख! वह इतना भी नहीं समझता कि एड़ी तक धोती बाँध कर, व्यक्ति न भाग सकता है, न दौड़ सकता है, न खेल सकता है!" सहसा भीम जैसे निद्रा से जागा, "अरे, मुझे तो खेलने जाना है। मैं तुम्हारी बातों में ही उलझ गया। तुम्हारी बातों की मोहिनी से बचना कठिन है माँ!"

वह भागता हुआ बाहर निकल गया।

भीम चला गया और उसे कदाचित स्मरण भी नहीं रहा कि वह माँ से क्या कह कर आया है; किन्तु कुन्ती को वह वैसे ही झकझोर गया, जैसे वह अपनी शक्ति को परखने के लिये वृक्षों को झकझोरा करता है...

हस्तिनापुर में प्रवेश से पहले, 'वर्धमान' द्वार के बाहर ही, यात्रा से थके आये, धूल-धूसरित उसके पुत्रों को देख कर, सुयोधन ने उन्हें 'गन्दा' कहा था, उनकी वेश-भूषा के प्रति अपनी वितृष्णा प्रकट की थी। वह आज भी भीम को गँवार कहता है। युधिष्ठिर और अर्जुन को क्या कहता होगा! नकुल और सहदेव तो अभी छोटे हैं...वह स्वयं को इन सबसे श्रेष्ठ मानता है, इसलिये कि वह हस्तिनापुर के राजसी वैभव में पला था और कुन्ती के पुत्र आश्रम के सात्विक वातावरण में वेश-भूषा अथवा आडम्बर के अन्य उपकरणों के प्रति निस्पृह रहे हैं...

कुछ दिन पूर्व सुयोधन अपने भाइयों, मित्रों और कुछ सेवकों के साथ इधर आ निकला था। जाने वह आगमन आकस्मिक था, वह किसी कार्यवश आया था, अथवा मात्र टीका-टिप्पणी करने की असभ्य इच्छा...

कुन्ती उस समय अपने बच्चों को भोजन करा रही थी। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन अपने-अपने आसनों पर बैठे, चौकियों पर अपने थाल रखे, स्वतन्त्र रूप से अपना भोजन कर रहे थे। नकुल और सहदेव को अपनी गोद में लिये, कुन्ती बारी-बारी कौर खिला रही थी।

"अरे! इनके पास कोई दास-दासी भी नहीं है, जो इनको भोजन परोस सके।" उस झुण्ड में से किसी ने कहा था।

"दास-दासी!" सुयोधन निर्द्वन्द्व भाव से बोला था, "पिताजी ने कृपा न की होती तो ये लोग पत्तलों में भोजन कर रहे होते। जिस समय हस्तिनापुर आये थे, क्या था इनके पास! वस्त्र भी तो वे ही पहन रखे थे, जो पिताजी ने हस्तिनापुर से भिजवाये थे। सर्वथा कंगले थे, ये वनवासी...."

वे लोग चले गये थे और कुन्ती को कई रातों तक नींद नहीं आयी थी।...कौन बोल रहा था वह सब, सुयोधन की जिह्वा से? स्वयं बालक सुयोधन? या उसकी जिह्वा से किसी और के शब्द उच्चरित होते हैं? इतने से बालक के मन में ये भाव कैसे आते होंगे? उसका तो युधिष्ठिर तक कभी इस प्रकार की बात न किसी के विषय में सोच सकता है, न कह सकता है। उन्होंने तो सदा ज्ञान, चरित्र और वय का सम्मान करना सीखा है। धन का होना, न होना—सुविधा और असुविधा का कारण हो सकता है, मान-अपमान का नहीं।....और सुयोधन यह कैसे मान बैठा है कि यह सब उसके पिता की सम्पत्ति है? उसे यह क्यों नहीं बताया गया कि यह कौरवों की सम्पत्ति है, जिसके सम्राट पाण्डु थे—और यह उसी पाण्डु का परिवार है।...क्यों उसे बताया नहीं गया कि सम्पत्ति का उत्तराधिकारी युधिष्ठिर है। वे लोग जिस सम्पत्ति का भोग कर रहे हैं, वह युधिष्ठिर की है; जिस अधिकार का प्रयोग कर रहे हैं, वह अधिकार युधिष्ठिर का है!...अपने राजप्रासाद में बैठे भावी सम्राट से कहा जा रहा है कि वह किसी की दया पर जीवनयापन कर रहा है...क्या धृतराष्ट्र और गान्धारी जानते हैं कि उनका सुपुत्र क्या कर रहा है, क्या कह रहा है?...

गान्धारी की एक दासी भीम को खोजती हुई आयी थी, "कहाँ है वह मोटा लड़का—भीम।"

कुन्ती को भीम के लिये यह विशेषण अच्छा नहीं लगा। पर कदाचित दासी को इसकी चिन्ता नहीं थी। उसने तो कुन्ती को भी किसी सम्मानजनक शब्द से सम्बोधित नहीं किया था। 'महारानी' अथवा राजपरिवार-सम्बन्धित किसी

अन्य आदरपूर्ण सम्बोधन की आवश्यकता तो उसने समझी ही नहीं थी; उसने तो 'आर्ये' या 'भद्रे' जैसे सामान्य सम्बोधन भी अनावश्यक मान लिये थे।

कुन्ती स्तब्ध थी : राजप्रासाद की एक साधारण दासी को इतना साहस कैसे हुआ कि वह भूतपूर्व सम्राट की पत्नी तथा भावी सम्राट की माता की इस प्रकार अवज्ञा करे। यह न तो उसका अज्ञान हो सकता है, न अपना दुस्साहस।...वैसे उसे इसकी आवश्यकता भी क्या है? जिसकी जिह्वा दिन-भर 'स्वामी' 'अन्नदाता' आदि सम्बोधनों को रटती रहती हो, उसे कुन्ती को इस प्रकार अपमानित करके क्या मिलेगा?...यह अवश्य ही किसी और की इच्छा है; और दासी के पीछे उसी व्यक्ति का बल भी है। कौन है वह?

कुन्ती ने अपना आक्रोश प्रकट नहीं होने दिया। शान्त स्वर में बोली, "किसे ढूँढ रही हो तुम—किसी मोटे लड़के को अथवा भीम को?"

"क्यों? भीम मोटा नहीं है क्या?"

"नहीं!" कुन्ती स्थिर वाणी में बोली, "वह बलिष्ठ है और इस वय में भी तुम जैसी अशिष्ट दासियों की ग्रीवा मरोड़ देने में समर्थ है।"

दासी न भयभीत हुई, न लज्जित। वह मौन भी नहीं रही। तुनक कर बोली, "जानती हूँ! अब कोई भी सुरक्षित नहीं है यहाँ। किसी की ग्रीवा मोड़ी जायेगी और किसी का सिर फोड़ा जायेगा। तुम लोग आ जो गये हो।"

"अपनी मर्यादा के भीतर रह।" कुन्ती का स्वर कुछ प्रखर हुआ।

"मर्यादा! ऊँह!" दासी और भी ऐंठ कर बोली, "जाने क्या समझते हैं स्वयं को! कहाँ से आ कर गले पड़ गये; और स्वयं को स्वामी ही समझने लग गये! राजाप्रसाद की सारी मर्यादाएँ ही नष्ट हो गयीं।" उसने घूर कर कुन्ती को देखा, "मैं कहे देती हूँ, अपने उस मोटे लड़के को समझा लो। अब यदि कभी उसने मेरे सुशासन पर हाथ उठाया, तो मैं भी उसका सिर फोड़ दूँगी। किसी की चिन्ता नहीं है मुझे!"

"तुम सुशासन की दासी हो?" कुन्ती का स्वर धीमा हो गया।

"मैं उसकी धात्री हूँ। दूध पिलाया है उसको मैंने अपना। उसका रक्त बहते नहीं देख सकती। हाँ! किसी गुमान में मत रहना।"

दासी बड़ी ठसक से मुड़ी और चली गयी।

दासी चली गयी और कुन्ती को दोहरी चिन्ता ने दबोच लिया : क्या सचमुच भीम ने सुशासन का सिर फोड़ दिया है? कुन्ती के मन में गान्धारी के पुत्रों के व्यवहार को ले कर चाहे कितना भी आक्रोश और विरोध हो; किन्तु यह उसने कभी नहीं चाहा कि उनमें इस प्रकार की शत्रुता पनपे कि वे एक-दूसरे के सिर फोड़ दें। इससे तो उनमें भाइयों का-सा स्नेह और सौहार्द कभी भी विकसित नहीं हो पायेगा। उल्टे दो पक्ष बन जायेंगे; वैर-विरोध बढ़ेगा। और यदि स्थिति मार-पीट की हो आयी तो भीम किस-किससे लड़ेगा? वे लोग तो अनेक हैं; फिर उनके दास-दासियाँ भी उनके साथ हैं। भीम के पक्ष से कौन लड़ेगा—युधिष्ठिर? उसकी तो वैर-विरोध, लड़ाई-झगड़े में वैसे भी कोई रुचि नहीं है...अर्जुन, नकुल और सहदेव अभी छोटे हैं।...बेचारा अकेला भीम किस-किससे लड़ेगा?...पर भीम इतना ऊधम मचाता ही क्यों है? इस प्रकार तो वह किसी-न-किसी झंझट में फँस ही जायेगा...

कुन्ती ऋृष्य शृंग से अपने घर आयी थी। किन्तु यह उसका घर है क्या? उसे चारों ओर अपने विरोधी-ही-विरोधी दिखायी पड़ते हैं।...एक सम्राट पाण्डु के न रहने से संसार में उसका कोई नहीं रहा। यदि वे होते तो कुन्ती के पुत्र इतने असुरक्षित होते? इस दासी का इतना साहस होता कि आ कर वह महारानी कुन्ती को अपमानित कर ऐसे धमका जाती, जैसे कोई किसी चाण्डाल को भी नहीं धमकाता...आज एक दासी ने इस प्रकार का व्यवहार किया है, कल दूसरी भी करेगी। और फिर...

कुन्ती अपने ऊहा-पोह में बैठी रह गयी : वह भीम की सुरक्षा का प्रबन्ध करे या उसके लौटने पर उसको धमकाए कि वह गान्धारी के पुत्रों से न लड़ा करे? किन्तु क्या भीम सचमुच किसी से लड़ता है? वह तो इतना अबोध है कि जैसे शुद्ध शैशव ही हो—सशरीर! किसी से वैर नहीं, विरोध नहीं। सब कुछ क्रीड़ा-ही-क्रीड़ा है। वह तो निश्छल पवन का एक झकोरा है, जो एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता। सदा गतिमान है। मार्ग में कोई आ जाये, तो वह दुलरा भी सकता

है, धकिया भी सकता है। कुन्ती नहीं चाहती कि उसके मन में वैमनस्य का अंकुर जड़ जमाये...

तभी अपनी सदा की मुद्रा में भीम भागता-दौड़ता आया : स्वेद से गीला और हाँफता हुआ, "माँ! माँ! जानती हो, आज सुशासन का सिर फट गया। उसे खेलना भी नहीं आता माँ! दौड़ता भी है तो न धरती देखता है न आकाश! वन्य-शूकर के समान सिर झुका कर भागता है और भागता ही चला जाता है। आज भी दौड़ा और वृक्ष की निचली शाखा से अपना सिर मार लिया। और फिर कितना रोया माँ!..."

कुन्ती मुग्ध भाव से चुपचाप उसे देखती रही : वह सचमुच ही निर्दोष है अथवा झूठी कहानियाँ गढ़ने में दक्ष हो गया है?

"ऐसे क्या देख रही हो माँ? क्या तुम्हें मेरा विश्वास नहीं है?"

"तूने नहीं मारा सुशासन को?"

"मैंने? अरे, मुझे पकड़ने के लिये ही तो वह भाग रह था।"

"बातें मत बना। तूने नहीं मारा?"

"हाँ! यदि मैं भीम के रूप में आगे-आगे भाग सकूँ और उसी समय एक बड़ा वृक्ष बन उसके मार्ग में खड़ा हो सकूँ, तब तो मैंने ही मारा उसे!" भीम बोला, "तुम सुशासन को ही बुला कर क्यों नहीं पूछ लेती हो माँ! कि उसे मैंने मारा है या उसने अपना सिर वृक्ष की शाखा से दे मारा है।"

"तो उसकी दासी मुझसे यह कह कर लड़ने क्यों आयी थी कि तूने सुशासन का सिर फोड़ दिया है?"

"इसलिये माँ! क्योंकि वह उस वृक्ष की माता को कोई उपालम्भ नहीं दे सकती थी।" भीम के आनन पर क्रोध झलका, "सुशासन का तो नहीं, किन्तु किसी दिन मैं उसकी उस धात्री कलिका का सिर अवश्य फोड़ दूँगा। प्रतिदिन कुछ-न-कुछ कहती रहती है : कभी कहती है कि हमारे आ जाने से राजाप्रसाद में मक्खियाँ बढ़ गयी हैं, कभी कहती है कि हमारे आ जाने के कारण उसके राजकुमारों को पीने के लिये पूरा दूध नहीं मिलता। भगवान की दया है कि यह नहीं कहती कि हमारे आ जाने से वायु और आतप की भी कमी पड़ रही है, उसके राजकुमारों को।" उसने रुक कर कुन्ती को देखा, "उसे तो प्रतिदिन किसी-न-किसी से झगड़ना ही होता है। मुझसे झगड़ ले, भैया से झगड़ ले; आज तुमसे झगड़ गयी।"

कुन्ती कुछ शान्त हुई : भीम कदाचित झूठ नहीं बोल रहा था। सम्भवतः उस दासी का स्वभाव ही ऐसा हो। अन्यथा राजाप्रसाद इतने संकीर्ण नहीं होते कि उसमें छह प्राणियों के आ जाने से स्थान की कमी हो जाये, या खाद्य-सामग्री का अभाव हो जाये।...न ही राजाओं के मन इतने संकुचित होते हैं कि परिवार के छः प्राणियों का पालन-पोषण उन्हें भारी पड़ने लगे। राजा की पाकशाला में तो प्रतिदिन सहस्रों ब्राह्मण भोजन कर जाते हैं, और राजा स्वयं को धन्य मानता है...किन्तु यदि उस दासी का स्वभाव ही ऐसा है, तो वह आज तक राजप्रासाद में टिकी कैसे हुई है? राजप्रासादों में दासियों की अशिष्टिता नहीं सही जाती। कशाघातों से उनकी पीठ छलनी कर दी जाती है...

किन्तु भीम तो कहता है यह युधिष्ठिर से भी झगड़ती है। युधिष्ठिर ने तो कभी चर्चा नहीं की!...पर युधिष्ठिर कोई चर्चा कहाँ करता है। वह तो जैसे इसी वय में माँ और भाइयों के लिये ढाल बनने के प्रयत्न में है। उसे आभास-भर हो जाये कि कोई चर्चा माँ को विचलित या आहत कर देगी, तो वह उस चर्चा को अपनी जिह्वा पर ही नहीं आने देगा।

सहसा कुन्ती का ध्यान अर्जुन की ओर चला गया।...भीम तो फिर भी भागता-दौड़ता आ जाता है, या कोई किसी उपालम्भ के व्याज से उसकी सूचना दे जाता है कि वह कहाँ है और क्या कर रहा है, किन्तु इस अर्जुन का तो कुछ पता नहीं लगता, किसी भी कोने में बैठा, कुछ सोचता रहता है।...जाने क्या करता रहता है...

कुन्ती उसे ढूँढने बाहर निकली तो देखा वह एक एकान्त वृक्ष के नीचे अकेला बैठा, ऊपर की ओर ताक रहा था।

कुन्ती के मन में जिज्ञासा हुई : क्या ताक रहा है, वह अकेला बैठा-बैठा?

"क्या ये लड़के तुम्हें अपने साथ नहीं खेलाते अर्जुन?"

वह कुछ अचकचा गया, जैसे उसका ध्यान भंग हो गया हो, "मैं स्वयं ही उनके साथ खेलने नहीं गया माँ।"

"पर क्यों?"

"उनमें से कोई मेरा मित्र नहीं है!"

"तो किसी को मित्र बना लो!"

"कोई इस योग्य नहीं लगा मुझे!" अर्जुन बोला, "उनमें से कोई ऐसा नहीं है माँ! जिस पर पूर्ण विश्वास किया जा सके। जिस पर पूर्णतः अवलम्बित रहा जा सके!"

"तो भीम कैसे खेलता है उनके साथ?"

"मध्यम का क्या है।...वह तो किसी के भी साथ खेल सकता है। किसी के साथ भी मित्रता कर सकता है, बिना यह विचार किये कि परिचय और मित्रता में भेद है।..."

"वह किसी के साथ भी घुल-मिल सकता है पुत्र!" कुन्ती ने समझाया, "मित्र तो ऐसे ही बनाये जाते हैं।"

"मुझे मध्यम के समान ढेर सारे मित्रों का करना ही क्या है!" अर्जुन बोला, "मुझे तो एक-आध अच्छा मित्र मिल जाये, तो वही बहुत है।"

जाने यह स्वयं को क्या समझता है—कुन्ती ने सोचा—बित्ते-भर का लड़का और मित्र के गुणों पर विचार कर रहा है।

"अच्छा! यहाँ बैठे क्या कर रहे हो?" कुन्ती ने पूछा।

"अभ्यास!"

"किस बात का?"

"एकाग्रता का!"

"एकाग्रता का?" कुन्ती को आश्चर्य हुआ, "वह क्यों?"

"लक्ष-वेध के लिये माँ!"

"एकाग्रता का लक्ष-वेध से क्या सम्बन्ध?" कुन्ती ने आश्चर्य से पूछा।

"गुरु जी कहते हैं," अर्जुन बोला, "कि जब बाण-सन्धान के लिये लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करो, तो लक्ष्य के अतिरिक्त और कुछ भी दिखायी नहीं देना चाहिए।"

"तुम्हारा और कोई भाई इस प्रकार एकाग्रता का अभ्यास नहीं करता।" कुन्ती ने कहा, "क्या उन्हें गुरु जी कुछ नहीं कहते?"

"कहते तो हैं!" अर्जुन बोला, "किन्तु उन लोगों को धनुर्धर नहीं बनना है।"

"क्यों? धनुष का संचालन तो वे भी करते हैं। बाण-सन्धान भी और लक्ष-वेध भी!"

बालक अर्जुन का आनन सहसा प्रौढ़ हो उठा, "बाण फेंकना और बात है माँ! और धनुर्धर बनना और! मुझे धनुर्धर बनना है।"

"तुम्हें और कुछ नहीं बनना—राजा? सेनापति? मन्त्री? योद्धा? विद्वान?"

"नहीं, मुझे केवल धनुर्धर बनना है माँ!"

"उससे क्या युद्ध कर विजय प्राप्त करोगे?"

"वह सब मैंने कुछ नहीं सोचा है। धनुर्विद्या का और कोई प्रयोजन मेरे मन में नहीं है। मैं तो धनुर्धारी होने के लिये ही धर्नुधर होना चाहता हूँ।" अर्जुन ने कहा, "गुरु जी कहते हैं कि कोई भी विद्या अपने आप में अपना प्रयोजन होती है, उसे किसी और प्रयोजन का हेतु मत बनाओ।"

कुन्ती को लगा, अर्जुन अपने सारे भाइयों से भिन्न है। युधिष्ठिर भी बहुत सोचता है। अनेक विषयों और प्रश्नों के विषय में सोचता है, और सत्य को खोजता है। किन्तु यह अर्जुन तो जैसे अपने-आपको संसार से काट कर, अपने भीतर ही रम जाना चाहता है...गहरे-और-गहरे...उसे सारे जगत का सत्य नहीं चाहिए, किन्तु अपना सत्य उसे पूरा चाहिए...

"तुझे सुशासन की दासी तो कुछ नहीं कहती?" सहसा कुन्ती ने विषय बदल दिया।

"सुशासन की दासी!" अर्जुन बोला, "वह कलिका! वह तो हम सबको कुछ-न-कुछ कहती ही रहती है माँ! किन्तु वह मेरे लिये बहुत उपयोगी है।"

कुन्ती को आश्चर्य हुआ : वह पिशाची इसके लिये कैसे उपयोगी है?

"वह जब अपनी बकवाद आरम्भ करती है, तो मैं उस समय अभ्यास करने लगता हूँ कि कैसे अपने आस-पास की विभिन्न ध्वनियों की ओर से स्वयं को बधिर बना कर अपने लक्ष्य की ओर एकाग्र हो कर देखा जा सकता है। युद्ध में भी तो अनेक ध्वनियाँ होती हैं, जो धनुर्धारी को विचलित कर सकती हैं। लक्ष-वेध के लिये, उन सबकी ओर से स्वयं को बधिर ही बनाना पड़ता है माँ! ऐसा गुरु जी कहते हैं।"

"तू तो कीचड़ में से कमल खिला रहा है रे!" कुन्ती को उस पर प्यार आ गया, "शेष लोग भी तेरे जैसे हो जायें तो फिर झगड़ा ही क्या!" कुन्ती ने रुक कर कहा, "अच्छा! इतने एकाग्र मत हो जाना कि फिर भोजन ही विस्मृत हो जाये। समय से भोजन के लिये आ जाना!"

"अच्छा माँ!"

सन्ध्या समय विदुर आया।

कुन्ती जानती थी कि आवश्यकता होने पर हस्तिनापुर में वह दो ही व्यक्तियों से अपने मन की कोई बात कह सकती थी : एक पितृव्य भीष्म और दूसरा देवर विदुर। पितृव्य बड़े थे : सम्बन्ध में श्वसुर और वय की दृष्टि से प्रायः पितामह! उनके पास दैनन्दिन की साधारण बातें ले कर नहीं जाया जा सकता था। किन्तु, विदुर देवर था। वय और विचारों—से भी अनुकूल। उससे भी चर्चा नहीं करेगी, तो कदाचित कुन्ती का मस्तक फट जायेगा। जीवन में ऐसा बहुत कुछ है, जो कुन्ती चुपचाप पी जाती है; बहुत कुछ जो गोपनीय है, वह छिपाये भी रख सकती है; किन्तु अपमान का यह घूँट, कुन्ती के लिये हलाहल हो रहा था। इसे निगलने से अच्छा था कि वह उगल ही दे। कहीं ऐसा न हो कि इसे पचाने के प्रयत्न में वह नीलकण्ठ ही हो जाये....

विदुर ने सारी घटना सुनी और कुछ सोचता रह गया। कुन्ती उसकी ओर देखती रही : क्या सोच रहा है विदुर?

"भाभी!" अन्ततः वह बोला, "राजा धृतराष्ट्र या गान्धारी ने उसे आपका अपमान करने के लिये भेजा हो, अथवा उसे उकसाया हो—ऐसा तो मैं नहीं समझता। उन्हें इस घटना की सूचना हो ही, यह भी आवश्यक नहीं है। किन्तु..."

"किन्तु क्या विदुर?"

"मुझे ऐसा लगता है कि वे लोग अपने व्यवहार अथवा वार्तालाप से ऐसा आभास अवश्य देते होंगे कि उनके मन में आपके लिये कोई सम्मान नहीं है। आप लोग उन पर बलात आरोपित हैं।...तभी तो वह दासी ऐसा दुस्साहस कर पायी।...और मेरा तो यह भी अनुमान है कि यदि इसकी सूचना उन्हें हो भी जाये, तो वे लोग उस दासी को कोई दण्ड भी नहीं देंगे।"

"कारण?"

"वे नहीं चाहते कि हस्तिनापुर में आपका निवास सुविधापूर्ण और सम्मानजनक हो।"

"पर क्यों?"

कुछ देर तक विदुर जैसे किसी असमंजस में कुन्ती की ओर देखता रहा; और फिर बोला, "क्या आप सचमुच नहीं समझतीं?"

"कुछ समझती तो हूँ!" कुन्ती बोली, "किन्तु चाहती हूँ कि कोई और भी उसकी पुष्टि करे कि मेरा अनुमान सत्य है अथवा नहीं!"

"भाभी! पाण्डु के हस्तिनापुर में न रहने से धृतराष्ट्र को बहुत लाभ हुआ है।"

"देख ही रही हूँ!"

"यदि आप लोग भी हस्तिनापुर में न रहें तो धृतराष्ट्र की अगली पीढ़ी को भी उतना ही लाभ होगा।"

"तो फिर मेरा अनुमान सत्य है।"

विदुर कुछ नहीं बोला। बैठा, शून्य में देखता रहा, जैसे अभी कुछ कहना शेष हो। फिर बोला, "मुझे तो कुछ और गहरे षड्यन्त्रों का आभास मिल रहा है। मैं चाहता हूँ कि आप उन सबसे भी सावधान रहें।"

कुन्ती की आँखें, विदुर के चेहरे पर टँग गयीं।

विदुर का वर्ण साँवला था। ललाट प्रशस्त था। आँखें छोटी थीं, किन्तु भँवें पर्याप्त सघन थीं। नासिका उठी हुई किन्तु पर्याप्त स्थूल थी। वह किसी भी प्रकार सुन्दर नहीं था; किन्तु उसके आनन पर करुणा का भाव था। वह करुणा उसके प्रति आत्मीयता जगाती थी। विदुर का व्यक्तित्व शुद्ध और सरल था। सर्वथा ऋजु! उसमें कहीं कोई दुराव अथवा जटिलता नहीं थी। वह भीतर-बाहर से एक था। न किसी के प्रति झूठी सहानुभुति जताता था, न किसी की झूठी प्रशंसा करता था। यदि उसे किसी षड्यन्त्र का आभास मिला है, और वह उसके प्रति कुन्ती को सावधान कर रहा है, तो कुन्ती को उसका विश्वास करना चाहिए और सावधान हो जाना चाहिए।

"शकुनि अपने वार्तालाप में युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन के लिये कौन्तेय शब्द का प्रयोग करता है। नकुल और सहदेव को वह माद्रेय कहता है; और इन पाँचों भाइयों की एक साथ चर्चा करनी हो, तो वह इन्हें पाण्डव कहता है।" विदुर ने थम कर कुन्ती को देखा।

"तो इसमें असत्य क्या है?" कुन्ती समझ नहीं पा रही थी कि विदुर किस षड्यन्त्र की चर्चा कर रहा है।

"इसकी तुलना में वह धृतराष्ट्र के पुत्रों का धृतराष्ट्र अथवा गान्धारी के नाम पर नामकरण नहीं करता। उन्हें वह कौरव कहता है।"

कुन्ती की आँखों के सम्मुख से जैसे कोई अन्धकार हट गया।

"समझ रही हैं भाभी?"

"समझ रही हूँ विदुर। वह दुष्ट मेरे पुत्रों को कौरव वंश के उत्तराधिकारी ही स्वीकार नहीं करना चाहता।"

"इतना ही नहीं," विदुर बोला, "वह कौन्तेयों और माद्रेयों में भी पृथकता की खाई खोदना चाहता है।"

कुन्ती सर्वथा निस्तेज-सी हो गयी : उसके ये अबोध बालक इन धूर्तों से कैसे पूरे पड़ेंगे। इससे तो अच्छा था कि वे लोग उन सात्विक ऋषियों के मध्य ऋष्य शृंग के आश्रम में ही रहते। न बनते उसके पुत्र राजकुमार, किन्तु इस प्रकार के नीच लोगों से अपनी सुरक्षा के लिये उन्हें निरन्तर चिन्तित तो नहीं रहना पड़ता।

"मैंने बहुत सूक्ष्मता से निरीक्षण किया है," विदुर पुनः बोला, "जब वह धृतराष्ट्र के सम्मुख इस प्रकार की चर्चा करता है, तो धृतराष्ट्र उसे कभी नहीं टोकता। मुझे लगता है कि उसे हतोत्साहित करना तो दूर, उल्टे वह उसे प्रोत्साहित करता है...।" विदुर, कुन्ती की चिन्ता देख कर कुछ संकुचित हुआ, "मैंने केवल आपको सावधान करने के लिये चर्चा कर दी है; आप चिन्ता न करें। अभी महाराज धृतराष्ट्र इतने शक्तिशाली नहीं हुए हैं कि पितृव्य भीष्म की इच्छा के विरुद्ध वे हस्तिनापुर का राज्य हस्तगत कर लें।"

"पितृव्य क्या सोचते हैं?"

"पितृव्य जिस प्रकार धृतराष्ट्र को महाराज विचित्रवीर्य का क्षेत्रज पुत्र स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार वे इन पाँचों भाइयों को महाराज पाण्डु के पुत्र मानते हैं।"

लगा, कुन्ती की चिन्ता कुछ कम हुई।

"अब तो पितृव्य का ही सहारा है।" वह बोली।

दासी ने आ कर कुन्ती को विधिवत प्रणाम किया।

कुन्ती को आश्चर्य हुआ। सुशासन की धात्री के उस व्यवहार के पश्चात कुन्ती ने कभी यह कल्पना भी नहीं की थी कि हस्तिनापुर के राजप्रासाद की कोई दासी उसके साथ इस प्रकार के शिष्टाचार का निर्वाह करेगी।

"क्या बात है?"

"देवी को महारानी गान्धारी ने स्मरण किया है।" दासी बोली, "यदि आपको असुविधा न हो, तो कृपया मेरे साथ चलें। महारानी प्रतीक्षा कर रही हैं।

कुन्ती के मन में जैसे कोई वक्रता से मुस्कुराया : 'अब कुन्ती देवी हो गयी और गान्धारी महारानी।' किन्तु फिर उसने स्वयं को शान्त किया : कुन्ती 'देवी' तो हुई, नहीं तो सुशासन की धात्री ने तो 'आर्या' भी नहीं रहने दिया था।

"कोई विशेष प्रयोजन?"

"महारानी ने ऐसा कोई संकेत नहीं दिया है।"

"तुम बाहर प्रतीक्षा करो! मैं अभी आती हूँ।"

प्रसाधन की दृष्टि से कुन्ती को कोई विशेष तैयारी नहीं करनी थी; किन्तु उसके लिये मानसिक तैयारी बहुत आवश्यक थी : आज महारानी गान्धारी ने उसे कैसे स्मरण कर लिया।...गान्धारी के साथ कुन्ती का कभी कोई विशेष सम्पर्क नहीं रहा। विवाह के पश्चात जब कुन्ती हस्तिनापुर में आयी थी, तब, पहले विवाह के समारोहों और बाद में पाण्डु के व्यवहार ने कभी इतना अवसर ही नहीं दिया कि वह निर्बंध और सहज वातावरण में गान्धारी से मिलती और उसे जानने का प्रयत्न करती। उसके पश्चात पाण्डु की दिग्विजय और मृगया का चक्र आरम्भ हो गया; और कुन्ती हस्तिनापुर ही छोड़ गयी। पुनः हस्तिनापुर लौटने तक गान्धारी महारानी हो चुकी थी और स्वेच्छा से उसके निकट जाने का अधिकार कुन्ती के पास बचा ही नहीं था।

अब गान्धारी ने बुलाया है, तो कुन्ती को जाना ही चाहिए। समान धरातल पर नहीं तो छोटे-बड़े के धरातल पर ही सही; किन्तु पारिवारिक सम्बन्ध तो है...

"चलो!" कुन्ती बाहर निकल आयी।

कुन्ती ने गान्धारी को प्रणाम किया।

गान्धारी के चेहरे पर एक शिष्ट मुस्कान उभरी, "आओ कुन्ती! कितने दिन हो गये, मैं सोचती ही रही कि तुम आओगी, तुम आओगी; किन्तु तुम तो आयी ही नहीं। क्या मुझसे मिलने का मन नहीं होता?"

कुन्ती, स्नेह के प्रदर्शन की उपेक्षा न कर सकी। उसका तना मन कुछ ढीला हुआ, "आप इस प्रकार कैसे सोच सकती हैं दीदी!" वह मधुर भाव से बोली, "घर का काम है...।"

"तुम्हारे पास दासियाँ नहीं हैं?"

भौचक-सी कुन्ती, गान्धारी के चेहरे की ओर देखती रह गयी : क्या वह नहीं जानती कि कुन्ती के पास अपने लिये एक भी दासी नहीं है। प्रासाद की दासियाँ ही गान्धारी के आदेश पर कोई कार्य कर आयें, तो कर आयें...सम्भव है कि गान्धारी को कुछ ज्ञात ही न हो। वह बेचारी तो आँखों पर पट्टी बाँध कर अपने कक्ष में बैठी है। उसके आस-पास दास-दासियों के झुण्ड हैं। उसका कोई काम रुकता नहीं है। उसे कैसे ज्ञात होगा कि कुन्ती अपने उस दो कक्षों वाले खण्ड में कैसे निर्वाह कर रही है...कुन्ती को लगा, उसकी स्थिति उस निर्धन सम्बन्धी की-सी है, जो समानाधार पर मिलने के लिये अपने किसी ऐसे अत्यन्त धनी सम्बन्धी के घर चला आया हो, जो निर्धनता की समस्या को समझता ही न हो।

"बच्चे भी तो हैं।" कुन्ती जैसे अपना स्पष्टीकरण दे रही थी।

"मुझसे अधिक हैं क्या?" गान्धारी जैसे परिहासपूर्वक मुस्कुराई; किन्तु कुन्ती के देखते-देखते ही उसके चेहरे पर कटुता बिखरी और वह कटुता विषाद में परिणत हो गयी।

कुन्ती के मन में अनेक प्रश्न कुलबुला रहे थे : गान्धारी के मन का रहस्य क्या है?...और कुन्ती को पहली बार लगा कि किसी के माथे, कपोल और अधरों से कितना भी अभिव्यक्त क्यों न हो; आँखें बन्द हों तो सम्प्रेषण हो नहीं सकता। गान्धारी के सारे रहस्य तो उसकी बन्द आँखों के बन्दी थे। उसके अधर कुछ कहते भी थे, तो वे अर्धोन्मीलित भाव और भी रहस्यपूर्ण हो जाते थे।

"अधिक तो आपके ही हैं।" अन्ततः कुन्ती बोली, "किन्तु मुझे तो यहाँ आस-पास एक भी नहीं दिखता। मेरे

बालक तो जैसे मेरे घुटनों से चिपके रहते हैं।"

"मैं उन्हें अपने निकट बहुत अधिक नहीं रहने देती।" गान्धारी बोली, "दासियाँ और धात्रियाँ ही देखभाल करती हैं उनकी। या फिर वे कृपाचार्य की देख-रेख में रहते हैं।..."

कुन्ती को सुशासन की धात्री स्मरण हो आयी, जैसे अनायास ही उसके मुख से निकल गया, "हाँ! कुछ दिन हुए, सुशासन की धात्री मुझसे भी झगड़ा करने आयी थी।"

किन्तु इस चर्चा से गान्धारी के चेहरे पर कुन्ती द्वारा अपेक्षित एक भी भाव नहीं उभरा।

"हाँ! वह है ही झगड़ालू!" गान्धारी ने झगड़े की चर्चा को ऐसे उड़ा दिया, जैसे कोई बिना सोचे-समझे, अनायास, भटक आयी किसी मक्खी को उड़ा देता है। उसे एक क्षण को भी नहीं लगा कि किसी दासी का कुन्ती से लड़ने जाना, उसके लिये अपमानजनक भी हो सकता है, "उसे सुशासन के सम्मुख और कोई सूझता ही नहीं। उसके लिये किसी से भी लड़ लेती है। सिर चढ़ी है और क्या!"

कुन्ती चुपचाप गान्धारी को देखती रही : इस वक्तव्य के पश्चात उसके पास कहने को रह ही क्या गया था।

"तुम्हारे तो तीन ही बालक...।"

"तीन नहीं पाँच!" कुन्ती ने गान्धारी को वाक्य पूरा नहीं करने दिया।

"किन्तु दो तो माद्री के हैं न!" गान्धारी धृष्टतापूर्वक बोली।

"नहीं देवि! अब वे भी मेरे ही हैं।" कुन्ती का स्वर जैसे प्रतिक्रिया में कठोर हो गया, "उनमें किसी प्रकार का भेद सम्भव नहीं है।"

"मैं तो समझ रही थी कि अब तुम हस्तिनापुर में आयी हो तो मेरा कुछ हाथ बँटाओगी। मैंने तुम्हारी प्रबन्ध-पटुता की बहुत प्रशंसा सुनी है कुन्ती।"...गान्धारी अपने प्रवाह में कहती चली गयी, "मेरे पति प्रज्ञाचक्षु हैं। मैंने स्वयं आँखों पर पट्टी बाँध ली है। बालक अभी इस योग्य हैं नहीं। सारी व्यवस्था दास-दासियों पर ही छोड़नी पड़ती है। परिवार का कोई व्यक्ति देखने वाला हो तो प्रासाद की व्यवस्था ही और ढंग की हो जाती है।"...

"मैं नहीं थी तो क्या," कुन्ती अत्यन्त शालीन स्वर में बोली, "विदुर और पारंसवी तो थे यहाँ! वे आपके सहायक हो सकते थे।"

लगा, कुन्ती ने जैसे कोई अभद्र बात कह दी हो। गान्धारी के चेहरे पर प्रकट हुए विकार को विलीन होने में कुछ समय लगा। इस बार गान्धारी बोली तो उसका स्वर कुछ अधिक ही आत्मीय था, "विदुर हमारे परिवार का व्यक्ति कैसे हुआ? पारंसवी मेरे लिये तुम्हारे तुल्य कैसे हो सकती है। दासी मर्यादा को मैं अपनी सास मान लूँ क्या?"

कुन्ती हतप्रभ नहीं हुई। बोली, "मुझे तो यही बताया गया है कि माता अम्बिका ने विदुर-माता को सदा अपनी सहोदरा का-सा सम्मान दिया है। महामुनि तथा पितृव्य भीष्म ने भी कभी इन तीनों भाइयों में कोई भेद नहीं किया है।..."

"और कुन्ती!" गान्धारी ने कुन्ती को अपने पक्ष में और तर्क एकत्रित करने नहीं दिये, "माता अम्बिका पुरानी पीढ़ी की महिला थीं। उन लोगों को न तो अपने परिवार की उच्चता का ध्यान था, न अपने पद का। जाने क्यों दास-दासियों में इतनी रुचि होती थी उनको। हमारे गान्धार में तो दास-को-दास ही माना जाता है।" गान्धारी बिना रुके बोलती चली गयी, "जहाँ तक पितृव्य का प्रश्न है, उनका अपना तो कोई है नहीं। उन्हें क्या पड़ी है कि अपने-पराये में कोई भेद करें। महामुनि तो वीतराग संन्यासी हैं, उन्हें तो सारी सृष्टि एकसमान दिखायी पड़ती है।"

"उनके तो तीनों ही औरस पुत्र हैं।" कुन्ती कहे बिना न रह सकी।

"किन्तु उसकी माता तो दासी ही थी न!" गान्धारी बोली, "पिता एक हो तो भी माता के भेद से पुत्रों में भेद करना ही पड़ता है। अब महाराज के लिये सुयोधन और युयुत्सु एक तो नहीं हो सकते। इतनी दासियाँ उनकी सेवा करती हैं; किन्तु वे उनकी रानियाँ तो नहीं हो सकतीं।"

कुन्ती की बुद्धि ने बहुत कहा कि वह इस तर्क-वितर्क में न पड़े; किन्तु वह अपनी आहत भावना का क्या करती। बोली, "आर्यपुत्र ने विदुर को सदा अपना भाई ही माना है। मैं भी उन्हें कुछ और नहीं मान पाती।"

"पाण्डु अपनी इस भूल के कारण इतना अशान्त और विचलित रहा।" गान्धारी निर्द्वंद्व भाव से बोली, "विदुर आध्यात्मिकता का बहुत चर्वण करता है न! स्वयं तो राजप्रासादों से तनिक भी दूर नहीं होना चाहता और पाण्डु को सदा ही संन्यास का मन्त्र दे कर कभी हस्तिनापुर में टिकने नहीं दिया। उसी के विकृत चिन्तन के कारण, पाण्डु कभी सुख से हस्तिनापुर में निवास नहीं कर सका।"

कुन्ती का मन हो रहा था कि वह चीत्कार कर कहे कि मैं जानती हूँ कि पाण्डु को किसने हस्तिनापुर में टिकने नहीं दिया; और स्वयं पाण्डु क्यों राजप्रासादों से भागता फिरा। किन्तु कहने का लाभ क्या था! गान्धारी यदि कुन्ती को बहकाने का प्रयत्न नहीं भी कर रही थी, तो भी यह उसकी अन्धी आँखों और संकीर्ण तथा स्वार्थी मन का सत्य था। वह कुन्ती के लिये सर्वथा अग्राह्य था। वह गान्धारी के सत्य को असत्य में नहीं बदल सकती थी; और कुन्ती उस असत्य को स्वीकार नहीं कर सकती थी...

सहसा कुन्ती ने विषय बदल दिया, "आप मुझे सहायता के लिये निर्देश दे रही थीं।"

विषय-परिवर्तन गान्धारी को रुचा नहीं; किन्तु बलात वह भी स्वयं को वहाँ से खींच लायी, "मैं देख तो नहीं सकती, किन्तु मुझे बताया गया है कि जिन परिचारिकाओं को प्रासाद के प्रसाधन और अलंकरण का दायित्व सौंपा गया है, या तो उनमें क्षमता ही नहीं है, या फिर उनकी रुचि प्रासाद से अधिक महाराज के प्रसाधन में है। इसलिये हमारे प्रासाद का अलंकरण कुरुकुल के गौरव के अनुकूल नहीं है। मैं चाहती हूँ कि यह कार्य स्वयं कुरुकुल की रानी की रुचि के अनुकूल, उसके निर्देशन में हो। सारी दासियाँ, परिचारिकाएँ तथा सज्जाकार तुम्हारी आज्ञा का पालन करेंगे।"

कुन्ती जैसे क्षण-भर में ही भोजपुर में पहुँचे गयी। राजा कुन्तीभोज का सारा प्रासाद न केवल कुन्ती के सौन्दर्य-बोध से सज्जित होता था; वहाँ की प्रत्येक गतिविधि कुन्ती के मनोनुकूल उसकी आज्ञाधीन होती थी। वहाँ का जीवन जैसे कुन्ती के अपने व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब ही था। इसी सुरुचि, व्यवस्था-चातुर्य तथा प्रबन्ध-पटुता के ही कारण दुर्वासा के आतिथ्य का दायित्व भी अबोध कुन्ती के कंधों पर डाल दिया गया था।...और कुन्ती आज भी अपने हृदय में एक घाव लिये जी रही है। इसी हस्तिनापुर में कहीं है वह। उसका देव-शिशु!...कैसा होगा वह? कितना बड़ा हो गया होगा?...

"क्या कहती हो कुन्ती?"

कुन्ती अपनी क्षणिक निद्रा से जागी, "जैसी आपकी इच्छा दीदी! जैसी आपकी आज्ञा।"

कुन्ती अपने आवास पर लौटी तो विचित्र प्रकार की मन:स्थिति में थी। जाने कैसे तो एक मदिर उल्लास का अनुभव कर रही थी, जिससे मन-ही-मन बहुत हल्का अनुभव कर रही थी; और दूसरी ओर उसका अपना ही मन उस उल्लास पर एक प्रश्नचिह्न लगा रहा था। ऐसा क्या मिल गया था उसे, जिसे वह उपलब्धि मान कर प्रसन्न हो?...बहुत टटोलने पर वह इतना ही समझ पायी थी कि वह प्रसन्न थी कि गान्धारी ने उसकी ओर आत्मीयता का हाथ बढ़ाया था। उसे परिवार के सदस्य के रूप में मान्यता दी थी। उसे हस्तिनापुर के राजप्रासाद में कुछ-कुछ वैसा अधिकार मिलने जा रहा था, जैसा उसे भोजपुर के राजप्रासाद में प्राप्त था। इतना अधिकार तो उसे सम्राट पाण्डु की पत्नी बन कर भी नहीं मिला था, जितना गान्धारी ने अकस्मात ही दे डाला था...

किन्तु मन का दूसरा स्वर कहता था : इसमें प्रसन्न होने की क्या बात थी। हस्तिनापुर के राजप्रासाद पर स्वामित्व तो उसका अपना अधिकार था ही। उसके लिये गान्धारी की मान्यता की क्या आवश्यकता थी? गान्धारी ने उसे अधिकार दिया नहीं है; वरन उसके अधिकांश अधिकारों से वह उसे वंचित किये बैठी है... सन्ध्या समय कुन्ती ने विदुर और पारंसवी से मिलने जाने की तैयारी की। हस्तिनापुर में और ऐसा कौन था, जिससे वार्तालाप कर वह अपने मन के द्वन्द्व से मुक्त हो सके।...जाने क्यों आज सहसा उसे अपनी सास की याद आ रही थी। अम्बालिका ने कहा था कि वह उसे सुख तो नहीं दे सकती, पर उसका दुख अवश्य बाँट सकती है...आज कुन्ती को लग रहा था कि सत्यवती, अम्बिका और अम्बालिका का हस्तिनापुर छोड़ कर जाना कुन्ती के हित में नहीं था। वे इसी राजप्रासाद में होतीं, तो कदाचित कुन्ती न तो इतनी अकेली होती, न इतनी असहाय! उनके वर्तमान होने पर कदाचित उसे लगता कि वह अपने ससुराल में है—अपने पति के घर! किन्तु उन सबके चले जाने से जैसे अकस्मात ही सारा हस्तिनापुर धृतराष्ट्र और गान्धारी का हो गया था।...हाँ! पितृव्य भीष्म अभी हैं, किन्तु उन्हें कुन्ती क्या कहे।...

भीम और अर्जुन खेलने के लिये बाहर गये हुए थे। युधिष्ठिर बैठा, किसी पोथी के पृष्ठ उलट रहा था। कुन्ती को

लगा, वह पढ़ नहीं रहा—कुछ खोज रहा है।

"क्या खोज रहा है तू युधिष्ठिर?" वह पूछे बिना नहीं रह सकी।

युधिष्ठिर ने पोथी पर से औचक ही सिर उठाया, जैसे माँ का प्रश्न वह समझ न पाया हो। क्रमश: उसकी आँखों के धुँधलके कुछ साफ हुए। धीरे से बोला, "माँ! मैं खोज रहा हूँ कि सत्य क्या है?"

कुन्ती के मन में थोड़ी खीझ जागी : यह इतना-सा लड़का, इतने बड़े-बड़े प्रश्नों से क्यों उलझा रहता है। संसार में इतने और लोग भी तो हैं—किसी को सत्य-सन्धान की आवश्यकता नहीं है। कोई राज्य को खोज रहा है, कोई अधिकार को; कोई धन को, कोई यश को; कोई सुख को; कोई भोग को; और यह बैठा सत्य को खोज रहा है...

"क्या आवश्यकता है तुझे सत्य की?" स्वर में हल्का-सा विरोध था।

"क्योंकि सत्य ही धर्म का मार्ग दिखाता है।" युधिष्ठिर पूरी निष्ठा से बोला।

"धर्म का क्या करेगा तू?" इस बार स्वर में विरोध नहीं, परिहास था।

"आचार्य कहते हैं, धर्म ही संसार को धारण करता है।" वह बोला, "अधर्म इसका क्षय करता है। मानव का जन्म सृष्टि के क्षय के लिये नहीं, उसे धारण करने के लिये हुआ है।"

कुन्ती का मन कुछ हल्का हो आया, "अच्छा है पुत्र! तू धर्म का सन्धान कर। तेरे पितामह भीष्म, महामुनि व्यास और तेरे काका विदुर भी इसी कार्य में लगे हैं। मैं व्यापक मानवीय धर्म तो नहीं खोजती, किन्तु अपने व्यक्तिगत धर्म का शोध मैं भी करती आयी हूँ।...अच्छा!" उसने एक बार पूछा, "मैं तेरे विदुर काका के घर जा रही हूँ। नकुल और सहदेव को साथ ले जाऊँ, या तेरे पास छोड़ जाऊँ?"

युधिष्ठिर एक क्षण के लिये मौन रहा, जैसे निर्णय न कर पा रहा हो; फिर बोला, "जैसी तुम्हारी इच्छा माँ! किन्तु काका से मिलने को मैं भी उत्सुक हूँ।"

"तो तू भी चल!"

विदुर अपने परिवार के साथ राजप्रासाद के परिसर में ही एक पृथक छोटे भवन में रहता था। उसके जन्म के समय उसकी माता को दासत्व से मुक्त करते हुए यह आवास दिया गया था।

भवन के सामने अनेक बालक खेल रहे थे। उनमें विदुर के बच्चे भी थे। नकुल और सहदेव जा कर उनमें ही मिल गये।

"आइये! आइये!" पारंसवी ने उनका स्वागत किया, "आज तो युवराज भी आये हैं।"

"युवराज!" अनायास ही कुन्ती के चेहरे पर कटुता उभरी।

उन्हें बैठा कर जब विदुर और पारंसवी भी बैठ गये तो कुन्ती बोली, "आज मुझे महारानी गान्धारी ने बुलाया था।"

"प्रासाद में बड़ी चर्चा है इस बात की!" पारंसवी मुस्कुरायी, "जाने कितनी ही दासियाँ यह समाचार मुझे दे गयी हैं।"

"अच्छा!" कुन्ती को आश्चर्य हुआ, "क्या यह इतनी महत्वपूर्ण घटना है?"

"राजप्रासादों में महत्व का गणित बहुत विचित्र है भाभी।" विदुर बोला, "यहाँ किसी दास-दासी अथवा सामान्य नागरिक की हत्या का कोई महत्व नहीं है; किन्तु अपने प्रकोष्ठ से निकल कर आपका महारानी के प्रकोष्ठ मे जाना अथवा यहाँ आना अधिक महत्वपूर्ण है। आपके यहाँ आने की सूचना अब तक सारे हस्तिनापुर में प्रचारित हो चुकी होगी!"

"इस प्रचार का तो मुझे पता नहीं, किन्तु महत्व का गणित यहाँ सचमुच विचित्र है।" पारंसवी मुस्कुरायी, "तुम बताओ भाभी! महारानी के वार्तालाप से तुम्हारे महत्व में वृद्धि हुई अथवा उसमें न्यूनता आयी?"

सहसा विदुर ने युधिष्ठिर की ओर देखा, "तुम मेरे ग्रन्थागार में जाओ पुत्र! सम्भव है कि तुम्हें अपनी रुचि का

कोई अच्छा ग्रन्थ मिल जाये। यहाँ बैठ कर तुम्हें तनिक भी लाभ नहीं होगा! मैं अभी वहीं आ जाऊँगा।"

युधिष्ठिर उठ गया। कुन्ती को अच्छा लगा। विदुर ने उचित क्षण पर उसे भीतर भेज दिया था...

"मैं स्वयं यह निर्णय नहीं कर पायी हूँ।" कुन्ती ने पारंसवी के प्रश्न के उत्तर में कहा।

"महारानी ने तुम्हें राजप्रासाद की व्यवस्था सौंप कर तुम्हारा महत्व बढ़ाया; और दासियों को यह सूचना दे कर कि उन्होंने प्रासाद की व्यवस्था के लिये प्रबन्ध-पटु मुख्य दासी के स्थान पर कुन्ती की नियुक्ति कर दी है, तुम्हारा समस्त महत्व ध्वस्त कर दिया।" पारंसवी आक्रोश-शून्य नहीं थी, "इस गणित को क्या कहोगी भाभी?"

कुन्ती का मन जैसे एकदम बुझ गया : इस सारे परिवेश में कहीं कुछ ऐसा था जो कुन्ती के अधिकार का निषेध कर रहा था।

"इन बातों से मन दुखी न कीजिए भाभी!" विदुर बोला, "यह तो राजप्रासाद की राजनीति का प्रसाद है।... अच्छा!" वह उठ खड़ा हुआ, "मैं युधिष्ठिर को देख आऊँ!"

"काका!" युधिष्ठिर ने विदुर से पूछा, "वय में बड़े लोग आदरणीय होते हैं?"

"हाँ पुत्र! हम वय को उसका सम्मान अवश्य देते हैं।"

"क्या हमें उन आदरणीय लोगों की अनीति पर विचार करने का अधिकार है?"

"अवश्य पुत्र! यदि हम वृद्धों की अनीति का तिरस्कार नहीं करेंगे, तो युवकों में नीति का संचार कहाँ से होगा।" विदुर का स्वर गम्भीर था, "अपनी अगली पीढ़ी को अनीति का संस्कार देने वाले अदूरदर्शी लोग यह देख नहीं पाते कि वे उन्हें विष-पान करा रहे हैं, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम मृत्यु ही है। युवा पीढ़ी को यदि जीवन चाहिए, तो उसे वृद्धों की अनीति का तिरस्कार करना ही होगा।"

"इसे अविनय तथा उद्दण्डता नहीं माना जायेगा?"

कुछ कहने से पूर्व विदुर को सोचना पड़ा, "नीति और वृद्ध में से किसी एक का तिरस्कार करना अनिवार्य हो जाये तो युवक नीति का तिरस्कार न करे!"

उसने रुक कर युधिष्ठिर को देखा, "जीवन, विनय से भी बड़ा है पुत्र।"

2

भीष्म को समाचार मिला; और उन्हें लगा कि वर्षों की साधना से अनुशासित उनका मन सहसा सर्वथा अमर्यादित हो उठा है। इतने उद्विग्न तो इधर वे वर्षों से नहीं हुए थे। इच्छा हुई कि इसी समय जा कर, धृतराष्ट्र की बाँह पकड़ कर उसे राज सिंहासन से उठा दें, उसका किरीट उससे छीन लें और कहें, 'नराधम! तू कुरुओं के इस सिंहासन के सर्वथा अयोग्य है। तुझे प्रजा-पालन नहीं आता। तुझसे न्याय की रक्षा नहीं हो पायेगी। तू केवल अपने स्वार्थ के लिये जीवित है। और ऐसा व्यक्ति भरत, नहुष, ययाति और शान्तनु के उत्तराधिकारी के रूप में भरतों के इस पवित्र सिंहासन पर बैठने के योग्य नहीं है।"

इस समय इस दृष्टिहीन धृतराष्ट्र के लिये उनके मन में तनिक भी सहानुभूति नहीं थी। उन्होंने अपने हाथों उसका पालन-पोषण क्या इसलिये किया था कि वह अनीति और अत्याचार का उपकरण बने। विधाता ने उसे दृष्टि नहीं दी, बुद्धि तो दी है। देख नहीं सकता, विचार तो कर सकता है।....और फिर स्वयं भीष्म बैठे हैं, मन्त्रिगण हैं...नगर के ब्राह्मण हैं, आचार्य हैं, ऋषि-मुनि हैं। कर्म से पहले विचार होना चाहिए; किसी से तो मन्त्रणा की जानी चाहिए...जिससे अपने कुटुम्ब...अपने भाई के परिवार का पालन नहीं हो सकता, वह प्रजा का पालन क्या करेगा....

वे भवन के बाहर आये। रथ तैयार खड़ा था। वे बिना कुछ कहे, रथारूढ़ हुए। सारथि ने अश्व हाँक दिये। रथ जब मुख्य पथ पर आ गया, तो उसने मुड़ कर पूछा, "आर्य, कहाँ जायेंगे?"

"राजभवन ले चलो।"

वे फिर अपनी चिन्ता में लीन हो गये : कुरुकुल का परिवेश इधर बड़ी तीव्र गति से परिवर्तित हो रहा था। जिस कुल में सदा त्याग का महत्व था, वहाँ ग्रहण का महत्व बढ़ता जा रहा था। पहले वय, ज्ञान और चरित्र का महत्व था, अब पद का महत्व है। भीष्म ने अपना राज्याधिकार छोड़ दिया तो कदाचित! मूर्खता की; और आज जो उच्च पदों पर अधिकार जमाये बैठें हैं, वे स्वयं को बुद्धिमान समझ रहे हैं। भीष्म ने अपने त्याग से इस कुल का निर्माण किया था; और अब धृतराष्ट्र अपने भोग की प्रवृत्ति से इसका विनाश करके रहेगा। वह नहीं समझता कि सृष्टि को धारण करने वाला धर्म है। अधर्म सदा विनाश करता है। हम अपनी रक्षा के लिये ही धर्म की रक्षा करते हैं। धर्म हमारा रक्षक है। हम उसकी रक्षा नहीं करेंगे, तो हमारी रक्षा कौन करेगा?...

भीष्म ने सिंहासन-कक्ष में प्रवेश किया और उसका आवेश जैसे झाग के समान भीतर-ही-भीतर बैठ गया।

धृतराष्ट्र सिंहासन पर बैठा था। चँवर धारिणियाँ चँवर डुला रही थीं। मन्त्री तथा सेनापति हाथ बाँधे खड़े थे।... धृतराष्ट्र कुरु-सम्राट था। बालक नहीं था, जिसकी वे डाँट-डपट करने आये थे। अब ऐसा सम्भव नहीं था कि वे आते ही उसे ताड़ना देते। उसे अपना निर्णय और आदेश परिवर्तित करने के लिये कहते। उससे अधिकारपूर्वक पूछते कि उसने ऐसा निर्णय क्यों किया...! भीष्म का अधिकार तो एक कुलवृद्ध का अधिकार मात्र था। वे सम्राट का ध्यान किसी समस्या की ओर आकृष्ट कर सकते थे, उसके सम्मुख कोई प्रस्ताव रख सकते थे। किन्तु वे धृतराष्ट्र को बालक समझ कर उसे आदेश नहीं दे सकते थे।...

भीष्म एक आसन पर बैठ गये। मन्त्री और सेनापति आज्ञाएँ और निर्देश प्राप्त कर चले गये।

एकान्त हुआ तो भीष्म बोले, "राजन! तुमने कुन्ती और उसके पुत्रों को राजभवन से हटा कर, उस खण्डहर जैसे पुराने भवन में भेज दिया है...केवल इसलिये कि कुन्ती ने गान्धारी की इच्छा को आदेश के रूप में ग्रहण नहीं किया?"

धृतराष्ट्र ने अपनी अन्धी आँखें झपकायीं और बोला, "हाँ! उन्हें एक पृथक प्रासाद दे दिया है।"

"कारण?"

"उन्हें अपना स्थान पर्याप्त नहीं लग रहा था; और राजभवन में हमें भी स्थान कुछ कम पड़ रहा था। उस प्रकोष्ठ की भी सुयोधन को आवश्कता थी, जिसे वे लोग घेरे हुए थे," धृतराष्ट्र निर्लज्ज भाव से बोला, "और फिर राजप्रासाद में तो राजा और उसका परिवार ही रह सकता है।"...उसने अपनी अन्धी आँखें अनुमान से भीष्म के चेहरे पर टिकायीं "इस नगण्य-सी बात को जानने के लिये पितृव्य को सभा में आना पड़ा।"

भीष्म का आवेश पुनः घनीभूत हो उठा : इस धूर्त के पाखण्ड को वे कुछ-कुछ पहचानने लगे थे।

"यह उचित नहीं हुआ धृतराष्ट्र!" वे बोले।

धृतराष्ट्र का रजो तेज कुछ कम नहीं हुआ। वह कुछ और प्रखर हो कर बोला, "या तो आप ही निर्णय कर दें कि हस्तिनापुर का राजा कौन है या फिर इस प्रकार राजकाज में हस्तक्षेप करना छोड़ दें।"

भीष्म मौन रहे। आज धृतराष्ट तो उनसे बात कर ही नहीं रहा था, बात करने वाला मात्र हस्तिनापुर का राजा था। राजा के सम्मुख केवल प्रजा होती है, पिता, पितामह, कुलवृद्ध...कोई नहीं होता।...अब धृतराष्ट्र न केवल अधिकारों का नियन्त्रण करने लगा था, वरन उन्हें जताने भी लगा था।

भीष्म को चुपचाप देख कर धृतराष्ट्र ने जैसे अपने मन की बात स्पष्ट कर दी, "मैं समझता हूँ कि राजा को अपने निर्णय स्वतन्त्र रूप से लेने का अधिकार है; और उनके औचित्य के विषय में प्रश्न करने का अधिकार किसी को नहीं होना चाहिए।"

भीष्म को लगा, धृतराष्ट्र राजा के महत्व के विषय में कम, उन्हें उनकी अपनी महत्वहीनता के विषय में अधिक बता रहा था। उनके महत्व और अधिकार को धृतराष्ट्र स्वीकार नहीं कर रहा था, जैसे चित्रांगद और विचित्रवीर्य नहीं करना चाहते थे...शायद कोई भी शासक अपनी स्वच्छन्दता, या कदाचित अपनी स्वेच्छाचारिता पर किसी का अनुशासन पसन्द नहीं करता।...और अब यदि उन्हें लग रहा था कि कुन्ती और उसके बालकों के साथ न्याय नहीं हो रहा, तो वे क्या कर सकते थे? धृतराष्ट्र राजा था। जब तक वह सिंहासन पर बैठा था, वही उस प्रासाद में रहेगा।...उसके मन में कदाचित कहीं भी यह विचार नहीं था कि वह राज्य की देख-भाल के लिये सिंहासन पर बैठाया गया है। कादाचित उसके मन में कहीं भी युधिष्ठिर के लिये सिंहासन ख़ाली करने का विचार नहीं था। युधिष्ठिर वयस्क हो जायेगा, सक्षम हो जायेगा—तो क्या धृतराष्ट्र उसके लिये सिंहासन ख़ाली कर देगा?...पाण्डु के पुत्र को राज्य क्या तभी मिलेगा, जब धृतराष्ट्र अपनी आयु पूरी कर चुकेगा? फिर तो धृतराष्ट्र पाण्डु की प्रजा का पालन नहीं कर रहा, स्वयं राज्य का अधिपति बन बैठा है।...दृष्टिहीन राजा...उसने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि वह पाण्डवों को अपने परिवार का अंग नहीं मानता, उसका परिवार तो उसकी अपनी पत्नी और सन्तान तक ही सीमित था।

भीष्म उठ कर बाहर आ गये। रथ में बैठे और सारथि को चलने का संकेत किया।

सहसा उसका ध्यान मार्ग की ओर गया, "हम किधर जा रहे हैं?"

"अपने भवन की ओर आर्य!"

"नहीं! कुन्ती के नये आवास की ओर चलो!" वे बोले; और फिर उन्होंने मन-ही-मन दोहराया, "नया आवास!"

रथ रुका तो भीष्म ने पुनः ध्यान से निरीक्षण किया : इस भवन को किसी भी प्रकार प्रासाद नहीं कहा जा सकता था। अधिक-से-अधिक यह प्राचीन भवन का ध्वंसावशेष मात्र हो सकता था। भीष्म के अपने शैशव में एक वृद्ध मन्त्री इसमें रहा करते थे। उनके देहान्त के पश्चात से यह बन्द पड़ा था...बन्द पड़ा होने के कारण निश्चित रूप से स्वच्छ नहीं होगा; उसमें चमगादड़ों, मूषकों और सर्पों ने अपना आवास बना लिया होगा। मनुष्यों के रहने योग्य तो यह कदापि नहीं था। धृतराष्ट्र के भृत्यों तक के घर इससे अच्छी अवस्था में थे।...

कुन्ती ने द्वार पर आ कर उनको प्रणाम किया। अगवानी कर भीतर ले गयी और एक आसन पर बैठाया।

"कैसी हो पुत्रि?"

"आपकी कृपा है तात!"

"बालक कहाँ हैं?"

"यहीं कहीं खेल रहे होंगे!"

"स्वस्थ तो हैं न?"

"भगवान की दया है!"

भीष्म का मन हुआ कि कहें कि राजभवन से उनको हटा दिये जाने से वे प्रसन्न नहीं हैं; और वे चाहते हैं कि उन्हें कोई अच्छा स्थान दिया जाये...किन्तु क्या वे यह भी स्वीकार करें कि अब उनके पास कोई नैतिक अधिकार भी नहीं रह गया है—न शासन में और न परिवार में!...क्या वे एक असहाय वृद्ध के समान यह कहें कि धृतराष्ट्र उनका कहना नहीं मानता, अन्यथा वे तो उनके लिये बहुत अच्छा प्रबन्ध करना चाहते थे।...

सहसा उनका मन जैसे सजग हो गया : भीष्म! कुन्ती अपने बच्चों को ले कर हस्तिनापुर आयी है— यह मान कर कि यह उसका घर है, यहाँ उसके अपने लोग हैं।...अब यदि तुम यहाँ अपनी असहायता जताते-जताते, उसे यह आभास भी दे गये कि वह न केवल अपने परिवार के सुरक्षित परिवेश में नहीं है, वरन उन लोगों के मध्य है, जो या तो उनकी सुख-सुविधा का प्रबन्ध करना नहीं चाहते, अथवा कर नहीं सकते...क्या भीष्म, उसके मन में धृतराष्ट्र-विरोधी भावना जगाने के निमित्त बनना चाहते हैं? क्या वे इस परिवार में द्वेष का बीज बोना चाहते हैं?...उन्होंने धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्रों को ही नहीं, स्वयं धृतराष्ट्र और पाण्डु को भी अपने पुत्रों के समान पाला है। तो क्या वे अपने पुत्रों को एक-दूसरे के विरुद्ध प्रेरित करेंगे? क्या वे उन्हें जतायेंगे कि वे स्वयं तो उन्हें बहुत सारी सुख-सुविधाएँ देना चाहते हैं; किन्तु दूसरा पक्ष उसका विरोध कर रहा है। वह क्या उन्हें दो पक्षों में विभाजित कर देना चाहते हैं।...

किन्तु उनसे कहे बिना भी तो रहा नहीं जाता, "यह भवन तो तुम लोगों के रहने के योग्य नहीं है कुन्ती!"

"और उपाय ही क्या है तात!" कुन्ती बोली, "वैसे आप चिन्ता न करें। मुझे और मेरे बच्चों को ऋषिकुल में रहने का पर्याप्त अभ्यास है। यह तो भवन है, हम तो बिना भवन के भी रह सकते हैं। मुझे अपने पुत्रों के लिये सुख-सुविधा की इतनी कामना नहीं है, जितनी उनकी शिक्षा-दीक्षा की। उनको उचित तथा उपयोगी शिक्षा मिले; उनका शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास हो। वे धर्म, नीति और न्याय के मार्ग पर चलें। उनका परस्पर सौहार्द बना रहे। ..."

"कृप क्या उनकी ठीक से देख-भाल नहीं कर रहा?"

"नहीं ऐसा कुछ नहीं है।" कुन्ती बोली, "मैं तो मात्र अपनी कामना प्रकट कर रही हूँ।"

भीष्म कुछ देर तक चुपचाप सोचते रहे और फिर जैसे अपने किसी भीतरी दबाव से बाध्य हो कर बोले, "क्या तुम्हें इस भवन में सचमुच कोई कष्ट नहीं है?"

"कुछ असुविधाएँ अवश्य हैं।" कुन्ती धीरे से बोली, "किन्तु कष्ट की कोई बात नहीं है। मेरे पुत्र मेरे साथ हैं। थोड़े-से परिश्रम से हम इस भवन को सुव्यवस्थित कर लेंगे। मेरे पुत्रों में निर्माण की अपार क्षमता है तात!"

"वह क्षमता उन्होंने तुमसे ही पायी है पुत्रि!" वह मुस्कुराये, "तुम उनकी शिक्षा की चिन्ता मत करना। उसकी व्यवस्था मैं करूँगा।"

तभी प्रभंजन के समान भागते-दौड़ते भीम ने प्रवेश किया, "माँ! हस्तिनापुर किसका है?"

कुन्ती ने दृष्टि उठा कर देखा : अपनी कटि पर दोनों हाथ रखे, आँखों में जिज्ञासा नहीं, एक चुनौती लिये, भीम खड़ा था; जैसे अपनी जिज्ञासा की शान्ति के लिये माँ के सामने खड़ा न हो, किसी न्यायाधिकरण में खड़ा निर्णय की माँग कर रहा हो; और निर्णय भी ऐसा, जो उसके मनोनुकूल हो। उसकी मुद्रा ऐसी आक्रामक थी कि जैसे मनोनुकूल उत्तर न मिलने पर, वह सामने खड़े व्यक्ति पर प्रहार कर देगा।

भीम की ऐसी मुद्रा देख कर कुन्ती स्वयं भी अपनी प्रतिक्रिया समझ नहीं पाती थी। पुत्र के इस सामर्थ्य पर वह चकित हो; उसे इस प्रकार बढ़ते देख कर प्रसन्न हो; अथवा इन चुनौती-भरे आक्रामक प्रश्नों में उलझते देख कर वह दुखी हो। अभी वय ही क्या है भीम का और कैसे-कैसे द्वन्द्वपूर्ण प्रश्न पूछता है वह! प्रश्न तो कभी-कभी युधिष्ठिर भी पूछता है; किन्तु उसके प्रश्नों में मात्र जिज्ञासा होती है। वह अपने मन के द्वन्द्वों से मुक्त होने के लिये पूछता है। अपने ज्ञान के रिक्त खण्डों की पूर्ति के लिये जिज्ञासा करता है। उसके पास प्रश्न होता है, इसलिये वह उत्तर माँगता है; समस्या होती है, इसलिये समाधान माँगता है; किन्तु भीम के पास न द्वन्द्व है, न जिज्ञासा। उसके पास तो जैसे उत्तर पहले से तैयार है; समाधान उसके मन में है। वह अपने समाधान की पुष्टि के लिये ही प्रश्न करता है; और स्पष्ट जता देता है कि यदि उसके विचारों की पुष्टि नहीं की गयी, तो वह संघर्ष के लिये प्रस्तुत है...अर्जुन तो प्रश्न पूछता ही नहीं। वह केवल देखता है और भीतर-ही-भीतर बहुत कुछ समझ जाता है। जो नहीं समझ पाता, उसको समझ पाने की धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करता है...

"बताती क्यों नहीं माँ!" भीम जैसे धमकाता हुआ आगे बढ़ा; और कुन्ती जानती थी कि अब भी वह नहीं बोली, तो वह उससे लिपट जायेगा और उसे झकझोरने लगेगा, जैसे वह वृक्षों को झकझोरने का प्रयत्न करता है।

"पहले पितामह को प्रणाम करो!" कुन्ती बोली, "यह क्या सीख रहे हो—गुरुजनों के सम्मुख उद्दण्डता?"

भीम ने आगे बढ़ कर भीष्म के चरण छुए। भीष्म ने आशीर्वाद दिया, "चिरंजीवी हो वत्स! कुरुकुल की योग्य सन्तान बनो।"

"अब बताओ माँ!" भीम पुनः कुन्ती की ओर मुड़ा।

"क्या बताऊँ तुझे!" उसे बहलाने के लिये कुन्ती सायास हँसी, "हस्तिनापुर भी कोई खिलौना है कि कह दूँ कि तेरा है या अर्जुन का है।" भीम पर अपनी बात का प्रभाव देखने के लिये कुन्ती रुकी। भीम कदाचित उससे सहमत हो कर अपनी भूल समझ रहा था।

'जितना उग्र है, उतना भोला भी है....' कुन्ती ने मन-ही-मन सोचा...'जिस त्वरा से उत्तेजित होता है, उसी शीघ्रता से शान्त भी हो जाता है।'

"कल तू पूछेगा कि यह आकाश किसका है? गंगा किसकी है?" कुन्ती ने उसकी शान्ति को और भी दृढ़ करने के लिये कहा।

किन्तु इस बार भीम पर उसका उल्टा ही प्रभाव हुआ। वह जैसे माता के कथन के प्रतिकार में चिल्लाया, "तो फिर सुयोधन क्यों कहता है कि हस्तिनापुर उसका है? वह क्यों कहता है कि उसके पिता यहाँ के स्वामी हैं और हम उसके आश्रित हैं?"

कुन्ती सनाका खा गयी। आज फिर कोई बखेड़ा खड़ा हो गया क्या?

"बोलो! क्यों कहता है सुयोधन?" भीम फिर उत्तेजित हो कर बोला।

एक बार तो कुन्ती के मन में आया कि वह कह दे कि सुयोधन तो मूर्ख है। बकवाद करता है, करने दो।...किन्तु यह कहा नहीं उसने। पूछा, "और क्या-क्या कहता है सुयोधन?"

"सुयोधन कहता है कि जिस प्रकार उसने हमें हस्तिनापुर के राजप्रासाद से निकलवा कर, इस खण्डहर में डलवा दिया है, उसी प्रकार....।"

"यह खण्डहर है?" कुन्ती बोली, "यह भी तो राजप्रासाद ही है। पुराना है, तो क्या हुआ?"

"सुयोधन कहता है।" भीम ने अत्यन्त सरलता से कहा।

कुन्ती का मन जैसे बहुत कुछ कहना चाह रहा था; किन्तु उसने स्वयं को रोका, "उसी प्रकार...।"

"उसी प्रकार राजा बनते ही वह हमें इस प्रासाद से ही नहीं, हस्तिनापुर से ही निकलवा देगा।"

कुन्ती धक्क-सी रह गयी : सुयोधन ने अपनी भावी नीति घोषित कर दी थी। कोई संदेह नहीं कि समय आने पर वह वही करेगा!

"पर क्यों कहता है यह सब सुयोधन?" कुन्ती ने आवेश में पूछा। उसे लगा कि उसका आक्रोश सुयोधन के सम्मुख असहाय हो कर भी भीम का दमन करने के लिये बढ़ रहा है, "तूने ही कुछ ऐसा किया या कहा होगा।"

"मैंने?" माँ के क्रोध के सम्मुख, भीम हतप्रभ-सा खड़ा रह गया, "मैंने क्या किया है माँ?"

"यदि तूने ऐसा कुछ नहीं किया तो सुयोधन ऐसी अनर्गल बातें क्यों करता है! वह उन्मत्त है क्या?"

"वह उन्मत्त नहीं प्रमत्त है माँ!" भीम बोला, "खेलता भी है; पराजित हो कर रोता भी है; और फिर निर्लज्ज हो कर धमकियाँ देने लगता है।"

"वह खेल में तुझ से पराजित हुआ है?" कुन्ती ने प्रायः शान्त हो कर पूछा।

"मैं उसे प्रतिदिन पराजित करता हूँ।" भीम गर्व से बोला, "उसमें है ही क्या! न वह मेरे समान धावक है, न मल्ल! मेरे समान वह तैर भी नहीं सकता।"

कुन्ती बिना कोई उत्तर दिये, सोचती रह गयी...यह बालकों की क्रीड़ा है या सुयोधन की, उसके समर्थ पुत्रों के प्रति ईर्ष्या?

"बताओ न माँ!" माँ को मौन देख कर, भीम पुनः अपने प्रश्न पर उतर आया था, "हस्तिनापुर किसका है?"

तभी कहीं से युधिष्ठिर उधर से आ निकला। उसने कदाचित भीम का प्रश्न सुन लिया था। अपने इस वयस में भी वह पर्याप्त गम्भीर और प्रौढ़ बन गया था; किन्तु इस समय भीम के इस प्रश्न को सुन कर, कदाचित उसे भी परिहास सूझा। बोला, "हस्तिनापुर पितामह का है। बोलो! अब क्या करोगे?" उसने आगे बढ़ कर भीष्म के चरण छुए।

युधिष्ठिर की अपेक्षा के प्रतिकूल भीम एकदम गम्भीर हो गया। बोला, "पितामह का है तो ठीक है। ऐसा कुछ नहीं है, जो पितामह का है, और हमारा नहीं है; किन्तु जो कुछ सुयोधन का है, वह हमारा नहीं है।"

युधिष्ठिर को लगा कि परिहास आगे नहीं चल पायेगा। भीम ने सर्वथा सत्य कहा था। उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा।

भीष्म को संतोष हुआ : इन बच्चों के लिये सुयोधन चाहे पराया हो, भीष्म पराये नहीं हैं।

वे अत्यन्त शान्त स्वर में बोले, "पुत्र! हस्तिनापुर ही नहीं, कोई भी नगर, नगरवासियों का होता है। शासक का धर्म, प्रजा का न्यायपूर्वक पालन करना है। इसलिये उसे नगर अथवा राज्य का स्वामी कहा जाता है। जैसे माता-पिता अपनी सन्तान के स्वामी हैं, क्योंकि वे उसे जन्म दे कर उसका पालन-पोषण करते हैं। जिस क्षण अपने लाभ के लिये वे सन्तान का उपयोग करने लगते हैं, उसी क्षण से उनका स्वामित्व समाप्त हो जाता है।"

लगा, भीम को इन बातों में रुचि नहीं थी। वह तो मात्र इतने से ही सन्तुष्ट था कि हस्तिनापुर सुयोधन का नहीं है।

भीम और युधिष्ठिर चले गये।

"मैं भी जा रहा हूँ कुन्ती!" भीष्म बोले, "इधर से निकल रहा था, सोचा, तुम लोगों को देखता चलूँ!" वे उठे, "और पुत्रि! बच्चों की शिक्षा-दीक्षा की चिन्ता मत करना—वह मैं देखूँगा। कृप से भी चर्चा करूँगा। इन बालकों की क्षमता का पूर्ण विकास होना चाहिए।" वे रुके, "एक रथ और सारथि मैं अपनी ओर से भिजवा दूँगा।...अस्वीकार मत करना।"

भीष्म न रुके, न उन्होंने कुन्ती की ओर देखा, न उसके उत्तर की प्रतीक्षा की। कदाचित वे आशंकित थे कि कहीं कुन्ती उनका प्रस्ताव अस्वीकार न कर दे।...

कुन्ती को एकान्त मिला!

जब तक भीम उसके सम्मुख खड़ा पूछ रहा था, और भीष्म वहाँ उपस्थित थे, तब तक कुन्ती ने उस प्रश्न को बार-बार टालने का प्रयत्न किया था; किन्तु उनके हटते ही जैसे उसका अपना मन, घाव पर आ कर बैठ जाने वाली किसी धृष्ट मक्खी के समान बार-बार पूछ रहा था : हस्तिनापुर किसका है?

ऋष्य शृंग से लौट कर अपने बच्चों के साथ कुन्ती हस्तिनापुर में प्रवेश पाने के लिये, जब वर्धमान-द्वार के बाहर बैठी थी, उसी क्षण से उसके मन में यह प्रश्न उठ रहा था, 'हस्तिनापुर किसका है?'...पुत्रों सहित कुन्ती को राजप्रासाद में ही टिकाया गया था, किन्तु स्वामी के रूप में नहीं; अकस्मात आ गये किसी अतिथि के समान। वे ऐसे आगन्तुक थे, जिसका तिरस्कार नहीं किया जा सकता था, अतः बाध्यता में उन्हें ठहरा लिया गया था।...किन्तु महारानी गान्धारी के सम्मुख कुन्ती एक निर्धन आश्रिता मात्र थी।...उसका मन बार-बार ऐंठ-ऐंठ कर पूछना चाहता था कि सम्राट पाण्डु की पत्नी क्यों महारानी नहीं है? युवराज युधिष्ठिर की माता, क्यों राजमाता नहीं है?...

कुन्ती का मन आये दिन किसी-न-किसी बात से आहत हो जाता था। उसकी इच्छा होती थी कि इसी क्षण हस्तिनापुर छोड़ कर, कहीं दूर निकल जाये, जहाँ न कौरव-वंश हो, न राजप्रासाद और न उसकी यह शरणागतों की-सी स्थिति!...किन्तु वह यहाँ से कैसे जा सकती थी? जिस उद्देश्य से वह ऋष्य शृंग का आश्रम छोड़ कर आयी थी, हस्तिनापुर त्याग कर वह सिद्ध होगा क्या?

...और कुन्ती को लगता कि उसके भीतर एक नयी कुन्ती जाग रही है। वह कुन्ती, जो इन छोटी-छोटी बातों से

पीड़ित नहीं होती; जो अपने ऊपर किये गये छोटे-बड़े आघातों से और भी दृढ़ होती है; क्योंकि आघात का उत्तर पलायन नहीं होता!...कुन्ती आक्रमण के उत्तर में यदि प्रत्याक्रमण नहीं कर पायेगी, तो प्रति-रोध तो करेगी, अपनी सुरक्षा के लिये प्रयत्नशील तो होगी! कुन्ती या तो यह मान ले, कि ये बालकों की बातें हैं, जिनका कोई अर्थ नहीं होता, और उनकी उपेक्षा कर जाये; या फिर वह माने कि यह रणनीति है और रणनीति में उसे पीछे नहीं हटना है...राजनीति में अधिकार का प्रश्न उठेगा ही। उसके लिये बल प्रयोग भी होगा और शक्ति-परीक्षण भी! कुन्ती न स्वयं बल-प्रयोग कर सकती है न शक्ति-परीक्षण! उसे तो उस दिन की प्रतीक्षा करनी होगी, जिस दिन उसके पुत्र, समर्थ हो जायेंगे! अपना अधिकार माँगेंगे और अधिकार न मिलने पर, बल-प्रयोग कर उसे प्राप्त कर सकेंगे। उसने राजसमाज को बहुत निकट से देखा है; राजनीति हिंसा से शून्य नहीं हो सकती। जो राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश करेगा, उसे विरोधी की हिंसा का सामना भी करना ही पड़ेगा, और कदाचित स्वयं भी हिंसा का अवलम्ब ग्रहण करना पड़ेगा।

भीष्म के मन में राजकुमारों की शिक्षा की समस्या, एक नये रूप में खड़ी हो गयी थी। वे जितना अधिक सोचते थे, उन्हें लगता था कि पाण्डवों की देख-भाल उन्हीं का दायित्व है : उनकी सुविधाएँ, लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा। धृतराष्ट्र अपने भ्रातुष्पुत्रों के प्रति प्रेम का चाहे कितना भी नाटक करे; किन्तु उसके मन में उनकी तनिक भी चिन्ता नहीं है। बहुत सम्भव है कि उसे पाण्डवों के उत्थान में अपने पुत्रों का पराभव दिखायी देता हो। ईर्ष्यालु तो वह अपनी बाल्यावस्था से ही था। उसने अपनी अक्षमता को अपना भाग्य कभी भी स्वीकार नहीं किया था; और अब तो शकुनि हस्तिनापुर की राजनीति में बहुत गहरे धँस चुका था।...धृतराष्ट्र को अपने सामने, भविष्य में हस्तिनापुर का शासन सँभालने के लिये, अपने पुत्र बड़े होते हुए दिखायी पड़ रहे थे...बहुत सम्भव है, हस्तिनापुर में राज्याधिकार के लिये टकराव हो...ऐसे में उन्हें इन पितृहीन पाण्डवों की चिन्ता करनी ही होगी...

"सारथे!" वे सहसा बोले, "कृप की पाठशाला की ओर चलो।"

कृप की शिक्षा में कहीं कोई-न-कोई त्रुटि अवश्य है—वह सोच रहे थे—अन्यथा धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्रों में कोई विभाजक रेखा होनी नहीं चाहिए थी। सहपाठियों में तो भाइयों से बढ़ कर प्रेम हो जाता है; पाठशालाओं और आश्रमों में सारे मतभेद भुला दिये जाते हैं। पारम्परिक शत्रुताएँ तक लाँघ कर गुरु-पुत्र एक-दूसरे के ऐसे मित्र बन जाते हैं कि...पर इस पाठशाला में मतभेद क्यों पनप रहे हैं? सुयोधन क्यों कहता है कि उसके पिता हस्तिनापुर के स्वामी हैं। वह अपने भाइयों तथा सहपाठियों को इस प्रकार भेद-दृष्टि से क्यों देखता है? कृप उसे शील और विनय का संस्कार क्यों नहीं दे पाये?

उन्होंने पाठशाला में प्रवेश किया।

कृप ने आगे बढ़ कर उनका स्वागत किया, "पधारें कुरुश्रेष्ठ!"

भीष्म एक आसन पर बैठ गये, "कैसे हो आचार्य?"

"कृपा है आर्य!" कृप मुस्कुराये, "लगता है आज आपने मुझ पर ही दया की है। आज तो बालक-वृन्द पाठशाला में नहीं हैं।"

"हाँ आचार्य! सोचा, आज बालकों की अनुपस्थिति में ही तुमसे कुछ चर्चा कर ली जाये।"

"कोई विशेष प्रयोजन?"

"विशेष प्रयोजन क्या होगा," भीष्म बोले, "थोड़ी-सी सामान्य चर्चा।" उन्होंने रुक कर कृप की ओर देखा, "जिन बालकों को तुम्हारे हाथों सौंपा है, वे कच्ची मिट्टी हैं। तुम उन्हें आकार भी दोगे और पकाओगे भी! यह तुम देखोगे कि वह मिट्टी कैसी है; और यह थोड़ा-बहुत मैं देखूँगा कि उन्हें तुम कैसा आकार दे रहे हो। जितना ताप उन्हें दे रहे हो—वह ताप उनके लिये अपर्याप्त तो नहीं है। कहीं वे कच्चे तो नहीं रह जायेंगे।...या फिर ताप इतना अधिक तो नहीं है कि वे भस्म हो जायें...।"

"अवश्य तात!" कृपाचार्य उल्लसित हो उठे, "यद्यपि आप क्षत्रिय हैं; किन्तु आप में गुरु के समस्त गुण विद्यमान हैं। बालकों की शिक्षा के निरीक्षण के लिये, धर्मतः आप ही अधिकारी हैं।" क्षण-भर रुक कर वह बोले, "इन बालकों की मिट्टी को मैंने अच्छी तरह परखा है। वे लोग सच्चे क्षत्रिय हैं। रजोगुण कूट-कूट कर भरा है उनमें। युधिष्ठिर में अवश्य चिन्तन की मात्रा, क्षत्रिय के लिये अपेक्षित मात्रा से कुछ अधिक है। उसका शरीर भी शेष बालकों की अपेक्षा

कुछ कोमल है। किन्तु भीम, अर्जुन, सुयोधन, सुशासन इत्यादि राजकुमारों की शरीर-क्षमता सन्तोषजनक है। वे लोग अच्छे योद्धा बनेंगे। मेरा विचार है कि इस समय हस्तिनापुर में सर्वश्रेष्ठ योद्धाओं का निर्माण हो रहा है। हाँ।...” कृपाचार्य ने जैसे अपनी बात समाप्त कर पुनः जोड़ा, “हाँ! अधिरथ का पुत्र वसुषेण कर्ण सूतपुत्र होते हुए भी क्षत्रियों के गुणों से परिपूर्ण है। वह युद्धकला में इनमें से किसी से भी कम नहीं होगा; किन्तु मेरी इच्छा उसे राजकुमारों के समकक्ष शिक्षा देने की नहीं है। न ही मैं उसे वे सारी विद्याएँ सिखाऊँगा, जिनके कारण वह राजकुमारों की समता कर सके।”

भीष्म ने कृपाचार्य को कुछ असहज दृष्टि से देखा, “मुझे आश्चर्य है आचार्य! कि तुम अपने शिष्यों में वर्ग-भेद कर रहे हो! गुरु के रूप में तो तुम्हारी यह चिन्ता ही नहीं होनी चाहिए कि तुम्हारा कौन-सा शिष्य किस वर्ग अथवा परिवार से आया है। गुरु का धर्म तो अपने शिष्य की सम्पूर्ण क्षमताओं का विकास करना है।”

कृपाचार्य ने क्षण-भर हतप्रभ हो कर भीष्म को देखा : यह कुरुवृद्ध मेरी परीक्षा लेने तो नहीं आया? क्या यह जानना चाहता है कि मैं राजकुल का कितना अनुग्रह मानता हूँ और मैं उनके प्रति कितना निष्ठावान हूँ?

“आपने तो ठीक ही कहा आर्य! किन्तु विवेकी व्यक्ति वही है, जो शुष्क काष्ठ को उतना ही जलाये, जितने से वह चूल्हे का ईंधन बन सके, न कि उसे इतना भड़कने का अवसर दे कि वह दावाग्नि का निमित्त बन, प्रलय-दाह कर दे!”

भीष्म मौन रहे। उन्होंने इस चर्चा को आगे नहीं बढ़ाया।

कृपाचार्य उनका चेहरा देख कर भाँपने का प्रयत्न करते रहे कि इस उत्तर से भीष्म ने उनके विषय में क्या धारणा बनायी होगी।

“आजकल उन्हें कौन-कौन सी विद्याएँ सिखा रहे हैं आचार्य?”

“गदा-युद्ध, मल्ल-युद्ध, खड्ग-युद्ध, धनुर्युद्ध। शक्ति, भाला, मूसल इत्यादि का प्रक्षेपण। अश्वारोहण, रथ-संचालन।”

“क्या उन्हें धर्मशास्त्र, न्यायशास्त्र तथा राजनीतिक शास्त्र भी पढ़ाया जा रहा है?”

“उनका अभ्यास कराने के लिये ब्राह्मण अध्यापक हैं।” कृपाचार्य की वाणी में न उन विषयों के लिये सम्मान था, न उनके अध्यापकों के लिये, “युद्ध-विज्ञान सिखाने का दायित्व मैंने स्वयं ग्रहण किया है।”

“क्या उनकी शारीरिक क्षमता और शक्ति बढ़ाने के लिये क्रीड़ाओं का भी आयोजन होता है?”

“हाँ आर्य! प्रतिदिन व्यायाम कराया जाता है। वे भागते हैं, तैरते हैं, विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हैं। दल बना कर विभिन्न प्रकार के खेल खेलते हैं।”

“खेलना क्यों आवश्यक है उनके लिये?” भीष्म ने पूछा, “व्यायाम तो वैसे भी वे पर्याप्त कर ही लेते हैं।”

“खेल के अभाव में प्रतिस्पर्धा उत्पन्न नहीं होती आर्य!” कृपाचार्य बोले, “मैं चाहता हूँ कि मेरे शिष्यों में ऐसी महत्वाकांक्षा जागे कि किसी भी क्षेत्र में वे किसी को स्वयं से आगे बढ़ने न दें।”

भीष्म कुछ देर तक चुपचाप बैठे कुछ सोचते रहे और फिर धीरे से बोले, “आचार्य! क्षत्रिय के लिये शस्त्र-ज्ञान भी आवश्यक है और शस्त्र-परिचालन का अभ्यास भी; किन्तु उससे भी अधिक आवश्यक है, न्याय और अन्याय का ज्ञान, धर्म और अधर्म का निर्णय। क्षत्रिय का शस्त्र केवल अन्याय के प्रतिरोध में ही उठना चाहिए। क्षत्रिय यदि न्यायान्याय के निर्णय के बिना शस्त्र-परिचालन का अभ्यस्त हो जायेगा, तो वह दस्यु हो जायेगा। तुम कुरुकुल के कुमारों को क्षत्रिय बना रहे हो या दस्यु?”

“क्षत्रिय! तात सच्चे क्षत्रिय! जिनके सम्मुख कोई शस्त्र उठाने का साहस नहीं करेगा।”

“एक बात और है।” भीष्म बोले, “मैं चाहता हूँ कि चाहे वे युद्ध-विद्या सीखें, चाहे क्रीड़ा में भाग लें, चाहे शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करें, चाहे प्रतिस्पर्धाओं में व्यस्त रहें; किन्तु इन सबके माध्यम से वे परस्पर एक-दूसरे के निकट आयें, स्नेह करना सीखें, दूसरे की सुख-सुविधा के लिये त्याग और बलिदान करना सीखें। उनमें स्वार्थशून्यता तथा सहिष्णुता का भी विकास होना चाहिए। अच्छे योद्धा बनने से पहले वे अच्छे मानव बनें। मैं चाहता हूँ कि अभी वे लोग शस्त्र-संचालन से अधिक समय क्रीड़ाओं में लगाएँ। अपना मानसिक और शारीरिक विकास करें, किन्तु दूसरों के गुणों का भी आदर करना सीखें। उनमें पूज्य के प्रति पूजा का भाव जाग्रत हो। उन्हें धन, सत्ता, शासन के लोभी, अहंकार की

पुत्तलिकएँ, शस्त्र चमकाने वाले दुर्वृत्त मत बनाना। उन्हें अपना रक्त दे कर प्रजा का पालन करने वाले, अपना सुख-भोग त्याग, निर्बलों की रक्षा करने वाले क्षत्रिय बनाना। ऐसा न हो कि इनके कारण कुरुकुल किसी भी रूप में कलंकित हो।"

"आप निश्चिन्त रहें आर्य!"

भीष्म चले आये; किन्तु उनके मन में कृपाचार्य के सम्बन्ध में निश्चित धारणाएँ बन रही थीं।...कुरुकुल ने शैशव से कृप तथा उसकी भगिनी कृपी का पालन-पोषण किया था, इसलिये वह इस राजकुल का ऋणी था। उसी ऋण के कारण कदाचित उसमें राजकुल के प्रति इतनी निष्ठा थी; और अपनी क्षमता-भर वह उस ऋण से उऋण होने का प्रयत्न कर रहा था। किन्तु क्षमता-भर पूरी निष्ठा से अध्यापक का कार्य करते हुए भी, क्या प्रकृति से वह गुरु होने योग्य था? वह शस्त्र-व्यवसायी ब्राह्मण, क्या एकान्त में कभी तनिक भी चिन्तन करता था कि राजनीति क्या है? क्षत्रिय का धर्म क्या है? मानव में किन गुणों का विकास होना चाहिए? क्या वह कभी अपने वर्तमान को भूल एक क्षण के लिये भविष्य में जीता था? क्या वह मानवता के दीर्घ इतिहास तथा अनन्त भविष्य के विषय में भी कुछ सोचता था?...

भीष्म का मन कहता था कि यह ब्राह्मण न इस दायित्व के योग्य था, न इस पद के। अधिकार-भोग की जो कुमन्त्रणा धृतराष्ट्र से सुयोधन को मिल रही थी, कृपाचार्य उसमें वृद्धि ही करेगा, उसका नियन्त्रण करने वाला ऋषि वह नहीं है। कुरुकुल के राजकुमारों के गुरु के रूप में उदात्त धरातल पर जीने वाला, सात्त्विक प्रकृति वाला एक अधिक कुशल गुरु चाहिए...

भीष्म को विदा कर कृपाचार्य कुछ चकित-से बैठे रह गये : किसलिये आये थे भीष्म? और जो कुछ उन्होंने कहा था, उस सबका अभिप्राय क्या था? क्या सचमुच वे चाहते हैं कि कुरुकुल के राजकुमारों को योद्धा न बना कर ऋषि के रूप में उनका विकास किया जाये?

कृपाचार्य ने तनिक भी विलम्ब नहीं किया। उन्होंने अपना रथ तैयार करवाया और महाराज धृतराष्ट्र की सेवा में उपस्थित हो गये।

धृतराष्ट्र ने उन्हें ससम्मान भीतर बुलवाया, "आचार्य! कैसे कष्ट किया आपने?"

कृपाचार्य ने देखा, वहाँ शकुनि और कणिक के अतिरिक्त और कोई नहीं था। उन्होंने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। धृतराष्ट्र ने धैर्यपूर्वक सब कुछ सुना और पूछा, "आपका क्या मत है आचार्य?"

"मैं क्या कहूँ महाराज! मैं तो शस्त्रों का आचार्य हूँ। मेरा मत है कि क्षत्रिय और शस्त्र पर्याय हैं। क्षत्रिय युद्ध का अभ्यास नहीं करेगा, तो और क्या करेगा?"

"आर्य भीष्म ने कुछ अनुचित नहीं कहाँ है आचार्य!" शकुनि अत्यन्त मधुर स्वर में बोला, "राजकुमारों को जानना चाहिए कि उन्हें शस्त्र-प्रयोग कहाँ करना है। उन्हें न्याय की रक्षा करनी है। न्याय, अपने अधिकारों की रक्षा में है। उन्हें प्रत्येक स्थिति में अपने अधिकारों की रक्षा के लिये तत्पर रहना चाहिए। उन्हें दुर्धर्ष-योद्धा होना ही चाहिए।"

"सबसे बड़ी बात यह है आचार्य! कि संसार में दो प्रकार के लोग होते हैं : एक वे जो विनाश से डरते हैं, दूसरे वे जो न केवल विनाश से डरते नहीं हैं, वे विनाश कर भी सकते हैं।" कणिक ने मुस्कुरा कर कहा, "आप राजकुमारों का विकास इस प्रकार करें कि न वे हत्या से भयभीत हों, न विनाश से। युद्ध उन पर आरोपित करने की आवश्यकता न हो, वे युद्ध को आमन्त्रित करते रहें। जो युद्ध और संघर्ष से इसलिये डरता है कि युद्ध से विनाश होगा, वह अपने अधिकारों को छोड़ कर भाग जाता है। आप राजकुमारों को ऐसे योद्धा बनायें कि लोग उनको देख कर अपने अधिकार छोड़ कर भाग जायें। क्षत्रिय के जीवन का सत्य केवल भोग है।..."

"जिसने समस्त भोगों का त्याग कर दिया हो, वह व्यक्ति क्षत्रियों के लिये अनुकरणीय नहीं है।" धृतराष्ट्र ने कहा, "आप पितृव्य के चिन्तन से विचलित न हों। मैं अपने पुत्रों को वीर क्षत्रिय बनते देखना चाहता हूँ—क्लीव नहीं।"

कृपाचार्य लौटते हुए सोच रहे थे : भीष्म शिक्षा के आदर्श की बात कर रहे थे, और धृतराष्ट्र अपने पुत्रों को अधिकारों के लिये भूखे संघर्षशील क्षत्रिय बनाना चाहते हैं। क्या करें कृपाचार्य? किन्तु वे तो राजा की सेवा में थे। वे वही करेंगे, जो उनका स्वामी चाहेगा। वे ऋषि अथवा गुरु नहीं थे, वे तो राजकर्मचारी थे; और राजकर्मचारी का प्रथम धर्म था —राजा की आज्ञा का पालन। उनकी आजीविका ही नहीं, हस्तिनापुर में उनका सारा महत्व धृतराष्ट्र की कृपा पर निर्भर

करता था। कृपाचार्य कभी नहीं चाहेंगे कि शिक्षा के आदर्शों पर खरे उतरने के प्रयत्न में वे धृतराष्ट्र के मन से उतर जायें और हस्तिनापुर में उपलब्ध सुख-सुविधाएँ छोड़ कर, वन में कोई आश्रम बना कर शिष्यों की प्रतीक्षा करें...पर भीष्म...

आज पाठशाला में विशेष समारोह था।

क्रीड़ा का महत्व वैसे भी कृपाचार्य की शिक्षण-योजना में कम नहीं था; किन्तु भीष्म से इस विषय में चर्चा होने के पश्चात वे कुछ अधिक ही सक्रिय हो गये थे। यद्यपि धृतराष्ट्र ने स्पष्ट कह दिया था कि उनके मन में पितृव्य भीष्म के विचारों के प्रति कोई विशेष सम्मान नहीं था, फिर भी कृपाचार्य को भीष्म का अनावश्यक विरोध उचित प्रतीत नहीं हुआ। ...उनके दृष्टिकोण में इतना अन्तर अवश्य आया था कि पहले जहाँ सारा बल शारीरिक व्यायाम तथा शक्ति-संवर्धन पर था, अब कुछ ऐसी क्रीड़ाएँ भी रखी गयी थीं, जिनमें मात्र मनोरंजन ही होता था; अथवा एक पक्ष के अंग बन कर खेलते हुए, व्यक्ति का महत्व कम करना पड़ता था; या फिर साथ मिल कर खेलने-भर का ही महत्व अधिक था। भीष्म चाहते थे कि राजकुमारों में क्रीड़ा के माध्यम से सौहार्द बढ़े, तो कृपाचार्य को इसमें क्या आपत्ति हो सकती थी।

कृपाचार्य ने महाराज धृतराष्ट्र के साथ-साथ राजपरिवार के प्रत्येक सदस्य को क्रीड़ावलोकन के लिये आमन्त्रित किया था। किन्तु यह भी उन्होंने स्पष्ट कर दिया था कि यह कोई प्रतिस्पर्धा नहीं थी, न ही यह कोई विशिष्ट प्रदर्शन ही था। यह तो राजकुमारों का अभ्यास-मात्र था। ये क्रीड़ाएँ महत्वपूर्ण नहीं थीं, न उनका परिणाम ही महत्वपूर्ण था। महत्वपूर्ण तो वे क्षमताएँ थीं, जो इन क्रीड़ाओं के माध्यम से उन्हें प्राप्त होने वाली थीं। इस आयोजन में न कोई श्रेष्ठतर सिद्ध होगा, न कोई हीनतर! इन क्रीड़ाओं को देखते हुए, यह तो भूल ही जाना चाहिए कि कहाँ कौन-सा व्यक्ति है—यह तो एक दृश्य था, जिसमें प्रत्येक बिन्दु अपने स्थान पर महत्वपूर्ण था।

धृतराष्ट्र को इस प्रकार के अभ्यास अथवा मनोरंजन में कोई रुचि नहीं थी। जिस व्यक्ति को कुछ दिखायी न देता हो, वह ऐसे समारोहों में बैठ कर क्यों अपना समय नष्ट करे?...वैसे भी राजा के पास इतना समय कहाँ होता है कि वह प्रत्यक्ष लाभ के अभाव में भी कहीं अपने समय का व्यय करे।

किन्तु भीष्म आये थे और पूरे समारोह के लिए आये थे। भीष्म के मन में कहीं रंचमात्र भी ऐसा आभास नहीं था कि यह उत्सव अथवा ये क्रीड़ाएँ महत्वपूर्ण नहीं थीं। उन्हें प्रसन्नता थी कि वे शिक्षा को, शिक्षा के रूप में ही महत्व देने में कुछ सफल हुए हैं। शिक्षा कोई युद्ध तो थी नहीं, जिसमें एक पक्ष की जय और दूसरे पक्ष की पराजय होनी ही चाहिए थी। शिक्षा, व्यक्ति की अपनी क्षमताओं के विकास के लिये है, न कि अपनी जय और दूसरे की पराजय प्रमाणित कर, अपने अहंकार के पोषण के लिये...

क्रीड़ाएँ आरम्भ हुईं।

जिन क्रीड़ाओं में राजकुमारों को दो दलों में विभक्त हो कर खेलना था, उनमें भीष्म ने ध्यान से देखा : कृप ने सावधानीपूर्वक, दल इस प्रकार बनाये थे कि धृतराष्ट्र के पुत्र और पाण्डु के पुत्र अलग-अलग दल न बना सकें। भीम और सुयोधन एक पक्ष में थे, अर्जुन और सुशासन दूसरे में। नकुल एक पक्ष में था, तो सहदेव दूसरे में।...भीष्म देखना चाहते थे कि ये राजकुमार क्रीड़ा में अपने पक्ष के प्रति निष्ठावान थे या अपने सम्बन्धों के प्रति। भीम, सुयोधन को पराजित देखने के लिये अपने पक्ष को पराजित होने देगा या अपने पक्ष को विजयी बनाने के लिये अपनी पूर्ण क्षमता से संघर्ष करेगा, चाहे उससे सुयोधन भी विजयी होता हो।

एक के पश्चात एक क्रीड़ाएँ निबटती गयीं और भीष्म को यह देख कर प्रसन्नता हुई कि जिस प्रतिस्पर्धा, विरोध और द्वेष की आशंका उन्हें थी, वह उन्हें कहीं भी दिखायी नहीं दिये। बालकों के साधारण-से झगड़े को कदाचित उनकी कल्पना ने बहुत विराट रूप दे दिया था।...

तभी समारोह के समापन के रूप में कृपाचार्य ने अन्तिम क्रीड़ा की घोषणा की। अतिदीर्घ धावन! इसमें पाठशाला का सबसे क्षमतावान धावक चुना जाना था। इस प्रतियोगिता के लिये पाठशाला के सभी छोटे-बड़े ब्रह्मचारी एकत्रित हो गये। इसमें न तो अवस्था-भेद था, न कोई वर्ग-भेद। सबको एक साथ दौड़ना था। जिसकी क्षमता जहाँ समाप्त हो जाये, वह वहीं रुक जाये। निर्णायक देख लेंगे कि अपनी अवस्था के अनुसार उसमें पर्याप्त क्षमता है या नहीं। शेष धावक दौड़ते जायें, सबसे अन्त में जो धावक बचेगा, वह सर्वक्षमतावान धावक कहलायेगा।

उद्घोषक के संकेत पर एक भीड़ जैसे एक साथ दौड़ी। प्रतियोगिता जैसा तो दृश्य ही नहीं था। बीच में छोटे-छोटे बालक आ जाते थे और बड़े-बड़े क्षमता-वान धावक मार्ग न मिलने के कारण दाँत पीस कर रह जाते थे; किन्तु उनमें से किसी ने भी, किसी को ठेल कर धक्का अथवा दे कर आगे निकलने का प्रयत्न नहीं किया था...

क्रीड़ा आगे बढ़ती गयी और भीष्म के मन में एक विचित्र प्रकार का वैराग्य घर करता गया।...जाने क्यों उनका मन इस क्रीड़ा को जीवन से जोड़ता गया। जब व्यक्ति जन्म लेता है तो इस क्रीड़ा के आरम्भ के समान ही एक भरा-पूरा संसार होता है उसके आस-पास। सब लोग जैसे एक ही दिशा में दौड़ रहे होते हैं, एक ही लक्ष्य की ओर। चारों ओर से सहयोग, अवसर और मार्ग मिलते चलते हैं और व्यक्ति आगे बढ़ता चलता है।...और फिर सहसा जाने क्या हो जाता है कि जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे ही अनेक लोग अपनी-अपनी इच्छा से, अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार, अपनी-अपनी बाध्यताओं के बन्धन में बँधे, उसका साथ छोड़ जाते हैं। जब-जब वह दृष्टि उठा कर देखता है तो पाता है कि कुछ और लोग उसका साथ छोड़ चुके हैं, और वह पहले की तुलना में और भी अकेला हो गया है...और यह क्रीड़ा इसी प्रकार बढ़ती गयी तो अपनी चरम उपलब्धि के क्षणों में वह सर्वथा एकाकी होगा।...उपलब्धि क्या एकाकीपन का पर्याय है? अपनी उपलब्धि के पश्चात जब सचमुच व्यक्ति चाहता है कि उसके चारों ओर उसके सुहृद और आत्मीयजन हों, जो उसकी उपलब्धि का समारोह मना सकें, उसके सुख को बाँट सकें, उसी क्षण वह पाता है कि जब उसका सुख बाँटने वाले थे, तब तक कोई उपलब्धि नहीं थी, और अब उपलब्धि है तो उसे बाँटने वाला कोई नहीं है...

और अगले ही क्षण भीष्म के मन ने अपने प्रश्न से जैसे उनकी चिन्तन-प्रक्रिया उलट दी...विजय के क्षण तक लोग साथ छोड़ जाते हैं अथवा महत्वाकांक्षी व्यक्ति स्वयं ही दूसरों की संगति का तिरस्कार करता चलता है? लोग उसका श्रम देख कर, उससे उदासीन होते जाते हैं, या वह ही अपने श्रम की व्यस्तता बनाये रखने के लिये लोगों से तटस्थ होता जाता है? क्या महत्वाकांक्षी व्यक्ति सर्वथा आत्मलीन और स्वार्थी नहीं होता?...

अपने प्रश्न का कोई उत्तर भीष्म अभी सोच भी नहीं पाये थे कि उनके वैराग्य ने जैसे अपने हस्तक्षेप से विवाद ही समाप्त कर दिया; 'कोई अपनी इच्छा से न किसी का साथ छोड़ता है, न छुड़वाता है भीष्म! यह तो काल है, जो निरन्तर सृष्टि को निगल रहा है। उनके अपने माता-पिता, भाई तथा अन्य कुटुम्बी उन्हें छोड़ गये या भीष्म ने स्वयं को उनसे पृथक कर लिया?...यह तो काल की ही गति है...'

सामने क्षेत्र में प्राय: प्रतियोगी एक-एक कर रुक गये थे। पाँच-छह धावक ही अब भी अपना प्रयत्न चलाये जा रहे थे। उनमें सबसे पीछे भीम था और सबसे आगे सुयोधन। कदाचित यह दौड़ का अन्तिम चक्र प्रमाणित हो, या शायद एक-आध चक्र और...

तभी भीम ने जैसे सहसा अपनी बची-खुची क्षमता से अपना वेग बढ़ाया। वह पीछे अवश्य था किन्तु थका हुआ नहीं था। कदाचित उसने अब तक शेष धावकों को अधिक वेग से दौड़ने का अवसर दे कर, अपनी क्षमता को अन्तिम खण्ड के लिये बचा रखा था।...'हाँ! ठीक ही तो था।' भीष्म सोच रहे थे, 'जीवन में पहले ही चक्र में अपनी समस्त ऊर्जा लगा कर, प्रथम आने वाला व्यक्ति अगले चक्र में सम्मिलित ही नहीं हो पाता। जीवन तो वस्तुतः 'अतिदीर्घ धावक' ही था। किसी एक चक्र में किसी एक उपलब्धि के लिये अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा और क्षमता को दाँव पर नहीं लगाना चाहिए। जीवन किसी भी एक चक्र अथवा किसी भी एक उपलब्धि से बहुत बड़ा था...'

भीम सारे धावकों को पीछे छोड़, सुयोधन के समकक्ष पहुँच गया था...और...और वह उससे आगे निकल रहा था...सुयोधन ने भी अपना सम्पूर्ण बल लगा दिया था। उसका आनन रक्तिम हो उठा था। वह भीम को किसी भी अवस्था में आगे बढ़ने नहीं देना चाहता था। जो अब तक की सारी दौड़ में सब से आगे रहा हो, वह अन्तिम चक्रों में किसी को आगे निकलते कैसे देख सकता है?...किन्तु भीम तो आगे निकल गया था। वह और आगे निकल रहा था। उन दोनों का अन्तराल कदाचित और भी बढ़ेगा...किन्तु तभी सुयोधन अपने स्थान से कूदा और भीम से जा टकराया।...

भीष्म समझ नहीं पाये कि यह कैसे हुआ—क्या सुयोधन दौड़ जीतने के उद्देश्य से कूदा था, या...?

सुयोधन के धक्के से भीम तनिक लड़खड़ाया। उसने दृष्टि उठा कर सुयोधन को देखा भी; किन्तु न वह रुका और न ही उसके प्रयत्न में कोई कमी आयी...

यदि इस धक्के से भीम लड़खड़ा कर गिर पड़ता तो उसे बड़ी शारीरिक क्षति हो सकती थी...भीष्म सोच रहे थे इस वेग से भागते हुए व्यक्ति का सन्तुलन तनिक-सा भी बिगड़ जाये, तो वह घातक हो सकता है...

सुयोधन और भीम अब भी साथ-साथ भाग रहे थे; किन्तु स्पष्ट दिखायी दे रहा था कि सुयोधन की शक्ति सर्वथा समाप्त हो चुकी है। कदाचित वह केवल अपने आत्मबल अथवा हठ से ही दौड़ रहा था। शरीर का समस्त रक्त जैसे उसके चेहरे पर संचित हो गया था। शरीर स्वेद से नहाया हुआ था। जाने श्वास की गति...

तभी सुयोधन लड़खड़ाया...और जाने कैसे गिरते-गिरते भी उसने भुजा बढ़ा कर भीम की टाँग पकड़ ली और भीम मुँह के बल भूमि पर आ गिरा...

अब क्षेत्र में दौड़ने वाला कोई नहीं था, और विजयी भी किसे कहा जायेगा?...दोनों प्रायः साथ-साथ ही गिरे थे...

किन्तु भीम को सुयोधन ने सायास ही गिराया था, भीष्म सोच रहे थे...यह सुयोधन तो पूरा दुर्योधन है। स्वयं तो गिरा ही, उसे भी गिरा दिया...अवश्य ही भीम को गहरा घाव लगा होगा...दुर्योधन है यह दुर्योधन...भीष्म उठ कर क्षेत्र की ओर चल दिये।

कृपाचार्य तथा कुछ अन्य अध्यापक भी साथ-साथ ही उनके पास पहुँचे।

सुयोधन अभी भूमि पर औंधा पड़ा था। भीम उठ कर खड़ा हो गया था। उसके घुटने छिल गये थे, हथेलियों पर भी रक्त छलछला आया था, और चेहरे पर भी रगड़ के चिह्न थे; किन्तु कदाचित किसी अस्थि पर चोट नहीं आयी थी, जिसका भीष्म को अधिक भय था।

भीम क्रोध से दाँत पीस कर कह रहा था, "इसने मुझे गिराया है। इस दुष्ट ने जान-बूझ कर मेरी टाँग पकड़ ली थी। अन्यथा मैं अब भी दौड़ सकता हूँ।" भीम कदाचित पुनः भागने की तैयारी में था।

"तुम्हें और भागने की आवश्यकता नहीं है।" कृपाचार्य ने उसकी पीठ पर थपकी दी, "तुम सर्वक्षमतावान धावक स्वीकार किये गये।"

भीष्म को भीम की उतनी चिन्ता नहीं थी। इतनी-सी चोट भीम के लिये अत्यन्त साधारण बात थी; वैसे भी वह किसी शस्त्र का घाव नहीं था। आचार्य कृप ने उसे सर्वक्षमतावान धावक भी स्वीकार कर लिया था। भीष्म चिन्तित थे दुर्योधन को ले कर। दुर्योधन में दुष्टता की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। इससे न केवल इन भाइयों में वैमनस्य बढ़ेगा, वरन दुर्योधन का अपना विकास भी रुक जायेगा। उसकी सारी ऊर्जा अपना विकास करने के स्थान पर दूसरों का ह्रास करने में लग जायेगी। कुरुकुल की यह द्विगुणित क्षति भीष्म कैसे सहन करेंगे..

भीष्म को लगा कि उनके भीतर का क्षत्रिय तो इस समय भी दुर्योधन को पहले उठा कर सीधा खड़ा कर देना चाहता है; फिर उससे पूछना चाहता है कि उसने ऐसा क्यों किया; और फिर उसे किसी स्तम्भ से बाँध कर कम-से-कम पच्चीस कशाघातों का दण्ड देना चाहता है; ताकि दुर्योधन के मन में दुष्कृत्यों से बचने की प्रवृत्ति विकसित हो, भीम का रोष शान्त हो और सब लोगों के मन में नियमों के लिये सम्मान पुष्ट हो।...किन्तु दूसरी ओर भीष्म का वात्सल्य था, जो दुर्योधन को समझाना चाहता था कि जो कुछ उसने किया है, वह उचित नहीं है। भविष्य में उसे ऐसा कुछ भी नहीं करना चाहिए, और अपने भाइयों से तो उसे बस प्रेम ही करना चाहिए...

दुर्योधन अपने-आप उठ कर खड़ा हुआ। उसने अपने चारों ओर कदाचित यह भाँपने के लिये दृष्टि घुमायी कि आस-पास के लोगों की प्रतिक्रिया क्या है। उसने अपना मुँह लटकाया और भीम के पास खड़े कृपाचार्य के पास आ कर कहा, "आचार्य! भीम ने भागते हुए मुझे लँगी लगा दी थी, अन्यथा प्रथम मैं ही आता। आचार्य! भीम को इसका दण्ड मिलना चाहिए..."

भीष्म और नहीं सुन सके। वे उसके और निकट आ गये, "दुर्योधन! तुम मेरे साथ आओ।"

अपना नया नाम सुन कर वह चौंका; किन्तु कुछ बोला नहीं। चुपचाप उनके पीछे चल पड़ा। भीष्म ने उससे एक शब्द भी नहीं कहा और आ कर अपने रथ में बैठ गये...

दुर्योधन समझ नहीं पाया कि उससे क्या अपेक्षित था। वह रथ के पास खड़ा रह गया।...क्या पितामह उसे पिता जी के पास ले जाना चाहते हैं—उस पर आरोप लगाने के लिये? उसे दण्डित करवाने के लिये?...वह मन-ही-मन हँसा...पितामह भी तो एक दासी के ही समान व्यवहार कर रहे थे, जो उसे डराने के लिये कहती थी, 'चलिये! आपको महाराज के पास ले चलूँ। वे आपको दण्ड देंगे।' वह दासी भी जानती है और दुर्योधन भी कि दण्डित करना तो दूर, पिता

जी उसे फटकारेंगे भी नहीं।...पितामह की स्थिति भी राजप्रासाद की एक दासी के ही तुल्य तो है। वयोवृद्ध वे अवश्य हैं, जैसे दासी वय में उससे बड़ी होती है; न दासी उसे दण्डित कर सकती है, न पितामह। वह महाराज का ज्येष्ठ राजकुमार है—सम्भावित युवराज! उसे कौन दण्डित करेगा?...

"आओ दुर्योधन!" पितामह ने कहा, "आ कर रथ में मेरे साथ बैठो। तुम से कुछ बातें करनी हैं।"

दुर्योधन के मन में आया, कह दे, 'मुझे नहीं करनी है कोई बात; और न मुझे साथ जाना ही है।' किन्तु दृष्टि उठा कर पितामह की ओर देखा तो श्वेत केशों और दाढ़ी वाले उस तेजस्वी व्यक्ति की अवज्ञा कर सकने का साहस वह जुटा नहीं पाया। चुपचाप आ कर रथ में बैठ गया।

"चलो सारथि!" भीष्म ने आदेश दिया।

रथ ने जब तक गति नहीं पकड़ी, भीष्म जैसे अपने आवेश को संयमित करते रहे। वे दुर्योधन को समझाना चाहते थे, उसे डाँटना नहीं चाहते थे। इसके लिये आवश्यक था कि वे स्वयं को सर्वथा शान्त रखते।

रथ जब अपनी पूरी गति पर आ गया तो वे बोले, "वत्स! हम कहाँ जा रहे हैं?"

"मुझे क्या पता।" बहुत प्रयत्न करने पर भी दुर्योधन अपनी उद्दण्डता छिपा नहीं पाया।

"हम अपने घर जा रहे हैं।"

"किसके घर?" दुर्योधन के शब्दों में जिज्ञासा कम और पितामह की भूल जता कर उनका अपमान करने की इच्छा अधिक थी, "मेरे या आपके?"

भीष्म ने उसके स्वर में अवहेलना के भाव को पहचाना; किन्तु उसकी उपेक्षा करते हुए बोले, "इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। मैं केवल इतना ही समझाना चाहता हूँ कि हम एक स्थान से दूसरे स्थान तक जा रहे हैं। हमारा लक्ष्य एक विशिष्टि स्थान तक पहुँचना है, तो हमें उसके लिये क्या करना होगा?"

दुर्योधन कुछ नहीं बोला। उसने पितामह की ओर देखा-भर। किन्तु पितामह स्पष्ट रूप से देख रहे थे कि उन आँखों में न उनके लिये सम्मान था, न स्नेह और न ही कोई अन्य मैत्रीपूर्ण भाव!

"क्या करना होगा?" पितामह ने कुछ डपट कर पूछा।

"आपका प्रश्न ही मेरी समझ में नहीं आया है।" दुर्योधन ने पूर्ण अवज्ञा से कहा।

भीष्म की खीझ कुछ बढ़ी; किन्तु उन्होंने स्वयं को संयमित किया, "तो प्रश्न और उत्तर, मैं दोनों ही समझा देता हूँ।" उन्होंने सायास दुर्योधन को घूरा, "हमें एक स्थान से चल कर दूसरे स्थान तक पहुँचना है, तो हमें अपने गन्तव्य की ओर चलना पड़ेगा, चाहे पदाति चलें, चाहे अश्व पर चलें, अथवा रथ में। किन्तु हम उस दिशा में गतिशील रहें, इसका हमें ध्यान रखना होगा। हम शीघ्र अथवा विलम्ब से वहाँ पहुँच ही जायेंगे। किन्तु" उन्होंने जैसे जान-बूझ कर अपना वाक्य अधूरा छोड़ कर उसका प्रभाव दुर्योधन के चेहरे पर देखा, और अपना वाक्य पुनः वहीं से आरम्भ किया, "किन्तु यदि हम अपना चलना बन्द कर, उस गन्तव्य की ओर बढ़ने वाले अन्य लोगों को रोकने के प्रयत्न में लग जायेंगे, तो बहुत सम्भव है कि वे लोग अपने गन्तव्य पर कुछ विलम्ब से पहुँचें, किन्तु इतना ध्रुव निश्चित है कि हम अपने गन्तव्य तक कभी नहीं पहुँचेगे।"

"किन्तु आप मुझे यह सब क्यों बता रहे हैं?" दुर्योधन के स्वर में अब भी अवज्ञा का भाव था।

"मैं तुम्हें समझा रहा हूँ कि परमश्रेष्ठ धावक बनने के लिये तुम्हें अपनी क्षमता का विकास करना चाहिए; भीम के मार्ग में विघ्न उपस्थित करने से, वह परमश्रेष्ठ धावक बने या न बने, किन्तु तुम कभी धावक नहीं बन सकोगे।"

दुर्योधन ने मुख दूसरी ओर मोड़ लिया : उसे पितामह का उपदेश नहीं सुनना था। ये तो उसे कभी भी अपने मन की नहीं करने देंगे। इससे तो अच्छा है कि मनोरंजन की कोई ऐसी योजना बनाये जिसमें इन वृद्धों में से कोई भी न हो। और वहीं...वहीं वह भीम को ऐसी लंगी लगाए कि...

"सुनो वत्स!" भीष्म ने अपने सम्पूर्ण रोष का दमन करते हुए उसे समझाया, "जीवन में सदा से दो दृष्टिकोण रहे हैं : एक है निर्माण का और दूसरा विनाश तथा ध्वंस का। आत्म-निर्माण करने वाले लोगों ने सदा सात्विक और सुखी जीवन व्यतीत किया है। विनाश तथा ध्वंस करने वालों ने चाहे थोड़ा बहुत मानसिक सुख पाया हो; किन्तु न कभी वे

अपना विकास कर पाये और न उन्होंने कभी अपना पूरा विकास किया। तुम अपना विकास करो, तो ऐसा कोई गन्तव्य नहीं है, जहाँ तुम पहुँच न पाओ; इसलिये तुम अपना विकास करो।...समझ रहे हो न?"

"हाँ पितामह!" दुर्योधन ने बहुत तत्परता से अपना सिर हिलाया और मन-ही-मन वह कल्पना कर रहा था...'प्रमाण-कोटि! हाँ प्रमाण-कोटि। उदक्-क्रीड़न।...वहाँ परिवार के किसी वृद्ध को नहीं ले जायेंगे...और भीम को ऐसी लँगी...'

"प्रकृति ने इतने ग्रह बनाये हैं," दुर्योधन को समझाने का भीष्म अन्तिम प्रयत्न कर रहे थे, "सब अपनी-अपनी कक्षा में ही चलते हैं और अपना गन्तव्य खोजते हैं। कोई दूसरे की कक्षा में जा कर उसे रोकने का प्रयत्न नहीं करता। यदि कभी कोई ग्रह अपनी कक्षा छोड़ता है, तो सर्वनाश हो जाता है। समझते हो?"

"हाँ!" दुर्योधन बोला, किन्तु उसका मस्तिष्क प्रमाण-कोटि में उदक्-क्रीड़न की योजना बुनने में उलझा हुआ था।

3

गंगा के जल से बाहर निकल कर भीम वहीं रेत पर बैठ गया। वह सोच रहा था कि जल-क्रीड़ा पर्याप्त हो गयी फिर थोड़ा विश्राम कर पुनः पानी में उतरा जाये...अभी अनेक लोग तैर रहे थे और भीम का मन जल-क्रीड़ा से तो कभी भरता ही नहीं था। वैसे भी प्रमाण-कोटि में आ कर गंगा मनोहर भी तो कितनी हो गयी थी। हस्तिनापुर की नागरिक हलचल ने गंगा को अपने प्राकृतिक रूप में जैसे रहने ही नहीं दिया था। प्रमाण-कोटि में वह अपने नैसर्गिक रूप में थी—देव सरिता गंगा। ऐसा सुन्दर और आकर्षक स्थान खोज, मनोरंजन के लिये वहाँ आने की योजना बनाने के लिये तो दुर्योधन की प्रशंसा की ही जानी चाहिए।

उसे लगा, कोई आ कर उसके बहुत निकट खड़ा हो गया था।

भीम ने अपनी ग्रीवा घुमा कर देखा : दुर्योधन था। उसे आश्चर्य हुआ—दुर्योधन कैसे उसके निकट आ गया। उन दोनों में तनाव तो बना ही रहता था। उसे एक भी ऐसा अवसर स्मरण नहीं था, जब दुर्योधन अपनी इच्छा से प्रसन्नवदन कभी उसके निकट आया हो। उसने हाँफते हुए बालू पर हाथ मारा, “आओ! यहाँ बैठो धर्मावतार।”

वह जानता था, दुर्योधन उसके इस संबोधन से छिटक जायेगा और मुँह बना कर किसी और दिशा में चल देगा। भीम के परिहास की प्रतिक्रिया दुर्योधन में सदा ‘द्वेष’ के रूप में हुई थी।...

किन्तु आज दुर्योधन ने बुरा नहीं माना। मुस्कुरा कर, उसके निकट बैठ गया, “मैं तो आज पूर्णतः थक गया।”

भीम को लगा, आज तो सब कुछ ही उसकी अपेक्षा के विपरीत हो रहा था : एक तो दुर्योधन उसके निकट आ गया, दूसरे उसके निमन्त्रण पर उसके निकट बैठ भी गया; और अब यह भी स्वीकार कर रहा है कि वह थक गया है, यद्यपि न वह थका हुआ निढाल लग रहा था, और न ही वह भीम के समान हाँफ रहा था।...किन्तु शायद यह इतने आश्चर्य की बात नहीं थी।...पाठशाला में हुई क्रीड़ाओं के बाद दुर्योधन का व्यवहार कुछ-कुछ मैत्रीपूर्ण होता गया था। इस उदक-क्रीड़न समारोह का आयोजन तभी तो हो पाया था...कदाचित इस समारोह के माध्यम से दुर्योधन ने उन पाँचों भाइयों की ओर मैत्री का हाथ बढ़ाया था।...

“तुम भी थक जाते हो?” भीम ने पुनः परिहास किया, “मैं तो मान बैठा था कि तुम कभी थकते ही नहीं हो; या शायद तुम थक भी जाते हो, तो तुम्हारी ऐंठ नहीं थकती।”

“अरे, मैं भी कोई भीम हूँ, जो कभी थकता ही न हो।” दुर्योधन के स्वर में चाटुकारिता की गन्ध थी, “मुझमें न तुम जैसा बल है, न तुम जैसी ऊर्जा!”

भीम के लिये यह अभूतपूर्व अनुभव था : दुर्योधन स्वयं अपने मुख से भीम की प्रशंसा कर रहा था।

और सहसा इन सबसे भी कुछ अधिक आश्चर्यप्रद शब्द दुर्योधन के मुख में निकले, “मित्र कुछ खिलाओ! बड़ी भूख लगी है।”

भीम की प्रतिक्रिया कुछ विचित्र हुई : एक ओर तो उसे, दुर्योधन का यह सारा व्यवहार कुछ अटपटा-सा लग रहा था। उसका मन हो रहा था कि वह पूछे कि क्या दुर्योधन ने भाँग खा ली है...आज वह उसे ‘मित्र’ कह कर पुकार रहा था, और दूसरी ओर दुर्योधन के शब्दों ने जैसे भीम की भूख जगा दी थी। उसे अकस्मात ही स्मरण हो आया कि उसने तो बहुत देर से कुछ खाया ही नहीं है। उसे स्वयं अपने आप पर ही आश्चर्य हुआ कि उसने इतनी देर से कुछ खाया भी नहीं और उसे अपनी भूख की भी याद नहीं रही...सर्वव्यापी भूख भीम की सम्पूर्ण चेतना पर व्याप्त हो गयी।

वह हँसा, “वाह दुर्योधन! तुम सचमुच ही मेरे मित्र हो। खाने का स्मरण दिलाने वाला सचमुच कोई मित्र ही हो सकता है। वस्तुतः तैरने में इतना श्रम हो जाता है कि भूख चमक उठती है। प्रबन्ध तो ऐसा होना चाहिए कि कोई तैर कर जल से बाहर निकले तो सरिता-तट पर ही दासियाँ मोदकों के थाल ले कर उसके सम्मुख उपस्थित हो जायें अथवा मध्य धारा से ही तट पर मोदकों के थाल दिखायी पड़ने लगें। कोई दौड़ कर आये तो दासी मिष्ठान की मंजूषा लिये उसके इतने निकट हो कि लगे कि वह उस मंजूषा तक पहुँचने के लिये ही दौड़ रहा था।”

दुर्योधन का हास्य उन्मुक्त भी था और आत्मीय भी, “वाह भीम! मैंने कुछ खिलाने को कह दिया, तो आदर्श प्रबन्ध का चित्र खींच कर मेरे प्रबन्ध में ही त्रुटियाँ निकालने लगे।”

"नहीं! त्रुटियाँ नहीं निकाल रहा हूँ।" बहुत दिनों के पश्चात मित्र-भाव से निकट आये दुर्योधन को भीम रुष्ट नहीं करना चाहता था, "मैं तो अपने मनोनुकूल प्रबन्ध की कल्पना कर रहा था।"

"तो फिर देखो, मेरा प्रबन्ध!" दुर्योधन ने ताली बजायी।

वृक्षों के पीछे कहीं से निकल कर परिचालक उसके निकट आ गया।

"वह पेटिका लाओ, मोदकों वाली। सँभाल कर रखी है न?"

परिचालक ने हाथ जोड़, सिर झुका कर स्वीकृति दी और तत्काल पेटिका ले भी आया। दुर्योधन ने उसका आवरण हटाया : उसमें ऊपर तक मोदक-ही-मोदक भरे पड़े थे।

"चुपचाप खा लो।" दुर्योधन बोला, "कहीं अन्य लोगों तक सूचना पहुँच गयी तो देखने को भी कुछ नहीं बचेगा।"

दुर्योधन ने एक मोदक स्यवं अपने हाथ से भीम को खिलाया, "तो खाओ हमारी अनश्वर मैत्री के नाम पर एक मोदक।"

कुछ मोदक भीम ने अपने हाथों से खाये और कुछ दुर्योधन ने खिलाये। सहसा भीम को लगा, उसकी खाने की इच्छा अब शेष नहीं है, उसे अब भूख नहीं रही...अकस्मात ही वह अत्याधिक थकान का अनुभव करने लगा था। जाने कैसी तो नींद आ रही थी। इच्छा हो रही थी कि वहीं लेट जाये, तत्काल...

वह उठा, "अच्छा! मैं तनिक अपने मण्डप में जा रहा हूँ। थोड़ा सो लूँ। श्रेष्ठ पुरुषों के दो ही व्यसन होते हैं : निद्रा तथा आहार! निद्रा पूरी कर भोजन के लिये आऊँगा।...देखो! ध्यान रखना। ऐसा न हो सारा भोजन समाप्त हो जाये और तुम्हारी प्रबन्ध-पटुता की पोल खुल जाये।"

"नहीं मित्र! भोजन-सामग्री का तनिक भी अभाव नहीं है। एकदम नहीं।" दुर्योधन बोला, "तुम्हारे लिये तो मैंने पहले से ही भोजन अलग करवा कर रख दिया है। ऐसा कैसे हो सकता है कि उसी को भोजन न मिले, जिसे भोजन की सबसे अधिक आवश्यकता है।...भोजन का सुख और स्वाद तो उसके पारखी ही जानते हैं और इस समय सारी सृष्टि में तुमने बड़ा भोजन का पारखी कौन है?..."

भीम को वार्तालाप में भी अब रस नहीं आ रहा था। उसे यह तो लग रहा था कि दुर्योधन इस समय उससे बहुत प्रसन्न है; और वह उससे, इस प्रसन्नता का कारण भी जानना चाहता था; किन्तु वह इतना थका हुआ था, इतना कि उसके पाँव जैसे सीधे भी नहीं पड़ रहे थे। चलना भी दूभर हो गया था। ऐसी थकान तो भीम ने पहले कभी नहीं जानी थी। अब वह बस सो ही जाना चाहता था...

"मैं तुम्हें तुम्हारे मण्डप में छोड़ आऊँ क्या?" दुर्योधन ने पूछा।

"नहीं! मैं चला जाऊँगा।"

भीम भारी डगों से चलता हुआ अपने मण्डप तक आया और लेटते ही गहरी नींद सो गया।

रथों की दौड़ पूरी कर युधिष्ठिर रथ से उतरा, तो उसे ध्यान आया कि उसने बहुत देर से अपने भाइयों को नहीं देखा है। तनिक देख ले कि कौन क्या कर रहा है, तो फिर वह किसी और क्रीड़ा में लगे। जाने उसका मन भी क्यों माता कुन्ती के समान हो गया था, जो अपने पुत्रों से प्रहर-भर भी विलग हो कर व्याकुल हो जाती थी। माँ के व्यवहार को देख कर उसके मन में सदा उस कुक्कुटी का बिम्ब उभरता था, जो सदा अपने बच्चों को अपने पँखों में छिपाये उनकी रक्षा करती रहती थी।

उसने सारथि चिरन्तन को रथ सौंपा और स्वयं अश्वशाला की ओर चल पड़ा।

नकुल वहीं था। नकुल की विशेष रुचि अश्वों में ही थी। इसी वय में अश्व-विद्या में उसकी अच्छी गति हो गयी थी। वह अच्छा अश्वारोही हो गया था। इस समय वह दौड़ते हुए अश्व की पीठ पर खड़ा खड्ग-संचालन का अभ्यास कर रहा था।

"वन में बहुत दूर मत जाना नकुल!" युधिष्ठिर बोला, "और भोजन के लिये ठीक समय पर आ जाना।"

अपनी ही बात पर उसे पुनः माता याद हो आयी : कहीं ऐसा तो नहीं कि माता निकट नहीं होती, तो युधिष्ठिर अनायास ही उनका स्थान ग्रहण कर लेता है?...

"अच्छा भैया!"

"सहदेव कहाँ है?"

"खड्ग-संचालन क्षेत्र में!"

"तुम दोनों एक साथ क्यों नहीं रहते? मुझे सबको अलग-अलग स्थानों पर देखना पड़ता है।"

"उसके साथ रह कर मेरा अभ्यास पूरा नहीं होता ज्येष्ठ।" नकुल बोला, "आधा समय तो वह आकाश के ग्रह-नक्षत्रों को देखता रहता है, वायु को सूँघता है और दिशाओं को घूरता है।"

युधिष्ठिर मुस्कुरा कर आगे बढ़ गया : वह जानता था कि सहदेव का अधिक समय पर्यवेक्षण में व्यतीत होता है। वह बोलता भी बहुत कम था। अधिकांशतः केवल पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देता था—कदाचित वह इतना आत्मलीन रहता था कि किसी से बात करने की उसे इच्छा ही बहुत कम होती थी। दूसरे की बात सुन कर वह शान्त ही रहता था, प्रतिक्रियावश कुछ कहने की इच्छा उसमें कम ही जागती थी। वह उस जलराशि के समान था, जिसमें कंकड़ फेंकने पर, कंकड़ तो डूब जाता था, किन्तु जल में लहर उत्पन्न नहीं कर पाता था।

युधिष्ठिर खड्ग-संचालन-क्षेत्र में आया। सहदेव वहीं था। वह चुपचाप खड्ग के विचित्र अभ्यास करता रहता था। इस समय भी वह अनेक खड्ग-धारियों से घिरा हुआ था। वे लोग सब ओर से उस पर निरन्तर आघात कर रहे थे और वह उन सबका प्रतिरोध कर आत्मरक्षा का अभ्यास कर रहा था।

युधिष्ठिर को देख कर वह रुक गया। उसकी आँखें पूछ रही थीं, 'क्या बात है ज्येष्ठ?"

"अपना अभ्यास करते रहो। मैं बस तुम्हें देखने ही आया था।" युधिष्ठिर ने कहा, "भीम कहाँ है?"

"जब मैंने देखा था, तब मध्यम जल-क्रीड़ा में लगे हुए थे।"

"और अर्जुन?"

"मैंने उन्हें देखा नहीं है। वे धनुर्मण्डप में ही होंगे!"

अनुमान से युधिष्ठिर भी जानता था कि अर्जुन धनुर्मण्डप में ही होगा। उसे धनुर्विद्या की ही धुन थी। सहसा युधिष्ठिर को यह सोच कर अच्छा लगा कि वे पाँचों भाई पृथक-पृथक विद्याओं में विशेषज्ञता प्राप्त कर रहे हैं। वस्तुतः वे पाँचों अपने-आपमें स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं हैं। वे पाँचों मिल कर ही एक पूर्ण व्यक्ति का निर्माण करते हैं। वे मानो एक ही व्यक्ति के विभिन्न आयाम हैं। उनमें से कोई भी स्वयं को पृथक और पूर्ण नहीं समझता। अपने-आपमें वे अंगी नहीं, अंग मात्र हैं...

युधिष्ठिर ने दूर से अर्जुन को भी देखा। वह रथ में खड़ा था। अश्वों की वल्गा उसने अपने मुख में थाम रखी थी; और दोनों हाथों में धनुष-बाण थामे, वह चलते रथ में से लक्ष्य-वेध का अभ्यास कर रहा था।

अर्जुन दूर था और व्यस्त था। उससे भीम के विषय में पूछना सम्भव नहीं था।...सम्भव है वह मल्लों के साथ भिड़ा हो, अथवा अपने प्रिय गदा-युद्ध में व्यस्त हो।...वैसे उसका क्या पता है। तैरने जाता है तो लगता है जैसे सातों समुद्रों का मन्थन करके ही लौटेगा; दौड़ने लगता है तो पूरी पृथ्वी की परिक्रमा से कम की बात ही नहीं सोचता...

फिर भी उसकी खोज-ख़बर रखना बहुत आवश्यक था। उसके सम्बन्ध में, युधिष्ठिर के मन में एक हल्की-सी आशंका बनी ही रहती थी...कहीं वह दुर्योधन से ही भिड़ा हुआ न हो। युधिष्ठिर जानता है कि भीम अकारण ही किसी से लड़ता-भिड़ता नहीं है; किन्तु उसमें सहिष्णुता बहुत कम है। किसी भी बात की प्रतिक्रिया उसमें दूसरों की अपेक्षा उग्रतर होती है; और अपनी शारीरिक शक्ति के कारण फिर वह ऊधम भी काफ़ी मचा लेता है। कहीं मल्ल-युद्ध की स्थिति आ जाये तो उसे वह व्यायाम के अवसर के रूप में ग्रहण करता है। उसके लिये जैसे युद्ध तो कहीं है ही नहीं, सब कुछ क्रीड़ा ही है। दुर्योधन, दुशासन, शकुनि और कर्ण की आँखों में वह खटकता भी अधिक है। उनकी मनमानी में एक वही तो आड़े आता है...

युधिष्ठिर का आशंकित मन कभी-कभी चिन्तित भी हो उठता था।

सहसा उसे विकर्ण दिखायी दिया।

"तुमने भीम को कहीं देखा है?"

"अभी थोड़ी देर पहले ही तो उसे देखा था," विकर्ण बोला, "वह अपने मण्डप की ओर जा रहा था। कह रहा था कि तैरते-तैरते बहुत थक गया है, थोड़ी देर विश्राम करेगा।"

"अच्छा!" युधिष्ठिर भीम के मण्डप की ओर चल पड़ा।

भीम और थक जाये—युधिष्ठिर को आश्चर्य हुआ—वह तो हाँफ जाये, स्वेद से स्नान कर ले; किन्तु, न तो उसकी कल्पना में थकने-जैसी कोई अवधारणा थी, और और न यह शब्द उसके शब्द-भण्डार का अंश था...

युधिष्ठिर भीम के मण्डप में आया। विकर्ण ने ठीक ही कहा था : भीम जैसे प्रगाढ़ निद्रा में लीन था।

एक बार तो युधिष्ठिर के मन में आया कि उसे सोने ही दे—बेचारा थक गया होगा; किन्तु दूसरे ही क्षण उसे लगा कि यदि भीम सोया रह गया और भोजन का समय निकल गया तो बाद में उसे असुविधा ही होगी।

युधिष्ठिर मन-ही-मन मुस्कुराया : इस समय भी उसके मन में माता कुन्ती का ही द्वन्द्व जागा था। वे ही सदा अपने पुत्रों की नींद और भोजन को ले कर द्वन्द्व में पड़ी रहती थीं : स्वास्थ्य के लिये दोनों में से कौन-सी वस्तु अधिक हितकर थी?...कभी भोजन के लिये निद्रा त्यागने को कहतीं; और कभी निद्रा के लिये भोजन की अवहेलना करने को तत्पर दीखतीं...

"भीम उठो! चलो भोजन कर लो।"

एक बार पुकारने पर तत्काल उठ खड़े हो जाने वाले भीम पर युधिष्ठिर के इस निमन्त्रण का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

"उठो भीम!" युधिष्ठिर ने उसे हिलाया, "फिर भोजन का समय नहीं रहेगा।"

भीम हल्के से कुनमुनाया।

युधिष्ठिर ने उसे झँझोड़ा, "भीम!"

भीम ने अत्यन्त मन्थर गति से अपनी निद्रासक्त आँखें खोलीं, "मैं अत्यन्त क्लान्त हूँ ज्येष्ठ! मुझे निद्रा की अत्यधिक आवश्यकता है।"

"तुम्हारे शरीर को आहार की भी तो अत्यधिक आवश्यकता है। भोजन करके फिर सो जाना भाई!" युधिष्ठिर ने मनाया, "भोजन न मिला, तो बाद में भूख तुम्हें व्याकुल करेगी; और मैं तुम्हारी सहायता नहीं कर पाऊँगा।"

भीम उठ तो बैठा; किन्तु यह उसका सहज रूप नहीं था। युधिष्ठिर को लगातार यह लग रहा था कि भीम के व्यवहार में कुछ-न-कुछ असहज अवश्य था।...उसने अनेक बार भीम को श्रम करते देखा था; किन्तु वह इस प्रकार ध्वस्त हो कर तो कभी भी नहीं पड़ा था। उसने उसे अनेक बार सोते से जगाया था किन्तु उठने में उसने इतना विलम्ब तो कभी नही किया था; और न ही उठने के पश्चात अपनी क्लान्ति की ऐसी चर्चा ही की थी। भीम कितनी भी प्रगाढ़ निद्रा में क्यों न हो, दो-तीन-बार पुकारने पर वह तत्काल उठ कर खड़ा हो जाता था और उसके चेहरे पर न निद्रा को कोई चिह्न अवशिष्ट रह जाता था, न तन्द्रा का। स्फूर्ति तो भीम का सर्वप्रमुख गुण था...किन्तु आज...

युधिष्ठिर के साथ-साथ भीम भोजन-शाला तक आया; किन्तु वह कहता ही रहा कि उसे सो लेने दिया जाता तो अच्छा था...इस समय उसे भोजन की न कोई विशेष आवश्यकता थी, न इच्छा।...

"तुम स्वस्थ तो हो भीम?" युधिष्ठिर ने पूछा भी।

"हाँ! स्वस्थ ही हूँ।" भीम बोला, "मेरे स्वास्थ्य को क्या हुआ है।" बस, किंचित क्लान्ति है और उसी के कारण तनिक शिथिलता है।"

भीम ने जैसे-तैसे कुछ खाया। उसने भोजन नहीं किया, बस यत्किंचित निग्रण किया। भोजन का गुणगान करते हुए, उसके स्वाद का विश्लेषण करते हुए, रस ले कर खाने वाला भीम जैसे वहाँ था ही नहीं।

"अच्छा! मैं विश्राम कर लूँ। अपराह्न में मुझे गदा-युद्ध का अभ्यास करना है।"

भीम चला गया।

सबने भोजन किया और पुनः अपनी-अपनी क्रीड़ाओं तथा प्रतिस्पर्धाओं में लग गये। युधिष्ठिर खड्ग-युद्ध के अभ्यास के लिये चला तो गया; किन्तु उसका मन अपना सहज उल्लास लौटा नहीं पा रहा था।

“यदि मध्यम का स्वास्थ्य ठीक न हो, तो मैं मण्डप में उसके समीप ही रहूँ?” अर्जुन ने चलते-चलते पूछा।

“नहीं! तुम अपना लक्ष्य-वेध का अभ्यास क्यों छोड़ते हो।” युधिष्ठिर ने कहा। वस्तुतः अर्जुन को उसके अभ्यास से वंचित कर, स्वयं अपने अभ्यास के लिये चले जाना उसे बड़े भाई की दृष्टि से स्वार्थपूर्ण लग रहा था; और अपना अभ्यास छोड़, सोये हुए भीम के निकट बैठे रहना, उसे किसी अबोध, चिन्तित वृद्धा माता की भावुकता के समान उपहासजनक लग रहा था। “भीम को अपनी निद्रा पूरी कर लेने दो। सो कर भी यदि वह स्वस्थ न हुआ, तो वैद्य की सहायता लेनी पड़ेगी।”

दुर्योधन दबे-पाँव भीम के मण्डप के निकट आया और उसके द्वार पर रुक गया। उसके साथ, उसके अनेक साथी थे। उन्हें वहीं रुकने का संकेत कर वह आगे बढ़ा। उसने मण्डप में झाँक कर देखा—भीम पड़ा सो रहा था—अचेत!

दुर्योधन ने धीरे-धीरे मण्डप में निःशब्द प्रवेश किया। भीम के निकट जा कर उसका निरीक्षण किया। फिर मन्द स्वर में उसे दो-तीन बार पुकारा। न केवल भीम ने कोई उत्तर नहीं दिया, उस पर दुर्योधन की चेष्टाओं का कोई प्रभाव भी दिखायी नहीं पड़ा। दुर्योधन ने उसे हल्के-हल्के हिलाया; और जब भीम की ओर से तब भी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई, तो दुर्योधन ने उसे ज़ोर से झँझोड़ा।...भीम तब भी अचेत सोया रहा...

दुर्योधन के चेहरे पर प्रसन्नता प्रकट हुई। उसने पलट कर द्वार की ओर देखा और अपने साथियों को भीतर आने का संकेत किया।

“अचेत है एकदम, मृतक के समान!” दुर्योधन दबे स्वर में बोला, “इसे भली प्रकार से बाँध लो, किन्तु लताओं से ही बाँधना। रस्सी का प्रयोग मत करना, ताकि इसका शव यदि कहीं बहता हुआ किनारे लग भी जाये, तो लोग यही समझें कि बहते हुए नदी के शैवाल इत्यादि इसके शरीर के साथ उलझ गये हैं। ऐसा न लगे कि किसी ने इसे बाँधा है।”

उसके सहयोगी, आवश्यक उपकरणों के साथ पहले ही तत्पर थे। उन्होंने तत्काल लताएँ इत्यादि निकालीं और भीम को दृढ़ता से बाँध दिया। उसे हिला-डुला कर सन्तोषजनक ढंग से देख लिया कि कहीं कोई न्यूनता तो नहीं रह गयी।

सब प्रकार से सन्तुष्ट हो कर उन्होंने दुर्योधन की ओर देखा।

“ठीक है?” दुर्योधन ने पूछा।

उन्होंने स्वीकृति में सिर हिला दिया।

“वैसे तो कोई सम्भावना नहीं है; किन्तु किसी कारण से इसकी चेतना लौट आयी तो इन्हें खोल तो नहीं पायेगा?”

“नहीं महाराज! यह तो मनुष्य है; हमने तो ऐसा बाँधा है कि हाथी का बल भी इसे तोड़ न पाये।”

“उठा लो।” दुर्योधन बोला, “वहीं ले चलना जहाँ नदी का जल गहरा हो। आस-पास विषैले सर्प पर्याप्त संख्या में हों।...इसके जीवित रहने की कोई भी सम्भावना न बचे।”

“आपके आदेश का पालन होगा महाराज!”

वे लोग चले गये।

दुर्योधन खड़ा-खड़ा ¤¾ मुस्कुराता रहा : उसे लग रहा था, जैसे उसके जीवन की सबसे बड़ी अभिलाषा आज पूरी हो गयी।...यही था उसके मार्ग का रोड़ा...उसके बाद है ही कौन? युधिष्ठिर किसी भी प्रकार से न तो योद्धा ही है; और न राजनीतिज्ञ। उसे तो धमका देना ही पर्याप्त है...या फिर उसकी हत्या करवाने में श्रम ही कितना लगेगा...अर्जुन है...किन्तु वह नासमझ है और उसके शरीर में बल ही कितना है?...वैसे भी वह दुर्योधन से छोटा है। दुर्योधन के होते हुए वह हस्तिनापुर का युवराज नहीं हो सकता! अब दुर्योधन को हस्तिनापुर का युवराज होने से कोई नहीं रोक सकता...

दुर्योधन उल्लसित मन से क्रीड़ास्थल की ओर लौट आया। किन्तु उसका मन अब भी किसी क्रीड़ा में लग नहीं

रहा था...जब तक उसे यह सूचना न मिल जाये कि भीम को नदी के जल में प्रवाहित कर दिया गया है, तब तक उसके लिये एक स्थान पर टिकना कठिन था।

वह रथ ले कर निकल पड़ा। वह इधर-उधर घूमता रहेगा। कोई उस पर संदेह भी नहीं करेगा और उसे समाचार भी मिल जायेगा।

वह सारे प्रमाण-कोटि में घूमता फिरा : किन्तु उसकी दृष्टि गंगा के तट पर ही टिकी हुई थी।...तभी उसे दुःशासन दिखायी दिया।

उसने रथ रोक लिया, "दुःशासन!"

"हो गया भैया।"

"कोई त्रुटि तो नहीं हुई?"

"नहीं भैया। उसे मैंने अपने हाथों से गंगा में डुबोया है।"

"विषैले सर्पों के स्थान पर?"

"हाँ भैया।"

"नदी में जल उथला तो नहीं था?"

"नहीं! हाथी की पीठ पर हाथी खड़ा हो जाये, तो वह भी डूब जाये।"

"किसी ने देखा तो नहीं?"

"कौन होता देखने वाला! सब तो अपनी-अपनी क्रीड़ाओं में लगे हुए हैं।"

दुर्योधन का मन हुआ, ज़ोर का अट्टास करे; किन्तु उसने स्वयं को संयत किया, "सिंहासन पर बैठते ही तुम्हें युवराज बना दूँगा।"

दुःशासन हँसता हुआ चला गया।

सन्ध्या होने को हुई। युधिष्ठिर का मन पुनः भीम की ओर भटक गया : क्या वह अब तक सो ही रहा होगा?...वैसे कोई बहुत असाधारण बात तो नहीं थी। भीम को जितना प्रिय भोजन था, उतनी ही प्रिय निद्रा भी थी। अवसर मिलने पर वह कई-कई प्रहर सोया रह सकता था।...किन्तु फिर भी देख लेना चाहिए। कहीं वह अस्वस्थ ही न हो...

वह भीम के मण्डप में आया।...भीम मण्डप में नहीं था।...तो क्या भीम की नींद पूरी हो गयी? वह उठ कर चला गया है...कहाँ गया होगा?

युधिष्ठिर ने गंगा के तट पर एक लम्बा चक्कर लगाया। तैरने वाले और तट पर खड़े लोगों से पूछा भी; पर किसी ने भीम को नहीं देखा था।...

युधिष्ठिर ने मल्लशाला और गदा-युद्ध शाला भी देखी। भीम कहीं नहीं था। अब? अर्जुन, नकुल और सहदेव —सब ही मिले; किन्तु भीम नहीं मिला।...युधिष्ठिर की चिन्ता सघन होने लगी : कहाँ चला गया है भीम?

दुर्योधन ने उसे रोका भी, "क्या बात है, बहुत चिन्तित लग रहे हो?"

"तुमने भीम को कहीं देखा है?"

"किसी को देखने का अवकाश किसे है?" उसकी प्रसन्नता जैसे फूटी पड़ रही थी, "सब ही तो अपनी क्रीड़ाओं में लगे हैं, वह भी लगा होगा। वह मोटा कहीं टिक कर बैठने वाला तो है नहीं।"

"नहीं! वह कहीं भी नहीं दिख रहा। मैं सब जगह देख आया हूँ।"

"अरे, तो किसी पशु के पीछे वन में फँस गया होगा। उसे खाने को भी तो बहुत कुछ चाहिए होता है। देखना, अभी मृग मार कर लायेगा और फिर उसे भून कर पूरा-का-पूरा खा जायेगा।"

युधिष्ठिर कुछ नहीं बोला। दुर्योधन की इन कल्पनाओं से उसे कोई सन्तोष नहीं हुआ था; और दुर्योधन से बात

करने का कोई लाभ भी नहीं था। सम्भव है, इस समय वह मदिरा के प्रभाव में हो। युधिष्ठिर ने सुना था कि इधर उसका सुरापान का अभ्यास बहुत बढ़ गया था।...

युधिष्ठिर आगे बढ़ गया।

“अरे धर्मराज!” दुर्योधन चिल्ला कर बोला, “कहीं ऐसा न हो कि वह हस्तिनापुर लौट गया हो।”

“किसी को बिना कुछ कहे, वह हस्तिनापुर क्यों लौट जायेगा?” युधिष्ठिर ने आपत्ति की।

“अम्मा की याद आ गयी होगी।”

दुर्योधन के साथियों ने ज़ोर का अट्टास किया।

युधिष्ठिर के चिन्तित मन को दुर्योधन का अभद्र परिहास अच्छा नहीं लगा। किन्तु वह कर ही क्या सकता था। वह भीम की ओर से चिन्तित था और जानता था कि दुर्योधन से सुसंस्कृत व्यवहार की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। वह जैसे-जैसे बड़ा होता जा रहा था, वैसे-वैसे और भी अभद्र होता जा रहा था। वैसे ही उसने अपने संगी-साथी चुन लिये थे। अपने छोटे भाइयों को भी उसी मार्ग पर ले जा रहा था। जो मन में आता था, कह बैठता था। जिसको इच्छा होती, पीट बैठता था। मदान्ध हो रहा था एकदम—दुर्वृत्त! साथ में गुण्डों की टोली लिये चलता था।...उसकी इन्हीं बातों से भीम उग्र हो उठता था।...कदाचित सारे कुरु-राज्य में एक मात्र भीम ही ऐसा व्यक्ति था, जो उसकी आलोचना करता था, अथवा ईंट का जवाब पत्थर से देता था...पर भीम इस समय पता नहीं कहाँ था!

युधिष्ठिर के मन में इच्छा हुई कि वह तत्काल हस्तिनापुर लौट जाये। जा कर देखे, बहुत सम्भव है कि किसी कारण से भीम सचमुच ही हस्तिनापुर लौट गया हो...किन्तु यदि वह यहीं-कहीं पास ही मृगया कर रहा हो तो? या तैरता-तैरता गंगा में ही दूर निकल गया हो...इधर युधिष्ठिर हस्तिनापुर जाये और उधर भीम प्रमाण-कोटि में प्रकट हो जाये...और फिर अर्जुन, नकुल और सहदेव यहीं हैं...

सन्ध्या ढलने लगी तो शिविर उखड़ने लगा; और हस्तिनापुर लौटने की तैयारी होने लगी।

युधिष्ठिर को चिन्तित देख, अर्जुन बोला, “ज्येष्ठ! आप कहें तो मैं सारा प्रमाण-कोटि एक बार फिर से देख आऊँ। सम्भव है मध्यम यहीं कहीं हो।”

“नहीं!” युधिष्ठिर बोला, “फिर तुम्हें मैं कहाँ खोजता फिरूँगा?” युधिष्ठिर ने नकुल और सहदेव को भी पुकार लिया, “तुम लोग अब कहीं मत जाना। बल्कि नकुल! तुम चिरन्तन से कहो कि वह रथ तैयार करे। अन्धेरा हो रहा है, हमें हस्तिनापुर लौट जाना चाहिए।”

नकुल चिरन्तन को खोजने चला गया।

“और ज्येष्ठ! यदि मध्यम यहीं कहीं पड़े सो रहे हों तो?” सहदेव बोला।

“सम्भावनाएँ तो अनेक हो सकती हैं।” युधिष्ठिर ने सहदेव की बात टाल दी; किन्तु उसके अपने मन में असंख्य आशंकाएँ जाग्रत हो उठीं...दोपहर से ही भीम नींद से अत्यधिक निढाल हो रहा था। सचमुच ही यदि वह किसी कारण से उठ कर मण्डप से बाहर आया हो और फिर वन में ही कहीं लेट गया हो तो? उसकी तो नींद भी ऐसी है; और भीम को न किसी प्रकार की चिन्ता होती है, न आशंका। वन की भूमि को तो वह जैसे अपना घर ही समझता है...यह वन है, यहाँ अनेक हिंस्र पशु हैं...और फिर दुर्योधन और उसके मित्र भी तो हैं...कहीं कोई दुर्घटना हो गयी...

‘नहीं!’ युधिष्ठिर ने स्वयं को संयत किया, ‘इस प्रकार आशंकाओं से उन्मत्त होने का कोई लाभ नहीं है। बहुत सम्भव है कि भीम उनसे पहले हस्तिनापुर लौट गया हो। सम्भव है, वह उनसे पहले लौट कर उनको चकित कर देना चाहता हो। है तो खिलंदरा ही। उसके विनोद भी विचित्र होते हैं...किस समय उसके मस्तिष्क में कौन-सी सनक समा जाती है, यह भी तो किसी को पता नहीं लगता...’

रथ तैयार हो गये और शिविर का सारा सामान छकड़ों पर लाद दिया गया। एक रथ में चार-चार, पाँच-पाँच व्यक्ति आरूढ़ थे। दुर्योधन जैसे पूर्णतः मद्य के प्रभाव में था। वह उच्च स्वर में लगातार कुछ-न-कुछ बोलता जा रहा था। कभी गाने लगता था। कभी अपने किसी साथी को गाने और चिल्लाने के लिये उकसाने लगता था। दुःशासन और दुर्योधन का परम मित्र कर्ण, उसे सँभालने में लगा हुआ था।

चिरन्तन रथ ले आया तो युधिष्ठिर ने अर्जुन, नकुल तथा सहदेव को उसमें बैठने के लिये कहा। उन्हें बैठा कर वह स्वयं भी आ गया।

"चलो!" उसने धीरे से कहा।

उनका रथ चला। साथ में अनेक और रथ भी चल पड़े। अपनी-अपनी गति के अनुसार सबने मार्ग में कहीं-न-कहीं अपना स्थान बना लिया।

सहसा दुर्योधन का रथ, उनके समकक्ष आ गया, "आओ!" दुर्योधन मद्यप के समान चिल्लाया, "देखें कौन रथ-संचालन में अधिक प्रवीण है। चाहो तो सारथि रथ हाँके या मेरी और युधिष्ठिर की प्रतियोगिता हो जाये।"

चिरन्तन ने युधिष्ठिर की ओर देखा।

"तुम अपनी गति से चलते हो।" युधिष्ठिर ने धीरे से कहा।

"क्यों? नहीं है साहस?" दुर्योधन पुनः चिल्लाया, "अरे वह मोटा नहीं है तो मुँह क्यों लटका लिये। रथ-संचालन का अभ्यास तो करते ही रहना चाहिए।"

"दिन-भर में पर्याप्त अभ्यास हो गया है।" युधिष्ठिर ने धीरे से कहा और दूसरी दिशा में देखने लगा।

दुर्योधन ने एक अट्टास किया और रथ को भगा कर आगे निकाल ले गया।

"आप एक बार मुझे आदेश दे कर देखें राजकुमार!" चिरन्तन बोला, "मैं इसकी सारी हेकड़ी भुला दूँगा।"

"मैं तुम्हारी योग्यता से परिचित हूँ चिरन्तन!" युधिष्ठिर बोला, "किन्तु मदिरा में उन्मत्त उस मूर्ख दुर्योधन की बातों से क्या उत्तेजित होना।"

कुन्ती ने द्वार पर ही उनका स्वागत किया, "आ गये मेरे बच्चो!" और दूसरे ही क्षण उसने प्रश्न किया, "भीम कहाँ है?"

"भीम आया नहीं क्या?" युधिष्ठिर ने पूछ तो लिया; किन्तु ग्लानि से उसका मुख स्वयं झुक गया।...उसने कैसे यह स्वीकार कर लिया कि उन सबको बिना बताये, बिना कुछ कहे, क्रीड़ा छोड़ कर भीम घर आ जायेगा—माँ से मिलने? भीम इतना छोटा बच्चा तो नहीं है कि माँ के बिना वह कहीं रह ही न सके।

"भीम कहाँ है?" कुन्ती ने पुनः पूछा, और तत्काल उसके स्वर में आशंका ध्वनित होने लगी, "कहाँ छोड़ आये हो उसे?"

"अन्दर चलो माँ!" युधिष्ठिर धीरे से बोला।

"मैं पूछती हूँ भीम कहाँ है?" कुन्ती ने कुछ आवेश के साथ कहा।

"भीतर चलो माँ! अभी बताते हैं।" युधिष्ठिर कुन्ती के कंधों को थाम कर भीतर ले गया।

कुन्ती समझ गयी : कुछ-न-कुछ अघटनीय घट गया है। उसका मुख कुछ पीला हो गया था और टाँगें जैसे काँपने-सी लगी थीं।

युधिष्ठिर ने अत्यन्त सावधानीपूर्वक बहुत ही कोमल शब्दों में माँ को सारी स्थिति समझायी।

कुन्ती अवाक बैठी रही। क्षण-भर को तो उसे ऐसे लगा, जैसे सब कुछ थम-सा गया है, जड़ हो गया है, कहीं कोई स्पन्दन शेष ही नहीं है। फिर जैसे बर्फ़ पिघली। उसकी आँखों में पानी झलमलाया, "मुझ अभागिन के साथ कुछ-न-कुछ तो ऐसा होना ही था। मेरा ऐसा भाग्य कहाँ कि मैं किसी भी अवस्था में कुछ दिन सुख और शान्ति के व्यतीत कर सकूँ।"

"निराश न हो माँ!" युधिष्ठिर ने माँ को अपनी बाँहों में समेट कर सांत्वना दी, "भीम कोई छोटा बच्चा तो नहीं है कि मार्ग भूल जायेगा। कहीं चला गया होगा। अब हम लोगों को वहाँ न देख कर, लौट कर घर ही तो आयेगा, और कहाँ जायेगा?"

युधिष्ठिर की जिह्वा जो कुछ कह रही थी, उसका अपना मन ही उसे स्वीकार नहीं कर रहा था।...प्रमाण-कोटि से चलते समय ही क्यों, भीम को उस प्रकार अस्वाभाविक और असहज ढंग से सोते देख कर ही उसका मन खटका था।

...किन्तु फिर भीम चला कहाँ गया?...

कुन्ती कुछ देर तक चिन्तित-सी अपने पुत्रों को एक-एक कर देखती रही; फिर उसने धीरे से पूछा, “तुमने भीम को अन्तिम बार कब देखा था?”

“भोजन के समय!” युधिष्ठिर बोला।

“उसने ठीक से भोजन किया था?”

“नहीं माँ!” युधिष्ठिर बोला, “मुझे तब ही शंका हुई थी कि वह स्वस्थ नहीं है। बहुत शिथिल था। वह कह रहा था, बहुत थका हुआ है, और उसे नींद भी बहुत आ रही थी।...भोजन तो उसने नाममात्र का ही किया था।”

“मेरे मन में तो दुष्कल्पनाएँ-ही-दुष्कल्पनाएँ जाग रही हैं युधिष्ठिर।” कुन्ती बोली, “घर से तो एकदम स्वस्थ गया था, तो वहाँ ऐसा क्या हो गया, जो न उससे खाया गया, न खेला गया।...कहीं उसे सुयोधन ने तो कुछ कर-करा नहीं दिया?”

“शंका तो मुझे भी है माँ!” युधिष्ठिर ने बहुत धीरे से स्वीकार किया, “किन्तु मेरा मन मानना नहीं चाहता कि सुयोधन दुष्टता की इस सीमा तक भी जा सकता है।...”

“माँ!” अर्जुन ने कुन्ती के कंधे को हथेली से दबाया, “यदि मध्यम का कोई अनिष्ट हुआ, तो सच कहता हूँ, मैं उसके शत्रुओं को इन बाणों से वेध डालूँगा।”

“जब तक किसी दुर्घटना का निश्चित प्रमाण न मिल जाये, हमें आशा त्यागनी नहीं चाहिए।” युधिष्ठिर ने जैसे अर्जुन की बात का तिरस्कार करते हुए कहा।

कुन्ती ने सिर उठा कर जैसे पहली बार अर्जुन के तेजस्वी मुख-मण्डल को देखा, उसका अज्जु अब बड़ा हो गया था। वह अब बालक नहीं था। वह योद्धा बनेगा, यशस्वी धनुर्धर! उसके चेहरे पर तो जैसे कोई चिन्ता और आशंका भी नहीं थी।

नकुल और सहदेव, माँ के सम्मुख भूमि पर बैठे मानो उसे सांत्वना देने के लिये तड़प रहे थे; किन्तु शब्दों में कुछ कह नहीं पा रहे थे।

सहसा कुन्ती को लगा, उसके पुत्र अब बड़े हो गये हैं। वे माँ के संरक्षण में नहीं हैं, माँ उनके संरक्षण में है। माँ का दुख उन्हें पीड़ित करता है, अपने दुख से अधिक...

कुन्ती ने आँखें पोंछ लीं। वह एक संकल्प ले कर उठी, “उठो पुत्रो! हमें हताश हो कर नहीं बैठना है। हमें भीम को खोजना होगा। वह खिलंदरा अवश्य है, किन्तु नासमझ नहीं है। अपनी इच्छा से वह कहीं नहीं गया होगा, वह अवश्य ही किसी संकट में फँस गया है।”

“ठीक कहती हो माँ!” युधिष्ठिर बोला, “किन्तु खोजने की कोई दिशा तो होनी चाहिए। प्रमाण-कोटि में जितना ढूँढना सम्भव था, उतना मैं ढूँढ आया हूँ। आने से पहले मैंने वहाँ पूरे दो चक्कर लगाए थे। इसलिये वहाँ कहीं उसके होने की सम्भावना नहीं है।” उसने रुक कर माँ की ओर देखा, “और उसे बलात कहीं ले जाना, दो-चार लोगों के लिये सम्भव नहीं है। अपनी इच्छा से वह कहीं गया नहीं होगा...।”

“अपनी इच्छा से वे कहाँ गये होंगे।” सहदेव बोला, “दोपहर को जो उनकी स्थिति थी, वह कहीं जाने की थी क्या? अपने पैरों चल कर अपने मण्डप तक जाना भी कठिन हो रहा था उनके लिये।”

सबने सहदेव को देखा : वह ठीक कह रहा था।

समग्र परिवेश पर एक तीक्ष्ण निःशब्दता छा गयी थी, जिसकी चुभन का बोध सबको हो रहा था।

“ऐसी स्थिति में तुम लोगों ने उसे मण्डप में अकेले छोड़ कर भूल की।” कुन्ती ने चिन्तित गम्भीरता से कहा, “युधिष्ठिर! तुम विदुर काका को बुला लाओ पुत्र! उन्हें सूचना दें और उनसे कुछ विचार-विमर्श करें। सम्भव है, वे कोई मार्ग सुझा सकें।” कुन्ती कुछ रुक कर बोली, “इस अन्धकार में तुम लोग भीम को खोजने कहाँ जाओगे। और पुत्र!” उसने युधिष्ठिर को साभिप्राय देखा, “निःशस्त्र बाहर मत जाओ। अकेले भी मत जाओ। अर्जुन को साथ ले जाओ! पुत्र अर्जुन! तुम अपना धनुष और कुछ बाण अवश्य ले जाना। संकट का आभास होते ही बाण चला देना।”

"माँ!" युधिष्ठिर बोला, "तुम समझती हो कि किन्हीं लोगों ने स्वेच्छा से भीम का कोई अनिष्ट किया है?"

"मैं कुछ नहीं समझती पुत्र! तुम जाओ। इस समय मेरा चित्त ठिकाने नहीं है।" और फिर उसने जोड़ा, "अधिक समय मत लगाना। एक क्षण भी अनावश्यक मत रुकना। जब तक तुम लोग नहीं आओगे, मेरे प्राण सूली पर टँगे रहेंगे।"

"चल अर्जुन!" युधिष्ठिर बाहर की ओर चल पड़ा।

"नकुल-सहदेव! जाओ पुत्र। बाहर का द्वार ठीक से बन्द कर लो, और फिर आ कर मेरे निकट बैठ जाओ।"

"हम भी ज्येष्ठ के साथ जायें माँ?" नकुल ने पूछा।

"नहीं पुत्र! मैं अपने सारे पुत्रों को एक साथ बाहर भेजने का जोखिम नहीं उठाना चाहती!"

विदुर ने आने में अधिक विलम्ब नहीं किया। लगता था, युधिष्ठिर और अर्जुन के पहुँचते ही वह चल पड़ा था।

रथ के रुकने का शब्द सुनने के पश्चात युधिष्ठिर और अर्जुन के स्वर पहचान कर कुन्ती ने द्वार खोल दिया।

भीतर प्रवेश करने के पश्चात द्वार बन्द हो जाने तक विदुर ने कुछ नहीं बोला। भीतर के कक्ष में आ जाने के पश्चात ही उसने मुख खोला, "यह तो बहुत बुरा हुआ भाभी!"

"तुम्हें क्या लगता है विदुर! क्या हुआ है भीम को?"

"अभी कुछ नहीं कहा जा सकता, भाभी!" विदुर बोला, "वैसे हमें अभी यही मानना चाहिए कि भीम स्वेच्छा से ही कहीं इधर-उधर चला गया होगा; और जिस कार्य से भी गया होगा, उसे पूर्ण कर लौट आयेगा।...या फिर यदि किसी संकट में फँस गया होगा, तो उससे उबर कर लौट आयेगा।"

"मैं तुमसे भेद की एक बात कह रही हूँ विदुर!" कुन्ती बोली, "मैं बहुत दिनों से देख रही हूँ; पर किसी से कहती कुछ नहीं।"

"क्या भाभी?"

"हमारा हस्तिनापुर आना जेठ-जेठानी को तनिक नहीं भाया है। सुयोधन और सुशासन इत्यादि निरन्तर हमारा अपमान करते रहे हैं। वे लोग हस्तिनापुर में हमें कोई अधिकार नहीं देना चाहते। सिवाय भीम के, हम में से किसी ने भी उनका कोई प्रतिरोध नहीं किया है। भीम ही सुयोधन की प्रत्येक अनुचित बात पर अड़ता था। वह सुयोधन और उसके भाइयों पर भारी भी पड़ता था।...मेरे मन में बार-बार एक ही शंका उठ रही है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि सुयोधन ने उसका वध करवा दिया हो?..."

विदुर ने भरपूर दृष्टि कुन्ती पर डाली : किन्तु उसकी आँखों में न स्तब्धता थी, न विमूढ़ता और न ही किसी प्रकार की आकस्किता का भाव। वह बोला, "यह बहुत असम्भव नहीं है भाभी! मेरे मन में कुछ-कुछ आशंका उसी दिन से थी, जिस दिन से सुयोधन ने प्रमाण-कोटि में उदक-क्रीड़न की तैयारी आरम्भ करवायी थी।"

"क्यों काका?" सहसा युधिष्ठिर ने पूछा।

"पुत्र! तुम लोगों के प्रति सुयोधन का व्यवहार कभी भी सौहार्दपूर्ण नहीं रहा। जब और जैसे भी सम्भव हुआ है, उसने सदा तुम लोगों का अपमान और अवहेलना करने का प्रयत्न किया है।...फिर ऐसा क्या हो गया कि उसका तुम लोगों के लिये प्रेम उमड़ा और वह तुम लोगों को साथ ले कर उदक-क्रीड़न का उत्सव मनाने चल दिया। जब कभी शत्रु भाव रखने वाला कोई व्यक्ति बहुत आत्मीयता जताये तो उसे शंका की दृष्टि से ही देखना चाहिए पुत्र!"

युधिष्ठिर मन-ही-मन विदुर की बात पर विचार करता रहा; और फिर बोला, "उसने मुझसे कहा था काका! कि उसे समाचार मिला है कि गंगा के तट पर यह एक अत्यन्त मनोरम स्थल है। वहाँ एक सुन्दर उद्यान है, जो आधा जल में है और आधा स्थल पर। वहाँ क्रीड़ा और स्पर्धा का बहुत अच्छा अवसर है; और उसकी कोई भी स्पर्धा भीम से प्रतियोगिता किये बिना दक्षपूर्ण नहीं हो सकती।"

"सत्य यह है पुत्र! कि उसने कई मास के समय में यह स्थल अपने शिल्पी लगा कर इस रूप में बनवाया है, जिस रूप में तुमने उसे देखा है। पहले वह गंगा का साधारण तट मात्र था। इसमें संदेह नहीं है कि वह अत्यन्त मनोरम

था। कुछ ऐसा भी था कि कहीं भूमि दूर तक जल में चली गयी थी और कहीं जल कुछ दूर तक भूमि में प्रविष्ट हो गया था। जल और स्थल का संगम वह अवश्य था; किन्तु सुयोधन ने वहाँ उद्यान बनवाया। उद्यान में सेतु बनवाये। वह अत्यन्त रम्यस्थली बन तो गयी; किन्तु यह सारा निर्माण गोपन रूप में हुआ। और फिर उसने यह कार्यक्रम बना डाला। मेरा मन यह नहीं मानता कि उसने इतना उद्यम और व्यय केवल तुम लोगों के साथ मनोरंजन के लिये किया था।"

"तुम्हें इस प्रकार की आशंका थी तो तुमने इन लोगों को रोका क्यों नहीं विदुर?" कुन्ती ने कहाँ, "हमें तनिक सावधान तो कर देते।"

विदुर ने जैसे अपनी भूल स्वीकार की; सिर झुका कर बोला, "मेरे पास कोई प्रमाण नहीं था।"

"एक बात मेरी समझ में नहीं आयी काका!" सहसा बीच में सहदेव बोला, "सुयोधन न राजा है, न युवराज। किन्तु फिर भी उसकी प्रत्येक इच्छा, राज कर्मचारियों के लिये सम्राट के आदेश का-सा महत्व क्यों रखती है?"

"उसे राज्य का इतना धन मनमाने रूप में व्यय करने का अधिकार किसने दिया है?" अर्जुन ने सहदेव के ही प्रश्न को पुष्ट किया।

"यह है तो अनियमितता ही; किन्तु महाराज धृतराष्ट्र की इच्छा के कारण सबको मान्य हो रहा है।" विदुर बोला, "किन्तु मैं प्रमाण-कोटि की बात कह रहा था। वहाँ का निर्माण जिस गुप्त रीति से हुआ था, और जिस सौहार्द से आग्रहपूर्वक वह तुम लोगों को वहाँ ले कर गया था, उसी से मुझे संदेह हुआ था, कि वह कोई षड्यन्त्र रच रहा है; और भीम के इस प्रकार विलुप्त हो जाने से मेरा संदेह प्रमाणित हो रहा है।"

"हस्तिनापुर में यह कैसा राक्षसी राज्य है?" कुन्ती आवेशमय स्वर में बोली, "यहाँ क्या कोई भी उस सुयोधन...सुयोधन क्यों, उस दुर्योधन से यह नहीं पूछ सकता कि उसने भीम की हत्या क्यों की? क्या वह सारे विधि-विधान, नियमों, नीति और सारी दण्ड-संहिता से मुक्त है? क्या वह हस्तिनापुर का सर्वनियन्ता ईश्वर है?"

विदुर उसे शान्त दृष्टि से देखता रहा। कुन्ती कह चुकी तो वह बहुत धीरे से बोला, "तुम्हारे दुख, पीड़ा और कष्ट को मैं भली प्रकार समझ रहा हूँ भाभी! किन्तु मुझे सुयोधन...।"

"उसे दुर्योधन कहो।" कुन्ती बोली।

"उस दुर्योधन को दण्डित करवाने से अधिक मुझे तुम्हारे इन शेष चार पुत्रों की सुरक्षा की चिन्ता है। जो एक का वध कर सकते हैं, वे दूसरे और तीसरे का भी कर सकते हैं। जब देश में राक्षसी शासन होता है, तो विधि-विधान से सहायता की अधिक आशा नहीं करनी चाहिए। विधि-विधान तो राजा की नीति है; किन्तु जब स्वयं राजा ही अनीति पर उतर आये तो नीति का अपना क्या बल! समझ लो कि इस समय हस्तिनापुर पर चक्षुहीन धृतराष्ट्र का नहीं, दुर्योधन के गुण्डों का राज्य है। हमें अपनी रक्षा स्वयं करनी है। उसके लिये उचित है कि हम अपना दुख भुला कर भी यही प्रकट करें कि हमें दुर्योधन पर कोई संदेह नहीं है।"

कुन्ती का चेहरा भय से एकदम श्वेत हो गया।...विदुर ठीक कह रहा था। यह समय आक्रामक होने का नहीं था। उन्हें अपनी सुरक्षा की अधिक चिन्ता करनी चाहिए।

"क्या पितृव्य भीष्म को भी सूचित नहीं करना चाहिए?" कुन्ती ने इतने धीमे स्वर में विदुर से पूछा, मानो वह स्वयं अपने-आपसे ही पूछ रही हो।

"पितृव्य भीष्म को यदि हमने यह सूचना दी, तो वे शान्त नहीं बैठेंगे।" विदुर बोला, "वे सम्भवतः धृतराष्ट्र और दुर्योधन दोनों को ही ताड़ित करेंगे। बात खुल जायेगी और पाण्डव और भी असुरक्षित हो जायेंगे। धृतराष्ट्र के राजा होते हुए पितृव्य दुर्योधन को न मृत्यु-दण्ड दिलवा पायेंगे, न उसे निगड़बद्ध करवा पायेंगे और न राज्य से निष्कासित करवा पायेंगे। वह स्वतन्त्र और समर्थ रहेगा, तो क्या वह शान्त बैठा रहेगा? नहीं भाभी! अपने पुत्रों को पहले समर्थ हो लेने दो। तब तक हमें सहन करना ही होगा।"

दो क्षणों के लिये एक सर्वव्यापी मौन छा गया।

"पर इतना कुछ घटित हो जाये और पितृव्य को सूचना ही न हो, यह क्या उचित होगा विदुर?" कुन्ती धीरे से बोली, "भविष्य में जब उन्हें पता चलेगा तो क्या उन्हें दुख नहीं होगा कि हमने उनके साथ परायों का-सा व्यवहार

किया...और पता तो उन्हें लगेगा ही। क्या वे यह नहीं पूछेंगे कि हम अपने-आपको उनसे अधिक समझदार और समर्थ समझते हैं? क्या मैं उनकी सहायता के बिना अपनी और अपने पुत्रों की रक्षा कर लूँगी?"

विदुर ने सिर झुकाये हुए कुन्ती की बात सुनी और वैसे ही सिर झुकाये बैठा रह गया। कुछ बोला नहीं, बस सोचता ही रहा।

"कुछ बोलते क्यों नहीं विदुर?" कुन्ती ने कहा।

विदुर ने जैसे उनींदी आँखों और अनमने भाव से ऊपर की ओर देखा, "आकाश बहुत समर्थ है भाभी! वह धरती को आच्छादित भी किये रहता है; किन्तु न तो वह सूर्य के ताप से धरती की रक्षा कर सकता है, न वर्षा की ताड़ना से..." उसने अपनी दृष्टि कुन्ती की ओर फेरी, "पितृव्य को भी आकाश ही समझो भाभी!" उसकी दृष्टि कुन्ती से हट कर युधिष्ठिर पर पड़ी। फिर जैसे उसने चारों भाइयों को अपनी दृष्टि में समेट लिया, "पुत्रो कुछ बातों का तुम लोग भी ध्यान रखो। एकाकी कहीं मत जाओ। निःशस्त्र बाहर मत निकलो। दुर्योधन तथा उसके मित्रों की दी हुई अथवा उसके दासों की पकायी हुई कोई वस्तु मत खाना। दुर्योधन के रचे हुए उत्सवों में बहुत सावधान हो कर सम्मिलित होना; तथा दुर्योधन के द्वारा निर्मित प्रत्येक भवन को संदेह की दृष्टि से देखना। उसमें सजग हो कर रहना; और उसके कर्मचारियों पर कभी विश्वास मत करना।"

'मैं तो आज तक उपेक्षा, अपमान और अवहेलना का प्रतिवाद करने की ही तैयारी करती रही। मैं क्या जानती थी कि यहाँ हत्याओं का दौर आरम्भ हो जायेगा।' कुन्ती कदाचित अपने-आपसे ही कह रही थी।

कुन्ती ने सारी रात बड़ी बीहड़ व्याकुलता में काटी। एक ओर उसका मन जैसे पूर्णतः विश्वास कर चुका था कि दुर्योधन ने उसके भीम की हत्या करवा दी है; और दूसरी ओर उसका एक और मन था, जो इसे अनवरत नकारता जा रहा था। उसकी आस्था उसे बार-बार विश्वास दिलाती थी कि ऐसा सम्भव नहीं था...या उसे कम-से-कम तब तक ऐसा विश्वास नहीं करना चाहिए, जब तक उसे वध का निश्चित प्रमाण न मिल जाये। भीम यदि जीवित है और किसी संकट में फँसा हुआ है, तो कुन्ती को उसकी सहायता करने का प्रयत्न करना चाहिए। हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहने का अर्थ था, भीम के विरुद्ध उस संकट की सहायता। भीम को मृत्यु की ओर धकेलना...और कुन्ती ऐसा कैसे कर सकती थी?...

किन्तु दूसरे ही क्षण उसका मन कुछ और चिन्तित हो जाता....भीम की खोज और सहायता के लिये वह किसे भेजेगी? अपने पुत्रों ही को तो। हस्तिनापुर की सेना तो जायेगी नहीं! यही युधिष्ठिर ही तो जायेगा उसे खोजने...या अर्जुन...या नकुल...या सहदेव। या ये चारों। पर इनमें से कौन इतना समर्थ है कि वह दुर्योधन के षडयन्त्रों का सामना कर सके?...कहीं ऐसा न हो कि भीम की सहायता करते-करते, ये स्वयं ही किसी संकट में जा फँसें...

सारी रात कुन्ती कोई निर्णय नहीं कर पायी : वह भीम के लिये दूसरे पुत्रों को संकट में डाले या इनकी सुरक्षा के लिये, भीम को त्याग दे। इनमें से कोई भी विचार अधिक देर तक टिक नहीं पाता था, जैसे दोनों में निरन्तर मल्ल-युद्ध हो रहा था। दोनों ही चतुर थे, स्फूर्तिपूर्ण थे, शक्तिशाली थे। कभी पहला, दूसरे को पटक कर, स्वयं ऊपर आ जाता था, कभी दूसरा पहले को चित कर उसके वक्ष पर आ बैठता था।

और फिर रात-भर न जाने कैसी-कैसी आहटें होती रही थीं, कैसे-कैसे शब्द और ध्वनियाँ। उसे बार-बार लगता था कि किसी की पद-चाप उनके द्वार की ओर आ रही है; जैसे कोई कपाट थपथपा रहा है; या जैसे भीम अपने भारी स्वर को दबा कर धीरे से पुकार रहा है, 'माँ!'...

वह कितनी ही बार अपनी शैया से उठी। द्वार तक गयी भी। बस कपाट-भर नहीं खोले। डरती थी, कपाट खोल दिये और सामने भीम के स्थान पर दुर्योधन हुआ तो? उसके पुत्र सोये हुए हैं; ऐसा न हो कि वह निद्रालीन पाण्डवों का वध कर जाये...

उसने कपाट से कान लगा कर सुना, बाहर कोई शब्द नहीं था। पता नहीं क्या बात थी कि शैया पर लेटते ही उसके कान इतने सजीव कैसे हो जाते थे, या फिर शैया के आस-पास स्वरों, शब्दों और ध्वनियों का इतना सजीव संसार कहाँ से उपस्थित हो जाता था : किन्तु कपाट के निकट आते ही सब कुछ पूर्ण निःस्तब्धता में विलीन हो जाता...और वह सोचती ही रह जाती कि सत्य क्या है...

प्रातः उसने अपने पुत्रों को देखा : वे सब शैया से उठ कर आये थे; किन्तु उनकी आँखों से स्पष्ट था कि उनमें से

कोई भी रात-भर ठीक से सोया नहीं था।

"माँ! आज मैं पाठशाला नहीं जाऊँगा।" नकुल बोला।

"क्यों वत्स?"

"मध्यम को खोजने जाना है।"

"तुम कहाँ खोजोगे उसे?"

"प्रमाण-कोटि में माँ!" "वह बोला, "सम्भव है मध्यम मृगया के लिये वन में रह गये हों, सम्भव है कहीं सोये हुए छूट गये हों, सम्भव है..."

कुन्ती के मन में एक खीझ उठी : पहले भीम के कारण वह कम चिन्तित है कि अब यह एक नया झँझट खड़ा कर रहा है। किन्तु, दूसरे ही क्षण वह नकुल पर रीझ भी उठी— कितनी चिन्ता है उसे अपने मध्यम की! लगता है रात-भर इसी चिन्ता में व्याकुल रहा होगा...

कुन्ती ने बढ़ कर उसे वक्ष से लगा लिया, "मैं तेरी चिन्ता समझती हूँ मेरे लाल! किन्तु तू उसे कहाँ खोजेगा पुत्र?"

"भीम को खोजने हम जायेंगे माँ!" युधिष्ठिर बोला, "वह हमसे सदा के लिये विलग हो गया है, यह मान कर निष्क्रिय हो कर घर में पड़े रहना न हमारे लिये सम्भव है न ही उचित, माँ!"

"पर खोजेगा कहाँ? प्रमाण-कोटि में तो तुम उसे दो बार ढूँढ आये हो!" कुन्ती बोली।

युधिष्ठिर ने अपना चेहरा दूसरी ओर मोड़ लिया। लगा, माँ की आँखों में देख कर कदाचित वह ऐसी बात नहीं कह पायेगा, "सम्भव है गंगा में उतराया अथवा वन में पशुओं द्वारा घसीटा जाता उसका शव ही कहीं मिल जाये।"

बहुत रोकने पर भी कुन्ती के मुख से सिसकी निकल ही गयी "युधिष्ठिर।"

"हाँ माँ। हमें सत्य का साक्षात्कार करने के लिये, स्वयं को तैयार करना ही होगा।" उसने आगे बढ़ कर एक अभिभावक के समान कुन्ती को ठीक वैसे ही कण्ठ से लगा लिया, जैसे थोड़ी देर पहले, कुन्ती ने नकुल को अपने वक्ष से लगा लिया था, "मैं कब चाहता हूँ कि ऐसा हो; किन्तु यदि ऐसा हो ही गया है तो हमें उसकी सद्गति के लिये भी तो...।" और फिर रुक कर जैसे स्वयं को भी विश्वास दिलाता हुआ बोला, "सत्य से मुँह मोड़ कर जीवित नहीं रहा जा सकता माँ!"

कुन्ती को लगा : युधिष्ठिर सचमुच बड़ा हो गया है। शायद बड़ा हुआ नहीं है, आवश्यकता देखते हुए, उसने बलात स्वयं को बड़ा कर लिया है। वह सत्य का अन्वेषक था। अपनी बाल्यावस्था से ही सत्य को खोजा करता था। अब सत्य का साक्षात्कार करना चाहता था...ठीक ही तो कह रहा था, यदि भीम विलग हो ही गया था, तो धैर्यपूर्वक इस सत्य को स्वीकार कर लेना ही चाहिए। क्या कुन्ती ने पहले सत्य को स्वीकार नहीं किया? पर वह तो नवजात बालक था। उसको देखा ही कितनी देर था। किन्तु भीम...पला-पलाया, तरुणाई की देहरी को छूता, इतना ऊधम मचाने वाला भीम... आज घर में कैसी निःस्तब्धता थी...श्मशान की-सी नीरवता!...घर में आज भीम ही तो नहीं था...

ठीक कह रहा है युधिष्ठिर! भीम को खोजना तो होगा। वह अपने हाथों में से भीम को इतनी सरलता से खिसक जाने नहीं देगी। वह अपनी हथेलियों में से फिसलते भीम को पकड़ने का प्रयत्न तो करेगी ही...

"जाओ पुत्र! किन्तु अकेले मत जाना! अर्जुन को भी साथ ले जाना, और चिरन्तन को भी।..."

"मैं भी साथ जाऊँगा माँ!" सहदेव बोला।

"मैं भी," नकुल ने कहा।

"नहीं! तुम दोनों मेरे साथ रहोगे घर पर।" और फिर उसका स्वर कोमल हो गया, "माँ की रक्षा के लिये भी तो किसी को घर पर रहना ही चाहिए।"

नकुल और सहदेव के चेहरों पर द्वन्द्व प्रकट हो गया : माँ की बात का प्रत्याख्यान वे नहीं कर सकते थे, किन्तु घर पर रुके रहना तो उनके मनोनुकूल हो ही नहीं सकता था।

युधिष्ठिर ने उन दोनों को अपनी भुजाओं में भर लिया, “माँ तुम्हें रोकने के लिये ही ऐसा कह रही हैं।” और वह कुन्ती की ओर मुड़ा, “इन्हें भी हमारे साथ जाने दो माँ!...वैसे तुम्हारी बात भी ठीक है, हमें तुम्हारी सुरक्षा के विषय में भी सावधान रहना चाहिए। यद्यपि मैं समझता हूँ कि दुर्योधन तुम्हारे साथ ऐसा व्यवहार नहीं करेगा; क्योंकि तुमसे उसकी कोई स्पर्धा नहीं है।”

इस सारे वातावरण में कुन्ती पहली बार मुस्कुरायी, “मेरी चिन्ता मत करो पुत्र। मैंने तो इन बालकों की रक्षा के लिये ही अपनी रक्षा की बात उठायी थी।”

तभी चिरन्तन ने आ कर कुन्ती को प्रणाम किया, “राजकुमार तैयार हैं क्या राजमाता?”

“हाँ! तैयार तो हैं।” कुन्ती बोली, “किन्तु वे पाठशाला नहीं जायेंगे। वे लोग भीम को खोजने के लिये जाना चाहते हैं।”

“वे ठीक ही सोचते हैं राजमाता! मैं भी रात-भर यही विचार करता रहा कि मध्यम को खोजने का एक बड़ा अभियान आरम्भ किया जाये। उन्हें खोजा तो जाये, चाहे वे किसी भी अवस्था में हों।...”

कुन्ती ने उसकी ओर देखा। चिरन्तन ने सिर झुका लिया। कदाचित उसे लगा था कि वह कुछ अनुचित कह गया था।...

“हाँ! खोजना तो उसे होगा ही।” कुन्ती बोली, “इन लड़कों को तुम्हारे भरोसे ही भेज रही हूँ चिरन्तन! सावधानी से ले जाना और सुरक्षित लौटा लाना। बीहड़ तथा जोखमपूर्ण स्थानों पर मत जाना। शत्रुओं से सावधान रहना।” और सहसा वह चौंक कर बोली, “तुम रात-भर विचार करते रहे—तो तुम भी हमारे समान सोये नहीं क्या?”

“सोना क्या था राजमाता! हमारी बस्ती में तो वैसे ही रात-भर हड़बोंग मचा रहा था। मैं ही क्या, वहाँ तो कोई बच्चा भी नहीं सो पाया होगा।”

“क्यों? क्या हुआ तुम्हारी बस्ती में?” युधिष्ठिर ने पूछा।

“युवराज! वह रसोइया था न सुयोधन का—वही चक्रवाल। वह हमारी ही बस्ती में रहता है न! वह भी प्रमाण-कोटि से नहीं लौटा। कुछ पता ही नहीं चला कि कहाँ रह गया। उसकी पत्नी प्रतीक्षा करती रही, सबसे पूछती रही। जब काफ़ी रात बीत गयी और वह नहीं आया, तो वह सुयोधन से पूछने गयी। सुयोधन तो मिला नहीं, उसके भाइयों ने उसे डाँट-डपट कर उल्टे पाँव लौटा दिया। कुछ लोगों का कहना है कि उसे पीटा भी गया है। पता नहीं पीटा है या नहीं; किन्तु सारी रात बस्ती में कोई सो नहीं पाया।”

चिरन्तर चुप हो गया, तो भी कोई कुछ नहीं बोला। कुन्ती पर्याप्त विचलित-सी लग रही थी और युधिष्ठिर चिन्तित। अर्जुन अपेक्षाकृत कुछ अधिक गम्भीर हो गया लगता था।

“तो हम जायें माँ?” अन्ततः युधिष्ठिर ही बोला; किन्तु इस प्रश्न में भी जैसे अनुमति लेने का भाव नहीं था, सूचना मात्र थी।

उसने भाइयों को संकेत किया और स्वयं भी आगे बढ़ चला।

“ठहरो युधिष्ठिर!” कुन्ती जैसे कुछ असहज हो उठी थी।

“क्या बात है माँ?” चारों भाइयों ने आश्चर्य से अपनी माँ को देखा।

“मैंने अपना निश्चय बदल दिया है पुत्र।” कुन्ती शून्य में घूरती हुई बोली, “तुममें से कोई भी भीम को खोजने नहीं जायेगा।”

“क्यों?” युधिष्ठिर बोला, “इतनी-सी देर में क्या हो गया?”

“मेरा निश्चय बदल गया है।” कुन्ती का स्वर दृढ़ ही नहीं, पर्याप्त आदेशात्मक था, “मैं कह रही हूँ, तुममें से कोई भी बाहर नहीं जायेगा।...और चिरन्तर! तुम भी अपने घर जाओ। राजकुमार आज कहीं भी नहीं जायेंगे।”

प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि में अनेक जिज्ञासाएँ भी थीं, अनेक प्रतिक्रियाएँ भी; किन्तु बोला कोई भी कुछ नहीं।

हस्तिनापुर के मुख्य पथ पर एक शव औंधा पड़ा था।

उससे कुछ दूरी पर एक छोटी-सी भीड़ एकत्रित थी। न तो कोई उसके निकट ही जा रहा था, और न भीड़ छँट रही थी। कुछ लोग चले जाते थे, तो कुछ नये आ कर उस भीड़ में मिल जाते थे। एक कौतुहल था; और उस कौतुहल पर एक भय टँगा हुआ था। लोग जैसे मूक हो गये थे और दृष्टि-ही-दृष्टि में एक-दूसरे से प्रश्न पूछते थे; किन्तु सारे प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाते थे। किसी को अपने किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं मिल रहा था। प्रश्न बढ़ते जा रहे थे, और भय गहराता जा रहा था।

युयुत्सु ने भीड़ देखी तो अपना रथ रोक लिया।

रथ पर खड़े-खड़े ही उसने दृष्टि घुमाई। उसे समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं हुई कि भीड़ क्यों जमा है। उसने घोड़ों को संकेत किया। रथ आगे बढ़ा और आ कर शव के पास रुक गया। युयुत्सु रथ से नीचे उतरा और शव के पास आया। क्षण-भर के लिये उसने कुछ सोचा और झुक कर शव को पलट दिया : उसने तत्काल पहचान लिया, शव युधिष्ठिर के सारथि चिरन्तन का था।

उसके चेहरे पर एक व्यंग्यात्मक मुस्कान उभरी : उसे इस बात की ही आशंका थी।

उसने भीड़ की ओर देखा, "तुममे से कोई पहचानता है इसे?"

किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"यह चिरन्तर सारथि है। जाओ, सूतों की बस्ती में सूचित करो। इसके सम्बन्धी इस शव को उठा ले जायें और इसकी अंत्येष्ठि का प्रबन्ध करें।"

भीड़ में से कोई कुछ नहीं बोला; किन्तु उन सबकी आक्रोश-भरी हुंकार उसे निरन्तर कोंच रही थी।

"कह दोगे?" उसने भीड़ से पूछा।

उसे फिर कोई उत्तर नहीं मिला। भीड़ उसे उसी प्रकार ताकती रही।

युयुत्सु रथ में लौट आया। उसने रथ को मोड़ा। भीड़ की ओर पीठ होते ही कोई चिल्लाया, "यह अत्याचार कब तक चलेगा राजकुमार?"

युयुत्सु को लगा, कि किसी ने चिल्लाने वाले के मुख पर हाथ रख दिया है और वह स्वर घुट कर रह गया है। उसने रथ पुनः मोड़ा। वह भीड़ के निकट आया; किन्तु भीड़ अब फिर से सामान्य हो चुकी थी।

"आप लोग मुझसे कुछ कहना चाहते हैं?" उसने पूछा।

"कुछ नहीं राजकुमार। कुछ नहीं!" भीड़ में से अनेक लोगों ने सिर हिला दिये।

युयुत्सु सोचने का प्रयत्न करता रहा कि यह सब क्या था?...लोग इस प्रकार भयभीत क्यों थे? क्या खुल कर एक सीधा-सादा प्रश्न करने का भी अधिकार उनको नहीं था? भीड़ का वह अकेला स्वर किस अत्याचार की बात कर रहा था?...और सहसा उसके मस्तिष्क में बिजली कौंधी। उसे लगा, वह समस्या को समझ रहा था...

उसके शरीर में असाधारण स्फूर्ति का संचार हुआ और उसने रथ की गति बढ़ा दी। वह सूतों की बस्ती की ओर जा रहा था।

आधे प्रहर के पश्चात युयुत्सु के रथ ने पाण्डवों के भवन के अहाते में प्रवेश किया। वहाँ चारों ओर नीरवता थी। द्वार बन्द था और बाहर कहीं कोई भी दिखायी नहीं दे रहा था।

उसने कपाट थपथपाये।

थोड़ी देर के पश्चात कुन्ती ने द्वार खोला। युयुत्सु ने प्रणाम किया।

"आओ पुत्र! कैसे आये?" कुन्ती ने स्वागत किया; किन्तु स्वर में संशय भी था, और कहीं हल्की-सी आपत्ति भी।

"काकी! कोई शंका न करें। मुझे अपने पुत्रों-सरीखा ही समझें।" युयुत्सु बोला, "आज आपमें से कोई बाहर

नहीं गया क्या?”

“नहीं पुत्र! कोई विशेष बात है क्या?”

युयुत्सु भीतर आ कर एक आसन पर बैठ गया। पाण्डवों ने उसे घेर लिया।

“भीम का कोई समाचार मिला?”

“नहीं!” युधिष्ठिर बोला, “तुम्हें कुछ मालूम हुआ?”

“नहीं! भीम का तो कोई समाचार नहीं है।” वह बोला, “किन्तु कुछ सूचनाएँ हैं मेरे पास, जिन्हें जोड़ कर कुछ निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न कर रहा हूँ।”

“क्या सूचनाएँ हैं?”

“भीम प्रमाण-कोटि में ही कहीं विलीन हो गया। प्रमाण-कोटि में भोजन पकाने वाला रसोइया चक्रवाल घर नहीं लौटा; और चक्रवाल की बस्ती में रहने वाला तुम्हारा सारथि चिरन्तन मार डाला गया।”

“चिरन्तन मार डाला गया?” कुन्ती और उसके चारों पुत्रों के चेहरे विकारग्रस्त हो उठे, “तुम्हें किसने बताया?”

“मैंने स्वयं उसका शव, मुख्य पथ पर देखा है! वहाँ तो मुझे किसी ने नहीं बताया था; किन्तु मैंने अपने कुछ विश्वस्त लोगों से पता लगाया है कि उसे सुयोधन ने सार्वजनिक स्थान पर स्वयं अपने हाथों, थप्पड़ों, घूसों तथा घुटनों से पीट-पीट कर मार डाला था। लोग इतने भयभीत हैं कि कोई अपने मुख से सुयोधन का नाम तक लेने का साहस नहीं करता।...”

“पर क्यों मार डाला दुर्योधन ने उसे?”

युयुत्सु ने रुक कर अर्जुन को देखा : वह ‘सुयोधन’ को ‘दुर्योधन’ कह रहा है। ठीक ही तो कह रहा था : वह सुयोधन है ही कहाँ। वह तो दुर्योधन ही है।

“क्योंकि वह जान गया था कि चक्रवाल रसोइए ने दुर्योधन के...” वह रुक कर मुस्कुराये बिना नहीं रह सका। कितने सहज रूप से उसने भी ‘दुर्योधन’ नाम स्वीकार कर लिया था, “क्योंकि चक्रवाल ने दुर्योधन के आदेश पर कुछ खाद्य पदार्थों में विष मिलाया था; और वे खाद्य पदार्थ स्वयं दुर्योधन ने भीम को खिलाये थे...।”

“सारी योजना स्पष्ट है।” अर्जुन बोला, “मध्यम को विष दिया गया। विष देने वाला रसोइया विलुप्त हो गया; और इस भेद को जानने वाला चिरन्तर मार डाला गया, ताकि किसी को भेद का पता न चले।...”

“भेद खुलने का भय नहीं है दुर्योधन को।” युयुत्सु बोला, “नहीं तो वह स्वयं अपने हाथों से सार्वजनिक स्थान पर चिरन्तर की हत्या न करता।”

“तो?”

“यह तुम लोगों के लिये चेतावनी है।” वह बोला।

“ओह! तो यह सत्य है कि मेरे भीम को दुर्योधन ने विष दिया?” कुन्ती ने पूछा, “या मात्र संदेह अनुमान है तुम्हारा?”

“सत्य है काकी!”

कुन्ती ने एक भरपूर दृष्टि युयुत्सु पर डाली, “एक बात पूछती हूँ पुत्र! मेरी बात का बुरा न मानना और सच-सच उत्तर देना।”

“पूछें काकी!”

“तुम हमें ये सूचनाएँ क्यों दे रहे हो? तुम भी तो दुर्योधन के भाई हो!”

युयुत्सु उस स्थिति में भी मुस्कुराया, “भाई तो मैं दुर्योधन का हूँ; किन्तु महारानी गान्धारी का पुत्र नहीं हूँ। मेरी माँ क्षत्राणी नहीं, वेश्या है; और वह महाराज की रानी नहीं है।”

“तो?”

“तो मेरे लिये एकदम आवश्यक नहीं है कि मुझे दुर्योधन के दुष्कृत्यों से सहानुभूति हो। मैं किसी लोभ में, उसके पापों का सहगामी नहीं हो सकता। मुझे उससे कोई लाभ होने की सम्भावना भी नहीं है।”

“क्यों? वह राजा बनेगा, तो तुम युवराज नहीं बनोगे?” कुन्ती बोली, “दुर्योधन से छोटे तुम्हीं तो हो।”

“दुर्योधन से छोटा मैं ही हूँ; किन्तु दुर्योधन का युवराज महारानी गान्धारी का दूसरा पुत्र दुःशासन होगा, वेश्या-पुत्र युयुत्सु नहीं।”

कुन्ती चुप हो गयी—वह देख रही थी, युयुत्सु ‘सुशासन’ को भी दुःशासन कह रहा था। साथ ही एक संशय उसके मन में जागा : युयुत्सु का दुर्योधन-द्रोह ईर्ष्या-जनित तो नहीं है?

“और काकी!” युयुत्सु बोला, “यदि मुझे लाभ हो भी तो मैं पाप का समर्थन कभी नहीं करूँगा।”

“तुम्हें लोभ नहीं है,” युधिष्ठिर बोला, “पर क्या तुम्हें उसका भय भी नहीं है?”

“मैं धृतराष्ट्र का पुत्र हूँ इसलिये भयभीत होने का कोई कारण नहीं है।” वह हँसा, “वैसे भी मैं इस हस्तिनापुर में स्वतन्त्रतापूर्वक सत्य के मार्ग पर चलने, न्याय-पक्ष का समर्थन करने का अधिकार माँगने की धृष्टता कर रहा हूँ।” वह उठ कर खड़ा हो गया, “अच्छा! मैं चलता हूँ। आप लोग सावधान रहें।...”

4

भीष्म प्रसन्न थे कि सारे लड़के मिल कर उदक-क्रीड़ा के लिये एक साथ प्रमाण-कोटि गये थे।...बीच-बीच में उनके कानों में कुछ ऐसी बातें भी पड़ी थीं, जो उनके मनोनुकूल नहीं थीं। जब-जब उन्हें लगता था कि धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्र अलग-अलग दलों में विभाजित हो रहे हैं, या उनमें किसी प्रकार का वैमनस्य बढ़ रहा है—उन्हें अच्छा नहीं लगता था। भीम और दुर्योधन में कोई मतभेद हो जाये, कहा-सुनी हो जाये, मारपीट भी हो जाये, तो वे उससे विचलित नहीं होते थे। लड़के हैं, इतना ऊधम तो करेंगे ही। किन्तु, वह झगड़ा दो दलों का हो और उनमें विभाजन धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्रों के आधार पर हो, इसे वे शुभ लक्षण नहीं मानते थे : उस प्रकार के विभाजन में उन्हें कुरुक्षेत्र का सम्पूर्ण विनाश ध्वनित होता सुनायी पड़ता था।...इसलिये जब उन्हें सूचना मिली कि दुर्योधन ने प्रमाण-कोटि में उदक-क्रीड़न का आयोजन किया है, और उसमें वे सारे लड़के, बिना किसी भेद-भाव के गये हैं, तो उन्हें अच्छा लगा। वे धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्र नहीं थे, वे सब भीष्म के पौत्र थे। सारे भरतवंशी कौरव थे। उनमें किसी भी प्रकार का विभाजन या विरोध तो होना ही नहीं चाहिए था।

अब वे लड़के लौट आये थे। शिष्टाचार की दृष्टि से उचित तो यही था कि ये लोग पितामह से मिलने आते और वहाँ हुई स्पर्धाओं के विषय में बताते। किन्तु शायद कृपाचार्य ने इन लड़कों को यह सारा शील-व्यवहार सिखाया ही नहीं था।...कृपाचार्य को ही वे क्या दोष देते! इन लड़कों को कुछ सिखाना सरल था क्या। लड़के तो आजकल...स्वयं भीष्म ही इन लड़कों को वह सब सिखा पाये हैं क्या, जो कुछ वे इन्हें सिखाना चाहते थे?...इसलिये उन्होंने निश्चय किया कि वह स्वयं ही उनसे मिल आयें।

पहले धृतराष्ट्र का भवन पड़ता था। भीष्म वहीं पहुँचे।

"कैसे हो पुत्रो?"

"अत्यधिक प्रसन्न हैं पितामह!" दुर्योधन बोला, "प्रमाण-कोटि अत्यधिक रमणीक स्थली है। वहाँ तो बार-बार जाने का मन होता है। आप कभी वहाँ गये हैं पितामह?"

भीष्म ने सहास उसे देखा, "गया हूँ वत्स! मैंने राज्य में दूर-दूर तक यात्राएँ की हैं। प्रमाण-कोटि तो यहीं निकट ही है। तुमने कैसे कल्पना कर ली थी कि मैं वहाँ कभी नहीं गया हूँगा।"

"आप वृद्ध हैं न पितामह!"

"वृद्ध हो गया हूँ पुत्र! जन्म से तो वृद्ध नहीं था।" पितामह हँसे, "तुम लोगों को वहाँ जाने का कोई लाभ भी हुआ?"

"लाभ-ही-लाभ हुआ पितामह!" दुर्योधन बहुत ही उल्लसित था।

"क्या लाभ हुआ?" दुर्योधन का उल्लास भीष्म को कुछ असाधारण लगा, "द्यूत में अधिक राशि जीत आये हो क्या?"

"नहीं पितामह!" दुर्योधन ने कुछ इस प्रकार कहा, जैसे भीष्म अपने अज्ञान में उसकी उपलब्धियों को अत्यन्त साधारण बना रहे हों, "हमने दौड़ने का अभ्यास किया, जल-क्रीड़ा की, तैरने की प्रतियोगिताएँ कीं, खड्ग, गदा, मल्ल-युद्ध, लक्ष्य-संधान। क्या नहीं था वहाँ। मुझे तो पहली बार मालूम हुआ कि क्षत्रिय राजकुमारों के लिये कैसा परिवेश अपेक्षित है। अग्नि होगी, तो-ही-तो कोई उसमें तपेगा।"

भीष्म को अच्छा लगा, यद्यपि उनके मन में दुर्योधन को ले कर सदा यह संदेह बना ही रहता था कि उनके सामने जिन आदर्शों में वह अपनी आस्था व्यक्त करता था—वह उसकी अपनी आस्था थी, अथवा भीष्म को प्रसन्न करने के लिये वह सुग्गे के समान उन वचनों का वाचन मात्र करता था।

"किसी के साथ झगड़ा तो नहीं हुआ?" भीष्म ने पूछा।

"नहीं! किसी की कहा-सुनी तक नहीं हुई।"

"तुम में और भीम में भी नहीं?"

"नहीं पितामह!" दुर्योधन बोला, हमें तो व्यर्थ ही लांछित किया जाता है। इस बार तो हमारा ही व्यवहार सबसे अधिक मैत्रीपूर्ण रहा है।"

"सुखी हुआ!" भीष्म बोले, "इसी प्रकार मैत्रीभाव बनाये रखो। कुरुकुल का इसी में कल्याण है।"

भीष्म उठ खड़े हुए। वह वस्तुतः प्रसन्न थे।

"एक दुर्घटना भी हुई पितामह!" उनके उठते-उठते विकर्ण बोला!

"क्या?" भीष्म की दृष्टि उस पर ठहर गयी।

"तू चुप रह!" दुःशासन ने उसे डाँटा।

"क्यों? उसे बोलने का अधिकार क्यों नहीं है?" भीष्म ने दुःशासन की ओर देखा; और फिर वह विकर्ण की ओर पलटे, "कैसी दुर्घटना हुई पुत्र?"

विकर्ण तत्काल बोल नहीं पाया। दुःशासन का निषेध जैसे उसकी चेतना पर टँगा हुआ था। उसकी दृष्टि एक बार दुःशासन पर टिकी भी। फिर सहसा ही उसने ऐसी मुद्रा बनायी, जैसे न उसे दुःशासन की कोई चिन्ता हो, और न वह उससे डरता हो, "हमारा रसोइया चक्रवाल प्रमाण-कोटि से नहीं लौटा है पितामह! वह वहीं-कहीं खो गया है।"

"खो क्या गया है।" दुर्योधन बोला, "वहाँ से कुछ दूरी पर ही उसका श्वसुरालय है। वहीं चला गया होगा।"

"जाता तो कह कर नहीं जाता?" विकर्ण पुनः बोला।

"तू चुप रह।" दुःशासन ने उसे पुनः डाँटा।

भीष्म की मुद्रा कठोर हो गयी, "तुम विकर्ण को धमका रहे हो, दुःशासन! वह भी मेरे सामने। बड़ों की उपस्थिति में इस प्रकार का व्यवहार शील-विरुद्ध है। फिर विकर्ण तुम्हारा भाई है। मैं तुम सबसे मिलने आया हूँ। मैं चाहता हूँ कि तुम लोग मुझसे पूरी आत्मीयता से अपने मन की बात करो। तुम उसे एक सूचना भी नहीं देने देते। तुम्हें अपने भाइयों के दमन का अधिकार किसने दिया?"

दुःशासन के चेहरे पर उद्दण्डता के भाव थे। उस पर भीष्म की ताड़ना का तनिक भी प्रभाव नहीं हुआ था। अपनी उद्दतता को छिपाने का भी उसने कोई प्रयास नहीं किया था। बड़े अविनयी भाव से बोला, "बकवाद इसका स्वभाव बन गया है। जब सुयोधन भैया आपसे बात कर रहे हैं, तो इसे बीच में बोलने की क्या आवश्यकता है।"

"इसी तर्क के अनुसार जब वह मुझसे बात कर रहा है, तो तुम्हें उसे इस प्रकार धमकाने का क्या अधिकार है?"

दुःशासन ने बुरा-सा मुँह बनाया; किन्तु उसके चेहरे पर न तनिक-सी लज्जा का भाव व्यक्त हुआ, न ग्लानि का।

"हाँ! तुम क्या कह रहे थे विकर्ण?" उन्होंने पूछा।

"यदि चक्रवाल कहीं जाता तो कह कर भी तो जा सकता था। उसने कोई सूचना नहीं दी और वह लुप्त हो गया। उसकी कोई चिन्ता भैया सुयोधन नहीं कर रहे हैं। जब वह देर रात तक घर नहीं पहुँचा, तो उसकी पत्नी उसे खोजती हुई आयी थी : किन्तु सुशासन ने न चक्रवाल को खोजने का प्रयत्न किया, न उसकी पत्नी से ठीक से बात की, और न उससे तनिक भी सहानुभूति प्रकट की। पितामह! क्या हमारा अपने भृत्यों के प्रति कोई दायित्व नहीं है?"

भीष्म गम्भीरतापूर्वक उसे देखते रहे : यह लड़का ठीक कह रहा था। स्वामी का अपने भृत्यों, दासों तथा सेवकों के प्रति भी कोई दायित्व होता है।

"तुमने ठीक ही किया पुत्र! जो मुझे बता दिया!" वे बोले, "मैं देखूँगा, उसे खोजने के लिये क्या किया जा सकता है। यदि वह संकट में है, तो उसकी सहायता की जानी चाहिए : और यदि वह अपनी इच्छा से बिना बताये चला गया है, तो उसे उसके लिये दण्डित किया जाना चाहिए।"

भीष्म चल पड़े। उनके मन में चक्रवाल के लिये चिन्ता थी : वह कहाँ रह गया? कहीं ये लड़के ही तो अपनी असावधानी में उसे प्रमाण-कोटि में नहीं छोड़ आये?...या वह वन में किसी हिंस्र पशु के हाथ तो नहीं पड़ गया?...या कहीं सचमुच ही वह अपनी इच्छा से भाग गया है?...किन्तु चक्रवाल से अधिक चिन्ता उन्हें दुर्योधन और दुःशासन की

थी। वे क्यों इस सूचना को प्रकट नहीं होने देना चाहते थे? दुःशासन क्यों इस प्रकार विकर्ण को धमका रहा था? धृतराष्ट्र के इन दोनों बड़े पुत्रों का व्यवहार अत्यन्त अभद्र और चिन्ताजनक होता जा रहा था। जब वे अपने भाई से इस प्रकार व्यवहार कर रहे थे, तो अन्य लोगों से कैसा व्यवहार करेंगे!...अपनी उपस्थिति में विकर्ण का इस प्रकार धमकाया जाना, उन्हें अत्यन्त उद्दण्ड और अशोभनीय लगा था। इस लड़के का नाम तो दुःशासन होना चाहिए था। 'सुशासन' की तो कहीं कल्पना भी नहीं है उसके मन में!...

इसी चिन्ता में डूबे-डूबे, भीष्म कुन्ती के आवास पर आये।

युधिष्ठिर ने द्वार खोल कर उन्हें प्रणाम किया।

"प्रसन्न रहो वत्स!" भीष्म ने आशीर्वाद दिया : किन्तु उनकी दृष्टि ने तत्काल भाँप लिया कि युधिष्ठिर आज सहज प्रसन्न नहीं है।

"स्वस्थ तो हो वत्स?" भीष्म ने पूछा, "आज प्रसन्न दिखायी नहीं देते।"

"स्वस्थ हूँ पितामह!" युधिष्ठिर ने धीरे से कहा, "भीम प्रमाण-कोटि से घर नहीं लौटा है।..."

भीष्म अवाक-से खड़े युधिष्ठिर को देखते रहे।

'भीम प्रमाण-कोटि से घर नहीं लौटा है! उनका मन जैसे उन्हें चेतावनी दे रहा था, 'और दुर्योधन तथा उसके भाइयों ने इसकी चर्चा तक नहीं की।'

"लौटते हुए तुम लोगों ने देखा नहीं कि वह तुम्हारे साथ नहीं है?" उन्होंने पूछा।

"वह हमें प्रमाण-कोटि में मिला नहीं। हमने समझा कि सम्भवतः वह हम सबसे आगे-आगे घर चला आया है।"

"चलो, भीतर चलो!" पितामह कुछ क्षण मौन रह कर बोले, "कुन्ती कहाँ है?"

"सब लोग भीतर ही हैं।"

भीष्म भीतर की ओर चले तो उनकी दृष्टि यह देखने से न चूकी कि सदा उन्मुक्त रहने वाला बाहरी द्वार आज युधिष्ठिर ने बड़ी सावधानी से बन्द कर दिया था।

कुन्ती ने अर्जुन, नकुल और सहदेव के साथ आकर उनको प्रणाम किया।

"प्रसन्न रहो पुत्रि!" भीष्म बोले, "युधिष्ठिर कह रहा है कि भीम प्रमाण-कोटि से घर नहीं लौटा।"

"हाँ पितृव्य!"

"तुमने मुझे सूचित नहीं किया?"

"अभी तो हम उसके आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं पितृव्य! उपद्रवी लड़का है; जाने कहाँ रह गया है।..."

भीष्म बैठ गये। वे मौन थे, जैसे मन-ही-मन सोच रहे हों, योजनाएँ बना रहे हों, या स्थिति का विश्लेषण कर रहे हों।

"ये लड़के अब स्वयं को बहुत स्वतन्त्र समझने लगे हैं।" अन्ततः वे बोले, "यह नहीं समझते कि इनके इस प्रकार के कार्यों से माता-पिता को कितनी चिन्ता होती है। बालकों का उपद्रव, बालकों जैसा ही रहे तो ठीक है; उसे वयस्कों जैसा नहीं होना चाहिए। प्रमाण-कोटि में छूट जाने का क्या अर्थ हुआ।" सहसा वे युधिष्ठिर की ओर मुड़े, "और युधिष्ठिर! तुम सबसे बड़े हो। तुम्हें चाहिए था कि जब तक भीम मिल न जाता, तुम वहाँ से किसी को भी न आने देते!"

युधिष्ठिर का मुख जैसे ग्लानि से प्लान हो गया, "भीम के न मिलने से मैं बहुत चिन्तित हो गया था पितामह! दुर्योधन की यह बात कहीं मेरे हृदय में चुभ गयी कि कहीं ऐसा न हो कि भीम किसी कारण से सचमुच हस्तिनापुर लौट आया हो और हम लोग वहीं बैठे प्रतीक्षा करते रहें।...फिर यह सारा आयोजन तो दुर्योधन का था। वह न मुझे बड़ा मानता है, न कोई अधिकार ही उसने मुझे दिया था। उसने जब प्रयाण का आदेश दे दिया, और सारे मण्डप समेट कर छकड़ों पर लाद दिये गये, तो मैं वहाँ अपने इन तीन छोटे भाइयों के साथ क्या करता? भीम की चिन्ता मुझे थी, पर इन तीनों की चिन्ता भी तो थी मुझे।"

भीष्म को लगा कि वे व्यर्थ ही इस लड़के पर झल्ला रहे हैं। युधिष्ठिर की अवस्था ही क्या है। ऐसी स्थिति में तो अच्छे-अच्छे वयस्क भी घबरा जायेंगे।...पर यह भीम! यह कोई-न-कोई उपद्रव करता ही रहता है। इस बार, उसके दुर्योधन के साथ किसी झगड़े का समाचार नहीं मिला तो यह बवण्डर उठ खड़ा हुआ।...और सहसा वे कुन्ती की ओर मुड़े, "सुनो कुन्ती! भीम यदि स्वेच्छा से कहीं गया है, तो एक-आध दिन में स्वयं लौट भी आयेगा : किन्तु यदि न भी लौटा तो तुम इन लड़कों को उसके संधान के लिये मत भेज देना। उसे खोजने का कार्य मैं स्वयं करूँगा। ये भी बच्चे हैं। यह न हो कि तुम इन्हें भीम के पीछे भेज दो, और बाद में इन्हें खोजने के लिये हमें भटकना पड़े।"

"जैसी आपकी इच्छा पितृव्य!"

"और मैं देख रहा हूँ," वे उठते हुए बोले, "तुम मुझसे कुछ परायों जैसा व्यवहार कर रही हो। भीम नहीं लौटा था, तो उसकी सूचना सबसे पहले मुझे मिलनी चाहिए थी। ये लड़के तुम्हारे पुत्र अवश्य हैं; किन्तु मेरे भी पौत्र हैं। मुझे भी इनकी चिन्ता रहती है।"

"अभी तो मैं अपने ऊहापोह से ही उबर नहीं पायी पितृव्य!" कुन्ती बोली, "अन्यथा में आपको अवश्य सूचित करती।"

"मुझे सूचना पहले दिया करो और अपने ऊहापोह से बाद में निबटती रहा करो।" उन्होंने मुस्कुराने का प्रयत्न किया, "वार्धक्य का यही तो एक गुण है कि वह कर्म करे-न-करे, चिन्ता अवश्य करता है। मुझे सूचना नहीं दोगी, तो मैं स्वयं को उपेक्षित मानने लगूँगा। बुढ़ापे की सबसे बड़ी पीड़ा, अपने अंगों के शिथिल होने की नहीं है पुत्रि! अपने सम्बन्धों के शिथिल होने की होती है। अपने ही परिवार में अनावश्यक और उपेक्षित हो जाने की पीड़ा वृद्धावस्था को असह्य कटुता से भर देती है।"

अपने अवसाद को झटक कर कुन्ती सायास मुस्कुरायी, "मेरे और मेरे पुत्रों के लिये आप कभी भी अनावश्यक नहीं होंगे पितृव्य! और आपकी उपेक्षा करना तो हमारे लिये पाप होगा।"

"भीम की चिन्ता मुझ पर छोड़ दो।" वे द्वार से बाहर निकलते हुए बोले, "मैं स्वयं उसकी खोज में जाऊँगा।"

कुन्ती कुछ नहीं बोली।

कुन्ती और उसके पुत्रों का प्रणाम स्वीकार कर भीष्म अपने रथ में बैठ गये। वे सारथि को चलने का आदेश देने ही वाले थे कि कुन्ती बहुत धीरे से बोली, "तात! एक सूचना आपको और देनी है।"

भीष्म ने उत्सुकता से उसकी ओर देखा।

"हमें सूचना मिली है कि हमारे सारथि चिरन्तन का वध हो गया है।"

भीष्म चौंके, "चिरन्तन का वध?"

लगा, उनके भीतर जैसे कोई बवण्डर उठ खड़ा हुआ हो।

"मैं खोज करूँगा। प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा, राज्य का दायित्व है। उसके हत्यारे का संधान, और उसको दण्डित करने का कर्तव्य राजा का है; और वह उसे करना होगा।"

उन्होंने सारथि को संकेत किया, "चलो! चिरन्तन के घर चलो।"

आधे प्रहर के ही भीतर भीष्म, धृतराष्ट्र से मिलने के लिये राजसभा के सिंहासन-कक्ष में जा पहुँचे। धृतराष्ट्र वहाँ नहीं था। वे राजभवन में लौटे। ज्ञात हुआ कि राजा अभी अपने विश्राम-कक्ष में हैं। भीष्म प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे। वे राजा के विश्राम-कक्ष के द्वार पर पहुँचे।

"महाराज धृतराष्ट्र से कहो, मैं तत्काल उनसे मिलना चाहता हूँ।"

प्रतिहारी सिर झुका कर, सूचना देने के लिये चला गया।

भीष्म ने कक्ष में प्रवेश किया तो धृतराष्ट्र ने उठ कर उनके स्वागत का प्रयास किया, "पितृव्य को अन्धे धृतराष्ट्र का प्रणाम!"

"ईश्वर तुम्हें सद्बुद्धि दे धृतराष्ट्र! व्यक्ति चाहे अन्धा हो, किन्तु राजा को अन्धा नहीं बने रहना चाहिए। उसे

सहस्र नेत्र होना चाहिए।"

धृतराष्ट्र के चेहरे पर जैसे श्मशान की भस्म का ढेर लग गया। उसने अपने सम्पूर्ण शरीर में कम्पन का अनुभव किया। अधर सहसा ही एकदम सूख गये, "क्या बात है पितृव्य! आपके स्वर में रोष ध्वनित हो रहा है। मुझसे कोई अपराध हुआ क्या?"

"नहीं! तुमसे अपराध नहीं हुआ राजन! किन्तु तुमसे प्रमाद अवश्य हो रहा है। इसलिये मैं तुम्हारे पास आया हूँ।" भीष्म स्थिर वाणी में बोले।

रंगे हाथों पकड़े गये किसी अपराधी के समान धृतराष्ट्र कुछ देर मौन बैठा, अन्धी आँखों से शून्य में घूरता रहा। अन्ततः वह धीरे से बोला, "मुझे बतायें तो कि क्या हुआ है।"

"क्या तुम्हें सूचना नहीं है कि सारथि चिरन्तन का वध हस्तिनापुर के मुख्य पथ पर सैकड़ों लोगों की उपस्थिति में हुआ है?"

धृतराष्ट्र के जैसे प्राण लौट आये। उसे सहज-सामान्य होने में एक क्षण भी नहीं लगा। बोला, "नहीं! मुझे किसी ने सूचित नहीं किया।"

"क्या राजा इस प्रतीक्षा में बैठा रहेगा कि कोई आये और उसे सूचित करे कि उसके राज्य में क्या-क्या अपराध हो रहे हैं? क्या यह राजा का दायित्व नहीं है कि वह ऐसी व्यवस्था करे कि उसके राज्य में अपराध न हों; हों तो उसकी सूचना राजा को तत्काल मिले; और सूचना मिलते ही अपराधी को बन्द कर उसे दण्डित करने की प्रक्रिया आरम्भ हो जाये।"

"ऐसा ही होता है पितृव्य!" धृतराष्ट्र निर्लज्ज भाव से बोला।

"तो फिर तुम्हें अभी तक यह सूचना नहीं मिली कि चिरन्तन का वध सार्वजनिक स्थल पर अनेक प्रत्यक्षदर्शियों के सम्मुख किया गया है; और उसका शव कम-से-कम दो प्रहरों तक मुख्य मार्ग पर ही पड़ा रहा?"

"हाँ! इसकी सूचना मुझे नहीं मिली!"

"क्यों?"

"किसी के प्रमाद के कारण! मैं देखूँगा..."

"यह किसी का प्रमाद नहीं, तुम्हारा अपना ही प्रमाद है राजन!" भीष्म बोले, "चलो! मैं तुम्हें सूचना दे रहा हूँ—चिरन्तन का वध तुम्हारे पुत्र दुर्योधन ने किया है।"

धृतराष्ट्र जैसे जड़ हो गया। उसकी अन्धी आँखें पलकें झपकाना भी भूल गयीं। क्रमशः उसमें प्राणों का स्पन्दन हुआ, "आपके पास क्या प्रमाण है?"

"मेरे कहने के पश्चात भी तुम्हें प्रमाण की आवश्यकता है!" भीष्म का स्वर कुछ तीखा हुआ, "मेरा कहना क्या पर्याप्त प्रमाण नहीं है?" उनके आवेश में कुछ अवरोह आया, "फिर भी यदि तुम कहते हो तो मैं अपना प्रमाण प्रस्तुत करूँगा। बताओ, कितने साक्षी उपस्थित करूँ, जिन्होंने अपनी आँखों से यह अपराध होते देखा है।?"

धृतराष्ट्र किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा बैठा-बैठा अपनी अन्धी आँखों से शून्य को घूरता रहा और फिर उन्मत्त-सा अपने हाथों से अपना माथा पीटने लगा, "मार डालो। मार डालो मेरे पुत्रों को। एक-एक कर सबको सूली पर चढ़ा दो। मैं अन्धा हूँ, कुछ कर नहीं सकता। कुछ कह नहीं सकता। एक नीच सारथि के प्राणों के लिये राजकुमारों के प्राण ले लो। कर दो कुरुवंश का नाश!..."

और अपने उन्माद में धृतराष्ट्र सहसा ही मंच छोड़ कर नीचे उतर आया और फ़र्श पर सिर पटकने लगा, "कोई नहीं चाहता कि मैं प्रसन्न रहूँ। कोई मेरे पुत्रों को सुखी नहीं देख सकता...।"

दासियों ने आगे बढ़ कर धृतराष्ट्र को सँभाला, "महाराज!"

"छोड़ दो मुझे!" वह बोला, "मैं, यहाँ, इसी क्षण मर जाऊँगा यदि मेरे पुत्र और एक सारथि—एक समान हैं, तो फिर क्या करना है मुझे, इस राज्य और इस जीवन का। सारथि ही जीवित रहें, राजकुमार मर जायें। क्या आवश्कता है

पृथ्वी को राजकुमारों की...”

भीष्म ने धृतराष्ट्र को रोकने का तनिक-सा भी प्रयास नहीं किया। वह खड़े-खड़े देखते रहे : यह धृतराष्ट्र का प्रलाप था या नाटक? अपने इस उन्माद के माध्यम से वह क्या प्रकट करना चाहता था...क्या वह, यह सिद्ध करना चाहता था कि राजा का अपनी प्रजा की सुरक्षा के प्रति कोई भी दायित्व नहीं था? क्या राजा और राजकुमार सर्वोपरि थे? स्वेच्छाचारी और परम स्वतन्त्र थे? उन पर देश और राज्य का कोई विधान लागू नहीं होता था? नियम और विधान क्या असहाय प्रजा के लिये ही हैं?...धृतराष्ट्र राजा तो बना रहना चाहता है; जीवन के सारे भोग तो वह चाहता है; किन्तु वह यह नहीं जानता कि क्षत्रिय राजा का सबसे बड़ा दायित्व ‘दुष्ट-दलन’ है। यदि राजा अपराधियों को दण्ड न दे तो देश में अपराध-वृत्ति विकसित होने लगती है और अपराधी शक्तिशाली होने लगते हैं। तब न कोई न्याय रह जाता है, न शासन, न व्यवस्था। यदि सत्ता के केन्द्र में ही अपराधी विराजमान हों; यदि राजकुमार ही हत्यारे हो जायें, तो देश में सुशासन की कोई सम्भावना रह ही नहीं जाती। तब न तो समाज रहेगा, न देश, न राष्ट्र! वन्य-जीवन व्याप्त हो जायेगा सब ओर। क्षत्रिय राजा के राज्य और राक्षसों की बस्ती में क्या अन्तर रह जायेगा?...

धृतराष्ट्र से कोई अपेक्षा करना ही व्यर्थ था। निश्चित रूप से अपने पुत्र के मोह में फँसा हुआ राजा न उसे अपराधी स्वीकार कर सकता था और न ही उसे दण्डित कर सकता था।...अब कुरु-राज्य, धर्म-राज्य नहीं रह जायेगा; कुरुक्षेत्र, धर्मक्षेत्र नहीं होगा। प्रजा कुरुराजाओं के न्याय की दुहाई नहीं देगी। धनी और समर्थ लोग हस्तिनापुर छोड़ कर अन्यत्र जाने का प्रयास करेंगे...न विद्वान यहाँ रहना चाहेंगे, न ज्ञानी, न कलाकार, न व्यापारी...

तो क्या भीष्म को ही कुछ करना होगा?...

भीष्म कुछ करना चाहेंगे तो उन्हें सत्ता अपने हाथ में लेनी होगी। यह सम्भव नहीं है कि राजसिंहासन पर धृतराष्ट्र बैठा हो और दुर्योधन को दण्डित करने का राजसी अधिकार भीष्म को प्राप्त हो। व्यक्तिगत शौर्य के बल पर यदि वह ऐसा कुछ करना चाहेंगे, तो उन्हें हस्तिनापुर की राजसत्ता का विरोध करना पड़ेगा। सम्भवतः प्रजा न्याय-पक्ष में उनका साथ देना चाहे और वह राजसत्ता से विद्रोह करे।...तो क्या भीष्म कुरुओं के राजा के विरुद्ध प्रजा का नेतृत्व करेंगे? जिस भीष्म ने आज तक सारे प्रयत्न कुरु-वंश के शासन की रक्षा के लिये ही किये हैं, वे स्वयं ही उसके विनाश के कारण बनेंगे?...वैसे भी उन्होंने राजनीति से, सत्ता से, शासन से स्वयं को पृथक कर लिया है, तो फिर वह यह सब किसके लिये करेंगे?...प्रजा का पालन, प्रजा की रक्षा राजा का काम है। राजा धृतराष्ट्र है। यह उसका दायित्व है कि वह देखे कि अपराधी कौन है।...दण्डित किसे करना है।...

किन्तु यह भीष्म का अन्तिम निर्णय नहीं हो सकता था...वे राजा नहीं हैं; किन्तु वे एक धर्मपरायण चिन्तनशील प्राणी हैं। वे देख रहे हैं कि उनके सामने-सामने अधर्म हो रहा है। एक बलवान और समर्थ व्यक्ति, एक निर्बल और असहाय व्यक्ति की हत्या कर रहा है।...तो क्या धर्मपरायण भीष्म का दायित्व नहीं कि वे बलवान को रोकें, निर्बल की सहायता करें; और अपराधी को दण्डित करें। उसके लिये सत्ता और अधिकार की क्या आवश्यकता है। उनके गुरु परशुराम बिना किसी राजकीय अधिकार के ही, अम्बा की न्याय की पुकार पर उन्हें दण्डित करने आये थे। तो क्या भीष्म को न्याय की पुकार नहीं सुननी चाहिए? क्या उन्हें सारथि चिरन्तन के हत्यारे को दण्डित नहीं करना चाहिए? और फिर वे चाहे राजा न हों, कुरु-वृद्ध तो हैं ही। वे इस वंश के सबसे वयोवृद्ध पुरुष हैं। इन लड़कों के अभिभावक हैं। क्या यह उनका धर्म नहीं है कि वे अपने वंश के लड़कों को अधर्म के मार्ग पर न चलने दें? क्या दुर्योधन के अभिभावक के रूप में उन्हें इस अपराध के लिये उसे दण्डित नहीं करना चाहिए?...

सहसा उनके अपने भीतर कोई सूक्ष्म शरीर जैसे आकार ग्रहण करने लगा...यह मूर्ति कदाचित माता गंगा की थी। वह हँस रही थी, “देवव्रत! रजोगुण छूटता नहीं तुझसे?...इससे चिपटे रहने के लिये तू कोई-न-कोई व्याज खोज ही लेता है...।”

भीष्म जैसे कुछ दूसरे ही हो गये...दुर्योधन को मार्ग पर लाने का दायित्व उसके पिता धृतराष्ट्र का था; और अपराधी को दण्ड देने का कार्य देश के राजा का।...यदि वह दूसरों के कार्य में हस्तक्षेप करेंगे, दूसरों के दायित्व को ओढ़ेंगे, तो भीष्म, भीष्म कैसे रह पायेंगे...

भीष्म का सारा आवेश झाग के समान बैठ गया। यह भीष्म का धर्म नहीं था। वे विचित्रवीर्य के पुत्र धृतराष्ट्र के विरुद्ध न तो राजनीतिक शक्ति बनना चाहते थे, न उसके मार्ग की बाधा। वे न अपनी प्रतिज्ञा तोड़ना चाहते थे, न अपने

मन में राजसत्ता का लोभ जगाना चाहते थे...

तो उनका धर्म?

वह न धृतराष्ट्र को बदल सकते हैं, न दुर्योधन को। यदि हस्तिनापुर को इनसे मुक्ति चाहिए तो उसे अपना राजा बदलना पड़ेगा...ओह! युधिष्ठिर कब बड़ा होगा और सिंहासन पर बैठ कर सम्पूर्ण राजसत्ता अपने हाथ में लेगा?...

...अभी निराशा की कोई बात नहीं है। आशा की एक किरण उन्हें दिखायी दे रही है। अपनी मर्यादा में रहते हुए भी वे हस्तिनापुर में धर्म की स्थापना में सहायक हो सकते हैं। यदि युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक हो जाये तो दुर्योधन के अधिकार अपने-आप संकुचित होने लगेंगे। युवराज के रूप में युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र के अधर्ममय कृत्यों पर अंकुश लगा सकेगा। वह उसे धर्म-संगत परामर्श दे पायेगा...और वयस्क होते ही वह हस्तिनापुर का राजा होगा, पूर्ण शक्ति सम्पन्न सर्वाधिकार प्राप्त कुरुवंश का धर्मराज....

उन्हें लगा, उन्हें युधिष्ठिर की शिक्षा-दीक्षा की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। कृपाचार्य उसके लिये पूर्ण गुरु नहीं हो सकता।...युधिष्ठिर के लिये ही क्यों, इन सारे राजकुमारों के लिये कोई और योग्य गुरु ढूँढना होगा।...पर वह मोटा भीम कहाँ चला गया?...

भीम को लगा जैसे अन्धकार कुछ विरल होता जा रहा है, या कदाचित वह अन्धकार से प्रकाश के लोक में आ रहा है।...क्या वह सोया हुआ था और अब उसकी नींद उचट गयी है। चेतना के कुछ और सघन होते ही उसने कई बातों का अनुभव एक साथ किया। कदाचित वह जल में था और गतिशील था, किन्तु वह स्वयं तैर नहीं रहा था। वह तैरता कैसे...उसके तो हाथ-पैर ही नहीं, जैसे सारा शरीर जकड़ा हुआ था...नहीं, शायद बँधा हुआ था।...वह गतिशील कैसे था?...

उसने प्रयत्नपूर्वक आँखें खोलीं और इधर-उधर देखा : उसके साथ, दोनों ओर, दो व्यक्ति तैर रहे थे; और अपने साथ-साथ उसे भी लिये जा रहे थे...

पर उसको बाँधा किसने? वह जल में कब उतरा?...उसे कुछ स्मरण नहीं था। स्मरण करने की आवश्यकता भी नहीं थी...सम्भवतः जल में अचेत हो जाने के कारण शैवाल इत्यादि ने उसे लपेट लिया था।...पर वह अचेत हुआ ही कैसे? वह अचेत हो कर जल में गिरा या जल में गिर कर अचेत हुआ?...

उसने अपने सम्पूर्ण बल का प्रयोग किया...एक-एक कर बन्धन टूटने लगे।...वह शैवाल में मात्र लिपटा हुआ नहीं था। उसे वनस्पति तन्तुओं से भली प्रकार बाँधा गया था। पर वे तन्तु इतने दृढ़ भी नहीं थे कि भीम का बल उनसे पराजित हो जाता।...

साथ तैरने वाले व्यक्तियों को भी ज्ञात हो गया था कि भीम की मूर्च्छा टूट गयी है। वे उसके असाधारण बल से भी अवगत हो गये थे।...उसने अपने बन्धन बड़ी सरलता से तोड़ दिये थे और मुक्त हो कर वह स्वतन्त्र रूप से तैर रहा था। वे लोग उससे कुछ हट कर साथ-साथ तैरते हुए, तट तक आये थे।

तट तक आने के क्षण तक भीम यही समझ रहा था कि वे लोग उसकी सहायता और सुरक्षा के लिये उसके साथ-साथ तैर रहे थे; किन्तु तट पर पग धरते ही उनका व्यवहार जैसे बदल गया था।...

तट पर जहाँ वे लोग जल से बाहर निकले थे, वहाँ उनके कुछ साथी पहले से विद्यमान थे। उसके साथ आने वाले व्यक्तियों ने चिल्ला कर उनसे कुछ कहा, और वे लोग अपनी उत्सुकता में कुछ आगे बढ़ आये।

भीम को अब भी कुछ थकान लग रही थी। पता नहीं यह कैसी थकान थी। तैरने से तो वह कभी इस प्रकार थकता नहीं था।...

वह आस-पास खड़े लोगों की चिन्ता किये बिना भूमि पर बैठ गया...उसे धीरे-धीरे कुछ बातें याद आ रही थीं। ....वे लोग उदक-क्रीड़न के लिये प्रमाण-कोटि में गंगा-तट पर आये थे। दुर्योधन ने उसे खाने के लिये मोदक दिये थे। तभी से उसे नींद-सी आने लगी थी...वह शायद अपने मण्डप में आ कर सो गया था...पर फिर यह जल?...

भीम ने दृष्टि उठा कर देखा : सन्ध्या ढल रही थी। थोड़ी देर में पूर्ण अन्धकार हो जायेगा...वह कहाँ था? यह कौन-सा स्थान था? उसके भाई कहाँ थे? और हस्तिनापुर के सारे लोग?...

भीम उठ कर खड़ा हो गया।

सहसा उसके आस-पास हलचल मच गयी...वे लोग चिल्ला-चिल्ला कर आपस में कुछ कह रहे थे। उनकी भाषा का कोई-कोई शब्द ही भीम को समझ में आता था। किन्तु उनकी उत्तेजना को समझने के लिये उनकी भाषा को जानना आवश्यक नहीं था।

भीम आगे बढ़ा।

तभी उसके आस-पास की भीड़ अनुशासित हो गयी। वे लोग दो पंक्तियों में बँट गये थे और भीम को चारों ओर से घेर रहे थे।

भीम को उनकी कोई विशेष चिन्ता नहीं थी, न उसे किसी प्रकार का कोई भय सता रहा था। वे उसे घेर कर नाचना चाहें, नाचें। बैठना चाहें, बैठें।...पर क्या वे लोग उसे अपना बन्दी समझ रहे हैं?...भीम को हँसी आ गयी। बन्दी समझना चाहें, समझें। भीम को उसमें क्या असुविधा थी...किन्तु उनमें से एक कुछ अधिक धृष्टता कर बैठा। वह रज्जु ले कर उसकी ओर बढ़ा। भीम ने उसे विस्मय से देखा : क्या चाहता है वह? वह आ कर भीम के सम्मुख खड़ा हो गया और कुछ बोला। कुछ शब्द भीम के परिचित थे। पर उनका ठीक-ठीक अर्थ भीम की समझ में नहीं आया। वह हाथ और बन्धन के विषय में कुछ कह रहा था।....वे लोग कदाचित नाग जाति के थे...वे शब्द नाग भाषा के ही थे...

भीम ने जब कोई उत्तर नहीं दिया तो उस व्यक्ति ने एक हाथ से भीम की कलायी थामी और उस पर रज्जु लपेटने का प्रयत्न करने लगा।...तब भीम की समझ में आया कि वह उसे बन्दी बना रहा था।

भीम ने मुस्कुरा कर उसे देखा और हल्के-से धक्के से उसे परे धकेल दिया।

बन्दी करने आया वह नाग अपने-आपमें या तो पर्याप्त असावधान था, अथवा पूर्णतः विश्वस्त! अन्य लोगों ने उसे सँभाल न लिया होता तो वह भूमि पर गिर ही पड़ा होता।

अपने पैरों पर पुनः खड़े हो कर उसने अपने साथियों को कोई आदेश दिया। उनके तेवर आक्रमण करने के-से बन गये थे।...और अगले ही क्षण उन्होंने भीम पर जैसे सामूहिक आक्रमण ही कर दिया। किन्तु वे भीम के बल से परिचित नहीं थे...और फिर भीम का वह मल्ल-युद्ध का अभ्यास...कई-कई मल्लों से एक साथ लड़ने का प्रशिक्षण... थोड़ी ही देर में उन लोगों को ज्ञात हो गया कि भीम उनके बस का नहीं था। इतनी ही देर में उनके कई साथी भीम के हाथों पिट चुके थे अथवा भूमि पर रगड़े जा चुके थे...

उनके नेता ने उन्हें पुनः कोई आदेश दिया।

आदेश का पालन हुआ। वे लोग भीम को छोड़ कर हट गये और कुछ दूर जा कर, भीम को केन्द्र में रख कर वृत्ताकार बैठ गये। वे भीम के निकट नहीं आ रहे थे; किन्तु उसे मुक्त कर दूर भी नहीं जा रहे थे। कदाचित वे अपने अन्य साथियों की प्रतीक्षा कर रहे थे।

भीम की इच्छा हो रही थी कि उनसे मैत्रीपूर्ण ढंग से बात करे, उन्हें बताये कि वह स्वयं कौन है, और उनसे उनका परिचय माँगे। वह यह जानने को अत्यधिक व्यग्र था कि वह प्रमाण-कोटि से यहाँ तक कैसे आ गया? हस्तिनापुर के शेष लोग कहाँ हैं और वह हस्तिनापुर से कितनी दूर है? रात होने को थी। उसे अपने भाइयों और माता के निकट जाना चाहिए था। वे लोग अवश्य ही चिन्ता कर रहे होंगे।

किन्तु उसे इस विचित्र खेल में भी आनन्द आने लगा था। उसका मन हो रहा था कि ये सब मिल कर फिर से उस पर आक्रमण करें और वह फिर से उन्हें खदेड़े। अखाड़े में किये गये मल्ल-युद्ध के अभ्यास में यह आनन्द कहाँ था। अभ्यास तो फिर अभ्यास ही था।...किन्तु वे लोग उस पर आक्रमण नहीं कर रहे थे।...एक बार तो भीम के मन में आया कि वह उनमें से एक-आध को उठा कर दूर फेंक दे, या फिर किन्हीं दो को गर्दन से पकड़ कर उनके मुण्ड परस्पर भिड़ा दे...शायद उसके पश्चात वे लोग उस पर आक्रमण करें...

पर भीम का अपना विवेक ही उसे इस प्रकार के कृत्य से रोक रहा था। उसके लिये तो यह क्रीड़ामात्र होगी, किन्तु वे अपरिचित लोग, जो पहले से ही विरोध का कुछ भाव लिये बैठे थे, उसे अवश्य ही अपना शत्रु समझने लगेंगे। बिना सोचे-समझे, इस प्रकार की विचित्र और अज्ञात स्थिति में इतने लोगों को अपना शत्रु बना लेना, भीम के हित में तनिक भी नहीं था...

किन्तु भीम की समझ में यह नहीं आ रहा था कि इस प्रकार उसे घेर कर बैठे रहने का क्या अर्थ हो सकता है। वे लोग भीम के थक जाने या सो जाने की प्रतीक्षा कर रहे हैं या अपने और साथियों के आ जाने की। और साथियों के आने का अर्थ है, पुनः भीम पर आक्रमण तथा हिंसा। सामान्यतः इन बातों की भीम को चिन्ता नहीं होती। यदि उसकी गदा उसके हाथ में होती, फिर तो कोई बात ही नहीं थी।...किन्तु भीम का वह निश्चिन्त विवेक भी उसे यह समझा रहा था कि किन्हीं अज्ञात कारणों से जिन परिस्थितियों में वह फँस गया है, वहाँ उसे किसी प्रकार की कोई सहायता मिलने की कोई भी सम्भावना नहीं है; और उसके इन अपरिचित विरोधियों के साथियों की संख्या बढ़ती ही जायेगी...

पर विरोध का कोई कारण भी तो भीम की समझ में आये। वे लोग उससे बात तो करें। उसे बतायें तो कि इस विरोध का कारण क्या है? वे लोग उससे चाहते क्या हैं?...भीम उनसे अकारण ही शत्रुता नहीं चाहता, किन्तु वह उनसे भयभीत नहीं है। वे यदि उसे क्षति पहुँचाने का प्रयत्न करेंगे, तो निश्चय ही भीम उनसे युद्ध करेगा; जैसे भी होगा, जिस प्रकार भी बन पड़ेगा...

तभी उनकी एक और टोली आती हुई दिखायी दी। टोली में अधिक लोग नहीं थे। कदाचित यह उनके योद्धाओं की टोली थी ही नहीं। नवागंतुकों का सबने सिर झुका कर अभिवादन किया...सम्भवतः वे कोई विशिष्टि लोग थे... यूथपति, राजा, सेनापति, जनप्रमुख....

वे लोग घेराबन्दी पार कर भीतर आये : किन्तु भीम से थोड़ी दूर ही खड़े हो गये। उन्होंने भीम का पूरी गम्भीरता से निरीक्षण किया। थोड़ी देर परस्पर विचार--विमर्श किया...और तब एक अत्यन्त वृद्ध व्यक्ति उसके निकट आया। उसकी मुद्रा में तनिक भी आक्रामकता नहीं थी, और इतने वृद्ध व्यक्ति पर आघात करने की बात भीम के लिये अकल्पनीय थी। वह वृद्ध तो पितृव्य भीष्म से भी अधिक वय का प्रतीत हो रहा था। सामान्य भाव से मुस्कुराता हुआ आ कर, वह भीम के सम्मुख खड़ा हो गया।

"भय न करो पुत्र! हम तुम्हारे शत्रु नहीं हैं।" वह बोला, "हम तुम्हें कोई क्षति नहीं पहुँचाना चाहते। हमारे युवक तुमसे भयभीत हैं। सम्भव है, इन लोगों ने तुमसे बहुत शिष्ट व्यवहार न किया हो...।"

भीम कुछ आश्वस्त हुआ...वह वृद्ध अच्छी संस्कृत नहीं बोल रहा था; किन्तु उसकी बात भीम की समझ में आ रही थी। भीम भी अपनी बात उसे समझा पायेगा...

"ये लोग मुझसे भयभीत क्यों हैं?" भीम ने पूछा।

वृद्ध हँसा, "वास्तविक बात तो विधाता ही जाने; किन्तु ये लोग कह रहे हैं कि तुम्हारी मृत्यु हो गयी थी। तुम्हारे परिवार वालों ने तुम्हारे शव को भली प्रकार शिलाओं से बाँध कर तुम्हें जल-समाधि दे दी थी। इन लोगों ने अनेक विषैले सर्पों को तुम्हारे शव से लिपटते हुए देखा था। उन सर्पों ने तुम्हें दंशित न किया हो—यह सम्भव नहीं है। एक शव को विषैले सर्प काटें तो उसकी क्या हानि हो सकती है—यही सोच कर इन्होंने सर्पों को हटाया नहीं। किन्तु उसके पश्चात ही तुम्हारे शव में स्पन्दन हुआ। तुम में जीवन के चिह्न दिखायी पड़ने लगे। ये लोग उसे कोई प्रेत-बाधा समझ कर भयभीत हो गये। किन्तु अपने औत्सुक्य का शमन भी नहीं कर पाये। ये लोग तुम्हारे शव को साथ ला रहे थे तो सहसा तुम सक्रिय हो गये। तुमने अपने बन्धन तोड़ दिये और स्वयं ही तैरने लगे। ये लोग मानते हैं कि या तो तुम स्वयं ही प्रेत-योनि के जीव हो, या फिर किसी प्रेतात्मा ने तुम्हारे इस मृत शरीर पर आधिपत्य कर लिया है। यही कारण है कि ये लोग तुम्हें बाँध कर ही रखना चाहते थे, ताकि तुम इन्हें कोई हानि न पहुँचा सको।"

"किन्तु मेरी तो मृत्यु नहीं हुई थी।" भीम बोला, "इन्होंने इतने सारे अनुमान कैसे लगा लिये कि मेरे परिवार ने मेरे शव को जल-समाधि दी थी और..."

"तुमने सत्य ही कहा है," वृद्ध मधुर भाव से बोला, "ये सब इनके अनुमान मात्र ही हैं; किन्तु ये मिथ्या कथन नहीं कह रहे वत्स! तुम्हारा शरीर वनस्पतियों के कठोर-कठोर तन्तुओं में दृढ़तापूर्वक बाँधा गया था—यह तो अपने बन्धन तोड़ते समय, तुमने भी देखा ही होगा।"

"हाँ आर्य! देखा था।"

"यह बताओ कि तुम्हारे यहाँ जीवित व्यक्ति को इस प्रकार बाँध कर नदी में बहा देने का कोई उत्सव होता है क्या?"

"नहीं!"

"तो फिर तुम्हें क्यों बहाया गया?"

"कहीं ऐसा तो नहीं कि मैं तैरते-तैरते अचेत हो गया होऊँ और फिर शैवाल तन्तुओं से लिपटता चला गया होऊँ?"

वृद्ध ने मौन रह कर कुछ क्षणों तक भीम को निर्निमेष देखा : वस्तुतः वह भीम को देख नहीं रहा था, वह उसके कथन पर विचार कर रहा था। विचार कर वह किसी निष्कर्ष पर पहुँचा। उसने पलकें झपकाईं और बोला, "चलो विचार करने की दृष्टि से तुम्हारी बात मान लेते हैं : किन्तु ऐसी स्थिति में तुम्हें अपनी अचेतावस्था से पूर्व की स्थितियों का स्मरण होना चाहिए। क्या तुम्हें ऐसा कुछ स्मरण है कि तुम गंगा के जल में तैर रहे थे?"

भीम ने स्मरण करने का प्रयत्न किया, "नहीं! मैं अपने मण्डप में सो रहा था।"

"तो तुम गंगा के जल में कैसे पहुँचे?" वृद्ध मानो अपने अनुमान की सत्यता प्रमाणित होने पर मुस्कुराया, "और फिर हमारे युवकों का कहना है कि वे वनस्पति-तन्तु जल-वनस्पति के नहीं, स्थल-वनस्पति के थे। इतना ही नहीं, उन तन्तुओं में गाँठें मछलियों ने तो नहीं ही लगायी होंगी। फिर तुम्हारे शरीर के साथ भारी पत्थर किसने बाँधे थे; और क्यों बाँधे थे? शव को जल-समाधि देते हुए, ये पत्थर इसलिये बाँधे जाते हैं कि शव कहीं फूल कर जल के ऊपर न आ जाये। वह जल के भीतर तल पर ही रहे और जल-तन्तु उसे खा जायें।"

भीम कुछ नहीं बोला। वह चिन्तन की मुद्रा में चुपचाप खड़ा रहा।

वृद्ध पुनः बोला, "एक और बात विचार करने की है।"

भीम ने उसकी ओर देखा।

"हमारे युवकों ने निश्चित रूप से विषैले सर्पों को तुम्हारे शरीर से लिपटते और तुम्हें दंश मारते देखा है। इसमें वे भूल नहीं कर सकते।..."

"क्यों?"

"क्योंकि हम लोग नाग-जाति के हैं। विभिन्न प्रकार के सर्पों और उनके विष आदि के विषय में हमारे युवक प्रशिक्षित हैं।"

"तो?"

"सर्प-दंश के पश्चात सामान्यतः एक जीवित मनुष्य को अचेत हो जाना चाहिए था और अचेत व्यक्ति को मृत्यु को प्राप्त हो जाना चाहिए था। किन्तु तुम्हारे साथ इसके ठीक विपरीत हुआ," वृद्ध हँसा, "तुम मृत से अचेत हो गये और अचेत से सचेत हो गये।"

"इसका क्या अर्थ है?"

"इसका अर्थ है कि तुम्हारे शरीर में कालकूट अथवा ऐसा ही कोई बहुत भयंकर विष पहले से ही वर्तमान था, जिसने तुम्हें अचेत कर रखा था; और अचेतावस्था से तुम क्रमशः मृत्यु की ओर जा रहे थे।" वृद्ध मुस्कुराया, "मैं यह मान कर चल रहा हूँ कि तब तक तुम मृत नहीं थे—केवल मूर्च्छित थे।"

"तो?" भीम ने बिना सोचे-समझे अपना प्रश्न दोहराया।

"सर्प-दंश ने तुम्हारे शरीर में पहले से विद्यमान विष का प्रतिकार कर डाला और तुम चेतना की ओर लौटने लगे।" वृद्ध ने रुक कर उसे देखा, "यदि हम इस अनुमान को सत्य मान लें तो तुम न कोई प्रेत हो और न ही किसी प्रेतात्मा ने तुम्हारे शव पर आधिपत्य जमा रखा है। तुम जीवित मनुष्य हो; किन्तु तुम्हें बहुत विचित्र स्थिति में जीवन मिला है। विधाता ने तुम पर असाधारण और असामान्य कृपा की है। वैसे इस प्रकार की घटनाओं में कई बार पहले से विद्यमान विष अथवा सर्प-दंश से शरीर में प्रविष्ट विष में से कोई अंश अविनष्ट स्थिति में रह कर शरीर की हानि भी कर सकता है। हम उसका भी उपचार जानते हैं। हम तुम्हारी पूर्ण चिकित्सा भी कर देंगे; किन्तु उससे पहले हम तुम्हारा परिचय जानना चाहते हैं वत्स!"

वृद्ध के तर्कों ने जहाँ भीम की अनेक उलझनों को सुलझाया था, वहाँ उसके मन में अनेक नये प्रश्न भी खड़े कर दिये थे। क्या सचमुच उसके शरीर में विष प्रविष्ट हो गया था? पर कैसे? क्या भोजन में उसे विष दिया गया था? किन्तु भोजन तो सबने एक साथ ही किया था।...तो क्या सुयोधन के वे मोदक? उनको खाने के पश्चात से ही उसे नींद आनी आरम्भ हो गयी थी। क्या उसी के कारण वह अचेत हो गया था? क्या सुयोधन ने ही उसे बँधवा कर गंगा में फिकवा दिया था?

भीम की आँखें क्रोध से फड़कने लगी थीं।

"क्या बात है वत्स? तुमने अपने विषय में कुछ नहीं बताया।"

"मैं कुछ सोच रहा था आर्य!" भीम पहली बार हँसा : बाल्यावस्था की निष्कलुष हँसी, "मैं हस्तिनापुर के स्वर्गीय महाराज पाण्डु का पुत्र हूँ—भीम! मेरी माता का नाम कुन्ती है।"

वृद्ध ने जैसे किसी आवेश में आ कर, आगे बढ़ कर भीम के कंधों पर हाथ रखने का प्रयास किया; किन्तु भीम के आकार-प्रकार के कारण वह बहुत सुविधाजनक नहीं था; अतः उसने उसकी कटि पर ही अपनी हथेलियाँ जमायीं। अब तक के सारे वार्तालाप में उसकी वाणी मधुर ही रही थी; किन्तु अब तो जैसे वह स्नेहप्लावित हो गयी थी, "तुम कुन्ती के पुत्र हो—पृथा के?"

"हाँ!" भीम बोला, "आप मेरी माता को जानते हैं क्या?"

वृद्ध का उल्लास अत्यन्त व्यग्र हो उठा था, "मैं तुम्हें अपने वक्ष से नहीं लगा सकता, तुम ही मेरे कण्ठ से लग जाओ पुत्र! आओ, मेरे वक्ष को शीतल करो।"

वृद्ध ने अपनी भुजाएँ फैला दीं।

भीम चकित और अवाक् खड़ा था : जाने कौन था वह वृद्ध! क्यों इतना प्रसन्न था; और माता कुन्ती से कैसे परिचित था। भीम ने झुक कर पहले अपना मस्तक वृद्ध के कंधे पर रखा और फिर उसे अपनी भुजाओं में भर लिया।

वृद्ध उसके शरीर को सहलाता रहा, जैसे अपनी कोई चिर-तृषा मिटा रहा हो; और फिर आलिंगन त्याग कर सीधा खड़ा हो गया, "मुझे पहचानते हो वत्स? जानते हो, मैं तुम्हारा कौन हूँ?"

"नहीं आर्य! मैं आपसे पहले कभी नहीं मिला।"

"सत्य कहते हो पुत्र! हमारी भेंट पहले कभी नहीं हुई।" वह बोला, "मैं आर्यक नाग हूँ—तुम्हारे मातामह का मातामह! मेरी पुत्री मारिशा का पुत्र था, तुम्हारा मातामह शूरसेन!" और सहसा ही आर्यक का स्वर उल्लास शून्य हो गया, "एक बार मारिशा यहाँ से गयी क्या, फिर कभी उसे देख ही नहीं पाया। उसे क्या, किसी को भी नहीं देखा। बस सुनता ही आया—उसके पुत्रों और पौत्रों के विषय में सुनता रहा। मारिशा की पौत्री कुन्तीभोज के घर पर पल रही है—यह भी सुना। पाण्डु के साथ पृथा के विवाह की भी चर्चा सुनी। फिर तुम्हारे पिता के देहान्त की भी सूचना आयी। मैं बस सुनता ही रहता हूँ पुत्र! कुछ कर नहीं पाता। कोई मुझसे मिलने नहीं आता। मैं किसी के पास जा नहीं सकता। यहाँ बैठा-बैठा अपने युवकों द्वारा लाये गये समाचार सुनता रहता हूँ और विधाता को कोसता रहता हूँ—क्यों मुझे इतना दीर्घायु किया? पुत्री तो क्या दौहित्र तक का देहान्त हो गया और मैं अभी बैठा ही हूँ..." सहसा उसने रुक कर आँखों में आये अश्रु पोंछ डाले, "आज रोऊँगा नहीं। आज हर्षोल्लास का दिन है, आज तो उत्सव है। आज मेरे दौहित्र का दौहित्र मेरे घर आया है।"

वृद्ध भीम की भुजा पकड़ कर, अपने साथ आये लोगों के निकट ले गया, "इन्हें प्रणाम करो पुत्र भीम! ये हमारे राजा हैं, नागराज वासुकि?"

भीम ने उसे प्रणाम किया। वासुकि ने आशीर्वाद की मुद्रा में हाथ उठा दिया।

आर्यक ने उपस्थित लोगों को भीम का परिचय दिया और फिर घोषणा कर दी, "भीम मेरे घर पर रहेगा।"

भीम के लिये यह सारा अनुभव अद्भुत था : जीवन के यथार्थ जैसा तो यह था ही नहीं। स्वप्नलोक की कथा थी जैसे... जहाँ कोई नियम नहीं होते...बड़े-से-बड़ा अनिष्ट भी उसके अनुकूल होता जाता था : एक व्यक्ति जिसे शत्रुतावश विष दे दिया गया हो, जिसकी हत्या हो चुकी हो, जिसके अन्तिम संस्कार के रूप में उसे बाँध कर जल-समाधि भी दे दी गयी हो

—उसका विष-उपचार करने के लिये मानव-शत्रु सर्प आ जायें और अपने दंश से काल का नहीं, अश्विनी कुमारों का कार्य कर जायें।...और फिर शत्रुताभाव से उसे बन्दी बना कर जो लोग अपने स्थान पर ले आयें, वे भी उसके अपने सम्बन्धी निकल आयें...

बीच-बीच में भीम के मन में माता और भाइयों की स्मृति कौंध जाती थी...वे लोग अत्यन्त व्याकुल होंगे।...वे उसे खोज रहे होगें...

किन्तु यह वृद्ध आर्यक था, जो भीम को न इस अद्भुत घटना का रस ले पाने का अवकाश दे रहा था, न किसी की चिन्ता कर पाने की स्वतन्त्रता। वह अपनी बातों और योजनाओं में भीम को अनवरत उलझाये हुए था।...

आर्यक के साथ-साथ भीम भी उसके घर आया। जिसे आर्यक ने अपना घर कहा था, वह कुटीरों का पूरा एक ग्राम था। आर्यक का परिवार ही इतना बड़ा था। प्रत्येक दम्पत्ति के पास अपना एक पृथक कुटीर था; किन्तु शेष सारी सम्पत्ति ही नहीं, जीवन-चर्या भी पूर्णतः सामूहिक ही थी।

पुत्रों, पौत्रों-प्रपौत्रों, प्रपौत्रियों से भीम की भेंट करवा कर आर्यक ने उसे आदेश दिया कि वह नहा कर आये। भीम की इच्छा थी कि वह पेट भर भोजन करे और तान कर सो जाये; किन्तु आर्यक का विचार था कि पहले उसका विष-उपचार होना चाहिए। ऐसा न हो कि उसके शरीर में विष का कोई अंश रह जाये और विलम्ब होने से वह उसकी हानि करे।

यद्यपि आज भीम का अधिकांश समय गंगा के जल में ही बीता था, तो भी उसे नहाने के लिये जाना ही पड़ा। वृद्ध आर्यक का स्नेहाग्रह इतना वेगपूर्ण था कि उसे टालना भीम के लिये कठिन हो गया था।

भीम नहा कर आया तो आर्यक ने उसे एक पृथक स्थान पर खड़े अश्वत्थ वृक्ष के नीचे बने चबूतरे पर बैठा कर, उसे घेरते हुए गेरू के अनेक वृत्त बनाये। कुछ अन्य आकृतियाँ भी बनायीं, जो भीम की समझ से बाहर थीं। आकृतियाँ बना लेने के पश्चात उसने भीम के लिये अबोधगम्य भाषा में कुछ मन्त्र पढ़े और भीम पर पुष्पों के साथ कुछ अन्य सुगन्धित वस्तुओं की वर्षा की। फिर निश्चिन्त हो कर उसने भीम को एक बड़े भाण्ड में से ढाल कर पीने के लिये एक तरल पदार्थ दिया।

भीम ने पात्र पकड़ कर आर्यक की ओर देखा, “यह क्या है तात?”

“रस!” आर्यक मुस्कुरा कर बोला, “इसे पी जाओ वत्स! यह तुम्हारे शरीर में अवशिष्ट सम्पूर्ण विष को नष्ट कर देगा और भविष्य में भी तुम्हें किसी प्रकार के विष का कोई भय नहीं रहेगा।”

“औषध है तात?”

“हाँ!” आर्यक बोला, “किन्तु हम इसे ‘रस’ कहते हैं। यह संजीवनी है पुत्र! जीवन-रस!”

भीम ने तनिक अनिच्छा से एक घूँट पिया। एक घूँट कण्ठ के नीचे उतारते ही, उसके चेहरे के भाव बदल गये। जिसे वह औषध समझ कर बहुत अनिच्छा-से गटक रहा था, वह तो वस्तुतः रस था—अत्यन्त स्वादिष्ट और स्फूर्तिदायक! भीम ने ललकपूर्वक पात्र खाली कर दिया।

“स्वादिष्ट है?” आर्यक ने पूछा।

“अलौकिक है।” भीम की प्रसन्नता अत्यन्त मुखर हो कर उसके चेहरे पर प्रकट हुई थी।

“इसे पियो पुत्र! जितना पी सको, उतना पियो।” आर्यक बोला, “यह हम नागों की एक विशिष्ट उपलब्धि है, जो भाग्य से ही तुम्हें मिल रही है?”

भीम की रुचि आर्यक की बातों की तुलना में, रस में ही अधिक हो गयी थी। भीम पात्र-पर-पात्र पीता गया, और आर्यक भाण्ड में से उँढेलता ही चला गया।

भीम की भूख मिटती चली गयी और उसे नींद घेरती गयी। उसे स्वयं ही पता नहीं चला कि कब उसके हाथ से पात्र छूट गया और कब वह उसी आसन पर लेट गया।

आर्यक ने देखा : भीम सो गया था। अब उसे जगा कर भोजन कराना कठिन था। उसकी कोई विशेष आवश्यकता भी नहीं थी। उसने पर्याप्त रस पी लिया था—अकेले ही अनेक लोगों के बराबर! उससे उसमें असाधारण

ऊर्जा और शक्ति का संचार होगा। आज भोजन नहीं भी करेगा, तो कोई हानि नहीं है। कुन्ती का यह पुत्र अत्यन्त बलशाली था। इतना रस पीने के पश्चात उसे निद्रा की ही आवश्यकता थी।...हाँ! उसके भोजन न करने से आर्यक की बड़ी पुत्रवधू को पर्याप्त निराशा होगी। उसने भीम जैसे विशिष्ट अतिथि के लिये आज बहुत समारोहपूर्वक भोजन बनाया था।

आर्यक ने एक कम्बल मँगवा कर भीम को ओढ़ा दिया और उसके आस-पास कोलाहल करते बच्चों को दूर भगा दिया।

प्रातः लोगों के कामकाज की ध्वनियों से भीम की नींद टूटी। उसने पहले तो आश्चर्य से इधर-उधर देखा, जैसे उसकी समझ में न आ रहा हो कि वह कहाँ है और उसके आस-पास के ये नारी-पुरुष कौन हैं। किन्तु अगले ही क्षण क्रमशः उसे अपने रसपान तक की घटनाएँ याद हो आयीं।...और उसके साथ ही उसे स्मरण हो आया कि वह अपने भाइयों और माता से दूर है। उन्हें उसकी कोई सूचना नहीं होगी। वे लोग उसे खोज रहे होंगे। माता अवश्य दुखी होंगी और उसके विषय में विभिन्न दुष्कल्पनाओं से घिरी होंगी...

आर्यक ने आ कर उसके सिर पर हाथ फेरा, जैसे वह निकट ही कहीं बैठा, उसके जागने की प्रतीक्षा कर रहा था, "नींद पूरी हो गयी पुत्र?"

"हाँ तात!" भीम उठ कर खड़ा हो गया, "मैं अब अपने घर जाऊँगा।"

"बहुत उतावले हो!" आर्यक मुस्कुरा कर बोला।

"माता और भाई मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।"

"मैं समझता हूँ।" आर्यक कुछ गम्भीर हो गया, "इच्छा तो मेरी यह थी कि जब संयोग से हमारे मध्य आ ही गये हो तो कुछ दिन यहीं रहो। हमारा आतिथ्य ग्रहण करो...।"

"तात! इस समय हमें जाने दें।" भीम बोला, "मैं फिर आऊँगा।"

आर्यक के चेहरे पर अवसाद से भीगी एक मुस्कान उभरी, "फिर आना प्रायः सम्भव नहीं होता पुत्र! जीवन के संघर्ष में किसे इतना अवकाश मिला है कि वह अपनी ऐसी भावुक इच्छाओं को पूर्ण कर सके...। पर मैं समझता हूँ पुत्र! मैं कुन्ती को अधिक समय तक क्लेश की स्थिति में नहीं रखना चाहता।" वह बोला, "तुम नहा-धो कर तैयार हो जाओ। मेरे पौत्र तुम्हें गंगा-तट पर वहीं पहुँचा देंगे, जहाँ उन्होंने तुम्हें पाया था।" उसने रुक कर भीम को देखा, "किन्तु पुत्र! उन लोगों की खोज करना, जिन्होंने तुम्हें विष दे कर तुम्हारी हत्या करने का प्रयत्न किया है; और उनसे सावधान रहना। सर्प-दंश ने यदि तुम्हारे शरीर के विष का प्रतिकार न किया होता तो तुम कदापि इस समय तक जीवित नहीं रहते।"

"मैं ध्यान रखूँगा तात!"

"तुम क्या शत्रुओं के मध्य रहते हो?" सहसा आर्यक ने पूछा।

"हैं तो वे हमारे बन्धु ही।" भीम का स्वर अतिरिक्त रूप से गम्भीर हो गया, "किन्तु जाने क्यों हमारे शत्रु हो रहे हैं।"

"बन्धु-बान्धवों की परस्पर शत्रुता, कुल के विनाश की द्योतक होती है पुत्र!" आर्यक बोला, "तुम उनसे सावधान रहना।"

भीम ने आ कर भीष्म को प्रणाम किया।

भीष्म ने अतृप्त नेत्रों से तन्मय हो कर उसे देखा, जैसे अपनी तृष्णा को शान्त कर रहे हों; फिर बोले, "कहाँ रह गये थे तुम?"

भीम ने अकबका कर पितामह को देखा : क्या बताये वह—सत्य? असत्य?? सत्य बताना घातक हो सकता था...और असत्य...असत्य अनुचित था।

"अब चुप खड़ा है।" भीष्म स्वयं समझ नहीं पा रहे थे कि उनके आक्रोश में कितनी वास्तविकता थी और कितना मात्र प्रदर्शन था, "उपद्रव करने से पहले क्यों नहीं सोचता कि परिवार में सब लोगों को चिन्ता होगी, सब व्याकुल

हो इधर-उधर दौड़ रहे होंगे, सबकी मनःशान्ति नष्ट हो जायेगी।" और सहसा उनका स्वर कुछ मन्द हुआ, "क्या कहीं सोया रह गया था?"

एक बार तो भीम के मन में ज्वार उठा : कह डाले दुर्योधन के सारे दुष्कृत्यों की गाथा। समझ जायें पितामह भी कि वह कैसे सोया था। दुर्योधन ने तो चाहा था कि वह एक बार ही सदा के लिये सो जाये।...अपने आवेश में कदाचित वह कुछ कह भी डालता, पर तभी उसकी दृष्टि पहले युधिष्ठिर पर पड़ी और फिर कुन्ती पर...उनकी आँखों में स्पष्ट निषेध था।...भीम खीझ उठा...ये लोग नहीं उसे सत्य कहने देंगे, न असत्य...

"नींद सबको प्यारी होती है," अन्ततः भीष्म ही बोले, "किन्तु सोने की भी कोई सीमा होती है। कौन नहीं सोता : किन्तु कोई तुम्हारे समान भी सोता है।..."

भीम को लगा, यदि वह कुछ नहीं बोला तो पितामह बोलते ही जायेंगे। कब तक सुनता रहेगा वह? इससे तो अच्छा है कि वह एक बार सत्य बता ही दे!

"मैं सोया नहीं था पितामह!" वह बलपूर्वक बोला।

कुन्ती का मन काँप उठा : आवेश में कहीं भीम सत्य ही न बता दे...छोटे-छोटे पुत्र हैं उसके। आरम्भ से ही उसने असत्य-भाषण का निषेध किया है।...और आज वह इन्हें सत्य भी नहीं बोलने दे रही। तो क्या करें उसके ये अबोध बच्चे! कुन्ती मन-ही-मन ग्लानि का अनुभव कर रही थी...कैसे असमंजस में डाल दिया है उसने अपने बच्चों को...यह कैसी नीति सिखा रही है वह अपने पुत्रों को?...

पर सहसा उसके अपने मन ने ही दूसरा तर्क किया...उसके पुत्र न किसी तपोभूमि में रह रहे थे और न ही वे ऋषिकुमार थे। वे राजकुमार थे और एक क्रूर, अन्यायी तथा सर्वभक्षी राजनीतिक परिवेश में पल रहे थे, जहाँ सत्य और न्याय की चर्चा भी घातक हो सकती थी : उनके लिये नीति तथा राजनीति—दोनों का ही ज्ञान तथा व्यवहार आवश्यक था। नीति सिखाते-सिखाते वह उनके प्राण नहीं ले सकती थी। उन्हें सीखना होगा कि विपत्ति काल में नीति के साथ-साथ उन्हें अपनी रक्षा कैसे करनी है। राज परिवारों में, राजाओं के व्यवहार में, राजनीति के कठिन क्षणों में बहुत कुछ ऐसा होता है—जो सर्वथा गोपनीय होता है। राजकुमारों का सम्पूर्ण जीवन, ऋषि पुत्रों के समान सर्वविदित नहीं हो सकता...क्या स्वयं कुन्ती ने अपने कानीन पुत्र की बात गुप्त नहीं रखी?

"सोए नहीं थे तो क्या मृगया के लिये चले गये थे?" भीष्म कुछ और रुष्ट हो गये लगते थे। उन्होंने स्पष्ट देखा था कि भीम के मन में न ग्लानि थी, न आँखों में संकोच : वह तो ऐसे व्यवहार कर रहा था, जैसे उससे कोई भूल हुई ही न हो।...जैसे उसने प्रमाद से किसी के लिये कोई असुविधा खड़ी न की हो।...

भीम ने एक बार फिर अपनी माता और युधिष्ठिर की ओर देखा और असहाय-सी स्थिति में सिर झुका लिया। उसने यह तो कभी सोचा ही नहीं था कि उसी की हत्या का प्रयत्न किया जायेगा, और उसी को अपराधी के समान अपने ऊपर लगाए गये अरोपों का उत्तर देना पड़ेगा।

"बार-बार माता की ओर क्या देखते हो," भीष्म की खीझ जैसे रह-रह कर ज्वालामुखी के समान फूट रही थी, "वे तुम्हें बचा लेंगी क्या? वे तुम्हारे पितामह से भी बड़ी हैं?" और सहसा जैसे उनका रोष चुक गया, "मैं मृगया का विरोधी नहीं हूँ। क्षत्रिय कुमार मृगया तो करते ही हैं; किन्तु जाने से पहले किसी को सूचना तो देनी चाहिए न!"

उन्होंने रुक कर भीम की ओर देखा : किन्तु जब भीम इस बार भी कुछ नहीं बोला तो वे पुनः बोले, "या तुमने सोच लिया है कि घर के बड़ों के मन पत्थर के हो गये हैं, उन लोगों को कोई चिन्ता ही नहीं होती। तुम्हें क्या पता है कि जब तक तुम नहीं आये, पीछे हम सबके लिये एक-एक क्षण कैसा भारी हो रहा था। तुम वहाँ आखेट करते फिर रहे थे; और हमारे मन घायल मृगों के समान रक्त-वमन कर रहे थे..."

भीम को पुनः लगा कि यदि वह अब भी नहीं बोला तो कदाचित पितामह का व्याख्यान कभी समाप्त न हो। कभी-कभी वृद्धों को चुप कराना कितना कठिन हो जाता है।...पर क्या कहे वह?...अन्ततः अपनी असहायता में पैर पटक कर वह उद्धत ढंग से बोला, "मैं मृगया के लिये नहीं गया था।"

भीष्म के रोष को जैसे अपने मुक्त-प्रवाह में अवरोध पा कर धक्का लगा; और वह चौंक कर किंकर्तव्यविमूढ़-सा खड़ा हो गया : वह समझ नहीं पा रहा था कि वह इस अवरोध से टकरा कर, उससे बड़ा हो कर, उसके ऊपर से

निकल जाने का प्रयत्न करे अथवा अवरोध को स्वयं से बड़ा मान कर उसके इस पार ही रुक जाये।

भीम जैसे अब भी अपने किये पर लज्जित नहीं था; वह तो अब भी उद्धत उद्दण्ड-सा उनके सम्मुख खड़ा था। यह लड़का ऐसा ही है आरम्भ से...

"तो कहाँ गये थे, फिर बताते क्यों नहीं?" भीष्म का क्रोध जैसे किसी असमंजस में खड़ा सोच रहा था कि ज्वालामुखी के समान भड़के या शान्त हो कर सो जाये।

भीम ने पुनः अपना सिर झुका लिया था।

इस बार भीष्म को कुछ विस्मय हुआ : यह लड़का अपनी ओर से तो कुछ बताता नहीं—जो कुछ वे कहते हैं उसका निषेध कर देता है, जैसे किसी धर्म संकट में पड़ा हो।...तो यदि वे ही कुछ और कुरेदें, कुछ और प्रस्ताव रखें, तो वह बता देगा क्या?...उसके बाल-हठ के सामने वे कैसे असहाय हो रह हैं...वह कदाचित यह समझ रहा था कि वह सत्य कह देगा तो पितामह उसे दण्डित करेंगे।...अरे पितामह किसी को क्या दण्डित करेंगे। पितामह का वह तेज ही कहाँ रह गया है? जब वे दुर्योधन जैसे अपराधी को सारथि चिरन्तन के वध का दण्ड नहीं दे सके, तो बाल्यावस्था की चंचलता तथा अबोधता की साक्षात प्रतिमा—अपने इस पौत्र को वे क्या दण्डित करेंगे...

"तो क्या जल-क्रीड़ा कर रहे थे?"

पितामह का प्रश्न सुन कर भीम के मन में उत्साह जागा : हाँ! उसके लिये मार्ग निकल आया था।

उसने सिर झुका कर जैसे अपनी भूल स्वीकार की, "हाँ पितामह! मैं गंगा में बहुत दूर तक निकल गया था।"

भीम की इस आत्मस्वीकृति पर जैसे भीष्म के मन में स्नेह का उत्स फूट आया। एक उन्मादी इच्छा उठी कि भीम को उसके कंधों से पकड़, वक्ष से लगा लें और कहें, 'इसमें तेरी कोई भूल नहीं हैं पुत्र! गंगा तो है ही ऐसी! पहले मन को बहा ले जाती है और फिर तन को। मैं भी उसमें कितने-कितने योजन तैर जाया करता था...'

किन्तु उन्होंने अपनी भावुकता के अश्व की वल्गा खींच ली।...उन्होंने ऐसा कुछ कह दिया तो, भीम और भी उत्साहित होगा और गंगा में ही घर कर लेगा। गंगा के मोह से वे परिचित थे। उनके पिता शान्तनु उसी मोह के बन्दी रहे। भीष्म भी आजीवन उस मोह के पाश से मुक्त नहीं हो पाये हैं। और अब भीम...नहीं! नहीं!

"क्रीड़ा का उन्माद कोई अच्छी बात नहीं है।" भीष्म ने कृत्रिम रोष जताया, "अपने-आपको अनुशासित करना सीखो।...जिन लोगों के साथ गये थे, उन्हीं के साथ रहना चाहिए था, ऐसे तो तुम युद्ध करने जाओगे, तो तुम्हें यह भी ध्यान नहीं रहेगा कि तुम कहाँ हो और तुम्हारी सेना कहाँ है।..."

भीष्म ने दृष्टि उठा कर भीम की ओर देखा : भीम उनकी बात कदाचित ध्यान से सुन नहीं रहा था या शायद सुन तो रहा था, किन्तु उनसे सहमत नहीं हो रहा था। उसके आनन पर उद्धतता अब भी थी, जैसे उस पर अनुशासन न किया जा रहा हो, दमन किया जा रहा हो।...कैसे थोड़ी-थोड़ी देर में एक दीर्घ निःश्वास छोड़ कर उपेक्षापूर्वक आकाश की ओर देखता था...

भीष्म को अपने इस उद्दण्ड पौत्र का यह रूप एकदम अच्छा नहीं लगा।

उन्होंने कुन्ती को देखा : वहाँ भी उन्हें सहमति नहीं दिखी। उसके चेहरे पर कुछ विरोध था, कुछ भय और कैसा तो असहाय क्रोध!...तो क्या कुन्ती भी उनसे सहमत नहीं है?...लड़का तो उद्धत है ही, किन्तु उसकी माता? कुन्ती ने तो कभी गुरुजनों की अवज्ञा नहीं की थी। कुन्ती उन वधुओं में से नहीं थी, जिसके लिये कुल-वृद्ध उपेक्षणीय होते हों। ...तो फिर?...उन्होंने युधिष्ठिर को देखा : वह इन लड़कों में सबसे बड़ा है; अनुशासन का महत्व समझता है...किन्तु भीष्म को उसके चेहरे पर भी अपने लिये सहमति नहीं मिली। वह भी उनको कुछ उतना ही उदास लगा, जैसे किसी विराट शिला के असह्य बोझ के नीचे दबा व्यक्ति पीड़ित तो हो, किन्तु कराह न सकता हो...छोटे तीनों लड़के भी पर्याप्त सहमे हुए लग रहे थे...

भीष्म का मन उचाट हो गया!...कैसी है यह माता और उसके ये पाँचों पुत्र? जैसे किसी अभेद्य आवरण से ढँके हुए घट हों। न उनके भीतर से कुछ प्रकट होता है, न उनके भीतर कोई झाँक सकता है। उनकी यह गोपनीयता और उनका यह मौन भीष्म को तनिक भी अच्छा नहीं लगता। इनसे तो धृतराष्ट्र ही अच्छा, जो सिर पटक-पटक कर यह तो

कहता है कि उसे क्या चाहिए। दुर्योधन, यह तो जता ही देता है कि वह पितामह के अधिकारों को मान्यता नहीं देता...यह कैसी स्थिति है कि भीष्म पर दायित्व तो है, किन्तु उनके पास अधिकार कोई नहीं है। वे बच्चों को समझा भी नहीं सकते, उनकी ताड़ना भी नहीं कर सकते! यदि कुन्ती ही उनके इस अधिकार को मान्यता नहीं देगी, तो ये बच्चे कैसे स्वीकार करेंगे कि भीष्म को यह अधिकार है और होना भी चाहिए...

फिर जैसे आकस्मिक रूप से उनका तेज जागा, "भविष्य में होने वाली ऐसी किसी क्रीड़ा में भीम सम्मिलित नहीं होगा; उसकी उद्दण्डता का यही दण्ड है।"

क्षण-भर के लिये भीम के चेहरे पर एक अत्यन्त विस्फोटक भाव जागा; किन्तु अगले ही क्षण वह उसे ऐसे गटक गया, जैसे कोई थूक निगल जाता है; और फिर जैसे उसने एक अच्छे काम के लिये प्रशंसा पाने के लिये अपनी माता की ओर देखा।...भीष्म ने भी पहचाना : कुन्ती के आनन पर पुत्र के लिये एक अत्यन्त अनुकूल भाव था।...

भीष्म को आश्चर्य हुआ : संयम भीम का गुण नहीं था। वह तो अपने असंयम के लिये ही जाना जाता था...इन माँ-बेटों में कोई ऐसा सूत्र अवश्य था, जिसे भीष्म पकड़ नहीं पा रहे थे...वे जैसे सब मिल कर एक थे। भीष्म उनमें से एक नहीं थे। वहाँ केवल भीष्म ही बाहरी व्यक्ति थे...

वहाँ और रुकना भीम को एकदम अनावश्यक लगा। वे जाने के लिये मुड़े, "भविष्य में इस प्रकार की घटना की पुनरावृत्ति न हो!"

भीष्म रथ में बैठने से पहले मुड़े।...उन्हें आश्चर्य हुआ, कुन्ती और उसके पाँचों पुत्र सिर झुकाये हुए, उनके पीछे-पीछे रथ तक आये थे। किसी ने भी उनकी अवज्ञा नहीं की थी—उनके उस मोटे, उद्धत और उद्दण्ड पौत्र—भीम ने भी नहीं। इस समय उनमें से किसी के भी चेहरे पर किसी प्रकार का कोई प्रतिवाद अथवा विरोध नहीं था। उन सबने उनके चरण-स्पर्श कर प्रणाम किया...भीष्म को लगा, वे उनके लिये पराये नहीं थे, बाहरी नहीं थे, उन्हीं में से एक थे...

अपने भवन की ओर लौटते हुए भीष्म कुछ भी निर्णय नहीं कर पा रहे थे। कुन्ती और उनके पुत्रों के व्यवहार का क्या अर्थ था? यदि उनके मन में पितामह के लिये सम्मान था, तो वे भीम की ताड़ना से सहमत क्यों नहीं थे?...और यदि वे भीष्म को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे तो फिर उनके प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिये इस प्रकार की क्या आवश्यकता थी? उनकी आँखों का वह स्नेह सम्मान?...पितामह का अधिकार?...और सहसा जैसे उनका अपना ही मन उन पर धिक्कार बरसाने लगा।...अधिकार? अपना यह अधिकार दुर्योधन को क्यों नहीं जताते? उस हत्यारे को अनुशासित क्यों नहीं करते? वह तो एक निर्दोष, निरीह मनुष्य की हत्या कर आया, तो उसे दण्डित करना तो दूर, उसे ताड़ना का एक शब्द तक नहीं कहा; और भीम जैसे बच्चे की तनिक-सी असावधानी पर उसे दण्डित कर आये, '...भविष्य में ऐसी किसी क्रीड़ा में भीम सम्मिलित नहीं होगा...।' इसका अर्थ तो यही हुआ कि वे भी निर्बल और असहाय पर ही अपने अधिकारों का परीक्षण करते हैं। भीम का पिता नहीं है, वे लोग एक प्रकार से उन पर आश्रित हैं, इसलिये पितामह भी पहुँच गये, 'उद्दण्डता का दण्ड देने।' क्यों नहीं दिया उन्होंने दुर्योधन को उसके अपराध का दण्ड?...आज पाण्डु जीवित होता, हस्तिनापुर का सम्राट होता, तो भीष्म उसके पुत्र को इस प्रकार दण्डित करने के अधिकार का प्रयोग करते? दुर्बल को तो सभी दबा लेते हैं, किन्तु अधिकार का प्रयोग तो सबल पर होना चाहिए...

भीष्म का मन जैसे ग्लानि में डूबने लगा...

भवन में पहुँचने तक वे ऐसे अन्यमनस्क रहे, जैसे किसी वन में भटक गये हों, और उन्हें कोई मार्ग न सूझ रहा हो।...जो किया, वह अनुचित हुआ; और उचित क्या है?...

अपने भवन में पहुँच कर उन्होंने रसोइये को बुलाया, "आज भोजन में क्या है?"

उसे आश्चर्य हुआ : आज वर्षों बाद भीष्म ने भोजन में रुचि दिखायी थी। इधर तो वह जो भी शाक-पात बनवा देता था, वह बिना ध्यान दिये चुपचाप खा लेते थे।

"कुछ विशेष पकाना है स्वामि?"

"आज अच्छा भोजन बनाओ—स्वादिष्ट। माँस भी हो और मिष्ठान भी। मात्रा भी पर्याप्त रखना।" भीष्म बोले, "आज मेरे पौत्र मेरे साथ भोजन करेंगे।"

"कौन-से पौत्र—सुयोधन और उसके भाई?"

"नहीं! युधिष्ठिर और उसके भाई।"

"किन्तु वे तो केवल पाँच ही हैं। अधिक मात्रा का क्या करना है?"

"अरे वह मोटा है न—भीम! वह बड़ा पेटू है; बहुत खाता है।" भीष्म की वाणी में स्नेह छलछला रहा था, "मैं चाहता हूँ कि वह छक कर खाये। बहुत दिनों से उसने मेरे साथ बैठ कर भोजन नहीं किया है। क्या उनका अपने पितामह के अन्न पर कोई अधिकार नहीं!..."

भीष्म अपने भीतर ही कहीं खो गये थे!

5

द्रोण ने खटखटाने के लिये साँकल पकड़ा और जैसे कुछ सोच कर उसे छोड़ दिया।

"क्या बात है?" कृपी ने पूछा।

द्रोण ने कोई उत्तर नहीं दिया; किन्तु उनका असमंजस उनके चेहरे पर झलका अवश्य। दूसरे ही क्षण जैसे उन्होंने एक नये संकल्प के साथ कपाट थप-थपाने के लिये हाथ उठाया; किन्तु शब्द उत्पन्न करने के स्थान पर उनकी हथेली कपाट के साथ निःशब्द चिपक गयी।

कृपी को आश्चर्य हुआ : द्रोण असमंजस में पड़े रहने वाले व्यक्ति नहीं थे। उनकी तो इच्छाएँ भी जैसे झंझावात के समान चलती हैं। किसी का साहस नहीं हो सकता कि मार्ग में बाधा उत्पन्न करे। मार्ग में आयी सारी बाधाओं को उनके संकल्प वैसे ही रौंद देते हैं, जैसे हाथी का पाँव दूर्वा को रौंदता है...। फिर इतना असमंजस?

"किस बात का संकोच है आर्यपुत्र?" कृपी ने धीरे से पूछा।

"रात्रि के दो पहर व्यतीत हो चुके हैं," द्रोण बोले, वे लोग सो गये होंगे। उनकी नींद में विघ्न डालना क्या उचित है?"

...और मन-ही-मन वह सोच रहे थे कि उन्होंने अपने अधैर्य में कदाचित एक गलत निर्णय ले लिया था। कृप कौरवों का आचार्य है। वह अपना पद और सम्मान क्यों छोड़ना चाहेगा? कोई भी क्यों छोड़ना चाहेगा?...और ऐसा तो सम्भव ही नहीं है कि कृप और द्रोण—दोनों एक ही राजा की सेवा में हों और द्रोण, कृप के अधीन कोई पद स्वीकार कर लें। अधीन न भी हों, तो भी उससे हेठा पद स्वीकार करना कदाचित उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ेगा।...और यदि कृप का महत्व छीन कर द्रोण को दे दिया जायेगा तो कृप के मन में ईर्ष्या नहीं जायेगी क्या?...

कृपी को वे क्या उत्तर देते!

"इतना चिन्तन-मनन और सोच-विचार कर तो आपने यहाँ आने का निश्चय किया और अब जब भाई के द्वार पर आ ही खड़े हुए हैं, तो कैसा संकोच कर रहे हैं आप?" कृपी धीरे से बोली, "या फिर आपके मन में श्वसुरालय में आ कर टिकने के संदर्भ में आपत्तियाँ जागने लगी हैं?"

"नहीं कुछ ऐसा नहीं है।..."

द्रोण कुछ और कहते, उससे पहले ही कृपी ने आगे बढ़ कर अधिकारपूर्वक साँकल खटखटा दिया।

"रात्रि की स्तब्धता में इस प्रकार शब्द कर रही हो।" इस बार द्रोण के स्वर में संकोच नहीं, आशंका बोल रही थी, "अनेक लोग तो जाग जायेंगे, उन्हें ज्ञात हो जायेगा कि कृपाचार्य के घर अर्द्ध-रात्रि के अन्धकार में कोई आया है। और जब लोगों में कौतुहल जागता है तो फिर कुछ भी गुप्त नहीं रह पाता। तुम चाहती हो, प्रातः तक सारे हस्तिनापुर में प्रचारित हो जाये कि कौरवों के चिर शत्रु पांचालों का मित्र द्रोण नगर में है; और कौरव मुझे निगड़बद्ध कर अपमानित करने की तैयारी करें।"

"ऐसा कुछ नहीं होगा," कृपी ने कुछ उपेक्षा से कहा, "मेरा पालन-पोषण इसी हस्तिनापुर में हुआ है। मैं कौरवों को भली प्रकार जानती हूँ। महाराज शान्तनु ने अपनी सन्तान के समान पाला था हमें। आर्य भीष्म का भी हमारे प्रति वात्सल्य-भाव रहा है, चाहे पितृवत कहिये, चाहे ज्येष्ठ भ्रातावत।" उसने द्रोण को जैसे सहमत करने के लिये उनकी ओर देखा, "कृपाचार्य की बहन उनके घर आयी है—यह किसी को ज्ञात हो जाये, तो उसमें कोई हानि नहीं है।..."

कृपी ने पुनः साँकल खटखटा दिया।

द्रोण के मन में खीझ उठी : मूर्खता कितनी दुस्साहसी होती है। वे जिन संकटों को अपने सामने दृश्यमान देख रहे हैं, उनके विषय में कृपी कल्पना भी नहीं कर सकती। किस आत्मविश्वास से उसने पुनः साँकल बजा दिया है। और चेहरे पर भाव भी कैसे हैं—जैसे संसार-भर की बुद्धि उसी में आ विराजी हो और द्रोण सर्वथा मूर्ख ही हों।...सदा मौन और संकुचित रहने वाली कृपी आज वाचाल भी कितनी हो गयी थी—क्या यह अपने भाई के सामर्थ्य का विश्वास था?... द्रोण सोच रहे थे...उनका और कृपी का एक ही पक्ष था; किन्तु फिर भी जहाँ वे स्वयं को सर्वथा असुरक्षित पा रहे थे, वहीं

अपने सम्बन्धों के कारण वह सम्पूर्ण तथा निःशंक सुरक्षा का अनुभव कर रही थी।...

"कौन है इस समय?" भीतर से एक स्वर आया, "अरे भाई, गुरु जी प्रगाढ़ निद्रा में हैं।"

कपाट खुले। एक ब्रह्मचारी दीपक लिये खड़ा था।

उसने प्रौढ़ वय के एक भद्र पुरुष को अपनी पत्नी और बच्चे के साथ खड़े देखा तो कुछ संकुचित हो गया, "क्षमा कीजिएगा। मैंने समझा कोई ब्रह्मचारी अथवा कर्मचारी आया है।"

"कोई बात नहीं!" कृपी अत्यन्त कोमल स्वर में बोली, अपने आचार्य को सूचना दो—उनकी बहन अपने पति और पुत्र के साथ आयी है।"

ब्रह्मचारी पहले ही कम प्रभावित नहीं था, अब यह जान कर कि आगंतुक गुरु जी के इतने निकट के सम्बन्धी हैं, वह जैसे अपने-आप में ही समा जाने का मार्ग ढूँढने लगा, "आइये! आइये! पधारिये! मैं गुरु जी को सूचना किये देता हूँ।" और ब्रह्मचारी भागता हुआ, भीतर कहीं खो गया।

द्रोण ने कृपाचार्य के आवास को देखा : कैसा वैभवशाली भवन था। राजप्रासाद के ही किसी प्रखण्ड-सा लगता था...और वे...द्रोणाचार्य वह...आज तक तपोवनों और आश्रमों के कुटीरों के ही मोह में पड़े रहे; और स्वयं को तपस्वी मान, प्रसन्न होते रहे।...तपस्या ने क्या दिया उन्हें? अपमान और तिरस्कार...अभाव और असुविधाएँ...अपने विकृत चिन्तन का काल्पनिक गौरव!...कृप जैसे लोग हैं, जो राजाश्रय में कितने सुख से जीवन व्यतीत कर रहे हैं। न किसी प्रकार का अभाव, न वन्य-जीवन की कठिनाइयाँ...अपनी अल्प विद्या का भी भरपूर मूल्य पा रहे हैं कृपाचार्य!... और आर्यावर्त्त में धनुर्वेद का सबसे बड़ा आचार्य, द्रोणाचार्य,...धूलिधूसरित पड़ा है स्वर्ण-खण्ड, और पीतल राजकिरीटों में जड़ा हुआ चमक रहा है...द्रोणाचार्य आज संसार-भर से पूछना चाहते हैं कि स्वर्ण होने का महत्व अधिक है अथवा राजमुकुट में जड़े होने का?...

तभी कृपाचार्य ने आ कर; आश्चर्य मिश्रित सुख से उनका स्वागत किया, "कृपी तुम? अरे आप आचार्य!..." और जैसे अपने आश्चर्य को सँभाल कर बोले, "बिना किसी सूचना के अकस्मात...।"

"बात ही कुछ ऐसी हो गयी भैया!" कृपी बोली, "बहुत त्वरित निश्चय था यहाँ आने का! संदेश भेजने के लिये किसी पथिक की प्रतीक्षा ही नहीं की। तत्काल ही चल पड़े।...तनिक विश्राम कर लें, तो तुम्हें सब कुछ विस्तार से सुनाऊँगी।"

"अरे हाँ!" कृपाचार्य जैसे अपने व्यवहार पर हँसे, "मैं तो भूल ही गया कि तुम लोग लम्बी यात्रा करके आये हो और क्लान्त हो। आओ।" कृपाचार्य ने एक ओर मुड़ कर पुकारा, "प्रभूदत्त! पुत्र, हाथ-मुँह धोने के लिए जल की व्यवस्था कर दो।" फिर कृपी की ओर मुड़ कर धीरे से पूछा, "आचार्य इस समय कुछ भोजन करेंगे क्या?"

"भोजन की चिन्ता मत करो।" कृपी बोली, "भोजन हमने मार्ग में ही कर लिया था। अश्वत्थामा को तो भूखा नहीं रख सकते थे न!"

"ओह! यह अश्वत्थामा तो लगता है कि खड़ा-खड़ा ही सो गया।" कृपाचार्य ने अश्वत्थामा के केशों को स्नेह से दुलराया।

"बस विश्राम की व्यवस्था कर दो।"

"थोड़ा फलाहार?" कृप ने आग्रह किया।

"नहीं! इस समय कुछ नहीं।" इस बार द्रोण बोले, "अब प्रातः स्नान-ध्यान के पश्चात ही खाने की बारी आयेगी।"

"जैसी आपकी इच्छा!" कृप की द्रोण के स्वर में निहित आदेश को स्वीकार करना पड़ा।

यद्यपि रात को सोने में अत्यन्त विलम्ब हो गया था, फिर भी द्रोण प्रातः अपने समय से ही उठे और अपने नित्य-कर्म में लग गये। कृप भी अपनी समस्त जिज्ञासाओं को संयत किये हुए अपनी दिनचर्या की ओर उन्मुख तो हुए किन्तु उनका ध्यान कृपी और द्रोण की ओर ही लगा रहा। उन्हें जहाँ अपनी बहन कृपी अत्यन्त सहज और आश्वस्त लग रही थी; वहीं

द्रोण की भाव-भंगिमा अत्यन्त तनावपूर्ण तथा आशंकित लग रही थी।

...किन्तु अनुकूल अवसर पाये बिना वे जिज्ञासा भी कैसे करते!

भोजन के समय परिवेश कुछ निश्चिन्तता का-सा था। कृपाचार्य सोच ही रहे थे कि वे बात कहाँ से आरम्भ करें कि द्रोण बोले, "कृप! मैं चाहता हूँ कि हस्तिनापुर में मेरा यह प्रवास कुछ समय तक गोपनीय ही रहे।"

कृपाचार्य के लिये द्रोण की यह इच्छा, उनके हस्तिनापुर आगमन से भी अधिक चकित कर देने वाली थी, "क्यों? ऐसा कौन-सा कारण है?" और सहसा जैसे वे सचेत हो गये, "हाँ! यदि यह कारण भी गोपनीय न हो तो!"

"नहीं! तुमसे गोपनीय नहीं है!" द्रोण कुछ खुल कर सहज भाव से बोले, "तुम जानते ही हो कि कुरुओं और पांचालों में परम्परागत अमैत्री है। मेरे पिता और मैं—दोनों ही पांचालों से सम्बन्धित रहे हैं; अतः हम उनके पक्ष के लोग माने जाते हैं। यदि कुरुओं को यह ज्ञात हो जाये कि पांचालों का एक मित्र अज्ञात रूप से रात के अन्धकार में हस्तिनापुर में घुस आया है, तो उनको संदेह होगा, उनके मन में विरोध जागेगा; और बहुत सम्भव है कि वे लोग हमारा कुछ अनिष्ट करना चाहें।...मैं जानता हूँ कि वे लोग ब्रह्महत्या नहीं करेंगे; किन्तु वे मुझे कदाचित अपने राज्य में रहने न दें।...और इस समय स्थिति कुछ ऐसी है कि मैं कुरु-राज्य से बाहर जाना नहीं चाहता!"

कृप ने द्रोण को एक तपस्वी अथवा धनुर्वेद के प्रकाण्ड पण्डित के रूप में ही देखा था। उन्हें द्रोण का यह रहस्यमय रूप सर्वथा नवीन ही नहीं, कुछ विचित्र भी लगा। यह तो जैसे किसी गूढ़-पुरुष का-सा व्यवहार था।

...कृप का माथा ठनका : कहीं द्रोण सचमुच ही तो कुरुओं का कोई भेद लेने नहीं आये!...यदि ऐसा है तो यह कृप के हित में नहीं है। यह तो भीष्म जैसे उदार और सहिष्णु व्यक्ति के कारण ही सम्भव हुआ कि कृपी का विवाह द्रोण के साथ करके भी कृप हस्तिनापुर के राजपरिवार के अंग बन कर रहते चले गये। यदि कोई और व्यक्ति हस्तिनापुर की राजनीति का सूत्रधार होता, तो कृप कब के हस्तिनापुर से अपमानित कर निकाल दिये गये होते।...और अब यदि द्रोण ने कृप के ही घर में आश्रय ले कर, राजपरिवार के विरुद्ध अथवा राजपरिवार का अहित करने का कोई प्रयत्न किया तो भीष्म भी कृपाचार्य की रक्षा नहीं कर पायेंगे...

कृप को सावधान रहना चाहिए।...

और आज कृप को पहली बार लगा कि कृपी का द्रोण के साथ सम्बन्ध करते हुए उन्होंने कदाचित कुछ अधिक ही शीघ्रता की थी। उस समय उन्होंने सोचने-समझने की कोई आवश्यकता नहीं समझी थी—या...कदाचित सोचने-समझने का अवकाश ही नहीं था।...वे दोनों भाई-बहन, माता-पिता के अभाव में हस्तिनापुर के राजप्रासाद में पाले गये थे। तपस्वी-समाज से उनका कोई सम्पर्क ही नहीं रहा था। कृप के पास अपना कोई आश्रम भी नहीं था कि विभिन्न आश्रमों में ही कोई सम्बन्ध होता...और सबसे बड़ी बात थी कि कृपी का रूप आकर्षक नहीं था और उसका वयस बढ़ता जा रहा था। अपनी युवती बहन का शीघ्रातिशीघ्र विवाह कर, अपने दायित्व से मुक्ति पाने की कितनी व्यग्रता थी कृप के मन में...और तभी कृप ने यह भी जाना था कि ऋषियों, मुनियों, तपस्वियों, वनवासी ब्राह्मणों के समाज में भी गृहस्थों के समान कुल-गोत्र का विचार होने लगा था। अब वे भी सन्तान को ईश्वर का पवित्र प्रसाद समझ कर ग्रहण नहीं करते थे, वे भी विचार करने लगे थे कि माता-पिता कौन थे? उनमें वर्ण-संकरता तो नहीं थी?...ऋषियों, मुनियों की आकस्मिक कामोत्तेजना से उन्पन्न सन्तानों को समाज में स्थान पाने में कठिनाई होने लगी थी...

कृपी का वयस बढ़ता जा रहा था और कृप उसके लिये कोई उपयुक्त वर खोज नहीं पा रहे थे।...ऐसे में उन्हें जब द्रोण-जैसा वर दिखायी पड़ा तो सोचने-विचारने का अवकाश ही कहाँ था उनके पास! द्रोण की अवस्था कृपी से कुछ अधिक ही थी। उनका सम्बन्ध पांचालों की राजसभा से चाहे नहीं था, किन्तु वे द्रुपद के गुरु-पुत्र थे। पांचालों के राज्य में रहते थे और अपेक्षित यही था कि वे पांचाल राजपुत्रों को शस्त्र-शिक्षा देंगे।...उन्होंने अपना आश्रम नहीं बनाया था, उनके पास गोधन भी नहीं था। राजा से कोई ब्रह्मवृत्ति भी नहीं लेते थे...किन्तु कृप ने उस समय कुछ नहीं सोचा था। सोचना-विचारना उन्हें अपने हित में नहीं लगा था। यदि उस समय वे सोच-विचार करते रहते और उस अवसर का सदुपयोग न करते तो कदाचित कृपी आज भी उन्हीं के समान अविवाहित बैठी रहती!...आज जब अपने पति तथा पुत्र के साथ उसके घर आयी है, तो कृप को भी एक परिवार की-सी अनुभूति हुई है। परिवार में रहने का सुख ही कुछ और है...

द्रोण अपना प्रवास गोपनीय न मानते तो कृप को कोई कठिनाई नहीं थी। वे निर्दोष भाव से किसी को भी बता

सकते थे कि उनकी बहन अपने परिवार सहित उनसे मिलने आयी है। उनके भगिनी-पति पांचालों के राजगुरु हों तो हुआ करें। राजपरिवारों की मैत्री-अमैत्री से सामान्य जन अपने सम्बन्ध तो त्याग नहीं देंगे न!...पर वह स्वयं ही स्वयं को गुप्त रखना चाहते हैं...जाने द्रोण के मन में क्या है।...कहीं ऐसा न हो कि द्रोण को अपने घर में आश्रय देने के परिणामस्वरूप स्वयं कृपाचार्य ही निराश्रित हो जायें...

कृप को वनों में, आश्रमों में या साधना-स्थलों में तपस्वियों के समान रहने का अभ्यास नहीं है। अपने जीवन में उनकी स्मृति जहाँ तक जाती है, उन्हें हस्तिनापुर का राजप्रासाद ही याद आता है। उन्हें राजप्रासाद के संरक्षित और व्यवस्थित वातावरण में ही रहने का अभ्यास है। यदि द्रोण के किसी कृत्य के कारण उनका यह आश्रय छिन गया तो वन में नदी-तट पर कहीं कुटिया बना कर रह पायेंगे कृपाचार्य?...भीष्म जैसे व्यक्ति की ही बात होती तो कृपाचार्य को इतना आशंकित होने की आवश्यकता नहीं थी; किन्तु अब हस्तिनापुर की सत्ता भीष्म के नहीं, धृतराष्ट्र के हाथों में थी। धृतराष्ट्र के हाथों से भी छन कर क्रमशः वह सुयोधन के व्यक्तित्व में संचित होने लगी थी। था तो अभी वह बालक ही, किन्तु उसकी मनमानी को कोई रोक नहीं सकता था। न धृतराष्ट्र हृदय से सरल था और न सुयोधन! वे भीष्म के समान क्षमावान नहीं थे! द्रोण की किसी बात से उन्हें अपने विरोध की आशंका हुई तो उनका व्यवहार क्या होगा; इसकी कल्पना तक कठिन थी कृप के लिये। यह दशरथ अथवा राम की राजसभा तो थी नहीं कि कुल-गुरु वसिष्ठ का आदेश, राजा को भी मान्य हो। कृप का पद आचार्य का था; और धृतराष्ट्र तथा सुयोधन के लिये वह शस्त्र-विद्या सिखाने वाले कर्मचारी मात्र थे...और द्रोण...

भोजन कर द्रोण बाहर चले गये। कृप का इतना भी साहस नहीं हुआ कि वह द्रोण से पूछ ही लेते कि वे कहाँ जा रहे हैं।...वैसे भी वे समझ नहीं पा रहे थे कि अपने प्रवास को गोपनीय रखने के इच्छुक द्रोण इस प्रकार दिन-दहाड़े बाहर कहाँ जा रहे हैं...

द्रोण के जाने के पश्चात घर में कृपी को अकेली पा कर कृप कुछ आश्वस्त हुए।...द्रोण वय में उनसे बड़े थे, सम्बन्ध भी उनसे ऐसा था कि हर बार कृप को ही दबना पड़ता था। वैसे भी द्रोण सदा गुरु-गम्भीर बने रहते थे।...उनसे आग्रह-पूर्वक प्रश्नोत्तर उनके वश की बात नहीं थी; किन्तु कृपी से तो पूछा ही जा सकता था। वह उनकी बहन थी, एक-मात्र बहन...दोनों साथ-साथ पल कर बड़े हुए थे और कृपी के सिवाय उनका कोई था भी तो नहीं संसार में...

कृपी के मन में भी बहुत सारा ऊहापोह था। रात को तो भाई से बात करने का अवसर ही नहीं मिला था। वैसे भी वह अपने पति के सम्मुख कुछ कहना नहीं चाहती थी।...एकान्त पाते ही उसने बात आरम्भ की।

“भैया! इस प्रकार अकस्मात ही हमें अपने द्वार पर आया देख, तुम्हें आश्चर्य तो हुआ होगा!”

“प्रसन्नता हुई कृपी!” कृप ने स्वयं को सहज करने का प्रयत्न किया, “विवाह के पश्चात तुम एक बार भी तो मायके नहीं आयी।”

“कहते तो ठीक हो भैया!” कृपी का स्वर मन्द भी था और मन्थर भी, “वस्तुतः न तो मेरी गृहस्थी सामान्य है और न मेरा पति।”

कृप ठिठक गये : क्या उनकी बहन अपने पति के साथ प्रसन्न नहीं है।

“क्या बात है कृपी?” उन्होंने रुक कर पूछा, “क्या तुममें और आचार्य में कोई...।”

“नहीं! ऐसा कुछ विशेष नहीं है।” कृपी ने मुस्कुराने का प्रयत्न किया, “मैं तो केवल इतना कह रही थी कि मेरे पति अन्य साधारण लोगों के समान नहीं हैं। इसलिये साधारण स्त्रियों के समान मायके आ-जा नहीं सकी।”

“क्या केवल इतनी-सी ही बात है?” कृप ने पूछा।

“बात तो केवल इतनी-सी ही है!” कृपी ने सहज विश्वास के साथ कहा, “किन्तु भैया! बात छोटी नहीं है! इसी एक बात से और अनके बातें जुड़ती चली जाती हैं न!”

“मैं समझा नहीं!” कृप अपनी बहन को आश्चर्य से देख रहे थे। कृपी तो बहुत स्पष्ट और सीधी बात करने वाली लड़की थी—ये पहेलियाँ वह कब से बुझाने लगी...क्या कृपी कुछ बदल गयी है?...और जैसे उन्होंने पिछली रात अपने घर आयी बहन को पहली बार ध्यान से देखा : कृपी वैसी ही थी...किन्तु बिल्कुल वैसी तो नहीं थी! विवाह के समय एकदम युवती थी कृपी...और अब लौटी है तो उसका यौवन प्रौढ़ावस्था को आलिंगनबद्ध करता-सा लग रहा था। रात के

अन्धकार में वह ठीक से देख नहीं पाये : कृपी के केशों में कहीं-कहीं श्वेतता झाँकने लगी थी। चेहरे पर तो नहीं, किन्तु माथे पर कुछ गहरी रेखाएँ भी तो खिंच गयी थीं। कदाचित वे ही झुर्रियों में परिणत होंगी...

कृपाचार्य को लगा, अपनी बहन को इस रूप में पहचानते ही उन्हें एक झटका-सा लगा था...किन्तु अगले ही क्षण सँभल कर वे मन-ही-मन हँसे...अब वे स्वयं भी तो कृप नहीं रहे थे। उनकी दाढ़ी का कितना बड़ा भाग श्वेत हो चुका था। वह और कृपी समवयस्क ही तो थे।...और कृपी का यह तरुण पुत्र अश्वत्थामा! इसकी तरुणाई का भी तो कोई मूल्य इसकी माता को चुकाना पड़ेगा...कृपी वैसी ही युवती कैसे रह सकती थी?

"आचार्य के लिये सामान्य सामाजिक व्यवहार कोई महत्व नहीं रखता क्योंकि उसके लिये उनके पास समय नहीं है।" कृपी बोली, "उनकी दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति का एक ही घर होता है। स्त्रियों को जो अपने दो-दो घर—मायका और ससुराल—बनाये रखने का अभ्यास है, यह उनको प्रिय नहीं है। जब तक मैं मायके में थी, मायके की थी; विवाह हो गया तो ससुराल की हो गयी, अर्थात उनकी हो गयी। अतः मायके लौटने का कोई अर्थ ही नहीं था।"

"इसका अर्थ है कि बहुत प्रेम करते हैं तुमसे?"

"प्रेम!..." कृपी कुछ रुकी, "प्रेम तो करते ही हैं। किन्तु उनके प्रेम का लक्ष्य मैं नहीं हूँ।"

"कृपी! आज तुम्हारी बातें मेरी समझ में नहीं आ रहीं।" कृप को कहना ही पड़ा, "तुम तो बहुत स्पष्टवादिनी हुआ करती थीं। ये कूटोक्तियाँ..."

"मैं तो अब भी स्पष्ट ही कह रही हूँ भैया!" इस बार मुस्कुराने के लिये कृपी को प्रयास नहीं करना पड़ा, मुस्कान सहज ही उसके अधरों पर आ गयी थी, "किन्तु जिसके विषय में कह रही हूँ, वह इतना सरल नहीं है कि उसके विषय में कही गयी तथ्यात्मक उक्तियाँ बहुत स्पष्ट हो सकें।"

"तो उसे स्पष्ट बना कर ही कहो!"

"पत्नी के प्रति उनका प्रेम भी बहुत सन्तुलित और मर्यादित है, जैसा कि जीवन में किसी भी उपयोगी वस्तु के प्रति होता है। पत्नी में उनकी आसक्ति नहीं है। आसक्ति उनकी केवल धनुर्वेद में है।"

"तो इसमें इतना असाधारण क्या है?" कृप ने पूछा, "यह तो सबके साथ होता है।"

"मैंने सबके साथ तो ऐसा होता नहीं देखा भैया!" कृपी बोली, "पत्नी के साथ रहते हुए उन्हें धनुर्विद्या का स्मरण बना रहता है; किन्तु धनुष के हाथ में आते ही पत्नी विस्मृत हो जाती है। क्या सबके साथ ऐसा ही होता है?"

"ऐसा समझने का कोई कारण?" कृप बोले, "मेरा विचार है कि यह तो सारे बुद्धिजीवियों का लक्षण है। वे पत्नी चाहते हैं, ताकि विद्या की सेवा कर सकें, विद्या इसलिये नहीं चाहते कि पत्नी की सेवा कर सकें।"

"ठीक कहते हो भैया! किन्तु मुझे एक भी आचार्य ऐसा दिखायी नहीं देता, जिसके पास अपना आश्रम न हो, भूमि न हो, गोधन न हो, सेवा के लिये शिष्य और कर्म कर न हों। राजप्रासादों का विलास तो आश्रमों में नहीं होता, किन्तु उनके सात्विक और सरल जीवन की आवश्कताओं की पूर्ति के लिये समस्त साधन अवश्य उपलब्ध होते हैं।"

"आचार्य के पास क्या आवश्यक साधन नहीं हैं?"

"इन्होंने कभी आश्रम की स्थापना ही नहीं की। कभी सामान्य अर्थों में शिष्य स्वीकार ही नहीं किये। क्या तुम विश्वास करोगे भैया! कि हमारे पास कभी एक गाय भी नहीं रही।"

"एक गाय भी नहीं?" कृप के स्वर में आश्चर्य था।

"हाँ! एक गाय भी नहीं! ब्राह्मण—वह भी द्रोण जैसे आचार्य के घर एक गाय भी नहीं! मेरे पुत्र अश्वत्थामा ने मेरा ही स्तनपान किया है, उसने कभी गोरस नहीं चखा।"

"आचार्य ने क्या कभी उसकी आवश्यकता नहीं समझी?"

"उनका ध्यान ही कभी इस ओर नहीं गया!" कृपी बोली, "महाराज द्रुपद के पुत्रों को शस्त्र-शिक्षा दी; किन्तु कभी यह नहीं सोचा, कि राजा से कभी एक गाय ही ले लें। मान लिया कि ब्राह्मण का काम विद्यादान है। उसके प्रतिदान में कभी धन अथवा कोई पदार्थ भी स्वीकार किया जा सकता है—यह तो उन्होंने कभी सोचा ही नहीं। परिणाम यह हुआ

कि आचार्य तो और अधिक ज्ञान अर्जित करने के लिये, अपनी विद्या में और अधिक वृद्धि करने के लिये, अपनी तपस्या में और अधिक सघनता लाने के लिये या तो एक से दूसरे आश्रम की यात्राएँ करते रहे, ऋषियों की सेवा करते रहे, या फिर अधिक-से-अधिक आत्मलीन होते गये।...और पीछे मैं और पुत्र अश्वत्थामा निर्धन से निर्धनतर होते गये। हमारी कठिनाइयाँ बढ़ती चली गयीं...।"

"तो तुमने आचार्य को समझाया नहीं?"

"आचार्य ने मुझे कभी इसका अवसर ही नहीं दिया!" कृपी बोली, "उनके सामने अपने विद्या-जगत की इतनी समस्याएँ होती थीं कि हमारी समस्याएँ उनके सामने कोई अर्थ ही नहीं रखती थीं।...यदि मैंने सायास कभी चर्चा कर भी दी तो उन्होंने मुझे समझा दिया कि ब्राह्मण को सन्तोषी होना चाहिए। उसे धन की कामना नहीं करनी चाहिए।..."

"मैं उन्हें कुछ समझाने का प्रयत्न करूँ?" कृप ने जैसे अपनी बहन की पीड़ा से उद्विग्न हो कर पूछा।

"नहीं! अब उसकी आवश्यकता नहीं रही!"

"क्यों?"

"प्रकृति ने स्वयं ही उन्हें समझा दिया है।"

"कैसे?"

"मैं स्वयं नहीं जानती थी कि पत्नी में उनकी आसक्ति हो या न हो, किन्तु पुत्र में उनकी भरपूर आसक्ति है। जानती भी कैसे! उन्होंने उसे कभी प्रकट ही नहीं होने दिया। मैं क्या जानती थी कि ऊपर से इतने अनिर्लिप्त दिखने वाले व्यक्ति के मन में कहीं गहरे कुछ लिप्ति भी है।..."

कृप ने कुछ नहीं पूछा, किन्तु उनके जिज्ञासु नयन जैसै निरन्तर प्रश्न कर रहे थे कि वह लिप्ति प्रकट हुई क्या?

"एक दिन अश्वत्थामा घर आया तो बहुत उद्विग्न था। उसने बताया कि उसके मित्र अनवरत गोरस की चर्चा करते हैं। वे लोग गोरस का पान करते हैं, इसलिये उसका स्वाद भी जानते हैं; और जब अश्वत्थामा उनकी चर्चा में भाग नहीं ले पाता, क्योंकि उसने कभी गोरस चखा ही नहीं है, तो वे लोग उसे निरन्तर चिढ़ाते रहते हैं।...वह मुझ से भी रुष्ट था कि मैं उसे गोरस पिलाती क्यों नहीं। मेरा तर्क उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि हमारे पास गाय नहीं है, इसलिये उसे गोरस उपलब्ध नहीं करा सकती। वह इतना पीड़ित था कि यदि मैं उसे गोरस न देती, तो मुझे भय था कि उद्विग्न हो कर वह कहीं चला ही न जाये; अथवा अपने आपको कुछ कर ही न ले। जब कभी उसे भावना का उन्माद हो आता है तो वह आपे में नहीं रहता।...उसके अश्रु, उसकी हिचकियाँ, और उसके आनन पर चिपकी वह पीड़ा, मेरे लिये सर्वथा असह्य थी।...मैं गोरस कहाँ से लाती।...एक-आध दिन की बात होती तो कहीं से माँग भी लाती। किन्तु दारिद्र्य एक-आध दिन में मिटने वाली स्थिति तो है नहीं! मेरे सामने कोई विकल्प नहीं था। मैं अपनी द्ररिद्रता को तो दूर नहीं कर सकती थी, न पुत्र की इच्छा ही पूर्ण कर सकती थी; किन्तु बाल-बुद्धि को भ्रमित तो कर ही सकती थी। मैंने बड़ी कठिनाई से अपने अश्रु थामे और एक कटोरी आटा जल में घोल कर उसे थमा दिया, 'ले। पी ले यह गोरस।' उसने कटोरी थाम ली। मुझ से यह भी नहीं पूछा कि गोरस कहाँ से आया। एक क्षण पहले तक जब घर में गोरस की एक बूँद तक नहीं थी, तो फिर कटोरा भर गोरस कहाँ से आ गया।...वह तो कटोरी थाम कर ही मग्न हो गया। मैं ऊपर से मुस्कुरा रही थी; किन्तु भीतर से मेरा मन जैसे रो रहा था, मैं अपने इस अबोध बालक के साथ छल कर रही थी। जिस पुत्र को मैंने सदा यह शिक्षा दी थी कि कठिन घड़ी में भी सत्य बोल, उसी पुत्र के साथ स्वयं छल कर रही थी, झूठ बोल रही थी...मन में कहीं यह बात भी थी कि जल और आटे का यह घोल उसे स्वादिष्ट नहीं लगेगा तो वह अपने-आप ही गोरस पीने की हठ छोड़ देगा और भविष्य में मुझ से कभी गोरस नहीं माँगेगा। किन्तु वह तो उसी घोल को चख-चख कर मग्न हो रहा था। उसकी प्रशंसा कर रहा था। अपने भाग्य पर इठला रहा था। मैंने यह भी देखा कि वह उसे पी नहीं रहा था, उसके घूँट नहीं भर रहा था, वह तो जैसे जिह्वा के स्पर्श से उसे चख रहा था। कदाचित उसे भय था कि घूँट भर-भर कर पियेगा तो कटोरी-भर गोरस कितनी देर चल पायेगा। मेरा मन अपने उस दुख के मध्य भी कहीं यह कहना चाह रहा था कि 'पुत्र! यदि तुझे यह गोरस भी स्वादिष्ट लग रहा है तो निश्चित ही इसे पी जा। ऐसा गोरस तो तुझे मैं भाण्ड भर कर बना दूँगी।' किन्तु उसे वह घोल पी कर प्रसन्नता में नृत्य करते देख, मैं अपने पुत्र की अबोधता का सुख नहीं उठा पायी। मेरा हृदय जैसे फटा जा रहा था। मन हो रहा था कि एक बार इच्छा-भर रो लूँ—हिचकियों और अश्रुओं के साथ! मन में संचित पीड़ा का सरोवर एक बार पूरा-

का-पूरा उँडेलने का अवकाश और अवसर पा लूँ...किन्तु पुत्र को सम्मुख देख स्वयं को रोके रखने के सिवाय और कोई उपाय नहीं था...।"

"मैंने तो तुम्हारी ऐसी स्थिति की कभी कल्पना भी नहीं की।" कृप एक लम्बा निःश्वास छोड़ कर बोले, "नहीं तो दो-चार गायें भिजवाना कोई ऐसा कठिन काम तो था नहीं।"

"तुम कल्पना कैसे करते भैया! तुम्हें कभी बुलाया होता, तुम्हारे पास कभी आयी होती, तब न!" कृपी का स्वर कैसा तो हो गया था, "कोई कैसे सोच सकता था कि आचार्य द्रोण अपनी विद्या और ज्ञान के होते हुए भी इतने निर्धन हैं। स्वेच्छा से अंगीकार की गयी निर्धनता से भी अधिक निर्धन। सर्वथा कंगाल। जबकि आचार्य के तनिक से प्रयत्न से, अपने सामर्थ्य के अहंकार को तनिक-सा भूल कर, कुछ शब्द कहने से, आवश्यकता-भर धन हमें मिल सकता था। परन्तु, तुम जानते हो न बुद्धिवादियों का अहंकार! मन में इच्छा होगी, किन्तु कहेंगे नहीं, उसके लिये उद्यम नहीं करेंगे। उन्हें तो स्वतः प्राप्त समृद्धि चाहिए। यह नहीं सोचते कि जिस सरस्वती के चरणों में वे दिन-रात पड़े रहते हैं, उससे प्रतिस्पर्धा करने वाली लक्ष्मी स्वतः चल कर उनके पास क्यों आयेगी!..."

"फिर क्या हुआ कृपी?" कृपाचार्य ने टोका।

तभी कक्ष में से निकल कर अश्वत्थामा आया, "मैं बाहर खेलने जाऊँ माता? बाहर कुछ बालक खेल रहे हैं।"

कृपी कोई उत्तर देती, उससे पूर्व ही कृपाचार्य धीरे से अपनी बहन से बोले, "आचार्य हस्तिनापुर में अपने प्रवास को गुप्त रखना चाहते हैं।"

"तो?" कृपी ने अपने भाई की ओर देखा।

"अश्वत्थामा बालकों के साथ खेलने जायेगा तो..." कृप ने वाक्य अधूरा छोड़ दिया।

"कृपी अपने पुत्र के साथ अपने भाई के घर आयी है—इसमें कुछ भी गोपनीय नहीं है।" वह बोली और अश्वत्थामा की ओर मुड़ी, "अपने पिता की कोई चर्चा किसी से मत करना पुत्र!"

"अच्छा माता!"

"जाओ!"

अश्वत्थामा को बाहर भेज और कपाट बन्द कर कृपी लौटी।

"अश्वत्थामा कटोरी को अपने अधरों से लगाए उल्लास के उन्माद में नृत्य करता हुआ, कुटीर से बाहर चला गया। बाहर उसके वे मित्र खेल रहे थे, जो प्रतिदिन गोरस का पान करते थे और अश्वत्थामा को चिढ़ाया करते थे। वह अपनी कटोरी के साथ उनके सम्मुख पहुँच कर आज उल्टे उन्हें ही चिढ़ाने लगा, 'लो देखो! मैं भी गोरस पी रहा हूँ।" उन बालकों ने पहले अश्वत्थामा को देखा और फिर उसकी कटोरी को। उनमें से एक ने पूछा, 'तेरे घर में गाय है?' 'नहीं, गाय तो नहीं है।' अश्वत्थामा ने अपनी सम्पूर्ण अबोधता के साथ उत्तर दिया। 'तो गोरस किसी वृक्ष से टपकता है क्या?' बालक हँसे। और उसके पश्चात वे हँसते ही चले गये, 'अश्वत्थामा वृक्ष का गोरस पीता है।...'"

कृपी ने रुक कर अपने भाई को देखा; जैसे किसी प्रश्न का उत्तर माँग रही हो; किन्तु कृपाचार्य क्या करते। मुख नीचा किये, चिन्तन की मुद्रा बनाये बैठे रहे।

"मैं अपनी कुटिया में से सब कुछ देख रही थी। अपने पुत्र की पीड़ा और उसका अपमान मुझ से देखा नहीं जा रहा था। चाहती थी कि किसी प्रकार अश्वत्थामा को उन लोगों के मध्य से हटा लूँ, ताकि वह उनके वाग्वाणों से और आहत न हो; किन्तु मैं स्वयं उन बालकों के सम्मुख पड़ना नहीं चाहती थी। भय था कि मुझे एक मूर्ख बालक की माता के रूप में अपमानित न करें; अथवा मेरे पुत्र को यह न बता दें कि गोरस के रूप में गोधूमचूर्ण का घोल पिला कर, उसे इस अपमानजनक स्थिति तक पहुँचाने वाली माता मैं ही हूँ...

"तभी स्वयं आचार्य घर लौटे। उन्होंने अपने पुत्र का पीड़ित और अपमानित चेहरा देखा। अपने मुख से उन्होंने कुछ नहीं कहा। अश्वत्थामा की भुजा पकड़ कर उसे कुटिया में ले आये। अश्वत्थामा उनसे बहुत कुछ कहता रहा, अन्य

बालकों के व्यवहार के प्रति अपना रोष जताता रहा; किन्तु आचार्य जैसे वहाँ थे ही नहीं। वे अपमान का घूँट पी कर निस्तेज ही नहीं, जैसे अचेत हो गये थे। मन में गहरा घाव था। कुटिया में आ कर चुपचाप बैठ गये। अश्वत्थामा को उन्होंने अपनी गोद में बैठा लिया और मेरी ओर देख कर बहुत ही दृढ़ और कठोर स्वर में बोले, 'मेरा पुत्र अब कभी गोधूमचूर्ण का घोल नहीं पियेगा। वह गोरस ही पियेगा, शुद्ध गोरस।'...जाने उनके मन में क्या था कि मेरा मन काँप-काँप गया। मुझे वह स्वर उनका नहीं लगा। उसमें जाने कैसा तो पैशाचिक अट्ठहास था, जैसे कुछ टूट-टूट कर गिर रहा हो...ध्वंस...ध्वंस...ध्वंस...

"उसके पश्चात आचार्य जैसे अपने-आपमें कहीं गुम हो गये। जाने क्या सोचते रहते थे। उनकी सारी एकाग्रता नष्ट हो गयी थी। रात को ठीक से सो भी नहीं पाते थे। कई बार आधी-आधी रात को उठ कर टहलने लगते थे। भोजन में भी उनकी रुचि पहले से कम हो गयी थी...

"मैंने जब पूछा कि वह किस बात की इतनी चिन्ता कर रहे हैं, तो बोले, 'चिन्ता नहीं कर रहा, पश्चाताप कर रहा हूँ।'

"'किस बात का?'

"'अपने पाप का।'

"'कौन-सा पाप?'

"उन्होंने मेरी ओर इस प्रकार देखा, जैसे मैंने कोई मूर्खतापूर्ण प्रश्न कर दिया हो। बोले, 'तुम नहीं जानती, कौन-सा पाप?'

"मेरी दृष्टि में तो आपने आज तक कोई पाप किया ही नहीं है।' मैं बोली।

"'तुम्हारी दृष्टि में तो पाप नहीं है।' वह बोले, 'किन्तु पाप का फल अपने मुख से बोलता है। मेरा परिवार भूखा और कंगाल है—क्या यह मेरे पाप का फल नहीं है?'

"'इसमें पाप की क्या बात है।' मैंने कहा, 'आपने धनार्जन का प्रयत्न नहीं किया बस!"

"'नहीं! केवल इतनी-सी बात नहीं है।' वे दुखी मन से बोले, 'मैंने लक्ष्मी का अपमान किया है। यह उसी पाप का फल है। मुझे विधाता ने जो विद्या दी है, उससे बहुत कम में लोग धनाढ्य, शूरवीर और चक्रवर्ती सम्राट बने बैठे हैं; और मैं हूँ कि उस विद्या को या तो संचित मात्र करता जा रहा हूँ, या फिर निःशुल्क वितरित करता जा रहा हूँ। यह उस विद्या का भी अपमान है और लक्ष्मी का भी।...मैंने उस विद्या का व्यापार नहीं किया। यह पाप है न! संसार में रह कर मैं सांसारिक बनना नहीं चाहता। क्या यह पाप नहीं है?...किन्तु अब मैं यह पाप और नहीं करना चाहता...।'

"'क्या करेंगे आप?'

"उन्होंने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया। मैंने मान लिया कि वे इतने आत्मलीन हैं कि उन्होंने मेरा प्रश्न सुना ही नहीं होगा। किन्तु उन्होंने मेरा प्रश्न सुन लिया था। शायद वे स्वयं अपने-आपसे उसका उत्तर माँग रहे थे। और जब कोई उत्तर नहीं मिला तो बोले, 'मैं स्वयं नहीं जानता...।'

"'राजाश्रय की याचना करेंगे?' मैंने पूछा, 'अपने शिष्यों से विद्या का शुल्क लेंगे? अथवा राजपुरोहित बन कर किसी की चाकरी करेंगे?'

"मेरा प्रश्न उन्हें अत्यन्त अपमानजनक लगा था। तड़प कर बोले, 'मैं नहीं जानता कि क्या करूँगा, किन्तु लक्ष्मी की उपेक्षा का पाप, अब और नहीं करूँगा।' वे कुछ दे और उसी मनःस्थिति में रहे। उनकी पीड़ा देख-देख कर मुझे भी बहुत कष्ट होता था; किन्तु मैं कर ही क्या सकती थी। विधाता से यही प्रार्थना करती थी कि वह किसी प्रकार उनका कष्ट दूर करे।...कभी-कभी तो मुझे लगता था कि वे कोई बहुत ही भयंकर संकल्प कर रहे हैं। उनकी आँखों के भाव मुझे बहुत भयानक लगते थे। उनमें में झाँकती सर्वग्रासिनी प्रतिहिंसा मुझे दहला देती थी।...उस भयानक मूर्ति में से अपने सौम्य पति की आकृति ढूँढती रहती थी; किन्तु वह जाने कहाँ लुप्त हो गयी थी।...और फिर कभी-कभी उनकी आकृति अत्यन्त निरीह हो जाती थी, जैसे अभी हाथ जोड़ कर दया की याचना करेगी। जाने क्यों उनकी उस तपस्या-सिद्ध दृढ़ मूर्ति में से एक दीन भिक्षुक प्रकट होने लगता था। भिक्षुक मूर्ति के लिये बहुत दया उपजती थी मेरे मन में; किन्तु फिर भी

मैं भयभीत हो जाती थी...जाने उनके मन में क्या है। जाने वे क्या सोच रहे हैं। जाने वे क्या कर बैठेंगे...।"

"तुमने बहुत कष्ट सहा है बहन।" कृपाचार्य अपनी सहानुभूति प्रकट करने के लिये जैसे शब्द नहीं खोज पा रहे थे, "कहीं तुमने मुझे एक संदेश भिजवा दिया होता।"

"संदेश भिजवाने का कोई साधन होता, तो अवश्य भिजवा देती," कृपी बोली, "किन्तु एक तो वहाँ से इधर आने वाला कोई नहीं था, दूसरे इनकी विक्षिप्तावस्था जैसे बढ़ती ही जा रही थी। चिन्तित माता और विक्षिप्तप्रायः पिता के निकट रह कर अश्वत्थामा के लिये भी जीवन कितना सुखद हो सकता था। मुझे भय था कि कहीं बालक इस अवस्था से कोई अप्रिय प्रभाव ही ग्रहण न कर ले...

"तभी एक दिन यह सन्ध्या समय बाहर से लौटे तो मुझे कुछ आश्वस्त-से लगे। मुझे भी अच्छा लगा। कुटिया के भीतर हमारे उस छोटे-से संसार में हल्का-सा सन्तोष लौटा। आचार्य ने अश्वत्थामा को पास बैठा कर प्यार किया और मुझे भी मीठी दृष्टि से दुलराया। मुझ से रहा नहीं गया तो मैंने पूछ ही लिया, 'क्या कोई सुखद समाचार है?' 'हाँ!' वे बोले, 'महेन्द्रगिरि पर अपने आश्रम में भगवान परशुराम, योग्य ब्राह्मणों को अपना सर्वस्व दान कर रहे हैं।'

"उनका यह सुखद समाचार सुन कर मैं प्रसन्न नहीं हो सकी।" पूछा, 'आप वहाँ जायेंगे?'

"'हाँ।'

"'कब?'

"'सोचता हूँ कल प्रातः ही यात्रा आरम्भ करूँ।'

"'यह तो लम्बी यात्रा है। बहुत समय लगेगा इसमें।'

"'हाँ। कृपी!' उनका स्वर स्नेह-सिंचित था, 'जानता हूँ कि यात्रा लम्बी है। बहुत समय लगेगा मुझे आने-जाने में। तुम दोनों को असहाय छोड़ रहा हूँ। किन्तु, सोचता हूँ कि जहाँ अब तक इतना कष्ट दिया है, थोड़ा और सही। इसके पश्चात तुम्हें कष्ट नहीं होगा। तुम लोगों को मुझ से पृथक भी नहीं रहना होगा, और निर्धनता के अभिप्राय का बोझ भी नहीं ढोना होगा...।'

"'आप क्या लेने जा रहे है वहाँ—भृगुश्रेष्ठ का आशीर्वाद?' मैंने उनका अभिप्राय भाँपते हुए भी पूछा।

"'नहीं!' वे पुनः गम्भीर हो गये, 'अब और आशीर्वाद नहीं! बहुत बटोर लिये आशीर्वाद और प्रशस्तियों के भण्डार...'

"'तो क्या लेने जा रहे हैं—ज्ञान?'

"'धन!' वे बोले, 'जो आज तक नहीं माँगा, अब वही माँगूँगा।' उनका स्वर पर्याप्त कटु हो आया था।

"'एक ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण से धन की याचना करेगा?' मैंने चकित हो कर पूछा।

"'हाँ!' वे बोले, 'मुझे धन की आवश्यकता है। और मैं धन के लिये न अपने शिष्यों से शुल्क की याचना करना चाहता हूँ, न राजाश्रय की आकांक्षा करता हूँ; और न ही पुरोहित का धंधा अपनाना चाहता हूँ।'

"मैं यात्रा की कठिनाई और दूरी—दोनों ही समझ रही थी; और साथ-ही-साथ समझ रही थी आचार्य की मनःस्थिति। मैं उन्हें इतने दिनों से अपने-आपसे लड़ते हुए देख रही थी। उनके भीतर संकल्प और विकल्प का युद्ध चल रहा था, शुभ और अशुभ का, हित और अहित का...आज उन्हें एक अवसर मिला था, जो उनके मनोनुकूल था। यदि इस मार्ग पर चल कर वे अपनी मनोकामना पूरी कर सकें, तो वे अपने मन के पिशाच से भी मुक्ति पा लेंगे। उनकी प्रतिहिंसा कदाचित अपनी विध्वंस-लीला न रचे।...यदि वे पुनः स्वस्थ हो सकें; यदि उनका सहज विश्वासी, विराट रूप लौट सके, तो महेन्द्रगिरि तक की यात्रा कितनी भी लम्बी हो—मैं उसे सहन कर सकती हूँ।...भगवान परशुराम से धन की याचना में उनका अहं पीड़ित नहीं होता था, उनका संकल्प खण्डित नहीं होता था, अतः उनकी प्रतिहिंसा-राक्षसी, काल-नागिन सी विनाश नृत्य नहीं कर सकती थी। सबके हित के लिये, सबके शुभ के लिये मुझे उनकी यह यात्रा स्वीकार करनी ही थी..."

"तो आचार्य महेन्द्रगिरी तक गये क्या?" कृपाचार्य ने पूछा।

"हाँ! गये! बड़े उल्लास के साथ, जीवन की ओर बड़ी आशापूर्ण दृष्टि से देखते हुए, वे गये। हम दोनों को अनेक आश्वासन दे गये। कह गये कि इस प्रकार की, अपने लिये सौभाग्य-याचना की वह अन्तिम यात्रा थी। उसके पश्चात उन्हें इस प्रकार भटकना नहीं पड़ेगा; और हमें उनकी मौन प्रतीक्षा नहीं करनी होगी...।"

कृपाचार्य अपनी बहन से पूछना चाहते थे कि क्या आचार्य को भगवान परशुराम से धन की प्राप्ति हुई?... किन्तु पूछने का जैसे साहस नहीं हो रहा था।...जिस अवस्था में कृपी और द्रोणाचार्य अपने पुत्र को ले कर उनके द्वार पर आ खड़े हुए थे, उससे यह तो लगता ही नहीं था कि उनको कहीं से कुछ भी प्राप्त हुआ होगा। फिर क्या यह प्रश्न कृपी के क्षतों को और भी छील नहीं देगा?...

किन्तु कृपी, जैसे आज इतने अन्तराल के पश्चात भाई के स्नेह की छाया पा कर कुछ आश्वस्त हुई थी। वह जैसे पुनः अपने मायके की सुरक्षित परिधि में आ गयी थी। इतनी लम्बी अवधि तक उसके दुख की रुद्ध गाथा, अब अपना निकास पा कर निरवरोध प्रवाहित हो रही थी...

"हमने वे दिन बड़े ही कष्ट और व्यग्रता में व्यतीत किये। पर एक आशा थी कि आचार्य लौटेंगे, तो कदाचित हमारी सारी भौतिक समस्याओं का समाधान हो जायेगा। आशा में बहुत बल होता है न भैया!" कृपी ने अश्रु-भरी आँखों से भाई की ओर देखा।

कृपाचार्य ने चुपचाप सिर हिला दिया।

"किन्तु महेन्द्रगिरि से जब आचार्य लौटे तो उनकी स्थिति और भी विचित्र थी। वे पहले से और अधिक ज्ञानवान और विद्या-धनी हो कर लौटे थे; किन्तु जिस धन के लिये वह इतनी दूर की यात्रा कर भृगुश्रेष्ठ के पास गये थे, वह धन उनको नहीं मिला। भगवान परशुराम के पास पहुँचने में उन्हें कुछ विलम्ब हो गया था। भगवान अपना धन पहले ही ब्राह्मणों में वितरित कर चुके थे। उनके पास बचे थे कुछ अस्त्र-शस्त्र—और उनके संचालन की विद्या। वे भी इसलिये बचे थे क्योंकि उन्होंने संकल्प कर लिया था कि वे किसी क्षत्रिय को शस्त्र-विद्या का दान नहीं करेंगे..."

"यह संकल्प उन्होंने कब किया?" कृपाचार्य चौंके, "पहले तो उनका ऐसा कोई संकल्प नहीं था। उन्होंने कुरुश्रेष्ठ भीष्म को अस्त्र-विद्या का दान किया था। वे उनके गुरु रहे हैं...।"

"हाँ! किन्तु शायद राजकुमारी अम्बा के संदर्भ में कुरुश्रेष्ठ भीष्म का व्यवहार देखने के पश्चात उन्होंने ऐसा संकल्प कर लिया था।" कृपी बोली।

"वे केवल ब्राह्मणों को शस्त्र-विद्या देना चाहते थे, और ऐसे ब्राह्मण उनके पास पहुँचे ही नहीं, जो युद्ध-विशारद होना चाहते हों।...आचार्य के पास पहले ही शस्त्रों और शस्त्र-विद्या का कोई अभाव नहीं था; फिर भी उन्होंने भगवान परशुराम के शस्त्रास्त्रों को ग्रहण किया। एक ओर उनका सामर्थ्य पहले से बढ़ गया तथा दूसरी ओर उसी अनुपात में उनकी निर्धनता। वे नहीं जानते थे कि अपनी इस उपलब्धि पर उन्हें प्रसन्न होना चाहिए था अथवा अपनी वंचना पर दुखी! महेन्द्रगिरि तक की यात्रा उनकी उपलब्धि थी अथवा उनकी वंचना और पीड़ा की करुण गाथा!...उन्होंने जब एक साधारण थके-हारे, हताश मनुष्य के समान मेरे कंधे पर अपना भाल टेक कर व्यथा-बोझिल स्वर में कहा था, 'कृपी! मैं नहीं जानता कि मेरे जीवन की कोई सार्थकता भी है या नहीं।' तो मेरा हृदय भी टुकड़े-टुकड़े हो गया था...."

कृपी ने रुक कर, अपनी आँखों में छलक आये अश्रु पोंछे और संकुचित-सी मुद्रा में भाई की ओर देखा, "क्षमा करना भैया! अब भी जब उन दिनों को स्मरण करती हूँ, तो मन भर आता है।"

अनायास ही कृपाचार्य का हाथ बहन के कंधे पर जा टिका, "दुखी मत हो बहन! बस समझ लो कि अब तुम्हारे कष्टों के दिन समाप्त हो गये।"

"चाहती तो हूँ कि इस बात का विश्वास कर पाऊँ।" कृपी धीरे से बोली, "किन्तु मेरा मन कुछ इतना अविश्वासी हो गया है कि किसी भी सुन्दर कल्पना पर मेरी आस्था टिकती ही नहीं। लगता है कि जैसे विधाता ने मेरे लिये सुख का कोई क्षण रचा ही नहीं है।"

"कृतघ्न मत बनो कृपी!" कृपाचार्य का आस्था में डूबा स्वर गूँजा, "विधाता ने तुम्हें जैसा पति दिया है, वैसा

पति पाना किसी भी ब्राह्मण-कन्या के लिये स्वप्न हो सकता है। एक पुत्र है तुम्हारा! वह भी अपने पिता के ही समान विद्यावान तथा गुणवन्त बनेगा। धनुर्वेद के इतिहास में तुम्हारे पति का नाम अमर रहेगा। इतना यश है तुम्हारे पति के भाग्य में! और तुम...।"

"तुम नहीं जानते भैया! कि मेरे पति के मन में कितनी प्रतिहिंसा है। कितनी घृणा है उनके मन में इस सारे समाज और सामाजिक व्यवस्था के प्रति! जब कोई गुणी व्यक्ति अर्थ-लोलुप हो जाता है, स्वार्थ के सर्प उसमें घर कर जाते हैं, तो वह समाज का शुभेच्छु नहीं रह जाता। समाज की जितनी हानि वह कर सकता है—उतनी साधारण व्यक्ति नहीं कर सकता।..."

"ठीक कहती हो बहन! पर ऐसी आशंका तुम्हें क्यों है?"

कृपी ने उत्तर नहीं दिया। वह अपने स्थान से उठी और घट के पास जा कर उसने पात्र भर कर जल पिया। लगा, उसके मन को जल की शीतलता ने कुछ शान्त किया। मुहँ पोंछ कर आँचल से थोड़ी देर तक बयार करती रही। फिर बोली, "अश्वत्थामा जाने कहाँ चला गया है।"

"कहाँ जायेगा।" कृपाचार्य बोले, "तुम चिन्ता मत करो। यहीं कहीं होगा। बाहर बहुत सारे बालक खेल रहे थे—उसने स्वयं ही तो कहा था—उन्हीं के साथ खेल रहा होगा।"

कृपाचार्य आ कर कृपी के पास बैठ गये, "मुझे बताओ। तुम किस बात से आशंकित हो।"

कृपी कुछ देर सोचती रही, जैसे स्मृति के तार जोड़ रही हो।

"महेन्द्रगिरि से लौट कर आचार्य बहुत दुखी थे। उन्हीं दिनों मैंने उनसे कहा था कि वे एक आश्रम स्थापित कर लें। शिष्यों को कुछ शिक्षा वे दें, कुछ मैं दूंगी। थोड़े-बहुत ब्रह्मचारी आ ही जायेंगे। हम एक सामान्य-सा गुरुकुल चलाते रहेंगे। हमारी आजीविका और साधना दोनों ही चलती रहेंगी। उन्होंने मेरी बात सुन कर निषेध में सिर हिलाया था—'नहीं! ऐसा नहीं हो सकता।' कारण पूछने पर उन्होंने अत्यन्त पीड़ित दृष्टि से मुझे देखा था और कहा था, 'असाधारण व्यक्ति का अभिशाप यही है कि वह कभी साधारण जीवन नहीं जी सकता'।"

"ठीक ही तो कहा था आचार्य ने!" कृप बोले, "किन्तु इसमें चिन्ता की क्या बात है?"

"असाधारण व्यक्ति को साधारण जीवन जीना पड़े तो उसे असह्य पीड़ा होती है...और पीड़ा कभी-कभी मनुष्य को पशु बना देती है। मैं नहीं जानती कि आचार्य के मन में क्या है; किन्तु मुझे लगता है कि उनके मन में कोई बहुत भयंकर संकल्प है। कभी-कभी मुझे उनकी आँखों में विनाश दिखायी देने लगता है। वे हस्तिनापुर आने से इतना डरते थे और फिर वे हस्तिनापुर ही आ गये हैं।...आज वे हस्तिनापुर में उपस्थित हैं और हस्तिनापुर के एक-एक कण से भयभीत हैं। मैं कहती हूँ भैया! आचार्य आतंक के मध्य जी रहे हैं। वे भीतर से जितने भयभीत होते हैं, ऊपर से उतने ही निश्चिन्त दिखने का प्रयत्न करते हैं।..."

कृपाचार्य जैसे कुछ समझ नहीं पाये, "हस्तिनापुर से भयभीत होने का तो कोई कारण नहीं है। राजाओं की मैत्री-अमैत्री से विद्वानों, आचार्यों और साधकों का क्या सम्बन्ध?"

"यह तो मैं नहीं जानती!" कृपी बोली, "किन्तु जब उन्होंने गुरुकुल की स्थापना अस्वीकृत कर दी तो मैंने हस्तिनापुर आने के लिये भी कहा था। उनका उत्तर था, 'राजनीति भयशून्य नहीं हो सकती और हस्तिनापुर में राजनीति से तटस्थ रह कर अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। हस्तिनापुर तो उदात्त सिद्धान्तों का श्मशान है। वहाँ पतन से समझौता किये बिना जीवन सम्भव नहीं है।'

"तो फिर आचार्य हस्तिनापुर चले कैसे आये?" कृपाचार्य के स्वर में किंचित अचंभे का भाव था।

"तत्काल निश्चय नहीं किया था आचार्य ने हस्तिनापुर आने का। बहुत उद्विग्न होने पर एक दिन आचार्य ने जैसे किसी रहस्य का उद्घाटन करते हुए बहुत धीरे से कहा था, 'कृपी! मैंने यह स्थान त्यागने का निश्चय किया है। सदा के लिये। सपरिवार तुम्हारे और अश्वत्थामा के साथ।' मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। आचार्य ने यात्राएँ तो बहुत-सी की थीं, किन्तु अपना स्थान त्यागने की चर्चा उन्होंने कभी नहीं की थी। अपनी साधना-स्थली भी कभी कोई त्यागता है क्या! पर जब उन्होंने निश्चय कर ही लिया था, तो वे उसे पूरा भी करेंगे ही।"

"'कहाँ जाने का निश्चय किया है?'

"'सोचता हूँ द्रुपद के पास काम्पिल्य जाऊँ।'

"उन्होंने मेरी ओर देखा, जैसे जानते हों कि मेरी प्रतिक्रिया बहुत अनुकूल नहीं होगी।"

"'क्या विचार है तुम्हारा?'

"'मेरा क्या विचार!' मैंने कहा, 'किन्तु आप ही सदा राजाश्रय के विरुद्ध रहे हैं। राजाश्रय में ऋषि की स्वतन्त्रता का क्या होगा?'

"उनकी आँखों में उग्रता जागी, 'राजाश्रय की याचना करने नहीं जा रहा हूँ। द्रुपद मेरा सहपाठी है, गुरुभाई है, मेरे पिता का शिष्य है; उसके राजकुमारों को मैंने शिक्षा दी है। इन सम्बन्धों के कारण क्या मैं अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखते हुए, उसके राज्य में नहीं रह सकता?'

"'आज तक तो आपने द्रुपद के पास जाने की इच्छा कभी प्रकट नहीं की।'

"पता नहीं वे मेरे प्रश्न को टालने के लिये टहलते रहे अथवा अपने मन को स्पष्ट रूप से जानने का प्रयत्न करते रहे। और फिर जैसे किसी परिणाम पर पहुँच कर बोले, 'मेरा अकृत्रिम जीवन तो मेरी इसी साधना-स्थली में ही सम्भव है कृपी। इससे बाहर जा कर वह मुझे कहीं नहीं मिलेगा। यह मैं पहले भी जानता था, आज भी जानता हूँ—इसलिये आज तक इस यात्रा को टालता रहा।...' फिर वे टहलने लगे। टहलते-टहलते सहसा वे रुके और बोले, 'अब तुम्हें मैं कैसे समझाऊँ कि मेरा नैसर्गिक जीवन क्या है; और मैं कैसा जीवन चाहता हूँ। मेरा सारा जीवन अपने भीतर से परिचालित है। बाहर से मैं कोई निणर्य, कोई निश्चय, कोई आदेश, कोई बाध्यता नहीं चाहता। मेरा जीवन तो एक समाधि जैसा है, जो बाहर की किसी भी गतिविधि को मात्र विघ्न मानता है। मैं चाहता हूँ कि एक खुले वन-प्रान्तर में मैं अपने धनुष-बाण के साथ सर्वथा एकाकी रहूँ।...किन्तु शायद गृहस्थी में यह सम्भव नहीं है। गृहस्थी के अपने कुछ पूर्वाधार हैं। मैं उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। अपने ऋषि होने का दण्ड मैं अपने पुत्र को नहीं दे सकता। उसके लिये जीवने की आवश्यक सुविधाएँ तो मुझे जुटानी ही होंगी।...मुझे द्रुपद के पास जाना ही होगा...'

"मैं समझ रही थी कि वे अपने दायित्व से बँधे, अपनी इच्छा के विरुद्ध, द्रुपद के पास जा रहे थे। सम्भवतः अपने बाल-सखा से मिल कर उन्हें प्रसन्नता ही होती; किन्तु वे एक याचक के रूप में राजा की सभा में नहीं जाना चाहते थे। बहुत सम्भव है कि वे राज-वैभव से आतंकित हों। या यह भी सम्भव है कि उनका अहंकार ऋषि को राजा से बड़ा मानता हो। वे बहुधा कहा करते थे कि ऋषि का पुत्र स्वतः ही ऋषि नहीं बन जाता। उसे ऋषि बनने के लिये वह सारी साधना करनी पड़ती है, जो उसके पिता ने की थी; किन्तु राजा का पुत्र स्वतः ही राजा बन जाता है। उसे कोई श्रम नहीं करना पड़ता, स्वयं को किसी योग्य सिद्ध नहीं करना पड़ता, कुछ अर्जित नहीं करना पड़ता। ज्ञान से शून्य होने पर भी वह ज्ञानियों से श्रेष्ठ माना जाता है; बुद्धि हीन हो कर भी बुद्धिमान माना जाता है; वीरत्व से रिक्त हो कर भी वीर होने का सम्मान पाता है।..." कृपी ने अपने आख्यान का सूत्र तोड़ा, "मुझे लगता है कि उनके मन में राजाओं के विरुद्ध बद्धमूल वैर है। फिर भी वे द्रुपद के पास जा रहे थे।"

तभी अश्वत्थामा भीतर आया, "माता!"

"क्या बात है पुत्र! क्रीड़ा में मन नहीं लगा।"

"नहीं! शरीर क्लान्त लग रहा है।..."

"यह क्लान्ति नहीं है पुत्र!" कृपी बोली, "शिथिलता है। लगता है, तुम अभी पूर्णतः स्वस्थ नहीं हुए हो। अभी विश्राम करो।"

"तुम मेरे ग्रन्थागार में चले जाओ।" कृप ने कहा, "मन बहल जायेगा। सम्भव है पढ़ते-पढ़ते निद्रा आ जाये। कुछ सो लोगे तो शरीर को विश्राम मिलेगा और स्वस्थ हो जाओगे।"

अश्वत्थामा बिना कुछ कहे भीतर चला गया। लगा, उसने मातुल के प्रस्ताव को निर्विरोध रूप से स्वीकार कर लिया था।

कृपी जैसे अश्वत्थामा के जाने की प्रतीक्षा में ही थी। उसके जाते ही उसने अपनी कथा का टूटा सूत्र पुनः पकड़

लिया।

“अपनी कुटिया छोड़ कर जब हम चले तो अश्वत्थामा कुछ शिथिल-सा था। मैंने उसका कपाल छुआ। ज्वर नहीं था; किन्तु ज्वर आ जाने की सम्भावना तो थी ही। मार्ग में यदि उसे ज्वर आ गया, तो हम क्या करेंगे? हमारे पास न रथ थे, न अश्व! हमें तो पदाति ही जाना था।...

“अश्वस्थ बच्चे के साथ यात्रा करने की मेरी इच्छा नहीं थी। हम कितने ही साधनहीन सही, किन्तु घर-तो-घर ही होता है। जैसे भी थे, किन्तु यहाँ कुछ पड़ोसी तो थे, जिन्हें हम वर्षों से जानते थे। आवश्यकता के समय वे सामर्थ्य-भर सहायता तो कर ही देते। और फिर रोग दूर करने का सबसे सरल मार्ग तो विश्राम ही था। मैं कुछ नहीं कर सकती थी, तो भी कम-से-कम अश्वत्थामा के निकट बैठ उसका कपाल सहला सकती थी; आवश्यक होने पर वस्त्र से बयार कर सकती थी; जल पिला सकती थी; कोई औषधि पीस कर, घोल कर, दे सकती थी। वह लेटा रहेगा, उसके शरीर को विश्राम मिलेगा, तो रोग अपने-आप भाग जायेगा...यात्रा में बहुत चाहने पर भी, उसे कितनी सुविधा से ले जा सकूँगी। इतने बड़े अश्वत्थामा को गोद मे ले कर, न मैं चल सकती थी, न आचार्य! उसे यदि ज्वर में भी पदाति चलना पड़ा, तो उसका कष्ट बढ़ सकता था। ऐसे समय में, मार्ग में यदि विश्राम करने के लिये कोई उपयुक्त स्थान न मिला, तो हम क्या करेंगे?

“किन्तु आचार्य अब रुकने के लिये सहमत नहीं थे। उनके मन में एक बार जो कुछ समा जाता था, जब तक उसे वे कर नहीं डालते थे, वे शान्त नहीं हो सकते थे। उन्हें रोकने का अर्थ था, उनकी प्रतीक्षा की यातना को बढ़ाना।... वैसे भी एक तो वह रुकते ही नहीं, रुकते जो इतने पीड़ित रहते कि मैं अपराध-बोध से ही मर जाती।

“ईश्वर का नाम ले कर हमने यात्रा आरम्भ की। अश्वत्थामा शिथिल अवश्य था, किन्तु फिर भी वह चल पा रहा था। हमारी यात्रा की गति मन्थर थी; किन्तु न तो यात्रा स्थगित करनी पड़ी और न ही हमें कोई असाधारण कष्ट हुआ। यात्रा के श्रम से क्रमशः अश्वत्थामा को ज्वर हो गया था और चलना उसके लिये कठिन होता जा रहा था। ईश्वर की इतनी दया अवश्य रही कि हम गंगा-तट के निकट पहुँच रहे थे। वहाँ तक हम दोनों उसे सहारा दे कर धीरे-धीरे ले जा सकते थे...।

“द्रुपद की राजधानी जितनी निकट आती जा रही थी, आचार्य की व्यग्रता उतनी ही बढ़ती जा रही थी। वैसे तो मैंने भी पुत्र की अस्वस्थता के कारण उन्हें यात्रा स्थगित करने के लिये नहीं कहा था; किन्तु जितनी मेरी इच्छा हो रही थी कि हम कहीं रुक कर विश्राम कर लें, उनकी उतनी ही व्याकुलता, यात्रा शीघ्र समाप्त कर लेने की थी। उनका विचार था कि सारा कष्ट तब तक का ही था, जब तक हम द्रुपद की राजधानी में नहीं पहुँच जाते।

“हम गंगा-तट पहुँचे तो सन्ध्या ढल रही थी। अब शेप यात्रा नौका में होनी थी। पदाति चलने की आवश्यकता नहीं थी। नौका में लेटा-लेटा अश्वत्थामा हमारे साथ काम्पिल्य तक पहुँच जायेगा।...जहाँ हम खड़े थे, वहाँ से काम्पिल्य कुछ ही कोस दूर गंगा के उस पार था...

“हम घाट की ओर बढ़े तो हमारी अपेक्षा के अनुसार कोई भी केवट उत्सुकता से यह पूछने नहीं आया कि हम कहाँ जायेंगे। वे सब निश्चिन्त अपने स्थान पर बैठे रहे। अन्ततः आचार्य ने ही एक से कहा, ‘भैया! हमें गंगा पार काम्पिल्य में जाना है।’

“मैं चकित थी कि आचार्य के स्वर में रंचमात्र भी आदेश नहीं था। उनके स्वर में ऐसी छलछलाती अनुमय मैंने पहले कभी नहीं सुनी थी। उन परिस्थितियों में भी मैं चकित थी कि आचार्य इतने दीन कैसे हो गये।

“‘धर्मार्थ नौका उस पार गयी है, लौटेगी तो उसमें चले जाना।’ केवट ने उत्तर दिया।

“‘क्या ये नौकाएँ उस पार नहीं जातीं?’ आचार्य ने पूछा।

“‘नौकाएँ हैं, तो पार क्यों नहीं जायेंगी।’ केवट ने आचार्य पर एक वक्र दृष्टि डाली, ‘किन्तु इसमें शुल्क लगता है। तुम्हारे पास निष्क हो तो निकालो, ये सारी नौकाएँ गंगा पार जायेंगी।’

“आचार्य मौन खड़े रहे। निष्क उनके पास था, न मेरे पास। हमारे पास तो कोई साधारण-सी मुद्रा भी नहीं थी। ...आचार्य ने जैसे साहस बटोर कर अपना संकोच तोड़ा, ‘मेरे पास शुल्क देने के लिये धन नहीं है; किन्तु मुझे शीघ्र ही

काम्पिल्य पहुँचना है। मेरा पुत्र अस्वस्थ है। विलम्ब हो गया तो रात हो जायेगी। द्रुपद सो जायेगा...।

"मैंने स्पष्ट देखा कि केवट के मुख पर विद्रूप की मुस्कान उभरी। कदाचित आचार्य के मुख से राजा की इस रूप में चर्चा उसे हास्यास्पद लगी थी। किन्तु आचार्य का ध्यान उस ओर नहीं था। वे अपने प्रवाह में कहते गये, 'अधिक रात हो जाने के कारण यदि हम द्रुपद तक नहीं पहुँच पाये तो रात को हम राजधानी में कोई ठिकाना कैसे खोज पायेंगे। ...'

"'ठीक है!' केवट अपनी मुस्कान रोक कर बोला, 'तुम जैसे लोगों के लिये ही राजा ने धर्मार्थ नौका चला रखी है।'

"'किन्तु मेरा पुत्र अस्वस्थ है।'

"'यदि हम लोगों के अस्वस्थ पुत्रों को निःशुल्क गंगा पार करायेंगे, तो हमारे अपने पुत्र अस्वस्थ हो जायेंगे।' इस बार केवट ने अपनी हँसी रोकने का प्रयत्न नहीं किया, 'अस्वस्थ लोग तो हमें दुगुना शुल्क दे कर गंगा पार करते हैं।'

"आचार्य का आक्रोश जागा, 'तुममें रंचमात्र भी मानवता नहीं है क्या?'

"केवट तनिक भी हतप्रभ नहीं हुआ। आचार्य की तुलना में कुछ अधिक ही कटु हो कर बोला, 'हमारे मरने-जीने पर पूजा-पाठ करते हुए तो कभी किसी ब्राह्मण ने अपनी दक्षिणा नहीं छोड़ी...'

"मैं आचार्य को उनकी भुजा पकड़ कर वहाँ से हटा लायी : ऐसे व्यक्ति से तर्क करने का क्या लाभ जो साधारण पुरोहित और ऋषि का अन्तर नहीं जानता। उसे क्या पता था कि वह आचार्य द्रोण से बात कर रहा है, जिन्होंने राजकुमारों को शिक्षा देते हुए भी उनसे कोई शुल्क नहीं लिया।

"आचार्य हट तो आये; किन्तु शान्त नहीं हुए।

"'मैंने भी धन अर्जित किया होता तो आज स्वर्ण-निष्कों की थैली इसके मुँह पर मारता।" वे कह रहे थे, 'जब समाज में सब कुछ धन से ही नियन्त्रित होता है, तो मुझे भी केवल धन ही अर्जित करना चाहिए था, और मैं मूर्खों के समान ज्ञान अर्जित करता रहा, पुण्य अर्जित करता रहा, यश अर्जित करता रहा...'

"प्रतीक्षा करने के सिवाय और कोई उपाय नहीं था। हमने वही किया। अन्ततः धर्मार्थ नौका आयी और हमने अपनी यात्रा का अन्तिम चरण पूरा किया। हमारे काम्पिल्य पहुँचने तक सन्ध्या पूर्णतः ढल चुकी थी और अन्धकार क्रमशः अपना अधिकार बढ़ाता जा रहा था।

"अब हम द्रुपद की राजधानी में थे। आचार्य तो सीधे ही राजप्रासाद में जाना चाहते थे; किन्तु दण्डधरों ने हमें जाने नहीं दिया, 'यह महाराज से मिलने का समय नहीं है। इस प्रकार किसी को भी महाराज के निकट जाने की अनुमति नहीं है।'

"आचार्य को इस प्रकार दण्डधरों द्वारा बलात रोका जाना अच्छा नहीं लगा होगा। उस व्यक्ति के मन की क्या स्थिति होगी जो शस्त्रास्त्रों का इतना बड़ा ज्ञाता हो, जो युद्ध-विद्या-विशारद हो, और उसे साधारण दण्डधर इस प्रकार रोक दें...किन्तु आचार्य उनसे लड़ नहीं सकते थे।

"रात गहराती जा रही थी। अश्वत्थामा ज्वर के कारण शिथिल था। हम लोग भूखे-प्यासे भी थे और श्रान्त-क्लान्त भी।

"'मेरा इसी समय द्रुपद से मिलना बहुत आवश्यक है।' आचार्य ने दण्डधरों के नायक से कहा।

"'सम्मान से 'महाराज द्रुपद' कहो।' नायक ने आचार्य को डाँट दिया, 'क्या हो तुम?'

"'क्या हूँ?' आचार्य को यह प्रश्न अपमानजनक लगा, 'पूछो कौन हूँ मैं।'

"'हम 'कौन को अधिक महत्व नहीं देते।' नायक बोला, 'हमारे लिये 'क्या' ही अधिक महत्वपूर्ण है।'

"'मैं राजगुरु हूँ।' आचार्य बोले।

"नायक ने उन्हें उपहास की दृष्टि से देखा, 'राजगुरु प्रासाद में रहते हैं। राजसी काषाय धारण करते हैं। महाराज उन्हें दिन में चार बार नमस्कार करते हैं। ऐसा राजगुरु तो हमने प्रथम बार ही देखा है, जो धूलि-धूसरित वस्त्र

लपेटता हो, और जिसे राजधानी में कोई पहचानता भी न हो।'

"आचार्य का क्षोभ सीमा को लाँघ गया, 'मैं द्रोणाचार्य हूँ। राजकुमार धृष्टद्युम्न मुझसे धनुर्विद्या सीखने मेरे आश्रम में आया था।...'

"'सुनो ब्राह्मण!" नायक बोला, 'राजकुमार किस व्यक्ति से, कहाँ क्या सीखने गये, इससे हमें कुछ भी लेना-देना नहीं है। हम तो जानते हैं कि राजगुरु एक पद है। राजसभा में उनका विशिष्ट आसन है। वे महाराज के साथ, सभा में अपने उसी आसन पर विराजते हैं। तुम जैसा कोई भी वैरागी केश और श्मश्रु बढ़ा कर, चीथड़े धारण कर, आ कर कहे कि मैं राजगुरु हूँ, तो क्या हम मान लेंगे।' उसने अपनी पलकें झपका कर अन्तिम उपदेश दिया, 'तुम क्या हो, यह अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। अधिक महत्वपूर्ण यह है कि महाराज तुम्हारा कितना महत्व स्वीकार करते हैं। हम महत्व के सेवक नहीं, महाराज के सेवक हैं।'

"दण्डधरों से विवाद व्यर्थ था। वे बिना सोचे-समझे, बुद्धि के समस्त द्वार बन्द किये, कदाचित आदेशों का आशय समझे बिना ही उनका पालन कर रहे थे। इससे अधिक की न उनमें क्षमता थी, और न ही शायद उनसे अपेक्षा थी।

"उन्होंने हमारे आवास का भी वहीं प्रबन्ध कर दिया, जहाँ साधारणतः सामान्य ब्राह्मण और तपस्वी ठहराए जाते थे।...आचार्य का रोष बढ़ता ही जा रहा था। वे राजा के बाल-सखा थे, राजकुमारों को उन्होंने शस्त्र-विद्या सिखायी थी। यह सम्बन्ध न भी होता, तो भी वे द्रोण थे—आर्यावर्त्त के श्रेष्ठ शस्त्र-विशारद! उनका स्वागत होना ही चाहिए था। राजा को स्वयं उनका स्वागत करने के लिये आना चाहिए था। उन्हें सम्मानपूर्वक ले जा कर अपने प्रासाद में अपने साथ ठहराना चाहिए था; और यहाँ उन्हें रोक कर, साधारण भिक्षोपजीवी ब्राह्मणों के साथ ठहरा कर इस प्रकार प्रतीक्षा करायी जा रही थी, जैसे वे राजा के दर्शनों के आतुर कोई अकिंचन याचक हों, भिक्षुक हों।...एक बार तो इतने रुष्ट हुए कि उन्होंने वापस लौट चलने की इच्छा प्रकट की।...पर मैं सोच रही थी कि अस्वस्थ बालक के साथ, इतनी दूर की कष्टप्रद यात्रा करके आये हैं, तो राजा से साक्षात्कार किये बिना नहीं लौटना चाहिए।...आचार्य को अपनी अवमानना पीड़ित कर रही थी—यह मैं समझ रही थी; किन्तु शासन के अपने नियम होते हैं। प्रत्येक स्थान की अपनी पद्धति होती हैं। गुरुकुलों और राजसभाओं की पद्धति एक ही तो नहीं हो सकती।...ऋषि तो असाधारण होते हुए भी स्वयं को सदा साधारण बनाने का प्रयत्न करता रहता है; और राजा साधारण हो कर भी स्वयं को असाधारण प्रमाणित करना चाहता है। ऋषि के द्वार सबके लिये खुले होते हैं। राजा चयन करता रहता है कि किसे वह अपने निकट आने दे, किसे न आने दे; किसे मित्र माने, किसे अमित्र; किस पर कृपा करे, किस पर कोप! कदाचित यदि वह अपने महत्व का यह कृत्रिम घटाटोप न बुने तो वह अपना पद ही न बनाये रख सके

"मैं अपनी क्षमता-भर आचार्य को शान्त बनाये रखने का प्रयत्न करती रही; किन्तु उनका आहत और पीड़ित अहंकार जैसे सागर की लहरों के समान उफ़न-उफ़न कर उमड़ आता था। उन्हें अपने चारों ओर अपनी अवमानना और उपेक्षा दिखायी पड़ रही थी। इतने बड़े आचार्य को साधारण दण्डघरों की इच्छा के अनुसार चलना पड़ रहा था। उनके पास न कोई पद था, न महत्वपूर्ण व्यक्ति होने का प्रमाण! उनका महत्व तो केवल एक नाम में था—आचार्य द्रोण! जो कोई इस नाम के महत्व को जानता था, वह नाम सुनते ही उनके चरणों में लोट जाता था। जो उस नाम का महत्व नहीं जानता अथवा नहीं समझता था, उसको समझाना बहुत कठिन था। कोई गुणी अपना बखान अपने मुख से नहीं करना चाहता, किन्तु वह चाहता है कि उसका महत्व समझा और स्वीकार किया जाये...

"किसी प्रकार रात कटी। प्रातः हम लोग भी अन्य बहुत सारे सामान्य जनों के साथ राजा के दर्शनों के लिये चले। दण्डधर थोड़े-थोड़े लोगों को राजसभा में जाने की अनुमति दे रहे थे। वे लोग लौट आते; भीतर स्थान बन जाता तो कुछ अन्य लोगों को भेज दिया जाता।...हमारी भी बारी आयी!

"द्रुपद की सभा असाधारण भव्यता लिये हुए थी। पर्याप्त ऊँचाई पर स्थित राजसिंहासन पर द्रुपद विराजमान था। अपने-अपने पदों के अनुसार पदाधिकारी बैठे थे। बड़े अनुशासित ढंग से एक-एक व्यक्ति को राजा के निकट जाने दिया जाता था। कहने को तो वह निकट था, किन्तु फिर भी राजा से पर्याप्त दूरी होती थी। वह व्यक्ति निवेदन करता और राजा अपना आदेश दे देता। वह व्यक्ति लौट आता था।...

"अपनी बारी आने पर आचार्य आगे बढ़े। राजा ने कहा, 'प्रणाम करता हूँ भूदेवता! अपनी इच्छा कहें।'

“आचार्य अब तक पर्याप्त तप चुके थे। द्रुपद के व्यवहार में भी अपने लिये आत्मीयता न पा कर, जैसे उनका धैर्य समाप्त हो गया। बोले, ‘द्रुपद! मैं तुम्हारा मित्र द्रोण!’

“द्रुपद की त्यौरियाँ चढ़ गयीं। यह कौन व्यक्ति था, जो राजसभा में ‘महाराज’ अथवा ‘राजन’ सम्बोधन न कर, उसे नाम से पुकार रहा था और स्वयं को उसका मित्र बता रहा था। राजा कुछ कहता, उससे पूर्व ही आचार्य बोले, ‘क्या राजा बन जाने के कारण, तुम अपने स्थान से उठ कर, अपने बाल-सखा को वश से नहीं लगा सकते?’

“क्षण-भर के लिये द्रुपद की आँखों में रोष झलका; किन्तु उसने स्वयं को संयमित किया। सायास नम्र हो कर बोला, ‘आचार्य द्रोण! मुझे प्रसन्नता है कि आप मेरी सभा में आये हैं। मेरी इच्छा है कि यह हमारा अल्पकालीन साक्षात्कार ही न हो। आप कुछ दिन हमारा आतिथ्य ग्रहण करें। लौटने की कोई जल्दी तो नहीं है न?’

“आचार्य कुछ आश्वस्त हुए। द्रुपद का व्यवहार चाहे बहुत आत्मीय नहीं था, जिसकी कल्पना करते आये थे, फिर भी वह सम्मानजनक तो था ही। उनका रोष कुछ कम हुआ। द्रुपद के सम्मानपूर्ण व्यवहार से उन्हें अपना महत्त्व कुछ बढ़ता दिखायी दिया। बोले, ‘लौटने की शीघ्रता कैसी! मैं तो सदा के लिये अपने मित्र की राजधानी में निवास करने आ गया हूँ।’

“द्रुपद के आनन पर अप्रसन्नता की एक हल्की-सी मलिनता झलकी; किन्तु उसने उसे तत्काल नियन्त्रित कर लिया। बोला, ‘आपका स्वागत है आचार्य! पंचाल में आपको आश्रय दे कर मुझे प्रसन्नता होगी।’

“द्रुपद का एक-एक शब्द नपा-तुला था; मानो वह आचार्य की राजसभा की मर्यादा समझा रहा था। उसने एक बार भी आचार्य को अपना मित्र नहीं कहा था, न उनके द्वारा कहे गये मित्र सम्बोधन को ही स्वीकृति दी थी। वह अपनी औपचारिकता शालीनता से आचार्य के सम्मुख इस तथ्य को स्पष्ट कर रहा था कि आचार्य का व्यवहार राजसभा की मर्यादा के अनुकूल नहीं था; और इस समय वे दो मित्रों के रूप में नहीं मिल रहे थे—द्रुपद राजा था, और आचार्य राजसभा में आये एक याचक आगंतुक!

“मैंने आचार्य की ओर देखा। उनके चेहरे पर थोड़ी देर पहले आया आश्वस्ति का भाव विलीन हो चुका था। उनका रोष जैसे पहले से भी अधिक उत्तप्त हो उठा था। वे प्रचण्ड हो उठे थे। यह उनका स्वभाव ही है। मन में आये भाव का दमन अधिक देर तक नहीं कर सकते। जब फूट पड़ते हैं तो किसी विघ्न बाधा को नहीं मानते। बोले, ‘मैं किसी याचक के समान राजा की सभा में आश्रय माँगने नहीं आया हूँ। मैं तो अपने बाल-सखा के पास आया हूँ, जिसके निकट मैत्री के आधार पर सुरक्षित रह सकूँ।’

“मैं आज तक समझ नहीं पायी कि इतने महान बुद्धिजीवियों का विवेक भी अपने भावावेगों के सम्मुख कहाँ खो जाता है।...इसे स्वीकार करने में क्या आपत्ति हो सकती थी कि हम लोग वस्तुतः निराश्रित थे और आश्रय चाहते थे। आश्रय राजा ही दे सकता है, और उसे ही दे सकता है, जो स्वयं को उसकी प्रजा माने। आचार्य याचना भी कर रहे थे और उसे स्वीकार भी नहीं करना चाहते थे।

“सिंहासनासीन राजा, अपनी ही सभा में अपने सभासदों के सम्मुख अपने प्रति ऐसे वचन कैसे सुनता। द्रुपद बोला तो उसका स्वर भावनाशून्य और शुष्क था, ‘मित्रता किसी समानाधार पर ही हो सकती है आचार्य!’

“‘क्या गुरुकुल में हम मित्र नहीं थे?” आचार्य ने तड़प कर पूछा।

“‘तब हम समान थे।’ द्रुपद बोला, ‘दोनों ही गुरुकुल के ब्रह्मचारी थे। एक ही स्थान पर रहते थे, एक ही भोजन करते थे, एक ही गुरु से एक ही कक्षा में शिक्षा पाते थे। तब हमारे जीवन में न कुछ असम था, न भिन्न! किन्तु जीवन अब तक वहीं थमा हुआ खड़ा नहीं है आचार्य! उसके पश्चात हमने वर्षों जीवन के भिन्न मार्गों पर यात्रा की है। आरम्भ स्थल एक होने पर भी अब हम पृथक गंतव्यों तक पहुँच चुके हैं। जितना जीवन हमने एक साथ व्यतीत किया था; उससे कहीं अधिक हमने पृथक-पृथक व्यतीत किया है। आचार्य का मित्र तो एक आचार्य ही हो सकता है; और राजा का मित्र एक राजा ही!’

“आचार्य के लिये यह उससे भी बड़ा अमपान था, जितना अपमा दण्डधर-नायक ने किया था। वह तो फिर अज्ञानी था, मूढ़ था, उन्हें पहचानता नहीं था। किन्तु द्रुपद! ऊँचे राजसिंहासन पर बैठा द्रुपद!...आचार्य का आनन अपमान से तप्त हो उठा। वे क्षण-भर भी नहीं रुके। बोले, ‘तो ठीक है द्रुपद! समता तो अब स्थापित होगी ही! देखना

यही है कि उसका आधार ज्ञान होता है अथवा राजसत्ता!'

"आचार्य मुड़े और बाहर की ओर चल पड़े। राजसभा से बाहर आ कर, न वे रुके, न उन्होंने देखा कि मैं उनके साथ आ रही हूँ या नहीं; अश्वत्थामा अपने स्वास्थ्य की उस दशा में साथ चल पा रहा है या नहीं। वे तो चले जा रहे थे। जाने किधर! अपने रात वाले डेरे की ओर वे नहीं जा रहे थे। उस ओर जाने की कोई विशेष आवश्यकता भी नहीं थी। किन्तु वे जा किधर रहे थे?...

"'आर्यपुत्र!' मैंने पुकारा।

"उनकी गति मन्थर अवश्य हुई, किन्तु वे रुके अब भी नहीं।

"'अश्वत्थामा इस गति से नहीं चल पायेगा।'

"वे अब भी नहीं रुके। चलते-चलते ही बोले, 'आ जाओ।'

"'तनिक रुकिये तो।'

"'अब पांचालों की धरती पर रुकना पाप है।' वे बोले।

"कुछ वे मन्थर हुए, कुछ हमने अपनी-गति बढ़ायी। जब हम निकट आये तो मैंने कहा, 'अब कहाँ जायेंगे?'

"उन्होंने मुझ पर दृष्टि डाली अवश्य; किन्तु बोले कुछ नहीं। मैंने सोचा कि विचार कर रहे होंगे, थोड़ी देर में स्वयं ही उत्तर दे देंगे। किन्तु उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। विक्षिप्त की भाँति चलते ही चले गये। जब मुझे विश्वास हो गया कि अब यह मेरा प्रश्न भी भूल चुके होंगे तो मैंने पुनः पूछा, 'अब कहाँ जायेंगे?'

"'मालूम नहीं!' वे बोले।

"'तो आप कहाँ चलते जा रहे हैं?'

"'मालूम नहीं!'

"मैं खीझ उठी, 'आपको स्वयं से कोई मोह नहीं है, तो हम पर तो दया कीजिए। अश्वत्थामा ने रात को भी कुछ विशेष नहीं खाया। प्रातः से भी वह जल पी कर ही हमारे साथ दौड़ रहा है। आपको अपने मान-अपमान की पड़ी है और मुझे अपने पुत्र के प्राणों की चिन्ता है।...'

"उनके चरण थम गये। उनके चेहरे पर भी पश्चाताप का भाव प्रकट हुआ। किन्तु कुछ बोले नहीं।

"मुझे लगा, कदाचित मैं ही कुछ उग्र हो उठी थी। उनकी पीड़ित मनःस्थिति में मुझे उनके साथ सहानुभूति होनी चाहिए। यदि मैं भी कटाक्ष करने लगूँगी तो उनका आहत मन शान्ति कैसे पायेगा।

"क्या आप वापस डेरे पर जाना चाहते हैं?' मैंने स्नेहमिश्रित स्वर में पूछा।

"'डेरे पर ऐसा क्या रखा है कि वहाँ लौटूँ।' उनकी आँखों में अश्रु छलछला आये थे।

"मैं स्तब्ध रह गयी। उनकी व्यथा मेरे अनुमान से कहीं अधिक थी। मैंने पहली बार देखा कि असमर्थ पति और असमर्थ पिता की यातना कितनी सघन होती है।...मैं अवाक खड़ी उन्हें देखती रही। सांत्वना देने के लिये भी मेरे पास शब्द नहीं थे।...किन्तु मैं यह भी जानती थी कि मैंने ही सांत्वना न दी, तो उन्हें कौन सांत्वना देगा; और अब न दी, तो फिर कौन-सा उपयुक्त अवसर आयेगा...

"'हम वापस अपने स्थान पर लौट जायें।' मैं धीरे से बोली, 'वहाँ कोई राजा हमें पीड़ित करने तो नहीं आयेगा।'

"'नहीं!' वे बोले, 'मैं अपनी टाँगों में दुम दबाये भीत कुकुर के समान अपनी गुफा में लौट जाना नहीं चाहता। मैं कितना भी असहाय क्यों न होऊँ...' अपने त्वर की थरथराहट छिपाने के लिये वे मौन हो गये। जब स्वयं को सँभाल चुके, तो ही बोले, 'अब मुझे कर्म-क्षेत्र में उतरना ही होगा।...मैंने बहुत विश्वास किया है मानवता पर, मानवीय गुणों पर, मित्रों पर, समाज पर...किन्तु अब किसी का विश्वास नहीं करूँगा। केवल अपनी बुद्धि पर चलूँगा, स्वार्थ-बुद्धि पर..।'

"'तो कहीं बैठ जायें।' मैं बोली, 'कुछ देर विश्राम कर लें। कुछ विचार कर लें। कहाँ जाना है...' मेरे मन में बहुत देर से विचार कुलबुला रहा था कि कहूँ, कि चलिये हस्तिनापुर चलते हैं, भैया के पास...किन्तु कहने का साहस नहीं

हुआ।

“लगा कि वे शान्त हो रहे हैं। बोले, ‘चलो, गंगा-तट पर किसी वृक्ष की छाया में विश्राम कर लें।...और किसी की छाया तो अब रही नहीं।’

“हम लोग गंगा-तट पर पहुँचे। एक सघन वृक्ष देख कर उसकी छाया में बैठ गये।” आचार्य नहीं बैठे। वे पात्र ले कर, गंगा-जल लाने के व्याज से कहीं चले गये।...बहुत सम्भव है कि वे कुछ समय के लिये पूर्ण एकान्त चाहते हों—हमसे भी दूर, जहाँ वे केवल अपने-आपसे विचार-विमर्श करना चाहते हों, विवाद करना चाहते हों...

“मैं विकट द्वन्द्व में थी। उन्हें अकेला छोड़ूँ या नहीं? बहुत सम्भव है वे एकान्त में मन को एकाग्र कर सकें और कुछ शान्ति पा सकें; किन्तु यह भी तो सम्भव है कि अपने मान-अपमान, अपनी असहायता तथा समाज में अपने स्थान को ले कर वह अपने एकान्त चिन्तन में और उग्र हो उठें। किन्तु अब वे जा चुके थे, मेरे पास सिवाय प्रतीक्षा के और कोई विकल्प नहीं था...

“आचार्य ने लौटने में बहुत विलम्ब नहीं किया।...लौटे तो न केवल बहुत शान्त लगे, वरन अपने परिवेश के प्रति कुछ जागरूक भी थे। ये हमारे लिये वृक्षों से तोड़ कर कुछ फल तथा पात्र में गंगा-जल लाये थे। मुझे अच्छा लगा। अपनी विक्षिप्तता से बाहर निकल कर उन्हें हमारा कुछ ध्यान तो आया। अश्वत्थामा को आहार की आवश्यकता भी थी। स्वास्थ्य की इस स्थिति में फल ही उसके लिये उचित आहार था। हम तीनों उस वृक्ष की छाया में बैठे जब फल खा रहे थे तो मुझे पारिवारिक आत्मीयता की एक सुखद अनुभूति हुई!...जाने लोग इतना अधिक धन-वैभव तथा सांसारिक भौतिक सम्पदा किसलिये चाहते हैं, जो व्यर्थ ही परस्पर कलह उत्पन्न करती है...

“आचार्य की अनुकूल मनःस्थिति देख कर मैंने साहस किया, ‘कहाँ जाने का निर्णय किया है आपने?’

“‘अभी कुछ निश्चय कर नहीं पाया।’

“‘मेरा प्रस्ताव है...’ मैं रुक गयी : कहीं मैं उनकी मनःशान्ति भंग तो नहीं कर रही।

“उन्होंने मेरी ओर देखा : बोलो।’

“‘आप उद्विग्न तो नहीं होंगे?’

“‘नहीं!’ वे उदासीनता से बोले, ‘अब क्या उद्वेग और किसका उद्वेग।’

“‘क्यों न हम हस्तिनापुर चलें, भैया के पास!’ मैंने क्षण-भर रुक कर देखा। उनकी प्रतिक्रिया सर्वथा प्रतिकूल नहीं थी। वे विचार कर रहे थे। यही समय था।...मैंने सोचा...इस समय उनको सहमत किया जा सकता है। ‘आपत्ति के समय लोग आत्मीयजनों के पास ही तो जाते हैं। हमारा और है ही कौन! भैया का अपना परिवार भी नहीं है। आपके सास-ससुर भी नहीं हैं। वहाँ आपको किसी भी प्रकार की असुविधा नहीं होगी। भैया कौरव राजकुमारों के आचार्य हैं। उनका महाराज के पास आना-जाना है...’

“‘क्या मैं धृष्टद्युम्न का आचार्य नहीं था? क्या मैं द्रुपद का बाल-सखा नहीं था?’ उन्होंने मेरी बात काट दी। उनका स्वर भी पर्याप्त कटु हो आया था।

“मेरी सारी आशा नष्ट हो गयी। मेरा तो अन्तिम सहारा ही हस्तिनापुर था। जाने क्यों मेरे मन में आस्था थी कि किन्हीं अनुकूल क्षणों में मैं उन्हें मना लूँगी। किन्तु हस्तिनापुर के पक्ष में मेरे जितने भी तर्क थे, वे उन्होंने एक बार ही काट कर धर दिये थे। मेरा मन एकदम रुआँसा हो आया था...अब संसार में हमारे लिये कहीं कोई आश्रय नहीं था।...

“आचार्य किसी प्रस्तर मूर्ति के समान जड़ हो गये थे, जिनमें कहीं कोई स्पन्दन नहीं था। पहले भी दो-एक अवसरों पर उनके साथ ऐसा ही हुआ था। जाने उनके प्राण किस अज्ञात गह्वर में समा जाते थे, और वे मेरे लिये ही एकदम अपरिचित हो जाते थे।...मुझे लगता था, मेरे सामने, मेरे इतने निकट बैठा यह व्यक्ति जाने कौन था। उसकी आकृति-प्रकृति, भाव-भंगिमा...कुछ भी तो मेरे परिचित आचार्य जैसा नहीं था...किन्तु कुछ समय पश्चात जैसे उनके श्वास लौटे। शरीर में स्पन्दन जागा। चेहरे पर कुछ भाव आये। वे बोले, ‘अच्छा! मैं हस्तिनापुर जाऊँगा।’ और इसके पहले कि मैं किसी प्रकार का कोई उदगार प्रकट करती, उन्होंने अपने एक ही वाक्य से मेरा समस्त उल्लास ध्वस्त कर दिया, ‘इसलिये नहीं कि हस्तिनापुर में कृपाचार्य हैं; इसलिये भी नहीं कि कौरवों का राज्य अत्यन्त वैभवशाली है; वरन इसलिये

कि पांचाल द्रुपद के सबसे बड़े शत्रु कौरव ही हैं। मैं अपने शत्रु के शत्रुओं का मित्र बनने का प्रयत्न करूँगा।'"

कृपाचार्य स्तब्ध रह गये।

कृपी सायास मुस्कुरा कर बोली, "मेरी भी यही स्थिति हुई थी भैया! इसलिये मैं कहती हूँ कि कभी-कभी मुझे इनसे डर लगने लगता है।..."

"कोई बात नहीं बहन!" कृपाचार्य अपनी स्तब्धावस्था से उबरे, "आचार्य के मन में क्या है, यह तो वे ही जानें। मेरी अपनी इच्छा है कि तुम सब लोग यहीं रहो। आचार्य को कोई-न-कोई सम्मानजनक पद मिल ही जायेगा; और मेरा एक परिवार हो जायेगा। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि अश्वत्थामा के लिये मेरे मन में भी पुत्र का-सा ही स्नेह है। उसके लिये, यहाँ गोरस का ही नहीं, किसी भी वस्तु का अभाव नहीं होगा।...और धृतराष्ट्र को यह समझाना तनिक भी कठिन नहीं होगा कि आचार्य पांचालों के मित्र नहीं, मेरे सम्बन्धी हैं।"

6

कृपाचार्य के घर से निकल कर आचार्य द्रोण नगर में नहीं गये। इस समय उनके मन में न नगर देखने का उल्लास था और न ही किसी से मिलने की कोई इच्छा। अभी तो उनकी सबसे बड़ी समस्या थी कि वे स्वयं को हस्तिनापुर में किस प्रकार प्रकट करें कि परिणाम उनके प्रतिकूल हो ही न सके। वे कैसे अपना मन निकाल कर कौरवों को दिखायें कि अब उनके मन में द्रुपद के लिये तनिक भी मैत्री-भाव नहीं है। यहाँ कौन उनका विश्वास करेगा?

...और फिर कृपाचार्य क्यों चाहेंगे कि हस्तिनापुर में द्रोण के पैर टिकें। अपना साम्राज्य कौन छोड़ना चाहता है। ...और सहसा द्रोण का मन जैसे एकदम ठिठक गया : उन्हें लगा कि उन्होंने अपने जीवन की सबसे बड़ी भूल कर डाली है। उन्हें यदि हस्तिनापुर आना ही था, तो कृप के घर पर टिकने की भूल नहीं करनी चाहिए थी। उन्होंने उससे कहा तो है कि उनका आगमन गोपनीय है, किन्तु वह उसे गोपनीय रखना क्यों चाहेगा?...उन्हें कुरु-सम्राज्य से निष्कासित करवाने के लिये उसे बस इतना ही तो करना है कि राजपरिवार के किसी सदस्य के कान में यह सूचना डाल दे कि द्रोण हस्तिनापुर में हैं। शेष सब अपने-आप ही होता जायेगा। उन्हें निगड़बद्ध करने का आदेश दे दिया जायेगा। दण्डधर उन्हें घसीट कर राजसभा में ले जायेंगे। वहाँ उन्हें अपमानित किया जायेगा और आर्यावर्त्त के सबसे महान शस्त्र-विशारद इस द्रोण को धक्के दे कर कुरु-राज्य से बाहर कर दिया जायेगा।...

द्रोण अपनी ही दुष्कल्पनाओं से सहम उठे।...इससे पहले कि उनके साथ ऐसी कोई दुर्घटना घटे, उन्हें कोई-न-कोई ऐसा चमत्कार कर दिखाना था, जिससे उन्हें कृपाचार्य तो क्या स्वयं धृतराष्ट्र भी हानि न पहुँचा सके...

द्रोण ने घूम-घूम कर वह सारा क्षेत्र देखा। यह कृपाचार्य की पाठशाला ही थी, युद्धशाला किसी भी स्थिति में नहीं थी। शस्त्रास्त्रों के अभ्यास के प्रमाण यहाँ थे, किन्तु युद्ध के लिये तैयार किये जाने वाले सेनापतियों के अभ्यास के लिये आवश्यक सामग्री यहाँ दिखायी नहीं दे रही थी।...यहाँ द्रोण की आवश्यकता तो थी; किन्तु द्रोण तथा इस पाठशाला के मध्य का मार्ग अभी प्रशस्त नहीं था।

द्रोण घूमते रहे; किन्तु उन्होंने स्वयं को कम-से-कम लोगों की दृष्टि में पड़ने दिया। अधिकांशतः वे अदृश्य ही रहे।...वैसे भी जब तक किसी को बताया ही न जाता, तब तक कौन जान सकता था कि यह साधारण-सा दिखने वाला व्यक्ति, वही प्रसिद्ध आचार्य द्रोण है।

अनेक स्थानों पर विभिन्न वय के बालक, विभिन्न प्रकार के अभ्यास करते दिखायी पड़े। अनेक स्थानों पर कक्षाओं में अध्यापक, बालकों को शास्त्रों का ज्ञान भी दे रहे थे। किन्तु द्रोण को लगा कि यह सब अत्यन्त सामान्य, परम्परागत तथा निम्नस्तरीय है। इसमें सुधार और विकास का अभी बहुत अवकाश है। यदि उन्हें अवसर मिल जाये तो वे सिद्ध कर दें कि जो शिक्षा राजकुमारों को दी जा रही है, वह पर्याप्त नहीं है...

सन्ध्या समय द्रोण वापस लौटे, तो कृपी ने पूछा, “कहाँ चले गये थे आप? भैया आपको राजसभा के कुछ अधिकारियों से मिलाना चाहते थे।”

‘इसी का तो मुझे भय था।’ द्रोण ने मन-ही-मन सोचा, ‘मैं जानता था कि वह मुझे राजसभा के अधिकारियों से मिलाने को उत्सुक है।’

“क्या बात है?” कृपी को अपने पति के चेहरे के भाव कुछ विचित्र लगे।

“अभी मैं किसी से मिलना नहीं चाहता।” द्रोण बोले, “मैं कृप को बता चुका हूँ कि हस्तिनापुर में हमारा आगमन पूर्णतः गोपनीय है।”

कृपी यह भी जानती थी। उसने द्रोण को यह कहते हुए सुना भी था। किन्तु उसका मन इस स्थिति को स्वीकार नहीं कर रहा था। उसका मन जैसे निरन्तर चीत्कार कर रहा था कि द्रोण ऐसा व्यवहार क्यों कर रहे हैं? क्यों गोपनीय है उनका हस्तिनापुर में होना?...

कृपी की आँखों के सम्मुख शैशव के चित्र घूम रहे थे...शान्तनु ने उन दोनों भाई-बहनों को अपनी सन्तान के समान ही पाला था। उनकी चर्चा करते हुए, उन्हें कभी गौतम शरद्वान की सन्तान नहीं कहा था। वे उन्हें सदा अपनी

पोषित सन्तान ही कहते थे। यदि ब्राह्मण का धर्म बीच में न आ पड़ा होता, तो कदाचित उन दोनों की शिक्षा-दीक्षा भी राजपरिवार के सदस्यों के ही समान हुई हुई होती; और कदाचित उनके विवाह भी क्षत्रियों के राजपरिवारों में ही होते।... वैसे भी भैया कृप कितने ब्रह्म-चिन्तक हैं और कितने शस्त्र-व्यवसायी—यह कहना कठिन ही है।...

शान्तनु के पश्चात भीष्म! भीष्म को जितना कृपी ने देखा है, अपने प्रति उन्हें सदा अनुकम्पा से भरा ही पाया है। उनका व्यवहार कभी एक अग्रज के समान स्नेह लिये होता था, कभी पिता का-सा वात्सल्य लिये हुए। कृपी को पूर्ण विश्वास है कि यदि अभी, इसी क्षण वह अपने पति और पुत्र के साथ कुरुश्रेष्ठ भीष्म की शरण में चली जाये तो आर्य भीष्म तत्काल स्नेह की छाया जैसा अपना हाथ उनके सिर पर रख देंगे। वे कभी नहीं पूछेंगे कि इससे पहले आचार्य द्रोण का किससे क्या सम्बन्ध था...

किन्तु आचार्य के मन में जाने क्या है?...उसे उनका मन दिखायी ही नहीं पड़ता। वह तो मात्र उनका चेहरा देख पाती है, जिस पर कभी उसे विनाश की छाया घनी होती दिखायी देती है और कभी स्वार्थ की...

कृपाचार्य रात को सोने के लिये बिस्तर पर लेटे तो उनका मन कृपी की सुनायी हुई सारी घटनाओं की जुगाली करने लगा...

वे दोनों भाई-बहन चाहे राजपरिवार के आश्रय में पले थे, किन्तु कृपी को अपने जीवन की जहाँ से स्मृति है, उन्हें स्मरण है कि उन्होंने सदा यही माना था कि उनके अपने माता-पिता नहीं थे, भाई-बन्धु नहीं थे। राजप्रासाद में उनका अपना वैसा कोई अधिकार नहीं था, जैसा किसी का अपने परिवार में होता हैं। वे राजपरिवार की कृपा पर पल रहे थे। जब तक राजा उनसे प्रसन्न थे, सब ठीक ही था, किन्तु राजाओं की कृपा को अकृपा में बदलते समय ही कितना लगता है। और कहीं ऐसा कुछ हो गया तो...

उन पर स्वयं अपने से अधिक कृपी का दायित्व था। उसकी शिक्षा-दीक्षा और विवाह...आरम्भ से ही कृप ने उसे कभी अपनी समवयस्क नहीं माना था। उसे स्वयं से छोटी और प्रत्येक रूप में अपने ऊपर निर्भर ही समझा था। यही कारण था कि द्रोण से उसका विवाह करने के पश्चात उन्होंने मान लिया था कि उनका दायित्व पूरा हुआ और फिर अपने विकास के लिये जैसे वे पूर्णतः आत्मलीन हो गये थे। कृपी के विवाह से अब तक जैसे उनके जीवन में कृपी का कोई अस्तित्व ही नहीं रह गया था,...तब तक, जब तक वह आ कर उनके द्वार पर खड़ी ही नहीं हो गयी।

कृप स्वयं अपने-आपको ही समझ नहीं पा रहे थे। अपनी बहन से उन्हें इतना अनुराग था। उसका कष्ट वे सुन नहीं सकते थे; किन्तु अपने जीवन में से उन्होंने उसे इस प्रकार निकाल रखा था, जैसे उसके निकट आने से उनका अपना जीवन अव्यवस्थित हो जायेगा?...इतने वर्षों तक उन्होंने बहन की सुध ही नहीं ली। मान लिया कि उसे वे एक सुखद पारिवारिक जीवन दे आये हैं; और वह उसमें पूर्णतः सन्तुष्ट है। जैसे एक माता अपने बालक से प्रेम भी करती है, और यह भी चाहती है कि वह चुपचाप कहीं खेलता रहे, अथवा सोया रहे; क्योंकि यदि वह उसके आस-पास रहेगा तो माँ का ध्यान बँटेगा और वह अपना काम नहीं कर पायेगी।...किन्तु कृप ने अपना दायित्व तो पूरा किया। कृपी का विवाह कर उसे पति-गृह तो पहुँचा दिया...या शायद कृप की भूल यह थी कि उन्होंने अपना दायित्व कृपी के विवाह तक ही समझा था।...किन्तु अब वे स्पष्ट देख रहे थे कि दायित्व तो कभी समाप्त होते ही नहीं हैं। शायद दायित्वों के रूप बदल जाते हैं। कृप के अपने जीवन में तो यह सब नहीं हुआ; किन्तु उन्होंने देखा तो है। आर्य भीष्म के जीवन से और अच्छा उदाहरण क्या होगा। वह कब से अपने दायित्वों के पूर्ण होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं, और दायित्व हैं कि मायावी निशाचरों के समान नये-नये रूप धारण कर उनको व्यस्त रखने को पुनः आ कर उनके सम्मुख खड़े हो जाते हैं। वे जीवन को पकड़ते हैं, जैसे कोई बालुका को अपनी मुट्टी में भरता है, और रेत मुट्ठी से निकल कर भूमि पर बिखर जाती है तथा एक नया रूप धारण कर लेती है...

किन्तु आर्य भीष्म की समस्याएँ कुछ और हैं तथा कृपाचार्य की कुछ और! वे निणर्य नहीं कर पा रहे कि पुत्री अथवा भगिनी के प्रति माता-पिता अथवा भाई का दायित्व कहाँ तक है। उसका पालन-पोषण कर उसे पति को सौंप दिया तो क्या यह भी देखते रहना पड़ेगा कि पति उसके साथ दुर्व्यवहार तो नहीं करता। और यदि करता है तो...

आचार्य द्रोण अपनी पत्नी अथवा पुत्र से प्रेम नहीं करते—यह तो कृप नहीं कह सकते—न ही यह कह सकते हैं कि उन्होंने उनके साथ दुर्व्यवहार किया।...किन्तु अपनी साधना में लगे होने के कारण, समर्थ होते हुए भी, उन्होंने

उनके लिये जीवन की सुख-सुविधाएँ जुटाने के लिये पर्याप्त उद्यम नहीं किया...क्या यह उनकी इच्छा थी? नहीं! कदाचित यह उनकी इच्छा नहीं थी। तो क्या अपनी साधना के प्रति उनका राग, अपने परिवार के प्रति राग से भी बढ़ कर था।

कृप कुछ समझ नहीं पा रहे! अपनी साधना में लगे रह कर परिवार की उपेक्षा करना श्रेयस्कर है अथवा परिवार की सुख-सुविधा के लिये साधना को तिलांजलि दे देना। अपने परिवार का भली-भाँति पालन-पोषण करना जीवन का श्रेय है, अथवा अपनी साधना में लगे रह कर जीवन में कुछ उच्चतर उपलब्धियाँ हस्तगत करना? जब तक इन प्रश्नों का उचित समाधान नहीं होगा, तब तक कृप यह निर्णय नहीं कर पायेंगे कि द्रोण अपने परिवार की दुर्दशा के लिये दोषी हैं अथवा नहीं...

किन्तु इतना तो निश्चित है ही कि अब कृप अपनी बहन की उपेक्षा नहीं करेंगे। अपने जीवन में किसी और बड़ी उपलब्धि के लिये वे नहीं चाहेंगे कि उनकी बहन उनके जीवन से दूर चली जाये। उसकी सुख-सुविधा के लिये, उसके पति और पुत्र की उन्नति और समृद्धि के लिये वे कुछ भी करेंगे...कुछ भी...

आचार्य तो उन्हें कुछ करने का अवसर ही नहीं दे रहे हैं। वे कहते हैं कि हस्तिनापुर में उनका निवास गोपनीय है।....गोपनीय...यदि कृपी, अश्वत्थामा और आचार्य के आने का समाचार तत्काल प्रचारित हो जाये, तो कृपाचार्य की दृष्टि में यह एक साधारण और सहज बात होगी; किन्तु यदि उनका आना इस प्रकार थोड़े समय तक गुप्त रहा अथवा गुप्त रखा गया; और किसी दुर्घटना के पश्चात प्रकट हुआ, तो कौन मानेगा कि द्रोण के किसी दुष्कृत्य में कृप सहभागी नहीं हैं?...आचार्य की इस गोपनीयता का अभिप्राय क्या है? कहीं वे कुछ ऐसा तो नहीं करने जा रहे, जिससे कृप की बहन को और भी कष्ट उठाना पड़े?...कृपाचार्य को सावधान रहना पड़ेगा...

पिछले कई दिनों से स्वयं को प्रकट किये बिना द्रोण पाठशाला क्षेत्र में कौरव राजकुमारों के आस-पास मँडरा रहे थे। कभी विश्राम के व्याज से, कभी वृक्षों तथा पशु-पक्षियों का निरीक्षण करते हुए, वृक्षों की ओट में वे निरन्तर राजकुमारों के आस-पास बने हुए थे। अब तक वे उनमें से अनेक को आकृति से ही नहीं, उनके गुणों से भी पहचानने लगे थे; किन्तु बहुत विचार करने पर भी उन्हें कोई ऐसा उपयुक्त अवसर नहीं मिलता था, जिस पर प्रकट हो कर वे अपने मनो-नुकूल प्रभाव उत्पन्न कर सकते।...जब कृपाचार्य राजकुमारों के साथ होते थे, उस समय तो उन्हें वहाँ से विलुप्त ही हो जाना पड़ता था। किन्तु यह उनका सौभाग्य ही था कि कृपाचार्य आजकल अश्वत्थामा को ले कर अपने घर पर ही बहुत व्यस्त थे। राजकुमारों के साथ व्यतीत करने के लिये उनके पास बहुत कम समय था।

इस समय भी खुले क्षेत्र में कुछ बालक गुल्ली-डण्डा खेल रहे थे। और उनके परे कौरव राजकुमार अनेक प्रकार के व्यायाम और शस्त्राभ्यास कर रहे थे। आस-पास कृपाचार्य तो क्या कोई साधारण अध्यापक भी नहीं था। इस समय कदाचित सभी बालकों को सर्वथा उन्मुक्त छोड़ दिया जाता था, ताकि वे अपने मनचाहे खेल खेल सकें।...

द्रोण भी बैठे हुए वृक्ष और आकाश देख रहे थे। वे सिवाय प्रतीक्षा के और कर ही क्या सकते थे।...

सहसा उन बालकों में कोई विवाद उठ खड़ा हुआ और उनके स्वर ऊँचे उठ गये। द्रोण का ध्यान उधर गया : किस कारण झगड़ रहे हैं ये लोग?

वृक्षों की ओट के कारण यद्यपि वे बालक उन्हें दिखायी नहीं दे रहे थे, किन्तु स्वर अत्यन्त स्पष्ट थे। उनमें दो दल हो गये लगते थे। एक दल दूसरे पर आरोप लगा रहा था कि उनकी असावधानी के कारण ही उनका बीटा कुएँ में जा गिरा है। दूसरा दल अपने बचाव में कह रहा था कि डण्डे से मारते हुए यह ध्यान नहीं रखा जा सकता कि बीटा किस दिशा में जायेगा। मारने वाले का लक्ष्य तो केवल इतना ही होता है कि बीटा दूर-दूर जा गिरे। इस स्पष्टीकरण के उत्तर में जैसे तड़प-कर पहले दल में से किसी ने कहा, कि क्या उन्हें ज्ञात नहीं था कि यहाँ एक सूखा कुआँ भी है; और जब ज्ञात था तो क्या उसका ध्यान नहीं रखा जाना चाहिए था। जहाँ तक दिशा की बात थी, क्या बाण चलाते हुए, खड्ग अथवा गदा घुमाते हुए वे दिशा का ध्यान नहीं रखते? यही शस्त्र विद्या सीख रहे हैं वे? शत्रु किसी दिशा में खड़ा होगा और बाण किसी और दिशा में मार कर, यह कहेंगे कि हमने बाण सबसे अधिक दूर फेंक दिया है?...

द्रोण की रुचि जागने लगी थी। यह लड़का तो पर्याप्त मेधावी लगता है। वह शस्त्र-विद्या को दैनन्दिन जीवन के साथ जोड़ रहा है। सम्भव है, इसी विषय पर कुछ और बातें भी हों...

सहसा किसी ने पुकारा, “भीम भैया! यहाँ आओ।”

द्रोण की जैसे सारी तन्द्रा उड़ गयी। वे उठ कर खड़े हो गये। उन्होंने वृक्षों के बीच में से झाँक कर देखा : भीम ही नहीं उसके साथ कुछ और राजकुमार भी थे। द्रोण के मन में अनेक सम्भावनाएँ जागीं...

द्रोण उठ कर वृक्षों की छाया से निकल आये और उन बालकों से कुछ दूरी पर इस प्रकार खड़े हो गये, जैसे कोई पथिक बालकों के विवाद को सुनने के लिये कौतुकवश ठहर गया हो। उन्होंने देखा, उस भीड़ में भीम के अतिरिक्त अर्जुन, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, दुर्योधन, दुःशासन, विकर्ण, युयुत्सु तथा और भी अनेक लोग थे। वे सब उस कुएँ को घेर कर खड़े विचार कर रहे थे; किन्तु बीटा निकालने का उद्यम कोई नहीं कर रहा था।

द्रोण उनके निकट आ गये, “क्या बात है बालको?”

राजकुमारों ने पलट कर देखा : एक तपस्वी ब्राह्मण खड़ा था। उसके केश प्रायः श्वेत थे तथा तन दुर्बल चाहे न हो, किन्तु क्षीण अवश्य था।

युधिष्ठिर ने उन्हें हाथ जोड़ कर प्रणाम किया, “आप कौन हैं आर्य?”

“एक ब्राह्मण!” द्रोण बोले, “क्या समस्या है तुम्हारी?”

“इन बालकों का बीटा इस जलविहीन कूप में गिर गया है आर्य! और ये बालक उसे निकालने में असमर्थ हैं।” युधिष्ठिर ने नम्र और शालीन वाणी में उत्तर दिया।

द्रोण का मन अजाने ही तुलना कर रहा था—युधिष्ठिर और द्रुपद की! कितना अन्तर है दोनों में।...और सहसा उनके अपने ही मन ने क्रूर अट्ठहास कर उनकी सारी कोमल भावनाएँ छिन्न-भिन्न कर दीं।...बाल्यकाल में द्रुपद भी युधिष्ठिर जैसा ही था—नम्र और शालीन! किन्तु सिंहासन पर बैठते ही कैसा हो गया है! सिंहासन पर बैठते ही युधिष्ठिर भी वैसा ही हो जायेगा। ये सब घृणा के ही योग्य हैं...

उन्होंने स्वयं को संयत किया। आगे बढ़ कर कुएँ में झाँक कर देखा, “असामर्थ्य का कारण?”

“नीचे कौन उतरेगा!” दुःशासन कुछ उद्दण्डता से बोला, “उतरते हुए फिसल कर गिरे तो अस्थियों का चूर्ण हो जायेगा। फिर तल में जाने साँप हों, बिच्छू हों या कोई और विषैला जन्तु हो...और फिर बाहर निकलने का संकट!”

“बाहर निकलने का क्या संकट हो सकता है?” द्रोण ने पूछा।

“अरे, यह सीधी चढ़ाई स्वयं तो कोई चढ़ नहीं पायेगा और ये लोग...” उसने अपने साथियों की भीड़ की ओर देखा, “सहायता करने के स्थान पर भाग खड़े होंगे।”

द्रोण क्षण-भर कुछ सोचते रहे; और फिर बोले, “कुएँ में उतरे बिना क्या तुम लोग बीटा बाहर नहीं निकाल सकते?”

“क्या बीटा स्वयं सीढ़ियाँ चढ़ कर ऊपर आ जायेगा?” दुर्योधन अत्यन्त अपमानजनक ढंग से हँसा।

“बीटा सीढ़ियाँ नहीं चढ़ेगा,” द्रोण कुछ शुष्क और कठोर स्वर में बोले, “तुम्हारे अस्त्र उसे ऊपर उठा लायेंगे।”

दुर्योधन पुनः हँसा, “हाँ! हमारा अस्त्र जैसे कौआ हो और बीटा अपूप! अस्त्र जायेगा और बीटा को अपनी चोंच में दबा कर ऊपर आ जायेगा।”

“इतना भी नहीं कर सकते तो धिक्कार है तुम्हारे शस्त्र-ज्ञान को। धिक्कार है तुम्हारे क्षत्रियत्व को।”

राजकुमारों की भृकुटियाँ तन गयीं। यह ब्राह्मण अपनी मर्यादा नहीं समझ रहा है।

“आप हमें इस प्रकार न धिक्कारें।” युधिष्ठिर का स्वर अब भी शालीन था, “हम तो विद्यार्थी हैं। गुरु जितनी विद्या देते हैं, उतनी हम ग्रहण करते हैं, और उनका अभ्यास करते हैं।...”

द्रोण कोई कठोर बात कहते, उसके पहले ही अर्जुन ने अत्यन्त सम्मान के साथ पूछा, “क्या अस्त्रों के लिये यह कार्य सम्भव है आर्य?”

“तुम्हें इतना भी ज्ञात नहीं है?” द्रोण के स्वर में अब भी तीखा व्यंग्य था, भर्त्सना से भरा हुआ, “कौन अज्ञानी देता है तुम्हें शस्त्रास्त्रों की शिक्षा?”

"आप हमारे गुरु की अवमानना न करें आर्य!" अर्जुन ही पुनः बोला।

"गुरु, गुरु होने योग्य भी तो हो।" द्रोण बोले, किन्तु तत्काल ही जैसे उनका मन काँप गया...क्या कर रहे हैं वे? वे जानते हैं कि इन राजकुमारों के गुरु कृपाचार्य हैं। कृप से उनका निकट सम्बन्ध है। हस्तिनापुर में कृप ही उनके आश्रयदाता हैं। क्या यह कृतघ्नता नहीं है?

क्षण-भर को जैसे द्रोण स्तब्ध रह गये; किन्तु उसी क्षण उनकी स्वार्थ-बुद्धि ने फूत्कार किया : आज तक यही सब तो करते रहे हैं वे—अपने आदर्शों में घिरे और बँधे! व्यवहार का कभी ध्यान नहीं किया उन्होंने। आज से वे व्यावहारिक क्षेत्र में उतर रहे हैं—सांसारिक सफलता प्राप्त करने के लिये।...और आदर्शों पर चल कर जीवन में अपनी महत्वाकांक्षाएँ पूरी नहीं की जा सकतीं।

उनका विवेक जैसे जड़ हो गया था; किन्तु वह जड़ता कितनी चुभने वाली थी, जैसे चक्षुओं में बालुका कण नहीं, कंकड़ियाँ पड़ गयी हों। अगले ही क्षण चमत्कार-सा करते हुए, विवेक की उस जड़ शिला में जैसे दो सुन्दर पुष्प खिले, 'द्रोण! व्यवहार के नाम पर अधर्म को स्वीकार मत कर! कृतघ्नता से बड़ा पाप कोई नहीं है। पतन की ओर ले जाने वाली महत्वाकांक्षा का त्याग कर।...'

द्रोण मानो एक व्यक्ति नहीं रह गये थे : उनके भीतर ऐसा विकट विभाजन पहले कभी नहीं हुआ था। उनका विवेक उन्हें निरन्तर चेतावनी दे रहा था, उनकी चेतना उससे सहमत थी; किन्तु उनकी प्रतिहिंसा किसी भी उपदेश के लिये बधिर हो चुकी थी। वह मात्र बोल रही थी, सुन कुछ भी नहीं रही थी।...

"गुरु का स्वाँग करने से कोई गुरु की पूजा के योग्य नहीं हो जाता।" अन्ततः द्रोण बोले।

युधिष्ठिर के चेहरे पर अब भी कोई विकार नहीं आया था। वह सहज भाव से बोला, "गुरु की योग्यता परखना हमारा धर्म नहीं है आर्य! आप ज्ञानी हैं, सम्भवतः हमारे गुरु से भी अधिक समर्थ हों आप! किन्तु उससे हमारे लिये न तो हमारे गुरु की महिमा कम होती है, न वे हमारे लिये अपूजनीय हो जाते हैं...।"

"अरे, ओ धर्मराज!" दुर्योधन जैसे खीझ कर "बोला, पहले यह तो पूछ कि बीटा कुएँ से बाहर कैसे निकाला जायेगा, शास्त्रार्थ बाद में करना!"

दुर्योधन की उक्ति का प्रभाव युधिष्ठिर पर कम, स्वयं द्रोण पर अधिक हुआ।...प्रकृति का कितना भेद था इन बालकों में...द्रोण सोच रहे थे...बार-बार वाग्वाण मारने पर भी युधिष्ठिर और अर्जुन अपनी विनय नहीं छोड़ रहे थे, और दुर्योधन और दुःशासन की प्रत्येक भंगिमा और प्रत्येक शब्द उद्दण्डता और अवमानना से पूर्ण था। उनका अहंकार... किन्तु भीम इतना तटस्थ क्यों था...

यह सब सोचने का यह उपयुक्त अवसर नहीं था—द्रोण ने स्वयं को समझाया, दुर्योधन की यह चेतावनी, युधिष्ठिर के लिये कम, उनके लिये ही अधिक थी। युधिष्ठिर के लिये यह पूछना उतना लाभदायक नहीं था, जितना द्रोण के लिये स्वयं यह कर दिखाना।...

"लाओ! मुझे दो अपना यह धनुष!" उन्होंने युधिष्ठिर से उसका धनुष ले लिया, "और यह तूणीर मुझे दो।" उन्होंने अर्जुन के कंधे पर टँगा, सींक-बाणों से भरा तूणीर भी ले लिया, "और देखो! मैं यह बीटा कैसे ऊपर लाता हूँ।"

राजकुमार आश्चर्य से उन्हें देख रहे थे, जैसे कोई असम्भव कार्य सम्भव होने जा रहा हो।...

द्रोण का हाथ प्रत्यंचा को जितना ही खींच रहा था, उनका मन उतना ही संकुचित हो रहा था : क्या इन अबोध बालकों को इस प्रकार चमत्कृत कर वे धूर्तता का काम नहीं कर रहे? क्या यह उनके स्तर के आचार्य के गौरव के अनुकूल कृत्य है?...

किन्तु यह संकोच उनका कार्य-कलाप नहीं रोक पाया।

उन्होंने लौह फलक वाला पहला सींक बाण खींच कर मारा। बाण जा कर कूप के तट में पड़े बीटा में सीधा चुभ गया। द्रोण ने दूसरा बाण, पहले बाण में चुभो दिया और तीसरा दूसरे में। राजकुमार खड़े, आश्चर्य से इस अज्ञात व्यक्ति का कौशल देख रहे थे; और द्रोण, एक में दूसरा बाण चुभोते हुए, जैसे बाणों की एक रस्सी बटते जा रहे थे, जिसका एक सिरा बीटा में चुभा हुआ था और दूसरा सिरा निरन्तर ऊपर उठता हुआ, उनके निकट आता जा रहा था।

जब दूसरा सिरा कूप के मुख पर आ गया, तो द्रोण ने हाथ बढ़ा कर उसे पकड़ लिया। वे बाणों की रस्सी को खींचते हुए बीटा को वैसे ही ऊपर ले आये, जैसे कोई कुएँ में से जल की बाल्टी निकालता है।

अर्जुन ने सबसे आगे बढ़ कर बीटा को हाथ में ले लिया। उसने उसे घुमा-फिरा कर देखा और बोला, "आश्चर्य है, बीटा की तनिक भी क्षति नहीं हुई। अद्‌भुत धनुर्विद्या है यह तो। यदि मैंने लौह-फलक वाला बाण मारा होता तो इसके दो टुकड़े हो गये होते।..."

"धनुर्विद्या का यह एक महत्वपूर्ण अभ्यास है पुत्र!" द्रोण की वाणी में अर्जुन के लिये सचमुच स्नेह था। उन्हें उसकी प्रतिक्रिया से वास्तविक सुख हुआ था। उसका वय कम था, किन्तु धनुर्वेद में उसकी रुचि अन्य राजकुमारों की अपेक्षा कहीं अधिक और गम्भीर थी, "धनुर्वेद में जहाँ हम यह ध्यान रखते हैं कि हमारे बाण को कितनी दूर जाना है, वहीं हम यह भी ध्यान रखते हैं कि उसे किस तीव्रता से जाना है। उसका वेग कितना हो कि वह लक्ष्य के टुकड़े कर दे। उसका वेग कितना हो कि वह लक्ष्य की क्षति न करे, उसकी आकृति को अक्षुण्ण रखे, किन्तु उसमें चुभ जाये। उसका वेग कितना हो कि लक्ष्य का मात्र स्पर्श करे। यदि वह किसी जीव की त्वचा है तो, उसमें एक ख़रौच तक भी न आये।" उन्होंने रुक कर सारे राजकुमारों को देखा, किन्तु पुनः अर्जुन को ही सम्बोधित किया, "जब हम बाण छोड़ते हैं, तो इस प्रकार का नियन्त्रण भी कर सकते हैं कि बाण एक-दूसरे के पश्चात अपने लक्ष्य तक पहुँचें, अथवा पूर्वापर क्रम से चलाये हुए सारे बाण एक ही साथ अपने लक्ष्य तक पहुँचें।

"हमारी कक्षा में तो कभी इसकी चर्चा नहीं हुई।" अर्जुन के मुख से जैसे अनायास ही निकल गया...और कितनी वंचना का भाव था उसकी आकृति पर, जैसे जीवन की पूर्णता के क्षण में किसी ने अनुभव किया हो कि उसका सम्पूर्ण जीवन निष्फल ही व्यतीत हुआ है...और सहसा उसके चेहरे का भाव बदला, "आप हमें यह सब सिखा देंगे आर्य?" कितनी लालसा थी उसकी याचना में, मानो अनुरोध न कर रहा हो, कोई वरदान माँग रहा हो।

"अरे, हमें कौन-सा कूप से बीटा निकालना है।" दुर्योधन ने उपेक्षा-भरे भाव से कहा, "हमें तो युद्ध करना है युद्ध; और उसके लिये हमारी गदा ही पर्याप्त है।"

द्रोण अर्जुन को कुछ कहने जा रहे थे कि दुर्योधन की बात सुन कर रुक गये। उन्हें लगा, दुर्योधन की बात का उत्तर देना आवश्यक है। बोले, "युद्ध में जो व्यक्ति जितनी दूर से आघात कर सके, वह उतना ही प्रबल है। इसलिये शस्त्रों से अस्त्र श्रेष्ठ हैं, अस्त्रों से दिव्यास्त्र और दिव्यास्त्रों से देवास्त्र! शस्त्रों पर गर्व करने वाला योद्धा अन्ततः मूर्ख सिद्ध होगा। युद्ध-विद्या के इतने विकास के पश्चात भी यदि तुम अपने आदिम शस्त्र से ही युद्ध करना चाहते हो तो विधाता भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर पायेंगे।..."

"आर्य। आप हमें यह सब सिखा देंगे न?" अर्जुन का स्वर विनय और याचना से पूर्ण था।

द्रोण के मन में एक नैसर्गिक लहर उठी कि कहें, 'अवश्य! क्यों नहीं सिखाऊँगा पुत्र।' किन्तु तत्काल ही उन्होंने स्वयं को रोका और बोले, "पहले सिखाया करता था पुत्र। किन्तु आजकल तो आजीविका की खोज में हूँ।"

अर्जुन जैसे अवाक रह गया : आजीविका के अन्वेषी इस ब्राह्मण से वह क्या कहता। आजीविका तो सबको चाहिए ही...

"आय! आपने अपना परिचय तो दिया ही नहीं।" सबको मौन देख कर युधिष्ठिर बोला।

द्रोण के मन में एक धूर्त मुस्कान अंकुरित हुई; किन्तु उन्होंने अपने मन के भाव को प्रकट नहीं होने दिया। बोले, "तुम इस घटना की चर्चा अपने पितामह से करना और उनसे ही मेरा परिचय माँगना....।"

सन्ध्या समय भीष्म को अपने द्वार पर खड़ा देख, कृपाचार्य चकित रह गये, "आप!"

"आचार्य तुम्हारे विरुद्ध एक अभियोग ले कर आया हूँ।"

कृपाचार्य धक्क से रह गये। उन्हें यह भय त्रस्त्र करता ही रहता था कि आचार्य द्रोण की उपस्थिति गुप्त नहीं रह पायेगी; और तब कृपाचार्य की सदाशयता पर किसी को विश्वास भी नहीं रह जायेगा। अन्ततः वही हुआ था।

"स्पष्ट कहें तात!" कृपाचार्य अपने संशय की पुष्टि कर लेना चाहते थे।

भीष्म ने आसन ग्रहण किया। सुविधापूर्वक बैठ कर सर्वथा उत्तेजना-शून्य; निष्कम्प स्वर में बोले, "तुमने

अपने घर में किसे छिपा रखा है?"

कृपाचार्य को अपने पैरों के नीचे से धरती खिसकती-सी लगी। उनका संशय यथार्थ था। किन्तु अब धैर्य और विवेक का ही सहारा था। बोले, "किसी को भी छिपाया नहीं है तात! हाँ! कुछ अतिथि अवश्य आये हुए हैं।"

"उनकी सूचना मुझे क्यों नहीं दी गयी?"

कृपाचार्य को कोई उत्तर नहीं सूझा। कुछ कहने के लिये उन्होंने मुँह खोला और फिर चुप रह गये। किन्तु अगले ही क्षण बोले, "हाँ। यह कृपी की भूल थी। उसे आपसे मिलने के लिये अवश्य जाना चाहिए था। किन्तु वह अपनी ही समस्याओं में ऐसी उलझी हुई है, कि न उसे शिष्ट आचरण का ध्यान रहा, न आपके स्नेह का!"

"द्रोण को बुलाओ!"

भीष्म के स्वर की निश्चितता से कृपाचार्य के सारे शरीर में कँपकँपी-सी फैल गयी। उनके पास अब कोई विकल्प नहीं था। न वह अब छिपा सकते थे, न टाल सकते थे। द्रोणाचार्य की इच्छानुसार, उन्होंने उनका आगमन गुप्त ही रखा था, फिर भी भीष्म को किन्हीं सूत्रों से यह ज्ञात हो ही गया था, तो वे क्या कर सकते थे!...

द्रोण ने आ कर तपस्वी ब्राह्मण की मुद्रा में भीष्म को आशीर्वाद देने के लिये अपना हाथ ऊपर उठा दिया।

कृपाचार्य ने देखा कि भेद खुल जाने के कारण न तो द्रोण के चेहरे पर ही किसी प्रकार की कोई अप्रसन्नता थी; और न ही उनके इस प्रकार अपने आगमन को गुप्त रखने के कारण, भीष्म ही उनसे रुष्ट लग रहे थे।

"आचार्य!" भीष्म बोले, "मैं इस गोपनीयता का उद्देश्य समझ नहीं पाया हूँ।"

द्रोण के मन में असमंजस जागा : जिस सहज रूप से भीष्म स्वयं ही कृपाचार्य के घर आये थे और उनसे बिना किसी दुराव और छल-छन्द के प्रत्यक्ष वार्तालाप कर रहे थे, उससे तो लगता था कि उनके मन में द्रोण के प्रति कोई विपरीत भाव नहीं था।...किन्तु द्रोण का अपना संशयग्रस्त मन कहता था कि अब तक जिसे अमित्र ही माना है, उस पर इस प्रकार सहज विश्वास नहीं करना चाहिए।...वस्तुतः विश्वास तो किसी पर करना ही नहीं चाहिए...

"यह गोपनीयता नहीं थी आर्य!" अन्ततः द्रोण बोले, "एक असहाय ब्राह्मण की ओर से अपनी रक्षा के विचार से बरती गयी थोड़ी-सी सावधानी थी।"

"यदि सावधानी ही बरतनी थी तो शत्रु-प्रदेश में आये ही क्यों?"

"मित्र शत्रुओं-सरीखा व्यवहार करने लगे, तो शत्रुओं की भूमि की ओर भी अग्रसर होना पड़ता है।"

"शत्रु-भाव ले कर?" भीष्म के स्वर में स्पष्ट शुष्कता थी।

"ब्राह्मण की किसी से क्या शत्रुता!" द्रोण कम्पित हृदय से बोले, "शत्रुता और मित्रता तो राजाओं की होती है आर्य! मैं तो विद्या का दान करने वाला एक साधारण ब्राह्मण हूँ। कौरवों से मेरी शत्रुता इतनी ही तो है कि उनके शत्रु पांचाल राजकुमारों ने कभी मुझसे शिक्षा ग्रहण की थी। यदि कौरव राजकुमार भी मेरे पास आये होते, तो क्या मैंने उनका तिरस्कार किया होता!"

"वह एक अलग प्रश्न है!" भीष्म का स्वर एक निष्कम्प स्थिरता लिये हुए था, "आचार्य, आप शत्रु-राज्य के निवासी हैं और शत्रुओं के राजगुरु हैं।"

"मैं गंगाद्वार का त्याग कर आया हूँ। अब शत्रु राज्य का निवासी नहीं हूँ। और यदि उन्होंने मुझे अपना राजगुरु स्वीकार किया होता तो वे मुझे इस प्रकार अपमानित न करते।"

"तो मैं अब क्या समझूँ?"

द्रोण के स्वर में जैसे पहली बार दीनता आयी, "मैं क्या कहूँ आर्य! कुछ कहने की स्थिति में नहीं हूँ। अब तक की तपस्या और साधना को पर्याप्त मान, गृहस्थ-धर्म की ओर प्रवृत्त हुआ हूँ। आजीविका की खोज में निकला हूँ।...जिन्हें आप मेरा मित्र मान रहे हैं, उन्होंने मेरे साथ शत्रुओं का-सा व्यवहार किया है।" कुछ साहस जुटा कर द्रोण ने कहा, "आप मेरे वचन पर विश्वास कर सकें तो करें; अन्यथा इस समय कोई प्रमाण देने की स्थिति में नहीं हूँ।"

भीष्म ने अपना सिर उठा कर सीधे द्रोण की आँखों में देखा और स्थिर दृष्टि से देखते ही रहे, मानो परख रहे हों

कि द्रोण की आँखें सत्य के ताप में कितनी निर्मल रह सकती हैं; और फिर बोले, "मैं आपका विश्वास करता हूँ।"

द्रोण के चेहरे पर से आतंक छँट गया और वे कुछ निश्चिन्त दिखायी दिये, "मैं कृतज्ञ हूँ कि आपने इस विपन्नता में भी मेरा विश्वास किया।"

"और यदि आप एक दायित्व स्वीकार करें," भीष्म अपने पिछले वाक्य की निरन्तरता में ही बोले, "तो आपकी आजीविका की भी व्यवस्था हो जायेगी।"

"दायित्व क्या होगा आर्य?"

"कौरव राजकुमारों को शस्त्रास्त्रों और युद्ध-विद्या में पारंगत कर दें।"

"क्या गुरुकुल स्थापित करना होगा?"

कृपाचार्य के मन में कहीं कोई एक शिखर ढह गया : द्रोण ने एक बार भी नहीं कहा था कि यह कार्य कृपाचार्य कर तो रहे हैं।...किन्तु कृप का विवेक कह रहा था, उन्हें प्रसन्न होना चाहिए था, यह सब उनकी बहन के सुख के लिये ही तो था...

"यद्यपि व्यक्तिगत रूप में मैं यही चाहता हूँ," भीष्म बोले, "किन्तु धृतराष्ट्र और गान्धारी अपने पुत्रों को हस्तिनापुर के बाहर के किसी गुरुकुल में नहीं भेजना चाहेंगे।"

"कारण?"

"वे देख चुके हैं कि पाण्डु हस्तिनापुर से बाहर रहा तो सिंहासन धृतराष्ट्र के हाथों में चला गया।" भीष्म बोले, "धृतराष्ट्र के पुत्र गुरुकुल में नहीं जायेंगे तो पाण्डु के पुत्र क्यों जायेंगे—वे तो पहले से ही वर्षों तक आश्रम-जीवन व्यतीत करके आये हैं।"

"तो?"

"वर्तमान पाठशाला में ही राजकुमारों का प्रशिक्षण हो।"

"आप भी जानते ही होंगे," द्रोण ने कृप से दृष्टि बचाते हुए, कुछ संकोच के साथ कहा, "कि वर्तमान पाठशाला युद्ध-विद्या के लिये पर्याप्त नहीं है।"

"जानता हूँ।"

"तो मुझे गंगा-तट पर युद्ध-शाला स्थापित करने का अधिकार दिया जाये।" द्रोण बोले, "युद्ध-शाला को राज्य का आश्रय मिले; किन्तु मैं राज कर्मचारी न माना जाऊँ। युद्ध-शाला के प्रधान के रूप में सारे निर्णय स्वतन्त्र रूप से करने का अधिकार मुझे हो—जैसा अधिकार गुरुकुल के कुलपति को होता है। युद्ध-शाला में किसी को..." द्रोण ने रुक कर भीष्म को देखा, "राजा को भी हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होगा।..."

भीष्म हँसे, "स्वतन्त्रता तो आत्म-निर्भरता का दूसरा नाम है आचार्य! प्रकृति ने तो अपने विधान के अन्तर्गत सबको ही पूर्ण स्वतन्त्रता दी है। हम स्वयं ही अपनी अकर्मण्यता, लोभ, भय तथा अहंकार के कारण अपनी स्वतन्त्रता से क्रमशः वंचित होते जाते हैं।"

द्रोण मौन-भाव से भीष्म को देखते रहे।

"आप समझ रहे हैं आचार्य!" भीष्म पुनः बोले, "राज्य के पास अनुकम्पा और त्रास दोनों के ही पर्याप्त साधन हैं। स्वतन्त्र शिक्षक अपने लोभ और भय के अनुपात में ही अपनी स्वतन्त्रता, राज्य को स्वेच्छा से समर्पित करता चलता है। वैसे कौरव अपने गुरुओं का पर्याप्त सम्मान करते हैं; और हम जिसका सम्मान करते हैं, उसे वंचित नहीं रहने देते।"

"समझ रहा हूँ।" द्रोण बोले, "प्रयत्न करूँगा कि अपनी सीमाओं में आत्म-निर्भर रह सकूँ, ताकि मेरी स्वतन्त्रता भी अक्षुण्ण बनी रहे।...किन्तु..." द्रोण रुक गये।

"कहिये!"

"आप इसे मेरी अशिष्टता न मानें।" द्रोण बोले, "किन्तु संशयग्रस्त मन सदा ही भीरु भी होता है और आशंकित भी; और राजशक्ति के प्रति मैं संशयमुक्त नहीं हूँ।"

"आप निःशंक कहें।" भीष्म बोले।

"क्या महाराज धृतराष्ट्र आपके दिये हुए वचनों का सम्मान करेंगे?"

"इस विषय में मेरे सारे वचन उसे मान्य होंगे।" भीष्म बोले, "आज तक इन बालकों की शिक्षा-दीक्षा की सारी चिन्ता मैंने ही की है। धृतराष्ट्र को इन बातों में न रुचि है, न उसके पास इनके लिये समय है।"

"और...और गुरु-दक्षिणा?"

भीष्म की मुखाकृति पर अरुचि का भाव जागा, जैसे उनके सम्मुख कोई अभद्र बात कह दी हो।...किन्तु तत्काल ही उन्होंने स्वयं को संयत किया, "गुरु-दक्षिणा तो गुरु की इच्छा तथा शिष्य की क्षमता पर निर्भर करती है आचार्य।"

"राजशक्ति तो मध्य में बाधा खड़ी नहीं करेगी?"

"नहीं!"

"उस समय राजनीतिक कारण तो बीच में नहीं आयेंगे?"

"नहीं!" भीष्म ने दृढ़ता से कहा।

"तो आप अपने वचन को स्मरण रखें आर्य!..."

भीष्म कुछ व्यग्र हो उठे, "भीष्म के वचन को संसार स्मरण रखता है...।"

द्रोण को अपनी भूल दिखायी पड़ी। बोले, "तो मैं कल से अपना कार्य आरम्भ कर दूँगा।"

क्षण-भर में ही भीष्म जैसे राजपुरुष से कुलवृद्ध हो गये। उनके चेहरे पर अधिकार के स्थान पर वात्सल्य का भाव उदित हुआ, "तो आचार्य! अपनी सुविधा से कृपी और अश्वत्थामा को ले कर मेरे भवन में आइयेगा। उसे देखे हुए एक लम्बा समय बीत गया है।"

भीष्म जाने के लिये मुड़ गये। द्रोण के मन में क्षण-भर के लिये भी नहीं आया कि वह कहें, 'आर्य! रुकिए मैं उन्हें अभी बुलाता हूँ।'...उनकी आँखें तो वर्तमान को चीर कर भविष्य में झाँक रही थीं; जहाँ उनके स्वप्न आकार ग्रहण कर रहे थे, उनकी इच्छाएँ घटनाओं में परिणत हो रही थीं...उनकी कल्पना में एक बिम्ब था...पांचाल द्रुपद के हाथ-पाँव बँधे हुए थे, किसी दस्यु के समान...वह उनके चरणों के निकट भूमि पर पड़ा भीत तथा कातर दृष्टि से उनकी ओर देख रहा था...सहसा उन्होंने अपना दायाँ पाँव उठा कर गर्वपूर्वक उसके वक्ष पर रख दिया, जैसे कोई आखेटक बाण से हत व्याघ्र के वक्ष पर रख देता है..।

विदुर ने भीष्म के चरण स्पर्श कर प्रणाम किया।

भीष्म ने आशीर्वाद दिया और बोले, "बहुत दिनों के पश्चात आये हो विदुर! कैसे हो?"

"आपकी कृपा है पितृव्य। आपने गृहस्थी के जिस जंजाल में बाँध दिया है, उसी में फँसा हूँ।"

भीष्म हँसे, "गृहस्थी जंजाल है; और उसी से इतना प्यार करते हो? जंजाल में इतनी आसक्ति विवेक का लक्षण तो नहीं है विदुर!"

विदुर भी हँस पड़ा, "यही तो प्रकृति की माया है पितृव्य! कई जंजाल उसने इतने मोहक बनाये हैं...या कदाचित जंजालों को ही मोहक बनाया है।...और हम, यह जानते हुए भी कि ये जंजाल हैं, उनके मोह को जीत नहीं पाते।"

"और मुझे देखो वत्स!" भीष्म ने कहा, "मैं तुम्हारे समान गृहस्थ नहीं हूँ, किन्तु न तो जंजाल से मुक्त हूँ और न ही अपने मोह को जीत पाया हूँ।"

"नहीं पितृव्य! आपकी यह गृहस्थी, आपका मोह नहीं है; यह तो आपकी तपस्या है। यदि आपने यह दायित्व अपनी साधना के रूप में ही न अपनाया होता, तो इस कुरुवंश का क्या होता।"

भीष्म हँसे, "मेरे मन में भी यही था पुत्र! मैं निरन्तर यह सोचा करता था कि यह मेरा दायित्व है, यदि मैं इसे

पूरा नहीं करूँगा, तो अनर्थ हो जायेगा। मैं प्रतीक्षा कर रहा था कि मेरा दायित्व पूर्ण हो तो मैं मुक्त हो कर चैन की साँस लूँ। एक दिन जाने कैसे मैंने यही बात कृष्ण द्वैपायन से कही कि मुझे यह चिन्ता है कि यदि कहीं अकस्मात ही मेरा जीवन समाप्त हो गया, तो इन छोटे-छोटे बालकों का क्या होगा।...तो जानते हो कृष्ण द्वैपावन ने क्या कहा?"

विदुर ने जिज्ञासा-भरी दृष्टि भीष्म की ओर उठायी।

"उसने कहा, 'क्या आप पालन-पोषण कर रहे हैं इन बालकों का?'...मैंने इस विषय में बहुत सोचा। वह ठीक ही पूछ रहा था। यदि विधाता की इच्छा न हो, तो किसी के किये क्या हो सकता है। मेरे रहते हुए, मेरी आँखों के सामने चित्रांगद और विचित्रवीर्य चले गये, पाण्डु चला गया। क्या कर सका मैं? इसी प्रकार यदि विधाता नहीं चाहेगा, तो इन बालकों के लिये भी क्या कर सकूँगा मैं?"

भीष्म ने विदुर पर दृष्टि टिकायी; किन्तु विदुर अब भी कुछ नहीं बोला। कदाचित वह अब तक समझ नहीं पाया था, कि भीष्म का चिन्तन किस दिशा में जा रहा है; और वे किस निश्कर्ष पर पहुँचना चाहते हैं।

"अभी थोड़ी देर पहले ही मैं सोच रहा था," भीष्म पुनः बोले, "मुझ अविवाहित को यह इतनी बड़ी गृहस्थी इसलिये नहीं सौंपी गयी कि मैं उसका पालन करूँ। यह मुझे इसलिये सौंपी गयी, ताकि मैं इसके अवलम्ब से अपना जीवन व्यतीत कर सकूँ। कदाचित मैं इस परिवार के लिये आवश्यक नहीं हूँ यह परिवार मेरे लिये आवश्यक है।" भीष्म ने रुक कर विदुर की ओर देखा, और हँस कर बोले, "विधाता भी कैसी-कैसी घटनाएँ गढ़ता है।...यदि चित्रांगद और विचित्रवीर्य जीवित रह कर स्वयं ही अपने परिवारों का पालन-पोषण करते तो मेरे जीवन कर अवलम्ब क्या होता? मेरे जीवन का कोई व्याज बना रहे, इसलिये विधाता ने चित्रांगद और विचित्रवीर्य को दीर्घ जीवन नहीं दिया। धृतराष्ट्र को ज्ञानचक्षु और पाण्डु को रागी उत्पन्न किया। और मेरा अहंकार अनवरत मेरे कानों में यह कहता रहता है कि इनका पालन पोषण मैं कर रहा हूँ। जैसे परिस्थितियों से बाध्य हो कर कोई भारी बोझा उठा रहा हूँ।...है न विचित्र बात कि व्यक्ति समझता है कि वह दूसरों के लिये इतना त्याग और श्रम कर रहा है, जबकि वास्तविकता यह है कि दूसरे लोग उसे यश देने के लिये अपने प्राण दे रहे हैं।..."

"पितृव्य! यह आपकी उदारता है।" विदुर बोला, "हममें से किसने आपसे वात्सल्य नहीं पाया। आपने हममें से किसके लिये कष्ट नहीं उठाया। मैंने सुना है, कल ही आपने कौरव राजकुमारों की युद्ध-शिक्षा के लिये द्रोण को उनका आचार्य नियुक्त किया है।"

"हाँ! हमारा सौभाग्य देखो विदुर! द्रोण जैसा युद्ध-विशारद स्वेच्छा से हस्तिनापुर में आ उपस्थित हो गया। वस्तुतः तुम लोगों के लिये किसी महान युद्ध-विशारद गुरु की आवश्यकता ही नहीं थी। तुम्हारी युद्ध में रुचि ही नहीं थी, पाण्डु कठोर श्रम कर ही नहीं सकता था; और धृतराष्ट्र दृष्टिहीन था। किन्तु धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्रों के लिये, जब-जब मैंने किसी महान युद्धाचार्य के विषय में सोचा, मेरे सामने दो ही नाम आये, एक तो गुरु सान्दीपनि और दूसरे आचार्य द्रोण। किन्तु इन दोनों में से किसी की भी प्रवृत्ति कौरवों की ओर नहीं थी। मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था कि आचार्य द्रोण गंगाद्वार को छोड़ कर हस्तिनापुर आ जायेंगे; वे पांचालों को त्याग कर कौरवों को अंगीकार करेंगे। इसलिये जैसे ही मुझे युधिष्ठिर की सूचना से यह आभास हुआ कि आचार्य हस्तिनापुर में हैं और आजीविका की खोज में हैं, तो मैंने तत्काल निर्णय किया कि यदि आचार्य के मन में कोई दुर्भाव नहीं है तो उन्हें कौरव राजकुमारों के युद्धाचार्य के रूप में नियुक्त कर दिया जाये।"

"यह तो आपने उचित ही किया तात!" विदुर बोला, "किन्तु मेरे मन में एक आशंका है।"

"बोलो वत्स!"

"पितृव्य! जिन परिस्थितियों में द्रोण हस्तिनापुर आये हैं, उनसे आपको यह नहीं लगता कि वे द्रुपद के प्रति अपने द्वेष के कारण हस्तिनापुर आये हैं। यहाँ आ कर वे द्रुपद के प्रति अपनी शत्रुता का निर्वाह कर रहे हैं।"

"यह तो स्पष्ट ही है।"

"तो उस व्यक्ति को अपने बालकों के आचार्य के रूप में नियुक्त करना क्या उचित है, जिसके मन में सबके लिये सद्भावना न हो कर मात्र प्रतिहिंसा है। उसकी प्रतिहिंसा हमारे राजकुमारों के मार्ग को कहीं वक्र न कर दे।"

"ऐसा क्यों सोचते हो विदुर?" भीष्म बोले, "उस व्यक्ति के मन में किसी के प्रति वैर, विरोध और प्रतिहिंसा हो

सकती है; किन्तु जिसके प्रति प्रतिहिंसा है, वह हमारा मित्र नहीं है, इसलिये उससे हमारी कोई क्षति होने की सम्भावना नहीं है।...और वह व्यक्ति युद्ध-विद्या का आचार्य है। उसमें अपने शिष्यों को श्रेष्ठ योद्धा बनाने की अद्भुत क्षमता है। हम उसके इन गुणों का लाभ क्यों न उठायें।"

"पितृव्य! मेरी वाचालता क्षमा करें।" विदुर के अधरों पर एक संकुचित मुस्कान थी, "मैं समझता हूँ कि गुरु होने के योग्य वही व्यक्ति है, जो आकाश के समान उदार और धरती के समान सहनशील हो; जिसका मन तनिक भी संकुचित न हो। जो किसी व्यक्ति, जाति अथवा राज्य के नाम पर मानवता का विभाजन न करता हो। जिसके मन में व्यक्तिगत हानि-लाभ की बात आती ही न हो।...?

"तुम ठीक कहते हो वत्स! मैं तुमसे कहीं भी असहमत नहीं हूँ।" भीष्म बोले, "किन्तु युद्धाचार्य तो वही होना चाहिए, जिसे युद्ध-विद्या का ज्ञान हो। हमें द्रोण से उसकी विद्या चाहिए; उसके भाव नहीं।"

"किन्तु क्या कोई व्यक्ति अपनी विद्या और भावों को पृथक रख सकता है पितृव्य?"

"तुम इस समय मात्र सैद्धान्तिक विचार के धरातल पर हो।" भीष्म बोले, "और मैं कुरु-वंश के वृद्ध के रूप में एक निश्चय कर रहा हूँ। हमारे वंश का हित इसमें है कि हमारे बालक वीर योद्धा बनें, ताकि भविष्य में वे अपने शत्रुओं का नाश कर, अपने राज्य की रक्षा कर सकें। यह मेरा कुल-धर्म है कि मैं अपने वंश को शक्तिशाली बनाऊँ। यदि मैंने इस अवसर का लाभ उठा कर द्रोण की योग्यता का उपयोग नहीं किया तो हमारी आने वाली पीढ़ियाँ मुझे कोसेंगी!"

विदुर कहना चाहता था कि भीष्म स्वार्थ की बात सोच रहे हैं, धर्म की नहीं; और स्वार्थ कभी भी किसी का धर्म नहीं हो सकता, धर्म तो मानवीय न्याय का दूसरा नाम है। भला स्वार्थ, मानवीय न्याय को कैसे प्रतिष्ठित कर सकता है।... वह यह भी कहना चाहता था कि पितृव्य का धर्म-बोध कहीं भ्रमित हो रहा है।.. किन्तु यह सब कहना मर्यादा का उल्लंघन होता।...विदुर एक भूल के सुधार के प्रयत्न में दूसरी भूल नहीं करना चाहता था। बोला, "पितृव्य! क्या व्यापक मानवीय हित में ही व्यक्ति को अपना हित नहीं खोजना चाहिए? पूर्ण का हित होगा, तो अंश भी उससे लाभान्वित होगा; अंशी का धर्म ही क्या अंश का धर्म नहीं है? जब-जब हमने व्यक्ति, परिवार अथवा जाति के हित की बात सोची है, मानवता का अहित किया है। क्या हमें अपने राजकुमारों को यह नहीं सिखाना चाहिए कि मनुष्य एक व्यक्ति तो है ही, किन्तु वह सृष्टि की बहुत बड़ी इकाई का एक अंग भी है; अतः उसे व्यक्ति के धरातल पर नहीं, सृष्टि की उस बड़ी इकाई के अंग के रूप में जीना चाहिए। उसे अपना विस्तार करना चाहिए, संकोच नहीं।"

भीष्म हँसे, "ऋषियों जैसी बातें कर रहे हो, राजनीतिज्ञों जैसी नहीं। राजनीति में हम सदा यह सोचते हैं कि हम अपने शत्रु की शक्ति कैसे कम कर सकते हैं, कैसे उसे दुर्बल बना सकते हैं, कैसे उसे पराजित कर सकते हैं। जिसने अवसर का लाभ नहीं उठाया, वह राजनीति के क्षेत्र में सदा ही हारा है।"

"पितृव्य! मेरी अशिष्टता क्षमा करें। किन्तु मुझे लगता है कि राजनीति को हम शिक्षा से दूर ही रखें तो उचित है। क्या आपको नहीं लगता कि यदि अपने राजनैतिक लक्ष्यों की सिद्धि को दृष्टि में रख कर हम शिक्षक और आचार्य नियुक्त करेंगे तो गुरुकुलों और पाठशालाओं में ज्ञान की उपासना स्थगित हो जायेगी। आचार्य यदि शिक्षण-संस्थानों के लिये अपना जीवन समर्पित करने के स्थान पर, उन्हें अपने स्वार्थ-साधन का माध्यम बनायेंगे तो हमारी भावी पीढ़ियाँ वास्तविक शिक्षा कब और कैसे पायेंगी?"

भीष्म थोड़ी देर मौन रहे, जैसे अपने मन के द्वन्द्व से उबरने का प्रयत्न कर रहे हों। फिर धीरे से बोले, "तुम ठीक कहते हो विदुर! मैं कहीं भी तुमसे असहमत नहीं हूँ; किन्तु मैं ऐसी परिस्थितियाँ कभी उत्पन्न नहीं होने दूँगा, जिनमें द्रोण जैसा युद्धाचार्य पांचालों के राज्य में लौट जाये।"

"मातुल! आप तो कहते हैं कि पिता जी अत्यन्त शूरवीर हैं और सम्पूर्ण आर्यावर्त्त में उनके समान शस्त्रास्त्रों का ज्ञाता भी और कोई नहीं है।" कृपाचार्य के निर्देशन में अभ्यास करता हुआ अश्वत्थामा रुक कर बोला, "आप केवल उनकी प्रशंसा के लिये ही तो ऐसा नहीं कहते?"

"नहीं वत्स! मैं किसी की झूठी प्रशंसा क्यों करूँगा?" कृपाचार्य हँसे।

"पिता जी को प्रसन्न करने के लिये।" अश्वत्थामा सहज भाव से बोला।

"और मैं तुम्हारे पिता जी को झूठी प्रशंसा से प्रसन्न करना क्यों चाहूँगा?"

"क्योंकि वे बहुत बड़े आचार्य नियुक्त हुए हैं न!" अश्वत्थामा उल्लसित स्वर में बोला, "पिता जी कह रहे थे कि वे अपनी युद्धशाला बनवा रहे हैं, जहाँ वे साधारण क्षत्रिय कुमारों को ऐसे महायोद्धाओं में परिणत कर देंगे, जो किसी भी शक्तिशाली साम्राज्य को सहज ही उलट कर धर देंगे। वे कह रहे थे कि आगामी कुछ वर्षों में स्थिति यह हो जायेगी कि आर्यावर्त्त में उनकी अनुमति के बिना किसी राजा का राज्याभिषेक नहीं हो सकेगा...।"

कृपाचार्य चौंके; और जैसे अपने आश्चर्य को ही वाणी देने के लिये बोले, "बहुत महत्वाकांक्षी हैं, तुम्हारे पिता जी!"

"वे कह रहे थे कि उसी युद्धशाला के प्रांगण में गंगा के तट पर हमारा अपना आवास-भवन बनेगा। हम उसमें रहेंगे। अब हमारे कष्ट के दिन समाप्त हो गये हैं।"

"तुम्हें इन सब बातों में संदेह है क्या?" कृपाचार्य ने स्नेह से पूछा।

"नहीं! संदेह तो न मैं पिता जी की बातों में करता हूँ, न आपकी बातों में। किन्तु सोचता हूँ कि पिता जी यदि इतने ही वीर हैं तो वे द्रुपद से अपमानित हो कर यहाँ क्यों चले आये? उन्होंने वहीं अपनी धनुर्विद्या का प्रदर्शन क्यों नहीं किया?"

कृपाचार्य को तत्काल कोई उत्तर नहीं सूझा।

"बताइये मातुल!" अश्वत्थामा ने आग्रह किया।

"मैंने कभी इस पर विचार नहीं किया है, पुत्र!" कृपाचार्य बोले, "पर इसका कारण कदाचित अभ्यास की कमी ही है। आचार्य ने शस्त्रास्त्रों का अभ्यास तो अवश्य किया है; सैन्य-संचालन और व्यूह-रचनाओं का भी अध्ययन किया है; किन्तु उन्होंने आज तक युद्ध तो कोई भी नहीं किया। सम्भवतः उन्हें इतना क्रोध ही न आया हो कि वे द्रुपद को युद्ध में पराजित करने, अथवा उसका वध करने की बात सोचते। बहुत सम्भव है कि द्रुपद की राजसभा में उसके पदाधिकारियों, सेनापतियों और सैनिकों को देख कर युद्ध की बात उनके मन में ही न आयी हो। उन्हें यही लगा हो कि वे सर्वथा एकाकी हैं, मित्रविहीन हैं, शत्रुओं से घिरे हुए हैं।" कृपाचार्य क्षण-भर रुक कर बोले, "युद्ध भी तो अभ्यास की वस्तु है। व्यक्ति को युद्ध करना भी सीखना पड़ता है; और तब वह क्रमशः, उसमें अग्रसर होता है।"

"पिता जी, द्रुपद से भयभीत तो नहीं हैं न?" अश्वत्थामा ने कुछ इस व्यग्रता में पूछा, जैसे वह अपने पिता के माथे पर लगा कलंक धो डालना चाहता हो।

"नही वत्स! तुम्हें इस प्रकार सोचना ही नहीं चाहिए।" कृपाचार्य बोले, "तुम्हारे पिता, आचार्य द्रोण संसार में किसी से भी भयभीत नहीं हैं। वे चाहें तो अकेले-एकाकी, बिना किसी की सहायता के सम्पूर्ण संसार की सेनाओं को ध्वस्त कर सकते हैं।"

सन्ध्या समय एकान्त पा कर कृपी अपने भाई के पास आयी, "भैया! अश्वत्थामा तुमसे क्या-क्या पूछा करता है? क्या-क्या कहता रहता है??"

"क्यों? क्या हुआ?" कृपाचार्य ने पूछा।

"उसने मुझे बताया कि प्रातः उसकी तुमसे क्या-क्या बातें हुई हैं।" कृपी आ कर कृपाचार्य के निकट बैठ गयी, "क्या तुम्हें सचमुच लगता है कि आचार्य, द्रुपद से एकदम नहीं डरते?"

कृपाचार्य ने चौंक कर अपनी बहन को देखा, "क्या अभिप्राय है तुम्हारे इस प्रश्न का? कहीं तुमने ही तो अश्वत्थामा के मन में यह बात नहीं डाली?"

"नहीं। अश्वत्थामा से तो मैंने कुछ नहीं कहा; किन्तु तुमसे कहती हूँ" कृपी बोली, "उस दिन मैंने आचार्य की आँखों में सचमुच ही भय और असहायता की परछाइयाँ देखी थीं। इधर उनके हाव-भाव से लगता है कि वे निर्धनता से भी बहुत भयभीत हैं।...और उनकी स्थिति देख-देख कर मैं भयभीत हो जाती हूँ।"

"क्यों? तुम्हें क्या भय है?" कृपाचार्य के स्वर में जिज्ञासा भी थी और बहन को सांत्वना देने का प्रयत्न भी।

"जो व्यक्ति अपने सुखों के वंचित होने से डरता है, वह जीवन के सम्मुख कभी वीरतापूर्वक खड़ा नहीं हो सकता।" कृपी बोली, "मैं तो यहाँ के राजसुखों को छोड़ कर गंगाद्वार में सर्वथा निर्धनता के जीवन को अंगीकार करने गयी थी। तब मुझे लगा था कि मेरा पति वीर है, निर्द्वंद्व है, लोभमुक्त है—इसलिये वह सत्य के मार्ग से डिग नहीं सकता, प्रलोभन उसे न्याय से विचलित नहीं कर सकते..."

"अब क्या लगता है कृपी"

"अब लगता है कि समय आने पर वह न्याय की दृष्टि से नहीं, हानि-लाभ की व्यावसायिक दृष्टि से जीवन को तौलेगा और अपना विक्रय करने में भी संकोच नहीं करेगा।"

"तुम आचार्य के प्रति अन्याय कर रही हो।" कृपाचार्य बोले, "बुद्धिजीवी को भी, ज्ञान की साधना करने वाले को भी, जीवन में सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने का अधिकार है। आचार्य की इच्छाएँ कुछ अनुचित तो नहीं।"

"सुख-सुविधाओं को अर्जित करने और उनके लिये अपना विक्रय करने में अन्तर है।" सहसा कृपी रुक गयी, जैसे स्वयं को संतुलित कर रही हो; फिर वह सायास हँसी, "मेरी बातों का बुरा मत मानना भैया! मेरी मानसिक स्थिति इन दिनों ठीक नहीं है।..."

"क्या हुआ है तुम्हें?" कृपाचार्य की वाणी में वास्तविक चिन्ता थी, "मैं समझता हूँ कि ये दिन तो तुम्हारे प्रसन्न होने के हैं। आचार्य को जैसा पद, सम्मान और अधिकार हस्तिनापुर में मिला है, वह असाधारण है। भौतिक सुख-सुविधा का भी तुम्हें अभाव नहीं रहेगा। अश्वत्थामा का भविष्य भी अब किसी प्रकार कष्टकर नहीं हो सकता। फिर तुम..."

"यह सब तो जानती और समझती हूँ भैया!" कृपी धीरे से बोली, "किन्तु मैं नारी हूँ। अपने मायके और ससुराल के दोराहे पर खड़ी हूँ..."

"मैं समझा नहीं।"

"कहीं यह न हो कि मेरे पति की समृद्धि का मूल्य मेरे भाई को चुकाना पड़े। मेरे पति के सम्मान में वृद्धि, मेरे भाई के सम्मान में कमी न कर दे।...उन्होंने जो कुछ भी प्राप्त किया है, वह सब तुम्हें वंचित करके ही तो...।"

"पगली!" कृपाचार्य का मन ही विचलित नहीं हुआ, उनकी आँखों में जल भी भर आया, "बचपन में भी ऐसा ही कुछ किया करती थी तुम! सुनो कृपी!" कृपाचार्य का हाथ, बहन के कंधे पर आ टिका, "मेरी ओर से तुम तनिक भी आशंकित मत रहो। तुम्हारे सिवाय मेरा अपना और है ही कौन! जो कुछ तुम्हारा है, वह मेरा भी है। समझ लो, मैंने अपनी सारी सुख-सुविधाएँ, महत्वाकांक्षाएँ, मान-अपमान—सब तुम्हारे साथ सम्मिलित कर दिये हैं। मेरा भविष्य अब अश्वत्थामा है। मेरे जीवन की सारी रिक्तियाँ और शून्य, तुम्हारे यहाँ आ जाने से भर गये हैं।"

कृपी अपने नयनों में स्नेह और प्रशंसा के भाव भरे, अपने भाई को देखती रही। फिर बोली, "तुम्हारे जैसा भाई बड़े पुण्य से मिलता है भैया!...अश्वत्थामा को पिता का ज्ञान तो सुलभ था; किन्तु उनकी संगति उसे प्राप्त नहीं थी। मुझे लगता है कि तुम्हारी संगति से अश्वत्थामा का एकाकीपन भी मिट गया है। मैं तृप्त हुई भैया!"

स्नेह के आवेग में कृपाचार्य ने बहन के सिर पर अपना हाथ रखा। उसके केशों को हल्के से सहलाया; और जैसे स्वयं को संतुलित करने के लिये बाहर चले गये।

7

गंगा के निकट आचार्य द्रोण की नयी युद्धशाला बन गयी थी। उसी के परिसर में ठीक गंगा के तट पर आचार्य के निवास के लिये एक भवन का भी निर्माण हो गया था। कृपाचार्य भी आचार्य द्रोण के साथ, इसी भवन में रहने के लिये आ गये थे। आचार्य के भवन के साथ ही जुड़ा हुआ शस्त्रागार था। उससे कुछ दूर हट कर अन्य आचार्यों तथा अध्यापकों के रहने की व्यवस्था थी। दूसरी ओर युद्धशाला का छात्रावास था। आचार्य ने अपने शिष्यों को दो वर्गों में विभक्त कर दिया था। पहले वर्ग में कौरव राजकुमार थे; और गुरु द्रोण मन-ही-मन जानते थे कि थोड़े ही दिनों में इस युद्धशाला की ख्याति चारों ओर फैल जायेगी; और अनेक मित्र राजाओं के राजकुमार भी, युद्ध-विद्या की शिक्षा के लिये इसी युद्धशाला में आने लगेंगे। राजकुमारों के लिये शाला-परिसर में रहना अनिवार्य था। वे आचार्य की देख-रेख में, उन्हीं के द्वारा निर्दिष्ट भोजन करेंगे। प्रातः और सायं उनके निर्देशन में, उनके बताये हुए व्यायाम करेंगे। दिन-भर विभिन्न अध्यापकों और आचार्यों से विभिन्न विषयों की मौखिक और व्यावहारिक शिक्षा ग्रहण करेंगे।

आचार्य की मान्यता थी कि राजकुमारों का यह प्रशिक्षण इतना सघन तथा विस्तृत था कि उनका शाला-परिसर में रहना अनिवार्य था। जब तक उनकी शिक्षा पूरी नहीं हो जाती, तब तक आचार्य, राजकुमारों का, राजप्रासाद के विलासपूर्ण वातावरण में रहना उचित नहीं समझते। शिक्षा के इस काल में आचार्य उन्हें अपने साथ हस्तिनापुर के आस-पास के वनों में विभिन्न प्रकार के अभ्यासों के लिये भी ले जायेंगे।

शिष्यों के दूसरे वर्ग में साधारण जन थे। ये बालक राजपरिवार से सम्बन्धित कर्मचारियों तथा विभिन्न पदाधिकारियों के पुत्र थे। इन्हें प्रातः युद्धशाला में आना था और दिन-भर शिक्षा प्राप्त कर सन्ध्या समय वापस अपने घर लौट जाना था। केवल राजकुमारों के लिये होने वाले कार्यक्रमों में भाग लेने की अनुमति दूसरे वर्ग के शिष्यों को नहीं थी।

युद्धशाला के केन्द्रीय कक्ष में कौरव राजकुमार उपस्थित थे। आज आचार्य उन्हें यहीं सम्बोधित करने वाले थे।

आचार्य का मन आज उल्लसित था। उनका एक चिरप्रतीक्षित स्वप्न पूर्ण हुआ था। जब कभी उन्होंने अपने मन में एक ऐसी युद्धशाला की कल्पना की भी थी, तो क्या उन्हें यह आशा थी कि वे अपनी कल्पना को साकार कर पायेंगे? ...अद्भुत बात तो यह थी कि अपने चरम उत्कर्ष के क्षणों में भी जिस स्वप्न के साकार होने की आशा उन्हें नहीं थी, वही स्वप्न उनके जीवन की परम पराजय और परम हताशा के परिणामस्वरूप साकार हो गया था; जैसे किसी ने श्मशान की राख में से दिव्य जीवन पा लिया हो।...शायद सृष्टि का कुछ ऐसा ही विधान है कि वर्तमान को पुर्णतः दाँव पर रख कर ही भविष्य की विजय का सुख प्राप्त किया जा सकता है।...अब आचार्य के मन में पूर्णतः स्पष्ट था कि इस युद्धशाला का लक्ष्य क्या था। उनके पास विभिन्न राजवंशों के राज कुमार आयेंगे, आचार्य उन्हें अदम्य और दुर्द्धर्ष योद्धाओं में परिणत करेंगे। वे योद्धा उनके सम्मुख श्रद्धा और भक्ति से नत होंगे। उनके आदेशों का पालन करेंगे।...एक दिन आयेगा, जब द्रोण इस सम्पूर्ण आर्यावर्त्त के निर्विवाद सैनिक अधिनायक होंगे। वे इन राजवंशों को अपनी उँगुलियों के संकेतों पर नचायेंगे। तब वे देखेंगे कि कौन किसको आश्रय देने की क्षमता रखता है।...कई बार तो अपने चिन्तन में आचार्य इतने लीन हो जाते हैं कि उन्हें अपना वर्तमान परिवेश पूर्णतः विस्मृत हो जाता है।...उन्हें लगता है कि वे घृणा के महासागर के मध्य एक टापू के समान स्थित हैं। उन्हें द्रुपद से नहीं, भगवान परशुराम के समान सारे क्षत्रियों से ही घृणा है। जैसे वे सबके विनाश के लिये ही प्रयत्नशील हों। समस्त क्षत्रियों का नाश! सम्पूर्ण क्षत्रिय जाति का नाश!...इन सबको इतना हिंस्र बना दिया जाये कि ये सर्वनाश के पूर्व रुकें ही नहीं...

आचार्य ने कक्ष में प्रवेश किया। राजकुमारों ने उन्हें साष्टांग दण्डवत प्रणाम किया। आशीर्वाद दे कर आचार्य ने उन पर एक विहंगम दृष्टि डाली।...और सहसा आचार्य की दृष्टि एक तरुण पर पड़ी।...यह कुरु राजकुमार नहीं था। तो यह यहाँ कैसे? उन्होंने संकेत किया, "खड़े हो जाओ।"

तरुण खड़ा हो गया। द्रोण ने देखा : वह वय में कदाचित इन सारे राजकुमारों से बड़ा था, युधिष्ठिर से भी कुछ बड़ा। लम्बा, ऊँचा और छरहरा शरीर। सारे वर्ग में केवल भीम ही उससे लम्बा रहा होगा। उसके केश और नयन सुनहले थे। उनमें अग्नि का अंश था, अथवा सूर्य का तेज। लम्बी, नुकीली नासिका, ऊँचा भाल! तरुण का व्यक्तित्व तेजस्वी भी दिखायी देता था और प्रखर भी।

"कौन हो तुम?"

"मैं कर्ण हूँ।" वह बोला, "महाराज के सारथि का पुत्र!"

"तुम कौरव राजकुमार नहीं हो?" द्रोण ने पूछा।

"नहीं!" उसने निःसंकोच कहा।

"तो फिर तुम इस वर्ग में क्या कर रहे हो?" न चाहते हुए भी द्रोण के स्वर में ताड़ना थी, "तुम नहीं जानते कि यह वर्ग केवल राजकुमारों का है?"

"जानता हूँ!"

"तो फिर यहाँ क्यों बैठे हो? अपने वर्ग में क्यों नहीं जाते?"

कर्ण सिर झुकाये, चुपचाप खड़ा रहा; किन्तु उसके चेहरे पर निरुत्तर होने की असहायता और दीनता नहीं थी, वहाँ दमन की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न विस्फोटक उग्रता प्रत्यक्ष बैठी थी।

"'बोलो।" द्रोण ने उसे धमकाया।

कर्ण ने प्रचण्ड आँखों से गुरु की ओर देखा, "गुरुदेव! विद्या का दान, वर्ग के आधार पर नहीं, योग्यता के आधार पर होना चहिए। ज्ञान उनकी सम्पत्ति है, जो उसे ग्रहण करने की क्षमता रखते हैं। सरस्वती का वहन हंस करते हैं, काग उसमें असमर्थ होते हैं।"

क्षण-भर के लिये द्रोण जैसे हतप्रभ रह गये; किन्तु अपने-आपको सँभालने में उन्हें अधिक समय नहीं लगा। बोले, "विद्या के योग्य वह है, जिसे उसकी आवश्यकता है। राजकुमारों और सारथि-पुत्रों—दोनों को ही युद्ध-विद्या की शिक्षा दी जाती है, किन्तु राजकुमारों को योद्धा के रूप में शस्त्रास्त्रों का ज्ञान, उनकी परिचालन-विधि, विभिन्न शस्त्रों की काट, व्यूह-रचना, व्यूह-प्रवेश, व्यूह-भंग इत्यादि कलाओं की शिक्षा दी जाती है। सारथि-पुत्रों को सारथि के रूप में रथ-निर्माण, रथ-संचालन, अश्वों के प्रकार, उनकी गति, शत्रु के अस्त्रों से आत्मरक्षा, रथी के आदेशों को समझने, उसके हित को ध्यान में रखने, उसके हताहत होने पर अपनी बुद्धि से निर्णय करने की शिक्षा दी जाती है।"

"किन्तु यदि मुझमें राजकुमारों के ही समान योद्धा बनने की क्षमता हो तो?" कर्ण तनिक भी निस्तेज नहीं हुआ था, "मुझे युद्ध-शिक्षा क्यों नहीं दी जायेगी? मैं योद्धा ही बनना चाहता हूँ, सारथि नहीं।"

"राजकुमारों को योद्धा के रूप में प्रशिक्षित किया जाता है, ताकि वे युद्ध कर सकें। अपने शत्रुओं को पराजित कर सकें। अपने राज्य की रक्षा कर सकें।" द्रोण बोले, "सारथि-पुत्र को योद्धा के रूप में क्यों प्रशिक्षित किया जाये? ताकि वह विप्लव फैला सके? राज-वंशों को उलट-पलट सके? प्रत्येक साधारण जन को राजकुमारों के समकक्ष युद्ध-प्रशिक्षण देना, न राजवंशों के हित में है, न शासन-तन्त्र के। इसलिये यह वर्ग मात्र राजकुमारों का है कर्ण! तुम अपने वर्ग में जाओ।"

गुरु के आदेश ने कर्ण को जैसे बाँध दिया था। बोला, "जाता हूँ गुरुदेव! किन्तु मैं सारथि नहीं योद्धा बनना चाहता हूँ।"

"सैनिक भी योद्धा ही होता है कर्ण!" गुरु बोले, "युद्ध का ज्ञान तुम्हें दिया जायेगा। शस्त्रास्त्रों से परिचय कराया जायेगा। उसके परिचालन की साधारण विधियाँ भी सिखायी जायेंगी। तुम चाहो तो सैनिक बन सकते हो; किन्तु तुम्हें सेनापति नहीं बनाया जा सकता। उसके लिये राजा अथवा राजकुमार होना आवश्यक है।...या कम-से-कम क्षत्रिय योद्धाओं का वंशधर होना तो अनिवार्य है ही। सारथि-पुत्र उस विद्या का क्या करेगा?..."

"गुरुदेव!" कर्ण के स्वर में आग्रह भी था और असहायता भी।

"जाओ।" गुरु ने निर्द्वंद्व आदेश दिया। द्रोण को स्वयं अनुभव हो रहा था कि किसी की याचना, आग्रह अथवा अनुनय-विनय उन्हें विगलित नहीं करती थी, उल्टे उनकी खीझ को और भी बढ़ा जाती थी।

कर्ण ने हताशा-भरी एक दृष्टि दुर्योधन पर डाली और जैसे अपने पैरों को घसीटता हुआ वह बाहर की ओर चला।...किन्तु उसके पैर थम जाना चाहते थे और उसकी दृष्टि घूम कर पाण्डवों पर टिकना चाहती थी। उसकी इच्छा हो रही थी कि वह चिल्ला कर कहे, 'ये कहाँ के राजकुमार हैं? इन्हें क्यों राजकुमारों के वर्ग में बैठाया गया है?'

किन्तु वह जानता था कि यह पूछने का उसे कोई अधिकार नहीं था। पाण्डु पत्नी कुन्ती उन्हें अपने साथ ले आयी थी और अपने तथा माद्री के पुत्र बता कर इन्हें स्वर्गीय सम्राट पाण्डु के क्षेत्रज पुत्रों की प्रतिष्ठा दिलवा चुकी थी। इन्हें वह सब कुछ मिल रहा था, जिनसे राजकुमार न होने के कारण वह स्वयं वंचित था; अपने मित्र दुर्योधन की कृपा के पश्चात भी...! धन-सम्पत्ति की कर्ण को कोई विशेष चिन्ता नहीं थी। वह जानता था कि जिस दिन वह धनार्जन करने निकलेगा, उस दिन उसे किसी वस्तु का अभाव नहीं रहेगा...और राजकुमारों के पास ही कौन-सा अटूट धनागार होता है। वे भी तो दूसरों को लूट कर ही धन एकत्रित करते हैं। यह तो कोई भी योद्धा कर सकता है।...शास्त्र-ज्ञान का अभाव भी उसे अधिक नहीं खलता था, उसकी क्षतिपूर्ति वह स्वाध्याय अथवा मनन से जब चाहेगा कर लेगा। वैसे शास्त्रों में उसकी कोई निष्ठा भी नहीं थी। शास्त्र सदा ही तप-त्याग और आत्म-दमन सिखाते हैं। कर्ण को लगता था कि वह पहले से ही इतना वंचित, दमित और दलित था कि उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व तप, त्याग और आत्मदमन का विरोध करने लगता था। उसे लगता था कि उसे शास्त्र की नहीं, मात्र शस्त्र की आवश्यकता थी।...किन्तु शस्त्र-शिक्षा?...दुर्योधन उससे अधिक शस्त्र-शिक्षा पाता अथवा उससे श्रेष्ठ योद्धा बन जाता तो कदाचित उसे इतना कष्ट भी न होता। वह युवराज था! किन्तु ये कंगले पाण्डव, कहीं से आ कर राजकुमार भी बन जायें और शस्त्र-ज्ञान में भी उससे श्रेष्ठतर हो जायें—यह उसे किसी भी प्रकार स्वीकार्य नहीं था।...और यह अर्जुन...स्वप्नों में खोया, मुँदी-मुँदी आँखों वाला आत्मलीन छोकरा...यह उससे श्रेष्ठतर धनुर्धर हो जाये!...इस विचार से ही कर्ण का हृदय ईर्ष्या से दहकने लगता है।....

जब तक पाण्डव हस्तिनापुर में नहीं आये थे, कर्ण का जीवन शान्त ही नहीं, एक प्रकार से सुखद था। घर में तो वह माता-पिता का लाडला था ही। पिता के साथ वह राजप्रासाद में भी आया-जाया करता था। राजप्रासाद उसे आरम्भ से ही बहुत लुभाता था। वे ऊँचे-ऊँचे द्वार, ड्यौढ़ियाँ, विशाल कक्ष, सुसज्जित स्त्री-पुरुष, अनुशासन-बद्ध परिचारक तथा सुन्दर-सजीली दासियाँ...। जब से दुर्योधन से उसका परिचय हुआ था, तब से उसका अधिकांश समय उसी के साथ व्यतीत होने लगा था। राजकुमार की वेशभूषा उसे बहुत प्रिय थी। उसकी कितनी इच्छा होती थी कि वह भी वैसे ही वस्त्र पहने। उतने और वैसे ही आभूषण धारण भी करे। किसी सभा में उसके पहुँचते ही सब लोग उसकी ओर आकर्षित हो जायें। सबकी दृष्टि उस पर टिक जाये। सब उसे पहचानें। उसके महत्व को स्वीकार करें। उसकी इच्छा होती थी, सारी सृष्टि की गति-विधि का केन्द्र वही हो जाये।...और दुर्योधन ने उसे बहुत महत्वपूर्ण बना भी दिया था।...दुर्योधन ने पाया था कि वय में बड़ा होने के कारण कर्ण अनेक क्षेत्रों में उससे कहीं अधिक समर्थ था; फिर भी वह उसे वह सारा आदर और सम्मान देता था, जो स्वयं से बड़े व्यक्ति को देना चाहिए। कदाचित इसलिये कि वह राजकुमार था। कर्ण के रूप में दुर्योधन को दुःशासन से भी अधिक समर्थ अनुचर मिल गया था; और कर्ण, दुर्योधन का मित्र हो कर अनेक स्थानों पर राजकुमारों से भी अधिक महत्वपूर्ण हो उठता था। राजप्रासाद के सारे कर्मचारी जानते थे कि अधिरथ का यह पुत्र राजकुमार दुर्योधन का बहुत प्रिय मित्र था। उसकी उपेक्षा बहुत महँगी पड़ सकती थी। उससे न केवल कर्ण रुष्ट हो जायेगा, स्वयं राजकुमार दुर्योधन को भी अप्रसन्नता होगी।...किन्तु तभी ये पाण्डव आ गये थे। कर्ण ने देखा था : सब उससे छोटे थे। एक भीम थोड़ा बलिष्ट था, शेष सब तो दुबले-पतले, निरीह-से लगते थे। तपस्वियों-जैसा वेश था उनका। शरीर पर कोई आभूषण तक नहीं था। दुर्योधन ने उसे बताया था, बेचारों के पिता का देहान्त हो गया था; और अपने अनाथ और असहाय बच्चों को ले कर उनकी माता आश्रय पाने के लिये महाराज धृतराष्ट्र के द्वार पर आ खड़ी हुई थी। कर्ण, दुर्योधन से सहमत था कि ऐसे लोगों को किसी प्रकार का कोई सम्बन्धी मान कर उनकी कोई सहायता तो की जा सकती थी, दान के रूप में थोड़ा-बहुत धन भी दिया जा सकता था; किन्तु ये लोग तो एकदम सिर पर ही चढ़ते जा रहे थे। वे शरणार्थी हो कर भी स्वामी बन जाना चाहते थे। वे राजप्रासाद में रहना चाहते थे, राजसी वस्त्राभूषण पहनना चाहते थे; और उनकी माता चाहती थी कि युधिष्ठिर को हस्तिनापुर का युवराज ही बना दिया जाये। कर्ण भी बहुत हँसता था दुर्योधन के साथ-साथ—राह चलते भिक्षुकों को भी कोई युवराज बना देता है?...किन्तु कर्ण देखता रहा कि पाण्डवों का महत्व क्रमशः बढ़ता रहा था, जिसे वह अत्याधिक इच्छा होने पर भी किसी प्रकार रोक नहीं पा रहा था। पाण्डवों के आने से पहले राजकुमारों में दुर्योधन सबसे अधिक शक्तिशाली था; किन्तु भीम ने उसे एक प्रकार से निरस्त कर दिया था। कर्ण ने कभी स्वयं भीम से मल्ल-युद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया था, न कभी भीम ही उससे उलझा था; किन्तु जब कभी आपस में गुत्थमगुत्था होने का अवसर आता और भीम अकेला ही दुर्योधन के दो-दो, तीन-तीन, चार-चार भाइयों को अपनी भुजाओं में भर कर काष्ठ के कुन्दों के समान हवा में लहराता और दुर्योधन खड़ा दाँत पीसता रहता, तो कर्ण के वक्ष पर जैसे साँप लोटने लगते थे।...ऐसे समय में कर्ण किसी प्रकार स्वयं को समझाता कि शारीरिक बल में भीम यदि उससे अधिक है भी, तो क्या हुआ। शारीरिक बल तो पशु में भी अधिक होता है। भीम तो है ही पशु! उसमें बुद्धि तो

नाममात्र की भी नहीं है। कर्ण मनुष्य है, उसमें बुद्धि है। बुद्धि के आधार पर उसने शस्त्र-ज्ञान प्राप्त किया है। इन्हीं शस्त्रों के आधार पर मनुष्य पशुओं से श्रेष्ठ है। कर्ण भी अपनी बुद्धि और शस्त्रों के अवलम्ब पर उस पशु भीम से श्रेष्ठ है। किन्तु जिस दिन कृपाचार्य ने यह घोषणा की कि वह मौनी अर्जुन शस्त्र-संचालन में दक्ष होता जा रहा है और धनुर्विद्या में तो वह अपने बड़े भाइयों को भी पीछे छोड़ रहा है...सम्भवतः वह कर्ण से भी आगे बढ़ जाये, तो कर्ण को बहुत धक्का लगा था। ...आज तक पाठशाला में यह सर्वमान्य था कि राजकुमार न होते हुए भी वह शस्त्र-विद्या में राजकुमारों से श्रेष्ठ है...और अब अत्यन्त क्षुद्र-सा अर्जुन, कभी कुछ न बोलने वाला मौनी अर्जुन, भीम की ओट में चुपचाप खड़ा, उनींदी आँखों से सबको असहाय-सा देखते रहने वाला साँवला-सा लड़का—जिसे कर्ण अथवा दुर्योधन ने कभी तनिक-सा भी महत्व नहीं दिया था—वह अर्जुन धनुर्वेद में कर्ण से आगे बढ़ जायेगा...कर्ण को लगा था, जैसे वह अपने आवेश में अर्जुन का गला घोंट देगा...कर्ण की सारी विशिष्टता छीन लेने वाला अर्जुन!...कर्ण राजकुमार न होते हुए भी राजकुमारों से श्रेष्ठ था।... अब वह न राजकुमार था, न उनसे श्रेष्ठ! वह पाठशाला का एक साधारण छात्र था—सूतपुत्र! हीन! साधारण!...और केवल इस अर्जुन के कारण!...इतना ही नहीं, जैसे-जैसे अर्जुन अपना विकास करता जाता था, वैसे-वैसे ही कर्ण हीन होता जाता था...कर्ण के मन में अर्जुन के विरुद्ध द्वेष संचित होता ही चला गया था।...

और अब आचार्य द्रोण ने उसे उस वर्ग से भी बहिष्कृत कर दिया था। अब धनुर्वेद का जो ज्ञान वह अर्जुन को देंगे, वह कर्ण को कभी नहीं मिल पायेगा। कर्ण, अर्जुन से और भी हीन होता जायेगा...कर्ण को लगने लगा था कि अब संसार में उसका एकमात्र शत्रु अर्जुन है, जो उसे प्रत्येक महत्व से वंचित करता जा रहा है, उसे निरन्तर हीन से हीनतर बनाता जा रहा है।...यदि वह स्वयं को अर्जुन से श्रेष्ठ सिद्ध नहीं करेगा, तो उसकी श्रेष्ठता कहीं भी सिद्ध नहीं हो पायेगी...

कर्ण की उस सारी पीड़ा का गुरु पर तनिक भी प्रभाव नहीं हुआ था। वह जैसे उसे विदा कर निश्चिन्त हो गये थे, जैसे कोई अपनी नाक पर आ कर बैठ गयी मक्खी को सहज रूप से उड़ा कर निश्चिन्त हो जाता है। उन्होंने अपने शिष्यों की ओर देखा और बोले, "कौरव राजकुमारो! तुम लोगों ने अब तक अपने गुरुओं से युद्ध-शिक्षा पायी है, और शस्त्रों के परिचालन का भी अभ्यास किया है। किन्तु वह सारा ज्ञान परम्परागत है, प्राचीन है, सर्वविदित है; अतः साधारण है। वैसा ज्ञान आर्यावर्त्त के प्रत्येक गुरुकुल में दिया जाता है। उस ज्ञान से तुम उन लोगों के लिये तो योद्धा हो गये, जिन्हें शस्त्र-ज्ञान नहीं है; किन्तु योद्धाओं के लिये तुम योद्धा नहीं हो। आज से तुम्हें जो प्रशिक्षण मैं देने जा रहा हूँ, वह असाधारण है, अब तक के प्राप्त ज्ञान से उच्चतर! यह परम गुरु भरद्वाज, महर्षि अग्निवेश, भगवान परशुराम तथा मेरी अपनी साधना का परिणाम है। इस ज्ञान के पश्चात तुम योद्धाओं के भी योद्धा हो जाओगे। संसार के श्रेष्ठ योद्धाओं के लिये भी अजेय हो जाओगे। जिस दिशा में धनुष की टंकार करते निकल जाओगे, उस दिशा के सिंहासन डोलने लगेंगे और किरीट तुम्हारे चरणों में आ गिरेंगे। दिग्विजय तुम्हारा विलास होगा। किन्तु उस शिक्षण के लिये आवश्यक है कि शिक्षा-दान के लिये गुरु जितने आतुर हों, तुम ग्रहण के लिये उससे भी अधिक व्यग्र रहो। जो सीख रहे हो, उसके महत्व को समझो, उसमें आस्था रखो और उस पर गर्व करो। मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि तुममें से जो प्रशिक्षण-क्षेत्र में जितना अधिक स्वेद बहाएगा, युद्ध-क्षेत्र में उसका रक्त उतना ही कम गिरेगा। यदि तुम इस ज्ञान का सम्मान नहीं करोगे, तो यह ज्ञान समय आने पर तुम्हारा सहायक नहीं होगा। तुम स्वेद नहीं बहाओगे तो तुम्हारे इस प्रमाद का प्रतिशोध युद्ध-क्षेत्र में तुम्हारा रक्त बहा कर लिया जायेगा।...यह मेरा वचन है।..." गुरु द्रोण रुक गये। उनका विवेक जैसे कह रहा था कि यह इन अबोध राजकुमारों से छल है।...यह उनकी श्रद्धा और आस्था का शोषण है, भावनाओं का दोहन है...किन्तु दूसरी ओर उनका संकल्प कह रहा था, 'तप्त लौह खण्ड पर घन का प्रहार कर द्रोण! तभी तो बाण फलक बनेगा...'; और फिर जैसे उनकी जिह्वा नहीं, उनका संकल्प ही बोला, "अब मैं गुरु के रूप में तुमसे एक वचन माँगता हूँ।" उनकी दृष्टि अपनी ओर देखते उन सारे जिज्ञासु चेहरों पर घूम गयी, "मेरे मन में एक कार्य करने की इच्छा है। वह कार्य कम, संकल्प अधिक है; अतः वह कार्य सरल नहीं है। मुझसे शस्त्र-शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात तुम्हें मेरी इच्छा पूरी करनी होगी। मैं अपने गुणवान शिष्यों के माध्यम से अपने अभीष्ट की सिद्धि चाहता हूँ।" गुरु की दृष्टि एक-एक राजकुमार के चेहरे पर रुकी, टिकी और आगे बढ़ गयी, "बोलो! तुम लोगों का क्या विचार है? क्या तुम अपने गुरु के संकल्प को पूर्ण करने का वचन दे सकते हो?..."

पूरे वर्ग पर जैसे निःस्तब्धता छा गयी। दुर्योधन ने बाहर की ओर झाँका। उसकी रुचि गुरु की इन बातों में नहीं थी। कृपाचार्य ने कभी इस प्रकार की बातें नहीं की थीं। उसका ध्यान कर्ण की ओर था। जाने वह क्या कर रहा था। अच्छा हुआ, वह चला गया। उसे आचार्य का यह भाषण तो नहीं सुनना पड़ा।...वैसे भी द्रोणाचार्य धनुर्वेद के विशेषज्ञ थे;

और दुर्योधन की रुचि धनुष-बाण से अधिक अपनी गदा में थी...

युधिष्ठिर अत्यन्त संकुचित भाव से उठ कर खड़ा हुआ, "गुरुदेव! मुझे इस प्रकार का प्रश्न पूछने का अधिकार नहीं है; न ही शिष्य के रूप में शोभनीय है।" वह रुका, "किन्तु गुरुदेव! यदि यह जिज्ञासा किये बिना ही मैं आपको वचन दे दूँ, और बाद में उस कार्य के सम्पादन की क्षमता स्वयं में न पाऊँ तो मेरा वचन असत्य हो जायेगा। और गुरुदेव! गुरु को झूठा वचन देने से बड़ा दूसरा कोई पाप नहीं है। कृपया बतायें कि यह कार्य क्या है?"

द्रोण मुस्कुराए, "तुम्हारी सावधानी श्लाध्य है युधिष्ठिर! किन्तु मैं इस सावधान गुरु-भक्ति से तृप्त नहीं हो सकता।...गुरु के प्रति समर्पण और निष्ठा में इतने नाप-तौल की आवश्यकता नहीं होती पुत्र!"

तभी अर्जुन उठ कर अपने स्थान पर खड़ा हो गया, "गुरुदेव! मैं आपका कार्य सिद्ध करने की प्रतिज्ञा करता हूँ। हम अपने गुरु की मनोकामना पूर्ण न कर पायें तो धिक्कार योग्य हैं। मैं आपको वचन देता हूँ कि मुझमें आपका कार्य पूर्ण करने की क्षमता नहीं भी होगी, तो मैं वह क्षमता अर्जित करूँगा।...और तब आपका कार्य सिद्ध करूँगा।"

"साधु पुत्र! साधु!" द्रोण अपने उल्लास को मर्यादित नहीं रख पाये। उन्होंने अर्जुन को वक्ष से लगा कर उसका माथा सूँघा, "तुम्हारी गुरु-भक्ति तुम्हें अजेय करे पुत्र! मैं तुम्हें संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर होने का आशीर्वाद देता हूँ। तुम मेरे सर्वोत्तम शिष्य होगे—सर्वोत्कृष्ट धनुर्धारी।..."

अर्जुन का मन इस प्रकार उल्लास में बल्लियों कभी नहीं उछला था। भीम के समान उसने कभी हताशा, विरोध अथवा क्रोध प्रकट नहीं किया था; किन्तु रड़क तो उसके मन में भी थी। दुर्योधन और उसके भाई जिस प्रकार का व्यवहार उनसे करते थे, उसमें न तो तनिक-सा स्नेह था, न सौहार्द, सम्मान तो होना ही क्या था। किन्तु अर्जुन के अपने मन में कहीं गहरी आस्था थी कि यह समय तो मात्र परीक्षा की तैयारी का है, उनके निर्माण का है। अन्ततः तो अर्जुन स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करेगा ही। भीम तो निरन्तर शारीरिक बल, ऊर्जा तथा साहस में स्वयं को उन सबसे श्रेष्ठ सिद्ध कर ही रहा था; किन्तु अर्जुन की श्रेष्ठता अभी तक उनमें से किसी पर कभी प्रकट नहीं हुई थी।...कृपाचार्य भी धनुर्विद्या सिखाते थे, कभी-कभी वे अर्जुन की प्रशंसा भी करते थे; किन्तु उन्होंने अर्जुन को कभी इन शब्दों में आशीर्वाद नहीं दिया था। गुरु द्रोण ने तो जैसे उसकी मनोकामना को ठीक उसी रूप में जान लिया था, जिस रूप में वह उसके मन में विद्यमान थी।...संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी! यही तो स्वप्न था उसका। उसे लग रहा था कि गुरु ने मानो आशीर्वाद ही नहीं दिया, संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर घोषित ही कर दिया है...अब वह संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर है। सारे संसार को यह स्वीकार करना ही पड़ेगा। आज नहीं करेगा तो कल करेगा। संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर...

अर्जुन की आँखों में कृतज्ञता के अश्रु भर आये और सारे शरीर में जैसे रोमांच हो गया।

गुरु द्रोण की आँखों में जैसे उनका भविष्य साकार हो रहा था : आज मानो उन्हें अपने जीवन का सम्बल मिल गया था...उनकी सूक्ष्म कल्पना को जैसे स्थूल शरीर प्राप्त हुआ था; विचार, व्यवहार बन कर उनके सम्मुख खड़ा था। जीवन के अवसान के क्षणों में जब वे पलट कर अपने सारे जीवन का निरीक्षण करेंगे, तो हताश हो कर असफलता का दीर्घ निःश्वास नहीं छोड़ना पड़ेगा। संसार से विदा होते हुए उनके मन में पूर्ण काम होने का भाव होगा और अधरों पर विजय की मुस्कान...

वे अपने शिष्यों को ले कर अभ्यास-क्षेत्र में आये। कक्षा से अभ्यास-क्षेत्र के मार्ग में जब-जब वे अपने प्रति सजग हुए; उन्हें लगा, जैसे उन्हें कोई उन्माद-सा हो गया है: पूर्णता का उन्माद, सफलता का उन्माद, सार्थकता का उन्माद! आज उनका मन कितना हल्का था; परिवेश कितना सुखद था। प्रकृति का प्रत्येक तत्व जैसे आनन्दस्वरूप हो गया था। आत्म-विस्मृति की ऐसी स्थिति का अनुभव उन्होंने पहले कभी नहीं किया था। यह भी जैसे समाधि की ही स्थिति थी। वे चल रहे थे और पाँव जैसे धरती पर न पड़ कर, स्वर्ग की ओर जा रहे थे। आँखें, सामान्य भौतिक पदार्थ न देख कर, प्रकाश-ही-प्रकाश देख रही थीं। वायु कैसी सुगन्धित हो उठी थी। इन्द्रियों ने उन्हें इतना सुख तो पहले कभी नहीं दिया था।...आज उन्हें यह भी ध्यान नहीं था कि अश्वत्थामा कहाँ है। वह उनके शिष्यों की इस भीड़ में ही कहीं था, जैसे वह उनमें से ही एक हो। वे अर्जुन के साथ-साथ चल रहे थे। अनेक बार उनकी दृष्टि अनायास ही अर्जुन के विश्वस्त आनन पर जा पड़ती थी। उन्हें लगता था कि इस किशोर के आनन पर विश्व-विजय का भाव है।...वह अवश्य ही विश्वविजयी होगा और उसकी गुरु-भक्ति उसे बाध्य करेगी कि अपना विजित विश्व ला कर, वह उनके चरणों पर डाल दे, 'लीजिए गुरुदेव! यह

सब आपका ही है। आपके लिये ही मैं यह भी न कर पाता तो मेरा जीवन धिक्कार-योग्य ही माना जाता।...'

उनका मन हो रहा था कि वे अर्जुन से इतनी दूरी भी न रखें। वे उसके एकदम साथ चलें—उसके कंधों पर हाथ रख कर, जैसे कोई वृद्ध व्यक्ति, लाठी पर अपना सम्पूर्ण बोझ डाल कर चलता है...

वे अभ्यास क्षेत्र में आये।

इस क्षेत्र को विशेष रूप से अभ्यास के लिये विकसित किया गया था। कुछ विशाल वृक्ष थे, जिन पर विभिन्न ऊँचाइयों पर अनेक प्रकार के लक्ष्यों का निर्माण किया गया था। कुछ लक्ष्य प्रकट थे, कुछ अदृश्य। फिर खुला क्षेत्र था, जिसमें दौड़ते हुए लक्ष्यों का संधान करना था। अन्तिम चरण में भागते हुए अश्वों तथा रथों पर से लक्ष-वेध करना था।

आचार्य द्रोण ने राजकुमारों को भूमि पर सुखावन में बैठने का आदेश दिया; और बोले, "बालको! मैं यह मानता हूँ कि कृपाचार्य तुम्हें धनुर्विद्या की पर्याप्त शिक्षा दे चुके हैं। अपना प्रशिक्षण आरम्भ करने से पहले मैं जानना चाहूँगा कि तुम लोगों का अभ्यास किस कोटि का है। धनुर्वेद में उच्च प्रशिक्षण के लिये, यह तुम्हारी परीक्षा भी है।"

राजकुमारों ने उत्सुकता से गुरु की ओर देखा। दुर्योधन ने जैसे ऊबकर आस-पास देखा। कर्ण जाने कहाँ चला गया था। यह आचार्य द्रोण तो असाधरण रूप से वाचाल हैं। कृपाचार्य तो दो-चार आदेश दे कर, उन्हें अभ्यास करने के लिये छोड़ दिया करते थे।...कर्ण तो सूतपुत्र होने के नाम पर इनसे मुक्ति पा गया।... पर यह अर्जुन पर बहुत कृपालु हैं... जाने क्या देखा है इन्होंने इस मरगिल्ले अर्जुन में। एक वचन दे दिया तो गुरु जी धराशायी हो गये। उसकी भी जब इच्छा होगी, गुरु जी से ऐसा मृदु सम्भाषण करेगा कि गुरु जी उसकी बातों के माधुर्य से लिप्त हो जायेंगे। मीठा बोलने में अथवा कोई आश्वासन देने में व्यय ही क्या होता है। किन्तु इस समय चाटुकारिता की उसे क्या पड़ी थी...

"बालको! परीक्षा आरम्भ होती है।" द्रोण पुनः बोले, "सबसे पहले युधिष्ठिर तुम अपना धनुष ले कर यहाँ आ कर खड़े हो जाओ।"

युधिष्ठिर ने तत्काल आज्ञा का पालन किया।

"धनुष उठा कर बाण साधो।" गुरु ने आदेश दिया।

युधिष्ठिर ने वैसा ही किया।

"सामने के वट के वृक्ष पर भूमि से दस हाथ ऊपर काष्ठ का एक पक्षी बना हुआ है। उसके दक्षिण चक्षु में तुम्हें बाण मारना है। लक्ष्य साधो।"

युधिष्ठिर ने लक्ष्य साध धनुष की प्रत्यंचा खींची।

"तुम्हें क्या-क्या दिखायी पड़ रहा है?" गुरु ने पूछा।

"गुरुदेव! मुझे पक्षी दिखायी दे रहा है।" युधिष्ठिर ने कहा।

"पूरा पक्षी दिखायी दे रहा है?"

"हाँ, गुरुदेव!"

"वृक्ष भी दिखायी दे रहा है?"

"नहीं गुरुदेव!"

"केवल पक्षी दिखायी दे रहा है?"

"हाँ आर्य!"

"पूरा?"

"हाँ आर्य!"

"ठीक है। प्रत्यंचा ढीली कर दो और वहाँ से हट जाओ।" गुरु बोले। युधिष्ठिर चकित था : क्यों बाण छोड़ने का आदेश नही दिया गुरु ने? बाण छोड़े बिना ही, उसकी परीक्षा कैसे हो गयी?

युधिष्ठिर अपने स्थान पर लौट आया।

"दुर्योधन! तुम चलो!"

"मेरा नाम सुयोधन है गुरुदेव!" वह बोला।

"सुयोधन वह होता है जो युद्ध सुन्दर ढंग से लड़ता है; और दुर्योधन वह है जो विकट युद्ध करता है।" गुरु बोले, "बोलो! तुम कैसा युद्ध करोगे?"

"विकट युद्ध!"

"मैं पहले ही जानता था!" गुरु ने कहा, "इसलिये दुर्योधन कहा था। अब आओ।"

दुर्योधन आया। उसने तूणीर में से बाण निकाल धनुष पर रखा।

"अश्वत्थ वृक्ष की ओर देखो।"

दुर्योधन ने उधर देखा।

"वृक्ष के शिखर पर एक काष्ठ-पक्षी है। उसके वाम-चक्षु का वेधन करना है। बाण साधो।"

दुर्योधन ने बाण साधा। धनुष की प्रत्यंचा खींची और इससे पहले कि गुरु उससे कुछ पूछें अथवा आदेश दें, उसने बाण छोड़ दिया।

गुरु की भृकुटी तन गयी, "क्या किया तुमने?"

"लक्ष-वेध!" दुर्योधन पूर्ण निश्चिन्तता तथा आत्मविश्वास के साथ बोला।

"लक्ष-वेध हुआ क्या?" गुरु के स्वर में क्रोध था।

दुर्योधन ने उधर देखा : पक्षी के शरीर में कहीं भी बाण दिखायी नहीं पड़ रहा था।

"वृक्ष की बाईं ओर के क्षेत्र में किन्हीं झाड़ियों में बाण पड़ा होगा। जाओ उसे खोज कर लाओ।"

दुर्योधन ने अवज्ञा जताने के लिये, उद्दण्डता से धनुष को पटका और गुरु की बतायी हुई दिशा में बाण खोजने के लिये चल पड़ा।

"विद्यार्जन के लिये शालीनता और विनय की अत्यन्त आवश्यकता होती है; और गुरु के प्रति पूर्ण सम्मान की भी।" गुरु ने दुर्योधन की पीठ को कहा, "मेरा अनुमान है कि न कभी तुम धनुर्विद्या सीख पाओगे, न दक्ष सेनापति बन पाओगे।"

दुर्योधन चुपचाप आगे बढ़ता गया, मानो उसने गुरु की बात सुनी ही न हो।

'मुझे धनुर्विद्या सीख कर करना ही क्या है?' वह मन-ही-मन कह रहा था, 'मेरी तो गदा ही ठीक है।'

"भीम! तुम आओ।"

द्रोण को लगा कि उनका स्वर अब भी सामान्य नहीं हुआ है, उनका श्वास कुछ उग्र था और मन में ताप था। उन्होंने जाना कि शिष्य की उद्दण्डता गुरु के लिये बाण से भी अधिक कष्टप्रद होती है।...उन्हें लगा, प्रातः अर्जुन के व्यवहार से उनके मन में विद्यादान का जो उत्स फूटा था, दुर्योधन के व्यवहार से उसके प्रवाह में कहीं विघ्न उपस्थित हो गया है। उनके मन की प्रतिक्रिया अत्यन्त उग्र थी : तत्काल विद्यादान स्थगित करने की।...किन्तु उन्होंने स्वयं को सँभाला : ...'गुरु को तो निर्मल स्रोतस्विनी होना होगा। विद्यादान की अजस्र धारा। जो चाहे, उसमें से पान करे।'...किन्तु अगले ही क्षण उनका हृदय जैसे संकुचित हो उठा,...'नहीं! वे विद्या का मुक्त दान नहीं कर सकते। द्रोण ऐसा कभी नहीं करेंगे। उनका विद्यादान अपने लक्ष्य की ओर प्रेरित होगा। उन्हें अपनी आजीविका अर्जित करनी है...और...और जीवन के लक्ष्य की सार्थकता...

"धनुष-बाण उठाओ पुत्र!" उन्होंने भीम से कहा, "वट-वृक्ष के शिखर पर बँधे पक्षी को देखो। उसके किसी एक चक्षु को वेधना है। प्रस्तुत हो?"

"प्रस्तुत हूँ गुरुदेव!" भीम ने अत्यन्त नम्रता से गुरु की ओर देखा।

"मेरी ओर मत देखो वत्स! केवल लक्ष्य की ओर देखो।" गुरु बोले, "तुम्हें कौन-सा चक्षु दिखायी पड़ रहा है?"

"मुझे दोनों चक्षु दिखायी दे रहे हैं गुरुदेव!" भीम बोला; किन्तु इस बार उसने अपनी आँख लक्ष्य से नहीं हटायी, "जिसे कहें, उसे वेध दूँ।"

किन्तु गुरु ने बाण छोड़ने की आज्ञा नहीं दी। पूछा, "दोनों चक्षुओं के अतिरिक्त तुम्हें और क्या दिखायी पड़ रहा है?"

"मुझे पूरा पक्षी दिखायी पड़ रहा है।" भीम बोला।

"कुछ और भी?"

"हाँ गुरुदेव! मैं वृक्ष का अधिकांश भाग देख पा रहा हूँ। बस उसका स्तम्भ दिखायी नहीं दे रहा।" भीम अपनी इस असमर्थता पर कुछ संकुचित था।

"कोई बात नहीं वत्स!" गुरुदेव बोले, "वापस अपने स्थान पर लौट जाओ।"

भीम समझ नहीं पाया कि गुरु ने ऐसा आदेश क्यों दिया। पर सब कुछ समझना भीम के लिये आवश्यक ही कहाँ था। वह तो उतना ही समझता था, जितना उसके मार्ग में अवरोध होता था। वह बिना किसी रोष के, प्रसन्न वदन अपने स्थान पर लौट आया।

"दुःशासन!" गुरु ने पुकारा, "धनुष-बाण उठाओ और अश्वत्थ वृक्ष से बँधे, रज्जु से लटकते काष्ठ-पक्षी का लक्ष्य साधो।"

दुःशासन ने बिना एक भी शब्द कहे, गुरु के आदेश का पालन किया।

"तुम्हें क्या-क्या दिखायी दे रहा है?" द्रोण ने पूछा।

"क्या दिखायी देना चाहिए गुरुदेव?" दुःशासन ने भाव-शून्य ढंग से पूछा। उसके प्रश्न में न तो जिज्ञासा थी, न उद्दण्डता।

गुरु के उल्लास में पुनः बाधा पड़ी : यह इसकी वाचालता मात्र है, अथवा गुरु की अवज्ञा?...किन्तु अपने क्रोध को जैसे उन्होंने समझाया : अभी इन लोगों के साथ मेरा पूर्ण परिचय नहीं हुआ है। वे मेरी इच्छाओं और अपेक्षाओं को नहीं समझते और मैं उनके व्यवहार को पूर्णतः नहीं समझता। सम्भव है कि सम्प्रेषण अथवा परख में कहीं कोई अन्तराल हो। मुझे कुछ धैर्य रखना चाहिए।...

"तुम्हें वाम चक्षु दिखायी पड़ता है?"

दुःशासन ने जैसे और अधिक ध्यान से देखने का प्रयत्न किया और उसी प्रकार निर्विकार भाव से बोला, "कलाकार ने कदाचित वाम चक्षु को ठीक से चित्रित नहीं किया है गुरुदेव! रेखाएँ या तो इतनी धुँधली हैं कि दिखायी ही नहीं देतीं, या शायद रेखाएँ हैं ही नहीं। यह भी सम्भव है कि कलाकार ने किसी ऐसे रंग से रेखा बनायी हो, जो इतनी हल्की हो कि इतनी दूर से दिखायी ही न देती हो।"

द्रोण के मन में आया कि कहें, 'तुम तत्काल जा कर, राजवैद्य से चक्षु-परीक्षण कराओ। कहीं ऐसा तो नहीं कि पिता के प्रभाव से तुम्हारे चक्षुओं की ज्योति...' किन्तु उन्होंने कहा नहीं। बोले, "कोई बात नहीं वत्स! तुम धनुष-बाण रख दो और अपने स्थान पर लौट जाओ।"

दुःशासन ने धनुष-बाण रख दिये, "किसी को तो बाण चलाने दीजिए गुरुदेव। बाण चलाये बिना लक्ष-वेध की परीक्षा कैसे होगी?"

"समय आने पर बाण चलाने के लिये भी कहूँगा।" द्रोण ने हल्के रोष के साथ कहा, "शिष्य का धर्म, गुरु के आदेश का पालन करना है; गुरु को उपदेश देना नहीं। परीक्षा कैसे लेनी है और क्या परखना है—इन विधियों को परीक्षक निर्धारित करता है, परीक्षार्थी नहीं।"

दुःशासन कुछ नहीं बोला। वह बस सहज भाव से गुरु की ओर देख रहा था, जैसे पूछ रहा हो, कि मैंने ऐसा क्या कह दिया है, जिससे आप इस प्रकार रुष्ट हो रहे हैं।

"तुम आओ अर्जुन!" द्रोण चकित थे कि उनका स्वर स्वतः ही कैसे स्नेह-सिंचित हो गया था।

अर्जुन धनुष-संचालन स्थल पर आया। उसने पूर्ण श्रद्धा से हाथ जोड़ कर पहले द्रोणाचार्य को प्रणाम किया और फिर धनुष-बाण उठा लिया। उसने किसी भी लक्ष्य की ओर देखने के स्थान पर गुरु की ओर देखा।

द्रोण के चेहरे पर सहज उल्लास जागा : अर्जुन में गुरु-भक्ति का असाधारण तत्व था, वैसे ही कदाचित उसमें ग्रहण-क्षमता भी हो। वे कोमल स्वर में बोले, "वत्स! वट-वृक्ष पर भूमि से बीस हाथ ऊपर बँधे काष्ठ-पक्षी के वाम-चक्षु को देखो।"

अर्जुन ने बिना एक भी शब्द कहे, वैसा ही किया।

"साधु वत्स!" गुरु बोले, "अब बताओ, तुम्हें क्या दिखायी पड़ रहा है?"...

"पक्षी का चक्षु गुरुदेव!"

"चक्षु में क्या वत्स?"

"मात्र पुतलिका!" अर्जुन बोला।

"क्या तुम्हें वृक्ष के पत्ते दिखायी नहीं दे रहे?"

"नहीं गुरुदेव!"

"पक्षी का शरीर?"

"नहीं गुरुदेव?"

"पूरी आँख?"

"नहीं गुरुदेव?"

"मात्र पुतलिक?"

"हाँ गुरुदेव!"

"तो बाण छोड़ो पुत्र! तुम लक्ष-वेध करोगे!"

अगले ही क्षण अर्जुन ने बाण छोड़ा और वह पक्षी के वाम चक्षु की पुतलिक में जा धँसा।

"साधु वत्स! साधु!" गुरु बोले, "धनुष-बाण रख दो और अपने स्थान पर लौट जाओ।"

अर्जुन अपने स्थान पर आ कर बैठ गया तो गुरु बोले, "तुम लोगों ने देखा वत्स! लक्ष-वेध में व्यापकता की नहीं, सूक्ष्मता की आवश्यकता होती है। तुम्हारी दृष्टि तीव्र होनी चाहिए और केन्द्रीभूत हो कर लक्ष्य पर, मात्र लक्ष्य पर टिकनी चाहिए। धनुर्विद्या में ध्यान की उतनी ही एकाग्रता की आवश्यकता है, जितनी समाधि में। धनुर्धारी पूरा योगी होता है। जैसे योगी अपने श्वास अथवा किसी एक चक्र पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है, वैसे ही धनुर्धारी अपने लक्ष्य पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है...।"

"तो फिर हमारे पूर्व आचार्य ने हमें आज तक क्या सिखाया?" दुर्योधन ने द्रोण की बात बीच में ही काट दी, "क्या उन्होंने हमें धनुर्विद्या की शिक्षा नहीं दी?"

द्रोण को दुर्योधन की उद्दण्डता पुनः खटकी।...पता नहीं, वह उनका अपमान करने का प्रयत्न कर रहा था अथवा कृपाचार्य का। किन्तु उसके प्रश्न ने उन्हें अपनी बात और स्पष्ट करने का अवसर अवश्य दे दिया था।

"उन्होंने तुम्हें क्या सिखाया और क्या नहीं, यह मैं नहीं जानता; क्योंकि तुम और अर्जुन—दोनों ही उनके शिष्य रहे हो। किन्तु शायद तुम लोगों ने धनुष संचालन और लक्ष-वेध का अन्तर नहीं समझा है। एकाग्रता के बिना धनुष-संचालन हो सकता है और शत्रु-सेना पर लक्ष्य-विहीन बाण-वर्षा भी हो सकती है; किन्तु शत्रु सेना के योद्धा-विशिष्ट के शरीर के निश्चित अंग पर बाण मारना तो लक्ष-वेध से ही हो सकता है। इसके लिये तुम्हें चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करना होगा।"

द्रोण के अपने ही शब्द, उनके मन ही नहीं, उनकी आत्मा में भी गूँजते जा रहे थे : धनुर्धारी की दृष्टि केन्द्रिभूत हो कर केवल लक्ष्य पर ही टिकी होती न। उसे अपने लक्ष्य के अतिरिक्त और कुछ भी दिखायी नहीं देता; कुछ भी नहीं!

...उनकी दृष्टि भी अपने लक्ष्य पर टिकी हुई थी, मात्र अपने लक्ष्य पर। उन्हें और कुछ दिखायी नहीं दे रहा था। उनकी सारी वृत्तियाँ, सारी शक्तियाँ, उनकी बुद्धि, उनका विवेक, सब कुछ जैसे उस लक्ष्य की ओर प्रवृत्त था। उसके अतिरिक्त उन्हें न कोई दायित्व सूझता था, न आदर्श, न धर्म...वे अपना लक्ष-वेध करेंगे।...

सन्ध्या समय दुर्योधन, कर्ण को ढूँढता फिरा। वह उसे युद्धशाला के एक निभृत भाग में अनमना-सा बैठा हुआ मिल गया।

"क्या बात है कर्ण? तुम इतने अन्यमनस्क क्यों हो? प्रातः आचार्य ने तुम्हें वर्ग से बाहर क्या भेज दिया, तुम दिन-भर कहीं दिखायी ही नहीं दिये।" दुर्योधन ने अत्यन्त मैत्रीपूर्ण ढंग से उसके कंधे पर हाथ रखा।

"आचार्य ने मुझे वर्ग से बाहर नहीं भेजा; उन्होंने मुझे मेरा वर्ग बता दिया है।" कर्ण उदासीनता से बोला, "उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि मेरा और तुम्हारा वर्ग पृथक है। तुम्हारे वर्ग में प्रवेश करने का मेरा दुस्साहस उन्हें रुचिकर नहीं है। मुझे यह जीवन, बुद्धि, रण-कौशल केवल इसलिये मिला है कि मैं युद्ध में सारथि के रूप में क्षत्रिय राजकुमारों की सेवा करूँ अथवा सैनिक के रूप में उनके लिये अनाम, कीर्ति-शून्य मृत्यु का वरण करूँ।..."

"तुम सदा ही बातों को इस प्रकार विकृत कर देते हो कि मेरा अपना सारा चिन्तन विकृत हो जाता है। उससे मेरी चिन्ता और भी बढ़ जाती है।" दुर्योधन बोला, "तुम यह क्यों नहीं सोचते कि पहले पाण्डव ही हमारे शत्रु थे, अब आचार्य द्रोण भी उनमें सम्मिलित हो गये हैं। हमारा शत्रु-वर्ग प्रबल हो गया है। हम पहले से भी दुर्बल हो गये हैं।..."

"वे तुम्हारे शत्रु हैं या मित्र!" कर्ण बोला, "वर्ग तो तुम्हारा भी वही है।"

"क्या वर्ग के पीछे पड़े हो।" दुर्योधन झल्ला कर बोला, "युद्धशाला में आचार्य वर्ग बना भी लेंगे तो क्या! शासन हाथ में आते ही सारे वर्ग मैं अपने मनोनुकूल बना लूँगा। राज्य की ओर से उनका समर्थन नहीं मिलेगा तो आचार्य क्या कर लेंगे?" दुर्योधन ने जैसे थूक गटकी, "इतनी-सी बात नहीं समझते हो कि पहले हम केवल भीम से ही उत्पीड़ित थे, अब उस मरगिल्ले अर्जुन के भी पँख निकलने लगे हैं। वह भीम के समान बलवान नहीं है; किन्तु उसका लक्ष-वेध... और अब आचार्य का प्रिय शिष्य हो गया है। जाने आचार्य उसे कौन-कौन सी विद्याएँ सिखाने जा रहे हैं। हमें इस अर्जुन का भी कोई समाधान ढूँढना होगा।..."

"तुम चाहो तो मैं उससे द्वन्द्व युद्ध करने के लिये प्रस्तुत हूँ। उसे समाप्त कर ही डालूँ, ताकि तुम्हारी कोई चिन्ता ही शेष न रहे।"

दुर्योधन ने देखा, कर्ण की सारी उदासीनता और अन्यमनस्कता तिरोहित हो गयी थी। वह कितना तत्पर था : जागरूक, सचेत और सन्नद्ध—अर्जुन से द्वन्द्व युद्ध करने के लिये। दुर्योधन जानता था कि कर्ण ने सदा अर्जुन को ही अपना प्रतिद्वन्द्वी माना है, भीम से तो जैसे उसे कोई प्रतिस्पर्धा थी ही नहीं। किन्तु दुर्योधन को तो इन दोनों से ही नहीं, इन पाँचों से ही निबटना था।...

"द्वन्द्व-युद्ध का न कोई अवसर है, न कोई संभावना।" दुर्योधन बोला, "इस हस्तिनापुर में तुम्हें कौन अनुमति देगा इसकी। तुम्हें अर्जुन के वर्ग में तो बैठने नहीं दिया आचार्य ने; और तुम उससे द्वन्द्व-युद्ध करने का स्वप्न देख रहे हो।... हाँ! कोई उपयुक्त अवसर आये तो न मैं पीछे हटूँगा, न तुम पीछे हटना। और द्वन्द्व-युद्ध करो तो मात्र अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने तक ही मत रुकना, उसका प्राणान्त ही करना। किन्तु इस समय..."

"तो फिर क्या करने को कहते हो?" कर्ण की आँखों में फिर से अवसाद घिर आया, "मुझमें क्षमता की कमी हो, प्रतीभा की कमी हो तो मैं स्वयं को हीन मान भी लूँ; किन्तु यहाँ तो स्थिति यह है कि प्रतिभा की ओर से आँखें इस प्रकार बन्द कर ली जायेंगी, जैसे उसका कोई अस्तित्व ही न हो।..."

"कृपाचार्य ने तो कभी ऐसा नहीं किया था। तब मुझे यह संकट कभी नहीं दिखायी पड़ा था। मैं आश्वस्त था कि अर्जुन कितना भी बड़ा धनुर्धर हो जाये, तुम सदा ही उसकी अपेक्षा अधिक समर्थ रहोगे। किन्तु आचार्य द्रोण..."

"मुझे तो लगता है कि अब कृपाचार्य भी मुझे और कुछ नहीं सिखाएँगे...।" कर्ण बोला।

"क्यों?" कर्ण का वाक्य दुर्योधन के मन में भाले के समान चुभ गया।

"अब द्रोण युद्धशाला के आचार्य हैं, कुलपति! वर्ग-विभाजन कुलपति ही तो करेंगे। वे ही देखेंगे कि किस व्यक्ति में कैसी क्षमता है; और किसे, कैसी और कितनी शिक्षा दी जानी चाहिए। कृपाचार्य उनकी इच्छा के विरुद्ध तो कुछ

नहीं कर पायेंगे।” कर्ण ऊपर से हताश होते हुए भी, जैसे इस संभावना से लड़ने को तत्पर हो रहा था।

‘आचार्य द्रोण!’...दुर्योधन कुछ सोच रहा था, “तो आचार्य द्रोण का ही हृदय जीतने का प्रयत्न करना चाहिए।”

“कैसे?” कर्ण के स्वर में कुछ जिज्ञासा थी और कुछ शंका, “तुम तो कह रहे थे कि वे अर्जुन पर बहुत कृपालु हो गये हैं।”

सहसा दुर्योधन के नयनों में एक कौंध जागी, “आओ! मेरे साथ!”

“कहाँ?”

“तुम आओ तो!” दुर्योधन उसे प्रायः घसीटता हुआ अपने साथ ले चला।

अपने निवास के निकट, गंगा के घाट पर अश्वत्थामा बैठा था।

“गुरुपुत्र!” दुर्योधन ने पुकारा।

अश्वत्थामा ने जैसे चमत्कृत हो कर उसकी ओर देखा। उसे आज तक कदाचित ही कभी इस प्रकार सम्बोधित किया गया हो।

“मैं दुर्योधन हूँ गुरुपुत्र! और यह है मेरा मित्र कर्ण!” दुर्योधन बोला, “हमें पहचानते हो न? हम तुमसे मित्रता करने आये हैं।”

अश्वत्थामा के चेहरे पर उल्लास का भाव आया : गंगाद्वार में तो कभी कोई उससे मित्रता करने नहीं आया था; और जब कभी वह मित्रता करने गया, तो किसी ने भी उत्साह नहीं दिखाया। और यहाँ स्वयं महाराज धृतराष्ट्र का पुत्र उससे मित्रता करने आया है...यह दूसरा लड़का कर्ण है, जिसे पिता जी ने अपने वर्ग से बाहर भेज दिया था। उसे उन्होंने सूतपुत्र कहा था...किन्तु वह दुर्योधन का मित्र लगता है, अन्यथा वह राजकुमार के साथ इस प्रकार कैसे आता? उससे मित्रता करने पर दुर्योधन प्रसन्न होगा।...

दुर्योधन ने अपने कण्ठ में पहना स्वर्णहार उतारा, “यह लो गुरुपुत्र! हमारी मित्रता का उपहार! इसे पहन लो और हमारे वक्ष से लग जाओ। आज से हम अभिन्न मित्र हुए।”

अश्वत्थामा स्वर्ण हार को हाथ में लिये सम्मोहित-सा खड़ा दुर्योधन को देखता रहा...उसने तो आज तक तपस्वियों का ही जीवन व्यतीत किया था। उसके पास तो क्या, उसकी माता के भी पास कोई स्वर्णाभूषण नहीं था। और दुर्योधन उसे स्वर्णहार दे रहा था।...उसने जैसे दुर्योधन के आदेश में बँधे हुए स्वचालित ढंग से हार अपने कण्ठ में धारण कर लिया और दुर्योधन के वक्ष से जा लगने के लिये भुजाएँ बढ़ा दीं।

दुर्योधन ने उसे अपनी बाँहों में भींच लिया, “मित्र! आज से हम दो से तीन हुए।”

किन्तु अश्वत्थामा का ध्यान उस ओर नहीं था। वह मुग्ध भाव से अपने हार को देख रहा था, “बहुत मूल्यवान है क्या?”

“बहुत!” इस बार कर्ण बोला, “इतना कि इसे हस्तिनापुर का युवराज ही धारण कर सकता है।”

अश्वत्थामा की समझ में जैसे कुछ नहीं आया। उसने जिज्ञासा-भरी दृष्टि से कर्ण की ओर देखा, “क्या इससे एक गाय का क्रय किया जा सकता है; ऐसी गाय जो गोरस देती हो?

“इस हार के मूल्य में तुम अनेक गोशालाओं को क्रय कर सकते हो।” कर्ण ने बताया।

“तो मैं वही करूँगा।” अश्वत्थामा से जैसे अपनी उल्लसित उत्तेजना सँभाली नहीं जा रही थी।

“नहीं मित्र!” दुर्योधन आश्वासन-भरे स्वर में बोला, “तुम इसे अपने कण्ठ में धारण करो। गोरस का तुम्हें यहाँ अभाव नहीं रहेगा। मैं कल ही पिता जी से कह कर तुम्हारे यहाँ पाँच कोड़ी गोधन भिजवा दूँगा।”

“पाँच कोड़ी?” अश्वत्थामा की आँखें आश्चर्य से फट गयीं, “तुम सत्य कहते हो?”

“इसमें युवराज को असत्य कहने की क्या आवश्यकता है?” कर्ण ने पूछा।

“नहीं! मेरा अभिप्राय वह नहीं था।” अश्वत्थामा कुछ झेंप गया, “वह तो प्रसन्नता के कारण मेरे मुख से निकल

गया।”

“छोड़े इन बातों को।” दुर्योधन बोला, “आओ। कुछ देर गंगा में जल-क्रीड़ा करते हैं।”

अश्वत्थामा बिना कुछ कहे, उनके साथ चल पड़ा; किन्तु दुर्योधन स्पष्ट देख रहा था कि अश्वत्थामा अब भी मुग्ध दृष्टि से अपने उस हार को देख रहा था। दुर्योधन मन-ही-मन मुस्कुराया।...अर्जुन का लक्ष-वेध तो अभ्यासपरक ही था, उसने तो वास्तविक जीवन में लक्ष-वेध किया है।...

साथ-साथ तैरते हुए दुर्योधन बोला, “गुरुपुत्र! मेरी हार्दिक इच्छा है कि जब अपने पिता के पश्चात मैं हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बैठूँ, तब तुम भी अपने पिता के पश्चात इस युद्धशाला के कुलपति आचार्य बनो।”

“मैं भी कुछ ऐसा ही सोच रहा हूँ।” अश्वत्थामा सहज भाव से बोला, “मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है कि मैं वन में कुटिया बना कर तपस्या करूँ और मेरी सन्तान अन्न तथा गोरस को तरसे। मैं तो आचार्य के पद पर बैठ कर अपने शिष्यों को शिक्षा देने में ही अपनी तपस्या मान लूँगा।”

“हमारी भी यही इच्छा है।” दुर्योधन बोला, “किन्तु आचार्य को अपने विषय में तो प्रवीण होना ही चाहिए। न केवल प्रवीण, वरन सर्वश्रेष्ठ! तभी तो आचार्य का पद सुशोभित होगा।”

“हाँ! आचार्य को सर्वश्रेष्ठ होना ही चाहिए।” अश्वत्थामा बोला।

“किन्तु गुरुदेव ने तो अर्जुन को सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी होने का आशीर्वाद दिया है!” दुर्योधन ने उसे याद दिलाया।

“हाँ पिता जी ने तो ऐसा ही कहा था!” अश्वत्थामा कुछ चिन्तित था।

“क्या इस विषय में कुछ किया नहीं जा सकता?”

अश्वत्थामा बिना कुछ कहे, तट की ओर मुड़ गया। दुर्योधन और कर्ण ने भी उसका अनुसरण किया। अश्वत्थामा कुछ नहीं बोला। वह तैरता ही चला गया।

तट पर आ कर तीनों बालुका पर बैठ गये।

“किन्तु पिता जी ने तो अर्जुन को मात्र आशीर्वाद ही दिया था न!” अन्ततः अश्वत्थामा बोला, “उन्होंने उसे वरदान तो नहीं दिया। मुझमें क्षमता होगी तो मैं स्वयं ही उससे भी श्रेष्ठ धनुर्धर बनूँगा।”

“क्या ऐसा नहीं हो सकता कि गुरुदेव कर्ण को भी अपने ही वर्ग में शिक्षा दें। यदि ऐसा हो गया तो मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि अर्जुन कभी भी सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर नहीं बन पायेगा। कर्ण अवश्य ही उससे श्रेष्ठतर सिद्ध होगा।”

“नहीं! शायद यह सम्भव नहीं है।” अश्वत्थामा बोला, “पिता जी अपनी नीति नहीं बदलेंगे। वे सूतपुत्र को धनुर्वेद की उच्च शिक्षा नहीं देंगे। पर कोई बात नहीं...” वह तनिक उत्साह के साथ बोला, “पिता जी मुझे जो कुछ सिखायेंगे, वह मैं कर्ण को सिखा दूँगा।”

कर्ण ने इस प्रस्ताव पर तनिक भी उत्साह प्रकट नहीं किया। दुर्योधन अवश्य धीरे से बोला, “हाँ! इससे भी लाभ तो होगा ही।”

अश्वत्थामा के मन में दुर्योधन की बात घूमती रही : क्या सचमुच पिता जी की इच्छा है कि अर्जुन, उससे भी श्रेष्ठ धनुर्धर बने? क्या उन्हें अर्जुन अपने पुत्र से भी प्रिय है?...वह भी केवल इसलिये कि उसने उनकी इच्छा को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा की है?...

रात को सोने से पूर्व उसने पूछा, “पिता जी! क्या आप अर्जुन को मुझ से भी श्रेष्ठ धर्नुधर बनायेंगे? उसे मुझसे अधिक शिक्षा देंगे?”

“किसने कहा पुत्र?” द्रोण ने तनिक विस्मय के साथ पूछा।

“आपने उसे संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर होने का आशीर्वाद दिया है।”

“ओह! हाँ!” आचार्य जैसे क्षण-भर के लिये स्तब्ध रह गये; किन्तु उन्हें समाधान सूझने में अधिक समय नहीं लगा। बोले, “पुत्र! मैंने अपने शिष्यों में उसे सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर होने का आशीर्वाद दिया है। तुम मेरे शिष्य नहीं, पुत्र हो। पुत्र

का स्थान मेरी दृष्टि में शिष्य से भिन्न है और...और किसी भी प्रकार हीन नहीं है। पुत्र, पिता की सम्पूर्ण सम्पत्ति का अधिकारी होता है; और शिष्य को केवल वही मिलता है, जो गुरु उसे प्रदान करता है।"

"तो मुझे अर्जुन से आशंकित रहने की आवश्यकता नहीं है?"

"तनिक भी नहीं!" द्रोण बोले, "जो कुछ उसे सिखाऊँगा, तुम्हें उससे कुछ अतिरिक्त ही सिखाऊँगा। तुम्हें मैं अपना सम्पूर्ण ज्ञान दूँगा।"

द्रोण अपना अन्तिम और सम्पूर्ण सत्य कह चुके थे; किन्तु अश्वत्थामा जैसे उससे संतुष्ट नहीं था; वह उससे और अधिक स्पष्ट शब्दों में सुनना चाहता था।

"प्रातः उठने से ले कर प्रायः रात को सोने तक तो आपकी शिष्य-मण्डली आपके साथ रहती है, आप मुझे अतिरिक्त कब सिखायेंगे?"

द्रोण के अधरों पर मुस्कान की छाया झलकी, "तुम्हें उसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। किस शिष्य को कब क्या सिखाना है, इसका निर्णय करने का दायित्व और अधिकार—केवल गुरु का है।"

अश्वत्थामा समझ गया कि पिता जी इससे अधिक स्पष्ट शब्दों में और कुछ नहीं कहेंगे; किन्तु उनके शब्द उसे टालने के लिये आश्वासन मात्र नहीं थे, अवश्य ही उनके मन में कोई योजना होगी...

"मातुल!" अश्वत्थामा ने प्रातः कृपाचार्य से कहा, "मैं पिता जी को कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ। वे मुझसे अधिक प्रेम करते हैं अथवा अर्जुन से?"

"तुम्हारे लिये यह जानना क्यों आवश्यक है पुत्र?" कृपाचार्य के वाक्य में जिज्ञासा नहीं, स्पष्ट निषेध था।

"आवश्यक क्यों नहीं।" अश्वत्थामा ने विरोध किया, "मैं उनका पुत्र हूँ। एकमात्र पुत्र। शिष्यों का क्या है, वे आयेंगे और सीख कर चले जायेंगे। शिष्य तो उनका धृष्टद्युम्न भी था; किन्तु पुत्र के साथ तो ऐसा नहीं है।...तो फिर मैं उनके जीवन में अपनी स्थिति जानना चाहता हूँ।"

कृपाचार्य चुपचाप अश्वत्थामा को देखते रहे, जैसे सोच रहे हों कि कहें या न कहें। फिर जैसे कोई निर्णय करके बोले, "पुत्र! जहाँ तक आचार्य को मैं समझता हूँ, उनके विषय में यह कहना बहुत कठिन है कि वे कब किससे प्रेम करेंगे।" उनका स्वर कुछ मन्द हुआ, "तुम बता सकते हो कि सूर्य किसके लिये तप रहा है? इसलिये कि वह समस्त जीव-जन्तुओं को अपने प्रकाश के माध्यम से जीवन दे सके या इसलिये कि वह सूर्य बना रहे?"

अश्वत्थामा अपनी दृष्टि में अस्पष्टता का भाव लिये कृपाचार्य को देखता रहा, "यह कहना तो कठिन है मातुल! प्रकाश देने में सूर्य तनिक भी कृपणता नहीं करता; और उसके लिये तो उसे जलना ही पड़ेगा। किन्तु औरों को प्रकाश देने के लिये वह तपता है—यह कितनी बड़ी साधना है...।"

"आचार्य के विषय में भी इसी प्रकार कुछ कहना बहुत कठिन है पुत्र! तुम्हारे विकास के लिये, तुम्हारी पूर्णता और सामर्थ्य के लिये वे सब कुछ करने को तत्पर होंगे।...किन्तु वे अपनी साधना छोड़ दें और मात्र तुम्हारा निर्माण करें—कदाचित यह उनकी प्रकृति नहीं है।"

अतृप्ति के लक्षण, अश्वत्थामा के चेहरे पर स्पष्ट थे, "क्या वे घोर स्वार्थी हैं?"

"नहीं! ऐसा तो नहीं है। कदाचित मेरे शब्द मेरा अभिप्राय अपनी पूर्णता में सम्प्रेषित नहीं कर पाये।" कृपाचार्य चिन्तनशील हो गये; थोड़ी देर जैसे वे कोई समाधान खोजते रहे; फिर बोले, "तर्क से शायद बात स्पष्ट न हो। हम एक उदाहरण लें। सूर्य का ही उदाहरण लें। अपनी कक्षा में घूमने वाले, सौर-मण्डल के ये सारे ग्रह, सूर्य से ही उत्पन्न हुए हैं पुत्र! अतः वे उसकी सन्तान हैं। उसी ने इनका पालन-पोषण किया है। तुम कह सकते हो कि उसने अपनी सन्तान का पोषण और विकास करने में अपने सुख-आराम और सुविधा का तनिक भी ध्यान नहीं रखा है। उसने उनको जन्म दिया, उनका पोषण और विकास किया। वह उनका जीवन और महत्व बनाये रखने के लिये, आज भी स्वयं तप कर उन्हें प्रकाश दे रहा है। क्या वह आदर्श जनक और पिता नहीं है?"

"है मातुल! कोई जनक इससे अधिक और कर ही क्या सकता है?" अश्वत्थामा के मन में कोई संशय नहीं था।

"किन्तु," आचार्य बोले, "यदि उससे कहा जाये कि वह अपना सम्पूर्ण प्रकाश अपने द्वारा उत्पन्न किसी ग्रह को

दे दे और स्वयं बुझ जाये, तो क्या वह सहमत होगा?"

"उसे सहमत होना भी नहीं चाहिए।" अश्वत्थामा बोला, "वह अपना सर्वस्व दे भी देगा, तो भी कोई और ग्रह, सूर्य नहीं बन पायेगा मातुल! और सूर्य के बुझ जाने से—हमारा सौर-मण्डल नष्ट हो जायेगा। यह तो स्रष्टा के प्रति अन्याय होगा—कृतघ्नता।"

"यही स्थिति आचार्य की भी है पुत्र! वे तुम्हें अश्वत्थामा बनाने के लिये सम्पूर्ण साधना करेंगे; किन्तु अपना द्रोणत्व तुम्हें दे कर, तुम्हें द्रोणोत्तर बना दें और स्वयं रिक्त हो जायें, शायद यह उनकी प्रकृति नहीं है। कदाचित उनके मन में यदि यह हो भी कि वे अपना सर्वस्व, तुममें संचित कर दें, तो भी तुम द्रोण नहीं बन सकते।..."

अश्वत्थामा ने कृपाचार्य को ऐसी दृष्टि से देखा जिससे कोई आहत प्राणी, आखेटक को देखता है।

कृपाचार्य ने उसके मन के मर्म को समझा। बोले, "हम केवल सम्भावनाओं की बात कर रहे हैं पुत्र! सम्भव है कि तुम अपने पिता से भी श्रेष्ठ धनुर्वेदज्ञ बनो। उसके लिये वे अपनी साधना के साथ-साथ पूर्ण प्रयत्न करेंगे; किन्तु वे अपनी साधना रोक कर, तुम्हारे निर्माण में जुट जायें, और तुम वह न बन सको, जो वे तुम्हें बनाना चाहते हैं, तो वे दोनों ओर से ही जायेंगे।" कृपाचार्य ने थम कर अश्वत्थामा के चेहरे पर दृष्टि डाली, "देखो! सरिता, बिना यह सोचे हुए कि परिणाम क्या होगा, अपना सारा जल उलीच कर सागर को दे देती है—यह उसका भाग्य है कि उसके जल से सागर, सागर बनता है। दूसरी ओर समुद्र, मेघों को जलद बनने के लिये पर्याप्त जल देता है; किन्तु स्वयं को कभी रिक्त नहीं करता।"

अश्वत्थामा का असमंजस बढ़ता जा रहा था...वह अपने पिता को क्या समझे?

"क्या पिता जी मुझसे प्रेम नहीं करते?" अन्ततः उसने पूछा।

"नहीं! ऐसी कोई बात नहीं है।" कृपाचार्य शीघ्रता से बोले, "मेरा अभिप्राय ठीक से समझो पुत्र! तुम्हारे प्रति तुम्हारे पिता का प्रेम, मोह की सीमा तक पहुँचा हुआ है। तुम्हारे ही कष्ट ने तो उनसे उनकी गंगाद्वार वाली तपोभूमि छुड़ायी और वे द्रुपद की सभा में याचक के रूप में उपस्थित हुए। उन्हें आहत करने का सबसे सरल मार्ग है, तुम्हें पीड़ित करना। तुम्हारा कष्ट वे देख नहीं पायेंगे। किन्तु तुमसे वे इसलिये प्रेम नहीं करते, कि तुम अश्वत्थामा हो, प्रेम तो इसलिये करते हैं, क्योंकि तुम द्रोण-पुत्र हो। उनके जीवन का केन्द्र तुम नहीं हो, वे स्वयं हैं। महत्वाकांक्षी व्यक्ति ऐसा ही होता है पुत्र!"

अश्वत्थामा ने द्वन्द्व युक्त दृष्टि से कृपाचार्य को देखा, "मैं आपकी बात समझने-समझने को होता हूँ तो आप फिर एक अस्पष्ट सूत्र कह देते हैं।..."

"समय आने पर क्रमशः तुम सब कुछ समझ जाओगे पुत्र!" कृपाचार्य हँसे, "मैं तो केवल इतना ही कह रहा था कि वे तुमसे इतना प्रेम करते हैं कि तुम्हरी पीड़ा न देख सकने के कारण, अपनी साधना छोड़ धनार्जन के लिये गंगाद्वार से चले आये। अब वे तुम्हारे पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, सुख-सुविधा इत्यादि के लिये सब कुछ करेंगे; किन्तु तुम्हारे विकास में वे अपना अपमान नहीं भूलेंगे। अतः वे अर्जुन के माध्यम से अपना साध्य सिद्ध करेंगे।...मेरी बात समझ रहे हो न?" उन्होंने अश्वत्थामा को देखा, "वे प्रेम तुमसे करते हैं, अर्जुन से नहीं; किन्तु अर्जुन को वे संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर बनायेंगे; और किसी को उसकी समता करने अथवा उससे श्रेष्ठतर होते देख, उसके मार्ग में विघ्न भी खड़े करेंगे, क्योंकि अर्जुन उनके लिये उपयोगी है।"

"अर्थात उनमें पुत्र के प्रति पूर्ण समर्पण नहीं है।" अश्वत्थामा के स्वर में अप्रसन्नता थी।

"समर्पण तो है, आत्मसमर्पण नहीं है।" कृपाचार्य बोले, "किन्तु मैं तुम्हारी अप्रसन्नता का तो कोई कारण नहीं देखता।"

"यह जान कर भी नहीं?"

"नहीं!" कृपाचार्य ने उत्तर दिया, "मैं भी सब कुछ जान कर अप्रसन्न नहीं हूँ। मैं अपना गंतव्य पा कर प्रसन्न हूँ; उन्हें अपना गंतव्य पा लेने दो।"

"आपने अपना गंतव्य पा लिया मातुल?"

“हाँ, पुत्र! मेरा गंतव्य तुम हो।” कृपाचार्य बोले, “मैं तुम्हारे साथ ही नहीं हूँ—तुम्हारे लिये ही हूँ। अच्छे में, बुरे में; सुख में, दुख में। मैं जीवन में तुम्हें न प्रेम का अभाव खलने दूँगा, न समर्पण का।”

“मातुल!” अश्वत्थामा की इच्छा हुई कि कृपाचार्य के कण्ठ से लिपट जाये।

8

राधा देख रही थी, कर्ण जब से युद्धशाला से लौटा था, अत्यन्त उद्विग्न था। आज उसने न तो ठीक से भोजन ही किया था, न उसके पास बैठ कर, प्रतिदिन के समान अपनी युद्धशाला की चर्चा ही की थी।...राधा ने जब-जब उसके विषय में सोचा था, यही पाया था कि कर्ण का शरीर अब इतना बड़ा हो गया था कि उसकी गोद में समा नहीं सकता था; उसका सोचना-समझना भी कुछ इतना अधिक हो गया था कि राधा की बुद्धि उसके लिये छोटी पड़ने लगी थी। उसके लिये तो इतना ही पर्याप्त था कि उसका कर्ण नीरोग और हृष्ट-पुष्ट हो। गुरु से इतना ज्ञान पा ले कि पिता के स्थान पर राजा का सारथि हो सके।...और एक सुन्दर-सी वधू घर में आये, जो चन्द्रमा के समान पौत्रों को जन्म दे सके! किन्तु कर्ण जाने क्या-क्या सोचता था, और क्या-क्या करना चाहता था...

"वसु! क्या बात है पुत्र? जब से आया है, इसी प्रकार निढाल पड़ा है।" राधा बोली, "आज बहुत थक गया है क्या?"

"शरीर तो नहीं थका माँ!" कर्ण जैसे अपने-आपसे कह रहा था, "किन्तु लगता है मन थक गया है।"

"मन थक गया है! क्या कह रहा है रे!" राधा के चेहरे पर आश्चर्य था, "यह अवस्था तो मन के बहकने की होती है और तू कहता है कि मन थक गया है।" राधा उसके पास आयी, "कोई तरुणी है क्या जो तेरे मन को थका रही है?"

"नहीं माँ!" कर्ण के मन में आवेश जागा।...अब वह क्या समझाये अपनी इस अबोध माँ को, जो अपने इस सीमित-संकुचित संसार में अत्यन्त सन्तुष्ट है। अल्प-सन्तोषी है माँ। कुछ नहीं जानती, संसार के विषय में; पर कितनी सुखी है वह।...किन्तु न तो वह इतने से सन्तोष कर सकता है, न सुखी रह सकता है। कर्ण मात्र आजीविका, घर, पत्नी और बच्चों से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। न उसका जीवन यहीं तक सीमित है, न संसार!...वह कैसे बताये अपनी माँ को कि उसके मन को थकाने वाली कोई तरुणी नहीं है; उसके मन को थका रहा है समाज, यह संसार और यह जीवन!...भेद-भाव तो कृपाचार्य के मन में भी था, किन्तु आचार्य द्रोण! ये तो उसे राजकुमारों के वर्ग में ही बैठने नहीं देंगे। तो क्या शिक्षा प्राप्त करेगा वह? उनका प्रयत्न उसे अभी से पंगु कर देने का है। स्पर्धा और प्रतियोगिता तो उनमें होती है, जिन्हें समान शिक्षा मिली हो, समान अवसर मिला हो। उसे भी राजकुमारों के वर्ग में सम्मिलित किया जाये। उसे भी उन्हीं गुरुओं से उतनी ही शिक्षा मिले, जितनी राजकुमारों को मिल रही है। उसे भी अभ्यास का उतना ही अवसर और उतनी ही सुविधा दी जाये, जितनी कि राजकुमारों को दी जा रही है। तब यदि कोई राजकुमार उससे श्रेष्ठ ठहरता है, तो कर्ण उसे स्वयं से श्रेष्ठतर स्वीकार कर लेगा। वह यह तो नहीं कहता कि हीन होते हुए भी, उसे श्रेष्ठ स्वीकार किया जाये। वह तो केवल इतना ही कह रहा है कि उसे बलात हीन बनाने का प्रयत्न न किया जाये। जो वह है, उसे वही स्वीकार किया जाये; और वह अपना जितना विकास कर सकता है, उतना विकास करने का उसे पर्याप्त अवसर दिया जाये।...ये आचार्य द्रोण तो विचित्र माली हैं। वे किसी पौधे को तो अधिक उपजाऊ मिट्टी में रोपेंगे, मँगा-मँगा कर अधिक उर्वरक डालेंगे, उसे दिन में तीन-तीन बार सींचेगे, ताकि उसे जल का तनिक भी अभाव न हो; पशुओं से बचाने के लिये, उसके चारों ओर कँटीली बाड़ लगाएँगे; और दूसरे पौधे को उपजाऊ मिट्टी में पनपने ही नहीं देंगे; उसे वहाँ से उखाड़ कर, पथरीली धरती में रोप देंगे। उसे उर्वरक का निषेध कर देंगे, उसके लिये जल की व्यवस्था भी नहीं होने देंगे; और फिर उसकी जड़ों को काट-काट कर उसे बौना बना देंगे। ऐसे में वह बौना झाड़, वृक्ष के रूप में विकसित हुए अपने उस पड़ोसी पौधे को श्रेष्ठतर कैसे स्वीकार कर ले? कर्ण कैसे मान ले कि यह उसका भाग्य है।...वह उसे अपना भाग्य नहीं मानता।...वह इसे न्याय भी नहीं मानता। वह इस व्यवस्था को व्यवस्था ही नहीं मानता। वह इसके सम्मुख नतशिर नहीं हो सकता...

"वसु! क्या बात है पुत्र?" राधा ने पुनः पूछा।

"माँ!" कर्ण ने अनायास ही राधा की ओर देखा, "जैसे तेरी गोद, तेरे वसु के लिये छोटी पड़ने लगी है, वैसे ही यह युद्धशाला ही नहीं माँ! यह हस्तिनापुर भी तेरे वसु के लिये छोटा पड़ने लगा है।"...

"क्या कह रहा है तू!" "राधा हँसी," "तू भी कोई गंगा है या सूर्य कि तेरे लिये हस्तिनापुर छोटा पड़ने लगा है?"

कर्ण में एक अनाम-सा उत्साह जागा, "तुम ठीक कह रही हो माँ! जब तक सारे आर्यावर्त्त को अपने जल से

सींच न ले, तब तक गंगा, गंगा नहीं हो सकती; इस सारी पृथ्वी को अपनी स्वर्णकिरणों से ऊष्म, प्रसन्न और अन्धकार-विहीन न कर ले, तब तक सूर्य, सूर्य नहीं हो सकता। वैसे ही तेरा वसु, जब तक अपने धनुष की टंकार से सारी पृथ्वी को प्रकम्पित न कर ले, तब तक वह वसुषेण नहीं हो सकता...।"

राधा उसकी ओर ताकती रही। उसकी समझ में कुछ नहीं आया कि वह क्या कह रहा था!

"सत्य तो यह है माँ! कि एक गुरु ही लघु हो गया है—तुच्छ, संकीर्ण और संकुचित!" कर्ण जैसे आविष्ट हो उठा था, "तुमने कभी सुना माँ! कि कोई गुरु ही ज्ञान का दान करते हुए, उसकी मात्रा नापने लगे, उसमें अपना हानि-लाभ देखने लगे?"

"नहीं पुत्र! गुरु तो गंगा के समान है—जिसको जब और जितना ज्ञान चाहिए, अपनी ग्रहण-क्षमता के अनुसार ले जाये। गुरु के पास न ज्ञान का निषेध है, न अवरोध।"

"किन्तु अब हस्तिनापुर में वे गुरु नहीं रहे।" कर्ण बोला, "अब गुरु भी कूप के समान हो गये हैं, जिनसे चार भाजन जल अधिक निकाल लिया जाये, तो उनका जल सूख जाता है; नीचे से शिलाएँ निकल आती हैं। इसलिये वे गुरु देखते हैं कि किस भाजन में जल भरना है, और किसे रिक्त लौटा देना है।"

राधा आश्चर्य से अपने पुत्र को देखती रही, जैसे कह रही हो, कहीं ऐसा भी गुरु होता है, और कहीं ऐसी भी शिक्षा होती है?

"हस्तिनापुर में अब मुझे और ज्ञान नहीं मिल सकता माँ! यहाँ मेरे विकास के चारों ओर अब कँटीली बाड़ लग गयी है। ज्ञान कि इति! विकास का विराम!"

राधा अपने स्नेहिल नेत्रों से पुत्र की पीड़ा को देखती रही और सोचती रहीः कहे या न कहे? कहीं ऐसा न हो कि उसके शब्द पुत्र को सांत्वना देने के स्थान पर और पीड़ा दे जायें...

"क्या-क्या सोचा था मैंने!" कर्ण जैसे अपने-आपसे कह रहा था, "कैसे-कैसे स्वप्न सँजोए थे मैंने! मैंने हिमालय के उच्चतम शिखर तक जाने का संकल्प किया था; गरुड़ के समान विस्तृत आकाश पर मँडराते हुए, सूर्य को छूने की आकांक्षा की थी और...और ये कहते हैं कि टीले पर ही बसेरा कर लो; कुक्कुट की उड़ान को ही अपना आदर्श मान लो...।"

राधा ने उसके सिर पर अपना हाथ रखा। उसके केश सहलाये और धीरे से बोली, "मेरी माने तो इतने ही में सन्तोष कर ले पुत्र! कृपाचार्य ने भी तुझे पर्याप्त शिक्षा दी है और..." उसने जैसे कर्ण को नहीं, स्वयं अपने-आपको तौला, "और यदि तुझे लगता है कि सन्तोष तेरे भाग्य में नहीं है पुत्र! तो अपने पँखों की शक्ति तौल! गरुड़ का क्रीड़ा-क्षेत्र कोई एक ग्राम नहीं होता, वह सागर और गिरिशिखर लाँघ कर, सहस्रों योजन की उड़ानें भर अपने प्राप्तव्य तक पहुँचता है।..."

कर्ण ने चकित नेत्रों से अपनी अबोध माँ को देखा : क्या वह समझ रही है कि उसने क्या कहा है?...वह समझती है या नहीं, किन्तु उसने कर्ण को समझा दिया है कि गरुड़ कल्पना की उड़ान नहीं, पँखों की उड़ान भरता है... ज्ञान, किसी एक व्यक्ति, किसी एक स्थान अथवा किसी एक युद्धशाला की थाती नहीं है...

"माँ!" कर्ण ने राधा को अपनी भुजाओं में भर लिया, "तुम नहीं जानती हो माँ! कि तुमने मुझे क्या दे दिया है।"

कर्ण की आँखों में निद्रा नहीं थी। उसे ऐसे में नींद आ भी कैसे सकती थी। उसे अपने विषय में कोई-न-कोई निश्चय करना ही था। द्रोण उसे विशिष्ट शिष्य के रूप में स्वीकार नहीं करेंगे और अल्पज्ञान से उसे सन्तोष होगा नहीं! कर्ण, मार्ग में तो कहीं विराम ग्रहण कर ही नहीं सकता। उसे तो शिखर तक पहुँचना ही है...तो फिर जो माँ ने सुझाया है, वह उसे करना ही है। उसे अपने लिये गुरु खोजना होगा, जो उसे ब्रह्मास्त्र तक की शिक्षा दे...संसार में धनुर्वेद का जितना भी ज्ञान है, वह सब ममता-भरी दृष्टि के साथ, उसकी झोली में डाल दे...

किन्तु कौन होगा वह गुरु?

द्रोण?

सान्दीपनि??

परशुराम???

द्रोण ने उसे अस्वीकार कर ही दिया है। सांदीपनि...सुना है, सांदीपनि भी द्रोण के ही समान, केवल क्षत्रिय राजकुमारों को ही विद्या का दान करते हैं। उनका शुल्क? उनकी गुरु-दक्षिणा?? और उसके राजकुमार होने का प्रमाण??? उनके गुरुकुल में भी वैसा ही व्यवहार होगा, जैसा आचार्य द्रोण ने किया है। राजन्य वर्ग नहीं चाहता कि अच्छी शस्त्र-विद्या किसी और वर्ग को मिले। अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिये, उन्होंने शस्त्र-विद्या पर आधिपत्य जमा रखा है...और ये गुरु...अपने निहित स्वार्थों के कारण राजन्य वर्ग की इच्छा की उपेक्षा नहीं कर सकते...

सहसा कर्ण का मन जैसे उद्दीप्त हो उठा...गुरु परशुराम! गुरु परशुराम! कदाचित गुरु परशुराम के आश्रम में उसके राजकुमार होने का आग्रह नहीं किया जायेगा। उस आश्रम में तो क्षत्रियों के विरुद्ध आग्रह अब भी है। उस पीठ के आदिगुरु भगवान परशुराम ने तो क्षत्रियों से शत्रुता का ही निर्वाह किया था। उस पीठ पर बैठने वाले गुरुओं ने अनेक पीढ़ियों तक क्षत्रिय-विरोध को अपनी नीति बनाये रखा था।...कदाचित दशरथपुत्र श्री राम के समय से ही उस पीठ के गुरुओं ने क्षत्रियों के प्रति अपना विरोध शिथिल किया था। तभी तो देवव्रत भीष्म ने गुरु परशुराम के आश्रम में भी शिक्षा पायी थी।...किन्तु उनके उत्तराधिकारी, अगले कुलपति परशुराम ने पुनः ब्राह्मण-समर्थक नीति अपनायी थी; तभी तो उन्होंने संन्यास लेते हुए, जब अपना सर्वस्वदान किया, तो वह सब कुछ ब्राह्मणों की ही झोली में पड़ा—धन भी, शस्त्र भी और ज्ञान भी। आचार्य द्रोण भी तो वहाँ से शस्त्र तथा शस्त्र-ज्ञान दोनों लाये थे। यह भी विचित्र बात है कि गुरु किसी क्षत्रिय को शस्त्र-ज्ञान देना नहीं चाहता; और शिष्य केवल क्षत्रियों को ही शस्त्रों की शिक्षा देना चाहता है। गुरु जिनको वंचित करना चाहता है, शिष्य उन्हीं का सबसे बड़ा समर्थक है—तो फिर गुरु परशुराम की मर्यादा भी कहाँ रह पायेगी।...अब महेन्द्रगिरि पर परशुराम की पीठ पर बैठे गुरु क्या नीति चला रहे होंगे : क्षत्रियों से मित्रता की अथवा अमित्रता की?...और वैसे कर्ण को क्या अन्तर पड़ेगा। वह तो क्षत्रिय भी नहीं है...

तो फिर क्या करे वह? वह न ब्राह्मण है, न क्षत्रिय! किन्तु उसे शस्त्र-ज्ञान तो चाहिए ही, जैसे भी हो, जहाँ से भी हो...

कर्ण को लगा, उसका मस्तिष्क जैसे तनाव से फट जायेगा। उसने अपनी मुष्टिकाएँ पलंग पर दे मारीं और आकाश की ओर देखा : वर्ण नहीं दिया, वर्ग नहीं दिया तो कामनाएँ क्यों दीं मुझे? इससे तो अच्छा था कि तू मुझे कामना-शून्य, महामूढ़ बनाता, जो किसी भी स्थिति में सन्तुष्ट रहता...

सहसा, जैसे उसके मन में कोई बोला, 'कामनाएँ ही नहीं दीं, तुझे क्षमता भी दी है। क्षमता, वर्ण से अधिक महत्वपूर्ण है।'

कर्ण पलंग से उठ खड़ा हुआ : मेरे पास क्षमता है, तो फिर मैं अपनी क्षमता से इन वर्णों और वर्गों की बाधाओं को चूर्ण कर दूँगा। वर्ण और वर्ग तो मनुष्य की देन है। क्षमता विधाता ने बनायी है। मनुष्य के विधान में चाहे उसका स्थान हीन हो, किन्तु ईश्वरीय विधान में उसका महत्व गौण नहीं है। सहसा, कर्ण का मन जैसे कृतज्ञता से आप्लावित हो उठा : 'विधाता!...'

यहाँ मुझे सब जानते हैं—कर्ण सोच रहा था—किन्तु सागर-तट पर बसे महेन्द्रगिरि के आश्रम में कौन मुझे पहचानता है। कौन जानता है कि कर्ण सूतपुत्र है—वह भी औरस नहीं, पालित! यदि व्यक्ति को वेश और अभ्यास से ही पहचाना जायेगा, तो कर्ण कोई भी वेश धारण कर सकता है, किसी भी अभ्यास में स्वयं को ढाल सकता है। वह स्वयं को क्षत्रिय भी प्रमाणित कर सकता है और ब्राह्मण भी।...किन्तु क्षत्रिय राजकुमार सिद्ध करने के लिये उसे अपना स्थान बताना होगा, वंश बताना होगा, राजन्य-वर्ग के अन्य प्रमाण देने होंगे!...और बहुत सम्भव है कि वर्तमान गुरु परशुराम क्षत्रिय-विरोधी ही हों। क्षत्रिय बन कर भी वह उनसे शिक्षा न पा सका तो?...उससे तो अच्छा है कि वह ब्राह्मण का ही वेश धारण करे। ब्राह्मण तो कोई भी साधारण व्यक्ति हो सकता है—ग्रामवासी, आश्रमवासी, तपस्वी, साधक...उसके लिये वंश का प्रमाण आवश्यक है न राजा का...और अधिक सम्भावना भी यही है कि वहाँ ब्राह्मण को शिक्षा का ही आग्रह अधिक होगा...

'क्या गुरु से मिथ्या भाषण करोगे?'

उसके मन में से एक स्वर उठा। कर्ण स्तब्ध रह गया : यह तो उसने सोचा ही नहीं था।

किन्तु दूसरे ही क्षण उसके मन का जैसे कोई और तार बजा : 'सारा धर्म क्या तेरे ही भाग में पड़ा है? गुरुओं ने भी धर्म की मर्यादा तोड़ दी है। वे भी वर्ण और वर्ग पूछने लग गये हैं। ऐसे में सत्य का हिमालय क्या तुम ही उठाओगे? वे असत्य-कर्म कर रहे हैं और तुम असत्य भाषण भी नहीं कर सकते?'

'असत्य कर्म?' पहला स्वर बोला, 'इसमें असत्य कर्म क्या है?'

'क्यों? समाज के एक बृहत भाग को ज्ञान और क्षमता से हीन बनाये रखना सत्य-कर्म है क्या? क्यों प्रत्येक मनुष्य को अपने विकास का पूरा अवसर नहीं दिया जाता? क्यों किसी-न-किसी व्याज से उन्हें दलित और दमित रखा जा रहा है?...'

कर्ण को लगा, उसके मन में मात्र ज्ञान की पिपासा नहीं है, उसके मन में समाज के प्रति भीषण प्रतिहिंसा भी है। यह प्रतिहिंसा उससे मिथ्या-भाषण तो क्या, उससे कहीं अधिक क्रूर और पतित कर्म करवा सकती है। यह क्रूर समाज, जो उसे हीन होने का बोध दे रहा है—इसके शिरमौर लोगों को अपमानित और आहत करने में कर्ण को कदाचित कुछ सुख ही मिले।...जो समाज उसे वंचित कर रहा है, उसे वंचित करने में कर्ण को संकोच क्यों हो।...वह मिथ्या भाषण भी करेगा। गुरु को वंचित भी करेगा, सम्भव हुआ तो कुछ और भी करेगा...

कर्ण ने अपने-आपको ही ऐसी दृष्टि से देखा, जैसे वह सर्वथा किसी अपरिचित व्यक्ति को देख रहा हो!

9

मन्त्री कणिक ने आ कर महाराज धृतराष्ट्र को प्रणाम किया, "महाराज की जय हो!"

"कैसे हो मन्त्री?"

"महाराज की कृपा है।" कणिक बोला, "एक सूचना देना चाहता हूँ और थोड़ा मार्ग-दर्शन भी चाहिए महाराज! आपको कोई असुविधा तो नहीं होगी?"

"विचार-विमर्श में क्या असुविधा है मन्त्रीप्रवर!" धृतराष्ट्र की अन्धी आँखों ने मुस्कुराने का प्रयत्न किया, "आप तो मेरी आँखों का कार्य करते हैं। लोग समझते हैं कि धृतराष्ट्र अन्धा शासक है, अतः दयावश मुझे ज्ञान-चक्षु कहते हैं, यह नहीं जानते कि आप जैसे कितने ही चक्षु, उसके मध्य रह कर, केवल मेरे लिये ही देखते हैं।"

"अनुकम्पा है महाराज की।" कणिक बोला, "महाराज का मुझ पर इतना विश्वास न होता तो मैं इतना कुछ देखने और कहने की धृष्टता ही कैसे कर पाता!"

"बोलो कणिक! क्या समाचार लाये हो!"

"महाराज! युवराज दुर्योधन ने..."

"क्या कहा?" धृतराष्ट्र के चेहरे पर जिज्ञासा से अधिक प्रसन्नता थी। कणिक समझ नहीं पाया कि महाराज सुन नहीं पाये या सुन कर भी पुनः सुनना चाहते हैं।

"युवराज दुर्योधन ने...।"

धृतराष्ट्र की इच्छा हुई कि कहे, 'कणिक! दुर्योधन को तब तक युवराज कहते रहो, जब तक कि सारा संसार उसे युवराज स्वीकार ही न कर ले। जानते हो कणिक! कई बार मन में आता है कि शासन का यह भार अपने कंधों से उतार कर रख दूँ! एक दृष्टिहीन व्यक्ति को प्रजा-पालन का यह दुःसह बोझ उठाने की आवश्यकता ही क्या है। मैंने तो शासन-भार इसलिये स्वीकार किया था कि कहीं वह पाण्डु के हाथ में न चला जाये। अब तो ऐसी बात नहीं है। किन्तु मुझे भय है कि जिस क्षण मैंने सिंहासन छोड़ने की चर्चा की, उसी क्षण से हस्तिनापुर के शासन के उत्तराधिकारी का प्रश्न उठ खड़ा होगा। पितृव्य भीष्म युधिष्ठिर को युवराज बनाना चाहेंगे। इसीलिये मैं सिंहासन त्यागने की चर्चा ही नहीं करता। तुम दुर्योधन को युवराज कह कर पुकारते रहो, ताकि प्रजा इसे शासन की भावी नीति के रूप में स्वीकार करने की मानसिकता बना सके।'

किन्तु, यह सब कहा नहीं धृतराष्ट्र ने। बोला, "हाँ! कहो। क्या कह रहे थे तुम!"

"महाराज! युवराज दुर्योधन ने अपना अमूल्य कण्ठहार, गुरुपुत्र अश्वत्थामा को दे दिया है।..."

धृतराष्ट्र ने कुछ क्षण सोचने की मुद्रा बनायी, फिर बोला, "गुरुपुत्र को कण्ठहार दे दिया है! यह तो कोई समाचार नहीं है कणिक! गुरुपुत्र को तो नित्य कुछ-न-कुछ देते रहना चाहिए।"

"महाराज! यह कण्ठहार साधारण हार नहीं है।" कणिक बोला, "यह राजकोश का सबसे बहुमूल्य कण्ठहार है। यह सामान्यतः युवराज के राज्याभिषेक के दिन उन्हें पहनाया जाता है। युवराज दुर्योधन अवसर से पूर्व ही हठपूर्वक उसे पहने हुए थे; और अब उसे उन्होंने गुरुपुत्र को दान कर दिया है।"

"क्या युवराज को इतना भी अधिकार नहीं है?" धृतराष्ट्र के स्वर में ताड़ना थी, "तो वह युवराज कैसा?"

"महाराज! वह राज्य की सम्पत्ति है। आपकी सम्पत्ति! उसकी रक्षा करना हमारा धर्म है!"

"कणिक!" धृतराष्ट्र का स्वर अब भी कठोर था, "युवराज दुर्योधन मेरा पुत्र है और इस राज्य का स्वामी! एक कण्ठहार तो क्या, वह सम्पूर्ण साम्राज्य भी किसी को दे डालेगा, तो मैं तनिक भी आपत्ति नहीं करूँगा। तुम्हें भी इस बात को समझना चाहिए। न तो युवराज की इच्छा का विरोध होना चाहिए, न उसके कर्म में बाधा पड़नी चाहिए। युवराज की इच्छा और आदेश को, मेरी ही इच्छा और आदेश माना जाना चाहिए।"

कणिक असमंजस में थोड़ी देर चुप रहा, फिर बोला, "महाराज! यह सूचना आप तक इसलिये नहीं पहुँचायी गयी कि किसी का युवराज के कर्म से विरोध है और न ही इसलिये पहुँचायी गयी कि युवराज ने राज्य की कोई हानि की

है।"

"तो फिर किसलिये पहुँचायी गयी?"

"महाराज! युवराज अभी बालक हैं। उनमें सांसारिक चतुरायी नहीं है। कहीं ऐसा तो नहीं कि किसी की धूर्तता, उनकी अबोधता को वंचित कर रही हो।"

धृतराष्ट्र के चेहरे पर हल्की-सी चिन्ता झलकी; उसने तत्काल कुछ कहा भी नहीं। कणिक भी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करता रहा : कहीं ऐसा न हो कि अधैर्य से विपरीत प्रभाव पड़े।

अन्ततः धृतराष्ट्र ही बोला, "नहीं! ऐसा नहीं हुआ होगा। न युवराज इतना अबोध है, और न गुरुपुत्र इतना धूर्त!"

कणिक अब भी जाने के लिये, उठ कर खड़ा नहीं हुआ।

"और क्या बात है मन्त्रीवर?" धृतराष्ट्र ने पूछा। स्पष्टतः इस सारी चर्चा से उसका मन कहीं-न-कहीं उद्वेलित हो उठा; किन्तु ऊपर से उसने स्वयं को पूर्णतः स्थिर बनाये रखा था।

"भविष्य में क्या युवराज के ऐसे कृत्यों पर दृष्टि न रखी जाये?"

धृतराष्ट्र समझ गया कि कणिक इस प्रश्न के माध्यम से अपना रोष जता रहा है; कदाचित धृतराष्ट्र की प्रतिक्रिया उसे अच्छी नहीं लगी थी। बोला, "युवराज की सुरक्षा के लिये उस पर दृष्टि रखी जाये। सूचनाएँ मुझ तक आती रहें!"

"जो आज्ञा महाराज!" कणिक प्रणाम कर चला गया।

कणिक के जाने के पश्चात धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को युद्धशाला से बुलवा भेजा। दूत ने आ कर सूचना दी, "महाराज! युद्धशाला के कुलपति आचार्य द्रोण ने कहा है कि युद्धशाला के ब्रह्मचारी केवल गुरु की आज्ञा से कहीं आते-जाते हैं। उनके माता-पिता तथा अभिभावकों की इच्छाओं और निर्देशों का सम्मान यहाँ सम्भव नहीं है।"

धृतराष्ट्र ने कोई प्रतिक्रिया प्रकट नहीं की। बोला, "जाओ! तुम विश्राम करो।"

किन्तु उसका अपना मन विश्राम नहीं कर पाया। वह सिंहासन-कक्ष से उठ कर अपने शयन-कक्ष में चला आया।

"क्या बात है महाराज! आज सभा छोड़ कर असमय कैसे आ गये?" गान्धारी आ कर पास बैठ गयी, "स्वस्थ तो हैं न?"

"स्वस्थ तो हूँ; किन्तु थक गया हूँ!" धृतराष्ट्र का स्वर प्रसन्न नहीं था।

"ऐसा क्या किया, जिससे थक गये!" गान्धारी मुस्कुराई, "सिंहासन पर बैठना बड़े श्रम का कार्य होता है महाराज!"

"परिहास नहीं है यह!" धृतराष्ट्र बोला, "राजा हूँ मैं, और आदेश पितृव्य के चलते हैं। अब उन्होंने ला कर, एक आचार्य को भी मेरे सिर पर बैठा दिया है। वह कहता है कि युद्धशाला में राजा की आज्ञाएँ मान्य नहीं हैं।...मैं सबकी आज्ञाएँ मानूँ, क्योंकि मैं राजा हूँ?"

"राजा को ही सबकी आज्ञाएँ माननी पड़ती हैं महाराज! गान्धारराज को भी आपके पितृव्य की आज्ञा मान कर, अपनी पुत्री इसलिये हस्तिनापुर भेजनी पड़ी थी, क्योंकि वे राजा थे।..." गान्धारी को लगा, उसकी कटुता, अनायास ही उबल पड़ी थी। निश्चय ही, इस समय धृतराष्ट्र को सांत्वना की आवश्यकता थी, "वैसे जो कुछ मैंने सुना है, उसके अनुसार वस्तुतः आचार्य द्रोण, हस्तिनापुर में स्वयं को एक नये शक्ति-केन्द्र के रूप में स्थापित कर रहे हैं। अभी तक तो उनकी शक्ति के स्रोत पितृत्व ही हैं; किन्तु संभावना यही है कि बहुत शीघ्र ही वे स्वतन्त्र हो जायेंगे।"

"तुम यह सब कैसे जानती हो?"

"मैं भी इसी राजभवन में रहती हूँ और मेरे आस-पास भी अनेक दासियाँ हैं।" गान्धारी बोली, "और यह न भूलें कि शकुनि मेरा भाई है।"

"ओह!" धृतराष्ट्र बोला, "और क्या-क्या जानती हो तुम?"

"फिर कभी बताऊँगी! आप बतायें कि आपके साथ क्या हुआ है?"

धृतराष्ट्र ने उसे सारी घटना कह सुनायी।

"मैं समझती हूँ कि दुर्योधन अपनी समझ से सम्भावित शक्ति केन्द्र द्रोण को अपनी ओर प्रवृत्त करने के लिये ही गुरुपुत्र पर कृपालु हो रहा है।" गान्धारी बोली, "अर्जुन के विरुद्ध उसने कर्ण को साधा है; किन्तु द्रोण ने उसे अब व्यर्थ कर दिया है। कदाचित इसीलिये वह गुरुपुत्र को साध रहा है।" वह रुक कर धृतराष्ट्र की ओर मुड़ी, "आप पितृव्य की सत्ता कम कीजिए। द्रोण अपने-आप दुर्बल हो जायेगा।"

"महारानी की जय हो।"

गान्धारी ने अपनी पट्टी बँधी आँखें द्वार की ओर उठायीं, "कौन है?"

"मैं हूँ महारानी! राधा! वसुषेण कर्ण की माता!"

"आओ राधा!" गान्धारी ने स्निग्ध स्वर में कहा, "क्या बात है—कुछ उद्विग्न लगती हो!"

"महारानी! वसु घर छोड़ कर कहीं चला गया है।"

"कब?"

"रात को घर पर ही सोया था; किन्तु प्रातः अपने बिस्तर पर नहीं था।"

गान्धारी चुपचाप कुछ सोचती रही, जैसे कोई गणना कर रही हो। फिर बोली, "तुम चिन्ता मत करो राधा! वह किसी नये गुरु की खोज में गया होगा। तुम्हारा पुत्र अब कुछ अधिक समर्थ हो कर ही लौटेगा।"

10

युद्धशाला में दिन का आरम्भ प्रार्थना से होता था और उसके पश्चात व्यायाम की बारी आती थी। इन सारे कार्यक्रमों में युद्धशाला के सारे शिष्य, सामूहिक रूप से सम्मिलित होते थे। आचार्य द्रोण ने व्यायाम के लिये भी शिष्यों के वय का दृष्टि से वर्ग नहीं बनाये थे। दौड़ने के अभ्यास में अर्जुन की दृष्टि बार-बार आचार्य-पुत्र पर पड़ी थी। आचार्य-पुत्र वय में कदाचित नकुल-सहदेव के ही समान था; किन्तु वह उनके बराबर ही दौड़ने का प्रयत्न कर रहा था। अपने वय के अनुसार उसे अच्छा धावक कहा जा सकता था; किन्तु सारे शिष्यों के बीच तो वह बार-बार पिछड़ ही रहा था...अर्जुन के मन में बार-बार एक विचित्र प्रकार का स्नेह उमड़ता था। उसकी इच्छा होती थी कि वह उसकी किसी प्रकार कोई ऐसी सहायता करे कि वह शेष लोगों के साथ ही दौड़ सके। किन्तु दौड़ने में कोई किसी की क्या सहायता कर सकता था। वह उसे गोद में उठा कर तो दौड़ नहीं सकता था...

भीम विचित्र धावक था। वह दौड़ते-दौड़ते किसी छोटे बालक को उठा कर अपने कंधे पर बैठा लेता था और भागता चला जाता था। वह युद्धशाला के विद्यार्थियों में सबसे बलिष्ठ था, इसमें कोई संदेह नहीं था; किन्तु यह तो कदाचित उसका अभ्यास मात्र ही था कि वह अपने दोनों कंधों पर एक-एक बालक को बैठा कर, दौड़ता रहता था, और फिर भी उसके पिछड़ने का कोई प्रमाण नहीं था। कदाचित उसने यह अभ्यास किसी लक्ष्य-विशेष से आरम्भ नहीं किया था—यह उसकी क्रीड़ा मात्र थी, या फिर अपनी असाधारण शारीरिक शक्ति का अतिरिक्त विश्वास। किन्तु अब जैसे यह उसकी दिनचर्या ही हो चुकी थी।

व्यायाम की समाप्ति पर सारे छात्रों को, अपने दिन-भर के प्रयोग के लिये गंगा से जल भर कर लाना पड़ता था। आचार्य की दृष्टि से यह युद्धशाला का आवश्यक कार्य था—अन्यथा युद्धशाला के अन्तेवासियों के लिये इतना जल भरने के लिये कितने ही भृत्य लगाने पड़ते। साथ ही कहीं उसके पीछे राजकुमारों को अपने लिये श्रम करने तथा आवश्यकता पड़ने पर आत्म-निर्भर होने के लिये प्रशिक्षण देना भी था।...किन्तु शिष्यों की दृष्टि से यह क्रीड़ा मात्र ही थी। युद्धशाला के कठोर अनुशासन में यही एक काम था, जिसकी अवधि में उन पर किसी प्रकार का कोई अनुशासन नहीं था। उस समय उन्हें पूर्णतः उन्मुक्त वातावरण मिलता था। वे लोग परस्पर वार्तालाप करते, अपने मित्रों की संगति का सुख उठाते हुए, मन-माना समय ले कर जल भरने का काम करते थे। इसमें जो जितना अधिक समय लगाता था, वह अपने लिये मुक्त वातावरण का उतना ही अधिक समय पा जाता था। अतः कम-से-कम समय में जल भर कर लौट जाने की जल्दी किसी को भी नहीं रहती थी।...

फिर भी अर्जुन के मन में अनावश्यक विलम्ब करने की इच्छा कभी नहीं जन्मी थी। उसके ध्यान में निरन्तर यह बात बनी रहती थी—वहाँ आचार्य उनकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। उनके पहुँचते ही प्रशिक्षण आरम्भ हो जायेगा। गुरु न सिखाना चाहें तो और बात है; किन्तु यदि गुरु सिखाने को तत्पर खड़ा हो, तो शिष्य क्यों उसकी अवहेलना करे। अच्छा गुरु तो सौभाग्य से ही मिलता है।...तो फिर अपने ही सौभाग्य की अवहेलना करने का क्या लाभ? ...भीम ही कभी अपनी मस्ती में जल-क्रीड़ा न छोड़ना चाहे तो बात और थी; अन्यथा प्रमाण-कोटि की घटना के पश्चात से, अपने भाइयों के विषय में युधिष्ठिर इतना सावधान रहता था कि वह प्रायः किसी को पृथक होने नहीं देता था। वैसे तो वे पाँचों ही अपने-अपने स्थान पर पर्याप्त सावधान थे, फिर भी भीम का, किसी भी क्षण असावधान हो जाना कोई बहुत असम्भव नहीं था।...किन्तु युधिष्ठिर निरन्तर उन चारों की चौकसी करता ही रहता था।

अर्जुन ने जल का भाजन यथास्थान रखा और अभ्यास-क्षेत्र में आ गया।... उसने आश्चर्य से देखा, अश्वत्थामा न केवल उससे पहले ही वहाँ उपस्थित था, वरन वह धनुर्विद्या का अभ्यास भी आरम्भ कर चुका था। उसने एक बाण छोड़ा और सामने के तीनों वृक्षों से अनेक लक्ष्य टूट-टूट कर भूमि पर गिर पड़े।

अर्जुन स्तब्ध-सा खड़ा रह गया। उसने तो इस प्रकार की विद्या पहली बार ही देखी थी। कैसा विचित्र बाण-संधान था कि बाण जैसे सीधी रेखा में न चला हो, न ही लक्ष्य से टकरा कर, उसके वेग में कोई मंदता आयी हो। वह तो जैसे धनुर्धर का छोड़ा हुआ बाण न हो, स्वयं ही कोई धर्नुधर हो, जो एक लक्ष्य पर आघात कर, स्वतन्त्र रूप से दूसरा आघात करने का निर्णय कर, पुनः अपनी दिशा और वेग का निर्धारण करता हो। अद्भुत!...

अर्जुन जा कर गुरु के सम्मुख खड़ा हो गया। पहले तो मन में एक जिज्ञासा उठी कि अभी शिष्य तो आये ही

नहीं हैं, तो गुरु ने अभ्यास कैसे आरम्भ करवा दिया? फिर मन में एक पश्चाताप-सा जागा कि व्यर्थ ही विलम्ब कर दिया। गुरु को कदाचित अपने मन्त्र को दुहराना पड़े। अच्छा होता कि धनुर्विद्या के सारे छात्र एक साथ ही आ जाते, तो गुरु एक ही बार में सबको समझा देते। उन्हें बार-बार श्रम न करना पड़ता।...

गुरु ने उसकी ओर देखा, "अर्जुन! तुम कल के पाठ का अभ्यास करो।"

अर्जुन जैसे स्तब्ध रह गया : और यह जो उन्होंने अश्वत्थामा को अभी सिखाया था—उसकी कोई चर्चा ही नहीं!...किन्तु फिर जैसे स्वयं ही उसने अपने-आपको समझा लिया—गुरु अपनी इच्छा से, अपनी योजनानुसार उसे सिखायेंगे। यह निर्णय करने का अधिकार उसे नहीं है कि गुरु उसे कब क्या सिखायेंगे...उसे तो मनोयोगपूर्वक वह सीखते जाना है, जो गुरु उसे सिखा रहे हैं...गुरु का आश्रम कोई हाठ तो नहीं, जहाँ जा कर हम अपनी इच्छा से अपनी प्रिय वस्तु क्रय कर लायें। यह तो विद्या-प्राप्ति का क्षेत्र है, जहाँ गुरु अपनी इच्छा से विद्या का दान करते हैं। विक्रेता से तो कोई भी वस्तु, मूल्य चुका कर प्राप्त की जा सकती है, किन्तु दान तो मूल्य दे कर प्राप्त नहीं किया जा सकता। याचक तो दाता को अपनी सेवा से प्रसन्न ही कर सकता है या अपनी याचना से उसके मन में करुणा उपजा सकता है। और फिर विद्या-दान, अपने लाभ पर दृष्टि टिकाये हुए किसी व्यापारी का कार्य है भी नहीं। जब कभी भी अर्जुन, गुरु के विषय में सोचता है, तो उसके मन में एक वृक्ष का ही बिम्ब उभरता है। वृक्ष की जितनी सेवा की जाये, वह उतना ही फल देता है। फल आ जाने पर वृक्ष उसे अपने पास नहीं रखता। कोई भी इच्छुक उसे ले सकता है। कोई भी उसे ग्रहण नहीं करेगा, तो वृक्ष स्वयं ही उसे त्याग देगा। कोई भी वृक्ष अपने लाभ के लिये फल उत्पन्न नहीं करता। वह दान के लिये ही है। किन्तु यदि ऋतु से पूर्व, समय से पहले वृक्ष से कोई फल प्राप्त करना चाहे, तो यह सम्भव नहीं है।...अर्जुन का मन गुरु के प्रति श्रद्धा से भर जाता है...और कौन है ऐसा जो जीवन-भर केवल इसलिये श्रमपूर्ण साधना करता है कि वह अपना अर्जित ज्ञान अपने शिष्यों को दे सके!...

अर्जुन पिछले दिन के पाठ का अभ्यास करता रहा, और एक-एक कर अन्य शिष्य भी आते रहे। आचार्य ने उस दिन का धनुर्वेद का नया मन्त्र आरम्भ किया...अर्जुन चकित-सा सोचता रह गया कि जो मन्त्र उन्होंने प्रातः अश्वत्थामा को दिया था, उसकी उन्होंने चर्चा तक नहीं की...

अर्जुन के हाथ धनुष और बाणों को साधते रहे; उसकी दृष्टि विभिन्न लक्ष्यों पर टिकी रही; किन्तु उसका मन अनवरत, प्रातः के मन्त्र पर ही टँगा रहा। आचार्य ने अपने शिष्यों को वह मन्त्र क्यों नहीं दिया, जो प्रातः अपने पुत्र को दिया था? क्या कारण हो सकता है? क्या वे अपने शिष्यों को उसके योग्य नहीं समझते? क्या यह उनकी शिक्षा देने की पद्धति है कि वे अपने समय से शिक्षण आरम्भ कर देंगे, चाहे कोई शिष्य उनके निकट आये या न आये? क्या वे उन्हें समय का महत्व सिखाना चाहते हैं? जो समय के इस महत्व को नहीं समझता, उसे दण्डित करना चाहते हैं?

किन्तु अर्जुन के मन में कहीं यह बात टिकती ही नहीं थी, कि कोई गुरु अपने शिष्यों को दण्डित करने के लिये उन्हें शिक्षा से वंचित कर देगा। गुरु का यह रूप, अर्जुन की बुद्धि में समाता ही नहीं है—जैसे वह उस वृक्ष की कल्पना नहीं कर पाता, जो अपने फल याचक को नहीं देता।...इतना ही नहीं, इसमें शिष्य के रूप में उसे अपनी निष्फलता का भी आभास हो रहा था। उसकी अपनी आत्मनिष्ठा भी जैसे आहत हो रही थी। उसका शिष्यत्व अपमानित हो रहा था। उसके लिये अपने प्रति यह कल्पना असह्य थी कि वह शिष्य-रूप में गुरु के निकट जाये और गुरु में गुरुत्व न जाग कर, तुच्छता जागे। वह ज्ञान के लिये हाथ पसार कर याचना करे और अपनी मुट्ठी बन्द कर ले...इसमें गुरु को ही क्या दोष देना। दोष तो उसकी याचना में भी हो सकता है।

उसके मन में आया कि वह युधिष्ठिर से भी बात करे, भीम को भी बताये कि आचार्य ने प्रातः अश्वत्थामा को जो मन्त्र दिया था, वह उन्होंने किसी और को नहीं दिया।...किन्तु, उसके अपने ही विवेक ने जैसे उसे रोक दिया : क्या वह अपने गुरु पर आक्षेप लगा रहा है? क्या वह गुरु में छिद्रान्वेषण कर रहा है? यह शिष्य का धर्म नहीं है। श्रेष्ठ शिष्य का ऐसा आचरण नहीं होता।

वैसे भी धनुर्विद्या का एक मन्त्र न सिखाया जाने पर अर्जुन जिस प्रकार स्वयं को वंचित समझ रहा है, वैसा न युधिष्ठिर को लगेगा और न ही भीम को। युधिष्ठिर का जीवन तो जैसे सत्य और धर्म का अन्वेषण है—विद्या का उतना महत्व नहीं है, उसके लिये।...और भीम के हाथ में गदा आ जाये तो कोई शस्त्र उसके लिये महत्वपूर्ण नहीं रह जाता। बहुत सम्भावना है कि भीम, अर्जुन की इस चिन्ता का उपहास करे...

नहीं! किसी से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। न ही और कुछ सोचने की। कल प्रातः अर्जुन प्रयत्न करेगा कि वह शीघ्रातिशीघ्र जल भर कर लौटे और सबसे पहले गुरु के निकट उपस्थित हो जाये। फिर गुरु जो कुछ भी बतायेंगे—जितना भी बतायेंगे—वह उस 'समग्र' को ग्रहण करेगा। जो कुछ गुरु देंगे, वह उस सबको प्राप्त करेगा।

अगले दिन प्रातः व्यायाम पूरा कर, अनायास ही अर्जुन की दृष्टि अश्वत्थामा को खोजने लगी। जाने क्यों उसके मन में एक अरूप-सा विचार उठ आया था कि अश्वत्थामा के पहुँचने पर ही आचार्य धनुर्वेद का मन्त्र आरम्भ करते हों। ...अश्वत्थामा के पहुँचने के पहले कदाचित ही वे शिक्षण आरम्भ करेंगे। यद्यपि उसका विवेक एक समानान्तर उदघोष करता चलता था कि अर्जुन ऐसे विचारों को अपने मन में न आने दे। यह गुरु के प्रति अश्रद्धा है; और अश्रद्धा से विद्या का नाश होता है।... अर्जुन को लगा कि उसके मन ने जैसे उसके विवेक की बात मान ली है। उसने उस दिशा में सोचना छोड़ दिया है, फिर भी उसकी आँखों ने जैसे अश्वत्थामा की खोज नहीं छोड़ी। अश्वत्थामा उससे छोटा था, उसके बराबर वेग से भाग भी नहीं सकता था, फिर भी वह कैसे सबसे पहले आचार्य के निकट पहुँच जाता था? यह कला तो उससे सीखनी ही होगी।

व्यायाम के पश्चात सबको अपने-अपने कुम्भ ले कर जल लाने के लिये जाना था। अर्जुन ने देखा, सबसे पहले अश्वत्थामा ही कुम्भागार की ओर भागा। निश्चित रूप से अन्य किसी शिष्य को जल लाने की कोई जल्दी नहीं थी। किन्तु अर्जुन को तो जल्दी थी ही।...

कुम्भागार के द्वार पर ही आचार्य-पत्नी खड़ी थीं। अश्वत्थामा को देखते ही उन्होंने कुम्भ उठा कर उसकी ओर बढ़ा दिया। कुम्भ ले कर अश्वत्थामा झपट कर पीछे लौटा।

अर्जुन भी जा कर आचार्य-पत्नी के निकट खड़ा हो गया। उसने उनके चरण छू कर प्रणाम किया। किन्तु आचार्य-पत्नी ने कोई भी कुम्भ उठा कर, उसकी ओर नहीं बढ़ाया। आशीर्वाद दे कर भी, उनकी भुजा किसी कुम्भ की ओर नहीं बढ़ी। मुस्कुरा कर उन्होंने पूछा, "कैसे हो वत्स?"

अर्जुन को अच्छा लगा। आचार्य-पत्नी के प्रश्न में स्नेह था। उन्हें आचार्य के शिष्यों के कुशल-मंगल के समाचार में रुचि थी। किन्तु, अर्जुन यह भूल नहीं पा रहा था कि उसे विलम्ब हो रहा है। इतनी देर में तो अश्वत्थामा गंगा के जल तक जा पहुँचेगा, इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक अर्जुन कुम्भ ले कर घाट पर पहुँचेगा, तब तक अश्वत्थामा, अभ्यास-क्षेत्र में पहुँच जायेगा; और जब तक अर्जुन जल का कुम्भ आचार्य-पत्नी को सौंप कर अभ्यास-क्षेत्र में पहुँचेगा, तब तक गुरुदेव अश्वत्थामा को धनुर्वेद का नया मन्त्र दे भी चुके होंगे।...

"आर्ये! मेरा कुम्भ!"

आचार्य-पत्नी ने तब भी कुम्भ उसकी ओर नहीं बढ़ाया। मुस्कुरा कर बोलीं, "खोज लो पुत्र! और हाँ! अपना ही कुम्भ ले कर जाना। वही देखो, जो कल ले कर गये थे। यह न हो कि तुम किसी और का कुम्भ ले जाओ और वह बेचारा अपना कुम्भ खोजता ही रह जाये।..."

अर्जुन का मन जैसे हताश हो गया : इतने कुम्भ थे यहाँ। उनमें से अपना कुम्भ अर्जुन कैसे खोज सकता है। और यदि वह खोज भी लेगा तो इस खोज में ही कितना विलम्ब हो जायेगा। और उधर...

किन्तु कुम्भ तो उसे खोजना ही था।

उस दिन अर्जुन का मन किसी काम में नहीं लगा। उसका ध्यान लौट-लौट कर उसी ओर चला जाता था। धनुर्विद्या में अश्वत्थामा कुछ ऐसा सीख रहा था, जो अद्‌भुद था और अर्जुन उससे वंचित हो रहा था।...गुरु ने उसे संसार में सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर होने का आशीर्वाद दिया था और वह अपने ही गुरु से उनका सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होता जा रहा था...

उसका मन दूसरी दिशा में भी सोच रहा था : उसे गुरु के निकट पहुँचने में विलम्ब हो रहा था अथवा गुरु स्वेच्छा से उसे विलम्ब करवा रहे थे, ताकि अश्वत्थामा को वे दूसरों की तुलना में कुछ अतिरिक्त सिखा सकें...तभी तो आचार्य-पत्नी अपने हाथों से अश्वत्थामा को कुम्भ थमा देती हैं और दूसरों को अपना कुम्भ खोजना पड़ता है। अश्वत्थामा अपना कुम्भ ला कर माता को पकड़ा, बिना कुछ कहे-सुने भाग जाता था और अन्य शिष्यों को वे बताती हैं कि कुम्भ को कहाँ रखना है। वह स्थान खोजने और वहाँ तक कुम्भ पहुँचाने में भी समय व्यतीत होता है।...उधर गुरु किसी की प्रतीक्षा

नहीं करते। अश्वत्थामा के पहुँचते ही वे उसे मन्त्र दे देते हैं...यह सब क्या है?...

सन्ध्या समय जब वह एकान्त में अपने भाइयों से मिला तो वह चर्चा किये बिना नहीं रह सका।

"तुम्हारा अभिप्राय है कि गुरुदेव जान-बूझ कर ऐसा करते हैं कि उन्हें एकान्त में अश्वत्थामा को कुछ अधिक सिखाने का अवसर मिल जाये?" युधिष्ठिर ने पूछा।

सहमति में अर्जुन ने सिर हिलाया, "मैंने देखा है कि अश्वत्थामा को जो कुम्भ आचार्य-पत्नि ने दिया था, उसका मुख, शेष कुम्भों की तुलना में बड़ा था। उसमें जल जल्दी भरा जा सकता था। शेष कुम्भों का मुख सँकरा है। उनमें जल भरने में अधिक समय लगता है। यह सब कुछ अकारण ही तो नहीं हो सकता।..."

"पर गुरुदेव ऐसा क्यों करेंगे?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"कारण अत्यन्त स्पष्ट है।" भीम बोला, "अश्वत्थामा उनका अपना पुत्र है।"

"पर कोई गुरु अपने पुत्र और शिष्य में अन्तर नहीं करता!" सहदेव बोला, "गुरु से कुछ भी पाने के लिये, उनका शिष्य ही बनना पड़ता है। पुत्र भी शिष्य बन कर ही उनसे कुछ पा सकता है।"

"व्यर्थ का आदर्शवाद मत बघारो।" भीम कुछ अधिक बल दे कर बोला, "आदर्श में सबसे बड़ा दोष यही है कि वह व्यक्ति की आँखें बन्द कर देता है। जो कुछ तुम्हारी आँखों के सम्मुख घटित हो रहा है, वह तुम्हें दिखायी नहीं देता और जिसका अस्तित्व नहीं है, तुम उसको सत्य मान कर बैठे रहोगे।..."

"यदि ऐसा ही है मध्यम!" नकुल बोला, "तो आचार्य जब चाहें, जो चाहें, अश्वत्थामा को सिखा सकते हैं। वह उनका पुत्र है, उनके साथ रहता है। घर के अवरोध में वे जो कुछ सिखायेंगे, उसे कोई जान भी नहीं पायेगा।"

"तुम उन मूर्खों में से हो, जो स्वयं को अत्यन्त बुद्धिमान समझते हैं।" भीम बोला।

"भीम!" युधिष्ठिर के स्वर में विरोध था।

"रहने दें ज्येष्ठ!" नकुल मुस्कुरा कर बोला, "मुझे मध्यम की बात का बुरा नहीं लगता। यह तो उनकी शैली है। वे सचमुच ही मुझे मूर्ख नहीं मानते। है न मध्यम?" उसने निर्दोष आँखों से भीम की ओर देखा।

भीम की निर्बाध हँसी सारे परिवेश में एक गूँज छोड़ गयी, "वाह रे बुद्धि मान! चाटुकारिता कर मुझसे अपनी बुद्धि की पुष्टि चाहता है।"

किन्तु नकुल के प्रश्न का उत्तर अर्जुन ने दिया, "आचार्य अपने घर में अश्वत्थामा को कुछ नहीं सिखा सकते। धनुर्विद्या का अभ्यास तो अभ्यास-क्षेत्र में ही हो सकता है। यदि आचार्य सचमुच यही चाहते हैं कि वे अपने पुत्र को कुछ ऐसा सिखा दें, जिसका ज्ञान उनके किसी भी शिष्य को न हो, तो उन्हें अपने सारे शिष्यों को कहीं और व्यस्त करना पड़ेगा और अभ्यास-क्षेत्र को केवल अश्वत्थामा के लिये ख़ाली रखना होगा। वैसे भी आचार्य का ऐसा कौन-सा समय है, जब अश्वत्थामा उनके निकट होता हो और हम सब नहीं होते? आचार्य का निद्राकाल? शेष सारा समय तो हम भी उनके निकट ही होते हैं। उनके ध्यान-काल तक में तो हम उनकी ध्यान-कुटिया के बाहर प्रहरी के रूप खड़े होते हैं।..."

"अर्जुन ठीक कह रहा है।" युधिष्ठिर धीरे से बोला, "इसका अर्थ स्पष्ट है कि आचार्य नहीं चाहते कि धनुर्वेद का यह मन्त्र-विशेष उनका कोई और शिष्य भी सीखे। हमें उनकी इच्छा का आदर करना चाहिए। अर्जुन! तुम्हें न तो यह प्रयत्न करना चाहिए कि तुम वह मन्त्र सीखो; और न ही इस बात के लिये आचार्य के प्रति मन में कोई दुर्भाव ही रखना चाहिए। गुरु की इच्छा को ईश्वर का आदेश मानना चाहिए।"

"फिर वही बात!" भीम के स्वर में झल्लाहट थी, "यह नहीं कहते कि जा कर पितामह से कहना चाहिए कि आचार्य ने कौरवों से युद्धशाला बनवायी है और अब उसमें धनुर्विद्या सिखा रहे हैं अपने ही पुत्र को। राज्य के धन से बनी हुई कोई भी संस्था किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति नहीं हो सकती, चाहे वह व्यक्ति कोई क्यों न हो। यह तो प्रजा, राज्य तथा कौरवों—सब के साथ एक छल है।"

"मैं जानता हूँ, तुम सदा ऐसी ही बात कहोगे। तुमको राजमद कुछ अधिक ही चढ़ता है।" युधिष्ठिर बोला, "कहीं गुरुओं पर भी राजाओं का इस प्रकार अंकुश रहा है। धन तो सदा ही प्रजा की धरोहर है। उसके रक्षक क्षत्रिय राजा हैं। उसी प्रकार ज्ञान भी मानव-समाज की धरोहर है। उसके रक्षक आचार्य होते हैं। जिस प्रकार राजा अपनी बुद्धि के

अनुसार उस धन का सर्वश्रेष्ठ उपयोग करता है, उसी प्रकार आचार्य का कार्य है यह देखना कि मानव-समाज की यह धरोहर किस प्रकार विकसित हो सकती है, किस प्रकार संचित हो सकती है; और किस प्रकार वितरित होनी चाहिए...।"

"आप ठीक कहते हैं ज्येष्ठ!" अर्जुन बोला, "किसी गुरु से बलात विद्या प्राप्त नहीं की जा सकती। किन्तु क्षत्रिय राजकुमार शस्त्र-विद्या के अधिकारी नहीं हैं—यह कहना उचित नहीं है। विशेष रूप से मैं, धनुर्वेद के एक मन्त्र का अधिकारी हूँ और दूसरे का नहीं हूँ—यह स्वीकार करना मेरे लिये कठिन है। मध्यम की नीति के अनुसार मैं पितामह से यह कहने तो नहीं जा रहा कि आचार्य मुझे एक मन्त्र विशेष नहीं सिखा रहे; किन्तु आचार्य के निर्णय को अपने भाग्य का संकेत मान कर मैं निष्क्रिय नहीं रह सकता। धनुर्विद्या को मैं उसकी पूर्णता में प्राप्त करना चाहता हूँ। यह मेरे जीवन का लक्ष्य है।..."

"तो फिर साधना करो कनिष्ठ!" सहदेव बोला, "साधना के माध्यम से ही तो हम वे शक्तियाँ प्राप्त करते हैं जो प्रकृति ने सामान्यतः हमें नहीं दे रखीं।"

अर्जुन वहाँ से उठ आया। वह कहीं एकान्त में बैठ कर सोचना चाहता था। वह जानता था कि वह न युधिष्ठिर की नीति पर चल सकता था; और न भीम के समान आन्दोलन खड़ा करना चाहता था। कदाचित सहदेव ने ही ठीक कहा था—जो हमें स्वतः न मिले, उसके लिये हमें साधना करनी पड़ती है।...उसके मन में बहुत सारे क्षेत्रों की बहुत सारी महत्वाकांक्षाएँ नहीं जागतीं। वह बहुत कम से सन्तुष्ट और सुखी रह सकता है; किन्तु धनुर्विद्या तो उसके लोभ का क्षेत्र है। उसे ज्ञात हो कि धनुर्विद्या का कोई मन्त्र कहीं से उसे मिल सकता है—और वह उसे प्राप्त करने का प्रयत्न न करे, यह कैसे सम्भव है।...किन्तु यदि आचार्य उसे सिखाना नहीं चाहते तो?...उसका मन इस प्रश्न का कोई उत्तर न दे कर अपना ही एक प्रश्न रटता जा रहा था—'पर आचार्य क्यों सिखाना नहीं चाहते?'

सहसा उसका मन एक नयी दिशा में मुड़ गया : गुरु ने उसे संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर होने का आशीर्वाद दिया है, फिर भी उनका मन उसके प्रति इतना उदार नहीं है कि वृक्ष के समान अपने सारे फल उसे दे सकें। कहीं कोई विरोध है, कोई अविश्वास, कोई दूरी, कोई अन्तर! गुरु के मन का कोई कोना है, जो उसे देख कर विलगित नहीं होता। उसने अपने गुरु के मन को पूर्णतः विजय नहीं किया है। उसकी गुरु-भक्ति में कहीं कोई कमी है, प्रयत्न में अपूर्णता है। सहदेव ठीक कहता है—उसे अभी साधना करनी चाहिए...

अर्जुन का मन शान्त नहीं था : उसके मन की व्याकुलता उसे गंगा तट पर ले आयी थी और वह एक वृक्ष के नीचे बैठा अनायास ही कंकड़ियाँ उठा-उठा कर जल में फेंकता जा रहा था : 'क्या गुरु के प्रति उसके समर्पण में कहीं सचमुच कोई कमी है? कहीं-न-कहीं, कोई-न-कोई कमी तो है ही। नहीं तो उसका समर्पण गुरु का मन जीत क्यों नहीं पाया? ऐसा कैसे हो गया कि गुरु के लिये शिष्य से बढ़ कर उनका पुत्र हो गया?'...सहसा उसके मन ने चेताया—वह ऐसा क्यों सोच रहा है? गुरु क्या मनुष्य नहीं हैं? वे व्यक्ति नहीं हैं? उनके अपने व्यक्मिगत सम्बन्ध नहीं हैं? गुरु, गुरु होते हुए भी व्यक्ति हैं; और उस व्यक्ति का अपना एक पुत्र है। व्यक्ति को पुत्र से बढ़ कर प्रिय, और कोई नहीं होता...

किन्तु अर्जुन का हठी मन गुरु की पूर्णता में कहीं कोई कमी नहीं मानना चाहता था। गुरु अपूर्ण कैसे हो सकते हैं? उनमें मानवीय दुर्बलताएँ हो ही कैसे सकती हैं। वे तो पूर्ण मानव हैं। मानवता का सर्वश्रेष्ठ तत्व! यदि ऐसा नहीं होगा, तो वे अपने लिये भौतिक सुखों को अर्जित और संचित करने की प्रवृत्ति छोड़ कर, ज्ञान संचयन में कैसे लगेंगे? ज्ञान तो न किसी एक व्यक्ति की थाती है और न किसी एक व्यक्ति के लिये है। इसलिये तो ज्ञान को अर्जित तथा वितरित करने वाले व्यक्ति को अपने जीवन का लक्ष्य, भौतिक सुखों से दूर रखना पड़ता है। लोभ और स्वार्थ को विस्मृत करना पड़ता है। वह जानता है कि जो कुछ वह अर्जित कर रहा है, वह उसी का नहीं है, उसी के लिये नहीं है; और उसी तक सीमित रहेगा भी नहीं...

किन्तु अर्जुन के मन में अश्वत्थामा का वह बाण कैसी चुभन उत्पन्न कर रहा था, जिससे अश्वत्थामा ने एक साथ तीन वृक्षों के तीन लक्ष्य वेध दिये थे।...वैसे तो यह साधारण-सी बात थी। सुविधा से मान लिया जा सकता था कि उसमें कुछ चमत्कार अवश्य है; किन्तु अधिक उपयोगी नहीं है। देखने वाले को थोड़ा चमत्कृत कर देता है...और क्या?... किन्तु अर्जुन का मन कहता है कि तीन ही लक्ष्य क्यों। इसी मन्त्र की क्षमता बढ़ा कर तीन के स्थान पर तीस लक्ष्य-वेध भी किये जा सकते हैं।...और जब इसका प्रयोग युद्ध में किया जायेगा तो एक बाण से एक व्यक्ति नहीं मरेगा, सैनिकों की पंक्तियाँ कट जायेंगी। एक बाण की क्षमता, कितनी अधिक हो जायेगी; और वह धनुर्धर कैसा शक्तिशाली हो जायेगा...

क्या आचार्य नहीं चाहते कि अर्जुन इतना शक्तिशाली बने?...क्या उनके मन में, शस्त्र-ज्ञान देने के अतिरिक्त भी, शक्ति और क्षमता की कोई योजना कार्य कर रही है?...

अर्जुन उठ कर, युद्धशाला में अपने कुटीर में आया!

भीम को भोजन करते देख, उसे ध्यान आया कि वह सन्ध्या से ही अन्यमनस्क-सा गंगा-तट पर बैठा रहा है। अर्थात वह युद्धशाला की अनेक गतिविधियों से अनुपस्थित भी रहा है। सम्भव है कि उसकी खोज भी की गयी हो; और उसके न मिलने पर गुरु कुछ रुष्ट भी हुए हों। किन्तु अर्जुन क्या करता? उसका मन तो जैसे उसके नियन्त्रण में ही नहीं था। उसे जब-जब अश्वत्थामा के उस बाण का स्मरण हो आता था, उसका मन इतना विषण्ण हो उठता था; और इन्द्रियाँ इतनी व्याकुल हो जाती थीं कि उसे जीवन निरर्थक-सा लगने लगता था।

उसे स्वयं आश्चर्य हो रहा था कि मन की इस खिन्न अवस्था में वह गंगा-तट पर जीवित कैसे बैठा रहा। अपनी खिन्नता में वह गंगा के जल में कूद भी सकता था।

"आओ अर्जुन! भोजन करो।" भीम ने कहा; और अपने रसोइए को पुकारा, "अरे शार्दूल! अर्जुन को भी इसका भोजन दे, नहीं तो यह मेरे भाग में से ही खा जायेगा; और फिर तू कहेगा कि मैं अपने भाग से भी अधिक खाता हूँ। ..."

अर्जुन जानता था कि भीम और शार्दूल में पर्याप्त मैत्री थी; और होनी भी चाहिए थी। भीम जैसा भोजन का पारखी शार्दूल को दूसरा कहाँ मिलेगा। भीम दूसरों के समान नहीं था कि जो कुछ सामने आया, चुपचाप खा लिया और उठ गये, जैसे भोजन न किया हो, किसी के आदेश का पालन किया हो। भीम न केवल दूसरों की तुलना में अधिक खाता था—वह भोजन में रुचि भी शेष लोगों से अधिक लेता था। उसके भोजन के साथ आस्वादन प्रक्रिया भी चलती थी। क्या पकाया गया है? कैसे पकाया गया है? कैसा पका है? किसने पकाया है?...ऐसा सम्भव ही नहीं था कि भीम और रसोइए में मित्रता न हो।

शार्दूल भोजन ले आया।

अर्जुन का ध्यान भोजन की ओर गया ही नहीं। उसका मन तो अब भी उसी मन्त्र में उलझा था, जो धनुर्धर को एकाधिक लक्ष्य-वेधन में समर्थ कर देता था।...

"भोजन कर लो।" भीम ने उसे समझाया, "इस बात का ध्यान रखो कि जहाँ कारण होता है, वहाँ, कार्य भी होता है। इसलिये जहाँ भोजन होता है, वहाँ भोजन करने वाला भी होता है। यह न हो कि स्वयं अपने आलस्य के कारण बैठे रहो और बाद में मुझे दोष दो कि तुम्हारा भोजन मैं खा गया।" भीम उच्च स्वर में हँसा, "मेरा तो अभ्यास ही है, एक के पश्चात दूसरा काम करते जाने का। एक थाली समाप्त कर मैं तत्काल दूसरी थाली की ओर आकृष्ट हो जाता हूँ।..."

तभी वायु का एक ज़ोर का झोंका आया और कक्ष का दीपक बुझ गया। अर्जुन की अरूचित में वृद्धि हुई। अँधेरे में कोई भोजन कैसे करेगा? उसकी इच्छा हुई कि वह उठ कर, कक्ष से बाहर चला जाये और ज्योत्स्ना धुले किसी टीले पर जा बैठे। शार्दूल कहीं से अग्नि ला कर दीपक प्रज्वलित कर ले तो वह आ कर भोजन कर सकेगा।...

वह जाने के लिये उठा; किन्तु भीम ने उसकी बाँह पकड़ ली, "कहाँ जा रहे हो? भोजन नहीं करोगे क्या?"

"अन्धकार में भोजन कैसे कर सकता हूँ?" अर्जुन बोला, "दीपक प्रज्वलित होते ही आ जाऊँगा।"

"क्यों? अन्धकार में भोजन क्यों नहीं कर सकते?" भीम ने पूछा, "देखो! मैं भोजन कर रहा हूँ या नहीं। इसमें प्रकाश की आवश्यकता ही क्या है? हाथ जानता है कि भोजन कहाँ है; और हाथ यह भी जानता है कि मुख कहाँ है। क्या तुम्हारे हाथ को इतना भी अभ्यास नहीं हुआ कि वह अन्धकार में, थाली में से एक ग्रास उठा कर मुख में डाल दे?"

भीम के वाक्य से, अकस्मात ही जैसे अर्जुन के मन में ज्ञान का एक उत्स फूट पड़ा, '...मध्यम ठीक कह रहा है। यह तो हाथ का अभ्यास मात्र है। प्रकाश हो या न हो, प्रत्येक ग्रास मुख में डालते समय हम क्या देखते हैं...कि भोजन कहाँ है, तथा क्या हमारा हाथ भोजन को ठीक दिशा में ले जा रहा है? नहीं। हाथ में यदि ग्रास आ गया, तो वह मुँह में ही जायेगा।...वैसे ही धनुष को यदि हम अपना हाथ मान लें और बाण को भोजन का ग्रास, तो बाण को भी अपने लक्ष्य तक ही पहुँचना चाहिए, जैसे ग्रास मुख तक पहुँचता है...।' अर्जुन के मन में जैसे आविष्कार का उल्लास जागा, '...मध्यम ठीक कह रहा है, यह सब तो अभ्यास से ही होता है। अभ्यास से अन्धकार में बाण चलाया जा सकता है।

अभ्यास से एकाधिक लक्ष्यों का एक बाण से वेधन किया जा सकता है। अभ्यास से ध्वनि पर बाण चलाया जा सकता है। अभ्यास...अभ्यास...अभ्यास...'

भोजन करते हुए भी अर्जुन का हाथ इस प्रकार चल रहा था जैसे वह उसका धनुष हो और वह ग्रास को मुख तक न पहुँचा रहा हो, बाण को तूणीर में से ले कर लक्ष्य का वेधन कर रहा हो। मुख में डाले गये ग्रास के स्वाद के प्रति वह सजग नहीं था। वह क्या खा रहा था, उस पदार्थ से वह परिचित नहीं था—वह तो जैसे लक्ष्य-वेध का आनन्द प्राप्त कर रहा था...

भोजन के पश्चात वह उठा। उसने अपना धनुष और तूणीर उठाया और बाहर की ओर चल पड़ा।

"कहाँ जा रहे हो?" भीम ने पूछा, "सोना नहीं है क्या? भोजन के पश्चात सोना चाहिए।"

"भोजन करने जा रहा हूँ।" अर्जुन हँसता हुआ बोला और बाहर निकल गया। एक क्षण के लिये उसका ध्यान युधिष्ठिर की ओर गया भी। उसे अपने कुटीर में न पा कर युधिष्ठिर चिन्तित होगा। प्रमाण-कोटि की घटना के पश्चात से युधिष्ठिर अपने भाइयों की पूरी चौकसी करता था। थोड़ी देर के लिये भी, उनमें से कोई एक दिखायी न दे, तो वह चिन्तित हो उठता था।...किन्तु युधिष्ठिर उसके कुटीर में अब क्या करने आयेगा? अपने कुटीर में वह, नकुल तथा सहदेव—या तो सो गये होंगे, या सोने की तैयारी कर रहे होंगे।...भीम भी थोड़ी देर में प्रगाढ़ निद्रा में खो जायेगा।...किसी को कुछ पता नहीं चलेगा।...वैसे भी कदाचित अब अर्जुन अपने वश में नहीं था। वह रुक नहीं सकता था। रूकने का अर्थ था, स्वयं को धनुर्विद्या के अमूल्य मन्त्रों से वंचित करना...

फिर भी जाते-जाते वह कह ही गया, "ज्येष्ठ आयें तो कहना कि मेरे लिये चिन्तित न हों। मैं लक्ष्य-वेध के अभ्यास के लिये जा रहा हूँ।"

आचार्य द्रोण की निद्रा समय से पहले उचट गयी।

उन्होंने चकित हो कर जैसे स्वयं अपने-आपसे ही प्रश्न किया, 'क्या हुआ? अभी तो प्रत्यूष वेला के आगमन में विलम्ब है। फिर?'

और फिर स्वतः ही उनका ध्यान एक-अस्पष्ट सी मन्द ध्वनि की ओर चला गया।...कोई ध्वनि थी जो प्रकृति के चक्र के समान अपने नियमित समय पर गुँजरित होती थी, जैसे निश्चित अन्तराल के पश्चात जल की कोई एक बूँद टपकती है।...कदाचित यही ध्वनि थी, जो अपनी निरन्तरता के कारण उनकी चेतना के लिये हथौड़े का कार्य कर रही थी, और उनकी निद्रा में बाधा बन रही थी...और दूसरे ही क्षण उनका ध्यान उस ध्वनि की प्रकृति की ओर चला गया। कैसी ध्वनि थी यह?...सम्भवतः यह धनुष की टंकार की ध्वनि थी...। किन्तु इस समय? रात्रि के तीसरे प्रहर में, कौन धनुष की प्रत्यंचा को छेड़ रहा था? यह युद्धशाला है, वन तो है नहीं कि कोई आखेट कर रहा हो। युद्धशाला में केवल उनके शिष्य रहते हैं, या फिर कुछ कर्मचारी। कर्मचारियों को धनुर्विद्या में कोई रुचि नहीं है।...तो क्या उनका कोई शिष्य इस समय धनुर्विद्या का अभ्यास कर रहा है? कौन है वह? निद्रा का मोह त्याग कर धनुर्विद्या की सेवा करने वाला कौन है?

द्रोण स्वयं को रोक नहीं पाये। उन्होंने पादुकाएँ भी नहीं पहनीं। सम्भव है वह धनुर्धारी अपनी गतिविधि को गुप्त ही रखना चाहता हो। ऐसे में पादुकाओं के शब्द से उसे ज्ञात हो जायेगा कि कोई आ रहा है, और उसकी गतिविधि अब गुप्त नहीं रह गयी है।...

द्रोण को स्वयं ही विचित्र लगा कि इस युद्धशाला के आचार्य और कुलपति होते हुए भी, वे इस प्रकार दबे-पाँव, गोपनीय रूप से क्यों जा रहे हैं? क्यों नहीं वे अधिकारपूर्वक प्रत्यक्ष रूप से जा कर देखते कि कौन है वह व्यक्ति; और रात्रि के इस प्रहर में बाण चलाने के पीछे उसका उद्देश्य क्या है?

किन्तु इस अवसर पर उन्होंने आचार्य के अधिकार का प्रयोग करना उचित नहीं समझा। यदि वह व्यक्ति अपनी इस गतिविधि को गुप्त ही रखना चाहता है तो उन्हें भी गुप्त रूप से ही उसका परिचय करना होगा...

ध्वनि से दिशा स्पष्ट थी। वे उसी दिशा में चल पड़े। जैसे-जैसे आगे बढ़ते जा रहे थे, शब्द तीव्रतर होता जा रहा था...या तो उनकी पदचाप से शब्द ही उत्पन्न नहीं हो रहा था, या फिर वह व्यक्ति अपने कर्म में इतना तल्लीन था कि उसे वह शब्द सुनायी ही नहीं पड़ रहा था, अथवा उसे अपनी गोपनीयता भंग होने का कोई भय नहीं था...

द्रोण उसके सर्वथा निकट पहुँच गये और उन्होंने आश्चर्य से देखा, वह व्यक्ति और कोई नहीं, उनका अपना शिष्य अर्जुन था।

"अर्जुन तुम?"

अर्जुन की भी जैसे समाधि भंग हुई। उसने गुरु को प्रणाम किया। द्रोण देख रहे थे कि उनके आ जाने से न तो वह व्याकुल हुआ था, न व्यथित; न ही गोपनीयता भंग होने की लज्जा अथवा पीड़ा उसके चेहरे पर प्रकट हुई थी। वह तो प्रसन्न ही दिखायी दे रहा है।

"क्या कर रहे हो पुत्र?"

"मन्त्र सिद्ध कर रहा हूँ गुरुदेव!"

"मन्त्र? कैसा मन्त्र?" द्रोण चकित थे।

"धनुर्विद्या का मन्त्र गुरुदेव!" अर्जुन बोला, "एक बाण से एकाधिक लक्ष्य-वेध। शब्दवेधी बाण। अन्धकार में लक्ष-वेध!"

द्रोण को लगा, जैसे अर्जुन उन्हें उपालम्भ दे रहा हो। वे समझ रहे थे कि अर्जुन को यह ज्ञात हो गया है कि उसे विश्व का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर होने का आशीर्वाद दे कर भी गुरु उसे वह सब नहीं सिखा रहे, जो अश्वत्थामा को सिखा रहे हैं।... किन्तु उपालम्भ की विधि? किस निरीह ढंग से वह उन्हें जता रहा है...

"यह सब कैसे करोगे पुत्र?"

"अभ्यास से गुरुदेव!"

द्रोण चमत्कृत हो गये : अर्जुन की वाणी में कहीं कोई विरोध अथवा उपालम्भ नहीं था। कहीं कोई कटुता नहीं थी, श्रम की क्लान्ति भी नहीं थी। वह सहज उल्लास के साथ कह रहा था, जैसे प्रसन्नता का संदेश दे रहा हो। द्रोण का मन विगलित होने लगा—इस शिष्य का आत्म-समर्पण अद्‌भुत है।...और यही है, जो द्रुपद से उनका प्रतिशोध भी लेगा। ...और फिर उन्हें स्वयं ही आश्चर्य हुआ...इस शिष्य से उन्हें इतनी अपेक्षाएँ हैं। यही जीवन में उनके लिये अद्‌भुत कर्म करेगा; और इससे ही वे अपनी विद्या को सुरक्षित रख रहे हैं।...अश्वत्थामा को वे द्रुपद के साथ युद्ध करने के लिये नहीं भेजेंगे और धनुर्विद्या वे उसी को सिखा रहे हैं। य़ुद्ध में जाने से पहले यदि वे सैनिक को शस्त्र नहीं देंगे तो सैनिक युद्ध कैसे करेगा?...

द्रोण जानते हैं कि वे पुत्र और शिष्य के द्वन्द्व से मुक्त नहीं हो पा रहे हैं।...वे यह भी जानते हैं कि वे पुत्र को अपना सब कुछ दे डालना चाहते हैं, उससे कुछ पाने की इच्छा उनकी नहीं है; जबकि शिष्य को उतना ही देना चाहते हैं, जितने से वह उनका काम साध पाये...उनको भय है कि उनका धन पा कर, उनका शिष्य, कहीं उनके पुत्र से अधिक धनी न हो जाये...

किन्तु यह शिष्य!...

"तुम कब से अभ्यास कर रहे हो पुत्र?" द्रोण ने पूछा।

"रात्रि भोजन के पश्चात से ही!"

"सोए नहीं?"

"यह जीवन सो कर नष्ट करने के लिये तो नहीं है गुरुदेव!"

"किन्तु पुत्र! निद्राहीन जीवन कब तक व्यतीत किया जा सकता है?"... द्रोण बोले, "जीवन के लिये निद्रा भी अनिवार्य है।"

अर्जुन ने उनकी ओर मूक पीड़ायुक्त आँखों से देखा; और फिर जैसे अपनी पीड़ा का दमन कर बोला, "धनुर्विद्याहीन जीवन का मुझे करना भी क्या है गुरुदेव! निद्रा तो प्रत्येक जीव के जीवन में है; किन्तु धनुर्विद्या किसी-किसी के भाग्य में होती है..."

"कब तक अभ्यास करोगे?"

“जब तक मन्त्र सिद्ध नहीं होता गुरुदेव!”

द्रोण कुछ देर खड़े, जैसे कुछ सोचते रहे। उनका विवेक अपनी तुच्छता से संघर्ष कर रहा था और एक प्रश्न बार-बार उनके मन में गूँज रहा था,... ‘अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये भी, ऐसे सुपात्र को धनुर्विद्या का ज्ञान नहीं दोगे तो तुम्हारी धनुर्विद्या वृक्ष पर लगे-लगे सड़ जाने वाले फल के समान नहीं हो जायेगी?’

अन्ततः द्रोण बोले, “तुम अब अपने कुटीर में जाओ पुत्र! जाओ, विश्राम करो। निश्चिन्त रहो। तुम्हारे इन सारे मन्त्रों की सिद्धि मैं करवाऊँगा।... जाओ।”

द्रोण का हाथ अर्जुन के सिर पर ठहरा। उन्होंने स्वयं अपनी वाणी में पहली बार स्नेह तथा संकल्प का ऐसा सम्मिश्रण अनुभव किया था...

11

दिन-भर के आखेट के पश्चात लौट कर राजकुमार युद्धशाला में गुरु को प्रणाम करने के लिये आये।

"कैसा रहा तुम लोगों का आखेट?" आचार्य ने पूछा।

उनकी दृष्टि अर्जुन की ओर घूम गयी। मन में था कि मृगया के लिये जाते तो सारे राजकुमार हैं, किन्तु मृगया का आनन्द तो धनुर्धर ही जानता है। गदा, खड्ग अथवा भाले से मृगया करने वाला, वस्तुतः मृगया नहीं करता। वह छोटे जीव-जन्तुओं की निरीह हत्या करता है या पशु-युद्ध करता है। इससे उसकी हिंस्र-वृत्ति चाहे शान्त हो जाये; किन्तु शस्त्र-विद्या की दृष्टि से आखेट, उसके लिये तनिक भी लाभदायक नहीं है। पशु न तो किये गये प्रहार को रोकता है और न ही पलट कर अपनी ओर से शस्त्र-प्रहार करता है। इसलिये मृगया-कर्मी को न तो आत्मरक्षा का ही कोई गुण सीखने में सहायता मिलती है, और न ही शत्रु के प्रहार को रोकने का अभ्यास ही होता है। इसलिये वे सारे राजकुमार या तो शाला के अनुशासन से मुक्त होने के लिये मृगया करने गये होंगे, या अपनी हिंस्र-वृत्ति की तृप्ति के लिये; अथवा स्वादिष्ट माँस के लोभ में।...किन्तु अर्जुन! अर्जुन वास्तविक धनुर्धारी है। मृगया में धनुर्धर का लक्ष्य-वेध का अभ्यास होता है। पूर्ण स्वतन्त्रता तथा क्षमता-भर तीव्र गति से भागता हुआ मृग भी शत्रु-सैनिक के समान, अभ्यास के लिये श्रेष्ठ लक्ष्य होता है। यदि वन में वृक्ष बाधा के रूप में आयें, तो वे युद्ध-भूमि में खड़े शत्रु सैनिकों के समान विघ्न उत्पन्न करते हैं। यदि युद्ध से कोई भेद है तो यही कि मृगया में शत्रु आक्रमण नहीं कर सकता। सिंह का आखेट करने पर, शत्रु के प्रत्याक्रमण का जोख़िम भी उठाना ही पड़ता है।...

किन्तु अर्जुन तो दिन-भर के इस आखेट से तनिक भी प्रसन्न दिखायी नहीं दे रहा था, जैसे कुछ अधिक प्राप्त करने की लालसा में जा कर वह अपना पिछला भी सब कुछ लुटा कर लौटा हो।

"कैसा रहा तुम लोगों का आखेट?" आचार्य ने अपना प्रश्न दोहराया। इस बार उनकी दृष्टि सारे राजकुमारों पर से घूम गयी।

सब लोगों ने अपने ढंग से मृगया के विषय में अपनी-अपनी प्रसन्नता व्यक्त की। उन्हें दिन-भर की स्वतन्त्रता मिली थी, किसी प्रकार का कोई नियम अथवा अनुशासन मानने की कोई अनिवार्यता नहीं थी। स्वयं अपने हाथों आखेट कर, सेवकों की सहायता से पका कर खाया था। भागे-दौड़े थे। वृक्षों और टीलों से टकराये थे, गिरे थे। सबके अपने-अपने, छोटे-छोटे सुख थे, इसलिये वह सारा दिन, उन्हें बहुत अच्छा लगा था; और वे चाहते थे कि इस प्रकार का कार्यक्रम बार-बार बनाया जाये और ऐसे दिन अधिक संख्या में व्यतीत किये जायें।

"हमारे साथ एक महत्वपूर्ण घटना भी घटित हुई आचार्य!" इस उत्तेजना के परिवेश में युधिष्ठिर अत्यन्त शान्त भाव से बोला।

"क्या वत्स? कैसी घटना?"

"हम लोग सामान्यतः एक साथ ही रहे हैं। गुरुदेव!" युधिष्ठिर बोला, "फिर भी कभी-कभी विलग हो ही जाते थे। ऐसे ही किसी अवसर पर सेवक के साथ हमारा कुत्ता 'बघेरा' हमसे विलग हो कर कहीं भटक गया। हमने उसकी कोई विशेष चिन्ता भी नहीं की। हम जानते थे कि वह लौट ही आयेगा। मेरे लिये तो शेष लोगों को ही इकट्ठा रखना कठिन था, बघेरे को अपने ही साथ रखना तो बहुत ही बड़ा काम था। एक तो जाति का कुकुर, फिर स्वभाव का इतना चंचल। वह हमारे ही साथ कैसे रहता। और फिर वन में उसके भौंकने के अनेक लक्ष्य थे, झपटने के लिये अनेक जन्तु थे, सूँघने के अनेक पदार्थ थे।

"और फिर सहसा ही बघेरा बहुत आक्रामक ढंग से रोषपूर्ण स्वर में भौंकने लगा। उसका भौंकना, जब कुछ असाधारण रूप से बढ़ गया, तो हमारा ध्यान भी उधर आकृष्ट हुआ। मेरा मन हुआ कि जा कर देखूँ कि वह इतना व्यग्र क्यों है। कहीं कोई बड़ा पशु उस पर आक्रमण तो नहीं कर रहा। किन्तु मन में यह विचार भी आया कि सेवक उसके साथ ही है। यदि संकट की कोई बात होती, तो वह अवश्य पुकारता।...और जब तक कि हम कोई निर्णय करें, उसके भौंकने का शब्द बन्द हो गया। हम निश्चिन्त हो गये और अपने लक्ष्य-वेध में लग गये।

"किन्तु सबसे अधिक आश्चर्य हमें तब हुआ, जब बघेरा लौट कर हमारे पास आया। तब हमें ज्ञात हुआ कि

उसका भौंकना, उसके शान्त हो जाने के कारण बन्द नहीं हुआ था। वस्तुतः अब वह भौंक ही नहीं सकता था। किसी ने बाणों से उसका मुँह भर दिया था...।"

"बाणों से?" आचार्य के मुख से अनायास निकला।

"मुझे तो ऐसा लगा गुरुदेव!" भीम बीच में ही बच्चों के उल्लास के साथ बोला, "कि किसी ने उसके मुख को तूणीर बना दिया हो। वैसे किसी को चुप कराने की तो यह अद्‌भुत युक्ति है गुरुदेव! किसी ने मुख खोला और हमने उसमें अपने शस्त्र रखने आरम्भ कर दिये।"

"बघेरा मर गया?" आचार्य द्रोण ने चिन्तित स्वर में पूछा।

बघेरा उनका प्रिय कुत्ता था।

"नहीं गुरुदेव!" युधिष्ठिर ने ही पुनः कहा, "उसका कष्ट दूर करने के लिये हमने उसके मुख से एक-एक कर सारे बाण निकाल लिये। और बघेरे की मृत्यु तो बहुत दूर की बात है गुरुदेव! उसके मुख से तो रक्त की एक बूँद भी नहीं निकली। उसका मुख खोल कर भीतर से देखना तो सम्भव नहीं था; किन्तु बघेरे का व्यवहार बता रहा था कि उसके कण्ठ में कोई कष्ट नहीं था। कदाचित धनुर्धर ने बाण इस प्रकार मारे थे कि बघेरे का मुख भर तो जाये किन्तु बाण उसकी त्वचा को क्षति न पहुँचाए..."

"जैसे आपने कुएँ से बीटा निकालने के लिये बाण मारे थे," सहसा अर्जुन बोला, "बीटा में बाण चुभ तो गया था, किन्तु बीटा की तनिक भी क्षति नहीं हुई थी।"

आचार्य ने एक गहरी अर्थपूर्ण दृष्टि अर्जुन पर डाली और युधिष्ठिर से ही पूछा, "क्या बाणों के सिर पर लोहे का फल था?"

"नहीं गुरुदेव! बाण तो बिना फल के ही थे, किन्तु पर्याप्त नुकीले थे। साधारण धनुर्धारी यदि उनका प्रयोग करता, तो भी बघेरा पर्याप्त कष्टकर स्थिति में होता।"

आचार्य के मुख पर विस्मय प्रकट हुआ, "तुम लोगों ने उस धनुर्धर को खोजा नहीं?"

युधिष्ठिर मुस्कुराया, "हम तो शायद टाल भी जाते, किन्तु अर्जुन कहाँ मानने वाला था। हमने जा कर उसे ढूँढा। वह कोई भील था। बहुत ही दरिद्रावस्था में था। या कह सकते हैं कि अपनी तपस्या के कारण, वैसा हो गया था। शरीर पर मैल की परतें चढ़ी हुई थीं। सिर के केश, जटाओं में परिणत हो गये थे। वस्त्रों के नाम पर उसने चीथड़े धारण कर रखे थे। किन्तु वह सर्वथा एकाग्रचित हो कर अपना अभ्यास कर रहा था। मुझे लगा कि अपनी स्थिति के प्रति उसके मन में कोई संकोच नहीं था। शायद उसके प्रति वह सचेत ही नहीं था। उसकी सम्पूर्ण चेतना उसके धनुर्संचालन में ही तल्लीन थी।"...

"तुम लोगों ने पूछा नहीं कि वह कौन है? उसका गुरु कौन है?" आचार्य के स्वर में हल्की-सी उत्तेजना थी।

"हमने पूछा था गुरुदेव!" युधिष्ठिर बोला, "उसने बताया कि वह भिल्लराज हिरण्यधनु का पुत्र एकलव्य है; और गुरुदेव आश्चर्य की बात यह थी कि उसने बताया कि वह आचार्य द्रोण का शिष्य है...।"

आचार्य चौंके...द्रोण का शिष्य...वे अपनी स्मृति में जैसे कहीं बहुत गहरे उतर कर खोज रहे थे...कौन था यह —द्रोण का शिष्य एकलव्य? उसने कब उनसे धनुर्विद्या सीखी? कब?...और सहसा उन्हें स्मरण आया...आया तो था एक दिन...हस्तिनापुर की इसी युद्धशाला में...भिल्लराज का पुत्र एकलव्य। ...उसने याचना की थी। वह धनुर्विद्या सीखना चाहता था...द्रोण को उसमें प्रतिभा और तेजस्विता दिखाई भी दी थी...किन्तु क्या लाभ, ऐसे युवक को शिष्य बनाने का? यदि उसमें प्रतिभा न हो, तो उस पर व्यर्थ श्रम करने का क्या लाभ? द्रोण को अपने शिष्यों की भीड़ तो इकट्ठी करनी नहीं थी...वे केवल उन्हीं लोगों को अपना समय, अपना श्रम और अपना ज्ञान देना चाहते हैं, जो उनका नाम उज्ज्वल करें। जो अपनी प्रतिभा से अपने गुरु का परिचय दे सकें।...और यदि उस युवक में वैसी प्रतिभा और तेजस्विता थी, यदि उसने सचमुच ही आचार्य द्रोण की विद्या को ग्रहण कर लिया, तो उसका अर्थ होगा—आर्यों की विद्या का भीलों में संचरण! शक्ति—सन्तुलन का नाश। तब भील भी वैसे ही सेनाएँ सज्जित कर युद्ध करेंगे, जैसे आर्य करते हैं। तब ब्राह्मण तथा गुरु की श्रेष्ठता स्वीकार करने वाले आर्यों का वर्चस्व समाप्त हो जायेगा।...द्रोण ने उसे शिष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया था।...क्या, यह वही एकलव्य है?...

"क्या उसने मुझसे मेरे आश्रम में विद्या प्राप्त की थी?" द्रोण ने पूछा।

"यह तो हमने उससे पूछा नहीं!..."

"अच्छा! तुम लोग जाओ पुत्र!" द्रोण बोले, "और अर्जुन! तुम ठहरो पुत्र! तुमसे मुझे एक बात करनी है।"

शेष लोगों के चले जाने के पश्चात द्रोण बोले, "बैठो पुत्र! एक कुशासन ले लो।"

अर्जुन ने आज्ञा का पालन किया।

"तुम कुछ खिन्न प्रतीत होते हो!" आचार्य बोले।

अर्जुन ने उनकी ओर देखा और फिर धीरे से बोला, "प्रयत्न कर रहा हूँ कि खिन्नता दूर कर सकूँ। मैं इससे निरन्तर युद्ध कर रहा हूँ गुरुदेव! किन्तु सिवाय अपनी अक्षमता का साक्षात्कार करने के और कुछ नहीं कर पाया हूँ।"

"खिन्नता का कारण?"

अर्जुन मौन बैठा रहा, जैसे अपने मन में गुरु के प्रश्न का उत्तर ढूँढ रहा हो, या फिर अपने विचारों को सुनियोजित करने का प्रयत्न कर रहा हो, ताकि गुरु के प्रश्न का उचित उत्तर दे सके। फिर धीरे से बोला, "एकलव्य की धनुर्विद्या देख कर, मेरे मन में अपने गुरु के प्रति उपालम्भ जन्मा। इसलिये अपने-आपसे खिन्न हूँ कि मेरी श्रद्धा निर्बल क्यों है..."

द्रोण मन-ही-मन चमत्कृत हुए : अर्जुन उन्हें दोष नहीं दे रहा था। वह यह नहीं कह रहा था कि उन्होंने वचन दे कर भी उसे संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर नहीं बनाया। यह कह रहा था कि उसकी श्रद्धा इतनी निर्बल क्यों है...

द्रोण का मन स्नेह से आप्लावित हो उठा।

किन्तु उन्होंने तो एकलव्य को शिक्षा दी ही नहीं है।...वह अपने गुरु के रूप में उनका नाम क्यों बता रहा है? अपनी विद्या का श्रेय उन्हें क्यों दे रहा है?...उसके इस वक्तव्य के पश्चात कौन इस बात को स्वीकार करेगा कि वे उसके गुरु नहीं हैं। अर्जुन के मन की पीड़ा वे समझते हैं। उन्हें अर्जुन से बहुत स्नेह है। वह उनके लिये बहुत उपयोगी है। उन्होंने उसे संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर बनने का आशीर्वाद भी दिया है।...फिर भी सिखाया उन्होंने अश्वत्थामा को ही अधिक है... और अब यह एकलव्य...

"अच्छा पुत्र!" वे अत्यन्त कोमल स्वर में बोले, "अब तुम जाओ। विश्राम करो। दिन भर के थके होगे..."

अर्जुन ने कुछ कहा नहीं। बस उसकी खिन्न दृष्टि एक बार पुनः उनकी ओर उठ-भर गयी।

"कल हम—मैं और तुम, एकलव्य के पास जायेंगे। मैं देखूँगा कि वह मेरा कौन-सा शिष्य है, और कैसा शिष्य है।" द्रोण बोले। और फिर अजाने ही, एक कठोर भाव उनके चेहरे पर व्याप्त हो गया, "आशा है तुम्हारी खिन्नता, तुम्हें अधिक देर तक व्याकुल नहीं कर पायेगी।"

अर्जुन को तो उसकी खिन्नता दूर करने का आश्वासन दे कर भेज दिया; किन्तु द्रोण अपनी खिन्नता का क्या करते। वे समझ ही नहीं पा रहे थे कि कोई व्यक्ति अकारण ही अपनी सम्पूर्ण श्रेष्ठता का श्रेय किसी दूसरे को क्यों देगा?...यह सब अकारण नहीं हो सकता...उनका मन कहता था कि एकलव्य उनसे अपने तिरस्कार का प्रतिरोध ले रहा है। उसने जो कुछ भी, किसी भी गुरु से सीखा था—उसका श्रेय उन्हें दे कर वह उनका गौरव नहीं बढ़ा रहा था।...यह तो सोचा-समझा, सुविचारित षडयन्त्र था।...आज तो अर्जुन ही खिन्न है। कल जब भीष्म और धृतराष्ट्र इस प्रसंग को जान जायेंगे, तो क्या वे यह सोच कर खिन्न नहीं होंगे कि आचार्य ने युद्धशाला तो कौरवों के धन से कौरवों की धरती पर बनायी है और श्रेष्ठतर विद्या का दान वे अन्यत्र कर रहे हैं?...बहुत सम्भव है कि यह कौरवों के मन में उनके प्रति विरोध जगाने की ही चाल हो... हो सकता है कि इस कार्य के लिये द्रुपद ने ही एकलव्य को सहमत कर लिया हो और उसने प्रयत्नपूर्वक कौरव राजकुमारों के सम्मुख ऐसा प्रदर्शन कर द्रोण के प्रति उनका मन खट्ठा करना चाहा हो।...नहीं तो एकलव्य हस्तिनापुर के आस-पास के वनों में क्या कर रहा है, उसे तो अपने पिता के पास लौट जाना चाहिए था...

और सहसा द्रोण की आँखों के सम्मुख, शून्य में जैसे एक दृश्य घटित हो गया...भीष्म और धृतराष्ट्र ने रुष्ट हो कर द्रोण को हस्तिनापुर से निकाल दिया है। वे असहाय और असुरक्षित वन-वन भटक रहे हैं और द्रुपद हँस रहा है और

हँसता ही जा रहा है...

द्रोण के भयभीत मन ने जैसे अपना कवच कस लिया : द्रोण ऐसा कुछ भी नहीं होने देंगे। वे कौरवों के प्रति अपनी निष्ठा प्रमाणित कर देंगे।

अर्जुन मार्ग दिखाता हुआ आचार्य को एकलव्य के स्थान तक ले आया।

आचार्य ने एकलव्य के सम्मुख प्रकट होने से पूर्व, उसके विषय में अधिक-से-अधिक जान लेने की इच्छा से चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। निकट ही न तो कोई ग्राम था, न मानवों की बस्ती। एकलव्य वन्य-पशुओं के मध्य, पूर्णतः वनवासी हो कर रह रहा था। उसने थोड़ी-सी भूमि साफ़ कर ली थी। एक ओर कदाचित उसका कुटीर था, उसके सम्मुख का सारा क्षेत्र उसका अभ्यास-क्षेत्र था। उसने अनेक प्रकार के लक्ष्य चिह्नित कर रखे थे। बाणों का भी अभाव प्रतीत नहीं होता था। अपने परिसर के केन्द्र में उसने किसी की मूर्ति स्थापित कर रखी थी।

यह युद्धशाला नहीं थी। यह तो किसी तपस्वी की तपोभूमि थी। वह शिक्षा प्राप्त नहीं कर रहा था; वह तो तपस्या कर रहा था। उसकी तपस्या का लक्ष्य कदाचित धनुर्विद्या ही थी।...द्रोण का मन क्षण-भर को काँप गया। यदि यह पाखण्ड नहीं है, तो वस्तुतः बहुत कठोर तपस्या है; और ऐसे औघड़ तपस्वी के लिये कुछ भी अप्राप्य नहीं है।...जाने क्यों इसने धनुर्विद्या के लिये तपस्या की है, यह तो ब्रह्म-प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता, तो इसके लिये वह भी दुर्लभ नहीं होता। ...

कल युधिष्ठिर ने इसका बहुत सटीक वर्णन किया था : चीथड़ों में लिपटा हुआ, शरीर पर मैल की परतें चढ़ी हुईं, सिर के केश जटाओं में परिणत हो चुके थे...किन्तु कितनी एकाग्रता से अभ्यास कर रहा था। उसके चेहरे पर परम सन्तोष था, पूर्ण आनन्द की-सी स्थिति...

द्रोण उसके सम्मुख जा कर खड़े हो गये।

उसका ध्यान भंग हुआ। क्षण-भर के लिये उसकी आँखों में आकस्मिकता की स्तब्धता झलकी और फिर उसने अपने गुरु को पहचान लिया। उसने साष्टांग दण्डवत प्रणाम किया और जैसे चरम उपलब्धि की भाव-विह्वलता के रूप में कहा, "गुरुदेव आप!"

अपने मन की सारी चेतावनियों के बाद भी द्रोण अनासक्त नहीं रह पाये। स्नेह-सिंचित स्वर में बोले, "मैं तुम्हारा गुरु कैसे हूँ एकलव्य? मैंने तो तुम्हें शिष्य-रूप में कभी स्वीकार ही नहीं किया।"

"चयन केवल गुरु की ओर से ही नहीं होता आचार्य!" एकलव्य हाथ जोड़े उनके सम्मुख खड़ा था, "कभी-कभी शिष्य भी अपना गुरु स्वयं नियुक्त कर लेता है।"

"किन्तु मैंने तो तुम्हें कुछ सिखाया ही नहीं।"

"फिर भी मैंने सब कुछ आप ही से सीखा है।" वह बोला।

"कब?"

"हर पल! हर क्षण!"

"कैसे?"

एकलव्य चलता हुआ, केन्द्र में स्थापित मूर्ति के सम्मुख जा खड़ा हुआ। द्रोण उसके पीछे-पीछे वहाँ पहुँचे!... और वे पहली ही दृष्टि में पहचान गये कि वह स्वयं उनकी ही मूर्ति थी!

"आप सदा मेरे निकट वर्तमान हैं गुरुदेव!" एकलव्य बोला, "देखा आपने! शिष्य की आतुरता को देख कर कोई भी गुरु उसका तिरस्कार नहीं कर सकता। आपको भी मेरे निकट आना ही पड़ा।...मैं तो आपके ही आदेश से सोता-जागता हूँ। आपके आदेश से ही धनुष उठाता हूँ, प्रत्यंचा चढ़ाता हूँ, बाण-संधान करता हूँ; और फिर लक्ष्य-वेध करता हूँ। आप ही मुझे बताते हैं कि विधि क्या हो। आप ही मेरे गुण और दोष बताते हैं। आप कभी मेरी ताड़ना करते हैं और कभी आशीष देते हैं। आपने मुझे सब कुछ दिया है गुरुदेव!...और यदि कुछ नहीं दिया, तो वह मेरे ही समर्पण की कमी के कारण..."

द्रोण का मन कह रहा था कि यह षडयन्त्र नहीं है, कदाचित यह पाखण्ड भी नहीं है। एकलव्य की भक्ति और

समर्पण अद्भुत था...किन्तु कितना भयंकर!...यह समर्पण द्रोण के विवेक को आच्छादित कर सकता था! द्रोण उसको आशीर्वाद दे सकते थे...और द्रोण की कौरवों के प्रति निष्ठा कलंकित हो सकती थी...! नहीं! एकलव्य की यह अबोध अन्ध-भक्ति उस का विनाश करेगी...और उसके साथ-ही-साथ द्रोण का भी!...द्रोण यह स्थिति स्वीकार नहीं कर सकते...

उन्होंने शिष्य के रूप में उसे इसलिये अस्वीकार कर दिया था कि कहीं वह उनसे शिक्षा पा कर असाधारण धनुर्धर न बन जाये। उनके उस असहयोग के बाद भी, आज वह असाधारण रूप से श्रेष्ठ धनुर्धर बन गया था।...अर्जुन के मन की खिन्नता अकारण नहीं थी। अर्जुन तो क्या, अभी वे अश्वत्थामा को भी यह विद्या सिखा नहीं पाये हैं। उन्होंने आज तक जो कुछ सिखाया है, उसका सारा बल लक्ष्य-वेध पर है। एक लक्ष्य अथवा अनेक लक्ष्य! वे एक बाण से अनेक लक्ष्य, अनेक बाणों से एक लक्ष्य, एक ही क्षण में अनेक बाणों से अनेक लक्ष्य—वेधना सिखा सकते हैं। किन्तु बाण-संधान के लिये लगाए बल पर कदाचित उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया। कितने बल से प्रहार किया जाये कि बाण लक्ष्य छुए-भर, कितने बल से प्रहार किया जाये कि बाण लक्ष्य में जौ-भर प्रवेश करे, कितने बल से प्रहार किया जाये कि बाण लक्ष्य में अंगुल भर प्रवेश करे।...इस विद्या में केवल बल का नियन्त्रण ही पर्याप्त नहीं है, यह जानना भी आवश्यक है कि लक्ष्य किस पदार्थ का बना है और वह बाण की गति में कितना प्रतिरोध उत्पन्न करेगा।...इसी विद्या के बल पर तो उन्होंने बीटा को कुएँ से निकाला था और कौरवों के घर में शरण पायी थी।...किन्तु अपने शिष्यों को तो उन्होंने यह सब नहीं सिखाया। यदि उनके शिष्यों ने बघेरा पर ऐसे बाण चलाये होते, तो वे बघेरा के तालू को छेद कर बाहर निकल आये होते...।...एकलव्य ने यदि इस विद्या पर भी अधिकार पा लिया है तो समग्र धनुर्वेद पर अधिकार करने में उसे क्या कठिनाई होगी?

...और सहसा द्रोण का हृदय सर्वथा करुणाविहीन हो गया : वे अपने प्रतिद्वन्द्वी के प्रति कोमल नहीं हो सकते। ऐसी विद्या वे किसी के पास नहीं रहने देंगे। मिट्टी के द्रोण के इस शिष्य को वे इन सारी क्षमताओं के साथ, पृथ्वी पर उन्मुख विचरण नहीं करने देंगे...

"एकलव्य!"

"आर्य!"

"मैं तुम्हारा गुरु हूँ?"

"निःसन्देह गुरुदेव!"

"तुम मेरे शिष्य हो?"

"हाँ! गुरुदेव!"

"तो तुम मेरी गुरु-दक्षिणा देने को प्रस्तुत हो?" द्रोण समझ नहीं पा रहे थे कि वे एकलव्य की शक्ति का प्रयोग द्रुपद के विरुद्ध करें या...पर नहीं। दुपद से प्रतिशोध लेने के पश्चात भी एकलव्य मुक्त रूप से विचरण करेगा। इस धरती पर...और कौरवों के प्रति द्रोण की निष्ठा का प्रमाण?...द्रोण के मन का द्वन्द्व जैसे मिटता जा रहा था। उनकी बुद्धि प्रखर हो कर अपना आधिपत्य स्थापित कर रही थी...'कभी करुणा के बहकावे में मत आना द्रोण। करुणा आत्मघातिनी होती है। वह तुम्हें ही नहीं समस्त आर्य राज्यों को बहुत मँहगी पड़ेगी। हिंस्र शत्रुओं के प्रति करुणा नहीं दिखायी जाती। शत्रु से प्रेम करने वाला व्यक्ति मूर्ख होता है।...' '...किन्तु उसका समर्पण तो देखो।' करुणा ने प्रतिरोध किया, 'वह बिना शिक्षा पाये, गुरु-दक्षिणा देने के कठिन व्रत का निर्वाह करने को प्रस्तुत है। ऐसे निरीह, विश्वासी तथा समर्पित व्यक्ति को क्या दण्डित करना चाहिए?' 'दण्डित करने का क्या अर्थ?' उनकी बुद्धि बोली, 'यह निरीह, सहज विश्वासी और समर्पित व्यक्ति कल कहीं और समर्पण कर बैठा तो अपना सारा ज्ञान और कौशल उसके चरणों में समर्पित कर देगा।...इसकी यह निरीहता, विश्वास और समर्पण—इसकी सरलता ही नहीं, मूर्खता का भी प्रमाण है। इतने गुणी व्यक्ति की मूर्खता हमारे लिये घातक हो सकती है।... इसकी मूर्खता दूर नहीं हो सकती, तो इसकी क्षमता को तो कम किया ही जा सकता है।...'

"क्यों नहीं गुरुदेव!" एकलव्य ऐसे मुस्कुरा रहा था, जैसे पूर्णकाम हो गया हो, "गुरु को दक्षिणा नहीं दूँगा तो मेरा ज्ञान सफल कैसे होगा!"

"क्या दक्षिणा दोगे?"

"जो गुरु की आज्ञा होगी।" एकलव्य के स्वर में पूर्ण आश्वस्ति थी, कहीं संशय का एक हल्का-सा कम्पन भी

नहीं था, "मेरे लिये यही क्या कम है कि गुरु मेरी दक्षिणा स्वीकार कर मेरे शिष्यत्व को प्रामाणिकता प्रदान कर रहे हैं।"

क्षण-भर के लिये गुरु की आँखों में चिन्तन के जाले प्रकट हुए, किन्तु अगले ही क्षण उनका मन अपना मार्ग स्पष्ट देख रहा था, "कहीं तुम्हें गुरु-दक्षिणा अपनी क्षमता से अधिक न लगे।"

एकलव्य का आत्मविश्वास ऐसे मुस्कुराया कि आचार्य का मन डोल गया, "आप आज्ञा करें गुरुदेव! जितनी अधिक गुरु-दक्षिणा चुकाऊँगा, मेरी विद्या उतनी ही अधिक मूल्यवान हो जायेगी।..."

"तो एकलव्य!" द्रोण ने निष्कम्प स्वर में कहा, "अपने दाहिने हाथ का अँगूठा, अपने हाथ से पृथक कर मुझे गुरु-दक्षिणा में दे दो।"

द्रोण का स्वर चाहे निष्कम्प था, किन्तु वे एकलव्य की ओर देखने का साहस नहीं कर पाये।

...अर्जुन को लगा कि कदाचित आचार्य, एकलव्य की गुरु-भक्ति की परीक्षा ले रहे हैं। किन्तु अर्जुन की इस परीक्षा में कोई रुचि नहीं थी। उसकी एकलव्य से न कोई स्पर्धा थी, न ईर्ष्या! वह तो मात्र गुरु से पाया हुआ सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर होने का आशीर्वाद, सत्य होते देखना चाहता था।...तो गुरु क्या करना चाहते थे...

एकलव्य के मन में क्षण-भर के लिये भी यह विचार नहीं आया कि गुरु उसका अँगूठा क्यों माँग रहे हैं। उसके लिये, गुरु की आज्ञा का पालन करने से बढ़ कर यह, अपने समर्पण के परीक्षण की घड़ी थी। उसके लिये यह महत्वपूर्ण था ही नहीं कि गुरु के मन में क्या है। उसने विद्या भी अपने समर्पण के बल पर ही पायी और वह दक्षिणा भी समर्पण का एक रूप थी। वह यदि दक्षिणा देने में असमर्थ रहता है; उसका मन इस दक्षिणा के गुण-दोष, इसकी सार्थकता-निरर्थकता का विवेचन करने बैठ जाता है; अथवा उसके मन में इस आज्ञा अथवा आज्ञा देने वाले के विरुद्ध रोष का एक कण भी जागता है, तो गुरु के प्रति उसका समर्पण पूर्ण नहीं है...

एकलव्य ने तीक्ष्ण फलक का एक बाण उठाया और उसे अपने बाएँ हाथ में ले कर दाएँ हाथ का अँगूठा, उसके मूल से पृथक कर दिया। रक्त-रंजित उस माँस-पिण्ड को जल से धो स्वच्छ किया और अंजुलि में सुसज्जित कर गुरु की ओर बढ़ा दिया।

अँगूठा स्वीकार करते हुए द्रोण का मन विचलित नहीं हुआ, उनके हाथ नहीं काँपे...उनके चेहरे पर कहीं अपराध-बोध नहीं था।

"अखण्ड यश पाओ।" उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया और मुड़ कर चल पड़े।

अर्जुन ने देखा, गुरु के चेहरे पर विजय और सफलता की मुस्कान थी। ऐसा नहीं लग रहा था कि अपने किसी शिष्य की इतनी कठोर परीक्षा ले, उसके जीवन की सम्पूर्ण साधना को ध्वस्त कर लौट रहे हैं। उनके चेहरे पर अपने मार्ग में आये विघ्नों को नष्ट कर, अपने गंतव्य की ओर सफलतापूर्वक बढ़ने का उल्लास और गर्व था...

अर्जुन को आश्चर्य हुआ : गुरु को एकलव्य का अँगूठा कटवाने की क्या आवश्यकता थी? वे उसे भी एकलव्य की विद्या सिखा देते तो अर्जुन निश्चित रूप से उससे श्रेष्ठतर धनुर्धर हो जाता।...तब एकलव्य का अँगूठा कटवाने की आवश्यकता नहीं पड़ती...क्यों किया गुरु ने ऐसा? क्या वे एकलव्य की विद्या अर्जुन को नहीं सिखा सकते थे? क्या वे एकलव्य से भयभीत थे?...क्या एकलव्य गुरु की निरर्थकता का प्रमाण था?...किन्तु गुरु से कुछ भी तो पूछा नहीं जा सकता था।...

अर्जुन को लगा, शायद वह भी मन में प्रसन्न है।...यदि गुरु उसे वह विद्या सिखा सकते, तो एकलव्य का अँगूठा क्यों कटवाते। और एकलव्य का अँगूठा, अपने स्थान पर रहते शायद अर्जुन संसार का सर्वश्रेष्ठ धर्नुधर हो नहीं सकता था। गुरु ने अपने आशीर्वाद की पूर्ति के लिये ही यह क्रूर कर्म किया है।

किन्तु अर्जुन को कहीं यह भी लग रहा था कि एकलव्य से पराजय ही उसकी नियति है।...यदि उसका अँगूठा न कटता, तो कदाचित अर्जुन उससे धनुर्विद्या में पराजित होता...कम-से-कम गुरु के इस क्रूर कृत्य से तो उनकी इसी आशंका का आभास होता है।...और अँगूठा काट कर एकलव्य ने गुरु के प्रति आत्मसमर्पण के क्षेत्र में उसे पराजित कर दिया है।...क्या अर्जुन के लिये इस प्रकार अगूँठा देना सम्भव होता?...तभी तो गुरु ने उसे 'अखण्ड यश प्राप्ति' का आशीर्वाद दिया है...सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर हो कर वह सफल योद्धा होता, अक्षय यश अर्जित करता।...अब उसने इस अपूर्व आत्म-समर्पण से वही यश सहज ही प्राप्त कर लिया है। गुरु ने उसे यही आशीर्वाद तो दिया है...

युधिष्ठिर ने सुना तो तत्काल उसके मुख से निकला, “यह तो नृशंसता है।”

किन्तु भीम ने आचार्य का समर्थन किया, “नृशंस हुए बिना भी कोई महत्वाकांक्षा पूरी हुई है ज्येष्ठ?”

“परन्तु अपनी महत्वाकांक्षाओं का मूल्य हम दूसरों से क्यों लेना चाहते हैं।” युधिष्ठिर बोला, “या फिर ऐसी महत्त्वाकांक्षाओं की सार्थकता ही क्या, जिसके लिये मनुष्य को इतना नृशंस होना पड़े।”

“यह गुरु-विरोध है।” अर्जुन धीरे से बोला।

“जानता हूँ।” युधिष्ठिर का स्वर उत्साहशून्य था, “इसके लिये मुझे गुरु क्षमा करें। किन्तु न तो महत्वाकांक्षा की यह क्रीड़ा मुझे रुचिकर है और न ही यह रण-नीति! स्पर्धा अपने विकास में होनी चाहिए, दूसरे के ह्रास में नहीं!”

अर्जुन जानता था कि युधिष्ठिर का कथन सत्य है, किन्तु फिर भी वह उसका समर्थन नहीं कर पा रहा था।...

12

अधिरथ को लगा, जैसे उसकी आत्मा उसके शरीर से निकल कर पवन के झोंके पर आरूढ़ किसी मेघ-खण्ड के समान, किन्हीं विचित्र लोकों में तैर रही थी; सहसा धरती पर पड़े उसके शरीर पर जैसे कोई संकट आ गया और उसने आत्मा को अपनी रक्षा के लिये पुकार लिया। आत्मा जैसे हाँफती हुई, अटपटे वेग से शरीर में प्रवेश कर गयी और तब अधिरथ अपने परिवेश के विषय में सजग हुआ। वह अपने घर में अपनी शैया पर सो रहा था। रात्रि का कदाचित एक-आध प्रहर व्यतीत भी हो चुका था।...एक शब्द था, जो बार-बार ध्वनित हो रहा था। कदाचित इसी शब्द ने उसकी आत्मा को अन्य लोकों से खींच कर धरती पर ला पटका था।...उसने उस शब्द को पहचाना...कोई उसके घर का बाहरी किवाड़ पीट रहा था।

उसने राधा की ओर देखा। वह अपनी शैया पर ही लेटी थी, किन्तु सोयी हुई नहीं थी।

"कोई हमारा किवाड़ पीट रहा है।"

"मैं देखती हूँ!" राधा उठ खड़ी हुई।

और सहसा अधिरथ के भीतर अलसाया हुआ पुरुष सावधान हो गया, "नहीं, ठहरो मैं, देखता हूँ।"

"तुम विश्राम करो! मैं देख देती हूँ।" राधा बोली, "तुम्हें दिन में तो विश्राम मिलता नहीं; रात्रि में ठीक से सोओगे नहीं, तो स्वास्थ्य कैसे ठीक रहेगा।"

"वह सब ठीक है," अधिरथ बोला, "किन्तु असमय में द्वार खटका है। कोई संकट की ही बात होगी। मुझे ही देखना होगा। अन्धे धृतराष्ट्र के राज्य में हस्तिनापुर इतना सुरक्षित नहीं है कि आधी रात में कोई बिना सोचे-समझे, अपने घर के कपाट खोल दे।"

अधिरथ उठ कर कक्ष से बाहर आया; किन्तु राधा भी अपने स्थान पर रुकी नहीं रह सकी। वह अधिरथ के पीछे-पीछे बाहरी द्वार तक आयी। उसके मन में अनेक आशंकाएँ थीं। अधिरथ का स्वास्थ्य आजकल ठीक नहीं चल रहा था। कुछ तो वय के कारण ही शरीर ढीला था, और कुछ श्रम भी आजकल अधिक करना पड़ रहा था। शरीर में सामर्थ्य न हो और इस प्रकार का श्रम करना पड़े; तो स्वास्थ्य कहाँ से ठीक रहे।...बढ़ती हुई अवस्था के साथ जहाँ एक ओर महाराज धृतराष्ट्र का शरीर शिथिल हो रहा था, वहीं दूसरी ओर उनका मन अधिक चंचल होता जा रहा था। कदाचित वे टिक कर अपने प्रासाद में रह नहीं सकते थे। उन्हें सारा दिन कहीं-न-कहीं आते-जाते रहना होता था। ऐसे में उन्हें रथ की भी आवश्यकता थी और सारथि की भी। जाने क्यों उन्हें सारथियों में अधिरथ पर ही इतना विश्वास था कि वे उसे तनिक भी विश्राम नहीं करने देना चाहते थे।

"...और क्या संकट होगा। तुम्हारे उस अन्धे महाराज के मन में इस समय कहीं जाने की उमंग समाई होगी। ऐसे समय में और कौन-सा सारथि मिलेगा। सोचा होगा, 'चलो! इस भले आदमी अधिरथ का ही द्वार खटखटाओ'।"

और राधा को लगा, मुख से चाहे वह कुछ भी कहे, किन्तु उसके मन में इस समय धृतराष्ट्र के प्रति कम, अपने कर्ण के प्रति अधिक रोष जागा था। क्या उसका पालन-पोषण कर इसलिये इतना बड़ा किया था कि अब, जब समय आया था कि वह अपने वृद्ध पिता के लिये अवलम्ब बनता—वह बिना कुछ कहे-सुने, बिना किसी को कोई सूचना दिये चुपचाप घर छोड़ कर चल दे?...वह यहाँ होता, तो बहुत सम्भव था कि राजकुमार दुर्योधन से अपनी मैत्री के कारण, वह राजा से कह कर, अपने पिता की कोई सहायता कर पाता। या फिर स्वयं पिता के कुछ दायित्व सँभालता, पिता के विश्राम की व्यवस्था करता, छोटे भाइयों के सिर पर संरक्षण का हाथ रखता। कर्ण बालक नहीं था अब। गृहस्थी सँभालने का समय आ चुका था उसके लिये। वह जिस क्षण चाहता, राज-सेवा में उसे सारथि का पद प्राप्त हो सकता था। राजा तथा राजकुमार दोनों ही अत्यन्त कृपालु थे उस पर।...

अधिरथ ने राधा की बात का कोई उत्तर नहीं दिया। उत्तर देने की आवश्यकता भी नहीं थी। वह तो हर समय कुछ-न-कुछ बोलती ही रहती थी। सब कुछ वह उत्तर पाने के लिये कहती भी नहीं थी। तो यह एकदम आवश्यक नहीं था कि वह उसे उत्तर देता अथवा कोई प्रतिक्रिया व्यक्त करता...

वह धीरे-धीरे चलता हुआ आया और द्वार के निकट खड़ा हो गया।

"कौन है?' अधिरथ ने कपाट खोलने से पहले उच्च स्वर में पूछा।

"पिता जी! कपाट खोलिये!" किसी ने स्वर को सायास मंद कर कहा।

कपाट खटखटाने वाले ने अपने कण्ठ को अवरुद्ध कर स्वर दबा कर, ये शब्द कहे थे; किन्तु राधा को लगा, यह कर्ण का ही स्वर था। उसके अपने वसु का। अभी जिसे वह धिक्कारने के व्याज से स्मरण कर रही थी, उसी कर्ण का...

किन्तु अगले ही क्षण उसने अपने मन को झिड़क दिया : उसे तो हर समय प्रत्येक दिशा में कर्ण ही दिखायी पड़ता है; प्रत्येक शब्द कर्ण के ही कण्ठ का शब्द लगता है। मोह की भी कोई सीमा होती है...

"कपाट तो खोलूँगा ही।" अधिरथ अपने स्वर की उत्तेजना को संयत करता हुआ बोला, "किन्तु तुम कौन हो?"

"पहचाना नहीं पिता जी!" स्वर आया, "मैं हूँ आपका वसुषेण कर्ण!"

"मेरे वसुषेण होते तो मुझे इस प्रकार छोड़ कर, बिना कुछ बताये हुए घर से न भाग जाते।" अधिरथ की जिह्वा ने कहा और हाथों ने कपाट की अर्गला हटा दी।

राधा को लगा, उसके अपने मन में भी ठीक वही भाव थे, जो उसके पति ने व्यक्त किये थे। यदि द्वार पर खड़ा व्यक्ति उसका वसु ही था, तो वह कपाट खोल कर अपने घर में उसका स्वागत ही नहीं करना चाहती, अपनी दोनों भुजाएँ फैला कर उसे अपने आलिंगन में बाँध भी लेना चाहती है; किन्तु साथ ही वह अपना रोष भी अवश्य ही प्रकट करना चाहती है...वह उन्हें छोड़ कर इस प्रकार गुपचुप क्यों चला गया?...उसने उनसे दुराव क्यों किया? उसने उनकी आत्मीयता और विश्वास का प्रत्याख्यान क्यों किया?...

कर्ण ने भीतर प्रवेश कर दोनों के चरण छुए और उनके सम्मुख किंकर्तव्यविमूढ़-सा खड़ा हो गया। उसकी आँखों में संकोच भी था, हल्की-सी ग्लानि भी, कुछ पीड़ा भी और कुछ प्रेम तथा उल्लास भी; किन्तु उसकी जिह्वा के पास एक भी शब्द नहीं था।

"आओ!" राधा ने कहा और भीतर के कक्ष की ओर मुड़ गयी। कर्ण भी बिना कुछ कहे हुए उसके पीछे चला; और बहुत कुछ कहने को आतुर, कपाट को अपने दाहिने हाथ में पकड़े खड़ा अधिरथ मानो अपने चरण घसीटता हुआ उन दोनों के पीछे-पीछे चल पड़ने को बाध्य हो गया।

कक्ष में आ कर राधा अपनी शैया पर बैठ गयी और उसने हाथ के संकेत से कर्ण को भी अपने निकट बैठने के लिये कहा। कर्ण, बिना कुछ कहे, चुपचाप माँ द्वारा बताये गये स्थान पर बैठ गया; जैसे वह अपने घर न लौटा हो, किसी पराये घर में गृहस्वामिनी की अनुमति से ही किसी स्थान-विशेष पर बैठने का अधिकारी हो...

कुछ देर तक अधिरथ चुपचाप खड़ा, रोषपूर्वक कर्ण को देखता रहा; किन्तु कर्ण का ध्यान उसकी ओर नहीं था। वह चुपचाप सिर झुकाये हुए, भूमि की ओर देख रहा था। अन्ततः अधिरथ भी अपनी शैया पर बैठ गया। वस्तुतः वह नहीं चाहता था कि इतने दिनों तक घर से विलुप्त पुत्र के रात्रि के इस प्रहर में चुपचाप लौट आने पर कोई बवण्डर खड़ा करे; किन्तु वह जानता था कि यदि उसके मन का रोष अपनी उपयुक्त अभिव्यक्ति न पा सका तो कदाचित उसका मस्तिष्क फट जायेगा। तो कुछ तो उसे कहना ही होगा; किन्तु अच्छा हो कि पहले राधा ही उसे डाँट-डपट ले। राधा की ताड़ना का वह बुरा नहीं मानता। जाने कैसे राधा की ताड़ना में भी प्रेम छलकता है, और उसके अपने प्रेम में भी ताड़ना घुली-मिली होती है। वह कर्ण को डाँटती भी है तो उससे यही आभास होता है कि कर्ण द्वारा पीड़ित किये जाने पर वह अपनी पीड़ा का विलाप कर रही है। उसकी ताड़ना कर्ण को अपराधी बना देती है।...इतने वर्ष साथ रह कर भी अधिरथ, राधा से ताड़ना की यह कला नहीं सीख पाया।...राधा, कर्ण को डाँट लेगी तो अधिरथ उसी से अपने मन को समझा लेगा। कहीं यह न हो कि पहले वह बोले और कोई इतनी तीखी और चुभती हुई बात कह दे कि इतने दिनों के पश्चात घर लौटे कर्ण के मर्म को छील कर रख दे; और कर्ण पुनः घर छोड़ कर चला जाये...ऐसी ताड़ना का भी क्या लाभ, जिससे उसी घटना की पुनरावृत्ति हो, जिसके लिये ताड़ना की आवश्यकता पड़ी थी।

...किन्तु न तो राधा ही कुछ पूछ रही थी...और न ही कर्ण को ही कोई स्वष्टीकरण देने की जल्दी थी...और अधिरथ का मन फटने-फटने को हो रहा था...

"कहाँ चले गये थे तुम?" अन्ततः जैसे अधिरथ के मन में बैठे क्रोध के प्रेत ने पूछ ही लिया।

"मैं धनुर्विद्या प्राप्त करने के लिये गुरु परशुराम के आश्रम में चला गया था।"

"क्यों? क्या आवश्यकता थी उसकी?" अधिरथ के मन की कड़वाहट जैसे धुआँ बन कर, उसके शब्दों में सम्मिलित हो, कर्ण की आँखों और कानों के माध्यम से, उसके मन तक पहुँच रही थी।

"जब जल की धारा का एक मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, तो वह दूसरा मार्ग खोज ही लेती है।" कर्ण धीरे से बोला।

"धारा बनना ही जल की एकमात्र नियति नहीं है।" अधिरथ का रोष कम नहीं हो रहा था। उसकी अपेक्षा के अनुसार कर्ण के व्यवहार में कहीं पश्चाताप अथवा ग्लानि नहीं थी। वह यह अनुभव ही नहीं कर रहा था कि उसने इस प्रकार घर से भाग कर, कोई भूल की थी, अथवा किसी को कोई कष्ट पहुँचाया था। वह तो अपने इस कृत्य को जैसे अपनी उपलब्धि के रूप में प्रस्तुत कर रहा था, "जल, सरोवर भी बन सकता है और समुद्र भी। और एक बार वह सम्रुद बन जाये तो पृथ्वी की सारी धाराएँ आ कर उसी में समा जाने को अपनी पूर्णता मानती हैं।"

कर्ण ने जीवन में जैसे पहली बार अपनी आँखें पूरी खोल कर, दृष्टि भर, अपने इस सारथि पिता को देखा : उसने यह बात तो सोची ही नहीं थी। गंगा-तट पर रहते-रहते उसने तो धारा बनने की ही महत्त्वाकांक्षा अपने मन में पाली थी। किन्तु वहीं रहने वाला उसका यह सारथि पिता सागर बनने की महत्वाकांक्षा की कल्पना कर सकता है? उसने कदाचित अपने पिता को कम जाना है, कम आँका है। उसने तो सदा यही सोचा था कि उसके पिता अपने इस नगण्य जीवन से ही इतने संतुष्ट हैं कि उन्होंने जीवन में गति की कभी कल्पना ही नहीं की। शायद सारथि जीवन की परिणति ही यही है कि वह दिन-भर चलता रहे, किन्तु गति से उसका कोई परिचय ही न हो। वह अपने आसन से ही चिपका रहे... किन्तु उसके पिता तो...

"आप ठीक कह रहे हैं पिता जी!" वह धीरे से बोला, "मैंने तो सागर खोजने की ही क्षमता विकसित की है; सागर बनने की नहीं। मैं तो आज तक इसी बात से भयभीत रहा कि यदि जल की धारा गतिमान नहीं होती, तो उसे धरती पी जायेगी।"

अधिरथ को लगा, उसका आवेग कुछ शान्त हो रहा है : उसका यह पुत्र अत्यन्त महत्वाकांक्षी रहा है, शायद इसलिये उसे कभी भी सन्तोष-धन नहीं मिला और अधिक पाने की आकांक्षा ने उसे अपने गुणों को पर्याप्त नहीं मानने दिया। इसलिये उसने सदा अपने-आपको हीन और अक्षम माना। कदाचित इसलिये वह सदा भयभीत रहा है कि उसके अस्तित्व को धरती सोख न ले। बेचारे ने यह कभी नहीं सोचा कि जल के लिये यदि धरती द्वारा सोख लिये जाने का संकट है तो सागर द्वारा लील लिये जाने का भी; उतना ही संकट है। यदि धारा को धरती अपनी शत्रु दिखायी पड़ती है, तो उसका अर्थ यह तो एकदम नहीं है कि सागर उसका मित्र ही है।...धारा का अस्तित्व अपने मूल रूप में न तो धरती पर रहता है, न सागर में। यदि वह सागर में अपना अस्तित्व खो कर सारे सागर को अपना मान कर संतुष्ट हो सकती है, तो पृथ्वी की सारी हरीतिमा में वह अपना अस्तित्व क्यों नहीं खोजती? क्या विकास का एक ही मार्ग है—सागर में जा मिलना?

"पुत्र! सृष्टि के रहस्य अभेद्य हैं!" अधिरथ के स्वर में ताड़ना का भाव कम, प्रबोध का भाव अधिक हो गया था, "हम उतना ही समझते हैं, जितना समझने की क्षमता हमारी बुद्धि में होती है; किन्तु हमारी बुद्धि ही संसार का अन्तिम सत्य नहीं है।" उसने रुक कर कर्ण को देखा, "मैं तो आज तक यह समझ नहीं पाया कि पृथ्वी ने सागर को अपनी गोद में स्थान दे रखा है अथवा सागर ने पृथ्वी को अपनी भुजाओं में उठा रखा है? पृथ्वी, सागर को सोखती रहती है, या सागर पृथ्वी को घोलता रहता है? मैं तो आज तक यह निर्णय नहीं कर पाया, तुम कर पाओ, तो मुझे बताओ—हम धरती की सन्तान हैं अथवा सागर के पुत्र? हम अपने शरीर की मिट्टी को अपना मानें अथवा उसके जल-तत्व की रक्षा करें?..." उसने क्षण-भर रुक कर कर्ण की ओर देखा, "तुमने कभी सोचा है कि जिस समुद्र को अपना मान कर धारा उसकी ओर दौड़ती है, वह सागर उसके सम्पूर्ण अस्तित्व को लील जाता है; और जिस धरती को वह पराया मान, उससे दूर भागती है, वह धरती, तट बाँध कर उसके अस्तित्व की रक्षा करती है?"

"फिर तुमने अपना यह प्रलाप आरम्भ कर दिया!" राधा के स्वर में उत्तेजना थी, "यह नहीं कि इतने लम्बे अन्तराल के पश्चात जो पुत्र घर लौटा है, उसका कुशल-मंगल जानें, उसकी थकान मिटाने और उसे विश्राम देने का प्रयत्न करें। उल्टे आधी रात को जगा कर उसे भृत्तिका और जल-तत्व का महत्व समझा रहे हैं।..."

"मैं उसे भृत्तिका और जल-तत्व का महत्व नहीं समझा रहा हूँ सुमंगले! मैं तो केवल यह कह रहा हूँ कि जीवन में यह निर्णय करना बहुत कठिन है कि हमारा अपना कौन है और पराया कौन! हमारा मंगल एक में अन्तर्निहित हो जाने में है, अथवा दूसरे में लय हो जाने में। इस संश्लिष्ट सृष्टि में सन्तुलन बनाये रखना बहुत आवश्यक है।..."

"तुम रहने दो।" राधा को अधिरथ के मन में झाँकने में कोई रुचि नहीं थी। उसे पूर्ण विश्वास था कि अधिरथ को ऐसी बातें कहने में सुख मिलता है, जो राधा की समझ से बाहर हों।

"पुत्र! यह बताओ कि गुरु परशुराम का आश्रम है कहाँ?"

इस बार संकट का अनुभव कर्ण को हुआ। माँ सहज ही यह समझ नहीं पायेगी कि आश्रम कहाँ है। उसके जानते, माँ ने बहुत कम भ्रमण किया है। संसार इतना कम देखा है कि उसे उसकी व्यापकता समझने में भी कठिनाई होगी!

"माँ! वह आश्रम यहाँ से बहुत दूर है। यहाँ से पूर्व की ओर माँ!" कर्ण को थोड़ी देर सोचना पड़ा, "इस प्रकार समझ लो कि पूर्व की ओर तनिक-सा दक्षिण हो कर, तब तक चलते चले जायें, जब तक धरती का अन्त नहीं आ जाता—तो हम गुरु परशुराम के आश्रम में पहुँच जायेंगे। सागर के तट पर महेन्द्रगिरि के ऊपर गुरु परशुराम का आश्रम है माँ!"

"तो तुम धरती के अन्त तक चलते चले गये थे पुत्र?"

"कौन जानता है कि धरती का अन्त कहाँ है।" अधिरथ जैसे अपने-आपसे कह रहा था।

"तुम चुप रहो।" राधा ने अपने पति को इस प्रकार डाँटा, जैसे कोई समझदार व्यक्ति नासमझ बालक को डाँटता है; और अधिरथ ने उसी प्रकार उपेक्षापूर्वक देखा, जैसे कोई समझदार व्यक्ति, किसी बालक की उद्दण्डता को उपेक्षा से देखता है।

"पिता जी ठीक कह रहे हैं माँ!" कर्ण ने पिता के समर्थन के विचार से नहीं, सत्य की रक्षा के विचार से कहा, "धरती का अन्त कोई नहीं जानता। धरती समाप्त होती है, तो सागर आरम्भ होता है, किन्तु सागर के पार पुनः धरती है। पृथ्वी पर सर्वत्र धरती तथा सागर साथ-साथ ही हैं।"

"मैं भी तुम्हें यही समझा रहा हूँ पुत्र!" अधिरथ कुछ उत्साह के साथ बोला, "यदि धरती का अन्त सागर का आरम्भ है, तो सागर का अन्त धरती का आरम्भ भी है। जीवन भी पृथ्वी के ही समान है पुत्र! इसमें भी यदि एक स्थान पर दुख का अवसान सुख में है, तो दूसरे स्थान पर सुख का अवसान दुख में भी है।...."

इससे पहले कि कर्ण यह विचार कर पाता कि पिता क्या कह रहे हैं, राधा ने पूछा, "तो इतनी दूर जाने में तुम्हें कष्ट तो बहुत हुआ होगा पुत्र?"

"कष्ट क्या है माँ! यात्रा का अपना ही एक सुख होता है।" कर्ण बोला, "नये-नये स्थान। नये-नये लोग। पहले से कुछ भी निश्चित नहीं। नवीनता का सुख होता है यात्रा में माँ। अपने घर में तो प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक घटना, प्रत्येक व्यक्ति पूर्ववत ही होता है। कुछ परिवर्तित ही नहीं होता। नवीनतान्वेषी व्यक्ति उससे ऊब जाता है।"

"यही तो अन्तर है पुत्र!" राधा ने उत्तर दिया, "तुम्हारे लिये परिवर्तन नवीनता उत्पन्न करता है और मेरे लिये अनिश्चितता। घर में मेरे लिये सब कुछ परिचित है, निश्चित है। यात्रा में कुछ भी निश्चित नहीं है—कब तक चलेंगे? कहाँ रुकेंगे? क्या खायेंगे? कब खायेंगे? कहाँ विश्राम करेंगे? विश्राम मिल पायेगा या नहीं? मार्ग में सहयात्री होंगे या नहीं? होंगे, तो कैसे होंगे?...मुझे तो यात्रा के नाम से ही भय-सा लगने लगता है पुत्र!"

"मैं जानता हूँ माँ! तुममें जो एक सन्तोष का भाव है, उसके कारण व्यतिक्रम तुम्हें अच्छा नहीं लगता; किन्तु संसार में ऐसे लोग भी तो हैं, जिनके लिये व्यतिक्रम ही क्रम बन जाता है।"

"अवश्य होंगे पुत्र!" राधा बोली, "तो तुम सुविधापूर्वक गुरु परशुराम के आश्रम तक पहुँच गये?"

"हाँ माँ! वैसे तो मैं अकेला ही चला था; किन्तु मार्ग में मुझे तपस्वियों का एक दल मिल गया था। उसी से मार्ग खोजने में तनिक भी असुविधा नहीं हुई।"

"गुरु परशुराम तुम्हें शिष्य रूप में पा कर प्रसन्न हुए होंगे।"

कर्ण का चेहरा जैसे बुझ गया। राधा का ध्यान उधर नहीं गया, किन्तु अधिरथ ने स्पष्टतः लक्ष्य किया कि असफलता की एक छाया आ कर, कर्ण के मुख पर पसर गयी। उस छाया को ही अलक्षित रखने के लिये कर्ण अपना चेहरा उनसे छिपा रहा था।

"क्यों? क्या गुरु प्रसन्न नहीं हुए?" अधिरथ ने बलपर्वक पूछा, "क्या तुममें उन्होंने एक अच्छे शिष्य के लक्षण नहीं देखे?"

कर्ण ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया।

"क्यों? बोलते क्यों नहीं पुत्र?" राधा के स्वर में आग्रह था, "पिता की बात का उत्तर क्यों नहीं देते?"

"उत्तर तो मेरे अपने मन में भी स्पष्ट नहीं है माँ!" कर्ण ने माँ की ओर देखा, तो उसकी आँखों में से झांकते हुए पीड़ित अहंकार ने राधा को भी जैसे घायल कर दिया।

राधा के मन में सहस्रों प्रश्न थे; किन्तु वह समझ नहीं पा रही थी कि वह कौन-सा पहले पूछे।

"जिसे उन्होंने अपना शिष्य माना, उससे वे अत्यन्त प्रसन्न रहे माँ! जितना उन्होंने मुझे अपना शिष्य माना, उतने तो वे मुझ पर कृपालु ही रहे! किन्तु तथ्य तो यही है माँ! कि जिसे वे अपना शिष्य मानते रहे—वह मैं नहीं था। वह एक ब्राह्मण कुमार था।"

"इसका अर्थ?" अधिरथ, कर्ण की बात समझ नहीं पा रहा था।

"यह तो मुझे उनके आश्रम में जा कर ही मालूम हुआ था कि उनके आश्रम में मुक्तहस्त विद्यादान नहीं होता..." कर्ण कुछ थम कर बोला, "और यह भी सुखद संयोग ही था कि गुरु परशुराम को अपना परिचय देने से पूर्व ही मुझे यह ज्ञात हो गया।" उसने रुक कर अपने माता-पिता को देखा : उन दोनों की आँखों में अनेक प्रश्न तैर रहे थे; किन्तु शायद शब्दों में वे कुछ भी पूछना नहीं चाहते थे।

"गुरु परशुराम शस्त्र-विद्या के लिये केवल ब्राह्मण शिष्य स्वीकार करते हैं।" कर्ण बोला, "आचार्य द्रोण ने मुझ सूतपुत्र को राजकुमारों के साथ शस्त्र-शिक्षा देना अस्वीकार किया; किन्तु गुरु परशुराम तो क्षत्रियों को भी शस्त्र-शिक्षा नहीं देते।"

"यह झूठ है।" राधा बोली, "आर्यश्रेष्ठ भीष्म, उनके शिष्य रहे हैं।"

"मैं जानता हूँ माँ! किन्तु पितामह भीष्म को शस्त्र-शिक्षा देने वाले परशुराम, वर्तमान गुरु परशुराम के गुरु के भी गुरु रहे हैं।" कर्ण बोला, "एक परशुराम वे थे, जो भीष्म पितामह के गुरु थे। दूसरे वे थे जिन्होंने आचार्य द्रोण को अपने शस्त्रों का दान किया था। वे सर्वस्व दान कर, आश्रम छोड़, किसी अज्ञात स्थान की ओर चले गये हैं। अब वर्तमान परशुराम...।"

"तो परशुराम भी अनेक हैं?" राधा के मुख से जैसे अनायास निकल गया।

"परशुराम-पीठ का प्रत्येक कुलपति, परशुराम ही कहलाता है माँ!" कर्ण बोला, और प्रत्येक कुलपति का व्यक्तित्व तथा नीति, पिछले कुलपतियों से भिन्न भी हो सकती है।"

"तो तुम इतने दिन क्या करते रहे?" अधिरथ ने तीक्ष्ण दृष्टि से उसकी ओर देखा, "तुम्हें तो उन्होंने अपने शिष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया होगा..."

"नहीं! मैंने उनके चरणों के निकट बैठ कर शस्त्र-विद्या का अभ्यास किया...।" कर्ण ने अधिरथ को देखते हुए कहा; और फिर सिर झुका कर बोला, "मैंने उन्हें अपना परिचय भार्गव गोत्र के एक ब्राह्मण कुमार के रूप में दिया...।"

अधिरथ की आँखों में रोष झलका, "तुमने फिर मिथ्या-भाषण किया। वह भी गुरु के सम्मुख और विद्या-प्राप्ति के लिये!...छल किया गुरु से?"

"तो इसमें मेरा क्या दोष है? कर्ण के स्वर में आक्रोश था, "जब सत्य बोल कर संसार में कुछ प्राप्त नहीं होगा, तो असत्य-भाषण नहीं होगा क्या? मैं इतना मूर्ख नहीं हूँ कि प्रत्येक स्थान पर सत्य बोल कर वंचित होता रहूँ। संसार में कुछ व्यावहारिक होना पड़ता है।..."

अधिरथ कुछ सोचता रहा, फिर जैसे अपने-आपसे बोला, 'कर्ण वहीं तक सत्य का समर्थक है, जहाँ तक उसे सत्य से लाभ होता है!'

"उन्होंने स्वयं मुझे बोलने को बाध्य किया।" कर्ण किसी हठी बालक के समान बोला, "यदि मेरा वास्तविक परिचय पा कर भी वे मुझे शस्त्र-विद्या का दान करते तो मैं मिथ्या-भाषण क्यों करता?"

"हाँ पुत्र! दोष तो सदा दूसरों का ही होता है। तुम दोषी हो ही कैसे सकते हो।"

पिता की बात जैसे कर्ण के मर्म में चुभ गयी, "मैं जानता हूँ कि आपको मेरा आचरण कभी उचित नहीं लगता; किन्तु आप मुझे बतायें कि विद्या का अधिकार सबको क्यों नहीं है? विद्या-दान के मध्य वर्ण कहाँ से आ जाता है? मैं शस्त्र-विद्या-विशारद क्यों नहीं हो सकता? क्या कमी है मुझमें? मानवों में वर्ण-भेद कर, वर्ग-भेद कर, कुछ को हीन और कुछ को श्रेष्ठ मानने का क्या अर्थ है? समाज में कुछ लोगों के लिये सुविधाएँ क्यों जुटायी जाती हैं और कुछ की इतनी उपेक्षा क्यों की जाती है?..."

"मैं कोई विद्वान पण्डित अथवा चिन्तक-विचारक नहीं हूँ पुत्र! इसलिये तुम्हारे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता। किन्तु तुमसे यह पूछना अवश्य चाहता हूँ कि तुम सामाजिक अन्याय की बात कर रहे हो या व्यक्तिगत लाभ की चिन्ता है तुम्हें?"

"मैं सामाजिक अन्याय का विरोध कर रहा हूँ पिता जी!"

"यदि ऐसा ही है पुत्र! तो तुम्हें स्वयं को ब्राह्मण कुमार बता कर शिक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिए थी। तुम्हें सूतपुत्रों के एक बड़े समुदाय को साथ ले कर आग्रह करना चाहिए था कि उन सबको शस्त्र-शिक्षा दी जाये!...सामाजिक न्याय की बात तुम्हारे मन में होती तो तुम सामाजिक विधान की बात करते। सूतपुत्रों के ही नहीं, सारे वर्णों के कुमारों के लिये नीति निर्धारित करते। शिक्षा के समग्र रूपों का विधान करते और अन्त में तुम भी किन्हीं ऐसे ही निष्कर्षों पर पहुँचते कि किसे किस प्रकार की विद्या दी जानी चाहिए...।"

"जाने क्यों आप सदा मेरा विरोध करते हैं।" कर्ण के स्वर में स्पष्ट खीझ थी।

"यही तो मैं कह रही हूँ।" राधा ने कर्ण के साथ अपना स्वर भी मिलाया, "इतने दिनों के अज्ञातवास के पश्चात पुत्र घर लौटा है और पिता है कि उसका कुशल-मंगल न पूछ कर, उसे स्नेह अनुराग न दे कर, जाने किन-किन विषयों का वितण्डावाद खड़ा कर, उसे सारी रात जगाये रखने का संकल्प किये बैठा है।"

"सत्य कहती हो भद्रे। किन्तु इतना तो तुम भी समझ ही लो कि पिता का दायित्व, माँ के समान बालक को लाड़-प्यार देने, पेट-भर खिलाने और सुख-पूर्वक सुलाने तक ही सीमित नहीं होता। पिता को पुत्र के शरीर की ही नहीं, उसके मन और उसकी आत्मा की भी चिन्ता करनी पड़ती है। यदि ऐसा न हो तो उसका भ्रमित मन उसके शरीर के साथ-साथ उसकी आत्मा को भी संकट में डाल देता है।..."

"तो उसके मन की चिन्ता आज, इसी समय करनी है क्या?" राधा के स्वर का विरोध कम नहीं हुआ था।

"तुम्हारे पुत्र ने ही चर्चा की थी। मैंने तो चर्चा को आगे ही बढ़ाया था।" अधिरथ बोला, "और वैसे भी आज यह आया है; हम एक साथ बैठे हैं, तो चर्चा हो रही है; अन्यथा इसके पास हमारे लिये समय ही कहाँ होता है। फिर यह होगा, इसका मित्र दुर्योधन होगा, गुरु-पुत्र अश्वत्थामा होगा और वह होगा राजा का साला गन्धार-कुमार शकुनि।..."

"ठहर जाओ माँ!" कर्ण बोला, "इस चर्चा में कोई हानि नहीं है। मैं पिता जी से ही पूछ लूँ कि क्या शिक्षा का अधिकार सबको नहीं है? शिक्षा और ज्ञान क्या ब्राह्मण और क्षत्रिय-पुत्रों की ही बपौती है?"

"शिक्षा का अधिकार तो सबका है पुत्र!" इस बार अधिरथ अत्यन्त शान्त स्वर में बोला, "क्योंकि अपने विकास का अधिकार समस्त जीवों को है— शारीरिक, मानसिक और आर्थिक विकास। अपनी आजीविका अर्जित करने के लिये भी विद्या प्राप्ति का अधिकार सबको है। किन्तु इसके पश्चात भी ज्ञान, चेतना तथा शारीरिक और मानसिक कौशल के अनेक क्षेत्र हैं; जिनके विषय में सामाजिक नेतृत्व यह तय करता है कि कौन-सा व्यक्ति, कौन-सी विद्या ग्रहण कर, समाज के लिये अधिक उपयोगी होगा। क्या तुम्हें नहीं लगता कि लोहार बनने की क्षमता रखने वाले व्यक्ति को चित्रकला सिखाने का कोई लाभ नहीं है। वह, विद्या और शिक्षक—दोनों का ही अपव्यय है। संगीतशास्त्र में पारंगत होने वाले व्यक्ति को मल्लविद्या सिखाने का क्या लाभ?...और शस्त्र-विद्या की शिक्षा तो बहुत ही सोच-समझ कर दी जानी

चाहिए! शस्त्र तो केवल उनके हाथ में दिया जाना चाहिए, जो शरीर से ही नहीं, मन और आत्मा से भी क्षत्रिय हों। जो केवल न्याय और सत्य की रक्षा के लिये शस्त्र धारण करता हो; जो निर्बल की आततायी से रक्षा करता हो; जो अधर्म, अन्याय, शोषण और अत्याचार के विरोध में अपने प्राण देने को आतुर हो।"...

"तो आपका विचार है कि सारे क्षत्रिय न्याय के लिये शस्त्र धारण किये खड़े हैं!" कर्ण के स्वर में स्पष्ट क्रोध था, "मैं कहता हूँ पिता जी! ये लोग शक्तिशाली होने के लिये, सत्ता को अपने हाथ में बनाये रखने के लिये, शस्त्र धारण करते हैं। ये लोग हम सूतकुमारों को हीन मानते हैं; और हमें हीन बनाये रखना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि हम सदा उनके दास बने रहें। यह तो जातीय शोषण है पिता जी!"

अधिरथ का चेहरा क्षोभ से आरक्त हो गया। लगा, जैसे उसकी वाणी का विस्फोट होगा; किन्तु उसका संयम, उसके क्षोभ से अधिक बली प्रमाणित हुआ। उसने जैसे अपना सारा रोष पी लिया, "मैं जानता हूँ पूत्र! कि आज के ये सारे शस्त्रधारी क्षत्रिय न तो क्षत्रिय कहलाने योग्य हैं और न शस्त्र धारण करने के। इनमें धर्म, न्याय और विचार की मात्रा कम हो रही है—भोग, हिंसा और स्वार्थ की मात्रा बढ़ रही है। ये न्याय की स्थापना के लिये आत्मबलिदान के व्रतधारी सात्विक जीव नहीं हैं; ये भोग के लिये आतुर, अहंकार के बौराए हुए, रजोगुणी जीव हैं। इसलिये तो कहता हूँ कि शस्त्र-शिक्षा बहुत सोच-विचार कर, अत्यन्त संयमी और विचारवान लोगों को दी जानी चाहिए। यदि किसी अपात्र अथवा कुपात्र को कुम्भ-निर्माण की शिक्षा दी जायेगी, तो वह अपनी विद्या से यदि समाज का हित नहीं कर पायेगा तो अहित भी क्या करेगा। सुन्दर और कलात्मक कुम्भों का निर्माण नहीं करेगा तो कुछ कुरूप और कलाहीन भाजन गढ़ेगा; किन्तु कुपात्र के हाथ में शस्त्र दिया जायेगा, तो वह समाज का विनाश कर देगा।..."

"आप यह नहीं मानते कि वे हमें—सूतों को—स्वयं से हीन मानते हैं और हीन ही बनाये रखना चाहते हैं?" कर्ण ने पिता की बात बीच में ही काट दी।

"अवश्य मानता हूँ।" अधिरथ बोला, "सूत माता-पिता के घर में उत्पन्न हुआ हूँ। सूतों के समाज में पला और बढ़ा हूँ। किन्तु कर्ण! आज तक 'सूत-पुत्र' सम्बोधन से किसी सूत-पुत्र को मैंने इतना पीड़ित होते नहीं देखा, जितने पीड़ित तुम होते हो। क्षत्रियजन सूतों को कितना हीन मानते हैं—कह नहीं सकता; किन्तु तुम उसे जितना बड़ा कलंक मानते हो, वह मैं जानता हूँ।" अधिरथ ने कर्ण को देखा, "तुम्हारे वश में होता, तो तुम कब के अपने इस कलंक को धो चुके होते। तुम इसे इतना अपमानजनक मानते हो, इसलिये इससे मुक्त होने के लिये इस प्रकार तड़पते भी हो। जहाँ तक मैं समझता हूँ, तुम्हें क्षत्रियों की घृणा से अधिक, अपना हीनता-बोध पीड़ित कर रहा है। यह हीनता का भाव ही तो है, जिसने तुम्हारे भीतर इतनी प्रतिहिंसा कूट-कूट कर भर रखी है। तुम्हारी महत्वाकांक्षा, अपनी विकास-भावना से प्रेरित नहीं है—वह तुम्हारी प्रतिहिंसा की उपज है।... तुम स्वयं ऊँचा उठने से अधिक, किसी और को नीचा दिखाना चाहते हो। ..."

कर्ण ने पिता को देखा : वह नहीं जानता था कि पिता ने कभी उसके विषय में इतना सोचा था। क्या उसके पिता, उसके विषय में, उससे भी अधिक जानते हैं?

"पिता जी! यदि मैं शस्त्र-विद्या के क्षेत्र में और विकास करना चाहता हूँ, यदि मैं युद्ध-शास्त्र के विषय में और अधिक जानना चाहता हूँ तो इसमें हीन भावना और प्रतिहिंसा की बात कहाँ से आ गयी? यदि अर्जुन धनुर्विद्या से पारंगत होना चाहता है, तो उसके विषस में तो कोई ऐसी बात नहीं कहता।"

"यही बात है तेरी। यही बात! अच्छा हुआ, तूने स्वयं ही यह नाम ले लिया।" लगा, कि अधिरथ जैसे अपना सारा सन्तुलन खो बैठा है, "तेरी सारी महत्वाकांक्षा इसलिये है कि तू अर्जुन को नीचा दिखा सके। तेरी याचना सरस्वती के मन्दिर में भी कितनी तमोगुणी है—यह तूने कभी सोचा है? अरे धनुर्धर ही बनना चाहता है, तो जीवन में किसी ऊँची आकांक्षा को ले कर चल!" अधिरथ ने किसी प्रकार स्वयं को सन्तुलित किया, "तू कहता है कि ये क्षत्रिय हमें हीन समझते हैं—मैं पूछता हूँ कि क्या साधारण क्षत्रिय—ये द्वारपाल, ये रक्षक, ये साधारण सैनिक ही नहीं, साधारण गुल्मपाल और छोटे-मोटे सेनाधिकारी—ये सब हमसे अच्छे हैं क्या? उनका क्या स्थान है राजपरिवार में? अरे हम तो फिर राज-सहचर हैं। किन्तु तू उनसे अपनी तुलना नहीं करता। तू अपनी तुलना करता है, राजकुमारों से। तेरी सारी पीड़ा यही है कि तू राजकुमार क्यों न हुआ! क्षत्रियों से तेरा विरोध है तो दुर्योधन से क्यों नहीं है विरोध तेरा—केवल अर्जुन से ही क्यों है? और तेरा तिरस्कार तो ब्राह्मणों ने किया है—द्रोण हों या परशुराम। तू ब्राह्मणों का विरोध क्यों नहीं करता?

तेरा सारा आक्रोश अन्ततः आ कर पाण्डवों, और उनमें भी अर्जुन पर ही क्यों केंद्रित हो जाता है? उसने क्या बिगाड़ा है तेरा?"

अधिरथ की दृष्टि आ कर जैसे कर्ण के चेहरे पर ही नहीं, उसकी आँखों में धँस गयी। वह जैसे कर्ण से अपने प्रश्नों का उत्तर माँग ही नहीं रहा था, बलात उसके भीतर वह उत्तर खींच निकालने का प्रयत्न कर रहा था।

"क्षमा करें तात!" अन्ततः कर्ण बोला, "मेरी समझ में यही नहीं आता कि आप महाराज धृतराष्ट्र की सेवा में रहते हुए भी, पाण्डवों के इतने बड़े समर्थक क्यों हैं?" और सहसा उसके स्वर में आवेश का मिश्रण हो आया, "अपने मित्र और शत्रु चुनने का अधिकार किसी भी व्यक्ति को है।...मैंने अपने शैशव से महाराज धृतराष्ट्र को ही हस्तिनापुर के राजा के रूप में देखा है और मैं उन्हीं की महत्ता स्वीकार करता हूँ। साधारण राजकुमार ही नहीं, युवराज होते हुए भी सुयोधन ने सदा मुझे अपना मित्र माना है। मैं जानता हूँ कि मुझे क्षत्रिय राजकुमार की महत्ता नहीं मिल सकती; किन्तु मैं इन कंगले पाण्डवों को यह महत्ता बाँटते हुए, अथवा बलात ओढ़ते हुए नहीं देख सकता।...नहीं देख सकता।"

बात समाप्त करते-करते, कर्ण को स्वयं लगा कि आक्रोश के अतिरेक से उसका कण्ठ अवरुद्ध हो रहा है।

"यही तो तेरी अबोधता है।" इस बार अधिरथ का स्वर पूर्णतः कोमल था, "मैं वही तुझे समझाना चाहता हूँ पुत्र! हम राज-सहचर सूत हैं। मैं हस्तिनापुर के सम्राट का सारथि हूँ, धृतराष्ट्र का नहीं। सम्राट बदलते रहते हैं, किन्तु राज-तन्त्र और राजकर्मचारी वही रहते हैं। हमारी निष्ठा व्यक्तियों के प्रति नहीं है। मैं चाहता हूँ कि तुम भी इस तथ्य को पहचानो। अपने स्थान और धर्म को समझो। राजपरिवार की राजनीति में मत पड़ो। तुम उनके पक्ष और विपक्ष मत बनो। तभी तो मैं कहता हूँ पुत्र! कि धरती यदि जलधारा को सोख सकती है, तो समुद्र उसे लील सकता है। हम नहीं जानते हैं कि हमारे लिये धरती कौन है और सागर कौन! तुम जो हो! वही बने रहो। हमारा अपना ज्ञान ही अन्तिम सत्य नहीं होता। हम जिसे अपना अहित मान बैठते हैं—बहुत सम्भव है कि वह हमारे हित से भी बड़ा हितैषी हो। कौन जानता है, पाण्डव तुम्हारे मित्र दुर्योधन से भी बढ़ कर तुम्हारे आत्मीय बन जायें। तुम अपने स्थान पर स्थिर रहो पुत्र! दृढ़ बनो। अपना विकास करो। अपने मन में प्रतिहिंसा का विष मत पालो।..."

कर्ण की आँखों में आया वेग अदमनीय था। उसकी वाणी में उद्दण्डता थी, "यहीं आ कर मेरा संयम नष्ट हो जाता है तात! मैं उस मोटे भीम और उस काइयाँ अर्जुन को इस हस्तिनापुर में फलते-फूलते नहीं देख सकता। आप मुझे क्षमा करें, आपका आदेश और उपदेश—दोनों ही मेरे लिये अग्रहणीय हैं।..."

इस बार अधिरथ के कुछ कहने से पूर्व ही राधा बोली, "आप दोनों इस विषय को यहीं छोड़ कर, कोई और बात नहीं कर सकते? इससे तो अच्छा है कि आप मौन रहें। इतने दिनों के पश्चात पुत्र घर आया है। मुझे उससे प्रेम के दो बोल बोल लेने दीजिए। उसे कुछ खिला-पिला लेने दीजिये। और कुछ नहीं तो उसे विश्राम ही कर लेने दीजिए।..."

अधिरथ उठ खड़ा हुआ, "ठीक है। इसे खिलाओ-पिलाओ। इसके शरीर और मन को सुख और विश्राम दो।" उसने जैसे जाने से पहले अपनी पत्नी और पुत्र को देखा, "मैं भी अपने प्रेम के ही कारण इसे यह सब कह रहा था। प्रयत्न कर रहा था कि भविष्य में उसके मार्ग में आने वाली विघ्न-बाधाओं के प्रति उसे सचेत कर दूँ; किन्तु यदि पिता इतना ही समर्थ होता, तो कोई भी पुत्र जीवन में कष्ट ही क्यों पाता?...

खीझ और हताशा की साकार मूर्ति बना अधिरथ कक्ष से बाहर निकल गया।

कर्ण भी उठ खड़ा हुआ, "तुम भी विश्राम करो माँ! मुझे भोजन की आवश्यकता नहीं है! यदि नींद आ जाये तो इस समय सोना ही चाहूँगा।..."

राधा ने कुछ कहने से पहले ही कर्ण कक्ष से निकल गया।

अपनी शैया पर लेट कर भी कर्ण को नींद नहीं आयी।

उसने घर छोड़ने से पहले ही, इस विषय में कोई गम्भीर विचार नहीं किया था, और न ही लौटते ही समय सोचा था कि उसके माता-पिता उसके इस प्रकार चले जाने से क्या सोचेंगे और क्या अनुभव करेंगे।...वस्तुतः उसके मन में ऐसी धुन समायी थी कि किसी और के बारे में सोचने-विचारने, भावना-संवेदना, इच्छाओं आकांक्षाओं के लिये उसके मन में कहीं कोई अवकाश ही नहीं बचा था। उसके मन में कहीं गहरे यह बात समायी हुई थी कि जैसे ही वह हस्तिनापुर

छोड़ने का विचार प्रकट करेगा, उसकी माँ उससे लिपट-लिपट कर रोने लगेंगी, पिता उसे हस्तिनापुर में रहने के सम्बन्ध उपदेश देने लगेंगे। ऐसी स्थिति में या तो वह जा ही नहीं पायेगा, अथवा माता-पिता से झगड़ा कर जाना होगा। क्या यही अच्छा नहीं कि वह चुपचाप ही चल दे...

'क्या इतनी ही बात थी?' उसके मन के किसी कोने में बैठे हुए, उसके आलोचक ने डपट कर पूछा।

कर्ण जैसे मन-ही-मन सहम गया।...क्या उसका कोई भेद खुल रहा था? ...पर यह तो उसके मन की ही ऊहापोह थी।...हाँ! बात केवल इतनी ही नहीं थी।...द्रोणाचार्य द्वारा तिरस्कृत होने पर उसके मन में कहीं यह भय बैठ गया था कि कदाचित कोई भी गुरु उसे शिक्षा नहीं देगा...कोई भी ब्राह्मण गुरु... यह भी सम्भव था कि हस्तिनापुर में लोगों को यह ज्ञात हो जाता कि वह गुरु परशुराम के आश्रम में जा रहा है तो आचार्य द्रोण अथवा पाण्डवों के इन हितैषियों में से कोई उन्हें भी समझा आता कि सूत-पुत्र को इतनी शस्त्र-विद्या और रणकौशल का क्या करना है।...वह अपने माता-पिता से ही क्यों, वह तो सारे हस्तिनापुर से छिप कर भार्गव-आश्रम में गया था...

किन्तु वापस लौटते हुए उसके मन में कहीं भी तनिक-सा भी संशय नहीं था कि उसके माता-पिता, उसके मित्र तथा सहपाठी—उसे पुनः अपने बीच पा कर प्रसन्न होंगे।—माता तो प्रसन्न हुई भी! किन्तु पिता...प्रसन्न तो वे भी थे कि वह लौट आया, किन्तु उसके जाने से उत्पन्न खिन्नता, उनके मन से मिटी नहीं थी।...

क्यों इतने खिन्न थे पिता कि इतने लम्बे अन्तराल के पश्चात उसके लौटने पर भी वे उसको क्षमा कर, सहज नहीं हो पाये? क्या केवल इसलिये कि वह उनको सूचना दिये बिना चला गया था? नहीं! इतनी-सी बात से वे इतने लम्बे समय तक रोष पाले नहीं रह सकते। वह अपने पिता को जानता है। कारण कुछ और होना चाहिए।...क्या वे भयभीत थे कि वह योद्धा हो गया तो उसे हस्तिनापुर में सारथि का पद नहीं मिलेगा?—या वे यह मान बैठे थे कि भविष्य में युधिष्टिर का हस्तिनापुर का राजा होना निश्चित था और सुयोधन का मित्र होने को कारण, कर्ण राजा का सारथि नहीं बन पायेगा।... उसे लगा, उसके मन में अपने पिता के लिये दया का भाव उत्पन्न हो रहा है—बेचारे! कितना सीमित संसार है उनका। कितनी छोटी-छोटी आशाओं-आकांक्षाओं को ले कर व्याकुल रहते हैं। वे जीवन को स्थिर और स्थायी मान बैठे हैं। वे तनिक-से परिवर्तन की भी कल्पना नहीं कर सकते। परिवर्तन की सम्भावना की चर्चा होते ही जैसे काँप उठते हैं। सारथि जैसे पद को वे इतना महत्वपूर्ण समझ बैठे हैं कि उस पद के छिन जाने की आशंका से उनके मन में पुत्र के घर लौटने पर सम्भावित प्रसन्नता का तनिक-सा भी स्फुरण नहीं हुआ; तनिक-सा मुस्कुरा भी नहीं सके वे। जीवन में कभी संकट नहीं झेले हैं उन्होंने। कभी निश्चित को छोड़, अनिश्चित को पाने का प्रयत्न नहीं किया उन्होंने! हस्तिनापुर के राजपरिवार के सरंक्षण में बहुत सुरक्षित जीवन व्यतीत किया है उन्होंने।...

किन्तु कर्ण को ऐसी सुरक्षा नहीं चाहिए, जो जीवन को जड़ बना दे, उसका प्राण-रस छीन ले।—और वे पाण्डवों का पक्ष क्यों लेते हैं, जब कभी कर्ण पाण्डवों का विरोध करता है, वह उनके लिये असहनीय क्यों हो जाता है, क्या राजकर्मचारियों का सदा यही दृष्टिकोण होता है? क्या व्यक्ति के प्रति उसकी तनिक भी निष्ठा नहीं होती? सारी निष्ठा पद के प्रति ही होती है? क्या उनकी दृष्टि सदा यही देखती है कि सम्भावित शासक कौन है?

और सहसा कर्ण को लगा कि यदि राजकर्मचारियों का यही दृष्टिकोण होता है, तो भी उसके पिता के समस्त भय और आशंकाएँ व्यर्थ हैं।...यदि वह सुयोधन को ठीक-ठीक जानता है, तो युधिष्ठिर को हस्तिनापुर का राज्य कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता—किन्तु जाने, उसकी अनुपस्थिति में, पीछे हस्तिनापुर में क्या-क्या घटित हो गया है। उसने भी तो पिता से कोई समाचार नहीं पूछा। बस विवाद में उलझता ही चला गया। निश्चित रूप से पिता जी भी घर आये पुत्र का ऐसा स्वागत नहीं करना चाहते होंगे; किन्तु विवाद की तो प्रक्रिया ही ऐसी है, जिसमें उलझ कर व्यक्ति यह सोचता ही रह जाये कि विरोध करना तो नहीं चाहता था, फिर मैं विरोधी हो कैसे गया?...

उसे कल प्रातः सुयोधन से मिलना होगा। उससे सारे समाचार प्राप्त करने होंगे। हस्तिनापुर में रहने के लिये, हस्तिनापुर को जानना भी होगा। उसे जाने बिना, उसमें वास करना, किसी के लिये भी घातक हो सकता है।...

प्रातः गंगा में स्नान कर, और सूर्यदेव को अर्घ्य देकर कर्ण युद्धशाला की ओर चला गया। उसका सुयोधन से मिलना अत्यन्त आवश्यक था।...किन्तु जाने आजकल आचार्य ने अपने शिष्यों के लिये कैसा कार्यक्रम बना रखा था। वह उससे मिल भी पायेगा या नहीं। परम गुरु भार्गव के आश्रम की नियम-परायणता वह देख चुका था। आचार्य द्रोण ने तो

अनुशासन को कभी आश्रम का विधान नहीं बनाया; किन्तु परशुराम के आश्रम में अनुशासन और विधान में कहीं कोई अन्तर ही नहीं था। उनके यहाँ नियम भंग करना अपराध था, जो विधान के अनुसार सर्वथा दण्डनीय था...

यह उसके लिये सुखद संयोग ही था कि सुयोधन और अश्वत्थामा दोनों ही प्रातः की उपासना के पश्चात अभ्यास-क्षेत्र में जाने से पूर्व ही उसे मिल गये। उसे इस प्रकार युद्धशाला-क्षेत्र में अपने सम्मुख खड़ा देख सुयोधन का उल्लास जैसे असन्तुलित वेग से, टूट कर उसकी ओर बढ़ा, "तुम कब आये कर्ण! हमें कोई सूचना ही नहीं दी।"

कर्ण मुस्कुराया, "सूचना देने ही तो आया हूँ। कल अर्द्ध रात्रि के समय तो मैं घर पर ही पहुँचा हूँ; और आज प्रातः तुम्हारे सम्मुख आ खड़ा हुआ हूँ राजकुमार! आशंका थी कि कहीं तुम लोग आचार्य के पास अभ्यास-क्षेत्र में चले गये तो कदाचित आज दिन-भर तुम लोगों से भेंट ही न हो पाये।..."

"नहीं! आजकल वह बात नहीं है।" दुर्योधन बोला।

"क्यों? अब क्या हो गया है?"

"अब आचार्य की ओर से शिक्षा समाप्त हो चुकी है।" दुर्योधन बोला, "अब सब लोग स्वेचछा से अभ्यास करने के लिये स्वतन्त्र हैं। अभ्यास न करना चाहें, न करें। किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। किसी को कोई कठिनाई हो, कोई विशेष जिज्ञासा हो तो आचार्य के पास जा सकता है; अन्यथा आचार्य अपनी साधना में रत हैं और हम लोग आत्मनिरीक्षण और आत्मपरीक्षण में लगे हुए हैं।"

"तो तुम लोग अपने-अपने परिवार में क्यों नहीं लौट जाते?" कर्ण को आश्चर्य हुआ, "जब यहाँ करने को कुछ है ही नहीं, तो व्यर्थ समय नष्ट करने का क्या लाभ?"

दुर्योधन हँसा, "आचार्य ने औपचारिक अनुमति नहीं दी है, इसलिये हम अपने परिवार में नहीं लौट रहे हैं।"

"वैसे कोई जाना चाहे तो कदाचित पिता जी को कोई आपत्ति नहीं होगी।" अश्वत्थामा बोला, "राजकुमार दुर्योधन अपनी इच्छा से युद्धशाला में ठहरे हुए हैं।"

"दुर्योधन!" कर्ण चौंका, "तुम युवराज को दुर्योधन कह रहे हो! उनके नाम को विकृत कर रहे हो!"

दुर्योधन हँसा, "मुझे स्वयं अपना यह नाम रुचिकर हो गया है। 'सुयोधन' में यह जो सुचारु ढंग से युद्ध करने की ध्वनि है, वह कुछ मेरे मनोनुकूल नहीं है। मैं तो दुर्द्धर्ष युद्ध करना चाहता हूँ, इसलिये दुर्योधन ही ठीक है। सुशासन ने भी अपना नाम दुःशासन ही कर लिया है—कठोर शासन। 'सुयोधन' और 'सुशासन' में जो कोमलता का भाव है—वह हमें तनिक भी प्रिय नहीं है।"

"ओह!" कर्ण मुस्कुराया, "तो आप लोग अपने परिवार में क्यों लौट नहीं रहे राजकुमार दुर्योधन!"

"यदि हम युद्धशाला छोड़ना चाहें तो आचार्य को आपत्ति नहीं होगी।" दुर्योधन बोला, "किन्तु अब, जब, इतने कठोर श्रम के पश्चात गुरु का अनुशासन कुछ शिथिल हुआ है, तब कोई क्यों चाहेगा कि वह अपने परिवार में लौट कर माता-पिता के अनुशासन में बँध जाये, अथवा माता-पिता द्वारा निश्चित की गयी, हाथ में जयमाला लिये प्रतीक्षारत कामिनी के कटाक्षों से विद्ध हो कर उसके बाहुपाश का बन्दी हो जाये।...अरे ये ही दिन हैं, उन्मुक्त वातावरण में मनचाहे विश्राम के...।"

"ओह! तो यह सत्ता-परिवर्तन के दिनों की स्वतन्त्रता है।" कर्ण हँसा, "वृषभ के कंधों पर पड़ा पहला जुआ कुछ शिथिल हुआ है; किन्तु वह इस भय से उसे झटक नहीं रहा कि कहीं उसे पूर्णतः मुक्त देख कर दूसरे स्थान पर जोत न दिया जाये।"

"सर्वथा उचित बिम्ब है यह हमारी परिस्थितियों का।" दुर्योधन ने अट्‌ठहास किया, "और एक बात और भी है।"

कर्ण ने उसकी ओर देखा, "क्या?"

"अरे वह मूर्ख भीम अब भी अनवरत परिश्रम कर रहा है। जब देखो, वह या तो मल्लशाला में स्वेद बहाता रहता है अथवा गदा-क्षेत्र में गर्जना करता फिरता है। उधर वह कन्या-राशि अर्जुन अपने धनुष की टंकार बन्द ही नहीं करता। जब देखो, तब लक्ष्य से दृष्टि चिपकाये, बाण को कान से सटाये, लक्ष्य भेद करता रहता है..."

कर्ण को लगा, दुर्योधन द्वारा तिरस्कारपूर्वक दी गयी यह सूचना उसके लिये कम महत्वपूर्ण नहीं है। यह सूचना पाते ही जैसे उसका उल्लास कहीं खो गया। लम्बे अन्तराल के पश्चात अपने मित्रों के साथ व्यतीत होने वाले यह निश्चिन्त क्षण, अब उतने आनन्दमय नहीं रहे थे।

"आओ! चल कर गंगातट पर कहीं बैठते हैं।" कर्ण और अश्वत्थामा के मध्य में चलते हुए दुर्योधन ने अपनी दोनों भुजाएँ फैला, उन दोनों की पीठ पर जैसे हल्का दबाव डाल कर, गंगा-तट की ओर मुड़ने के लिये प्रेरित किया, "बहुत दिनों के पश्चात मिले हैं। बहुत-सी बातें करनी हैं।" दुर्योधन कहता गया, "हमारा मित्र कर्ण वहाँ सर्वथा एकाकी और मित्रहीन रहा होगा। उसने अपने मन की बात कभी किसी से कही भी नहीं होगी। सुनाने के लिये उसके पास ढेर सारी बातें होंगी। सम्भव है कि उसकी बातों का ढेर पर्वत के बराबर ऊँचा हो।" दुर्योधन ने अश्वत्थामा की ओर देखा, "गुरु-पुत्र मेरे साथ ही था, किन्तु यह बोलता बहुत कम है। इतने दिनों तक मैं ही बोलता रहा हूँ। आज मुझे अपनी वाणी की थोड़ी बहुत प्रतिध्वनि तो मिलेगी ही!"

वृक्षों की छाया में स्वच्छ-सा स्थान देख कर वे बैठ गये।

"हाँ सुनाओ! तुम इतने दिन कहाँ रहे? क्या करते रहे?" दुर्योधन बोला, "हमें बता कर क्यों नहीं गये? तुम तो ऐसे विलीन हो गये जैसे धारा में लहर समा जाती है।"

कर्ण को लगा, उसका खोया उल्लास जैसे अभी लौटा नहीं है। जब तक उसके मन का बोझ हल्का नहीं हो जायेगा, कदाचित वह, सहज हो कर वार्तालाप नहीं कर पायेगा।...

"आचार्य ने तुम लोगों को युद्धशाला में क्यों रोक रखा है?" उसने दुर्योधन के प्रश्नों का उत्तर न दे कर, अपनी जिज्ञासा उनके सम्मुख रखी, "क्या वे तुम लोगों की परीक्षा लेंगे?"

"परीक्षा तो हमारी वे ले चुके हैं। अब तो उन्हें अपने लिये साधुवाद जुटाना है।" दुर्योधन हँसा तो उसके स्वर में परिहास के साथ थोड़ा उपहास भी था, "आचार्य ने इतना समय लगा कर, इतने श्रम से अपने शिष्यों को जो सिखाया है, राजपरिवार तथा प्रजा के सामने वे उसका प्रदर्शन नहीं करेंगे तो उनकी प्रशंसा कैसे होगी; पता कैसे चलेगा कि उनकी उपलब्धियाँ क्या-क्या हैं?"

"क्यों? जब युद्ध होगा तो क्या पता नहीं चलेगा कि आचार्य के शिष्य कितने प्रबल तथा प्रखर योद्धा हैं?" कर्ण बोला।

"युद्ध तो जब होगा, तब होगा।" दुर्योधन बोला, "उतनी प्रतीक्षा कौन करे। बहुत सम्भव है कि हममें से अनेक लोगों को युद्धों में अपना सामर्थ्य प्रदर्शित करने का कभी अवसर ही न मिले।...वैसे भी आचार्य देव प्रशंसा पाने की शीघ्रता में हैं।..."

दुर्योधन ने अश्वत्थामा की ओर देखा। अश्वत्थामा प्रतिक्रियावश अपने अधरों पर क्षीण-सी मुस्कान ले आया; किन्तु उस मुस्कान में कहीं अपने पिता के तिरस्कार के प्रति निर्बल रोष की भावना भी थी।

"यह प्रदर्शन कैसे होगा?" कर्ण से पूछे बिना रहा नहीं गया।

"तुम्हें नहीं मालूम?...ओह! तुम तो कल रात ही लौटे हो। लगता है, अभी किसी ने तुमसे चर्चा नहीं की।" दुर्योधन बोला, "अरे भई! नगर के बाहर एक रंगशाला का निर्माण हो रहा है। उसमें सहस्रों आमन्त्रित नागरिक बैठेंगे। राजपरिवार के सदस्य भी होंगे। मन्त्री, सभासद तथा सेना-नायक होंगे। उन सबके सामने आचार्य अपने शिष्यों को नगाड़े की चोट पर प्रस्तुत करेंगे; और सबको दिखायेंगे कि उन्होंने अपने शिष्यों को क्या-क्या सिखाया है।"

"क्या-क्या सिखाया है?" कर्ण के मुख से जैसे अनायास ही निकल गया, "आचार्य ने अर्जुन को क्या-क्या सिखा दिया है?"

"क्या-क्या सिखा दिया है गुरु-पुत्र?" दुर्योधन ने अश्वत्थामा की ओर देखा।

"प्रायः सब ही कुछ सिखा दिया है।" अश्वत्थामा सरल भाव से बोला, "भूमि पर खड़े हो कर अश्वारोहियों, रथारोहियों तथा गजारोहियों से लड़ना, द्वैरथ-युद्ध करना, अनेक लोगों से एक साथ युद्ध करना, व्यूह रचना, व्यूह तोड़ना...शब्द-वेधी बाण चलाना।...और भी...धनुर्विद्या के प्रायः सारे मन्त्र। धनुष पर रख कर चलाये जाने वाले सारे

अस्त्र!...”

“क्या आचार्य ने उसे ब्रह्मास्त्र भी दे दिया है?” कर्ण को लगा, उसके शब्दों में गूँज न हो कर सन्नाटा था।

उसने गुरु-पुत्र की ओर उस अपेक्षा से देखा कि अश्वत्थामा अभी अस्वीकृति में सिर हिला देगा।

“हाँ! पिता जी ने उसे ब्रह्मास्त्र भी दे दिया है।” अश्वत्थामा सहज भाव से बोला।

कर्ण को लगा, जैसे उसके वक्ष पर वज्रपात हो गया हो : अर्जुन ने हस्तिनापुर में बैठे-बैठे ब्रह्मास्त्र प्राप्त कर लिया और वह जैसे सारी पृथ्वी का भ्रमण कर, वनों, सरिताओं, मरुभूमियों और पर्वतों पर भटकता फिरा...कुछ लोग भाग्य के कितने धनी होते हैं।

“अश्वत्थामा! अश्वत्थामा! अश्वत्थामा...।” जाने कैसा आवेश था यह! कर्ण को लग रहा था, कहीं वह अपना सन्तुलन खो कर अश्वत्थामा पर अपने बलिष्ट हाथों से प्रहार ही न कर बैठे...और जैसे स्वयं को संयत रखने के लिये ही, उसने अपनी दोनों मुट्ठियाँ धरती पर दे मारीं।

“क्या है कर्ण?” अश्वत्थामा ने शिशु की-सी अबोधता में उसकी ओर देखा, “तुम स्वस्थ तो हो?”

“मैं तो स्वस्थ ही हूँ।” कर्ण जैसे अवरुद्ध कण्ठ से बोला, “तुम लोग यहाँ बैठे क्या करते रहे? क्या तुम्हें नहीं लगता कि अर्जुन को ब्रह्मास्त्र की प्राप्ति नहीं होनी चाहिए थी? क्या आवश्यक था कि तुम्हारे पिता अर्जुन को उस प्रत्येक अस्त्र और विधि की शिक्षा देते, जो उन्होंने तुम्हें दी? क्या वे पुत्र और शिष्य में भेद नहीं कर सकते थे? उनके जीवन में जाने कितने शिष्य आयेंगे, किन्तु पुत्र तो एक तुम्हीं हो।...”

“ओह! यह बात है।” अश्वत्थामा उसी प्रकार भोली सरलता के साथ मुस्कुराया, “इसमें इतने आवेश में आने की क्या बात है कर्ण! यह अन्तर तो कोई भी व्यक्ति करेगा। पिता जी ने भी यह अन्तर किया ही था। किन्तु तुम कदाचित अर्जुन को नहीं जानते!”

“क्यों? इसमें अर्जुन के विषय में क्या जानना है? अर्जुन में ऐसी कौन-सी विशिष्टता है?”

अश्वत्थामा की दृष्टि ऊपर उठी। अब उसमें शिशुओं का-सा भोलापन नहीं था। स्वच्छता उसमें अब भी थी; पारदर्शी स्वच्छता। उसमें जैसे ज्ञान का प्रकाश भर आया था। उसकी वाणी में गाम्भीर्य ही नहीं, अनुगूँज भी थी, जो केवल श्रद्धामिश्रित प्रशंसा के भाव से ही उत्पन्न हो सकती है, “अर्जुन शिष्य के रूप में संसार में अद्धितीय है। गुरु के प्रति उसका समर्पण और विद्या के प्रति उसकी निष्ठा अपने-आपमें सर्वथा सम्पूर्ण है। पिता जी का विचार है कि अर्जुन, शिष्य-भाव से जिस किसी के पास पहुँचेगा, वह गुरु अपनी कोई विद्या, कोई ज्ञान, अपने तक सीमित नहीं रख सकेगा। अर्जुन को अपने सम्मुख पा, गुरु के लिये कुछ भी अदेय नहीं रह जाता...।”

“ऐसा क्या है अर्जुन में?” कर्ण के स्वर में ऐसा चीत्कार था, जैसा कोई मार्मिक आघात खा कर किसी आहत कण्ठ से फूटता है, “ऐसा क्या किया है उसने?”

“तुम ज्ञान के प्रति उसकी आतुरता नहीं जानते!” अश्वत्थामा ने अत्यन्त शान्त स्वर में कहा।

“तुमने उसकी आतुरता देखी है; किन्तु क्या तुम मेरी आतुरता से परिचित नहीं हो गुरु-पुत्र!” कर्ण के स्वर में कटुता-ही-कटुता थी, “मुझे आचार्य ने सर्वथा ठुकरा दिया। और मैं ज्ञान के प्रति अपनी इसी आतुरता में महेन्द्रगिरि तक चलता चला गया। जानते हो, वहाँ क्या हुआ?” कर्ण रुक गया।

“क्या हुआ?” दुर्योधन बोला, “मैंने तुमसे पहले भी पूछा था, तुमने कुछ बताया ही नहीं।”

“जब मैं थका-हारा, भूखा-प्यासा गुरु भार्गव के आश्रम में पहुँचा तो मुझे उनसे मिलने का अवसर ही नहीं दिया गया। मुझे दो दिन आश्रम के बाहर प्रतीक्षा करनी पड़ी; और फिर मुझे भेंट का अवसर भी मिला तो गुरु से नहीं, व्यवस्थापक से। व्यवस्थापक से निबट कर मैं बड़ी कठिनाई से गुरु के सम्मुख उपस्थित हुआ।...और जानते हो, उन्होंने मुझसे क्या कहा?” कर्ण ने रुक कर उनकी ओर देखा।

अश्वत्थामा और दुर्योधन—दोनों में से कोई कुछ नहीं बोला। उन्होंने कर्ण की ओर देखा-भर!

“क्या चाहते हो?” गुरु ने कर्ण की ओर देखा।

"ज्ञान, गुरुदेव!" कर्ण ने अत्यन्त दीन स्वर में कहा।

"किस क्षेत्र का ज्ञान?"

"धनुर्वेद का ज्ञान गुरुदेव!"

"क्षत्रिय हो?" गुरु का स्वर अत्यन्त कठोर था और दृष्टि अत्यन्त तीक्ष्ण, जैसे कर्ण के मस्तक का भेदन कर, वे उसके मन की प्रत्येक बात जान लेंगे।

फिर वही बाधा...कर्ण का मस्तक जैसे भन्नाने लगा था। यदि वह क्षत्रिय नहीं है, तो क्या उसे कहीं भी ज्ञान नहीं मिलेगा?...संसार के इन सारे महान आचार्यों ने निश्चय कर लिया है कि संसार का ज्ञान जाति और वर्णों के कारागारों में बन्दी हो कर रह जायेगा।...कहाँ वह सोच रहा था कि वह महान गुरु भार्गव को अपना परिचय देगा, तो वे प्रसन्न हो कर उसे अपने वक्ष से लगा लेंगे और कहेंगे, 'तुम सच्चे जिज्ञासु हो कर्ण! तुमने ज्ञान के लिये इतनी दूर आने का श्रम किया है। मुझे तुम पर गर्व है। मुझे विश्वास है कि तुम मेरे सर्वश्रेष्ठ शिष्य होगे।...' और कहाँ यह व्यवहार!

अन्ततः कोई और विकल्प न पा कर कर्ण ने सत्य न बोलने का निश्चय किया।

"नहीं! मैं क्षत्रिय नहीं हूँ।"

गुरु ने भी शान्ति का निःश्वास छोड़ा, "अच्छा ही है कि तुम क्षत्रिय नहीं हो। नहीं तो मुझे, तुम्हें निराश करना पड़ता।"

"क्यों गुरुदेव?" कर्ण ने जिज्ञासावश पूछा।

"क्योंकि हमारे आश्रम में केवल ब्राह्मणकुमारों को ही शस्त्र-शिक्षा दी जाती है। तुम ब्राह्मण ही हो न?"

कर्ण की महत्वाकांक्षाओं का गरुड़ उस समय उसके मस्तक पर आ बैठा था। सत्यासत्य उसे विस्मृत हो गया। महत्वाकांक्षा के गरुड़ ने उसके मस्तक पर अपनी तीखी चंचु से प्रहार किया, 'बोल, हाँ! नहीं तो यहाँ से भी जायेगा। यहाँ कौन जानता है तुझे। किसे मालूम है कि तू सूतपुत्र है। व्यर्थ ही सत्यवादी बनने के पाखण्ड में अपने जीवन की चरम उपलब्धि को नष्ट मत होने दे।...बोल! बोल! मैं ब्राह्मण हूँ। ब्राह्मणों का ऐसा कौन-सा गुण है, जो तुझमें नहीं है...'

"हाँ! मैं ब्राह्मण हूँ।" कर्ण बोला।

"मैं तो तुम्हें देखते ही समझ गया था।" गुरु बोले, "ऐसा रंग-रूप सिवाय ब्राह्मण के और किसी का हो ही नहीं सकता।" उन्होंने रुक कर उसकी ओर देखा, "गोत्र?"

एक क्षण के लिये कर्ण की बुद्धि पर पुनः धुँधलका छा गया।...ब्राह्मण मात्र कह देना उसके लिये सरल था; किन्तु उसके आगे यह गोत्र-प्रगोत्र, जाति प्रजाति...

किन्तु तभी उसकी महत्वकांक्षा के गरुड़ ने पुनः उसके मस्तक पर चोंच मारी, गुरु, पिता के समान होता है। गुरु का गोत्र ही, शिष्य का भी गोत्र होता है।

धुँधलका छँट गया! उसे अपना मार्ग स्पष्ट दिखायी दे रहा था। उसे अपना बढ़ा हुआ पग पीछे नहीं हटाना था। उसका लक्ष्य कलुषित नहीं था। वह किसी की कोई हानि करने नहीं जा रहा था। किसी को वंचित नहीं कर रहा था। वह तो ज्ञान प्राप्त करना चाहता था। ज्ञान, जो सत्य है, ज्ञान जो ईश्वर है।...

"भार्गव!" उसने अपना गोत्र बता दिया।

गुरु प्रसन्न हो उठे, "समाज में शस्त्र-विद्या के सर्वोत्तम अधिकारी ब्राह्मण ही हैं पुत्र! और ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ हैं भार्गव! भार्गवों ने ही शस्त्रों के प्रयोग को विद्या के उच्चासन पर प्रतिष्ठित किया है और युद्ध-ज्ञान को शास्त्र का पद दिलाया है..."

"तात! क्षत्रिय क्यों शस्त्र-विद्या के अधिकारी नहीं रहे?" कर्ण से पूछे बिना नहीं रहा गया, "परम्परा से तो शस्त्र-विद्या क्षत्रियों का ही अधिकार रहा है।"

"ठीक कहते हो वत्स! किन्तु क्षत्रियों ने अब इस विद्या को कलुषित कर दिया है। शस्त्र-ज्ञान और शस्त्र-प्रयोग अब क्षत्रियों के लिये न्याय और धर्म का उपकरण नहीं रहे; वे अत्याचार, शोषण और पीड़न के साधन हो गये हैं। शस्त्र-

धारण और शस्त्र-परिचालन—इन दोनों का ही अधिकार केवल उन लोगों को है, जिनका विवेक स्थिर है। क्षत्रियों का न विवेक स्थिर है और न ही उनकी दृष्टि सत्य और धर्म पर टिकी है। उन्हें उन्माद हो गया है। सत्ता का मद, मनुष्य-को-मनुष्य नहीं रहने देता; वह उसे पशु बना देता है। इसलिये आज के क्षत्रिय भी पशु हो गये हैं।"...उन्होंने रुक कर कर्ण को देखा, "क्या नाम है तुम्हारा और कहाँ के निवासी हो?"

कर्ण को लगा, उसने एक बार के मिथ्या-कथन से, अपने-आपको बाँध लिया था। अब यदि वह उन्हें बताता है कि वह हस्तिनापुर के अधिरथ का पुत्र कर्ण है, तो बहुत सम्भव था कि किसी-न-किसी प्रकार, उनके कानों तक यह बात पहुँच ही जाती कि वह ब्राह्मण-पुत्र नहीं है। अब तो उसे सब कुछ ही गुप्त रखना होगा—नाम, पिता का नाम, निवास...

"मैं काशी के धर्ममित्र का पुत्र, ज्ञानमित्र हूँ गुरुवर!"

"उपयुक्त नाम रखा है, तुम्हारे पिता ने!"

"यह था गुरु के प्रति तुम्हारा पूर्ण समर्पण!" अश्वत्थामा के स्वर में कटुता का भाव स्पष्ट था, "गुरु से झूठ बोल कर, उससे ज्ञान प्राप्त करना। ज्ञान की चोरी...।"

"तो क्या करता मैं!" कर्ण खीझ कर बोला, "जब ज्ञान के सारे द्वार बन्द हो गये थे तो क्या करता मैं? आलसियों के समान निष्क्रिय हो कर चुपचाप बैठ जाता?" कर्ण ने क्षण-भर थम कर अश्वत्थामा को देखा, "मैं न तो आलसी हूँ और न ऐसी साधारण बाधाओं से हताश होने वाल जीव हूँ गुरु-पुत्र! मैं तो उन लोगों में से हूँ, जो रूठे भाग्य के हाथों से उपलब्धियों को बलात छीन लाते हैं।"

"मिथ्या भाषण कर!" अश्वत्थामा की वाणी में भर्त्सना का स्वर पर्याप्त मुखर हो आया था, "और फिर पूछते हो कि अर्जुन में ऐसा क्या है कि मेरे पिता शिष्य और पुत्र में अन्तर नहीं कर पाये।"

तो फिर बताते क्यों नहीं कि अर्जुन में ऐसा क्या है?" कर्ण ने आवेश में अपनी मुट्ठियों को एक बार फिर धरती पर दे मारा।

"पूर्ण समर्पण! गुरु-भक्ति!"

"आचार्य ने मुझे विद्या का दान अस्वीकार न किया होता, तो वे देखते कि कर्ण का समर्पण किस कोटि का है। मैंने गुरु परशुराम की इतनी सेवा की है, जितनी मानवता के इतिहास में आज तक किसी औरस पुत्र ने भी अपने पिता की न की होगी। उनकी नींद सोया, उनकी नींद जागा। उनकी आँखों के संकेत मात्र पर अपने प्राण समर्पित करने को प्रस्तुत था मैं।...गुरु को कितना स्नेह था मुझसे। वे गुरु भार्गव, जो अपना सामर्थ्य बनाये रखने के लिये, अपने किसी शिष्य का तनिक-सा सहारा भी नहीं लेते थे, जब अभ्यास करते थे, मुझे अपने साथ ले जाते थे। स्वयं इतना अभ्यास करते थे, किन्तु मेरे अभ्यास से चकित और प्रमुदित हो कर, सदा कहते थे कि मैं अपने प्रति इतना क्रूर क्यों हूँ।...और तुम जानते भी हो उस दिन क्या हुआ?"

"क्या हुआ?" अश्वत्थामा ने पूछा।

दुर्योधन कुछ नहीं बोला। वह अत्यन्त तटस्थ भाव से कर्ण और अश्वत्थामा का विवाद सुन रहा था, जैसे कोई वयोवृद्ध व्यक्ति बालकों के व्यर्थ के विवाद का आनन्द ले रहा हो।

गुरु भार्गव ने लक्ष्य-वेध में कुछ नये प्रयोग किये थे और उसके परिणामों से वे अत्यन्त उत्साहित हुए थे। इसी उत्साह के वेग में वे अपने वृद्ध शरीर की मर्यादा को भूल गये। और यह भी भूल गये कि पिछले दिनों के लम्बे उपवास ने उनके शरीर को पर्याप्त दुर्बल कर दिया था। उनका शस्त्राभ्यास तब तक निरन्तर चलता रहा, जब तक उनका शरीर सर्वथा असमर्थ हो कर हताश ही नहीं हो गया।...कर्ण, प्रातः से ही उनके साथ था। अपने उत्साह में वे वन के इस भाग में, आश्रम से बहुत दूर निकल आये थे। साथ आने के इच्छुक ब्रह्मचारियों को उन्होंने कब का लौटा दिया था। कर्ण का इतना अधिक आग्रह न होता, अपने प्रति उसके एकाग्र तथा सम्पूर्ण समर्पण से वे इतने प्रभावित न होते, तो कदाचित उन्होंने उसे भी अपने साथ आने की अनुमति नहीं दी होती।...अकेला वह ही उनके साथ था, इसलिये उनकी देख-भाल का सारा दायित्व उसी का था; और वह देख रहा था कि वे अपने वृद्ध शरीर की क्षमता को लाँघ कर, कहीं अधिक श्रम कर चुके हैं। अब उनकी देह शिथिल हो रही थी और उन्हें विश्राम की अत्यधिक आवश्यकता थी। वह यह भी जानता था कि गुरु भार्गव

की आत्म-श्रद्धा कभी भी यह स्वीकार नहीं करेगी कि वे थक गये हैं और उन्हों विश्राम की आवश्यकता है।...वे आश्रम से इतनी दूर थे कि कर्ण, किसी और व्यक्ति की सहायता भी प्राप्त नहीं कर सकता था। वैसे भी वन में ऐसी सुविधा कहाँ थी, जहाँ वह उनसे विश्राम करने का आग्रह करता। वह अपनी गुरु-भक्ति के कारण अत्यन्त चिन्तित था, और लगातार सोच रहा था कि ऐसा कौन-सा उपाय करे, जिससें गुरु अब और अधिक श्रम करने से विरत हो जायें तथा थोड़ा विश्राम कर लें।...सहसा उसके मन में आया कि वह अपनी ओर से गुरु से यह निवेदन करे कि थक गया है और विश्राम करना चाहता है। अतः वे लोग आश्रम की ओर लौट चलें।...किन्तु तत्काल उसके मन ने कहा—यह अवसर अपनी दुर्बलता प्रदर्शित करने का नहीं, अपना सामर्थ्य प्रमाणित करने का है। यदि उसने अपनी क्लान्ति की बात कही, तो बहुत सम्भव है कि गुरु न केवल इस समय उसे आश्रम में लौट जाने का आदेश दे दें, वरन भविष्य में भी ऐसे किसी अभियान में उसे अपने साथ रखना स्वीकार न करें। इसलिये उचित यही है कि वह उन्हें ही सहमत करे कि वे थक गये हैं, और उन्हें विश्राम की आवश्यकता है। वह समर्थ है, सक्षम है और उनकी देख-भाल कर सकता है।...

सहसा उनका हाथ काँपा और उनके मुख से अनायास निकला, "यह मुझे क्या हो रहा है? मेरा यह हाथ मेरा आदेश क्यों नहीं मान रहा?"

कर्ण को लगा, यही उचित अवसर था। यदि इस समय वह उन्हें विश्राम के लिये सहमत न कर पाया, तो वह अवसर पुनः नहीं आयेगा।...

"गुरुदेव! आप क्लान्त हो गये हैं।" वह धीरे से बोला, "आज प्रातः से ही बहुत अधिक श्रम किया है आपने। अब आपको थोड़ा विश्राम करना चाहिए।"

वे हँसे, "नये प्रयोग में पूर्ण दक्षता प्राप्त किये बिना विश्राम करना, परशुराम की मर्यादा नहीं है पुत्र! एक बार आश्रम में लौट गये तो यह प्रयोग आज अधूरा ही रह जायेगा। कल प्रातः पुनः आरम्भ करना होगा। और यह समय होते-होते तुम पुनः विश्राम का आग्रह करोगे।...क्या मैं मान लूँ कि अब इस शरीर में किसी नये प्रयोग में दक्षता प्राप्त करने का सामर्थ्य नहीं रहा? क्या परशुराम अब अस्तमान सूर्य है?"

वे हँस रहे थे किन्तु वह हँसी उनके आहत मन की पीड़ा की कथा कह रही थी। यह तो कर्ण ने उस दिन ही अनुभव किया था कि असफल हो जाने मात्र की पीड़ा, कोई पीड़ा नहीं है। वास्तविक पीड़ा तो यह मान लेने में है कि अब अन्त आ गया है और भविष्य में सफलता की आशा नहीं रही!

"नहीं गुरुदेव!" कर्ण बोला, "आपका सामर्थ्य ही तो हम सबकी शक्ति है। आप असमर्थ नहीं हुए हैं, केवल थक गये हैं। आश्रम तक लौटने की भी आवश्यकता नहीं है। आप यहीं थोड़ा विश्राम कर लें, और उसके पश्चात पुनः अपने प्रयोग को आगे बढ़ायें।..."

"यहाँ?" परशुराम ने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई।

कर्ण समझ गया कि विश्राम के लिये तो वे सहमत हो गये हैं; किन्तु यहाँ कदाचित उन्हें विश्राम के लिये उचित स्थान और परिवेश दिखायी नहीं दे रहा था।

गुरु-सेवा की भावना में पूर्णतः मग्न, कर्ण अपने भाग्य को सराह रहा था। उसने तत्काल एक वृक्ष की छाया में, पेड़ों से गिरे हुए पत्तों को एकत्रित कर, एक शैया बनायी। उसने हाथ से धनुष ले कर वृक्ष की शाखा में टाँगा। तूणीर को वृक्ष के तने के साथ टिकाया और बोला, "विश्राम करें गुरुवर!"

वह देख रहा था कि गुरु का शरीर विश्राम के लिये व्याकुल था; किन्तु उनका मन जैसे हठ छोड़ नहीं रहा था। उसके लिये और थोड़ा आग्रह करने की आवश्यकता थी। उसने सस्नेह उनकी भुजा पकड़ी और उनसे लेट जाने का आग्रह किया; और जब वे लेटने के लिये तत्पर हो गये तो वह उनके सिर की ओर सुखासन में बैठ गया। उनके जटासुर वाले सिर को उसने अपनी जँघा पर टिकाया और वस्त्र से हवा करते हुए बोला, "आप थोड़ी देर तक निश्चिन्त हो कर निद्रा का सुख लें।"

गुरु ने मुस्कुरा कर कर्ण को देखा और बोले, "वत्स! संसार की रीति यही है कि स्वस्थ होने पर भी बालक ही अपने माता-पिता की गोद में सोते हैं। पिता पुत्र की गोद में सिर रख कर सोये तो मानना चाहिए कि वह स्वस्थ नहीं है। इस समय मैं अस्वस्थ नहीं हूँ; और तुम मेरे पुत्र भी नहीं हो... किन्तु कभी-कभी शिष्य भी अपनी सेवा से पुत्र का-सा

अधिकार प्राप्त कर लेता है। इस समय ऐसा ही एक क्षण है। तुम्हारी सेवा से प्रसन्न होकर, मैं तुम्हें पुत्र-भाव से ग्रहण कर रहा हूँ। मैं अस्वस्थ नहीं हूँ, फिर भी तुम्हारी इस सेवा के सुख का लाभ उठाना चाहता हूँ। कदाचित संसार में किसी गुरु को इतना प्रिय शिष्य न मिला होगा; और किसी शिष्य को गुरु ने अपने औरस पुत्र का यह अधिकार न दिया होगा।"

गुरु ने आँखें बन्द कर लीं और कर्ण अपनी विह्वल अवस्था में कुछ कह नहीं सका। कुछ कहना आवश्यक था भी नहीं।

कर्ण की इच्छा तो बस इतनी ही थी कि गुरु उस समय कठोर श्रम से निरत हो कर थोड़ा विश्राम कर लें। इससे अधिक तो उसने कुछ सोचा भी नहीं था।...किन्तु वे सचमुच इतने थके हुए थे कि लेट कर आँखें मूँदते ही उन्हें नींद आ गयी। कर्ण के लिये यह अपनी अपेक्षा से भी अधिक फल पाने की स्थिति थी। और जब व्यक्ति अपनी अपेक्षा से भी अधिक फल पा जाये, तो उसकी रक्षा के लिये भी वह उतना ही सक्रिय हो जाता है।...उस समय, उसके मन में गुरु के लिये, कैसा तो स्नेह जागा, जो कभी अपने पिता के लिये भी नहीं जागा था। वह अपनी ही सफलता से जैसे अभिभूत हो गया था—उसे लगा कि अब गुरु का मात्र श्रम से विरत होना ही पर्याप्त नहीं था, उनका लेट कर विश्राम करना भी पर्याप्त नहीं था, उनका सो जाना—और इस प्रकार उसकी गोद में सो जाना भी उसकी तृप्ति के लिये पर्याप्त नहीं था, कदाचित उन्हें अधिक-से-अधिक समय तक सुखपूर्वक सुलाये रखना ही उसकी सफलता होगी : जैसे उसकी किसी से प्रतिस्पर्धा हो कि कौन उन्हें अधिक समय तक सुलाये रख सकता है।...माँ भी तो अपनी गोद में सोये बालक की विघ्न-बाधाओं से रक्षा करती है—उस बालक की, जो प्रतिदिन उसकी गोद में सोता है।...गुरु का इस प्रकार गोद में सोना, क्या कोई दिनचर्या का अंग है? यह तो कोई बहुमूल्य, दुर्लभ क्षण है, जो विश्व के इतिहास में कभी-कभार ही आता है। और उसके लिये तो जैसे, उसके अपने पूर्व-जन्मों का कोई पुण्य उदित हुआ था—वह अपने गौरव के इन क्षणों को न कम होने देना चाहता था और न ही उसे समाप्त होने देना चाहता था...

"तो अन्ततः हुआ क्या?" दुर्योधन ने झल्ला कर पूछा, "गुरु पूरी नींद ले कर उठे और उन्होंने अपनी प्रसन्नता जतायी? तुम्हें कोई वरदान दिया? कोई नया शस्त्र दिया?"

"गुरु ने तुम्हें ब्रह्मास्त्र तो नहीं दे दिया?" अश्वत्थामा ने पूछा।

कर्ण के चेहरे का तेज, एक बार तपा कर पानी में डाल दिये गये ताँबे के समान काला पड़ गया था। अपनी आँखों में आ जाने वाले असफलता, पीड़ा तथा असहायता के आँसू रोकने के लिये वह उतना ही प्रयत्न कर रहा था, जितना कोई व्यक्ति, स्वयं को कुचले जाने से बचाने के लिये, अपने ऊपर आ गिरने वाली चट्टान को रोकने के लिये करता है।

दुर्योधन और अश्वत्थामा हतप्रभ रह गये। यह क्या हो गया उसे?

तब कर्ण जैसे अपने अश्रुओं को पी कर बोला, "मैं क्या जानता था कि जिसे मैं अपने सौभाग्य के उत्कर्ष का चरम क्षण मान रहा था, वही मेरे दुर्भाग्य का चरम क्षण था।..."

वह पुनः मौन हो गया; किन्तु इस बार दुर्योधन और अश्वत्थामा ने उससे कुछ पूछा नहीं। वे धैयपूर्वक उसके बोलने की प्रतीक्षा करते रहे।

कर्ण जब अपने इस सुख में समाधिस्थ होने का प्रयत्न कर रह था कि सहसा उसकी बायी जँघा में एक तीखी चुभन हुई, ऐसी जैसे किसी ने कोई तीखा शूल अत्यधिक वेग से चुभो दिया हो। वह उसका कारण जानने के लिये उठ खड़ा होना चाहता था; किन्तु उसकी गोद में सिर रखे गुरुदेव सुख की निद्रा में निमग्न थे। वह जानता था कि वे बहुत कच्ची नींद सोते थे। उसके तनिक-से कम्पन से भी वे जाग सकते थे।...किन्तु इस रूप में स्थिर बैठना तो बहुत कठिन था। अब ऐसा लग रहा था, जैसे कोई किसी तीक्ष्ण शस्त्र से धीरे-धीरे उसके माँस को छील रहा था। पहले घाव की पीड़ा ही कम नहीं होती थी कि वही दंश पुनः पीड़ा जगा देता था।...उसने अपने हाथ से टटोल कर अनुभव करना चाहा कि वह क्या था? किन्तु न तो हिले-डुले बिना उसका हाथ नन्हे आक्रमणकारी तक पहुँच सकता था, न उसकी दृष्टि उसे देख सकती थी...और कर्ण गुरु-द्रोही नहीं हो सकता था...गुरु की निद्रा में विघ्न डाले बिना, जहाँ तक वह अपने हाथ से अनुभव कर सकता था—उसने प्रयत्न किया। उसका हाथ रक्त से जैसे भीग गया...अब तक उसे अनुमान हो चुका था कि यह कोई कृमि ही होगा, जो उसकी जँघा को नीचे से अपने नन्हे दाँतों से आरी के समान धीरे-धीरे काट रहा था। सम्भव है वह उसका रक्त-

पान भी कर रहा हो; किन्तु जितना रक्त वह पी रहा था, उससे कहीं अधिक तो वह बहा रहा था...

वह समझ रहा था कि यह उसकी परीक्षा की घड़ी थी। बहुत सम्भव है कि गुरु ने सोने के लिये स्वेच्छा से यही स्थान चुना हो। यहाँ अलर्क नामक कृमि बहुत होते हैं। उनके दंश की यही प्रकृति है। वे रक्तपान भी करते हैं।...सम्भवतः गुरु ने अपने प्रति कर्ण की भक्ति की परीक्षा लेने के लिये ही, यहाँ, इस शयन की व्यवस्था की हो। सम्भव है कि गुरु का यह सारा व्यवहार, एक नाटक ही हो...यह नाटक हो या न हो...गुरु जानते हों, या न जानते हों...किन्तु कर्ण के लिये वह परीक्षा की ही घड़ी थी...और इस परीक्षा में उसे सफल होना ही था। वह अलर्क यदि कर्ण की पूरी जँघा भी खा जाये, तो भी वह हठपूर्वक, बिना हिले-डुले, इसी प्रकार यहाँ बैठा रहेगा...वह आज अपनी ही कष्ट-सहन-क्षमता और हठ की परीक्षा लेगा...

वह अपनी पीड़ा से लड़ता, अपने मानसिक ऊहापोह में लीन बैठा था कि अकस्मात गुरु ने आँखें ही नहीं खोल दीं—वे उठ कर बैठ गये।...उसने देखा, उनके कपोल पर रक्त लगा हुआ था—कदाचित उसी का अपना रक्त!...उन्होंने अपने हाथ से कपोल को छुआ। उनकी हथेली पर भी रक्त लग गया। और उसी क्षण उनकी दृष्टि कर्ण की जँघा पर पड़ी, जो इस समय तक रक्त-रंजित ही नहीं, रक्त-निमज्जित भी हो चुकी थी।

"यह क्या है ज्ञानमित्र! उठो। खड़े हो जाओ।"

आदेश में बँधा कर्ण, उठ खड़ा हुआ, और तब उसने अपने शत्रु को देखा—छोटा-सा कीट! अलर्क ही था। कैसे उसने उसे रक्त-निमज्जित कर दिया था, जैसे किसी बड़े युद्ध में कर्ण ने कोई बड़ा घाव खाया हो।...और तब उसका ध्यान अपने गुरु की ओर गया। निद्रा का प्रभाव उन पर शेष नहीं था, न ही उसे इस प्रकार रक्त में भीगा देख, उनके मन में करुणा जागी थी।...उनकी आँखें, क्रोध से कुछ फैल गयीं थीं। उस क्लान्त मुख पर तेज भी पर्याप्त था। उन्होंने अत्यन्त कठोर स्वर में पूछा, "कौन है तू प्रवंचक?"

कर्ण समझ नहीं पाया कि गुरु उसे प्रवंचक क्यों कह रहे हैं—उसने तो यह सारा कष्ट इसलिये सहन किया था कि गुरु की सुख-निद्रा भंग न हो और गुरु उसकी इस सेवा का तिरस्कार कर...

"ब्राह्मण इतना सहनशील नहीं हो सकता और भार्गव ब्राह्मण तो किसी भी रूप में प्रतिवाद किये बिना इतना कष्ट सह नहीं सकता।" गुरु का क्रोध बढ़ता ही जा रहा था, जैसे पूर्ण चन्द्र की रात्रि में सागर की लहरें, "तू अवश्य ही क्षत्रिय है! बोल! तू क्षत्रिय ही है न? इतनी सहनशीलता और किसमें होगी? यह कष्ट-सहन-क्षमता...।"

कर्ण, गुरु के मन की स्थिति समझ गया। उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया था कि वह क्षत्रिय ही है। क्षत्रिय—जिसके आधिपत्य का वे विरोध कर रहे थे। जिन्हें वे युद्ध-विद्या और शस्त्र-बल में आगे बढ़ने देना नहीं चाहते थे।...और एक क्षत्रिय ने मिथ्या-कथन कर, उन्हें भ्रम में रख, उनसे उनका ज्ञान प्राप्त कर लिया था...

वह हाथ जोड़, आँखों में अश्रु भरे, उनके चरणों पर गिर पड़ा। उनका क्रोध शान्त करने के लिये, वह मात्र प्रदर्शन नहीं था। अपनी भाग्यहीनता से वह इतना त्रस्थ हो गया था कि या तो वह क्षुब्ध ही हो सकता था, या दीन-हीन हो कर रुदन ही कर सकता था। और वे तो उसके गुरु थे। उनके सम्मुख वह अपनी पीड़ा न कहता तो किसके सामने कहता। ...और फिर जो कुछ वे समझ रहे थे, कर्ण की वास्तविकता वह नहीं थी।...

"मैं क्षत्रिय नहीं हूँ गुरुदेव!" उसने बताया, "मैं हस्तिनापुर के अधिरथ का सूत पुत्र वसुषेण कर्ण हूँ।"

"सूतपुत्र कर्ण!" गुरु वैसे ही क्रोध में थे, "तूने मुझसे अपनी वास्तविकता क्यों छिपायी?"

"यदि मैं आपको अपना वास्तविक परिचय देता तो आप मुझे अपने शिष्य के रूप में स्वीकार ही नहीं करते।"

"तो यह है तुम्हारी नीति कर्ण!" गुरु का स्वर कुछ शान्त हुआ, "यदि याचना कर कोई वस्तु नहीं मिलेगी, तो तुम उसे चुरा लोगे?" गुरु की दृष्टि प्रखर हो कर उसकी आँखों में चुभने लगी थी, "कल तुम्हारी इच्छा धन, स्त्री अथवा राज्य पाने की होगी—और याचना करने पर तुम्हें तुम्हारा मनोवांछित नहीं मिलेगा, तो तुम उसे चुरा लोगे?"

"नहीं गुरुदेव! मैं चोर नहीं हूँ। मैं चोर नहीं हूँ।" कर्ण ने आवेश में उनके चरणों पर अपना मस्तक पटका, "विद्या तो पराया धन नहीं है गुरुदेव! यह किसी व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति तो नहीं है। ज्ञान तो प्रकृति का वैसा ही वरदान है, जैसे वायु, जल और प्रकाश है—कल कोई यह नियम बना दे कि जल, वायु और प्रकाश भी ब्राह्मणों को ही मिलेगा, तो यह न्याय तो नहीं होगा गुरुदेव!"

"गुरु से तर्क कर रहे हो; तो तर्क ही सही सूतपूत्र!" परशुराम का स्वर शान्त हो आया था, "जल, वायु और प्रकाश किसी व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं है; किन्तु यदि कोई व्यक्ति, समाज अथवा राज्य, इनको अपने अवरोध में रख सके, तो वह उसकी सम्पत्ति है। जल व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं, किन्तु कूप, व्यक्ति की सम्पत्ति हो सकता है, घाट व्यक्ति की सम्पत्ति हो सकता है। नदियों, सागर-तटों तथा भूमि के ऊपर के वायुमण्डल पर समाज और राज्य का नियन्त्रण होता है। उसी प्रकार सार्वभौम ज्ञान पर प्रत्येक प्राणी का अधिकार हो सकता है, किन्तु व्यक्तिगत ज्ञान पर व्यक्ति का ही नियन्त्रण है। तुम उसे उस व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध, बल अथवा छलपूर्वक प्राप्त नहीं कर सकते। ज्ञान-पिपासु उसे सदा ही गुरु की कृपा के रूप में प्राप्त करता है। उसे छल, प्रपंच, बलप्रयोग अथवा दुष्टता के माध्यम से प्राप्त नहीं किया जाता। उसका क्रय करना भी उसे दूषित करना है।" उन्होंने रुक कर कर्ण को देखा, "तुमने मुझे तो प्रवंचित किया ही है, तुमने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि तुम अपने स्वार्थ के लिये किसी सामाजिक विधान को स्वीकार नहीं करोगे। दूसरे व्यक्ति अथवा समाज की इच्छा का तुम्हारे लिये कोई महत्व नहीं है। तुम अपनी इच्छा-पूर्ति के लिये उचित-अनुचित कुछ भी करोगे। तुम स्वेच्छाधारी हो सूतपुत्र!"

"नहीं गुरुदेव!" कर्ण की आँखों के अश्रु परशुराम के चरणों पर टपक आये, "नहीं गुरुदेव! नहीं! मुझे सूतपुत्र कह कर तिरस्कृत किया जा रहा था। मैं इस तिरस्कार का प्रतिशोध लेना चाहता था...।"

"शस्त्रबल से?" गुरु के अधरों पर व्यंग्य था, "जो तुम्हें सूतपुत्र कहेगा, तुम उसका वध करोगे?"

"नहीं गुरुदेव! क्षत्रियों की समकक्षता प्राप्त करके!"

"देखो कर्ण! इसका निर्णय मैं नहीं करूँगा कि सूतपुत्र कह कर कितना तुम्हारा तिरस्कार किया गया और कितना तुमने अपना तिरस्कार स्वयं ही मान लिया। अधिरथ सूत हो कर भी धृतराष्ट्र के मित्र हैं। वे इसे तिरस्कार नहीं मानते। विदुर दासी-पुत्र हो कर भी हस्तिनापुर के मन्त्री हैं। उन्होंने तुम्हारे समान क्षत्रिय बनने का प्रयत्न नहीं किया। क्षत्रिय राजा, दीन-हीन ब्राह्मणों के चरण छूते हैं और उनकी आज्ञाओं का पालन करते हैं—उसे उन्होंने अपना तिरस्कार नहीं माना। विश्वामित्र ने अपना क्षत्रियत्व स्वीकार नहीं किया, इसलिये नहीं कि 'क्षत्रिय' हीन होता है, वरन इसलिये कि क्षत्रियत्व में उन्हें अपना पूर्ण विकास होता दिखायी नहीं देता। किन्तु उन्होंने स्वयं को ब्रह्मर्षि बताया नहीं, अपनी तपस्या से स्वयं को ब्रह्मर्षि बनाया। तुमने स्वयं को भार्गव-गोत्र का ब्राह्मण बताया—स्वयं को ब्राह्मण बनाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। तुमने साधना और तपस्या का मार्ग छोड़ कर, छल और मिथ्याकथन का मार्ग अपनाया। तुम्हारे साधन शुद्ध नहीं थे। मुझे लगता है कि तुम्हारी आत्मा भी शुद्ध नहीं है।...तुम्हें शस्त्र-विद्या की आवश्यकता क्यों है? क्या करोगे तुम इस शस्त्र-बल का?"

कर्ण कुछ नहीं बोला।

"क्या तुम्हें आत्मरक्षा के लिये उसकी आवश्यकता है?"

"नहीं गुरुदेव!"

"तो क्यों चाहिए तुम्हें शस्त्रबल? और ब्रह्मास्त्र में तुम्हारी इतनी अधिक आसक्ति क्यों है?" परशुराम ने इस बार रुक कर उसे देखा, तो उनकी वाणी में भी तेज था और आँखों में भी, "इस बार असत्य भाषण मत करना, अन्यथा...।"

"नहीं! झूठ नहीं बोलूँगा, गुरुदेव!"

"तो सत्य बोलो।"

"मैं कुन्ती पुत्र अर्जुन की प्रगति से पीड़ित हूँ गुरुदेव! मैं उससे श्रेष्ठतर धनुर्धर योद्धा बनना चाहता हूँ।"

"मैं पहले ही समझ रहा था कि तुम्हारी वृत्ति सात्विक नहीं है। तुम अपना विकास नहीं चाहते, तुम दूसरे का विनाश चाहते हो। तुम्हारी वृत्ति निर्माण की है ही नहीं, तुम ध्वंस और विनाश के प्रवर्तक हो। तुम्हें अपने अहंकार की तृष्टि के लिये यह सब चाहिए। तुम्हारी ईर्ष्या और प्रतिहिंसा तुम्हें कभी उचित-अनुचित और धर्म-अधर्म का विचार करने नहीं देगी। तुम्हारा शस्त्रबल किसी सज्जन की रक्षा के काम नहीं आयेगा। सदा ही पापियों की ओर से उसका दुरुपयोग होगा। इसलिये द्रोण ने ठीक ही किया था कि तुम्हें विद्या नहीं दी। मैंने जितनी विद्या तुम्हें दी है, उतना ही पाप किया है। उचित तो होता कि अपने परशु के एक ही प्रहार से तुम्हारा मुण्ड, रुण्ड से पृथक कर देता, ताकि इस शुद्ध ज्ञान का दुरुपयोग न होता; किन्तु जिसे शिष्य के रूप में सिखाया, पुत्रवत पाला—उसके वध के लिये यह हाथ उठना नहीं चाहता। ...पर अब

इस आश्रम में तुम्हारे लिये कोई स्थान नहीं है। तुम इसी क्षण यहाँ से विदा हो जाओ। ऐसा न हो कि मेरा मन कुछ कठोर हो जाये और मेरा निश्चय बदल जाये...।"

"तो तुम वहाँ से चले आये?" सहसा दुर्योधन ने पूछा।

"नहीं! इतनी सरलता से तो नहीं आया। वस्तुतः गुरु का क्रोध कुछ कम होते देख, मेरी महत्वाकांक्षा पुनः उभर आयी थी। मेरा मन बार-बार कह रहा था कि यदि मैं आग्रह करूँगा तो कदाचित वे मान जायेंगे। मेरा ब्रह्मास्त्र-प्रशिक्षण आरम्भ ही हुआ था। यदि कुछ दिन और यह रहस्य न खुलता, तो मेरा ब्रह्मास्त्र-प्रशिक्षण पूरा हो चुका होता।...अब यदि मेरा आग्रह मान कर मुझे कुछ दिन और अपने आश्रम में रहने देते तो कदाचित मेरे जीवन की यह महत्वाकांक्षा पूरी हो सकती थी।..."

"तो तुमने यह दुराग्रह भी किया?" अश्वत्थामा के स्वर में कर्ण के लिये न तो सहानुभूति ही थी और न ही सम्मान!

"आग्रह तो मैंने किया ही—चाहे तुम उसे दुराग्रह कहो।..."

कर्ण ने पुनः हाथ जोड़ दिये। आँखों में हृदय की सम्पूर्ण दीनता को प्रदर्शित करते हुए वह गुरु के सम्मुख भूमि पर लेट गया, "मेरा इस प्रकार परित्याग न करें गुरुवर! बस मुझे ब्रह्मास्त्र का प्रशिक्षण पूरा कर लेने दें। ब्रह्मास्त्र पर अधिकार प्राप्त होते ही मैं यहाँ से चला जाऊँगा।"

"असम्भव!" परशुराम बोले, "मैंने तुम्हें दण्डित नहीं किया—क्या यह कम है?"

"गुरुदेव!" कर्ण उठ कर बैठ गया, "क्या मेरा अपराध इतना बड़ा है? मैंने तो अपने गुरु के कुल-गोत्र को अपना माना! क्या गुरु भी पिता के समान नहीं होता?"

"कुतर्क मत करो कर्ण!" गुरु बोले, "गुरु का महत्व, पिता के समान होता है। गुरु का सम्बन्ध, पिता का सम्बन्ध नहीं है। रंग-रूप, जाति-गोत्र इत्यादि हम पिता से प्राप्त करते हैं। गुरु, व्यक्ति की क्षमताओं का विकास करता है। तुम्हारा अपराध कितना छोटा या बड़ा है, मेरे लिये यह भी महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण है तुम्हारी वृत्ति।...जीवन में कई बार अपना परिचय छिपाना भी पड़ता है। कई बार व्यक्ति कहीं अपना पूर्ण परिचय नहीं देना चाहता, अथवा छद्म परिचय देता है। ऐसे में हम उसे मिथ्यावादी नहीं मानते। हम यही मानते हैं कि किसी प्रयोजन-विशेष से उसने छद्म-वेश धारण किया है। किन्तु हमें इस पर विचार करना पड़ता है कि उसका प्रयोजन अपने धर्म की रक्षा करना है अथवा किसी को प्रवंचित करना। तुमने मिथ्या कथन किया, गुरु को प्रवंचित किया, ज्ञान की चोरी की—और यह सब करवाया तुम्हारी तमोगुणोन्मुखी रजोवृत्ति ने। तुम्हारी क्षमता और शक्ति, समाज के कल्याण में नहीं, अपनी अहंकारमूलक महत्वाकांक्षा में लगेगी। तुम्हारी क्षमताएँ न्याय और धर्म का विचार नहीं करतीं। वस्तुतः प्रतिहिंसा उत्पन्न ही हीन वृत्तियों से होती है। तुम अब जाओ कर्ण! ब्रह्मास्त्र का जो प्रशिक्षण तुम्हें मिला भी है, उसे भी अभ्यास के अभाव में तुम भूल जाओगे।...जाओ।..."

कर्ण चुप हो गया। उसके मन का अवसाद उसके चेहरे पर प्रकट हो गया था।

"कोई बात नहीं मित्र!" दुर्योधन ने उसके कंधे पर हाथ रखा, "जो हो गया, उसकी चिन्ता मत करो। कोई आवश्यक तो नहीं कि सारा भोजन एक ही रसोइया पकाये। जो कुछ गुरु परशुराम से प्राप्त हो गया, हो गया—शेष कहीं और से प्राप्त कर लेना।" दुर्योधन ने उसकी भुजा पकड़ कर उसे अपने पास बैठा लिया, "अब तुम मेरी बात ध्यान से सुनो। तुम जो कुछ सीख कर आये हो, अभी हमारे लिये वही पर्याप्त है। कोई महायुद्ध तो हो नहीं रहा, जिसमें तुम्हें ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर शत्रु का नाश करना है।" उसने रुक कर कर्ण की ओर देखा, "और दूसरी बात यह है कि तुम आये बहुत समय से हो। मुझे तो तुम्हारा रहस्य खुल जाना और गुरु द्वारा तुम्हें इस प्रकार तिरस्कृत लौटा देना बहुत शुभ प्रतीत हो रहा है।...।"

कर्ण ने आश्चर्य से उसे देखा, "क्या कह रहे हो?"

"देखो मित्र! हमने तुम्हें बताया कि हस्तिनापुर में रंगशाला बन रही है। उसमें सारे राजकुमार अपनी विद्या का

प्रदर्शन करेंगे। युधिष्ठिर को तुम जानते ही हो—उसे कुछ नहीं आता। भीम की गदा, मैं अपनी गदा से उस दिन चपटी कर दूँगा। बहुत सम्भव है कि भीम रंगशाला से जीवित ही न निकले। नकुल-सहदेव बस यूँ ही। केवल वह अर्जुन है, जिसकी धनुर्विद्या को निरस्त करने के लिये हमारे पास कोई साधन नहीं था। अब तुम आ गये हो। रंगशाला में दिखायी जाने वाली धनुर्विद्या तो तुम सीख ही आये हो। तुम बस अर्जुन का यश निष्कलंक मत रहने देना। तुम इतना-भर तो कर ही देना कि अर्जुन निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठ वीर घोषित न हो सके।...ठीक है?"

"ठीक है..." कर्ण ने सहमति में सिर हिलाया।

"यही तो मैं कह रहा था," दुर्योधन बोला, "तुम यदि वहाँ ब्रह्मास्त्र सीखते रह जाते और अर्जुन हस्तिनापुर का सर्वश्रेष्ठ योद्धा घोषित हो जाता, तो हम तुम्हारे ब्रह्मास्त्र का क्या करते? ब्रह्मास्त्र जैसे अस्त्र तो शोभा की वस्तु हैं। योद्धा उन्हें धारण किये रहता है और उनके प्रयोग का अवसर ही नहीं आता। जब कभी योद्धा उसके प्रयोग का संकल्प करता है, तो उसका अपना मन ही द्वन्द्व ग्रस्त हो जाता है, उसके अपने ही पक्ष के लोग, हाथ जोड़ कर प्रार्थना करने लगते हैं कि वह महाविनाश के इस अस्त्र का प्रयोग न करे। तो अर्जुन ब्रह्मास्त्र का बोझा ढोता रहे। उसका प्रयोग तो वह कर नहीं सकता। तुम उससे द्वन्द्व-युद्ध भी करोगे, तो भी वह तुम पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग नहीं कर सकता। समझे न?"

"तुम निश्चिन्त रहो मित्र!" कर्ण बोला, "अर्जुन को वह गौरव कभी प्राप्त नहीं होगा, जो तुम्हारे लिये अशान्ति का कारण बने।"

कर्ण चला गया तो अश्वत्थामा दुर्योधन की ओर मुड़ा, "मुझे तुम्हारा यह मित्र कर्ण कभी भी प्रिय नहीं रहा...।"

"क्यों?"

"उसकी बातों में सदा दूसरों के लिये उपेक्षा होती है। मुझे यह पिता जी का भी विरोधी प्रतीत होता है।" अश्वत्थामा बोला, "और गुरु परशुराम के साथ जो व्यवहार इसने किया है, वह किसी भी नैतिक मूल्य के अनुकूल है क्या?"

"गुरु-पुत्र!" दुर्योधन बोला, "नैतिकता अपने स्थान पर होती है और आकांक्षा अपने स्थान पर। तुम इसे इस प्रकार समझो कि यदि मैं धर्म-अधर्म, विधि-विधान तथा दूसरों की इच्छा-अनिच्छा के चक्र में पड़ा तो हस्तिनापुर का राज्य मुझे कभी नहीं मिल सकता—किन्तु यह राज्य मुझे प्राप्त करना ही है। नियमों का पालन तो वे करते हैं, तो असमर्थ होते हैं। जो हाथ बढ़ा कर वस्तु प्राप्त कर सकता है, वह नियम नहीं बनाता। तुम जो इतना सोचो," दुर्योधन ने उसका कंधा थपथपाया, "कर्ण का बल, सामर्थ्य और अधिकार जितना बढ़ेगा, पाण्डवों के शत्रु उतने ही प्रबल होंगे। वह कभी पाण्डवों का मित्र नहीं हो सकता। हमें पाण्डवों के विरुद्ध एक शस्त्र प्राप्त हो रहा है, तो हम उससे स्वयं को वंचित क्यों करें। मैं पूर्णतः आश्वस्त हूँ कि अब, जब कर्ण आ गया है तो रंगशाला में पाण्डवों का गौरव-गान सम्भव नहीं हो पायेगा।"

13

द्रोण का रथ, रंगशाला की निर्माणस्थली की ओर जा रहा था और आचार्य भविष्य के स्वप्नों में खोये हुए थे। उन्हें लग रहा था कि यह हस्तिनापुर के राजकुमारों के कला-कौशल के प्रदर्शन की स्थली नहीं—यहाँ उनके अपने जीवन के स्वप्नों की अट्टालिका का प्रत्यक्ष निर्माण हो रहा था।

हस्तिनापुर आने से पूर्व उनको सदा यही लगा था कि वे स्वप्न ही देखते रहे हैं, उन्हें साकार कभी नहीं कर पाये। जाने ऐसा क्या था कि उनकी महत्वाकांक्षाएँ जितनी ऊँचीं थीं, उनके साधन उतने ही सीमित थे। उन्हें लगता था कि विधाता ने उनके भाग्य में केवल आकांक्षाएँ ही लिखी हैं, उनकी पूर्ति नहीं। जिनके मन में आकांक्षाएँ नहीं थीं—वे अपने स्थान पर सन्तुष्ट थे। उन्हें अभाव की पीड़ा तो नहीं सालती थी। अपने विषय में सोच-सोच कर, आचार्य ने यही पाया था कि उनकी क्षमताओं और गुणों का कभी आदर नहीं हुआ। जो सम्मान उन्हें मिलना चाहिए था, वह उन्हें कभी नहीं मिला। विधाता की भी विचित्र लीला थी, जिन्हें गुण और क्षमताएँ दीं, उन्हें सम्मान और प्रतिष्ठा नहीं दी; और जिन्हें सम्मान और प्रतिष्ठा दी, उनको कोई गुण नहीं दिया। कई बार वे सोच-सोच कर इतने चलित-चित्त हो जाते थे कि उन्हें यह जीवन, जीने योग्य नहीं लगता था...

उन्होंने सारथि को रथ रोकने का संकेत किया।

यहाँ से रंगशाला अपना पूर्ण विहंगम दृश्य प्रस्तुत कर रही थी। यह आचार्य के आज तक के देखे गये स्वप्नों का मूर्त रूप था। जिस गति से इस रंगशाला का निर्माण होता जा रहा था, मानो उतनी ही गति से उनके स्वप्न अपनी पूर्णता की ओर बढ़ रहे थे। अपने जीवन में पहले कभी उन्होंने सोचा भी नहीं था, कि मनुष्य के मन द्वारा देखे गये स्वप्न, की गयी आकांक्षाएँ, या हृदय में जन्मी याचनाएँ अपने सूक्ष्म संसार से निकल कर ऐसा ठोस और मूर्त रूप ग्रहण कर सकती हैं। जाने अब क्या हुआ था कि उनका मानसिक संसार और यह भौतिक संसार मिल कर एक हो गये थे। उधर उनके मन में एक निराकार और निर्गुण इच्छा जन्म लेती और इधर ईंट और गारे में उसका आकार स्पष्ट होने लगता था। कितनी सुविधा से उनकी इच्छाएँ पूरी हो रही थीं।...

उन्होंने सारथि को चलने का संकेत किया।

उनका रथ अब ढाल पर से नीचे उतर रहा था।...और सहसा उनका मन भी जैसे उल्लास के शिखर से अवसाद की ढाल पर चल पड़ा।...और कौन-सा ऐसा ऋषि, गुरु अथवा आर्चाय था, जिसे इस प्रकार अपनी आजीविका के लिये किसी राजकुल में शरण लेनी पड़ी हो। आर्यों का आदर्श यही रहा है कि गुरु अपने मनोनुकूल स्थान पर अपना आश्रम स्थापित करके रहता है। शिष्य उसके पास आते हैं। किरीटधारी राजा, उसके चरणों में सिर झुकाते हैं। उसकी इच्छाओं को जान कर, उनकी पूर्ति कर स्वयं को धन्य मानते हैं। ...उनके समान कौन-सा ऋषि अपनी तपस्या-भूमि को छोड़ कर राजाओं की ड्यौढ़ी पर आया, जैसे वे गुरु न हों, उन राजकुमारों के पिता द्वारा नियुक्त एक साधारण कर्मचारी हों। गुरु और राजकर्मचारी में बहुत अन्तर है...शायद इसलिये आज तक किसी ने उन्हें ऋषि द्रोण कह कर नहीं पुकारा, वे आचार्य द्रोण ही कहलाये। उनमें ऋषि का चरित्र, ज्ञान, साधना...कुछ नहीं है—वे तो मात्र अपने विषय में पारंगत विद्वान हैं। मात्र अपना विषय जानते हैं, उसके परे उनके ज्ञान का, उनकी साधना का कोई अस्तित्व नहीं?...

उनका मन जैसे खिन्न हो कर उनसे पूछ रहा था कि क्या यह आवश्यक था कि मनुष्य सफलता पाने के लिये, अपना स्तर नीचे गिराये? साधारण व्यक्ति के समान, साधारण लोगों के साथ लेन-देन का व्यापार करे? क्या लौकिक सफलता के लिये आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा का व्यापार करे? क्या यह सम्भव नहीं है कि व्यक्ति अपना कार्य करता रहे, उसमें उन्नति करे, मौलिकता तथा श्रेष्ठता लाये, और कोई अन्य व्यक्ति उसकी ग्रीवा में माला पहनाने के लिये पुष्प चुनता रहे? क्या यह आवश्यक है कि अपनी ग्रीवा में माला पहनने के लिये हम स्वयं ही पुष्प उपलब्ध करायें? चाहे अपनी वाटिका में उगाएँ अथवा हाट से क्रय करके लायें?...द्रोण ने तो कभी नहीं चाहा था कि राजसभाओं में उनकी जय-जयकार हो, वे स्वर्ण के सिंहासनों पर बैठें और उनके आगे-पीछे सशस्त्र प्रहरी मस्तक झुका कर उनका अभिवादन करें। किन्तु पता नहीं विधाता का विधान ऐसा है, या समाज का निर्माण कि यह साधक को उसकी साधना से विचलित करके ही पुरस्कृत करता है।... और जैसे द्रोणाचार्य का मन अपने ही विचार पर अटक गया—साधक को साधना से विचलित करके ही समाज पुरस्कृत करता है...साधना...विचलन... और पुरस्कार...

द्रोण की कल्पना में एक बिम्ब उभरा...एक मानव मूर्ति पद्मासन लगाए, ध्यान कर रही थी।...पहले तो उसका अपना मन ही नहीं सधता। वह चंचल बालक के समान इधर-उधर भागता है। साधक उसे अनुशासित करता है। फिर उसका तन उसे विचलित करने का प्रयत्न करता है। कहीं पीड़ा है, कहीं कष्ट; कहीं रोग है, कहीं असुविधा...। जब साधक उसकी उपेक्षा कर जाता है, तो कोई देवमूर्ति अवतरित होती है—'तुझे क्या चाहिए साधक? मुझसे कुछ माँग ले और अपनी साधना छोड़ दे। कुछ माँग ले और साधना छोड़ दे।...'

यह संसार साधना से इतना भयभीत क्यों है? क्यों वह साधक को अपने मार्ग पर नहीं जाने देता?...द्रोण को अपनी साधना-स्थली में एक गाय मिल गयी होती, तो द्रोण क्यों आते इस हस्तिनापुर में?...जाने क्यों विधाता ने नहीं चाहा कि वे गुरु बन कर अपने आश्रम में रहें, उन्हें आचार्य बना कर राजसभा में ला पटका। अपने आश्रम में एक गाय नहीं दी और यहाँ पूरी गोशाला दे दी, राजसी भवन दे दिया। वस्त्र और आभूषण दे दिये।...किन्तु ऋषि को राजकर्मचारी बना दिया। वह राजकर्मचारी अब अपने प्रभुओं को दिखाना चाहता है कि वे देखें कि उनके निष्ठावान सेवक ने उनका कार्य कितनी निष्ठा से किया है। वे उससे प्रसन्न हों, उसका साधुवाद करें, सार्वजनिक रूप से उसकी प्रशंसा करें, उसे पुरस्कृत करें, उसको धन-धान्य दें...क्या यशस्वी आचार्य बनने के लिये एक ऋषि का यह अधःपतन अनिवार्य है?...

और सहसा द्रोण के भीतर किसी ने चीत्कार किया, "नहीं! ऐसा नहीं है। सामने निर्माणाधीन यह रंगशाला उनके पतन का प्रतीक नहीं है। यह उनके स्वप्नों की पूर्णता की ओर अग्रसर होने का मार्ग है। यह प्रथम सोपान है, उनके उत्थान का, ऊपर उठने का! इस रंगशाला में जब उनके द्वारा प्रशिक्षित योद्धा अपनी क्षमताओं का प्रदर्शन करेंगे, तो आर्यावर्त्त में ही नहीं, सम्पूर्ण जम्बूद्वीप में उनकी जय-जयकार होगी। उनकी कीर्ति पताका हिमालय के ऐसे शिखर पर लहराएगी, जहाँ से सारा संसार उसे देखेगा। सारे जम्बूद्वीप के राजवंश आ कर उनके चरणों में लेट जायेंगे कि वे उनकी राजधानी में पधार कर उनको कृतार्थ करें। उनके राजकुमारों को प्रशिक्षित करें। उनकी सेनाओं के नेता बनें...तब कौन-सा अभाव रह जायेगा द्रोण को? ऐसी कौन-सी वस्तु होगी, जो उनकी इच्छा होने पर, ला कर उनके चरणों में प्रस्तुत नहीं कर दी जायेगी?...

किन्तु यह अर्जुन की भूख, प्राप्ति की तृष्णा...यह उनका उत्थान है या पतन? व्यक्ति का विकास संचय से होता है या संचय-मुक्ति से?...वे तो अपने विकास के मार्ग पर आगे बढ़े थे। मानव की सीमाओं का अतिक्रमण कर वे पूर्णता की ओर अग्रसर हो रहे थे।...मानव की मृग-तृष्णाओं के जाल में उलझ कर सर्वग्रासिनी भुभुक्षा, कभी तृप्त न होने वाली पिपासा की अन्धी दौड़ में उलझ कर अन्ततः थक-हार कर हाँफते हुए, चिर तृषित सूखी जिह्वा को बाहर निकालते हुए पराजित हो, मृत्यु की गोद में गिर पड़ने को तो उन्होंने अपना लक्ष्य नहीं बनाया था।...तो फिर इस रंगशाला और उसमें अपना कौशल दिखाने वाले राजकुमारों की सफलता से उन्हें क्या मिलने जा रहा है?...

उन्होंने अपनी साधना की पूर्णता में ज्ञान नहीं पाया; उन्होंने तो अभी मात्र एक विद्या पायी थी—धनुर्विद्या; या फिर युद्ध-विद्या...और उसका भी उन्होंने व्यापार कर डाला! उस विद्या के विक्रय से मिला है, उन्हें यह आचार्य-पद...

द्रोण का रथ आ कर रंगशाला के द्वार पर रुक गया।

वे रथ से उतर कर आगे बढ़े ही थे कि अश्वत्थामा ने आ कर उन्हें प्रणाम किया।

"पुत्र, तुम!" द्रोण कुछ चकित हुए, "तुम यहाँ क्या कर रहे हो?"

"रंगशाला का निर्माण देखने चला आया था पिता जी!" अश्वत्थामा बोला, "अब तो इसका निर्माण लगभग पूरा होने जा रहा है।"

द्रोण हँसे, "इसके निर्माण में तुम्हारी रुचि है?"

"हाँ पिता जी!"

"कारण?"

अनिर्णय में अश्वत्थामा थोड़ी देर मौन रहा; फिर जैसे किसी निष्कर्ष पर पहुँच कर बोला, "मुझे लगता है कि मेरा अपना भविष्य भी इसी रंगशाला के साथ जुड़ा हुआ है।..."

"तुम 'हमारा' न कह कर, 'मेरा' भविष्य कह रहे हो वत्स!"

"हाँ, पिता जी!"

"पर केवल तुम्हारा ही क्यों?"

अश्वत्थामा चुपचाप कुछ सोचता रहा और फिर बहुत सावधानी से बोला, "कदाचित मैंने उपयुक्त शब्दों का चयन नहीं किया। मुझे कहना चाहिए था कि हम सबका भविष्य इसी रंगशाला से जुड़ा हुआ है; किन्तु मैं केवल अपने ही भविष्य के लिये चिन्तित हूँ।"

"तुम्हारी बात स्पष्ट नहीं है पुत्र!" द्रोण बोले, "मेरी दृष्टि में यह रंगशाला मात्र यह प्रमाणित करेगी कि पिछले कुछ वर्षों में मैंने अपने शिष्यों पर कितना श्रम किया है। उसमें अनिश्चय कोई नहीं है। प्रमाण मेरे पास है, मैं केवल उसे प्रकट अथवा प्रदर्शित कर रहा हूँ। इसमें ऐसा कुछ नहीं होने जा रहा, जिस पर भविष्य में होने वाली हमारी सफलता अथवा असफलता निर्भर करे।"

अश्वत्थामा ने आज पहली बार पिता को इस दृष्टि से देखा था, जिसमें पिता के प्रति चाहे अवमानता न हो, किन्तु उनकी प्रज्ञा की अवज्ञा अवश्य थी, "पिता जी! क्या आप नहीं देख रहे कि इस रंगशाला में ही निर्णय होगा कि हस्तिनापुर का भावी सम्राट कौन है?"

द्रोण ने कौतुक से अपने पुत्र को इस दृष्टि से देखा, जैसे कोई वयोवृद्ध व्यक्ति निपट बालक को देखता है, जिसमें व्यक्त रूप से बालक को यह विश्वास दिला दिया जाता है कि उससे अधिक बुद्धिमान कोई नहीं है, जबकि मन-ही-मन वह जानता है कि बालक अपनी मूर्खता में ही स्वयं को बुद्धिमान समझ रहा है, "अच्छा! मैंने तो इस रंगशाला को कभी इस दृष्टि से देखा ही नहीं! तुम्हें यह किसने कहा पुत्र!"

"दुर्योधन ऐसा ही मानता है!"

द्रोण गम्भीर हो गये : यह अश्वत्थामा के बालपन की कल्पना नहीं थी, वह दुर्योधन का कोई षड्यन्त्र था।... उन्होंने अपनी भुजा फैला कर अश्वत्थामा को उसमें समेट लिया, "आओ मेरे साथ। हम दोनों मिल कर तनिक निरीक्षण कर लें कि रंगशाला का कितना निर्माण हो चुका है।" और रंगशाला में प्रवेश कर, उन्होंने कहा, "अब यह बताओ कि दुर्योधन ऐसा क्यों मानता है कि इस रंगशाला में ही इसका निर्णय होगा कि हस्तिनापुर का भावी सम्राट कौन होगा? यहाँ कोई प्रतिस्पर्धा तो होगी नहीं कि प्रथम आने वाले को हस्तिनापुर का राज्य पारितोषिक स्वरूप दिया जायेगा। न ही हस्तिनापुर किसी राजकुमारी का नाम है, जिसका यहाँ स्वयंवर हो रहा है, और जो उस महोत्सव में अपने प्रिय की ग्रीवा में जयमाला डाल देगी।"

अश्वत्थामा को पिता के स्वर में अपने प्रति उपहास का आभास हुआ, "आप इसे सत्य नहीं मानते?"

"सत्य मान लेने के लिये कारण जानना चाहता हूँ।"

"दुर्योधन कहता है कि चाहे यहाँ प्रतिस्पर्धा न हो और चाहे यह रण-क्षेत्र न हो, किन्तु यह निर्णय तो यहाँ हो ही जायेगा कि हममें से सर्वश्रेष्ठ योद्धा कौन है; और साथ-साथ यह भी प्रमाणित होगा कि धृतराष्ट्र के पुत्र अधिक बलशाली हैं अथवा पाण्डव कहलाने वाले, ये कुन्ती तथा माद्री के पुत्र!"

"तो?" द्रोण उससे और भी स्पष्ट कहलवाना चाह रहे थे, "यदि यह प्रमाणित हो गया कि अर्जुन सर्वश्रेष्ठ योद्धा है, तो क्या अर्जुन को युवराज घोषित कर दिया जायेगा?..."

"नहीं!" अश्वत्थामा बोला, "केवल सर्वश्रेष्ठ योद्धा घोषित होने से कुछ नहीं होगा। सर्वश्रेष्ठ योद्धा तो एक व्यक्ति ही होगा; किन्तु यहाँ तो दो दल हैं : एक धृतराष्ट्र के पुत्र और दूसरे पाण्डु के पुत्र! यदि पाण्डव अधिक बलशाली प्रमाणित हुए, तो युधिष्ठिर को युवराज बनना ही है; किन्तु यदि यह प्रमाणित हो गया कि धृतराष्ट्र के पुत्रों की ओर अधिक बल है, तो महाराज धृतराष्ट्र अपने ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन को युवराज घोषित कर देंगे।"

"बड़ा तो युधिष्ठिर है।" द्रोण बोले।

"हुआ करे।"

"राज्य युधिष्ठिर के पिता का है।"

"तो क्या!" अश्वत्थामा बोला, "दुर्योधन कहता है, राज्य उसका है, जो उस पर अधिकार जमा सके!"

"बल द्वारा अधिकृत राज्य स्थायी नहीं होता।" द्रोणाचार्य बोले, "राजनीति के मूल में भी नीति की आवश्यकता है।"

"दुर्योधन यह नहीं मानता।" अश्वत्थामा बोला, "वह मानता है कि राजनीति बल के आधार पर चलती है। शासन का मूल रहस्य ही शक्ति है।"

"और यह सब उसने किससे सीखा है?"

"अपने मामा शकुनि और कूटनीति के आचार्य कणिक से!"

द्रोण थोड़ी देर तक मौन चिन्तन करते रहे। अन्ततः बोले, "चलो मान लिया कि उस दिन यह निर्णय हो जायेगा कि हस्तिनापुर का भावी सम्राट कौन होगा, किन्तु उससे हमारे भविष्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा?"

अश्वत्थामा ने भी तत्काल उत्तर नहीं दिया, जैसे वह जानता तो हो कि उसे क्या कहना है; किन्तु यह निर्णय नहीं कर पा रहा हो कि किन शब्दों में कहना है।

"तुमने बताया नहीं पुत्र! कि हमारे भविष्य पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा?" द्रोण ने पुनः पूछा, "मेरे लिये दोनों ही समान हैं। युधिष्ठिर सम्राट हो या दुर्योधन, दोनों ही मेरे शिष्य हैं।"

"मैंने आपके नहीं, अपने भविष्य की बात कही थी।" अश्वत्थामा तत्काल बोला।

"तुम्हारा भविष्य मुझसे पृथक है क्या?"

इस बार अश्वत्थामा को अपने द्वन्द्व में से निकलने में कुछ निमिष लगे, "है तो नहीं; किन्तु हो सकता है।"

"कैसे?"

"आपका सर्वप्रिय शिष्य है अर्जुन; और मेरा मित्र है दुर्योधन! यदि हम दोनों अपने-अपने पक्षों पर अड़े रहे, तो हमारा भविष्य एक-दूसरे से पृथक भी हो सकता है और भिन्न भी।"

इस बार अश्वत्थामा की बात को द्रोण, बालक की वाचालता मान, उसकी उपेक्षा नहीं कर सके। उसमें तरुणाई का आवेश था—विचार हो-न-हो, हठ अवश्य था; और विचार कार्यान्वित हो या न हो, हठ तो कार्यान्वित होता ही है।

"हमारे लिये इन दोनों में से किसी एक का पक्ष ग्रहण करना आवश्यक क्यों है पुत्र? क्या हम तटस्थ नहीं रह सकते?"

अश्वत्थामा को कहने में कुछ संकोच अवश्य था, वह तथ्य उसके कपोलों की लालिमा से स्पष्ट था; किन्तु फिर भी प्रयत्नपूर्वक वह कह ही गया, जैसे अपने पिता के सम्मुख बोलने के संकोच को हठपूर्वक तोड़, अपने वयस्क हो जाने का प्रमाण दे रहा हो, "राजनीति में या तो पक्ष होता है या विपक्ष। तटस्थता, राजनीति में होती ही नहीं। जो हमारे पक्ष में नहीं है, वह विपक्षी ही है।"

"यह भी क्या दुर्योधन कहता है?"

"नहीं! यह मन्त्री कणिक कहते हैं।"

द्रोण की गम्भीरता कुछ अधिक गहरी हो गयी, "लगता है, जितना ज्ञान तुमने मुझसे ग्रहण किया है, उससे कहीं अधिक तुमने कणिक और दुर्योधन से ग्रहण किया है।"

"आप युद्ध-विद्या के आचार्य हैं पिता जी! व्यावहारिक राजनीति के नहीं!"

"जिस राजनीति की तुम चर्चा कर रहे हो, वह मनुष्य की हीन वृत्ति पर टिकी हुई है, अतः पशुबल को एकमात्र सत्य मानती है। उससे मानव का कल्याण नहीं हो सकता।" द्रोण के स्वर में पहली बार कुछ आवेश झलका, "और यदि बल से ही निर्णय होना है, तो सुन लो अश्वत्थामा! मैं आज ही निर्णय कर देता हूँ कि सर्वश्रेष्ठ योद्धा अर्जुन ही प्रमाणित होगा और शक्ति की दृष्टि से भी पाण्डव ही भारी पड़ेगे।..."

अश्वत्थामा ने पिता की ओर इस प्रकार देखा, जैसे कोई समझदार वयस्क, अबोध बालक की ओर देखता है, "क्या आपको ज्ञात है कि कर्ण हस्तिनापुर में लौट आया है?"

इस सर्वथा असम्बद्ध प्रश्न को सुन कर द्रोण चौंके, "तो?"

"वह गुरु परशुराम से धनुर्विद्या सीख कर आया है; और वह रंगशाला में अर्जुन को चुनौती देगा!"

"गुरु परशुराम!" द्रोण चौंके, "किन्तु गुरु परशुराम तो मात्र ब्राह्मण कुमारों को धनुर्विद्या सिखाते हैं।..."

"उसने स्वयं को ब्राह्मण-पुत्र बता कर ही यह शिक्षा ग्रहण की है।" अश्वत्थामा का मस्तक संकोच से नत हुआ; किन्तु अगले ही क्षण जैसे उसने सायास अपना मस्तक ऊँचा उठा लिया, "किन्तु उससे क्या! धनुर्विद्या तो वह सीख ही आया है।..."

"मैं उसे रंगशाला में राजकुमारों के समकक्ष अपनी कला का प्रदर्शन करने की अनुमति ही नहीं दूँगा।" द्रोण बोले, "यह हस्तिनापुर के राजकुमारों की विद्या-प्रदर्शन की रंगशाला है, कोई सार्वजनिक प्रदर्शनशाला नहीं, जहाँ कोई भी आ कर किसी को ललकार सके।..."

अश्वत्थामा हतप्रभ रह गया : यह तो उसने सोचा ही नहीं था। यदि पिता उसे अनुमति नहीं देंगे, तो वह अर्जुन को चुनौती कैसे देगा? और यदि वह अर्जुन को चुनौती ही नहीं दे पाया तो निश्चित रूप से अर्जुन ही सर्वश्रेष्ठ योद्धा प्रमाणित होगा।...ऐसे में दुर्योधन की इच्छा...और यदि युधिष्ठिर हस्तिनापुर का युवराज बना...

"पिता जी!"

"हाँ, पुत्र!"

"आप मुझे इच्छापूर्ति का वरदान देंगे?"

द्रोण ने पुत्र को पितृ-स्नेह की दृष्टि से देखा : कोई पिता अपने पुत्र को कैसे कह सकता था कि वह उसे इच्छापूर्ति का वरदान नहीं देगा...

"आपने मेरे सुख के लिये साधना-स्थली छोड़ी थी पिता जी! माँ तथा मातुल दोनों ही कहते हैं कि आपको संसार में मुझसे अधिक प्रिय और कोई नहीं है, कुछ नहीं है...।"

"तुम्हारी माँ तथा मातुल ठीक कहते हैं पुत्र!"

"तो पिता जी! मेरी यह इच्छा पूरी होने दीजिए। आपने कर्ण को शिक्षा नहीं दी; एकलव्य का अँगूठा गुरु-दक्षिणा में ले लिया। आपने अर्जुन को अपने सर्वश्रेष्ठ शिष्य के रूप में प्रशिक्षित किया है। अब आप उसकी परीक्षा होने दीजिए। कर्ण आपके गुरु की पीठ से विद्या अर्जित करके आया है। उसे अर्जुन के साथ स्पर्धा करने दीजिए। उसकी भी परीक्षा हो जायेगी पिता जी! और आपकी भी।..."

द्रोण के मन में भयंकर द्वन्द्व चल रहा था।

"पिता जी! यदि आपने कर्ण को रोक दिया तो मैं समझूँगा कि एक तो आपको गुरु के रूप में अपनी क्षमता पर विश्वास नहीं है, और दूसरे, पिता के रूप में आपको मुझसे प्रेम नहीं है।..."

द्रोण को लगा कि पिता के रूप में उनके मन ने अपने घुटने टेक दिये हैं...और गुरु के रूप में उनका अहंकार कुछ और भी स्फीत हो गया है। उनका मन भी कहीं यह इच्छा करने लगा कि अर्जुन और कर्ण की स्पर्धा हो जाये। सारा संसार अपनी आँखों से देख ले कि गुरु के रूप में द्रोण क्या हैं। गुरु परशुराम से भी अधिक समर्थ!...और वह सूतपुत्र कर्ण भी देख ले कि प्रवंचना से पाई गयी विद्या से कोई कितना वीर हो सकता है...

"पिता जी!" अश्वत्थामा पुनः बोला, "क्या आप मुझे इच्छापूर्ति का वरदान नहीं देंगे?"

द्रोण ने जैसे अपनी आँखों में सारा वात्सल्य ढाल कर पूछा, "और यदि इस स्पर्धा में अर्जुन विजयी हुआ, तो पुत्र?"

अश्वत्थामा क्षण-भर अवाक रह गया, जैसे इस सम्भावना पर तो उसने कभी विचार ही नहीं किया था।

"अब मुझे कहने दो पुत्र! कि तुम्हें अपने पिता की क्षमताओं पर तनिक भी विश्वास नहीं है। तुम यह पहले ही स्वीकार कर चुके हो कि तुम्हारे पिता का शिष्य पराजित ही होगा...।"

"नहीं पिता जी!" अश्वत्थामा ने स्वयं को सँभाला, "मुझे अर्जुन प्रिय नहीं है। वह बहुत आत्मकेन्द्रित लगता है मुझे। फिर भी मैं आपको वचन देता हूँ कि यदि अर्जुन विजयी हुआ तो मैं दुर्योधन का पक्ष छोड़ पाण्डवों का मित्र बन

जाऊँगा। आप कर्ण और अर्जुन की प्रतियोगिता होने दें।..."

द्रोण मन-ही-मन अपना ही ताना-बाना बुन रहे थे...यदि यह अनुमति दे देते हैं तो उनका पुत्र उनसे प्रसन्न होगा; और उनका शिष्य, गुरु परशुराम के शिष्य को पराजित कर, उनकी कीर्ति का ध्वज और भी ऊँचाई पर फहरा आयेगा।... उनकी इसमें हानि ही कहाँ है।...एक स्वर्धा की अनुमति मात्र दे देने से उन्हें गुरु परशुराम पर विजय प्राप्त हो रही है...

'और यदि अर्जुन पराजित हुआ?' उनके मन के किसी कोने में से स्वर उठा।

'असम्भव!' द्रोण का सम्पूर्ण व्यक्तित्व चीत्कार कर उठा।

"पिता जी!"

"तुम्हारी इच्छा पूरी हो पुत्र!" द्रोण धीरे से बोले, "कर्ण तथा अर्जुन की स्पर्धा में मैं बाधा नहीं बनूँगा।"

अश्वत्थामा को लगा, यदि उसने स्वयं को बलात नहीं रोका तो वह छोटे-से किसी शिशु के समान अपने पिता से लिपट जायेगा।...

14

भीष्म को लगा, उसके मन में जैसे क्षोभ और हताशा का उदय एक ही साथ हुआ है; और यह निर्णय करना, उसके लिये भी कठिन हो रहा था कि उन्हें दुख अधिक है या क्रोध।...

कहाँ वे यह सोच रहे थे कि एक लम्बी प्रतीक्षा के पश्चात आज वह दिन आया है कि एक सौ पाँच कुरु राजकुमार अपनी शिक्षा और प्रशिक्षण पूर्ण कर, अपने गुरु का आशीर्वाद पायेंगे। अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर के नेतृत्व में, वे लोग हस्तिनापुर के राज्य का दायित्व सँभालेंगे। उनके परामर्श के लिये धृतराष्ट्र और विदुर होंगे...और भीष्म अपने दायित्व को पूरा हुआ देख, अपनी मुक्ति की बात सोचेंगे...और यहाँ अपने गुरुओं और कुल-वृद्धों को प्रणाम करने के लिये भी वे एक सौ पाँच इकठ्ठे नहीं आये, वे पाँच पृथक और सौ पृथक ही आये। अपनी माताओं को प्रणाम करने वे पृथक-पृथक जाते तो भीष्म उसका कारण समझ सकते थे; किन्तु अपने गुरु द्रोण को भी, वे उनके शिष्यों के रूप में नहीं, पाण्डवों और धार्तराष्ट्रों के रूप में ही प्रणाम करेंगे? अपने पितामह को प्रणाम करने के लिये भी वे पृथक-पृथक ही आयेंगे?...यदि अपने गुरु और पितामह को प्रणाम करने के लिये, उनके आशीर्वाद और स्नेह की छाया में वे एक साथ मिल कर खड़े नहीं हो सकते, तो हस्तिनापुर के शत्रुओं से लड़ने के लिये बाणों की बौछार में वे गजों, अश्वों, रथों के अभियान के सम्मुख एक साथ कैसे खड़े होंगे?

भीष्म, जिनके कंधों पर कुरु-राज्य का भार रखना चाहते हैं, वे कंधे तो मिल कर एक साथ खड़े ही नहीं हो रहे; कहीं ऐसा न हो कि बाहर के आक्रमणकारियों की आवश्यकता ही न पड़े, ये स्वयं ही परस्पर एक-दूसरे के शत्रु हो कर हस्तिनापुर की जड़ें हिला दें।...

भीष्म को लगा, अपने जीवन-भर के प्रयत्न को इस प्रकार निष्फल होते देख, उनका मन हताशा की अथाह गहराइयों में डूबा जा रहा है।...किन्तु अगले ही क्षण उन्होंने अपने मन को सँभाला...इस प्रकार हताश होने से क्या होगा। जो कुछ उन्होंने चाहा, वह नहीं हुआ; तो अब जो है, उसमें से वे क्या चाहते हैं? सृष्टि उनकी इच्छा के अनुसार तो नहीं चलेगी।...सृष्टि की इच्छा के भीतर ही उनको अपनी इच्छा चुननी पड़ेगी।...

कुरु राजकुमार प्रणाम करके जा चुके थे; और रिक्त रंग-वेदी, चारों ओर दीर्घाओं में बैठ हुए लोगों के कोलाहल से घिरी हुई जैसे राजकुमारों के पुनरागमन की प्रतीक्षा कर रही थी।...भीष्म की दृष्टि चारों ओर घूमने लगी : हस्तिनापुर की नगर-प्राचीर के बाहर का यह समतल क्षेत्र था। भूमि के चुनाव से ले कर, उसकी योजना और निर्माण का सारा कार्य स्वयं द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा विदुर ने मिल कर किया था। सत्य ही, कुछ लोग जुट कर निर्माण करने पर आयें तो कैसी-कैसी अच्छी वस्तुओं का निर्माण हो जाता है। और प्रतिभाशाली व्यक्ति को अपना गुण प्रदर्शित करने के लिये, उचित मंच न मिले तो उसकी प्रतिभा कुण्ठित भी रह सकती है। इन लोगों ने कैसी सुन्दर रंगशाला का निर्माण किया है, ताकि प्रत्येक राजकुमार को अपनी प्रतिभा-प्रदर्शन का पूर्ण अवसर मिल सके। मध्य में रंग-वेदी इस प्रकार बनायी गयी है कि सारे अस्त्र-शस्त्रों के परिचालन का प्रदर्शन हो सके। धनुर्धर का अस्त्र-संचालन भी देखा जा सके और उसके लक्ष्य-वेध को भी। सामूहिक प्रदर्शन के लिये व्यापक क्षेत्र भी उपलब्ध हो सके और खड्ग तथा गदा-संचालन जैसे द्वन्द्व-युद्धों के लिये स्पर्धा-मंच भी। द्वन्द्व के लिये मंच कुछ ऊँचे बनाये गये थे। अश्वों और रथों के दौड़ने के लिये मार्गों की भी व्यवस्था थी...

...और भीष्म ने अपना सारा जीवन जिस रंगशाला के निर्माण में लगाया था, वह रंगशाला उन्हें अब रणशाला बनती दिखायी दे रही थी...

भीष्म की दृष्टि किसी उद्देश्यहीन यायावर के समान इधर-उधर भटक रही थी।...दर्शकों के लिये बनाये गये मुख्य मण्डप में धृतराष्ट्र के साथ के आसनों पर द्रोण और कृपाचार्य बैठे थे। उनके साथ बाह्लीक और सोमदत्त को स्थान दिया गया था। धृतराष्ट्र की दूसरी ओर विदुर और वह स्वयं थे। आगे के आसनों पर शकुनि और कणिक थे।...

भीष्म का मन वितृष्णा से भर उठता था : जिसको दिखाने के लिये यह सारा समारोह किया गया था, वह धृतराष्ट्र तो पूर्णतः अन्धा था। प्रणाम करने आये राजकुमारों के विषय में विदुर ने बताया तो उनसे एक ही प्रश्न किया था, 'इनमें से सबसे अधिक सुदर्शन दुर्योधन है?'...वैसे वह एक दिन में सहस्र बार कह देगा कि उसे पाण्डव भी उतने ही प्रिय हैं, जितना कि स्वयं दुर्योधन! विचित्र विडम्बना है, हस्तिनापुर का यह सम्राट! यह बाहर का दृश्य नहीं देख सकता और

लोग इसके भीतर का दृश्य नहीं देख सकते। यद्यपि अब उसकी मनोवृत्ति समझने में किसी को भी कोई कठिनाई नहीं होती—किन्तु यह 'ज्ञान-चक्षु' कभी निष्कपट नहीं हो सकता। इसकी मनोवृत्ति स्वार्थ की ओर इतनी अधिक प्रवृत्त है कि अब वह निष्पक्षता का ढोंग भी नहीं कर पाता। फिर उसने शकुनि और कणिक को अपने इतने निकट स्थान दे रखा है कि किसी भी सद्विचार के लिये उसके कान बधिर हो चुके हैं। आँखों से अन्धा है तो कुछ भी देख नहीं पाता—न अच्छा, न बुरा! अच्छा होता, कानों से भी कुछ न सुन पाता—न अच्छा, न बुरा। किन्तु कानों को उसने कुछ इतना प्रतिबद्ध कर रखा है कि शकुनि तथा कणिक की सारी बातें वह सुन लेता है, किन्तु विदुर की कोई बात उसके मस्तिष्क तक नहीं पहुँचती। या तो वह कानों के बाहर ही रह जाती है, या फिर कर्ण-गह्वरों में खो जाती है; और मस्तिष्क को तनिक भी प्रभावित नहीं कर पाती।

सहसा भीष्म की दृष्टि दूसरे मण्डप में बैठी हुई गान्धारी पर जा कर रुकी।...कुरुकुल की वधू के रूप में इस गान्धारी का चयन स्वयं भीष्म ने ही किया था। उनका स्वार्थ ही तो था...धृतराष्ट्र के लिये वधू की आवश्यकता है, तो उसे वधू मिलेगी ही। गन्धार को हस्तिनापुर का आदेश मानना ही पड़ेगा क्योंकि हस्तिनापुर शक्तिशाली राज्य था। किन्तु भीष्म क्या जानते थे कि प्रकृति ने कैसी भूल-भुलैया बना रखी है, इस सृष्टि में। यदि हस्तिनापुर इतना शक्तिशाली न होता, इस गान्धार कन्या को प्राप्त करने में समर्थ न होता, तो क्या इस समय कुछ अधिक सुखी न होता?...क्या देखने आयी है गान्धारी इस समय? युधिष्ठिर के जन्म का समाचार सुन कर उसने अपने हाथों प्रहार कर अपना गर्भ नष्ट कर देने का प्रयत्न किया था। ईर्ष्या का जो विष उस समय इसके मन में था, वह क्या आज दुर्योधन के ही समान, युवावस्था को प्राप्त नहीं हो गया होगा? क्या आज भी यह कुन्ती के पुत्रों की हीनता और असमर्थता के विषय में सुनने के लिये ही यहाँ बैठी है?

...और कुन्ती! जाने कैसे वह अपनी अवहेलना और गान्धारी के अहंकार को झेलते हुए भी उसके पास बैठी, रंगशाला में घटित होने वाली समस्त घटनाओं के विषय में बता रही है।...भीष्म ने कुन्ती के विषय में जब कभी सोचा है, उन्हें उसकी सहिष्णुता और सहनशीलता पर आश्चर्य ही हुआ है। जाने कितनी गम्भीर है यह नारी! कितना विष पी सकती है यह और फिर भी सर्वथा अविचलित रह सकती है। भीष्म आज तक यह ही समझ नहीं पाये कि वह इतनी उदार और क्षमाशील है, अथवा वास्तविक क्षत्राणी के समान सिर झुकाये हुए, सब कुछ सहन करती हुई, केवल अवसर मिलने की प्रतीक्षा में है...

तभी राजकुमारों के रथों ने रंगशाला में प्रवेश किया। उनके हाथों में धनुष-बाण थे। वे रथ-संचालन, लक्ष्य-वेध तथा रथारूढ़-युद्ध प्रदर्शन कर रहे थे।...भीष्म यह सोच-सोच कर आनन्दित हो रहे थे कि ये सारे राजकुमार जब इसी प्रकार एक साथ किसी अभियान पर निकलेंगे अथवा युद्ध-क्षेत्र में जायेंगे तो संसार की कोई सेना उनके सामने ठहर नहीं पायेगी।...

राजकुमारों के रथ धूल उड़ाते हुए लौट गये।

इस बार आचार्य द्रोण ने खड्ग-प्रदर्शन के लिये राजकुमारों को पुकारा। सहदेव और दुःशासन अपने-अपने अश्वों पर, खड्ग खींचे हुए आये। वे अपना अद्भुत खड्ग-कौशल दिखा रहे थे और भीष्म मन-ही-मन सोच रहे थे कि यहाँ सचमुच कोई षड्यन्त्र चल रहा था, या यह मात्र उनके आशंकित मन का ऊहापोह ही था?...यदि युद्ध कला का प्रदर्शन मात्र अभीष्ट था तो खड्ग-युद्ध के युग्म के रूप में नकुल और सहदेव क्यों नहीं आये? सहदेव और दुःशासन क्यों आये? क्या जान बूझकर कोई पाण्डवों और धार्तराष्ट्रों में शक्ति-परीक्षण करा रहा है? क्या सचमुच यहाँ यह देखने या दिखाने का प्रयत्न किया जा रहा है कि धार्तराष्ट्रों और पाण्डवों में से किसका पक्ष प्रबल है? ये दोनों मिल कर एक ही पक्ष क्यों नहीं हो जाते? इन्हें दो पक्ष बनाने पर कौन तुला हुआ है?...

भीष्म ने स्वयं देखा कि सहदेव और दुःशासन में से निश्चित रूप से सहदेव श्रेष्ठतर खड्ग चालक था; किन्तु उसका सारा युद्ध-कौशल अपनी कला तथा स्फूर्ति दिखाने पर केन्द्रित था। वह विरोधी के दमन का प्रयत्न नहीं कर रहा था। उसके लिये दुःशासन ऐसा प्रतिद्वन्द्वी नहीं था, जिस पर विजय प्राप्त करनी थी : वरन वह एक ऐसा साधन था, जिसके माध्यम से वह अपनी कला के विभिन्न आयाम उद्घाटित कर पा रहा था। दुःशासन अपने बचाव का पूर्ण प्रयत्न कर रहा था, किन्तु या तो वह सहदेव पर कोई घातक प्रहार कर नहीं पा रहा था, या करना नहीं चाहता था...

तभी द्रोणाचार्य ने खड्ग-युद्ध बन्द करने का आह्वान किया।

भीष्म ने सन्तोष की साँस ली।...ये उनके अपने मन की ही आशंकाएँ थीं। सम्भव है कि संयोग से ही सहदेव और दुःशासन का प्रतिद्वन्द्वी युग्म बना हो...उसके पीछे कोई योजना नहीं थी, न ही कोई षड्यन्त्र था।...

इस बार आचार्य ने गदा-युद्ध का आह्वान किया। गदा-युद्ध के प्रतिद्वन्द्वी निश्चित रूप से भीम और दुर्योधन ही हो सकते थे। वे ही रंगवेदी में आये। उन्होंने अपने प्रदर्शन के लिये एक खुला और समतल क्षेत्र चुना था, जो दर्शकों के मुख्य मण्डपों के ठीक सामने पड़ता था।

भीष्म ने देखा : उनकी मुद्राओं पर प्रदर्शन के समय में होने वाली सहज प्रफुल्लता नहीं थी। वे तो युद्ध-मन का तनाव और चिन्ताएँ ले कर आये थे। पहले थोड़ी देर तक एक-दूसरे को घेरने का प्रयत्न करते रहे और उसके पश्चात पहला प्रबल प्रहार दुर्योधन ने किया; किन्तु यह कला-प्रदर्शन का प्रयत्न नहीं था, यह तो आक्रमण था। यदि भीम समय से हट न जाता और गदा का वार उस पर पड़ जाता, तो निश्चित रूप से उसके जैसे बलिष्ठ नवयुवक की भी अनेक अस्थियाँ टूट जातीं; और कदाचित वह उठ कर, पुनः इस प्रदर्शन में भाग लेने के योग्य नहीं रह जाता। भीम प्रहार से तो बच गया; किन्तु अब वह पहले से भी अधिक असहज हो गया था। उसकी मुद्रा क्रोध में तन गयी थी और उसकी आँखें कुछ रक्तिम हो आयी थीं। निश्चय ही उसका प्रहार भी कम भारी नहीं था।...

भीष्म को लगा, यदि ये लोग द्रोण की अनुमति से वास्तविक युद्ध में प्रयुक्त होने वाली भारी गदाएँ ले कर आये हैं, तो द्रोण ने उन्हें ऐसी अनुमति दे कर भयंकर भूल की है। क्या द्रोण नहीं जानते थे कि भीम, पाण्डवों में सबसे उग्र है और दुर्योधन के रोष का लक्ष्य भी प्रायः वही रहता है। यदि उन्हें गदा-युद्ध के प्रदर्शन के प्रतियोगियों के रूप में उतारना ही था, तो उन्हें वास्तविक गदाएँ नहीं दी जानी चाहिए थीं।

अब तक उनके प्रहार प्रबल और भयंकर हो गये थे। भीम में निश्चित रूप से दुर्योधन से कहीं अधिक बल था, किन्तु स्फूर्ति में दुर्योधन उससे बढ़ कर था। यही कारण था कि वह अपनी स्फूर्ति के बल पर एक-आध प्रहार कर लेता था; किन्तु उसके पश्चात उसे भीम के कई शक्तिशाली प्रहार झेलने पड़ते थे, जिन्हें बचाने के लिये वह सारे क्षेत्र में इधर-उधर भागता फिरता था। वह कदाचित भीम को थकाने का प्रयत्न कर रहा था; किन्तु भीम थक कर शिथिल होने के स्थान पर और उग्र होता जा रहा था...

सहसा द्रोण ने खड़े हो कर गदा-युद्ध बन्द करने का आदेश दिया। उनके निर्देश पर अश्वत्थामा भागता हुआ गया और दोनों प्रतिद्वन्द्वियों के मध्य खड़ा हो गया, "बन्द करो। यह रंगभूमि है, रणभूमि नहीं, जहाँ तुम एक-दूसरे का वध करने पर तुले हो। तुम्हें यहाँ अपने गुरुजनों के सम्मुख अपनी कला का प्रदर्शन करने, अपने प्रशिक्षण को प्रमाणित करने के लिये उपस्थित किया गया है, न कि भाइयों का वध करने के लिये।"

भीष्म को शान्ति मिली। उन्हें एक प्रकार से इस बात का भी सन्तोष हुआ कि उनका निरीक्षण ठीक ही था। वे ही नहीं, अन्य लोग भी इस प्रदर्शन के पीछे के द्वेष को देख रहे थे।...क्या सचमुच भीम और दुर्योधन का विरोध इस सीमा तक पहुँच चुका है कि अवसर मिलने पर वे एक-दूसरे की हत्या कर देंगे? शैशव में उनका झगड़ पड़ना और परस्पर हाथापाई पर उतर आना एक बात थी, किन्तु इस समय जब वे वयस्क हैं, प्रशिक्षित योद्धा हैं, विपक्षी की हत्या करने के लिये लड़ने की शिक्षा ले चुके हैं—अब उनका इस प्रकार उग्र हो कर एक-दूसरे पर आक्रमण करना तो स्पष्ट रूप से एक-दूसरे का वध करने का प्रयत्न था।

किन्तु भीष्म इस बात से चकित अवश्य थे, पहला प्रहार दुर्योधन की ओर से होने पर भी, अश्वत्थामा ने भीम से ही अधिक विरोध प्रकट किया था।... यह अश्वत्थामा का स्पष्ट पक्षपात ही था।

रंगशाला में जैसे एक सन्नाटा-सा छा गया था। दर्शक कुछ चकित भी थे और कुछ भयभीत भी।...उनका भयभीत होना उचित ही था। ऐसे ही प्रदर्शनों में कई बार प्रतिद्वन्द्वियों के समर्थक भी क्षेत्र में उतर आते हैं और वहाँ घमासान हो जाता है।...और भीष्म को लगा; भयभीत तो वे भी थे—वे सोच रहे थे, क्या यह कुरुकुल में गृह-युद्ध का श्री-गणेश था?

आचार्य द्रोण ने अपने स्थान पर खड़े हो कर, हाथ उठा, कोलाहल शान्त करने का संकेत किया।

"अब मैं कुरु राजकुमारों में से सबसे अधिक चमत्कारी, कुन्ती पुत्र अर्जुन का आह्वान कर रहा हूँ।" वे बोले, "वैसे तो अर्जुन अनेक शस्त्रास्त्रों में प्रवीण है, किन्तु उसका सबसे प्रिय शस्त्र धनुष ही है। धनुर्धर के रूप में उसका किसी से द्वन्द्व नहीं होगा, वह केवल अपने शस्त्र-ज्ञान तथा शस्त्र-चालन की अपनी प्रवीणता का प्रदर्शन करेगा।..."

भीष्म का मन शान्त हुआ। अब द्वन्द्व था ही नहीं, इसलिये संघर्ष का कोई प्रश्न ही नहीं था। दर्शकगण अर्जुन का लाघव देख कर अपना मनोरंजन भी कर सकते थे और ज्ञानवर्धन भी। एक ऐसे योद्धा की उपस्थिति के कारण वे स्वयं को सुरक्षित भी अनुभव कर सकते थे।

अर्जुन अपने धनुष तथा बाणों के साथ रंगशाला के केन्द्र में खड़ा हो गया। लगता था कि वह इस रंगशाला के ही केन्द्र में नहीं, वह इस उत्सव के ही केन्द्र में खड़ा था। उसने अत्यन्त विनीत भाव से अपने गुरु को प्रणाम किया, अपनी माता को प्रणाम किया और फिर कुल-वृद्धों की ओर झुक कर उसने अपने हाथ जोड़ दिये।

अर्जुन निश्चय ही अद्भुत धनुर्धर था—भीष्म सोच रहे थे—उन्होंने आज तक तो यही सोचा था कि उनके पश्चात कुरु-कुल में जैसे अब कोई जगत प्रसिद्ध धनुर्धारी होगा ही नहीं; किन्तु अर्जुन ने उनकी अपेक्षा से भी अधिक दक्षता पायी थी। उसने परजन्यास्त्र, वारुणास्त्र, वायव्यास्त्र तथा आग्नेयास्त्र का प्रदर्शन किया था। उसने भूमि पर खड़े हो कर, भागते हुए अश्व की पीठ पर खड़े हो कर, रथ में सारथि के साथ और बिना सारथि के स्वयं ही वल्गा को मुख में ले कर रथ-संचालन के साथ-साथ, युद्ध-कौशल का प्रदर्शन किया था...और भीष्म सोच रहे थे कि अर्जुन के रहते, अब हस्तिनापुर पूर्णतः सुरक्षित था। उसे किसी शत्रु से भय नहीं था।

किन्तु धृतराष्ट्र तथा गान्धारी इतने हताश क्यों बैठे थे? उन्हें निश्चय ही अर्जुन की दक्षता रुची नहीं थी। क्यों रुचेगी संकीर्ण बुद्धि वाले स्वार्थी व्यक्ति के साथ यही होता है। न वह गुण की प्रशंसा कर सकता है, और न वह गुणी को अपना सकता है। यदि धृतराष्ट्र अपनी दुर्बुद्धि त्याग कर पाण्डवों को भी अपने पुत्रों के समान ही स्नेहपूर्वक अपना ले तो वह इनकी भुजाओं से सुरक्षित, आजीवन राज्य का सुख पायेगा। ये लोग उसके अपने पुत्रों से अधिक सेवा करेंगे उसकी। ...पर शायद विधाता ने उसके भाग्य में यह सुख ही नहीं लिखा। इनसे प्रेम करेगा तो ईर्ष्या की अग्नि में दग्ध कैसे होगा सारा जीवन! यह दुख न पाना होता तो मूढ़ इन चर्म-चक्षुओं के साथ-साथ मनः चक्षुओं से भी वंचित क्यों होता...

कुन्ती कैसी प्रसन्न दिख रही थी। उसके लिये प्रसन्न होने का ही अवसर था। हस्तिनापुर की चरम उपलब्धि के रूप में उसके पाँचों पुत्र इस समय अपने पूर्ण विकास को प्राप्त थे।...और फिर प्रसन्नता पर तो केवल उदार व्यक्ति का ही अधिकार है। इसने कभी माद्री के पुत्रों को अपने पुत्रों से तनिक भी पृथक नहीं किया। गान्धारी क्या कभी इस प्रकार युयुत्सु को अपना पुत्र मान लेगी? मान सकेगी?...

और भीष्म के विचार द्रोणाचार्य की ओर मुड़ गये। सचमुच द्रोणाचार्य अद्भुत गुरु हैं। उन्हें भी उनका पूर्ण श्रेय मिलना चाहिए। गुरु परशुराम ही महान गुरुओं की परम्परा में अकेले नहीं हैं। महेन्द्रगिरि पर परशुराम हैं, उज्जयिनी में सांदीपनि हैं, तो हस्तिनापुर में द्रोणाचार्य हैं...

अर्जुन अपनी विद्या का प्रदर्शन कर, धनुष को अपने कंधे पर विश्राम दे, हाथ जोड़, झुक कर गुरुजनों का अभिवादन कर रहा था...गुरुजनों के हाथ आशीर्वाद की मुद्रा में उठे हुए थे और जन-सामान्य के कण्ठों का जय-जयकार सारे परिवेश को उसी प्रकार गुँजायमान कर रहा था, जैसे अभी थोड़ी देर पहले तक अर्जुन के बाण कर रहे थे।...

तभी धनुष और तूणीरों से सज्जित कर्ण आ कर उद्धत भाव से अर्जुन के निकट खड़ा हो गया।

भीष्म को आश्चर्य हुआ।...आचार्य द्रोण ने अभी कोई घोषणा नहीं की थी। उन्होंने किसी का आह्वान नहीं किया था। फिर यह युवक कैसे आ गया? और यह है कौन? वह कुरु राजकुमारों में से तो है नहीं। अर्जुन से वह थोड़ा-सा लम्बा था। वय में छह-सात वर्ष बड़ा अवश्य होगा। उसका शरीर अर्जुन के समान, तरुणाई का इकहरा शरीर नहीं था। कुछ-कुछ भरा हुआ पुष्ट शरीर था। चेहरे पर अहंकार के भाव स्पष्ट थे।

उसने धृतराष्ट्र की ओर झुक कर हाथ जोड़े और कहा, “मैं हस्तिनापुर के सम्राट को नमस्कार करता हूँ।” और फिर मुड़ कर अत्यन्त उपेक्षापूर्वक कृपाचार्य तथा द्रोणाचार्य को भी प्रणाम कर उच्च स्वर में बोला, “उपस्थित जन ध्यान से मेरी बात सुनें।”

कौतुहल के कारण सारी रंगशाला में शान्ति व्याप्त हो गयी।

कर्ण बोला, “आपने राजकुमार अर्जुन की धनुर्विद्या देखी है और उसकी प्रशंसा भी की है। मुझे प्रसन्नता है कि आप लोग वीरता और कला के प्रशंसक हैं। किन्तु प्रशंसा में हमें उदार होना चाहिए। यदि धनुर्विद्या के ज्ञान के कारण राजकुमार अर्जुन प्रशंसा का पात्र है, तो उसी के समान अन्य धनुर्धारी भी आपकी प्रशंसा के अधिकारी और स्नेह के

भाजन होने चाहिए...।"

"और कौन है? और कौन है?..." जन-कोलाहल चारों ओर गूँज रहा था।

"मैं हूँ! मैं!" कर्ण उच्च स्वर में बोला, "आज आपके सामने जो कुछ भी अर्जुन ने किया है, मैं वह सारा चमत्कार दिखा सकता हूँ।...और यदि आप अनुमति दें, तो उससे श्रेष्ठतर विद्या का भी प्रदर्शन कर सकता हूँ।"

"दिखाओ! हमें दिखाओ!" दर्शकों के बीच से जैसे सागर की लहरों की-सी गूँज उठ रही थी।

और उन सबसे ऊँचा स्वर गूँजा दुर्योधन का, "अपनी दक्षता प्रदर्शित करो मित्र कर्ण! प्रदर्शित करो।"

भीष्म का माथा ठनका : यह क्या हो रहा है? यह तो कुरु राजकुमारों के प्रशिक्षण के समापन पर आयोजित एक उत्सव था, जिसमें उनकी विद्या का कुछ प्रदर्शन हो सके। यह स्पर्धा के लिये कोई खुला मंच तो है नहीं, जहाँ कोई भी राह चलता व्यक्ति आ कर अपनी क्षमता प्रदर्शित करे। यदि यह कर्ण—हाँ! दुर्योधन ने इसे कर्ण कह कर ही सम्बोधित किया है—अपनी दक्षता राजपरिवार के सामने प्रदर्शित करना ही चाहता है, तो उसके लिये, उसकी प्रार्थना पर उसे अवसर दिया जा सकता है।...

कुन्ती की भृकुटी पहली बार खिंची : यह कौन युवक है, जो इस प्रकार इस समारोह में राजकुमारों के बीच उद्दण्डता दिखा रहा है। उसने केवल महाराज के सम्मुख सम्मानपूर्वक मस्तक झुकाया था। कृपाचार्य और द्रोणाचार्य को भी कैसे उपेक्षापूर्ण ढंग से प्रणाम किया था।...और यह आया है, अर्जुन को चुनौती देने!...क्षत्रियों में किसी को चुनौती देना, कोई असाधारण बात नहीं है; किन्तु यह तो हस्तिनापुर के राजपरिवार का एक परिवारिक आयोजन है—इसमें इस प्रकार इसके घुस आने का क्या अर्थ?...और यह दुर्योधन उसे प्रोत्साहित कर रहा है—वह चाहता है कि अर्जुन के प्रतिद्वन्द्वी उत्पन्न हों, उसके मार्ग में चुनौतियाँ ही नहीं, विघ्न-बाधाएँ भी आयें। अर्जुन का महत्व कम हो। वह अपमानित या पराजित हो जाये, तो कदाचित दुर्योधन को प्रसन्नता ही होगी। उसने अपने व्यवहार से सदा ही स्पष्ट किया है कि वह कुन्ती-पुत्रों के मित्रों का शत्रु और शत्रुओं का मित्र है।...इस कर्ण के विषय में वह पहले भी भीम से सुनती आयी है। दुर्योधन का प्रोत्साहन पा कर वह सदा ही उसके पुत्रों को प्रताड़ित करने का प्रयत्न करता रहा है। और जैसे दुर्योधन को भीम से वैर है, वैसे ही इसे अर्जुन से अकारण द्वेष है...

सहसा कृपाचार्य उठ खड़े हुए, "कर्ण! यह न कोई ऐसा सार्वजनिक स्थान है, न कोई सार्वजनिक मंच जिस पर लोग अपनी इच्छानुसार आचरण करें। इस रंगशाला में स्वयं महाराज विद्यमान हैं और आयोजन के नियन्ता आचार्य द्रोण हैं। उनकी अनुमति के अभाव में तुम्हारा प्रदर्शन अशोभनीय और अविनीत माना जायेगा और सम्भवतः हम उसका वर्जन कर दें।..."

कर्ण ने कृपाचार्य की बात को 'नियम' के रूप में नहीं, अपने विरोध के रूप में स्वीकार किया। उसकी आँखों में उद्दण्डता थी। उसकी प्रत्येक भंगिमा जैसे सारे उपस्थित समुदाय का उपहास कर रही थी। वह द्रोण की ओर मुड़ कर बोला, "आचार्य, यदि अपने प्रशिक्षण तथा अपने शिष्य की क्षमता में तनिक भी आस्था रखते हों, तो मुझे अपना शस्त्र-कौशल प्रदर्शित करने की अनुमति दें।"

सारी रंगशाला की दृष्टि द्रोणाचार्य की ओर उठ गयी : स्पष्टतः कर्ण तनिक भी विनीत नहीं था। वह शील, शिष्टाचार और मर्यादा की सारी सीमाओं का उल्लंघन कर रहा था। और उसकी चुनौती अर्जुन के लिये ही नहीं, स्वयं आचार्य द्रोण के लिये भी थी।

अर्जुन के मन में आशंका जागी : कहीं ऐसा न हो कि गुरु रुष्ट हो कर कर्ण को अपना कौशल-प्रदर्शित करने की अनुमति न दें।...और इसके पश्चात कर्ण और दुर्योधन को सदा के लिये डींग मारने का एक बहाना मिल जाये, कि अर्जुन और उसके गुरु दोनों ही कर्ण की वीरता और कौशल से भयभीत थे। ...जब से वे लोग हस्तिनापुर आये थे, तब से ही कर्ण, दुर्योधन से प्रोत्साहन पा कर, उन पाँचों भाइयों के सदा आड़े आता था। उसे जैसे अवसर की प्रतीक्षा ही रहती थी कि किस प्रकार वह पाण्डवों को नीचा दिखा सके। गुरु द्रोण ने जब उसे उनके वर्ग से निकाला था, तब से वह गुरुकुल अथवा युद्धशाला में ही नहीं, हस्तिनापुर में भी कहीं दिखायी नहीं दिया था। अर्जुन ने कभी जानने की इच्छा भी नहीं की थी की वह कहाँ विलीन हो गया। वह तो यह मान कर सन्तुष्ट हो गया था कि अच्छा है कि एक दुष्ट ग्रह टल गया, अब उसकी अनुपस्थिति से वह एकाग्र मन से अपना अभ्यास कर पायेगा।...और आज जब अर्जुन अपने कौशल के लिये

प्रशंसा और साधुवाद पा रहा था, इस समय धरती फोड़ कर, कर्ण का निकल आना, अर्जुन के लिये कोई आश्चर्य नहीं था। आश्चर्य तो उसे तब होता, जब यह समारोह निर्विघ्न समाप्त हो जाता।...अब जब कर्ण आ ही गया था, तो गुरु एक बार अनुमति दे दें...अर्जुन प्रमाणित कर ही दे कि कर्ण की वास्तविकता क्या है। यदि सम्भव हो तो वह एक बार इसके साथ द्वन्द्व-युद्ध ही कर ले।...

भीम अपने स्थान पर क्रोध से नासिका फुलाये बैठा था। इस समय उसके मन में इतना अमर्ष था कि उसकी इच्छा हो रही थी कि किसी से दो-दो हाथ हो ही जायें, ताकि उसका मन कुछ शान्त हो।...वह तो पिछली बातें जैसे भूल ही गया था। आज के उत्सव को तो वह एक समारोह के रूप में ही देख रहा था। जिन्हें अपनी योग्यता प्रमाणित करनी हो, वे करते रहें, उसने तो इस दिशा में कुछ सोचा ही नहीं था। उसे क्या प्रमाणित करना था। वह तो जिस व्यायामशाला में उतर जाता था, वहीं उसका जय-जयकार होने लगता था; गदा ले कर उठ खड़ा होता, तो प्रतिद्वन्द्वी हाथ जोड़ कर सामने से हट जाते थे। आज जब गुरु ने गदा-युद्ध प्रदर्शन की अनुमति दी थी, तो उसने सोचा था कि उसका थोड़ा-सा व्यायाम हो जायेगा और लोगों का कुछ मनोरंजन। वह कहाँ जानता था कि दुर्योधन इस तैयारी में है कि पहले ही वार में भीम की दो-चार अस्थियाँ भंग कर, उसे धूल चटा दे।...यदि कहीं सचमुच ऐसा हो जाता, तो बहुत सम्भव था कि दुर्योधन उसके सिर पर अपनी गदा दे मारता और कह देता कि वह तो आवेश में ही उसकी गदा चल गयी...

वह प्रहार तो भीम अपने अभ्यासवश ही बचा गया था और तब सहसा भीम को स्मरण आ गया था कि उसके सम्मुख दुर्योधन खड़ा है: दुर्योधन, जो सदा से उसे पराजित ही करने का नहीं, उसका वध करने का प्रयत्न करता रहा है। इसने भीम को विष दिया था, और बाँध कर गंगा में बहा दिया था। इसने आज फिर क्रीड़ा के व्याज से, सार्वजनिक रूप से उसके वध का प्रयत्न किया था...और भीम चाहे कितनी भी बार भूल जाये, कितनी भी बार उसे क्षमा कर दे, दुर्योधन निरन्तर अपना प्रयत्न जारी रखेगा, जब तक वह उसकी हत्या कर ही नहीं लेगा...तो क्यों न आज भीम अपने इस हत्यारे को सदा के लिये समाप्त ही कर दे।...और तब भीम ने अपनी गदा घुमायी थी...गुरु द्रोण कदाचित समझ गये थे और उन्होंने प्रतियोगिता रुकवा दी थी...

भीम प्रहार करने लगता है, तो सब उसका हाथ थाम लेते हैं। दुर्योधन को कोई कुछ नहीं कहता...पता नहीं हस्तिनापुर में यह कैसा न्याय है कि जब तक घटनाएँ दुर्योधन के मनोनुकूल घटती जायें, तब तक कोई आड़े नहीं आता; और जैसे ही कोई हाथ दुर्योधन के विरुद्ध उठता है, वैसे ही अनेक नियम, विधान, परम्पराएँ, मर्यादाएँ तथा अनुशासन अपना मुँह खोल कर खड़े हो जाते हैं...

अब तक तो लक्ष्य, भीम ही था; किन्तु अब अर्जुन का प्रतिद्वन्द्वी भी खड़ा हो गया है।...भीम की आँखें, गुरु द्रोण पर टिक गयीं...निश्चय ही वे कर्ण को अनुमति नहीं देंगे...

द्रोण देख रहे थे कि सारी रंगशाला की आँखें उन पर टँगी हैं : ...उनकी सहज प्रतिक्रिया थी कि वे ऐसे किसी व्यक्ति को प्रदर्शन की अनुमति नहीं देंगे। समस्त राजपरिवार तथा हस्तिनापुर के जन-सामान्य को यहाँ, द्रोण द्वारा प्रशिक्षित राजकुमारों के कौशल-प्रदर्शन के लिये बुलाया गया है। द्रोण जो कुछ प्रदर्शित करना चाहते थे, कर चुके। अब, जबकि समारोह अपनी पूर्णता को पहुँच चुका है—दर्शकों को अपने-अपने स्थान को लौट जाने की अनुमति होनी चाहिए, न कि उच्छृंखल और उद्दण्ड व्यक्ति को यह अधिकार दिया जाना चाहिए कि इतने सारे लोगों को बिना किसी योजना के, यहाँ रोके रखा जाये...

किन्तु उनके सम्मुख गुरु परशुराम का शिष्य खड़ा था, जो उनके पट्ट शिष्य पर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहता था।...उन्हें लगा कि उनके सम्मुख कर्ण नहीं, स्वयं परशुराम खड़े हैं, और कह रहे हैं, 'द्रोण! यदि मेरी श्रेणी के गुरुओं का-सा महत्व प्राप्त करना चाहते हो, तो भयभीत क्यों हो। व्यक्ति रूप में श्रेष्ठता सिद्ध करनी हो, तो मुझसे स्पर्धा करो; और गुरुओं की प्रतिष्ठा चाहिए, तो अपने शिष्य को मेरे शिष्य से स्पर्धा करने दो...।'

द्रोण की दृष्टि दुर्योधन पर जा रुकी : वह अत्यधिक आन्दोलित दिखायी दे रहा था...'किसी वीर को अपनी वीरता प्रदर्शित करने का अवसर न देना, अन्याय है। हस्तिनापुर में ऐसा अन्याय नहीं चलेगा। हस्तिनापुर वीरों के प्रति श्रद्धा रखता है...' द्रोण के मन में दुर्योधन को देख कर केवल एक ही बात आयी—हस्तिनापुर के इस राजकुमार के मन में न तो गुरुओं के प्रति कोई सम्मान है, और न ही इसे किसी मर्यादा का ध्यान है। इसके लिये इसकी इच्छा ही सर्वोपरि है...उसका पालन होना ही चाहिए।...अहंकारी राजकुमार!...दूसरी ओर कितनी शान्ति से बैठा है, कुरुओं का वह श्रेष्ठ

राजकुमार—युधिष्ठिर! ...हस्तिनापुर का भावी युवराज!...उसने तो एक बार भी सारे समारोह पर अपनी इच्छा आरोपित करने का प्रयत्न नहीं किया। कुन्ती का, भवण्डर-सा वह पुत्र, भीम...जो क्रुद्ध हो जाये, तो अभी यह रंगशाला ध्वस्त होती दिखायी दे...वह भी शान्ति से बैठा है। उस पर कैसे प्रहार किये थे दुर्योधन ने, किन्तु अश्वत्थामा के एक आह्वान पर, उसने अपना हाथ रोक लिया, अन्यथा बहुत सम्भव था कि दुर्योधन धराशायी होता, उसके पक्ष के अनेक लोग भीम पर आक्रमण करते, भीम अपनी रक्षा के लिये लड़ता, उसके भाई उसकी सहायता के लिये आते; और यह रंगशाला, रणभूमि बन जाती। अब तक यहाँ वस्त्राभूषणों से सुसज्जित नर-नारियों के समूह न होते, पुष्पों तथा नाना वर्णों के पदों से अलंकृत मण्डप न होते...रक्त तथा माँस-मज्जा का बीभत्स दृश्य होता यहाँ! मृतकों के सम्बन्धियों का चीत्कार होता, आहतों की पीड़ा की अनुरणत ध्वनियाँ होतीं...धूल और कीचड़...जब द्वेष और शत्रुता के कारण, हिंसा भड़कती है, तो भीष्म और स्वयं द्रोण जैसे योद्धा भी उसे रोक नहीं सकते, केवल उसका नेतृत्व कर सकते हैं...

और तब द्रोण की दृष्टि, अपने पुत्र अश्वत्थामा पर जा कर टिक गयी। उसकी आँखों की याचना को पढ़ कर, द्रोण को अपना वचन याद हो आया। उन्होंने उच्च स्वर में कहा, "अनुमति है।"

दुर्योधन और उसके मित्रों ने उच्च स्वर में हर्षध्वनि की, जैसे उनकी कोई महान विजय हुई हो। द्रोण ने देखा, धृतराष्ट्र के चेहरे पर पूर्ण सन्तोष के भाव थे।...किन्तु भीष्म जैसे किसी अनपेक्षित, आकस्मिक घटना से विचलित हो उठे थे।...द्रोण जानते थे, वे यदि इस समय भीष्म के निकट होते, तो भीष्म यही पूछते, 'यह तुमने क्या किया द्रोण?'

कृपाचार्य भी चकित थे। उन्हें इस विषय में रंचमात्र भी संशय नहीं था कि आचार्य, कर्ण को कदापि अनुमति नहीं देंगे...किन्तु यह क्या? आचार्य स्वयं ही अपने शिष्य के लिये चुनौतियाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। हस्तिनापुर की रंगशाला में हस्तिनापुर के राजकुमारों के प्रतिस्पर्धी और प्रतिद्वन्द्वी उत्पन्न किये जा रहे हैं। ...ये आचार्य द्रोण तो उस आचार्य द्रोण से सर्वथा भिन्न थे, जिन्होंने गुरु-दक्षिणा के पाखण्ड के नाम पर अर्जुन के भविष्य के सम्भावित प्रतिद्वन्द्वी एकलव्य का अँगूठा माँग लिया था।...आचार्य के मन को वे आज तक पूर्ण रूपेण समझ नहीं पाये थे, और आज तो वे यह समझने में सर्वथा असमर्थ रहे थे, कि आचार्य के मन में क्या है।

अर्जुन का मन प्रफुल्लित था : गुरु ने उसकी अभिलाषा पूरी कर दी थी। यदि कहीं गुरु ने कर्ण की याचना अस्वीकार कर दी होती तो अर्जुन के यश को कलंक लग गया होता...नगर में प्रत्येक व्यक्ति यही कहता सुनायी पड़ता कि आचार्य ने कर्ण को अनुमति नहीं दी, अन्यथा वह अर्जुन से श्रेष्ठ धनुर्धर सिद्ध होता...अब कर्ण अपनी पूर्ण दक्षता दिखा ले, फिर अर्जुन देखेगा कि किसका हस्तलाघव किस कोटि का है...

कुन्ती को कर्ण का इस प्रकार अनाहूत धँस आना पूर्णतः अपशकुन-सा लग रहा था। स्वयं कर्ण अपनी सम्पूर्ण भव्यता के होते हुए भी साक्षात दुष्ट ग्रह-सा प्रतीत हो रहा था, जो आज उसके पुत्रों के चरम उल्लास तथा पूर्ण सफलता के दिन प्रकट हो गया था।...कोई और अवसर होता तो इस सुदर्शक युवक को देख कर उसे आह्लाद होता। वह उसकी माता को सौभाग्यशालिनी मानती, जिसने ऐसा दिव्य तथा गुणवान पुत्र पाया था। किन्तु यह तो अपने सौन्दर्य से मन्त्र-मुग्ध कर लेने वाला विषधर था, जो अपने सौन्दर्य से, दर्शकों को आह्लादित करने नहीं, अपने विष से उनके प्राण हरने आया था।...और जाने क्यों आचार्य ने भी उसे अनुमति दे दी थी। आज तक तो उसने सुना था कि अर्जुन ही गुरु द्रोण का सर्वप्रिय शिष्य था।...प्रमाण-कोटि में भीम को विष दिये जाने के पश्चात वह कितनी आशंकित हुई थी, और जब उसने यह अनुभव किया कि हस्तिनापुर में उसकी स्थिति ऐसी भी नहीं है कि वह अपने पुत्रों के विरुद्ध होने वाले ऐसे अत्याचारों की सूचना तक पितृव्य भीष्म अथवा राजा धृतराष्ट्र तक पहुँचा सके, तो कितनी भयभीत हो गयी थी वह। तब उसे पहली बार समझ में आया था कि पितृव्य भीष्म उसके पुत्रों के अभिभावक और संरक्षक चाहे हों, किन्तु वे उनके 'रक्षक' नहीं हो सकते। वे इतने तटस्थ और अनासक्त थे कि उनके लिये सारे कौरव राजकुमार, उनके पौत्र मात्र थे—वे उनमें कोई भेद नहीं करते थे, करना नहीं चाहते थे। उनके लिये विनीत, आज्ञाकारी तथा सुशील युधिष्ठिर भी उतना ही पौत्र था, जितना कि उद्दण्ड, उच्छृंखल तथा दुष्ट दुर्योधन! उनके लिये महत्वपूर्ण यह नहीं था कि कौन कैसा है; उनके लिये तो इतना ही पर्याप्त था कि वे उनके पौत्र थे। तो फिर उनसे कैसे अपेक्षा की जा सकती थी कि वे दुर्योधन अथवा उसके भाइयों के विरुद्ध, कुन्ती के पुत्रों का पक्ष ग्रहण करेंगे अथवा पाण्डवों के विरुद्ध किये गये अपराधों के लिये दुर्योधन को दण्डित करेंगे...ऐसे में आचार्य द्रोण का हस्तिनापुर आना बहुत शुभ लगा था कुन्ती को। वे शस्त्रास्त्रों के निष्णात आचार्य थे। उनका कहा, पितृव्य भीष्म तथा महाराज धृतराष्ट्र भी मानते थे। और सबसे बड़ी बात थी कि उनकी दृष्टि कर्म तथा व्यवहार के औचित्य और अनौचित्य पर थी। वे यह देख रहे थे कि उनका कौन-सा शिष्य धर्म पर चल रहा

था और कौन-सा अधर्म पर! कौन शालीन था, कौन उद्दण्ड। कौन पीड़ित था, कौन पीड़क।...आचार्य द्रोण के हाथों में अपने पुत्र को सौंप कर, कुन्ती उनकी सुरक्षा, शिक्षा और विकास की ओर से सन्तुष्ट हो गयी थी। स्वयं अपने-आपको और अपने बच्चों को सुरक्षित समझने लगी थी...और आज स्वयं आचार्य द्रोण ने...

कर्ण एक-के-पश्चात-एक बाण छोड़ रहा था। उसने भी उन्हीं शस्त्रास्त्रों का प्रयोग किया था, जिनका उपयोग अर्जुन अभी थोड़ी देर पहले कर चुका था; और द्रोण स्वयं देख रहे थे कि इसमें कोई संदेह नहीं था कि उसकी क्षमता, कहीं भी अर्जुन से न्यून नहीं थी।...दर्शक-दीर्घा में बैठी हुई हस्तिनापुर की प्रजा, जो अभी थोड़ी देर पहले तक अर्जुन के शस्त्र-कौशल को देख कर प्रफुल्लित और आह्लादित हो रही थी, इस समय कर्ण की जय-जयकार कर रही थी।...पता नहीं यह उसकी गुणज्ञता थी, अथवा निर्ममता...किसी से मोह नहीं था उसको। एक दिन जिसकी विजय का डंका बजाती है, अगले दिन उसी को पिटते देख कर, तालियाँ बजाने लगती है।...किन्तु अर्जुन अभी पिट नहीं रहा था।...कर्ण स्वयं को उससे श्रेष्ठ धनुर्धर सिद्ध नहीं कर पाया था...पर द्रोण को इतना सावधान तो हो ही जाना चाहिए था कि अर्जुन का प्रतिद्वन्द्वी जन्म ले रहा है...कर्ण की इन क्षमताओं के रहते हुए अर्जुन निर्द्वंद्व और निर्विवाद रूप से संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर नहीं हो सकता...

दुर्योधन, उसके भाई, उसके मित्र, अनवरत रूप से हर्ष-ध्वनियाँ कर रहे थे। वे कर्ण को प्रोत्साहित ही नहीं कर रहे थे, उसकी सफलता पर प्रसन्नता भी प्रकट कर रहे थे। उस प्रसन्नता में स्पष्ट ही यह प्रतिध्वनि भी सम्मिलित थी कि वे अर्जुन की श्रेष्ठता के खण्डित होने का उत्सव मना रहे थे। यह कहना कठिन था कि वे कर्ण की सफलता पर अधिक प्रसन्न थे अथवा अर्जुन की महत्ता के कम होने पर...धृतराष्ट्र की आँखों की अपारदर्शिता के बावजूद उसके चेहरे पर जैसे हर्ष का प्रपात ही साक्षात प्रकट हो गया था।

"कितने गर्व का विषय है कि हस्तिनापुर की प्रजा में भी इतने दक्ष धनुर्धर हैं।" उसने कहा।

विदुर की इच्छा हुई की कहे कि अर्जुन के कौशल को देख कर तो आपके मन में नहीं आया कि कितनी प्रसन्नता की बात है कि कुरु राजकुमारों में इतनी दक्षता है।...पितृव्य भीष्म के पश्चात अपने ही वंश में इतना दक्ष धनुर्धर देख कर तो उनका हृदय गर्व से स्फीत नहीं हुआ था। प्रजा में धनुर्धारी को देख कर उन्हें अधिक गर्व हुआ था।...किन्तु विदुर ने कुछ कहा नहीं।

"प्रजा के गुणों का विकास करना और उसे प्रोत्साहित करना राजा का धर्म है।" धृतराष्ट्र जैसे आनन्दमग्न हो कर कह रहा था, "यह तो दुर्योधन ने अच्छा ही किया कि कर्ण को अपना कौशल प्रदर्शित करने का अवसर दिया, नहीं तो इतना गुणी व्यक्ति अज्ञात ही रह जाता, और राज्य को उसका कोई लाभ नहीं होता।...इससे तो हस्तिनापुर और भी शक्तिशाली होगा। हमें चाहिए कि हम इसे सेना में कोई महत्वपूर्ण पद दें...।"

भीष्म की इच्छा हुई कि वे धृतराष्ट्र को डाँट कर कहें कि वह अपनी अनर्गल बकवास बन्द करे।...उसे लग रहा है कि कर्ण के आ जाने से हस्तिनापुर और अधिक शक्तिशाली होगा...क्या वह यह नहीं देख रहा कि कर्ण के रंगशाला में प्रकट होते ही स्वयं हस्तिनापुर का राजपरिवार ही दरक रहा है? उसमें पड़ रही दरारें उसे दिखायी नहीं पड़ रहीं? मूर्ख के समान बैठा, तालियाँ बजा रहा है।...पर नहीं! यह कदाचित उसकी मूर्खता नहीं, उसकी तुच्छता है। ...एक ओर वह पाण्डवों का बल कम करने का षड्यन्त्र रच रहा है और दूसरी ओर अपने लिये लोकप्रिय और प्रजावत्सल राजा की प्रशस्ति अर्जित करने का प्रयत्न कर रहा है। धूर्त कहीं का...

किन्तु अगले ही क्षण भीष्म के मन में क्रोध के स्थान पर भय व्याप्त हो गया : कहाँ ले जायेगा, हस्तिनापुर और कुरु-राज्य को, यह अन्धा राजा? क्यों बैठा दिया इस सिंहासन पर भीष्म ने इस चक्षु-अन्ध तथा बुद्धि-अन्ध राजा को, जिसको अपने निकृष्ट स्वार्थ, सर्वनाशी मोह तथा हीन वृत्तियों के सुख के बाहर के संसार का ज्ञान नहीं है।...इससे तो कहीं अच्छा होता कि विदुर को सिंहासन सौंप दिया होता। वह विचित्रवीर्य को क्षेत्रज पुत्र नहीं है, तो क्या हुआ! वह दासी-पुत्र है, तो क्या हुआ।...वह इतना मूर्ख और स्वार्थी तो नहीं है; वह इस भोगी धृतराष्ट्र के समान हीन वृत्तियों का दास तो नहीं है...किसने यह परम्परा बना दी है कि राजपुत्र को ही राजा होना चाहिए? जब राजपुत्रों का व्यवहार चाण्डालों के समान हो और उनकी प्रकृति रक्तपिपासु पिशाचों के समान हो जाये, तो उनको सत्ता के केन्द्र में स्थापित करने से क्या होगा—राज्य का, और क्या होगा प्रजा का? योग्यता के आधार पर चयन होना चाहिए राजा का, या मात्र वंशानुक्रम के आधार पर! योग्य पिता का योग्य पुत्र ढूँढना तो बहुत ही कठिन है, कदाचित असम्भव ही हो...

अगले ही क्षण उनको लगा कि उनके अपने ही भीतर कोई हँसा है... भीष्म अन्तर्मुखी हुए तो उन्होंने कुछ-कुछ पहचाना...क्या यह माता गंगा की ही धुँधली-सी मूर्ति नहीं थी?...हाँ? शायद माता गंगा ही थीं, या उनकी छाया ...आज भीष्म उन्हें स्पष्ट रूप से नहीं देख पा रहे थे...माता की छाया हँस रही थी—'क्यों देवव्रत! कितना समझाया था तुम्हें! यह सारा प्रकृति का प्रपंच है। छल है यह! माया जाल। कोई सुख अपने-आपमें सुख नहीं होता। प्रकृति के प्रपंच में फँसी मनुष्य की बुद्धि अपने मोहवश, उसे सुख मान लेती है। अपने क्षय को अपना विकास मानता है मनुष्य!...तुमने स्वयं तो नारी-सुख भी त्याग दिया और राज-सुख भी! किन्तु क्या शान्तनु के इन उत्तराधिकारियों से भी कह सके तुम कि नारी-सुख, सुख नहीं, सुख का प्रपंच है; अधिकार-सुख, वस्तुतः बुद्धि का भ्रम है। कह पाये क्या इनसे?...जो स्वयं नारी को प्राप्त नहीं कर सके, उनके लिये तुम नारियों का प्रबन्ध करते रहे; और हस्तिनापुर के राज्य की सुरक्षा में कहीं कोई आशंका हुई तो तुम तड़प उठे...स्वयं त्याग किया, किन्तु अपने उत्तराधिकारियों को तो त्याग की शिक्षा नहीं दी तुमने! तुम चाहते हो कि राज्य, उसका धन, उसका सुख, उसका अधिकार—तुम त्याग भी दो, तो भी तुम्हारे ही वंश के लोगों के पास सुरक्षित रहे वह! यह त्याग उनको क्यों नहीं सिखाया?...'

माता गंगा की छाया हँसी और हँसी को अनुरणन ध्वनि के साथ ही उनकी छवि भी जैसे विलीन हो गयी...

भीष्म का मन माता की छवि से जैसे डर-सा गया।

कर्ण ने अपना धनुष भूमि पर टिकाया और एक सिंह-दृष्टि सारी रंगशाला पर डाली। उसके चेहरे पर विजयिनी मुस्कान थी। उसने भुजा उठायी और बोला, 'मैंने धनुर्विद्या के वे सारे चमत्कार दिखा दिये हैं, जो अर्जुन ने दिखाए थे। प्रदर्शन के लिये मेरे पास और भी बहुत कुछ है; किन्तु मात्र प्रदर्शन से क्या होगा। प्रदर्शन मात्र श्रेष्ठ धनुर्धर होने के लिये पर्याप्त नहीं है; क्योंकि प्रदर्शन में हम वही करते हैं, जिसका अभ्यास हमें होता है। वास्तविक ज्ञान, कौशल और वीरता का तो पता युद्ध में ही लगता है। इसलिये मैं आचार्य द्रोण के सर्वाधिक प्रिय शिष्य, उनके प्रशिक्षित श्रेष्ठतम धनुर्धर कुन्तीपुत्र अर्जुन का द्वन्द्व-युद्ध के लिये आह्वान करता हूँ।"

लगा कि जैसे सारी रंगशाला उठ कर अपने पैरों पर खड़ी हो गयी है।... जब से समारोह आरम्भ हुआ था, तब से एकाधिक बार यह चर्चा हो चुकी थी कि यह रंगशाला थी, रणशाला नहीं।...और यह कर्ण बीच रंगशाला में खड़ा, अर्जुन को द्वन्द्व-युद्ध के लिये पुकार रहा था।

दुर्योधन को वह दिन याद आ गया, जिस दिन आचार्य द्रोण ने कर्ण को राजकुमारों के वर्ग से बाहर निकाल दिया था। उस दिन भी कर्ण ने, अर्जुन से द्वन्द्व-युद्ध करने की इच्छा प्रकट की थी...और यह भी कहा था कि ऐसे अवसर पर वह उसे जीवित नहीं छोड़ेगा...

दुर्योधन का मन जैसे बल्लियों उछलने लगा। कर्ण ने यह बहुत उपयुक्त अवसर चुना था इस आह्वान के लिये। सारे नगर के सामने, इस खुली चुनौती की उपेक्षा नहीं कर सकता था अर्जुन! और यदि वह द्वन्द्व-युद्ध के लिये क्षेत्र में आयेगा, तो निश्चित रूप से कर्ण उसे कभी जीवित नहीं छोड़ेगा। पराक्रम से उसका वध कर सकेगा, तो पराक्रम से करेगा, नहीं तो छल से उसकी हत्या कर देगा। दुर्योधन कर्ण को बहुत भली प्रकार पहचानता है : कर्ण अपना लक्ष्य प्राप्त करके ही रहता है—साधन का विचार नहीं करता वह! गुरु परशुराम से विद्या प्राप्त करनी थी, तो कर ही ली—चाहे उसके लिये मिथ्यावादी बना, छद्म वेश धारण किया...निश्चय ही कर्ण आज अर्जुन को नहीं छोड़ेगा...किन्तु यदि अर्जुन ने यह चुनौती स्वीकार ही नहीं की तो?...

उसने दृष्टि उठा कर देखा : अर्जुन अपना तूणीर बाँधे, धनुष उठाये, आ कर कर्ण के सम्मुख खड़ा हो गया था। उसने हाथ जोड़ कर आचार्य द्रोण को प्रणाम किया, "गुरुदेव! द्वन्द्व-युद्ध की अनुमति दीजिए।"

कुन्ती को लगा, एक ओर उसका मन प्रसन्न था कि उसका पुत्र कायर नहीं है। उसने चिन्तन में एक क्षण भी नहीं खोया। सच्चे क्षत्रिय के समान धनुष उठा कर, सामने खड़ा हो गया है, चुनौती देने वाले के। और दूसरी ओर कुन्ती का मुख सूख रहा था और टाँगें हल्की-हल्की काँप रही थीं : अर्जुन अभी छोटा था। वह गुरु द्रोण की युद्धशाला का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर अवश्य था; किन्तु उसे अभी युद्ध का क्या ज्ञान था?...इस दुष्ट कर्ण ने अपना शस्त्र-कौशल दिखा तो लिया, अब यह उसके पुत्र के प्राणों के पीछे क्यों पड़ा है?...भीम को ललकारता, तो कोई बात नहीं थी। भीम तो लड़ने-भिड़ने का अभ्यस्त था ही; वह अपनी गदा के एक ही प्रहार से इस वाचाल की जिह्वा को पूर्णतः शान्त कर देता।...किन्तु

यह तो आह्वान ही धनुष-युद्ध का था...

भीष्म की इच्छा हुई कि अपना धनुष ले कर इस कर्ण को, उसके धनुष के साथ ही खण्ड-खण्ड कर दें। इसकी विद्या ने इसके अहंकार को जैसे आकाश पर चढ़ा दिया था...भीष्म को चित्रांगद का स्मरण हो आया। ऐसा ही था, वह भी। धनुष उठा कर जिस-तिस को चुनौती देता, युद्ध का आह्वान करता। क्या परिणाम हुआ उसका! वही इस मूर्ख का होगा।...युद्ध एक दायित्व है। न वह अहंकार के प्रदर्शन का साधन है, न अत्याचार के समर्थन का; और न ही वह कोई क्रीड़ा है।...क्या सोच कर वह कुरुवंश के राजकुमार को चुनौती दे रहा है।...वह नहीं जानता कि भीष्म के सम्मुख, कुरुवंश पर इस प्रकार का आक्षेप।...किन्तु तभी भीष्म ने अपने मन को शान्त किया। उन्हें आवेश में नहीं आना चाहिए। उसने चुनौती दी है और अर्जुन ने उसे स्वीकार किया है; किन्तु उन्हें द्वन्द्व-युद्ध की अनुमति नहीं मिलेगी।...पर फिर भी इस सारथिपुत्र को अनुशासित करना होगा, वह राजवंश के सम्मुख चुनौती बन कर हस्तिनापुर में नहीं रह सकता...

"वीरों को अपनी वीरता प्रमाणित करने का अवसर तो मिलना ही चाहिए। क्यों विदुर!" धृतराष्ट्र ने कहा। इस समय उसके मुख पर ऐसा आनन्द छाया हुआ था, जैसे वह अमृत के आनन्द-सरोवर में गोते लगा रहा हो, "या तो अर्जुन अपनी पराजय स्वीकार कर ले, या फिर अपनी वीरता प्रमाणित करे।"

"ठीक कहते हैं महाराज!" विदुर का स्वर पर्याप्त वक्र था, "अभी दुर्योधन को ऐसी ही चुनौती भीम देगा, तो महाराज के ये विचार स्थिर रह पायेंगे?"

लगा, धृतराष्ट्र के चेहरे की प्रभा कुछ कम हो गयी है। बोला, "क्यों? भीम ऐसी चुनौती क्यों देगा? कहीं भाइयों में भी ऐसे द्वन्द्व-युद्ध होने चाहिए, जिनका परिणाम मृत्यु हो?"

"नहीं महाराज! भाई के हाथों भाई को मरवाना हमारी नीति नहीं है; तो शत्रु के हाथों अपने पुत्र को मरवाना भी हमारी नीति नहीं हो सकती।" विदुर ने उत्तर दिया, "आचार्य ने यह रंगशाला इसलिये तो नहीं बनवायी थी कि यहाँ सारथिपुत्र आकर राजकुमारों का वध कर जाये।"

"हाँ!" धृतराष्ट्र ने स्वयं को बहुत नियन्त्रित कर कहा, "किन्तु फिर वीरता प्रोत्साहित कैसे होगी?..."

भीष्म के कान उधर ही लगे थे कि धृतराष्ट्र को विदुर क्या उत्तर देता है; किन्तु उसके पूर्व ही दुर्योधन का उच्च स्वर सुनायी दिया, "आचार्य, अनुमति क्यों नहीं दे रहे?"

भीष्म की फिर इच्छा हुई कि वे दुर्योधन को डाँट कर बैठा दें। किन्तु राजा के रूप में यहाँ धृतराष्ट्र विद्यमान था, तथा समारोह के नियन्ता आचार्य द्रोण थे। ऐसे में बीच में उनका बोलना, बहुत शोभनीय नहीं था।...किन्तु उनकी चिन्ता पहले से भी बढ़ गयी थी। धृतराष्ट्र और दुर्योधन मिल कर पाण्डवों को पराभूत करना चाहते हैं—उन्हें पराजित करें, अपमानित करें या उनका वध करवा दें। स्वयं न कर सकें तो किसी अन्य से करवा दें।...यह विष-वृक्ष कहाँ से उग आया है, इस वंश में...

सहसा ही भीष्म को बड़ी तीव्रता से अपने सम्पूर्ण जीवन की निरर्थकता का अहसास हुआ। इन बच्चों को ही नहीं, इनके पिताओं को अपने हाथों से पाला था भीष्म ने। क्या इसलिये कि एक भाई, दूसरे भाई के विरुद्ध एक बाहरी व्यक्ति का—जो प्रच्छन्न शत्रु है—साथ दे?...क्या यही पालन-पोषण किया है इनका?...या क्या व्यक्ति का अपना प्रयत्न कुछ भी नहीं कर सकता—और वह जो सारा समय, अपनी ओर से कुछ-न-कुछ बनाता ही रहता है—वह सब भ्रम है उसका? निश्चित रूप से इस दुर्योधन को यह तो नहीं बनाना चाहा था उन्होंने...

"आचार्य, अनुमति क्यों नहीं देते?" दुर्योधन ने पुनः पुकार कर कहा।

दुर्योधन के उद्दण्ड स्वर का अनुगमन करता-सा अर्जुन का विनीत स्वर भी आया, "गुरुदेव! मेरी प्रार्थना है कि हमें द्वन्द्व-युद्ध की अनुमति दी जाये; ताकि मैं अपने गुरु की महिमा प्रतिष्ठित कर, इस अनाहूत, अनिमन्त्रित, मर्यादाहीन योद्धा को युद्ध की मर्यादा सिखा सकूँ।..."

आचार्य द्रोण खड़े हो गये। उन्होंने दृष्टि भर कर, अपने शिष्य अर्जुन को देखा : उसके चेहरे पर भय तो क्या चिन्ता अथवा आशंका की भी कोई रेखा नहीं थी। फिर उनकी दृष्टि अश्वत्थामा से जा टकरायी। अश्वत्थामा जैसे उन्हें उनका वचन स्मरण करा रहा था। आचार्य को अपने पुत्र की आँखों में अर्जुन-विरोधी भाव अच्छा नहीं लगा। न ही उन्हें अपने पुत्र की यह दुर्योधन-मैत्री भायी; किन्तु वे जानते थे कि अश्वत्थामा अब उनकी इच्छा से अपने जीवन के निर्णय

नहीं करेगा। वह वयस्क हो गया था, उसकी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति विकसित हो चुकी थी।...उन्हें अपने पुत्र के विकास की प्रसन्नता थी; किन्तु किस दिशा में विकसित हो पाया था वह? उसे युधिष्ठिर अथवा अर्जुन क्यों अपने मित्र नहीं लगे? उसे दुर्योधन ही क्यों प्रिय हुआ? क्या केवल इसलिये कि वह राजा का पुत्र है? या कहीं उसे लगा है कि प्रिय बन कर अर्जुन ने उसके पिता को उससे छीन लिया है?...

और फिर उनकी दृष्टि घूमती हुई जा कर कर्ण की आँखों पर ठहर गयी : उन आँखों में चुनौती थी—कर्ण की नहीं, परशुराम की...

और द्रोण ने अपने पुत्र को दिया गया इच्छापूर्ति का वरदान पूर्ण कर दिया "अनुमति है!"

द्रोण के वाक्य के साथ ही जैसे सारी रंगभूमि में कोलाहल का एक ज्वार उमड़ पड़ा।

भीष्म को लगा, वे अब और नहीं रुक पायेंगे। चित्रांगद का तो उनकी अनुपस्थिति में गन्धर्वराज वध कर गया था, किन्तु इस सारथिपुत्र को वे अपनी आँखों के सामने अर्जुन का वध करने नहीं देंगे। द्रोण पर अब उन्हें विश्वास नहीं रह गया था। जाने द्रोण के मन में क्या था। क्यों उसने इस द्वन्द्व-युद्ध की अनुमति दे दी थी? वह बहुत सुविधा से इसे रोक सकता था...

और तभी कृपाचार्य की तीखी वाणी रंगशाला में गूँज उठी, "ठहरो।"

भीष्म ने आश्चर्य से कृप को देखा : जब से हस्तिनापुर में द्रोण का आगमन हुआ, तब से कृप को उन्होंने इस प्रकार अधिकार से बोलते नहीं सुना था; और इस समारोह में द्रोणाचार्य द्वारा अनुमति दे दिये जाने के पश्चात कृपाचार्य का हस्तक्षेप...

कृपाचार्य अपने स्थान से उठ कर प्रतिद्वन्द्वियों के बीच आ गये थे, "सुनो कर्ण! यहाँ कोई युद्ध नहीं हो रहा। अर्जुन ने तुम्हारा कोई अपमान नहीं किया है, जिसकी क्षतिपूर्ति के रूप में तुम यह द्वन्द्व-युद्ध माँग रहे हो। न यह कोई स्वयंवर है, और न ही यहाँ धरती के सर्वश्रेष्ठ वीर का चयन हो रहा है। ऐसे में यदि तुम द्वन्द्व-युद्ध की इच्छा प्रकट कर रहे हो, तो उसका कोई विशेष कारण होना चाहिए। जहाँ तक मैं समझता हूँ, कारण कोई नहीं है, सिवाय इसके कि तुम शायद अर्जुन को पराजित कर, अपने अहंकार की तुष्टि करना चाहते हो। तुमने सोचा होगा कि कम परिश्रम से तत्काल ख्याति अर्जित करने का यह सरलतम मार्ग है—युग के सर्वश्रेष्ठ योद्धा से भिड़ जाओ। विजयी हुए तो बात ही क्या, और यदि पराजित हुए तो क्या क्षति है। अर्जुन जैसे योद्धा से पराजित होना कोई अपमान की बात नहीं है। ऐसी स्थिति में भी, अर्जुन से द्वन्द्व-युद्ध का अवसर पाना ही एक बड़ी बात होगी। अर्जुन ने तुम्हारी चुनौती स्वीकार की, यह कम महत्व की बात नहीं है...।"

"नहीं आचार्य!" कर्ण उद्दण्ड भाव से बोला, "आप सब लोग भयभीत हैं कि अर्जुन मुझसे पराजित हो जायेगा; और उसकी सारी कीर्ति धूल में मिल जायेगी। वह भी भीत मूषक के समान छिपा बैठा है...।"

"सावधान कर्ण!" अर्जुन की आँखों में क्रोध का रंग गाढ़ा हो गया।

"ठहरो पुत्र!" कृपाचार्य बोले, "तुम शील-शिष्टाचार से परिचित हो; अतः जब तक मैं वार्तालाप कर रहा हूँ, तुम अपने मन को शान्त रखो।"

अर्जुन ने संकोच से सिर झुका लिया, जैसे गुरु की अवहेलना से लज्जित हो।

"और कर्ण! सुनो! तुम अर्जुन के साथ-साथ हमें भी उत्तेजित करने का प्रयत्न कर रहे हो। और उत्तेजना में व्यक्ति की न बुद्धि काम करती है, न उस पर तर्क का प्रभाव होता है। पहले तुम यह स्पष्ट कर लो कि तुम बुद्धि से युक्त, तर्कशील मनुष्यों के समाज में, वैसे ही मनुष्य का-सा आचरण करना चाहते हो, अथवा मानवों की सभा में घुस आये किसी महिष के समान इधर-उधर सींग मारना चाहते हो!"

लगा, कर्ण का आवेश कुछ कम हुआ है। वह भी थोड़ा हतप्रभ हुआ है, "आचार्य! मैं भी स्वयं को बुद्धियुक्त, तर्कशील प्राणी ही समझता हूँ।"

"तो तुम उसी के अनुरूप व्यवहार करो।" कृपाचार्य बोले, "द्वन्द्व-युद्ध माँगने का कोई कारण है?"

"क्या यह कारण पर्याप्त नहीं है कि मैं उसे चुनौती दे रहा हूँ और वह क्षत्रिय होते हुए भी युद्ध के लिये आगे

नहीं बढ़ रहा?"

अर्जुन के चेहरे पर फिर एक बार आवेश झलका; किन्तु वह कृपाचार्य की ओर देख कर, चुप ही रहा।

"तुम्हारे लिये यह कारण पर्याप्त है। युद्ध-दान क्षत्रिय का कर्तव्य है—यह भी सत्य है। किन्तु बताओ कर्ण!" कृपाचार्य शान्त भाव से बोले, "कि दान से पूर्व दाता को पात्र का विचार करना चाहिए या नहीं—सुपात्र और कुपात्र का भी विचार होना चाहिए या नहीं? क्या तुम नहीं जानते कि दान न देना, कुपात्र को दान देने से श्रेष्ठतर है?" उन्होंने रुक कर कर्ण की ओर देखा; किन्तु कर्ण कुछ नहीं बोला। वे पुनः बोले, "दाता को पात्र-विचार का अधिकार है। पात्र-विचार-निरपेक्ष दान, दाता के नाश का कारण बनता है। इसलिये क्षत्रिय के रूप में युद्ध-दान से पहले अर्जुन को याचक की पात्रता देखनी ही चाहिए। वह भरतवंश के सम्राट पाण्डु का पुत्र है। आचार्य श्रेष्ठ द्रोण का परमप्रिय और योग्यतम शिष्य है। द्वन्द्वयुद्ध में तुम्हें पराजित कर, उसे कोई यश नहीं मिलेगा। वह उसके लिये साधारण कार्य होगा, जिसे न कोई महत्व देगा, न रेखांकित करेगा; किन्तु यदि वह तुमसे पराजित हुआ तो उसके यश-चन्द्र को सदा के लिये ग्रहण लग जायेगा। बुद्धिमान क्षत्रिय केवल उसी की द्वन्द्व-युद्ध की चुनौती स्वीकार करते हैं, जिसकी पात्रता सिद्ध हो। उससे पराजित हो कर यदि अपयश मिलता हो, तो विजयी होने पर यश भी मिले। उसके लिये आवश्यक है कि योद्धा सम-धरातल का हो। अर्जुन कुरु-वंश का राजकुमार है, भरत का वंशज, सम्राट पाण्डु का पुत्र! उससे युद्ध दान माँगने का अधिकार किसी राजा अथवा राजकुमार को ही हो सकता है...क्या तुम अपने वंश का कोई परिचय दे सकते हो?..."

विदुर के चेहरे पर सन्तोष झलका; और भीष्म का मन हुआ कि वे उठ कर जायें और प्रशंसा के भाव से कृप का कंधा थपथपा आयें—उन्होंने कृप के व्यक्तित्व के इस रूप को कभी नहीं जाना था। सारथिपुत्र के हाथों भरत-वंश को अपमानित होने से बचाने के लिये, उन्हें कृपाचार्य का आभारी होना चाहिए।...उन्हें लगा कि पिता शान्तनु ने कृप का पालन-पोषण कर, इस वंश के एक हितैषी का ही विकास किया था, किन्तु द्रोणाचार्य...जाने क्यों द्रोणाचार्य ने इस अहंकारी और उद्दण्ड सारथि-पुत्र को द्वन्द्व-युद्ध की अनुमति दे दी...उस पर बाद में विचार करेंगे...उनका मन अर्जुन के लिये कुछ आशंकित अवश्य था; किन्तु भरत-वंश के इस विजयोत्सव का एक सारथि-पुत्र द्वारा नष्ट-भ्रष्ट किया जाना, उनके लिये अधिक पीड़ा का कारण होता...वे आश्वस्त हुए, अब कदाचित वह स्थिति नहीं आयेगी।...

कर्ण ने कृपाचार्य के प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया; किन्तु प्रश्न में निहित ध्वनि उसके मन में अत्यन्त तीक्ष्णता से चुभ गयी थी, और उसे लग रहा था कि वह निरन्तर चुभती ही जा रही है...क्या उत्तर देता वह? ऐसा ही प्रश्न तो गुरु परशुराम ने किया था। तब भी उसके पास कोई उत्तर नहीं था। वहाँ उसने मिथ्या-भाषण किया था; किन्तु यहाँ उसका भी कोई लाभ नहीं था।... यहाँ का प्रत्येक व्यक्ति पहचानता है उसे। इससे तो अच्छा था, वह भी अन्य सामान्य लोगों के समान किसी दीर्घा में दर्शक-भाव से बैठा रहता। उसे ख्याति न मिलती, उसकी वीरता प्रतिष्ठित न होती—किन्तु वह इस प्रकार अपमानित तो न होता...उसे लगा, उसका आक्रोश जैसे कोई अभिव्यक्ति न पा कर, उसका अपना ही कण्ठ जकड़ बैठा है...यदि वह फट पड़ा तो कदाचित उसका अपना मस्तक ही टूक-टूक हो जायेगा। लोग बार-बार उससे उसकी जाति और वंश के विषय में क्यों पूछते हैं? उसकी वीरता और शस्त्र-कौशल के विषय में कोई क्यों नहीं पूछता?...

अपनी निरीहता और असहायता में उसकी दृष्टि बरबस दुर्योधन को खोजती हुई, उस ओर चली गयी, जहाँ सारे कुरु राजकुमार बैठे थे...

दुर्योधन की दृष्टि उससे मिली और कर्ण ने देखा कि दुर्योधन की दृष्टि में न पराजय थी, न असहायता, न निरीहता...

दुर्योधन उठ कर खड़ा ही नहीं हो गया था, वह अपने मण्डप से बाहर निकल कर केन्द्रीय वेदी में आ गया था।

"आचार्य!" उसने सम्बोधित तो केवल कृपाचार्य को ही किया था, किन्तु उसका स्वर इतना ऊँचा था कि सारी रंगशाला में सुनायी दे जाये, "किसी वीर की प्रतिभा का इस प्रकार निरादर करना उचित नहीं है। गंगोत्री के आवेगरहित प्रवाह को देख कर आप गंगा का निरादर नहीं कर सकते। कर्ण का वंश उसके आनन पर चमकता, उसका तेज है। उसकी जाति उसके भुजदण्ड हैं। उसका परिचय तो उसके बाण ही देंगे।"

"दुर्योधन! बुद्धिमान हो तुम!" कृपाचार्य जैसे अपना व्यूह सँभालने के लिये पूर्णतः सन्नद्ध थे, "अपनी शिक्षा तथा प्रशिक्षण पूर्ण कर चुके हो। अभी तक किसी युद्ध में नहीं गये तुम; किन्तु अब शीघ्र ही तुम्हारे कंधों पर युद्धों का उत्तरदायित्व डाला ही जायेगा। तो राजकुमार! एक बात का ध्यान रखना, जब अपनी सेना का नेतृत्व करते हुए, रथारूढ़

हो कर तुम युद्ध-क्षेत्र में जाओगे तो केवल किसी रथी से ही द्वैरथ-युद्ध करना; शत्रु-पक्ष के सेनापति से ही द्वन्द्व-युद्ध करना। यह न हो कि पदाति सैनिक से द्वन्द्व-युद्ध करने लगो और परिणामस्वरूप जीत कर कोई यश न पाओ और पराजित हो कर...।"

दुर्योधन के मुख का स्वाद जैसे एकदम कसैला हो गया : कृपाचार्य के तर्क-बाण के सामने, सारे क्षत्रियों के अत्यन्त विनाशकारी बाण भी जैसे निरस्त हो गये थे।...युद्ध का अपना विधान होता हैं और द्वन्द्व-युद्ध का भी। दुर्योधन की इच्छा मात्र से न तो वे विधान बदल सकते हैं और न आर्यावर्त्त के आर्यों की मर्यादायें।...संघर्ष करना हो, तो शत्रु के बराबर तो उठना ही पड़ेगा। जो मर्यादायें कृपाचार्य ने बाँधी हैं, उन्हें तो पूरा करना हो होगा...अर्जुन को अपमानित करने का ऐसा सुअवसर, दुर्योधन अपने हाथ से कैसे जाने दे सकता है...उसे इस असम्भव को सम्भव करना पड़ेगा नहीं तो अभी कुछ ही क्षणों में कर्ण सबके उपहास का पात्र बना, अपना मुँह लटकाये, जा कर इस विशाल जन-समुदाय में कहीं खो जायेगा; और फिर जाने कहीं दिखायी देगा या नहीं।...पहले भी गुरु द्रोण ने उसे राजकुमारों के वर्ग से निकाल दिया था तो वह एक लम्बे अन्तराल के लिये कहीं खो गया था। आज के इस सार्वजनिक अपमान के पश्चात तो कदाचित वह लौट कर कभी हस्तिनापुर ही न आये...और दुर्योधन को लगा कि कर्ण के खो जाने का अर्थ कहीं उसके अपने राज्याधिकार का खो जाना ही न हो...अर्जुन की धनुर्विद्या ही नहीं—पाण्डवों के सम्मिलित बल के सामने कौन खड़ा होगा, दुर्योधन के पक्ष से?...और युद्ध तो होना ही है। अब तक यह पर्याप्त स्पष्ट हो चुका था कि बिना युद्ध के दुर्योधन को वह राज्य मिलने वाला नहीं है...और यह राज्य वह छोड़ेगा नहीं!...पिता ने जाने क्या सोच कर उसका नाम 'सुयोधन' रखा था; किन्तु वह जानता था कि युद्ध ही उसकी नियति है। बिना युद्ध के, बिना बल-प्रयोग किये, बिना अपना अधिकार जमाये—उसे कुछ नहीं मिलेगा। इसलिये युद्ध तो उसे करना ही पड़ेगा।...और यदि उसे किसी बड़े, भयंकर युद्ध से बचना है, तो उसे यह छोटा-सा युद्ध आज, यहीं पर, लड़ ही लेना चाहिए।...आज यदि अर्जुन यहाँ मारा जाता है, तो दुर्योधन, भविष्य के एक बड़े युद्ध से बच जायेगा; अन्यथा एक अर्जुन के स्थान पर सहस्रों व्यक्ति मरेंगे।...एक समय था, जब उसने भीम की हत्या करने का प्रयत्न किया था। तब उसने समझा था कि कदाचित भीम ही उसके मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है; किन्तु आज वह देख रहा है, वह उसकी भूल थी। युद्ध में जितना विनाशकारी, एक धनुर्धारी हो सकता है, गदाधारी कदापि नहीं हो सकता।...अर्जुन को आज मरना ही होगा, चाहे असम्भव को सम्भव करना पड़े, चाहे उसे मर्यादित से अमर्यादित होना पड़े...

दुर्योधन का मन बड़ी तीव्र गति से भाग रहा था, जैसे वह किसी विशाल राजप्रासाद में बन्द हो गया हो, जिसके सहस्रों द्वार हों, और वह बड़े वेग से, अपने शरीर की पूरी शक्ति लगा कर प्रत्येक द्वार खटखटा रहा हो, कि कोई एक द्वार खुल जाये, ताकि वह बाहर निकल सके। कहीं ऐसा न हो कि वह द्वार खोजता ही रहे और उसका दम घुटा जाये...

"आचार्य!" दुर्योधन फिर बोला।

कृपाचार्य ने उसकी ओर देखा।

"आचार्य! यदि कर्ण को अर्जुन के साथ द्वन्द्व-युद्ध का अवसर केवल इसलिये नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह राजा नहीं है, तो मैं..." उसका स्वर और ऊँचा उठ गया, ताकि सारा जन-समुदाय सुन सके, "तो मैं कर्ण को अंगदेश का राजा स्वीकार करता हूँ।"

दुर्योधन के मित्रों ने तत्काल उद्घोष दिया, "जय महाराज अंगेश! जय महाराज कर्ण!"

भीष्म का मुख जैसे आश्चर्य से खुल गया : यह क्या हो रहा है? कृपाचार्य इस कर्ण से, अर्जुन की यह भिडन्त बचाना चाहते हैं और दुर्योधन चाहता है कि किसी भी मूल्य पर, किन्हीं भी परिस्थितियों में यह युद्ध अवश्य हो। वह इस सारथिपुत्र को राजा बना रहा है, केवल इसलिये कि कर्ण, अर्जुन से युद्ध कर सके, उसे क्षति पहुँचा सके, सम्भव हो तो उसका वध कर सके...यह तो खुले तौर पर सार्वजनिक रूप से अर्जुन की हत्या का प्रबन्ध और प्रयत्न कर रहा है। कुरु-कुल के सर्वनाश का बीज-वपन कर रहा है। यह सचमुच दुर्योधन है, दुर्योधन!

"दुर्योधन!" भीष्म बोले, "तुम राजा हो, न युवराज! तुम्हें यह अधिकार किसने दिया कि तुम किसी को, किसी भी देश-प्रदेश का राजा स्वीकार कर लो।" और उन्होंने धृतराष्ट्र को देखा, "राजन! तुम इसे मना क्यों नहीं करते?"

धृतराष्ट्र कुछ समय तक सिर झुकाये, वैसे ही मौन बैठा रहा और फिर जैसे वह अपना अत्यधिक सुचिन्तित मत दे रहा हो, बहुत धीरे से बोला, "सुयोधन राजा नहीं है, युवराज भी नहीं है; किन्तु वह मेरा पुत्र है पितृव्य! और यदि कोई

पुत्र अपने पिता की किसी वस्तु को अपनी समझ उसका दान करता है, तो इसमें पिता द्वारा उसे अस्वीकार करने का प्रश्न ही कहाँ उठता है।"

भीष्म के शब्द जैसे उसके मुख में ही जम गये। ये पिता-पुत्र दोनों मिल कर, अर्जुन का वध करवाने की योजना ही नहीं बना रहे, उसका सक्रिय प्रयत्न भी कर रहे हैं। शुल्क ले कर किसी की हत्या करने वाले दस्यु को न बुला कर, ये लोग द्वन्द्व-युद्ध जैसी क्षत्रियोचित चुनौती प्रस्तुत कर रहे हैं, ताकि अर्जुन उस जाल में फँसना अस्वीकार भी न कर सके; और कोई यह भी न कह सके कि इन्होंने अर्जुन की हत्या करवायी है।...उनकी दृष्टि अर्जुन पर टिक गयी : क्या अर्जुन भयभीत था? ...नहीं! अर्जुन के चेहरे पर तनिक भी भय अथवा त्रास नहीं था—वह तो कदाचित आक्रामक मुद्रा में खड़ा था; किन्तु यह दुर्योधन... अपने ही वंश का काल!...कुल-नाशक!...

"बात केवल राजपुत्र की इच्छापूर्ति की ही नहीं है राजन!" भीष्म बोले, "मैं नहीं चाहता कि कुरुकुल में आन्तरिक और पारस्परिक कलह बढ़े; किन्तु तुम देख रहे हो कि तुम्हारा यह दुर्योधन कलह चाहता ही नहीं, वह उसका विकास कर रहा है। वह अपने भाइयों के विरुद्ध, बाहरी शत्रुओं की सहायता कर रहा है। वह शत्रुता को उत्प्रेरित कर रहा है। अर्जुन के विरुद्ध इस सारथि-पुत्र का महत्व बढ़ा कर, राजकुल का महत्व ही कम नहीं कर रहा, उसका अपमान भी कर रहा है। तुम्हारा यह दुर्योधन जानता ही नहीं कि उसे कब युद्ध करना है, और किसके विरुद्ध करना है।"...

धृतराष्ट्र ने सम्बोधन के लिये भी अपना चेहरा भीष्म की ओर नहीं किया। अपनी अन्धी आँखों से रंगशाला के मध्य बनी वेदी की ओर देखता रहा, जैसे सारे घटनाचक्र को अपनी आँखों से देख रहा हो, "आप शान्त मन से सोचें पितृव्य! दुर्योधन कोई उपद्रव नहीं कर रहा। वह तो मात्र वीरता का सम्मान कर रहा है।"

भीष्म को लगा, जैसे उनकी खीझ अब उनका नियन्त्रण नहीं मान रही है, "इतना ही वह वीरता का पक्षधर है, तो उसने अर्जुन की वीरता का सम्मान क्यों नहीं किया?"

धृतराष्ट्र ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह जैसे भीष्म से अपनी रक्षा करने के लिये, दूसरी ओर देखता रहा।

विदुर समझ गया—अब इन दोनों में इसके आगे वार्तालाप नहीं होगा। पितृव्य, अब धृतराष्ट्र पर इससे अधिक दबाव नहीं डालेंगे। वह जैसे धृतराष्ट्र को भाँपने का प्रयत्न करता रहा और फिर धीरे से बोला, "महाराज का कहना उचित ही है कि पिता की सम्पत्ति पर पुत्र के अधिकार को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु महाराज ने क्या यह भी सोचा है कि अंगदेश हमारे साम्राज्य का अंग है भी या नहीं। वह विवादास्पद क्षेत्र है महाराज! मगध-नरेश जरासंध उसे अपने साम्राज्य का अंग मानता है। उसने महाराज पाण्डु द्वारा मान्य प्रशासक को कब से नगर-निष्कासित कर, मालिनी नगरी में अपना प्रशासक बैठा रखा है।"

"ठीक है! किन्तु हमने न कभी मालिनी नगरी में बैठे, जरासंध के प्रतिनिधि प्रशासक को मान्यता दी है, और न अंग पर उसका आधिपत्य स्वीकार किया है।" धृतराष्ट्र बोला।

"किन्तु उससे न वह प्रदेश हमारा हो जाता है और न ही उसे किसी को दान करने का हमारा अधिकार ही बनता है।" विदुर ने उत्तर दिया।

धृतराष्ट्र के चेहरे पर कड़वाहट का भाव फैल गया, "तुम इतने बुद्धिमान हो कर इतनी-सी बात क्यों नहीं समझते विदुर! कि यदि अंगदेश हमारा है तो दुर्योधन उसे कर्ण को दे ही सकता है; और यदि हमारा नहीं है, तो जो हमारा है ही नहीं, उसे किसी को दे देने में हमारी क्षति ही क्या है? जब वह अपना कुछ दे ही नहीं रहा, तो तुम्हें आपत्ति किस बात की है?"

विदुर को लगा, धृतराष्ट्र के मन में दुबका बैठा पिशाच इस समय प्रकट रूप से उसके चेहरे पर आ बैठा है।

"अब तो कर्ण अर्जुन के साथ द्वन्द्व-युद्ध का अधिकारी है आचार्य?" दुर्योधन ने पूछा।

कृपाचार्य हँसे, "कर्ण को अंगदेश का राजा तुमने स्वीकार किया है दुर्योधन! तुमने, जो स्वयं राजा नहीं है—जिसका न राज्याभिषेक हुआ है, न युवराज्याभिषेक! तुम्हारी इस प्रकार की स्वीकृति कोई अर्थ रखती है क्या? या तुम सामान्य प्रजा के रूप में कर्ण को अपना राजा स्वीकार कर रहे हो—क्योंकि प्रजा को अपना राजा मनोनीत करने का अधिकार है!"

दुर्योधन ने इस प्रकार दाँत पीसे, जैसे वह या तो आचार्य को कोई बहुत ही अपमानजनक बात कह देगा या शायद आघात ही कर बैठे; किन्तु ऐसे अवसरों पर अनेक बार वह अद्भुत धैर्य का परिचय देता था। लगा, वह अपना सारा क्षोभ तथा कृपाचार्य के प्रति मन में जागा अपना सारा विरोध, क्षण-भर में ही पी गया। बोला, "मैं आज आपकी सारी प्रतिज्ञाएँ पूरी करूँगा आचार्य! मेरा राज्याभिषेक हुआ हो या न हुआ हो—किन्तु कर्ण का राज्याभिषेक तो मैं अभी करवा दूँगा।"

दुर्योधन पैर पटकता हुआ, वहाँ से चला गया।

रंगशाला में जैसे सन्नाटा छा गया। धृतराष्ट्र ने प्रकारान्तर से कर्ण को अगंदेश के राजा की मान्यता दे दी थी। भीष्म और विदुर अब कुछ नहीं कह रहे थे। वे जैसे अपने भीतर-ही-भीतर कुछ मन्थन कर रहे थे। द्रोणाचार्य भी द्वन्द्व-युद्ध की अनुमति दे कर, इस प्रकार आत्मलीन हो गये थे, जैसे वे वहाँ उपस्थित ही नहीं थे। उन्होंने कृपाचार्य की युक्तियाँ सुन कर भी, कुछ नहीं कहा था; जैसे निश्चय कर लिया हो कि जिसे जो भी करना है, करता रहे। उनसे तो द्वन्द्व-युद्ध की अनुमति मात्र माँगी गयी थी। वह उनका अधिकार-क्षेत्र था। अनुमति उन्होंने दे दी थी। अब यह देखना उनका कार्य नहीं था कि द्वन्द्व-युद्ध राजकुमारों के ही मध्य हो। समता और समानता के इन प्रश्नों के संदर्भ में उन्हें कुछ नहीं कहना था। ये राजवंश और उनकी समानता...इस विषय में वे पहले से ही अपने वक्ष में क्षत लिये घूम रहे थे। द्रुपद ने बहुत कुछ समझा दिया था उन्हें, समानता के विषय में।...हाँ! अर्जुन की सुरक्षा की चिन्ता उन्हें अवश्य थी!...किन्तु अर्जुन हल्का नहीं पड़ेगा इस कर्ण के सम्मुख! गुरु परशुराम की सम्पूर्ण विद्या द्रोण ने भी पाई थी और उन्होंने वह अर्जुन को दी भी है।...कर्ण चुरा कर कितनी भी विद्या लाया हो, किन्तु परशुराम का सर्वस्व नहीं लाया होगा...

...केवल कृपाचार्य अब भी वेदी के निकट कर्ण तथा अर्जुन के मध्य खड़े थे, कि कहीं उनके हटते ही कर्ण और अर्जुन का युद्ध आरम्भ न हो जाये।...वे खड़े, शायद दुर्योधन की प्रतीक्षा कर रहे थे कि राज्याभिषेक वाली अपनी बात को वह किस रूप में पूरा करता है...

अश्वत्थामा के मन में पश्चाताप था।...उसने अपने पिता को ही सब कुछ मान, अपने मातुल के महत्व को इतना कम क्यों आँका? उसने पहले ही क्यों नहीं सोचा...जिस प्रकार उसने अपने पिता से इच्छापूर्ति का वरदान लिया था, उसी प्रकार मातुल से भी वचन क्यों नहीं ले लिया?...उसने यह क्यों नहीं सोचा कि वह और उसके पिता तो अब हस्तिनापुर में आये हैं—उसके मातुल का तो पालन-पोषण ही हस्तिनापुर में हुआ है। वे कुरुवंश के हित-अनहित के विषय में अधिक सघनता से सोचते होंगे। वे इस वंश की अवनति नहीं चाहेंगे। वे क्यों चाहेंगे कि हस्तिनापुर की रंगशाला में अर्जुन पराजित अथवा पराभूत हो? ...उसे लग रहा था कि जिस मातुल पर वह अपने पिता से भी अधिक निर्भर रहने लगा था, वे ही इस समय दुर्योधन की इच्छा और प्रकारान्तर से उसकी अपनी इच्छा की पूर्ति में सबसे बड़ी ही क्यों...एकमात्र बाधा बन कर खड़े हो गये थे।....यदि कहीं उसने यह असावधानी न की होती, उनसे भी इस विषय में बात कर ली होती...वह अपने मन-ही-मन कहीं उनसे इतना निकट हो गया था कि उनका पृथक अस्तित्व ही भूल गया था। उसने उन्हें एकदम नगण्य मान लिया था शायद...

आगे-आगे दुर्योधन और उसके पीछे-पीछे उसके अनुचर आये। उन लोगों ने एक सिंहासन उठा रखा था। दुर्योधन आ कर खड़ा हो गया; और अनुचरों ने ला कर सिंहासन, उसके सामने भूमि पर स्थापित कर दिया। निश्चित रूप से वह उन सिंहासनों में से ही होगा, जो रंगशाला के विभिन्न मण्डपों में राजपरिवार के सदस्यों के बैठने के लिये लाये गये थे।...जब तक कृपाचार्य यह सोचते कि दुर्योधन सचमुच ही कर्ण का राज्याभिषेक करने जा रहा है, दुर्योधन ने कर्ण की भुजा पकड़ कर उसे सिंहासन पर बैठा दिया।

"अर्जुन!" कृपाचार्य बोले, "तुम जाओ पुत्र! मण्डप में अपने भाइयों के साथ बैठो। दुर्योधन कर्ण का राज्याभिषेक कर रहा है। तुम उसके सभासद तो हो नहीं कि यहाँ खड़े रहो।...जब तुमसे द्वन्द्व-युद्ध के योग्य हो कर कर्ण पुनः तुम्हारा आह्वान करेगा, तब आना पुत्र!"

"आचार्य! युद्ध-भूमि से इस प्रकार हट जाना...।"

कृपाचार्य हँसे, "न यह युद्ध-भूमि है, और न अब कर्ण की द्वन्द्व-युद्ध की चुनौती ही है।...यह नाटक है, इसे तुम भी अपने मण्डप से ही देखो। जाओ पुत्र!"

अर्जुन अपने मण्डप में आ गया। कृपाचार्य भी अपने स्थान पर लौट गये।...दुर्योधन, कर्ण तथा उसके मित्रों में से किसी का भी ध्यान इस ओर नहीं था। वे राज्याभिषेक की प्रक्रिया में व्यस्त थे।...पुरोहित आ गया था। अभिषेक जल और पुष्प प्रस्तुत कर दिये गये थे। किरीट की व्यवस्था भी हो गयी थी और पुरोहित ने मन्त्रोच्चारण आरम्भ कर दिया था...

अपने मण्डप में बैठा भीम जिस प्रकार तिलमिला रहा था, उससे युधिष्ठिर को आशंका हो रही थी कि वह क्रोध में आ कर कहीं कुछ अवांछित कर ही न बैठे।

"क्या बात है भीम?" अन्ततः उसने पूछ ही लिया।

"मेरी इच्छा हो रही है ज्येष्ठ! कि गदा का एक-एक प्रहार कर इस दुर्योधन और उसके मित्र कर्ण को वहीं सुला आऊँ। सिंहासन पर ही सो जाये अन्तिम नींद और स्वयं को अंगदेश का ही क्यों, सम्पूर्ण जम्बू द्वीप का राजा समझता रहे।..." और वह अर्जुन की ओर घूमा, "मैं तुम्हारे स्थान पर होता तो कदाचित कृपाचार्य की उपेक्षा कर भी इस कर्ण का सारा मद उतार देता।..."

"उत्तेजित मत होओ भीम!" युधिष्ठिर बोला, "जहाँ इतने सारे गुरुजन वर्तमान हों, वहाँ तुम्हें इतनी चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है। द्वन्द्व-युद्ध की याचना कर कर्ण ने अपनी वीरता और महत्व ही तो प्रदर्शित करना चाहा है, कोई अपराध तो नहीं किया। तुमने देखा नहीं कि कहीं क्रीड़ा हो रही हो और एक बालक, किसी कारण से उसमें भाग न ले पाये, उपेक्षित-सा एक ओर खड़ा हो, तो बेचारा अपना महत्व जताने के लिये अथवा हीनता-बोध से मुक्ति पाने के लिये ही उस क्रीड़ा को किसी-न-किसी प्रकार बिगाड़ने का प्रयत्न करता है, चाहे खेल बिगाड़ने में वह स्वयं दूसरों के हाथों पिट ही क्यों न जाये।"

"तो फिर ये लोग खेल बिगाड़ने में इसे पिट ही क्यों नहीं जाने देते?" भीम बोला, "यह यदि अर्जुन को धनुष-युद्ध के लिये ललकार रहा है, तो मैं इसका गदा-युद्ध के लिये आह्वान करता हूँ। इस सूतपुत्र को भी ज्ञात हो जाये कि द्वन्द्व-युद्ध क्या होता है!"

"नहीं!" युधिष्ठिर बोला, "तुम देख नहीं रहे कि हमारे सारे गुरुजन इस द्वन्द्व-युद्ध को रोकना चाहते हैं।"

"पर क्यों? क्या वे लोग भयभीत हैं? वे समझते हैं कि अर्जुन पराजित हो जायेगा?"

"मैं कह नहीं सकता!" युधिष्ठिर बोला, "किन्तु इतना तो स्पष्ट है ही कि यह कुरु-कुल के लिये अशोभनीय होगा।"

"क्या अशोभनीय है इसमें?" भीम उद्दण्ड भाव से बोला, "यह सारथि-पुत्र अहंकारवश आया और पिट गया। इसमें अशोभनीय क्या है?"

"मध्यम! तुम्हारा ध्यान इस ओर नहीं गया कि सारथि-पुत्र को तो कब का रंगशाला से निकाल दिया गया होता, यह तो दुर्योधन है, जो उसे टिकाए हुए है। कर्ण है ही क्या? वह तो दुर्योधन का पाँसा मात्र है। विरोध तो दुर्योधन और अर्जुन का है। यह गृहकलह नहीं हुई क्या? इसी को बचाने का प्रयत्न किया जा रहा है।"

"तो गुरु द्रोण ने इस द्वन्द्व की अनुमति क्यों दे दी?"

"मूल कारण तो वे ही जानें!" सहदेव ने उत्तर दिया, "किन्तु जो मैं समझ पाया हूँ, वह यह है कि यदि वे अनुमति न देते, तो कदाचित यह समझा जाता कि वे भयभीत हैं कि उनका सर्वश्रेष्ठ शिष्य किसी अन्य गुरु के शिष्य से पराजित हो जायेगा। इस द्वन्द्व के लिये अनुमति न देना उनकी अपनी प्रतिष्ठा के लिये घातक होता।"

"उन्हें कुरु-वंश की गृह-कलह को टालने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए था?"

"कदाचित उनके लिये अपनी प्रतिष्ठा, कुरु-कुल की शान्ति से अधिक महत्वपूर्ण है।" युधिष्ठिर ने कहा।

"इस सारे उपद्रव में यह सारथि-पुत्र तो राजा बन गया न।" भीम ने अपनी गदा तौली।

सहदेव हँसा, "आप भी मध्यम!..."

"इसमें हँसने की क्या बात है?" भीम ने उसे टोका।

“अरे आप दुर्योधन की चातुरी देखें। वह स्वयं लड़ने का साहस नहीं करता, दूसरों को लड़ने के लिये भड़काता रहता है। इस समय भी यह कर्ण को राजा नहीं बना रहा, उसे अर्जुन से भिड़ने के लिये उकसा मात्र रहा है। इस द्वन्द्व में किसी की भी जय-पराजय से दुर्योधन को कोई हानि नहीं होगी। या तो वह हमें कुछ दुर्बल कर देगा, या हमारा एक नया शत्रु बना कर उसे अपने लाभ के लिये पाल लेगा। आपने यह नहीं देखा कि उसने गुरु-पुत्र अश्वत्थामा को भी अपना मित्र बना रखा है, ताकि जब-तब वह हमारी राह काटता रहे। ...कर्ण को भी वह मात्र बलि-पशु के रूप में तैयार कर रहा है। ...”

“अरे प्रत्येक राजा युद्ध करता है।” भीम बोला, “कर्ण भी राजा बन कर युद्ध ही तो करेगा। इसमें बलि-पशु बनने की क्या बात है?” भीम पहले से भी अधिक उत्तेजित हो गया, “और युद्ध इत्यादि तो बाद की बात है। यह राज्य तो मूलतः हमारा है, सम्राट पाण्डु के पुत्रों का। राजा धृतराष्ट्र तो मात्र उसकी देख-रेख के लिये राज-प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त किये गये थे, जब तक कि हम उसे सँभालने के योग्य नहीं हो जाते। राजा होने पर भी धृतराष्ट्र इसके स्वामी नहीं हैं। वे इच्छा होने पर भी इस राज्य को, अथवा इसके किसी खण्ड को, किसी को इस प्रकार दे नहीं सकते। यदि धृतराष्ट्र और दुर्योधन इस प्रकार राज्य बाँटने लगे, तो हमारे ज्येष्ठ के हाथ में आते-आते, कुरु-राज्य कदाचित हस्तिनापुर तक ही सीमित रह जायेगा...”

“मध्यम! मध्यम!!” सहदेव हँसा, “यदि ऐसे ही सिंहासन पर बैठ कर अभिषेक जल छिड़क देने से कोई राजा हो जाता, तो हस्तिनापुर की प्रत्येक वीथि में अनेक राजा निवास कर रहे होते—राजा के लिये आवश्यक है, धरती और प्रजा पर अधिकार। क्या अंगदेश की धरती तथा प्रजा पर इस अभिषेक से कर्ण का अधिकार हो जायेगा? या उस धरती तथा प्रजा पर दुर्योधन का अधिकार है, जो वह कर्ण को सौंप देगा? पूरा ढपोरशंख है यह दुर्योधन और मूर्ख है यह कर्ण। ...”

“यह ठीक है, किन्तु राज्य किसी को दे देने का अधिकार...” भीम अब भी शान्त नहीं हुआ था, “मैं यह कह रहा हूँ कि आज के इस नाटक से इस सारथि-पुत्र को कुछ मिले या न मिले; किन्तु यदि महाराज धृतराष्ट्र को यह अधिकार दिया गया कि वह अपने राज्य का कोई अंश किसी को दे सकते हैं, तो वे पूरा-का-पूरा कुरु साम्राज्य दुर्योधन को दे डालेंगे।...”

“वे हमारे ज्येष्ठ की उपेक्षा कर, दुर्योधन को कैसे युवराज बना देंगे?” अर्जुन सहज विश्वास के साथ बोला, “कुरुवंश के कुछ नियम हैं, परम्पराएँ हैं, कुल-वृद्धों की मान्यताएँ हैं...।”

“युवराज बनाने की बात नहीं कर रहा हूँ बौड़म!” भीम झल्ला कर बोला, “राज्य तो ऐसे भी दिया जा सकता है, जैसे कर्ण को दिया गया। उसे कोई युवराज बनाया गया था?”

“मध्यम ठीक कह रहे हैं।” सहदेव बोला, “कई बार कार्य अनियमित होते हैं और कई बार नियम ही ऐसे बदल लिये जाते हैं कि कोई उसे अनियमित न कह सके।”

“इसलिये तो कह रहा हूँ कि हमें बलपूर्वक अपना अधिकार...”

“भीम!” युधिष्ठिर ने उसे टोक दिया, “सबसे बड़ा अधिकार, नैतिक अधिकार है। वह हमारे पास है। तुम न तो स्वयं उत्तेजित होओ, और न ही अपने छोटे भाइयों को चिन्तित करो। जब हस्तिनापुर के सारे कुल-वृद्ध दुर्योधन से पराजित हो जायेंगे, तब हम अपने बल की बात सोचेंगे...।”

मन्त्रोच्चार समाप्त हो गया।

“अंगराज कर्ण के पिता को बुलाइये।” पुरोहित ने कहा, “महाराज अपने पिता के चरण छू कर सबसे पहले उनसे आशीर्वाद लेंगे।”

अनुचर कर्ण के पिता को लिवा लाने के लिये भागे।

अभिषेक जल से भीगे मस्तक पर किरीट धारण किये हुए, कर्ण ने कृतज्ञ भाव से दुर्योधन को हाथ जोड़े, “मैं तुम्हारा आभारी हूँ राजकुमार! जन्म-जन्मान्तर तक का कृतज्ञ। तुमने न केवल मुझे आज के अपमान से बचा लिया है, वरन एक सम्मानपूर्ण जीवन भी दिया है।” उसका स्वर गद-गद हो आया था, कण्ठ अवरुद्ध-सा हो रहा था; और आँखें

भीग आयी थीं, “मैं तुम्हारी इस कृपा से कैसे उऋण होऊँगा।...”

“इसके बदले में तुम मुझे एक वस्तु दे दो कर्ण।” दुर्योधन बोला, “सारा ऋण चुकता हो जायेगा।”

“मेरे पास ऐसा है ही क्या, जो मैं तुम्हें दे सकूँ।” कर्ण बोला, “बोलो! मेरा अपना कुछ भी अदेय नहीं है, तुम्हारे लिये।”

“अपनी मैत्री! अभिन्न मैत्री! आजीवन मैत्री!” दुर्योधन ने अपनी भुजाएँ फैला दीं।

कर्ण को लगा, जैसे सारी सृष्टि की सम्पूर्ण सम्पदा एक मोहक शिशु के समान अपनी भुजायें फैला कर आग्रहपूर्वक उसके आलिंगन में आने के लिये मचल रही है। उसने आगे बढ़ कर, दुर्योधन को अपनी भुजाओं में बाँध लिया, “मैं तुम्हारा मित्र हुआ। आजीवन! अनुगृहीत मित्र! आभारी! मुझे अपना क्रीतदास समझो। जो सेवा हो सकेगी, प्राण दे कर भी करूँगा।...”

तभी भृत्यगण, अपार जन-समूह में से मार्ग बनाते हुए अधिरथ को ले कर आ गये। अधिरथ बौराया-सा, कर्ण के सम्मुख आ खड़ा हुआ। उसने कदाचित अपने पुत्र को इस रूप में देखने की कल्पना भी नहीं की थी।...राजसी वेश! सिर पर किरीट! अभिषेक के जल से भीगा माथा। चारों ओर अंगराज का जय-जयकार...

कर्ण के रंगशाला में प्रवेश करते ही कुन्ती चिन्तित हो गयी थी। अपने पुत्रों के प्रशिक्षण पूर्ण हो जाने और उनके समर्थ होने की प्रसन्नता, उसी समय धूमिल हो गयी थी, जिस समय कर्ण ने द्वन्द्व-युद्ध का आह्वान किया था और द्रोणाचार्य ने उसकी अनुमति दे दी थी। फिर दुर्योधन लगातार कर्ण का समर्थन करता रहा और धृतराष्ट्र प्रकारान्तर से दुर्योधन से अपनी सहमति जताता रहा। उसके निकट बैठी, आँखों पर पट्टी बाँधे दृश्य जगत की उपेक्षा-सी करती गान्धारी, अपने श्रवणों के माध्यम से जैसे एक-एक घटना को पी रही थी। दुर्योधन के कृत्यों को जान कर कैसे मन्द-मन्द मुस्कुरा रही थी; और कुन्ती की बाध्यता थी कि वह यह सब देखते-बूझते हुए भी उससे दूर नहीं जा सकती थी...सम्राट पाण्डु का पुत्र उपेक्षित हो रहा था और उसी सम्राट के राज्य पर बलात आधिपत्य स्थापित किये हुए, ये पिता-पुत्र, इस साधारण युवक को अर्जुन के विरुद्ध उकसा ही नहीं रहे थे, अर्जुन के साथ उसकी भिड़न्त का प्रबन्ध कर रहे थे। इतने लोग उपस्थित थे यहाँ—भीष्म, वृद्ध वाह्लीक, सोमदत्त, विदुर, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, कुरु-वृद्ध, मन्त्री, सेनापति...फिर भी तो सब कुछ दुर्योधन की इच्छानुसार ही हो रहा है। कोई भी तो उसे रोकने वाला नहीं है। उसके अधिकारों को चुनौती देने वाला नहीं है।...ऐसे में कुन्ती यह आशा कैसे कर सकती थी कि अब युधिष्ठिर को अपने पिता का राज्य सौंपने की तैयारी में, युवराज बना दिया जायेगा।...जिसे वह अपने पुत्रों के अभ्युत्थान का समारोह मान कर आयी थी, वह तो उसे उन लोगों को घेर कर उनकी हत्या करने का षड्यन्त्र दिखायी पड़ रहा था...

कर्ण ने न केवल अधिरथ के चरण छुए, उसने भक्तिवश अपने पिता के चरणों पर अपना मस्तक रख दिया।

और चारणों ने जयघोष किया, “महाराज अंगेश के पिता सारथि अधिरथ की जय।”

और उसी क्षण भीम ने खुले कण्ठ से उच्च स्वर में पुकार कर कहा, “सारथि! अपने पुत्र के हाथ में प्रतोद दो; राजदण्ड इस हाथ में शोभा नहीं पायेगा।”

कुन्ती चौंकी...यह नाम तो उसने बहुत पहले सुना था...अपनी पहली सन्तान को, पिता कुंतिभोज को सौंपते हुए...उसे ठीक स्मरण है...यही नाम था वह...हस्तिनापुर का सारथि अधिरथ...अपने स्वयंवर के समय पाण्डु के कण्ठ में जय-माला डालते हुए भी तो हस्तिनापुर के साथ उसके मन में दूसरा नाम यही गूँजा था—सारथि अधिरथ!...तो यह सारथि अधिरथ था और यह इसका पुत्र था...

कुन्ती की वर्षों की साध जैसे पूरी हुई।...इतने लम्बे अन्तराल के पश्चात वह अपने उस ज्येष्ठ पुत्र को देख रही थी...वह नवजात शिशु इतना बड़ा हो गया। वह पूर्ण युवक है। सुन्दर, स्वस्थ और बलिष्ठ! ऐसा ही होना चाहिए था उसे...

किन्तु सहसा उसका विचार-प्रवाह थम गया। उसके विवेक ने जैसे उसके वात्सल्य के भागते अश्वों को कशा मार कर रोक दिया था, उनकी वल्गा पूरी तरह खींच ली थी...इस गति से भागते अश्वों को, जिस आकस्मिकता में बलपूर्वक रुकना पड़ा था, उससे उनके मुख में झाग आ गयी थी; उनकी अगली दोनों टाँगें, हवा में उठ आयी थीं। वे

अपने बन्धनों में बँधे, रुकने का प्रयत्न करते हुए भी जैसे, पिछले वेग के कारण आगे खिसकते जा रहे थे...

कुन्ती ने दासी की ओर देखा, “कौन है यह व्यक्ति?”

दासी निकट आ गयी। झुक कर धीरे से सम्मानपूर्वक बोली, “यह महाराज के सारथियों में से एक है देवि! अधिरथ।”

“कर्ण इसी का पुत्र है?” कुन्ती का विवेक अपने सारे संदेह मिटा लेना चाहता था।

“हाँ देवि! यह ही कर्ण का पिता है।”

“कर्ण इसकी औरस सन्तान है क्या?”

“नहीं देवि! कर्ण का पालन-पोषण इनके घर पर हुआ है। इनके अपने पुत्र तो कर्ण से बहुत छोटे हैं।” दासी बोली।

‘यह मेरा ही पुत्र है! मेरा!’ कुन्ती की इच्छा हुई कि उठ कर खड़ी हो जाये और उच्च स्वर में घोषणा कर कहे, ‘कर्ण, सारथि अधिरथ का पुत्र नहीं है, वह मेरा पुत्र है, मेरा। सम्राट पाण्डु की महारानी कुन्ती का ज्येष्ठ पुत्र। वह युधिष्ठिर का बड़ा भाई है। वह सारथि-पुत्र नहीं है।’...उसकी इच्छा हुई, वह जा कर भीम से कहे, ‘क्या कर रहा है भीम! तू? अपने बड़े भाई का ऐसा अपमान!’

किन्तु कुन्ती के विवेक ने उसे पुनः रोक दिया : कुन्ती यह तेरा अतीत था। वर्तमान सदा अतीत से भिन्न होता है। अपने इस गोपनीय अतीत को अपने वर्तमान पर आरोपित मत कर।...यदि तू अपने इस अतीत को स्वीकार कर सकती थी, तो फिर उसे त्यागने की क्या आवश्यकता थी?...उसे त्यागा था, ताकि पिता कुन्तिभोज का यश धूमिल न हो, शूरसेन का कुल कलंकित न हो।...तब उसे त्याग दिया, वर्षों तक उससे दूर रही। अपने अपयश के भय से उसकी खोज नहीं की, उसके विषय में एक शब्द तक अपनी जिह्वा पर नहीं लायी...हस्तिनापुर में आ कर भी किसी से एक बार जिज्ञासा तक नहीं की...तब जिस भय से उसे त्याग दिया था, आज उसका वह कलुष धुल गया है क्या?...आज उसे अंगीकार कर लेगी तो कुन्तीभोज का यश धूमिल नहीं होगा क्या? शूरसेन का कुल कलंकित नहीं होगा?...और फिर उसका अपना क्या होगा? यदि आज वह कर्ण को अपने पुत्र के रूप में अंगीकार करती है; तो उसकी विश्वसनीयता समाप्त नहीं हो जायेगी? उसका अपना चरित्र लाँछित नहीं होगा? और तब उसके पाँच पाण्डु-पुत्रों के विषय में अनेक प्रश्न नहीं पूछे जायेंगे! उनके जन्म और वंश के सम्बन्ध में संदेहों, प्रश्नों, आरोपों और लाँछनों ही नहीं, आपत्तियों का, उत्तर कौन देगा?...वह अपने एक पुत्र को सूत-पुत्र के कलंक से मुक्ति दिलाने के प्रयत्न में कहीं अपने इन पाँचों पुत्रों को अनेक असह्य और असाध्य कलंकों से आच्छादित न कर दे...

कुन्ती के मन में भीषण बवण्डर उठ रहा था...आज वर्षों के पश्चात उसे अपना खोया हुआ पुत्र मिला था; और वह पाषाण के समान यहाँ बैठी रहे; एक बार उसे अपनी भुजाओं में भर कर अपने वक्ष से भी न लगाए?...समाज के सामने उसे अंगीकार न करे; किन्तु उसके कान में चुपके से यह तो कह दे कि कुन्ती उसकी माँ है, पाण्डव उसके भाई हैं। वह क्यों अर्जुन से शत्रुतापूर्ण व्यवहार कर रहा है—वह उसका छोटा भाई है।...क्यों वह अपने जन्मजात शत्रु का मित्र बन रहा है।...उसे राज्य चाहिए तो अपनी माँ के पास आ जाये। पाण्डव उसे अपना बड़ा भाई मान कर सारा कुरु-साम्राज्य उसके चरणों पर धर देंगे।...

किन्तु कुन्ती का विवेक सजग प्रहरी के समान खड़ा था। यह तो मूर्ख ममता थी, जो उसके मन में बिलख रही थी। ममता को आश्वस्त कराने के लिये वह विवेक की हत्या नहीं कर सकती। किन्तु यदि उसने कर्ण को नहीं बताया तो वह अर्जुन से द्वन्द्व युद्ध करेगा....उसके अपने ही पुत्र एक-दूसरे के विरुद्ध, शस्त्र ले कर लड़ेंगे...सम्भव है कि दोनों में से एक का वध हो जाये...

बता दे कुन्ती!...चुप रह कुन्ती! कुन्ती बताती क्यों नहीं?...कुन्ती सँभल! अपने-आपको सँभाल! नहीं तो कोई-न-कोई मूर्खता कर ही बैठेगी...

कुन्ती को लगा, जैसे सारा ब्रह्माण्ड घूम रहा है।...

वैद्यों की देख-रेख में दासियाँ कुन्ती को उसके रथ की ओर ले जा रही थीं; और दुर्योधन कृपाचार्य से पूछ रहा था, “अब

तो कर्ण, अर्जुन से द्वन्द्व युद्ध करने के योग्य हो गया न आचार्य?"

कृपाचार्य हँसे, "क्यों अब क्या अन्तर आ गया कर्ण में?"

"क्यों!" दुर्योधन कुछ उत्तेजित हो कर बोला, "अब वह राजा है—महाराज अंगेश। उसका राज्याभिषेक हुआ है।"

कृपाचार्य मुस्कुराए बिना नहीं रह सके, "कल यदि जरासंध, राजगृह में अपने किसी कर्मचारी का, हस्तिनापुर के सम्राट के रूप में राज्याभिषेक कर देगा, तो क्या वह कर्मचारी हस्तिनापुर का सम्राट हो जायेगा?" कृपाचार्य गम्भीर हो गये, "वत्स दुर्योधन! अंगराज का राज्याभिषेक चम्पा अथवा मालिनी नगरी के राजप्रासाद में रखे राजसिंहासन पर बैठ कर होगा।...आज जो कुछ भी हुआ है, वह कर्ण को तुम्हारा वचन मात्र है कि समय आने पर तुम उसका यह अधिकार स्वीकार कर लोगे। यह तो निर्धारित हुआ ही नहीं कि सैन्याभियान तुम करोगे या स्वयं कर्ण करेगा।...और भी एक बात है राजकुमार!" कृपाचार्य ने कुछ रुक कर दुर्योधन को देखा, "दस्यु वृत्ति से प्राप्त राज्याधिकार से शायद ही किसी को राज-समाज में सम्मान मिला हो। जा कर पूछो अपने पितामह से, विदुर से, अपने आचार्य से—उनमें से कोई भी कर्ण को राजा की मान्यता देता है? कोई मानता है उसे, महाराज अंगेश?...अच्छा हो कि कर्ण स्वयं को अधिकार से पहले, सम्मान के योग्य सिद्ध करे। उसे तो ऋषि परशुराम ने अपने शिष्य के रूप में भी स्वीकार नहीं किया!"

दुर्योधन को लगा, राजसमाज से पहले तो कर्ण को कृपाचार्य से ही मान्यता प्राप्त करनी होगी।...और उसके क्रोध के लिये यह पर्याप्त था।...यह हमारा राजकर्मचारी...वेतन-भोगी कृपाचार्य...जिसका पालन-पोषण हस्तिनापुर के राजवंश ने ही किया।...आज वह इस प्रकार से बातें कर रहा है, जैसे वह सचमुच ही हस्तिनापुर का स्वामी हो।...उसे लगा, कहीं उसका आक्रोश फट ही न पड़े। उसका यहाँ से हट जाना ही उचित था...

"आओ मित्र!" वह कर्ण का हाथ पकड़े हुए रंगशाला से बाहर निकल गया।

15

अपने कक्ष में लेटी कुन्ती वैद्यों के निर्देशानुसार विश्राम कर रही थी; किन्तु उसका मन तनिक भी शान्त नहीं था।... पाण्डवों के साथ गान्धारी के पुत्रों के वैर-विरोध ने उसे कभी इतना विचलित नहीं किया था; किन्तु स्वयं उसका अपना पुत्र कर्ण, उनका वैरी हो जाये, और वह उसे बता भी न पाये, समझा भी न पाये, यह कैसी विवशता थी उसकी!...उसका मन जैसे सागर की अशान्त लहरों के समान उमड़-उमड़ कर, हाथ पसारे उसे अपनी गोद में खींच लेने के लिये बढ़ता था, किन्तु मर्यादा के कगार उसे बार-बार पीछे धकेल देते थे। यदि उसने कर्ण को अंगीकार किया तो वह अपने पिता और अपने पुत्रों—दोनों को कलंकित करेगी।...वह अपने ही पुत्रों के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा बन जायेगी।...नहीं! उसे यह नहीं करना है। वह अपने लिये नहीं, उनके लिये जियेगी और अपने इस ममतामय हृदय को विवेक के अंकुश में रखेगी। ...किन्तु कर्ण के लिये उसका हृदय बिलखता है...उस दिन रंगशाला में कैसा पीड़ित और अपमानित अनुभव किया होगा उसने।...कृपाचार्य ने उससे उसका वंश पूछा था।...भीम ने ही उसे सूत-पुत्र कह कर पुकारा था।...वह उसका पक्ष ले कर अपने ही पुत्रों से कुछ नहीं कह सकती थी।...उन्हें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं होना चाहिए कि उसके मन में कर्ण के लिये कोमल भाव है।...कैसा विधान रचा है तुमने विधाता...कितना बिलखता था उसका मन, अपने इस शिशु-पुत्र के लिये। किन्तु अब उसने देख लिया है कि वह शिशु नहीं है। वयस्क हो गया है। दुर्योधन ने उसे राजा मान लिया है। उसके पास उसकी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिये राधा और अधिरथ हैं। सारथि है तो क्या! माता-पिता का दायित्व तो जाति और वंश नहीं देखता।...सम्भव है, उसका विवाह भी हो गया हो।..यदि कहीं कुन्ती ने उसे अंगीकार कर लिया और वह पाण्डवों में आ मिला, तो उसका अंगदेश का राज्य भी छिन जायेगा और उसका भी भविष्य पाण्डवों के ही समान अनिश्चित हो जायेगा।...वह उसे अपनी ओर से दे कम पायेगी—वंचित ही अधिक करेगी! पहले भी तो उसने यही किया था उसके साथ...

"कैसी हो माँ?" युधिष्ठिर ने कक्ष में प्रवेश करते हुए पूछा, "देखो! विदुर काका भी आये हैं।"

कुन्ती उठ कर बैठ गयी। उसने देखा, युधिष्ठिर के साथ विदुर ही नहीं— भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव भी थे। वे लोग संयोग से ही एक साथ नहीं आये थे; लगता था कि इससे पूर्व भी कहीं एक साथ बैठ कर वे लोग विचार-विमर्श करते रहे होंगे।...कुन्ती को लगा कि क्षण-भर के लिये उसके मन में अवसाद घिर आया है। ये लोग इकट्ठे बैठे होंगे तो धृतराष्ट्र, दुर्योधन तथा शकुनि की दुष्टताओं पर विचार करते हुए, इन्होंने साथ-साथ कर्ण को भी कोसा होगा।... इन्हें क्या मालूम कि कर्ण इनका ही भाई है। ये नहीं जानते कि वह इनका शत्रु नहीं, वह तो सामाजिक विडम्बना का आखेट, एक अबोध बालक है, जो घर से निकाल कर गली में धकेल दिया गया है; और अपने परिवार के किसी व्यक्ति को अपने निकट न पा कर, अपने अकेलेपन और अपनी असहायता में वह गली में फिरने वाले कुत्तों से मित्रता कर बैठा है। बेचारा नहीं जानता कि वे कुत्ते हैं, उनमें न मानवता है, न न्याय, न धर्म और न उदार दृष्टि! वे केवल अपनी भूख और अपना भय ही पहचानते हैं—उससे अधिक की बुद्धि ही उनके पास नहीं है। वे लोभ अथवा अपनी आशंकाओं से उत्पन्न त्रास के आवेश में किसी को भी काट लेते हैं; और अब तो अपने मार्ग पर चलते पथिकों को काटना उनका दैनिक अभ्यास ही हो गया है।...कर्ण नहीं जानता कि उनसे वह रोग, उसे भी लग जायेगा। वह भी उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म, मानवता-अमानवता—कुछ नहीं पहचानेगा। वह भी मार्ग चलते लोगों को काटने का अभ्यास बना लेगा...और क्रमशः अपने उन्माद में विक्षिप्त होते-होते, वह पूर्णतः अलर्क हो जायेगा...परिणामतः सुधिजन उसे घेर कर मार डालेंगे...

तो क्या करे कुन्ती? मृत्यु पथ पर बढ़ते अपने उस पुत्र की बाँह पकड़ कर, उसे गली से अपने घर में ले आये? ...उसे घर में ले आने से ही घर उजड़ गया तो?...वह अपना घर बचाये या गली में खड़े उस पुत्र को?...घर में पलते, अपने इन बेटों को समझाये कि वह इनका भाई है और वह केवल अपनापन खोज रहा है, या गली में खड़े उस पुत्र को समझाये कि उसके सब आत्मीयजन वर्तमान हैं; किन्तु विधाता ने उसे कुछ ऐसी घड़ी और उन परिस्थितियों में जन्म दिया है कि उसे अपना घर होते हुए भी, वह मिल नहीं पायेगा...इसलिये वह अपने इन भाइयों से वैर न करे...

"कैसी हैं भाभी आप?" विदुर ने पास आ कर पूछा।

कुन्ती ने युधिष्ठिर को संकेत किया, 'काका को आसन दो।' और मुस्कुरा कर बोली, "ठीक हूँ। मेरी तो समझ में ही नहीं आया कि मुझे हुआ क्या था। एक चक्कर आया था और थोड़ी देर के लिये कुछ अवश-सी हो गयी थी; किन्तु तुम लोग मेरी ऐसी शुश्रुषा कर रहे हो, जैसे मैं वर्षों की रोगिणी हूँ।"

"भाभी! जिसके रोग का ज्ञान होता है, उसके विषय में इतनी चिन्ता नहीं होती, क्योंकि उसका कारण ज्ञात होता है; किन्तु किसी स्वस्थ व्यक्ति में अकारण ही रोगी के-से लक्षण दिखायी पड़ें, तो अधिक चिन्ता होती है, कि कहीं कोई असाध्य रोग न हो। यह तो अज्ञात का भय है भाभी।"

"वैद्य मेरा नाड़ी-परीक्षण कर तो चुके।" कुन्ती के अधरों पर एक लीलामयी मुस्कान उभरी, "उन्होंने मेरे रोग का निदान नहीं किया?"

विदुर अवाक उसे देखता रहा : कैसी नारी है यह! कितनी सहनशीलता है इसमें? कितना आत्मदमन कर सकती है यह? कितना अभेद्य है इसका मन?...

"क्यों? ऐसे क्या देख रहे हो?" कुन्ती पुनः मुस्कुरायी, "क्या राजवैद्य ने कोई असाध्य रोग बता दिया है मुझे?"

"नहीं!" विदुर बोला, "असाध्य नहीं, अज्ञात रोग बताया है।"

कुन्ती गम्भीर हो गयी, "क्या बताया है राजवैद्य ने?"

"उसे शारीरिक रोग के कोई लक्षण नहीं मिले हैं।" विदुर ने बताया, "किन्तु शारीरिक रोग का कोई प्रत्यक्ष कारण न होने पर भी यदि शरीर रोगी लगे तो उसका अर्थ है कि मन पर कोई असह्य बोझ है।"

कुन्ती पुनः मुस्कुरायी, "मन पर जितना और जैसा बोझ है, वह तो तुम जानते ही हो विदुर!"

"जितना मैं जानता हूँ—उसके लिये कुछ नहीं कहता।" विदुर बोला, "और यह भी जानता हूँ कि रंगशाला में कर्ण और दुर्योधन ने मिल कर, अर्जुन के लिये जो विकट स्थिति उत्पन्न कर दी थी, उसके कारण भी आपका मन बहुत विचलित हुआ होगा। किन्तु यदि इनके अतिरिक्त कोई और बात हो तो?..." विदुर के चेहरे पर जैसे उसके मन की सम्पूर्ण आत्मीयता और स्नेह उमड़ आया, "आप जानती हैं भाभी! कि मुझसे आपको कुछ भी गोपनीय रखने की आवश्यकता नहीं है।..."

"बहुत अच्छी प्रकार जानती हूँ विदुर! तुम मेरे उतने ही आत्मीय और प्रिय हो, जितने मेरे ये पुत्र! तुम्हें मालूम है, मैं पितृव्य भीष्म से भी अधिक तुम पर निर्भर रहती हूँ।" कुन्ती बोली, "तुम मेरा विश्वास करो, मैं मिथ्यावादिनी नहीं हूँ। मैं असत्य भाषण नहीं करती। सिवाय आत्मरक्षा और नीति-रक्षा के अवसरों के—दुराव भी मेरी प्रवृत्ति नहीं है।"

"आप मुझसे कुछ नहीं छिपा रहीं?"

"विदुर! स्त्री अपने पुत्र के सम्मुख अवगुण्ठन धारण नहीं करेगी; किन्तु वह स्वयं को अनावृत्त तो नहीं कर सकती।"

क्षण-भर के लिये विदुर की आँखों में एक आभा झलकी और वह सहज हो गया, "ठीक है भाभी! आप अपने मन को सँभालें; हम हस्तिनापुर की स्थितियों को सँभालेंगे। विधाता की कृपा रही, तो सब कुछ मंगलमय होगा।"

सहसा कुन्ती का ध्यान अपने पुत्रों की ओर गया : वे पाँचों-के-पाँचों ठगे-से खड़े थे, जैसे कुछ समझ ही न पा रहे हों। कुन्ती मुस्कुरायी, "तुम लोग इस प्रकार बौराए-से क्यों खड़े हो। माँ थोड़ी-सी अस्वस्थ हो गयी, तो सृष्टि का चक्र तो नहीं रुक गया। अब बालक नहीं हो तुम लोग! बड़े हो गये हो। कल तुम्हारी पत्नियाँ आयेंगी, तो हँसेगी तुम पर!...वैसे भी किसी पत्नी को अपने पति का अपनी माता से इस प्रकार इतना प्रेम करना अच्छा नहीं लगता।"

पुत्रों ने हँस कर झेंप मिटायी और किसी-न-किसी प्रकार की व्यवस्था कर, माँ के निकट बैठ गये।

"आपके पास आने से पहले भाभी! हम लोग हस्तिनापुर की स्थिति पर विचार कर रहे थे।" विदुर ने बात आरम्भ की, "हमें लगता है कि महाराज धृतराष्ट्र के समान असमर्थ अन्धपुरुष के सम्मुख भी पितृव्य भीष्म दुर्बल पड़ते जा रहे हैं। उनका नियन्त्रण शिथिल ही नहीं हुआ है, प्रायः समाप्त ही हो गया है। मन्त्रि-परिषद का दबाव भी राजा पर तब तक ही रहता है, जब तक राजा न्याय-प्रिय होता है। मैं अपनी बात राजसभा में कब तक मनवा सकूँगा—इसका स्वयं मुझे कोई अनुमान नहीं है।..."

"इन सारी समस्याओं का समाधान एक ही है विदुर! कि राजसभा युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक करे।" कुन्ती बोली, "तुम उसके लिये पितृव्य भीष्म तथा महाराज धृतराष्ट्र पर दबाव डालो। एक बार युधिष्ठिर युवराज-पद पर आसीन हो जाये तो, तुम्हारी सारी समस्याएँ समाप्त हो जायेंगी।..."

"यह हम सब जानते हैं भाभी!" विदुर बोला, "हम ही नहीं दुर्योधन और शकुनि भी जानते हैं। इसलिये वे युधिष्ठिर के युवराज्याभिषेक को रोकने अथवा यथासम्भव स्थगित करने के लिये पूरा-पूरा प्रयत्न कर रहे हैं।..."

"क्यों? अब क्या है?" कुन्ती के स्वर में आवेश था, "अब युधिष्ठिर वयस्क हो चुका है। शिक्षा प्राप्त कर चुका है। अब वह अपने पिता का राज्य सँभालने में पूर्णतः समर्थ तथा सक्षम है।...अब उसे टालने का कोई तर्क ही नहीं है।..."

"स्वार्थ अपना तर्क स्वयं ढूँढ लेता है भाभी!" विदुर मुस्कुराया, "जहाँ वास्तविक अधिकारी की हत्या कर, उसके अधिकार का अपहरण करने में भी तनिक संकोच न हो, वहाँ क्या स्वार्थ-सिद्धि के लिये कुतर्क नहीं जुटाये जा सकते?" विदुर ने कुन्ती और उसके पुत्रों को थोड़ी देर जैसे शून्य दृष्टि से देखा, "मुझे लगता है कि महाराज धृतराष्ट्र ने रंगशाला-उत्सव की अनुमति भी किसी विशेष प्रयोजन से ही दी थी।..."

"उसमें क्या प्रयोजन हो सकता है?" कुन्ती ने उसकी बात बीच में काट दी, "स्वयं आचार्य द्रोण अपने शिष्यों के माध्यम से अपनी उपलब्धि का प्रदर्शन करना चाहते थे..."

"वे अवश्य चाहते रहे होंगे कि उनकी उपलब्धि को सराहा जाये। सम्भव है कि वे अपनी उपलब्धि को विपुलाकार बना कर प्रस्तुत करना चाहते हों; किन्तु महाराज धृतराष्ट्र की रुचि आचार्य की उपलब्धियों की महत्ता की प्रतिष्ठा में नहीं हो सकती। वे कभी नहीं चाहेंगे कि हस्तिनापुर में द्रोण एक स्वतन्त्र शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हों। यदि केवल परीक्षण मात्र ही उनका लक्ष्य था, तो वे युद्धशाला में जा कर राजकुमारों का शस्त्र-कौशल देख सकते थे। रंगशाला के निर्माण तथा इस समारोह पर राज्य का धन इसलिये व्यय नहीं किया गया कि गुरु द्रोणाचार्य का गौरव बढ़े...।"

"तो?" कुन्ती ने पूछा।

"यह इसलिये किया गया कि हस्तिनापुर के कुरु-वृद्धों और प्रजा को यह दिखाया जा सके कि कुरु राजकुमारों में कौन व्यक्तिगत रूप से सर्वाधिक योग्य है तथा नेतृत्व की क्षमता किसमें सबसे अधिक है...।"

"क्या कहना चाहते हो विदुर?" कुन्ती जैसे सावधान हो कर बैठ गयी।

"हाँ भाभी! युधिष्ठिर सारे कुरु राजकुमारों में ज्येष्ठ है, इसे कोई झुठला नहीं सकता।" विदुर बोला, "ज्येष्ठता के आधार पर दुर्योधन को युवराज नहीं बनाया जा सकता; इसलिये वह योग्यता की कसौटी को युवराज-पद के साथ जोड़ना चाहते हैं। यही कारण है कि उन्होंने रंगशाला में इतने विराट प्रदर्शन की योजना बनायी थी। उन्होंने उसे कुरु राजकुमारों का अपनी व्यक्तिगत योग्यता का प्रदर्शन नहीं रहने दिया। उसे उन्होंने पाण्डवों तथा धार्तराष्ट्रों का शक्ति-परीक्षण बना दिया। यही कारण था कि गदा-युद्ध में दुर्योधन ने स्वयं भीम की हत्या का प्रयत्न किया और कर्ण के माध्यम से अर्जुन को पूर्णतः पराभूत करने का प्रयत्न किया गया। यह संयोग ही है कि भीम, दुर्योधन के आक्रमणों से बच ही नहीं गया, वह उस पर भारी भी पड़ने लगा और अर्जुन तथा कर्ण का द्वन्द्व-युद्ध कृपाचार्य ने होने नहीं दिया।...यदि कहीं उनका षड्यन्त्र सफल हो जाता तो रंगशाला में ही भीम अथवा अर्जुन में से किसी एक की हत्या अवश्य हो जाती।...और यदि धार्तराष्ट्रों तथा पाण्डवों में सीधे अथवा प्रकारान्तर से, उनके समर्थकों के माध्यम से टक्कर हो जाती, तो वे अवश्य ही यह सिद्ध करने में सफल हो जाते कि दुर्योधन युधिष्ठिर से कहीं अधिक सफल नेता तथा शक्तिशाली गुट का प्रमुख है; अतः वह हस्तिनापुर का युवराज होने के योग्य है।..."

"किन्तु अब तो वह सब हो चुका।" कुन्ती बोली, "अब युधिष्ठिर के युवराज बनने में क्या बाधा है?"

"वे इसे 'हो गया' नहीं मानते भाभी!" विदुर धीरे से बोला, "वे अभी इस विवाद को बढ़ाना चाहते हैं। दुर्योधन के साथ उसके अपने भाई तो हैं ही, उसने कर्ण को भी सदा के लिये अपने साथ जोड़ लिया है। यद्यपि द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा अभी पाण्डवों तथा धार्तराष्ट्रों में तटस्थ-सा दिखता है, फिर भी जहाँ तक मैं समझता हूँ, वह दुर्योधन के ही अधिक निकट है; और यदि कभी कोई ऐसा अवसर आया, जिसमें उसे धार्तराष्ट्रों और पाण्डवों में से किसी एक को ही चुनना पड़ा, तो वह धार्तराष्ट्रों का ही पक्ष ग्रहण करेगा। पुत्र के स्नेह में द्रोण भी उधर ही जायेंगे और अपने भागिनेय तथा भगिनी पति की पक्षधरता के कारण कृपाचार्य भी दुर्योधन के ही पक्ष में चले जायेंगे। उनके पीछे शकुनि तथा गन्धार राज्य का भी बल है भाभी! वे लोग युवराज का अभिषेक सहज ही नहीं होने देंगे।"

विदुर चुप हो गया और कुन्ती के मन में बार-बार आ रहा था कि वह तो बहुत पहले खो गये अपने एक पुत्र को प्राप्त करने के लिये इतनी व्याकुल थी, वह क्या जानती थी कि जो पुत्र अपने पास हैं, उन पर भी ऐसी विपत्ति आयी हुई

है।...किन्तु कहीं ऐसे में ही वह कर्ण को बता सकती। उसे अपने पक्ष में ला सकती! दुर्योधन को कुछ दुर्बल बना सकती...

"अच्छा! अब मैं चलता हूँ!" विदुर उठ खड़ा हुआ; किन्तु उसने चलने का कोई उपक्रम नहीं किया। अपने चिन्तन में लीन चुपचाप खड़ा रहा और फिर सहसा ही बोला, "युधिष्ठिर! एक बात का ध्यान रहे कि अब स्पर्धा आरम्भ हो चुकी है। अब कहीं भी हमसे प्रमाद न हो।...कहीं भी दुर्योधन कुरु राजकुमारों की सम्मिलित शक्ति का नेता दिखायी न दे। सम्मिलित अभियान में तभी सम्मिलित होना, जब उसका नेतृत्व तुम्हारे हाथ में हो। ऐसा न हो कि कृत्य तुम लोगों का हो और उसका श्रेय दुर्योधन ले जाये। प्रयत्न करना कि सारे सामूहिक अभियान में भी धृतराष्ट्र के पुत्रों से पाण्डु के पुत्र पृथक भी दिखायी पड़ें और उनसे अधिक योग्य भी।..."

"ऐसा ही होगा काका!" युधिष्ठिर मन-ही-मन, शब्दों से अधिक उनका अर्थ समझ रहा था।

"पिता जी!" अश्वत्थामा हाथ जोड़े, द्रोणाचार्य के सम्मुख खड़ा था।

"हाँ पुत्र!"

"हस्तिनापुर के राजकुमारों का प्रशिक्षण समाप्त हो गया। आप उनके युद्ध-कौशल को प्रदर्शित भी कर चुके।"

"हाँ पुत्र!"

"अब यहाँ युवराज का चयन होगा पिता जी!"

"यह बात तुम पहले कह चुके हो। तुम्हें क्या अब भी नहीं लगता कि निर्णय हो चुका?" द्रोण ने हँस कर अपने पुत्र को देखा, "सम्राट् पाण्डु का ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते युधिष्ठिर हस्तिनापुर का युवराज है।"

"नहीं पिता जी!" अश्वत्थामा के स्वर में कुछ उग्रता थी, "हस्तिनापुर में राजसिंहासन पर बैठने के लिये ज्येष्ठ पुत्र होने का नियम कभी नहीं रहा। शान्तनु अपने भाइयों में सबसे बड़े नहीं थे। देवापि उनसे बड़े थे। शान्तनु के पुत्रों में भीष्म सबसे बड़े थे, किन्तु वे राजा नहीं हुए। धृतराष्ट्र और पाण्डु में भी धृतराष्ट्र बड़े थे, किन्तु राज्य पाण्डु को दिया गया...।"

"यह भी तुम्हारे मित्र का ही तर्क है?" द्रोण की दृष्टि में तीक्ष्णता थी, "यह चिन्तन तुम्हारा नहीं हो सकता।"

"तर्क तो यह दुर्योधन का ही है; किन्तु सत्य होने के कारण हम सबको मान्य है।" अश्वत्थामा बोला, "इसलिये इस पीढ़ी में भी केवल ज्येष्ठ होने के कारण, युधिष्ठिर युवराज नहीं हो सकता।"

"सम्राट् पाण्डु के पुत्रों में से यदि ज्येष्ठ युवराज नहीं होगा, तो मध्यम या कनिष्ठ होगा। दुर्योधन बीच में कहाँ से आ गया। वह असत्य के लिये युद्ध कर रहा है। दुर्योधन है वह!"

किन्तु अश्वत्थामा का आग्रह तनिक भी कम नहीं हुआ, "यदि राजा का पुत्र ही युवराज होगा, जो इस समय राजा धृतराष्ट्र हैं।...युधिष्ठिर कहाँ से युवराज हो जायेगा?"

द्रोण हँसे, "धृतराष्ट्र राजा नहीं राज-प्रतिनिधि हैं; किन्तु लगता है कि वह आधिपत्य जमाने का उपक्रम कर रहा है।"

"पिता जी!" अश्वत्थामा के स्वर में प्रतिवाद था, "यह राजनीति है।"

"तो पुत्र?"

"आप दुर्योधन को युधिष्ठिर से अधिक योग्य घोषित करें।"

"इसके लिये आग्रह मत करो अश्वत्थामा।" द्रोण का स्वर मात्र शान्त ही नहीं था, उसमें अवसाद भी था, "उसे कहो, वह स्वयं को योग्य प्रमाणित करे।"

"क्या वह रंगशाला में सबसे योग्य नेता प्रमाणित नहीं हुआ?"

"नहीं!" द्रोण के स्वर में रोष था, "न योग्यतम योद्धा, न योग्यतम नेता। उसने तो स्वयं को सबसे बड़ा उपद्रवी और षड्यन्त्रकारी प्रमाणित किया है।"

"क्या आपको नहीं लगता कि स्थितियाँ उसके अनुकूल नहीं थीं?"

"स्थितियाँ अनुकूल न हों; तो व्यक्ति को धैर्य धारण करना चाहिए। उपद्रव नहीं करना चाहिए," द्रोण बोले, "तुमने मुझसे इच्छापूर्ति का वरदान माँगा था और तुम्हारी इच्छा थी कि मैं कर्ण और अर्जुन की स्पर्धा में बाधा न बनूँ! मैंने कर्ण को अनुमति दे दी।...और उसने द्वन्द्व-युद्ध माँग लिया। द्वन्द्व-युद्ध का वरदान तो नहीं दिया था तुम्हें मैंने। किस संकट में डाल दिया, तुम लोगों ने मुझे। यदि मैं द्वन्द्व-युद्ध की अनुमति न देता तो यह माना जाता कि मैं कर्ण के बल से भयभीत हूँ, इसलिये अपने शिष्य को उससे युद्ध करने की अनुमति नहीं दे रहा हूँ। वह अर्जुन की नहीं, मेरी प्रतिष्ठा का प्रश्न बन जाता। अनुमति दे दी, तो यह माना गया कि मैंने कुरु-वंश के सम्मान की रक्षा नहीं की; तथा मैं उनकी सुरक्षा के लिये विशेष चिन्तित नहीं हूँ। वह तो कृपाचार्य ने युद्ध नहीं होने दिया। मेरे लिये कृप वरदान सिद्ध हुआ, अन्यथा मुझे पूरा विश्वास है कि वहाँ द्वन्द्व-युद्ध के स्थान पर युद्ध ही होता। अर्जुन पराजित होता, तो कुरु राजकुमारों के वध के लिये मैं दोषी ठहराया जाता; और कर्ण दुर्बल पड़ता तो तुम्हारा यह दुर्योधन उसकी रक्षा के लिये अवश्य ही हस्तक्षेप करता। ऐसे में अन्य लोग भी सक्रिय होते और मुझे भी धनुष उठाना पड़ता।" द्रोण ने पुत्र की ओर देखा, तो अश्वत्थामा समझ नहीं पाया कि उनकी आँखों में क्रोध का भाव था या व्यथा का!

"मैं उसकी भूल के लिये लज्जित हूँ पिता जी!" अश्वत्थामा के स्वर में लज्जा नहीं, आग्रह-ही-आग्रह था, "किन्तु आप मेरी बात मान कर, राजसभा में दुर्योधन को योग्यतम राजकुमार घोषित करें।"

"अश्वत्थामा! मैं तुमसे बहुत प्रेम करता हूँ वत्स!" द्रोण ने अपना स्वर नियन्त्रित किया, "किन्तु अब तुम वयस्क हुए। बाल-हठ तुम्हें शोभा नहीं देता।..."

अश्वत्थामा कुछ कहने को हुआ, किन्तु द्रोण ने संकेत से उसे रोक दिया। वे जैसे आत्मलीन-से टहलते रहे और फिर बोले, "मैं यहाँ अपना एक लक्ष्य ले कर आया था। यहाँ की राजनीति के कर्दम में धँसने की मेरी कोई इच्छा नहीं है। ...अपने इस लक्ष्य के लिये मैं सारा उपक्रम कर चुका। अब फल-प्राप्ति का अवसर है। मैं अपना फल माँगूँगा। यही अन्तिम अवसर है कि सारे कुरु राजकुमार अपनी योग्यता सिद्ध करें।" उन्होंने दृष्टि उठा कर अश्वत्थामा को देखा और आदेशात्मक स्वर में कहा, "जाओ! सारे कुरु राजकुमारों से कह दो कि मेरी इच्छा है कि वे जायें और पंचालराज द्रुपद को बन्दी बना कर मेरे सामने ले आयें।" उन्होंने रुक कर अश्वत्थामा को देखा, "उनसे कह देना कि यह मेरी गुरु-दक्षिणा है।"

अश्वत्थामा को लगा, इतनी-सी बात कहने में जैसे उसके पिता हाँफ गये थे। पर शायद यह इतनी-सी बात नहीं थी...यह तो वर्षों से उनके मन में दबी साध थी, जो प्रकट हुई थी।...ठीक कहा था पिता ने कि परिस्थियाँ अनुकूल न हों, तो अनुकूल परिस्थितियों की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

"इसमें तो मेरे आग्रह की कोई रक्षा न हुई।" अश्वत्थामा से कहे बिना नहीं रहा गया।

"तुम्हारे आग्रह की रक्षा कर रहा हूँ पुत्र! अन्यथा पहले युधिष्ठिर हस्तिनापुर का युवराज घोषित होता और मैं उसके पश्चात गुरु-दक्षिणा माँगता।" द्रोण बोले, "तुम मुझसे यह आश्वासन ले सकते हो कि गुरु दक्षिणा चुकाने से पूर्व हस्तिनापुर में युवराज्याभिषेक नहीं होगा।...इस बात की प्रतीक्षा मेरे साथ-साथ हस्तिनापुर करेगा कि गुरु-दक्षिणा कौन चुकाता है। जो गुरु-दक्षिणा चुकायेगा, वही शिष्य मेरी ओर से योग्यतम घोषित होगा।..."

अश्वत्थामा को लगा, पिता ने एक नये रूप में उसे पुनः इच्छा-पूर्ति का वरदान दे दिया है।

16

सारे कुरु राजकुमार शस्त्र-सज्जित हो कर, द्रुपद पर आक्रमण करने के लिये चले तो स्वयं द्रोणाचार्य उनके उत्साह को देख कर कुछ चकित थे। वे समझ नहीं पा रहे थे कि राजकुमारों के इस उत्साह का कारण क्या था? मात्र गुरु-दक्षिणा या कुछ और? आश्चर्य तो उन्हें इस बात का भी था कि राजकुमारों के साथ शकुनि तथा कर्ण भी थे—जो किसी भी रूप में उनके शिष्य नहीं थे। आचार्य ने उनसे दक्षिणा नहीं माँगी थी, न ही उनका आचार्य के प्रति कोई दायित्व ही था।... सम्भवतः वे दोनों दुर्योधन की सहायता के लिये जा रहे थे। यह भी सम्भव है कि स्वयं धृतराष्ट्र ने उन्हें दुर्योधन की रक्षा के लिये भेजा हो। शकुनि के प्रति द्रोण की कभी कोई अच्छी धारणा नहीं रही—न व्यक्ति के रूप में और न योद्धा के रूप में। उनकी धारणा थी कि यह व्यक्ति जन्मजात, वृश्चिक था, जिससे शत्रु भाव रखेगा, उसे तो दंशित करेगा ही; जिसका मित्र होगा, वह भी इसके विष से बच नहीं पायेगा। न उसकी मैत्री अच्छी थी, न शत्रुता। उससे तो असम्पर्क ही सबसे अधिक कल्याणकारी था। ...उन्हें लगता था कि दुर्योधन की समझ इतनी कच्ची और दूषित थी कि वह कभी भी अपने मित्र तथा शत्रु की परख नहीं कर पाया था। या कदाचित वह यही नहीं जानता था कि कौन उसका मित्र है तथा कौन शत्रु! जब मनुष्य यही नहीं जानता कि उसका हित क्या है और अहित क्या—तो वह अपने मित्र और शत्रु की परख क्या करेगा।...

वे अपने विषय में जानते थे कि हस्तिनापुर क्यों आये हैं। उन्हें क्या करना है! किन्तु उन्होंने यह कभी नहीं चाहा था कि अश्वत्थामा, दुर्योधन का ऐसा मित्र बन जाये! वे समझ रहे थे कि अश्वत्थामा जिसे दुर्योधन की मैत्री समझ रहा था, वह वस्तुतः उसकी दासता थी; और अपनी दासता के उस सम्मोहन में वह स्वयं तो बँधता ही था, अपने साथ-साथ अपने बन्धुओं को भी बाँधता जा रहा था...

कोई समय था जब द्रोण को अपने प्रशिक्षण पर बहुत विश्वास था; किन्तु अब, जब वे सारे राज-समाज द्वारा एक अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि के सफल आचार्य और प्रशिक्षक माने जाते थे, वे स्वयं अपने विषय में जानते थे कि वे अपने पुत्र को भी उस मार्ग पर नहीं चला पाये, जिस पर वे उसे चलाना चाहते थे। अश्वत्थामा वही बना, जो उसे बनना था—वे न उसकी दुर्बलताओं को सबलताओं में परिवर्तित कर पाये और न ही उसकी प्रवृत्तियों को सुधार पाये।...आज ये सारे राजकुमार उनकी माँगी हुई गुरु-दक्षिणा उन्हें देने के लिये इतने उतावले हो रहे हैं, क्योंकि उन्हें बताया गया है कि आज वे जो कुछ भी हैं—आचार्य द्रोण के ही कारण हैं। आचार्य द्रोण ने ही उन्हें यह बनाया है।...किन्तु यदि आचार्य द्रोण स्वयं अपने-आपसे यह प्रश्न करें कि यदि वे ही सबको बनाने वाले थे, तो क्या यदि वे चाहते तो दुर्योधन को भी अर्जुन बना सकते थे? तो उनका अपना मन ही उनका विरोध करेगा—नहीं! न अर्जुन को दुर्योधन बनाया जा सकता है, न दुर्योधन को अर्जुन! दुर्योधन को दुर्योधन ही बनना था और अर्जुन को अर्जुन ही। तो फिर गुरु का योगदान क्या है? क्या वे व्यर्थ ही यह सारा श्रेय ले रहे हैं? क्या उनका सारा यश मिथ्या है? क्या उन्होंने इन राजकुमारों को वीर योद्धाओं के साँचों में ढालने के लिये श्रम नहीं किया? क्या इन पर अपना समय नहीं लगाया? क्या उन्हें यह सारा ज्ञान नहीं दिया—जो केवल उनके ही पास था; जो राजकुमारों को और कहीं से भी उपलब्ध नहीं हो सकता था?...

उन्होंने अपनी प्रतिरक्षा में ये प्रश्न अपने-आपसे ही किये थे, जैसे वे स्वयं अपने-आपको ही विश्वास दिलाना चाह रहे थे कि उनका यह यश मिथ्या नहीं था।...किन्तु इन प्रश्नों ने उनके एक बहुत पुराने शत्रु-प्रश्न को मुक्त कर, दिन के उजाले में ला खड़ा कर दिया था, जिसे उन्होंने बड़े प्रयत्न और श्रम से बाँध कर, मन की किसी अँधेरी कोठरी में डाल रखा था...यदि वे इतने ही सक्षम थे, यदि उन्हें शस्त्रों का इतना ही ज्ञान था, यदि वे इतने ही महान योद्धा थे, जितना बड़ा योद्धा उन्हें संसार मानता था...तो जिस क्षण उन्होंने स्वयं को द्रुपद के द्वारा अपमानित पाया, उन्होंने उसी क्षण खड्ग क्यों नहीं सँभाला? धनुष क्यों नहीं साधा?...क्यों वे चुपचाप अपमानित-से सिर झुकाये हुए, वहाँ से चले आये थे? अपने इस प्रतिशोध के लिये क्यों उन्होंने वर्षों प्रतीक्षा की थी?...यदि वे मानते हैं कि संसार-भर में युद्ध-विद्या के अद्वितीय आचार्य हैं, तो क्यों एक साधारण से राजा को वे उसी क्षण ललकार नहीं पाये?...

आज वे अपने शिष्यों की सेना ले कर आये हैं, तो क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि वे द्रुपद के सामने स्वयं को अक्षम मानते थे?...

उन्हें लगा कि उनके अपने अहंकार ने अपने भीतर छिपे इस प्रखर प्रश्नकर्ता के सम्मुख हथियार डाल दिये थे, 'तुम ही बताओ कि मैंने ऐसा क्यों किया?'

प्रश्नकर्ता विद्रूप से हँसा, 'मैं तो तुम्हें पहले ही बता देता, किन्तु तुम अपने अहंकार के गढ़ में छिप कर बैठ गये थे; अपना साक्षात्कार करना ही नहीं चाहते थे। अब तुमने पूछा है, तो तुम्हें बता देता हूँ।'

'बताओ!'

'ऊपर से चाहे तुम जो भी बनो, किन्तु भीतर से बहुत कायर हो तुम।'

'कायर?'

'हाँ! साहस नहीं हुआ तुम्हारा, द्रुपद से लड़ने का! तुम्हें शस्त्रों का ज्ञान है, उनका व्यवहार नहीं आता तुम्हें। युद्धशालाएँ ही देखी हैं तुमने! युद्ध नहीं देखे! यह सूचना तो तुम्हें है कि कौन-सा शस्त्र चला कर कैसा आघात किया जा सकता है, किन्तु न तो तुमने आघात करके देखा है, न आघात खा कर। तुमने युद्ध-क्षेत्र में रक्त बहते तो कभी देखा ही नहीं है।' वह हँसा, 'अब भी जाओगे द्रुपद से लड़ने, या इन युवकों को भेज कर पीछे ही खड़े रहोगे?'

द्रोण ने जैसे पुनः अपना बचाव किया, 'मैं क्यों जाऊँगा? मैंने तो गुरु-दक्षिणा माँगी है। यदि मुझे स्वयं ही युद्ध करना होता, तो मैं गुरु-दक्षिणा क्यों माँगता?'

'तुममें साहस की बहुत कमी है,! द्रोण!' वह बोला, 'तुम शत्रु की सेना से डरते हो और प्रतिरोध से भी...।'

'प्रतिरोध से?'

'हाँ! प्रतिरोध से! आचार्य हो न—चाहते हो, सारा संसार तुम्हारे शिष्यों के ही समान, तुम्हारे सम्मुख सिर झुकाये खड़ा रहे। सम्मान ही पाने का अभ्यास रहा है तुम्हें। सम्मान न मिले तो तुम्हारी प्रतिहिंसा जाग उठती है।...'

'यह सब रहने दो।' द्रोण ने उसे डपट दिया, 'तुम यह बताओ, मैं और किससे डरता हूँ।'

'निर्धनता से डरते हो। असुविधा से डरते हो। आशंका से डरते हो।...'

'मैंने बहुत निर्धनता देखी है। तपस्या का जीवन रहा है मेरा।'

'रहा होगा! तब तुम यह नहीं जानते थे कि सुविधाएँ क्या होती हैं! अब सुविधाएँ छिन जाने का भय है तुम्हें...।'

"गुरुदेव!"

द्रोण अपने भीतर के हाहाकार से उबर कर बाहर आये। कैसा कोलाहल मच रहा था, उनके चारों ओर।...और इसकी उपेक्षा कर वे अपने भीतर के कोलाहल में ही भटक गये थे।

"क्या है?" उन्होंने दुर्योधन की ओर देखा।

"गुरुदेव! हम पंचाल की सीमाओं को रौंदते हुए, अब कांपिल्य के निकट आ गये हैं। आप यहीं ठहरें गुरुदेव!" दुर्योधन बोला, "हम द्रुपद को बाँध कर यहीं ला कर आपके चरणों में डाल देंगे। तब आप देखेंगे कि आपके एक संकेत पर आपका यह शिष्य क्या-क्या कर सकता है।"

"जाओ!" द्रोण बोले।

"मैं आपकी रक्षा के लिये कुछ सैनिक छोड़ जाऊँ गुरुदेव?"

"नहीं! मैं अपनी रक्षा कर लूँगा! तुम लोग जाओ!"

द्रोण ने देखा, दुर्योधन ने उन्माद की-सी अवस्था में अपने साथियों को आगे बढ़ने का संकेत किया; और वे लोग, एक नेता के अनुशासन में नहीं, उपद्रवियों की एक अत्यन्त हिंस्र भीड़ के समान, भयावह कोलाहल करते हुए, वेगपूर्वक आगे बढ़ गये।...किन्तु उन्होंने अत्यन्त आश्चर्य से यह भी देखा कि पाँचों पाण्डव, अपने स्थान पर खड़े रह गये। वे लोग तनिक भी आगे नहीं बढ़े।

इससे पहले कि द्रोण उनसे कुछ पूछते, अर्जुन आगे बढ़ा और हाथ जोड़ कर उनके सम्मुख खड़ा हो गया, "गुरुदेव! हमारी धृष्टता क्षमा करें।"

"क्या हुआ अर्जुन?"

"गुरुदेव! दुर्योधन न किसी का अनुशासन मानता है, न नेतृत्व! वह सेनापति होने योग्य नहीं है। हम उसके सेनापतित्व में युद्ध कर, पराजित हो, अपमानित नहीं होना चाहते; और न अपने बल तथा वीरता द्वारा विजय किये गये समर के श्रेय से, उसका गौरव बढ़ाना चाहते हैं।" उसने अत्यन्त शालीनता से गुरु की ओर देखा, "गुरुदेव! वह ज्येष्ठ युधिष्ठिर को अपना नेता नहीं मानना चाहता, तो हम उसे अपना नेता कैसे मान सकते हैं?"

"तुम गुरु-दक्षिणा के अभियान से असहयोग कर रहे हो अर्जुन?" बहुत प्रयत्न करने पर भी, द्रोण अपने स्वर में आया अपना रोष छिपा नहीं पाये। उन्हें लगा, क्षण-भर में ही भय की एक सिहरन जैसे उनके सारे व्यक्तित्व में व्याप्त हो गयी है...पाँचों पाण्डव युद्ध में भाग नहीं लेंगे, तो कुरुओं की सेना दुर्बल हो जायेगी।...वे द्रुपद से पराजित भी हो सकते हैं।...और फिर वह कोई साधारण सैनिक अभियान नहीं है। उन्होंने गुरु-दक्षिणा माँगी है...और उनका सर्वाधिक प्रिय शिष्य, जिसने आज तक सारी आज्ञाएँ, सारी इच्छाएँ पूरी करने के संकल्प किये थे, इस समय उससे उदासीन हो, एक ओर बैठ गया है...

"नहीं गुरुदेव!" अर्जुन ने सर्वथा आत्मविश्वास और अकम्पित स्वर में कहा, "आपकी गुरु-दक्षिणा मैं ही आपको दूँगा।" उसने गुरु की ओर, आत्मीयता भरी मुस्कान से देखा, "अधिक सम्भावना इस बात की है आचार्य! कि दुर्योधन के योजना-विहीन दंभी नेतृत्व में हम अपना युद्ध-कौशल प्रकट ही नहीं कर पायेंगे; और आपसे विद्या पा कर भी, अपने प्रथम ही युद्ध में पराजित हो कर आपको कलंकित करेंगे।..."

"तो?"

"मुझे पूर्ण विश्वास है गुरुदेव! कि दुर्योधन अपने भाइयों के साथ पराजित और अपमानित हो कर, अभी थोड़ी देर में नगर के बाहर आ जायेगा; और तब हम पाँचों भाई..."

"यह विभाजन, असहयोग और विखण्डन का समय नहीं है कौन्तेय!" आचार्य बोले, "तुम पाँच नहीं, एक सौ पाँच भाई हो...।"

"ज्येष्ठ युधिष्ठिर का नेतृत्व माना जाता तो हम एक सौ पाँच ही रहते आचार्य। किन्तु दुर्योधन के नेतृत्व में यह सम्भव नहीं है।" अर्जुन बोला, "गुरुदेव! हमारी ओर से न असहयोग है, न विभाजन, न विखण्डन! यह तो मात्र दुर्योधन की दुर्नीतियों का अनिवार्य परिणाम है। हमारे मन में तो अब भी उसके प्रति न वैर है, न द्वेष, न द्रोह..." अर्जुन ने रुक कर आचार्य को देखा, "हमें तो शतशृंग के आचार्यों ने यह आदेश दिया था कि हम अपने मन में किसी के लिये भी वैर, द्वेष, ईर्ष्या तथा द्रोह जैसे भाव न रखें। ये मन के मल हैं। उनका लक्ष्य कोई दूसरा होता है, किन्तु हम स्वयं उससे निरन्तर पीड़ित होते रहते हैं। किसी दूसरे पर फेंकने के लिये, अपने घर में मल एकत्रित करते रहना, कोई बुद्धिमत्ता नहीं है।"

द्रोण को लगा, कहीं अर्जुन उन्हें ही तो नहीं सुना रहा...उन्होंने तो एक लम्बे समय तक अपने मन में द्रुपद के विरुद्ध प्रतिहिंसा का भाव पाला है...

"और यदि दुर्योधन ही द्रुपद को बन्दी बना लाया, तो तुम पाँचों भाई, मुझे गुरु-दक्षिणा में क्या दोगे अर्जुन?" आचार्य ने अपनी प्रतिरक्षा में, विषय बदल दिया।

"वह असम्भव है आचार्य।"

"उसके साथ कर्ण भी है, शकुनि भी...।"

"द्रुपद उन पर भारी पड़ेंगे।"

"तुम शायद जानते नहीं हो, इस समय नगर में न धृष्टद्युम्न है और न शिखण्डी! अधिकांश सेना भी धृष्टद्युम्न के साथ गयी हुई है। द्रुपद अकेला है। वह दुर्योधन का सामना नहीं कर पायेगा।"

"मैं आपके कथन का खण्डन नहीं करता आचार्य!" अर्जुन बोला, "किन्तु थोड़ी देर धैर्य धारण करें।..."

अर्जुन ने हाथ जोड़ कर गुरु को प्रणाम किया और अपने भाइयों के निकट लौट गया।

द्रुपद राजसभा में जाने की तैयारी कर रहा था कि बहुत घबराये हुए चरों ने सामान्य शिष्टाचार की अवहेलना करते हुए, अत्यन्त वेग से उपस्थित हो कर सूचना दी की कुरुओं की सेना, न केवल पांचालों की सीमाओं को रौंदती हुई बढ़ती चली आयी है, वरन राजधानी में प्रवेश कर उत्पात मचा रही है। सीमा-प्रहरी उनको थोड़ी-सी देर रोकने में भी सक्षम नहीं थे।

आक्रमण कुछ इतना आकस्मिक और वेगवान था कि नगर-द्वार पर भी उनको रोकना सम्भव नहीं हो पाया था। वे लोग नगर के मार्गों से वीथियों में उत्पात करते हुए राजमार्ग की ओर बढ़ रहे थे; और शीघ्र ही राजप्रासाद तक पहुँचने वाले थे।

द्रुपद क्षण-भर के लिये तो हतप्रभ-सा खड़ा रह गया; किन्तु न तो यह निष्क्रिय खड़े रहने का समय था और न ही सोच-विचार करने का। उसके पास तो इतना भी समय नहीं था कि यह भी सोच पाता कि आक्रमण किस उद्देश्य से किया गया है!

द्रुपद ने तत्काल युद्ध-रथ सज्जित करने का आदेश दिया। सेवकों को कवच तथा शस्त्र लाने की आज्ञा दी। चरों को अपने भाइयों को सूचना देने के लिये दौड़ाया। प्रासाद-रक्षक सैनिकों को प्रासाद-द्वार पर एकत्रित होने की आज्ञा दी। कोटपाल को आक्रान्ताओं के मार्ग में बाधाएँ खड़ी करने का संदेश भेज दिया और उद्घोषकों को नगर-भर में घोषणा करने का आदेश दिया कि राजधानी पर शत्रुओं ने आकस्मिक रूप से आक्रमण कर दिया है। राज्य की सेना और राजकुमार नगर में उपस्थित नहीं हैं। इसलिये समस्त नगरवासी अपने सामर्थ्य के अनुसार उपलब्ध शस्त्रों से शत्रु का विरोध कर, राजधानी की रक्षा में सहायक हों।

द्रुपद का रथ राजमार्ग की ओर चला तो उसका मन अनायास ही इस आक्रमण के विषय में सोचने लगा : कौरवों और पांचालों की परम्परागत प्रतिद्वन्द्विता रही है, जो कभी अमैत्री, कभी असम्पर्क और कभी-कभी शत्रुता में भी परिणत होती रही है। किन्तु इस समय तो उनसे किसी भी विषय में कोई विशेष रार नहीं चल रही थी। तो इस आक्रमण का अर्थ! यह सैनिक अभियान है या दस्यु-कर्म! न कोई दूत आया, न रोष का कारण बताया गया, न युद्ध की घोषणा की गयी...और इस प्रकार का सैनिक अभियान! भीष्म तो ऐसे कायर नहीं हैं, जो इस प्रकार आकस्मिक आक्रमण कर दें।...और वह भी कैसे समय! जब न धृष्टद्युम्न नगर में है, न शिखण्डी और अधिकांश सैनिक और सेनापति भी उनके साथ गये हुए हैं।...यह तो घात लगा कर आक्रमण करना हुआ...

और सहसा द्रुपद का ध्यान आचार्य द्रोण की ओर चला गया...द्रोण बैठा है हस्तिनापुर में।...वह युद्ध-विद्या का आचार्य अवश्य है, किन्तु न वह क्षत्रिय है और न वीर। वही इस प्रकार का कायरतापूर्ण कार्य कर सकता है।...जिस क्षण द्रुपद को यह सूचना मिली थी कि द्रोण ने हस्तिनापुर में आश्रय लिया है, द्रुपद को उसी क्षण सावधान हो जाना चाहिए था कि ऐसा ही कुछ होगा...द्रुपद को लगा, उसका रक्त जैसे खौलने लगा है...वह देखेगा कि कौन-कौन आया है द्रोण की सहायता को...भीष्म आया है क्या?...आज कौरव देख लें कि पांचाल कैसे युद्ध करते हैं...

द्रुपद का वेग कौरवों को आगे बढ़ने से रोकने के लिये काफ़ी था। कौरव सेना का सामना होते ही पांचालराज को यह समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं हुई कि उन्हें युद्ध का कोई अनुभव ही नहीं है। या तो उन्हें व्यूह का कोई ज्ञान नहीं है, अथवा उन्होंने उसकी आवश्यकता ही नहीं समझी है। वे तो अपने सैनिकों को भेड़ों के एक रेवड़ के समान भगाते हुए चले आ रहे थे। दूसरा पक्ष भी प्रहार कर सकता है, इसकी तो उन्होंने चिन्ता ही नहीं की थी।...अब द्रुपद को अपने सामने आया देख, वे अपने-अपने स्थान पर खड़े, विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्र चला रहे थे।

पांचालों के पहले ही आघात से कौरवों के पाँव थम गये थे और द्रुपद तथा उसके भाइयों के बाण उन पर भारी पड़ने लगे थे।

चरों द्वारा सारे नगर में युद्ध का समाचार पहुँचा दिया गया था। पांचालों के घर-घर में शंख बजने की ध्वनि होने लगी थी और प्रत्येक शंख-घोष के साथ कुछ और पांचाल योद्धा, अपने राजा की सहायता के लिये पहुँच रहे थे।

दुर्योधन के बाण, द्रुपद की बाण-वर्षा के सामने, कुछ भी प्रभाव नहीं दिखा पा रहे थे। यदि वह बहुत सावधानी से देखता तो उसे वे सब द्रुपद के बाणों से टकरा कर टूट-टूट कर गिरते दिखायी दे जाते। द्रुपद का रथ वेग से चल रहा था और लगता था कि स्वयं पांचालराज फिरकी के समान घूम रहा है। उसका मुख किसी एक दिशा में दिखायी नहीं पड़ रहा था, वह तो जैसे किसी अलात चक्र के समान घूम रहा था।...दुर्योधन की इच्छा हुई की वह अपना धनुष फेंक दे और गदा ले कर रथ से उतर जाये...किन्तु गदा ले कर तो कदाचित वह द्रुपद के निकट भी न पहुँच पाये। द्रुपद के बाणों का वेग इतना अधिक था कि उसका रथ ही आगे नहीं बढ़ पा रहा था, वह पदाति कैसे बढ़ पाता।

उसने दृष्टि घुमा कर कर्ण को खोजा : वह तो अर्जुन के समान श्रेष्ठ धनुर्धर था, उसकी सहायता से आगे बढ़ा जा सकता था। यदि कर्ण अपने बाणों की सहायता से उसे द्रुपद के रथ के निकट पहुँचा दे, तो वह आचार्य द्रोण को

उनकी गुरु-दक्षिणा आज ही सौंप देगा।...किन्तु कर्ण की कठिनाइयाँ वह अपने रथ से ही देख सकता था। यह द्रुपद जाने कैसा धनुर्धर था कि अपनी रक्षा के लिये, योद्धा द्वारा पहना गया कवच निरर्थक-सा हो कर रह जाता था। द्रुपद के बाण जैसे कवच का मुँह चिढ़ाते हुए योद्धा के शरीर के जोड़ों में धँसते जाते थे। कर्ण पर्याप्त घायल हो गया लगता था। दु:शासन, विकर्ण तथा युयुत्सु भी घायल हो गये लगते थे और उनके रथ अपने स्थान से आगे बढ़ने के स्थान पर पीछे हट गये लगते थे।

सहसा पांचाल सैनिकों की जैसे एक और वाहिनी आ पहुँची। उनके खड्गों का वेग कुछ इतना अधिक था कि कौरव सेना के पाँव उखड़ गये। चारों ओर कौरव सैनिक पीछे की ओर भागते ही दिखायी दे रहे थे।...और तभी दुर्योधन के धनुष की प्रत्यंचा कट गयी। उसने स्फूर्ति से दूसरा धनुष उठाया; किन्तु जब तक वह बाण-संधान करता, द्रुपद के बाण ने दूसरे धनुष की प्रत्यंचा काट दी।

किंकर्तव्यविमूढ़-सा दुर्योधन देखता ही रह गया और तभी गोह के चमड़े के दस्ताने को चीरता हुआ बाण, दुर्योधन की हथेली में घुस गया।

"सारथि! कर्ण के निकट चलो।" दुर्योधन के मुख से अनायास ही निकल गया।

उसका सारथी जब तक रथ मोड़ता, उसने देखा, क्षत-विक्षत कर्ण अपने रथ से कूद कर, पीछे की ओर भाग गया था।

और कोई उपाय न देख, सारथि ने रथ मोड़ा और वह भी पीछे की ओर भागा।...

अर्जुन ने देखा : दुर्योधन, उसके साथी और उसकी सेना पूर्णतः पराजित हो चुकी थी। कर्ण की दुर्गति देख कर उसे विस्मय हुआ। एक बार तो उसे लगा कि उसे कर्ण की इस पराजय से अत्यन्त प्रसन्नता हुई है। उसकी इच्छा हुई कि वह अट्ठहास करे और पुकार कर कर्ण से पूछे, 'अंगराज! क्या इसी वीरता और युद्ध-कौशल के भरोसे उसे रंगशाला में द्वन्द्व-युद्ध की चुनौति दे रहे थे?...' किन्तु दूसरे ही क्षण उसके विवेक ने उसके गर्व को धिक्कारा। उसे किसी भी वीर का अपमान करने का अधिकार नहीं है। युद्ध में तो किसी की भी यह स्थिति हो सकती है। फिर पांचालराज द्रुपद तो श्रेष्ठ वीर योद्धा हैं—उनके सामने तो अच्छे-अच्छे महारथियों की यही स्थिति हो सकती है।...

उसने अपना अहंकार तो संयमित कर लिया; किन्तु उसका विस्मय अपने स्थान पर दृढ़ खड़ा रहा...यदि कर्ण की इतनी ही क्षमता थी, यदि उसमें इतनी ही वीरता थी, यही उसका युद्ध-कौशल था, तो कृपाचार्य ने रंगभूमि में अर्जुन का उससे द्वन्द्व-युद्ध हो ही क्यों नहीं जाने दिया? क्यों विचलित हो गये वे? क्या सचमुच उन्होंने यही माना था कि कर्ण को पराजित करके भी अर्जुन को कोई यश नहीं मिलेगा? या वे अर्जुन के प्राणों के लिये भयभीत थे।...यह भी सम्भव है कि चाहे कर्ण उतना वीर न भी हो, किन्तु द्वन्द्व-युद्ध की स्थिति में दुर्योधन को कोई ऐसा अवसर मिल ही जाता, जिससे वह अर्जुन पर कोई घातक वार कर सकता...

"भीम!" सहसा युधिष्ठिर बोला, "हमारी पराजय हो रही है। हस्तिनापुर की सेना पिटे हुए कुकुर के समान, अपनी पिछली टाँगों में दुम दबाए लौट रही है।..."

"यह हमारी पराजय नहीं है ज्येष्ठ!" भीम से भी पहले अर्जुन बोला, "यह दुर्योधन की पराजय है!"

"दुर्योधन हमसे भिन्न है क्या?" युधिष्ठिर के स्वर में रोष था।

"यदि वह आपको अपना नेता नहीं मानता, तो वह हमसे भिन्न ही है।" अर्जुन बोला।

"किन्तु हस्तिनापुर का सम्मान? कौरवों की कीर्ति?? गुरुदेव की दक्षिणा?"

"उन सबकी रक्षा की जायेगी।" अर्जुन आज बहुत धैर्यपूर्वक, अत्यन्त प्रौढ़ ढंग से बोल रहा था, जैसे आज के सारे अभियान का नायक वही हो, "आप हमारे राजा के रूप में यहीं खड़े रह कर हमारी प्रतिक्षा करेंगे। युद्ध के लिये हम चारों भाई जायेंगे। राजा को युद्ध तभी करना चाहिए, जब उसके पास अपने पक्ष से लड़ने वाला योद्धा न हो...।" अर्जुन ने युधिष्ठिर के उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की, "चलो सारथि!"

युधिष्ठिर अवाक खड़ा रह गया। उसके चारों भाई व्यूह-बद्ध रूप से नगर की ओर बढ़ गये। आगे-आगे पदाति भीम था, जो प्रायः दौड़ने की-सी गति से चल रहा था। उसने अपने कंधे पर भारी गदा उठा रखी थी। उसके वेग में

आतुरता थी। पैरों की धमक से जैसे धरती हिल रही थी। उसके पीछे-पीछे अर्जुन का रथ था। अर्जुन के हाथ में धनुष था, कंधों पर तूणीर थे और रथ के पिछले भाग में अनेक शस्त्रास्त्र रखे थे। नकुल और सहदेव अपने अश्वों पर अर्जुन के रथ के पिछले पहियों के रक्षक के रूप में जा रहे थे।...युधिष्ठिर के मन में उल्लास जागा : उसके भाई, क्रोध अथवा अहंकार के मद में अनुशासनहीन, उत्पाती हंताओं के रूप में नहीं, अनुशासित सेनापतियों के रूप में योजना-बद्ध रूप से व्यूह बना कर युद्ध करने जा रहे थे। वे अलग-अलग योद्धाओं के रूप में नहीं, एक समग्र सैनिक व्यूह के रूप में आगे बढ़ रहे थे। भीम, अर्जुन के रथ के लिये मार्ग प्रशस्त करेगा। शत्रु धनुर्धारियों से भीम की रक्षा अर्जुन करेगा। नकुल और सहदेव, अर्जुन के रथ के पहियों को सुरक्षित रखेंगे। भीम शस्त्रों से रक्षा करेगा, अर्जुन उसे अस्त्रों से बचायेगा; तथा नकुल-सहदेव उसके रथ की गति को भंग नहीं होने देंगे...।

आचार्य द्रोण मुस्कुराये, "युधिष्ठिर! मुझे लगता है कि तुम्हारे भाइयों ने, तुमसे छिपा कर, अपनी योजना बना रखी थी।"

"मुझे भी ऐसा ही लग रहा है गुरुदेव!"

"किन्तु क्यों युधिष्ठिर! उन्होंने तुम्हें इस योजना से पृथक क्यों रखा? वे तुम पर विश्वास करते हैं, तुमसे प्रेम करते हैं, तुम्हें अपना राजा और नायक मानते हैं, फिर...।"

"आचार्य! वे जानते हैं कि मैं कदाचित सुयोधन से पृथक रह कर युद्ध करना स्वीकार न करता...।"

"तुम अब भी उसे सुयोधन ही कहते हो!" आचार्य हँसे।

"हाँ आचार्य! मैं चाहता हूँ कि वह सुयोधन ही बना रहे।" युधिष्ठिर मुड़ा तो उसकी आँखों में पीड़ा का भाव था, "मुझे अपने भाइयों का यह विलगाव अच्छा नहीं लगता आचार्य! मुझे यह विभाजन और विखण्डन अच्छा नहीं लगता आचार्य! हम सब मिल कर क्यों नहीं रह सकते?"

आचार्य को लगा, युधिष्ठिर के मन की निर्मलता ने जैसे उनके हृदय को भी छू लिया है। कैसा अनासक्त है यह; निर्लोभी और निरभिमानी। इसे विभाजित मानवता अच्छी नहीं लगती, चाहे वह उसके अपने ही हित में हो। यह अपने स्वार्थ के लिये भी मानवता का अहित नहीं कर पायेगा।...इसके सारे भाई, जिसे दुर्योधन कहते हैं—इसके भाई ही क्यों, अब तो सारा हस्तिनापुर ही उसे दुर्योधन कहता है; यह उसे भी सुयोधन ही कहता है। यह एकता का कोई भी मूल्य चुकाने को तैयार हो जायेगा, कोई भी...अपना राज्याधिकार भी छोड़ देगा।...दुर्योधन को राजा भी मान लेगा यह?...और द्रोणाचार्य के मन में प्रश्न उठा, 'युधिष्ठिर यदि अपना राज्याधिकार त्याग दे, तो क्या कौरवों में स्थायी एकता रह पायेगी?'...और द्रोणाचार्य को लगा कि उनका अपना मन ही अस्वीकृति में सिर हिला रहा है, 'नहीं! ऐसा नहीं हो पायेगा! दुर्योधन पाण्डवों का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करेगा। कभी नहीं करेगा। युधिष्ठिर को इतना भला भी नहीं होना चाहिए। यह उसके तथा उसके भाइयों के हित में नहीं है!'

द्रोण ने युधिष्ठिर की ओर देखा : वह अब तक कदाचित अपने प्रश्न के उत्तर के लिये अपेक्षा-भरी दृष्टि से उनकी ओर देख रहा था।

"पुत्र! तुम सब मिल कर क्यों नहीं रह सकते, इसका उत्तर मैं क्या दूँ!" द्रोण बोले, "पर इस समय तो इतना ही कह सकता हूँ कि राजा के विवेकी और निष्ठावान कर्मचारी अनेक बार राजा के हित में, अनेक योजनाएँ और सूचनाएँ उससे गुप्त ही रखते हैं। यदि ऐसा न किया जाये, तो सम्भव है कि अपनी उदारता में राजा अपना तथा अपने साथियों का अहित कर बैठे।"

पाण्डवों के युद्ध-क्षेत्र में आते ही जैसे द्रुपद की सेना के सिर पर से द्रुपद के बाणों का कवच ही हट गया। अर्जुन के बाणों का जाल ऐसा फैला कि द्रुपद के सारे बाण जैसे उसमें उलझ कर रह गये। द्रुपद के बाणों का वेग कम होते ही, भीम के आक्रामक आघातों से उन्हें बचाना कठिन हो गया। अर्जुन का रथ क्या था, जैसे यम का पाश था। जिस ओर बढ़ जाता, उस ओर से द्रुपद अपने योद्धाओं को हटा ही नहीं लेते, तो उनके लिये निश्चित मृत्यु सामने खड़ी थी।

अपने भाई को कठिनाई में देख, उसका छोटा भाई सत्यजित आगे आया। उसने अपना रथ सामने ला कर ठीक अर्जुन के सम्मुख खड़ा कर दिया। उससे भीम के प्रहारों से होने वाली क्षति तो रुक गयी; किन्तु अर्जुन और द्रुपद के रथ में दूरी बढ़ गयी।...अर्जुन के मन में आशंका जागी—ऐसे में द्रुपद, युद्ध-क्षेत्र छोड़ कर कहीं भाग भी सकता था। वह

और सेना एकत्रित करके भी ला सकता था...यदि द्रुपद युद्ध-क्षेत्र छोड़ कर भाग गया, तो अर्जुन किसे पकड़ कर गुरु-दक्षिणा चुकाएगा।...और यदि द्रुपद और सेना एकत्रित कर लाया तो युद्ध और भी लम्बा खिंच जायेगा; किन्तु पाण्डव तो लम्बे युद्ध की योजना बना कर नहीं आये थे।...

अर्जुन की दृष्टि से यह तथ्य भी छिपा नहीं था कि पांचालों की ओर से लड़ने वाले अनेक योद्धा, प्रशिक्षित सैनिक नहीं थे। वे सामान्य प्रजाजन थे, जो अपने साधारण अस्त्रों-शस्त्रों से अपने राजा की सहायता कर रहे थे। वे अपने युद्ध ज्ञान से नहीं, अपने साहस से ही पाण्डवों के प्रहार का सामना कर रहे थे।...सामान्यतः राजाओं की ओर से या तो वेतन-भोगी सैनिक युद्ध करते थे, अथवा उनके अपने कुटुम्ब के क्षत्रिय योद्धा। सामान्य प्रजा को अपने राजा की सहायता के लिये युद्ध करते, अर्जुन ने कभी नहीं देखा था...काम्पिल्य में यदि आज द्रुपद की सामान्य प्रजा युद्ध के लिये, अपने घर से बाहर न निकल आयी होती, तो कदाचित दुर्योधन और कर्ण भी इस युद्ध में विजयी हो जाते। ...अर्जुन विस्मय-विमुग्ध था...द्रुपद में ऐसा कौन-सा गुण था कि उसकी प्रजा उससे इतना प्यार करती थी? अन्यथा नगरवासियों को क्या कि काम्पिल्य पर कौरवों का राज्य है अथवा पांचालों को। कुरु-पंचाल-जनपद की प्रजा के लिये कौरव तथा पांचाल शासकों में कोई विशेष अन्तर नहीं था...फिर भी...क्या द्रुपद बहुत न्यायी राजा है? क्या वह अपनी प्रजा से बहुत प्रेम करता है?...और तत्काल अर्जुन के मन में प्रश्न उठा, 'क्या युधिष्ठिर के राजा बनने पर पाण्डव भी, अपनी प्रजा को एक ऐसा धर्म-संगत, न्यायप्रिय तथा प्रजावत्सल, निष्पक्ष शासन दे सकेंगे, कि अपने राजा पर संकट आया देख, सारी प्रजा जैसे भी बन पड़े, जो भी शस्त्र उपलब्ध हो सकें, उनकी सहायता से अपने राजा की रक्षा के लिये निकल पड़े?'

अर्जुन को लगा, द्रुपद की सेना और प्रजा के प्रति उसके मन में जैसे शत्रु भाव है ही नहीं। वह उनका विनाश करना नहीं चाहता। वह उनको क्षति पहुँचाना भी नहीं चाहता। यदि सम्भव हो तो वह उनकी सराहना करना चाहता है, उनकी रक्षा करना चाहता है, उनका हित करना चाहता है; किन्तु इस समय विचित्र स्थिति थी। वह अपने कर्त्तव्य का बन्दी था। गुरु की आज्ञा से, गुरु-दक्षिणा के रूप में द्रुपद को बन्दी किये बिना, वह अपने शिष्य-धर्म का पालन नहीं कर सकता था; और द्रुपद को बन्दी बनाने के मार्ग में खड़ी थी पांचाल सेना, पांचाल प्रजा...और द्रुपद का भाई सत्यजित!...

सत्यजित के बाणों के कारण भीम आगे नहीं बढ़ पा रहा था; इसलिये अर्जुन का रथ भी रुक गया था। सामान्य स्थिति में, अपने रथ के मार्ग में आयी बाधा को हटाने के लिये, अर्जुन को अत्यधिक कठोर हो जाना चाहिए था, जैसा कि इस समय भीम हो चुका था। सत्यजित के बाणों से बच कर, उसके घोड़ों तक पहुँचने का अवसर भीम की गदा को मिला होता, तो उनमें से किसी में भी अपने पैरों पर खड़े रहने का समार्थ्य न रहा होता; किन्तु सत्यजित के बाण तो जैसे प्राचीर के समान उसका मार्ग रोके खड़े थे।...

अर्जुन समझ नहीं पाया कि उसने सत्यजित के वक्ष पर अपना बाण क्यों नहीं छोड़ा। उसे लगा, उसकी इच्छा सत्यजित का वध करने की नहीं। सत्यजित अपने राजा की रक्षा के लिये लड़ रहा है, अपने भाई की रक्षा के लिये लड़ रहा है, अपने राज्य की रक्षा के लिये लड़ रहा है।...अर्जुन की न पांचालों से शत्रुता है, न द्रुपद से, न सत्यजित से...उसे तो बस अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी है।...

अर्जुन के बाणों से सत्यजित के धनुष की प्रत्यंचा कट गयी, रथ के छत्र का दण्ड कट कर गिर गया और घोड़े आहत हो गये।

सत्यजित ने आश्चर्य से अर्जुन को देखा : यह सोया-सोया-सा अर्जुन सहसा ही कैसे इतना आक्रामक और उग्र हो उठा है? अभी थोड़ी देर पहले तक तो यह लग रह था कि वह अपने बाण के लिये कोई लक्ष्य निश्चित नहीं कर पा रहा है...और सहसा...

सत्यजित ने दूसरा धनुष उठा लिया; किन्तु अर्जुन ने उसे बाण-संधान का अवसर ही नहीं दिया। उसके पहले ही उसकी प्रत्यंचा कट गयी और उसके सारथि को भी एक बाण आ लगा।...भीम को आक्रामक होने का अवसर मिल गया था। जो पांचाल सैनिक सत्यजित का अवलम्ब पा कर उसके रथ के साथ-साथ आगे बढ़ आये थे, भीम को वे अपने बहुत निकट दिखने लगे थे और प्रहार करने के लिये, बहुत बड़ा प्रलोभन थे।...पीछे की ओर से आक्रमण की कोई सम्भावना नहीं थी; क्योंकि पांचाल सेना आत्मरक्षात्मक युद्ध ही लड़ पा रही थी। वे इस स्थिति में थे ही नहीं कि अर्जुन के रथ को घेर कर, उस पर प्रहार कर सकें। इसलिये अर्जुन के रथ के पहियों की रक्षा के लिये नकुल और सहदेव को कोई विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ रहा था अतः वे भी आक्रामक युद्ध कर रहे थे और सत्यजित की स्थिति और भी

असुरक्षित होती जा रही थी। यदि शीघ्र ही उसने अर्जुन को पीछे हटा कर अपनी सेना को अभय नहीं दिया, तो उसकी सेना भीम द्वारा रौंद दी जायेगी...

सेना के पिछले भाग में द्रुपद कदाचित अपने सैनिकों को एकत्रित कर व्यूह-बद्ध कर रहा था। वह अपने रथ में और अधिक अस्त्र तथा शस्त्र भी रखवा रहा था। उसके द्वारा निरन्तर आदेश दिये जाने के स्वर भी सुनायी पड़ रहे थे।...

सत्यजित ने तीसरा धनुष उठाया ही था कि अर्जुन ने उसकी प्रत्यंचा भी काट दी। भीम ने अपनी गदा उठाई और एक क्षण का भी विलम्ब होता तो सत्यजित के रथ के घोड़ों में से एक अवश्य ही मार दिया होता।...सत्यजित का सारथि, भीम की गदा से अधिक गतिशील निकला। उसने रथ मोड़ा और उसे सुरक्षित निकाल कर अपनी सेना में जा छिपा।

द्रुपद ने देखा, अब पाण्डवों को रोकने वाला कोई नहीं था। निश्चित रूप से उन्हें इस प्रकार निर्विरोध रूप से आगे बढ़ने नहीं दिया जा सकता; अन्यथा वे सारे काम्पिल्य को अपने पैरों तले रौंद सकते थे। द्रुपद के मन में, इन भाइयों के लिये प्रशंसा का भाव जागा : कहाँ वे दुर्योधन, कर्ण, शकुनि, दुःशासन और विकर्ण अपनी समस्त सेना के साथ भीत के मूषिक के समान भाग गये थे; और कहाँ ये चार भाई मात्र अपने बल, वीरता और रण-कौशल पर, पांचालों के काल बने हुए हैं।...किन्तु यह सराहना का समय नहीं था, अन्यथा सारी पांचाल सेना ध्वस्त हो जायेगी...

द्रुपद ने अपना रथ ला कर अर्जुन के सम्मुख खड़ा कर दिया। द्रुपद को लगा कि उसने अर्जुन की चाहे कितनी भी सराहना क्यों न की हो, किन्तु उसने, उसके बल को कम ही आँका था। अर्जुन के धनुर्संचालन में स्पष्ट रूप से द्रोण के प्रशिक्षण की छाप थी। द्रुपद ने स्वयं द्रोण के शस्त्र-गुरु ऋर्षि अग्निवेश से शस्त्र-विद्या प्राप्त की थी। उन दिनों धनुर्धर के रूप में वह किसी भी प्रकार से द्रोण से तनिक भी अशक्त नहीं था; किन्तु लगता था, द्रोण ने उसके पश्चात अपना बहुत विकास किया था। इस विकास का अनुभव द्रुपद ने धृष्टद्युम्न और शिखण्डी के प्रशिक्षण में भी अनुभव किया था। किन्तु शायद धृष्टद्युम्न और शिखण्डी ने भी द्रोण से वह सब नहीं पाया था, जो अर्जुन ने प्राप्त किया था...बहुत सम्भव है कि द्रोण ने यह सब भार्गव परशुराम से पाया हो।...या फिर द्रोण का अपना अभ्यास भी हो सकता है।...द्रुपद को लगा, उसका शस्त्र-ज्ञान शायद उतना ही था, जितना वह गुरुकुल से ले कर निकला था। उसके पश्चात के युद्धों में उसने अपना अभ्यास बढ़ाया था, ज्ञान नहीं। अभ्यास में उसने कुछ विषयों में स्वयं को पारंगत कर लिया था, तो कुछ विधियों की उपेक्षा भी की थी; किन्तु उसने अपने ज्ञान का विकास नहीं किया था। आज उसके गुरुभाई द्रोण का यह शिष्य, उनके सम्मुख खड़ा, अपने बाण-संधान से यह प्रकट कर रहा था कि द्रोण ने गुरुकुल छोड़ने के पश्चात के इन वर्षों में क्या-क्या उपलब्ध कर लिया था। वह अपने बाणों से अपने गुरु की उपलब्धियों की यशोगाथा अंकित कर रहा था।...और फिर पंचालराज द्रुपद का वह वय भी नहीं रहा।...अर्जुन का वय धृष्टद्युम्न के लगभग ही रहा होगा। उसकी स्फूर्ति, उसकी शक्ति, उसकी ऊर्जा...कितना अच्छा होता यदि धृष्टद्युम्न और शिखण्डी आज यहाँ होते...

अर्जुन के बाणों ने द्रुपद के रथ का छत्र काट डाला था और अगले ही क्षण उसके धनुष की प्रत्यंचा भी नीचे लटक गयी। उसने नया धनुष उठाया और अर्जुन पर जैसे बाणों का एक रौंदा बरस गया, किन्तु अर्जुन की अप्रतिहत गति वह रोक नहीं पाया।...अर्जुन ने द्रुपद के रथ की वल्गाएँ भी काट दीं...

द्रुपद को लगा, पराजय उसके बहुत निकट थी। यदि वह खड्ग अथवा गदा ले कर-द्वन्द्व-युद्ध के लिये रथ से कूद नहीं पड़ा, तो अगले कुछ ही क्षणों में अर्जुन के बाणों से उसका रथ छिन्न-भिन्न हो जायेगा; और बहुत सम्भव है कि भीम की गदा भी उसकी अस्थियों की शक्ति नापने लगे...

उसने धनुष छोड़ कर गदा उठाने के लिये हाथ बढ़ाया ही था कि तड़ित गति से अर्जुन उसके रथ पर कूद आया। उसके हाथ में खड्ग था, जिसकी नोक द्रुपद के वक्ष पर चुभ रही थी।

"महाराज द्रुपद! मेरा आपसे कोई वैर नहीं है।" अर्जुन बोला, "कौरव और पांचाल परस्पर संबंधी भी हैं। मैं आपका कोई अहित नहीं करना चाहता; किन्तु मैं गुरु-दक्षिणा के दायित्व से बँधा, आपको बन्दी बनाने को बाध्य हूँ। कृपया अपनी सेना को आदेश दें कि वह पीछे हट जाये, अन्यथा व्यर्थ का यम-समारोह होगा।..." और इससे पहले कि द्रुपद कोई उत्तर देता; अर्जुन ने पुकार कर भीम से कहा, "मध्यम! युद्ध बन्द करो। हम व्यर्थ के रक्तपात के लिये नहीं आये हैं। आचार्य की आज्ञा का पालन हो चुका। हमने महाराज द्रुपद को बन्दी बना लिया है। व्यर्थ ही उनकी सेना का संहार मत करो।..."

भीम का हाथ रुक गया।

द्रुपद के सामने स्थिति स्पष्ट थी। वह पराजित ही नहीं, बन्दी भी हो चुका था। वह अब भी युद्ध करने का प्रयत्न करता तो निश्चय ही उसके सैनिक असहाय तथा निरर्थक मृत्यु को प्राप्त होते और स्वयं उसके प्राण भी अर्जुन और भीम के हाथों में थे।...द्रुपद का क्षत्रिय मन कहीं विद्रोह कर रहा था कि उसे पराजित नहीं होना चाहिए, वीरगति को प्राप्त होना चाहिए...किन्तु कदाचित वीरगति उसके भाग्य में नहीं थी।...जो अर्जुन अपने भाई को व्यर्थ सैन्य-संहार करने से रोक रहा था, वह निःशस्त्र द्रुपद की हत्या कभी नहीं करेगा। द्रुपद को अर्जुन की इच्छा के विरुद्ध वीरगति प्राप्त नहीं हो सकती थी। वह उसे बाँध कर घसीटता हुआ, अपने गुरु के पास ले जायेगा।...गुरु-दक्षिणा...द्रुपद के भाग्य में क्षत्रियों की-सी वीरगति नहीं, बन्दी होने का अपमान ही है...

वह अपना रथ छोड़ कर अर्जुन के रथ में आ गया। सैनिक पीछे लौट गये; किन्तु मन्त्रीगण, अपने बन्दी राजा के पीछे हाथ बाँधे हुए, पदाति चलते आये। वे अपने राजा को इस प्रकार बन्दी रूप में एकाकी और असहाय नहीं छोड़ सकते थे...

अर्जुन के मन में पुनः द्रुपद के प्रति श्रद्धा का भाव जागा। कैसा राजा था यह, जिसके मन्त्री स्वेच्छा से शत्रु के हाथों बन्दी हो गये थे, ताकि उनका राजा शत्रु पक्ष के मध्य स्वयं को एकाकी अनुभव न करे। लोकप्रिय राजा था द्रुपद! प्रजा, मन्त्री, सैनिक, सेना-नायक—सब ही प्रेम करते थे अपने राजा से। ...बिना न्याय-प्रिय हुए, राजा लोकप्रिय नहीं हो सकता। प्रजा में भय तथा लोभ के माध्यम से उत्पन्न की गयी लोकप्रियता न तो गहरी और गम्भीर होती है, न दूरगामी तथा दीर्घ-व्यापी। उस लोकप्रियता से थोड़े समय के लिये प्रजा की प्रसन्नता मिल सकती है; प्रजा का बलिदान उससे प्राप्त नहीं हो सकता...

किन्तु ऐसे धर्मनिष्ठ और न्यायप्रिय राजा से गुरु द्रोण क्यों रुष्ट हैं?...वे क्यों चाहते हैं कि उसे बन्दी कर, अपमानित किया जाये, अथवा उसका सर्वस्व हरण किया जाये?...क्या वे नहीं चाहते कि संसार में सब कहीं न्यायी और प्रजापालक राजा हों? मानवता का हित चाहने वाला बुद्धिजीवी, किसी भी प्रजा-वत्सल राजा को अपदस्थ करना क्यों चाहेगा?

...अर्जुन ने सुना था कि महाराज द्रुपद तथा आचार्य द्रोण में कोई व्यक्तिगत कटुता थी। कहते हैं कि महाराज द्रुपद ने आचार्य का अपमान किया था।...पर द्रुपद क्यों अपमान करेंगे आचार्य का? कहीं कोई भ्रान्ति तो नहीं? अथवा कटुता तो कई बार सत्यवादिता से भी उत्पन्न होती है।...कहीं आचार्य के अहंकार ने ही तो सत्य को स्वीकार करने में आनाकानी नहीं की? या फिर महाराज द्रुपद ही कठोर सत्य बोलने में पटु नहीं हैं? कई लोग होते हैं ऐसे— नीरस, शुष्क, क्रूर तथा कठोर सत्य बोलने वाले...

किन्तु अर्जुन को आज कोई न्याय नहीं करना था, किसी का पक्ष नहीं लेना था। उसे तो गुरु-दक्षिणा मात्र चुकानी थी।

अर्जुन ने सारथि को चलने का संकेत किया।

"पांचालराज इस घटना का कारण नहीं पूछेंगे?" अर्जुन ने द्रुपद की ओर देखा।

"कारण!" द्रुपद हँसा, "मैं जानता हूँ कि तुम अत्यन्त अहंकारी तथा सिद्धान्तहीन आचार्य की भावशून्य महत्वाकांक्षा हो राजकुमार!"

द्रुपद ने अपना मुख फेर लिया।

भीम के लिये शत्रु सेना को इस प्रकार पराजित कर, बिना संहार किये, जीवित छोड़ आना, उसी प्रकार की अतृप्ति थी, जैसे खाद्य पदार्थों से भरे हुए थाल को छोड़ कर उठ जाना। अपनी इच्छा से वह कभी ऐसा न करता; किन्तु अर्जुन का कथन उसे ठीक ही जान पड़ा था...जिन्होंने उसकी हत्या का प्रयत्न किया था, उन धृतराष्ट्र-पुत्रों को तो भाई मान कर वह उनके साथ शान्तिपूर्वक रहे; और जिन्होंने उसका कुछ नहीं बिगाड़ा, उन सैनिकों को वह व्यर्थ ही नष्ट करे... अर्जुन ने ठीक किया था कि युधिष्ठिर को युद्ध से दूर ही रखा था, नहीं तो युद्ध जीतने में कहीं भी कठिनाई बढ़ सकती थी।...युधिष्ठिर के मन में फिर नृशंसता का भाव उठता, तो युद्ध कैसे हो सकता था?...भीम को कभी-कभी अपने इस बड़े भाई पर दया आने लगती थी...क्षत्रियों जैसा स्वभाव नहीं था युधिष्ठिर का! उसे हिंसा का प्रत्येक कृत्य नृशंसता लगता

था; किन्तु क्षत्रिय हो कर वह हिंसा से कैसे बच सकता था? क्षत्रिय को दुष्ट-दलन तो करना ही पड़ेगा। और बिना हिंसा के दुष्ट-दलन कैसे होगा?...युधिष्ठिर को किसी भी प्रकार की हिंसा अच्छी ही नहीं लगती; अर्जुन युद्ध में अत्यन्त क्रूर होते हुए भी अनावश्यक हिंसा का समर्थन नहीं करता। जाने क्षण-भर में ही कैसे वह अपने धनुष की प्रत्यंचा ढीली कर लेता है; और मन में से हिंसा और क्रोध को निकाल कर, उसे अत्यन्त निर्मल कर लेता है।...भीम अपने इन दोनों भाइयों से सर्वथा भिन्न है। न तो वह अपने क्रोध को इतनी जल्दी संतुलित और नियन्त्रित कर पाता है; और न ही उसे हिंसा में किसी प्रकार का कोई दोष दिखायी देता है। वह तो वायु-पुत्र है...प्रभंजन जब चलता है तो कभी क्षण-भर रुक कर सोचता है कि उसके मार्ग में आ कर कितने वृक्ष उखड़े, कितनी शाखाएँ टूटी और कितने पत्ते नष्ट हुए?...

आज भीम ने अर्जुन का भी एक नया ही रूप देखा था। आज के युद्ध की सारी योजना उसी की थी। उसी ने दुर्योधन का साथ न देने का निश्चय किया था, उसी ने युधिष्ठिर को युद्ध करने से रोका था, उसी ने उसे राजा के रूप में खड़े रह कर, अपनी सेना को युद्ध के लिये भेजने का परामर्श दिया था।...अर्जुन उन दोनों से छोटा था; किन्तु जैसे आज वह उन दोनों से बड़ा हो गया था।...किस प्रकार उसने सारे निर्णय अपने हाथ में ले लिये थे; और आश्चर्य की बात तो यह थी कि दोनों बड़े भाइयों ने उसकी सारी बातें मान ली थीं।...भीम को स्वयं अपने ऊपर आश्चर्य हुआ...युधिष्ठिर की बात तो वह इसलिये मान लेता है, क्योंकि बड़े भाई की बात माननी चाहिए; किन्तु युधिष्ठिर का धैर्य और आक्रोध, कभी-कभी उसे चिढ़ा देता है। उसे युधिष्ठिर का व्यवहार, अस्वाभाविक ही नहीं, विवेकशून्य भी लगने लगता है। प्रतिक्रिया जागती है, उसके मन में। किन्तु अर्जुन का निषेध वह सहज ही स्नेह-सिक्त रूप में स्वीकार कर लेता है। उसे लगने लगता है कि युधिष्ठिर की अपेक्षा अर्जुन उसे सहज ही नियन्त्रित कर लेता है।...कोई सम्मोहिनी शक्ति है क्या अर्जुन में? या वह कुछ अधिक व्यावहारिक है?

भीम को लगा, जैसे अकस्मात ही अर्जुन वयस्क हो गया है।

17

भीष्म को एक-एक कर सारी सूचनाएँ मिल गयी थीं और उसका मन बार-बार कहता था कि जो कुछ भी हुआ था, वह शुभ नहीं था।...किन्तु यह सब कुछ तो स्वयं भीष्म को सोचना चाहिए था। द्रोण को हस्तिनापुर के राजकुमारों का आचार्य नियुक्त करते हुए उन्हें सोचना चाहिए था कि उसका परिणाम क्या हो सकता है। गुरु-दक्षिणा में एकलव्य का अँगूठा माँग लेने की घटना हो चुकने पर भीष्म को द्रोण के विषय में पुनः सोचना चाहिए था।...भीष्म ने क्यों मान लिया कि द्रोण हस्तिनापुर के राजकुमारों को संसार के श्रेष्ठतम वीरों के रूप में देखना चाहते हैं? आचार्य को तो मात्र आचार्य ही होना चाहिए—वह तो विद्या की स्रोतस्विनी है, ज्ञान का भण्डार है। उसमें अपने शिष्यों के प्रति पक्षपात तो नहीं होना चाहिए।...किन्तु द्रोण में पक्षपात है। भीष्म ने एक नहीं, अनेक बार देखा है कि द्रोण की दृष्टि ज्ञान का दान करने से पहले यह अवश्य देखती है कि उससे उन्हें क्या लाभ होगा?...

भीष्म को यह भी सोचना चाहिए था कि द्रोण को राजकुमारों के आचार्य का पद देने से हस्तिनापुर शक्तिशाली होगा अथवा दुर्बल? उस समय तो उन्होंने यही सोचा था कि द्रोण जैसा शक्तिशाली आचार्य, पांचालों को छोड़ कर कौरवों की राजधानी में आ गया है तो उससे पांचाल दुर्बल हुए हैं और कौरवों की शक्ति बढ़ी है; किन्तु क्या कर डाला द्रोण ने... गुरु-दक्षिणा के रूप में, अर्जुन ने द्रुपद को बन्दी बना कर, ला कर द्रोणाचार्य के चरणों में डाल दिया। द्रोण की प्रतिहिंसा इतने से ही शान्त नहीं हुई।...यदि द्रुपद ने उनका अपमान किया था, तो क्या द्रोण ने द्रुपद को पर्याप्त अपमानित नहीं कर लिया? किन्तु द्रोण ने, द्रुपद का आधा राज्य उससे ले लिया। आधा पांचाल। अहिच्छत्र और उसके साथ लगता सारा जनपद। तब छोड़ा द्रुपद को!...द्रोण को उनकी गुरु-दक्षिणा मिल गयी और राजकुमारों ने गुरु-दक्षिणा चुका दी; किन्तु हस्तिनापुर को उसका क्या मूल्य चुकाना पड़ेगा? द्रुपद का आहत और अपमानित क्षत्रियत्व क्या यह भूल जायेगा कि द्रोण ने उसके साथ क्या किया?...और किसके बल पर किया? द्रोण को आश्रय देने वाले कौरवों को द्रुपद कभी क्षमा कर देगा क्या?...द्रोण को द्रुपद से प्रतिशोध लेना ही था, तो क्यों अपने बल पर नहीं लिया? क्यों हस्तिनापुर को ढाल बनाया? क्या पांचाल कभी यह स्वीकार कर पायेंगे कि अहिच्छत्र का राज्य उनका नहीं है? क्या वे अहिच्छत्र को वापस लेने का प्रयत्न नहीं करेंगे? कोई क्षत्रिय राजा अपने छिने हुए राज्य को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न क्यों नहीं करेगा? राजाओं में युद्ध तो होते ही रहते हैं; किन्तु पराजित राजा को या तो आर्थिक दण्ड दिया जाता है, या फिर उस राजा को विस्थापित कर उसके स्थान पर उसके पुत्र अथवा भाई को राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित किया जाता है। सम्पूर्ण जम्बूद्वीप में क्षत्रिय राजा को पराजित कर उसके राज्य को हस्तगत करने का कार्य, या तो जरासंध ही कर सकता है, या फिर आचार्य द्रोण! और आचार्य द्रोण को अहिच्छत्र का राज्य, पांचालों से छीन कर दिया है, हस्तिनापुर ने। अब आचार्य के राज्य की रक्षा का दायित्व हस्तिनापुर का ही होगा।...किस चतुराई से द्रोण ने अपने लिये राज्य प्राप्त कर लिया और उसकी रक्षा का दायित्व डाल दिया हस्तिनापुर के कंधे पर! पांचालों से यह शत्रुता पाल कर, हस्तिनापुर शक्तिशाली होगा अथवा एक दीर्घ-व्यापी गम्भीर युद्ध में पांचालों से बार-बार उलझ कर, निरन्तर क्षीण होता जायेगा?...

भीष्म सोचते हैं तो एक प्रश्न बार-बार उनके मन में कौंधता है—आचार्य द्रोण ने स्वयं द्रुपद से युद्ध क्यों नहीं किया? उन्होंने अश्वत्थामा को क्यों नहीं भेजा, पांचालों से लड़ने के लिये?...द्रोण से पूछना व्यर्थ होगा। उनका स्पष्ट उत्तर होगा—यह प्रश्न नहीं है कि कौन युद्ध करे और कौन न करे। प्रश्न तो गुरु-दक्षिणा का था। गुरु-दक्षिणा तो शिष्य ही चुकायेगा, पुत्र नहीं।...किन्तु यह तो उनका उत्तर होगा।...भीष्म पहचानते हैं, द्रोण के मन के भय को! न उन्होंने स्वयं को युद्ध के जोख़म में डाला, न अपने पुत्र के प्राणों पर संकट आने दिया। मरने-कटने के लिये हस्तिनापुर के राजकुमारों को भेज दिया। यदि कहीं हस्तिनापुर के राजकुमार पराजित होते, अपमानित होते, बन्दी होते, हताहत होते, तो भी द्रोण को कोई दोष नहीं दे सकता था; उल्टे हस्तिनापुर कलंकित होता कि वह अपने राजकुमारों के आचार्य को दक्षिणा तक नहीं दे सका।...बहुत चतुर हैं द्रोण!

कैसा राजनीतिक सन्तुलन साधा है आचार्य ने...हस्तिनापुर और काम्पिल्य, परस्पर युद्ध करते रहें और द्रोण, उन दोनों के मध्य एक अत्यन्त शक्तिशाली सैनिक घटक के रूप में अपनी भूमिका का लाभ उठाते रहें।...इतना ही क्यों, क्या द्रोण ने धार्तराष्ट्रों और पाण्डवों के मध्य एक स्थायी दरार नहीं डाल दी है? क्या ये कौरव राजकुमार, अपने ही भाइयों के विरुद्ध, इस शक्ति-सन्तुलन में सदा के लिये आचार्य के आश्रित नहीं हो जायेंगे?...

भीष्म को लगा, हस्तिनापुर की अपनी ही कठिनाइयाँ कम नहीं थीं; अब अपने आँगन में द्रोण-रूपी विष-वृक्ष

का रोपन कर, उसने कुछ और कठिनाइयों को बलात अपने ऊपर ओढ़ लिया है। अब यदि भीष्म, आचार्य से मुक्ति पाना भी चाहेंगे, तो स्वयं कौरव राजकुमार उनसे सहमत नहीं होंगे। पाण्डव तो कदाचित श्रद्धावश अपने गुरु के ऋणी रहेंगे। वे द्रोण के गुरु-रूप के सिवाय, शायद ही किसी और रूप को देखें। किन्तु दुर्योधन और धृतराष्ट्र की दृष्टि में द्रोण अपना सैनिक महत्व स्थापित कर चुके हैं। जिसका शिष्य पांचाल द्रुपद को पराजित कर सकता है—वह स्वयं, युद्ध-क्षेत्र में कितना महत्वपूर्ण होगा—इसे कोई भी समझ सकता है।...फिर सब जानते हैं कि द्रोण ने अर्जुन से अधिक, अश्वत्थामा को सिखाया है।...पाण्डवों के विरुद्ध सैन्य-बल तैयार करने के लिये दुर्योधन एक-एक योद्धा का संचय कर रहा है। रंगशाला में कर्ण को, अर्जुन से भिड़ाने और उसे अपने पक्ष में लाने के लिये कौन-सी निर्लज्जता उसने नहीं की। अश्वत्थामा को अपना मित्र बनाये रखने के लिये, कौन-सा नाटक उसने नहीं किया। तो क्या आचार्य द्रोण को अपने हाथ से वह सहज ही निकल जाने देगा?..वह सारथि-पुत्र कर्ण को अपने पक्ष में मिलाने के लिये एक राज्य देने की घोषणा कर सकता है, तो ब्राह्मण द्रोण को अपना समर्थक बनाये रखने के लिये, अहिछत्र की रक्षा और पांचालों से स्थायी शत्रुता की घोषणा नहीं कर सकता?...वह यही करेगा—भीष्म उसे भली प्रकार जानते हैं।

सहसा उस अन्धकार में भीष्म को आशा की एक किरण दिखायी दी : यदि वह चाहते हैं कि हस्तिनापुर, सत्ता की राजनीति का अखाड़ा न बने; यदि उनकी इच्छा है कि हस्तिनापुर की नीति, तथा भविष्य को अपनी स्वार्थी महत्वाकांक्षा से द्रोण कलंकित न करें, तो राजसत्ता तत्काल धृतराष्ट्र के हाथ से ले कर, युधिष्ठिर के हाथ में दे देनी चाहिए। यदि राजसिंहासन पर युधिष्ठिर आसीन होगा, तो हस्तिनापुर में न हिंसा को प्रोत्साहन मिलेगा, न प्रतिहिंसा को। वह न किसी को अपना शत्रु मान, उसे नष्ट करना चाहेगा, न अपना पक्ष सबल करने के लिये अनीति का आश्रय लेगा। न वह किसी को भयभीत करेगा, और न किसी को प्रलोभन देगा।...

और भीष्म को लगा, जैसे वह एक दीर्घ निद्रा से जागे हैं। उन्हें यह निर्णय बहुत पहले कर लेना चाहिए था। सम्राट पाण्डु का ज्येष्ठ पुत्र धर्मतः हस्तिनापुर के सिंहासन का अधिकारी है। वह वयस्क है। अपनी शिक्षा पूरी कर चुका है। अपने भाइयों की सहायता से राज-संचालन में समर्थ है। प्रजा, धरती तथा सेना पर अपना आधिपत्य जमाने में उसे तनिक भी कठिनाई नहीं होगी।...और सहसा भीष्म के मन में एक नया विचार अंकुरित हुआ...अच्छा ही किया द्रोण ने कि पांचालों से युद्ध के माध्यम से अर्जुन और भीम की क्षमताओं को प्रतिष्ठित कर दिया। उन्होंने भी कदाचित भली प्रकार विचार करके ही दुर्योधन के नायकत्व में युद्ध नहीं किया। उन्होंने युधिष्ठिर को अपना नेता तथा राजा घोषित कर उसकी शक्ति की स्थापना की।...युधिष्ठिर ज्येष्ठ है, और युधिष्ठिर ही सबसे अधिक योग्य है, वह समर्थ है...उसका अधिकार है कि उसका युवराज्याभिषेक किया जाये।...उसके युवराज्याभिषेक में विलम्ब का अर्थ है, दुर्योधन और उसकी चाण्डाल-चौकड़ी की दुर्नीतियों की लताओं को, हस्तिनापुर के वट-वृक्ष पर और अधिक फैलने का अवसर देना। हस्तिनापुर और भरतवंशियों के हित में यही है कि दुर्योधन के षडयन्त्रों को शान्त किया जाये और धृतराष्ट्र की इस संशयग्रस्त अन्धी सत्ता-कामना को सत्ता के केन्द्र से दूर कर, युधिष्ठिर की निर्मल, निष्कलुष और स्थायी सत्ता स्थापित की जाये...

भीष्म उठ खड़े हुए, "द्वारपाल! जाओ, सारथि से कहो, रथ ले आये। मैं इसी समय धृतराष्ट्र से मिलना चाहता हूँ।"

"पितृव्य क्या कहते हैं?" कुन्ती ने विदुर की ओर देखा, "क्या उन्होंने भी न्याय का पक्ष छोड़ दिया है?" उसके स्वर का आवेश कुछ मुखर हुआ, "क्या उन्हें अनुभव नहीं हो रहा कि मेरे पुत्रों के साथ न्याय नहीं हो रहा? उनके मन में तो किसी के लिये पक्षपात नहीं होना चाहिए।..."

विदुर ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया। उसकी मूक दृष्टि एक बार पाँचों पाण्डवों पर घूम गयी। वे पाँचों अपनी माँ को घेरे बैठे थे और चुप थे। विदुर को लगता था, भीतर से वे सब ही स्वयं को वयस्क समझते थे और पारिवारिक तथा राजनीतिक विषयों में अपना निजी मत भी रखते थे, फिर भी कुन्ती और विदुर के वार्तालाप में उनका हस्तक्षेप कम-से-कम ही होता था। वे प्रायः मूक श्रोता ही थे; किन्तु चर्चा से निर्लिप्त नहीं थे।

"भाभी!" विदुर ने धीरे से कहा, "पितृव्य सब कुछ देख और समझ रहे हैं।...उन्होंने राजसभा में युधिष्ठिर के युवराज्याभिषेक का प्रश्न उठाया था। मैंने सुना है कि उन्होंने निजी रूप में भी राजा धृतराष्ट्र से इसकी चर्चा की है।"

"तो राजा क्या कहते हैं?"

विदुर हँसा, "राजा राजनीति का चतुर खिलाड़ी है। पितृव्य की बात सुन कर, वह बहुत गम्भीरता से कहता है, 'हाँ! अब युवराज का अभिषेक हो ही जाना चाहिए।' वह एक बार भी नहीं कहता कि युवराज कौन होगा अथवा युधिष्ठिर को युवराज होना चाहिए। मेरे मन में एक बात आती है कि धृतराष्ट्र अपनी इच्छा से युवराज्याभिषेक कभी नहीं करेगा। वह इस कार्य को तब तक टालता रहेगा, जब तक कि कोई ऐसा अवसर अथवा व्याज उसके हाथ न लग जाये, जिससे वह दुर्योधन को युवराज घोषित कर सके।"

"अब ऐसा सम्भव नहीं है।" भीम ने धीरे से कहा।

"तुम्हें ऐसा क्यों लगता है?" कुन्ती ने पूछा।

"मुझे आज से नहीं, बहुत समय से ऐसा लग रहा है।" विदुर ने उत्तर दिया, "दुर्योधन ज्येष्ठ नहीं है; और अब वह स्वयं को सबसे अधिक योग्य सिद्ध नहीं कर सका। युधिष्ठिर के युवराज्याभिषेक के लिये दबाव पड़ने लगा है, तो उसका प्रतिकार करने के लिये पहले तो उन्होंने अपने घर में ही शस्त्र ढूँढना आरम्भ किया।"

"शस्त्र मिला क्या?"

"हाँ!"

"कौन?"

"कुरु-वृद्ध बाह्लीक!" विदुर ने उत्तर दिया, "किन्तु लगता है कि बाह्लीक, सोमदत्त और उनके पुत्र भूरिश्रवा ने महाराज का विरोध तो नहीं किया है; किन्तु पितृव्य भीष्म के विरुद्ध व्यूह रचने में उनकी सहायता भी नहीं की है।"

"तो?"

"तो अब बाहर से किसी ऐसे विरोधी को लाने का प्रयत्न किया जा रहा है, जो अपने-आपमें समर्थ और शक्तिशाली भी हो और पितृव्य भीष्म से शत्रुता का निर्वाह करने के लिये व्यग्र भी हो।..."

कुन्ती के साथ ही उसके पाँचों पुत्रों ने भी प्रश्न-भरी दृष्टि से विदुर की ओर देखा।

"अभी उन्हें कोई मिला नहीं है; विचार-विमर्श ही चल रहा है।" विदुर ने तनिक मुस्कुरा कर, वातावरण के तनाव को कम करने का प्रयत्न किया, "किन्तु वे किसी-न-किसी को तैयार करने पर तुले ही हुए हैं। वे घर की समस्याओं का निर्णय सार्वजनिक मार्ग पर, पथिकों की सहायता से करना चाहते हैं।..."

"पर ऐसे पथिक कौन हो सकते हैं?" सहदेव अब और मौन नहीं रह सका।

"हमारे चारों ओर राजनीतिक उथल-पुथल का युग है पुत्र! सिद्धान्त के स्थान पर स्वार्थ से आपसी सम्बन्ध निर्धारित हो रहे हैं।" विदुर बोला, "विचित्र असहायता का परिवेश है, प्रत्येक राजा अपना पक्ष अथवा अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिये, अपने सहायक खोज रहा है। जो अत्यन्त शक्तिशाली हैं—वे भी...।"

"दुर्योधन किसे खोज रहा है विदुर?" कुन्ती ने व्यग्रता से पूछा।

"मैं समझता हूँ कि सामान्य स्थितियों में तो उसने पंचालराज द्रुपद की सहायता की ही इच्छा की होती। उसमें उसे शायद सफलता भी मिलती। पंचालराज के मन में सम्राट पाण्डु तथा उसके पुत्र अर्जुन का विरोध जगाने में उसे कठिनाई भी न होती। पितृव्य भीष्म के प्रति भी पंचालराज के मन में मैत्री का भाव नहीं है।...किन्तु संयोग ही है कि पंचालराज और आचार्य द्रोण—दोनों एक साथ किसी के मित्र नहीं हो सकते...और दुर्योधन, अपने मित्र अश्वत्थामा के पिता आचार्य द्रोण के निश्चित समर्थन को छोड़ कर, पंचालराज के अनिश्चित समर्थन के लिये प्रयत्न नहीं करना चाहता...।"

सहसा कुन्ती को लगा कि इस अत्यन्त गम्भीर चर्चा के मध्य भी जैसे विदुर मुस्कुरा रहा है।

"तुम मुस्कुरा रहे हो...क्या यह विषय इतना अगम्भीर है?"

"नहीं भाभी!" विदुर बोला, "मुझे, इस दुर्योधन की मनःस्थिति की कल्पना कर कुछ विस्मय हो रहा था।"

कुन्ती कुछ नहीं बोली।

"उसकी विचित्र स्थिति है," विदुर ही बोला, "दुर्योधन के कानों में पंचालराज की पुत्री के सौन्दर्य की भी चर्चा

पड़ चुकी है। वह उसके लिये भी लालायित है, और पांचालों के राजनीतिक समर्थन के लिये भी; किन्तु न वह द्रोण को छोड़ सकता है, और न ही वह जरासंध का विरोध मोल ले सकता है...।"

"जरासंध?" इस सारी चर्चा में यह नाम युधिष्ठिर को कुछ अटपटा लगा, "जरासंध का पंचालराज से क्या सम्बन्ध?"

"यही तो मैं कह रहा था पुत्र! कि आजकल की स्थिति बड़ी विचित्र है।" विदुर पुनः मुस्कुराया, "किसी का किसी से कोई सम्बन्ध नहीं है; और फिर भी सबका सबसे सम्बन्ध है।" उसने रुक कर युधिष्ठिर की ओर देखा, "जरासंध ने अपने चारों ओर राजाओं का एक शक्तिशाली मण्डल बनाया था। उसमें से सर्वाधिक शक्तिशाली-कंस-का, वासुदेव कृष्ण के हाथों वध हो गया है; इसलिये जरासंध और भी उग्र हो गया है। वह प्रायः सारे राजाओं को मित्रता का निमन्त्रण दे रहा है। किन्तु उसकी मित्रता का अर्थ है, उसकी अधीनता। और जरासंध का अधीनस्थ कौन ऐसा राजा होगा, जो यादवों का मित्र हो सके। पंचालराज यज्ञसेन द्रुपद ने यादवों की शत्रुता अस्वीकार की है, इसलिये स्वतः ही जरासंध की शत्रुता उनके भाग में आयी है।...और पुत्र! जरासंध की शत्रुता का अर्थ है—भीष्मक, दामघोष, शाल्व, दन्तवक्त्र...इन सबकी शत्रुता।...इसलिये दुर्योधन यदि पंचालराज की मित्रता चाहता है; और यदि वह उसे मिल जाये जो उसे जरासंध, भीष्मक, दामघोष, शाल्व, दन्तवक्त्र, इत्यादि की शत्रुता भी मिलेगी। इसलिये..."

"इसलिये?" कुन्ती के प्राण जैसे उसके कण्ठ से अटके थे।

"इसलिये कदाचित वह जरासंध की मित्रता का प्रयत्न कर रहा है।"

"यादवों के शत्रु की मित्रता!" कुन्ती के स्वर में इस बार रोष के स्थान पर चीत्कार था, "कृष्ण के शत्रु की मित्रता?...अपने स्वार्थ के लिये—अपने पितामह के विरुद्ध?"

"हाँ भाभी! मेरी सूचनाएँ इसी ओर इंगित करती हैं।"

"क्या पितृव्य भीष्म को यह सब ज्ञात है?"

"शायद नहीं! कम-से-कम, उन्होंने यह सब जानने के लक्षण कभी नहीं दिखाये।"

"तो तुम उन्हें यह सब बताते क्यों नहीं?"

विदुर थोड़ी देर तक चुप बैठा रहा, जैसे वह या तो ऐसा करने का कारण खोज रहा हो, या सोच रहा हो कि वह कुन्ती के इस प्रश्न का उत्तर दे या नहीं?...

"कारण तो अनेक हैं भाभी! किन्तु सबसे बड़ा कारण यह है कि अपनी गुप्त सूचनाओं के विषय में मैं पितृव्य पर विश्वास नहीं करता।" विदुर बोला, "मेरी धारणा है कि गुप्त सूचनाएँ उनके पास पहुँच कर अपनी गोपनीयता की रक्षा नहीं कर पातीं!..."

"काका! आपको नहीं लगता कि आप पितामह पर बहुत बड़ा आरोप लगा रहे हैं?" युधिष्ठिर का स्वर अत्यन्त विनीत, किन्तु पर्याप्त दृढ़ था।

"यह आरोप नहीं है, यह उनके व्यक्तित्व का मेरा मूल्यांकन है।" विदुर स्नेह से मुस्कुराया, "और इसलिये तुम्हें भी यही परामर्श दे रहा हूँ कि जो कुछ गोपनीय समझते हो, उसे अपने पितामह तक मत पहुँचने दो। तुम्हें स्मरण है कि हमने दुर्योधन द्वारा भीम को विष दिये जाने की घटना की चर्चा उनसे नहीं की थी?"

"जी! वह सूचना हमने उन्हें नहीं दी थी; किन्तु मैं आज भी सोचता हूँ कि क्या वह उचित हुआ?" युधिष्ठिर बोला, "उनके व्यक्तित्व का आपके द्वारा किया गया यह मूल्यांकन क्या निष्पक्ष सत्य है? कहीं आप ही तो कोई भूल नहीं कर रहे?"

विदुर पूर्ण आत्मविश्वास के साथ मुस्कुराया, जैसे वह युधिष्ठिर की शंका को अपनी मुस्कान से ही निरस्त कर देना चाहता हो; फिर बोला, "पुत्र! मेरे इस मूल्यांकन का कारण है, तुम्हारे पितामह के व्यक्तित्व की विचित्र सिद्धान्तवादिता।"

युधिष्ठिर ने ही नहीं, सबने ही विदुर को इस प्रकार देखा, जैसे वह कुछ भी समझ न पाये हों।

"यह तो तुम भी जानते हो कि वह अत्यन्त सिद्धान्तवादी व्यक्ति हैं; और यह भी जानते हो कि उनका पालन-

पोषण हमसे पर्याप्त भिन्न वातावरण में हुआ है।" विदुर ने कहा, "जो सिद्धान्त अथवा संस्कार उनको उस समय दिये गये, उन पर उनकी आस्था रूढ़िवादिता की सीमा तक है। वह मानते हैं कि वे सिद्धान्त ही धर्म की अन्तिम व्याख्या हैं। इसलिये वह उनके विरुद्ध न कुछ सुनने को प्रस्तुत हैं, न उनमें कोई परिवर्तन करने को।"

"आप कोई उदाहरण देंगे?" सहदेव ने विदुर का विरोध नहीं किया था, किन्तु उसका वाक्य मानो विदुर की सारी मान्यताओं के सम्मुख चुनौती बन कर खड़ा हो गया था।

"उदाहरण के लिये..." विदुर ने धीरे से कहा, "वह मानते हैं कि किसी भी स्थिति में कौटुम्बिक शान्ति बनी रहनी चाहिए, एकता बनी रहनी चाहिए, जैसे उन्होंने बनाये रखी है, चाहे उसके लिये एक व्यक्ति अधिकारों से वंचित ही क्यों न हो जाये, जैसे वे हुए। एक भाई को दूसरे भाई के लिये त्याग करना चाहिए, जैसे उन्होंने किया। इसलिये वे यह भी नहीं मानेंगे कि एक भाई, दूसरे भाई का कोई अनिष्ट कर सकता है। वे यह नहीं देखेंगे कि युधिष्ठिर का भीम के लिये त्याग उचित है, क्योंकि भीम भी युधिष्ठिर के लिये कोई भी त्याग कर सकता है; किन्तु युधिष्ठिर का दुर्योधन के लिये त्याग उचित नहीं है, क्योंकि दुर्योधन उस त्याग को सर्वथा मूर्खता मानता है। तुम्हारे पितामह यह मानते हैं कि व्यक्ति को अपने वचन की रक्षा प्रत्येक स्थिति में करनी चाहिए, जैसे उन्होंने की। वे यह नहीं देख रहे हैं कि उन्हें उनके वचन के बन्धनों में बाँध कर कितना अन्याय किया गया। उनका व्यवहार महर्षि वेदव्यास तथा धृतराष्ट्र के लिये एक जैसा ही होगा। वे दोनों को दिये गये वचन का एक समान ही पालन करेंगे..." विदुर ने रुक कर अपनी दृष्टि सब पर डाली, "सबसे बड़ी कठिनाई यह है पुत्र! कि वे अपने समाज द्वारा बनाये गये, इन नियमों को धर्म मानते हैं, इसलिये वे उन पर पुनर्विचार नहीं कर सकते।..." विदुर जैसे अपने ही कथन में संशोधन करने के लिये रुका, "मैं उनकी निन्दा नहीं कर रहा। मैं उन्हें अपने-आप में बहुत आदर्श, सिद्धान्तवादी, न्यायी तथा धार्मिक व्यक्ति मानता हूँ; किन्तु धर्म की मौलिक अवधारणा उनके पास नहीं है। उनके धर्म का रथ चलता है, तो वे न तो यह देखते हैं कि उनके चक्र के नीचे आ कर, कौन-कौन कट गया; और न ही उन कटने वालों की मृत्यु तथा पीड़ा के लिये वे स्वयं को दोषी मानते हैं...।"

"तो हम क्या करें काका?" युधिष्ठिर ने जैसे अपनी असहाय स्थिति प्रकट कर दी।

"करना क्या है पुत्र! यही मान कर चलो कि उनके मन में न कलुष है, न दुर्भावना। वह व्यक्ति बहुत ही सात्विक और निर्मल प्राणी होते हुए भी, अपने समय के चिन्तन और सिद्धान्तों का बन्दी है। वह परिवर्तित नहीं हो सकता। वह अपने समय की रूढ़ियों के बन्धन को काट नहीं सकता। हम उसकी सिद्धान्तवादिता के लिये उसका सम्मान करेंगे, किन्तु उसकी नीति को स्वीकार करना हमारे लिये सम्भव नहीं है। त्याग एक उच्च आदर्श है; किन्तु दुर्योधन जैसे व्यक्ति के लिये त्याग करना समाज के लिये हितकर नहीं है। हम भाई से प्रेम करेंगे, किन्तु दुर्योधन जैसे भाई से सावधान भी रहेंगे। हम हस्तिनापुर की रक्षा करेंगे, किन्तु धृतराष्ट्र और हस्तिनापुर को पृथक-पृथक ही रखेंगे...।"

विदुर मौन हो गया। शेष लोगों में भी कोई कुछ नहीं बोला। विदुर के पास कहने को और कुछ नहीं था; और शेष लोग उसकी कही हुई बातों के प्रकाश में जैसे आत्म-मन्थन कर रहे थे...

मौन का बोझ जब असह्य हो गया, तो कुन्ती ही बोली, "विदुर! मैं आज तक मानती थी कि हस्तिनापुर में मेरा और मेरे पुत्रों का कोई नहीं है, तो पितृव्य तो हैं, तुम तो हो; किन्तु आज तुम्हारी बातों से लगता है कि पितृव्य भी हमारे नहीं हैं। मैं तो अपने पुत्रों को अपने आँचल में छिपाये, सिर झुकाये, इसलिये चुपचाप बैठी थी कि दुर्दिन की यह लहर हमारे सिर के ऊपर से निकल जायेगी, तो हम समर्थ हो कर अपना सिर उठा सकेंगे और अपना अधिकार माँग सकेंगे... किन्तु मैं देख रही हूँ कि समय के इस अन्तराल के पश्चात हम समर्थ और शक्तिशाली होने के स्थान पर और भी असमर्थ और असहाय हो गये हैं।..."

"नहीं माँ! हम असहाय और असमर्थ कैसे हैं!" भीम जैसे अपने आवेश को रोक नहीं पाया, "अपने पुत्रों को तो देखो! हम चार गये थे तो पांचाल सेना को ध्वस्त कर आये थे; पाँचों एक साथ होंगे, तो क्या नहीं कर लेंगे।"

"मध्यम ठीक कहता है माँ!" सहदेव बोला, "दुर्योधन के सौ भाई हैं, फिर भी उसे कर्ण, गुरु द्रोण तथा अश्वत्थामा के बाहुबल को क्रय करने की आवश्यकता रहती है; और अब वह जरासंध की सहायता पाना चाहता है। हमें देखो! हम तो मात्र पाँच हैं; किन्तु हमें किसी कर्ण अथवा अश्वत्थामा की आवश्यकता नहीं है...।"

कुन्ती का मन हुआ कि सहदेव को रोक दे, 'नहीं, कर्ण के विषय में ऐसा मत कहो...।'

"आपके पुत्र ठीक कहते हैं भाभी!" विदुर बोला, "पहली बात तो यह है कि इन पाँचों तरुणों के सामर्थ्य के कारण, हम असमर्थ नहीं रह गये हैं; दूसरे ऐसा नहीं है कि पहले पितृव्य का संरक्षण आपको प्राप्त था, और अब प्राप्त नहीं है। उनका संरक्षण तो जैसा तब था, वैसा ही अब भी है, किन्तु उसकी शक्तिमत्ता का अब हमें ज्ञान है। तीसरे यह... और यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण है कि यदि दुर्योधन अपने मित्र ढूँढ रहा है, तो युधिष्ठिर भी अपने मित्र ढूँढ सकता है।"

"आप चाहते हैं काका! कि मैं दुर्योधन की ही नीति स्वीकार कर लूँ?" युधिष्ठिर के स्वर में वेदना थी।

"नहीं पुत्र! यह मैं कभी नहीं चाहूँगा।" विदुर ने उत्तर दिया, "यदि तुम भी दुर्योधन की नीति अपना लोगे, तो नीति, न्याय, धर्म और मानवता खोजने के लिये हस्तिनापुर किसके पास जायेगा।" विदुर जैसे अपनी बात का प्रभाव देखने के लिये रुका, "मैं तो मात्र कह रहा था कि यदि अधर्म संगठित हो रहा है, तो धर्म को भी संगठित होना चाहिए।... सामान्यतः होता यही है कि अन्याय और स्वार्थ तो संगठित हो कर, न्याय तथा सर्वहित पर प्रहार करते हैं; किन्तु न्याय और सर्वहित न तो संगठित होते हैं, न प्रहार करते हैं, न प्रहार करने वालों को बल देते हैं...।" विदुर पुनः रुक कर बोला, "मुझे लगता है कि हम यह भूल जाते हैं कि जरासंध एक शक्ति है, तो कृष्ण भी तो एक शक्ति है।"

"मेरा कृष्ण!" कुन्ती बोली, "किन्तु वह तो मात्र एक बालक है।"

विदुर हँसा, "बालक अब तरुण हो चुके हैं भाभी! उन्हीं के कर्मक्षेत्र में उतरने का समय है अब! जरासंध के जामाता और सहयोगी का वध करने वाला, कृष्ण ही तो है।...और फिर अब वसुदेव कारागार में नहीं हैं। वे दुर्बल भी नहीं हैं। मथुरा पर इस समय कृष्ण के नेतृत्व में यादवों का अधिकार है। उग्रसेन, वसुदेव, अक्रूर, कृष्ण, बलराम—सब एक हैं। यदि गन्धार से आ कर अपनी बहन की सहायता के लिये शकुनि आजीवन हस्तिनापुर में बैठा रह सकता है, तो क्या कुन्ती का भाई मथुरा से एक बार हस्तिनापुर नहीं आ सकता?"

"मैंने आपसे पहले भी कहा है काका! कि मैं दुर्योधन बनना नहीं चाहता!" युधिष्ठिर ने अपना विरोध जताया, "न मैं चाहता हूँ कि मेरी माँ गान्धारी और मेरे मातुल शकुनि बनें। अपने कौटुम्बिक मतभेद में बाहरी लोगों को लाना...।"

"मैं भी यह नहीं चाहता पुत्र।" विदुर बोला, "किन्तु यह अवश्य चाहता हूँ कि यदि कृष्ण ने कंस का वध कर अन्याय का विध्वंस आरम्भ किया है तो यह प्रक्रिया यहीं न रुके, आगे भी चले। इस समय जरासंध की सहायता से भीष्मक, दामघोष, शाल्व तथा अन्य राजाओं की राजसभाओं में कृष्ण के विरुद्ध यदि षड्यन्त्र रचे जा रहे हैं, तो तुम कम-से-कम, हस्तिनापुर में तो कृष्ण के विरुद्ध व्यूह मत रचा जाने दो। कृष्ण से सहायता नहीं चाहते, तो कृष्ण की सहायता करो तो...।"

"नहीं! किसने कहा कि हम कृष्ण अथवा मथुरा के यादवों की सहायता नहीं चाहते?" भीम ने तड़प कर बोला, "मैं ज्येष्ठ से एकदम सहमत नहीं हूँ! यह केवल दुर्योधन को अपना भाई समझते होंगे, मैं तो कृष्ण को भी अपना उतना ही भाई समझता हूँ...।"

"भाई तो वह तुम्हारा है ही," विदुर ने कहा, "किन्तु मैं केवल भाई के नाते कृष्ण से सहायता लेने अथवा कृष्ण की सहायता करने की बात नहीं कर रहा हूँ। तुम कृष्ण के फुफेरे भाई हो, तो शिशुपाल भी वही है; किन्तु कृष्ण, अन्याय के समर्थक शिशुपाल का न सहायक होगा, न उससे सहायता लेगा।...तुम धर्म का आचरण करने के लिये, कृष्ण की सहायता लो; और उसकी सहायता करो।...मैं समझता हूँ कि पांचाल भी अपनी नीति के कारण कृष्ण के ही पक्ष में जायेंगे।"

"तुम ठीक कहते हो विदुर!" सहसा कुन्ती बोली, "किन्तु मैं सोचती हूँ...।" और वह चुप हो गयी।

"क्या सोचती हैं भाभी?"

"हम तो यहाँ बैठे उनके विषय में इतनी चर्चा कर रहे हैं; किन्तु क्या उन्हें भी हमारा कुछ ध्यान है? क्या वे हमारी सहायता करने की स्थिति में हैं? क्या वे हमारी सहायता करना चाहते हैं? क्या उन्हें हमारी सहायता की आवश्यकता है? क्या वे हमारी सहायता लेना चाहते हैं?"

"यह सब तो उनसे सम्पर्क होने पर ही ज्ञात होगा भाभी।" विदुर बोला, "मथुरा यहाँ से है ही कितनी दूर। हममें से किसी को मथुरा जाना चाहिए।..."

"मैं जाऊँ?" अर्जुन ने पूछा।

“मैं भी जा सकता हूँ।” भीम बोला।

“जाने को तो कोई भी जा सकता है।” विदुर ने चिन्तनलीन स्वर में कहा, “किन्तु तुममें से किसी का भी हस्तिनापुर से जाना, अलक्षित नहीं रहेगा। तुम्हारे शत्रु घात लगाए बैठे हैं। तुममें से कोई भी अकेला मिल गया तो...नहीं! तुममें से कोई नहीं जायेगा।...मैं ही किसी संदेशवाहक अथवा अपने कार्य से मथुरा जाने वाले किसी व्यापारी के माध्यम से संदेश भेजूँगा।” विदुर उठ खड़ा हुआ, “अच्छा! अब चलता हूँ!”

सब उठ खड़े हुए और बिना कहे हुए, विदुर के साथ-साथ बाहर तक आये।

विदुर का रथ खड़ा था; किन्तु सारथि नहीं था। विदुर स्वयं ही सारथ्य करता था।...‘विदुर ऐसा क्यों करता है?’ कुन्ती ने कई बार सोचा था, ‘पता नहीं, धृतराष्ट्र इसे यह सुविधा नहीं देता, अथवा अपना आवागमन गोपनीय रखने के लिये यह ऐसा करता है...’

विदुर ने रथारूढ़ हो कर वल्गा थाम ली और अपनी आँखों के संकेत से ही कहा, ‘अच्छा! चलता हूँ।’

कुन्ती अपने पुत्रों के साथ खड़ी विदुर के रथ से उड़ती धूल को देखती रही।...जीवन का पथ भी कैसा धूलि-धूसरित हो गया था। कुछ भी तो ठीक से सुझायी नहीं दे रहा था।...

विदुर का रथ आँखों से ओझल हो गया तो कुन्ती भीतर जाने के लिये मुड़ी; किन्तु मुड़ते-मुड़ते भी उसके पग थम गये।...यह क्या...विदुर के रथ से उड़ी हुई धूलि, जो अब क्षीण हो कर जैसे भूमि पर बैठ गयी थी, पुनः सघन हो कर उड़ने लगी थी और पथ पुनः वैसा ही धूमिल हो गया था।...क्या विदुर ने अपना रथ वापस लौटाया था...?

कुन्ती को रुकते देख, युधिष्ठिर भी रुका, उसके साथ अन्य भाई भी रुक गये। माँ की आँखों का अनुसरण कर, उन्होंने देखा, जिस मार्ग से अभी विदुर का रथ गया था, उसी मार्ग से एक रथ उनकी ओर आ रहा था; किन्तु निश्चित रूप से यह विदुर का रथ नहीं था...

रथ निकट आया। वह राजकीय लग रहा था, किन्तु उस पर हस्तिनापुर का नहीं, मथुरा के यादवों का ध्वज फहरा रहा था।...

कुन्ती ने अपनी आँखें मलीं, कहीं यह उसका भ्रम तो नहीं है?...नहीं! यह उसका भ्रम नहीं था। उस पर सचमुच ही मथुरा के यादवों का ध्वज था...

18

निकट आ कर रथ रुक गया। रथ पर से एक व्यक्ति उतरा। कुन्ती ने उसे देखा : अधेड़ वय का कोई सम्भ्रान्त पुरुष था। उसके वस्त्राभूषण साधारण नहीं थे। देख कर समझ पाना कठिन था कि वह राजपुरुष था, अथवा साधारण धनी व्यापारी। किन्तु रथ पर यादवों का राजकीय ध्वज था। निश्चय ही वह राजपुरुष होगा। किन्तु कौन है वह?

वह आ कर कुन्ती के सामने खड़ा हो गया, "तुम पृथा ही हो न?"

कुन्ती के साथ-साथ पाँचों पाण्डवों ने आश्चर्य से उसे देखा : कौन है वह, जो इस प्रकार पूछ रहा है, जैसे वह पद, सामर्थ्य में इनसे बहुत श्रेष्ठ हो, या फिर कोई अत्यन्त आत्मीय व्यक्ति हो?...

कुन्ती ने स्वयं ही स्वीकृति में सिर हिलाया, "आप?"

वह सहज रूप से मुस्कुराया, "नहीं पहचाना न? मैं जानता था। मैं हूँ अक्रूर!"

कुन्ती की मुद्रा सहसा ही परिवर्तित हो गयी : वह जैसे स्मृति-दर्पण पर से समय की धूलि को झाड़ रही थी। और क्रमशः उसकी आँखों के सम्मुख उस अधेड़ श्मश्रुमान चेहरे के भीतर से एक परिचित तरुण चेहरा झाँकने लगा। कुन्ती जैसे टूट कर, अक्रूर के कण्ठ से जा लगी, "हाय! मैं पहचान क्यों नहीं पायी!"

और फिर कुन्ती स्वयं नहीं समझ सकी कि उसके मन की क्या स्थिति हुई कि उसकी आँखों में अश्रु आ गये, उसका कण्ठ भर्रा गया। वह बिना एक भी शब्द बोले, चुपचाप अक्रूर के कण्ठ से लग कर अश्रु बहाती रही और उसे लगा कि उसने इतना बड़ा सुख सारे जीवन में कभी नहीं जाना!

अक्रूर का मुस्कुराता हुआ कौतुकी चेहरा भी जैसे गम्भीर हो गया और उसकी आँखें भर आयीं। वह किंकर्तव्यविमूढ़-सा कुन्ती को कण्ठ से लगाए, अपनी अश्रुपूरित धुँधली आँखों से, अवाक खड़े पाण्डवों को देखता रहा... अन्ततः उसने स्वयं को सँभाला। अश्रु पोंछे। कुन्ती के कंधों को स्नेहोन्मत्त कोमल हाथों से थपथपाया; और जैसे फुस-फुसा कर बोला, "तू तो अब भी वैसी ही बावली पृथा है। साम्राज्ञी और राजमाता की गरिमा और गम्भीरता तो तुममें आयी ही नहीं!"

कुन्ती के मन में जैसे कोई चपल बालिका किलक उठी, जो कहना चाहती थी, 'हाँ! मैं तो हूँ ही बावली! तुम तो बड़े सयाने हो न!' किन्तु उसके धैर्य ने जैसे उस किलक को दबा लिया। उसने स्वयं को स्मरण कराया : 'बावली ही तो हो रही थी वह! इतने वर्षों के अन्तराल के पश्चात उसका भाई घर आया था और वह उसके स्वागत में एक शब्द भी न कह कर, रोये जा रही थी।'...

कुन्ती को लगा : वह इस समय जैसे एक ही साथ दो-दो धरातलों पर जी रही थी। उसके मन में वर्षों पुरानी किलकती हुई चपल बालिका जाग उठी थी, और वह अपने पुराने ढंग से व्यवहार करना चाहती थी। वह कहना चाहती थी, 'अक्रूर भैया! यह किसकी श्मश्रु अपने चेहरे पर चिपका आये हो? उतारो इसको।' और वह दाढ़ी को पकड़ कर, उस चेहरे से खींच लेना चाहती थी, जैसे वह सचमुच ही, गोंद से चिपकी हुई हो।...या शायद उसके कण्ठ में अपनी बाँहें डाल, झूल जाना चाहती थी, भूमि पर अपने पैर पटक-पटक कर हठ करना चाहती थी कि वह ऐसे ही कण्ठ में लटके-लटके, उसे गोल-गोल घुमाये।...और दूसरी ओर वह एक प्रोढ़ महिला के समान मर्यादित व्यवहार करना चाहती थी। उसके विवाह के पश्चात, आज पहली बार, उसके मायके से कोई उसके घर आया था।...वह भी उसका एक ऐसा भाई, जिसके साथ अपना सारा शैशव उसने चपल क्रीड़ाओं में बिताया था; जो सदा उसे स्मरण कराता रहता था कि वह उससे अवस्था में बड़ा था, इसलिये कुन्ती को चाहिए कि उसे 'भैया' कहे और उसका सम्मान करे।...और कुन्ती सदा ही उसके बड़े होने की गरिमा, मर्यादा और अधिकार का तिरस्कार करती रही थी।...आज वह सचमुच ही बड़ा और गम्भीर हो कर, उसके सम्मुख आया था—इतनी बड़ी श्वेत श्यश्रु ले कर, ताकि आज तो कुन्ती उसे बड़ा मान ही ले।

कुन्ती ने स्वयं का सायास पृथक किया और अपने अश्रु पोंछ, प्रयत्नपूर्वक स्वयं को संयत कर, अपने पुत्रों से बोली, "इन्हें प्रणाम करो पुत्र! यह श्वफल्कपुत्र अक्रूर हैं—तुम्हारे मातुल!"

पाण्डवों ने अक्रूर को प्रणाम किया और युधिष्ठिर ने आगे बढ़, हाथ जोड़ कर कहा, "भीतर पधारें मातुल! हमें क्षमा करें! आपको पहचान न पाने के कारण, इतनी देर तक आपको बाहर ही खड़े रखा। पधारें।"

अक्रूर ने भीतर जाते हुए, पीछे मुड़ कर सारथि से कहा, "अश्वों को खोल दो सारथि! तुम भी विश्राम करो।"

कुन्ती को लगा, वह अब तक अपने-आपको संयत नहीं कर पायी है; किन्तु अब उसे इसकी चिन्ता नहीं थी। जिस शालीनता और सम्मान से युधिष्ठिर, अपने मातुल को घर के भीतर ले आया था और पाँचों भाइयों ने यथा आवश्यकता, सब कुछ सँभाल लिया था, उससे कुन्ती को यह तो लग ही नहीं रहा था कि अब वह परिवार की प्रमुख है, और सब कुछ उसके किये ही होगा।...उसके पुत्र अब सचमुच बड़े हो गये थे; और जिस युधिष्ठिर से यह अपेक्षा की जा रही थी कि वह सारे कुरु-साम्राज्य को सँभालेगा, वह क्या अपने एक छोटे-से घर को नहीं सँभाल पायेगा...

कुन्ती आज अपने-आपको समझ नहीं पा रही थी। जाने आज उसके मन की कौन-सी पीड़ा जाग उठी थी और अश्रुओं का कौन-सा स्रोत खुल गया था। उसकी इच्छा हो रही थी कि यदि वह अक्रूर के कण्ठ से लग कर नहीं रो सकती, तो उसके सामने बैठ कर, जी भर कर रोये।...उसे स्वयं ही अपने ऊपर आश्चर्य हो रहा था कि उसे क्या हो गया था। इतनी विह्वल तो वह तब भी नहीं हुई थी, जब पाण्डु ने विवाह के तत्काल पश्चात उसकी उपेक्षा करनी आरम्भ कर दी थी। इतनी विह्वल तो वह तब भी नहीं हुई थी, जब उसके पति का देहान्त हो गया था और अपने इन छोटे-छोटे पुत्रों को हृदय से लगाए, हताशा और दुख के असह्य बोझ से दबी प्रश्नवाचक दृष्टि से आकाश की ओर देख रही थी—विधाता! मेरा और मेरे इन पुत्रों का क्या होगा?

आज तक न उसे रोने का अवकाश ही मिला था और न सुविधा ही। सबको रोने की सुविधा कहाँ होती है।... इतने वर्षों के पश्चात आज उसे अपने भाई का कंधा दिखायी पड़ा था, जिस पर माथा टिका कर वह रो सकती थी। इतने वर्षों के पश्चात उसे कोई, अपना इतना आत्मीय मिला था, जिसके सम्मुख वह निःशंक भाव से अपने दुख कह सकती थी। यह व्यक्ति उन लोगों के मध्य से आया था, जो उसके अपने थे, जो सामर्थ्यवान थे; और जो उसकी सहायता कर सकते थे...

"कैसे हो भैया?" अन्ततः उसने पूछा।

"विधाता का धन्यवाद! तुम कुछ बोलीं तो! मैं समझ नहीं पा रहा था कि तुम मूक हो या अवाक!" अक्रूर मुस्कुराया, "तुम कैसी हो पृथा?"

कुन्ती का मन फिर भर आया : आज उसके घर, उसे 'पृथा' कहने वाला कोई आया था। वह तो जैसे भूल ही गयी थी कि वह कभी पृथा भी हुआ करती थी। उसका संयम जैसे चुक गया या शायद भावनाओं के आवेश ने उसके विवेक का अंकुश मानने से इनकार कर दिया, "मैं तो उस हरिणी के समान हूँ भैया! जो नृशंस भेड़ियों के मध्य घिर गयी हो। मेरे ये पितृहीन बालक आज तक अपना स्वत्व न पा सके। शत्रुओं के बीच घिरी ऐसी शोकाकुल हूँ; किन्तु किसी से कह भी नहीं सकती कि वे लोग मेरे बन्धु-परिजन नहीं, हत्यारे हैं।" कुन्ती का स्वर करुण होता गया, "तुम सब लोग अपने संकटों में घिरे थे। पिता कुन्तीभोज स्वयं को सर्वथा असहाय पा रहे थे। मैं किसके सम्मुख रोती? कहाँ जाती मैं सहायता के लिये?..."

अक्रूर अपने स्थान से उठ कर कुन्ती के निकट आ गया, "चिन्ता मत करो बहन! विपत्ति-काल समाप्त हुआ। कंस का वध हुआ। यादव अब स्वतन्त्र और समर्थ हैं। बहुत सहा है यादवों ने; और उनसे अधिक सहन किया है, वसुदेव तथा देवकी ने। किन्तु अब हमारे सम्मुख उज्ज्वल भविष्य है। कृष्ण और बलराम के नेतृत्व में हम जरासंध को पराजित कर चुक हैं।..."

"पर मैंने तो सुना है कि जरासंध यादवों के विरुद्ध, उनके शत्रुओं को संगठित करता फिर रहा है।" कुन्ती कुछ स्वस्थ स्वर में बोली।

"हाँ! किन्तु हम भी असमर्थ नहीं हैं। कृष्ण कहता है कि हम अपने मन में प्रतिहिंसा न रखें, किन्तु धर्म और न्याय के शत्रुओं के विरुद्ध हम भी संगठित हों। असहायों की रक्षा करें...।"

"क्या भैया वसुदेव मुझे स्मरण करते हैं?" सहसा कुन्ती ने पूछा।

इस बार अक्रूर का स्वर जैसे उल्लास से ऊँचा हो आया, "वसुदेव तो स्मरण करते ही हैं, मुझे तो वासुदेव कृष्ण ने कहा था..."

"क्या?" कुन्ती ने पूछा।

"कृष्ण ने कहा, 'काका! आप पाण्डवों का कुशल-मंगल जानने के लिये हस्तिनापुर जाइये। मैंने सुना है कि वहाँ वे सुखी नहीं हैं। सुखी होंगे भी कैसे। धृतराष्ट्र एक तो अन्धे हैं और दूसरे उनमें मनोबल की बहुत कमी है। उनका पुत्र दुर्योधन दुष्ट है और धृतराष्ट्र अपने पुत्र के अधीन हैं। आप बुआ और उनके पुत्रों की स्थिति देख आइये। फिर हम ऐसा कुछ करें, जिससे हमारे सुहृदों को सुख मिले।'"

"यह सब कहा कृष्ण ने?" कुन्ती चकित थी, "कहाँ से मालूम हो गया, कृष्ण को यह सब?"

"यह कहना तो कठिन है बहन!" अक्रूर ने कहा, "मैं तो इतना ही जानता हूँ कि मुझे सदा यही लगा है कि कृष्ण सब कुछ जानता है। उससे कुछ भी छिपा नहीं रहता।"

कुन्ती का मन अपने उस भतीजे के लिये स्नेह से आप्लावित हो उठा : कैसा है वह कृष्ण, जिसके विषय में अक्रूर भैया ऐसा कह रहे हैं।...

"मातुल!" सहसा युधिष्ठिर बोला, "मेरी अशिष्टता क्षमा करें, बड़ों के वार्तालाप में हस्तक्षेप कर रहा हूँ।"

"नहीं! ऐसी कोई बात नहीं! तुम कहो पुत्र!" अक्रूर ने अपनी दृष्टि युधिष्ठिर पर डाली, "अब तुम बालक नहीं हो। वयस्क हो। तुम्हें हस्तिनापुर का राज्य सँभालना है। तुम्हें हम अपने वार्तालाप के अयोग्य कैसे मान सकते हैं।" अक्रूर के अधरों पर एक मधुर मुस्कान आयी, "और कृष्ण तो तुमसे भी छोटा है। हम उससे परामर्श लेते हैं। उसके नेतृत्व को स्वीकार करते हैं। उसके आदेशों का पालन करते हैं।..."

"आप तो कृष्ण के अभिभूत लगते हैं मातुल!" भीम को भी वार्तालाप की प्रेरणा मिली, "क्या सचमुच कृष्ण इतना अद्‌भुत है?"

"मैं क्या कहूँ पुत्र! उसे तो जिसने भी देखा, अद्‌भुत ही पाया है।" अक्रूर ने कहा, "तुम क्या कह रहे थे युधिष्ठिर?"

"मातुल! मैं सोचता हूँ कि यादव तो स्वयं ही इतनी कठिनाइयों में फँसे हुए हैं, वे क्या हमारी कोई सहायता कर पायेंगे?" युधिष्ठिर चिन्तनशील स्वर में बोला, "मथुरा के भीतर भी कंस के समर्थक होंगे, वे कृष्ण और उसके समर्थकों को शान्ति से नहीं बैठने देंगे। फिर जरासंध है—वह चाहे यादवों से पराजित हो चुका है, किन्तु वह अपनी हार नहीं मानेगा। वह यादवों के विरुद्ध अपने मित्र राजाओं की सेनाएँ एकत्रित कर रहा है। मैंने सुना है कि वह कालयवन से भी सम्पर्क कर रहा है। बहुत सम्भव है कि अनेक लोग अपने निजी कारणों से स्वयं जरासंध के सहायक हो जायें। दुर्योधन भी उनमें से एक हो सकता है। इतने शत्रुओं के होते हुए क्या कृष्ण के पास इतना समय होगा कि वह हमारी ओर ध्यान दे और हमारी सहायता कर अपने शत्रुओं में और वृद्धि करे। हमारी सहायता करने पर पंचाल तथा गन्धार भी यादवों के शत्रु हो जायेंगे...शायद सिन्धु-सौवीर भी...।"

युधिष्ठिर रुक गया। उसने दृष्टि उठा कर अक्रूर को देखा : क्या प्रतिक्रिया है अक्रूर की?...

किन्तु अक्रूर ने तत्काल न कोई उत्तर दिया, न प्रतिक्रिया व्यक्त की। वह आत्मलीन-सा, भाव-शून्य दृष्टि से युधिष्ठिर को देखता रहा।

थोड़ी देर के पश्चात अक्रूर ने स्वयं ही कहा, "मैं प्रसन्न हूँ पुत्र! कि तुमने यह सब सोचा। मुझे लगता है कि तुमने मात्र एक प्रश्न नहीं पूछा है। तुम्हारी बातों में अनेक प्रश्न एक-दूसरे से उलझे हुए हैं। जैसे-जैसे हम उन्हें सुलझाएँगे, हमारे हाथ नये-से-नये प्रश्न लगेंगे और उनमें से प्रत्येक का उत्तर देते हुए, मुझे कृष्ण के विषय में बहुत कुछ बताना पड़ेगा। और मुझे लगता है कि मैं कृष्ण के विषय में तुम्हें जितना अधिक बताऊँगा, तुम उसे उतना ही अद्‌भुत पाओगे।"

अक्रूर की बात का किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया, किन्तु उसने देखा कि पाँचों भाई सुनने की उत्सुकता में उसके कुछ और निकट खिसक आये हैं।

"जहाँ तक कृष्ण का प्रश्न है, वह उन सबकी सहायता कर सकता है, जिनको उसकी सहायता की आवश्यकता है।..."

"कृष्ण के संकल्प के विषय में मुझे कोई शंका नहीं है मातुल!" युधिष्ठिर बोला, "मैं तो समय और साधनों की बात कर रहा था।"

"मैं भी उसी अर्थ में कह रहा हूँ पुत्र! कि कृष्ण अक्षय है। उसके पास उन सबके लिये समय है, जिसको उसके समय की आवश्यकता है। और जहाँ तक साधनों की बात है, उन्हें एकत्रित, संचित अथवा उत्पन्न कर लेने में कृष्ण को कभी कोई कठिनाई नहीं होती।..."

"ऐसा कैसे सम्भव है?" अर्जुन समझ नहीं पाया कि यह उसकी जिज्ञासा मात्र थी अथवा आपत्ति!

"कैसे सम्भव है, यह मैं नहीं जानता, किन्तु ऐसा ही है।" अक्रूर ने बहुत सहज भाव से कहा, "कृष्ण मानता है कि संसार में कुछ भी असम्भव नहीं है। हमें केवल उसके अनुकूल, उसी अनुपात में कर्म करना होता है। और उस कर्म का फल अवश्य मिलता है।"

"कर्म का फल मिलता है?" भीम ने अत्यन्त आश्चर्य से कहा, "हमें तो कभी नहीं मिला। मुझे तो सदा ही लगता है कि कर्म हम करते हैं और फल कोई और ही खा जाता है।"

"तुम कृष्ण से मिलो तो अवश्य पूछना कि तुम्हारे कर्मों का फल कौन खा जाता है।" अक्रूर सहज ही मुस्कुरा पड़ा, "सम्भव है कि मैं तुम्हारी सारी शंकाओं का समाधान न कर पाऊँ; किन्तु कृष्ण की बातों से इतना मैं अवश्य समझ गया हूँ कि प्रकृति में अनियमितता नहीं है। प्रकृति के अपने नियम हैं। वह उन्हीं नियमों पर चलती है। उसकी ओर से हमारी क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होती है। कृष्ण कहता है कि यदि हमें लगता है कि हमारे कर्म का फल हमें नहीं मिल रहा, तो इसका कहीं यह अर्थ नहीं है कि प्रकृति अन्याय कर रही है। इसका अर्थ मात्र इतना ही है कि या तो हम प्रकृति के नियमों से अनभिज्ञ हैं अथवा हमारी विश्लेषण दृष्टि में कहीं कोई भ्रम है।"

"ऐसा कहता है कृष्ण?" कुन्ती चकित थी, "अनास्था के इस युग में ऐसी आस्था?"

"हाँ पृथा! इसलिये कृष्ण कहता है कि हमारी अकर्म में प्रीति नहीं होनी चाहिए।" अक्रूर बोला, "यदि जरासंध हमारे शत्रुओं को संगठित कर रहा है, तो हम जरासंध के शत्रुओं को संगठित कर सकते हैं। जो मार्ग उसके लिये खुला है, वह मार्ग हमारे लिये भी खुला है।..."

"तो फिर जरासंध और कृष्ण में अन्तर ही क्या हुआ?" युधिष्ठिर बोला, "मैंने तो कभी नहीं सोचा था कि दुर्योधन के सारे मार्ग मेरे लिये भी खुले हैं।"

अक्रूर ने अचकचा कर युधिष्ठिर की ओर देखा; किन्तु उसकी दृष्टि में कोई विपरीत भाव नहीं था। उसमें कुछ विस्मय और कुछ प्रसन्नता थी, "मुझे प्रसन्नता है पुत्र! कि तुम किसी का नायकत्व आँखें मूँद कर स्वीकार नहीं कर रहे। मात्र परिजन होने के कारण, किसी को अपना सुहृद अथवा न्यायी नहीं मान रहे।..."

युधिष्ठिर ने ग्लानि से, सबसे आँखें चुरा कर, अपना मस्तक झुका लिया, जैसे उससे बड़ी भूल हो गयी हो।

"क्या हुआ वत्स?" कुन्ती ने चौंक कर पूछा, "ऐसे निढाल क्यों हो गये तुम?"

"कुछ नहीं माँ! मुझे लगा कि या तो मेरे चिन्तन में ही कोई भ्रम है या मेरे शब्दों का चयन ठीक नहीं है। मैं वह सब नहीं कह रहा था, जो अर्थ मातुल तक सम्प्रेषित हुआ। कृष्ण हमारा परिजन तो है ही, सुहृद भी है—नहीं तो वह मातुल को हमारे पास क्यों भेजता! उसके नेतृत्व को स्वीकार करने में मुझे क्या आपत्ति हो सकती है। श्रेष्ठतर व्यक्ति का नायकत्व करना ही चाहिए।...माँ! मैं तो केवल जानना चाह रहा था...।"

"निश्चिन्त रहो पुत्र! मैंने तुम्हें ग़लत नहीं समझा! तुम्हारे शब्दों का अन्य अर्थ करके भी मैंने तुम्हें प्रशंसा के योग्य पाया।" अक्रूर ने युधिष्ठिर का कंधा थपथपाया, "मैं स्वयं तुम्हें जरासंध और कृष्ण का अन्तर समझाना चाह रहा था। इस विवाद में कृष्ण के गुण-ही-गुण प्रकट होते हैं; और हम यादवों को कृष्ण के गुणों का गान करने का रोग है। अभी नये-नये परिचित हुए हैं न उससे। इसलिये उसकी युक्तियाँ, कर्म तथा विचार अद्भुत लगते हैं हमें।" अक्रूर ने रुक कर उनकी ओर देखा, "देखो! जरासंध की ही नीति पर चलने वाला उसका प्रतिनिधि था, उसका जामाता—कंस! कंस के शासन में यादवों का कोई मित्र नहीं था—बस शत्रु-ही-शत्रु थे। जो कंस के मित्र थे, वे भी यादवों के शत्रु ही थे—क्योंकि स्वयं कंस भी तो यादवों का शत्रु ही था। हम सब यह अनुभव करते थे कि हम बन्दी हैं—दुष्ट नियमों के बन्दी, राजा के आतंक के बन्दी। न कोई खुल कर हँस सकता था, न रो सकता था। न प्यार प्रकट कर सकता था, न घृणा। जहाँ उग्रसेन बन्दी हो गये, वसुदेव बन्दी हो गये, वहाँ और कौन स्वतन्त्र रह सकता था।..."

"क्यों? आप तो स्वतन्त्र थे।" भीम उच्छृंखल स्वर में हँसा, "प्रासाद में रहते थे, राजसभा में आते-जाते थे।

राजपुरुष की महत्ता प्राप्त थी आपको।... मैं तो आपके भाग्य से ईर्ष्या कर रहा हूँ मातुल! तब आप कंस के प्रतिनिधि थे और अब कृष्ण के। राज्य-परिवर्तन के पश्चात अपने पद पर बने रहने वाले बहुत भाग्यशाली होते हैं।"

"भीम!" कुन्ती ने कहा।

"तुमने देर से टोका माँ!" भीम हँसा, "मैं तो आपनी बात कह भी चुका।"

"अच्छा किया पुत्र! तुमने अपनी बात कह डाली।" अक्रूर हँसा, "इससे मुझे यह भी मालूम हो जायेगा, कि लोग मेरे विषय में क्या सोचते हैं।...और...।" अक्रूर ने रुकते-रुकते कहा, "हमने यह भी कृष्ण से ही सीखा है कि अपने विरुद्ध कही गयी बात को पूरे ध्यान से ही नहीं, पूरे सम्मान के साथ सुनो! हो सकता है कि उससे तुम्हें अपनी भूल समझने में सहायता मिले।... इसलिये पुत्र! यदि तुमने सचमुच मेरे भाग्य को सराहा है, तो कोई बात नहीं; किन्तु यदि इसे मेरी धूर्त राजनीति मान कर मेरा उपहास किया है, तो अपने सम्मान की रक्षा के लिये कुछ कहना चाहूँगा।" उसने रुक कर जैसे उन पाँचों भाइयों को अपनी आँखों में तौला, "तुम्हारे काका विदुर आज धृतराष्ट्र की सभा में महामन्त्री हैं, सारे राजसी सुख-सम्मान उन्हें भी प्राप्त होंगे। कल जब युधिष्ठिर युवराज हो जायेगा, या राजा ही बन जायेगा, तो क्या तुम विदुर को अपदस्थ कर दोगे? या उनके महामन्त्री बने रहने पर उन्हें धूर्त मानोगे?"

"मुझे क्षमा करें मातुल! काका विदुर आपके रक्षक बन कर आ गये।" भीम ने अट्टास किया; किन्तु सब समझ रहे थे कि इस बार वह अक्रूर पर नहीं, अपनी मूर्खता पर हँस रहा था।

"पृथा! तेरा यह पुत्र तो पूरा भोलेनाथ है।" अक्रूर ने कहा, "मैं जब कंस की सभा में था, तो तनिक भी प्रसन्न नहीं था। मुझे लगता था कि वसुदेव कंस के कारागर में बन्दी था और मैं कंस की राजसभा में। वह कारागार से बाहर नहीं आ सकता था और मैं राजसभा से। एक प्रकार से वह मुझसे अधिक सुखी था। वह कंस की आज्ञाओं का पालन करने को बाध्य नहीं था। मुझे वह स्वतन्त्रता नहीं थी। कल्पना करो पृथा!" अक्रूर ने विशेष रूप से कुन्ती को सम्बोधित किया, "कि मैं कंस के आदेश से कृष्ण और बलराम को मथुरा ले आने के लिये वृन्दावन गया था। मैं जानता था कि कंस के मन में क्या है। वह जान गया था कि कृष्ण और बलराम वसुदेव के पुत्र हैं। वह उनकी हत्या करने के लिये, उन्हें बुला रहा था।... और मैं कंस की आज्ञा का पालन करने के लिये बाध्य था। बन्दी जो था। मुक्त होता तो तत्काल मना कर देता, या जा कर कृष्ण और बलराम को बता देता कि कंस तुम्हारी हत्या करना चाहता है। भाग कर यहाँ से कहीं दूर चले जाओ।...कृष्ण ने आ कर न केवल वसुदेव और देवकी के बन्धन काटे, हम सबको भी बन्धन-मुक्त किया। हमारे शरीर पर से प्रतिबन्ध हटाए, हमारे मन पर पड़े आतंक और त्रास के पर्वत, चूर्ण कर दिये। हमने मुक्त ढंग से सोचना आरम्भ किया, अपनी इच्छाओं को पहचाना। आदेश से बँधे, सिर झुका कर जीने की अपेक्षा, स्वतन्त्र रूप से जीने का अर्थ समझा। कंस अपने जीवित पिता को बन्दी कर, स्वयं राजा बना, और कृष्ण राजा को मार कर, विजेता होते हुए भी, न स्वयं राजा बना; और न उसने अपने पिता को राजा बनाया!...पुत्र युधिष्ठिर! तुम समझ रहे हो जरासंध और कृष्ण का अन्तर?"

"समझ रहा हूँ मातुल!" युधिष्ठिर की मुद्रा ज्ञान के प्रकाश से उल्लासित हो आयी थी।

"दूसरी बात सुनो," अक्रूर ने पुनः कहा, जरासंध के तथाकथित मित्रों— दामघोष, भीष्मक, शाल्व, दन्तवक्त्र...इनमें से किसी से पूछो कि उन्हें जरासंध की इच्छा के विरुद्ध कोई भी कार्य करने की स्वतन्त्रता है? नहीं! जरासंध किसी को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार नहीं देता! स्वतन्त्र चिन्तन का अवकास नहीं है वहाँ। वे उसके मित्र नहीं, अधीनस्थ कर्मचारी हैं—वरन दास हैं, दास! अपनी इच्छा से तो वे अपने पुत्र-पुत्रियों के विवाह-सम्बन्ध तक नहीं कर सकते। उनके पारिवारिक सम्बन्धों में भी जरासंध का आदेश ही सर्वमान्य है। वह उनका सम्राट है, मित्र नहीं। जबकि कृष्ण के लिये व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का बहुत महत्व है—किन्तु वहीं तक, जहाँ तक सामाजिक हित की विरोधी नहीं हो जाती।...तुम देखो पुत्र! कृष्ण जब स्वर्जित राज्य का राजा ही नहीं बना, तो वह अपने मित्र राजाओं का सम्राट क्या बनेगा। राजा अथवा सम्राट बनने की महत्वाकांक्षा नहीं है उसके मन में। वह यदि कुछ चाहता है तो मात्र इतना कि मानवीय उत्पीड़न और अत्याचार समाप्त हो और प्रकृति के साथ मैत्री कर, मनुष्य सुख और चैन से जी सके। इसलिये उसने मित्र बनाया है, पंचालराज द्रुपद को, मत्स्यराज विराट को...और अब वह मित्र बना रहा है तुम्हें पाण्डवों को, हस्तिनापुर को। काम्पिल्य में राज्य द्रुपद का होगा, विराटनगर में मत्स्यराज विराट का, हस्तिनापुर में कुरुराज युधिष्ठिर का। कृष्ण इनका सम्राट नहीं होगा। कृष्ण कर्म-योगी है, अधिकार-भोगी नहीं।..."

"मैं आपसे पूर्णतः सहमत हूँ मातुल!" युधिष्ठिर बोला, "किन्तु व्यक्ति अपने स्वार्थ से ही प्रेरित हो कर कर्म

करता है। यदि कृष्ण को यह दिखायी देगा कि हमारे पक्ष में खड़े होने से, अनेक शक्तिशाली राजा यादवों के विरोधी हो जायेंगे, तो भी वह हमारा मित्र होना चाहेगा? हमारी सहायता करेगा? वह अपने कर्म का सम्भावित परिणाम नहीं देखेगा क्या?"

अक्रूर ने कुछ कहा नहीं : युधिष्ठिर पूछ रहा है कि कृष्ण क्या पाण्डवों से मैत्री का परिणाम नहीं देखेगा?...और कृष्ण ने उसे हस्तिनापुर भेज दिया है—अपने परिजन और सुहृद पाण्डवों की अव्यवस्था देखने के लिये। उसने यह भी कहा है कि यदि वे विपन्न हैं, तो हम कुछ ऐसा करेंगे, जिससे हमारे सुहृद प्रसन्न हो सकें।...तो इसका क्या अर्थ हुआ?...कृष्ण को परिणाम दिख नहीं रहा रहा? ग़लत परिणाम दिख रहा है?...अथवा वह सम्भावित परिणाम को देखना नहीं चाहता?...

"देखो वत्स! तुम्हारे प्रश्न का उत्तर तो स्वयं कृष्ण ही दे सकता है, जो इस समय यहाँ नहीं है। तुम्हारे प्रश्न ने मेरे मन में भी कृष्ण की प्रतिक्रिया, उसकी विश्लेषण दृष्टि तथा उसके सम्भावित निश्चयों के विषय में अनेक प्रश्न उठा दिये हैं। फिर भी जो कुछ मैं समझ पाया हूँ—वह तुम्हें बताना चाहता हूँ। आवश्यक नहीं कि कृष्ण स्वयं यही व्याख्या करे। वस्तुतः कृष्ण की बातें, किसी एक व्याख्या तक तो सीमित हैं ही नहीं! अनेक लोग, उसकी बातों के अनेक अर्थ समझते हैं।...और वे अर्थ सत्य से बहुत दूर भी नहीं होते...।"

"आप क्या समझते हैं मातुल!"

"कृष्ण यह मानता है कि कर्म स्वार्थ से नहीं, धर्म से प्रेरित होना चाहिए; और जब कर्म, धर्म से प्रेरित होगा, तो हमें उसके फल की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। कर्म निष्काम होना चाहिए, सकाम नहीं!"

"निष्काम कर्म का क्या अर्थ हुआ?" सहदेव ने पूछा।

"क्या अर्थ हुआ, यह तो कृष्ण से पूछना; किन्तु जो मैं समझ पाया हूँ, वह इतना ही है कि जब कृष्ण ने कंस की रंगशाला में यह पाया कि कंस ने उसके वध की व्यवस्था कर रखी है, तो उस समय उसका धर्मसंगत कर्म आत्म-रक्षा ही है। आत्मरक्षा के लिये आवश्यक है कि वह मृत्यु के सारे उपकरणों को नष्ट कर दे और उन उपकरणों के नियन्त्रक का वध कर दे। इसलिये उन दोनों भाइयों ने कुवलयापीड़ हाथी तथा मुष्टिक और चाणूक मल्लों को मार डाला; अन्ततः इस मृत्यु-यन्त्र के सर्जक कंस की भी उन्होंने हत्या कर दी।" अक्रूर ने उनकी ओर देखा, "तुमने देखा पुत्र! कृष्ण के कर्म का फल शुभ ही हुआ। यदि उस समय कृष्ण यह सोचता कि कंस का विरोध करने से, वह रुष्ट हो जायेगा, उसे तथा उसके सम्बन्धियों को कष्ट देगा—तो वह यह अद्‌भुत कर्म नहीं कर पाता।...मेरा तात्पर्य यह है कि धर्म-प्रेरित कर्म के मार्ग में त्रास तथा लोभ का विघ्न नहीं मानना चाहिए। अब जब कृष्ण ने यह निश्चय किया है कि हस्तिनापुर में वह अपने धर्म-परायण भाइयों तथा बुआ को दुखी नहीं रहने देगा, तो अपने लिये नये शत्रुओं के उत्पन्न होने की आशंका उसे डिगा नहीं पायेगी। मैं तो यह भी सोचता हूँ पुत्र!..." अक्रूर रुक गया।

"क्या सोचते हैं मातुल?" सहदेव ने धीरे से पूछा, "आप रुक क्यों गये?"

"सोचता हूँ पुत्र! कि अधर्म पर चलने वाले लोग, कृष्ण के मित्र नहीं हो सकते और धर्माचरण करने वाला कोई उसका शत्रु क्यों होगा?" अक्रूर हँसा, "कृष्ण कहता है कि जो सत्य है, वह नष्ट नहीं हो सकता; और जो असत्य है, उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। इसलिये चिन्ता छोड़ो, कर्म करो!"

कुछ क्षणों के लिये वहाँ मौन छा गया; और फिर सहसा कुन्ती बोली, "चलो अब बस करो। बहुत बातें हो लीं। मातुल लम्बी यात्रा से आये हैं। उन्हें कुछ विश्राम भी करने दोगे या नहीं!...हाँ, उनका कुछ सत्कार भी तो नहीं किया हमने..."

विदुर ने अपने घर पर अक्रूर का सत्कारपूर्ण स्वागत किया, सादर बैठाया और पूछा, "आप पाण्डवों के सम्बन्धी के रूप में हस्तिनापुर आये हैं अथवा मथुरा के राज-प्रतिनिधि के रूप में?"

विदुर की मुद्रा कुछ ऐसी थी कि अक्रूर कुछ असमंजस में पड़ गया : विदुर उसका उपहास कर रहा था अथवा हस्तिनापुर का महामन्त्री उसका राजनीतिक महत्व आँकने का प्रयत्न कर रहा था?...और सहसा उसके मन में विदुर की मुद्रा किसी चपल पुरुष की इठलाती-सी मुद्रा में बदल गयी।...विदुर शायद यह भूल नहीं सका था कि अक्रूर उसकी भाभी, कुन्ती का भाई है—उसके भाई पाण्डु का श्यालक!

प्रश्न किसी भी रूप में पूछा गया हो, किन्तु अक्रूर उसका उत्तर पूर्ण राजनीतिक महत्व को ध्यान में रखते हुए देना चाहता था। बोला, “आया तो मथुरा के राजप्रतिनिधि के रूप में ही हूँ; और निरुद्देश्य भ्रमण अथवा जनसम्पर्क की दृष्टि से भी नहीं आया हूँ। मन में स्पष्ट उद्देश्य है। आप यह भी समझ सकते हैं कि हस्तिनापुर की राजसभा में, यादवों की नीति के उद्घोष के लिये आया हूँ।...”

विदुर मुस्कुराया। यह मुस्कान उसकी प्रसन्नता अथवा सम्बोधित व्यक्ति के प्रति उसकी विनय को द्योतक नहीं थी। ऐसी मुस्कान तो वह तब ही अपने अधरों पर सायास ला बैठाता था, जब वह, यह नहीं चाहता था कि उसका प्रश्न सम्बोधित व्यक्ति को कठोर अथवा अशिष्टि लगे।

“और वह यादवों की कौन-सी नीति है, जिसका उद्घोष मथुरा में न कर, आप हस्तिनापुर की राजसभा में करना चाहते हैं?” उसने कहा, “हस्तिनापुर सार्वभौम सत्तासम्पन्न एक स्वतन्त्र राज्य है। उसकी राजसभा में दूसरे राज्यों की नीति की घोषणाएँ नहीं होती।”

“आप ठीक कह रहे हैं।” अक्रूर का स्वर न तो नम्र हुआ, न कोमल, “फिर भी हम घोषित करना चाहते हैं कि यादवों की साम्राज्य स्थापित करने की कोई आकांक्षा नहीं है, हम स्वतन्त्र राजाओं को अपने माण्डलिक राजा बना कर, उन्हें अपमानित भी नहीं करना चाहते और न ही हम अपने पड़ोसियों के आन्तरित विषयों में किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप करना चाहते हैं; फिर भी हम नहीं चाहेंगे कि हमारे पड़ोस के राज्यों में षड्यन्त्र रच कर राजनीतिक सत्ता को अस्थिर किया जाये, या उनका विभाजन किया जाये। जहाँ अनीति अपने पैर जमा लेती है, वहाँ राजनीतिक षड्यन्त्र रचे ही जाते हैं और बाहरी शक्तियाँ हस्तक्षेप करती ही हैं। इसलिये हम चाहेंगे कि स्वर्गीय सम्राट पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक कर, कुरुओं के राज्य की पुरानी नीति को स्थिरता दी जाये, ताकि हमारे शत्रु—जरासंध तथा उसके सहयोगी—हमारे पड़ोसी राज्यों में अपने पैर जमा कर हमारे लिये संकट का कारण न बनें।...”

“और?”

“और इस तथ्य को स्वीकार करने में हमें तनिक भी संकोच नहीं है कि पाण्डव हमारे भागिनेय हैं, अतः उनके अधिकारों की रक्षा के लिये हम उन्हें राजनैतिक और सामाजिक—दोनों ही प्रकार का समर्थन देंगे।...”

अक्रूर ने अपनी बात समाप्त कर विदुर की ओर देखा : उसके चेहरे पर सहज प्रफुल्लता थी।

“आप बहुत ही उपयुक्त अवसर पर आये हैं आर्य अक्रूर! मैं आपको कैसे बताऊँ कि आपने हमारी कितनी बड़ी समस्या का समाधान कर दिया है।” विदुर बोले, “वस्तुतः हमारे राजा पर अधिकार-अनाधिकार, धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित—इन सारी चर्चाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे सब कुछ सुनते रहते हैं। धर्म-संगत नीतियों का समर्थन करते रहते हैं, किन्तु नीतियों तथा निश्चयों को कर्म-रूप में परिणत करने की आवश्यकता कभी नहीं समझते। वे निरन्तर यथा-स्थित बनाये रखना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि वे राज-सिंहासन पर बैठे रहें और युधिष्ठिर तथा दुर्योधन में युवराज्याभिषेक का संशय और विवाद बना रहे। वे युधिष्ठिर के युवराजत्व को अस्वीकार नहीं करते, किन्तु उसे युवराज बना नहीं रहे। वे कहते हैं, कार्य होना चाहिए, किन्तु न कार्य करने के लिये हाथ उठाते हैं और न किसी और को वह कार्य करने का आदेश देते हैं। वे जानते हैं कि कोई उनका हाथ पकड़ कर, उनसे काम करा तो लेगा नहीं। वाचिक समर्थक करते रहने से क्या बिगड़ जायेगा। ...इसलिये हम चाहते हैं कि यादव उन्हें यह बता दें कि यदि महाराज अपना हाथ उठा कर यह कार्य नहीं करेंगे, तो कोई और हाथ स्वयं उठ कर यह कार्य कर जायेगा।”

“आपकी इच्छा यथाशीघ्र पूरी होगी।” अक्रूर ने कहा, “वस्तुतः कृष्ण ने मुझे भेजा ही इसी प्रयोजन से है।...”

“वासुदेव कृष्ण!” विदुर ने पुष्टि चाही।

“हाँ! वासुदेव कृष्ण!” अक्रूर बोले, “हमारे नायक!”

“वे आपके राजा नहीं हैं?”

“नहीं! राजा तो महाराज उग्रसेन हैं।”

“तो कृष्ण आपके नेता कैसे हो गये?”

“नेता कोई पद तो है नहीं, जिसके लिये राजकीय नियुक्ति की आवश्यकता हो। संकट-काल में, जो आगे बढ़

कर जोखिमों के सम्मुख वक्ष तान दे, वह नेता हो जाता है। जिसके पीछे लोग चलें, जिसकी बात मानें, जिस पर विश्वास करें, जिससे प्रेम करें—वह नेता है। कृष्ण के आत्मबल ने उसे नेता बना दिया है। कृष्ण में नेतृत्व-क्षमता है। इसलिये वह सर्वमान्य नेता है। उसके पास पद नहीं, प्रतिभा है। प्रतिभा को पद का क्या करना। पद तो उन्हें चाहिए, जिन्हें विधाता ने कोई क्षमता न दी हो।"

"ठीक कहते हैं आप! कौरवों में तो कोई कृष्ण उत्पन्न हुआ नहीं। पितृव्य भीष्म भी स्वयं अपने बन्धनों में बँधे, सिंहासन के सम्मुख सर्वथा अक्षम हो गये हैं," विदुर बोले, "किन्तु आपके कथन से एक शंका मेरे मन में जागती है।"

"क्या?" अक्रूर ने विस्मय से विदुर की ओर देखा।

"यदि आप की बात मान ली जाये कि पद तो उन्हें चाहिए, जिनके पास प्रतिभा न हो, तो ऐसे में युधिष्ठिर से भी पूछा जा सकता है कि उसे पद का क्या करना है। जैसे कृष्ण ने उग्रसेन को सिंहासन दे दिया और स्वयं अपना कर्तव्य अपनी प्रतिभा के बल पर करता जा रहा है, अपने कार्यों के लिये उसे पद की आवश्यकता नहीं है, ठीक वैसे ही युधिष्ठिर भी धृतराष्ट्र को सिंहासन पर बैठे रहने दे और स्वयं अपनी प्रतिभा के बल पर प्रजा का हित-साधन करता रहे। उसे युवराज्याभिषेक की क्या आवश्यकता है?"

"हमारे महाराज उग्रसेन के ही समान यदि धृतराष्ट्र भी न्याय और धर्म की बात सुनता और समझता हो, सद्परामर्शों पर चलता हो, लोगों की इच्छाओं और भावनाओं को समझता और उनके हित में सारे आवश्यक कार्य करने को तत्पर रहता हो, तो निश्चय ही उसे सिंहासन पर बैठे रहना देना चाहिए। युधिष्ठिर और उसके भाई अपनी प्रतिभा के बल पर प्रजा के लिये कार्य करें, जो सत्ता में रह कर करने सम्भव नहीं हैं। राजा को बहुत सारे व्यर्थ के दैनंदिन कार्यों में अपना समय नष्ट करना पड़ता है। युधिष्ठिर उन सबसे बच जायेगा। ...किन्तु यदि राजा कंस के समान हो, जो केवल अपनी दुष्ट बुद्धि और जरासंध के पाप-परामर्श पर ही चलता हो, तो-न-तो वह किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति को धर्म-संगत कार्य करने देगा और न ही किसी की प्रतिभा विकसित होने देगा। हमने कंस के राज्य में देखा था कि किस प्रकार राजनीति प्रतिभा का दम घोंटने में सक्षम है। सत्ता ग़लत हाथों में हो, तो समाज सिवाय पाप और भ्रष्ट आचरण के, और किसी क्षेत्र में विकास कर ही नहीं सकता। तब ऐसी राजसत्ता को हटाना ही प्रजा का सर्वोपरि धर्म हो जाता है; अन्यथा वह सत्ता, अपने दुष्ट प्रभाव से जनहित के प्रत्येक मार्ग में शिला बन कर, अड़ जायेगी; तथा समाज में मानसिक तथा शारीरिक अपराधों को जन्म देगी, दुष्टता का विकास और प्रसार करेगी। चुन-चुन कर मूर्खों और दुष्टों को ऊँचे-ऊँचे पदों के साथ सुख-सुविधाएँ दे कर समाज के शीर्ष पर आरोपित करेगी। ऐसे में तो पद माँगा जाये, न माँगा जाये—किन्तु जो अयोग्य, दुष्ट तथा भ्रष्ट हैं, उन्हें तो पदों से हटाया ही जायेगा। कृष्ण स्वयं पद नहीं लेता। उसे स्वयं अपने लिये सत्ता नहीं चाहिए; किन्तु वह चाहता है कि संसार में प्रत्येक राजा सत्य तथा धर्म का आचरण करने वाला तथा प्रजा का पालन करने वाला हो। वह अपना वश चलते किसी प्रजा-विरोधी राजा को सत्ता में नहीं रहने देगा। आप यह समझिए आर्य विदुर कि यह कृष्ण की इच्छा है कि हस्तिनापुर की सत्ता, युधिष्ठिर के हाथ में हो, धृतराष्ट्र के हाथ में नहीं, जो दुर्योधन के बुद्धि के अनुसार चलता है।"

विदुर ने असमंजस की दृष्टि से अक्रूर की ओर देखा और फिर जैसे किसी आन्तरिक निर्णय के पश्चात संकल्पपूर्वक पूछा, "यदि युधिष्ठिर कृष्ण की बुआ का पुत्र न होता, तो भी क्या कृष्ण यही चाहता?"

और फिर जैसे विदुर ने डर कर अक्रूर की ओर देखा : कहीं उसने अक्रूर की भावनाओं को आहत तो नहीं किया?

किन्तु अक्रूर तो मुस्कुरा रहा था। उसी मुस्कान के बीच उसने विदुर के प्रश्न का उत्तर दिया, "तो भी!" किन्तु प्रश्न का उत्तर दे कर ही अक्रूर रुका नहीं। वह बोलता ही गया, "कृष्ण के सम्बन्ध मैत्री तथा प्रेम—रक्त-सम्बन्ध से निश्चित नहीं होते आर्य विदुर! वैसे तो शिशुपाल भी उसकी बुआ का ही पुत्र है। कंस भी उसका मातुल था। कृष्ण के लिये ये रक्त-सम्बन्ध कोई अर्थ नहीं रखते। सम्बन्ध तो केवल धर्म का है, न्याय का है, बहुजन-हिताय का है। कृष्ण को प्रजा प्यारी है, सामान्य जन और सामान्य मानव प्रिय है। कृष्ण मानता है कि उनका हित, केवल सत्य से हो सकता है। इसलिये कृष्ण को वही प्रिय है, जो सत्य का आचरण करे।..."

"मैंने कृष्ण के विषय में बहुत कुछ सुना है आर्य अक्रूर! और मुझे लगता है कि मैं उससे प्रेम करने लगा हूँ।" विदुर ने रुक कर अक्रूर को देखा, "प्रेम शायद सम्पूर्ण शब्द नहीं है। मेरे मन में कृष्ण के प्रति भक्ति का भाव है।"

“मुझे तनिक भी आश्चर्य नहीं हुआ आर्य विदुर!” अक्रूर ने कहा, “कृष्ण है ही ऐसा। आप तो उसके भक्त भाव मात्र हुए हैं, लोग तो उसके प्रेम में उन्मत्त हो जाते हैं। जिसके मन में सत्य, धर्म, न्याय के लिये जितना अधिक प्यार है, वह स्वयं को कृष्ण के उतना ही निकट पाता है।”

“सौभाग्यशाली हैं वे लोग, जो कृष्ण के निकट हैं।” विदुर बोला।

“इसमें भौतिक दूरी अथवा सामीप्य का तो कुछ भी महत्व नहीं है।” अक्रूर ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की, “आपका मन कृष्ण के निकट हो, तो कृष्ण स्वयं ही आपके निकट आ जाता है।”

“ठीक कहते हैं आप!” विदुर के स्वर में किंचित अवसाद का मिश्रण था, “किन्तु मैं रहता हूँ कुरुओं की सभा में। वे मुझे कुछ भी न कहें, अपने कार्य-व्यापार में ही लगे रहें, तो भी दम घुटता ही रहता है मेरा वहाँ! आप जानते हों कि जो व्यक्ति आपके सम्मुख बैठा है, वह दुष्ट, अन्यायी, स्वार्थी नहीं, दुर्वृत्त भी है; और आप उससे यह कह भी न पायें, उल्टे उसके प्रति सम्मान दिखाएँ, उसका यश गायें झूठ के उस परिवेश में जीना बहुत कठिन है आर्य अक्रूर। लम्पटों, हत्यारों और दुर्वृत्तों को महान बना कर, प्रशंसा ही नहीं, पूजा पाते देख, कैसा लगता है मन को?”

“आपके मन में कभी नहीं आया कि आप कुरुओं की सभा त्याग दें?” अक्रूर ने पूछा।

“सहस्रों बार इच्छा हुई; किन्तु हर बार यही सोचा कि उनकी सभा त्याग कर, मैं उनका सहायक ही बनूँगा। दुर्योधन की बड़ी-बड़ी इच्छाओं में से एक बड़ी इच्छा यह भी है कि किसी प्रकार विदुर को उसके पद से हटा दिया जाये। मैं यदि स्वयं ही सभा त्याग दूँगा, तो उसकी मनोकामना पूरी हो जायेगी। फिर राजसभा में पाण्डवों के हित की रक्षा कौन करेगा?”

“कुछ ऐसी ही स्थिति कंस की सभा में रह कर मेरे मन की भी थी।” अक्रूर ने कहा, “और मैं भी यही सोचता था कि मेरे हटते ही, उसकी सभा में एक दुष्ट और बढ़ जायेगा। मैं किसी का भला नहीं कर पाता, तो कम-से-कम किसी पर अत्याचार तो नहीं करता। वह, जो मेरे स्थान पर आयेगा, वह राजा के अत्याचार से तो किसी की रक्षा करेगा नहीं, स्वयं भी उसके अत्याचार में सहयोग कर, उसमें वृद्धि करेगा।”

“युधिष्ठिर के युवराज्याभिषेक तक तो हस्तिनापुर में ठहरेंगे न?” सहसा विदुर ने विषय बदल दिया।

“नहीं!” अक्रूर ने कहा, “युवराज्याभिषेक के अवसर पर तो कृष्ण और बलराम स्वयं आयेंगे; किन्तु युवराजत्व के सम्बन्ध में निश्चित सूचना प्राप्त करने तक अवश्य ठहरना चाहता हूँ।”

“धृतराष्ट्र से भेंट करना चाहेंगे?”

“उनसे भेंट किये बिना कैसे लौट सकता हूँ; किन्तु उसके लिये राजप्रासाद में नहीं जाऊँगा। वह भेंट तो राजसभा में ही हो तो अच्छा है। वह भेंट एक आत्मीय, परिजन अथवा सम्बन्धी के रूप में न कर, कुरु सम्राट से एक यादव-प्रतितिधि के रूप में ही हो, तो अच्छा है।”

“यही उत्तम है।” विदुर सहमत था, “और पितृव्य भीष्म?”

“उनके दर्शन करने, अवश्य उनके आवास पर जाऊँगा।”

“आओ अक्रूर! इस वृद्ध कौरव के घर में तुम्हारा स्वागत है।”

भीष्म ने दोनों भुजाएँ फैला कर अक्रूर का स्वागत किया, “वैसे यह घर उन घरों जैसा है ही नहीं, जिनमें अब तक तुम गये हो।”

भीष्म का आशय समझने में अक्रूर को थोड़ा समय लगा; किन्तु समझ कर वह उच्च स्वर में हँसा, “कोई दो घर एक जैसे नहीं होते पितृव्य! मैंने बहुत सारे घर देखे हैं। ऊपर से एक जैसे होते हुए भी, भीतर से उनका भेद बना ही रहता है। प्रत्येक घर में से उसके स्वामी का व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है।”

“अच्छा अक्रूर!” अक्रूर के बैठ जाने के पश्चात भीष्म ने पूछा, “मैं जो इधर-उधर से बहुत सारी बातें सुन रहा हूँ, क्या वे ठीक हैं?”

“आप क्या सुन रहे हैं तात?”

"कुछ लोगों का विचार है कि तुम हस्तिनापुर में यादवों के शक्ति-प्रदर्शन के लिये आये हो?"

"वह किस प्रकार तात?" अक्रूर ने अबोध भाव से पूछा।

"मैं क्या जानूँ।" भीष्म ज़ोर से हँसे, "मुझे तो तुम्हारे पाँच-सात रथों में कोई शक्ति-प्रदर्शन दिखायी नहीं देता। किन्तु मैंने कुछ ऐसा सुना है कि यादवों का ऐसा विचार है कि दुर्योधन का मामा, हस्तिनापुर की सत्ता दुर्योधन के पक्ष में झुका रहा है, इसलिये युधिष्ठिर के पक्ष में सत्ता का सन्तुलन बनाने के लिये तुम आये हो। क्या यह सच है?"

अक्रूर ने उत्तर देने में दो क्षण लगाए, "और बातों में कितना सत्य है तात! यह मैं नहीं जानता; किन्तु इतना तो सत्य है ही कि मैं पृथा और उसके पुत्रों का समाचार लेने आया हूँ।"

भीष्म भी कुछ क्षणों तक अक्रूर को देखते रहे; और फिर धीरे से बोले, "तुम्हें अपनी बहन और उसके पुत्रों का समाचार जानने का, उनसे मिलने का और उनके हित-साधन का पूरा अधिकार है। किसी भी परिजन का यह अधिकर होता ही है। किन्तु मेरी प्रकृति कुछ ऐसी है पुत्र! कि जब कोई यह कहता है कि कुन्ती और उसके पुत्र प्रसन्न नहीं हैं, और उन्हें किसी प्रकार का कोई कष्ट है; तो जाने क्यों मुझे लगता है कि वह मुझ पर दोषारोहण कर रहा है कि मैंने उनके साथ न्याय नहीं किया। और जब कोई अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता है अथवा शक्ति-परीक्षण की बात करता है तो मेरा क्षात्र-धर्म मुझे उत्तेजित करता है; और मैं उसे बता देना चाहता हूँ कि कौरवों के सम्मुख बल-प्रयोग की बात मत करो। हस्तिनापुर दुर्बल नहीं है। हमारे योद्धा संसार में अद्वितीय हैं। हम किसी की धमकी में नहीं आयेंगे।..."

शक्ति-प्रदर्शन की चर्चा को अक्रूर सायास टाल गया, "क्या आपको नहीं लगता पितृव्य! कि पृथा और उसके पुत्रों को उनका प्राप्य नहीं मिला? हस्तिनापुर उनको वे सुविधाएँ नहीं दे सका, जो दुर्योधन और उसके भाइयों को प्राप्त हैं।"

"मैं जानता हूँ कि कुन्ती और उसके पुत्रों के साथ न्याय नहीं हुआ है।" भीष्म तड़प कर बोले, "किन्तु तुम मुझे बताओ, किस परिवार में सारे पुत्रों को एक-सा व्यवहार मिलता है। परिवार का सन्तुलन बनाये रखने के लिये अनेक लोगों को कुछ त्याग भी करना पड़ता है। परिवार में कुछ बच्चे दूसरों की तुलना में अधिक हठी होते हैं। क्या तुमने कोई ऐसी माँ और उसके ऐसे पुत्रों को नहीं देखा, जिसने दोनों भाइयों को बराबर मिष्ठान्न दिया हो, और एक ने अपना भाग खा कर दूसरे के भाग को पाने के हठ न किया हो। भूमि पर लेट कर, एड़ियाँ रगड़-रगड़ कर अपने हठ से माँ को इतना क्षुब्ध न कर दिया हो कि तंग आ कर अन्ततः माँ ने स्वयं दूसरे भाई से कहा हो कि वह मिष्ठान्न का अपना भाग भी पहले को दे दे। वह उसे फिर मिष्ठान्न ले देगी।"

"हाँ! ऐसा तो परिवारों में हो ही जाता है।" अक्रूर ने सहज भाव से स्वीकार कर लिया।

"तो तुम समझ लो कि इस परिवार में धृतराष्ट्र एक ऐसा ही हठी बच्चा है; और फिर वह एक अस्वस्थ बच्चा है—जन्मान्ध! वह दूसरे बच्चे का खिलौना ले कर बैठ गया है। उसने अपनी मुट्ठी कस कर बन्द कर ली है। एक ओर तो वह उस बालक को उसका खिलौना नहीं लौटा रहा; और दूसरी ओर वह यह सोच-सोच कर व्याकुल है कि कहीं कोई उससे वह खिलौना छीन न ले। जितना उसको समझाया जाता है कि वह खिलौना उसका नहीं है, वह उसे लौटा दे—वह उतनी ही शक्ति से अपनी मुट्ठी भींच लेता है और क्रन्दन करने लगता है।...और मैं उस बालक की माता के समान यह जानते हुए भी कि उसने दूसरे का खिलौना ले रखा है, उसे व्यर्थ ही, रुलाने की स्थिति से बचने के लिये, उसके समझ जाने और चुप हो जाने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।..."

"तो आप यह तो मानते ही हैं कि दूसरे बालक के साथ अन्याय हो रहा है!" अक्रूर ने कहा।

"मैंने अभी इसे न्याय और अन्याय का ऐसा प्रश्न नहीं बनाया है कि जिसके लिये यह भी स्वीकार कर लूँ कि बाहर से लोग आ कर, मेरे बच्चों को एक-दूसरे के विरुद्ध भड़कायें अथवा न्याय दिलवाने के नाम पर उन्हें एक-दूसरे से लड़वायें।" भीष्म हल्के आवेश के साथ बोले, "मुझे मालूम है कि यह राज्य युधिष्ठिर का है और अन्ततः उसे मिलना ही है। मैं वह खिलौना उसे दिलवाऊँगा ही, जिसका वह है; किन्तु अक्रूर! मेरे लिये खिलौने के आधिपत्य तथा एक बालक की असुविधा बड़ी बात नहीं है, जिसके लिये परिवार में अन्तःकलह अथवा बाहरी हस्तक्षेप हो।" उन्होंने रुक कर अक्रूर की ओर देखा, "मैं जानता हूँ कि अपने पिता के प्रश्रय में दुर्योधन अति आचरण कर रहा है, किन्तु मैं उसे अत्याचार नहीं मानता। युधिष्ठिर और उसके भाई सहिष्णु हैं। कुन्ती समझदार है। वे लोग इतनी-सी बात के लिये पारिवारिक कलह नहीं

बढ़ायेंगे। उपयुक्त अवसर पर युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक करवाने का दायित्व मेरा है—यह मैंने धृतराष्ट्र को भी बता दिया है; और युधिष्ठिर के युवराज बन जाने पर कुन्ती और उसके पुत्रों के लिये न प्रासादों का अभाव रहेगा, न रथों और सारथियों का।..."

"मैं आश्वस्त हुआ पितृव्य!" अक्रूर बोला, "इससे अधिक हमें अब और जानना भी क्या है, और आपके वचन से बड़ा प्रमाण हमारे लिये और क्या होगा।"

भीष्म भी कुछ शान्त हुए, "मैं यह जानता हूँ कि एक हठी बच्चे के दबाव में दूसरे शान्त, सन्तुष्ट और आज्ञाकारी बच्चे को त्याग के लिये मना लेना कोई न्याय नहीं है; किन्तु न तो मैं न्यायाधीश हूँ, न ही यह न्यायाधिकरण है; और न ही युधिष्ठिर और दुर्योधन मेरे सामने वादी-प्रतिवादी बन कर खड़े हैं। यह हमारा परिवार है और हमें अपने परिवार का सामूहिक हित देखना है। मैं यह कभी नहीं चाहूँगा कि परिवार के एक व्यक्ति को न्याय दिलाने के नाम पर सारे परिवार को ध्वस्त कर दिया जाये...।"

"मैं आपसे सहमत हूँ तात!" अक्रूर ने उत्तर दिया, "हम भी नहीं चाहते कि कौरवों में मतभेद अथवा अन्तःकलह जन्मे। हमारा अपना हित इसी बात में है कि हस्तिनापुर में कौरवों का दृढ़ और शक्तिशाली राज्य हो। हमें उनसे सहायता और सहयोग की आशा है। उनके दुर्बल होते ही हम भी दुर्बल हो जायेंगे।..."

"तुम तो राजदूतों की-सी भाषा बोलने लगे अक्रूर।" भीष्म हँस पड़े, "अच्छा यह बताओ, कैसा है तुम्हारा वह कृष्ण? मेरे मन में बार-बार यह बात आती है कि कंस का वध कर और जरासंध को पराजित कर कहीं उसके मन में साम्राज्य का स्वप्न तो नहीं जाग गया? कहीं वह अन्य राजाओं को एक-एक कर पराजित कर, राजाधिराज बनने की योजना तो नहीं बना रहा?"

"कृष्ण को राज्य नहीं चाहिए।" इस बार अक्रूर का स्वर उतना विनीत भी नहीं रह गया था, "यदि उसे राज्य की इच्छा होती, तो मथुरा के सिंहासन पर आसीन होने से उसे कौन रोक सकता था। सामान्य यादव तो आज भी उसे ही अपना राजा मानते हैं।..."

"सम्भव है कि कंस के वध से उत्पन्न असन्तोष को शान्त करने के लिये उसने उस समय तो उग्रसेन को राजा बना दिया हो, किन्तु मन में सोच रखा हो कि अनुकूल समय आने पर सत्ता का अधिग्रहण कर लेगा। उग्रसेन से राज्य छीनने में कठिनाई ही क्या है?"

"नहीं पितृव्य! मैं आपसे एकदम सहमत नहीं हूँ। कृष्ण के मन में न राज्य की आसक्ति है, न अधिकार की। उसके पास तो प्रेम है। प्रेम के अधिकार से वह किसी को भी वश में कर लेता है।..." अक्रूर ने बलपूर्वक दुहराया, "कृष्ण को राज्य नहीं चाहिए।"

"राज्य किसे नहीं चाहिए।" भीष्म कुछ कटुता के साथ बोले, "यहाँ तो जिसे देखो—सबको राज्य चाहिए।"

"कृष्ण का लक्ष्य, 'राज्य से बहुत ऊँचा है पितृव्य! बहुत विराट और बहुत महान!"

"क्या है वह लक्ष्य?..."

"धर्म-संस्थापना! राज्यों को धर्म, न्याय तथा अनासक्ति के मार्ग पर चलना सिखाना!"

"धर्म को वह जानता भी है?" भीष्म बोले, "कंस का वध धर्म-कार्य था? कृष्ण धर्म का तत्व जानता भी है, क्या वय है उसका?"

अक्रूर समझ नहीं पाया कि यह भीष्म की जिज्ञासा थी अथवा विरोध। भीष्म को भी धर्म-रक्षक माना जाता था और वय की दृष्टि से वे कृष्ण के पितामह से भी बड़े हो सकते थे। उन्होंने भी धर्म का अध्ययन, चिन्तन और मनन किया ही था। क्या कृष्ण के विषय में धर्म-संस्थापना की बात कहना, उन्हें अच्छा नहीं लगा?

"वय अधिक नहीं है तात! आपके अर्जुन का ही समवयस्क है।" अक्रूर ने उत्तर दिया, "किन्तु हमें लगता है कि वह धर्म-तत्त्व को बहुत भली प्रकार पहचानता है। वय और ऊपरी भाव-भंगिमाओं से तो अनेक बार वह एक क्रीड़ा-शील तरुण ही लगता है तात! किन्तु उसके मन में सबके लिये प्रेम है, अथाह प्रेम है उसके पास! वह प्रत्येक जीव से प्रेम करता है। इसलिये वह ठीक-ठीक समझता है कि धर्म क्या होता है।..."

“प्रत्येक जीव से प्रेम?” भीष्म ने कुछ आश्चर्य से पूछा।

“हाँ तात! प्रत्येक जीव से प्रेम! वह अपने शत्रुओं से भी प्रेम करता है।” अक्रूर ने उत्तर दिया, “वह उनका भी हित चाहता है। उनकी पीड़ा को भी अनुभव करता है।”

“मैं इसे समझ नहीं पाता!” भीष्म बोले, “वह योद्धा है या प्रेमी? कोई अपने शत्रु तथा मित्र को समान प्रेम कैसे कर सकता है? और यदि वह कंस से भी प्रेम करता था, तो उसने उसका वध क्यों किया?”

“कृष्ण चाहता है कि एक से प्रेम करने के लिये, दूसरे से प्रेम न किया जाये—यह एकदम आवश्यक नहीं है।” अक्रूर ने कहा, “और प्रेम करने वाली माता अपने पुत्र को दण्डित भी करती है; और उसका उपचार भी करती है। यह उसके हित के लिये ही होता है। कृष्ण कहता है कि कंस का अहंकार, मानसिक रोग बन चुका था। वस्तुतः अहंकार अपने-आपमें एक रोग ही तो है। अहंकार से स्वार्थ के कीटाणु जन्म लेते हैं और स्वार्थ शुद्ध मूर्खता का नाम है। व्यक्ति समझता है कि वह अपना हित साध रहा है, इसलिये उसे दूसरों का हित नहीं देखना है। कृष्ण यह नहीं मानता। वह कहता है कि इस सम्पूर्ण सृष्टि में कोई किसी से विलग नहीं है। सम्पूर्ण से पृथक कोई खण्ड नहीं है; इसलिये किसी एक व्यक्ति अथवा समुदाय को अन्य से पृथक कर देखना और उसका हित साधना, अदूरदर्शिता और अज्ञान है; और ऐसी अदूरदर्शिता सदा ही मानवता का अहित करती आयी है। हमें धर्म-निर्णय करते हुए, सम्पूर्ण सृष्टि का ध्यान रखना चाहिए। एक समुदाय का हित करने के लिये अन्य समुदायों का अहित नहीं करना चाहिए। अनेक के अहित में से किसी एक का हित हो ही नहीं सकता। मनुष्य का हित साधने के लिये, मानवेतर सृष्टि का अहित नहीं करना चाहिए, क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि के हित में ही मनुष्य का हित है। गोधन के हित में गोपालों का हित है; तथा गोपालों के हित में कृषक का हित है...।”

“तुम्हारा यह कृष्ण तो मुझे योद्धा नहीं, ऋषि लगता है।” भीष्म बोले, “कोई योद्धा इस प्रकार का चिन्तन नहीं कर सकता।”

“पता नहीं पितृव्य! वह क्या है! हम तो केवल इतना जानते हैं कि वह हमारा कृष्ण है!” अक्रूर ने उत्तर दिया।

“मेरी भी इच्छा हो रही है कि मैं तुम्हारे कृष्ण से कुछ धर्म-चर्चा करूँ।” भीष्म बोले, “उससे कहना कि युधिष्ठिर के युवराज्याभिषेक के अवसर पर वह हस्तिनापुर अवश्य आये। यह मेरा निमन्त्रण है।”

“अवश्य पितृव्य! उसे तो हस्तिनापुर आना ही था—अपनी बुआ और उसके पुत्रों से मिलने! और यह कैसे सम्भव है कि वह हस्तिनापुर आये और आप को प्रणाम करने न आये। बहुत विनीत है हमारा कृष्ण!” अक्रूर बोला, “और अब तो आपका निमन्त्रण भी है। इन सबके अतिरिक्त भी एक और कारण है पितृव्य!”

भीष्म ने अक्रूर को देखा।

“कृष्ण तो प्रत्येक व्यक्ति के अपने ही भावों की प्रतिध्वनि है तात! आपने उसे पुकारा है, तो वह अवश्य ही आपको पुकारेगा...।”

“मैं समझा नहीं अक्रूर!” भीष्म ने चकित हो अक्रूर की ओर देखा।

“सब कुछ तो मेरी भी समझ में नहीं आता पितृव्य! कृष्ण को समझना सरल नहीं है, किन्तु उसका अनुभव करने में कोई कठिनाई नहीं है।” अक्रूर उठ कर खड़ा हो गया, “अच्छा पितृव्य! मुझे विदा दें!”

भीष्म भी अपने स्थान पर उठ खड़े हुए, “अक्रूर! मैंने आवेश में तुमसे बहुत कुछ कहा है; किन्तु वह कदाचित राजनीति का अंग था। यह न समझना कि मैं तुम्हें अपना आत्मीय नहीं मानता! कुन्ती का भाई, हमारे कुटुम्ब का ही अंग है पुत्र! मेरे व्यवहार को किसी अन्य भाव में ग्रहण मत करना!”

“मैं समझता हूँ तात! आपका निर्मल मन हमसे छिपा नहीं है।”

अक्रूर ने भीष्म के चरण स्पर्श कर, प्रणाम किया और बाहर चला गया।

धृतराष्ट्र ने स्वयं अपने स्थान पर खड़े हो कर राजसभा में अक्रूर का स्वागत किया, “पधारिए यादव-प्रतिनिधि!”

अक्रूर ने हाथ जोड़ कर धृतराष्ट्र का अभिवादन कर, आसन ग्रहण किया।

"अक्रूर!" धृतराष्ट्र बोला, "मैंने सुना है कि तुम अपनी छोटी बहन कुन्ती और उसके पुत्रों का समाचार जानने के लिये आये हो। अब तक तो उसके विषय में सब कुछ जान चुके होगे। क्या तुम उनकी स्थिति से सन्तुष्ट हो?"

अक्रूर ने नहीं सोचा था कि धृतराष्ट्र उससे इस प्रकार से सीधा प्रश्न करेगा; न ही इस प्रश्न का सीधा उत्तर देना अक्रूर की नीति में उचित ही था! ...और सहसा उसे लगा कि धृतराष्ट्र का यह सीधा प्रश्न, न तो उसकी सरलता के कारण था, न अबोधता अथवा अनुभवहीनता के कारण! यह तो एक बहुत ही अनुभवी और धूर्त राजनीतिज्ञ का प्रश्न था।...यदि अक्रूर इस समय उसी प्रकार सीधा उत्तर दे कि उसकी बहन और उसके पुत्रों के साथ अन्याय हो रहा है, तो इस राजसभा में कौटुम्बिक कलह आरम्भ हो जायेगी; और कौरवों का सम्पूर्ण समर्थन धृतराष्ट्र को प्राप्त होगा...

"मेरे भागिनेय अपनी शिक्षा पूर्ण कर चुके हैं राजन! मुझे पितृव्य भीष्म ने बताया है कि आप युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक करने की तैयारी में हैं। निकट भविष्य में ही वह युवराज्याभिषेक होगा।" अक्रूर अत्यन्त मधुर ढंग से बोला; "ऐसे में मेरे असन्तुष्ट होने का कोई कारण नहीं है राजन!...किन्तु मैं यदि केवल अपने परिजनों से भेंट करने आया होता, उनके समाचार जानना चाहता, तो कौरव राजसभा में उपस्थित होने का मेरा कोई प्रयोजन नहीं था महाराज!..."

"राजसभा में उपस्थिति होने का कारण तो राजनीतिक ही होना चाहिए अक्रूर!"

"वह राजनीतिक ही है महाराज!"

"तो कहो अक्रूर! मैं सुन रहा हूँ।"

"महाराज! जैसा कि आप जानते हैं कि मथुरा में अत्याचारी कंस का वध कर यादवों ने पुनः महाराज उग्रसेन को सिंहासन पर बैठा दिया है। इससे मथुरा में स्वेच्छाचारी, अत्याचारी तथा नृशंस शासन के स्थान पर यादवों का अपना सर्वप्रिय तथा कल्याणकारी शासन स्थापित हुआ है। यादवों का आत्मविश्वास लौट आया है। वे लोग अब कंस की दलित, दमित तथा निरीह प्रजा न हो कर, मथुरा के स्वतन्त्र और समर्थ नागरिक हैं। उन्हें मालूम है कि अपने सुख, कल्याण, स्वतन्त्रता तथा अधिकारों की रक्षा उन्हें स्वयं ही करनी है। इसलिये वे अपने समाज के निर्माण में लगे हैं और चाहते हैं कि फिर उन्हें पहले के समान पीड़ित और शोषित स्थिति में न लौटना पड़े।"

"यह तो स्वाभाविक ही है अक्रूर!" धृतराष्ट्र बोला, "कोई भी प्रजा क्यों चाहेगी कि वह अपने भुक्त कष्टों को पुनः भोगे।"

"किन्तु हमारी इच्छा से तो सृष्टि नहीं चलती महाराज!" अक्रूर ने अपनी बात आगे चलायी, "यादवों के पीड़न में जो राजा, कंस के सहायक थे, उन्हें स्वतन्त्र और समर्थ यादव राज्य कैसे सह्य होगा! जरासंध यादवों की भूमि को मगध साम्राज्य का अंग बना लेना चाहता था। यादव उसके लिये स्वतन्त्र राज्य के नागरिक नहीं थे; मागधों की सुख-सुविधाएँ जुटाने के पदार्थ मात्र थे। उसके लिये यादवों का उपभोग इतना ही था कि वे उसके सैनिकों के रूप में अपने प्राण दें, उसके सैनिक-प्रयाणों के लिये पथों का निर्माण करने वाले श्रमिकों के रूप में काम आयें, उसकी सेनाओं के लिये अन्न उत्पन्न करें, पशुओं का पालन कर, उनके तथा सभासदों के लिये माँस उपलब्ध करायें, मागध सामन्तों तथा धनी नागरिकों द्वारा दासों तथा भृत्यों के रूप में काम करें।...तो महाराज! जरासंध और उसके सहयोगी राजा, यह कैसे सहन करेंगे कि यादव स्वतन्त्रता, सम्पन्नता तथा सम्मान के साथ जीवन-यापन करें..."

"तो?" धृतराष्ट्र बोला, "तो क्या यादवों को जरासंध से युद्ध के लिये हमारी सहायता चाहिए?"

"नहीं महाराज! यादव व्यर्थ ही युद्ध कर, नर-संहार करना नहीं चाहते!" अक्रूर बोला, "हमें सैनिक सहायता की आवश्यकता नहीं है। हमारे लिये तो आपका प्रेम ही बहुत है। मैं तो केवल यह निवेदन करना चाहता हूँ कि इस जम्बू-द्वीप में विभिन्न राजाओं की मैत्री-अमैत्री के आधार पर संधियाँ भी होंगी, शक्ति सन्तुलन भी बनेंगे बिगड़ेंगे और सेनाओं का आवागमन भी आरम्भ होगा।...और बहुत सम्भव है महाराज! कि मागधों और पांचालों में कोई संधि हो जाये..."

"क्यों! जरासंध और द्रुपद में संधि का कोई कारण? मुझे तो उनकी मैत्री का कोई समानाधार दिखायी नहीं देता।" धृतराष्ट्र बोला।

इससे बड़ा समानाधार क्या हो सकता है महाराज! कि जरासंध, मथुरा पर आक्रमण करने के लिये अपने लिये मित्र बटोर रहा है; और द्रुपद अपने शत्रु हस्तिनापुर से अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिये कोई शक्तिशाली मित्र ढूँढ रहा है।" अक्रूर ने कहा, "और यदि मागधों तथा पांचालों में संधि हो गयी तो पांचाल प्रतिशोध के लिये हस्तिनापुर पर

आक्रमण अवश्य करेंगे।..."

"तो क्या कौरव उनसे भयभीत हैं?" धृतराष्ट्र बोला, "हम पांचालों तथा मागधों की सम्मिलित सेना का भी प्रतिकार करने में समर्थ हैं।"

"मेरा अभिप्राय यह नहीं था महाराज!" अक्रूर बहुत शालीन स्वर में बोला, "हम तो केवल इतना चाहते हैं कि हस्तिनापुर सावधान रहे, सजग रहे, तत्पर रहे। हस्तिनापुर में दृढ़ और शक्तिशाली शासन हो।" अक्रूर ने जोड़ा, "मैं तो केवल इतना बताने आया हूँ महाराज! कि हस्तिनापुर के दुर्बल होने का प्रश्न ही नहीं है। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण यादव सेना कृष्ण और बलराम के नेतृत्व में, युधिष्ठिर की सहायता के लिये हस्तिनापुर आयेगी।"

अक्रूर मौन हो गया और कौरव सभा अवाक बैठी रह गयी।

क्या अभिप्राय है अक्रूर का—धृतराष्ट्र सोच रहा था—कृष्ण, केवल युधिष्ठिर की सहायता के लिये आयेगा... दुर्योधन की सहायता के लिये नहीं आयेगा?...क्या अक्रूर उसे यही प्रश्न पूछने के लिये बाध्य करना चाहता है? किन्तु धृतराष्ट्र यह प्रश्न कैसे पूछ सकता है? उसके यह पूछने का ही अर्थ होगा कि वह युधिष्ठिर के स्थान पर दुर्योधन को युवराज बना रहा है...कहीं इसका यह अर्थ तो नहीं कि यदि दुर्योधन हस्तिनापुर का शासक हुआ, तो कृष्ण भी पांचालों की सहायता करेगा?...धृतराष्ट्र के मन में आया कि वह तत्काल इस अक्रूर को बताये कि हस्तिनापुर के पास भीष्म, द्रोण तथा कृपाचार्य जैसे महावीर हैं...कर्ण, अश्वत्थामा और दुर्योधन जैसे योद्धा हैं...किन्तु तत्काल ही उसके अपने मन ने उसे टोक दिया! भीष्म वृद्ध हैं, द्रोण वीर होते तो द्रुपद को अपमानित करने के लिये इतने दिन हस्तिनापुर में बैठे तैयारी न करते रहते, कर्ण और दुर्योधन की वीरता, पांचालों के साथ युद्ध में प्रकट हो चुकी है।...योद्धा तो पाण्डव ही हैं...जब वे गुरु-दक्षिणा के लिये दुर्योधन के साथ मिल कर नहीं लड़े, तो पांचालों के आक्रमण के समय क्यों लड़ेंगे?...

"और यदि पांचालों और मागधों में संधि नहीं हुई तो?" धृतराष्ट्र ने पूछा।

"तो जरासंध हस्तिनापुर से मैत्री चाहेगा। और हम यह नहीं चाहेंगे कि जरासंध मथुरा के इतने निकट हस्तिनापुर में अपना स्कन्धावार डाले, इसलिये जरासंध पर यादव सेना आक्रमण भी करेगी।" अक्रूर ने दृढ़ स्वर में कहा, "हम नहीं चाहेंगे कि यादवों और मागधों की युद्धाग्नि में हमारा मित्र हस्तिनापुर जले; किन्तु यदि हस्तिनापुर अपनी भूमि पर यह युद्ध आमन्त्रित करता ही है, तो यादवों की सहायता के लिये पांचाल भी आयेंगे..."

"किन्तु हस्तिनापुर मागधों से सन्धि नहीं करता तो?..." धृतराष्ट्र ने कुछ इस प्रकार पूछा, जैसे कह रहा हो कि हस्तिनापुर, जरासंध से संधि करेगा ही क्यों?

"ऐसी स्थिति में स्वयं जरासंध हस्तिनापुर पर आक्रमण करेगा।" अक्रूर बोला, "किन्तु ऐसी स्थिति में युधिष्ठिर की सहायता के लिये कृष्ण के नेतृत्व में यादव सेना आयेगी।"

धृतराष्ट्र के पुनः चौंकने की बारी थी...अक्रूर ने थोड़ी देर में यह दूसरी बार युधिष्ठिर की सहायता के लिये यादव सेना के आने की बात कही थी—और वह भी हस्तिनापुर की मैत्री की ओट में। वह मित्रता भी जता रहा था और धमकियाँ भी दे रहा था; और आश्चर्य की बात थी कि पितृव्य भीष्म ने भी इन धमकियों के विरोध में कुछ नहीं कहा था। न ही इस बीच में विदुर ने ही कोई टिप्पणी की थी। क्यों नहीं बोल रहे वे लोग?...और सहसा धृतराष्ट्र के मन में भय जागा : कहीं दुर्योधन बीच में ही न बोल पड़े। वह बोला तो कोई-न-कोई अनिष्ट हो कर ही रहेगा।...

"हमें प्रसन्नता है अक्रूर!" सहसा धृतराष्ट्र कुछ सोच कर बोला, "कि संकट की घड़ी में हम अकेले नहीं होंगे। कृष्ण और यादवों की सद्‌भावना के प्रति मेरे मन में प्रशंसा के भाव हैं।"

"कृष्ण आपके दर्शनों के लिये भी बहुत उत्सुक हैं महाराज! अपनी समस्याओं में उलझे रहने के कारण वह अभी तक हस्तिनापुर आ नहीं सका। किन्तु वह शीघ्रातिशीघ्र हस्तिनापुर आना चाहता है।"

"तो उसे हमारा निमन्त्रण दो।" धृतराष्ट्र अपने चेहरे पर प्रसन्नता का भाव ले आया, "उससे कहो कि मैंने उसे हस्तिनापुर बुलाया है।"

"वह युधिष्ठिर के युवराज्याभिषेक के अवसर पर अवश्य आयेगा महाराज!" अक्रूर ने कहा, "आप अभिषेक की तिथि घोषित करें। कृष्ण अपनी यात्रा की तैयारी आरम्भ कर देगा!"

आज अक्रूर की वार्तालाप-पद्धति देख कर विदुर को पहली बार लगा था कि हस्तिनापुर का महामन्त्री होते हुए भी उसे कूटनीतिक वार्तालाप का कोई अनुभव नहीं था। अक्रूर कौरवों की भरी सभा में युधिष्ठिर के युवराज्याभिषेक के लिये न केवल धृतराष्ट्र पर दबाव डाल रहा था, वरन धमकियाँ दे रहा था; और उसकी शैली ऐसी थी, जैसे परिवार का कोई आत्मीयजन अपने स्नेह का प्रदर्शन कर रहा हो।...किन्तु अब अक्रूर धृतराष्ट्र को घेर कर उस मोड़ पर ले आया था, जहाँ से धृतराष्ट्र के लिये न लौटना सम्भव था और न ही आगे बढ़ना...

किन्तु विदुर ने अत्यन्त आश्चर्य से देखा कि धृतराष्ट्र ने न कोई आनाकानी की, न उसके चेहरे पर कोई असमंजस जागा; उसने अत्यन्त प्रसन्नता से कहा, "मैं इस विषय में सोच ही रहा था। पितृव्य का भी बहुत आग्रह था कि यह शुभ कार्य शीघ्र सम्पादित हो जाना चाहिए। शरद-पूर्णिमा का दिन कैसा रहेगा अक्रूर?"

भीष्म के भी अधरों पर उल्लास जागा। धृतराष्ट्र की अनिच्छा से वे परिचित थे; किन्तु आज तो धृतराष्ट्र ने सहर्ष तिथि की घोषणा कर दी थी। भीष्म को प्रसन्नता हुई...अक्रूर के सम्मुख जो वचन उन्होंने दिया था, वह स्वतः ही सम्पन्न हो गया। उनके मन पर से जैसे एक बोझ उतर गया।....भीष्म की दृष्टि दुर्योधन की ओर भी गयी : वह अपने स्थान पर जैसे अवाक बैठा था। भीष्म जानते थे कि दुर्योधन बोला, तो कुछ-न-कुछ अशोभन ही बोलेगा...न ही बोले, तो अच्छा है! कर्ण का चेहरा भी बहुत तमतमाया-सा लग रहा था...

"बहुत ही उत्तम तिथि है महाराज!" अक्रूर ने कहा, "मैं मथुरा जा कर सूचना देता हूँ। आपके इस महोत्सव में यादव लोग पूर्ण उत्साह से सम्मिलित होंगे!"

और तभी उसने देखा कि दुर्योधन उठ कर खड़ा हो गया। वह सर्वथा विक्षिप्त-सा लग रहा था। अच्छा ही था कि धृतराष्ट्र उसे देख नहीं सकता था, अन्यथा बहुत सम्भव था कि उसे कोई मानसिक उन्माद हो जाता।

लगा कि दुर्योधन कुछ कहने का प्रयत्न कर रहा है; किन्तु अगले ही क्षण जैसे उसने कुछ कहने का विचार त्याग दिया और पैर पटकता हुआ सभा से बाहर चला गया।

"क्या हुआ विदुर?" धृतराष्ट्र ने पूछा।

"राजकुमार दुर्योधन अपने मित्र कर्ण के साथ सभा छोड़ गये हैं महाराज!"

"मूर्ख है।" धृतराष्ट्र ने जैसे स्नेहसिंचित स्वर में कहा, "कोई बात नहीं। मैं उसे मना लूँगा।"

"मैं विदा लेता हूँ महाराज!" अक्रूर ने हाथ जोड़ दिये।

धृतराष्ट्र भी उठ खड़ा हुआ।

गान्धारी ने धृतराष्ट्र को मात्र स्पर्श ही नहीं किया, उसकी भुजा अपने हाथों में थाम कर, कुछ इस प्रकार दबायी, जैसे उसे डाँट रही हो और फिर धीमे स्वर में बोली, "आज आपको क्या हुआ?"

धृतराष्ट्र समझ रहा था कि गान्धारी क्या कह रही है, फिर भी उसने अपने स्वभावनुसार पूछा, "क्यों? क्या हुआ?"

"आप नहीं जानते कि क्या हुआ!" गान्धारी का स्वर कुछ तीखा पड़ा, "न केवल युधिष्ठिर का युवराजत्व घोषित किया, उसके अभिषेक की तिथि भी घोषित कर दी?"

"हाँ! बहुत दिनों से सोच रहा था कि यह कार्य भी करना है; आज अवसर मिला तो कर डाला।" धृतराष्ट्र अत्यन्त भाव शून्य स्वर में बोला, जैसे कोई विशेष बात हुई ही न हो।

धृतराष्ट्र की इस शैली पर गान्धारी खीझ जाया करती थी, किन्तु आज वह उबल पड़ी, "आप जानते भी हैं कि आपने क्या कर डाला है?"

"क्या कर डाला है?" धृतराष्ट्र शान्त स्वर में बोला, "जिसका अधिकार था, उसे लौटा दिया है। मैं अपने भाई के स्थान पर हस्तिनापुर के शासन की देख-भाल कर रहा था। अब भाई का पुत्र इतना बड़ा हो गया है कि राज्य उसे लौटा दिया जाना चाहिए था। बहुत दिनों से वह प्रतीक्षा कर रहा था। उसकी अपेक्षा पूरी हुई। मेरा दायित्व पूरा हुआ। हस्तिनापुर में धर्म की स्थापना हुई।..."

धृतराष्ट्र का एक-एक शब्द गान्धारी को वज्र के आघात जैसा लग रहा था। अन्तर केवल इतना ही था कि वज्र कभी मस्तक पर बजता था और कभी उसके वक्ष पर! और धृतराष्ट्र का यह प्रलाप था कि उसका अन्त ही नहीं हो रहा था, वह चलता ही जा रहा था। गान्धारी को लग रहा था कि उसका जीवन समाप्त हो जायेगा, किन्तु धृतराष्ट्र का यह प्रलाप समाप्त नहीं होगा।...

"आर्यपुत्र!"

धृतराष्ट्र को लगा, यह स्वर गान्धारी का नहीं था, यह तो जैसे कोई नागिन फुफकारी थी। वह चुप हो गया।

"आपने वर्षों से पोषित, अपनी, मेरी, दुर्योधन की...अपने सारे पुत्रों की साध समाप्त कर दी! किसी और ने किया होता, तो शायद मैं धैर्य भी धारण कर लेती। इसे अपना भाग्य मान लेती; किन्तु आपने स्वयं अपने हाथों अपने पुत्र के अधिकार को आग लगा दी। क्यों किया आपने? क्यों?...राजसभा में ऐसी घोषणा करने से पहले, किसी से चर्चा तो की होती, किसी से परामर्श किया होता। कोई संकेत तो किया होता कि आपके मन में क्या है। दुर्योधन, शकुनि, मैं ...कोई भी क्या कर सकता है—यदि आप स्वयं ही अपने पुत्रों का अनिष्ट करने पर तुले हों तो।..."

गान्धारी मौन हो गयी। धृतराष्ट्र भी कुछ नहीं बोला। वह अपनी सूनी-सूनी, दृष्टिहीन आँखों की पुतलियाँ घुमाता रहा।

जब उसके मौन से गान्धारी का धैर्य चुक गया तो वह बोली, "दुर्योधन कह गया है कि जिस दिन युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक होगा, उस दिन वह आत्महत्या कर लेगा।"

"वध से तो आत्महत्या ही अच्छी है।"

धृतराष्ट्र का यह वाक्य गान्धारी के मस्तिक में इस प्रकार घूम गया, जैसे गरजते हुए सागर की उछलती हुई लहरों पर से प्रभंजन, घर्षण करता निकल जाता है। क्रोध की झाग, जैसे पवन के स्पर्श से शान्त हो कर विलीन हो गयी।

"क्या कहना चाहते हैं आप?" उसने पूछा।

"मैं कुछ भी नहीं कहना चाहता," धृतराष्ट्र बोला, "मैंने तो केवल वही सुना है, जो समय मेरे कानों में कह रहा है। ज्ञान-चक्षु हूँ न मैं, तो मैंने दूर तक देखा है।"

"क्या?"

"हमारे चारों ओर कुछ अत्यन्त प्रबल राजनीतिक शक्तियाँ उभर रही हैं। बहुत सम्भव है—भयंकर युद्ध हों। पांचाल, यादव, मागध...हस्तिनापुर को भी चाहिए कि वह शक्तिशाली बने। हस्तिनापुर का सम्राट तो जन्मान्ध, दुर्बल और रोगी वृद्ध है। वह युद्ध में जा नहीं सकता। अतः मैंने हस्तिनापुर के शक्तिशाली युवराज के अभिषेक की घोषणा कर दी है।"

"युधिष्ठिर की तुलना में दुर्योधन कहीं शक्तिशाली है।" गान्धारी ने प्रतिवाद किया।

"यह तो तुम कहती हो।" धृतराष्ट्र अत्यन्त शान्त स्वर में बोला, "मैं तो इतना ही जानता हूँ कि दुर्योधन अपने सारे मित्रों और सहयोगियों के साथ द्रुपद से पराजित हो कर आया था; और युधिष्ठिर ने केवल अपने भाइयों की सहायता से द्रुपद को बाँध कर आचार्य द्रोण के चरणों में डाल दिया था।...तो कौन है अधिक शक्तिशाली?"

"यदि यह सत्य भी है तो इससे पहले कि कोई हमसे हस्तिनापुर छीन ले, हम अपने हाथों अपना राज्य युधिष्ठिर को दे दें?" गान्धारी चीत्कार कर बोली।

"मैंने राज्य किसी को दिया नहीं है महारानी!" धृतराष्ट्र का स्वर और भी शान्त हो गया, "मैंने तो युद्ध करने के लिये एक युवराज की नियुक्ति की है। ...पांचालों और मागधों में संधि हो जाये तो द्रुपद और जरासंध की सम्मिलित सेनाएँ हस्तिनापुर पर आक्रमण करेंगी। उनसे युद्ध करने के लिये, युवराज युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ जायेगा..."

"उस युद्ध में केवल युधिष्ठिर और उसके भाई ही जायेंगे क्या? क्या दुर्योधन युद्ध करने नहीं जायेगा?" गान्धारी ने पुनः आपत्ति की।

"क्या आवश्यकता है? हस्तिनापुर से उसका सम्बन्ध ही क्या है कि वह युद्ध करे! जब द्रुपद पर दुर्योधन ने आक्रमण किया था, तो पाण्डव अलग हट कर, एक ओर खड़े हो गए थे। जिस समय पांचालों और मागधों से पाण्डव

लड़ने जायें, उस समय दुर्योधन को भी वही करना चाहिए। पाण्डव युद्ध करेंगे, तो उनकी सहायता के लिये यादव आयेंगे, कृष्ण आयेगा। मागधों, पांचालों, यादवों तथा पाण्डवों की सेनाएँ लड़ेंगी, मरेंगी। ये सब दुर्बल हो जायेंगे। तब दुर्योधन को निश्चय करना होगा कि, वह किससे मैत्री करे। निश्चय करने को अधिक नहीं है। वह सरलता से, विजयी पक्ष से मित्रता कर सकता है...।"

गान्धारी मुग्ध मन से पति की वाणी को सुन रही थी...ठीक ही तो कह रहे थे आर्यपुत्र! एक तो दुर्योधन, युद्ध से दूर रहेगा, दूसरे उनके शत्रु दुर्बल होंगे। वह युद्ध में तटस्थ रहेगा, तो युद्ध के पश्चात किसी से भी मित्रता कर सकता है...

"किन्तु यदि पांचालों और मागधों में ऐसी संधि न हुई तो?" गान्धारी ने पूछा।

"तो जरासंध, हस्तिनापुर से संधि करेगा। युद्ध तब भी होगा। तब युधिष्ठिर और जरासंध एक ओर होंगे, तथा कृष्ण और द्रुपद दूसरी ओर! स्थिति में बहुत अन्तर नहीं पड़ेगा। दुर्योधन इस युद्ध के पश्चात भी विजयी पक्ष से संधि कर सकता है।" धृतराष्ट्र ने उत्तर दिया।

"और यदि युधिष्ठिर ने जरासंध से संधि ही न की?" गान्धारी ने पुनः शंका की।

"तो जरासंध स्वयं युधिष्ठिर पर आक्रमण करेगा। युधिष्ठिर की सहायता को कृष्ण आयेगा...युद्ध तो फिर भी होगा ही; और उसमें कोई-न-कोई विजयी भी होगा। दुर्योधन उसी से संधि करे, जो विजयी हो।..."

किन्तु गान्धारी के न द्वन्द्व समाप्त हुए थे, न शंकाएँ ही शान्त हुई थीं, "और यदि युद्ध ही न हुआ तो?"

"ऐसा भी कभी हुआ है?" धृतराष्ट्र निश्चित स्वर में बोला, "इतने सारे वीर क्षत्रिय एकत्रित हो गये हैं। सबके हाथों में शस्त्र चमक रहे हैं। सबको अपनी वीरता पर अभिमान है। युद्ध तो होगा ही देवि!"

"और यदि युद्ध में युधिष्ठिर ही विजयी हुआ तो?"

"शक्तियों का प्राबल्य तभी तब बना रहता है, जब तक युद्ध नहीं होते। युद्धों के पश्चात तो बड़ी-से-बड़ी शक्ति क्षीण हो जाती है। प्रबल वही रहता है, जो युद्ध में सम्मिलित नहीं होता।" धृतराष्ट्र ने कहा, "यादवों का रक्त तनिक ठण्डा हो लेने दो। इस समय विजय के मद में वह बहुत उफ़ान पर है। एक बार पांचालों को भी जरासंध अथवा कृष्ण से भिड़ लेने दो। तब भी युधिष्ठिर युवराज बना रहा तो फिर मैं अपनी भूल सुधारने के लिये तुमसे अवश्य विचार-विमर्श करूँगा।"

गान्धारी को लगा, उसके पति सचमुच ज्ञान-चक्षु हैं। कितनी दूर तक देख गये हैं वे। दुर्योधन को समझा देगी, उसके पिता ने ठीक ही निर्णय किया है।

19

द्रुपद कुछ समझ नहीं पा रहा था : वह क्रुद्ध है अथवा पीड़ित है, अथवा भयभीत है! कभी तो उसे लगता था कि वह अत्यन्त आक्रामक मनःस्थिति में है—इतनी आक्रामक कि वह सम्पूर्ण सृष्टि को जला कर भस्म कर देना चाहता है; और कभी उसे लगता था, वह सर्वथा असमर्थ हो चुका था। इतना कि उसके अंग उसका साथ नहीं दे पा रहे थे। क्रोध से जलते हुए उसके अंग जैसे काँपने लगते थे, इतने कि इच्छा होने पर भी उन्हें नियन्त्रित नहीं किया जा सकता था। इस स्थिति में कैसे करेगा वह युद्ध? कैसे अपने शत्रुओं का नाश करेगा?

द्रोण! द्रोण आज उसका शत्रु हो गया है। बाल्यावस्था का मित्र! सहपाठी! गुरुपुत्र! वही द्रोण आज शत्रु हो गया है। क्या दोष था द्रुपद का? मात्र सत्य-कथन? सत्य बोलना द्रुपद का स्वभाव रहा है। द्रुपद ने द्रोण को कभी अपमानित करना नहीं चाहा था। कोई कारण ही नहीं था। उसका द्रोण से विरोध ही क्या था? उसके मन में द्रोण के लिये न कोई वैर था, न द्वेष, न ईर्ष्या! द्रोण को अपमानित कर उसे क्या सुख मिलता!...द्रुपद अपने मन के एक-एक कोने को खोजता है, बार-बार उलटता-पलटता है और जानना चाहता है कि क्या उसके मन में द्रोण के लिये कोई दुर्भाव था? आज तक उसके मन ने एक बार भी सांकेतिक स्वीकृति तक नहीं दी थी!...उसके मन में द्रोण के लिये कोई दुर्भाव नहीं था। वस्तुतः वह तो उसकी सहायता करना चाहता था। सहायता की दृष्टि से तो उसने कहा था कि द्रोण के आश्रम को पांचालों का आश्रय सदा प्राप्त रहेगा। और वह कह ही क्या सकता था? एक गुरुकुल और राजसभा में मैत्री कैसे हो सकती है; उनमें तो आश्रित और आश्रयदाता का ही सम्बन्ध हो सकता है...सत्य का एक वाक्य सहन नहीं कर पाया द्रोण! इस सत्य से वह अपमानित हुआ? सत्य से भी कभी कोई अपमानित हो सकता है? इसका कहीं यह अर्थ नहीं है कि द्रुपद ने उसे अपमानित किया—द्रोण स्वयं ही अपनी स्थिति को अपमानजनक समझ रहा था। आचार्य के रूप में वह स्वयं को हीन मान रहा था। अन्यथा उसे राजा की मित्रता की क्या आवश्यकता थी। यदि द्रोण, आचार्य के स्थान पर ऋषि बना होता—अपने पिता ऋषि भारद्वाज के समान, अपने श्वसुर ऋषि शरदवान के समान, तो कदाचित उसके मन में यह हीनताबोध ही न होता...

और द्रोण ने अपना पाप नहीं देखा। उसने अपने मन के कलुष को नहीं देखा! उसने सत्य-कथन के लिये द्रुपद को अपराधी मान, उसे दण्डित करने का प्रयत्न किया। क्या था वह—द्रोण का अहंकार? अहंकारी तो वह अपने शैशव से ही था। गुरु-पुत्र के रूप में वह स्वयं को राजपुत्र से श्रेष्ठ मानता रहा। सहपाठी के रूप में भी वह अपनी विद्या के आधार पर स्वयं को श्रेष्ठ मानता रहा। उसमें अहंकार—स्वयं को श्रेष्ठ मानने का भाव तथा हीन-भावना—दोनों ही एक साथ कैसे थीं...या फिर क्या हीन भावना ही अहंकार को जन्म देती है?

किन्तु अब कुछ भी सोचने का समय नहीं था। द्रोण ने द्रुपद का अपमान किया था, उसे वंचित किया था। यह अपमान नहीं था जिसे क्षमा किया जा सके। द्रोण ने उसे बद्ध पशु के समान बाँध कर मँगवाया था। अपने शिष्यों, सैनिकों और राजकर्मचारियों के सम्मुख अपने मन का सारा कलुष उसने द्रुपद के ऊपर ऊँढ़ेला था...और...और उसका आधा राज्य छीन लिया था...आर्यावर्त्त में बड़े-से-बड़े अपराध के लिये भी किसी राजा ने, दूसरे राजा का राज्य नहीं छीना, और यह द्रोण, ब्राह्मण द्रोण, तपस्वी द्रोण, आचार्य द्रोण...इस द्रोण ने उसका राज्य छीन लिया...

कायर कहीं का। इतना ही अभिमान था अपनी शस्त्र-विद्या का तो स्वयं लड़ने आता...किन्तु नहीं! एक छोटी-सी सत्योक्ति को वर्षों तक अपने मन में विष-वृक्ष के समान पालता रहा। पांचालों के परम्परागत विरोधी कुरुओं की शरण में गया। कुरु राजकुमारों की शिक्षा देता रहा; और उनके मन में विष भरता रहा। उन्हें भेज दिया युद्ध के लिये, और स्वयं हस्तिनापुर में बैठा रहा ...कायर!...कायर!...कायर! इतना ही अहंकार था तो द्रुपद को द्वन्द्व-युद्ध के लिये आमन्त्रित करता, द्वैरथ-युद्ध करता—श्रेष्ठ शस्त्र-विज्ञ हो कर भी, धनुर्वेद का आचार्य हो कर भी, साहस नहीं कर पाया...द्रुपद के शत्रुओं से जा मिला और उसके राजकुमारों को भेज दिया...

अब किस-किससे प्रतिशोध ले द्रुपद? द्रोण से? उसे आश्रय देने वाले भीष्म से? उसका उपकरण बन कर आने वाले कुरु राजकुमारों से?...

कैसे प्रतिशोध ले द्रुपद? युवावस्था नहीं रह गयी है उसकी। अंग शिथिल हो रहे हैं। वैसे भी अकेला है द्रुपद! किस-किससे युद्ध करे वह—भीष्म से? द्रोण से? कृप से? अर्जुन, भीम, दुर्योधन, कर्ण, अश्वत्थामा? ...किस-किससे?

द्रुपद के पक्ष से लड़ने वाला है कौन? मात्र एक अकेला धृष्टद्युम्न! शिखण्डी क्या युद्ध करेगा—कन्याओं-सरीखा युवक! घर छोड़ कर जाने कहाँ भाग गया है।...द्रुपद उसे खोजने जाये, या युद्ध करे!...किन्तु यदि द्रुपद अपने इस अपमान का प्रतिशोध नहीं लेगा, अपना राज्य वापस नहीं लौटाएगा, तो आर्यावर्त्त के राजाओं की दृष्टि में क्या सम्मान रह जायेगा उसका? क्या सोचेगी उसकी प्रजा? कायर और दुर्बल राजा की प्रजा कैसे सिर उठा कर सम्मानपूर्वक जियेगी? सोमकवंशी राजाओं के गर्व का क्या होगा?...

सोच-सोच कर जैसे द्रुपद के सिर की शिराएँ फटने लगती थीं। न वह इसे भूल सकता था, न ही कुछ कर सकता था। कई बार मन में आया कि सेना सज्जित कर, हस्तिनापुर पर नहीं, तो कम-से-कम अहिछत्र पर ही आक्रमण कर दे...किन्तु उसका विवेक तत्काल टोक देता था।...क्या लाभ? वह जानता है कि उसकी सेना, कुरु साम्राज्य की सेना को पराजित नहीं कर पायेगी। वह अकेला, इतने सारे कुरु महारथियों से पार नहीं पा सकेगा।...पराजित हो कर वह लौटना नहीं चाहेगा।...यह तो निश्चित आत्महत्या है।...इस अपमान के पश्चात आत्महत्या तो उसकी असमर्थता को, उसकी कायरता में परिणत कर देगी। कलंक धुलेगा नहीं, और भी गम्भीर हो जायेगा।...और यदि उसने वीरगति को अंगीकार किया तो पीछे धृष्टद्युम्न, द्रौपदी और उस शिखण्डी का क्या होगा?...जो पिता के रहने पर इतने असुरक्षित हैं, वे पिता के न रहने पर क्या करेंगे?

द्रुपद की असमर्थता, क्रोध बन-बन कर उसे जला रही थी, और जल-जल कर वह और भी असमर्थ होता जा रहा था...जाने विधाता उसे किस अपराध का यह दण्ड दे रहा था—अब तो जैसे सारा जीवन उसे जलना-ही-जलना था...निष्फल...निर्धूम...एक क्षत्रिय का यह कैसा निरर्थक जीवन था...वैर, विरोध, आक्रोश, प्रतिहिंसा और घृणा को अपने मन-ही-मन बसाये रख कर किसी व्यक्ति के जीवन में कहीं भी कोई शान्ति का क्षण हो सकता है क्या?

दासी ने आ कर प्रणाम किया, "महाराज भोजन के लिये भीतर पधारेंगे, अथवा यहीं व्यवस्था करने का आदेश है?"

द्रुपद ने बड़ी अनिच्छा से दासी की ओर रेखा। उसके मन में आया कि पूछे कि भोजन से बढ़ कर कोई समस्या नहीं है क्या उसके जीवन में? क्यों वह भोजन के परे और कुछ सोच नहीं पाती? मान-अपमान उसके लिये कुछ भी नहीं है? स्वत्व और स्वाभिमान का कोई अस्तित्व नहीं है, उसके जीवन में? क्यों वह बार-बार मात्र भोजन का स्मरण कराने के लिये आती है?

किन्तु यह सब कहा नहीं उसने। बहुत मन्द स्वर में मात्र इतना कहा, "मुझे भूख नहीं है!"

दासी हाथ जोड़ कर चली गयी, किन्तु उसने जाते ही उधर से कृष्णा को भेज दिया, "पिता जी! आप अपने साथ इतना अत्याचार क्यों कर रहे हैं?"

बिना कहे भी द्रुपद समझ गया कि उसकी पुत्री का संकेत किस ओर है। सायास वाणी को स्नेह-सिंचित करता हुआ बोला, "मुझे सचमुच भूख नहीं है कृष्णा! कुछ भी खाने की इच्छा नहीं है।"

"आप इस प्रकार चिन्ता करते रहेंगे, तो भूख कहाँ से लगेगी!" द्रौपदी आ कर अपने पिता के पास खड़ी हो गयी। उसने स्नेह से पिता के कंधे पर हाथ रखा, "आपकी पीड़ा को देख कर सारा परिवार दुखी है। न माँ को भूख लग रही है, न भैया को। मैं ही कहाँ कुछ खा-पी रही हूँ।" उसने रुक कर पिता को देखा, "क्या इस यातना से मुक्ति का कोई मार्ग नहीं है पिता जी?"

द्रुपद चुपचाप कुछ सोचता रहा। फिर बोला, "मैं ब्राह्मण होता तो थोड़ा प्रयत्न कर, उसके अपराध को क्षमा कर देता; और अपने अपमान को भूल जाता, किन्तु पुत्रि!" उसने द्रौपदी की ओर देखा, "मैं क्षत्रिय हूँ। क्षत्रिय अग्नि-पुत्र है, जब तक बुझ ही न जाये, जलता ही रहता है; और जलना तो कष्टप्रद होता ही है।"

"तो पिता जी! द्रौपदी (कृष्णा) आप अकेले ही क्यों जलें। हम सब साथ ही क्यों न जलें। दावाग्नि के समान क्यों जलें, यज्ञाग्नि के समान क्यों न जलें। जलें तो एक उद्देश्य के लिये जलें। आत्मदहन हमारा लक्ष्य न हो, शत्रुदहन हमारा गन्तव्य हो। आप यज्ञ की दीक्षा लीजिए पिता जी! और हमें यज्ञ में अपने साथ लीजिए। हमें भी अग्निदीक्षित कीजिए। हमें यज्ञाग्नि से अपने लक्ष्य के लिये प्राप्त कीजिए। हम अपने पिता के काम न आये तो हमारे जीवन की सार्थकता ही क्या है पिता जी?"

द्रुपद ने जैसे पहली बार आँखें खोल कर अपनी पुत्री को देखा : ऐसी है उसकी कृष्णा! यह उसकी पुत्री नहीं, उसकी संजीवनी है! कैसा उत्साह भर आता है, उसके शब्दों से! ठीक तो कहती है वह, कि जीना है, तो लक्ष्य ले कर जियें और उत्साहपूर्वक जियें!

"जो कुछ कह रही हो, उसका अर्थ समझती हो कृष्णा?"

"समझती हूँ पिता जी!" वह बोली।

"एक बार यज्ञ-दीक्षित होने का अर्थ होगा, कि तुम्हारे जीवन का अपना कोई सुख-दुख, इच्छा-अनिच्छा...कुछ नहीं रह जायेगा। सब कुछ यज्ञ को समर्पित होगा! तुम नारी नहीं रहोगी, काष्ठ की समिधा हो जाओगी। अब तुम हवन-कुण्ड से बाहर रहोगी, काष्ठ का जीवन जीओगी, और जब हवन-कुण्ड को समर्पित की जाओगी, तो जल कर अपना अहोभाग्य मानोगी।"

"जानती हूँ पिता जी!"

"तुम ऐसा जीवन जीने के लिये तैयार हो?"

"पिता के सुख के लिये सब कुछ करने को तैयार हूँ।"

"मेरी बच्ची!" द्रुपद का कण्ठ जैसे फँसने लगा था, "मैंने कभी नहीं चाहा था कि मैं अपनी सन्तान को जीवन में प्रेम के स्थान पर घृणा की दीक्षा दूँ। कोई पिता क्यों चाहेगा कि उसकी सन्तान के जीवन का मेरुदण्ड प्रतिहिंसा हो।...किन्तु क्या करूँ! इस द्रोण ने मुझे कहीं का नहीं रखा।...मैं तो कुरुओं से अपना वैमनस्य भुलाने के लिये प्रयत्नशील था। मैं नहीं चाहता था कि शत्रुता का जो विष, उत्तराधिकार में मुझे मिला है, वही आगे मैं अपनी सन्तान को दूँ; किन्तु द्रोण ने अपना उपकरण भी बनाया, तो उन्हीं कुरु राजकुमारों को!"

"द्रोण के लिये यही स्वाभाविक था पिता जी! आपके प्रति शत्रुता का निर्वाह करने के लिये उन्हें आपके सबसे समर्थ विरोधी की ही शरण में जाना था। घृणा की समृद्धि के लिये उसे घृणा से ही जोड़ना था।"

"तो पुत्री! फिर हमें जीवन के अपने उदात्त मूल्यों को छोड़ना होगा। दया, माया, ममता, क्षमा, त्याग, औदार्य—हमारे लिये निरर्थक होंगे। अधिकार, वैभव, भोग, संघर्ष, प्रतिशोध—हमारे जीवन के लक्ष्य होंगे।"

"ठीक है पिता जी!"

"घृणा और प्रतिहिंसा को प्रयत्नपूर्वक मन में पोषित करेंगे।"

"हाँ पिता जी!"

"धृष्टद्युम्न हमसे सहमत होगा?" सहसा द्रुपद ने पूछा।

"भैया भी आपके ही पुत्र हैं पिता जी!" द्रौपदी शान्त भाव से मुस्कुरायी, "आपके सुख से बड़ा सन्तोष उनके लिए और क्या होगा!"

"तो प्रतिशोध और प्रतिहिंसा में ही सुख पाओ पुत्रि" द्रुपद ने उसे आशीर्वाद दिया, "जीवन को रजोगुण के धरातल पर ही जीओ।"

काम्पिल्य के राजप्रासाद में असाधारण समारोह था।

द्रुपद अपना अवसाद पुराने वस्त्र के रूप में त्याग चुका था। उसका तेज जैसे पुनः लौट आया था। आनन पर शान्त मुस्कान के स्थान पर एक उग्र तथा कठोर आवरण था, जैसे युद्ध में जाते हुए वक्ष पर धारण किया जाने वाला कवच, उसने अपने चेहरे पर भी धारण कर लिया था।

सिंहासन-कक्ष के साथ लगते हुए प्रकोष्ठ में यज्ञ आयोजन था। ब्राह्मण-समाज यज्ञ-वेदी के निकट बैठ चुका था। प्रमुख राजकर्मचारी भी उपस्थित थे। किन्तु बाहर से किसी को आमन्त्रित नहीं किया गया था।

शंखनाद हुआ और द्रुपद अपनी रानी के साथ आया। उसके पीछे-पीछे धृष्टद्युम्न तथा द्रौपदी थे। धृष्टद्युम्न युद्ध में जाने वाले क्षत्रिय योद्धा के रूप में आपाद-मस्तक अस्त्रों से सज्जित था; और द्रौपदी जैसे विवाह की वेदी की ओर जाती हुई वधू के समान शृंगार किये हुए थी।

राजपरिवार के बैठ जाने के पश्चात राजपुरोहित ने गायत्री मन्त्र के जाप के साथ यज्ञ-वेदी में अग्नि प्रज्वलित की और बोला, "महाराज! मनुष्य का महानतम लक्ष्य है—प्रेम! सारी मानवता से प्रेम, सारी सृष्टि से प्रेम! क्रोध न करने वाला, सारे वैभव को त्याग देने वाला, अपने लिए कुछ भी अर्जित न करने वाला ब्राह्मण—समाज में सर्वश्रेष्ठ माना गया। उस ब्राह्मण का धर्म क्या है अहिंसा! किन्तु उस ब्राह्मण की रक्षा के लिए समाज ने क्षत्रिय का निर्माण किया है। क्षत्रिय को शस्त्र धारण करने की अनुमति है। उसे न्याय-संयत हिंसा का आदेश है। दुष्टों का दलन करने और समाज में न्याय स्थापित करने के लिए क्षत्रियों का निर्माण किया गया। ठीक वैसे ही मनोजगत में, प्रेम की रक्षा के लिए, स्रष्टा ने क्रोध का निर्माण किया है। क्रोध मनुष्य का रक्षा-कवच है। मनुष्य क्रोध नहीं करेगा तो आत्मरक्षा के लिए भी उद्यत नहीं होगा। इसलिए क्रोध मनुष्य का धर्म है। क्रोध अन्यायी के विरुद्ध होता है। अन्याय का दमन करने के लिए, उससे घृणा की जाती है; इसलिए मनुष्य को अपने मन में अन्याय के प्रति घृणा को स्थान देना चाहिए। सायास घृणा का पोषण करना चाहिए। अन्यायी के प्रति हिंस्र-भाव, न्यायी पुरुष का आभूषण है। क्रोध, विरोध, घृणा तथा प्रतिहिंसा क्षत्रिय-मन की संरचना के आवश्यक तत्व हैं; और प्रहार, आघात तथा आक्रमण उसी की शारीरिक अभिव्यक्ति है। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि हमें अपने शत्रु पर क्रोध करने, घृणा करने तथा उसका विरोध करने की प्रेरणा दे। उसका वध करने की शक्ति दे; और उसके उपकरण के रूप में शस्त्र दे। उसे शस्त्र-प्रहार कर, उसका रक्त बहाने की इच्छा और उसके मृत शरीर को अपने पैरों से ठुकराने की क्षमता दे।"

पुरोहित ने रुक कर आहुति दी, "हे अग्नि! पांचाल नरेश महाराज द्रुपद की प्रार्थना सुन! उनकी इच्छा पूरी कर!"

द्रुपद ने आहुति दी और प्रार्थना की, "हे अग्नि! मैं अपनी प्रकृति सन्तान तुम्हें सौंपता हूँ। इनके स्थान पर तू मुझे अग्नि सन्तान दे; जो मेरे शत्रु द्रोण का वध करें और उसे आश्रय देने वाले कुरु-वंश का समूल नाश करें। मुझे युद्ध में जय दे! जय दे! जय दे!"

पुरोहित ने द्रौपदी को सम्बोधित किया, "राजकुमारी! तुमने आज तक का अपना जीवन, अपना चिन्तन, अपना राग-विराग—सब कुछ अग्नि को अर्पित कर दिया है। आज से तुम्हारा नया जीवन आरम्भ होता है। आज से तुम अग्नि-दीक्षित हो। तुम्हारा जन्म माता के गर्भ से नहीं, यज्ञ-कुण्ड से हुआ है। तुम्हारी संरचना अग्नि से हुई है। तुम अग्नि-धर्मा हो। तुम्हारा जन्म द्रोण के वध और कुरु-कुल के विनाश के लिए हुआ है। तुम्हारी अपनी कोई इच्छा-अनिच्छा नहीं है। तुम्हारे मन में कोई प्राकृतिक वासना नहीं है। तुममें कोई मानवीय दुर्बलता नहीं है। तुम्हारे मन में किसी के लिए कोई राग-विराग नहीं है। तुम्हारा नया जन्म केवल एक लक्ष्य के लिए हुआ है और वह है द्रोण का वध और कुरु-वंश का विनाश। तुम करोगी। उठो! अग्नि की ओर से मैं तुम्हें महाराज द्रुपद को सौंपता हूँ।"

द्रौपदी उठ खड़ी हुई। यज्ञ-वेदी की दूसरी ओर द्रुपद ने अपनी भुजाएँ फैलायीं और अग्निपुत्री कृष्णा को स्वीकार किया।

पुरोहित ने राजकुमार धृष्टद्युम्न की ओर देखा, "राजकुमार! तुमने भी आज तक का अपना जीवन, राग-विराग, क्षमताएँ, लक्ष्य-उद्देश्य—सब कुछ अग्नि को समर्पित किया! तुम्हारा आज से नया जन्म हो रहा है। तुम्हारा जन्म अग्नि-कुण्ड में हुआ है। तुम अपने कवच और अस्त्रों-शस्त्रों सहित, अग्नि-कुण्ड में से प्रकट हुए हो। तुम्हारा रथ भी अग्नि-कुण्ड में से उत्पन्न हुआ है। तुम्हारे अस्त्र-शस्त्र अलौकिक हैं। वे युद्ध में अमोघ हैं। तुम्हारा रथ न टूट सकता है, न जल सकता है। वह दिव्य रथ है। जब तक तुम इस रथ पर आरूढ़ हो कर युद्ध करोगे, तुम्हें कोई पराजित नहीं कर सकता। तुम अजेय हो; और तुम्हारा जन्म द्रोण के वध के लिये हुआ है। जिस धृष्टद्युम्न के गुरु द्रोणाचार्य थे, वह धृष्टद्युम्न अब नहीं है। तुम अग्नि में से प्रकट हुए हो, और तुम्हारे जीवन का एक ही लक्ष्य है : तुम आचार्य द्रोण का वध करोगे; और उसे आश्रय देने वाले कुरु-वंश के विनाश में सहायक होगे!"

वह द्रुपद की ओर मुड़ा, "महाराज! अग्निप्रदत्त अपने इस पुत्र को ग्रहण करें।"

द्रुपद ने भुजायें फैला कर धृष्टद्युम्न को ग्रहण किया, "आओ, अग्निप्रदत्त पुत्र! मेरे शत्रुओं का नाश करो!"

"तुम उदास हो राजकुमारी!"

द्रौपदी ने जैसे अपने मन को किसी गहरे अन्धकूप से खींच कर बाहर निकाला। कुछ देर तक शैलजा को

देखती रही : क्या उत्तर दे सखी के प्रश्न का? उस प्रश्न का उत्तर देना चाहिए भी या नहीं?...और द्रौपदी के पास इस प्रश्न का उत्तर है भी या नहीं?...

"क्या बात है राजकुमारी! तुम उदास ही नहीं, चिन्तित भी हो।" फिर जैसे अपनी सखी के दुख से द्रवित हो कर शैलजा बोली, "कुछ तो कहो सखी! ऐसे कब तक घुटती रहोगी?"

द्रौपदी की आँखों में अश्रु आ गये; किन्तु उसने तत्काल उन्हें पोंछ डाला, "घुटने का अब कोई लाभ नहीं है शैलजा!" वह रुकी, जैसे प्रत्येक नये वाक्य के लिये उसे ऊर्जा बटोरनी पड़ रही हो, "मैं महाराज द्रुपद की अग्नि-कुण्ड में से जन्मी सन्तान हूँ। घुटने और उदास होने का अवकाश ही कहाँ है मेरे लिये। मैं अग्निपुत्री हूँ। मुझे अग्नि बन कर ही जीना है, धूम्र की मेरे जीवन में कोई सम्भावना नहीं है...।"

"तो फिर यह क्या है सखी?"

"मैंने अपना पिछला जीवन, अग्निदेव को समर्पित कर दिया है।" द्रौपदी मन्द स्वर में बोली, "किन्तु वह सारा-का-सारा भस्म हो नहीं पाया है सखी! देखती हूँ कि उस भाजन के कुछ भग्नांश अभी शेष हैं। भग्न हैं, अत्यन्त झुलसे हुए हैं, धूम्र से काले हो गये हैं। उनका रूप पहचाना नहीं जाता। किन्तु उनकी रड़क अभी शेष है। कदाचित अग्नि का दाह उन्हें भस्म नहीं कर पायेगा। उन्हीं भग्नांओं को अपने हाथों में बीन कर, अपने नये जीवन से बाहर फेंक रही हूँ।"

शैलजा ने ध्यान से द्रौपदी को देखा : ऐसा कौन-सा दुख है, इस अग्निपुँज राजकुमारी को? उसके अपने मन की विचित्र स्थिति हो रही थी। न पूछने का साहस हो रहा था; न बिना पूछे ही रह सकती थी!...किन्तु राजकुमारी को कुरेदना तो होगा ही; अन्यथा ऐसा न हो कि जीवन से बाहर फेंकने के लिये, उन भग्नांओं को चुनते हुए, राजकुमारी के हाथ क्षत-विक्षत हो जायें, और उनका रक्त रोके न रुके।...

"कोई वंचना राजकुमारी?"

"वंचना! हाँ! वंचना ही तो है!" द्रौपदी जैसे शून्य में देखती हुई बोली, "किन्तु क्या कहूँ, कौन वंचित हुआ? किस वस्तु से वंचित हुआ; और किसने वंचित किया?"

शैलजा अवाक देखती रह गयी : उसके नयनों की जिज्ञासा को शब्द नहीं मिल सके!

"सखी! एक उद्यान में दो तितलियाँ सख्य-भाव से पुष्पों पर विहार कर रही हों; और अकस्मात ही एक तितली यह संकल्प कर ले कि उसे अब पुष्पों में विहार नहीं करना है। वह न केवल काँटों में रहेगी, वरन स्वयं भी एक कण्टक हो जायेगी, ताकि किसी श्येन के वक्ष में गड़ कर, उसे नष्ट कर सके। ...ऐसी स्थिति में वह दूसरी तितली, उसके साथ आयेगी क्या?"

शैलजा सोचती रही : क्या है राजकुमारी के मन में? क्या यह कोई प्रेम-प्रसंग है?...क्या उत्तर दे वह राजकुमारी को—जो राजकुमारी के मनोनुकूल भी हो...और राजकुमारी की चिन्ता भी कुछ कम करे...

अन्ततः वह बोली, "दूसरी तितली को यदि पहली से प्रेम होगा, तो वह कंटकों में भी साथ देगी!"

द्रौपदी के अवसन्न आनन पर मैली-सी एक सहज मुस्कान आयी, "बावली हो! दूसरी तितली के पास सम्पूर्ण उद्यान हैं, पुष्प हैं, तितलियाँ हैं, पक्षी हैं, झरने हैं, वृक्ष हैं, फल हैं। उसे क्या आवश्यकता है कि वह उस भरे-पूरे संसार को छोड़ कर, मात्र एक तितली का सख्य निभाने के लिये कण्टकों को ही अपना संसार बना ले?"

"ऐसे में तो मैं यही कहूँगी कि उसे पहली तितली से प्रेम ही नहीं है।"

द्रौपदी की दृष्टि जैसे शैलजा की आँखों से चिपक गयी। जाने वह उनमें बहुत गहरी डूब गयी थी, या फिर वह उनके तल से टकरा कर ही लौट गयी थी और वहाँ थी ही नहीं। उसमें जब स्पन्दन आया, तो वह बहुत तरल थी, "प्रेम की बात मैंने कही ही कब पगली? मैं तो सख्यभाव की बात कर रही हूँ। प्रेम में तो अभी उसकी परिणति हुई ही नहीं थी। यह कण्टकित निर्णय पहले ही हो गया।...और फिर शैलजा!" द्रौपदी के मानस में जैसे कोई नया ज्वार आया, "प्रेम तो मुक्त करता है; प्रिय को बाँधता तो नहीं! यदि किसी को बाँध लिया जाये, तो प्रेम और स्वार्थ में क्या अन्तर होगा सखी?"

"मैं यह सब नहीं जानती राजकुमारी!" शैलजा बोली, "मैं तो प्रेम का एक ही रूप पहचानती हूँ—दूसरी तितली को पहली तितली का साथ निभाना होगा।"

"यदि इसे प्रेम ही मानें सखी!" इस बार द्रौपदी तत्काल बोली, "तो पहली तितली का प्रेम क्या कहता है? यदि उसका प्रेम ही न चाहे कि दूसरी तितली अपना भरा-पूरा संसार छोड़ कर कण्टकवन में आये, तो?"

और शैलजा के मन में जैसे पूछने का साहस जुट आया, "पहली तितली ऐसा क्यों चाहेगी?"

"क्योंकि जिसके जीवन का आधार प्रेम हो, उसे घृणा के आधार पर जीने के लिये कहना पाप है।" द्रौपदी जैसे अपने-आपसे कह रही थी, "उसके मन में किसी के लिये घृणा नहीं है, अपने शत्रुओं के लिये भी नहीं। वह किसी से घृणा कर नहीं सकता।..."

शैलजा उसके चेहरे को ध्यान से देखती रही, जैसे उसकी भंगिमा में से उसके मन को पढ़ने का प्रयत्न कर रही हो; और फिर सहसा बोली, "राजकुमारी! आप कृष्ण की चर्चा तो नहीं कर रहीं?"

द्रौपदी कुछ नहीं बोली। न उसने स्वीकृति में कुछ कहा, न अस्वीकृति में!

"तो उसे त्याग दोगी?"

"त्यागने की बात किसने कही," द्रौपदी जैसे तड़प कर बोली, "मैं उसकी सखी हूँ। सखी ही रहूँगी। सम्पूर्ण आर्यावर्त्त के हृदय में स्पन्दित अपने सखा को एक व्यक्ति की प्रतिहिंसा का उपकरण नहीं बनने दूँगी।...मैं उसकी सखी हूँ...उसके जीवन को उदात्त धरातल तक नहीं ले जा सकती, तो उसे हीनतर धरातल पर तो नहीं ही खींचूँगी।"

"इसमें हीन क्या है सखी! क्या कृष्ण ने अपने शत्रुओं का वध नहीं किया?"

द्रौपदी की दृष्टि में उग्र प्रतिवाद था, "तुम उसे नहीं जानती शैलजा! उसके मन में किसी के लिये भी घृणा नहीं है। अपने शत्रुओं के लिये भी नहीं। जिनका उसने वध किया है, उनके लिये भी नहीं। उसने जब कंस का वध करने के लिये आघात किया, उसके मन में तो तब भी न घृणा थी, न प्रतिहिंसा। वह प्रेम का पारावार है। उसे घृणा से पुकारो, तो भी उसकी प्रतिध्वनि प्रेम की होगी।"

"यह असम्भव है!" शैलजा विश्वास नहीं कर पा रही थी।

"एक असम्भव का नाम ही गोविन्द है।" द्रौपदी जैसे अपने-आपसे कह रही थी, "वह प्रेम का अथाह सागर है। एक साथ इतने लोगों से प्रेम करने की क्षमता और किसमें है। वह एक व्यक्ति से प्रेम करता है, तो किसी और के प्रेम का अंश उसे नहीं देता। वह उसी का भाग होता है। इसीलिये तो दूसरे के लिये, उसके पास प्रेम का अभाव नहीं होता।"

"पर यह कैसे सम्भव है कि व्यक्ति जिसका वध करे, उससे भी घृणा न करें?"

"यह तो वही जानता है। मैं क्या जानूँ, जिसने घृणा को सायास पोषित करने का संकल्प किया है; किन्तु यह सत्य है शैलजे! कि उसके मन में न कंस के लिये घृणा थी, न जरासंध के लिये है। आवश्यकता पड़ने पर वह जरासंध के हित के लिये भी तत्काल उठ खड़ा होगा। मैंने सुना है कि गोमन्त पर्वत पर जब बलराम, जरासंध को मारने वाले थे, तो कृष्ण ने उनकी भुजा थाम ली थी..."

"मैं समझी नहीं!" शैलजा बोली।

"उसे समझो नहीं, अनुभव करो।" द्रौपदी बोली।

द्रुपद की मनःस्थिति कुछ विचित्र-सी हो गयी थी। वह स्वयं समझ नहीं पा रहा था कि ऐसा क्या हो गया था कि वह वर्तमान में रह नहीं पा रहा था। वह या तो अतीत में जीता था, या भविष्य में।...अतीत और भविष्य के कुछ विशिष्ट चित्र जैसे उसकी चेतना से चिपक कर रह गये थे।...बहुत प्रयत्न करने पर भी न वह उन चित्रों को धूमिल कर पाता था, और न ही अपनी चेतना से उनको मुक्त कर पाता था।

उसका मन अतीत की ओर भटकता था तो उसकी कल्पना में कौरवों का आक्रमण जैसे सजीव होने लगता था। उसे ऐसा लगता था, जैसे शून्य में एक विचित्र प्रकार के सूक्ष्म कण एकत्रित होने लगते थे। वे कण फिर एक पिण्ड में बदल जाते थे। वह पिण्ड एक आकृति में परिणत हो जाता था...और वह आकृति द्रोण की उस आकृति के चारों ओर, वट-वृक्ष के निकट उग आयी झाड़ियों के समान, कौरव राजकुमारों की आकृतियाँ उग जाती थीं। उन राजकुमारों के पीछे कौरव सेना थी। सेना, पांचालों पर आक्रमण कर देती थी। द्रुपद प्रयत्न करता है कि वह अपना धनुष उठाए; किन्तु जाने

क्या हो जाता है—उसका धनुष उसके उठाए नहीं उठता; उठ जाये तो उसकी प्रत्यंचा टूटी हुई मिलती है। प्रत्यंचा चढ़ जाये, तो तूणीर में एक भी बाण नहीं मिलता।...द्रुपद बहुत चिल्ला कर धृष्टद्युम्न को पुकारना चाहता है, तो उसके कण्ठ से वाणी ही नहीं निकलती।...और कौरवों की सेना, जैसे उस पर छाती चली जाती है। उस सेना के आगे-आगे हैं—अर्जुन!...जिसके एक संकेत पर, जैसे वाणों की झड़ी लग जाती है। अर्जुन, बढ़ता ही चला आता है।...उसे कोई रोक नहीं पाता। उसके मार्ग में जो कोई भी आता है, अर्जुन उसके आर-पार निकल आता है, जैसे उसके सम्मुख कोई ठोस पदार्थ न हो, केवल वायु हो। और फिर जब तक अर्जुन द्रुपद के निकट पहुँचता है, वह एक मोटी रस्सी के रूप में परिवर्तित हो जाता है। वह रस्सी द्रुपद के हाथों, पैरों को ही नहीं, सारे शरीर को लपेटती चलती है, जैसे रस्सी न हो—नागपाश हो।...बँधा हुआ, असहाय, द्रुपद, धरती पर किसी जड़ पदार्थ के समान पड़ा है और कहीं से द्रोण और अर्जुन प्रकट हो जाते हैं। अर्जुन घुटनों के बल बैठ कर अपने गुरु के सम्मुख हाथ जोड़ देता है और द्रोण अपना दाहिना पैर बँधे हुए द्रुपद के वक्ष पर रख कर अर्जुन की ओर आशीर्वाद की मुद्रा में हाथ उठा देता है।

द्रुपद का सारा शरीर स्वेद में नहा जाता है। वह स्वयं को झकझोर कर जैसे स्वप्न से जगाता है। जगाने के पश्चात भी जैसे उस दुःस्वप्न का प्रभाव नष्ट नहीं होता और द्रुपद का मन उससे मुक्ति पाने के लिये भविष्य बुनने लगता है...

वह देखता है कि वह एक विराट यज्ञ-कुण्ड के सामने खड़ा है और अग्नि से प्रार्थना कर रहा है। सहसा कुण्ड में से एक जाज्वल्यमान रथ प्रकट होता है। उसके घोड़े अग्नि की लपटों के बने हुए हैं; रथ भी किसी तप्त धातु का ही बना हुआ है; और उसका रथी है, स्वयं धृष्टद्युम्न! धृष्टद्युम्न अग्नि के कवच से मण्डित है और आपादमस्तक अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित है। धृष्टद्युम्न का रथ पृथ्वी पर नहीं चलता। वह वायु में पक्षी के समान भी नहीं उड़ता। वह वायु में मछली के समान तैरता है। इसलिये वह सेनाओं के ऊपर से नहीं उड़ता—सेनाओं को काटता हुआ, उनके मध्य में से बहुत तीक्ष्ण खड्ग के समान निकल जाता है। धृष्टद्युम्न की आँखें, रक्त के समान लाल हैं। उनमें किसी की कोई पहचान नहीं है। वे जिधर देखती हैं, उधर ही रक्त की वर्षा होने लगती है...और धीरे-धीरे धृष्टद्युम्न, अर्जुन की ओर बढ़ता है...अर्जुन उस पर बाण चलाता है; किन्तु वे बाण वायु में ही कहीं खो जाते हैं। वे धृष्टद्युम्न तक पहुँचते ही नहीं। धृष्टद्युम्न की दृष्टि अर्जुन पर पड़ती है और अर्जुन रक्त में नहा उठता है। धृष्टद्युम्न उसके निकट पहुँचता है और अपने लम्बे खड्ग से अर्जुन के दो टुकड़े कर देता है...

द्रुपद का हृदय चीत्कार कर उठता है, "यह तुमने क्या किया धृष्टद्युम्न? यह तुमने क्या किया?"

"क्या हुआ पिता जी?" धृष्टद्युम्न की रक्तिम आँखें पिता की ओर उठती हैं, "क्या शत्रु का वध अनुचित है? अधर्म है? अन्याय है?"

"किन्तु वह शत्रु कहाँ था पुत्र?" द्रुपद रुँधे कण्ठ से कहता है, "तुम नहीं जानते, युद्ध में जब भीम ने पांचाल सेना का संहार आरम्भ किया था, तो उसने क्या कहा था?"

"क्या कहा था पिता जी?"

"उसने कहा था, 'हम पांचालों के शत्रु नहीं हैं। हम उनका नाश करने नहीं आये हैं। हम तो केवल गुरु-दक्षिणा चुकाने आये हैं।'" द्रुपद चीत्कार कर उठता है, "ऐसा भी कोई योद्धा तुमने देखा है पुत्र, जो युद्ध भी करता है और मन में शत्रुता तथा वैर भी नहीं रखता! उसके मन में घृणा नहीं होती, द्वेष नहीं होता। वह तो मात्र कर्म करता है।"

द्रुपद की आँखों में अश्रु आ जाते हैं। उसकी समझ में नहीं आता कि उसके मन में क्या है।...अपने उस सारे अपमान के पश्चात भी...अर्जुन के मन में उसके प्रति वैर नहीं है...या उसके मन में अर्जुन के लिये कोई विरोध नहीं है...

20

युवराज्याभिषेक से प्रायः एक सप्ताह पूर्व उद्धव हस्तिनापुर पहुँच गया था। वह स्वयं को कृष्ण के आने की पूर्व सूचना कहता था। उद्धव हस्तिनापुर में आ गया था, इसका अर्थ था कि कृष्ण भी आ रहा है। कुन्ती और पाण्डवों ने उद्धव को भी पहली बार देखा था। जब से अक्रूर आये थे, तब से अपने मायके के प्रति कुन्ती का वर्षों से दमित भाव जैसे पूर्ण तीव्रता से जाग उठा था। जिनके विषय में उसने न कभी एक शब्द कहा था, न पूछा था : अब उनके विषय में भी उसके मन में लगातार जिज्ञासाएँ उठ रही थीं। वह कुरेद-कुरेद कर एक-एक व्यक्ति और एक-एक घटना के विषय में पूछती थी; और फिर अपने पुत्रों को बताती थी। पाण्डवों का भी अपने ननिहाल के प्रति मोह बहुत बढ़ गया था। अब तक तो न चाहते हुए भी कहीं उनके मन में यह धारणा घर किये हुए थी, कि राज-समाज में उन्हें दुर्योधन के समतुल्य नहीं माना जाता था। दुर्योधन के पिता राजा थे; पाण्डवों ने तो अपने पिता को साधक-रूप में ही देखा था; और अब तो वे थे ही नहीं। दुर्योधन, राजकुमारों के समान, अपने प्रासाद में पला था और उसने राज-गुरु कृपाचार्य से शिक्षा ग्रहण की थी। वे तो वनों में ऋषि-मुनियों से अध्यात्म की ही शिक्षा पाते रहे थे। दुर्योधन का ननिहाल गन्धार में था, और उसका मामा हस्तिनापुर में बैठा था; पाण्डवों के नाना और मामा की कोई चर्चा हस्तिनापुर के राजप्रसादों में कभी हुई ही नहीं थी। किन्तु अब स्थिति काफी बदल गयी थी। पाण्डवों का अपने ननिहाल से सम्पर्क हुआ, तो उनका सम्बन्ध इतनी तीव्रता और सघनता से बढ़ा कि सावन के समान सब ओर व्याप्त हो गया। इन दिनों, चारों ओर यादवों की शक्ति की चर्चा थी। स्थान-स्थान पर उनके कृत्यों के गौरव-चिह्न प्रदर्शित हो रहे थे। उनके रथ जिस दिशा में चलते, उस दिशा के सारे राज्य थर्रा उठते थे। कुन्ती को लगता था कि युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक भी यादवों के शक्ति-प्रदर्शन के कारण ही हो रहा है। यदि अक्रूर न आये होते और उन्होंने कौरवों की राजसभा में आत्मीयता के स्नेह में ही सही, वह धमकियाँ न दी होतीं, तो धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक कभी न होने देता।

अभिषेक से दो दिन पहले कृष्ण भी, बलराम और अपने कुछ मित्रों के साथ हस्तिनापुर आ पहुँचा। कृष्ण का हस्तिनापुर आना अपने-आप में एक समारोह हो गया। कृष्ण के हस्तिनापुर आने से पहले उसकी कीर्ति वहाँ पहुँच चुकी थी। पथों के दोनों ओर लोग उसके दर्शन करने के लिये प्रहरों बैठे रहे थे। जिस समय वह आया, उस समय हस्तिनापुर के नगर-द्वार पर असाधारण भीड़ थी और मार्ग तो एकदम अटे पड़े थे। लगता था कि मुख्य उत्सव युवराज्याभिषेक का नहीं, कृष्ण के आगमन का ही था।

यद्यपि दुर्योधन भी कृष्ण तथा बलराम के स्वागत के लिये नगर-द्वार पर आया था; किन्तु कृष्ण ने राजप्रासाद में ठहरना ही उचित नहीं समझा। वह अपनी बुआ और उनके पुत्रों के साथ ही ठहरना चाहता था। और बलराम को तो ठहरना ही कृष्ण के साथ था।

कुन्ती ने अपने घर के द्वार पर ही कृष्ण का स्वागत किया। कृष्ण, चरण-स्पर्श के लिये झुका, तो कुन्ती ने उसे कंधों से पकड़ कर उठा लिया। उसे कंधों से थामे-थामे ही जैसे मौन-मूक उसका निरीक्षण किया और बोली, “तुम ही हो मरे भाई और भाभी के तारणहार! तुमने ही उनके प्राण बचाये हैं, और उन्हें जीवनदान दिया है! पुत्र! तुमने ही भैया अक्रूर को भेजा और अब स्वयं आये हो। तुम्हें शायद ज्ञात भी न हो कृष्ण! कि हम भी यहाँ एक खुले कारागार में बन्दी थे। हमें भी तुमने ही छुड़ाया है पुत्र।...”

कुन्ती का कण्ठ अवरुद्ध हो गया। उसकी आँखों से अश्रु बह निकले; और उसने अपना मस्तक कृष्ण के कंधे से टिका दिया।

“बुआ!” कृष्ण के स्वर में असीम स्नेह था, “मैं जानता हूँ कि मेरी माँ के पश्चात यदि कोई दुखिया नारी है, तो वह तुम हो। मेरी माता ने अपने पुत्र गँवा दिये; और तुम सदा उसी संकट से आशंकित रहीं। मृत्यु के भय की छाया में जीना, मृत्यु से कम कष्टप्रद है क्या! किन्तु अब चिन्ता न करो बुआ! पाँच पुत्र तुम्हारे ये हैं; और दो हम हैं। हम सातों मिल कर संसार में धर्म की संस्थापना करेंगे। अत्याचारियों ने संसार में जितने भी कारागार बनाये हैं, हम उन सबको भंग कर देंगे।”

कुन्ती को पता ही नहीं चला कि कब उसका रोना थम गया और कब कृष्ण उसे अपनी बाँहों में समेटे-समेटे भीतर ले आया। कुन्ती को लगा, आज तक इतनी आश्वस्त वह किसी के शब्दों से नहीं हुई थी। किसी के कंधे पर मस्तक

टिका कर, उसे न इतना आत्मबल मिला, और न इतना सुख! अपने पुत्रों के कंधों से तो उसने कभी अपना मस्तक टिकाया ही नहीं था।...यह कृष्ण तो चमत्कार ही है...

"तुम भी मेरे पुत्र हो कृष्ण!" कुन्ती बोली, "तो मेरे ही पास रहो। अपने इन भाइयों के साथ!"

"बुआ! तुम भी बन्धन बाँधने लगीं।" कृष्ण मुस्कुराया, "हम बन्धन काटने की बात कर रहे थे, बन्धन बाँधने की नहीं।"

"प्रेम तो बाँधता ही है पुत्र!" कुन्ती बोली, "देखो! मैंने अपने प्रेम में इन पाँच पुत्रों को बाँध रखा है। अब मैं तुम्हें भी बाँध लेना चाहती हूँ।"

"नहीं बुआ!" कृष्ण पुनः मुस्कुराया, "तुमने अपने 'स्व' के घेरे को शिथिल कर, उसे विस्तृत किया; और अपने इस आत्मविस्तार में इन्हें पा लिया। अब तुम अपने 'स्व' का और भी विस्तार कर रही हो—मुझे और भैया को पाने के लिये। हम जिससे प्रेम करते हैं, उसे मुक्त करते हैं बुआ! बाँधते नहीं। प्रिय को सीमित नहीं करते, अपना विस्तार करते हैं। जैसे यदि अब मैं कहूँ कि बुआ! मैं थका हुआ हूँ, विश्राम करना चाहता हूँ; तो तुम कहोगी, 'जाओ पुत्र! विश्राम करो।' यह कभी नहीं कहोगी, 'नहीं कृष्ण! तू विश्राम नहीं कर सकता।'"

कुन्ती ने भुजा में भर कर, उसे अपने कण्ठ से लगा लिया, "मैंने ठीक ही सुना था पुत्र! कि तू मोहन नहीं, साक्षात सम्मोहन है।"

"कृष्ण!" विश्राम करने के लिये लेटे हुए भीम ने कोहनियों के बल, स्वयं को उचकाया, "जब से मातुल अक्रूर से तुम्हरे विषय में बात हुई है, मेरे मन में कुछ प्रश्न बहुत ही उछल-कूद मचा रहे हैं। सोचता हूँ कि अपने मस्तिष्क को अधिक कष्ट न दे कर, उनके विषय में तुमसे ही पूछ लूँ।"

"अवश्य पूछो मध्यम!" कृष्ण ने सहास कहा, "वैसे भी मस्तिष्क को अधिक कष्ट देना, तुम्हारे शारीरिक स्वास्थ्य के लिये अच्छा नहीं होगा।"

"सब यही समझते हैं, किन्तु यह भूल जाते हैं कि जहाँ भीम का मस्तिष्क चलता है, वहाँ और किसी का नहीं चलता।"

"ऐसा कोई सोचता नहीं मध्यम! यह सब तो केवल तुम्हारे स्वभाव की विनोदप्रियता का आनन्द लेने के लिये कहा जाता है।" कृष्ण ने कहा, "अब तुम जल्दी अपना प्रश्न करो, अन्यथा मुझे नींद आ जायेगी।"

"मातुल अक्रूर कह रहे थे कि तुम कहते हो कि कर्म का फल अवश्य मिलता है।"

"हाँ!" कृष्ण के स्वर में पूर्ण आस्था थी, "अवश्य मिलता है।"

"तो यह बताओ कि हमने आज तक दुर्योधन के साथ भलायी-ही-भलायी की है; उसका फल हमें क्या मिला! उसने बदले में हमारी क्या भलाई की? उसका वश चले तो वह आज ही हमारी हत्या कर दे।" भीम ने जैसे उपालम्भ के रूप में कहा।

कृष्ण क्षण-भर चुप रहा, जैसे कोई युक्ति सोच रहा हो; फिर बोला, "मध्यम! तुमने कभी कन्दुक-क्रीड़ा में भाग लिया है?"

"हाँ! क्यों नहीं! अपनी बाल्यावस्था में मैं गेंद से बहुत खेला करता था।"

"तो मध्यम! यह बताओ कि यदि गेंद को किसी पक्की दीवार पर मारा जाए तो वह लौट क्यों आती है?"

"अरे! उछलना तो गेंद की प्रकृति है।" भीम बोला।

"बात समझने की सुविधा के लिये ऐसा ही मान लो! कर्म को भी एक गेंद ही समझो, जो जीवन-रूपी दीवार पर फेंका जाये, तो उसका फल वैसे ही लौट कर आता है।" कृष्ण बोला, "सहमत हो न?"

"सहमत हूँ भाई!"

"तो हम यह मान लेते हैं कि नियम यह हुआ कि गेंद को जिस वेग से दीवार पर फेंका जायेगा, उतने ही वेग से गेंद लौट कर वापस आयेगी।"

"ठीक है।"

"अब इस प्रक्रिया का विश्लेषण करो।" कृष्ण ने कहा, "जो गेंद दीवार पर मारी गयी, वह किस पदार्थ की बनी है। उसमें कितनी वायु भरी हुई है; और दीवार किस वस्तु की बनी हुई है। उस गेंद के स्थान पर यदि हम लोहे का गोला फेंकेंगे, तो क्या वह लौट कर आयेगा?"

"नहीं!" भीम ने कहा।

"यदि गेंद को हम बालू के ढेर पर मारेंगे, तो क्या वह लौट कर आयेगी?"

"नहीं!"

"और यदि हम उसे कीचड़ में मारेंगे, तो न केवल गेंद लौट कर नहीं आयेगी, हम पर कीचड़ के छींटे भी पड़ेंगे।" कृष्ण ने कहा, "समझे मध्यम?"

"समझ गया कि दुर्योधन दीवार नहीं है, जो गेंद को लौटा दे।"

"ठीक समझे!" कृष्ण मुस्कुराया, "दूसरी बात यह भी समझो कि गेंद, दीवार, बालू, लोहे का गोला, कीचड़—इन सबमें से कुछ भी अच्छा या बुरा नहीं है। प्रकृति के नियमों में बँधे ये सब पदार्थ स्वधर्म के अनुसार व्यवहार करते हैं। हम काँटे को स्नेहपूर्वक अपने हाथ से सहलाने का प्रयत्न करें और काँटा हमारी अँगुली में गड़ जाये, तो काँटे से रुष्ट हो कर बुरा-भला नहीं कहना चाहिए। काँटे से तो और कुछ अपेक्षित ही नहीं है। हुआ केवल यह है कि हमने प्रकृति के उस नियम को ध्यान में नहीं रखा और काँटे से अपनी इच्छानुसार व्यवहार चाहा है। यह तो प्रकृति के नियमों पर अपनी इच्छा का आरोपण है। समझे मध्यम?"

कृष्ण ने भीम की ओर देखा : वह ऐसे निश्चिन्त खर्राटे ले रहा था, जैसे उसे सोये हुए बहुत समय व्यतीत हो गया हो!

"भैया कृष्ण!" सहदेव बोला, "मध्यम को अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया है। उससे अधिक चिन्तन में उनकी रुचि ही नहीं है।"

कृष्ण मुस्कुराया, "वही देख रहा हूँ।"

"अच्छा! मुझे एक बात बताओ भैया! हमारे गुरुओं ने हमें यह क्यों नहीं सिखाया, जो तुम बता रहे हो?" सहदेव उठ कर कृष्ण के पास चला आया, "उन्होंने सदा यही क्यों सिखाया कि सबके प्रति अच्छा व्यवहार करो। उन्होंने यह क्यों नहीं सिखाया कि गेंद केवल दीवार पर फेंको, कीचड़ में नहीं; स्नेह-भरा हाथ केवल पुष्प के निकट ले जाओ, कण्टक के नहीं?"

"उन्होंने तुम्हें जो कुछ पढ़ाया, वह नीतिशास्त्र है।" कृष्ण बोला, "नीति-शास्त्र हमारे समाज के दीर्घकालीन अनुभवों का निष्कर्ष होता है, उसका विश्लेषण नहीं! प्रत्येक व्यक्ति इस योग्य नहीं होता अथवा प्रत्येक व्यक्ति के पास इतना समय और समझ नहीं होती कि वह विश्लेषण करे, नियमों को समझे और तब निष्कर्षों पर पहुँचे; इसलिए उसे केवल निष्कर्ष बता दिये जाते हैं, कि उसका व्यवहार कैसा हो।"

"पर मुझे यह बताओ," इस बार अर्जुन बोला, "कि दुर्योधन ने हमारे प्रति जो अपराध किये, या अपनी प्रजा के प्रति जो अत्याचार किये, उनका उसे क्या दण्ड मिला?" अर्जुन के स्वर में हल्की-सी कटुता थी, "उसके अधिकार बढ़ते गये, उसकी सुख-समृद्धि का विकास हुआ। उसका अहंकार स्फीत होता गया। उसे आज तक किसी ने भी तो दण्डित नहीं किया। उसे तो अपनी दुष्टताओं का लाभ ही हुआ है।"

"प्रकृति में न दण्ड है, न पुरस्कार। दण्ड और पुरस्कार का विधान तो मानव-समाज का बनाया हुआ है। प्रकृति में तो कर्म तथा नियमानुसार उसका फल है। क्रिया और उसकी प्रतिक्रिया है। यदि कृषक अपने क्षेत्र में बीज बोता है, उसकी भली प्रकार देख-भाल करता है और उपज अच्छी होती है, तो हम कहते हैं कि प्रकृति ने उसे पुरस्कार दिया है; और यदि वह कृषि-कर्म पूरा नहीं करता, कहीं किसी प्रकार की असावधानी करता है, तो उपज नष्ट हो जाती है, तो हम कह देते हैं कि प्रकृति ने उसे दण्डित किया है। वस्तुतः प्रकृति न तो उससे प्रसन्न है, न रुष्ट; वह न उसे पुरस्कृत करती है, न दण्डित! वह तो केवल अपने नियमों का पालन कर रही है। और यदि हम अपनी सुविधा के लिए उसे पुरस्कार और

दण्ड की संज्ञाएँ दे भी लें, तो भी हमें समझना चाहिए कि मनुष्य तथा प्रकृति द्वारा किसी को दण्डित अथवा पुरस्कृत करने की विधि में बहुत अन्तर है। मनुष्य तत्काल ही किसी को दण्डित अथवा पुरस्कृत करता है किन्तु प्रकृति की प्रतिक्रिया का अपना काल-विस्तार होता है। वह निश्चित रूप से मनुष्य के काल-विस्तार से बहुत अधिक व्यापक और विस्तृत है। मनुष्य का जीवन-काल कुछ वर्षों का है, जबकि प्रकृति का काल-विस्तार अनन्त है।"...

"तो तुम कहना चाहते हो कि हम किसी को दण्डित ही न करें?" अर्जुन ने पूछा।

"नहीं! मैंने तो ऐसा कुछ नहीं कहा।" कृष्ण बोला, "मनुष्य हो, समाज हो अथवा प्रकृति हो—उन सबका दण्ड-विधान, अपनी रक्षा के लिए होता है। हमें तत्काल अपनी रक्षा की आवश्यकता होती है, इसलिए हम तत्काल दण्ड-विधान करते हैं—प्रकृति को क्रमशः अपनी रक्षा की आवश्यकता होती है, इसलिए प्रकृति क्रमशः दण्ड का विधान करती है।"

"दुर्योधन के दण्ड के विषय में क्या कहते हो?" युधिष्ठिर पहली बार वार्तालाप में सम्मिलित हुआ।

"एक व्यक्ति जिसके पास पेय जल का एक निर्मल सरोवर हो, यदि भूमि के लोभ में, उस सरोवर में कुछ मिट्टी डाल कर उसे पाटने का प्रबन्ध करता है; और यदि उसे कोई इस कार्य से रोकता नहीं है, तो अन्ततः वह व्यक्ति सारा सरोवर पाट डालेगा। फिर वह, उस निर्मल जल को पुनः प्राप्त करने के लिए, या तो उतनी ही मिट्टी पुनः खोदेगा, जितनी उसने डाली थी, अथवा प्यास से तड़प-तड़प कर मर जायेगा।" कृष्ण बोला, "आजकल दुर्योधन अपने लोभ में सरोवर को पाट रहा है। वह सरोवर केवल उसका नहीं, सम्पूर्ण कुरुकुल का है। यदि कुरुकुल ने उसे उस सरोवर को क्रमशः गँदला करने, कीचड़ बनाने और अंततः सर्वथा पाट देने से नहीं रोका, तो सम्पूर्ण कुरुकुल या तो वह सरोवर पुनः खोदेगा अथवा प्यास से तड़प-तड़प कर मर जायेगा; क्योंकि निर्मल जल तो सबको चाहिए ही।"

"उस एक व्यक्ति के अपराध का दण्ड सारा कुरुकुल पायेगा?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"नहीं! अपराधी केवल वही तो नहीं है, जो अपराध कर रहा है। अपराधी वह भी है, जो क्षमता होते हुए भी उसे रोकता नहीं; वह भी है, जो उसे देखता है, किन्तु उसे रोकना अपना दायित्व नहीं मानता।...वे सब लोग अपने-अपने कर्म का फल पायेंगे।" कृष्ण क्षण-भर रुका, "और वैसे भी दिन-रात षड्यन्त्रों में लिप्त, ईर्ष्या-द्वेष और घृणा से जलता हुआ, अहंकार के उन्माद में मत्त व्यक्ति मुझे तो सुखी नहीं लगता। मैं कैसे मान लूँ कि वह अपने कृत्यों के फलस्वरूप सुख की नींद सो रहा होगा...।"

"तुम लोग सो नहीं रहे!" सहसा कुन्ती ने कक्ष में प्रवेश किया, "देखो, बलराम और भीम कैसे सुख से सो रहे हैं। तुम लोग भी सो जाओ! प्रातः तुम लोगों को अपने पितामह से मिलने जाना है।"

प्रातः कृष्ण और बलराम भीष्म से मिलने, उनके भवन में गये।

सूचना मिलते ही उत्सुकतावश भीष्म स्वयं बाहर निकल आये; देखें तो सही कि वे कृष्ण और बलराम कैसे हैं, जिन्होंने अकेले ही अनेक साम्राज्यों को हिला रखा है।

बलराम बड़ा भी था, लम्बा भी और बलिष्ट भी! किन्तु अपने शरीर की सारी विराटता के होते हुए भी, वह अबोध-सा बालक ही दिख रहा था, जैसे किसी बालक का शरीर असाधारण रूप से बड़ा हो जाये। कृष्ण का रूप आकर्षक था; नयनों में असाधारण चैतन्य था; और शरीर सुगठित और सुन्दर था। वह अर्जुन का समयवस्क होगा और उसका वर्ण भी कुछ-कुछ अर्जुन जैसा ही था।

दोनों भाइयों ने भीष्म के चरणों में प्रणाम किया।

भीष्म उन्हें अपने साथ अपने कक्ष में ले आये, "मैंने तुम्हारी बहुत प्रशंसा सुनी है कृष्ण!" भीष्म बोले, "अक्रूर ने मुझसे कहा था कि तुमने न केवल यादवों को अत्याचार से मुक्ति ही दिलायी है, वरन आत्मरक्षा के लिए बल, तथा जीवन के लिए नया लक्ष्य भी दिया है।"

"मेरी प्रशंसा कर, काका को सुख मिलता है।" कृष्ण मुस्कुराया, "प्रशंसा तो मैंने आपकी सुनी है पितामह! सारा आर्यावर्त्त आपको अटल हिमालय के रूप में देखता है।"

"उन्हें यह पता नहीं है कि बाहर से अटल दिखने वाले इस हिमालय के मन में कितने संकल्प-विकल्प हैं,

कितने ऊहा-पोह हैं, कितने संशय और प्रश्न हैं।" भीष्म बोले, "कृष्ण! अक्रूर के जाने के पश्चात, जाने क्यों मैं अपनी और तुम्हारी तुलना करता रहा, यद्यपि तुमसे मेरी कोई स्पर्धा नहीं है पुत्र!"

कृष्ण खिलखिला कर हँस पड़ा, निर्दोष और उन्मुक्त हँसी, "मेरी तो आप से स्पर्धा है न पितामह!"

"कैसी स्पर्धा?" भीष्म ने आश्चर्यमिश्रित स्वर में पूछा।

"बड़ों के साथ स्पर्धा तो बड़े होने की ही होती है!" कृष्ण मुस्कुराया, "आपकी दृढ़ता, आपका प्रतिज्ञा-पालन। ...सारा आर्यावर्त्त आपका यशोगान कर रहा है पितामह!"

भीष्म सावधान हो गये : कृष्ण के विषय में उन्होंने बहुत कुछ सुना था—वह इसी प्रकार लुभा कर, रिझा कर, सबके मन में प्रवेश पा जाता था। किन्तु भीष्म को अपने विवेक को स्थिर रखना था।...पर किससे सावधान रहना उनको? इस कृष्ण से?...

भीष्म ने जैसे कृष्ण को पुनः देखा : उनके पौत्रों का समवयस्क यह तरुण—कितना भिन्न है, उन सबसे! उन्होंने सोचा था कि वह कोई बहुत धीर-गम्भीर, आत्मलीन-सा व्यक्ति होगा! किन्तु वह तो भीम से अधिक सरल है; और पर-भाव तो जैसे उसमें है ही नहीं। न दूरी है, न तटस्थता। सर्वथा आत्मीय! जैसे अपने ही परिवार का कोई तरुण!... उसके चेहरे और मन पर कहीं भीष्म की अवस्था या गुरुता का कोई आतंक नहीं था। वह तो सर्वथा समान धरातल पर व्यवहार करने वाला व्यक्ति है।...समान धरातल भी क्या...वह तो उन्हें अपना ऐसा पौत्र लग रहा था, जो युवा था, इसलिए असमर्थ नहीं था। वह वार्द्धक्य का सम्मान करते हुए, चरण छू कर प्रणाम भी करता था : और वार्द्धक्य की असमर्थता का बोध कराते हुए, उन्हें अपने कंधे पर उठा भी सकता था। वह तो बालक भी है; और वृद्ध भी...

"आप मुझसे अपनी तुलना किस विषय में कर रहे थे पितामह?"

भीष्म ने अपना मन आज तक इस प्रकार खोल कर किसी के सम्मुख नहीं रखा था। किसके सामने रखते? सब उनसे छोटे थे, उनका सम्मान करते थे। भीष्म अपनी दुर्बलता, किसके सामने प्रकट करते!—...किसको अपना समवयस्क मान कर उससे अपनी समस्याओं की चर्चा करते!...आज मिला था उनको अपना समवयस्क! वह सामने बैठा पूछ रहा था। आज भी भीष्म यदि नहीं खुले, तो फिर शायद खुलने का अवसर कभी न आये...

"अक्रूर ने कहा था कृष्ण! कि तुम्हें राज्य नहीं चाहिए। तभी मेरे अहंकार ने तुलना की थी, कि राज्य तो मुझे भी नहीं चाहिए। मैंने तो वर्षों पहले यह राज्य त्याग दिया था; किन्तु लगता है, कि राज्य ने मुझे आज तक नहीं त्यागा! मैं इससे मुक्त क्यों नहीं हो पा रहा?"

"आप कदाचित मेरी परीक्षा ले रहे हैं पितामह!" कृष्ण शिशु भाव से, उन्मुक्त रूप में हँसा, "जिसके समान रक्षक, संसार का प्रत्येक राज्य खोज रहा है, उसे हस्तिनापुर मुक्त कैसे कर देगा! लोहा तो चुम्बक को नहीं छोड़ेगा, चुम्बक ही उसे पकड़ना छोड़ दे तो छोड़ दे।"

"चाटुकारिता कर रहे हो।" भीष्म को पता ही नहीं चला कि कब वह अपनी गहन-गम्भीरता त्याग, कृष्ण के समान ही बालक हो गये, "मैं तो कब से सोच रहा हूँ कि ये बच्चे हस्तिनापुर को सँभाल लें, तो इस राज-काज से मुक्ति पाऊँ।"

"त्याग का विषय पदार्थ नहीं है पितामह!" कृष्ण सहज भाव से बोला, "त्याग का विषय तो आसक्ति है।"

भीष्म का चिन्तन-प्रवाह जैसे थम गया। उन्हें क्षण-भर के लिए लगा कि उनके सम्मुख वासुदेव कृष्ण नहीं, कृष्ण द्वैपायन व्यास बैठा है।...नहीं! यह उनका भ्रम था। उनके सामने तो कृष्ण वासुदेव ही बैठा था; किन्तु उसके स्थान पर कृष्ण द्वैपावन भी होता, तो निश्चय ही कुछ ऐसी बात कहता।...उन्होंने अवाक दृष्टि से कृष्ण को देखा—क्या वह चाहता है कि वे हस्तिनापुर की चिन्ता भी छोड़ दें? वह असुरक्षित होता है, होता रहे; उसमें कलह पनपती है, पनपती रहे?

"आसक्ति मुझे राज्य में नहीं, अपने वंश में है पुत्र! अब यह तो नहीं हो सकता कि मैं अपनी आँखों के सामने अपने पूर्वजों द्वारा संचित इस राज्य को खण्डित, पराजित या अपमानित देखूँ!"

"तो आपको और अर्जित करने की लालसा चाहे न हो, किन्तु पिछले संचित का मोह अवश्य है। उसका त्याग

आप नहीं कर सकते।" कृष्ण मुस्कुराया।

"संचित का त्याग करने के लिए ही तो योग्य पात्र ढूँढ रहा हूँ।" भीष्म बोले, "अब युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक हो जाये; वह अपने स्थान पर स्थिर हो जाये। राज्य को सब ओर से सँभाल ले, तो सोचता हूँ कि मैं भी जा कर वनवास करूँ।"

"उसमें तो बहुत समय लगेगा पितामह!" कृष्ण बोला, "जहाँ तक मैं समझता हूँ, दुर्योधन, युधिष्ठिर को इतनी जल्दी स्थिर नहीं होने देगा।"

"यही तो कठिनाई है।" भीष्म जैसे किसी चिन्ता में पड़ गये, "मैंने इनको क्या नहीं समझाया, कौन-सा प्रयत्न नहीं किया; किन्तु दुर्योधन के मन से पाण्डवों का विरोध नहीं गया।"

"पितामह! क्या आपको नहीं लगता कि जब समीर, पुष्प को अपने कोमल करों से छूता है, तो पुष्प उसे सुगन्ध अर्पित करता है; किन्तु वही समीर जब श्मशान से हो कर निकलता है, तो श्मशान उसे शवों की चरायन्ध ही देता है।" कृष्ण बोला, "दुर्योधन ने आपके प्रेम के समीर को अपनी प्रकृति की दुर्गन्ध ही अर्पित की है।"

"मैं क्या करूँ!" भीष्म का रोष उनके स्वर में मुखरित हुआ, "मैं इनसे इतना प्रेम करता हूँ कि मैं उन्हें साधारण जन के समान दण्डित भी तो नहीं कर सकता।"

कृष्ण मुस्कुराया, "प्रेम में आसक्ति नहीं होती पितामह! आसक्ति से केवल मोह उत्पन्न होता है। जिसके प्रति प्रेम होता है, उसे हम कुमार्ग पर पग नहीं धरने देते; किन्तु मोह तो हमारे हाथ-पाँव ही नहीं, विवेक को भी बाँध देता है। मोह में किसी का हित नहीं है पितामह! न आपका, न दुर्योधन का, न हस्तिनापुर का!"

भीष्म को लगा, कृष्ण शायद ठीक ही कह रहा था—वह धृतराष्ट्र के कारण ही नहीं, कदाचित अपने कारण भी दुर्योधन को कभी रोक नहीं पाये।...किन्तु इस समय उनका मन शायद इस समस्या पर विचार नहीं करना चाहता था—उनके मन में और बहुत सारे प्रसंग और विषय थे, जिनके सम्बन्ध में वह कृष्ण से चर्चा करना चाहते थे...

"मेरी समस्या यह है पुत्र!" भीष्म का मन वर्षों से अपनी गुँजलकों में दमित समस्या को बलात कृष्ण के सम्मुख प्रकट कर देना चाहता था—अवसर नहीं था, तो भी; कृष्ण न सुनना चाहता हो, तो भी!..."कि विचित्रवीर्य के पश्चात जब हस्तिनापुर का राजा चुनने का अवसर आया, तो मैंने यह निर्णय किया कि दृष्टिहीन धृतराष्ट्र, राजा होने के योग्य नहीं है।...."

"आपको अपने निर्णय पर पश्चाताप हो रहा है क्या?"

भीष्म को लगा, कृष्ण उनके मन को, किसी ग्रन्थ के समान पढ़ रहा है।...उन्हें कुछ संकोच हुआ।...उनके मनोग्रन्थ में वह पृष्ठ था अवश्य! किन्तु वे कृष्ण के सामने वह पृष्ठ रखना नहीं चाहते थे। बोले, "कृष्ण! समस्या पश्चाताप की नहीं है। मेरी समस्या सदा द्वन्द्व की रही है पुत्र! मैं आज भी मानता हूँ कि जो मेरा धर्म था, वही मैंने किया। किन्तु, वह विधाता, जाने मेरे साथ कैसी क्रीड़ाएँ करता है पुत्र! पाण्डु जीवित नहीं रहा; और धृतराष्ट्र को राजा न होने पर भी राजा के अधिकार सौंपने पड़े।...और अब इतने वर्षों का धृतराष्ट्र का शासन साक्षी है कि धृतराष्ट्र ने युद्ध चाहे न किये हों; उसकी नीतियाँ चाहे कितनी विवादास्पद रही हों; किन्तु शासन-चक्र थमा नहीं है।...इसका अर्थ यह हुआ कि उसकी अन्धता शासन-कर्म में बाधा नहीं थी; और सिंहासन पर बैठने का अधिकार धृतराष्ट्र का ही था। तो क्या मैंने धृतराष्ट्र के साथ अन्याय किया? यदि वह अन्याय था, तो अब उसका प्रतिकार भी होना चाहिए। धृतराष्ट्र को हस्तिनापुर का वास्तविक राजा माना जाना चाहिए; और उसके पुत्र दुर्योधन को युवराज बनाया जाना चाहिए।..." भीष्म ने कृष्ण की ओर देखा; वह शान्त-भाव से बैठा, पूर्ण तन्मयता से उनकी बात सुन रहा था। न उसमें किसी निर्णय तक पहुँचने की व्यग्रता थी, न वह उनकी बात बीच में काट कर, कुछ कहना या पूछना चाहता था। लगता था, न अतीत उसे उद्वेलित कर रहा था, न वह भविष्य से आशंकित था। वह तो पूर्णतः वर्तमान में जी रहा था।...भीष्म ने अपनी बात आगे बढ़ायी, "दूसरी ओर, प्रजा और राजसभा की वर्तमान स्थिति मेरे सामने है। कुरुओं की राजसभा में पहले जो शालीनता, गम्भीरता, विद्वत्ता और सात्विकता हुआ करती थी—धृतराष्ट्र के राज्य में वह सारी-की-सारी नष्ट हो चुकी है। कणिक और पुरोचन जैसे लोग महत्वपूर्ण हो गये हैं—कौरवों के राज्य के कर्णधार! दुर्योधन, दुःशासन और उसके मित्रों—कर्ण और अश्वत्थामा जैसे लोगों—में सामान्य शील और शिष्टाचार भी नहीं है। फिर धृतराष्ट्र इस धूर्त शकुनि की बातों को महत्व भी बहुत अधिक

देने लगा है। विदुर इस राजसभा में आज तक कैसे टिका है, मुझे इस पर आश्चर्य होता है। लगता है, वह कुरुओं की राजसभा नहीं, दुर्वृत्तों की मण्डली है।...राजसभा की वर्तमान स्थिति यह सिद्ध करती है कि मेरा निर्णय ठीक था। धृतराष्ट्र का शरीर ही नहीं, उसकी आत्मा भी दृष्टिहीन है। प्रजा के हित में तो उसे अस्थायी रूप से भी सिंहासन के निकट नहीं आने देना चाहिए था। वह मेरी ही भूल थी।...इसलिए उस भूल का प्रतिकार होना चाहिए; और पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर को तत्काल हस्तिनापुर का शासन सौंप दिया जाना चाहिए।" भीष्म ने रुक कर कृष्ण की ओर देखा, "तुम मुझे बताओ पुत्र! क्या दृष्टिहीन राजा को प्रजा पर शासन करने का अधिकार है?"

भीष्म को लगा, अपना द्वन्द्व उन्होंने जैसे अपने भीतर से छील-छील कर निकाला है और कृष्ण के सम्मुख डाल दिया है; किन्तु मन के गह्वरों में स्थान-स्थान पर गोह के समान चिपकी हुई शंकाएँ कह रही थीं कि शायद अभी अपनी पूरी बात वह कह नहीं पाये हैं...

"तो अब चिन्ता की क्या बात है; कल तो युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक हो ही रहा है पितामह!" कृष्ण ने कहा, "उसके पश्चात उसे शीघ्रातिशीघ्र हस्तिनापुर के सम्राट का अधिकार सौंप दीजिए।"

"तुम ठीक कह रहे हो।" भीष्म जैसे कृष्ण से नहीं, अपने-आप से ही कह रहे थे, "किन्तु मुझे लगता है कि युधिष्ठिर के युवराज बन जाने के पश्चात भी धृतराष्ट्र उसके लिए सिंहासन ख़ाली नहीं करेगा।" उन्होंने कृष्ण की ओर देखा, "हस्तिनापुर के किसी एक घाट से गंगा के जल में यदि एक भाण्ड दूध का मिल जाये, तो सागर तक का गंगाजल ही उसे आत्मसात नहीं कर लेगा, सम्पूर्ण महासागर के जल में भी वह दूध सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहेगा। वैसे ही इस समय, कुरु राजवंश के जीवन के प्रत्येक स्पन्दन में, परिस्थितियों की जटिलता का यह विष व्याप्त है।..."

"तो इस परिवेश ने पितामह को उद्विग्न कर रखा है?" कृष्ण को मोहिनी जैसे किसी अज्ञात गवाक्ष से भीष्म की चेतना में कूद गयी थी और उसे अधिक-से-अधिक उद्घाटित होने के लिए प्रोत्साहित कर रही थी।

"परिवेश के प्रभाव से मैं सामान्यतः उद्विग्न नहीं होता कृष्ण।" भीष्म बोले, "किन्तु एक ओर कुरुओं के जीवन में घुलता यह विष मुझे आशंकित करता है; और दूसरी ओर मेरा अपना मन अपने कर्म की समीक्षा करता हुआ, मुझसे निरन्तर पूछता रहता है कि मैंने अधर्म तो नहीं किया? तब मेरा धर्म क्या था? और आज क्या है?" भीष्म की दृष्टि कृष्ण पर टिक गयी, "मुझे लगता है कि युवराज्याभिषेक के पश्चात भी राज्याधिकारों को ले कर, हस्तिनापुर में बवण्डर उठने वाला है। सम्भतः उसे मुझे ही थामना पड़े।...किन्तु इस समय तो मैं अपने मन के संशय से लड़ रहा हूँ।"

"युग-युगों का महान योद्धा, अपने मन के संशय को पराजित नहीं कर पा रहा?" कृष्ण ने कहा, "पितामह! आप संशय के स्थान पर आस्था को क्यों अंगीकार नहीं करते?"

"पुत्र! उस आस्था को ही तो खोज रहा हूँ तुममें!"

कृष्ण खिलखिला कर हँस पड़ा, "यह आस्था, आप अपने भीतर ही क्यों नहीं जगाते! अपने प्रति इतना अविश्वास क्यों पितामह?"

"सम्भवतः तुमसे चर्चा कर, मैं अपनी ही आस्था का आह्वान कर रहा हूँ।" भीष्म बोले, "तुम बताओ, शासन करने का अधिकार किसका है—धृतराष्ट्र का? युधिष्ठिर का? अथवा दुर्योधन का?"

कृष्ण गम्भीर हो गया। भीष्म ने आश्चर्य से देखा, कैसे एक क्रीड़ाशील तरुण, क्षण-भर में ही, किसी सिद्ध ऋषि में परिणत हो गया।...उसका वास्तविक रूप कौन-सा है?...

"मैं चिन्तन की इस परिपाटी को ही स्वीकार नहीं करता पितामह! इस समस्या पर, इस रूप में विचार नहीं होना चाहिए कि हस्तिनापुर पर शासन का अधिकार महाराज पाण्डु का था या धृतराष्ट्र का!"

"तो इस समस्या का समाधार कैसे हो पुत्र?"

"मैं तो इस रूप में विचार करता हूँ कि किसको किस पर शासन करने का अधिकार है?" कृष्ण ने कहा, "मेरी चेतना कहती है कि किसी को भी, किसी अन्य पर शासन करने का अधिकार नहीं है।"

"किसी को भी नहीं?" भीष्म चकित थे।

"हाँ पितामह! प्रकृति के सम्मुख हम सब समान हैं। किसी को, किसी पर शासन करने का अधिकार नहीं है।"

भीष्म विस्मयपूर्वक कृष्ण को देखते रहे : क्या कह रहा है यह तरुण! इसका अर्थ हुआ कि राजा कोई होगा ही नहीं। तो फिर राज्य का पालन कौन करेगा? आतताइयों से प्रजा की रक्षा कौन करेगा?

"किन्तु मनुष्य को अपना विकास करना है; उसे अपनी कुप्रवृत्तियों से युद्ध करना है। उसे सद्वृत्तियों का पोषण करना है। इसलिए हमें मात्र स्वशासन का ही अधिकार है।"

"स्वशासन का?"

"हाँ पितामह!" कृष्ण मुस्कुराया, "अधिकार हमें स्वशासन का ही है; यह दूसरी बात है कि हम अपने 'स्व' का कितना विस्तार कर सकते हैं। परिवार का मुखिया अपने परिवार पर शासन करता है, क्योंकि वह पूर्ण परिवार उसके 'स्व' के अन्तर्गत है। वह उनका भी उतना ही भरण-पोषण करता है, जितना कि अपना। उनकी भी उतनी ही रक्षा करता है, जितनी कि अपनी। उनका भी उतना ही हित चाहता है, जितना कि अपना। इसीलिए उसे परिवार पर शासन का अधिकार है। इसी न्याय से गुरु को शिष्य पर शासन करने का अधिकार है। पति-पत्नी को अपनी क्षमताओं और भावनाओं के अनुसार एक-दूसरे पर शासन करने का अधिकार है।...आप अपने 'स्व' का विस्तार एक पूरे नगर, राज्य, देश, समाज, जाति, यहाँ तक कि पूरी सृष्टि तक कर सकते हैं। किन्तु जिससे आप अपने ही समान प्रेम नहीं करते, उस पर शासन करने का आपको कोई अधिकार नहीं है।"

"किन्तु मैं तो अपने आस-पास 'स्व' का संकोच होते ही देख रहा हूँ।" भीष्म बोले, "विस्तार तो कोई कर ही नहीं रहा।"

"आप ठीक कहते हैं पितामह!" कृष्ण ने उत्तर दिया, "वस्तुतः मनुष्य तो है ही सृष्टि-रूप! वह अपना संकोच न करे, तो सृष्टि का कोई कण, उसके 'स्व' से बाहर नहीं है। किन्तु वह अपनी सीमित दृष्टि के कारण स्वयं को पहचानता नहीं और निरन्तर संकुचन की क्रिया में पिसता चलता है। अपने प्रेम का वृत्त संकीर्ण करता है और स्वयं सक्रिय प्रयत्न करके, वह अपने आत्मीय जनों को 'स्व' की परिधि से बाहर धकेलता है, उन्हें पराया बनाता है। सार्वजनिक उद्यान में लगे आम के वृक्ष को वह, अपने संकुचित 'स्व' के कारण अपना नहीं मानता। इसलिए उस वृक्ष को, जो उद्यान में वर्षों तक जीवित रह कर मनुष्य को छाया, हरे पत्ते, मंजरी और रसाल जैसा फल देता रहता, काट कर काष्ठ के एक निष्प्राण खण्ड के रूप में अपना बना कर, वह उसे मात्र चूल्हे का ईंधन बना लेता है। वह समझता है कि उसने कोई बड़ी उपलब्धि की है; वह यह नहीं समझता कि वह स्वयं अपने-आपको तथा सारी मानवता को वंचित कर रहा है। इसे वह अपनी बुद्धिमानी समझता है। पितामह! है न प्रकृति की विडम्बना कि सबसे मूर्ख व्यक्ति स्वयं को सबसे अधिक बुद्धि मान समझता है; और कभी-कभी अन्य लोग भी उसकी बुद्धि को मान्यता देने लगते हैं।" कृष्ण ने रुक कर भीष्म को देखा, "मैं तो कहता हूँ पितामह! जिस व्यक्ति, संगठन, मत, और विचार ने मानवता में दरारें डाली हैं, उनका विभाजन किया है, उसके वर्ग बनाये हैं, उसने मानव की विराटता के प्रति अपराध किया है। मनुष्य को तुच्छ बनाया है; उसके हृदय को संकीर्ण किया है। गंगा जैसी देव-सरिता को उसके जलकणों के आधार पर बाँट देने वाला, गंगा का हितैषी नहीं हो सकता। नन्दन कानन को एक-एक वृक्ष अथवा पौधे के रूप में प्रस्तुत करने वाला, नन्दन कानन का सौन्दर्य तो नहीं बढ़ा सकता न! महान वे ही लोग हैं पितामह! जिन्होंने मानवता के बीच बनायी गयी कृत्रिम दीवारें तोड़ी हैं, उसके मध्य की खाइयाँ पाटी हैं। वे वास्तविक मानव हैं, सृष्टि के तुल्य रूप, प्रकृति के समान विराट!"

और सहसा कृष्ण रुक कर मुस्कुराया, "अपने इस वाचाल बालक को क्षमा कीजिएगा पितामह! प्रणाम करने आया था और...बोलने लगता हूँ तो भूल जाता हूँ कि जिससे यह सब कह रहा हूँ, वे स्वयं हमारे पितामह हैं—सर्वज्ञान सम्पन्न! युग-मेधा के मूर्तिमान पुँज! अन्यथा, वे क्यों अपने कुल को जोड़ रखने के लिए इतना कष्ट झेल रहे होते..." वह उठ खड़ा हुआ, "चलता हूँ। आपकी सुविधा देख कर फिर कभी आऊँगा।"

कृष्ण के संकेत पर बलराम भी उठ खड़ा हुआ। दोनों ने झुक कर भीष्म को प्रणाम किया; और कक्ष से बाहर निकल गये।

बाहर अश्वों की हिनहिनाहट और रथ-चक्रों के घर्घर स्वर से जैसे भीष्म की चेतना लौटी...कृष्ण चला गया था। ...वह उनके सामने ही तो उठा था, उसने कहा भी था कि वह जा रहा है; किन्तु भीष्म मूर्ति सरीखे बैठे रहे, जैसे कृष्ण की इच्छा के बाहर कुछ हो ही नहीं सकता। नहीं तो क्या वे उसे थोड़ी देर और रुकने के लिए न कहते। उसकी बाँह पकड़ कर बैठा न लेते।...

कृष्ण अब कक्ष में नहीं था। भीष्म को लग रहा था कि थोड़ी देर पहले जैसे कक्ष में मलय समीर का झोंका आया था, जो उनके मन, शरीर, प्राण—सबको अपने स्पर्श से नीरोग ही नहीं कर गया, उन सबमें अपनी स्थायी सुगन्ध भी छोड़ गया था।...किन्तु मलय समीर को न तो कोई पकड़ कर ला सकता है, न बाँध कर रख सकता है; और न जाने से रोक ही सकता है। वह तो अपनी इच्छा से ही आता है, अपनी इच्छा-भर ठहरता है, और अपनी इच्छा से चला जाता है...

तभी भीष्म चौंके! उन्होंने कृष्ण से एक प्रश्न किया था। उसका उत्तर उसने नहीं दिया। किन्हीं और बातों में उलझा कर चला गया। विश्व-मानवता की बड़ी-बड़ी बातों में उनका छोटा-सा पारिवारिक प्रश्न खो गया...

किन्तु दूसरे ही क्षण भीष्म को लगा—नहीं! शायद कृष्ण सारा समय उन्हीं के प्रश्न का उत्तर दे रहा था।...हमें केवल स्वशासन का ही अधिकार है। हम जिनसे प्रेम करते हैं, उन्हीं पर शासन का अधिकार है हमको...। धृतराष्ट्र का 'स्व' तो शायद स्वयं अपने-आप तथा अपने पुत्रों तक ही सीमित है। वह दुर्योधन से प्रेम करता है। सम्भवतः अपने अन्य पुत्रों तथा उनके मित्रों से भी प्रेम करता हो। तो उसे उन्हीं पर शासन करने का अधिकार है। किन्तु उन पर तो वह शासन करता ही नहीं; उल्टे वे ही उस पर शासन कर रहे हैं। क्यों? शायद इसलिए कि उसके मन में प्रेम नहीं आसक्ति है। ठीक कहता है कृष्ण कि यह तो मोह है। उस मोहग्रस्त्र धृतराष्ट्र का 'स्व' सीमित ही तो होगा। वह तो अपने भ्रातुष्पुत्रों तक से प्रेम नहीं कर पाया। वह कुरु-राज्य की प्रजा से क्या प्रेम करेगा। वह उन पर शासन करने का प्रयत्न अवश्य कर रहा है और करता रहेगा।...कृष्ण ने ठीक ही कहा है, धृतराष्ट्र जैसे दृष्टिहीन, बुद्धि शून्य लोग, अपने भण्डार में पड़े ईंधन-रूप, काठ के लट्ठे से ही प्रेम कर सकते हैं, उद्यान में हँसते-मुस्कुराते आम्र-वृक्ष से नहीं! प्रेम क्या है, वे नहीं जानते! उनकी बुद्धि कभी मोह से आगे तो बढ़ी ही नहीं।...यदि धृतराष्ट्र हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठा रहा तो यह सारा आम्र-कानन, ईंधन के भण्डार में परिणत हो जायेगा...

ओह! कृष्ण उनके प्रश्न का कितना सटीक उत्तर दे गया था!

21

एकान्त देख कर उद्धव ने कृष्ण से कहा, "मथुरा से गुप्तचर आया है। कुछ अति आवश्यक सूचनाएँ देना चाहता है।"

कृष्ण सावधान हो गया, "क्या समाचार है? तुम्हें कुछ नहीं बताया?"

"नहीं!" उद्धव बोला, "वह केवल तुम्हें ही सूचनाएँ देगा।"

"अच्छी बात है!" कृष्ण कुछ चिन्तनलीन स्वर में बोला, "बलराम भैया कहाँ हैं?"

"वे तो भीम को गदा-युद्ध सिखा रहे हैं। आजकल उनका अधिकांश समय भीम के साथ ही व्यतीत हो रहा है। भीम उनसे मल्ल-युद्ध और गदा-युद्ध, दोनों ही सीख रहा है।"

"दुर्योधन ने प्रयत्न नहीं किया, भैया से गदा-युद्ध सीखने का?"

"नहीं! मुझे भी कुछ आश्चर्य ही हुआ!" उद्धव बोला, "बलराम भैया हस्तिनापुर में आये हों और गदा-प्रेमी दुर्योधन, उनसे कुछ न सीखना चाहे।..."

"उसने स्वयं ही मान लिया होगा कि भीम के मातुल-पुत्र, भीम से द्वेष रखने वाले दुर्योधन को गदा क्यों सिखाएँगे!" कृष्ण रुका, "अर्जुन कहाँ है?"

"युधिष्ठिर और अर्जुन कदाचित विदुर काका से मिलने गये हैं और नकुल-सहदेव राजसभा में समारोह की तैयारी की देख-रेख कर रहे हैं।"

"तो जाओ! बुआ से कह आओ कि हम तनिक घूमने जा रहे हैं।"

जब तक उद्धव, कुन्ती को सूचना दे कर आया, कृष्ण ने बाहुक से रथ तैयार करवा लिया था। बाहुक को विश्राम करने को कह, अश्वों की वल्गा उसने स्वयं अपने हाथ में ले ली थी। उद्धव को देखते ही कृष्ण ने उसे रथ पर आने का संकेत किया।

उद्धव रथारूढ़ नहीं हुआ। वह कृष्ण के बहुत निकट आ कर धीरे से बोला, "वह तुमसे सर्वथा एकान्त में बात करना चाहता है।"

"तो भी तुम आओ!"

उद्धव के रथ में आते ही, कृष्ण ने रथ दौड़ा दिया।

नगर से बाहर निकल, गंगा-तट पर एक निश्चित स्थान पर कृष्ण ने रथ रोका।

"आओ! थोड़ी देर जल-क्रीड़ा करें।"

कृष्ण ने गंगा में छलाँग लगाई और जैसे उद्धव को पछाड़ने के प्रयत्न में तीव्र गति से तैरता हुआ, दूसरे तट पर जा पहुँचा। उसके तट पर पहुँचते ही एक संन्यासी उसके निकट आ कर, जल में हाथ-पाँव धोने लगा।

"क्या समाचार है?" कृष्ण ने पूछा।

"जरासंध का अभियान आरम्भ हो गया है। उसकी सेना छोटी टुकड़ियों में चल पड़ी है। वह मार्ग-भर में अपनी चौकियाँ स्थापित करेगी। अपने मित्र राजाओं को भी उसने युद्ध का निमन्त्रण दिया है। पंचालराज द्रुपद के पास भी उसने दूत भेजा है, जो उनसे मैत्री-संधि की चर्चा के साथ-साथ यह प्रार्थना भी करेगा कि मथुरा की ओर जाती हुई उसकी सेना को पंचालराज अपने राज्य में से निकलने का मार्ग दें और वासुदेव!..."

"बोलो!"

"लगता है कि यह सब ऊपर का आडम्बर मात्र ही है। इस बार उसकी योजना कुछ और है।" संन्यासी बोला, "उसका एक दूत कालयवन राजसभा में भी गया है।..."

कृष्ण के माथे पर चिन्ता की रेखाएँ उभरीं, तो जरासंध बर्बर राक्षसों को अपने व्यूह में सम्मिलित करना चाहता है।...उसने संन्यासी को देखा, "और कुछ?"

"नहीं!"

"तो तुम वापस मथुरा जाओ। ये सूचनाएँ मथुरा में प्रचालित न हों। सब कुछ यथापूर्व ही चलता रहे। यादव अपने युद्धाभ्यास में लगे रहें। मथुरा की सुरक्षा का प्रबन्ध चौकस रहे। युद्धक नौकाएँ तैयार रखी जायें। रथों की प्रतियोगिताएँ होती रहें। अन्न का भण्डार बढ़ाया जाये। गोधन को बहुत दूर न भेजा जाये।..."

तभी उद्धव गंगा से बाहर निकला, "मैं तो बहुत ही पिछड़ गया गोविन्द!"

"तुम मथुरा जाना चाहोगे?" कृष्ण ने पूछा।

उद्धव समझ गया था कि गुप्तचर एकान्त में जो सूचनाएँ देना चाहता था, वह दे चुका था; और अब कदाचित कृष्ण उसे किसी कार्यवश मथुरा भेजना चाहता है।

"कोई आवश्यक कार्य है क्या?" उद्धव बोला, "यदि मैं अकस्मात ही चला गया, तो बुआ क्या सोचेंगी!"

"चलो, मत जाओ।" कृष्ण बोला, "मैंने तो इसलिए पूछा था कि यह महामति मथुरा लौट रहा है; तुम्हें यदि घर की याद आ रही हो, तो तुम भी चले जाओ। न जाना चाहो तो युधिष्ठिर के युवराज्याभिषेक का उत्सव देखो, भीम का गदा-प्रशिक्षण देखो, या विदुर काका से ज्ञान-चर्चा करो।"

उद्धव हँसा! या तो यह कृष्ण का परिहास मात्र था, अथवा उसने अपनी योजना बदल दी थी, या फिर यह महामति के लिए संकेत था कि गम्भीर राजनीतिक वार्तालाप समाप्त हुआ।...उद्धव ने जब-जब सोचा था, उसका आश्चर्य बढ़ता ही गया था : कैसे यह कृष्ण क्षण-भर में स्वयं को एक मनःस्थिति में से निकाल कर, सर्वथा भिन्न या विपरीत मनःस्थिति में डाल लेता है। वह जिस मनःस्थिति में रहना चाहता है, उसी में बना रहता है। कोई भाव, कोई परिस्थिति, कोई सूचना, उस मनःस्थिति में से निकाल नहीं सकती...

"अच्छा महामति!" कृष्ण ने संन्यासी-रूपी गुप्तचर को हाथ जोड़ प्रणाम किया और महामति ने संन्यासी के ही समान, आशीर्वाद की मुद्रा में अपना हाथ उठा दिया।

कृष्ण ने पुनः गंगा में छलाँग लगा दी, "उद्धव! तुम बहुत शिथिल हो रहे हो। लगता है कि आजकल तुम दर्शनशास्त्र अधिक पढ़ रहे हो और जल-क्रीड़ा को बहुत कम समय दे रहे हो। अभी शरीर शिथिल करने का समय नहीं आया है सखा!"

"क्या कोई गम्भीर समाचार आया है?" उद्धव ने पूछा।

"समाचार तो गम्भीर ही होते हैं; किन्तु चिन्ता की कोई बात नहीं है। बस यही ध्यान रखना की युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के पश्चात हम अधिक देर तक हस्तिनापुर में रुक नहीं सकते। यह न हो कि किसी के प्रेम-भरे आग्रह पर तुम यहाँ अधिक रुकने का संकल्प कर लो, या बलराम भैया को भीम के अतिरिक्त भी शिष्य मिल जायें; और वह यहाँ अपना आश्रम ही स्थापित कर लें।" कृष्ण ने उनकी ओर देखा, "बस यह समझ लो कि युधिष्ठिर के युवराज्याभिषेक के तत्काल पश्चात हमारे रथ मथुरा की ओर दौड़ पड़ेंगे, किन्तु न हस्तिनापुर में किसी को आभास हो कि हमें पहुँचने की शीघ्रता है; और न मथुरा की ओर जाने वालों को यह अनुमान हो कि वहाँ पहुँचते ही हमें कार्य में जुट जाना है।"

"पिता जी!" बिना किसी सूचना और भूमिका के दुर्योधन आ कर धृतराष्ट्र के सम्मुख खड़ा हो गया।

धृतराष्ट्र राजसभा में जाने की तैयारी कर रहा था। दासियों ने उसका प्रसाधन कर, वस्त्र पहना, उसे जाने के लिए तैयार कर दिया था। किन्तु उसका अपना मन ही अभी प्रस्तुत नहीं हो पाया था। राजसभा में जाना उसे कभी भी इतना कठिन नहीं लगा था, जितना कि आज लग रहा था।...

उस दिन उसने अक्रूर की योजनाओं-प्रतियोजनाओं में बँध कर, स्वयं ही युधिष्ठिर के युवराजत्व की घोषणा कर दी थी और मान लिया था कि जिन तर्कों में बँध कर, उसने वह घोषणा की थी, वे तर्क जैसे संसार का अन्तिम सत्य थे। वे जैसे उसके अनुमान नहीं थे, विधाता के लेख थे। कई दिनों तक वह बहुत प्रसन्न रहा था कि उसने युधिष्ठिर को उसके ही जाल में बन्दी कर दिया था!...किन्तु जैसे-जैसे अभिषेक का दिन निकट आता गया था, उसका मन, उसके अपने तर्कों और अनुमानों को अमान्य करता गया था, और उसे लगने लगा था कि वह सब यादवों की एक चाल थी, जिसमें वह आकस्मिक रूप से फँस गया था। वैसा कुछ भी नहीं होने जा रहा था, जिसका भय अक्रूर ने दिखाया था। सब कुछ ऐसा

ही रहेगा, जैसा कि है। हस्तिनापुर पर किसी का आक्रमण नहीं होगा। युधिष्ठिर निश्चिन्त हो कर राज्य करेगा, और पाण्डव हस्तिनापुर की इस अथाह सम्पत्ति का भोग करेंगे।...

और आज प्रातः से ही उसे लग रहा था कि वह युधिष्ठिर के मस्तक पर किरीट रखने नहीं जा रहा, वह दुर्योधन के कण्ठ में यम-पाश डालने जा रहा है...

"क्या बात है पुत्र?" धृतराष्ट्र अपने पुत्र के स्वर के आवेश को पहचानता था। वह जानता था कि दुर्योधन के कण्ठ से ऐसा स्वर तभी निकलता है, जब वह कोई अत्यन्त बीहड़ कर्म करने का दृढ़ संकल्प कर चुका होता है।

"रंगशाला में आपने कर्ण का अर्जुन से द्वन्द्व-युद्ध क्यों नहीं होने दिया?"

"उसे मैंने नहीं, कृपाचार्य ने रोका था पुत्र!"

"आप आचार्य की इच्छा के विरुद्ध भी तो अनुमति दे सकते थे।"

"नहीं! यह अनुचित होता!"

"तो फिर आज यह द्वन्द्व-युद्ध हो जाने दीजिए।"

"क्या अभिप्राय है तुम्हारा?"

"पिता जी!" दुर्योधन के स्वर में, श्मशान में विलाप करती प्रेतात्माओं का चीत्कार था, "मैं युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक नहीं देख सकता।"

"तो?"

"तो हमें अनुमति दीजिए कि राजसभा में आने से पूर्व ही हम पाण्डवों पर आक्रमण कर उन्हें समाप्त कर दें।"

धृतराष्ट्र का मन कैसा तो कातर हो रहा था : कैसा था उसके पुत्र का भाग्य! जो अपने शैशव से एक ही खिलौना बार-बार माँग रहा था; और पिता हो कर भी वह अपनी मुट्ठी में बन्द खिलौना अपने पुत्र को दे नहीं पा रहा था। ...कभी-कभी धृतराष्ट्र को लगता था कि उसने अपनी निराशा से कम पीड़ा पायी है; पुत्र के माध्यम से वह अधिक यातना सहता रहा है।...अपनी पीड़ा को तो उसने कभी सहन किया था, कभी उसकी उपेक्षा की थी, कभी उससे संघर्ष किया था, और कभी उसे बहला लिया था...किन्तु दुर्योधन के माध्यम से सही गयी यह पीड़ा, इसलिए भी अधिक कष्टप्रद हो गयी थी; क्योंकि उसे तो बस असहाय हो कर देखा और सहन ही किया जा सकता था। उसे कम करने का कोई प्रयत्न नहीं किया जा सकता था...

"दुर्योधन!" धृतराष्ट्र ने अपनी कातरता से उबर कर अत्यन्त दृढ़ स्वर में कहा, "तुम अपनी ओर से अपने मित्रों की सामूहिक हत्या करवाना चाहते हो?"

"सामूहिक हत्या से क्या अभिप्राय है आपका? हमारे पास शस्त्र नहीं हैं, या हमारी भुजाओं में बल नहीं है? हम, सबके देखते-देखते, उन्हें समाप्त कर देंगे।" दुर्योधन की उत्तेजना का अन्त नहीं था।

"मेरी हार्दिक इच्छा है कि ऐसा हो सकता; किन्तु यह सम्भव नहीं है। कृष्ण, बलराम, युयुधान, सात्यकी, उद्धव...सब तो उनके पक्ष में खड़े हैं। वे सब मिल कर तुम लोगों का वध कर देंगे।...कोई उन्हें दोष भी नहीं दे सकेगा; क्योंकि आक्रमण तुम लोग करोगे। और पुत्र..." धृतराष्ट्र का स्वर कुछ कोमल हुआ, "शत्रु को प्रत्यक्ष मारने से व्यक्ति को यश मिलता है; बन्धुओं का प्रत्यक्ष नाश नहीं किया जाता...।"

"वे हमारे बन्धु नहीं हैं। शत्रु हैं हमारे।"

"संसार उन्हें तुम्हारा बन्धु मानता है; वे मेरे भाई के पुत्र हैं।"

"वे पाण्डु के पुत्र नहीं हैं।" दुर्योधन जैसे विक्षिप्त-सा हो गया था, "वे कुन्ती और माद्री के पुत्र हैं। वे सम्राट विचित्रवीर्य के वंशज नहीं हैं।"

"सावधान!" धृतराष्ट्र अकस्मात इतने आवेश में आ गया कि वह स्वयं ही काँप-काँप गया, "सावधान! ऐसी बात अपनी जिह्वा पर कभी मत लाना...और यदि हो सके तो अपने मन और स्मृति से भी निकाल कर, कहीं दूर फेंक आना!"

दुर्योधन अपनी उस विक्षिप्तावस्था में भी अपने पिता के क्रोध को देख कर स्तब्ध रह गया। उसने ऐसा क्या कह दिया कि पिता की यह स्थिति हो गयी? किन्तु पूछने का उसका साहस नहीं हुआ।

"इस तर्क से चलोगे तो मैं भी विचित्रवीर्य का नहीं, अम्बिका का ही पुत्र हूँ तो तुम भी सम्राट विचित्रवीर्य के वंशज नहीं हो।"

और सहसा दुर्योधन का सारा आवेश लुप्त हो गया। वह अत्यन्त कातर हो उठा। प्रयत्न करने पर भी वह अपने अश्रु रोक नहीं पाया, "मैं क्या करूँ फिर? मैं क्या करूँ?"

धृतराष्ट्र की समझ में नहीं आ रहा था कि वह पहले स्वयं को शान्त करे अथवा पुत्र को सांत्वना दे! वह चुपचाप अपनी दृष्टिहीन आँखों से शून्य को घूरता रहा। और फिर सहसा बोला, "अभी मैं जीवित बैठा हूँ पुत्र! सत्ता मेरे हाथ में है। मैं हस्तिनापुर का राजा हूँ। अभी से निराश हो कर आत्महत्या करने की आवश्यकता नहीं है।..."

"तो फिर पिता जी! मुझे अनुमति दीजिए कि मैं हस्तिनापुर छोड़ कर कहीं चला जाऊँ।" दुर्योधन ने नया प्रस्ताव रखा।

"नहीं!" धृतराष्ट्र का स्वर आदेशात्मक हो गया था, "तुम मेरे साथ राजसभा में चलो; और देखो कि हस्तिनापुर छोड़ कर कौन जाता है!"

दुर्योधन ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह अपने पिता को देखता-का-देखता ही रह गया। उसका यह भीरु और दुर्बल पिता कभी-कभी बहुत दृढ़ भी हो जाया करता था।...

अतिथियों के कारण आज राजसभा में उपस्थिति बहुत अधिक थी। वैसे भी राजनीतिक विचार-विमर्श का वातावरण न हो कर, उत्सवी परिवेश के कारण वह राजसभा से अधिक, कोई समारोह-स्थल प्रतीत हो रही थी।

मुहूर्त देख कर कृपाचार्य की देख-रेख में पुरोहितों ने मन्त्र-पाठ आरम्भ किया। युधिष्ठिर को सिंहासन पर बैठा कर, अनेक नदियों और तीर्थों के जल से उसका अभिषेक किया गया; और स्वयं धृतराष्ट्र ने अपने हाथों से युधिष्ठिर के सिर पर किरीट रखा।

युधिष्ठिर ने गुरुजनों के चरण-स्पर्श कर, उनकी वन्दना की और उनसे आशीर्वाद पा कर अपने स्थान पर जा बैठा।

"युवराज!" विदुर ने उल्लसित हो कर उसे सम्बोधित किया, "राजसभा तथा प्रजा के प्रतिनिधियों के सम्मुख अपनी प्रतिज्ञा प्रकाशित करें, ताकि प्रजा आश्वस्त हो सके।"

युधिष्ठिर ने क्षण-भर के लिए विदुर को देखा और फिर उसकी दृष्टि कृष्ण पर टिक गयी, "मेरा लक्ष्य कुरु शासित प्रदेश में धर्म-राज्य की स्थापना होगा। हमारी नीति होगी—आनृशंसता! हम किसी के भी प्रति नृशंस नहीं होंगे। वर्ण, जाति अथवा वर्ग-भेद के कारण किसी के अधिकार अथवा भावनाओं का निरादर नहीं होगा। मैं प्रत्येक वर्ण तथा वर्ग में से अपने लिये मन्त्रियों की नियुक्ति करूँगा; और उनके प्रत्येक धर्म-सम्मत परामर्श का पूर्ण आदर करूँगा। प्रजा को न्याय, सम्मान, सुख-सुविधा तथा सुरक्षा प्रदान करना मेरा राजनीतिक दायित्व होगा। मेरे राजदण्ड ग्रहण करने पर भी यदि प्रजा को कोई दुख हो, तो मुझे विधाता रौरव का नरक दण्ड दें।"

युधिष्ठिर के मौन होते ही सभा में उसका जय-जयकार गूँजा; और अभी लोगों की हर्ष-ध्वनि शान्त भी नहीं हुई थी कि धृतराष्ट्र ने अपना दायाँ हाथ उठा कर शान्ति का संकेत किया तथा उतावले स्वर में बोला, "युधिष्ठिर को युवराज पद पर नियुक्त करने के साथ ही आज मैं कुछ घोषणाएँ भी करना चाहता हूँ।"

सभा में शान्ति छा गयी।

"राजकुमारों की शस्त्र-शिक्षा पूर्ण हो चुकी; किन्तु मैं यह नहीं समझता कि हस्तिनापुर में आचार्य द्रोण का कार्य सम्पन्न हो गया है। न ही उनकी युद्धशाला की उपयोगिता ही समाप्त हुई है। मेरी इच्छा है कि आचार्य द्रोण की युद्धशाला अब मात्र गुरुकुल अथवा राजकुमारों के शस्त्राभ्यास का ही स्थल न रहे। वह कुरु सेनाओं का प्रशिक्षण तथा संचालन-केन्द्र हो। मैं आचार्य को आज से कुरु सेनाओं और सेनापतियों का संचालन नियुक्त करता हूँ..।"

सबने आश्चर्य से धृतराष्ट्र की ओर देखा : इसका क्या अर्थ? भीष्म, विदुर, वाह्लीक, सोमदत्त...स्वयं द्रोण भी

चकित थे। राजगुरु केवल राजकुमारों के ही प्रशिक्षक हुआ करते थे। स्कन्धावारों के निर्माण का कार्य राजगुरु नहीं, राजपुरुष किया करते थे।...वह आचार्य का महत्व बढ़ाने का प्रयत्न था, अथवा किसी के अधिकार-क्षेत्र को सीमित करने का? अभी तक तो, कुल-वृद्ध होने के नाते, भीष्म ही सेनाओं और सेनापतियों का संचालक करते थे। क्या धृतराष्ट्र अपने एक ही आदेश से द्रोण की शक्ति बढ़ा कर, उन्हें अपने पक्ष में करने; और भीष्म को अपेक्षाकृत निर्बल करने का प्रयत्न कर रहा था; अथवा वह युवराज को ही अधिकारशून्य करना चाहता था?

"यह क्या है कृष्ण?" अर्जुन ने अपना विस्मय प्रकट किया।

"दृष्टिहीन की दूर दृष्टि!" कृष्ण मुस्कुराया, "पुत्र ने तुम लोगों के विरुद्ध कर्ण का बल प्राप्त किया था, पिता उसी रूप में आचार्य का उपयोग करना चाहता है। सम्भवतः आचार्य की निष्ठा क्रय की जा रही है।"

"मुझे प्रसन्नता है कि एक लम्बे अन्तराल के पश्चात हस्तिनापुर में युवराज का अभिषेक हुआ है।" धृतराष्ट्र ने पुनः कहना आरम्भ किया, "आज तक हस्तिनापुर का राजा दृष्टिहीन और असमर्थ था; और युवराज था ही नहीं। इसलिए हम अपने पूर्वजों की कीर्ति पर सन्तोष किये, तेजहीन से बैठे रहे। अब हस्तिनापुर के तेज में वृद्धि होगी, राजकोश की समृद्धि होगी। मुझे पूर्ण विश्वास है कि युवराज युधिष्ठिर अपने पूर्वजों के गौरव में वृद्धि करेंगे। मेरा आशीर्वाद उनके साथ है।"

कृष्ण ने अर्जुन की ओर देखा, "तुम्हारे पितृव्य ने सेना सम्बन्धी अधिकार आचार्य को दे दिये और दायित्व युवराज के स्कन्धों पर डाल दिये।"

"हमारे पितृव्य ऐसे चमत्कार करते ही रहते हैं।" अर्जुन धीरे से बोला।

धृतराष्ट्र राजसिंहासन से उठ कर खड़ा हो गया। वह सभा विसर्जित किये जाने का संकेत था।

"ऋषि कृष्ण द्वैपायन कहीं दिखायी नहीं दिये।" सभागार से बाहर निकलते हुए, उद्धव ने अर्जुन से पूछा, "क्या उन्हें आमन्त्रित नहीं किया गया था?"

"आमन्त्रित तो किया गया था!" अर्जुन ने उत्तर दिया, "किन्तु वह आये नहीं।"

"क्यों? उन्हें युधिष्ठिर के युवराज बनने की प्रसन्नता नहीं हुई या वे राज-परिवार से अपना सम्बन्ध नहीं मानते?"

"नहीं! ऐसा कुछ नहीं है।" सहदेव ने वार्तालाप में सम्मिलित होते हुए कहा, "उन्होंने युवराज को अपना आशीर्वाद भिजवाया है और अपने न आने के विषय में कहलवाया है कि 'साधना के लिए समारोह विघ्न-स्वरूप होते हैं। इस समारोह में मेरी कोई उपयोगिता नहीं है। अतः अपनी साधना का त्याग नहीं कर रहा। जब मेरी आवश्यकता होगी, आ जाऊँगा।' जब संदेशवाहक ने पूछा, 'क्या आपको इस समारोह से प्रसन्नता नहीं हुई?' तो उन्होंने उत्तर दिया, 'उत्सवों और समारोहों की प्रसन्नता राजाओं के लिए होती है, ऋषि की प्रसन्नता तो 'सत्य' की वृद्धि में है।' संदेशवाहक ने पूछा, 'क्या राजकार्य से ऋषि का कोई सम्बन्ध नहीं है?' तो उन्होंने उत्तर दिया, 'ऋषि का सम्बन्ध जन-कार्य से है; राज-कार्य से नहीं। जन-कार्य की अपेक्षा होगी तो ऋषि राजसभा में भी जायेगा और राजप्रासाद में भी; अन्यथा ऋषि का सुख अपने स्थान में ही है।'"

"मैंने सोचा था कि शायद यहाँ उनसे साक्षात्कार हो जाये।" उद्धव के स्वर में अप्राप्ति का भाव था।

"जन-कार्य में लगो," कृष्ण ने कौतुक के साथ कहा, "कहीं-न-कहीं ऋषि से साक्षात्कार हो ही जायेगा!"

"तुम्हारे मातुल मद्रराज शल्य भी दिखायी नहीं दिये!" सात्यकी बोला।

"आमन्त्रित तो उन्हें भी किया गया था!" उत्तर नकुल ने दिया, "किन्तु या तो उन्हें हमसे कोई मोह नहीं है, अथवा वह किसी महत्वपूर्ण कार्य में व्यस्त हैं।"

"वह जरासंध के सैन्य-अभियान में सहायता करने में व्यस्त हैं!" कृष्ण मुस्कुरा रहा था।

भीष्म राजसभा से लौट कर अभी थोड़ा विश्राम भी नहीं कर पाये थे कि द्वारपाल ने युवराज युधिष्ठिर के आने का समाचार दिया।

भीष्म को प्रसन्नता के साथ-साथ आश्चर्य भी हुआ। लगता है कि राजसभा से निकल कर युधिष्ठिर सीधा इधर ही आ गया है।

"आओ वत्स!" उन्होंने उसका स्वागत किया, "बैठो!"

"पितामह!" युधिष्ठिर ने उनके चरणों को स्पर्श किया, "मुझे आशीर्वाद दें, मैं धर्म से कभी पीछे न हटूँ"

"इस पृथ्वी पर तुम्हें छोड़ कर धर्म का दूसरा निवास ही कहाँ मिलेगा पुत्र!" भीष्म बोले, "आशीर्वाद तो बड़ा साधारण शब्द है। आज मेरे रोम-रोम से जैसे कोई सूक्ष्म प्रेरणा निकल-निकल कर तुम्हारी ओर प्रवाहित हो रही है। मेरा हृदय, मेरी आत्मा, मेरा धर्म, मेरी कामनाएँ—सब तुम्हारी ही ओर प्रवृत्त हैं पुत्र! तुम्हें कैसे बताऊँ कि आज मैं कितना प्रसन्न हूँ।" भीष्म की आँखें सजल हो उठीं, "मेरी वर्षों की साध आज पूरी हुई। आज मैं पूर्णकाम हुआ हूँ!..."

पितामह कि गद-गद स्थिति को देख कर युधिष्ठिर कुछ कह नहीं पाया। बस अवाक उन्हें देखता रह गया।

"संसार में अधिकार प्राप्त करना बहुत कठिन है पुत्र!" भीष्म ने स्वयं को सँभाल कर स्वतः ही कहा, "आधिपत्य जमाने वाली शक्तियाँ इतनी अधिक हैं इस संसार में कि चारों ओर केवल अधिग्रहण ही है, अधिकार नहीं! ..."

युधिष्ठिर ने चौंक कर भीष्म की ओर देखा : क्या पितामह आज अपने अतीत पर दृष्टिपात कर रहे हैं?

किन्तु भीष्म ने उसे तनिक भी सोचने नहीं दिया। वे बोले, "तुम्हें आज अपना अधिकार मिला है, यह हस्तिनापुर की प्रजा का सौभाग्य है। किन्तु इसे बनाये रखना कठिन होता है पुत्र! बहुत कठिन!"

"अब क्या कठिनाई है पितामह?" युधिष्ठिर ने एक अत्यन्त अबोध बालक की मुद्रा में पूछा।

"कठिनाई!" एक शब्द कह कर भीष्म जैसे आत्मलीन हो गये; और फिर स्वयं ही सजग हो कर बोले, "आधिपत्य और अधिग्रहण के भाग बाँटने के लिए अनेक स्वार्थी सहायक मिल जाते हैं; किन्तु अधिकार तो सत्य पक्ष का नाम है पुत्र! वह तो धर्म का दूसरा रूप है। उसका प्रयोग अन्याय और अत्याचार के रूप में नहीं होता। इसलिए वह कर्तव्य बन जाता है। समझ रहे हो पुत्र!" उन्होंने युधिष्ठिर की ओर देखा, "तुम्हारा अधिकार असहाय, पीड़ित, दमित तथा शोषित प्रजा का कवच बन जायेगा। तुम्हारा कर्तव्य होगा कि तुम उनकी रक्षा करो, उनका पालन करो।..."

"तो इसमें आप संशय न करें पितामह!" युधिष्ठिर बोला, "आप आशीर्वाद दें कि मेरा अधिकार, मुझे अपने कर्तव्य के रूप में ही स्मरण रहे।"

"मुझे संशय तुम्हारी ओर से नहीं है पुत्र!" भीष्म बोले, "संशय मुझे उन लोगों की ओर से है, जो प्रजा को अपना ग्रास समझ, उसका भक्षण करना चाहते हैं। अधिकार और अधिग्रहण में भयंकर वैर है पुत्र! अधिग्रहण की शक्तियाँ क्यों चाहेंगी कि तुम्हारा अधिकार, उनका मार्ग रोके! वे सब तुम्हारे विरुद्ध संगठित होंगे।"

"तो कठिनाई क्या है पितामह!" युधिष्ठिर बोला, "हम भी संगठित हो सकते हैं।"

"हो सको तो अच्छा।" भीष्म बोले, "किन्तु आज तक देखा यही गया है कि अनधिकार ही संगठित होता है। अधिकार तो सदा ही एकाकी रह जाता है।"

"क्यों पितामह?"

"क्योंकि अधिकारी जानता है कि वह स्वामी नहीं, मात्र रक्षक है। मन के लोभ को नियन्त्रित कर रक्षक तथा पालक बनना बहुत कठिन होता है पुत्र! लोभी मन स्वामी बन जाना चाहता है, ताकि वह प्रजा का भोग कर सके।..."

"मैं प्रयत्न करूँगा पितामह! कि मैं 'अधिकार' का वास्तविक रूप ही ग्रहण करूँ। मैं प्रजा का रक्षक बनूँ। उसकी समृद्धि में अपनी समृद्धि को पहचान प्रजा के सर्वांगीण विकास का मार्ग चुनूँ! प्रजा को वंचित कर, अपनी समृद्धि की अट्टालिका का निर्माण न करूँ।"

"विधाता तुम्हारे शब्दों को कर्म में परिणत करे।" भीष्म ने अपना हाथ, युधिष्ठिर के मस्तक पर रख दिया।

कक्ष से निकल कर युधिष्ठिर बाहर चला गया और भीष्म जैसे आत्मलीन-से खड़े सोचते ही रह गये : क्या उनके शब्द, कृष्ण की बातों की ही प्रतिध्वनि मात्र नहीं थे?...

युधिष्ठिर
कुन्ती
सुयोधन
धृतराष्ट्र
कृपाचार्य
भीम
नकुल
सहदेव
अर्जुन
युयुत्सु
विकर्ण
पाण्डु
गान्धारी
सुशासन
धात्री कलिका (सुशासन की धाय)
विदुर
भीष्म
शकुनि
कौन्तेय
आद्रेय
पाण्डव
विचित्रवीर्य
पाण्डु
पारंसवी
अम्बिका
दुर्वासा
अम्बालिका
सत्यवती
व्यास
भरत
नदुप
ययाति
शान्तनु
चित्रांगद
विचित्रवीर्य
अधिरध
वसुदेव
कर्ण
कृप
कृपी
कणिक
दुर्योधन
चिरन्तन सारथि

दुर्योधन
दुःशासन
शकुनि
कर्ण
विकर्ण
विदुर
चक्रवाल—सुयोधन का रसोइया
युयुत्सु
परशुराम विचित्रवीय
अम्बा
माता गंगा
देवव्रत
आर्यक नाम पृथा
शूरसेन पाण्डु
मारिशा नागराज वासुकि
कुन्तीभोज
शान्तनु
द्रोण
कृपी
कृप
प्रमुदत्त (कृपाचार्य का एक शिष्य)
अश्वत्थामा
द्रुपद
धृष्टद्युम्न
शान्तनु
गौतम शरद्वान
राधा
वसु (वसुषेन-कर्ण)
परशुराम
सान्दीपनि
कणिक (मंत्री)
शकुनि
वसुषेण (कर्ण)
शार्दूल (रसोइया पाण्डवों का)
बघेरा (कुत्ता)
हिरण्यघनु (भिल्लाराज)
एकलव्य
अधिरथ
भार्गव ऋषि
परशुराम
बाह्लीक
सोमदत्त
माद्री

चित्रांगद
भरत
जरासंध
कुन्तीभोज
पाण्डु
शूरसेन
देवापि
धृष्टद्युम्न
शिखण्डी
सत्यजित (द्रुपद का भाई)
ऋषि अग्निवेश
भूरिश्रवा
जरासंध
भीष्मक

महासमर

खण्ड एक

वन्धन

खण्ड दो

अधिकार

खण्ड तीन

कर्म

खण्ड चार

धर्म

खण्ड पाँच

अन्तराल

खण्ड छः

प्रच्छन्न

खण्ड सात

प्रत्यक्ष

खण्ड आठ

निर्बन्ध

वाणी प्रकाशन

नयी दिल्ली-110002

कर्म

महासमर-3

नरेन्द्र कोहली

ISBN 81-7055-229-X

वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : 1991
द्वितीय संस्करण : 1992
तृतीय संस्करण : 1994
चतुर्थ संस्करण : 1996
पंचम संस्करण : 1998
षष्ठ संस्करण : 2000
© लेखकाधीन
शब्द-संयोजक
विनायक कम्प्यूटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032

मेहरा ऑफसेट प्रेस, नयी दिल्ली-110002
द्वारा मुद्रित

मूल्य : 225.00 रुपये

KARMA
(Mahasamar-3)
by Narendra Kohli

1

कुंती और पांडवों के प्रबल आग्रह के बाद भी कृष्ण और उनके साथी, युधिष्ठिर के युवराज्याभिषेक के पश्चात् हस्तिनापुर में नहीं रुके । कृष्ण ने केवल इतना ही बताया कि उन लोगों का मथुरा पहुँचना आवश्यक था । भीम की बहुत इच्छा थी कि बलराम अभी कुछ दिन और रुकते तो भीम का गदा-युद्ध और मल्ल-युद्ध का अभ्यास और आगे बढ़ता । बलराम को इसमें कोई आपत्ति भी नहीं थी । वे मथुरा लौटने के लिए बहुत आतुर भी नहीं दीखते थे; फिर भी कृष्ण के बिना, वे हस्तिनापुर में रुक नहीं सकते थे ।

कृष्ण ने चाहे उन्हें कुछ नहीं बताया था, किंतु यादवों के मथुरा लौट जाने के पश्चात् युधिष्ठिर को भी चारों ओर से अनेक समाचार मिलने लगे थे ।...जरासंध का सैनिक अभियान अब गुप्त नहीं रह गया था । विभिन्न राजसभाओं से राजदूत एक-दूसरे के पास जा रहे थे । पांचालों और यादवों में कोई प्रत्यक्ष संधि तो नहीं हुई थी; किंतु पांचालों ने जरासंध के सैनिक अभियानों में सम्मिलित होने की कोई तत्परता नहीं दिखायी थी । यादवों को वे अपने मित्र ही लग रहे थे । जरासंध ने हस्तिनापुर की राजसभा में भी कोई राजदूत नहीं भेजा था; किंतु यह समाचार प्रायः सबको ही ज्ञात हो गया था कि जरासंध ने काल यवन के साथ किसी प्रकार का कोई समझौता कर लिया था; और संभवतः वे दोनों एक ही समय में विभिन्न दिशाओं से मथुरा पर आक्रमण करने वाले थे । निश्चित रूप से यादवों के लिए यह विकट संकट की घड़ी थी ।

"हमें कृष्ण की सहायता के लिए जाना चाहिए ।" अर्जुन ने कहा ।

"जाना चाहिए का क्या अर्थ ! हमें चल ही पड़ना चाहिए ।" भीम ने उग्र भाव से समर्थन किया, "मथुरा में वे लोग उन राक्षसों की नृशंस सेनाओं से जूझ रहे हों, और हम यहाँ शांति से बैठे रहें !"

"ठीक कहते हो तुम लोग ।" युधिष्ठिर सहमत तो था; किंतु वह मुक्त भाव से कुछ कह नहीं पा रहा था ।

"क्या बात है पुत्र !" कुंती ने युधिष्ठिर के मनोभाव को कुछ-कुछ समझते हुए पूछा, "तुम्हारे मन में उत्साह नहीं है ।"

"भैया के मन में युद्ध के लिए कभी भी उत्साह नहीं होता ।" नकुल ने धीरे से कहा, "वे सदा शांति ही चाहते हैं ।"

"तो यह युद्ध भी तो शांति स्थापित करने के लिए ही है ।" भीम ने उत्तर दिया, "हम इन दुष्टों का विरोध नहीं करेंगे, तो वे लोग संसार में कभी शांति रहने ही नहीं देंगे ।"

"पितृव्य का विचार है कि अब, जब कि जरासंध मथुरा की ओर चल पड़ा है, और कांपिल्य को उसका भय नहीं रह गया है—पांचाल अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए, हस्तिनापुर पर आक्रमण कर सकते हैं इसलिए भीम और अर्जुन को हस्तिनापुर छोड़कर कहीं नहीं जाना चाहिए ।"

"एक तो ऐसा कुछ होगा नहीं।" अर्जुन बोला, "यादवों की सहायता के बिना, पांचाल हस्तिनापुर पर आक्रमण करने का साहस नहीं कर सकते।··· इस समय उन्हें न तो यादवों की सहायता मिल सकती है; और न ही ज्येष्ठ के युवराज बन जाने पर, यादव हस्तिनापुर पर आक्रमण में सहायक होंगे।···आप इतनी-सी बात पितृव्य को समझा नहीं सकते ? और यदि पांचालों ने आक्रमण किया ही, तो हम दो ही तो नहीं होंगे। शेष सब लोग तो हैं। दुर्योधन, कर्ण और अश्वत्थामा को भी वीरता प्रकट करने का अवसर मिल जायेगा।"

"पितृव्य कहते नहीं हैं, किंतु उनके मन में है कि पांचालों से यह शत्रुता, अर्जुन और भीम ने मोल ली है—इसलिए यदि पांचालों का आक्रमण हुआ तो उसका सामना अर्जुन और भीम को ही करना चाहिए। इसलिए वे अर्जुन और भीम को कदाचित् मथुरा जाने की अनुमति न दें।"

"इस शत्रुता के मूल में तो आचार्य द्रोण हैं।" भीम व्यग्र होकर बोला, "वे ही इस समय सेनाओं और सेनापतियों के संचालक भी हैं—वे क्यों पांचालों से हस्तिनापुर की रक्षा नहीं करेंगे ?"

"वे सेनाओं के प्रशिक्षक और संचालक हैं। वे ब्राह्मण हैं, गुरु हैं। वे युद्ध करने नहीं जायेंगे।"

भीम कुछ प्रचंड हुआ, "दुर्योधन नहीं लड़ेगा, दुःशासन नहीं लड़ेगा, कर्ण नहीं लड़ेगा, अश्वत्थामा नहीं लड़ेगा, आचार्य नहीं लड़ेंगे, तो युद्ध कौन करेगा—केवल भीम और अर्जुन ?"

"हाँ," युधिष्ठिर शांत भाव से बोला, "वे यह जता देना चाहते हैं कि युधिष्ठिर युवराज है, हस्तिनापुर का भावी राजा है। हस्तिनापुर उसका है। इसलिए उसकी रक्षा युधिष्ठिर और उसके भाई ही करें। अन्य लोग क्यों हस्तिनापुर के लिए अपने प्राण दें ?"

"ठीक है। अन्य लोग हस्तिनापुर की रक्षा के लिए प्राण न दें।" भीम बोला, "किंतु जो लोग प्राण नहीं दे सकते, उनका पालन-पोषण हस्तिनापुर के राजकोश से क्यों हो ? उनके विलास के साधन हस्तिनापुर क्यों उपलब्ध कराये ?"

"इसका अर्थ केवल इतना है कि वे जरासंध के विरुद्ध यादवों की तनिक भी सहायता नहीं करना चाहते।" कुंती बोली, "वे समझते हैं कि मथुरा में यादव जितने शक्तिशाली होंगे—हस्तिनापुर में पांडव भी उतने ही प्रबल होंगे; इसलिए पांडव को दुर्बल करने का एक मार्ग यह भी है कि मथुरा के यादवों की शक्ति नष्ट होने दी जाये।" कुंती ने रुककर अपने पुत्रों को देखा, "तुम्हारे पितृव्य ने युधिष्ठिर को युवराज चाहे बना दिया हो, किंतु तुम्हारे प्रति विरोध और द्वेष वे अब भी त्याग नहीं पाये हैं।"

"ठीक है। उनके मन में जो आये, करते रहें, हम तो मथुरा जायेंगे।" भीम ने अपना निश्चय सुना दिया, "यदि वे रोक सकते हों, तो रोक लें।"

"नहीं भीम ! यह उचित नहीं है।" युधिष्ठिर की आँखों में पूर्ण निषेध था, "यदि तुमने ऐसा किया, तो राजवंश की मर्यादा भंग हो जायेगी और स्वेच्छाचारिता का मार्ग खुल जायेगा। राजा की आज्ञा का उल्लंघन हमें नहीं करना है। यदि आज हम वर्तमान राजा की आज्ञा का उल्लंघन करेंगे, तो मैं राजा बनकर किसी को आज्ञापालन के लिए कैसे कह सकूँगा ?"

"तो क्या हम उनकी सारी अनुचित और धर्मशून्य आज्ञाओं का पालन करते रहेंगे ?"

"जब तक हम उन्हें अपना राजा मानते हैं, तब तक आज्ञा के औचित्य पर विचार करने

का अधिकार हमें नहीं है," युधिष्ठिर बहुत कोमल स्वर में बोला, "वस्तुतः मर्यादा को भंग करना तो तनिक भी कठिन नहीं है; कठिन है मर्यादा का निर्वाह करना। मर्यादा के निर्माण में वर्षों लगते हैं, और भंग करने में क्षण भी नहीं लगता।"

"तो कृष्ण वहाँ अपने प्राणों पर खेलता रहे और हम यहाँ बैठे पितृव्य की अनुमति की प्रतीक्षा करते रहें ?" भीम किसी भी प्रकार सहमत नहीं हो पा रहा था।

"नहीं ! हम बैठे क्यों रहेंगे ? हम अपनी मर्यादा के भीतर ही कोई अन्य मार्ग खोजेंगे। विधान के निर्माता, अपने बनाये विधान का उल्लंघन नहीं कर सकते। हम अपनी प्रतिज्ञा भंग नहीं करेंगे, वचन का उल्लंघन नहीं करेंगे, मर्यादा का खंडन नहीं करेंगे। धर्म- विरोधी आचरण हम नहीं करेंगे। हम कोई- न- कोई मार्ग खोजेंगे ही।" युधिष्ठिर ने निष्ठापूर्ण दृढ़ता के साथ कहा।

राजसभा में आज दुर्योधन और उसके भाई कुछ अधिक ही उत्साह के साथ आये थे। उनके चेहरे उल्लसित थे; अन्यथा जब से युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक हुआ था, विकर्ण और युयुत्सु के सिवाय, दुर्योधन के शेष भाई या तो राजसभा में आते ही नहीं थे, या फिर निरुत्साहित- से, सिर झुकाये बैठे रहते थे, आज दुर्योधन के साथ कर्ण और अश्वत्थामा भी थे। धृतराष्ट्र के निकट शकुनि तथा मंत्री कणिक बैठे थे।

सभा में शांति हो गयी तो धृतराष्ट्र ने बात आरंभ की, "पांडु की मृत्यु के पश्चात् से मैं दृष्टिहीन और असमर्थ व्यक्ति हस्तिनापुर का राजा बना। मेरा कोई युवराज भी नहीं था। राजकुमार बालक थे और शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। परिणाम यह हुआ कि हस्तिनापुर का तेज शमित ही रहा। तब से आज तक एक बार भी हस्तिनापुर की सेना किसी दिशा में धन- ग्रहण के लिए नहीं गयी। अब युधिष्ठिर हमारे युवराज हैं। अपने अभिषेक के पश्चात् प्रत्येक राजा और राजकुमार अपने शौर्य की प्रतिष्ठा के लिए, सैनिक अभियान करता है। मैं चाहता हूँ कि युवराज युधिष्ठिर की प्रतिष्ठा के साथ- साथ, हस्तिनापुर का तेज भी पुनर्स्थापित हो। इसलिए रंगशाला में स्वयं को सर्वश्रेष्ठ योद्धा सिद्ध करने वाले अर्जुन और भीम, युवराज युधिष्ठिर का ध्वज लेकर, अपने भाइयों, नकुल और सहदेव के साथ दिग्विजय के लिए जायें और पराजित राजाओं से धन का संग्रह कर, हस्तिनापुर का रिक्त राजकोश परिपूरित करें।"

दुर्योधन की आँखें खुली- की- खुली रह गयीं : आज पिताजी ने अपना वचन पूरा कर दिया था। उन्होंने न केवल पाँचों भाइयों को अलग कर दिया था; चार को तो व्यावहारिक रूप से देश- बहिष्कृत ही कर दिया था। अब जायें ये, वनों और मरुभूमियों का आनंद लें। युद्ध करें। मरें, खपें। अपने लिए अधिक- से- अधिक शत्रु उत्पन्न करें।" दुर्योधन का मन हुआ, जोर का एक अट्टहास करे; और उच्च स्वर में कहे—लो ! भोग लो हस्तिनापुर का राज्य !

"महाराज !" युधिष्ठिर उठकर खड़ा हो गया।

"बोलो युवराज !"

"मैं जानता हूँ कि क्षत्रिय- कर्म मूलतः शस्त्र- कर्म ही है। यह भी जानता हूँ कि राजाओं के लिए दुष्ट- दलन तथा आत्मरक्षा के लिए युद्ध करना अनिवार्य हो जाता है। आपद्धर्म के रूप में शस्त्र- कर्म और युद्ध से मेरा विरोध भी नहीं है। किंतु महाराज ! अनावश्यक हिंसा तो

हमारा धर्म नहीं है। और मैंने तो युवराज की प्रतिज्ञा के रूप में आनृशंसता का संकल्प किया है।...”

“तों तुम चाहते हो कि अर्जुन और भीम सैनिक अभियान पर न जायें ?” धृतराष्ट्र के स्वर में जिज्ञासा से अधिक उपालंभ और रोष था।

“मैं उसे नीति-विरुद्ध समझता हूँ।” युधिष्ठिर ने कहा, “उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। अनावश्यक हिंसा तो पाप है महाराज ! हस्तिनापुर के राजकोश को समृद्ध करने के लिए और अनेक साधन हो सकते हैं। राजा यदि कृषक को अधिक सुविधा दे, तो कृषक के साथ राज्य भी संपन्न होता है। राजा देश में शांति और न्याय की स्थापना करे तो उद्योग विकसित होते हैं। राज्य में अच्छे मार्ग हों और उनपर यात्री सुरक्षित यात्रा कर सकें तो व्यापार की वृद्धि होती है महाराज ! जिस राज्य में उद्योग तथा व्यापार विकसित होगा, वह राज्य तो स्वयं ही समृद्ध तथा संपन्न हो जायेगा।...सैनिक अभियान आरंभ करना और अन्य न्यायी तथा शत्रुभाव न रखने वाले राजाओं का धन छीनकर ले आना धर्म नहीं, दस्युवृत्ति है तात !”

धृतराष्ट्र का स्वर अकस्मात् ही कोमल हो गया, “युवराज ने यह बात विचारकर नहीं कही। तुम्हारे पूर्वज आज तक अपना सम्मान बढ़ाने के लिए, अपनी प्रतिज्ञाएँ पूर्ण करने के लिए, स्वयं को समृद्ध करने के लिए, बल-प्रयोग ही करते आये हैं पुत्र ! क्या वे पाप ही करते रहे हैं ? हस्तिनापुर के युवराज क्या अपने पूर्वजों का यही सम्मान करते हैं ?”

युधिष्ठिर को जैसे तत्काल कोई उत्तर नहीं सूझा। क्षणभर सिर झुकाये चिंतन करता रहा और फिर बोला, “महाराज ! मैं अपने पूर्वजों के प्रति अनादर की बात सोच भी नहीं सकता। उनके द्वारा बल-प्रयोग के अपने कारण और अपने तर्क रहे होंगे। किंतु महाराज ! अपने पूर्वजों का पूर्ण आदर और सम्मान करते हुए भी, कोई पीढ़ी उनका अनुकरण नहीं करती। युग और परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ हमारा चिंतन और व्यवहार भी बदलता है। वर्तमान परिस्थितियों में मुझे इस सैनिक-अभियान का कोई औचित्य दिखायी नहीं पड़ता।”

“तो क्या युवराज राजाज्ञा का विरोध कर रहे हैं ?” धृतराष्ट्र ने सायास कोमल स्वर में पूछा।

“नहीं महाराज !” युधिष्ठिर ने तत्काल उत्तर दिया, “मैं तो मात्र विचार कर रहा हूँ। विचार के पश्चात् भी महाराज को यदि अपनी आज्ञा में परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव न हो, तो राजाज्ञा का पालन किया जायेगा।”

“तो युवराज चाहते हैं कि हम पूर्वजों का अनुकरण न करें और अपना व्यवहार बदलें ?”

“हाँ, महाराज !”

“तो युवराज अपने भाइयों के साथ पंचालराज द्रुपद पर आक्रमण करने क्यों गये थे? क्या उस आक्रमण को उचित ठहराने के लिए युवराज के पास कोई तर्क है ?”

युधिष्ठिर की मुद्रा से लगा कि शायद तर्क तो उसके पास है, किंतु वह उसे वाणी देना नहीं चाहता।

“बोलो युवराज !” धृतराष्ट्र ने कहा, “वह अभियान तो तुम्हारे ही ध्वज के अधीन हुआ था। तुम्हारी अनुमति और सहयोग से हुआ था।”

“महाराज ठीक कहते हैं।” युधिष्ठिर बोला, “किंतु इस विषय में अपने विचार, मैं सार्वजनिक रूप से प्रकट न करना चाहूँ तो ?”

"क्यों ? क्या सत्यवादी युधिष्ठिर इस गोपनीयता की आड़ में सत्य को छिपाने का प्रयत्न कर रहा है ?" धृतराष्ट्र की वाणी मधुर और कोमल थी, किंतु उसके शब्दों की ध्वनि अत्यंत विषैली थी ।

"नहीं ! सत्य को छिपाने का प्रयत्न मैं नहीं कर रहा ।" युधिष्ठिर के शब्दों में तेज झलका, "मुझे भय है कि मेरे मत को कहीं गुरुजनों के प्रति अनादर न मान लिया जाये ।"

"अनादर की बात नहीं है । यह तो विचार-विमर्श है और विचार-विमर्श में मत-भेद होगा ही ! मत-भेद में आदर और अनादर का प्रश्न नहीं है ।" धृतराष्ट्र बोला, "यदि आदर-अनादर के प्रसंग के छद्म में युवराज अपना स्वतंत्र मत प्रकट नहीं करेंगे, तो राजकाज में हानि होगी ।"

युधिष्ठिर के युवराजत्व के निर्णय के दिन से ही भीष्म एक प्रकार के हल्के सुखद विश्राम का-सा अनुभव कर रहे थे । उनकी स्थिति उस पथिक की-सी हो गयी थी, जो गंतव्य खोजते-खोजते, इतना चल चुका हो कि उसे लगने लगा हो कि शायद उसे गंतव्य कभी नहीं मिलेगा । किंतु, अब उन्हें गंतव्य मिल गया था । हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर उसका अधिकारी और योग्य व्यक्ति आसीन होगा—यह निश्चय हो गया था । युधिष्ठिर, सम्राट पांडु का भी ज्येष्ठ पुत्र था, और कुरु राजकुमारों में भी सबसे बड़ा था । वह सर्वश्रेष्ठ योद्धा न सही, अच्छा योद्धा था और उसकी रक्षा के लिए उसके वीर और समर्थ भाई उसके साथ थे । यदि दुर्योधन किसी दिन अपनी दुर्गति छोड़कर युधिष्ठिर से सहयोग करने लगे तो कुरु-वंश और हस्तिनापुर का राज्य—दोनों ही पूर्णतः सुरक्षित हो जायेंगे…

जिस क्षण भीष्म को तनिक भी आभास होता था कि वे अपना दायित्व पूरा कर चुके हैं; और अब वे मुक्त हो सकते हैं—उन्हें गंगातट की अपनी कुटिया पुकारने लगती थी…

किंतु जो कुछ अब उनके सामने घटित हो रहा था—यह उन्हें बहुत शुभ नहीं लग रहा था । राजा और युवराज का न इस प्रकार मतभेद होना चाहिए और न ही राजा को अपने युवराज के साथ इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए—जैसे कोई न्यायाधिकारी किसी अपराधी के साथ करता है । यदि राजा और युवराज ही राज्य की नीतियों पर सहमत नहीं होंगे, तो शेष मंत्रियों और राज्याधिकारियों का क्या होगा ?

और यह युवराज भी कैसा है ? यह युद्ध का विरोध कर रहा है । भीष्म को सोच-सोचकर भी शायद ही कोई ऐसा क्षत्रिय स्मरण आये, जो युद्ध के लिए व्यग्र न हो, अथवा युद्ध को अच्छा न समझता हो; अथवा हिंसा को पाप कहता हो ।…पर युधिष्ठिर तो आरंभ से ही ऐसा है । वह सत्य, न्याय, समता और आनृशंसता की बात करता है । वस्तुतः वह धर्म पर चलना चाहता है । धर्म का मार्ग उसे सत्य की ओर ले जाता है । सत्य के लिए न्याय आवश्यक है । न्याय के लिए समता चाहिए । समता के लिए आनृशंसता । दूसरे पक्ष को भी उतना ही अधिकार देना पड़ेगा, जितना हम अपने लिए चाहते हैं ।…और यदि युधिष्ठिर आरंभ से ही ऐसा न होता, तो अब तक पांडवों और धार्तराष्ट्रों में कदाचित् युद्ध हो चुका होता । यह तो युधिष्ठिर की ही सहनशीलता है…

धृतराष्ट्र सचमुच ही युधिष्ठिर पर अनावश्यक दबाव डाल रहा था । दबाव नहीं—कदाचित्

वह उसे घेर रहा था। इस प्रकार घेर रहा था कि निरीह से निरीह जंतु भी अपनी रक्षा के लिए आक्रमण करने को बाध्य हो जाये"'किंतु धृतराष्ट्र को रोका कैसे जा सकता है - वह राजसभा में अपने युवराज से विचार-विमर्श कर रहा है"

"युवराज ने अपना मत नहीं बताया !" धृतराष्ट्र ने पुनः कहा।

"यदि महाराज का इतना ही आग्रह है, तो मैं अपना मत अवश्य प्रस्तुत करूँगा; किंतु, कृपया, इसे नीति का भेद ही माना जाये, गुरुजनों के प्रति अनादर नहीं।"

धृतराष्ट्र ने कुछ नहीं कहा, केवल अपनी दृष्टिहीन आँखें उसकी ओर उठाये प्रतीक्षा करता रहा, जैसे भूमिका-स्वरूप युधिष्ठिर जो कुछ कह रहा था, उसका कोई अर्थ ही न हो।

"पंचालराज पर मेरे ध्वज के अधीन किया गया आक्रमण न मेरी इच्छा से हुआ और न मैं उसे उचित ही समझता हूँ।"

"तो फिर क्यों किया गया आक्रमण ?" धृतराष्ट्र के स्वर में हल्की उत्तेजना थी।

"गुरु-दक्षिणा चुकाने के लिए।" युधिष्ठिर स्थिर स्वर में बोला, "गुरु-दक्षिणा, याचना नहीं होती कि उसके औचित्य-अनौचित्य पर विचार किया जाये। वह आदेश होता है, जिसका केवल पालन किया जा सकता है। उसके औचित्य-अनौचित्य पर विचार करना गुरु का कार्य है, शिष्य का नहीं ! उसका दायित्व गुरु का है, शिष्य का नहीं। मैं गुरु-द्रोही नहीं हूँ, इसलिए गुरु-दक्षिणार्थ किये गये, उस अभियान में असहयोग नहीं कर सकता था।"

युधिष्ठिर ने अत्यंत भीरु दृष्टि से भीष्म की ओर देखा : वे सिर झुकाये, आत्मलीन से कुछ सोच रहे थे। फिर उसकी दृष्टि आचार्य की ओर गयी—वे भाव-शून्य, स्तब्ध-से बैठे थे। निश्चित रूप से उनके लिए युधिष्ठिर का कथन अत्यधिक अनपेक्षित था।"

"और मैं पूछ सकता हूँ कि युवराज उस अभियान को उचित क्यों नहीं समझते ?" धृतराष्ट्र के स्वर में पूर्णतः अमित्र भाव था।

"क्योंकि उस अभियान के मूल में धर्म नहीं, प्रतिहिंसा थी; और प्रतिहिंसा का जन्म नृशंसता से होता है।"

धृतराष्ट्र भी क्षण भर के लिए अवाक् रह गया; किंतु उसने स्वयं को तत्काल सँभाल लिया, "क्या आचार्य को अपने अपमान का प्रतिशोध लेने का अधिकार नहीं था ?"

"मैं अपने गुरु के आचरण का विश्लेषण इस रूप में नहीं करना चाहता।"

"जब युवराज ने इस प्रतिहिंसा को नृशंसता बताया है, तो उसका कारण बताने में संकोच क्यों ?" धृतराष्ट्र अधिक-से-अधिक क्रूर होता जा रहा था, "तुम अपने गुरु के आचरण का विश्लेषण तो कर चुके वत्स ! उसपर अपनी टिप्पणी भी कर चुके ! अब यदि तुम उसका कारण नहीं बताओगे तो अपने गुरु पर निराधार दोषारोपण के अपराधी नहीं कहलाओगे क्या ?"

युधिष्ठिर को लगा : सत्य ही वह इतना आगे बढ़ आया था कि अब पीछे लौटना संभव नहीं था।

"ब्राह्मण को क्षमाशील होना चाहिए। दोष को क्षमा करने से न उस दोष का विस्तार होता है, न उसका वंश आगे चलता है।" युधिष्ठिर ने कहा, "किंतु प्रतिशोध और प्रतिहिंसा की भावना, प्रतिक्रिया की अंतहीन शृंखला को जन्म देती है। प्रतिशोध के इस सफल अभियान से

प्रतिहिंसा समाप्त नहीं हुई है महाराज ! उसने कौरवों और पांचालों की अमैत्री को शत्रुता में परिणत कर दिया है। आचार्य ब्राह्मण होकर भी पंचालराज को क्षमा नहीं कर सके, तो पंचालराज क्या अपने इस भयंकर अपमान, पराजय तथा आधे राज्य की हानि को भूल जायेंगे ?"

युधिष्ठिर ने रुककर धृतराष्ट्र को देखा, "और महाराज ! इतना बड़ा प्रतिशोध लेने से पूर्व, हमें यह भी विचार करना चाहिए कि उस अपमान का स्वरूप क्या था ? क्या वह सचमुच अपमान था भी ? क्या हम पंचालराज के उस नीति- वाक्य को आचार्य का अपमान मान भी सकते हैं ? क्या आज तक किसी ऋषि और राजा में मैत्री हुई है ? क्या ऋषि कृष्ण द्वैपायन व्यास और हस्तिनापुर के किसी सम्राट में कभी मित्रता हुई है ? जो संबंध राजाओं और ऋषियों में हैं, उन्हें सौहार्द, पूजा- भाव, श्रद्धा, स्नेह इत्यादि के अंतर्गत रखा जायेगा अथवा मैत्री के अंतर्गत ?…और यदि किसी कारणवश कोई हमें अपना मित्र नहीं मानता तो हम उसे अपना अपमान समझ, उसका प्रतिशोध लेंगे ?"

"नहीं ! यह बात नहीं है ।" अकस्मात् ही अश्वत्थामा उठकर खड़ा हो गया, "आश्रम के दिनों में वे मित्र थे ।"

"ठीक है ! किंतु क्या जीवन में संबंध सदा स्थिर ही रहते हैं ? वे बनते- बिगड़ते नहीं ? उनमें उतार- चढ़ाव नहीं आता, या उनमें सघनता- विरलता नहीं होती ?"

"बात संबंधों की नहीं है ।" इस बार दुर्योधन बोला, "द्रुपद ने आश्रम के दिनों में आचार्य को यह वचन दिया था कि पंचाल का राज्य जितना उसका होगा, उतना ही आचार्य का भी होगा ।"

"द्रुपद तब एक बालक थे; हस्तिनापुर में तो आचार्य का स्वागत करते हुए पितामह तथा स्वयं महाराज ने कहा था कि कौरवों का जो कुछ भी है, वह सब उनका है ।" युधिष्ठिर बोला, "अब आज यदि आचार्य चाहेंगे, तो क्या महाराज कौरवों का सारा राज्य, आचार्य को सौंप स्वयं वनवास के लिए चले जायेंगे ?"

युधिष्ठिर ने जैसे अपनी विजयिनी दृष्टि धृतराष्ट्र पर डाली : किंतु इस बार न तो धृतराष्ट्र ने ही कुछ कहा, और न अश्वत्थामा अथवा दुर्योधन ने ही ।

क्षणभर के इस मौन का लाभ उठाया विदुर ने । वह तत्काल बोला, "महाराज ! हम यहाँ आचार्य के आचरण का विश्लेषण कर, उसपर कोई टिप्पणी करने नहीं बैठे हैं । हमारे सामने समस्या अपने दिग्विजय के आह्वान की है । मैं समझता हूँ कि युवराज की इतनी बात से तो हम सहमत हो ही सकते हैं कि इस समय जब हमारे चारों ओर विभिन्न शक्तियों की सेनाएँ प्रयास करती दिखायी पड़ रही हैं, दिग्विजय के इस अभियान में अपनी शक्ति का ह्रास करना अनावश्यक होगा ।"

"दिग्विजय से शक्ति का ह्रास नहीं, विकास होता है ।" धृतराष्ट्र बोला ।

"युद्ध से सेनाएँ थकती हैं महाराज ! आंशिक रूप से नष्ट भी होती हैं ।" विदुर बोला, "और सबसे बड़ी बात यह है कि प्रत्येक सैनिक- अभियान के पीछे कोई कारण भी होना चाहिए, ऐसा कारण जो नीति- सिद्ध भी हो । अकारण युद्ध कभी भी लाभदायक नहीं होता; और यह तो कोई कारण हो ही नहीं सकता कि किसी राज्य में युवराज्याभिषेक अथवा राज्याभिषेक हो तो वह सैनिक अभियान भी करे ही ।"

धृतराष्ट्र मौन ही रहा : स्पष्टतः उसे युधिष्ठिर और विदुर का परामर्श मान्य नहीं था ।

वह मौन था; किंतु शांत नहीं था। उसके मन में जैसे कोई बार-बार उसे धक्के मार-मारकर कह रहा था : 'स्वयं को बहुत बुद्धिमान समझता था न तू ? देख लिया अपनी बुद्धिमानी का परिणाम ! अक्रूर की बातों में आकर तूने युधिष्ठिर को युवराज बना दिया; और हस्तिनापुर पर न जरासंध का आक्रमण हुआ, न द्रुपद का ! युधिष्ठिर आज युवराज बना बैठा है और कैसे राजा की इच्छा का प्रत्याख्यान करता जा रहा है ! कल वह राजा बन जायेगा, तब किसी की सुनेगा वह ?···सोचा था कि उसके भाइयों को दिग्विजय के लिए भेज दूँगा। जैसे पांडु हस्तिनापुर से बाहर-ही-बाहर भटकता फिरा था, वैसे ही ये भी लड़ते-मरते रहेंगे—किंतु युधिष्ठिर यह भी नहीं होने दे रहा। और यह सब आनृशंसता के नाम पर···'

सहसा धृतराष्ट्र के मन में एक विचार आया, "विदुर ! मुझे सूचना दी गयी है कि सौवीर का राजा हमारे प्रति अनादर का प्रदर्शन कर रहा है। उसने पिछले कर भी नहीं चुकाये हैं और वह गंधर्वो से निरंतर युद्ध कर विजयी होने के कारण, स्वयं को बहुत शक्तिशाली भी समझने लगा है। क्या हम उसे भी इस उद्दंडता का कोई दंड नहीं दे सकते ?"

विदुर समझ गया कि धृतराष्ट्र युद्ध के बिना नहीं मानेगा; जाने आज कैसी रक्त-पिपासा उसके मस्तक पर आरूढ़ थी।

"इतना तो सत्य है महाराज !" विदुर बोला, "कि उसने हमारे परामर्शो की अवहेलना की है। आप चाहें तो उसके सम्मुख हम अपना शक्ति-प्रदर्शन कर सकते हैं। बहुत संभव है कि वहाँ युद्ध का अवसर ही न आये।"

"तो ठीक है। युधिष्ठिर ! क्या तुम इस पर भी सहमत नहीं हो ?" धृतराष्ट्र ने पूछा; और पुनः जोड़ा, "युवराज ! क्या तुम भी महाराज का अनादर नहीं कर रहे हो ?"

युधिष्ठिर ने तत्काल विनीत भाव से हाथ जोड़ दिये, "अपने पितृव्य तथा हस्तिनापुर के महाराज का अनादर कर, मैं पाप का भागी नहीं होना चाहता महाराज ! मैं तो केवल नीति-विचार कर रहा था। यदि आपकी इच्छा है तो सौवीर के अभियान पर सेना भेज दें।"

"तो ठीक है !" धृतराष्ट्र ने कहा, "एक सप्ताह के भीतर सेना प्रयाण करे। सेना का मुख्य नायक अर्जुन हो। भीम, नकुल और सहदेव उसकी सहायता करें। प्रयत्न यही हो कि सौवीर-नरेश से अधिक-से-अधिक कर प्राप्त किया जाये, ताकि हस्तिनापुर समृद्ध भी हो और सौवीर-नरेश का अहंकार भी भंग हो।"

किसी ने कुछ नहीं कहा। धृतराष्ट्र ने सभा समाप्त होने का संकेत कर दिया।

आचार्य द्रोण राजसभा से चले तो उनके मन में अनेक दुश्चिंताएँ उथल-पुथल मचाये हुए थीं। जाने क्यों उनका मन बार-बार जैसे स्वतः ही कुरुओं और पांचालों की राजसभाओं को समानता के धरातल पर जोड़ रहा था···उस दिन पंचालराज द्रुपद ने कह दिया कि उनमें मित्रता नहीं हो सकती; और आज युधिष्ठिर ने स्पष्ट कह दिया कि वे मात्र एक राजकर्मचारी हैं, और राजकर्मचारी के कृत्यों पर घटना के पहले भी विचार किया जा सकता है और घटना के पश्चात् भी। गुरु-दक्षिणा के विरुद्ध वह कुछ नहीं बोला; किंतु द्रोण की नीति उसके मनोनुकूल नहीं है। द्रुपद और द्रोण के विवाद में उसकी सारी सहानुभूति द्रुपद के पक्ष में है। द्रोण के व्यवहार को वह अनुचित मानता है।···कल वह हस्तिनापुर का राजा होगा। द्रुपद से उसका कोई विरोध नहीं

है। द्रुपद से अहिछत्र का छीना जाना वह अन्याय मानता है। यदि द्रुपद ने अहिछत्र वापस लेने के लिए आक्रमण किया तो अहिछत्र की रक्षा द्रोण को अपने बल पर ही करनी होगी; हस्तिनापुर की सेनाएँ, उनकी ओर से नहीं लड़ेंगी। अपने जिन शिष्यों पर उन्हें इतना भरोसा है—वे सारे शिष्य तटस्थ भाव से एक ओर खड़े हो जायेंगे; क्योंकि गुरु- दक्षिणा में तो मात्र द्रुपद को पराजित कर बाँध लाने की ही आकांक्षा उन्होंने की थी। अहिछत्र की रक्षा को गुरु- दक्षिणा से तो नहीं जोड़ा जा सकता।...

द्रोण को लगा, उनकी आँखों के सामने एक बार फिर जैसे कोई भ्रमजाल हट रहा है: वे व्यर्थ ही स्वयं को बहुत सुरक्षित समझ रहे थे। वे समझ रहे थे कि हस्तिनापुर उनका अपना घर है, कुरुवंश जैसे उनका अनुचर और अनुयायी है। उनकी इच्छा यहाँ आदेश के रूप में स्वीकार की जायेगी। धृतराष्ट्र ने जिस समय उन्हें कुरु- सेनाओं का संचालक नियुक्त किया था, उस समय वे स्वयं को बहुत शक्तिशाली समझने लगे थे। सम्राटों से भी अधिक शक्तिशाली!...किंतु यदि राजा बनने के पश्चात् युधिष्ठिर उन्हें उनके पद से हटा देना चाहे तो? निश्चित रूप से उसे, उनकी नीतियाँ रुचिकर नहीं होंगी! वह उन्हें कह सकता है कि 'आचार्य! आपने हम लोगों को प्रशिक्षित कर दिया; और हमने आपकी गुरु- दक्षिणा चुका दी। अब आप हस्तिनापुर से विदा हों और अपनी कुटिया को पधारें।' यदि उसने बहुत सारी संपत्ति दे भी दी तो क्या?...उन्हें निराश्रित पाकर, द्रुपद आक्रमण करेगा। वह अपना राज्य भी लौटा लेगा; और उनका वैभव भी नष्ट कर देगा।...और द्रोण की स्थिति फिर वही हो जायेगी, जो पहले थी। एक गाय भी नहीं होगी उनके पास! वह अश्वत्थामा, जो आज किरीट धारण किये, रथों में घूमता- फिरता है, गोरस के अभाव में आटा घोल- घोलकर पियेगा।...

उन्हें लगा कि उनका मन भय के कारण कहीं भीतर दूर तक काँप गया है। वह किसी भयभीत बालक के समान आश्रय और सुरक्षा के लिए इधर- उधर देख रहा है।...द्रोण को लगा कि अपनी सारी धनुर्विद्या और युद्ध- शास्त्र के ज्ञान के कारण, वे अच्छे प्रशिक्षक, गुरु, परामर्शदाता और कदाचित् सेना की सहायता से, राजाज्ञा के संरक्षण में अच्छे सेनापति भी हो सकते हैं; किंतु अपने गुरु भगवान परशुराम के समान, वे अपने बल पर राजाओं और उनकी सेनाओं से युद्ध करने की बात नहीं सोचते।...एक अनाम- सा भय है उनके भीतर...आत्मविश्वास का अभाव।...नहीं! शायद यह भी नहीं। उन्होंने शस्त्र तो देखे हैं, वास्तविक युद्ध नहीं देखे। बाण छूटते तो देखे हैं, मनुष्य का रक्त बहते नहीं देखा। उनका सैद्धांतिक ज्ञान अभी व्यवहार में परिणत नहीं हो पाया...

तो क्या करें द्रोण?

अब वे आश्रम में लौटकर कुटीर में नहीं रह सकते। अब वे साधना नहीं करना चाहते, जीवन का भोग करना चाहते हैं। साधना और तपस्या किसलिए करता है कोई? विद्या और ज्ञान का धन कोई किसलिए संचित करता है? इसीलिए तो कि वह अपनी साधना, तपस्या और ज्ञान से अपने जीवन को अधिक सुख- सुविधापूर्ण बना सके। सुखों को भोग सके।...बहुत हो चुकी तपस्या और साधना। बहुत हो चुका ज्ञान का संचय।...अब द्रोण वापस तपोभूमि में स्वयं और अपने परिवार को तपाने के लिए नहीं जायेंगे।...वे यहीं रहेंगे, यहीं रहने का प्रयत्न करेंगे।...और वे युधिष्ठिर पर तनिक भी विश्वास नहीं करेंगे। वह उनका शिष्य होकर भी राजा ही रहेगा। राजा होकर, वह गुरु का पक्ष नहीं लेगा। वह नीति और न्याय की बात करेगा।...इसलिए यदि द्रोण

को हस्तिनापुर में रहना है, तो युधिष्ठिर को यहाँ का राजा नहीं होना चाहिए। यदि अर्जुन का राज्याभिषेक हो जाये, तो कदाचित् द्रोण के लिए कोई संकट नहीं रहेगा।''अर्जुन जैसी गुरु-भक्ति किसी में नहीं है।''किंतु तत्काल ही उनका मन ठिठक गया''अर्जुन भी तो युधिष्ठिर का ही भाई है। युधिष्ठिर के रहते वह सिंहासनारूढ़ क्यों होगा; और फिर कौन जानता है कि राजा होकर, वह भी युधिष्ठिर के ही समान, न्याय और नीति की बात नहीं करेगा?''

हस्तिनापुर का राजा तो केवल उसे होना चाहिए, जो राजा होकर भी न्याय और नीति की बात न करे''जो द्रोण के विषय में उचित और अनुचित का विवेचन न करे''पर राजा होकर कोई ऐसा क्यों करेगा?''

और सहसा द्रोण का ध्यान दुर्योधन की ओर चला गया''वह भी तो कब से हस्तिनापुर का राजा बनने का प्रयास कर रहा है''यदि कहीं वह राजा बन जाये, तो न्याय और नीति, उचित और अनुचित, धर्म और अधर्म की बात नहीं करेगा''। जो अधर्म से सिंहासनारूढ़ होगा, वह धर्म की बात क्यों करेगा?''कैसा संयोग है कि अश्वत्थामा ने पहले दिन से ही युधिष्ठिर के स्थान पर दुर्योधन को ही चुना है। उसने बार-बार यह संकेत किया है कि उनका भविष्य पांडवों के साथ नहीं, दुर्योधन के साथ ही है।'' किंतु स्वयं उन्होंने ही कभी इस ओर ध्यान नहीं दिया। आज युधिष्ठिर के व्यवहार ने बलात् उन्हें यह सब सोचने को बाध्य कर दिया है।''

तो क्या वे दुर्योधन का साथ दें? क्या वे युधिष्ठिर को सत्ता से हटाने का प्रयत्न करें?''किंतु युधिष्ठिर को हटाने का प्रयत्न''राजद्रोह''विप्लव''षड्यंत्र''राजनीतिक सत्ता की खींचतान'' कहीं ऐसा न हो कि वे इस क्षेत्र के लिए अनभ्यस्त अपने मस्तिष्क और हाथों से कुछ करने जायें और उन्हें असफलता ही हाथ लगे।'' बंदी हों, देश-निष्कासित हों अथवा धन-संपत्ति से वंचित हों''उससे तो अच्छा है कि वे इन दोनों के संघर्ष में तटस्थ रहें''

और उनका मन सहसा जैसे कोई समाधान पा गया: वस्तुतः उन्हें तटस्थ ही रहना चाहिए''किंतु दुर्योधन को यह मालूम हो जाना चाहिए कि वे तटस्थ हैं''वे पांडवों के पक्ष में नहीं हैं''‘पांडवों के पक्ष में?’ उनके मन ने पूछा। ‘नहीं!’, जैसे उन्होंने अपने मन के प्रश्न का उत्तर दिया, ‘युधिष्ठिर के पक्ष में नहीं हैं।’'' अर्जुन के प्रति अपने मोह को शायद वे दमित न कर पायें''किंतु युधिष्ठिर के प्रति उनके मन में कोई मोह नहीं है''

वे अश्वत्थामा के सम्मुख अपनी मनःस्थिति स्वीकार कर लेंगे, तो दुर्योधन स्वयं ही जान जायेगा।''

2

हस्तिनापुर के लिए यह स्थिति सर्वथा नयी थी। इससे पहले कभी ऐसा नहीं हुआ था। घटना का आरंभ बहुत साधारण था। द्यूतगृह में दो व्यक्ति किसी विवाद के कारण परस्पर झगड़ पड़े थे। पहले उन्होंने एक-दूसरे पर मिथ्या कथन और प्रवंचना के आरोप लगाये। फिर अपशब्द कहे गये, और अंततः उनमें हाथापाई हो गयी। हाथापाई में उनके साथ उनके समर्थक भी सम्मिलित हो गये। मारपीट हुई। द्यूतगृह में बहुत सारी वस्तुएँ टूटीं। लोगों के सिर

फूटे।...फिर जाने क्या हुआ कि वे लोग बाहर हाट में निकल आये और उन्होंने दो-तीन दुकानें लूट लीं। सारा हाट बंद हो गया और नगर में एक प्रकार का त्रास फैल गया।

राजसभा में इस घटना पर विचार हुआ तो वे व्यापारी भी अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिए उपस्थित हुए, जिनकी दुकानें लूट ली गयी थीं। उनकी माँग तो इतनी ही थी कि उनके धन की सुरक्षा में नगरपाल असमर्थ रहा है। इसलिए राज्य की ओर से उनकी क्षतिपूर्ति की जानी चाहिए तथा उनकी और उनके धन की रक्षा की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए। किंतु नगर-श्रेष्ठि इतने से भी संतुष्ट नहीं था। उसका कहना था कि इस घटना से नगर भर के व्यापारियों पर बहुत ही आतंककारी प्रभाव पड़ा है। अतः व्यापारियों का विश्वास लौटा लाने के लिए आवश्यक है कि इस घटना के लिए दोषी लोगों को सार्वजनिक रूप से कठोर दंड दिया जाये और हाट में इतने राजकीय सैनिक नियुक्त हों कि यदि फिर कभी ऐसी घटना की पुनरावृत्ति की संभावना हो तो वे लोग प्रभावकारी ढंग से उसे रोक सकें।

धृतराष्ट्र ने व्यापारियों को आश्वासन देकर विदा कर दिया; और बोला, "यह क्या हो रहा है युवराज! मुझे तो व्यापारियों के सम्मुख इस प्रसंग में चर्चा करने में भी संकोच हो रहा था।"

"यह तो होना ही था महाराज!" युधिष्ठिर बोला, "आज नहीं होता, तो कल होता। जब कारण उपस्थित हों, तो उसका कार्य अपने-आप उपस्थित हो जायेगा।"

"क्यों होना था?" धृतराष्ट्र उच्च स्वर में बोला, "हस्तिनापुर में ऐसा कभी नहीं हुआ। यह मैं विचित्र बात सुन रहा हूँ कि स्वयं कुरुओं का युवराज कह रहा है कि ऐसा तो होना ही था।"

"महाराज! नगरपाल को इसके लिए दंडित किया जाये।" दुर्योधन बोला, "जो प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता, वह नगरपाल किस काम का!"

"नहीं महाराज!" युधिष्ठिर ने विरोध किया, "जिन परिस्थितियों में ऐसी घटनाएँ होती हैं, उन परिस्थितियों को उत्पन्न करने वाली नीतियों का निर्धारण, नगरपाल नहीं करता। इसलिए हमें व्यापारियों का विश्वास लौटाने के लिए नगरपाल को यह आदेश तो देना चाहिए कि जिन्होंने यह झगड़ा किया है और जो लूटपाट में सम्मिलित हुए हैं, उन्हें बंदी बनाकर राजसभा में उपस्थित किया जाये; और नीति-निर्धारण के लिए उत्तरदायी लोगों को बताया जाये कि उनकी नीतियाँ प्रजा के हित में नहीं हैं, इसलिए नीतियों में परिवर्तन किया जाये।"

"महाराज!" दुर्योधन पुनः बोला, "मैं युवराज का तर्क समझ नहीं पा रहा। यदि वे यह मानते हैं कि नीति के दोष के कारण यह दुर्घटना हुई है, तो महाराज! नीति-निर्धारण तो राजसभा और आप करते हैं। क्या युवराज, राजसभा और महाराज को दोषी ठहरा रहे हैं? क्या वे चाहते हैं कि नगरपाल को अपराधी न मानकर, महाराज को अपराधी माना जाये?"

"नहीं महाराज! युवराज के कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं है।" विदुर पहली बार विवाद में सम्मिलित हुआ, "युवराज का अभिप्राय तो मात्र इतना है कि राजसभा तथा सम्राट् द्वारा निर्धारित नीति के पालन के लिए नगरपाल दोषी नहीं है। सम्राट् ने नीतियाँ प्रजा के हित के लिए बनायी थीं, इसलिए सम्राट् के दोषी होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वे तो केवल इतना ही कह रहे हैं कि नीतियों के परिणाम यदि मनोनुकूल न हों तो नीतियों में परिवर्तन करना चाहिए।"

"और मारपीट करने वाले दुर्वृत्तों तथा लूटपाट करने वाले पापियों को कोई दंड न दें ?", धृतराष्ट्र ने पूछा ।

"उन्हें अवश्य दंडित किया जाये महाराज !" युधिष्ठिर बोला, "और यदि नगरपाल उन्हें बंदी न करे, तो नगरपाल को भी दोषी माना जाये ।"

"यदि ऐसी दुर्घटनाओं के लिए महाराज की नीतियाँ दोषी हैं तो दुकान लूटने वाला वह दुर्वृत्त कैसे दोषी है ?" दुर्योधन बोला, "यदि इन दुर्घटनाओं का कारण राज्य की नीति है, तो फिर किसी को भी दंडित नहीं किया जाना चाहिए । किंतु मुझे भय है कि आज यदि स्वयं युवराज, राजा की नीतियों को दोषी ठहराने लगेंगे, तो कल हस्तिनापुर की प्रजा, हस्तिनापुर के पथों और वीथियों में अपने राजा को दोषी ठहराती फिरेगी । क्या युवराज राजद्रोह का सूत्रपात कर रहे हैं ? अथवा अपने कुलवृद्धों का अपमान करने का प्रयत्न कर रहे हैं ?"

विदुर को लगा कि इससे पहले कि दुर्योधन के मित्र उसकी बातों के समर्थन में उठ खड़े हों और बात का बतंगड़ बनाकर युधिष्ठिर की उचित बात को भी अनुचित ठहराकर, उसे ही दोषी प्रमाणित करने की ओर बढ़ें, उसे विवाद का सूत्र अपने हाथ में ले लेना चाहिए ।

"महाराज !" विदुर ने कहा, "मेरा विचार है कि युवराज को, अपने कथन को स्वयं ही स्पष्ट करने का अवसर दिया जाये । राजकुमार दुर्योधन उसकी व्याख्या करेंगे, तो संभवतः बीच में व्यक्तिगत मतभेद आने लगेंगे और उचित कथन का भी अनुचित अर्थ निकलने लगेगा । वैसे इतना मैं अवश्य कहना चाहूँगा कि अपनी नीतियों का प्रजा पर प्रभाव देखकर उन पर पुनर्विचार करना प्रत्येक बुद्धिमान, न्यायप्रिय तथा प्रजावत्सल राजा का धर्म है ।..."

"तो युवराज ही स्पष्ट करें ।" धृतराष्ट्र ने विदुर की बात बीच में ही काट दी ।

"महाराज ! मैं इस घटना को कई धरातलों पर देखता हूँ ।" युधिष्ठिर बोला, "पहला धरातल तो हाट का ही है । जो सूचनाएँ मुझे मिली हैं, उनके अनुसार वे दोनों व्यक्ति मदिरापान करने के पश्चात् द्यूतक्रीड़ा में संलग्न हुए थे । मदिरापान तथा द्यूतक्रीड़ा का राज्य की ओर से निषेध नहीं है; किंतु शांति- भंग का निषेध है । इसलिए उन लोगों को बंदी कर उपयुक्त दंड दिया जाना चाहिए; ताकि पुनः वे ऐसा अपराध करने का साहस न करें तथा अन्य लोग भी शिक्षा प्राप्त करें ।...दूसरी ओर वे व्यापारी हैं, जिनकी दुकानें लुटी हैं । उनकी क्षतिपूर्ति राज्य की ओर से हो, क्योंकि राज्य उनकी रक्षा के लिए उनसे कर लेता है । कर लेकर राज्य उनकी रक्षा करने में असफल रहा है, इसलिए राज्य को यह दोष, अपने ऊपर लेना ही होगा । तीसरे, नगरपाल और उसकी व्यवस्था को भी देखना होगा । जिस समय यह घटना घटित हो रही थी, उस समय नगरपाल के सैनिक, प्रहरी तथा दंडधर कहाँ थे ? उन्होंने झगड़ा आरंभ होते ही उसे क्यों नहीं रोका ? हाट में लूटपाट के समय वे क्यों अनुपस्थित थे ? उन्होंने लूटपाट को क्यों नहीं रोका ? और अंत में उन सारे अपराधियों को बंदी क्यों नहीं बनाया गया ?...हमें राज्य की नीति पर भी पुनर्विचार करना चाहिए । द्यूतगृह और मदिरालय राज्य की अनुमति से चल रहे हैं । हम यह जानते हैं कि ये प्रजा के लिए आकर्षण के स्थल हैं; और हम यह भी जानते हैं कि मदिरापान के पश्चात् मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है, अतः उसकी दुर्बुद्धि उससे अनेक अनर्थ कराती है । द्यूत उसमें लोभ जगाता है । लोभ से उसका विवेक पंगु हो जाता है । ऐसे में जो व्यक्ति मदिरापान कर द्यूतक्रीड़ा में संलग्न होगा—वह अपनी सद्वृत्तियों को नष्ट कर हीन वृत्तियों का क्रीड़ा- कंदुक बना हुआ होगा । अतः ऐसी दुर्घटनाओं की संभावना बढ़ जाती है । इसलिए उचित यही है कि

राज्य द्यूतगृह और मदिरालय खोलने की अनुमति न दे। न ये स्थान होंगे, न प्रजाजन का विवेक नष्ट होगा, न लोभ जागेगा, न दुर्घटनाएँ होंगी।"

युधिष्ठिर के चुप होते ही दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण, अश्वत्थामा, कणिक तथा पुरोचन उठकर खड़े ही नहीं हो गये, वे लोग एक साथ ही अपनी-अपनी बात कह भी रहे थे।

धृतराष्ट्र को लगा कि कुछ असाधारण घटित हुआ है; और फिर अनेक स्वरों से वह समझ गया कि कई लोग एक साथ बोलना चाहते हैं। उसने धीरे से आदेश दिया, "विदुर ! इनसे एक-एक कर बोलने के लिए कहो।"

विदुर के कुछ कहने से पूर्व ही वे लोग जैसे अपने किसी मौन समझौते के अंतर्गत एक-एक कर बैठ गये और अकेला कणिक खड़ा रह गया, "महाराज ! युवराज की बात सुनकर यह तो स्पष्ट हो ही गया है कि वे महान् नीतिज्ञ एवं प्रजावत्सल शासक हैं। किंतु महाराज ! युवराज ने कदाचित् यह नहीं सोचा कि मदिरालय और द्यूतगृह राज्य की आय के कितने बड़े स्रोत हैं। युवराज चाहते हैं कि मदिरालय और द्यूतगृह बंद कर दिये जायें, ताकि राज्य की आय का एक बड़ा स्रोत सूख जाये। मेरा यह आरोप है महाराज कि सत्ता-अधिग्रहण की दौड़ में आगे निकल जाने के लिए युधिष्ठिर लोकप्रिय नीतियों की घोषणाएँ कर रहे हैं, जो सम्राट्, साम्राज्य तक स्वयं कुरुवंश की विरोधी हैं...।"

"महाराज !" विदुर बीच में ही बोला, "कृपया ध्यान दें कि यह द्यूत-संगठन अपने स्वार्थ के लिए महाराज के कानों में विष उँडेल रहा है। महाराज और युवराज में स्थायी मतभेद उत्पन्न कर रहा है।..."

"यही तो मैं भी कहना चाहता हूँ।" दुर्योधन उठकर खड़ा हो गया, "युवराज यदि इस प्रकार सम्राट् का विरोध करेंगे तो सत्ता के इन दो अधीशों के इस मतभेद के कारण राज्य-कार्य सुचारु रूप से नहीं चल पायेगा।..."

विदुर अवाक्-सा दुर्योधन को देखता रह गया; किंतु धृतराष्ट्र ने न तो विदुर की टिप्पणी पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त की, न दुर्योधन की !

और कणिक ने इस प्रकार पुनः बोलना आरंभ किया, जैसे किसी और ने कुछ कहा ही न हो, "यदि राजकोश में धन ही नहीं आयेगा, तो राजा, प्रजा के प्रति अपना वात्सल्य कैसे प्रदर्शित करेगा ? दूसरी बात यह है महाराज, कि ये प्रजा के मनोरंजन के स्थल हैं। उनका निषेध, प्रजा के मनोरंजन का निषेध है। यदि हम प्रजा के उचित मनोरंजन का प्रबंध नहीं करेंगे, तो प्रजा ऊबकर या तो द्रोह करेगी या राज्य द्वारा अनियंत्रित मनोरंजन के साधन ढूँढ़ लेगी; अथवा उसकी ऊर्जा किन्हीं विध्वंसकारी गतिविधियों में लगेगी। या फिर यह भी संभव है कि वे लोग अपने घरों में गुप्त रूप से मदिरा का उत्पादन करें, उसका व्यवसाय करें। ऐसे में मदिरा तो बनेगी ही, प्रजाजन उसका सेवन भी करेंगे। अंतर यह ही होगा कि राज्य को उसका कर नहीं मिलेगा और मदिरा के उत्पादन पर राज्य का नियंत्रण न होने के कारण, मदिरा अधिक बनेगी और निकृष्ट कोटि की बनेगी। प्रजा उसका सेवन कर रोगी होगी। क्या युवराज चाहेंगे कि मदिरा के उत्पादन के कारण राज्य को जो कर मिलता है, वह न मिले; और राज्य द्वारा नियंत्रित कुछ मदिरालयों के स्थान पर घर-घर मदिरालय खुल जायें ? क्या युवराज चाहेंगे कि लोग उत्तम मदिरा पीकर अपना मनोरंजन करने के स्थान पर घरों में निर्मित निकृष्ट मदिरा पीकर रोगी बन अपने प्राण गँवाएँ ?" उसने रुककर धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर और भीम पर दृष्टि डाली, "यदि

युवराज की नीति अपनायी गयी तो द्यूतगृहों के विषय में भी यही सत्य होगा। अभी तो हाट में कुछ गिने-गिनाये द्यूतगृह हैं, उनके बंद होने पर घर-घर में द्यूत-क्रीड़ा होगी। उनसे कर प्राप्त करना राज्य के लिए संभव नहीं होगा। उनकी सुरक्षा-व्यवस्था राज्य कर नहीं पायेगा। कलह होगी, झगड़े होंगे, उत्पात होगा। और फिर कौन कह सकता है कि वेश्यावृत्ति भी प्रोत्साहित नहीं होगी! महाराज! युवराज यह भूल जाते हैं कि जब राजप्रासाद बनाये जाते हैं तो उसमें कूड़ा फेंकने का स्थान भी बनाना ही पड़ता है। यदि वह स्थान नहीं बनाया जायेगा, तो सारे घर में कूड़ा फैल जायेगा।" कणिक क्षणभर रुका और पुनः बोला, "और यदि यह सब जानकर भी युवराज राज्य और राजवंश के लिए समस्याओं का पर्वत खड़ा करना चाहते हैं, तो उन्हें कौन रोक सकता है! किंतु वे स्मरण रखें कि आज जो कठिनाइयाँ वे वर्तमान महाराज के लिए खड़ी करना चाहते हैं, वे कल उनके सम्मुख भी आयेंगी, क्योंकि कल वे राज्य के स्वामी होंगे।"

अपने चेहरे पर एक धूर्त विजयिनी मुस्कान लिये कणिक अपने स्थान पर बैठ गया।

धृतराष्ट्र ने अपनी अंधी आँखें युधिष्ठिर की दिशा में घुमायीं।

विदुर कोई कठोर बात कहने की तैयारी में था। उसे कणिक के तर्क बुरे नहीं लगे थे किंतु उसका अभिप्राय जैसे काल-भुजंग के समान विदुर के सारे शरीर में अग्नि फैला गया था।...

तभी युधिष्ठिर बोला, "मैंने मंत्री कणिक के विचार सुने हैं महाराज! उनके तर्कों की अवहेलना नहीं की जा सकती। किंतु तर्क तो सदा ही पक्ष और विपक्ष दोनों ओर होते हैं। हमें प्रजा के साथ न्याय करना है तो हमें सत्य को देखना होगा, तर्क को नहीं। न्याय-भावना, सहानुभूति तथा विवेक से हीन तर्क-बुद्धि बहुत उपद्रवी होती है महाराज! मंत्री कणिक के तर्क भी वैसे ही हैं। उनकी मूल धारणा है कि मदिरा और द्यूत मानव-जीवन की अनिवार्यताएँ हैं। जब इस दूषित धारणा पर विकृत बुद्धि द्वारा तर्क का भवन खड़ा किया जायेगा, तो परिणाम कणिक-नीति ही होगी।" युधिष्ठिर ने रुककर जैसे प्रतिक्रिया जानने के लिए सबकी ओर देखा, "मैं यह जानता हूँ कि इस समय हस्तिनापुर में ही नहीं, प्रायः सारे जंबूद्वीप में मदिरा और द्यूत, मनोरंजन के प्रमुखतम साधन हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि क्षत्रियों ने ही इन्हें सबसे अधिक प्रश्रय दे रखा है। राजवंशों में भी इसका बहुत प्रचलन है। वे भी इनके बिना नहीं रह सकते हैं। यदि कोई क्षत्रिय द्यूतक्रीड़ा में सम्मिलित न होना चाहे तो उसे उसी प्रकार कायर, भीरु और कापुरुष समझा जाता है, जिस प्रकार युद्ध में सम्मिलित होने के अनिच्छुक क्षत्रिय को। किंतु क्षत्रिय को वीर होना चाहिए, हिंस्र नहीं। उसे मनोरंजन करना चाहिए, मन की उदात्त वृत्तियों का भंजन नहीं। हमारे समाज ने ये कुछ कृत्रिम लक्षण क्षत्रियत्व के साथ जोड़ दिये हैं और मान लिया है कि जो द्यूतक्रीड़ा में सम्मिलित नहीं होता, मदिरा का सेवन नहीं करता, वह क्षत्रिय ही नहीं है।..."

"युवराज क्षत्रियत्व की परिभाषा न करें।" दुर्योधन ने उसे टोका, "स्वयं को राज्य की नीति-निर्धारण तक ही सीमित रखें।"

"ठीक है।" युधिष्ठिर अपनी बात की ओर लौटा, "मैं यही कह रहा था कि राज्य, मानव-कल्याण के लिए नीतियाँ बनाये तो मनुष्य को मनुष्य मानकर ही बनाये, उसे पशु मानकर नहीं। यदि हम दूषित वस्तुओं पर प्रतिबंध लगायेंगे और मनुष्य की सद्वृत्तियों को प्रेरित करेंगे, तो कोई कारण नहीं है कि मानव-मन का उचित विकास न हो।" युधिष्ठिर की दृष्टि जाकर

भीष्म पर टिक गयी। भीष्म मुग्ध से हुए, उसकी ओर देख रहे थे। वह पुनः बोला, "राजा, प्रजा पर इसलिए कर लगाता है कि वह उस धन को प्रजा के कल्याण में लगाये, इसलिए नहीं कि उससे राजा, राजवंश अथवा राजकोश समृद्ध हों। यह धन यदि हम अपनी प्रजा को दुष्प्रेरित कर प्राप्त करते हैं, तो न इससे प्रजा का कल्याण है, न राज्य का और न राजा का। आर्य कणिक ने कदाचित् इस ओर ध्यान नहीं दिया कि राजा न तो स्वार्थांध व्यापारी है और न दस्यु—जो अपनी समृद्धि के लिए प्रजा के हितों की उपेक्षा करे। धनोपार्जन भी धर्म के माध्यम से ही होना चाहिए। धर्म से शून्य धन केवल पाप को ही प्रोत्साहित करता है। जो पदार्थ हमारी प्रजा के मन और आत्मा के लिए घातक है, उसका व्यापार कर हमने अपने लिए एक बड़ी राशि प्राप्त कर भी ली, तो अंततः वह लाभदायक नहीं है। केवल धनोपार्जन की दृष्टि से सोचा जायेगा, तो हमें दस्युओं को भी आमंत्रित करना पड़ेगा कि आओ, प्रजा को लूटो और अपनी लूट का एक-चौथाई राज्य को कर-रूप में दे दो। क्या हम चाहेंगे कि हमारे राज्य की यह स्थिति हो जाये ?…"

"किंतु युवराज यह नहीं बता रहे कि राज्य की आय की यह हानि किस प्रकार पूरी करेंगे ?" पुरोचन ने युधिष्ठिर की बात काटकर कहा।

विदुर ने देखा : सामान्यतः राजा और युवराज की बात काटने का साहस कोई नहीं करता, किंतु आज दुर्योधन के मित्रों को इसमें तनिक भी संकोच नहीं है। क्या इसलिए कि राजा उन्हें रोकते नहीं अथवा इसलिए कि आज युधिष्ठिर के भाई इस सभा में नहीं हैं और युधिष्ठिर अकेला पड़ गया है ?

किंतु अकेला पड़ जाने पर भी युधिष्ठिर हत्प्रभ नहीं हुआ था। वह अपने पूर्ण तेज के साथ बोला, "राज्य की आय इसलिए होती है कि उससे प्रजा का कल्याण हो सके। यदि प्रजा का अकल्याण कर राज्य की आय बढ़ती है, तो उससे अच्छा है कि राज्य की आय न बढ़े। दूसरी बात यह है कि राजसभा ने जब भी विचार किया होगा, यही विचार किया होगा कि मदिरालयों और द्यूतगृहों से कितनी आय है। यह विचार कभी नहीं किया होगा कि उस कर को प्राप्त करने के लिए नियुक्त किये गये राजकर्मचारियों पर कितना व्यय हो रहा है। उस सारे व्यय को, इस आय में से निकाल दिया जाये, तो ऐसी कितनी राशि बच जाती है, जिसके लिए हम प्रजा को ऐसे दूषित प्रलोभन दे रहे है, जिससे उनका जीवन नरक बन जाये ? दूसरी ओर मुझे यह सूचना भी मिली है कि जिन राजकर्मचारियों को हम इसलिए नियुक्त करते हैं कि वे यह सारा कर उगाहकर राजकोश में जमा करायें, उन कर्मचारियों का सारा बल इस बात पर होता है कि वे मदिरालयों और द्यूतगृहों के स्वामियों से कर की आधी राशि लेकर उसे अपने पास रख लें और उन व्यापारियों को चुपचाप अपना व्यवसाय चलाने दें। इस प्रकार राज्य के कर का एक बहुत बड़ा अंश व्यवसायियों और राजकर्मचारियों में आधा-आधा बँट जाता है। राज्य को आय नहीं होती और प्रजा का अहित होता जाता है। इन सारे तथ्यों को ध्यान में रखकर मैं पूछता हूँ कि क्या राजसभा को यह विचार नहीं करना चाहिए कि हम किस लोभ में प्रजा के कल्याण की उपेक्षा कर रहे हैं ?…"

"वाह युवराज !" इस बार शकुनि बोला, "आप चाहते हैं कि मदिरालय और द्यूतगृह बंद कर दिये जायें ? उनके स्वामियों का व्यापार समाप्त हो जाये और वे सम्मानित प्रजाजन भूखे मरें ? उनके यहाँ काम करने वाले सेवक, भृत्य-दास-दासियाँ आजीविकाविहीन होकर

हस्तिनापुर की वीथियों में भिक्षाटन करें ? इस विभाग के सारे राजपुरुष सेवानिवृत्त कर दिये जायें और फिर वे आजीविका की खोज में भटकते हुए महाराज को शापित करते रहें ? युवराज ! क्या ये लोग भी आपकी प्रजा नहीं हैं ? क्या इनके हित के विषय में आपको कुछ नहीं सोचना चाहिए ?"

"इतने लोगों की आजीविका के लिए क्या हम अपनी सारी प्रजा को इस नारकीय भोग की वलि चढ़ा दें ?" युधिष्ठिर ने तेजस्वी वाणी में कहा, "और आजीविका के साधनों का कोई अंत तो है ही नहीं। यदि हम कृषि और उद्योग का विकास करते हैं, उपयोगी और ललित कलाओं को समृद्ध करते हैं, तो उनमें इतने से लोगों के लिए अवश्य ही काम निकल आयेगा। वे परिश्रम करेंगे और अपनी आजीविका पायेंगे। दूसरी ओर प्रजा का अकल्याण भी नहीं होगा।" युधिष्ठिर ने रुककर शकुनि को देखा, "राज्य की आय प्रजा को समृद्ध कर बढ़ायी जाती है, प्रजा का शोषण कर नहीं। राजा प्रजा का पालन करता है, उसके साथ द्यूत खेलकर उसे वंचित नहीं करता।..."

युधिष्ठिर शायद और भी कुछ कहता, किंतु दुर्योधन तड़पकर बीच में ही बोला, "तुम बार- बार प्रजा के हित की बात कर रहे हो; जैसे प्रजा का हित सोचने वाले अकेले तुम ही हो ! यह क्यों नहीं सोचते कि सुरापान राजप्रासाद में भी होता है ? महाराज भी करते हैं सुरापान। क्या तुम कहना चाहते हो कि महाराज दुर्व्यसन से ग्रस्त हैं ? द्यूत हम भी खेलते हैं। मातुल इस कला के पंडित हैं। तुम उन्हें अपमानित करना चाहते हो ?"

"दुर्योधन ! युवराज से इस प्रकार संवोधित नहीं हुआ जाये।" भीष्म जैसे अनायास ही बीच में बोल पड़े; और फिर कुछ सोचकर धृतराष्ट्र की ओर मुड़े, "राजन् ! दुर्योधन का व्यवहार राजसभा की मर्यादा के अनुकूल नहीं है।"

"रुष्ट न हों पितामह !" उत्तर में युधिष्ठिर ही बोला, "मैं यह ही नहीं जानता कि राजकुमार दुर्योधन, उनके मित्र अंगराज कर्ण तथा मातुल शकुनि द्यूत खेलते हैं; मैं यह भी जानता हूँ कि वे लोग द्यूत- संगठनों को चलाते भी हैं। संभवतः इसीलिए मेरी वात से दुर्योधन की भावनाएँ आहत हुई हैं। उसे लगा कि मैंने उसके पिता और मातुल पर आक्षेप किये हैं; यद्यपि यह सत्य नहीं है। महाराज और मातुल शकुनि मेरे लिए भी उतने ही आदरणीय हैं, जितने वे दुर्योधन के लिए हैं। किंतु महत्वपूर्ण बात यह है कि नीति की चर्चा करते हुए मेरे सामने व्यक्ति नहीं होते। नामों को सम्मुख रखकर हम नीति- निर्धारण नहीं कर सकते। हमें नीति को व्यक्ति से बड़ा मानना होगा, चाहे वह व्यक्ति अपने- आपमें कितना ही बड़ा क्यों न हो। व्यक्ति के व्यसन अथवा दुर्व्यसन का निषेध चाहे संभव न हो, किंतु राज्य की नीति में प्रजा के अकल्याण का निषेध होना ही चाहिए।"

"ठीक है युवराज ! मैं समझ गया कि तुम अत्यंत नीतिवान हो।" धृतराष्ट्र के स्वर में स्पष्ट व्यंग्य था, "किंतु नीतियों पर विचार करने के लिए अभी तुम्हारी आयु पड़ी है। इस समय तो केवल इतना ही बताओ कि हाट में जो घटना घट चुकी है, उसकी पुनरावृत्ति को रोकने तथा व्यापारियों को आश्वस्त करने के लिए क्या किया जाये ?"

युधिष्ठिर के कुछ कहने से पहले ही दुर्योधन बोला, "महाराज ! मेरा विचार है कि व्यापारियों की संपत्ति की रक्षा के लिए हाट में हमें सैनिकों की संख्या वढ़ा देनी चाहिए। और चूँकि उनकी संपत्ति की रक्षा के लिए राजकीय सैनिक वहाँ रखे जा रहे हैं, इसलिए उन सैनिकों पर होने वाला दैनिक व्यय उन व्यापारियों से उगाहा जाये। इससे राज्य को अतिरिक्त सैनिकों

का व्यय नहीं उठाना पड़ेगा और व्यापारी भी आश्वस्त हो जायेंगे।...”

“युवराज का क्या विचार है?” धृतराष्ट्र ने पूछा।

“मेरे विचार से हाट में अतिरिक्त सैनिक भेजना तो उचित ही है। इससे व्यापारियों में ही नहीं, हाट में आने-जाने वाले सामान्य-जन में भी आत्मविश्वास जागेगा। उपद्रव करने वालों में भय का संचार होगा। किंतु, उन सैनिकों का व्यय व्यापारियों से लेना उचित नहीं होगा। राजा का कार्य शासन है, व्यापार नहीं। हम यदि सैनिक भेजने का शुल्क व्यापारियों से लेंगे, तो यह शासन नहीं, व्यापार होगा। उससे यह नयी प्रथा आरंभ होगी कि जो भी व्यक्ति अथवा समुदाय, जब कभी राजकीय सैनिकों की सेवा प्राप्त करना चाहेगा, उसका शुल्क देकर, वह सेवा प्राप्त कर लेगा; और जिस व्यक्ति अथवा समुदाय के पास शुल्क चुकाने के लिए धन नहीं होगा, वह राजकीय सैनिकों की सेवाएँ प्राप्त नहीं कर सकेगा।...”

“किंतु उन सैनिकों पर जो व्यय होगा, वह कहाँ से आयेगा?” दुःशासन ने एक महत्वपूर्ण प्रश्न पूछने की-सी भंगिमा बनाकर कहा।

“उसके लिए हम प्रजा से कर लेते हैं।” युधिष्ठिर बोला, “सारी प्रजा राजा को कर देती है। कोई यह नहीं कहता कि इस मास अथवा इस वर्ष राज्य ने उसकी रक्षा के लिए सैनिक नहीं भेजे, अतः वह कर नहीं देगा। प्रजा नियमित कर देती है, अतः राज्य को उन सबकी रक्षा करनी ही है—किसी एक वर्ग, संप्रदाय, जाति अथवा गोत्र की नहीं, संपूर्ण प्रजा की।” युधिष्ठिर क्षण भर थमकर बोला, “इसलिए मेरा विचार है कि हम सैनिकों की संख्या तो बढ़ा ही दें, उसके साथ-ही-साथ उन सारे लोगों को तत्काल बंदी किया जाये, जिन्होंने हाट में उपद्रव किया है तथा उन दोनों व्यक्तियों को भी दंडित किया जाये, जिन्होंने द्यूतगृह में झगड़ा आरंभ किया था।...इसमें ज्यादा विलंब होने से प्रजा में संदेह तथा अनुत्साह का संचार होगा।...”

“मेरे विचार से यह अनुचित होगा महाराज!” दुर्योधन विरोध में पुनः उठ खड़ा हुआ, “हमें तो मात्र इन घटनाओं की पुनरावृत्ति रोकनी है, अनावश्यक रूप से अधिक-से-अधिक लोगों को बंदी बनाकर, दंडित करके राज्य के शत्रुओं की संख्या में वृद्धि करना नीति-संगत नहीं है।” उसका आवेश क्रमशः मुखर होता जा रहा था, “किस-किसको बंदी करेंगे आप, उस उपद्रव के लिए? उसमें पूरी-की-पूरी भीड़ सम्मिलित थी—सहस्रों लोग! आधा हस्तिनापुर बंदी कर लेंगे आप? उपद्रवों के लिए कभी किसी को अपराधी नहीं ठहराया जाता! वह तो प्राकृतिक आपदाओं के समान एक आकस्मिक और स्वतःस्फूर्त आपदा है, जिसकी चपेट में कोई भी आ सकता है, कोई भी उस सामूहिक आखेट की बलि चढ़ सकता है।”

“राजकुमार दुर्योधन एकदम ठीक कह रहे हैं महाराज!” कर्ण ने उसका समर्थन किया, “इस प्रकार की दुर्घटनाओं में लोगों को अपराधी ठहराने के लिए हम प्रमाण कहाँ से लायेंगे! वह तो एक सामयिक आवेश था। आवेश शांत होते ही सब ओर शांति हो गयी है। ऐसे कृत्य न तो शत्रुता से किये जाते हैं, न अपराध-भावना से।”

“नहीं! मैं इससे सहमत नहीं।” युधिष्ठिर कुछ और अधिक दृढ़ता से बोला, “सामूहिक कृत्य होने के कारण कोई अपराध क्षम्य नहीं हो जाता। अपराध तो अपराध ही रहेगा, चाहे वह व्यक्ति करे, समूह करे अथवा समुदाय करे। यदि आज हम इस उपद्रव को क्षमा कर देंगे, क्योंकि इसमें बहुत सारे लोग सम्मिलित थे, तो अपराधी समय-समय पर अपना लाभ देखते

हुए इस प्रकार के उपद्रवों का आयोजन करते रहेंगे। निरपराध लोगों की हत्याएँ होंगी और उनकी संपत्ति लूटी जायेगी। अपराधियों को कठोरतम दंड दिया जाना चाहिए, न कि उनके लिए अपराध करने की एक सुविधाजनक विधि का निर्माण करना चाहिए।"

"तुम क्या चाहते हो युधिष्ठिर! जो निरपराध लोग किसी क्षणिक उन्माद में उस उपद्रव में सम्मिलित हो गये, उनका वध कर दिया जाये?" दुर्योधन की भंगिमा तर्क करने की नहीं, झगड़ा करने की थी।

"मैं तो यह चाहता हूँ कि शांतिप्रिय निरपराध प्रजा को यह ज्ञात हो जाये कि उन्माद उनका न विशेषाधिकार है, न ही ऐसा कवच, जिसे ओढ़कर वे किसी की हत्या कर दें अथवा किसी का धन लूट लें अथवा किसी की संपत्ति जला डालें। शांतिप्रिय अनुशासन-बद्ध प्रजा को अपने उन्माद और भावनाओं को नियंत्रित रखना सीखना होगा, अन्यथा अपराधीजन केवल इसलिए प्रजा के सिरमौर हो जायेंगे, क्योंकि वे प्रजा की भावनाओं से खिलवाड़ कर उपद्रव करवा सकते हैं; और इसका परिणाम होगा—निरपराध तथा शांतिप्रिय प्रजा की हानि तथा अपराधी मनोवृत्ति द्वारा समाज का स्थायी नेतृत्व!"

"मैं युधिष्ठिर से सर्वथा असहमत हूँ।" दुर्योधन तमककर खड़ा हो गया।

उसके साथ ही दुःशासन, कर्ण, अश्वत्थामा, शकुनि, कणिक तथा पुरोचन भी उठ खड़े हुए, "हम युवराज से सहमत नहीं हैं।"

इस बार धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को बोलने का अवसर नहीं दिया, "ठीक है। मुझे लगता है कि इस विषय में राजसभा में पर्याप्त मतभेद है। अतः इस विषय में अधिक चिंतन-मनन की आवश्यकता है। जब तक हम एकमत नहीं हो जाते, तब तक न तो नीति-निर्धारण हो सकता है, न उसका कार्यान्वयन।"

और धृतराष्ट्र ने सिंहासन से उठकर दासी का कंधा पकड़ने के लिए हाथ बढ़ा दिया।

3

युधिष्ठिर ने स्वयं को बहुत संयत रखा था, किंतु फिर भी उसकी चेतना पर एक प्रकार की खिन्नता छा गयी थी। सभा-भवन से बाहर निकलते हुए वह सोच रहा था कि यद्यपि दुर्योधन आज तक उसका विरोध ही करता आया था, किंतु उसने भी इस प्रकार का विरोध कभी नहीं किया था। यह विरोध नहीं था, झगड़ा था। क्या केवल इसलिए कि आज भीम यहाँ नहीं था? क्या उसके साथ इस प्रकार का व्यवहार केवल इसलिए किया गया, क्योंकि उसके भाई उसके साथ नहीं थे? वह अकेला था और दुर्योधन अपने भाइयों और मित्रों के साथ उसपर भारी पड़ सकता था? क्या विचार-विमर्श में भी संख्या और शारीरिक बल का महत्व अधिक हो जायेगा? क्या बुद्धि, विवेक, न्याय और तर्क का कोई महत्व नहीं है? क्या कुरुओं की राजसभा में भी वन्य पशुओं के समान, पशु-बल से ही निर्णय किया जायेगा? क्या वह इसलिए पराजित हो जायेगा, क्योंकि उसका विरोध करने वाले संख्या में अधिक हैं? धर्म इसलिए त्याज्य हो जायेगा, क्योंकि वह कुछ महत्वपूर्ण लोगों की इच्छा के मार्ग में विघ्न उत्पन्न करता है?...

तभी विदुर ने आकर उसके कंधे पर हाथ रखा, "बहुत खिन्न हो पुत्र ?"

युधिष्ठिर मुस्कराया भर, कुछ बोला नहीं। उसने जैसे अपने- आपसे ही प्रश्न किया—'क्या उसकी खिन्नता, उसके चेहरे से ही प्रदर्शित हो रही है ?'

"चलो मेरे साथ।" विदुर उसे अपने रथ की ओर ले आया, "बैठो।"

युधिष्ठिर रथ में बैठ गया तो विदुर ने सारथि से कहा, "तुम युवराज के रथ और सारथि को लेकर आओ।"

"काका ! लाइए, मैं सारथ्य करता हूँ।" युधिष्ठिर बोला।

"नहीं युवराज !" विदुर नें उत्तर दिया, "मंत्री के रहते युवराज को सारथ्य- कर्म नहीं करना होगा।" और अश्वों को हाँककर, उसने बात आगे बढ़ायी, "युधिष्ठिर ! आज मैंने देखा कि तुम एक विचारशील, न्यायी तथा प्रजावत्सल राजा के समान राज्य की समस्याओं पर विचार कर सकते हो। आपत्तियों का उत्तर दे सकते हो। विरोधियों को संयत कर सकते हो। मुझे प्रसन्नता हुई पुत्र !" विदुर ने रुककर उसे देखा, "किंतु तुमने देखा, महाराज तुम्हारा पक्ष नहीं लेते; आचार्य द्रोण तुम्हारा समर्थन नहीं करते; तुम्हारे पितामह सिर झुकाये सब कुछ चुपचाप सुनते रहते हैं और मन- ही- मन कुछ बुनते रहते हैं। तुम्हारे विरोधी बहुत संगठित तथा आक्रामक हैं, और संख्या में बहुत अधिक। वाह्लीक, सोमदत्त तथा भूरिश्रवा जैसे तटस्थ लोग सर्वथा मौन हैं।…"

"देखा है काका !" युधिष्ठिर बहुत धीरे से बोला।

"पुत्र ! क्या तुम्हें यह नहीं लगा कि कुरुओं की यह सभा अब सत्य बोलने का स्थान नहीं रही ?" विदुर बोला, "तुमने उस दिन आनृशंसता के आधार पर सैनिक अभियान का विरोध किया था तो सैद्धांतिक चर्चा में आचार्य द्रोण के दोष प्रकट होने लगे थे। वे तुमसे रुष्ट हो गये। आज तुम्हारे नीति- विवेचन से स्वयं महाराज अप्रसन्न हुए। उनके पुत्र तथा पक्षधर तो पहले ही तुम्हारे विरोधी हैं…।"

"पर काका ! मैं तो केवल सत्य का विश्लेषण कर रहा था।"

"भ्रष्ट समाज में सत्य का विवेचन किसी को रुचिकर नहीं होता पुत्र !" विदुर बोला, "तुम जितना सत्य बोलोगे, नीति और धर्म का आग्रह करोगे, राजसभा में अपने लिए उतने ही विरोधी तथा शत्रु उत्पन्न करोगे।"

"किंतु वे लोग क्यों नहीं चाहते कि राज्य में न्याय हो ?"

"क्योंकि न्याय उनके स्वार्थ का विरोधी है !"

युधिष्ठिर ने आश्चर्य से विदुर को देखा, "क्या प्रजा का न्यायपूर्वक पालन राजा का स्वार्थ नहीं है ?"

"यह सात्विक बुद्धि का तर्क है पुत्र !" विदुर मुस्कराया, "किंतु जहाँ स्वार्थ की परिभाषा ही बदल चुकी है, जहाँ प्रजा संतान के समान प्रिय न होकर आखेट का साधन हो, वहाँ राजा का स्वार्थ प्रजापालन में नहीं होता।" विदुर ने रुककर युधिष्ठिर को देखा, "क्या तुमने ध्यान नहीं दिया कि उपद्रवियों को दंड देने में न राजा की रुचि है, न उनके पुत्र और उसके मित्रों की !"

"क्यों ?"

"तुम जानते हो, वे लोग कौन हैं ?" विदुर ने पूछा।

"इसमें जानने को क्या है ?" युधिष्ठिर बोला, "वे अपराधी हैं, क्या यह पर्याप्त नहीं

है ?"

"नहीं !" विदुर ने उत्तर दिया, "यदि तुम्हें यह मालूम हो जाये कि मदिरा पीकर उपद्रव करने वाला स्वयं दुर्योधन का सारथि था, तो क्या तब भी तुम यही कहोगे ? यदि तुम्हें ज्ञात हो कि हाट में से लूटी गयी मूल्यवान वस्तुएँ उपद्रवियों के माध्यम से पुरोचन और कणिक के घर पहुँचा दी गयी हैं, तो ?तुम क्या समझते हो कि पुरोचन और कणिक इतने न्यायप्रिय हैं कि वे अपना अपराध स्वीकार कर, दंड के लिए न्यायाधिकरण में आत्मसमर्पण कर देंगे ?"

युधिष्ठिर जैसे स्तब्ध रह गया। उसके मुख से शब्द निकलने में कुछ क्षण लगे, "पुरोचन और कणिक ! किंतु वे तो मंत्री हैं ! उनके पास धन का अभाव तो नहीं ! फिर ?…"

"धन का भाव और अभाव तो अपनी संतोष-रेखा का नाम है पुत्र ! उतने धन से उन्हें संतोष नहीं।"

"तो दुर्योधन क्यों उनका समर्थन करता है ? उसे क्या लेना-देना है कणिक, पुरोचन और अपने सारथि से ? इनके दंडित होने पर उसे दूसरा सारथि नहीं मिलेगा या दूसरे मंत्री नहीं मिलेंगे ?" युधिष्ठिर जैसे अब भी विश्वास नहीं कर पा रहा था।

"यदि वह अपराधियों, दुर्वृत्तों, अन्यायी स्वार्थियों का पालन-पोषण कर उन्हें अपने साथ नहीं मिलायेगा तो राज्याधिकार प्राप्त करने में उसके अन्यायपूर्ण षड्यंत्रों में उसका समर्थन कौन करेगा ?" विदुर ने सर्वथा तटस्थ भाव से पूछा।

"मेरे युवराज बन जाने के पश्चात् भी क्या उसने राज्याधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न छोड़ा नहीं है ?" युधिष्ठिर को आज विदुर की दी हुई प्रत्येक सूचना आश्चर्य में डाल रही थी।

"उसके व्यवहार से तुम्हें ऐसा लगता है क्या ?" विदुर ने रथ को अपने फाटक के भीतर मोड़ा, "पहले वह राज्य प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर रहा था, अब संघर्ष कर रहा है।"

रथ रुक गया। वे दोनों उतरे।

पारंसवी ने द्वार पर उनका स्वागत किया, "अरे, आज तो युवराज भी आये हैं ! स्वागत युवराज !"

"प्रणाम काकी !" युधिष्ठिर बोला, "मेरी तो हानि ही हुई। कल तक जिनका पुत्र था, आज उनका युवराज मात्र रह गया।"

"यदि ये मंत्री होकर भी पति हो सकते हैं, तो तुम युवराज होकर पुत्र क्यों नहीं हो सकते ?" पारंसवी हँसी, "वैसे मैं जानती हूँ कि आप अपने भ्रातुष्पुत्र से चर्चा करने के लिए उसे अपने घर नहीं लाये, मंत्री विदुर अपने युवराज से कोई गोपनीय चर्चा करने के लिए ही उसे यहाँ लाये हैं।"

"भोजन ?" विदुर ने पूछा।

"तैयार है। आइए।"

वे भोजन करने बैठे, किंतु दोनों में से किसी का भी ध्यान भोजन की ओर नहीं था।

विदुर ने बात आरंभ की, "मैं यह कह रहा था कि दुर्योधन अब प्रयत्न से संघर्ष तक आ गया है। आज का उसका सारा व्यवहार यही सिद्ध करता है। संभव है, भविष्य में वह षड्यंत्र और फिर युद्ध तक पहुँचे।"

इस बार युधिष्ठिर ने कोई आश्चर्य प्रकट नहीं किया। उसके चेहरे पर कोई उद्वेग भी प्रकट नहीं हुआ। वह चुपचाप बैठा खाता रहा और फिर सहज भाव से बोला, "आपको ऐसा

क्यों लगता है ?"

"क्या तुम्हें नहीं लगता ?" विदुर बोला, "राजसभा में बार- बार ऐसी चर्चाएँ आयेंगी। तुम सत्य- विवेचन करोगे; नीति और धर्म की बात करोगे। राजसभा में तुम्हारा विरोध बढ़ेगा।"

"क्यों ? सत्य का समर्थन कोई नहीं करेगा ?"

"न वे करेंगे जो अनधिकारपूर्वक सिंहासन का अधिग्रहण किये बैठे हैं; और न वे करेंगे, जिनके मुख स्वर्ण- मुद्राओं से भर दिये गये हैं।"

युधिष्ठर ने मुख उठाकर विदुर की ओर देखा।

"आजकल दुर्याधन की ओर से सभासदों और अधिकारियों को बड़े- बड़े उपहार दिये जा रहे हैं।"

"क्या सभासदों को धन से क्रय किया जा सकता है ?"

"प्रत्येक व्यक्ति की अंतरात्मा का मूल्य स्वर्ण के तौल में भी होता है पुत्र !" विदुर बोला, "किसी का कम, किसी का कुछ अधिक ! स्वर्ण के मोह से मुक्त हुए लोग संसार में बहुत कम होते हैं। और जो होते हैं, वे राजसभाओं में उपस्थित नहीं होते।"

युधिष्ठिर ने बहुत शांत दृष्टि से विदुर को देखा, "काका ! अनेक बार मेरे मन में आता है कि मैं यह राज्य छोड़ दूँ।"

"क्यों ?" विदुर ने जैसे सकपकाकर पूछा।

"कुल की शांति के लिए।" युधिष्ठिर बोला, "हम पाँचों भाई कहीं भी अपना जीवन सुख से व्यतीत कर सकते हैं। दुर्योधन यदि राज्य के बिना जी नहीं सकता, तो राज्य वह ही ले ले।"

विदुर कुछ क्षण चिंतनलीन रहा और फिर बोला, "मैं जानता हूँ कि तुम्हारे मन में ऐसे विचार उठते होंगे। मेरे मन में भी उठे थे। किसी समय पितृव्य भीष्म के मन में भी कुछ ऐसे ही विचार उठे होंगे। पुत्र ! पितृव्य ने राज्य न त्यागा होता तो आज कुरुवंश और हस्तिनापुर के राज्य का रूप ही कुछ और होता। उनके उस त्याग का फल हम आज भी भुगत रहे हैं। तुम्हारे पिता भी धृतराष्ट्र को राज्य सौंप वन न गये होते, तो भी स्थिति भिन्न होती।" विदुर ने आँखों- ही- आँखों में युधिष्ठिर को तौला, "तुम क्या समझते हो कि तुम राज्य का त्याग कर दोगे तो कुरु- कुल में सर्वथा शांति हो जायेगी ? दुर्योधन संतुष्ट और निश्छिद्र हो जायेगा ?"

"राज्य पाकर भी संतुष्ट नहीं होगा वह ?"

"नहीं ! उसे सदा यह भय सतायेगा कि तुम अपना राज्य लौटा लेने का प्रयत्न करोगे; इसलिए पुत्र ! वह तुम पाँचों में से किसी को भी जीवित नहीं रहने देगा। सत्ता पूर्णरूपेण उसके हाथों में आ गयी तो तुम लोग अपनी माता के साथ अपने प्राण बचाने के लिए इधर- उधर भागते दिखायी दोगे।" विदुर बोला, "और यह राज्य तुम्हें अधिकार के रूप में नहीं, दायित्व के रूप में सौंपा गया है। तुम अपना दायित्व छोड़कर नहीं भाग सकते। तुम्हारे भाई तुम्हें राज्य त्यागने नहीं देंगे; तुम्हारी माता इसे स्वीकार नहीं करेंगी। कृष्ण तुम्हें इस प्रकार हस्तिनापुर का राज्य दुर्योधन के व्याज से जरासंध को सौंपने नहीं देगा। और प्रजा ? तुम अपने कर्तव्य से कायरों के समान भाग नहीं सकते युधिष्ठिर !"

"आप ठीक कहते हैं काका ! किंतु यदि मैं भी इस राज्य के लिए उतना ही लालायित रहूँ, जितना कि दुर्योधन है, तो मुझमें और उसमें अंतर ही क्या रह जायेगा ?"

"तुम कुरुओं के इस राज्य को अपने पूर्वजों के यश की रक्षा और प्रजा के न्यायपूर्ण पालन

के लिए ग्रहण करो। तुम अपने भाइयों और माता के प्राणों की रक्षा और उनके भरण- पोषण के लिए इस राज्य को धारण करो। राज्य वस्तुतः उनके लिए ही होता है, जिन्हें उसका मोह नहीं होता, जो उसके दास नहीं, स्वामी होते हैं। मुझे भय है युधिष्ठिर, कि यदि तुम इसी प्रकार सोचते रहे तो अपने पितामह के समान तुम्हारे व्यक्तित्व का क्षत्रिय तत्व तुम्हें राज्य त्यागने नहीं देगा और ब्राह्मण तत्व उसे ग्रहण करेगा नहीं। उससे राज्य की भी दुर्गति होगी और तुम्हारी भी !···और यदि किसी प्रकार तुम राज्य छोड़ भी दो, तो तुम्हारे स्थान पर भीम का राज्याभिषेक होगा, दुर्योधन का नहीं। कुल की अशांति तव इससे भी कहीं अधिक वढ़ जायेगी।"

"तो मुझे क्या करना है काका ?"

"सावधान रहो। अपनी आँखें खुली रखो। निश्चिंत होकर तुम नहीं जी सकते। तुम्हारे चारों ओर भिन्न- भिन्न प्रकार के षड्यंत्र चल रहे हैं। तुम्हारे भाई युद्ध के वहाने तुमसे दूर भेज दिये गये हैं और···"

युधिष्ठिर ने जैसे चिंताओं में से स्वयं को वलात् वाहर निकाला, "और क्या काका ?"

"मथुरा में कृष्ण और उसके यादव वहुत कठिन स्थिति में घिर गये हैं। एक ओर से जरासंध वढ़ता चला आ रहा है और दूसरी ओर से कालयवन ! स्पष्ट है कि मथुरा के पास इतनी सैनिक शक्ति नहीं है कि वह इन दोनों का सामना कर सके। मुझे सूचना मिली है कि कृष्ण सारे यादवों के साथ मथुरा खाली कर, किसी सुरक्षित स्थान पर चले जाने की योजना वना रहा है···"

"क्या हम उनकी कोई सहायता नहीं कर सकते ?" युधिष्ठिर ने व्याकुल होकर पूछा।

"भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव यहाँ नहीं हैं। पितृव्य भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण तथा अश्वत्थामा—यादवों की ओर से युद्ध करेंगे नहीं। महाराज धृतराष्ट्र क्यों जरासंध तथा कालयवन के विरुद्ध युद्ध कर अपनी सेना और कोश की क्षति करेंगे?···और सबसे बड़ी बात यह है पुत्र, कि कृष्ण यदि स्वयं ही मथुरा खाली कर युद्ध टाल रहा है, तो तुम उसकी ओर से युद्ध कैसे कर सकते हो ? किंतु मैं तुमसे यह नहीं कह रहा था कि तुम कृष्ण की सहायता करने जाओ। मैं तो तुम्हें मात्र इतना ही वता रहा था कि इस समय कृष्ण की ओर से किसी सहायता की आशा में भी मत रहो।" विदुर ने उसे देखा, "जो कुछ करना है, अपने वल पर करना है, कहीं से कोई सहायता नहीं आयेगी। तुम अकेले हो और चारों ओर से शत्रुओं से घिरे हुए हो, अतः सावधान रहो।"

भीष्म का मन वहुत खिन्न था।···क्या हो गया है कुरुओं की राजसभा को ? प्रजा आकर पुकार रही है कि नगर में उपद्रव हुआ है और राजा खड्ग खींचकर तत्काल घटनास्थल पर नहीं पहुँचता; नगरपाल अपराधियों को बाँधकर नहीं लाता। राजसभा में विचार होता रहता है कि उपद्रवियों को दंडित किया जाये या न किया जाये।···धृतराष्ट्र का राज्य तो ऐसा ही होगा। सौवीर का राजा यदि हस्तिनापुर नरेश की अवज्ञा करेगा तो उसको दंडित करने के लिए सेना हस्तिनापुर से चलकर जायेगी, किंतु मुट्ठी भर अपराधी, हस्तिनापुर के ही हाट में राज- शक्ति की अवज्ञा कर, प्रजा को पीड़ित करते हैं, तो राजसभा निर्णय नहीं कर पाती कि उपद्रवियों को दंडित भी किया जाना चाहिए अथवा नहीं। भीष्म को लगने लगा है कि हस्तिनापुर का

राजा अब उपद्रवियों और अपराधियों को अभय दान कर रहा है।

वे ठीक ही सोच रहे थे कि धृतराष्ट्र को अब सिंहासन छोड़कर हट जाना चाहिए। युधिष्ठिर की नीति ठीक है; और वह शासन करने में समर्थ भी दिखायी पड़ता है। वह चाहता था कि उपद्रवियों को बंदी बनाकर दंडित किया जाये; किंतु जाने क्यों धृतराष्ट्र को लगने लगता है कि किसी मद्यप को दंडित करना, जैसे स्वयं धृतराष्ट्र पर ही कोई आरोप है ! जैसे उसकी भी मदिरा बंद कर दी जायेगी···

और सहसा भीष्म को लगा कि उनके मन में कुछ नयी बातें उद्घाटित होने लगी हैं··· युधिष्ठिर की सात्विकता, धृतराष्ट्र, दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि तथा कर्ण के लिए ही नहीं, अनेक मंत्रियों और सभासदों के लिए भी कष्टकारी होती जा रही है। उन लोगों के मध्य उसकी उपस्थिति कुछ वैसी ही है, जैसी धूलिधूसरित लोगों के मध्य स्नान कर आये किसी स्वच्छ व्यक्ति का आना। वह मुख खोलता है तो व्यक्तियों और व्यक्तिगत संबंधों को बीच में लाये बिना सत्य बोलने लगता है। उससे अनेक सभासदों के दोष उद्घाटित होने लगते हैं। उस दिन आनृशंसता का प्रतिपादन करने बैठा तो आचार्य द्रोण के मन का कलुष कैसे उभरकर सम्मुख आ गया !···आज उसने मदिरालयों और द्यूतगृहों के विरुद्ध कहा तो कितने ही सभासद कटकर रह गये—ये ही लोग तो चलाते हैं मदिरालय और द्यूतगृह ! युधिष्ठिर ने तो द्यूत- संगठनों को लेकर दुर्योधन, शकुनि और कर्ण का नाम भी लिया था। राजशक्ति का केंद्र ही विगलित हो चुका है। स्वयं धृतराष्ट्र भी आक्षेपों के चक्रव्यूह में घिर गया है। तभी तो दुर्योधन इतना तड़प रहा है।···

किंतु राजनीतिक दृष्टि से युधिष्ठिर के लिए यह सब अच्छा नहीं है।

अभी- अभी तो उसका युवराज्याभिषेक हुआ है। अभी उसे अपनी सत्ता प्रतिष्ठित करनी है; शक्ति बढ़ानी है; राजसभा, सेना और प्रजा में अपना समर्थन जुटाना है। यदि वह सत्य बोलता रहा और उसका विरोध बढ़ता गया, तो सिंहासन पर टिक कैसे पायेगा ? यदि इसी प्रकार उसका विरोध बढ़ता गया, तो वह दुर्बल होता जायेगा और कोई भी शक्तिशाली राजपुरुष उसकी बाँह पकड़, उसे सिंहासन से नीचे उतार देगा। मथुरा के उग्रसेन के साथ यही तो हुआ था। स्वयं उसके अपने पुत्र ने न केवल उसे सिंहासनच्युत किया वरन् कारागार में डाल दिया। शक्तिशाली यादव कुलवृद्धों में से किसी ने एक शब्द भी नहीं कहा, कंस के विरुद्ध !···मात्र अधिकार से तो कुछ नहीं होता। मानव- समाज में अधिकार प्राप्त करने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है और प्राप्त किये गये अधिकार को बनाये रखने के लिए समर्थन की !···आज तो युधिष्ठिर के विरुद्ध उठने वाला आक्रोश स्पष्टतः संगठित दिखायी दे रहा था। अब वह समय तो रहा नहीं कि किसी दोषी को उसका दोष बताया जाये तो वह उसे स्वीकार कर लज्जित हो, अपने आचरण को सुधारे। वे तो अपना रोष जताते हैं कि उनको अपराधों से रोका क्यों जा रहा है। अपने दूषित कृत्यों के लिए लोग तर्क करते हैं। उसे अपना अधिकार मानते हैं। यदि युधिष्ठिर मदिरा और द्यूत की और निंदा करता, तो कदाचित् राजसभा में ही उनकी प्रशंसा करने वाले लोग भी निकल आते। शायद वे लोग यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न करते कि युधिष्ठिर ही बहुत अधिक शुद्धतावादी है; वह जीवन को अत्यंत नीरस और संकीर्ण कर देना चाहता है, जीवन के सुख और भोग को नष्ट कर देना चाहता है।···

भीष्म को लगा, उनकी युवावस्था से आज तक लोग कितने बदल गये हैं। सात्विकता, शुद्धता और तपस्या को मूर्खता मानने लगे हैं ये लोग। भोग की प्रवृत्ति बढ़ती ही जा रही

है—धर्म- अधर्म के विचार को त्याग कर ! कोई यह सोचना ही नहीं चाहता कि जीवन क्या है? इसका लक्ष्य क्या है ? जीने की ठीक विधि क्या है ? वन्य- शूकर के समान, सिर झुकाकर भोग की ओर भागे जा रहे हैं । कोई सीमा नहीं है भोग की । जिसके पास जितना धन है, उसकी तृष्णा उतनी ही अधिक है । सारा क्षत्रिय समाज जैसे धृतराष्ट्र के समान दृष्टिहीन होकर और अधिक, और अधिक भोग की ओर लपक रहा है ।···अपनी बाल्यावस्था में भीष्म ने जिन व्यसनों को क्षत्रियों के नाश के रूप में देखा था, उन्हें अब क्षत्रिय समाज गर्वपूर्वक अंगीकार ही नहीं कर रहा, उसका प्रदर्शन भी कर रहा है । मदिरा, द्यूत, मृगया, कामोत्सव···युधिष्ठिर अपवाद है··· युधिष्ठिर के सारे भाई ही शायद अपवाद हैं । उनका पिता नहीं है, किंतु कुंती ने उन्हें इन व्यसनों से बचाये रखा है, या फिर उनके ये जन्मजात गुण हैं,···या फिर इस परिवार में उनकी स्थिति ने ही उन्हें व्यसनों के विषय में सोचने का अवसर नहीं दिया है । किंतु इस क्षत्रिय समाज में युधिष्ठिर अपना अस्तित्व कैसे बनाये रखेगा ?···मदिरा का सेवन न करने पर वे उसको कंगला संन्यासी कहकर उसका निरादर करेंगे; मृगया न करने पर उसे भीरु कहेंगे; द्यूत में सम्मिलित न होने पर कृपण कहकर उसका तिरस्कार करेंगे और वह आनृशंसता की चर्चा करेगा तो कायर कहकर उसे अपमानित करेंगे । यह क्षत्रिय समाज तो जैसे अपने अबाध भोग और अहंकार में विवेकहीन हिंस्र पशु बन, विनाश के मार्ग पर फिसलता ही जा रहा है । कैसे रहेगा, इनके मध्य युधिष्ठिर ? सागर में रहकर कोई अपने शरीर को भीगने से बचा सका है ?···समय की आँधी के विरुद्ध कौन चल सका है ?···

और भीष्म का ध्यान कृष्ण की ओर चला गया ।···कंस का वध कर वह मथुरा के सिंहासन पर नहीं बैठा । उसे अधिकार का लोभ नहीं है । धन की आकांक्षा नहीं है उसे । वह इस समाज में धर्म का मार्ग खोज रहा है । नहीं ! खोज नहीं रहा, धर्म का मार्ग दिखा रहा है । उसे शायद झूठे मान- सम्मान की भी चिंता नहीं है । जो वह उचित समझता है, वही करता है—समाज चाहे उसे कलंकित करता रहे ।···विदुर ने बताया था कि जरासंध और कालयवन के सम्मिलित आक्रमण को देखते हुए, वह मथुरा को खाली करने की तैयारी कर रहा है । क्या कहेंगे क्षत्रिय उसे—कायर, भगोड़ा, रणछोड़···! किंतु भीष्म का मन कहता है कि कृष्ण उचित ही कर रहा है । जब वह मथुरा में रहकर यादवों की रक्षा नहीं कर सकता तो व्यर्थ के इस नर- संहार का क्या लाभ ? व्यर्थ की हिंसा क्यों ?···भीष्म को आज भी स्मरण है, अंबा का हरण करते हुए उन्होंने शाल्व को पराजित कर जीवित छोड़ दिया था । यही कहा था उन्होंने—'मैं निरीह हत्याएँ नहीं करता ।' यदि कृष्ण असमर्थ यादवों को जरासंध और कालयवन से लड़ने की प्रेरणा देगा तो निरीह हत्याएँ ही तो होंगी···भीष्म देख रहे हैं कि कृष्ण धर्म को जानता है । वह धर्म का आचरण कर रहा है, चाहे लोग उसके विरुद्ध अपवाद ही फैलाएँ···

किंतु युधिष्ठिर ! और कुरुकुल में बढ़ता हुआ यह विरोध ! यह आंतरिक कलह ! युधिष्ठिर तो युधिष्ठिर—इस संपूर्ण कुरुकुल का क्या होगा ?···युधिष्ठिर के युवराज्याभिषेक के समय उन्होंने सोचा था कि अब धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को युवराज मान लिया है तो कुरुकुल के सारे मतभेद जैसे समाप्त हो गये; किंतु ऐसा लगता नहीं है । वह कलह तो जैसे और भी बढ़ गयी है । तो फिर क्या परामर्श दें वे युधिष्ठिर को—वह भी वैसा ही हो जाये, जैसे और सारे क्षत्रिय हैं ? या वह इस सारे जंजाल को छोड़कर निकल जाये ? छोड़ दे यह सब ?···पर किसके लिए छोड़ना संभव है ? उन्होंने छोड़ दिया; किंतु क्या सचमुच छोड़ पाये हैं ?···और

युधिष्ठिर को वे दुर्योधन बनने का परामर्श कैसे दे सकते हैं ?

कैसा द्वंद्व था उनका ! दुर्योधन को वे युधिष्ठिर बना नहीं सकते थे; और युधिष्ठिर को दुर्योधन बनाना नहीं चाहते थे ।

उन्हें लगा कि उनके मन में सदा स्वार्थ और परमार्थ, लोभ और वैराग्य, ग्रहण और त्याग का संघर्ष चलता रहा है । वे सदा परमार्थ, त्याग और वैराग्य का पक्ष लेते रहे; किंतु माता सत्यवती की प्रवृत्ति सदा ही स्वार्थ, लोभ और ग्रहण की ओर रही—और भीष्म को लगता था कि जैसे उनके अपने ही मन का द्वंद्व उनके और माता सत्यवती के रूप में शरीर धारण कर संघर्ष कर रहा था । किंतु माता से तो उन्हें सदा समझौता ही करना पड़ा । अपने मन के भीतर जिन वृत्तियों से वे कभी समझौता नहीं कर पाये, बाह्य जगत में माता सत्यवती के रूप में उनसे समझौता किया । फिर कदाचित् वृत्तियों के ये ही रूप, पांडु और धृतराष्ट्र के रूप में प्रकट हुए । और वे ही पांडवों और धार्तराष्ट्रों के रूप में शरीर धारण कर, उनकी नाक के नीचे संघर्ष कर रहे हैं ।

भीष्म को लगा, जैसे वे अब स्वयं को भी पहचान रहे हैं : वे अपनी प्रतिज्ञा के लिए जी रहे हैं.। उन्होंने काम- भावना को कभी अपने मन में प्रवेश करने नहीं दिया; किंतु इस राजवंश से उन्हें अपार ममता नहीं है क्या ? वे दुर्योधन की दुष्टताओं से परिचित होते हुए भी, उसका अहित नहीं चाहते । क्या आज भी उनके मन में वैराग्य और ममता—दोनों का ही अस्तित्व है ? एक ओर उन्होंने स्वयं को इतना निर्मोही बना रखा है; और दूसरी ओर उनकी ममता कोई मर्यादा नहीं मानती !···किन ग्रहों की संधि में हुआ है उनका जन्म, कि जिसे गृहस्थी का कभी कोई सुख न मिला—वह भीष्म, इतनी बड़ी गृहस्थी जोड़े बैठे हैं; और उसका एक भी तिनका बिखरने नहीं देना चाहते ?

ऐसे में उनके सामने दो ही मार्ग हैं : उनकी अपनी प्रवृत्ति और प्रकृति चाहती है कि वे यह सब कुछ छोड़- छाड़कर कहीं एकांत में जाकर शांति से रहें । अध्यात्म के मार्ग पर चलें । दूसरी ओर वे यह भी देख रहे हैं कि हस्तिनापुर का राज्य, जिस मार्ग पर जा रहा है, वह क्रमशः पतन और फिर पूर्ण विनाश का मार्ग है । वे स्वेच्छा से इसे त्याग नहीं सकते । वे उसके साथ अपने वचन, अपने दायित्व- बोध, अपने धर्म से बँधे हैं । पांडवों और धार्तराष्ट्र को, इस अंधे धृतराष्ट्र के भरोसे छोड़कर, भरतवंश का संपूर्ण विनाश नहीं देख सकते । धृतराष्ट्र का स्वार्थ, कणिक की कूटनीति, शकुनि की प्रवृत्तियाँ—सब मिलाकर कहाँ ले जायेगी कुरुवंश को ?···

दूसरा विकल्प है कि वे मात्र परामर्श अथवा टिप्पणी करने का मार्ग छोड़, सत्ता को पूर्णतः अपने हाथ में ले लें । कर्मण्य बनें । अपराधियों को दंडित करें ।··· किंतु अपनी प्रतिज्ञा के कारण ही नहीं, अपनी प्रकृति के कारण भी, वे सत्ता अपने हाथ में नहीं लेना चाहते । राजनीति की दलदल ही तो है, जिससे दूर रहने के लिए उन्होंने राजकाज त्यागने की प्रतिज्ञा की थी ।···अब न वह वय है, न वह उत्साह, न रजोगुण का वह वेग । अब वे क्यों अपनी प्रतिज्ञा के विरुद्ध सत्ता अधिकृत कर, पाप के भागी बनें··?

द्वारपाल ने आकर सूचना दी कि विदुर उनसे भेंट की अनुमति चाहते हैं ।

भीष्म को लगा, विदुर अच्छे समय पर आया था । अकेले बैठे तो वे सोच- सोचकर, अपने आपसे ही हार जाते हैं । विदुर आया है, तो उससे कुछ चर्चा होगी, कुछ सूचनाएँ मिलेंगी, कुछ उनके मन का वाष्प बाहर निकलेगा, वक्ष का ताप कम होगा ।

विदुर ने आकर प्रणाम किया, "कैसे हैं पितृव्य ?"

"बैठो !" भीष्म ने उसके प्रश्न का सीधा उत्तर नहीं दिया, "कहाँ से आ रहे हो विदुर ?"

"मेरा तो काम ही भटकना है पितृव्य !" विदुर हँसा, "कई बार सोचता हूँ तो लगता है कि मैं करता ही क्या हूँ ! एक स्थान से दूसरे स्थान तक भटकता रहता हूँ। एक व्यक्ति की सूचनाएँ, दूसरे व्यक्ति तक पहुँचाता रहता हूँ" और कुछ नहीं होता तो मन के ऊहापोह में डूबा रहता हूँ। इसमें मेरा कर्म क्या है ?"

भीष्म हँसे नहीं, गंभीर हो गये, "तुम्हारे आने से पहले मैं भी मन के ऊहापोह में ही डूबा था। किंतु देखता हूँ कि मेरा ऊहापोह मुझे अधिक-से-अधिक अकर्मण्य बनाता जा रहा है। किसी भी विषय को लेकर मेरे मन में पक्ष और विपक्ष—दोनों ओर के तर्क उभरते हैं। एक निश्चय करता हूँ तो उसके विरोधी तर्क भी मेरे मन में इतने प्रबल होकर उभरते हैं कि मैं यह समझ नहीं पाता कि मुझे करना क्या चाहिए। इसीलिए बैठा रहता हूँ और घटनाएँ जैसे मेरी आँखों के सामने घटित होती चलती हैं। मुझे लगता है कि मैं एकदम अप्रभावी हो गया हूँ। यदि मेरी उपस्थिति का कुछ भी अर्थ होता, तो क्या कुरुओं की राजसभा में इस प्रकार की चर्चाएँ होतीं ? इस प्रकार का व्यवहार होता ? यह है कुरुओं की सभा की मर्यादा ?"

"चिंतित न हों पितृव्य !" विदुर कोमल स्वर में बोला, "एक बार सभा में युधिष्ठिर की सत्ता स्थापित हो गयी, तो कुरु-सभा की मर्यादा भी लौट आयेगी !"

"तुम्हारा क्या विचार है कि धृतराष्ट्र के सिंहासन पर रहते हुए यह संभव हो पायेगा ?" भीष्म बोले, "कुरुओं के भविष्य को लेकर मेरे मन में संशय का विराट वृक्ष उग आया है पुत्र ! कभी-कभी तो मैं एकदम निराश हो जाता हूँ। मुझे लगता है कि अब कभी भी कुरु अपना प्राचीन गौरव प्राप्त नहीं कर पायेंगे।"

"मैं यह मानता हूँ पितृव्य, कि प्रकृति निरंतर कल्याण की ओर अग्रसर है। हमें तो उसकी सहायता ही करनी है। अपनी ओर से उसका प्रयत्न करते रहना चाहिए।" विदुर बोला, "अभी राजसभा में युधिष्ठिर के समर्थक दिखायी नहीं पड़ रहे। किंतु, भीम और अर्जुन लौटेंगे। कुछ और लोगों का विवेक भी जागेगा। कृष्ण अपनी समस्या से उबरेगा तो पांडवों की सहायता को आयेगा। युधिष्ठिर के भीतरी और बाहरी सहायक—कुरुओं की मर्यादा को लौटायेंगे पितृव्य !"

भीष्म कुछ देर बैठे, जैसे विदुर के कथन पर मनन करते रहे; किंतु न वे उसके समर्थन में कुछ बोले, न विरोध में। अंततः धीरे से उन्होंने पूछा, "भीम और अर्जुन का क्या समाचार है ?"

"अर्जुन ने सौवीर-नरेश विपुल का वध कर दिया है। चारों पांडव अनेक छोटे-बड़े राजाओं को मित्र बनाते हुए, अपार धन का भंडार संचित करते हुए, वापस हस्तिनापुर की ओर चल पड़े हैं।" विदुर भीष्म की प्रतिक्रिया देखने के लिए रुक गया; किंतु भीष्म निर्विकार भाव से उसकी बात सुन रहे थे। विदुर ने पुनः कहा, "किंतु मथुरा का समाचार अच्छा नहीं है।"

"क्या हुआ मथुरा में ?" भीष्म की आँखों में जैसे जीवन जागा, "क्या कृष्ण पराजित हुआ ?"

"नहीं ! कृष्ण पराजित नहीं हुआ !" विदुर ने उत्तर दिया, "वह समय रहते यादवों को, मथुरा से सुरक्षित निकालकर ले गया है। वे लोग जरासंध और कालयवन की सेनाओं के आने के मार्ग से विपरीत दिशा में गये हैं—पश्चिम दिशा में। सुना है कि कृष्ण उनके लिए

पश्चिमी सागर के तट पर कुशस्थली में एक नवीन नगर बसाना चाहता है।"

"तुम कह रहे थे कि मथुरा का समाचार अच्छा नहीं है?"

"हाँ पितृव्य !" विदुर बोला, "मथुरा इस समय असहाय और असुरक्षित पड़ी है। संभवतः जरासंध और कालयवन उसे जलाकर क्षार कर देंगे। उधर, कृष्ण यादवों को लेकर एक सर्वथा नये मार्ग पर जा रहा है। उसके साथ वृद्ध, स्त्रियाँ और बालक हैं। संभवतः वे सेना की प्रयाण-गति के समान तीव्र वेग से नहीं चल सकते। मार्ग अपरिचित है और बीच-बीच में कृष्ण की अमित्र शक्तियों के राज्य हैं। मथुरा पहुँचकर जब जरासंध किसी को नहीं पायेगा तो वह उनका पीछा करेगा। उसके मार्ग को रोकना सरल नहीं होगा। ऐसे में भय है कि मथुरा के यादवों का मार्ग में ही संपूर्ण विनाश न हो जाये।"

भीष्म चिंतित हो उठे, "किंतु कृष्ण ने किसी से सहायता क्यों नहीं माँगी? उसका कोई दूत हस्तिनापुर तक भी नहीं आया !..."

"यह तो कृष्ण ही जाने पितृव्य !" विदुर बोला, "कृष्ण के विषय में कहा जाता है कि उसकी चिंतन-प्रक्रिया अद्‌भुत है। वह क्षण-भर में अनेक विकल्पों के विषय में सोच लेता है। शत्रु की प्रतिक्रिया को तत्काल भाँप लेता है। भविष्य की घटनाओं का ठीक-ठीक अनुमान कर लेता है। उसके मन की बात का पता तो तब लगता है, जब घटना घटित हो चुकती है।"

"अद्‌भुत है यह कृष्ण भी।" भीष्म बोले और विदुर की उपस्थिति को सर्वथा भूलकर पूर्णतः आत्मलीन हो गये।

4

"दशार्णराज हिरण्य वर्मा के विशेष दूत के रूप में आये, दशार्ण के राजपुरोहित, महाराज के दर्शनों की अनुमति चाहते हैं।" मंत्री ने हाथ जोड़कर पंचालराज द्रुपद से निवेदन किया।

"उन्हें उपस्थित करो।" द्रुपद के चेहरे पर स्वागत की मुस्कान उभरी।

...यह तो बहुत ही अच्छा हुआ कि हिरण्य वर्मा ने स्वयं ही अपने राजपुरोहित को भेज दिया...द्रुपद सोच रहे थे...नहीं तो इन्हीं दिनों उनके मन में भी हिरण्य वर्मा के पास संदेश भिजवाने का विचार बार-बार उभरा था।...शिखंडी का विवाह हो गया था। हिरण्य वर्मा की पुत्री कांपिल्य के राजप्रासाद में सुख से रह रही थी। अब द्रुपद को अपने उस लक्ष्य की ओर बढ़ना ही चाहिए था, जिसके लिए उन्होंने यह संबंध स्वीकार किया था। हिरण्य वर्मा जैसा शक्तिशाली राजा जिसका समधी हो, उस द्रुपद को कौरवों से युद्ध को टालना नहीं चाहिए। पांचालों और दशार्णों की सम्मिलित सेना की शक्ति देखकर, संभव है, कुछ अन्य राजा भी उनके पक्ष में आना चाहें। अब अपने अपमान का प्रतिशोध लेने में और विलंब करने का कोई कारण नहीं है।...

"महाराज की जय हो !" दूत ने उपस्थित होकर कहा, "मैं आपके लिए अपने महाराज के सौहार्द के साथ-साथ एक संदेश भी लाया हूँ।"

"राजपुरोहित !" द्रुपद बोले, "दशार्णराज हिरण्य वर्मा हमारे समधी हैं। अब उनके और हमारे परिवार एक हैं। हममें कोई भेद नहीं है अतः आप निःसंकोच उनका संदेश कहें। मैं उसे सुनने को अत्यंत उत्सुक हूँ।"

किंतु दूत ने संदेश कहा नहीं। वह संकोचपूर्वक द्रुपद की ओर देखता हुआ मौन खड़ा रहा।

"क्या बात है राजपुरोहित !" द्रुपद पुनः बोले, "आप संदेश कह क्यों नहीं रहे ?"

"पंचालराज ! मेरे महाराज का संदेश राजनीतिक नहीं, पारिवारिक है। मेरी इच्छा है कि मैं वह संदेश या तो पूर्ण एकांत में कहूँ, या केवल परिवारजनों के मध्य !" दूत ने रुककर सभा में उपस्थित लोगों पर एक दृष्टि डाली, जैसे देखना चाह रहा हो कि वहाँ कौन-कौन उपस्थित है, "उस संदेश का राजसभा में सार्वजनिक रूप से कहा जाना, इस समय दोनों ही राजपरिवारों के लिए शोभनीय नहीं होगा।..."

द्रुपद के चेहरे पर चिंता की छाया प्रकट हुई...ऐसा कौन-सा संदेश है जो राजसभा में नहीं कहा जा सकता ?... किंतु वैसा आग्रह करना भी उचित नहीं था। जब दूत कह ही रहा है कि संदेश राजसभा के उपयुक्त नहीं है, तो उसकी बात स्वीकार कर ही ली जानी चाहिए। पारिवारिक संदेश...

"आइए !" अंततः द्रुपद बोले, और सभा से उठकर साथ के निजी प्रकोष्ठ में चले गये।

द्रुपद जब आसनासीन हो गये तो दूत ने निकट उपस्थित होकर अत्यंत शालीनता से कहा, "महाराज ! हमारे महाराज हिरण्य वर्मा ने कहलवाया है कि पंचालराज ने उनके साथ कपट किया है। यह उनके लिए कष्टप्रद भी है और अपमानजनक भी।..."

द्रुपद राजदूत को देखते ही रह गये... और फिर जैसे अनायास ही उनके मुख से निकला, "...मैंने हिरण्य वर्मा के साथ कपट किया है ? अपने ज्येष्ठ पुत्र के साथ उनकी पुत्री का विवाह कर उनका अपमान किया है ?..."

"महाराज, मुझे यह कहने के लिए क्षमा करें, किंतु दशार्णराज को यह सूचना मिली है कि आपने अपने जिस पुत्र का उनकी पुत्री के साथ विवाह किया है, आपका वह पुत्र, पुरुष न होकर, स्त्री है।... "

"क्या ?" द्रुपद अपनी उत्तेजना में आसन पर बैठे नहीं रह सके, "मैं अपनी उस संतान के विषय में, जिसका उसके जन्म से आज तक मैंने पालन-पोषण किया है, यह नहीं जानता कि वह स्त्री है या पुरुष, वह मेरा पुत्र है या पुत्री !" उन्होंने आग्नेय नेत्रों से दशार्णराज के दूत को देखा, "महाराज हिरण्य वर्मा अपने घर में बैठे यह जान गये हैं और मुझे संदेश भिजवा रहे हैं कि मेरा पुत्र, पुरुष नहीं, स्त्री है...!"

"हाँ, महाराज ! उन्हें यही सूचना मिली है।" दूत ने सहज भाव से कहा।

"किससे सूचना मिली है उन्हें ?" द्रुपद ने पूछा, "क्या मेरे प्रासाद में उन्होंने अपने गुप्तचर नियुक्त कर रखे हैं ?"

"नहीं महाराज !" दूत गंभीरता से बोला, "आपके साथ अपने संबंध को देखते हुए, वे ऐसी अशिष्टता कैसे कर सकते हैं।..."

"तो फिर उन्हें किसने यह सूचना दी है ? कौन है जो मेरे पुत्र को मुझसे भी अधिक जानता है ?"

"आपकी पुत्रवधू ने अपनी दासियों के माध्यम से यह सूचना अपने पिता तक पहुँचायी है।" दूत ने उत्तर दिया।

द्रुपद स्तब्ध रह गये...यदि शिखंडी की पत्नी कह रही है कि वह पुरुष नहीं है, तो द्रुपद

उसका प्रत्याख्यान कैसे कर सकते हैं ?···किसी पिता को यह कैसे ज्ञान हो सकता है कि उसका पुत्र क्लीव है, निर्वीर्य है ?···किंतु यह दूत तो शिखंडी को स्त्री कह रहा है···

"दशार्णराज की पुत्री ने क्या सूचना दी है ?" द्रुपद का स्वर कोमल और जिज्ञासु हो गया, "मेरा पुत्र क्लीव है ? निर्वीर्य है ? वह पति नहीं हो सकता या पिता नहीं बन सकता ?···"

"राजकुमारी की सूचना है कि राजकुमार शिखंडी पुरुष नहीं, स्त्री है। वह पौरुष-शून्य पुरुष, क्लीव, नपुंसक अथवा निर्वीर्य नहीं, पूर्ण स्त्री है—स्त्री ! और एक स्त्री के लिए किसी राजकुमारी को वधू के रूप में ग्रहण करना अन्याय और अत्याचार है।"

"ठहरो राजपुरोहित ! ठहरो !" द्रुपद ने अपना सिर पकड़ लिया, "मेरे जीवन में अनेक चमत्कारी घटनाएँ घटी हैं, किंतु इतना चकित मुझे किसी ने भी नहीं किया। तुम्हारी सूचना ने वस्तुतः मुझे चकित ही नहीं, ध्वस्त कर दिया है···ओह ! इतने वर्षों तक अपनी जिस संतान को मैं पुरुष समझता रहा, वह वस्तुतः स्त्री है।···" अपनी उद्विग्नता में द्रुपद एक स्थान पर खड़े नहीं रह सके, "किसी और ने यह बात कही होती, तो उसका सिर उसके कंधों पर दिखायी न देता···किंतु यह सूचना स्वयं मेरी पुत्रवधू ने दी है···वह क्लीवता का आरोप लगाती, उसे नपुंसकता से लांछित करती, किंतु स्त्री···शिखंडी स्त्री है ?···मैंने पुत्र के रूप में उसका पालन-पोषण किया है, राजकुमारों के अनुरूप उसे शस्त्र-शिक्षा दी गयी है। वह द्रोण का शिष्य रहा है···और वह स्त्री है !··· "

वे रुक गये। उन्होंने अत्यंत स्थिर दृष्टि से राजपुरोहित को देखा, "आपको कुछ और कहना है राजपुरोहित ?"

"महाराज ! दशार्णराज ने कहा है कि यदि यह सिद्ध न हुआ कि राजकुमार शिखंडी पूर्ण पुरुष है, तो वे अपने इस अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए, अपनी तथा अपने मित्र राजाओं की सेना के साथ पांचालों पर आक्रमण करेंगे और आपको, आपके परिवार तथा मंत्रियों सहित समूल नष्ट कर देंगे··· "

द्रुपद की आँखों में आक्रोश झलका···द्रोण ने उन्हें पराजित क्या कर दिया, जिसे देखो, वही उन्हें आँखें दिखा रहा है···उन्होंने अपने आक्रोश को संयत किया···यह दशार्णराज का न तो अहंकार था, न अकारण शक्ति-प्रदर्शन।···यदि उनका यह आरोप सत्य था तो निश्चय ही उन्हें अधिकार था कि वे अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए पांचालों पर आक्रमण करें···यदि कल द्रुपद की अपनी पुत्री कृष्णा के साथ ऐसी ही कोई दुर्घटना घट जाये तो क्या द्रुपद उसे क्षमा कर देंगे ? कभी नहीं ··· यदि शिखंडी के विषय में यह सूचना सत्य है तो द्रुपद निश्चय ही अपराधी हैं और दंडनीय हैं···

"दशार्णराज के क्रोध और पीड़ा को मैं समझता हूँ राजपुरोहित !" अंततः द्रुपद बोले, "किंतु इतना समय और अवसर तो मुझे मिलना ही चाहिए कि मैं स्वयं इस सूचना के सत्य का अन्वेषण कर सकूँ।"

"कौन इसका विश्वास करेगा कि आपको यह ज्ञात नहीं है कि शिखंडी स्त्री है ?" राजदूत ने कहा, "वह आपकी संतान है।"

"आप ठीक कहते हैं राजपुरोहित !" द्रुपद बोले, "मुझ पर कपटी, पाखंडी और प्रवंचक होने का ही आरोप है अथवा महामूर्ख होने का भी ?···"

"शिव ! शिव !!" राजदूत ने अपने कानों को हाथ लगाया, "यह हम कैसे कह सकते

हैं ! पंचालराज को उनका बड़े से बड़ा शत्रु भी मूर्ख नहीं कह सकता ।"

"तो राजपुरोहित !" द्रुपद बोले, "यदि मैंने अपनी पुत्री को पुत्र बनाकर, संसार के सम्मुख प्रस्तुत करने का कपट और पाखंड किया है, तो मैं उसका विवाह करने की मूर्खता क्यों करता ? कोई भी व्यक्ति समझ सकता है कि विवाह के पश्चात् यह कपट और पाखंड चल नहीं सकता; तो मैं स्वयं ही अपने कपट का भेद प्रकट करने का प्रयत्न क्यों करूँगा ? क्या मैं इस कोटि का महामूढ़ हूँ ?"

दूत मौन खड़ा रहा । द्रुपद का तर्क उसकी समझ में आ रहा था; किंतु कितने आश्चर्य की बात थी कि स्वयं पिता नहीं जानता कि उसकी संतान स्त्री है या पुरुष !...

"इसलिए कहता हूँ राजपुरोहित ! मुझे भी यह अवसर मिलना चाहिए कि मैं सत्य जान सकूँ और आरोपों का परीक्षण कर सकूँ...।"

"आप ठीक कहते हैं महाराज !" अंततः दूत बोला, "यह अधिकार तो किसी को भी मिलना ही चाहिए ।"

"तो राजपुरोहित ! आप अतिथिशाला में विश्राम करें ।" द्रुपद बोले, "मुझे अवसर दें कि मैं अपने मन का पूर्ण संतोष कर लूँ और आपको दशार्णराज के लिए कोई उपयुक्त उत्तर दे सकूँ ।"

"जैसी महाराज की इच्छा !" दूत सहमत हो गया ।

द्रुपद फिर राजसभा में नहीं जा सके । उन्होंने महामंत्री को सूचना भिजवा दी और विश्राम-कक्ष में चले आये । दासी को आदेश दे दिया कि किसी को भी भीतर न आने दे...और आकर वे गवाक्ष पर खड़े हो गये । गवाक्ष से गंगा की धारा दिखायी देती थी और कुछ एक घाट भी । इस प्रकार एकांत में अपने चक्षुओं से गंगा-सेवन करने से, उन्हें प्रायः अपनी चिंताओं से विश्राम मिलता था...

आरंभ में तो द्रुपद के मन में जैसे एक ज्वार उठा था कि वे इसी समय शिखंडी को बुलाकर सार्वजनिक रूप से कहें कि वह सिद्ध करे कि वह स्त्री नहीं, पुरुष है...और यदि वह पुरुष नहीं है, तो उसने अपने माता-पिता को भी भ्रम में क्यों रखा ?...पुरुष-वेश का यह कपट किसलिए ?...किंतु अगले ही क्षण उनके विवेक ने उनके क्रोध के ज्वार को भाटा में परिणत कर दिया...क्रोध में कुछ भी करना उचित नहीं था...यदि शिखंडी स्वयं को पुरुष प्रमाणित न कर सका तो यह उसके लिए ही नहीं, स्वयं उनके अपने लिए भी अत्यंत अपमानजनक होगा...यदि शिखंडी का पुरुषत्व मिथ्या सिद्ध हुआ तो उसके लिए कौन शिखंडी को दोषी मानेगा...और शिखंडी उसके लिए दोषी हो भी कैसे सकता है ? वह आज युवक है, किंतु जब उसका जन्म हुआ था...उस समय तो उसने नहीं कहा होगा कि वह कन्या नहीं है...उसकी धाय और उसकी माता ने स्वयं देखा होगा कि सद्यःजात शिशु कन्या है या कुमारक !...शिखंडी ने तो उन्हें आकर सूचना नहीं दी थी कि उन्हें पुत्र-लाभ हुआ है !... यह सूचना तो उन्हें दासी ने दी थी...और दासी को यह सूचना प्रसाविका ने दी होगी...किंतु प्रसाविका मिथ्या-भाषण क्यों करेगी ?...क्या केवल अधिक पुरस्कार के लोभ में ?...क्या वह यह नहीं जानती कि जिस दिन यह भ्रम भंग होगा, उस दिन उसे इस अनृत के लिए मृत्यु-दंड भी मिल सकता

है?···और यदि आरंभिक असत्य प्रसाविका के मुख से ही निकला, तो भी इतने वर्षों तक इस भ्रम को किसने बनाये रखा? किसने शिखंडी को पुरुष-वेश दिया ? किसने उसे बताया कि वह कुमारक है, कन्या नहीं··· ?

···उन दिनों पटरानी से निराश होकर द्रुपद ने संतान के लिए दूसरा विवाह किया था और उन्हें आज भी स्मरण है···उन्होंने अपनी दूसरी रानी मनस्विनी से कहा था—'रानी ! मुझे पुत्र की तीव्र आकांक्षा है । मेरा पुत्र नहीं होगा तो उस कुरु-वृद्ध भीष्म का वध कौन करेगा ?'

मनस्विनी ने उन्हें निःसंकोच देखा था—'राजन् ! अपनी वंश-परंपरा चलाये रखने के लिए तो अनेक लोग पुत्र की कामना करते हैं; किंतु किसी के वध के लिए···'

'तुम नहीं जानतीं रानी !' द्रुपद ने कहा था—'हमारा तो इतिहास ही कुछ ऐसा है । कुरुओं से पांचालों की परंपरागत अमैत्री है । प्रत्येक पीढ़ी इस अमैत्री को थोड़ा-सा और खिसकाकर, शत्रुता की ओर बढ़ा देती है···और प्रत्येक पांचाल राजा अपने पुत्र से कहता है, कि वह कुरुओं से प्रतिशोध अवश्य ले । कुछ-न-कुछ होता भी रहता ही है; किंतु भीष्म के जीवित रहते पांचाल कुछ नहीं कर सकते । भीष्म का वध आवश्यक है । पांचालों को एक ऐसा राजकुमार चाहिए, जो भीष्म का वध कर, कुरुओं को पांचाल-शक्ति का बल दिखा सके ।···मुझे तुमसे एक पुत्र चाहिए देवी ! एक पुत्र, जो भीष्म का वध कर सके ।···'

तो द्रुपद का यह पुत्र-संबंधी अनुरोध इस प्रकार पूरा किया गया ?···द्रुपद को लगा, उनके पग केवल चल नहीं रहे, धमक उत्पन्न कर रहे हैं । उनका आक्रोश उन्हें निरंतर तपा रहा था और उनका विवेक था कि उन्हें अपने आक्रोश को रंच मात्र भी अभिव्यक्त नहीं करने दे रहा था···

शिखंडी को देखकर उन्हें सदा ही लगा था कि यह कन्या-राशि का बालक है··· कोमल··· भीरु···मौन···संकोची ! जब तक उसकी बाल्यावस्था थी, तब तक तो फिर भी उनका ध्यान उसकी ओर अधिक नहीं गया···तब तक वह अपने समवयस्कों से न अध्ययन में पीछे था, न क्रीड़ाओं में, न शारीरिक बल में, न शारीरिक विकास में ।···किंतु किशोरावस्था के आते ही, जैसे वह अपने समवयस्कों से पिछड़ने लगा । वह उनके समान न ऊँचाई में बढ़ रहा था, न उसकी भुजाएँ उस प्रकार पुष्ट थीं । उसका अधिकांश समय एकांत में व्यतीत होता था । वह अपने शरीर को अन्य किशोरों की तुलना में ढँके भी अधिक रहता था···क्या यह सब केवल इसलिए था कि शिखंडी किशोर न होकर किशोरी है ?···वे यह तो देखते रहे और कहते रहे कि वह कोमल है, आकार-प्रकार में भिन्न है, कन्या राशि का किशोर है; किंतु यह कभी नहीं सोचा कि वह सचमुच ही कन्या है ···उन्होंने तो उसे राजकुमारों जैसी शिक्षा प्राप्त करने के लिए द्रोणाचार्य के पास भेज दिया था । क्या द्रोण भी उसकी वास्तविकता नहीं जान सके ?···शिष्य, गुरु के निकट रहता है तो असंख्य अवसर ऐसे आते हैं, जब ऐसे तथ्य छिपाए नहीं जा सकते—व्यायाम के समय, सरिता-स्नान के समय, अभ्यास के समय···किंतु द्रोण ने तो कभी शिखंडी को यह कहकर नहीं लौटाया कि वह किशोर नहीं; किशोरी है !···क्या शिखंडी ने द्रोण को भी भ्रम में रखा ? अथवा द्रोण ने स्वयं ही द्रुपद को भ्रम में रखा ?···अथवा···अथवा···शिखंडी पुरुष है और हिरण्य वर्मा और उसकी पुत्री ही भ्रम में हैं ?

द्रुपद ने रुककर द्वार की ओर देखा, "रानी मनस्विनी को बुला लाओ । इसी समय, तत्काल !"

रानी को संदेश मिला तो वह धक्-सी रह गयी। उसे इतना तो ज्ञात था ही कि कांपिल्य से हिरण्य वर्मा का दूत आया है; किंतु उसे यह ज्ञात नहीं हो सका था कि दूत क्या संदेश लाया है।''' फिर भी उसका आशंकित मन, प्रत्येक श्वास पर चौंकता था''वह जानती थी कि वर्षों से छिपाया गया यह भेद अव और नहीं छिप सकता''शिखंडी का विवाह इस रहस्य से आवरण उतार ही देगा। शिखंडी सारे विश्व को भ्रम में रख सकता है, किंतु अपनी पत्नी को कैसे भ्रम में रखेगा ?'''

संभव है कि कोई और ही वात हो—रानी ने अपने मन को समझाया—महाराज उसके पति हैं। पति द्वारा पत्नी को वुलाया जाना कोई ऐसी असंभावित वात तो नहीं है। संभव है, राजा को उनसे कोई काम हो; संभव है, अपने किसी वोझ को रानी के साथ वाँटकर हल्का करना चाहते हों; संभव है, वे कुछ समय के लिए उनकी संगति चाहते हों''रानी की वुद्धि, एक के पश्चात् एक नया तर्क खोज रही थी, और उसका मन था कि एक ही रट लगाये हुए था—'नहीं ! और कोई भी वात नहीं हो सकती। हिरण्य वर्मा का दूत आया है, तो और कोई वात हो ही नहीं सकती'''

रानी ने कक्ष में प्रवेश किया।

द्रुपद रानी की ओर मुड़े : रानी के मन का भय, उसकी आशंकाएँ और दुविधाएँ—सव कुछ उसके आनन पर प्रतिविंवित था। द्रुपद ने दासी को वाहर जाकर, कपाट भिड़ा देने का संकेत किया। दासी ने वैसा ही किया।

"मनस्विनी !"

"महाराज !"

"हिरण्य वर्मा का दूत कहता है कि हमारा पुत्र शिखंडी, पुरुष नहीं, स्त्री है''कन्या है'''"

रानी ने देखा, यही एक क्षण था, जव वह अपनी त्रुटि सुधार सकती थी। यदि आज उसने सत्य नहीं कहा तो वह कभी यह स्वीकार नहीं कर सकेगी; और झूठ को प्रमाणित कर दिखाने का उसके पास कोई उपाय नहीं था''किंतु उसके कंठ से शब्द तो फूटे''

द्रुपद रानी के निकट आ गये और अत्यंत कोमल स्वर में वोले, "क्या यह सत्य है रानी ?"

रानी ने अपना संपूर्ण साहस जुटाकर द्रुपद की ओर देखा मगर जैसे अनायास ही उसके मुख से निकल गया, "हाँ, आर्यपुत्र !"

द्रुपद का नियंत्रित आवेश उनके एक-एक रोम से प्रकट हो रहा था; और रानी का आशंकित मन अनवरत एक ही रट लगाये हुए था कि यह नियंत्रण किसी भी क्षण टूट सकता है''

"तो मुझे भ्रम में क्यों रखा गया ?" द्रुपद का स्वर कठोर नहीं था, किंतु उसकी ध्वनि सर्वथा निर्मम थी।

रानी ने अपनी असहायता में सहमकर राजा की ओर देखा।''किंतु द्रुपद ने भी देखा कि उन आँखों में भूल की स्वीकृति नहीं, असहायता और उपालंभ ही अधिक था''

"मुझे भ्रम में क्यों रखा ?" उन्होंने दुहराया; किंतु इस वार कदाचित् वे स्वयं अपने-आप से ही प्रश्न कर रहे थे।

रानी को कुछ वल मिला। राजा आक्रामक नहीं थे। वे रानी को उसका अपराध वताकर उसे ताड़ना देने के लिए यह सव नहीं कह रहे थे। वे तो जैसे एक जाले में फँस गये थे और

उसमें से मुक्त होने के लिए तड़प रहे थे। यदि वे मुक्त हो गये, तो क्या मुड़कर देखेंगे कि जाल किसका था ? किसने फैलाया था ? किस पदार्थ का बना था ?···कदाचित् नहीं···

"महाराज !" रानी बोली, "आपको स्मरण होगा, मैं आपकी दूसरी रानी थी।···"

"हाँ ! क्यों ?" द्रुपद रानी के इस प्रश्न की प्रासंगिकता नहीं समझ पा रहे थे।

"आपको यह भी स्मरण होगा कि पहली रानी के होते हुए भी, आपने दूसरा विवाह क्यों किया था ?"

"पटरानी का तब तक कोई पुत्र नहीं था।···"

"पटरानी का कोई पुत्र नहीं था, इसलिए पुत्र के लिए आपने दूसरा विवाह किया। विवाह के पश्चात् मुझे बार-बार याद दिलाया गया कि आपको एक ऐसा पुत्र चाहिए, जो कुरुश्रेष्ठ भीष्म का वध कर सके।···"

"हाँ, रानी !"

"ऐसे में यदि प्रसव के पश्चात् मैं आपको यह सूचना भिजवाती कि कन्या का जन्म हुआ है, तो आपके प्रासाद में मेरी क्या सार्थकता रह जाती ? संभवतः आप तीसरा विवाह करते··· "

द्रुपद अपनी आँखों में शून्य भरे रानी को देखते रहे। उनकी स्थिति ऐसी हो रही थी, जैसे वे कोई ऐसा स्वप्न देख रहे हों, जिसमें वे देख और सुन तो सकते हों, किंतु कर कुछ न सकते हों···बोलते हों तो कंठ से शब्द न फूटता हो, हिलना चाहते हों तो शरीर उनका आदेश न मानता हो···

"किंतु आर्यपुत्र ! आपको भ्रम में रखने की मेरी तनिक इच्छा नहीं थी···।"

"तो क्या इच्छा थी तुम्हारी ?" द्रुपद जैसे बड़े प्रयत्न के पश्चात् ही कह पाये।

"मैं कुछ समय प्राप्त करना चाहती थी···दूसरे प्रसव तक का समय !" रानी सिर झुकाकर धीरे से बोली, "मुझे आशा थी कि दूसरे प्रसव में मैं पुत्र को जन्म दूँगी। पुत्र के जन्म के पश्चात् मैं आपको शुभ सूचना देती और पिछले भ्रम का निवारण भी कर देती···किंतु···!" उसने रुककर राजा की ओर देखा, "दूसरे प्रसव का अवसर ही नहीं आया तो मैं पिछले भ्रम का निवारण कैसे करती···?"

द्रुपद एक ठंडी भावहीन दृष्टि से अपने आस-पास देखते रहे···फिर अकस्मात् रानी की ओर मुड़े, "यदि तुम जानती थीं कि शिखंडी पुरुष नहीं है, तो इस शिखंडिनी का विवाह क्यों किया तुमने ? क्या तुम्हें इतनी भी बुद्धि नहीं है कि समझ पातीं कि उसके विवाह के पश्चात् यह रहस्य किसी भी प्रकार अनुद्घाटित नहीं रह सकेगा ? शिखंडिनी के जन्म पर नहीं बताया था, तो उसके विवाह के पूर्व तो मुझे सावधान कर देतीं।···" द्रुपद का स्वर कातर हो उठा, "तुम नहीं जानतीं कि तुमने किस संकट में डाल दिया है, हम सबको ···"

"आर्यपुत्र !" मनस्विनी अत्यंत शांत स्वर में बोली, "अब जब सब कुछ उद्घाटित हो ही गया है, तो अपने मन का पाप आपसे कह ही देती हूँ··· "

द्रुपद ने सिर उठाकर रानी की ओर देखा···अब यह कौन-सा नया रहस्य उद्घाटित करने जा रही है ?

"पटरानी की जुड़वाँ संतानों को जन्म के पश्चात् मुझमें तनिक भी साहस शेष नहीं रह गया था कि मैं आपको शिखंडी के कन्या होने की सूचना देती···आपने पटरानी का तिरस्कार कर पुत्र के लिए मुझे स्वीकार किया था···और अब स्थिति यह थी कि तिरस्कृत रानी ने आपको

पुत्र भी दिया था और पुत्री भी; और एक मैं थी जो आपकी अपेक्षा पर खरी नहीं उतरी थी···यह भ्रम बना हुआ था कि मैं ज्येष्ठ पुत्र की माता थी···आपको पहला पुत्र देने वाली··· ।"

"तुम शिखंडी को युवराज बनाना चाहती थीं ?" द्रुपद जैसे तड़पकर बोले ।

"नहीं आर्यपुत्र !" रानी ने भी उसी तत्परता से उत्तर दिया, "राज्य का लोभ कभी नहीं रहा मुझे; किंतु मैं राजपरिवार में अपना सम्मान बनाये रखना चाहती थी···पुत्रवती से पुत्रहीना नहीं होना चाहती थी ।···"

"तुम स्त्रियों की ईर्ष्या, स्पर्धा और आकांक्षा···" द्रुपद पहली बार अनियंत्रित होकर बोले, "अपने प्रासाद की प्राचीर के भीतर तुम अपनी सपत्नी से युद्ध करती रहतीं, तो और बात थी; किंतु अब तुमने मुझे दशार्णराज की सेना के सम्मुख निरीह स्थिति में डाल दिया है । उन्होंने मुझे मित्रों, संबंधियों और मंत्रियों सहित यमलोक भेज देने की धमकी दी है···यदि हमने तत्काल शिखंडी के पुरुष होने का प्रमाण नहीं दिया तो वे पांचालों पर आक्रमण करेंगे ।"

"तो क्या हो गया आर्यपुत्र !" मनस्विनी बोली, "वे अपनी शक्ति के मद में डूबे पांचालों पर आक्रमण करना चाहते हैं, तो कर लें—न आर्यपुत्र दुर्बल हैं, न पुत्र धृष्टद्युम्न, न पांचाल ही भीरु हैं । दशार्णराज आक्रमण नहीं कर रहे, अपनी मृत्यु को निमंत्रण दे रहे हैं ।"

"तुम ठीक कह रही हो रानी !" द्रुपद टहलते हुए रानी से दूर चले गये, "किंतु द्रुपद, धृष्टद्युम्न तथा पांचालों का क्षत्रियत्व, अधर्मयुद्ध के लिए नहीं है । हम हिरण्य वर्मा के अपराधी हैं; किंतु इसलिए अपनी शक्ति के बल पर एक धर्मप्राण राजा तथा उसकी सेना को नष्ट नहीं कर सकते । धृष्टद्युम्न ने अग्नि-दीक्षा इसलिए नहीं ली कि अपनी माता के असत्य की रक्षा करने के लिए, अपनी पुत्री के सत्य के लिए युद्ध करने वाले हिरण्य वर्मा को अपने शस्त्रबल से नष्ट कर दे । हमारे शस्त्र अधर्म और अन्याय के दमन के लिए हैं रानी ! उनको स्थापित करने के लिए नहीं !"

"तो आप उनसे युद्ध नहीं करेंगे ?"

"यदि शिखंडी पुरुष नहीं है, तो हिरण्य वर्मा से युद्ध करना अधर्म है ।···अपने पापों का दंड हम दूसरों को नहीं दे सकते रानी ! अपनी शक्ति का दुरुपयोग हम नहीं करेंगे । पांचालराज द्रुपद, किसी को प्रवंचित भी करे और अपनी सैनिक शक्ति से उसे नष्ट भी कर दे—ऐसा संभव नहीं है । मैं क्षत्रिय राजा हूँ, अनार्य दस्यु नहीं ।···तुम्हारा धर्म था कि शिखंडी के विवाह से पूर्व, तुम मुझे वास्तविकता बता देतीं···।" द्रुपद का स्वर कातर हो उठा था ।

"आर्यपुत्र !" रानी बोली, "आप स्मरण करने का प्रयत्न करेंगे को आपको याद आ जायेगा कि इस विवाह के लिए मैं उत्सुक नहीं थी । इसके लिए आप ही अधिक उत्सुक थे और उत्कंठित थीं आपकी पटरानी···"

"मैं उत्सुक था कि अपने पुत्र का विवाह कर एक धर्मपरायण शक्तिशाली क्षत्रिय राजपरिवार से संबंध स्थापित करूँ, ताकि हस्तिनापुर के विरुद्ध हम अधिक बलवान हो सकें । मैं अपने पुत्र के विवाह के माध्यम से धर्मपरायण शक्तिशाली आर्य राजाओं को अधर्म के विरुद्ध संगठित करने का प्रयत्न कर रहा था···।"

"और आपकी पटरानी इस संबंध से अपनी सपत्नी और उसके पुत्र को ध्वस्त करने का प्रयत्न कर रही थीं ।···"

"धृष्टद्युम्न की माता ?"

"हाँ, महाराज !"

"उसने विमाता होकर भी यदि शिखंडी के विवाह में उत्साह दिखाया तो यह उसकी उदारता है मनस्विनी !"

"नहीं महाराज ! उन्हें किसी प्रकार यह संदेह हो गया था कि शिखंडी वह नहीं है, जो वह दिखायी देता है। इसलिए वे चाहती थीं, कि उसके विवाह की चर्चा चले। यदि शिखंडी अथवा मेरी ओर से विवाह का विरोध होता तो वे हमारा रहस्य प्रकट कर सकती थीं; और यदि विवाह हो जाता तो कुछ इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो सकती थी, जैसी अब हो गयी है। वे जानती थीं, कि मैं और मेरा पुत्र न विवाह को स्वीकार करने की स्थिति में थे, न उसका तिरस्कार करने की" मनस्विनी बोली, "स्वयं को असहाय पाकर मैंने विधाता के सम्मुख पूर्ण समर्पण कर दिया था आर्यपुत्र ! किंतु आपको सत्य बताने का साहस न कर सकी···।"

द्रुपद चुपचाप टहलते चले गये।···जब कक्ष के कई चक्कर लगा चुके तो बोले, "अब मुझे बताओ, मैं क्या करूँ ?···मैं निरपराध दशार्णराज के साथ युद्ध कर व्यर्थ ही निरीह हत्याएँ करना नहीं चाहता और न ही यह देख सकता हूँ कि उनके शस्त्रों के सम्मुख पांचाल निर्विरोध कटते रहें।"

"मैं क्या कह सकती हूँ देव !" मनस्विनी धीरे से बोली, "हम दशार्णराज के अपराधी तो हैं ही। यदि हम उनसे संघर्ष नहीं चाहते, तो हमें अपना अपराध स्वीकार कर लेना चाहिए···।"

द्रुपद ने मनस्विनी की ओर इस प्रकार देखा, जैसे न तो उससे सहमत हो पा रहे हों और न ही उसका विरोध कर पा रहे हों। फिर बोले, "यदि बात मेरे और हिरण्य वर्मा के मध्य ही होती तो कदाचित् मैं क्षमा माँग भी लेता; किंतु जब यह घटना प्रचारित होगी, तो सारा आर्यावर्त्त ही नहीं, सारा जंबूद्वीप जानेगा कि द्रुपद प्रवंचक है। वह इतना पतित है कि उसने अपनी पुत्री के लिए हिरण्य वर्मा की दुहिता को वधू के रूप में अंगीकार किया···।"

मनस्विनी ने अपने पति को इस प्रकार देखा, जैसे पूछ रही हो—तो ?

द्रुपद कुछ देर आत्मलीन रहे; फिर जैसे किसी निष्कर्ष पर पहुँचकर बोले, "तुम जाओ रानी ! और शिखंडी को मेरे पास भेजो। मैं उससे पूछूँ तो सही कि उसने इतने दिनों तक मुझे भ्रम में कैसे रखा···?"

"उसमें उसका क्या दोष है आर्यपुत्र ! सद्यःजात शिशु क्या जानता है कि वह कन्या है अथवा कुमारक ! उसे तो जैसे रखा गया, वैसे ही रहा। सत्य जानने पर, उसे प्रकट करने की उसकी इच्छा हुई भी होगी, तो वह अपना संकोच न तोड़ पाया होगा···।"

"मैं उसके दोष की बात नहीं कर रहा हूँ।" द्रुपद बोले, "मैं उसके कौशल की चर्चा कर रहा हूँ। उसने इतने वर्षो तक सारे संसार को भ्रम में रखा था : क्या वह अपनी पत्नी को भी भ्रम में नहीं रख सकता था ?" द्रुपद कुछ-रुककर बोले , "इस समय तो मुझे उससे यही कहना है कि या तो वह अपने श्वसुर को विश्वास दिलाये कि वह पुरुष है, या फिर अपनी पत्नी से कोई ऐसी संधि करे कि वह इस रहस्य को सदा के लिए अनावृत ही रहने दे; अन्यथा मेरे पास सिवाय आत्महत्या के और कोई मार्ग नहीं बचेगा···।" वे गवाक्ष की ओर मुड़ गये, "जाओ ! किसी से कहलवाकर उसे मेरे पास भेज दो।"

मनस्विनी ने दासी को शिखंडी के पास भेजना उचित नहीं समझा । उसे बिना सारी स्थिति समझाए, बिना कोई चेतावनी दिये, इतनी बड़ी चुनौती का सामना करने के लिए भेज देना, किसी भी प्रकार न्याय नहीं है । अब तक जो कुछ हुआ, उसके लिए न वह दोषी था और न ही उसका दायित्व उसपर डालना ही उचित था । उसका जिस रूप में पालन- पोषण किया गया, वह उसी को स्वीकार कर बड़ा होता गया...

रानी शिखंडी के कक्ष में आयी । संयोग से वह उसे अपने कक्ष में ही मिल गया । वह कांपिल्य में घटी इन सारी घटनाओं से अनभिज्ञ, आखेट पर जाने की तैयारी में था ।...रानी को उसपर दया आयी । वस्तुतः उसकी यह पुत्री, माता की परिस्थितियों के दुर्भाग्य के जाल में फँस गयी थी: और उसी को अपनी नियति मानकर तद्नुरूप जीवन व्यतीत कर रही थी । यह शिखंडिनी, जिसे इस समय या तो अपने पति के घर होना चाहिए था, अथवा पति के स्वप्न देखने चाहिए थे—क्षत्रिय राजकुमार के समान आखेट की तैयारी कर रही थी ।...जिसे अपने रूप को सँवारकर, पुरुष मन को मथने का प्रयत्न करना चाहिए था, वह विभिन्न व्यायामों, मुद्राओं, अभ्यासों तथा वस्त्रों की सहायता से अपने सारे नारी सौंदर्य को नष्ट करने पर लगी थी । जिन समृद्ध उरोजों और नितंबों को, उसके आकार- प्रकार को एक नैसर्गिक आकर्षण देना चाहिए था, वे उसके कठोरता से बँधे वस्त्रों में स्वयं को विलीन करने को बाध्य थे; जिन नयनों को कटाक्ष बरसाने चाहिए, वे अपनी चपलता त्याग, गंभीरता के जाल बुन रहे थे; जिन अधरों पर संसार का मधुरतम संगीत होना चाहिए था, उनको वह अपनी दृढ़ता के प्रतिनिधि बनाने पर तुली थी...

"आओ माता !" शिखंडिनी ने स्नेह से मुस्कराते हुए उसका स्वागत किया ।

"पुत्र शिखंडी !" मनस्विनी ने अपने अभ्यासानुसार उसे संबोधित किया, "मैं एक बड़ी जटिल समस्या लेकर तुम्हारे पास आयी हूँ ।"

"आदेश करें माता !" शिखंडिनी बोली, "क्षत्रिय राजकुमारों का तो जीवन ही जटिल समस्याएँ सुलझाने के लिए होता है ।"

"पुत्र !"

"क्या बात है माता ?" शिखंडिनी के स्वर में वह आश्वासन था, जो असहाय संतान से बात करते हुए पिता के स्वर में होता है ।

"क्या तुम्हारे मन में कभी नहीं आता कि तुम सहज रूप से अपना श्रृंगार करो, अपने नारी सौंदर्य से पुरुष मन को आकृष्ट करो ?"

"आज यह क्यों पूछ रही हैं माता ?"

"तुम्हें अपने साथ यह अत्याचार करते देखकर सहज ही मन में यह जिज्ञासा उठती है पुत्र !..."

"यदि ऐसा हुआ होता तो कदाचित् मैं कब से अपने इस छद्मवेश को उतार फेंकता माँ !" शिखंडिनी बोली, "मुझे तो अपने इस शरीर पर रोष आता है—क्यों मुझे नारी का शरीर मिला...! "

"क्योंकि तुम एक नारी हो ।..."

"नहीं !" शिखंडिनी बोली, "आपका विचार सत्य नहीं है माता ! मैं नारी होकर पुरुष वेश धारण किये हुए नहीं हूँ । मैं पुरुष हूँ, जिसे विधाता ने किन्हीं अज्ञात कारणों से नारी

शरीर वहन करने के लिए बाध्य कर दिया है।…"

"शिखंडी !"

"हाँ, माता !" शिखंडिनी बोली, "मुझे यह वेश-भूषा कभी बोझ नहीं लगी; वरन् मुझे आक्रोश इस बात का था कि मुझे अपने नारी शरीर को छिपाने के लिए अनावश्यक वस्तु क्यों धारण करने पड़ते हैं। अपने नयनों के कटाक्ष से किसी प्रशस्त-वक्ष पुरुष को आहत करने की आकांक्षा मेरे मन में कभी नहीं जागी ; वरन् मैंने तो सदा अपने बाणों से वन में उन्मुक्त घूमते व्याघ्रों को असमर्थ कर देने का स्वप्न देखा है…।"

"विचित्र संयोग है पुत्र !" मनस्विनी समझ नहीं पायी कि वह शिखंडिनी से कह रही है अथवा स्वयं अपने-आपसे, "अपने स्वार्थ के कारण अपनी जिस पुत्री के शरीर को मैंने पुरुष-वेश दिया था, उसका शरीर तो परिवर्तित हुआ नहीं, उसका मन परिवर्तित हो गया।…"

"मुझे मालूम नहीं है माता, कि आपके द्वारा दिये गये पुरुष-वेश के कारण मेरा मन परिवर्तित हो गया, अथवा मेरा मन जन्म से ही पुरुष मन था, इसलिए उसे पुरुष वेश ही प्रिय रहा…।"

सहसा मनस्विनी चौंकी, "पुत्र ! इस समय हम सब संकट में हैं। इसीलिए तुम्हारे पास आयी हूँ…।"

"क्या हुआ माता ?"

"तुम्हारे श्वसुर को ज्ञात हो गया है कि तुम स्त्री हो, इसलिए वे अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए पंचाल पर आक्रमण करने वाले हैं; और तुम्हारे पिता यह युद्ध, किसी भी मूल्य पर करना नहीं चाहते…।"

"ओह !"

"एक प्रश्न पूछती हूँ पुत्र !" मनस्विनी बोली, "यदि उत्तर न देना चाहो तो तुम्हें बाध्य नहीं करूँगी।"

"पूछें माता !"

"मैं तुम्हारे विवाह का प्रस्ताव अस्वीकार करने का साहस न कर सकी ; किंतु तुमने उसका विरोध क्यों नहीं किया ?" मनस्विनी ने शिखंडिनी की ओर देखा, "क्या तुम्हें यह भय नहीं था कि तुम्हारा रहस्य उद्‌घाटित हो जायेगा और तुमको सबके सम्मुख लज्जित होना पड़ेगा ?"

शिखंडिनी ने तत्काल उत्तर नहीं दिया। उसके हाथ अपने बाणों से खेलते रहे और उसका मन कुछ सोचता रहा। अंततः वह बोली, "रहस्य खुलने का भय मुझे था; किंतु एक कमनीय, कोमल, नारीत्व से पूर्ण किशोरी मेरी भुजाओं में होगी, इस सुख की कल्पना इतनी मादक थी कि मेरी बुद्धि मदांध हो गयी थी।…उस समय मैंने इस पक्ष पर तनिक भी विचार नहीं किया कि इस कमनीय, कोमल, नारीत्व से पूर्ण किशोरी को मद में विह्वल कर देने के लिए, एक पूर्ण पुरुष शरीर चाहिए, जो मेरे पास नहीं है…।"

मनस्विनी स्तंभित रह गयी : उसने तो कभी अपनी पुत्री के मन को जानने का प्रयत्न ही नहीं किया था। वह क्या जानती थी कि अपनी जिस पुत्री को उसने अन्य लोगों के लिए रहस्य बना रखा है, वह स्वयं उसके लिए भी रहस्य ही है…

"तो तुमने अपने नारीत्व को दशार्णराज कुमारी से छिपाया भी नहीं ?…"

"नहीं माता ! यदि मैं स्वयं को उससे छिपाता, तो उसके लिए मुझे उससे दूर रहना पड़ता ।" शिखंडिनी बोली, "जिस कमनीय कन्या की कल्पना ने मुझे मदांध कर रखा था, उसे अपने कक्ष के एकांत में अपने बिस्तर पर पाकर, मैं अपने- आपको रोक नहीं सका । मैंने उसे समझाया कि काम- सुख के उपकरण अपने ही शरीर में होते हैं । दूसरा व्यक्ति तो उन्हें प्रेरित भर करता है । इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि प्रेरित करने वाले का शरीर स्त्री का है या पुरुष का ।…मैंने अपने इस शरीर के साथ भी उसे पूर्ण सुख दिया माँ ! और स्वयं भी काम- सुख से आह्लादित हुआ…।"

"किंतु वह उस सुख से आप्यायित नहीं हुई पुत्र !" मनस्वनी बोली, "उसने अपनी दासियों को इस सूचना के साथ अपने पिता के पास भेज दिया कि तुम पुरुष नहीं, स्त्री हो…।"

"ओह !" शिखंडिनी कुछ देर के लिए जैसे अन्यमनस्क हो गयी; और फिर जब उसका ध्यान अपनी माता की ओर लौटा तो उसने पूछा, "अब आप क्या चाहती हैं माता ?"

"मैं तो केवल तुम्हारा सुख चाहती हूँ पुत्र !" मनस्विनी बोली, "किंतु इस समय मैं तुम्हारे पिता का संदेश लायी हूँ ।"

शिखंडिनी ने अपनी माता की ओर देखा ।

"वे चाहते हैं कि या तो तुम अपने श्वसुर के सम्मुख अपना पुरुषत्व प्रमाणित करो, या फिर अपनी पत्नी से किसी प्रकार कोई ऐसी संधि कर लो, जिससे वह तुम्हारा रहस्य उद्घाटित न करे…।"

"और यदि मैं दोनों में असफल हुआ माता, तो ?" शिखंडिनी ने कुछ क्षण मौन रहकर पूछा ।

"ऐसी स्थिति में यदि तुम्हारे पिता ने आत्महत्या न कर ली तो दशार्णराज हिरण्य वर्मा पंचाल पर आक्रमण करेंगे और राजपरिवार के किसी भी सदस्य को जीवित नहीं छोड़ेंगे; क्योंकि तुम्हारे पिता उनका प्रतिरोध करना धर्मसंगत नहीं मानते…।" मनस्वनी ने शिखंडिनी की ओर देखा, "तुम्हारे पिता इसी क्षण तुमसे मिलना चाहते हैं…।"

मनस्विनी को लगा, उसका कंठ अवरुद्ध हो रहा है और अपनी असहायता पर वह एक बार वक्ष फाड़कर रो लेना चाहती है…

"माता !" शिखंडिनी ने माँ के कंधे पर हाथ रखा ।

उस स्पर्श ने जैसे मनस्विनी के मन में आये सारे अवरोध हटा दिये । वह फफककर रो पड़ी, "संसार में कोई मेरे जैसी भी अभागी माता होगी पुत्र !" वह बोली, "मैंने अपने स्वार्थवश तुम्हें इस कठिनाई में डाला । तुम्हारा सारा जीवन नष्ट किया; और मैं ही तुम्हें यह संदेश दे रही हूँ कि अपना पुरुषत्व प्रमाणित करो…।"

शिखंडिनी गंभीर हो गयी, "इन सब बातों के लिए, यह समय नहीं है माता ! इस समय तो पांचालों को बचाना है, सोमकों की रक्षा करनी है और कांपिल्य की शांति को अक्षुण्ण बनाये रखना है…।"

"तो तुम क्या करोगे पुत्र ?"

"आप जायें ! निश्चिंत होकर विश्राम करें ।" शिखंडिनी बोली, "मैं कोई- न- कोई मार्ग निकाल लूँगा ।…"

द्रुपद प्रतीक्षा करते रहे, किंतु शिखंडी उनसे मिलने नहीं आया। उन्हें आश्चर्य हुआ। पंचाल के राजप्रासाद में माता-पिता के आदेशों की इस प्रकार उपेक्षा नहीं की जाती...

उन्होंने दासियों के साथ सैनिक संदेशवाहक भी भेजे; किंतु शिखंडी नहीं आया। संदेश-वाहकों ने लौटकर बताया कि शिखंडी अपने कक्ष में नहीं था। उसकी परिचारिकाओं ने बताया कि उसने अपनी माता, रानी मनस्विनी के साथ देर तक वार्तालाप किया था। उसके पश्चात् वह अपने कक्ष से निकलकर, कहीं बाहर चला गया था। जाने से पूर्व वह एक पत्र अपनी निजी परिचारिका को दे गया था कि जब महाराज स्वयं अथवा उनके सैनिक उसे खोजते हुए आयें तो वह पत्र उनको दे दिया जाये; किंतु उस पत्र को पढ़ने का अधिकार, केवल महाराज द्रुपद को ही होगा।...

द्रुपद अपने हाथ में पत्र लिये बैठे रहे...कहाँ चला गया शिखंडी ?...उन्हें इस कष्ट में फँसा देख, वह स्वयं को बचाने के लिए भाग गया ?...पर भागकर कहाँ जायेगा ?...कहीं वह अपने श्वसुर के पास ही तो नहीं चला गया ?...

उनके मन में आशा की एक किरण जागी। उन्होंने पत्र खोला, शिखंडी ने अपने हस्तलेख में लिखा था :

'पिताजी,

मैं जा रहा हूँ। मुझे खोजने का प्रयत्न न कीजिएगा। मैं अब नहीं मिल सकता। दशार्णराज हिरण्य वर्मा को संदेश भेज दीजिए कि आप उसके सामने मेरा पुरुषत्व प्रमाणित नहीं कर सकते; वे आपके सामने मेरा नारीत्व प्रमाणित करें और पांचालों को जो दंड देना चाहें, दे लें।...

आपका पुत्र
—शिखंडी

द्रुपद हाथ में पत्र पकड़े बैठे-के-बैठे रह गये।

5

चारों पांडवों का रथ हस्तिनापुर में वैसे ही प्रविष्ट हुआ, जैसे उसने प्रयाण किया था—कंधे पर गदा रखे, आगे-आगे भीम; कंधे पर तूणीर बाँधे, हाथ में धनुष लिये रथारूढ़ अर्जुन; और उसके पीछे उसके चक्रों की रक्षा करते, सन्नद्ध नकुल और सहदेव। अंतर केवल इतना था कि जाते हुए तो वे एक अभियान के लिए जा रहे थे, जिसका परिणाम अनिश्चित था; किंतु इस समय वे लोग एक महत्वपूर्ण विजय के पश्चात् लौट रहे थे। उनकी मनःस्थिति अनिश्चित नहीं थी। उनका मनोबल बढ़ा हुआ था और विजय का मद भीम के चेहरे पर बहुत स्पष्ट था।

अर्जुन के रथ के पीछे-पीछे अनेक छकड़े थे, जिनमें अनेक मूल्यवान वस्तुएँ लदी हुई थीं—स्वर्ण, रजत तथा उनके बने आभूषण। विभिन्न धातुओं के बने पात्र। विभिन्न प्रकार की शोभा की वस्तुएँ। उनके पीछे गोधन, अश्वधन, ऊँट तथा हाथी। रथों में अनेक नये तथा कुछ विस्मृत पुराने मित्र भी, कुरुओं की सभा में अपनी निष्ठा का प्रमाण देने के लिए साथ आये थे।

भीष्म, युधिष्ठिर तथा विदुर ने नगर-द्वार पर ही उनका स्वागत किया; और उनके

साथ-ही-साथ नगर में प्रवेश भी किया। मुख्य पथ के दोनों ओर के भवनों और अट्टालिकाओं की अटारियों में खड़े स्त्री-पुरुषों ने अपना आह्लाद प्रकट किया। स्वयं भीष्म ने नगर में किसी भी अवसर पर ऐसा उत्साह नहीं देखा था। राजसभा तक का मार्ग जैसे लोगों से अटा पड़ा था और विजेताओं पर अनवरत पुष्पवर्षा होती रही थी।

राजसभा में धृतराष्ट्र ने ऊष्माशून्य शब्दों में उनका स्वागत किया, "हस्तिनापुर में तुम लोगों का स्वागत है पुत्र! क्या तुम लोग सौवीर तक पहुँच पाये? सौवीर-नरेश को समझा पाये कि उसे हस्तिनापुर के कर का भुगतान करना चाहिए?"

भीम ने अत्यंत आश्चर्य से धृतराष्ट्र की ओर देखा : क्या पितृव्य को कोई सूचना नहीं है? वे लोग तो अश्वारोहियों के माध्यम से प्रतिदिन सूचनाएँ भिजवाते रहे थे।...

"हाँ, महाराज! हम लोग सौवीर तक पहुँचे थे। हमने सौवीर-नरेश को उसकी भूल बतायी थी।" भीम बोला, "किंतु वह अपनी भूल समझना नहीं चाहता था। अतः वह अपनी सेना सहित युद्ध करने के लिए आया।..."

"तो तुम्हें युद्ध करना पड़ा पुत्र?" धृतराष्ट्र ने सर्वथा अनजान की भाँति पूछा।

"हम महाराज को निरंतर सूचनाएँ भिजवाते रहे हैं।" भीम कुछ आवेश के साथ बोला।

"और मैं महाराज को निरंतर सूचित करता रहा हूँ।" विदुर ने कहा।

"हाँ! हाँ! पर मैं तुम लोगों के मुख से सुनना चाहता हूँ।"

धृतराष्ट्र के दृष्टिहीन, निर्विकार चेहरे पर धृष्टता के लक्षण उभरे।

"हमें युद्ध करना पड़ा राजन्! युद्ध में अर्जुन के बाणों ने सौवीर-नरेश विपुल के प्राण ले लिये। उनके पुत्र को राज्य सौंप, हमने उससे कर प्राप्त किया है।" भीम की वाणी में गर्व था, "यवनराज का भी हमें वध करना पड़ा। दत्तामित्र और सौमित्र जैसे योद्धा भी हमारे सम्मुख जीवित नहीं बच पाये। मार्ग में पड़ने वाले अनेक मित्र राज्यों से हमने पुरानी मैत्री को और अधिक सघन किया है, अमित्र राज्यों को मित्र बनाया है, और प्रतिकूल राज्यों को ध्वस्त कर दिया है। उन सबसे प्राप्त उपहार हम छकड़ों में भरकर हस्तिनापुर लाये हैं। हस्तिनापुर का कोश अब पहले से कहीं अधिक समृद्ध हो गया है; और यहाँ से सौवीर-राज्य तक कुरुवंश का यशोध्वज प्रतिष्ठित हुआ है महाराज! आज जंबूद्वीप में हस्तिनापुर के इतने मित्र हैं तात, जितने पहले कभी नहीं रहे होंगे।"

भीम ने संकेत किया और सैनिकों ने बाहर से लाकर, धृतराष्ट्र के सम्मुख उपहारों का ढेर लगा दिया।

विदुर ने धृतराष्ट्र को उन उपहारों के विषय में बताया तो उसके चेहरे पर प्रसन्नता के लक्षण प्रकट हुए।

तभी भीम ने पुनः कहा, "महाराज! हमारे मित्र राज्यों के अनेक राजा तथा राजकुमार, हमारे साथ हस्तिनापुर पधारे हैं। वे महाराज तथा हस्तिनापुर के भावी सम्राट, युवराज युधिष्ठिर के प्रति अपनी मैत्री और निष्ठा प्रकट करने के लिए राजसभा में उपस्थित होने की अनुमति चाहते हैं।"

धृतराष्ट्र के चेहरे की प्रसन्नता विलीन हो गयी। वहाँ अब एक प्रकार का अप्रसन्न भाव था; किंतु वह बोला कुछ नहीं। वह अवाक्-सा, भीम की दिशा में मुख उठाये बैठा रहा।

"महाराज!" विदुर ने उसके निकट जाकर कहा, "हमारे अतिथि आपकी अनुमति की

प्रतीक्षा में हैं ।"

धृतराष्ट्र के मुख से अब भी वाणी नहीं फूटी । उसने जैसे अनिच्छापूर्वक, हाथ से उन्हें बुलाने का संकेत भर कर दिया ।

नकुल और सहदेव वाहर जाकर आदरपूर्वक अतिथियों को भीतर ले आये । उन्होंने आकर पहले धृतराष्ट्र को और फिर युधिष्ठिर को प्रणाम किया । भीम और अर्जुन ने उनका परिचय दिया और उन्होंने उस परिचय से स्वयं को गौरवान्वित अनुभव किया ।

धृतराष्ट्र मूक भाव से चेहरा उठाये अपने ज्योतिहीन नैनों को स्थिर रखे, वैठा रहा । उसने उनमें से किसी के भी स्वागत में कुछ नहीं कहा । जव संवका परिचय हो चुका तो सभा में उनको वैठने का निमंत्रण देने के स्थान पर बोला, "आप लोग लंवी यात्रा करके आये हैं । थके होंगे । जाइए, विश्राम कीजिए ।"

भीम के मौन संकेत पर नकुल और सहदेव, जिस प्रकार उन लोगों को आदरपूर्वक भीतर लाये थे, वैसे ही सम्मानपूर्वक वाहर ले गये ।

और तव अर्जुन ने कहा, "महाराज ! हमारे ये अतिथि, राजा तथा राजकुमार हैं । हस्तिनापुर में इनके ठहरने का समुचित राजसी प्रवंध होना चाहिए ।"

"क्यों ?" दुर्योधन वोला, "ये तुम्हारे अतिथि हैं, महाराज के नहीं । तुम इन्हें अपने साथ ठहराओगे ।"

अर्जुन और भीम, दोनों ने ही धृतराष्ट्र की ओर देखा; किंतु धृतराष्ट्र पूर्ववत् मौन-मूक वैठा रहा ।

"हम हस्तिनापुर राज्य के प्रतिनिधि के रूप में, हस्तिनापुर की सेना लेकर गये थे ।" अर्जुन बोला, "इन लोगों ने हस्तिनापुर के राजा को अपना मित्र स्वीकार किया है और हस्तिनापुर को उपहार दिये हैं । ये हस्तिनापुर के राजा और युवराज के प्रति अपना सम्मान प्रकट करने के लिए आये हैं । क्या उन्हें हमारा व्यक्तिगत अतिथि मानना उचित होगा ?"

और साथ ही भीम ने जोड़ा, "यदि दुर्योधन यह समझता है कि वे हमारे व्यक्तिगत अतिथि हैं, तो हम यही स्वीकार कर लेंगे, किंतु या तो हमें उस योग्य राजसी प्रासाद दिया जाये, जिसमें ऐसे अतिथि ठहराए जा सकें, अथवा उसके निर्माण की अनुमति दी जाये ।"हम जिस खंडहर में रह रहे है, वह तो इस योग्य नहीं है कि उसमें हस्तिनापुर का भावी सम्राट स्वयं निवास करे, अथवा अपने अतिथियों को ठहराए ।"

"तुम युधिष्ठिर को केवल 'युवराज' कहो ।" शकुनि ने उसे टोका, "सम्राट के अतिरिक्त किसी और व्यक्ति को सम्राट कहना उचित नहीं है ।"

भीम उसको कोई उत्तर देता, उससे पूर्व ही दुर्योधन बोला, "और यदि सम्राट तुम्हें हस्तिनापुर में एक प्रासाद बनवाने की अनुमति दे दें, तो तुम उसके लिए धन कहाँ से लाओगे ?"

भीम की आँखों में ज्वाला धधकी, "धन तो मेरे सामने पड़ा है, जिसे हम चारों भाई प्राप्त करके लाये हैं । हस्तिनापुर में इतना धन एकत्रित करने के उपलक्ष्य में हमने अर्जुन को धनंजय की संज्ञा दी है ।"

"यह धन हस्तिनापुर के राजकोश का है ।" कर्ण ने आपत्ति की, "इसका उपयोग तुम अपने निजी कार्यों में कैसे कर सकते हो ?"

"वैसे तो वे अतिथि भी हस्तिनापुर राज्य के ही हैं । जहाँ अतिथि जायेंगे, वहीं ये उपहार

भी जायेंगे ।" भीम बोला, "मेरी बात समझ रहे हो न महावीर ?"

दुर्योधन चौंका। भीम कर्ण को 'महावीर' कह रहा था; किंतु उसकी वाणी में तनिक भी सम्मान नहीं था। वह विद्रूप कर रहा था।

"तुम्हें इस धन के उपयोग की अनुमति नहीं दी जा सकती ।" दुर्योधन बोला, "राज्य की ओर से युद्ध करने वाला सैनिक अथवा सेनापति राज्य का स्वामी नहीं हो जाता भीम !"

भीम उठ खड़ा हुआ। उसने अपनी गदा कंधे पर रखी और बोला, "स्वामी और सेवक का निर्णय तो बाद में होगा। इस समय तो मैं देखता हूँ कि कौन मुझे रोकेगा !..."

युधिष्ठिर ने पहली बार मुख खोला, "भीम ! ध्यान रहे कि तुम दुर्योधन का विरोध करते हुए, महाराज का निरादर कर रहे हो। यह उचित नहीं है।..."

और तब धृतराष्ट्र बोला, "तुमने अपने मित्रों को अभी कहाँ ठहराया है पुत्र ?"

"वे नगर के बाहर राजोद्यान के सैनिक शिविर में ठहराए गये हैं तात् !" अर्जुन बोला, "किंतु वह अस्थायी प्रबंध है।"

धृतराष्ट्र के चेहरे पर पूर्ण निरीहता छा गयी, "मैंने कई बार सोचा है कि हमें हस्तिनापुर में कुरुओं के यश के अनुकूल तथा राजसी अतिथियों के सम्मान के योग्य, एक अतिथि-प्रासाद का निर्माण करवा ही लेना चाहिए। किंतु दुर्भाग्य, कि मैं अंधा इस विषय में कुछ कर ही नहीं पाया। युवराज ! तुम यह कार्य अवश्य करवाना पुत्र !" और वह पुनः भीम से संबोधित हुआ, "पुत्र ! आज से भी प्रासाद बनवाऊँगा तो अतिथियों की हस्तिनापुर में उपस्थिति तक वह पूरा नहीं हो पायेगा। इसलिए आपद्धर्म के रूप में सैनिक शिविर में ही उनके ठहरने की स्थायी व्यवस्था कर दो। उन्हें वही राज-सम्मान दो। सुविधाएँ दो। उन्हें किसी प्रकार का अभाव न खटके।" वह क्षणभर रुककर बोला, "तुम लोगों ने भी बहुत श्रम किया है पुत्र ! यात्रा, युद्ध और यात्रा। तुम लोगों को भी कुछ विश्राम करना चाहिए। कुछ मनोरंजन, कुछ भोग-विलास ! तुम लोगों को विश्राम की बहुत आवश्यकता है। केवल कर्म, व्यक्ति को बहुत थका देता है। युधिष्ठिर ने भी राज-कार्य में बहुत मन खपाया है। इस अल्प-वय में राजनीतिक समस्याओं का बहुत बोझ है, उसके मन पर !...तुम लोगों को विश्राम की बहुत आवश्यकता है।..."

धृतराष्ट्र उठ खड़ा हुआ।

अपने कक्ष में आकर धृतराष्ट्र की स्थिति कुछ विचित्र-सी हो गयी। वह समझ नहीं पा रहा था कि वह क्या चाहता है। पांडवों द्वारा सौवीर-नरेश विपुल की पराजय से वह प्रसन्न था। दत्तामित्र तथा सौमित्र का मारा जाना भी उसके लिए सुखद था। अपनी एक ही विजय-यात्रा में पांडव इतना धन एकत्रित कर लाये थे कि भविष्य में हस्तिनापुर के अत्यंत समृद्ध राज्य बन जाने में कोई संदेह ही नहीं था। धृतराष्ट्र को हस्तिनापुर की रक्षा और समृद्धि के लिए इन पांडवों की बहुत आवश्यकता थी।...किंतु धृतराष्ट्र उन्हें हस्तिनापुर की राजसभा में देखना भी नहीं चाहता था। भीम का वह स्वामियों का-सा व्यवहार, उसके लिए असह्य था। भीम और अर्जुन नहीं थे, तो दुर्योधन किस प्रकार बलपूर्वक अपनी बात कहता था और युधिष्ठिर पर छा

जाता था; किंतु भीम तो जैसे राजसभा और युद्ध-क्षेत्र में कोई अंतर ही नहीं समझता। वह राजसभा में उसके पिता के सम्मुख, दुर्योधन की हत्या कर सकता है।···क्या पांडु के ये पुत्र, अपने पिता के ही समान, हस्तिनापुर के बाहर-बाहर नहीं रह सकते ? हस्तिनापुर को इनके बल और वीरता का लाभ तो मिलता रहे, किंतु हस्तिनापुर पर इनका कोई अधिकार न हो। ये राज्य के मात्र सेवक बनकर नहीं रह सकते क्या ?···

"क्या बात है आर्यपुत्र !" गांधारी ने पूछा, "आज आप कुछ बुझे-बुझे-से लगते हैं?"

"बुझा-बुझा ?" धृतराष्ट्र का स्वर रुआँसा हो आया, "मुझे लग रहा है कि मेरे हाथों से सारा जीवन फिसलता जा रहा है। आज तक कण-कण कर जो कुछ प्राप्त किया था, वह सब कुछ छिन रहा है मुझसे। कुछ नहीं बचेगा मेरे पास। मैं कंगाल हो जाऊँगा। पता नहीं, रहने को कोई स्थान भी मिलेगा या नहीं। खाने को कुछ जुट पाऊँगा या नहीं। क्या है मेरे भाग्य में ?"

"यह सब आपको क्यों लगता है आर्यपुत्र ?" गांधारी बोली, "कौन-सा संकट आया है आप पर ? इस समय आप हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर वर्तमान हैं। हस्तिनापुर शक्तिशाली और संपन्न राज्य है। अभी-अभी हमारी सेनाएँ युद्ध जीतकर लौटी हैं। चारों ओर उथल-पुथल मची है; किंतु न जरासंध का साहस हुआ कि वह हस्तिनापुर की ओर मुख करे, न कालयवन का, न यादवों का, न पांचालों का। किस बात से आशंकित हैं आप ?"

"तुम राजसभा में होतीं, तो तुम भी आशंकित ही नहीं, आतंकित भी हो उठतीं।" धृतराष्ट्र बोला, "जाने मनुष्य इतना मूर्ख क्यों है ! अपने शत्रुओं का स्वयं पालन-पोषण करता है। समय रहते कुछ भी नहीं समझता। जब पानी सिर से ऊपर पहुँच जाता है, तभी सचेत होता है।"

"पर हुआ क्या ?" गांधारी कुछ खीजकर बोली, "यह जो आप बिना संदर्भ बताये, शून्य में दार्शनिक वाक्य उछालते रहते हैं, ये तनिक भी अच्छे नहीं लगते मुझे। बात बताइए मुझे—हुआ क्या है ?"

किंतु धृतराष्ट्र पर गांधारी की इस फटकार का भी कोई प्रभाव नहीं हुआ; वह जैसे अपने प्रवाह में बहता चला गया, "मूर्खों के समान एक ओर अपने हाथ में धन, संपत्ति, सत्ता और शक्ति संचित करता रहा, और दूसरी ओर उनका पालन-पोषण करता रहा कि वे बड़े होकर सब कुछ छीन लें मुझसे। सेना देकर भेज दिया और समझ लिया कि वे वहीं लड़ते-भिड़ते मर-खप जायेंगे। यह नहीं सोचा कि वे विजयी होकर, धन-संपत्ति प्राप्त कर, शक्तिशाली मित्र बनाकर लौटेंगे और मेरे ही सामने, मेरी ही राजसभा में, मेरे पुत्र को धमकियाँ देंगे···"

गांधारी समझ गयी, धृतराष्ट्र के मन में विचारों का बहुत गहरा भँवर बन चुका था। उससे उबारकर उसे धरातल पर लाना कठिन था। उन विचारों से उसके मन को हटाने का एक ही मार्ग था—नारी-शरीर का स्पर्श। अन्यथा धृतराष्ट्र अपने उसी भँवर में गहरे से गहरा धँसता जायेगा।···

गांधारी ने धृतराष्ट्र के कंधे पर हाथ रखा। अपनी अंगुलियों से उसके केश सहलाए। उसके कपोलों और अधरों को अपने स्पर्श से उत्तप्त किया और जब क्रमशः धृतराष्ट्र की लोभी भुजाएँ उसके शरीर को थामने के लिए लपकीं, तो उसने अपने-आपको पूर्ण रूप से उनमें समर्पित कर दिया।

अब धृतराष्ट्र पूर्णतः गांधारी से ही संबोधित था। उसकी चेतना को जैसे उस भँवर से

खींचकर गांधारी ने अपने अंगों से श्लिष्ट कर लिया था। धृतराष्ट्र को अपने स्पर्श से वंचित करते ही, वह उसके हृदय का हाहाकार सुन सकती थी।...

"किस बात से इतने विचलित हैं आर्यपुत्र ?"

"गांधारी !" अब धृतराष्ट्र उसके प्रश्न की न उपेक्षा कर सकता था, न विषयांतर कर सकता था, "तुम आज देखतीं। पांडव लौटकर हस्तिनापुर आये हैं। हस्तिनापुर की प्रजा जैसे हर्ष से उन्मत्त हो उठी है। जो समाचार मुझे मिले हैं, उनके अनुसार तो ऐसा लगता है कि हस्तिनापुर की प्रजा, पांडवों से ही प्रेम करती है। हम तो जैसे कुछ हैं ही नहीं। भीम और अर्जुन का लौटना तो उन्हें ऐसा लगा है, जैसे बालकों को प्रवास से लौटे हुए अपने माता-पिता लगते हैं। हम तो जैसे नागों को ही दूध पिला रहे हैं। और कितना धन लाये हैं पांडव ! भीम कहता है, वह धन उसका है। वह उससे प्रासाद बनवायेगा। फिर कितने मित्र बनाकर लाये हैं वे अपने साथ ! मुझे तो लगता है कि वे अपनी स्वतंत्र सेना ही बना रहे हैं। उन सबको लेकर वे राजधानी में आ गये हैं।...कल तक जहाँ दुर्योधन और उनके मित्र, इस नगर में स्वामी-से घूमते थे, आज सर्वत्र उनका अनादर हो रहा होगा। स्वामी तो हैं पांडव और उसके मित्र। चारों ओर उनकी लोकप्रियता, उनकी शक्ति और उनका दबदबा देखकर मुझे भय-सा लगने लगा है। मुझे लगता है, किसी भी क्षण, मेरी बाँह पकड़कर, वे मुझे सिंहासन से उठाकर, भूमि पर खड़ा कर देंगे। फिर वे या तो सहारा देकर मुझे राजसभा से बाहर कर देंगे, या फिर धक्का देकर बाहर पथ पर फेंक देंगे।"

"ऐसा कुछ नहीं होगा आर्यपुत्र ! आप व्यर्थ ही भयभीत हैं।"

"मैं अपने ही नगर में, अपनी ही सभा में बैठा हुआ भयभीत हूँ, तो यह न तो व्यर्थ ही है और न अकारण ही। तुम मेरे इस भय को नहीं देख सकतीं। तुममें और मुझमें यही तो अंतर है।..."

"क्या ?" गांधारी ने पूछा।

"मैं अंधा होते हुए भी दूर तक देख सकता हूँ, देखना चाहता हूँ; और तुम आँखें होते हुए भी उन पर पट्टी बाँध लेती हो...।"

गांधारी ने अपनी दोनों हथेलियों में थामकर, धृतराष्ट्र का चेहरा अपने वक्ष में भींच लिया, "मैं मूर्खा हूँ क्या ?"

"नहीं !" धृतराष्ट्र ने मुग्ध भाव से कहा, "तुम मूर्खा कैसे हो सकती हो ! तुम मनीषा हो, साक्षात् बुद्धि।"

"तो चिंता छोड़कर उपाय कीजिए।" गांधारी ने धृतराष्ट्र को अपने बाहुपाश में बाँध लिया; और धृतराष्ट्र के मुख से सुख का सीत्कार निकल गया।

संध्या समय कणिक आया। धृतराष्ट्र ने उसे बुला भेजा था।

उसे सम्मानपूर्वक बैठाकर धृतराष्ट्र बोला, "मंत्रिप्रवर ! मेरे भाई पांडु के पुत्र अब बड़े और समर्थ हो गये हैं। युधिष्ठिर अब युवराज है और उसके भाई अब उसे भावी सम्राट भी कहने लगे हैं। उनके बल का विस्तार हो रहा है। मुझे बताओ, मुझे उनसे संधि करनी चाहिए अथवा विग्रह ?"

कणिक ने धृतराष्ट्र के अंधे चेहरे का सूक्ष्म निरीक्षण किया। अपने मुख से कुछ कहने से पहले उसे भली प्रकार भाँप लेना चाहिए कि राजा के मन में क्या है। कहीं ऐसा न हो कि उसका परामर्श राजा को अनुकूल न पड़े और कोई पुरस्कार पाने के स्थान पर वह पांडवों के हत्थे चढ़ जाये।...

"आपने महामंत्री विदुर से परामर्श किया है राजन् ?"

"नहीं !"

"क्यों ?"

"क्योंकि मैं जानता हूँ कि उसका परामर्श क्या होगा।" धृतराष्ट्र ने कहा। उसके चेहरे पर सुखद भाव नहीं थे।

कणिक ने कुछ कहा नहीं; किंतु उसके मन में कुछ बातें स्पष्ट हो रही थीं।...राजा को मालूम था कि विदुर का परामर्श क्या होगा...और कदाचित् वह उसके अनुकूल नहीं था। इसीलिए राजा ने उसे बुलाया था। क्या राजा को यह भी मालूम था कि उसका परामर्श क्या होगा ? क्या राजा को उसका परामर्श अधिक अनुकूल पड़ने की संभावना है ?

फिर भी कणिक को सँभलकर चलना चाहिए। इस संघर्ष में उसने अपने पक्ष का चुनाव चाहे कर लिया है, किंतु उसे अपने वैकल्पिक मार्ग अवरुद्ध नहीं करने हैं। राजा का हित करते हुए अपना अहित नहीं करना है।...

"राजन् !" कणिक बोला, "मैं तो नीति की बात कहता हूँ। निर्णय तो आपको ही करना है कि आपको किससे कैसा व्यवहार करना है, किससे कैसा संबंध रखना है।"

"नीति की ही बात कहो ब्राह्मण !" धृतराष्ट्र बोला, "नीति क्या कहती है ?"

"नीति कहती है राजन्, कि जिसके विकास से आपको भय लगता है, जिसकी शक्ति और क्षमता में वृद्धि होने से आपको रात को नींद नहीं आती, जिसके प्रभाव- विस्तार से आपको प्रसन्नता नहीं होती—उसे आप अपना शत्रु ही मानें।"

"शत्रु ?"

"वह कदापि आपका मित्र नहीं हो सकता; और जो मित्र नहीं हो सकता, वह राजनीति में आपका शत्रु ही है।" कणिक बोला, "महाराज ! राजनीति में पिता, पुत्र, भाई अथवा अन्य कोई निकट संबंधी भी आपका प्रतिस्पर्धी हो सकता है। और प्रतिस्पर्धी का अर्थ है, वह, जो आपकी सत्ता का ह्रास करे। राजनीति तो कहती है कि ऐसे किसी व्यक्ति पर विश्वास नहीं करना चाहिए। उनमें से किसी की ओर से निश्चिंत नहीं होना चाहिए। उनपर अपने गुप्तचर नियुक्त करने चाहिए और उनके समस्त भेद जान लेने चाहिए। वे भेद शस्त्र होते हैं महाराज ! समय आने पर उन शस्त्रों से ही अपने शत्रु पर प्रहार करना चाहिए।..."

"मान लिया कि वे मेरे शत्रु हैं, तो क्या मुझे उनसे संधि नहीं कर लेनी चाहिए ? मुझे उन्हें इतना अपना नहीं बना लेना चाहिए, कि वे मेरे शत्रु न रहकर, मेरे मित्र हो जायें ?"

"शत्रु और मित्र तो मात्र निजी स्वार्थ से बनते हैं महाराज ! संधियाँ होती और टूटती रहती हैं।" कणिक बोला, "राजा को तो संधि करनी ही इसलिए चाहिए कि वह उसे तोड़ सके। संधि को कभी भी वास्तविक संधि नहीं मानना चाहिए। संधि तो केवल इसलिए होती है, क्योंकि उस समय हम विग्रह कर नहीं सकते। संधि तो नाम ही है, समय की प्रतिकूलता अथवा दुर्बलता का।"

"शत्रु पर प्रहार से तुम्हारा क्या अभिप्राय है कणिक ?"

कणिक ने धृतराष्ट्र को देखा : क्या यह चक्षुहीन राजा बुद्धिहीन भी है अथवा इतना धूर्त है कि अबोध बनकर कणिक के मुख से ही अधिक से अधिक कहलवाना चाहता है ?"'कणिक का मन भी जैसे तीव्रगामी मृग के समान संकट की चेतावनी पाकर रुक गया !"'राजा अपने मन की गुत्थी सुलझाना चाहता है या उसके मन की थाह लेना चाहता है ? यदि अपने मन की गुत्थी सुलझाना चाहता है तो वह कणिक के मन की थाह क्यों पाना चाहता है ? और यदि कणिक के मन की थाह पाना चाहता है तो उसका अभिप्राय क्या है ?

कणिक की दृष्टि, धृतराष्ट्र की ज्योतिहीन आँखों पर टिक गयी; आज यह राजा है; किंतु इसका पुत्र युवराज नहीं है। इसका अर्थ है कि आज सत्ता इसके हाथ में है, कल नहीं भी हो सकती।"'यदि सत्ता सचमुच युधिष्ठिर के हाथ में चली गयी, तो धृतराष्ट्र को पांडवों के विरुद्ध दिये गये सारे परामर्श, कणिक को बहुत महँगे पड़ेंगे। युधिष्ठिर की कृपादृष्टि पाने के लिए स्वयं धृतराष्ट्र ही कणिक के साथ हुई अपनी मंत्रणा की चर्चा कर दे"'तो ?

किंतु कणिक का अत्यधिक संशयग्रस्त मन भी इस बात पर विश्वास नहीं कर पा रहा था। राजनीति में पगा उसका मन बार-बार कह रहा था कि भीष्म की बात और थी, धृतराष्ट्र कभी स्वेच्छा से राजनीतिक सत्ता तथा धन-वैभव का त्याग नहीं कर सकता।"'और अब, जब उसको दिख रहा है कि उसके सत्ता से हटते ही, सब कुछ युधिष्ठिर के हाथों में चला जायेगा, तो क्या वह उसे रोकने का उपाय नहीं करेगा ? और उस उपाय में कणिक को धृतराष्ट्र की सहायता करनी चाहिए। धृतराष्ट्र अथवा दुर्योधन के हाथों में सत्ता होगी तो उन्हें कणिक के परामर्श की सहस्रों बार आवश्यकता होगी। वह बार-बार उन्हें परामर्श देगा, मार्ग सुझाएगा, उनका लाभ कराएगा, तो स्वयं भी लाभ में रहेगा। युधिष्ठिर सम्राट् बनकर हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठ गया, तो निश्चित रूप से विदुर उसका महामंत्री होगा, ऐसे में हस्तिनापुर की राजसभा में कणिक के लिए कोई स्थान नहीं होगा"'युधिष्ठिर की राजनीति भी अध्यात्म का सहारा लेकर चलेगी।"'

"महाराज !" कणिक बोला, "मैं तो नीति की बात कह रहा हूँ। नीति यह कहती है कि राजनीति में प्रतिकूल को अनुकूल बनाने का तो एक ही मार्ग है—लोभ ! भय भी लोभ का ही एक रूप है। भविष्य में और अधिक पाने की इच्छा लोभ है; और वर्तमान को छिनने से बचाये रखने का लोभ, भय कहलाता है। इसलिए जब हमारा 'प्रतिकूल' लोभी हो, तो उसके लोभ का लाभ उठाकर, उसे अनुकूल बना लेना चाहिए। लोभ से मनुष्य अनुकूल ही नहीं बनता, वह दास भी बन सकता है। किंतु जिस व्यक्ति में 'लोभ' न हो, जो अपने लोभ के लिए धर्म का त्याग करने में असमर्थ हो—वह अनुकूल नहीं बन सकता। अतः ऐसे लोग, जो सैद्धांतिक धरातल पर हमारे प्रतिकूल हैं, जिनमें लोभ नहीं है, जो राजनीति में धर्म की बात करते हैं—उनके अनूकूल होने की कोई संभावना नहीं है।"'और जो अनुकूल नहीं हो सकता, वह हमारा शत्रु है। शत्रु पर प्रहार का एक ही अर्थ है, उसका प्राणांत ! जो परिवर्तित नहीं हो सकता, उसे नष्ट होना होगा।"'"

कणिक ने देखा : अब धृतराष्ट्र न उतना शांत लग रहा था, न उतना संतुष्ट। उसकी अपारदर्शी अंधी आँखों ने उसके मन के भावों को बहुत छिपा रखा था; फिर भी चेहरे की रेखाएँ अब बहुत कुछ व्यक्त भी करने लगी थीं।

धृतराष्ट्र अभी कणिक की बातों पर विचार कर ही रहा था कि दुर्योधन आ गया, "पिताजी !"

"बोलो वत्स !"

"क्या आप चाहते हैं कि मैं हस्तिनापुर छोड़कर कहीं चला जाऊँ ?"

धृतराष्ट्र के मन पर आघात हुआ : यह दुर्योधन हर बार यही करता है । आते ही कोई-न-कोई ऐसी बात कह देता है, जिससे धृतराष्ट्र आमूल-चूल विचलित हो उठता है। क्या वह धीरे से क्रमशः अपनी कठिनाई नहीं बता सकता, ताकि धृतराष्ट्र उस पर सोच-विचारकर, सहज रूप से उसकी कठिनाई को दूर करने का कोई उपाय कर सके ?"

"क्यों पुत्र ! क्या हो गया ? तुम्हें हस्तिनापुर छोड़ने की आवश्यकता क्यों आ पड़ी ?"

"पिताजी !" दुर्योधन का स्वर आवेश से दग्ध हो रहा था, "आप मेरे साथ यह नाटक मत किया कीजिए । सब कुछ समझते-बूझते-जानते हुए भी जब दिखाते हैं कि आप कुछ नहीं जानते, तो मुझे बहुत क्रोध आता है । और मेरा क्रोध आपका तो कुछ बिगाड़ना नहीं चाहता, अपना ही रक्त पीता रहता है ।"

"पुत्र ! तुम्हें कितनी बार समझाया है मैंने," धृतराष्ट्र बोला, "यह क्रोध तो जोंक है, स्वयं पोषित की हुई जोंक ! यह अपने स्वामी का ही रक्त पीती है और उससे पुष्ट और शक्तिमती होती है ।"

"देखिए पिताजी ! आप मुझे वह सब मत समझाया कीजिए, जो कुछ आपको विदुर समझाया करता है।···" दुर्योधन बोला ।

"वह तुम्हारा पितृव्य है । उसे काका कहा करो ।···"

दुर्योधन ने देखा : पिता के चेहरे पर वैसी ही मुस्कान थी, जैसी अनभिप्रेत को गंभीरता-पूर्वक कहते हुए होती थी ।···दुर्योधन अभी तक समझ नहीं पाया था कि पिता ऐसा क्यों करते थे । क्या वे दूसरों को बहकाने के लिए ऐसा करते थे ? किंतु इस समय यहाँ तो कोई और था भी नहीं, जिसे बहकाया जा सके ! इस समय वे स्वयं अपने-आपको बहका रहे थे ?···या वे दुर्योधन को बहकाना चाहते थे ?···या यह उनकी क्रीड़ा मात्र थी ? जिस किसी विचार का पिता उपहास करना चाहते थे, उसे वे अपनी इसी मुद्रा में उच्चरित करते रहते थे··· ।

"पिताजी !" दुर्योधन के स्वर में परिवर्तन तो हुआ, किंतु आवेश अब भी कम नहीं हुआ था, "आप इस विदुर को पदच्युत क्यों नहीं कर देते ?"

धृतराष्ट्र चेहरा उठाकर अपनी अंधी आँखों से दुर्योधन की ओर देखता रहा, और फिर बोला, "यह प्रश्न मैंने भी कई बार अपने-आपसे पूछा है ।"

"तो क्या उत्तर मिला आपको ?"

"विदुर की विचित्र स्थिति है पुत्र !" धृतराष्ट्र निर्विकार भाव से बोल रहा था, "वह हमारा भाई भी है और दासीपुत्र भी । मुझे लगता है कि पितामह ने उसे कदाचित् इसीलिए मंत्री बना दिया था कि वह कहीं सिंहासन के लिए प्रतिस्पर्धी न बन जाये । मैं भी सोचता हूँ कि उन्होंने अच्छा ही किया कि उसे मंत्री बना दिया । मेरे लिए एक पांडु की ही प्रतियोगिता कम नहीं थी ।···"

"किंतु किसी मंत्री को पदच्युत करने का राजा को पूर्ण अधिकार है ।" दुर्योधन का विरोध तनिक भी शिथिल नहीं हुआ था ।

"न वह वैसा मंत्री है, न मैं वैसा राजा हूँ ।" धृतराष्ट्र बोला, "जैसे मैंने अपने जन्मजात

अधिकार में यह राज्य पाया है, वैसे ही उसने मंत्रित्व पाया है।'''मैंने अपने राज्य-काल में चाहे अच्छे राजा की कीर्ति अर्जित न की हो, उसने अच्छे मंत्री का यश अवश्य पाया है। प्रजा पर न केवल उसकी बुद्धि की धाक है, लोग उसके चरित्र के विषय में भी आश्वस्त हैं। अब यदि उसे पद से हटाने का प्रयत्न किया जायेगा, तो उसकी प्रतिक्रिया अच्छी नहीं होगी।''' और'''"

"और क्या ?"

"मुझे अनेक बार ऐसा लगता है कि स्वयं मुझे भी उसकी आवश्यकता है।"

"आपको ?"

"हाँ !"

"क्यों ?"

"मैं जब व्यक्तिगत कारणों से दुखी होता हूँ, तो उससे बातचीत कर मुझे सांत्वना मिलती है।" धृतराष्ट्र विचित्र ढंग से हँसा, "और जिस बात का वह समर्थन करता है, बहुधा मैं समझ जाता हूँ कि वह मेरे हित में नहीं है।'''" सहसा जैसे धृतराष्ट्र सचेत हुआ, "विदुर को छोड़ो। तुम बताओ कि तुम्हें हस्तिनापुर छोड़कर जाने की क्या आवश्यकता पड़ गयी ?"

"हस्तिनापुर आजकल इतना अधिक पांडवमय हो रहा है कि मेरा यहाँ दम घुटता है।" दुर्योधन बोला, "मैं आज स्पष्ट रूप से आपको बता रहा हूँ कि मैं पांडवों के साथ इस नगर में नहीं रह सकता !"

"तो ?"

"मैं कहीं और चला जाता हूँ।"

"वहाँ भी तुम्हें शांति न मिली, तो ?"

"तो मैं आत्महत्या कर लूँगा।" दुर्योधन बोला।

दुर्योधन के शब्द वज्र के समान, धृतराष्ट्र के मस्तक पर गिरे। वह तड़पकर बोला, "यह मत कहो। अपने भाइयों के साथ मिल-जुलकर रहना सीखो, जैसे मैं अपने भाई के साथ रहा था।"

"वे मेरे भाई नहीं हैं।"

"न सही ! हस्तिनापुर में बहुत सारे ऐसे लोग भी रहते हैं, जो तुम्हारे भाई नहीं हैं। जो भाई नहीं हैं, वे अनिवार्यतः शत्रु नहीं होते।"

"किंतु पांडव मेरे शत्रु ही हैं। मैं उनके साथ नहीं रह सकता।" दुर्योधन बोला, "यदि आप उन्हें नगर से नहीं निकालते, तो मैं ही चला जाऊँगा।"

सहसा धृतराष्ट्र के मन में राजसभा का दृश्य घूम गया। उसने पांडवों की प्रशंसा करते हुए कहा था—'तुमने बहुत श्रम किया है, अब तुम्हें कुछ विश्राम करना चाहिए।'''क्या कहा था यह धृतराष्ट्र ने ? क्या उस समय उसके भी मन में वही था, जो इस समय दुर्योधन के मन में है ?'''क्या दुर्योधन भी इतना ही चाहता है कि पांडवों को किसी अन्य नगर में भेज दिया जाये, जहाँ उसे उनका सामना न करना पड़े ?'''यदि धृतराष्ट्र दिग्विजय के व्याज से भीम और अर्जुन को सिंधु-सौवीर तक भेज सकता है, तो क्या उन्हें विश्राम के लिए किसी अन्य नगर में नहीं भेजा जा सकता ?'''किंतु'''

"यदि वे कुछ दिनों के लिए दूसरे नगर में चले भी जायें, तो फिर लौटकर तो हस्तिनापुर में ही आयेंगे न ! हस्तिनापुर से इन कुछ दिनों की अनुपस्थिति से उनके प्रति तुम्हारा विरोध

समाप्त हो जायेगा क्या ? उनके लौटने पर पुनः तुम्हारे मन की यही स्थिति नहीं हो जायेगी क्या ?"

दुर्योधन के मन का उल्लास उसके अधरों पर आ गया, "आप उन्हें एक वार वारणावत भेज दीजिए, फिर लौटने, न लौटने के विषय में मैं स्वयं देख लूँगा।..."

धृतराष्ट्र के मन में दुर्योधन के शब्द बहुत देर तक गूँजते रहे : क्या कहना चाहता है दुर्योधन ? वह वारणावत की ही चर्चा क्यों कर रहा है ? और लौटने के विषय में वह इस प्रकार क्यों कह रहा है, जैसे पांडव वहाँ से लौटेंगे ही नहीं !...कोई योजना है क्या उसके मन में ? पहले भी उसने प्रमाणकोटि में ऐसा ही प्रयत्न किया था, किंतु भीम वहाँ से वच निकला था।...इस वार दुर्योधन ने क्या सोचा है ?...किंतु यह पूछने का न धृतराष्ट्र को साहस हो रहा था, न ही इच्छा।...जो कुछ दुर्योधन करना चाहता है, करे।...धृतराष्ट्र तो बस इतना ही जानता है कि वह अपने भ्रातुष्पुत्रों को उनके श्रम के पश्चात् विश्राम करने के लिए वारणावत भेज रहा है...

किंतु पूछे बिना उससे रहा भी नहीं गया, "वारणावत ही क्यों भेजना चाहते हो पुत्र ?"

"बहुत सुंदर नगरी है वह ! जलवायु की दृष्टि से भी स्वास्थ्यवर्धक है। वहाँ महादेव शिव का एक विराट मंदिर है। वहाँ वार्षिक उत्सव की तैयारियाँ हो रही हैं। युवराज और उसके लोकप्रिय भाइयों को अपने मध्य पाकर वारणावतवासियों को बहुत प्रसन्नता होगी। प्रजा के सुख के लिए युवराज और उसके भाइयों को इतना तो करना ही चाहिए।..."

धृतराष्ट्र को लगा, दुर्योधन भी उसी की शैली में बोलना सीख गया है।

"और यदि उन्होंने जाना अस्वीकार कर दिया तो ?"

"आप आदेश देंगे तो सर्वप्रथम तो वह मूर्ख युधिष्ठिर, अस्वीकार करने की वात सोचेगा ही नहीं। अपने पितृव्य की आज्ञा की उपेक्षा कर वह धर्मराज कैसे कहलायेगा !...और यदि उन्होंने ऐसा कुछ किया तो सम्राट् की अवज्ञा के आरोप में राजसभा में युवराज को पदच्युत करने के प्रस्ताव पर विचार किया जायेगा।"

"राजसभा में तुम्हें उस प्रस्ताव के कितने समर्थक मिलेंगे ?"

"आप उसकी चिंता न करें !" दुर्योधन हँसा।

"क्यों ? क्या बहुमत उसके साथ नहीं होगा ?"

"नहीं !" दुर्योधन विश्वास के साथ बोला, "कुरुवृद्ध आपके साथ होंगे, क्योंकि राजा के आदेश का पालन उनके लिए जीवन का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है। मंत्रियों में से एक विदुर को छोड़ दें, तो शेष सारे मंत्री धन और पदोन्नति के लोभ में हमारे साथ हैं। पितामह को जैसे ही यह आभास होगा कि पांडवों के हस्तिनापुर में रहने के कारण कुरुकुल में द्वेष बढ़ेगा, और उनके वारणावत जाने से कुरुकुल की कलह शांत हो जायेगी, तो वे भी पांडवों के वारणावत जाने का समर्थन कर देंगे...।"

"और आचार्य द्रोण ? कृपाचार्य ?"

"आचार्य द्रोण वहीं होंगे, वहाँ अश्वत्थामा होगा; और अश्वत्थामा मेरे साथ है। कृपाचार्य न आपके विरुद्ध जा सकते हैं, न अश्वत्थामा के...।"

धृतराष्ट्र कुछ नहीं बोला; किंतु उसके मन में चिंतन-प्रक्रिया बड़ी तीव्रता से चल रही थी : वह तो पांडवों को अत्यंत शक्तिशाली समझ रहा था; किंतु दुर्योधन ने तो

उनकी जड़ें ही काट डालीं। तो क्या कुरुओं की राजसभा में सिवाय विदुर के पांडवों का कोई सहायक नहीं है ? पितृव्य भीष्म का उन पर स्नेह अवश्य है, किंतु वे तो मध्यस्थ हैं। वे किसी का भी पक्ष लेना नहीं चाहते; और सबसे बड़ी बात तो यह है कि वे कुरुकुल में आंतरिक कलह एकदम नहीं चाहते''किंतु कृष्ण ? कंस का वध करने वाला, जरासंध को पराजित करने वाला, वीरवर कृष्ण ! यदि कृष्ण पांडवों की सहायता को आ गया तो ?'''

"पिताजी ! क्या निश्चय किया आपने ?"

"ठहरो पुत्र ! तनिक धैर्य से काम लो ! तुम्हारी ही बातों पर विचार कर रहा हूँ।" धृतराष्ट्र बोला, "किंतु एक बात का ध्यान रहे, मैं भीम और अर्जुन के साथ आये अतिथि राजाओं के वापस लौट जाने तक युधिष्ठिर को कोई आदेश नहीं दूँगा।"

"यही तो आपका दोष है," दुर्योधन ने जैसे असहायता में पैर पटके, "कार्य करेंगे भी तो इतनी धीमी गति से कि उसका आनंद ही नष्ट हो जाये।"

पिता के सम्मुख अपना रोष जताकर दुर्योधन चल पड़ा; किंतु बाहर निकल, अपने रथ में बैठते ही उसके चेहरे पर मन की प्रसन्नता के सारे लक्षण प्रकट हो गये। उसका मन हो रहा था कि वह उच्च स्वर में कोई बहुत अश्लील-सा गीत गाये; या फिर अपने मित्रों में बैठकर इतनी मदिरा पिये कि उसकी चेतना ही लुप्त हो जाये।

किंतु उसने दोनों में से एक भी कार्य नहीं किया और अपने रथ को स्वयं हाँकता हुआ, पुरोचन के घर जा पहुँचा।

पुरोचन ने उसे इस प्रकार, अपने द्वार पर आये देखकर आश्चर्य प्रकट किया, "राजकुमार, आप ?"

"हाँ, पुरोचन !"

"मुझे ही बुला लिया होता !"

"समाचार ही ऐसा था कि रुक नहीं पाया; और सीधा यहीं चला आया।"

"क्या समाचार है राजकुमार ?"

"पिताजी पांडवों को वारणावत भेजने के लिए सहमत हो गये हैं।"

"अरे !" पुरोचन के चेहरे पर प्रसन्नता का भाव झलका, "यह तो दुर्लभ विजय है राजकुमार ! इसका तो उत्सव होना चाहिए।"

"मूर्ख हो तुम !" दुर्योधन तनिक रोष के साथ बोला, "हम गोपनीयता की रक्षा के लिए साँस तक नहीं ले रहे, और तुम उत्सव की बात कर रहे हो !"

"क्षमा करें राजकुमार ! वह तो बस अभ्यासवश मुख से निकल गया, अन्यथा मेरा अभिप्राय कदाचित् वह नहीं था।" पुरोचन बोला, "कब जा रहे हैं पांडव ?"

"अभी पिताजी ने आदेश दिया नहीं है। किंतु हमें भी कोई जल्दी नहीं है। अच्छा ही है कि वे लोग कुछ समय के पश्चात् ही जायें। हमें भी तैयारी के लिए कुछ समय चाहिए ही।"

"मैं कब चला जाऊँ ?"

"संभव हो तो आज ही चले जाओ।"

"भवन का जीर्णोद्धार कराऊँ या नवनिर्माण ?"

"जो मन में आये, वही कराओ—जीर्णोद्धार, नवनिर्माण, पुनर्निर्माण···जो इच्छा हो, कराओ। धन की चिंता मत करना। बस, कार्य निर्विघ्न पूरा होना चाहिए।"

"आपके आदेश का पूर्णरूपेण पालन होगा राजकुमार !"

"अच्छा ! चलता हूँ।" दुर्योधन उठ खड़ा हुआ।

"अरे, कुछ देर तो ठहरें राजकुमार ! सत्कार के लिए···।"

"नहीं ! समय नहीं है।" दुर्योधन बोला, "अभी तो न मित्र कर्ण को सूचित किया है, न मातुल शकुनि को···न ही दुःशासन यह सब जानता है। उन्हें सूचित कर दूँ, तो मेरी हृदय-गति भी कुछ सहज हो।"

"जो राजकुमार की इच्छा !" पुरोचन ने हाथ जोड़ दिये।

6

भीष्म ने अपने कक्ष से बाहर निकलकर धृतराष्ट्र का स्वागत किया, "क्या बात है पुत्र ! आज तुम प्रातः ही इधर कैसे चले आये ? राजसभा में तो तुमसे भेंट होती ही।"

"राजसभा में तो भेंट होती है तात् ; किंतु बात नहीं होती।" धृतराष्ट्र ने आसन पर बैठते हुए कहा, "आपके पास बैठकर, पुत्र के रूप में आपसे कुछ चर्चा करना चाहूँ, तो उसके लिए तो राजसभा कोई उपयुक्त स्थान नहीं है न तात् !"

भीष्म कुछ चकित हुए : धृतराष्ट्र को बहुत दिनों के पश्चात् स्मरण आया था कि वह उनका पुत्र है। उसे तो बस एक ही बात याद थी कि वह हस्तिनापुर का राजा है।···

"कहो धृतराष्ट्र ! क्या बात है ?" भीष्म बोले, "कोई गोपनीय बात है ?"

"गोपनीय तो कुछ नहीं है पितृव्य ! सारी राजसभा देखती है कि भीम और दुर्योधन एक-दूसरे को सहन नहीं कर पाते। बस, गदाओं की टकराहट ही नहीं हुई। लगता है कि किसी दिन वह भी हो जायेगी।···"

"तो तुम दुर्योधन को समझाते क्यों नहीं ?" भीष्म बोले, "तुम्हें पिता और राजा—दोनों ही रूपों में दुर्योधन को अपने नियंत्रण में रखना चाहिए।"

धृतराष्ट्र कुछ देर मौन बैठा रहा और फिर अत्यंत निराश स्वर में बोला, "तात् ! आपने तो ऐसी बात कह दी, जैसे सारा दोष दुर्योधन का ही है।"

भीष्म की इच्छा हुई कि धृतराष्ट्र को डाँट दें : यह अंधा पिता यह क्यों नहीं समझता कि इसका मन भी मोहांध हो चुका है ? इसने आज तक यह स्वीकार नहीं किया कि सारे उत्पात की जड़ में दुर्योधन की ईर्ष्या ही है।

"तो क्या हम मान लें कि भीम और दुर्योधन एक समान दोषी हैं ?" भीष्म ने पूछा।

"पितृव्य !" धृतराष्ट्र ने अपना रुआँसा चेहरा भीष्म की ओर उठाया, और अपनी दृष्टिहीन आँखें जैसे शून्य में किसी बिंदु पर टिका दीं, "मैं कोई आरोप लेकर आपके पास नहीं आया हूँ, और न ही मैं दोष की मात्रा का निर्धारण कर रहा हूँ। मैं तो कुरुकुल के भविष्य के प्रति अपनी आशंकाएँ लेकर आपके पास आया हूँ।···"

"क्या हैं तुम्हारी आशंकाएँ पुत्र ?" भीष्म का मन कुछ कोमल हो गया।

"यदि मेरे पुत्रों और पांडु के पुत्रों में इस प्रकार मत-भेद, वैर-विरोध चलता रहा तो इस वंश का क्या होगा पितृव्य ?" धृतराष्ट्र की वाणी जैसे अवरुद्ध हो गयी, "क्या हमने अपने पुत्रों को शस्त्र-शिक्षा इसलिए दी है कि वे लोग परस्पर युद्ध कर, एक-दूसरे का रक्त बहाएँ ?"और जहाँ तक नियंत्रण की बात है तात् ! आप जानते हैं कि दुर्योधन कितना हठी है। आप उसे उसके शैशव से देखते आये हैं। मुझे अपने पुत्र को तो पुत्र ही मानना पड़ेगा न ! जैसा भी वह है ! वयस्क हो जाने पर ये लड़के किसी की बात मानते भी तो नहीं हैं—आप भीम को आदेश दे सकते हैं कि वह दुर्योधन के कार्यों में हस्तक्षेप न करे ? न हम इनमें परिवर्तन ला सकते हैं, न इनका किसी और व्यक्ति से विनिमय कर सकते हैं। स्वयं अपना ही दमन कर सकते हैं, इनका दमन तो हमसे होता नहीं !"आज की पीढ़ी में विद्रोह बहुत है। मुझे शंका है कि इनमें से किसी का दमन करने का प्रयत्न करूँ, तो कहीं वह अमर्यादित होकर, कुछ ऐसा न कर बैठे, जो अशोभनीय अथवा दुखदायक हो"।"

"तुम चाहते क्या हो धृतराष्ट्र ?" भीष्म ने अपने मन में आये विचार को जिह्वा तक नहीं आने दिया। उनकी स्मरणशक्ति अभी धूमिल नहीं हुई है। उन्हें धृतराष्ट्र का शैशव और युवावस्था भी याद है। वह कम हठी नहीं था। अपनी इच्छाएँ चाहे वह रोकर मनवाता था, चाहे एड़ियाँ पटककर। क्षमता होती तो शायद वह शस्त्र भी उठाता।"आज वही स्थिति दुर्योधन की है; और धृतराष्ट्र का हठ है कि दुर्योधन की प्रत्येक इच्छा पूरी की जाये"

"मैं क्या चाहूँगा पितृव्य ! मेरी तो यही इच्छा है कि कुरु-कुल और कुरु-राज्य में शांति बनी रहे। कल ये लड़के और उनके समर्थक हस्तिनापुर के चौराहों पर सशस्त्र युद्ध करते दिखायी देंगे, तो हम क्या करेंगे पितृव्य ?"

"इसीलिए तो पूछ रहा हूँ कि तुम क्या चाहते हो ? दुर्योधन को तुम रोक नहीं सकते और कलह भी तुम नहीं चाहते ?""

"आज आप इस प्रकार मुझसे रुष्ट क्यों हैं तात् ?" धृतराष्ट्र ने बुरा-सा मुँह बनाया, "आप भीम को रोक सकेंगे ? आप उससे कहें कि वह दुर्योधन से झगड़ा न करे !"

"आज तक भीम को ही तो रोका है मैने।" भीष्म अत्यंत शांत स्वर में बोले, "मेरी बात तो तुम रहने दो। आज तक कभी तुम्हारी भी किसी आज्ञा का उल्लंघन किया है पांडु के पुत्रों ने ? तुम्हारे अपने पुत्रों से अधिक वे सम्मान करते हैं तुम्हारा। तुम्हारी प्रत्येक आज्ञा का पालन करते हैं, प्रत्येक इच्छा को पूर्ण करते हैं।"

लगा, धृतराष्ट्र के मुख में जैसे अपने असमर्थ क्रोध से झाग के बुलबुले आ गये, "मेरी इच्छा का वे इतना ही सम्मान करते हैं तात्, तो मैं उनसे कह दूँ कि मेरी इच्छा है कि दुर्योधन हस्तिनापुर का युवराज हो ? छोड़ देगा युधिष्ठिर अपना पद ?""

भीष्म एकदम सनाका खा गये : क्या कह रहा है यह धृष्ट, चक्षुहीन मूर्ख ! क्या यही कहने के लिए यह यहाँ आया है ? आज तक इसके मन में यही था ?"कब से इसको चाहिए था कि यह राज-पाट युधिष्ठिर को देकर, स्वयं उदासीन हो जाता, किंतु वह, यह तो करेगा नहीं; युधिष्ठिर को युवराज पद देकर, स्वयं आजीवन सम्राट बन बैठा है हस्तिनापुर का"और अब यह युवराज-पद भी छीन लेना चाहता है युधिष्ठिर से ? इस वाक्य के रूप में इसके मन का विष अनायास ही छलक आया है, या जान-बूझकर उनके सामने सुचिंतित रूप से अपना

मन खोल रहा है ? इसका क्या भरोसा, यह इसी प्रकार की बात युधिष्ठिर के सम्मुख भी कह दे।...भीष्म जानते हैं युधिष्ठिर को। धृतराष्ट्र ने यदि ऐसा कुछ कह दिया तो युधिष्ठिर सब कुछ छोड़-छाड़कर चल देगा।...जिस राज्य के लिए ये पिता-पुत्र अपने प्राण दिये हुए हैं, उसका कोई मोह नहीं है युधिष्ठिर को...कभी-कभी भीष्म के मन में एक बिंब उभरता है...उन्हें लगता है कि काल-चक्र घूमकर पुनः वहीं आ गया है, जहाँ वह उस समय था, जब उन्होंने दासराज के सम्मुख राज्य त्यागने की प्रतिज्ञा की थी...आज उनके स्थान पर युधिष्ठिर खड़ा था और दासराज के स्थान पर स्वयं धृतराष्ट्र था...और भीष्म का मन बार-बार यह कहता है कि वह प्रतिज्ञा दुहराई नहीं जानी चाहिए। उस प्रतिज्ञा से किसी का कोई भला नहीं हुआ—उनका भी नहीं, जिनके लिए प्रतिज्ञा की गयी थी।...भीष्म को अपने किये पर पश्चात्ताप चाहे न हो, किंतु वे नहीं चाहेंगे कि युधिष्ठिर फिर वैसी ही प्रतिज्ञा करे...

"युधिष्ठिर तुम्हारी इच्छा का विरोध तब भी नहीं करेगा।" भीष्म शुष्क स्वर में बोले, "किंतु धृतराष्ट्र ! इस स्थिति का लाभ उठाने का लोभ तुम्हारे मन में न ही आये तो अच्छा है..." भीष्म का स्वर शुष्क से कठोर होता गया, "क्योंकि यदि तुमने कभी ऐसी इच्छा प्रकट की, तो बाध्य होकर मुझे अपनी यह इच्छा प्रकट करनी होगी कि मैं चाहता हूँ कि युधिष्ठिर, हस्तिनापुर का युवराज नहीं, सम्राट बने।" भीष्म ने उसे तीखी दृष्टि से देखा, "मैं तुम्हारी राजाज्ञा का विरोध नहीं करूँगा; किंतु कुलवृद्ध के रूप में अपनी इच्छा प्रकट करने से किसी भी धर्म का उल्लंघन नहीं होगा। ऐसे में तुम्हारे लिए संकट बढ़ सकता है।" वे रुके, "अब तुम स्पष्ट शब्दों में कहो कि तुम अपने मन में क्या लेकर मेरे पास आये हो ?"

धृतराष्ट्र का मन काँप गया : दुर्योधन, जो मन में आये, कहता रहे; किंतु धृतराष्ट्र को मालूम है कि यदि किसी दिन पितृव्य भीष्म ने ऐसी कोई इच्छा प्रकट कर दी, तो न दुर्योधन के शस्त्रधारी मित्र ही कुछ कर पायेंगे, और न धन-क्रीत मंत्री ही। जिस दिन पांडव राज्य पर अधिकार करना चाहेंगे, उस दिन हस्तिनापुर की सारी प्रजा उठकर उनके साथ खड़ी हो जायेगी...

धृतराष्ट्र को स्मरण नहीं है कि आज तक कभी भीष्म उससे इस प्रकार की शुष्क, कठोर और कटु वाणी में बोले हों।

"आप रुष्ट न हों पितृव्य !" धृतराष्ट्र रुआँसे स्वर में बोला, "आप भी मुझसे रुष्ट हो जायेंगे, तो मैं चक्षुहीन असहाय प्राणी किसके सहारे जिऊँगा ? मैंने तो केवल इतना ही चाहा था कि हम कुरुकुल की कलह समाप्त कर दें।..."

यह धृतराष्ट्र इसी प्रकार रोने लगता है, और अब भी यदि उन्होंने सहानुभूति न दिखायी, तो वह अपना माथा पीटने लगेगा, अपने कपोलों को मार-मारकर लाल कर लेगा...

'यह विकलांग मूर्ख...' भीष्म का मन पसीज गया।

"यह कलह कैसे दूर होगी ?" उन्होंने पूछा।

"साथ रहकर तो उनमें प्रेम अंकुरित नहीं हुआ है पितृव्य, उल्टे विरोध बढ़ता ही जा रहा है।" धृतराष्ट्र बोला, "इसलिए मैंने सोचा, कि इससे पहले कि कोई दुर्घटना हो जाये, क्यों न हम उन लोगों को कुछ समय के लिए विलग कर दें...।"

"क्या तुम दुर्योधन को कहीं भेज रहे हो ?"

"नहीं। दुर्योधन को भेजूँगा, तो मुझे भी जाना पड़ेगा। इसीलिए मैंने सोचा कि कुंती अपने पुत्रों को लेकर कुछ समय के लिए वारणावत चली जाये। बहुत संभव है कि आँखों से दूर रहने

से इन लड़कों का परस्पर विरोध कुछ शांत हो जाये"।"

'यह धूर्त, कुंती और उसके पुत्रों को निर्वासित कर रहा है, जैसे इसने पांडु को किया था।' भीष्म के मन में एक स्वर गूँजा।

"क्या यह निर्वासन है ?" भीष्म पूछे बिना नहीं रह सके।

अकस्मात् ही धृतराष्ट्र ने बिना किसी चेतावनी अथवा संकेत के, अपनी हथेलियों से कपोलों को पीटना आरंभ कर दिया, "मर जा तू धृतराष्ट्र ! मर जा ! जीकर क्या करेगा अब !..."

"धृतराष्ट्र !" भीष्म ने आगे बढ़कर, उसका हाथ पकड़ लिया, "क्या कर रहे हो ! बंद करो यह सब ! जो मैं पूछ रहा हूँ, उसका उत्तर दो।"

"पितृव्य ! मैं परिवार की कलह बचाना चाहता हूँ; और आप मुझे कह रहे हैं कि मैं अपने भ्रातुष्पुत्रों को निर्वासित कर रहा हूँ ! जब आपका भी मुझ पर विश्वास नहीं रहा"" और सहसा उसका रुदन फूट पड़ा, "वारणावत सुंदर नगर है। वहाँ की जलवायु स्वास्थ्यवर्धक है। युधिष्ठिर के मस्तक पर राज्य-कार्य का बहुत बोझ है। शेष चारों भाई लंबी यात्रा कर अनेक युद्ध जीतकर आये हैं। इस सारे परिश्रम के पश्चात् यदि मैं उन्हें विश्राम और मनोरंजन के लिए वारणावत जैसे नगर में भेज रहा हूँ, तो आपको मुझ पर संदेह हो रहा है कि मैं उन्हें निर्वासित कर रहा हूँ ! वहाँ महादेव का वार्षिक उत्सव हो रहा है। कुंती को वहाँ रहना अच्छा लगेगा। मैं उन लोगों के लिए कुछ शुभ भी सोचता हूँ, तो इस प्रकार कलंकित होता हूँ"।"

"अच्छा ! रोना बंद करो !" भीष्म बोले, "तुम्हारे विचार में वे लोग कितनी अवधि तक वहाँ रहेंगे तो यह द्वेष शांत हो जायेगा ?"

"यह मैं क्या जानूँ तात् ! यह मैं आप पर ही छोड़ता हूँ कि जब आप आवश्यक समझें, उन्हें वापस बुला लें।" धृतराष्ट्र को तत्काल लगा कि बिना सोचे-समझे, वह कुछ जल्दी में ही बोल गया है। उसने रुकते-रुकते भी जोड़ दिया, "वैसे इस समय दुर्योधन के मन में युधिष्ठिर के युवराज बनने की द्वेषाग्नि धधक रही है; और अर्जुन तथा भीम में विजय-यात्रा का तेज दमक रहा है। इतना समय तो दें कि वे लोग शांत हो लें"।"

"और मैंने जब उन्हें वापस बुलाया, तो तुम फिर से तो नहीं रोने लगोगे ?"

धृतराष्ट्र के चेहरे पर उपालंभ जागा, "तो कुंती के पुत्रों को न ही भेजें पितृव्य ! मेरा क्या है ! मैं तो अंधा हूँ—देख भी नहीं पाता कि सामने क्या हो रहा है। जब राजसभा में वे शस्त्र-बद्ध हो परस्पर लड़ने लगें, तो आप ही सँभाल लीजिएगा उन्हें। न मानें, तो दो-चार का वध कर दीजिएगा। पौत्र हैं भी तो बहुत सारे आपके"।"

भीष्म ने उसके उपालंभ को जान-बूझकर अनदेखा कर दिया; और उसके व्यंग्य पर उनका मन टिका ही नहीं—उनका मन अटक गया था धृतराष्ट्र के शब्दों—'कुंती के पुत्रों'—पर ! वह उन्हें 'भ्रातुष्पुत्र' नहीं कह रहा था, 'कौरव' भी नहीं कह रहा था, पांडु के नाम 'पांडव' भी नहीं। वह उन्हें कह रहा था 'कुंती के पुत्र'" जैसे कुरुवंश से उनका कोई संबंध ही न हो"

"कब भेजना चाहते हो ?" भीष्म ने पूछा।

"वे अपने अतिथियों को विदा कर लें और महादेव के महोत्सव की तिथि को ध्यान में रखकर, स्वयं ही यात्रा का मुहूर्त निश्चित कर लें।"

भीष्म कुछ नहीं बोले। धृतराष्ट्र उनके मौन में से कुछ पढ़ने का प्रयत्न करता रहा... और अंततः बोला, "अच्छा पितृव्य ! चलता हूँ।" वह उठकर खड़ा हो गया, "आपकी

सहमति पाकर, मेरे मन का बोझ उतर गया।"

भीष्म के मन में एक भयंकर ज्वार उठा : ऐसा क्यों है कि विकलांग, निरीह और असहाय धृतराष्ट्र हर बार उन्हें इतना असमर्थ कर देता है कि वे समर्थ होते हुए भी कुछ कर नहीं पाते ?...पर वे ऐसा कुछ करना भी तो नहीं चाहते, जिससे कुरुकुल की शांति नष्ट हो।...परिणाम हर बार यही होता है...जैसे कोई माँ अपने झगड़ते हुए दो पुत्रों को पृथक् कर उनमें से आज्ञाकारी पुत्र को समझाती है—'तू तो जानता ही है कि वह दुष्ट है। तू ही मान जा मेरे लाल ! तू तो अच्छा बेटा है।' कदाचित् भीष्म ने भी हर बार पांडवों के साथ यही किया है...

7

"माँ ! मैं एक बहुत ही हर्षवर्द्धक समाचार लाया हूँ।"

"क्या समाचार है पुत्र ?"

युधिष्ठिर को घर लौटने में आज पर्याप्त विलंब हो गया था। उसके भाई तो कब से आ गये थे और उसके लौटने की प्रतीक्षा कर रहे थे। अब यह क्रम बहुत असाधारण भी नहीं रह गया था। युवराज के अनेक दायित्वों के कारण, उसे अनेक बार अपने भाइयों से पृथक् भी रहना पड़ता था।

कुंती बहुत उत्सुक होकर उसकी ओर देख रही थी और चारों भाई भी उसे घेरकर खड़े हो गये थे।

"बैठो ! बैठो !!" युधिष्ठिर हँसा, "आसन ग्रहण करो माँ ! इतनी भी क्या उत्सुकता कि मुझे जल भी नहीं पिलाया ...।"

"तुम भी तो भीतर आकर, जल पीकर, चैन से बैठकर यह बात कह सकते थे।" कुंती बोली, "तुमने भी तो द्वार में प्रवेश बाद में किया और घोषणा पहले कर दी। हम सुनने को अधिक उत्सुक हैं, या तुम सुनाने को अधिक आतुर हो ?"

जल लाते हुए सेवक से नकुल ने पात्र लेकर, कुंती की ओर बढ़ाया, "लो माँ ! अपने हाथों से जल दो। यह न हो कि किसी और के हाथों से ग्रहण कर, भैया को तृप्ति ही न हो।"

कुंती ने पात्र युधिष्ठिर की ओर बढ़ाया, "समाचार क्या है ?"

"बहुत हर्ष का समाचार है माँ !" युधिष्ठिर बोला, "मथुरा छोड़कर कुशस्थली की ओर जाते हुए, यादवों की रक्षार्थ जरासंध और कालयवन की सेनाओं को अटकाए रखने के लिए कृष्ण, मार्ग में ही रुक गया था। उसने मुचकुंद की गुफाओं में भटकाकर कालयवन का वध कर दिया है माँ ! और अब जरासंध भी बहुत उत्साह से उनका पीछा नहीं कर रहा। बहुत संभव है कि यादव सुरक्षित कुशस्थली पहुँच जायें माँ ! वहाँ उन्हें जरासंध का तनिक भी भय नहीं रहेगा।"

"अद्भुत है यह कृष्ण !" कुंती जैसे अपने-आपसे कह रही थी, "अकेले लड़के ने कालयवन को मार डाला ! आर्यावर्त्त के त्रास को !"

"बहुत लंबी यात्रा की है कृष्ण ने यादवों के साथ। उनमें स्त्रियाँ, शिशु, वृद्ध और रोगी

लोग भी रहे होंगे।" अर्जुन बोला, "यह सब कृष्ण की आस्था के कारण ही है। उसके विश्वास को कोई डिगा नहीं सकता।"

"इसका अर्थ यह हुआ कि वे लोग कुशस्थली में एक नया नगर बसायेंगे! नया राज्य स्थापित करेंगे! कृषि का प्रबंध करेंगे, उद्योग लगायेंगे, व्यापार करेंगे, सैन्य-संगठन करेंगे…"

"क्या जरासंध वहाँ आक्रमण नहीं कर सकता?" भीम ने पूछा, "कुशस्थली के आस-पास भी तो उसके अनेक मित्र राजा हैं।"

"आक्रमण कर क्यों नहीं सकता!" अर्जुन बोला, "किंतु कुशस्थली को चारों ओर से घेरा नहीं जा सकता। यादव सेना जब भी युद्ध करेगी, उसकी पीठ पर समुद्र होगा, जरासंध नहीं।"

"तो उसमें कठिनाई बढ़ भी तो सकती है।" नकुल बोला, "उनके पास पीछे हटने का स्थान ही नहीं होगा।"

"अरे बुद्धू!" भीम ने नकुल के कंधे पर प्रेमपूर्वक थपकी दी, "क्षत्रिय होकर, युद्ध-क्षेत्र में पीछे हटने की बात करता है! क्षत्रिय या तो विजय प्राप्त करता है या वीरगति! वह पीछे नहीं हटता।"

"किंतु मध्यम! तुमने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि कृष्ण उन जड़ क्षत्रियों में से नहीं है, जो बिना सोचे-समझे युद्ध करते हैं। वह तो मथुरा छोड़कर ही भाग गया। और कोई क्षत्रिय करेगा ऐसा?" अर्जुन ने रुककर अपने भाइयों को देखा, "ज्येष्ठ के युवराज्याभिषेक के अवसर पर जब कृष्ण यहाँ आया था, तभी युद्ध-नीति को लेकर, मेरा उससे वार्तालाप हुआ था।"

"क्या कहता था वह?" भीम के साथ-साथ अन्य तीनों भाई भी उत्सुकता से अर्जुन की ओर देख रहे थे।

"सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि वह परंपरा से आये ज्ञान तथा नियमों को उनके घेरे के भीतर से स्वीकार न कर, उनके बाहर निकल, मौलिक रूप से उनका चिंतन करता है।…"

"युद्ध के विषय में वह क्या सोचता है, यह बताओ।" भीम ने टोका।

"उसका कहना है कि जड़ता से कोई कार्य नहीं करना चाहिए—युद्ध भी नहीं!" अर्जुन बोला, "उसका कर्म चैतन्य है। दूसरी बात यह है कि हमारी दृष्टि कर्म पर हो, फल पर नहीं।…"

"तुमने फिर शास्त्र आरंभ कर दिया।" भीम का अधैर्य मुखर हुआ।

"नहीं मध्यम!" अर्जुन बोला, "वह कहता है कि युद्ध करते हुए, विजय अथवा वीरगति की बात न सोचकर, 'युद्ध' की ही बात सोचनी चाहिए।"

"अरे, युद्ध के विषय में सोचते रहेंगे, तो युद्ध करेंगे कब?" भीम हँसा, "तुम और तुम्हारा कृष्ण!"

"भीम!" युधिष्ठिर बोला, "पहले पूरी बात सुनो। बीच में मत टोको।"

"वह कहता है कि यदि हम यह सोचते हैं कि हमें कब, किस शस्त्र का प्रयोग करना है, शस्त्र का प्रयोग किस दूरी से करना है, शत्रु-सेना के किस अंग पर आक्रमण करना है, शत्रु के शरीर के किस खंड पर प्रहार करना है, तो हमें यह भी सोचना चाहिए कि हमें कब, कहाँ और कैसे युद्ध करना है। युद्ध के लिए जैसे हम अपना शस्त्र चुनते हैं, वैसे ही हमें स्थान और समय भी चुनना चाहिए। उसका विचार है कि समय और स्थान से बड़ा शस्त्र और कोई नहीं है।

यदि शत्रु ने हमें ऐसे समय और स्थान पर घेर लिया है, जहाँ हम अपनी पूरी क्षमता से युद्ध नहीं कर सकते, तो हमें अपना समय और स्थान चुनना चाहिए। युद्ध में क्षत्रिय के लिए कायरता अधर्म है, सजग रहकर अपनी युद्ध-नीति तथा व्यूह का निर्माण तो अधर्म नहीं है। इसीलिए उसने मथुरा छोड़ दी और कुशस्थली चुन ली। यह कायरता नहीं, व्यूह-रचना है।"

"इसमें कर्म और फल कहाँ से आ गये ?" भीम ने आपत्ति की।

"उसका कहना है कि 'युद्ध' तो कर्म है तथा 'विजय' अथवा 'वीरगति' उसके फल हैं।" अर्जुन बोला, "सामान्यतः हम लोग विजय अथवा वीरगति को अपना लक्ष्य मानते हैं, युद्ध को नहीं। वह जब युद्ध करता है, तो उसका लक्ष्य युद्ध ही है—'विजय' तथा 'वीरगति' तो उसके अनिवार्य फल मात्र हैं, जो प्रकृति के नियमों के अधीन हमें प्राप्त होंगे ही। विजय अथवा वीरगति की चिंता करते रहेंगे, तो युद्ध नहीं हो पायेगा।…" अर्जुन रुक गया, "इसे इस प्रकार समझो कि कृष्ण मथुरा में था और जरासंध तथा कालयवन ने अपनी विराट सेनाओं के साथ, उसपर आक्रमण किया। परंपरागत क्षत्रिय चरित्र की दृष्टि से उसे मथुरा में रहकर प्रत्यक्ष युद्ध कर विजय प्राप्त करनी चाहिए थी; और यदि ऐसा संभव नहीं था उसे तथा यादव वीरों को युद्ध-क्षेत्र में वीरगति प्राप्त करनी चाहिए थी। यदि कृष्ण इस स्थिति को स्वीकार कर लेता तो यादव तो पुरुष युद्ध में अवश्य ही मारे जाते और जरासंध, यादव-स्त्रियों, वृद्धों तथा बालकों को उनके घरों में बंद कर जीवित जला देता। इसलिए कृष्ण ने युद्ध न करने की ठानी। जरासंध और कालयवन के पास बड़ी सेनाएँ थीं; इसलिए उन्हें मथुरा को घेरने में सुविधा थी। उनके लिए 'गति' कठिन थी, 'स्थिति' सरल। कृष्ण के पास कम लोग थे, इसलिए उसे गति में सुविधा थी, स्थिति में नहीं। उसने यादवों को चलाया। जरासंध और कालयवन की सेनाएँ अपनी लंबी यात्रा कर मथुरा पहुँची थीं। वे थक चुकी थीं और रुकना चाहती थीं। कृष्ण ने उन्हें कुशस्थली की ओर फिर लंबी यात्रा के लिए बाध्य किया। वह यात्रा यादवों ने सफलतापूर्वक पूर्ण की और जरासंध तथा कालयवन की आधी सेना मार्ग में ही खप गयी। कृष्ण लड़ेगा किंतु मथुरा में नहीं, कुशस्थली में लड़ेगा। यदि जरासंध भी वहाँ पहुँच गया, तो बहुत संभव है कि कृष्ण सागर में चला जाये। वे लोग नौकाएँ और जलपोत बना सकते हैं। जरासंध के पास जल-सेना नहीं है। आर्यावर्त्त के किसी राजा के पास नहीं है। संभवतः कृष्ण तब भी लाभ में ही रहेगा।"

"इस दृष्टि से कृष्ण भगोड़ा तो नहीं है; केवल इतना ही है कि उसने अपनी युद्ध-नीति बदल दी है।" भीम बोला, "और ठीक ही है। हम क्यों शत्रु की सुविधा से युद्ध करें ? अपनी सुविधा से क्यों न करें ?"

"इतना ही नहीं मध्यम ! कृष्ण के प्रत्येक कृत्य में तुम्हें यही बात दिखायी देगी। अनेक बार ऊपर से देखने पर उसके अनेक कार्य धर्म के विपरीत प्रतीत होते हैं; किंतु सूक्ष्म दृष्टि से देखो तो बात केवल इतनी-सी ही है कि वह प्रत्येक कार्य अत्यंत मौलिक रूप में करता है। प्रचलित लोक-रीति, उसकी दृष्टि को अवरुद्ध नहीं कर पाती। ऊपर से धर्म-विरुद्ध लगने वाले उसके कार्य, वस्तुतः वास्तविक धर्म के सर्वथा अनुकूल होते हैं। साधारण व्यक्ति कृष्ण की लीला को समझ तो पाता नहीं, उसके अनेक अर्थ निकालता रह जाता है।"

"अर्जुन पर तो कृष्ण का ऐसा सम्मोहन छा गया है कि…" कुंती हँसकर बोली, "जब देखो, उसके शब्दों और व्यवहार की व्याख्या करता रहता है।"

"तो इसमें अनुचित क्या है माँ !" अर्जुन ने जैसे अपना बचाव किया, "तुम्हें मालूम है,

कृष्ण को जानने के प्रयत्न में, मैंने इस सृष्टि को कितना अधिक जाना है।"

"ओ-हो-हो !" भीम हँसा, "अर्जुन के कृष्ण तथा सृष्टि में अभेद है। कृष्ण ही सृष्टि है; और सृष्टि ही कृष्ण है। व्यक्ति एक को जान जाये, तो दूसरे के भेद तो अपने-आप ही खुलते चले जाते हैं।"

"हँसो मत मध्यम !" अर्जुन के स्वर में आवेश था, "यह न उपहास का विषय है, न परिहास का। कृष्ण का उपहास मुझे सुहाता नहीं है। इस सृष्टि को जितना कृष्ण समझता है, उतना और कोई नहीं समझता। वे दोनों एक-दूसरे के विरुद्ध जा ही नहीं सकते।..."

"अच्छा ! विवाद मत बढ़ाओ।" कुंती बोली, "अर्जुन ! पुत्र, तुम अपने मध्यम को जानते नहीं क्या ? वह तो अपने विषय में भी इस प्रकार चर्चा करता है, जैसे अपना भी उपहास ही कर रहा हो। और भीम ! पुत्र, सचमुच ही कुछ विषय और व्यक्ति उपहास से परे होते हैं। अर्जुन के मन में कृष्ण के प्रति श्रद्धा है, इसलिए उसे तुम्हारा यह परिहास भी रुचिकर नहीं होगा।"

"अर्जुन के मन में कृष्ण के प्रति श्रद्धा है और मेरे मन में उसके प्रति प्रेम है।" भीम पुनः हँसा, "अंतर यही है कि जिनसे आप प्रेम करते हैं, उनसे आप हास-परिहास भी कर सकते हैं; और जिनके लिए श्रद्धा होती है, उनकी केवल प्रशंसा। इसीलिए मैं करता हूँ तो प्रेम ! श्रद्धा से तो सारी आत्मीयता समाप्त हो जाती है माँ !"

"इस बार तो मध्यम ने बड़ी समझदारी की बात की है।" सहदेव बोला, "ऐसा अवसर बार-बार तो आता नहीं।"

"अच्छा, बस करो।" कुंती ने फिर हस्तक्षेप किया, "मुझे तो इस बात की प्रसन्नता है कि यादव सुरक्षित स्थान पर पहुँच गये हैं। नहीं तो कारामुक्त होकर भी भैया वसुदेव को कोई सुख नहीं मिलता।..."

"ज्येष्ठ !" भीम ने जैसे माँ की बात की ओर ध्यान न देते हुए, मन की तरंग में कहा, "यह तो बताओ कि तुम्हें रहने के लिए युवराज के उपयुक्त प्रासाद कब मिलेगा ? इस खंडहर में कब तक रहेंगे हम लोग ? इसमें न तो हम अपने मित्रों को ठहरा सकते हैं, न अतिथियों को। अब यदि कृष्ण और बलराम कुशस्थली से आयें..."

"कुशस्थली का नाम अब उन्होंने द्वारका रख दिया है।" सहदेव ने टोका।

"द्वारका सही !" भीम ने सहदेव के शब्दों को ऐसे झटका, जैसे कोई अपनी नाक पर बैठी किसी धृष्ट मक्खी को उड़ाता है, "इतनी दूर से, इतनी लंबी यात्रा करके वे आयें और हमारे पास उन्हें सुविधाजनक ढंग से ठहराने के लिए स्थान भी न हो, यह कोई बात हुई !"

"मध्यम ! यदि ज्येष्ठ को नया प्रासाद मिल भी गया, तो लाभ क्या होगा !" नकुल बोला, "कुछ दिनों में ज्येष्ठ का विवाह हो जायेगा, और वे कहेंगे कि इस प्रासाद में केवल युवराज और उनका परिवार ही रहेगा, जैसा पितृव्य ने कह दिया था।..."

"चुप ! ऐसी बात परिहास में भी मत कह। तुम्हारा ज्येष्ठ अपने पितृव्य जैसा नहीं है।" कुंती ने कहा।

"क्या बात है ? आज परिहास-निषेध क्यों है इस घर में ?" सहदेव ने अपना चेहरा ऊपर उठाकर कहा, जैसे आकाश से अपने प्रश्न का उत्तर माँग रहा हो।

"मैंने कभी पितृव्य से इसकी चर्चा नहीं की है।" युधिष्ठिर बोला, "वैसे इस खंडहर में

रहते- रहते मुझे तो अपनी आवश्यकता के लिए यह पर्याप्त ही लगने लगा है । नये प्रासाद में शायद मेरा मन ही न लगे ।"

"आपका मन तो मैं लगा दूँगा ।" भीम बोला, "पहले आप प्रासाद का प्रबंध तो कीजिए ।"

"भीम ! क्या तुम्हें नहीं लगता कि हम अपने ऊपर जितना अधिक व्यय करेंगे, प्रजा पर उतना ही आर्थिक बोझ बढ़ेगा ?"

"ज्येष्ठ !" अब भीम के स्वर में तनिक भी हल्कापन नहीं रह गया था, "दुर्योधन जिस प्रकार राजकोश के धन का अपव्यय कर रहा है, उसको देखते हुए, एक नया, विशाल राजप्रासाद तो हमारी न्यूनतम आवश्यकता है; और फिर जितना धन हम दिग्विजय से लाये हैं, उतना तो बीसियों प्रासाद बनाने के लिए पर्याप्त है ।"

"मैं दुर्योधन का अपव्यय इसी क्षण से रोक देता, किंतु वह मेरे अधिकार में नहीं है ।" युधिष्ठिर बोला, "और दिग्विजय से लाया गया धन भी तो प्रजा के कल्याण के लिए है, राजा के विलास के लिए नहीं ।"

"उसे रोक नहीं सकते, तो मुझे व्यय करने दीजिए ।" भीम बोला, "मैं यह कदापि नहीं देख सकता कि प्रजा से कर- रूप में प्राप्त धन के साथ- साथ हमारे बाहुबल से अर्जित धन भी दुर्योधन और उसकी चांडाल चौकड़ी के विलास में व्यय हो ।"

"पर यदि हम भी उसी प्रकार व्यय करें, जिस प्रकार दुर्योधन कर रहा है, तो राजकोश आधे ही समय में खाली हो जायेगा ।" युधिष्ठिर ने आपत्ति की ।

"यदि राजकोश को खाली होना ही है, तो अच्छा है कि हम दोनों ही मिलकर करें । भाई के कार्य में हमें सहयोग तो करना ही चाहिए ।" भीम बोला, "पर मुझे पूरा विश्वास है कि आप चाहें भी तो आपको कोई उस प्रकार व्यय करने नहीं देगा, जैसे दुर्योधन करता है । वह तो बैठे- बैठाए सूतपुत्र को अंगदेश का राज्य भी दे सकता है, और आप अपने लिए एक प्रासाद भी नहीं बनवा सकते !"

"भीम ! तुम अपने और दुर्योधन के झगड़े में उस बेचारे कर्ण को क्यों ले आते हो ?" कुंती ने उसे टोका, "इस प्रकार की अकारण शत्रुता मुझे अच्छी नहीं लगती पुत्र !"

"माँ ! तुमने कभी जाकर उस सारथिपुत्र..."

"सारथिपुत्र मत कहो उसे ! कर्ण कहो ।" कुंती के चेहरे पर अरुचि का भाव आया, "इस प्रकार के संबोधनों का क्या लाभ, जिनसे किसी के गुण प्रकट होने के स्थान पर तिरोहित हो जाते हों ?"

"अच्छा ! कर्ण ही सही !" भीम बोला, "तुम जाकर उससे पूछो माँ, कि वह क्यों अकारण अर्जुन से शत्रुता करता है ।"

"अज्ञान है उसका ।" कुंती बोली, "और क्या !"

"अज्ञान नहीं । दुष्टता है उसकी !" भीम ने बलपूर्वक कहा, "तुम नहीं जानतीं कि कितना कलुषित है उसका मन ! दुर्योधन की सारी दुष्टताओं के मूल में या तो शकुनि होता है या कर्ण !"

"नहीं पुत्र ! यह उसकी दमित महत्वाकांक्षा का क्षार है, जो तुम्हें अच्छा नहीं लगता ।"

"माँ !" इस बार सहदेव बोला, "महत्वाकांक्षाएँ किसमें नहीं होतीं, किंतु उनकी अपूर्णता या असफलता को यदि व्यक्ति झेल न पाये, और उसके कारण दुष्टता पर उतर आये, तो उसका

अपराध क्षम्य तो नहीं है।"

"अर्जुन के प्रति उसके व्यवहार को उचित तो मैं भी नहीं ठहराती पुत्र!" कुंती ने उत्तर दिया, "किंतु कुछ लोग होते ही अभागे हैं। दुर्भाग्य से पीड़ित व्यक्तिको क्षमा ही कर देना उचित है।"

"अभागा क्यों माँ?" सहदेव बोला, "मुझे तो वह असाधारण रूप से सौभाग्यशाली प्रतीत होता है। सूतपुत्र होते हुए भी, वह महाराज अंगेश हो गया। इससे बड़ा सौभाग्य क्या होगा?"

"राज्य की प्राप्ति भी सौभाग्य हो सकती है," कुंती धीमे स्वर में बोली, "किंतु सत्संगति और भले लोगों का स्नेह—सबसे बड़ा सौभाग्य होता है। उसे अपनी जननी और जनक का स्नेह नहीं मिला। राधा और अधिरथ उससे बहुत प्रेम करते होंगे; किंतु जननी और जनक की बात ही और है।" कुंती ने अपने पुत्रों पर एक दृष्टि डाली, "उसे संगति मिली है दुर्योधन, दुःशासन और शकुनि की। उसे उनका प्रेम प्राप्त है, या उनका स्वार्थ उसे घेरे हुए है—यह कहना तो कठिन है। वह तुम लोगों का मित्र होता—राज्य उसे मिलता, न मिलता; तो भी वह इससे अधिक सुखी होता।"

"माँ ठीक कह रही हैं।" युधिष्ठिर बोला, "ऐसे लोग सचमुच क्षम्य ही नहीं, दयनीय भी होते हैं, जिन्हें मिलने के लिए सुख चारों ओर से बहता चला आ रहा हो, फिर भी वे लोग, सुख तक पहुँच न पायें..."

तभी बाहर किसी रथ के रुकने की आहट हुई और किसी ने द्वार खटखटाया।

नकुल उठा, "मैं देखता हूँ माँ!"

थोड़ी देर में वह धृतराष्ट्र के सारथि के साथ लौटा, "युवराज के लिए महाराज का संदेश आया है।"

"क्या बात है?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"महाराज ने आपको तत्काल आने के लिए कहा है युवराज! वे आपसे मिलना चाहते हैं।"

"इसी समय?" युधिष्ठिर ने आश्चर्य से पूछा, "आधे प्रहर पूर्व तक तो मैं उन्हीं के साथ था!"

"उन्होंने आपको साथ ही लिवा लाने के लिए कहा है युवराज!"

"अच्छा, चलो!" युधिष्ठिर उठ खड़ा हुआ, "जाने क्या काम हो!"

"भैया!" भीम धीरे से बोला, "प्रासाद की बात भी कर लीजिएगा। यह न हो कि उनके कार्य तो होते रहें; और हमारा काम पड़ा-का-पड़ा रह जाये।"

धृतराष्ट्र युधिष्ठिर की प्रतीक्षा ही कर रहा था।

"आओ वत्स!" उसने अत्यंत मधुर ढंग से युधिष्ठिर का स्वागत किया। उसके चेहरे पर तनिक भी उद्विग्नता नहीं थी। वह अत्यंत शांत दिखायी पड़ रहा था।

"क्या बात है पितृव्य?" युधिष्ठिर ने निकट के आसन पर बैठते हुए पूछा।

"वत्स! सहसा तुम्हारा स्मरण हो आया, तो मुझे स्वयं अपने-आप पर आश्चर्य भी हुआ और ग्लानि भी।..."

युधिष्ठिर ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा।

"तुम्हारे वे अतिथि चले गये पुत्र ?" धृतराष्ट्र ने पूछा, "जिन्हें भीम और अर्जुन सौवीर-अभियान से लौटते हुए, अपने साथ लाये थे ?"

"हाँ, पितृव्य ! वे सब लोग लौट गये हैं !"

"देखो ! इतनी-सी बात पूछनी भी याद नहीं रहती !" धृतराष्ट्र बोला, "राजसभा में एक तो व्यर्थ के विवाद ही बहुत रहते हैं; दूसरे वहाँ इतने बाहरी लोगों के बीच, परिवार की छोटी-छोटी घटनाओं के विषय में पूछना, कुछ समीचीन भी नहीं लगता !" धृतराष्ट्र ने रुककर एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा, "इस अल्प वय में तुम पर भी राजकार्य का कितना बोझ आ पड़ा है युधिष्ठिर ! थक जाते होगे । तुम विश्राम भी तो नहीं करते पुत्र !" वह खाँसा, "यही सोच रहा था मैं । तुम लोगों की सुख-सुविधा का ध्यान रखना मेरा धर्म है; और मैं तुम्हें तो इस शासन-तंत्र में उलझाए ही रहता हूँ, तुम्हारे चारों भाइयों को भी भेज दिया, कठिन यात्रा पर—युद्ध करने के लिए ! बहुत परिश्रम किया है तुम लोगों ने ! कुछ आराम भी करना चाहिए तुम्हें !"

"आपकी कृपा है पितृव्य ! आप हमारा इतना ध्यान रखते हैं ।" युधिष्ठिर बोला, "हम श्रम के साथ पर्याप्त विश्राम भी कर लेते हैं, आप निश्चिंत रहें ।"

"नहीं पुत्र ! यह कोई विश्राम नहीं है ।" धृतराष्ट्र बोला, "यहाँ रहकर तो कितना भी विश्राम करना चाहो, तुम्हें कोई विश्राम करने नहीं देगा । आज देखो न, तुम राजसभा से अपने भवन में गये, और मैंने तुम्हें बुला लिया । ऐसे ही, जिसे आवश्यकता होगी, वह तुम्हें कष्ट देगा ही !...और तुम्हारा तो वह स्वभाव ही नहीं है । न तुम कभी मृगया के लिए जाते हो...।"

"मुझे वह नृशंसता लगती है पितृव्य !"

"किंतु क्षत्रिय तो मृगया करते ही हैं ।" धृतराष्ट्र बोला, "तुम इसे नृशंसता कहोगे तो युद्ध कैसे करोगे ?"

"मैं अनावश्यक हिंसा को क्षत्रिय के लिए अनिवार्य नहीं मानता । आत्मरक्षा तथा न्यायरक्षा के लिए किया गया युद्ध ही धर्मसंगत है । अपने मनोरंजन, अहंकार अथवा लोभ के कारण किया गया युद्ध भी नृशंसता है तात् !"

"लगता है, तुम विदुर की संगति में कुछ अधिक ही रहने लगे हो । वह शैशव से ऐसी ही बातें करता रहा है ।" धृतराष्ट्र बोला, "तुम चौसर भी नहीं खेलते...।"

"चौसर, मात्र चौसर रहे, तो मुझे कोई विशेष आपत्ति नहीं है पितृव्य ! किंतु चौसर अब द्यूत में परिणत हो गया है । द्यूत तो दूसरे पराये धन के हरण का कारण है...।"

"वह भी नृशंसता है क्या ?" धृतराष्ट्र हँसा ।

"आप हँस रहे हैं पितृव्य ! किंतु है वह भी नृशंसता ही ।" युधिष्ठिर बोला, "किसी व्यक्ति के श्रम द्वारा अर्जित धन से उसको इस प्रकार वंचित कर, उसे पीड़ित करना, नृशंसता ही है महाराज !"

"तो पुत्र ! तुम्हारा मनोरंजन कैसे होगा ? तुम आराम कैसे करोगे ? अपने शरीर और मन को ढीला कैसे छोड़ोगे ?"

"विश्राम भी सुख के ही समान, मन की एक स्थिति है तात् ! लोग, विश्राम के बहाने सघन वनों में अश्व बहाते हुए स्वेद से नहा जाते हैं, शरीर थककर चूर हो जाता है । और वे उसे विश्राम मानते हैं ।"

"तो तुम्हारा मनोरंजन कैसे होगा ?"

"मेरा मनोरंजन और विश्राम न मदिरा में है, न द्यूत में, न मृगया में।" युधिष्ठिर बोला।

"और दासियों में भी तुम्हें कोई रुचि नहीं है ?"

"नहीं, महाराज !"

"तो ?"

"सत्संगति में मेरे मन को पर्याप्त शांति मिल जाती है महाराज !" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "अध्ययन में, मनन में, ध्यान में मैं वहुत सुख पाता हूँ।"

"तो पुत्र ! तुम्हें इनका भी अवसर नहीं मिलता होगा। एक तो शासन-कार्य से तुम्हें अवकाश नहीं मिलता; दूसरे, हस्तिनापुर इन वार्तों के लिए उपयुक्त स्थान भी नहीं है। यहाँ तो धन-संपत्ति है, राग-रंग है, मदिरा है, द्यूत है, गणिकाएँ हैं।"तुम्हारे युवराज्याभिषेक पर भी महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास हस्तिनापुर नहीं आये। उन्होंने कहलवाया था कि जो कार्य मेरे बिना भी हो सकता है, उसमें सम्मिलित होने के लिए, मैं हस्तिनापुर जैसे रजोगुणी और भोगी नगर में क्यों जाऊँ !" धृतराष्ट्र ने रुककर युधिष्ठिर की प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा की, "हमारे राज्य में गंगातट पर ही एक नगर है वारणावत ! प्राकृतिक सौन्दर्य से भरा-पूरा है। कहते हैं, वहाँ की जलवायु बहुत ही स्वास्थ्यवर्धक है और आनंददायिनी है। वहाँ के लोग सीधे-सादे और सात्विक वृत्ति के हैं। वहाँ महादेव शिव का एक विराट मंदिर है, और उनका वार्षिक महोत्सव भी होने वाला है। वहाँ संपूर्ण जंवूद्वीप से अनेक विद्वान, साधक, संन्यासी, ऋषि, मुनि और तपस्वी लोग आयेंगे। मेरी इच्छा है कि तुम अपनी माता तथा भाइयों सहित, कुछ समय के लिए वारणावत चले जाओ।" उसने अपनी अंधी आँखें युधिष्ठिर के चेहरे की ओर उठायीं; किंतु युधिष्ठिर मौन ही रहा।

"हस्तिनापुर में मैं तुम्हारे लिए कोई उपयुक्त प्रासाद भी नहीं बनवा पाया हूँ," धृतराष्ट्र पुनः वोला, "किंतु वारणावत में वहुत ही सुंदर और श्रेष्ठ भवन है, तुम लोगों के निवास के लिए। भीम मुझसे रुष्ट भी था, इस वात को लेकर ! वारणावत का भवन देखकर उसका रोष भी दूर हो जायेगा। तुम वहाँ शासन-कर्म के बोझ से दूर रहोगे; अच्छे, सात्विक और विद्वान लोगों से मिल सकोगे। प्राकृतिक सौंदर्य का सुख उठा सकोगे; और इच्छा भर अध्ययन, मनन और ध्यान कर सकोगे। महादेव के महोत्सव में सम्मिलित हो सकोगे तथा समाज का आनंद उठा सकोगे।" धृतराष्ट्र जैसे टोह लेने के लिए क्षण-भर रुका और युधिष्ठिर को मौन पाकर बोला, "तुम लोग फाल्गुन शुक्ला अष्टमी के दिन रोहिणी नक्षत्र में अपनी यात्रा आरंभ कर दो।"

युधिष्ठिर अपने स्थान पर बैठा हुआ चुपचाप धृतराष्ट्र की वात सुनता रहा : वह समझ नहीं पा रहा था कि वह प्रसन्नता प्रकट करे या आश्चर्य।"क्या सचमुच धृतराष्ट्र को उनका इतना ध्यान था और वह सत्य ही उनके विश्राम की चिंता कर रहा था; अथवा कोई और ही वात थी !"

"जब तक तुम लोग लौटकर हस्तिनापुर आओगे," धृतराष्ट्र ने पुनः कहा, "तब तक भीम की इच्छानुसार मैं तुम लोगों के लिए एक खुला, विराट और सुविधाजनक प्रासाद वनवा दूँगा। प्रासाद बनकर तैयार होते ही मैं तुम लोगों को सूचित करूँगा और वापस बुला लूँगा।"

धृतराष्ट्र के इस सारे प्रस्ताव को युधिष्ठिर सहज उत्साह से ग्रहण नहीं कर पा रहा था"यह

मात्र प्रस्ताव होता तो धृतराष्ट्र, किसी समय सहज रूप से चर्चा कर सकता था कि यदि वे जाना चाहें तो जायें; किंतु यहाँ तो सारी योजना बनाकर, एक प्रकार से आदेश दिया जा रहा है। उनकी यात्रा की तिथि निश्चित है। वारणावत में उनके निवास के लिए स्थान निश्चित है। उनके लौटने की अवधि निश्चित है।...तो ?...क्या सत्य ही पितृव्य का स्नेह जागा है और वे चाहते हैं कि पांडव अपने मनोरंजन के लिए जायें; या यह हस्तिनापुर से उनका निष्कासन है ?...यह तो निष्कासन का आदेश ही अधिक प्रतीत होता है।...यदि ऐसा है, तो निश्चित रूप से यह दुर्योधन की इच्छा से ही हो रहा होगा।...

"तुम प्रसन्न नहीं हो पुत्र ?" धृतराष्ट्र ने पूछा।

युधिष्ठिर ने अकबकाकर उसकी ओर देखा : यह व्यक्ति उन्हें हस्तिनापुर से निष्कासित करने के पश्चात् पूछ रहा है कि क्या वह प्रसन्न नहीं है ?...

"ऐसी कोई बात नहीं पितृव्य !" युधिष्ठिर धीरे से बोला, "मेरे लिए आपका आदेश सर्वथा आकस्मिक था ...।"

युधिष्ठिर ने दृष्टि उठाकर धृतराष्ट्र को देखा : शायद वह कहे, 'नहीं पुत्र ! यह आदेश नहीं है। तुम लोग न जाना चाहो, तो मत जाओ।'...किंतु नहीं ! धृतराष्ट्र ने न ऐसा कुछ कहा, न ही ऐसा कुछ कहने की उसकी इच्छा थी।

"अच्छा ! चलता हूँ तात्, अनुमति दें !" युधिष्ठिर उठ खड़ा हुआ।

धृतराष्ट्र ने आशीर्वाद की मुद्रा में हाथ उठा दिया; एक भी शब्द नहीं कहा।

राजभवन से निकलकर युधिष्ठिर सीधा विदुर के पास चला गया। उसका मन यह स्वीकार नहीं कर पा रहा था, कि यह उनके हित में धृतराष्ट्र का एक सीधा-सादा प्रस्ताव है।...युधिष्ठिर के हस्तिनापुर में न रहने से शासन का सारा भार धृतराष्ट्र पर पड़ेगा।... तो वह ऐसा क्यों चाहेगा ?...क्या वे लोग राजसभा में कोई ऐसा प्रस्ताव लाना चाहते हैं, जिसमें युधिष्ठिर की उपस्थिति से कोई बाधा होगी ?...क्या यह दुर्योधन का कोई षड्यंत्र है ?...

विदुर ने सारी बात सुनी और चिंतित स्वर में बोला, "मुझे नहीं लगता कि महाराज धृतराष्ट्र ने यह प्रस्ताव मात्र तुम्हारे मनोरंजन के लिए रखा है।"

"यह प्रस्ताव तो है ही नहीं काका ! यह तो प्रत्यक्ष आदेश है।"

"मेरा भी यही विचार है।" विदुर बोला...और सहसा उसके चेहरे पर आक्रोश झलका, "युधिष्ठिर ! जिस दिन महाराज ने तुम्हें युवराज घोषित किया था, मुझे उसी दिन आश्चर्य हुआ था। जितना मैं उस व्यक्ति को जानता हूँ, उसके अनुसार यह असंभव था। मैं आज तक यह गुत्थी नहीं सुलझा पाया था कि ऐसा कैसे हो गया। आज का यह आदेश सुनकर मुझे लगता है कि मैं कुछ-कुछ समझ रहा हूँ।..."

युधिष्ठिर ने प्रश्नवाचक दृष्टि से विदुर की ओर देखा।

"आज ही हम सबको सूचना मिली है कि यादव मथुरा से दूर कुशस्थली में पहुँच गये हैं और अपनी सुरक्षा के लिए द्वारका के निर्माण में संलग्न हैं; और आज ही महाराज ने तुम्हें यह निष्कासन-आदेश सुना दिया है। इन दोनों घटनाओं में तुम्हें कोई संबंध दिखायी देता है क्या ?"

"नहीं !" युधिष्ठिर बोला, "इन दोनों का क्या संबंध ?"

"मुझे लगता है कि तुम्हें युवराज बनाने के पीछे यादवों की शक्ति कार्य कर रही थी ।" विदुर बोला, "तुम्हें स्मरण होगा पुत्र, कि मथुरा से अक्रूर के आने पर उनकी उपस्थिति में महाराज ने तुम्हें युवराज बनाने का निर्णय लिया था । आज महाराज को मालूम हो गया है कि यादव अब इतनी दूर हैं कि सहज ही हस्तिनापुर पहुँच नहीं सकते; और इन दिनों जरासंध और उसके मित्रों की सेनाएँ, उनसे उलझने को तैयार खड़ी हैं । यादव अपने आवास के लिए, आजीविका के लिए, रक्षा के लिए—एक नगरी का निर्माण कर रहे हैं । वे अपने झंझटों और समस्याओं में इतने व्यस्त हैं कि हस्तिनापुर आ ही नहीं सकते । इस समय यदि तुम लोगों को नगर से निष्कासित कर दिया जाये···"

विदुर ने रुककर युधिष्ठिर की ओर देखा; किंतु युधिष्ठिर कदाचित् इस निष्कर्ष की सत्यता-असत्यता पर विचार कर रहा था । वह कुछ बोला नहीं ।

"और यदि मेरा यह अनुमान ठीक है पुत्र," विदुर पुनः बोला, "तो एक तो तुम्हारा निष्कासन अकारण नहीं, दूसरे हस्तिनापुर की राजसभा में महाराज के इतने समर्थक हैं कि वे तुम्हें हस्तिनापुर से निष्कासित करने का साहस कर रहे हैं ।"

"यदि ऐसा होता काका, तो वे मुझे युवराज-पद से ही हटा सकते थे ।"

"नहीं ! उसका साहस महाराज नहीं कर सकते ।"

"कारण ?"

"प्रजा विद्रोह कर देगी । शायद तुम्हें ज्ञात नहीं है कि तुम राजसभा को उतने प्रिय नहीं हो, जितने प्रजा को हो । तुम्हारी सत्यवादिता तथा जनोन्मुख दृष्टिकोण से राजसभा के सदस्यों को हानि हुई है और प्रजा को लाभ ! फिर राजसभा के सदस्यों को खरीदा जा सकता है, प्रजा को नहीं !" विदुर बोला, "मेरा यह अनुमान इसलिए है कि प्रजा तो इसे तुम्हारा निष्कासन मानेगी ही नहीं । वह यही मानेगी कि युवराज अपने भाइयों और माता के साथ अपने आनंद के लिए, वारणावत में विहार करने गये हैं । महाराज ने अपने आदेश के लिए, ओट ही ऐसी ली है । प्रजा षड्यंत्र को समझ नहीं पायेगी और महाराज की कृपा के लिए प्रसन्न होगी ।··इस अनुमान के आधार पर एक और निष्कर्ष मेरे मन में उभर रहा है ।···"

"क्या काका ?"

"राजसभा में कदाचित् अब तुम्हें आचार्य द्रोण और पितृव्य भीष्म का समर्थन भी प्राप्त नहीं है । कृपाचार्य भी आचार्य द्रोण का ही साथ देंगे । यदि ऐसा न होता तो तुम्हें इस प्रकार का आदेश कभी न दिया जाता ।"

"काका, यदि ऐसा ही है, तो मेरे युवराज बने रहने का अर्थ ही क्या है ? मुझे स्वेच्छा से ही युवराज-पद छोड़ देना चाहिए ।" सहसा युधिष्ठिर बोला ।

"नहीं पुत्र !" विदुर ने उसके कंधे पर हाथ रखा, "यह कभी मत करना । तुम अपने पिता की ही भूल दुहराना चाहते हो ? भैया पांडु इस प्रकार हस्तिनापुर छोड़कर न गये होते, तो आज यह स्थिति ही न आती ।"

"तो मैं क्या करूँ तात् ?" युधिष्ठिर के स्वर में पीड़ा थी, "मैंने अपने गुरु को भी रुष्ट किया, अपने पुरोहित को भी···"

"एक बात स्मरण रखो पुत्र !" विदुर बोला, "लोक-कल्याण में निःस्वार्थ बुद्धि से किया गया कार्य ही धर्म है । धर्म-राज्य से न्याय-पक्ष सुखी होता है और अन्याय-पक्ष पीड़ित । तुम्हारा

दुर्भाग्य यह है कि तुम अधर्मियों की सभा में धर्म की बात कर रहे हो; और तुम्हारा सौभाग्य यह है कि तुम्हारे कंधों पर धर्म- स्थापना का शुभ कर्तव्य आ पड़ा है।...वैसे यह सारा कुछ मेरा अनुमान मात्र ही है।...इस समय मेरे लिए सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि तुम्हें हस्तिनापुर से हटाकर, ये लोग यहाँ क्या करना चाहते हैं ? तुम्हें क्यों हटाया जा रहा है हस्तिनापुर से ? क्या यहाँ कोई ऐसा षड्यंत्र चल रहा है कि यदि तुम हस्तिनापुर से चले जाओ, तो पुनः हस्तिनापुर में प्रवेश न कर सको ?"

"किंतु पितामह ? पितामह क्यों हमारे प्रतिकूल हो गये ? वे तो धर्म के स्तंभ हैं !"

विदुर कुछ देर सोचता रहा, फिर धीरे से बोला, "मैं यह नहीं कह रहा कि वे तुम्हारे प्रतिकूल हो गये हैं। इसकी संभावना बहुत कम है। किंतु उनकी बुद्धि इतनी सरल है कि उन्हें किसी भी प्रकार धर्म के अथवा स्नेह के तर्क- जाल में बाँधा जा सकता है; और पुत्र ! ऊपर से इतना कठोर दिखने वाला यह व्यक्ति भीतर से कहीं बहुत दुर्बल भी है। वे बहुत शीघ्र विचलित हो जाते हैं; और थोड़े- से आग्रह पर किसी भी प्रस्ताव को अपनी सहमति दे देते हैं। वे इस कुल से इतना प्रेम करते हैं कि उनकी सद्भावना का कभी भी अनुचित लाभ उठाया जा सकता है। जैसे किसी भी विकलांग अथवा चिर- रोगी बालक के लिए उसके पिता के मन में एक सहज विह्वलता होती है, वैसे ही पितृव्य के मन में महाराज के लिए है। महाराज को उसका लाभ उठाना आता है—कभी रोकर, कभी लड़कर। अब पता नहीं कि उन्होंने इस बार किस विधि का प्रयोग किया है।...वैसे भी पितृव्य अब वृद्ध हो गये हैं। बहुत संघर्ष- क्षमता नहीं बची होगी उनमें। महाराज के षड्यंत्रों से वे कब तक लड़ सकते हैं ?"

"ठीक है काका !" युधिष्ठिर उठ खड़ा हुआ, "मैं सोचता हूँ कि हम लोग यात्रा की तैयारी करें। जो होगा, समय आने पर देखा जायेगा। हानि जो हो, सो हो, एक लाभ यह अवश्य होगा कि वारणावत की स्वच्छ एवं दुरभिसंधि- मुक्त जलवायु में कुछ समय निश्चिंतता से व्यतीत होगा।"

विदुर ने कुछ नहीं कहा; किंतु एक वाक्य उसके मन में गूँजता ही रहा—'हाँ पुत्र ! यदि वे तुम्हें निश्चिंत रहने दें, तो !...'

और युधिष्ठिर के मन में बार- बार कृष्ण की छवि उभरती रही : कहाँ वे लोग सोच रहे थे कि कृष्ण, यादवों को सुरक्षित स्थान पर ले गया है; और कहाँ अब युधिष्ठिर को लग रहा है कि कृष्ण उनसे बहुत दूर चला गया है। इतनी दूर कि शायद उनके कष्ट में उनकी सहायता को भी न आ सके। यादवों ने अपने कष्ट स्वयं झेले हैं, पांडवों को भी अपने कष्ट स्वयं झेलने होंगे।...पर क्या सचमुच उनकी सहायता को कृष्ण कभी नहीं आयेगा ?...

8

पांडवों को वारणावत ले जाने के लिए हस्तिनापुर का कदाचित् सबसे भव्य और सबसे अधिक सुसज्जित रथ आया था। किसी का इतना सम्मान तो महाराज की विशेष कृपा होने पर ही होता है। इतनी भव्य विदाई की कल्पना स्वयं पांडवों ने भी अपने लिए कभी नहीं की थी। दासियों ने मार्ग में पुष्प बिखेरे। राजकन्याओं ने अटारियों से पुष्प- वर्षा की। मार्ग के दोनों

ओर सुसज्जित अश्वारोही खड़े थे। उनके पीछे हस्तिनापुर की अपार जनता थी। युवराज युधिष्ठिर, महावीर भीम, महान धनुर्धर अर्जुन, अश्व-विद्या के आचार्य नकुल, महान खड्गधर सहदेव तथा करुणामयी माता कुंती के जय-जयकार के उद्घोष हस्तिनापुर के आकाश को प्रकंपित कर रहे थे।

कुंती अपने पुत्रों के साथ जाकर महाराज धृतराष्ट्र और महारानी गांधारी से विदा ले आयी थी। उसने एक बार अश्रुभरी आँखों से हस्तिनापुर के राजप्रासाद को देखा था। वह आज दूसरी बार यहाँ से निष्कासित हो रही थी।...वह नहीं जानती थी कि अब पुनः यहाँ प्रवेश मिलेगा भी या नहीं। विचित्र बात थी कि जो स्वामी थे, वे अतिथि के समान विदा हो रहे थे; और जिन्होंने बलात् आधिपत्य जमा रखा था, वे स्वामी के समान, उन्हें विदा कर रहे थे।...और कितने प्रसन्न थे, वे उन्हें विदा करते हुए।...

भीष्म ने उन्हें भारी मन से विदा किया था। युधिष्ठिर समझ नहीं पाया कि वे इतने उदास क्यों थे। यदि वे उन्हें वारणावत नहीं भेजना चाहते थे, तो पितामह ने उन्हें रोका क्यों नहीं? उन्होंने कोई विशेष बात भी नहीं की थी। आशीष के रूप में सिर पर हाथ रखा, उदास आँखों से उन्हें निहारा और कहा, "सुखी रहो पुत्रो।..." जैसे उन्हें यह सब अपनी इच्छा से विरुद्ध करना पड़ रहा हो। उन्हें अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य करने को कौन बाध्य कर सकता था? कौन बाध्य कर रहा था?...

दुर्योधन, दुःशासन और शकुनि भी उन्हें विदा करने आये थे। अनेक मंत्री भी थे; किंतु दुर्योधन का प्रिय पुरोचन दिखायी नहीं दे रहा था।

"आज पुरोचन तुम्हारे साथ नहीं है?" युधिष्ठिर ने दुर्योधन से पूछा।

"ओह! उसे मैंने तुम्हारी अगवानी के लिए वारणावत भेज दिया है।" वह बोला, "वहाँ भी तो कोई होना चाहिए युवराज का स्वागत करने वाला, युवराज की असुविधाओं को दूर करने वाला।"

विदा करने आये लोग, एक-एक कर चले गये। नगर-द्वार के बाहर निकलकर, युधिष्ठिर ने साथ चले आते पुरवासियों को भी कह-सुनकर वापस लौटा दिया। एक विदुर ही वापस नहीं गये।

जब सब लोग लौट गये, तो विदुर ने धीरे से युधिष्ठिर से कहा, "पुत्र युधिष्ठिर! मैं अब तक केवल यही सोच रहा था कि तुम लोगों को हस्तिनापुर से इसलिए हटाया जा रहा है, क्योंकि पीछे, यहाँ कुछ घटित होना है।...किंतु अब मुझे यह आभास होने लगा है कि यहाँ कुछ घटित होने के स्थान पर, वारणावत में घटित होने की संभावना अधिक है।...और यदि वारणावत में कुछ घटित हुआ, तो तुम दर्शक नहीं होगे उसके। घटना तुम्हारे साथ घटित हो सकती है।"

"हमारे साथ क्या घटित हो सकता है काका?" युधिष्ठिर ने आश्चर्य से पूछा।

"अभी क्या कह सकता हूँ पुत्र!" विदुर बोला, "मुझे पूर्ण सूचना नहीं है। प्रयत्न कर रहा हूँ। अनुमान यही है कि कोई दुर्घटना ही होगी। इसलिए अपनी रक्षा के लिए सदा सावधान रहना।..."

"काका! अब हम छोटे बच्चे नहीं रहे।" युधिष्ठिर कुछ उत्साह के साथ बोला, "हम पाँचों भाई एकसाथ रहें, तो बड़े से बड़ा योद्धा भी हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता है।"

"मैं जानता हूँ पुत्र!" विदुर बोला, "इसलिए मुझे आशंका है कि तुम्हारे शत्रु तुम पर

प्रत्यक्ष आक्रमण नहीं करेंगे। अपने पितामह को देख रहे हो न—कितने वीर हैं वे। उन्हें शस्त्रों से कोई पराजित कर सकता है ? किंतु षड्यंत्रों को समझने और तोड़ने की क्षमता विकसित नहीं की कभी उन्होंने, इसलिए आजीवन निष्क्रिय किये रखा गया उन्हें—जैसे पक्षाघात रोगी को कर देता है। तुम्हें भी षड्यंत्रों के प्रति सावधान रहना होगा पुत्र !"

युधिष्ठिर ने विदुर की ओर कुछ इस दृष्टि से देखा, जैसे वह विदुर का मंतव्य, पूर्णरूपेण समझ न पाया हो; और पूछ रहा हो कि और ऐसे कौन-से शस्त्र हो सकते हैं, जिनसे उनके लिए संकट हो सकता है ?

"तुम्हें स्मरण होगा कि प्रमाणकोटि में दुर्योधन ने भीम को विष दिया था और बाँधकर गंगा में फेंक दिया था। उस समय दुर्योधन अल्पवयस्क था और उसके सहायक भी कम थे। अब यदि वह कोई षड्यंत्र रचेगा, तो वह अधिक जटिल, सूक्ष्म और भयंकर होगा।" विदुर ने रुककर युधिष्ठिर को देखा, "तब दुर्योधन ने भीम के प्रति बहुत प्रेम दर्शाया था और उसने भीम को मोदक खिलाये थे। प्रमाणकोटि का निर्माण भी उसी ने करवाया था। अब अपने पिता के साथ मिलकर वह तुम सबसे प्रेम जता रहा है। तुम्हें विदा करने भी आया था; और वारणावत में तुम्हारे रहने के लिए भवन का जीर्णोद्धार कराने के लिए उसी का प्रिय मंत्री पुरोचन गया है। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए, मैं निश्चिंत नहीं रह सकता पुत्र ! इसलिए तुमको कह रहा हूँ कि अपने इस प्रवास को मनोरंजन अथवा विहार की दृष्टि से न देखकर, अपने लिए संकट की घड़ी ही समझो।" विदुर जैसे साँस लेने के लिए रुका, "भोजन में विष के प्रति सावधान रहो। स्थानीय लोगों में अपने विरुद्ध किये गये प्रचार के कारण, उनकी संभावित शत्रुता से सावधान रहो—चाहे वे तुम्हारी सुरक्षा के व्याज से ही तुम्हें घेरकर क्यों न खड़े हों। सारी व्यवस्था करने वाले पुरोचन से भी सावधान रहो—कभी-कभी सेवा के छद्म में भी अनिष्ट किया जाता है। भवन के भीतर रहो तो अग्नि से सावधान रहो, सरोवर अथवा सरिता के निकट जाओ तो जल से सावधान रहो। भवन को अग्निसात् किया जा सकता है, नौका को जल में डुबोया जा सकता है।…" विदुर ने पुनः युधिष्ठिर को देखा, "जहाँ तक मेरी बुद्धि कार्य करती है, वे लोग तुम पर शस्त्रास्त्रों से आक्रमण करने का दुस्साहस नहीं करेंगे। उसमें वे पराजित भी हो सकते हैं; और विजयी होने पर भी, उन पर हत्या का आरोप प्रमाणित हो सकता है। इसलिए वे दूसरे प्रकार के उपकरणों का प्रयोग करेंगे। विष, अग्नि तथा जल उसमें प्रमुख हैं।…" विदुर ने युधिष्ठिर के चेहरे को पढ़ा, "क्यों ? चिंतित हो गये क्या ?"

"नहीं ! चिंतित क्या होना है !" युधिष्ठिर बोला, "किंतु यह सोच रहा हूँ कि जब सारे परिवेश में मृत्यु की गंध फैली हो; इतने समर्थ और शक्तिशाली लोग हमारी हत्या करने पर तुले हों, तो हम कब तक उनसे अपनी रक्षा कर पायेंगे ?"

"हताश मत होओ पुत्र !" विदुर बोला, "प्रकृति की व्यवस्था पर भरोसा रखो। इस सृष्टि में प्रत्येक जीव को अंततः नष्ट होना ही है; किंतु अपनी आयु भर उसे जीवित रहने का पूर्ण अधिकार है, और प्रकृति ने उसकी रक्षा की भरपूर व्यवस्था भी कर रखी है। वन में सिंह, कुंजर तथा अजगर जैसे विशाल, बलवान तथा घातक पशुओं के विद्यमान होते हुए भी मूषक, शशक तथा कपोत जैसे लघु तथा अल्पबल वाले जीव, अपने पूर्ण समाज के साथ जीवित रहते हैं। उसके लिए आवश्यक होता है कि हम अपनी इंद्रियों को अपने वश में रखें, धैर्य बनाये रखें; और उद्यम करते रहें।…जब दावाग्नि का प्रकोप होता है तो बड़े-बड़े वृक्ष तथा बड़े-बड़े

बलवान पशु जलकर क्षार हो जाते हैं; किंतु अपने उद्यम से बनाये गये गह्वर में छिपा मूषक पूर्णतः सुरक्षित रहता है। सदा सचेत और सजग रहकर, वन के विभिन्न मार्गों से परिचित होकर—छोटे-छोटे पशु संकट-काल में अपने परिचित मार्गों से भागकर अपने आश्रय में सुरक्षित पहुँच जाते हैं।" विदुर रुक गया।

सहसा युधिष्ठिर का ध्यान अपने परिवेश की ओर लौटा : माता और भाई रथ में बैठे उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे; और वे लोग उनसे दूर खड़े परस्पर बातें करते जा रहे थे।

"काका ! अब आप चलिए !" युधिष्ठिर बोला, "आपका सारथि भी प्रतीक्षा कर रहा है।"

"चलता हूँ पुत्र !" विदुर बोला, "सावधान रहना और धैर्य बनाये रखना। मैं यहाँ हूँ। प्रयत्न करूँगा कि तुमसे संपर्क बना रहे और जो कुछ संभव हो, तुम्हारे लिए करता रहूँ।"

"काका !" युधिष्ठिर धीरे से बोला।

"क्या बात है पुत्र ?"

"मुझे कभी-कभी आपके लिए भी भय लगता है। कहीं वे लोग आपका कोई अनिष्ट न करें।"

"मेरी चिंता मत करो पुत्र ! महाराज धृतराष्ट्र से मुझे कोई भय नहीं है। दुर्योधन मेरी हत्या का साहस नहीं करेगा। वैसे मुझसे उसको यह आशंका भी नहीं है कि मैं उसका राज्य छीन लूँगा। यह भय उसे केवल तुमसे ही है। वह तुम्हें मार्ग से हटाना चाहेगा। शेष लोगों से तो उसे मात्र अधीनता-स्वीकृति की अपेक्षा है।" विदुर बोला, "वैसे भी मैं असावधान नहीं हूँ। मेरा तंत्र भी दुर्योधन के तंत्र से दुर्बल नहीं है। महामंत्री के रूप में शासन के कुछ साधन मेरे पास भी हैं।"

"महादेव आपकी रक्षा करें काका !"

विदुर ने स्नेहपूर्ण बोझिल हाथ से उसका कंधा थपथपाया, "तुम युधिष्ठिर हो पुत्र ! युद्ध में स्थिर। युद्ध किसी भी प्रकार का हो, संघर्ष कितना ही लंबा हो; और उस संघर्ष का मूल्य चाहे कितना ही अधिक क्यों न चुकाना पड़े—तुम युद्ध से भागोगे नहीं !"

विदुर लौट गया, तो कुंती ने पूछा, "क्या बातें हुईं विदुर से ?"

युधिष्ठिर ने माँ के प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। उसने सारथि की ओर देखा।

"चलूँ युवराज ?" सारथि ने पूछा।

"तुम्हारा परिवार कहाँ है सारथि ?"

"हस्तिनापुर में युवराज !"

"और तुम हमारे साथ वारणावत जाओगे। परिवार से तुम्हारा मिलन कब होगा ?"

"जब आप लौटकर हस्तिनापुर आयेंगे युवराज !"

"नहीं ! यह अन्याय है। हम वहाँ वर्ष-दो वर्ष रह गये तो ?" युधिष्ठिर बोला, "नहीं सारथि ! तुम अपने परिवार के पास लौट जाओ...।"

"मुझे राजकुमार दुर्योधन जीवित नहीं रहने देंगे।" सारथि बोला, "उन्होंने कहा था, मैं आपका साथ कभी न छोड़ूँ।"

"मैं तुम्हारी स्थिति समझता हूँ सारथि !" युधिष्ठिर के स्वर में स्नेह वहुत स्पष्ट था "मैं तुम्हें ऐसा कुछ भी करने को नहीं कह रहा, जिससे तुम्हारी हानि हो। तुम इस समय सीधे अपने घर जाओ। अपनी पत्नी और बच्चों को लेकर वारणावत आ जाओ, और हमारा सारथ्य करो। चाहो तो स्वतः स्वतंत्र रूप से आ जाओ, अथवा हमारा सामान लेकर आने वाले छकड़ों के साथ आ जाना। दुर्योधन को इसमें क्या आपत्ति हो सकती है ! और फिर उसे सूचना भी कैसे होगी ? तुम हमारे साथ अकेले वारणावत में रहोगे, तो तुम्हारा मन उदास होगा। पत्नी और बच्चों की स्मृति तुम्हें व्याकुल करेगी। इधर तुम्हारी पत्नी और बच्चे, तुम्हारे विना असुविधा में रहेंगे। तुम उन्हें भी लेकर वारणावत आ जाओ। फिर चाहे हम वहाँ वर्ष-दो वर्ष रह भी जायें, तुम्हें और तुम्हारे परिवार को असुविधा नहीं होगी।..."

युधिष्ठिर को लगा, सारथि सहमत तो हो गया है; किंतु अपने मुख से स्पष्टतः कुछ कह नहीं पा रहा।

"नकुल !" युधिष्ठिर ने कहा, "तुम वल्गा थाम लो।"

सारथि ने वल्गा नकुल को दे दी। युधिष्ठिर ने स्पष्ट देखा कि कृतज्ञता से सारथि की आँखें गीली हो गयी थीं। रथ से उतरते हुए वह वहुत धीरे से वोला, "आप वहुत कृपालु हैं युवराज ! आप जैसा प्रजा-पालक पाकर हस्तिनापुर धन्य हुआ।"

"चलो नकुल !"

नकुल ने रथ हाँक दिया।

"विदुर से क्या वातें हुईं ?" कुंती ने पुनः पूछा।

"संभावित षड्यंत्रों से सावधान रहने के लिए कह रहे थे काका।"

"इसीलिए तुमने सारथि को विदा कर दिया ?"

"हाँ, माँ ! यदि वह साथ रहता, तो हम खुलकर वार्तालाप भी नहीं कर पाते।"

"उचित ही किया पुत्र !" कुंती वोली, "तो क्या विदुर को किसी षड्यंत्र की सूचना है ?"

"ऐसा तो उन्होंने नहीं कहा; किंतु अनुमान यही है। उनका विचार है कि हमें अकारण ही वारणावत नहीं भेजा जा रहा।"

"मैं तो पहले ही कह रहा था कि हमें वारणावत जाना स्पष्ट अस्वीकार कर देना चाहिए।" भीम वोला, "पर मेरी कोई सुने, तव न !"

"किंतु मध्यम ! अस्वीकार करने के लिए हमारे पास कोई आधार भी तो होना चाहिए।" सहदेव वोला, "वे हमें विहार के लिए वारणावत जैसे सुंदर नगर में भेजें, और हम उत्तर में कहें कि आप षड्यंत्र कर रहे हैं ! क्या कहेंगे लोग हमें ?"

"कहेंगे तुम्हारा सिर !" भीम झल्लाकर वोला, "नहीं जाते हम ! वस, हमारी इच्छा !"

"भीम !" युधिष्ठिर वोला, "यदि हम वारणावत नहीं जायेंगे, तो षड्यंत्रकारी चुप तो वैठेंगे नहीं ! वे हस्तिनापुर में भी षड्यंत्र रचेंगे। हाँ ! तव उन्हें मालूम हो जायेगा कि हमें उनसे षड्यंत्रों की आशंका है, अथवा हमें उसकी सूचना है। ऐसे में उनका प्रहार और भी गोपनीय और तीव्र होगा। दूसरी वात यह है कि कुलवृद्धों की आज्ञा की अवज्ञा का कलंक हम पर लगेगा और राजाज्ञा के उल्लंघन का आरोप भी।...अव हम वारणावत जा रहे हैं। हम सावधान हैं। हमें मालूम है कि कुछ-न-कुछ तो हो ही रहा है। काका भी खोज में लगे हैं। हमें सूचनाएँ मिलती रहेंगी; और हमारे शत्रु समझेंगे कि हम सर्वथा असावधान हैं। ऐसे में हम

उनके षड्यंत्र से बच भी जायेंगे, उनका षड्यंत्रकारी रूप भी प्रकट हो जायेगा; और लोगों की सहानुभूति भी हमारे ही साथ रहेगी।…"

"इतना विराट चक्र!" भीम भन्नाकर बोला, "सरल-सी बात है कि दुर्योधन हमारी हत्या का प्रयत्न कर रहा है। जब हमें यह ज्ञात है तो हम और किस प्रमाण की प्रतीक्षा में हैं? एक गदा मारकर उस नीच को मृत्यु की गोद में सुला देना चाहिए।"

"मध्यम!" अर्जुन धीरे से बोला, "इसीलिए संसार पर बलवानों ने नहीं, बुद्धिमानों ने शासन किया है।"

"तो, तुम्हीं लोग कर लो शासन!" भीम रोषपूर्ण स्वर में बोला, "हस्तिनापुर से तो निष्कासित हो ही चुके हैं, अब देखना है कि वारणावत में क्या होता है।…"

रथ ने गति पकड़ी तो वे सब लोग या तो आत्मलीन हो गये, या फिर सरपट पीछे भागती हुई दृश्यावली में खो गये; किंतु युधिष्ठिर का मन जैसे लौट-लौटकर हस्तिनापुर की ओर ही जा रहा था: वह आज तक दुर्योधन के मन को समझ नहीं पाया था। जो व्यक्ति अपने भाइयों से प्रेम नहीं कर सकता, वह जीवन में किसी और से प्रेम कैसे करेगा? और यदि जीवन में प्रेम ही नहीं है, तो जीवन का करना ही क्या है? जीवन मात्र भोग ही तो नहीं है। भोग तो आत्मक्षय है। प्रकृति चाहती है कि मनुष्य अपना कुछ क्षय तो करे, इसलिए उसने भोग की प्रवृत्ति उसमें कहीं गहरे में छिपा दी है। पर प्रकृति यह भी तो चाहती है कि मनुष्य अपना कुछ विकास भी करे। वह विकास क्या इसी प्रकार होगा? दुर्योधन के पास किस वस्तु का अभाव है? क्यों यह समझ नहीं पाता कि उसके पास सहस्रों की संख्या में गोधन हो, तो भी वह उतना ही दूध पी सकेगा, जितना वह एक गाय होने पर पियेगा। उसके पास एक सहस्र प्रासाद हों, तो भी वह उतने ही स्थान पर सो पायेगा, जितने स्थान पर वह एक कोठरी मात्र होने पर सोता… कैसा मनुष्य है वह? कैसा अभागा, जो प्रेम को नहीं समझता?…युधिष्ठिर को दुर्योधन दयनीय लगने लगा…जिस मनुष्य के जीवन में प्रेम नहीं है, स्नेह नहीं है, उसके जीवन में सुख हो कैसे सकता है? और जो सुखी नहीं हो सकता, वह तो दया का ही पात्र है…

दुर्योधन को इस मार्ग पर चलने से क्या कोई नहीं रोक सकता? पितृव्य धृतराष्ट्र उसे रोकना चाहेंगे नहीं, क्योंकि शायद वे भी उसी को सुख मानते हैं, जिसे दुर्योधन सुख मानता है।…पितामह?…किंतु दुर्योधन शायद पितामह के निषेध को भी नहीं मानेगा। तो क्या पितामह उसे सीधे मार्ग पर लाने के लिए बल-प्रयोग कर सकते हैं? पांडवों की रक्षा के लिए, दुर्योधन को उसके अपराधों के कारण बंदी कर सकते हैं? उसका वध कर सकते हैं? नहीं! राजसत्ता उन्हें ऐसा नहीं करने देगी। वैसे भी पितामह मध्यस्थ हैं। उनके लिए धार्तराष्ट्र और पांडव एक समान हैं। वे चाहेंगे तो दोनों की सुरक्षा चाहेंगे; एक की रक्षा के लिए दूसरे का वध नहीं करेंगे। हस्तिनापुर में दुर्योधन की प्रताड़ना तो संभव है; किंतु उसे दंडित करना संभव नहीं है—पांडवों के वध से पहले भी नहीं; और पांडवों के वध के पश्चात् भी नहीं।…तो फिर हस्तिनापुर में पांडवों की सुरक्षा के लिए हो ही क्या सकता है?…तो कहीं इसीलिए तो पितामह ने उन्हें चुपचाप हस्तिनापुर से निकल जाने नहीं दिया? उनकी सुरक्षा के लिए…वे चाहते हैं कि धार्तराष्ट्रों और पांडवों में से किसी का भी अहित न हो।…स्वयं युधिष्ठिर भी यही चाहता है; किंतु दुर्योधन ऐसा क्यों नहीं चाहता? प्राप्ति का सुख तो युधिष्ठिर फिर भी थोड़ा-बहुत

समझता है; किंतु दूसरे को वंचित अथवा पीड़ित करने का सुख···? दुर्योधन के लिए कदाचित् वही बड़ा सुख है। दूसरे को वंचित किये बिना वह अपनी उपलब्धि का सुख अनुभव नहीं कर सकता।···हस्तिनापुर के पास इतना धन-धान्य है कि वह धार्तराष्ट्रों और पांडवों—दोनों के लिए ही पर्याप्त है।···और यदि कुछ और अर्जित करने की आवश्यकता हो, तो वे लोग उसमें भी सक्षम हैं। वे लोग एक ही वंश की संतान हैं—परस्पर भाई हैं। उनकी सम्मिलित शक्ति किसी भी अन्य राज्य पर भारी पड़ेगी। वे लोग विभक्त हो जायेंगे, तो कदाचित् ऐसा नहीं रहेगा। पांडवों को स्वयं से पृथक् कर अथवा उनका वध कर, धार्तराष्ट्र निश्चय ही दुर्बल होंगे।···फिर भी दुर्योधन ऐसा ही चाहता है। वह केवल अपनी प्राप्ति नहीं चाहता, दूसरों की हानि भी चाहता है।···उसे सब कुछ केवल अपने लिए चाहिए, मात्र अपने लिए। अपनी सुख-सुविधा के लिए ही नहीं; अपने भोग और वैभव के लिए ही नहीं, अपने अहंकार की तुष्टि के लिए भी। प्रजापालन की दृष्टि से तो उसने कभी सोचा ही नहीं है।···उसकी भोगेच्छा की तृप्ति तो शायद कभी हो भी जाये; किंतु उसके अहंकार की तुष्टि कदाचित् कभी संभव नहीं है। शरीर के भोग की तो अपनी सीमा है, किंतु अहंकार की कोई सीमा नहीं है···।

9

वारणावत के नगर-द्वार पर कुंती और उसके पुत्रों के स्वागत के लिए एक बड़ा जन-समूह एकत्रित था। आस-पास के उपनगरों और ग्रामों से भी लोग उनका स्वागत करने आये थे। उनके लिए बहुत प्रसन्नता का विषय था कि स्वर्गीय सम्राट् पांडु तथा वर्तमान युवराज का परिवार वारणावत में आया था।

उस अपार भीड़ के शीर्ष पर चार व्यक्ति थे—हस्तिनापुर से आया हुआ—दुर्योधन का मंत्री—पुरोचन, वारणावत के महादेव-स्थान का कुलपति देवदत्त, नगरपाल बुद्धिमित्र, तथा सेना-प्रमुख वीरदेव। युधिष्ठिर ने सबका अभिनंदन स्वीकार किया। उनका कुशल-क्षेम पूछा।···अनेक लोग उपहार भी लाये थे। युधिष्ठिर ने उनका स्पर्श कर, स्वीकृति की औपचारिकता का निर्वाह कर, उपहार लौटा ले जाने के लिए कहा। लोगों ने जब उपहार स्वीकार किये जाने के लिए अधिक आग्रह किया तो वह बोला, "राजा, राजपरिवार तथा राजकर्मचारी, प्रजा के उपहारों के पात्र नहीं हैं। राजा, प्रजा से कर लेता है; आर्थिक दंड से प्राप्त धन भी राजकोश में ही जाता है। पराजित शत्रुओं तथा करद राजाओं से भी राजकोश को धन प्राप्त होता है; मित्र राजाओं से उपहार भी मिलते हैं। प्रजा के उपहारों के लिए सुपात्र, केवल ज्ञानवान ब्राह्मण ही हैं। यदि प्रजा उन्हें उपहार देती है तो उसका कारण उनकी श्रद्धा है, भय अथवा लोभ नहीं।"

युधिष्ठिर ने स्पष्ट देखा, उसके तर्क को उसके प्रजा-जनों ने सहज स्वीकार नहीं किया

था। उनके चेहरों पर प्रसन्न होने के स्थान पर चकित होने का भाव ही अधिक था।

युधिष्ठिर कुछ कहता, उससे पूर्व ही एक ग्रामीण बोला, "किंतु युवराज ! हम जब नगरपाल से मिलने जाते हैं, तो उनके लिए भी कोई-न-कोई उपहार लेकर ही जाते हैं। उन्होंने तो कभी हमारे उपहार अस्वीकार नहीं किये !"

"पर आप लोग नगरपाल के लिए उपहार लेकर क्यों जाते हैं ?"

"उन्हें प्रसन्न करने के लिए युवराज !" वह ग्रामीण अत्यंत सहज भाव से बोला, "हमें उनसे कोई-न-कोई काम पड़ता ही रहता है। यदि हम उन्हें प्रसन्न नहीं रखेंगे, तो वे हमारा काम क्यों करेंगे ?"

"आप अपने नगरपाल से उचित कार्य करवाते हैं अथवा अनुचित ?"

"सर्वथा उचित युवराज ! केवल धर्म-सम्मत कार्य। अनुचित कार्य हम क्यों करवायेंगे !"

"प्रजा का उचित, न्यायानुकूल तथा धर्म-सम्मत कार्य करने के लिए, राज्य नगरपाल को पर्याप्त धन देता है। यदि आपका उचित कार्य, नगरपाल बिना उपहार के नहीं करता, तो वह उपहार नहीं, उत्कोच है—जो अनुचित है। प्रजा से उत्कोच लेने वाला राजपुरुष अपराधी माना जाता है।..."

"यह झूठ बोल रहा है युवराज !" नगरपाल बुद्धिमित्र बोला।

युधिष्ठिर ने उस ग्रामीण को देखा : उसके व्यक्तित्व में धूर्तता अथवा चतुराई का कोई लक्षण दिखायी नहीं पड़ा। वह संयत स्वर में बोला, "तुम नगरपाल को पहचान सकते हो ?"

"नहीं युवराज !" वह बोला, "हम उनके सम्मुख सिर झुकाए हुए जाते हैं और सिर झुकाए हुए ही लौट आते हैं। उनका चेहरा तो मैंने आज तक देखा ही नहीं है।"

"बुद्धिमित्र !" युधिष्ठिर बोला, "तुमने देखा, वह तुम्हें पहचानता तक नहीं ! बहुत संभव है, कि वह तुम तक पहुँचता ही न हो। कोई और राजपुरुष, नगरपाल बनकर उपहार स्वीकार करता हो। किंतु यह स्थिति श्लाघ्य तो नहीं ही है। जहाँ प्रजा, अपने राजपुरुषों का सम्मान न करती हो, उनके लिए श्रद्धा न रखती हो—उनसे भयभीत हो, अथवा उन्हें लुब्ध करने की सोचती हो—वहाँ सत्य का, न्याय का, धर्म का शासन नहीं है। तुम उत्कोच लेते हो या नहीं—उसके प्रमाण तो बाद में ही प्रकट होंगे; किंतु ये लक्षण सुशासन के नहीं हैं।"

"मैं कहता हूँ युवराज ! यह व्यक्ति झूठ बोल रहा है।" बुद्धिमित्र क्रोध से बोला, "आप इसे दंडित करें, अथवा मैं ही..."

"तुम भ्रष्ट शासक हो या नहीं—कह नहीं सकता; किंतु उद्दंड, धृष्ट तथा निर्लज्ज अवश्य हो।" युधिष्ठिर के स्वर में अधिकार मुखर हुआ, "तुम मेरे सामने प्रजा को धमकाने का प्रयत्न कर रहे हो ! प्रजा को राजा से अपनी कठिनाइयाँ तथा कष्ट कहने दो; राजा को उसकी छानबीन करने दो। सत्य अपने-आप सामने आ जायेगा। तुम प्रजा को धमकाने तथा राजा को भ्रमित करने का प्रयत्न मत करो।"

बुद्धिमित्र चुप तो हो गया; किंतु अपने आवेश को दमित नहीं कर सका। उसकी आँखों से उसका क्रोध पहले से भी कुछ अधिक उग्रता के साथ प्रकट हो रहा था।

सहसा किसी ने उद्घोष किया, "युवराज युधिष्ठिर की जय !"

लोगों ने उद्घोष की प्रतिध्वनि-स्वरूप जयजयकार किया। भीड़ में कुछ हलचल हुई, जैसे कुछ लोग आगे बढ़कर, युधिष्ठिर के निकट आना चाह रहे हों।

दूसरी ओर दंडधरों ने अपने दंड उठा लिये। वे भीड़ पर दंड-प्रहार कर रहे थे, और लोग चीत्कार कर इधर-उधर भाग रहे थे।

"यह क्या है सेना-प्रमुख?" युधिष्ठिर ने पूछा; और साथ ही आदेश दिया, "रोको इसे!"

"युवराज! यदि भीड़ को रोका न गया तो वह आपकी ओर बढ़ती आयेगी। वह आपको आहत भी कर सकती है।"

"रोको इसे!" युधिष्ठिर क्रोध से बोला, "आहत तो मुझे तुम कर रहे हो। प्रजा अपने युवराज से मिलने आयी है, और तुम इन शांतिपूर्ण किंतु उत्साही लोगों पर दंड-प्रहार कर रहे हो!"

"यह आपकी सुरक्षा के लिए है युवराज!"

"मैं आक्रमण करती हुई सेना से अपनी रक्षा कर सकता हूँ। यह तो सामान्य प्रजा है।" युधिष्ठिर बोला, "रोको इसे।"

सेना-प्रमुख ने संकेत किया और दंडधर रुक गये।

"तुम अपने सैनिकों और दंडधरों के साथ तत्काल अपने शिविर में चले जाओ।" युधिष्ठिर ने कहा।

"युवराज! हम आपकी सुरक्षा के लिए हैं। हमारे हटते ही..."

"मेरी सुरक्षा के लिए मेरे महावीर भाई मेरे साथ हैं।" युधिष्ठिर पुनः बोला, "तुम लोग तत्काल अपने शिविर में चले जाओ।" वह मुड़ा, "बुद्धिमित्र! तुम संध्या समय हमसे, हमारे शिविर में मिलना। पुरोचन! तुम जाकर व्यवस्था देखो। हम महादेव के दर्शन करके आ रहे हैं। भोजन तैयार रखना। भीम को भूख लग रही होगी।" वह अपने रथ की ओर मुड़ा, "आइए कुलपति!"

रथ चला तो कुलपति देवदत्त ने पूछा, "युवराज! आपने सारे राजपुरुषों को विदा क्यों कर दिया? वे लोग आपके स्वागत के लिए आये थे!"

"मुझे वे राजपुरुष एकदम प्रिय नहीं हैं कुलपति, जो राजाओं का स्वागत-सत्कार करने में ही अपने कर्तव्यों की इतिश्री मान लेते हैं, और प्रजा का तनिक भी ध्यान नहीं रखते।" युधिष्ठिर बोला, "और मुझे आपसे एकांत में कुछ बातें भी करनी हैं।"

"कहें युवराज!"

"मुझे अपने नगर के विषय में बताएँ कुलपति! कैसा है आपका नगर? कैसे हैं लोग? प्रजा सुखी है या दुखी? यहाँ क्या दर्शनीय है? क्या करणीय है? मैं चाहता हूँ कि हम हस्तिनापुर की चिंता छोड़ वारणावत की ही चिंता करें। हमारा राज्य हस्तिनापुर तक ही तो सीमित नहीं है—वारणावत भी हमें उतना ही प्रिय होना चाहिए।"

"आप ठीक कहते हैं युवराज!" कुलपति बोले, "हमारा नगर प्राकृतिक दृष्टि से अत्यंत सुंदर नगर है। हम हरनंदी के तट पर हैं, और गंगा हमसे थोड़ी ही दूर है। सरिता-तट इतना मनोरम है कि सारा नगर ही उस पर बस गया। तो फिर हरनंदी के तट पर महादेव का स्थान क्यों न बनता। यह भी संभव है कि यह स्थान इतना सुंदर था कि आरंभ में प्रकृति के उपासक यहाँ आ बसे हों और उन्होंने प्रकृति के सौंदर्य में ही महादेव का रूप देखा हो तथा यहाँ महादेव का स्थान बना दिया हो। मेरे शैशव में तो यहाँ केवल ब्राह्मण परिवार ही थे, जो महादेव की उपासना करते थे और ज्ञान का अर्जन तथा वितरण करते थे। शायद उनकी आवश्यकताओं

की पूर्ति के लिए कुछ व्यवसायी यहाँ आये तथा सेवा के लिए साधारण जन ! पता नहीं महादेव के प्रति श्रद्धा बढ़ने के कारण, बाहर से भक्तजन आने लगे या महादेव की उपासना के उत्सव को व्यापारियों ने इतने सुंदर समाज का रूप दे दिया कि वह सैलानियों को भी आकृष्ट करने लगा। तब तक तो यह नगर महादेव के उपासकों तथा उनकी आवश्यकताएँ पूरी करने वालों के परिवारों का ही था। नगर में उपासना और साधना की चर्चा होती थी। यही हमारा कर्म था, यही हमारा क्रम था। तब झगड़े नहीं होते थे; और कोई विवाद अथवा मतभेद होने पर हमारी पंचायत अपने-आप उसका समाधान खोज लेती थी। फिर जाने क्या हुआ कि हस्तिनापुर से सम्राट ने एक नगरपाल भेज दिया। उसके साथ कुछ सैनिक तथा क्षत्रिय परिवार भी आये। तब भी हमारा नगर सुंदर और शांत ही बना रहा। किंतु इधर जितने राजपुरुष, दंडधर, सैनिक तथा उनके नायक बढ़े हैं, उतना ही नगर का जीवन दूषित हुआ है। अब साधना-उपासना की बातें कम हैं, भोग और व्यापार की चर्चा अधिक है। नगरपाल और सेना प्रमुख को तो आप देख ही चुके हैं युवराज ! मुझे तो लगता है कि महादेव के वार्षिक समाज के लिए, इस बार जितने यात्री आये हैं, उतने पहले कभी नहीं आये। और जो लोग आये हैं, उनमें उपासना की प्रवृत्ति कम, भोग की प्रवृत्ति ही अधिक है। जाने वे कौन लोग हैं···"

"आपको ऐसा लगने का कारण ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"यदि वे लोग महादेव के स्थान के महत्व के कारण आये हैं, तो उन्हें महादेव के स्थान पर भी तो आना चाहिए। स्थान में तो यात्रियों की संख्या बढ़ी नहीं, हाँ ! सरिता-तट पर विहार करने वालों की संख्या बहुत अधिक है—मदिरा की दुकानों की संख्या बढ़ी है; और उन दुकानों के दर्शनार्थियों की संख्या, बल और उत्साह भी ! द्यूत-क्रीड़ा में सम्मिलित होने वाले भी बहुत हैं; कुछ और मनोरंजन भी हों, तो मैं कह नहीं सकता। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि हमारे नगर की सात्विकता नष्ट हो रही है।···"

"आपने कभी नगरपाल से ये बातें कहीं ?"

"मुझे तो नगरपाल में ही कोई सात्विकता दिखायी नहीं देती," कुलपति बोले, "फिर भी एक बार कह तो बैठा ही था।"

"क्या उत्तर दिया उसने ?"

"क्या उत्तर देता ! बोला—'शासन करना मेरा काम है, मैं जानता हूँ, वह कैसे करना है। आप भजन और भक्ति में लगे रहिए।' "

"ठीक है। आप चिंता न करें !" युधिष्ठिर बोला, "उसे मैं शासन करना भी सिखाऊँगा और विद्वानों का सम्मान करना भी !"

वे लोग महादेव के दर्शन कर, अपने शिविर में आ गये। पुरोचन ने उन्हें बताया था कि उनके ठहरने के लिए जो भवन निश्चित किया गया है, उसका जीर्णोद्धार हो रहा है। उसमें अभी कुछ दिन लगेंगे। इसलिए उनके ठहरने के लिए इस अस्थायी शिविर की व्यवस्था की गयी थी। भवन के तैयार होते ही, वे लोग जाकर उसमें सुख से रह सकेंगे।

पुरोचन ने अस्थायी शिविर में भी सारी सुविधाओं की व्यवस्था कर रखी थी। अतः उसमें भी लंबे समय तक निवास किया जा सकता था। युधिष्ठिर को लगा कि पुरोचन चाहे मनुष्य

कैसा भी हो, किंतु वह कुशल व्यवस्थापक था।

उन्हें भोजन करा, जब पुरोचन विदा हो गया, तो कुंती ने पूछा, "कहो पुत्र ! क्या विचार है तुम्हारा ?"

"माँ ! मेरे मन में एक बात बहुत देर से खटक रही है।" सहदेव बोला, "यदि हम यह मान लें कि हमें हस्तिनापुर से किसी षड्यंत्र के अंतर्गत हटाया गया है, तो दुर्घटना के दो स्थान हो सकते हैं। यदि वह घटना हस्तिनापुर में घटित होनी है, तो हमारी उपस्थिति को बाधा मानकर हमें हस्तिनापुर से हटा मात्र दिया गया है। हमें कहाँ भेजा गया है, यह महत्वपूर्ण नहीं है। ऐसे में उस घटना से हमारे अधिकार तो छिन सकते हैं, हमें कोई शारीरिक क्षति नहीं हो सकती। किंतु यदि वह घटना यहाँ वारणावत में घटित होनी है, तो निश्चित रूप से वह हमारे साथ घटित होगी; अर्थात् उससे हमारे प्राणों पर संकट आयेगा। तब प्रश्न यह भी है कि ऐसा करने के लिए वारणावत को ही क्यों चुना गया है ? यहाँ ऐसे षड्यंत्र के लिए उन्हें क्या सुविधा है ?"

"विदुर काका का भी यही विचार था," युधिष्ठिर बोला, "इसलिए उन्होंने कहा था कि वे हस्तिनापुर में सावधान रहेंगे, और हम यहाँ सावधान रहें।"

"मुझे तो वारणावत में दुर्योधन के प्रिय मंत्री पुरोचन की उपस्थिति खलती है।" अर्जुन बोला, "मैं यह मानने के लिए एकदम तैयार नहीं हूँ कि उसे मात्र हमारी सेवा के लिए यहाँ भेजा गया है।"

"मेरा भी यही विचार है।" भीम बोला, "उन्होंने हमें हस्तिनापुर से निष्कासित कर दिया है; और अब वे चाहते हैं कि हम हस्तिनापुर में कभी न लौटें। उसके लिए आवश्यक है कि वारणावत में हमारे प्राणों का हरण हो।…"

"इस बात में तो कोई संदेह ही नहीं रह गया है कि उनका लक्ष्य क्या है," सहदेव बोला, "अतः हमें यही शोध करना पड़ेगा कि यहाँ हमारे प्राण लेने में उन्हें क्या सुविधा है।

"उसके लिए आवश्यक है कि हम उनके 'शस्त्र' का पता लगाएँ।" अर्जुन बोला, "विदुर काका के मतानुसार तो वे साधारण शस्त्रों से हमारे प्राण लेने का साहस नहीं कर सकते।"

"एक बात तो मेरी समझ में आती है," युधिष्ठिर ने कहा, "कि जहाँ का प्रशासन अपराधी मनोवृत्ति का हो, अथवा अपराधियों को आश्रय देता हो, जहाँ प्रतिदिन अपराध होते हों, जहाँ की प्रजा अपनी अपराधी मनोवृत्ति के कारण अथवा प्रतिदिन अनिवार्य रूप से घटित होने वाले अपराधों के कारण, बाध्यता में ही सही, अपराध को दैनंदिन की घटना के रूप में स्वीकार कर, उसके प्रति सहिष्णु हो चुकी हो—वहाँ बड़े-से-बड़े अपराध को भी सहज रूप से पचा लिया जाता है। उन अपराधों का विरोध नहीं होता…।"

"और यहाँ वैसा ही वातावरण है।" सहदेव बोला, "मेरा विचार है कि ज्येष्ठ का स्थिति का मूल्यांकन सर्वथा सत्य है।"

"हाँ ! नगरपाल तथा सेनाप्रमुख का व्यवहार तो हम देख ही चुके हैं।" भीम ने भी सहमति प्रकट की, "कुलपति ने यह भी बताया है कि मदिरा और द्यूत का व्यवसाय भी यहाँ सर्वत्र व्याप्त है।"

"बहुत संभव है कि इन राजपुरुषों की नियुक्ति भी उसी षड्यंत्र के अंतर्गत की गयी हो, ताकि यदि हमारे साथ कोई अघटनीय घटित हो ही जाये तो ये राजपुरुष, सत्य पर आवरण

डाल, उसे सदा के लिए छिपा दें।" युधिष्ठिर बोला, "यदि कोई न्यायप्रिय, अथवा हमसे सहानुभूति रखने वाला नगरपाल होता तो कदाचित् हमारे विरुद्ध रचे गए षड्यंत्र में विघ्न-स्वरूप होता; अथवा, दुर्घटना के पश्चात् वह सत्य को प्रजा तथा हस्तिनापुर की राजसभा तक पहुँचा देता।"

"इसका अर्थ यह है कि हमें इस नगरपाल, सेनाप्रमुख, राजपुरुषों तथा सैनिकों से सावधान रहना चाहिए।" भीम बोला, "वे हमारी रक्षा के व्याज से हमें घेरे रहेंगे, प्रजा को हमारे निकट नहीं आने देंगे; और अंततः उस अवरोध के भीतर, हमारे प्राण लेने में हमारे हत्यारों की सहायता करेंगे।"

"हाँ !" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "यदि परिस्थितियों का हमारा विश्लेषण ठीक है तो।..."

"तो पुत्र ! हम यहाँ से कहीं और क्यों नहीं चले जाते ?" कुंती बोली, "जब हम जानते हैं कि हमारे साथ कुछ अघटनीय घटने ही वाला है तो हम उसकी प्रतीक्षा में क्यों बैठे रहें ?"

"माँ !" युधिष्ठिर बहुत अनुरोधपूर्ण स्वर में बोला, "यदि हमारे कहीं और चले जाने से ही यह संकट टल जाता, तो मैं सबसे पहले यही प्रस्ताव करता। किंतु प्राण रहते, दुर्योधन हस्तिनापुर का राज्य छोड़ नहीं सकता; और हमारे जीवित रहते, उसे यह राज्य मिल नहीं सकता। उसने अपने जीवन का तादात्म्य राज्य से कर लिया है। वह एक उन्माद की-सी स्थिति में है। वह तब तक हमारे प्राण लेने का प्रयत्न करता रहेगा, जब तक वह स्वयं मृत्यु की गोद में सो नहीं जाता। इसलिए हम कहीं भी जायें, उसके गुप्तचर, उसके क्रीत हत्यारे हमारे पीछे लगे ही रहेंगे।"

"यह सृष्टि बहुत बड़ी है पुत्र ! और यह दुर्योधन की इच्छा से नहीं चलती। दुर्योधन की शक्ति इतनी नहीं है, जितनी तुम समझ रहे हो।"

"माँ ! शक्ति दुर्योधन की नहीं है; उसे तो भीम और अर्जुन में से कोई भी तत्काल नष्ट कर देगा।" युधिष्ठिर बोला, "शक्ति तो है सत्ता तथा धन की। कहने को पितृव्य हस्तिनापुर के महाराज हैं; और मैं युवराज; किंतु सारी सत्ता दुर्योधन के हाथों में संचित हो गयी है। सारा राजकोश उसके पास है; और इस सृष्टि में असंख्य ऐसे मनुष्य हैं, जो अपने छोटे-से लाभ के प्रलोभन में, किसी के भी प्राण ले सकते हैं।...कर्ण को ही देखिए। नाम-मात्र का एक राज्य उसे देकर, उसने कर्ण को खरीद लिया है। इस समय कर्ण के जीवन में न अपनी कोई इच्छा है, न आकांक्षा। वह दुर्योधन का दास है; और यदि उसके मन में दुर्योधन की इच्छाओं से स्वतंत्र कोई इच्छा है तो यही कि वह अपने प्राण देकर भी, दुर्योधन को प्रसन्न कर सके। क्रीत दास भी इतना परतंत्र नहीं होता, जितना कर्ण को, उसकी मानसिक दासता ने कर दिया है।..."

"यह हमारा दुर्भाग्य है पुत्र !"

"हमें तो माँ, इस प्रकार दुर्योधन की आँखों के सम्मुख पड़े रहना है कि उसे यह संदेह न हो कि हम उसके षड्यंत्रों के विषय में कुछ जानते हैं। अवसर आने पर अपनी रक्षा करनी है और संभव हो तो अवसर मिलते ही, तब तक के लिए विलुप्त हो जाना है, जब तक हम इतने समर्थ न हो जायें कि दुर्योधन से सीधे टकरा सकें।"

"मुझे आज्ञा दो ज्येष्ठ ! मैं दुर्योधन को गदा के एक प्रहार से यम-गृह भेज दूँ।" भीम जैसे तत्काल ही इस अभियान पर निकल पड़ने को पूर्णतः तत्पर था।

युधिष्ठिर हँसा, "यह संभव नहीं है भीम ! रंगशाला में ही जाने कैसे वह तुमसे भिड़ गया : या तो इसलिए कि वह मात्र प्रदर्शन-युद्ध था और वह उसी में किसी व्याज से तुम्हें कोई घातक चोट पहुँचाना चाहता था, या तब तक वह अधिक अनुभवी नहीं था। अब वह तुमसे तब तक द्वंद्व-युद्ध नहीं करेगा, जब तक उसके पास एक भी सैनिक तुमसे लड़वाने के लिए है। तुम उस तक पहुँच ही नहीं पाओगे।...और वैसे भी हम हत्यारे नहीं हैं भीम !" युधिष्ठिर जैसे एक-एक शब्द पर ठहरकर बोला, "आत्मरक्षा के लिए लड़ना और बात है, मात्र आशंका के आधार पर हम किसी की हत्या नहीं कर सकते।"

"तो उसके इस नगरपाल को ही ठिकाने लगा देते हैं। जब हम उसके षड्यंत्र-जाल को ही काट फेंकेंगे तो वह हमारा क्या बिगाड़ लेगा !"

"तुम अपने ही राज्य के एक नगरपाल को अकारण ही मार डालोगे तो मध्यम, प्रजा तुम्हारे विषय में क्या सोचेगी ?" सहदेव बोला।

"सोचने दो, प्रजा जो भी सोचती है।" भीम बोला, "वह कौन-सी हमारी ऐसी सहायक है कि हम उसकी चिंता करें !"

"नहीं भीम !" युधिष्ठिर ने उसे टोका, "जन-सामान्य तो सदा सत्य का ही पक्षधर है। प्रजा में अपनी आस्था खोकर, राज्य करने का अधिकार हमें नहीं है।" युधिष्ठिर कुछ रुककर बोला, "और इस बात पर भी ध्यान दो कि कुलपति के अनुसार यहाँ समाज में सम्मिलित होने के लिए सहस्रों लोग आये हुए हैं, जो कदाचित् भक्त अथवा तीर्थ-यात्री नहीं हैं। तो कौन हैं वे ? संभव है कि वे दुर्योधन के भेजे हुए छद्म सैनिक ही हों !..."

"मैं सैनिकों से भयभीत नहीं हूँ।"

"भयभीत तो मैं भी नहीं हूँ।" युधिष्ठिर बोला, "किंतु भय यही है कि वे लोग प्रजा में मिलकर, विद्रोही मुद्रा में कुछ ऐसा अनिष्ट न करें, जिससे सामान्य जन का अहित हो।"

"तो आप नगरपाल तथा सेनाप्रमुख को बुलाकर, उनके कृत्यों का स्पष्टीकरण क्यों नहीं माँगते ?" अब तक चुप बैठा हुआ नकुल बोला, "उन्हें पदच्युत किया जा सकता है, निगड़बद्ध किया जा सकता है।"

"नहीं !" सहदेव बीच में ही बोला, "राजनीति यही है कि जब तक हमें ठीक-ठीक यह ज्ञात न हो जाये कि हमारे विरुद्ध कैसा षड्यंत्र रचा गया है, जब तक हम उस षड्यंत्र के विरुद्ध रक्षा-कवच का निर्माण नहीं कर लेते, हमें प्रत्याक्रमण का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।"

"हाँ ! यह न हो कि हम यहाँ शासन को व्यवस्थित करने का प्रयत्न करें और भ्रष्ट राजपुरुष अपने समर्थकों तथा सैनिकों की सहायता से विद्रोह की-सी स्थिति उत्पन्न कर दें। हम राज्य की प्रभुसत्ता स्थापित करने के लिए उनसे युद्ध करें और राज्य की सेना के विरुद्ध युद्ध करने के आरोप में हस्तिनापुर की ओर से हमारे विरुद्ध कोई कार्यवाही हो जाये; और हम राज्य के प्रति अपनी निष्ठा ही प्रमाणित करते रह जायें।" अर्जुन बोला।

"तो फिर करना क्या है ?" भीम ने झल्लाकर पूछा।

"कुछ नहीं ! आँखें खुली रखनी हैं। आक्रमण करने वाले हाथ को थाम लेने के लिए स्वयं को सन्नद्ध रखना है।" युधिष्ठिर बोला, "और अपनी इंद्रियों को वश में रखना है, विवेक को संतुलित रखना है और धैर्य को बनाये रखना है।"

"युधिष्ठिर ठीक कहता है पुत्र !..."

कुंती की बात पूरी भी नहीं हुई थी कि द्वारपाल भीतर की ओर आता हुआ दिखायी दिया।

वह निकट आया, तो उसके कुछ कहने से पूर्व ही युधिष्ठिर बोला, "मैंने तुमसे कहा था कि हम विश्राम कर रहे हैं। जब तक तुम्हें पुकारा न जाये, तब तक न तुम भीतर आओगे और न किसी को आने दोगे।"

द्वारपाल कुछ हत्प्रभ तो हुआ, किंतु अधिक विचलित नहीं हुआ, "हाँ ! आपने कहा तो था आर्य, पर मैंने सोचा कि आप विश्राम कर चुके होंगे। वैसे भी बाहर कुछ प्रजाजन आये हैं। वे अपने युवराज से मिलना चाहते हैं। क्या उनसे कह दूँ कि युवराज वारणावत में विश्राम करने आये हैं, वे किसी से मिलना नहीं चाहते ?..."

इससे पहले कि भीम कुछ बोलता अथवा उठकर उस द्वारपाल को उठाकर बाहर फेंक आता, अर्जुन ने उसका हाथ दबाया। भीम ने उसकी ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा। अर्जुन ने संकेत किया : धैर्यपूर्वक चुपचाप बैठे रहो।

"नहीं ! यह कहने की आवश्यकता नहीं है।" युधिष्ठिर ने आदेश दिया, "तुम उन्हें भीतर आने दो।"

द्वारपाल के लौटने में कहीं यह भाव नहीं था कि वह युवराज के आदेश पर किसी को बुलाने जा रहा है। वह तो इस प्रकार टहलता हुआ जा रहा था, जैसे वह किसी वाटिका में मन बहला रहा हो; और उसकी पीठ की ओर बैठे लोग युवराज तथा अन्य राजकुमार न होकर, वाटिका में अनधिकृत रूप से घुस आये लोग हों, जिन्हें वह अभी खरी-खोटी सुनाकर ही आया हो।

"मेरा विचार है कि किसी के आदेशानुसार वह जान-बूझकर इस प्रकार का व्यवहार कर रहा है, जिससे हम उत्तेजित होकर उसे दंडित करें और वह बाहर जाकर कह सके कि राजकुमार अत्यंत अशिष्ट और कठोर हैं, राजकर्मचारियों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं।" सहदेव बोला, "क्या यह सायास हमें कलंकित करने का प्रयत्न नहीं है ज्येष्ठ ?"

"मुझे भी कुछ ऐसा ही लग रहा है। वे लोग प्रजा के सम्मुख बार-बार यह तथ्य रेखांकित करना चाहते हैं कि राजकुमारों के कारण प्रजा को असुविधा होती है; और उन्हें अपमानित होना पड़ता है। हमारे आने पर भी सेना-प्रमुख ने कदाचित् इसीलिए प्रजा पर दंड-प्रहार करवाये थे।" युधिष्ठिर बोला, "या फिर यह सब—यहाँ के राजकर्मचारियों की अनुशासनहीनता तथा उद्दंडता का प्रमाण है।"

द्वारपाल चार व्यक्तियों के साथ भीतर आया और उन्हें वहाँ छोड़ किसी से बिना कुछ कहे, वापस लौट गया।

युधिष्ठिर ने नकुल को संकेत किया, "कोई प्रवेश न करे।"

नकुल जाकर द्वार के निकट खड़ा हो गया; और उसने कोश में से निकालकर, नग्न खड्ग हाथ में ले लिया।

युधिष्ठिर ने उन चारों की ओर देखा।

उन्होंने हाथ जोड़कर प्रणाम किया, "युवराज ! हम आपकी असहाय प्रजा हैं। कुछ निवेदन करने आये हैं।"

"कहिए !" युधिष्ठिर का स्वर कोमल ही नहीं, स्नेह-सिंचित भी था, "अपना कष्ट कहिए।"

"युवराज !" उनमें से एक अत्यंत सम्मान के साथ बोला, "हम साधारण गोपाल हैं युवराज ! हमारे पास अपनी गोशाला के सिवाय और कुछ भी नहीं है।"अब या तो आप हमारी गोशाला की सारी गायें ले लें, या फिर उनके पालन के साधन हमारे लिए जुटा दें।"

"स्पष्ट शब्दों में अपनी कठिनाई कहिए।" युधिष्ठिर ने मृदु स्वर में कहा।

"युवराज ! पिछले कुछ दिनों से वारणावत में भूसा इतना महँगा हो गया है कि उसे खरीदना हमारे सामर्थ्य से बाहर है। ऐसे में हम अपने गोधन को क्या खिलाएँ ?"

"भूसा महँगा क्यों हो गया है ?"

"हाट में से बहुत सारा भूसा, राजपुरुष खरीद रहे हैं और व्यापारियों को मुँह-माँगा दाम दे रहे हैं। अब व्यापारी बचे हुए भूसे को कम दाम में बेचना ही नहीं चाहते।"

"राजपुरुष भूसा क्यों खरीद रहे हैं ?"

"मुझे तो मालूम नहीं है युवराज ! मुझे तो इतना ही ज्ञात हुआ है कि वे कहते हैं कि राजकुमारों के स्वागत के लिए हस्तिनापुर के मंत्री को इसकी आवश्यकता है।" वह व्यक्ति बोला, "आपकी क्या कोई राजकीय गोशाला है युवराज ?"

युधिष्ठिर ने क्षण-भर सोचा और बोला, "हमारी आवश्यकता पूरी हो गयी है। अब यदि व्यापारी दाम कम न करें अथवा हाट में भूसा कम मिले, तो आकर मुझे सूचित कीजिएगा कि राजपुरुषों ने किस व्यापारी से भूसा खरीदा है।"

"जो आज्ञा युवराज !" वे लोग प्रणाम कर चले गये।

उनके जाने के पश्चात् नकुल निकट आ गया। युधिष्ठिर ने अपने भाइयों की ओर देखा, "क्या समझे ?"

"राजकुमारों के नाम पर भूसा खरीदने वाला हस्तिनापुर का मंत्री यह पुरोचन ही होगा।" भीम बोला, "हमें तो भूसे की आवश्यकता है नहीं। यह यहाँ से भूसा खरीदकर हस्तिनापुर भेजता है क्या ?"

"पुरोचन गोशाला के लिए तो भूसा नहीं ही खरीद रहा है।" सहदेव बोला, "यदि हमारे निवास के लिए वह भवन-निर्माण करवा रहा है, तो उसे ईंटें बनाने के लिए, गारे में थोड़े-बहुत भूसे की आवश्यकता अवश्य पड़ेगी"किंतु भूसा अधिक हो गया तो ईंटों की प्रज्वलनशीलता बढ़ जाये"।"

"ठहरो सहदेव !" युधिष्ठिर बोला, "विदुर काका ने कहा था कि अग्नि भी दुर्योधन का एक शस्त्र हो सकती है। कहीं ऐसा तो नहीं कि पुरोचन जान-बूझकर ऐसी ईंटें बनवा रहा हो, जो अत्यधिक प्रज्वलनशील हो ?"

"ज्येष्ठ का विचार ठीक है।" अर्जुन बोला, "निश्चय ही वह कुछ ऐसी ही तैयारी कर रहा होगा।"

"मेरा विचार है कि हमें किसी-न-किसी प्रकार हाट से भी संपर्क बनाये रखना चाहिए कि पिछले दिनों किन-किन वस्तुओं के मूल्य चढ़े हैं और राजपुरुषों ने बड़ी मात्रा में क्या-क्या खरीदा है।" सहदेव बोला, "इस छोटी-सी नगरी का हाट कितना ही बड़ा क्यों न हो, ऐसी

बातें छिप नहीं पायेंगी।"

"सहदेव ठीक कह रहा है।" कुंती बोली, "तुम लोग शिविर में कम-से-कम ठहरो। किसी-न-किसी व्याज से हाट के विषय में सूचनाएँ प्राप्त करते रहो; और प्रजा में ज़ितना अधिक घुल-मिल सको, वह तुम्हारे लिए उतना ही लाभदायक होगा।"

"और हम अग्नि से सावधान रहें तथा वारणावत के किसी राजपुरुष पर विश्वास न करें। वे सब-के-सब या तो दुर्योधन के गुप्तचर होंगे, अथवा उसके विश्वसनीय सेवक !" अर्जुन बोला।

10

वारणावत में पहुँचने के ठीक दसवें दिन युधिष्ठिर से मिलने के लिए पुरोचन आया।

"युवराज ! मुझे अत्यंत खेद है कि आपके पहुँचने से पूर्व ही मैं आपके लिए शिव-भवन का जीर्णोद्धार करा उसे आपके निवास-योग्य नहीं बना सका।" वह बोला, "किंतु उसमें मेरा कोई दोष तो है नहीं। आपने देखा ही होगा कि यहाँ के लोग कितने आलसी हैं। काम तो कोई करना ही नहीं चाहता। यही कारण है कि एक मास में होने वाला काम, तीन मास में पूरा होता है। मैंने तो बहुत प्रयत्न किया कि श्रमिकों को कुछ अधिक पारिश्रमिक देकर काम कुछ जल्दी करा लूँ; किंतु वे लोग जैसे अपने ही राजा को लूट लेना चाहते हैं। तीन-तीन, चार-चार गुना पारिश्रमिक माँगते हैं। आप ही सोचिए, मैं राजकोश का धन इस प्रकार लुटा तो नहीं सकता न ?"

"पर तुम आज मुझे यह सब क्यों बता रहे हो ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"युवराज ! बात यह है कि आज शिव-भवन को मैं आपके रहने के योग्य बना सका हूँ; इसलिए आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।" वह बोला, "इससे पूर्व आपसे यह सब कहने का मैं साहस ही नहीं कर सका कि कहीं आप समझें कि मैं अपनी अक्षमता को दूसरों के सिर मढ़, स्वयं को दोष-मुक्त करना चाहता हूँ।"

"तो अब तुम क्या चाहते हो ?"

"युवराज अपने भाइयों तथा माता सहित शिव-भवन में पधारें। वहाँ आपके निवास का यथोचित प्रबंध है।"

"किंतु हम लोग तो इस शिविर में ही पर्याप्त सुखी हैं। हमें किसी प्रकार की कोई असुविधा नहीं है।" युधिष्ठिर ने कहा, "हमारे यहीं बने रहने में तुम्हें क्या आपत्ति है ?"

पुरोचन ने अपने कान छुए और अपने कपोलों को अपनी हथेलियों से कम-से-कम तीन बार पीटा, "नहीं युवराज ! महाराज मुझे जीवित ही भूमि में गाड़ देंगे। उन्होंने मुझे आपसे पहले प्रस्थान कर यहाँ पहुँचने का आदेश दिया। राजकुमार दुर्योधन ने विशेष आग्रह किया। अब यदि उन्हें सूचना मिलती है कि मैंने उचित व्यवस्था नहीं की और आपको अपने भाइयों और माता के साथ शिविर में ही रहना पड़ा तो वे मुझसे कितने रुष्ट होंगे !" पुरोचन ने पुनः हाथ जोड़े, "नहीं युवराज ! यह शिविर हस्तिनापुर के युवराज और उनके भाइयों के उपयुक्त नहीं है। इसमें हस्तिनापुर के राजवंश का अनादर होता है। आप हठ न करें, मुझ पर कृपा

करें; अन्यथा मैं व्यर्थ ही दंडित होऊँगा।"

"उस भवन की ऐसी क्या विशेषता है, जिसके कारण तुम हमें वहीं ले जाना चाहते हो ?" सहदेव ने पूछा।

लगा, भीम भी कुछ बोलने वाला है, किंतु वह अपने अधरों पर आये शब्द जैसे अंतिम क्षण में पी गया।

पुरोचन के चेहरे पर कुछ क्षणों के लिए व्यग्रता का भाव आया, किंतु वह तत्काल सहज हो गया, "वह भवन आपके लिए ही तैयार किया गया है युवराज ! वह आपके पद और व्यक्तित्व के अनुकूल है। विस्तृत है, सुंदर है, सुविधाजनक है। उसमें आपकी सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था है⋯।"

"तुम हमें इतना असुरक्षित क्यों समझते हो कि बार-बार हमारी सुरक्षा की चर्चा करते हो ?" अर्जुन ने पूछा।

इस बार प्रयत्न करके भी पुरोचन अपना संतुलन बनाये नहीं रख पाया। उसकी आँखों में तथा चेहरे पर व्याकुलता स्पष्ट झलक आयी। मुख से तत्काल शब्द भी नहीं फूट पाये। वह फटी आँखों से अर्जुन को देखता रह गया।

"नहीं राजकुमार ! आप जैसे वीर असुरक्षित होंगे, तो सुरक्षित कौन होगा !" अंततः वह बोला, "मैं तो एक सेवक के समान अपने स्वामी के लिए चिंतित रहता हूँ, कि कहीं मेरे किसी प्रमाद से आपको कोई कठिनाई न हो। सेवक का तो धर्म यही है राजकुमार !" वह चर्चा को वापस अपने लक्ष्य की ओर लाने के लिए रुका, "आप एक बार उस भवन में आ जायें, आपको स्वयं ही वह अत्यंत प्रिय हो जायेगा। उसे छोड़कर आप स्वयं ही कहीं नहीं जायेंगे।"

"क्या बहुत सुंदर है तुम्हारा यह शिव-भवन ?" भीम ने पूछा।

"राजकुमार ! उसका सौंदर्य तो देखते ही बनता है।" वह बोला, "आपको लगेगा, जैसे भवन चित्रों का ही बना हुआ है, दीवारें तो कहीं दिखायी ही नहीं देतीं। और चित्र इतने सजीव हैं कि जीवित व्यक्ति का भ्रम हो जाये।"

"अच्छा, चलो।" अंततः युधिष्ठिर बोला, "चलने की व्यवस्था करो।"

शिव-भवन वस्तुतः अत्यंत भव्य था। उसके कंगूरे दूर से ही दिखायी देते थे और मुख्य द्वार किसी नगर-द्वार के ही समान विशाल और विराट था। उस पर सुंदर और सुसज्जित चित्रकारी की गयी थी।

पुरोचन घूम-घूमकर उन्हें भवन दिखाता रहा। सारे भवन में बड़े-बड़े आकार के मनोहर भित्तिचित्र बने हुए थे, जिसमें जीवन के विभिन्न भोगों का अत्यंत आकर्षक चित्रण था। झरोखों और गवाक्षों पर पत्थर की बनी हुई मनोहर जालियाँ थीं। बाहर विस्तृत उद्यान था। भवन के ही परिसर में मुख्य भवन से कुछ हटकर दास-दासियों के लिए छोटे-बड़े घर बने हुए थे। मुख्य भवन के पीछ एक ऊँची प्राचीर थी; और उसके साथ लगता हुआ सैनिकों का शिविर था। निश्चय ही शिव-भवन अत्यंत विस्तृत, आकर्षक, सुंदर तथा अनेक प्रकार की सुविधाओं से सुसज्जित था।

"तुमने हमारे लिए सचमुच बहुत सुंदर भवन की व्यवस्था की है पुरोचन !" विदा होते

हुए पुरोचन से कुंती ने कहा, "मैं महादेव से प्रार्थना करती हूँ कि वे तुम्हें, तुम्हारे कार्यों का उचित फल दें। वे तुम्हें, तुम्हारी माता तथा तुम्हारे भाइयों को भी निवास के लिए ऐसा ही भवन प्रदान करें।"

"आपकी कृपा बनी रहे राजमाता !" पुरोचन ने बहुत झुककर कुंती को प्रणाम किया; किंतु उसकी आँखों में झलकता निषेध किसी से छिपा नहीं रह सका।

पुरोचन चला गया तो युधिष्ठिर ने अपने भाइयों की ओर देखा, "कैसा है शिव-भवन ?"

"आपका क्या विचार है ज्येष्ठ ?" नकुल ने पूछा, "आपको यह सुरक्षित लगता है ?"

"यह तो सर्वथा अशिव-भवन है।" युधिष्ठिर बोला, "मुख्य द्वार को सेवक और प्रहरी के कक्षों से इतना संकीर्ण कर दिया गया है कि उसमें से एक छोटा-सा रथ भी कठिनाई से पार हो सके। पीछे की ओर ऊँची प्राचीर है और उसमें कोई द्वार भी नहीं है। यह तो हमें इस भवन में बंदी करने की योजना है। यदि कोई विपत्ति आ जाये, तो हम सरलता से इसमें से निकल भी नहीं पायेंगे।..."

"कहीं ऐसा तो नहीं कि वे हमें इसमें बंद कर भवन को आग लगाना चाहते हों, ताकि हम बाहर निकल ही न पायें और अग्नि की भेंट हो जायें ?" भीम बोला।

"कुछ ऐसा ही लगता है मुझे !" युधिष्ठिर बोला, "भित्ति-चित्रों को ध्यान से देखो, वे चित्र भित्तियों से काफी उठे हुए और बड़े-बड़े हैं; अर्थात् भित्तियों के ऊपर काफी मात्रा में दूसरे पदार्थ हैं, संभवतः वे सारे पदार्थ प्रज्वलनशील और अग्नि को उद्दीप्त करने वाले हैं। संभव है, दीवारों के निर्माण में भी कुछ ऐसे ही पदार्थ का प्रयोग किया गया हो ! इस भवन के निर्माण में तो मुझे लाक्षा का पर्याप्त प्रयोग दिखायी देता है।..."

"इसका अर्थ तो यह है कि दुर्योधन चाहता है कि हम लोग भवन के भीतर हों और पुरोचन मुख्य द्वार बंद कर यदि इसे आग लगा दे तो इसमें से निकल भी न सकें। शिव-भवन नहीं, यह तो लाक्षागृह है, जो तत्काल भभक उठेगा। लोग इसे प्राकृतिक दुर्घटना मान लेंगे और किसी को पता भी नहीं चलेगा कि हमारी हत्या की गयी है।" भीम बोला।

"इतना ही नहीं !" अर्जुन ने समर्थन किया, "उस विपत्ति में दास-दासियाँ अथवा कर्मचारी हमारी सहायता के लिए भी नहीं आ सकेंगे। यदि बाहर से कोई हमारी सहायता के लिए आना चाहे, अथवा हम निकलना चाहें, तो प्राचीर के पीछे, हमारी सुरक्षा के व्याज से ठहराए गये, उसके सैनिक, भवन को घेर लेंगे और न हमें बाहर निकलने देंगे, न बाहर से किसी को हमारी सहायता के लिए आने देंगे।"

"तो जब यह निश्चित ही है कि यह लाक्षागृह विशेष रूप से हमें जलाकर हमारी हत्या करने के लिए ही बनाया गया है, तो हम वापस उसी शिविर में क्यों नहीं चले जाते ?" भीम ने पूछा।

"हाँ, पुत्र !" कुंती बोली, "जान-बूझकर इस प्रकार स्वयं को अग्नि में झोंकना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ?"

युधिष्ठिर चुपचाप उनकी बातों पर विचार करता रहा और फिर धीरे से बोला, "अब मेरी समझ में आ रहा है कि विदुर काका ने क्यों कहा था कि अपनी इंद्रियों को वश में रखना और धैर्य मत छोड़ना।"

"यह तो ठीक है कि यदि हम इस भवन में नहीं रहेंगे तो उन्हें ज्ञात हो जायेगा कि हमें

उनके षड्यंत्र का आभास हो गया है ।" सहदेव ने कहा, "ऐसी स्थिति में वे कोई और षड्यंत्र रचेंगे; और वहुत संभव है कि हम अपने अज्ञान में ही मारे जायें ।"

"वह तो ठीक है ।" कुंती पुनः बोली, "अज्ञान में मारे जाना एक बात है; यहाँ तो हम जान-बूझकर मरने के लिए बैठे हैं ।"

"नहीं माँ !" युधिष्ठिर गंभीर स्वर में बोला, "हम जान-बूझकर यहाँ बैठे मृत्यु की प्रतीक्षा नहीं करेंगे; हम जानी-बूझी मृत्यु से बचने का प्रयत्न करेंगे ।"

"किंतु यहाँ बचने का उपाय ही क्या है ?"

"उपाय तो करना पड़ता है माँ !' युधिष्ठिर बोला, "उपाय करने से ही कंस के कारागार में जन्मा कृष्ण बाहर आ गया था । हम उपाय करेंगे, तो क्या इस षड्यंत्र से अपनी रक्षा नहीं कर पायेंगे ?"

"क्या करोगे पुत्र ?"

"उसपर विचार करते हैं ।" युधिष्ठिर बोला, "विदुर काका ने कहा था, दावाग्नि में बड़े-बड़े वृक्ष और जीव-जंतु जल जाते हैं; किंतु अपने विल में छिपा मूषक उससे सर्वथा सुरक्षित रहता है ।... इसका अर्थ समझती हो माँ ?"

"समझती हूँ !" कुंती बोली, "विदुर को इस षड्यंत्र का आभास रहा होगा, इसीलिए उसने तुम्हें अपनी रक्षा के लिए बिल खोदने का सुझाव दिया होगा ।"

"हाँ, माँ !" युधिष्ठिर वोला, "मुझे मालूम नहीं है कि विदुर काका को इस षड्यंत्र का निश्चित ज्ञान था अथवा यह उनका अनुमान मात्र था; किंतु उनका अनुमान अव यथार्थ के रूप में हमारे सम्मुख है । अतः हमें इस लाक्षागृह के भीतर ही एक भूमिगत गुफा खोद लेनी चाहिए, ताकि यदि हम अग्नि में घिर जायें, तो उस गुफा में शरण ले सकें ।"

"किंतु हमारी सुरक्षा के लिए यह पर्याप्त नहीं होगा ।" नकुल बोला, "भवन जल जाने के पश्चात् वे परिणाम देखने के लिए हमारी खोज करेंगे ।"

"खोज ही लेंगे, तो क्या कर लेंगे ?" भीम रोषपूर्ण स्वर में वोला ।

"उनके सैनिक हम पर शस्त्रों से आक्रमण करेंगे ।..." नकुल बोला ।

"शस्त्रों से आक्रमण करना होता, तो वे अव तक कर चुके होते, " युधिष्ठिर बोला, "किंतु यदि उन्होंने आक्रमण किया, तो हम पाँचों उनकी सेनाओं पर भारी पड़ेंगे ।"

"तो हम अभी ही क्यों उनपर भारी नहीं पड़ लेते ?" भीम बोला ।

"क्योंकि अभी उन्होंने हम पर आक्रमण नहीं किया है ।" युधिष्ठिर बोला, "और आक्रमणकारियों से युद्ध करने तथा अनुमानों से आशंकित होकर राजपुरुषों पर आक्रमण करने में वहुत अंतर है ।"

"ज्येष्ठ ठीक कह रहे हैं ।" सहदेव ने अपनी सहमति जतायी, "किंतु एक भूमिगत गुफा ही हमारी सुरक्षा के लिए पर्याप्त नहीं है ।"

"हाँ ! वह पर्याप्त नहीं है ।" युधिष्ठिर बोला, "हमें चाहिए कि हम प्रातः ही मृगया के व्याज से इस भवन से निकल जायें । वारणावत के भीतर और बाहर के सारे मार्गों से पूर्णरूपेण परिचित हो लें, ताकि विपत्ति में यहाँ से निकलने में सुविधा रहे । जव हम-इस भवन में नहीं रहेंगे, तो इसकी रक्षा की चिंता भी हमें नहीं रहेगी । हमारी अनुपस्थिति में वे इस भवन को अग्निसात् कर भी दें, तो हमारी कोई हानि नहीं है ।..."

"और पीछे माँ जो होंगी भवन में !" सहदेव बोला।

"वैसे तो दुर्योधन यह सब माँ की हत्या के लिए नहीं कर रहा है। वह हम लोगों के प्राण लेना चाहता है; क्योंकि हम उसके प्रतिस्पर्धी हैं।" युधिष्ठिर बोला, "फिर भी हम माँ को इस भवन में अकेली क्यों छोड़ेंगे। वे महादेव के स्थान चली जाया करेंगी। कुलपति तथा अन्य ब्राह्मणों के घरों में भेंट करने चली जाया करेंगी। उनके कष्टों को जानने का प्रयत्न करेंगी; कुछ ज्ञान-चर्चा करेंगी; कुछ कथा-वार्ता सुनेंगी।··· क्यों माँ ?"

"ठीक है पुत्र ! तुम लोगों की अनुपस्थिति में मुझे यहाँ करना भी क्या है ?" कुंती बोली।

"और जब हम भवन में हों, " युधिष्ठिर पुनः बोला, "हमारा प्रयत्न होना चाहिए कि अधिक-से-अधिक बाहरी व्यक्ति भी हमारे साथ, इस भवन में हों—दास-दासियाँ, कर्मचारी, ब्राह्मण, भेंट करने वाले, अपनी कठिनाइयाँ कहने वाले—कैसे भी लोग हों। इस परिसर के भीतर जितने अधिक लोग होंगे, उनके लिए अग्नि-कांड करना उतना ही कठिन हो जायेगा। और फिर वे हमें मारना चाहते हैं, सामान्य लोगों की इस प्रकार की भीड़-की-भीड़ को जलाना उनके लिए भी संभव नहीं होगा।···"

"भैया ठीक कह रहे हैं !" नकुल ने अनायास ही युधिष्ठिर का समर्थन कर दिया।

"केवल रात्रि के उतने भाग के लिए हमें बहुत सावधान रहना चाहिए, जिस समय हम भवन के भीतर हैं, और बाहर का कोई व्यक्ति भवन में नहीं है। रात्रि के उन दो प्रहरों को हमें पाँच भागों में बाँट लेना चाहिए; और बारी-बारी पुरोचन पर दृष्टि रखनी चाहिए। मेरा विचार है कि अग्नि-प्रज्वलन का कार्य वह स्वयं ही करेगा। ऐसे काम के लिए वह किसी अन्य व्यक्ति पर निर्भर नहीं रहेगा। यदि ऐसा न होता तो वह हमें इस भवन में पहुँचा, अग्नि-प्रज्वलन का कार्य किसी विश्वसनीय व्यक्ति पर छोड़कर, हस्तिनापुर लौट गया होता। उसके यहाँ ठहरे रहने का अर्थ ही यही है कि वह यह कार्य स्वयं ही करेगा।"

"मेरी तो इच्छा होती है कि अवसर देखकर, किसी समय इस पुरोचन की गर्दन मरोड़कर फेंक दूँ।" भीम बोला, "न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।"

"यदि वस्तुतः वही बाँस होता तो मैं तुम्हें इसकी अनुमति दे भी देता।" युधिष्ठिर ने अत्यंत शांत स्वर में कहा, "किंतु उसकी हत्या से न यह षड्यंत्र समाप्त होगा, न हम सुरक्षित हो पायेंगे।"

"किंतु उसे दंड तो मिलना ही चाहिए भैया !" अर्जुन बोला।

"समय आने पर वह भी होगा।" युधिष्ठिर बोला, "हमें आज रात से ही किसी भीतर कक्ष में, अपने लिए भूमिगत शरणस्थली बनानी आरंभ कर देनी चाहिए।"

"हाँ, पुत्र ! इस कार्य में तनिक भी विलंब उचित नहीं है।" कुंती ने समर्थन किया।

दिन भर किसी-न-किसी व्याज से पुरोचन भवन में आता-जाता रहा। कभी वह कर्मचारियों को उनका कार्य समझाता था, कभी दासियों को उनके कार्य पर नियुक्त करता था। कभी उसे कोई भूली बात स्मरण हो आती थी, इसलिए वह लौट आता था; कभी युधिष्ठिर अथवा कुंती से किसी विषय में उनकी इच्छा जाननी आवश्यक हो जाती थी···

युधिष्ठिर उसे देखता रहा : क्यों कर रहा था वह यह सब ? क्या इसलिए कि वह उन लोगों पर दृष्टि रख सके ? या फिर क्या वह भवन का निरीक्षण कर रहा था किसी कारण, पांडवों को संदेह न हो !'''और युधिष्ठिर सोचता रहा कि यदि वह प्रतिदिन इसी प्रकार भवन के भीतर मँडराता रहा तो वे लोग अपने लिए भूमिगत आश्रय कैसे बनायेंगे ?'''ऐसे तो उसकी दृष्टि से कुछ भी छिप नहीं पायेगा''' उसे किसी-न-किसी प्रकार से पुरोचन का प्रवेश नियंत्रित करना होगा, उसके इन निर्बाध अधिकारों में कटौती करनी ही होगी ।''' और कोई तो ऐसा स्थान खोजना ही पड़ेगा जहाँ पुरोचन अथवा किसी भी अन्य राजपुरुष, कर्मचारी, दास-दासी का प्रवेश किसी भी प्रकार संभव न हो, तभी तो भूमिगत आश्रय का सुरक्षित निर्माण हो पायेगा ।'''

कुंती ने युधिष्ठिर को इतना गंभीर देखा, तो स्वयं को रोक नहीं पायी, "क्या बात है पुत्र ! तुम कुछ अधिक ही चिंतित हो ?"

युधिष्ठिर ने अपनी चिंता, माँ को कह सुनायी । कुंती अभी कोई उत्तर दे भी नहीं पायी थी कि पुरोचन पुनः उपस्थित हो गया, "महारानी ! एक निवेदन के लिए उपस्थित हुआ हूँ ।"

और युधिष्ठिर ने आश्चर्य से देखा : कुंती के चेहरे पर किसी प्रकार का कोई विरोध या रोष प्रकट नहीं हुआ । उसकी वाणी में पुरोचन के प्रति कोई अरुचि भी नहीं थी । वह अत्यंत मधुर स्वर में बोली, "कहो पुरोचन ! मुझे भी तुमसे कुछ कार्य था । तुम स्वयं न आये होते, तो किसी दासी को भेजकर तुम्हें बुलाना पड़ता ।"

"कहें महारानी ! पहले आप अपनी आवश्यकता कहें । यह पुरोचन आपकी किसी भी इच्छा की पूर्ति कर स्वयं को धन्य मानेगा ।" पुरोचन अत्यंत शालीन स्वर में बोला ।

"पुरोचन ! भवन के पूर्व-खंड में कितने कक्ष हैं ?"

"चार महारानी !"

"तो एक काम करो वत्स !" कुंती बोली, "उन चारों कक्षों का सारा सामान—आसन, मंच, चित्र, मूर्तियाँ, या जो कुछ भी उनमें हो, वह सब बाहर निकलवा लो । वे कक्ष सर्वथा खाली कर दो !"

पुरोचन कुछ चकित हुआ, "उन कक्षों का क्या होगा महारानी ?"

"वैसे तो छः कक्ष होते तो अधिक अच्छा होता; किंतु अब चार कक्षों से ही काम चला लेंगे ।" कुंती बोली, "पिछला कक्ष मेरी पूजा और साधना का कक्ष होगा । आगे के तीनों कक्षों में ये पाँचों भाई अपनी पूजा, साधना, मंत्र-जाप, मनन तथा ध्यान का कार्य करेंगे । उन कक्षों में सिवाय हम छः व्यक्तियों के और कोई प्रवेश नहीं करेगा । उनकी सफाई भी हम स्वयं करेंगे'''"

"अरे नहीं महारानी !" पुरोचन बात काटकर बोला, "कोई ब्राह्मण स्त्री नहा-धोकर उन कक्षों की सफाई का कार्य कर दिया करेगी ।"

"नहीं !" कुंती का स्वर आदेशात्मक था, "अपने आराध्यदेव की सेवा दास-दासियों से नहीं करायी जाती । उनके तो हम स्वयं ही दास हैं । उन कक्षों को स्वच्छ रखना हमारा अपना कार्य है; उससे हमारे देव प्रसन्न होंगे ।"

"जैसी आपकी इच्छा महारानी !" पुरोचन का स्वर हताश था । वह जाने के लिए मुड़ा ।

उसकी अस्त-व्यस्तता देख कुंती अपनी मुस्कान रोक नहीं पायी, "तुम कुछ कहने के लिए आये थे पुरोचन !"

"ओह ! हाँ, महारानी !" वह झटपट-सा मुड़ा, "मैं यह सूचना देने आया था, कि

हस्तिनापुर से आपके साथ आये रसोइये मैंने वापस हस्तिनापुर भेज दिये हैं। वे लोग अपने परिवारों के विना यहाँ बहुत प्रसन्न नहीं थे। उनके स्थान पर मैंने यहीं के रसोइये नियुक्त कर दिये हैं। वे लोग यहीं के रहने वाले हैं और उनके परिवार भी यहीं हैं। न उन्हें आवास की असुविधा है और न उन्हें कहीं लौटने की जरूरत है।…"

युधिष्ठिर का माथा ठनका : वे लोग तो केवल अग्नि से अपनी रक्षा का प्रबंध कर रहे थे। यह पुरोचन कहीं कोई दूसरा षड्यंत्र तो नहीं रच रहा ? उसने उनके रसोइये हस्तिनापुर भेज दिये थे… पुरोचन के रसोइये… क्या दुर्योधन, भीम को विष दिये जाने की घटना की पुनरावृत्ति करना चाहता है ?

किंतु कुंती ने अत्यंत सहज भाव से उत्तर दिया, "यह तुमने अच्छा ही किया पुरोचन ! वस्तुतः मैं आज से ही एक संकल्प कर रही हूँ कि या तो भोजन स्वयं अपने हाथों से पकाकर, अपने पुत्रों को खिलाकर स्वयं खाऊँगी; अथवा केवल उन रसोइयों के हाथ का भोजन खाऊँगी, जिनके कम-से-कम दो-दो पुत्र हों। उनका बनाया हुआ भोजन, स्वयं अपने हाथों से परोसकर पहले उनके पुत्रों को खिलाऊँगी; और तब स्वयं खाऊँगी।"

पुरोचन के चेहरे की मलिनता कुछ सघन हुई, "ऐसा क्यों महारानी ?"

"इसलिए वत्स, कि जिनका बनाया हुआ भोजन मेरे पुत्र खायेंगे, उनके पुत्रों को मैं खिलाऊँगी, तो यह ऋण इसी लोक में उतर जायेगा। उसके लिए पुनः एक जन्म नहीं लेना पड़ेगा।" कुंती ने रुककर कहा, "अव ये रसोइये वारणावत के ही निवासी हैं, तो उनके परिवार भी यहीं होंगे। तुम जाओ और उनसे कह दो कि वे लोग भोजन के समय अपने दो-दो पुत्रों को लेकर आ जायें। ऐसा न हो कि उनको विलंब हो, और उनके कारण हमें भी भूखे बैठे रहना पड़े।"

"किंतु महारानी !" पुरोचन कुछ अटपटाया-सा बोला, "यदि किसी के दो पुत्र न हुए तो ?"

"तो उसे रसोइये के काम पर मत लगाना।" कुंती बोली, "तुम उनसे पूछ लो। जाओ, शीघ्र जाओ ! ऐसा न हो कि उनमें कोई ऐसा व्यक्ति सम्मिलित हो जाये, जिसके दो पुत्र न हों।"

पुरोचन शिथिल पगों से मुड़ा, तभी कुंती ने कहा, "और सुनो पुरोचन, मैं कल से दोनों समय पचास-पचास ब्राह्मणों को भोजन कराऊँगी तथा दक्षिणा दूँगी। उसका भी प्रबंध हो जाना चाहिए।"

पुरोचन चला तो गया, किंतु लग रहा था कि उसके पग उठ ही नहीं रहे थे।

युधिष्ठिर ने प्रशंसा-भरी दृष्टि से अपनी माँ को देखा, "तुम अद्भुत हो माँ ! कहाँ मैं सोच रहा था कि इस संकट में तुम घवराओगी और कहाँ तुमने ऐसा चमत्कार किया है माँ, कि भोजन में विष की समस्या तो अव हो ही नहीं सकती; और वे चार कक्ष भी पूर्णतः सुरक्षित हो गये हैं, जहाँ हम अपना भूमिगत आश्रय बना सकते हैं।…किंतु माँ ! ब्राह्मणों का भोजन ?"

"ब्राह्मणों को भोजन कराना तो वैसे भी हमारा सामान्य कर्म होना चाहिए पुत्र !"

"वैसे तो ठीक है; किंतु इस संकट के समय ?"

"पहली वात तो यह है कि हम अपने सामान्य धर्म का पालन कर रहे हैं। दूसरे, विष का संकट और भी कम हो जायेगा, क्योंकि भोजन में विष मिलाने से पचास ब्रह्महत्याएँ हो जायेंगी।

तीसरे, हमसे मिलने के लिए कौन आ रहा है, इस पर पुरोचन दृष्टि नहीं रख सकेगा। ब्राह्मण के वेश में तुम अपने गुप्तचरों को भी बुला सकते हो।"

11

कुंती ने पहले अपने चारों रसोइयों के आठ पुत्रों को भोजन कराया और उसके पश्चात् पचास ब्राह्मणों की पंक्ति बैठायी। उन्हें भोजन कराकर, वस्त्र तथा धन देकर, एक-एक को विदा किया.। अंतिम ब्राह्मण की बारी आयी तो उसने वस्त्रों को थाम तो लिया; किंतु आशीर्वाद देकर चुपचाप आगे बढ़ जाने के स्थान पर धीरे से बोला, "मेरी आवश्यकता इससे कुछ अधिक है।"

"क्या चाहिए ब्राह्मण ?" कुंती ने पूछा।

"अपनी याचना गुप्त रखना चाहता हूँ राजमाता ! अतः एकांत में ही प्रार्थना कर पाऊँगा।"

कुंती अपने पुत्रों तथा ब्राह्मण के साथ एक पृथक् कक्ष में चली गयी।

"अब कहिए ब्राह्मण देवता !" युधिष्ठिर बोला।

"मुझे पहचानते हैं युवराज ?"

युधिष्ठिर ही नहीं, पाँचों भाइयों तथा कुंती ने उसे ध्यान से देखा। युधिष्ठिर को लगा, कि उसे कहीं देखा तो है—शायद विदुर काका के निकट ! किंतु यह ब्राह्मण !"

"मुझे हस्तिनापुर से महामंत्री विदुर ने भेजा है।" वह धीरे से बोला, "मैं खनक हूँ—परिखा और सुरंग खोदता हूँ।"

"खनक !!!" युधिष्ठिर ने उसे देखा, "तो क्या महामंत्री को निश्चित प्रमाण मिल गये हैं कि दुर्योधन हमें जलाकर नष्ट कर देना चाहता है ?"

"हाँ, युवराज ! वह आततायी है।" खनक बोला, "आपका यह शिव-भवन घी, तेल, चर्बी, घास, लकड़ी तथा लाक्षा से बनाया गया है।"

"हुँ !" युधिष्ठिर कुछ सोच रहा था, "अग्नि-दाह कब होगा ?"

"संभवतः कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को।"

"तो हमें सावधान रहना चाहिए; पुरोचन पर दृष्टि रखनी चाहिए और भूमिगत आश्रय के निर्माण में शीघ्रता करनी चाहिए।" युधिष्ठिर जैसे अपने-आपको भी कह रहा था और अपने भाइयों को भी।

"उसी कार्य के लिए मुझे महामंत्री ने भेजा है युवराज !" खनक बोला, "मैं इस भवन के नीचे से एक सुरंग खोद दूँगा। महामंत्री चाहते हैं कि दुर्योधन द्वारा अग्नि प्रज्वलित किये जाने से पहले ही आप इस भवन को आग लगा, उस सुरंग की सहायता से, सुरक्षित स्थान पर, बाहर निकल जायें। शिव-भवन के जल जाने और आपके न मिलने से दुर्योधन यही समझेगा कि आप लोग अग्नि में नष्ट हो गये हैं। वह आप लोगों की ओर से निश्चिंत हो जायेगा और असावधान भी। हरनंदी पार कर, आप वन में से होते हुए, गंगा-तट पर पहुँच जायें। गंगा-तट पर सूर्यदेव का एक मंदिर है। वहीं आपको महामंत्री का अनुचर, एक चतुर नाविक मिलेगा। वह आपको गंगा परा करा देगा। गंगा के उस पार आप वन में गुप्त रूप से अनिश्चित काल

तक सुरक्षित रूप से निवास कर सकेंगे। दुर्योधन निष्क्रिय हो गया होगा, अतः आप लोग उसके भावी षड्यंत्रों से बचने की कोई दीर्घव्यापी सुरक्षित व्यवस्था कर पायेंगे।'

युधिष्ठिर स्तब्ध-सा खड़ा सब कुछ सुनता रहा; और फिर जैसे निःश्वास छोड़ता हुआ बोला, "हमारे प्राण बचाने वाले विदुर काका ही हैं।" वह सक्रिय हुआ, "हम उनके अत्यंत आभारी हैं। अब आओ खनक ! हम तुम्हें कुछ दिखाएँ।"

युधिष्ठिर उसे लेकर पूर्वी खंड के अंतिम कक्ष में पहुँचा।

खनक चकित रह गया, "आप लोगों ने सुरंग खोदनी आरंभ भी कर दी ?"

"हाँ, खनक !" अर्जुन बोला, "कृष्ण वहाँ द्वारका का निर्माण कर रहा है, और हम यहाँ मूषक के समान, बिल खोद रहे हैं।"

"खनक ! एक बात बताओ," भीम ने कहा, "हमने तो अभी बहुत थोड़ी-सी खुदाई की है; और समझ नहीं पा रहे हैं कि इसमें से खोदी गयी यह मिट्टी कहाँ डालें। तुम यदि यहाँ से बाहर तक की सुरंग खोदोगे, तो वह सारी मिट्टी कहाँ डालोगे ? इस कक्ष में तो इतना स्थान है नहीं !"

"तो आपने क्या सोचकर सुरंग खोदनी आरंभ की थी राजकुमार ?" खनक ने पूछा।

किंतु उत्तर भीम के स्थान पर युधिष्ठिर ने दिया, "हस्तिनापुर से विदा होते हुए विदुर काका ने अग्नि की संभावना की बात की थी। हमने उसी को ध्यान में रखकर मात्र एक भूमिगत आश्रय बनाने का कार्य आरंभ किया है। सुरंग खोदकर बाहर निकल जाने की बात हमने नहीं सोची थी।"

"ठीक है युवराज !" खनक बोला, "यह तो ठीक है कि सुरंग-निर्माण में इतनी मिट्टी निकलेगी कि आप उसे एक कक्ष में क्या, संपूर्ण भवन में भी छिपा नहीं सकेंगे। उसके लिए आवश्यक है कि आप बड़ी संख्या में श्रमिक लगाकर, इस भवन के चारों ओर एक परिखा का निर्माण करें। उससे निकलने वाली मिट्टी को आप प्रत्यक्ष रूप से कहीं भी फिंकवाएँगे ही, मैं इस सुरंग की मिट्टी भी गुप्त रूप से उसी पर डाल दिया करूँगा।"

"यह ठीक है !" युधिष्ठिर बोला "तुम सुरंग खोदने का कार्य प्रारंभ करो, मैं परिखा-निर्माण करवाता हूँ। परिखा से निकली हुई मिट्टी कहीं फिंकवाने की क्या आवश्यकता है ! उसी मिट्टी से परिखा के साथ-साथ ऊँची प्राचीर भी बनवाते चलते हैं।"

"यही ठीक रहेगा।" खनक सहमत हो गया।

"तुम अकेले सुरंग खोद लोगे ?" भीम ने पूछा, "या हमारी सहायता की आवश्यकता पड़ेगी ?"

"नहीं राजकुमार ! आप निश्चिंत रहें।" खनक बोला, "मेरा तो कार्य ही यही है।"

पुरोचन की आँखें फटी-की-फटी रह गयीं : क्या हो रहा यह सब ? क्या ये लोग यह भवन खोद डालेंगे ?...

वह उनके निकट पहुँचा। लगभग बीस श्रमिक कुदाल लिये हुए भूमि खोद रहे थे।...किंतु क्यों खोद रहे हैं ? किसने उन्हें यह आदेश दिया है ?...और सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न था कि क्यों खोद रहे हैं ये लोग ?...

"ऐ !" उसने चिल्लाकर कहा, "बंद करो यह ! क्या कर रहे हो यह सब ?"

किंतु श्रमिकों पर जैसे उसके कथन का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ा, या शायद उन्होंने सुना ही नहीं !···ये लोग बहरे हैं क्या ?

उसने आगे बढ़कर एक श्रमिक का कुदाल पकड़ लिया, "मैं कह रहा हूँ, बंद करो यह सब ! क्या कर रहे हो तुम लोग ?"

श्रमिक ने उसकी ओर टेढ़ी आँखों से देखा, "तुम मुझे कार्य रोकने के लिए कह रहे हो, या केवल पूछ रहे हो कि मैं क्या कर रहा हूँ ?"

"मैं दोनों बातें कह रहा हूँ ।" पुरोचन बोला, "कार्य रोको और इस खुदाई का कारण बताओ ।"

श्रमिक तनिक भी हत्प्रभ नहीं हुआ । बोला, "तुम कारण पूछने के लिए खुदवाई रुकवा रहे हो या खुदाई रुकवाने के लिए कारण पूछ रहे हो ?"

क्रोध से पुरोचन की आँखें लाल हो गयीं, "जानते हो, किससे बातें कर रहे हो ?"

"नहीं !" श्रमिक बोला, "क्योंकि मैं तो बातें कर ही नहीं रहा । बातें तो तुम मुझसे कर रहे हो; इसलिए तुम ही जानो, तुम कौन हो !"

"मैं मंत्री हूँ हस्तिनापुर का ।" पुरोचन अपने क्रोध को संयत नहीं रख पाया, "मैंने इस भवन का कुछ निर्माण करवाया है, कुछ जीर्णोद्धार कराया है । मेरी आज्ञा के बिना, तुम लोग यहाँ खुदाई कैसे कर रहे हो ?"

"देखो !" वह श्रमिक बहुत शांत स्वर में बोला, "जितना ज्ञान मुझे है, उसके अनुसार मंत्री युवराज से बड़ा नहीं होता; और यहाँ खुदाई का आदेश युवराज ने दिया है । तुम मुझे कार्य करने से रोककर युवराज की आज्ञा का उल्लंघन कर रहे हो ।"

'युवराज !' पुरोचन चौंका—'युवराज को खुदाई की क्या आवश्यकता थी ?'

वह भवन की ओर बढ़ा : ये पांडव कोई योजना तो नहीं बना रहे ? पर खुदाई ? क्यों खोद रहे हैं ये ?

भवन में प्रवेश से पहले ही उसे युधिष्ठिर बाहर आता हुआ दिखायी दिया । उससे कुछ ही पीछे शेष चारों भाई थे; और वे लोग शस्त्रों से पूर्णतः सज्जित थे ।

"युवराज !"

"बोलो पुरोचन !"

"कहाँ जा रहे हैं आप लोग ?"

"क्या मंत्री को हमारी गति-विधि के विषय में इस सीमा तक पूछने का अधिकार है ?" भीम कुछ रोष के साथ बोला, "क्या कहीं जाने के लिए हमें तुम्हारी अनुमति लेनी पड़ेगी ?"

पुरोचन को तत्काल अपनी भूल का अनुभव हुआ । वस्तुतः अपने आवेश में वह यह भूल गया था कि उसका यह व्यवहार आपत्तिजनक होता जा रहा है । कदाचित् वह दुर्योधन की योजनाओं को कार्यान्वित करने में इतना तल्लीन था कि मार्ग में आने वाली छोटी-सी बाधा से भी विचलित हो जाता था, या अपनी सोची हुई रेखा से, घटनाओं को तनिक-सा भी भिन्न होते देख, वह मानसिक संतुलन खो बैठता था ?···या क्या उसने मान लिया था कि पांडवों का अब न अपना कोई पद है, न बल, न इच्छा, न अस्तित्व ?···

वह कोई उत्तर देता, उससे पहले ही युधिष्ठिर बहुत कोमल स्वर में बोला, "मंत्री-प्रवर !

हम लोग मृगया के लिए जा रहे हैं।" उसने हँसकर उसकी ओर देखा, "बहुत व्यग्र दिखायी पड़ रहे हो पुरोचन ! क्या कोई बात तुम्हारी इच्छा के प्रतिकूल हो गयी है ?"

पुरोचन ने अपने-आपको सँभाला, "नहीं युवराज ! ऐसा कुछ नहीं है; किंतु मैं इधर आया तो देखा कि अनेक श्रमिक भूमि खोद रहे हैं। पूछने पर उन्होंने बताया कि वे आपके आदेश से एक परिखा का निर्माण कर रहे हैं।···आपका आदेश है तो परिखा का निर्माण होना ही चाहिए; किंतु मैंने इस भवन का जीर्णोद्धार किया है, और कुछ नया निर्माण कराया है, इसलिए मैं जानता हूँ कि इस भवन की प्रकृति क्या है। भवन के इतने निकट यदि इतनी गहरी और चौड़ी परिखा खोदी जायेगी तो भवन के धसक जाने की आशंका है युवराज !"

"ओह !" युधिष्ठिर ने चिंतित मुद्रा में कहा, "भवन के धसकने की आशंका··· तुमने ठीक सोचा है पुरोचन ! हमें इसका ध्यान रखना होगा। या तो हम परिखा को भवन से कुछ परे खुदवाएँ, या फिर अधिक गहरी न खुदवाएँ। ठीक है। इस विषय में हमें वास्तुशिल्पी से अवश्य परामर्श करना चाहिए···।"

"क्या परिखा-खनन बहुत आवश्यक है युवराज ?" पुरोचन ने धृष्टतापूर्वक पूछ ही लिया।

सामान्यतः दुर्ग और प्रासादों की रक्षा के लिए ऊँची प्राचीरें और गहरी परिखाएँ खोदी ही जाती हैं पुरोचन ! हम यहाँ, एक पराये नगर में प्रायः अपरिचित लोगों के मध्य रह रहे हैं। नगर के बाहर वन हैं। आगे बढ़ने पर गंगा-पार के वनों में राक्षसों की बस्तियाँ हैं। कभी भी कोई आक्रमण हो सकता है। यह हमारे जीवन का ही नहीं, साम्राज्य की प्रतिष्ठा का भी प्रश्न है पुरोचन ! इसलिए इस शिव-भवन की रक्षा के लिए सारे उपाय तो हमें करने ही चाहिए···।"

"तो खाई से निकाली गयी इस मिट्टी के पर्वत का क्या होगा युवराज ?"

"इस मिट्टी से परिखा के साथ-साथ एक ऊँची प्राचीर बन जायेगी।" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "मिट्टी का उपयोग भी हो जायेगा तथा सुरक्षा का एक और उपकरण भी तैयार हो जायेगा।"

"ठीक है युवराज ! शिव-भवन की सुरक्षा का ध्यान तो आपको रखना ही चाहिए। बस, इसके धसकने की संभावना के प्रति सचेत रहिएगा।" पुरोचन की इच्छा हो रही थी कि कहीं एकांत में बैठकर मन खोलकर हँसे। जोर-जोर से हँसे।···इन मुर्खो को देखो, अपनी मृत्यु की रक्षा के उपाय कर रहे हैं। जो भवन इनको जलाकर भस्म कर देगा, यह उसी की रक्षा का प्रबंध कर रहे हैं। ये सोचते हैं कि इनपर बाहर से कोई आक्रमण करेगा; यह नहीं सोचते कि इसी भवन के भीतर से प्रलयंकारी अग्नि उठेगी; और अग्नि प्रज्वलित करने वाले गंगा-पार के वनों के राक्षस नहीं, इनके अपने कुटुंब के लोग होंगे।···उसका मन हो रहा था कि अभी किसी दूत को हस्तिनापुर भेजकर, दुर्योधन को समाचार दे कि पांडव अपनी रक्षा के लिए कौन-कौन से उपाय कर रहे हैं···

महादेव-स्थान के कुलपति के पाँच शिष्यों ने आकर कुंती को प्रणाम किया, "हम उपस्थित हैं महारानी ! क्या आज्ञा है ?"

"क्या कुलपति ने नहीं बताया कि तुम्हें क्या करना है ?" कुंती ने पूछा।

"नहीं महारानी ! उन्होंने तो केवल यही कहा था कि आप जो भी आज्ञा देंगी, हमें वही करना है ।"

"तो पहली आज्ञा तो यह है पुत्रो !" कुंती बोली, "कि तुम लोग मुझे महारानी मत कहो ।"

"तो क्या कहें महा…?" वे रुक गये ।

"अपनी गुरुपत्नी को क्या कहते हो ?"

"उन्हें तो हम 'माता' ही कहते हैं ।" वे बोले, "गुरुकुल में वास की अवधि के लिए तो वे हैं ही हमारी माता ।"

"तो पुत्र ! मुझे भी माता ही कहो ।" कुंती ने कहा, "और मेरी इच्छा है कि तुम लोग मेरी सहायता करो ।"

"आदेश करें माता !"

"इस भवन का यह पूर्व खंड, हमारी उपासना का खंड है । मैं यह चाहती हूँ कि भवन में हमारी अनुपस्थिति में भी उसकी पवित्रता बनी रहे । इसलिए हमारी अनुपस्थिति में, तुम लोग यहाँ, इस खंड को घेरकर, वेद-मंत्रों का पाठ करो । इसे तुम अपना अभ्यास ही समझो, क्योंकि यहाँ सुनने वाला और कोई नहीं होगा । किंतु, उससे वातावरण पवित्र होगा, और हमारी अनुपस्थिति में कोई अन्य व्यक्ति इस ओर नहीं आयेगा । अन्यथा कोई दुष्ट हमारे उपासना-कक्षों की पवित्रता भंग करता रहेगा । मैंने सुना है कि वारणावत में मदिरा-पान का प्रचलन बहुत बढ़ गया है ।"

"आपने ठीक ही सुना है माता !" उनमें से एक बोला, "यह वारणावत का अभिशाप है । हमारे गुरुदेव कहते हैं कि वारणावत पहले ऐसा नहीं था ।"

"मैं जानती हूँ पुत्र !" कुंती बोली, "और आजकल तो महादेव का समाज चल रहा है । सैकड़ों लोग बाहर से आये हैं… ।" कुंती रुकी, "उन लोगों के इस शिव-भवन में आने की कोई संभावना नहीं है । मैं तो इसी भवन में अथवा इसके आस-पास काम करने वाले राजपुरुषों, कर्मचारियों तथा दास-दासियों की चर्चा कर रही हूँ ।"

"ठीक है माता ! हम प्रतिदिन प्रातः से संध्या तक यहाँ वेद-मंत्रों का पाठ करेंगे ।"

"सुखी रहो पुत्र !"

मंदिर में पूजा करने के पश्चात् कुंती, गुरु-पत्नी से मिलने के लिए, उनके आवास पर गयी ।

गुरुपत्नी ने स्वागत किया, "आइए देवि ! आशा है, कुलपति ने आपकी इच्छानुसार पाँच ब्रह्मचारी शिव-भक्त भेज दिये होंगे !"

"हाँ, बहन ! वे लोग पहुँच गये थे । उन्हें मंत्र-पाठ का कार्य सौंपकर ही आयी हूँ ।…"

"महारानी !" गुरुपत्नी बोलीं ।

कुंती ने उनकी ओर देखा : उसे लगा कि गुरु-पत्नी के स्वर में स्नेह का विशेष आवेश था, "क्या बात है बहन ?"

"महारानी !" गुरु-पत्नी ने विह्वल कंठ से कहा, "मैं आपके शील-व्यवहार से प्रसन्न भी हूँ और चकित भी !"

"क्यों बहन !" कुंती मुस्करायी, "ऐसा क्या है मेरे व्यवहार में ?"

"आप हस्तिनापुर के भूतपूर्व सम्राट की पत्नी हैं। वर्तमान युवराज की माता हैं। कल राजमाता बनेंगी…"

"तो क्या हुआ ?" कुंती ने आश्चर्य से पूछा।

"इस पर भी आप मुझे बहन कहती हैं; स्वयं मुझसे भेंट करने आती हैं। हमारे दिये हुए कुशासन पर हमारे निकट बैठ जाती हैं। हमारे साथ चर्चा करती हैं। हमारा सुख-दुख सुनती हैं…"

"तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है बहन ?" कुंती ने ममतामय उल्लास के साथ पूछा, "मैं किसी पर कोई कृपा नहीं करती; अपने ही लाभ के लिए आती हूँ। क्या मुझे भले लोगों का सुंदर विचारों का सामीप्य अच्छा नहीं लगता ? आप लोगों के पास बैठती हूँ तो कुछ सीखती हूँ। उपयोगी विषयों पर चर्चा करती हूँ।…"

"यही तो आश्चर्य है !" गुरु-पत्नी बोलीं, "नगरपाल और सेना-प्रमुख की पत्नियाँ तो स्वयं को स्वामिनी समझती हैं…और आप तो महारानी हैं।"

"उनपर दया करो बहन ! वे अभागी हैं, जो अच्छे चरित्र और अच्छे विचारों का महत्व नहीं समझतीं।" कुंती बोली, "जो लोग पद और अधिकार को ही सब कुछ मानते हैं, वे जीवन के सात्विक गुणों का महत्व समझ नहीं पाते।"

"तभी तो मुझे आश्चर्य होता है कि आप कैसी महारानी हैं।" गुरु-पत्नी बोलीं, "आप न अपने आभूषणों का प्रदर्शन करती हैं, न अपने वस्त्रों की चर्चा करती हैं। न आप अपना अधिकार जमाती हैं, न आदेश देकर हमें यह जताना चाहती हैं कि हम आपसे बहुत तुच्छ हैं। हमें अपने यहाँ दासियों के समान आने का आदेश न देकर, स्वयं हमारे यहाँ आती हैं।…आपमें अपने कुल का, पद का, महत्ता का तनिक भी अहंकार नहीं है…।"

"जितना है, उतना ही बहुत है बहन ! सारा जीवन इस अहंकार से ही तो लड़ते रहते हैं हम, फिर भी उससे मुक्त नहीं हो पाते।" कुंती बोली, "मैं शतशृंग के आश्रमों में भी रही हूँ और भोजपुर तथा हस्तिनापुर के राजप्रासादों में भी। मैंने पाया है कि आश्रमों का जीवन अधिक सात्विक, शांत तथा सुखद था। राजप्रासादों में अहंकार, ईर्ष्या तथा संघर्ष है। उसमें सुख और शांति नहीं है।"

"ऐसा है तो लोग राजप्रासादों को छोड़ ही क्यों नहीं देते ?" गुरु-पत्नी के साथ बैठी, एक अन्य ब्राह्मणी ने प्रश्न किया, "इच्छा करते ही कोई राजप्रासाद प्राप्त तो नहीं कर सकता; किंतु अपनी इच्छा भर से उसे छोड़ तो सकता ही है।"

कुंती हँसी, "कहती तो ठीक हो बहन ! किंतु विधाता ने मानव-मन बनाया ही कुछ ऐसा है कि यह जानते हुए भी कि भोग उसके लिए हानिकारक है, वह भोग का त्याग नहीं कर सकता। कहना बहुत सरल है कि अपनी वस्तु को व्यक्ति जब चाहे छोड़ दे; किंतु छोड़ नहीं पाता। वस्तुतः मनुष्य पदार्थ को जितना ग्रहण करता है, पदार्थ उससे कहीं अधिक, उसे ग्रहण कर लेता है।…हम पदार्थ को त्याग भी दें, तो पदार्थ हमें नहीं त्यागता। पितृव्य भीष्म का इसीलिए तो इतना महत्व है कि उन्होंने ग्रहण में समर्थ होते हुए भी जीवन के भोगों का त्याग कर दिया।" कुंती ने रुककर गुरु-पत्नी को देखा, "इसीलिए तो कहती हूँ कि यह आप लोगों की तपस्या का ही पुण्य है कि आप लोग इतना कठिन कार्य, सहज ही कर पाते हैं। अर्जुन

की, भोग की लालसा नहीं है आप लोगों को । जीवन में संतोष है, इसलिए सुख भी है । अपने नगरपाल से कहिए तो कि यदि कहीं से उसे धन-प्राप्त होने की संभावना दिखायी दे, और वह शांत होकर बैठा रहे, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न न करे—है उसमें ऐसा संयम ?"

"आप कदाचित् ठीक कहती हैं देवि !" गुरु-पत्नी बोलीं, "आजकल आप जिस रूप में इस महादेव-स्थान को देख रही हैं, पहले हमारा सारा वारणावत ही ऐसा था । यहाँ केवल तपस्वी तथा साधक ब्राह्मण परिवार बसे हुए थे । उनमें जीवन का ऐश्वर्य अर्जित करने की कोई लालसा नहीं थी । धन से किसी का महत्व नहीं आँका जाता था । सब लोग जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति कर ही संतुष्ट थे । ईर्ष्या कहीं नाम मात्र को भी नहीं थी, क्योंकि ईर्ष्या करने योग्य कुछ था ही नहीं । स्पर्धा थी तो मात्र साधना और ज्ञान की; किंतु···"

"किंतु क्या बहन ?"

"फिर ये व्यापारी आकर बसे । राजपुरुष आये । सुंदर स्थान देखकर विहार करने के लिए धनी लोग आये । हरनंदी का यह सारा तट, जहाँ केवल साधक लोग अपने परिवारों के साथ संयम का मर्यादित जीवन व्यतीत किया करते थे, जो सदा वेद-मंत्रों के पवित्र उच्चार से गुंजरित रहता था, अब विभिन्न प्रकार की विलास-सामग्रियों से सज्जित होने लगा । जिनके पास धन है, और जो आये ही विहार करने हैं—उनके लिए तो महादेव का स्थान की पवित्रता भी कोई अर्थ नहीं रखती । उनके लिए हमारा सरल और सादा जीवन, हमारे उच्च आदर्शों का फली भूत परिणाम न होकर, मात्र हमारी असमर्थता, मूर्खता और असहायता का परिणाम था । उनके लिए हमारा मार्ग आदरणीय नहीं, उपहास्य था । उन्होंने बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ खड़ी कर लीं, प्रासाद बना लिये, दीर्घाकार रथ बनवाये··वारणावत में भी भड़कीले और मूल्यवान वस्त्राभूषणों की दुकानें खुलीं । विलास की सामग्रियाँ दिखायी देने लगीं । मदिरालय, द्यूतालय, और जाने क्या-क्या··!"

"वे लोग इसे नगर की समृद्धि मानते होंगे; किंतु वस्तुतः इससे नगर की पवित्रता नष्ट हुई है ।" कुंती बोली, "ऐसा नहीं है कि ब्राह्मणेतर वर्ण, संयमित जीवन व्यतीत नहीं कर सकते, किंतु तब ब्राह्मण की जीवन-पद्धति ही उनका आदर्श होनी चाहिए ।···"

"देवी ! आज तो हमारे अपने घरों में ब्राह्मण जीवन-पद्धति की रक्षा नहीं हो पा रही । दूसरे लोगों को हम क्या कहें !" गुरु-पत्नी बोलीं ।

"क्यों ? क्या हुआ ?" कुंती ने पूछा ।

"हमारे बच्चों के सामने तपोभूमि नहीं, व्यवसायियों की अट्टालिकाएँ हैं । उनके विलास और विहार हैं ।" गुरु-पत्नी बोलीं, "अब वे भी हमसे पूछते हैं कि वेद-मंत्रों का पाठ करने के स्थान पर, वे भी कोई व्यवसाय ही क्यों न कर लें ? राजसभा में चाकरी ही क्या बुरी है ?···"

"क्यों ? क्या वे यह नहीं देखते कि ज्ञान, साधना और संतोष में कितना सुख है ? उसका कितना सम्मान है ?" कुंती ने आश्चर्य से पूछा ।

"एक तो, अब इन सब आदर्शों का सम्मान रह ही नहीं गया है । वे लोग नित्य-प्रति देख रहे हैं कि समाज में न ज्ञान का सम्मान है, न चरित्र का । सम्मान और बल—या तो धन में हैं, या राजसत्ता में । इसलिए उनसे सम्मान की बात करना व्यर्थ है ।" गुरु-पत्नी बोलीं, "और यदि कहीं सम्मान दिखता भी हो तो उनका मानस अब बदल गया है । वे कहते हैं कि राजा उनके सामने सम्मान दिखाने के लिए झुके—इसके लिए वे आधा पेट खाकर, वस्त्राभूषण-विहीन,

साधारण कुटीर में क्यों रहें ? इससे तो अच्छा है कि वे सम्मान प्रदर्शित करते हुए, राजा के सम्मुख नत-मस्तक हों और परिणाम-स्वरूप अट्टालिकाओं में रहें, रथों पर यात्राएँ करें, दास-दासियों से सेवित हों, स्वादिष्ट भोजन करें, उनकी स्त्रियाँ भी वस्त्राभूषणों से सज्जित हों।"आप समझ रही हैं महारानी !" वे बोलीं, "आज के बच्चों के लिए धन और सत्ता अधिक महत्वपूर्ण है, सम्मान नहीं।"

"अब मैं क्या कहूँ देवि !" कुंती उदास स्वर में बोली, "मैं तो आज तक अपने पुत्रों को आदर्श जीवन के लिए ही प्रस्तुत करती आयी हूँ। वे क्षत्रिय पुत्र हैं, अतः क्षत्रिय जीवन ही जिएँगे। किंतु क्षत्रिय का जीवन भी अपनी प्रकार की एक तपस्या है। उसे अधिक बलवान, सत्तावान और ऐश्वर्यवान होकर भी निर्धन, निर्बल और ज्ञानी ब्राह्मण को अपने से उच्च समझना है; क्योंकि वह समाज का मूर्तिमान ज्ञान है। क्षत्रिय को अपने प्राण देकर भी, समाज में न्याय की रक्षा करनी है। धन, संपत्ति तथा अधिकार के मध्य रहकर भी स्वयं को लोभ से बचाना है; और धन तथा ऐश्वर्य का उचित वितरण करना है। मेरे पुत्र मदिरापान नहीं करते; उनकी द्यूत में रुचि नहीं है। उन्हें मैंने और उनके गुरुओं ने त्यागपूर्वक योग करना सिखाया है।"पर आप ठीक कहती हैं : समय बदल रहा है; लोगों की धारणाएँ परिवर्तित हो रही हैं। जब आचार्य द्रोण जैसे ब्राह्मण, अपना आश्रम छोड़, राजवंश के आश्रय में आ गये और राजकीय सेनाओं का अंग बनकर, क्षत्रियों के समान युद्ध करने को प्रस्तुत हैं तो साधारण ब्राह्मण बालकों को क्या कहा जा सकता है ! लगता है कि इस समाज ने ज्ञान में अपनी श्रद्धा ही खो दी है।…"

कुंती ने रुककर गुरु-पत्नी तथा उनके साथ बैठी ब्राह्मणियों पर एक दृष्टि डाली और बोली, "अच्छा ! अब चलती हूँ।" वह उठकर खड़ी हो गयी, "ओह ! बातों-ही-बातों में, यह तो मैं भूल ही गयी कि मैं आप लोगों को भोजन के लिए आमंत्रित करने आयी थी।…"

गुरु-पत्नी हँसीं, "कितनी बार भोजन के लिए आमंत्रित करेंगी महारानी ! आजकल तो हमारा भोजन, अपने घर पर कम, शिव-भवन में ही अधिक होता है।"

"तो क्या हुआ बहन !" कुंती बोली, "विद्वानों का हम इतना भी सम्मान नहीं करेंगे, तो यह कृतघ्न समाज नष्ट नहीं हो जायेगा क्या ?" वह रुकी, "आप लोग कृष्ण-पक्ष की एकादशी को रात का भोजन हमारे यहाँ करें। सपरिवार सब लोग आयें। बच्चों को भी पीछे घर पर न छोड़ें। मैं सबको अलग-अलग निमंत्रित नहीं कर पा रही; किंतु मेरा निमंत्रण कुलपति के परिवार के माध्यम से महादेव के सारे ब्राह्मण परिवारों को है। कृपा कर इसे अपनी अवज्ञा न मानें—मेरी असमर्थता ही समझें। सब लोग अवश्य आयें।"

"आपके वारणावत में आने से लगता है कि पुराना युग फिर से लौट आया है। हमें सत्य ही अपनी तपस्या और साधना का क्षेत्र और सम्मान मिल रहा है।" गुरु-पत्नी बोलीं, "महारानी ! मैं आपको चक्रवर्ती सम्राट् की माता बनने का आशीर्वाद देती हूँ।"

संध्या समय पुत्रों के लौटने पर कुंती ने उन्हें बताया कि वह कृष्ण पक्ष की एकादशी के भोजन के लिए ब्राह्मणों को आमंत्रित कर आयी है।

"यह तो तुमने अच्छा किया माँ !" युधिष्ठिर बोला, "किंतु मैं सोचता हूँ कि अब हमें

वहुत अधिक समय तक यहाँ नहीं रहना है। सुरंग तैयार होते ही हमें यहाँ से निकल जाना है; अन्यथा कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी को पुरोचन इस लाक्षागृह को अग्निसात् कर हस्तिनापुर लौट जायेगा।…"

"तो?"

"तो एकादशी की रात को ब्राह्मणों के साथ ही हम जन-साधारण को भी भोजन के लिए बुला लें। जाने से पहले एक बार साधारण लोगों को भी तो भोजन करा देना चाहिए।" युधिष्ठिर बोला।

"हाँ।" भीम हँसा, "ताकि हमारे जाने के पश्चात् वे लोग हमें स्मरण कर, कुछ देर तो रोएँ।"

"ठीक है पुत्र! तुम लोग वारणावत के जन-सामान्य को भी भोजन का निमंत्रण दे दो।" कुंती बोली, "अच्छा! आज दिन भर क्या किया?"

"माँ!" सहदेव बोला, "हरनंदी नदी का सारा तट हमारा परिचित है। उसके पार का वन इतना परिचित है कि वृक्ष गिनवा लो। सारी पगडंडियाँ ही हमारी पहचानी हुई नहीं हैं, उन पगडंडियों ने भी हमारे पैरों की आहट को पहचान लिया है। वह मंदिर भी हमने भली प्रकार देख लिया है, जहाँ विदुर काका का नाविक हमें मिलेगा।"

"वह नाविक तुम्हें मिला क्या?"

"नहीं! वह तो वहाँ नहीं था।"

"तो जब हम यहाँ अग्नि प्रज्वलित कर वहाँ पहुँचें; और तब तक वह नाविक वहाँ न पहुँचा तो?" कुंती ने शंका की।

"माँ! मेरा विचार है कि वह अब तक अवश्य ही वहाँ पहुँच गया होगा और कहीं छिपकर रह रहा होगा।" युधिष्ठिर बोला, "तुम ही सोचो माँ! वह प्रत्यक्ष रूप से उस मंदिर के पास नौका लेकर हमारी प्रतीक्षा करेगा, तो कोई भी उसे देखकर पूछ सकता है कि वह वहाँ क्या कर रहा है। उससे गोपनीयता नष्ट होगी माँ!"

"ठीक है पुत्र!…तुम्हें विदुर पर इतना विश्वास है तो…।"

"विदुर काका हमें संकट में कभी असहाय नहीं छोड़ेंगे माँ!" युधिष्ठिर बोला।

12

शिव-भवन में प्रातः से ही बहुत सारी गतिविधियाँ एक साथ चल रही थीं। आज पांडव मृगया के लिए वन नहीं गये थे। भृत्यों और दासियों को भी प्रातः जल्दी उठना पड़ा था। काम ही इतना अधिक था। एक ओर यज्ञ की तैयारी हो रही थी, दूसरी ओर अतिथियों को बैठाने की व्यवस्था हो रही थी, तीसरी ओर भोजन का उपक्रम हो रहा था। भृत्यों और दासियों की भाग-दौड़ चल रही थी। महादेव-स्थान के ब्रह्मचारी अपनी ओर से सक्रिय थे, ताकि कुलपति के आगमन से पूर्व ही अपेक्षित तैयारी हो सके। रसोइये अपने लक्ष्य को समय से पूरा करने के लिए प्राणपण से जुटे हुए थे। एक विचित्र प्रकार की आपाधापी का वातावरण था।

अपने समय से कुलपति आये और उन्होंने यज्ञ आरंभ करवाया। यज्ञ की पूर्ति पर उन्होंने

आशीर्वाद दिया, "धर्म पर दृढ़ रहो युवराज !"

युधिष्ठिर ने हाथ जोड़, उन्हें प्रणाम किया, "धर्म क्या है कुलपति ! ग्रहण अथवा त्याग ?"

कुलपति ने ध्यान से युधिष्ठिर को देखा : यह धर्म संवंधी मात्र एक जिज्ञासा है अथवा इसका कोई विशेष प्रयोजन है ? पर उससे क्या ! प्रश्न का उत्तर तो दोनों ही स्थितियों में एक ही होगा।...

"धर्म न मात्र ग्रहण में है युवराज, न मात्र त्याग में ! धर्म तो सात्विक त्याग तथा सात्विक ग्रहण—दोनों में है।" कुलपति वोले, "ग्रहण में न्याय की रक्षा है, अथवा त्याग में। ग्रहण जनहित में है अथवा त्याग। कर्तव्य की पूर्ति ग्रहण में होती है अथवा त्याग में। महत्वपूर्ण न ग्रहण है, न त्याग। महत्वपूर्ण तो उसका कारण और उसका परिणाम है।"

"अधिकार का निर्णय कौन करता है कुलपति ?" युधिष्ठिर ने दूसरा प्रश्न किया।

कुंती ने आश्चर्य से युधिष्ठिर को देखा : वह मात्र जिज्ञासा नहीं कर रहा था—यह सव तो उसके मन का ऊहापोह था। क्या अव भी वह यह सोच रहा था कि हस्तिनापुर पर किसका अधिकार है ? क्या अव भी उसके मन में द्वंद्व था कि उसके लिए राज्य का ग्रहण उचित है अथवा त्याग ? क्या अभी तक वह निर्णय ही नहीं कर पाया है कि उसे क्या करना है ? दुर्योधन उन सवकी हत्या करने का प्रयत्न कर रहा है, और युधिष्ठिर अभी यही सोच रहा है कि हस्तिनापुर पर उसका अधिकार है भी या नहीं ? कैसा मनुष्य है यह—दूसरा पक्ष उनके सर्वनाश पर तुला हुआ है; और वह अभी अपने आचरण का निरीक्षण ही कर रहा है कि वह धर्म-सम्मत है या नहीं !...

कुलपति वोले, "अधिकार का निर्णय, प्रचलित सामाजिक विधान करता है, मानव की धर्म-चेतना करती है; और अंततः स्वयं प्रकृति करती है।"

"कभी-कभी इनमें परस्पर विवाद भी तो हो सकता है।" युधिष्ठिर वोला, "सामाजिक विधान तथा प्राकृतिक विधान एक-दूसरे के प्रतिकूल भी तो हो सकते हैं आर्य कुलपति !"

"हाँ, युवराज !" कुलपति बोले, "ऐसे में प्राकृतिक विधान सदा विजयी होता है। वैसे प्राकृतिक विधान हमारे उन्हीं अधिकारों का समर्थन करता है, जो सृष्टि के हित में होते हैं।"

"सामाजिक विधान से मान्य हमारे अधिकार यदि कोई बलात् छीन रहा हो तो धर्म, संघर्ष में है अथवा शांति बनाये रखने के लिए समर्पण में ?"

"न्यायपूर्ण संघर्ष, अन्यायपूर्ण शांति से सदा महान् है। यदि कोई अन्यायपूर्ण वल से हमारे अधिकार छीनता है, तो संघर्ष हमारा धर्म है !" कुलपति वोले, "युवराज ! त्याग उसका होता है, जो हम अर्जित कर चुके हैं, जो हमारे अधिकार में है। जो हमसे छिन गया, जिसे हम प्राप्त नहीं कर सके, उसका हम त्याग नहीं करते।"

युधिष्ठिर कुछ क्षणों तक मनन करता रहा : और फिर वोला, "प्रतिशोध हमारा धर्म है अथवा क्षमा ?"

"आततायी को दंड देना धर्म है और पश्चात्ताप करने वाले को क्षमा।"

"कोई हमारी हत्या का प्रयत्न करे, तो धर्म मात्र आत्मरक्षा में है अथवा उस भावी हत्यारे का वध भी अनिवार्य है ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"धर्म तो आत्मरक्षा ही है युवराज ! किंतु यदि आत्मरक्षा में दूसरे का वध करना पड़े

तो वह भी धर्म ही है।"

"यदि हम हत्यारे का वध करते हैं तो आनृशंसता की रक्षा कैसे होगी?"

"हत्यारे का वध नहीं किया जायेगा, तो वह और हत्याएँ करेगा—उससे नृशंसता की वृद्धि होगी। अतः आनृशंसता इसी में है कि हत्यारे का वध किया जाये।" कुलपति बोले, "आत्मरक्षा तो प्रत्येक स्थिति में धर्म है युवराज! आत्मरक्षा के मार्ग में आयी, किसी भी बाधा को हटाना नृशंसता नहीं है।"

"पुत्र !" सहसा कुंती ने वार्तालाप में हस्तक्षेप किया, "धर्म-चर्चा यदि लंबी हो जाये और अतिथि ब्राह्मण भूखे बैठे रहें, तो यह भी नृशंसता है। कुछ लोगों की भूख धर्म-चर्चा से अवश्य मिट जाती है वत्स, किंतु सामान्य जन को भूख मिटाने के लिए अन्न की ही आवश्यकता होती है।"

"क्षमा करें माता!" युधिष्ठिर जैसे स्वप्न में से जागा, "मैं अपने द्वंद्व मिटाने के प्रयत्न में दूसरों की भूख को भूल ही गया था।"

"तुम्हारे द्वंद्व मैं समझती हूँ पुत्र! परामर्श तो किसी का भी निषिद्ध नहीं है। किंतु द्वंद्व मिटाने के लिए माता का आदेश भी धर्मसंगत है।" कुंती बोली, "उठो! भूखे को अन्न दो। अपराधी को दंड दो। पीड़ित को न्याय दो।"

युधिष्ठिर ने माता के अधिकार के सम्मुख हाथ जोड़े और अपने आसन से उठ खड़ा हुआ।

भोजन रात को देर तक चलता रहा। पंक्ति पर पंक्ति बैठती रही और खाकर उठती रही। कुलपति और उनके साथ आये ब्राह्मण तथा उनके परिवार खा चुके तो वारणावत के जन-सामान्य के लिए भोजन परोसा गया। एक पृथक् मंडप में नगरपाल तथा उसके संबंधियों ने भोजन किया। नगर का व्यापारी वर्ग एक अलग मंडप में भोजन कर रहा था।...

सबको भोजन करा विदा करते हुए पर्याप्त रात बीत गयी। अतिथि विदा हो चुके तो भृत्य, सेवक, दास-दासियाँ—भोजन कर अपने-अपने घर चले गये।

भीम ने युधिष्ठिर की ओर देखा, "ज्येष्ठ, अब?"

"सारे शिव-भवन का भली प्रकार निरीक्षण करो। कहीं पुरोचन का कोई गुप्तचर छिपा न हो।" युधिष्ठिर बोला, "किसी अतिथि की कोई वस्तु छूट न गयी हो; और कोई भूखा अभी तक भोजन की आशा में न बैठा हो...।"

"और पुरोचन भी अपने कक्ष में बेसुध पड़ा सो रहा हो।" सहदेव ने जोड़ा।

"चलो।" भीम ने अपने भाइयों को संकेत किया; और वह अपने हाथ में एक बड़ा दीपक लिये चल पड़ा।

उन चारों के जाने के पश्चात् कुंती ने युधिष्ठिर की ओर देखा, "तुम अब भी चिंतित हो पुत्र?"

"हाँ, माँ!" युधिष्ठिर बोला, "मैं अब भी सोच रहा हूँ कि हम क्या चुपचाप यहाँ से निकल नहीं सकते? क्या शिव-भवन को जलाना आवश्यक है?"

"मैं तुम्हारा द्वंद्व समझती हूँ," कुंती बोली, "किंतु हमारे यहाँ से चले जाने मात्र से दुर्योधन

के षड्यंत्र समाप्त नहीं होंगे। हम चाहते हैं कि उसके षड्यंत्रों का अंत हो। वह भ्रम में रहे कि हमारी मृत्यु हो चुकी है; और हम एक नया जीवन पा सकें।''' विदुर भी तो यही चाहता है पुत्र !"

"ठीक है माँ ! किंतु शिव-भवन को जलाने से पुरोचन भी इसमें जीवित जल जायेगा।"

कुंती की दृष्टि कुछ कठोर हो गयी, "तुमने धर्म का बहुत चिंतन-मनन किया है। आज प्रातः भी तुम कुलपति से यही चर्चा कर रहे थे; किंतु तुम्हारा द्वंद्व मिटा नहीं ? यदि शिव-भवन में आग नहीं लगेगी तो विदुर और उस खनक का सारा श्रम नष्ट हो जायेगा। सुरंग पकड़ी जायेगी और हमारे प्राणों की रक्षा का प्रयत्न करने वाले सभी लोग, दुर्योधन के द्वारा दंडित होंगे। पुरोचन लौटकर दुर्योधन के पास जायेगा और तुम्हारी हत्या के लिए किये गये उद्यम का पुरस्कार पायेगा। तुम्हारे लिए दूसरे लाक्षागृह का निर्माण करवायेगा''' क्या यह सब स्वीकार है तुम्हें ?"

"वह सब ठीक है माँ ! मेरा इससे कोई मत-भेद नहीं है; किंतु एक सोए हुए व्यक्ति की इस प्रकार हत्या''यह नृशंसता है माँ !"

"तो तुम चाहते हो कि तुम्हारा कोई एक भाई उसे जगा कर उसके साथ युद्ध करे ?" कुंती बोली, "किंतु ऐसे में भी वह युद्ध नहीं करेगा। चीत्कार करेगा। लोगों को बुलाएगा। दुहाई देगा। तुम्हें कलंकित करेगा कि तुम एक निष्ठावान सेवक का वध करवा रहे हो।"

तो क्या करूँ माँ ?" युधिष्ठिर जैसे हताश था।

"इस तथ्य को समझो पुत्र, कि इस सृष्टि में बहुत कोमल होना—तुम्हारा धर्म नहीं है। तुम क्षत्रिय हो। तुम्हें भूखे को अन्न, अपराधी को दंड तथा पीड़ित को न्याय देना ही होगा'''।"

कुंती की बात समाप्त भी नहीं हुई थी कि चारों भाई लौट आये, "ज्येष्ठ !"

"क्या पुरोचन अभी सोया नहीं है ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"पुरोचन तो बेसुध सोया पड़ा है।" भीम बोला, "किंतु पश्चिम खंड के एक कक्ष में एक भीलनी और संभवतः उसके पाँच पुत्र भी सोये पड़े हैं।'''"

"वे लोग क्या कर रहे हैं वहाँ ?" युधिष्ठिर ने अचकचाकर पूछा, "वे वहाँ पहुँचे कैसे ?'''और अभी तक वे लोग गये क्यों नहीं ?"

"वे लोग इस स्थिति में नहीं है, कि उनसे यह सब पूछा जा सके !" अर्जुन बोला, "वे लोग मदिरा पीकर अचेत हैं। उन्हें जगाने का हमारा कोई भी प्रयत्न सफल नहीं हुआ।"

"मदिरा ! उन्हें यहाँ मदिरा किसने दी ?" युधिष्ठिर ने जैसे अपने-आपसे पूछा, "क्या वे मदिरा पीकर आये थे ? तो फिर वे उस कक्ष तक पहुँचे कैसे ?"

"इन बातों पर बाद में विचार करेंगे !" भीम बोला, "लगता है, उन्होंने अपनी क्षमता से बहुत अधिक खाया है, या उन्हें खिलाया गया है। उनके आस-पास अभी भी खाद्य-पदार्थ और मिष्ठान्न पड़े हैं। इसका अर्थ है कि उन्होंने पंक्ति में बैठकर नहीं खाया। उन्हें किसी ने इस कक्ष में सयत्न पहुँचाया है। उनके मुख से मदिरा की दुर्गंध आ रही है। इसी से हमने अनुमान लगाया कि वे मदिरा पीकर अचेत हुए हैं। पंक्ति में बैठकर खाते तो उन्हें मदिरा कौन देता, या वे मदिरा कैसे पीते ! उन्हें किसी ने विशेष रूप से इस कक्ष में बैठाकर खूब मदिरा पिलायी है और जमकर भोजन कराया है।"

"तो उनका उन्माद उतारो। उनकी चेतना लौटाओ।" युधिष्ठिर बोला, "हम अधिक

प्रतीक्षा भी नहीं कर सकते। विलंब होने से कोई विघ्न-बाधा उठ खड़ी हो सकती है।"

"उनकी चेतना लौट नहीं सकती।" सहदेव बोला, "जहाँ तक वैद्यक का मेरा ज्ञान है, वे लोग मृतप्राय हैं। वे अधिक देर तक जीवित नहीं रहेंगे।"

"मृत्यु का कारण?"

"संभवतः विषपान!"

"क्या उन्हें भोजन में विष दिया गया है?"

"नहीं! भोजन में विष होता तो जाने कितने लोग इस समय मृत्यु से लड़ रहे होते। भोजन तो सबने वही किया है। मेरा विचार है कि उन्हें मदिरा में विष दिया गया है।"

युधिष्ठिर सहदेव को देखता रहा, "पर यह सब किसने किया? क्यों किया?"

"मेरा विचार है ज्येष्ठ, कि यह सब एक षड्यंत्र है। यह या तो पुरोचन ने स्वयं किया है, या उसके संकेत पर, उसके किसी साथी ने।" अर्जुन बोला, "हम लोग, जब दूसरी ओर व्यस्त थे, तब कोई चुपके से उन्हें इस कक्ष में ले आया; और उन्हें भोजन के साथ, विषैली मदिरा पिलाता रहा!"

"किंतु इस हत्या का प्रयोजन?" कुंती ने पूछा।

"यदि किसी ने उनसे अपनी व्यक्तिगत शत्रुता का प्रतिशोध लिया है, तो बात और है।" अर्जुन बोला, "अन्यथा उन्हें शिव-भवन में लाकर उनकी हत्या का अभिप्राय एक ही है कि यह कलंक हमारे माथे पर लगे कि हमने इस भील-परिवार की हत्या की है। इससे वारणावत के लोगों में हमारे विरुद्ध आक्रोश जागे। शिव-भवन में उनके शव मिलें और हम यह भी न बता सकें कि उनकी हत्या किसने की और क्यों की; तो जन-सामान्य हमें प्रजा-द्रोही मान, स्वतः हमारा शत्रु हो जायेगा। ऐसे में हम जन-सामान्य की सहानुभूति से वंचित होंगे। पुरोचन के लिए शिव-भवन को अग्निसात् करना सरल हो जायेगा। संभव है कि खुला विद्रोह होने पर, प्रजा अग्निदाह में उसकी सहायता करे, अथवा स्वयं ही अग्निदाह कर दे।"

इस बार युधिष्ठिर बोला, तो उसका स्वर पर्याप्त बदला हुआ था, "हमें शत्रु के इस षड्यंत्र का एक लाभ भी हो सकता है। यदि वे जीवित नहीं हैं, अथवा जीवित नहीं रहेंगे, तो वे छः शव ही हैं। यदि हम शिव-भवन में आग लगा देते हैं, तो उनके शव भी जल जायेंगे। वे पहचाने नहीं जा सकेंगे। यही माना जायेगा कि वे हमारे ही शव हैं। दुर्योधन को हमारी निश्चित मृत्यु का प्रमाण मिल जायेगा; और वह निश्चिंत हो जायेगा। किंतु···" युधिष्ठिर रुक गया, "मुझे एक बात निश्चित रूप से बताओ सहदेव! क्या सचमुच उनके उपचार की, उनके जीवित रहने की कोई संभावना नहीं है?"

"नहीं ज्येष्ठ!" सहदेव बोला, "बहुत संभव है कि इस समय तक उनका प्राणांत हो भी चुका हो।"

"तो ठीक है भीम! तुम अपना काम करो।" युधिष्ठिर बोला, "खनक से तुम्हारी चर्चा हो चुकी है न?"

"हाँ, ज्येष्ठ! उसे मैंने कह दिया है।" भीम बोला, "वैसे उसे कुछ कहने की आवश्यकता भी नहीं थी। वह बहुत चतुर है। विदुर काका ने उसे सब समझा रखा है। अग्नि की लपटें देखते ही वह भी जन-सामान्य की भीड़ में जा मिलेगा; और महादेव-स्थान के ब्राह्मणों की सहायता से हमारे शवों को खोजने के व्याज से वह सुरंग का मुख भस्म तथा मिट्टी इत्यादि से

इस प्रकार भर देगा, कि किसी को सुरंग के मुख का पता ही नहीं चलेगा।"

"ठीक है, तो जाओ।"

"ज्येष्ठ !"

"हाँ, सहदेव !"

"अग्निदाह के पश्चात् उन्हें पांडवों के शव मिलें और शस्त्र न मिलें, तो क्या उन्हें संदेह नहीं होगा ?"

युधिष्ठिर चुपचाप खड़ा सोचता रहा।

"तो तुम चाहते हो कि हम अपने शस्त्र भी यहीं छोड़ जायें; और भविष्य में आने वाली कठिन परिस्थितियों का सामना निःशस्त्र होकर करें ?…"

"शस्त्र तो तुम वैसे भी अपने पास नहीं रख सकोगे अर्जुन !" युधिष्ठिर बोला, "वन में हम तपस्वी ब्राह्मणों का वेश धारण करेंगे तो शस्त्र क्या हमारा भ्रम नहीं खोल देंगे ?"

"राम और लक्ष्मण तो वन में भी सशस्त्र ही रहे।" नकुल ने आपत्ति की।

"उन्होंने अपना परिचय कभी छिपाया नहीं था।…" सहदेव बोला, "हम तो…"

"छोड़ दो अपने शस्त्र ! मैं जो हूँ तुम्हारे साथ—शस्त्रों का ब्रह्मास्त्र !" भीम अत्यंत उल्लसित स्वर में बोला, "सारे शत्रुओं को अपनी भुजाओं में बाँध, पीसकर रख दूँगा।"

"ठीक है। तो जाओ भीम !" युधिष्ठिर बोला, "अपने कुछ शस्त्र उस भील परिवार के निकट रख दो; और कुछ शयन-कक्ष में छोड़ दो। उन्हें शिव-भवन की भस्म में तुम्हारी गदा, अर्जुन के बाणों के अग्रभाग और हम सबके खड्ग अवश्य मिलें।… जाओ।"

भीम ने सुरंग के कपाट खोल दिये, "पहले आप लोग प्रवेश करें। माता को लेकर आगे-आगे चलें। मैं अभी आता हूँ।"

भीम उन्हें सुरंग में उतारकर अपने हाथ उल्मुक लिये हुए पुरोचन के कक्ष में पहुँचा। पुरोचन बेसुध पड़ा सो रहा था। उसके चेहरे पर बड़ी उल्लसित मुस्कान थी, जैसे कोई स्वप्न देख रहा हो।…भीम को लगा, वह इस समय यही स्वप्न देख रहा होगा कि कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी है। रात हो गयी है। पांडव सो गये हैं; और आस-पास कोई नहीं है। उसने शिव-भवन में आग लगा दी है; और पांडव अपनी राजमाता के साथ उसमें जलकर भस्म हो गये हैं।… या हो सकता है कि अपने स्वप्न में वह इस समय दुर्योधन के सम्मुख खड़ा, अपने कृत्यों का बखान कर रहा हो; और उससे पुरस्कृत हो प्रसन्न हो रहा हो…

'तो ले फिर यह पुरस्कार भी !' भीम मन-ही-मन बोला; और उसने आगे बढ़कर पुरोचन के कक्ष में स्थान-स्थान पर आग लगा दी। जब उसे विश्वास हो गया कि अग्नि दहक उठी है, तो उसने उसके द्वार को भी अग्नि को समर्पित कर दिया।

भीम खड़ा मुस्कराता हुआ देखता रहा। पुरोचन का कक्ष धू-धू कर जल रहा था। पुरोचन का चीत्कार भीम के कानों को अत्यंत मधुर लगा। वह निश्चिंत भाव से आगे बढ़ा; उसने भीतर प्रवेश कर, शिव-भवन के मुख्य द्वार को भी आग लगा दी…अपने शस्त्र लाकर भील परिवार के निकट रखे और उस कक्ष को भी उल्मुक का स्पर्श करा दिया… और फिर तो वह स्थान-स्थान पर अग्नि प्रज्वलित करता ही चला गया। ऐसा लग रहा था, जैसे अग्नि उस लाक्षागृह के प्रत्येक

कण में निवास कर रही थी। भीम को तो अपने उल्मुक से मात्र संकेत ही करना था। उसका उल्मुक आगे बढ़ता और वह भित्ति, द्वार अथवा गवाक्ष धू-धू कर जलने लगता।...भीम को जब पूर्ण विश्वास हो गया कि शिव-भवन में अग्नि इतनी प्रचंड हो चुकी है कि उसमें प्रातः तक कोई प्रवेश भी नहीं कर पायेगा, तो वह शांत-भाव से सुरंग में उतर गया।

सुरंग के पहले ही मोड़ पर उसे माता तथा भाई प्रतीक्षा करते मिले।

"चलो ! चलो ! शीघ्र चलो !" भीम बोला, "यह न हो कि सुरंग में धुआँ भर जाये और हमारा दम घुटने लगे।"

हरनंदी को पार करते-करते कुंती एकदम थक चुकी थी; और लगता था कि उसके लिए अब और चलना कठिन था। भीम ने कुंती को अपनी भुजाओं में उठाकर, अपने कंधे पर बैठा लिया। कुंती उसे रोकती ही रह गयी, "क्या कर रहा है ! अरे मैं गिर जाऊँगी !"

"मैं गिरने दूँगा, तब न माँ !" उसकी गति में तनिक भी अंतर नहीं आया था।

"अरे तुम कैसे चलोगे भीम ?"

"मेरी चिंता मत करो माँ !" वह बोला, "तुम कहो तो मैं नकुल तथा सहदेव को भी कंधे पर बैठा लूँ।" उसने सचमुच ही उनकी ओर हाथ बढ़ा दिये।

वे दोनों हँसे; किंतु समझ गये कि थकान उनके चेहरों पर भी प्रकट हो रही है।

"मुझे अनुमान नहीं था कि मैं इतने में ही थक जाऊँगा।" सहदेव बोला, "मैं तो समझता था कि मैं बिना रुके हुए, बिना सोए हुए, सैकड़ों योजन चल सकता हूँ।"

"तुम ठीक कहते हो सहदेव ! तुम सचमुच चल भी सकते हो; पर यह भीम किसी को चलने दे, तब न ! यह तो सबको दौड़ाता हुआ ला रहा है।" युधिष्ठिर बोला, "पर चिंता न करो। हम लोग गंगा-तट पर पहुँचने ही वाले हैं। वहाँ पर नाविक मिल गया तो कोई कठिनाई नहीं होगी।"

अर्जुन भी भीम के बराबर ही चल रहा था। अतंर इतना ही था कि भीम ने कुंती को उठा भी रखा था और आगे-आगे चलता हुआ, वह मार्ग भी साफ करता जा रहा था। मार्ग में पड़ने वाली लताएँ और शाखाएँ—उसके हाथों में आते ही चरमराने लगती थीं। और अभी तक भीम ने थकान का कोई लक्षण नहीं दिखाया था। युधिष्ठिर, नकुल तथा सहदेव कुछ पिछड़ गये थे और अनुभव कर रहे थे कि इसी गति से चलना पड़ा तो वे अधिक नहीं चल पायेंगे।...

"अर्जुन, देखो !" सहसा भीम रुक गया, "क्या वह सामने गंगा-तट वाला, वही सूर्य-मंदिर नहीं है ?"

अर्जुन ने ध्यान से देखा : अंधकार में कुछ भी स्पष्ट नहीं था, फिर भी वह आकार वृक्षों से कुछ भिन्न था; और कदाचित् कोई भवन ही था। गंगा के इस तट पर इतनी बड़ी किसी शिला की संभावना नहीं थी, "शायद वही मंदिर है...।"

भीम कुछ और उत्साह से आगे बढ़ा। अर्जुन उसके साथ-साथ दौड़ा। युधिष्ठिर, नकुल तथा सहदेव ने भी क्षमता भर अपनी गति तीव्र कर दी।

भीम आकर उस स्थान पर रुक गया : वह मंदिर ही था। उसने कुंती को अपने कंधे पर से उतारकर, भूमि पर खड़ा कर दिया, "माँ ! यहाँ बैठो। मैं उस नाविक को देख आऊँ।"

भीम मंदिर के चारों ओर घूम आया। मंदिर के भीतर के भी दोनों कक्षों में उसने देख लिया; किंतु वहाँ कोई भी नहीं था।

तब तक युधिष्ठिर, नकुल तथा सहदेव भी वहाँ पहुँच गये थे।

"अब ?" युधिष्ठिर जैसे अपने-आपसे पूछ रहा था।

"मेरा विचार है, यहाँ थोड़ी प्रतीक्षा कर लो।" कुंती बोली, "कुछ विश्राम भी हो जायेगा…।"

"नहीं माँ !" युधिष्ठिर बोला, "हमें गंगा पार करके ही रुकना चाहिए।"

"यहाँ कौन तुम्हारे पीछे दौड़ा चला आ रहा है !" कुंती बोली।

"पीछे तो कोई नहीं आ रहा।" युधिष्ठिर बोला, "और कोई आ भी जाये तो हम उससे निपटने में समर्थ हैं। भय उसका नहीं है माँ ! भय तो इस बात का है कि कोई हमें देख न ले। किसी को भनक भी पड़ गयी, तो सारी गोपनीयता नष्ट हो जायेगी। और तब इस भाग-दौड़ का कोई अर्थ नहीं रहेगा।"

"ठीक है।" भीम बोला, "मैं चलकर देखता हूँ कि गंगा में कितना जल है। यदि बहुत गहरा न हो तो…।"

"गहरा हो या न हो।" युधिष्ठिर बोला, "गंगा तो गंगा ही है। उसे हम अपने पैरों पर चलकर पार नहीं कर सकते। तैरना तो पड़ेगा ही। गंगा का पाट इतन संकरा भी नहीं है कि इस अवस्था में, जब हम लोग इतने थके हुए हैं—तैरकर उसे पार कर जायें।…"

"तो यहाँ बैठे रहने का विचार है क्या ?" भीम कुछ खीज-भरे स्वर में बोला; और अगले ही क्षण, जैसे वह स्वयं ही शांत हो गया, "अच्छा ! मुझे तनिक देख आने दो। धारा यदि बहुत अधिक वेगवती नहीं हुई तो मैं एक-एक कर, तुम सब लोगों को पार ले चलूँगा…"

"बौरा गया है एकदम !" युधिष्ठिर धीरे से बोला, "यह इस अवस्था में भी गंगा को पाँच बार तैर कर पार करना चाहता है।"

किंतु तब तक भीम आगे बढ़ गया था और अर्जुन भी उसके साथ-साथ चल पड़ा था। वे दोनों गंगा में, घुटने-घुटने पानी में थे कि वृक्ष के पीछे से एक छाया प्रकट हुई, "राजकुमार !"

"कौन हो ?" भीम स्फूर्तिपूर्वक पलटा और लगा कि वह उस पर झपट ही पड़ेगा।

अर्जुन को उसी क्षण लगा : उन्हें अपने शस्त्र अवश्य साथ लाने चाहिए थे। शस्त्रों से उनके पहचान लिये जाने की संभावना अवश्य थी; किंतु बिना शस्त्र के असहाय स्थिति में मृत्यु को प्राप्त करने की भी संभावना थी।

"शांत हों राजकुमार !" वह छाया आकर उनके सम्मुख आकर खड़ी हो गयी, "मैं महामंत्री विदुर द्वारा भेजा गया नाविक हूँ।" उसने वह सारा वार्तालाप दुहरा दिया, जो हस्तिनापुर से विदा होते हुए युधिष्ठिर और विदुर में हुआ था।

"नाव कहाँ है ?" भीम ने पूछा।

"आप सबको यहाँ ले आयें। मैं नौका लाता हूँ।"

नाव आकार में बड़ी और सुदृढ़ थी। उसमें पाल भी लगे हुए थे और नाविक उसे चप्पुओं से भी खे रहा था। वायु अनुकूल थी। नौका ने थोड़ी ही देर में गति पकड़ ली।

"तुम्हें सूचना कहाँ से मिली कि हम आ रहे हैं ?"

"मैं तो खनक के साथ ही हस्तिनापुर से आया था युवराज ! और यहीं आपकी प्रतीक्षा कर रहा था।" नाविक बोला, "आपको गंगा पार करा, वन में खुलने वाला सुरंग का द्वार बंद करके हस्तिनापुर लौट जाऊँगा।"

"और खनक ?"

"खनक, शिव-भवन में खुलने वाला सुरंग का द्वार पाट, वारणावत का सारा समाचार ले, हस्तिनापुर में महामंत्री के पास पहुँचेगा।" वह बोला।

"और हमें कहाँ छोड़ोगे ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"युवराज ! आपको गंगा-पार तट-वन में छोड़ दूँगा।" उसने शालीन स्वर में उत्तर दिया, "महामंत्री ने कहा था कि आप लोग अगला संकेत मिलने तक वहीं वास करेंगे।"

"राक्षसों के उस वन में ?" कुंती ने पूछा।

"हाँ, महारानी ! वह राक्षसों का वन अवश्य कहलाता है; किंतु अज्ञातवास के लिए बहुत ही उत्तम स्थान है। वहाँ कोई आता-जाता नहीं। वहाँ कोई आपको खोज नहीं पायेगा।" नाविक धीरे से बोला।

किसी ने उसकी बात का कोई उत्तर नहीं दिया। सब जैसे अपनी-अपनी चिंताओं में लीन हो गये थे।

13

खनक और नाविक दोनों ही विदुर के सम्मुख खड़े थे।

"महामंत्री !" खनक बोला, "लोगों के कोलाहल से ही मेरी आँखें खुलीं। मैंने देखा कि लाक्षा-गृह धू-धू कर जल रहा था। अग्नि की लपटें आकाश को छू रही थीं; और लोग भयंकर कोलाहल कर रहे थे। ऐसा लगता था, जैसे सारा वारणावत ही जाग उठा हो; और लाक्षागृह को घेरकर खड़ा हो गया हो।

"मैं भी यथाशीघ्र उठकर भागा। सचमुच वहाँ सारा वारणावत एकत्रित था। किंतु अग्नि इतनी प्रचंड थी कि कोई भी उसके निकट जाने का साहस नहीं कर रहा था। किसी ने दो-एक बाल्टियाँ पानी डालने का प्रयत्न भी किया; किंतु दो-एक बाल्टियों से वहाँ होता ही क्या था ! वैसे सेना-प्रमुख अपने सैनिकों के साथ वहाँ आ गया था। नगरपाल और उसके राजपुरुष भी उपस्थित थे; किंतु वे लोग आग को बुझाने की कोई व्यवस्था करने के स्थान पर, लोगों को दूर हटाकर लाक्षागृह को स्वयं घेरकर खड़े हो गये थे। न कोई अग्नि के निकट जा रहा था, न किसी को जाने दिया जा रहा था।"

"लोगों की प्रतिक्रिया क्या थी ?" विदुर ने पूछा, "वे लोग परस्पर कुछ-न-कुछ कह तो अवश्य रहे होंगे।"

"जन-मत बहुत स्पष्ट था आर्य !" खनक बोला, "वे लोग प्रकट रूप से धृतराष्ट्र तथा दुर्योधन को धिक्कार रहे थे। वे कह रहे थे कि राज्य के लालच में धृतराष्ट्र और दुर्योधन ने पांडवों को इस प्रकार जलाकर मार डाला है। जो लोग अपने भाइयों और भतीजों की रक्षा नहीं

कर पाये, वे उनकी रक्षा क्या करेंगे ! लोग पुरोचन को भी गालियाँ दे रहे थे। कुछ लोग उसे खोज भी रहे थे; किंतु वह किसी को मिला ही नहीं।"

"क्या वह भी उस अग्नि में भस्म हो गया ?" विदुर ने पूछा।

"संभावना तो यही है आर्य ! वह जीवित होता तो कहीं तो दिखायी देता। फिर उसके कक्ष से एक व्यक्ति की अस्थियाँ भी मिली हैं।"

विदुर कुछ संतुष्ट दिखायी पड़ा, "फिर ?"

"प्रभात तक तो लोग अग्नि के निकट नहीं जा सके। जब अग्नि स्वतः शांत हो गयी और सैनिक अपने शिविर में लौट गये तो वारणावत के लोगों ने तप्त भस्म को जल का छिड़काव कर शांत किया, जैसे चिता को शांत कर रहे हों। उन्होंने भस्म को टटोल-टटोलकर देखा। उसी समय मैंने सावधानी से भस्म से ही सुरंग का मुख-द्वार पाट दिया। मैं भी उन्मत्त की भाँति उच्च स्वर में पांडवों को स्मरण कर, भस्म उछालता रहा था। वस्तुतः मेरे इस प्रकार भस्म उछालने से ही कोई व्यक्ति मेरे निकट नहीं आ सका; और मैं यह कार्य कर पाया। किंतु आर्य !..."

विदुर ने अपनी आँखें उसके चेहरे पर टिका दीं।

खनक ने अपनी आँखें झुका रखी थीं। उसका स्वर धीमा हो गया था और उसके मुख पर स्पष्ट संकोच था, "किंतु आर्य ! उस भस्म में से, पश्चिम खंड के एक कक्ष में से छः शवों की जली हुई अस्थियाँ मिली हैं। पाँच पंजर बड़े हैं और एक छोटा। लोगों का विचार है कि छोटा पंजर महारानी कुंती का और बड़े पंजर पाँचों पांडवों के हैं...।"

विदुर ने चौंककर नाविक की ओर देखा।

"यह संभव नहीं है आर्य !..." वह बोला।

"उन अस्थियों के पास एक दीर्घाकार गदा, खड्ग तथा बाणों के अग्र भाग भी मिले हैं। लोगों का विचार है कि वह गदा राजकुमार भीम..."

"यह संभव नहीं है आर्य !" नाविक पुनः बोला, "मैंने स्वयं उन लोगों को अपनी नौका में बैठाकर, गंगा-पार हिडिंब-वन के निकट छोड़ा है।"

"तुम्हें कोई भ्रम तो नहीं हुआ ?" विदुर ने पूछा, "किन्हीं और लोगों को गंगा पार करा, मान बैठे हो कि महारानी और उनके पुत्रों को गंगा पार करा आये हो ?"

"नहीं आर्य ! मैंने उनसे बातें की हैं। अपनी आँखों से, अत्यंत निकट से महारानी, युवराज और राजकुमारों को देखा है।" नाविक ने बलपूर्वक कहा, "इसमें किसी भ्रम अथवा संशय का कोई अवकाश ही नहीं है। क्या किसी और व्यक्ति को देखकर, राजकुमार भीम का भ्रम हो सकता हो ?"

विदुर के मन को थोड़ी सांत्वना मिली; किंतु वह पूछे बिना नहीं रह सका, "क्या उन अस्थि-पंजरों में कोई असाधारण दीर्घाकार पंजर भी था ?"

"नहीं आर्य !" खनक पूर्णतः निश्चित स्वर में बोला, "उनमें से कोई भी अस्थिपंजर ऐसा नहीं था, जिससे राजकुमार भीम का भ्रम हो सके।"

विदुर आश्वस्त हुआ।... निश्चय ही वे पांडवों के अस्थि-पंजर नहीं हैं।... किंतु फिर वे अस्थियाँ किसकी हैं ?...क्या यह पांडवों की चतुराई थी कि उन्होंने वे अस्थियाँ वहाँ डलवायीं...या सचमुच कोई छः व्यक्ति वहाँ दग्ध हुए हैं ?...यदि किसी प्रकार यह प्रमाणित हो सकता...

"अच्छा ! तुम लोग जाओ।" विदुर ने खनक और नाविक से कहा, "किंतु सावधानी से

जाओ; और हस्तिनापुर में एक क्षण के लिए भी मत रुको। यथाशीघ्र यहाँ से निकल जाओ। वारणावत के तो आसपास भी कहीं दिखायी मत देना। समय आने पर मैं स्वयं तुम लोगों से सम्पर्क करूँगा।"

"जो आज्ञा आर्य !"

विदुर के मन में विभिन्न कल्पनाएँ जन्म लेने लगीं : यह समाचार धृतराष्ट्र को मिलेगा तो वह अत्यंत दुखी होने का अभिनय करेगा। वह रोयेगा। संभव है, वह भूमि पर सिर पटक-पटककर, अपना दुख जताए।"किंतु भीतर-ही-भीतर उसका मन सहस्रदल कमल के समान खिल उठेगा।" आज वह अनुभव करेगा कि हस्तिनापुर का राज्य पूर्णतः उसका और दुर्योधन का हुआ। उसके जीवन में इससे बड़ा सुख और कोई नहीं है"राज्य"हस्तिनापुर का राज्य"

शकुनि स्वयं को संसार का सबसे बड़ा कूटनीतिज्ञ समझकर कूदता फिरेगा। कदाचित् वह दुर्योधन पर कृतज्ञता का भार लाद देगा। दुर्योधन को पहले ही सत्य, न्याय और धर्म में कोई आस्था नहीं है। अब उसके मन में यह धारणा दृढ़बद्ध होकर बैठ जायेगी कि संसार में केवल पाप ही फलीभूत होता है। पुण्य, सत्य और धर्म की चर्चा और चिंता करने वाले लोग सर्वथा मूर्ख हैं। उसका अहंकार और भी स्फीत होगा। उसका तत्काल युवराज्याभिषेक होगा; और वह उन्मुक्त होकर स्वेच्छाधारी शासन करेगा"राजसभा में प्रतिदिन विदुर और उसकी टकराहट होगी"

पितृव्य भीष्म !"उनके लिए विदुर के मन में करुणा उमड़ती है"वे यह समाचार सुनकर बहुत दुखी होंगे"संभव है, उनकी आस्था डोल जाये"उनका मन टूट जाये"एक बार विदुर के मन में आता है कि वह उन्हें बता दे कि पांडव जीवित हैं"किंतु दूसरे ही क्षण लगता है कि उनके मन के कष्ट को बचाने के लिए, यदि विदुर ने यह गोपनीयता भंग की, तो कहीं पितृव्य के व्यवहार, आचरण अथवा वार्तालाप में से कोई संकेत फूट निकला तो विदुर का सारा किया-धरा व्यर्थ हो जायेगा"

यह ठीक है कि वे पांडवों से बहुत प्रेम करते हैं"किंतु वृद्ध लोगों में शायद जीवन के झटके झेलने की अद्भुत क्षमता होती है। उन्होंने जीवन में इतने उतार-चढ़ाव देखे होते हैं कि एक-आध और शोक भी उसी में कहीं समा जाता है। वे बहुत जल्दी जीवन से समझौता कर लेते हैं।"पितृव्य जब यह विश्वास कर लेंगे कि पांडव नहीं रहे हैं, तो वे दुर्योधन को भी उसी प्रकार हस्तिनापुर का युवराज मान लेंगे, जैसे उन्होंने युधिष्ठिर को स्वीकार किया था। वात्सल्य में यही तो दोष है कि वह दुष्ट से दुष्ट व्यक्ति से भी प्रेम कर सकता है।"और यदि पितृव्य को पता चल ही गया कि पांडवों की हत्या दुर्योधन ने की है, तो क्या करेंगे वे ?"क्या इन छः हत्याओं का दंड देने के लिए दुर्योधन, शकुनि, कर्ण और धृतराष्ट्र का वध करेंगे ?"नहीं। वे शायद किसी को कुछ नहीं कहेंगे ! स्वयं को समझा लेंगे कि राजनीति तो ऐसा ही क्षेत्र है, जिसमें ईर्ष्या-द्वेष के कारण हत्याएँ भी होती ही हैं।"और यदि पांडवों का वध हो ही चुका है, तो उनके वंश में अब बचा ही कौन है—दुर्योधन ही तो !"ऐसे में वे दुर्योधन को क्षमा कर देंगे। उससे स्नेह भी करेंगे। भूल जायेंगे कि वह अपने भाइयों का ही नहीं, उनके वंश के श्रेष्ठतम तत्व का भी हत्यारा है।"और यदि उन्हें यह सूचना मिल जाये कि दुर्योधन ने हत्या का प्रयत्न अवश्य किया था; किंतु पांडव अभी जीवित हैं, तो ?"तो कदाचित् वे सोचने लगेंगे

कि दुर्योधन ने अपनी मूर्खता में यह प्रयत्न ही तो किया था न ! हत्या तो नहीं हुई । और यदि हत्या हुई ही नहीं है, तो अपराध कैसा और दंड कैसा ?...

विदुर स्वयं समझ नहीं पाया कि वह पितृव्य को करुणा का पात्र समझे अथवा दया का ?...पिछली पीढ़ी के दृढ़-बद्ध धारणाओं वाले ये हिमालय !...अपनी सारी चारित्रिक विशेषताओं के साथ भी ये समाज को कोई उचित गति नहीं दे पाये...

भीष्म को कुंती और उसके पुत्रों की मृत्यु का समाचार मिला और शोक उनके मन में कहीं बहुत गहरे उतर गया ।...पांडु की मृत्यु के पश्चात् से, जैसे वे भूल ही गये थे कि संसार में अकाल-मृत्यु नाम की भी कोई घटना होती है...वे युधिष्ठिर को उसका अधिकार दिलाकर प्रसन्न थे ।...किंतु अधिकार क्या होता है ? जिसे अधिकार दिलाने के लिए वे इतना प्रयत्न कर रहे थे, नहीं जानते थे कि प्रकृति उसके अधिकार को मान्यता नहीं दे रही । अधिकार तो उसी का है, जिसे मिल जाये ।...उन्होंने अपने जीवन में अनेक बार देखा है कि वे हों या माता सत्यवती—वे किसी को अधिकार नहीं दिला पाये । जाने मनुष्य अपनी किस क्षमता पर अहंकार करता है.। चित्रांगद गया, विचित्रवीर्य गया, पांडु गया ।...जब तक पांडु जीवित रहा, भीष्म प्रयत्न करते रहे कि राज्याधिकार उसी के हाथ में रहे; किंतु राज्य का भोग सदा धृतराष्ट्र ने ही किया । उन्होंने निर्णय किया था कि राज्याधिकार युधिष्ठिर का है; किंतु प्रकृति ने निर्णय किया कि नहीं, हस्तिनापुर का युवराज दुर्योधन ही होगा । क्या करेंगे भीष्म ! विधाता के सम्मुख अपनी पराजय ही तो स्वीकार कर सकते हैं...उन्हें अब स्वीकार कर ही लेना चाहिए कि सामाजिक विधान से अधिकार चाहे युधिष्ठिर का ही था; किंतु प्रकृति यह अधिकार दुर्योधन को ही देना चाहती है । अतः वही हस्तिनापुर का युवराज और अंततः सम्राट होगा...

और सहसा भीष्म के मन में संशय जागा : पांडवों की मृत्यु के पीछे दुर्योधन का ही कोई षड्यंत्र तो नहीं ?...उनके भीतर का तेज जैसे धधक कर उठा...यदि ऐसा कुछ है तो...किंतु उस तेज की दाहकता क्षण भर में ही कहीं विलीन हो गयी...जो हो गया, सो हो गया । जो अब जीवित नहीं हैं, उनके साथ तादात्म्य कर भीष्म जीवितों के साथ शत्रुता नहीं कर सकते । जीवन के सूत्र तो उन्हीं के हाथों में देने होंगे, जो जीवित हैं ।...

किंतु धर्म ? न्याय ?

भीष्म की समझ में नहीं आया कि क्या उत्तर दें ।... वे धर्म अथवा न्याय के नाम पर, अपने वंश का नाश तो नहीं कर सकते । कृष्ण ने ठीक ही कहा था : उन्होंने पदार्थ त्यागे हैं, अपनी आसक्ति नहीं !...यदि दुर्योधन अपराधी है भी, तो उसे दंडित कर, वे किसे न्याय दिलायेंगे ? न्याय माँगने वाला तो कोई है ही नहीं । सारे न्याय और अधिकार तो जीवन के लिए ही हैं ।...और जीवित दुर्योधन है, दुर्योधन !...

14

पांडवों के प्रेत-कर्म में सम्मिलित होने के लिए प्रायः सभी संबंधी तथा मित्र राजा हस्तिनापुर

में एकत्रित हो गये थे; अनेक ऋषि-कुल भी अपनी संवेदना प्रकट करने आये थे। फिर भी जैसे राजप्रासाद के शोक में गंभीरता की कुछ कमी थी। यद्यपि धृतराष्ट्र अत्यधिक दुखी प्रतीत होता था और संवेदना प्रकट करने आये प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख छाती फाड़कर रोता था; किंतु उसके दुख से प्रभावित होने वाले लोग कम ही थे। अधिकांश लोगों ने उसके इस शोक को संशय की दृष्टि से देखा था; और दुर्योधन के मित्रों तथा संबंधियों ने अपनी निजी भेंट में पांडवों की मृत्यु पर अपना संतोष भी प्रकट किया था। दुर्योधन के मित्रों के लिए तो कई बार अपने उल्लास को छिपाकर रखना ही कठिन हो जाता था।

महर्षि व्यास हस्तिनापुर में आकर सबसे पहले धृतराष्ट्र को ही सांत्वना देने गये। धृतराष्ट्र को उनके आने की सूचना दी गयी तो उसने दोनों हाथों से अपना माथा पीट लिया; और धाड़ मारकर रो पड़ा। उसने महर्षि के अपने निकट आने की भी प्रतीक्षा नहीं की। बिना किसी सहारे के उठकर, रोता हुआ उनकी ओर चल पड़ा; और इसी प्रक्रिया में ठोकर खाकर गिर पड़ा।

महर्षि ने आगे बढ़कर स्वयं अपने हाथों से उसे उठाया, "धैर्य रखो राजन् !"

"अब धैर्य का क्या काम भगवन् !" वह रोता हुआ बोला, "जिन लोगों को यहाँ बैठकर मेरा प्रेत-कर्म कराना चाहिए था, अपने उन्हीं पुत्रों का प्रेत-कर्म करा रहा हूँ। यह विधाता का कैसा न्याय है !…"

"अपने पितृव्य की ओर देखो पुत्र !" व्यास बोले, "उनकी आँखों के सामने चित्रांगद और विचित्रवीर्य का देहांत हुआ; पांडु और माद्री गये। उन्होंने अपना धैर्य खोया होता, तो तुम्हारा पालन-पोषण किसने किया होता।…"

"मैं पितृव्य जैसा निर्मम हृदय कहाँ से लाऊँ तात् ! मैं तो एक साधारण अंधा व्यक्ति हूँ, जो अपने पुत्रों से किसी सांसारिक जीव के समान प्रेम करता है।…" धृतराष्ट्र ने अपनी छाती पीटनी आरंभ कर दी, "यमराज मुझे ले जायें, पर मेरे पुत्र !…युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव…सब-के-सब चले गये; और अनुज-वधू कुंती भी !…वह अपने पुत्रों को लेकर हस्तिनापुर आयी थी—किसके भरोसे ? मेरे ही तो ! वह अपना घर समझकर आयी थी हस्तिनापुर ! और मैं उनकी रक्षा भी नहीं कर सका।…"

धृतराष्ट्र ने इतना प्रबल चीत्कार किया कि दासियों ने आगे बढ़कर उसे इस आशंका से पकड़ लिया कि कहीं वह अपना सिर ही भूमि पर न दे मारे।…

व्यास का स्थिर हृदय भी क्षण भर के लिए विह्वल हो उठा; किंतु स्वयं को संयत कर वे बोले, "धृतराष्ट्र ! अपना मोह त्यागो। पांडवों की रक्षा करने और न करने का अहंकार छोड़ो। विधाता के विधान में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। हम सब तो निमित्त मात्र ही हैं। यदि वे चाहते तो पांडव जलते हुए लाक्षागृह में से भी जीवित बच आते।…"

निमिष भर के लिए जैसे धृतराष्ट्र का रुदन रुक गया। उसने चौंककर व्यास की ओर मुँह उठाया और जैसे अनायास ही पूछ बैठा, "क्या यह संभव है महर्षि ?…किंतु अगले ही क्षण उसका रुदन पुनः वेग पकड़ गया, "यदि यह संभव था तो विधाता ने उन्हें क्यों बचा नहीं लिया ? हाय मेरे बच्चो…! "

"बैठ जाओ धृतराष्ट्र !" अब तक महर्षि का स्वर स्थिर हो चुका था, "विधाता की योजना वे ही जानें। यद्यपि पांडवों की मृत्यु, मेरे लिए भी अत्यधिक कष्टप्रद है; किंतु मैं विधाता के आदेश को स्वीकार करने के अतिरिक्त दूसरा कोई विकल्प नहीं देखता। तुम भी इसे स्वीकार

करो।"

उन्होंने धृतराष्ट्र को पुनः चीत्कार करने का अवसर नहीं दिया। उसके माथे पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया और उसे हतप्रभ बैठा हुआ छोड़कर चल पड़े, "मैं विदुर से मिलने जा रहा हूँ।"

विदुर के प्रणाम के उत्तर में उसे आशीर्वाद देकर व्यास बैठ गये।

"पांडवों की मृत्यु से धृतराष्ट्र बहुत दुखी है।" व्यास बोले, "मैंने कभी नहीं सोचा था कि वह पांडवों से इतना प्रेम करता है।"

विदुर ने दृष्टि उठाकर उन्हें देखा भर, कुछ कहा नहीं। उसके चेहरे के भाव कुछ ऐसे थे, जैसे वह कुछ समझ ही नहीं पा रहा था।

"क्या बात है विदुर?" व्यास का स्वर वात्सल्य से भरपूर था, "तुम पूर्णतः अन्यमनस्क हो। तुम्हारा स्वास्थ्य तो ठीक है न?"

विदुर ने कुछ कहने के लिए मुँह खोला; और फिर बिना कुछ कहे ही कुछ सोचकर मुख बंद कर लिया।

व्यास की गंभीरता ने चिंता की ओर पग बढ़ाये, "तुम्हारे मन पर कोई बहुत बड़ा बोझ है। तुम कुछ कहना चाहकर भी, कह नहीं पा रहे। क्या बात है?"

"कुछ विशेष नहीं है तात्!"

व्यास ने पुनः अपनी सहज मुद्रा साध ली। वे उल्लसित रूप से हँसे, "गोपनीयता का प्रयत्न व्यर्थ है। तुम्हारी प्रकृति ऐसी नहीं कि तुम मुझसे कुछ छिपा सको। तुम्हारा आनन साक्षात् अभिव्यक्ति है। जो कुछ तुम्हारे मन में होगा, वह तुम्हारे चेहरे पर आ जायेगा।"

विदुर के चेहरे पर एक कटु मुस्कान उभरी, "ऐसा नहीं है पूज्य! यदि ऐसा होता तो मैं एक दिन भी धृतराष्ट्र के राज्य में सुरक्षित नहीं रह सकता था।..."

बहुत प्रयत्न करने पर भी व्यास अपने चेहरे पर उभरने वाले विकारों को रोक नहीं पाये, "क्या कह रहे हो!"

"आप तो व्यर्थ ही चिंतित हो गये।" इस बार विदुर कुछ मुक्त होकर हँसा, "मैं तो केवल इतना ही कह रहा था कि वह अत्यंत चाटुकारिता-लोभी है। और आप जानते हैं कि मैं उसका प्रशंसक नहीं हूँ। फिर भी यदि मैं उसके इतने निकट बना हुआ हूँ तो केवल इसी कारण कि मैं अपने हृदय के रहस्यों को स्वयं अपने-आप तक सीमित रखने में पूर्णतः सक्षम हूँ।"

"तुम उसके हितैषी नहीं हो?" व्यास जैसे न कहना चाहते हुए भी कह गये, "वह तुम्हारा भाई है।"

"हितैषी और प्रशंसक में अतंर है देव!" विदुर बोला, "मैं उसका प्रशंसक नहीं हूँ।"

"अच्छा है कि उसके प्रशंसक नहीं हो," व्यास बोले, "अन्यथा कदाचित् तुम उसके हितों की रक्षा नहीं कर पाते।...किंतु इस समय तुम्हारे मन पर कौन-सा बोझ है, जिसे तुम छिपा नहीं पा रहे?"

"छिपाना चाह नहीं रहा।" विदुर बोला।

"तो फिर स्पष्ट कहो।" व्यास बोले, "संकोच किस बात का है?"

"संकोच !" विदुर जैसे कुछ सोचने लगा, "हाँ, संकोच तो है ही !"

"क्यों है ?"

"वर्षो से एक प्रश्न दराँती- सा मेरे मन में चुभ रहा है देव ! नहीं चाहता था कि उसका उत्तर आपसे माँगूँ । किंतु मैं स्वयं उसका उत्तर खोज नहीं पाया ।"

"मुझसे क्यों नहीं पूछना चाहते ?" व्यास बोले, "मैं दिन भर और करता ही क्या हूँ ! लोगों के प्रश्नों के उत्तर ही तो देता रहता हूँ ।"

"सोचता हूँ कि कहीं इस प्रश्न की अनी मेरे वक्ष के स्थान पर आपके वक्ष में न चुभती रहे ।"

व्यास जैसे सतर्क हो गये : ऐसा कौन- सा प्रश्न है ! और फिर जैसे सायास स्वयं को एकाग्र कर बोले, "तो अवश्य पूछो पुत्र ! अभी पूछो, इसी क्षण । मुझे पहले ज्ञात हो जाता तो मैं तुम्हें कदापि इतने लंबे काल तक उसकी चुभन न सहने देता ।"

विदुर थोड़ी देर चुप रहा, जैसे अपना आत्मबल संचित कर रहा हो; फिर बोला, "देव ! राजा का पुत्र राजा होता है, श्रेष्ठि का पुत्र श्रेष्ठि, और ऋषि का पुत्र ऋषि ! किंतु आप जानते हैं कि कुरु- वंश में रहकर, मैं धृतराष्ट्र और पांडु का भाई- समान हो सकता हूँ; किंतु सम्राट् विचित्रवीर्य का पुत्र नहीं हो सकता । राजकुल में रहकर भी मैं राजकुमार अथवा राजा नहीं हो सकता । आपकी इच्छा और पितृव्य भीष्म की समस्त सद्भावना के होते हुए भी, मैं राजकुल में पोषित एक दासी- पुत्र ही हो सकता हूँ । किंतु यदि आप, अपने इस पुत्र को अपने साथ, अपने आश्रम में ले जाते, जैसे आपके पिता आपको अपने साथ ले गये थे तो कदाचित् मैं ऋषिपुत्र हो सकता था, जैसे आप हुए थे । ऋषि पराशर ने आपको निषाद- पुत्र बनने के लिए आपकी माता के पास नहीं छोड़ा, तो आपने मुझे दासीपुत्र बनने के लिए, मेरी माता के पास क्यों छोड़ दिया ?"

पहले तो व्यास की बड़ी- बड़ी अधमुँदी आँखें जैसे अपने पूरे आकार में खुल गयीं और उसके पश्चात् क्रमशः पूर्णतः मुँद गयीं, जैसे वे ध्यान कर रहे हों ।

विदुर के चेहरे पर अपराध- बोध झलका, "मुझे पहले से ही आशंका थी देव, कि यह प्रश्न आपको कष्ट देगा, इसीलिए मैं आपसे पूछने में संकोच कर रहा था ।"

ऋषि की आँखें खुल गयीं । उनके अधरों पर उनकी सहज मुस्कान आ विराजी, "मुझे तनिक भी कष्ट नहीं हुआ है पुत्र ! वस्तुतः तुम्हारे इस एक प्रश्न ने मेरे अपने मन में अनेक प्रश्न जगा दिये हैं । किंतु पहले मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दूँगा; और उसके पश्चात् अपने प्रश्नों का उत्तर चाहूँगा ।"

"जैसी आपकी इच्छा ।"

"मुझे प्रसन्नता है वत्स, कि तुम्हारे मन में भी वही इच्छा जागी है, जो वर्षो पूर्व मेरे अपने मन में अंकुरित हुई थी । यह मात्र यही प्रमाणित करता है कि तुम्हारे मन में भी मेरे प्रति वही आकर्षण है, जो मेरे मन में तुम्हारे लिए है । मैं तुम्हें कैसे बताऊँ कि तुम्हें अपने आश्रम में ले जाकर, एक ऋषिपुत्र के रूप में तुम्हारा पालन- पोषण करने में मुझे कितनी प्रसन्नता होती ! किंतु पुत्र ! मै धर्म से बाध्य हूँ ।"

"क्या बाध्यता है पूज्यपाद ?"

"नियोग का धर्म अपने लिए संतान प्राप्त करना नहीं है; वह संतान का दान है । यह

जानते हुए भी कि यह पुत्र मेरा है—सुख में है या दुख में—उसके प्रति अपने मन में मोह विकसित नहीं करना है, तभी तो वह दान है। वह संतान तो, माँ तथा उसके पति के वंश की है। इसलिए विदुर ! तुम्हें इस वंश में रहना पड़ा। तुम्हारा जन्म विचित्रवीर्य के क्षेत्र से भी नहीं हुआ; किंतु तुम्हारी माता, इस क्षेत्र के स्थानापन्न के रूप में आयी थी पुत्र ! अतः तुम्हें इस दंश को सहना होगा। तुम वंशानुक्रम से राजा या ऋषि न होकर भी धर्म के ज्ञाता बनो। ज्ञान तुम्हें रक्त और समाज के बंधनों से मुक्त कर देगा। ज्ञान में सीमाओं के अतिक्रमण की अद्‌भुत शक्ति है पुत्र ! वह तुम्हें दासीपुत्र के कलुष से भी शुद्ध कर देगा।"

"मेरी पीड़ा वह नहीं है तात !" विदुर मंद स्वर में बोला, "मुझे अपनी माँ को माँ कहने में तनिक भी संकोच नहीं है, न उनकी स्थिति को जानकर कोई असंतोष ही है। यथार्थ की सहज स्वीकृति मेरी नीति रही है !···किंतु इस हस्तिनापुर में नित्य धर्म की हत्या होती है। जिसके मन में धर्म की तनिक-सी भी कल्पना है, उसका यहाँ दम घुटता है। कौरवों का यह शासन मेरी हत्या नहीं कर रहा; किंतु मैं यहाँ प्रत्येक क्षण मरता रहता हूँ, जैसे कोई मंथर-गति-विष शनैः-शनैः किसी को मृत्यु की ओर धकेलता चलता है।···"

"मृत्यु से डरते हो पुत्र ?"

"नहीं ! मैं इस नारकीय जीवन से मुक्ति चाहता हूँ।"

व्यास की आँखें कुछ फैल गयीं और उन्होंने विदुर को कुछ इस ढंग से देखा, जैसे वे उसके मन को पढ़ रहे हों। उन्होंने बहुत ही धीमे स्वर में पूछा, "क्या धृतराष्ट्र ने पांडवों की हत्या करवायी है ?"

विदुर जैसे स्तंभित रह गया। वह ऋषि को निर्निमेष देखता रहा। उसके श्वास-प्रश्वास की क्रिया भी जैसे थम गयी।

"मुझसे भयभीत होने का कोई कारण नहीं है पुत्र !" व्यास का वात्सल्य-भरा स्वर विदुर की धमनियों में प्रवेश करता जा रहा था, "मुझसे किसी का कोई अनिष्ट नहीं हो सकता : और तुम तो मेरे पुत्र हो विदुर !"

सहसा विदुर ने अत्यंत जीवंत होकर कहा, "आप मुझसे वे ही प्रश्न क्यों नहीं पूछते, जो मेरे प्रश्न को सुनकर आपके मन में जागे थे ?"

"यह भी उन्हीं से संबद्ध प्रश्न है पुत्र !" व्यास बोले, "तब भी मेरे मन में यही जिज्ञासा जागी थी कि तुम राजप्रासाद के भोग त्यागकर मेरे आश्रम में क्यों आना चाहते हो ? इस नगर और इस प्रासाद के जीवन में ऐसा क्या है, जो तुम्हारे मन में मोह के स्थान पर वैराग्य जगा रहा है ?···मैं वही प्रश्न तुमसे दूसरे शब्दों में पूछ रहा हूँ—क्या धृतराष्ट्र ने अपने भ्रातुष्पुत्रों की हत्या करवायी है ?"

"मेरी किस बात से आपके मन में यह आशंका जागी है ?"

व्यास देख रहे थे कि विदुर स्पष्ट शब्दों में उनके प्रश्न का उत्तर नहीं दे रहा था। मिथ्या भाषण उसकी प्रकृति नहीं थी; और सत्य बोलने का वह साहस नहीं कर रहा था···या कदाचित् सत्यभाषण उसे नीति-युक्त नहीं लग रहा था···

"युवराज युधिष्ठिर को उसके भाइयों तथा माता के साथ राजधानी हस्तिनापुर से हटाकर वारणावत भेजने का कोई विशेष कारण मेरी समझ में नहीं आया।" व्यास धीरे से बोले, "धृतराष्ट्र का कहना है कि पांडवों की उस मनोरम स्थान को देखने की बड़ी इच्छा थी; किंतु

सारे हस्तिनापुर में मुझे एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिला, जिसके सम्मुख पांडवों ने वारणावत जाने की इच्छा प्रकट की हो। फिर पांडवों को वारणावत के प्राचीन प्रासाद में नहीं ठहराया गया था। यह शिव-भवन नाम का कोई और ही प्रासाद था, जिसे धृतराष्ट्र के आदेश से दुर्योधन के विश्वस्त अनुचर पुरोचन की देख-रेख में, उसी की उपस्थिति में अंशतः बनवाया गया था। पांडव इतने असावधान नहीं थे कि मदिरा पीकर इतने उन्मत्त हो जाते कि उन्हें प्रासाद के अग्निसात् हो जाने का भी पता न लगता और उनमें से कोई एक व्यक्ति भी जीवित न बच पाता। राजप्रासादों का निर्माण करते हुए इन बातों का विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है कि उन्हें अग्नि इत्यादि का भय न हो। वह ऋषि का कुटीर तो है नहीं कि दीप-शिखा से भी उसका फूस अग्नि ग्रहण कर ले।...और तुम कह रहे हो कि हस्तिनापुर में प्रतिक्षण न्याय और धर्म की हत्या हो रही है...!"

"आप सर्वज्ञ हैं देव ! आपसे कुछ भी गोपन नहीं है।" विदुर ने श्रद्धापूर्वक कहा।

व्यास के नयन पुनः मुँद गये। उनकी मुँदी आँखों से दो अश्रु ढुलके, "इस पापी धृतराष्ट्र के जन्म का निमित्त मैं बना। मैं...।"

उनकी आँखें खुलीं। वे अब भी अश्रुओं से डबडबाई हुई थीं।

"विदुर !" वे बोले, "प्रकृति के खेल अद्भुत हैं और प्रभु की लीला अपार है। कई बार हमारे सम्मुख सब कुछ घटित हो रहा होता है; और हम असहाय खड़े देखते रह जाते हैं। ऐसा कभी नहीं होता कि संसार का जन-मत पाप, अधर्म, अकल्याण और विनाश के पक्ष में हो; किंतु फिर भी एक दुष्ट अल्पमत अपने बाहुबल, अपने दुस्साहस और अपनी पापिष्ठ बुद्धि के सहारे पाप-कृत्य करता चलता है और एक विराट जन-समुदाय, संख्या में बहुत अधिक होते हुए भी अपनी भीरुता, असंगठन और निरुपायता के कारण खड़ा देखता रह जाता है। किंतु फिर भी पुत्र ! न तो न्याय और धर्म को हताश होना चाहिए, और न ही अन्याय और अधर्म के प्रतिशोध का प्रयत्न त्यागना चाहिए।"

"आप ठीक कहते हैं देव !"

"तो फिर ऐसा कैसे हुआ कि हस्तिनापुर में वर्तमान रहते हुए, धृतराष्ट्र और दुर्योधन की अभिलाषाओं और क्षमताओं को समझते हुए भी तुमने पांडवों की कोई सहायता नहीं की ? उनकी सुरक्षा के लिए तुमने कोई प्रयत्न नहीं किया ? उन्हें कोई चेतावनी नहीं दी और वारणावत चले जाने दिया ? यह कैसे संभव है कि तुम उन्हें मृत्यु के मुख में समाते हुए देखते रहे और स्वयं निरुपाय, असहाय, अकर्मण्यों की भाँति हताश खड़े देखते रहे ?" व्यास की आँखों से शीतल चंद्रिका के स्थान पर जैसे अग्नि-स्फुलिंग बरसने लगे, "सत्य कहो विदुर ! क्या पांडवों का वस्तुतः निधन हो चुका है ?"

विदुर को अनुभव हुआ, जैसे किसी ने उसपर वज्राघात किया हो। जानें ऋषि की दृष्टि में क्या था, जिसने विदुर की शिराओं में प्रवाहित रक्त को अग्नि में परिणत कर दिया था। उन्हें लग रहा था, जैसे वे भी वारणावत के शिव-भवन में ही उपस्थित हों; और शिव-भवन धू-धू कर जल रहा हो...

व्यास पूछ रहे थे, "सत्य कहो विदुर ! क्या पांडवों का वस्तुतः निधन हो चुका है ?...सत्य कहो विदुर !"

विदुर चुपचाप व्यास को देखता रहा : क्या सत्य कह दे ? एक सत्य को वह पहले ही

स्वीकृति दे चुका है। उसमें किसी का कोई अहित नहीं था। व्यासदेव को जानना ही चाहिए था कि धृतराष्ट्र क्या कर रहा है; युवराज बनने के लिए दुर्योधन किस सीमा तक जा सकता है। ऋषि इस सत्य का प्रचार करेंगे, तो धर्म की हानि नहीं होगी···किंतु दूसरा सत्य···ऋषि सरल हैं। सत्य के उपासक हैं। वे व्यवहार-चतुर नहीं भी हो सकते···यदि उनसे किसी को पांडवों की स्थिति का आभास हो गया···

"सत्य कहो विदुर !"

"तात् ! राजा किसी का शत्रु हो जाये, तो उसकी रक्षा की भी जा सकती है, क्योंकि शत्रु होने पर भी प्रत्येक राजा हत्यारा नहीं होता ! राजा हत्यारा हो भी तो बंधु-बांधव रक्षा कर सकते हैं; किंतु जब राजा, पिता का स्थानापन्न पितृव्य तथा भाई-बंधु—सब ही हत्यारे हो जायें, तो रक्षा कैसे होगी।··· ऐसा व्यक्ति एक बार बच भी जाये तो उसे पुनः खोज कर, उसकी हत्या कर दी जायेगी। यदि वह विष से बच जाये तो उसे अग्नि में भस्म किया जा सकता है; अग्नि से बच निकले तो उसे खड्ग से खंड-खंड किया जा सकता है। ऐसे व्यक्ति के लिए जीवन की कोई संभावना नहीं है। उसके लिए केवल मृत्यु है, जीवन नहीं। उसका अस्तित्व, मात्र उसके अनस्तित्व में ही संभव है।···

व्यास के आनन पर मुस्कान फैल गयी, "तुमने मुझे प्राणदान दिया पुत्र ! मैं तुम्हारा आभारी हूँ।" वे पुनः गंभीर हो गये, "प्रत्येक खड्ग के लिए एक ढाल होती है। हमें उस ढाल को ही खोजना चाहिए। जब तक ढाल न मिल जाये, तब तक अस्तित्व को अनस्तित्व ही बने रहना चाहिए।···" उन्होंने रुककर, बहुत स्नेह से विदुर को देखा, "तुम्हारा हस्तिनापुर में बने रहना धर्म के अस्तित्व के लिए आवश्यक है पुत्र ! मैं विधाता के रहस्य को आज ही समझ पाया हूँ। तुम्हें कौरव-कुल में इसीलिए जन्म दिया गया था कि तुम अधर्म के प्लावन को भीतर से रोक सको। अब तुम यहाँ रहकर धर्म की रक्षा करते रहो, धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा।"

विदुर ने दोनों हाथ जोड़कर जैसे उनका आशीर्वाद स्वीकार किया और उनके आदेश का पालन करने की स्वीकृति दी।

"तुमने पांडवों की खोज का प्रयत्न नहीं किया पुत्र ?" व्यास ने सीधा प्रश्न किया।

विदुर ने भी रहस्यात्मकता त्यागी, "मेरी यात्रा गुप्त नहीं रह सकेगी देव ! मैं जहाँ भी जाऊँगा, दुर्योधन के गूढ़ पुरुष मेरे पीछे जायेंगे। उनको खोज निकालने का मेरा प्रयत्न, उनके सदा के लिए विलुप्त कर दिये जाने का कारण बन जायेगा। कौरवों का शासन अब धर्म का शासन नहीं रहा देव ! कंस और जरासंध—दोनों की नृशंसता को यह अकेला ही आत्मसात् कर चुका है।"

"तुम्हारी चिंता उचित ही है। विधाता ने मुझे पापी धृतराष्ट्र के जीवन का निमित्त बनाया है, तो कदाचित् वह उसका प्रायश्चित्त भी मुझसे ही करवाना चाहता है।"

"क्या आप उनकी खोज में जायेंगे ?" विदुर समझ नहीं पाया कि वह व्यासदेव से इस खोज का आग्रह कर रहा था, अथवा उसका निषेध कर रहा था।

"कुछ कहना कठिन है विदुर !" व्यास बोले, "क्या करूँगा, यह मैं स्वयं भी नहीं जानता; किंतु यह मैं कदापि नहीं चाहूँगा कि न्याय, मेरे देखते-देखते शून्य में विलीन हो जाये। मैं प्रयत्न करूँगा कि शून्य में खो गया न्याय, फिर से प्रकट हो सके।"

"किंतु न्याय की रक्षा ?"

"यह अवश्य ही चिंता का विषय है।" व्यास जैसे अपने-आपसे कह रहे थे, "उसकी रक्षा का प्रबंध किये बिना, उसे प्रकट करना, उसकी हत्या में सहायक होने के समान है!"

विदुर की चिंता कुछ कम हुई : व्यासदेव स्थिति की गंभीरता को भली प्रकार समझ रहे थे। निश्चित रूप से उनकी ओर से किसी प्रकार के अनिष्ट की कोई आशंका नहीं हो सकती थी···

"किंतु उनकी रक्षा कौन करेगा ?" विदुर का स्वर पूर्णतः चिंतामुक्त नहीं था, "जो उनकी रक्षा करेगा, वह धृतराष्ट्र और दुर्योधन के विरोध, क्रोध और शत्रुता को आमंत्रित करेगा। धृतराष्ट्र और दुर्योधन के मित्र शक्तिशाली हैं। द्रोण, अश्वत्थामा तथा कर्ण उनके पक्ष में हैं···।"

"पांडवों की रक्षा वही करेगा जो धृतराष्ट्र से भयभीत नहीं होगा, जो उसका शत्रु होगा, अथवा उसकी मैत्री का इच्छुक नहीं होगा।" व्यास बोले, "बताओ विदुर! ऐसा वीर कौन है ?"

"जहाँ तक मेरी दृष्टि देख पाती है, कौरवों के चिर-शत्रु पांचाल हैं। इस परंपरागत शत्रुता को कुछ सम्राट विचित्रवीर्य ने पोषित किया; और कुछ सम्राट पांडु ने। और उसे चरमावस्था तक पहुँचाया आचार्य द्रोण ने। जब द्रोण, द्रुपद से रुष्ट हुए तो उन्हें भी कांपिल्य के परम शत्रु के रूप में हस्तिनापुर ही दिखायी दिया था। पता नहीं पितृव्य भीष्म ने आचार्य को आश्रय देते हुए इस ओर अधिक ध्यान क्यों नहीं दिया। मैं आज तक समझ नहीं पाया कि द्रोण को कौरव राजकुमारों की सहायता से द्रुपद को अपमानित करने की अनुमति देने के पीछे पितृव्य की कौन-सी नीति या राजनीति थी···!"

"पांचालों से पांडवों को किसी प्रकार की सहायता मिलने की क्या आशा हो सकती है ? द्रोण के वज्र के रूप में अर्जुन ही तो सर्वाधिक वेग से टूटा था, द्रुपद पर। द्रुपद पांडवों को धार्तराष्ट्रों से पृथक् नहीं करेगा। वह कौरवों से प्रतिशोध चाहता है, द्रोण का गर्वोन्नत मस्तक भूमि पर रगड़ना चाहता है—तो वह अर्जुन से भी अपना प्रतिशोध अवश्य चाहेगा।" व्यास ने अस्वीकृति में सिर हिलाया, "कोई और··· विदुर किसी और के विषय में सोचो···।"

विदुर का मन जैसे किसी सागर में डुबकियाँ लगा-लगाकर, किसी अमूल्य रत्न की खोज कर रहा था। उसकी दृष्टि एक के पश्चात् एक राज्य पार करती जा रही थी। प्रत्येक राज्य के अधिपति के चरित्र, प्रकृति और उसके स्वार्थ तथा लोभ का परीक्षण कर रही थी।···किंतु कोई राजा इस योग्य दिखायी नहीं पड़ रहा था, जिस पर पांडवों की रक्षा का भार डाला जा सके, जिस पर विश्वास किया जा सके।···सहसा उसकी आँखों में आशा की ज्योति दिखायी दी, "शायद वासुदेव कृष्ण यह कार्य कर सकें···।"

व्यास ने उसे परीक्षक दृष्टि से देखा, "वासुदेव कृष्ण!···तुम्हें ऐसा क्यों लगता है ?···"

"वह पांडवों का भाई है। सगा मातुल-पुत्र!"

"वैसे तो धार्तराष्ट्र भी पांडवों के भाई हैं। कदाचित् उनका संबंध और भी निकट का है।" व्यास धीरे से बोले।

"हाँ! अब मात्र संबंधों पर विश्वास नहीं किया जा सकता।" विदुर के स्वर में निराशा झलकी, "किंतु फिर भी कृष्ण साधारण संबंधियों जैसा नहीं है।" और तत्काल उसके स्वर में उत्साह भर आया, "बात केवल संबंध की ही नहीं है। वह अधर्म, अन्याय और अत्याचार का घोषित शत्रु है। वह अपने अत्याचारी मातुल का वध कर सकता है, तो हत्यारे दुर्योधन का भी

विरोध कर सकता है ।··· सबसे महत्वपूर्ण यह है कि वह किसी से भी भयभीत नहीं है । विरोध के भय से वह सत्य का त्याग नहीं कर सकता ।···"

"किंतु वत्स ! वह राजा नहीं है । द्वारका के यादवों की सेना, उग्रसेन की सेना है, कृष्ण की नहीं ।" व्यास बोले, "फिर इस समय उसके शत्रुओं की भी कमी नहीं है । जरासंध अभी पूर्णतः समर्थ और शक्तिशाली है । दामघोष, रुक्मी, शिशुपाल—सब जरासंध के मित्र हैं । कृष्ण का मित्र कौन है ?"

"आप ठीक कहते हैं ।" विदुर गंभीर स्वर में बोला, "कृष्ण अपने ही शत्रुओं से निबट ले, वही पर्याप्त है । मैंने सुना है कि स्वयं द्वारका के यादवों में भी उसके प्रतिद्वंद्वी, प्रतिस्पर्धी और विरोधी उत्पन्न हो गये हैं···!"

व्यास चुपचाप बैठे कुछ सोचते रहे । उनकी आँखें वैसे ही अधमुँदी रहती थीं, बीच-बीच में पूरी तरह भी मुँद जाती थीं । विदुर समझ नहीं पा रहा था कि वे चिंतन ही कर रहे हैं अथवा ध्यान-मग्न हो गये हैं···

अंततः व्यास ने अपनी आँखें खोलीं, "वत्स ! अपना धर्म मैं करूँगा । तुम अपना धर्म निभाओ । राजनीति मेरा क्षेत्र नहीं है, अतः वह कार्य तुम पर छोड़ता हूँ । जो देश और काल सुरक्षित हो, मुझे बता देना—मैं वहीं धर्म को शून्य में से प्रकट कर दूँगा ।"

"आप उनके पास जायेंगे तात् ?"

"मैं कुछ कह नहीं सकता पुत्र !" व्यास मुस्कराये, "मुझे केवल इतना बता दो कि वे कहाँ विलुप्त हुए हैं ।"

विदुर के मन में आशंका पुनः जागी—बता दें ? कहीं ऐसा न हो कि ऋषि इस रहस्य की गोपनीयता की रक्षा न कर पायें···

व्यास ने जैसे उसके मन की बात पढ़ ली, "विश्वास अमूल्य धन है वत्स ! उसका त्याग मत करो ।"

विदुर को ग्लानि का अनुभव हुआ : उसने व्यर्थ ही ऋषि की क्षमताओं पर संदेह किया, "मेरे केव्रट ने उन्हें वारणावत के बाहर के वन में से गंगा पार करायी थी और उन्हें मेरा परामर्श दिया था कि वे विकट से विकट वन के भीतर चले जायें, ताकि दुर्योधन के गूढ़ पुरुष उन्हें खोज न पायें···।"

"तुम्हारा कल्याण हो वत्स !" व्यास उठकर खड़े हो गये, "तुमने संसार में से धर्म को लुप्त होने से बचा लिया है । तुम्हारे जन्म का निमित्त बनकर जो पुण्य मैंने अर्जित किया है, आशा है, उसी के बल पर मैं धृतराष्ट्र के जनक होने के पाप का प्रायश्चित्त कर सकूँगा ।"

विदुर स्वयं ही समझ नहीं पा रहा था कि कृष्ण को देखते ही उसके मन में श्रद्धा क्यों जागती थी । इस युवक में ऐसा क्या है, कि वह उसके मन में विपुल विश्वास और आश्वासन जगाता है । किंतु कृष्ण पर जैसे न किसी के वय का आतंक था, न पद का, न धन का, न सत्ता का··· वह पितृव्य भीष्म से भी उसी सुविधा, सरलता, सहजता तथा समकक्षता से वार्तालाप कर सकता था, जितनी सहजता से वह छोटे बालकों से बात करता था । किंतु फिर भी उसमें न उद्दंडता थी, न अहंकार । जैसे सबके प्रति उसके मन में श्रद्धा थी, सबके प्रति प्रेम ! उसके

लिए न कोई उपेक्षणीय था, न असाधारण रूप से महिमा-मंडित। सब जैसे उसके अपने थे; और वह सबका था।

यह उसकी हस्तिनापुर की दूसरी यात्रा थी··· कितनी उदास और कितनी हताश ! अब हस्तिनापुर में न उसकी बुआ कुंती ही थी और न उसके भाई। कृष्ण ने जब यह समाचार सुना होगा, तो कैसा लगा होगा उसको ? क्या उसे ऐसा अनुभव नहीं हुआ होगा कि अब हस्तिनापुर से जैसे उसका कोई संबंध ही नहीं है। क्या उसके वक्ष में सहसा एक विराट् शून्य नहीं उभर आया होगा ?···

किंतु कृष्ण ने अपने व्यवहार से ऐसा कोई आभास नहीं दिया। वह तो हस्तिनापुर का और भी आत्मीय हो गया था। पहले वह केवल पांडवों का संबंधी था; किंतु अब तो भीष्म ही नहीं, धृतराष्ट्र, गांधारी, दुर्योधन, शकुनि और कर्ण··सब जैसे उसके अपने हो गये थे। हस्तिनापुर आकर वह इन सबसे ही नहीं मिला था, वह राजप्रासाद के भृत्यों और कर्मचारियों से भी पूरी आत्मीयता से मिला था। वह उनसे इस रूप में नहीं मिला था, जैसे पांडव उसके आत्मीय थे और उनका देहांत उसके लिए अत्यंत शोकपूर्ण घटना थी। वह तो इस प्रकार मिल रहा था, जैसे पांडव इन सबके आत्मीय थे और उनके देहांत से इन सबकी कभी पूरी न हो सकने वाली क्षति हुई है। वह इन सब लोगों को सांत्वना देता फिर रहा था।···विदुर को पहले तो लगा कि वह उन सब लोगों को कदाचित् जान-बूझकर उपेक्षा कर रहा है, जो पांडवों के प्रिय रहे थे; किंतु बाद में ऐसा भी कुछ नहीं रहा। कृष्ण उन सबसे भी मिला। वह हस्तिनापुर की वीथियों में इस प्रकार घूमा, जैसे वे राजप्रासाद के गलियारे हों। जन-सामान्य से उसने पांडवों की इस प्रकार प्रशंसात्मक चर्चा की, जैसे वे सब लोग पांडवों के मित्र, संबंधी और आत्मीय हों··· सारे हस्तिनापुर में जैसे पांडवों की चर्चा का, उनकी प्रशंसा का, उनके प्रति जिज्ञासाओं का प्रभंजन चल रहा था··· हस्तिनापुर की वायु जैसे इन दिनों पांडवों का ही नाम लेती थी···

विदुर को कई बार लगा··· कृष्ण यह सब सायास कर रहा है। वह पांडवों के विषय में सूचनाएँ प्राप्त करने का तो प्रयत्न नहीं कर रहा ? क्या वह अपने व्यवहार से पांडवों की मृत्यु के प्रश्न को जीवंत करने का प्रयत्न कर रहा है ?

और अंत में, जब विदुर को कोई आशा भी नहीं रह गयी थी कि कृष्ण उससे भी मिलने आयेगा, कृष्ण उसके सम्मुख आ खड़ा हुआ।

"काका !" विदुर के कानों में जैसे अमृत टपका··· वही पांडवों वाला संबोधन ! यह व्यक्ति जहाँ जाता है, क्या इसी प्रकार पांडवों की स्मृति को जीवंत बनाता है ?···

"आओ गोविंद ! मैंने प्रायः मान लिया था कि तुम सारे हस्तिनापुर से मिलोगे, बस काका से ही नहीं मिलोगे।"

"ऐसा कैसे संभव है !"

"तो फिर इतना विलंब क्यों किया ?"

"मैं यदि पहले आ जाता तो लोगों को यह शंका नहीं होती कि कृष्ण के लिए महामंत्री विदुर अन्य लोगों की तुलना में अधिक आत्मीय हैं ?" कृष्ण ने अपनी मुस्कान की मोहिनी विदुर पर फैलायी, "और ये लोग पांडवों के विषय में कोई विशेष चर्चा करना चाहते हैं।"

"विशेष चर्चा !" विदुर चौंका, "अब उनकी क्या चर्चा होगी गोविंद !···वैसे जब से तुम हस्तिनापुर आये हो, मुझे लगता रहा है कि तुमने पांडवों की इतनी धूम मचायी है, जितनी

उनके जीवनकाल में भी कभी संभव नहीं हुई।"

"मैंने यह सब सायास किया है काका !"

"प्रयोजन !"

"मेरी इच्छा है कि पांडवों के जीवन और मृत्यु के एक-एक क्षण के विषय में, एक-एक सूत्र के संबंध में लोग जिज्ञासा करें। हमें यह जानने का अधिकार है कि पांडवों को वारणावत क्यों भेजा गया ? शिव-भवन में आग क्यों लगी ? वह इस प्रकार जल कैसे गया ? पांडवों की मृत्यु धुएँ से दम घुटने से हुई ? वे जलकर मरे ? किसी ने उन्हें जलते हुए देखा ? उनके शव किसने देखे ? उन शवों को किसने पहचाना ? उनको किसने हटाया ? उनका दाह किसने किया ?"··· कृष्ण ने रुककर विदुर को देखा, "ऐसे ही अनेक प्रश्न हैं।"

विदुर को लगा, उसका मन कृष्ण के इन प्रश्नों से सहम गया है। कृष्ण नहीं जानता कि वह क्या कर रहा है। वह पांडवों का हितैषी है। उनके प्रेम के कारण ही वह द्वारका से यहाँ तक की यात्रा करके आया है। उनके प्रति अपने स्नेह के कारण ही वह उनकी इतनी धूम मचाये हुए है; किंतु क्या वह जानता है कि वह क्या कर रहा है ? कहीं उसकी छान-बीन के कारण, उसके द्वारा उठाये गये प्रश्नों के माध्यम से, इस चर्चा के परिणामस्वरूप, किसी को भी संदेह हो गया कि पांडव जीवित हैं, तो उनकी खोज आरंभ हो जायेगी।···और पांडव खोज लिये गये तो दुर्योधन के छोड़े हुए भेड़ियों से उनकी रक्षा कौन करेगा ? क्या कृष्ण समझ नहीं रहा कि वह उनका हित करने के प्रयत्न में उनका अहित कर बैठेगा··?

"प्रयोजन ? कृष्ण, प्रयोजन क्या है तुम्हारा ?"

कृष्ण इस बार मुस्कराया नहीं। कुछ आवेश के साथ बोला, "सत्य का उद्‌घाटन। मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या वस्तुतः पांडवों का प्राणांत हो चुका है ? यदि वे अब जीवित नहीं हैं, तो क्या उनकी मृत्यु वस्तुतः संयोगाश्रित अथवा आकस्मिक है ?···"

"तुम्हें उनकी मृत्यु में कोई संदेह है ?"

"हाँ, काका !"

"क्यों ?"

"जब तक किसी बात का प्रत्यक्ष और विश्वसनीय प्रमाण न मिले, उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए।"

"क्या पांडवों की मृत्यु का प्रमाण विश्वसनीय नहीं है ?"

कृष्ण थोड़ी देर मौन बैठा रहा; किंतु उसके चेहरे पर न चिंता के लक्षण थे; न चिंतन के। लगता था जैसे वह प्रतीक्षा कर रहा है।··· और तब विदुर ने अनुभव किया, वह स्वयं विदुर के ही चेहरे पर किसी आलेख के प्रकट होने की प्रतीक्षा कर रहा था।

"तुमने उत्तर नहीं दिया कृष्ण !" अपने आवरण को बनाये रखने के लिए विदुर बोला।

"मैंने पिछली बार ही देखा था कि हस्तिनापुर में पांडव सुरक्षित नहीं हैं। वे तथा उनके शुभचिंतक—सभी जानते थे कि दुर्योधन उनके वध के लिए षड्यंत्र रचता रहा है। फिर ऐसे में वे इतने असावधान कैसे रह सकते थे ?··मैं वारणावत जाऊँगा। मैं शिव-भवन की भस्म में भी पांडवों को ढूँढ़े बिना नहीं रहूँगा।"

"क्या सावधानी के होते हुए भी अनिष्टकारी घटनाएँ नहीं घटतीं ?"

"घटती हैं। किंतु हत्याओं के भी प्रमाण होते हैं और हत्यारों के लिए दंड !"

विदुर ने पहली बार कृष्ण के स्वर में आवेश का अनुभव किया।

"जब तुम इतना कुछ जानते हो कृष्ण, तो यह भी समझते होगे कि हत्यारे भी असावधान नहीं हैं। उनके वधिक चारों ओर घूम रहे हैं। तुम शवों में प्राण डालोगे, तो वे पुनः उनकी हत्या कर देंगे।"

"यह भी समझता हूँ।" कृष्ण बोला, "इसीलिए मृत्यु के निश्चित प्रमाण खोज रहा हूँ।"

"प्रमाण मिलने पर क्या करोगे ?"

"यह जानना चाहूँगा कि मृत्यु का कारण क्या है ? कौन है ?"

विदुर की हृदय-गति कुछ बढ़ गयी, जैसे उसका समस्त धैर्य चुक गया हो। उसे लगा, उसकी आतुरता अनिष्ट भी कर सकती है; किंतु अब वह स्वयं को रोक नहीं पायेगा।...

"यदि हत्यारे अत्यंत शक्तिशाली हों, तो ?"

कृष्ण की मोहिनी लौट आयी, "हत्यारे सदा शक्तिशाली ही होते हैं काका ! दुर्बल, निरीह और असहाय लोग हत्याएँ नहीं करते।"

विदुर मौन हो गया : कहे या न कहे ? यदि पांडवों की रक्षा की चर्चा कृष्ण से नहीं करेगा, तो फिर किससे करेगा ? और कौन पांडवों की रक्षा की व्यवस्था करेगा ?...उसका मन इतना आशंकित क्यों है ?...कृष्ण अभी नवयुवक है...अपनी सफलताओं ने उसे चरम आत्मविश्वास से भर दिया है।...पर क्या वह पांडवों की स्थिति ठीक-ठीक समझ पायेगा ?...

"सत्य क्या है काका ?" कृष्ण ने अत्यंत मधुर और आत्मीय ढंग से पूछा।

विदुर को लगा, कृष्ण के इस प्रकार के आग्रह का प्रतिरोध वह नहीं कर पायेगा।

"सत्य क्या है काका ?" कृष्ण ने पुनः पूछा।

कृष्ण द्वैपायन ने भी इसी प्रकार विदुर को सत्य बोलने का आदेश दिया था...अब कृष्ण भी वही कर रहा था। कृष्ण द्वैपायन और वासुदेव कृष्ण...

विदुर ने स्वयं को साधा और धीरे से बोला, "तुम्हें एक अत्यंत गोपनीय बात बता रहा हूँ कृष्ण ! किंतु वचन दो कि असावधानी में, आवेश में अथवा किसी अन्य परिस्थिति में यह किसी भी प्राणी के सम्मुख प्रकट नहीं करोगे। किसी के भी सम्मुख नहीं, तो सुनो !" विदुर इतने धीरे से बोला कि उसके अपने कानों को भी सुनने में कठिनाई हुई, "भगवान वेद व्यास ने कहा है कि जिन्हें तुम खोज रहे हो, उनकी समुचित रक्षा-व्यवस्था होने पर, उन्हें वे किसी भी उचित देश और काल में शून्य में से प्रकट कर सकते हैं।" विदुर की दृष्टि, कृष्ण के आनन पर जम गयी।

कृष्ण के चेहरे पर उल्लास का स्रोत फूट आया, "मुझे विश्वास था...मुझे विश्वास था...।" वह धीरे से बुदबुदाया, "वे जीवित हैं।..."

सहसा कृष्ण को जैसे कुछ याद आ गया, "वे कहाँ हैं ?"

"कहाँ हैं—मैं नहीं जानता।"

"भगवान वेद व्यास ने उन्हें देखा है क्या ?" कृष्ण ने उत्सुकता से विदुर को देखा, "वे कैसे जानते हैं कि पांडव जीवित हैं ?"

"मुझसे यह सब मत पूछो।" विदुर धीरे से बोला, "उनके संदेश पर विचार करो। वे उन्हें शून्य में से प्रकट करने की बात कह रहे हैं। और फिर उनकी रक्षा।..."

"हाँ, उनकी रक्षा !" कृष्ण जैसे अपने-आपसे कह रहा था, "शून्य में से उन्हें प्रकट किया

भी गया, उनके शवों में प्राण डाले भी गये, तो क्या लाभ—यदि उनकी रक्षा न की गयी।"रक्षा की व्यवस्था आवश्यक है।" और कृष्ण की चेतना जैसे कहीं दूर से लौट आयी, "उनकी रक्षा की व्यवस्था मात्र ही पर्याप्त नहीं है काका! कोई कब तक उनकी रक्षा करता रहेगा? उनके प्रकट होते ही तत्काल कुछ ऐसा करना होगा कि वे धृतराष्ट्र तथा दुर्योधन के आतंक से सदा के लिए मुक्त हो सकें। उनके प्रकट होने का क्षण ही उनकी शक्ति का ऐसा प्रबल उद्घोष करे कि उनके समस्त शत्रुओं के कलेजे दहल जायें। वे नतमस्तक हो जायें। पांडवों का वर्चस्व स्थापित हो जाये और उन्हें किसी शत्रु से कोई भय ही न रहे। पांडवों के प्रकट होने का क्षण ही, उनके जयघोष का क्षण हो, उनकी जय-यात्रा का आरंभ हो"।"

"यह सब कैसे संभव है केशव?" कृष्ण के चेहरे पर असाधारण तेज देख कर, विदुर जैसे अभिभूत हो गया था।" 'सचमुच अद्भुत है यह कृष्ण!'"वह सोच रहा था।

"कैसे होगा—यह मैं अभी नहीं जानता।" कृष्ण ने पुनः आत्मलीन होते हुए कहा, "किंतु यह करना ही होगा। मैं करूँगा इसे!"

जाने विदुर के भीतर क्या घटित हो गया"उसकी इच्छा हुई कि वह हाथ जोड़कर, कृष्ण के सम्मुख भक्ति-भाव से खड़ा हो जाये और कहे—'तुम समर्थ हो केशव! तुम्हारे सिवाय और कौन ऐसा सोच सकता है"!'

सहसा विदुर चौंका: यह कृष्ण की सम्मोहिनी शक्ति थी क्या? ऐसी अनुभूति तो उसे पहले कभी नहीं हुई। पितृव्य भीष्म की उपस्थिति में भी नहीं, भगवान वेदव्यास की उपस्थिति में भी नहीं।"कृष्ण में ऐसा क्या है?"

और कृष्ण सहज भाव से उसके सम्मुख बैठा हुआ कह रहा था, "काका! हमें अत्यधिक सावधान रहना चाहिए। तनिक-सी भी असावधानी से सब कुछ नष्ट हो सकता है। आप भगवान वेदव्यास से कहिएगा—पांडवों के प्रकट होने के समय उनकी सुरक्षा का दायित्व मेरा है। मैं वचन देता हूँ कि उनका तनिक-सा भी अनिष्ट नहीं होने दूँगा। हाँ!"उनके प्रकट होने का देश और काल मैं बताऊँगा। उन्हें वहीं शून्य में से प्रकट किया जाये, जहाँ मैं कहूँ। वे मेरे संकेत के बिना, किसी भी परिस्थिति में अपना परिचय न दें। जो चुनौती उनके सामने आये, उसे स्वीकार करें। अपने चरम वीरत्व को प्रकट करें। किसी से भयभीत न हों। किसी आक्रमणकारी का वध करने से न चूकें। एक बार सिद्ध कर दें कि संसार में उनसे बड़ा वीर और कोई नहीं है। आवश्यकता पड़ने पर वे संसार के समस्त वीरों के विरुद्ध अकेले ही युद्ध कर सकते हैं।""

विदुर स्तब्ध-सा बैठा, कृष्ण की बातें सुनता रहा" क्या कृष्ण के मन में कोई योजना है? क्या इतनी जल्दी उसने सारा प्रपंच रच लिया है? उसने निश्चय कर लिया है?"

"वैसे क्या योजना है गोविंद?" विदुर से पूछे बिना नहीं रहा गया।

कृष्ण ने तत्काल उत्तर नहीं दिया।

विदुर समझ नहीं सका कि अपनी तल्लीनता में कृष्ण ने उसका प्रश्न नहीं सुना, अथवा प्रश्न का उत्तर देना उसने आवश्यक नहीं समझा"या उसके पास प्रश्न का उत्तर ही नहीं था"?

किंतु ऐसा कुछ भी नहीं था। कृष्ण ने जब उत्तर दिया तो विदुर समझ गया कि कृष्ण ने जिस समय उसका प्रश्न पूरे ध्यान से सुना था, उसी समय वह कहीं और उस सारी योजना का ताना-बाना भी बुन रहा था। कृष्ण संपूर्णतः उसके सम्मुख भी उपस्थित था, और किसी अन्य

धरातल पर स्थित होने के कारण, उसके सामने से पूर्णतः अनुपस्थित भी था। क्या कृष्ण एक ही समय, एक से अधिक स्थानों पर उपस्थित होने की क्षमता रखता है ?...

"योजना अभी बनी नहीं है काका !" योजना के अभाव की स्वीकृति देते हुए भी कृष्ण के स्वर में पूरी आस्था विद्यमान थी, "किंतु इतना मैंने निश्चय कर लिया है कि पांडवों को सीधे-सीधे दुर्योधन से भिड़ा देना है, ताकि दुर्योधन और उसके संगी-साथी भी पांडवों के वीरत्व से परिचित हो लें। इस बार ऐसा हो कि पांडव अपने प्राणों के भय से दुर्योधन से छिपते न फिरें। स्वयं दुर्योधन एक बार चिंतित हो जाये कि पांडव उसका काल हैं। किंतु..." कृष्ण कुछ कहते-कहते रुक गया।

"किंतु क्या ?" कथा सुनने वाले किसी शिशु के समान विदुर उत्सुक हो उठा था।

"किंतु क्या, उसके लिए आवश्यक है कि यह युद्ध दुर्योधन की सुविधा के अनुसार उसके मनोवांछित समय और स्थान पर न लड़ा जाये। ऐसा भी न हो कि वह राजा की महिमा से मंडित अपने वीरों से संरक्षित आत्मवल के उच्च धरातल से लड़े और पांडव स्वयं को अपदस्थ, दीन-हीन, असहाय और मित्र-विहीन समझ रहे हों। कुछ ऐसा हो कि दुर्योधन के संगी-साथी हतोत्साहित, पराजित, निष्प्रभ तथा निस्तेज मनःस्थिति में हों; अपराध-भावना से त्रस्त हों ; और पांडव उत्साह से भरे हुए, आत्मवल से भरपूर, न्याय का युद्ध करने वाले धर्मप्रवृत्त वीर हों।..."

"ऐसा कैसे हो सकता है केशव !" निःश्वास के समान विदुर के मुख से शब्द स्वतः निकले।

"इसे ऐसा ही होना होगा।" कृष्ण के स्वर में कहीं कोई संशय अथवा द्वंद्व नहीं था। उसका स्वर जैसे स्वयं नियति का आदेश था।

विदुर उसे देखता ही रह गया। कृष्ण जैसे वह साधारण कृष्ण था ही नहीं। उसका स्वर जैसे किसी और लोक से आ रहा था; और उसके उस मानवी मुख से जैसे स्वयं प्रकृति बोल रही थी।

"किंतु काका ! दो बातें उन्हें अवश्य कह दीजिएगा।" वह पुनः बोला, "उन्हें कितनी भी बड़ी विजय प्राप्त हो जाये, वे स्वयं को कितने भी शक्तिशाली क्यों न अनुभव करें, उन्हें कितने भी शक्तिशाली और समर्थ लोग अपने समर्थक और मित्र के रूप में क्यों न दिखायी पड़ने लगें—उन्हें न तो अपना छद्म रूप त्यागना है, न अपना वास्तविक परिचय देना है।... जब भी उन्हें प्रकट करना होगा, उनका वास्तविक परिचय मैं दूँगा। उनको पांडवों के रूप में मैं प्रकट करूँगा।... और दूसरी बात, उन्हें कितनी भी बड़ी कोई उपलब्धि क्यों न हो जाय...सृष्टि का संपूर्ण धन ही क्यों न उनके चरणों में आ गिरे—उन पाँचों भाइयों की एकता और सद्भावना में तनिक भी दरक नहीं पड़नी चाहिए। उनका किसी भी प्रकार का परस्पर मतभेद, उनके लिए अत्यंत घातक हो सकता है।..."

कृष्ण ने अपनी बात समाप्त कर, विदुर की ओर देखा : विदुर अपना संपूर्ण बड़प्पन त्याग, अत्यंत विनीत भाव से उसकी ओर देख रहा था। विदुर की आँखों में कभी विस्मय झाँकता था, कभी जिज्ञासा, और कभी अस्पष्टता...

"क्या है काका ?" कृष्ण भी जैसे आकाश के मेघों से धरातल पर उतर आया था। वह अत्यंत सहज और सामान्य था—एक सरल शिशु के समान।

"तुम्हारा संदेश कदाचित् उन तक पहुँच जायेगा।" विदुर बोला, "किंतु तुम करने क्या

जा रहे हो ?"

"अभी तो मैं स्वयं भी नहीं जानता।" कृष्ण अबोध शिशु के समान मुस्कराया, "किंतु मुझे ऐसा ही करना है।"

"भगवान तुम्हें सफलता दे !" विदुर समझ नहीं पाया कि वह कृष्ण को और क्या कहे।

उद्धव और बलराम अभी-अभी कृष्ण के पास से उठकर गये थे; और कृष्ण सोने की तैयारी में था। तभी बाहर कुछ असाधारण शब्द हुआ। पहियों की ध्वनि तथा अश्वों के शब्द से निश्चित था कि वह कोई तीव्र वेग से आने वाला रथ ही था, जिसे कम समय में बलपूर्वक रोक दिया गया था।... किंतु इस समय ? यह तो किसी से भेंट करने जाने का समय नहीं था ! सारा हस्तिनापुर सो गया होगा; और नगर के बाहर से आने वाले किसी रथ को नगर-द्वार बंद हो जाने के कारण, बाहर ही रुक जाना पड़ा होगा। तो फिर यह...

कृष्ण ने गवाक्ष से देखा : रथ में से कोई स्त्री उतर रही थी। उसने सारथि को आदेश दिया तो कृष्ण ने उसके स्वर को पहचाना...यह तो सत्यभामा थी !...सत्यभामा इस समय यहाँ ?...अपनी प्रिया को इस प्रकार अपने निकट पाने का उल्लास भी जागा; किंतु सत्यभामा के इस प्रकार अकस्मात् आने में किसी विपत्ति की भी आशंका थी।

कृष्ण तत्काल बाहर निकल आया।

सारथि को आवश्यक निर्देश देकर सत्यभामा भवन की ओर मुड़ी। वह खड़ी सोच ही रही थी कि भीतर संदेश ले जाने के लिए प्रहरी को कहे अथवा स्वयं ही आगे बढ़े, कि कृष्ण ने पुकारा, "सत्या !"

"आर्यपुत्र !" सत्यभामा विकट आतुरता से कृष्ण की ओर लपकी।

कृष्ण ने उसे अपनी भुजाओं में थाम लिया, नहीं तो कदाचित् वह गिर ही पड़ती। कृष्ण समझ नहीं पाया कि वह इतनी अधिक निढाल थी कि अपने पैरों पर खड़ी नहीं हो पा रही थी अथवा उसने स्वेच्छा से स्वयं को कृष्ण की भुजाओं में उँडेल दिया था !

उसने ध्यान से देखा : सत्यभामा के चेहरे पर उससे मिलने की प्रसन्नता तथा यात्रा की क्लांति के साथ-ही-साथ, किसी भीषण क्षति के दुख और क्षोभ के भी चिह्न थे। वह अत्यधिक कातर और दीन दिखायी दे रही थी।

कृष्ण अपनी भुजाओं के सहारे से सत्यभामा को भीतर लाया। परिचारिका ने दीपाधार के कुछ और दीप प्रज्वलित कर दिये।

"क्या बात है सत्या ?" कृष्ण ने सत्यभामा को पलंग पर बैठाया, "इतनी लंबी यात्रा कर, इस प्रकार असमय ? कोई संदेशवाहक नहीं, कोई समाचार नहीं ! कोई विशेष प्रयोजन ?"

कृष्ण का स्वर गंभीर था और उसमें चिंता की एक हल्की-सी रेखा भी सम्मिलित थी; किंतु उसके मन में कहीं यह संभावना भी थी कि अभी सत्यभामा आँखों में अश्रु भरकर कहेगी कि कृष्ण के बिना, द्वारका में उसका मन नहीं लगा; इसलिए उसे हस्तिनापुर आना ही पड़ा और फिर वह अकस्मात् ही वेगपूर्ण खिलखिलाहट के साथ हँस पड़ेगी।... सत्यभामा की चंचल ऊर्जा के लिए कुछ भी संभावित था। वह अपने मन के वेग के साथ दौड़ती थी, जैसे चंचल ऊर्मियाँ, धारा के साथ दौड़ती हैं।

सत्यभामा की आँखों से सचमुच ही अश्रु वह निकले। कृष्ण को सम्मुख पाकर उसके चेहरे पर आश्वस्ति का जो भाव उपजा था, वह भी जैसे विलीन हो गया। पहली बार उसकी वेदना निर्बंध होकर चेहरे पर प्रकट हुई।

"आर्यपुत्र !" वह क्रंदन के मध्य बोली, "उन्होंने मेरे पिता का वध कर दिया है।"

"किसका वध ?" कृष्ण के मुख से अनायास ही निकल गया।

"मेरे पिता, आर्य सत्राजित का !" सत्यभामा विलख पड़ी।

"किसने किया ?" कृष्ण के स्वर में क्रोध का विस्फोट नहीं था, किंतु आश्चर्य अवश्य था—कदाचित् हत्यारे के दुस्साहस के प्रति।

"द्वारका में तो यही माना जा रहा है कि यह कुकृत्य शतधन्वा ने किया है।"

"कारण ?"

"स्यमंतक मणि !" सत्यभामा बोली, "वह स्यमंतक मणि भी ले गया है आर्यपुत्र !"

"उसे वंदी नहीं किया गया ?"

"नहीं !" सत्यभामा ने अपने आँसू पोंछे, "वैसे भी द्वारका में उसके समर्थक और सहयोगी अत्यंत शक्तिशाली हैं; अन्यथा वह यह दुस्साहस ही कभी न करता।"

"सहयोगी और समर्थक हैं तो क्या हुआ !" कृष्ण वोला, "अपराधी को दंड तो दिया ही जायेगा।"

"यही तो कह रही हूँ," सत्यभामा बोली, "उसके समर्थकों ने शासन को पंगु कर रखा है। राजा अथवा राजसभा की ओर से शतधन्वा को ढूँढ़ने तथा उसे दंडित करने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ है।"

"कौन है उसके साथ ?" कृष्ण ने पूछा; और फिर स्वयं ही जोड़ दिया, "अक्रूर और कृतवर्मा ही तो ?"

"हाँ ! वे ही दोनों हैं।"

"वे इतने शक्तिशाली हो गये हैं कि राजा उग्रसेन हत्यारों को दंड देने में अक्षम हो गये हैं ! द्वारका में आर्य सत्राजित के मित्र हैं, मेरे पिता वसुदेव हैं···कोई भी ?" कृष्ण आश्चर्य से सत्यभामा की ओर देख रहा था।

"शतधन्वा के मित्रों के पास इतनी शक्ति चाहे न हो; किंतु वे सुधर्मा सभा को किसी निर्णय तक नहीं पहुँचने देते। सभा सक्रिय तो तव हो, जव निर्णय कर पाये कि अपराधी कौन है।"

"तुमने पिताजी को वताया नहीं कि अपराधी कौन है ?"

"वे मेरी सुनेंगे, या सुधर्मा सभा की—जहाँ स्वयं अक्रूर और कृतवर्मा वर्तमान हैं।" सत्यभामा बोली, "सभा में प्रत्येक वक्तव्य के साथ प्रमाण माँगे जाते हैं : किंतु प्रमाण तो तव प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जव कोई प्रमाण जुटाए।" सत्यभामा रुकी, "और आप जानते ही हैं कि पिताजी सभा से स्वतंत्र होकर, कभी कोई निर्णय नहीं करते। उन्हें तो आप ही मना सकते हैं। आप वहाँ थे नहीं, और मेरे पिता की हत्या, उनके मन में क्रोध जगा नहीं पायी।"

कृष्ण कुछ नहीं बोला। सत्यभामा भी चुप हो गयी।···जव कृष्ण का मौन लंवा होता गया तो सत्यभामा ने पूछा, "क्या वात है आर्यपुत्र ! क्या आपको मेरा यहाँ आना उचित नहीं लगा ?"

कृष्ण के अधरों पर हल्की-सी मुस्कान आयी, जो उसकी प्रसन्नता की नहीं, विद्रूप की

प्रतीक थी, "मैं हस्तिनापुर आया था पांडवों की मृत्यु के लिए दोषी लोगों को दंडित करने के विचार से; और द्वारका में, मेरी अपनी द्वारका में आर्य सत्राजित जैसे महत्वपूर्ण नागरिक की हत्या हो जाती है, और शासन- तंत्र निष्क्रिय बैठा रहता है। उनकी पुत्री को इतनी लंबी यात्रा कर हस्तिनापुर में अपने पति के पास आना पड़ता है, ताकि वह उसे न्याय दिला सके।…" कृष्ण के मन की तृष्णा उसके चेहरे पर आ गयी, "कंस का वध इसलिए तो नहीं किया गया था कि यादवों पर अनेक कंस शासन करने लगें…।"

सत्यभामा कुछ नहीं बोली। वह अपनी पूरी खुली आँखों से अपने पति को देखती रही।

"अपने विरुद्ध किये गये अपराधों का प्रतिकार करने के लिए, पीड़ित को स्वयं उठना पड़े तो यह शासन के लिए धिक्कार की स्थिति होती है।" कृष्ण ने बहुत धीरे से कहा, "कंस के दमन और शोषण से मुक्त होकर जब यादवों को समृद्धि मिली तो उनको संतोष नहीं हुआ; उनकी धन- लिप्सा का विस्तार ही हुआ है। उनका अहंकार भी स्फीत हुआ है और स्वार्थ भी। वे अपने- अपने स्वार्थ की दृष्टि से सोचते और कर्म करते हैं। सामान्य हित तथा न्याय उनको प्रिय नहीं रहा।…इसका अर्थ यह हुआ कि वे अपने विनाश की ओर चरण बढ़ा रहे हैं।…"

"आप क्या कह रहे हैं आर्यपुत्र !"

"ठीक कह रहा हूँ प्रिये !" कृष्ण ने कहा, "सत्राजित मेरे श्वसुर थे; इसलिए मैं तो उनके हत्यारे को ढूँढ़ ही निकालूँगा और उसे दंडित भी करूँगा; किंतु यदि किसी साधारण जन के विरुद्ध अत्याचार हो तो उसका प्रतिकार कौन करेगा ? शासन का विधान किसलिए है ? प्रजा अपनी आय में से राज्य- कर किसलिए देती है ? इसलिए कि शक्तिशाली लोग सुख- सुविधा से रहें और स्वेच्छाचारी जीवन व्यतीत करें ? समाज और राज्य का विधान, उनके लिए नहीं है क्या ?"

"आर्यपुत्र !"

"प्रिये ! शतधन्वा को इस हत्या के लिए मृत्यु- दंड मिलेगा और यदि सक्रिय सहायता का प्रमाण मिला तो अक्रूर काका और कृतवर्मा भी अदंडित नहीं रहेंगे।"

"तो आप द्वारका कब चलेंगे ?"

"द्वारका !" क्षण- भर को कृष्ण मौन हो गया, "कुंती बुआ और उनके पुत्रों की उदक- क्रिया कर चुका हूँ। अस्थि- संचय के लिए वारणावत जाना चाहता था; किंतु अब…"

कृष्ण ने द्वार से बाहर झाँका। प्रहरी आकर खड़ा हो गया, "आज्ञा वासुदेव !"

"सुलभ !" कृष्ण ने कहा, "देखो, यदि उद्धव सोया नहीं है, तो उसे बुला लाओ।"

उद्धव के आने तक कृष्ण ने मौन धारण किये रखा। सत्यभामा जानती थी कि कृष्ण की चिंतन- प्रक्रिया चल रही है। संभव है कि मन- ही- मन योजना बन रही हो। वह कृष्ण की इस मुद्रा को पहचानती थी। यह भी जानती थी कि कृष्ण के मन में कर्म का निर्णय पहले होता है और विधि बाद में निर्धारित होती है… संभवतः इस समय विधि- निर्धारण की ही प्रक्रिया चल रही थी।…

उद्धव आया। उसने सत्यभामा को प्रणाम किया।

"तुम सो तो नहीं गये थे उद्धव ?" कृष्ण ने पूछा।

"नहीं ! सोया नहीं था।" उद्धव का स्वर गंभीर था, "सत्या भाभी के आने की सूचना मुझे मिल गयी थी। मैं समझ गया था कि द्वारका में कुछ- न- कुछ असाधारण घटित हो गया

है। तभी तो भाभी को इस प्रकार इतनी लंबी यात्रा कर यहाँ आना पड़ा।"

"तो तुम तत्काल आये क्यों नहीं ?"

"सोचा, पहले तुम भाभी से बात कर लो; फिर तो मुझे बुला ही लोगे।"

कृष्ण ने संक्षेप में उद्धव को सत्राजित के वध का समाचार दिया और बोला, "मैं कल प्रातः द्वारका के लिए चल पड़ूँगा। इस कार्य में जितना विलंब होगा, शतधन्वा को पकडना उतना ही कठिन होता जायेगा।"

"मैं व्यवस्था करता हूँ।" उद्धव जाने के लिए मुड़ा।

"ठहरो उद्धव !" कृष्ण ने पुकारा, "तुम मेरे साथ नहीं चल रहे हो !"

"क्यों ?"

"तुम वारणावत जाओ। पांडवों की अस्थियों के संचय के लिए।"

"ओह !" उद्धव के मुख से निकला, "हत्यारे तो यहाँ भी हैं।"

"सावधान रहना।" कृष्ण ने चेताया, "जहाँ-जहाँ पांडवों के जाने का प्रमाण मिले, वहाँ-वहाँ जाना। जो-जो पांडवों से मिला हो, उससे मिलना। अधिक-से-अधिक जानने का प्रयत्न करना; किंतु प्रकट केवल यही हो कि तुम अत्यंत शोक-संतप्त होकर, भावनावश भटक रहे हो और मात्र प्रेत-कर्म का विधान पूरा कर रहे हो।''' आशा है, तब तक मैं शतधन्वा को खोज निकालूँगा।"

"शतधन्वा के पीछे अकेले जाओगे कृष्ण ?"

"नहीं ! भैया बलराम को साथ ले जाऊँगा। शतधन्वा को उसके अपराध का दंड भी देना है और उससे स्यमंतक मणि भी लौटानी है। भैया साथ जाने से मना नहीं करेंगे।" कृष्ण ने अपनी भुजाएँ आगे बढ़ायीं, "आओ ! तुमसे गले तो मिल लूँ।''' प्रातः तुम्हारे जागने से पूर्व ही मैं चल पड़ूँगा।"

उद्धव आगे बढ़कर कृष्ण के वक्ष से लग गया, "प्रातः सारा हस्तिनापुर तुम्हारे विषय में पूछेगा।"

"हाँ ! उन्हें बता देना कि कृष्ण अपने श्वसुर के हत्यारे को दंडित करने गया है।" कृष्ण ने धीरे से कहा, "दुर्योधन और धृतराष्ट्र, शतधन्वा के कृतज्ञ होंगे कि उसने उनके वक्ष पर बैठे कृष्ण से उन्हें मुक्ति दिला दी।"

"और पितामह तथा विदुर काका ?"

"उनको मेरा प्रणाम कहना और मेरी ओर से खेद प्रकट करना कि विदा होते हुए मैं उनसे मिल नहीं सका।"

15

संध्या हो रही थी।

अन्न-जल के बिना चलते-चलते, वे सब थककर चूर हो चुके थे। कुंती को भीम ने अपने कंधे पर उठा रखा था और आगे-आगे चल रहा था। उसके पश्चात् अर्जुन था और उनके पीछे-पीछे युधिष्ठिर, नकुल तथा सहदेव, अपने संपूर्ण संचित बल को लगाकर किसी प्रकार

घिसटते चल रहे थे।

कुंती यद्यपि पैदल नहीं चल रही थी; किंतु भीम के द्वारा कंधे पर उठाये जाने से पूर्व ही वह अपनी क्षमता-भर चल चुकी थी। जिस क्षण उसे लगा था कि वह अपनी शक्ति पर तो खड़ी भी नहीं रह सकती, तब ही उसने भीम से सहारा माँगा था। भीम ने कदाचित् माँ के कहे बिना ही उसकी स्थिति समझ ली थी और उसे अपने कंधे पर बैठा लिया था। पुत्र के कंधे पर बैठकर इस प्रकार यात्रा करना कुंती के लिए सुविधाजनक नहीं था। वे लोग ऐसे वन में से यात्रा कर रहे थे, जहाँ एक पगडंडी तक नहीं थी। वह तो भीम ही था, जो लगातार मार्ग बनाता चल रहा था। वह कभी लपककर चलता, कभी धीरे; कभी उचकता, कभी झुकता; कभी झपटता और कभी कूद ही जाता। इन लगातार धक्कों और झटकों से कुंती को लगता था, जैसे कोई उसे उठा-उठाकर पटक रहा है। उसकी अपनी ही हड्डियाँ जैसे उसके अपने मांस में चुभ रही थीं। इस समय उसके मन में एक ही इच्छा थी कि कहीं, किसी भी समतल स्थान पर वह अपने इस शरीर को पूर्णतः पसारकर, शांति से सो जाये।

वे लोग पिछली आधी रात और आज का सारा दिन बिना विराम लिये चलते रहे थे। वारणावत में उन्होंने आगंतुकों को तो इतना भोजन करवाया था; किंतु स्वयं चुपचाप भाग निकलने की तैयारी में कुछ भी खा नहीं पाये थे। कदाचित् भोजन की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया था। सुरंग से निकलने के पश्चात् तो जैसे एक ही धुन उनके मन में समाई हुई थी कि किसी प्रकार वे लोग उस स्थान से इतनी दूर निकल जायें, जहाँ न कोई उन्हें पहचानने वाला हो ; और न ही कोई उनपर किसी प्रकार का संदेह कर पाये। ऐसे में न वे कहीं रुके, न उन्होंने भोजन के विषय में सोचा; और न ही वन में कोई फल इत्यादि प्राप्त करने का प्रयत्न किया।

भोजन का ध्यान आते ही कुंती को भूख की इतनी तीव्र अनुभूति हुई, जैसे उन छः प्राणियों की भूख मिलकर, उसी के पेट में समा गयी हो। अपनी भूख उसके लिए शायद इतनी कष्टप्रद नहीं थी, जितनी यह अनुभूति कि उसके पाँचों पुत्र न केवल कल रात से भूखे हैं, वरन् अनवरत भागते हुए, उन्हें इतना श्रम भी करना पड़ रहा है, जिसके पश्चात् उन्हें सामान्य से कई गुना अधिक भोजन और विश्राम मिल जाना चाहिए था।''' कुंती अपने सूखे होंठों को गीला करने के लिए उनपर जिव्हा फेरती तो उसकी आँखें बरबस ही नकुल और सहदेव के अधरों की ओर चली जातीं—बेचारे बच्चे ! कैसे मुरझा गये हैं, और उसपर लगातार भागते चले जा रहे हैं।'''

भीम के प्रति उसके मन में गर्व की अनुभूति जाग रही थी। वह यह तो जानती ही थी कि उसके इस पुत्र में सामान्य व्यक्ति की तुलना में असाधारण शक्ति और उर्जा है; किंतु उसके इस सामर्थ्य का अनुमान उसे कभी नहीं था। उसे लगने लगा था कि अब उसे अपने पुत्रों के प्रति अपने मन में बैठा 'बेचारे बच्चे' का भाव निकाल फेंकना चाहिए। वे अब समर्थ हो गये हैं; किंतु यदि भीम इतना समर्थ न होता, तो क्या इससे अच्छा न होता। तब वह भी थकता और कहीं बैठकर विश्राम करने की इच्छा तो प्रकट करता। तब वह बेचारे नकुल और सहदेव को इस प्रकार घसीटता ही न जाता।'''युधिष्ठिर की अवस्था भी बहुत अच्छी नहीं थी।''' अर्जुन अभी पूर्णतः हताश दिखायी नहीं दे रहा था, यद्यपि थक वह भी गया था।

अपने अधरों तक आया शब्द, 'जल', कुंती ने कितनी ही बार लौटा दिया था; किंतु अब और रुकना उसके लिए संभव नहीं था।

"पुत्र भीम !" उसने पहली बार अनुभव किया कि वह अपनी भूख-प्यास तथा थकान

से उस सीमा तक पहुँच गयी है, जहाँ दो शब्द बोलने का श्रम भी जैसे महान पराक्रम के समान था।

"क्या बात है माँ ?" भीम ने अपनी गति को तनिक भी शिथिल नहीं होने दिया।

"जल !" कुंती ने अपने सूखे अधरों पर जीभ फेरी, "थोड़ा-सा जल मिलेगा क्या ?"

"बहुत प्यास लगी है न माँ !" भीम अपनी माँ को वैसे ही बहला रहा था, जैसे कोई माता अपने पुत्र को बहलाती हो। उसके पग तनिक भी शिथिल नहीं हुए थे; किंतु उसकी आँखें, उस झुटपुटे में इधर-उधर देख रही थीं—क्या कहीं जल के वर्तमान होने का कोई प्रमाण है...

भीम के साथ-साथ, सारे भाइयों की आँखें भी दसों दिशाओं में घूम रही थीं।... कहीं थोड़ा-सा जल होने का कोई प्रमाण...

सहसा भीम की आँखों में एक हल्की-सी चमक आयी, "माँ ! वह देखो जलचर सारस।"

"हाँ पुत्र !" कुंती के चेहरे पर भी संतोष का भाव प्रकट हुआ, "संभव है कि निकट ही कहीं जल हो।"

भीम के पग रुक गये। वह निकट के सबसे बड़े वृक्ष के पास न केवल रुक गया, वरन् उसने कुंती को कंधे से उतारकर वृक्ष के तने के सहारे से बैठा दिया, "मैं देखता हूँ माँ !"

चारों भाइयों के चेहरों पर भी प्रफुल्लता की झलक आयी, जैसे वे लोग अपने गंतव्य पर पहुँच गये हों। किसी ने कुछ कहा नहीं, किंतु सब मानो आश्वस्त थे कि किन्हीं भी कारणों से, अब वे थोड़ा विश्वास कर सकेंगे।... भीम अभी दृष्टि उठाये सोच ही रहा था कि वह किस दिशा में जाये कि एक-एक कर नकुल, सहदेव, युधिष्ठिर तथा अर्जुन, अपनी माँ को घेरकर उसके निकट ही भूमि पर बैठ गये।

भीम समझ रहा था कि वे लोग सीमातीत रूप से थक भी चुके हैं और भूख-प्यास से निढाल भी हैं।... ऐसी स्थिति में किसी से भी किसी सहायता की अपेक्षा करने का कोई अर्थ नहीं था। यदि वे लोग इस प्रकार श्रांत-क्लांत न होते तो वे तीन भाई, तीन दिशाओं में जल की खोज में जाते, चौथी दिशा से तो वे आ ही रहे थे।... वैसे सत्य तो यह था कि उनका दिशा-ज्ञान भी लुप्त हो गया था। वे तो जैसे बिना देखे, बिना सोचे-समझे, केवल एक ही लक्ष्य मन में रखकर भागते आये थे कि किसी प्रकार वारणावत से अधिक-से-अधिक दूर निकल जायें; और सघन-से-सघन किसी ऐसे वन में धँस जायें, जहाँ आज तक किसी मनुष्य ने पैर भी न रखा हो, ताकि दुर्योधन का कोई चतुर-से-चतुर गुप्तचर भी यह कल्पना न कर पाये कि उनके वहाँ होने की संभावना भी हो सकती है।

"आप लोग विश्राम कीजिए। मैं जल की खोज में जाता हूँ।" भीम के मन की स्थिति उस माँ की-सी हो रही थी, जो स्वयं भी बहुत थकी हुई हो, किंतु अपनी संतान का कष्ट देखकर अपना कष्ट भूल जाये।

किसी ने भी मुख से कुछ नहीं कहा, बस, अपनी आँखों से ही स्वीकृति दे दी।

सारस पक्षी को देखकर, भीम ने यह अनुमान तो लगाया था कि निकट ही कहीं कोई जलाशय तो होना चाहिए ; किंतु उसकी दिशा को जानने के लिए पक्षी कोई सहायता नहीं कर सकते थे। उसके लिए तो भूमि पर पशुओं के पद-चिन्हों से ही सहायता मिल सकती थी।...

कुछ अनुमान और कुछ अभ्यास के आधार पर भीम आगे बढ़ता जा रहा था, किंतु एक चिंता उसके मन में लगातार बनी हुई थी कि कहीं वह वन में भटकता हुआ, अपने भाइयों और माता से ही दूर न चला जाये। यदि ऐसा कुछ हो गया तो समय तथा दूरी का विस्तार और भी कष्टप्रद हो जायेगा। अभी तो सूर्य का इतना प्रकाश था कि वह मार्ग देख सकता था; किंतु थोड़ी ही देर में पूर्ण अंधकार हो जायेगा। तब जाने इस वन में कुछ दिखायी दे या न दे।

भीम सावधानीवश वनस्पतियों की टहनियों को तोड़ता, मार्ग पर पत्तों को बिखेरता तथा लताओं को उलझाता हुआ, लौटने के लिए मार्ग में चिह्न छोड़ता जा रहा था।

उसका अनुमान ठीक निकला : जल पीकर लौटते हुए कुछ पशुओं ने उसके अनुमान की पुष्टि ही नहीं की, उसे स्पष्ट दिशा-निर्देश भी कर दिया। थोड़ी ही देर में भीम जलाशय के सम्मुख खड़ा था।

जल देखते ही भीम अपनी वृत्ति के आवेश में, सीधा जलाशय में जा कूदा। उसने दो-तीन डुबकियाँ लगायीं और पानी के कुछ घूँट पिये तो उसका मन कुछ शांत हुआ ; और उसकी बुद्धि ने काम करना आरंभ किया : माँ को प्यास लगी थी। उसके भाई भी अवश्य ही जल की प्रतीक्षा कर रहे होंगे और वह यहाँ जल-क्रीड़ा में लगा है...

किंतु वह जल लेकर किसमें जायेगा ?...उसके पास कोई भाजन भी तो नहीं है। उन्होंने जिस मनःस्थिति में शिव-भवन छोड़ा था, उसमें यह तो सोचा ही नहीं था कि उन लोगों को भोजन पकाना भी होगा, खाना भी होगा। उसके लिए रसोई की आवश्यकता होगी और रसोई में भांड भी होने चाहिए, भाजन भी और पात्र भी !...और तो और, उन्होंने अपने शस्त्र भी साथ नहीं लिये, कि शत्रुओं से युद्ध ही कर सकें। शस्त्र साथ न लाने का निर्णय उचित था क्या ?...

सहसा भीम ने अपने मस्तक को झटका...वह फिर किसी और विवाद में उलझ रहा है। शस्त्र साथ लाने या न लाने, उसके औचित्य अथवा अनौचित्य के विषय में सोचने का एक यही उपयुक्त समय तो नहीं था। उसे तो शीघ्रातिशीघ्र अपनी माता और भाइयों के लिए जल लेकर वहाँ पहुँचना है।... कदाचित् जल ले जाने की दृष्टि से ही उसे अपने शस्त्रास्त्रों का स्मरण हो आया था। उसके पास यदि तूणीर भी होता, तो वह उसमें जल भरकर ले जा सकता था।...किंतु इस समय ?...इस समय तो वह आस-पास के वृक्षों से पत्ते तोड़कर उन्हें तिनकों से जोड़कर उनके पात्र बनाने में भी समय नहीं गँवा सकता था...वैसे अपने निकट के वृक्षों पर उसे कोई बड़ा पत्ता दिखायी भी नहीं पड़ रहा था... तो ?...उसके पास बस अपना उत्तरीय ही था, जिसमें... वह पुनः चौंका। क्या हो गया है उसे ! वह अपने उत्तरीय में जल की गाँठ बाँधकर तो ले नहीं जा सकता। अधिक-से-अधिक वह अपना गीला उत्तरीय ही ले जा सकता है।... तो वह अपना गीला उत्तरीय ही ले जाये। कम-से-कम माँ का चेहरा तो गीले वस्त्र से पोंछ सकेगा, उनके मुख में जल की दो-चार बूँदें तो टपका सकेगा।...

भीम ने उत्तरीय को भली प्रकार गीला किया, बहुत सावधानी से उसे अपनी दोनों हथेलियों में थामा और जलाशय से बाहर निकल आया। उसके पग, वेगपूर्वक उस वृक्ष की दिशा में उठ रहे थे, जहाँ वह अपनी माता और भाइयों को छोड़कर आया था। उसने उत्तरीय को अपनी अंजलि में इस प्रकार सहेजकर रखा था कि जल की एक बूँद भी धरती पर न गिरने पाये। किंतु उसकी अंजलि कोई भाजन तो थी नहीं कि जल की बूँद उसमें से रिस न सकती।... पानी की एक बूँद धरती पर टपक पड़ती तो उसके पग अपनी गति कुछ और बढ़ा देते... किंतु पगों

से भी अधिक गति से उसका मस्तिष्क चल रहा था… अब वह जान गया था कि जलाशय कहाँ है। जल में डुबकियाँ लगाने तथा जल पी लेने से उसकी क्लांति भी मिट गयी थी।…अब वह माता को अपने कंधे पर बैठा कर, अथवा यदि उन्हें कंधे पर बैठने में कष्ट हो तो गोद में उठाकर यहाँ तक ला सकता है। वे आवश्यतानुसार, मन भर-कर, जल पी लें और नहा लें; ताकि अंगों की सारी क्लांति मिट जाये।… उसके भाई भी थके हुए हैं, किंतु इतने निढाल तो नहीं हैं कि चलकर यहाँ तक भी न आ सकें। वे लोग धीरे-धीरे यहाँ तक आ ही जायेंगे।… और एक बार यहाँ तक आ जाने के पश्चात् आगे प्रस्थान करने तक, वे लोग इस जलाशय के निकट ही विश्राम कर सकते हैं। उन्हें भोजन भी तो… और सहसा भीम को लगा, उसे तो बहुत जोरों की असह्य भूख लगी है। उसके डग और भी बड़े-बड़े तथा वेगशाली हो गये। वह प्रायः दौड़ रहा था…

लौटकर वृक्ष के पास आया तो भीम ने देखा, माँ और चारों भाई सब-के-सब निढाल होकर, वहीं, भूमि पर ही लेट गये थे। कदाचित् वे लोग इतने थक गये थे कि इस बात का विचार भी उनके मन से निकल गया था कि वे लोग भूमि पर बिना कुछ बिछाए ही, मिट्टी पर लेट गये थे। उनके वस्त्र धूल से मैले हो रहे थे। उनके अंग मिट्टी में सने जा रहे थे। स्वच्छता-अस्वच्छता का विचार करने के लिए उनके पास ऊर्जा ही नहीं बची थी। उनकी क्लांति कदाचित् अपनी सारी सीमाएँ लाँघ गयी थी।…

भीम निकट आया। सबसे पहले वह कुंती के पास गया; किंतु माँ को पुकारते-पुकारते रुक गया… माँ शायद सो चुकी थीं। उन्हें जगाना उचित होगा क्या? किंतु उन्हें प्यास लगी थी… वे भूखी भी थीं।… भीम को स्मरण हो आया कि उसको लेकर प्रायः यही द्वंद्व माँ के मन में भी रहता था। वह अपनी क्षमता से भी अधिक खेल कर, थका-हारा माँ के पास लौटता था। उसे भूखा जान, माँ जब उसके लिए भोजन लातीं, तब तक वह सो चुका होता था। माँ सदा ही इस द्वंद्व में खड़ी रह जातीं कि उसके लिए भोजन की आवश्यकता अधिक है अथवा निद्रा की। भूखे पेट को भोजन चाहिए तो थके तन को विश्राम भी तो चाहिए ही।…

भीम को लगा, यदि वे लोग सो गये हैं तो उन्हें जगाना उचित नहीं है। वे लोग थोड़ा सो लेंगे तो कुछ अधिक स्वस्थ और बलशाली होकर जागेंगे। आगे की यात्रा पर चलने से पहले वे लोग जल पी लेंगे।… और फिर वह जल लाया भी कहाँ है! एक गीला उत्तरीय मात्र ही तो था उसके पास! गीले उत्तरीय से उनका चेहरा पोंछने के लिए उन्हें जगा देना तो बहुत लाभप्रद कार्य नहीं था।…

पहली बार भीम का ध्यान इस ओर गया कि अब तक अंधकार घिर चुका था। रात हो गयी थी।… सोना तो था ही… कल सारी रात न केवल वे लोग सोये नहीं थे, आधी रात के बाद से तो लगातार चलते ही रहे थे। आज दिनभर भी कहीं थमे नहीं थे। आज रात तो सोना ही था। भीम स्वयं यदि आज रात चल भी लेता, तो भी माँ और भाई नहीं चल पाते। कहीं तो सोना था ही। अब यहाँ सो गये हैं, तो यहीं सही!

पर कैसे सोये हैं!…जिन लोगों को प्रासादों में पर्यकों के कोमल विष्टर पर नींद नहीं आती थी, वे नंगी धरती पर बिना किसी आस्तरण के सो रहे हैं।… केवल उस दुष्ट दुर्योधन

के कारण ! आरंभ से ही वह उनके पीछे पड़ा है । वे लोग मौन-मूक, चुपचाप सब कुछ सहते रहे हैं··· और सहसा भीम के मन ने दूसरी दिशा में सोचना आरंभ कर दिया··· जब वे जानते हैं कि उनके सारे कष्टों का कारण, वह दुष्ट दुर्योधन ही है, तो वे लोग कायरों के समान, इस प्रकार रात के अंधकार में छुपकर भाग क्यों रहे हैं ?···वे पाँचों भाई अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर सीधे-सीधे उनसे लड़ क्यों नहीं लेते ? आत्मरक्षा तो कोई पाप नहीं है ! दुष्ट-दलन अपराध नहीं है । क्षत्रिय राजा का तो धर्म है दुष्ट-दलन !···तो फिर वे भाग क्यों रहे हैं ?···उन्हें अपनी क्षमता पर विश्वास नहीं है ? या हस्तिनापुर का राजा सचमुच इतना शक्तिशाली है कि वह सूर्य के उजाले में, सब के देखते हुए, अपने सैनिकों द्वारा उन्हें घेरकर मार डालेगा ?···किंतु यदि वह इतना ही शक्तिशाली था तो उसने उन्हें वारणावत में इस प्रकार धोखे से जलाकर मार डालने का प्रयत्न क्यों किया ?···और यदि सेना की ही बात है तो क्या वे लोग सेना एकत्रित नहीं कर सकते ? एक बार वे भी प्रयत्न कर देखें—क्या हस्तिनापुर की सेना का कोई भी भाग, उनके पक्ष में आ खड़ा नहीं होगा ? और यदि हस्तिनापुर की सेना उनके पक्ष में नहीं आती, तो क्या वे एक नयी सेना नहीं बना सकते ?···किंतु सेना के निर्माण के लिए तो धन चाहिए । धन नहीं होगा तो सैनिकों को वेतन कहाँ से दिया जायेगा ?···और फिर सेना भी इतनी समर्थ, जो हस्तिनापुर की सेना से टकरा सके ।···

सहसा भीम का ध्यान कृष्ण की ओर चला गया ।···कृष्ण ने जब कंस का वध कर, यादवों को उस अत्याचारी से मुक्त कराया था, तब कृष्ण के पास कौन-सी सेना थी ? वह भी तो अपने साहस और बल के आधार पर शक्तिशाली मथुरापति से जा टकराया था । वे तो केवल दो ही भाई थे—निःशस्त्र । बिना किसी शस्त्र के, उन्होंने राज्य की सारी शक्ति को चुनौती दी थी ।···पांडव तो फिर पाँच हैं ।···भीम को पूरा विश्वास है कि वह अकेला ही दुर्योधन और उसके भाइयों को यमलोक पहुँचा सकता है··· किंतु युधिष्ठिर !···तो क्या वे लोग यह सारा कष्ट मात्र युधिष्ठिर के कारण सहन कर रहे हैं ?···युधिष्ठिर की भीरुता के कारण··· या युधिष्ठिर के धर्म के कारण ?···नहीं ! युधिष्ठिर भीरु नहीं है···वह कायर नहीं है··· किंतु धर्म ?···भीम को, युधिष्ठिर की यह आनृशंसता कभी प्रिय नहीं रही !···दुर्योधन की एक दुष्टता के उत्तर में, भीम ने उसके साथ अपने सारे प्रेम-संबंध तोड़ दिये थे । दुर्योधन की ग्रीवा को मरोड़ने में, उसके वक्ष पर अपनी गदा का प्रहार करने में, अथवा उसके वक्ष को अपने तीक्ष्ण बाणों से बींधने में भीम को रंचमात्र भी संकोच नहीं होगा । वरन् उसे रक्त में लोटता देख, भीम को तो प्रसन्नता ही होगी ।···किंतु युधिष्ठिर का मन जाने कैसा है ! वह अब भी दुर्योधन को अपना भाई मानता है । वह दुर्योधन को अपनी, अपने भाइयों की तथा अपनी हत्या के लिए, न केवल क्षमा कर सकता है वरन् अभी भी उससे भाइयों जैसा प्रेम कर सकता है ।···भीम को क्रोध आता है । वह युधिष्ठिर की इस उदार हृदयता, क्षमाशीलता तथा शांतचित्तता को तनिक भी समझ नहीं पाता।···वह मनुष्य है या पाषाण ? उसपर किसी विरोध, षड्यंत्र, आघात अथवा कष्ट का कोई प्रभाव ही नहीं होता ।···या वह सचमुच ही स्थिरबुद्धि है, जिसका चिंतन और कर्म अपनी इच्छा और भावना के अनुसार चलता है; दूसरों के व्यवहार का उसपर कुछ भी प्रभाव नहीं होता···वह तो कहो कि युधिष्ठिर पर अपनी माता और भाइयों का दायित्व है; उनकी सुख-सुविधा के लिए धन की भी आवश्यकता है और अधिकार की भी; अन्यथा अपने लिए तो कदाचित् कभी कुछ भी न माँगता । क्षत्रिय कुल में

जन्म न लिया होता, तो कदाचित् अब तक वह संन्यासी हो गया होता···कुछ लोग शायद जीवन से अपने लिए कुछ नहीं माँगते···

भीम का मस्तिष्क भी जैसे शिथिल होने लगा। उसकी पलकें भारी होने लगीं। उसकी चेतना स्वयं अपने-आपको ही बता रही थी कि उसे नींद आ रही है; और उसने स्वयं अपने-आप को नहीं रोका, तो वह भी अपने भाइयों के साथ भूमि पर लुढ़क जायेगा।···किंतु तभी जैसे भीम जाग गया···वे लोग दुर्योधन से बचकर, इसलिए तो नहीं भागे थे कि वन के पशुओं के मुख का ग्रास बन जायें। उसकी माता और उसके भाई, वन में सर्वथा असुरक्षित सोये हुए थे। उनके पास कोई शस्त्र नहीं था। यदि वह भी थककर सो गया तो···उसका जागना तो और भी कठिन होगा।···

भीम ने अपने मस्तक को दो-तीन झटके दिये···नहीं! उसका सोना उचित नहीं है। वह सो नहीं सकता···जब तक उसके भाइयों में से कोई अपनी नींद पूरी कर जाग नहीं जाता, तब तक वह सो नहीं सकता। कुछ भी हो जाये, उसे प्रहरी बनकर जागना ही पड़ेगा···

16

शाल वृक्ष पर बैठे हिडिंब ने अपनी बहन हिडिंबा की ओर देखा, "यह बैठे-बैठे ही सो गया क्या?"

उनींदी हिडिंबा ने सायास अपनी आँखें खोलीं, "क्या बड़बड़ाते जा रहे हो?"

"तुम्हें नींद आयी है क्या?" हिडिंब ने पूछा।

"आयी तो है!" वह बोली।

"तो भूखी ही सोयेगी क्या? और मुझे भी भूखा रखेगी?"

"भोजन का प्रबंध नहीं करोगे तो भूखी ही सोऊँगी; और तुम भी भूखे ही रहोगे!"

"भोजन का ही तो प्रबंध कर रहा हूँ मूर्खे!" हिडिंब बोला, "आँखें खोल और ध्यान से उस ओर देख!"

"क्या है उस ओर?" हिडिंबा ने अपना मुख उधर घुमाया।

"छः मनुष्य!" हिडिंब उल्लसित स्वर में बोला, "एक स्त्री है और पाँच पुरुष! हृष्ट-पुष्ट हैं। शरीर पर भरपूर मांस है। जी भरकर खाना और तानकर सोना!"

"तो अभी तक तुम लाये क्यों नहीं? किसकी प्रतीक्षा कर रहे हो?"

"सोच रहा था कि यह मोटा भी सो जाता···पर यह तो बैठा है। पता नहीं बैठा-बैठा ही सो गया या यह प्रहरी बनकर सारी रात जागता ही रहेगा!"

"तो तुम अपने ही क्षेत्र में एक जागते हुए मनुष्य से डरते हो?"

"डरता नहीं हूँ।" हिडिंब ने रोषपूर्वक उसकी ओर देखा, "तेरा काम सरल करने की सोच रहा था!"

"मेरा काम?"

"हाँ! पर अब वह तो सोयेगा नहीं।" हिडिंब बोला, "ऐसा कर, पहले तो जो यह जाग रहा है, उसी को मार डाल। फिर जो सोये हुए हैं, उनकी ग्रीवा मरोड़ दे।"

"मैं ?" हिडिंबा के स्वर में आपत्ति का भाव था, "तुम क्यों नहीं जाते ? आजकल तुम बहुत आलसी हो गये हो। सारा काम मुझसे ही करवाना चाहते हो। मुझे वैसे भी नींद आ रही है। तुम जाते हो तो जल्दी जाओ, नहीं तो मैं सोने लगी हूँ।"

"यहीं पेड़ पर ही सोयेगी ? घर भी नहीं जायेगी ?"

"मुझे नींद आ रही है न !⋯"

"नींद तो तेरी मैं खोलता हूँ !" हिडिंब ने खींचकर हिडिंबा को एक लात मारी, "यहाँ तब से वृक्ष पर टँगे हैं कि अब स्वादिष्ट और कोमल नर-मांस खाने को मिलेगा; और इसे नींद आ रही है !"

हिडिंबा डगमगायी। तनिक भी असावधान होती, तो वृक्ष से नीचे जा गिरती।

हिडिंबा को लगा, उसकी नींद ही नहीं उड़ गयी, उसकी भूख भी जैसे समाप्त हो गयी है। उसके मन में भीषण क्रोध जन्म ले रहा था; और वह क्रोध उन सोए हुए मनुष्यों के प्रति नहीं, अपने इस भाई के प्रति था, जो दिन-प्रतिदिन आलसी होता जा रहा था। बस, खाता था और सोता था। हाथ तक हिलाना नहीं चाहता था। कहने को तो वह स्वयं को हिडिंब-वन का राजा कहता था; किंतु प्रजा-पालन करने के लिए नहीं, अपनी आज्ञाओं का पालन करवाने के लिए।⋯ और इधर तो जितना आलसी होता जा रहा था, उतना ही क्रोधी भी। आज प्रातः से तीसरी-चौथी बार उसने हिडिंबा को मारा था। छोटी-सी बात पर इस प्रकार क्रुद्ध हो जाता था कि आपे में ही नहीं रहता था⋯

"तू जाती है या नहीं ?" हिडिंब ने उसे घूरा।

"तुम स्वयं क्यों नहीं चले जाते ?" हिडिंबा का मन, अपने भाई के क्रोध से सहमा हुआ अवश्य था; किंतु वह अपने रोष को भी नियंत्रित नहीं कर पा रही थी।⋯एक बार तो उसके मन में आया कि वह अपने भाई पर ही झपट पड़े। उसे भूमि पर पटककर उसके वक्ष पर चढ़ ज़ाये।⋯उन मनुष्यों से तो वह बाद में निबट लेगी, पहले अपने भाई का ही रक्त पी जाये।⋯इसका यह आतंक भी समाप्त हो और प्रतिक्षण इसकी मार खाने से भी मुक्ति मिले⋯

"मेरी इच्छा ! मैं नहीं जाता।" हिडिंब बोला, "इस वन का राजा मैं हूँ। तेरा काम है मेरी आज्ञाओं का पालन करना, मेरी सेवा करना⋯"

हिडिंबा समझ गयी, इस क्षण उसका निस्तार नहीं है। उसे जाना तो पड़ेगा ही; किंतु अपनी असहायता का बोध, उसके क्रोध को कम करने के स्थान पर और भी प्रचंड कर रहा था।

"और यदि न जाऊँ तो ?" उसने कहा।

"हड्डियाँ तोड़कर रख दूँगा तेरी !" हिडिंब की आँखों में रक्त उतर आया।

इससे पहले कि वह सचमुच उसकी हड्डियाँ तोड़ने का उपक्रम करता, हिडिंबा वृक्ष से नीचे उतर आयी। इस समय उसकी विचित्र स्थिति हो रही थी।⋯ एक ओर उसे नींद आ रही थी और उसका मन हो रहा था कि किसी एकांत स्थान मे जाकर लेट जाये और देर तक गहरी नींद में सोयी रहे। दूसरी ओर उसे भूख भी⋯ किंतु उसे लगा कि थोड़ी देर पहले तो उसे भूख लगी थी; पर अब शायद भूख उसके क्रोध के नीचे दब गयी थी। संभवतः अब उसे नींद भी नहीं आ रही थी। नींद शायद उचट गयी थी⋯

और अंततः उसे लगा कि वह कुछ भी समझ नहीं पा रही है। कदाचित् उसका मन इस जीवन से ही उचट गया था। भूख की स्थिति में भी उसके भाई ने स्वादिष्ट नर-मांस की चर्चा की थी, तो उसके मन में तनिक भी उत्साह नहीं उपजा था कि लपककर जाये और उन सारे नरों को, अथवा उनमें से किसी एक-आध को मारकर ले आये⋯ उसे कच्चा खाये अथवा भूनने का प्रबंध करे⋯ अब उसे अपना भाई भी अच्छा नहीं लगता था। उसकी वह दैनंदिन की डाँट-डपट और मार-धाड़, उसे अपने संबंधों का सहज रूप नहीं लगता था। उसकी संगति में न उसके मन में उल्लास जागता था, न शरीर में ऊर्जा। उसकी आज्ञाओं को मानकर, उसकी सेवा कर, उसे तनिक भी प्रसन्नता नहीं होती⋯

इस क्षण भी उसकी इच्छा हो रही थी कि अपने भाई की आज्ञा मानकर, उन मनुष्यों की ओर जाने के स्थान पर, वह किसी भी नयी और अजानी दिशा में निकल जाये, जहाँ न उसका भाई हो और न ही ये अजाने मनुष्य! वह किसी ऐसे स्थान पर चली जाये, जहाँ⋯ जहाँ⋯ किंतु उसके आगे, सिवाय अपने मन की व्याकुलता के, उसे और कुछ भी समझ में नहीं आता⋯ जाने वह क्या चाहती है⋯

वह अपने मन के ऊहापोह में ही यहाँ तक चली आयी थी; और अब वे मनुष्य उसके अत्यंत निकट थे। उसे लगा, उस उदासीनता में भी, चाहे अभ्यासवश ही क्यों न हो, क्षण भर के लिए, उसके मन में नर-मांस का स्वाद जागा⋯ वह और आगे बढ़ आयी। पाँच लेटे हुए और एक बैठा हुआ मानव शरीर⋯। अपने अभ्यास से वह जानती थी कि यदि एक मनुष्य बैठा हुआ है और जाग रहा है, तो उसके जीवित रहते हुए, वह उसके सोए हुए साथियों को हाथ नहीं लगा सकती। इसलिए पहले तो उसे उस बैठे हुए मनुष्य से ही निबटना होगा⋯

वह उस बैठे हुए मनुष्य की ओर बढ़ी। वह एक वृक्ष के तने से टेक लगाये, उसकी जड़ों के उभरे हुए अंश पर निःस्पंद बैठा था। संभव था कि वह भी सोया हुआ ही हो; अथवा सोया हुआ न हो, यूँ ही बैठा, आँखें मूँदे हुए सुस्ता रहा हो। यदि वह सोया हुआ है, तो व्यर्थ की ध्वनि से उसे जगाना, आखेट के नियमों के विरुद्ध था। और यदि वह जाग ही रहा था, तो उसकी असावधानी में ही उसपर आक्रमण करना उचित था।

हिडिंबा के मन का द्वंद्व फिर उसके पैरों की बेड़ी बन रहा था : एक ओर वह स्वयं को इन मनुष्यों के आखेट के लिए साध रही थी और दूसरी ओर उसका मन लगातार विद्रोह कर रहा था कि वह अपने उस दुष्ट भाई हिडिंब के लिए आखेट क्यों करे? वह इन छः मनुष्यों का आखेट करे, अपनी जान जोखम में डाले; और वह वहाँ बैठा-बैठा टाँगें पसारकर उनके मांस का स्वाद ले।⋯वह नर-मांस का भक्षण तो करता ही है, कई बार तो हिडिंबा को लगता है कि वह उसका भी रक्त पी रहा है। वह उससे इस प्रकार कार्य करवाता है, जैसे वह उसकी बहन न हो, दासी हो⋯अपनी शक्ति का इतना अहंकार है उसे⋯और शक्ति इसीलिए रह गयी है कि उसके बल पर बहन को तो प्रत्येक जोखम में धकेल दे और स्वयं पीछे बैठा-बैठा नर-मांस की प्रतीक्षा करे⋯

हिडिंबा और निकट आ गयी। अब वह उस व्यक्ति के नयन-नक्श देख सकती थी। उसके शरीर का आकार-प्रकार भी कुछ स्पष्ट होने लगा था। वह सोया हुआ नहीं था। उसकी आँखें अधमुँदी थीं; और कदाचित् वह किसी गंभीर चिंता में व्यस्त था। सर्वथा अन्यमनस्क⋯ बैठा तो वह चौकसी करने ही था, अन्यथा अब तक सो गया होता; किंतु इस समय वह चौकस

था नहीं।''किन्हीं विचारों में लीन उसका चेहरा कैसा शिशु-सा मन-मोहन था! चेहरा शिशु-सा मनमोहक और शरीर असाधारण रूप से हृष्ट-पुष्ट पुरुष का''उसकी भुजाएँ अद्भुत रूप से बलिष्ठ और वक्ष विशाल था।''

हिडिंबा क्षणभर में ही भूल गयी कि वह इस मनुष्य की हत्या कर इसका मांस खाने के लिए यहाँ आयी है। उसका मन तो जैसे अपनी व्याकुलता भूलता जा रहा था। उसकी आँखें मुग्ध होकर, उस चेहरे और शरीर को एकटक निहारती रहना चाहती थीं। उसे लगा कि क्षणभर में ही उसके मन में एक उद्दाम आवेग उठा कि वह इस वक्ष को चीरकर उसका रक्त पीने के स्थान पर, उसपर अपना मस्तक टेक दे। वह चाहती है कि इस शरीर में अपने नख गड़ाने के स्थान पर अपनी हथेलियों से उसे धीरे-धीरे सहलाए और उसे अपने दाँतों से काटने के स्थान पर अपने अधरों से स्थान-स्थान पर उसका चुंबन करे।''वह चाहती है कि ये बलिष्ठ भुजाएँ उसके शरीर को समेट कर, अपने वक्ष में भींच लें''इतना''इतना कि उसके श्वास रुकने लगें''

हिडिंबा को लगा कि उसका शरीर बहुत भूखा है; किंतु उसकी भूख इस युवक को खाकर नहीं, इसे पाकर ही मिटेगी।''उसे पता ही नहीं चला कि कब उसके मन ने इस युवक पर आघात करने का विचार त्याग दिया''वह तो उससे अपने आहत मन के लिए कुछ सांत्वना पाने की अपेक्षा करने लगी थी। वह मुग्ध होने और लुब्ध करने की क्रीड़ा के लिए प्रस्तुत हो रही थी''

''उसने जैसे अचेतन ही अपने रूप पर एक दृष्टि डाली; और फिर उस युवक को देखा'' सामने बैठा युवक, राक्षस नहीं था। उसने अपने शरीर पर हिडिंब के समान पशुओं की मज्जा नहीं मल रखी थी। मानव-अस्थियाँ उसका शृंगार नहीं थीं''

हिडिंबा के पग अपने-आप ही पीछे हट गये। उसके हाथों ने अपने कंठ में पड़ी हड्डियों की माला उतार फेंकी। बिखरे हुए केशों को समेटकर, उसकी वेणी बना ली। निकट के पौधे से कुछ पुष्प तोड़कर, केशों में गूँथ लिये; और अपने उघड़े हुए बदन को उत्तरीय से अच्छी प्रकार ढँक लिया''

उसका शरीर वैसे तो उमड़-उमड़कर उस युवक से लिपट जाना चाहता था, जैसे कोई नागिन अपने आखेट के चारों ओर लिपट जाती है, या जैसे कोई लता किसी वृक्ष से इस प्रकार लिपटती है कि उसका एक तंतु भी वृक्ष से पृथक् नहीं रह जाता'' और उसका मन था कि संकुचित होकर अपने-आपमें सिमटता जा रहा था जैसे कोई कछुआ अपने अंगों को समेटता है अथवा जैसे कोई केंचुआ अपने शरीर को अपने ही शरीर में लीन कर लेना चाहता है।'' तन और मन के इस द्वंद्व से कैसा तो सुख मिल रहा था उसको! ऐसा सुखी तो उसका मन कोमल से कोमल नर-मांस खाकर भी नहीं हुआ था।''

हिडिंबा भीम के निकट आ खड़ी हुई।

आहट पाकर भीम सचेत हुआ। वह अचकचाकर उठ खड़ा हुआ किंतु उसे देखकर आश्चर्य हुआ कि उसके सामने कोई हिंस्र जंतु नहीं, एक स्वस्थ युवती खड़ी थी, शायद कोई वनकन्या थी।''तपस्वियों के किसी आश्रम की ब्रह्मचारिणी तो नहीं लगती थी; किंतु वह दुर्योधन की गूढ़ पुरुष भी नहीं हो सकती थी।

हिडिंबा ने अब तक भीम को बैठे हुए ही देखा था। जब वह खड़ा हुआ तो उसने उसकी

ऊँचाई को मुग्ध नेत्रों से देखा और एक मूक उपालंभ दिया, "तुम मुझे अपनी इन बलिष्ठ भुजाओं में भर क्यों नहीं लेते युवक !"

हिडिंबा मुख से कुछ नहीं बोलीं तो भीम ने ही पूछा, "कौन हो देवि ! किस विपत्ति में पड़कर यहाँ आयी हो ?"

हिडिंबा के मुख पर एक संकोच- भरी मुस्कान बिखर गयी···यह अपनी विपत्ति के विषय में नहीं जानता, उसकी विपत्ति के विषय में पूछ रहा है । किंतु उसने उनकी विपत्ति की चर्चा करने से पहले उनका परिचय जानना ही उचित समझा, "मैं भी तुमसे यही पूछना चाहती हूँ भद्र, कि तुम कौन हो ? भूमि पर इस प्रकार सोये हुए ये अन्य सुंदर पुरुष कौन हैं ? यह सौम्य नारी कौन है ?"

भीम चौंका : यह हमारा परिचय क्यों जानना चाहती है ?···दुर्योधन के गुप्तचर क्या यहाँ तक फैले हुए हैं ?

"पहले अपना परिचय दो शुभे !" भीम बोला, "तुम्हारे लिए इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि सोये हुए ये चारों पुरुष मेरे भाई हैं; और यह सौम्य नारी मेरी माता हैं ।···तुम कौन हो ?···और इस भयंकर वन में क्या कर रही हो ?"

हिडिंबा को लगा, यही उपयुक्तअवसर था । बोली, "मैं हिडिंब नामक नर- भक्षक की बहन हिडिंबा हूँ । राक्षसों के अपने क्षेत्र- विभाजन के अनुसार मेरा भाई इस क्षेत्र का स्वामी है ।···"

भीम कुछ बोला नहीं; किंतु उसके मन में स्वतः ही जैसे एक तार बजता जा रहा था··· 'अर्थात् वह यहाँ का दुर्योधन है; जिसने बलात् यहाँ आधिपत्य जमा रखा है···'

"···उसने मुझे तुम लोगों का वध करने के लिए भेजा है, ताकि वह तुम लोगों का मांस खा सके ।···"

"हाँ ! हम किसी बेल के साथ लटकते कद्दू हैं कि तुम हमें उमेठकर अपने आँचल में लेकर चलती बनो···!" भीम के मन ने प्रतिध्वनि की ।

किंतु तभी भीम चौंका : क्या कह रही है यह ? यह स्त्री कितनी सहजता और स्पष्टता से उनका वध करने के लिए आने की बात स्वीकार कर रही है; किंतु न तो उसमें वैसी आक्रामकता है, न वैसी हिंस्रता ।···राक्षसियाँ ऐसी होती हैं क्या ?···भीम उसे देख रहा था···उसके रूप- रंग आकार- प्रकार में कहीं ऐसा तो कोई भेद था नहीं, जिससे यह माना जा सके कि वह किसी मनुष्येतर जाति की प्राणी थी । हाँ ! आर्यों से उसकी आकृति कुछ भिन्न प्रकार की थी···तो ऐसे होते हैं नर- भक्षी !···उसकी वेश- भूषा भिन्न थी···वह उनकी प्रथा थी या इस वन में रहने के कारण उसे पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं थे ?···नहीं तो कदाचित् यह नारी···यदि इसे भली प्रकार स्नान करा, उचित वस्त्राभूषण पहनाये जायें, तो कदाचित् यह नारी कमनीय हो सकती है···

"तो तुम हमारा वध करती क्यों नहीं ?" भीम को लगा, उसके मन में न भय था, न आशंका··· उसके स्वर में तो क्रीड़ा का- सा भाव था, जैसे प्रायः किसी अबोध बालक से बात करते हुए किसी वयस्क की वाणी में होता है, "सबसे पहले मेरा वध करो । तुम देखोगी कि मेरे इस शरीर में बहुत सारा मांस है । उससे कई दिनों तक तुम दोनों अपना पेट भर सकते हो ।···लो, मुझे मारो ।" भीम ने अपनी दोनों भुजाएँ फैला दीं ।

हिडिंबा का मन हुआ कि दौड़कर, इस क्रीड़ारत पुरुष की इन फैली हुई भुजाओं में समा

जाये।...किंतु उसने स्वयं को संयत किया।...उसके पास अधिक समय नहीं था। हिडिंब वहाँ उसकी प्रतीक्षा कर रहा था; और किसी भी क्षण, वह यहाँ आ सकता था।

वह भीम के समीप आ गयी, "तुम पेट भरने का खाद्य नहीं हो कंत ! तुम तो मेरे जीवन का स्थायी सुख हो।...सुनो !" वह लगभग भीम की भुजाओं में आ गयी, "अब न तो मैं तुम्हारे प्राण लूँगी, न अपने भाई को ऐसा करने दूँगी।...इससे पहले कि हिडिंब यहाँ आ जाये, तुम मेरे साथ चलो। मैं आजीवन तुम्हारी रक्षा करूँगी। इस वन्यक्षेत्र में अनेक कंद्राएँ हैं, दुरूह स्थान हैं, जहाँ वह तुम्हें कभी नहीं खोज पायेगा। वहाँ तक पहुँचना उस जैसे आलसी व्यक्ति के वश का ही नहीं है।...मैं तुम्हें अपने साथ वहाँ ले चलूँगी...चलो ! शीघ्र चलो !!" साथ चलने के बहाने हिडिंबा ने जैसे अजाने ही भीम को अपनी भुजाओं में भर लेने का प्रयत्न किया, "चलो !"

भीम अपने-आप से डर गया... कहीं उसका मन इस उत्कट प्रलोभन के सम्मुख समर्पण ही न कर दे। उसे इस क्षेत्र का अनुभव नहीं था...किंतु देह का यह आकर्षण...वह मांस के इस आकर्षण को अस्वीकार नहीं कर सकता था...इस आकर्षण से ही तो भयभीत था वह...। स्वयं को दृढ़तापूर्वक नियंत्रित करता हुआ वह बोला, "तुम मेरी रक्षा क्यों करना चाहती हो ?"

"मैंने तुम्हारा अपने पति के रूप में वरण कर लिया है।"

"किंतु मैंने तो तुम्हारा वरण नहीं किया।" भीम बोला।

"तो मुझे ग्रहण करो।"

"सुंदरि !" भीम बोला, "इच्छा होने पर भी मैं तुम्हें ग्रहण नहीं कर सकता !"

हिडिंबा हतप्रभ खड़ी रह गयी : क्या संसार में ऐसे पुरुष का भी अस्तित्व है, जो किसी स्त्री के कामाह्वान का तिरस्कार कर सके ? उसने तो आज तक कुत्ते के समान लपलपाती जिह्वा वाले पुरुष ही देखे हैं... किंतु उसके सम्मुख खडा यह बलिष्ठ-पुरुष कह रहा था कि वह उसे ग्रहण नहीं कर सकता...

"कारण ?" हिडिंबा की वाणी हताशा से लड़खड़ा रही थी।

"मेरे अग्रज अभी अविवाहित हैं।" भीम बोला, "अपने निर्दोष बड़े भाई के अविवाहित रहते, विवाह कर मैं परिवेत्ता नहीं बनना चाहता। परिवेदन पाप है शुभे !"

हिडिंबा अवाक्-सी खड़ी भीम को देखती रही : जाने वह क्या कह रहा था। अतंतः उसके मुख से निकला, "वह क्या होता है ?"

"निर्दोष बड़े भाई के अविवाहित रहते, छोटे भाई का विवाह करना परिवेदन कहलाता है तन्वंगि ! और यह पाप है।... "

"पता नहीं तुम मनुष्यों ने अपने विवाह के लिए कैसे-कैसे नियम बना रखे हैं ! तुम इसे स्त्री और पुरुष की प्राकृतिक आवश्यकता क्यों नहीं समझ सकते ? तुम मुझे ग्रहण नहीं करोगे तो मुझे कितनी पीड़ा होगी—उसके विषय में क्यों नहीं सोचते ?"...और सहसा हिडिंबा उसके इतने निकट आ गयी कि भीम के लिए उसे ग्रहण करने के सिवाय और कोई विकल्प ही न रह जाये।... और फिर अकस्मात् ही उसके स्वर में भय का स्रोत फूट निकला, "मैं कहती हूँ, भाग चलो। मेरा भाई यहाँ आ गया तो तुम्हें कदापि जीवित नहीं छोड़ेगा।" उसने भीम का हाथ पकड़कर खींचा।

पहली बार भीम का स्वर कुछ कठोर हुआ, "तुम चाहती हो कि मैं सोयी हुई माता और

अपने भाइयों को इस प्रकार असुरक्षित छोड़कर, काम- लोलुप और कायर व्यक्ति के समान तुम्हारे साथ भाग जाऊँ ?" उसने अपना हाथ छुड़ा लिया।

भीम को लगा कि उसने क्षणभर के लिए अपने मन में जन्मी दुर्बलता को निकाल फेंका है। यह स्त्री सचमुच राक्षसी है। क्या करने के लिए प्रेरित कर रही है उसे ! क्या भीम को काम- सुख, अपने भाइयों तथा माता के प्राणों से अधिक प्रिय होगा...

"इन सबको जगाओ।" हिडिंबा आशंकित तथा त्वरित स्वर में बोली, "मेरा भाई अधिक देर तक वहाँ मेरी प्रतीक्षा नहीं करेगा। विलंब होने पर वह स्वयं यहाँ आ जायेगा; और तुममें से किसी एक को भी जीवित नहीं छोड़ेगा।...इन सबको जगाओ।" वह पुनः बोली, "तुम सब मेरे साथ भाग चलो। मैं तुम सबकी रक्षा का दायित्व लेती हूँ।"

भीम को हिडिंबा के विषय में अपनी धारणा बदलनी पड़ी। हिडिंबा सचमुच उन सबकी रक्षा करना चाहती थी।...भीम की दृष्टि अपनी माँ के चेहरे पर टिकी—अपने सारे कष्टों, असुविधाओं तथा आसन्न संकटों को भुलाकर माता तथा भाई किस प्रकार शांति से सो रहे थे ! उन लोगों को जीवन में भीम कोई बड़ा सुख दे पाये, न दे पाये; क्या उन्हें वह प्रहर- दो प्रहर की सुख की नींद भी नहीं दे सकता ? एक पूरी रात तथा दिनभर की भाग- दौड़ और थकान के पश्चात् वे लोग नंगी धरती पर पड़े सो रहे हैं; क्या भीम उनके इस छोटे- से सुख की रक्षा भी नहीं कर सकता ? वह उनका यह सुख केवल इसलिए नष्ट कर दे कि किसी नर- भक्षी राक्षस के यहाँ आ जाने की संभावना है...?

सहसा भीम को लगा कि हस्तिनापुर और वारणावत से वे जिस दुर्योधन के भय से निकल भागे हैं, उसी का कोई प्रतिरूप यहाँ इस वन में भी, उन्हें भागने को बाध्य करना चाहता है। दुर्योधन के प्रति भीम के मन में संचित सारा क्रोध जैसे एक बार ही जाग उठा।...दुर्योधन से भीम आमने- सामने युद्ध नहीं कर सका।...दुर्योधन के पास हस्तिनापुर की सेनाएँ थीं, राजसत्ता थी, और युधिष्ठिर आज भी उसे अपना भाई मानता है...किंतु इस समय जैसे इस राक्षस के रूप में दुर्योधन अकेला ही उससे युद्ध करने आ रहा था...उसके साथ न सेना थी, न राजसत्ता; न ही युधिष्ठिर इस राक्षस हिडिंब को अपना भाई मान सकता था।...और फिर युधिष्ठिर तो इस समय सो रहा था।

अकस्मात् भीम को लगा कि वह हिडिंब से बचना नहीं चाहता। वह उससे एक बार लड़ ही लेना चाहता है। उसके पास कोई शस्त्र नहीं था; किंतु इस समय शस्त्रों की उसे कोई चिंता नहीं थी। उसके हृदय का संचित क्रोध ऐसे सारे दुर्योधनों से लड़ लेना चाहता था, जो किसी के प्राण हर लेना चाहते हैं, किसी के अधिकार छीन लेते हैं अथवा किसी को अपना स्थान छोड़कर भागने के लिए बाध्य करते हैं। यदि युद्ध का यह अवसर भी हाथ से निकल गया, तो भीम का अपना ही आक्रोश उसके शरीर तथा मन में उमड़- घुमड़ करता हुआ उनकी क्षति करता रहेगा।

"आर्य ! अपने भाइयों को जगाइए।" हिडिंबा बोली, "मेरा भाई किसी भी क्षण यहाँ आ सकता है। आप उसे नहीं जानते कि वह कितना क्रूर हो सकता है।" वह सोयी हुई कुंती की ओर बढ़ी।

"नहीं !" भीम उसके मार्ग में खड़ा हो गया, "मेरी माता और मेरे भाई बहुत थके हुए हैं। उन्हें जगाया नहीं जायेगा—किसी के आदेश से नहीं, किसी के भी भय से नहीं !"

हिडिंबा के चेहरे से भय के चिह्न लुप्त हो गये। उसने किसी मुग्धा के समान आँखों में प्रशंसा तथा पूर्ण समर्पण का भाव भरकर, भीम को इस प्रकार देखा कि भीम भीतर तक सिहर उठा।

"मैं तुम्हारा भाव समझती हूँ वीर !" वह बोली, "किंतु मेरे भाई की शक्ति को तुम नहीं जानते। वह यहाँ आ गया तो उससे तुममें से किसी का भी बचना संभव नहीं है।"

भीम पर किसी ने जैसे कशाघात कर उसके भीतर सोए हुए दुर्द्धर्ष योद्धा को जगा दिया था; और उस योद्धा के मन में बड़ी प्रबल कामना थी कि उसके सम्मुख खड़ी यह रमणी भी उसका बल, युद्ध-कौशल तथा सामर्थ्य अवश्य देख ले··· ऐसा न हो कि उसे यह युद्ध इस रमणी की अनुपस्थिति में लड़ना पड़े···

"तुम उसकी तनिक भी चिंता न करो सुमध्यमे !" भीम की वाणी में स्पष्ट ही स्नेह झलक रहा था, "मैं तुम्हारे भाई से भयभीत नहीं हूँ। वैसे भी बहुत दिनों से ढंग का व्यायाम नहीं हुआ है। यदि वह आ जाता है और युद्ध का साहस जुटा पाता है तो मेरा बदन तनिक खुल जायेगा।"

"वह राक्षस है। नर-भक्षी राक्षस !" हिडिंबा के स्वर में भय भी था और चिंता भी, "आर्य ! आप···"

तभी भीम ने वृक्षों के झुरमुट में से एक विकराल आकृति को निकलते देखा। भीम को लगा कि उसके मन में जैसे बहुप्रतीक्षित अवसर के आ उपस्थित होने की प्रसन्नता जागी है।

"पृथुश्रोणि ! देखो, क्या यही है तुम्हारा वह त्रिलोकजयी भाई ?"

हिडिंबा ने ही उसे मुड़कर नहीं देखा, भीम ने भी उसे ध्यान से देखा : निश्चय ही वह असाधारण रूप से दीर्घाकार व्यक्ति था। शरीर से हृष्ट-पुष्ट था और पर्याप्त बलशाली भी लगता था। अपनी वेशभूषा और भंगिमा से उसने स्वयं को पर्याप्त कुरूप तथा भयंकर बना रखा था; किंतु इतना तो स्पष्ट ही था कि उसका शरीर जितना खाता था, उतना व्यायाम नहीं करता था। वक्ष की तुलना में पेट का क्षेत्रफल भी अधिक था और उभार भी। शरीर का मांस अभी लटका तो नहीं था; किंतु मांसपेशियों की तुलना में वसा का आधिक्य पहली ही दृष्टि में स्पष्ट हो जाता था।···उसके सिर के केश रूखे और प्रायः खड़े थे। ऐसा नहीं लगता था कि नापित की कैंची ने उन्हें कभी सँवारा भी हो। उसने अपने कंठ में अस्थियों की एक माला धारण कर रखी थी, जिसके मध्य में एक नर-मुंड लटक रहा था। संभवतः वे अस्थियाँ उन अभागे मनुष्यों की थीं, जिनका वह भक्षण कर चुका था।

हिडिंबा की आँखों में भय तैर गया। उसने अपनी उन भयभीत आँखों से भीम की ओर देखा; किंतु भीम के चेहरे पर चुनौती स्वीकार करने का उल्लास था।

भीम सोच रहा था : क्या वारणावत में ही अपने शस्त्रों का त्याग करना उचित था ? शस्त्रों के कारण उन्हें अपने पहचान लिये जाने का भय था···किंतु पहचाने जाने की समस्या तो वहाँ होगी जहाँ मनुष्य बसते हों। यदि उन्हें निर्जन वनों में ही रहना है तथा हिंस्र पशुओं अथवा नर-भक्षी राक्षसों का सामना करना है, तो उनके लिए पहचान लिये जाने का जोखम कम, तथा आत्मरक्षा के लिए शस्त्रों की आवश्यकता अधिक है···

सहसा भीम के अपने ही मन में जिज्ञासा जन्मी : क्या वह इस प्रकार राक्षस से भयभीत है ?···और उसके उत्तर में भीम कुछ और तनकर सीधा खड़ा हो गया···

"भागिए आर्य ! भागिए !" हिडिंबा कह रही थी, "अब भी समय है।"

वह पर्याप्त ऊँचे स्वर में बोली थी और अब हिडिंब अधिक दूर भी नहीं था। उसने सुन लिया था कि उसकी बहन, उसके आखेट को भागने के लिए कह रही थी। वह भीम अथवा सोयी हुई कुंती तथा शेष पांडवों की ओर बढ़ने के स्थान पर हिडिंबा पर ही झपटा, "ठहर दुष्टे ! मैं वहाँ आहार की प्रतीक्षा में भूखा बैठा हूँ; और तेरे अंग यहाँ पुरुष-समागम के सुख के लिए व्याकुल हो रहे हैं ! मैं करता हूँ तेरी व्याकुलता शांत…"

भीम ने अनुभव किया कि अपनी माता और भाइयों की ही नहीं, इस राक्षसी हिडिंबा की रक्षा भी उसका धर्म है। हिडिंबा ने उन्हीं की रक्षा के प्रयत्न में अपने भाई से यह शत्रुता मोल ली थी।… वैसे भी भीम इस दुष्ट राक्षस को अपने सामने हिडिंबा पर अत्याचार करते नहीं देख सकता। वह इसे भाई-बहन का घरेलू विवाद कहकर भी नहीं टाल सकता…

भीम को पता ही नहीं चला कि कब उसने निश्चय कर लिया और कब उसने हिडिंब पर प्रहार कर दिया।

हिडिंब अभी भीम की ओर से आक्रमण की अपेक्षा नहीं कर रहा था…वैसे भी अपनी शक्ति के मद में वह यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि कोई मनुष्य उसपर इस प्रकार आक्रमण भी कर सकता है। वह स्वयं नहीं समझ पाया कि वह प्रहार की तीव्रता से स्तब्ध खड़ा रह गया अथवा उसकी अनपेक्षितता से…

इस स्तब्धता से उबरने में उसे कुछ क्षण लगे। वह भीम की ओर पलटकर बोला, "तू बीच में क्यों पड़ता है ? वह मेरी बहन है, तेरी संरक्षिता नहीं। हमें आपस में निबट लेने दे। फिर हममें से जो जीवित बचे और तुम लोगों पर प्रहार करे, उससे युद्ध कर लेना।"

"नहीं !" भीम बोला, "वह स्त्री है। प्रत्येक असहाय स्त्री की रक्षा करना क्षत्रिय का धर्म है…और फिर यह तो हमारी मित्र भी है।"

"तुम्हारी मित्र !" हिडिंब चकित होकर बोला, "यह इस वन में रहने वाली राक्षसी तुम्हारी मित्र कैसे हो गयी ?"

"यह हमारी रक्षा का प्रयत्न कर रही थी।…और मित्र किसे कहते हैं ?"

हिडिंब ने दाँत पीसे और मुट्ठियाँ भींच लीं। वह जैसे भीम पर कूद पड़ा, "मित्र है या सखी—इसका निर्णय बाद में करना। इस समय तो अपने प्राण बचा !"

हिडिंब घूँसा तानकर भीम की ओर इस प्रकार झपटा, जैसे भीम कोई अचल लक्ष्य हो, जो अपना स्थान और स्थिति परिवर्तित ही नहीं करेगा। भीम उसकी मनःस्थिति को भाँप गया। हिडिंब के निकट आते ही वह कूदकर एक ओर हो गया; और अपनी झोंक में आगे बढ़ गये हिडिंब की पीठ पर उसने उचक्कर एक लात मारी। हिडिंब मुँह के बल भूमि पर जा गिरा और उच्च स्वर में डकराया, जैसे कोई आहत पशु डकराता है।

भीम के मन में आशंका जागी : यह दुष्ट तो चिल्ला-चिल्लाकर चैन से सोयी उसकी माता और भाइयों की निद्रा भंग कर देगा।

हिडिंब अभी उठा ही था कि भीम ने उसे जा पकड़ा और घसीटता हुआ, उसे तीस हाथ दूर ले गया।

हिडिंबा के मन में जागी आशंकाएँ शांत हो गयीं : नहीं ! हिडिंब इस युवक का कुछ नहीं बिगाड़ पायेगा। यह निश्चय ही हिडिंब से अधिक बलवान है।…और हिडिंबा ने जैसे मात्र

मनोक्रीड़ा के लिए सोचा''यदि कहीं यह युवक उसके भाई से तनिक भी दुर्बल पड़ता तो हिडिंब उसके सामने ही उसके कंठ में दाँत गाड़कर उसका रक्त पी जाता और फिर स्वयं उसे भी जीवित नहीं छोड़ता।''वैसे भी यदि यह युवक उसे नहीं मिला तो''

तभी भीम ने हिडिंब को भूमि पर पटककर, उसके वक्ष पर तीन-चार घूँसे लगाये। उसके प्रत्येक प्रहार पर हिडिंब के कंठ से किसी-न-किसी प्रकार का स्वर फुटता था, चाहे वह हुंकार हो अथवा चीत्कार; किंतु भीम के मुख से एक भी ध्वनि नहीं निकली थी, जैसे वह युद्ध कर ही न रहा हो। यदि हिडिंबा उनकी ओर पीठ कर लेती और मात्र ध्वनियों के आधार पर ही अनुमान लगाती तो हिडिंब के साथ किसी और व्यक्ति के होने का कोई आभास भी उसे न मिलता। हिडिंबा ने देखा कि भीम हिडिंब के मुख पर, अपना हाथ रख उसके मुख से निकलने वाले इन चीत्कारों को भी रोकने का प्रयत्न कर रहा है। कदाचित् वह नहीं चाहता था कि वहाँ किसी प्रकार का कोलाहल हो'' और सहसा उसका ध्यान, उस युवक के साथियों की ओर चला गया और जैसे सारी स्थिति उसकी समझ में आ गयी।''यह युवक एक भयंकर नर-भक्षी राक्षस से लड़ रहा था! वह तनिक भी दुर्बल पड़ेगा तो, उसके प्राण भी जा सकते हैं; किंतु अपने प्राणों की रक्षा के लिए भी वह अपने साथियों की सहायता नहीं चाहता''उल्टे उसका सारा ध्यान इस ओर है कि कहीं इस युद्ध के कारण उसके साथियों की नींद न उचट जाये''उसे अपने प्राणों का भय नहीं है, अपने प्रियजनों की नींद उचटने का भय है''

हिडिंबा का मन-कभी इतना विह्वल नहीं हुआ था''किसी के मन में इतना भी प्रेम होता है?''अपने साथियों की नींद के सम्मुख उसके अपने प्राणों का कोई मूल्य नहीं है?''हिडिंबा ने अपने समाज में प्रेम के नाम पर केवल अपना सुख प्राप्त करना ही सीखा था; कभी-कभी सुख का आदान-प्रदान भी देखा था; किंतु प्रेम में दूसरे के सुख के लिए अपने प्राण देते हुए हिडिंबा ने किसी को पहली ही वार देखा था।''और हिडिंबा को लगा कि वह भी इस युवक के लिए अपने प्राण दे देगी। यदि कहीं हिडिंब ने इसके प्राण ले लिये तो वह हिडिंब को जीवित नहीं छोड़ेगी, चाहे इस प्रयत्न में उसके अपने प्राण चले जायें'

तभी हिडिंब भीम की पकड़ से छूट गया। उसने भीम को परे धकेला और उछलकर खड़ा हो गया। भीम सन्नद्ध स्थिति में खड़ा था। वह हिडिंब के आक्रमण की प्रतीक्षा कर रहा था। किंतु हिडिंब ने भीम पर आक्रमण करने के स्थान पर, उल्टी दिशा में छलाँग लगायी और कुंती तथा अन्य पांडवों की ओर भागा।

क्षण भर के लिए तो भीम ठगा-सा खड़ा रह गया''क्या हिडिंब डरकर भाग रहा है?''किंतु जैसे अगले ही क्षण उसकी समझ में आ गया''वह उससे युद्ध करने के स्थान पर उसकी माता और उसके भाइयों पर आक्रमण करने जा रहा था। वे लोग सोए हुए थे, उनमें से किसी एक पर घातक प्रहार किया ही जा सकता है।'' निश्चित रूप से हिडिंब को जाग्रत्, सावधान तथा वलशाली भीम से लड़ने की तुलना में, सोये हुए उसके साथियों का वध करना सरल प्रतीत हुआ था''

भीम ने आश्चर्य से देखा, हिडिंबा उससे पहले अपने भाई की योजना समझ गयी थी और लपककर उसका मार्ग रोककर खड़ी हो गयी थी। हिडिंब आक्रमण करते हुए, किसी हिंस्र पशु के समान दहाड़ा और उसके साथ ही भीम दौड़कर उस पर कूदा। हिडिंबा तक पहुँचने से पहले ही भीम ने उसे जा दवोचा था; किंतु हिडिंब भीम को पराजित करने के स्थान पर उससे छूट

भागने का अधिक प्रयत्न कर रहा था।''किंतु अव भीम समझ चुका था कि हिडिंब का लक्ष्य क्या था।''

तभी भीम ने अर्जुन का स्वर सुना, "मध्यम ! चिंता मत करो। मैं आ रहा हूँ। नकुल और सहदेव, माँ की रक्षा कर लेंगे।''"

"नहीं !" भीम ने अब तक हिडिंब की ग्रीवा अपनी भुजा में दबा ली थी, "तुम तटस्थ ही रहो। इससे तो मैं अकेला ही निवट लूँगा। वहुत शक्तिशाली वना फिरता है; किंतु इसमें दम है नहीं।"

"तो तुम इससे अधिक क्रीड़ा मत करो; प्रत्युष में निशाचर, विशेष रूप से बलशाली हो जाते हैं।" अर्जुन ने पुकारकर कहा, "और फिर हमें आगे की यात्रा भी करनी है।"

भीम ने उत्तर नहीं दिया। उसने हिडिंब को फिर से भूमि पर पटक दिया और उसकी भुजाओं को अपनी हथेलियों से धरती पर वाँधकर, उसके वक्ष पर अपना घुटना टेक दिया था''

इस कोलाहल से कुंती की आँखें भी खुल गयी थीं। उसने देखा कि उसके सारे पुत्र जाग गये थे। थोड़ी दूर दो व्यक्ति लड़ते दिखायी दे रहे थे, जिनमें से एक भीम था।''और सामने एक अत्यंत स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट युवती खड़ी थी। कुंती को अपनी ओर देखते पाकर युवती ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

"तुम कौन हो ?" कुंती के मुख से अनायास ही निकल गया, "हम तो इस वन में किसी मनुष्य की कल्पना भी नहीं कर रहे थे।"

"मैं सालकटंकटी हूँ आर्ये !" हिडिंवा वोली, "इस हिडिंव-वन के स्वामी राक्षसराज हिडिंब की बहन !"

"यहाँ क्या कर रही हो ?" कुंती ने पूछा।

"अपने नरभक्षी भाई के आदेश पर आप लोगों का वध करने आयी थी; किंतु आपके पुत्र को देखकर, काम की प्रेरणा से उनकी वशवर्तिनी हो गयी हूँ। मैंने उन्हें अपना पति स्वीकार कर लिया है।''"

कुंती का हृदय धक् रह गया, "क्या उसने भी तुम्हें अपनी पत्नी स्वीकार कर लिया है ?"

"नहीं ! उन्होंने तो ऐसा कुछ नहीं कहा है।" हिडिंवा वोली, "राक्षस समाज में तो किसी भी स्त्री को अधिकार है कि वह अपने मनोनीत पुरुष को स्थायी अथवा अस्थायी रूप से अपना पति स्वीकार कर ले। कोई भी पुरुष उसकी इच्छा का विरोध नहीं करता।''"

"क्या तुमने इसकी सूचना अपने भाई को दे दी है ?" कुंती ने पूछा।

"नहीं। उसे मैंने सूचना नहीं दी है; किंतु वह अपने-आप ही समझ गया है।" हिडिंवा बोली, "इसलिए वह आपके पुत्र तथा मेरे प्राणवल्लभ से युद्ध कर रहा है।"

"अर्थात् उसे संवंध स्वीकार नहीं है ?"

"उसे इस संवंध से क्या लेना-देना !" हिडिंवा वोली, "यह तो स्त्री-पुरुष का परस्पर संवंध है, इसमें किसी और का तो कोई काम ही नहीं है।''"

भीम की पकड़ से छूटकर हिडिंव पुनः उन लोगों की ओर भागा; किंतु इस बार उसका लक्ष्य, कुंती नहीं, हिडिंबा थी।''इस वात को हिडिंबा भी समझ गयी थी और अन्य पांडव भी.। हिडिंबा ने देखा कि उसके प्रणवल्लभ के ये साथी, उसे उसके भाई से बचाने के लिए सावधान खड़े हो गये थे''किंतु तव तक भीम पुनः हिडिंब को घसीटकर परे ले गया था और

हिडिंबा खड़ी सोचती रह गयी कि ये अपरिचित लोग अकारण ही उसके भाई से उसकी रक्षा के लिए सन्नद्ध क्यों हो गये थे ? वे विना किसी लाभ के लोभ के ही अपने प्राणों को जोखम में डालकर उसकी रक्षा करना चाहते थे ?''या क्या वे सब लोग उसे प्राप्त करना चाहते थे ? राक्षसों में तो किसी स्त्री की रक्षा का एक ही अर्थ था''यहाँ तो जिस पुरुष के सम्मुख उसने स्वयं आत्मसमर्पण की इच्छा प्रकट की थी, वह ही उसे अंगीकार करने का इच्छुक नहीं था''और ये सव लोग तो''और वैसे भी हिडिंवा को उनमें से किसी का भी व्यवहार काम-प्रेरित नहीं लग रहा था। उनकी माता हिडिंवा से वार्तालाप कर रही थी, तो उनमें से किसी ने भी हस्तक्षेप नहीं किया था। किसी ने उसे अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया था।''

सहसा भीम ने हिडिंब को अपने हाथों में उठा लिया। हिडिंब एक निष्क्रिय लोथ-सा उसकी हथेलियों पर पड़ा रहा। भीम ने उसे कई बार घुमाया और फिर भूमि पर दे मारा। हिडिंब मरते हुए पशु के समान डकराया। उसने मुख से रक्त-वमन किया और शांत हो गया।

थोड़ी देर तक उसके शव के पास खड़ा भीम उसे देखता रहा। वह पुष्टि कर लेना चाहता था कि उसमें प्राण तो शेष नहीं हैं। हिडिंब के शरीर में कोई स्पंदन नहीं जागा, तो भीम अपनी माता और भाइयों की ओर लौटा।

कुंती को लगा कि आज जैसे वह अपने इस वेटे को पहली वार देख रही है। यह तो वह जानती थी कि भीम पर्याप्त वलशाली है; किंतु उसने आज तक उसे एक हृष्ट-पुष्ट वालक के रूप में ही देखा था। वह आज तक स्वयं को उसकी संरक्षिका मानती आयी थी।''उसकी देख-भाल करना, उसकी रक्षा करना, उसका पालन-पोषण करना—वह अपना दायित्व मानती थी। अपने पुत्रों में से यदि उसने किसी पर कोई दायित्व डाला था, अथवा दायित्व डालने योग्य समझा था, तो वह युधिष्ठिर ही था। और उसके पीछे भी उसके मन में सदा यह धारणा रही थी कि अभी उसका वय इस योग्य नहीं हुआ है; किंतु पिता के न रहने पर, बाध्य होकर इस छोटी अवस्था में ही उसे ये दायित्व सँभालने पड़ रहे हैं।''

किंतु आज उसने भीम का एक नया ही रूप देखा था। सहसा ही भीम उसके संरक्षण में से निकलकर उसका रक्षक हो गया था। उसका ही क्यों''आज उसने उन सबकी रक्षा की थी; और कितना आत्मविश्वास था उसमें ! उसने उस नर-भक्षी हिडिंव से प्राणांतक युद्ध करते हुए भी अपने किसी भाई को सहायतार्थ नहीं पुकारा था। अर्जुन ने स्वयं अपनी ओर से कहा, तो उसने उसे तटस्थ रहने का ही परामर्श दिया''तो इसका अर्थ है कि उसका यह पुत्र पूर्णतः समर्थ हो चुका है और युवा भी''हाँ ! युवा भी। कुंती समझ नहीं पायी कि उसके मन में मात्र विस्मय ही था या प्रसन्नता भी''पुनः सोचने पर उसे लगा कि कदाचित् ये दोनों ही भाव हैं; किंतु साथ ही थोड़ी आशंका का भी मिश्रण है''वह इस अर्थ में तो युवा हो ही गया था कि इस नर-भक्षी राक्षस को अकेले ही विना किसी शस्त्र के उसने अपने भुजबल और मल्ल-कौशल से मार डाला था''किंतु वह इस अर्थ में भी युवा हो गया था कि उसे देखकर युवतियों के मन मचलने लगे थे''उसकी दृष्टि हिडिंबा पर पड़ी''यह राक्षसी तो शुद्ध असंस्कारी, अनघड़ प्रकृति-पुत्री थी, वह भी पहचान गयी थी कि भीम अव युवा हो गया है, और उसका अधिकार जमाने के लिए वह उपस्थित भी हो गयी।''विचित्र वात थी न''माँ को भी पुत्र की प्रेमिका से मालूम हुआ कि उसका पुत्र युवा हो गया है''जैसे माली को भी खिली हुई कलिका को देखकर ही ज्ञात होता है कि उसके उद्यान में वसंत आ गया है''

भीम निकट आया तो सबसे पहले हिडिंबा ही उसकी ओर लपकी, "आर्य पुत्र !" उसने आलिंगन के लिए अपनी दोनों भुजाएँ फैला दीं।

भीम ने उसकी बढ़ी हुई भुजाओं को अपनी अंगुलियों में थाम लिया, "राक्षसि ! तेरे भाई का मैंने वध कर दिया है···।"

"मैंने देखा है प्रिय ! और मैं अत्यंत प्रसन्न हूँ।" उसके चेहरे पर सचमुच आह्लाद छाया हुआ था।

"तो तू सचमुच राक्षसी है, जो अपने भाई के हत्यारे के कंठ में भुजाएँ डालने के लिए व्यग्र हो रही है !" भीम बोला।

"हमारे समाज में तो प्रायः प्रत्येक पुरुष अपने बल से ही अपने लिए स्त्री प्राप्त करता है। स्त्री के पिता तथा भाइयों को पराजित कर, उनका वध कर, स्त्री की इच्छा के विरुद्ध वह उसे बाँधकर बलपूर्वक उठा ले जाता है। मैं तो स्वेच्छा से, अपने पति के रूप में तुम्हारा वरण कर रही हूँ।···"

भीम के मन में द्वंद्व जागा; वह हिडिंबा की भुजाओं को अपनी मुट्ठी में बाँधे, उसके स्पर्श से अपने शरीर में जागे काम-जनित उद्वेग के रोमांच का भोग भी कर रहा था; और उसका विवेक उसके शरीर को, इस युवती को ग्रहण कर लेने की अनुमति भी नहीं दे रहा था···

"फिर तो तू और भी तिरस्करणीय है।" भीम बोला, "तेरा कामावेग किसी भी और संबंध तथा स्नेह को नहीं जानता।"

हिडिंबा तनिक भी हतप्रभ नहीं हुई, "स्त्री जिससे प्रेम करती है, उसके मित्रों को अपना मित्र और उसके शत्रुओं को अपना शत्रु समझती है। पत्नी के संबंध, उसके पति के संबंधों से ही तो निर्धारित होते हैं।"

"यह तेरा प्रेम नहीं, कामावेग है।" भीम बोला, "जब काम का ज्वार उतर जायेगा तो तुझे अपने संबंध स्मरण आने लगेंगे। फिर तुझे यह भी याद आयेगा कि मैंने तेरे भाई का वध किया है। उस समय तू उसका प्रतिशोध चाहेगी···।" भीम ने हिडिंबा को झकझोर दिया।

हिडिंबा ने जैसे अपने सुख के अतिरेक में आँखें मूँद लीं, "मुझे और झकझोरो। मुझे पीटो और कूटो ! ऐसा शक्तिशाली पुरुष संसार में और कहाँ होगा !"

भीम के मन में संकोच का अंकुर फूटा; वह जिसे दंड समझ रहा था, वह जैसे हिडिंबा का काम-सुख था। वह राक्षस-समाज में पली थी। उसकी मर्यादाएँ भी आर्यों से भिन्न थीं; किंतु भीम की अपनी मर्यादा थी। उसकी माता और उसके भाई, उसके सम्मुख खड़े उसके व्यवहार को बड़े ध्यान से देख रहे थे।

भीम ने उसे मुक्त कर दिया, "जा ! जहाँ चाहे चली जा !"

"क्या ?" हिडिंबा की आँखें खुल गयीं। उसकी आँखों में आश्चर्य भी था, पीड़ा भी और भीम के कथन के प्रति अविश्वास भी।

"मध्यम, चलो !" अर्जुन ने कहा, "दिन का प्रकाश हो रहा है, यहाँ से दूर चले जाना चाहिए।"

"चलो !" भीम न केवल उनके साथ आ मिला, वरन् वह उनसे भी आगे चल रहा था।

कुंती का असमंजस बढ़ता जा रहा था। वह देख रही थी कि यह युवती शुद्ध प्रकृति के समान निश्छल और सरल थी। वह अपनी प्राकृतिक आवश्यकताओं को सहज ही स्वीकार कर

रही थी। न उसका दुराव से परिचय था, न परिष्कार से ! वह निश्चित रूप से भीम की अनुरागिनी थी और निर्द्वंद्व शब्दों में उसे स्वीकार कर रही थी।"वह कदाचित् विभिन्न समाजों के भेदों और विभाजनों को नहीं समझती थी। वह नहीं समझती थी कि भीम के साथ उसका विवाह क्यों नहीं हो सकता। उसने यह जानने का भी प्रयत्न नहीं किया था कि वे लोग कौन हैं और उसके तथा भीम के समाज में क्या अंतर है"भीम की ओर से भी कुंती कम आशंकित नहीं थी। इस समय अपने क्रोध अथवा संकोच के कारण वह सालकटंकटी को चली जाने को कह रहा था; किंतु इस वय के तरुण को नारी-शरीर का एक स्पर्श, उसका एक वचन अथवा एक मुस्कान कब नवनीत के समान पिघला दे—इस विषय में निश्चित रूप से क्या कहा जा सकता है ! सालकटंकटी को क्रोध से झकझोरते हुए भी भीम की भुजाओं के रोमों का रोमांच कुंती ने देखा था"

किंतु सालकटंकटी किसी पांडु-पुत्र की धर्मपत्नी होने योग्य संस्कारों से संपन्न नहीं थी। वह कुरुवंश की वधू नहीं हो सकती थी। वैसे भी वह अभी भीम को विवाह करने की अनुमति नहीं दे सकती थी। इस संकट-काल में वह अपने पुत्रों के विवाह की बात सोच भी नहीं सकती थी। अभी तो वे छः थे; यदि पुत्रों के साथ वधुओं की रक्षा और भरण-पोषण की आवश्यकता भी जुड़ गयी तो समस्या और भी गंभीर हो जायेगी।" वैसे भरण-पोषण की शायद उतनी समस्या न हो। पाँच पुत्र हैं कुंती के। इतना अन्न तो जुटा ही लेंगे कि अपना और उसका पेट भर सकें; किंतु सुरक्षा ?"उनकी संख्या जितनी अधिक होगी, सुरक्षा का कार्य उतना ही कठिन होता जायेगा।"वे अपने अस्तित्व को गुप्त रखना चाहते हैं। वे धृतराष्ट्र तथा दुर्योधन का यह भ्रम बनाये रखना चाहते हैं कि कुंती और उसके पुत्र वारणावत में जलकर यमलोक जा चुके हैं। " ऐसे में वह वहुएँ बटोरेगी तो इस भ्रम को बनाये रखना कठिन होता जायेगा"

और फिर निर्दोष युधिष्ठिर के अविवाहित रहते, भीम विवाह कर ही कैसे सकता है ? अपने परिवार में, परिवेदन की अनुमति, वह दे ही कैसे सकती है ?"क्या वह भीम को केवल इसलिए परिवेत्ता बन जाने दे, क्योंकि एक राक्षसी उसे देखकर काम-विह्वल हो गयी है ? एक असंस्कारी नारी की प्राकृतिक भूख के कारण वह अपने परिवार तथा समाज की मर्यादाएँ तोड़ दे ?"

कुंती समझ नहीं पा रही थी कि वह क्या करे ! अपने पुत्रों को क्या परामर्श दे !" किंतु अपने अनिर्णय में वे यहीं तो बैठे नहीं रह सकते। उन्हें तो हस्तिनापुर की सीमाओं से दूर निकल जाना है। वहाँ—जहाँ दुर्योधन, उनके होने की कल्पना भी न कर सके"

कुंती के पग आगे बढ़े तो आँखें पलटकर पीछे देखने लगीं।"हिडिंबा भी उनके पीछे-पीछे आ रही थी। यह तो अच्छा ही था कि भीम का ध्यान उसकी ओर नहीं था। वह तो यह मानकर कि अब आगे चलना है, आगे-आगे चल पड़ा था। यदि कहीं उसका ध्यान हिडिंबा की ओर चला जाता तो कदाचित् वह उसके प्रति और भी कठोर हो जाता।"कुंती को लगा कि एक ओर जहाँ वह एकदम नहीं चाहती कि यह सालकटंकटी उनके साथ आये अथवा भीम के साथ उसका कोई संबंध हो—वहीं उसके मन में इस अबोध तरुणी के प्रति ममत्व का भाव भी था। वह सरला तो इस प्रकार काम से अभिभूत थी कि कदाचित् वह यह जानती ही नहीं थी कि वह कर क्या रही है। वह वन में रहने वाली किसी मृगी के समान ही काम विह्वल होकर, भीम के पीछे-पीछे चल रही थी। आर्यों के समाज की जटिल संरचना तथा ऋषियों द्वारा

रचे गये कर्मशास्त्र के नियमों का उसे कोई ज्ञान नहीं था।

"पुत्रि !" कुंती को स्वयं ही अपने मुख से अनायास फूटे इस संवोधन पर आश्चर्य हुआ, "तुम हमारे साथ कहाँ जाओगी ?"

"मुझे न रोकें देवि !" सालकटंकटी की आँखों में अश्रु थे, "आपके पुत्र को न पा सकी तो मैं जीवित नहीं रह पाऊँगी। मैंने अपने मनोनीत पति को पाने के लिए अपने भाई की बलि दी है।..."

कुंती के पग रुक गये, "तुम अपनी ओर से ठीक ही कह रही हो पुत्रि ! किंतु तुम यह नहीं समझ रही हो कि विवाह एक स्त्री तथा पुरुष का मात्र देह-संवंध ही नहीं है... ।"

हिडिंवा ने कुंती की बात पूरी नहीं होने दी, "जानती हूँ माता ! देह-संवंध की ही क्या बात है ! मैं उनकी पूरी सेवा करूँगी। भोजन लाऊँगी। झाड़-बुहार करूँगी। वे लेटेंगे तो उनके पैर दबाऊँगी। पूरी सेवा करूँगी।"

कुंती हँसी, "तुम वहुत भोली हो सालकटंकटी ! तुम सारा संवंध केवल मेरे पुत्र से ही रखना चाहती हो।..."

"माता ! वह संवंध है ही स्त्री और पुरुष का।" वह बोली, "वैसे आपकी भी सेवा कर दिया करूँगी। जो आप कहेंगी, वे सारे काम करूँगी। अपने भाई की भी तो प्रत्येक आज्ञा का पालन करती ही थी मैं।"

कुंती को उसपर क्रोध नहीं आया। उसके मन में सहज ममत्व उपजा। वह उसकी पीड़ा देख रही थी... किस प्रकार वह इस सरला की मनोकामना पूरी करे ?...अपनी मर्यादा का वह उल्लंघन कर नहीं सकती !

"देखो ! स्त्री-पुरुष का संवंधों का धर्मसम्मत सामाजिक विधान है—विवाह !" कुंती बोली, "मैं तुम्हें यही समझाने का प्रयत्न कर रही हूँ कि विवाह, केवल एक स्त्री और एक पुरुष का मात्र देह-संवंध नहीं है। यह उनका अपना स्वतंत्र संवंध भी नहीं है। यह तो पूरे परिवार में एक नये सदस्य का जुड़ना है। नये सदस्य द्वारा उस पूरे परिवार को अपना सदस्य स्वीकार करना है। उसके लिए आवश्यक है कि तुम्हारा पूरा परिवार इस संवंध की स्वीकृति दे। हमारा पूरा परिवार तुम्हें स्वीकार करने को तैयार हो।...तुम्हारे परिवार में कोई और भी है अथवा केवल तुम ही हो ?"

"मेरे भाई हिडिंव का आर्यपुत्र ने वध कर दिया है।...और कोई है ही नहीं। अव तो अपना पूरा परिवार मैं ही हूँ। वैसे इसमें परिवार को करना ही क्या है ! यदि मुझे एक पुरुष प्रिय है, और मैं उसके संगति में ही प्रसन्न रह सकती हूँ, तो मेरे परिवार को उसमें क्या करना है ?...उसने कुंती को इस प्रकार देखा, जैसे कुंती जाने क्यों किसी निरर्थक विवाद के कारण उसे पीड़ित कर रही है।

"माँ ! तुम क्यों व्यर्थ ही इसके साथ सिर खपा रही हो ! यह नहीं समझेगी। चलो तुम !" भीम अपनी स्वाभाविक उग्रता के साथ बोला।

"तनिक धैर्य रखो पुत्र !" कुंती बोली, "तुम क्यों व्याकुल हो रहे हो ?"

"मैं तुम्हारे लिए व्याकुल हूँ माँ !" भीम आकस्मिक रूप से शांत हो गया, "कि यह सालकटंकटी नर-भक्षण की अभ्यस्त है। यह तुम्हारा भेजा खा जायेगी।"

"चुप रह दुष्ट !" कुंती को भीम के व्यवहार में सालकटंकटी के प्रति विरोध के स्थान

पर एक दुर्ललित विनोद दिखायी पड़ा । वह हिडिंबा से संबोधित हुई, "बात यह है पुत्रि, कि कन्या के परिवार वाले, उससे प्रेम करते हैं । कन्या के सुख से उनको सुख, और उनके दुख से उनको दुख होता है । इसलिए यह उनका दायित्व है कि विवाह से पहले वे उस परिवार को भली- भाँति परखें, जिसमें उनकी कन्या जा रही है । उन्हें देखना है कि उनकी कन्या का उचित भरण- पोषण हो, उसे जीवन की आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त हों; उसका उचित मानसिक और शारीरिक विकास हो; और वहाँ उसके शरीर, उसके सम्मान तथा उसके हितों की रक्षा हो । यदि वे इन सब बातों का ध्यान नहीं रखते, तो वे कन्या के प्रति अपराधी हैं ।…"

"मेरा तो परिवार है नहीं माता ! इसलिए उसके अपराध, पाप, पुण्य इत्यादि की चर्चा ही व्यर्थ है ।" सालकटंकटी बोली, "हाँ ! आप अपने परिवार की सोचें । यदि आपके परिवार को किसी कारण से मैं स्वीकार्य नहीं हूँ, तो मैं अपने पति को लेकर आपसे कहीं दूर चली जाऊँगी…"

इस बार कुंती ने हिडिंबा की बात पूरी नहीं होने दी, "मुझे इसी बात का भय है हिडिंबे ! तुम हमें इसीलिए अस्वीकार हो; क्योंकि तुम हमारे परिवार में जुड़कर उसकी वृद्धि तथा विकास करने के स्थान पर, उसे भंग करोगी । मेरे ये पाँच पुत्र, जो आज तक सर्वथा एक हैं, जिनमें किसी भी प्रकार का रंचमात्र भी भेद नहीं है, तुम उनको तिनके- तिनके के समान बिखेर दोगी…"

हिडिंबा ने बिना हत्प्रभ हुए, चकित दृष्टि से कुंती को देखा, "तो इसमें अनुचित क्या है, माता ! प्रत्येक दंपती का अपना एक घर होता है । वन के सारे पशु- पक्षी इसी प्रकार रहते हैं । यदि कोई दंपती अपने माता- पिता तथा बंधुओं से दूर एकांत में वनों, पर्वतों और सरोवरों में विहार करें तो यह भी कोई पाप है ? माता ! आपके समाज में यौवन का सुख भी अपराध है क्या ? काम- सुख अधर्म है क्या ?"

कुंती पुनः सहज हो गयी थी : इस अबोध वन- कन्या के प्रति विरोध क्या और आक्रोश क्या ! इसकी बुद्धि सीमित है, इसका ज्ञान सीमित है । इसका संसार वन के पशु- पक्षियों तक ही परिमित है । मानव- समाज की परिवार- परिकल्पना के साथ इसका कभी साक्षात्कार ही नहीं हुआ ।

"सुनो हिडिंबे ! मनुष्य वन में बसने वाला पशु- पक्षी नहीं है । उसकी आवश्यकताएँ, बुद्धि तथा मर्यादा वन के पशु- पक्षियों से कहीं अधिक विस्तृत तथा उदात्त हैं । पशु- पक्षियों को प्रकृति ने बहुत सीमित बुद्धि दी है । उनका जीवन केवल दंपती तक सीमित है और उसका लक्ष्य मात्र संतानोत्पत्ति है । मानव केवल दंपती नहीं, परिवार बनाता है । समाज बनाता है । मनुष्य को प्रकृति ने पशु- पक्षियों की तुलना में कहीं अधिक विकसित बुद्धि दी है । अतः उसका दायित्व भी अधिक विस्तृत है । यहाँ हमारी आवश्यकता केवल पति अथवा पत्नी से पूर्ण नहीं होती । हमें परिवार के अन्य सदस्यों—माता, पिता, बहन तथा अन्य संबंधियों की भी आवश्यकता होती है । अतः उनके प्रति हमारा दायित्व भी होता है । तुम मेरे इस पुत्र को लेकर विहार करती फिरोगी, तो हमारे परिवार का विकास नहीं होगा, उसका ह्रास होगा । इस पर केवल संतान उत्पन्न करने का ही दायित्व नहीं है कि यह तुम्हारे साथ चला जाये । इसपर माता तथा भाइयों का भी दायित्व है, अन्य संबंधियों का भी दायित्व है; इसे कुछ समाज और राज्य के विषय में सोचना है ।…"

सालकटंकटी जैसे पहली बार हत्प्रभ हुई, "यह सब तो मैंने कभी सोचा ही नहीं है । मैं

तो केवल अपनी ही आवश्यकता जानती हूँ।" वह रुकी, "पर देवि ! आप जो-कुछ कह रही हैं, वह सब मुझे सिखायेंगी, तो क्या मैं नहीं सीखूँगी ? मैं राक्षस-कन्या अवश्य हूँ; किंतु न तो यातुधानी हूँ और न ही निशाचरी !"

"माँ !" युधिष्ठिर ने धीरे से कहा, "यदि यहाँ ही रुकना चाहो तो मैं कुछ जल तथा खाद्य-सामग्री की खोज में जाऊँ। तुम भूल रही हो, तुम्हें जल ग्रहण किये हुए दस प्रहर बीत चुके हैं। नकुल और सहदेव भी कष्ट में होंगे।"

कुंती को ध्यान आया, वारणावत से निकले हुए उन्हें सचमुच दस प्रहर हो चुके हैं। रात को भी तो वे लोग भूख, प्यास और थकान से निढाल होकर रुके थे तो वहीं बैठे-बैठे ही सो गये थे।...

कुंती के कुछ कहने से पूर्व ही हिडिंबा बोली, "यहाँ से आधा प्रहर की दूरी पर शालिहोत्र मुनि का आश्रम है माता ! उसके निकट ठंडे और स्वादिष्ट जल का सरोवर है। फलों के भी अनेक वृक्ष हैं। चलिए, मैं आपको वहीं ले चलती हूँ। वहाँ आप स्नान कर, वह हवन इत्यादि भी कर सकते हैं, जो मुनि लोग किया करते हैं। वह अग्नि, धुआँ...।"

"पर सालकटंकटी ! हमने अभी यह निश्चय तो किया ही नहीं है कि हम तुम्हें साथ ले चलना भी चाहते हैं या नहीं !" कुंती ने अपने स्वर को मधुर बनाते हुए कहा।

"क्यों ?" हिडिंबा ने पुनः आश्चर्य से कहा, "माता ! यदि आप मुझे साथ नहीं ले जायेंगी, तो वह सब सिखायेंगी कैसे, जो आप मुझे सिखाना चाहती हैं ?"

कुंती को लगा, उसका मन इस सरला पर मुग्ध होकर ही रहेगा। इतनी सरल है कि अपने मन के बाहर जैसे कुछ समझती ही नहीं। उसे यह कैसे समझाया जा सकता है कि उसे कुरुकुल की वधू के अनुकूल शिक्षा देने में इतना समय लग जायेगा कि भीम के धैर्य की सारी सीमाएँ टूट जायेंगी; भीम इतनी लंबी प्रतीक्षा नहीं कर सकता।...

"माँ ! शालिहोत्र मुनि का आश्रम ठीक रहेगा।" अर्जुन बोला, "क्योंकि...।" उसने अपनी बात अधूरी ही छोड़ दी। कुंती ने देखा, उसकी दृष्टि हिडिंबा पर टँगी हुई थी। निश्चय ही, उसके सम्मुख अपनी बात कहते हुए उसे गोपनीयता भंग होती हुई लगी होगी।

"सुनो पुत्रि !" इस बार कुंती ने अपने स्वर को असाधारण रूप से कोमल कर लिया, "मैं जानती हूँ कि तुम्हें यह जानकर दुख होगा; किंतु अपने ज्येष्ठ पुत्र के अविवाहित रहते, मैं अपने दूसरे पुत्र का विवाह नहीं कर सकती। हमारे समाज में इसे परिवेदन कहते हैं और उसे अधर्म माना जाता है।..."

हिडिंबा की आँखों में हताशा उतर आयी, "किंतु मैं आपके ज्येष्ठ पुत्र से विवाह नहीं करना चाहती माता !"

"मैं जानती हूँ पुत्रि, कि तुम्हारा मनोनीत पति मेरा द्वितीय पुत्र है। मैं भी नहीं चाहती कि तुम मेरे किसी अन्य पुत्र की ओर इस दृष्टि से देखो। वे तुम्हें अनुकूल नहीं पड़ेंगे। अतः तुम इसे अपना भाग्य स्वीकार कर लो कि यह विवाह नहीं हो सकता।"

क्षण-भर के लिए सालकटंकटी जैसे स्तब्ध रह गयी; और फिर उस क्षोभ को जो उसके कंठ में फँस गया था, निगलकर बोली, "आप जानती हैं, यदि मेरे पति मुझे नहीं मिले, तो मैं जीवित नहीं रह पाऊँगी।" वह कुंती के सम्मुख भूमि पर बैठ गयी; और फिर उसने कुंती के चरण पकड़ लिये, "इतना तो मैं समझ गयी हूँ कि आर्य-नियमों से कदाचित् यह विवाह नहीं

हो सकता; किंतु राक्षस-नियमों में विधान है माता ! मुझे आप पुत्रवधू स्वीकार करें या न करें; मुझे अपने साथ अपने परिवार में ले चलें, न ले चलें; किंतु मुझे अपने प्रिय के साथ कुछ समय व्यतीत करने दें।"और यदि यह भी नहीं," उसने रुककर अपनी संकल्प-भरी आँखें ऊपर उठायीं, "तो अपने पुत्र को आदेश दें कि वह अपने हाथों से मेरा गला घोंट दे।"

"वह ऐसी निरीह हत्या कैसे कर सकता है हिडिंबे !" कुंती बोली, "वह नर-भक्षी नहीं है।"

"तो फिर मुझे अपने चरणों में मरने दें।"

इससे पहले कि कोई कुछ समझ पाता, हिडिंबा ने कुंती के चरणों में धरती पर अपना सिर दे मारा"

"हिडिंबे !" कुंती से पहले, भीम उस तक पहुँच गया; और उसने उसे भुजाओं से पकड़कर उठा लिया।

कुंती ने देखा, भीम की आँखों में सालकटंकटी के लिए अपार ममता थी; और सालकटंकटी को तो जैसे अपना स्वर्ग ही मिल गया था।

कुंती के मन में संशय जागा : इन दोनों को पृथक् रखना धर्म है क्या ?"किंतु इतना तो उसके मन में स्पष्ट था कि आर्यों के अनुसार इन दोनों का संयोग धर्म नहीं है" पर वह, यह भी देख रही थी कि हिडिंबा के मन में यह विचार उतना ही स्पष्ट था कि उन दोनों का मिलना ही धर्म था। उसके मन में भीम के दर्शन मात्र से काम जाग उठा था। अपने मन में तथा उन सबके सम्मुख वह उसे अपना पति स्वीकार कर चुकी थी। अतः उनका मिलन ही धर्म था" तो क्या कुंती भीम को राक्षस-विधि स्वीकार करने दे ?"

"देखो हिडिंबे !" कुंती अत्यंत स्नेह से बोली और उसने जैसे हिडिंबा को भीम से लेकर अपने पास बैठा लिया, "हमें तुमसे कोई विरोध नहीं है। हम तुम्हें तनिक भी कष्ट देना नहीं चाहते ! तुम्हारे सुख के लिए जो कुछ करना हमारे वश में है, वह हम करेंगे।"

"तो माता !" सालकटंकटी बोली, "मुझे आप जीवन-दान दीजिए।" उसकी आँखों में याचना का पारावार उमड़ रहा था, "मैं जानती हूँ, आप लोग मेरे समान वन के निवासी नहीं हैं। जाने किन कारणों से आप यात्रा करते हुए, वन में आ गये हैं; किंतु हैं आप यात्री ही। मुझ पर कृपा कर कुछ दिन शालिहोत्र मुनि के आश्रम में टिक जाइए और मुझे राक्षस-विधि के अनुसार संतान-जन्म तक अपने कंत के साथ रमण करने की अनुमति दें।"उसके पश्चात् मैं आपको नहीं रोकूँगी।"

कुंती ने युधिष्ठिर की ओर प्रश्न-भरी दृष्टि से देखा।

युधिष्ठिर के मन में भी पर्याप्त ऊहापोह था। वह इस सारी घटना को धर्म की दृष्टि से भी देख रहा था और सुरक्षा की दृष्टि से भी। उन्हें यहाँ अनिश्चित काल तक अपने-आपको छुपाए रखना था। इस दृष्टि से उन्हें किसी भी अपरिचित व्यक्ति को अपने निकट नहीं आने देना चाहिए था"वे लोग स्वयं तो ब्राह्मण तपस्वियों का रूप धारण कर, गोपनीय ढंग से रह सकते हैं। कोई भी उनपर संदेह नहीं करेगा। उनका यह बताना भी आवश्यक नहीं है कि वे पाँचों परस्पर भाई ही हैं। कोई भी पाँच तपस्वी एक साथ रह सकते हैं। माँ भी एक वृद्धा ब्राह्मणी के रूप में उनके साथ रह सकती हैं। अपना परिचय गुप्त रखने के लिए, माँ को किसी एक की माता भी बताया जा सकता है; किंतु सालकटंकटी अपनी अवस्था और अभ्यास के

कारण तपस्विनी के रूप में नहीं रह पायेगी। जैसी काम- विह्वला वह है, उसका भीम से संबंध छिपाना वैसे भी कठिन होगा; और इस वन में सालकटंकटी के अनेक परिचित एवं संबंधी भी होंगे। वे उसे देखते ही यह जानना चाहेंगे कि वह किन लोगों के साथ रह रही है।...हिडिंब की मृत्यु की सूचना उसके संबंधियों और राक्षस समाज को मिलेगी। वे लोग हिडिंब का वध करने वाले को खोजेंगे। हिडिंबा को देख, वे उससे इस विषय में जिज्ञासा न करें, यह संभव नहीं है।...किंतु, इस अज्ञात क्षेत्र में हिडिंबा का उनके साथ होना, उनके लिए लाभकारी भी हो सकता है। उससे अधिक इस वन- प्रदेश को और कौन जानता होगा—इसके दुरूह और सुरक्षित स्थल, इसके जोखम- भरे स्थल, वन्य- पशुओं की स्थिति और नर- भक्षी राक्षसों के स्थान...

किंतु सुरक्षा से भी अधिक युधिष्ठिर को धर्म की चिंता थी। उसके मन में इस संदर्भ में तनिक भी संदेह नहीं था कि प्राणों की रक्षा से अधिक श्रेयस्कर, धर्म की रक्षा है। अपनी रक्षा के लिए वे सालकटंकटी को मरने के लिए नहीं छोड़ सकते थे...और यदि वे इन दोनों दायित्वों को जोड़ दें तो उन लोगों को एक अल्पकालीन सहयोगिनी मिल जायेगी और सालकटंकटी की मनोकामना पूरी होगी...

युधिष्ठिर हिडिंवा की ओर मुड़ा, "देखो सालकटंकटी ! तुम्हारी मनोकामना पूर्ण करने के लिए राक्षस- पद्धति के अनुसार गर्भाधान तक की अवधि के लिए हम तुम्हें अपने भाई का संग करने की अनुमति दे सकते हैं; किंतु उसके लिए तुम्हें हमारे कुछ नियमों को स्वीकार करना होगा।"

हिडिंबा ने कातर दृष्टि से युधिष्ठिर की ओर देखा, "आर्य, कहें।"

"तुमने नियमों को सुने बिना स्वीकार करने का वचन नहीं दिया है। इसका अर्थ यह है कि सुनने के पश्चात् संभव है, तुम उन नियमों को स्वीकार न करना चाहो। किंतु यदि ऐसा हुआ, तो हम अपने भाई के साथ तुम्हारे संबंध की अनुमति नहीं देंगे।"

"कहें आर्य !"

"किन्हीं कारणों से हम अपना परिचय गुप्त ही रखना चाहते हैं; इसलिए जब तक हम स्वयं ही न बताना चाहें, तुम हमारा परिचय जानने का प्रयत्न नहीं करोगी !" युधिष्ठिर बोला, "तुम्हें अनायास ही हमारे विषय में जो सूचनाएँ मिलेंगी, उन्हें तुम गोपनीय मानोगी और अपने किसी स्वजन- संबंधी से भी उसकी चर्चा नहीं करोगी।"

"आर्य ! मैं अपने प्रिय को लेकर ऐसे दुरूह और गुप्त स्थान पर चली जाती, जहाँ हमें न कोई मिलता, न हमारा परिचय पूछता; किंतु माता ने उसकी भी तो अनुमति नहीं दी है।" हिडिंबा बोली।

"प्रातः जब स्नान- ध्यान कर मध्यम, मांगलिक परिधान धारण कर ले, तो तुम अपने साथ विहार के लिए उसे कहीं भी ले जा सकती हो; किंतु सूर्यास्त से पूर्व तुम्हें, उन्हें लेकर लौट आना होगा।"

"मुझे स्वीकार है आर्य !" हिडिंबा बोली, "मैं आपके इन नियमों को भंग करने की कल्पना भी नहीं कर सकती।...और इसे भी सदा आपका अनुग्रह ही मानूँगी।"

कुंती को लगा, हिडिंबा में रंचमात्र भी राक्षसी उद्दंडता नहीं है। वह अपने पालन- पोषण की दृष्टि से पर्याप्त सुशील और शालीन युवती लग रही थी। कुंती का मन जैसे ममता से उमड़ आया। उसने हिडिंबा को अपनी बाँहों में भर, हृदय से लगा लिया।

"अच्छा ! अब चलो ।" युधिष्ठिर ने कहा, "हमें शीघ्र ही यहाँ से दूर निकल जाना चाहिए ।"

भीम समझ नहीं पा रहा था कि इस सारी घटना की उसके मन में क्या प्रतिक्रिया हुई है। क्या वह प्रसन्न था कि माता तथा युधिष्ठिर ने सालकटंकटी को स्वीकार कर लिया था ? यदि वह प्रसन्न था तो स्पष्टतः उसके अपने मन में भी सालकटंकटी की कामना रही होगी !···क्या सचमुच उसके मन में यह कामना थी ?···या यह मात्र हिडिंबा की अपनी कामना की ही प्रचंडता थी, जिसने माता तथा ज्येष्ठ के मन में उसके प्रति ममता और सहानुभूति जगा दी थी, और स्वयं भीम के मन में कामना···

"रात को मैं आप लोगों के लिए जल लेने गया था," सहसा भीम ने कहा, "किंतु मेरे लौटने तक तो आप सब सो गये थे, किसी ने जल तो पिया ही नहीं।··· मैं जल लाऊँ क्या ?"

युधिष्ठिर ने कुछ चकित होकर भीम की ओर देखा : जल की तो अब किसी को याद ही नहीं थी, फिर··· और फिर युधिष्ठिर को समझने में देर नहीं लगी कि भीम इस विधि से अपना संकोच दूर कर, सहज होने का प्रयत्न कर रहा था ।

"माँ ! तुम्हें प्यास लगी है क्या ?" युधिष्ठिर ने पूछा ।

"तत्काल तो ऐसी कोई आवश्यकता नहीं लग रही ।" कुंती बोली, "किंतु अब स्नान भी करना है । जल तो···।"

"माता ! शालिहोत्र मुनि के आश्रम की ओर चलें । वहाँ शीतल और स्वादिष्ट जल का सरोवर भी है ।" हिडिंबा बोली, "दूसरा एक सरोवर विपरीत दिशा में भी है; किंतु न तो उसका जल उतना अच्छा है; और न ही उसका परिवेश उतना शांत है । उसके आस-पास हिंस्र पशु भी अधिक हैं ।"

"निकट कौन-सा है ?" युधिष्ठिर ने पूछा ।

"निकटता का क्या है !" कुंती ने हिडिंबा के उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की, "सालकटंकटी ठीक कह रही है—हमें आश्रम की ओर जाना चाहिए । वहाँ संध्या-उपासना की भी सुविधा होगी; और परिवेश कुछ सुरक्षित भी होगा ।"

"माता ठीक कहती हैं ।" हिडिंबा ने समर्थन किया ।

"तो फिर उधर ही चलो ।" युधिष्ठिर बोला, "सालकटंकटी ! मार्ग दिखाओ ।"

हिडिंबा आगे-आगे चल पड़ी । उसके साथ-साथ भीम चल रहा था । उनके पीछे कुंती और युधिष्ठिर थे; तथा अंत में अर्जुन, नकुल एवं सहदेव थे ।

कुंती ने आकाश की ओर देखा और उसके मुख पर एक वक्र मुस्कान उभरी : कौन जानता था कि उसे अपनी पहली पुत्रवधू इस प्रकार मिलेगी···

17

आश्रम के निकट पहुँचने में उन्हें अधिक समय नहीं लगा । वे प्रसन्न थे कि रात के दो प्रहरों के विश्राम ने उन लोगों को पर्याप्त समर्थ बना दिया था । सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह था कि

कुंती भी अपने-आप विना किसी सहायता के चल पा रही थी; और असुविधा का अनुभव नहीं कर पा रही थी।...किसी ने तात्कालिक रूप से जल की आवश्यकता भी अनुभव नहीं की थी। शायद रात की शीतलता ने उनकी तृषा शांत कर दी थी।

आश्रम से कुछ पहले ही हिडिंवा रुक गयी, "सामने आश्रम है। बायीं ओर सरोवर है। आपकी इच्छा हो तो मैं इस वृक्ष के नीचे आप लोगों के बैठने की व्यवस्था कर दूँ। आप लोग थोड़ा भोजन और विश्राम कर लें तो मैं कुटीर-निर्माण में लगूँ।"

युधिष्ठिर ने देखा—अच्छा स्थान था। प्राकृत शोभा मन को शांति देती थी। जल की भी सुविधा थी। यह स्थान नगर से दूर था; किंतु मानव-अस्तित्व से दूर नहीं था। पास ही आश्रम था। यायावर संन्यासी भी यहाँ आते रहेंगे। प्रयत्न करने पर नगरों के समाचार भी आवश्यकतानुसार मिल जाया करेंगे। सुरक्षा की दृष्टि से भी यह स्थान ठीक ही था।

"अच्छा, माँ! आप लोग यहाँ विश्राम करें।" युधिष्ठिर ने कहा "मैं आश्रम के कुलपति से मिलकर आता हूँ।"

"आप स्नान कर कुछ जलपान तो कर लें आर्य!" हिडिंवा वोली, "मुनि दिन भर आश्रम में ही रहते हैं।"

"नहीं !" युधिष्ठिर वोला, "उनके आश्रम में आये हैं, तो उनको प्रणाम कर, उनसे अनुमति तो लेनी ही होगी।"

"यह स्थान तो आश्रम से वाहर है।" हिडिंवा ने कहा।

"तुम नहीं जानतीं सालकटंकटी !" कुंती ने समझाया, "आश्रमों की सीमाएँ, राज्यों की सीमाओं के समान नहीं होतीं कि हम उसके भीतर या वाहर होने की चिंता करें। हम आश्रम के निकट आये हैं और आश्रम का सद्भाव चाहते हैं—इतना ही पर्याप्त कारण है कि हम मुनि के दर्शनों के लिए जायें। यह हमारी मर्यादा है।"

"क्षमा करें देवि ! क्षमा करें !" हिडिंवा ने हाथ जोड़ दिये, "मैं अपने अज्ञान में चपलता कर वैठी। मैं अपनी राक्षस-मर्यादा के अनुसार, आश्रम की अधिकार-सीमा निश्चित कर रही थी।"

युधिष्ठिर के प्रणाम के उत्तर में मुनि ने आशीर्वाद दिया, "तुम पर प्रभु की कृपा हो।"

उन्होंने मौन वैठे युधिष्ठिर का निरीक्षण किया, "इस क्षेत्र में नये आये लगते हो। अपना परिचय दो वत्स !"

"अभी तो साधारण वनवासी ही समझें मुनिवर ! इससे अधिक परिचय दे नहीं सकता।" युधिष्ठिर वोला, "अधर्म और अन्याय से पीड़ित यात्री हैं।"

मुनि ने ध्यान से उसे देखा, जैसे उसके चेहरे पर से कुछ पढ़ने का प्रयत्न कर रहे हों। फिर मुस्कराकर वोले, "तुमने बहुत अच्छा किया, मिथ्या भाषण नहीं किया।...यहाँ किसलिए आए हो ?"

"धर्म और न्याय की खोज में निकले हैं। कुछ दिन आपकी छत्रच्छाया में रहने के इच्छुक हैं।" युधिष्ठिर धीरे से वोला।

मुनि की आँखें उसी प्रकार युधिष्ठिर के मन के आर-पार देखती रहीं, "धर्म की आशा

में आये हो अथवा न्याय की ?"

"दोनों में कोई अंतर है क्या कुलपति !" युधिष्ठिर कुछ चकित होकर बोला, "मैं तो दोनों को अभिन्न समझता आया हूँ।"

"दोनों अभिन्न तो हैं, क्योंकि अंततः न्याय ही धर्म है !" मुनि मुस्कराए, "किंतु पुत्र ! मैं तुम्हें धर्म दे सकता हूँ, न्याय नहीं ! आश्रम में तुम्हें धर्म भी मिल सकता है और न्याय-बोध भी; किंतु न्याय तो राजसभा में ही मिल पायेगा। न्याय के साथ दंड-विधान भी जुड़ा है। न्याय के लिए दुष्ट-दलन करना पड़ता है, धर्म के लिए आत्म-दमन ! न्याय माँगा जाता है, धर्म साधा जाता है। न्याय में अधिकार है, धर्म में दायित्व। धर्म ऋषि देता है और न्याय राजा !"

"और यदि राजा न्याय न करे तो ?" युधिष्ठिर के मुख से अनायास ही निकल गया।

"तो वह धर्म से च्युत होता है। ऐसा उसी राजसभा में होता है, जिसका संबंध आश्रम से विच्छिन्न हो चुका है। जिस राजसभा में ऋषि का सम्मान नहीं होता, वहाँ न धर्म होता है न न्याय !" मुनि ने रुककर युधिष्ठिर की ओर देखा, "धर्म और न्याय का अंतर समझ में आया वत्स ?"

"हाँ मुनिवर !" युधिष्ठिर बोला, "धर्म और न्याय सहयात्री तो हैं; किंतु अभिन्न नहीं !"

"यदि तुम धर्म से संतुष्ट हो सकोगे, तो वह इस आश्रम में पर्याप्त मिल जायेगा। चाहो तो सुविधाजनक स्थान पर कुटीर बना लो। तुम्हारे साथ कोई है या अकेले हो ?"

"मेरी माता हैं। चार भाई हैं; और एक भाई की पत्नी है।"

"तो अपनी आवश्यकतानुसार कुटीर बना लो। आश्रमवासियों से जो सहायता अपेक्षित हो, वह कहो।" सहसा मुनि रुके, "तुम लोगों ने अभी भोजन तो नहीं किया होगा ?"

"नहीं आर्य !"

"तो तुम लोग स्नान-ध्यान कर लो। मैं थोड़े-से फल और दूध भिजवाता हूँ।"

युधिष्ठिर प्रणाम कर लौट आया। उसने देखा, वृक्ष के नीचे थोड़ा-सा क्षेत्र जैसे झाड़-बुहार कर स्वच्छ कर लिया गया था। माँ स्नान कर आयी थीं और ध्यान कर रही थीं। शेष लोग भी कुछ उसी प्रकार की व्यवस्था में लगे हुए थे। ऐसा लग रहा था कि उनकी अनिश्चितता समाप्त हो गयी थी और या तो उनका मन परिस्थितियों के अनुकूल हो चुका था, या फिर मन ने यह संकल्प कर लिया था कि वह परिस्थितियों को अपने अनुकूल बना लेगा। युधिष्ठिर को सबसे अधिक आश्चर्य अपनी माता को देखकर होता था। कैसे वे प्रत्येक स्थिति को सहज ही स्वीकार कर लेती थीं, कैसे वे नये व्यक्ति को अंगीकार कर लेती थीं। हिमालय-क्षेत्र का कोई आश्रम हो या हस्तिनापुर का राजप्रासाद, किसी प्रासाद का ध्वंसावशेष हो या वारणावत का लाक्षागृह, हिडिंबवन का निर्जन वन हो या शालिहोत्र मुनि का आश्रम—वे सब स्थानों पर समान भाव से सहज और आश्वस्त थीं।

तभी कुंती ने आँखें खोलीं और युधिष्ठिर को सम्मुख देखकर बोली, "मुनि से भेंट हुई ?"

"हाँ माँ ! उन्होंने कुटीर बनाने की अनुमति दे दी है।"

"भोजन की भी कुछ व्यवस्था करो पुत्र ! तुम्हारे छोटे भाई भूखे हैं।"

"कुलपति ने कहा है कि वे फल और दूध भिजवा रहे हैं।"

"उनकी कृपा है पुत्र !"

संध्या तक उनके दो कुटीर बनकर तैयार हो गये थे। उनमें से एक आकार में दूसरे से पर्याप्त बड़ा था और वह पाँचों भाइयों के लिए था। दूसरा कुटीर छोटा था और वह कुंती तथा हिडिंबा के लिए था। हिडिंबा ने प्रातः से अब तक अनथक श्रम किया था। कुटीर बनाने जैसे कार्य में वह प्रवीण प्रतीत होती थी। न उसे शाखा तोड़ने में कोई असुविधा थी, न लकड़ी फाड़ने में; न वह वृक्ष पर चढ़ने में संकोच करती थी, न कूदकर नीचे आने में उसे कोई कठिनाई थी। वह वन के स्वच्छंद जीव के समान, सहज स्वाभाविक रूप में जैसे अपना दैनंदिन कार्य कर रही थी। आरंभ में उसने एक-आध बार हिडिंबा को राक्षसों का राजा और इस क्षेत्र का स्वामी अवश्य कहा था; किंतु थोड़ी ही देर में जैसे वह एकदम ही भूल गयी थी कि वह हिडिंबवन के स्वामी अथवा राजा की बहन है। कुंती तथा उसके पाँचों पुत्रों की वह इस प्रकार सेवा कर रही थी, जैसे या तो वह उनकी दासी हो अथवा वे उसके अत्यंत आत्मीय तथा चिरप्रतीक्षित अतिथि हों, जो एक लंबे अंतराल के पश्चात्, आज उसके घर आये हों। कदाचित् वह अपनी सेवा से ही उनका मन जीत लेना चाहती थी।

रात के भोजन के पश्चात् कुंती तथा हिडिंबा छोटे कुटीर में चली गयीं। पाँचों भाई बड़े कुटीर में सोने की व्यवस्था करने लगे तो अर्जुन बोला, "यह आश्रम सघन वन के मध्य है। और वन भी कैसा ! हिडिंबवन से अधिक दूर नहीं है। हिडिंब को तो मध्यम ने मार दिया है; किंतु यह आवश्यक तो नहीं कि वन में एक ही हिडिंब हो। यहाँ और भी अनेक राक्षस हो सकते हैं। यदि हम सब इस प्रकार सो गये और रात को राक्षसों, हिंस्र पशुओं अथवा दुर्योधन के मित्रों में से किसी ने हम पर आक्रमण किया, तो हमारी सुरक्षा की क्या व्यवस्था होगी ?"

"मैं हूँ न !" भीम बोला, "कल रात भी तो तुम लोग सोए हुए थे; तो क्या कर लिया हिडिंब ने ?"

"हाँ ! कल तो तुम जाग रहे थे; किंतु कब तक जागोगे ?" अर्जुन बोला, "तुम्हें भी तो नींद आयेगी ही; और जब आयेगी तो हमारी नींद की तुलना में वह अधिक प्रगाढ़ होगी।"

"तो ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"हमें अपने शस्त्र वारणावत में नहीं छोड़ने चाहिए थे।" नकुल बोला, "बिना शस्त्र के तो केवल मल्ल-विद्या ही काम आ सकती है; और वह भी निःशस्त्र शत्रुओं के सम्मुख !"

"हमें शस्त्रों की आवश्यकता है और निकट भविष्य में भी रहेगी।" सहदेव बोला, "किंतु ज्येष्ठ का तर्क एकदम ठीक है कि वारणावत में लाक्षागृह के जल जाने के पश्चात् हमारे शव तो मिलते, किंतु शस्त्र न मिलते तो दुर्योधन को यह विश्वास कैसे होता कि वे शव हमारे ही हैं !"

"दुर्योधन को अपनी मृत्यु का विश्वास दिलाना जितना आवश्यक था, उतना ही आवश्यक अपनी सुरक्षा का प्रबंध करना भी है।" नकुल बोला, "हमने दुर्योधन को तो यह विश्वास दिला दिया कि हमारी मृत्यु हो गयी है; फिर वारणावत में न मरे और यहाँ मर गये तो ? दुर्योधन की इच्छा तो हमारे वध की है—वध वारणावत में हो या शालिहोत्र आश्रम में—इससे उसे कोई अंतर नहीं पड़ता। अपनी रक्षा के लिए शस्त्र तो हमें रखने ही चाहिए थे।"

"अरे तुम्हारा शस्त्र मैं हूँ न !" भीम हँसा, "नकुल ! तुम तो इतने भीरु कभी नहीं

थे !"

"मध्यम !" अर्जुन ने नकुल के कुछ कहने से पहले ही कहा, "प्रश्न नकुल के भीरु होने का नहीं है। न ही मैं यह विवाद चलाना चाहता हूँ कि हमें शस्त्र लाने चाहिए थे या नहीं। हमें अब यह तथ्य स्वीकार कर लेना चाहिए कि हमारे पास इस समय शस्त्र नहीं हैं। यह प्रश्न विचारणीय हो सकता है कि हम नये शस्त्र प्राप्त करने का प्रयत्न करें या न करें। शस्त्र धारण करते ही हमारे पहचान लिये जाने का जोखम बढ़ जाता है। मध्यम के बल का हम भरोसा कर सकते हैं, यह भी ठीक है; किंतु क्या अकेले मध्यम के बल का भरोसा कर हमें अपनी सुरक्षा का सारा भार उनको सौंप देना चाहिए—स्वयं निष्क्रिय होकर शांति से बैठ जाना चाहिए ?"

"तुम ठीक कह रहे हो अर्जुन !" युधिष्ठिर बोला, "किंतु हमें यह भी जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि आश्रम में जो अन्य लोग रहते हैं, उनकी सुरक्षा का क्या प्रबंध है ? क्या वे लोग असुरक्षित हैं ? क्या वे स्वयं को असुरक्षित अनुभव करते हैं ? क्या आश्रमवासियों की हत्याओं की घटनाएँ घटित होती रहती हैं ?"

"अरे मैं जो कह रहा हूँ कि मैं हूँ यहाँ !" भीम पुनः बोला, "मुझ पर भरोसा नहीं है, तुम लोगों को ? मैं इस वन के सारे राक्षसों को अकेला ही मार सकता हूँ।"

"मध्यम ! आप ठीक कह रहे हैं।" सहदेव हँसा, "किंतु जिस समय आप इस वन के सारे राक्षसों को एकत्रित कर, किसी एक कोने में, एक- एक कर उन्हें मार रहे होंगे, उसी समय कोई सिंह सालकटंकटी को उठाकर ले गया तो आप राक्षसों को छोड़ेंगे या सालकटंकटी को ?"

सबने मिलकर एक ठहाका लगाया और भीम ने खिसियाए- से स्वर में कहा, "सहदेव ! तू पिटेगा।"

युधिष्ठिर ने पहचाना कि यह कहते हुए भी भीम के चेहरे पर खीज कम थी, रीझ अधिक।...

बाहर कई लोगों की पदचाप सुनायी दी।...

वे चौकन्ने हो गये। भीम जैसे अपना दायित्व समझकर सबसे पहले उठकर खड़ा हो गया।...युधिष्ठिर सोच रहा था : कहीं माँ तो नहीं आयीं ?...किंतु माँ तो वहीं से पुकार सकती थीं; और पदचाप भी अनेक लोगों की थी।...

आगंतुक, कुटीर के द्वार पर आ गये। तब युधिष्ठिर ने देखा : वे तो स्वयं मुनि शालिहोत्र थे। उनके साथ उनके कुछ शिष्य भी थे।

"पधारिए मुनिवर !" युधिष्ठिर ने उठकर उनका स्वागत किया।

अन्य चारों भाई भी मुनि के सम्मान में उठ खड़े हुए।

"मैं यह देखने आया था कि आप लोग किसी असुविधा का अनुभव तो नहीं कर रहे ?"

"असुविधा तो कोई नहीं है आर्य !" युधिष्ठिर बोला, "किंतु एक जिज्ञासा है। यदि आप अन्यथा न मानें, तो कृपा कर थोड़ी देर हमें वार्तालाप- लाभ प्रदान करें।"

मुनि बिना कुछ कहे, एक आसन पर बैठ गये। उन्होंने अपने शिष्यों को भी बैठने का संकेत किया।

"आर्य कुलपति !" युधिष्ठिर अत्यंत शांत स्वर में बोला, "इस वन में जहाँ हिंस्र पशु

भी रहते हैं और नर-भक्षी हिंस्र राक्षस भी—आपने अपनी तथा अपने आश्रमवासी शिष्यों की सुरक्षा की क्या व्यवस्था की है ?"

मुनि शालिहोत्र मधुर भाव से मुस्कराए, "मेरे मन में एक क्षीण-सा विचार था कि शायद आप लोगों को यह समस्या विचलित कर रही हो।"

युधिष्ठिर ने कुछ नहीं कहा। वह मुनि के आगे बोलने की प्रतीक्षा करता रहा।

मुनि थोड़ी देर तक आँखें झुकाए जैसे भूमि को देखते रहे। उन्होंने जब अपना चेहरा ऊपर उठाया तो उसपर शांत ही नहीं, एक दिव्य मुस्कान थी, "यदि मैं कहूँ कि हमने अपनी सुरक्षा का कोई उपाय नहीं किया है, तो आप भयभीत तो नहीं हो जायेंगे ?"

"भयभीत तो हम नहीं होंगे; किंतु हम जानना चाहेंगे कि आश्रम की रक्षा कैसे होती है ?" युधिष्ठिर तटस्थ भाव से बोला।"

मुनि ने युधिष्ठिर को देखा, "यह कुटीर किसने बनाया ?"

"हमने !"

"क्यों बनाया ?"

"क्योंकि यह हमारे लिए उपयोगी है !"

"यदि कोई इसे नष्ट करने का प्रयत्न करेगा, तो इसकी रक्षा कौन करेगा ?"

"हम करेंगे।"

"तुम इसकी रक्षा कब तक करोगे वत्स ?"

"जब तक हमें इसमें रहना है। जब तक यह हमारे लिए उपयोगी है।"

मुनि ने पुनः युधिष्ठिर को देखा, "तुम्हें अपने प्रश्न का उत्तर मिला या नहीं वत्स ?" मुनि ने युधिष्ठिर के उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की। उनकी आँखें मुँद गयीं। वे आत्मलीन हो गये। इस बार वे बोले तो उनकी वाणी में अद्भुत संगीत था, "हमें प्रभु ने बनाया है वत्स ! इसलिए बनाया है, क्योंकि हम उसके लिए उपयोगी हैं। जब तक उसके लिए हमारा कोई उपयोग है, वह हमारी रक्षा करेगा; और जिस दिन हमारा कोई उपयोग नहीं रह जायेगा, उस दिन हमारी रक्षा कोई नहीं कर पायेगा...।"

युधिष्ठिर चकित-सा मुख खोले, अवाक्, मुनि को देखता रह गया। उसने मुनि से इस प्रकार के उत्तर की अपेक्षा नहीं की थी।...रक्षा से उसका कदापि यह अभिप्राय नहीं था। वह क्षत्रिय राजकुमार था। उसने आज तक युद्ध-कला और शस्त्रविद्या की ही शिक्षा ली थी। वह तो रक्षा और प्रहार के ही तर्क जानता था...

"आपका तात्पर्य यह है," युधिष्ठिर के कुछ कहने से पूर्व ही भीम कुछ तीव्र स्वर में बोला, "कि यदि कोई खड्ग लेकर मेरा वध करने आये, तो मैं चुपचाप बैठा, यह जानने की प्रतीक्षा करता रहूँ कि प्रभु के लिए मेरी कोई उपयोगिता है या नहीं ? वह मेरी रक्षा करेगा या नहीं ?"

"मध्यम !" युधिष्ठिर ने जैसे उसे चेतावनी दी।

"उसे तर्क से क्यों रोकते हो वत्स ! जो तुम्हारे मन में आया, वह तुमने पूछा; अब जो उसके मन में आया है, उसे पूछने दो।" मुनि भीम की ओर मुड़े, "मैंने जो कुछ कहा था, अपनी रक्षा के विषय में कहा था वत्स ! तुम्हारी रक्षा के लिए नहीं ! जब तक तुम यह मानते हो कि अपनी रक्षा के लिए तुम स्वयं उत्तरदायी हो, तब तक अपनी रक्षा तुम स्वयं ही

करो ।"

"किंतु आर्य कुलपति ! ईश्वर ने प्रत्येक जीव को अपने जीवन की रक्षा की इच्छा दी है; और उसे विभिन्न प्रकार के साधन दिये हैं ।" अर्जुन बोला, "तो क्या आत्मरक्षा की भावना, ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध है ?"

"और क्षत्रिय को तो शस्त्र व्यवसायी ही बनाया गया है : यही उसका धर्म माना गया है ।" युधिष्ठिर ने कहा, "जब क्षत्रिय शस्त्र धारण करता है, तो क्या वह ईश्वर की इच्छा का विरोध करता है ?"

मुनि शालिहोत्र मुस्कराए, "नहीं ! न तो कोई धर्म का विरोध कर रहा है, न ईश्वर की इच्छा का । जिन लोगों की चर्चा तुमने की है, वे सब अपने धर्म का ही निर्वाह कर रहे हैं । इसीलिए मैंने तुम्हारे मध्यम से कहा था, कि अपनी रक्षा तुम स्वयं करो ।"

"किंतु मुनिवर ! प्रभु का नियम तो एक ही होगा । ऐसा तो नहीं हो सकता कि जो मेरे लिए धर्म है, वह आपके लिए धर्म न हो ।" सहदेव बोला, "क्या धर्म भी अनेक होंगे ?"

"तुमने उचित प्रश्न किया है पुत्र !" मुनि बोले, "धर्म तो एक ही है, किंतु अवस्था का अंतर होता है ।"

"वह कैसे ?"

"एक पिता अपने शिशु को अनेक खिलौने खरीदकर देता है; किंतु जब पिता यह कहता है कि वह अपने उन खिलौनों में से एक-आध खिलौना, किसी अन्य बालक को दे दे, तो उस शिशु की प्रतिक्रिया क्या होगी ?" मुनि ने पूछा ।

"सामान्यतः तो शिशु अपना खिलौना किसी को नहीं देगा ।" भीम ने कहा ।

"क्यों ?"

"बालक को खिलौने से मोह होता है । वह उनको किसी और के साथ बाँट नहीं सकता ।"

"किंतु वह खिलौना तो उसके पिता ने ही लेकर दिया था...।"

"हाँ ! किंतु..."

"और पिता चाहेगा तो उसे और खिलौने भी ले देगा ।..."

"हाँ ! किंतु वह बालक इस बात को समझता नहीं है ।"

"और पिता की इच्छा होगी तो वह बालक की इच्छा के विरुद्ध भी उसके खिलौने छीन लेगा ।..."

"हाँ ! किंतु वह बालक इस बात को समझता नहीं है ।"

"ठीक है !" मुनि सहज भाव से मुस्कराए, "अब उस बालक की कल्पना करो, जो इस बात को समझता है कि उसका पिता समर्थ है; और वह अपनी इच्छा से ही बालक को वह सब कुछ देगा, जिसकी बालक को आवश्यकता है । वह बालक अपने पिता पर कभी अविश्वास नहीं करता । उसकी इच्छा का कभी विरोध नहीं करता । पिता की आँख बचाकर, उसके धन से कभी खिलौने क्रय करने नहीं जाता ।...वैसे ही हम सब मनुष्य भी हैं पुत्र ! जिसकी समझ में आ जाता है कि प्रभु हमारा पिता है—हम उससे न पृथक् हैं, न उसकी इच्छा और प्रेम से बाहर, वह अपनी समस्त इच्छाओं और आवश्यकताओं को उसके अधीन कर देता है । यह जीवन भी उसी का दिया हुआ खिलौना है । उसकी इच्छा से ही हमारे पास है; और उसकी इच्छा न रहने पर यह हमारे पास नहीं रहेगा ।...और फिर एक बात और भी है पुत्र !" मुनि

ने रुककर उनकी ओर देखा, "बालक जब इतना बड़ा हो जाता है कि वह खिलौने की निरर्थकता समझ जाता है, तो उसका मोहभंग हो जाता है। वह पिता से कुछ माँगता नहीं, बस उसके निकट रहना चाहता है। उसके प्रेम को पाना चाहता है—भाव के ही रूप में, पदार्थ के रूप में नहीं ! तो पिता की इच्छा जानकर, वह उस खिलौने को किसी को भी दे सकता है; और जब तक वह उसे अपने पास रखता है, अपने पिता की धरोहर मानकर ही रखता है।"

"किंतु क्या मानव-समाज इस प्रकार के व्यवहार से चल सकता है ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"मैं मनुष्य के बनाये हुए समाज के व्यवहार की बात नहीं कर रहा, मैं ईश्वर की बनायी हुई सृष्टि की चर्चा कर रहा हूँ। मनुष्य अपने समाज के लिए स्वयं नियम बनाता है, और उन्हीं पर चलता है। उसे ईश्वर के नियमों की चिंता नहीं होती। जो ईश्वर के बनाये हुए नियमों पर चलता है, वह न मानव-समाज के नियमों की चिंता करता है, न उसके व्यवहार की।"

"आप सर्वथा सत्य कह रहे हैं मुनिवर !" युधिष्ठिर पुनः बोला, "किंतु जीवन की सारी पद्धतियों में जो सर्वश्रेष्ठ है, वह सब के लिए प्रचारित होनी चाहिए। इसलिए मैं जानना चाहता हूँ कि इस प्रकार जीवन-यापन करना आपके लिए संभव कैसे है ?"

शालिहोत्र थोड़ी देर मौन रहे, जैसे विचार कर रहे हों; फिर बोले, "पुत्र ! सारी सृष्टि तीन गुणों—सत्, रज तथा तम—पर चल रही है। इसमें प्रत्येक गुण जीव के पिंड में भी है और ब्रह्मांड में भी। हमारे भीतर के गुण ही बाह्य सृष्टि में से अपने समतुल्य गुणों को आकृष्ट करते हैं। यदि हम अपने भीतर से रजोगुण तथा तमोगुण सर्वथा समाप्त कर दें, तो बाह्य सृष्टि के ये गुण हमारी ओर आकृष्ट नहीं होते, न हम पर प्रभाव डालने की बात सोचते हैं। यदि मेरे मन में से रजोगुण तथा तमोगुण सर्वथा निकल जायें तो वन के हिंस्र पशुओं तथा नरभक्षी राक्षसों के मन में भी मुझ पर आक्रमण करने का विचार नहीं आयेगा; और यदि आयेगा तो वे मुझ पर आक्रमण करने का साहस नहीं कर पायेंगे। यह ईश्वरीय नियम है पुत्र !"

"मैं कैसे मानूँ कि आप जो कह रहे हैं, वह सत्य है ?" भीम के स्वर में उद्दंडता नहीं थी; किंतु स्पष्टवादिता का खुरदुरापन अवश्य था, "यदि मैं किसी हिंस्र जंतु के सम्मुख यह मानकर खड़ा हो जाऊँ कि मेरे मन में उसके प्रति विरोध नहीं है, इसलिए वह मुझ पर आक्रमण नहीं करेगा; और वह मुझ पर आक्रमण कर दे, तो मैं व्यर्थ ही मारा जाऊँगा।···"

"मुनिवर !"··· युधिष्ठिर ने कुछ कहना चाहा।

शालिहोत्र मुनि ने उसे रोक दिया, "तुम चिंता मत करो वत्स ! मुझे तुम्हारे भाई की यह स्पष्ट सीधी जिज्ञासा तनिक भी कष्टकर नहीं लगी है। मैं तो प्रसन्न हूँ कि यह नवयुवक सत्य बोलने का साहस कर सका। वे भीम की ओर मुड़े, "मेरी दो बातें स्मरण रखो पुत्र ! और उनपर विश्वास भी करो। पहली यह कि ईश्वरीय नियमों का जब तक स्वयं अनुभव न करो, दूसरे व्यक्ति के कहने मात्र से उसका विश्वास मत करो। दूसरी यह कि, यदि तुम वस्तुतः जल में स्थित हो, तब ही तैरने के लिए हाथ-पैर मारो। यदि हवा में स्थित रहकर तैरने की मुद्राएँ बनाओगे तो व्यर्थ ही अपना नाक-मुँह तुड़वा बैठोगे।···जब तक तुम्हारी स्थिति यह है कि 'देखूँ, सिंह मुझ पर आक्रमण करता है या नहीं; और यदि उसने आक्रमण कर दिया तो मैं व्यर्थ ही मारा जाऊँगा,' तब तक तो तुम सिंह से अपनी रक्षा के लिए खड्ग बाँधकर ही चलो। किंतु यदि तुम्हारे मन की स्थिति यह हो जाती है कि 'सिंह और मैं एक ही प्रभु के जीव हैं, अथवा एक ही परमपिता की संतान हैं, इसलिए सिंह का मुझ पर आक्रमण करने का प्रश्न ही नहीं

उठता। यदि उसने आक्रमण कर ही दिया तो वह प्रभु की ही इच्छा से है। यदि प्रभु यह चाहते हैं कि मेरा मांस खाकर ही सिंह के प्राणों की रक्षा हो, तो मेरे मांस की सार्थकता ही इसमें है कि वह प्रभु की इच्छा पूरी करे। अतः मैं सहर्ष अपना मांस सिंह को सौंप दूँगा।"तो ही तुम स्वयं अपनी रक्षा का विचार त्याग कर, ईश्वर पर निर्भर हो, निर्भीक भाव से सिंहों के मध्य विचरण करो।" और मुनि उठ खड़े हुए, "अच्छा पुत्र! मेरे आश्रम में तुम किसी प्रकार की चिंता मत करो। तुम यहाँ सर्वथा सुरक्षित हो। निश्चिंत होकर सो जाओ।..."

मुनि ने आशीर्वाद की मुद्रा में हाथ उठाया; और कुटीर से बाहर चले गये।

18

प्रातः जब भीम ने पूजा-उपासना कर ली और आहार कर मांगलिक वेश धारण कर लिया तो कुंती ने कहा, "पुत्र! सालकटंकटी ने मेरी पर्याप्त सेवा की है। मैं उससे प्रसन्न हूँ। वह विशुद्ध प्रकृति-पुत्री, सरल और अबोध है। उसके मन में किसी प्रकार का छल-कपट नहीं है। मैंने उसे तुमसे संबद्ध इच्छा-पूर्ति का वरदान दिया है। इसलिए इसे मेरा आदेश ही समझो। हमें अभी कुछ दिन यहाँ रहना है; इसलिए तुम सालकटंकटी की काम-तृप्ति के लिए, संतान-प्राप्ति तक उसके साथ विहार करो।" कुंती ने रुककर भीम को निहारा, "उसकी इच्छानुसार, तुम इसे अपना राक्षस-विवाह ही समझना। तुम्हें उसके साथ आजीवन नहीं रहना है; न ही यहाँ से चलते हुए वह हमारे साथ जायेगी। उसने कुरुकुल की पुत्रवधू होने की इच्छा नहीं की है, न वह उसकी कल्पना ही कर सकती है। उसने केवल तुम्हारा कामाह्वान किया है।"उसमें इतने अनुरक्त मत होना कि उससे विलग होते हुए, तुम्हें कष्ट हो। उनके समाज में शायद धर्म-पत्नी की अवधारणा ही नहीं है, इसलिए वह केवल काम-संगिनी बनने की ही याचना कर सकी है।..." कुंती जैसे क्षण-भर के लिए अटकी, "यदि वह संतान की कामना करती, तो मैं इसे एक प्रकार का नियोग ही मानती; किंतु उसकी अनुरक्ति संतान में नहीं; तुममें है। अतः यह नियोग न होकर अस्थायी पतित्व मात्र है।"

"मैं समझता हूँ माँ!" भीम बोला, "तुम्हारी इच्छा के विपरीत कुछ नहीं होगा।"

"और पुत्र!" कुंती पुनः बोली, "उसने मेरी बहुत सेवा की है। उसका मन किसी भी प्रकार मत दुखाना।"

"अच्छा माँ! अच्छा।" भीम हँसकर बोला, "लगता है, तुम उसपर रीझ गयी हो।"

भीम कुटीर से बाहर निकला तो उसने हिडिंबा को अपनी प्रतीक्षा में खड़ा पाया। वह उसकी ओर देखकर मुस्करायी—एक निरावृत्त और उन्मुक्त मुस्कान। भीम को लगा, मुस्कराने पर उसका नारी-सुलभ आकर्षण और भी बढ़ जाता है।"और इस समय तो वह अपनी ओर से पूर्ण शृंगार करके आयी थी। प्रातः उसने स्नान भी किया था और केश-विन्यास भी। आज सारा प्रसाधन चेहरे को विकराल बनाने के लिए नहीं, मधुर बनाने के लिए किया गया लगता था। संभव है कि माँ ने उसे किसी प्रकार का सहयोग भी दिया हो। उसके पास सूती वस्त्र

नहीं थे, किंतु उसका मृग-चर्म रक्त से सना हुआ और दुर्गंध-युक्त नहीं था। पुष्पों के शृंगार ने उसे नर-मांस का भक्षण करने वाली राक्षसी के स्थान पर किसी आश्रम की कन्या बना दिया था। किंतु, एक तो उसका आकार, मुनि-कन्याओं की अपेक्षा, पर्याप्त दीर्घ था, और दूसरे उसके चेहरे पर सलज्ज संकोच के स्थान पर पर्याप्त खुला निमंत्रण था।'''निमंत्रण' शब्द भीम के मन में खटका। उसके चेहरे पर पुरुष को लुब्ध करने वाला नारी-सुलभ निमंत्रण कम, पुरुष का भोग-भाव ही अधिक था।

भीम की समझ में नहीं आया कि वार्तालाप कैसे आरंभ करे''वह अभी तक अपने मन के द्वंद्वों से भी उबर नहीं पाया था। उसके भीतर का शुद्ध पुरुष इस संयोग को अपने लिए भोग-सुख का एक अतिरिक्त अवसर मानकर किसी-किसी क्षण किलक लेता था; किंतु उसका मन अभी तक इसे न तो स्वच्छ और निर्दोष भोग मान पाया था और न ही इसे अपना प्राप्य ही मान पाया था। बीच-बीच में उसके मन में यह भाव भी उभर आता था कि वह मनुष्य के स्थान पर कोई पदार्थ हो गया है। उस पदार्थ की कामना, इस सालकटंकटी ने की है; और उसे प्रसन्न करने के लिए वह उसे सौंप दिया गया है''

हिडिंबा ने आगे बढ़कर मुखर उत्तप्त भाव से उसकी भुजा थाम ली, "आओ, चलें !"

भीम के मन में तत्काल प्रतिक्रिया हुई, यह सर्वथा पाशविक कामुकता थी। यह मानवीय शृंगार-भाव नहीं था; और प्रेम तो यह किसी भी प्रकार था ही नहीं।''

भीम ने अपना हाथ छुड़ा लिया।

हिडिंबा हतप्रभ रह गयी, "क्या हुआ ?"

"यह तपोभूमि है। यहाँ लोग कामनाओं से रहित होकर आते हैं, या कामनाओं से मुक्ति पाने के लिए आते हैं। हमें तपस्या का सम्मान करना चाहिए। इस स्थान को अपनी वासना की भूमि नहीं बनाना चाहिए।"

हिडिंबा कुछ भी नहीं समझी।

भीम चल पड़ा तो वह भी उसके पीछे हो ली।

आश्रम की सीमा पार कर, वे सघन वन में आ गये, तो भीम रुका। हिडिंबा उसके निकट आ गयी।

"आश्रम में तुमने क्या कहा था ?" हिडिंबा उसके गले में लगभग झूल ही गयी।

भीम का ध्यान उस ओर गया। अब वह उसे 'आर्य' अथवा 'आप' न कहकर, 'तुम' कह रही थी; और किसी भी प्रकार उससे दूर नहीं रह सकती थी।

भीम ने उसे अपनी भुजाओं में थामा तो उसे लगा कि उसका रक्त भी उत्तप्त हो रहा है; और शरीर जलने लगा है। उसके मन के द्वंद्व कहीं सो गये थे और काम का वेग अन्य किसी विचार को निकट नहीं आने दे रहा था।''उसकी भुजाएँ कसती गयीं और उसका आलिंगन प्रगाढ़ होता गया।

"तुम इतने शक्तिशाली हो !" हिडिंबा बोली, "मैंने सदा तुम जैसे शक्तिशाली पति की ही कल्पना की थी। उस रात तुम्हें देखते ही मैं समझ गयी थी कि तुम मेरे लिए ही आये है।"

"तुमको इतना कुछ मालूम था तो तुम इतने सघन वन में छिपी मेरी प्रतीक्षा क्यों करती रहीं ?" मुझे खोजने के लिए नगर में क्यों नहीं आ गयीं ?" भीम स्वयं ही अपने प्रश्न पर खिलखिलाकर हँस पड़ा।

उसे हँसते देखकर हिडिंबा भी अट्टहास कर हँसी और अपना प्रेम उँडेलते हुए उसके वक्ष पर बलपूर्वक घूँसे मारती हुई बोली, "तुम बहुत दुष्ट हो। ऐसी बातें कहते हो, जिनका अर्थ मैं समझ भी नहीं पाती।"

भीम ने अनुभव किया कि उसकी हथेलियाँ भारी थीं और घूँसे प्रहारक थे। किसी साधारण पुरुष से वह इस प्रकार अपना प्रेम जताती तो उसकी हड्डियाँ तोड़कर रख देती।

भीम ने उसकी कलाइयाँ थाम लीं और बोला, "समझा तो तुम्हें मैं दूँगा; किंतु पहले मैं तो तुम्हें समझ लूँ।"

"छोड़ो मेरी कलाई !" हिडिंबा बोली, "तुम तो मेरी हड्डियाँ ही मरोड़ दोगे।"

"और तुम तो फूल बरसा रही थीं न !" भीम बोला, "नहीं छोड़ूँगा। देखता हूँ, हिडिंबवन की रानी अपने-आप को कैसे छुड़ाती है !"

"छोड़ो।"

"नहीं !"

"काट खाऊँगी !"

"यह तो भयंकर जोखिम है। कहीं तुम्हें मेरा रक्त स्वादिष्ट लगा तो सारा का सारा पी जाओगी। और यदि मांस भी सरस लगा तो बोटी-बोटी कर खा जाओगी।" भीम बोला, "अच्छा, बताओ, कच्चा खाओगी या भूनकर ?"

"छिः ! कैसी बातें करते हो !" हिडिंबा के चेहरे का भाव एकदम बदल गया, "कहीं अपने प्रिय को भी कोई खाता है ! खाने को तो किसी का भी मांस मिल जायेगा; किंतु अलौकिक सुख देने वाला तुम जैसा प्रिय कहाँ मिलेगा ?" उसके चेहरे पर जैसे उसकी आहत भावना पुत गयी, "तुम बहुत दुष्ट हो। बहुत ही दुष्ट।..."

उसकी कलाइयाँ भीम की मुट्ठियों में थीं, इसलिए वह उसपर घूँसे नहीं बरसा सकती थी; वैसे भी वह अब उस आक्रामक मुद्रा में नहीं थी। उसका शरीर ढीला पड़ गया था और उसकी आँखों में अश्रु आ गये थे।

भीम को पहली बार लगा कि वह उसपर रीझ रहा है। उसने उसकी कलाइयाँ छोड़ दीं और सारी-की-सारी को अपनी भुजाओं में भर लिया।...

•

अगले दिन हिडिंबा भीम को एकदम नये ही स्थान पर ले गयी।

"यह स्थान तो बहुत ही मनोरम है !" भीम ने कहा, "मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था कि इस बीहड़ वन के भीतर प्रकृति का इतना सुंदर रूप छिपा हुआ है।"

"मैंने तो तुमसे कहा ही था कि मैं तुम्हें सृष्टि का सौंदर्य और सुख—दोनों ही दूँगी।" हिडिंबा बोली, "क्या ऐसा सरोवर तुम अपने नगर में बनवा सकते हो ? ऐसे कमल खिला सकते हो ? वृक्षों की ऐसी छाया का प्रबंध तुम अपने नगर में कर सकते हो ? इस प्रपात तथा इन कंदराओं का निर्माण करवा सकते हो ?..."

"नहीं !" भीम बोला, "प्रकृति के निर्माण की समकक्षता मनुष्य नहीं कर सकता। मनुष्य तो प्रकृति का अनुकरण करता है।"

"तो फिर व्यर्थ ही नगरों का निर्माण क्यों करते हो ?" हिडिंबा इठलाकर बोली, "छोड़ो

उन सवको । भूल जाओ नगरों और उनके भवनों को । हम यहीं रहेंगे, आजीवन ! मैं तुम्हें इससे भी सुंदर स्थानों पर ले चलूँगी । उन पर्वतों पर ले चलूँगी, जहाँ हम साथ-साथ खड़े भी मेघों में ऐसे छिप जायेंगे कि एक-दूसरे को देख भी नहीं पायेंगे ।"

भीम ने ध्यान से हिडिंबा को देखा : उसकी कठोरता और क्रूरता क्रमशः क्षीण होती गयी थी और उसका शुद्ध नारी-रूप उभर आया था—पुरुष पर रीझने वाला और पुरुष को रिझाने वाला ।··· और अव तो शायद उसे अपना अस्थायी पतित्व वाला राक्षस-विवाह खटकने लगा था । वह भीम के साथ अपने जीवन का स्थायित्व ढूँढ़ने लगी थी । उसे शायद उस क्षण की कल्पना का भय लगने लगा था, जव भीम चला जायेगा और वह फिर से अकेली रह जाएगी ।··· भीम को लगा कि उसके मन में भी एक भय उत्पन्न हो रहा है··· कहीं वह भी सालकटंकटी के मोह में उससे पृथक् होने से न डरने लगे ।···

"यदि हम यहाँ रहेंगे, तो हम यहाँ भी नगर वसा लेंगे ।" भीम वोला, "हम तुम्हारे समान दिनभर पेड़ पर टँगे-टँगे प्रकृति का रूप नहीं निहार पायेंगे; और न ही रातभर किसी शाखा से चिपके, आखेट के लिए किसी पशु अथवा मनुष्य के आने की प्रतीक्षा कर सकेंगे ।"

"यहाँ नगर कैसे वसा लोगे ?" हिडिंवा ने चकित होकर पूछा, "वन में नगर कैसे आ सकता है ?"

"तू तो पगली है !" भीम ने उसकी पीठ पर एक धौल जमायी, "नगर क्या कहीं से चलकर आता है । नगर तो जन्म लेता है । फिर उसका प्रसार होता है । फलता-फूलता है, तो और लोग भी आजीविका, समृद्धि और सुरक्षा की खोज में वहाँ आ जाते हैं ।···"

"मेरी समझ में यह सव नहीं आता," हिडिंवा वोली, "मुझे तो यह वताओ कि तुम लोग यहाँ रहोगे तो नगर कैसे वसा लोगे ? हम भी तो वर्षों से यहाँ रह रहे हैं, हमने तो नगर नहीं वसाया !"

भीम के मन की पहली प्रतिक्रिया थी कि उसने व्यर्थ ही इसके सामने ऐसी वात कह दी । अव इस मूर्खा से कौन सिर मारे··· किंतु दूसरे ही क्षण उसके अपने मन ने कल्पना का ताना-वाना वुनना आरंभ कर दिया··· यदि वे लोग यहीं रह जाने का निर्णय कर लें तो ?··· उन्हें हस्तिनापुर जाने की आवश्यकता ही क्या है··· और अनायास ही जैसे वह अपने नगर-निर्माण की योजना हिडिंवा को सुनाने लगा, "हम यहाँ रहेंगे तो वृक्षों के फल खाकर तथा आखेट कर पशुओं के मांस पर ही निर्भर नहीं रहेंगे । हम अपने लिए स्वयं अन्न उत्पन्न करेंगे । अन्न उत्पन्न के लिए खेत वनायेंगे । उसके लिए वन के वृक्ष काटेंगे । खेती के उपकरणों के निर्माण के लिए हमें वढ़ई और लोहार की आवश्यकता पड़ेगी । इसके लिए वढ़इयों और लोहारों के कुछ परिवार यहाँ वसाए जायेंगे।···"

"लोहार और वढ़ई क्या ?" हिडिंवा ने पूछा ।

भीम अटक गया··· इसको नगर-निर्माण की प्रक्रिया सुविधा से नहीं समझायी जा सकती । इसका ज्ञान तो वन में अपनी आँखों देखी वस्तुओं तक ही सीमित है । इस मूर्खा को वह किस-किस वस्तु के विषय में समझाता रहेगा ?···

"चलो, रहने दो ।" भीम वोला, "हम नगर ही नहीं वसाते । इस समय या तो सरोवर में तैरते हैं, या पुष्प चुनकर माला गूँथते हैं, या फिर तितलियाँ पकड़ते हैं ।"

"नहीं ! मुझे नगर-निर्माण के विषय में वताओ ।" हिडिंवा ने पैर पटका, "मुझे प्रिय लगा, तो मैं भी नगर का निर्माण करूँगी ।"

"अच्छा ! मैं तुम्हें बढ़ई और लोहार के विषय में बता देता हूँ; किंतु तुम नगर-निर्माण मत करना।" भीम हँस पड़ा, "लकड़ी की विभिन्न वस्तुएँ बनाने वाले को बढ़ई कहते हैं; और लोहार होता है, लोहे को तपा-गलाकर, काट-पीट और मोड़कर, नयी-नयी वस्तुएँ बनाने वाला।"

स्पष्ट था कि हिडिंबा के मन में वह सब कुछ स्पष्ट नहीं हुआ, जो भीम कह रहा था; किंतु शायद हिडिंबा को ज्ञान के इस नये संसार में झाँकना सुखद लग रहा था। वह बोली, "अच्छा ! मैं नगर नहीं बसाऊँगी; किंतु तुम बताओ कि तुम नगर कैसे बसाओगे ?"

"कृषि के लिए हमें बैलों की आवश्यकता होगी; इसलिए हम गोशालाएँ बनायेंगे। गोशालाओं के निकट गोपालों की बस्तियाँ बसायेंगे। हम कंदराओं और गुफाओं में नहीं रहेंगे। अपने रहने के लिए भवन बनायेंगे, प्रासाद बनायेंगे। उनके निर्माण के लिए हम वास्तुकारों को बसायेंगे। भवन-निर्माण की सामग्री तैयार करने वाले श्रमिकों की भी हमें आवश्यकता होगी। उनके रहने की भी व्यवस्था करनी होगी। इतने सारे लोग होंगे तो उनकी आवश्यकताओं के लिए हाट भी बनेगा। व्यापारी भी आयेंगे। आने-जाने के लिए मार्ग भी बनेंगे।... यात्रा के लिए रथ और अश्वों की आवश्यकता भी होगी। फिर जब इतने लोग एक साथ रहेंगे, तो उनकी सुरक्षा के लिए प्रहरी और सैनिक भी होंगे। शिष्य और गुरु भी होंगे; दुष्ट-दलन तथा न्याय-पालन के लिए न्यायाधिकरण भी होंगे और न्यायपाल भी।...अब बताओ, नगर बस जायेगा या नहीं ?"

हिडिंबा फटी आँखों के उसकी ओर देख रही थी, "तुमको इतनी वस्तुओं और इतने लोगों की आवश्यकता क्यों है ? तुम हमारे समान शांति से क्यों नहीं रह सकते—बिना नगर बसाए ?"

"अभी तो मैं वस्त्रों के विषय में बताना ही भूल गया। नागरिकों की, वस्त्रों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए बुनकर होंगे। वस्त्रों के नये-नये रूप बनाने के लिए वस्त्र-शिल्पी होंगे। वस्त्रों के व्यापारी होंगे..."

"मैं पूछ रही हूँ कि तुम इन सबके बिना हमारे समान क्यों नहीं रह सकते ?"

"हम मनुष्य हैं।" भीम हँसा, "एक दूसरे की सहायता के लिए समाज बनाते हैं। सब की सुविधा, सम्मान तथा रक्षा के लिए नियम बनाते हैं। नियमों का पालन करवाते हैं। जीवन को अधिक सुखकर बनाने के लिए, जो ज्ञान अर्जित करते हैं, उसे सुरक्षित रखते हैं, उसका प्रचार-प्रसार करते हैं। हम जीवन का विकास भी करते हैं और प्रसार भी। उसे संकुचित नहीं करते। हम सारे मनुष्यों का ही नहीं, सारे जीवों का जीवन-संबंधी अधिकार स्वीकार करते हैं; और प्रयत्न करते हैं कि जीवन की एक ऐसी पद्धति का विकास करें, जिसमें अधिक-से-अधिक लोग जीवित ही नहीं, सुरक्षित, स्वतंत्र तथा सुखी रह सकें; और विनाश करने वाले अधर्मी दुष्टों का दलन किया जा सके...।"

"उसके लिए नगर बसाने की क्या आवश्यकता है ?" हिडिंबा बोली, "तुम हमारे समान क्यों नहीं रह सकते ?"

भीम ने हिडिंबा को देखा : इसे कैसे समझाए ? जो ज्ञान और चिंतन, पीढ़ियों तक श्रम कर, मानव जाति ने अपने विकास के लिए प्राप्त किया है, उससे सर्वथा वंचित रही है यह। अब सहसा इसके सामने उन सिद्धांतों का कथन कर देने मात्र से ही तो इसकी समझ में सब नहीं आ जायेगा...

"बताओ न !" हिडिंबा ने भीम की भुजा पकड़कर उसे झकझोरा।

"सालकटंकटी !" भीम ने धैर्यपूर्वक उसे देखा, "हम मनुष्य हैं, इसलिए प्रत्येक मनुष्य हमारे लिए सहयोगी है, अतः हमारे प्रेम का पात्र है। जब कोई नया व्यक्ति हमारे संपर्क में आता है, हम उसे अपना शत्रु मान, मार डालने के लिए नहीं दौड़ते; न उसे अपने लिए खाद्य- पदार्थ मान, चीर- फाड़कर खा जाने का प्रयत्न करते हैं। हम उससे संपर्क बढ़ाकर, यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि उससे हमारा सहयोग का कौन- सा संबंध स्थापित हो सकता है।" भीम क्षणभर रुका, "मैं यह नहीं कहता कि दो मनुष्य परस्पर शत्रु नहीं हो सकते…" भीम की कल्पना में दुर्योधन खड़ा था, "मनुष्यों में भी कभी- कभी भाई तक एक- दूसरे के शत्रु हो जाते हैं; किंतु यह मनुष्यत्व नहीं है। मनुष्यत्व है दूसरों की सेवा करना, ताकि दूसरे हमारे साथ सहयोग कर सकें। एक मनुष्य यदि दूसरे को खा जायेगा, तो उनमें भक्षक और भक्ष्य का ही संबंध स्थापित हो पायेगा।"

"तुम मुझे उलझा रहे हो।" हिडिंबा बोली, "मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा।"

भीम ने अपने मस्तिष्क को झकझोरा : कैसे समझाए वह इस मूर्खा को ?…

"अच्छा, यह बताओ।" भीम कुछ सोचकर बोला, "जब तुम अपने भाई हिडिंब के साथ रह रही थीं, तो भूख लगने पर क्या वह तुम्हारे लिए भोजन का प्रबंध करता था ?"

हिडिंबा तत्काल कुछ नहीं बोली। भीम ने जैसे उसकी कोई दुखती हुई रग छू दी थी। उसके चेहरे पर थोड़ी देर पहले तक जो उत्सुकता और जिज्ञासा का भाव था, वह विषाद की कालिमा में बदल गया। उसने भीम को भी जैसे ताड़ना की दृष्टि से देखा और बोली, "मुझे अपनी भूख का तो कुछ याद नहीं है। उसे भूख लगती थी तो मुझे आदेश देता था कि मैं उसके लिए भोजन का प्रबंध करूँ…।"

"और यदि तुम उसके लिए भोजन का प्रबंध न करतीं तो ?"

"प्रबंध न करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। तनिक- सा विलंब होने पर भी वह मुझे पीटने लगता था।"

"कल्पना करो कि यदि तुम उसके लिए भोजन न लातीं और उसकी भूख बढ़ जाती, बढ़ती ही जाती तो वह क्या करता ?"

हिडिंबा चिंतन की मुद्रा में मौन बैठी रही।

"उसकी भूख पीड़ादायक स्थिति तक बढ़ जाती, तो क्या वह तुम्हें खा जाता ?"

हिडिंबा में तब भी तत्परता नहीं जागी, किंतु उसने उत्तर दिया, "मैंने कभी उसकी भूख को बढ़ने नहीं दिया। बढ़ने देती तो संभव है कि मुझे खा ही जाता।" उसके स्वर में पीड़ा थी।

"वह राक्षस था, इसलिए संभवतः ऐसा ही करता।" भीम बोला, "मनुष्य होता तो अपनी आवश्यकता से अधिक अपनी बहन की आवश्यकता को समझता। तुम्हें भूख लगती तो तुम्हारे लिए भोजन की व्यवस्था करता। तुम्हें पहले खिलाता और स्वयं बाद में खाता। यदि कभी ऐसी स्थिति आती कि भूखे ही मरना पड़ता, तो तुम्हें खा जाने के स्थान पर, भूखा मर जाना अधिक उपयुक्त समझता।"

"मनुष्यों और राक्षसों में इतना अंतर क्यों है ?" हिडिंबा ने किसी अबोध बालिका के समान, अत्यंत सरल भाव से पूछा।

भीम का मन उसकी सरलता पर जैसे मुग्ध हो उठा। उसे वह एक ऐसी बालिका लगी, जिसका शरीर समय से बहुत पूर्व ही युवावस्था को प्राप्त कर चुका हो।

"इसलिए कि मनुष्य समाज में रहता है और अपने साथ दूसरों के अधिकारों को भी

मान्यता देता है।" भीम बोला, "वह अन्य मनुष्यों को अपना भोजन नहीं मानता; उनसे प्रेम करता है। जिनसे वह प्रेम करता है, उनके सुख के लिए, वह स्वयं कष्ट सहने को तत्पर रहता है।"

"और राक्षस ?" हिडिंबा ने पूछा।

"राक्षस या तो समाज में रहता नहीं, या समाज में रहकर भी केवल अपने अस्तित्व से ही प्रेम करता है और अपने स्वार्थ के लिए जीता है। किसी दूसरे व्यक्ति की सुख-सुविधा, आवश्यकता, मान तथा सम्मान, कोई अर्थ नहीं रखता; अन्यथा यह जानकर कि तुमने मुझे पति-भाव से ग्रहण किया है, वह हमारे साथ मैत्री-संबंध स्थापित कर, यह जानने का प्रयत्न करता कि तुम मेरे साथ सुखी रह पाओगी या नहीं—तुम्हारी, मेरी अथवा भाइयों की हत्या का प्रयत्न नहीं करता।"

हिडिंबा की दृष्टि जैसे शून्य में विलीन हो गयी। वह अपनी सुंदरतम कल्पनाओं में खो गयी। थोड़ी देर, वह वैसी ही स्थिर बैठी रही; और फिर क्रमशः चैतन्य होकर, भीम को निरखती रही। थोड़ी देर में उसने अपना मस्तक, भीम के कंधे के साथ टिका दिया और उसकी भुजा को अपनी हथेली से सहलाती मौन बैठी रही।

भीम भी उसे मुग्ध-चकित दृष्टि से देखता रहा। जाने वह क्या सोच रही थी और मन-ही-मन किन परिस्थितियों के मध्य जी रही थी।...

अतंतः वह स्वयं ही बोली, "क्या यह सब सीखने के लिए तुम्हारे नगर जाना पड़ता है ?"

भीम हठात् ही अट्टहास कर उठा, "नहीं ! नहीं ! यह सब सीखने के लिए मेरे नगर जाना आवश्यक नहीं है।" और तब उसकी समझ में आया कि वह यह सब सीखना चाहती थी; किंतु मन-ही-मन उसके नगर के द्वार पर शायद भयभीत-सी खड़ी रही थी।

"तुम मेरे नगर जाने से भयभीत हो ?"

"मैं किसी भी नगर में नहीं रह सकती।" वह बोली, "कभी सोचती हूँ तो यह सोचकर भयभीत हो जाती हूँ कि कहीं तुम्हारे मोह में मैं तुम्हारे नगर न चली जाऊँ !"

इस बार भीम चुप हो गया। इतना चुप कि हिडिंबा भी उस मौन को अनदेखा नहीं कर सकी।

"क्या बात है ?" उसने भीम का सिर अपनी गोद में रख लिया, "इतने चुप क्यों हो ?" उसकी अंगुलियाँ, भीम के केशों से अनवरत खेल रही थीं।

"मैं भी कुछ सोचकर भयभीत हो गया हूँ।"

"तुम और भय !" हिडिंबा हँसी, "तुम भयभीत हो ही नहीं सकते। तुम वीर हो।"

"वीर से वीर व्यक्ति भी कहीं-न-कहीं अत्यंत भीत होता है।"

"तुम्हें किस बात का भय है वीर ?"

भीम उसे देखता रहा, जैसे सोच रहा हो कि बताए या न बताए...

"बोलो ! मुझे बताओ !"

"तुमने पुत्र की कामना की है ?"

"हाँ !"

"वह पुत्र मेरा होगा ?"

"हाँ !"

"और तुम उसे अपने साथ लेकर किसी वृक्ष पर टँगी, नर-मांस के आखेट का प्रशिक्षण दोगी। मेरा पुत्र वन के एक हिंस्र पशु के समान अपना सारा जीवन वृक्ष पर टँगा हुआ व्यतीत कर देगा। उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य होगा—नर-रक्त पीना और नर-मांस खाना। यही उसकी उपलब्धि होगी ?"

हिडिंबा कुछ नहीं बोली। वह समझ नहीं सकी कि वह क्या कहे। जहाँ तक उसे स्मरण था, उसके पिता यही करते आये थे। उसका भाई भी यही करता रहा था। उनके जीवन की यही उपलब्धि थी; और यही सबसे बड़ा सुख।...

उसने भीम की ओर देखा, जैसे पूछ रही हो कि वह क्या चाहता है—उसका पुत्र क्या करे ?

भीम ने भी कुछ नहीं कहा। वह भी अपने आवेश को संयत करने का प्रयत्न कर रहा था। वह सोच रहा था कि कहीं वह अधिक ही तो नहीं बोल गया... या उसकी बात, हिडिंबा समझ भी पायी है या नहीं...

और सहसा हिडिंबा ने पूछा, "तुम क्या चाहते हो—तुम्हारा पुत्र वीर न हो ? वह वीरता के कृत्य न करे ?"

"वीर !" भीम अपने आवेश में कुछ कहने जा रहा था; किंतु कुछ सोचकर रुक गया। धीरे से बोला, "यदि तुम्हारा भाई मेरा वध कर पाता, तो वह मेरा मांस खाता या नहीं खाता ?"

"खाता ! अवश्य खाता ! तुम्हारे पश्चात् तुम्हारे भाइयों का मांस खाता। तुम्हारी माता को भी खा जाता। यदि मेरे प्रति उसका क्रोध शांत न होता, तो संभव है कि मुझे भी खा जाता।"

"मैंने उसका प्रत्यक्ष-युद्ध में वध किया; किंतु उसका मांस खाना तो दूर, उसका अंग-भंग भी नहीं किया।" भीम बोला, "मैंने उसका वध क्यों किया ?"

"अपनी और अपने भाइयों की रक्षा के लिए !"

"वह मेरा वध करना चाहता था अपने स्वाद के लिए, अपने भोजन के लिए; और मैं उसका वध करना चाहता था अपने भाइयों और माता की रक्षा के लिए। कौन बड़ा वीर हुआ ?"

"तुम ! निश्चित रूप से तुम !" हिडिंबा भीम से लिपट गयी, "वह तो स्वार्थी था।..."

"मैं चाहता हूँ, मेरा पुत्र भी मेरे जैसा ही वीर बने !" भीम बोला, "दुष्टों का दलन करे; असहाय लोगों की रक्षा करे। दूसरों की रक्षा में अपने प्राण भी दे दे तो कोई बात नहीं; किंतु अपने सुख के लिए, अपनी जिह्वा के स्वाद के लिए दूसरों की निरीह हत्याएँ न करे।..."

"वह ऐसा ही करेगा !" हिडिंबा कुछ उल्लसित स्वर में बोली, "मैं उससे कहूँगी कि वह ऐसा ही वीर बने।"

"यहाँ वृक्ष पर टँगे-टँगे तुम उसके कान में कह दोगी और वह वैसा ही बन जायेगा ?"... भीम कुछ खीजकर बोला।

उसके उत्तर में हिडिंबा ने यह नहीं पूछा कि ऐसा वीर वह कैसे बन पायेगा ! वह भीम की तुलना में कुछ अधिक ही खीजकर बोली, "यह तुम बार-बार वृक्ष पर टँगे रहने का क्या कटाक्ष करते हो ! यह हमारी जीवन-पद्धति है। हम सदा से ऐसे ही रहते आये हैं।"

"मैं जानता हूँ कि सदा से ऐसे ही रहते आये हो।" भीम भी उसी प्रवाह में बोला, "किंतु न तो अपनी संकीर्णता को बनाये रखने का प्रयत्न कोई बहुत गौरवपूर्ण प्रसंग है और न ही

उससे कभी किसी व्यक्ति अथवा जाति का विकास हुआ है ।" भीम ने उसपर एक भरपूर दृष्टि डाली, "मैं तुम्हें यही समझा रहा हूँ। अब वृक्ष से नीचे उतर आओ । अपनी जीवन-पद्धति के नाम पर न दूसरों से पृथक् रहो, न उन्हें पृथक् मानो । तुम्हारी जीवन-पद्धति यह है, इसलिए दूसरों के शत्रु मत बने रहो । भिन्नता, शत्रुता का प्रमाणपत्र नहीं है, न उसके आधार पर तुम्हें दूसरे मनुष्यों का आखेट करने का अधिकार मिल जाता है । कोई भी नदी यदि यह चाहे कि न तो वह किसी नदी से मिलेगी, न सागर में आत्मविसर्जन करेगी, तो वह सरिता न रहकर, सरोवर मात्र रह जायेगी; और कदाचित् अंत में वह भी नहीं रह पायेगी ।…"

"तो तुम क्या चाहते हो—मैं अपने पुत्र के साथ तुम्हारे नगर में आ जाऊँ ?"

"नगर में आना महत्वपूर्ण नहीं है । नगर में आकर भी किसी मन-पसंद वृक्ष पर जा चढ़ोगी, तो ऐसी ही रहोगी ।" भीम बोला, "अधिक आवश्यक है मित्र, नये और अपरिचित लोगों से अपने विरोध का त्याग ! अन्य लोगों के निकट जाओ—मैत्रीपूर्ण ढंग से उनसे मिलो । उनसे कुछ नया सीखो और उन्हें नया सिखाओ ।" भीम बोलता गया, "पशु से मनुष्य बनने के लिए, मानवता के लाखों वर्षों के अनुभव और ज्ञान की ओर से आँखें बंद कर, अपनी जीवन-पद्धति से चिपके रहने से तो किसी का विकास नहीं हो सकता । न अपने से भिन्न लोगों का रक्त पीकर उनका मांस खाकर, किसी की श्रेष्ठता सिद्ध हो सकती है ।…"

"तुम्हारी इतनी सारी बातें मैं समझ नहीं पाती ।" हिडिंबा बोली, "मुझे तो केवल यह बताओ कि मुझे तुम्हारे पुत्र को क्या सिखाना है !"

"उसे कहना कि उसे एक श्रेष्ठ योद्धा बनना है—नर-भक्षी राक्षस नहीं । संसार में जिस किसी गुरु से भी वह युद्ध सीख सके—सीखे । किंतु अपनी क्षमताओं से निरीह और असहाय लोगों की हत्या न करे, उनकी रक्षा करे । उसे कहना कि वह अपने पिता के अनुकूल बने ।"

"वह पूछेगा कि कौन है उसका पिता, तो क्या उत्तर दूँ उसे ?" हिडिंबा ने पूछा ।

भीम ने सायास स्वयं को रोका । वह तो अपने प्रवाह में सब कुछ बता जाता ।…और फिर उसने आश्चर्य से हिडिंबा को देखा : उसका यह प्रश्न वार्तालाप की धारा में आकस्मिक रूप से बहता हुआ आया कोई तिनका था या हिडिंबा की चतुराई का चमत्कार…?

"तुमने हमारे ज्येष्ठ को वचन दिया था कि तुम हमारा परिचय जानने का प्रयत्न नहीं करोगी ।…"

"ओह, हाँ ! मैं तो भूल ही गयी !" उसने अपने दाँतों से जीभ काटी, "मेरी इच्छा अपना वचन भंग करने की नहीं थी । यह प्रश्न तो संयोग से बीच में आ गया ।" हिडिंबा कुछ रुककर बोली, "वस्तुतः जब मैंने तुम्हें देखा तो मैं तुम्हारे रूप तथा हृष्ट-पुष्ट दीर्घाकार शरीर पर ही मुग्ध हुई थी । तब मैं तुम्हारी बुद्धि और चरित्र के विषय में न कुछ जानती थी, न जानना चाहती थी । मैंने मान लिया था कि तुम लोग साधारण नागरिक जन हो, जो किसी कारणवश वन में से होकर यात्रा कर रहे हैं । किंतु मैंने जितना तुम्हें और तुम्हारी माता को जाना है, तुम लोगों का वार्तालाप और विचार-विमर्श सुना है, उससे यही समझ पायी हूँ कि तुम लोग साधारण जन नहीं हो । इसलिए मन में यह जिज्ञासा उठी कि तुम कौन हो ? मेरे पुत्र का जनक कौन है ?"

भीम के चेहरे पर स्पष्ट विवशता आ विराजी । यदि वह हिडिंबा को बता पाता तो उसे कितनी प्रसन्नता होती !…

"तुमने ठीक अनुमान लगाया है हिडिंबे !" भीम बोला, "तुम किसी साधारण मनुष्य के पुत्र को जन्म नहीं दोगी"किंतु यह विशिष्ट जन अभी संकट में है, किन्हीं कारणों से अपनी वास्तविकता प्रकट नहीं कर सकता और छद्म रूप में जीने को बाध्य है। इसलिए इस हिडिंबवन की रानी सालकटंकटी का पति नृप वृकोदर ही तुम्हारे पुत्र का जनक है।" भीम उच्च स्वर में हँसा; और स्वयं ही समझ नहीं पाया कि उसके हँसने का क्या कारण था।

हिडिंबा ने उत्सुक दृष्टि से भीम को देखा : क्यों हँसा वह ? किंतु हँस तो केवल उसका कंठ ही रहा था, उसकी आँखों से झाँकती विवशता को कोई भी पहचान सकता था।"

"आर्य वृकोदर !" हिडिंबा बोली, "संध्या हो रही है। अब आप उठें। आपको आपकी माता तथा भाइयों को सौंप आऊँ। एक वचन तो मैं अपनी असावधानी में भंग कर ही चुकी हूँ; दूसरा भंग करना नहीं चाहती।"

"ओह ! हाँ !" भीम भी सजग हुआ। सूर्य अस्ताचल की ओर काफी झुक आया था।" अपने विषय में वह जानता था कि वह पर्याप्त वाचाल है, किंतु उसने यह कभी नहीं सोचा था कि वह इस मूर्खा सालकटंकटी से भी इतनी बातें करेगा।" पर शायद व्यक्ति जिसे अपना मान लेता है, उससे हर प्रकार का वार्तालाप करता ही है—चाहे उसकी बुद्धि किसी भी कोटि की हो।

"चलो उठो।" उसने खड़े होकर अपना हाथ हिडिंबा की ओर बढ़ाया।

हिडिंबा ने अपना हाथ, भीम की हथेली में रख दिया और उसे ऐसे मुग्ध नयनों से देखा कि नृप वृकोदर के पैरों तले की धरती खिसक गयी। उसने झपटकर न केवल बैठी हुई हिडिंबा को खड़ा कर दिया, वरन् स्वयं झुककर उसे अपने कंधे पर उठा लिया।"

"अरे ! अरे ! क्या कर रहे हो !!!""

किंतु भीम ने कुछ नहीं सुना। उसने निमिष-भर में हिडिंबा को कई चक्कर दे दिये और फिर उसे कंधे पर उठाए-उठाए भाग चला।" हिडिंबा के भीतर भी जैसे किसी अद्भुत ऊर्जा का स्रोत फूट निकला था। उसने भीम की पीठ पर घूँसे बरसाने आरंभ कर दिये। भीम घूँसे खाता जाता था, हँसता जाता था और भागता जाता था।

"देखो वृकोदर !" हिडिंबा हँसती हुई बोली, "यदि मुझे मद चढ़ गया तो, संध्या के स्थान पर प्रातः ही अपनी माता के पास पहुँचोगे।"

भीम पुनः जोर से हँसा, "तुम्हारा मद तो अभी उतर जायेगा।"

उसने हिडिंबा को सरोवर के जल में ऐसे उछाल दिया, जैसे कोई दीर्घाकार किंतु अत्यंत हल्की वस्तु को उछालता है; और फिर स्वयं भी उसके पीछे-पीछे जल में कूद गया।

19

मुनि शालिहोत्र अपने कुटीर में बैठे, आश्रमवासियों से वार्तालाप कर रहे थे। युधिष्ठिर ने प्रणाम किया तो उन्होंने संकेत से उसे आसन ग्रहण करने के लिए कहा।

युधिष्ठिर बैठ गया।

"गुरुदेव ! आपके वक्तव्य से जो बात मेरी समझ में आयी, वह यह है कि हम इस वास्तविक जीवन को अवास्तविक मानकर, इसके सारे सुख त्याग दें," एक आश्रमवासी कुछ

उग्र स्वर में बोला, "और एक काल्पनिक जीवन को, जिसकी न हमें कोई अनुभूति है, न कं ज्ञान, सत्य मानकर, उसके प्रति अपना जीवन समर्पित कर दें।"

"यदि मेरे वक्तव्य का यह अर्थ श्रोता तक पहुँचता है, तो मैं एकदम असफल वक्ता तथा शिक्षक हूँ।" मुनि मुस्कराए "यह तो मैं कदापि कहना नहीं चाहता हूँ।"

"तो फिर आप क्या कहना चाहते हैं?" उसी आश्रमवासी ने पुनः पूछा।

"वत्स! वह बताने के लिए तो मुझे अपनी सारी बात फिर से कहनी होगी।"

"नहीं गुरुदेव! संक्षेप में बता दें।"

"जो बात विस्तार से कहने पर तुम्हारी समझ में नहीं आयी, वह संक्षेप में कहने पर तुम्हारी समझ में आ जायेगी?"

"गुरुदेव !" एक अन्य आश्रमवासी ने हस्तक्षेप किया, "निर्मल का अभिप्राय इतना ही है कि इस संसार के जीवन को, जो हमारी बुद्धि और ज्ञानेंद्रियों के लिए अनुभवगम्य है, अयथार्थ मानने का कोई कारण तो होना चाहिए हमारे पास—कोई प्रमाण !..."

"प्रमाण तो होना ही चाहिए वत्स! प्रमाण के अभाव में किसी तथ्य पर विश्वास कैसे किया जा सकता है!" मुनि थोड़ी देर रुके, "जब तुम निपट शिशु थे वत्स, तब यदि मैं तुम्हें आम की गुठली दिखाकर कहता कि उसमें आम का एक पूरा वृक्ष निहित है, जिसमें सहस्रों रसाल उत्पन्न करने की क्षमता है, तो क्या तुम मेरा विश्वास कर लेते?"

"कदाचित् नहीं।" निर्मल ने उत्तर दिया।

"किंतु अब तुम इस बात पर विश्वास करते हो?"

"हाँ, गुरुदेव !"

"क्यों करते हो?"

"क्योंकि अब मेरी बुद्धि इस बात को समझ सकती है; और यदि मैं चाहूँ तो आम की गुठली को बोकर, उसमें से वृक्ष को बनते और रसाल उत्पन्न करते देख सकता हूँ।"

"यह कैसे संम्भव हो सका?" मुनि ने सहज भाव से पूछा।

"मेरी बुद्धि परिपक्व हुई है। उसका विकास हुआ है।" निर्मल बोला, "मैंने अध्ययन किया है। गुरु के निकट रहकर उनसे शिक्षा पायी है।"

"बस! मैं यही बात कह रहा हूँ।" मुनि बोले, "अपनी वर्तमान बुद्धि को सृष्टि का अंतिम सत्य मत मानो। उसका विकास और संस्कार करने का प्रयत्न करो। जो सत्य दूसरों द्वारा अनुभूत है, उसके अनुभव का प्रयत्न करो। अपनी बुद्धि को इंद्रियों का दास मत बनने दो। तब तुम देखोगे कि वस्तुतः तुम्हें उतनी वस्तुओं की आवश्यकता नहीं है, जितनी तुमने एकत्रित कर ली है। यह तुम्हारी आवश्यकता नहीं है, जो तुम्हें अर्जन और संचय के लिए प्रेरित करती है—यह तुम्हारा मोह है। यदि इस मोह को तुम पहचान पाओगे, तो उसे त्याग भी पाओगे। मोह से मुक्त होते ही तुम अनुभव करोगे कि जीवन मात्र, धन के अर्जन के लिए नहीं है। आवश्यकता भर धन अर्जित करना सबके लिए अनिवार्य हो सकता है; किंतु उसकी एक सीमा है। वहाँ पहुँचकर व्यक्ति यह निर्णय करता है कि अब वह अतिरिक्त धन अर्जित करने के लिए कोई भी कार्य नहीं करेगा। अपने शेष जीवन को वह उन कार्यों में लगायेगा, जिन्हें अब तक वह, गृहस्थी के लिए धनार्जन की अनिवार्यता में नहीं कर पाया था। जब अर्थ अर्जित करने की अनिवार्यता नहीं रहती, तब ही कर्म में सुख की प्राप्ति होती है; और तब ही मनुष्य अपना जीवन, उस पद्धति से व्यतीत कर

सकता है, जिसके लिए प्रकृति ने उसे उत्पन्न किया है। उसका मन निर्मल हो जाता है। रजोगुण तथा तमोगुण छूटने लगते हैं; और वह प्रकृति पर मुग्ध होने लगता है। उसके लिए जीवन का रूप बदल जाता है।...''

"किंतु उससे लाभ क्या होगा गुरुदेव !" तीसरा आश्रमवासी बोला, "लोग आलसी हो जायेंगे। कोई सरोवर के तट पर बैठा, कमल को निहारता रहेगा और कोई सरिता की उर्मियाँ गिनता रहेगा। समाज को उससे क्या लाभ होगा ?"

मुनि शालिहोत्र ने अचकचाकर उसे देखा, जैसे उनसे कुछ बहुत ही अनपेक्षित पूछ लिया गया हो; और फिर वे क्रमशः सहज होकर मुस्कराए, "पुत्र ! तुमने यह बात इसलिए कही, क्योंकि तुम यह मानकर चल रहे हो कि यदि मनुष्य के मन में मोह नहीं होगा, स्वार्थ नहीं होगा तो वह कर्म ही नहीं करेगा। किंतु कर्म ही नहीं, श्रम तथा सृजन भी मनुष्य की सहज वृत्तियाँ हैं। इसलिए कर्म तो मनुष्य करेगा ही। हाँ ! आवश्यकता भर धन का अर्जन कर वह जीवन को उदात्त धरातल पर जीना चाहेगा। असीम धन की इच्छा न होने के कारण वह धन का अर्जन अपने श्रम से करेगा, धर्मानुसार करेगा। वह कभी भी अधर्मपूर्वक धन का अर्जन नहीं करेगा।...''

"यदि धन का अर्जन ही लक्ष्य हो गुरुदेव," एक आश्रमवासी बोला, "तो उसमें धर्म और अधर्म का क्या भेद ! यदि अर्थ के मार्ग में भी धर्म का द्वार रहेगा तो स्पष्ट ही व्यक्ति सीमित धन ही कमा पायेगा। ऐसे में वह समाज कभी भी समृद्ध नहीं हो पायेगा।"

"तुम ठीक कहते हो वत्स !" गुरु बोले, "अधर्म से धन अर्जित कर व्यक्ति और समाज समृद्ध तो हो जाता है, किंतु उसका विकास कभी नहीं होता।... जबकि मात्र धर्म पर चलने से समाज धनी भी होगा, विकसित भी और उन्नत भी।..." मुनि शालिहोत्र ने अपने श्रोताओं पर एक दृष्टि डाली, "तुम्हें कदाचित् यह ज्ञान नहीं है कि अधर्म से अर्जित और अधर्मपूर्वक वितरित धन किन्हीं व्यक्तियों को चाहे धनाढ्य बना दे; किंतु संपूर्ण समाज को वह निर्धन ही कर देता है।..."

इतनी देर से युधिष्ठिर सुन ही रहा था; अब उससे बोले बिना नहीं रहा गया, "आर्य कुलपति ! क्या नृशंसता का त्याग कर जीवन-यापन संभव है ?"

मुनि ने उसे प्रसन्न दृष्टि से देखा, "तुमने अत्यंत उत्तम प्रश्न पूछा है पुत्र ! वस्तुतः हमारी चर्चा भी वहीं पहुँचने वाली है। वस्तुतः जो व्यक्ति अपने मन को उस सीमा तक पवित्र कर चुका है, कि वह नृशंस होकर जी नहीं सकता, वह भौतिक जीवन की निस्सारता को समझ चुका है। किंतु पुत्र ! एक बात का ध्यान रहे कि नृशंसता कर्म में नहीं, भावना में है। पुत्र अपने पिता की अवज्ञा भी करे तो वह नृशंसता है और राजा अपनी प्रजा की रक्षा के लिए दुष्ट-दलन की भावना से किसी को सूली पर भी चढ़ा दे तो वह नृशंसता नहीं है।"

"आप ठीक कह रहे हैं मुनिवर !" युधिष्ठिर का स्वर संशय-मुक्त नहीं था, "किंतु मेरे प्रश्न का संदर्भ कुछ और था।"

"तुम अपने संदर्भ में ही अपना प्रश्न पूछो वत्स !"

"मैं अपने अधिकार के नाम पर यदि किसी पदार्थ अथवा पद को ग्रहण कहता हूँ तो अन्य अनेक लोगों को, जो उस पदार्थ अथवा पद के आकांक्षी हैं, मानसिक पीड़ा देता हूँ। क्या यह नृशंसता नहीं है कुलपति ?"

"यदि धर्मानुसार वह पद अथवा पदार्थ तुम्हारे हैं तो उन्हें ग्रहण करना नृशंसता कैसे है पुत्र ?"

"यदि मैं उन्हें ग्रहण न करूँ तो उनके इच्छुक लोगों का मानसिक संताप मिट जायेगा।..."

"पहले तुम यह निर्णय करो पुत्र, कि उनका संताप उनके अपने मोह के कारण है, अथवा तुम्हारी वंचना के कारण ?"

"उनके अपने मोह के कारण आर्य !"

"तो तुम स्वयं वंचित होकर, क्या उनका मोह दूर कर पाओगे ?"

"नहीं आर्य !"

"तुम वंचित भी हो जाओ पुत्र, तो उनका मोह नहीं मिटेगा। उनका संताप उनके अपने मोह के कारण है; अतः मोह के रहते, संताप भी बना रहेगा। तब नृशंस कौन है ?"

"उनका मोह मुनिवर !"

"तो पुत्र ! स्वयं वंचित होने के स्थान पर, उनका मोह दूर करने का प्रयत्न करो।"

"वह कैसे होगा गुरुवर ?"

"मोह मानसिक रोग है पुत्र ! आत्मा का कलुष ! यदि वह मात्र साधारण भ्रम है तो प्रबोधन से ही मिट जायेगा; किंतु यदि वह अत्यंत सघन है, तो मोह की सघनता के अनुपात में ही पीड़ा अथवा दंड पाकर ही वह छूटे तो छूटे; उनकी आकांक्षापूर्ति से तुम उनका मोह नष्ट नहीं कर सकते। यदि उनकी इच्छापूर्ति होती रहेगी, तो उनका लोभ बढ़ेगा, मोह सघन होगा, अधर्म की शक्ति में उनकी निष्ठा बढ़ेगी; और वे अधिक-से-अधिक नृशंस होते जायेंगे।" फिर जैसे रुकते-रुकते मुनि ने जोड़ दिया, "अधर्मियों के प्रति दयावान होने का अर्थ है उनके प्रति तथा सामान्य समाज के प्रति नृशंस होना। आनृशंसता सबसे बड़ा धर्म है पुत्र ! इसलिए मोह के रोग की वृद्धि में सहायक होना धर्म नहीं है।"

युधिष्ठिर मौन ही बैठा रहा। उसकी समस्या के विषय में मुनि ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया था।...और ठीक ही तो कहा था मुनि ने ! दुर्योधन के मन में मोह था। उसे सत्ता का मद था। वह हस्तिनापुर का पालन करना नहीं चाहता; वह तो उसे अपनी संपत्ति मानकर, उसपर एकाधिकार चाहता था। इसीलिए उसने भीम को विष दिया था; उन पाँचों भाइयों को उनकी माता के साथ वारणावत में जला डालने का पूर्ण प्रयत्न किया था।...यदि पांडव अपना अधिकार त्याग भी दें, हस्तिनापुर की सत्ता उसे सौंप भी दें, तो क्या वह संतुष्ट हो जायेगा ?...नहीं ! कदाचित् वह उनके प्राण लिये बिना नहीं मानेगा।...और यदि किसी प्रकार वह पांडवों के प्राण लेने में सफल हो गया, तो उसकी आश्वस्ति कौन देगा कि उसे यह मतिभ्रम नहीं होगा कि उसके अपने भाई भी सत्ता में उसके प्रतिस्पर्धी होंगे, अतः उनका वध भी उसका कर्तव्य है ! यदि उसे अधिकार मिल गया तो वह और अधिक अधर्मी और नृशंस नहीं हो जायेगा ? मुनि शालिहोत्र ने सत्य ही कहा है, तामसिक त्याग से तो सात्विक ग्रहण ही अधिक श्रेयस्कर है।...

"तुम इतने व्याकुल क्यों हो पुत्र ?" कुंती ने पूछा, और फिर जोड़ दिया, "कितनी देर से देख रही हूँ, तुम कुछ चिंतित और अशांत दिखायी दे रहे हो।"

अर्जुन ने माँ की ओर देखा तो, किंतु तत्काल कुछ बोला नहीं।...उसके मन में कई प्रकार की बातें उठ रही थीं। किंतु मन में जो कुछ उठ रहा था, वे मात्र विचार ही तो नहीं थे, उनके साथ कुछ क्षोभ भी था, कुछ रोष भी। अपने विचार तो वह माँ के सामने रखना चाहता था; किंतु क्षोभ और रोष नहीं।...

"अर्जुन !" कुंती ने उसे नाम से पुकारा; किंतु तत्काल जैसे सजग हो उठी।...यह उनका अज्ञातवास था। इसमें सामान्यतः वे लोग, एक-दूसरे को नामों से पुकारने से बचते थे। अभी तो आश्रम के कुलपति ने भी उनसे कुछ नहीं पूछा था; अन्य आश्रमवासियों से भी इतना संपर्क नहीं हुआ था कि उनसे कोई उनके नाम पूछता। पर वह स्थिति किसी भी क्षण आ सकती थी...

"माँ !" अर्जुन बोला, "मैं यह सोच रहा हूँ कि हम यहाँ क्या कर रहे हैं ?"

"हम अपने शत्रुओं से छिपने के लिए यहाँ ठहरे है पुत्र !"

"माँ ! इसे मेरा रोष मत समझना; यह कदाचित् मेरी व्याकुलता ही है।" अर्जुन बोला, "मेरी समझ में यह नहीं आ रहा कि क्या अपने शत्रुओं से छिपे रहना ही हमारे जीवन का लक्ष्य है ?..."

"नहीं पुत्र ! तुम ऐसा क्यों समझते हो ?" कुंती बोली, "हम उपयुक्त अवसर पर यहाँ से चलने की प्रतीक्षा में हैं।"

"वह उपयुक्त अवसर कौन-सा होगा ?" अर्जुन अपनी बात कहता-कहता सहज हो गया, "क्या हम किसी निश्चित अवधि के लिए यहाँ छिपे बैठे हैं कि अवधि समाप्त होने पर प्रकट होंगे ? या क्या हम किसी घटना के घटित होने की प्रतीक्षा में हैं ? क्या हम किसी सहायता की प्रतीक्षा में हैं ? क्या हम अपने शत्रु के टल जाने की प्रतीक्षा में हैं ? कोई तो सीमा होनी चाहिए माँ ! और उस सीमा का कोई तर्क-संगत आधार भी !..."

"यह सब तो मैं भी नहीं जानती !" कुंती बोली, "किंतु यह तो स्पष्ट ही है कि हम यहाँ स्थायी रूप से रहने के लिए नहीं आये हैं। अवसर मिलते ही आगे चल पड़ेंगे।"

"मुझे यही तो नहीं लग रहा।" अर्जुन बोला, "ज्येष्ठ को एक आश्रम मिल गया है, जिसमें अनेक तपस्वी हैं; और वे धर्म की चर्चा करते हैं। मध्यम को सालकटंकटी प्राप्त हो गयी है; और वे उसमें इतने मग्न हैं, जैसे वह उनके जीवनभर की कोई उपलब्धि हो।...मुझे तो लग रहा है माँ, कि हम लोग यहाँ अपने स्थायी निवास का प्रबंध कर रहे हैं।"

"नहीं !" सहसा कुंती के चेहरे पर तेज जागा, "ऐसा कुछ नहीं होगा। यदि वारणावत के शिव-भवन में निवास करते हुए भी हम भस्म नहीं हुए, तो इस वन में रहते हुए भी मृत्तिका नहीं होंगे।... यह हमारा स्थायी निवास नहीं है। हमें वापस हस्तिनापुर लौटना ही है।"

"तो फिर सावधान रहो माँ ! कहीं ऐसा न हो कि ज्येष्ठ अथवा मध्यम का मन यहीं रम जाये...!"

"और माँ का मन ?" नकुल भी उनके वार्तालाप में सम्मिलित हो गया।

"क्यों ! माँ के मन को क्या हुआ है ?" कुंती ने एक झटके से नकुल को देखा; किंतु उसकी आँखों में नकुल के लिए स्नेह का पारावार था। वह जानती थी कि नकुल उसका विरोध नहीं कर रहा, वह व्याज से उसके किसी गुण का ही बखान करेगा, अथवा यह उसका परिहास मात्र होगा।...

"माँ के मन का क्या है," नकुल पूर्ण आश्वस्त स्वर में बोला, "माँ आश्रमवासियों के कार्य

में हाथ बटाने लगें तो वहीं रम जायें, सालकटंकटी को पाक-कला सिखाने लगें तो उसी में जीवन की सार्थकता पा लें। वन-वासिनियों का शिक्षण करने लगें तो उसी को अपनी साधना मान लें। हमारी माँ के सुख के लिए राजसी सुख-साधनों का होना तनिक भी आवश्यक नहीं है। वे कहीं भी सुखी रह सकती हैं। हमारी माँ तो योगिनी हैं, योगिनी ! क्यों माँ !···" और नकुल ने कुंती के कंठ में अपनी भुजाएँ डाल दीं।

"चल हट !" कुंती ने सहास उसे एक चपत लगायी, "माँ योगिनी नहीं, योग-माया है। भीम नहीं है यहाँ, उसकी वाचालता तुझमें आ गयी !" और सहसा कुंती का हास्य लुप्त हो गया, "पर तुम सच कहते हो पुत्र ! मुझे सचमुच अपने लिए राजप्रासादों की आवश्यकता नहीं है। मैंने तो आज तक तपस्वियों के आश्रमों में ही अधिक सुख पाया है। कभी-कभी तो जैसे मैं स्वयं ही अपने-आपको धिक्कारने लगती हूँ कि मैं तुम लोगों को शतशृंग से हस्तिनापुर लायी ही क्यों ?"

"क्यों लायी थीं माँ ?" सहदेव ने पूछा।

"इसलिए कि मैं मानती हूँ कि मुझे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए था; किंतु यह जानते हुए भी कि हस्तिनापुर मेरे पुत्रों का है, मैं उन्हें आश्रम में ऋषिपुत्रों के समान पलते हुए नहीं देख सकती थी।"

"तो अब भी तुम अपने पुत्रों को जटाएँ बढ़ाए, मृगचर्म धारण किये हुए; और दुर्योधन को हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठे हुए नहीं देख सकोगी ?"

"हाँ, पुत्र ! मैं अपने पुत्रों को वन-वन भटकते, कंद-मूल खाते अथवा भिक्षाटन करते नहीं देख सकती। युधिष्ठिर को हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठाये बिना, मुझे शांति नहीं मिल सकती।···और हस्तिनापुर पर उसका निर्विघ्न शासन स्थापित होते ही, मुझे इस मोह-माया को त्याग देना है।···"

"तो माँ ! इस विषय में ज्येष्ठ से चर्चा अवश्य करो।" अर्जुन बोला।

"करूँगी।"

भोजन के पश्चात् रात को जब सालकटंकटी जाकर अपने कुटीर में सो गयी तो वे लोग इकट्ठे बैठे। कुंती ने युधिष्ठिर से पूछा, "हम लोग यहाँ कब तक ठहरेंगे पुत्र ?"

युधिष्ठिर ने माँ को देखा : क्यों पूछ रही हैं माँ इस प्रकार ?

उत्तर भीम ने दिया, "यह स्थान सुरक्षित है। हिडिंबवन के निकट होने के कारण, नर-भक्षी राक्षसों के आतंक से सामान्य जन यहाँ नहीं आते···"

"सामान्य जन के आतंक से तो वारणावत छोड़कर हम भागे नहीं थे।" सहदेव बोला, "प्रश्न तो यह है कि दुर्योधन को किसी प्रकार हमारे जीवित रहने का समाचार न मिले।"

"हमारे पास अभी तक इस प्रकार की कोई सूचना नहीं है कि दुर्योधन ने हमारी मृत्यु का विश्वास कर लिया है या नहीं।" युधिष्ठिर बोला, "यदि उसे यह विश्वास हो जाता कि अब हम जीवित नहीं हैं, तो उसके गुप्तचरों का अथवा किसी और का भय हमें नहीं होना चाहिए। किंतु, यदि वारणावत में उसे किसी प्रकार कोई ऐसा प्रमाण मिल जाता है कि वारणावत में जिनकी मृत्यु हुई, वे हम नहीं थे, तो निश्चय ही वह हमारी खोज में अपने गुप्तचर भेजेगा। वे

गुप्तचर कहाँ-कहाँ, किसी-किस ओर जायेंगे—इस विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता।" युधिष्ठिर थोड़ी देर रुककर बोला, "यहाँ तक आने के लिए गंगा तथा नर-भक्षियों के वन को पार करना पड़ता है, इसलिए हमारा यहाँ होना असंभव मानकर उसे अपने गुप्तचर यहाँ नहीं भेजने चाहिए; किंतु वारणावत से चलकर, गंगा पार करते ही, अज्ञातवास के लिए यह अच्छा स्थल है—यह सोचकर उसे यहाँ ही गुप्तचर भेजने चाहिए।..."

"भैया!" भीम ने उसे बीच में ही टोक दिया, "देखिए; यदि वह किन्हीं भी कारणों से गुप्तचर नहीं भेजता या इस ओर गुप्तचर नहीं भेजता, तो हमारे लिए कोई समस्या ही नहीं है; किंतु किन्हीं भी कारणों से यदि वह अपने गुप्तचर इस ओर भेजता है; तो वे गुप्तचर हिंस्त्र पशुओं तथा नर-भक्षी राक्षसों से बच नहीं सकते। अतः यह स्थान उस दृष्टि से सुरक्षित है। वैसे भी," उसने रुककर युधिष्ठिर की ओर देखा, "यदि आप युवराज अथवा सम्राट के रूप में किसी को खोजने के लिए गुप्तचर भेजेंगे तो उसे यह आदेश नहीं देंगे कि उक्त वन में जाओ और प्रत्येक वृक्ष तथा झाड़ी में खोजो। कुछ-एक गुप्तचरों के वश का नहीं है कि सारा वन छान मारें और छुपकर रह रहे, पाँच-सात लोगों को खोज लायें। वन में खोज के लिए तो पूरी सेना ही भेजी जायेगी, ताकि वह वन का चप्पा-चप्पा छान मारे। और ऐसी खोज तो कभी गोपनीय नहीं रह पायेगी। तब प्रश्न उठेगा कि दुर्योधन किसे खोज रहा है; और क्यों खोज रहा है। इसलिए दुर्योधन सेना भेजेगा नहीं। गुप्तचर हमें खोज नहीं पायें, अतः यह स्थान सर्वथा सुरक्षित है।..."

"सेना तो वह नहीं भेजेगा; क्योंकि सेना वन के मध्य में हो और शत्रु-पक्ष वन को ही आग लगा दे तो सारी सेना स्वाहा हो जायेगी।" सहदेव बोला, "इसलिए यदि वह भेजेगा तो गुप्तचरों को ही भेजेगा। गुप्तचर अपनी खोज सदा जन-संकुल स्थानों में करेंगे, जहाँ कम-से-कम समय में, वे अधिक लोगों से मिलकर, उनसे समाचार प्राप्त कर सकें। इसलिए वे हाटों, राज सभाओं, तीर्थों तथा गतिविधि के अन्य केंद्रों में हमें खोजेंगे।..."

"भैया!" अर्जुन ने सहदेव की बात काटकर युधिष्ठिर को संबोधित किया, "मेरे मन में कहीं यह शंका नहीं है कि दुर्योधन के गुप्तचर हमें खोजने के लिए यहाँ आयेंगे। मैं यह मानता हूँ कि लाक्षागृह को जलाकर पूर्णतः वह आश्वस्त हो गया होगा। उसने हमें मृत मान लिया होगा, अतः वह हमारी खोज नहीं करवाएगा। मेरी चिंता दूसरी है...।"

"तुम्हारी चिंता क्या है, वही क्यों नहीं बताते चिंतक महोदय?" भीम बोला, "हम अपनी चिंताओं पर विचार कर लें, वही बहुत है। जो चिंताएँ नहीं हैं, उन पर क्या विचार करना!"

"हस्तिनापुर से कोई हमारा समाचार लेने नहीं आयेगा; मुझे चिंता यह है कि कोई यहाँ से हमारा समाचार हस्तिनापुर न पहुँचा दे।" अर्जुन बोला, "यह शालिहोत्र मुनि का आश्रम है। यहाँ अनेक ऋषि-मुनि और यायावर संन्यासी आते ही रहते हैं। अपने साथ वे यहाँ के समाचार भी ले जाते हैं। वे लोग कहाँ-कहाँ जायेंगे, यह कोई नहीं जानता। संभव है कि उनमें से कोई, किसी ऐसे स्थान पर, कोई ऐसी सूचना पहुँचा दे, जहाँ से दुर्योधन को संदेह हो जाये कि हम जीवित हैं और वह हमारी खोज आरंभ करवा दे।..."

"ऐसी कौन-सी सूचना हो सकती है, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि हम साधारण तपस्वी नहीं, वारणावत में जले हुए पांडव हैं?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"पाँच पुत्र और उनकी माता।" अर्जुन बोला, "सर्वप्रथम तो यही पर्याप्त सूचना है।

दूसरे, मध्यम के शरीर का आकार- प्रकार साधारण नहीं है। जहाँ कहीं यह सूचना पहुँचेगी कि ऐसे असाधारण डील- डौल वाले अपौरुषेय शक्ति के स्वामी मनुष्य ने विना किसी शस्त्र के हिडिंब राक्षस का वध कर दिया, तो हमसे परिचित प्रत्येक व्यक्ति पहला प्रश्न यही पूछेगा कि वह पुरुष कहीं मध्यम पांडव ही तो नहीं है ?"

अर्जुन चुप हो गया। सव लोग उसकी बात पर विचार कर रहे थे। कोई कुछ नहीं बोला।

"ऐसी ही छोटी- बड़ी अनेक सूचनाएँ हो सकती हैं, जो हमारा रहस्य उद्घाटित कर सकती हैं, पर···" अर्जुन ने रुककर अपने भाइयों को देखा।

"पर क्या ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"पर मेरा मूल प्रश्न यह नहीं है।" अर्जुन बोला, "मेरा मूल प्रश्न यह है कि हमारे जीवन का लक्ष्य क्या केवल इतना ही है कि हम दुर्योधन की दृष्टि से छिपे रहें और अज्ञात वनवासियों के समान अपना जीवन व्यतीत कर दें ?"

"नहीं !" भीम तड़पकर बोला, "मैं इतनी सुविधा से दुर्योधन को हस्तिनापुर पचा लेने नहीं दूँगा। हमें वापस हस्तिनापुर लौटना है और उससे अपना राज्य वापस प्राप्त करना है।···"

"कब लौटना है हमें हस्तिनापुर ?" अर्जुन का स्वर कुछ वक्र हो गया था। "और कैसे लौटना है ?"

"जहाँ तक मेरा संबंध है, अभी चलो···।"

"मध्यम ! यदि ऐसे ही हस्तिनापुर लौटना था, तो हम वारणावत से इधर आने के स्थान पर हस्तिनापुर ही जा सकते थे।" सहदेव बोला।

"मुझे तो उसमें भी कुछ अनुचित नहीं लगता था," भीम बिना उत्तेजित हुए, सहज भाव से बोला, "मैं तो अब भी यही मानता हूँ कि हमें हस्तिनापुर छोड़ना ही नहीं चाहिए था। यदि हम पाँच भाई पंचालराज द्रुपद पर आक्रमण कर, उसे जीत सकते हैं, तो हम हस्तिनापुर की सेना से भी लड़ सकते हैं।···"

"यह समय इन प्रश्नों में उलझने का नहीं है।" युधिष्ठिर बोला, "हमें तो विचारना यह है कि अब क्या करना है।"

"तो पहला प्रश्न तो यह है कि हमें कब तक यह अज्ञातवास करना है ?" अर्जुन बोला।

"जब तक प्रकट होने का उपयुक्त अवसर नहीं आयेगा।" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया।

"और वह कब आयेगा ?"

"जब हम पांडवों के रूप में भी स्वयं को सुरक्षित पायेंगे।" युधिष्ठिर बोला, "या तो हम अपनी एक स्वतंत्र और समर्थ सेना तैयार कर सकें, या हमारे ऐसे समर्थ सहायक हों, जिनके सामर्थ्य के कारण हमें दुर्योधन का कोई भय न रहे, या फिर विदुर काका की ओर से हमें कोई संदेश मिल जाये···।"

कुछ क्षणों के लिए सब लोग चिंतनलीन मुद्रा में मौन रहे; और फिर सहसा अर्जुन ही बोला, "अपने समर्थ सहायकों में से तो मुझे सिवाय यादवों के और कोई दिखायी नहीं पड़ता; किंतु वे लोग स्वयं ही जाने किस स्थिति में हैं ! यदि जरासंध के आक्रमण के कारण उन्हें मथुरा से हट न जाना पड़ा होता, तो वे लोग हस्तिनापुर अथवा वारणावत में हमारी सहायता के लिए पहुँच गये होते। एक बार मातुल अक्रूर के हस्तिनापुर आते ही पितृव्य ने हमारे ज्येष्ठ का युवराज्याभिषेक कर दिया था··· जाने यादव किस स्थिति में हैं; और कृष्ण को हमारा समाचार

मिला भी है नहीं…"

"समाचार तो मिला ही होगा," सहदेव बोला, "किंतु एक तो वे इस स्थिति में हों कि हमारी सहायता कर सकें और दूसरे उनसे हमारा संपर्क हो सके।…"

"यदि हम यह स्वीकार कर लें कि हम सिवाय प्रतीक्षा के और कुछ नहीं कर सकते; या अभी हम यह भी नहीं जानते कि हमें किसकी और कब तक प्रतीक्षा करनी है, तो भी हमारे मन में यह तो स्पष्ट होना ही चाहिए कि तब तक क्या हमें यहीं रहना है—इसी स्थान पर, उस अज्ञात सहायक की प्रतीक्षा करनी है ?" अर्जुन ने पूछा।

"यह भी तो हो सकता है कि हम उस अज्ञात सहायक की प्रतीक्षा करने के स्थान पर, स्वयं अपने मित्रों से संपर्क करने का प्रयत्न करें—हस्तिनापुर में विदुर से, द्वारका में भैया कृष्ण से, अथवा मद्र में मातुल शल्य से…।" सहदेव बोला।

"तुम्हारे पास अश्वारोही संदेशवाहक नहीं हैं कि उन्हें इधर-उधर दौड़ाते रहोगे," कुंती ने कहा, "यदि किसी से संपर्क करना होगा, तो तुममें से स्वयं ही किसी को जाना होगा। इतनी लंबी यात्राएँ, पैदल-पदाति अकेले करने का अर्थ है, अपने शेष भाइयों से उतने समय के लिए दूर रहना। मैं कदापि नहीं चाहती कि तुम लोग एक-दूसरे से विलग होकर वनों-नगरों में भटकते फिरो। और फिर यदि एक कहीं जायेगा, तो जब तक वह लौटकर नहीं आता, शेष सबको इसी स्थान से बँधे रहना होगा। इतना जोखिम उठाना उचित नहीं है पुत्र ! तुम सब एक साथ रहो, एक स्थान पर रहो। तुम इस स्थिति में नहीं हो कि स्वयं किसी से भी संपर्क कर सको।" कुंती क्षण भर रुकी, "वैसे भी यदि दुर्योधन तुम्हारी खोज में गुप्तचर भेजेगा, तो सबसे पहले वहीं भेजेगा, जहाँ से तुम सहायता की अपेक्षा कर रहे हो; इसलिए कहीं ऐसा न हो कि स्वयं संपर्क करने के प्रयत्न में तुम किसी बड़े संकट में फँस जाओ।"

"तो फिर हमारे पास और क्या विकल्प है कि हम उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में शांत किंतु सजग होकर बैठे रहें !" युधिष्ठिर बोला।

"ठीक है। प्रतीक्षा तो हम करें; किंतु प्रतीक्षा करने के लिए यही एकमात्र उपयुक्त स्थान है क्या ?" अर्जुन के स्वर में हल्की-सी खीज थी।

"क्यों, इस स्थान से ही तुम्हारा क्या विरोध है ?" भीम ने पूछा, "प्रतीक्षा तो हम कहीं भी कर सकते हैं, तो इसी स्थान में क्या बुराई है ?"

"मेरा विरोध इस स्थान से नहीं है मध्यम ! मेरा विरोध निष्क्रिय प्रतीक्षा से है। हम किसी भी एकांत स्थान, किसी वन में छिपकर, सारे संसार से असंपृक्त बैठे रहेंगे, तो न कोई हमसे संपर्क कर पायेगा और न ही हम जान पायेंगे कि हमारे प्रकट होने का उपयुक्त अवसर आ गया है।" अर्जुन बोला।

"तुम्हारे सारे तर्क मुझे स्वीकार हैं।" भीम पूर्ण निश्चयात्मक स्वर में बोला, "किंतु अभी कुछ समय तक हम कहीं नहीं जा सकते।"

"क्यों ?" कुंती ने पूछा।

"इसलिए कि सालकटंकटी गर्भवती है…।"

'इसी का तो मुझे भय था।' अर्जुन ने मन-ही-मन कहा, 'गृहस्थ बनकर बैठ जाने का तो यही परिणाम होना था।'

"तुम्हें कैसे मालूम ?" कुंती ने भीम की बात काटी, "मैं भी उसे प्रतिदिन देखती हूँ।

मुझे तो कोई लक्षण दिखायी नहीं देता।"

"वह गर्भवती है। उसने स्वयं मुझे निश्चित सूचना दी है।" भीम विश्वास के बल के साथ बोला, "इस अवस्था में उसे छोड़कर जाना उचित नहीं है।" वह रुका और फिर बोला, "संतान के जन्म के पश्चात् ही हम कहीं जा सकेंगे।"

"प्रसव के पश्चात् क्या वह हमारे साथ जाना चाहेगी?" कुंती ने पूछा।

भीम ने तत्काल उत्तर नहीं दिया : वह कुछ सोचता रहा और फिर धीरे से बोला, "इस विषय में मैंने उससे कुछ नहीं पूछा है; किंतु मेरा अपना विचार है कि शायद वह वनों को छोड़कर, नगरों में न जाना चाहे।"

"वैसे भी उसने संतान के जन्म तक अस्थायी पतित्व ही माँगा था।" युधिष्ठिर बोला।

"यह भी सत्य है, " सहदेव बोला, "दूसरी ओर इस बात का भी हमें ध्यान रखना चाहिए कि हमारा परिवार जितना बड़ा होगा, हमारी गोपनीयता उतनी कठिन होती जायेगी।"

"मध्यम से भी तो पूछिए, क्या वे अपनी पत्नी को छोड़कर जाना चाहेंगे ?" अर्जुन ने कहा।

भीम ने कुछ पीड़ित दृष्टि से अर्जुन की ओर देखा, "मैं अपनी आसक्ति को स्वीकार करता हूँ। संतान के प्रति भी सबको मोह होता ही है। किंतु मैं आरंभ से जानता हूँ कि यह अस्थायी विवाह है; इसे स्थायी बनाने का कोई कारण नहीं है। मैं यह भी समझता हूँ कि न मैं आजीवन यहाँ रह सकता हूँ; और न ही हिडिंबा हमारे साथ रह सकती है। जो हमारे हित में है, वही होगा। आप लोग निश्चिंत रहें। मैं उसे भी समझा दूँगा।..."

"तो फिर यही निश्चित हुआ कि हिडिंबा के प्रसव तक हमें यहीं रहना है...।" युधिष्ठिर ने सब पर दृष्टि डाली; सब चेहरों की सहमति पाकर वह आगे बोला, "उसके पश्चात् हम यहाँ से चल पड़ेंगे। प्रयत्न करेंगे कि विभिन्न राज्यों के नगरों में गोपनीय ढंग से रहें और अपने लिए सहायक ढूँढें। स्वयं को प्रकट करने के लिए अवसर की निष्क्रिय प्रतीक्षा न कर, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे।..."

20

कृष्ण के सधे हुए हाथों में वल्गा थी और दृष्टि शतधन्वा पर लगी हुई थी। शतधन्वा की गति कुछ कम होती लगती थी; किंतु कृष्ण ने अपने रथ की गति मंद नहीं की। पता नहीं, शतधन्वा क्या करना चाहता था। वह द्वारका से कृष्ण के साथ इसी प्रकार की आँख-मिचौनी खेलता आया था...और अब कृष्ण का अनुमान था कि वे लोग मिथिला नगरी के निकट पहुँच रहे थे।...

उत्तेजित बलराम हाथ में गदा लिये, रथ में खड़ा था।...उसे तो जब से सत्राजित के वध की सूचना मिली थी, वह द्वारकावासियों को धिक्कार रहा था। वह और कृष्ण यदि द्वारका में उपस्थित नहीं थे, तो सब अपनी मनमानी करने को स्वतंत्र थे ? कोई किसी को रोकने वाला नहीं था ?...सारी द्वारका जानती थी कि शतधन्वा ने सत्राजित का वध कर, उसकी स्यमंतक मणि पर अधिकार कर लिया था।...बस, एक कृष्ण और बलराम ही तो नहीं थे

द्वारका में, शेष सब तो थे; फिर भी वह हत्यारा द्वारका में सुरक्षित बैठा रहा और किसी ने उसे कुछ नहीं कहा !...बलराम को मालूम हो चुका है कि इस सारे षड्यंत्र और अपराध में शतधन्वा अकेला नहीं था। कुछ और लोग भी उसके साथ थे। अक्रूर और कृतवर्मा यदि शतधन्वा का साथ नहीं देते, तो कदाचित् वह इतना साहस नहीं कर पाता। न केवल उसने सत्राजित का वध कर, स्यमंतक मणि चुरा ली थी, वह साहसपूर्वक द्वारका में जमकर बैठा भी रहा।...वह तो सत्यभामा ने ही इतना साहस किया कि वह हस्तिनापुर तक की यात्रा कर वहाँ पहुँच गयी और वे दोनों भाई हस्तिनापुर में अपने कार्य अधूरे छोड़ द्वारका लौट आये; अन्यथा शतधन्वा इतना बड़ा अपराध और दुस्साहस करके भी, निर्द्वंद्व रूप से अदंडित द्वारका में रहता चला जाता... और स्यमंतक मणि पर भी अपना आधिपत्य जमाये रखता।...

वे लोग द्वारका से उसका पीछा कर रहे थे और वह था कि मूर्खों के समान, अपना अश्व दौड़ाये ही चला जा रहा था। मार्ग में अनेक वार वह उनको धोखा देने में भी सफल हो गया था; किंतु कृष्ण भी लुका-छिपी के इस खेल में कम चतुर नहीं था।...बलराम को ऐसे अनेक अवसर स्मरण हैं, जब कृष्ण छिप गया तो कोई उसे खोज नहीं पाया; किंतु जब कृष्ण ने किसी को खोजना चाहा, तो वह छिप नहीं पाया।...जरासंध से बचने के लिए, जिन दिनों वे दोनों भटकते फिरे थे, उन दिनों कृष्ण के इन्हीं सब गुणों से तो इतने सारे चमत्कार संभव हुए थे...

अब शतधन्वा उनके एकदम सामने था और बहुत निकट भी। बलराम को लग रहा था कि वह हाथ बढ़ाकर शतधन्वा को छू सकता है...यदि वह गदा फेंककर मारे, तो शतधन्वा अभी भूमि पर लोटता दिखायी देगा।

"कृष्ण ! गदा फेंककर मारूँ ?" बलराम ने पूछा।

"नहीं भैया !" कृष्ण बोला, "हम अभी इसे जीवित पकड़ लेते हैं।...इससे स्यमंतक भी तो प्राप्त करनी है।"

वे लोग कदाचित् नगर के बहुत निकट आ गये थे। मार्ग के साथ-साथ ही एक उपवन दिखायी देने लगा था। साधारण यात्रा की स्थिति होती तो कृष्ण अवश्य ही रुककर, इस उपवन में थोड़ा विश्राम करता; किंतु इस शतधन्वा के कारण इस सारी यात्रा में कहीं भी न तनिक-सा विश्राम मिला था और न ही प्राकृतिक दृश्यों को निहारने का अवकाश।...

और सहसा ही शतधन्वा का घोड़ा बहका, लड़खड़ाया और धरती पर आ रहा। शतधन्वा बलराम की गदा की मार के बिना ही धरती पर दूर तक लोटता चला गया।...

कृष्ण ने भी स्फूर्ति से अपने अश्वों की वल्गा खींच ली और उसे बलराम के हाथ में देता हुआ बोला, "भैया ! इसे सँभालिए। मैं अभी आया।"

बलराम को सोचने-समझने का तनिक भी अवसर नहीं मिला। उसने यंत्र के समान सहज भाव से वल्गा थाम ली और कृष्ण दौड़ते हुए रथ से कूद गया।...तब तक शतधन्वा भी भूमि से उठ खड़ा हुआ था। वह पथ छोड़कर उपवन की ओर भागा।

"आप यहीं रुकिए भैया ! मैं अभी इसे लेकर आता हूँ।" कृष्ण ने कहा और वह भी शतधन्वा की दिशा में भागता हुआ, उन्हीं वृक्षों के पीछे कहीं खो गया।

बलराम के मन में आया कि वह भी रथ से कूद पड़े और शतधन्वा को पकड़ने में कृष्ण की सहायता करे... किंतु कृष्ण कह गया था वह वहीं रुके। संभव है, कृष्ण किसी और दिशा से लौट आये और उसे वहाँ न पाकर चिंतित हो। बहुत संभव है कि फिर से रथ पर ही शतधन्वा

का पीछा करना पड़े । वह तो ऐसा धूर्त है कि जैसे मनुष्य न हो, वायु का झोंका हो । कब कहाँ विलीन हो जाता था, समझ में ही नहीं आता था; और फिर कहीं से प्रकट होकर आगे- आगे अश्व दौड़ाता दिखायी पड़ने लगता था ।···

बलराम ने रथ में ही रुकने का निश्चय किया ।

इस निश्चय से उसे कुछ निश्चिंतता भी हुई । उसे कुछ करना नहीं था; बस, रथ में बैठकर प्रतीक्षा करनी थी । प्रतीक्षा के भाव को व्यक्ति भुला सके, तो वह विश्राम ही होता है । शायद विश्राम के विचार से ही उसके मन में उल्लास जागा था···या संभव है कि जिस कार्य के लिए वे लोग द्वारका से यहाँ तक दौड़ते चले आये थे, उसके संपन्न होने की प्रसन्नता थी···

सत्राजित के इस हत्यारे को पकड़ने में कृष्ण को तनिक भी कष्ट नहीं होगा । शतधन्वा स्यमंतक मणि लेकर भागा था । कृष्ण वह मणि भी ले आयेगा···अब वह स्यमंतक मणि, जिसको लेकर द्वारका में एक प्रकार का भूचाल आया हुआ है, कृष्ण की संपत्ति होगी । 'कृष्ण की संपत्ति होगी ?'···बलराम ने स्वयं अपने- आपसे पूछा ।···और बलराम निमिष भर को जैसे स्तब्ध रह गया—'क्यों ? कृष्ण की क्यों ? मणि तो जिसकी है, उसी को वापस लौटायी जानी चाहिए ।···किंतु कृष्ण यदि हत्यारे शतधन्वा से वह मणि छीन लेता है, तो वह कृष्ण की ही संपत्ति तो हुई । सत्राजित से तो शतधन्वा उसे छीन ही लाया है···और सत्राजित अब जीवित भी नहीं है । यदि कृष्ण द्वारका से दौड़ता हुआ, यहाँ तक आकर, शतधन्वा को मार देता है; और उससे वह मणि ले लेता, तो वह उसी की तो हुई ।···किंतु बलराम को लगा कि यह तर्क ठीक नहीं है ।···कृष्ण उस मणि को शतधन्वा से इसलिए छीन रहा है, क्योंकि वह मणि शतधन्वा की नहीं है; उसने सत्राजित की हत्या कर, उससे वह मणि छीनी है ।···किसी का वध कर, उसकी संपत्ति- हरण करने से, उसका वैधानिक·स्वामित्व प्राप्त नहीं होता । इसलिए वह मणि सत्राजित की ही रहेगी.। वह न शतधन्वा की हो सकती है, न कृष्ण की···और तभी बलराम का ध्यान दूसरी ओर चला गया···सत्राजित अब जीवित नहीं था, अतः स्यमंतक मणि उसे लौटायी नहीं जा सकती ।···सत्राजित का कोई पुत्र नहीं है । अतः वह मणि सत्राजित की पुत्री सत्यभामा की संपत्ति है । सत्यभामा की संपत्ति है, अर्थात् वह स्वयं कृष्ण की ही संपत्ति है । बलराम का मन पुनः प्रफुल्लित हो उठा···स्यमंतक मणि अब उनके परिवार की संपत्ति थी···केवल उनके परिवार की···

कृष्ण दौड़ता चला गया । शतधन्वा उसके आगे- आगे था । कृष्ण जानता था कि अब शतधन्वा उससे बच नहीं सकता । शतधन्वा स्वस्थ अवस्था में भी कृष्ण से अधिक वेग से नहीं दौड़ सकता था; और इस समय तो लंबी यात्रा से वह थका हुआ भी था और अश्व से गिरने पर उसे कहीं- न- कहीं चोट भी लगी होगी ।···थका हुआ तो कृष्ण भी था, फिर भी अभी वह न निढाल हुआ था, न शिथिल; उसमें अभी पर्याप्त स्फूर्ति थी···फिर भी एक चिंता उसके मन में थी···वे लोग उस उपवन में कुछ पगों के अंतराल पर, आगे- पीछे दौड़ रहे थे ।···उपवन के साथ सघन वन लगता था; और उन वृक्षों के पीछे जाने का कोई मार्ग था भी या नहीं । यदि शतधन्वा उस वन में मुड़ जाता है, तो एक संभावना यह भी है कि आगे का मार्ग न पाकर उसे रुक जाना पड़े और दूसरी ओर यह भी संभव है कि वह उन वृक्षों के पीछे अदृश्य हो जाये; और कृष्ण के हाथों में आकर भी फिसल जाये ।···कृष्ण का आत्मविश्वास तो यही कहता था

कि अव शतधन्वा उसके हाथों से छूट नहीं सकता; किंतु वह इस आँख-मिचौनी को अब और खींचना नहीं चाहता था। वह अब शतधन्वा के पीछे और दौड़ना नहीं चाहता था।...

शतधन्वा बार-बार पीछे मुड़कर देख रहा था, कदाचित् वह कोई निर्णय करना चाहता था... और कृष्ण को यह समझने में तनिक भी असुविधा नहीं थी कि उसकी समस्या क्या थी।... निश्चित रूप से वह सोच रहा था कि वह सीधा दौड़ता चला जाये, या यह पथ छोड़, वह अनजाने वन में उतर जाये... उसने क्या निश्चय किया, इसका पूर्वानुमान कृष्ण के लिए संभव नहीं था; किंतु कृष्ण ने निश्चय कर लिया, अब उसे छोड़ना नहीं है। यदि वह जीवित हाथ नहीं आया, तो उसका वध कर देना होगा।... वैसे भी उससे स्यमंतक मणि प्राप्त कर, उसे सत्राजित की हत्या का दंड देना ही था। वह दंड, मृत्युदंड ही हो सकता था। शतधन्वा का वध तो करना ही था, चाहे वह उसे बंदी बनाकर मृत्यु-दंड के रूप में हो, अथवा इस प्रकार भाग-दौड़ में उसे बंदी बनाने के लिए वध करना पड़े...

अगले ही क्षण कृष्ण की तर्जनी पर सुदर्शन चक्र घूम रहा था, "शतधन्वा ! रुक जाओ।"

किंतु तब तक शतधन्वा उपवन की सीमा तक पहुँच चुका था। आगे की भूमि का ढाल स्पष्ट दिख रहा था। ढाल पर झाड़ियाँ-ही-झाड़ियाँ थीं; और उनके आगे एक जलधारा थी। संभव है कि वह सरिता हो या फिर कोई छोटी स्रोतस्विनी, जो आगे चलकर सरिता में मिल जाती हो।...शतधन्वा को लगा कि यदि वह इस ढाल में कूद जाये तो ये झाड़ियाँ उसे सुरक्षा प्रदान करेंगी। कृष्ण उसे किस-किस झाड़ी में ढूँढेगा और यदि वह उन झाड़ियों से सुरक्षित निकल पाया तो सरिता अथवा वन में अपनी रक्षा का कवच पा ही जायेगा... शतधन्वा ने तनिक सँभलकर अपनी दिशा बदली...

निमिष-भर में शतधन्वा की योजना कृष्ण की समझ में आ गयी। कृष्ण उसे बच निकलने का अवसर नहीं दे सकता था। उसकी तर्जनी ने दिशा-निर्देश किया और सुदर्शन चक्र ने आगे-आगे दौड़ते शतधन्वा का मुंड, उसके रुंड से पृथक् कर दिया...

कृष्ण ने शतधन्वा के निकट आकर देखा : स्यमंतक मणि के विषय में उससे पूछने का कोई लाभ नहीं था। उसके रुंड और मुंड पृथक् हो चुके थे। वह किसी भी प्रश्न का उत्तर देने की स्थिति से परे जा चुका था।

कृष्ण ने उसके वस्त्र टटोले : मणि का कहीं पता नहीं था। उसने पुनः देखा... ध्यान से देखा...मणि उसके वस्त्रों में कहीं नहीं थी। मणि को उसने अपने शरीर पर धारण नहीं किया था... तो क्या उसने मणि को अश्व के शरीर के साथ बाँध रखा था ?...नहीं ! यदि ऐसा होता, तो वह अश्व को छोड़कर इस प्रकार नहीं भागता।...फिर भी अश्व के शरीर की भी छान-बीन करनी ही चाहिए। बहुत संभव है कि मणि को अश्व के शरीर में ही कहीं छिपाकर रखा गया हो; और अपने प्राणों के मोह में उसे छोड़कर भाग गया हो।...किंतु कृष्ण का मन इस तर्क से सहमत नहीं हो पा रहा था। शतधन्वा जैसे लोग प्राणों के मोह में मणि नहीं छोड़ सकते, चाहे मणि के मोह में प्राणों को त्याग दें...फिर भी अश्व के शरीर की भी छान-बीन कर ही लेनी चाहिए...

लौटकर कृष्ण अश्व के पास आया। अश्व वहीं पड़ा था, जहाँ वह गिरा था; किंतु अभी जीवित था। कृष्ण ने स्नेह से उसका शरीर सहलाया : वह मूक पशु अपने स्वामी के कृत्यों का दंड भुगत रहा था ?...'नहीं !' कृष्ण ठिठक गया। 'सत्य यह नहीं है। किसी के कृत्य का

फल कोई और कैसे भुगत सकता है ?' कृष्ण के अधरों पर मुस्कान आ गयी : प्रत्यक्षतः तो यही दिखायी पड़ता है: किंतु जो कुछ प्रत्यक्ष है, वही अंतिम सत्य नहीं है···

कृष्ण ने अश्व के शरीर की खोज की—पूर्णरूपेण खोज !···किंतु मणि वहाँ नहीं थी।··· इसका एक ही अर्थ था कि शतधन्वा अपने साथ मणि लाया ही नहीं। वह उसे या तो द्वारका में ही किसी को सौंप आया था, पर कहीं छिपाकर चला था; अथवा मार्ग में उसे कहीं छिपाने में सफल हो गया था !···

'अब ?' कृष्ण ने स्वयं अपने-आपसे पूछा।

'शतधन्वा के वध में व्यर्थ ही इतनी शीघ्रता की।' उसने स्वयं को उत्तर दिया, 'वह जीवित होता तो उससे यह तो पूछा ही जा सकता था कि उसने मणि कहाँ छिपायी है।·· किंतु अब ! अब, उससे यह प्रश्न तो पूछा ही नहीं जा सकता··· तो ?···तो क्या ! मणि की खोज तो की ही जायेगी। हाँ ! अब वह खोज बहुत लंबी हो गयी है।··· शतधन्वा ने मणि अपने किसी ऐसे मित्र के पास रखवायी होगी, जिसपर उसको अत्यधिक विश्वास होगा।···किंतु यह भी तो संभव है कि उसने मणि किसी के पास रखवायी न हो, उसे किसी प्रकार गुप्त स्थान पर छिपा दिया हो··· भूमि में गाड़ दिया हो···किसी प्राकृतिक गुफा में छिपा दिया हो···!

उसके मित्रों से तो फिर पूछ-ताछ की जा सकती है। कोई कितना भी चतुर क्यों न हो, स्यमंतक मणि को छिपा नहीं पायेगा। मणि तो स्वयं ही अपने-आपको प्रकट कर देगी। किंतु, यदि शतधन्वा ने उसे भूमि में गाड़ दिया हो··· तो उसे खोज पाना असंभव हो जायेगा।···द्वारका पहुँचकर शतधन्वा के अत्यंत विश्वसनीय मित्रों पर दृष्टि रखनी होगी···

कृष्ण अपने रथ के पास लौट आया। बलराम रथ में ही बैठा था; किंतु या तो उसे झपकी आ गयी थी, या वह अपनी आँखें बंद कर मन और शरीर को विश्राम दे रहा था।

"भैया !" कृष्ण ने पुकारा।

बलराम ने आँखें खोल दीं, "मणि मिली ?" उसने अत्यंत आतुरता से पूछा।

"नहीं !" कृष्ण के स्वर में पहली बार उसकी क्लांति बोली थी।

"नहीं ? नहीं का क्या अर्थ ?" बलराम का स्वर ऊँचा उठ गया।

कृष्ण समझ नहीं पाया कि यह बलराम की आतुरता मात्र थी; उत्तेजना थी, अथवा क्रोध था !

और सहसा बलराम सहज होकर हँस पड़ा, "तुम ऐसे अवसरों पर भी परिहास करने लगते हो ! इतना भी नहीं सोचते कि दूसरा व्यक्ति अपनी उत्तेजना में मरा जा रहा है।···"

"नहीं ! मैं परिहास नहीं कर रहा भैया !" कृष्ण बोला, "मणि सचमुच नहीं मिली।"

"फिर वही नट-खट बाल-लीला !" बलराम हँसा।

"मैं किसी प्रकार की लीला नहीं कर रहा भैया ! सत्य कह रहा हूँ—मणि नहीं मिली !" कृष्ण ने कहा, "व्यर्थ ही शतधन्वा के वध में आतुरता दिखायी। अब किसी से पूछ भी नहीं सकते कि मणि कहाँ है।···"

बलराम ने एक भरपूर दृष्टि कृष्ण पर डाली। थोड़ी देर उसे देखता रहा और फिर बोला, "यह तो मै तुम्हारे शैशव से ही जानता हूँ कि तुम बहुत चतुर हो, किंतु मुझसे भी ऐसी चतुराई करोगे, यह नहीं जानता था।" बलराम के चेहरे पर रोष स्पष्ट होकर झलक आया।

"भैया !" कृष्ण को लगा, वह अपने भाई के इस अविश्वास के सम्मुख सर्वथा असहाय

है, "मैं तनिक भी चतुराई नहीं कर रहा हूँ। स्यमंतक मणि सचमुच शतधन्वा के पास नहीं थी। आप चाहें तो चलकर स्वयं देख लें।"

कृष्ण को लगा, इस समय अपनी असफलता से अधिक उसे भाई का अविश्वास खटक रहा है।

बलराम हँस पड़ा; किंतु उसकी हँसी ने उसकी कटुता को धूमिल करने के स्थान पर और भी अनावृत कर दिया था, "मैं क्या देख लूँ! क्या शतधन्वा के शव ने स्यमंतक को सँभालकर रखा होगा ?" और सहसा उसका स्वर अत्यंत वक्र हो गया, "जब तुम्हें ही नहीं मिली तो मैं कैसे खोज लूँगा, उस स्यमंतक को !" बलराम रथ से नीचे उतर आया, "अब क्या योजना है तुम्हारी ?"

"मैं शीघ्रातिशीघ्र द्वारका पहुँचना चाहता हूँ।" कृष्ण बोला, "ताकि शतधन्वा के मित्रों पर दृष्टि रखी जा सके। संभवतः शतधन्वा स्यमंतक को द्वारका में ही किसी को सौंपकर चला था।..."

"अच्छा ! तुम शीघ्रातिशीघ्र द्वारका लौट जाओ।" बलराम ने कहा, "मैं मिथिला जा रहा हूँ।"

"क्यों ?" कृष्ण के मुख से अनायास ही निकल गया, "क्या आप मेरे साथ द्वारका नहीं चलेंगे ?"

"नहीं !" बलराम ने कठोर दृढ़ता के साथ कहा, "तुम जानते हो कि मिथिलापति मेरे मित्र हैं। अब यहाँ तक आया ही हूँ, तो कुछ काल उनकी विश्वासपूर्ण सत्संगति में व्यतीत करना चाहूँगा।..."

कृष्ण का मुँह जैसे कड़वा हो गया। वह समझ रहा था कि बलराम के शब्दों का अर्थ क्या था। वह अपने मन की पूरी दृढ़ता के साथ विश्वास कर चुका था कि शतधन्वा के पास स्यमंतक मणि थी, जो कृष्ण ने छिपा ली है। कृष्ण मणि के स्वामित्व में उन्हें सहभागी नहीं बनाना चाहता।... कृष्ण के प्रति उसका अविश्वास और अपनी इस मिथ्या धारणा के प्रति दृढ़ विश्वास इतना प्रबल था कि उसे समझाना बहुत कठिन था। संसार में किसी को भी कृष्ण, उसकी धारणा के विरुद्ध अपनी बात समझा सकता था; किंतु अपने इस भाई की हठ के सम्मुख, वह भी हताश हो जाता था। यदि बलराम ने विश्वास कर लिया है कि मणि कृष्ण ने छिपा ली है, तो जब तक स्यमंतक कहीं और से, उसकी आँखों के सामने प्रकट ही न हो जाये, तब तक वह किसी का विश्वास नहीं करेगा, कृष्ण का भी नहीं !

"तो मैं भी आपके साथ चलता हूँ।" अंततः कृष्ण बोला, "आप जितने दिन मिथिला में रहना चाहें, रहें। मैं भी आपके साथ रहूँगा। फिर हम इकट्ठे ही द्वारका लौट चलेंगे।"

कृष्ण यह प्रस्ताव कर भी रहा था और उसका मन उसके प्रस्ताव का विरोध भी कर रहा था। वह जानता था कि यदि उसे मणि प्राप्त करनी है, तो उसे शीघ्रातिशीघ्र द्वारका पहुँचना चाहिए। उसके द्वारका पहुँचने में जितना ही अधिक विलंब होगा, मणि उसके हाथ से उतनी ही दूर निकल जायेगी।...और अब तो स्यमंतक का महत्व उसके अपने मूल्य के ही कारण नहीं था। भैया बलराम के विश्वास को लौटा लाने के लिए भी उसे मणि प्राप्त करनी ही होगी...

"नहीं !" बलराम का स्वर पर्याप्त कठोर था, "तुम्हारा मिथिला में क्या काम ! तुम द्वारका जाओ, या जहाँ तुम्हारी इच्छा हो। स्यमंतक मिल जाये, तो सूचना भिजवा देना।"

कृष्ण अपने भाई को देखता रह गया : कैसे उन दोनों भाइयों ने जीवन की निकटतम घड़ियों में कंधे से कंधा मिड़ाकर संघर्ष किया था। वलराम ने कृष्ण की इच्छा मानकर अपने प्राणों को अनेक वार संकट में डाला था··· किंतु कदाचित् वलराम भैया की दृष्टि में भी अव धन इतना अधिक महत्वपूर्ण हो चुका था कि स्यमंतक जैसी मणि के लिए वे कृष्ण का विश्वास नहीं कर पा रहे थे। स्यमंतक के प्रति उनकी आतुरता ही तो उनका कृष्ण के प्रति अविश्वास वन गयी थी।··· वलराम का धन के प्रति आकर्षण, कृष्ण को कभी भी शुभ नहीं लगा था।··· किंतु स्थिति यह आ जायेगी, यह कृष्ण ने भी नहीं सोचा था।···अव वलराम भैया यह मान ही नहीं सकते कि किसी के अधिकार में स्यमंतक मणि आ जाये, तो वह उसके स्वामित्व मे किसी अन्य व्यक्ति को सहभागी भी वना सकता है।···ऐसे में वे किसी का भी विश्वास नहीं कर सकते थे—कृष्ण का भी नहीं।···और कृष्ण ने अनेक वार यह देखा था कि वलराम भैया को, अपनी धारणाओं को विना किसी प्रमाण के भी, जीवन का अंतिम सत्य मानने का अभ्यास हो गया था। इस अभ्यास से उन्हें मुक्त करने का कोई भी उपाय कृष्ण के पास नहीं था।

"अच्छा ! चलता हूँ !" वलराम मुड़कर चल पड़ा।

कृष्ण ठगा-सा खड़ा रह गया।···उसका मन उसको वार-वार धक्के दे रहा था कि वह आगे वढ़े, वलराम भैया को रोक उन्हें समझाए···

किंतु न तो कृष्ण के पग आगे वढ़े, न ही कंठ से स्वर फूटा। उसका विवेक जानता था कि वह भैया को जितना समझाने का प्रयत्न करेगा, भैया उतनी ही अधिक हठ पकड़ते जायेंगे। वह तर्क करेगा तो भैया उसपर एक-से-एक कटु आरोप लगाते जायेंगे। इस समय उन दोनों के मध्य जितना मंथन होगा, उतना ही विष प्रकट होगा।···इसका समाधान तो यही है कि कृष्ण शांत रह जाये और धैर्यपूर्वक उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करे। भैया, उससे दूर मिथिला में रहकर, अपनी कटुता भुलाने का प्रयत्न करें; और यदि कभी कृष्ण स्यमंतक मणि खोज पाये तो भैया के सम्मुख उसे सप्रमाण प्रस्तुत करे।

दुर्योधन उत्फुल्लित मनःस्थिति में धृतराष्ट्र के पास पहुँचा, "पिताजी !"

"वहुत प्रसन्न लग रहे हो पुत्र !" धृतराष्ट्र की अंधी आँखों में भी चमक आ गयी।

"हाँ, पिताजी !" दुर्योधन वोला, "प्रसन्नता का ही विषय है।"

"क्या वात है पुत्र ?"

"पिताजी ! विधाता हमारे वहुत अनुकूल होता जा रहा है।"

"कुछ वताओगे भी पुत्र !"

"वताने ही तो आया हूँ पिताजी !" दुर्योधन को लग रहा था कि यदि वह किशोर होता तो अपनी इस प्रसन्नता में, पिता के कंठ से अवश्य झूल जाता, "पिताजी ! पांडवों के नाश की सूचना पाकर भी मेरा मन अपने-आपको इतना निष्कंटक नहीं मान पाया था, जितना कि मैं अव हो गया हूँ।"

"पर हुआ क्या है पुत्र ?"

"पिताजी ! आप जानते ही हैं कि स्यमंतक मणि को लेकर यादवों में परस्पर कलह चल रही है। एक वार पहले भी कृष्ण पर यह आरोप लग चुका है कि उसने स्यमंतक मणि चुरा

ली थी। उस आरोप से तो वह बच गया था; इस बार वह अपने ही लोभ में फँस गया है।"

धृतराष्ट्र ने अपनी अंधी आँखें, अनुमान से अपने पुत्र पर टिका दीं : जाने यह क्या समाचार लाया है, कि अपनी प्रसन्नता में मग्न होकर कुछ बता ही नहीं रहा।...

"पांडवों की मृत्यु का समाचार पाकर कृष्ण और बलराम यहाँ आये तो पीछे से अवसर पाकर, शतधन्वा ने कृष्ण के श्वसुर सत्राजित की हत्या कर स्यमंतक मणि हथिया ली थी।..."

वह तो पुरानी बात हुई।" धृतराष्ट्र बोला, "तभी तो सत्यभामा रोती-रोती यहाँ आयी थी।"

"हाँ पिताजी !" दुर्योधन बोला, "द्वारका पहुँचकर उन्हें पता चला कि शतधन्वा द्वारका छोड़कर भाग गया है। दोनों भाइयों ने उसका पीछा किया। मिथिला के पास पहुँचकर, कृष्ण ने शतधन्वा का वध कर, उसके शरीर से बँधी स्यमंतक मणि निकालकर छिपा ली। बलराम समझ गया कि कृष्ण उसके साथ धोखा कर रहा है। बलराम रुष्ट होकर मिथिलापुरी में रुक गया और कृष्ण को अकेले द्वारका लौटना पड़ा...।" दुर्योधन चुप हो गया।

"तो इसमें इतने प्रसन्न होने की क्या बात है पुत्र ?"

"पिताजी ! पांडवों की मृत्यु के समाचार से मुझे एक बार विश्वास हो गया था कि हस्तिनापुर मेरा हो गया है; किंतु जब कृष्ण और बलराम यहाँ आ पहुँचे, मेरा विश्वास तो एक बार खंडित होने-होने को हो गया।"

"हस्तिनापुर का राज्य कौरवों का है पुत्र ! उसमें यादव कैसे हस्तक्षेप करेंगे ?" धृतराष्ट्र आश्वस्त स्वर में बोला।

"वह कृष्ण कुछ भी कर सकता है।" दुर्योधन के स्वर में अब भी कृष्ण का भय था, "वह पांडवों को जीवित तो नहीं कर सकता; किंतु उनका प्रतिनिधि बनकर हमारे विरुद्ध खड़ा हो सकता है। वह पांडवों का कोई नया उत्तराधिकारी उत्पन्न कर सकता है। वह अपने प्रतिशोध से प्रेरित होकर हमारा कोई भी अनिष्ट कर सकता है।" दुर्योधन कुछ रुका, "किंतु अब यादवों की शक्ति खंडित हो रही है।...यह सूचना तो मुझे पहले से ही थी कि अक्रूर तथा कृतवर्मा जैसे लोग कृष्ण के विपक्ष में खड़े हो गये हैं; अब तो स्वयं बलराम उसे छोड़ गया है। अपने भाई से चोरी का अच्छा फल मिला कृष्ण को। अब ज्ञात हुआ है सबको कि कृष्ण क्या है। बड़ा त्यागी बनता था—द्वारका का राज्य नहीं लेगा ! अब एक मणि के लिए भाई से वंचना का खेल खेल गया। यादवों का सबसे बड़ा योद्धा बलराम मिथिला में बैठा है।..."

"दुर्योधन !" धृतराष्ट्र का स्वर गंभीर था।

"हाँ, पिताजी !"

"अभी से बहुत प्रसन्न मत होओ पुत्र ! भाइयों के मन-मुटाव का कोई पता नहीं होता। वह तो जल के मध्य की रेखा है, जो कभी स्थायी नहीं होती।"

"नहीं पिताजी ! मेरी सूचनाओं के अनुसार, बलराम कृष्ण से अत्यधिक रुष्ट है। रुष्ट ही नहीं है, वह एक प्रकार से उसका शत्रु हो गया है। वह कृष्ण के मित्रों से भी असंतुष्ट है..."

"तो ?"

"तो मैं सोच रहा हूँ पिताजी, कि मैं मिथिला चला जाऊँ; और बलराम का शिष्यत्व ग्रहण कर, उससे मल्ल-युद्ध और गदा-युद्ध सीखूँ।"

"वह सिखाएगा तुम्हें ?" धृतराष्ट्र ने पूछा, "वह पांडवों के सगे मातुल का पुत्र है।"

"है तो !" दुर्योधन हँसा, "किंतु इस समय वह अपने क्रोध में उन्मत्त है । वह कृष्ण का विरोधी है । कृष्ण के सारे मित्रों को अपना शत्रु मान रहा है; और कृष्ण के शत्रुओं को अपना मित्र । मैं अपने व्यवहार से उसे भूलने को बाध्य करूँगा कि पांडव उसकी बुआ के पुत्र हैं । मैं उसे स्मरण दिलाऊँगा कि पाडंव, कृष्ण के मित्र थे; और मैं पाडंवों का विरोधी हूँ । कृष्ण कभी भी मेरा मित्र नहीं हो सकता; और न कभी मैं कृष्ण का मित्र हो सकता हूँ । मैं कृष्ण के मित्रों का शत्रु हूँ; अतः बलराम का मित्र हूँ¨।"

"तुम्हारा विचार है कि यदि जरासंध चाहे तो वह भी बलराम को अपना मित्र बना सकता है ?"

"मैं तो ऐसा ही समझता हूँ पिताजी !" दुर्योधन बोला, "किंतु जरासंध ऐसा तभी कर पायेगा, जब वह केवल कृष्ण को अपना शत्रु माने, बलराम को नहीं । यदि जरासंध दोनों को समान रूप से अपना शत्रु समझता रहेगा, तो कदाचित् वह ऐसा नहीं कर पायेगा ।"

"और यदि उन दोनों भाइयों में पुनः मेल हो गया, तो तुम्हारी स्थिति क्या होगी ?" धृतराष्ट्र ने पूछा ।

"मेरी सफलता तो इसी में है कि मैं बलराम से ऐसा संबंध बना लूँ कि कृष्ण चाहे भी तो बलराम को मेरे प्रतिकूल न कर सके ।" दुर्योधन बोला ।

"तुम्हें विश्वास है कि तुम ऐसा कर पाओगे ?"

"मुझे विश्वास है पिताजी !" दुर्योधन बोला, "कृष्ण और अर्जुन जैसे लोगों को मित्र बनाने में मुझे कठिनाई हो सकती है; किंतु कर्ण, अश्वत्थामा और बलराम जैसे लोगों से स्नेह-संबंध बनाने में मुझे कोई कठिनाई नहीं है ।"

धृतराष्ट्र ने कुछ विस्मय से पूछा, "तुमने किस समानाधार पर ये वर्ग बनाये हैं पुत्र ?"

"कर्ण, अश्वत्थामा और बलराम—संबंधों को महत्व देते हैं, सिद्धांतों को नहीं, जबकि कृष्ण सिद्धांतों के आधार पर संबंध बनाता है । अर्जुन भी ऐसा ही था ।"

धृतराष्ट्र मन-ही-मन कुछ सोचता रहा और फिर बोला, "मेरा विचार है, तुम शीघ्रातिशीघ्र मिथिला के लिए प्रस्थान करो । इससे पहले कि कृष्ण स्यमंतक मणि देकर बलराम से पुनः भ्रातृत्व स्थापित कर ले, तुम उसे अपने ममत्वजाल में बाँध लो ।"

"ऐसा ही होगा पिताजी !" दुर्योधन उठ खड़ा हुआ ।

21

हिडिंबा अपने कुटीर में लेटी थी । कुंती अभी-अभी उसके पास से उठकर गयी थी । अपनी पहली भेंट से हिडिंबा इन पाँचों भाइयों तथा उनकी माता की अनवरत सेवा कर रही थी; किंतु पिछले दो दिनों से क्रम उलट गया था । प्रसव के एक दिन पहले से हिडिंबा की अवस्था ऐसी नहीं थी कि वह सामान्य काम-काज कर सके । कुंती ने चुपचाप सारा दायित्व अपने ऊपर ले लिया था । प्रसव के पश्चात् से तो कुंती ने उसे उठने ही नहीं दिया था । हिडिंबा बार-बार कहती रही कि उसे अब कष्ट या असुविधा नहीं है; फिर भी कुंती ने उसे उठने की अनुमति नहीं दी । उसके हठ के उत्तर में कुंती ने उसे डाँट दिया, "सालकटंकटी ! तुम कुछ नहीं

जानती हो । चुपचाप पड़ी रहो । तुम्हें विश्राम की आवश्यकता है ।"

"पर आप मेरी माता हैं । मै आपसे सेवा कैसे करवाऊँ !" हिडिंबा किसी प्रकार इतना ही कह पायी थी ।

"माता ही संतान की सेवा करती है ।" कुंती बोली; और फिर जाने क्या हुआ, उसका कंठ रुँध गया और आँखें भीग आयीं, "बहू ! ये हमारे संकट के दिन हैं । यदि हमारे अच्छे दिनों में यह प्रसव होता, तो इसका कितना समारोह होता—तुम नहीं समझ सकोगी ।"

उसके पश्चात् कुंती कुटीर में रुक नहीं पायी थी । "अच्छा ! तुम विश्राम करो ।" वह बाहर चली गयी ।

हिडिंबा ने अपने साथ लेटे हुए शिशु को देखा; अत्यंत हृष्ट-पुष्ट और दीर्घाकार बालक था । सामान्य स्थिति में तो वह यही समझती कि इसका यह आकार-प्रकार राक्षस संतान होने के कारण है; किंतु इसका पिता तो राक्षस नहीं था और वह बलिष्ठतम राक्षस से भी आकार में बड़ा और अधिक बलशाली था । यह शिशु मानव-पुत्र ही था, एक वनवासी ब्राह्मण का पुत्र !···

हिडिंबा ने आज तक कभी इस ओर ध्यान नहीं दिया था । उसके मन में कभी इस प्रकार के प्रश्न ही नहीं उठे थे । उसने जो देखा था, वही स्वीकार कर लिया था ।···वे वनवासी ब्राह्मण थे—पाँच भाई और उनकी माता ! इससे अधिक उसे क्या जानना था ! कई बार उन लोगों के वार्तालाप तथा व्यवहार से उसके मन में कोई संदेह अथवा प्रश्न जागा भी तो उसने उसकी उपेक्षा कर दी । वह काम-मोहित होकर उस बलिष्ठ पुरुष की ओर आकृष्ट हुई थी, जिसे उसकी माता तथा भाई 'मध्यम' कहते थे ।···उसे आश्चर्य भी हुआ था कि वे लोग उसके सम्मुख कभी एक-दूसरे को नाम से नहीं पुकारते थे । ज्येष्ठ, मध्यम, कनिष्ठ, भैया, माता जैसे संबोधनों से ही उनका काम चल जाता था ।···हाँ ! कभी-कभी वे मध्यम को वृकोदर भी कहते थे । उसका पुरुष था भी वृकोदर ! हिडिंबा को अपने पुरुष का यह नाम बहुत प्रिय था । जब नाम से पुकारने की इच्छा होती तो वह उसे वृकोदर ही कहती थी···

पहले दिन ही उसपर यह प्रतिबंध लगाया गया था कि वह उनका परिचय जानने का प्रयत्न नहीं करेगी । वैसे हिडिंबा को अवकाश ही कहाँ था, इन बातों की ओर ध्यान देने का । वह तो अपने प्रिय के साथ विहार में मग्न थी । 'मध्यम' नामक उस ब्राह्मण ने उसे पूर्ण काम-सुख दिया था । उससे मिलने से पूर्ण सालकटंकटी के मन में पुरुष-संग की इच्छा कभी नहीं जागी थी; किंतु उसे देखते ही जाने क्या हुआ कि उसके हृदय को कोई ऐसे मोड़ने-निचोड़ने लगा, जैसे गीले कपड़े को सुखाने के लिए मोड़ा-निचोड़ा जाता है । उसे लगा कि वह उसके बिना जीवित नहीं रह पायेगी । किंतु वह तो पुरुष-संग का अनाम-अस्पष्ट आकर्षण मात्र था । पुरुष-सुख क्या होता है, यह तो विहार के पश्चात् ही जान पायी वह । वह उसे सुख दे रहा था, इसलिए वह चाहती थी कि वह भी उसे प्रसन्न रखे । उसे प्रसन्न रखने के लिए ही वह उसके भाइयों और माता की सेवा करती रही थी ।···वह जानती थी कि वृकोदर के भाइयों के मन में उसके प्रति कोई स्नेह नहीं था । उन्हें तो वृकोदर की उसमें आसक्ति भी अच्छी नहीं लगती थी; फिर भी उसके प्रति उनका व्यवहार सम्मानजनक ही था । माता का व्यवहार तो कभी-कभी स्नेहपूर्ण भी हो जाता था । पिछले दो दिनों में तो वे अत्यंत स्नेहमयी हो गयी थीं; और आज जिस प्रकार उन्होंने उसे 'बहू' कहकर संबोधित किया था, वह तो स्वर ही कुछ और था । उस

स्वर का हिडिंबा पर कैसा प्रभाव पड़ा था—वह स्वयं समझ नहीं पा रही थी; किंतु इतना अवश्य अनुभव कर रही थी कि उसके भीतर तक, सब कुछ हिल गया था !··· फिर यह क्या कहा था माता ने कि ये उनके संकट के दिन थे !··· कई बार लगा था सालकटंकटी को कि वे लोग अपने वर्तमान रूप से बहुत ही भिन्न लोग थे। जिस प्रकार वे लोग रह रहे थे, यह उनकी वास्तविक जीवन-पद्धति नहीं थी। तो वे लोग कौन थे ?··· ये उनके संकट के दिन थे !··· कैसा संकट था उनपर ? संभवतः कोई बड़ा संकट रहा होगा, तभी तो हिडिंबवन में आ गये थे; नहीं तो इस वन में कोई सहज रूप में आता ही कहाँ है !··· इतने दिन व्यतीत किये हैं हिडिंबा ने मध्यम के साथ; किंतु उसने कभी कुछ जानने की चेष्टा ही नहीं की थी। उसके मन में ये सारे प्रश्न ही कहाँ थे ! वह तो उस भूखे के समान मध्यम को भोग रही थी, जिसको बहुत समय के पश्चात् अपनी इच्छानुसार स्वादिष्ट भोजन मिला हो; और साथ ही यह चेतावनी भी मिली हो कि किसी भी क्षण वह भोजन उससे छिन भी सकता था। उसके भोग में तल्लीनता थी, पूर्ण एकाग्रता थी···

हिडिंबा को लगा कि इस एक शिशु ने जन्म लेकर, उसके मन में जाने कितने झँझावात उत्पन्न कर दिये हैं। उसने पहली बार जाना है कि नारी मात्र स्त्री न होकर, माता भी होती है और पत्नी भी; नर मात्र पुरुष न होकर पिता भी होता है और पति भी। हिडिंबा के मन में कल से कितनी ही बार यह बात आ चुकी थी कि अब वह 'मध्यम' के अपने ही प्रति प्रेम से संतुष्ट नहीं हो पायेगी। वह चाहती है कि उसका पुरुष, अब मात्र बनकर पुरुष न रहे; वह पति भी बने और पिता भी। वह हिडिंबा से भी प्रेम करे और हिडिंबा के पुत्र से भी ! वह उनका भरण-पोषण करे, उनकी रक्षा करे। उसकी उपयोगिता बहुत बढ़ गयी थी हिडिंबा के लिए; और उसका आकर्षण भी···

किंतु हिडिंबा ने तो मात्र अस्थायी पतित्व माँगा था—अपनी कामाकांक्षा की तृप्ति के लिए, अपने रति-सुख के लिए ! उसने परिवार की बात तो सोची ही नहीं थी, न पति-पत्नी संबंधों के विषय में; और न ही संतान के विषय में··· किंतु अब तो जैसे उसका संसार ही बदल गया था···

उसने शिशु के सिर पर हाथ फेरा और उसे अपने वक्ष में भींच लिया। शिशु के सिर पर केश एकदम नहीं थे। घट जैसा चिकना था उसका मुंड; इसीलिए तो ज्येष्ठ ने उसे घटोत्कच कहा था।···

···और सहसा हिडिंबा को स्मरण हो आया, माता ने कहा था, 'यदि कहीं हमारे अच्छे दिनों में यह प्रसव होता तो उसका कितना समारोह होता, तुम नहीं समझ सकोगी।'··· हिडिंबा ने बहुत प्रयत्न किया कि वह कल्पना कर सके कि माता का 'अच्छे दिनों' से क्या तात्पर्य था, और उनका समारोह कैसा होता; किंतु माता का कथन ही सत्य प्रमाणित हुआ, 'तुम कल्पना भी नहीं कर सकतीं।' वह इससे और अच्छे दिनों की क्या कल्पना करती··· वह अपने प्रिय पुरुष के साथ रहती है। दिन भर वन में, सरोवर-तट पर, किसी कंदरा में—प्रकृति की गोद में उन्मुक्त विहार करती है और संध्या होते ही लौटकर इन भले लोगों के स्नेह और सामर्थ्य से सुरक्षित होकर सो रहती है।··· इतनें दिनों में किसी ने एक बार भी तो उसके भाई हिडिंब के समान न उसे चाँटा मारा, न घूँसा; न हड्डियाँ तोड़ने की धमकी दी, न प्राण लेने की।··· इससे अच्छे दिन और क्या होंगे ?··· और 'समारोह' ?··· वह तो एक ही समारोह जानती है··· जब

कभी वे लोग किसी बड़े पशु अथवा मनुष्य का आखेट कर लाते थे, तो मदिरा के साथ उसके भक्षण का समारोह होता था।···किंतु ये लोग तो न मदिरा पीते हैं, न नर-मांस खाते हैं···जाने इनका समारोह कैसा होता होगा···

तभी वृकोदर कुटीर में आया।

"कैसी हो सालकटंकटी ?"

"प्रसन्न हूँ।" हिडिंबा धीरे से बोली और उसकी दृष्टि घटोत्कच पर टिक गयी, जैसे अपनी सृजनशीलता पर गर्व कर रही हो।

वृकोदर आगे बढ़ आया। उसने हिडिंबा के माथे पर हाथ रखा, जैसे उसका ताप देख रहा हो; और फिर स्नेह से उसके रूखे केशों में अंगुलियाँ फिराने लगा।

"इसे प्यार करो !" हिडिंबा ने घटोत्कच की ओर संकेत किया और फिर जैसे स्वयं ही झेंप गयी : पता नहीं उसने ऐसा आग्रह क्यों किया था !

वृकोदर ने शिशु को स्नेह-भरी दृष्टि से देखा और फिर उसके मुंड पर हाथ फिराकर बुदबुदाया, "घटोत्कच !"

"तुम कुछ उदास हो।" हिडिंबा बोली, "पुत्र-जन्म से प्रसन्न नहीं हो ?"

"प्रसन्न हूँ। बहुत प्रसन्न !" मध्यम जैसे सायास हँसा, "किंतु सोचता हूँ कि क्या तुम्हें स्मरण है कि हमारा संग पुत्र-जन्म तक ही है ?"

"मुझे स्मरण है !"

"क्या तुम इससे प्रसन्न हो ?" वृकोदर का स्वर भावुक था, "क्या तुम नहीं चाहतीं कि हम इसके पश्चात् भी साथ रहें ?"

हिडिंबा ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया; फिर जैसे अत्यंत संकोच के साथ बोली, "मैं नहीं जानती कि मैं क्या चाहती हूँ।"

"क्या मेरे प्रति तुम्हारा आकर्षण समाप्त हो गया है ?"

हिडिंबा उसके चेहरे को निहारती रही, फिर अत्यंत मंद स्वर में जैसे अपने-आपसे बोली, "अब तुम मेरे लिए भोग की वस्तु नहीं हो, प्रेम के पात्र हो ! अब मै अपने सुख के लिए नहीं, तुम्हारी प्रसन्नता के लिए तुम्हारे साथ रहना चाहूँगी।···"

"तुम जानती हो, अब हम यहाँ नहीं रहेंगे।" वृकोदर बोला, "मेरे भाई तो बहुत पहले ही यहाँ से चल पड़ना चाहते थे; किंतु हम लोग घटोत्कच के जन्म के लिए रुके हुए थे।"

"जानती हूँ।"

"अब हम किसी भी दिन प्रस्थान कर सकते हैं।" वृकोदर बोला, "क्या तुम हमारे साथ चलना चाहोगी ?"

हिडिंबा चिंतामग्न हो गयी : आज तक तो उसने, कभी यह सोचा ही नहीं था। वह तो यही मानकर बैठी थी कि संतान के जन्म के पश्चात् वे लोग उसे यहीं छोड़कर चले जायेंगे। उसके लिए न वह दुखी थी और न ही वह उन्हें दोषी ठहराती थी—उनका तो अनुबंध यही था।··· और आज यह पुरुष—उसका आकांक्ष्य पुरुष—उसका प्रिय, उसका प्रेमी··· उससे पूछ रहा था कि क्या वह उसके साथ चलना चाहती थी ?···हिडिंबा को लगा कि वह सहसा ही अत्यधिक प्रसन्न हो उठी है। इतनी प्रसन्न, जितनी वह पहले कभी नहीं हुई थी।···किंतु साथ-ही-साथ वह कुछ भयभीत भी हो उठी थी।···इस पुरुष के जिस पक्ष को वह जानती थी,

वह उसे बहुत प्रिय था···और इस पुरुष के विषय में जो कुछ वह नहीं जानती थी, वह सब उसके लिए उत्सुकता और जिज्ञासा का नहीं, आशंका और भय का विषय था···

"क्या हमारे साथ चलना चाहोगी ?" वृकोदर ने पुनः पूछा।

किंतु हिडिंबा ने सीधा उत्तर नहीं दिया, "तुम लोग कहाँ जाओगे ?"

"मैं स्वयं नहीं जानता !"

"तुम लोग कौन हो ?"··· और हिडिंबा स्वयं ही संकुचित हो उठी, "मुझे यह नहीं पूछना चाहिए था न ?"

"अनुबंध के अनुसार तो तुम्हें नहीं पूछना चाहिए था; किंतु मेरी पत्नी के रूप में तुम्हें यह जानने का अधिकार है।" वृकोदर ने कहा।

"क्या मुझे बताओगे ?" हिडिंबा के चेहरे पर प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी।

"यदि मैं तुम्हें बता दूँ तो क्या तुम हमारी गोपनीयता की रक्षा कर सकोगी ?"

"अवश्य !" हिडिंबा पूर्ण दृढ़ता से बोली।

"मैं जानता था।" वृकोदर बोला, "और यदि यह केवल मेरा ही रहस्य होता तो मैं तुम्हें बता ही देता; किंतु यह केवल मेरा—मुझ अकेले का रहस्य नहीं है। यदि मैं अपने विषय में बताता हूँ तो मेरे भाइयों के व्यक्तित्व की गोपनीयता भी भंग होती है। इसलिए यदि तुम गोपनीयता की शपथ लो तो मैं तुम्हें कुछ संकेत अवश्य दे सकता हूँ।"

"मुझे बताओ !" हिडिंबा में विकट उत्सुकता जाग्रत् हो गयी थी, "मैं इतना तो जानूँ कि मेरा पुत्र किसकी संतान है।···"

"तुम इतना जान लो सालकटंकटी," वृकोदर बोला, "कि हम वनवासी ब्राह्मण नहीं हैं।"

"तो कौन हो तुम लोग ?"

"हम लोग एक प्रसिद्ध राजपरिवार से संबंधित हैं।" वृकोदर बोला, "संकट के कारण, अपना परिचय छिपाए हुए हैं। उपयुक्त समय पर स्वयं प्रकट करेंगे।"

"तुम लोग आर्यों के राजपरिवार से संबंधित हो ? मेरा घटोत्कच आर्य राजकुमार है ?"

"हाँ, सालकटंकटी !" वृकोदर धीरे से बोला, "अब इससे अधिक मत पूछना। बता नहीं पाऊँगा।"

"तो तुम लोग वनों में नहीं रहोगे ? नगरों में जाओगे और राजप्रासादों में रहोगे ? वहाँ बहुत भीड़ होगी ?"

"हाँ प्रिये !" वृकोदर बोला, "अभी कह नहीं सकता कि कहाँ- कहाँ जायेंगे; किंतु इतना अवश्य सत्य है कि जब कभी संभव हुआ, हम अपनी राजधानी में लौटेंगे, अपने राजप्रासाद में रहेंगे।···"

हिडिंबा वृकोदर को देखती रही; किंतु कुछ बोली नहीं।

"क्या देख रही हो ?" वृकोदर ने हँसकर उसका ध्यान भंग किया।

"मुझे पहले ही दिन लगा था कि तुम कोई राजकुमार हो।"

वृकोदर उच्च स्वर में हँसा, "राजकुमार ही क्यों लगा, राजाधिराज क्यों नहीं लगा ?"

हिडिंबा ने उसकी हँसी की ओर ध्यान नहीं दिया; वह अपने उत्साह में बोली, "यदि तुम मेरे साथ यहीं हिडिंबवन में रह जाओ तो तुम यहाँ के राजाधिराज नृप वृकोदर होगे और मेरा पुत्र युवराज घटोत्कच।···"

"तुम हमारे साथ क्यों नहीं चलतीं ?" वृकोदर बोला, "मैं अपने भाइयों को मनाने का प्रयत्न करूँगा।..."

"यदि अपने ही विषय में सोचूँ तो कदाचित् सब कुछ छोड़-छाड़कर तुम्हारे साथ चल भी पड़ूँ; किंतु अब तो मुझे अपने पुत्र के विषय में भी सोचना है।" हिडिंबा बोली, "मेरा पुत्र घटोत्कच इस वन का राजा है—राक्षसराज घटोत्कच ! यदि मैं तुम्हारे साथ चलूँ तो क्या वह राजा बन पायेगा ?" और वह स्वयं ही बोली, "कदाचित् वह आर्य राजकुमार न ही बन पाये। मैं न आर्य रानी बन पाऊँगी और न राजमाता।..." वह रुकी, "और वैसे भी तुम मध्यम हो वृकोदर ! ज्येष्ठ नहीं। राज्य का अधिकार ज्येष्ठ का होता है।" वह जैसे गहरी चिंता में लीन हो गयी...

वृकोदर थोड़ी देर तक उसे देखता रहा और फिर बोला, "क्या सोच रही हो ?"

"अब मुझे अपना मार्ग दिख रहा है।" हिडिंबा के स्वर में उल्लास था, "मेरा स्थान यहीं है। मैं अपने पुत्र तथा अपने राज्य की रक्षा करूँगी। तुम अपने संकट-काल में, अपने भाइयों के साथ ही रहो। संकट-काल व्यतीत होने पर, अच्छे दिन आयें तो किसी आर्य राजकुमारी से विवाह कर लेना।... मेरी आवश्यकता हो तो मैं यहीं मिलूँगी।... मैं यहीं तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगी।..."

वृकोदर कुछ नहीं बोला। वह चुपचाप उसे देखता रहा। वह मन ही-मन कहीं जानता था कि घटनाओं का कदाचित् यही क्रम होगा।...

थोड़ी देर के पश्चात् हिडिंबा स्वयं ही बोली, "तुम लोग मुझे यहीं छोड़कर चले जाओ, यह मुझे अच्छा नहीं लगेगा। माता की अनुमति मिलते ही मैं घटोत्कच को लेकर उत्तर दिशा में अपने संबंधियों के निकट चली जाऊँगी, ताकि तुम लोग निश्चिंत भाव से प्रस्थान कर सको।..." और रुकते-रुकते उसने जोड़ा, "मुझे भूलना मत ! मुझसे संपर्क बनाये रखना...और संकट-काल में किसी सहायता की आवश्यकता हो तो संकोच मत करना...। वचन दो कि ऐसा ही करोगे ?"

"वचन देता हूँ।" वृकोदर बोला, "किंतु एक वचन तुम भी दो।"

"बोलो !"

"मेरे पुत्र को नर-भक्षी राक्षस नहीं बनाओगी; उसे योद्धा बनाओगी, योद्धा ! हिंस्र वनवासी नहीं, क्षत्रिय राजकुमार !"

"यथाशक्ति यही करूँगी—वचन देती हूँ !"

22

"पुत्र युधिष्ठिर ! क्या अब हमें यहाँ से चल नहीं देना चाहिए ?" कुंती ने पूछा, "अब तो सालकटंकटी भी अपने पुत्र को लेकर चली गयी है।"

"हाँ माँ ! अब यहाँ और रुकने का क्या प्रयोजन !" अर्जुन बोला, "हम यहाँ किसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ? फिर कहीं कोई हिडिंबा आ गयी, तो हम फिर वर्ष भर के लिए रुक जायेंगे।..."

"अब कोई हिडिंबा आयी तो उसे तेरे ही गले में बाँध दूँगी।" कुंती बोली, "वह राक्षसी थी और काम-मोहित थी; किंतु मन की भली थी।"

"अर्जुन ! तुम यहाँ से चलने को बहुत व्यग्र हो," युधिष्ठिर बोला, "और मैं तुम्हारी व्याकुलता समझता भी हूँ; किंतु क्या तुमने कभी सोचा भी है कि यहाँ से चलकर हम कहाँ जायेंगे ?"

"कहीं भी ! यहाँ से तो निकलें !"

"यदि लक्ष्य स्वयं को छिपाये रखना मात्र हो, अथवा हस्तिनापुर को भूल कर साधारण जन के रूप में एक नया जीवन आरंभ करना हो, तो कोई विशेष कठिनाई नहीं है। हम हस्तिनापुर से कहीं दूर भी जा सकते हैं, आर्यावर्त से भी कहीं दूर घने वनों में अज्ञात जीवन व्यतीत कर सकते हैं; किंतु यदि हमें हस्तिनापुर की राजनीति पर दृष्टि रखनी है और स्वयं को प्रकट करने का अवसर ढूँढ़ना है, तो हम न तो हस्तिनापुर राज्य के भीतर जा सकते हैं; और न उससे दूर ! ऐसी स्थिति में हमें आर्यावर्त के विभिन्न राजनीतिक केंद्रों के निकट भी रहना पड़ेगा और उनके लिए अदृश्य भी बने रहना होगा।"

"एक बात और..." भीम बोला, "तुम यहाँ से निकलने को कितने ही व्याकुल क्यों न हो, किंतु जब तक हम स्वयं को प्रकट करने का निश्चय नहीं करते, तब तक तुम धनुष-बाण का अभ्यास नहीं कर सकते। हाथ में धनुष लेते ही तुम्हें पहचानने में किसी को कोई कठिनाई नहीं होगी।"

"फिर भी पुत्र ! तुम जाकर कुलपति से मिलो; और उनसे कहो कि हम आश्रम त्यागकर जाना चाहते हैं। देखो, वे क्या परामर्श देते हैं।" कुंती बोली।

"अच्छा, माँ !"

मुनि शालिहोत्र के कुटीर के पास आज अन्य दिनों के समान, न तो ज्ञान-पिपासु तपस्वी एकत्रित थे और न ही कुलपति उनकी शंकाओं का समाधान कर रहे थे। आज वातावरण पर्याप्त बदला हुआ था। मुनि के अनेक शिष्य वहाँ उपस्थित तो थे; किंतु वे लोग अपने गुरु से ज्ञान-चर्चा करने के स्थान पर किसी बड़े आयोजन की व्यवस्था में लगे हुए थे।

"क्या बात है ब्रह्मचारी ! कोई विशेष आयोजन ?" युधिष्ठिर ने एक ब्रह्मचारी से पूछा, जो कदाचित् गुरु की किसी आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहा था।

"महामुनि कृष्ण द्वैपायन पराशरनंदन वेदव्यास आश्रम में पधार रहे हैं।" उसने इस प्रकार कहा, जैसे अपनी विकट व्यस्तता के मध्य से, बड़ी कठिनाई से युधिष्ठिर के प्रश्न का उत्तर देने का समय निकाल पाया हो।

युधिष्ठिर का हृदय क्षण-भर के लिए जैसे स्तब्ध रह गया...कृष्ण द्वैपायन व्यास... अगले ही क्षण युधिष्ठिर पलटकर अपने कुटीर की ओर चल पड़ा। उसने न मुनि शालिहोत्र की प्रतीक्षा की और न ही उनसे मिलना आवश्यक समझा...

कुंती उसे देखते ही समझ गयी कि अपने सारे संयम तथा अचंचल प्रज्ञा के होते हुए भी इस समय युधिष्ठिर बहुत विचलित था।

"क्या बात है पुत्र ?"

"माँ ! आश्रम में महामुनि वेद व्यास पधार रहे हैं।..."

"तो इसमें इस प्रकार विचलित होने का क्या कारण है ?" कुंती ने सहज भाव से कहा,

"वे हमारे शत्रु नहीं हैं।"

युधिष्ठिर के चेहरे का भाव कुछ परिवर्तित हुआ : उसने इस रूप में तो सोचा ही नहीं था।

"हाँ, माँ ! वे हमारे शत्रु नहीं हैं; किंतु वे हमें पहचानते तो हैं।" युधिष्ठिर धीरे से बोला, "यदि हम यहाँ टिके रहे तो वारणावत से चलने के पश्चात् आज पहली बार किसी ऐसे व्यक्ति से साक्षात्कार होगा, जो जानता है कि हम कौन हैं।"

"तो तुम्हें आशंका किस बात की है ?" कुंती का स्वर अब भी शांत था।

"मुझे आशंका उनसे नहीं है; किंतु उनके माध्यम से हमारे जीवित होने तथा यहाँ वर्तमान होने का समाचार कहीं भी पहुँच सकता है—दुर्योधन तक भी !" युधिष्ठिर बोला।

कुंती ने तत्काल उत्तर नहीं दिया : युधिष्ठिर की आशंका सर्वथा निर्मूल तो नहीं थी।

"किंतु भैया ! उनके माध्यम से हमें भी तो सारे आर्यावर्त का समाचार मिल सकता है।" सहदेव बोला, "हमें भी तो समाचारों की आवश्यकता है। हमें भी तो मालूम होना चाहिए कि हमारी तथाकथित मृत्यु के विषय में हस्तिनापुर तथा आर्यावर्त की अन्य राजधानियों में लोग क्या सोचते और समझते हैं। हमारी हत्या के विषय में लोगों की क्या धारणा है।... हमारे प्रकट होने के लिए उपयुक्त अवसर तथा स्थान कहाँ है ?..."

"सहदेव ठीक कह रहा है भैया !" भीम बोला, "यदि हम सारे संसार से असंपृक्त हो, इन सघन वनों में अज्ञातवास करते रहे, तो हमें यह ज्ञात कैसे होगा कि हमें नागरिक जीवन में कब लौटना है !"

"और यह भी तो संभव है भैया, कि वे हमारे रहस्य को रहस्य ही बनाये रखें !" अर्जुन ने कहा।

युधिष्ठिर ने सबके विचार धैर्यपूर्वक सुने और बोला, "इन सब दृष्टियों से तो न केवल हमें यहाँ टिके रहना चाहिए, वरन् उनसे मिलना भी चाहिए और स्वयं को उनके सम्मुख प्रकट भी कर देना चाहिए; किंतु..." उसने रुककर सबकी ओर देखा, "किंतु मेरी एक ही आशंका है—यदि अपने वैराग्यपूर्ण दृष्टिकोण के कारण, वे हमारे प्रति तटस्थ ही हुए, अथवा हमारा रहस्य उनको उतना गोपनीय नहीं लगा और उनके माध्यम से हमारा रहस्य इस वन के बाहर, नागरिक जीवन में प्रचारित होकर, दुर्योधन के कानों तक जा पहुँचा तो ?..."

"तुम्हारा ज्येष्ठ भी ठीक ही कह रहा है पुत्रो !" इस बार कुंती ने युधिष्ठिर का समर्थन किया, "हम ऐसी अवस्था में नहीं हैं कि किसी भी संभावना की उपेक्षा कर सकें। इसलिए यदि हम उनके यहाँ आने से लाभ उठाना चाहते हैं, तो हानि का जोखम मोल लेने के लिए भी तैयार रहना होगा।"

"वैसे भी माँ ! अब हमारे पास यहाँ से अज्ञात रूप से निकल जाने का अवसर कहाँ है !" नकुल बोला, "यदि हम उनसे मिले बिना तत्काल निकल चलें, तो भी आश्रमवासियों का ध्यान हमारे इस प्रकार रहस्यपूर्ण ढंग से लुप्त हो जाने पर अवश्य जायेगा। संभवतः हमारे विषय में अनेक दुष्कल्पनाएँ की जायें और गर्हित रूप में हमारी चर्चा की जाये। तब हमारे रूप-रंग, आकृति-प्रकृति, स्वभाव-चिंतन तथा परस्पर संबंधों का संदिग्ध चरित्रों के रूप में वर्णन किया जायेगा। ऐसी स्थिति में हमें जानने वाले व्यक्ति के लिए उस वर्णन से हमें पहचान लेना तनिक भी कठिन नहीं होगा।"

युधिष्ठिर ने कोई उत्तर नहीं दिया; किंतु उसकी मुद्रा कह रही थी कि वह नकुल से प्रायः

सहमत ही है। चारों भाई युधिष्ठिर को देख रहे थे : क्या विचार है ज्येष्ठ का ?…

अंततः युधिष्ठिर ही बोला, "मेरा विचार है कि हमारे यहाँ से चुपचाप सुरक्षित निकल जाने का अवसर बीत चुका है। अब हमें कम-से-कम महर्षि के आश्रम से प्रस्थान करने तक निष्क्रिय भाव से यहीं रुके रहना चाहिए। जो विधाता की इच्छा होगी, वह होकर रहेगा।…"

"किंतु इतना तो हमें ही निश्चय करना है भैया, कि हमें उनकी उपस्थिति में उनके सम्मुख जाना है या नहीं; और यदि जाना है तो स्वयं को प्रकट करना है या नहीं।" अर्जुन बोला।

"महर्षि आश्रम में आयें और हम उन्हें प्रणाम करने भी न जायें, यह उनकी अवज्ञा होगी। पुज्यपूजन न करना अधर्म है।" युधिष्ठिर बोला, "प्रणाम करने तो हमें जाना ही चाहिए।"

"प्रणाम तो हम अज्ञात वनवासियों के रूप में भी कर सकते हैं।" सहदेव बोला, "आवश्यक तो नहीं कि ऐसे अवसर पर हम अपना परिचय भी दें।"

"सहदेव ठीक कहता है।" कुंती ने कुछ आतुरता से कहा, "इस विधि से हम पूज्य की पूजा न करने के अपराधी भी नहीं होंगे और स्वयं के प्रकट होने के जोखम से भी बच जायेंगे।…"

महर्षि वेद व्यास उच्च स्थान पर मृगचर्म का आसन बिछाए, बैठे हुए थे। उनसे कुछ हटकर मुनि शालिहोत्र अपने आसन पर विराजमान थे। आश्रम के अंतेवासी एक-एक कर महर्षि को प्रणाम कर, अपना सम्मान प्रकट कर, उनके सम्मुख भूमि पर बैठते जा रहे थे।

युधिष्ठिर के मन में हल्की-सी उत्तेजना थी : ऋषि उन्हें पहचान जायेंगे तो उन्हें आश्चर्य नहीं होगा कि युधिष्ठिर और उसके भाई उनसे अपरिचितों का सा व्यवहार कर रहे हैं। क्या उन्हें यह नहीं लगेगा कि वे लोग उनकी अवज्ञा कर रहे हैं।…और सहसा युधिष्ठिर के मन में आया कि यह सब होने से पहले तो उन्हें आश्चर्य इस बात का होगा कि वे लोग जीवित हैं… और जीवित होते हुए भी वे लोग हस्तिनापुर न जाकर यहाँ अज्ञातवास कर रहे हैं।… और इस आश्चर्य का परिणाम ?…युधिष्ठिर का मन किसी भी प्रकार यह मानने को तैयार नहीं था कि महर्षि उनके जीवित और यहाँ वर्तमान होने की सूचना हस्तिनापुर पहुँचाकर, उनका अनिष्ट कर सकते हैं; किंतु यह तो संभव था ही कि अजाने ही उनके माध्यम से पांडवों का रहस्य कहीं और पहुँच जाये और उनका संकट फिर से बढ़ जाये…

कुंती और पाँचों पांडव, प्रणाम करने वालों के उस समूह का अंग बनकर खड़े हो गये। कुंती सावधान थी कि यदि ऋषि उन्हें पहचान भी जायें, तो भी अन्य उपस्थित लोगों को यह आभास न हो पाये कि वे लोग छद्म वेश में यहाँ रह रहे हैं।…किंतु यदि पहचान जाने के पश्चात् ऋषि ने ही पूछ लिया कि वह अपने पुत्रों को लेकर, उनके आश्रम में क्यों नहीं आ गयी ?…तो क्या उत्तर देगी वह ? क्या वह उनसे कह सकेगी कि वह उनका भी विश्वास नहीं कर पायी ?…

उनके आगे के ही नहीं, पीछे के भी अनेक लोग, महर्षि को प्रणाम कर बैठ चुके थे। लोगों में व्याकुल उत्साह था कि वे शीघ्रातिशीघ्र प्रणाम कर बैठ जायें और ऋषि के शब्दों का अमृतपान करें। किंतु न केवल, पांडव में यह उत्साह नहीं था, वे सायास विलंब भी करते जा रहे थे।…

अततः उनकी बारी आ गयी। अब उनके अतिरिक्त बहुत थोड़े लोग बचे थे; और वे भी

किसी विशेष जल्दी में नहीं थे। कदाचित् उनमें भी इस कार्य के लिए कोई विशेष उत्साह नहीं था; वे शिष्टाचारवश ही अभ्यागत ऋषि को प्रणाम करने आये थे। ऐसे में यदि पांडव सायास और विलंब करते तो वह अलक्षित नहीं रहता।

युधिष्ठिर आगे बढ़ा। उसने बिना मुख से कुछ कहे, महर्षि के चरण छुए। ऋषि ने आशीर्वाद की मुद्रा में अपना हाथ उठाया···किंतु तभी युधिष्ठिर ने लक्ष्य किया कि ऋषि की दृष्टि उसके आनन पर तप रही थी। वे उसे ध्यान से देख रहे थे; किंतु अगले ही क्षण जैसे वे सहज हो गये, "आश्रम में नये आये लगते हो पुत्र !"

युधिष्ठिर ने कुछ नहीं कहा। हाथ जोड़कर स्वीकृति में सिर झुका दिया।

"जटाएँ भी पूर्णरूपेण जमी नहीं हैं।" ऋषि पुनः बोले, "ऐसे तो तुम नगर में वनवासी और आश्रम में नागरिक लगोगे।"

युधिष्ठिर मौन ही रहा। कदाचित् ऋषि ने उसे पहचान लिया था।···किंतु यदि पहचान लिया था, तो वे इसका भेद प्रकट नहीं करना चाहते थे। संभवतः वे उसे संकेत दे रहे थे कि यदि उसे वनवासी के छद्म वेश में ही रहना था, तो उसे जटाएँ जमा लेनी चाहिए।···क्या है ऋषि के मन में ?···यदि उन्होंने उसे पहचान लिया है, तो उन्हें आश्चर्य क्यों नहीं हुआ ?···तो क्या उन्हें सूचना थी कि पांडव अभी जीवित हैं···?

भीम ने प्रणाम किया तो ऋषि बोले, "इस मांगलिक वेश में तुम गृहस्थ अधिक लगते हो पुत्र ! वनवासी कम। वनवासी को अपने रूप का मोह त्याग देना चाहिए।"

अर्जुन, नकुल तथा सहदेव को उन्होंने कुछ कहा नहीं; अन्य आश्रमवासियों के ही समान केवल हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया।

कुंती को आशीर्वाद देते हुए उन्होंने कहा, "तुम्हारा पुत्र धर्म में प्रवृत्त हो। धर्म तुम्हारी रक्षा करे।"

सब लोग प्रणाम कर बैठ गये तो मुनि शालिहोत्र ने कहा, "इस बार इस दिशा में आप दीर्घ अंतराल के पश्चात् पधारे हैं ऋषिवर ! कोई विशेष प्रयोजन ?"

व्यास मुस्कराए, और उनके श्यामल वर्ण पर भी उनके श्वेत दाँतों की आभा व्याप्त गयी, "मेरा तो एक ही प्रयोजन है।"

"वह क्या है ऋषिवर ?"

"मृत्यु के पश्चात् के जीवन की खोज !"

युधिष्ठिर की दृष्टि पहले महर्षि पर अटकी और फिर अपने भाइयों की ओर चली गयी। क्या सोच रहे हैं वे लोग ? क्या वे भी सोच रहे हैं कि ऋषि का संकेत उन्हें ही खोजने की ओर है ?···मृत्यु के पश्चात् का जीवन···

"क्या ऋषिवर को आत्मा की अमरता में संदेह उपजा है ?" मुनि शालिहोत्र ने पूछा।

"नहीं मुनिश्रेष्ठ ! आत्मा की अमरता में संदेह नहीं उपजा। इस बार मैं उसे साक्षात् देखने निकला हूँ।" व्यास बोले, "आत्मा देखी नहीं जा सकती; दिखता तो शरीर ही है। मैं देखने निकला हूँ कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा ने कैसा शरीर धारण कर रखा है।···"

शालिहोत्र के चेहरे पर पहले आश्चर्य और फिर स्तब्धता के भाव आये; और अनायास ही उनके मुख से निकला, "यह तो कोई विचित्र ही प्रयोग है।···" उन्होंने स्वयं को संयत किया और बोले, "यदि ऐसी कोई आत्मा सामने आयी तो क्या आप उसे पहचान पायेंगे ?"

"विश्वास तो यही है कि प्रयत्न करूँगा तो पहचान ही लूँगा ।" ऋषि के चेहरे पर एक आकर्षक मुस्कान थी, "आत्मा को जो भी कलेवर मिलेगा, वह उसके अनुकूल ही तो मिलेगा । यदि मैं आत्मा को पहचानता हूँ तो कलेवर को भी पहचान लूँगा ।…"

"आप धन्य हैं मुनिवर !" मुनि शालिहोत्र बोले ।

किंतु युधिष्ठिर सोच रहा था कि क्या महर्षि, मुनि शालिहोत्र के प्रश्नों का उत्तर दे रहे हैं, या उसे संकेत दे रहे हैं कि वे पांडवों की खोज में निकले हैं…मृत्यु के पश्चात् का जीवन… क्या वे लाक्षागृह में जल जाने वाले पांडवों को खोजने निकले हैं ? वे कह रहे हैं कि यदि वे आत्मा को पहचानते हैं, तो उसके कलेवर को भी पहचान लेंगे ।…कलेवर से उनका तात्पर्य पांडवों के छद्मवेश से है ?…यदि महर्षि ने उन्हें पहचान लिया है…और पहचानकर भी कोई आश्चर्य प्रकट नहीं किया है, तो इसका अर्थ हुआ कि वे चाहते हैं कि पांडवों का भ्रम बना रहे…और सहसा युधिष्ठिर के मन में जैसे विद्युत् कौंध गयी…वह अब तक क्यों समझ नहीं पाया कि विदुर काका ने महर्षि से कोई भी बात छिपायी नहीं होगी !…महर्षि निश्चित रूप से उनका रहस्य जानते हैं । यही कारण है कि वे उन्हें खोजने निकले हैं…मृत्यु के पश्चात् आत्मा कौन- सा कलेवर धारण करती है…पांडव किस वेश में हैं ?…

और युधिष्ठिर जैसे विदुर की बुद्धि पर मुग्ध हो उठा ।…अकेले काका विदुर ही जानते थे कि वे लोग जीवित हैं । वे ही जानते थे कि वे किस दिशा में गये हैं । पांडवों को खोजने और उनसे संपर्क करने का कार्य वे ही कर सकते थे ।…किंतु वे स्वयं आते कैसे ? स्वयं आते, अथवा अपने किसी विश्वसनीय जन को भेजते तो हस्तिनापुर में वह बात गोपनीय नहीं रह सकती थी ।… इसलिए उन्होंने चुना इस वयोवृद्ध, सर्वसम्मान्य, सदा के परिभ्रामी, यायावर ऋषि को, जिनके विषय में किसी को यह भी ज्ञात न हो कि वे आजकल कहाँ हैं ! कहीं एकांत में तपस्या कर रहे हैं, अथवा तीर्थ पर गये हैं !…उनके आश्रम से अनुपस्थित रहने को तनिक भी महत्व नहीं दिया जायेगा ।…और…और…यह वह ऋषि, जिसका प्रभाव- क्षेत्र आर्यावर्त्त में ही नहीं, सारे जंबूद्वीप में है । ऋषियों के आश्रमों तथा एकांत में तपस्या करने वाले साधकों के रूप में उन्हें कहीं भी सहायक मिल जाते हैं । उनका आवागमन कहीं भी अवरुद्ध नहीं होता; उन्हें कहीं आश्रम तथा सहायकों का अभाव नहीं होता…यह सब, युधिष्ठिर ने पहले क्यों नहीं सोचा ?…

इसका अर्थ है कि वह क्षण आ गया है, जब पांडवों को प्रकट होने का प्रयत्न करना है । वेद- व्यास उन मृतकों के लिए जीवन का संदेश लाये हैं, कदाचित् उन्हें इस मृतक- लोक से बाहर निकालने के लिए आये हैं ।…

"पूज्यपाद !" युधिष्ठिर के मन में एक विचित्र उत्साह भर आया, "आप सिद्ध ऋषि हैं । आप आत्मा को पहचानते हैं, अतः उसके कलेवर को भी पहचान लेंगे; किंतु हम जैसे अज्ञानी साधक, यदि अपनी आत्मा का साक्षात्कार करना चाहें तो क्या करें ?…"

"आत्मसाक्षात्कार, आश्रमों की सामूहिक साधना में नहीं, एकांत तपस्या में होता है पुत्र !" व्यास तत्काल बोले, "इसलिए यदि आत्मसाक्षात्कार करना चाहते हो, तो एकाकी भ्रमण करो, एकांत- तपस्या करो । समाज में घिरे रहोगे तो दिव्य संदेश तुम तक कैसे पहुँचेगा ! शाश्वत जीवन का संदेश तो तुम तक तभी पहुँच सकेगा, जब तुम होगे और तुम्हारा ईश्वर होगा ।…"

युधिष्ठिर ने हाथ जोड़कर सिर झुकाया और फिर साष्टांग दंडवत प्रणाम कर बोला, "मैं

समझ गया प्रभु ! आपकी आज्ञा का पालन होगा ।...”

“आप क्या समझे भैया !” कुटीर में पहुँचने पर भीम ने पूछा ।

“तुम्हारी समझ में नहीं आया ?” युधिष्ठिर ने हँसकर कहा, “पितामह ने हमें यह आश्रम छोड़कर एकांत में रहने का निर्देश किया है, ताकि वहाँ वे हमें विदुर काका का संदेश दे सकें ।”

“उनकी बातों का यह अर्थ भी हो सकता है,” भीम ने स्वीकार किया, “यदि उन्होंने हमें पहचान लिया हो । आपके पास क्या प्रमाण है कि उन्होंने हमें पहचान ही लिया है ?”

“मेरा अनुमान है कि ज्येष्ठ ठीक कह रहे हैं । पितामह ने न केवल हमें पहचान लिया है, वरन् वे हमें यहाँ से हटकर कहीं एकांत में रहने का संकेत भी दे रहे हैं ।” अर्जुन बोला, “मेरा विचार है कि हमें तत्काल यहाँ से चल देना चाहिए ।”

“तुम तो बहुत दिनों से यहाँ से तत्काल चल देने को तैयार बैठे हो ।” भीम कुछ झल्लाकर बोला, “तुम्हें तो हवा के चलने में भी यही संकेत मिलता है कि यहाँ से चल पड़ो ।”

“तो अब यहाँ से चलने में बाधा भी क्या है ?” अर्जुन बोला, “घटोत्कच का जन्म तो हो चुका । हिडिंबा चली गयी । अब आप उसके पुनः लौट आने की प्रतीक्षा करना चाहें तो बात और है ।”

“अर्जुन !” भीम के कुछ कहने से पूर्व ही कुंती बोली, “भीम के घाव में खरोंच मत लगाओ ।”

“कहने दो माँ ! इसे, जो कुछ यह कहना चाहता है ।” भीम ने अपने धैर्य का परिचय दिया, “यदि मैं अपनी पत्नी से पुनः मिलने की प्रतीक्षा करूँ भी, तो उसमें अनुचित क्या है !” वह रुककर बोला, “मैं यह कह रहा था, कि यदि हमने महर्षि के वाक्यों को समझने में तनिक भी भूल की तो हमें और अधिक भटकना पड़ जायेगा ।”

“कैसे ?” सहदेव ने पूछा ।

“यदि हम ज्येष्ठ की यह बात मान लें कि महर्षि सचमुच ही हमसे संपर्क करने के उद्देश्य से, हमें खोजते- खोजते यहाँ तक आये हैं, तो फिर अब वे क्यों चाहेंगे कि हम पुनः वन में कहीं विलुप्त हो जायें और वे फिर से हमारी खोज में भटकना आरंभ कर दें ?” भीम बोला ।

“मध्यम का विचार ठीक है ।” सहदेव बोला, “यदि हम पितामह के वाक्य का तनिक भी भिन्न अर्थ करेंगे तो हमारा यह संपर्क पुनः टूट जायेगा; और हम फिर से पहले की- सी स्थिति में पहुँच जायेंगे ।”

“और यदि हम स्वयं निर्णय नहीं कर सकते कि हमें कब और कैसे हस्तिनापुर पहुँचना है, तो हमें उधर से आये निर्देशों को ही ग्रहण करना होगा ।” अर्जुन बोला, “यदि हाथ आया हुआ यह अवसर हमने गँवा दिया, तो पुनः जाने क्या स्थिति हो !”

“तो हम स्वयं को पितामह के सम्मुख प्रकट ही क्यों नहीं कर देते ?” नकुल ने पूछा, “उससे यह द्वंद्व तो मिट जायेगा ।”

युधिष्ठिर ने असहमति में सिर हिलाया, “यदि उन्होंने हमें पहचाना ही नहीं, तो हमारा सार्वजनिक रूप से प्रकट होना उचित नहीं है; और यदि उन्होंने हमें पहचानकर भी गोपनीयता बनाये रखी है, तो उसका भी कोई उद्देश्य होगा ।”

"तो ?" भीम ने पूछा ।

"तो ज्येष्ठ की बुद्धि पर विश्वास कर, उसके निश्चय को मान, यहाँ से चल पड़ो।" कुंती बोली, "हम इतना तो कर ही सकते हैं कि बहुत सघन और अज्ञात वनों में न जायें। हम ऋषियों के आश्रमों के मध्य कहीं मार्ग के निकट ही कुटीर बना सकते हैं, ताकि यदि महर्षि हम तक पहुँचना चाहें तो उन्हें अधिक कष्ट न हो।"

किसी ने भी कुंती से असहमति प्रकट नहीं की ।

23

कांपिल्य के राजपरिवार को आशीर्वाद देने के लिए धौम्य ऋषि राजप्रासाद में पधारे थे। उनका सत्कार हो चुका तो द्रुपद ने कहा, "ऋषिवर ! आपको ज्ञात होगा कि मेरी पुत्री कृष्णा ने कुरुवंश का नाश करने के लिए, यज्ञ-कुंड में से जन्म लिया है !"

"सुना है राजन् !"

"मेरा विचार है कि अब समय आ गया है कि मैं उसके विवाह के विषय में सोचूँ; और सोचूँ ही नहीं, कुछ उपक्रम भी करूँ।"

"शुभ विचार है राजन् ! विवाह-योग्य कन्या के पिता को चिंता होनी ही चाहिए।"

"किंतु···" द्रुपद मौन हो गये ।

धौम्य ने देखा : क्यों मौन है द्रुपद ? अपने विचारों को व्यवस्थित कर रहे हैं ? किसी द्वंद्व में हैं ?···या कोई गंभीर चिंता है उनके मन में ?

"क्या बात है राजन् !" धौम्य का स्वर अत्यंत मधुर तथा आत्मीय था, "कोई विशेष चिंता है क्या ?"

"चिंता ! हाँ, चिंता ही समझिए !" द्रुपद अपनी चिंता से मुक्त नहीं हो पा रहे थे ।

"क्या चिंता है महाराज ?" धौम्य का वाक्य प्रश्न के रूप में सांत्वना थी, आश्वासन था··· जैसे माता अपने व्याकुल पुत्र को अभय दे रही हो, ताकि पुत्र अपनी व्याकुलता का कारण बता सके !

द्रुपद ने भी जैसे अपने आहत अभिमान पर उस सांत्वना के लेप का अनुभव किया, "कृष्णा साधारण कन्या नहीं है ऋषिवर !" द्रुपद यथासंभव कोमल और मंद स्वर में बोले, "न मेरी महत्वाकांक्षा साधारण है कि मैं किसी भी कुलीन और सुशील वर को देखकर, अपनी कृष्णा का कन्यादान कर दूँ। मुझे तो···"

धौम्य प्रश्न-भरी दृष्टि से देखते रहे, और द्रुपद की बात पूरी होने की प्रतीक्षा करते रहे। वे कुछ बोले नहीं ।

"ऋषिवर ! मुझे आर्यावर्त्त का सर्वश्रेष्ठ वीर कृष्णा के पति के रूप में चाहिए।" द्रुपद ने रुककर धौम्य की ओर देखा, "मैंने शिखंडी के विवाह के माध्यम से अपने लिए शक्तिशाली मित्र प्राप्त करने का प्रयत्न किया था; किंतु किन्हीं भ्रमों और भ्रांतियों के कारण शिखंडी घर छोड़कर चला गया और उसके श्वसुर से मेरा उस आत्मीयता का संबंध ही स्थापित नहीं हो सका कि मैं उनसे कुरुओं के विरुद्ध अभियान मे सहायक होने की अपेक्षा करता।" वे क्षण-भर

रुके, "अब सोचता हूँ कि जो कार्य शिखंडी के विवाह के माध्यम से नहीं हो पाया, वह कृष्णा के विवाह के माध्यम से हो···"

"तो कठिनाई क्या है राजन् ?" धौम्य उद्वेलनशून्य स्वर में बोले, "मैं इसे कोई बड़ी समस्या नहीं मानता। प्रत्येक कन्या का पिता कन्यादान करने से पूर्व अपने मनोनुकूल वर का संधान करता है; और फिर उसके पास संदेश भिजवाता है।···"

"आप ठीक कह रहे हैं।" द्रुपद बोले, "किंतु मेरी कठिनाई यह है कि मेरा स्वाभिमान पर्याप्त आहत है। मैं जिस वीर का चयन करूँगा, उसने यदि मेरे प्रस्ताव का तिरस्कार कर दिया तो ?"

"तिरस्कार की संभावना तो कहीं भी, किसी भी स्थिति में हो सकती है राजन् !" धौम्य मुस्कराए, "जैसे आपको यह अधिकार है कि आप किसी भी वीर को स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकते हैं, वैसे ही उस वीर को भी यह अधिकार है।···"

"नहीं ! यह उस प्रकार की सामान्य बात नहीं है।" द्रुपद बोले।

"क्यों ?"

"क्योंकि यह सामान्य विवाह-प्रस्ताव नहीं है। पंचाल को कृष्णा के पति से कुछ अपेक्षाएँ हैं।" द्रुपद के स्वर में हल्का-सा आवेश था, "उसे ज्ञात होगा कि उसका चयन इसलिए किया गया कि वह द्रुपद को अपने अपमान का प्रतिशोध लेने में सहायता करे। उसे द्रोण को संरक्षण देने वाले कुरुओं से युद्ध करना होगा।···" द्रुपद ने धौम्य को एक विचित्र दृष्टि से देखा, "मैं जानता हूँ, कि वह यह भी समझ जायेगा कि यह प्रस्ताव नहीं, एक याचना है।···और···और···" द्रुपद जैसे उद्वेलित होकर अपने आसन से उठ खड़े हुए, "मैं अपने स्वाभिमान को याचना तक तो झुका लूँगा; किंतु उसका तिरस्कार···" द्रुपद ने झटके से धौम्य पर दृष्टि जमायी, "आप मेरे मन की व्यथा समझ रहे हैं ऋषिवर !"

"समझ रहा हूँ राजन् !" धौम्य का चेहरा गंभीर हो गया, "आपको अपने जामाता के रूप में आर्यावर्त्त का सर्वश्रेष्ठ वीर चाहिए। और वह वीर इसलिए नहीं चाहिए कि वह राजकुमारी को सुखी रख सके। वह इसलिए चाहिए कि वह आपकी प्रतिहिंसा का उपकरण बनकर कुरुओं का नाश करे !"

"आप ठीक समझे ऋषिवर ! मुझे ऐसा ही जामाता चाहिए; अन्यथा कृष्णा का यज्ञकुंड में से जन्म लेना व्यर्थ हो जायेगा।···"

धौम्य मौन हो गये, जैसे कुछ विचार कर रहे हों।

द्रुपद के लिए यह समय अत्यंत कष्टकर था। वे तत्काल सुनना चाहते थे कि धौम्य इस विषय में क्या सोचते हैं। क्या उनके पास कोई प्रस्ताव है, कोई समाधान है···

अतंतः धौम्य बोले, "क्या कुरु-पांचाल युद्ध अनिवार्य है ?"

"यदि द्रोण को हस्तिनापुर से निकाल दिया जाये, तो मुझे कुरुओं से कोई विरोध नहीं रह जायेगा।" द्रुपद रुककर बोले, "और यदि वे उसके हाथ-पैर बाँधकर, उसे लाकर मेरे चरणों में डाल दें, तो कदाचित् मैं उनसे पिछला सारा वैर भूलकर उनका मित्र भी हो सकता हूँ।···"

"यह प्रायः असंभव है राजन् !" धौम्य जैसे अपने-आपसे कह रहे थे, "द्रोण कुरु-राजकुमारों के गुरु हैं। दुर्योधन के अन्यतम साथी और मित्र अश्वत्थामा के पिता हैं। वे व्यवहारतः उनके महासेनापति और मांडलिक राजा हैं।···नहीं राजन् ! हस्तिनापुर में द्रोण की

जड़ें बहुत गहरी हैं; उन्हें वहाँ से उखाड़ा नहीं जा सकता।"

"खेत में पौधे की जड़ें गहरी हों और उसे उखाड़ा न जा सके तो खेत में आग लगानी पड़ती है ऋषिवर !" द्रुपद बोले, "मैं हस्तिनापुर में आग लगा दूँगा—कुरुवंश का नाश कर दूँगा।···"

"राजन् ! क्या आपने राजकुमारी के स्वयंवर के विषय में सोचा है ?" धौम्य ने द्रुपद के आवेश से सर्वथा अप्रभावित रहते हुए पूछा।

"स्वयंवर के विषय में मेरी धारणा बहुत अच्छी नहीं है।" द्रुपद बोले।

"क्यों ?" धौम्य ने आश्चर्य से उनकी ओर देखा।

"पहली बात तो यह है कि उसमें राजाओं की एक बड़ी संख्या एकत्रित हो जाती है। उसमें कुछ परस्पर मित्र होते हैं तो कुछ शत्रु भी होते हैं। स्वयंवरों में अधिकांशतः अपहरण और रक्तपात होता है। युद्धोन्माद से मत्त, उतने सारे क्षत्रिय राजाओं को नियंत्रित करना कठिन होता है; और यदि उन्हें नियंत्रित कर भी लिया जाये, तो अनेक मैत्रियाँ टूटकर शत्रुता में परिणत हो जाती हैं।" द्रुपद ने रुककर धौम्य को देखा, "और उससे भी बड़ी बात है महर्षि, कि मैं स्वयंवर का निमंत्रण भेज सकता हूँ, वीरों को उसमें सम्मिलित होने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। सामान्यतः जिस वीर को मैं अपना जामाता बनाना चाहूँगा, वह तो उसमें आयेगा नहीं; और अयोग्य, दंभी, पापी, अधर्मी राजाओं की भीड़ लग जायेगी। ऐसे में यदि कृष्णा उनमें से किसी का वरण नहीं करेगी, तो मुझे उन सबके सम्मिलित कोप का भाजन बनना पड़ेगा।···और ऋषिवर !" द्रुपद ने जैसे अपनी बात को पुनः कहना आरंभ किया, "पांचालों में बहुपतित्व की प्रथा भी रही है। अनेक स्थानों में आज भी यह प्रचलित है। यद्यपि हम उसका क्रमशः त्याग कर रहे हैं; किंतु अभी हम उसे अधर्म नहीं मानते। आर्यावर्त्त के क्षत्रियों के अनेक समुदायों ने उसे सर्वथा त्याग दिया है। ऐसे क्षत्रिय संभवतः स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए कांपिल्य न आयें···।"

धौम्य फिर से एक बार चिंतनलीन हो गये।

"राजन् !" अंततः वे बोले, "आप अपने जामाता के रूप में आर्यावर्त्त के सर्वश्रेष्ठ वीर की कामना कर रहे हैं।···तो क्या आपने अपनी पुत्री को वीर्यशुल्का घोषित करने के विषय में भी सोचा है ? आप जानते ही हैं कि वीर्यशुल्का के स्वयंवर में न रीति और परंपरा का विचार होता है, न मैत्री और शत्रुता का। उसमें निमंत्रण की भी अपेक्षा नहीं होती। उसमें न कोई आपसे विरोध कर सकता है, और न कोई आपसे रुष्ट ही हो सकता है कि आपने किसे आमंत्रित किया, किसे नहीं किया। उसमें तो प्रतियोगी अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए स्वेच्छा से आयेंगे; और आपको अपनी इच्छानुकूल जामाता प्राप्त होगा।"

द्रुपद ने उत्तर देने में शीघ्रता नहीं की; किंतु उनका उत्तर पूर्व-विचारित अवश्य था, "ऋषिवर ! वीर्यशुल्का घोषित करने में विकट संकट है।"

"क्या संकट है राजन् ?"

"मैं अपने शत्रुओं को भी स्वयंवर में सम्मिलित होने से नहीं रोक सकता। विजेता के चयन में मेरी इच्छा के लिए कोई स्थान नहीं होगा।···और फिर उद्दंड और अहंकारी राजाओं का दर्पपूर्वक शक्ति-प्रदर्शन !···"

"आपका विचार सत्य है ! किंतु राजन् ! सावधानीपूर्वक विचार कर नियमों-उपनियमों

की घोषणा की जाये, तो यह संकट नहीं रहता। और फिर अपनी ही राजधानी में अपनी और अपने मित्रों की सम्मिलित शक्ति से आप उद्दंड लोगों का नियमन न कर सकें, ऐसा संभव नहीं है।"

द्रुपद फिर मौन हो गये। कुछ बोले नहीं। धौम्य ने देखा, कदाचित् द्रुपद उनकी बात का कोई तर्क-संगत प्रतिवाद प्रस्तुत नहीं कर पा रहे थे; किंतु उनका मन धौम्य से सहमत नहीं हो पा रहा था। अतंतः वे बोले, "आपको नहीं लगता कि यह पूर्ण द्यूत है ?...और क्षत्रिय होते हुए भी मैंने जीवनभर कभी द्यूत को क्रीड़ा नहीं माना। मैंने इसे व्यसन ही माना है—दूषित व्यसन, सुरासेवन के ही समान !...अब आप मुझे जीवन का सबसे महत्वपूर्ण निर्णय करने के लिए द्यूत का अवलंब ग्रहण करने के लिए कह रहे हैं !"

"यह द्यूत नहीं है राजन् !" धौम्य अत्यंत शांत स्वर में बोले, "यह कर्म है, उद्यम। इसमें संयोग का अंश अवश्य है; किंतु संयोग को ईश्वर की अनुकंपा के रूप में ग्रहण करना चाहिए। आप अपना कर्म कीजिए और ईश्वर में पूर्ण आस्था रखिए।"

लगा, द्रुपद की चिंतन-दिशा कुछ परिवर्तित तो हुई; किंतु पूर्ण सहमति अथवा पूर्ण वैचारिक समर्पण कदाचित् द्रुपद की प्रकृति के अनुकूल नहीं था।

"राजन् ! यदि द्रौपदी को वीर्यशुल्का घोषित करना है तो कुछ बातों पर भली भाँति विचार कर लेना होगा।... द्रोण धनुर्वेद के आचार्य हैं, इसलिए आपको भी सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी को ही अपना जामाता चुनना होगा। यदि स्वयंवर की प्रतिज्ञा ऐसी हुई, जिसमें कोई खड्गधारी अथवा गदाधारी योद्धा विजयी हुआ, तो उससे आपको अधिक लाभ नहीं होगा।" धौम्य ने रुककर द्रुपद को देखा, "मैं युद्ध-विद्या विशारद नहीं हूँ।" किंतु इतना तो कह ही सकता हूँ कि यद्यपि युद्धों में खड्गधारियों तथा गदाधारियों का महत्व कम नहीं है; किंतु यदि द्वंद्व युद्धों को छोड़ दें तो अधिकांश युद्ध शस्त्रों की अपेक्षा अस्त्रों की सहायता से ही जीते जाते हैं। अस्त्रों में एक श्रीकृष्ण के चक्र को छोड़कर धनुष-बाण ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण और घातक है। इसलिए मेरा विचार है कि आपकी प्रतिज्ञा ऐसी ही हो, जिसमें सफल होने के लिए प्रतियोगी को असाधारण धनुर्धारी होना चाहिए...।"

द्रुपद ऋषि की बात सुन भी रहे थे, और नहीं भी सुन रहे थे... आरंभ में तो वे ध्यानपूर्वक ऋषि की बात सुन ही रहे थे; किंतु ऋषि के ही शब्दों ने उनके मन में कुछ चित्र और कुछ धारणाएँ आरंभ कर दी थीं।... धनुर्धारी के रूप में उनके मन में एक ही बिंब जागता था—कुरु राजकुमार-अर्जुन का बिंब ! अहिछत्र के युद्ध में अर्जुन की धनुर्विद्या ने ही उन्हें पराजित किया था। यदि अर्जुन उस कोटि का धनुर्धारी न होता, तो कदाचित् द्रोण उन्हें इस प्रकार अपमानित न कर पाता।...किंतु कैसी विचित्र स्थिति है कि वे शत्रु के रूप में, अपने शत्रु के परम शिष्य के रूप में; और शत्रु के उपकरण के रूप में स्मरण करते हैं, अर्जुन को... और फिर उनके कानों में अर्जुन के वे शब्द गूँजने लगते हैं, 'मध्यम ! हम पांचालों के शत्रु नहीं हैं; उनकी सेना का नाश मत करो ! केवल गुरु-दक्षिणा...।' ...तो उस परम शिष्य ने गुरु के शत्रु को अपना शत्रु नहीं माना था...? उसने गुरु के व्यक्तिगत राग-द्वेषों से स्वयं को पृथक् रखा था। उसके अपने संबंध गुरु के संबंधों से निर्देशित नहीं होते थे...और द्रुपद बार-बार अपने-आप से पूछते हैं कि उनके संबंध क्यों द्रोण के संबंधों से निर्देशित होते हैं ? वे क्यों अपने संबंध स्वतंत्र रूप से निर्धारित नहीं कर सकते ?...

"द्रोण के अतिरिक्त ऐसे धनुर्धारी हो ही कितने सकते हैं।···कृष्ण, अर्जुन, कर्ण और एकलव्य !···" धौम्य गहरी दृष्टि से द्रुपद की प्रतिक्रियाओं को पढ़ रहे थे, "द्रोण ने एकलव्य का अंगूठा कटवा लिया था; अर्जुन की अपने भाइयों के साथ वारणावत में मृत्यु हो चुकी; कर्ण सूतपुत्र है···" धौम्य रुके, "परिचित लोगों में से तो एक कृष्ण ही रह जाता है।···"

"हाँ! अर्जुन की तो मृत्यु हो चुकी है।" द्रुपद बोले; और स्वयं ही समझ नहीं पाए कि उनके इस वाक्य का अर्थ क्या था।

"और संभव है कि इनके अतिरिक्त कोई ऐसा अज्ञात धनुर्धारी निकल आये, जो श्रेष्ठता के निकष पर पूर्ण प्रमाणित हो।"

"हाँ! यह भी संभव है।" द्रुपद बोले; और फिर अन्यमनस्क से होकर कुछ सोचने लगे।

"तो राजन्! आप विचार करें। अपने मित्रों और हितैषियों से परामर्श कर लें। फिर यदि मेरी आवश्यकता हो तो मुझे सूचना भिजवा दें।" धौम्य जाने के लिए उठ खड़े हुए।

24

रात बहुत गहरी नहीं हुई थी; किंतु सिंदूरी संध्या काली पड़ चुकी थी। वन में इस समय तक सारी गति-विधि समाप्त हो जाती थी; और केवल निशाचर कहलाने वाले जंतु बाहर घूमा करते थे। पांडवों ने भी अब तक अपने घर का प्रवेश-द्वार बंद कर लिया था।

मुनि शालिहोत्र का आश्रम छोड़ने के पश्चात् से वे लोग निरंतर मत्स्य, त्रिगर्त तथा पंचाल के मध्य के वनों में भ्रमण कर रहे थे। सिर पर जटाएँ बढ़ गयी थीं और चेहरे पर श्मश्रु! वस्त्रों का स्थान वल्कल और मृग-चर्म ने ले लिया था। उन्हें पहचानना बहुत सहज नहीं था। वे लोग पूर्णतः वनवासी दिखायी देते थे।

किसी ने प्रवेश-द्वार को हिलाया। यह किसी वन्य-पशु द्वारा द्वार पर सींग मारने की-सी ध्वनि नहीं थी। यह तो किसी मनुष्य द्वारा उनका ध्यान आकृष्ट करने के लिए, द्वार को खटखटाने का-सा शब्द था।

पांडवों ने आश्चर्य से एक-दूसरे की ओर देखा; और तब सहदेव ने कहा, "मैं देखता हूँ।"

"तुम ठहरो!" उठते हुए सहदेव को भीम ने उसकी भुजा पकड़कर बैठा दिया, "मैं देखता हूँ।"

सहदेव बैठ गया; किंतु बोले बिना नहीं रह सका, "बाहर कोई अतिथि है भैया! कोई आक्रमणकारी नहीं।"

"अतिथि होगा तो सादर भीतर ले आऊँगा।" भीम बोला, "इस वन में भी छल-छद्म हो सकता है सहदेव!"

थोड़ी देर में भीम लौटकर आया तो उसके साथ स्वयं महर्षि वेदव्यास थे।···सारे भाइयों ने अपनी माता सहित उन्हें प्रणाम किया।

"मुझे इस प्रकार आया देखकर तुम्हें आश्चर्य हो रहा है?" महर्षि ने पूछा।

"हाँ पितामह!" युधिष्ठिर बोला, "आपके आगमन से पहले प्रायः आपके आने का

समाचार आता है, आपके शिष्य आते हैं; और फिर अब वन में यात्रा करने का समय भी तो नहीं रहा। अंधकार पर्याप्त सघन हो चुका है।…"

"यह सब मैंने सायास किया है पुत्र ! अपने शिष्यों को अगले आश्रम की ओर भेज दिया है।" व्यास बोले, "वस्तुतः अभी मैं तुम्हारा रहस्य उद्घाटित करना नहीं चाहता।" उन्होंने एक-एक कर उन सबको देखा और बोले, "सावधानी आवश्यक है !"

"आपने हमें मुनि शालिहोत्र के आश्रम में पहचान लिया था तात् ?" कुंती ने शिशु-सुलभ जिज्ञासा-भाव से पूछा, "हम लोग अंत तक इस संशय में ही रहे। फिर भी हमने वह आश्रम त्यागना ही उचित समझा।"

"मुझे विदुर से यह सूचना मिल गयी थी पुत्रि, कि तुम लोगों की प्राण-रक्षा हो गयी है।" व्यास बोले।

"मैंने कहा था न माँ, कि काका ने ही पितामह को बताया होगा।" नकुल उत्साह से बोला।

"तुमने ठीक कहा था पुत्र ! हस्तिनापुर में बैठा विदुर ही तुम लोगों का हित साध रहा है।" व्यास शांत स्वर में बोले, "मैं अपने भ्रमण की आड़ में तुम लोगों की खोज में ही निकला था। तुम लोगों को शालिहोत्र के आश्रम में सकुशल देखकर प्रसन्नता हुई; किंतु इस प्रकार ऋषियों-मुनियों के आश्रमों में रहकर, जहाँ अनेक यात्री और यायावर आते ही रहते हैं, तुम लोगों का अज्ञातवास संभव नहीं था; और फिर किसी भी आश्रम में तुम लोगों तक न कोई संदेश पहुँच सकता है, न संदेश-वाहक ! इसीलिए मैंने तुम लोगों को एकांत-वास करने का संकेत किया था। वहाँ तो मैं भी खुलकर तुम लोगों से चर्चा नहीं कर सकता था।"

"हस्तिनापुर का क्या समाचार है पितामह ?" युधिष्ठिर ने पूछा, "क्या दुर्योधन को विश्वास हो गया है कि हम लोगों की मृत्यु हो चुकी है ?"

"आभास तो यही होता है।" व्यास बोले, "किंतु उससे तुम लोगों को न तो निश्चिंत हो जाना चाहिए, न असावधान !"

"क्या पितृव्य को पता है कि हम जीवित हैं ?" कुंती ने जिज्ञासा की।

"भीष्म !" व्यास बोले, "लगता है कि उन्हें कुछ संदेह तो है। संभव है कि उन्हें विदुर से कोई संकेत मिला हो। यदि उन्हें मालूम है भी तो वे इसे प्रकट नहीं करते। उनका प्रकट व्यवहार ऐसा ही है, जैसे वे तुम लोगों की मृत्यु पर विश्वास करते हैं।" व्यास ने बारी-बारी से सबकी ओर देखा, "हस्तिनापुर में तुम्हारी मृत्यु का समाचार पहुँचा तो उसका बहुत शोक मनाया गया। सबसे अधिक शोक धृतराष्ट्र ने मनाया। कृष्ण और बलराम भी अपने संबंधियों और मित्रों के साथ, हस्तिनापुर के शोक में सम्मिलित होने के लिए आये थे; किंतु द्वारका में यादवों की अपनी कलह के कारण वे हस्तिनापुर में अधिक समय तक टिक नहीं पाये।"

"क्या कृष्ण जानता है कि हम जीवित हैं ?" अर्जुन ने पूछा।

"वह विदुर से मिला था। कदाचित् उसे पहले से ही संदेह था। उसने विदुर से यह सूचना तो प्राप्त कर ली थी कि तुम लोग सुरक्षित हो; किंतु उसके पश्चात् उसे द्वारका लौट जाना पड़ा।"

"तो क्या हुआ !" अर्जुन बोला, "वह अवश्य आयेगा। वह अवश्य ही हमारी सहायता करेगा।"

"वह उसका प्रबंध कर रहा है पुत्र !"

"किस बात का प्रबंध कर रहा है कृष्ण ?" कुंती के स्वर में उत्सुकता के स्थान पर व्यग्रता थी।

"तुम्हारा भतीजा तुम्हारे पुनर्जीवन का प्रबंध कर रहा है पुत्रि !" व्यास बोले, "ताकि तुम लोगों का यह अज्ञातवास समाप्त हो सके।"

"उसके लिए प्रबंध क्या करना है," भीम कुछ उग्र स्वर में बोला, "हम जहाँ चाहें, घोषणा कर सकते हैं कि हम जीवित हैं, और दुर्योधन ने हमारी हत्या का षड्यंत्र रचा था।"

"तो घोषणा करते क्यों नहीं ?" व्यास मुस्कराए, "वन में अज्ञातवास करने का कारण ?"

"हमारे ज्येष्ठ का विचार है कि प्रकट होने पर दुर्योधन की ओर से हमारे लिए संकट उत्पन्न हो सकता है।" भीम ने कुछ ऐसे स्वर में कहा, जैसे स्वयं उसका यह विश्वास न हो।

"युधिष्ठिर ठीक कह रहा है पुत्र ! कृष्ण का भी यही विचार है। अतः हम चाहते हैं कि तुम लोग तब तक छद्मवेश धारण किये रहो, जब तक कि तुम्हारी सुरक्षा का पूर्ण प्रबंध न हो जाये।..."

"हमारे हाथ में शस्त्र दे दीजिए और फिर देखिए कि हम सुरक्षित ही सुरक्षित हैं।" भीम के स्वर में स्पष्ट उद्दंडता थी।

"नहीं।" व्यास का स्वर पहली बार अपनी कोमलता छोड़, कुछ दृढ़कठोर हुआ, "तुम्हारे हाथों में शस्त्र दे भी दें, तो तुम्हें दुर्योधन पर प्रहार नहीं करने दिया जायेगा; और उसे प्रहार करने से कोई रोक नहीं पायेगा। कृष्ण चाहता है कि इस बार ऐसा प्रबंध हो जाये कि या तो दुर्योधन प्रहार ही न कर पाये, अथवा तुम्हें भी उसका प्रहार रोकने की पूर्ण स्वतंत्रता हो।"

भीम चुप तो हो गया; किंतु उसकी समझ में यह नहीं आ रहा था कि कृष्ण ऐसा क्या करेगा, जिससे यह सब कुछ संभव हो पायेगा !... और फिर कृष्ण के विचारों और कृष्ण की योजनाओं को इतना महत्व देना क्यों आवश्यक है !

"क्या यह संभव है तात् ?" कुंती को जैसे विश्वास नहीं हो रहा था।

"संभव ही नहीं, यह अवश्यम्भावी है।" व्यास का स्वर निर्द्वंद्व था, "तुम्हारा पुत्र भारतवर्ष का शक्तिशाली सम्राट् होगा। तुम चिंता न करो पुत्रि !"

"और जिस दिन यह सब हो जायेगा !" भीम पुनः बोला, "उस दिन मैं उस नीच दुर्योधन और उसके उस चांडाल मामा से अपना पूर्ण प्रतिशोध लूँगा।"

"भीम !" युधिष्ठिर बोला, "तुम जानते हो, हम प्रतिशोध के समर्थक नहीं हैं। मैंने हस्तिनापुर की राजसभा में आचार्य द्रोण के प्रतिशोध का समर्थन नहीं किया था। प्रतिहिंसा मानव के लिए हितकर नहीं है।"

"प्रतिशोध तो एक ही स्थिति में नहीं लिया जाता भैया, जब राजा अपराधी को दंडित कर दे।" भीम बोला, "और मैं जानता हूँ कि वर्तमान राजा के रहते हुए दुर्योधन को कोई दंडित नहीं करेगा। इसलिए प्रतिशोध आवश्यक है।"

"युधिष्ठिर ठीक कह रहा है पुत्र ! हमारी नीति प्रतिरोध की है, प्रतिशोध की नहीं !" व्यास बोले, "जैसे दंड देने का अधिकार केवल राजशक्ति को है, वैसे ही प्रतिशोध का अधिकार केवल ईश्वर को है। जैसे हिंसा नृशंसता है, वैसे ही प्रतिहिंसा भी नृशंसता है। युधिष्ठिर की नीति, आनृशंसता की है पुत्र !"

"क्यों ? प्रतिशोध में क्या दोष है पितामह ?" अर्जुन बोला।

"प्रतिशोध का क्रम कभी समाप्त नहीं होता पुत्र !" व्यास का स्वर गंभीर था, "वह हिंसा तथा नृशंसता की अंतहीन शृंखला है, जिसमें नित्य नयी कड़ियाँ जुड़ती रहती हैं। तुम उनसे प्रतिशोध लोगे, उनके पुत्र तुम्हारे पुत्रों से प्रतिशोध लेंगे; और तुम्हारे पौत्र उनके पौत्रों से प्रतिशोध लेंगे''तो यह हिंसा कहाँ थमेगी पुत्र ?"

"वे बार-बार हमारी हत्या का प्रयत्न करें; हमसे सब कुछ छीन लें और हम प्रतिशोध की भी इच्छा न करें ?" भीम तड़पकर बोला, "हम क्षत्रिय किसलिए हैं ? हमने शस्त्र-शिक्षा क्यों ग्रहण की है ?"

"तुम क्षत्रिय हो; इसलिए आवश्यक होने पर युद्ध-क्षेत्र में शत्रु से सम्मुख युद्ध करोगे। युद्ध में शत्रु का वध न हिंसा है, न प्रतिहिंसा। वह न अपराध है, न अधर्म, न नृशंसता।" व्यास बोले, "भीम ! अपने भाई को देखो; और उसकी महानता को समझो। मैं तो जब-जब युधिष्ठिर को देखता हूँ, चकित रह जाता हूँ। इस वय में यह आनृशंसता और धर्म की इस सहजता से चर्चा करता है, जैसे बड़े-बड़े धर्म-सिद्ध ऋषि नहीं कर सकते।''' और केवल चर्चा ही नहीं करता, उस पर आचरण भी करता है।"

"भैया को क्रोध नहीं आता तो हम क्या करें ?" भीम उसी प्रकार उन्मत्त स्वर में बोला, "मुझे तो बहुत क्रोध आता है, इस नीच दुर्योधन पर !"

"भैया को क्रोध आता नहीं, तो तुम ऐसे कह रहे हो पुत्र ! जैसे किसी को विद्या नहीं आती।" व्यास किंचित् हँसे, "तुम्हारे भाई ने क्रोध को इस प्रकार नियंत्रित किया है, जो साधकों का परम लक्ष्य होता है।" व्यास ने भीम को देखा, "क्रोध, घृणा, द्वेष, स्वार्थ तो मनुष्य के मन में इस प्रकार होते हैं, जैसे उसके शरीर में रक्त, मांस और मज्जा। उन पर नियंत्रण पाने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, जैसे घर को स्वच्छ रखने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है; अन्यथा धूल-मिट्टी तो प्रकृति का सहज स्वभाव है। युधिष्ठिर को यदि अपने शत्रुओं पर भी क्रोध नहीं आता, तो सोचो, तुम्हारे इस भाई ने अपने मन को कितना निर्मल कर रखा है, जहाँ केवल प्रेम है, दया है, मित्रता है। वह अपने शत्रुओं से भी द्वेष नहीं करता''' वह कभी नृशंस हो ही नहीं सकता।'''"

"तो क्या दुर्योधन को उसके अपराधों के लिए कभी दंडित नहीं किया जायेगा ?" भीम के स्वर में हताश आक्रोश था।

"अपने प्रति किये गये अपराध का दंड तो प्रतिशोध है पुत्र !" व्यास के स्वर में सहज कोमलता लौट आयी, "प्रतिशोध का आधार प्रतिहिंसा है, जो नृशंसता है। तुम्हें योद्धा होना है, आततायी नहीं। यदि अवसर आया तो दुर्योधन से युद्ध-क्षेत्र में आमने-सामने युद्ध कर लेना। वैसे मेरा प्रयत्न यही रहेगा कि तुम दोनों में युद्ध कभी न हो।"

"तो फिर हमारा अज्ञातवास समाप्त हो भी जाये, तो क्या हो जायेगा ?" नकुल ने धीरे से कहा, जैसे वह अपनी बात कहना भी चाहता हो और महर्षि का विरोध भी न करना चाहता हो।

"उससे होगा यह कि हम सब मिलकर प्रयत्न करेंगे कि युधिष्ठिर राजा बने और आर्यावर्त्त में धर्मपूर्ण राज्य की स्थापना करे।" व्यास बोले, "अपने जीवन के लिए, अपनी रक्षा के लिए, अपने अधिकारों के लिए जो प्रयत्न और संघर्ष तुम कर रहे हो, उसमें यत्किंचित मात्रा में

अधिकार का भाव भी हो सकता है और स्वार्थ का भी; किंतु अन्य जितने भी लोग तुम्हारी सहायता कर रहे हैं, वे केवल धर्म की रक्षा का प्रयत्न कर रहे हैं।"

"इस समय कृष्ण क्या कर रहा है ?" सहसा अर्जुन ने प्रश्न किया।

"कृष्ण !" व्यास थोड़ी देर तक कुछ सोचते रहे, "कृष्ण इस समय एक कठिनाई में फँस गया है। स्यमंतक मणि के कारण, यादवों में अनेक मत-भेद और विरोध प्रकट हो गये हैं। कृष्ण का अपना भाई बलराम, कृष्ण पर विश्वास नहीं कर रहा और यह मान रहा है कि कृष्ण ने उसके साथ विश्वासघात किया है। अतः वह कृष्ण का शत्रु" नहीं; शत्रु कहना उचित नहीं होगा; उसका विरोधी बन गया है। इसीलिए वह कृष्ण के मित्रों का भी विरोधी हो गया है। बलराम को इस समय दुर्योधन बहुत प्रिय है।' संभव है कि इस समस्या को सुलझाने में कृष्ण को कुछ समय लगे; किंतु वह यह नहीं चाहता कि द्वारका में दुर्योधन के समर्थन का आधार बने।"

व्यास चुप हो गये। अन्य लोग भी मौन ही रहे।"' वस्तुतः यह अत्यंत विकट घड़ी थी। पांडवों को जिस कृष्ण से सर्वाधिक सहायता की अपेक्षा थी, वही कृष्ण इस समय स्वयं संकट में था"

"तो आप हमें क्या करने का निर्देश करते हैं ?" अंततः युधिष्ठिर ने पूछा।

व्यास जैसे कहीं और लीन हो गये थे। युधिष्ठिर का प्रश्न सुनकर वे जैसे स्वयं को सायास वर्तमान में लाये, "यहाँ निकट ही एक नगरी है—एकचक्रा ! मैंने वहाँ तुम्हारे ठहरने की व्यवस्था की है। मेरा एक शिष्य है, देवप्रसाद ! तुम लोग उसी के घर में निवास करोगे। वहाँ केवल तुम्हें आश्रय मिलेगा; अपने भोजन की व्यवस्था तुम लोग स्वयं करोगे। वह निवास भी तुम्हारा अज्ञातवास ही है। अपना वास्तविक परिचय किसी को भी नहीं दोगे—देवप्रसाद को भी नहीं। जब तक दुर्योधन यह मानता है कि तुम लोग जीवित नहीं हो, तब तक नगर की तुलना में, तुम लोगों का वन में अज्ञातवास सरल है; किंतु यदि वन में ही भ्रमण करते रहोगे तो तुमसे संपर्क करने में अधिक समय तथा अधिक प्रयास करना पड़ेगा; और यदि भ्रमण न कर एक ही स्थान पर रहोगे तो यायावरों तथा परिभ्रामी सन्यासियों के कारण शीघ्र ही तुम लोग पहचान लिये जाने की सीमा तक प्रसिद्ध हो जाओगे, क्योंकि तुम लोगों का निवास उनका आश्रयस्थल हो जायेगा"'"

"तो ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"इसीलिए तुम लोगों के ठहरने की व्यवस्था एकचक्रा नगरी में की है।" व्यास बोले, "वह नगरी नाम-मात्र के लिए राजा के अधीन है; किंतु न तो वहाँ राजा रहता है, न प्रभावी शासन है। प्रायः अराजकता की स्थिति है। इसीलिए वहाँ रहने में तुम्हें कठिनाई नहीं होगी। कोई तुम्हें खोजना भी चाहेगा, तो खोज नहीं पायेगा, क्योंकि वहाँ शासन के सूत्र ही नहीं हैं। प्रशासन का आडंबर पूरा है; किंतु शासन है नहीं। अतः सब लोग अपनी-अपनी क्षमता भर, स्वयं से दुर्बल को दबाते हैं और शक्तिशाली से बचते हैं।"'" व्यास ने रुककर उनको देखा, "उसी नगर में तुम लोगों को भेज रहा हूँ। देवप्रसाद के घर अज्ञातवास करना और मेरी अथवा मेरे अनुचर की प्रतीक्षा करना। सावधान रहना। किसी भी कारण, किन्हीं भी परिस्थितियों में स्वयं को प्रकट मत करना। तुम्हारा परिचय देने का अधिकार या तो मेरे पास रहेगा, या वासुदेव कृष्ण के पास।"'मुझे विश्वास है कि शीघ्र ही युधिष्ठिर का राज्याभिषेक होगा।"'"

कुंती और पाँचों पांडव आश्चर्य से महर्षि को देखते रहे ।

भीम की बहुत इच्छा हुई कि पूछे कि यदि युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हो जायेगा तो दुर्योधन और उसके पिता कहाँ जायेंगे ? किंतु उसने पूछा नहीं । जब कोई नहीं पूछ रहा था तो उसे ही क्या पड़ी है…

"अच्छा ! चलता हूँ ।" व्यास उठ खड़े हुए ।

"इस समय ?" पांडव चकित थे ।

व्यास मुस्कराए, "मेरे लिए दिन और रात में कोई विशेष भेद नहीं है ।…रात को यहाँ टिकना न मेरे लिए उचित है, न तुम लोगों के लिए ।"

व्यास कुटीर से बाहर निकले, "तुम लोग कल ही यहाँ से चल पड़ना ।" और उन्होंने युधिष्ठिर के कंधे पर हाथ रखा, "आओ वत्स ! तुम्हें बताऊँ कि तुम मेरे उस शिष्य देवप्रसाद को कहाँ और कैसे खोजोगे… ।"

25

कांपिल्य में कृष्ण का आना बहुत आकस्मिक नहीं था; किंतु द्रुपद को इस समय वह वरदान सरीखा लग रहा था । उन्होंने इस बात की भी चिंता नहीं की कि कृष्ण लंबी यात्रा करके आया है और उसे विश्राम की आवश्यकता है । उन्होंने उसे तत्काल अपने कक्ष में बुला भेजा । साधारण- सा शिष्टाचार भर पूरा हुआ होगा कि उन्होंने कृष्ण को द्रौपदी के स्वयंवर की योजना के विषय में विस्तार से बताना आरंभ किया । अपनी ओर से सब कुछ बता चुके तो उसकी प्रतिक्रिया जानने के लिए, पहली बार ध्यान से उसकी ओर देखा ।…कृष्ण इतना अधिक आत्मलीन था कि जैसे उनकी बात न सुन रहा हो, अपने मन में कोई गूढ़ समस्या सुलझा रहा हो अथवा किसी लंबी शृंखला की कोई विलुप्त कड़ी ढूँढ़ रहा हो ।

"इस प्रकार की योजना का परामर्श आपको किसने दिया ?" अपनी आत्मलीनता से उबरकर सहसा कृष्ण ने पूछा ।

"क्यों ? कोई दोष है क्या इसमें ?" द्रुपद बोले, "यदि कोई त्रुटि हो तो बताओ । अभी तो संशोधन का पर्याप्त अवकाश है ।"

"नहीं ! त्रुटि की बात नहीं कह रहा हूँ ।" कृष्ण मुस्कराया, "योजना तो अत्यंत श्रेष्ठ है । मैं जानना यह चाहता हूँ कि आपका कौन- सा हितैषी इतनी दूरगामी योजना बना रहा है !"

"भगवान वेदव्यास के शिष्य मुनि धौम्य !"

"कौरवों से महर्षि वेदव्यास का संबंध जानते हुए भी आप उनपर और उनके शिष्यों पर विश्वास कर सकते हैं ?" कृष्ण ने पूछा ।

"क्यों नहीं !" द्रुपद स्थिर वाणी में बोले, "वे महर्षि हैं । सिद्ध पुरुष हैं । वे धर्म के पक्ष में हैं । सांसारिक संबंधों में बँधकर वे मानव कल्याण का लक्ष्य छोड़ नहीं सकते । वे जो कुछ करेंगे, हमारे हित के लिए ही करेंगे ।"

कृष्ण के नयनों में एक द्युति झलकी । द्रुपद ने भी उसे देखा; किंतु वे समझ नहीं पाये कि यह कृष्ण की प्रसन्नता मात्र थी अथवा कुछ और…

"योजना अत्यंत श्रेष्ठ है।" कृष्ण ने कहा, "कदाचित् इससे आपकी मनोकामना पूर्ण हो जाये और आपके मन का बोझ समाप्त हो जाये।"

"तुम समझते हो कि मुनि हमारी सहायता करने का प्रयत्न कर रहे हैं ?"

"आपकी ही नहीं, वे सबकी सहायता करने का प्रयत्न कर रहे हैं।" कृष्ण ने उत्तर दिया।

द्रुपद अन्यमनस्क- से कृष्ण को देखते रहे; और फिर धीरे से बोले, "तुम सहमत हो ?"

"पूर्णतः !"

"तुम हमारी सहायता करोगे ?"

"अवश्य !"

द्रुपद के मन में आया, कहें, 'यदि तुम हमारी सहायता के लिए प्रस्तुत हो, तो तुम कृष्णा से विवाह क्यों नहीं कर लेते ? स्वयंवर की आवश्यकता ही न रहे।...' किंतु उनका स्वाभिमान फिर से आड़े आ गया...यदि कृष्ण ने उनके प्रस्ताव का तिरस्कार किया तो ?...

द्रुपद धीरे से बोले, "यदि मैंने द्रौपदी का स्वयंवर किया और उसे वीर्यशुल्का घोषित किया तो यादवों का क्या दृष्टिकोण होगा ?"

"हम आपकी सहायता करेंगे। हम चाहेंगे कि यह स्वयंवर निर्विघ्न पूर्ण हो। आपको आपका मनोवांछित जामाता और कृष्णा को उसका मनोवांछित पति मिले। आपकी प्रतिज्ञा पूर्ण हो। आपके अपमान का प्रतिकार हो।..."

द्रुपद मुग्ध भाव से कृष्ण को देखते रहे : कदाचित् कृष्ण जानता है कि द्रुपद के मन में क्या है; कृष्णा क्या चाहती है। वह कह रहा है कि उन्हें मनोवांछित जामाता मिलेगा; कृष्णा को मनोवांछित पति मिलेगा और... वे अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर पायेंगे, उनके अपमान का प्रतिकार होगा...

"किसी ने कृष्णा के हरण का प्रयत्न किया तो ?"

"कौन ऐसा दुस्साहस करेगा ?"

"कोई भी कर सकता है—जरासंघ, शिशुपाल, दुर्योधन... कोई भी और ! इनमें से किसी को भी मर्यादा की चिंता नहीं है।"

कृष्ण ने जिस दृष्टि से द्रुपद को देखा, वह साधारण नहीं थी। बोला, "यह मेरा वचन है पंचाल नरेश, कि स्वयंवर में कोई उत्पात नहीं होगा। पांचाली का हरण नहीं होगा। कृष्ण आपके स्वयंवर का रक्षक बनकर खड़ा रहेगा।..."

अब द्रुपद स्वयं को रोक नहीं पाये। वह प्रश्न उनकी जिव्हा पर आ ही गया, जो कई मास से उनके मन में बवंडर मचा रहा था, किंतु स्वाभिमान और संकोच के कारण, जिसे वे अब तक रोके हुए थे, "और इस स्वयंवर में यादव वीर सम्मिलित होंगे न ?"

कृष्ण को बहुत देर से इस प्रश्न की अपेक्षा थी।... द्रुपद ने अंततः पूछ ही लिया था... किंतु अपनी सावधानी उन्होंने अब भी छोड़ी नहीं थी। उन्होंने कृष्ण से प्रत्यक्ष रूप में नहीं पूछा था कि वह स्वयंवर में भाग लेगा या नहीं... किंतु कदाचित् वे पूछना यही चाहते थे...

"जब हम स्वयंवर की रक्षा के लिए खड़े होंगे, तो सम्मिलित तो होंगे ही।" वह मुस्कराया।

"नहीं !" द्रुपद का असमंजस उनके चेहरे पर प्रत्यक्ष हो आया था, "मैं पूछ रहा हूँ कि यादव वीर स्वयंवर की प्रतिज्ञा पूरी करने का प्रयत्न करेंगे या नहीं ?"

कृष्ण का गंभीर रूप क्षण भर में ही किसी चंचल बालक में परिणत हो गया, जिसके नयनों में सम्मोहन था। वह द्रुपद को देखता रहा और अपनी प्रच्छन्न मुस्कान से उन्हें सम्मोहित करता रहा।

द्रुपद को लगा, कृष्ण की मुस्कान कह रही है : 'मुझे इस प्रकार घेरने का प्रयत्न मत करो। मैं ऐसे बंधनों में बँधने वाला नहीं हूँ।'

द्रुपद की समझ में नहीं आ रहा था कि वे इस नवयुवक की उपस्थिति में ऐसे क्यों हो जाते थे···

"प्रश्न यह नहीं है कि यादव वीर इस धनुर्यज्ञ में सम्मिलित होंगे या नहीं। प्रश्न यह है कि उन्हें इसमें सहभागी होना चाहिए या नहीं?"

"क्यों?" द्रुपद चौंके।

"इस समय केवल कुरु आपके शत्रु हैं। मत्स्यों से आपकी मित्रता है। जरासंध से आपकी शत्रुता नहीं है। यादवों से भी आपके संबंध अमित्रतापूर्ण नहीं हैं। आप कृष्णा के संबंध के माध्यम से अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए कोई शक्तिशाली मित्र ढूँढ़ रहे हैं। ठीक है?" कृष्ण ने द्रुपद की ओर देखा।

"ठीक है।"

"अब यदि यादवों से आपका संबंध हो जाता है, तो जरासंध आपका शत्रु हो जायेगा। चेदी और विदर्भ—जरासंध के मित्र होने के नाते, आपके शत्रु हो जायेंगे।···" कृष्ण ने रुककर द्रुपद को देखा, "ऐसे में कुरुओं के विरुद्ध आपकी शक्ति बढ़ेगी अथवा कम होगी?···यादव तो द्वारका में जाकर जरासंध से दूर हो गये हैं; किंतु आप उसके क्रोध का सामना कैसे करेंगे?"

"यदि यादव हमारे पक्ष में होंगे, तो हम जरासंध से भी निबट लेंगे।" यादवों से संबंध बनाने की आतुरता में द्रुपद कृष्ण के तर्क की गंभीरता की उपेक्षा कर गये।

कृष्ण पुनः मुस्कराया, "यद्यपि यादवों ने जरासंध से कई युद्ध किये हैं; किंतु मैंने जितने भी युद्ध किये हैं, वे सब बाध्यता में ही किये हैं; और प्रायः आत्मरक्षा में ही किये हैं। संभवतः कोई युद्ध अत्याचार को रोकने के लिए भी किया हो। उतना रक्तपात यदि मैं नहीं करता, तो संभवतः शत्रु-पक्ष की ओर से कहीं अधिक हिंसा होती। प्रतिहिंसा और प्रतिशोध में मेरी तनिक भी आस्था नहीं है। मेरा प्रयत्न है कि आपका कौरवों से भी युद्ध न हो; किंतु यदि यादवों से आपका संबंध हुआ, तो संभवतः आपको जरासंध और उसके मित्रों से भी युद्ध करना पड़ेगा। यह संबंध आर्यावर्त्त में शांति स्थापित करने के स्थान पर, अशांति की ही वृद्धि करेगा···।"

"गोविंद!" द्रुपद के स्वर में कुछ स्नेह का आग्रह था और कुछ अधैर्य, "तुमने कहा था कि मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर सकूँगा, अपने अपमान का प्रतिशोध ले सकूँगा!"

"वह तो मैं अब भी कह रहा हूँ।" कृष्ण के चेहरे पर न द्वंद्व था, न उत्तेजना, "किंतु तात्! उसके लिए कौरवों से युद्ध अनिवार्य नहीं है। मैं आर्यावर्त्त में प्रेम, सौहार्द और शांति में वृद्धि करना चाहता हूँ। आप क्या नहीं जानते कि सदा युद्ध में उलझे अथवा युद्ध की तैयारी में लगे राजा, प्रजा को कभी सुखी नहीं रख सकते? प्रजा की सुख-समृद्धि के लिए शांति अनिवार्य है। यादवों ने कितने ही वर्ष निरंतर युद्ध करते हुए व्यतीत किये हैं; किंतु सुख-समृद्धि उन्हें द्वारका के शांतिपूर्ण निवास ने ही दी है।"

"वह एक पृथक् समस्या है!" द्रुपद बोले, "इस समय मेरे सम्मुख अपने अपमान का

प्रतिशोध है।"

"वह यदि विना युद्ध के ही संभव हो जाये ?"

"वह कैसे संभव है ?"

"यदि स्वयंवर वाली यह योजना सफल हो गयी तो या तो युद्ध की आवश्यकता ही नहीं रहेगी; या फिर आप धर्म-युद्ध करेंगे, प्रतिहिंसा-प्रेरित हत्याकांड नहीं।"

"पुत्रि कृष्णा !" द्रुपद का स्वर अत्यंत चिंतित था, "जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, कृष्ण तुम्हारे स्वयंवर में प्रतियोगी नहीं होगा।"

द्रौपदी को लगा, पिता ने अजाने ही उसके हृदय-दाह में घी की आहुति दे दी है। उसने स्वयं को संयत किया, "मैं जानती हूँ पिताजी !"

"जानती हो !" द्रुपद को आश्चर्य हुआ, "और फिर भी उससे पूछती नहीं हो कि वह ऐसा क्यों कर रहा है ? क्या द्रुपद-पुत्री पांचाली कृष्णा इस योग्य भी नहीं कि कृष्ण उसके लिए स्वयंवर की प्रतिज्ञा पूर्ण करने का प्रयत्न करे ?"

"नहीं पिताजी ! ऐसी बात नहीं है !" द्रौपदी का स्वर पीड़ामय शांति लिये हुए था, "कृष्ण की दृष्टि में कृष्णा का महत्व कम नहीं है। किंतु अपनी वीरता और श्रेष्ठता सिद्ध कर वीर्यशुल्काओं को प्राप्त करना कृष्ण की प्रकृति नहीं है।"

द्रुपद ने रोषभरी दृष्टि से अपनी पुत्री को देखा, "क्यों ? क्या उसने रुक्मिणी के स्वयंवर में से उसका हरण नहीं किया ?"

द्रौपदी कुछ क्षण मौन रही, जैसे किसी ज्वार के निकल जाने की प्रतीक्षा कर रही हो। फिर बोली, "कृष्ण की पत्नियाँ उसकी प्रेम-समर्पिताएँ हैं, वीर्य-शुल्काएँ नहीं। कृष्ण को पाने के लिए, उसके सम्मुख समर्पण करना पड़ता है पिताजी ! उसके सम्मुख स्वयंवरों की प्रतिज्ञाएँ नहीं रखी जातीं।"

"तुम उसे इतना जानती हो पुत्रि ?"

"हाँ, पिताजी ! मैं उसकी सखी हूँ।"

"तो तुमने मुझे इस स्वयंवर से रोका क्यों नहीं पुत्रि ?"

"क्योंकि मेरा जन्म अग्निकुंड में से हुआ है पिताजी ! मैं कृष्ण को नहीं, अपने पिता की प्रतिज्ञा को समर्पित हूँ। मेरा जन्म कुरुवंश के नाश के निमित्त हुआ है।... और पिताजी ! कृष्ण इन सबसे बहुत बड़ा है, बहुत विराट् ! उसे इन क्षुद्र लक्ष्यों में सीमित नहीं किया जा सकता।"

द्रुपद अपनी पुत्री को देखते रहे : जिसे वह इतना अधिक समझती है, उसे थोड़ा-सा वे क्यों समझ नहीं पाते ?

उन्होंने आगे बढ़कर पुत्री के चेहरे को अपनी हथेलियों में जैसे किसी दैवी प्रसाद के रूप में ग्रहण किया। अपने स्नेह की पीड़ा से उसकी आँखों में देखा, "तू जानती है कि अपने पिता की प्रतिज्ञा को समर्पित होकर, तूने स्वयं क्या खोया है ?"

"पाने और खोने का सबका अपना-अपना गणित है पिताजी !" द्रौपदी का स्वर कुछ असाधारण हो उठा था, "मैंने कृष्ण को उसकी अन्य पटरानियों के साथ बाँटा नहीं है। मैं उसकी सखी हूँ। मैं पत्नी किसी की भी होऊँ, कृष्ण को खोने का मेरे लिए कोई प्रश्न ही नहीं

उठता।"

"मैं न उसे समझ पाता हूँ, न तुझे पुत्रि !" द्रुपद का स्नेह उनकी वाणी में भी छलका और उनकी आँखों में भी।

26

युधिष्ठिर ने सबको रुकने का संकेत किया, "मेरा विचार है कि अब हम बिना सोचे-समझे आगे न बढ़ें।"

"किंतु अंधकार घिरता जा रहा है वत्स !" कुंती ने कहा, "इससे पहले कि पूर्ण अंधकार हो जाये, हमें नगर में प्रवेश कर जाना चाहिए।"

"आप ठीक कहती हैं माता !" युधिष्ठिर बोला, "किंतु बिना किसी पथ-प्रदर्शक अथवा सहायक के, एक ऐसे अपरिचित नगर में प्रवेश कर जाना उचित नहीं होगा। कई बार वन के पशुओं से नगर के मनुष्य अधिक भयंकर होते हैं। नगर के द्वारपालों और कोटपाल को यह पूर्ण अधिकार होता है कि वे आने-जाने वालों से अपना परितोष होने तक पूछताछ करें। और यदि ऐसा हुआ, तो हमारा पहचाना जाना कठिन नहीं होगा। इसलिए आवश्यक है कि मैं पहले व्यासदेव के उस शिष्य देवप्रसाद को देखूँ। वह मिल जाये तो हमें एक अवलंब हो जायेगा। नगर में टिकने की भी असुविधा नहीं होगी।···नगर में प्रवेश कर आश्रय के लिए वीथि-वीथि भटकेंगे तो अनावश्यक रूप से लोगों के मन में हम अनेक प्रकार के प्रश्न उठाएँगे।···"

"आप इतने भयभीत क्यों हैं भैया ?" भीम ने अत्यंत आश्वस्त स्वर में कहा, "मैं हूँ न ! हिडिंब को मार सकता हूँ तो···।"

"भैया ! यह एकचक्रा नगरी है, मल्लस्थान नहीं।" नकुल धीरे से बोला।

"बहुत बोलने लगा है तू !" भीम ने नकुल को घूरा।

"मैं तुम्हारे ही कारण डरता हूँ भीम !" युधिष्ठिर बोला, "एक तो तुम्हारा डील-डौल ऐसा है कि उसे छिपाया नहीं जा सकता; और दूसरे, तुम कहीं भी, किसी से भी भिड़ जाओगे। तत्काल प्रश्न उठेगा कि यह व्यक्ति कौन है ? खोज-बीन आरंभ होगी और हमारे विषय में सबको ज्ञात हो जायेगा।"

"कभी-कभी असाधारणता भी अपने-आपमें दोष बन जाती है।" सहदेव बोला।

"अच्छा सूत्रदेव ! चुप रहो तुम !"

"अच्छा ! अब विवाद बंद करो।" कुंती ने धीरे से कहा, "जाओ। उस ब्राह्मण देवप्रसाद को देखो।"

"मेरे लौटने तक कोई कहीं न जाये माँ !" युधिष्ठिर ने कहा और वह वृक्षों के झुरमुट से निकलकर, खुले क्षेत्र में से होता हुआ, मुख्य पथ पर आ गया। जैसे-जैसे वह नगर-द्वार की ओर बढ़ता जा रहा था, उसका मन अधिक शंकित होता जा रहा था। अनेक लोग आ-जा रहे थे। पथ के दोनों ओर खाद्य-पदार्थ बेचने वाली छोटी-मोटी दुकानें भी थीं। कुछ-एक दंडधर भी दिखायी दिये; किंतु वे तो जैसे प्रहरी-कर्म करने के लिए नहीं, मेले में सैर करने आये थे। कोई पथ की ओर पीठ कर बैठा तांबूल-चर्वण कर रहा था। कोई किसी दुकान पर बैठा

भक्षण-मग्न था। आने-जाने वालों पर किसी की दृष्टि नहीं थी।

'यहाँ तो राजा के चक्षु और श्रवण ही अंधे और बधिर हैं।' युधिष्ठिर ने मन-ही-मन सोचा।

पथ से कुछ दूर हटकर एक वृक्ष के नीचे एक व्यक्ति आसन बिछाए बैठा था। युधिष्ठिर ने क्षण-भर उसे देखा और उसी ओर बढ़ गया।...कुछ निकट जाकर देखा : वह कदाचित् सामुद्रिक था।

'वही होगा।' युधिष्ठिर ने सोचा।

"आओ वत्स! अपना भविष्य जान लो।" उस व्यक्ति ने कहा।

"मैं तो अपना वर्तमान खोज रहा हूँ ब्राह्मण!" युधिष्ठिर ने उसे ध्यान से देखा।

सामुद्रिक चौंका। उसने अपने आस-पास देखा। निकट कोई नहीं था। उसने संकेत से युधिष्ठिर को पास बुलाया और अत्यंत मंद स्वर में बोला, "अग्निदेव को तुष्ट करके आये हो?"

"हाँ!" युधिष्ठिर ने भी धीरे से कहा, "देवप्रसाद मिलेगा?"

सामुद्रिक पूर्णतः संतुष्ट हो गया। वह अपने स्थान से उठ खड़ा हुआ। उसने आसन लपेट लिया और बोला, "मेरे पीछे-पीछे चले आओ। मैं ही व्यासदेव का शिष्य देवप्रसाद हूँ।"

"किंतु आर्य! मैं अकेला नहीं हूँ।"

देवप्रसाद रुक गया, "कितने व्यक्ति हो?"

"माता और हम पाँच भाई!"

देवप्रसाद जैसे चिंता में पड़ गया, "इतने लोग अज्ञात कैसे रह सकेंगे? पर अज्ञात क्यों रहना चाहते हो तुम लोग?"

"कुछ व्यक्तिगत कारण हैं।"

"ओह!" देवप्रसाद बोला, "व्यासदेव ने जिज्ञासा का निषेध किया था। क्षमा करना भाई! मैं अपनी जिज्ञासा को रोक नहीं पाया। अच्छा!..." उसने रुककर युधिष्ठिर को देखा, "मैं यहीं बैठा हूँ। तुम अपनी माता और भाइयों को ले आओ। मैं तुम्हें देखकर आगे-आगे चल पड़ूँगा। तुम लोग मेरे पीछे-पीछे चले आना। अलग-अलग एक-दूसरे से उचित दूरी बनाये रखना। मेरे घर में भी थोड़े-थोड़े अंतराल के पश्चात् एक-एक कर प्रवेश करना। यदि कहीं कोई रोके-टोके, कोई अड़चन आये, तो किसी से झगड़ा मत करना। एकचक्रा में किसी से झगड़ा करना तुम्हें महँगा पड़ सकता है। झगड़े की स्थिति ही मत आने देना; आ जाये तो मेरी प्रतीक्षा करना। अब जाओ!"

"अच्छा!" युधिष्ठिर लौट पड़ा।

कुंती और युधिष्ठिर साथ-साथ चल रहे थे।

युधिष्ठिर की दृष्टि कुछ आगे चलते हुए देवप्रसाद पर भी थी और अपने पीछे आने वाले नकुल पर भी। नकुल के पीछे सहदेव था, उसके पीछे अर्जुन और अंत में भीम। यह युक्ति देवप्रसाद की नहीं, स्वयं युधिष्ठिर की थी। वह नहीं चाहता था, कि वे पाँचों भाई अपनी माता के साथ चलें और तनिक-सी बुद्धि रखने वाला व्यक्ति भी समझ जाये कि वे कौन हैं...

नगर के अनेक सघन मार्गों तथा वीथियों में से होता हुआ देवप्रसाद अब तनिक खुले क्षेत्र

में आ गया था। यहाँ भवन एक-दूसरे से लगे हुए न होकर, थोड़ी-थोड़ी दूरी पर थे। यद्यपि भवन बहुत बड़े नहीं थे; किंतु उनके घेर में छोटे-छोटे उद्यान भी थे।''' और सहसा देवप्रसाद रुक गया।

युधिष्ठिर भी रुक गया; क्या यही है देवप्रसाद का आवास ? तो देवप्रसाद इतना निर्धन व्यक्ति नहीं है, जितना कि युधिष्ठिर ने सोचा था ?

देवप्रसाद ने फाटक खोला और युधिष्ठिर की प्रतीक्षा में खड़ा हो गया।

युधिष्ठिर और कुंती ने अपनी गति बढ़ा दी। वे फाटक तक आये तो देवप्रसाद एक ओर हट गया। उन्होंने भीतर प्रवेश किया।

"यह भवन आपका ही है ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"मेरा ! हाँ, मेरा ही है।" देवप्रसाद कुछ अटपटाकर बोला, "वस्तुतः यह भवन मेरे श्वसुर का था। मैं एकचक्रा नगरी का निवासी नहीं हूँ। बाहर से आजीविका के लिए आया था। उनसे भेंट हो गयी। उन्होंने मुझे अपना जामाता बना लिया; और मैं उनके ही साथ रहने लगा। अब लोग मानते हैं कि भवन मेरा है; किंतु मैं जानता हूँ कि भवन मेरी पत्नी का है। वह भी यही मानती है।"

"आपने धनोपार्जन के पश्चात् अपना भवन बनवाने का प्रयत्न नहीं किया ?"

"धनोपार्जन !" वह हल्के से हँसा, "मैं धनोपार्जन कर ही कहाँ पाया !"

"क्यों ?" युधिष्ठिर बोला, "आप तो विद्वान ब्राह्मण हैं।"

"इस राज्य में धन विद्वानों के लिए नहीं, धूर्तों के लिए है।" वह जैसे अपने संचित आक्रोश को, कृत्रिम हँसी में परिणत कर रहा था, "चारों ओर अधर्म और अराजकता है। धर्म और न्याय से कमाना चाहो तो एक कौड़ी न मिले। अधर्म के माध्यम से जितना चाहो, लूट लो।'''"

वे लोग वाटिका पार कर भवन के मुख्य-द्वार पर आकर रुके। देवप्रसाद ने कपाट थपथपाए, "खोलो भई ! मैं हूँ।"

ब्राह्मणी ने द्वार तो खोला; किंतु प्रवेश के लिए मार्ग नहीं दिया। उसकी दृष्टि युधिष्ठिर, कुंती और अपने पति के चेहरों पर भटक रही थी। ब्राह्मण के पीछे-पीछे एक कन्या भी आयी। कुछ अपरिचित लोगों को देख, उत्सुक जिज्ञासा से वह आगे बढ़ी।

"तुम भीतर जाओ।" ब्राह्मणी ने उसकी ओर मुड़कर कहा।

लड़की भीतर चली गयी।

"अरे भीतर तो आने दो !" देवप्रसाद ने सायास हँसी के साथ कहा।

"ये लोग कौन हैं ?" वह अपने स्थान से नहीं हटी।

"अतिथि हैं !"

"कैसे अतिथि ?" ब्राह्मणी के चेहरे पर कुछ कठोरता उभरी।

देवप्रसाद के आनन पर भी क्षण भर के लिए आवेश झलका; किंतु वह उसे पी गया। एक निरीह-सी मुस्कान के साथ बोला, "क्या यह वार्तालाप घर-प्रवेश करने के पश्चात् नहीं हो सकता ? अंधकार होने वाला है। अतिथि दूर की यात्रा करके आये हैं। थके हैं। संभवतः भूखे भी हों।"

"तभी तो पूछ रही हूँ कि कौन हैं ये ?"

कुंती और युधिष्ठिर दोनों को ही ब्राह्मणी का व्यवहार अत्यंत अपमानजनक लग रहा था। द्वार पर आये अतिथि से कोई इस प्रकार व्यवहार करता है ? पति-पत्नी में मतभेद होते हैं; और उन्हें उसे जताने का पूर्ण अधिकार है; किंतु अतिथियों के सम्मुख...

"चलो ! कहीं और चलो पुत्र !" कुंती ने युधिष्ठिर से कहा, "कदाचित् ब्राह्मणी हमें अपने घर में आश्रय नहीं देना चाहती।"

"आप ठहरें देवि ! और मुझे अपनी पत्नी को समझाने का समय दें।" देवप्रसाद बोला, "वह कदाचित् किसी भ्रांति..."

"मुझे किसी प्रकार की कोई भ्रांति नहीं है।" ब्राह्मणी बोली, "मैं पहले ही समझ रही थी कि ये लोग अतिथि नहीं हैं; ये हमारे भवन में आश्रय लेना चाहते हैं। कदाचित् आरंभ में कुछ शुल्क भी देंगे; किंतु फिर शुल्क भी बंद कर देंगे और स्थान भी नहीं छोड़ेंगे। क्रमशः ये इस भवन के स्वामी होंगे और हम वीथियों तथा मार्गों पर कहीं आश्रय खोजते फिरेंगे।"

"ऐसा नहीं होगा सरस्वती !" देवप्रसाद अपनी खीज को दबाकर विनय कर रहा था, "तुम मेरा विश्वास करो !"

"मुझे किसी का कोई विश्वास नहीं है।"

"ओह-हो !" देवप्रसाद ने आवेश में अपने माथे पर हाथ मारा और फिर जैसे बलात् अपना सारा क्रोध पीकर, स्वयं को साधकर धीरे से बोला, "इन्हें देव वेदव्यास ने मेरे पास भेजा है। इन्हें आगे जाना है। ये लोग उनके आदेश की प्रतीक्षा में यहाँ अज्ञातवास करेंगे।"

सरस्वती की वाणी थम गयी। उसके आनन पर अंकित विरोध किंचित् मंद तो हुआ, किंतु सर्वथा विलीन नहीं हो पाया।

वह एक ओर हटकर खड़ी हो गयी।

"पधारिए !" देवप्रसाद अत्यंत सम्मानपूर्वक झुकते हुए बोला, "मैं इस अभद्र स्वागत के लिए आपसे क्षमा-याचना करता हूँ।"

युधिष्ठिर ने कुछ कहना उचित नहीं समझा। वह चुपचाप आगे बढ़ गया। उसे चिंता थी कि पीछे आने वाले उसके भाई इस विलंब के कारण चिंतित हो रहे होंगे।

देवप्रसाद साथ चलता हुआ, मार्ग भी दिखाता जा रहा था और अपनी पत्नी के व्यवहार का मल धोने का प्रयत्न भी करता जा रहा था, "मन की बुरी नहीं है ब्राह्मणी; किंतु उसे आशंका-रोग ने पीड़ित कर रखा है।...इसी आशंक के कारण उसे मेरी बुद्धि पर भी अधिक विश्वास नहीं रह गया है। प्रत्येक क्षण उसे यही आशंका सताती रहती है कि मैं अपनी सरलता के कारण किसी धूर्त व्यक्ति से ठगा जाऊँगा। हमारा भवन हमसे छिन जायेगा और हम निराश्रित हो जायेंगे। उसे लगता है कि मैं घर-जमाई बनकर प्रसन्न नहीं हूँ, इसलिए अपने श्वसुर के इस भवन में मुझे तनिक भी आसक्ति नहीं है। वह समझती है कि इसे खोकर मुझे प्रसन्नता ही होगी।" वह सायास हँसा, "इधर आइए। यह मार्ग है।...हाँ ! यह पहला कक्ष है, यह दूसरा...और यह रसोई है।...भला अपना भवन खोकर किसे प्रसन्नता होगी; किंतु आशंकित हृदय को कोई क्या समझाये !" उसने रुककर कुंती को देखा, "देवि ! आपको यहाँ तनिक भी कठिनाई नहीं होगी। यह कक्ष और यह रसोई—हमारे आवासखंड से पृथक् हैं। आने-जाने का मार्ग भी इसी ओर से है। उसे मैं अभी खोल देता हूँ। जल के लिए भी आपको कहीं बाहर नहीं जाना होगा। कूप भी इस ओर रसोई के पीछे ही है।..."

"मेरा विचार है आर्य !" युधिष्ठिर धीरे से वोला, "मेरे भाई वाहर द्वार पर आ गए होंगे। उन्हें भी भीतर ले आयें।"

"अरे हाँ !" देवप्रसाद वोला, "मैं उन्हें पीछे के द्वार से ही ले आता हूँ, ताकि उन्हें ब्राह्मणी का साक्षात्कार ही न करना पड़े।"

उसने पीछे से द्वार खोला; और बाहर निकल गया।

कुंती थकी-सी एक ओर बैठ गयी थी; और युधिष्ठिर खड़ा सोच रहा था कि गृहस्वामिनी की इच्छा के विरुद्ध, इस घर में आश्रय लेकर कहीं उन्होंने कुछ अनुचित तो नहीं किया ?... किंतु इस अपरिचित नगर में रात्रि के इस समय, अव और वे जा ही कहाँ सकते थे... और फिर भगवान वेदव्यास का आदेश।...

देवप्रसाद लौट आया। उसके साथ भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव भी आ गये। उन्हें ब्राह्मणी का साक्षात्कार नहीं करना पड़ा था। वे उसके आवास-खंड से बचकर आये थे; किंतु वह स्वयं ही पिछले खंड में आ गयी थी। वह खड़ी उन्हें देखती रही। उसने कहा कुछ भी नहीं, केवल इतना जताकर कि उसने उन्हें देख लिया है—वह चली गयी।

देवप्रसाद रुक गया। जब उसे विश्वास हो गया कि वह इतनी दूर चली गयी है कि उसका स्वर सुन नहीं पायेगी, तो धीरे से बोला, "आप लोग उसके व्यवहार से तनिक भी कुंठित न हों। वह मन की बुरी नहीं है।... एकचक्रा नगरी में अराजकता बहुत बढ़ गयी है न, इसी से आशंकित है।... राजा यहाँ रहता नहीं। आततायियों की बन आयी है। आपके पास धन और वल हो तो आप कुछ भी कर सकते हैं। कोई पूछने वाला नहीं, कोई दंडित करने वाला नहीं। अनेक घटनाएँ इस प्रकार की हो गयी हैं, इसलिए सरस्वती अत्यंत भयभीत है।"

"कैसी घटनाएँ ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"यही वलात् आधिपत्य की।" देवप्रसाद वोला, "किसी भी व्याज से कोई किसी के भवन में घुस जाता है; और फिर उसका स्वामी वन जाता है। अधिवासी बनकर आनेवाला यदि तनिक प्रवल हो, तो वही भवन का स्वामी वन जाता है। अनेक बार तो ऐसा भी हुआ है कि गृहस्वामी अपने भवन को ताला लगाकर कहीं वाहर गया; और प्रवास से लौटकर क्या देखता है कि ताला टूटा पड़ा है और घर में किसी दुष्ट का आधिपत्य हो गया है। अंततः वह दुष्ट उस संपत्ति का स्वामी हो जाता है।"

"ओह !" भीम कुछ विचलित हुआ, "और राजा क्या करता है ?"

"राजा केवल अपनी और अपनी संपत्ति की रक्षा कर रहा है। उसे इस वात की चिंता ही नहीं है कि नगर में क्या हो रहा है।" देवप्रसाद बोला, "वैसे भी पता नहीं कि यह सब कुछ राजा की असहायता के कारण हो रहा है या उसकी सहमति से !"

"अच्छा आर्य !" युधिष्ठिर वोला, "आप अपनी पत्नी को आश्वस्त करें कि ऐसा कुछ नहीं होने जा रहा है। हम लोग इस समय स्वयं ही कठिनाई में हैं, आपके आश्रित हैं। और सबसे बड़ी बात है कि हम न अधर्मी हैं, न आततायी !"

"मैं समझता हूँ !" देवप्रसाद ने मुस्कराने का प्रयत्न किया, "आपको भगवान वेदव्यास ने भेजा है—यह क्या कम प्रमाण है ! किंतु न तो मैं एकचक्रा में धर्मराज्य की स्थापना कर सकता हूँ; और न ही अपनी पत्नी की आशंकाओं को निरस्त कर सकता हूँ।" उसके स्वर में असहायता झलकी।

"आप चिंतित न हों आर्य !" भीम बोला, "आवश्यकता पड़ने पर हम आपकी कुछ सहायता भी कर सकते हैं।"

ब्राह्मण ने आश्वस्त होकर सिर हिलाया और जाते हुए बोला, "आप लोग विश्राम करें। भोजन करें।" और सहसा वह पलटा, "आपके पास भोजन की व्यवस्था है ?"

"पर्याप्त है आर्य !" कुंती बोली, "आप निश्चिंत रहें।"

ब्राह्मण चला गया तो कुंती बोली, "भीम ! तुम कोई लड़कपन मत कर बैठना। हमें एकचक्रा में प्रकट नहीं होना है। यह हिडिंबवन नहीं है वत्स ! नगरी है। यात्री आते-जाते हैं। राजाओं के दूत और गुप्तचार भी सूचनाएँ एकत्रित करते फिरते हैं। ऐसा न हो कि…।"

"तुम इतना डरती क्यों हो माँ ?" भीम बोला, "दुर्योधन क्या कर लेगा हमारा ? तुमने देखा नहीं, मैंने हिडिंब को कैसे मार डाला !"

"तुम्हारे बल से मैं स्वयं आश्वस्त हूँ पुत्र !" कुंती स्नेहपूर्वक बोली, "किंतु एक बर्बर राक्षस से शारीरिक युद्ध करना एक बात है; और कुटिल दुर्योधन की संपूर्ण राजशक्ति से लड़ना दूसरी बात है।"

"माँ ठीक कह रही हैं भीम !" युधिष्ठिर धीरे से बोला, "भगवान् वेदव्यास ने कहा है, एकचक्रा में हमें किसी भी स्थिति में प्रकट नहीं होना है।"

अंधकार सघन हो गया। चारों ओर निर्जनता और निस्तब्धता छा गयी। एकचक्रा नगरी में कदाचित् लोग अंधकार हो जाने पर वीथियों में दिखायी नहीं देते थे।

देवप्रसाद बाहर से लौटा तो उसने देखा, सरस्वती कक्ष के एक कोने में चिंतित ही नहीं, भयभीत-सी बैठी थी। उससे सटकर उनकी पुत्री विद्या बैठी हुई थी; और उनका पुत्र शैशव, जैसे माँ की गोद में ही दुबका हुआ था। वे तीनों मिलकर जैसे सामूहिक रूप से उसे घूर रहे थे।

देवप्रसाद जानता था कि सरस्वती भरी बैठी होगी, उसे इस समय कुछ कहना ठीक नहीं होगा। किंतु न कहने से भी तो शायद काम न चले ! वह संशय और संदेह-भरी दृष्टि से उसे घूरती रहेगी, जैसे वह कोई चोर हो, जो किसी पराये घर में घुस आया हो; और किसी भी क्षण कोई उत्पात करने वाला हो। इससे तो अच्छा है कि वह स्वयं ही बात आरंभ कर उसे गरजने-बरसने का अवसर दे दे, ताकि वह भीतर-ही-भीतर घुमड़ती तो न रहे।

"क्या बात है सरस्वती ?" उसने पूछा, "बच्चों को समेटे हुए, इस प्रकार क्यों बैठी हो ?"

सरस्वती ने उसे देखा, जैसे सोच रही हो कि कुछ कहे या न कहे। फिर बहुत मंद स्वर में जैसे फुसफुसाकर बोली, "तुमने देखा भी है उनको। एक से एक बलिष्ठ युवक हैं वे—पूरे पाँच ! मुझे तो पूर्ण मल्ल लगते है वे। तुमने क्या समझकर उन्हें घर में ठहरा लिया है ? वे दुष्टता पर आयेंगे, तो तुम लड़ लोगे उनसे ? झींगुर से लगोगे तुम उनके सामने !"

"शांत हो जा सरस्वती !" ब्राह्मण देवप्रसाद कोमल स्वर में बोला, "संदेह मत कर ! संदेह से कोई लाभ नहीं। हानि ही होगी। हमारे अतिथि भी असंतुष्ट होंगे और उनको भेजने वाले भगवान वेदव्यास भी !"

"झूठ मत बोलो तुम !" सरस्वती पुनः बोली, "तुमने कहा कि वे माँ-बेटा, अतिथि हैं,

प्रवासी हैं। तो फिर इतनी जल्दी ये कहाँ से आ गये, उनके मित्र-परिचित ! उन्हें तो कोई यहाँ जानता ही नहीं था न !"

"ये उनके मित्र-परिचित-सहायक कुछ नहीं हैं। ये पाँचों उस प्रौढ़ा के पुत्र हैं।"

"तो फिर एक साथ क्यों नहीं आये वे ?"

"वे अज्ञातवास कर रहे हैं मूर्खे ! तू समझती क्यों नहीं।"

सरस्वती का स्वर शिथिल हो गया, जैसे टूटने-टूटने को हो, "मेरी तो समझ में ही नहीं आ रहा। कहीं कोई षड्यंत्र ही न हो !" उसने देवप्रसाद का हाथ पकड़कर झंझोड़ा, जैसे उसे जगा रही हो, "तुम्हें ठीक से मालूम है न ! यह कोई षड्यंत्र तो नहीं है ? कहीं वे लोग तुम्हें मूर्ख तो नहीं बना रहे ?"

देवप्रसाद ने मुस्कराने का प्रयत्न किया, "ऐसा कैसे हो सकता है ! तुम स्वयं सोचो। स्वयं भगवान वेदव्यास ने उन्हें भेजा है।"

"यही सोचकर तो चुप हूँ। किंतु समय कितना खराब जा रहा है ! व्यक्ति किसका विश्वास करे, किसका न करे," वह बोली, "कैसे हृष्ट-पुष्ट हैं वे लोग—मल्लों जैसे; और एक तो उनमें एकदम ही दैत्य है। यदि वे हमसे हमारा भवन छीनना चाहेंगे, तो हमारी रक्षा कैसे होगी ? उनसे कौन लड़ेगा—तुम या हमारा यह बालक पुत्र ? राजकर्मचारी किसी की सुनते नहीं हैं। चारों ओर अंधेर मचा है। न हमारे पास धन है कि दंडधर नायक को उत्कोच दे सकें, न हमारी पहुँच किसी ऊँचे अधिकारी तक है···।"

"तुम्हारा चिंतन ही कुछ दूषित हो गया है।" देवप्रसाद ने अत्यंत साहस करके कहा, "जिसे देखती हो, उसे चोर-उचक्का ही समझती हो। यह नहीं सोचतीं कि स्वयं भगवान वेदव्यास के भेजे हुए कुलीन नैष्ठिक ब्राह्मणों का एक परिवार हमारे घर आया है। उस प्रौढ़ा के पाँच-पाँच पुत्र हैं—हृष्ट-पुष्ट और एक से एक बढ़कर सुंदर ! यह नहीं सोचतीं कि उनमें से किसी एक के साथ हमारी विद्या का संबंध हो गया, तो उसके लिए वर खोजने के लिए हमें नगर-नगर भटकना नहीं पड़ेगा···।"

देवप्रसाद ने दृष्टि उठाकर अपनी बात का प्रभाव देखा : सरस्वती की चिंता जैसे चिंतन में बदल गयी थी···विद्या तो वहाँ से उठकर दूसरे कक्ष में ही चली गयी थी।

"किंतु वे लोग परदेसी हैं—अपरिचित !" सरस्वती बोली, "और फिर तुम कहते हो कि वे लोग अज्ञातवास कर रहे हैं। उनके विषय में जानकारी कैसे मिलेगी—वे कौन हैं ? कैसे हैं ? क्या करते हैं ?"

"क्या इतना पर्याप्त नहीं है कि उन्हें भगवान वेदव्यास ने भेजा है ?" वह धीरे से बोला, "क्या महर्षि नहीं जानते होंगे कि वे लोग कौन हैं; और कैसे हैं ! जिस व्यक्ति को त्रिकालज्ञ माना जाता है, वह इन लोगों के विषय में ही कुछ न जानता होगा ? और जानते-बूझते तो वे किसी दुष्ट व्यक्ति को हमारे घर भेजने से रहे। और यदि वे भी हमारे साथ छल-प्रपंच करने लगे, तो फिर हमारा तो कोई आश्रय ही नहीं है इस संसार में···।"

"नहीं ! नहीं ! उनके विषय में ऐसा कुछ मत कहो।" सरस्वती बोली, "मेरा विवेक तुम्हारी बात समझ रहा है; किंतु मेरा भयभीत मन अपने संशय-सर्प को कुचल नहीं पा रहा···।" उसने रुककर अपने पति को देखा, "तुम निश्चिंत रहो। मैं अब उनसे कुछ नहीं कहूँगी।··· मुझे तो अब यह सोच-सोचकर ग्लानि हो रही है कि मेरे व्यवहार को देखकर जाने उन्होंने अपने

मन में क्या धारणा बनायी होगी। मुझे कैसी दुष्टा और चांडालिनी समझा होगा, जो घर आये अतिथि के साथ ऐसा व्यवहार करती है।...''

"अब अधिक चिंता मत करो।" देवप्रसाद ने उसे समझाने का प्रयत्न किया, "वे समझदार लोग हैं। एकचक्रा में रहेंगे तो तुम्हारी दुश्चिंताओं को समझ जायेंगे।...और फिर हमारे अगले व्यवहार का सद्भाव, पिछले व्यवहार के कलुष को धो भी तो डालता है।"

लगा, सरस्वती उससे मन-ही-मन सहमत हो गयी है। अपने साथ लगे बैठे अपने पुत्र के केशों को सस्नेह अपनी अंगुलियों से सहलाते हुए बोली, "शैशव ! जा बेटा ! पिछले खंड में जा और जो लोग आये हैं न, उनके साथ जो भली-सी महिला हैं न, उनसे कह, 'मौसी ! किसी वस्तु की आवश्यकता हो तो निस्संकोच बतायें।' और देख, 'मौसी' कहकर संबोधित अवश्य करना।"

"अच्छा माँ !" शैशव उठकर खड़ा हो गया।

"इस समय रहने दो।" देवप्रसाद बोला, "थके हैं, विश्राम कर रहे होंगे। वैसे भी आते समय, मैं उनसे पूछकर ही आया था।"

"अच्छा, रहने दे।" सरस्वती बोली, "प्रातः देखेंगे।"

कुछ अस्पष्ट-सी ध्वनियों और शब्दों से कुंती की नींद उचट गयी। कुंती ने आँखें खोलीं और अपने आस-पास देखा। उसके पाँचों पुत्र निश्चिंत सो रहे थे। उसने ध्यान से सुना : शब्द कदाचित् बाहर, कूप के पास हो रहे थे। कोई जल भरने आया था क्या ?...तो क्या सवेरा हो गया ?

कुंती उठ बैठी। कक्ष में तो अभी अँधेरा ही था। गवाक्ष खोलकर देखा : पूर्व में उषा के आगमन का कुछ-कुछ पूर्वाभास था। वे लोग इतने थके हुए थे कि उन्हें पता ही नहीं चला कि रात कब बीत गयी। अब भी यदि बाहर यह शब्द न होता, और कुंती की नींद इतनी कच्ची न होती, तो शायद वह पड़ी सोती ही रहती।

कुंती ने द्वार खोला और बाहर आँगन में निकल आयी; किंतु कूप के पास ब्राह्मणी को खड़ी देख, उसके पैर थम गये। कल भवन में प्रवेश करते हुए, ब्राह्मणी का वह रुष्ट व्यवहार, उसकी आँखों के सामने घूम गया।...उसके मन में असमंजस जागा : ब्राह्मणी से संबोधित हो या न हो ! उसके भवन में आश्रय पाने के कारण, कुंती अपने पुत्रों सहित उसकी ऋणी थी। उसकी उपेक्षा आर्यजनोचित नहीं थी।...किंतु यदि कुंती का शिष्टाचार ब्राह्मणी के विरोध को उग्र कर गया तो ?...उससे तो अच्छा है कि कुंती उसके सामने ही न पड़े...

कुंती मुड़कर कक्ष में लौट जाने की बात सोच ही रही थी कि ब्राह्मणी आगे बढ़ आयी।

"आर्या !" वह बोली, "कल के व्यवहार के लिए क्षमा कर, अपनी छोटी बहन का प्रणाम स्वीकार करें।" उसने हाथ जोड़ दिये।

अपने विस्मय में कुंती उसे देखती ही रह गयी : यह कैसा चमत्कार हो गया ! वह न केवल कुंती को प्रणाम कर रही थी, वरन् उसे अपनी बड़ी बहन भी स्वीकार कर रही थी...सद्भावना-वृद्धि के इस क्षण को कुंती खोना नहीं चाहती थी।

"आपने तो कोई भूल नहीं की देवि !"

"मुझे सरस्वती कहो दीदी !"

कुंती मुस्करायी, "अच्छा ! ऐसा ही सही । तुमने तो कोई भूल नहीं की सरस्वती ! फिर क्षमा किस बात की माँग रही हो ! तुम्हारा घर है, तो तुम्हें पूर्ण अधिकार है कि तुम जानना चाहो कि तुम्हारे घर में कौन आश्रय पा रहा है ।..."

"नहीं दीदी ! घर आये अतिथि का ऐसा अपमान तो नहीं करना चाहिए । और अतिथि भी कैसा—इतना सम्मानीय और कुलीन !" सरस्वती बोली, "किंतु मैं अपने संशय और आशंकाओं का भी क्या करूँ दीदी ! इस नगरी में रहोगी, तो स्वयं ही जान जाओगी । न किसी प्रकार का शासम है, न अनुशासन ! न कोई नियम है, न विधान ! समझ लो दीदी, कि किसी दुष्ट को दंड देने वाला कोई है ही नहीं । इसलिए दुष्टता बहुत बढ़ गयी है इस नगर में । लगता है कि संसार के सारे अपराधकर्मी आकर इसी नगर में एकत्रित हो गये हैं । और क्यों न हों, जब उन्हें यह हर प्रकार की सुविधा प्राप्त है तो ?..."

"क्यों ? यहाँ राजा नहीं है ?" कुंती ने आश्चर्य से पूछा ।

"है क्यों नहीं !" वह बोली, "किंतु दुष्ट-दलन की न उसकी इच्छा है, न उसमें क्षमता है । अब यहाँ रहोगी, तो सब कुछ देखोगी । न किसी का धन सुरक्षित है, न सम्मान और न प्राण । यदि हम अब तक सुरक्षित हैं, तो इसलिए नहीं कि देश में सुशासन है, या राजा बहुत न्यायी है । सुरक्षित हम इसलिए हैं—क्योंकि विधाता की कृपा बनी हुई है ।... लो, मैं भी पहले ही दिन क्या सब तो कहने लगी !" वह रुकी, "कहीं यह तो न समझोगी दीदी, कि तुम्हें डरा रही हूँ कि तुम इस नगर में न रहो !"

"नहीं !" कुंती के चेहरे पर हल्का हास उभरा, "भयभीत क्या होना ! तुम इस नगर के लिए कहती हो, मुझे तो प्रत्येक नगरी के आकाश पर भय टँगा दिखायी देता है...।" कुंती ने स्वयं को सँभाला, "अब तो सब कहीं ऐसा ही है सरस्वती !"

सरस्वती ने कुंती की बात पर ध्यान नहीं दिया । उसे एक सामान्य-सी बात समझकर टाल दिया, "तुम्हारे लिए पानी खींच दूँ दीदी ?"

"अरे नहीं !" कुंती ने उसे रोका, "मेरे पुत्र सुनेंगे, तो अप्रसन्न होंगे । वे पर्याप्त समर्थ हैं ।"

"हाँ ! वे समर्थ तो हैं ।" सरस्वती ने बड़ी कठिनाई से अपने मन में पिछले दिन का भय जागने से रोका, "मैं कल ही से सोच रही थी दीदी, कि तुमसे पूछूँ कि तुम लोग कौन हो । कहाँ के निवासी हो । मेरे पति कह रहे थे कि तुम लोग अज्ञातवास कर रहे हो !"

कुंती मुस्कराते हुए भी अपनी कटुता रोक नहीं पायी, "यदि यह सब बताना ही होता बहन, तो फिर अज्ञातवास कैसा ?..."

"ओह !" सरस्वती अपनी भूल समझ गयी ।

कुंती ने स्वयं को सँभाला : कहीं उसकी बात में अनावश्यक कटुता तो नहीं आ गयी, "यही समझ लो कि संकट के मारे साधारण प्रवासी हैं । इस प्रतीक्षा में हैं कि कब काल हमारे भी अनुकूल हो ।"

"अच्छा । यदि अन्यथा न मानो दीदी, तो यह बता तो कि भगवान वेदव्यास से क्या संबंध है तुम्हारा ?"

कुंती ने क्षणभर सोचा और बोली, "वे हमारे संरक्षक हैं । वे हमें संकट से उबारने का प्रयत्न

कर रहे है ।" सहसा कुंती ने रुककर उसकी ओर देखा, "और तुमसे क्या संवंध है उनका ?"

"वे हम पर वहुत कृपालु हैं ।" सरस्वती ने निस्संकोच कहा, "मेरे पति उनके अटल भक्तों मे से है । तुम्हें शायद ज्ञात नहीं होगा दीदी, कि मैं अपने पिता की अकेली संतान हूँ···।"

"तुम्हारे पति ने वताया था हमें ।"

"मेरा कोई भाई नहीं था । मेरे विवाह के पश्चात् मैने भी पुत्री को ही जन्म दिया । यह मेरी विद्या है न—वही ! और उसके पश्चात् वारह वर्ष व्यतीत हो गये, हमारी कोई संतान ही नहीं हुई । मै वहुत दुखी थी । मैं ही क्यों, मेरे पति भी वहुत व्यथित थे । एक तो यही कष्ट था कि मेरे पति का वंश आगे नहीं चलेगा । दूसरे, लगता था, वृद्धावस्था में अपने जामाता पर आश्रित रहना होगा···।"

"तो क्या हो गया ! तुम्हारे पिता भी तो तुम्हारे पति पर निर्भर रहे होंगे ।" कुंती ने उसे टोक दिया ।

"हाँ, दीदी ! रहे थे । किंतु मेरे पिता को कोई कष्ट नहीं हुआ । मेरे पति भले आदमी हैं—चरित्रवान, धार्मिक और करुणामय ! किंतु आवश्यक तो नहीं कि हमें भी वैसा ही जामाता मिल जाता, जो हमारी अपने माता-पिता के समान सेवा करता ।" वह रुककर बोली, "और उससे भी वड़ी चिंता यह थी कि हमारी विद्या वड़ी होकर सारे संसार में अकेली होगी—न कोई भाई, न वहन !' "

"तो ?"

"तव मेरे पति ने भगवान वेदव्यास से प्रार्थना की । वे तो त्रिकालदर्शी हैं । उन्होंने कहा, *'चिंता मत कर देवप्रसाद ! तेरे भले दिन आने वाले हैं । तू अवश्य पुत्रवान होगा ।'* उनके वरदान के ठीक दो वर्ष पश्चात् मेरा यह पुत्र उत्पन्न हुआ है—शैशव ! इसी से तो यह विद्या से चौदह वर्ष छोटा है ।"

"सचमुच भगवान वेदव्यास तुम पर वहुत कृपालु हैं ।" कुंती ने धीरे से कहा ।

"अच्छा दीदी ! मैं चलूँ । पहली ही भेंट में वहुत वातें कर लीं ।" सरस्वती ने घड़ा उठा लिया, "तुम्हारे किसी पुत्र का विवाह तो अभी नहीं हुआ ?"

"एक का हुआ है; किंतु वहू साथ नहीं है ।" कुंती बोली ।

"अच्छा-अच्छा !" सरस्वती प्रसन्नवदन चल पड़ी, "किसी भी वस्तु की आवश्यकता हो तो कहना । तनिक भी संकोच मत करना ।"

सरस्वती चली गयी और कुंती अपने कक्ष में लौट आयी । युधिष्ठिर, अर्जुन, नकुल और सहदेव उठ वैठे थे । भीम अभी सोया हुआ था । वह प्रायः ही सवके पश्चात् जागता था ।

"आज तो ब्राह्मणी रुष्ट नहीं लग रही थी माँ ?" युधिष्ठिर वोला ।

"नहीं ! आज तो वह प्रसन्न थी ।" कुंती वोली, "अव तुम लोग भी उठो । स्नान-ध्यान कर लो तो मै भोजन की भी कुछ व्यवस्था करूँ ।"

"हाँ !" युधिष्ठिर का स्वर कुछ गंभीर हो गया, "मै सोचता हूँ कि हममें से एक, तुम्हारे साथ घर पर ही रहे; और चार भाई नगर में भिक्षाटन के व्याज से घूम आयें ।"

भिक्षा··· कुंती के वक्ष पर जैसे वज्र का-सा आघात हुआ··· उसके पुत्र भिक्षा माँगेंगे··· सम्राट् पांडु के पुत्र भिक्षा माँगेंगे··· हस्तिनापुर का युवराज भिक्षा माँगेगा··· और कितने सहज भाव से कह दिया युधिष्ठिर ने, जैसे उसका दैनंदिन का काम हो··· कैसे हाथ पसारेंगे उसके पुत्र ? क्या उनका

स्वाभिमान आड़े नहीं आयेगा ? क्या वे दान देने और न देने वालों की वक्र दृष्टियाँ और तिरस्कार सह लेंगे…"

"मध्यम को ही घर पर माँ के साथ रहने दीजिए भैया !" अर्जुन बोला, "उन्हें नींद भी चाहिए और माँ तथा अपनी रक्षा में भी वे अकेले ही पर्याप्त समर्थ हैं।"

"यह क्यों नहीं कहते कि इसी बहाने मध्यम को घर में बंदी करके जाना चाहते हो !" भीम उठ बैठा था और आँखें मल रहा था।

"माँ की सुरक्षा के लिए, माँ के पास घर में रहना, घर में बंदी होना है ?" कुंती कृत्रिम क्रोध के साथ बोली, "क्यों रे भीम ! फिर तो माँ सदा की ही बंदिनी हुई। वह तो सदा ही घर पर रहती है।"

"क्षमा माता ! क्षमा !" भीम ने दोनों हाथ जोड़कर माथे से लगा लिये : और फिर लपककर कुंती को अपने आलिंगन में कस लिया, "वह तो मैं मात्र प्रतिवाद के लिए कह रहा था; नहीं तो माँ के पास रहना तो जीवन का सबसे बड़ा सुख है। न पैरों को थकाओ, न भिक्षाटन के लिए किसी के द्वार पर जाओ; माँ के पास रहो, उसकी मीठी-मीठी बातें सुनो; और उच्चकोटि के पाकशास्त्र का प्रशिक्षण पाओ।"

"चुप ! चाटुकार कहीं का !" कुंती स्वयं को छुड़ाते हुए बोली।

"अरे माँ ! मेरे हृदय के इस असीम प्रेम को चाटुकारिता कहती हो ! तुम्हें मेरे प्रेम का पता तो तब चलेगा, जब तुम्हें मैं अपने सिर पर बैठा लूँगा।" भीम ने कुंती को अपनी भुजाओं में उठा लिया।

"तमाशा मत कर-!" कुंती ने उसे डाँटा।

और तभी द्वार पर विद्या प्रकट हुई। उसने अपने दोनों हाथों में मिट्टी की मटकी पकड़ रखी थी, "माँ ने…"

उसके शब्द जैसे थम गये। उसकी आँखें आश्चर्य से फट गयीं और मुँह खुला-का-खुला रह गया : क्या वह भीमकाय पुत्र अपनी माता को उठाकर धरती पर पटकने वाला था ?…

"मध्यम !" अर्जुन ने धीरे से कहा, "उतारो माँ को नीचे ! नहीं तो ब्राह्मण-कन्या के हाथ से मटकी गिरकर छूट जायेगी।"

भीम ने जैसे बड़ी बाध्यता में कुंती को भूमि पर खड़ा कर दिया।

"मौसी ! माँ ने आपके लिए थोड़ा-सा दूध भेजा है।" विद्या ने स्वयं को इस अटपटी स्थिति से मुक्त करने के लिए बड़े प्रयत्न के पश्चात् कहा।

"आओ पुत्रि !" कुंती ने भी स्वयं को सायास सहज किया, "मेरे इस नटखट पुत्र के इन कृत्यों पर तुम्हें आश्चर्य तो हो रहा होगा; किंतु कुछ दिनों में अभ्यस्त हो जाओगी। इसका शरीर चाहे कितना बड़ा हो, बुद्धि इसकी छोटे बच्चे की-सी क्रीड़ाशील है।"

विद्या ने कुछ नहीं कहा। बस, खुली-खुली आँखों से भीम को देखती रह गयी।

"और सुनो बेटी !" कुंती पुनः बोली, "अपनी माँ से कहना, हमने तुम्हारे घर में आश्रय लिया है। हम तुम्हारे अतिथि नहीं हैं। हमारा सत्कार आवश्यक नहीं है।"

"नहीं मौसी ! माँ ने कहा है कि आप लोग रात को ही आये हैं। दूध का प्रबंध तो अभी हुआ नहीं होगा। और हमें कौन बाहर से लाना पड़ता है ! घर में गाय है न !"

"वह तो ठीक है बेटी !…" कुंती कुछ कहते-कहते रुक गयी, "चल, कोई बात नहीं !

मैं तेरी माँ से ही बात कर लूँगी। तुम केवल इतना कह देना, हम सत्कार के लिए आभारी हैं।"

कुंती ने मटकी लेकर रख ली और विद्या उन लोगों के प्रति जिज्ञासा की तृष्णा लेकर लौट गयी।

"अब बोलो।" कुंती ने युधिष्ठिर को संबोधित किया, "तुम क्यों चाहते हो कि भीम घर पर ही रहे?"

"माँ! भीम अपने डील-डौल के कारण लोगों का ध्यान आकृष्ट करता है। ब्राह्मण का वेश भी तो उसके अनुकूल नहीं पड़ता। हम सबमें से सबसे अधिक सुविधा से उसे ही पहचाना जा सकता है।...और फिर माँ!" युधिष्ठिर बोला, "कहीं इसे कोई बात अपने अनुकूल न लगे और यह किसी से भिड़ जाये, तो इसकी ख्याति फैलते तो क्षण भी नहीं लगेगा; और फिर इसका पहचाना जाना क्या कठिन रह जायेगा?"

"तो क्या मैं बाहर निकलूँगा ही नहीं?" भीम बोला, "इससे तो हिडिंबवन ही अच्छा था, जहाँ तुम लोग घर में दुबके रहते थे और मैं सारे वन में स्वच्छंदतापूर्वक विचरण करता था।"

"नहीं! मेरा विचार है कि भीम को भी बाहर जाने का अवसर दो।" कुंती बोली, "तुम लोग ऐसा क्यों नहीं करते कि प्रतिदिन बारी-बारी चार भाई बाहर जाया करो; और एक भाई पीछे घर में रहे?"

"ऐसा ही होगा माँ!" युधिष्ठिर बोला, "किंतु मैं यह कह रहा था कि, आज भीम बाहर न जाये। हम लोग पहले तनिक घूम-फिरकर नगर तथा नगर के लोगों को देख लें; फिर जैसा उचित लगेगा...।"

"मेरी तो समझ में यह नहीं आ रहा कि भगवान वेदव्यास ने हमें यहाँ भेजा ही क्यों है!" सहदेव बोला, "यह स्थान न तो कौरवों के राज्य से बहुत दूर है, न पांचालों के। फिर यह कोई निर्जन वन भी नहीं है। नगरी है, जहाँ से समाचार तत्काल आग के समान फैल जाते हैं। यदि दुर्योधन को तनिक भी संदेह हो गया कि हम यहाँ हैं तो वह अपनी सेना समेत यहाँ घुस आ सकता है। यहाँ के राजा की चिंता वह नहीं करेगा; और दूसरी ओर द्रुपद के कानों में भनक पड़ गयी तो अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए वह भी आक्रमण कर सकता है। एक ओर मध्यम के पहचाने जाने का भय है, तो दूसरी ओर कनिष्ठ का छिपना भी कठिन है; और द्रुपद तो कनिष्ठ से ही अधिक रुष्ठ होगा...।"

"तुम उसकी चिंता मत करो। मुझे द्रुपद का भय नहीं है।" अर्जुन बोला, "मैं यदि उसे एक बार पराजित कर सकता हूँ, तो दूसरी बार भी कर सकता हूँ।"

"तो मेरी ही चिंता क्यों करते हो! मैं क्या दुर्योधन से डरता हूँ?" भीम भी चुप नहीं रहा, "दुर्योधन जितनी बार चाहे, आकर मुझसे युद्ध कर ले।"

"तुम लोग भयभीत नहीं हो—भयभीत तो मैं हूँ।" युधिष्ठिर बोला, "सहदेव ठीक कहता है कि पता नहीं भगवान वेदव्यास ने हमें यहाँ आकर प्रतीक्षा करने के लिए क्यों कहा, जहाँ संकट की गंगा-यमुना, दोनों ही इतनी निकट हैं।" युधिष्ठिर ने रुककर अपने भाइयों को देखा, "किंतु उनके प्रति मेरी आस्था कहती है कि यहाँ आने का आदेश देने से पहले, उन्होंने भी तो सोच-विचार किया ही होगा। निष्प्रयोजन तो नहीं भेजा होगा, उन्होंने।"

"ठीक है पुत्र!" कुंती बोली, "महर्षि त्रिकालज्ञ हैं, बुद्धिमान हैं। उनमें आस्था रखो और स्वयं भी सावधान रहो। यथासंभव स्वयं को गोपन रखो। पुत्र अर्जुन! संभव हो तो

तुम बाहर जाते हुए अपने शरीर को भस्मावेष्टित रखो—ताकि तुम्हारा वर्ण छिप जाये ।"

"तो यही निश्चित रहा कि बारी-बारी हममें से चार बाहर जायेंगे । प्रकट उद्देश्य तो भिक्षाटन ही होगा; किंतु मूलतः नगर और नागरिकों के विषय में सूचनाएँ एकत्रित करने का काम करेंगे । भिक्षा की याचना नहीं करेंगे । मौन रहकर स्वयं को अधिक-से-अधिक गुप्त रखेंगे ।" युधिष्ठिर ने अपना निर्णय सुनाया ।

सबने अपनी मौन सहमति दे दी । भीम भी असंतुष्ट नहीं था । उसने विश्राम करने का निश्चय कर लिया था ।

थोड़ी देर में शैशव आकर द्वार पर खड़ा हो गया । उसके हाथ में एक गेंद थी और आँखों में अपार जिज्ञासा ! वह उन सबको विटर-विटर देख रहा था ।

"तुम्हें माँ ने भेजा है ?" कुंती ने पूछा ।

"नहीं, दीदी ने !"

"किसलिए भेजा है ?"

"खेलने !"

"क्या खेलोगे ?"

"गेंद !"

"किसके साथ खेलोगे ?"

"जो मुझसे पराजित हो जाये ।"

कुंती हँसी, "अपनी इच्छा से भी कभी कोई पराजित हुआ है ?"

"हाँ ! मुझसे तो सभी पराजित हो जाते हैं !"

"कौन-कौन ?"

"दीदी, माँ और पिताजी ! सभी !"

"वे लोग तुम्हें बहुत प्यार करते हैं न, इसलिए ।"

"आप लोग मुझसे प्यार नहीं करेंगे ?" बालक ने बहुत अबोध भाव से पूछा ।

कुंती की आँखों में अश्रु छलक आये । मन जैसे एकदम भीग गया । बहुत दिनों से उसका मन कभी इस प्रकार उमड़कर नहीं आया था । उसके पुत्र बड़े हो गये थे । उनका शैशव बहुत पीछे छूट गया था । अब वे ऐसी अबोध और प्यारी बातें नहीं करते थे । उनका जीवन तो जैसे अब क्रीड़ास्थल न रहकर युद्धभूमि हो गया था ।...

कुंती ने दोनों हाथ बालक की ओर बढ़ा दिये । शैशव उसके पास आ गया ।

"हम भी तुमसे बहुत प्रेम करेंगे वत्स !" कुंती बोली, "मेरे ये पुत्र बड़े हो गये हैं न ! इनके पास संसार के बहुत सारे काम और बहुत सारी चिंताएँ हैं । ये लोग अपने काम पर चले जायें, तो फिर मैं तुम्हारे साथ खेलूँगी ।"

"तो मैं जाऊँ क्या ?" शैशव ने पूछा, "दीदी ने कहा था कि उन्हें काम हो तो तुम लौट आना ।"

कुंती ने अनायास ही बच्चे का चुंबन लिया, "नहीं मेरे लाल ! ऐसा कोई काम नहीं है मेरे पास ! तुम बैठो । मैं देखती हूँ, मेरे पास तुम्हारे खाने के लिए कुछ है या नहीं ।"

कुंती ने उसे गोद से उतारकर भूमि पर बैठा दिया और स्वयं रसोई की ओर चली।

बालक की ओर कुंती की पीठ होते ही, भीम ने उसे हाथ के संकेत से अपनी ओर बुलाया।

बालक बिना कुछ बोले, आकर उसके निकट खड़ा हो गया।

"मेरे साथ खेलोगे ?" भीम ने पूछा।

बालक ने सहमति में सिर हिला दिया तो भीम ने पूछा, "क्या खेलोगे ?" और बालक के उत्तर देने से पहले ही भीम पुनः बोला, "मैं एक बहुत अच्छा खेल खेलता हूँ—सोने का खेल ! मेरे साथ लेट जाओ। हम लोग चादर ओढ़ लेंगे और आँखें मूँद लेंगे। सब लोग समझेंगे कि हम सो रहे हैं; और वास्तव में हम सो नहीं रहे होंगे। कैसा बढ़िया खेल, है न ! कंदुक-क्रीड़ा के समान इसे निद्रा-क्रीड़ा कहते हैं। खेलोगे ?"

"हाँ !" बालक ने कहा और तत्पर मुद्रा में भीम के और भी निकट खिसक आया।

भीम ने उसे उठाकर अपने साथ लेटा लिया।

"आँखें मूँद लो।" भीम धीरे से बोला, "कोई पुकारे, तो भी उत्तर मत देना। हम लोग निद्रा का खेल खेल रहे हैं। सोते हुए कोई बोलता थोड़ी है।"

बालक ने सहमति में सिर हिला दिया और आँखें मूँद लीं।

भीम ने उसे चादर ओढ़ा दी।

कुंती लौटकर आयी तो बालक वहाँ नहीं था। युधिष्ठिर, अर्जुन, नकुल और सहदेव भी कक्ष में नहीं थे। केवल भीम ही पड़ा खर्राटे ले रहा था।

कुंती को थोड़ा आश्चर्य हुआ : बालक कहाँ चला गया ? किंतु तत्काल ही मन में आया, कदाचित् किसी को अपनी ओर ध्यान न देते देख, वह चला गया होगा।

कुंती अपने काम में लग गयी।

थोड़ी देर में विद्या आयी, "मौसी ! क्या शैशव यहाँ है ?"

"आया तो था; किंतु जाने फिर कहाँ चला गया !" कुंती ने कहा।

"किंतु वह घर तो नहीं पहुँचा !"

कुंती को भी चिंता हुई। सहसा उसकी दृष्टि भीम पर टिक गयी : कहीं भीम ही तो अपनी कोई माया नहीं रच रहा ?...

"मध्यम !" कुंती ने जाकर भीम को हिलाया, "मध्यम !"

भीम ने अपनी उनींदी आँखें खोलीं, "सोने दो न माँ !"

"शैशव कहाँ है ?" कुंती ने पूछा।

भीम ने आँखें खोल दीं : चिंतित माँ और पीछे खड़ी गंभीर विद्या को देखा। सहसा उसने इस खेल को आगे न बढ़ाने का निर्णय कर लिया।

"खेल रहा है !" उसने कहा।

"कहाँ ? किसके साथ ?"

"मेरे साथ !"

और शैशव ने चादर उलट दी, "दीदी ! हम निद्रा-निद्रा खेल रहे हैं।"

"ओह !" विद्या बोली, "चल ! माँ बुला रही हैं।" वह कुंती की ओर मुड़ी, "मौसी !

नगर में इतने प्रकार के अपराधों के समाचार उड़ते फिरते हैं कि शैशव कुछ क्षणों को भी दिखायी न पड़े तो हमें चिंता होने लगती है।"

"कैसे समाचार ?" भीम भी उठ बैठा।

"लोग बच्चों का अपहरण कर लेते हैं।"

"क्यों ?"

"जाने क्या-क्या करते हैं !" विद्या बोली, "कोई कहता है कि उन्हें पंगु बनाकर उनसे भिक्षा मँगवाते हैं। कोई कहता है, उन्हें विदेशों में दासों के रूप में बेच देते हैं। उनको मार-मारकर काम करवाते हैं। उन्हें खाने को कुछ नहीं देते। कभी-कभी अपदेवताओं को बलि चढ़ाने के लिए उनकी हत्या कर देते हैं। और कोई-कोई तो यहाँ तक कहता है कि उनकी हत्या कर उनका मांस खा लिया जाता है।"

"नर-भक्षी भी हैं यहाँ ? इस नगर में ?"

"मुझे मालूम नहीं ! मैं तो सुनी-सुनायी बातें कह रही हूँ।" विद्या ने शैशव का हाथ थाम लिया।

भीम पर जैसे इन सूचनाओं का विशेष प्रभाव नहीं हुआ। उसने शैशव का हाथ पकड़कर कहा, "मित्र ! इस समय तो हमारा खेल अधूरा ही रह गया। हम फिर खेलेंगे।"

"और वे जो बालकों का अपहरण करते हैं ?" शैशव के चेहरे पर भय की छाया थी।

"हम उनका अपहरण करेंगे।" भीम हँसा।

"अपहरण करके क्या करेंगे ?" शैशव ने पूछा।

"पीट-पीटकर उनकी दुष्टता छुड़ायेंगे।" भीम बच्चों के समान किलकारी मारकर हँसा, "उन्हें घोड़ा बनाकर उनपर सवारी करेंगे। उन्हें गर्दभ बनाकर उनपर सामान लादेंगे··· ।"

"और उनको मारकर उनको खा जायेंगे।" शैशव ने ताली बजायी।

"नहीं !" भीम बोला, "हम लोग राक्षस नहीं हैं। ऐसा काम हम नहीं करेंगे। हम केवल उनकी दुष्टता छुड़ायेंगे। हम स्वयं दुष्ट नहीं बनेंगे।"

कुंती को चिंता होने लगी थी : भीम अत्यंत वाचाल है; और इस समय तो वह शैशव का मित्र बना हुआ है—स्वयं भी साक्षात् अबोध शैशव ! अपनी असावधानी में कहीं कुछ ऐसा न कह जाये···

"मौसी ! क्या सचमुच राक्षस होते हैं, जो नर-मांस खाते हैं ?"

"सुना तो मैंने भी है पुत्रि !" कुंती ने उसे टाला।

"कैसे होते हैं वे ?" विद्या ने अपनी जिज्ञासा आगे बढ़ायी, "क्या उनके सिर पर सींग होते हैं ? क्या उनका आकार बहुत बड़ा होता है ? क्या उनकी दाढ़ें मुख से बाहर निकली हुई होती हैं ?"

कुंती कुछ कहती, उससे पहले ही भीम बोला, "नहीं ! यह आवश्यक नहीं है। राक्षस तो कई प्रकार के होते हैं। कहीं-कहीं तो वे राजाओं का-सा मोहक वेश बनाये, राजप्रासादों में रहते हैं; किंतु अपने स्वार्थ के लिए, अपने ही जैसे दूसरे मनुष्यों की सुख-सुविधाएँ भी छीन सकते हैं, उन्हें विभिन्न प्रकार की यातनाएँ भी दे सकते हैं; उनकी हत्या भी कर सकते हैं, उन्हें जीवित जला भी सकते हैं।"

"मुझे तो लगता है कि हमारी नगरी का राजा भी राक्षस ही है।" विद्या बोली।

"माँ !"··· नकुल भीतर आया; किंतु विद्या को देखकर रुक गया।

विद्या ने एक बार उसकी ओर देखा। उसके चेहरे पर बड़ी त्वरित गति से हार्दिक उल्लास, संकोच और फिर कुछ घबराहट के भाव क्रमशः उभरे; और जैसे वहाँ से तत्काल भाग जाने का निर्णय कर उसने शैशव का हाथ पकड़ लिया, "चलती हूँ मौसी !"

बाहर जाने के लिए नकुल घर से निकला तो पीछे से विद्या ने पुकारा, "रुकिए ! मुझे भी उधर ही जाना है।"

नकुल चकित-सा खड़ा रह गया। उसने पहले तो कभी विद्या की ओर ध्यान ही नहीं दिया था; किंतु अकस्मात् ही उसने देखा कि जब कभी भी संयोग से वह किसी ऐसी जगह पहुँच जाता है, जहाँ विद्या वर्तमान होती है, तो वह तत्काल किसी-न-किसी बहाने वहाँ से हट जाती है। फिर उसने देखा कि उसका भागना बंद हो गया था और वह किसी-न-किसी छोटे-मोटे कारण से उससे कुछ बातें करने को उत्सुक दिखायी पड़ती थी। और आज··आज उसने किसी अत्यंत आत्मीय व्यक्ति के समान उसे पुकारकर रोक लिया था।···

उसे अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। विद्या थोड़ी देर में ही भागती-दौड़ती आ गयी और वह चल पड़ा। यह बात उससे छुपी नहीं रह सकी कि वह बहुत त्वरा में तैयार हुई है। वेणी में पुष्प भी नहीं गूँथ पायी थी और उन्हें हाथ में लेकर ही आ गयी थी।

"क्या बात है ?" नकुल ने पूछा।

"मुझे उधर ही जाना था।" विद्या बोली, "सोचा, आपके साथ ही चली चलती हूँ पर आप तो बहुत जल्दी चल पड़े। मैं अभी तैयार भी नहीं थी। सहसा उसने बड़े अटपटे ढंग से पुष्प नकुल की ओर बढ़ा दिये, "मैं वेणी में पुष्प भी नहीं गूँथ पायी। लीजिए, अब आप ही खोंस दीजिए।···"

नकुल ने पुष्प पकड़ लिये; किंतु उसके मन में जैसे संकट की कोई चेतावनी जाग उठी: यह लड़की अबोध है ? मूर्ख है ? अत्यंत धूर्त है ?···अथवा एक अबोध लड़की की मूर्खतापूर्ण योजना है ? फिर भी नकुल के काँपते हाथों ने अपने विवेक के निषेध की छाया में किसी लौकिक सुख की लालसा में वे पुष्प, विद्या की वेणी में अपरिष्कृत ढंग से खोंस ही दिये।

सहसा उसका विवेक कुछ प्रबल हुआ, "तुम्हें किधर जाना है ?"

"उधर ही, जिधर आपको जाना है।"

"पर मैंने तो अभी तुम्हें बताया ही नहीं है कि मैं किधर जा रहा हूँ; फिर··"

"कोई बात नहीं। मुझे आपके साथ ही जाना है।" विद्या ने कुछ धृष्ट मुस्कान के साथ कहा, "आपको ये लोग कभी नाम से नहीं पुकारते। मुझे आज तक आपका नाम ही मालूम नहीं हुआ।"

नकुल ने उसे देखा : उसके अपने मन में तो कभी यह समस्या उठी ही नहीं थी। वस्तुतः एकचक्रा में किसी ने उसका नाम कभी पूछा ही नहीं था। सब लोग अपने-अपने संबोधनों से अपना काम चला लेते थे।

"वस्तुतः शिव और विष्णु के समान मेरे भी अनेक नाम हैं।" उसने क्रीड़ाशील स्वर में कहा, "लोग अपनी-अपनी रुचि से मुझे पुकार लेते हैं। तुम्हारी रुचि जिस नाम में हो, तुम

उसी से मुझे पुकार लो।"

"कौन-कौन-से नाम हैं आपके ?" विद्या ने कुछ आश्चर्य से पूछा, "मैंने तो कभी कोई सुना ही नहीं है।"

"सुने तो तुमने हैं," नकुल को इस क्रीड़ा में रस आने लगा था, "पर तुमने कभी उसपर ध्यान ही नहीं दिया !"

"अच्छा !" विद्या का आश्चर्य, अभी भी कम नहीं हुआ था, "कौन-से हैं ?"

"माँ मुझे 'पुत्र' कहकर पुकारती हैं। ज्येष्ठ और कनिष्ठ मुझे 'अनुज' कहते हैं। मध्यम मुझे 'मूर्ख' कहते हैं। लोग 'ब्राह्मण' या 'आर्य' कहकर संबोधित करते हैं...।"

विद्या जैसे उसपर रीझ-रीझ गयी। आँखों में मद भरकर उसने पूछा, "मैं इनमें से क्या कहकर पुकारूँ ?"

"जो तुम्हारी इच्छा।"

"यदि किसी नये ही नाम से पुकारूँ ?"

"पुकारो।"

"आपको स्वीकार्य होगा ?"

"नाम तो स्वीकार कर लूँगा; किंतु वह विशेषण भी मुझे स्वीकार हो, यह आवश्यक नहीं।" नकुल भी हँसा, "मध्यम मुझे 'मूर्ख' कहते हैं, तो आवश्यक तो नहीं कि मैं स्वयं को मूर्ख मान ही लूँ।"

"अच्छा ! आपके किसी भी भाई का अभी विवाह क्यों नहीं हुआ ?" सहसा विद्या ने विषय बदल दिया, "क्या आप लोगों की रुचि गृहस्थाश्रम में नहीं है ?"

"रुचि तो सबकी है; किंतु अभी किसी कन्या ने अपने स्वयंवर में हममें से किसी को जयमाला पहनायी नहीं है।" नकुल हँसा, "एक रीझी थी मध्यम पर; किंतु वह हमें पसंद नहीं आयी।"

विद्या कुछ गंभीर हो गयी, "आप स्वयंवर की बातें कर रहे हैं। क्या आप राजकुमार हैं ?"

नकुल डरा, कहीं उसका परिहास कोई गंभीर रूप धारण न कर ले, "हम तो स्वयं को राजकुमार ही समझते हैं, लोग चाहे हमें निर्धन ब्राह्मण समझें।" अपनी बात को गंभीरता से दूर रखने के लिए वह जोर से हँसा।

विद्या उसके साथ हँस नहीं सकी। वह पूरी गंभीरता से आँखों में प्रशंसात्मक भाव लिये हुए, नकुल को देखती रही, "लगते तो आप मुझे भी राजकुमार ही हैं। उससे कम आप कुछ हो ही नहीं सकते।...किंतु विवाह आप किसी राजकुमारी से ही करेंगे, या जिस ब्राह्मण-कन्या से विवाह करेंगे, उसे राजकुमारी मान लेंगे ?"

नकुल कुछ अटपटा गया। वह समझ नहीं पा रहा था कि वह विद्या की बातों को गंभीरता से ग्रहण करे अथवा परिहास की अपनी मुद्रा बनाये रखे। विद्या किसी विशेष प्रयोजन से तो यह सब नहीं कह रही ?...

"दोनों बातें हो सकती हैं।" नकुल हँसा, "या तो कोई राजकुमारी मुझे राजकुमार मान ले, या फिर मैं ही किसी कन्या को राजकुमारी मान लूँ।"

विद्या तत्काल कुछ नहीं बोली। मर्मभरी दृष्टि से उसे देखती रही। उसकी आँखों में जाने क्या-क्या था, जैसे वह जो कुछ कहना चाह रही हो, उसे स्वयं ही रोक रही हो; और जो कुछ

न कहना चाह रही हो, वह सब कोई उससे बरबस कहलवा रहा हो।

"आप मुझे राजकुमारी मान लेंगे तो क्या मैं राजकुमारी बन सकूँगी ?...या क्या आप मुझे राजकुमारी मान सकेंगे ?" अंततः वह धृष्ट होकर बोली।

नकुल पुनः एक द्वंद्व में फँस गया : यदि वह कहे कि वह उसे राजकुमारी नहीं मान सकता, तो क्या वह स्वयं को अपमानित पायेगी ?...या वह कहे कि वह उसे भी राजकुमारी मान लेगा तो क्या...

सहसा विद्या की छवि बदली, "राजकुमारी से क्यों विवाह करना चाहते हैं आप ? क्या राज्य प्राप्त करने के लिए ? राजकन्या के विवाह में यौतुक के रूप में राजा, राज्य भी दे ही दे—यह आवश्यक तो नहीं है।"

नकुल को लगा, उसका परिहास ही नहीं, उसका सारा वार्तालाप ही जैसे कलुषित रूप धारण कर गया हो। विद्या के ये प्रश्न अब मात्र जिज्ञासाएँ नहीं थीं—ये तो आरोप थे। यदि नकुल इन आरोपों का प्रतिकार नहीं कर पायेगा, तो उसकी कैसी छवि होगी विद्या की आँखों में ? उसके मन में ? उसके परिवार वाले तथा अन्य लोग क्या मानेंगे ?...यही कि नकुल एक अत्यंत लोभी युवक है। वह धन-वैभव के लिए जीवन में किसी से कोई भी संबंध स्थापित कर सकता है। उसके लिए न संबंध महत्वपूर्ण है, न व्यक्ति। वह तो किसी भी प्रकार वैभव प्राप्त करना चाहता है।...वह विवाह के व्याज से किसी भी मूर्ख राजकन्या को अपनी मोहिनी में फँसाकर, उसके पिता के राज्य का निगरण कर लेना चाहता है।...किंतु इन आरोपों से बचने के लिए, वह यह भी नहीं कहना चाहता था, कि वह सब तो उसका परिहास था। वह तो किसी भी साधारण कन्या से विवाह कर लेगा।...यदि उसने ऐसा कुछ कह दिया, तो उसकी एक और विकृत छवि उभरेगी, विद्या के मन में।...

"तुम शायद गंभीरता से यह सब पूछ रही हो; और मैं यूँ ही विनोदी भाव से, सब कुछ कहता जा रहा था।" नकुल इस बार पूर्णतः गंभीर था, "किंतु इस विषय पर यदि विचार किया जाये, तो मैं समझता हूँ कि राजकन्या का अर्थ मात्र किसी राजा की पुत्री होना ही है; उसके साथ संस्कार जुड़े हैं; एक जीवन-पद्धति जुड़ी है; रूप, गुण और ज्ञान की एक न्यूनतम मात्रा निश्चित है।"

"क्या आप मुझे यह सब सिखायेंगे, तो मैं सीख नहीं जाऊँगी ? राजकुमारी कोई आकाश से तो उतरती नहीं। वह भी तो हम जैसी ही हाड़-मांस की मानवी होती है।"

नकुल समझ नहीं पा रहा था कि वह प्रश्नों की सँड़सी की इस फाँस में से कैसे निकले ?...अपने ही शब्दों से जैसे उसे भय लगने लगा था। कहीं उसके शब्द उसका अपना यथार्थ प्रकट करने की धमकी देते थे; और कहीं उसे लगता था कि वह विद्या का अपमान न कर बैठे। उसके मन को आहत न कर दे... वह उसे न आहत करना चाहता था, न अपमानित...न वह झूठ बोलना चाहता था, न वह सत्य बोल सकता था...किंतु विद्या को यह सब विवाद करने की क्या आवश्यकता थी ?...

विद्या की आवश्यकता उसकी समझ में नहीं आयी; किंतु अपना शिष्ट आचरण वह नहीं छोड़ सकता था, "तुम भी सब कुछ सीख सकती हो विद्या ! मानव-मात्र में सीखने की असंख्य संभावनाएँ हैं। तुममें भी हैं। अंतर केवल इतना ही होता है कि किसी की सीखने की इच्छा ही नहीं होती, किसी ने सीखना आरंभ नहीं किया होता, कोई सीखने की प्रक्रिया में होता है;

और कोई सीख चुका होता है । यात्रा के आरंभिक स्थल पर खड़े और यात्रा समाप्त कर चुके व्यक्ति में बहुत अंतर होता है ।…" वह रुक गया, "यहाँ से मैं वन की ओर जाऊँगा । तुम किधर जाओगी ?"

विद्या का आनन सदा के समान सहज प्रफुल्लित नहीं था । वह क्लांत ही नहीं, हताश लग रही थी । उसे कुछ क्षण लगे और वह निर्णय कर बोली, "जब आपको मेरे साथ नहीं चलना है, तो मैं किसी भी मार्ग पर चलूँ, इसकी चिंता आप क्यों करते हैं !"

उसने नकुल की ओर देखा भी नहीं और मुड़ गयी ।

नकुल कुछ समझ रहा था; और कुछ नहीं भी समझ रहा था । जाने विद्या क्या चाहती थी ! किंतु नकुल उसे पीड़ित करने से ही तो, अब तक बच रहा था । पता नहीं वह बच पाया या नहीं !

अपराह्न में कुंती कूप पर जल भरने गयी । अभी उसने एक ही घट खींचा था कि सरस्वती कटि पर भाजन रखे हुए, जल भरने के लिए आयी ।

"आज तुम आयी हो सरस्वती ?" कुंती को कुछ आश्चर्य हुआ, "जल के लिए तो विद्या आया करती है न !"

"हाँ ! वही आया करती है ।" सरस्वती के अधरों पर बड़ी मीठी मुस्कान थी, "किंतु आज वह कुछ अस्वस्थ है ।"

"अस्वस्थ है ?" कुंती चौंकी, "प्रातः तक तो पूर्णतः स्वस्थ थी । मेरे चौथे पुत्र के साथ ही तो बाहर गयी थी ।"

"हाँ ! गयी तो थी । और वहीं से तो अस्वस्थ होकर लौटी है ।" सरस्वती के चेहरे पर तनिक भी चिंता नहीं थी, पुत्री की अस्वस्थता की । वह तो जैसे बहुत उल्लसित होकर सूचना दे रही थी, "पर तुम अपने पुत्रों को नामों के स्थान पर संख्या से क्यों पुकारती हो दीदी ! नामकरण नहीं किया क्या उनका ? चौथे का नाम क्या है ?"

इस आकस्मिक प्रश्न से कुंती जैसे अचकचा गयी, "नाम क्यों नहीं रखे ! उसका नाम… बकुल है उसका नाम !"

"नाम तो सुंदर है । साक्षात् महादेव शिव का नाम । तो इस नाम से तुम लोग उसे संबोधित क्यों नहीं करते ?"

"बस, यूँ ही ! आरंभ से ही कुछ ऐसा अभ्यास हो गया है ।" कुंती ने इस विषय को टाला, "क्या हुआ है विद्या को ?"

"बहुत चिंता है तुम्हें विद्या की !" सरस्वती पुनः मुस्करायी ।

"क्यों नहीं ! इतनी प्यारी बच्ची है । हर समय तो मौसी-मौसी कहकह मुझे घेरे रहती है । दिन भर में कितने ही तो काम कर देती है मेरे । उसकी चिंता किसे नहीं होगी ?"

"दीदी ! क्या तुम्हें अच्छा लगता है कि वह दिन भर तुम्हारे पास रहे ? तुम्हारे काम कर दिया करे ? तुमसे बातें करे ?…" सरस्वती जैसे अपनी बात को उद्घाटित भी कर रही थी और उस पर आवरण भी डाल रही थी, "तुम्हें वह अच्छी तो लगती है-न ?"

"बहुत अच्छी लगती है ।" कुंती बोली, "किसे अच्छी नहीं लगेगी ! इतनी सुघड़ है और

इतनी मधुर । तुम तो सौभाग्यशालिनी हो कि तुम्हें ऐसी पुत्री मिली । पुत्रियों की तो घर में शोभा ही कुछ और होती है ।…"

कुंती जैसे अपने पिता कुंतिभोज के ऑगन में पहुँच गयी थी । वे प्रायः कहा करते थे : 'कुंती ! तेरे बोलते ही जैसे राजप्रासाद का आँगन उद्यान में बदल जाता है ।…'

"हाँ ! पुत्रियों से घर की शोभा तो होती है ।" सरस्वती का स्वर अब जैसे कुछ बोझ उठाये हुए था, "किंतु उनका दायित्व ! और वह भी एकचक्रा जैसी इस नगरी में ! हर समय चिंता ही लगी रहती है । लड़की को अकेली न बाहर भेज सको, न घर में छोड़ सको । घर में छोड़ो तो लोग झाँकें; मार्ग पर चलती देखें तो आवाज़ें कसें । किसी दिन कोई ऊँच-नीच हो जाये तो जीवन-भर माता-पिता अलग रोएँ और लड़की अलग । पुत्री तो वह अग्नि है दीदी, जिसे न ऑचल की ओट रख सको, और न निकालकर मार्ग पर फेंक सको । किस पर विश्वास करो । अच्छे-अच्छे भले मानस का चोला हटे तो पता चले कि लुच्चा-लंपट ही है । धनी-धोरी, ज्ञानी-विद्वान्, ऊँचे-ऊँचे पदों पर बैठे सत्ताधारी—सब एक से बढ़कर एक हैं । जिसका आवरण न हटे, वही भला आदमी है । कुँवारी कन्या की तो रक्षा ही कठिन है । और विवाह की बात सोचो तो यौतुक का पिशाच मुँह बाये खड़ा है । हमसे तो वे ही अच्छे है, जो शुल्क लेकर कन्यादान करते हैं । क्षतिपूर्ति भी होती है और यौतुक की भी चिंता नहीं करनी पड़ती ।…"

सरस्वती बोलते-बोलते वैसे ही चुप हो गयी, जैसे कोई दौड़ता-दौड़ता हाँफकर सहसा ही खड़ा हो जाये ।

"ठीक कहती हो बहन !" कुंती धीरे से बोली, "जीवन में सबकी अपनी-अपनी समस्याएँ है । राजा हो या रंक । कोई-न-कोई संकट सबके ही सामने खड़ा है ।"

कुंती ने सरस्वती को देखा : वह बेचारी मार्ग भूल गयी मृगी के समान बौराई-सी खड़ी थी । कदाचित् समझ नहीं पा रही थी कि उसे क्या कहना था और वह क्या कह गयी । बात का सूत्र न केवल उसके हाथ से छूट गया था, वरन् कहीं उलझ भी गया था । न वह अपना पुराना सूत्र खोज पा रही थी; और न ही उसे कोई नया सिरा दिखायी पड़ रहा था…

कुंती के मन में दया उमड़ी । कैसी कठिनाई में है बेचारी ! यदि कहीं कुंती उसकी कोई सहायता कर पाती…

"विद्या को क्या हुआ है बहन ?" कुंती ने जैसे मात्र बात आरंभ करने के लिए पूछ लिया ।

सरस्वती को सहारा मिला । बोली, "कोई विशेष बात नहीं है । प्रत्येक वय की अपनी असफलता और हताशा होती है । वह भी अपने वय की आशाओं-निराशाओं से जूझ रही है ।…" और सहसा जैसे उसने अपनी सारी शक्ति को समेटकर कहा, "दीदी ! तुमसे एक बात कहूँ, बुरा तो न मानोगी ?"

"ऐसी कौन-सी बात कहने जा रही हो, जिसका मैं बुरा मानूँगी !" कुंती हँसी, "तुम्हारी कृपा से तो हम आकंठ निमज्जित हैं । हम आश्रित हैं तुम्हारे । तुमने आश्रय न दिया होता, तो जाने हम कहाँ-कहाँ भटक रहे होते !"

"ऐसा न कहो दीदी !" सरस्वती बोली, "हमारे मन में ऐसा कोई भाव नहीं है । तुम पर कृपा तो भगवान वेदव्यास की है । मैं चाहती हूँ कि हम पर तुम्हारी कृपा हो जाये ।"

"कहो बहन ! क्या कहती हो ?"

सरस्वती ने जैसे अंतिम वार अपना आत्मवल एकत्रित किया और वोली, "विद्या तुम्हें इतनी प्रिय है। उसे अपनी पुत्रवधू के रूप में स्वीकार करो। सदा तुम्हारे निकट रहेगी। तुम्हारी सेवा करेगी…।"

कुंती अवाक् खड़ी रह गयी। उसने तो कभी इस दिशा में सोचा ही नहीं था। वे लोग तो अपने संकटों में ही इतने उलझे हुए थे। अपने प्राणों की रक्षा और अपने अधिकारों को प्राप्त करने का संघर्ष ही इतना जुझारू था कि उसने कभी सोचा भी नहीं था, उसके पाँच-पाँच पुत्र हैं; सवके-सव अव विवाह योग्य वय को प्राप्त कर चुके हैं; और उन सवका विवाह कुंती को ही करना है।…

हिडिंवा ने जव भीम से विवाह का प्रस्ताव रखा था, तव भी कुंती में एक वार यह चेतना जागी थी; किंतु न कभी उसने उस विवाह को, भीम का विवाह माना था, न हिडिंवा को अपनी पुत्रवधू! वह तो जैसे भीम ने पांडवों की सुरक्षा का मूल्य चुकाया था…

"देखो! वकुल और विद्या एक-दूसरे को प्रिय हैं।" सरस्वती वोली, "तुम्हारे संकोच के कारण चाहे वकुल ने विवाह का प्रस्ताव न रखा हो अथवा विवाह की स्वीकृति न दी हो; किंतु अपने प्रेम की स्वीकृति वह दे चुका है। विवाह के इस प्रस्ताव से वह भी सहमत है।"

कुंती को जैसे झटका लगा : नकुल ने उसके सम्मुख कभी चर्चा भी नहीं की थी। कभी संकेत से भी कुछ नहीं कहा था।…वड़े तो अभी शांत वैठे हैं, और यह छोटा इतना चतुर निकला है! कुंती ने स्वयं सोचा होता तो कदाचित् अभी केवल युधिष्ठिर के विवाह की वात सोची होती…किंतु नकुल का विवाह…इस ब्राह्मण-कन्या के साथ…सरस्वती उन्हें भी ब्राह्मण समझ रही है। उस अवोध को क्या पता कि यह उनका छद्म-वेश है…और नकुल…

"किस सोच में पड़ गयीं दीदी?" सरस्वती का स्वर कातर हो आया था, "मैंने कोई वहुत अनुचित वात कह दी क्या?"

"नहीं वहन! तुमने अनुचित कुछ नहीं कहा।" कुंती ने स्वयं को सँभाला, "जिसकी कन्या होगी, वह उसके लिए वर का शोध भी करेगा ही। पुत्र होंगे, तो उनके विवाह की चर्चा भी उठेगी ही।"

"फिर?" सरस्वती के प्राण जैसे उसके कंठ में अटके हुए थे, जाने कुंती क्या उत्तर दे!…

"वहन! मेरी वात से अपना मन छोटा न करना, न ही हमारे प्रति अपने स्नेह को कुंठित करना, न मेरा अविश्वास करना…।"

"क्या वात है दीदी? तुम्हें विद्या प्रिय नहीं है?"

"यह वात नहीं है सरस्वती!" कुंती ने अत्यंत स्नेहपूर्वक उसके कंधे पर हाथ रखा, "भगवान वेदव्यास ने तुम्हारे पति को वताया ही है कि हम परदेसी लोग हैं।…इसका अर्थ समझती हो न?…" कुंती ने उसकी ओर देखा।

सरस्वती ने स्वीकृति में सिर हिला दिया।

"इसका अर्थ है कि हम किसी संकट में हैं; किसी कठिन स्थिति में फँसे हैं। इस समय हमारे पास अपना कुछ भी नहीं है। न घर, न ठिकाना। न धन, न संपत्ति। ऐसे में अपने पुत्रों के विवाह की वात भी मैं कैसे सोच सकती हूँ। विवाह के लिए हमें कहीं अपना स्थान वनाना होगा। अपने संवंधियों को सूचना देनी होगी, उन्हें आमंत्रित करना होगा।…क्या ऐसा नहीं हो सकता वहन, कि अभी तुम इस वात को भूल ही जाओ; हमारे अच्छे दिन लौट आयें, तव तुम

चाहोगी तो हम इस संबंध के विषय में अवश्य सोचेंगे ।···"

सरस्वती का असमंजस उसकी आँखों में भी था और चेहरे पर भी ! किंतु उसने तत्काल अपनी आँखें पोंछ लीं और स्वीकृति में सिर हिलाती हुई बोली, "वैसे तो तुमने ठीक ही कहा है दीदी, पर ठिकाना तो हमारे पास है ही । जहाँ हम रहते हैं, क्या हमारा जमाता वहीं नहीं रह सकता ?"

"क्यों नहीं रह सकता !" कुंती मधुर ढंग से मुस्करायी, "तुम अपने जामाता को तो रख लोगी; किंतु मेरे तो पाँच पुत्र हैं । मुझे तो उन सबके विषय में सोचना है । और फिर बकुल तो मेरा चौथा पुत्र है । तीन उससे बड़े हैं । उनके अविवाहित रहते हुए मैं बकुल के विवाह की बात कैसे सोच सकती हूँ !"

"ठीक कहती हो दीदी !" सरस्वती ने घट उठा लिया, "मुझे तो तुम्हारा कोई भी पुत्र जामाता के रूप में स्वीकार होता; किंतु विद्या को बकुल ही पसंद है । शेष के प्रति उसका स्नेह भगिनी-समान ही है ।"

"तुम इसे अपनी अवहेलना मत समझना बहन !" कुंती ने विनती की ।

"नहीं ! मैं तुम्हारी बात समझती हूँ दीदी !"

सरस्वती चली गयी ।

संध्या समय नकुल घर लौटा तो जैसे कुंती उसकी प्रतीक्षा में ही बैठी थी ।

"क्यों रे ! यह मैं क्या सुन रही हूँ ?" कुंती बोली, "अब मेरे पुत्र मुझे नहीं बतायेंगे कि उनके मन में क्या है; और वे क्या सोचते हैं; क्या चाहते हैं; क्या करते हैं—ये सारी सूचनाएँ भी मुझे घर के बाहर से मिलेंगी ?"

"मुझसे कुछ कह रही हो माँ ?" नकुल ने पूछा ।

"तो और किससे कह रही हूँ !" कुंती बोली, "और इससे पहले कि मैं यह भूल जाऊँ, तुम्हें यह सूचना भी दे दूँ कि अपने आश्रयदाता ब्राह्मण परिवार को मैंने तेरा नाम बकुल बताया है । यह न हो कि वे तुझसे भी पूछें और तुम अपना नाम कुछ और बता दो ।"

नकुल को आश्चर्य हुआ । आज ही विद्या ने भी उससे उसके नाम की चर्चा चलायी थी; और आज ही माँ ने भी उन्हें एक नया नाम बता दिया । अच्छा ही हुआ कि उसने विद्या को अपना कोई नाम नहीं बताया था; नहीं तो कोई-न-कोई समस्या उठ खड़ी होती ।

"मैंने ऐसा क्या किया माँ, जिसके कारण ऐसे उपालंभ दे रही हो ?"

कुंती का स्वर धीमा हो गया, "मेरे निकट आ !"

उसने युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और सहदेव को भी संकेत से निकट बुला लिया, "आज अपराह्न में सरस्वती ने मुझे बताया कि तुम और विद्या एक-दूसरे से प्रेम करते हो !"

"मैं और विद्या ?" नकुल का श्वास जैसे उसके कंठ में ही रुक गया; और क्रमशः उसे लगा कि अब वह समझ पा रहा है कि प्रातः विद्या जो कुछ पूछ रही थी, उसका अर्थ क्या था।··· "पर माँ ! मेरे मन में तो ऐसा कुछ नहीं है; और न ही मैंने ऐसा कुछ कहा है···मेरा विश्वास करो माँ !" माँ द्वारा विश्वास न किये जाने की संभावना से ही नकुल इतना कातर हो उठा था ।

"मुझे तुम पर पूर्ण विश्वास है मेरे लाल !" कुंती धीरे से बोली, "मेरे लिए यह जीवन उस क्षण से जीने योग्य नहीं रह जायेगा, जब मैं अपने पुत्रों पर ही संदेह करने लगूँगी। फिर भी तुमसे पूछती हूँ पुत्र, कि यदि ऐसी कोई बात हो, जो तुम मुझे संकोचवश नहीं बता रहे हो, तो बता दो।"

"ऐसी कोई बात नहीं है माँ !"

"तो फिर पुत्र ! तनिक सोचो कि तुम्हारे व्यवहार में ऐसा क्या था, जिससे उन्होंने यह धारणा बनायी है; अथवा क्या यह उनकी अपनी इच्छा का ही साक्षात् प्रतिरूप है ?"

नकुल को लगा कि माँ के कहने से पहले ही उसने अपने मन में यह प्रक्रिया आरंभ कर दी थी :

"उस दिन माँ के साथ घर पर रहने की उसकी बारी थी। वह कक्ष के भीतर अध्ययन-मनन में लीन था कि रसोई में से माँ का स्वर आया। वे किसी से वार्तालाप कर रही थीं; जबकि उसके जानते, उन्हें अकेली ही होना चाहिए था। इसका अर्थ हुआ कि इस बीच कोई आकर माँ के पास बैठ भी गया और नकुल को तनिक-सी आहट भी नहीं मिली।

अपनी उत्सुकता में ही वह उठकर माँ के पास चला गया था।

विद्या, माँ के पास बैठी, पकाने के लिए शाक काट रही थी। आहट पाकर उसने आँखें उठायी थीं। उन आँखों में जाने कैसी चपलता, परिहास और निमंत्रण था कि नकुल चुप नहीं रह सकता था, "बड़ा काम हो रहा है !"

"नहीं ! मैं तो कुछ भी नहीं कर रही !" विद्या ने हाथ झाड़ दिये, "बस, यूँ ही बैठी थी।"

उसके इस वाक्य ने नकुल को और भी वाचाल बना दिया था, "कुछ नहीं कर रहीं। यह तो कोई अच्छी बात नहीं है। कुछ तो करना चाहिए। बड़ों की सहायता करनी चाहिए।"

विद्या एकदम झेंप गयी थी, जैसे कह रही हो, 'न काम करने देते हो, न खाली बैठने देते हो। किसी प्रकार जीने भी दोगे ?'

पर यह सब तो माँ के सामने ही हुआ था।...

एक किसी और दिन भी वह कक्ष में अकेला बैठा था कि विद्या आ गयी थी।

नकुल न तो अपने मनन से उबर पा रहा था, न उससे विलग होना अच्छा लग रहा था।... और विद्या थी कि सामने खड़ी थी। वह कह कुछ नहीं रही थी; किंतु उसकी आँखों से, कपोलों से, अधरों से जैसे मुस्कान के असंख्य निर्झर फूटे पड़ रहे थे...

"क्या है ?" नकुल ने पूछा था।

"आप स्वयं नहीं समझ सकते ? मुझसे ही पूछना क्यों आवश्यक है ?" वह फिर भी मुस्कराए ही जा रही थी।

"मैं कुछ नहीं समझता !"

"अ-ऑं ! बड़े आये, कुछ नहीं समझने वाले !" उसने आँखें नचायी थीं, "युवकों का तो आपमें कोई गुण है ही नहीं; युवती हैं, आप तो युवती।"

नकुल अपनी झल्लाहट में कुछ समझ नहीं पाया था कि वह क्या कह रही है...पर इतना

उसने सुना ही था कि वह उसे 'युवती' कह रही है।...

वह अपने स्थान से उठा, "अभी बताता हूँ, कैसा युवक हूँ मैं।"

उसने विद्या की गर्दन अपने पंजे में जकड़ ली, "मैं युवती हूँ?"

वह तनिक भी रुष्ट नहीं हुई; उल्टे मुस्कराती चली गयी।

नकुल की पकड़ कसती चली गयी। विद्या का चेहरा लाल हो गया। किंतु न तो उसका मुस्कराना कम हुआ, न ही उसने स्वयं को छुड़ाने का प्रयत्न किया। नकुल तनिक भी समझ नहीं पाया था कि इस कष्ट में उसे सुख क्यों मिल रहा था...

और फिर नकुल स्वयं ही चेत गया; क्या कर रहा है वह!

उसने विद्या की गर्दन छोड़ दी, "क्षमा करना। मैं कदाचित् अपने अधिकार की मर्यादा लाँघ गया था।"

"नहीं! आपको मुझ पर पूरा अधिकार है।" वह जैसे किसी आत्मिक आह्लाद से मुस्करायी थी।

"कंठ दबाने का भी?"

"प्राण ले लेने का भी!" उसने उत्तर दिया था।

और अपनी लजीली मुस्कान की एक दीर्घव्यापी गंध छोड़कर वह कक्ष से भाग गयी थी।

नकुल सोचता ही रह गया था कि यह अबोध ब्राह्मण कन्या तनिक भी नहीं समझती कि उसके शब्दों का अर्थ किसी और संदर्भ में भी लिया जा सकता है।...

यह सब माँ को बताना आवश्यक नहीं था; किंतु माँ से कुछ छिपाना भी उचित नहीं था। अंततः वह बोला, "ऐसी कोई विशेष बात तो नहीं है माँ! हाँ; आते-जाते सामने पड़ने पर वह मुझसे कोई-न-कोई चुहल अवश्य करती थी; और मैं भी उसे चंचल-सी पगली लड़की मान, विनोद में कोई-न-कोई उत्तर अवश्य दिया करता था। किंतु प्रेम...नहीं माँ! ऐसा कुछ नहीं है।"

कुंती समझ गयी : कुछ-न-कुछ असावधानी नकुल से भी हो गयी है। अवस्था ही ऐसी है इन लड़कों की! पर वह इस विषय में तनिक भी गंभीर नहीं है।

"अच्छा, चल! भविष्य में सावधान रहना। मधुर व्यवहार को भी अनेक लोग प्रेम मान लेते हैं। तेरा रूप भी तो ऐसा मायावी है। किशोरियों के सम्मुख इसकी माया कम फैलाया कर!" कुंती के स्वर में माता का गर्व बोल रहा था, "पहले मेरा ध्यान इस ओर नहीं गया था; किंतु अब मुझे भी सावधान रहना पड़ेगा। मेरे तो पाँच-पाँच पुत्र हैं—रूप और गुणों की खान, किशोरियों के मन भी तुम लोगों पर रीझेंगे; और उनके माता-पिता की दृष्टि भी तुम पर अटकेगी। पर मैं नहीं चाहती पुत्र, कि इस अज्ञातवास में तुम लोगों में से किसी का विवाह हो। जब तक हम अपने वास्तविक रूप में प्रकट नहीं हो सकते, तब तक तुममें से, किसी के भी विवाह का क्या अर्थ? और फिर ब्राह्मण-वेश में होने के कारण तुम्हारे लिए अधिकांश प्रस्ताव ब्राह्मण-कन्याओं की ओर से ही आयेंगे। उन्हें स्वीकार करना उनके साथ कपट करना होगा।"

"ठीक है माँ! हम समझते हैं।" अर्जुन धीरे से बोला।

"तुम सब सहमत हो न ?" केवल अर्जुन के आश्वासन से कुंती संतुष्ट नहीं थी। उसने एक-एक कर, अपने सारे पुत्रों को देखा।

सब ने ही माँ से सहमति जतायी।

"दो-एक बातें और भी हैं पुत्र !" कुंती जैसे आज इस विषय पर संपूर्णतः विचार कर लेना चाहती थी, "मैं नहीं चाहूँगी कि बड़े भाई के अविवाहित रहते, छोटे का विवाह हो। लोग मुझसे पूछें कि ज्येष्ठ में क्या दोष था कि उसके अविवाहित रहते, कनिष्ठ का विवाह हो गया ? या कोई पूछे बिना ही मान ले कि ज्येष्ठ भ्राता दूषित ही रहा होगा।...भीम ने हिडिंबा के साथ विवाह किया; किंतु एक तो वह आर्य-विवाह नहीं था, दूसरे वह विपत्तिकाल था। मैंने हिडिंबा पर दया की, किंतु वह कुरुकुल की वधू नहीं बन सकती थी। उसने मेरी बड़ी सेवा की है; किंतु उसने भीम की पत्नी होते हुए भी कुरुकुल की वधू बनना नहीं चाहा। संभव है कि उनके समाज में विवाह-संबंध, स्त्री तथा पुरुष तक ही सीमित रहता हो—परिवार से उसका कोई संबंध ही न हो।... फिर भी उसे इस प्रकार त्याग कर आने का मुझे दुख है।" कुंती ने भीम की ओर देखा, "तुम्हें भी दुख होगा पुत्र ?"

"हाँ, माँ ! वह मेरी पत्नी है—मेरे पुत्र की माता !

"ठीक है ! इस भाव के लिए मैं तुम्हारी प्रशंसा करूँगी पुत्र ! तुम उससे विवाह करके भी उसे पत्नी का सम्मान और प्रेम न देते, तो मुझे अच्छा नहीं लगता। मैं जानती हूँ कि पति से पत्नी का सम्मान न पाने की यातना क्या होती है।" कुंती का कंठ जैसे भीग आया था, "जो कुछ मैंने और माद्री ने सहा है, मैं नहीं चाहती कि संसार की कोई भी स्त्री उस यातना को सहे... मैं बहक गयी शायद !" कुंती रुक गयी..."क्या कह रही थी मैं ?"

उसने अपने पुत्रों की ओर देखा; किंतु कोई कुछ नहीं बोला। जाने वे अपने वर्तमान की समस्या में कहीं खो गये थे या अपनी माता के अतीत में डूबे हुए थे।

"हाँ ! यदि भीम हिडिंबा के साथ गृहस्थी बसाये रखना चाहता, तो उसे मुझसे तथा अपने भाइयों से विलग होकर उसी हिडिंबवन में रहना पड़ता।...आज सरस्वती भी कह रही थी कि यदि नकुल का संबंध विद्या से हो जाता है, तो वे अपने जामाता को अपने साथ रख लेंगे।..." उसने फिर एक-एक कर अपने पुत्रों को देखा, "मैं कभी नहीं चाहूँगी पुत्र, कि तुममें से कोई भी अन्य भाइयों से पृथक् हो। मैं जानती हूँ कि एक बार कोई भाई विलग हो जाये, तो वह कभी लौटकर अपने भाइयों के पास नहीं आता...।" उसकी आँखों में न केवल अश्रु भर आये थे, उन अश्रुओं में उस नन्हे बालक का बिंब भी झलक आया था, जिसे उसने अपने पिता कुंती भोज की बाँहों में सौंपा था...

"इतनी विह्वल न हो माता !" युधिष्ठिर ने माँ को दोनों कंधों से पकड़ा, "हममें से कोई विलग होने की बात सोच भी नहीं सकता।"

"मैं जानती हूँ पुत्र !" कुंती ने अपने अश्रु पोंछ लिये, "इसीलिए तुम लोगों से कह रही हूँ। तुममें से जो भी विलग होगा, शत्रु उसे निगल जायेगा। जो स्त्री तुममें से किसी को भी, अपने भाइयों से विलग करना चाहे, जो तुम्हें तुम्हारे स्थान से उखाड़कर अपने स्थान पर कीलित करना चाहे, उसे अपना शत्रु समझ त्याग देना। इसे स्मरण रखना—कोई भी स्त्री, चाहे वह कितनी ही सुंदर हो, कितनी ही प्रभावशालिनी हो, कितनी ही धनी और वैभवशालिनी हो—वह तुम लोगों को कभी विलग न कर पाये, पृथक् न कर सके।"

"हम समझते हैं माँ !" युधिष्ठिर पुनः बोला, "ऐसा ही होगा।"

"मैं सदा तुम्हारे साथ नहीं रहूँगी। किसी के माता-पिता नहीं रहते; किंतु तुम लोग किसी भी अवस्था में, किसी भी स्थिति में एक-दूसरे का संग मत छोड़ना।"

"ऐसा ही होगा माँ ! तुम अब चिंता त्यागो और विश्राम करो।" अर्जुन ने माँ को उठने के लिए सहारा दिया।

"मुझे क्षमा करना माँ !" नकुल अश्रुपूर्ण आँखों से कुंती को देख रहा था, "मेरे कारण तुम्हें इतना कष्ट हुआ।"

कुंती ने उसके सिर पर हाथ रखा, किंतु कुछ कहा नहीं।

भीम ने आगे बढ़कर कुंती को अपनी भुजाओं में उठाया और ले जाकर शैया पर लेटा दिया। वह मुख से एक शब्द भी नहीं बोला। वह जानता था कि यदि उसने बोलने का प्रयत्न किया तो उसकी वाणी ही नहीं, अश्रु भी उसके मन का भेद प्रकट कर देंगे।

27

प्रातः कुंती को कूप पर जल भरते हुए सरस्वती मिली; किंतु आज उसके मिलने में तनिक भी उत्साह नहीं था। न उसके चेहरे पर उल्लास था, न वाणी में चुहल, न आँखों में ज्योति। बुझी-बुझी सी थी सरस्वती। एक उदासीन-से नमस्कार से अधिक वह कुछ भी नहीं बोली।

"क्या बात है बहन ?" कुंती ने छेड़ा भी।

"कुछ विशेष नहीं।" सरस्वती ने घट उठाया और चली गयी।

कुंती को अपनी यह उपेक्षा अच्छी तो नहीं लगी; किंतु उसने अपने-आपको समझा लिया : यह तो होना ही था। कितनी उत्साह से उसने विद्या के संबंध की बात कही होगी, और उसके मन में विश्वास भी रहा होगा कि यह संबंध हो ही जायेगा। कुंती की अस्वीकृति से उसकी आशाओं का सारा संसार ध्वस्त हो गया होगा। उसका अवसाद कुछ दिन तो चलेगा ही। यह भी संभव है कि वह कुंती की इस अस्वीकृति को स्वीकार न कर पाये और उन लोगों के विरुद्ध अपने मन में विरोध को पोषित कर ले। यह भी संभव है कि उन लोगों को यह आश्रम ही छोड़ना पड़े...

कुंती मन-ही-मन हँसी; जिसने राजसौध त्याग दिये, उसे इस ब्राह्मण का आश्रम त्यागने की चिंता हो रही है : कैसा होता है मनुष्य का मोह...!

अपने कक्ष में आकर कुंती सब कुछ भूल गयी। उसके पुत्रों को बाहर जाना था; और जाने से पहले उनकी अनेक आवश्यकताएँ थीं।

यह तो अच्छा था कि आज भीम की आवास पर ही रहने की बारी थी, नहीं तो वही सबसे अधिक हड़बोंग मचाता था। उसकी कोई-न-कोई क्रीड़ा हर समय चलती ही रहती थी। उसकी अथाह ऊर्जा उसे शांत बैठने नहीं देती थी।...कुंती ने उसकी वायु-पुत्र के रूप में आकांक्षा की थी, तो वायु के समान ही गतिमान था वह ! टिककर बैठ ही नहीं सकता।... किंतु माँ की सहायता भी तो कितनी करता है ! भोजन करने में उसकी जितनी रुचि थी, उतनी ही रुचि भोजन बनाने में भी थी। घर पर रहता तो कुंती को भोजन बनाने नहीं देता था। कहता, 'तुम बैठ जाओ माँ ! और बस, मुझे बताती चलो। शेष मैं सब कर लूँगा। अब तो बताने की भी

आवश्यकता नहीं रह गयी थी। वह स्वयं ही सब कुछ कर लेता था।...

चारों भाई विदा हो गये और भीम स्वाध्याय के लिए बैठ गया तो घर में कुछ शांति हुई। कुंती का मन भी कुछ स्थिर हुआ। अकस्मात् ही उसका ध्यान फिर से सरस्वती की ओर चला गया। बेचारी कितनी दुखी होगी! कन्या की माँ की चिंता...और वह भी, जिसके पास धन न हो...पर सरस्वती तो नहीं जानती कि कुंती के मन में उसके लिए कैसा भाव है। वह तो उससे रुष्ट ही हो सकती है कि कुंती ने उसका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया...हो सकता है, अब वह अपनी ओर से, कुंती से बात भी न करे। यदि कुंती भी उसे नहीं बुलायेगी, तो दोनों में अनबोला ही हो जायेगा। जितना समय बीतता जायेगा, दोनों के बीच अंतराल बढ़ता ही जायेगा। फिर कुंती चाहेगी भी तो उस खाई को पाट नहीं सकेगी। अच्छा हो कि कुंती यह अंतराल आने ही न दे। वह जाकर सरस्वती के पास बैठ जायेगी। उससे बातें करेगी। उसके बच्चों को बुलायेगी, तो सरस्वती कितनी देर तक उससे रुष्ट रह सकेगी!...

वह उठी।

"भीम !" उसने कहा, "पुत्र ! मैं तनिक ब्राह्मणी के पास जा रही हूँ। प्रयत्न करूँगी कि उसके मन का अवसाद दूर कर सकूँ।"

"अच्छी बात है माँ !" भीम बोला, "उनका रोष तो किसी प्रकार दूर कर ही दो।"

ब्राह्मण के द्वार के निकट पहुँचकर कुंती के पग रुक गये। वह शांत ब्राह्मण देवप्रसाद, अपनी पत्नी से दबने वाला पति इस समय अत्यंत दुस्साहसी हो रहा था। उसका स्वर अनपेक्षित रूप से ऊँचा था।

"तुमको सहस्रों बार कहा मैंने।" वह कह रहा था, "पर तुम क्यों मानोगी ! तब तक नहीं मानोगी, जब तक पानी सिर से ऊँचा न उठ जाये। हर बार यही करती हो कि जब तक कोई उपाय हो सकता हो, तब तक मुझे कुछ करने नहीं दोगी; और जब संकट सिर पर आ जाये, उपाय करना संभव न रह जाये, तब सिर डालकर मेरे सामने बैठोगी। अब मैं भी क्या कर सकता हूँ : अपने प्राण ही तो दे सकता हूँ। दे दूँगा प्राण ! तब अपने भवन को, अपने माता-पिता की भूमि को, अपने बंधु-बांधवों को लेकर बैठी रहना और जीवन का सुख भोगना।"

कुंती की समझ में नहीं आया कि यह कैसा झगड़ा था। यह ब्राह्मण तो कभी इस प्रकार नहीं बोलता था !...जाने किस संकट की बात कर रहा है। कल अपराह्न तक तो सरस्वती कितनी प्रसन्न थी ! किसी संकट की कोई छाया पूरे परिवार पर नहीं दिखायी पड़ती थी। आज सहसा ही क्या हो गया ? कहीं इसी संकट के कारण ही तो सरस्वती प्रातः से उदास नहीं है, जैसे रात भर सोई न हो ! चिंत-व्यालिनी के चंगुल में फँसे व्यक्ति को निद्रा आ भी कैसे सकती है !...

पता नहीं, पति-पत्नी के मध्य यह कैसा झगड़ा है...कुंती को बीच में पड़ना भी चाहिए... या चुपचाप लौट जाना चाहिए ? पति-पत्नी के झगड़े में तीसरे व्यक्ति का पड़ना उचित है क्या ?...किंतु वह तो किसी संकट की बात कर रही है। संकट में तो अधिवासी का ही सहारा होता है। और कुंती तो अपने पुत्रों के साथ उनकी आश्रित भी है। अपने उपकारी के संकट की ओर से वह कैसे मुँह मोड़ सकती है...

तभी ब्राह्मण ने पुनः अपना मौन भंग किया, "मैं तब भी कहता था कि धन की आसक्ति

कभी हितकर नहीं होती। धन की इच्छा तो है ही अंतक-रूपी दलदल ! एक बार उसमें पग डाल दे तो व्यक्ति उसमें धँसता ही जायेगा। प्राप्त करने का दुख उठाओ और प्राप्त हो जाये तो उसकी आसक्ति में ऐसे निमज्जित हो जाओ कि उसको त्यागना संभव न हो—चाहे प्राण ही क्यों न चले जायें। भवन··· माता-पिता की भूमि··· अब सँभालो इनको और मुझे सौंप दो उस चांडाल राक्षस को।···"

कुंती को लगा कि ब्राह्मण अपने कष्ट से कदाचित् रो पड़ा है। कुंती निर्णय नहीं कर पा रही थी कि वह तत्काल प्रविष्ट हो या जाकर भीम को बुला लाये ! पर भीम को बुलाने से भी क्या होगा ?···

"क्या ऐसा संभव नहीं है कि सामग्री के साथ किसी और को भेज दो ?" तभी सरस्वती का स्वर सुनायी दिया।

"और किसी को कैसे भेज दूँ ?" देवप्रसाद बोला, "कोई मेरे स्थान पर अपने प्राण क्यों देगा ? आज तक मैंने तो किसी और के स्थान पर अपने प्राण नहीं दिये।···" वह कुछ रुककर बोला, "और मैं ऐसा चांडाल हूँ भी नहीं कि अपने स्थान पर किसी और को मृत्यु के मुख में धकेल दूँ।···" उसने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा।

"किसी व्यक्ति को क्रय कर लो। किसी निर्धन का पुत्र ! कोई मृत्यु-दंड प्राप्त अपराधी। कोई···" सरस्वती कह रही थी।

"कहाँ से कर लूँ क्रय ?" देवप्रसाद तीखे परंतु रुँधे कंठ से बोला, "इतने धन का तो प्रबंध कर नहीं पा रहा कि जाकर उसके आदेश के अनुसार सामग्री क्रय कर लूँ। मुझे तो भय है कि कम सामग्री पाकर वह वैसे भी असंतुष्ट होगा और मुझे खाकर भी तुम लोगों को क्षमा नहीं करेगा; और तुम कह रही हो कि कहीं से एक मनुष्य का क्रय कर लूँ···"

"हम अपना भवन बेच देते हैं।" सरस्वती बोली।

"क्या मिलेगा इस भवन का ? इसके मूल्य में मनुष्य तो नहीं खरीदा जा सकता।" वह बोला, "और मेरा जीवन तो बचेगा नहीं। भवन बिक गया तो मेरे पश्चात् तुम लोग एकदम निराश्रित हो जाओगे।"

कुंती का मन जैसे लगातार उसे भीतर प्रवेश करने के लिए धक्के दे रहा था; और उसका विवेक था कि पग उठाने नहीं देता था···उसको ज्ञात तो हो कि ब्राह्मण का संकट क्या है। क्या उसे दूर करने में कुंती कोई सहायता कर सकती है ?···

"तो क्या कोई उपाय नहीं है ?"

"नहीं ! कोई उपाय नहीं। मुझे जाना ही होगा।"

किसी ने सिसकी ली। यह कदाचित् विद्या का स्वर था।

भीतर मौन-छा गया। लगा, अब कोई कुछ नहीं बोलेगा। कुंती निरंतर अपने असमंजस को तोड़ने का प्रयत्न कर रही थी। उसने कपाट थपथपाने के लिए अपना हाथ उठाया···

"तो ऐसा करते हैं," सरस्वती का स्वर आया, "आप सामग्री का प्रबंध करें। सामग्री लेकर आपके स्थान पर मैं जाऊँगी।"

"उससे क्या होगा ?" देवप्रसाद ने पूछा।

"कदाचित् उसके मन में दया आ जाये।" सरस्वती बोली; "स्त्री हूँ न ! संभव है कि वह स्त्री का वध न करे।"

"कभी व्याघ्र ने भी स्त्री और पुरुष के मांस में भेद किया है ? वह तुम्हें पाकर और भी प्रसन्न होगा ! तुम्हें अपमानित करेगा ! जब तक तुम्हारा मांस खाएगा नहीं, उसका भोग करेगा ! वह अकेला ही नहीं, उसक संगी- साथी भी ! जब तक जीवित रहोगी, तुम्हारे साथ अत्याचार होता ही रहेगा !" ब्राह्मण कुछ रुककर बोला, "और फिर मैं तुम्हें इस प्रकार मृत्यु के मुख में कैसे धकेल सकता हूँ ! मैं पति हूँ तुम्हारा, चांडाल नहीं हूँ ! तुमसे विवाह किया है ! तुम्हारी रक्षा और भरण- पोषण का वचन दिया है मैंने ! अब अपने प्राण बचाने के लिए, तुम्हें यम को समर्पित कर दूँ ?"

"ठीक है ! आप मेरी- रक्षा के लिए अपने प्राण दीजिए !" सरस्वती प्रकट रूप से रो रही थी, "और आपके पश्चात् मैं इन बच्चों की रक्षा कैसे करूँगी ? हमारी आजीविका का क्या होगा ? जैसे आप जानते नहीं हैं कि इस समाज में अकेली असहाय स्त्री का सम्मानपूर्वक जीवित रहना कितना कठिन है ! चारों ओर से ये गिद्ध मुझे नोच- नोचकर खायेंगे ! विवाह- योग्य तरुणी पुत्री घर में बैठी है ! उसकी रक्षा कैसे करूँगी ? उसके योग्य वर कहाँ से खोजूँगी ? किसी अयोग्य के हाथ पड़ जायेगी; कोई लंपट इसे बहकाकर ले जायेगा ! कौन करेगा इसकी रक्षा ?…और आपका पुत्र ! न शिक्षा प्राप्त कर पायेगा, न ज्ञान , न संस्कार ! जाने किस संगति में पड़ेगा ! चोरी करेगा या भिक्षा माँगेगा; या फिर दास बनकर किसी हाट में बिकेगा !" उसने निःश्वास छोड़ा, "आप जीवित रहेंगे, तो संभव है, दोनों बच्चे सुखी और सुरक्षित जीवन व्यतीत कर सकें ! आप नहीं रहे, तो हमें तो मरना ही है !"

कुंती का मन हुआ कि वह कपाट खोले और भीतर चली जाये ! अब और प्रतीक्षा करने का क्या अर्थ ?…ऐसा कौन- सा संकट आ खड़ा हुआ है कि किसी एक व्यक्ति की मृत्यु अनिवार्य ही है ? कुंती ने अपना हाथ कपाट पर रखा…

तभी विद्या का स्वर सुनायी दिया, "आप दोनों में से किसी को भी जाने की आवश्यकता नहीं है ! मैं जाऊँगी, उसके पास ! शैशव के पालन- पोषण के लिए आप दोनों की आवश्यकता है ! मेरा क्या है ! मेरे जीवन की न कोई सार्थकता है, न उपयोगिता ! पुत्री तो होती ही संकट है ! मेरे योग्य वर खोजने के लिए, आप कहाँ- कहाँ भटकेंगे ! जाने कैसा वर मिले ! उसकी क्या- क्या इच्छाएँ- आकांक्षाएँ हों ! वह राक्षस भी तो सारा जीवन आप लोगों को नोच- नोचकर खाता रहेगा ! उससे तो यही राक्षस अच्छा है, जो एक बार में मुझे इस जीवन से मुक्त कर देगा !…" विद्या खुलकर रो पड़ी !

"धैर्य रख पुत्रि ! धैर्य !" सरस्वती उसे सांत्वना देने का प्रयत्न कर रही थी, "मैं तेरा कष्ट समझती हूँ ! तू मन छोटा मत कर ! जामाता सदा राक्षस ही नहीं होता ! तेरे पिता भी मेरे माता- पिता के जामाता हैं !… और फिर अभी तो वे लोग यहीं है ! मैं फिर उनसे चर्चा करूँगी ! संभव है, बकुल की माता के मन में दया जाग जाये ! संभव है, बकुल का मन ही…!"

कुंती के कान खड़े हो गये; यह तो उन्हीं की चर्चा थी ! क्या यह लड़की केवल इसलिए प्राण दे देना चाहती है, क्योंकि नकुल से उसका विवाह नहीं हो रहा ?… क्षण- भर के लिए कुंती का मन ऐसा द्रवित हुआ कि उसकी इच्छा हुई कि तत्काल उन्हें विद्या और नकुल के विवाह की सहमति की सूचना दे दे…

किंतु तभी उसके विवेक ने उसे सँभाला; विवाह इत्यादि के संबंध में वह दानशील नहीं हो सकती ! उसे अपनी स्थिति और आवश्यकताएँ देखनी होंगी !… कल संध्या समय ही तो उसने

अपने पुत्रों को इतना समझाया था; और अब वह स्वयं इस संकट-काल में बड़ों के अविवाहित रहते, नकुल का विवाह रचा बैठे ?"'यह बात तो यूँही बीच में आ गयी"'यह तो लड़की की तात्कालिक हताशा है। वे लोग यहाँ से चले जायेंगे। समय के व्यतीत होने के साथ-साथ विद्या भी नकुल को भूल जायेगी। बहुत संभव है कि उसके जीवन में कोई और युवक आ जाये"' किंतु उनका मूल संकट क्या है ?"'

"मैं जाऊँ ?" सहसा शैशव का स्वर सुनायी दिया, "उस राक्षस को मार आऊँ ?"

"मेरे भैया !" विद्या की जैसे चीख निकल गयी।

"मेरे लाल !" यह सरस्वती का स्वर था।

जब कुंती से और रुका नहीं गया। उसने न केवल कपाट थपथपा दिया, वरन् उसे धकेल भी दिया। भीतर से साँकल लगा हुआ नहीं था। भिड़े हुए कपाट तत्काल खुल गये"'

उन चारों की दृष्टि द्वार की ओर उठी। कुंती ने और प्रतीक्षा नहीं की। वह उनकी ओर बढ़ी।

किसी ने उठकर उसका स्वागत नहीं किया। किसी ने उसे बैठने के लिए नहीं कहा। वे अश्रु-भरी आँखों से उसकी ओर देखते रहे। केवल शैशव अपने हाथ की लकड़ी फेंककर उसकी ओर दौड़ा, "मौसी ! मौसी ! देखो न ! माँ और दीदी रो रही हैं।"

कुंती ने बाँहें फैलाकर, शैशव को अपनी गोद में ले लिया। निकट आकर उसने विद्या के सिर पर स्नेह-भरा हाथ फेरा; और उनके निकट ही बैठ गयी। वे लोग अब भी आँखों में अश्रु भरे और चेहरों पर असमंजस लिये, उसकी ओर देख रहे थे। किंतु किसी ने मुख से एक शब्द भी नहीं कहा।

"क्या बात है बहन !" कुंती ने धीमे स्वर में पूछा, "मैं द्वार के निकट खड़ी बहुत कुछ सुनती रही हूँ; किंतु समझ नहीं पायी कि तुम्हारा संकट क्या है। मुझे बताओ। कदाचित् मैं तुम्हारी कोई सहायता कर पाऊँ"'।"

"उसमें कोई क्या सहायता करेगा दीदी !" देवप्रसाद जैसे फूट पड़ा, "यह तो हमारा दुर्भाग्य है। हमें ही भुगतना है।"

"फिर भी जानना चाहती हूँ कि हमारे आश्रयदाता पर कौन-सा ऐसा भयंकर संकट आया है।" कुंती ने अपनी वाणी का उत्साह बनाये रखा, "कई बार भयंकर से भयंकर संकट से बचने का उपाय हम जैसे साधारण लोग भी कर सकते हैं।"

ब्राह्मण एक फीकी हँसी हँसा, "दीदी ! इस संकट में कोई किसी की सहायता नहीं कर सकता।"

"फिर भी बताने में क्या हानि है !" सरस्वती ने अपने पति को देखा।

ब्राह्मण कुछ देर तक चुपचाप बैठा रहा, जैसे बताने की निष्फलता पर विचार कर रहा हो; फिर धीरे से बोला, "नगर से कुछ दूर, यमुना के तट पर एक आततायी राक्षस रहता है—बक ! जन-साधारण को डरा-धमकाकर उसे लूटते-पीटते रहना उसका व्यवसाय है। उसी ने कहलवाया है कि गाड़ी-भर भोजन-सामग्री, मूल्यवान वस्त्र तथा कुछ स्वर्णाभूषण देकर किसी व्यक्ति को उसके पास भेज दूँ। अन्यथा हमारे परिवार में से कोई भी जीवित नहीं बचेगा।"

"आपने राजकीय दंडधरों अथवा सैनिक-प्रमुख को सूचना दी है कि कोई आततायी आपको

इस प्रकार की धमकियाँ दे रहा है ?"

"ये धमकियाँ नहीं हैं दीदी !" देवप्रसाद के अधरों पर बड़ी कड़वी मुस्कान थी, "यह तो एकचक्रा नगरी का दैनंदिन का जीवन है। यहाँ तो प्रतिदिन यही होता रहता है।"

"दंडधर और सैनिक उन्हें दंडित क्यों नहीं करते ?" कुंती के स्वर में आवेश था, "किसलिए होते हैं, नगरपाल और कोटपाल ?"

"वे कुछ नहीं करेंगे !" देवप्रसाद बोला, "लोभ ने उनके हाथ बाँध रखे हैं और भय ने मस्तिष्क को जकड़ दिया है।"

"उनके उच्चाधिकारियों के पास जाइए ! राजा के पास जाइए !"

"राजा के पास जाने का भी कोई लाभ नहीं है।" देवप्रसाद हताशा स्वर में बोला, "वह स्वयं तो वेत्रकीय गृह में सुरक्षित बैठा है और असुरक्षित प्रजा को इन निर्दयी राक्षसों की दया पर छोड़ दिया है !"

"पर वह इन पापियों को दंडित क्यों नहीं करना चाहता ?" कुंती का आवेश, क्रोध का रूप धारण करता जा रहा था, "क्यों नहीं वह अपनी प्रजा का पालन करता ?"

"अब आपको क्या बताऊँ दीदी ! यही तो उसकी राजनीति है।...उसे प्रजा से नहीं, अपने अधिकार से मोह है; और अपना अधिकार वह इन आततायियों के बल पर ही बनाये हुए है। इन्हीं की सहायता से वह अपने विरोधियों को कुचलता है। इसीलिए वह अपनी प्रजा का नहीं; नृशंसता का पालन-पोषण करता है।"

कैसी लीला है विधाता की भी; ऐसे-ऐसे पापी लोग तो राजा बनकर सिंहासनों से चिपके हैं, और युधिष्ठिर जैसे प्रजापालक युवराज भिक्षाटन कर रहे हैं...कुंती ने सोचा...और फिर उसका ध्यान अपनी दशा की ओर चला गया...उन्हें भी तो पापी दुर्योधन ने इसी प्रकार नष्ट करने का प्रयत्न किया है। उनकी सुनी किसी ने ? राजा ने ? शासनाधिकारियों ने ? कुलवृद्धों ने ? वे लोग भी तो अपने प्राणों के भय से असहाय, निराश्रितों के समान स्वयं को छिपाए हुए यहाँ पड़े हैं...

"आप लोग यहाँ से भाग क्यों नहीं जाते ?" कुंती ने पूछा।

"भागने कौन देगा दीदी ?" देवप्रसाद बोला, "सब जानते हैं कि कल हमारी बारी है। हम निकल गये तो उसके लिए सारा नगर दंडित होगा। इसलिए सारा नगर हमें नगर से निकलने से रोकेगा।" वह कुछ रुककर बोला, "और यदि निकल भी गये, तो क्या पता कि परदेस में इससे भी अधिक दुर्दशा हो हमारी।"

कुछ देर चुप रहकर कुंती ने पूछा, "आपने अपने भाई-बंधुओं तथा मित्रों-पड़ोसियों से इसकी चर्चा की है ?"

"क्या लाभ है दीदी ! क्या उनपर यही नहीं बीती ! जिस पर पड़ती है, वह स्वयं ही निबट लेता है।" देवप्रसाद बोला, "यह तो एक प्रकार की मौन सहमति है और अपनी-अपनी बारी सब ही निबटते हैं।"

"तो क्या सुरक्षा का कोई मार्ग नहीं है ?"

"नहीं !"

"उस राक्षस के पास सेना है क्या ?" कुंती ने पूछा।

"नहीं ! सेना तो नहीं है। कुछ साधारण आततायी गुंडे हैं। कुशासन से बल पाकर

सिंह बने घूमते हैं। शरीर का वल है—उसी का लाभ उठा रहे हैं। नियमित अपराधी हैं, हत्याएँ ही उनका व्यवसाय है। कोई उनसे लड़ने का साहस नहीं कर पाता !"

"यदि आप उसकी कही हुई सामग्री न पहुँचाएँ तो ?"

"कल वह मेरे घर पर आ जायेगा और फिर सचमुच ही हममें से किसी को भी जीवित नहीं छोड़ेगा।"

"सामग्री पहुँचाने वाला सुरक्षित लौट पाता है क्या ?" कुंती ने पूछा।

"नहीं ! वे लोग उसे भी पकड़ लेते हैं।"

"उसका क्या करते हैं ?"

"जाने क्या करते हैं !" वह वोला, "कुछ लोग कहते हैं, उससे दासों के समान काम करवाते हैं। कुछ कहते हैं कि उसे कहीं बेच दिया जाता है। कुछ कहते हैं कि राक्षस उसका मांस खा जाते हैं।"

कुंती के मन में विकट उथल-पुथल मची हुई थी। उसका मन एक ओर इस परिवार के लिए द्रवित हो रहा था, दूसरी ओर अत्याचार का विरोध करने की उत्कट इच्छा जाग गयी थी, और तीसरी ओर अपना पुत्र-मोह भी उसे सता रहा था।... एक मन कहता था, 'थोड़ा साहस कर कुंती ! थोड़ा संकट उठा और इस परिवार को बचा ले...।' दूसरा मन कहता था, 'कोई दुस्साहस मत कर बैठना कुंती ! तुम लोग अपने प्राणों की रक्षा के लिए यहाँ छिपे बैठे हो। यह न हो कि झगड़ा बढ़े और तुम लोगों का भेद खुल जाये। अपने पुत्रों के प्राणों की रक्षा कर ! किसी झगड़े-टंटे में मत पड़ !'...और तीसरा मन कहता था, 'क्या प्रमाण है तेरे पास कि तेरे प्रयत्न से उस बकासुर से इनकी मुक्ति संभव है ? यदि वह राक्षस बक तेरे पुत्रों पर भारी पड़ा तो ? और यदि बकासुर पराजित हो भी गया तो क्या कुछ अन्य वक उत्पन्न नहीं हो जायेंगे ?'...

कुंती ने अपनी गोद में बैठे शैशव को देखा। अश्रुभरी आँखों से अपनी ओर निहारती विद्या को देखा...मलिनमुख नतमस्तक बैठे देवप्रसाद और सरस्वती को देखा।...सहसा उसके मन में हस्तिनापुर की रंगशाला कौंध गयी, जहाँ वीरवर अर्जुन के बाण प्रलय मचा रहे थे।... पांचाल सेना को पराभूत कर, महाराज द्रुपद को बाँध लाया था अर्जुन !...फिर उसे राक्षस हिडिंब का स्मरण हो आया। भीम ने कैसे उसे उठाकर पटक दिया था; और उसके कंठ पर पैर रख, उसे कुचलकर मार डाला था !...और फिर युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव भी असाधारण वीर और रण-कुशल योद्धा थे...इतनी समर्थ होते हुए भी, वह यहाँ वैठी, अपने इस आश्रयदाता परिवार को असहाय होकर मृत्यु की प्रतीक्षा करते हुए देख रही है...

अकस्मात् ही जैसे उसने कोई निश्चय कर लिया। उसने शैशव को गोद से उतारकर, भूमि पर खड़ा कर दिया, "मैं अभी आती हूँ पुत्र ! थोड़ी प्रतीक्षा कर।"

कुंती चली गयी।

देवप्रसाद, सरस्वती और विद्या—सबने कुंती के व्यवहार को बड़े आश्चर्य से देखा। शैशव तो चकित था ही।

और फिर देवप्रसाद ने दीर्घ निःश्वास छोड़ा, "वह बेचारी भी हमारे लिए क्या कर सकती है !"

सरस्वती ने कुछ नहीं कहा। वह जैसे फिर अपने भीतर ही कहीं डूब गयी थी।

"इससे तो अच्छा था कि हम समय रहते, यह भवन बेच, पांचालों अथवा कौरवों के राज्य में चले गये होते; और नहीं तो अहिछत्र में ही जा बसते।...."

सरस्वती ने फिर कुछ नहीं कहा। दीवार से पीठ लगाये वह शून्य को घूरती रही।

"मेरी बात मानें पिताजी !" विद्या बोली, "मेरे न रहने से भी आपको कोई हानि नहीं होगी। संभव है, आपकी अनेक समस्याओं का समाधान ही हो जाये..।"

"विद्या..! " देवप्रसाद अधिक कुछ नहीं कह पाया।

"किंतु वह उठकर इस प्रकार बिना कुछ कहे क्यों चली गयी ?" सहसा सरस्वती बोली, "कुछ करना तो शायद किसी के लिए भी संभव नहीं है; किंतु सांत्वना के दो शब्द भी न कहना..।"

तभी भिड़े किवाड़ खुले और भीम के साथ कुंती ने प्रवेश किया।

"आर्य ! अब आप चिंता न करें।" कुंती ने देवप्रसाद के निकट आकर कहा, "मैंने बात कर ली है। मेरा यह मध्यम पुत्र आपके द्वारा दी गयी सामग्री लेकर बकासुर के पास जायेगा।"

देवप्रसाद का मुख जैसे आश्चर्य से खुल गया, "किंतु.. किंतु यह कैसे संभव है ? यह कोई साधारण कर्म नहीं है, कि मेरे स्थान पर आपके पुत्र ने कर दिया। इसमें प्राणों का जोखिम है.. जोखिम क्या.. प्राण तो जायेंगे ही.. नहीं ! नहीं ! दीदी, मैं एकचक्रा का राजा नहीं हूँ, जो अपने प्राण बचाने के लिए, दूसरों के प्राण हरण करता फिरूँ ! .. और फिर वह भी ब्राह्मण के प्राण, अतिथि ब्राह्मण के प्राण.. नहीं दीदी ! यह नहीं हो सकता।"

"आप चिंता न करें।" भीम बोला, "मुझे कुछ नहीं होगा।"

ब्राह्मण ने एक बार अपनी आँखें भीम के पूरे शरीर पर दौड़ायीं, "तुम हृष्ट-पुष्ट और बलवान तो लगते हो वत्स, पर ब्राह्मण हो। तुम्हें लड़ने-भिड़ने का अभ्यास नहीं है। उस नीच का तो व्यवसाय वही है।"

भीम ने क्षण भर चकित दृष्टि से ब्राह्मण को देखा और फिर तत्काल बोला, "मुझे लड़ने की आवश्यकता ही क्या है ! मुझे एक बहुत ही बलवान यक्ष सिद्ध है। वही निबट लेगा उस असुर से।"

"आपको यक्ष सिद्ध है ?" सहसा विद्या बीच में बोल पड़ी।

"हाँ !"

"वह बहुत शक्तिशाली है ?"

"बहुत !"

"आपसे भी बढ़कर ?"

"हाँ ! मुझसे भी बढ़कर !"

"बकासुर से भी अधिक शक्तिशाली ?"

"हाँ ! बकासुर से भी अधिक शक्तिशाली। वह अकेला ही बड़े-बड़े राज्यों की सेनाओं को ध्वस्त कर सकता है।...."

संभव है कि भीम अपने उस यक्ष की शक्ति की प्रशंसा में कुछ और कहता कि सहसा देवप्रसाद ने पूछा, "इतने समर्थ होते हुए भी आप इस असहाय स्थिति में क्यों रहते हैं ?"

"ये शक्तियाँ धर्म-कार्य के लिए होती हैं, स्वार्थ-सिद्धि के लिए नहीं।" भीम अत्यंत सहज

भाव से बोला। कुंती को तो लगा, जैसे वह युधिष्ठिर का अनुकरण करने का प्रयत्न कर रहा है, "ब्राह्मण तो सदा निस्पृह ही रहता है : भिक्षाटन करना सात्विक ब्राह्मण के लिए निंदनीय तो नहीं है न आर्य !"

"नहीं ! निंदनीय तो नहीं है।" देवप्रसाद ने कह तो दिया; किंतु वह सहमत नहीं हो पा रहा था।

"तो फिर आप अपनी सारी चिंता, मेरे कंधों पर डाल दें। बस, उस राक्षस को दिखाने भर को थोड़ी-सी खाद्य-सामग्री और एक बैलगाड़ी का प्रबंध कर दें। भैंसों की आवश्यकता तो है ही नहीं; यह भी आवश्यक नहीं है कि सामग्री उस दुष्ट के आदेशानुसार ही हो। जो कुछ सुविधा से हो सके, वही कर दें।…"

भीम की दृष्टि ब्राह्मण पर पड़ी : वह भीम के कथन से तनिक भी संतुष्ट नहीं लग रहा था… न ही उसकी चिंता दूर होती लग रही थी। उसके चेहरे का रंग भय से पीला पड़ता जा रहा था…

"नहीं ! यह उचित नहीं होगा।" अंततः देवप्रसाद बोला, "आप सामग्री ले जायेंगे तो आपके प्राणों पर तो संकट आयेगा ही; सामग्री कम होने पर हमारे प्राण भी सुरक्षित नहीं रहेंगे।…नहीं ! इसका कोई लाभ नहीं। इससे तो अच्छा है कि स्वयं मैं ही चला जाऊँ। मेरे प्राण चले भी जायें, तो भी एक बार बात तो समाप्त हो जायेगी।"

"तो आप सामग्री अपनी इच्छानुसार एकत्रित कर दें, बस ले जाने का दायित्व मुझ पर छोड़ दें।" भीम ने उसकी ओर देखा, "ऐसा कुछ करने की इच्छा मेरे मन में उस दिन से है, जिस दिन मैंने हाट में कुछ दुष्टों को उन निरीह व्यवसायियों को लूटते ही नहीं; पीड़ित करते भी देखा था।"

सब अपने-अपने विचारों में कुछ इस प्रकार डूबे हुए थे कि किसी ने भीम से यह नहीं पूछा कि वह किन दुष्टों तथा किन व्यवसायियों की चर्चा कर रहा है।…

"तो आप समझ रहे हैं न कि आप कितना बड़ा जोखिम उठा रहे हैं ?" देवप्रसाद ने जैसे उसे अंतिम चेतावनी देते हुए पूछा।

"हाँ ! हाँ ! समझ रहा हूँ।" भीम क्रीड़ाशील स्वर में बोला, "किंतु आप मुझे यक्ष सिद्ध होने की चर्चा किसी से न करें। यदि किसी को इसकी भनक भी पड़ गयी, तो वह न आपका पीछा छोड़ेगा, न मेरा।"

"नहीं ! मैं किसी से नहीं कहूँगा।" देवप्रसाद अपनी पत्नी और पुत्री की ओर मुड़ा, "ध्यान रहे, इस सारी घटना की चर्चा किसी से भी नहीं होनी चाहिए—निकटतम संबंधी और मित्र से भी नहीं; नहीं तो और कठिनाइयाँ तो जो होंगी सो होंगी, बकासुर के संबंधी भी हमारे शत्रु हो जायेंगे।"

भीम ने देखा, ब्राह्मण की चिंता कुछ कम होने लगी थी।

सहसा सरस्वती अपने स्थान से उठी और उसने कुंती के दोनों पैर पकड़ लिये, "तुम देवी हो दीदी ! महिमामयी, करुणामयी देवी !…"

"अरे, क्या कर रही हो बहन !" कुंती ने उसे अपनी भुजाओं में उठाकर, कंठ से लगा लिया।

संध्या समय सबसे पहले अर्जुन लौटा।

"नगर में विविध प्रकार के समाचार हैं माँ !" वह धीरे से बोला, "मेरी तो कुछ समझ में ही नहीं आ रहा।"

"क्या सुनकर आये हो पुत्र ?"

"सुना है कि पांचालों की राजधानी कांपिल्य में कोई असाधारण गति-विधि हो रही है। उनके दूत अपने राजा के संदेश विभिन्न राज्यों की राजधानियों में ऐसे पहुँचा रहे हैं, जैसे अंधड़ दसों दिशाओं में धूल के कण पहुँचा देता है।"

कुंती शांत मन से अर्जुन की ओर देखती रही, जैसे उसकी आँखों में से वह सब पढ़ना चाहती हो, जो उसने शब्दों में नहीं कहा; और फिर धीरे से बोली, "गति-विधि के केंद्र में क्या है ?"

"प्रयत्न तो मैंने बहुत किया; किंतु कुछ ज्ञात हो नहीं पाया।" अर्जुन बोला, "यह भी सुना है कि राज्य के विभिन्न मार्गों से पांचाल सेनाएँ राजधानी में बुलायी जा रही हैं। सैनिक अभ्यास आरंभ कर दिये गये हैं।"

"तो फिर क्या समझ नहीं पाया बुद्धू !" भीम बोला, "स्पष्ट तो है, वे लोग युद्ध की तैयारी कर रहे हैं। सेनाएँ एकत्रित कर रहे हैं। सैनिक अभ्यास कर रहे हैं। तो किसलिए कर रहे हैं यह सब ? युद्ध होगा। संभवतः किसी बड़े आक्रमण की तैयारी में होंगे, तभी तो विभिन्न राजधानियों से मैत्रि-संधि तथा सैनिक सहायता के लिए संपर्क कर रहे होंगे।"

"संभवतः भीम का अनुमान सत्य है।" कुंती बोली, "यह किसी बड़े युद्ध की भूमिका हो सकती है।"

"मेरे मन में भी यह बात आयी थी माँ !" अर्जुन बोला, "तभी मैंने यह भी सोचा था—कहीं वे लोग हस्तिनापुर पर आक्रमण की तैयारी तो नहीं कर रहे।..."

"बहुत संभव है कि ऐसा ही हो।" कुंती बोली, "कौरवों और पांचालों में किसी-न-किसी कारण से संघर्ष की भूमिका बनती ही रहती है। वारणावत जाने से पहले, तुम लोगों ने गुरु-दक्षिणा देने के लिए, द्रुपद को अपमानित किया था। पांचाल उसी के प्रतिशोध की तैयारी में तो नहीं है ?..."

"यही तो मैं सोच रहा था माँ !" अर्जुन बोला, "कि यदि पांचाल प्रतिशोध के लिए युद्ध-भेरी बजा रहे हैं, तो उनका मुख्य अपराधी तो मैं हूँ।..."

"किंतु यह समाचार तो उन्हें भी मिला ही होगा, कि हम वारणावत में भस्म कर दिये गये हैं।" भीम ने कहा।

"अवश्य मिला होगा।" कुंती बोली, "किंतु संभवतः उनके मन में व्यक्ति के प्रति द्वेष न हो ! वे कौरवों का राज्य ही ध्वस्त करना चाहते हों !"

"हस्तिनापुर को कौन बचायेगा—पितामह, गुरु द्रोण या दुर्योधन ?" भीम जैसे अपने-आपसे पूछ रहा था।

"तुम हस्तिनापुर के लिए क्यों चिंतित हो पुत्र ? हस्तिनापुर ने तुम्हें क्या दिया ?..."

"किंतु हस्तिनापुर हमारा है माँ !" भीम आवेश में बोला।

"इसे मात्र स्मरण रखो !" कुंती धीरे से बोली, "उसके लिए चिंतित होने का समय अभी नहीं आया है।"

"मैं तो सोच रहा था," अर्जुन बोला, "यदि उन्हें सूचना मिल जाये कि हम लोग यहाँ हैं;

क्या तब भी वे हस्तिनापुर को ध्वस्त करना चाहेंगे ?"

"उन्हें यह सूचना नहीं मिलेगी।" कुंती एक-एक शब्द पर बल देकर बोली, "उनके लिए तुम लोग वारणावत में भस्म हो चुके हो।"

तभी सहदेव बाहर से आया, "आज नगर में बड़ी हलचल थी माँ !"

कुंती मुस्करायी, "आज तुम सब, कोई-न-कोई समाचार लेकर आ रहे हो।"

"बड़े-बड़े समाचार हैं माँ ! कांपिल्य में कोई बहुत बड़ा निर्माण-कार्य होने जा रहा है।" सहदेव बोला, "एकचक्रा में अकस्मात् ही शिल्पी, भवन-निर्माता, श्रमिक, काष्ठकर्मी—सब का ही अकाल पड़ गया है। जाने क्या हुआ कि वे सब उठकर कांपिल्य की ओर चल पड़े हैं; और जो नगर में बचे भी हैं, वे जाने की सोच रहे हैं।"

"तुम चिंता मत करो !" भीम बोला, "हमें वारणावत का जला हुआ शिव-भवन फिर से नहीं बनवाना है।"

"मध्यम !" सहदेव की समझ में नहीं आ रहा था कि इतनी गंभीर सूचना को परिहास में उड़ा देने के लिए भीम का विरोध करे अथवा उसकी नासमझी पर हँसकर, उसे समझाए कि इस समाचार का महत्व क्या है।

"अर्जुन ! देखो, सहदेव क्या समाचार लाया है।" कुंती ने कहा, "यदि इसे तुम्हारी सूचना से मिलाकर देखा जाये, तो पांचाल युद्ध-सज्जित होते नहीं लगते। संभव है, वे किसी मांगलिक कार्य की तैयारी में हों !"

अर्जुन कुछ बोला नहीं, बस सोचता रह गया।

थोड़ी ही देर में प्रायः साथ-साथ ही युधिष्ठिर और नकुल भी आ गये। वे भी नगर से कुछ ऐसे ही समाचार लाये थे। युधिष्ठिर बहुत गंभीर था, और उसका मत था कि उन्हें अब प्रस्थान की तैयारी कर लेनी चाहिए। एकचक्रा नगरी उन्हें किसी भी क्षण छोड़नी पड़ सकती है; किंतु वह यह नहीं भूल सकता था कि उन्हें महर्षि व्यास ने तब तक एकचक्रा में रुकने का आदेश दिया था, जब तक वे उन्हें कहीं और जाने के लिए संदेश न भेजें !…उसके माथे पर चिंता की रेखाएँ कुछ अधिक गहरी हो गयी थीं।…

"अच्छा ! अब चिंता छोड़ो।" कुंती बोली, "भोजन परोस रही हूँ। पहले शांति से खा लो; इसपर फिर विचार करेंगे।"

भोजन के पश्चात् कुंती ने उन्हें इसी विषय पर लौटने नहीं दिया। उसने ब्राह्मण की समस्या और सामग्री के साथ भीम को भेजने के अपने निर्णय की सूचना दी।

"यह तुमने क्या किया माँ ? मैं भीम को ही गुप्त रखने का सबसे अधिक प्रयत्न कर रहा हूँ; और तुमने स्वयं ही उसे ऐसे कार्य में नियुक्त कर दिया, जिससे उसकी गोपनीयता नष्ट हो जाये !" युधिष्ठिर की आँखों में कुंती ने आज पहली बार अपने लिए प्रतिवाद देखा, "यदि भीम के प्राण न बचे, तो सोचो, जिन पाँचों को तुम कभी विलग नहीं होने देना चाहतीं—उनमें से एक विलग हो जायेगा। तो हमारे दुख और कष्ट के विषय में भी तुमने सोचा है माँ ! तुमने हमारे सबसे प्रिय भाई को ही दाँव पर लगा दिया…।"

"ज्येष्ठ !" भीम ठठाकर हँसा, "मुझे तो ज्ञात ही नहीं था कि तुम मुझसे इतना प्रेम

करते हो। मेरा विचार था कि कदाचित् तुम मुझसे भी अधिक अर्जुन से प्रेम करते हो।"

"यह परिहास का अवसर नहीं है भीम!" युधिष्ठिर पूर्ण गंभीरता से बोला, "...यदि तुम विजयी भी हुए, तो तुम्हारा शौर्य तुम्हें गुप्त नहीं रहने देगा। तुम्हारे साथ-साथ हम सब प्रकट हो जायेंगे; और दुर्योधन के वेतन-भोगी षड्यंत्रकारी हत्यारे हमारे पीछे लग जायेंगे।"

"मैंने भी यह सब सोचा था पुत्र!" कुंती बोली, "मुझे भी स्मरण है कि मैंने कैसे भयभीत रहकर, सदा मृत्यु की आशंका से पीड़ित, तुम लोगों के प्राणों की रक्षा की चिंता की है।...किंतु अब तुम लोग बड़े हो गये हो। क्रमशः तुम्हारा सामर्थ्य बढ़ा है।"

"सामर्थ्य है, तो फिर हम दुर्योधन से क्यों नहीं लड़ लेते माँ! उससे भयभीत हो, हम क्यों अपना जीवन वनों और अज्ञात स्थानों में व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं?" युधिष्ठिर बोला, "एक ओर हम इतने वीर हों कि स्वयं संकटों को आमंत्रित करें, और दूसरी ओर इतने कायर हों कि न केवल अपने अधिकारों के लिए न लड़ें, वरन् अपने प्राणों के भय से भागते फिरें...।"

"संगठित राजशक्ति के षड्यंत्रों का सामना करना एक बात है पुत्र!" कुंती बोली, "और कुछ-एक आततायी दुर्वृत्त गुंडों से लड़ना दूसरी। जहाँ तक मैं समझती हूँ, इन आततायियों के अत्याचारों का विरोध करने में तुम लोग सक्षम हो, जो मात्र कुशासन की उपज हैं। किंतु राजशक्ति से लड़ने के लिए तुम्हें भी संगठन की आवश्यकता है, जो तुम्हारे पास नहीं है।"

"माँ ठीक कह रही हैं।" अर्जुन धीरे से बोला, "मैं समझता हूँ कि एक बकासुर अथवा उसके कुछ सहयोगियों से निबटना हमारे लिए कठिन नहीं होना चाहिए।...किंतु यह सारी गति-विधि गोपन ही रहनी चाहिए।"

"यही बात मैं कह रही हूँ पुत्र!" कुंती बोली, "मेरे मन में दो बातें हैं—प्रथम, तुम्हारा सामर्थ्य और द्वितीय, इस निरीह ब्राह्मण परिवार का संकट। मेरे मन में बैठा आनृशंसता का भाव यह कहता है पुत्र, कि दुर्बल की रक्षा हमारा कर्तव्य है; और उसके लिए कभी-कभी भारी मूल्य भी चुकाना पड़ता है। तुम्हें तो राजा बनना है युधिष्ठिर!" उसने युधिष्ठिर पर एक भरपूर दृष्टि डाली, "तुम्हें अभी से प्रजा की पीड़ा समझने और प्रजा की रक्षा का अभ्यास होना चाहिए। निर्बल-न्याय की रक्षा ही क्षत्रिय का धर्म है पुत्र!"

युधिष्ठिर ने प्रशंसा-भरी आँखों से अपनी माँ को देखा, "तुम महान् हो माँ! तुम्हारा पुत्र होकर भी न तो मैं तुम्हारी ममता की थाह जान पाया; न उदारता की; न धैर्य की और न वीरता की।" वह रुका, "तुमने जो कुछ कहा है माँ, हम पाँचों भाई उसका पालन करेंगे। हम भीम को अकेले नहीं जाने देंगे। निस्संदेह हममें से भीम सबसे अधिक शक्तिशाली है; किंतु उसे इस प्रकार भेजने का जोखिम मत उठाओ माँ!"

"तुम ठीक कहते हो पुत्र! किंतु तुम पाँचों जाओगे, तो तुम्हारी गोपनीयता की रक्षा कैसे होगी?"

"हम गुप्त रूप से ही जायेंगे माँ!" युधिष्ठिर बोला, "भीम प्रकट रूप से बैलगाड़ी में भोजन-सामग्री लेकर जायेगा; और हम गुप्त रूप से उसके साथ चलेंगे। संघर्ष होने पर हम अनावश्यक हस्तक्षेप भी नहीं करेंगे माँ! बस, गुप्त रूप से भीम की सहायता के लिए प्रस्तुत रहेंगे। वास्तविक आवश्यकता होने पर ही हम प्रकट होंगे।"

"ज्येष्ठ ठीक कह रहे हैं।" सहदेव बोला, "अकेले मध्यम को संकट में धकेलकर हम यहाँ सुख की नींद सोयें, यह तो सर्वथा अनुचित होगा माँ!"

"तो ठीक है पुत्र ! तुम पाँचों ही जाओ । अपनी रण- नीति निश्चित करो । अपने शस्त्र तैयार करो । अपने प्रेम की भी रक्षा करो और धर्म की भी ।"

28

भीम ने जब गाड़ी हाँकी, तो चारों ओर सघन अंधकार व्याप्त हो चुका था । लोग कदाचित् खा- पीकर सो चुके थे । वैसे भी एकचक्रा में सूर्यास्त के पश्चात् सारी गति- विधि पूर्णतः थम जाती थी । सब ओर निःस्तब्धता थी । कभी- कभी जैसे उस निःस्तब्धता से भयभीत होकर, उसका विरोध करने के लिए कोई कुत्ता भौंकने लगता था ।

भीम कुछ आगे निकल गया तो अर्जुन और सहदेव एक निश्चित दूरी रख कर, उसके पीछे चल पड़े; और उतनी ही दूरी के पश्चात् युधिष्ठिर और नकुल चले । उनके बायें कंधों पर परशु थे और दाहिने हाथ में दाव । किंतु एक साधारण श्वेत उत्तरीय ने उन सब को ढँक रखा था । पथ पर आकस्मिक रूप से मिल जाने वाले किसी यात्री को वे साधारण ग्रामीण पथिक ही दिखायी देते । उन्होंने अपना ब्राह्मण- वेश पूर्णतः त्याग दिया था ।

इतने कम समय में, एकचक्रा में उन्हें ये ही शस्त्र उपलब्ध हुए थे । आस- पास के ग्रामीण वन में से लकड़ियाँ काटने के लिए इन्हीं उपकरणों का उपयोग करते थे; और लकड़ी काटने के लिए जाते हुए ग्रामीणों के हाथों में पकड़े हुए ये उपकरण किसी के मन में कोई संशय भी नहीं जगाते थे ।

आगे- आगे चलता हुआ भीम सोच रहा था : किसी भी अच्छे शासन में उनका इस प्रकार रात को सशस्त्र अभियान के लिए जाना दंडधरों, सैनिकों और गुप्तचरों की आँखों से छिपा नहीं रह सकता था ।··· किंतु किसी अच्छे राजा के शासन में उन्हें इस प्रकार जाने की आवश्यकता ही क्यों होती ? वहाँ बकासुर जैसे दुर्वृत्त आततायी इस प्रकार फलते- फूलते ही क्यों ?···यह तो विचित्र स्थिति है कि एक परिवार को नहीं, सारी प्रजा को लूटा- पीटा जा रहा है, उनकी हत्याएँ की जा रही हैं··न किसी का सम्मान सुरक्षित है, न धन और न प्राण !···और प्रजा कुछ कर नहीं सकती, किसी को अपनी करुण गाथा सुनाने नहीं जा सकती; किसी से अपनी रक्षा की प्रार्थना नहीं कर सकती;··उसे कहीं से भी न्याय नहीं मिल सकता···

ऐसे राजा की आवश्यकता ही क्या है ? वह किस अधिकार से प्रजा से कर वसूलता है ? प्रजा के धन से विलासपूर्ण जीवन का उसको अधिकार ही क्या है ? वस्तुतः राजा ही सबसे बड़ा लुटेरा है । यदि वह कर लेता है और प्रजा की रक्षा नहीं करता, उसका न्याय नहीं करता, तो वंचना और लूट का आरंभ तो वहीं से हो गया । तभी तो उसके न्यायाधिकारी, प्रशासक, सैनिक, दंडधर सभी उस मार्ग पर सुविधा से चल रहे हैं । जिस कार्य को करने के लिए वेतन लेते हैं; वही कार्य नहीं करते । उल्टे उस दायित्व के पद को अधिकार का पद बनाकर, उसके दुरुपयोग से प्रजा को पीड़ित कर, अपना स्वार्थ साधते हैं ।··· ऐसे राज्य में प्रजा न सुखी रह सकती है, न प्रसन्न ! वह उस राजा और राज्य की रक्षा का प्रयत्न क्यों करेगी ? कोई आक्रांता राज्य पर

आक्रमण करेगा, तो उससे युद्ध कर, अपने प्राण क्यों देगी ?

भीम का परिचित नगर अव पीछे छूट गया था।...इस ओर भीम कभी नहीं आया था। आने की न कभी आवश्यकता पड़ी, न कभी इच्छा ही हुई। अव पथ जहाँ से होकर जा रहा था—भीम समझ नहीं पा रहा था कि उसे क्या कहे! यह जनपद था, या ये किसी के उजड़े हुए खेत थे; अथवा वन ही आरंभ हो गया था। उसका रूप निरंतर बदल रहा था। दूर कहीं अँधेरे में कोई दीपक टिमटिमाता दिखता तो भीम समझ जाता कि वहाँ कोई कुटिया होगी।... पर कौन होगा वह—कोई कृषक ? कोई संन्यासी ? समाज की दृष्टि से छुपकर रहने वाला कोई अपराधी ? समाज- वहिष्कृत कोई चांडाल ?...कोई भी हो। पर क्या वकासुर उन्हें पीड़ित नहीं करता ?

...और भीम का ध्यान लौटकर वकासुर की ओर आ गया। किस लोभ में व्यक्ति राक्षस बन जाता है ? थोड़े- से धन के लोभ में किसी के कोमल वच्चे के प्राण ले लेना; अपनी पत्नी के शरीर पर दो- चार स्वर्णाभूषण अधिक हो जायें, उसके लिए किसी असहाय के संपूर्ण परिवार को नष्ट कर देना; अपना भवन तनिक वड़ा हो सके, उसके लिए दूसरे के भवन को अग्निसात् कर देना...क्या ये ही वे लोभ हैं, जिनके कारण कोई मनुष्य, राक्षस वन जाता है ?...पर इनमें क्या सुख है ? इनसे वड़ा सुख तो ब्राह्मण दंपती को अभय देने में है; उस चंचल किशोरी विघा के अश्रु पोंछने में है; वालक शैशव की किलकारियाँ बनाये रखने में है...पर कदाचित् सुख भी कई प्रकार का होता होगा। दुर्योधन ने उसे विष दिया, उन सवको वारणावत में जलाकर भस्म कर देने का प्रयत्न किया। उसे उन हत्या- कांडों में ही सुख का अनुभव होता है। किंतु युधिष्ठिर अथवा उनके किसी भाई ने तो कल्पना भी नहीं की कि उनके सुख के लिए, दुर्योधन और उसके भाइयों का मरना आवश्यक है। माँ ने भी कभी संकेत तक में नहीं कहा कि दुर्योधन, उसके भाइयों अथवा उसके मित्रों में से किसी की हत्या का प्रयत्न किया जाये। माँ ने इतने अपमान और इतने कष्ट सहे हैं, किंतु उन्होंने कभी नहीं सोचा कि उनका सुख किसी अन्य व्यक्ति की मृत्यु के साथ जुड़ा हुआ है; कदाचित् संसार में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं—एक का सुख मात्र निर्माण में है, दूसरे का मात्र विनाश में।...और राजा का दायित्व है कि वह विनाश में सुखी होने वालों का दमन करे...किंतु लगता है कि अव राजा ही विनाश में सुखी होने लगे हैं...

सहसा भीम ने देखा कि जिस नगर का अंत वह पीछे मान चुका था, जैसे वह पुनः आरंभ हो गया था। मार्ग खुला और प्रशस्त हो गया था। मार्ग के दोनों ओर उचित दूरी पर वड़े- वड़े छायादार वृक्ष लगे हुए थे। वृक्षों के बीच- बीच में स्तंभों पर उल्काएँ लगी हुई थीं, जिनसे पथ इतना आलोकित था कि भूमि पर पड़ी एक मुद्रिका भी सहज ही देखी जा सके। इतना प्रकाश तो भीम ने हस्तिनापुर के राजप्रासाद के भीतरी मार्गों पर भी कभी नहीं देखा था। और फिर वड़े- वड़े विशाल भवनों की पंक्ति आरंभ हो गयी थी—भवन क्या थे, अट्टालिकाएँ थीं।... और इस सारे क्षेत्र का निर्माण यमुना के साथ- साथ उसके तट- प्रदेश पर हुआ था। कैसी ठंडी और सुखद बयार चल रही थी! राक्षसों की वस्ती न हुई, यह तो नंदन- वन हो गया...

सहसा भीम ने रास खींचकर वैलों को रोक लिया। गाड़ी थम गयी। कदाचित् यही वकासुर की अट्टालिका थी—कितनी विराट्! क्या एकचक्रा के राजा के पास भी अपने रहने के लिए इतना बड़ा प्रासाद है ? और शिल्पी ने उसे रूप भी कैसा दिया है, जैसे अट्टालिका न हो—किसी पर्वत की गुफा हो।...तो क्या वकासुर समझता है कि वह प्राकृतिक गुफा में रहने वाला कोई

नरभक्षी हिंस्र पशु है, या उसके शिल्पी ने ही उसकी मूर्खता पर यह कटाक्ष किया है ?

भीम चकित था : कैसा राज्य है यह, जहाँ दुष्ट, पापी, दुर्वृत्त आततायी इस प्रकार निर्द्वंद्व, खुले रूप में रहते हैं ? केवल खुले और प्रकट रूप में ही नहीं, कितनी सुविधाओं और वैभव के साथ रहते हैं ! यहाँ बैठ कर नगर के लोगों को आदेश देते हैं कि वे लोग अपना घर-बार बेच, पत्नी और बच्चों के जीवन के साथ खिलवाड़ कर, अपने जीवन-भर में अर्जित किया गया धन, इनके विलास के लिए यहाँ पहुँचा जायें; और कोई उनके इस अत्याचार को स्वीकार न करे तो ये उसे दंडित करने का दुस्साहस भी करते हैं। इतनी शक्ति और सामर्थ्य है इनके पास। राज्य से मान्यता-प्राप्त अपराधी ! इतने वैभव के साथ तो राज्य के उच्चाधिकारी भी नहीं रहते''

भीम ने एक बार सोचा : उसके चारों भाई भी उसके आस-पास यहीं कहीं वृक्षों की ओट में छिपे होंगे। वे उसके भाई हैं, उससे अपार स्नेह है उनको। तभी तो इस प्रकार उसकी रक्षा के लिए चले आये। हिडिंब को मरते देख भी, उन लोगों ने उसके बल को नहीं पहचाना है अभी ! वे समझते हैं कि बकासुर, भीम से भी अधिक शक्तिशाली होगा।''किंतु कहीं ऐसा न हो कि वे प्रकट हो जायें और कहीं कठिनाई में फँस जायें''और फिर भीम को ही उनकी रक्षा करनी पड़े।''अच्छा है कि यदि होना ही है तो बकासुर का ही द्वंद्व-युद्ध हो ले।''पर यदि बकासुर की भीम से लड़ने की इच्छा न हुई तो ? भीम लौट जायेगा क्या ? नहीं ! भीम केवल बकासुर की इच्छापूर्ति के लिए नहीं आया है।''भीम तो उसे दंडित भी करेगा।''उसे ललकार-ललकारकर मारेगा।'' ऐसा दंड देगा बकासुर को कि फिर कभी कोई इस प्रकार की दुष्टता का साहस ही न कर पाये''

भीम ने गाड़ी आगे बढ़ायी और लाकर अट्टालिका के द्वार पर खड़ी कर दी।

तत्काल द्वारपाल जैसे दो दंडधारी प्रकट हो गये, "क्या तुम ब्राह्मण देवप्रसाद हो ?"

"तो प्रतीक्षा हो रही है ब्राह्मण देवता की !" भीम हँसा।

"क्या तुम ब्राह्मण देवप्रसाद हो ?" दंडधर ने दंड को भूमि पर पटककर, डाँटते हुए पूछा।

"नहीं !" भीम पुनः हँसा, "मैं धर्म के देवता यमराज का छोटा भाई हूँ।"

दंडधर कदाचित् कुछ समझ नहीं पाया, "हम ब्राह्मण देवप्रसाद की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

"बड़ी प्रसन्नता से करो।"

"तुम उसके स्थान पर आये हो ?" उसने पूछा।

"हाँ !" भीम बोला, "उसके स्थान पर आया हूँ; और उसकी ओर से कुछ भोजन-सामग्री भी लाया हूँ। तुम खाओगे ?"

"नहीं !" द्वारपाल ने कहा और द्वार खोल दिया, "गाड़ी भीतर ले जाओ और गाड़ी की प्रतीक्षा करो।"

भीम ने चुपचाप गाड़ी आगे बढ़ा दी और वाटिका में से होता हुआ, भवन के द्वार पर आकर खड़ा हो गया। आस-पास कोई नहीं था। रात्रि अधिक हो गयी थी। कदाचित् बकासुर का परिवार तथा दूसरे लोग सो गये थे।''भीम ने किसी को बुलाने का प्रयत्न नहीं किया।'' जैसे द्वारपाल प्रतीक्षा कर रहा था; वैसे ही बकासुर भी प्रतीक्षा में बैठा जाग रहा होगा। अपने-आप आयेगा''

वैसे भी भोजन-सामग्री देखकर भीम को भूख लग जाया करती थी। आज तो वह इतने

धैर्य से, बिना उसकी ओर देखे, यह सारी सामग्री यहाँ तक ले आया था। अब उस दुष्ट बकासुर की प्रतीक्षा तो करनी ही होगी। तब तक कुछ खा-पी लेना चाहिए"

भीम ने पहला भांड देखा : उसमें मिष्ठान्न था। एक बड़े टोकरे में फल थे। भीम ने मिष्ठान्न वाला भांड अपने सामने रखा और खाना आरंभ कर दिया।

उसे अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। थोड़ी ही देर में एक व्यक्ति भवन से बाहर निकला। उसने थोड़ी देर भीम को देखा; किंतु भीम ने उसकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया, जैसे उसे देखा ही न हो। वह पूर्ण निष्ठा से मिष्ठान्न खाता रहा। न केवल खाता रहा, उसका रस भी लेता रहा और उसके बनाने की विधि भी सोचता रहा। उसने पूर्ण निश्चय कर लिया था कि कल ही वह इस व्यंजन को बनायेगा और अपनी पाक-कला से माँ को चकित कर देगा"

"ऐं! क्या कर रहे हो तुम ?" उस व्यक्ति ने जैसे अपने स्वर में घृणा भरकर धिक्कारते हुये कहा।

भीम ने सिर उठाकर उसे देखा : एक दीर्घाकार और पुष्ट शरीर का व्यक्ति उसके सामने खड़ा था। दाढ़ी-मूँछ और सिर के केश कुछ-कुछ लाल रंग के थे और पूर्णतः अव्यवस्थित थे। आँखों में क्रूरता थी और कदाचित् सुरापान का आवेश। शरीर पर गहरे मटमैले रंग की धोती के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं थी। धोती भी जैसे धारण न की हो, बस लपेट रखी हो। यदि यह व्यक्ति, भीम को कहीं बाहर मिल गया होता तो भीम ने उसे कोई उन्मादी अथवा अवधूत समझा होता।"

"क्या कर रहे हो तुम ?" उसने पुनः कहा।

"तुझे दिखायी नहीं देता ? तू अंधा है क्या ?" भीम ने जैसे उसकी वाणी की घृणा उसे लौटा दी, "मिष्ठान्न खा रहा हूँ। तुझे भी खाना हो तो याचक के समान भूमि पर बैठ जा। एक-आध तुझे भी दे दूँगा।"

"तुम ब्राह्मण देवप्रसाद के व्यक्ति हो ?"

"हाँ !"

"उसकी भेजी सामग्री लाये हो ?"

"लाया तो हूँ।" भीम बोला, "किंतु तुम्हें दूँगा नहीं !"

"क्यों ?" उस व्यक्ति की आँखें और चढ़ गयीं।

"क्योंकि भोजन मुझे भी अच्छा लगता है," भीम हँसा, "तू ही अकेला क्यों खायेगा ?"

"तो तू बकासुर बनना चाहता है ?"

"नहीं ! मैं बकासुर को मिटाना चाहता हूँ।"

वह व्यक्ति आगे बढ़ आया, "बकासुर को मिटाना चाहता है ?"

"हाँ !"

"मैं हूँ बकासुर।" उसने खींच कर मुष्टि प्रहार किया, "देखता हूँ कि बकासुर मिटता है या तू !"

भीम हँसा और गाड़ी से उतर आया, "अपने को बहुत बलवान समझता है तू ?"

"तूने नहीं सुना !" बकासुर का क्रोध बढ़ता ही जा रहा था, "इस सारे क्षेत्र में मेरे सामने सिर उठाकर खड़े होने का साहस किसी में नहीं है। राजसत्ता तक मुझसे काँपती है; और तू मुझे मिटाना चाहता है !"

बकासुर ने फिर भीम पर प्रहार किया; किंतु इस बार पीछे हटकर भीम वार बचा गया। बकासुर अपने ही वेग में लड़खड़ा गया, तो भीम ने पलटकर एक प्रबल पाद-प्रहार किया। बकासुर सँभल नहीं पाया और औंधे मुँह भूमि पर जा गिरा।

भीम ने उसकी पीठ पर अपना पैर जमाया, "चाहूँ तो कुचल डालूँ तुझे; किंतु मैं नहीं चाहता कि तू युद्ध की तृष्णा लेकर यमराज के पास जाये। उठ, खड़ा हो जा। अपनी सहायता के लिए जिसे पुकारना हो, पुकार ले। मन भरकर युद्ध कर। मैं तभी तेरी अस्थियाँ पीसकर तेरे प्राण लूँगा।"

"कोई नहीं आयेगा बीच में।" क्रोध के मारे बकासुर के मुख में झाग आ गयी, "मैं अकेला लड़ूँगा तुझसे। तू है ही क्या!"

"तो फिर आ!" भीम ने अपना पैर हटा लिया।

बकासुर उठकर खड़ा हो गया। उसने आग उगलती हुई आँखों से भीम को देखा, जैसे उनकी अग्नि से ही भीम को भस्म कर डालेगा। और फिर वह जंगली भैंसे के समान भीम पर टूट पड़ा।

भीम उसकी इस प्रकार की किसी प्रतिक्रिया के लिए तैयार था। वह बहुत सावधानी से एक ओर हट गया। इस प्रकार की असफलता ने बकासुर का मानसिक संतुलन एकदम ही बिगाड़ दिया। उसकी जिह्वा अनवरत अश्लील गालियाँ बरसा रही थी; और वह अंधाधुंध मुष्टिप्रहार कर रहा था।

भीम को हँसी आ गयी : एक तो बकासुर हास्यापद रूप से मोटा था; इसलिए उसमें लंबे समय तक लड़ने की क्षमता नहीं थी। दूसरे, कदाचित् अब उसे बराबरी की लड़ाई लड़ने का अभ्यास नहीं रह गया था। उसके सम्मुख जो आता होगा, पिटने के लिए ही आता होगा। लगता था, बहुत समय से किसी ने उसपर हाथ नहीं उठाया था। भीम को इस प्रकार द्वंद्व-युद्ध करते देख, उसका अहंकार जैसे बिलबिला उठा था।... और इस समय तो वह सुरा में धुत्त भी था।

भीम ने अपने स्थान से पीछे हटकर, पुनः एक पदाघात किया, "तू इस योग्य नहीं है मद्यप, कि तुझे हाथों से मारा जाये। पाद-प्रहार करके भी तेरा सम्मान ही कर रहा हूँ।"

इस बार बकासुर मुँह के बल गिरा। उसे उठने में पहले से अधिक विलंब भी हुआ; किंतु उसने अपने मुख से कराह नहीं निकलने दी। उठकर उसने अपनी दोनों हथेलियों से चेहरे का रक्त पोंछा और फिर जैसे उन्माद की-सी स्थिति में इधर-उधर देखा।...और कुछ दिखायी नहीं दिया तो वाटिका में पौधों की सुरक्षा के लिए लगाये गये बाँसों और लोहे की छड़ों को उखाड़कर वह भीम पर झपटा। किंतु अब तक कदाचित् वह अपनी दुर्बलता के प्रति सजग हो चुका था; इसलिए उच्च स्वर में चिल्लाया, "अरे दौड़ो! इसे पकड़ो! मारो इस दुष्ट को!"

अब भीम के पास अधिक समय नहीं था। भीम ने एक जोर की ठोकर उसके पैरों में मारी और बकासुर के गिरते ही उस पर कूद पड़ा। उसने उसकी गर्दन पकड़कर, उसे दोहरा कर दिया और अपने घुटने को उसकी पीठ पर रख, अपने पूरे बल के साथ झटका दिया।

बकासुर की पीठ की हड्डियाँ जैसे टूट गयीं और पसलियों का चूर्ण हो गया। उसने मुख से रक्त-वमन किया और मरते हुए भैंसे के समान डकराया। यह उसके मुख से निकला हुआ अंतिम स्वर था।

उसने दम तोड़ दिया था।

भीम ने दृष्टि उठाकर देखा : भवन के भीतरी तथा वाटिका के पार के चारों छोरों से बकासुर के परिवार के लोग, संगी- साथी, सहयोगी तथा सेवक- भृत्य, दौड़े आ रहे थे। अनुमानतः वे चालीस- पैंतालिस स्त्री- पुरुष रहे होंगे।"किंतु भीम ने स्पष्ट रूप से यह भी देखा कि उसके चारों भाई भी उस भीड़ के पीछे शस्त्र ताने सावधान खड़े थे। आवश्यकता समझते ही वे टूट पड़ेंगे; और अपने पैरों पर खड़ी यह भीड़, भूमि पर बिछ जायेगी।"'

भीम ने मृत बकासुर के वक्ष पर अपना पैर जमाया और उच्च स्वर में गर्जना की, "इस पापी को इसके पापों का दंड दिया गया है। पापियों के पक्ष में जो खड़ा होगा, उसे भी यही दंड दिया जायेगा। इसके जो भी सगे- संबंधी हों, जिन्होंने इसका नमक खाया हो, वे आगे आयें।"

भीड़ जहाँ की तहाँ रुक गयी। वे लोग स्तब्ध खड़े थे, जैसे उनका श्वास तक रुक गया हो। फटी आँखों से वे बकासुर के शव को देख रहे थे, जैसे विश्वास न कर पा रहे हों, कि जिस व्यक्ति के बल से राजा भी भयभीत था, उसके घर में घुसकर, एक साधारण व्यक्ति ने उसका वध कर डाला"

"अपने पीछे देखो।" भीम बोला, "मृत्यु ने तुम्हें घेर रखा है।"

उन्होंने अंधकार में अपने पीछे शस्त्र ताने खड़ी आकृतियों को देखा। लगा कि हत्यारों की यह भीड़ भी अब जैसे भयभीत, निरीह प्रजा की भीड़ हो गयी है, जिसके मुख से एक शब्द भी नहीं निकलेगा।"

"तुम कौन हो ?" भीड़ के किसी कोने से एक दबा- सा स्वर आया।

"मैं यमराज का छोटा भाई हूँ। मेरे पाँच मुख हैं।" भीम बोला, "एक तुम्हारे सामने है और चार तुम्हारे पीछे हैं। काल के गाल में कौन समाना चाहता है, आगे आये।"

किसी ने पग आगे नहीं बढ़ाया।

"यह मत समझना कि तुम इस असुर का पक्ष लेकर युद्ध नहीं करोगे तो तुम्हें अदंडित छोड़ दिया जायेगा।"मैं कल रात फिर आऊँगा।" भीम ने अट्टहास किया। बकासुर के रक्त के छींटों से चित्रित उसका शरीर भयंकर लग रहा था, "प्रतिदिन एक व्यक्ति को मारूँगा। बकासुर के पापों का दंड, उसकी पाप की कमाई खाने वालों को भी दिया जायेगा। दीन- दुखियों का छीना हुआ धन जिस- जिसने भी खाया है, उसके शरीर से वह रक्त के रूप में बहेगा।" प्रतिदिन एक को मारूँगा, इसी के समान, सब के सम्मुख पशु की- सी मृत्यु"।"

भीम का अट्टहास पुनः गूँजा।

सहसा भीड़ में भगदड़ मच गयी। जिसके सींग जिधर समाए, वह उधर ही भाग गया। बकासुर के शव पर पैर रखे, भीम अकेला ही खड़ा रह गया। उसने देखा, उसके चारों भाई भी फिर अंधकार में छुप गये थे।

भीम ने फुर्ती से बकासुर का शव उठाकर गाड़ी में डाला और बैल हाँक दिये।

पुत्रों को विदा कर कुंती द्वार पर ही खड़ी रह गयी, जैसे उसके पैर किसी ने कीलित कर दिये हों। मन में कितने ही द्वंद्व थे, कितने ही ऊहापोह ! जैसे मन न हो, महासागर हो, जिसमें

उठने वाली असंख्य तरंगों के रूपाकार और संख्या का उसे भी पता न हो।...एक ओर पुत्रों को इस भयंकर संकट में डालने की चिंता थी; और दूसरी ओर एक मानवीय दायित्व पूरा करने का संतोष ! वह स्वयं समझ नहीं पा रही थी कि वह अपने इस कार्य से स्वयं ही प्रसन्न थी या अवसन्न !

सहसा उसका ध्यान ब्राह्मण की ओर गया। वे चारों ही, उसके पीछे कुछ हटकर खड़े थे। उनकी भंगिमा कुछ ऐसी थी, जैसे वहुत कुछ कहने के इच्छुक होने पर भी कुछ कह न पा रहे हों।

संध्या समय तक तो शैशव हँस और खेल रहा था; किंतु इस समय तक आते-आते, इतना तो वह भी जान गया था कि उसके आस-पास कुछ वहुत ही गंभीर और भयावना घटित हो रहा है।...विद्या ने अपने हावों-भावों से पर्याप्त मात्रा में कुंती के सम्मुख स्पष्ट कर दिया था कि उसने प्रातः की हताशा को झटक दिया था; और अव उसे किसी भी वात में कोई आसक्ति नहीं है। उसे जीवन से अव कोई अपेक्षा नहीं है। इसलिए तनिक-सी आवश्यकता पर वह अपने प्राण भी वड़ी सरलता से दे सकती है...किंतु पांडवों के जाने के क्षण से ही उसके भाव भी कुछ परिवर्तित-से होते लग रहे थे... जव तक संकट उसके अपने परिवार पर था और वह समझती थी कि अपनी वलि देकर वह उसे टाल सकती है, तव तक वह कैसी निर्द्वंद्व लग रही थी; किंतु संकट के पांडवों पर स्थानांतरित होते ही, उसकी तटस्थता और असंगता कहीं विलीन हो गयी लगती थी।... क्या यह उसकी कृतज्ञता थी...या यह नकुल के प्रति उसकी आसक्ति थी ?...

कुंती कुछ समझ नहीं पा रही थी। यदि ऐसा कुछ था भी तो कुंती विद्या को दोष नहीं दे सकती थी; किंतु वह नहीं चाहती थी कि इस विषय में और लिप्त होकर विद्या अधिक कष्ट पाये।...

कुंती को लगा, इस समय उससे भी अधिक इस ब्राह्मण परिवार को सांत्वना की आवश्यकता है। यदि अपनी चिंताओं में वह उनकी तनिक भी उपेक्षा कर गयी, अथवा उन्हें तनिक भी ऐसा आभास हुआ कि उसकी चिंता का कारण वे लोग हैं, तो कदाचित् उनके मन पर पड़ा ग्लानि का पर्वत और भी भारी होता जायेगा।

"चलें आर्य ! घर के भीतर चलें।" कुंती ने देवप्रसाद से कहा; और शैशव को गोद में उठा लिया, "वहुत रात हो गयी है। तुम्हें अव सो जाना चाहिए वत्स !"

किसी ने कुछ नहीं कहा। वे सव चुपचाप कुंती के पीछे-पीछे चले आये।

कुंती अपने कक्ष की ओर नहीं गयी। वह ब्राह्मण के आवास-खंड की ओर आयी और उसने शैशव को शैया पर लेटा दिया, "सो जाओ पुत्र !"

"मौसी ! मेरे मित्र मध्यम भैया कव आयेंगे ?"

कुंती मुस्करायी : भीम ने इस वालक को विश्वास दिला दिया था कि वे दोनों परम मित्र हैं। इसके साथ सवसे अधिक खेलता भी वही था।

"तुम सोकर उठोगे, तो वे आ जायेंगे।" कुंती ने उसका माथा थपथपाया।

शैशव ने उसकी वात का विश्वास कर, तत्काल आँखें वँद कर लीं।

"तुम भी सो जाओ पुत्रि !" कुंती ने विद्या के कंधे पर हाथ रखा, "वहुत थकी हुई हो तुम !"

"मौसी !" विद्या ने अत्यंत भावुक दृष्टि से कुंती की ओर देखा, "आज की रात मैं

आपके साथ ही रहूँगी । आप अकेली कैसे रहेंगी अपन कक्ष में !"

स्वयं को निश्चिंत दिखाने के लिए कुंती सायास मुस्करायी, "तुम मेरे साथ नहीं, मैं तुम्हारे साथ रहूँगी विद्या ! तुम्हारी अवस्था अभी इतनी नहीं हुई कि तुम मेरी चिंता करो बच्ची !" कुंती ने स्नेह से उसके सिर पर हाथ फेरा, "अभी तो अपने इन पाँच समर्थ पुत्रों की भी चिंता मैं ही करती हूँ।"

"मौसी ! आप ऐसी स्थिति में..."

"तुम समझती हो कि मेरे पुत्र बहुत बड़े संकट में हैं, इसलिए मुझे तुम्हारा सहारा चाहिए !" कुंती की आँखें, जैसे स्नेह बरसा रही थीं, "मेरे लिए तुम्हारी यह भावना ही बहुत है पुत्रि ! वैसे यह कोई ऐसा बड़ा संकट नहीं है । मैंने इससे भी बड़े संकट देखे हैं । तुम निश्चिंत सो जाओ । प्रातः उठोगी तो सब कुछ सुखद पाओगी ।"

"मुझे नींद कैसे आयेगी मौसी ?"

"तो लेट ही जाओ बिटिया !" कुंती बोली, "मन को न सही, शरीर को तो कुछ विश्राम मिले ।"

देवप्रसाद के मन में बहुत उथल-पुथल थी, जैसे सहस्रों शब्द-तरंगें, उसकी जिह्वा पर उमड़ पड़ने को व्याकुल हों । वह अपने मन को अपनी-सी करने देता तो शायद अब तक कुंती के चरणों पर अपना सिर रख, आँखों से अश्रुओं की धारा बहाकर, कुंती की महिमा का कितना ही बखान कर चुका होता; किंतु उसके विवेक ने उसकी भावुकता को बाँध रखा था । यदि वह ही इस प्रकार भावुक हो गया, तो शेष लोग स्वयं को कैसे सँभाल पायेंगे !

इस संकट के मध्य भी सरस्वती की आँखें कुंती और विद्या के एक-दूसरे के प्रति स्नेह-व्यवहार पर टिकी हुई थीं; और उसका मन लगातार विश्लेषण कर रहा था कि क्या यह संबंध हो सकेगा ?...उसकी भावना लगातार विधाता को मना रही थी कि यह संकट टल जाये और उसकी पुत्री का संबंध यहाँ हो जाये । ऐसा धर्मात्मा परिवार, ऐसे महामना लोग, ऐसा उदार व्यवहार उसे और कहाँ मिलेगा !...जाने यह उसके किन जन्मों का पुण्य था कि भगवान वेदव्यास ने ऐसे लोगों को उसके घर भेजा था...वह प्रतीक्षा कर लेगी । इनका संकट टलने तक... बड़े भाइयों का विवाह होने तक... वह प्रतीक्षा कर लेगी...

विद्या और शैशव को सोने में अधिक समय नहीं लगा । उनकी ओर से निश्चित होते ही, कुंती उठ खड़ी हुई, "आप लोग विश्राम कीजिए ! मैं अपने कक्ष में जा रही हूँ ।"

"देवि !" इस बार चाहकर भी देवप्रसाद कुंती को 'दीदी' नहीं कह पाया, "आपके समान महीयसी नारी मैंने आज तक नहीं देखी । आपने अपने पुत्रों के प्राण हमारे कारण संकट में डाले; और फिर भी आप हमें सांत्वना दे रही हैं ! हमारे बच्चों को अपने स्नेह के आवरण में लपेट विश्राम करा रही हैं । आप मानवी नहीं, देवी हैं—द्युलोक से हमारी रक्षा के लिए उतरी हुई महामहीयसी...!"

"देवप्रसाद !" कुंती ने बहुत सहज भाव से पहली बार ब्राह्मण को उसके नाम से संबोधित किया, "अपने मन से संकट का बोझ टालने के लिए कृतज्ञता का बोझ मत उठाओ । दोनों समान रूप से भारी हैं भाई ।... जाओ, विश्राम करो । वैसे तो मैं भी तुम लोगों के साथ ही रहती; किंतु तब न तुम लोग विश्राम कर पाओगे, न मैं कर पाऊँगी ।"

"हम आपको अकेली छोड़ देंगे, तो आपके पुत्र हमें क्या कहेंगे दीदी ?"

"कुछ नहीं कहेंगे ।" कुंती मुस्करायी, "मैं अकेली रहना चाहती हूँ। अपने पुत्रों की कुशलता के लिए विधाता से प्रार्थना करूँगी ।"

अब देवप्रसाद के सामने कोई विकल्प नहीं था, "जो आपकी इच्छा दीदी !"

अपने कक्ष में आकर कुंती लेट गयी । अकेली होते ही जैसे उसने आत्मविश्वास का बाहरी केंचुल उतार फेंका । उसका मन, ममता की टीस में जैसे कराह उठा । उसने एक ही दाँव पर अपना सब कुछ लगा दिया था । उसने बकासुर को कभी नहीं देखा था । वह उसकी शक्ति से परिचित नहीं थी । फिर भी उसने अपने पाँचों पुत्रों को उससे युद्ध करने के लिए भेज दिया था ।'''यह तूने क्या किया कुंती ?'

तत्काल जैसे उसके भीतर एक दूसरी कुंती जागी, 'तू क्षत्राणी है कुंती ! पुत्रों को धर्म-युद्ध से रोककर कायर बनाना चाहती है क्या ? उनके जीवन में तो संघर्ष-ही-संघर्ष है । वे अपने अधिकारों के लिए लड़ेंगे, न्याय के लिए लड़ेंगे, राज्य की रक्षा के लिए लड़ेंगे, प्रजा-पालन के लिए लड़ेंगे''वे तो बड़े-बड़े सम्राटों की सेनाओं के विरुद्ध लड़ेंगे''आज जिनसे लड़ने गये हैं, वे तो कुछ साधारण गुंडे हैं, दुच्चे अपराधी ! एकचक्रा में सुशासन होता तो ऐसे अपराधियों का जन्म ही न हो पाता ।''यह तो तेरे पुत्रों के न्याय-युद्ध का आरंभ मात्र है'''

कुंती को लगा, उसके मन का उद्वेग कुछ शांत हो गया है ।

उसका समय कैसे कटा, वह समझ नहीं पायी : वह चिंता भी कर रही थी और विश्राम भी''वह सो भी रही थी और पुत्रों के लिए प्रार्थना भी कर रही थी''' समय कट भी रहा था और नहीं भी कट रहा था''

सहसा उसे लगा कि कपाट को किसी ने हल्के-से थपथपाया है । कुंती को निर्णय करने में क्षण-भर लगा कि वह स्वप्न में कुछ सुन रही है या सचमुच कोई उसका कपाट थपथपा रहा है ।'''

तत्काल उसकी आशा बावली होकर उठी और उसने कपाट खोल दिये : सामने उसके पाँचों पुत्र प्रसन्न-मुख विजयिनी मुद्रा में खड़े थे । वे उसके चरणों में झुके; और एक-एक कर उसने उन सबको गले लगाकर स्वयं को विश्वास दिलाया कि वे सब सकुशल उसके पास लौट आये हैं ।

वे लोग भीतर आ गये तो कुंती ने धीरे से कपाट बंद कर पूछा, "क्या हुआ पुत्र ?"

"सब कुछ शुभ हुआ माँ !" युधिष्ठिर बोला, "शत्रु समाप्त हो गया ।"

"कुछ हुआ ही नहीं माँ !" भीम ने कहा, "वह तो पानी का बुलबुला था । बहुत फूला हुआ था । एक फूँक भर से फट गया । युद्ध का कोई आनंद ही नहीं आया ।"

"तुममें से कोई आहत तो नहीं हुआ ?"

"किसी को कुछ नहीं हुआ माँ !" नकुल बोला, "हमें युद्ध करना ही नहीं पड़ा । मध्यम ने ही सब कुछ सँभाल लिया ।"

"तुम्हें ब्राह्मण देवप्रसाद मिला क्या ? उसने तुम्हें आते हुए देखा ?"

"नहीं ! कदाचित् वे लोग सो रहे हैं ।" युधिष्ठिर बोला, "हमें किसी ने नहीं देखा ।"

"अच्छा ! अब तुम लोग चुपचाप सो रहो ।" कुंती बोली, "शेष बातें प्रातः होंगी ।"

वे लोग लेट गये। थोड़ी ही देर में भीम के श्वास-निःश्वास ने घोषणा कर दी कि वह पूर्णतः सो चुका है।

कुंती को आश्चर्य हुआ : इतनी बड़ी घटना की तनिक भी उत्तेजना नहीं थी भीम के मन में, जैसे कुछ हुआ ही न हो। वह तो ऐसे सो गया, जैसे दैनंदिन का कार्य करके आया हो।...

और यह अर्जुन जाने कहाँ लीन रहता है... कुछ बोलता ही नहीं है! सब जा रहे थे, वह भी साथ चला गया। लौटकर सबके साथ शांत खड़ा हो गया। सोने के लिए कहा, तो लेट गया। उसके मन में जैसे अपनी कोई प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। बाहर के घात-प्रतिघात उसे बहुत प्रभावित नहीं करते।...

प्रातः अपने समय से कुंती की नींद खुल गयी। उसके शरीर की तंद्रा बता रही थी कि उसकी पूरी नींद नहीं हुई थी; किंतु प्रातः उठने का अभ्यास उसे और सोने नहीं देगा—वह जानती थी। अब दिन भर चाहे वह उनींदी रहे, किंतु इस समय और सो नहीं पायेगी।

उसने आँखें खोलकर गवाक्ष से बाहर की ओर देखा : प्रभात के लक्षण पर्याप्त स्पष्ट हो चुके थे।... फिर उसकी दृष्टि अपने आस-पास सोये हुए अपने पुत्रों पर गयी... वे लोग शायद अभी और सोयेंगे। वह जानती है, इनमें सबसे पहले युधिष्ठिर जागेगा, फिर अर्जुन, फिर सहदेव! सहदेव के पश्चात् नकुल; और सबके पश्चात्, जगाये जाने पर भीम जागेगा। किंतु आज कुंती को कोई जल्दी नहीं थी। आज यदि व्यतिक्रम भी हो जाये, तो कोई हानि नहीं।...

आहट किये बिना वह उठी और कक्ष से बाहर निकल गयी।

कुंती स्नान कर चुकी थी और ध्यान में बैठने की तैयारी में ही थी कि बाहर किसी के आने का आभास हुआ। वह बाहर निकल आयी। देखा : सामने देवप्रसाद खड़ा था। उसकी आँखों में एक विचित्र प्रकार की चमक थी और अधरों पर मुस्कान।

"तुम्हारे पुत्र कहाँ हैं दीदी?" उसने प्रणाम कर पूछा।

"सो रहे हैं।"

देवप्रसाद के चेहरे पर एक विजयिनी मुस्कान उभरी, "मैं अभी यमुना-तट से लौट रहा हूँ दीदी! सब कहीं एक ही चर्चा है—रात्रि के समय कोई बकासुर का वध कर, उसका शव नगर-द्वार पर फेंक गया है।"

"अच्छा!"

"हाँ, दीदी! लोगों का कहना है, किसी यक्ष ने वध किया है बकासुर का। उस यक्ष के पाँच मुख थे; और उसका एक-एक मुख, दूसरे मुख से बीस-बीस पग दूर था। उसका शरीर कितना बड़ा था, यह तो किसी ने देखा ही नहीं है।... और सुना है कि उस दुष्ट बकासुर के परिजन भय के मारे अपना घर-बार त्यागकर किसी सुरक्षित स्थान की खोज में कहीं भाग गये हैं।"

"कहाँ सुना तुमने यह सब?" कुंती ने पूछा।

"सब ओर यही चर्चा है दीदी! घाटों पर, पथों और वीथियों में।"

"और क्या चर्चा है ?"

"लोग कह रहे हैं कि यदि शेष राक्षसों ने भी प्रजा को पीड़ित करना नहीं छोड़ा, तो वह पाँच मुखों वाला यक्ष, उनका भी इसी प्रकार वध कर देगा। नगर के लोगों के मन में अब राक्षस का भय नहीं रहा दीदी ! लोग तो यहाँ तक कह रहे हैं—वह यक्ष अब इन राक्षसों का वध करे, न करे, साधारण लोग ही मिलकर इनका वध कर डालेंगे।"

"अच्छा !" कुंती को आश्चर्य हुआ, "लोग इतने साहसी हो गये हैं !"

"हाँ, दीदी !" देवप्रसाद बहुत ही प्रसन्न था, "अब तो लगता है कि मेरे मन से भी राक्षसों का भय निकल गया है। कहीं हमारे राजा के मन से भी यह भय निकल जाता !"

"राजा के मन से केवल राक्षसों का भय ही निकल जाना पर्याप्त नहीं है ब्राह्मण !" कुंती बोली, "उसके मन में दायित्व-बोध भी जागना चाहिए; अन्यथा निर्भीक राजा स्वयं राक्षस हो जाता है।"

देवप्रसाद ने चकित दृष्टि से कुंती की ओर देखा, जैसे उसके मुख से ऐसा वाक्य सुनने की उसे तनिक भी आशा न हो। उसकी चेतना, कुंती के व्यक्तित्व से पराभूत हो गयी, "हाँ ! देवि, हाँ !"

दिन चढ़ने पर एक-एक कर पाँचों पांडव जागे। कुंती ने देवप्रसाद से जो कुछ सुना था, वह उन्हें बताया।

सारी घटना सुनकर, कदाचित् सबसे अधिक प्रभावित नकुल ही हुआ, "मुझे तो लगता है कि हम यदि योजना-बद्ध ढंग से तैयारी करें तो हम दुर्योधन से भी निबट सकते हैं।"

"नहीं पुत्र ! अपनी शक्ति को वास्तविकता से भी अधिक मत आँको।" कुंती बोली, "राजशक्ति से निबटने के लिए, पहले राजशक्ति अर्जित करो या कौरवों की शत्रु राजशक्तियों को अपना मित्र बनाओ। वर्तमान स्थिति में मैं तुम्हें धार्तराष्ट्रों से भिड़ने नहीं दूँगी।"

"माँ ठीक कहती हैं।" युधिष्ठिर बोला, "अपनी शक्ति की वास्तविकता को पहचानना चाहिए। और मैं तो चाहता हूँ कि दुर्योधन से वैसे ही कोई संधि हो जाये। प्रत्येक मतभेद का समाधान युद्ध ही तो नहीं होता।"

भीम ने आश्चर्य से युधिष्ठिर को देखा, "ज्येष्ठ ! जो कुछ उन लोगों ने हमारे साथ किया है, उसके पश्चात् भी तुम्हें उनसे किसी संधि की आशा है ? तुम्हारे रक्त के एक-एक कण से युद्ध का आह्वान सुनायी देना चाहिए।"

"मैं युद्ध से घृणा करता हूँ।" युधिष्ठिर धीरे से बोला, "नृशंसता मेरा धर्म नहीं है।"

भीम कोई तीखी प्रतिक्रिया प्रकट करता, उससे पूर्व ही कुंती ने पूछा, "और तुम अर्जुन ?"

"मैं युद्ध से घृणा नहीं करता माँ ! मेरी तो सारी महत्वाकांक्षा ही युद्ध है। युद्ध नहीं होगा, तो मेरी सारी धनुर्विद्या ही व्यर्थ जायेगी।" अर्जुन बोला, "किंतु विनाश से मैं भी घृणा करता हूँ। विनाश से बचना जितना संभव होगा, उतना बचूँगा। मैं चाहता हूँ कि मेरी धनुर्विद्या न्याय की सेविका हो, विनाश की नहीं।"

"युधिष्ठिर !" कुंती ने अत्यंत मंद किंतु स्निग्ध स्वर में पूछा, "अर्जुन की बात सुनने के पश्चात् भी तुम युद्ध से घृणा करते हो ?"

"हाँ, माँ ! मैं युद्ध से किसी भी रूप में घृणा करता हूँ। मैं शांति का उपासक हूँ। प्रत्येक मूल्य पर शांति चाहता हूँ। ईश्वर की सृष्टि शांतिकाल में ही फूलती-फलती है। युद्ध तो स्रष्टा का शत्रु है।"

"तो तुम जीवन में कभी युद्ध नहीं करोगे ? न्याय के लिए भी नहीं ? अधिकार के लिए भी नहीं ?" कुंती की आँखों में क्षत्राणी का तेज मुखर हो उठा था।

उन आँखों को देखकर युधिष्ठिर सहम गया। स्वयं को सायास सहज करता हुआ बोला, "तुम कहोगी तो युद्ध भी करूँगा माँ ! मैं युद्ध से घृणा करता हूँ; किंतु मैं तुमसे प्रेम भी तो करता हूँ।"

कुंती का मातृत्व जैसे छलककर उसके कंठ में आ गया, "तुम्हारी वाणी सत्य हो पुत्र ! मैं भी चाहती हूँ कि तुम लोग युद्ध से घृणा ही करो; किंतु पुत्र ! उनके लिए युद्ध भी करना सीखो, जिनसे तुम प्रेम करते हो।"

29

"मौसी !" विद्या बोली, "कल रात्रि एक अतिथि आया था। वह प्रातः क्रियाओं से अभी निबटा है। थोड़ी देर में वह यहाँ से प्रस्थान करेगा। देश-विदेश घूमकर आया है। अनेक कथाएँ सुनाता है और संसार-भर के समाचार देता है। पिताजी ने कहा है कि आप लोग उससे मिल लें।"

युधिष्ठिर चौंका; वह ब्राह्मण कहीं उन लोगों की ही खोज में तो नहीं आया ? हस्तिनापुर से आया हुआ, दुर्योधन का कोई गुप्त पुरुष ?...

"विद्या !" भीम ने लौटती हुई विद्या को पुकार लिया, "तुमने उससे यह तो नहीं पूछा होगा, कि वह देश-विदेश के समाचार ही क्यों लाया है, देश-विदेश के मिष्ठान्न क्यों नहीं लाया ?"

विद्या न हत्प्रभ हुई, न निरुत्तर। अब तक उसे भीम की ऐसी उक्तियों का पर्याप्त अभ्यास हो गया था। बोली, "मध्यम ! मैंने उससे पूछा नहीं, क्योंकि उसने स्वयं ही बता दिया था कि वह देश-विदेश घूम-घूमकर सद्गृहस्थों को प्रेरित करता रहा है कि वे लोग उसे अपने घर पर आमंत्रित कर भरपेट खीर खिलाया करें।"

"तो फिर उससे कह दो कि यहाँ ऐसा कोई सद्गृहस्थ नहीं है। वह चाहे तो अपने मन के लड्डू फोड़-फोड़कर खाता रहे।" भीम बोला।

नकुल की इच्छा हुई कि वह भी कुछ कहे; किंतु उसने स्वयं को तत्काल रोक लिया। क्या लाभ ? उसके परिहास ने पहले ही विद्या के मन में भ्रांति को जन्म दिया था। कहीं...

"तुम चलो विद्या !" कुंती बोली, "इन लोगों को लेकर अभी आती हूँ।"

विद्या चली गयी तो सहदेव धीरे से बोला, "माँ ! हमें थोड़ा सावधान रहना चाहिए। बकासुर के वध के पश्चात् किसी को भी हमारे यहाँ होने का संदेह हो सकता है; और कोई हमारी खोज करता हुआ, यहाँ तक आ भी सकता है।"

"हाँ ! सावधान अवश्य रहो पुत्र !" कुंती बोली, "किंतु हम एक ऐसी स्थिति में हैं

कि हमें गुप्त अवश्य रहना है, किंतु असंपृक्त नहीं । अन्यथा हमारे लिए सबसे अच्छा स्थान हिडिंबवन ही था । असंपृक्त रहने पर शत्रु हमें खोज नहीं पायेंगे, किंतु हमें अपने मित्रों के संदेश भी नहीं मिल पायेंगे; और समाज में तुम्हारे लिए जो स्थान मैं चाहती हूँ, वह तुम्हें कभी नहीं मिल पायेगा ।"

"माँ ठीक कह रही हैं ।" अर्जुन सहज भाव से बोला, "हमें उस व्यक्ति से अवश्य मिलना चाहिए ।"

कुंती ने अपने पुत्रों सहित ब्राह्मण को प्रणाम किया ।

ब्राह्मण ने उन्हें आशीर्वाद दिया, "सुखी रहो । घूमो-फिरो, भ्रमण करो । संसार को देखो-समझो । एक स्थान पर टिककर मत रहो ।"

"आर्य ! ऐसा न कहें ।" देवप्रसाद बोला, "ये लोग चले गये तो मेरा घर सूना हो जायेगा ।"

"मेरे पास तो सबके लिए एक ही आशीर्वाद है ब्राह्मण ! इनके लिए नया और अनोखा आशीर्वाद कहाँ से लाऊँ !" आगंतुक बोला ।

"कहाँ से आगमन हुआ है आर्य ?"

"कांपिल्य से आ रहा हूँ माता !" वह बोला ।

"वहाँ से क्यों चले आये आर्य ? क्या वहाँ का वास आपके लिए सुखद नहीं था ?" युधिष्ठिर ने धीरे से पूछा ।

"नहीं पुत्र ! ऐसी कोई बात नहीं थी । हम जैसे तपस्वियों के लिए क्या सुख और क्या दुख !" वह बोला, "बस, मन उखड़ गया । वहाँ भीड़ बहुत होती जा रही है ।"

"क्यों ?" कुंती ने पूछा, "वैसे सुना तो हमने भी है कि वहाँ कोई विराट् आयोजन होने जा रहा है ।"

"आयोजन ! आयोजन क्या, वहाँ तो महोत्सव होने जा रहा है ।" ब्राह्मण बोला, "राजा द्रुपद ने अपनी पुत्री कृष्णा के स्वयंवर की घोषणा की है । कोई भी कुलीन, रूपवान और सद्चित्त युवक अपने भाग्य का परीक्षण कर सकता है । कौन जानता है कि भाग्यलक्ष्मी की कृपा किस पर हो जाये ।" उसने रुककर, पाँचों भाइयों को देखा और फिर कुंती से बोला, "तुम भी अपने पुत्रों को लेकर कांपिल्य जाओ माता ! तुम्हारे पाँच-पाँच रूपवान पुत्र हैं । कौन जानता है कि कृष्णा इन्हीं में से किसी के कंठ में जयमाल डाल दे ।"

कुंती ने ध्यान से ब्राह्मण को देखा; उसका कोई प्रयोजन था, या वह एक सामान्य-सी बात कह रहा था ?

"जाओ पुत्र ! तुम लोग कांपिल्य जाओ ।" ब्राह्मण ने अब सीधे पांडवों से कहा, "द्रौपदी से बढ़कर इस समय सारे संसार में कोई नारी-रत्न नहीं है ।"

"उसके लिए क्षत्रिय राजकुमार होना आवश्यक नहीं है ?" भीम ने पूछा ।

"नहीं । घोषणा में यह कहीं नहीं कहा गया ।" ब्राह्मण बोला, "तुम लोगों को उसमें अवश्य सम्मिलित होना चाहिए ।" और सहसा वह कुंती की ओर मुड़ा, "माता ! यदि आपको किसी प्रकार का संकोच अथवा असुविधा हो, तो मैं आप लोगों के साथ चल सकता हूँ । मार्ग

में अथवा कांपिल्य पहुँचकर, आपको किसी प्रकार की असुविधा नहीं होने दूँगा।"

कुंती ने उसे गहरी दृष्टि से देखा; उन्हें कांपिल्य ले जाने में उसकी इतनी रुचि क्यों है ? कहीं यह भी उनके विरुद्ध किसी षड्यंत्र का ही तो अंग नहीं है ?

"नहीं आर्य ! आप कष्ट न करें !" अर्जुन बोला, "आप तो कांपिल्य से उखड़कर आये हैं; आपको पुनः वहाँ ले जाने का दोष हम अपने सिर नहीं लेंगे।..."

अब तक कुंती का संशय- सर्प अनेकमुखी हो गया था—यह व्यक्ति दुर्योधन का भेजा हुआ है या भगवान वेदव्यास का ? या यह मात्र संयोग ही है ?

अर्जुन के कुछ और कहने से पूर्व ही वह बोली, "भूदेव ! हम कहीं भी आने- जाने के लिए स्वाधीन नहीं हैं। प्रतीक्षा कर रहे हैं। यदि भाग्य अनुकूल हुआ तो अवश्य अपने पुत्रों को लेकर कांपिल्य पहुँचूँगी।"

ब्राह्मण ने पहली बार गंभीर और स्थिर दृष्टि से कुंती की ओर देखा, "मैं समझता हूँ देवि ! फिर भी यह सूचना दे रहा हूँ कि पौष मास में, शुक्ल पक्ष में, शुभ तिथि एकादशी को रोहिणी नक्षत्र में वह स्वयंवर होगा। अभी पचहत्तर दिन शेष हैं। समय रहते अपनी योजना बना लेना। यदि स्वाधीन होना है, तो यह अवसर मत खोना।..."

ब्राह्मण चला गया; और कुंती अपने पुत्रों को लेकर कक्ष में आ गयी।

"क्या विचार है ? कौन था वह—कोई यायावर ब्राह्मण, किसी का दूत या कोई गुप्तचर ?" उसने अपने पुत्रों से पूछा, "क्यों सहदेव ! क्या विचार है तुम्हारा ?"

"वह साधारण यायावर तो नहीं था।" चिंतनलिप्त स्वर में सहदेव बोला, "और वह कुछ भी हो सकता है।"

"मुझे तो लगता है कि वह पंचालराज का कोई गुप्तचर था।" अर्जुन ने अपनी स्वप्निल वाणी में कहा, "वह उन्हीं की ओर से स्थान- स्थान पर घूमकर या तो हमें खोज रहा है, या फिर बलिष्ठ युवकों को कांपिल्य भेजने के लिए ही यह प्रचार कर रहा है।"

"सेना में भर्ती होने के लिए तो बुला नहीं रहे द्रुपद !" भीम ने कहा, "पुत्री के स्वयंवर के लिए बुला रहे हैं। ऐसे में साधारण प्रजा के बलिष्ठ युवकों को कांपिल्य में एकत्रित कर राजा द्रुपद को क्या लाभ होगा ?...और हमें खोजने का प्रयत्न तो तब आरंभ होगा, जब उन्हें पता चलेगा कि हम जीवित हैं।...और फिर हमें खोजने का प्रयोजन ?"

"दंडित करना ! अपने अपमान और पराजय का प्रतिशोध। अब तक उन्हें भी ज्ञात हो गया होगा कि हस्तिनापुर की शक्ति हमारे पक्ष में नहीं, हमारे विरुद्ध खड़ी है।"

"प्रतिशोध लेना है तो हस्तिनापुर पर आक्रमण करें। हम तो संसार की दृष्टि में जीवित ही नहीं हैं।" भीम बोला।

"बहुत संभव है कि स्वयंवर के बहाने वे हस्तिनापुर पर आक्रमण की तैयारी ही कर रहे हों !" अर्जुन बोला।

"संभावना तो यह भी हो सकती है," नकुल बोला, "कि वे यह मानते हों कि हम उनके प्रतिशोध से बचने के लिए ही कहीं लुप्त हो गये हैं।"

"तुम्हारी कल्पना बहुत तीव्र वेग से दौड़ रही है नकुल !" युधिष्ठिर बोला, "जो तुम

सोच रहे हो, वह संभव नहीं है। वैसे यह ठीक है कि यदि वे प्रतिशोध ही चाहते हैं, तो वह दुर्योधन को दंडित करने मात्र से वह पूर्ण नहीं होगा।"

"और यदि वह दूत भगवान वेदव्यास का भेजा हुआ हो तो ?" कुंती ने पूछा।

"तो वैसी स्थिति में वह हमें प्रत्यक्ष रूप से बता सकता था कि महर्षि ने हमारे लिए यह संदेश भेजा है।" युधिष्ठिर बोला, "हमसे स्वयं को गुप्त रखने का क्या प्रयोजन ?"

"संभव है कि उसे हमारे विषय में कुछ भी ज्ञात न हो ! उसे केवल संदेश पहुँचा देने के लिए कहा गया हो !" कुंती बोली।

"मात्र इस अनुमानं पर कि वह महर्षि का दूत था और उसने जो कुछ हमसे कहा, संभवतः वह उनका संदेश था—हमें उठकर शत्रुओं की राजधानी की ओर तो नहीं चल देना चाहिए।" सहदेव ने अपना मत प्रकट किया।

"हम अभी कांपिल्य जायें या न जायें, वह एक पृथक् विषय है। उसपर हम लोग विचार करेंगे।" कुंती बोली, "किंतु पहले तो यह निर्णय करो कि क्या पांचाल हमारे शत्रु हैं ? क्यों अर्जुन ?"

इस आकस्मिक किंतु सीधे प्रश्न से अर्जुन जैसे सकपका गया, "नहीं ! पांचाल हमारे शत्रु क्यों होंगे ! मैंने बार-बार स्पष्ट किया है कि हमने तो केवल गुरु-दक्षिणा के लिए कांपिल्य पर आक्रमण किया था।"

"यदि तुम्हारे मन में उनके लिए शत्रुता नहीं है, तो उनके मन में तुम्हारे लिए शत्रुता क्यों होगी ?" कुंती बोली।

"हमारे मन में तो दुर्योधन के लिए भी शत्रुता नहीं है; किंतु वह हमारे प्रति शत्रुता का निर्वाह कर रहा है या नहीं ?" अर्जुन ने प्रतिप्रश्न किया।

"वह मनुष्य का सामान्य व्यवहार नहीं है !" युधिष्ठिर बोला, "सामान्यतः हमारी अपनी भावनाएँ ही दूसरे के मन में प्रतिबिंबित होती हैं; किंतु दुर्योधन अपवाद है। वह रजोगुण के अतिरेक का स्वामी है।"

न किसी ने युधिष्ठिर का समर्थन किया, न विरोध। उनके मध्य एक प्रकार की निःस्तब्धता छा गयी। प्रत्येक व्यक्ति जैसे आत्मलीन होकर स्वयं ही अपनी गुत्थियाँ सुलझा रहा था।

अंततः कुंती ने ही मौन तोड़ा, "अच्छा, मान लो कि महर्षि यह संदेश भेजते हैं कि हम कांपिल्य चले जायें, तो ऐसी स्थिति में हमारा निर्णय क्या होगा ?"

"क्या ऐसा संदेश मिलने पर भी हमें कुछ सोचना है ?" युधिष्ठिर ने आश्चर्य से पूछा, "क्या हमको उनपर इतना भी विश्वास नहीं है कि हम उनकी इच्छा का संशयहीन सम्मान करें ?"

"मुझे उनकी क्षमताओं और सद्भावनाओं पर किसी प्रकार का कोई अविश्वास नहीं है; न मैं उनका विरोध ही कर रही हूँ।" कुंती बोली, "मैं तो केवल इतना ही पूछ रही हूँ कि यदि हम कांपिल्य जायेंगे, जहाँ दुर्योधन और उसके मित्रों का होना प्रायः निश्चित है, तो हम अपनी गोपनीयता की रक्षा कैसे करेंगे; और हम किस इच्छा, किस आशा से वहाँ जायेंगे ?"

"हम वहाँ जायेंगे, स्वयंवर में भाग लेने !" भीम बोला।

"तो यह तो निश्चित है न कि हम वहाँ जायेंगे ?" कुंती ने पूछा।

"हाँ, माँ !" पाँचों प्रायः एक ही स्वर में बोले।

"भीम कहता है कि हम वहाँ स्वयंवर में भाग लेने के लिए जायेंगे।" कुंती बोली, "क्या पांचाली कृष्णा ऐसी ही स्त्री है, जिसकी कामना में तुम लोग उस अज्ञात नगर में जाकर सारे संकट झेलना चाहते हो ? अथवा तुम लोगों के मन में नारी की कामना इतनी ही प्रवल है कि उसके सम्मुख संसार का कोई भी संकट तुम्हारे लिए छोटा है ?"

"नहीं माँ ! ऐसा कुछ नहीं है।" युधिष्ठिर बोला, "कृष्णा को हममें से किसी ने भी देखा तक नहीं है। सुना अवश्य है कि धरती पर वैसी कोई दूसरी नारी नहीं है। फिर भी मेरे लिए न कृष्णा ऐसी असाधारण स्त्री है; और न मेरे मन में नारी की कामना ही इतनी प्रवल है। अभी तो हम संकट-काल के मध्य खड़े हैं। हम यम-पाश से घिरे हुए है। हमें उसके घेरे को तोड़कर, जीवितों के लोक में लौटना है। हमारी कोई अस्मिता नहीं है। हम अज्ञात ब्राह्मण-पुत्रों के वेश में भिक्षाटन कर रहे हैं। हम अवसर खोज रहे है कि कब हम संसार के किसी कोने में पांडवों के रूप में प्रकट हों।..."

"तो फिर हम कांपिल्य जाने की क्यों सोच रहे हैं ?" कुंती जैसे अपने प्रश्नों और तर्को से अपने पुत्रों की आँखों में उनकी ही प्रतिमा घड़ रही थी, "आखिर क्या चाहते है हम ?"

"माँ ! हमारा कांपिल्य जाना महर्षि की इच्छा पर निर्भर करता है।" सहदेव गंभीर स्वर में बोला, "तो हमें यह सोचना चाहिए कि यदि वे हमें कांपिल्य भेज रहे हैं, तो क्यों भेज रहे हैं ? क्या इसलिए कि हममें से किसी का विवाह हो जाये ? हमें अपने इस छद्मवेश से मुक्ति मिल जाये ? हमारे प्राणों पर छाया संकट दूर हो सके ? किसलिए भेज रहे है वे हमें कांपिल्य ?"

"ठीक है, हमें यही सोचना चाहिए कि भगवान वेदव्यास का प्रयोजन क्या है; और उनकी हमसे अपेक्षा क्या है ? यदि हमें उनपर विश्वास है तो हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि वे हमारा हित चाहते हैं।" अर्जुन बोला, "यह हित किस रूप मे होगा ?"

"वे क्या चाहते हैं, मैं नहीं जानती। उनकी इच्छा का विरोध भी मै नहीं करूँगी।" कुंती बोली, "किंतु मैं इस तथ्य की अवज्ञा नहीं कर सकती कि वहाँ पांचाली का स्वयंवर है; और जो ब्राह्मण अभी यहाँ से गया है, वह तुम्हें उस स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए प्रेरित कर रहा था। तुम लोग उस स्वयंवर में भाग लोगे ?"

"यदि संभव हुआ तो क्यों भाग नहीं लेंगे माँ ?" भीम बोला, "तुम इतनी आशंकित क्यों हो ?"

"मेरी आशंका के तीन कारण हैं पुत्र ! एक तो यह कि स्वयंवर एक सार्वजनिक मिलन-स्थल है, जहाँ ऐसे अनेक होंगे, जो तुम्हें पहचान लेंगे। तुम्हारी गोपनीयता का कवच छिन्न-भिन्न हो जायेगा, और तुम लोग संकट के आमने-सामने खड़े हो जाओगे।" कुंती बोली, "दूसरी चिंता यह है कि आर्य राजपुत्रियों के स्वयंवरों की समाप्ति प्रायः युद्धों से ही होती है। यदि दुर्योधन ने तुम्हें किसी ऐसे ही व्याज से घेर लिया, तो तुम क्या करोगे ? तुम्हारे पास साधारण शस्त्र तक तो हैं नहीं !...और फिर पुत्र !" कुंती ने रुककर अपने पुत्रों की ओर देखा, "स्वयंवर तो प्रतिद्वंद्विता का स्थल है। मैं नहीं चाहती कि मेरे अपने पुत्र किसी भी स्थिति में एक-दूसरे के प्रतिद्वंद्वी बनकर खड़े हों।"

कुंती ने अपनी बात पूरी कर, पुत्रों को देखा : वे सब चुपचाप कुछ सोच रहे थे।

इस बार कदाचित् भीम सबसे पहले निर्णय पर पहुँचा था, "माँ ! तुम मेरी ओर से

आश्वस्त रहो : मैं किसी भी अवसर पर अपने किसी भाई का प्रतिद्वंद्वी नहीं होऊँगा। यदि किसी अन्य ने कृष्णा के सम्मुख स्वयं को विचारार्थ प्रस्तुत किया तो मैं कभी भी प्रत्याशी अथवा प्रतियोगी के रूप में आगे नहीं बढ़ूँगा।" वह रुका, "हिडिंबा से तो मैंने इसलिए विवाह कर लिया था, क्योंकि मेरे किसी भी भाई के मन में उसके प्रति कोई आकांक्षा नहीं थी।"

"मैं जानती हूँ मेरे लाल !" कुंती के नयनों में अश्रु आ गये, "मैं जानती हूँ कि तेरा मन कितना स्वच्छ है। वह स्वयंवर नहीं था, संकट-काल था। तूने हमारी रक्षा के लिए ही, वह सब किया था। किंतु अब यदि महर्षि ने हमें कांपिल्य भेजा, तुम लोगों के लिए स्वयंवर में सम्मिलित होने का अवसर आया, तो पहले ज्येष्ठ को ही भेजना।"

"तुम चिंता न करो माँ ! ऐसा ही होगा।"

कुंती कुछ आश्वस्त अवश्य हुई थी ; किंतु फिर भी वह पूर्णतः चिंता-मुक्त नहीं हो पायी थीः वह ब्राह्मण इस प्रकार चर्चा क्यों कर रहा था, जैसे वह उनको आमंत्रित करने ही आया हो...

तभी देवप्रसाद आ गया, "आप कब यात्रा आरंभ कर रही हैं दीदी ?"

"क्या हमारे यहाँ रहने से ऊब गये हो ब्राह्मण ?"

देवप्रसाद हत्प्रभ खड़ा, कुंती को देखता रह गया, "आप क्या कह रही हैं दीदी !..." उसका कंठ अवरुद्ध हो गया और आँखें झुक गयीं; फिर वह धीरे से बोला, "दीदी ! जब मैंने अपने घर में आप लोगों को आश्रम दिया था तो अपने मन में अनचाहे भी कहीं एक अहंकार पाल रहा था कि मैं गुरुदेव की इच्छानुसार यह कार्य कर, उनके ऋण से उऋण हो रहा हूँ। मैं क्या जानता था कि मैं उनका कार्य नहीं कर रहा था, वे ही मेरा कार्य कर रहे थे...।"

कुंती को अपने उस अनायास पूछे गये प्रश्न के लिए दुख हुआ। कदाचित् ब्राह्मण को उसकी बात अधिक ही चुभ गयी थी।

"वह कैसे ?" उसने पूछा।

"यदि उन्होंने आपको तथा आपके पुत्रों को मेरे घर में न ठहराया होता, तो बकासुर से हमारी रक्षा कौन करता ? वे आपको कहीं भी और ठहरा सकते थे। उनके सामर्थ्य की कोई सीमा नहीं है।..." उसने रुककर कुंती को देखा, "मैंने तो केवल इसलिए पूछ लिया था, क्योंकि गुरुदेव ने आपको कांपिल्य आने का संदेश भिजवाया है...।"

"भगवान वेदव्यास ने ?" कुंती चौंकी, "कब ? कैसे ?"

"यह ब्राह्मण, जो प्रातः आपसे चर्चा करके गया है, यह गुरुदेव का ही शिष्य तो था...।" देवप्रसाद बोला।

कुंती ने चकित दृष्टि से उसे देखा, "किंतु उसने यह तो हमसे कहा ही नहीं।... आप निश्चित रूप से उन्हें जानते हैं क्या ?"

देवप्रसाद हँसा, "हाँ, दीदी ! मैं निश्चित रूप से जानता हूँ। वह ब्राह्मण गुरुदेव का ही शिष्य है। वह उन्हीं का संदेश लेकर आया था।..."

"विचित्र बात है।" कुंती बोली, "उसने हमें इस बात का रत्ती भर भी संकेत नहीं दिया। क्या कारण हो सकता है ब्राह्मण ?"

"कह नहीं सकता," देवप्रसाद बोला, "कि यह सब गुरुदेव की आज्ञा के ही अनुसार हुआ

है, या उसने स्वयं ही यह विधि अपनायी थी··· या फिर यह भी संभव है कि उसने समझा हो कि यह प्रस्ताव अपने-आपमें ही इतना आकर्षक था कि और कुछ कहना आवश्यक नहीं था।"

"कारण कुछ भी हो !" कुंती जैसे अपने-आपसे बोली, "अब हमारा जाना तो निश्चित हुआ।"

"देवि !" देवप्रसाद कुछ कहते-कहते रुक गया।

कुंती ने उसकी ओर देखा : देवप्रसाद की आँखों में अश्रु थे और वह अपनी विह्वल अवस्था को जैसे नियंत्रित करने का प्रयत्न कर रहा था।

"क्या बात है ब्राह्मण ?" कुंती ने आश्चर्य से पूछा।

देवप्रसाद ने कुछ कहने के लिए मुँह खोला; किंतु उसके कंठ से स्वर नहीं फूटा।

कुंती ने कुछ कहना उचित नहीं समझा : जाने ब्राह्मण इतना विह्वल क्यों था।

देवप्रसाद ने अपने अश्रु पोंछे; स्वयं को सँभाला और बोला, "देवि ! मैं आपको कैसे बताऊँ कि आपके साथ हमारा यह समय कितने सुख से बीता है; और आपके जाने के पश्चात् हमें यह घर कितना सूना लगेगा और हमारे बच्चे आपको कितना स्मरण करेंगे···!" वह रुक गया।

"मेरे पुत्रों को भी तुम्हारे बच्चों से बहुत स्नेह है ब्राह्मण ! मुझे स्वयं यह स्थान एकदम अपने घर-सा लगा है। तुम लोग आत्मीय लगे, जैसे पिछले जन्म के सहोदर ही हों।··· किंतु मैं यह भी जानती हूँ कि यह हमारा स्थायी निवास नहीं है, हमें अपने घर लौटना ही है···।"

"जानता हूँ देवि !" देवप्रसाद बोला, "और मैं यह भी नहीं चाहता कि हमारा स्नेह आपके पाँवों की बेड़ी बने। गुरुदेव ने आपको कांपिल्य बुलाया है, तो इसमें आपका कोई-न-कोई हित ही होगा। वैसे···" वह कुछ रुककर बोला, "वैसे मेरा मन कहीं यह भी कहता है, कि आप और आपके ये पुत्र साधारण लोग नहीं हैं। ईश्वर आपको उचित स्थान प्रदान करे···"

देवप्रसाद को लगा कि अब उसका अवरुद्ध कंठ उसे और बोलने नहीं देगा। उसने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और अपने अश्रु छिपाने के लिए वहाँ से हट गया।

वह लौटकर आया तो सरस्वती उसकी प्रतीक्षा ही कर रही थी।

"ये लोग साधारण ब्राह्मण नहीं हैं।" वह बोली, "नहीं तो क्या भगवान वेदव्यास इन्हें द्रुपद-पुत्री पांचाली कृष्णा के स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए प्रेरित करते ?"

"हाँ ! मुझे भी लगता है कि वे साधारण लोग नहीं हैं।" देवप्रसाद बोला, "बहुत संभव है कि ब्राह्मण-पुत्रों के वेश में वे लोग क्षत्रिय राजकुमार ही हों !"

"संभव है।" सरस्वती लज्जित-से स्वर में बोली, "और मुझे देखो, मैं अपनी मूर्खता में विद्या का संबंध उनके बकुल से करना चाह रही थी।···"

"तुम ?" देवप्रसाद ने उसे आश्चर्य से देखा।

"मैं तो प्रस्ताव लेकर दीदी से मिली भी थी।" सरस्वती बोली, "उनकी अस्वीकृति से मैं रुष्ट भी थी।"

"मूर्ख हो तुम !" देवप्रसाद बोला, "मुझसे चर्चा तो की होती।"

अपने कक्ष के एक कोने में स्तब्ध- सी बैठी विद्या सोच रही थी··· बकुल ने राजकुमारी से विवाह करने की जो चर्चा की थी, वह सत्य थी क्या ?···वह उसका परिहास नहीं था ?···वह राजकुमार है क्या ? कौन है वह ? कौन ??···

30

इन दिनों द्रुपद अत्यंत व्यस्त हो उठे थे।···कार्य आरंभ करने से पहले भी वे जानते थे कि यह एक बहुत बड़ा आयोजन था; किंतु फिर भी उन्होंने इसके इतने विस्तार- प्रसार की कल्पना नहीं की थी। ऐसा लगता था कि आजकल संपूर्ण कांपिल्य नगर में सिवाय स्वयंवर की व्यवस्था के और कोई भी कार्य नहीं हो रहा था। प्रातः उठकर द्रुपद अत्यंत अधीरता से किसी प्रकार अपने दैनिक कृत्य पूरे करते थे; और फिर स्वयंवर की व्यवस्था में खो जाते थे। ध्यान, आराधना और स्वाध्याय के लिए एक तो समय ही बहुत कम निकल पाता था, दूसरे, जितना समय वे निकालते भी थे, उसमें एकाग्र नहीं हो पाते थे। वे आँखें बंद कर प्रार्थना के लिए ईश्वर के सम्मुख हाथ जोड़ते थे, तो उनके ध्यान में अनेक वे कार्य हाथ जोड़े आ उपस्थित होते थे, जो उन्हें आसन से उठते ही करने थे···उन्हें लगता था कि वे आजकल ब्रह्म का ध्यान नहीं करते, 'स्वयंवर' का ध्यान कर रहे थे···आसन से उठते ही वे आदेश देने आरंम्भ कर देते थे और राज- परिवार, राज- कर्मचारी तथा कांपिल्य की सारी प्रजा, उनके आदेशों का पालन करने लगती थी; किंतु फिर भी जितने कार्य होते थे, उनसे कहीं बड़ी संख्या में नये- नये कार्य जन्म लेकर उनके सामने भीड़ बढ़ाने के लिए खड़े हो जाते थे···कई बार तो द्रुपद को स्वयं आश्चर्य होने लगता था कि वे आदेश ही तो देते हैं, फिर थक किस बात से जाते हैं ?···और तभी वे अपने मन के भारी बोझ को पहचानते थे, जिसे हटाने के लिए वे इतना उद्यम कर रहे थे···

द्रुपद ने हाथ जोड़कर प्रभु को नमस्कार किया और आसन छोड़कर उठ खड़े हुए।

द्वारपाल ने उनके सम्मुख आकर उन्हें प्रणाम किया; लगा, वह उनके आसन से उठने की प्रतीक्षा ही कर रहा था।

"क्या बात है ?" द्रुपद ने पूछा। उनकी वाणी में, द्वारपाल के इस त्वरित प्रणाम के प्रति स्पष्ट अप्रसन्नता थी।

"महाराज !" द्वारपाल अत्यंत विनीत भाव से बोला, "राजकुमार शिखंडी, प्रासाद में लौट आये हैं और महाराज के दर्शन करना चाहते हैं।···"

"क्या ? राजकुमार शिखंडी ?" द्रुपद के मुख से अनायास ही निकल गया।

"हाँ, महाराज !"

द्रुपद को लगा, इस समय इस समाचार से उन्हें कोई विशेष प्रसन्नता नहीं हुई। शिखंडी, उन्हें एक विकट कठिनाई में असहाय छोड़कर कहीं विलीन हो गया था। वे ही जानते हैं कि उन्होंने हिरण्य वर्मा को कैसे- कैसे समझाया था; और अब, जब किसी प्रकार वह अंधड़ शांत हो गया था और वे कृष्णा के स्वयंवर की व्यवस्था में व्यस्त थे—शिखंडी लौट आया था।···क्या वे सारी समस्याएँ, जो शिखंडी की अनुपस्थिति के कारण विलीन हो गयी थीं, अब उसके लौट

आने से, जाग नहीं उठेंगी ?···क्या फिर हिरण्य वर्मा का पुरोहित आकर उनके सम्मुख खड़ा नहीं हो जायेगा कि वे शिखंडी के पुरुष होने का प्रमाण दें ?···

सहसा उनका मन पलटकर दूसरी ओर सोचने लगा; शिखंडी जाते हुए जो संदेश उनके लिए छोड़ गया था, उसी के आधार पर तो वे हिरण्य वर्मा को शांत कर पाये थे। वे समझ गये थे कि शिखंडी ने घर छोड़ने का संकट इसीलिए तो उठाया था कि न हिरण्य वर्मा उसे खोज पाये और न ही यह प्रमाणित कर पाये कि वह स्त्री है···और अब वह लौट आया है।···वह क्या समझता है ?···क्या वह यह मानकर लौट आया है, कि हिरण्य वर्मा उसके पुरुष होने का प्रमाण नहीं माँगेगा··· अथवा वह अपने पुरुष होने का प्रमाण लेकर लौटा है ?··· पर नहीं; यदि वह पुरुष होता तो उसे घर छोड़कर भागने की आवश्यकता नहीं थी ! और यदि वह स्त्री है तो पुरुषत्व का प्रमाण कहाँ से लायेगा ?···

और सहसा द्रुपद ने जैसे स्वयं ही अपने-आपको डाँटा··· प्रमाण हो या न हो··· उनकी वह संतान सकुशल उनके पास लौट आयी है, जिसे वे अब तक मृत्यु को प्राप्त हुई, स्वीकार कर चुके थे···

"उसे आने दो !"

द्वारपाल के बाहर जाने से पहले ही शिखंडी ने कक्ष में प्रवेश किया। कदाचित् वह कपाट के साथ लगा खड़ा था और पिता की अनुमति की प्रतीक्षा कर रहा था। उसने क्षण-भर रुककर पिता को देखा और फिर उनके चरणों में झुक गया।

उस एक क्षण ने ही द्रुपद को अपने इस पुत्र की स्थिति कह सुनायी : वह अत्यंत दुर्बल हो गया था, जैसे कई दिनों से कुछ खाया ही न हो। उसे कदाचित् चलने में भी कठिनाई हो रही थी, जैसे शरीर में कहीं घाव हो या कोई हड्डी चटख गयी हो; अथवा संभव है कि यह भी अत्यधिक दुर्बलता का ही परिणाम हो। आनन की जिस गोलाई और शरीर के जिस गदराएपन के कारण वे उसे कन्या राशि का बालक कहते थे, वह सब अब विलीन हो चुका था। चेहरा अपनी गोलाई छोड़कर कुछ लंबा हो गया था और शरीर का गदरायापन वैसे ही सूख गया था, जैसे कई दिन तक पानी न मिलने पर पौधा सूख जाता है···उसके शरीर पर आज उतने वस्त्र भी नहीं थे, जितने सामान्यतः वह लादे रहता था···

द्रुपद ने झुककर, उसे कंधों से पकड़कर उठाया, "तुम अस्वस्थ हो पुत्र ?"

"नहीं !"·शिखंडी की मुस्कान भी उसके आनन से शारीरिक पीड़ा का भाव पोंछ नहीं सकी, "यह दुर्बलता अस्वस्थता के कारण नहीं पिताजी ! उपचार के कारण है।"

"तो तुम अस्वस्थ थे ?'"द्रुपद उसे अपनी भुजाओं में थामे हुए ही, कक्ष से बाहर ले आये। उन्होंने उसे सहारा देकर आसन पर इस प्रकार बैठाया, जैसे कोई व्यक्ति किसी अत्यंत कोमल वस्तु को बहुत सहेजकर कहीं रखता है। वे मुड़े, "द्वारपाल ! दोनों रानियों, धृष्टद्युम्न तथा कृष्णा को सूचना दो कि राजकुमार शिखंडी लौट आये हैं।" फिर शिखंडी की ओर उन्मुख हुए, "तुम्हें किसी वस्तु की तत्काल आवश्यकता है पुत्र—भोजन, औषधि अथवा कोई और पदार्थ ?"

"नहीं !" शिखंडी के अधरों पर पुनः वह शुष्क मुस्कान आ गयी, "थोड़ा जल ! मैं विश्राम कर ठीक हो जाऊँगा। बहुत थका हुआ हूँ। लंबी यात्रा कर यहाँ तक पहुँचा हूँ।"

द्रुपद ने दासी की ओर देखा। वह पहले ही जल लाने के लिए मुड़ चुकी थी। द्रुपद शिखंडी की ओर मुड़े, "तुम कहाँ चले गये थे पुत्र !" द्रुपद को अपने स्वर के स्नेह ने स्वयं

ही आश्चर्य में डाल दिया था।

"मैं आपकी समस्या का समाधान ढूँढ़ने गया था पिताजी !"

"ढूँढ़ लाये ?"

"हाँ, पिताजी !" शिखंडी बोला, "आप दशार्णराज को संदेश भिजवा सकते हैं कि वे जैसे चाहें मेरे पुरुषत्व का परीक्षण कर सकते हैं।"

द्रुपद ने विस्मय से उसकी ओर देखा, "क्या तुम यह प्रमाण लेने गये थे ?"

"नहीं पिताजी !" शिखंडी धीरे से बोला, "वस्तुतः आपको और अपने इस परिवार को इस कठिनाई से निकालने के लिए मै एक ही मार्ग खोज पाया था—आत्महत्या ! मैं घर से मृत्यु की खोज में निकला था, ताकि न दशार्णराज मुझे खोज पायें और न ही मेरा नारीत्व प्रमाणित कर, आप पर कोई आक्षेप कर सकें...।"

द्रुपद जैसे सतर्क होकर बैठ गये।

"मैं इतने सघन वन में पहुँचा, जहाँ किसी मनुष्य के होने की कोई संभावना नहीं थी; और एक वृक्ष के नीचे, यह संकल्प कर पद्मासन लगाकर बैठ गया कि मृत्यु की प्रतीक्षा में मैं ईश्वर का ध्यान करूँगा। या तो कोई हिंस्र पशु आकर मुझे खा जायेगा अथवा अन्न-जल के अभाव में ही मेरे प्राण निकल जायेंगे।..."

"फिर ?"

"मैं अपने संकल्प पर दो दिनों तक अडिग रहा।"

"तीसरे दिन मुझे अपने निकट किसी अन्य व्यक्ति की उपस्थिति का आभास हुआ। मैंने आँखें खोलीं। आँखों में करुणा-भरे एक यक्ष मेरे सामने खड़ा था। उसने मुझे अपना परिचय दिया। वह स्थूणाकर्ण यक्ष था और किन्हीं कारणों से वहीं, उस सघन वन में रहता था। वह पिछले दो दिनों से छिपकर मुझे देख रहा था। तीसरे दिन उसने मेरे सम्मुख प्रकट होने का निर्णय किया था। उसके बहुत आग्रह पर मैंने उसे अपनी समस्या बतायी और प्राण त्यागने का निश्चय भी सुना दिया।"

'तो तुम वस्तुतः नारी हो और पुरुष के छद्म-वेश में रहते रहे हो ?" उसने पूछा।

'हाँ !' मैंने उत्तर दिया।

'तो तुम्हारी समस्या का समाधान यह है कि या तो तुम वस्तुतः पुरुष बन जाओ, अथवा अपना जीवन समाप्त कर दो।'

'पुरुष मैं बन नहीं सकता, इसलिए अपना जीवन समाप्त कर रहा हूँ।'

'क्या तुम सदा से पुरुष बनना चाहते रहे हो ?' उसने पूछा।

'हाँ !'

'क्या तुम्हें लगता है कि तुम्हारा मन और मस्तिष्क, पुरुष का मन-मस्तिष्क है ?'

'हाँ !'

'क्या तुम्हारा मन सुंदर तथा युवा पुरुषों की तुलना में सुंदर और युवा नारियों की ओर अधिक आकृष्ट होता रहा है ?'

'हाँ !'

'तो मुझे अपने शरीर का परीक्षण करने दो।' वह बोला।

'पर क्यों ?' मैंने चकित होकर पूछा।

'यह देखने के लिए कि क्या तुम सचमुच पुरुष बन सकते हो ?'

'क्या यह संभव है ?'

'कुछ लोगों के लिए संभव है ।' यक्ष बोला, 'प्रकृति कुछ लोगों को भीतर से पुरुष और ऊपर से नारी बना देती है । ऐसी स्थिति में यह संभव है कि उसे बाहर से भी वही बना दिया जाये, जो वह भीतर से है ।'

"यक्ष ने मेरे शरीर का वैसे ही परीक्षण किया, जैसे कोई वैद्य किसी रोगी का करता है । और अंततः वह बोला, 'यदि तुम्हारा संकल्प दृढ़ है, यदि तुम अपनी मनोकामना पूर्ण करने के लिए असह्य कष्ट उठा सकते हो, तो मैं तुम्हें पुरुष का शरीर दे सकता हूँ ।' उसने मुझे देखा, 'सामान्यतः मैं किसी की ऐसी इच्छा पूर्ण नहीं करता । यक्षराज की ओर से हमें इसका निषेध है; किंतु तुम आत्मघात करने पर तुले हो । तुम्हारी इच्छा पूर्ण करने का अर्थ है, एक मुमुर्षू व्यक्तिको प्राणदान । यह पुण्य कर्म माना गया है । मैं यह कार्य धर्म- कार्य समझकर करूँगा''' तुम तैयार हो ?'

"मैं विना कुछ सोचे- समझे, कि वह क्या करना चाहता है, सहमत हो गया । वह मुझे उसी वन में, अपने आवास पर ले गया । उसने मुझे कितने ही दिनों तक सिवाय जड़ी- बूटियों के घोल के, और कुछ खाने को नहीं दिया । मेरे शरीर की मांसलता छँटती गयी और मैं कुछ दुर्बल भी हुआ; किंतु मैं प्रसन्न था । फिर उसने मुझसे विभिन्न प्रकार के व्यायाम करवाये । प्रहर- प्रहर भर तक किसी एक मुद्रा में खड़ा कर देता था ।''' और अंततः उसने मेरे शरीर को कूटना और पीटना आरंभ किया । यह सबसे अधिक कष्टप्रद प्रक्रिया थी । एक रात उसने एक घोल पिलाकर मुझे अचेत कर दिया; और उसी अचेतावस्था में उसने मेरे शरीर की शल्यक्रिया की । जब मैं सचेत हुआ, तो बहुत दुर्बल हो चुका था । शरीर का बहुत सारा रक्त वह गया था । स्थूणाकर्ण बहुत प्रसन्न था । उसने बताया कि हम लोग अपने प्रयोग में सफल हो गये हैं । मैं अब पूर्ण पुरुष हूँ—मन से भी और शरीर से भी । मैं कुछ दुर्वल हूँ और शरीर पर शल्यक्रिया के कारण उत्पन्न कुछ घाव हैं । अतः मुझे विश्राम करना होगा । यह समाचार मेरे लिए इतना सुखद था कि मैं तत्काल घर लौटना चाहता था; किंतु उसने मुझे आने नहीं दिया । उसका विचार था कि यदि मैं शरीर की उस अवस्था में लंबी यात्रा करूँगा तो अपने घर पहुँचने के स्थान पर, यम के घर पहुँच जाऊँगा । उसके पश्चात् वह मेरा उपचार करता रहा । शारीरिक बल और ऊर्जा के लिए विभिन्न प्रकार के घोल पिलाता रहा; और घावों पर लेप लगाता रहा । और जैसे ही उसने यह कहा कि अब मैं घर लौट सकता हूँ, मैं वहाँ से चल पड़ा । एक सप्ताह की यात्रा के पश्चात् मैं घर पहुँचा हूँ पिताजी !" शिखंडी चुप हो गया ।

"तुमने मेरे लिए बहुत कष्ट सहा है पुत्र !" द्रुपद बोले ।

वे अपने स्थान से उठकर, शिखंडी के निकट आये । उन्होंने अपनी हथेली से उसके केशों को सहलाया, "मैं जीवन- भर तुमसे उऋण नहीं हो सकता पुत्र !"

31

"हमें गंगा पार करके कांपिल्य नगरी में जाना है भैया !" युधिष्ठर ने नाविक से कहा, "हम वनवासी ब्राह्मणों से उसका क्या शुल्क लोगे ?"

"बहुत चतुर हो ब्राह्मण !" नाविक हँसा, "पहले तो अपना परिचय वनवासी ब्राह्मण के रूप में देते हो, और फिर शुल्क पूछते हो।" उसने रुककर युधिष्ठिर को देखा, "किंतु कोई बात नहीं। आओ, बैठो नौका में। तुम्हारे उस परिचय के कारण तुम्हें शुल्क भी नहीं देना पड़ेगा—महाराज द्रुपद ने ऐसी ही व्यवस्था कर दी है।"

"कैसी व्यवस्था ?"

"इन दिनों गंगा पार करने के लिए किसी को भी शुल्क नहीं चुकाना पड़ता—सबका शुल्क महाराज ही चुका रहे हैं; क्योंकि इन दिनों कांपिल्य आने वाला प्रत्येक व्यक्ति उन्हीं का अतिथि है।" नाविक ने बताया।

"उनके अतिथि तो वे ही लोग होंगे न, जो स्वयंवर में भाग लेने के लिए आ रहे हैं।" युधिष्ठिर बोला, "हम लोग तो साधारण वनवासी ब्राह्मण हैं···।"

"हाँ ! हाँ ! तुम लोग भी महाराज के अतिथि हो।" नाविक बोला, "ताली बजाने वाला दर्शक न हो तो नट को करतब दिखाने का क्या सुख मिलेगा ! आओ, बैठो।"

युधिष्ठिर ने नाविक से और कुछ नहीं कहा। मुड़कर कुंती की ओर देखा. "आओ माँ ! बैठो !"

कुंती को नौका में चढ़ाकर, वह भी नाव में आ गया। उसके पश्चात् चारों भाई भी नाव में आ गये; और नाविक ने चप्पू सँभाल लिये।

"तुमने और यात्रियों की प्रतीक्षा नहीं की नाविक !" भीम ने उससे पूछा, "क्या दो यात्री आते तो तुम दो को ही लेकर चल पड़ते ?"

"महाराज की ओर से शुल्क प्रति यात्री के दर से नहीं; प्रति फेरे के दर से दिया जाता है, ताकि न किसी यात्री को कांपिल्य जाने के लिए प्रतीक्षा करनी पड़े और न कांपिल्य को किसी यात्री के आने की···।"

कुंती ने अपनी दृष्टि गंगा की धारा की ओर फेर ली।··· नाविक बहुत वाचाल लगता था और चतुर भी। यदि महाराज ने शुल्क नौका के प्रति फेरे के दर से तय किया था तो वह फेरों की संख्या बढ़ा लेगा; और कहीं शुल्क प्रति यात्री के दर से होता, तो वह कदाचित् दिन भर में एक ही फेरा लगाता और प्रयत्न करता कि सारे यात्री उसी एक फेरे में दूसरी ओर पहुँच जायें।··· उसके चप्पुओं के साथ-साथ उसकी जिह्वा भी चल रही थी और उसे भीम जैसा सहयोगी भी मिल गया था।··· किंतु अब कुंती उन लोगों की बातों में रुचि नहीं ले पा रही थी। वह इस यात्रा से काफी थक गयी थी और कहीं बैठकर आराम करना चाहती थी।···भीम का क्या था, वह तो न चलने से थकता था, न खाने से तृप्त होता था···

उसकी दृष्टि गंगा की धारा पर पड़ते ही जैसे जल के साथ-साथ बहती हुई हस्तिनापुर पहुँच गयी थी। इसी गंगा के तट पर है हस्तिनापुर जिसका सम्राट होना था उसके पुत्र को। यदि आज युधिष्ठिर हस्तिनापुर से आता, तो क्या वन-मार्ग से ऐसे पदाति चलता हुआ आता और नाविक से पूछता कि वह वनवासी ब्राह्मण को गंगा पार कराने का क्या शुल्क लेगा ?···तब उसके पास रथ होते···राजकीय नौकाएँ होतीं··· सैनिक और मंत्री होते···दास-दासियाँ होते···

पता नहीं; क्या है उसके पुत्रों के भाग्य में !···सम्राट् बनते-बनते नगर बहिष्कृत हुए। प्राण बचाने के लिए, जलते हुए वारणावत को छोड़कर वन में आये तो हिडिंब जैसा राक्षस उनके प्राणों का ग्राहक हो गया। ऐसा लगा कि विधाता ने उन्हें हिडिंब का उदर भरने के लिए

ही अग्नि के मुख से छीना था। ईश्वर की कृपा रही कि भीम अव इतना समर्थ हो चुका है, नहीं तो कदाचित् एक-एक वे सव उस असुर और उसके साथियों के उदर में समा ही जाते।"

सहसा कुंती के हताश मन में उत्साह जागा" विधाता ने एक ओर उनके लिए कठिनाइयों का सृजन किया है, तो दूसरी ओर उन्हें समर्थ सहायक भी दिये हैं" और अव तो उसके अपने पुत्र भी समर्थ होते जा रहे हैं। वारणावत से तो वे लोग विदुर की सहायता से ही वच पाये थे, किंतु हिडिंव और वकासुर से तो भीम अपनी शक्ति के वल पर ही वचा था। स्वयं ही नहीं वचा था, उसने शेष सब लोगों की भी रक्षा की थी। भीम तो भीम"अव तो अर्जुन भी "और कुंती की आँखों के सम्मुख सोमाश्रयायण तीर्थ के निकट गंगातट का दृश्य घूम गया।xxx

चलते-चलते सारा दिन व्यतीत हो गया था; किंतु ठहरने के लिए किसी उपयुक्त स्थान का चुनाव वे कर नहीं पाये थे। युधिष्ठिर वार-वार देख रहा था कि माँ थक गयी है, और भाइयों में भी वैसा उत्साह नहीं रह गया है। किंतु विश्राम के लिए उचित स्थान पाये विना, कहीं रुकना विवेक-संगत नहीं था।

एक ओर युधिष्ठिर किसी उचित स्थान की खोज भी कर रहा था और दूसरी ओर उसके मन में वार-वार यह आशंका भी जाग रही थी कि कहीं ऐसा न हो कि चलते-चलते उनकी वही स्थिति हो जाये, जैसी हिडिंबवन में पहुँचने पर हुई थी। किंतु विना उपयुक्त स्थान"

कुंती को लग रहा था कि समय अथवा दूरी का अनुमान लगाने में उनसे कोई-न-कोई भूल अवश्य हुई है। वे लोग गंगा-तट के सोमाश्रयायण तीर्थ को आज की यात्रा का अपना गंतव्य वनाकर चले थे; किंतु अभी तक उसका कहीं कोई आभास नहीं मिला था। या तो उनके चलने की गति ही वहुत धीमी रही थी, या फिर जितनी दूरी उन्हे वतायी गयी थी, वही भ्रामक थी।"

"माँ! कुछ दूर और चल सकोगी?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"आवश्यक होगा तो चल ही लूँगी पुत्र!" कुंती वोली, "तुम मेरी चिंता छोड़कर मार्ग खोजने का प्रयत्न करो।"

"अव तो अंधकार भी होता जा रहा है भैया!" सहदेव ने धीरे से कहा, "माँ अंधकार में कैसे चलेंगी!"

"माँ! थक जाओगी तो वता देना; तुम्हें अपने कंधे पर वैठा लूँगा।" भीम वोला, "हाँ; भूख की वात और है।"

"अरे बुद्धुओ! अपनी ही हाँके जा रहे हो," कुंती कुछ खीजकर वोली, "मेरी चिंता के विषय में कुछ सोचते ही नहीं हो।"

"तुम्हारी चिंता क्या है माँ?" अर्जुन ने पूछा।

"मेरी चिंता अपने पुत्रों के विषय में है जो प्रत्यूष से चलते ही जा रहे हैं।" कुंती वोली, "वे थक गये होंगे, उन्हें भूख भी लगी होगी, और नींद भी आयी होगी।"

"ओह, माँ!" भीम ने आकर कुंती को अपनी भुजाओं में उठा लिया, "तुम केवल नकुल और सहदेव को ही अपने पुत्र मानती हो?"

"इस समय तो मैं तुम सवकी चिंता कर रही हूँ मूर्ख!" कुंती ने उसे स्नेहपूर्वक डाँटा,

"और यदि मुझे नकुल-सहदेव की अधिक चिंता रहती है, तो अनुचित क्या है ! वे छोटे हैं; तुम्हारी तुलना में कम समर्थ हैं। तुम्हारे छोटे भाई हैं। तुम्हें भी स्वयं से अधिक उन्हीं की चिंता होनी चाहिए।"

"मध्यम अपने मुख से चाहे कुछ भी कहते रहें माँ, किंतु उन्हें भी हमारी ही चिंता सर्वाधिक सताती है।" नकुल बोला, "यह सब तो वे केवल आपको खिझाने के लिए कहते हैं।"

"चल चाटुकार !" भीम ने उसकी पीठ पर एक धौल जमाया, "तू चाहेगा भी तो तुझे अपने कंधे की सवारी नहीं कराऊँगा।"

तभी आगे-आगे चलता हुआ युधिष्ठिर रुक गया।

"क्या बात है पुत्र ?"

"सहदेव ! कान लगाकर सुनो। क्या तुम्हें भी प्रवहमान जल की ध्वनि सुनायी पड़ती है ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

सहदेव ने एकाग्र होकर सुनने का प्रयत्न किया और बोला, "भैया की श्रवण-शक्ति हम सबसे अधिक प्रबल है। हम सब बातों में ही लगे रहे और उन्होंने वार्तालाप के मध्य भी जल-प्रवाह का शब्द सुन लिया।"

"अर्जुन ! तुम उल्मुक जला लो।" युधिष्ठिर ने कहा, "धरती पर तो अंधकार में भी यात्रा की जा सकती है, किंतु जल पर नहीं। यदि निकट ही कहीं जल बह रहा है तो बहुत संभव है कि यह सुरसरि गंगा का ही जल हो। यदि यह गंगा नहीं है, तो भी हमें जल के निकट रात-भर के लिए विश्राम करना चाहिए।"

"निर्जन सरिता-तट पर विश्राम करने के स्थान पर अच्छा है कि हम थोड़ी-सी और यात्रा कर सोमाश्रयायण तक पहुँच ही जायें।"

"जैसी आपकी इच्छा माँ !" युधिष्ठिर बोला, "किंतु अर्जुन ! तुम उल्मुक तो प्रज्वलित कर ही लो।"

अर्जुन ने उल्मुक जला लिया और वह आगे-आगे हो लिया, ताकि सबको उल्मुक का प्रकाश मिल सके।

तभी किसी ने उच्च स्वर में पुकारकर, अत्यंत अभद्र स्वर में पूछा, "कौन है ? किसने इस समय यहाँ आने का साहस किया है ?"

वे रुक गये। कुंती के पाँव तो जैसे निर्जीव पाषाण के समान भारी और निष्क्रिय हो गये··· क्या फिर कोई हिडिंबा अथवा बकासुर आ गया, या उनसे भी कोई बड़ा संकट ?···

"हम वनवासी ब्राह्मण हैं आर्य !" युधिष्ठिर ने अत्यंत शांत स्वर में कहा, "यात्रा से थक गये हैं। जल पीकर थोड़ा विश्राम करना चाहते हैं।"

"किंतु इस समय मैं गंगा में विहार कर रहा हूँ; कोई और यहाँ आने का साहस ही कैसे कर सकता है !" वह स्वर क्रोध में लपलपा रहा था, "इस अपराध के लिए मैं तुम्हें कभी क्षमा नहीं करूँगा।"

कुंती की दृष्टि भीम की ओर गयी : अपने स्वभावानुसार भीम की मुट्ठियाँ भिंच गयी थीं; और संभव था कि वह उस अज्ञात व्यक्ति को वैसा कोई कठोर उत्तर देता, कि युधिष्ठिर ने उसका हाथ थामकर चुप रहने का संकेत किया और स्वयं विनीत किंतु उच्च स्वर में बोला, "गंगा पर तो किसी का एकाधिकार नहीं है। वे सबकी माता हैं। आप विहार करें, हम आप

को नहीं रोकते; किंतु हमारा यहाँ आना अपराध कैसे हो गया ?..."

"जब मैं यहाँ हूँ, तो कोई अन्य व्यक्ति इधर आने का साहस नहीं करता। तुम दुस्साहस कर यहाँ आये हो, यही तुम्हारा अपराध है।"

"आप हैं कौन आर्य ?" युधिष्ठिर ने कहा, "आपका परिचय ज्ञात न होने पर ही तो हमसे यह दुस्साहस हुआ।"

"मैं हूँ गंधर्व अंगारपर्ण। यह वन मेरे ही नाम से अंगारपर्ण वन कहलाता है। लो, अब तुम लोग अपनी रक्षा करो।"

अर्जुन ने अपने हाथ में पकड़ी उल्मुक ऊँची उठायी, ताकि देख सके कि अंगारपर्ण ऐसा क्या करने जा रहा है कि जिससे उन्हें अपनी रक्षा करनी है। अंगारपर्ण के हाथ में धनुष था और वह तूणीर में से बाण निकाल रहा था।

कुंती की टाँगें तो पहले ही पाषाणवत् हो चुकी थीं, अब हृदय भी धक् सा रह गया। उसके पुत्र गंगा-तट पर सर्वथा खुले में खड़े थे। आस-पास न कोई वृक्ष ही था और न कोई ओट। इस प्रकार खुले में उनपर बाणों से प्रहार होगा, तो वे अपनी रक्षा कैसे करेंगे ?

किंतु अर्जुन अब तक सावधान हो चुका था। वह पहले भी सबके आगे-आगे ही चल रहा था; किंतु अब सर्वथा उनके कवच के समान, उनके सम्मुख था और अपने हाथ के संकेत से उन्हें अपने पीछे रहने के लिए कह रहा था।

"क्या कर रहे हो अर्जुन !" युधिष्ठिर धीरे से बोला, "वह बाण चलाने जा रहा है और तुम सर्वथा शस्त्रविहीन हो !"

"मेरे हाथ में अग्निबाण है भैया ! अग्नि का दिव्यास्त्र ! आप तनिक भी चिंता न करें।"

तभी अंगारपर्ण ने अपना पहला बाण छोड़ा। कुंती अभी सोच ही रही थी कि अब क्या होगा कि अर्जुन ने झपटकर अपने हाथ में पकड़ी उल्मुक से, उस बाण पर इस प्रकार प्रहार किया, जैसे कोई खड्ग के वार से अपने लक्ष्य के दो खंड कर देता है, अथवा ढाल से प्रहार करते हुए शस्त्र को एक ओर धकेल देता है।

अंगारपर्ण बाण-पर-बाण छोड़ता गया और अर्जुन अपनी उल्मुक से उन्हें इस प्रकार झटकता चला गया, जैसे वे बाण न हों, वृक्ष से टूटकर गिरते हुए पत्ते हों। और सहसा स्वयं अर्जुन अंगारपर्ण पर किसी उल्का के समान टूट पड़ा। अंगारपर्ण सँभल भी नहीं पाया था कि उसके धनुष की प्रत्यंचा, अर्जुन के उल्मुक से जल चुकी थी और स्वयं अंगारपर्ण को अपने जल जाने का भय उत्पन्न हो चुका था। वह अपनी रक्षा के लिए सन्नद्ध ही हुआ था कि अर्जुन की एक भुजा और एक टाँग कुछ ऐसे चलीं कि अंगारपर्ण भूमि पर जा गिरा। अगले ही क्षण अर्जुन का पाँव उसकी कटि को कुचल रहा था और उसकी मुट्ठी ने अंगारपर्ण के केशों को जकड़ रखा था।

अंगारपर्ण ने अकस्मात् ही अपने दोनों हाथ जोड़ दिये, "मुझे प्राणों और सम्मान की भीख दो। मैं अपनी स्त्रियों के साथ विहार करने आया था; और कदाचित् अपने कामावेग के ही कारण तुम लोगों की उपस्थिति मात्र से क्रुद्ध हो उठा था। मुझे अपनी उन्हीं स्त्रियों की आँखों में अपमानित मत करो, जिनका सम्मान पाने के लिए मैं यह सब कर रहा था।..."

"क्षमा तो तुम्हें बड़े भैया ही करेंगे।" अर्जुन बोला, "उन्हीं के पास चलो।"

अर्जुन उसे युधिष्ठिर के पास ले आया और दूसरी ओर से अंगारपर्ण की पत्नी कुंभीयसी

दौड़ती हुई आकर, कुंती के चरणों में गिर गयी, "माता ! मेरे पति को जीवन-दान दो "

अंगारपर्ण ने युधिष्ठिर के चरणों पर सिर रख दिया, "मुझे क्षमा करें प्रभु !"

युधिष्ठिर ने उसकी ओर देखा, "क्षमा-प्राप्ति का अधिकार उन सबका है, जो अपनी भूलों पर पश्चात्ताप करते हैं। क्या तुम स्वीकार करते हो कि इस सार्वजनिक स्थान पर, अपनी निजी संपत्ति के समान एकाधिपत्य जमा कर, तुम अन्य लोगों को वंचित करने का अन्याय कर रहे थे और अब अपनी भूल का अनुभव कर पश्चात्ताप कर रहे हो ?"

"मैं अपने अहंकार के मद में विवेक खो चुका था आर्य ! और कामावेग से पीड़ित होने के कारण धैर्य धारण करने में असमर्थ था।" अंगारपर्ण ने अत्यंत दीन स्वर में कहा।

"काम सदा ही मनुष्य के विवेक का हरण कर लेता है मित्र !" युधिष्ठिर ने कहा, "उठो। मदांध व्यक्ति से हम अपनी रक्षा तो करते हैं किंतु किसी का मद उतर जाने के पश्चात् उसे दंडित नहीं करते। उठो।"

अंगारपर्ण ने भौचक दृष्टि से युधिष्ठिर को देखा : कदाचित् स्वयं उसे भी इतनी सरलता से मुक्ति की आशा नहीं थी।

"आप अत्यंत दयालु हैं आर्य !" वह स्वयं को कृतज्ञता के हिमालय के नीचे दबा हुआ अनुभव कर रहा था, "क्या मैं अपने जीवनदाता का परिचय पाने का सौभाग्य प्राप्त कर सकता हूँ ?"

"हम साधारण वनवासी ब्राह्मण हैं मित्र !" अर्जुन बोला, "जो पंचालराज द्रुपद की पुत्री के स्वयंवर का उत्सव देखने जा रहे हैं।"

"आपने मुझे अपना मित्र कहा है...!"

"तुम अपने कृत्यों से स्वयं को हमारा शत्रु प्रमाणित न करो, तो हम तुम्हें अपना मित्र ही मानेंगे।" अर्जुन बोला।

"तो मित्र से स्वयं को इस प्रकार न छिपाएँ !" अंगारपर्ण बोला, "मुझे अपना वास्तविक परिचय दें।"

"तुमने यह कैसे मान लिया कि यह हमारा वास्तविक परिचय नहीं है ?" अर्जुन हँसा।

"एक साधारण उल्मुक की सहायता से मुझ जैसे धनुर्धारी योद्धा को इस प्रकार परास्त कर दें, साधारण वनवासी ब्राह्मण का कार्य नहीं है; और न ही स्वयं पर प्राणघातक प्रहार करने वाले शत्रु को हाथ में आ जाने पर इस प्रकार क्षमा करना, किसी साधारण व्यक्ति के वश का है। न तो आप लोगों की वीरता साधारण ब्राह्मणों का लक्षण है, न ही यह सर्वजयी क्षमा। आप असाधारण हैं।..."

"तो मित्र ! फिर यही मान लो कि अपनी परिस्थितियों के कारण हम अभी अपना वास्तविक परिचय नहीं दे सकते। अनुकूल परिस्थितियों में तुम्हें हमारा परिचय स्वतः ही मिल जायेगा।" युधिष्ठिर ने कहा।xxx

अपने पुत्रों के विषय में सोच-सोचकर, कुंती स्वयं ही चकित रह जाती है।...या कदाचित् वह जब भी उन्हें देखती है, माता की दृष्टि से ही देखती है। वे उसे अब भी बालक ही दिखायी देते हैं; किंतु भीम और अर्जुन दोनों ने ही अपना सामर्थ्य प्रमाणित कर दिया है। भीम में बल

है और अर्जुन में कौशल !...और वीर तो युधिष्ठिर भी है; किंतु अपनी क्षमा और आनृशंसता में इन सबसे बड़ा है वह । अपने इन भाइयों से ही नहीं, बड़े- बड़े तपस्वी और सिद्ध पुरुषों से भी बड़ा उदार, महान्... प्राणघातक आक्रमण करने वाले अपने शत्रुओं को वह निमिष- भर में क्षमा कर देता है । न उसके मन में प्रतिशोध की भावना है, न प्रतिहिंसा की... न ही उसे किसी प्रकार का भय लगता है कि जिसे वह क्षमा कर रहा है, वह पुनः उसपर प्रहार कर सकता है...

अंगारपर्ण को आरंभ में तो उन लोगों ने साधारण अहंकारी गंधर्व ही समझा था, जो कामावेग से प्रेरित होकर, उस वन में विचरण कर रहा था; और स्वयं से दुर्बल लोगों को उनके अधिकारों से अन्यायपूर्वक वंचित कर रहा था ।... किंतु कुंती- पुत्रों के गुणों से वह ऐसा अभिभूत हुआ कि स्वयं ही अपने विषय में बताता चला गया । वस्तुतः वह चित्ररथ गंधर्व था—गंधर्वों का राजा । वह चाहता था कि वे लोग उसके दिये हुए उपहार स्वीकार करें । वह उन्हें अश्व, गाय और रथ देना चाहता था; धन- संपत्ति देना चाहता था ।... किंतु युधिष्ठिर ने उससे कुछ भी लेना स्वीकार नहीं किया था । उनकी स्थिति ऐसी नहीं थी कि वे लोग ऐसे उपहार स्वीकार करते । वनवासी ब्राह्मण अपने साथ अश्व, गोधन और रथ लेकर नहीं चलते... अंततः उसने अर्जुन को अपनी चाक्षुषी विद्या सिखायी थी । यह उसकी ओर से कृतज्ञता- ज्ञापन मात्र था ।...

कुंती ने दृष्टि उठाकर देखा : उनकी नौका गंगा की मध्य धारा में से आगे बढ़ती जा रही थी । उनके आस- पास अनेक छोटी- बड़ी नौकाएँ, अपने- अपने गंतव्य की ओर बढ़ रही थीं । कुछ साधारण और निजी नौकाएँ थीं, कुछ नाविकों की शुल्क पर चलने वाली निजी नौकाएँ थीं; और कुछ राजकीय नौकाएँ थीं—उनमें कदाचित् राजपरिवार के लोग, उच्च अधिकारी अथवा अतिथि राजा- श्रीमंत लोग आ- जा रहे थे । ऐसा मेला लगा हुआ था, जैसे गंगा नदी न हो, नौकाओं का हाट हो...

कुंती ने ऊब कर अपनी दृष्टि हटा ली—क्या देखना इन नौकाओं का । गंगा का पवित्र- स्वच्छ जल दिखायी देता, तो कदाचित् उसके लिए कोई आकर्षण भी होता । इस मेले को देखने से तो अच्छा है कि वह अपने मन को स्मृतियों की लहरों में ही बहने दे । ×××

वे लोग अभी गंगा- तट पर सोमाश्रयायण तीर्थ में ही थे कि अकस्मात् ही महर्षि वेदव्यास उनके निकट प्रकट हो गये थे । कुंती तो उसे प्रकट होना ही मानती है ।... कहीं कोई पूर्व- सूचना नहीं, कोई चर्चा नहीं, कोई संकेत और आभास नहीं; बस दृष्टि उठायी तो देखा, सामने महर्षि वेदव्यास खड़े हैं । चकित रह गयी कुंती... "तात, आप ?"

"आश्चर्य न करो पुत्रि !" महर्षि बोले, "असाधारण परिस्थितियों में हमारा व्यवहार भी असाधारण हो जाता है । मुझे प्रसन्नता है कि तुम लोग निर्विघ्न यहाँ तक पहुँच गये हो । अब कांपिल्य बहुत दूर नहीं है । यहाँ से गंगा के तट के साथ चलते जाओ; किंतु उत्कोचक तीर्थ में रुकना मत भूलना पुत्रो ।"

"कोई विशेष प्रयोजन पितामह ?" युधिष्ठिर ने पूछा ।

"वह धौम्य मुनि का स्थान है युधिष्ठिर !" व्यास बोले, "तुम लोग इस क्षेत्र की यात्रा करो और धौम्य मुनि के दर्शनों से वंचित रहो, तो इससे बड़ा तुम्हारा दुर्भाग्य क्या होगा ।"

"इतना महत्व है धौम्य मुनि का ?"

"हाँ पुत्र ! मेरी इच्छा है कि धौम्य से तुम लोगों का संपर्क बढ़े।" उन्होंने रुककर जैसे शून्य में देखा, "मुझे लगता है कि तुम्हारे आगामी जीवन में धौम्य की महत्वपूर्ण तथा उपयोगी भूमिका होगी।"

युधिष्ठिर ने ध्यान से महर्षि के चेहरे को देखा : वे सामान्य-से अनुमान की बात कह रहे हैं या उनका कोई विशेष प्रयोजन था ?...किंतु वह महर्षि वेदव्यास का चेहरा था। उनकी इच्छा के अभाव में उसपर से कुछ भी पढ़ा नहीं जा सकता था।...

कुंती के मन में बहुत देर से एक प्रश्न कुलबुला रहा था। अब वह उसे रोक नहीं सकी, "महर्षि ! मेरी अबोधता क्षमा करें।" कुंती बोली, "मैं अभी तक समझ नहीं पायी कि पांचाली कृष्णा का स्वयंवर हमारे लिए इतना महत्वपूर्ण क्यों है ? क्या हमारी यह संकटपूर्ण स्थिति ऐसी है, जिसमें मैं अपने पुत्रों के विवाह के विषय में सोचूँ ?"

वेदव्यास मुस्कराए, "पुत्रि ! मैं चाहता हूँ कि तुम लोग कांपिल्य जाओ। इसलिए नहीं कि वहाँ कृष्णा का स्वयंवर है; और तुम अपने लिए एक पुत्रवधू खोज रही हो।..."

"तो फिर किसलिए तात् ?"

वेदव्यास की मुस्कान लुप्त हो गयी। उनका आनन गंभीर हो गया। आँखें जैसे अधमुँदी हो गयीं, "वह तो एक रंगशाला है पुत्रि ! प्रतियोगियों को वहाँ जाना ही होगा।"

"मैं समझी नहीं देव !"

"आर्यावर्त्त ही नहीं, उसके बाहर की भी अनेक महत्वपूर्ण राजशक्तियाँ वहाँ एकत्रित हो रही हैं। वहाँ आर्यावर्त्त के भावी नेताओं का चयन होगा। राज्यलक्ष्मी अपने लिए अश्वमेध तथा राजसूय यज्ञों का विजेता वहीं निर्धारित करेगी। संधि-विग्रह होंगे, नयी मैत्रियाँ और शत्रुताएँ निश्चित होंगी। राजशक्तियों के नवीन समीकरण बनेंगे। तुम्हारे पुत्रों को भी वहीं अपने मित्र और शत्रु चुनने होंगे। दूसरे शब्दों में कहूँ कि मैं चाहता हूँ कि पांडव वहाँ उपस्थित रहें, ताकि उनके मित्र उनके निकट आ सकें।" व्यास ने रुककर पाँचों पांडवों को देखा, "वहाँ इतिहास लिखा जायेगा पुत्र ! देखना है कि तुम्हारे भाग्य में कौन-सा अद्भुत पराक्रम लिखा है।"

"स्पष्ट कहें पितामह !" युधिष्ठिर बोला, "मैं कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ।"

"यह साधारण स्वयंवर नहीं है वत्स !" वे बोले, "कृष्णा वीर्यशुल्का घोषित हो चुकी है। स्वयंवर की प्रतिज्ञा की वहीं घोषणा की जायेगी। मैं कह नहीं सकता कि वह क्या होगी और उसपर कौन पूर्ण उतरेगा। किंतु लगता है कि द्रुपद कोई कठिन परीक्षण करने वाला है। वह आर्यावर्त्त के सर्वश्रेष्ठ वीर का चयन कर, उसे अपना जामाता बनाना चाहता है।... पुत्र !" व्यास का स्वर असाधारण रूप से गंभीर था, "जो अद्भुत पराक्रम करता है, उसके शत्रु स्वतः अपने ही भय के हाथों ध्वस्त हो जाते हैं। मेरी इच्छा है कि तुम लोग वहाँ जाओ। देखो; और अवसर मिलते ही अद्भुत पराक्रम करो। अधैर्य मत दिखाना। प्रतीक्षा करना कि तुम्हारे मित्र तुम्हें स्वयं खोज लें.। अपने-आपको स्वयं उद्घाटित मत करना; कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारे स्वयं प्रकट हो जाने से तुम्हारे अनुकूल होते हुए लोग, तुम्हारे प्रतिकूल हो जायें।"

"तात् !" कुंती जैसे कुछ कहती-कहती रुक गयी।

"क्या बात है पुत्रि !" व्यास बोले, "कोई शंका है तुम्हारे मन में ? निस्संकोच कहो।"

"तात् ! वहाँ दुर्योधन और उसके भाई भी आयेंगे ?" कुंती ने पूछा ।

"वह स्वयंवर है कुंती ! वहाँ किसी के भी आने की संभावना हो सकती है । आहूत, अनाहूत, आमंत्रित, अनामंत्रित । न बुलाये जाने पर कोई हरण की इच्छा से भी आ सकता है । निश्चित रूप से यह कह पाना तो बहुत कठिन है कि कौन आयेगा; और कौन नहीं आयेगा ।" व्यास ने रुककर कुंती की ओर देखा, "किंतु दुर्योधन के आने, न आने का तुम्हारे लिए क्या महत्व है ?"

"वह हमारा चिर शत्रु है ऋषिवर !" कुंती आवेश- शून्य स्वर में बोली, "मेरे पुत्रों को देखकर, वह पुनः घात करेगा ।" और सहसा उसने स्थिर दृष्टि से ऋषि को देखा, "और कहीं उसे सामने पाकर, मेरे ही पुत्र अपने आक्रोश को नियंत्रित न रख पायें; और आक्रमण इन्हीं की ओर से हो गया तो ?"

व्यास ने बहुत ध्यान से कुंती को देखा और जब देख चुके तो आँखें बंद कर कुछ सोचते रहे । जब आँखें खोलीं तो बोले, "पुत्रि ! मैं न पांडवों का विनाश चाहता हूँ, न धार्तराष्ट्रों का । विस्तुतः मैं किसी का भी नाश नहीं चाहता । प्रभु की बनायी सृष्टि क्यों नष्ट हो ! किंतु तुम्हारे पुत्रों को दुर्योधन तथा उसके भाइयों से भिड़ना तो है ही; इसलिए मैं चाहूँगा कि यह भिड़ंत तब हो, जब दुर्योधन का राजन्य- तेज तथा श्रेष्ठता का अहंकार मलिन हो चुका हो; और पांडवों का तेज सूर्य के प्रकाश के समान जाज्वल्यमान हो··· पाडंव उस क्षण तक धैर्य धारण कर सकें—इसी में उनका कल्याण है ।"

"और मेरे पुत्रों की सुरक्षा ?" कुंती समझ नहीं पा रही थी कि यदि उसके पुत्रों को प्रकट होने के लिए स्वयं ही संकट उठाना था, तो इतने दिनों तक अज्ञातवास करने का क्या लाभ था !

"तुम्हारे पुत्र अपनी रक्षा स्वयं करेंगे !" व्यास बोले, "यही तो देखना है कि उनमें कितना सामर्थ्य है···! "

व्यास को लगा, कुंती का चेहरा कुछ मलिन हो गया है । वे आश्वस्ति- भरी एक मुस्कान अपने अधरों पर लाये, "तुम्हारे पुत्रों पर कोई संकट नहीं आयेगा । इसे मेरा वचन मानो ।"

कुंती सचमुच कुछ आश्वस्त हुई, "हमें कब चलना होगा महर्षि ?"

"यथाशीघ्र ! अब प्रतीक्षा के लिए समय नहीं है पुत्रि ! मार्ग में तुम्हें सहयात्री मिलते जायेंगे । यदि कोई विघ्न- बाधा आये, तो उसे अनुकूल बनाना तुम्हारे पुत्रों की अपनी क्षमता पर निर्भर है—उसे चाहे अपनी विनम्रता से विजय करें अथवा अपने शौर्य से ।" व्यास उठ खड़े हुए, "अब चलता हूँ । आशा है कि तुम लोग कल प्रातः ही प्रस्थान करोगे ।" वे पुनः रुके, "कांपिल्य नगर के बाहर कुंभकारों के अनेक घर हैं । उन्हीं में से एक में तुम्हारे ठहरने की व्यवस्था मेरे शिष्य करेंगे । कुंभकार का नाम है—धर्मरक्षित । वहाँ पहुँच जाना, तुम्हें कोई असुविधा नहीं होगी···।"

व्यास चले गये और वे लोग अपने- अपने प्रश्नों के साथ पीछे छूट गये । कुंती के मन में अनेक ऊहापोह थे; किंतु वह न महर्षि के आदेश की अवहेलना कर सकती थी, न उनके परामर्श की !

"क्या सोच रहे हो युधिष्ठिर ?" उसने पूछा ।

"मैं इस सारी स्थिति को ठीक- ठीक समझ नहीं पा रहा माँ !···मेरे मन में किसी

स्वयंवर में जाकर किसी राजकुमारी को जय कर लाने की कहीं कोई कल्पना भी नहीं है। वस्तुतः मैंने तो अपने विवाह के संदर्भ में कभी कुछ सोचा ही नहीं है। विवाह की सार्थकता बहुत महत्वपूर्ण होकर, कभी मेरे सामने आयी ही नहीं है। हिडिंबा ने जिस समय भीम का वरण किया था, उस समय भी मेरे मन में क्षण भर के लिए भी यह बात नहीं आयी कि मेरी तनिक भी अवहेलना हुई है।"यह समस्या तो बाद में तुमने ही नकुल और विधा के संदर्भ में उठायी थी"" युधिष्ठिर ने रुककर उसे देखा, "और अब भगवान वेदव्यास हमें किस विचित्र स्थिति में डाल गये हैं माँ ! मुझे लगता है कि उन्होंने हमारे अज्ञातवास के समापन को, द्रौपदी के स्वयंवर के साथ जोड़ दिया है।"इसका यह अर्थ है कि हमें प्रतियोगी और प्रत्याशी बनकर उस स्वयंवर में सम्मिलित होना ही होगा" माँ ! धर्मशास्त्र परिवेदन को पाप मानते हैं।" तुम्हारा अपना भी यही मत है। तुम चाहती हो कि पहले ज्येष्ठ पुत्र का विवाह हो" इसका अर्थ यह है कि स्वयंवर में मुझे ही प्रत्याशी बनना होगा !"महर्षि यह भी कह गये हैं कि कृष्णा वीर्यशुल्का है" जाने वहाँ कैसी प्रतिज्ञा होगी। कौन-सा अद्‌भुत पराक्रम दिखाना होगा।" मैंने स्वयं को कभी अद्‌भुत पराक्रमियों में नहीं माना है माँ !"मैं जानता हूँ कि अर्जुन मुझसे कहीं श्रेष्ठ धनुर्धर है। गदा-युद्ध और मल्ल-युद्ध में भीम सर्वश्रेष्ठ है। हाँ ! तोमर पर मेरा कुछ अधिकार अवश्य है।"और यदि मैं कोई अद्‌भुत पराक्रम नहीं दिखा पाऊँगा, तो क्या पांडव आजीवन अज्ञातवास के लिए बाध्य होंगे ? क्या हम कभी भी स्वयं को प्रकट नहीं कर पायेंगे ?…"

"तुम युधिष्ठिर हो पुत्र !" कुंती ने उसके कंधे पर स्नेह भरा हाथ रखा, "इस प्रकार विचलित होना तुम्हें शोभा नहीं देता।"

"विचलित नहीं, मैं चिंतित हूँ माँ !" वह बोला, "तुम्हें और अपने भाइयों को इस प्रकार द्वार-द्वार धक्के खाते देख, मुझे बहुत पीड़ा होती है। मैं कैसा पुत्र हूँ, जो अपनी माता का कष्ट-निवारण ही नहीं कर पाता ! मैं कैसा भाई हूँ, जिसके छोटे भाई इस प्रकार वन-वन भटक रहे हैं !"

युधिष्ठिर की स्थिति देखकर कुंती अपनी चिंताएँ भूल गयी। उसे अपने पुत्र को इस हताशा की स्थिति से निकालना ही होगा। बड़े हो गये हैं तो क्या, समर्थ हैं तो क्या—हैं तो उसके पुत्र ही। वह उनकी माँ है।

"मुझे लगता है कि हमारे कष्टों का अंत निकट है पुत्र !" वह बोली, "देखो, महर्षि कितने श्रम से हमें एक लक्ष्य तक पहुँचाने का प्रयत्न कर रहे हैं। वहाँ कृष्ण भी होगा। अन्य यादव भी होंगे। वहाँ तुम्हें तुम्हारे मित्र मिलेंगे पुत्र !…"

"मुझे भी यही लगता है !" भीम बोला, "किंतु एक बात मेरी समझ में नहीं आती !…"

"क्या पुत्र !"

"भगवान वेदव्यास हमारे ठहरने की व्यवस्था निर्धन ब्राह्मणों और कंगाल कुंभकारों के घर ही क्यों करते हैं ?"

"और कहाँ करें भैया ?"

"वे हमें पंचालराज द्रुपद की अतिथिशाला में ठहरा सकते थे।"

"मध्यम ठीक कहता है।" अर्जुन बोला, "उन्हें चाहिए था कि वे हमें महाराज द्रुपद की अतिथिशाला में, कुरु-राजकुमारों के साथ ठहराते, ताकि लोगों को हमें पहचानने में सुविधा

रहती।...”

"जब मेरे अपने भाई ही उत्तम स्थान पर ठहरना नहीं चाहते तो भगवान वेदव्यास को क्या पड़ी है कि वे उसके लिए अनावश्यक प्रयत्न करें...।” भीम ने अपनी खिसियाहट को अपने अट्टहास में छिपा लिया।

उत्कोचक में स्वयं धौम्य मुनि ने उनका सम्मानपूर्वक स्वागत किया।

पांडवों ने वनवासी ब्राह्मणों के रूप में अपना परिचय दिया ही था कि मुनि मुस्करा पड़े, "युधिष्ठिर ! मुझसे इस प्रकार दुराव न करो पुत्र !"

वे लोग चकित रह गये। इससे पूर्व मुनि से उनका कभी साक्षात्कार भी नहीं हुआ था, तो फिर उन्होंने उन्हें इतने निश्चित रूप से कैसे पहचान लिया ? युधिष्ठिर ने स्वयं को संयत कर पूछा, "आपने हमें कैसे पहचाना मुनिवर ?"

"भगवान वेदव्यास की कृपा से !" धौम्य मुस्काराए, "वे मुझे बता गये थे कि तुम लोग यहाँ आने वाले हो।"

"उनकी हम पर बड़ी कृपा है मुनिवर !" युधिष्ठिर बोला, "वे एक प्रकार से हमारी अंगुली पकड़कर हमें पग-पग चला रहे हैं।"

"वे धर्म की रक्षा का प्रयत्न कर रहे हैं पुत्रो !" मुनि बोले, "ऋषि के जीवन का एक ही लक्ष्य है—धर्म-स्थापना।" मुनि ने रुककर उन्हें देखा, "एक आदेश उन्होंने मुझे और भी दिया है वत्स !..." मुनि रुक गये।

पांडवों ने उत्सुकता-भरी आँखों से उनकी ओर देखा।

"उन्होंने इच्छा प्रकट की है कि मैं युधिष्ठिर का पौरोहित्य स्वीकार करूँ।..."

"क्या ?" युधिष्ठिर की आँखें आश्चर्य से फैल गयीं, "पौरोहित्य ! मैं क्या राजा वन गया हूँ ?..."

"उन्हें पूर्ण विश्वास है कि तुम्हारे राज्याभिषेक में अव विलंव नहीं है।" मुनि बोले, "वस्तुतः वे तुम्हारे राज्याभिषेक की ही तैयारी कर रहे हैं।..."

युधिष्ठिर अवाक् खड़ा रह गया।

कुंती को लगा, वस्तुतः वह अब समझ पायी थी कि महर्षि उनसे कांपिल्य जाने का आग्रह क्यों कर रहे थे।... कहीं ऐसा तो नहीं कि उन्होंने वहाँ ऐसी व्यवस्था कर रखी हो कि युधिष्ठिर को उसका राज्य भी मिले और पांचाल राजकुमारी भी ?...कुंती ने वलात् अपने मन को रोका। कल्पना के ऐसे अश्व दौड़ाने का क्या लाभ ?...

कल्पना के अश्वों की वल्गा उसने खींच ली थी; किंतु उसने अनुभव किया कि उसके मन में अद्‌भुत उत्साह का संचार हुआ था। ऐसा ही उसके पुत्रों के साथ भी हुआ था। भविष्य जैसे आशा की ज्योति लिये, उनके बहुत निकट खड़ा था।...xxx

"माँ ! थक तो नहीं गयीं ?" भीम उससे पूछ रहा था।

कुंती अपने वर्तमान में लौट आयी : वे लोग नौका में बैठे हुए थे, और कांपिल्य पहुँचने

के लिए गंगा पार कर रहे थे ।

"थक तो नहीं गयीं माँ ?" भीम ने पुनः पूछा ।

"नहीं तो !" कुंती पूर्णतः सजग हो उठी, "मैं कुछ सोच रही थी ।"

"सोचना छोड़ो । आँखें खोलकर देखो । सामने महाराज द्रुपद की राजधानी है । बहुत चर्चा सुनी होगी इसकी !" भीम बोला, "बस, अब पहुँचने ही वाले हैं ।"

हाँ ! कुंती ने बहुत चर्चा सुनी थी इसकी ।... उत्कोचक से यहाँ तक इसकी चर्चा ही तो सुनते आये थे वे लोग । मार्ग में उन्हें कांपिल्य की ओर जाते हुए झुंड-के-झुंड लोग मिले थे । साधारण दर्शक, अपने चमत्कार दिखाकर धन कमाने वाले कौतुकी, विद्वान ब्राह्मण तथा याचक ब्राह्मण, व्यापारी, कर्मचारी ।... सब कांपिल्य जा रहे थे और सबकी जिह्वा पर कांपिल्य की प्रशंसा थी कांपिल्य में धन था, कांपिल्य में धर्म था, कांपिल्य में वीरों के समूह थे, कांपिल्य के लोग सुंदर, सुशिक्षित, परिश्रमी तथा सुसंस्कृत थे... द्रुपद और द्रौपदी की प्रशंसा की तो बात ही क्या ब्राह्मणों की चर्चा से तो लगता था कि कांपिल्य में स्वर्ण की वर्षा हो रही थी, जिससे वे अपनी झोली भरने जा रहे थे

एक धचके के साथ नौका रुक गयी । कुंती ने देखा, वे लोग तट पर पहुँच गये थे । नाविक कूदकर भूमि पर पहुँच गया था और मोटे रस्सों से नौका को खूँटे से बाँधने का प्रयत्न कर रहा था ।

32

गंगा के तट से थोड़ा हटकर, नगर-प्राचीर के बाहर कुंभकारों के घर मिट्टी के भाजनों के समान ही बिखरे हुए थे । वहाँ तक पहुँचने में पांडवों को तनिक भी कठिनाई नहीं हुई ।

एक घर की टूटी दीवार के साथ बैठा एक वृद्ध भाजन सहेज रहा था । युधिष्ठिर ने आगे बढ़कर पुकारा, "बाबा !"

वृद्ध ने पहले अपनी दृष्टि उठायी और फिर बड़े प्रयत्न से गर्दन फेरी । क्षण भर उन लोगों को देखा और फिर भुजा उठाकर अपनी तर्जनी से एक ओर संकेत कर बोला, "वह है ।"

"क्या ?" युधिष्ठिर ने विस्मय से उसकी ओर देखा, "मैंने तो अभी आपसे कुछ पूछा ही नहीं है ।"

"मुझे मालूम है, तुम क्या पूछ रहे हो ।" वृद्ध ने कहा, "तुम कुंभकार धर्मरक्षित का घर ही ढूँढ़ रहे हो न ! तो वही है उसका घर ।" वह निमिष-भर को रुका, "और यदि उसका घर नहीं पूछ रहे, अपने लिए भोजन माँग रहे हो, तो भी वहीं जाओ । वह है धर्मरक्षित का घर !"

युधिष्ठिर चकित रह गया, "मैं कुंभकार धर्मरक्षित के निवास के विषय में ही पूछ रहा था; किंतु यह आपको कैसे मालूम हो गया ?"

"सारे साधु-महात्मा, संन्यासी, ब्राह्मण, याचक—सभी उसी के घर में आते हैं; इसलिए सभी समझ सकते हैं कि तुम किसका घर पूछ रहे हो ।" वृद्ध ने कहा ।

"क्या धर्मरक्षित बहुत धनी हैं ?" युधिष्ठिर ने पूछा ।

"नहीं ! बहुत धनी तो वह नहीं है; किंतु उसे अधिक धन की आवश्यकता नहीं है ।"

"क्यों ?"

"उसका अपना कोई परिवार नहीं है—न पत्नी, न संतान ! घर उसके पास बहुत बड़े घेर का है । साधु-संतों को नहीं ठहराएगा, तो क्या करेगा !"

"ओह !" युधिष्ठिर अपने भाइयों के पास लौट आया ।

धर्मरक्षित उन्हें घर पर ही मिल गया । वह मध्यम काया का अधेड़ पुरुष था । उसके वस्त्र सामान्य कुंभकारों के ही समान साधारण तथा मैले थे । वह अपने काम में लगा हुआ था ।

उसने पांडवों को सम्मानपूर्वक प्रणाम किया और बोला, "आइए ! मैं आपकी प्रतीक्षा ही कर रहा था ।"

"हमारे आने से तुम्हें कष्ट तो होगा भैया !" कुंती ने कहा ।

"कष्ट कैसा बहन !" उसने सहज स्वर में उत्तर दिया, "साधु-संत नहीं आयेंगे तो चोर-उचक्के आयेंगे ! घर है, तो कोई तो रहेगा ही न ! मैं अकेला तो इस घेर में पसरकर सो नहीं सकता ।"

"तो इसे बेच क्यों नहीं देते काका ?" भीम ने पूछा ।

उसने पलटकर भीम को भली प्रकार देखा । उसके आकार-प्रकार को निरखा-परखा और बोला, "इसे बेचकर जो धन मुझे मिलेगा, उसका क्या करना है मुझे ? वह भी तो किसी को बाँटना ही है ! ऐसे में इसे कोई धनी कुंभकार खरीद लेगा और इन कोठरियों में, जहाँ कुछ भले लोग ठहरते हैं, गधों को बाँधेगा । क्या वह इस स्थान का उचित उपयोग होगा ?" उसने उत्तर की प्रतीक्षा नही की । कदाचित् वह उत्तर चाहता भी नहीं था । "आओ ! तुम्हें ठहरने का स्थान दिखा दूँ ।"

उसके पीछे-पीछे चलते हुए नकुल ने पूछा, "अच्छा, काका ! जब तुम्हारे लिए धन का तनिक भी उपयोग नहीं है, तो तुम घट-निर्माण का कार्य छोड़ क्यों नहीं देते ? क्यों इतना श्रम करते हो ?"

"धन के लिए श्रम नहीं करता मैं ।" धर्मरक्षित बोला, "स्वर्ग में बैठे ब्रह्मा जो इतने घटों का निर्माण करते हैं, तो क्या धनार्जन के लिए ? श्रम तो शरीर का धर्म है भैया ! विधाता ने शरीर दिया है, तो श्रम करना ही होगा । यह घर और घेर मुझे दिया है और परिवार नहीं दिया; तो मैं समझ गया कि मुझे प्रहरी बनाकर भेजा है उसने । भले लोगों को ठहराता हूँ; और प्रहरी का काम करता हूँ । मनुष्य का तो धर्म ही है विधाता की आज्ञा का पालन । बस, वही कर रहा हूँ ।…"

युधिष्ठिर धर्मरक्षित के पीछे-पीछे चलता हुआ सोच रहा था कि क्यों महर्षि वेदव्यास ने उनके यहाँ ठहरने की व्यवस्था की । यदि वे लोग कहीं और ठहरते तो कदाचित् उनके विषय में कोई प्रश्न भी उठता; किंतु यहाँ तो साधु-संन्यासी ठहरा ही करते हैं । धर्मरक्षित भी अपना धर्म समझकर, तपस्वियों-संन्यासियों के यहाँ ठहराता है । उसके मन में भी कोई जिज्ञासा नहीं उठेगी… व्यवसाय से चाहे वह कुंभकार हो, किंतु प्रकृति से तो संन्यासी ही है । कदाचित् इसीलिए वह भगवान वेदव्यास को इतना प्रिय है ।…

"यह रहा आपका कक्ष !" वह बोला, "मेरे घर में बड़ा कक्ष यही है । पर्याप्त होगा ?"

"पर्याप्त है ।" युधिष्ठिर बोला, "आजकल तो नगर में गति-विधि बहुत बढ़ गयी है, बड़ी संख्या में लोग बाहर से कांपिल्य आ रहे हैं । क्या आपके पास कोई और अतिथि नहीं ठहरा ?"

धर्मरक्षित हँसा, "ब्राह्मण ! समर्थजन तो मेरे अतिथि होंगे नहीं । जिन संन्यासियों को राजा ने स्वयं बुलाया है, उनके ठहरने की व्यवस्था भी राजा ही करेंगे; और जो याचक हैं, वे उन श्रीमंतों के निकट ही ठहरेंगे, जहाँ से उन्हें दान में धन मिलने की संभावना है । आप निश्चिंत रहें, यहाँ इन दिनों किसी और के आने की संभावना बहुत ही कम है ।" धर्मरक्षित मुड़ते-मुड़ते बोला, "आप लोग थके होंगे । आज भिक्षाटन करने कहाँ जायेंगे । कुछ भोजन-सामग्री भिजवा देता हूँ । अपनी व्यवस्था कल से कर लीजिएगा ।"

धर्मरक्षित चला गया । वे लोग कक्ष में जहाँ-तहाँ बैठ गये ।

"अब ?" कुंती ने पूछा ।

"स्वयंवर में अभी एक सप्ताह का समय है ।" युधिष्ठिर बोला, "तब तक हमें केवल समय ही व्यतीत करना है । भोजन की व्यवस्था तो भिक्षाटन से ही होगी—धर्मरक्षित संकेत भी कर गया है ।"

"अच्छा ही है ।" भीम बोला, "भिक्षाटन के बहाने जायेंगे; सारे नगर का भ्रमण करेंगे और आवश्यक समाचार एकत्रित करेंगे ।"

"योजना तो अच्छी है ।" सहदेव बोला, "किंतु यदि नगर में समाचार तथा अन्न संचित करते हुए मध्यम पहचान लिये गये तो ? यह एकचक्रा तो है नहीं, जहाँ किसी ने पांडवों को कहीं देखा ही नहीं था ।..."

"मध्यम ही क्यों, तुम क्यों नहीं पहचाने जाओगे ?" भीम ने कुछ उत्तेजित स्वर में पूछा ।

"क्योंकि मध्यम का आकार-प्रकार असाधारण है ।" सहदेव बोला ।

"तो ?"

"अन्न संचित करने में उतना संकट नहीं है, क्योंकि वह किसी भी घर से मिल जायेगा; किंतु समाचारों के लिए, आपको उन्हीं लोगों के समीप जाना होगा, जो आपको पहचानते हैं ।" सहदेव बोला ।

"इस दृष्टि से तो हम अपने किसी मित्र को भी अपना परिचय नहीं दे सकते ।" युधिष्ठिर बोला ।

"महर्षि ने स्पष्ट रूप से कहा था कि तुम लोग अपना परिचय किसी को नहीं दोगे ।" कुंती बोली, "तुम्हारे मित्र स्वयं तुम्हें खोजेंगे; तुम उन तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं करोगे ।"

"तो कृष्ण को सम्मुख देखकर भी मैं उसे नहीं बताऊँ कि मैं अर्जुन हूँ ?"

"नहीं !" कुंती के स्वर में आदेश का भाव अत्यंत मुखर था ।

माँ का आशीर्वाद लेकर पांडव एक-एक कर कुंभकार के घर से बाहर निकले । न तो कुंती चाहती थी कि वे लोग एक साथ बाहर जायें; और न उनकी ही अपनी ऐसी कोई इच्छा थी । सबसे पहले युधिष्ठिर और सहदेव गये । वे कुछ दूर निकल गये तो अर्जुन धीरे-धीरे बाहर निकला ।

भीम चलने लगा, तो जैसे उसके मन में कोई बात आयी और वह रुक गया...

"क्या बात है भीम ?"

"माँ ! एक बात मेरे मन में बहुत देर से द्वंद्व मचा रही है। अब चलते- चलते सोचा कि तुमसे कह ही दूँ।"

"क्या बात है पुत्र !"

"माँ ! हम सबकी इच्छा है कि घटनाएँ तुम्हारे मनोनुकूल ही घटें। ज्येष्ठ ही स्वयंवर में भाग ले और कृष्णा को प्राप्त करे। किंतु माँ ! कृष्णा वीर्यशुल्का है।..."

"तो ?"

"यदि वहाँ कोई ऐसी प्रतिज्ञा हुई, जिसे ज्येष्ठ पूर्ण न कर सका, तो ?"

कुंती भीम की आँखों में कुछ पढ़ती रही। फिर जैसे उससे संतुष्ट न होकर, अपनी ओर से कुछ न कह, उसने भीम को ही कुरेदना उचित समझा, "तो क्या तुम भी प्रतियोगी बनना चाहते हो ? ज्येष्ठ के प्रतिद्वंद्वी होना चाहते हो ?"

"इसीलिए तो मैं कह नहीं रहा था माँ; कि कहीं तुम इसे मेरी लोलुपता न मान लो !" भीम बोला, "मैं ज्येष्ठ का प्रतिद्वंद्वी नहीं होना चाहता; किंतु यदि ज्येष्ठ असफल हो गया; अथवा वह प्रतिज्ञा ही ज्येष्ठ के क्षमता- क्षेत्र से बाहर हुई, तो क्या हम चुपचाप वापस लौट आयें ?... या फिर जैसाकि पितामह वेदव्यास ने कहा है, मैं कोई अद्भुद पराक्रम दिखाऊँ ? जो दायित्व ज्येष्ठ पूर्ण न कर सके, वह फिर मध्यम के स्कंधों पर ही आ टिकता है।"

कुंती को लगा, वह ठीक ही कह रहा है। युधिष्ठिर के पश्चात् दायित्व उसपर ही तो पड़ते हैं; और वैसे भी यदि प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए शारीरिक बल की ही आवश्यकता हुई, तो भीम ही तो उसे पूर्ण करेगा...

"कैसा अद्भुत पराक्रम करोगे तुम ?"

"मैं कृष्णा का हरण करूँगा।"

कुंती कुछ क्षणों के लिए जड़ बनी खड़ी रही: क्या कहे वह ? उसकी इच्छा और महर्षि के निर्देशों में विरोध उठ खड़ा हुआ था।...भीम उसकी आज्ञा की प्रतीक्षा में था...क्या कहे वह कि वे लोग भगवान वेदव्यास का आदेश न मानें ? क्या वह स्वयं को महर्षि से श्रेष्ठतर समझती है ? क्या कहे अपने पुत्र से कि पितामह का न मानकर माता का आदेश माने ! श्वसुर सम, वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, तपःसिद्ध महर्षि के आदेश को कुंती तिरस्कृत कर दे ?... और फिर बिना पराक्रम किये, पांडव आजीवन अज्ञातवास करते रहें ?...किंतु भीम प्रतिज्ञा पूर्ण करने के स्थान पर हरण की बात कर रहा है। जो पांडव अकेले दुर्योधन से भयभीत होकर अज्ञातवास करते रहे हैं, क्या वे आर्यावर्त की सारी राजशक्तियों को चुनौती देकर पांचाली कृष्णा का हरण करेंगे—बिना शस्त्रों के, बिना सेना के, बिना सहायकों के ?...भीम का मनोबल कुछ अधिक ही ऊँचा था...

सहसा कुंती ने स्वयं को साधा, "पुत्र ! दुस्साहस मत करना। केवल पराक्रम करना। महर्षि की इच्छा का पालन करना। अपने कामना-तुरंग के पीछे घिसटते मत जाना।"

भीम ने माँ के चरण छुए और चल पड़ा। उसके पीछे- पीछे ही नकुल भी रंगशाला की ओर बढ़ गया।

•

वेदव्यास ने जब कृष्णा के वीर्यशुल्का होने की बात कही थी, भीम तब से ही पर्याप्त ऊहापोह

में था। वह जानता था कि ऐसे सारे अवसरों पर प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए पर्याप्त शारीरिक बल और शस्त्रों का कौशल अपेक्षित होता था। युधिष्ठिर एक श्रेष्ठ योद्धा अवश्य था; किंतु उसकी प्रवृत्ति युद्धानुकूल नहीं था। इसीलिए न वह अर्जुन बन पाया था, न भीम! जाने स्वयंवर की प्रतिज्ञा क्या हो···संभव है कि उसमें युधिष्ठिर सक्षम न हो।···और यदि परीक्षा ऐसी ही है, कि उसमें युधिष्ठिर सफल हो सकता है, तो वहाँ ऐसे अनेक क्षत्रिय राजा और राजकुमार होंगे, जो उस परीक्षण में सफल हो सकते हैं। ऐसे में भगवान वेदव्यास की इच्छानुसार चरम पराक्रम कैसे दिखाया जा सकता है?

मुख्य पथ तक पहुँचते-पहुँचते भीम के मन का स्वर पर्याप्त मंद हो गया था। बाहर इतने आकर्षण थे कि मन की ओर दृष्टि ही नहीं जाती थी। लगता था कि सारा नगर सजधजकर द्रुपद की रंगशाला की ही ओर चल पड़ा है। जैसे छोटी-छोटी जल-धाराएँ बड़ी नदी की ओर; और समस्त नदियाँ निरंतर समुद्र की ओर बहती चलती हैं, वैसे ही यहाँ जन-धाराएँ रंगशाला की ओर बह रही थीं।

रंगशाला के मुख्य द्वार से ही पृथक्-पृथक् मार्ग नियत कर दिये गये थे। द्वारपालों ने जब भीम को राजसमाज की ओर जाने वाले मार्ग पर रोककर, किसी भी राजपद से रहित, सामान्य तपस्वी ब्राह्मणों के खंड की ओर जाने वाले मार्ग की ओर मोड़ा तो भीम का मन उन्मादी अश्व के समान अपने पिछले दोनों पैरों पर खड़ा होकर क्रोध में फूत्कार करने लगा; किंतु तत्काल ही उसके विवेक ने उसकी वल्गा थाम ली। द्वारपाल अपना कर्त्तव्य ही कर रहा था। भीम ने जब सामान्य ब्राह्मण का वेश बना रखा था, तो वह उसे, उसी खंड की ओर ही तो प्रेरित करेगा।··· और ब्राह्मण भी कैसा!···राजसभा से संबंधित कोई वैभवशाली ब्राह्मण भी नहीं—मृगचर्म पहने हुए, शरीर पर भभूत रमाए, सिर पर जटाजूट धारण किये—वनवासी, तपस्वी ब्राह्मण!···

अपने मन का दमन भीम को अत्यंत कष्टकारी लगा। वह उन द्वारपालों से कहना चाहता था कि वे पदवी को क्यों देखते हैं, प्रतिभा को क्यों नहीं देखते? दुर्योधन के षड्यंत्र ने पांडवों को वारणावत में जलाने का प्रयत्न किया और भीम ने अपना वेश बदल लिया, तो भीम कुछ और हो गया क्या? और भीम जैसा राजा तो इस सारे राजसमाज में एक भी नहीं होगा—वह तो हिडिंबवन का राजा वृकोदर है। भीम अभी राजा वृकोदर बन जाये, तो इस राजसमाज के आधे राजा मूर्च्छित होकर अपने स्थान पर गिर पड़ें।···

भीम की कल्पना कुछ और आगे भी बढ़ती कि उसे स्मरण हो आया कि उसके भाई तो उसी ब्राह्मणों वाले खंड में बैठे उसकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। उसे उनके ही पास जाना है। वह व्यर्थ ही राज-समाज की ओर जाने के लिए उत्कंठित हो रहा है।···भीम तत्परता से उसी ओर बढ़ गया।

उस खंड में उसे अपने भाइयों को ढूँढ़ने में तनिक भी कठिनाई नहीं हुई। वे सब लोग एकसाथ नहीं बैठे थे; किंतु आस-पास ही बैठे हुए थे और उत्सुक नयनों से सारी रंगशाला और उसमें उपस्थित लोगों को देख रहे थे।··· भीम को लगा कि वे पाँचों भाई एक ओर स्वयं को जन-सामान्य की दृष्टि से छिपाये हुए हैं और निरंतर प्रयत्नशील हैं कि कोई उन्हें पहचान न ले; और दूसरी ओर भीम के ही समान शायद उन सबके मन में उत्कट लालसा है कि संसार उन्हें पांडव राजकुमारों के रूप में पहचाने तथा इस अज्ञातवास से उन्हें मुक्ति मिले···

सहसा भीम की दृष्टि राज-खंड की ओर उठी : वहाँ अभी कुछ हलचल हुई थी। कुछ

लोग अभी-अभी आये थे और शेष लोग उठकर उनका स्वागत कर रहे थे। उनके वार्तालाप का कोई शब्द यहाँ तक नहीं पहुँच रहा था; किंतु इतना आभास मिल जाता था कि वहाँ हर्षोल्लास का वातावरण तो है ही, परिवेश में एक प्रकार की उत्तेजना भी छायी हुई है।

लोग अपने-अपने आसनों पर जा बैठे और उस खंड में कुछ स्थिरता आयी तो दृश्य भी स्पष्ट हुआ। नवागंतुकों को पहचानने में भीम को कठिनाई नहीं हुई : दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण, अश्वत्थामा, शकुनि··· दुर्विषह, दुर्मुख, दुष्प्रघर्षण, विकर्ण, सह, युयुत्सु, वायुवेग, भीमवेगरव···

भीम की आँखों में रक्त उतर आया : ये हत्यारे वहाँ राजसमाज में सम्मानित अतिथि बने उच्चासनों पर बैठे हैं; और वह अपने भाइयों के साथ यहाँ सामान्य जन-समुदाय में अस्तित्वहीन अज्ञात जनों के समान बैठा है। वे लोग कर्ता होंगे, और भीम तालियाँ बजाने वाला दर्शक होगा।

पेट की आँतों को चीरते हुए, जैसे कोई चीत्कार वक्ष की ओर बढ़ता है; वैसे ही भीम के मन में आदिम पशु सरीखी एक इच्छा उठी कि वह मार्ग की विघ्न-बाधाओं को रौंदता हुआ, राजाओं के मंडप तक दौड़ता चला जाये; और बिना किसी शस्त्र के ही दुर्योधन का कंठ अपने इन्हीं हाथों से दबा कर, उसे पशु के समान मार डाले।··· इस नरपिशाच ने दो-दो बार उसकी हत्या की है··· उसकी माता और उसके भाइयों की हत्या की है, उनका राज्याधिकार छीन लिया है, उनके वैभव का हरण कर लिया है···यह नीच, हत्यारा, पापी, दंभी, यह पशु, सम्मानित अतिथि के समान राज-समाज में बैठा है···

युधिष्ठिर ने भी दुर्योधन को अपने साथियों के साथ मंडप में आकर आसनासीन होते देखा। उसके मन में भी एक हूक उठी : यह सामने बैठा व्यक्ति हत्यारा था, आततायी। उसे किसी ने कोई दंड नहीं दिया था—न विधाता ने, न राजा ने, न समाज ने···वह यहाँ सम्माननीय था। यदि हत्यारों को राजाओं का अधिकार और सम्मान मिल जायेगा, तो प्रजा का क्या होगा ?···और सहसा उसका ध्यान अपने भाइयों की ओर चला गया···कहीं भीम और अर्जुन ने उन्हें देख लिया···

उसकी दृष्टि भीम की ओर घूम गयी : भीम के चेहरे के उग्रभाव और उसकी आँखों की आरक्त आभा को देखते ही वह समझ गया कि भीम ने दुर्योधन को देख लिया है।··· युधिष्ठिर के मन में भय जागा : कहीं भीम स्वयं को संयत नहीं रख सका तो ?···उसकी दृष्टि अर्जुन की ओर घूमी : अर्जुन कदाचित् उन्हीं की ओर देख रहा था। सहदेव मुख नीचा किये, आत्मलीन-सा कुछ सोच रहा था। नकुल अभी-अभी आकर बैठा था और जाने क्यों अपना मुख पोंछ रहा था।···

"जो सामने दिखायी देता है, वही सत्य नहीं है पुत्र !" एक वृद्ध ब्राह्मण, जाने किस संदर्भ में, अपने साथी को समझा रहा था, "कई बार देखा गया है कि मलिन आत्मा को छिपाने के लिए चमकीला और भड़कीला वेश धारण किया जाता है; और मलिन वेश में एक से एक उज्ज्वल, द्युतिमान आत्माएँ मिल जाती हैं।···"

लगा, भीम के आक्रोश को अभिव्यक्ति का एक मार्ग मिला। बोला, "ठीक कह रहे हैं बाबा ! ये जो स्वर्ण किरीटधारी, उज्ज्वल वस्त्र पहने, चँवर डुलाती दासियों की छाया में उस

मंडप में उच्चासनों पर बैठे हैं—वे क्या चरित्रवान लोग हैं ? जाने कितने-कितने लोगों के अधिकार छीनकर, कितने लोगों के वैभव का हरण कर, और कितने लोगों की हत्याएँ कर, इन्हें ये आसन मिले हैं।"

अच्छा ही है—युधिष्ठिर ने सोचा—इस प्रकार भीम इधर-उधर की कह-सुनकर, अपने आक्रोश को शांत कर लेगा। नहीं तो यदि कहीं, वह कुछ कर बैठने को उद्यत हो जाता तो··· किंतु अपने आवेश में कहीं वह कुछ अधिक ही न कह जाये····

"रजोगुण तो पनपता ही दूसरों के दमन पर है पुत्र !" वह वृद्ध बोला, "कभी तुमने ऐसा सागर देखा है, जो सरिताओं का जल लिये बिना, इतना विराट हो गया हो ?"

"प्रजा और राजा में तो एक समझौता है आर्य !" नकुल धीरे से बोला, "सरिताएँ सागर को परिपूरित करती हैं और सागर अपना जल बरसाकर उनका पालन-पोषण करता है; उनके जीवन की रक्षा करता है।"

"तुम आदर्श का वर्णन कर रहे हो युवक !" वह ब्राह्मण बोला, "और मैं तुम्हें व्यवहार बता रहा हूँ। इन्हें अधिकार इसलिए दिये गये कि वे प्रजा का पालन करें, उसका रक्षण करें। और इनमें से अधिकांश को देखो, वे तो प्रजा का भक्षण कर रहे हैं। वे अधिकार अपने कर्तव्य के लिए नहीं, अपने भोग के लिए चाहते हैं। ये लोग यह भूल जाते हैं कि जब वे एक व्यापक हित को भूलकर अपने सीमित स्वार्थ को साधने लगते हैं, तो उसी क्षण से उनकी अपनी जड़ें भी कटने लगती हैं। प्रजा-पालन बड़ा कठिन कार्य है पुत्र ! आजकल का राजसमाज तो आततायियों का समाज हो गया है। उन कौरवों को ही देखो : अपने ही भाइयों को जलाकर मरवा डाला। और अब किरीट धारण कर, शाल-दुशाले ओढ़े भले लोग बने बैठे हैं। सब के सब दुर्वृत्त।··· हाँ ! हमारे राजा द्रुपद की बात और है। कैसे सन्नद्ध रहते हैं पिता-पुत्र ! कहीं किसी ने तप्त निःश्वास छोड़ा और राजा उसका कष्ट जानने के लिए दौड़ा··।"

उसी समय राज-मंडप में फिर एक बार हलचल मच गयी। कदाचित् फिर कोई नया अतिथि आया था। आगंतुक कदाचित् बहुत ही महत्वपूर्ण व्यक्ति था। सारा मंडप जैसे एक तीव्र उत्तेजना से ग्रस्त हो उठा था। कुछ लोग उठकर स्वागत के लिए बाहर भागे थे; कुछ मात्र अपने स्थान पर ही खड़े हो गये थे। जिन्होंने अपने वय अथवा पद की गरिमा के कारण अपने स्थान से उठना आवश्यक नहीं समझा था, अप्रभावित वे भी नहीं रह पाये थे।···

इस बार मंडप में प्रवेश करने वाले कृष्ण और बलराम थे। उनके पीछे-पीछे सात्यकि, अक्रूर, उद्धव, कृतवर्मा तथा अन्य यादव योद्धा थे।···

पाँचों भाइयों की दृष्टि मिली और उस दृष्टि का उल्लास किसी से भी छिपा नहीं था।··· अर्जुन के मन में एक विचित्र उत्कंठा जागी—सामने उसका मित्र कृष्ण खड़ा था··बस, इतनी ही तो दूरी थी।···वह कुछ ऊँचाई पर बनाये गये राजाओं के मंडप में था, सब राजाओं से भेंट कर रहा था; हँस रहा था; उसके आनन पर सदा के समान अपनी सम्मोहिनी माधुरी थी। कहीं चिंता की कोई रेखा नहीं थी, उसके चेहरे पर।···किंतु उसे क्या पता कि उसका सखा अर्जुन, रंगशाला की इस ओर, यहाँ सामान्य निर्धन ब्राह्मणों के बीच इस अनामहीन भीड़ में भूमि पर बैठा हुआ, उसकी ओर देख रहा था।···एक विवेकहीन, उन्मादी, प्रबल इच्छा जैसे अर्जुन के संपूर्ण व्यक्तित्व को लीलती जा रही थी।··वह क्यों नहीं भागकर जाता और कृष्ण को अपनी भुजाओं में भर लेता।··जब कृष्ण, बलराम और सात्यकि हैं··इतने यादव योद्धा हैं; और वे स्वयं

पाँचों भाई···फिर किसका भय है पांडवों को ?···किंतु महर्षि व्यास ने उन्हें बाँध रखा था···उन्हें स्वयं प्रकट नहीं होना था।···और अभी तो उन्हें कोई चरम पराक्रम भी करना था···

मांगलिक वाद्य बजने आरंभ हो गये। मांगलिक वेश में सजे पांचाल सैनिक मंडप में प्रवेश कर अनुशासन-बद्ध ढंग से अपने-अपने स्थान पर खड़े हो गये। सुंदर उत्सवी वेश में सजी तरुणी दासियों ने मंगल घटों से सुशोभित मार्ग पर पुष्प बरसाने आरंभ कर दिये।···

और सारी रंगशाला जैसे एक उन्माद में उठ खड़ी हो गयी···पंचाल नरेश महाराज द्रुपद की पुत्री, राजकुमारी कृष्णा, स्वयंवर मंडप में प्रवेश कर रही थी।

आगे-आगे स्वयं राजा यज्ञसेन द्रुपद अपने राजपुरोहित के साथ चल रहे थे; और उनसे दो पग पीछे बहन कृष्णा को लेकर राजकुमार धृष्टद्युम्न आ रहा था।

सारे आयोजन के नियंता के रूप में द्रुपद अपने लिए नियत आसन पर आसिन हुए।

अर्जुन की दृष्टि द्रुपद पर टिक गयी : यह है पंचाल का राजा—तेजस्वी, शक्तिशाली, न्यायप्रिय और अपनी प्रजा का प्यारा।···उसके मन में अर्जुन के लिए कोई शत्रुता नहीं रही होगी; अर्जुन के मन में भी उसके लिए कोई वैर-भाव नहीं था।···किंतु गुरु की इच्छा पूर्ण करने के लिए, अर्जुन ने इस वीर पुरुष को पराजित किया था, अपमानित किया था; और बंदी बना, लाकर गुरु के चरणों में डाल दिया था···उस दिन अर्जुन धनुष-बाण लिये, विजयी योद्धा के रूप में गर्व से मस्तक ऊँचा उठाये आश्वस्त खड़ा था; और बँधे हाथों वाला बंदी राजा द्रुपद सिर झुकाये चुपचाप खड़ा था। उसकी आँखों में अग्नि भी थी और अश्रु भी···और आज वही द्रुपद, इस सारे आयोजन के केंद्र में स्वामी के रूप में बैठा है और अर्जुन बैठा है—यहाँ भूमि पर, तपस्वी, याचक ब्राह्मणों की इस भीड़ में, एक अस्तित्वहीन ब्राह्मण के रूप में, जिसका नाम तक अर्जुन नहीं था।···इस क्षण यदि द्रुपद को ज्ञान हो जाये कि यह वही अर्जुन है, जिसने उसे पराजित कर अपमानित किया था, तो कदाचित् अर्जुन का सिर उसके कंधों पर नहीं रह पायेगा।··· फिर भी महर्षि व्यास ने कहा था कि उन लोगों को यहाँ आना ही चाहिए··· किंतु महर्षि ने यह भी तो कहा था कि उन्हें स्वयं प्रकट नहीं होना है। थोड़ी देर पूर्व के उत्साह में यदि अर्जुन जाकर कृष्ण को अपनी भुजाओं में भर लेता···और उसे पहचानकर, एक ओर से दुर्योधन और दूसरी ओर से पांचाल उसपर टूट पड़ते, तो यादव योद्धा क्या करते ?···

राजपुरोहित, राजा के आसन के सम्मुख बनाये गये मंच पर धर्माधिकारी के रूप में प्रतिष्ठित हुए। धृष्टद्युम्न, कृष्णा को लेकर रंगशाला के केंद्र में बनाये गये विशिष्ट मंडल में जा पहुँचा। कृष्णा हाथों में जयमाला लेकर, उपयुक्त स्थान पर खड़ी हो गयी। धृष्टद्युम्न बढ़कर उद्घोषक-पीठ पर आया। उसने एक सिंह दृष्टि जन समुदाय पर डाली और दोनों भुजाएँ उठाकर जन-समूह को शांत हो बैठ जाने का संकेत किया।

वाद्य-यंत्र मौन हो गये। जन-समुदाय शांत हो गया।

"अभ्यागत राजन्य समाज तथा उपस्थित जन-समाज सुनें। अपने पिता पंचालराज की आज्ञा और राजपुरोहित की अनुमति से मैं यह घोषणा कर रहा हूँ। पंचाल राजकुमारी, द्रुपद पुत्री कृष्णा इस स्वयंवर में अपने उपयुक्त वर वरण करेगी। राजकुमारी वीर्यशुल्का है, इसलिए यह चयन स्वयंवर की प्रतिज्ञा के अधीन होगा। उत्तम कुल, सुंदर रूप और श्रेष्ठ बल से संपन्न जो वीर प्रतिज्ञा पूरी करेगा, मेरी बहन उसी का वरण करेगी।"

धृष्टद्युम्न ने कर्मचारियों को संकेत किया। उन्होंने रज्जू खींचकर यवनिका हटा दी। यवनिका के पीछे से क्या प्रकट हुआ है, यह देखने के लिए जन-समुदाय कोलाहल के साथ उठ खड़ा हुआ।

धृष्टद्युम्न ने पुनः भुजा उठाकर लोगों को शांत किया और उच्चस्वर में कहा, "सामने स्तंभ पर यह एक यंत्र टँगा है। यंत्र निरंतर घूम रहा है; और उसके ऊपर धातु की बनी एक मत्स्याकृति टँगी है।··· और यहाँ यह विराट तथा कठोर धनुष रखा गया है। इसके साथ ये पाँच लौह बाण हैं। उत्तम कुल, सुंदर रूप और श्रेष्ठ बल से संपन्न जो वीर इस धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाकर, पाँच बाणों से एक साथ, इस घूमते यंत्र में से ऊपर टँगी मत्स्याकृति का चक्षु- वेधन कर देगा, राजकुमारी अपने पति के रूप में उसका वरण करेगी।···"

धृष्टद्युम्न मौन हो गया; किंतु इस बार पहले के समान जन- कोलाहल नहीं उठा। उपस्थित जन- समुदाय जैसे स्वयंवर की प्रतिज्ञा सुनकर स्तब्ध रह गया था।

युधिष्ठिर ने पांचाली को देखा था, तो देखता ही रह गया था। उसके मन में एक अनाम- सी इच्छा उठी थी कि पांचाली की दृष्टि भी उस पर पड़े। वह देखे कि साधारण लोगों में भी एक असाधारण व्यक्ति बैठा है। वह जाने कि यह हस्तिनापुर का युवराज, पांडुपुत्र युधिष्ठिर है। उसे लगा कि इतने समय के पश्चात् आज पहली बार उसे अपना इस प्रकार अज्ञात वनवासी ब्राह्मण का वेश असुविधाजनक लगने लगा था। यदि कहीं वह इस समय किसी भी प्रकार हस्तिनापुर का कुरु- युवराज युधिष्ठिर हो पाता···और अकस्मात् ही उसका मन कृतज्ञता से महर्षि व्यास के सामने झुक गया। ऋषि ने कितनी दूर की बात सोची थी ! यदि आज पांचाली कृष्णा से युधिष्ठिर का संबध हो जाता है, तो अकेले युधिष्ठिर का ही नहीं, सारे पांडवों का पुनर्जन्म होगा··· और यह भी कितना अच्छा किया महर्षि ने कि उन्हें स्वयं को प्रकट करने का निषेध कर दिया, अन्यथा बहुत संभव था कि पांचाली को देखने के पश्चात् युधिष्ठिर का उन्मत्त मन कोई असावधानी कर बैठता···

किंतु स्वयंवर की प्रतिज्ञा सुनते ही युधिष्ठिर की सारी उत्तेजना जैसे झाग के समान स्वतः बैठ गयी।···यह प्रतियोगिता उसके लिए थी ही नहीं।···वह अच्छा धनुर्धर था—कृपाचार्य तथा आचार्य द्रोण का शिष्य ! युद्ध होने पर वह महारथियों में ही गिना जायेगा।···किंतु यह प्रतिज्ञा तो महारथियों अथवा अतिरथियों के वश की बात नहीं थी। पता नहीं इस प्रतिज्ञा की घोषणा भगवान महादेव के किस अंशावतार को ध्यान में रखकर की गयी थी, या···महाराज द्रुपद अपनी पुत्री का विवाह ही नहीं करना चाहते थे···या फिर बहुत संभव है कि पांचालों ने यह योजना सारे आर्यावर्त्त के वीरों को अपमानित करने के लिए बनायी हो···

युधिष्ठिर को लगा कि उसके लिए यहाँ बैठना अब संभव नहीं था। वह यह पराक्रम कर नहीं सकता; और पांचाली कभी यह जान नहीं सकती कि इन ब्राह्मणों के मध्य युवराज युधिष्ठिर बैठा है।···अच्छा है कि वह यहाँ से उठ ही जाये; अन्यथा यहाँ तो कदाचित् उसका श्वास ही रुद्ध हो जायेगा···किंतु व्यासदेव ने कहा था कि पांडवों को कांपिल्य में चरम पराक्रम करना पड़ेगा···पर युधिष्ठिर तो इस पराक्रम को करने की कल्पना भी नहीं कर सकता···भीम भी इस प्रतियोगिता के लिए उपयुक्त प्रत्याशी नहीं था, न ही

नकुल और सहदेव इस प्रतिज्ञा को पूर्ण कर सकते थे । यह परीक्षण तो मात्र धनुर्धर अर्जुन के लिए ही हो सकता है । क्या भगवान वेदव्यास इसी परीक्षण को चरम पराक्रम कह रहे थे ? क्या अर्जुन इस प्रतिज्ञा पर पूरा उतरेगा ? माँ चाहती थीं कि उनमें से कोई भी अपने भाइयों का प्रतिद्वंद्वी न बने... यहाँ इस प्रतिज्ञा ने स्वयं ही निर्णय कर दिया था कि उनमें से कोई भी अर्जुन का प्रतिद्वंद्वी नहीं होगा ।...वैसे भी यह पांडवों के अस्तित्व का प्रश्न है । उन्हें वारणावत की अग्नि में भस्म होकर कदाचित् इस स्वयंवर में पुनः शरीर धारण करना है । उनका यह पुनर्जन्म कदाचित् इस चरम पराक्रम के ही अधीन है... और यह पराक्रम केवल अर्जुन का ही कार्य है...एक मात्र पांडव, जो यह अद्भुत कार्य करने की क्षमता रखता है ।...क्षमता रखता भी है या युधिष्ठिर की अपने भाई के लिए यह ममता मात्र है !...यदि अर्जुन यह पराक्रम कर लेता है, तो वह भी तो युधिष्ठिर की ही विजय है । वे लोग पृथक्-पृथक् हैं ही कहाँ—वे तो एक ही शरीर के विभिन्न अंग हैं । एकचक्रा में भी तो पाँच मुखों वाले यक्ष का एक मुख भीम था । यहाँ उसी दस भुजाओं वाले यक्ष की दो भुजाएँ अर्जुन है । वे पाँचों मिलकर एक व्यक्तित्व हैं, एक अस्तित्व ! यह कर्म अर्जुन को ही करना होगा...

किंतु यदि यह कार्य अर्जुन को ही करना है तो युधिष्ठिर के यहाँ बैठे रहने का क्या लाभ ?...उसका मन संभ्रम की स्थिति में है, सँभाले सँभल नहीं रहा है, व्यर्थ ही कहीं पहचान लिये गये, तो कोई बवंडर उठ खड़ा हो सकता है । कई बार वे लोग आपस में चर्चा करते हुए परिहास में ही कहा करते थे कि दुर्योधन यदि किन्हीं पाँच पक्षियों को भी एक साथ देखता है तो उसका पहला संदेह यही होता है कि कहीं ये पाँच पांडव तो नहीं ! कदाचित् इसीलिए माँ भी उन पाँचों को एक साथ किसी सार्वजनिक स्थान पर भेजना नहीं चाहतीं ।...फिर यहाँ बैठे रहने का क्या लाभ, जहाँ इतने सारे लोग उन्हें पहचानते हैं—सारे कौरव, गांधार, पांचाल, यादव...कौन नहीं पहचानता उन्हें ? राजा द्रुपद को जिस ध्वज तले पराजित कर अपमानित किया गया था, उस युधिष्ठिर को यहाँ कौन नहीं पहचानता ?...और कहीं अपने बड़े भाई को उपस्थित देख, अर्जुन यह पराक्रम करने में संकोच कर गया तो ?...युधिष्ठिर को यहाँ से हट ही जाना चाहिए...कोई लाभ नहीं उसके यहाँ बैठने का...

युधिष्ठिर ने भीम की ओर देखा : भीम की आँखों में उत्तेजना नहीं थी । वहाँ शांति थी और पूर्ण स्पष्टता । उसने अर्जुन की ओर संकेत किया । युधिष्ठिर ने अर्जुन की ओर देखा : वह पांचाली की उपेक्षा कर उस यंत्र को देख रहा था । उसे देखकर लगता था, जैसे स्वयंवर पांचाली का न होकर, यंत्र का हो । उसे तो धनुर्विद्या का उन्माद था...जहाँ कहीं धनुर्विद्या की कोई बात हो, उसकी आत्मा वहीं मँडराती रहती थी ।...युधिष्ठिर ने नकुल की ओर देखा । किसी कारण से नकुल भी उसी की ओर देख रहा था ।...युधिष्ठिर इतनी दूर से कुछ कह तो सकता नहीं था । वह उठकर खड़ा हो गया । नकुल की आँखों के प्रश्न-चिह्न कुछ और बड़े हो गये ।...उसके पास से होकर जाते हुए युधिष्ठिर बोला, "मेरा यहाँ बैठना व्यर्थ है । आवास पर माँ अकेली हैं ।..." वह ब्राह्मणों वाले खंड से निकल, स्वयंवर-मंडप से बाहर जाने वाले मार्ग की ओर चल पड़ा ।

युधिष्ठिर मंडप से बाहर निकला ही था कि नकुल और सहदेव दोनों ही उससे आ मिले ।

"भैया ! मध्यम और कनिष्ठ तो वहीं बैठे हैं ।" सहदेव ने कहा ।

"बच्चे नहीं हैं कि मार्ग भूल जायेंगे। वे अपने-आप आवास पर आ जायेंगे।" युधिष्ठिर की खीज जैसे फूट पड़ी"उसने तत्काल स्वयं को सँभाला, "जहाँ इतना बड़ा कौतुक हो रहा हो, वहाँ से भीम सहज ही उठकर कैसे चला आयेगा ! वह तो अंत तक सब कुछ देखेगा और फिर भिक्षाटन करके ही लौटेगा।"

नकुल ने आश्चर्य से युधिष्ठिर को देखा; क्या हो गया है ज्येष्ठ को ! इस प्रकार तो न कभी भैया खीजे थे और न ही कभी उन्होंने भीम का इस प्रकार उपहास किया था।"

"आप कुछ विचलित हैं भैया !" नकुल कहे बिना रह नहीं सका।

"हाँ नकुल !" युधिष्ठिर का स्वर इतनी ही देर में शांत और स्थिर हो गया था।

"क्यों भैया ?"

युधिष्ठिर ने कुछ ऐसी हताश आँखों से नकुल को देखा, जैसे पूछ रहा हो—'क्या तुम नहीं समझते ?' और फिर बोला, "जिस प्रकार से मृत पांडवों का पुनर्जन्म होना था, वह मैं नहीं कर पाया !"

"तो क्या हुआ !" सहदेव बोला, "किसी भी एक पांडव के पराक्रम से हम सभी पुनर्जीवित हो सकते हैं। संभव है, कनिष्ठ यह पराक्रम कर दिखाये।"

"ज्येष्ठ मैं हूँ।" युधिष्ठिर बोला, "अपने दायित्व इस प्रकार अपने छोटे भाइयों पर डाल, उनके यश से यशस्वी होना मुझे अच्छा नहीं लगता सहदेव !"

"हम पाँचों में कोई भेद है भैया !"

"नहीं, भेद तो नहीं है; किंतु ज्येष्ठ होने के नाते अपने भाइयों में मैं अपना स्वत्व बाँटता हुआ ही अच्छा लगता हूँ; उन्हें उनके स्वत्व से वंचित करता हुआ नहीं।" युधिष्ठिर का स्वर अवसादपूर्ण था।

आरंभ में तो भीम के लिए अपने चारों ओर अनेक आकर्षक आकृतियाँ, विविध रोचक प्रसंग तथा विभिन्न आमंत्रणकारी दृश्य थे; किंतु पांचाली को देखने के पश्चात् से उसकी समग्र चेतना आकर उसी पर केंद्रित हो गयी थी।"आज उसे पहली बार अनुभव हुआ था कि सारी सृष्टि में पुरुष के लिए, नारी से बढ़कर सुंदर, आकर्षक तथा मनमोहक और कुछ नहीं है।"और उसी पुंजीभूत नारी-सौंदर्य—पांचाली कृष्णा—का आज स्वयंवर था।"भगवान वेदव्यास ने उन्हें सायास यहाँ भेजा था कि पांडव यहाँ चरम पराक्रम करें"अर्थात् वे चाहते थे कि पांचाली, माता कुंती की पुत्र-वधू बन जाये"और चरम पराक्रम क्या हो सकता है।"युधिष्ठिर यदि यहाँ हस्तिनापुर के युवराज के रूप में आया होता और पांचाली वीर्यशुल्का न होती तो कदाचित् यह संबंध सहज ही हो सकता था; किंतु वर्तमान स्थिति में घटनाएँ क्या मोड़ लेंगी" वैसे महर्षि व्यास का चिंतन निश्चित रूप से असाधारण है" संपूर्ण राजसमाज के सम्मुख अपना चरम पराक्रम दिखाकर ही तो पांडव अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करेंगे और उस पापी, आततायी, हत्यारे दुर्योधन के माथे पर अपना चरण धर सकेंगे"भीम का मन जैसे उत्फुल्ल हो उठा। कैसा अद्भुत अवसर था"माता कुंती की पुत्रवधू पांचाली और दुर्योधन के मस्तक अथवा वक्ष पर भीम का पाँव"भीम की इच्छा हुई कि इस कल्पना मात्र से ही वह उठकर नृत्य करने लगे"

किंतु स्वयंवर की प्रतिज्ञा सुनने के पश्चात् भीम का मन भी कुछ विचलित हो उठा।"

यह प्रतिज्ञा युधिष्ठिर के लिए नहीं थी और उसका अपना बल भी इसमें कुछ नहीं कर सकता था।···यह तो प्रतिज्ञा ही अर्जुन के लिए थी। अवश्य ही कृष्ण ने यह प्रस्ताव रखा होगा। वह तो यही चाहेगा कि अर्जुन का द्रुपद से संबंध हो जाये···

जब युधिष्ठिर ने उसकी ओर देखा था तो वह इसी विचार में मग्न था कि अर्जुन इस प्रतिज्ञा को पूर्ण कर लेगा; किंतु युधिष्ठिर, नकुल तथा सहदेव के मंडप से उठकर चले जाने के पश्चात् सहसा ही उसका मन अपना उत्साह खो बैठा।···उसे लगा, वे अवश्य ही निराश होकर, उठकर चले गये हैं। युधिष्ठिर को अर्जुन से भी आशा नहीं रही होगी, तभी तो वह उठकर चला गया।···यदि सचमुच ही अर्जुन भी इस प्रतिज्ञा को पूरा न कर सका तो ?···तो कृष्ण भी क्या कर लेगा ?···

किंतु भीम के मन में निराशा अधिक देर तक टिकी नहीं। उसका उत्साह जैसे दोगुनी शक्ति के साथ पुनर्जीवित हो उठा···यदि अर्जुन इस प्रतिज्ञा को पूर्ण नहीं कर सका, तो इसका अर्थ है कि कोई अन्य धनुर्धारी भी यह कार्य नहीं कर पायेगा···कोई नहीं कर पायेगा, तो भीम अपना पराक्रम करेगा···पांचाली को माता कुंती की पुत्रवधू बनना ही होगा···भीम पांचाली का हरण करेगा और चरम पराक्रम क्या होता है···माता की बात उसे क्षणभर को स्मरण भी हो आयी कि उसे पराक्रम करना था, दुस्साहस नहीं···किंतु यह विचार उसके मन में टिका नहीं।···उसकी इच्छा हो रही थी कि वह हिडिंबवन के महाराज वृकोदर का रूप धारण कर, एक बार ही इस सारे राज-समाज को तहस-नहस कर डाले···आज सारा संसार देख ले कि यह भीम है, पांडु-पुत्र भीम···

स्वयंवर की प्रतिज्ञा सुनने से पूर्व तक अर्जुन एक विचित्र निष्क्रिय मनःस्थिति में था।···स्वयंवर का संबंध विवाह से था, और अर्जुन के मन में अपने विवाह का विचार अभी अंकुरित नहीं हुआ था।···कांपिल्य में आने से पहले तक वह भगवान वेदव्यास, माता तथा ज्येष्ठ की योजनाओं में लिप्त हुए बिना ही, मौन रूप से उनके साथ सहमत होता आया था।···इस स्वयंवर-मंडप में कृष्ण को देखकर वह ठीक-ठीक समझ पाया था कि व्यासदेव इस स्वयंवर को पांडवों के पुनर्जीवित हो उठने के साथ क्यों जोड़ रहे थे। कृष्ण को देखते ही, उसके मन में अद्‌भुत विश्वास जागा था। वे लोग अब निश्चित रूप से घोषणा कर सकते थे कि वे पांडव हैं, और अभी जीवित हैं। वे प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट शब्दों में दुर्योधन पर यह आरोप लगा सकते थे कि उसने वारणावत में जतुगृह बनवाकर, उसमें आग लगा, उनकी हत्या का पूर्ण प्रयत्न किया था।···स्वयंवर में तब भी उसकी कोई विशेष आसक्त नहीं जागी थी।

द्रौपदी को देखकर उसने अवश्य अपने कामना को पहचाना था; किंतु माता की इच्छा को वह विस्मृत नहीं कर सकता था। स्वयंवर में भाग लेने का अधिकार ज्येष्ठ का ही था। वह उसका प्रतिद्वंद्वी नहीं होना चाहता था···

किंतु स्वयंवर की प्रतिज्ञा सुनते ही उसकी मनःस्थिति एक झटके के साथ बदल गयी थी। वह किसी चपल कुरंग के समान उन्मुक्तरूप से कूदता हुआ, सारे स्वयंवर-मंडप में दौड़ लगाना चाह रहा था। यह स्वयंवर कहाँ रहा था···यह तो धनुर्विद्या का परीक्षण था···आर्यावर्त्त के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी का चयन।···गुरु द्रोण ने कहा था, अर्जुन विश्व का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी है। ऐसे में जब अल्पज्ञ तथा

कम क्षमतावान लोग भी गर्वपूर्वक अपनी विद्या का चमत्कार दिखाने जा रहे हों, वह मात्र एक दर्शक बना कैसे बैठा रहे ?···किंतु क्या करे वह ? वह अपना नाम नहीं बता सकता। अपना परिचय नहीं दे सकता।···व्यासदेव चाहते हैं कि वे लोग स्वयं, अपने- आपको प्रकट न करें, उनका पराक्रम ही उन्हें प्रकट करें··· किंतु यहाँ तो अर्जुन को लग रहा है कि स्वयंवर की इस प्रतिज्ञा की परिकल्पना ही उसको ध्यान में रखकर की गयी है। क्या द्रुपद जानते हैं कि पांडव जीवित हैं···और उनके यहाँ आने की संभवाना है ?···क्या द्रुपद के मन में अर्जुन के लिए वैर, द्वेष, विरोध···कुछ भी नहीं है ? वे अर्जुन को अपने जामाता के रूप में स्वीकार कर लेंगे ?···अथवा यह सारी योजना किसी और की है ?···विदुर काका तो यहाँ हैं नहीं ! कदाचित् वे कभी पंचालराज द्रुपद से मिले भी न हों ! तो फिर भगवान् वेदव्यास ?···वासुदेव कृष्ण ?···वे कृष्ण इस स्वयंवर में प्रत्याशी नहीं हैं ? क्या उसने यह सब अर्जुन के लिए किया है ?···अर्जुन और द्रुपद के मध्य एक संबंध बनाने के लिए ? अथवा अर्जुन को विश्व का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी प्रमाणित करने के लिए ?···यदि अर्जुन इस परीक्षा में सफल हो जाता है, द्रौपदी उसके कंठ में जयमाला डाल देती है; और तब द्रुपद को ज्ञात होता है कि वह हस्तिनापुर के सम्राट पाडु का पुत्र अर्जुन है—तो क्या प्रतिक्रिया होगी द्रुपद की ?···क्या इसीलिए महर्षि व्यास चाहते हैं कि पांडव स्वयं को प्रकट न करें, किंतु चरम पराक्रम करने से न चूकें ? क्या वे द्रुपद के सामने पांडवों की क्षमता प्रमाणित करना चाहते हैं ?···

क्षमता !···अर्जुन की क्षमता !···यह धनुष, ये पाँच बाण और यह यंत्र !···ये सब चुनौती के रूप थे। अर्जुन ने एक बार हस्तिनापुर की रंगशाला में स्वयं को सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी प्रमाणित किया था···किंतु वहाँ प्रतियोगिता केवल कुरु राजकुमारों के मध्य थी··· यह प्रतियोगिता सीमित नहीं थी, निर्वध थी; इसमें तो कोई भी भाग ले सकता था।···उसे यहाँ भी अपनी योग्यता प्रमाणित करनी होगी।···वह सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी न बन सका, तो फिर उसके जीवन में रह ही क्या जायेगा ?···उसने और कुछ तो चाहा ही नहीं है—न विधाता से, न अपने जीवन से।···उसके मन से जैसे अपने और द्रुपद के मध्य घटी घटना धुल गयी। वह स्वयंवर मंडप में नहीं बैठा था।···द्रौपदी का उसके लिए कोई अस्तित्व नहीं था।···यह यंत्र···यह चुनौती···यह परीक्षा और विश्व का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी बनने की उसकी साध···

किंतु दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण तथा शकुनि ही नहीं, यहाँ तो अश्वत्थामा भी बैठा है।··· क्या द्रुपद और कौरवों के मध्य कोई वैमनस्य नहीं रहा ? क्या उनकी शत्रुता समाप्त हो गयी ? उनमें मैत्री हो गयी ?···क्या द्रुपद ने द्रोणाचार्य को भी क्षमा कर दिया है, जो अश्वत्थामा यहाँ सम्मानित अतिथि के रूप में वर्तमान है ? यदि द्रुपद ने द्रोण और अश्वत्थामा को भी क्षमा कर दिया है, तो उनका अर्जुन से ही क्या विरोध ? फिर अर्जुन और उसके भाइयों को द्रुपद से क्या भय ? शत्रुता तो द्रोण और द्रुपद की थी। अर्जुन तो गुरु द्रोण का उपकरण मात्र था। क्या द्रुपद इस बात को समझ पायेंगे ?···

किंतु द्रुपद को पराजित कर, बाँधकर साधारण दास के समान, द्रोणाचार्य के चरणों में डालने वाला तो अर्जुन ही था।···कहीं ऐसा तो नहीं कि दुर्योधन के यहाँ भी चातुरी दिखायी हो और द्रुपद को यह समझा दिया हो कि इस सारे कांड का अपराधी तो अर्जुन था। अब जब वही जीवित नहीं है, कौरवों और पांचालों में कैसी शत्रुता ?···

अर्जुन का मन थम गया; अवश्य ऐसा ही हुआ होगा। तभी तो इतने सारे कौरव राजकुमार,

शकुनि, कर्ण और अश्वत्थामा यहाँ निर्द्वंद्व होकर पूर्ण प्रतिष्ठा के साथ विराजमान हैं। वे दोनों पक्ष जब एक-दूसरे के शत्रु थे; वे अलग-अलग भी पांडवों के लिए घातक थे। और अब··· जब वे परस्पर एक-दूसरे के मित्र बन चुके हैं—सम्मिलित रूप से वे पांडवों के लिए अत्यधिक घातक हो सकते हैं···

किंतु स्वयंवर की प्रतिज्ञा ?···कहीं उन्हें संदेह तो नहीं हो गया कि पांडव जीवित हैं; और इस स्वयंवर के माध्यम से अर्जुन को खोजकर उसका वध करना चाहते हों ? वे जानते हैं कि जहाँ अर्जुन होगा, वहीं उसके आस-पास, उसके भाई भी होंगे···कहीं यह स्वयंवर, पांडवों का यम-पाश ही तो नहीं है ?···नहीं; ऐसा नहीं हो सकता !···उन्हें भगवान वेदव्यास ने यहाँ आने का निर्देश दिया था···और यहाँ तो स्वयं वासुदेव कृष्ण वर्तमान है। कृष्ण ऐसे घृणित षड्यंत्र का अंग कभी नहीं हो सकता···

अपने इसी ऊहापोह में अर्जुन ने एक-एक कर, अनेक छोटे-बड़े राजाओं और राजकुमारों को अपना भाग्य-परीक्षण करते देखा···किंतु उसके मन में एक क्षण के लिए भी कोई दुश्चिंता नहीं होगी। वह जानता था कि इनमें से कोई धनुष उठाकर उसे अपनी भुजा में सँभाल नहीं पायेगा; कोई उसकी प्रत्यंचा नहीं चढ़ा पायेगा; यदि कोई प्रत्यंचा चढ़ा भी लेगा, तो वह इन पाँच बाणों को प्रत्यंचा पर रखकर धनुष-परिचालन भी नहीं कर पायेगा, लक्ष्य-वेध की तो बात ही क्या···

और तब उसने देखा, अंगराज कर्ण यंत्र की ओर आ रहा था।···उसे आश्चर्य हुआ कि दुर्योधन ने स्वयं पहले न आकर, इसे कैसे पहले आने दिया···एक बार इस प्रश्न ने अश्वत्थामा के आने पर भी सिर उठाया था; किंतु फिर स्वयं ही यह सोचकर शांत भी हो गया था कि कदाचित् दुर्योधन जानता है कि अश्वत्थामा यह लक्ष्य-वेध नहीं कर पायेगा···किंतु कर्ण ?··· संभव है कि कर्ण लक्ष्य-वेध कर ले !···क्या दुर्योधन, पांचाली का विवाह, कर्ण से हो जाने देगा ?···या दुर्योधन से कर्ण तथा अश्वत्थामा की यह संधि तो नहीं कि यदि वे स्वयंवर में विजयी हुए, तो वे लोग पांचाली, दुर्योधन को सौंप देंगे ?···

कर्ण धनुष के पास आ पहुँचा था। उसने धनुष को उठाकर, अपनी भुजाओं में तौला। थोड़े से प्रयत्न से उसने प्रत्यंचा भी चढ़ा ली और बाण उठाने के लिए उसने अपना हाथ बढ़ाया···

सहसा स्वयं कृष्णा का एक वाक्य चीत्कार के समान सारे स्वयंवर-मंडप में गूँज गया, "स्वयंवर की प्रतिज्ञा के अनुसार प्रतियोगी को उत्तम कुल, सुंदर रूप तथा श्रेष्ठ बल से संपन्न होना चाहिए।··· मैं सूतपुत्र से विवाह नहीं करूँगी।··· "

सारी रंगशाला स्तब्ध रह गयी, जैसे वह पांचाली का वाक्य न हो, आकाश से इंद्र का वज्र गिरा हो। न कहीं कोई शब्द था, न गति; निमिष-भर को तो किसी ने जैसे पलकें भी नहीं झपकीं।···किंतु जिस आकस्मिकता से इस स्तब्धता ने सारे मंडप को जकड़ा था, उसी आकस्मिकता से स्तब्धता खंडित भी हुई।···ब्राह्मणों के खंड से, एक गगनभेदी अट्टहास उठा और उसके साथ ही सारी रंगशाला में कोलाहल मच गया।

अर्जुन ने बिना ग्रीवा फेरे ही समझ लिया कि यह अट्टहास भीम का था; और उसने यह भी देखा कि कृष्ण की दृष्टि ने उस अट्टहास करने वाले कंठ के स्वामी को लक्ष्य कर लिया था।··· अर्जुन समझ नहीं पाया कि यह शुभ था या अशुभ···क्योंकि भीम को पहचानने वाला अकेला कृष्ण ही तो नहीं था यहाँ···

कर्ण के पश्चात् शिशुपाल, जरासंध और शल्य आये। उन्हें लौटने में अधिक समय नहीं लगा। और तब उठा—दुर्योधन !...अर्जुन का मन सहसा ही जैसे आशंकाओं के मेघों से तमसाछन्न हो गया...कहीं...कहीं...दुर्योधन सफल हो गया तो ? पांचाली दुर्योधन की हो जायेगी; धार्तराष्ट्र और पांचाल एक ही जायेंगे; और पांडव सदा के लिए वारणावत की भस्म में दबकर रह जायेंगे।... अर्जुन को लगा, जैसे उसकी आँखों के सम्मुख प्रत्येक स्थिर वस्तु घूम गयी। उसकी समझ में नहीं आया कि समस्त ब्रह्मांड विचलित कैसे हो गया... किंतु जब तक दुर्योधन धनुष के निकट पहुँचा, सब कुछ पुनः स्थिर हो चुका था... अर्जुन का मन भी... 'दुर्योधन यह लक्ष्य-वेध कभी नहीं कर सकता।' उसने स्वयं अपने-आप से कहा, 'यदि दुर्योधन यह कर सकता है, तो भीम भी कर सकता है, युधिष्ठिर भी और अश्वत्थामा भी !'... अश्वत्थामा इस परीक्षण में असफल होकर अपना अपमान करवा चुका है। दुर्योधन वही मूर्खता करने जा रहा है। युधिष्ठिर तो स्वाभिमानी और बुद्धिमान है, जो मंडप में से ही उठकर चला गया। वह जानता है कि यह परीक्षण उसके सामर्थ्य से बाहर है।...

दुर्योधन ने धनुष को झुकाकर प्रत्यंचा चढ़ाने का प्रयत्न किया, तो उसे शक्तिशाली झटका लगा। उसने धनुष छोड़ दिया और अपना हाथ झटकने लगा, जैसे अंगुलियों में इतनी चोट आ गयी हो, जिसे वह सह न सकता हो...अर्जुन समझ नहीं पाया कि दुर्योधन ने प्रत्यंचा के साथ ऐसा क्या किया था कि प्रत्यंचा ने उसकी अंगुलियों को चटखा दिया...

अर्जुन ने पलटकर भीम की ओर देखा; कहीं वह फिर से अट्टहास न कर बैठे।... भीम मंद-मंद मुस्कराता हुआ, बड़ी एकाग्रता से दुर्योधन की पीड़ा को देख रहा था। अट्टहास करने की उसकी कोई तैयारी नहीं थी। शायद वह अपने पिछले अट्टहास से ही सँभल चुका था; या फिर अर्जुन को दुर्योधन का ही आभारी होना चाहिए था कि उसने घाव खाकर भी चीत्कार नहीं किया, अन्यथा भीम अवश्य ही अट्टहास करता। दुर्योधन अपने चीत्कार को पी गया तो भीम ने भी अपने अट्टहास को अपने कंठ से नीचे ही रोक लिया था...

दुर्योधन के असफल होकर लौटने के पश्चात् राज-समाज में से कोई व्यक्ति नहीं उठा। अर्जुन ने देखा; यादवों में से कोई भी अपने स्थान पर से नहीं हिला। कृष्ण, बलराम, उद्धव, सात्यकि, कृतवर्मा, अक्रूर...अन्य इतने यादव वीर...इनमें से कोई भी प्रतियोगिता में नहीं उतरेगा ?...यह क्या था ? क्या यादवों को पांचाली में कोई रुचि नहीं थी ? क्या वे पांचालों के संबंधी होना नहीं चाहते थे ? तो फिर वे लोग द्वारका से चलकर, कांपिल्य तक क्या करने आये थे ?...या वे स्वयं को इस लक्ष्य-वेध के लिए अक्षम मानते थे ? या...या अर्जुन को यह अवसर प्रदान करने के लिए ही, कृष्ण ने उन सबको बाँध रखा था...

महर्षि व्यास ने कहा था कि वासुदेव कृष्ण चाहता है कि पांडव उस समय अपना चरम पराक्रम करने के लिए उठें, जब दुर्योधन का राजन्य तेज तथा अपनी श्रेष्ठता का अहंकार मलिन हो चुका हो; और पांडवों का उत्साह तेज सूर्य के प्रकाश के समान जाज्वल्यमान हो...अर्जुन को लगा, वह कृष्ण का मंतव्य पूर्णतः समझ रहा है।...

अर्जुन ने भीम की ओर देखा; भीम की आँखों में सहमति का भाव ही नहीं था; वह अपनी मुस्कान तथा सिर के संकेत से, उसे उठने के लिए प्रेरित कर रहा था।...अब अर्जुन के लिए रुकना असंभव था...

अर्जुन उठ खड़ा हुआ··· इसी क्षण की प्रतीक्षा में तो उसके प्राण अटके हुए थे···

यह क्षण कदाचित् उसके ही नहीं, सारे पांडवों के जीवन के चरम उत्कर्ष का क्षण था··· किंतु यही क्षण तो परम जोखिम का क्षण भी था। सामने दुर्योधन, दु:शासन, अश्वत्थामा, कर्ण, शकुनि··· सब बैठे हैं··· इधर महाराज द्रुपद सिंहासन पर विराजमान हैं, शस्त्रास्त्रों से सज्जित धृष्टद्युम्न यज्ञ-वेदी के निकट खड़ा है। चारों ओर पांचाल योद्धा सन्नद्ध खड़े हैं··· और इन सब के मध्य, अर्जुन अपनी परीक्षा के लिए जा रहा है। सारे उपस्थित जन-समुदाय की दृष्टि उसपर है। किसी भी क्षण, कोई भी व्यक्ति इस जयजूट के भीतर भी उसे पहचान सकता है··· उसके कारण भीम भी पहचाना जा सकता है··· दुर्योधन जब उन मृतक पांडवों को इस प्रकार देखेगा, तो क्या उन्मत्त होकर, पुनः उनका वध करने का प्रयत्न नहीं करना चाहेगा ? राजा द्रुपद अपने अपमान का प्रतिशोध नहीं चाहेंगे ?···

अर्जुन ने दृष्टि उठाकर देखा : कदाचित् अभी तक न जन-समुदाय समझ पाया था, न स्वयंवर के आयोजक ही, कि वह स्वयंवर-यंत्र की ओर जाने के लिए अपने स्थान से उठा है। रंगशाला में इतनी भीड़ एकत्रित थी। अनेक लोग अपने स्थान पर किसी सुविधा अथवा असुविधा के कारण उठते और बैठते ही रहते थे। संभवतः उसे भी उसी प्रकार का सामान्य दर्शक समझा जा रहा था।··· किंतु अब वह ब्राह्मणों की भीड़ से बाहर निकलकर केंद्रीय मंडप की ओर बढ़ रहा था। उसने सहज रूप में देखा कि लोगों की दृष्टि उसपर केंद्रित हो रही थी··· कदाचित् लोग उसकी इच्छा को भाँपने का प्रयत्न कर रहे थे।··· और सहसा ब्राह्मणों के उस मंडप में से एक हर्ष-निनाद उठा। जाने किसने एक ब्राह्मण के इस आत्म-परीक्षण को अपने संपूर्ण समुदाय के लिए गर्व का विषय मानकर यह हर्ष-ध्वनि की थी; और परिणामतः ब्राह्मणों का सारा मंडप ही गूँजता चला गया।···

अर्जुन ने देखा, अपने आसन पर अधलेटे-से हताश दुर्योधन ने भी एक दृष्टि उस पर डाली थी। किंतु उसके व्यवहार में कहीं ऐसा कोई संकेत नहीं था कि उसे इस वनवासी ब्राह्मण के अर्जुन होने का रंचमात्र भी संदेह हुआ हो···। अर्जुन की दृष्टि कृष्ण पर पड़ी : कृष्ण के मुख पर मंद हास बिखर गया था। उसकी आँखों में उल्लास था। वह कदाचित् अर्जुन को पहचान गया था।··· और फिर अर्जुन ने देखा, कृष्ण ने यादव-दल को संकेत किया। वे लोग जैसे पूरी सावधानी से अपनी सतर्कता छिपाते हुए सारे मंडप में फैल गये थे। उनका विशेष लक्ष्य हस्तिनापुर का राजपरिवार लगता था। बलराम तो जाकर दुर्योधन के निकट ही बैठ गया था। कुछ लोग लक्ष्यवेध निकट से देखने के व्याज से, अपने स्थान से उठकर आगे आ गये थे।··· अर्जुन स्पष्ट देख रहा था कि कृष्ण ने यह व्यवस्था द्रुपद, द्रौपदी तथा धृष्टद्युम्न की सुरक्षा के लिए की है। स्वयं कृष्ण अपने स्थान पर बैठा, वैसे ही मंद-मंद मुस्करा रहा था, जैसे न कोई असाधारण बात हुई हो, और न ही होने वाली हो···

तो क्या महर्षि को कृष्ण ने रक्षा-व्यवस्था का वचन दिया था ? पांडवों के दोनों परम शत्रु—धार्तराष्ट्र और पांचाल—आमने-सामने बैठे थे; किंतु वे भी परस्पर मित्र नहीं थे। पहचाने जाने पर पांडवों पर एक ने प्रहार किया, तो दूसरा उसका साथ देगा; अथवा शत्रुवत् उसका विरोध करेगा ?··· अर्जुन कुछ निर्णय नहीं कर पा रहा था।··· शायद कृष्ण भी नहीं जानता था; किंतु उसकी मुस्कान मुखर रूप से कह रही थी, वह किसी भी विषम परिस्थिति के लिए तैयार

था ।

अर्जुन आकर द्रुपद के सम्मुख खड़ा हो गया । उसने ब्राह्मणवत् एक हाथ उठाकर राजा को आशीर्वाद दिया, "राजन ! तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो । मैं लक्ष्य-वेध का इच्छुक हूँ । मैं प्रतियोगी के रूप में आपको मान्य हूँ ?"

द्रुपद ने जैसे आँखें पूर्णतः खोलकर ध्यान से अर्जुन को देखा : कुछ परिचित-सा था यह चेहरा । किंतु क्या परिचित था ? श्वमश्रु और जटाजूट के मध्य केवल प्रशस्त भाल, दो द्युतिमान नयन, तीक्ष्ण तथा उन्नत नासिका, मुस्कान मंडित ये अधर नहीं ! इस व्यक्ति को उन्होंने कभी नहीं देखा । यह उनका भ्रम मात्र है

द्रुपद ने स्वीकृति में सिर हिला दिया ।

अर्जुन ने यज्ञवेदी के सम्मुख आकर यज्ञ के ब्रह्मा को साष्टांग प्रणाम किया, "राजपुरोहित! आपका आशीर्वाद मुझे प्राप्त है ?"

राजपुरोहित ने आशीर्वाद की मुद्रा में हाथ उठा दिया ।

अर्जुन ने क्षण-भर रुककर द्रौपदी और धृष्टद्युम्न को भी देखा : द्रौपदी कमनीय थी, असाधारण सौंदर्य और महिमा से मंडित राजकुमारी ! अर्जुन को लगा, वह मात्र संसार की अद्वितीय सुंदरी ही नहीं थी—वह पांडवों की प्राणदायिनी देवी भी थी । वह उनकी मुक्तिदायिनी भी थी । यदि अर्जुन धनुर्विद्या की इस परीक्षा में सफल हो गया, तो देश-विदेश के इस राज-समाज और जन-सामान्य के सम्मुख वह आर्यावर्त्त का सर्वोत्तम धनुर्धर घोषित होगा । पांडवों का वीर पांचालों से संबंध हो जायेगा । देश-विदेश से एकत्रित इस समाज के सम्मुख पांडवों को पुनः जीवन-दान मिलेगा; उनकी प्रतिष्ठा स्थापित होगी, उनका अधिकार उन्हें मिलेगा

अर्जुन ने उत्साह-स्फूर्त हाथों से धनुष को उठा लिया । यह वह धनुष था, जिसकी प्रत्यंचा चढ़ाने के प्रयत्न में आधे से अधिक वीर झटका खाकर, भूमि पर आ गिरे थे; और लज्जा से मस्तक नत किये हुए, बिना आँखें उठाये ही, अपने स्थान को लौट गये थे । जिन वीरों ने प्रत्यंचा चढ़ा ली, उनसे धनुष सध नहीं पाया और बाण दिग्भ्रमित हो गये । जिन लोगों ने बाण चलाये, उनके बाण यंत्र में उलझकर रह गये; और लक्ष्य को नहीं वेध सके

अर्जुन ने धनुष को अपने हाथ में उठाया । उसके शरीर के सारे रोम जैसे सिहर उठे । उसे लगा, जैसे कई युगों के पश्चात् उसने अपने हाथ में धनुष लिया था । वारणावत छोड़ने से आज तक वह शस्त्रविहीन, निरीह वनवासी ब्राह्मण था । आज हाथ में धनुष उठाते ही वह पांडु-पुत्र, द्रोण-शिष्य अर्जुन हो गया था । हाथ में धनुष आते ही मन की आशंकाएँ लुप्त हो गयीं, शत्रुओं का भय विलीन हो गया रक्त के कण-कण में आत्मविश्वास जाग उठा ।

उसने धनुष का भली प्रकार निरीक्षण किया । उसकी प्रत्यंचा को देखा । अपने बायें पैर के अंगूठे के साथ धनुष को टेका, बायें हाथ के बल से उसे झुकाया और इससे पहले कि धनुष की ऐंठ उसके भुजबल को पराजित कर, उसके नियंत्रण से निकलकर, उसे झटककर परे फेंकती, उसने स्फूर्ति से अपने दाहिने हाथ की सहायता से उसपर प्रत्यंचा चढ़ा दी ।

मंडप में कर्ण-भेदी तालियाँ गड़गड़ायीं । ब्राह्मणों के मंडप में सबसे अधिक कोलाहल हुआ; और उनमें भीम का स्वर सबसे ऊपर पड़ रहा था कहीं भीम का यह उत्पात उनका रहस्य ही उद्घाटित न कर दे

राज- समाज की आँखें विस्फारित हो उठीं ।

अर्जुन ने कृष्ण की ओर देखा; वह बहुत आश्वस्त मुद्रा में मुस्करा रहा था; जैसे कह रहा हो, 'साधु मित्र ! अब लक्ष्य- वेध भी कर ही डालो ।'

अर्जुन की दृष्टि द्रौपदी की ओर जाने से स्वयं को नहीं रोक सकी; द्रौपदी के चेहरे पर एक मुग्ध मुस्कान थी और लज्जा की कैसी हल्की- सी लालिमा उसके कपोलों से कानों तक फैली हुई थी !

अर्जुन का मन इस बार मुग्ध मयूर- सा नृत्य कर उठा । उसके मन ने जैसे अपनी अवस्था, अपने.संबंध और अपना लक्ष्य सब कुछ विस्मृत कर दिया । उसके मन ने पूरी तन्मयता से द्रौपदी की कामना की ।''इस बार शक्तिशाली पांचालों का संबंध और उसके माध्यम से अधिकार प्राप्त करने का लक्ष्य पूर्णतः विस्मृत हो गया । अब द्रौपदी किसी अन्य लक्ष्य का साधन नहीं थी । वह स्वयं ही साध्य हो उठी थी ।''' अर्जुन को लगा, उसका अपना हृदय इस क्षण इतना बदल गया है कि स्वयं अर्जुन का उसे पहचानना कठिन हो रहा है । यह अपने कौशल पर गर्विष्ट वीर और उद्दाम हृदय नहीं था । यह तो रूप का उपासक, प्रेम का याचक, घुटनों पर टिका नतमस्तक हृदय था । इसे द्रौपदी प्राप्त न हुई, तो यह टूक- टूक हो जायेगा ।

उसने वाण हाथ में लिये और यंत्र की ओर देखा : सारी वृत्तियाँ जैसे एकाग्र हो गयीं । उस घूमते हुए यंत्र के मध्य से होकर अर्जुन के बाणों को ही नहीं, उसकी दृष्टि और हृदय को भी लक्ष्य तक पहुँचना था । इस कार्य के लिए मात्र धनुर्धर की तन्मयता ही नहीं, एक योगी की एकाग्रता अपेक्षित थी । अर्जुन को लगा, उसके आस- पास का संसार जैसे विलीन होता जा रहा है । उसके निकट न स्वयंवर- मंडप था, न यह विराट समाज । उसे जैसे अपना भी बोध न रहा'' बस, वे बाण थे और घूमते हुए उस यंत्र के बीच से झाँकता हुआ लक्ष्य''प्रत्यंचा खिंची और वाण छूटे । कठोर शब्द हुआ और लक्ष्य टूट कर भूमि पर आ गिरा''

चारों ओर कोलाहल मच गया ! अर्जुन समझ नहीं पाया कि यह हर्ष- ध्वनि थी, या मात्र उन्माद । यह उसका समर्थन था या विरोध''या मात्र कौतुक देखने वालों का, मनोरंजन से उत्पन्न कोलाहल''

उसने उस ओर अधिक ध्यान दिया भी नहीं । उसकी दृष्टि द्रुपद, पांचाली तथा धृष्टद्युम्न पर टिकी थी''उनकी प्रतिक्रिया क्या थी ? क्या वे स्वीकार कर लेंगे कि वह परीक्षा में सफल हो गया है; इसलिए वे इस भभूत रमाये, मृगचर्म धारण किये, जटाधारी ब्राह्मण को अपने जामाता के रूप में अंगीकार कर लेंगे ? क्या द्रौपदी उसे अपने पति के रूप में ग्रहण करेगी ?'''

उन तीनों के चेहरों पर उसे संतोष ही दिखायी पड़ रहा था । इतना ही नहीं, उसे लगा कि द्रुपद ने धृष्टद्युम्न को संकेत किया है और धृष्टद्युम्न, पांचाली को लेकर आगे बढ़ा है ।''' और तब उसने देखा कि सचमुच द्रौपदी उसके निकट आकर, उसके सम्मुख खड़ी हो गयी ।

अर्जुन ने पहली बार उसे इतने निकट से देखा । उसकी शिराओं में जैसे मद लहराया''

कृष्णा ने अर्जुन की ग्रीवा में जयमाला डाली तो अर्जुन ने उसे पुनः देखा, यह रूप सचमुच अद्वितीय था, कमनीय था, किसी भी पुरुष के मन में कामना जगा सकता था ।'''बड़ी- बड़ी श्याम आँखें, जैसे खिले हुए कमल- दल हों । केश काले- काले और घुँघराले । उभरे हुए लाल रंग के नख । सुंदर भौंहें, मनोहर और स्थूल उरोज''उसके अंगों से नील- कमल की सी गंध आ रही थी ।'''

और सहसा अर्जुन सजग हुआ···यह धनुर्विद्या की परीक्षा मात्र नहीं थी; यह संसार के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी का चुनाव मात्र ही नहीं था।···यह स्वयंवर था। उसने स्वयंवर की प्रतिज्ञा पूरी कर दी थी···तो उसकी उपलब्धि है—द्रौपदी !···और सहसा उसे कृष्ण का ध्यान आ गया।··· कृष्ण और उसके सिद्धांत ! कर्म और उसका फल ! और जब कर्म निष्काम न हो तो फल कर्ता का बंधन बन जाता है···द्रौपदी ने उसे बाँध लिया था···संसार की अद्वितीय सुंदरी, यह कामिनी उसे उसकी धनुर्विद्या के पुरस्कार सरीखी मिली थी।···गुरु द्रोण की शस्त्रशाला में वर्षों अभ्यास करते हुए क्या उसने कभी सोचा था कि वह यह सारा अभ्यास पांचाली कृष्णा के लिए कर रहा है ?···शायद इसीलिए कृष्ण कहता है कि निष्काम कर्म करो, उसका फल तो तुम्हें प्रकृति देगी ही···व्यक्ति की दृष्टि तो सीमित है। वह अपनी सीमित दृष्टि से ही तो फल की कामना कर सकता है···किंतु प्रकृति अनंत है। उसकी दृष्टि मनुष्य की तुलना में बहुत दूर तक देखती है।···अर्जुन ने अपनी धनुर्विद्या की चरम उपलब्धि के रूप में भी द्रौपदी की कल्पना नहीं की थी।···किंतु प्रकृति ने अनायास ही उसे अर्जुन की भुजाओं में ला थमाया था।···

अर्जुन को जैसे उन्माद हो आया···वह आर्यावर्त्त का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी था। उसने पांचालों की वीर्यशुल्का राजकुमारी को अपने बाहुबल से जीता था। वह उनको जामाता के रूप में स्वीकार्य था। वह पांचालों का जामाता था। पांडवों के मित्र यादव अतिरथी शस्त्रास्त्रों से सज्जित होकर, सम्मुख खड़े थे···इस समय अर्जुन और उसके भाई दीन-हीन नहीं थे, निर्बल और असहाय नहीं थे। वह चाहे तो इसी क्षण अपने हत्यारों से प्रतिशोध ले सकता है। सामने दुर्योधन बैठा है। एक बाण···

चारों ओर एक भाग-दौड़ मची हुई थी। अनेक ब्राह्मण अपने सजातीय विजेता ब्राह्मण युवक को निकट से देखने के लिए, उसे बधाई देने और उसे साधुवाद करने, उसकी ओर भागे चले आ रहे थे। अर्जुन प्रायः उनसे घिर गया था··· भीम अभी भी उससे कुछ दूरी बनाये, निकट ही खड़ा था। यह धैर्य तथा संयम तो विचित्र था, भीम से इसकी अपेक्षा अर्जुन ने कभी नहीं की थी···

"आयें आर्य !" धृष्टद्युम्न ने धीरे से कहा, "पिताजी के पास आशीर्वाद के लिए चलें।"

अर्जुन और द्रौपदी, मंथर गति से आकर, द्रुपद के सम्मुख खड़े हो गये···

तभी राजसमाज वाले मंडप से शिशुपाल का चीत्कार सुनायी दिया, "यह क्षत्रिय राजाओं का अपमान है। क्षत्रिय राजकुमारियों का स्वयंवर इसलिए नहीं होता कि कंगले जटाधारी ब्राह्मण उनको प्राप्त करें। क्षत्रियों के इस स्वयंवर में ब्राह्मणों के आने का अर्थ ही क्या है ?"

"चलो ! इस तपस्वी का वध कर, बलात् द्रौपदी को इससे छीन लो, द्रुपद इसकी सहायता करे, तो उसका भी वध कर दो।" कोई अज्ञात राजा चिल्ला रहा था।

"साधु !" जाने कहाँ से कृष्ण प्रकट हो गया। उसने अर्जुन के कंधे पर हाथ रखा, "पराजित, हतवीर्य इन तेजमलिन राजाओं के कारण विचलित होने का कोई कारण नहीं।" और वह पुनः भीड़ में कहीं खो गया।

अर्जुन ने देखा, राजाओं की भीड़ शस्त्रास्त्र चमकाती हुई उनकी ओर बढ़ रही थी। उनके आगे-आगे दुर्योधन और कर्ण थे।

'क्या इन्होंने हमें पहचान लिया है ?' अर्जुन के मन में प्रश्न उठा। क्या वे इस अवसर का लाभ उठाकर, पुनः उनका वध करना चाहते हैं ? अथवा···अथवा···यह द्रुपद और दुर्योधन

का सम्मिलित षड्यंत्र है ? क्या उनकी योजना इस प्रकार पांडवों को मार डालने की है ?

किंतु अर्जुन को भय क्या था ! उसके हाथ में विराट और शक्तिशाली धनुष था । स्वयंवर की प्रतिज्ञा के लिए रखे गये वाणों से भरा तूणीर उसने अपनी पीठ पर बाँध लिया था ।···उसने दृष्टि उठायी···थोड़ी ही दूरी पर कृष्ण खड़ा था । उसके अधरों पर मोहिनी मुस्कान थी; और उसकी आँखों में क्या था ?···वह मुग्ध भाव से अर्जुन को देख रहा था, अथवा अपनी आँखों के माध्यम से कोई ऊर्जा उसके शरीर में उँडेल रहा था··· कृष्ण की उपस्थिति मात्र से अर्जुन में विश्वास जागता था···

इस समय उसका आत्मवल संपूर्ण संसार से अकेले ही भिड़ लेने के लिए व्यग्र हो रहा था । वह द्रौपदी और पांचालों को दिखा देना चाहता था, वह मात्र प्रतियोगिताओं का ही विजेता नहीं था, वह युद्ध में भी दुर्धर्ष अजेय वीर था ।··· वे देख लें कि जिसने द्रौपदी को जीता है, वह मात्र अभ्यासवीर नहीं, युद्धवीर भी है···

पांचालों के चेहरे पर कहीं कोई घवराहट अथवा व्यग्रता नहीं थी । वे अपने राजा, युवराज और राजकुमारी को घेरकर खड़े थे । उनके अनेक योद्धा रंगशाला में चारों ओर फैल गये थे ।··· किंतु ये योद्धा तो साधारण सैनिक मात्र थे । ये लोग दुर्योधन, कर्ण, अश्वत्थामा, शिशुपाल और शल्य जैसे योद्धाओं से युद्ध करने में समर्थ नहीं थे ।··· और उन महारथियों से युद्ध करने के लिए कोई महारथी युद्ध-वेश सजाकर नहीं आया था—न द्रुपद, न धृष्टद्युम्न, न शिखंडी, न कोई अन्य सोमकवंशी पांचाल वीर··· तो क्या यह सारा आयोजन केवल इसलिए था कि पांडवों को इस व्याज से यहाँ बुलाकर असहाय अवस्था में दुर्योधन को सौंप दिया जाये, ताकि वह अपने योद्धाओं से घेरकर उन्हें मार डाले, और कोई जान भी न पाये कि यहाँ पांडवों की दूसरी वार हत्या की गयी है ? यदि कोई जान पाये तो इतना ही जान पाये कि स्वयंवर की इस अराजक स्थिति में, राजाओं की भीड़ के हाथों कुछ अज्ञात वनवासी ब्राह्मणों की मृत्यु हो गयी···

किंतु वहाँ कृष्ण खड़ा मुस्करा रहा था : वह शस्त्र-बद्ध था । बलराम था, सात्यकि था, उद्धव था, कृतवर्मा था । वे अतिरथी थे । समर्थ और सशस्त्र थे ।··· और कोई कुछ भी करे, कृष्ण, अर्जुन के विरुद्ध कभी कोई षड्यंत्र नहीं रच सकता ।···और यदि कृष्ण भी उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचने लगे, तो अर्जुन के लिए उचित था कि वह उसमें अपने प्राण दे दे···कृष्ण को खोकर, जीवन में और रस ही क्या था !···

अर्जुन के लिए अव और रुकना संभव नहीं था । हत्यारा दुर्योधन उसके निकट से निकटतर होता जा रहा था । उसके साथ उसका अनन्य स्वामिभक्त मित्र कर्ण था । यही कर्ण हस्तिनापुर की रंगशाला में भी उसके साथ युद्ध करने को बहुत उत्सुक हो रहा था···

अर्जुन ने अपने धनुष पर वाण रखा और प्रत्यंचा को खींचा···

उसने स्पष्ट देखा कि प्रत्यंचा के खिंचते ही निस्तेज दुर्योधन की आँखों में भय कौंधा और वह कर्ण की ओट में हो गया । अव केवल कर्ण ही आगे बढ़ रहा था···क्या दुर्योधन ने उसे पहचान लिया था ?···

दूसरी ओर से लंबे-ऊँचे डील-डौल का, प्रौढ़ वय का मद्रराज शल्य, राजाओं की एक भीड़ का नेतृत्व करता हुआ आगे बढ़ रहा था । उसके हाथ में भारी गदा थी··· अर्जुन के मन में क्षण भर के लिए एक तीव्र इच्छा जागी कि कोई इस मद्रराज को वताये कि तुम जिनसे लड़ने जा रहे हो, वे पांडव हैं···तुम्हारी वहन माद्री के पुत्र···यह समय उनसे लड़ने का नहीं है, उनकी

पीठ ठोकने का है"तुम्हें चाहिए कि उनकी रक्षा करो !

"ओह, यह अधर्मी सूतपुत्र !" ब्राह्मणों की भीड़ में से किसी ने कहा, "और यह युद्ध-लोलुप मद्रराज। इसे तो बस युद्ध चाहिए। जहाँ जो चाहे, जिससे चाहे भिड़ा दे"।"

राजाओं की भीड़ पर्याप्त निकट आ गयी थी"

सहसा भीम ने मंडप के एक स्तंभ को जोर की एक ठोकर मारी और दोनों हाथों से उस स्तंभ को खींच लिया, जैसे धरती पर जमे किसी वृक्ष का तना ही उसने उखाड़ लिया हो।" भीम के हाथ में यह एक अद्भुत शस्त्र था। इतने लंबे और मोटे लट्ठ का प्रयोग भीम ही कर सकता था। वह इससे गदाधारियों तथा खड्गधारियों की भीड़ को दस हाथ दूर ही रोककर, उनपर प्रहार करने में सक्षम था।

"भयभीत मत होना !" भीम ने धीरे से कहा, "पांचाली को लेकर ही जायेंगे।"

विचित्र व्यूह रचा था दोनों भाइयों ने।

सहसा बाणों की एक बौछार-सी आयी, जिस अनुभवहीन धनुर्षों से, लक्ष्यहीन ढंग से फेंका गया था। ऐसे बाणों से अर्जुन को तनिक भी भय नहीं था। ये बाण तो उन धनुर्धारियों की मूर्खता के परिचायक भर थे, जो अपने बाण व्यर्थ ही नष्ट कर रहे थे।"

सहसा कर्ण ने अपने धनुष को टंकारा और एक विकराल बाण छोड़ा।"अर्जुन के उत्साह की आज कोई सीमा नहीं थी।"आज, उसे जैसे युद्ध का अवसर नहीं मिला था, मनोवांछित वरदान प्राप्त हुआ था। उसने हर्ष-नाद किया और धनुष पर चढ़ा हुआ बाण छोड़ दिया। उसके पश्चात् तो बाणों की झड़ी ही लग गयी।"

राजाओं की भीड़ थम गयी। आगे बढ़ना उसके लिए संभव नहीं था।

इतने में ही कृष्ण की गर्जना सुनायी दी, "इस ब्राह्मण युवक ने पूर्णतः धर्मसम्मत, नैतिक और वैधानिक ढंग से वीर्यशुल्का पांचाली को, पत्नी के रूप में प्राप्त किया है। अब जो राजा उसके विरुद्ध अधर्म-युद्ध करेंगे, उन्हें इन ब्राह्मण वीरों के साथ-साथ, यादवों और पांचालों से भी युद्ध करना पड़ेगा।"यह मेरी अंतिम चेतावनी है।"

और अर्जुन ने देखा, यादव अतिरथी जैसे उस भीड़ में व्यूह-बद्ध ढंग से धँस गये"

भीम ने अपना लट्ठ जोर से घुमाया और शल्य के साथ आने वाले आक्रमणकारी राजा ही नहीं, भीम की रक्षा करने की उत्सुकता में उसे घेरे खड़े ब्राह्मणों को भी अपनी रक्षा के लिए भागना पड़ा।

भीम ने दूसरी बार लट्ठ घुमाया और अपने आस-पास दस हाथ तक की वृत्ताकार भूमि खाली करा ली। उसके चेहरे पर आक्रामक उत्साह था"आँखों में से झाँकता हिंस्र उन्माद"'यह दुर्योधन कहाँ रह गया ?' वह सोच रहा था। आज यहीं वारणावत-कांड का प्रतिशोध भी ले लिया जाता और हस्तिनापुर के राजसिंहासन के उत्तराधिकार का निर्णय भी हो जाता"

इस बार अकेला शल्य ही आगे बढ़ा। उसने भीम को घूरकर देखा, "साहस है तो मल्ल-युद्ध कर ! लट्ठ लेकर क्या खड़ा है !"

भीम ने क्षण भर का भी विलंब नहीं किया। तत्काल लट्ठ फेंक दिया।"अर्जुन सावधान हो गया। भीम अब निःशस्त्र था। अर्जुन का दायित्व बढ़ गया था। उसके धनुष की टंकार वर्तुलाकार घूम रही थी और उसकी बाण-वर्षा की छाया में भीम और शल्य निर्भय लड़ रहे थे। कर्ण, धनुर्विद्या की अपनी संपूर्ण दक्षता के साथ भी न स्वयं आगे बढ़ पा रहा था, न किसी और के लिए

मार्ग बना पा रहा था। दुर्योधन तो उसकी पीठ से जैसे चिपक ही गया था। उसकी आँखों में वैसा भय था, जैसा प्रेत देखने के पश्चात् होता है''और अर्जुन का मन निरंतर एक ही प्रश्न कर रहा था, 'दुर्योधन उनको पहचान चुका है?'

भीम और शल्य एक-दूसरे से गुँथ गये। पहले झपाटे में शल्य भीम को खदेड़कर दूर ले गया। भीम के पैर जैसे पृथ्वी पर जम नहीं पा रहे थे। वह पीछे ही पीछे हटता जा रहा था। लगता था कि अगले ही क्षण शल्य उसे धराशायी कर, उसके वक्ष पर चढ़ बैठेगा''संभव है कि वह उसकी हत्या कर दे''किंतु अकस्मात् ही अद्भुत स्फूर्ति से भीम छिटककर एक ओर हो गया; और शल्य अपने ही वेग में मुँह के बल गिर पड़ा।

द्रौपदी के चेहरे पर विस्मयपूर्ण मुस्कान आयी''इतना भारी भरकम शरीर और ऐसी स्फूर्ति'' अद्भुत है यह युवक''

अगले ही क्षण, शल्य उठकर डगमगाता-सा खड़ा हो गया''और भीम जैसे इसी अवसर की प्रतीक्षा में था। उसने झुककर शल्य को अपने कंधे पर उठा लिया और वृत्ताकार घूमने वाले यंत्र के समान उसे घुमाना आरंभ किया। शल्य, वायु में ही असहाय-सा, उस पक्षी के समान हाथ-पाँव मार रहा था, जो पंख तो फड़फड़ाए, किंतु उससे गति प्राप्त न कर सके''और भीम ने जैसे क्रीड़ा-सी करते हुए, उसे उठाकर धरती पर दे मारा''उसके कंठ पर पाँव रखा और हँसकर पूछा, "अधर्म युद्ध करने वाले पापी! हो जाऊँ खड़ा? तुझ अधम के प्राण धरती पर बोझ बनकर न रहें।''"

अर्जुन का मन हुआ, पुकार कर भीम से कहे, 'हत्या मत करना! यह नहीं जानता कि हम कौन हैं; किंतु हम तो मातुल शल्य को जानते हैं।' किंतु कहने-सुनने का अवसर नहीं था। उसे कर्ण से भी निबटना था और राजाओं की शेष भीड़ को भी शल्य की सहायता के लिए आने से रोकना था''

शल्य के मुख से कोई शब्द नहीं निकला। भीम ने देखा, उसकी आँखों में क्षोभ था, असहायता थी और शायद विवश मृत्यु की प्रतीक्षा''

"जा अधर्मी! तू नहीं जानता कि अपने अज्ञान में तू किनसे लड़ रहा है।" भीम ने अपना पाँव उसके कंठ से हटा लिया, "हम हत्या-व्यवसायी नहीं हैं। किंतु यदि भविष्य में तू कभी फिर इन हत्यारों के पक्ष से अधर्म-युद्ध करने आया, तो तेरे प्राण नहीं बचेंगे।" भीम ने निश्चेष्ट लेटे शल्य पर पाद-प्रहार किया, "उठ! और चुपचाप चला जा। बिना सोच-विचार किये, युद्ध की तेरी आतुरता के लिए इतना ही दंड पर्याप्त है।"

और शल्य, सचमुच ही उठकर चुपचाप चला गया। उसने न पुनः लड़ने का प्रत्यन किया, और न दृष्टि उठाकर भीम की ओर देखा।

"साधु वीर!" द्रुपद के मुख से अनायास निकला।

भीम ने पुनः अपना लट्ठ उठा लिया और आकर अर्जुन के पास खड़ा हो गया। वह पुनः प्रहार के लिए तैयार था।

"वीरवर अंगराज!" कृष्ण ने पुकारकर कहा, "तुम भी विचार कर देखो। जो पांचाली तुम्हें कभी स्वीकार नहीं करेगी, उसके लिए तुम उसके पति की ब्रह्महत्या कर, पुण्य अर्जित करना चाहते हो, अथवा ब्राह्मण के हाथों युद्ध में पराजित तथा अपमानित होकर, अपनी वीरता को कलंकित करना चाहते हो?"

कृष्ण के शब्दों ने जैसे कर्ण की भुजा थाम ली। वह धनुष-बाण लिये प्रहारक मुद्रा में खड़ा सोचता रहा···और सहसा उसकी भुजाएँ नीचे झुक गयीं, "मुझे आपका निर्णय मान्य है केशव !"

अर्जुन ने देखा, विद्रूप से दुर्योधन का चेहरा कैसा तो पिशाची हो आया था।

राजाओं की भीड़ विदा हो गयी। राज-समाज का मंडप प्रायः रिक्त हो गया था; जन-सामान्य की उत्सुकता, उत्कंठा में परिणत होती जा रही थी। विभिन्न प्रकार की कल्पनाओं और इच्छाओं ने तत्काल ही कथाओं का रूप धारण कर लिया था। कोई इन दो भाइयों को छद्म वेश में आये देवगण बता रहा था और कोई उन्हें परशुराम के वंशज ठहरा रहा था। ब्राह्मण समुदाय में अनेक लोगों का विचार था कि ब्राह्मणों को शास्त्रों के साथ शस्त्रों का भी अभ्यास करना चाहिए। इतनी सारी सुविधाएँ केवल क्षत्रियों के लिए ही नहीं छोड़ देनी चाहिए। उनके अनुसार आज सारे जंबूद्वीप के क्षत्रियों के सम्मुख ब्राह्मणों की क्षमता प्रमाणित हुई थी···

अर्जुन और भीम के चारों ओर भीड़ सघन होती जा रही थी। जन-सामान्य को उन दोनों भाइयों से कुछ दूरी पर रोके रखने के लिए द्रुपद के दंडकारों को पर्याप्त श्रम करना पड़ रहा था।···

"आओ पुत्र ! प्रासाद में पधारो।" अंततः द्रुपद ने कहा, "मैं तुम्हारा पूर्ण और विस्तृत परिचय जानने को व्यग्र हूँ।"

द्रुपद की विचित्र स्थिति थी। उनकी आँखें बार-बार भीम और अर्जुन के चेहरों पर परिचित रेखाएँ ढूँढ़ रही थीं। उनका मन बार-बार कह रहा था कि उन्होंने इन दो ब्राह्मण युवकों को पहले कभी नहीं देखा है; और उनकी स्मृति बार-बार संभ्रम की स्थिति उत्पन्न कर रही थी।

अर्जुन के मन में एक टीस उठी।···इच्छा हुई कि तत्काल अपना परिचय देकर, रहस्य की इस नीहारिका का अंत कर दे··· किंतु उसके कानों में बार-बार महर्षि व्यास की चेतावनी गूँज जाती थी··· और कुछ दूर ही सही, किंतु ठीक उसकी आँखों के सम्मुख कृष्ण खड़ा था।···उसकी आँखों में परिचय और अपरिचय का भाव एक ही साथ विद्यमान था। वह न तो अपरिचितों के समान उनकी उपेक्षा कर रहा था और न ही परिचितों के समान आकर, उनके कंठ से लग रहा था।··· निश्चित रूप से वह इसे पांडवों को प्रकट करने का उचित अवसर नहीं मानता होगा··· पर कहीं वह उन्हें पहचान ही न रहा हो तो ?···यदि पहचान नहीं रहा तो उसने उनके लिए यादवों के समर्थन की घोषणा क्यों की ? उनकी सुरक्षा के लिए आगे क्यों बढ़ा ? उसने कर्ण को अर्जुन के साथ युद्ध करने से विरत क्यों किया ?···निश्चय ही वह उन्हें पहचान रहा है और किसी कारण-विशेष से, इस बात को प्रकट नहीं कर रहा··· 'पर क्यों ?' अर्जुन ने अपने-आपसे पूछा; किंतु कृष्ण की बातें तो कृष्ण ही जानता है।···और सहसा अर्जुन की आँखों के सम्मुख एक पुराना दृश्य घूम गया···उसने इसी राजा द्रुपद को युद्ध में पराजित कर, रज्जु से बाँध, आचार्य द्रोण के चरणों में डाल दिया था··· यदि द्रुपद उसे पहचान ले, धृष्टद्युम्न को उसका आभास भी हो जाये··· अर्जुन इस समय पांचालों की भूमि पर खड़ा था। यहाँ द्रुपद की सेनाएँ थीं और उनका शासन था। धृष्टद्युम्न तथा शिखंडी जैसे योद्धा उनके बेटे थे···वे लोग दुर्योधन से भी अधिक क्रूर हो सकते थे···

भीम मुक्त कंठ से हँसा, "मेरा परिचय तो मेरा यह लट्ठ ही है; पर संबंध की दृष्टि से मैं

इस धनुर्धारी का बड़ा भाई हूँ।"

द्रुपद की आँखें, एक बार फिर, भीम के अट्टहास करते आनन पर क्षण भर को टिकीं; किंतु उस जटाजूट, सघन श्मश्रु तथा भस्म-मंडित वर्ण में कुछ भी परिचित न पाकर लौट आयीं; "अद्भुत है तुम्हारा यह शस्त्र !" अपनी आशंकाओं और जिज्ञासाओं में दबे द्रुपद स्पष्ट रूप से हँस नहीं पा रहे थे।

"आर्यश्रेष्ठ !" अर्जुन मधुर स्वर में बोला, "हम वनवासी ब्राह्मण हैं; राजप्रासादों में जाकर क्या करेंगे।...इस समय तो हमें अनुमति दें। हमारी माता हमारी प्रतीक्षा कर रही होंगी। ऐसी उपलब्धि के अवसर पर माता का आशीर्वाद न लेना हमारे लिए अधर्म होगा।"

द्रुपद की आँखों में असमंजस उभरा, "मैंने कृष्णा के स्वयंवर तक का समय बहुत सारी आशंकाओं और दुष्कल्पनाओं से पीड़ित रहकर व्यतीत किया है पुत्र ! क्या तुम नहीं चाहते कि मेरा दुष्काल अब समाप्त हो ?"

"आपका दुष्काल समाप्त हुआ।" भीम बोला, "अब आप प्रभु से प्रार्थना करें कि हमारा भी दुष्काल समाप्त हो।"

"तुम्हारी बात सत्य हो पुत्र !" द्रुपद ने जैसे मन-ही-मन कोई निश्चय किया, "यह भीड़ तुम्हें छोड़ेगी नहीं। मेरे दंडधर तुम्हें तुम्हारे आवास तक पहुँचा आयेंगे।"

"इन्हें कहिए कि ये हमें भीड़ के मध्य तक छोड़ आयें।" अर्जुन ने ब्राह्मणों के समान हाथ उठाकर, द्रुपद को आशीर्वचन कहा और बोला, "चलो पांचाली !"

"पर तुम लोग ठहरे कहाँ हो ?" द्रुपद ने उसके मार्ग में अड़ते हुए-से कहा।

"नगर के बाहर, एक कुंभकार के घर में।"

अर्जुन चल पड़ा। द्रौपदी उसके साथ थी; और भीम उनसे दो डग आगे-आगे, जैसे उनके लिए मार्ग बनाता चल रहा था।

33

"वहाँ से आने की मेरी तो तनिक भी इच्छा नहीं थी।" चलते-चलते भीम बोला, "इतनी कठिनाई से तो हम वन से नगर में पहुँचे थे। अब जब समय आया था कि हम राजप्रासाद में छककर खाते और निश्चिंत होकर सोते, तो तुमने बीच में टाँग अड़ा दी...।"

अर्जुन ने संकुचित होकर द्रौपदी की ओर देखा...क्या सोच रही होगी, कितने मुक्खड़ हैं, ये लोग ?...किंतु नहीं ! कदाचित् वह इतनी आत्मलीन थी कि उसने सुना ही नहीं कि भीम क्या कह रहा है। भीम का तो यही स्वभाव है—वाचाल इतना है कि कहीं भी, कुछ भी कह दे... किंतु मूर्ख नहीं है कि अपना कोई रहस्य ही उगल दे...

"मध्यम ! भगवान वेदव्यास ने कहा था कि व्यक्ति को स्वयं अपने रहस्य नहीं उगलने चाहिए; और आप अपने पेटूपन का रहस्य स्वयं ही प्रकट कर रहे हैं।" अर्जुन ने उसे आगे कुछ बोलने से रोकने के लिए कहा।

भीम के मन में आया कि कहे, 'हमारे लिए भगवान वेदव्यास और भगवान वासुदेव कृष्ण के आदेशों पर चलना इतना आवश्यक क्यों है। कृष्ण को तो सनक है, कोई-न-कोई लीला

चलाये रखने की। कभी गोपियों को नचाता था, अब हमें नचा रहा है।...' किंतु उसने यह सब कहा नहीं। बोला, "जब निगलने को कुछ नहीं है, तो उगलना ही पड़ेगा भाई!" वह क्षणभर थमकर बोला, "मेरी समझ में यह नहीं आता कि भगवान को हमारे जीवन में इतनी रुचि क्यों है। वह सारे संसार का पालन छोड़कर, हमारे ही जीवन के लिए इतनी योजनाएँ क्यों बना रहा है..."

द्रौपदी का ध्यान भी भीम की बातों की ओर गया : क्या कह रहा है यह अद्भुत युवक!...भगवान क्या इन्हीं के जीवन में अद्भुत घटनाएँ घटित करता रहता है?...इन्हें क्या पता कि द्रौपदी के जीवन में क्या घटित हुआ है? उसके पिता ने अपने शत्रु से अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए अपनी पुत्री का स्वयंवर रचकर अपना समर्थक एक अद्भुत असाधारण धनुर्धर चाहा था... और द्रौपदी को जय किया एक तपस्वी वनवासी ब्राह्मण ने! जाने यह ब्राह्मण कौन है...किंतु सुंदर है, बलिष्ठ है; और कदाचित् संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर है।... किंतु इस स्वयंवर से जो भी लाभ अपेक्षित था, क्या उसके पिता को यह लाभ प्राप्त होगा?...क्या संसार का यह सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर उसके पिता का प्रतिशोध लेने के लिए सहमत होगा?...और यह अद्भुत लठ्ठधर!...उसने भीम की ओर देखा...साधारण सेनाओं को पराजित करने के लिए तो यह अकेला ही पर्याप्त है...किंतु यदि सचमुच ये लोग वनवासी ब्राह्मण हैं, तो राजपरिवारों की राजनीति में ये क्यों उलझेंगे?...किंतु ये साधारण वनवासी ब्राह्मण हो सकते हैं क्या? वन में तपस्या करने वाले ब्राह्मण क्या ऐसे धनुर्धर और लठ्ठमार हो जाते हैं?...

"जहाँ आवश्यकता है, भगवान वहीं योजनाएँ रचते हैं।" अर्जुन बोला, "हमारी ही समझ में न आये, तो बात और है।"

"हाँ, आवश्यकता तो थी ही। राजा कहें, आओ हमारे प्रासाद में विश्राम करो; सुंदरी दासियों से सेवा कराओ; चतुर रसोइयों का पकाया भोजन खाओ...और भगवान का आदेश है कि कुंभकार की उस कुंभ जैसी कुटिया में धँसे रहो, जहाँ व्यक्ति पैर फैलाकर सो भी न सकता हो; भिक्षा में पाया धन एकत्रित कर, बेचारी माता के लिए कष्ट की सृष्टि करो। वह चूल्हे में फूँक-फूँककर, गीली लकड़ियों को सुलगा-सुलगाकर, अश्रु बहाती रहे और तुम धुआँता उबला भात या कच्ची और जली रोटियाँ खाओ और भगवान के गुण गाओ।"

द्रौपदी ने ध्यान से भीम के चेहरे को देखा : विरोध की ऐसी वाणी बोलने वाले के मुख पर कहीं हल्का-सा भी रोष नहीं था। वह कदाचित् बोलने के लिए ही बोलता जा रहा था, या अपने छोटे भाई को खिझा रहा था, अथवा वह उसकी परिहास-शैली थी..."

"अच्छा! अब शांत हो जाओ। प्रलाप बहुत लंबा हो गया है।" अर्जुन बोला, "आवास आ गया है। माँ के सम्मुख कुछ सोच-समझकर ही बोलना।"

"आदेश देने में तुम ही कौन-से कम हो, भगवान के मित्र, भक्त-शिरोमणि!" भीम असाधारण रूप से उल्लसित था और अपनी चपल जिह्वा को रोकना स्वयं उसके अपने लिए भी कठिन हो रहा था।

कुंभकार के घर के सम्मुख आकर वे लोग रुक गये। अर्जुन ने एक बार कच्ची दीवारों और नीची छत वाले उस अध-टूटे घर को देखा और फिर एक दृष्टि द्रौपदी पर डाली... द्रौपदी भी हत-प्रभ-सी खड़ी उस आवास को देख रही थी...

"देवि ! हम वनवासियों का आजकल यही आवास है ।" अर्जुन बोला, "तुम्हें इसमें असुविधा तो होगी···।"

द्रौपदी ने अपने असाधारण आत्मबल से स्वयं को नियंत्रित किया । बोली, "मुख्य तो व्यक्ति होता है आर्य ! उसका आवास नहीं ।"

"मैं भी यही कहना चाह रहा था । आवास का क्या है, वह तो परिवर्तनशील है । राजप्रासादों में रहनेवाले कुटीरों में आश्रय लेते हैं और कुटी, राजप्रासादों में परिणत हो जाते हैं ।" भीम हँसकर बोला, "किंतु मुझे कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी । तुम बहुत समझदार हो देवि !"

द्रौपदी पर अपने कथन का प्रभाव देखने के लिए भी भीम नहीं रुका । वह आगे-आगे चलता हुआ, घेर में प्रवेश कर गया; और उसने अपने कक्ष के कपाट से कान लगाकर सुना । भीतर किसी प्रकार का कोई शब्द नहीं था ।···

उपलब्धि के उल्लास ने जैसे अर्जुन को संपूर्णतः लील लिया था । उसका मन हो रहा था कि वह उच्च स्वर में बाहर से ही चिल्लाए, 'माँ ! देखो, मैं क्या लाया हूँ ।···' किंतु वह यह भी जानता था कि 'क्या लाया हूँ' की सूचना माँ के लिए न अनपेक्षित थी और न ही आकस्मिक । माँ, आज से नहीं, एकचक्रा से प्रस्थान करने से पहले ही जानती थीं कि वे लोग कहाँ जा रहे हैं; और उनका लक्ष्य क्या है । प्रातः माँ ने ही आशीर्वाद देकर उनको भेजा था ।

"सो गये क्या ?" भीम ने पुकारकर पूछा ।

"मध्यम का स्वर है ।" नकुल ने कदाचित् कुंती को सूचना दी थी ।

भीम ने कपाट थपथपाए और द्वार खुलने की प्रतीक्षा करने के स्थान पर वह कपाट थपथपाता ही चला गया । यह नहीं लगता था कि वह खुलवाने के लिए कपाट थपथपा रहा है; लगता था कि वह आनंद के आवेश में, जैसे कोई वाद्य-यंत्र बजा रहा हो ।

कपाट धीरे से खुल गये ।

भीम ने अंधड़ के समान कक्ष में प्रवेश किया । कुंती को अपनी भुजाओं में उठाकर, उसने तीन-चार चक्कर दे डाले; और फिर उसे द्रौपदी के सम्मुख भूमि पर खड़ा कर दिया ।

"माँ ! यह पांचाल राजकुमारी याज्ञसेनी कृष्णा है ।" अर्जुन ने धीरे से कहा ।

कुंती अवाक् खड़ी उसे देखती रह गयी···तो···तो···

द्रौपदी ने आगे बढ़कर कुंती के चरण छुए ।

कुंती को जाने क्या हो गया था । उसके कंठ से न कोई शब्द फूट रहा था और न ही उसकी भुजाएँ आगे बढ़कर द्रौपदी को अपने वक्ष से लगा रही थीं । उसके शरीर का एक-एक रोम जैसे सिहर उठा था, आँखों में अश्रु आ गये थे; और हाथों में कंपन बस गया था···

"माँ ! आशीर्वाद भी नहीं दोगी ?" अर्जुन ने जैसे उसे उस सम्मोहन की स्थिति से जगा दिया ।

युधिष्ठिर, नकुल तथा सहदेव भी उनके निकट आ गये थे ।

"मैंने तुमसे कहा था न माँ, कि स्वयंवर की प्रतिज्ञा तुम्हारे पुत्र के बहुत अनुकूल है । तुम्हारी विजय हुई है माँ ! इन्हें आशीर्वाद दो ।" युधिष्ठिर बोला ।

"यशस्वी होओ पुत्र ! अपने योग्य सम्मान पाओ ।" और फिर उसने मुड़कर द्रौपदी को अपनी भुजाओं में घेर लिया, "अचल सौभाग्यती हो पुत्रि ! मेरे व्यवहार से तनिक भी आशंकित

मत होना। अकस्मात् ही ऐसा सुखद समाचार पाकर मैं बौरा गयी हूँ।"

"ये हमारे ज्येष्ठ हैं—सबसे बड़े भाई।" अर्जुन ने कहा, "और ये दोनों मुझसे छोटे—जुड़वा हैं।"

द्रौपदी के मन में सहसा ही जैसे कोई चपला कौंधी—ये पाँच हैं।"क्या ये पांडव हैं? किंतु अगले ही क्षण इस विचार को बलात् मस्तिष्क से बाहर धकेल दिया—वे तो वारणावत में जला दिये गये थे। उनके जीवित होने का कोई प्रमाण नहीं है।"

"क्या बात है माँ! मुझे आशीर्वाद नहीं दोगी?" अपने मत्त उल्लास में भीम आगे बढ़ा; और उसने फिर से कुंती को अपनी भुजाओं में उठा लिया।

"तूने क्या किया है कि तुझे भी आशीर्वाद चाहिए!" अब तक कुंती भी कुछ-कुछ सहज हो चली थी, "तूने क्या इन्हें यहाँ तक का मार्ग दिखाया है?"

"युद्ध किया है माँ! युद्ध!" भीम उल्लसित स्वर में बोला, "बड़े-बड़े शस्त्रधारियों को मैंने एक ही लाठी से हाँक दिया"" यद्यपि भीम स्वर दबाकर हँसा था, फिर भी उसका स्वर पर्याप्त ऊँचा था, "माँ! मैंने मद्रराज शल्य को ऐसी पटकनी दी कि उसे हमारी नानी याद आ गयी होगी।"

कुंती ने अचकचाकर द्रौपदी की ओर देखा, "इसकी बातों का बुरा न मानना राजकुमारी! इसका स्वभाव ही ऐसा है।" और फिर उसने अर्जुन से कहा, "मद्रराज को ऐसी क्या आवश्यकता आ पड़ी थी?"

"मद्रराज ही नहीं, सारे क्षत्रिय राजा हमारा विरोध कर रहे थे माँ!" अर्जुन बोला, "क्षत्रिय कन्या पांचाली को कोई ब्राह्मण प्राप्त करे, यह उन्हें स्वीकार्य नहीं था।""

"किंतु शल्य"" कुंती खुलकर कह भी नहीं पा रही थी।

"वहाँ कुछ लोग यह कह रहे थे माँ!" अर्जुन बोला, "कि महाराज शल्य अत्यंत युद्धप्रिय हैं। उन्हें रंचमात्र भी चिंता नहीं है कि वे किसके साथ लड़ रहे हैं और क्यों लड़ रहे हैं। उन्हें तो युद्ध का अवसर चाहिए।"

"मेरे लिए तो मद्रराज एक मातुल के समान उपयोगी हैं""

कुंती चिंतित हो गयी" यह भीम का उल्लास-मत्त था। यह कहीं कोई गड़बड़ ही न कर दे।"

किंतु भीम बात को घुमाकर दूसरी ओर ले गया, "अखाड़े में मल्ल-युद्ध के अभ्यास के लिए वे अच्छे जोड़ सिद्ध होंगे।""

"जोड़ तो उनका किसी दिन मैं सिद्ध होऊँगा।" नकुल के स्वर में आवेश था, "बस, एक बार आमना-सामना हो जाये।""

नकुल ने स्वयं को रोक लिया।"वह स्वयं ही समझ नहीं पा रहा था कि भीम के एक ही वाक्य ने कैसे उसके मन में मातुल शल्य के विरुद्ध एक ज्वार जगा दिया था"मातुल का व्यवहार उसे तनिक भी श्लाघ्य नहीं लगता था। मातुल वसुदेव ने अपनी इतनी सारी विकट समस्याओं और विषम परिस्थितियों के होते हुए भी, ध्यान रखा कि उनकी एक बहिन भी थी और वह कठिनाइयों से घिरी हुई थी। उनकी अवस्था देखने मातुल अक्रूर आये थे। फिर कृष्ण तथा बलराम आये थे। उन्होंने तो युधिष्ठिर को हस्तिनापुर का युवराज बनवा ही दिया था। वह तो दुर्भाग्य ही था कि जरासंध और कालयवन के संयुक्त आक्रमण के कारण यादवों को मथुरा से

हटना पड़ा और धृतराष्ट्र को भी अवसर मिल गया"। अब भी यादव उनकी सहायता का प्रयत्न कर रहे थे" और मातुल शल्य ने क्या किया ? उन्होंने एक बार यह जानने का भी प्रयत्न नहीं किया कि उनके भागिनेय जीवित भी हैं या नहीं ! और यदि जीवित हैं, तो किस अवस्था में हैं !"उनके पुत्र रुक्मरथ को यह ज्ञात भी है कि उसकी एक बुआ भी थी और उनकी कोई संतान भी है ? नकुल को तो ऐसा लगता था कि उन्होंने इच्छानुसार शुल्क लेकर अपनी बहन को घर से ही नहीं निकाला, अपने जीवन, मन और स्मृति से ही निकाल दिया"

किंतु यह सब कहने का यह कोई अवसर नहीं था। द्रौपदी के सम्मुख यह सब"

"तुमने देखा मध्यम !" अर्जुन बोला, "दुर्योधन ने कर्ण को मुझसे और मद्रराज को तुमसे भिड़ा दिया। स्वयं कर्ण के पीछे छिपा रहा। कायर कहीं का !"

"वह तो कायर भी है और धूर्त भी।" भीम बोला, "स्वयं लड़ता नहीं, दूसरों को लड़वाता है। और क्यों न लड़वाए, जब अंगराज और मद्रराज जैसे मूर्ख उसे मिल जाते हैं"।"

"अपने से बड़ों के लिए ऐसे अपमानजनक ढंग से नहीं बोलते पुत्र !" कुंती ने उसे टोका।

"बड़े !" भीम हँसा, "दोनों में कौन बड़ा मूर्ख है माँ ! मद्रराज या सूतपुत्र ?"

"मध्यम ! माँ को पीड़ित मत करो !" अर्जुन ने बात दूसरी ओर मोड़ दी, "माँ को यह भी तो बताओ कि कृष्ण ने उन सब राजाओं को हमसे लड़ने से रोक दिया था !"

"वह रोकता या न रोकता; यह तो हमें करना ही था।" भीम बोला, "माँ ! स्वयं को शूरवीर समझने वाले जितने भी पाखंडी आये, उन सबकी पिटाई कर, हम पांचाली को जीत लाये।"

"हम ? हमसे क्या तात्पर्य है तुम्हारा ?" कुंती ने उसे टोका, "पांचाली को धनुर्धर ने जीता है, या तुमने ?"

"हम दोनों ने !" भीम निर्द्वंद्व भाव से बोला, "धनुर्धर ने लक्ष्य-वेध किया और मैंने उन उत्पातियों की बुद्धि ठिकाने लगायी। मैं न होता तो वे लोग इस धनुर्धर को इसकी जीती हुई पांचाली के साथ उठाकर ले जाते।""

स्तब्धता में अकेले भीम का अट्टहास गूँजा; उसके साथ और कोई हँस नहीं पाया। लगा, उसके एक असावधान वाक्य से जैसे शेष सब लोग स्तंभित हो गये थे।

उस स्तब्धता को कुंती ने ही तोड़ा, "चल ! मान लिया कि पांचाली को उन उत्पातियों से बचाने में धनुर्धर के साथ, तेरा भी बहुत योगदान है; किंतु स्वयंवर का विजेता तो धनुर्धर ही है न ! पांचाली ने उसी के कंठ में जयमाला डाली थी न ! तुम्हारे कंठ में तो नहीं।"

इस सारे प्रसंग में यह पहला अवसर था कि भीम के मुख से शब्द नहीं फूटे। उसका कंठ किसी ऐसी मरुभूमि के समान हो गया था, जो न केवल सर्वथा जलविहीन थी, वरन् उसमें नागफनी के काँटे उग आये थे"

"हाँ !" बोलने के लिए भीम को प्रयत्न करना पड़ा, "हाँ ! धनुर्धर ने ही स्वयंवर जीता है। पांचाली ने उसी के कंठ में जयमाला डाली है। अब तो प्रसन्न हो ?"

"प्रसन्न तो हूँ पुत्र !" कुंती के चेहरे पर मुस्कान की एक रेखा तक नहीं थी, "अपने पुत्र की ऐसी उपलब्धि पर कौन-सी माँ प्रसन्न नहीं होगी; किंतु पांचाली तुम्हारे कंठ में वरमाला डाले अथवा धनुर्धर के—होगा यह परिवेदन ही। तुम जानते हो, धर्मशास्त्र की दृष्टि में परिवेदन

पाप है। निर्दोष बड़े भाई के अविवाहित रहते, छोटा भाई विवाह कर ले—यह अधर्म है। धर्मानुसार पहले बड़े भाई का विवाह होना चाहिए। छोटा भाई पहले विवाह कर, बड़े भाई को उसके अधिकार से वंचित नहीं कर सकता।''' ''

"इच्छा तो हमारी भी यही है माँ!" वाचाल भीम अब कुछ सहज हो चला था, "किंतु ज्येष्ठ तो कोई उद्यम ही नहीं करता।" भीम ने कुंती की ओर इस प्रकार देखा, जैसे किसी बड़े रहस्य का उद्घाटन करने जा रहा हो, "हम ज्येष्ठ के मार्ग की बाधा नहीं हैं माँ! वह हमारे मार्ग की बाधा है। हम तो चाहते ही हैं कि वह शीघ्रताशीघ्र विवाह कर ले, ताकि हमारा मार्ग खुले।'''"

अर्जुन कुछ कह नहीं सका—कदाचित् वह भीम की बात सुन भी नहीं रहा था—उसे लगा, माँ के एक ही वाक्य ने उसे जीवन के एक नये धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया है। वह स्वयंवर का विजेता अवश्य था; द्रौपदी उसी ने प्राप्त की थी; किंतु द्रौपदी से उसका विवाह नहीं हुआ था। द्रौपदी ने उसके कंठ में जयमाला डाली थी, वरमाला नहीं।''' पितामह भीष्म काशिराज की कन्याओं का उनके स्वयंवर में से हरण कर लाये थे, तो वे उसकी पत्नियाँ नहीं हो गयी थीं। पत्नियाँ तो वे उसी की हुईं, जिसके साथ धर्मानुसार उनका विवाह हुआ था।'''

"क्यों?" युधिष्ठिर कुछ तड़पकर बोला, "मेरे अविवाहित रहते, मध्यम का सालकटंकटी से विवाह नहीं हुआ था? तब तो तुमने आपत्ति नहीं की थी। अब बेचारा धनुर्धर! तुम उसके प्रति इतनी कठोर क्यों हो माँ?"

"सालकटंकटी के साथ विवाह को तू मध्यम का विवाह कहता है!" कुंती जैसे अपनी पीड़ा का प्रतिकार कर रही थी, "वह क्या मध्यम के साथ आजीवन निर्वाह करेगी? वह क्या मेरी पुत्रवधू बनकर, मुझे आजीवन सास का सम्मान देगी? उसका पुत्र क्या तुम सबका उत्तराधिकारी बनेगा?" कुंती का स्वर कुछ धीमा हुआ, "क्या उसने कभी यह माना कि वह हमारे कुल की पुत्रवधू है? क्या वह हमारे साथ आकर, हमारे कुल के अनुरूप अपना जीवन व्यतीत करेगी? उसने केवल कामतृप्ति के लिए मध्यम को अपने अस्थायी पति के रूप में चाहा था।'''"

नतशिर, मौन और निष्क्रिय द्रौपदी उनके वार्तालाप का एक-एक शब्द सुन रही थी। स्वयंवर की प्रतिज्ञा कनिष्ठ ने पूरी की थी। उससे दो भाई बड़े थे, जो अविवाहित थे। कनिष्ठ की इस उपलब्धि से सारा परिवार प्रसन्न होते हुए भी धर्म-संकट में पड़ गया था। माता धर्मानुरूप चलना चाह रही थीं। वे धर्मशास्त्र की चर्चा कर रही थीं। विदुषी दीखती थीं; अन्यथा न उन्हें धर्म का पता होता, न धर्मशास्त्र का।''' द्रौपदी के अपने मन में भी परिवेदन के संबंध में शास्त्रों की अनेक उक्तियाँ गूँजने लगीं। सभी ने परिवेदन को पाप माना था—गौतम ने, आपस्तंभ ने, वसिष्ठ ने, मनु ने, याज्ञवल्क्य ने'''बौधायन धर्मसूत्र तथा विष्णु धर्मसूत्र के अनुसार तो बड़े भाई से पहले विवाह करने वाला छोटा भाई, छोटे भाई के पश्चात् विवाह करने वाला बड़ा भाई, बड़े भाई के अविवाहित रहते छोटे भाई से विवाह करने वाली कन्या, विवाह करवाने वाला अभिभावक तथा पुरोहित—ये पांचों ही नरक में गिरते हैं।'''माता का कथन ठीक ही तो है: राजकन्या का स्वयंवर कनिष्ठ ने जीता है तो क्या विवाह भी वही करे?'''जायें सब नरक में?'''तैत्तिरीय संहिता में तो परिवित्त को अभाग्य, परिविदान को क्लेश तथा दिधिषू पति को पाप के हवाले किया गया है'''

किंतु विचार करते-करते द्रौपदी का अपना मन जैसे अवसाद में घिरता जा रहा था··· लक्ष्य-वेध करने वाले जिस वीर में उसका मन अनुरक्त हुआ था, क्या उससे उसका विवाह नहीं होगा?···और उसके पिता का संकल्प ? अपने शत्रु से अपने अपमान का प्रतिशोध ?···यदि धनुर्धर से उसका विवाह नहीं हुआ, तो उस अपमान का प्रतिशोध कौन लेगा ? द्रोण से प्रतिशोध लेने में सहायक कौन होगा ?···क्या उसके पिता इस प्रस्ताव को मान लेंगे कि उसका विवाह धनुर्धर से नहीं, उसके बड़े भाई से हो जाये ?···द्रौपदी का मन अटक गया।···क्या उसके पिता इस प्रस्ताव का विरोध कर सकेंगे ?···आपस्तम्भधर्मसूत्र का कथन है कि कन्या का दान किसी एक भाई को नहीं, भाइयों के सारे कुटुंब को किया जाता है···

"बस करो माँ !" इस बार भीम का स्वर जैसे भीम का स्वर ही नहीं था। अत्यंत आहत प्रेमी के समान बोल रहा था वह, "तुम उसे अपनी पुत्रवधू, कुलवधू··· कुछ मत मानो; किंतु हमारे संबंधों के विषय में यह सब मत कहो। जो कुछ तुम कह रही हो—वह सब मैं भी जानता हूँ; फिर भी मेरे मन में उसके और अपने पुत्र के लिए स्नेह का भाव है।··· "

"मैं जानती हूँ पुत्र !" कुंती अत्यंत कोमल स्वर में बोली, "मैं तेरा मन दुखाना नहीं चाहती। क्या मैं नहीं जानती कि तू किस प्रकार उमड़कर प्रेम करने वाला व्यक्ति है—प्रेम चाहे माँ से करे, अपने भाइयों से करे, सालकटंकटी से करे, या घटोत्कच से करे···।"

द्रौपदी का मन फिर से एक तथ्य को रेखांकित कर रहा था···वे लोग सारा वार्तालाप उसके सम्मुख ही कर रहे थे। कैसी असाधारण एवं आंदोलित स्थिति थी, उनके मन की, किंतु आवेश में भी वे किसी का नाम नहीं ले रहे थे। कितने सावधान थे वे लोग; कितने अनुशासित ! द्रौपदी उनमें से अभी किसी एक का नाम तक नहीं जान पायी थी। क्या वे लोग उससे अपना परिचय छिपा रहे थे ? स्वयंवर-विजेता को वे धनुर्धर कह रहे थे। शेष लोगों को ज्येष्ठ, मध्यम, कनिष्ठ···धनुर्धर ने महाराज द्रुपद को भी अपना परिचय नहीं दिया था। क्या यह इनका छद्म वेश है ? क्या सचमुच ये पाँचों पांडव और उनकी माता हैं ?···और तभी द्रौपदी के मन ने दूसरी बात उठायी··· जो नाम अभी-अभी इन्होंने लिये हैं—सालकटंकटी तथा घटोत्कच—वे जाने किन लोगों के नाम हैं ! उनमें से तो राक्षसत्व की गंध आ रही है···

"किंतु पुत्र ! मैं नहीं चाहती कि तू इसे अपना विवाह मान ले और दूसरा विवाह ही न करे··· !"

द्रौपदी ने स्पष्ट देखा कि मध्यम ने माता के इस वाक्य पर माँ की ओर न देखकर, उसकी ओर देखा था···किंतु उस दृष्टि में जहाँ एक ओर इतनी लालसा और इतनी तृष्णा थी, वहीं उसमें अथाह निराशा और हताशा थी···

"मैं चाहती हूँ कि पहले ज्येष्ठ का विवाह हो ले, फिर तू अपना विधिवत् विवाह करे—किसी ऐसी कन्या से, जो तेरी पत्नी और मेरी पुत्रवधू बनकर रहे।" कुंती अर्जुन की ओर मुड़ी, "और धनुर्धर ! मैं तुमसे तुम्हारी पांचाली छीनना नहीं चाहती; किंतु पुत्र ! यदि तुमने यह विवाह कर लिया तो अपने बड़े भाइयों की लांछनों, आरोपों और भर्त्सनाओं से कैसे रक्षा करोगे ? क्या तुम चाहोगे कि वे विवाह के अधिकार से वंचित हो जायें; और तुम्हारे इस त्वरित विवाह का मूल्य चुकाने के लिए आजीवन अविवाहित रहें ?···

"माँ !" युधिष्ठिर ने कुंती को पुनः टोका।

"तू चुप रह !" कुंती ने उसे पुनः डाँटा, "एक बात का सदा ध्यान रखो मेरे बच्चो !

तुम्हें केवल अपने लिए कुछ भी नहीं सोचना है। तुममें से किसी को भी तनिक भी स्वार्थी नहीं होना है। तुम मेरे लिए पाँच नहीं—एक पुत्र हो; एक अस्तित्व हो। तुम्हें जो कुछ सोचना है, करना है—सब के लिए। जब हमारे जीवन में प्रलयाग्नि जली थी, तब मध्यम ने केवल अपने प्राण बचाने की सोची होती, तो आज सिवाय उसके, हममें से कोई जीवित न होता। प्राणों से बड़ी उपलब्धि कोई नहीं है। उसने उस उपलब्धि को मात्र अपने लिए नहीं रखा; तो आज धनुर्धर की उपलब्धि उससे भी बड़ी हो गयी।···" वह जैसे हाँफकर रुक गयी; किंतु क्षण भर में ही पुनः बोली, "तुम्हारे पिता के देहांत के पश्चात् तुम्हारे इसी ज्येष्ठ ने, जो स्वयं नन्हा-सा बच्चा था, अपनी अक्षमताओं में भी एक पिता के ही समान, तुम लोगों का ध्यान रखा है—तुम सबका। मैं चाहती हूँ कि तुम लोग यह कभी मत भूलो। आज धनुर्धर को एक सफलता मिली है, तो वह हमसे पृथक् होकर केवल अपना सुख और स्वार्थ सोचे? अभी तो हमारे सारे शत्रु हम पर अपने दाँत गड़ाये बैठे हैं···।"

"माँ!" युधिष्ठिर जैसे कुंती के प्रवाह को बाधित कर बोला, "माँ! पांचाली वीर्यशुल्का है; और उसका स्वयंवर धनुर्धर ने ही जीता है।"

द्रौपदी का मन पुनः जैसे उसके मस्तिष्क के कपाट खटखटाकर बोला, "देख कृष्णा! यहाँ एक ऐसा व्यक्ति है, जो तुममें आसक्त है···देख! उसकी आँखों में देख! उसके आनन को देख। नहीं लगता कि उसके मन में अग्नि धधक रही है?···उसकी माता चाहती है कि वह तुम्हें प्राप्त करे।··· जिस भाई ने स्वयंवर जय किया है, वह विरोध करता भी दिखायी नहीं देता···पर देख, बड़ा भाई अपने छोटे भाई को वंचित करना नहीं चाहता। वह अपने मन का इतना दमन कर लेगा कि उसका श्वास ही रुक जाये;किंतु वह अपने छोटे भाई को वंचित नहीं करेगा।··· ऐसा भाई देखा है तूने कभी? जिस द्रौपदी को प्राप्त करने के लिए जंबूद्वीप के सारे राजा धर्म को तिलांजलि देकर, अधर्म-युद्ध करने के लिए क्षेत्र में उतर आये थे, वही द्रौपदी उसे अनायास मिल सकती है··· किंतु वह उसका विरोध कर रहा है, क्योंकि वह अपने भाई को वंचित करना नहीं चाहता···"

"ठीक कहता है तू पुत्र!" कुंती कह रही थी, "किंतु तू ही बता धनुर्धर! आज तक तुम पाँचों में से जिसने जो कुछ भी अर्जित किया है, वह क्या उसी की संपत्ति मानी गयी?···"

"नहीं माँ! नहीं!" अर्जुन बोला।

"आज तक हमने समग्र का हित साधा है, अथवा खंड का?"

"समग्र का माँ!"

अर्जुन के मन में झंझावात चल रहा था : माता की इच्छा? ठीक ही तो कह रही हैं माता!···परिवेदन पाप है।··· और अर्जुन तो अपने विवाह के लिए कोई ऐसा इच्छुक भी नहीं था। वह विवाह के लिए स्वयंवर में गया भी नहीं था।···वह तो भगवान वेदव्यास के आदेश के अनुसार पांडवों को पुनर्जीवित करने के लिए धनुर्विद्या की एक प्रतियोगिता में गया था। यह द्रौपदी का स्वयंवर न होता, उसमें विवाह का प्रतिबंध न होता, वह मात्र एक प्रतियोगिता ही होती, तो भी तो अर्जुन उसमें सम्मिलित होता···और यदि स्वयंवर की प्रतिज्ञा धनुर्विद्या संबंधित न होती, वह गदा-युद्ध से संबद्ध होती, तो क्या अर्जुन उसमें मध्यम का प्रतियोगी बनकर उसका प्रतिद्वंद्वी हो, प्रतियोगिता में उतरता, क्योंकि वह पांचाली को प्राप्त करना चाहता था?···संसार में अनेक राजकुमारियाँ हैं, उनके विवाह होते ही रहते हैं। अर्जुन

का मन उनकी ओर तनिक भी नहीं खिंचता है"किंतु संसार में कहीं कोई धनुर्विधा के ज्ञान में उससे बढ़ जाये"क्या यह सहन कर पायेगा अर्जुन ?"और ठीक ही तो कहती हैं माता"उन भाइयों में अभी ऐसा कोई विभाजन नहीं हुआ है, जिसके अनुसार उनका अर्जन और संपत्ति पृथक् हो।"यदि उस प्रतियोगिता के फलस्वरूप उसको द्रौपदी मिली भी है, तो क्या ? क्या उसका द्रौपदी से विवाह करना अनिवार्य है ?"क्या पितामह भीष्म का उदाहरण उसके सम्मुख नहीं है ?"और ठीक कहा है मध्यम ने।"यदि प्रत्येक स्वार्जित वस्तु अपनी व्यक्तिगत संपति हो भी, तो क्या द्रौपदी को अकेले अर्जुन ने ही अर्जित किया है ?"मध्यम की मान्यता है कि यदि वह न होता, तो अर्जुन से द्रौपदी बलात् छीन ली जाती।"क्या ऐसा ही है ? ऐसा है या नहीं" मध्यम की मान्यता यही है"तो क्या अर्जुन अपने भाइयों को कलंकित और वंचित कर द्रौपदी से विवाह करेगा ?

द्रौपदी से विवाह करना, अर्जुन के लिए अनिवार्य क्यों है ?"और अर्जुन को लगा कि यह प्रश्न तक उसके लिए अत्यंत पीड़ादायक है।"यह प्रश्न जैसे उसे जीवन की किसी बड़ी उपलब्धि से वंचित कर रहा है" कैसी तो कचोट जागती थी मन में"इस कचोट और इस पीड़ा से अब तक तो वह अनभिज्ञ था। यह जीवन का कोई नया क्षेत्र था"यह कामदेव का षड्यंत्र था"यह उसके मन की वासना थी"यह शरीर की प्राकृतिक भूख थी, जो कैसे-कैसे मोहक आवरणों में लिपटकर उसके मन में अंकुरित हो रही थी"पर थी यह वही भूख" शरीर-धर्म !"कदाचित् इसीलिए माता के आपत्ति करते ही, उसके मन में संकोच जागा था, अपराध-बोध सरीखा !"

किंतु कर्तव्य और वासना में से तो अर्जुन अपने कर्तव्य को ही चुनेगा ! वासना मोहक होती है, अत्यंत आकर्षक। वह मनुष्य की शिराओं में अग्नि बनकर बहती है। उसके आलिंगन में निष्क्रिय होकर, धर्म को विस्मृत कर प्रवाहित होना अस्वीकार किया जाये, तो वह अग्नि शरीर को इस प्रकार तपाने लगती है, जैसे वह उसे भस्म ही कर देगी" किंतु कृष्ण कहता है—जीवन का कोई सुख धर्म से बड़ा नहीं है; धर्म की अवहेलना, किसी भी बड़े-से-बड़े कष्ट से बड़ा कष्ट है। धर्म, वासना से बड़ा है, शक्तिशाली है, समर्थ है"धर्म ही धारण करता है—सृष्टि को, मनुष्य को, मनुष्य के शरीर को"वासना किसी को धारण नहीं करती, वह तो क्षय मात्र करती है"जीवन के भोग के विरुद्ध नहीं है कृष्ण। वह कहता है कि जीवन धर्मानुकूल होना चाहिए, भोग भी धर्मानुकूल होना चाहिए, त्यागपूर्वक"अर्जुन को सीखना होगा कि जीवन के किस सुख को भोगना है, किसका त्याग करना है"और अधर्म के मार्ग पर चलकर तो कोई सुख प्राप्त करना ही नहीं है।"अर्जुन त्याग करेगा तो भोग का, धर्म का त्याग वह नहीं करेगा"

युधिष्ठिर ने अर्जुन का चिंतित चेहरा देखा। वह अर्जुन के मन में चलने वाले धर्म और काम के द्वंद्व को समझ रहा था। किस धर्म-संकट में डाल दिया है, माँ ने इस अर्जुन को : ऐसे तो वह अपने सौभाग्य का फल भी नहीं भोग पायेगा। स्वयंवर में उसने वीर्यशुल्का पांचाली को जय किया है। पांचाली उसकी है"यद्यपि युधिष्ठिर के भीतर का पुरुष, उसके इस निर्णय से सहमत नहीं था। वह इस नारी को पाने के लिए तड़प रहा था; किंतु युधिष्ठिर का विवेक इसकी अनुमति नहीं देता। पितामह भीष्म ने स्वयंवर में से कन्याओं को प्राप्त कर, उनका विवाह अपने छोटे भाई से कर दिया था"ज्येष्ठ का धर्म है—दान; ग्रहण उसे शोभा नहीं देता।"युधिष्ठिर, किसी भी स्थिति में अर्जुन को वंचित नहीं कर सकता"

"धनुर्धर !" अंततः युधिष्ठिर बोला, "स्वयंवर में पांचाली को तुमने जीता है। तुम्हारे ही साथ, इस राजकुमारी की शोभा होगी। तुम अग्नि प्रज्वलित करो और अग्निदेव के साक्ष्य में विधिपूर्वक इस राजकन्या का पाणिग्रहण करो।..."

"मुझे अधर्म का भागी न बनायें भैया ! परिवेदन पाप है। ऐसा व्यवहार तो केवल अनार्यों में देखा जाता है।" अर्जुन बोला, "और आपने सुना तो है ज्येष्ठ ! पांचाली मैंने अकेले नहीं जीती। मध्यम साथ में न होता, तो पांचाली को अर्जित करना तो दूर, कदाचित् मेरे लिए स्वयं भी जीवित बचकर आना कठिन होता।"

युधिष्ठिर, अर्जुन के इस स्वर को अच्छी तरह पहचानता था : अर्जुन के शब्द जो कुछ भी कह रहे हों, उसका मन उसे तनिक भी स्वीकार नहीं कर रहा था। उसके शब्दों में भीम के प्रति भी उपालंभ था। जो भीम पांचाली पर प्रकारांतर से अपना अधिकार जता रहा था, यदि उसके प्रति अर्जुन के मन से उपालंभ फूट निकला है, तो युधिष्ठिर द्वारा पांचाली को ग्रहण कर लेने पर, वह उसे क्षमा कर पायेगा क्या ?...

युधिष्ठिर का मन क्षण-भर के लिए चौंककर, घबराए हुए घोड़े के समान, अगले दोनों पैर उठाकर, पिछले दोनों पैरों पर खड़ा हो गया...कहीं पांचाली उन भाइयों में विग्रह का कारण न बन जाये...किंतु युधिष्ठिर के संकल्प ने उस घबराए हुए घोड़े की अगली दोनों टाँगें बलात् पृथ्वी पर टिका दीं, "नहीं धनुर्धर ! पांचाली तुम्हारी है।"

"नहीं ज्येष्ठ !" अर्जुन ने युधिष्ठिर को आगे बोलने से दृढ़तापूर्वक रोक दिया, "सत्य कहता हूँ, मैं पांचाली को अपनी समझकर ही लाया था; किंतु अब इन परिस्थितियों में मैं पांचाली को स्वीकार नहीं कर सकता।" अर्जुन का स्वर अत्यंत गंभीर था, "धर्म की मर्यादा की रक्षा मुझे करनी ही होगी। मैं न भ्रष्ट भोजन खा सकता हूँ; न अधर्मपूर्वक काम-सुख का भोग कर सकता हूँ ! पांचाली अब आपकी है।..."

युधिष्ठिर अवाक् रह गया। अर्जुन के वाक्य से उसके शब्द और विचार—सब ही जैसे स्तंभित रह गये थे।...वह कहना चाह रहा था कि अर्जुन पांचाली से विवाह कर ले। वह उसे परिवेदन के पाप का भागी नहीं बनने देगा। युधिष्ठिर आजीवन अविवाहित रहेगा, और भीम का एक विवाह हो ही चुका है; तो अर्जुन का यह विवाह परिवेदन कैसे होगा ?...किंतु अर्जुन ने उसे यह सब कहने का अवसर ही नहीं दिया था। कैसा निश्चय किया था अर्जुन ने ! अपनी मनोवांछित, ऐसी कमनीय स्त्री का इस प्रकार त्याग... यह कार्य तो बड़े-बड़े सिद्ध तपस्वी भी नहीं कर सकते। कैसे किया अर्जुन ने यह त्याग ! कदाचित् यह त्याग अर्जुन जैसे व्यक्ति के लिए ही संभव था।...

"मुझे स्वीकार है !" अंततः युधिष्ठिर बोला, "तुम्हारे स्वत्व में से कुछ लेकर तुम्हें वंचित करना मुझे संकुचित कर रहा है धनुर्धर ! किंतु, अपने स्वत्व का उपयोग मैं किसी भी विधि से कर सकता हूँ। अब, जबकि पांचाली मेरी है; उसके विषय में निर्णय मैं करूँगा।" उसने कुंती की ओर देखा, "माँ ! मैं कुछ धर्म-विरुद्ध तो नहीं कह रहा ?"

कुंती की आँखों में पहले तो एक प्रसन्न जड़ता झलकी और फिर अश्रु झलमला आये, "तुम जैसे संतान पाकर मैं धन्य हुई पुत्रो !"

नतमस्तक द्रौपदी प्रत्यक्षतः असंपृक्त-सी मौन बैठी थी; किंतु उसका रोम-रोम जैसे आँख और कान बनकर, इस परिवार के एक-एक सदस्य की प्रत्येक गति-विधि को अत्यंत सूक्ष्मता

से देख रहा था और एक-एक शब्द को सुन रहा था।''' उसकी पहली प्रतिक्रिया विकट विरोध की थी।''' उन लोगों ने उसे सर्वथा निष्प्राण वस्तु समझ लिया है, जिसे वे कहीं से उठा लाये हैं और जिसकी जैसी इच्छा हो रही है, वह उसे उसी प्रकार किसी को भी सौंप रहा है। उनके लिए जैसे उसकी अपनी कोई भावना ही नहीं है, कोई इच्छा ही नहीं है''' किंतु अगले ही क्षण उसके अपने ही तर्क ने उसे टोक दिया—वीर्यशुल्का घोषित होने पर भी उसकी कोई इच्छा शेष रह गयी थी क्या ?'''जिस दिन उसने अपने पिता के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए अपने सारे पिछले जीवन से स्वयं को विच्छिन्न कर, अग्नि-कुंड से नया जन्म ग्रहण किया था, क्या उसी दिन उसने यह स्वीकार नहीं किया था कि अब उसकी अपनी कोई इच्छा, आकांक्षा और भावना नहीं रहेगी ? क्या उसने यह संकल्प नहीं किया था कि अब उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य अपने पिता के अपमान का प्रतिशोध लेना है ?'''तो अब वह अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं की बात क्यों सोचने लगी है ?'''उसके पिता ने जंबूद्वीप का यह अनाम और अज्ञात धनुर्धर खोज निकाला है। अब यह कृष्ण का कार्य है कि इस धनुर्धर को, अपने पिता का सहायक बनाये'''उसके पति और पिता का लक्ष्य एक ही हो जाये—द्रोण का वध और उसे आश्रय देने वाले कुरुकुल का नाश'''

पर यह धनुर्धर तो उसका पति ही बनना नहीं चाहता''' किंतु अगले ही क्षण लगा कि अपनी इस अवहेलना के कारण, उसके मन में इस धनुर्धर के लिए तनिक भी रोष नहीं है''' वह तो केवल धर्म के मार्ग पर चलने का प्रयत्न कर रहा है। यदि पांचाल राज द्रुपद, अपने प्रकार का एक धर्म-युद्ध कर रहे हैं, तो यह वीर धनुर्धर भी अपने प्रकार का एक धर्म-युद्ध कर रहा है। अधर्म से मिला जीवन का बड़े-से-बड़ा सुख, उसके लिए अग्राह्य है। धर्म से वंचित होकर उसे काम-सुख नहीं चाहिए। इतना त्याग'''कैसी महान आत्मा है उसकी !'''द्रौपदी को उससे रुष्ट नहीं होना चाहिए'''उसपर मुग्ध होना चाहिए।'''और इन भाइयों का यह ज्येष्ठ ! यह तो साक्षात् धर्म का रूप लगता है : वह अपने छोटे भाइयों से कुछ लेना नहीं चाहता, उन्हें देना ही चाहता है। उसके चरित्र में ग्रहण की तुलना में त्याग कहीं अधिक है'''कैसे धर्म-संकट में पड़ गया है उदार आत्माओं का यह परिवार ! द्रौपदी को उनका यह संकट बढ़ाना नहीं है, उसे टालना है। उन्हें धर्म से डिगाना नहीं है, धर्म पर चलाना है'''उन्हें संयुक्त रखना है, वियुक्त नहीं करना है। वे सारे-के-सारे भाई, महाराज द्रुपद की सेना के सम्मुख खड़े हो जायेंगे, तो पांचाल सेना संसार में अजेय हो जायेगी।'''

तभी किसी ने कपाट थपथपाया।

सबकी दृष्टि एक बार कपाट की ओर उठी और फिर जैसे प्रश्नवाचक चिह्न बनकर, एक-दूसरे की ओर मुड़ गयी : इस समय कौन आया है ? दिन का तीसरा प्रहर है। कुंभकार तो इस समय अपने काम में लगा होगा। पांडवों का इस नगर में किसी से पारिवारिक मेल-जोल नहीं है। तो क्या द्रुपद अथवा शत्रु राजा'''?

कपाट पर पुनः हल्की थपथपाहट हुई।

"कपाट खोलो ! मैं कृष्ण हूँ और मेरे साथ भैया बलराम हैं।'''"

"कृष्ण !" एकाधिक स्वर अकस्मात् ही सामूहिक रूप से फूटे।

द्रौपदी के मस्तिष्क में जैसे चपला कौंध गयी—कृष्ण ! कृष्ण यहाँ ? इस कुंभकार के घर में ? क्या वह द्रौपदी की खोज-खबर लेने आया है ? क्या उसने यह खोज निकाला है कि पांचाली, स्वयंवर विजेता के साथ यहाँ आयी है ?'''कृष्ण वास्तविक सखा है उसका। वह कहीं

भी होगी, उसे उसका संरक्षण प्राप्त होगा।"

सहदेव ने अनुमति के लिए युधिष्ठिर की ओर देखा।

"खोलो !" युधिष्ठिर ने संकेत किया।

सहदेव ने साँकल हटाया और कपाट खोल दिये, "पधारिए !"

कृष्ण और बलराम—दोनों ने पहले कुंती के चरण छुए; और फिर युधिष्ठिर के चरणों का स्पर्श किया।

"तुमने हमें कैसे खोज लिया पुत्र ?" कुंती ने उनका माथा सूँघा, "हम तो यहाँ अज्ञातवास कर रहे थे।"

द्रौपदी का मन जैसे आश्चर्य से अपने पंजों पर खड़ा हो गया, 'गोविंद इन्हें जानता है ? कौन हैं ये लोग ? ये लोग साधारण वनवासी ब्राह्मण तो नहीं हो सकते।...कहीं ये पाँचों पांडव ही तो नहीं ? कृष्ण की बुआ के पुत्र !...और यह उनकी माता...कुंती !...'

"मैं इंद्रजाली हूँ।" कृष्ण हँसा, "अपने इंद्रजाल से सब कुछ जान लेता हूँ।"

"तू उससे भी कुछ अधिक है पुत्र !" कुंती ने मुस्कराकर कहा, "तू हमारी संजीवनी बूटी है।"

कृष्ण ने कुंती की बात का कोई उत्तर नहीं दिया। वह द्रौपदी से संबोधित हुआ, "तुम सर्वथा उपयुक्त स्थान पर आ गयी हो सखि ! न चिंतित होना, न संभ्रमित ! जो प्रत्यक्ष है, वह माया का प्रपंच है। सत्य अभी आवृत है; और सत्य सदा ही कल्याणकारी होता है..."

द्रौपदी आश्वस्त हुई। कदाचित् कृष्ण इसीलिए यहाँ आया होगा कि अपनी सखी का विभ्रम दूर कर उसे आश्वस्त कर सके। उसने उसे सब कुछ स्पष्ट बता दिया है...जो प्रत्यक्ष है, वह माया का प्रपंच है...ये लोग वस्तुतः मात्र वनवासी ब्राह्मण नहीं हैं...जो सत्य है, वह अनावृत होगा...कृष्ण कहता है न कि असत्य का अस्तित्व नहीं होता और सत्य का कभी नाश नहीं होता...सत्य अपने-आप सामने आयेगा...

"पुत्र !" कुंती ने कृष्ण से कहा, "क्या हमारा दुष्काल समाप्त हुआ ?"

"महाराज द्रुपद का कल्याण हुआ है !" वह मुस्कराकर बोला, "मैं आपसे कहने आया था कि आप पूर्णतः आश्वस्त रहें। यादव महारथी और अतिरथी अपने शस्त्रों के साथ सन्नद्ध खड़े हैं।" वह युधिष्ठिर की ओर मुड़ा, "फिर भी हमें सावधान रहना है। हम यहाँ अधिक देर नहीं ठहरेंगे कि हमारे यहाँ आने के कारण अन्य राजाओं को भी ज्ञात न हो जाये कि आप यहाँ हैं। सावधान रहें और महाराज के निमंत्रण की प्रतीक्षा करें।...अच्छा ! हम चलते हैं।" कृष्ण और बलराम द्वार की ओर बढ़े।

"गोविन्द !" द्रौपदी ने पुकारा।

"धैर्य रखो कृष्णे !" कृष्ण बोला, "अपने नये परिवार के दायित्व सँभालो। तुम लोगों का दुष्काल समाप्त हो गया है।"

कृष्ण और बलराम जिस आकस्मिकता से आये थे, उसी आकस्मिकता से लौट भी गये। न कृष्ण रुका था, न उसने द्रौपदी के किसी प्रश्न का उत्तर दिया था; किंतु फिर भी द्रौपदी के मन में एक प्रगाढ़ शांति व्याप्त हो गयी थी।... द्रौपदी ने इस परिवार में जो कुछ देखा था, उससे वह अनुमान लगा ही रही थी कि ये लोग साधारण जन नहीं हैं। अब कृष्ण ने यहाँ आकर उसकी पुष्टि कर दी थी... किंतु यदि ऐसा ही है, तो इन लोगों ने छद्मवेश क्यों धारण कर रखा है ?...द्रौपदी को बार-बार

लगता है कि कहीं ये पांडव और उनकी माता ही तो नहीं ? और बार- बार वह अपने- आपको स्मरण दिलाती है कि वे लोग वारणावत के अग्निकांड में मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं··· किंतु वे किसी प्रकार, किसी चमत्कारवश जीवित भी तो बच सकते हैं।··· किंतु यदि वे लोग जीवित होते तो अब तक कहीं तो प्रकट होते।··· और यदि ये पांडव ही हैं, तो वे स्वयं को प्रकट क्यों नहीं कर रहे ?···यदि ये पांडव ही हैं तो कर्ण और दुर्योधन ने स्वयंवर- मंडप में इन्हें अवश्य पहचान लिया होगा। यदि ऐसा ही था, तो कर्ण इन्हें जीवित छोड़ पीछे क्यों हट गया ? मद्रराज शल्य ने मध्यम के रूप में छिपे हुए अपने भागिनेय के साथ युद्ध क्यों किया ? क्या वे भी इन्हें नहीं पहचानते ?···नहीं ! ये पांडव नहीं हो सकते···

द्रौपदी को लगा कि उसके मन में कृष्ण के लिए आक्रोश संचित हो रहा है···वह उसे बताकर क्यों नहीं गया कि ये लोग कौन हैं ?··

द्रौपदी का ध्यान भंग हुआ··· उसने देखा, पाँच में से चार भाई बाहर जा रहे थे। उसने दृष्टि उठाकर कुंती की ओर देखा। कुंती ने उसका प्रश्न समझा और बोली, "वे लोग भिक्षाटन के लिए जा रहे हैं पुत्रि ! तुम थोड़ा विश्राम कर लो। प्रातः से बहुत कुछ घटित हुआ है, तुम्हारे जीवन में। थक गयी होगी।"

कुश की शैया पर कुंती ने मृगचर्म बिछा दिया; और द्रौपदी की भुजा पकड़कर, उसपर ला बैठाया, "सो सको, तो थोड़ी देर सो जाओ। मानसिक ऊहापोह से विश्राम मिलेगा।"

द्रौपदी को कुंती का प्रस्ताव अच्छा लगा। उसे लगा कि वह अपने ही प्रश्नों से संघर्ष करती हुई पर्याप्त थक गयी है। यदि कुछ देर इस संघर्ष को विराम दे सके, तो कदाचित् उसका मन कुछ विश्राम पा सकेगा। किंतु··· ज्येष्ठ···वह इसी कक्ष में है···उसकी उपस्थिति में द्रौपदी कुश-शैया पर बिछे, इस मृगचर्म पर सो पायेगी क्या···

उसकी दृष्टि अनायास ही युधिष्ठिर की ओर उठ गयी; किंतु उसने देखा कि वह उसकी दृष्टि उठने से पहले ही, बाहर जाने के लिए उठ चुका था। अपनी उपस्थिति के कारण, द्रौपदी को होने वाली असुविधा और संकोच को वह समझ चुका था।···द्रौपदी को लगा कि जितना भी समय बीतता जा रहा है, वह इस परिवार के शील- व्यवहार पर मुग्ध होती जा रही है। ये लोग सचमुच असाधारण थे···अपने शील में, आचरण में, चिंतन में, और व्यवहार में···निस्पृह चरित्रों वाले, निर्लोभी···

द्रौपदी लेट गयी। कुंती ने कक्ष से बाहर निकल, कपाट भिड़ा दिये। इस समय कक्ष में पूर्ण एकांत था और शांति···

कृष्ण के आने से द्रौपदी यह कल्पना करने लगी थी कि कदाचित् ये पांडव ही थे और वह धनुर्धर वीर अर्जुन ही था; किंतु जिस प्रकार वे लोग नगर में भिक्षाटन करने के लिए गये थे, क्या वह पांडवों के लिए संभव था ? वे लोग अभ्यस्त भिक्षोपजीवी ब्राह्मण ही प्रतीत होते थे। इतनी बड़ी घटना के पश्चात्, इस असाधारण उपलब्धि के पश्चात् भी वे पंचाल राजकुमारी को इस कक्ष में छोड़कर, भिक्षाटन के लिए नगर में निकल गये थे, जैसे उनके जीवन में कुछ महत्वपूर्ण घटित ही न हुआ हो।···जिस पांचाली के लिए आज प्रातः ही आर्यावर्त के महत्वपूर्ण अधिपतिगण युद्ध कर, रक्त बहाने को तत्पर थे, उसी पांचाली को वे लोग इस प्रकार इस ध्वस्त

आवास में छोड़ गये हैं, जैसे वह रक्षा के योग्य साधारण मूल्यवान वस्तु भी न हो···

सहसा द्रौपदी ने स्वयं अपने-आपसे पूछा : क्या वह स्वयं को असुरक्षित अनुभव कर रही है ? और तत्काल ही उसने स्वयं ही उत्तर दे दिया, 'कृष्ण ने कहा था, जो प्रत्यक्ष है, वह माया का प्रपंच है।' वह जानती है कि, वह असुरक्षित नहीं है।··· वे पाँचों नहीं गये हैं। ज्येष्ठ घर में ही है। निश्चय ही वह उसकी रक्षा के विचार से ही घर में रह गया होगा। किंतु क्या वह भी अपने भाइयों के समान शस्त्र-प्रयोग में निपुण है ?···और फिर द्रौपदी का सखा है कृष्ण। वह जानता है, पांचाली यहाँ है। वह यह भी जानता है कि उसके अपहरण का भी प्रयत्न हो सकता है। वह इन भाइयों को आश्वस्त कर गया था कि यादव महारथी और अतिरथी अपने शस्त्रों के साथ उनकी रक्षा के लिए सन्नद्ध खड़े हैं। जो इन वीर भाइयों की रक्षा की बात कर रहा है, क्या असहाय द्रौपदी की चिंता उसे नहीं होगी !···और द्रौपदी यह भी नहीं मान सकती कि उसके पिता और भाई, उसकी ओर से असावधान होंगे। उनके गुप्तचर या तो उसके पीछे-पीछे ही आ गये होंगे, या फिर कृष्ण तथा बलराम का पीछा करते हुए, यहाँ पहुँच गये होंगे। उसकी रक्षा की पूरी व्यवस्था होगी। वह असुरक्षित नहीं है···

किंतु यदि यह परिवार साधारण भिक्षोपजीवी ब्राह्मणों का होता तो इस संबंध के हो जाने के पश्चात् वे उसी नगर में भिक्षाटन करते फिरते ? वे राजप्रसाद में बैठ, छतीस व्यंजनों का स्वाद न लेते ?···तो उनको क्या माने द्रौपदी ? यदि वे लोग साधारण भिक्षोपजीवी ब्राह्मण नहीं हैं; और यह उनका छद्मवेश है, तो उन्होंने अपने अहंकार को किस प्रकार पूर्णतः जय कर लिया है कि द्वार-द्वार भिक्षा की याचना करते हुए, उन्हें तनिक भी असुविधा नहीं होती ? जरा-सा भी संकोच नहीं होता ?···वे अपने-आपको कहीं भी अपमानित अनुभव नहीं करते ? मान-अपमान की भावना से ऊपर उठ चुके हैं ये लोग ? स्थितप्रज्ञ हो गये हैं ?···और यदि वस्तुतः भिक्षोपजीवी ब्राह्मणों का परिवार है, तो इन लोगों ने लोभ को पूर्णतः जय कर लिया है, जो महाराज द्रुपद के संबंधी होकर भी, उन्हीं की राजधानी में गली-गली भिक्षा माँग रहे हैं। पंचालराज की वीर्यशुल्का कन्या को स्वयंवर में जय करके, उन्हें एक दिन के लिए भी विजय के अहंकार का मद नहीं चढ़ा ? उन्हें तनिक भी अपना यश सुनने की इच्छा नहीं हुई ? राजकन्या को इस दीन-हीन आवास में बैठा कर, भिक्षा माँगने चल दिये, जैसे इस प्रकार की उपलब्धियाँ प्रतिदिन उनके चरण चूमती हैं ! किसी सम्राट् ने भी द्रौपदी को प्राप्त किया होता, तो वह महीनों इस विजय के समारोह मनाता; उसका अहंकार इतना स्फीत होता कि अन्य लोगों की आँखों में ही नहीं, हृदय में भी गड़ने लगता···

सचमुच अद्भुत है यह परिवार—संयमी, निरहंकारी, निर्लोभी, प्रशंसा और अभिशंसा से उदासीन, स्थितप्रज्ञ···!

युधिष्ठिर कक्ष से निकलकर घेर में आ बैठा। वैसे भी उसे इस समय एकांत ही चाहिए था। वह सोचना चाहता था। घटनाओं के इस आकस्मिक मोड़ ने जिन परिस्थितियों से उन्हें बाँध दिया था, उनसे निबटना सरल नहीं था।···

धर्मशास्त्र के अनुसार, परंपरा के अनुसार, सनातन धर्म के अनुसार, और माता की

इच्छा के अनुसार—भाइयों में सबसे पहले, विवाह का अधिकार युधिष्ठिर का ही था। इसी दृष्टि से अर्जुन ने पांचाली उसे सौंप दी थी। पांचाली के साथ युधिष्ठिर का ही विवाह होना चाहिए था।··· किंतु पांचाली को स्वयंवर में अर्जुन ने जीता था···पितामह भीष्म का उदाहरण उनके सामने अवश्य था; किंतु पितामह ने तो स्वयंवर में जाने से पहले ही अखंड ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा कर ली थी। जब वे काशिराज की कन्याओं का हरण कर रहे थे, वे तब भी जानते थे कि वे अपने विवाह के लिए यह सब नहीं कर रहे हैं। जब वे शाल्व से युद्ध कर रहे थे, तब भी वे जानते थे कि उन कन्याओं का विवाह वे अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य से करेंगे।···किंतु अर्जुन के साथ तो यह बात नहीं थी।···पांचाली को स्वयंवर-मंडप में देखकर अर्जुन का मन उसमें अनुरक्त हुआ होगा। स्वयंवर की प्रतिज्ञा पूरी करते हुए, उसने द्रौपदी को अपनी माना होगा। उसे लेकर उल्लसित भाव से जब वह यहाँ आया था, तो यही मानकर आया होगा कि द्रौपदी से उसी का विवाह होगा···। द्रौपदी में उसकी आसक्ति कैसे समाप्त हो जायेगी ?···और क्या अधिकार है युधिष्ठिर को कि वह इस प्रकार अपने छोटे भाई को वंचित करे ?···कहीं ऐसा तो नहीं कि धर्म की आड़ में युधिष्ठिर की अपनी आसक्ति ही कार्य कर रही हो ? धर्म के व्याज से वह अर्जुन को द्रौपदी से वंचित कर रहा हो ? द्रौपदी अर्जुन की है, उसी की रहनी चाहिए···किंतु युधिष्ठिर को तो भीम के हाव-भाव में भी द्रौपदी के प्रति अनुराग दिखायी दे रहा है।···जब वह आया था, तो उसने कितने उल्लास से कहा था कि वे शत्रुओं से युद्ध कर, पांचाली को जीतकर लाये हैं। उसने यह भी कहा था कि यदि वह न होता तो वैरी पांचाली को ही नहीं, अर्जुन को भी उठाकर ले जाते···इसका युधिष्ठिर क्या अर्थ समझे ? जब भीम शत्रुओं से लड़ रहा था, तो उसके मन में यह भाव नहीं रहा होगा कि वह अर्जुन की वाग्दत्ता की रक्षा के लिए लड़ रहा है ?···स्पष्ट ही वह द्रौपदी की रक्षा के लिए लड़ रहा था, अथवा अपनी आसक्ति के लिए लड़ रहा था। उसके मन ने तब तक कदाचित् यह स्वीकार नहीं किया था कि द्रौपदी अर्जुन की वाग्दत्ता हो चुकी है। उसके लिए शायद अभी द्रौपदी का स्वयंवर समाप्त नहीं हुआ था। अपने बाहुबल से, कोई भी द्रौपदी का हरण कर, उसे ले जा सकता था। उस संघर्ष में भीम विजयी हुआ था; अतः वह ठीक ही मानता था कि द्रौपदी को प्राप्त करने का संघर्ष या तो उसने अकेले जीता था, या अर्जुन के साथ मिलकर···

युधिष्ठिर का मन कहता था कि भीम का ऐसा सोचना अनुचित था; किंतु उसके लिए भीम की भावना भी महत्वपूर्ण थी। द्रौपदी के प्रति भीम की आसक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी।··· यदि द्रौपदी किसी एक भाई की पत्नी बन गयी तो क्या अन्य दो भाई अपनी आसक्ति को भुला कर, पूर्ववत् सहज रह सकेंगे ? कहीं ऐसा न हो कि पांचाली उनके परिवार में सुख, प्रसन्नता और उल्लास लाने के स्थान पर ईर्ष्या, द्वेष और विभाजन लाये···कहीं पांचाली उनकी उपलब्धि के स्थान पर वंचना ही न बन जाये··· यह उनके अभ्युदय का क्षण न रहकर, पतन का द्वार न बन जाये···

नहीं ! तर्कपूर्वक एक निर्णय को उचित ठहराकर, किसी एक भाई से पांचाली का विवाह न धर्मोचित होगा; और न व्यवहारतः उनके परिवार के लिए उत्थान का कारण होगा। कहीं वह उनके लिए विषवृक्ष ही न बन जाये··· युधिष्ठिर को बहुत सोच-समझकर ही निर्णय करना होगा।···

34

रात्रि का प्रथम प्रहर प्रायः बीत रहा था ।

धृष्टद्युम्न ने अपना अश्व सेवक के हवाले किया और सीढ़ियाँ फलाँगता हुआ प्रासाद के भीतरी भाग में चला गया । अतं:पुर की दासियों से मालूम हुआ कि महाराज ऊपर के प्रखंड में अपने विश्राम-कक्ष में हैं । धृष्टद्युम्न समझ गया कि वे विश्राम तो क्या कर रहे होंगे; हाँ ! अपनी चरम व्याकुलता में गवाक्ष के सम्मुख टहल रहे होंगे और गंगा के वहते जल पर टकटकी लगाये होंगे । यह उनका पुराना अभ्यास था । जव कभी मन का संघर्ष, असह्य प्रतीत होने लगता है, ऊपर के कक्ष में जाकर, पिंजरे में वंद सिंह के समान व्याकुल भाव से टहला करते थे और गंगा के जल को टकटकी वाँधकर देखा करते थे, जैसे अपनी दृष्टि के बल से वे जल का प्रवाह रोक देंगे ।

"महाराज को सूचित करो कि मैं भेंट करना चाहता हूँ ।" धृष्टद्युम्न के कहा; किंतु दासी के किसी उत्तर से पहले ही पुनः बोला, "तुम ठहरो ! मैं स्वयं ही जाता हूँ ।"

दासी हाथ जोड़कर मार्ग से हट गयी ।

वस्तुतः धृष्टद्युम्न स्वयं अपनी आतुरता के कारण पिता तक पहुँचने में विलंव नहीं करना चाहता था; और यह भी संभव था कि पिता की व्याकुलता, दासी को उनके निकट पहुँचने ही नहीं देती ।··· धृष्टद्युम्न विना किसी पूर्व-संकेत के ही पिता के विश्राम-कक्ष में प्रविष्ट हो गया ।

आहट पाकर द्रुपद अत्यंत खीज और अधैर्य की मुद्रा में घूमे; किंतु सामने पुत्र को खड़ा देख, उनकी मुद्रा कुछ परिवर्तित हुई, "कुछ पता चला ?"

"वे दोनों ब्राह्मण कृष्णा को लेकर नगर के वाहर एक कुंभकार धर्मरक्षित के घेर के एक आवास में गये हैं ।···"

"धृष्टद्युम्न ! धृष्टद्युम्न !" द्रुपद के मन की सारी खीज निर्भ्रांत रूप से प्रकट हो गयी, "मैं उनका भूगोल नहीं पूछ रहा । मैं पूछ रहा हूँ—वह किस परिवार में गयी है ? कौन हैं वे लोग ?"

"इसका निर्णय मैं अभी कर नहीं पाया हूँ पिताजी !" धृष्टद्युम्न शांत स्वर में बोला, "किंतु मुझे लगता है कि उन लोगों का वास्तविक परिचय पाना वहुत कठिन नहीं होगा ।···"

"तुम्हारा विचार है कि वे लोग छद्म वेश धारण कर यहाँ आये थे ?" द्रुपद ने पूछा, "वे लोग वस्तुतः वनवासी ब्राह्मण नहीं हैं ?"

"कुछ ऐसा ही लगता है पिताजी !"

"कारण ?"

"यदि वस्तुतः वह वनवासी भिक्षोपजीवी परिवार होता, तो वासुदेव कृष्ण अपने बड़े भाई के साथ, छिपकर उनसे मिलने के लिए नहीं जाता ।"

"क्या कृष्ण उनसे मिलने के लिए गया था ?"

"हाँ, पिताजी !"

"तुमसे किसने कहा ?"

"मैंने स्वयं उन्हें भीतर जाते और लौटकर बाहर आते देखा है ।"

द्रुपद अवाक् खड़े रह गये । उनकी आँखें धृष्टद्युम्न को देखते हुए भी जैसे उसे नहीं देख

रही थीं। वे अचेत होने की स्थिति तक अन्यमनस्क थे। थोड़ी देर में जैसे उनकी चेतना लौटी, "कृष्ण छुपकर वहाँ गया था, और तुमने उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे देख लिया; या कृष्ण यह चाहता था कि तुम समझो कि वह उनसे परिचित है, इसलिए उसने तुम्हें अवसर दिया कि तुम उसे वहाँ जाते हुए देखो ?"

धृष्टद्युम्न के पास पिता के प्रश्न का कोई उत्तर नहीं था। उसने इस घटना को इस दृष्टिकोण से तो देखा ही नहीं था।...

इस बार द्रुपद बोले तो उनका स्वर काफी ठहरा हुआ था, "मेरा विचार है कि यदि कृष्ण यह न चाहता कि तुम उनसे मिलते हुए उसे देखो, तो तुम कभी उसे न देख पाते।... सामान्यतः घटनाएँ कृष्ण की इच्छा के विरुद्ध नहीं घटतीं। कृष्ण की इच्छा ही घटनाओं को आकार देती है।" उन्होंने रुककर पुत्र को देखा, "अच्छा, बताओ ! तुमने क्या देखा और क्या जाना ?"

"वे लोग पाँच भाई हैं और एक उनकी माता है।..."

"क्या वे पाँच पांडव और उनकी माता हैं ?" द्रुपद ने पूछा, "क्या वे लोग जीवित हैं ?"

"यह मैं नहीं जानता !" धृष्टद्युम्न बोला, "कृष्ण के जाने के पश्चात् एक भाई को आवास पर छोड़ शेष चार भाई भिक्षाटन के लिए चले गये थे। उनके पीछे घर में कोई गतिविधि नहीं हुई। कृष्णा कक्ष में ही रही; बड़ा भाई बाहर फेर में बैठा कुछ विचार करता रहा और उनकी माता घर के छोटे-मोटे कार्य निपटाती रही।..."

"और उनके लौटने पर ?"

"उनके लौटने पर उनकी माता ने भिक्षा में आया सारा अन्न एकत्रित कर कृष्णा से कहा, 'भद्रे ! तुम भोजन का प्रथम भाग लेकर उससे देवताओं को बलि अर्पण करो तथा ब्राह्मणों को भिक्षा दो। अपने आस-पास जो अश्रित भाव से रहते हों और अन्न चाहते हों, उन्हें भी अन्न परोसो। जो शेष बचे, उसका आधा भाग मध्यम के लिए रखो। शेष के छह भाग कर, चार भाग शेष चारों भाइयों के लिए परोस दो। एक भाग मेरे लिए और एक अपने लिए अलग-अलग परोस दो।' कृष्णा ने वैसा ही किया। भोजन कर, छोटे भाई ने धरती पर कुश की शैया बिछा दी। उसपर उन्होंने मृगचर्म बिछाए। वे पाँचों भाई दक्षिण दिशा की ओर सिर कर मध्य में लेटे। उनकी माता उनके मस्तक की ओर तथा कृष्णा उनके पैरों की ओर लेटी।..." धृष्टद्युम्न रुका।

द्रुपद ने दृष्टि उठाकर उसे देखा।

"पिताजी ! मुझे कृष्णा के आनन पर दुख की एक हल्की-सी भी रेखा दिखायी नहीं दी। उसने उस अवस्था में भी, उन पाँचों भाइयों का, तनिक भी तिरस्कार नहीं किया।..."

"तुम्हें कृष्णा पूर्णतः संतुष्ट लगी ?"

"चेहरे से तो वह संतुष्ट ही लगी !"

"उसने उनके वार्तालाप में भाग नहीं लिया ?"

"सामान्यतः हमें उसका स्वर सुनायी नहीं दिया। लगता है कि भोजन के पश्चात् वह अत्यंत तृप्ति तथा निश्चिंतता के साथ सो गयी थी। उन पाँचों भाइयों के वार्तालाप के स्वर तो आते रहे; किंतु न तो कृष्णा बीच में एक भी शब्द बोली और न ही कोई उससे संबोधित ही हुआ। उनके वार्तालाप से ऐसा लगा, जैसे कृष्णा वहाँ है ही नहीं।..."

"उनकी चर्चा का विषय क्या था ?" द्रुपद ने पूछा।

"वे लोग कुछ इस प्रकार चर्चा कर रहे थे, जैसे वे लोग अत्यंत दक्ष और सिद्ध सेनापति हों।"

"तुम इस निर्णय पर कैसे पहुँचे ?"

"वे व्यूहों और दिव्यास्त्रों की चर्चा कर रहे थे। वह धनुर्धर, जिसने स्वयंवर की प्रतिज्ञा पूर्ण कर, लक्ष्यवेध किया था, देवास्त्रों की चर्चा कर रहा था। वे लोग रथों, अश्वों, सारथियों तथा शस्त्रास्त्रों की इस प्रकार बातें कर रहे थे, जैसे युद्धरत क्षत्रिय ही कर सकते हैं। उन्होंने ब्राह्मणों की चर्चा के सामान्य विषयों के संबंध में तो एक शब्द भी नहीं कहा, पिताजी !"

द्रुपद चुपचाप अपने पुत्र की ओर देखते रहे; किंतु उनके चेहरे से स्पष्ट था कि वे किसी गंभीर चिंता में लीन थे।...

धृष्टद्युम्न पिता के बोलने की प्रतीक्षा करता रहा। अंततः द्रुपद बोले, "धृष्टद्युम्न ! जाओ, वासुदेव कृष्ण को बुला लाओ।"

"इस समय पिताजी !" वह चकित रह गया, "रात काफी व्यतीत हो चुकी है।"

"हाँ ! इसी समय !" द्रुपद दृढ़ता से बोले, "मैं प्रातः तक प्रतीक्षा नहीं कर सकता।"

धृष्टद्युम्न के साथ कृष्ण इस प्रकार द्रुपद के सामने आ उपस्थित हुआ, जैसे वह द्रुपद के बुलावे की प्रतीक्षा ही कर रहा था। उसने इस बुलावे पर न आश्चर्य प्रकट किया और न ही आने में किसी प्रकार की आनाकानी की।

"गोविंद !" द्रुपद ने अपने गंभीर स्वर में पर्याप्त रुखाई से कहा, "वह ब्राह्मण धनुर्धर कहाँ है, जो कृष्णा को स्वयंवर में जय करके ले गया है ?"

कृष्ण ने सायास अपनी मोहिनी का प्रयोग किया, "तात्, मुझसे क्यों पूछ रहे हैं। वे लोग भूमिगत नहीं हैं; और आपके पास अत्यंत योग्य गुप्तचर विभाग है।"

"मेरे गुप्तचर विभाग ने सूचना दी है कि तुम उन ब्राह्मण युवकों से मिलने उनके आवास पर गये थे।" द्रुपद बोले, "धृष्टद्युम्न का विचार है कि तुम उन युवकों से भली प्रकार परिचित हो।"

कृष्ण के नयनों में न आश्चर्य था, न संकोच, न भय और न ही असमंजस। उसके नयनों में लीला भरी थी, "परिचित हूँ आर्यश्रेष्ठ !"

"जिस वेश में वे यहाँ आये थे, क्या वह उनका छद्मवेश है ?"

"हाँ आर्य !"

"प्रयोजन ?"

"उनकी परिस्थितियाँ !"

"उनकी वास्तविकता क्या है ?"

कृष्ण ने तत्काल उत्तर नहीं दिया। उसने बारी- बारी द्रुपद तथा धृष्टद्युम्न को देखा, "आप शांत हों महाराज !" वह बोला, "किसी अनिष्ट की कल्पना न करें। आपका संबंध आर्यावर्त के एक अत्यंत प्रतिष्ठित कुल से हुआ है।..."

"कृष्ण !...कृष्ण !!..." द्रुपद अपनी असहाय उत्तेजना में सिर हिलाकर रह गये।

"तात् ! जिस युवक ने लक्ष्यवेध किया था, वह हस्तिनापुर के स्वर्गीय सम्राट् पांडु का

पुत्र कौन्तेय अर्जुन है।"

द्रुपद की मुद्रा अकस्मात् ही कठोर हो गयी, "मैंने तुम्हें अपना हितैषी समझा था केशव !"

"मैं आपका हितैषी ही हूँ आर्य ! आपके पुत्र सरीखा।"

"तो फिर यह सब क्या है ?" द्रुपद के स्वर में एक प्रकार की विह्वलता थी, जिसे वे स्वयं समझ नहीं पा रहे थे। वे स्वयं समझ नहीं पा रहे थे कि इस सूचना से वे प्रसन्न थे अथवा अप्रसन्न, "क्या तुम नहीं जानते कि द्रोण से अपने अपमान का प्रतिशोध, मेरे जीवन का एकमात्र ध्येय है ?"

"जानता हूँ तात् !"

"जिसने बद्ध पशु के समान मुझे अपने गुरु के चरणों में धकेल दिया था, उससे अपनी पुत्री का विवाह कर मैं सम्मानित हो रहा हूँ ? अपने घोरतम शत्रु द्रोण के शिष्य से कृष्णा का विवाह करने से मेरे अपमान का प्रतिशोध लिया जायेगा क्या ? मेरे शत्रु को आश्रय देने वाले भीष्म के पौत्र से अपनी पुत्री का विवाह कर, मैं अपने जीवन के एकमात्र लक्ष्य की प्राप्ति करूँगा क्या ?" वे धृष्टद्युम्न की ओर मुड़े, "सेनापति को सावधान करो। सैनिकों को सन्नद्ध करो। शत्रु हमारी पकड़ से निकलने न पाये।"

"ठहरो धृष्टद्युम्न !" कृष्ण बोला, "सेनापति और सैनिकों की कोई आवश्यकता नहीं है। महाराज की इच्छा होगी, तो मैं स्वयं उन पाँचों पांडवों को लाकर महाराज के चरणों में डाल दूँगा।"

"तुम जाओ धृष्टद्युम्न ! तुम इस मायावी की बातों में न आओ।" द्रुपद बोले, "यह हमें अपनी बातों से बहलाता रहेगा, और वे कृष्णा सहित हमारे राज्य से निकलकर, किसी सुरक्षित स्थान पर जा छिपेंगे।"

"नहीं आर्य ! मेरा विश्वास करें कि ऐसा नहीं होगा।" कृष्ण के स्वर में जैसे स्वयं सत्य ही बोल रहा था, "यह मेरा वचन है।"

"गोविंद पर विश्वास करें पिताजी !" धृष्टद्युम्न बोला।

द्रुपद ने असमंजस की स्थिति में पहले कृष्ण को देखा और फिर धृष्टद्युम्न को। अंत में उनकी दृष्टि पुनः कृष्ण पर लौट आयी, "यदि मैं आज्ञा दूँगा, तो तुम उन्हें बाँधकर, मेरे चरणों में डाल दोगे ?"

"डाल दूँगा।"

"मैं उनका वध करने के लिए खड्ग उठाऊँगा तो अपना सुदर्शन चक्र लेकर मेरे मार्ग में खड़े तो नहीं हो जाओगे ?"

"नहीं !"

"उनका वध होते चुपचाप देखते रहोगे ?"

"चुपचाप नहीं देखूँगा," कृष्ण बोला, "आपको स्मरण दिलाता रहूँगा कि अर्जुन आपका जामाता है। उसकी मृत्यु से आपकी पुत्री विधवा हो जायेगी।..."

"ओह !..."

"और यह," कृष्ण बोला, "कि आप वही कर रहे हैं, जो आपके परम शत्रु, आचार्य द्रोण के संरक्षकों, मित्रों और शिष्यों ने करने का प्रयत्न किया था—अर्थात् पांडवों की हत्या ! आप द्रोण और उनके संरक्षकों की इच्छा पूरी कर रहे हैं। क्या उससे आपके अपमान का प्रतिशोध हो जायेगा ?..."

द्रुपद अपने स्थान पर खड़े, कृष्ण को देखते रहे; और फिर अपने दाँतों से अधरों को चबाते हुए इधर-उधर टहलते रहे। अकस्मात् ही रुककर वे बोले, "किंतु पांडव तो अपनी माता-सहित, वारणावत के अग्निदाह में भस्म हो चुके थे ?"

"उनकी हत्या का प्रयत्न किया गया था; किंतु वे अपने कौशल और मित्रों की सहायता से बच निकले।" कृष्ण बोला, "तब से वे अपने हत्यारों से बचने के लिए छद्मवेश में वन-वन, नगर-नगर घूम रहे हैं। उन्होंने आपको अपना मित्र माना और यह समझा कि वे आपके संरक्षण में अपने शत्रुओं से सुरक्षित रहेंगे।"

"तुम पूर्ण विश्वास से कह सकते हो कि द्रोण तथा उनके समर्थक हस्तिनापुर के शासकों ने ही पांडवों की हत्या का प्रयत्न किया था ?"

"धृतराष्ट्र, दुर्योधन, कर्ण, शकुनि, पुरोचन तथा कणिक की योजना थी; आचार्य द्रोण तथा अश्वत्थामा का मौन समर्थन एवं निष्क्रिय सहयोग था,'" और पुरोचन का कृत्य था।"

"क्या भीष्म को यह सब ज्ञात है ?" द्रुपद ने पूछा।

"नहीं ! उन्हें इसका ज्ञान नहीं है, न ही इसमें उनकी कोई सहमति है।"

द्रुपद मौन हो गये और मन-ही-मन कुछ सोचते रहे। अंततः बोले, "मैं बड़े द्वंद्व में हूँ कृष्ण !"

"मैं द्वंद्व का कारण नहीं समझ पा रहा तात् !" कृष्ण मुस्कराया।

"अर्जुन मेरा शत्रु है।"

"नहीं तात् ! आप उस युद्ध को स्मरण करें। वह अर्जुन तथा भीम का पांचाल राज द्रुपद से युद्ध नहीं था। वह गुरु-दक्षिणा चुकाने का प्रयत्न मात्र था। युवराज बनकर युधिष्ठिर ने हस्तिनापुर की राजसभा में उस युद्ध और उसके प्रेरक आचार्य द्रोण का विरोध किया था; और उसी दिन से आचार्य का वरद्‌हस्त पाडंवों के सिर से उठ गया था।"

"हाँ ! चुकायी तो उन्होंने गुरु-दक्षिणा ही थी।"

"तो फिर आप अर्जुन को अपना शत्रु कैसे मानते हैं ?"

"शत्रु तो वह है ही ! उसने मुझे अपमानित किया था।" द्रुपद जैसे अपनी इच्छा के विरुद्ध पुनः आवेश में आ गये।

"आर्य ! आप इतने बुद्धिमान और विवेकी होकर भी ऐसी बात कर रहे हैं !" कृष्ण अत्यंत कोमल स्वर में बोला, "शत्रुता और मित्रता कोई स्थायी संबंध तो हैं नहीं। क्या राजनीति में समीकरण बदलते नहीं ? कल वह द्रोण-शिष्य के रूप में गुरु-दक्षिणा चुका रहा था; आज वह आपके जामाता के रूप में आपके शत्रु का संहार कर सकता है। जामाता और शत्रु में अंतर ही क्या है ? आपने जैसा जामाता चाहा था, वैसा ही जामाता आपको मिल गया है। अर्जुन आर्यावर्त का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर है तात् !"

द्रुपद ने औचक दृष्टि उठाकर कृष्ण को देखा, "क्या वह अपने गुरु और संबंधियों के विरुद्ध युद्ध करेगा ?"

"वह अन्याय और अधर्म के विरुद्ध युद्ध करेगा।" कृष्ण बोला, "न्याय और धर्म, संबंधों को नहीं, सत्य को देखते हैं।"

द्रुपद स्थिर दृष्टि से कृष्ण को देखते रहे।

"अर्जुन, आचार्य द्रोण के पक्ष में खड़ा था, तो द्रोण सबल थे; अर्जुन को आप अंगीकार

करें तो द्रोण दुर्बल होंगे और आपकी शक्ति बढ़ेगी । क्या आप शक्ति-संतुलन मे यह परिवर्तन नहीं चाहते ?"

द्रुपद अपने द्वंद्वों से मुक्त नहीं हो पा रहे थे । वे बोले, "कृष्ण ! अब यदि पांडव हस्तिनापुर लौट जायें; भीष्म युधिष्ठिर का राज्याभिषेक कर दें; तो मेरी क्या स्थिति होगी ? वह मेरी प्रतिज्ञा पूरी हुई ? क्या मैंने द्रोण से अपने अपमान का प्रतिशोध लिया ? क्या मैंने कुरुवंश का नाश किया ?"

"कुरुवंश का नाश आपकी प्रतिज्ञा नहीं है । आपकी प्रतिज्ञा है, अपने अपमान का प्रतिशोध ! उसी के लिए आप कुरुवंश का नाश करना चाहते हैं ।" कृष्ण मुस्कराया, "आपकी प्रतिज्ञा पूरी होगी ।"

"कैसे ?" द्रुपद ने अधैर्य में अपना हाथ-पटका, "अपनी पुत्री को अपने शत्रु के शिष्य की पत्नी बनाकर ? शत्रु के आश्रयदाता भीष्म की पौत्रवधू बनाकर ? हस्तिनापुर में कृष्णा को सदा उन लोगों के हाथों—शत्रु-पुत्री के रूप में अपमानित होते देखकर ?"

"नहीं !" कृष्ण पूर्णतः आश्वस्त था, "यदि युधिष्ठिर हस्तिनापुर का सम्राट बनता है, तो द्रोण का महत्व अधिक होगा या अर्जुन का ? पांडवों का वध करने वाले धार्तराष्ट्रों का पक्ष प्रबल होगा अथवा वनवासी, सर्व-वंचित पाडवों का हाथ पकड़कर, उन्हें पुनर्जीवित करने वाले पांचालों का ? राजन् ! मेरी बुद्धि कहती है कि युद्ध हो या न हो, आपकी प्रतिज्ञा अवश्य पूरी होगी । युद्ध नहीं हुआ तो हस्तिनापुर की सत्ता पांडवों के हाथ में होगी । कृष्णा अपनी बुद्धि और ज्ञान से अपने श्वसुर-कुल पर शासन करेगी । तब द्रोण जैसे राजाश्रित आचार्य के लिए, हस्तिनापुर में कोई स्थान नहीं होगा ।...और यदि पांडवों को सत्ता नहीं सौंपी गयी, तो धृतराष्ट्र-पुत्रों से पांडवों का युद्ध होगा । अर्जुन और आचार्य द्रोण विरोधी पक्षों की ओर से लड़ेंगे; और अर्जुन के सबसे बड़े सहायक होंगे आप तथा आपके मित्र मत्स्य ! क्या आपकी प्रतिज्ञा पूरी नहीं होगी ?"

द्रुपद, कृष्ण को देखते रहे । न तो वे कृष्ण के तर्कों का उत्तर दे पा रहे थे, न उनके आक्रोश का ही शमन हो रहा था ।...

"तुमने पहले उनका परिचय मुझसे गुप्त क्यों रखा ?"

"संबंध होने से पहले यदि उनका परिचय आपको दे देता, तो कदाचित् आप कांपिल्य की सीमाओं से बाहर ही, उनका वध करवा देते ।" कृष्ण मुस्कराया, "तब न पांडवों को अपने सहायक पांचाल मिलते और न पांचालों को पांडवों का समर्थन प्राप्त होता ।"

"तुम बहुत चतुर हो कृष्ण !" बड़ी कठिनाई से द्रुपद के अधरों पर एक हल्की-सी मुस्कान आयी । वे धीरे-धीरे कृष्ण के निकट आये; उसके कंधों पर हाथ रखा और बोले, "मेरी कृष्णा सौभाग्यशालिनी है, कि उसे तुम जैसा सखा प्राप्त है ।"

35

प्रातः पांडवों को, राजपुरोहित के माध्यम से द्रुपद का, राजप्रासाद में आकर भोजन करने का. निमंत्रण मिला । उन्हें राजप्रासाद तक ले जाने के लिए विशेष अवसरों के लिए सुसज्जित रथ

आये थे ।

युधिष्ठिर के मन में अनेक प्रश्न उथल- पथल मचा रहे थे''द्रुपद ने कल भीम और अर्जुन को आग्रहपूर्वक प्रासाद में आने के लिए क्यों नहीं कहा ?'''और आज पाँचों भाइयों के लिए निमंत्रण क्यों है ?'''उन्हें किसने बताया कि वे पाँच भाई हैं और संग में उनकी माता भी हैं ?'''यह सब जानने के पश्चात् उनकी प्रतिक्रिया मैत्रीपूर्ण है अथवा अमैत्रीपूर्ण ?'''इन सारे प्रश्नों के साथ जुड़ा था, सब से बड़ा प्रश्न—उन्हें यह निमंत्रण स्वीकार करना चाहिए अथवा नहीं ? राजप्रासाद में जाकर उनका कोई अनिष्ट तो नहीं होगा ?'''

अंततः युधिष्ठिर ने निमंत्रण स्वीकार करने का ही निश्चय किया !'''वस्तुतः वे यहाँ पांचाली को प्राप्त करने नहीं आये थे । वे पांचालों से मैत्री- संबंध जोड़ने आये थे । वह संबंध, निमंत्रण अस्वीकार करने से नहीं जुड़ सकता ।'''और वैसे भी तो कृष्ण ने कहा था कि निमंत्रण की प्रतीक्षा करना''कृष्ण ने यह नहीं कहा था कि निमंत्रण अस्वीकार करना''उन्हें बार- बार आग्रहपूर्वक कांपिल्य जाने का आदेश देने वाले भगवान वेदव्यास ने भी निमंत्रण स्वीकार करने का निषेध नहीं किया था ।'''

राजप्रासाद के मुख्य द्वार पर स्वयं महाराज द्रुपद ने उनका स्वागत किया; और उन पाँचों को ब्राह्मण- पुत्रों तथा कुंती को ब्राह्मणी के रूप में ही संबोधित किया । प्रासाद के भीतर ले जाकर, उन्हें जिस कक्ष में बैठाया गया, वह न तो विश्राम- कक्ष था और न ही स्वागत- कक्ष । वह शस्त्रागार भी नहीं था; किंतु या तो वह शस्त्रों का संग्रहालय था, या किसी विशेष प्रयोजन से वहाँ विशिष्ट शस्त्रास्त्रों का प्रदर्शन किया गया था । कक्ष में प्रवेश करते ही पांडवों की दृष्टि उन शस्त्रों की ओर लपक गयी ।''' द्रुपद उनसे बैठने का आग्रह करते रहे और उन्होंने शस्त्रास्त्रों का निरीक्षण- परीक्षण आरंभ कर दिया । उन्हें यह भी पता नहीं चला कि कब कुंती तथा द्रौपदी दासियों के साथ अंतःपुर में चली गयीं । द्रुपद शांत होकर बैठ गये और विस्मयपूर्वक पांडवों की गति- विधि निहारते रहे'''

अंततः जब पांडव शस्त्रों का निरीक्षण समाप्त कर, आकर द्रुपद के सम्मुख बैठे तो द्रुपद ने अवसर देखकर कहा, "ज्येष्ठ ब्राह्मण ! मैं जानने को उत्सुक हूँ कि तुम लोगों ने शस्त्रास्त्रों में यह रुचि और उनके संबंध में यह ज्ञान कहाँ से प्राप्त किया ? अपना वास्तविक परिचय दो पुत्र ! क्या तुम ब्राह्मण हो ?"

युधिष्ठिर के मन में क्षण भर के लिए एक द्वंद्व उभरा; किंतु निमिष भर में ही उसने निश्चय कर लिया । बोला, "महाराज ! हम किन्हीं विपत्तियों के कारण यह छद्मवेश धारण किये हुए हैं; किंतु आपके संरक्षण के कारण, अब यह गोपनीयता अनावश्यक प्रतीत हो रही है । अतः आपके सम्मुख हम अपना सत्य रूप ही प्रकट करेंगे ।" युधिष्ठिर ने क्षण- भर रुककर कहा, "मैं हस्तिनापुर के स्वर्गीय महाराज पांडु का ज्येष्ठ पुत्र कौंतेय युधिष्ठिर हूँ । ये मेरे छोटे भाई भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव हैं । हमारी माता महारानी कुंती कदाचित् पांचाली के साथ अंतःपुर में चली गयी हैं ।"

द्रुपद ने उठकर युधिष्ठिर को अपनी भुजाओं में भर लिया, "मुझे वासुदेव कृष्ण ने बता दिया था पुत्र ! मैं यह देख रहा था कि तुम लोग अपना वास्तविक परिचय देते हो या नहीं ।" और द्रुपद के स्वर में आवेश झलमलाया, "अब न तुम्हें छद्मवेश की आवश्यकता है, न इधर- उधर छिपते फिरने की । तुम लोग अपने वास्तविक रूप में, वास्तविक परिचय के साथ प्रकटतः कांपिल्य

में रहोगे; और यहीं से हस्तिनापुर जाओगे। धृतराष्ट्र को तुम्हारा अधिकार देना होगा। राज्यप्राप्ति में तुम्हारी सहायता मैं करूँगा। हम तुम्हारे साथ हैं—सारे सोमकवंशी नरेश, पंचाल राज्य, पांचाल सेनाएँ—द्रुपद की संपूर्ण शक्ति···"

सारे पांडव स्तब्ध खड़े रह गये··· अब जैसे उन्हें क्रमशः समझ में आ रहा था कि व्यास उन्हें कांपिल्य क्यों भेजना चाहते थे, कृष्ण किसलिए उन्हें प्रकट न होने के लिए कह रहा था।··· वस्तुतः एक क्षण में ही उनकी स्थिति पूर्णतः परिवर्तित हो चुकी थी···

"पुत्र युधिष्ठिर ! अब यह वनवासी ब्राह्मणों का वेश त्याग दो। जाओ। क्षौर-कर्म कराओ; स्नान करो और क्षत्रियों का वेश धारण करो।"

भोजन के पश्चात् पांडवों को सत्कारपूर्वक महाराज द्रुपद के सिंहासन-कक्ष में ले जाया गया। उन्होंने वनवासी, तपस्वी ब्राह्मणों का वेश त्याग दिया था। क्षौर-कर्म और स्नान के पश्चात् वे राजसी वेश धारण कर चुके थे।

कक्ष में महाराज द्रुपद, धृष्टद्युम्न, द्रौपदी तथा शिखंडी के अतिरिक्त स्वयं महर्षि वेदव्यास तथा वासुदेव कृष्ण भी उपस्थित थे।

वेदव्यास के कांपिल्य आने का समाचार सुनकर कुंती को यही लगा था कि महर्षि कदाचित् हिडिंबवन से ही पांडवों के निकट बने हुए थे। कभी अपने शिष्यों, अनुयायियों और भक्तों के माध्यम से और कभी स्वयं ही साक्षात् पधारकर। अब भी जैसे वे कांपिल्य के निकट ही, गंगा-तट के किसी तीर्थ पर रुके हुए थे; और स्वयंवर के परिणाम की सूचना पाकर कांपिल्य की ओर चल पड़े थे··· और कुंती का मन बार-बार एक ही प्रश्न पूछ रहा था, 'अब तक जो कुछ घटित हुआ, क्या वह सब संयोग-मात्र था, अथवा यह सब महर्षि की अपनी योजना का परिणाम था ?

"राजन् ! यह अत्यंत हर्ष का विषय है कि पांडव, वारणावत में उस जतु-गृह-षड्यंत्र से बचकर जीवित निकल आये।" महर्षि ने अपने मधुर-गंभीर स्वर में कहा, "और यह उससे भी अधिक प्रसन्नता का विषय है कि उनका संबंध तुमसे हुआ। मुझे लगता है कि तुम दोनों को ही परस्पर एक-दूसरे की आवश्यकता है। तुम दोनों ही एक-दुसरे की सहायता से अपना मनोवांछित फल पा सकते हो।···"

"मैं तो यह अब समझ पाया हूँ महर्षि, कि धौम्य मुनि ने मुझे स्वयंवर का आयोजन करने तथा कृष्णा को वीर्यशुल्का घोषित करने का परामर्श क्यों दिया था।" द्रुपद खुलकर अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहे थे, "आज मुझे लग रहा है कि मेरी आत्मा के सारे रुद्ध द्वार खुल गये हैं। इतने दिनों तक जैसे मैं जी नहीं रहा था, जीने का नाटक कर रहा था।"

"और राजन् ! मुझे विश्वास है कि हस्तिनापुर में अपना उत्तराधिकार प्राप्त करने में, तुम इनकी पूर्ण सहायता करोगे।" व्यास बोले।

"विवाह के पश्चात् हम सब उसी का प्रयत्न करेंगे।" द्रुपद बोले, "अब पांडवों को असुरक्षित अवस्था में हस्तिनापुर नहीं भेजा जायेगा। न ही उन्हें दुर्योधन की दया पर छोड़ा जायेगा। पांचालों, यादवों तथा मत्स्यों की सैन्य शक्ति पांडवों के साथ जायेगी।" द्रुपद रुके, "उसके लिए तो हम योजना-बद्ध रूप से कार्य करेंगे ही, पहले कृष्णा के विवाह का मुहूर्त

निश्चित् करें।"

व्यास ने विना कुछ कहे, कुंती की ओर देखा।

कुंती कुछ कहने को हुई; किंतु जैसे तत्काल उसने मौन ही रहने का निश्चय किया और अपेक्षापूर्ण दृष्टि से युधिष्ठिर की ओर देखा।

द्रुपद ने कुंती का संकेत समझा। वे हँसे, "अब माता पुत्रों की अभिभावक नहीं रहीं ?"

"अब पुत्र समर्थ हो गये हैं। अपने निर्णय उन्हें स्वयं ही करने चाहिए।" कुंती मुस्करायी, "युधिष्ठिर ! पुत्र, महाराज के प्रश्न का उत्तर दो।"

युधिष्ठिर ने एक बार कुंती की ओर देखा और द्रुपद से संबोधित हुआ, "महाराज ! मुझे कहने में थोड़ा संकोच हो रहा है; किंतु आशा है कि हमारे परिवार की असाधारण परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, आप मेरी बात को धैर्यपूर्वक सुनेंगे।"

द्रुपद के चेहरे का सहज हास लुप्त हो गया। वे गंभीर स्वर में बोले, "क्या बात है वत्स ?"

"तात् ! आप जानते हैं कि देश-काल की भिन्नता से प्रथा और प्रचलन का भी भेद होता है। प्रथाएँ निरंतर बदलती भी रहती हैं और हम उनमें संशोधन भी करते रहते हैं; किंतु कभी-कभी ऐसे अवसर भी आ जाते हैं, जब किन्हीं परिस्थितियोंवश हम अर्वाचीन परिवर्तनों को स्वीकार नहीं कर सकते···।"

"तुम क्या कहना चाहते हो वत्स ?" द्रुपद, युधिष्ठिर की बात समाप्त होने तक धैर्य धारण नहीं कर सके।

"तात् ! यद्यपि स्वयंवर में पांचाली को अर्जुन ने ही प्राप्त किया है; किंतु उनका विवाह परिवेदन है। इस विवाह के कारण वे दोनों और उनके अभिभावकों के रूप में आप तथा हमारी माता, पाप के भागी होंगे।···"

"ओह !" द्रुपद का ध्यान पहली बार इस ओर गया कि अर्जुन के दोनों बड़े भाई अभी अविवाहित हैं। वे तत्काल नये निश्चय पर पहुँचे, "तो तुम उससे विवाह कर लो युवराज !···या जिस भाई से चाहो, उसका विवाह कर दो; कन्या तो व्यक्ति को नहीं, परिवार को प्रदान की जाती है।···"

"आप उचित ही कह रहे हैं महाराज ! किंतु मेरा निर्णय है कि ऋषियों के सनातन धर्म के अनुसार पांचाली हम पाँचों भाइयों की पटरानी हो—हम पाँचों उससे विवाह करेंगे।"

द्रुपद ने युधिष्ठिर की ओर देखा, जैसे उन्होंने कुछ बहुत ही अनपेक्षित सुन लिया हो। धृष्टद्युम्न का विरोध कुछ अधिक उग्र होकर, उसके चेहरे पर झलका; किंतु वह कुछ बोला नहीं।

द्रुपद ने महर्षि व्यास की ओर देखा। वे चेहरे पर सहज भाव लिये अत्यंत निर्लिप्त रूप से बैठे हुए थे, जैसे युधिष्ठिर की बात में कोई असाधारणता ही न हो। कुंती की प्रसन्न शांत मुद्रा से स्पष्ट था कि न केवल उसे इसमें कोई आपत्ति नहीं थी, वरन् वह इस प्रस्ताव से सहमत भी थी।

"तो इसलिए तुम परिवर्तित प्रथाओं को स्वीकार न करने की बात कह रहे थे !" अंततः द्रुपद ही बोले, "मैं जान सकता हूँ कि अकेले अर्जुन का कृष्णा से विवाह क्यों नहीं हो सकता ?"

"अनेक कारण हैं तात् !" युधिष्ठिर सहज भाव से बोला, "बड़े भाइयों के अविवाहित रहते, अर्जुन का विवाह परिवेदन है, जो पाप है; अतः अर्जुन ने कृष्णा मुझे समर्पित कर दी है। मेरे भाई वंचित न हों, इसलिए मैं अपने स्वत्व को उनके साथ बाँटना चाहता हूँ। घटनाओं ने कुछ

ऐसा मोड़ लिया है कि हमें मानना पड़ रहा है कि भीम की सहायता के बिना कदाचित् अकेला अर्जुन वीर्यशुल्का का विजेता न हो पाता, अतः हम यह मानते हैं कि भीम और अर्जुन—दोनों ने मिलकर पांचाली को जीता है। यदि हम तीन भाई उससे विवाह करते हैं, तो नकुल और सहदेव के प्रति नृशंसता होगी। पांचाली में हम पाँचों भाइयों की आसक्ति है; अतः हम नहीं चाहते कि वह किसी एक की पत्नी बने और हममें किसी प्रकार का कोई वैमनस्य उत्पन्न हो। हम नहीं चाहेंगे कि हमारी एकता किसी भी प्रकार खंडित हो। और···" युधिष्ठिर ने जैसे कुछ अधिक बल देकर कहा, "यदि हमें अपना उत्तराधिकार मिल गया तो हम चाहेंगे कि पांचाली हस्तिनापुर की सम्राज्ञी हो; और केवल अर्जुन की पत्नी होकर, वह सम्राज्ञी नहीं बन पायेगी।"

इस बार द्रुपद अत्यंत धैर्यपूर्वक युधिष्ठिर की बात सुनते रहे थे; किंतु कारणों को जानकर भी वे आश्वस्त नहीं लग रहे थे।

"पांचाल का राजपरिवार बहुपतित्व की प्रथा बहुत पहले छोड़ चुका है।" अंततः द्रुपद तनिक रुक्ष स्वर में बोले, "और इस प्रथा को लौटा लाने की हमारी कोई इच्छा नहीं है। बात यदि केवल परिवेदन की है, तो हम अर्जुन और कृष्णा के विवाह से पूर्व तुम्हारा और भीम का विवाह किन्हीं अन्य कन्याओं से करवा देते हैं।···"

"हमारे यहाँ अनुरागहीन विवाह नहीं होते महाराज! और आप किसी भी कन्या से विवाह करवा दें, वह पंचाल राजकुमारी याज्ञसेनी कृष्णा नहीं होगी।" युधिष्ठिर शांत भाव से मुस्कराया, "अर्जुन ने पांचाली मुझे सौंप दी है, अतः धर्मतः वह मेरी है।···अब बात केवल परिवेदन की नहीं, धर्म की है। मैं धर्म के विरुद्ध नहीं जा सकता; किसी को भी वंचित नहीं कर सकता।···और न ही हममें से कोई स्वार्थी होना चाहेगा··· स्वार्थ का त्याग ही धर्म है महाराज!"

"इस प्रस्ताव से हमारे लिए कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं।" द्रुपद बोले।

युधिष्ठिर ने कुछ नहीं कहा। वह चुपचाप बैठा रहा, जैसे अब कुछ और कहने की उसकी इच्छा ही न हो।

"यदि हमें तुम्हारा यह प्रस्ताव स्वीकार न हो तो?" द्रुपद के स्वर में आवेश लौट आया था।

युधिष्ठिर ने क्षण-भर सोचा, फिर बोला, "तब कदाचित् यह संबंध कठिनाई में पड़ जायेगा।"

द्रुपद के माथे पर रोष की कुछ रेखाएँ उभरीं, किंतु जैसे कुछ सोचकर, रोष सहमकर खड़ा हो गया। द्रुपद बोले तो उनका स्वर कठोर नहीं था, "वत्स! तुम लोग चलकर विश्राम करो! थोड़ा समय हमें भी दो, ताकि हम इस संदर्भ में कुछ चिंतन-मनन कर लें और तुम भी अपने निर्णय पर पुनर्विचार करो, कि अपने इस प्रस्ताव से अपने पक्ष में तुम जितने लाभ की बात सोच रहे हो, हमें तुम उसकी तुलना में कितनी बड़ी कठिनाई में डाल रहे हो।"

पांडव अपनी माता के साथ उठ खड़े हुए। उन्होंने प्रणाम कर विदा ली।

द्रौपदी का मन किसी दिशाहीन पक्षी के समान दसों दिशाओं में एक साथ उड़ने का प्रयत्न कर रहा था। उसके आस-पास, जो कुछ घटित हो रहा था, वह उसकी समझ में नहीं आ रहा था। वह स्वयं क्या चाहती थी, कदाचित् यह भी उसके मन में स्पष्ट नहीं था। इतने विचार

थे···इतने सारे लोग थे···उन सबके अपने-अपने मत थे। उन मतों में क्या उचित था, क्या अनुचित था; क्या धर्म था, क्या अधर्म था ?···

द्रौपदी का अपना जीवन क्या था; और द्रोण द्वारा पिता के अपमान ने उनके परिवार को क्या बना दिया था।···और फिर वह वीर्यशुल्का घोषित की गयी थी···

स्वयंवर वाले दिन उसने अर्जुन को ब्राह्मणों की दीर्घा से उठकर मंच की ओर आते देखा था···गठे हुए बलिष्ठ इकहरे शरीर का लंबा-ऊँचा, मेघ-वर्ण का साँवला नवयुवक। कैसी सिंह जैसी चाल थी उसकी···और फिर जब उसने धनुष को उठा, दायें हाथ से उसे झुका, बायें हाथ से प्रत्यंचा चढ़ायी थी, तो जैसे उसका वक्ष और भी चौड़ा हो आया था; तथा उसके आनन का आत्मविश्वास और भी बढ़ गया था। उसने आँखें मूँद, जब मन-ही-मन किसी का ध्यान किया था, तो पहली बार द्रौपदी निःशंक होकर, उसके चेहरे को देख पायी थी : वह विलासी का नहीं, तपस्वी का चेहरा था। मुँदी हुई पलकों के आवरण के बावजूद पता लग रहा था कि उसकी आँखें बड़ी-बड़ी और गहरी थीं। माथे पर चिंतन की रेखाएँ थीं। लंबी-ऊँची नाक और दृढ़ता की पर्याय चिबुक !···कैसा मन-भावन-सा लग रहा था, वह नवयुवक उसे !···

तभी मत्स्य-यंत्र टूटकर नीचे आ गिरा था। चारों ओर कोलाहल मच गया था।··· द्रौपदी के मन में भी किसी महासागर का-सा कोलाहल था।···'कौन है यह ? कौन है यह ?'—द्रौपदी बार-बार अपने-आपसे पूछ रही थी···यह कोई प्रसिद्ध व्यक्ति नहीं हो सकता।···वह तो ब्राह्मणों के बीच में से उठा था। उसका वेश ब्राह्मणों का था। वनवासी, तपस्वी, भिक्षोपजीवी ब्राह्मण···शरीर पर भभूत, कटि में मृगचर्म तथा सिर पर जटाजूट···किंतु उसने इतनी धनुर्विद्या कहाँ से सीखी ? अभ्यास कहाँ किया ?···कहीं यह भी आचार्य द्रोण का ही कोई एकांतवासी शिष्य तो नहीं ?···कहीं कोई दूसरा एकलव्य ?···पिता द्रुपद, ऋषि धौम्य, गुरु सांदीपनि, वासुदेव कृष्ण···ये सब लोग मिलकर किस धनुर्धारी को खोज रहे थे ?···क्या यह वही है ?···

द्रौपदी की समझ में कुछ भी नहीं आया था।···अर्जुन ने उसे स्वयंवर में जीता था। वह उसके पिता द्वारा घोषित प्रतिज्ञा के निकष पर खरा उतरा था। द्रौपदी उसकी वीर्यशुल्का थी··· किंतु यह पाँच भाइयों की पत्नी ?···

यद्यपि उत्तरी पंचाल के पहाड़ी क्षेत्रों में यह प्रथा अब भी विद्यमान थी; किंतु आर्यावर्त्त में अब यह प्रचलन प्रायः नहीं रह गया था। उस प्राचीन धर्म को मानव-समाज ने अपने अनुभव और व्यवहार के आधार पर असुविधाजनक पाया था। कदाचित् स्त्री के संदर्भ में पुरुष कभी भी इतना सहिष्णु नहीं हो सकता था; तभी तो बहुपतित्व का विरोध किया गया। उसमें व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी थीं।···मातृ-सत्तात्मक समाज में बहुपतित्व बहुत अव्यावहारिक नहीं रहा होगा; किंतु मातृ-सत्ता अब बहुत पीछे छूट गयी थी। आर्यों का समाज अब पूर्णतः पितृसत्तात्मक था। अब पुरुष स्वामी है। वह नारी पर लुब्ध हो सकता है, उससे प्रेम कर सकता है, उसका आदर-सम्मान कर सकता है, उसकी पूजा भी कर सकता है··· किंतु स्वामी वही है। बहुपतित्व का अर्थ है—एक नारी के अनेक स्वामी। उन स्वामियों में परस्पर मत-भेद भी हो सकता है; उनकी इच्छाएँ और रुचियाँ भिन्न भी हो सकती हैं। उन भिन्न आदेशों, इच्छाओं और रुचियों को एक अकेली स्त्री कैसे संतुष्ट करेगी ?

क्यों लौटा लाना चाहते हैं युवराज युधिष्ठिर उस प्राचीन प्रथा को, जो अब समाज को मान्य नहीं रही ?···क्या युधिष्ठिर कामासक्ति की ईर्ष्या से परिचित नहीं हैं ? क्या उनको यह

भय नहीं है कि एक पत्नी के पाँच पतियों में परस्पर ईर्ष्या-द्वेष और कलह का जन्म हो सकता है ? क्या इन पाँच भाइयों में परस्पर सहिष्णुता, त्याग तथा ममत्व इतना सघन है कि पाँचों की एक पटरानी उनके लिए असुविधा का कारण नहीं बनेगी ?…

…या पांडवों के मन में स्त्री का कोई सम्मान नहीं है ? वे स्त्री को आदान-प्रदान की वस्तु समझते हैं ?…इस परिवार में जाकर क्या सम्मान रह जायेगा द्रौपदी का ?…इससे क्या अतंर पड़ेगा कि वह अर्जुन की पत्नी है या युधिष्ठिर की—सम्मान तो उसका वही होगा, जो उस परिवार में नारी का होता है…

यदि पांडवों के मन में नारी की यही स्थिति है, तो उनके लिए माता इतनी सम्माननीय कैसे है ?…माँ का कहा एक भी शब्द वे लोग टालना नहीं चाहते…माँ की इच्छा उनका धर्म है, ईश्वरीय आदेश है…

सहसा द्रौपदी के नयनों में अर्जुन की छवि घूम गयी । स्वयंवर के समय से ही उसके नयनों में लहराती वह अनुराग की लाली ! जयमाला पहनते हुए उसके आनन पर विराजमान वह आसक्ति !…और फिर संपूर्ण आर्यावर्त्त के राजाओं की कमनीया उस द्रौपदी को सहज ही उसने अपने बड़े भाई को सौंप दिया, जैसे वह कोई साधारण-सी, तुच्छ पदार्थ हो… सहज ही ? नहीं ! सहज कहाँ था…उसकी आँखों की वह पीड़ा, जैसे कोई उसका हृदय निकाले लिये जाता हो । शब्द उसके कुछ भी क्यों न रहे हों, किंतु उसके चेहरे का वह मुग्ध भाव…

और युधिष्ठिर ! क्या उनकी भी वैसी ही स्थिति नहीं थी ? वे सहज ही उपलब्ध हो आयी कृष्णा को अपने भाइयों के साथ बाँट रहे थे…जो पुरुष कंचन और कामिनी का त्याग कर सकता है, उसे कोई भी मोह बाँध नहीं सकता ।… कैसा उदार हृदय है उस पुरुष का ! उसके मन में तनिक भी पुरुष-सुलभ ईर्ष्या नहीं है ? आसक्ति नहीं है ? आधिपत्य भावना नहीं है ?…क्या उसमें मानवीय दुर्बलताएँ हैं ही नहीं ? वह मनुष्य की सीमाओं का अतिक्रमण कर चुका है ? महामानव है वह ?…जैसा कृष्ण है ?

और भीम की आँखों की वह तरलता !…कैसे भाई हैं ये—उनकी आत्मा अपनी आकांक्षा के बोझ तले दबी, चीत्कार कर रही हो; किंतु उनकी जिह्वा एक शब्द नहीं कहेगी, क्योंकि वह धर्म नहीं है… उनका जीवन धर्म के लिए है । अधर्म के मार्ग से उपलब्ध बड़े से बड़ा सुख उन्हें नहीं चाहिए…

द्रौपदी के मस्तिष्क में जैसे सहस्रों दीपक जगमगा उठे—साधारण पुरुष नहीं हैं पांडव ! इच्छाओं के दास, सांसारिक पुरुष नहीं हैं वे !…इच्छाएँ तो उनके भी मन में साधारण जन के ही समान हैं; किंतु उनका विवेक कहीं अधिक जाग्रत् है । समग्र हित के लिए, परमार्थ के लिए वे अपनी इच्छाओं-आकांक्षाओं का त्याग कर सकते हैं । उनका आत्म-संयम और आत्म-नियंत्रण असाधारण है, अद्वितीय…

द्रौपदी का मन घूम-फिरकर फिर अपने मूल प्रश्न पर आ टिका… किंतु वे लोग बहुपतित्व की उस प्राचीन प्रथा की ओर क्यों लौट जाना चाहते हैं ?…क्या वे उसकी अव्यावहारिकता नहीं समझते ? क्या वे नहीं जानते कि एक पत्नी अपने एकाधिक पतियों को बाँधकर एकसाथ रख सकती है, तो एक पत्नी के एकाधिक पति ईर्ष्यावश एक-दूसरे का शिरोच्छेद भी कर सकते हैं ?…

और कैसे आश्चर्य की बात है कि महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास भी युधिष्ठिर का समर्थन

कर रहे है । वे इसमें कैसा धर्म देख रहे हैं ?''और वासुदेव कृष्ण इसका विरोध क्यों नहीं कर रहा ? क्या वह भी इसे ही धर्म मानता है ?''क्या संसार में वही धर्म है, जो कुंती-पुत्र युधिष्ठिर सोचता है ?''उसके धर्म को संसार के सारे धर्म-धुरंधर स्वीकार कर लेते हैं''महामुनि धौम्य भी ! वेदव्यास भी, वासुदेव कृष्ण भी''

सहसा द्रौपदी का ध्यान अपने ही विचारे एक वाक्य पर अटक गया'''एक पत्नी अपने एकाधिक पतियों को बाँधकर एक साथ रख सकती है''' कहीं यही तो इच्छा नहीं है पांडवों की ?''कृष्ण ने कहा था, आर्यावर्त मे धर्म-राज्य स्थापित करने के लिए पांडवों की शक्ति आवश्यक है । उन्हें किसी भी रूप में, किन्हीं भी परिस्थितियों में दुर्बल नहीं होना चाहिए'' और द्रौपदी जानती है कि एकता में शक्ति है, अखंडता ही बल है''पांडवों के अलग-अलग होते ही उनकी शक्ति वितरित हो जायेगी । वे दुर्बल हो जायेंगे ।''और उन्हें विलग करने का उपकरण नारी से बढ़कर और क्या हो सकता है ? देवरानियों-जेठानियों की कलह—क्या पांडवों को एक रहने देगी ?''द्रौपदी ने उन्हें एक इकाई के रूप में काम करते देखा है । यदि उन सबकी पत्नी ही एक है, तो वे पृथक् कैसे होंगे ? और''और''महाराज द्रुपद के जामाता अकेले अर्जुन नहीं, पाँचों पांडव होंगे । द्रोण के विरुद्ध अकेले अर्जुन नहीं, पाँचों पांडव लड़ेंगे''

द्रौपदी की दुष्कल्पनाओं ने अपने पंख पसारे । उसने देखा—युद्ध-क्षेत्र में अर्जुन पांचालों के पक्ष में खड़ा है; ओर युधिष्ठिर, भीम, नकुल तथा सहदेव विपक्ष में खड़े हैं—आचार्य द्रोण के साथ'' और उनके साथी हैं—दुर्योधन, कर्ण, अश्वत्थामा''

द्रौपदी का मन काँप-काँप गया ।

अपने कक्ष में आकर एकात पाते ही कुंती के मन में दबी चिंताएँ और प्रश्न जैसे उभर-उभरकर ऊपर आ गये'' वह जानती थी कि यह जो कुछ हो रहा है, उसी के कारण हो रहा है । यदि उसकी इच्छा ऐसी न होती, तो जैसे भीम ने वन में हिडिंबा से विवाह कर लिया था, वैसे ही एकचक्रा में कदाचित् नकुल ने विद्या से विवाह कर लिया होता और उसी प्रकार यहाँ आकर अर्जुन का पांचाली से विवाह हो गया होता'' किंतु वह जितना अधिक सोचती है, उसका मन इस स्थिति को उतना ही अस्वीकार करता जाता है'' वह अपने युधिष्ठिर को जानती है । ''अपने शैशव से ही युधिष्ठिर ने अपने-आपको अपने भाइयों से बहुत बड़ा मान लिया था । अब यदि ये छोटे भाई एक-एक कर, अपना-अपना विवाह कर लेंगे तो युधिष्ठिर अपने-आप को और भी बड़ा मानता जायेगा; और उसे वह मानते अधिक समय नहीं लगेगा कि अब उसे विवाह की आवश्यकता ही नहीं रह गयी है'' उसकी वृत्ति भोग की नहीं है, उसके जीवन में नारी न आयी तो सिंहासन की इच्छा भी उसे बाँध नहीं पायेगी ।''वह भीष्म और विदुर के समान सत्य और धर्म को खोजता रहेगा; सिंहासन पर चाहे भीम बैठे या दुर्योधन ।''इसीलिए वह उसपर लगातार भाइयों के दायित्व का बोझ बनाये रखना चाहती है, अन्यथा उसे छिटककर सांसारिकता से पृथक् होने में समय ही कितना लगेगा''और युधिष्ठिर के पृथक् होते ही, उसके छोटे भाइयों को उसका अनुगमन करने से वह कैसे रोक सकेगी ?''

और वैसे भी कुंती की अनुभवी दृष्टि पुत्रों का भाव पहचानती है''उसने उन पाँचों को ही पांचाली में आसक्त देखा है ।''पांचाली''

कुंती स्वयं भी कम सुंदर और आकर्षक नहीं थी। माद्री को देखकर तो लोगों की आँखें चौंधिया जाती थीं···किंतु पांचाली की तो बात ही और है। पांचाली सुंदर ही नहीं, नारीत्व की संपूर्ण मूर्ति है, साक्षात् पूर्ण नारी! पुरुष के हृदय को मथने की उसके रूप में अद्‌भुत क्षमता है। किसी पुरुष के पास युवा हृदय हो, और वह पांचाली को देखकर न प्रभावित रह जाये, ऐसा तो संभव ही नहीं है। नहीं तो युधिष्ठिर इस सरलता से अपनी आसक्ति प्रकट नहीं होने देता।···

अपने पुत्रों की यह आसक्ति देखकर कुंती को प्रसन्नता होती है···नहीं तो वैराग्य का प्रभाव कम नहीं है, इस परिवार में।···किंतु आसक्ति में भी मर्यादा का ध्यान रखना पड़ता है। उसके पुत्रों में संयम और विवेक है। वे वासना के हाथों पशु नहीं बनेंगे, लोभ उन्हें धर्म के मार्ग से विचलित नहीं कर पायेगा··· किंतु नारी का आकर्षण कम नहीं होता···और नारी भी यदि द्रौपदी जैसी हो; पाँचों भाई उसमें आसक्त हैं—तीन, उसपर अपना अधिकार भी मान चुके हैं। यह आकर्षण उनको बाँधे, तो ही अच्छा है—विभाजित करने पर आया तो सर्वनाश हो जायेगा।···

किंतु पांचाली के लिए जो पाँच पतियों की व्यवस्था कर दी है उसने!···क्या यह कुछ अनुचित हुआ है?···कुंती ने पांडु के साथ जिन प्रदेशों में इतना समय बिताया था, वहाँ तो बहुपतित्व तनिक भी असामान्य बात नहीं थी।···उत्तर कुरु में तो विवाह की मर्यादा ही नहीं थी। वहाँ तो आज भी स्वच्छंद नारी- पुरुष संबंध हैं। आर्येतर जातियों में आज भी बहुपतित्व प्रचलित है, और पांचालों में भी तो बहुपतित्व की प्रथा प्रचलित थी। उत्तर पांचाल से लगते हिमालय- क्षेत्र में आज भी बहुपतित्व पूर्णतः मान्य है। अनेक आर्य जातियों का उनके विरुद्ध रोष का कारण ही यही था···और···धर्मात्माओं में श्रेष्ठ जटिला नामवाली गौतम गोत्र की कन्या ने सात ऋषियों के साथ विवाह किया था।···कंडु मुनि की पुत्री वार्क्षी ने तपस्या से पवित्र अंतःकरण वाले दस प्रचेता भाइयों के साथ, जिनका एक ही नाम था—विवाह- संबंध स्थापित किया था···

इसमें अप्राकृतिक तो कुछ भी नहीं है। जिन परंपराओं और प्रथाओं के हम अभ्यस्त होते हैं, उनके विरुद्ध हमारा मन विद्रोह नहीं करता। यदि पहुपत्नीत्व को नारी- मन ने सहज स्वीकार कर लिया है, तो इच्छा होने पर क्या पुरुष बहुपतित्व को स्वीकार नहीं कर सकता?

नहीं! कुंती ने पांचाली के लिए कोई असुविधा उत्पन्न नहीं की है। वह कुंती के लिए एक सुखी, प्रेममय और समृद्ध जीवन की व्यवस्था कर रही है···किंतु यदि यह व्यवस्था द्रुपद अथवा स्वयं पांचाली को स्वीकार न हुई, तो? पर क्यों?···इसमें तो सबका हित है।··· किंतु कुंती ने अपने अनुभव से सीखा है कि अनेक बार सबके हित की बात, सर्वमान्य नहीं होती··· अपने स्वार्थ से, दृष्टिभेद से या किन्हीं और कारणों से वह अमान्य भी हो सकती है··· ऐसा न हो कि अधिक लाभ की इच्छा से कुंती ने जो यह स्थिति उत्पन्न की है, उसके कारण द्रुपद यह संबंध ही स्वीकार न करें।··· तब पांडव अपने लिए मित्र और सहायक ढूँढ़ने कहाँ जायेंगे?

और कुंती का मन रोने- रोने को हो आया।···उसकी चिंताओं का क्या कोई अंत नहीं है? क्या उसके पुत्रों के भाग्य में शत्रुओं से आतंकित रह, छद्‌मवेश में वन- वन, नगर- नगर भटकना ही लिखा है?···क्या उनकी सहायता को कोई नहीं आयेगा?

सहसा कुंती की आस्था जागी।··· नहीं! उसके पुत्र महावली हैं। भीम ने हिडिंब और वक जैसे असुरों को परास्त कर उनका वध किया है।···अर्जुन ने हस्तिनापुर की रंगशाला और कांपिल्य के स्वयंवर में स्वयं को सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी सिद्ध किया है। भीम और अर्जुन ने मिलकर

कांपिल्य में अनेक राजाओं की सामूहिक शक्ति से टक्कर ली है··· द्रुपद को भी ऐसे जामाता कहाँ मिलेंगे !···और फिर उसे समझाने के लिए वेदव्यास और वासुदेव कृष्ण हैं···। नहीं ! उसके पुत्र इतने अभागे नहीं हो सकते···उनका और कोई सहायक हो या न हो, कृष्ण उन्हें कभी असहाय नहीं छोड़ेगा।···

"महर्षि !" पांडवों के जाने के पश्चात् द्रुपद बोले, "जो कुछ युधिष्ठिर कह रहा है, वह मुझे सहज स्वीकार नहीं है।"

द्रुपद की ओर देखकर व्यास हँसे, "सहज स्वीकार नहीं है; किंतु अस्वीकार भी तो नहीं है ?"

"अस्वीकार ही समझिए !" धृष्टद्युम्न ने बलपूर्वक कहा।

द्रुपद ने पुत्र की ओर देखा अवश्य, किंतु उससे कुछ कहा नहीं। वे व्यास की ओर देखकर बोले, "देव ! 'अस्वीकार्य' शब्द का प्रयोग मैं नहीं कर रहा; किंतु जो सहज स्वीकार्य न हो, उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध ही स्वीकार्य करना पड़ता है। स्वीकार तो मैंने यह भी किया है कि द्रोण अहिछत्र का राजा हो !"

"ओह !" व्यास बोले, "तो राजन् ! तुम 'अस्वीकार्य' शब्द का प्रयोग चाहे न करो; किंतु तुम्हारा अभिप्राय 'अस्वीकार्य' से ही है।"

द्रुपद ने मौन रहना ही श्रेयस्कर समझा।

"देखो पुत्र !" व्यास की वाणी अत्यंत कोमल हो गयी, "प्रकृति ने तो नारी और पुरुष के मध्य राग-तत्व ही बनाया है। उसकी तीव्रता—रुचि-भेद, वय-भेद और परिस्थिति-भेद से न्यूनाधिक होती है। प्रकृति ने किसी एक स्त्री को किसी एक पुरुष, और किसी एक पुरुष को किसी एक स्त्री के लिए नहीं बनाया।···उसने तो केवल स्त्री और पुरुष ही बनाये हैं। मर्यादित बहुपतित्व अथवा बहुपत्नीत्व से कोई प्राकृतिक नियम नहीं टूटता; सामाजिक मान्यताएँ चाहे भंग होती हों।"

"आप मुझे क्षमा करेंगे महामुनि !" धृष्टद्युम्न का स्वर सचमुच धृष्ट था, "आपका प्रकृति का यह सिद्धांत मुझे सर्वथा अमान्य है। इस दृष्टि से तो मनुष्य सदा पशु ही बना रहेगा—वन्य पशु !"

"मेरी बात पूरी नहीं हुई है वत्स !" व्यास बोले, "प्रकृति ने मनुष्य को बहुत कुछ ऐसा दिया है कि उसे यदि मनुष्य वैसा-का-वैसा ही उपयोग में लाये, तो वह सचमुच पशु ही बना रहेगा; और उसका अतिरेक करे तो पशु से भी पतित हो जायेगा।···"

"जैसे ?" द्रुपद ने पूछा।

"जैसे लोभ, मोह, आलस्य, द्वेष, हिंसा···" व्यास बोले, "यह मनुष्य की इच्छा पर है कि वह उनका नियंत्रण करता है, नियमन करता है, उदात्तीकरण करता है; अथवा उन्हें पूर्णतः त्याग देता है।···इसमें भी व्यक्ति और समाज का भेद है पुत्र ! व्यक्ति इनमें से अनेक भावों को सर्वथा त्यागने का प्रयत्न करता है और कभी-कभी त्याग भी देता है; किंतु कोई समाज, राज्य अथवा राष्ट्र—इन दुर्गुणों को भी सर्वथा त्याग नहीं सकता। इसलिए समाज उनका नियमन करता है, उदात्तीकरण करता है।" व्यास ने उन पिता-पुत्र को देखा, "जब उन्मुक्त समाज था तो किसी भी स्त्री की इच्छा, कोई भी पुरुष कर सकता था; और किसी भी पुरुष की कामना,

कोई भी स्त्री कर सकती थी ।…किंतु तब परस्पर विरोध भी होते थे, संघर्ष भी होते थे और हिंसा के कारण मानव-समाज की क्षति होती थी । इसलिए समाज ने इसका नियमन किया । मातृसत्तात्मक समाज में एक पत्नी को अनेक पति रखने का अधिकार दिया गया; और पितृसत्तात्मक समाज में एक पुरुष को अनेक पत्नियाँ रखने का अधिकार मिला ।…अब समाज यह चाहता है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष इसी व्यवस्था के भीतर अपने भावों का नियमन करें । यदि एक स्त्री को अनेक पति रखने की अनुमति समाज दे रहा है, तो वे पुरुष उस एक पत्नी को ही 'नारी' भाव से देखेंगे; शेष स्त्रियाँ उनके लिए कुछ भी और हो सकती हैं; किंतु उनको वे नारी-भाव से नहीं देखेंगे । यही स्थिति बहुपत्नीत्व वाले समाज में भी है । एक पुरुष अनेक विवाह कर सकता है; किंतु जिस स्त्री को उसने समाज के नियमों के अंतर्गत पत्नी के रूप में ग्रहण नहीं किया है, उसे वह नारी-भाव से नहीं देखेगा !…"

"आपकी बातें ज्ञान-समृद्ध हैं ऋषिवर !" द्रुपद बोले, "किंतु मेरी समस्या यह नहीं है । मेरी समस्या तो यह है कि अब बहुपतित्व की प्रथा, हमारा समाज क्रमशः त्याग रहा है । अनेक राजवंश उसे बहुत सम्मानित प्रथा नहीं मानते । स्वयं कुरुवंश में उसका प्रचलन अब नहीं है । जाने कहाँ से अब यह युधिष्ठिर कहता है कि वे पाँचों भाई, उसी प्राचीन प्रथा के अनुसार कृष्णा से विवाह करेंगे !… यदि मैं उसकी बात मान लूँ, तो क्या आर्यावर्त्त के सारे क्षत्रिय राजकुल मेरी कृष्णा को व्यभिचारिणी नहीं कहेंगे ?"

"मैं अब तक तुम्हारी ही समस्या का समाधान कर रहा था द्रुपद यज्ञसेन !" व्यास बोले, "नारी-पुरुष संबंधों की समस्या, केवल तुम्हारी पुत्री की समस्या नहीं है; न ही व्यभिचार की परिकल्पना मात्र आर्यावर्त्त के क्षत्रिय राजकुलों तक ही सीमित है । यह तो संपूर्ण मानव-समाज की समस्या है; और प्रत्येक मानव-समाज ने अपनी सुविधानुसार उसके लिए नियम बनाये हैं ।" व्यास ने कुछ बल देकर कहा, "तुम युधिष्ठिर की चिंतन-प्रक्रिया को समझने का प्रयत्न करो ।"

द्रुपद और धृष्टद्युम्न पूरी तन्मयता से व्यास की बात सुन रहे थे ।

"पांडवों का जिस समय पहली बार द्रौपदी से साक्षात्कार हुआ है, उस समय वह स्वयंवर में विवाह के लिए प्रस्तुत वीर्यशुल्का कन्या थी । पाँचों भाइयों ने उसे आकांक्षा की दृष्टि से देखा है । उस समय वह उनमें से किसी की भी पत्नी हो सकती थी । संयोग से किसी-न-किसी रूप में उसपर तीन भाइयों का अधिकार प्रमाणित होता है । यह भी संयोग ही है कि वे तीनों कुंती के पुत्र हैं । युधिष्ठिर माद्री के पुत्रों के साथ भेद-भाव नहीं करना चाहता । उसकी दृष्टि में वह नृशंसता है । अतः उसने वह सामाजिक व्यवस्था तुम्हारे सामने रखी है, जिसके अंतर्गत वे पाँचों भाई धर्मपूर्वक कृष्णा के साथ इकट्ठे रह सकें…"

"पर पाँचों भाइयों का साथ रहना आवश्यक क्यों है ?" द्रुपद जैसे खीजकर बोले ।

"ये पृथक् हुए तो दुर्योधन इनको एक-एक कर मरवा डालेगा ।… और द्रौपदी के कारण इनमें परस्पर वैमनस्य भी हो सकता है, इसे युधिष्ठिर समझता है । इसीलिए उसने ऐसी योजना बनायी है ।…कृष्णा किसी एक की पत्नी होगी, तो भाइयों में भी परस्पर वैमनस्य होगा और कृष्णा भी साधारण पत्नियों के समान चाहेगी कि उसका पति, उसमें अधिक-से-अधिक अनुरक्त होता जाये और अपने भाइयों के प्रति उसकी असंगता बढ़ती जाये ।… किंतु यदि वह उन पाँचों की पत्नी होगी तो भाई चाहे परस्पर लड़ भी पड़ें, कृष्णा न उनमें वैर-विरोध होने देगी, न उन्हें असंग होने देगी ।… समझ रहे हो द्रुपद, कि युधिष्ठिर ने इस संक्रांति-काल के समाज में आगे

जाने के स्थान पर पीछे जाने का निश्चय क्यों किया है ?"

"समझता हूँ !" द्रुपद अत्यंत गंभीर थे।

"वैसे भी युधिष्ठिर में राजन्य तत्वों से अधिक तापस तत्व है।..." व्यास बोले, "मुझे देखो ! मैं अपनी माता का कानीन पुत्र हूँ। राज-समाज में यह अपमानजनक स्थिति हो सकती है; किंतु ऋषिकुल इसे उतना ही गौरवपूर्ण समझते हैं, जितना औरस-पुत्र को। वे राज-समाज द्वारा परित्यक्त प्रथा को आज भी धर्म मानते हैं। वे समाज का त्याग कर चुके, अतः कुछ मुक्त होकर सोचते हैं। उनके लिए प्रत्येक संतान, ईश्वर की सृष्टि है—चाहे कानीन हो, औरस हो, क्षेत्रज हो या नियोग-प्रदत्त ! युधिष्ठिर अपनी इसी तापस वृत्ति के कारण, व्यक्ति की संकुचित-परिधि में नहीं सोचता। वह परिवार और समाज का ध्यान रखता..."

"महर्षि !" धृष्टद्युम्न ने उनकी बात बीच में ही काट दी, "यह बतायें कि एक मान्यता के अनुसार एक स्त्री दो पुरुषों से संबंध रखे, तो वह व्यभिचारिणी है; और दूसरी ओर पाँच पुरुषों की पत्नी को आप धर्म-संगत बता रहे हैं, तो फिर व्यभिचार क्या है ?"

"एक मान्यता यह भी है कि पुरुष भी एक पत्नीव्रत पर चले।" व्यास बोले, "मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने इसी धर्म की प्रतिष्ठा की है। इस मान्यता के अनुसार चलें तो दो स्त्रियों से संबंध रखने वाला पुरुष भी व्यभिचारी होगा।" वे हँसे, "इसका अर्थ है कि व्यभिचार का स्वरूप तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं से निर्धारित होता है। समाज के नियमों के अनुसार, स्त्री-पुरुष संबंधों में मान्य शरीर-संबंध व्यभिचार नहीं है; और अमान्य शरीर-संबंध व्यभिचार है।"

"तो कसौटी मात्र शरीर-संबंध ही है ?"

"समाज की मान्यताओं के अनुसार तो यही है।" व्यास बोले, "किंतु समाज के नियम तो अत्यंत स्थूल होते हैं। चिंतक और विचारक लोग वहीं तक जाकर रुक नहीं जाते। उनके अनुसार मानसिक-व्यभिचार भी उतना ही त्याज्य है, जितना की शारीरिक व्यभिचार ! इस मानसिक व्यभिचार के दोष से मुक्त रहने के लिए ही युधिष्ठिर ने पाँचों भाइयों से कृष्णा के विवाह का प्रस्ताव रखा है।"

"इस मानसिक व्यभिचार को किस प्रकार परिभाषित करेंगे आप ?" द्रुपद ने बहुत हल्के मन से पूछा, जैसे वे अपनी पुत्री के विवाह की भयंकर समस्या से न जूझ रहे हों, किसी सम्मेलन में बैठे ज्ञान-चर्चा कर रहे हों।

"सामान्य रूप से, जो जिसका देय है, उसे न देना और किसी को उसका अदेय देना—कर्म में या भावना में, मैं इन दोनों को व्यभिचार मानता हूँ।" व्यास बोले, "मेरा एक पुत्र है और मेरा शिष्य है। मैं अपने शिष्य की ज्ञान-क्षमता देखते हुए, उसके चरित्र के विकास के लिए, जो समय लगाता हूँ, या जो श्रम करता हूँ—वह मेरे शिष्य का देय है, वह मैं उसे दे देता हूँ। उसके कारण मैं अपने पुत्र को वंचित नहीं कर रहा हूँ। मैं देय और अदेय में मिश्रण नहीं कर रहा, इसलिए यह व्यभिचार नहीं है...।"

"पूज्य ऋषिवर !" धृष्टद्युम्न ने उन्हें फिर टोका, "कृपया इसकी परिधि स्त्री-पुरुष-संबंधों तक ही रहने दें। मैं यह जानना चाहता हूँ कि परस्त्री व्यभिचारविहीन प्रेम की भी कोई अवधारणा संभव है ?"

व्यास किंचित् मुस्कराए, "सिद्धांतों की व्याख्या संकीर्ण परिधियों में की जाये, तो उनसे भ्रम उत्पन्न होता है पुत्र ! इसलिए सिद्धांतों, परिकल्पनाओं और अवधारणाओं को सदा व्यापक

परिवेश में समझने का प्रयत्न करना चाहिए।"

"मैं समझा नहीं ऋषिवर ?"

"प्रेम, नारी- पुरुष- संबंध, यौन- संबंध, व्यभिचार इत्यादि के वास्तविक स्वरूप को समझना हो तो पहले राग- तत्व को समझो।" व्यास मुस्कराए, "राग के रूप में प्रकृति ने मनुष्य को एक विराट शक्ति दी है।···मनुष्य चाहे तो उसे मात्र रति- कर्म का पर्याय बना दे। किंतु यह उसका मात्र स्थूल रूप होगा। रति- कर्म तो राग के अभाव में भी होता है, और राग से संपृक्त होकर भी···किंतु एक स्थिति वह भी है, जहाँ राग तो है, किंतु रति नहीं है। ये उसके सूक्ष्म धरातल हैं पुत्र! जिसे हम सामान्यतः प्रेम कहते हैं, वह राग- तत्व का एक संयोजित रूप है। किसी भी गुण के प्रति प्रशंसा, सम्मान और समर्थन का भाव, प्रेम होता है। उसके लिए प्रिय से मिलना, उससे साक्षात्कार करना, उसके संपर्क में आना, एकदम आवश्यक नहीं होता। यह राग अथवा प्रेम का वह सूक्ष्म रूप है, जिसमें किसी को उसके देय से वंचित नहीं किया जाता, किसी को उसका अदेय नहीं किया जाता, अतः इसमें व्यभिचार के लिए अवकाश ही नहीं है। किंतु राग को जब मनुष्य स्थूल धरातल पर लाता है, तो वह उस प्रेमपात्र के निकट जाना चाहता है, उसके संपर्क में आना चाहता है; और उसपर अपना आधिपत्य जमाना चाहता है। ऐसे आधिपत्य में समाज की मान्यता प्राप्त करना आवश्यक है। जहाँ सामाजिक मान्यता के अभाव में, अपना आधिपत्य स्थापित किया जाता है, ऐसे आधिपत्य को हम व्यभिचार मानते हैं।" व्यास ने रुककर धृष्टद्युम्न की ओर देखा, "पर तुम इस विषय में इतनी रुचि क्यों ले रहे हो वत्स ? ऐसी कौन- सी समस्या है, जो तुम्हें आंदोलित कर रही है ?"

"समस्या !" धृष्टद्युम्न कुछ संकुचित हुआ; फिर जैसे सायास संकोच को परे धकेलकर बोला, "मैं तो योद्धा हूँ महामुनि ! दार्शनिक गुत्थियों के गुंजलक खोलने में न मेरी रुचि है, और न उसके लिए मेरे पास समय है···"

"तो फिर ?···"

"यह सारी समस्या वासुदेव कृष्ण की उत्पन्न की हुई है।" वह बोला, "उसका प्रेम- दर्शन विचित्र है। वह कहता है कि उसकी प्रेम- क्षमता असीम है, अनंत है। जो उससे प्रेम करेगा, वह उसके फलःस्वरूप उससे प्रेम ही कर सकता है। कर्म- सिद्धांत का व्याख्याता है न वह ! सदा कर्म और फल की, क्रिया और प्रतिक्रिया की बात करता है। उसका कहना है कि जैसे हिंसा से हिंसा उत्पन्न होती है, घृणा से घृणा का जन्म होता है, वैसे ही प्रेम से प्रेम की ही उद्भावना होगी। इसलिए वह कहता है कि जो उससे प्रेम करेगा, उसके प्रतिदान में प्रेम ही पायेगा। उसके पास प्रेम का अभाव नहीं है···।"

"तो इसमें अनुचित क्या कहता है कृष्ण ?" व्यास बोले, "राजकुमार ! कोई तुमसे प्रेम करे, तो तुम उससे प्रेम करोगे या उसका तिरस्कार करोगे ?"

"सिद्धांततः तो प्रेम का प्रतिदान प्रेम ही होना चाहिए।" धृष्टद्युम्न बोला, "किंतु महामुनि ! यहीं से तो मेरी समस्या आरंभ होती है।"

"क्या ?"

"एक स्त्री मुझसे प्रेम करने लगती है। उसके स्वीकार का प्रतिदान स्वीकार ही होगा, तिरस्कार नहीं; अर्थात् मैं उससे प्रेम करने लगूँगा ! तो व्यभिचार का जन्म होगा या नहीं ?"

"समस्या तो तुम्हारी बहुत गंभीर है राजकुमार !" व्यास बोले, "यदि तुम्हारा प्रेम रति का

पर्याय है तो उस स्त्री से विवाह कर, उसे अपने समाज से पत्नी की मर्यादा दिलानी होगी। यदि यह संभव नहीं है, तो तुम्हें उसे नारी- भाव से नहीं देखना होगा। अपने प्रेम को कृष्ण ही के समान सूक्ष्म करना होगा। समाज की मर्यादा के भीतर, अपने प्रेम को कोई एक रूप देना होगा। उसमें अपना सुख, अपनी सुविधा, अपना लोभ नहीं देखना होगा···" व्यास हँसे, "कृष्ण को देखो। उसने विवाह तो रुक्मिणी, सत्यभामा और जाम्बवती से ही किया; किंतु प्रेम तो उसने गोपियों को भी दिया। तुम क्या कहोगे, क्या वासुदेव तुम्हारी बहन कृष्णा से प्रेम नहीं करता ?···"

"वह तो यही कहता है।"

"तुम्हें क्या लगता है ?"

"मुझे भी लगता है कि कृष्णा उसे भी उतनी ही प्रिय है, जितनी कि मुझे !"

"इसमें तुम्हें कहीं कुछ अनुचित, अनैतिक अथवा असामाजिक लगा ?"

"नहीं !"

"यही है कृष्ण वासुदेव की उदात्तता ! वह गोपियों से भी प्रेम कर सकता है, कृष्णा से भी कर सकता है; किंतु अपनी पत्नियों के प्रति उसके प्रेम में कहीं न्यूनता नहीं है। कहीं वह समाज की मर्यादा भग नहीं कर रहा; क्योंकि वह उनपर किसी प्रकार का कोई आधिपत्य नहीं चाहता ! वह प्रेम को ही अपना अधिकार मानता है, आधिपत्य को नहीं। कहीं वह अपनी आत्मा का हनन नही कर रहा, क्योंकि उसकी आत्मा तो प्रेम का अजस्र स्रोत है। वह दान- धर्मा प्रेम है, याचक प्रेम नहीं।·· और प्रेम का यह स्वरूप देखो···" व्यास जैसे मग्न हो गये, "उसने आततायी भौमासुर के दुर्ग से मुक्त करायी गयी असंख्य स्त्रियों को सामाजिक मर्यादा दिलाने के लिए उन्हें अपनी पत्नियों के रूप में स्वीकार किया। जिन अभागिनों को उनके अपने पति, पिता और भाई स्वीकार नहीं कर रहे थे, उन्हें अंगीकार किया कृष्ण ने। वह सारा कलंक अपने माथे पर लिया···क्योंकि उसका प्रेम सीमित नहीं है, संकुचित नहीं है, वह असीम है, अनंत है। कोई भी जीव उसकी करुणा से परे नहीं है।"

"पर अनेक लोग उसके प्रेम को पाखंड भी तो कहते हैं। अनेक लोग उसके चरित्र को लेकर चर्चाएँ भी तो करते हैं···।"

व्यास ने आँखें मूँद ली। उनके मुख पर पीड़ा का भाव उपजा, जैसे उनका मन कहीं आहत हुआ हो।

धृष्टद्युम्न ने अपनी बात अधूरी ही छोड़ दी।

थोड़ी देर में व्यास ने आँखे खोलीं, जैसे स्वयं को संतुलित कर लिया हो, "पुत्र ! एक होता है किसी परिवार के आँगन में खुदा हुआ कुआँ।" वे बोले, "वह साफ- स्वच्छ और पवित्र होता है। उसका जल पौष्टिक और स्वादिष्ट होता है। पर वह केवल उसी एक परिवार को ही तृप्त कर सकता है। उसकी क्षमता अत्यंत सीमित होती है। उसमें से चार परिवार अपने लिए जल प्राप्त करने का प्रयत्न करें तो वह कुआँ सूख जायेगा। उसमें से कीचड़ आने लगेगा। उसका जल गदला हो जायेगा। वह अपवित्र और अपौष्टिक हो जायेगा। स्वाद तो उसमें रहेगा ही नहीं।··· यदि एक ही परिवार उसमें से जल पीता रहे और उसमें एक पक्षी भी गिरकर मर जाये, तो जल में से सड़ांध आने लगेगी तथा जल अपवित्र हो जायेगा···।"

"हाँ ऋषिवर !"

"किंतु दूसरी ओर है गंगा। सहस्रों योजनों तक लोगों की प्यास बुझाती है। उनके स्रोत

सींचती है। उसमें लोग नहाते हैं, कपड़े धोते हैं, नौकाएँ चलाते हैं, सहस्रों जीव-जंतु उसमें रहते हैं। फिर भी न उसमें जल की कमी होती है, न वह किसी को वंचित करती है।...'' वेदव्यास ने धृष्टद्युम्न को देखा, ''साधारण मनुष्य, घर के आँगन में खुदा हुआ एक छोटा कुआँ है। कृष्ण तो गंगा है, पवित्र गंगा ! उसकी गति और विस्तार को कुएँ की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता...। उसे पूरी तरह देखने के लिए तो हिमालय के समान ऊपर उठना पड़ेगा...।''

''आपने ठीक ही कहा मुनिवर ! साधारण मनुष्य की अविकसित और संकुचित बुद्धि तो कृष्ण के चरित्र में विकार ही देख पायेगी।'' द्रुपद व्यास से सहमत हो गये थे, ''मैंने उसे परखा है। उसमें न काम है, न स्वार्थ, न लोभ...वह मनुष्य नहीं है...महामानव है या देवता, कह नहीं सकता।''

''युधिष्ठिर को भी कम मत आँको।'' व्यास बोले, ''इतनी कम अवस्था में ही उसकी धर्म-बुद्धि का जो विकास हुआ है, वह सामान्यजन को भ्रमित कर जाता है। राजन् ! निःसंकोच कृष्णा का विवाह पाँचों पांडवों से कर दो। इसमें सबका ही कल्याण है।''

''आपकी इच्छा मेरे लिए धर्म का आदेश है महामुनि !'' द्रुपद सहज उल्लसित स्वर में बोले।

36

विदुर ने आगंतुक को ध्यान से देखा : उसका वेश एक अत्यंत साधारण, निर्धन ब्राह्मण का-सा था; किंतु विदुर की अनुभवी आँखों से, उसके वेश और शारीरिक गठन का वैषम्य छिपा नहीं रह सका। उसके बलिष्ठ शरीर का गठन बता रहा था कि वह अत्यंत श्रम करने का अभ्यस्त है। न तो वह ब्राह्मणों जैसा कोमल था, न दुर्बल ! यदि वह ब्राह्मण था भी, तो साधारण तपस्वी ब्राह्मण नहीं था।

उसने ब्राह्मण के समान विदुर को आशीर्वाद भी नहीं दिया। राज-कर्मचारियों के समान झुककर उसने हाथ जोड़ अभिवादन किया और बहुत मंद स्वर में बोला, ''आर्य ! मैं कांपिल्य से आ रहा हूँ। महाराज द्रुपद के अत्यंत गोपनीय संदेश, विश्वस्त ढंग से पहुँचाना मेरा धर्म है।''

इस अनपेक्षित को पचाने में विदुर को कुछ क्षण लगे; फिर स्वयं को स्थिर कर धीरे से बोला, ''भीतर आ जाओ।''

अपने निजी कक्ष में आकर विदुर बैठ गया और आगंतुक को भी अपने निकट बैठने का संकेत कर बोला, ''कहो ! किसने भेजा है तुम्हें—महाराज द्रुपद ने ?''

''भेजा तो मुझे महाराज द्रुपद ने ही है; किंतु संदेश मैं महाराज युधिष्ठिर का लाया हूँ।''

''युधिष्ठिर !'' विदुर के मन ने जैसे झटका खाया, और उसकी आँखें और भी संकीर्ण होकर, आगंतुक के चेहरे पर केंद्रित हो गयीं, कहीं यह कोई षड्यंत्र न हो !

''किंतु पांडव तो वारणावत में भस्म हो चुके हैं !'' विदुर बोला।

आगंतुक मुस्कराया, ''इस सावधानी की अब आवश्यकता नहीं है। अर्जुन ने स्वयंवर में वीर्यशुल्का द्रौपदी को जय किया है। पांडव द्रुपद के अतिथि हैं...।''

विदुर का मन हर्ष से मानो निःस्पंद हो गया : कुछ क्षणों तक श्वास-निःश्वास की प्रक्रिया

भी रुद्ध हो गयी। उसका मन जैसे माला फेरते-फेरते, एक ही मनके पर अटक गया था, 'पांडव सुरक्षित हैं ! पांडव सुरक्षित हैं !…"

मन कुछ सहज हुआ तो सैकड़ों प्रश्न, शिला पर सिर पटकती लहर से उत्पन्न बुदबुदों के समान एक साथ उत्पन्न हो गये। विदुर ने जैसे अपने प्रश्नों के बाणों से दूत को छलनी कर दिया। वह सब कुछ तत्काल जान लेना चाहता था, सब कुछ—उस दिन से आज तक; पांडवों के वारणावत से विदा होकर कांपिल्य पहुँचने तक ! दूत ने सब कुछ अत्यंत धैर्यपूर्वक बताया; और अंत में बोला, "महाराज युधिष्ठिर ने कहलवाया है कि कांपिल्य में जो कुछ हुआ, वह अब गोपनीय नहीं है। किंतु वे नहीं चाहते कि आपको संदेश देने के लिए मेरा आना प्रकट हो।"

"ठीक है। इसे गुप्त ही रहना चाहिए।" विदुर बोला, "किंतु दुर्योधन और उसकी दुष्ट-मंडली कहाँ है ?"

"मेरे चलने तक तो वे लोग कांपिल्य में ही थे। कह नहीं सकता, उनकी योजना क्या है !"

विदुर मौन हो गया। उसे लगा, उसके मन में अत्यधिक प्रसन्नता और कुछ छोटी-मोटी चिंताएँ, एक साथ ही जन्मी हैं। ऐसी प्रसन्नता तो जीवन में पहली बार ही मिली थी, मानो सारे जीवन का श्रम अथवा पिछले जन्मों का पुण्य भी फलीभूत होकर, उसके सामने आ गया था। पांडव जीवित थे और सुरक्षित थे। अब वे पांचालराज द्रुपद के जामाता थे। वासुदेव कृष्ण और बलराम, यादव महारथियों के साथ उनकी रक्षा के लिए वहाँ उपस्थित थे। 'बलराम !'… विदुर का मन अटक गया। जिन दिनों स्यमंतक मणि के संदर्भ में उत्पन्न भ्रम के कारण कृष्ण से रूठकर बलराम मिथिला में निवास कर रहा था, उन दिनों दुर्योधन को अपना शिष्य स्वीकार कर, वह उसे बहुत स्नेह करने लगा था। अब यद्यपि कृष्ण से पुनः उसका मेल हो गया है; किंतु दुर्योधन के प्रति उसका प्रेम भी कम हो गया है—यह कहना कठिन है।…इसलिए यदि कौरवों और पांडवों में टकराव हुआ, तो बलराम दोनों में किस ओर झुकेगा, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता।… फिर भी वह निरंतर कृष्ण के साथ है, यही पर्याप्त संतोष का विषय है। कृष्ण उसे अपने साथ कांपिल्य ले गया है, ताकि पांडवों की रक्षा की जा सके। कृष्ण उसे अपने साथ लेकर पांडवों से मिलने, कुंभकार के घर भी गया था—यह तो शुभ लक्षण है…

…भीम और अर्जुन ने अपना सामर्थ्य प्रमाणित कर दिया है। अब पांडवों पर विपत्ति नहीं आ सकती। पांडवों की सुरक्षा, विदुर के जीवन की अंतरतम साध थी… पांडव जीवित हैं, तो धर्म के जीवित रहने की आशा की जा सकती है। कृष्ण के साथ मिलकर पांडव, आर्यावर्त्त में न्याय स्थापित करेंगे…

किंतु इतना निश्चिंत भी नहीं रह सकता विदुर ! दुर्योधन, शकुनि, कर्ण और अश्वत्थामा—यह चांडाल चौकड़ी अभी कांपिल्य में ही बैठी जाने कौन-सा षड्यंत्र रच रही है; और हस्तिनापुर में गिद्ध जैसा बैठा है धृतराष्ट्र ! वारणावत में पांडवों के जलकर भस्म होने के समाचार के प्रसारित होते ही धृतराष्ट्र ने दुर्योधन का युवराज्याभिषेक कर दिया था। वैसे तो शासन-तंत्र में पांडवों के लिए कोई स्थान नहीं रह गया था। जब यह मान ही लिया गया था कि पांडव जीवित नहीं हैं, तो उनके लिए स्थान रिक्त रखकर करना भी क्या था ! दुर्योधन ने प्रशासन में, सेना में, प्रजा में—सब स्थानों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था।… ऐसे में यदि पांडव हस्तिनापुर आते हैं, तो उनका स्वागत ही हो—यह आवश्यक नहीं है।…

और जब पांडव अपने हत्यारों के आमने-सामने होंगे, तो जाने क्या हो… वैसे एक साक्षात्कार तो उनका कांपिल्य में हो ही चुका है…

"तुम विश्राम करो।" विदुर ने दूत से कहा, "मुझे एक आवश्यक काम से जाना है।"

"मुझे आपके घर में विश्राम करने का निषेध है।" दूत बोला, "उससे गोपनीयता भंग होने की आशंका है।"

"तो ?"

"आप मेरी चिंता न करें।" दूत ने झुककर प्रणाम किया, "मेरा तो यह प्रतिदिन का कार्य है।"

दूत ने पुनः प्रमाण किया और वह बाहर निकल गया।

एकांत होते ही विदुर को लगा कि उसकी प्रसन्नता दूत की उपस्थिति के कारण थोड़ी संयत थी; किंतु उसके जाते ही वह उन्मुक्त हो उठी थी। वह उसके शरीर में जैसे समा नहीं रही थी। उसकी इच्छा हो रही थी कि वह दौड़ता हुआ, घर से बाहर निकल जाये और दौड़ता ही चला जाये। उसका कंठ व्याकुल था कि वह किसी प्रकार वाणी में अपनी प्रसन्नता को व्यक्त करे…

विदुर उठकर अंतःपुर में आया, "पारंसवी ! अत्यंत सुखद समाचार आया है।"

"कैसा समाचार आर्यपुत्र ?"

"कुंती भाभी और उनके पुत्र जीवित हैं। वे लोग कांपिल्य में हैं… और अर्जुन ने द्रौपदी को स्वयंवर में जय किया है।…"

पारंसवी अपनी स्तब्धता से बाहर निकल कुछ कह पाती, उससे पूर्व ही विदुर चल पड़ा, "मैं जा रहा हूँ। पितृव्य को यह समाचार दे आऊँ। वे प्रसन्न होंगे।"

बाहर निकलते ही विदुर को ध्यान आया—पारंसवी से पांडवों संबंधी समाचार उसने कैसे गुप्त रखा था। जब वह उनको स्मरण कर रोती थी, तो उसका मन किसी भी प्रकार सँभल नहीं पा रहा था। इच्छा होती थी कि पारंसवी को तो बता ही दे। उसे इस प्रकार रुलाने का क्या लाभ ?…किंतु विदुर ने अपने-आपको बाँधे रखा था।…किसी को नहीं बताना है।… वह जानता था कि पारंसवी उनके भेद को प्रकट नहीं करेगी, फिर भी गोपनीयता के लिए यही आवश्यक था।… विदुर ने सिवाय महर्षि वेदव्यास और वासुदेव कृष्ण के, और किसी से चर्चा नहीं की थी।…लगता था कि महर्षि और कृष्ण—दोनों ने ही अपने वचन का पूर्ण निर्वाह किया था। वे लोग अपने-अपने अभियान में सफल रहे थे।…और अब… पांडव जीवित ही नहीं, सुरक्षित हैं… तथा सफलकाम हुए हैं…

सहसा विदुर के पग थम गये : अब यह समाचार गुप्त नहीं है। सार्वजनिक रूप से प्रचारित होने में अब इसे विलंब नहीं होगा। तब सब लोग जान ही जायेंगे—पितृव्य भी, धृतराष्ट्र भी… तब क्या… और विदुर को लगा कि उसके मन में एक नटखट बालक आ बैठा है, जो किसी को ढेला मारकर भी प्रसन्न हो सकता है, चोट पहुँचाकर भी उल्लसित हो सकता है, किसी को तड़पते-तिलमिलाते देख, उसका मनोरंजन भी हो सकता है। उसके विवेक ने इस नटखट का वर्जन भी किया, 'यह उचित नहीं है। यह नृशंसता है।' किंतु नटखट बालक मौन नहीं रहा।

बोला, 'नृशंस को तड़पते देखकर प्रसन्न होना नृशंसता नहीं है । कितनी सात्विकता है इस मनोरंजन में ! उसने तो पांडवों को आग में जलाया था, मैं उसे वातों से भी न जलाऊँ ?'

विदुर का रथ राजप्रासाद की ओर मुड़ गया : पितृव्य के पास वाद में भी जाया जा सकता है। सबसे पहले यह समाचार महाराज धृतराष्ट्र को मिलना चाहिए ।

धृतराष्ट्र न सिंहासन- कक्ष में मिला, न शयन- कक्ष में; वह संगीत- कक्ष में संगीत- पान कर रहा था । विदुर को उसने भीतर बुला लिया, "आओ विदुर !" उसने अपनी हथेली उठाकर संकेत किया । संगीत थम गया । गायन रुक गया । कक्ष में शांति छा गयी ।

विदुर ने अपने स्वर में हृदय का पूर्ण आह्लाद ढालकर जैसे उन्माद की- सी स्थिति में कहा, "अहोभाग्य महाराज ! अहोभाग्य ! कुरुवंश की वृद्धि हुई है । कांपिल्य में कुरुवंश की जयपताका गड़ी है ।..."

धृतराष्ट्र ने निमिष भर अपनी अनवूझी अंधी आँखों से विदुर को देखा; और तत्काल उसके चेहरे पर अवाध प्रसन्नता आ विराजी, "अहोभाग्य ! अहोभाग्य !!"

धृतराष्ट्र को इतना प्रसन्न विदुर ने कदाचित् ही कभी देखा था । तव भी नहीं, जव पांडवों की मृत्यु का समाचार प्रसारित होने पर उसने दुर्योधन का युवराज्याभिषेक किया था । विदुर को लगा कि धृतराष्ट्र को इस प्रकार प्रसन्न देखकर, उसके मन में तनिक भी क्षोभ नहीं जन्मा है। विदुर पहले से भी कहीं अधिक उल्लसित था । मन हो रहा था कि ताली पीटकर अट्टहास करे : अभी इस दंभी को खिसियाकर अपने नखों से अपना वक्ष छीलना पड़ेगा...

"जाओ !" धृतराष्ट्र ने मुक्तकंठ से प्रसन्न स्वर में आदेश दिया, "द्रौपदी के लिए कुरुओं के राजकोष से अमूल्य आभूषण लाओ । मेरी पुत्रवधू वे आभूषण धारण करे, जो देवांगनाओं ने भी कभी धारण नहीं किये । कुरुवंश का सारा वैभव पांचाली पर वार दो—वह हमारी राजलक्ष्मी है, कुललक्ष्मी है..."

विदुर खड़ा- खड़ा मुस्कराता रहा; किंतु उसका मन जैसे किसी उन्मत्त की भाँति सुख के पारावार में आनंदलाभ कर रहा था ।

"जाओ !" धृतराष्ट्र कह रहा था, "नगर- द्वार को सज्जित करो, भवनों को अलंकृत करो, नगर में दीप- मालिका करवाओ । दुर्योधन का स्वागत दिग्विजयी योद्धा के रूप में होना चाहिए ।"

विदुर के मन में बैठे नटखट वालक ने जोर का अट्टहास किया और प्रसन्नता से कैसे आकाश की ओर छलाँग लगायी ।...विदुर ने धृतराष्ट्र के निकट जाकर वहुत सधे हुए स्वर में इस प्रकार कहा, जैसे उन शब्दों का अत्यंत स्वादिष्ट खाद्यान्न के रूप में आस्वादन कर रहा हो, "महाराज ! पांचाली कृष्णा ने पांडवों का वरण किया है । स्वयंवर में पांडुपुत्र अर्जुन ने वीर्यशुल्का द्रौपदी को जय किया है ।..."

पहले तो धृतराष्ट्र के चेहरे पर ऐसे भाव जागे, जैसे किसी ने, उसके सिर पर वज्र का प्रहार किया हो और उसकी चेतना लुप्त हो रही हो; और अगले ही क्षण लगा, जैसे वह विदुर की वात को ठीक- ठीक समझ गया हो और उसके मुख पर श्मशान की राख की ढेरियाँ लग आयी हों । विदुर उसकी आकृति को देख- देखकर मानो बूँद- बूँद कर अमृत पी रहा था । उसके

भीतर का वह नटखट दुष्ट बालक इतना सक्रिय तो कभी भी नहीं था।

किंतु धृतराष्ट्र में अवशोषण की अद्भुत क्षमता थी। उसने इस आघात को आत्मसात् कर स्वस्थ होने में कुछ ही क्षण लगाये। चेहरे की खिसियाहट को छिपाता हुआ बोला, "अहोभाग्य ! अहोभाग्य ! पांडु-पुत्रों और मेरे पुत्रों में अंतर ही क्या है ! वे भी तो पुत्र-तुल्य ही हैं। उनका अभ्युदय भी तो कुरु-कुल का ही अभ्युदय है। अहोभाग्य···! "

धृतराष्ट्र का स्वर अत्यंत खोखला था, रिक्त पात्र के समान, जो जितनी अधिक ध्वनि करता है, उतनी ही अपनी रिक्ति प्रमाणित करता है। उसके फैले अधरों और चमकते दाँतों के मुखौटे के पीछे उसका विकराल रुदन जैसे विदुर को अपने श्रवणों में सुनायी दे रहा था।··· विदुर ने उसे किशोरावस्था से ही इस प्रकार नाटक करते देखा था।

'धूर्त कहीं का !' विदुर ने मन-ही-मन कहा। वितृष्णा के मारे उसकी इच्छा हो रही थी कि वह उठकर चल दे; किंतु आज उसकी आत्मा में बैठा वह चपल बालक इतना हठी हो उठा था कि उसे धृतराष्ट्र के सामने से उठाकर ले जाना कठिन हो रहा था।

"तो फिर आदेश दें महाराज, कि हस्तिनापुर के महाराज की ओर से कुरुवृद्ध कांपिल्य जाकर पांडवों को ससम्मान लिवा लाएँ !" विदुर बोला, "पांचाली के लिए बहुमूल्य उपहार भेजे जायें। कुरुकुल की वधू पहली बार हस्तिनापुर आये, तो उसके मन में यह भाव न आये कि उसका स्वागत नहीं हुआ।"

"वह तो होगा ही।" धृतराष्ट्र के स्वर में इस विषय को जैसे एक ओर धकेल देने की व्याकुल त्वरा थी, "तुम यह बताओ विदुर, कि तुम्हें यह समाचार कहाँ से मिला ?"

धृतराष्ट्र के मन के भाव उसके चेहरे पर से पढ़ने के प्रयास में विदुर की आँखें सिकुड़ गयीं और दृष्टि केंद्रित हो गयीं; किंतु धृतराष्ट्र का चेहरा उतना ही भाव-शून्य था, जितनी उसकी आँखें ! उसके मन की बात जान लेना कठिन था; किंतु उसके मन में संदेह तो उत्पन्न हुआ ही था।···कैसा संदेह ? समाचार की सत्यता के विषय में अथवा विदुर के संबंध तथा उसकी सक्रियता को लेकर ?···

"यह तो सार्वजनिक समाचार है महाराज ! यह घटना कांपिल्य में घटी, जहाँ आर्यावर्त्त और उसके बाहर के अनेक राज्यों के लोग उपस्थित थे। स्वयंवर के संपन्न होते ही सब लोग अपने-अपने स्थान की ओर चल पड़े हैं। उनके साथ-साथ यह समाचार भी प्रसारित हो रहा है। गंगा के घाटों पर कोई भी यह समाचार सुन सकता है। व्यापारियों के सार्थ के सार्थ कांपिल्य से विक्रय सामग्री से अधिक तो समाचार ही लाये हैं।" विदुर की मुद्रा बदली, "किंतु हमारे राजकुमार नहीं लौटे महाराज ! उन्हें कहाँ विलंब हो रहा है ?"

धृतराष्ट्र मन-ही-मन कल्पना कर रहा था कि दुर्योधन ने जब कांपिल्य में पांडवों को देखा होगा तो उसे कैसा लगा होगा। किंतु पांडव जीवित कैसे बच गये ? उसने किस प्रकार आग लगायी कि वह स्वयं तो भस्म हो गया और जिन्हें भस्म करना था, वे बचकर जीवित निकल गये !··· और सहसा उसके मन में एक संशय जागा : कहीं ऐसा तो नहीं कि पांडवों को दुर्योधन के षड्यंत्र की भनक मिल गयी हो और उन्होंने स्वयं ही लाक्षागृह में आग लगाकर पुरोचन को उसमें झोंक दिया हो ?···

धृतराष्ट्र को लगा, भय से उसका शरीर थर-थर काँप रहा है।··· यदि सचमुच कुछ ऐसा ही हुआ है, तो पांडव संतुष्ट होकर वहीं बैठे नहीं रहेंगे। वे हस्तिनापुर भी आयेंगे।···और यदि

उन्होंने अपनी प्रतिहिंसा में राजप्रासाद को ही अग्निसात् कर दिया ? धृतराष्ट्र और उसके पुत्रों को उठाकर जीवित अग्नि में झोंक दिया तो ?...

धृतराष्ट्र को अपना चीत्कार कंठ में दबाये रखने के लिए भी प्रयत्न करना पड़ा।

"महाराज ! दुर्योधन भी तो कांपिल्य में ही है। उसे भी ज्ञात हो गया होगा कि उसके भाई जीवित हैं। क्या उसके लिए यह उचित नहीं कि वह वहीं हस्तिनापुर की ओर से उनका स्वागत करे और उन्हें ससम्मान यहाँ ले आये ?"

धृतराष्ट्र को लगा, जैसे विदुर जान-बूझकर ही उसके हृदय को अपने वचन-बाणों से खुरच रहा है। क्या वह जानता है कि पांडवों के वध के प्रयत्न में वह भी सम्मिलित था ?

"हाँ ! उचित तो यही है।" धृतराष्ट्र बोला, "कदाचित् उन्हें साथ लाने के लिए ही वे लोग वहाँ रुक गये हैं। इस विवाह में भी तो उन्हें सम्मिलित होना होगा। भाइयों का विवाह है। पांचाल अब तो हमारे समधी बन गये।" धृतराष्ट्र उठ खड़ा हुआ, "अच्छा ! मैं विश्राम के लिए जा रहा हूँ।"

"तो महाराज ! पांडवों को लिवा लाने के लिए कांपिल्य कौन जायेगा ? नगर में उनके स्वागत की तैयारियाँ कौन करेगा ?" विदुर कुछ धृष्ट होकर बोला, "यह तो उचित नहीं है कि अपना घर होते हुए, पांडव कांपिल्य में समधियों के घर पड़े रहें; और न यह ही शोभनीय है कि वे कांपिल्य से आ जायें और यहाँ उनके स्वागत के लिए हस्तिनापुर प्रस्तुत ही न हो।"

धृतराष्ट्र अपनी खीज रोक नहीं पाया, "तो तुम स्वयं यहाँ उनके स्वागत की तैयारियाँ करवाकर उनको लिवा लाने के लिए चले जाओ।"

"मैं अकेला क्या-क्या करूँगा महाराज ?" विदुर के स्वर में असहायता का भाव तनिक भी नहीं था।

"अकेले क्यों ? अपने लिए कुछ सहायक चुन लो !" धृतराष्ट्र ने स्वयं को कुछ-कुछ सँभाल लिया था, "अच्छा ! अब मुझे जाने दो।"

धृतराष्ट्र की चिंता का कोई अंत नहीं था।

यह सब क्या हो गया ? कहाँ उसने सोचा था कि पांडव अब जीवित नहीं हैं। उससे राज्य-सत्ता माँगने का कोई अधिकारी ही नहीं है। दुर्योधन युवराज बन ही चुका था। उसके प्रति पितृव्य का विरोध भी शांत हो चुका था। वे विरोध करते भी तो किस आधार पर ? पांडु और उसके पुत्रों के जीवित न रहने पर, राज्य पर अधिकार और था ही किसका ? विदुर भी उसे अपने अनुकूल होता दिखायी दिया था। द्रोणाचार्य को अश्वत्थामा और दुर्योधन की मैत्री ने ही, दुर्योधन के निकट ला दिया था; और युवराज बनते ही युधिष्ठिर ने द्रुपद-संबंधी उनकी नीति का विरोध कर, उनको दुर्योधन के पक्ष में बलात् धकेल दिया था। अहिछत्र के राज्य का लोभ भी कम नहीं था द्रोणाचार्य के लिए। अर्जुन के प्रति उनका स्नेह तभी तक था, जब तक उनका प्रतिशोध लेने के लिए, वह एक उपकरण था। उस घटना के पश्चात् से तो शायद वह द्रोणाचार्य को अपना प्रतिद्वंद्वी दिखायी ही देने लगा था। पांडवों के वारणावत चले जाने से हस्तिनापुर में जैसे सब कुछ शांत-सा हो गया था।...

और अब ये प्रेत-से जाने कहाँ से उठकर चले आये ! उनके जीवित बचने का

रहस्य क्या था ? और जीवित बचने के पश्चात् वे प्रकट रूप से लौटकर हस्तिनापुर क्यों नहीं आये ? वे कहाँ छिपे रहे ? क्यों छिपे रहे ? क्या उन्हें संदेह है कि वारणावत में उनके वध का प्रयत्न किया गया था ? यदि यह संदेह है तो क्या उन्होंने यह भी सोचा है कि यह प्रयत्न किसकी ओर से हुआ है ? क्या उन्हें इसका आभास है ?

"महाराज की जय हो !" द्वारपाल ने कक्ष में प्रवेश कर कहा, "युवराज दुर्योधन पधारे हैं।"

"दुर्योधन !" पलंग पर लेटा धृतराष्ट्र उठकर बैठ गया, "युवराज को सम्मान सहित लाओ और आसन दो। उनके भोजन का भी प्रबंध करो। वे यात्रा से आये हैं। उन्हें भोजन और विश्राम की आवश्यकता होगी।"

"जो आज्ञा !" द्वारपाल चला गया।

दुर्योधन ने कक्ष में प्रवेश किया, "कुंती के पुत्र जीवित हैं पिताजी !"

धृतराष्ट्र इस ओर से असावधान नहीं था कि दुर्योधन ने अपनी व्यग्रता में पिता को प्रणाम तक नहीं किया था। उसने पांडवों को अपना भाई तो कभी नहीं समझा था; किंतु अब वह उन्हें पांडव भी नहीं कहता था, मात्र 'कुंती के पुत्र !'

"मुझे मालूम है पुत्र !" वह बोला, "मुझे स्वयंवर के अन्य समाचार भी मिल चुके हैं।"

"किसने बताया आपको ?"

"विदुर ने।"

"ओह, विदुर !" दुर्योधन ने अपने दाँत पीसे, "उसे सब कुछ ज्ञात रहता है। लगता है कि उस अकेले के गुप्तचर, संपूर्ण कुरु-साम्राज्य की गुप्तचर व्यवस्था से अधिक समर्थ हैं।"

"अब करना क्या है ?" धृतराष्ट्र का स्वर, ताड़ना की सीमा तक शुष्क था।

"वारणावत में यदि वे जीवित बच गये हैं तो अब उनकी प्रत्यक्ष हत्या करनी होगी पिताजी !" दुर्योधन बोला, "आप चाहें तो किसी को कांपिल्य भेजकर उनकी हत्या करवायी जाये। यह संभव न हो तो सेना सज्जित कर, कांपिल्य पर आक्रमण किया जाये। यदि आपको यह भी कठिन लगता है तो फिर कुरु-साम्राज्य की सीमा-चौकियों को आदेश भिजवाइए कि कुंती के पुत्रों को देखते ही उनका वध कर दिया जाये। हस्तिनापुर की रक्षा-व्यवस्था ऐसी कर दी जाये कि नगर में प्रवेश करते ही उनका वध हो जाये।"

"वे मेरे भाई के पुत्र हैं। वे मुझे अपने पुत्रों के समान प्रिय हैं। मैं उनकी हत्या का आदेश कैसे दे सकता हूँ !" धृतराष्ट्र बोला, "यह दूसरी बात है कि हस्तिनापुर में आने के पश्चात् उनके भवन में फिर किन्हीं अज्ञात कारणों से आग लग जाये; अथवा उनका कोई गुप्त शत्रु, उनको विष दे दे।"

"पिताजी !" दुर्योधन आवेश में बोला; किंतु दूसरे ही क्षण पिता का संकेत समझकर धीमे स्वर में बोला, "मैं आपकी योजना का महत्व भी समझता हूँ और उसकी श्रेष्ठता का भी। किंतु पिताजी ! अब मैं और प्रतीक्षा नहीं कर सकता। हस्तिनापुर में उनके प्रवेश करते ही परिस्थितियाँ वे नहीं रहेंगी, जो हम चाहते हैं। तत्काल युधिष्ठिर को युवराज बनाये जाने की माँग की जायेगी। उसके भाई भी किन्हीं महत्वपूर्ण पदों पर आधिपत्य स्थापित कर लेंगे। मंत्रियों में उनके प्रति सहानुभूति जागेगी, प्रजा में प्रेम। सेना और सेनाधिकारी उनके अधिकारों को स्वीकार करेंगे। नहीं पिताजी ! मैं अब प्रतीक्षा नहीं कर सकता। उनका तत्काल वध होना चाहिए; और

इस बार उनके शव पहचाने जाने चाहिए।"

"मैं राजसभा को क्या उत्तर दूँगा ?"

"राजसभा में किसी को उत्तर माँगने का अधिकार ही क्या है ?" दुर्योधन बोला, "क्या राजा की इच्छा सर्वोपरि नहीं है ?"

"नहीं ! यद्यपि प्रत्येक राजा चाहता यही है; किंतु राजा की इच्छा, शासन का सर्वोपरि तर्क नहीं है। कुरुकुल के राजा अपने मंत्रियों, जन-प्रतिनिधियों तथा कुल-वृद्धों की सहायता और उनकी समवेत प्रज्ञा से शासन किया करते थे। मैं वह नहीं करता, किंतु उसका नाटक अब भी करता हूँ।"

"इस नाटक की अब कोई आवश्यकता नहीं है पिताजी !" दुर्योधन बोला, "आप स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप में क्यों नहीं कह सकते कि आप कुरु-साम्राज्य के सम्राट हैं; और मैं युवराज ? कुंती के पुत्र हमारे शत्रु हैं, क्योंकि वे हमसे यह राज्य छीनना चाहते हैं। ऐसे में क्या हमारा यह अधिकार नहीं बनता कि हम अपने शत्रुओं का वध कर दें !"

"स्थिति इतनी सरल नहीं है पुत्र, जितनी तुम समझते हो।" धृतराष्ट्र धीरे से बोला, "मैं पांडु के स्थान पर उसकी अनुपस्थिति में राजा बना; और तुम युवराज इसलिए बनाये गये, क्योंकि यह मान लिया गया था कि पांडव अब जीवित नहीं हैं। अब, जबकि पांडव जीवित हैं, सभा में यह प्रश्न उठेगा कि शासन का वास्तविक अधिकार किसका है ?"

इसीलिए तो कहता हूँ कि इस बार सभासदों को बता दिया जाये कि वे मात्र सभासद हैं—राजा नहीं। और सभासद भी वे राजा की कृपा से हैं। हमें न उनसे भयभीत होना है, न उनके प्रति उत्तरदायी रहना है। हमें सर्वाधिकारसंपन्न, पूर्णतः स्वतंत्र राजा बनना है, जिसे स्वेच्छा से कोई भी निर्णय लेने की पूर्ण स्वतंत्रता हो; और उसकी सभा का कार्य, मात्र राजा का अनुमोदन करना ही हो।"

"तो दुर्योधन ! वह जरासंध अथवा कंस की सभा हो सकती है। कौरवों की सभा वह कैसे हो सकती है ? हमें सभा की मर्यादा बनाये रखने के लिए कुछ तो आडंबर करना ही होगा।"

"बहुत हो चुका यह सब !" दुर्योधन के स्वर में आवेश था, "मैं अब यह सब नहीं चलने दूँगा। दुर्योधन के हाथ में आये अधिकार, धन-संपत्ति, राज्य और सेना को—इस सुविधा से नहीं छोड़ देगा। मेरे मार्ग में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उसका मूल्य चुकाना होगा। आप सभा बुला लें। मैं देखता हूँ, कौन क्या कहता है।...और पिताजी !" उसने रुककर पिता पर एक कठोर दृष्टि डाली, "मैं आपसे स्पष्ट कह रहा हूँ कि अब न मैं अपनी इच्छाओं का दमन करूँगा और न उन्हें गुप्त रखने का प्रयत्न करूँगा। आपकी सारी सभा जान ले कि मैं क्या चाहता हूँ; और यह भी कि मैं अपनी आकांक्षा वस्तु पाने के लिए कोई भी उपाय उठा न रखूँगा।"

दुर्योधन चला गया। धृतराष्ट्र जानता था कि दुर्योधन की क्या इच्छा है। उसकी अपनी इच्छा भी दुर्योधन से तनिक भी भिन्न नहीं थी; किंतु धृतराष्ट्र को लग रहा था कि शकुनि के साथ रहकर भी दुर्योधन ने तनिक-सी भी राजनीति नहीं सीखी थी।...राजा के लिए आवश्यक था कि उसका प्रत्येक कृत्य, आदेश, संकल्प और सिद्धांत न्यायसंगत प्रतीत हो। उसकी स्वेच्छा और स्वार्थ की कहीं हल्की-सी छाया का भी आभास न हो। वह धर्म, न्याय तथा औचित्य की साक्षात् प्रतिमा ही दिखायी पड़े। तभी तो जन-सामान्य, सैनिकों और बुद्धिजीवियों का

समर्थन उसे प्राप्त होता है। अपनी यही छवि बनाये रखने के लिए ही तो वह इन सभाओं, मंत्रि-परिषदों, ऋषियों-मुनियों की गोष्ठियों इत्यादि का आयोजन करता रहता है।"किंतु दुर्योधन कदाचित् नये युग का राजनीतिज्ञ है। उसकी राजनीति मात्र लोभ और भय पर चलती है। किंतु शायद वह नहीं जानता कि ये दोनों तत्व मात्र निकृष्ट और सामान्य प्रकृति के लोगों के उपकरण हैं। *सात्विक और श्रेष्ठजन इन दोनों से ही प्रभावित नहीं होते। 'लोभ' और 'भय'* को उनका समर्थन नहीं मिलता। सात्विक लोग उसके निकट भी नहीं फटकते। ऐसे में राजनीति निर्वस्त्र हो जाती है, सर्वथा नग्न! उसकी रीढ़ के रूप में समाज का बहुमत नहीं होता; दुर्वृत्तों का एक संगठन होता है और देश में मात्र दमन-चक्र और शोषण की चक्की चलती है। उससे राजा शांत चित्त से राजसी भोगों को भोग भी तो नहीं पाता। यदि स्वर्णाभूषण शरीर पर धारण कर हम सुखी न हो सकें और सदा दस्युओं के भय से रक्त सूखता रहे तो उस स्वर्ण से क्या लाभ?"दुर्योधन अपने हठ में कुछ सोचता नहीं है। धृतराष्ट्र उसे इस प्रकार सारे देश से अँधी टक्कर नहीं मारने देगा। इसमें दुर्योधन का हित नहीं है। धृतराष्ट्र को सभा बुलानी ही होगी।"

सभा में सबसे पहले कर्ण बोला, "मेरा विचार है, राज्य पर किसी भी प्रकार का कोई संकट नहीं आना चाहिए—न बाह्य और न आभ्यंतरिक! न शत्रुओं की ओर से और न मित्रों अथवा निकट संबंधियों की ओर से। राज्य की सुरक्षा सर्वोपरि है—उससे अधिक महत्वपूर्ण, कोई सगा-संबंधी भी नहीं होता। कई बार ऐसा होता कि जिन्हें हम अपना शत्रु नहीं मानते, जिनसे कभी किसी हानि अथवा क्षति की अपेक्षा नहीं होती—वे ही राज्य के सबसे बड़े शत्रु प्रमाणित होते हैं। इसलिए मैं कहना चाहता हूँ कि कोई भी संबंध, पद अथवा स्थिति राज्य की सुरक्षा से अधिक प्रिय, पवित्र अथवा महत्वपूर्ण नहीं है। जिस किसी के कारण राज्य की सुरक्षा और दृढ़ता पर संकट आये, वह हमारा शत्रु है।" भूमिका के पश्चात् क्षण-भर रुक कर उसने बारी-बारी धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोण, विदुर और दुर्योधन पर दृष्टि डाली, "आज हम ऐसे ही एक द्वंद्व में आ फँसे हैं। कुरुओं का शासन सुचारु रूप से चल रहा है। प्रजा प्रसन्न और सम्पन्न है। हमारे शत्रु हमसे भयभीत हैं। न कोई आंतरिक शत्रु है, न बाह्य। किंतु ऐसे में हमें सूचना मिलती है कि स्वर्गीय सम्राट् पांडु के पुत्र जीवित हैं। उन्होंने पांचालराज द्रुपद से संबंध स्थापित कर लिया है और उनके अनेक बलशाली मित्र हैं। वे हस्तिनापुर की ओर प्रयाण करेंगे और राज्य हस्तगत करने का प्रयत्न करेंगे। इससे राज्य के भीतर और बाहर के मित्रों में द्वंद्व उत्पन्न होगा और कुरुओं का राज्य हर प्रकार से दुर्बल होगा। इसलिए आवश्यक है कि हम अपनी सेना संगठित कर, उनपर आक्रमण कर, उनके मित्रों सहित उनको नष्ट कर दें, ताकि कुरुवंश के लिए बार-बार उठने वाला यह संकट पूर्णतः समाप्त हो जाये।"

"क्या हम सैनिक रूप से इतने समर्थ हैं कि आक्रमण कर, पांडवों और उनके मित्रों को पूर्णतः नष्ट कर दें?" धृतराष्ट्र ने पूछा।

सहसा विदुर तमककर खड़ा हो गया, "महाराज! आप यह प्रश्न तब पूछें, जब राजसभा यह निर्णय कर ले कि पांडव हमारे शत्रु हैं और हमें उनका वध करना है।"

"तुम क्या कहते हो विदुर?" धृतराष्ट्र का स्वर शांत था।

विदुर स्वयं को शांत रखने का प्रयत्न कर रहा था, फिर भी उसका आक्रोश जैसे कोई अंकुश नहीं मान रहा था। बोला, "शत्रु और मित्र को पहचानना सबके वश का नहीं है महाराज! विशेषकर जब द्वेष और प्रतिहिंसा के धुएँ से व्यक्ति के विवेक का दम घुट चुका हो। मेरा विचार है कि यह हम सबको विदित है कि युधिष्ठिर हमारा युवराज है और हस्तिनापुर के सिंहासन का वास्तविक अधिकारी है। वह न हमारा शत्रु है, न कुरुओं के राज्य का। वह कुरुओं के राज्य का स्वामी है। स्वामी स्वयं अपने ही राज्य का शत्रु कैसे हो सकता है! उचित यही है कि हम धर्म के मार्ग पर चलें और राज्य के वास्तविक अधिकारी को पहचानें। पांडवों का स्वागत करें और युधिष्ठिर का राजा अथवा युवराज के रूप में अभिषेक करें। युधिष्ठिर के शत्रुओं को कौरवों का शत्रु मानें और कर्ण जैसे प्रच्छन्न शत्रु का कौरवों की राजसभा में आने का निषेध करें।..."

"मैं यह अनर्गल प्रलाप और नहीं सुन सकता।" दुर्योधन उठकर खड़ा हो गया, "हस्तिनापुर की राजनीति का प्रथम सत्य यह है कि कुरुश्रेष्ठ महाराज धृतराष्ट्र हस्तिनापुर के राजा हैं और मैं यहाँ का युवराज! हमारा यह अधिकार हमसे कोई नहीं छीन सकता।"

"हस्तिनापुर पर तुम्हारा आधिपत्य अवश्य है; किंतु उस पर तुम्हारा अधिकार भी है—यह तो किसी ने कभी स्वीकार नहीं किया।" भीष्म बोले।

"तो पितामह भी सुनें।" दुर्योधन उच्च स्वर में बोला, "मैं अब अपने मनोभावों को गुप्त रखना नहीं चाहता। आप मेरा अधिकार मानते हैं या नहीं—किंतु मैं युवराज हूँ; और अपना यह अधिकार मैं कभी नहीं छोड़ूँगा। युधिष्ठिर और मैं—हस्तिनापुर के दो युवराज नहीं हो सकते; इसलिए हस्तिनापुर में मैं और युधिष्ठिर—दोनों इकट्ठे रह भी नहीं सकते। वह यदि यहाँ आने का प्रयत्न करेगा, तो मैं अपने पूरे सामर्थ्य से उसे रोकूँगा। बहुत संभव है कि उसके और मेरे समर्थकों में युद्ध हो। हस्तिनापुर की गली-गली में रक्तपात हो...।"

भीष्म ने क्रोध से एक बार सिर उठाकर दुर्योधन को देखा; किंतु कुछ सोचकर चुप रह गये और सिर झुका लिया।

"आप क्या कहते हैं आचार्य?" धृतराष्ट्र ने पूछा।

आचार्य कुछ देर मौन बैठे जैसे विचारों का संग्रह करते रहे; फिर बोले, "हस्तिनापुर के सिंहासन पर दुर्योधन का अधिकार है या नहीं—इसमें दो मत हो सकते हैं; किंतु युधिष्ठिर के अधिकार को लेकर कोई द्वंद्व नहीं हो सकता। इसलिए युधिष्ठिर और उसके भाइयों के हस्तिनापुर आने पर न तो उन्हें नगर में प्रवेश करने से बलात् रोकना न्यायसंगत है; और न ही उसे राज्याधिकार से वंचित करना धर्म-सम्मत है। किंतु, इस समय हस्तिनापुर पर आधिपत्य महाराज धृतराष्ट्र और युवराज दुर्योधन का है। वे स्वेच्छा से राज्य छोड़ना नहीं चाहते। इस प्रकार यदि दोनों पक्ष हठ पर अड़े रहे तो रक्तपात अवश्यंभावी है। इस रक्तपात और गृहकलह से मुक्ति पाने का मेरे विचार में एक ही उपाय है...।"

"वह क्या आचार्य?" धृतराष्ट्र ने व्यग्रता से पूछा।

"कौरवों के राज्य को दो भागों में बाँट दिया जाये।" द्रोण बोले, "युधिष्ठिर और दुर्योधन—दोनों को राज्य मिल जाये। दोनों अपने-अपने नगरों में संतुष्ट होकर, एक-दूसरे से दूर रहें। मेरा विचार है कि ये दोनों एक साथ एक नगर में रह नहीं पायेंगे; और बिना राज्य पाये कोई भी इस नगर को छोड़कर क्यों जायेगा!"

"यह तो बहुत अच्छा न्याय है आचार्य!" विदुर के स्वर में पर्याप्त कटुता थी, "स्वामी

और दस्यु को आपने तुला में बराबर तौल दिया ! अधिकारी और अपहरणकर्ता—दोनों धर्म की दृष्टि में समकक्ष हो गये ? किसी ने बलात् किसी का राज्य, किसी की धन-संपत्ति छीन ली तो कलह को बचाने के लिए, वह राज्य और धन-संपत्ति उनमें बराबर बाँट दी जाये ?'

द्रोण के मन का जैसे कोई घाव छिल गयाः विदुर कहीं द्रोण द्वारा द्रुपद से आधा पंचाल बलात् ले लेने की ओर ही तो संकेत नहीं कर रहा था ? वह द्रोण को ही तो दस्यु और अपहरणकर्ता नहीं कह रहा था ?...

द्रोण की भृकुटियाँ वक्र हो गयीं, "मंत्रिवर ! वैसे तो आप राजनीति के आचार्य माने जाते हैं, किंतु आप कदाचित् नहीं जानते कि राजनीति में 'अधिकार' से अधिक महत्व 'आधिपत्य' का होता है। शासन, अधिकार से नहीं, आधिपत्य से संचालित होता है ! किसी का अधिकार विवादास्पद हो सकता है; किंतु आधिपत्य स्वयं अपने-आपमें ही प्रमाण है; स्वयंसिद्ध है।"

दुर्योधन ने मुस्कराकर आचार्य की ओर देखा : आचार्य उसका पक्ष ले रहे थे। यद्यपि पूर्णतः प्रसन्न वह तभी होता, जब आचार्य स्वीकार करते कि युधिष्ठिर का हस्तिनापुर पर कोई अधिकार नहीं है। फिर भी यही बहुत था कि वे विदुर का विरोध कर रहे थे; अन्यथा यदि कहीं आचार्य तटस्थ रह जाते तो पितामह और विदुर मिलकर अपने मन की करवा ले जाते। यद्यपि राजसभा में उसके पक्ष का समर्थन सबसे अधिक कर्ण ही करता था; किंतु कर्ण की बात का कोई प्रभाव कभी किसी ने ग्रहण नहीं किया। जाने क्या बात थी कि इन वृद्धों में से कोई भी उसकी बात को गंभीरता से सुनता ही नहीं था।...फिर भी उसने कर्ण की ओर देखा : कर्ण अत्यंत लज्जित अवस्था में बैठा था; और कुछ कहने को व्यग्र प्रतीत होता था।

कर्ण ने दुर्योधन की आँखों में अपने लिए प्रोत्साहन देखा तो तत्काल उठकर खड़ा हो गया, "जब आधिपत्य का इतना ही महत्व है, तो हम महाराज धृतराष्ट्र को राजा और राजकुमार दुर्योधन को युवराज क्यों स्वीकार कर नहीं सकते; और किसी भी शासक को यह कैसे कहा जा सकता है कि वह किसी आक्रमणकारी के लिए सिंहासन खाली कर दे ? आक्रमणकारी से युद्ध होना चाहिए, उससे अपने राज्य की रक्षा की जानी चाहिए, न कि राज्य पर उसके आधे अथवा पूरे अधिकार के विषय में वादविवाद करना चाहिए। मेरी समझ में तो तनिक भी नहीं आता कि जिस राजा का हम अन्न खाते हैं, उसकी सेवा करने के स्थान पर, हम उससे शत्रुता क्यों निबाहते हैं..."

सामान्यतः शांत रहने वाला विदुर इस समय उग्र हो उठा था, "तुम्हारी समझ में यह बात तब आयेगी, जब तुम्हें सारथि और मंत्री का अंतर ज्ञात हो जायेगा। राजा का अन्न खाने वाला सारथि उसकी सेवा कर, उसका हित साधता है; और मंत्री उसका विरोध करके भी उसके हितों की रक्षा करता है। मंत्री का धर्म है राजा का कल्याण; सारथि का धर्म मात्र रथ हाँकना है।"

कर्ण का चेहरा क्रोध से तमतमा आया। विदुर ने फिर उसके मर्म पर आघात किया था।

"आप क्या कहते हैं पितृव्य !" धृतराष्ट्र ने देर से मौन बैठे, भीष्म की दिशा में मुँह फेरा।

किंतु भीष्म के कुछ कहने से पहले की दुर्योधन उठ खड़ा हुआ, "मैं आप सबको स्पष्ट बता रहा हूँ; मैं अपना राज्य किसी के साथ नहीं बाँटूँगा। मुझे यह विभाजन स्वीकार नहीं है।"

"मुझे भी न यह विभाजन स्वीकार है, और न मैं युधिष्ठिर का अधिकार अस्वीकार करता हूँ।" पितामह उठकर खड़े हो गये, "मैंने कौरवों के राज्य की अखंडता की रक्षा इसलिए नहीं की

थी कि अपनी आँखों के सम्मुख उसे खंड-खंड होता देखूँ ! विभाजन ही करना होता, तो विभाजन युधिष्ठिर और दुर्योधन के मध्य न होकर, मेरे और चित्रांगद के मध्य हुआ होता। और जहाँ तक आधिपत्य का प्रश्न है, मुझसे अधिक आधिपत्य कुरु-साम्राज्य पर और किसी का नहीं रहा।…" उन्होंने रुककर एक दृष्टि अपने श्रोताओं पर डाली, "मैंने राजा का अन्न खाया है या नहीं, कह नहीं सकता; किंतु मैंने कुरुओं की इस भूमि से उपजा हुआ अन्न खाया है। मैं इस भूमि को खंडों में विभाजित होते नहीं देखना चाहता; और न ही मैं उस सभा के विचार-विमर्श में सम्मिलित होना चाहता हूँ, जहाँ उस भूमि के विभाजन की चर्चा चल रही हो।"

भीष्म कक्ष के द्वार की ओर चल पड़े। किसी ने उनसे रुकने का अनुरोध नहीं किया और वे कक्ष से बाहर निकल गये।

भीष्म अपने भवन में नहीं जा सके। इतनी उद्विग्नता में दीवारों के मध्य घिरकर उनका दम घुटता। ऐसी स्थिति में तो वे माता गंगा की ही शरण में जा सकते थे।

वे गंगा-तट पर बैठे हुए बड़ी देर तक लहरों को देखते रहे; उन्हें लगता था, वे लहरों को देख ही नहीं रहे, मात्र अपने अस्तित्व से ही वे, अपने मन की व्यथा, गंगा माता के सम्मुख निवेदित कर देते हैं। और जब कोई लहर आकर, उनके शरीर का स्पर्श कर जाती थी, तो जैसे माँ स्वयं अपने हाथों उन्हें दुलरा जाती थीं।… ऐसा पहली बार ही तो नहीं हुआ था। अपनी उद्विग्नता के क्षणों में वे हर बार इसी प्रक्रिया में से होकर गुज़रे हैं। उनके और माता गंगा के मध्य शब्द कभी भी आवश्यक नहीं रहे हैं। उनका यहाँ उपस्थित होना मात्र, पर्याप्त होता है…

किंतु आज उन्हें लग रहा था कि उनके हृदय में जैसे वर्षों से संजोया एक कोमल और अत्यत्र सुंदर स्वप्न किसी ने अपनी कठोर हथेलियों में दबाकर तोड़ दिया है। उस स्वप्न के छोटे-छोटे भग्न खंड जैसे टूटे दर्पण के समान, नुकीले और घातक हो गये हैं। उनकी नोक भीष्म के हृदय में चुभ रही है और धार उसे चीर रही है। वे असंख्य खंड, जैसे असंख्य निर्मम आरियों के रूप में बदल गये हैं; और निरंतर उनके हृदय को कतर रहे हैं। उन्हें लग रहा था, उनके हृदय से बहा हुआ वह रक्त जैसे उनके शरीर से निकल-निकलकर, गंगा के जल में मिल रहा था और उसे भी लाल कर रहा था। माता गंगा को भी उनकी पीड़ा का अनुभव हो ही रहा था…

वर्षों से कौरवों ने इस साम्राज्य की रक्षा के लिए क्या इस कारण अपना रक्त बहाया था कि कुछ मूर्ख और उद्दंड लोग, अपने स्वार्थ के लिए, उसको खंडों में विभाजित कर डालें ? ये लोग भरत को, पुरु को, ययाति को, शांतनु को बाँट डालेंगे। उन सब के दो-दो खंड कर डालेंगे। इसकी परंपराओं और चिंतन को खंडित कर देंगे, इसके इतिहास के टुकड़े कर देंगे…

"इतने दुखी क्यों हो भीष्म !" माता गंगा ने जैसे भीगी बयार के रूप में उनके सिर पर हाथ फेरा, "यह राज्य क्या तुम्हारा था ! तुमने राज्य का त्याग किया था; किंतु उसका मोह नहीं त्यागा। राजा तो दुखी नहीं है, जिसका राज्य बँटेगा।…"

भीष्म की दृष्टि दूर तक गंगा-जल को छूती हुई निकल गयी, "ठीक कहती हो माँ ! यह राज्य मेरा नहीं है। मैंने राज्य का त्याग कर दिया था। त्याग न किया होता, तो वह सब

कहाँ पाया होता माँ ! जो आज मेरे पास है। राजा का तो वही होता है, जो उसके शासन के अधीन है; किंतु प्रजा का तो सारा देश होता है। अपनत्व, शासन और आधिपत्य से तो नहीं पनपता माँ ! अपने समर्पण से पनपता है। तुम मेरी हो माँ ! इसलिए तो नहीं कि तुम मेरी संपत्ति हो। तुम मेरी हो माँ ! क्योंकि मैं तुम्हारी संपत्ति हूँ। उसी प्रकार मैं इस देश की संपत्ति हूँ। मेरा और इसका संबंध भावनात्मक है माँ ! मैं इसके एक कण का भी स्वामी नहीं हूँ; किंतु इसका सारा भूगोल मेरा है, इसका सारा इतिहास मेरा है। राजा तो अपने लिए नया इतिहास लिखवा लेगा; अपने देश को काट लेगा, घेर लेगा; और प्रसन्न होगा। वह अपने लाभ और स्वार्थ की सोचेगा माँ ! वह देश का हित कहाँ सोचेगा माँ ?…"

गंगा में एक ऊँची लहर उठी, जैसे माँ ने भीष्म के प्रवाह को रोका हो, उसे क्षण भर थम जाने के लिए कहा हो !

भीष्म थम गये।

"तुम्हें युधिष्ठिर और दुर्योधन पर भरोसा नहीं पुत्र ? क्या वे अपनी प्रजा के पालन नहीं करेंगे ?"

भीष्म तत्काल कुछ नहीं बोले; फिर जैसे ग्लानि के बोझ से दबे हुए बोले, "मैं आज तुम्हारे सामने अपनी असफलता, अपनी पराजय स्वीकार करता हूँ माँ ! धृतराष्ट्र और पांडु का भी पालन-पाषण मैंने ही किया था। युधिष्ठिर और दुर्योधन का भी ! किंतु मैं अपने प्रयास में सर्वथा असफल रहा हूँ माँ ! धृतराष्ट्र, राष्ट्र को धारण नहीं कर रहा, उसे निरंतर क्षय की ओर धकेलता रहा है और आज भी धकेल रहा है। दुर्योधन तो सर्वथा दुर्योधन ही है माँ ! दुर्योधन !…युधिष्ठिर और उसके भाइयों से मैं क्या कहूँ ! उन्होंने कौन-सा सुख पाया है मेरे हाथों। वे बेचारे तो जन्मे ही ऋषि कुलों में। फिर जैसे केवल शिक्षा पाने के लिए ही हस्तिनापुर आये। मैं उनका पितामह, स्वयं यहाँ नगर में बैठा रहा और उन्हें मैंने वारणावत भेज दिया—केवल इसलिए कि कुरुकुल अपनी आभ्यंतरिक कलह से बच जाये। किंतु मैं क्या जानता था कि वहाँ अग्निदेव उनपर ऐसा कोप करेंगे ! मैं तो आज तक इस अग्निकांड को भी समझ नहीं पाया माँ ! यदि वह आकस्मिक अग्निकांड था तो पांडव उससे बचकर हस्तिनापुर क्यों नहीं आये ? वे वनों में क्यों भटकते फिरे ? कहीं इसमें भी इसी दुर्योधन का ही कोई षड्‌यंत्र न हो माँ !…"

"यदि साम्राज्य को सुरक्षित रखना है तो किसी एक को तो वंचित करना ही होगा पुत्र !" माँ का स्वर जैसे उनके मन में आकार ग्रहण कर रहा था, "यदि साम्राज्य युधिष्ठिर को मिलेगा, तो दुर्योधन वंचित होगा…और साम्राज्य दुर्योधन को दे दो तो युधिष्ठिर वंचित होगा; किंतु साम्राज्य अखंड रहेगा…क्या दोनों स्थितियाँ एक ही समान नहीं हैं पुत्र ?…"

भीष्म जैसे सनाका खा गये, "साम्राज्य तो अखंड रहेगा माँ; किंतु न्याय खंडित हो जायेगा। दुर्योधन को राज्य न मिले, तो वह वंचित नहीं होगा; क्योंकि वह उसका स्वत्व ही नहीं है। किंतु युधिष्ठिर को उसके स्वत्व से वंचित करना न्याय नहीं है माँ ! मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि मैं उससे कहूँ कि वह राज्य त्यागकर अपने भाइयों सहित वन में चला जाये, तो वह एक क्षण के लिए भी आनाकानी नहीं करेगा।… किंतु उनको उनकी सज्जनता का दंड तो नहीं मिलना चाहिए माँ ! मैं उनका स्वत्व उन्हें दिलवा नहीं सकता, तो उनको वंचित करने का ही साधन क्यों बनूँ ?"

"साम्राज्य को अखंड रखने के लिए पुत्र !"

"नहीं माँ ! नहीं !" भीष्म का हृदय जैसे काँप उठा, "यह बहुत बड़ा मूल्य है । साम्राज्य की अखंडता के लिए भी अधिक है । पशुता को सर्वाधिकार देना, उन्हें न्याय-पक्ष स्वीकार करना, उसके सम्मुख विरोध-विहीन पूर्ण आत्म-समर्पण—बहुत बड़ा मूल्य है, बहुत अधिक !"

"तो साम्राज्य का विभाजन हो जाने दो पुत्र !"

भीष्म का असमंजस न उन्हें कुछ कहने दे रहा था, न मौन ही रहने दे रहा था । धीरे से बोले, "अपने हृदय पर शिला रखकर मै यह भी स्वीकार कर लेता माँ, यदि कहीं मुझे विश्वास होता कि उससे कलह मिट जायेगी और शांति हो जायेगी ।"

"क्या ऐसा नहीं होगा पुत्र ?"

माँ की सरलता पर भीष्म झुँझला उठे, "क्या तुम नहीं जानती हो माँ, कि ऐसे सारे विभाजन विनाश के अग्रदूत होते हैं ? वे शत्रुता, द्वेष और विरोध की नींव पर खड़े राज्य-संगठन हैं । मनुष्य के शरीर का अंग कटता है, तो घाव भर जाता है; किंतु जब कभी राज्य का कोई अंग कटता है, वह सदा ही रिसता रहता है माँ ! वह शांति का संदेश नहीं देता, परस्पर शत्रुता को बनाये रखने का कारण बनता है । जो कभी साथ ही न थे, उनके साथ शत्रुता हो न हो; जो साथ थे और पृथक् हो गये हैं, उनमें भयंकर शत्रुता होती है माँ ! ये लोग अपनी प्रजा को निरंतर सैनिकों में परिवर्तित करते रहेंगे, उन्हें लड़ाते रहेंगे । सीमाओं पर मनुष्य का रक्त बहेगा और प्रजा को समझाया जायेगा कि सीमा के उस पार भयंकर शत्रु बसते हैं, उनमें कोई गुण है ही नहीं । वे इस योग्य नहीं हैं कि उन्हें जीवित रहने दिया जाये । ये उनके मन में घृणा का संचार करते रहेंगे, उनमें हिंसा और शत्रुता के कीटाणुओं का अक्षय भंडार जन्म लेता रहेगा, माँ !"

"तो फिर इसे रोको भीष्म !" माँ ने जैसे द्रवित होकर कहा, "अन्याय से थोड़ा समझौता करना पड़े, तो भी रोको । पांडवों को थोड़ा दबना पड़े, तो भी रोको ।..."

भीष्म जैसे हताश हो गये, "यही तो सोच रहा हूँ माँ ! आज की शांति पाने के लिए यदि मैंने अन्याय से समझौता किया तो यह प्रक्रिया यहीं समाप्त नहीं होगी । संसार तो घटनाओं की श्रृंखला हैं माँ ! परिणाम रूप में जन्मी घटना, सदा ही अगली घटना का कारण बनती है । न्याय के मूल्य पर क्रय की गयी शांति स्थायी नहीं होगी । अन्याय निरंतर प्रसारित होता रहेगा और शांति सकुचित होती जायेगी; और भविष्य में जब कभी भी हम पुनः न्याय अथवा शांति पाना चाहेंगे, हमें उस विकसित तथा प्रसरित अन्याय का सामना करना होगा, तब आज की अपेक्षा और बड़ा युद्ध करना होगा; इससे भी अधिक रक्त बहाना होगा । अन्याय से समझौता कर छोटे युद्ध को टालना, बड़े संहार की भूमिका है माँ !"

"तो अन्याय से समझौता मत करो पुत्र !" माँ का स्वर आया, "तुम असमर्थ नहीं हो, असहाय नहीं हो । सामर्थ्यवान को इतना दीन होना शोभा नहीं देता पुत्र ! दुर्योधन का दमन करो । आवश्यकता होने पर खड्ग उठाओ ।"

भीष्म ने अधैर्य से सिर हिलाया, "भीष्म अपने पौत्रों को शत्रुओं के समान दंडित नहीं कर सकता ।... जो किसी से नहीं हारता माँ, वह अपनी ही अगली पीढ़ी से हारता है । युवा लोग तो स्वयं को वृद्धों के अनुरूप ढालते नहीं; वृद्धों को ही युवाओं के मनोनुरूप आचरण करना पड़ता है । मैं अपनी कौटुंबिक शांति के लिए स्वयं ही तो कुटुंब का काल नहीं बन सकता ।

तुमने कभी सुना माँ, कि किसी ने स्वयं अपने वंश की धारा को कुंठित किया हो ?"

"तो क्या करोगे भीष्म ?"

"नहीं जानता माँ ! मैं नहीं जानता !"

लक्ष्यहीन भीष्म उठकर, अपने पैरों को घसीटते हुए चल पड़े।

अश्वत्थामा ने द्रोण के कक्ष में प्रवेश किया, "पिताजी !"

अत्यंत आत्मविश्वस्त ढंग से बैठे द्रोण, मन-ही-मन जैसे अपनी विजय का रसपान कर रहे थे। पुत्र के इस प्रकार अकस्मात् आ जाने से उनके आस्वादन में बाधा पड़ी।

"क्या बात है पुत्र !" उन्होंने तटस्थ भाव से अश्वत्थामा को देखा, "बड़े उद्विग्न दिखायी पड़ रहे हो ?"

"पिताजी ! आपने राजसभा में कर्ण का पक्ष क्यों नहीं लिया ?"

द्रोण को पुत्र का यह प्रश्न पर्याप्त अपमानजनक लगा। बोले, "कर्ण का पक्ष लेने का क्या अर्थ है तात् ? तुम जानते हो, कर्ण के प्रति मेरे मन में कोई राग नहीं है। मेरे लिए न उसकी उद्दंडता सह्य है, न मूर्खता ! उसका पक्ष लेने का क्या अर्थ ?"

अश्वत्थामा कुछ खीजता हुआ बोला, "मेरा तात्पर्य वह नहीं था पिताजी ! आपने दुर्योधन के लिए हस्तिनापुर का पूर्ण राज्य क्यों नहीं माँगा ? आपने कौरवों के राज्य का विभाजन क्यों माँगा ? आप जानते नहीं कि दुर्योधन मेरा मित्र है ? और फिर न्यायतः भी वह राज्य दुर्योधन का है !"

द्रोण कुछ नहीं बोले। चुपचाप अपने पुत्र का निरीक्षण करते रहे।

"आपके मन में कोई संशय है क्या ?" अश्वत्थामा बोला, "या फिर अर्जुन के प्रति आपका प्रेम आपको दुर्योधन के पक्ष में नहीं आने देता ?"

"वत्स ! एक ओर तुम दुर्योधन से अपनी मैत्री की चर्चा कर रहे हो; युधिष्ठिर और दुर्योधन के पक्षों की बात कर रहे हो और दूसरी ओर न्याय की बात कर रहे हो। कहीं पक्षपात और न्याय भी साथ-साथ हुए हैं ?"

अश्वत्थामा को आश्चर्य हुआ। बोला, "तो आप यह नहीं मानते कि हस्तिनापुर का राज्य न्यायतः दुर्योधन का है ?"

"नहीं !" द्रोण बोले, "हस्तिनापुर पर दुर्योधन उसी प्रकार अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है, जिस प्रकार मैंने अहिछत्र पर पाया है।"

"तो अहिछत्र पर न्यायतः आपका अधिकार नहीं है ?"

"नहीं ! मैंने द्रुपद को दंडित करने के लिए उससे वह राज्य छीना है। छीनना न्याय नहीं होता पुत्र !"

"तो फिर आप युधिष्ठिर के लिए ही संपूर्ण कुरु-साम्राज्य माँग लेते। आपने विभाजन की बात ही क्यों की ?" अश्वत्थामा रोष में बोला, "आप एक पक्ष में तो हो जाते। ऐसे तो न दुर्योधन आपको अपना मित्र मानेगा, न युधिष्ठिर ! आप कहीं के भी नहीं रहेंगे।"

द्रोण कुछ नहीं बोले। थोड़ी देर बैठे अश्वत्थामा को देखते रहे और फिर उठकर खड़े हो गये। वे अपने स्थान पर खड़े भी नहीं रह सके। सिर झुकाकर, पीठ पीछे अपने दोनों हाथ

बाँधे कक्ष की एक दीवार से दूसरी दीवार तक टहलते रहे ।

"क्या बात है पिताजी !" अश्वत्थामा का क्रोध कुछ कम हुआ, "आप कुछ चिंतित लगते हैं ।"

"चिंतित ! नहीं, चिंतित नहीं हूँ ।" द्रोण सायास मुस्कराए, "मैं तो मात्र तुम्हारे कहने पर अपनी दशा पर विचार कर रहा था । वैसे मैं, अपनी स्थिति से पूर्णतः अवगत भी हूँ और कहीं उससे संतुष्ट भी हूँ ।"

अश्वत्थामा का आवेश विलीन हो गया । उसमें थोड़ी स्थिरता भी आयी, "क्या बात है पिताजी ?"

"बात यह है पुत्र, कि जहाँ मैं हूँ, वहाँ मुझे युधिष्ठिर और दुर्योधन के विषय में ही नहीं, अपनी अवस्था के विषय में भी सोचना पड़ता है । मैंने अपने-आपको बहुत सारे बंधनों से बाँध लिया है; और वे बंधन ऐसे हैं कि मैं इच्छा होने पर भी उनसे मुक्त नहीं हो सकता ।"

"कौन-से बंधन ?" अश्वत्थामा को आश्चर्य हो रहा था कि इतने निकट होते हुए भी वह अपने पिता को इतना कम पहचाना है ।

"द्रुपद मेरा मित्र नहीं था, किंतु हितैषी तो था । उसे मित्र बनाने के प्रयास की असफलता की प्रतिक्रिया में मैंने उसे स्वेच्छा से अपना शत्रु बना लिया । अब यदि मैं चाहूँ भी तो न मैं उसका सम्मान लौटा सकता हूँ और न उसका राज्य । उसकी और मेरी शत्रुता कभी समाप्त नहीं हो सकती ।..."

अश्वत्थामा ने कुछ विचित्र दृष्टि से द्रोण को देखा : यह क्या हो गया है पिताजी को ! दुर्योधन और युधिष्ठिर के बीच, यह द्रुपद कहाँ से आ गया ?

"अब पांडवों की स्वामिनी है द्रुपद-पुत्री पांचाली कृष्णा ! द्रौपदी के अधिकार-क्षेत्र में अब न मेरा स्वागत हो सकता है, न सत्कार और न सम्मान !" द्रोण बोले, "इसका अर्थ यह है कि यदि मैं न्याय करने बैठता और न्यायतः हस्तिनापुर का संपूर्ण राज्य युधिष्ठिर के लिए माँगता, तो यह सारा कुरु-साम्राज्य मेरे लिए निषिद्ध-क्षेत्र हो जाता । मैं अपने मुख से अपने लिए यह निष्कासन क्यों माँगता पुत्र ?"

अश्वत्थामा गंभीर ही नहीं, कुछ चिंतित भी हो गया था, "तो आप समझते हैं कि यदि आपके प्रस्ताव के अनुसार कुरु-साम्राज्य विभाजित हुआ तो इच्छा होने पर भी आप पांडवों के पक्ष में नहीं जा सकते ? आप पांडवों के राज्य से सदा निष्कासित ही रहेंगे ?"

"हाँ, पुत्र ! यदि यह विभाजन हुआ तो हमें दुर्योधन के साथ ही रहना पड़ेगा । अर्जुन के प्रति मेरे मन में कितना भी ममत्व क्यों न हो, अर्जुन के मन में मेरे प्रति कितना भी आदर-सम्मान और पूज्य भाव क्यों न हो, मैं अर्जुन के साथ नहीं रह सकता, क्योंकि अर्जुन के साथ द्रौपदी रहेगी ।"

"किंतु गृहस्वामी तो अर्जुन है ।..."

"भ्रम है !" द्रोण बोले, "पुरुष बाहर का स्वामी हो तो हो, घर की स्वामिनी तो स्त्री ही हो सकती है । जिस आगंतुक का स्वागत स्त्री न करे, उसका सत्कार उस घर में नहीं हो सकता ।"

"यदि द्रौपदी को यह समझाया जा सके कि आपकी दुर्भावना मात्र उसके पिता के लिए थी, उसके पति के लिए नहीं, तो ?" अश्वत्थामा बोला, "और फिर पिछली बातें भुलाई भी तो

जा सकती हैं । कई बार नये संबंध बनते हैं पिता जी !"

"तुम निरे बालक ही रह गये अश्वत्थामा !" द्रोण हँसे, "युधिष्ठिर ने युवराज बनने पर जब द्रुपद पर किये गये आक्रमण को अन्यायपूर्ण ठहराया था, उसी दिन मैंने मान लिया था कि नीति की दृष्टि से मैं और युधिष्ठिर एकमत नहीं हो सकते । युधिष्ठिर की नीति को देखकर, मेरे मन में कहीं एक गहरा भय समा गया था पुत्र !'''यदि उसे पूर्णाधिकार मिल गया तो वह अहिछत्र का शासन मुझसे छीन भी सकता था, द्रुपद को लौटा भी सकता था ।''' मैं बहुत दिनों तक सर्वथा वंचित रहा हूँ पुत्र ! मैंने जो पाया है, बहुत मूल्य देकर पाया है । मेरे मन में कुछ छिन जाने, खो जाने, नष्ट हो जाने का एक स्थायी भाव समाया हुआ है । मैं ऐसा संकट नहीं मोल सकता था'''अतः मैंने स्वयं को पांडवों से पृथक् कर लिया था । तभी धृतराष्ट्र पांडवों को वारणावत भेज सका और वहाँ उनकी हत्या का प्रयत्न किया गया ।''' तुम समझते हो कि अर्जुन और भीम इस बात को भूल गये होंगे ? क्या वे यह नहीं मानेंगे कि उनकी हत्या के प्रयत्न में कहीं थोड़ी- सी सहमति मेरी भी थी ?"

"तो फिर आपने दुर्योधन के लिए ही पूरा राज्य क्यों नहीं माँगा ? जब पूर्ण न्याय नहीं हो सकता था, तो पूर्ण स्वार्थ ही साधा होता ।" अश्वत्थामा का आवेश पुनः जागा, "पांडवों का वध करवा दिया जाता अथवा उन्हें राज्य से निष्कासित कर दिया जाता । रहते वे वनों में । चाहे कंद- मूल खाकर तपस्या करते, चाहे आखेट कर अपना पालन करते ।"

द्रोण फिर हँसे, एक कड़वी हँसी, "तुमने रंगशाला में अर्जुन का कौशल देखा था । वे वारणावत में हत्या के प्रयत्न को निष्फल कर सकुशल निकल गये । हिडिंब और बकासुर को भीम ने मारा । अर्जुन ने वीर्यशुल्का द्रौपदी जीती । अर्जुन और भीम ने मिलकर, आर्यावर्त्त के सारे राजाओं को पीटकर जीवित छोड़ दिया । उनसे पराजित होने वालों में तुम्हारा वीरवर कर्ण भी था और दुर्योधन तो उससे लड़ने का साहस ही नहीं कर पाया ।'''अब तुम कर सकते हो पांडवों का वध ?"

अश्वत्थामा पिता को देखता रहा : कुछ बोला नहीं !

"अब द्रुपद, धृष्टद्युम्न और शिखंडी उनके साथ हैं । कृष्ण, बलराम और सात्यकि उनके पक्ष में हैं । पांचाल और यादव सेनाएँ उनकी सहायता के लिए तैयार खड़ी हैं ।" द्रोण ने अपने पुत्र की ओर देखा, "अब रोक सकोगे तुम उनको ? कर लोगे उनका वध ?"

"तो अधिक- से- अधिक युद्ध ही तो होता । उसमें दुर्योधन विजयी भी तो हो सकता है ।" अश्वत्थामा बोला ।

"और पराजित भी हो सकता है ।" द्रोण बोले, "इसलिए मैंने साम्राज्य का विभाजन चाहा है, ताकि पांडव अपना राज्य लेकर संतुष्ट हो जायें । युद्ध न हो । दुर्योधन की पराजय की कोई संभावना ही न रहे ।" द्रोण बोले, "मैंने पांडवों का राज्य इसलिए नहीं माँगा कि मैं पांडवों को सुख और ऐश्वर्य दिलाना चाहता हूँ । वह दुर्योधन की सुरक्षा के लिए ही माँगा था । पांडवों को आधा राज्य भी मिल जाये तो वे रक्तपात नहीं करेंगे । युधिष्ठिर अनृशंसता को अपनी नीति मानता है । और पुत्र'''।" द्रोण चुप हो गये ।

"और क्या पिताजी ?"

"दुर्योधन के लिए भी कोई- न- कोई संकट बना ही रहना चाहिए ।" द्रोण बोले, "उसकी पूर्ण सुरक्षा का प्रबंध हो गया, तो उसे हमारी आवश्यकता ही नहीं रहेगी ।"

अश्वत्थामा ने चौंककर पिता को देखा : यह वे पिता तो नहीं थे, जिन्हें वह आज तक पहचानता था—वे सीधे और सरल पिता, जिन्हें इस बात का उपालंभ दिया जा सकता था कि वे जीवन के आरोह- अवरोह को नहीं समझते; जो अपने स्वार्थ को नहीं पहचानते; कदाचित् अश्वत्थामा ने उन्हें आज तक पिता और गुरु के रूप में ही देखा था : वह पिता और गुरु, जो मुक्त- हस्त दान करता है। वह अपना सब कुछ लुटाता है और किसी से कुछ नहीं माँगता।··· किंतु यह व्यक्ति, जो आज उसके सामने खड़ा था, वह तो जीवन का गणित बहुत भली प्रकार समझ चुका था। वह जीवन का मात्र जोड़ और घटाव ही नहीं जानता था, वह तो गुणा और भाग भी कर सकता था। किसने बना दिया, उसके पिता को ऐसा···

अश्वत्थामा समझ नहीं पा रहा था कि वह पिता के इस रूप से प्रसन्न था या नहीं।···वह पिता के दाता रूप से प्रसन्न था या गणितज्ञ रूप से···

वैसे कुछ- कुछ गणितज्ञ तो पिता हस्तिनापुर में आते ही हो गये थे, अन्यथा अपने शिष्यों के चयन में इतने सावधान न रहते।···अपने शिष्यों से अधिक अपने पुत्र को न सिखाना चाहते।··· बेचारे पिता ! पुत्र को जो बनाना चाहते थे, बना नहीं पाये। सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुन ही रहा।··· कैसी पीड़ा रही होगी उनके मन में ! स्वयं दाता होते हुए भी पुत्र को अपनी इच्छा के विरुद्ध शिष्य से पिछड़ते हुए देखते रहे··· किंतु अश्वत्थामा तो गणितज्ञ नहीं था।··· दुर्योधन उसका मित्र था। दुर्योधन का पक्ष उसका अपना पक्ष था; और उसके पिता दुर्योधन को किसी- न- किसी रूप में दुर्बल बनाये रखना चाहते थे···ताकि वह उनपर निर्भर रहे···

"दुर्योधन मेरा मित्र है पिताजी !" अंततः अश्वत्थामा बोला।

द्रोण ने उसे ऐसी दृष्टि से देखा, जैसे उसने कोई मूर्खतापूर्ण बात कही हो, "तुम उसके मित्र हो, वह तुम्हारा मित्र नहीं है।"

"आप यह कैसे कह सकते हैं ?" अश्वत्थामा को पिता का यह दृष्टिकोण प्रिय नहीं लगा।

"मित्रता में निरपेक्ष आत्मसमर्पण होता है। वह तुमने किया है।" द्रोण बोले, "दुर्योधन ने नहीं !"

"उसने मुझे क्या नहीं दिया पिताजी ?"

"उसने तुम्हें कुछ नहीं दिया, सब कुछ निविष्ट किया है।" द्रोण का स्वर स्थिर और प्रबल था, "सप्रयोजन दान कभी दान नहीं होता पुत्र ! यह बात तुम आज तक समझ नहीं पाये।"

लगा, द्रोण ने कोई ऐसी बात कह दी है, जिसका प्रतिकार तो अश्वत्थामा के पास नहीं है; किंतु उसे स्वीकार करने के लिए उसका मन तत्पर नहीं है। उसका मन जैसे किसी हठी बालक के समान अपने भाव को तर्क के रूप में स्वीकार करना चाहता था। पिता का तर्क तो उसके सारे स्वप्न- संसार को ध्वस्त करने पर तुला हुआ था···सहसा वह बोला, "पिताजी ! यदि हम दुर्योधन और युधिष्ठिर के मध्य से हट जायें, स्वतंत्र रूप से अहिछत्र में जा बसें; किसी का पक्ष- विपक्ष हमारा पक्ष- विपक्ष न हो तो ?···"

"मैंने कहा न पुत्र, कि मैंने स्वयं को कुछ ऐसे बंधनों में बाँध लिया है, जिनसे इच्छा होने पर भी मैं मुक्त नहीं हो सकता।" द्रोण के अधरों पर एक हताश मुस्कान थी।

"क्यों पिताजी ?"

"कुरु- साम्राज्य की सुरक्षा से बाहर निकलते ही, द्रुपद हमें वैसे ही दबोच लेगा, जैसे माँ के पंखों की सुरक्षा से पृथक् होते ही कुक्कुट शावक को चील दबोच लेती है।" द्रोण बोले, "और

मुझे तनिक भी आश्चर्य नहीं होगा, यदि कौरवों से पृथक् हो स्वतंत्र होने का प्रयत्न करते ही स्वयं दुर्योधन की सेनाएँ ही हमें घेर लें। वैयक्तिक शौर्य के होते हुए भी राजा के रूप में, मेरा अस्तित्व इतना छोटा है कि मुझे किसी- न- किसी महाशक्ति किसी- न- किसी चक्रवर्ती से सुरक्षा-कवच लेना ही होगा। हमें दुर्योधन के ही साथ रहना होगा; इसलिए नहीं कि हम आभ्यंतरिक रूप में उससे जुड़े हैं, वरन् इसलिए कि बाहरी दबाव हमें एक- दूसरे से जोड़कर रखेगा।''''

अश्वत्थामा कुछ देर मौन बैठा रहा, जैसे अपनी सद्यःज्ञात स्थिति स्वीकार करने में उसे कुछ कठिनाई हो रही हो''

पिता- पुत्र के मध्य एक लंबा मौन टँगा रहा और अंत में अश्वत्थामा ने पूछा, "तो राजसभा का अंतिम निर्णय क्या है पिताजी ?"

"सभा में अंतिम निर्णय हो नहीं पाया ! भीष्म उठकर चले गये थे; और उनकी अनुपस्थिति में धृतराष्ट्र शायद आज भी कोई ऐसा निर्णय नहीं लेना चाहते, जिसमें युद्ध का संकट हो। तुम्हारे वे मित्र दुर्योधन और कर्ण, जो चाहते हैं—कदाचित् धृतराष्ट्र उसे स्वीकार नहीं करेगा।''' बहुत संभावना है कि अंतिम निर्णय यही हो कि पांडवों को एक बार हस्तिनापुर बुलाया जाये; और उनसे किसी प्रकार की कोई निर्दोष संधि की जाये। पांडव धृतराष्ट्र की इच्छा का विरोध कदाचित् आज भी न करें; और दुर्योधन ने चाहे उनकी हत्या का ही प्रयत्न क्यों न किया हो, वे यदि अपने पितृव्य के दबाव में अथवा कुल को कलंकित होने से बचाने के लिए कोई संधि स्वीकार कर लेते हैं तो उससे पीछे नहीं हटेंगे। और''"

"और क्या पिताजी ?"

"मेरा विचार है कि धृतराष्ट्र अभी दुर्योधन के समान निर्लज्ज नहीं हो पाया है। वह लोकलाज के कारण पांडवों का हस्तिनापुर में स्वागत करेगा और उनके प्रति अथवा प्रेम प्रदर्शित करेगा। दुर्योधन दुष्ट अवश्य है; किंतु न तो वह अपने पिता की कोटि का धूर्त है, न अपने मामा की कोटि का !"

"तो हस्तिनापुर से पांडवों को निमंत्रण जायेगा ?"

"मेरी अपेक्षा तो यही है।"

"कौन जायेगा ?"

"संभवतः विदुर !"

"ओह ! वह विदुर !" अश्वत्थामा के जबड़े भिंच गये।

37

"आओ अर्जुन। यहाँ बैठें।" कांपिल्य के राजप्रासाद के उद्यान में एक निभृत कोने की ओर कृष्ण ने संकेत किया, "देखो। गंगा का यह दृश्य कितना मनोरम है !"

अर्जुन बैठ गया और बोला, "गंगा का कौन- सा दृश्य मनोरम नहीं है कृष्ण ! मैं तो, जो भी दृश्य देखता हूँ, उसी पर मुग्ध हो जाता हूँ और सोचता हूँ—किस दृश्य को, किससे अधिक मनोरम मानूँ ! मेरे लिए तो तुम भी एक गंगा हो कृष्ण ! तुम्हें भी जितना अधिक जानता जाता हूँ, उतना ही अधिक चकित भी होता जाता हूँ, कि तुम्हारे किस गुण पर अधिक

मुग्ध होऊँ, अथवा किस रूप को सराहूँ !..."

कृष्ण खुलकर हँसा, "वाह, क्या चाटुकारिता है ! अर्जुन ! तुम्हें इसकी क्या आवश्यकता आ पड़ी !..."

अर्जुन खिन्न हो उठा, "यह चाटुकारिता नहीं है, मेरे मन के उद्‌गार हैं । पर तुम्हारा भी इसमें क्या दोष ! मेरी ही अभिव्यक्ति में कहीं कोई कमी होगी, जिसके कारण मैं अपनी बात ठीक उसी रूप में संप्रेषित नहीं कर पाता हूँ, जिस रूप में करना चाहता हूँ ।"

"अरे !" कृष्ण आकर अर्जुन के साथ बैठ गया, "तुम बहुत भावुक हो अर्जुन ! भावकता बहुत अच्छा गुण है; किंतु इसमें एक बहुत बड़ा दोष यह है कि इससे मनुष्य की इंद्रियाँ बहुत शीघ्र व्याकुल हो जाती हैं और मन विचलित हो जाता है : इससे हम कुछ करने योग्य नहीं रह जाते, बस कातर होकर रो सकते हैं ।..."

"तुम्हें मैं बहुत रुदनशील लगता हूँ ?" अर्जुन ने जैसे प्रतिवाद किया ।

"नहीं । रुदनशील तो तुम नहीं हो, किंतु भावुक हो ।" कृष्ण बोला, "मैं चाहता हूँ कि तुम संवेदनशील बनो, भावुक नहीं !..."

"क्या भावना दोष है ?"

"नहीं । भावना दोष नहीं, भावुकता दोष है । जो विवेक को आच्छादित करे और व्यक्ति को कर्म से विचलित कर दे, वह दोष है ।" कृष्ण बोला ।

"तो मनुष्य पत्थर बन जाये—भावना-शून्य ! जो न सुख का अनुभव करे, न दुख का !" अर्जुन बोला, "वह प्राणी कैसा है, जिसमें अनुभूति न हो ?"

"लगता है, तुमने कभी इस विषय पर विचार नहीं किया ।" कृष्ण हँसा, "अच्छा, बताओ, एक रोगी को देख, उसके रोग का निदान कर, उसका उपचार करने वाला वैद्य श्रेष्ठ प्राणी है, अथवा रोगी के प्रकट शारीरिक लक्षणों को देखकर, विचलित हो माथा और सिर पीटने वाला उसका संबंधी ?"

"निश्चित रूप से वैद्य ही श्रेष्ठ प्राणी है ।"

"वह निष्प्राण, भावनाशून्य, संवेदनाशून्य तथा जड़ तो नहीं है ?"

"नहीं ।"

"तो तुम वैद्य बनना चाहोगे अथवा रोगी के संबंधी ?"

"वैद्य !"

"यही तो मैं भी कह रहा हूँ अर्जुन !" कृष्ण बोला, "उस संबंधी की तुलना में वह वैद्य अधिक संवेदनशील है—वह रोग तथा रोगी की स्थिति समझता है । रोगी के लिए उसके मन में सहानुभूति भी है और ममता भी; किंतु वह रोता नहीं, अश्रु नहीं बहाता, चीत्कार नहीं करता । वह उसका उपचार करता है; उसका कष्ट कम करने का प्रयत्न करता है; उसे मृत्यु के मुख में जाने से बचाने का कार्य करता है । और यदि नहीं बचा पाता तो मृत्यु का साक्षात्कार करता है, उसे स्वीकार करता है ।"

"यह केवल वैद्य के लिए ही संभव है, सामान्य जन के लिए नहीं !" अर्जुन बोला ।

"पर क्यों ?"

"उसे अभ्यास हो जाता है ।"

"सामान्यतः हम यही मानते हैं कि उसे अभ्यास हो जाता है; किंतु उससे अधिक महत्वपूर्ण

यह तथ्य है कि उसनें प्रकृति- सृजित जीवन को उसकी पूर्णता में ग्रहण करने का अभ्यास किया है। वह मानता है कि जीवन का दूसरा छोर अनिवार्यतः मृत्यु ही है। जन्म तथा मृत्यु—दोनों ही सृष्टि में समानांतर चलते हैं। सृष्टि में एक ओर सृजनशील शक्तियाँ हैं तो दूसरी ओर क्षयोन्मुखी भी। यहाँ नीरोगता है तो रोग भी हैं। रोग, जीवन की ही एक स्थिति है, किंतु जीवन की परिणति मृत्यु ही है।"

"तो वैद्य को रोगों के ज्ञान ने ही स्थिर- बुद्धि बना दिया है ?"

"नहीं। रोगों के ज्ञान ने नहीं, प्रकृति के स्वीकार ने !" कृष्ण बोला, "जब व्यक्ति किसी एक प्रक्रिया को उसकी संपूर्णता में ग्रहण करता है, तो वह उसके भावात्मक और ऋणात्मक—दोनों पक्षों को स्वीकार करता है। जो पर्वतारोहण करता है, वह जानता है कि उसे ऊपर चढ़ना है, तो नीचे भी उतरना है। इसलिए न वह चढ़ने से विचलित होता है, और न उतरने से। इसलिए यदि हम दुख से छुटकारा चाहते हैं तो हमें सुख भी छोड़ने होंगे; या सुख के साथ दुख भी स्वीकार करने होंगे।…"

"पर ऐसा होता क्यों नहीं कृष्ण ?" अर्जुन ने पूछा, "वैद्य भी तो किसी सामान्य रोगी के लिए ही इतना स्थिरमति होता है, किंतु यदि उसके अपने माता- पिता, भाई- बहन, पुत्र- पुत्री, मित्र अथवा संबंधी रुग्ण हो जाते हैं, तो वह भी सामान्य जन के ही समान विचलित हो उठता है, उसे औषध देने में असमर्थ हो जाता है तथा यदि वे मृत्यु को प्राप्त हो जायें तो सामान्य जन के ही समान सिर पटक-पटककर रोता है।…"

"तुम ठीक कहते हो अर्जुन ! सामान्यतः ऐसा ही होता है, क्योंकि वैद्य की बुद्धि सामान्य रोगियों के संदर्भ में ही स्थिर होती है, अपने संबंधियों के विषय में नहीं। उसकी स्थिरता बुद्धि तक ही सीमित है, विवेक तक नहीं—वह स्थिरमति है, स्थितप्रज्ञ नहीं, किंतु योगी स्थितप्रज्ञ होता है, क्योंकि वह प्रकृति को उसकी संपूर्णता में अंगीकार करता है। वह जीवन में प्रेम करता है तो मृत्यु भी उसे उतनी ही आत्मीय लगती है। वह मनोरमता पर मुग्ध होता है तो भयंकरता पर भी ! वह भी तो ईश्वर की ही विभूति है। प्रकृति जन्म देते ही जीव में मृत्यु की प्रक्रिया भी आरंभ कर देती है। जन्म और मृत्यु, सृष्टि और क्षय—ये तो प्रकृति के श्वास और निःश्वास हैं। भक्त शिव के लास्य पर मुग्ध होता है, तो रुद्र के तांडव से भी उतना ही अभिभूत होता है। ये दोनों पृथक् नहीं हैं। खंड- बुद्धि, जीवन का सौंदर्य—किसी एक पक्ष में देखती है, इसलिए विचलित होती है। आसक्ति हो, ममत्व हो, घृणा और वितृष्णा हो—ये सब मनुष्य के विवेक को आच्छादित कर उसे अनासक्त नहीं रहने देते। इसलिए योगी अनासक्ति का अभ्यास करता है। अपना विकास और विस्तार करता है ताकि सृष्टि के दोनों पक्षों से ऊपर उठकर, उनको सम- दृष्टि से देख सके—सुख- दुख को, मानापमान को, हानि- लाभ को, जीवन- मृत्यु को। योगी को तो सुख अथवा दुख के महासागर भी डुबोना तो दूर, भिगो भी नहीं सकते।… केवल इसलिए कि वह प्रकृति को उसकी पूर्णता में स्वीकार करता है, न उसका विरोध करता है, न उससे टकराता है।…"

"तुम उपलब्धि और अनुपलब्धि में एक समान स्थिर रहते हो कृष्ण !" अर्जुन बोला, "तुम्हें कोई अंतर नहीं पड़ता, स्यमंतक मणि तुम्हें मिले या न मिले ?"

"तुम फिर प्रशंसा पर आ गये !" कृष्ण हँस पड़ा।

"प्रशंसा की क्या बात है," अर्जुन कुछ हतप्रभ हुआ, "बलराम भैया कुछ आवेश के साथ

बता रहे थे कि स्यमंतक मणि पर पूरा अधिकार होते हुए भी, तुमने वह मणि मातुल अक्रूर को दे दी।…"

"तो अव भी बलराम भैया, स्यमंतक मणि का मोह छोड़ नहीं पा रहे हैं अर्जुन!" कृष्ण का स्वर अत्यंत गंभीर होते हुए भी स्थिर और शांत था, "मैं नहीं चाहता कि यादवों में किसी प्रकार का कोई भी विरोध उत्पन्न हो, किंतु उनकी प्रकृति उन्हें अपने मार्ग पर ले जा रही है। अक्रूर काका महाराज उग्रसेन के जामाता हैं, किंतु दोनों में कुछ मतभेद हो गया है। श्वसुर तथा जामाता का संवंध है—कोई तीसरा व्यक्ति मध्यस्थ भी नहीं हो सकता। उग्रसेन मेरे नाना हैं और अक्रूर मेरे काका, किंतु आपसी विरोध के कारण दोनों ही इस भ्रम में फँस गये हैं कि मैं उनके विरोधी का पक्षधर हूँ। वीच में यह स्यमंतक मणि आ गयी। स्यमंतक मणि का मोह इतना वढ़ा कि शतधन्वा ने सत्यभामा के पिता सत्राजित की हत्या कर दी। मैंने जव शतधन्वा का वध कर दिया और उससे मुझे स्यमंतक नहीं मिली, तो इस सत्य का विश्वास न भैया वलराम ने किया, न स्वयं सत्यभामा ने, और न ही जाम्ववती ने! भैया ने मान लिया कि मैं उनके साथ मणि का स्वामित्व वाँटना नहीं चाहता, इसलिए मैंने मणि छिपा दी है। जाम्ववती का विचार था कि स्यमंतक उसके पिता जाम्ववान ने मुझे दी थी, इसलिए मेरा कर्त्तव्य था कि मैं वह मणि उसे दे देता, किंतु मैंने मणि उसे न देकर सत्यभामा को दे दी है। सत्यभामा यह मानती थी कि स्यमंतक सत्राजित की संपत्ति थी, अतः सत्राजित की मृत्यु के पश्चात् वह उसे ही मिलनी चाहिए थी, किंतु मैंने वह जाम्ववती को दे दी है।" कृष्ण ने रुककर अर्जुन को देखा, "मुझे स्यमंतक में व्यक्तिगत रूप से कोई रुचि नहीं थी, किंतु मेरे अपने भाई, मेरी पत्नियाँ तथा अनेक मित्र मुझ पर संदेह कर रहे थे, अतः मुझे मणि का पता तो लगाना ही था। मैंने पता लगाया। शतधन्वा की मृत्यु के पश्चात् कृतवर्मा और अक्रूर काका दोनों ही द्वारका को छोड़ गये थे। इसका कारण उनके मन में मेरा भय था। सत्राजित की हत्या में उन दोनों की सहमति थी, और स्यमंतक मणि भी अक्रूर काका के पास थी।… मैंने काका को वुला भेजा और उनसे स्पष्ट कर दिया कि मैं जानता हूँ कि स्यमंतक मणि उन्हीं के पास है। यद्यपि सत्राजित की पुत्री होने के कारण, स्यमंतक पर सत्यभामा का अधिकार वनता है, फिर भी वे मणि अपने पास ही रखें, किंतु वह मणि सव को दिखा दें, ताकि मुझ पर लगे लांछन धुल सकें और मेरे भाई, मेरी पत्नियों तथा मेरे वंधुओं के मन मेरी ओर से साफ हो सकें। उन्होंने मेरी वात का विश्वास किया और मणि सव को दिखा दी। तव कहीं जाकर वलराम भैया को यह विश्वास हुआ कि मणि मैंने नहीं छिपायी थी। वे अपने संदेह पर लज्जित हुए और द्वारका में रहने लगे, किंतु इस वीच दुर्योधन उनका शिष्य वन वैठा था। उसने उनकी इतनी सेवा, प्रशंसा और पूजा की है कि भैया उसके मन का पाप देख नहीं पाते और कदाचित् कभी देख नहीं पायेंगे…"

"तो?"

"यदि कभी तुम लोगों का दुर्योधन से संघर्ष हुआ तो बलराम भैया, दुर्योधन के प्रति अपने प्रेम के कारण उसका पक्षपात करेंगे।"

"तुम्हें स्यमंतक मणि खोने का कोई दुख नहीं हुआ कृष्ण?" अर्जुन ने पूछा।

"नहीं हुआ। क्योंकि उसके मिलने पर भी मुझे कोई सुख नहीं होता। मणि मुझे मिल जाती, तो मैं उसे महाराज उग्रसेन को दे देता!" कृष्ण ने सहज भाव से कहा।

"क्यों?"

"क्योंकि ऐसी निधियाँ किसी व्यक्ति की संपत्ति नहीं होतीं, वे संपूर्ण समाज की थाती हैं।"

कृष्ण रुका, "और फिर धन का इस प्रकार का संचय समाज में असंतुलन उत्पन्न करता है। मुझे लगता है कि स्यमंतक, यादवों के लिए, अभिशाप बनकर आयी है।" कृष्ण मुस्कराया, "मुझे स्यमंतक से वंचित होने की नहीं, बलराम भैया से वंचित होने की चिंता है। उनके मन का जितना अंश दुर्योधन की ओर आकृष्ट होगा, उतना ही वह अधर्म की ओर भी आकृष्ट होगा।"

"यदि बलराम भैया, दुर्योधन की ओर खड़े हो जायेंगे, तो क्या तुम भी हमारा पक्ष छोड़ दोगे कृष्ण ?" अर्जुन के स्वर में संभ्रम था।

"मैं न तुम्हारे पक्ष में हूँ, न दुर्योधन के पक्ष में।" कृष्ण हँसा, "मैं तो धर्म के पक्ष में हूँ।... वैसे तुम चिंता मत करो!" उसने रुककर कहा, "यदि हमें हस्तिनापुर जाना पड़ा; तो मैं भैया को भी साथ ले जाऊँगा। मैं जानता हूँ कि धर्म और अधर्म का विवाद उनके सामने नहीं रखना है, किंतु अभी वह स्थिति नहीं आयी कि वे कृष्ण को छोड़कर दुर्योधन को चुन लें। वे जानते हैं कि यदि उन्होंने दुर्योधन का पक्ष लिया तो किसी दिन उन्हें कृष्ण के विरुद्ध शस्त्र उठाना पड़ सकता है।..."

"कृष्ण !"

"हाँ, अर्जुन ! धर्म के मार्ग में आसक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है। अनासक्त विवेक ही हमें धर्म के मार्ग पर चला सकता है।"

महाराजा द्रुपद ने विदुर का स्वागत अपने राजप्रासाद के उद्यान में किया।

प्रासाद गंगा के तट पर बना था, और उद्यान की पुष्पों की क्यारियाँ क्रमशः गंगा के घाटों से मिल जाती थीं। वसंत ऋतु थी। शिशिर और हेमंत ऋतुएँ बीत चुकी थीं, और ग्रीष्म ऋतु अभी दूर थी। सूर्य का ताप सिंहनी के उन दाँतों के समान ममतामय था, जो अपने शावकों को उनसे पकड़ती है; किंतु चुभने नहीं देती। बयार की शीतलता का दंश अपनी संपूर्ण तीक्ष्णता और कठोरता खो चुका था, और प्रिया के स्पर्श-सा सुखद हो गया था।

महाराज द्रुपद अपने हिंडोले पर बैठे अत्यंत मंद गति से झूल रहे थे। पाँचों पाँडव, धृष्टद्युम्न और शिखंडी—आसनों पर बैठे थे। द्रौपदी और कुंती कुछ दूर पुष्पों की क्यारियों के निकट थीं; किंतु विदुर को आते देख, वे भी लौट आयी थीं।

राजकीय और सामाजिक औपचारिकताओं की समाप्ति पर विदुर ने आसन ग्रहण किया; किंतु द्रुपद ने उसे वहाँ बैठने नहीं दिया। वे स्वयं उठकर विदुर के पास आये और उनकी भुजा थामकर उन्हें अपने हिंडोले तक ले गये।

"आप यहाँ बैठिए ! मेरे साथ !"

"महाराज ! एक राजदूत को इतना सम्मान दे रहे हैं !"

"नहीं आर्य विदुर ! मैं एक राजदूत के प्रति नहीं, अपने समधी के प्रति अपनी आत्मीयता निवेदित कर रहा हूँ।" द्रुपद बोले , "मैं आपको पाँडवों के अभिभावक के रूप में स्वीकार करता हूँ। यद्यपि यह अति गोपनीय है, फिर भी युधिष्ठिर ने मुझे बताया है कि आपने किस प्रकार देवी कुंती और उनके पुत्रों के प्राणों की रक्षा की है। धृतराष्ट्र के शासन में रहते हुए भी इतना संकट मोल लेकर यदि आपने यह उद्यम न किया होता, तो कदाचित् आर्यों का यह श्रेष्ठतम परिवार जीवित ही न बचता। इच्छा तो होती है कि आपके श्रेय को सारे आर्यवर्त्त में प्रचारित

किया जाये···"

"नहीं महाराज !" विदुर बोला, "ऐसा न करें। यह अत्यंत गोपनीय तथ्य है।"

"समझता हूँ।" द्रुपद बोले, "आपकी सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि यह तथ्य गोपनीय ही रहे। आपका हस्तिनापुर के कुरुओं की राजसभा में रहना, शासन और राजकुल में महत्वपूर्ण बन रहना तथा सुरक्षित रहना—मेरे जामाताओं के अभ्युदय के लिए आवश्यक है आर्य !"

"आप मुझे कुछ अधिक ही महत्व दे रहे हैं।" विदुर मुस्कराया, " मैं कुरुओं का एक साधारण राजदूत हूँ। इस समय महाराज धृतराष्ट्र की ओर से संदेश लेकर आया हूँ। उन्होंने कहलवाया है कि उन्हें पांडव अपने पुत्रों से कम प्रिय नहीं हैं। उन्हें यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुई है कि जिन पांडवों को वे मृत मान चुके थे, वे अभी तक जीवित हैं।"

भीम उच्च स्वर में हँसा।

द्रुपद ने उसकी ओर देखा; किंतु बोले कुछ नहीं। विदुर ने पूछ ही लिया, "क्यों हँस रहे हो पुत्र ?"

"काका! महाराज धृतराष्ट्र की प्रसन्नता की कल्पना करके हँस रहा हूँ।" भीम बोला, "उनको समाचार मिला होगा तो प्रसन्नता से उनकी हृदय- गति रुकने- रुकने को हो आयी होगी। कपाल स्वेद से नहा गया होगा; आँखों के सम्मुख अंधकार छा गया होगा।"

"पुत्र ! मैं तो उनका संदेश कह रहा हूँ।" विदुर बोले।

"कहिए आर्य !" द्रुपद बोले।

"उन्होंने भाभी कुंती, उनके पुत्रों तथा वधू कृष्णा के लिए भेंटस्वरूप अनेक बहुमूल्य वस्त्राभूषण भेजे हैं, और उन्हें स्वीकार करने की प्रार्थना की है। उन्होंने आपके लिए तथा राजकुमारों के लिए भी कुछ उपहार भेजे हैं। उन्होंने कहा है कि आपके साथ इस संबंध की स्थापना से वे स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करते हैं।" विदुर ने रुककर द्रुपद की ओर देखा, "कृपया द्वारपालों को आदेश दें कि वे मेरे अनुचरों को उपहारों के साथ यहाँ उपस्थित होने की अनुमति दें।"

द्रुपद ने प्रतिहारी की ओर देखा, "द्वारपालों को आदेश दो।"

हस्तिनापुर से आये अनुचरों ने उपहार लाकर, प्रस्तुत किये, और विदुर ने अपने हाथों उन्हें एक- एक व्यक्ति को भेंट किया।

"तुम लोग जाकर विश्राम करो।" विदुर ने अपने अनुचरों से कहा।

द्रुपद ने भी संकेत से अपने प्रतिहारियों को दूर भेज दिया।

एकांत पाते ही विदुर बोला, "महाराज, धृतराष्ट्र ने कहा है कि देवी कुंती तथा उनके पुत्रों का कांपिल्य- निवास पर्याप्त दीर्घ हो चुका है, अब यदि आप अन्यथा न मानें तो उन्हें हस्तिनापुर लौटने की अनुमति दें। उनके बंधु- बांधव उनके जीवित होने का समाचार पाकर अब उनसे मिलने के लिए उत्कंठित हैं।···"

भीम पुनः हँसा। किंतु इस बार विदुर ने उससे कुछ भी पूछे बिना, अपनी बात पूरी की, "हस्तिनापुर की प्रजा अपने प्रिय राजकुमारों के दर्शनों को लालायित हो रही है, और वैसे भी श्वसुरालय में इतने दिनों तक निवास करना कुरुवंशियों को शोभा नहीं देता। उन्हें अपने घर लौट आना चाहिए।" विदुर अपनी बात समाप्त कर मौन हो गया।

द्रुपद ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया। अन्य कोई व्यक्ति भी नहीं बोला।

अंततः द्रुपद ही बोले, "आर्य विदुर ! आपका संदेश मैंने सुन लिया। धृतराष्ट्र के संदेश के उत्तर में क्या कहना अथवा क्या करना है—उसका निर्णय हम कुछ समय पश्चात् करेंगे।" उन्होंने रुककर सीधे विदुर के नयनों में देखा, "अब आप धृतराष्ट्र के दूत अथवा संदेशवाहक मंत्री नहीं हैं। आपको यदि मैंने मात्र कुरुओं का राजदूत ही माना होता तो आपसे सिंहासन- कक्ष में भेंट की होती। वह भेंट राजकीय मर्यादा में बँधी हुई होती और उसमें पारिवारिक आत्मीयता रंच मात्र भी न होती।··· किंतु मैं आपसे एक आत्मीय संबंधी के रूप में बात कर रहा हूँ और आपसे यही संबंध रखना चाहता हूँ। आपसे अधिक पांडवों का शुभचिंतक और कोई नहीं है। इसलिए पूछता हूँ कि क्या इस समय पांडवों का हस्तिनापुर लौटना उनके हित में है ?"

विदुर ने क्षणभर द्रुपद की ओर देखा और बोला, "महाराज ! आपकी चिंता मैं समझता हूँ, किंतु हस्तिनापुर गये बिना, तो पांडवों को उनका राज्य मिल भी नहीं सकता।"

"वह ठीक है।" द्रुपद बोले, "आपके आने से पूर्व हम भी इधर हस्तिनापुर जाने की ही योजना बना रहे थे; किंतु हम दूसरे ढंग से हस्तिनापुर जाना चाहते हैं।"

"दूसरे ढंग से ?"

"हाँ; आर्य विदुर ! हम हस्तिनापुर पर सैनिक अभियान करना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि पांडव हस्तिनापुर जायें। उनके साथ पांचाल सेनाएँ जायें, धृष्टद्युम्न और शिखंडी भी जायें, बहुत संभव है, मैं भी जाऊँ। उनके साथ कृष्ण, बलराम और सात्यकि भी जायें। अन्य यादव महारथी और द्वारका का सैन्यबल भी जाये। संभव हो तो हमारे मित्र मत्स्य और पांडवों की मौसी का पुत्र, शिशुपाल भी जाये। हम हस्तिनापुर को चारों ओर से घेर लें। ऐसे में यदि धृतराष्ट्र और वह दुर्योधन—अपनी सेना भेजें, उनकी ओर से द्रोण, भीष्म और कर्ण युद्ध करने आयें तो हम उनसे युद्ध करें। हम उनके रक्त में स्नान कर, हस्तिनापुर में प्रवेश करेंगे। पांडव अपने बल और शौर्य से अपना राज्य प्राप्त करेंगे···।"

विदुर की आँखों में एक विचित्र द्युति कौंधी, "आपकी प्रतिहिंसा इस व्याज से अपना प्रतिशोध तो नहीं चाहती महाराज ?"

"क्यों ? क्या अपने जामाताओं को, उनका षड्यंत्रपूर्वक छीना गया राज्य वापस दिलाना प्रतिहिंसा और प्रतिशोध है ?"

"नहीं !" विदुर ने कहा, "उसका प्रयत्न तो मैं और पितृव्य भीष्म भी कर रहे हैं, किंतु हमने अभी तक यह नहीं सोचा कि पांडव कुरुवंशियों की रक्त-सरिताओं में तैरते हुए हस्तिनापुर के राजसिंहासन तक पहुँचेंगे। युद्ध तो अंतिम उपाय है महाराज !"

"युद्ध है तो अंतिम उपाय ही।" द्रुपद बोले, "किंतु क्या अंतिम उपाय का प्रयोग करने का समय नहीं आ गया ? क्या धृतराष्ट्र और उसके पुत्रों ने पांडवों को उनकी माता के साथ जीवित जला देने का षड्यंत्र नहीं किया ? यदि आपने रक्षा न की होती, तो पांडव जीवित बचे होते क्या ?···और कौन प्रतिज्ञापूर्वक कह सकता है कि अब पुनः पांडवों की हत्या का प्रयास नहीं किया जायेगा···और जब यह प्रयास किया जायेगा, तो द्रोण और भीष्म उसके समर्थक नहीं होंगे ?"

"जहाँ तक मैं समझता हूँ, यदि परिस्थितियाँ वैसी ही रहीं, जैसी थीं, तो दुर्योधन पुनः हत्या का प्रयत्न कर सकता है," विदुर ने कहा, "किंतु द्रोणाचार्य इस समय पांडवों को, कौरवों का

आधा साम्राज्य दिलवाने का प्रयत्न कर रहे हैं; और पितृव्य भीष्म मानते हैं कि हस्तिनापुर के राज्य पर दुर्योधन का नहीं, युधिष्ठिर का अधिकार है···"

"तो फिर उन्होंने वारणावत में पांडवों के वध का समर्थन क्यों किया ?"

"आचार्य द्रोण अपने समर्थन अथवा विरोध के कारण स्वयं ही जानते हैं, किंतु पितृव्य भीष्म ने कुरुवंश के किसी भी व्यक्ति के वध का समर्थन आज तक नहीं किया है ।" विदुर रुका, "जहाँ तक मैं जानता हूँ, कदाचित् पितृव्य को आज तक यह मालूम ही नहीं है कि वारणावत में क्या होना था और क्या हुआ !"

"बहुत अबोध हैं वे ।" द्रुपद के स्वर में स्पष्ट व्यंग्य था, "जब द्रोण ने मुझे अपमानित कर आधा पंचाल छीन लिया था, तब भी उन्हें पता लगा था या नहीं कि कौरव-सेनाएँ क्या कर रही हैं ?"

"वह मालूम था उन्हें ।"

"तो उन्होंने द्रोण को यह अनीति करने की अनुमति कैसे दी ?"

"उनसे मैंने कभी पूछा नहीं । शायद किसी को यह पूछने का अधिकार भी नहीं है ।" विदुर बोला, "किंतु मैं समझता हूँ कि वह सब द्रोण को आचार्य नियुक्त करते समय उनकी गुरु-दक्षिणा संबंधी स्वीकृत प्रतिज्ञाओं के अंतर्गत हुआ । वैसे···"

"वैसे क्या ?" द्रुपद की आँखों में स्पष्ट रोष था ।

"पितृव्य प्राचीन परंपरा के क्षत्रिय-शौर्य के समर्थक सैनिक हैं । बहुत संभव है कि कौरव राजकुमारों द्वारा पंचाल पर आक्रमण उन्हें क्षत्रिय-नीति के अनुकूल लगा हो ।" विदुर ने कहा, "किंतु यह मैं शपथपूर्वक कह सकता हूँ कि पितृव्य को न तो भीम को विष दिये जाने की घटना ज्ञात है; और न ही वारणावत के षड्यंत्र का पता है ।"

"तो उन्हें यह सब बताया क्यों नहीं जाता ?" द्रुपद उग्र स्वर में बोले, "उनकी नाक के नीचे इतना उत्पात हो और उनकी समाधि ही न टूटे—क्या यह उचित है ?"

"इस गोपनीयता के भी कुछ कारण रहे हैं महाराज !" विदुर बोला, "पितृव्य कुलवृद्ध हैं; किंतु उनके हाथ में कोई सत्ता तो है नहीं । उन्हें ये सूचनाएँ दी जायें और वे क्रोध में दुर्योधन इत्यादि को ताड़ना तो दे आयें किंतु पांडवों की रक्षा न कर सकें, तो ?"

"किंतु अब पांडव समर्थ हैं ।"

"तो अब वे स्वयं अपने पितामह को सब कुछ बता सकते हैं ।" विदुर ने उत्तर दिया, "किंतु तब साक्षी और प्रमाण के रूप में मुझे उपस्थित होना होगा । मैं भयभीत नहीं हूँ; किंतु फिर हस्तिनापुर में मेरा रहना संभव नहीं होगा ।"

द्रुपद का आवेश विचारलीन हो गया, "ठीक है । उन्हें आवश्यकतानुसार ही सूचनाएँ दी जायें ।" वे रुके, "···तो आपका प्रस्ताव है कि मैं पांडवों और देवी कुंती को आपके साथ हस्तिनापुर भेज दूँ ?"

"आप उन्हें मेरे साथ भेजें, जैसे वे महाराज धृतराष्ट्र का निमंत्रण स्वीकार कर हस्तिनापुर लौट रहे हों; किंतु उन्हें असुरक्षित न भेजें । इतनी व्यवस्था तो कर ही दें कि यदि कौरव सेना उनपर आक्रमण करे तो वे आत्मरक्षा कर सकें ।"

द्रुपद मन-ही-मन विचार करते बैठे रहे और फिर जैसे किसी निष्कर्ष पर पहुँचकर बोले, "मैं आपका प्रस्ताव स्वीकार करता हूँ । पांडव अपनी राजधानी हस्तिनापुर में लौटेंगे । उनके साथ

सेना नहीं, छद्म सेना जायेगी। फिर भी प्रकट रूप से कुछ महारथी साथ होंगे। कृष्ण आ जाये, तो मैं उसके साथ भी परामर्श करना चाहूँगा। मेरी इच्छा है कि वह भी पांडवों के साथ हस्तिनापुर जाये। उसकी उपस्थिति मात्र से घटनाओं का रूप बदल जाता है।...'' द्रुपद का स्वर उनकी विह्वल मनःस्थिति का भेद खोल रहा था, ''किंतु फिर भी आर्य विदुर ! पांडवों की सुरक्षा का दायित्व आपका होगा। हस्तिनापुर का भीतरी व्यूह आप सँभालेंगे और आवश्यकता पड़ते ही, मैं बाहर से अपने पूरे सैन्य-बल के साथ हस्तिनापुर पर आक्रमण करूँगा।... क्यों ? तुम सहमत हो युधिष्ठिर ?'' द्रुपद ने पहली बार युधिष्ठिर से पूछा।

"पूज्य ! आप हमारे सबसे बड़े मित्र और सहायक ही नहीं, हमारे पिता के समान संरक्षक हैं।" युधिष्ठिर का स्वर कोमल होते हुए भी चिंता का भार वहन कर रहा था, "किंतु मैं राज्य के लिए अपने बंधु-बांधवों से युद्ध करना नहीं चाहता।..."

"ओह ज्येष्ठ !'' भीम ने भूमि पर पाँव पटका।

विदुर ने भीम की उपेक्षा कर कहा, "चिंता मत करो पुत्र ! मेरा विचार है कि अभी युद्ध की स्थिति नहीं आयी है।"

और फिर वह द्रुपद की ओर मुड़ा, "महाराज ! अब अनुमति दें। मुझे महर्षि वेदव्यास के दर्शन करने के लिए जाना है।"

"अवश्य ! अवश्य !! महर्षि के सुलभ होते हुए भी, उनके दर्शन न करना तो स्वयं को वंचित करना है।" द्रुपद बोले, "मैं भी सोच ही रहा था कि उनके चरणों में थोड़ा समय व्यतीत करूँ। हमारा सौभाग्य है कि वे कांपिल्य में गंगा-तट पर ठहरे हैं। जाने वे कब प्रस्थान का निश्चय कर लें।"

"किसी भी स्थान पर अनावश्यक आवास महर्षि की प्रकृति नहीं है।" विदुर बोला, "कृष्णा के विवाह के पश्चात् भी यदि वे अभी यहीं हैं, तो बहुत संभव है कि वे किसी की प्रतीक्षा कर रहे हों।"

"किसी की प्रतीक्षा !" द्रुपद के चेहरे की रेखाएँ कुछ गहरी हो गयीं।

"हो सकता है कि वे मेरी ही प्रतीक्षा कर रहे हों।" विदुर ने हँसकर कहा, "संभव है कि वे पांडवों के हस्तिनापुर जाने की प्रतीक्षा कर रहे हों...।"

द्रुपद विचारलीन ही रहे। बोले कुछ नहीं।

विदुर ने उन्हें प्रणाम किया, कुंती के चरण छुए, और पांडवों, द्रौपदी, धृष्टद्युम्न तथा शिखंडी को आशीर्वाद देकर पग बढ़ा दिये। द्रुपद भी विश्राम के लिए चले गये; और कुंती भी अधिक देर तक वहाँ नहीं रुकी।

"आर्यपुत्र !" द्रौपदी ने युधिष्ठिर को संबोधित किया, "क्या आप समझते हैं कि दुर्योधन आपको हस्तिनापुर का राज्य थाल में सजा कर दे देगा ?"

युधिष्ठिर को अकस्मात् पूछे गये इस प्रश्न का संदर्भ समझने में कुछ क्षण लगे। वह बोला, "उससे ऐसी अपेक्षा तो नहीं की जा सकती।"

"तो फिर जब वह स्वेच्छा से आपको अपना अधिकार भी नहीं देगा और आप युद्ध भी नहीं करेंगे, तो आप राज्य कैसे प्राप्त करेंगे ?" द्रौपदी बोली, "आप क्षत्रिय होकर युद्ध से मुँह

मोड़ रहे हैं ?"

युधिष्ठिर ने उसे उन आँखों से देखा, जिनमें अपने गलत समझे जाने की पीड़ा थी, "मैं युद्ध से मुँह नहीं मोड़ रहा। मैंने केवल-यह कहा है कि मैं स्वजनों से युद्ध नहीं करना चाहता।"

"स्वजन कौन है ?"

भीम जोर की ताली बजाकर हँसा, "ठीक पूछा कृष्णा ने—स्वजन कौन है ? जिन्होंने हमारा सर्वस्व छीन लिया, हमारी हत्या का प्रयत्न किया और अब भी हमारा राज्य लिये बैठे हैं—वे हमारे स्वजन हैं, तो फिर हमारे शत्रु कौन होंगे ?"

"भीम !" युधिष्ठिर के स्वर में बड़े भाई का आदेश था, "क्या पितामह भीष्म, गुरु द्रोण, गुरुपुत्र अश्वत्थामा, पितृव्य महाराज धृतराष्ट्र तथा उनके पुत्र हमारे स्वजन नहीं हैं ?"

"स्वजन तथा परजन की परिभाषा इतनी कठिन तो नहीं है आर्यपुत्र !" द्रौपदी बोली, "रक्त-संबंध से लोग स्वजन होते अवश्य हैं; किंतु क्या अपने व्यवहार से वे अन्यजन नहीं हो जाते ? युद्ध तो आपको उनसे ही करना होगा, जो आपका स्वत्व छीन लेते हैं। आपके आचार्य द्रोण, पिताजी के कितने आत्मीय थे। भैया के तो वे गुरु भी थे; किंतु आज कांपिल्य में कोई भी उन्हें अपना आत्मीय और स्वजन नहीं कहेगा। और दूसरी ओर वासुदेव कृष्ण से हमारा कोई रक्त-संबंध नहीं है; किंतु आज उनसे बढ़कर, हमारा आत्मीय और स्वजन दूसरा कोई नहीं है।"

"वह ठीक है पांचाली !" युधिष्ठिर बोला, "किंतु राज्य कोई ऐसी वस्तु तो नहीं, जिसके लिए नृशंसतापूर्वक रक्तपात किया जाये और वह भी अपने रक्त-संबंधियों का ! मानव-जीवन का लक्ष्य, राज्य तो नहीं है।"

"मानव-जीवन का लक्ष्य मात्र राज्य नहीं है।" इस बार भीम बोला, "किंतु अपने अधिकारों की रक्षा करना तो मानव-धर्म है। आप अपने धर्म पर भी नहीं चलेंगे धर्मराज ?"

"ठीक है ! अधिकारों की रक्षा हमें करनी चाहिए।" युधिष्ठिर बोला, "किंतु यदि इस समय दुर्योधन अपनी दुर्बुद्धि के कारण हठ पर अड़ा है, तो क्या हम थोड़ा धैर्य नहीं रख सकते ? उसकी दुर्बुद्धि के कारण संपूर्ण कौरव-वंश का नाश कर दें ?"

"नहीं ! कौरव-वंश का नाश क्यों करें ! दुर्योधन की दुर्बुद्धि को पुरस्कृत करें। उसे कुरुओं का साम्राज्य प्रदान कर दें; क्योंकि वह विवेक, धर्म और न्याय—कुछ भी नहीं समझता। आप तो धर्म के बहुत अच्छे व्याख्याता हैं महाराज !" द्रौपदी ने कहा।

"कृष्णा !" अर्जुन पहली बार बोला, "धर्म, न्याय और अधिकारों की बात ठीक ही है; किंतु ज्येष्ठ की आनृशंसता को भी समझने का प्रयत्न करो। यदि सांसारिक न्याय और अधिकारों के आधार पर तर्क करोगी, तो धर्मराज बहुत विवेकी प्रतीत नहीं होंगे। रजोगुण की तुला पर सतोगुण मूर्खता का पर्याय ही सिद्ध होता है; किंतु मनुष्य में कुछ दैवी गुण भी होते हैं, जो सांसारिक राग-द्वेष के कारण विचलित नहीं होते। ज्येष्ठ के चरित्र के उन दैवी गुणों को समझने का प्रयत्न करो। उनके स्तर तक उठकर देखोगी, तो धर्मराज का चरित्र कुछ और ही दिखायी देगा। उनका द्वंद्व समझकर ही कोई समाधान हो सकता है। मध्यम के साथ मिलकर उनका परिहास करोगी, तो समस्या नहीं सुलझेगी।"

अर्जुन के संबोधन से ही जैसे द्रौपदी पूर्णकाम हो गयी। कैसी सटीक बात कही थी अर्जुन ने ! स्वयं युधिष्ठिर ने भी अपनी बात कभी इस प्रकार अभिव्यक्त नहीं की थी। द्रौपदी को लगा, वह अर्जुन के रूप और बल पर ही नहीं, उसकी बुद्धि पर भी मुग्ध होती जा रही है।

उसका मुग्ध-भाव तो चाहता था कि वह लपककर, अर्जुन के कंठ में अपनी भुजाएँ डाल दे और कहे, 'प्रियतम ! मैं तो तुम्हारी इच्छा भर से सब कुछ त्याग सकती हूँ। तुम्हारा साहचर्य मिले तो फिर साम्राज्यों का क्या करना है मुझे !'' किंतु उसकी व्यावहारिक बुद्धि उसकी मुग्धावस्था को इतना अधिकार देने को प्रस्तुत नहीं थी। वह बार-बार उसे चेतावनी देती थी, 'कृष्णे ! कहीं भावना में वह न जाना। यह यथार्थ संसार है। यहाँ मात्र भावना से कार्य नहीं होते। महाराज द्रुपद ने स्वयंवर में संपूर्ण आर्यावर्त्त के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर को इसलिए उसके पति के रूप में नहीं चुना था कि वह उसकी भुजाओं में लिपटी वन-विहार करती रहे। अपमान के उस दाह को वह कैसे भूल सकती है ! द्रोण अभी जीवित है, ससम्मान हस्तिनापुर में रह रहा है, उसे आश्रय देने वाले भीष्म और धृतराष्ट्र सुरक्षित और जीवित हैं। द्रोण के बल पर ऐंठने वाला दुर्योधन, तुम्हारे पतियों के राज्य का अधिपति बना घूम रहा है।'' तुम्हें अब अपने पिता के अपमान का ही प्रतिशोध नहीं लेना है, तुम्हें तो अपने पतियों के आततायी हत्यारों को भी दंडित करना है।'''

"धर्मराज का द्वंद्व अपने स्थान पर है सव्यसाची !" द्रौपदी ने उत्तर दिया, "किंतु द्वंद्व तो हम सब के हैं।"

"इसीलिए तो हम धैर्यपूर्वक, विवेक की सहायता से, उनका समाधान खोज रहे हैं।" अर्जुन शांत स्वर में बोला, "युद्ध से हम सब घृणा करते हैं; किंतु युद्ध ही हमारा व्यवसाय, धर्म और बल भी है। धर्मराज अभी युद्ध की अनिवार्यता से सहमत नहीं हैं।"

द्रौपदी ने आश्चर्य से देखा : भीम ने अर्जुन के कथन को वैसे ही परिहास में नहीं उड़ाया, जैसे कि वह युधिष्ठिर की बात को उड़ा देता था। कहीं ऐसा तो नहीं कि वह धर्मराज को भावुक तथा अर्जुन को विवेकी मानता हो; या फिर वह धर्मराज के आदेशों को मात्र अनुशासन के रूप में स्वीकार करता हो और अर्जुन से वह वस्तुतः स्नेह करता हो। अनुशासन की प्रतिक्रिया में विद्रोह जागता है; किंतु स्नेह से द्रोह कौन कर सकता है !''

"अच्छा ! तुम लोग बैठो।" युधिष्ठिर उठता हुआ बोला, "मैं माँ के पास हो आऊँ।"

"आर्यपुत्र मुझसे रुष्ट होकर जा रहे हैं क्या ?" द्रौपदी की वाणी में आशंका तथा आँखों में विनोद की चपलता थी।

"नहीं प्रिये !" युधिष्ठिर की मुस्कान भी गंभीर थी, "जो दुर्योधन से रुष्ट नहीं हुआ, वह तुमसे क्या रुष्ट होगा !"

"पांचाली !" भीम पुनः हँसा, "तुमसे रूठने की नृशंसता तो भीम नहीं कर सकता। ये तो फिर धर्मराज हैं।"

"तो फिर माँ से मिलने के व्याज से आप हम लोगों को छोड़कर क्यों जा रहे हैं ?" इस बार द्रौपदी भीम के परिहास से सहमत नहीं हो पायी थी।

"व्याज का मुझे अभ्यास नहीं है कृष्णे !" युधिष्ठिर बोला, "मुझे सत्य ही माँ से कुछ विचार-विमर्श करना है।"

द्रौपदी ने जैसे युधिष्ठिर के कथन की सत्यता जानने के लिए सारे भाइयों के चेहरों का शोध किया : सब ही सहमत थे—युधिष्ठिर के कथन में असत्य तो होता ही नहीं, व्याज भी नहीं था। जीवन की छोटी-मोटी असुविधाओं को टालने के लिए भी वह व्याज का अवलंब नहीं लेता। युधिष्ठिर का वचन, सत्य का पर्याय था।

द्रौपदी के मन में युधिष्ठिर का सम्मान बहुत बढ़ गया। पिता, महाराज द्रुपद ने पहले दिन से अपनी संतान को यही सिखाया था : कष्ट, दुख, समस्या, संकट, द्वंद्व इत्यादि को टलने के लिए असत्य का अवलंब मत लो; सत्य से सम्मुख-साक्षात्कार करो। सत्य से व्यक्ति दुर्बल नहीं होता; सत्य उसे बल देता है तथा बल संकट का मुँह मोड़ भी सकता है और उसे सहन करने की क्षमता भी देता है।...

युधिष्ठिर माता के कक्ष में आया।

कुंती मुस्करायी, "मैं तुम्हारी प्रतीक्षा ही कर रही थी पुत्र !"

"तुम जानती थीं माँ, कि मैं आऊँगा ?"

कुंती खुलकर हँसी, "द्वंद्व की स्थिति में अभी तुम्हें अपनी पत्नी के पास जाने का अभ्यास नहीं है पुत्र, तो माता के पास ही आओगे।"

युधिष्ठिर ने माँ की ओर देखा, "मेरे मन के द्वंद्व का तुम्हें ज्ञान था माँ ?"

"अभी तुम्हारा मन मेरे लिए अबूझ नहीं हुआ है पुत्र !" कुंती सहज होती हुई बोली, "तुम्हें ही नहीं, तुम्हारे सारे भाइयों को कुछ नयी बातें समझाना चाहती हूँ वत्स !"

"क्या माँ ?"

"तुम लोगों ने अब तक माँ को जाना है युधिष्ठिर, नारी को नहीं।" कुंती बोली, "अब तुमने विवाह किया है। नारी से तुम्हारा संपर्क हुआ है। क्रमशः उसे जानोगे; किंतु इतना बता देना मेरा धर्म है कि नारी को माँ समझने की भूल मत करना।"

"नारी ही तो माँ होती है।" युधिष्ठिर ने जैसे प्रतिवाद किया।

"नहीं वत्स !" कुंती हँसी, "एक शरीर में रहते हुए भी, नारी माँ नहीं होती। माँ की दृष्टि में क्षमा होती है, मन में वात्सल्य होता है और दान में हाथ उठा होता है; नारी की दृष्टि में निषेध और आलोचना होती है, मन में कामना होती है; और हाथ याचना में फैला होता है। माँ समर्पण का सात्विक जीवन जीती है पुत्र ! वह अल्पसंतोषी होती है—सीधी-सादी और सरल ! नारी समर्पित होती नहीं, समर्पण माँगती है। वह कभी संतुष्ट नहीं होती। सरलता का कोई तत्व उसके निर्माण में होता ही नहीं। वह बहुत जटिल रचना है स्रष्टा की। उसकी थाह पाना बहुत कठिन होता है।..."

"पर तुम तो ऐसी नहीं हो माँ !" युधिष्ठिर चकित-सा बोला।

"यही तो कह रही हूँ।" कुंती मुस्करायी, "मैं तुम्हारी माता हूँ। मैंने तुम लोगों को पुत्र के रूप में देखा है, पुरुष के रूप में नहीं। जिसे मैंने पुरुष के रूप में देखा था, उसके प्रति मैं भी ऐसी नहीं थी। इसीलिए तो कह रही हूँ पुत्र, नारी को समझने का प्रयत्न करो। ऐसा न हो कि तुम पांचाली को प्रसन्न न रख सको।"

"पांचाली को प्रसन्न रखने के लिए क्या करना होगा माँ ?"

"राज्य अर्जित करो। जीवन से जूझो। नारी को अपने पुरुष का मात्र अर्जन प्रिय होता है, विसर्जन नहीं। नारी को जीवन से जूझता पुरुष कमनीय लगता है, उससे भयभीत होता अथवा उसकी उपेक्षा करता नहीं। माँ अपने असमर्थ, पराजित और दुर्बल पुत्र को भी, बढ़कर अपने आँचल में समेट लेती है और कभी उसका विरोध नहीं करती; किंतु नारी अपने पुरुष को

न असमर्थ देखना चाहती है, न पराजित, न दुर्बल ! मैंने तुम्हारे पिता द्वारा संसार त्यागने का समर्थन नहीं किया था। उनकी तपस्या को साधना में परिवर्तित कर दिया था, ताकि वे अपनी सांसारिक इच्छाओं की सिद्धि कर सकें। नारी को समझो पुत्र ! पांचाली को तुम्हारी समृद्धि से प्रसन्नता होगी। उसे वस्त्र, आभूषण, संपत्ति, समृद्धि और सत्ता प्रिय होगी पुत्र !"

"किंतु मैंने तो ऐसी पत्नी की कामना नहीं की थी माँ !"

"तुम्हारी इच्छा अथवा अनिच्छा से तो प्रकृति के नियम नहीं बदल जायेंगे पुत्र !..."

"पांचाली के मन में इतना लोभ है ?"

"मैं पांचाली की तो बात ही नहीं कर रही पुत्र ! मैं तो नारी मात्र की बात कर रही हूँ। उसमें से न पांचाली अपवाद है, और न स्वयं तुम्हारी माता कुंती।"

"लोभ कोई सद्गुण तो नहीं है माँ !"

"ठीक कहते हो पुत्र ! किंतु नारी की जीवन की सुख-समृद्धि के प्रति ललक को मैं लोभ नहीं कहती, जिसे संयत किया जाना चाहिए। वह तो उसकी प्रकृति है पुत्र !" कुंती ने रुककर युधिष्ठिर को देखा, "तुमने वट-वृक्ष देखा है न ?"

"हाँ, माता !"

"वह अपना विकास कर प्रसन्न है। उसकी शाखाएँ हैं, पत्र हैं, जटाएँ हैं, छोटे-छोटे फल हैं, जो किसी के काम नहीं आते। वह महावृक्ष पथिकों को छाया देकर, अपने जीवन की सार्थकता पा लेता है। किंतु दूसरी ओर हरसिंगार का एक छोटा-सा वृक्ष भी तो होता है न पुत्र !"

युधिष्ठिर ने अनायास ही जैसे सहमति में सिर हिला दिया।

"ऋतु आते ही वह पुष्पित हो उठता है। चारों ओर सुगंध फैलाता है; किंतु किसी को छाया नहीं देता। नारी जीवन में रूप और गंध का जो महत्व है, उसके लिए क्या तुम उसे दोषी ठहराओगे ? क्या उसे लोभी कहोगे ?"

"नहीं माँ !"

"वैसे ही नारी भी प्रकृति का रूप है पुत्र ! वह पुष्पित और पल्लवित होना चाहती है। उसके जीवन में रूप, रस, गंध... सब के लिए ललक है। जैसे प्रकृति मदमाती और इठलाती है, वैसी ही नारी भी है पुत्र ! उसके शरीर की संरचना जैसे पुरुष से भिन्न है, वैसे ही मन की संरचना भी पुरुष के मन से मेल नहीं खाती।"

"किंतु माँ ! क्या वह कभी संतुष्ट नहीं होती ? क्या उसका मन जीवन के भोग से कभी नहीं भरता ?"

"शरीर की असमर्थता उसे बाध्य कर दे, तो कर दे; किंतु उसकी कामना तृप्त नहीं होती पुत्र !" कुंती बोली, "पांचाली के पास आभूषणों के भंडार हों, तो भी यदि तुम उसे एक स्वर्ण-कंगन लाकर दोगे तो वह आह्लाद से खिल उठेगी। वह स्वर्ण तथा बहुमूल्य मणि-माणिक्य से लदी होगी, तो भी वेणी में लगाने के लिए एक पुष्प की कामना उसे अतृप्त रखेगी। यह नारी का सहज रूप है। यह उसका दोष नहीं है।"

"किंतु माँ !" युधिष्ठिर बोला, "द्रौपदी पंडिता है, शास्त्रज्ञ है, बौद्धिक क्षेत्र में उसकी गति है। वह जीवन के मर्म को समझती है। क्या उसके बाद भी, उसके मन में कंचन की कामना रहेगी ?"

"जीवन के आस्वाद के प्रति नारी के मन में ग्लानि का भाव नहीं है पुत्र ! जैसाकि

बौद्धिक पुरुष के मन में है। इसलिए शास्त्र तथा तत्व-ज्ञान भी द्रौपदी के नारी-गुणों को नष्ट नहीं करेगा। तुम उसे भौतिक समृद्धि से ही प्रसन्न करने का प्रयत्न करो पुत्र ! तुम उसे त्यागपूर्ण उदात्त जीवन की परिकल्पनाओं और प्रयत्नों से लुभा नहीं सकोगे। मुझे पूर्ण विश्वास है कि तुम्हारे पितामह कुरुश्रेष्ठ भीष्म किसी नारी के स्वप्न-पुरुष नहीं हो सकते। यदि कोई नारी उन्हें मुग्ध करने में समर्थ हुई होती तो उन्हें जीवन-सरिता के तट पर इस प्रकार द्रष्टा के रूप में खड़ा न रहने देती; तत्काल उन्हें खींचकर मध्य धार में ले आती और वे निरंतर उसके पीछे-पीछे तैरते दिखायी देते।...''

लगा, युधिष्ठिर का जैसे कोई मोह भंग हो रहा हो। उसने अवसन्न स्वर में पूछा, "माँ ! क्या नारी कभी अपने पुरुष के लिए भी माता नहीं हो सकती ?''

"केवल क्षणिक रूप से ! स्थायी रूप से यह कभी संभव नहीं है। पुरुष की दृष्टि ही उसे नारी बना देती है पुत्र ! न पुरुष कभी पुत्र हो पायेगा, और न नारी ही कभी माँ हो पायेगी !''

युधिष्ठिर मौन हो गया, जैसे उसके सारे प्रश्न समाप्त हो गये हों; किंतु जीवन ने उसे कोई संतोषजनक उत्तर न दिया हो।

"अब एक बात अपनी ओर से कहती हूँ पुत्र !'' कुंती पुनः बोली, ''तुम्हें मैंने धर्मराज का पुत्र माना है। तू धर्म का पुत्र है वत्स ! धर्म का दूसरा नाम यम है—यम; मृत्यु का देवता। तू इतना कोमल क्यों है पुत्र ? तेरा हृदय करुणा से इस प्रकार विगलित क्यों हो उठता है ? तू यम के समान कठोर नहीं बनेगा, तो धर्म का पालन कैसे करेगा ? अधर्म को दंडित कैसे करेगा ? अधर्म के लिए तू कराल काल नहीं बनेगा, दुष्ट-दलन नहीं करेगा, तो इस संसार में धर्म की स्थापना कैसे होगी ?...मैं कब से प्रतीक्षा कर रही हूँ पुत्र, कि तुम लोग समर्थ हो जाओ और अपने पिता को वंचित करने वाले दुष्टों को, स्वयं तुम लोगों की हत्या का प्रयत्न करने वाले आततायी हत्यारों को, उनके पापों का दंड दो...और अब जब अवसर आया है, तुम कह रहे हो कि तुम युद्ध नहीं करोगे, क्योंकि वे स्वजन हैं ! जहाँ तक संपत्ति का संबंध है पुत्र ! जब तक भाई साथ होता है, वह सबसे समर्थ संबल होता है, और जैसे ही वह पृथक् होता है—वह सबसे बड़ा शत्रु होता है। अपने शत्रुओं को पहचान पुत्र ! और अपनी पत्नी, अपने भाइयों तथा माता का पालन कर। अपने अधिकारों के लिए युद्ध वीरता का लक्षण है, नृशंसता का प्रमाण नहीं !''

"तुम ठीक कहती हो माँ !'' युधिष्ठिर धीरे से बोला, ''मैं समझ गया हूँ, मुझे अब पुत्र के स्थान पर पुरुष ही बनना होगा।...''

युधिष्ठिर ने आकर वेदव्यास के चरण छुए।

"बैठो वत्स !''

युधिष्ठिर चुपचाप बैठ गया।

"क्या बात है युधिष्ठिर ! कुछ उद्विग्न प्रतीत हो रहे हो !''

युधिष्ठिर ने महर्षि को कुछ इस प्रकार देखा, जैसे पूछ रहा हो, 'कहाँ से आरंभ करूँ ?...' और फिर धीरे से बोला, "मैं बहुत संकट में हूँ तात् !''

"नहीं !" वेदव्यास उन्मुक्त रूप से हँसे, "यह तुम्हारा भ्रम है पुत्र ! ये दिन तुम्हारे संकट के कटने के हैं, संकट में होने के नहीं ।"

युधिष्ठिर ने महर्षि के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न किया । बोला, "हाँ तात् ! भौतिक संकट कटा है, किंतु मानसिक संकट बढ़ा है ।"

"तुम संकट नहीं, कदाचित् अपने असमंजस की चर्चा कर रहे हो ।"

"हाँ आर्य ! किंतु असमंजस से बड़ा संकट किसी चिंतनशील प्राणी के लिए और क्या हो सकता है ?"

"स्पष्ट कहो पुत्र !"

युधिष्ठिर बोला, "मैं समझ नहीं पा रहा हूँ तात्, कि अधिकार के लिए लड़ना श्रेयस्कर है अथवा उसका त्याग ?"

"अधिकार के लिए तो लड़ना ही श्रेयस्कर है पुत्र !" वेदव्यास की बड़ी- बड़ी चिंतनशील आँखों में एक मधुर मुस्कान थी, "त्याग देने के पश्चात् तो वह अधिकार रह ही नहीं जाता ।"

युधिष्ठिर उनके कथन को ग्रहण कर उसपर मनन करता रहा, फिर बोला, "पितामह ने राज्य का त्याग किया और दुर्योधन राज्य के लिए संसार के समस्त कुकर्म करने को तत्पर बैठा है; मैं उसके लिए अपने स्वजनों का रक्त बहाना नहीं चाहता । कौन- सा मार्ग श्रेयस्कर है ?"

"तो पौत्र भी पितामह के मार्ग पर चलना चाहता है !" महर्षि प्रसन्न मन से खिलखिलाए ।

"नहीं तात् ! मैं तो मात्र शोध कर रहा हूँ कि कौन- सा मार्ग अधिक श्रेयस्कर है ।"

"युधिष्ठिर !" इस बार महर्षि का स्वर गंभीर भी था और आदेशात्मक भी, "जब तक केंचुली सर्प के शरीर पर होती है, तब तक उसमें उसकी पूर्ण आसक्ति होती है; किंतु जब वह उसे त्याग देता है, तब पलटकर भी उसकी ओर नहीं देखता । यदि सर्प केंचुली के अपने शरीर पर होते हुए भी, उसकी रक्षा नहीं करेगा, तो कष्ट पायेगा, और उसका त्याग कर उसकी रक्षा का प्रयत्न करेगा तो व्यर्थ मूढ़ता करेगा । तुम पहले यह निर्णय करो पुत्र, कि केंचुली तुम्हारे शरीर पर है, या उसे तुम उतार चुके ?"

"केंचुली शरीर पर हो भी तो मैं उसके लिए दूसरों को दंशित नहीं करना चाहता तात् !"

"यह स्थिति प्रकृति को स्वीकार्य नहीं है पुत्र ! यदि केंचुली तुम्हारे शरीर पर है, तो उसकी रक्षा के लिए आवश्यक होने पर दूसरों को दंश भी मारना होगा । यदि दूसरों को दंशित नहीं करना चाहते तो केंचुली को शरीर पर रखना भी नहीं होगा ।" व्यास बोले, "पुत्र ! आसक्ति के रहते संघर्ष छोड़ देना, या तो कायरता है अथवा असामर्थ्य ! और पुत्र ! आसक्ति के रहते हुए त्याग का भ्रम पालना, अपने अहंकार को स्फीत करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । कामना से बड़ा शत्रु है अहंकार । कामना तो सहज मानवीय भाव है पुत्र ! वह संयत रहे तो सुख भी देती है; किंतु अहंकार तो भयंकर विषैला नाग है । वह अपने विष- वमन से जाने कितने लोगों को आहत और पीड़ित करता है ।" व्यास ने अपनी मुस्कान से अपने कथन के दंश की पीड़ा को कम करने का प्रयत्न किया, "युधिष्ठिर ! तुम्हारे मन में राज्य की कामना है तो उसे प्राप्त करने के लिए कर्म करो । कर्म का रूप प्रयत्नमय भी हो सकता है और संघर्षपूर्ण भी । याचक बनकर तुम राज्य की अपनी कामना पूर्ण नहीं कर सकते । यदि तुम राज्य की कामना मन में रखते हुए, त्यागी होने का भ्रम पाल रहे हो, तो सिवाय अपना अहंकार स्फीत करने के और कुछ नहीं कर रहे !"

"तुम्हारे लिए अभी तक यह एक व्यक्तिगत प्रश्न है पुत्र !" व्यास पुनः बोले, "किंतु मेरे लिए यह एक वृहत् प्रक्रिया है जिसमें तुम और दुर्योधन नहीं लड़ रहे, सत् और असत् वृत्तियाँ लड़ रही हैं । मैं कभी नहीं चाहूँगा कि इस संघर्ष में सद्वृत्तियाँ थक-हारकर बैठ जायें और असद्वृत्तियाँ आर्यावर्त्त पर शासन करें । संसार में जहाँ कहीं कोई न्याय के पक्ष में एक भी हाथ उठाता है, वह संपूर्ण सृष्टि की सात्विकता को बल देता है; और संसार में व्याप्त पाप और अतिचार के प्रतिरोध में सक्रियों योगदान करता है । जो अपने स्वार्थ से निरपेक्ष यह संघर्ष करता है वह महान् है; किंतु जो अपने व्यक्तिगत कारणों से भी अन्याय का विरोध करता है, वह कम सार्थक नहीं है । पुत्र ! तुम जब अपने राज्य की प्राप्ति के लिए संघर्ष करोगे तो आर्यावर्त्त में प्रसार पाते राक्षसी-तंत्र का विरोध करोगे । प्रजा को दुर्योधन के आततायी और अत्याचारी शासन से बचा लोगे । तुम्हें अपनी ओर से नहीं, सद्वृत्तियों की ओर से लड़ना है, मन की ग्लानि दूर करो और उठकर खड़े हो जाओ ।"

"आपकी आज्ञा का पालन होगा देव !" युधिष्ठिर असमंजस रहित स्वर में बोला और उठ खड़ा हुआ ।

विदुर को लगा, कांपिल्य में आकर गंगा का तट कुछ और अधिक ही रमणीय हो गया है । हस्तिनापुर की तुलना में यहाँ उसकी धारा अधिक स्वच्छ लग रही है और तट पर हरीतिमा भी कुछ अधिक ही थी । गंगा के इसी तट पर एक सुंदर स्थल चुनकर महर्षि वेदव्यास ने अपना अस्थायी आश्रम स्थापित किया था ।

"आओ वत्स !" व्यास ने विदुर का स्वागत करते हुए कहा, "गुप्त रूप से हिडिंबवन में निवास करते हुए जो पांडव तुमने मुझे सौंपे थे, उन्हें सुरक्षित रूप में ब्याज सहित तुम्हें लौटा रहा हूँ ।" वे मुस्कराए, "अब इसके पश्चात् कापिल्य में रुके रहना भी मेरे लिए अनावश्यक हो गया है ।"

विदुर ने व्यास के चरणों में सिर रखकर प्रणाम किया "पूज्यवर ! आपने पांडवों की रक्षा कर धर्म की रक्षा की है, अन्यथा वह मूढ़ दुर्योधन तो कौरव-साम्राज्य की दुर्गति ही कर डालता ।"

व्यास हँसे, "तुम पाँडवों को हस्तिनापुर ले तो जा रहे हो विदुर; किंतु क्या वहाँ उनकी रक्षा कर लोगे ?" और सहसा व्यास का स्वर जैसे कुछ रहस्यपूर्ण हो गया, "विदुर ! यदि हस्तिनापुर में यह भेद प्रकट हो गया कि पांडवों को दुर्योधन के षड्यंत्र से बचाने वाले तुम थे, तो क्या दुर्योधन इसे शत्रुतापूर्ण कृत्य मानकर तुमसे प्रतिशोध लेना नहीं चाहेगा ? तुम वहाँ स्वयं भी सुरक्षित हो क्या ?"

"मेरे पास कोई सैनिक बल तो है नहीं तात् ! न मैं स्वयं ही कोई योद्धा हूँ । किंतु मेरा विचार है कि पांडव इस भेद को प्रकट नहीं होने देंगे ।" विदुर बोला, "वैसे इस भेद को जाने बिना भी दुर्योधन मुझे अपना शत्रु ही मानता है; किंतु यह आश्चर्य की बात है कि उसने अभी तक न तो कभी मुझको राज्य से निष्कासित करने की माँग की है और न ही मेरी हत्या का कोई षड़यंत्र रचा है । मेरा विचार है कि धृतराष्ट्र सदा जो धर्मात्मा बने रहने का स्वांग करता है उस पाखंड की रक्षा के लिए वह मेरी भी रक्षा करेगा, और उसकी अनुमति के अभाव में

दुर्योधन मेरी ओर अंगुली नहीं उठायेगा।... और फिर आपका आशीर्वाद जो है तात् !..."

"विदुर ! तुम्हारी रक्षा प्रकृति की सद्वृत्तियाँ कर रही हैं। इसलिए यह और भी आवश्यक हो जाता है कि तुम अपनी रक्षा के लिए उनकी रक्षा करो। पांडवों की रक्षा के लिए अधिक तत्पर और सतर्क रहो..."

"पांडवों की रक्षा में सबसे अग्रणी है वासुदेव कृष्ण। वह हस्तिनापुर में न रहते हुए भी वहाँ रहेगा। वह अपनी अनुपस्थिति में भी उपस्थित रहता है तात् !..."

"मैं जानता हूँ विदुर !" व्यास बोले, "कांपिल्य में उसने जिस प्रकार उनकी रक्षा की है —उसे देखा है मैंने !"

"वैसे पहले की अपेक्षा अब पितृव्य भीष्म भी अधिक सतर्क..."

"भीष्म !..."

"क्यों ? आपको कोई संशय है पितृव्य के संबंध में ?" विदुर चकित था।

व्यास अपने स्थान से उठ खड़े हुए। अपनी पीठ पर हाथ बाँधे वे कुछ देर तक चिंतनलीन मुद्रा में टहलते रहे, फिर बोले, "आर्य, भीष्म पर मुझे कोई संदेह नहीं है—न उनकी सद्वृत्तियों पर और न उनकी क्षमता पर। किंतु उनके विषय में मेरी समझ अभी बहुत स्पष्ट नहीं है। मेरे मन में अनेक संशय हैं, कुछ आशंकाएँ भी हैं...।"

"कैसी आशंकाएँ पूज्यपाद ?"

"आरंभ में आर्य भीष्म मुझे अत्यंत सक्षम और समर्थ व्यक्ति लगे थे और उनकी न्याय-बुद्धि भी मुझे अत्यंत विश्वसनीय लगी थी ; किंतु ..."

"किंतु क्या आर्य ?"

"किंतु इधर मेरे मन में उनको लेकर कुछ शंकाएँ जन्मी हैं।"

"कैसी शंकाएँ ?" विदुर पूरी बात जानने के लिए कुछ अधिक ही व्यग्र हो उठा था।

"पुत्र ! जाने क्यों ऐसा लगने लगा है कि बहुत ही सात्विक और उदात्त चरित्र के स्वामी होते हुए भी आर्य भीष्म का वर्ग-चरित्र ऐसा है कि बहुत सुविधा से वे सत्ता और शासन के साथ तादात्म्य कर लेते हैं। सत्ताविहीन अथवा सत्ता से दूर के लोगों का तर्क उनकी मनोभावनाएँ, उनकी स्थिति-परिस्थितियाँ—कदाचित् ये सब भीष्म समझ नहीं पाते।..."

"इस धारणा का कारण ?"

"भीष्म में सत्ता का वेग बहुत अधिक है। उस वेग से टकराकर दूसरे व्यक्ति की गति क्या होगी, उसकी चिंता उन्हें नहीं होगी, चाहे वह व्यक्ति वे स्वयं ही क्यों न हों।" व्यास बोले, "उन्होंने जब मेरे नाना को वचन दिये, तो यह भी नहीं सोचा कि उनकी अपनी गति क्या होगी, राज-परिवार पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा, शासन और प्रजा इससे किस प्रकार प्रभावित होंगे... काशिराज की कन्याओं का हरण करके लाये तो उन कन्याओं की भावनाओं-संवेदनाओं की तनिक भी चिंता नहीं थी..."

विदुर भी जैसे भीष्म को एक नयी दृष्टि से देख रहा था।

"धृतराष्ट्र और दुर्योधन ने आरंभ से ही पांडवों को किस प्रकार पीड़ित किये रखा—आर्य भीष्म को इसकी कोई सूचना ही नहीं थी।" व्यास बोले, "कुरु-कुल के संरक्षक, अभिभावक और कर्त्ता होने के नाते उन्हें यह ज्ञात होना चाहिए था कि उनके परिवार में क्या हो रहा है, किंतु कदाचित् उनकी समस्या यह है कि वे आत्मलीन गृहस्थ हैं। बहुत संभव है कि एक वैरागी यदि गृहस्थी चलायेगा, तो

वह ऐसे ही चले, किंतु यह तो उनके व्यवहार को समझना भर हुआ। इससे उस चरित्र की सीमाओं का प्रतिकार तो हो नहीं जाता।" व्यास रुके, "दुर्योधन ने भीम को विष दिया। उन्हें उसकी कोई सूचना नहीं है। वारणावत में इतना बड़ा षड्यंत्र हुआ, उन्हें कुछ पता ही नहीं कि वहाँ क्या घटित हो रहा है। दुर्योधन ने उनकी आँखों के सामने कर्ण को अंग देश का राजा बना दिया। उन्होंने एक बार भी नहीं पूछा कि दुर्योधन को इसका क्या अधिकार था।..."

"आप ठीक कह रहे हैं तात् !" विदुर कुछ-कुछ सहमत तो हुआ, किंतु उसे लगा कि व्यास भीष्म के प्रति कुछ अधिक ही कठोर हो गये हैं, "किंतु कदाचित् यह सब इसलिए है कि वे गुरुकुल के रक्षक हैं। वे नहीं चाहते कि कुरुकुल का कोई अहित हो, उसपर कोई आँच आये अथवा परिवार के भीतर कोई क्लेश उठ खड़ा हो।"

"यह उनका धर्म है, किंतु उसके लिए व्यापक मानवीय धर्म की अवहेलना नहीं होनी चाहिए। यह धर्म का नहीं, धर्म की रूढ़ि का पालन है। इससे परिवार का हित नहीं होगा। परिवार की रक्षा करनी हो, तो धर्म की रक्षा की जानी चाहिए। धर्म स्वतः ही परिवार को धारण करेगा। धारण करने का कार्य, केवल धर्म ही करता है, अधर्म तो उसका क्षय ही करेगा।" व्यास बोले, "कुरुकुल के प्रति मोह मुझे भी है, किंतु दुर्योधन की दुष्टता के कारण मुझे न दुर्योधन से सहानुभूति है, न धृतराष्ट्र से। कौरवों को बचाये रखने का भी कोई विशेष आग्रह नहीं है, मेरे मन में। सत्य-पक्ष को बचाने का आग्रह है मेरा। आर्य भीष्म ने बहुत कुछ त्यागा है, किंतु वंश और साम्राज्य की रक्षा का मोह वे नहीं त्याग सके। इसीलिए उन्हें अधर्म और असत्य से संधि करनी पड़ी है। क्रमशः वे अधर्म को स्वीकार करते गये हैं। इसलिए कदाचित् वे नहीं जानते कि मन से पांडवों के साथ होते हुए भी, कर्मतः वे कौरवों के ही साथ हैं।" उन्होंने विदुर को देखा, "मुझे लगता है कि भीष्म क्रमशः संधिवादी होते जा रहे हैं और परिणामतः निष्क्रिय भी। कहीं ऐसा न हो कि अंततः वे धार्तराष्ट्रों के ही पितामह होकर रह जायें, पांडवों के कुछ भी न रहें।"

विदुर कुछ नहीं बोला। वह महर्षि के कथन पर विचार कर, बैठा रहा।

"इसलिए पुत्र ! पांडवों को लेकर हस्तिनापुर जाओ, तो सावधान रहो। द्रुपद और वासुदेव कृष्ण से भी कहो। पांडवों को असुरक्षित नहीं छोड़ा जा सकता।"

"आपकी आज्ञा का संपूर्ण पालन होगा तात् !" विदुर उठ खड़ा हुआ।

38

हस्तिनापुर का मुख्य द्वार 'वर्द्धमान' आज फिर सजाया गया था।

भीष्म इस द्वार को देखते तो कितनी-कितनी स्मृतियाँ उनके मन में लहराने लगती थीं। यह द्वार, मात्र एक द्वार नहीं था, यह मानो कुरुकुल का इतिहास था। कुरुओं की अनेक पीढ़ियों को यह विजय-यात्राओं के लिए विदा करता रहा है; और उनके विजयी होकर लौटने पर उनका स्वागत करता रहा है। विवाहों के अवसर पर कुरु-वधुओं का स्वागत इसी द्वार ने किया है और इसी द्वार से होकर कुरु-वृद्ध यम-प्रदेश गये हैं। किन्तु ऐसा तो पहली बार हुआ है कि यश-प्रदेश गये हुए, कुरु-जन इस द्वार से लौट रहे हैं। यम-प्रदेश जाकर भी कोई लौटा

है ? किंतु पांडु-पुत्र लौट रहे हैं, कुंती लौट रही है···

अगले ही क्षण भीष्म चिंतित हो गये : किंतु यह लौटना भी क्या घर लौटना था···दुर्योधन और कर्ण तो सेना लेकर, पांडवों पर आक्रमण कर उनका वध करने की योजनाएँ बना रहे थे···कर्ण और शकुनि की संगति दुर्योधन के लिए तनिक भी लाभदायक नहीं है। जिनका मन ही स्वस्थ नहीं है; वे लोग किसी का भी क्या हित करेंगे···

धृतराष्ट्र ने पांडवों के प्रति स्नेह-प्रदर्शन तो बहुत किया है ; किंतु हस्तिनापुर पर युधिष्ठिर का अधिकार स्वीकार करने में उसे असमंजस ही रहा है···असमंजस क्या, वह तो कुरुओं का राज्य, अपने और अपने पुत्र के लिए प्राप्त कर लेना चाहता है; चाहे अधिकार किसी का भी हो। अपने स्वार्थ के सम्मुख धृतराष्ट्र को कोई न्याय-अन्याय नहीं सूझता। या शायद पुत्र-प्रेम ही उसकी बुद्धि को आच्छादित किये हुए है···और आचार्य द्रोण ने भी साम्राज्य के विभाजन के पक्ष में अपना मत दे दिया है।···पता नहीं, इस द्रोण को क्या हो गया है; वह साम्राज्यों के विभाजन की ही योजनाएँ बनाता रहता है। इसने पांचालों के राज्य का विभाजन कर डाला। तब भीष्म ने सोचा था — शत्रु दुर्बल हुआ। किंतु तब क्या यह सोचा था कि वृश्चिक तो दंश ही करेगा, हथेली चाहे उसके शत्रु की हो, अथवा संरक्षक की।···और सहसा भीष्म के मन ने पूछा, "···द्रोण अब वृश्चिक हो गया है क्या ?'···

चार अश्वारोही आकर द्वार पर रुके।

'ये कौन हो सकते हैं ?' भीष्म ने सोचा, 'ये पांडव तो नहीं हो सकते।'

अश्वारोहियों ने अश्वों से उतरकर अपना परिचय दिया। वे लोग पांडवों के अग्रिम धावक थे। वे सूचना लाये थे कि पांडव अपने पिछले पड़ाव से चल पड़े थे और अब हस्तिनापुर पहुँचने ही वाले थे।

भीष्म को अश्चर्य हुआ : पांडवों का हस्तिनापुर लौटना भी ऐसा है, जैसे कोई सम्राट् यात्रा कर रहा हो। अग्रिम सूचना देने वाले धावकों के कई दल आये थे।···पांडव ही तो आ रहे हैं, किसी चक्रवर्ती की सेना तो नहीं आ रही। पॉच पांडव, कुंती, विदुर···और हॉ ! द्रौपदी भी। कुछ दासियाँ होंगी; कुछ सेवक होंगे। संभवतः दो-चार छकड़ों में कुछ सामान भी होगा। द्रुपद ने कुछ तो यौतुक दिया ही होगा, अपनी पुत्री को ···

तभी दूर से पथ पर धूल उड़ती दिखायी दी : पांडव आ गये थे या फिर धावक ही आये थे ?···नहीं। इस बार अश्वारोही नहीं थे। कई रथ थे, जो आगे-पीछे दौड़ रहे थे। पांडव ही होंगे···

वे निकट आये। भीष्म ने देखा : पहला रथ वासुदेव कृष्ण का था।

'कृष्ण !···' भीष्म का सारा शरीर जैसे रोमांचित हो उठा ! यह तो सोचा ही नहीं था उन्होंने कि कुंती का भ्रातुष्पुत्र है कृष्ण ! वह अपनी बुआ और भाइयों के साथ हस्तिनापुर आ सकता है।··· किंतु कृष्ण, मांगलिक वेश में न होकर, युद्ध-वेश में क्यों है ? सारे अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित ! बाहुक द्वारा संचालित कृष्ण का यह रथ कितना विशाल था···और कैसे-कैसे अस्त्र-शस्त्रों से संयुक्त !

कृष्ण ने भीष्म के चरण छूकर प्रणाम किया।

भीष्म ने आशीर्वाद देकर पूछा, "कहीं युद्ध के लिए जा रहे हो पुत्र ?"

"नहीं पितामाह !" कृष्ण के चेहरे पर मुस्कान उभरी, "युद्ध के लिए जा नहीं रहा ; युद्ध

की संभावनाओं को टालने का प्रयत्न कर रहा हूँ। कांपिल्य में भी और यहाँ भी !"

"यहाँ कैसा युद्ध ?" भीष्म चकित थे।

"जहाँ किसी को उसके नैसर्गिक अधिकारों से वंचित किया जायेगा, वहाँ युद्ध होगा ही; जहाँ वंचना, पाखंड और षड्यंत्र होंगे, वहाँ संघर्ष अनिवार्य है पितामह !"

भीष्म ने ध्यान से देखा : कृष्ण परिहास नहीं कर रहा था। वह पूर्णतः गंभीर था।...

और तभी बलराम अपने रथ से उतरा, फिर सात्यकि; और उनके पश्चात् विदुर का रथ आया।

विदुर ने पितामह को बताया, "पांडव अकेले नहीं आये हैं पितृव्य ! कृष्ण, बलराम और सात्यकि से तो आप मिल ही चुके हैं। यादवों के अनेक और महारथी और अतिरथी भी आये हैं। कृष्ण की नारायणी सेना का एक बड़ा भाग साथ आया है। पांचालों का युवराज धृष्टद्युम्न स्वयं आया है; और उसके साथ पांचालों की अनेक वाहिनियाँ आयी हैं। द्रुपद ने अपने प्रत्येक जामाता को यौतुक में एक-एक सहस्र रथ और एक-एक सहस्र गज दिये हैं, साथ-साथ सहस्रों अश्व भी हैं। रथों, गजों और अश्वों का संचालन करने वाले सारथि अथवा महावत नहीं हैं—वे सभी सैनिक हैं। रथों में अस्त्र-शस्त्र तथा युद्ध-सामग्री भरी पड़ी है।"

भीष्म चकित थे, "वे लोग युद्ध करने आये हैं क्या ?"

"हस्तिनापुर में पांडवों की रक्षा यादव और पांचाल करेंगे ?" भीष्म की वाणी में आक्रोश भी था और विषाद भी।

तभी युधिष्ठिर ने आकर भीष्म के चरण छुए। भीष्म ने उसे कंधों से पकड़कर उठाया और वक्ष से लगा लिया, "ओह, वत्स !"

भीष्म की इच्छा हुई कि युधिष्ठिर से पूछें—वारणावत में क्या हुआ था ? यदि वहाँ अकस्मात् ही आग लग गयी थी तो उन्हें स्वयं को मृत प्रचारित करने की क्या आवश्यकता थी ? इतने दिनों तक अज्ञातवास क्यों किया उन्होंने ? कांपिल्य में वे ब्राह्मणों के वेश में क्यों आये ?...और स्वयंवर जय कर भीम तथा अर्जुन, अपने स्वाभाविक रूप में प्रकट हो अपने भाइयों से मिलने के स्थान पर, उन्होंने अपना छद्मवेश बनाये रखकर, शेष राजाओं से युद्ध क्यों किया ? इसी नाटक में कहीं कोई दुर्घटना हो गयी होती तो ?..."

उनके मन में जिज्ञासा का जैसे कोई सागर लहरा रहा था, जिसमें प्रश्नों की लहर-पर-लहर उठ रही थी। उनकी इच्छा हो रही थी कि प्रश्नों की ये लहरें, युधिष्ठिर के वक्ष-रूपी कगार से टकराकर फेन में परिणत हो जायें और फिर उसके बुद्बुद् वायु में विलीन हो जायें...

किंतु ऐसे प्रश्न पूछने का यह कोई अवसर नहीं था।... नव-वधू पांचाली उनके चरणों में प्रणाम निवेदित कर रही थी।... द्रुपद-पुत्री पांचाली कृष्णा, उनकी पौत्र-वधू...भीष्म ने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि कौरवों तथा पांचालों में कभी इस प्रकार के विवाह-संबंध भी हो सकते हैं।... कैसे स्वीकार किया होगा द्रुपद ने इस संबंध को ? सारा पुराना वैमनस्य एक क्षण में ही समाप्त कर दिया होगा ? अर्जुन को अपने अपमान के लिए क्षमा कर दिया होगा ?... या वीरता के प्रति द्रुपद के मन में इतना सम्मान है कि उसने सारा अतीत विस्मृत कर दिया ?...

भीम ने झूमते-झामते हाथी के समान, भीष्म के चरण छुए। उसकी आँखों में लहराता जीवन का पद, पिछले दिनों की घटनाओं से तनिक भी प्रभावित नहीं लगता था, वरन् वह कुछ और अधिक समृद्ध हो गया था। उसने पहले के ही चपल बालक के समान हँसकर कहा, "आप

तो और भी वृद्ध और दुर्बल हो गये हैं पितामह ! आपको तो गोद में उठाकर, मैं सारे हस्तिनापुर का चक्कर लगा सकता हूँ ।"

भीष्म ने स्नेह से भीम के सिर पर अपनी हथेली ही नहीं रखी, उसके केशों में अंगुलियाँ भी फिरायीं, "किंतु ऐसा करना मत बावले ! नहीं तो पितामह की सारी गरिमा की पोल खुल जायेगी ।"

"आप अपनी गरिमा से बहुत सारे सत्यों को ढँके बैठे हैं पितामह !" भीम हँसा, "जैसे कोई वस्त्र स्वादिष्ट व्यंजनों की थाली को ढँके रहता है ।"

भीष्म के अपने मन ने ही उनसे पूछा, 'क्या कह रहा है भीम ? क्या वह कह रहा है कि वे सत्य को ढँके बैठे हैं और असत्य प्रचारित हो रहा है—केवल अपनी गरिमा की रक्षा- हेतु ।...' और तभी जैसे उनके दूसरे किसी मन ने कहा, 'हाँ ! गरिमा के लिए ही तो अनेक सत्यों को अपने मन में छुपाए रखना पड़ता है । उन्होंने आज तक न अपना स्नेह प्रकट होने दिया, न घृणा ! इस परिवार की गरिमा के लिए ही तो ! उन्होंने अपने वक्ष पर शिला रखकर उन्हें वारणावत भेज दिया—इसीलिए तो कि कौरवों के मध्य शांति बनी रहे...

और तभी आकर अर्जुन ने उनके चरण छुए ।

भीष्म ने बड़े प्रयत्न से अपने अश्रु रोके : इसको भी उन्होंने वारणावत भेज दिया था । इस रूप को, इस बल को, इस कौशल को, साक्षात् धनुर्वेद को ! इसको कहीं कुछ हो जाता तो ?...

भीष्म ने उसे आशीर्वाद दिया, "कुरुकुल के गौरव बने रहो पुत्र !"

कुंती को सहारा देते से नकुल और सहदेव आये । तीनों ने भीष्म को प्रणाम किया ।

'अद्‌भुत माँ है, यह कुंती भी !' भीष्म ने सोचा, 'कोई कह सकता है कि यह नकुल तथा सहदेव की माँ नहीं है । आज यदि स्वयं माद्री भी आ जाये तो अपने पुत्रों को ऐसा वात्सल्य नहीं दे पायेगी ।...और ये दोनों पुत्र !...इन्होंने भी अपनी माँ के रूप में कभी किसी और नारी की कल्पना की होगी ?...और इन सबको भीष्म ने वारणावत भेज दिया था ।...पर भीष्म क्या जानते थे कि वहाँ कोई ऐसी दुर्घटना हो जायेगी ?...दुर्घटना तो कहीं भी हो सकती है ।...हाँ ! दुर्घटना तो कहीं भी हो सकती है, किंतु उन्होंने इन्हें अपनी आँखों से दूर तो कर ही दिया था । उन्हें अपने संरक्षण से परे भेज दिया था । उन्हें राजधानी छोड़ने के लिए बाध्य कर दिया था ... किसलिए ? हस्तिनापुर में शांति बनाये रखने के लिए ! कुरुकुल की मर्यादा बचाये रखने के लिए !...उन्हें कुरुकुल की मर्यादा और हस्तिनापुर की शांति इन सबसे अधिक प्रिय थी ?... दुर्योधन और उसके भाइयों को क्यों वारणावत नहीं भेज दिया उन्होंने ? इसलिए कि दुर्योधन का पिता, हस्तिनापुर के सिंहासन पर अपना अधिकार जमाये बैठा है ?... कलह बचाने के लिए, हस्तिनापुर का शांति और कुरुकुल की मर्यादा बचाए रखने के लिए, उन्होंने भी तो तुष्टिकरण की ही नीति अपनायी । न्यायानुसार दुष्टों को दंड देने की बात क्यों नहीं सोची उन्होंने ? उन्होंने भी तो पांडवों को ही दबाया, उन्हीं के साथ अत्याचार किया क्योंकि वे भले लड़के थे, उनका सम्मान करते थे । उनकी सज्जनता का ही तो अनुचित लाभ उठाया भीष्म ने...

भीष्म का मन जैसे अपने ही धिक्कार से रो पड़ा : यह क्या किया उन्होंने ?...पर वे कर भी क्या सकते थे ! वे न्यायाधिकरण में बैठे न्यायाधीश तो थे नहीं कि न्याय- अन्याय, उचित- अनुचित के आधार पर अपने निर्णय की घोषणा कर देते, परिणाम चोहे जो भी होता ।...उन्होंने तो वात्सल्यपूर्ण पिता के रूप में यही चाहा कि सारा परिवार सुखी रहे । दुष्ट दुर्योधन को भी पुत्र के समान ही प्रेम

किया ।''' कुंती भी तो अकेले भीम को शेष चार पुत्रों के बराबर भोजन देती है । क्या माना जायेगा कि वह कुछ अनुचित कर रही है ? झुकाया तो बाँस को ही जायेगा : वट-वृक्ष को तो झुकाया नहीं जा सकता । उन्होंने पांडवों में लचीलापन देखा, तो उन्हें ही झुका लिया, उसमें अनुचित क्या हुआ ? परिवार का मुखिया सदा से समझदार बच्चे को ही यह कहकर झुकाता आया है कि 'तू ही मान जा ! दूसरा तो मूर्ख है ।'

किंतु भीष्म का मन सारे प्रयत्न करके भी अपनी ग्लानि नहीं धो पा रहा था'' और फिर कुंती की आँखों का उपालंभ !''' जैसे वे चीत्कार कर रही हों, 'आपने ही हमें, मृत्यु के मुख में धकेला । आपने ही हमें मृत्यु के मुख में धकेला ।'''

भीष्म कहना चाह रहे थे, 'चलो पुत्रो ! आज तुम अपने पितामह के भवन में रहो । अपने ही घर में आये हो, फिर भी मेरा ही आतिथ्य ग्रहण करो । मैं प्रयत्न करूँगा कि अपने अपराध की क्षति-पूर्ति कर सकूँ, अपना कलंक धो सकूँ ।'''किंतु, कुंती की वे उपालंभपूर्ण आँखें'' युधिष्ठिर की वह मर्यादित, शिष्ट तटस्थता, भीम का वह परिहास, अर्जुन का स्वाभिमान, नकुल-सहदेव की उपेक्षा''और अब तो उनके साथ पांचाली भी थी । वह क्यों जायेगी, भीष्म के घर ? द्रुपद की पुत्री, जिस द्रुपद से परंपरागत अमैत्री के कारण उसकी भावनाओं की तनिक भी चिंता नहीं की थी भीष्म में ! द्रोण ने राजकुमारों को द्रुपद पर आक्रमण करने के लिए भेजा तो भीष्म ने तनिक भी हस्तक्षेप नहीं किया था ।''' तो क्यों जायेगी द्रौपदी भीष्म के घर ? क्यों स्वीकार करेगी वह उनका निमंत्रण ?'''

धृष्टद्युम्न ने आकर भीष्म को प्रणाम किया, "पितामह ! पांचालराज द्रुपद का पुत्र धृष्टद्युम्न आपके चरणों में प्रणाम निवेदित करता है ।"

"यशस्वी हो पुत्र !" भीष्म को जैसे अपनी बात कहने का अवलंब मिल गया, "हस्तिनापुर में तुम्हारा स्वागत है पुत्र !'''"

भीष्म उसे अपने साथ, अपने भवन में ठहरने का निमंत्रण अभी दे भी नहीं पाये थे कि वह बीच में ही बोला, "मैं हस्तिनापुर में प्रवेश नहीं कर रहा पितामह ! गंगा-तट पर ही स्कंधावार स्थापित होगा । उसी में रहूँगा ।" उसकी मुस्कान में हल्की-सी कटुता थी, "यही कामना है कि मुझे हस्तिनापुर में प्रवेश न ही करना पड़े ।"

"क्यों ? तुम्हें कौरवों का आतिथ्य ग्रहण करने में कोई आपत्ति है ?" भीष्म के स्वर में जिज्ञासा तथा आश्चर्य के साथ-साथ किंचित् विरोध भी था ।

"नहीं पितामह ! वस्तुतः हम तो इसी प्रतीक्षा में हैं कि हस्तिनापुर में धर्मराज्य स्थापित हो और वह हमारे लिए पिता, गुरु तथा मित्र के आवास के समान आत्मीय हो जाये ।" धृष्टद्युम्न बोला, "किंतु इस समय तो हस्तिनापुर में प्रवेश, सैनिक हस्तक्षेप के लिए ही होगा न !"

"ओह !" भीष्म आगे बढ़े । उन्हें स्मरण हो आया कि दुर्योधन भी कुछ इसी प्रकार की व्यवस्था करना चाहता था कि कौरव सेनाएँ, पांडवों को, कुरुओं की सीमा पर ही रोक लें'' उसकी बात नहीं मानी गयी तो वह स्वागतार्थ भी नहीं आया ।''' ये दोनों पक्ष तो अपनी समस्याओं का समाधान ही नहीं, अपनी इच्छाओं की पूर्ति भी सैनिक शक्ति से ही करना चाहते हैं ।'''और भीष्म हैं कि अब भी कुरुकुल के भीतर एकता ही नहीं, स्नेह और सौहार्द बनाये रखने का स्वप्न देख रहे हैं''राजनीति क्या इतनी भयंकर होती है कि नीति, परंपरा, जीवन के उदात्त मूल्य-मानक, सद्वृत्तियाँ ही नहीं, भाइयों का स्नेह-सौहार्द भी जलकर नष्ट हो जायेगा''

अच्छा ही है कि भीष्म को न कभी राजनीति ही इतनी प्रिय रही, न राज्य का ही मोह रहा ··· सहसा उनके मन में एक और जिज्ञासा ने सिर उठाया, दुर्योधन तो आरंभ से ही ऐसा था, किंतु ऐसा क्या हो गया है कि युधिष्ठिर भी सेना-सहित आया है ?···युधिष्ठिर की ओर से तो कभी भी झगड़े का प्रयत्न नहीं हुआ···

भीष्म रथारूढ़ हुए, "चलो !"

"किधर चलना है आर्य ?"

"अपने भवन की ओर !" भीष्म का स्वर कुछ थका हुआ था, "सभा में जाने से पहले थोड़ा विश्राम करूँगा ।"

पांडवों के रथ हस्तिनापुर के मार्गों और वीथियों से होते हुए राजभवन की ओर बढ़ रहे थे । सारा नगर ही उनकी एक झलक देखने के लिए उमड़ आया था । पांडव, वैसे भी नागरिकों के प्रिय थे, और आज तो वे यम के देश से लौटकर आये थे । केवल स्वयं ही नहीं आये थे, पंचालराज की कन्या को जय करके लाये थे । न्यायतः युधिष्ठिर हस्तिनापुर का युवराज था । अब उसका राज्याभिषेक भी हो जाना चाहिए था ।··· और उसके साथ सिंहासन पर बैठेगी, कुरुओं की महारानी द्रौपदी··· द्रौपदी का रूप हस्तिनापुर के लिए विस्मयकारी था ।···

दुर्योधन ने चाहा था कि पांडवों को हस्तिनापुर पहुँचते ही उपेक्षा और ताड़ना मिले, विरोध और अवहेलना मिले; किंतु राजकीय उपेक्षा होते हुए भी नगरजनों ने उनका ऐसा अद्‌भुत स्वागत किया था, जो सारी सत्ता के होते हुए भी दुर्योधन का कभी नहीं किया था । नगरवासियों की सुख-सुविधा का कितना भी ध्यान क्यों न रखा जाये, ये किसी के नहीं होते ।···दुर्योधन का वश चलता तो नगर के एक-एक व्यक्ति को यातना दे-देकर मार डारता···

"तुम चिंता मत करो मित्र !" कर्ण ने उसे सांत्वना दी, "नगरवासी तो उत्सव और कौतुक-प्रिय होते ही हैं । पांडव बहुत दिनों के पश्चात् नगर में आये हैं । लोग अपनी उत्सुकता शांत कर लें । आवश्यक तो नहीं कि यह उनका पांडवों के प्रति प्रेम ही हो !"

"ये लोग जब तक नगर में रहेंगे, मेरा एक क्षण भी शांति से व्यतीत नहीं होगा ।" दुर्योधन ने झल्लाकर कहा, "और तो और, मेरी अपनी पत्नी, वह मूर्खा भानुमति, नगर-द्वार पर द्रौपदी के स्वागत के लिए जाना चाहती थी ।···"

"द्रौपदी !" कर्ण के जबड़े भिंच गये ।

"वहाँ तो मैंने जाने नहीं दिया । अब हठ किये पड़ी है कि द्रौपदी जब माता गांधारी से मिलने आयेगी, तो वह वहाँ अवश्य जायेगी ।···"

"क्यों मिलना चाहती है वह द्रौपदी से ?"

"जाने क्यों मिलना चाहती है !" दुर्योधन ने क्रोध से मुट्ठियाँ भींच लीं, "मूर्खा तो वह है ही, चरम सीमा की हठवादिनी भी है । कहती तो यही है कि लोकाचार का निर्वाह तो करना ही पड़ेगा ।··· किंतु मैं जानता हूँ कि वास्तविकता क्या है ।···"

"क्या है वास्तिकता ?" अपनी अन्यमनस्कता के बीच कर्ण ने पूछा ।

"वह देखना चाहती है कि वह कैसी स्त्री है, जिसको प्राप्त करने के लिए पांचालों से अपनी शत्रुता भुलाकर मैं अपमानित होने के लिए कांपिल्य गया था···और···" दुर्योधन के मुख में क्रोध

के मारे झाग जम रही थी।

कर्ण ने सिर उठाकर उसकी ओर देखा।

"और शायद वह पांडवों के भी दर्शन करना चाहती है···" दुर्योधन का चेहरा काला और विकृत हो आया था, "देखना चाहती है कि उस सव्यसाची का रुप कैसा है, जिसने कांपिल्य में हम सव किरोटों को धूल चटायी थी।···मूर्खा···! "

"और महाराज ने क्या सोचा है ?" कर्ण ने धीरे से पूछा।

"पिताजी !" दुर्योधन का रोष कम नहीं हो पा रहा था, "वे तो मेरी समझ से बाहर हैं। इस समय उन्होंने बस एक ही रट लगा रखी है—पांडव मेरे भाई के पुत्र हैं। वे मुझे अपने पुत्रों के समान प्रिय हैं। इसलिए राजप्रासाद में उनका पूरा स्वागत-सत्कार होगा। कुरुकुल की वधू पांचाली कृष्णा को उपहार भी दिये जायेंगे। जाने वे क्यों मेरे इतने शत्रु हो रहे हैं।···"

"क्या सचमुच महाराज के मन में अपने भ्रातुष्पुत्रों के लिए प्रेम जागा है ?" कर्ण प्रसन्न नहीं था।

"कह नहीं सकता !" दुर्योधन बोला, "अपने पाखंड तो कदाचित् वे स्वयं भी समझ नहीं पाते। एक ओर तो पांडवों को वारणावत भेज दिया, दूसरी ओर युधिष्ठिर को युवराज बनाने की तत्परता भी दिखायेंगे। विदुर को दुत्कार भी देंगे और फिर उसे वक्ष से भी लगा लेंगे। पितामह की एक भी इच्छा पूरी नहीं होने देंगे; और दूसरी ओर कोई भी निर्णय करने से पहले, उनकी अनुमति भी अवश्य चाहेंगे !"

भीष्म राजसभा की ओर चले तो उन्हें लगा कि हस्तिनापुर अपनी सामान्य गति से नहीं चल रहा है। दैनिक गतिविधियाँ भी सामान्य रूप से चल ही रही थीं; किंतु नगर-जीवन की गति में जो उत्तेजना थी, उसका अनुभव भीष्म को है रहा था।···नगर में सैनिक गतिविधियाँ सामान्य से कहीं अधिक दिखायी दे रही थीं···युद्ध के लिए सन्नद्ध होकर सैनिक बड़ी संख्या में नगर-द्वारों की ओर जा रहे थे। सामान्यतः जहाँ प्रहरी नहीं होते थे, आज वहाँ भी सैनिक खड़े थे। जाने क्या हो गया था ! ये ही सैनिक मांगलिक वेश में होते, तो भीष्म समझते, कदाचित् वे, अपने नगर में लौटकर आये पांडवों के स्वागत को समारोहपूर्ण बनाने के लिए हैं।···किंतु सैनिक तो युद्ध-वेश में थे।···और पांडवों के साथ भी तो कितनी सेना आयी है···कहीं···भीष्म का मन उत्तेजना में जैसे स्तब्ध रह गया। कहीं ये लोग युद्ध की तैयारी तो नहीं कर रहे ?···बहुत संभव है कि दुर्योधन की ओर से इस प्रकार का कोई प्रयत्न हो। वह कह सकता है कि पांडव भी तो अपने साथ सेना लाये हैं।···किंतु भीष्म पूर्ण विश्वास के साथ कह सकते हैं कि युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र के निमंत्रण पर हस्तिनापुर आया है, वह युद्ध की इच्छा लेकर नहीं आया है। उन्हें किससे युद्ध करना है ! यह तो दुर्योधन का ही मित्र है—कर्ण; जो कह रहा था कि पांडवों पर आक्रमण कर, उन्हें नष्ट कर देना चाहिए। उस मूर्ख को सिवाय विध्वंस के और कुछ सूझता ही नहीं है। लगता है, अपनी वीरता प्रदर्शित करने के लिए, उसे कोई अवसर नहीं मिल रहा है; इसलिए उसकी निरंतर यह इच्छा रहती है कि कहीं-न-कहीं, कोई-न-कोई युद्ध होता रहे। इतना ही वीर था तो कांपिल्य में ब्राह्मण वेशधारी अर्जुन और भीम से पराजित क्यों हो गया ?···

···और सहसा भीष्म का ध्यान दूसरी ओर मुड़ गया : वारणावत के अग्निकांड के पश्चात् पांडव

हस्तिनापुर क्यों नहीं आये ? वे ब्राह्मणों के वेश में देश- विदेश क्यों घूमते रहे ? उन्होंने स्वयं को इस प्रकार छिपाये क्यों रखा ? और अब आये हैं तो साथ में सेना···क्या सचमुच उनकी धारणा है कि हस्तिनापुर में वे सुरक्षित नहीं हैं ? क्या वे हस्तिनापुर से भयभीत हैं ? किंतु क्यों ?···क्या वे कर्ण के विचारों से अवगत हैं ? क्या उन विचारों से वे गंभीरतापूर्वक आशंकित हैं ? क्या वे समझते हैं कि हस्तिनापुर की राजसभा इस प्रकार के अनर्गल प्रलापों को गंभीर प्रस्तावों के रूप में स्वीकार करेगी ? उन्हें समझाना होगा !···और इस कर्ण को भी ठीक करना होगा, यह तो सारी राजसभा को विषाक्त कर रहा है··

भीष्म पहुँचे तो उन्हें लगा कि सब लोग उनकी प्रतीक्षा ही कर रहे हैं। पारिवारिक सत्कार के पश्चात्, धृतराष्ट्र ने पांडवों को सभा- भवन में ही बुला लिया था। पूरी राजसभा को तो आमंत्रित नहीं किया गया था; किंतु सारे आत्मीयजन और सारे महत्वपूर्ण लोग, वहाँ उपस्थित थे। वस्तुतः यह पारिवारिक सभा ही थी। पांडवों के लौट आने से स्थिति बदल गयी थी·· वस्तुतः स्थिति में परिवर्तन तो आया था, वारणावत के अग्निकांड से पश्चात् पांडवों के अन्यत्र चले जाने से। यदि अग्निकांड के पश्चात् वे सीधे हस्तिनापुर चले आये होते, तो न उन्हें मृत माना गया होता और न दुर्योधन को युवराज बनाया गया होता। सारी अड़चन तो दुर्योधन के युवराज्याभिषेक से ही उत्पन्न हुई थी। अब वह अपना पद छोड़ना नहीं चाहता था·· और दो- दो युवराज तो हो ही नहीं सकते थे··

"युधिष्ठिर ! पुत्र, तुम लोग वारणावत के अग्निदाह के पश्चात् हस्तिनापुर क्यों नहीं आए ? अन्यत्र क्यों चले गये ?-" सब के बैठ जाने पर भीष्म ने पूछा।

युधिष्ठिर कुछ कहने को हुआ; किंतु जैसे सहज संकोच ने उसे जकड़ लिया और उसका मुख खुलने के स्थान पर, उसकी चिंतनलीन आँखें कुछ अधिक खुल गयीं। वह एक- एक कर अपने भाइयों को देख रहा था; और फिर उसकी दृष्टि कुछ क्षणों के लिए विदुर पर भी टिकी। भीष्म को लगा, भीम कुछ अधिक व्यग्र हो उठा था। कदाचित् वह चाहता था कि युधिष्ठिर इस प्रश्न का उत्तर दे; नहीं तो·· उसके अपने अधर भी कुछ बोलने के लिए फड़फड़ा रहे थे··

किंतु उन दोनों से पहले दुर्योधन बोला, "पहले इनसे यह पूछिए कि ये हमारे शत्रुओं की सेनाएँ लेकर, हमारे राज्य में क्यों घुस आये हैं ? क्या ये लोग समझ पा रहे हैं कि इन लोगों ने क्या किया है ?"

"दुर्योधन !" धृतराष्ट्र बोला, "तुम थोड़ी देर शांत रहो !"

"मैं अब और शांत नहीं रह सकता पिताजी !" दुर्योधन उत्तेजित स्वर में बोला, "यह तनिक भी मैत्रीपूर्ण कृत्य नहीं है। इन्होंने तो एक प्रकार से हमारे आधे साम्राज्य पर आधिपत्य ही स्थापित कर लिया है। पिताजी ने इन्हें, अपने संबंध को देखते हुए, हस्तिनापुर आने का निमंत्रण दिया था; और ये हमारे शत्रु पांचालों की सेना लेकर हमारे राज्य में घुस आये। आमंत्रित अतिथियों को सैन्यबल से राज्य के बाहर रोकने की कोई परंपरा कौरव- वंश में होती, तो मैं अवश्य इन्हें सीमाओं के बाहर ही रोक देता !"

"पितृव्य !" युधिष्ठिर अत्यंत नम्र स्वर में बोला, "दुर्योधन भयभीत है कि हम उसके राज्य पर आधिपत्य जमाने के लिए सैन्य- बल लेकर आये हैं। यह उसका भ्रम है। हम उसके राज्य में नहीं, अपने राज्य में आये हैं। और हमारे साथ सैन्यबल नहीं, यात्रा की सुविधा के लिए, हमारे मित्रों के कुछ गुल्म और पांचालराज द्रुपद द्वारा दिये गये यौतुक का सामान है।

जाने यह किस सैन्य- बल की बात कर रहा है।"

"इस पाखंड को छोड़ो युधिष्ठिर !" दुर्योधन पुनः उसी प्रकार उत्तेजित स्वर में बोला, "तुम सैन्यबल के विना हमारे राज्य में प्रवेश करने का साहस भी नहीं कर सकते; और सेना होने पर भी आमने- सामने युद्ध करने से तुम भयभीत थे। तभी तो पिताजी के निमंत्रण की ओट में हमारे शत्रुओं की इतनी बड़ी सेना लेकर हमारे राज्य में घुस आये हो !"

और विना किसी भूमिका के भीम उठकर खड़ा हो गया, "यह राज्य तुम्हारा कैसे हो गया दुर्योधन ! स्वर्गीय सम्राट् पांडु का राज्य उनके पुत्रों का है।…"

"स्वर्गीय सम्राट् शापग्रस्त थे।" दुर्योधन उतनी ही उत्तेजना के साथ वोला, "उनकी कोई संतान नहीं है। कुंती के पुत्रों का हस्तिनापुर पर कोई अधिकार नहीं है।"

"मौन हो जाओ !" भीष्म स्वयं को रोक नहीं पाये, "राज्य का विचार तो बाद में होगा। दुर्योधन ! तुम वंश का विचार कर रहे हो तो सावधान होकर सुनो ! यदि कुंती के पुत्रों को तुम स्वर्गीय सम्राट् पांडु के पुत्र स्वीकार नहीं करोगे, तो तुम्हारे पिता धृतराष्ट्र को भी स्वर्गीय सम्राट् विचित्रवीर्य की संतान स्वीकार नहीं किया जायेगा। यदि धृतराष्ट्र इस सिंहासन पर बैठने का अधिकारी है, तो युधिष्ठिर के अधिकार को कोई चुनौती नहीं दे सकता।…थोड़ा- सा विवाद इस विषय में हो सकता है कि भ्रमवश पांडवों को दिवंगत मान लेने के कारण तुम्हें युवराज मान लिया गया तो अव तुम्हारी क्षतिपूर्ति कैसे हो। यह हमारा साधारण- सा पारिवारिक विवाद है।…"

"पारिवारिक विवाद को सुलझाने के लिए युधिष्ठिर शत्रुओं की सेना लेकर क्यों आया है?" दुर्योधन उसी प्रकार उद्दंडतापूर्वक बोला, "यदि मैंने सावधान होकर अपना सैन्यवल प्रेरित न किया होता, तो उसकी सेनाओं ने इस समय हमारी राजसभा को भी घेर लिया होता।"

"उनमें कौन शत्रु है हमारा !" भीष्म के कुछ कहने से पहले ही धृतराष्ट्र बोला, "यादव हमारे शत्रु नहीं हैं। वे हमारे मित्र हैं। कृष्ण भी हमारे अपने परिवार का सदस्य- जैसा है; और पांचाल पहले चाहे हमारे शत्रु रहे हों, अव वे हमारे वैसे ही संबंधी हैं, जैसे कि यादव हैं। जो संबंध कुंती के कारण यादवों का है, वही द्रौपदी के कारण पांचालों का है।"

"वे तुम्हारे शत्रु नहीं हैं दुर्योधन !" भीष्म बोले, "तुम उनके शत्रु हो रहे हो।"

"वे शत्रु नहीं हैं तो मित्रों को क्या आवश्यकता है कि इतनी बड़ी संख्या में सेना लेकर हमारे राज्य में घुस आयें ?" दुर्योधन ने प्रतिकार किया।

"यह राज्य तुम्हारा कब से हो गया ?" भीम की आँखों में चुनौती से कहीं अधिक क्रोध था।

"आरंभ से ही कौरव साम्राज्य मेरा है।" दुर्योधन बोला।

"यह राज्य तुम्हारा नहीं है। तुम भी जानते हो कि हमारे जीवित रहते यह तुम्हारा नहीं हो सकता। यदि आरंभ से ही यह राज्य तुम्हारा था तो मुझे विष देने की क्या आवश्यकता थी ? वारणावत में जलाकर हमारी हत्या के षड्यंत्र की क्या सार्थकता थी ?…"

"क्या ?" भीष्म अपनी उत्तेजना सँभाल नहीं पाये। वे अपने स्थान पर उठकर खड़े हो गये, "भीम ! वत्स, क्या कहा तुमने ? तुम्हें विष दिया गया और वारणावत में तुम सबको जलाकर भस्म करने का षड्यंत्र किया गया ?"

"हाँ पितामह !" भीम वोला, "ज्येष्ठ आपको यह कभी नहीं वतायेंगे, इसलिए मुझे वोलना पड़ा है। प्रमाणकोटि में दुर्योधन ने मुझे विषाक्त भोजन खिलाकर, अचेतावस्था में बाँधकर

गंगा में वहा दिया था। आपको याद होगा पितामह ! मैं कई दिनों के पश्चात् घर लौटा था और आपने यह मानकर कि मैं उद्दंड हो गया हूँ—मेरी ताड़ना की थी···।"

भीष्म वह घटना कैसे भूल सकते थे !

"और हम सब इतने भयभीत थे कि आपको यह भी नहीं वता सकते थे कि वास्तविकता क्या है !" भीम बोला, "और अब वारणावत में मुझे ही नहीं, माता सहित हम पाँचों भाइयों को समाप्त कर देने के विचार से दुर्योधन ने जतुगृह बनाया पितामह ! वह तो हमें समय रहते ज्ञात हो गया कि वह गृह लाक्षा तथा अन्य प्रज्वलनशील पदार्थों का बना हुआ है और पुरोचन उसका दाह करने के अवसर की प्रतीक्षा में है, तो हम बच गये; अन्यथा हमारी हत्या होती और सब यही मानते कि हम आकस्मिक अग्निकांड में भस्म हो गये···।"

भीष्म को लगा कि सारा ब्रह्मांड घूम रहा है।···उनकी नाक के नीचे, हस्तिनापुर में अपने ही भाइयों की हत्याओं का षड्यंत्र रचता रहा दुर्योधन; और उन्हें कुछ ज्ञात ही नहीं हुआ ! वे समझते रहे कि परिवार में साधारण मतभेद तो हैं; किंतु कोई वैमनस्य नहीं है। वे परिवार को जोड़कर एक साथ बनाये रखने और परस्पर सौहार्द बढ़ाने का प्रयत्न करते रहे; और यहाँ हत्याओं के षड्यंत्र होते रहे और हत्यारे पनपते रहे··· भीष्म ने तो कभी सोचा ही नहीं था कि राज्य जैसी नगण्य-सी वस्तु के लिए कोई अपने ही भाइयों की हत्या कर सकता है।···

···कुंती ने कितने दीन भाव से कहा था, 'पितृव्य ! हमें वारणावत मत भेजिए ! हमें इस प्रकार अपने घर से निर्वासित मत कीजिए।···और भीष्म इस बात पर अड़े रहे कि यदि साथ रहकर धार्तराष्ट्रों और पांडवों में वैमनस्य बढ़ता है, तो उन्हें कुछ समय के लिए पृथक् हो ही जाना चाहिए।··· वे क्या जानते थे कि वे वैमनस्य दूर कर सौहार्द बढ़ाने के प्रयत्न में पांडवों को मृत्यु के मुख में धकेल रहे हैं···

क्या अधिकार है भीष्म को इस परिवार का कर्ता कहलाने का ? क्या अधिकार है उन्हें कुल के संरक्षक होने का दंभ करने का ? उन्होंने शांति की खोज में सदा अन्यायी दुर्योधन का पक्ष लिया, पांडवों का दमन किया···और अंततः उन्हें यम-प्रदेश की ओर धकेल दिया। केवल इसलिए कि वे अपनी शालीनता में बँधे, परिवार का क्लेश नहीं बढ़ाना चाहते थे; अपने पितामह का सम्मान करते थे और किसी प्रकार की उद्दंडता नहीं करना चाहते थे !···धिक्कार है भीष्म ! तुम्हें धिक्कार है !···तुमने भी उन्हें ही पीड़ित किया, जो पहले से ही वंचित थे। तुम दुर्योधन के अपराधों में सहयोग करते रहे, अपने ही पौत्रों की हत्या के षड्यंत्र में भागी बनते रहे···

उन्हें लगा कि उनको अपने उन समस्त प्रश्नों के उत्तर मिल गये हैं, जिन्हें वे पांडवों से पूछना चाहते थे। क्यों पांडव वारणावत से हस्तिनापुर नहीं आये ? क्यों पांडव अज्ञातवास करते रहे ? ? क्यों पांडव कांपिल्य में छद्मवेश में प्रकट हुए ???··· किंतु एक प्रश्न अब भी उनके मन में था, पांडवों को कैसे ज्ञात हुआ कि वह जतुगृह है ? उन्हें इस षड्यंत्र का आभास कैसे हुआ ? यह उनकी अपनी सावधानी थी या किसी ने उनको सूचना दी थी ? कौन है हस्तिनापुर में उनका सहायक ?··· किंतु यह प्रश्न कैसे पूछा जा सकता था !

भीष्म बहिर्मुखी हुए।

"तुम्हारे पास क्या प्रमाण है कि मैंने तुम्हारी हत्या का षड्यंत्र रचा था ?" दुर्योधन निर्लज्ज भाव से पूछ रहा था, "कौन साक्षी है इसका ?"

युधिष्ठिर ने अपनी दृष्टि झुका ली। भीम की आँखें क्रोध में एक बार उठीं। लगा कि

अब वह किसी का नाम उगल देगा या कोई प्रमाण...किंतु जैसे वह सँभल गया, "साक्षी तो एक ही था—पुरोचन ! परंतु वह तुम्हारे जतुगृह के साथ ही भस्म हो गया !...किंतु प्रमाण के रूप में तुम्हारे जतुगृह की भस्म आज भी वारणावत में पड़ी है; और कोई भी व्यक्ति देख सकता है कि उस भवन के निर्माण में किस सामग्री का प्रयोग हुआ है। उस सामग्री से ही भवन-निर्माता का लक्ष्य भी पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। अब तुम इस तथ्य को तो अस्वीकार नहीं करोगे कि उस भवन का निर्माण तुम्हारी ही आज्ञा से तुम्हारे ही परम विश्वस्त अनुचर पुरोचन की देख-रेख में हुआ था...!"

भीष्म को अब किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं थी।... दुर्योधन ने तो पांडवों की हत्या कर ही डाली थी... आज यदि वे जीवित हैं तो अपने भाग्य के कारण...अथवा अपने पुरुषार्थ से...

भीष्म उठकर खड़े हो गये, "धृतराष्ट्र ! तुम्हारा पुत्र इस योग्य नहीं है कि वह अपने भाइयों के साथ रह सके। तुम समझ रहे हो न, कि अब हस्तिनापुर में सहवास असंभव है। इससे पहले कि यहाँ फिर कोई हत्या-कांड हो जाये; राज्य का विभाजन कर दुर्योधन को पृथक् कर दो। कौरव-वंश संयुक्त न रहे, किंतु सुरक्षित तो रहे।" भीष्म का आवेश बढ़ता ही जा रहा था, "आचार्य द्रोण का ही समाधान ठीक था कि राज्या का विभाजन कर दिया जाये। मैं ही मूर्ख हूँ, जो कुरुवंश और कुरु-राज्य की एकता और अखंडता को आदर्श और स्वप्नों को वक्ष से लगाये बैठा हूँ। किंतु तुम्हारे इस पुत्र के होते हुए यह संभव नहीं है। यह राज्य युधिष्ठिर का है। अपने लिए कुछ लिये बिना दुर्योधन यह राज्य उसे देगा नहीं। तो कर दो इसके खंड-खंड। भाइयों को चीरने से तो अच्छा है कि राज्य को ही चीर दिया जाये...।"

भीष्म ने मौन होकर एक बार उपस्थित लोगों को देखा और सिर झुकाकर सभा से बाहर चले आये।... रथ में बैठकर बोले, "सारथि ! चलो ! गंगा-तट पर ले चलो।"

उनके मन में जैसे अनेक बवंडर एक साथ उठ खड़े हुए थे : क्या करना है उन्हें इस राज्य का ? क्यों वे इसकी सुरक्षा, एकता और अखंडता के लिए इतने चिंतित और व्याकुल हो रहे हैं ?...किंतु उनका मन जैसे इस प्रकार की आपत्तियों को सुनता ही नहीं था।... वहाँ तो केवल एक ही विचार भयंकर काले मेघों के समान घुमड़ रहा था...उन्होंने आज कुरुओं के शताब्दियों से चले आ रहे अखंड राज्य को दो खंडों में बाँट दिया था।... इस विभाजन से उत्पन्न विष की मात्रा का अनुमान उन्हें था। इसके प्रभावों और परिणामों की भी वे कल्पना कर सकते थे। उन्होंने एक परिवार को दो स्थायी शत्रुओं में परिणत हो जाने की अनुमति दे दी थी। अब वे दो शत्रु राज्य होंगे। राजाओं की शत्रुता के कारण एक राज्य की प्रजा को मानना पड़ेगा कि दूसरे राज्य की प्रजा उसकी शत्रु है।...

भीष्म गंगा-तट पर आये। पहले थोड़ी देर तक खड़े गंगा के मुक्तप्रवाह को देखते रहे, जैसे कोई बालक, माँ से कुछ कहने से पहले देखना चाहता है कि माता किस मनःस्थिति में है। वे धीरे-धीरे धारा के निकट आये और अपने पाँव जल में डालकर बैठ गये।

भीष्म को लगा, गंगा के शीतल जल ने उनके पैरों से आरंभ कर, उनके सारे शरीर में शीतलता का संचार कर दिया है। उनका मन दुखी तो अब भी था; किंतु उसकी उद्विग्नता कम हो गयी थी। गंगा का यह प्रभाव उनके लिए नया नहीं था। गंगा के निकट आते ही, उनकी

अवस्था वही हो जाती थी, जो माँ की गोद में आ जाने पर बच्चे की होती है।...अब वे कम-से-कम, शांत मन से सोच तो सकते थे...

"माँ !" उनके मन ने जैसे गंगा से कहा, "मैं न्याय नहीं करवा सका। मैं साम्राज्य की अखंडता की रक्षा भी नहीं कर सका माँ !...किंतु यदि मैं इस विभाजन को स्वीकार न करूँ, तो बहुत संभव है कि धार्तराष्ट्रों और पांडवों की सेनाएँ कदाचित् आज ही युद्ध आरंभ कर दें। कुरु-वंश का सर्वथा नाश हो जायेगा। भाइयों-भाइयों में यह युद्ध, यह रक्तपात... मैं सहन नहीं कर पाऊँगा माँ !"

"जो समाधान स्वीकार कर लिया, वह कर लिया।" जैसे गंगा ने उनके मन में उत्तर दिया, "अब चिंता किस बात की है भीष्म ?"

"चिंता !" भीष्म के मन ने उत्तर दिया, "एकता पराजित हो गयी है माँ ! विभाजन विजयी हुआ। स्नेह दमित हुआ और द्वेष का आधिपत्य हुआ। मैं प्रयत्न करता रहा कि इनके हृदय उदार हों और वे पहले से भी अधिक संकीर्ण हो गये।"

कुछ देर भीष्म के मन में सन्नाटा रहा; फिर एक निर्णायक स्वर उठा, "तुमने पदार्थ तो त्याग दिये भीष्म ! किंतु आसक्ति नहीं त्याग पाये।"

"हाँ माँ ! आसक्ति कहाँ त्याग पा रहा हूँ; कुरु-वंश का मोह नहीं त्यागा जाता मुझसे। पांडव तो पांडव ही हैं; मुझसे तो उस दुष्ट दुर्योधन के प्रति भी अपना मोह नहीं त्यागा जाता।"

"तू ठीक कह रहा है पुत्र !" जैसे माँ ने कहा, "तू परिवार और राज्य के मोह के आल-जाल में कुछ ऐसा फँस गया है कि सत्य भी तो तेरी पकड़ से फिसलता जा रहा है।"

"नहीं माँ ! नहीं !" भीष्म तड़प उठे, "सत्य का मोह कहाँ छोड़ा है मैंने ?"

"सत्य का आग्रही संधियाँ नहीं करता।" माता ने कहा, "बता, क्या तेरे मन ने सदा ही यह नहीं सोचा कि दुर्योधन नहीं मानता, तो युधिष्ठिर ही मान ले ? तुझे शांति बहुत प्रिय हो गयी है पुत्र ! किंतु स्मरण रख, सत्य सदा शांति में ही नहीं होता। कभी-कभी सत्य, युद्ध के पक्ष में खड़ा हो जाता है। सच बता, तेरे मन में पांडवों के प्रति रोष नहीं जागा कि वे अपने साथ पांचालों और यादवों की सेनाएँ क्यों लाये ?"

"जागा था माँ !" भीष्म के मन ने कहा।

"और यह भी बता, यदि पांडवों के पक्ष में ये सेनाएँ खड़ी न होतीं, तो दुर्योधन उन्हें राज्य दे देता ?"

"नहीं ! शायद नहीं माँ !"

"वह विभाजन स्वीकार कर लेता ?"

भीष्म का मन स्तब्ध खड़ा रह गया; किंतु कुछ ही देर में उसने स्वीकार कर लिया, "शायद नहीं !"

"तो पांडवों ने सेना लाकर क्या अनुचित किया ? उनके पक्ष में खड़ी सेनाएँ न्याय के पक्ष में खड़ी हैं। तू उनकी सहायता तो कर नहीं पाता, उल्टे उनके प्रति मन में रोष पालता है। तेरे प्रति उनके मन में जो आदर-सम्मान और स्नेह है, उसका अनुचित लाभ उठाकर उन्हीं को दबाता है ?"

भीष्म का मन मौन हो गया; किंतु उसने अपनी पूर्ण पराजय स्वीकार नहीं की। वह जैसे भीतर-ही-भीतर सुलगता रहा; और फिर अकस्मात् ही फट पड़ा, "इन परिस्थितियों में कुरु-वंश

के हित में मैं और कर ही क्या सकता था ! न्याय कुछ थोड़ा-बहुत आहत हुआ हो तो हुआ हो; किंतु वंश बच गया ।···" कुछ रुककर भीष्म पुनः बोले, "और पांडवों की सुरक्षा के लिए भी कदाचित् यही एक मार्ग था माँ ! मुझे लगता है कि पांडवों को दुर्योधन से दूर ही रहना चाहिए । दुर्योधन का कोई पता नहीं, वह कब घात लगाकर वार करे । युधिष्ठिर हस्तिनापुर का राजा बनकर भी कदाचित् दुर्योधन के षड्यंत्रों से अपनी रक्षा न कर पाता । वह अपनी सरलता में ही मारा जाता । अच्छा है कि वे लोग दूर-दूर ही रहें···।"

इस बार भीष्म के मन में गंगा का कोई स्वर, कोई रूप नहीं उभरा, और वे बड़ी देर तक बैठे सोचते रहे, "माँ संतुष्ट हो गयीं क्या ?"

वे भली प्रकार जानते थे कि उनके मन का तर्क-वितर्क, उनका यह वाद-विवाद, गंगा के साथ नहीं था । उनका अपना मन ही जैसे अपने विरुद्ध तर्क-वितर्क करता था; या फिर उनका विवेक उनकी भावनाओं और कृत्यों पर टिप्पणी करता था ।···पर उन्हें यह स्वीकार करना अच्छा लगता था कि माता गंगा उनके मन में बैठी उनके साथ तर्क-वितर्क कर रही हैं ।··· वे हो भी तो कितने अकेले गये थे ! इतने बड़े परिवार में, कोई ऐसा नहीं था, जिससे तर्क-वितर्क कर सकते, जिसके सम्मुख अपने मन की व्यथा रख सकते थे —सारे का सारा··

इस समय माता कुछ बोल नहीं रही थीं, तो क्या इन सारे तर्क-वितर्कों से उनकी अंतरात्मा संतुष्ट हो चुकी थी ? उनका विवेक इसके औचित्य को स्वीकार कर चुका था·· या ··· या उनसे पूर्णतः निराश हो चुका था ?

पर वे भी क्या करें ? वे तो अपने धर्म का पूर्ण निर्वाह करना चाहते हैं, किंतु व्यक्ति-धर्म शायद पूर्ण और निरपेक्ष धर्म नहीं होता ।··· पूर्ण और निरपेक्ष धर्म का निर्वाह कदाचित् संन्यासी ही कर सकता हो । घर-परिवार और समाज में रहकर क्या पूर्ण और निरपेक्ष धर्म का निर्वाह हो सकता है ?···शायद नहीं । अपने राग-द्वेष नहीं छोड़े जाते·· हित और अहित की ओर से आँखें बंद नहीं की जातीं ।··· वासुदेव कृष्ण शायद इसीलिए कहता था कि व्यक्ति को पूर्णतः अनासक्त होना चाहिए । उसका चिंतन और जीवन, मात्र सत्य में, न्याय में स्थित होना चाहिए ।··· भीष्म के मन में कृष्ण के प्रति श्रद्धा जागी ।···उसमें सचमुच आसक्ति नहीं है । पिछली बार जब वह हस्तिनापुर आया था, तो उसने ठीक ही कहा था कि धृतराष्ट्र जैसे दृष्टिहीन, बुद्धिशून्य लोग अपने भंडार में पड़े ईंधन-रूपी काष्ठ के लट्ठे से ही प्रेम कर सकते हैं, उद्यान में हँसते-मुस्कराते आम्र-वृक्ष से नहीं ।··· ये मूर्ख पिता-पुत्र, पांडवों को आम्र-वृक्ष बने रहने देना नहीं चाहते, ये उन्हें ईंधन ही बना देना चाहते हैं ।···कहीं मेरे स्थान पर कृष्ण होता, तो क्या वह मानता कि इस समय न्याय, शांति के पक्ष में नहीं, युद्ध के पक्ष में खड़ा है ? क्या वह निर्विकार द्रष्टा के समान अपने वंश को कटकर मर जाने देता ? कृष्ण, आज भी हस्तिनापुर में है··· उससे पूछा जाना चाहिए··

भीष्म लौटकर अपने भवन में आये, तो विदुर उनकी प्रतीक्षा कर रहा था ।

"आप कहाँ चले गये थे पितृव्य ?"

"कहीं नहीं । यहीं गंगा-तट पर अपने मन की शांति ढूँढ़ने गया था ।" भीष्म बोले, "राजसभा में क्या हुआ ?"

"विभाजन !"

"कैसा विभाजन ?" भीष्म से पूछे बिना नहीं रहा गया।

"महाराज धृतराष्ट्र ने पांडवों को हस्तिनापुर छोड़कर यमुना के उस पार चले जाने का आदेश दिया है। उन्हें खांडवप्रस्थ का राज्य दिया गया है।"

भीष्म ने चौंककर विदुर की ओर देखा, "यह विभाजन हुआ है ? धृतराष्ट्र ने पांडवों को राज्य दिया है या मृत्यु-दंड ? यमुना के पार ! यम की भगिनी यमुना। जहाँ धृतराष्ट्र के अपने योद्धा पग नहीं धरते; उसकी अपनी सेनाएँ अस्थायी रूप से जाते हुए भी डरती हैं—वह खांडवप्रस्थ उसने पांडवों को स्थायी निवास के लिए दिया है ? प्रजा के रूप में क्या दिया है—वन के भयंकर वृक्ष, हिंस्र जीव-जंतु, गुप्त हत्याओं के षड्यंत्रों में लगे अनेक जातियों के उपद्रवी; दस्युओं, राक्षसों और दैत्यों का सम्मिलित और स्थायी त्रास और आतंक !" सहसा भीष्म रुके, "क्या युधिष्ठिर ने इसे स्वीकार कर लिया ?"

"हाँ, पितृव्य !"

"उसके भाइयों ने उसे नहीं रोका ?"

"यह संधि महाराज धृतराष्ट्र और युवराज युधिष्ठिर के मध्य, एकांत में हुई है पितृव्य !"

"उसे कृष्ण ने भी नहीं रोका ?"

"कृष्ण वहाँ नहीं था," विदुर ने कहा, "पर सुना है कि बाद में कृष्ण ने हँसकर कहा है, 'अच्छा ही है ! तुम भी एक नयी द्वारका का निर्माण कर पाओगे।'

"यह न्याय नहीं हुआ विदुर !" भीष्म बोले, "इस बार धृतराष्ट्र ने उन्हें वारणावत से भी भयंकर स्थान पर भेजा है।"

"जानता हूँ पितृव्य ! किंतु युधिष्ठिर अपने राज्य अथवा राज्याधिकार के लिए धृतराष्ट्र तथा उसके पुत्रों के साथ संघर्ष नहीं करना चाहता।" विदुर बोला, "वह इतने से ही संतुष्ट है। वह कहता है, उसके लिए इतना ही पर्याप्त है। उसका वास्तविक साम्राज्य तो उसके भाई हैं।"

भीष्म के मन में युधिष्ठिर के लिए स्नेह के साथ-साथ सम्मान जागा : यह लड़का वस्तुतः कुरुकुल को सर्वनाश से बचा रहा है। भीष्म ने तो राज्य त्यागा था, क्योंकि वे स्वयं को बंधन-मुक्त करना चाहते थे ; किंतु युधिष्ठिर ? वह किसके लिए राज्य त्याग रहा है ? भीष्म को उनके त्याग के कारण यश और सम्मान मिला था; युधिष्ठिर को तो दसों दिशाओं से बस धिक्कार ही मिलेगा। उसे मूर्ख, कायर और आलसी माना जायेगा...

"वह कुरुकुल और कुरुप्रजा का सच्चा शुभचिंतक है।" भीष्म के मुख से अनायास ही निकला !

"पितृव्य !"... विदुर ने आगे कुछ नहीं कहा।

"क्या बात है विदुर ?" भीष्म कुछ चकित थे; विदुर में इस प्रकार का असमंजस उन्होंने कम ही देखा था।

"पितृव्य ! राजसभा में दुर्योधन ने कहा कि अब जब, साम्राज्य का विभाजन हो चुका है, पांडवों को उनका राज्य दिया जा चुका है, उनके संबंधियों, मित्रों तथा शुभाकांक्षियों के लिए उचित है कि वे हस्तिनापुर छोड़कर पांडवों के साथ, उनके राज्य में चले जायें !"

भीष्म हँसे, "कैकेयी को यदि धृतराष्ट्र की बुद्धि मिली होती तो उसने राम के लिए चौदह वर्षों का वनवास न माँगकर, दशरथ के राज्य का—राम और भरत में विभाजन माँगा होता तथा भरत को अयोध्या तथा राम को दंडकारण्य का राज्य दिया होता, ताकि राम कभी लौटकर

अयोध्या न आते !"

"निश्चित रूप से महाराज धृतराष्ट्र अत्यंत समर्थ कूटनीतिज्ञ सिद्ध हुए हैं।" विदुर बोला, "किंतु पितृव्य ! दुर्योधन की उस माँग के विषय में आपका क्या विचार है ? वह राज्य के साथ प्रजा के विभाजन की भी माँग कर रहा है।"

"उसका संकेत क्या मेरी ओर है ?" भीष्म स्वयं नहीं समझ सके कि वे अपने-आप से पूछ रहे थे अथवा विदुर से !

"उसका संकेत आपकी ओर है या नहीं, मैं नहीं जानता, किंतु मेरी ओर अवश्य है, इसमें कोई संदेह नहीं है।" विदुर ने कहा।

"यह विभाजन नहीं है विदुर !" भीष्म अत्यंत स्पष्ट शब्दों में बोले, "यह निष्कासन है। पांडवों के निष्कासन के साथ प्रजा का निष्कासन नहीं हो सकता।" भीष्म कुछ रुके और शून्य में घूरते रहे। फिर बोले, "यदि यह वस्तुतः विभाजन होता, तो भी मुझे निर्णय में अधिक समय नहीं लगता।"

"क्या निर्णय होता आपका पितृव्य ?"

"मुझे पांडवों से कितना भी स्नेह क्यों न होगा, मैं न हस्तिनापुर छोड़ सकता हूँ, न गंगा माता को। मुझे अपनी जन्मभूमि में, गंगा माता के निकट रहने का पूर्ण अधिकार है।" भीष्म बोले, "और जिस साधनविहीन स्थिति में पांडवों को निष्कासित किया गया है, उसमें उनके साथ कुल-वृद्धों को भेज कर, दुर्योधन उनकी कठिनाइयों में वृद्धि करना चाहता है। मैं यह नहीं होने दूँगा। मेरी मूर्खता थी कि मैं अपने आवेश में राजसभा से उठकर चला आया। मैं वहाँ होता तो यह निष्कासन कदापि न होने देता।...आज एक संकल्प मैं और कर रहा हूँ विदुर !"

"क्या पितृव्य ?"

"आज के पश्चात् राजसभा में कितना भी जघन्य कर्म क्यों न हो रहा हो, कितनी भी घृणित चर्चा क्यों न चल रही हो—भीष्म, सभा में से उठकर नहीं जायेगा। जो कुछ कहना-सुनना होगा, वहीं कहूँगा-सुनूँगा। सह्य-असह्य—सब का साक्षी रहूँगा—ताकि ऐसा अपराध दूसरी बार न हो।" भीष्म बोले, "और विदुर ! तुमको मेरा आदेश है कि तुम हस्तिनापुर छोड़कर नहीं जाओगे। पुत्र ! दुर्योधन की राजसभा में नीति का समर्थक कोई तो होना चाहिए। अब सिंहासन पर चाहे धृतराष्ट्र बैठा रहे; किंतु सारा शासन दुर्योधन की इच्छा से चलेगा; और उसके परामर्शदाता होंगे—शकुनि और कर्ण ! ऐसे में इस सभा में अपने स्वार्थ के लिए जाने कैसे-कैसे मूढ़तापूर्ण षड्यंत्र रचे जायेंगे ! उनके प्रतिरोध-स्वरूप तुमको वहाँ रहना चाहिए पुत्र !"

"महाराज धृतराष्ट्र की भी यही इच्छा है।" विदुर ने कहा।

"मुझे आश्चर्य है।...किंतु धृतराष्ट्र क्यों चाहता है कि तुम उसकी राजसभा में रहो ?"

"यह तो वे ही जानें; किंतु उन्होंने कहा है कि मैं अपने बड़े भाई को इस प्रकार छोड़कर नहीं जा सकता। उनका कहना है कि भाई का अधिकार भ्रातुष्पुत्रों से अधिक होता है। उन्होंने यह भी कहा है कि अपने पुत्रों से अपनी रक्षा के लिए उन्हें मेरी आवश्यकता पड़ेगी।"

"यदि वह अपनी धूर्तता में यह सब कह रहा है, तो भी तुम हस्तिनापुर में रहो पुत्र ! और यदि वह वस्तुतः तुम्हारी सहायता चाहता है, तो उसकी सहायता अवश्य करो। दुर्योधन से न्याय तो शायद ही किसी को दिलवा सको; किंतु बहुत संभव है कि अपने प्रयत्न से तुम अन्याय की तीव्रता कम कर सको।"

भीष्म रुक गये , "पांडव कब जा रहे हैं ?"

"दुर्योधन उन्हें शीघ्रातिशीघ्र भेजने लिए अत्यंत उत्कंठित है। संभवतः वे लोग कल ही प्रस्थान करें।" विदुर उठकर खड़ा हो गया, "मैं चलूँ ! संभवतः जाने से पहले पांडवों को मेरी किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता हो।"

विदुर प्रणाम करके चला गया।

भीष्म अपने पलंग पर लेट गये। बहुत दिनों के पश्चात् उनका बँधा- बँधाया अनुशासित मन कुछ भावुक हो आया था। उनका सारा अतीत जैसे उनकी आँखों के सामने फिर गया था…

"पुत्र युधिष्ठिर ! मैं तुम्हें कभी तुम्हारा अधिकार नहीं दिलवा सका।" वे अपनी कल्पना में खड़े युधिष्ठिर से बोले, "तुम्हें हस्तिनापुर में कभी न्याय नहीं मिला।"

…और सहसा उन्हें लगा, उनका मन सोच- सोचकर अत्यंत भयभीत हो रहा है कि जाने से पहले कुंती और द्रौपदी के साथ पांडव उनसे विदा लेने आयेंगे तो वे उनका सामना कैसे करेंगे !…

□ □

महासमर

खण्ड एक

वन्धन

खण्ड दो

अधिकार

खण्ड तीन

कर्म

खण्ड चार

धर्म

खण्ड पाँच

अन्तराल

खण्ड छः

प्रच्छन्न

खण्ड सात

प्रत्यक्ष

खण्ड आठ

निर्वन्ध

वाणी प्रकाशन

नयी दिल्ली-110002

धर्म

महासमर-4

नरेन्द्र कोहली

ISBN 81-7055-300-8

वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : 1992
द्वितीय संस्करण : 1994
तृतीय संस्करण : 1996
चतुर्थ संस्करण : 1998
पचम संस्करण : 2000

मूल्य : 225.00

© लेखकाधीन

शब्द-संयोजक
विनायक कम्प्यूटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032

मेहरा ऑफसेट प्रेस, नयी दिल्ली-110002
द्वारा मुद्रित

DHARMA
(Mahasamar-4)
by Narendra Kohli

चित्रा और
अवधनारायण मुद्गल के लिए
सस्नेह

धर्म

महासमर-4

1

भीम ने हाथ उठाकर अपने पीछे आने वाले सारे लोगों को रुकने का संकेत किया।

रुकने की आज्ञा प्रचारित होती गई और गज, अश्व तथा रथ रुकते चले गये।

"भैया! खांडवप्रस्थ सामने दिखाई दे रहा है।" भीम अपने हाथी से उतरकर युधिष्ठिर के रथ के पास आ गया, "आपकी आज्ञा हो तो यहीं शिविर स्थापित कर दिया जाए। यहाँ शिविरों तथा रसोई की व्यवस्था हो और हम लोग आस-पास का क्षेत्र देख आएँ।"

"देखने को है ही क्या ?" युधिष्ठिर के कुछ कहने से पहले ही नकुल बोला, "चारों ओर वन-ही-वन हैं। जहाँ वन नहीं हैं, वहाँ पथरीली पहाड़ियाँ हैं, जिन पर तृण भी नहीं उगता।"

"नहीं ! ऐसी बात नहीं होनी चाहिए।" युधिष्ठिर की वाणी आश्वस्त थी, "कौरवों की प्राचीन राजधानी है। पुरुरवा, आयु, नहुष तथा ययाति ने यहीं से शासन किया था। यहाँ हमारा प्राचीन प्रासाद है। उससे लगा खांडवप्रस्थ नगर है, जहाँ हमारी प्रजा निवास करती है।"

"मुझे तो यहाँ कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा।" भीम ने अपनी आँखों पर हथेली की छाया करते हुए दूर तक देखने का अभिनय किया।

"महाराज ! यहाँ शिविर स्थापित करने का तो आदेश दे ही दीजिए।" कृष्ण ने कहा, "आसपास कुछ दर्शनीय है या नहीं, इससे क्या अन्तर पड़ता है।"

"हाँ !" अर्जुन बोला, "प्रासाद है तो ठीक है, नहीं तो हमें बनाना है। नगर है तो उसका पुनरुद्धार करना है, नहीं है तो बसाना है। अब रहना तो यहीं है न। महाराज धृतराष्ट्र ने हमें जो राज्य और राजधानी दी है, उसका हम अपमान तो नहीं कर सकते !"

"अर्जुन ! तुम्हारी वाणी में पितृव्य के प्रति कटुता है···।"

"मेरे मन में तो उनके प्रति घृणा है।" भीम ने युधिष्ठिर की बात काट दी,"मेरी समझ में नहीं आता कि आपके मन में उनके व्यवहार की कोई प्रतिक्रिया होती क्यों नहीं। उन्होंने हमारे विरुद्ध कौन-सा षड्यन्त्र नहीं रचा और तब भी आप चाहते हैं कि अर्जुन की वाणी में पितृव्य के लिए कटुता तक न आए। आप मनुष्य नहीं हैं क्या ?"

"ज्येष्ठ, मनुष्य तो हैं ही मध्यम ! किन्तु धर्मराज भी हैं। वे अकारण ही धर्मराज नहीं कहलाते।" कृष्ण का स्वर इस समय परिहास शून्य ही नहीं पर्याप्त गम्भीर भी था, "उन्होंने अपने 'स्व' को जीत लिया है। जिस मन में सर्वभूताय प्रेमरूपी ईश्वर होना चाहिए, उसमें वे घृणा को स्थान दें···केवल इसलिए, क्योंकि कुरुराज धृतराष्ट्र के मन

में अपने भ्रातुष्पुत्रों के प्रति प्रेम नहीं है। यह तो वैसा ही हुआ कि एक व्यक्ति ने अपने घर में मल भर लिया है और वह मल यदा-कदा दूसरों पर फेंकता रहता है, इसलिए आप भी अपने घर में मल भर लें, ताकि आप भी अपनी सुविधानुसार उस पर मल फेंक सकें।"

"प्रकृति के नियमों के अनुसार स्वाभाविक तो यही है।" भीम ने उत्तर दिया।

"किसी एक का स्वभाव ही तो मानव का धर्म नहीं है। धर्म तो प्रकृति का अतिक्रमण कर आत्मस्थ होकर ही सिद्ध होगा।" कृष्ण ने उत्तर दिया, "साधारण मनुष्य प्रकृति के नियमों का दास होता है मध्यम ! किन्तु असाधारण व्यक्ति का सारा अपक्रम उन नियमों का स्वामी बनने के प्रयत्न में है।" कृष्ण ने रुककर भीम को देखा, "अब तुम महाराज की ओर से शिविर स्थापित करने की घोषणा प्रचारित कर दो और चलो हमारे साथ। मैं तुम्हें तुम्हारा वह प्रासाद और नगर दिखाता हूँ।"

"तुम इस क्षेत्र से परिचित हो माधव ?" अर्जुन ने कुछ आश्चर्य से पूछा।

कृष्ण के चेहरे पर सम्मोहनपूर्ण मुस्कान उभरी, "धनंजय ! यह क्षेत्र चाहे कौरवों के राज्य के अन्तर्गत माना जाता है, किन्तु है यह यमुना के तट पर, गंगा-तट पर नहीं। यमुना हमारी नदी है। मथुरा, वृन्दावन, गोकुल···कुछ भी तो यहाँ से दूर नहीं है।"

वे सब लोग कृष्ण के पीछे-पीछे चल रहे थे। अर्जुन, कृष्ण के सबसे अधिक निकट था। युधिष्ठिर, भीम तथा बलराम उनके पीछे थे और इस प्रयत्न में थे कि कुंती और द्रौपदी भी उनके साथ-साथ चल सकें। नकुल और सहदेव सबके पीछे थे और खांडवप्रस्थ सम्बन्धित अपनी जानकारी को लेकर विवादों में उलझे हुए थे।

झाड़ियों के बीच से बनी धुँधली पगडंडियों पर कृष्ण के पग बढ़ते जा रहे थे।···यह तो स्पष्ट ही था कि मनुष्य के चरण इन मार्गों पर पड़ते रहते हैं। नहीं तो इन पगडंडियों का अस्तित्व ही न होता। किन्तु, यहाँ न पथ थे, न राजपथ। यहाँ रथों का आवागमन नहीं हो सकता था। दस-दस अश्वों की पंक्तियाँ साथ-साथ नहीं चल सकती थीं, यदि पांडवों को यहाँ रहना है तो उन्हें पथ और राजपथों का निर्माण करना होगा। भवनों, हवेलियों, अट्टालिकाओं और प्रासादों का निर्माण करना होगा। जब मनुष्य रहने लगेंगे तो उनकी आवश्यकताओं की आपूर्ति के लिए क्या नहीं बनाना पड़ता···जब यादव कुशस्थली पहुँचे थे, तो वहाँ क्या था ? यादवों ने भी तो द्वारका जैसे वैभवशाली नगर का निर्माण किया। प्रत्येक नगर को कोई-न-कोई राजा बसाता ही है, तो पांडव अपने लिए एक नया नगर नहीं बसा सकते क्या ?···

कृष्ण के पग रुक गए। उन्होंने सामने संकेत किया, "वह है तुम्हारे दुर्ग की प्राचीर! उसके भीतर ही कौरवों का प्राचीन प्रासाद भी है।"

सबकी दृष्टि उस लक्ष्य पर टिक गई, किन्तु नयनों के वे सारे युगल प्रसन्नता के स्थान पर आश्चर्य से भर गए थे। उस आश्चर्य में, अपनी अपेक्षा से बहुत कम पाने का विषाद भी था।

"यह प्राचीर !" भीम ने निकट जाकर उस दीवार पर अपने पैर से प्रहार किया, "प्राचीर है यह और वह भी कौरवों के प्राचीन दुर्ग की प्राचीर !"

प्रहार से दीवार का एक भाग भरभराकर गिर गया। उसमें ढेर सारी मिट्टी थी और

पत्थर के नाम पर कुछ छोटे-मोटे कंकर-रोड़े।

"क्या कर रहे हो मध्यम !" कृष्ण ने टोका, "तुम अपने दुर्ग की प्राचीर स्वयं ही ढा दोगे तो रहोगे कहाँ ?"

"इसमें रहने से अच्छा है कि हम अपने शिविर में ही रहें। वस्त्रों का बना मंडप इससे कहीं सुखद होगा।" भीम के स्वर में आक्रोश था।

"भीम ! यह प्राचीन दुर्ग है।" युधिष्ठिर का स्वर नम्र और सहज था, "सम्भव है उस समय बाहरी प्राचीर ऐसी ही बनाई जाती हो। सम्भव है उन लोगों को इससे दृढ़ प्राचीर की आवश्यकता ही न होती हो। यह कौरव सम्राटों का दुर्ग है। उसकी सीमारंभ का संकेत ही पर्याप्त है। यह भय तो उन्हें कभी रहा ही नहीं होगा कि कोई उनके दुर्ग के भीतर आकर उन पर आक्रमण करेगा।..."

"यह भी तो सम्भव है कि उनके काल में यह प्राचीर इस रूप में रही ही न हो।" सहदेव ने अपना विचार प्रकट किया, "यह तो किसी खंडहर की प्राचीर लगती है।"

"ठीक है ! ठीक है।" भीम जोर से हँसा, "खंडहर की प्राचीर तो देख ली, अब खंडहर को भी देख लेते हैं। चलो कृष्ण ! आगे बढ़ो !"

कृष्ण और अर्जुन आगे बढ़ गए तो शेष लोग भी चल पड़े।

युधिष्ठिर अब भी पहले के ही समान शांत और निर्द्वन्द्व दिखाई पड़ रहे थे, किन्तु भीम के चेहरे पर अब परिहास की एक रेखा भी नहीं थी। उसकी गम्भीरता कुछ अवसन्न भी दिखाई दे रही थी। वह थोड़ी देर तो आत्मलीन-सा चलता रहा, किन्तु अधिक समय तक आत्मदमन करना उसके लिए सम्भव नहीं था।

"माँ ! तुम चलते-चलते थक तो नहीं गईं ?"

कुन्ती ने चकित दृष्टि से भीम को देखा, इस प्रश्न की आवश्यकता ही कहाँ थी। अभी थोड़ी देर पहले तक तो वह रथ में यात्रा कर रही थी। वह चली ही कितनी दूर है ?...

"नहीं पुत्र ! अभी से थक जाऊँगी तो...।"

"नहीं। धूप बड़ी कष्टदायक है न !" भीम को भी अपने प्रश्न की निरर्थकता समझ में आ गई थी, "आज सूर्य बहुत प्रखर है। सूर्य नहीं, तपन है यह तो।"

कुन्ती ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह भीम को जानती थी। कुछ और ही था जो उसके मन में उथल-पुथल मचाकर उसे व्याकुल किए हुए था। यह प्रश्न तो उस व्याकुलता को छिपाने के लिए एक आवरण मात्र था। वह यह भी जानती थी कि भीम अपने भावों को अधिक देर तक छिपा नहीं पाएगा। अभी थोड़ी ही देर में वह मन में छिपी प्रत्येक बात उगल देगा।... कुन्ती को अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी।

भीम ने दो-तीन बार द्रौपदी पर उचटती हुई दृष्टि डाली और फिर वह उसके निकट चला गया।

"यदि खांडवप्रस्थ का यह प्राचीन प्रासाद सचमुच ही खंडहर निकला अथवा वह उतना भव्य न हुआ जैसे कि कांपिल्य और हस्तिनापुर के प्रासाद हैं तो क्या तुम्हें बहुत

कष्ट होगा ?" उसने बहुत धीरे-से पूछा।

भीम ने चाहे धीरे-से ही पूछा था, किन्तु उसका स्वर अब भी इतना ऊँचा तो था ही कि कुन्ती उसका एक-एक शब्द स्पष्ट सुन सकती।''' तो यह चिंता है भीम की। कुन्ती ने मन-ही-मन सोचा, 'पत्नी की भावना को लेकर कितना चिन्तित है उसका पुत्र।'''किन्तु कुन्ती को अच्छा लगा'''चाहे भीम के प्रश्न में उसका 'काम' भी झलक रहा था, किन्तु उसे अपनी पत्नी की सुविधा-असुविधा का ध्यान तो था।'''

"मैंने जिसके गले में वर-माला डाली थी, वह न तो राजा था आर्यपुत्र ! और न ही उसके पास कोई प्रासाद था।" द्रौपदी ने सहज भाव से कहा, "मैंने तो एक भिक्षोपजीवी तपस्वी का वरण किया था।"

"ओह हाँ !" भीम के मुख से अनायास ही निकल गया, "वह तो मैं भूल ही गया था।"

कुन्ती यह देख नहीं पाई कि भीम द्रौपदी के उत्तर पर मुग्ध हुआ या नहीं, किन्तु वह स्वयं अपनी पुत्रवधू के इस उत्तर पर मुग्ध हो उठी : सचमुच द्रुपद-कन्या बहुत ही समझदार थी। अपनी राजधानी में आकर वह प्रफुल्लित थी, किन्तु उस राजधानी के स्थान पर एक वन पाकर भी वह हताश नहीं थी। वह जीवन के उतार-चढ़ाव का सामना सहज ढंग से कर पाएगी। वह प्रत्येक स्थिति में, जीवन के प्रत्येक सुख-दुःख में, अपने पतियों का साथ निभा पाएगी।

भीम के मन की आशंका मिट गई। वह फिर से अपनी सहज प्रफुल्लित मनःस्थिति में लौट आया था।

"तो देवि ! तुम अपने उस पति का, जिसका तुमने वरण किया था, इसलिए तो तिरस्कार नहीं कर दोगी कि अब वह भिक्षोपजीवी तपस्वी नहीं रहा ?" भीम ने पुनः द्रौपदी से पूछा।

"उन्नति और विकास का अधिकार तो सबको है आर्यपुत्र !" द्रौपदी भी जैसे क्रीड़ामय बालिका हो गई थी, "निर्धन तपस्वी कभी-कभी समृद्ध राज्य का स्वामी भी हो जाता है, जैसे आचार्य द्रोण हो गए हैं।"

भीम चौंका : यह द्रौपदी का परिहास था या उपालंभ ! आचार्य द्रोण को एक समृद्ध राज्य का स्वामी बनाने के लिए तो पांडव ही निमित्त बने थे।'''किन्तु द्रौपदी के चेहरे के भावों से उसके मन की बात जान लेना भीम के लिए सरल नहीं था। वह अपनी सहज उल्लसित मुद्रा में उसकी ओर देखकर जैसे पूछ रही थी, 'आर्यपुत्र ! आप मेरे उत्तर से संतुष्ट हुए न।'

भीम के मन में एक नया भाव उदित हो रहा था।''' उसके जीवन में अब तक बहुत कम नारियाँ आई थीं। सबसे पहले उसने अपनी माँ को जाना था, किन्तु माँ को सदा माँ के रूप में ही देखा था, नारी के रूप में नहीं। माँ को भीम ने कभी अपने अस्तित्व से पृथक् नहीं माना। माँ को प्रसन्न करने के लिए, उसका मन जीतने के लिए, उसे स्वयं पर मुग्ध करने के लिए कभी कोई विशिष्ट प्रयत्न करने की इच्छा उसके मन में नहीं जागी थी। माँ और उसकी प्रसन्नता कभी भी पृथक् नहीं रही। पता नहीं वह माँ का अंग था अथवा माँ उसका अंग थी, पर यह तो स्पष्ट ही था कि वे एक-दूसरे

से बाहर नहीं थे, इसलिए एक-दूसरे को पा लेने के भाव का कोई अस्तित्व ही नहीं था। माँ से वंचित हो जाने के भय से उसका कभी परिचय ही नहीं हुआ।...

वह कुछ समय हिडिंबा के साथ भी रहा था। हिडिंबा उसके लिए मात्र एक स्त्री थी। समय-समय पर उसने उसको सराहा, उससे लगाव का अनुभव किया, उसकी कामना भी की, वह उसके लिए चरम सुख का कारण भी बनी, किन्तु उससे वंचित हो जाने के भय ने उसे कभी नहीं सताया। हिडिंबा स्वयं ही उस पर इतनी मुग्ध थी कि भीम ने कभी यह सोचा ही नहीं कि उसे मुग्ध करने के लिए भीम को कोई प्रयत्न भी करना है।...किन्तु यह पांचाली...। इसने भीम के मन को कई नए सत्यों और नई परिस्थितियों का साक्षात्कार कराया था।...भीम स्वयं समझ नहीं पा रहा था कि बार-बार क्यों उसके मन में कामना उठती थी कि वह कुछ ऐसा करे कि पांचाली उस पर प्रसन्न हो जाए ? वह क्यों चाहता है कि पांचाली उससे उदासीन न रहे ? क्यों रह-रह कर उसे यह भय व्याप जाता है कि कहीं वह उससे रुष्ट न हो जाए ? क्यों वह उसके लिए इतनी कमनीय है और क्यों उसकी अनुकूलता भीम को अपने लिए उपलब्धि लगने लगती है ?...

वे लोग एक द्वार के पास जाकर रुक गए। यह दुर्ग का भीतरी द्वार था और यहीं से मार्ग प्रासाद तक जाता था।

सबकी दृष्टि द्वार की ओर उठी। द्वार असाधारण रूप से ऊँचा था। इतना कि दीर्घाकार गज भी अपने सुसज्जित हौदे के साथ उसमें से आ-जा सके। कपाट किसी साधारण-सी पुरानी लकड़ी के बने हुए थे, और न तो वे असाधारण रूप से दृढ़ दिखाई पड़ते थे, न ही उनमें कला अथवा सौन्दर्य का कोई आकर्षण था। राजद्वार तो वह एकदम नहीं लग रहा था।

युधिष्ठिर ने अपने भाइयों तथा कुन्ती और द्रौपदी के चेहरों पर उड़ती-सी एक दृष्टि डाली। उनके चेहरे पर आई हताशा की मलिनता किसी से छुपी नहीं थी। निश्चित रूप से, प्राचीर के समान ही प्रासाद के इस मुख्य-द्वार ने भी सबको निराश ही किया था।

उसने आगे बढ़कर कपाट खोल दिए, किन्तु द्वार में प्रवेश करने के स्थान पर वह एक ओर हटकर खड़ा हो गया, "बलराम भैया ! सबसे पहले आप कृष्ण के साथ भीतर प्रवेश करें।"

बलराम शायद सहज भाव से आगे बढ़कर द्वार में प्रवेश कर ही जाते कि कृष्ण ने उनका हाथ थाम लिया, "भैया ! प्रासाद में सबसे पहले बुआ के चरण पड़ने चाहिए।"

बलराम ठिठककर खड़े रह गए।...पता नहीं क्यों हर बार औचित्य का ध्यान कृष्ण को ही आता है...

कुन्ती ने सबसे पहले भीतर प्रवेश किया और उसके पश्चात् युधिष्ठिर तथा द्रौपदी ने। कृष्ण तथा बलराम शेष पांडवों के साथ भीतर आए। अब सब स्वतंत्र रूप से उस 'प्रासाद' को निरख-परख रहे थे। कोई किसी से कुछ भी कह नहीं रहा था किन्तु यह भाव सबके ही मन में था कि यह राजाओं के रहने योग्य प्रासाद नहीं था।...

"यह प्रासाद तो लगता ही नहीं है।" अंततः भीम ने कह ही दिया, "अधिक से अधिक, यह किसी भूस्वामी की पुरानी हवेली भर हो सकती है।"

"मुझे भी लगता है कि यह मूल प्रासाद है ही नहीं।" कृष्ण ने जैसे आत्मलीनता की स्थिति में कहा, "कौरवों द्वारा राजधानी का त्याग कर दिए जाने पर प्रासाद को देखने वाला कोई नहीं रहा होगा। उसे कुछ वर्षा, धूप और वायु ने नष्ट किया होगा और कुछ यमुना के जल ने । यह भवन तो बाद के किसी राजपुरुष अथवा कौरवों द्वारा नियुक्त किसी प्रशासक भूस्वामी ने ही बनवाया होगा।"

"किन्तु केशव ! कहीं-न-कहीं उस प्रासाद के ध्वंसावशेष तो होंगे।" अर्जुन ने प्रतिकार किया।

"संभव है कि खोजने पर कुछ मिल जाए।" कृष्ण ने उत्तर दिया, "किन्तु मुझे विश्वास है कि आस-पास के ग्रामों तथा बस्तियों में रहने वाले लोगों ने कोई रक्षक न देखकर उस प्रासाद की ईंट-ईंट निकालकर अपने घरों में लगा ली होगी।"

"हमारी प्रजा चोर है क्या ?" नकुल के स्वर में हल्का-सा आक्रोश था।

"चोर भी हैं ही।" कृष्ण ने कहा, "किन्तु सामान्य प्रजा तो उसे व्यर्थ का पड़ा मलवा समझकर उठा ले गई होगी। उन्होंने मान लिया होगा कि वे उस वस्तु का उपयोग कर रहे हैं, जिसे राजा व्यर्थ ही नष्ट कर रहा था।"

"तुम लोग किन विवादों में उलझ गए हो।" सहसा कुन्ती ने कहा, "पहले तो यह निश्चय करो कि हमें ठहरना कहाँ है— शिविर में अथवा यहाँ—इस प्रासाद अथवा हवेली में, जो कुछ भी यह है ?"

"हाँ ! माँ ठीक कह रही हैं।" युधिष्ठिर ने कहा, "यात्रा से माँ भी थक गई होंगी और पांचाली भी। हमें पहले ठहरने की व्यवस्था करनी चाहिए।"

"मैं शिविर की अपेक्षा यहाँ···इस भवन में ठहरना अधिक श्रेयस्कर समझूँगी।" द्रौपदी ने कहा, "अब यह हमारा घर है, जैसा भी है। घर के होते हुए, हमें शिविर में ठहरने की क्या आवश्यकता है।"

"पर यह भवन तुम्हारे रहने योग्य नहीं है पांचाली !" भीम बोला।

"तो क्या जब तक मेरे रहने योग्य भवन नहीं बनेगा, हम शिविरों में ही रहते रहेंगे ?" द्रौपदी ने पूछा।

"कृष्णा ठीक कह रही है।" कृष्ण ने द्रौपदी का पक्ष लिया, "भवन को घर तो वही बनाएगी, भवन चाहे जैसा भी हो। अभी तो हमें कृष्णा की इच्छा को देखते हुए इसी भवन को सुविधानुसार अपना आवास बना लेना चाहिए, बाद में चाहे मध्यम हस्तिनापुर नगर के बराबर का एक प्रासाद बनवाकर पांचाली को भेंट कर दें।"

"प्रासाद ही क्यों, मेरी इच्छा तो एक पूरा नगर बसाने की है, जिसके चारों ओर हमारा साम्राज्य विकसित होगा। कौरवों का साम्राज्य नहीं, महाराज युधिष्ठिर का साम्राज्य, पांडवों का साम्राज्य।" भीम को न जाने क्यों इस समय हिडिंबा याद आ गई। कैसे वे दोनों किसी नदी अथवा झील के तट पर बैठे-बैठे एक सुन्दर नगर बसाने की योजनाएँ बनाया करते थे और वह हिडिंबा को वन छोड़कर उस नगर में बस जाने के लिए प्रेरित किया करता था।

सहसा भीम ने स्वयं को रोका···किस ओर बह रही है उसके विचारों की धारा···यदि पांचाली को रंचमात्र भी आभास हो गया कि भीम को किसी अन्य स्त्री की स्मृति का

झोंका भी आया है तो उसकी ईर्ष्याग्नि भड़क उठेगी, चाहे वह स्त्री हिडिंबा ही क्यों न हो।...उसने ढकी दृष्टि से द्रौपदी की ओर देखा...नहीं पांचाली को किसी प्रकार का कोई संदेह नहीं हुआ था...वह तो अपनी सहज मुद्रा में मुस्करा रही थी।

भीम का मन कुछ शांत हुआ।

"यदि अपना प्रासाद भली प्रकार देख लिया हो तो आइए अपनी राजधानी भी देख लीजिए।" कृष्ण ने मुस्कराकर कहा, "फिर सैनिकों, कर्मचारियों और राजपुरुषों को सारे आदेश एक साथ ही दे दीजिएगा।"

"अब नगर देखने जाने की क्या आवश्यकता है।" बलराम ने पहली बार मुँह खोला, "प्रजाजन को जब मालूम होगा कि महाराज युधिष्ठिर खांडवप्रस्थ में आ गए हैं, तो वे स्वयं ही दर्शन करने आ जाएँगे।"

"मैं महाराज युधिष्ठिर के दर्शनों के विषय में कुछ नहीं कह रहा भैया।" कृष्ण ने उत्तर दिया, "मैं तो सुरक्षा की दृष्टि से नगर और नगरवासियों को जान लेने की चर्चा कर रहा था।"

"कृष्ण का ही विचार उत्तम है। यदि हम चाहते हैं कि प्रजा हमारे अनुकूल रहे, तो हमें भी प्रजा के अनुकूल रहना चाहिए।" युधिष्ठिर ने कहा, "वैसे भी हम क्षत्रिय राजा हैं। प्रजा का पालन-पोषण हमारा धर्म है। हमारे मन में प्रजा की उपेक्षा का हल्का-सा भाव भी नहीं रहना चाहिए।"

"तो आप जाइए, प्रजा का पालन-पोषण कर आइए।" द्रौपदी मुस्कराई, "मैं यहाँ रसोई जमाती हूँ और आप लोगों के पालन-पोषण का प्रबंध करती हूँ।"

"यह तो बहुत बड़ा प्रलोभन है कृष्णा !" कृष्ण ने उत्तर दिया, "किन्तु अभी हमें अपने इस लोभ का संवरण करना पड़ेगा। मैं तुम्हें यहाँ अकेली छोड़कर जाने के पक्ष में नहीं हूँ।"

"क्यों ? मैं यहाँ अपने प्रासाद में हूँ...अपने घर में।"

"नहीं। अभी तो तुम इस प्रासाद को जानती भी नहीं हो। जाने किस कोठरी में किस जीव ने अपना प्रासाद बना रखा हो।" कृष्ण का स्वर दृढ़ एवं निर्णयात्मक था, "जब तक इस प्रासाद की रक्षा व्यवस्था स्थापित नहीं हो जाती, तब तक राजरानी को इस प्रकार अकेली छोड़कर जाना मैं उचित नहीं मानता।"

"तो मेरी रक्षा के लिए कुछ प्रहरी छोड़ जाइए।" द्रौपदी पुनः मुस्कराई, "वे लोग देखते रहेंगे कि बाहर से आकर कोई मेरे बर्तन न चुरा ले।"

"यह परिहास का विषय नहीं है सखि !" कृष्ण का स्वर गम्भीर था, "हम एक नए स्थान पर अभी-अभी आए हैं, वह स्थान हमें चाहे हमारी राजधानी के रूप में ही क्यों न सौंपा गया हो। हम नहीं जानते कि वह स्थान कैसा है, यहाँ आस-पास कैसे लोग बसते हैं, उनके मन में हमारे प्रति कैसा भाव है।" कृष्ण ने थमकर युधिष्ठिर की ओर देखा, "महाराज ! आपको यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि आपको यहाँ आपके उन्हीं पितृव्य ने भेजा है, जिन्होंने आपको वारणावत भेजा था। तब उन्होंने आपको 'शिव भवन' के रूप में एक अत्यन्त सुन्दर तथा कलात्मक निवास स्थान दिया था। इस बार उन्होंने आपको आपके वंश की प्राचीन राजधानी प्रदान की है, जहाँ कुरु राजवंश का

कोई व्यक्ति पीढ़ियों से नहीं रहा।…"

कृष्ण ने रुककर सब पर एक दृष्टि डाली, उसकी बात का समुचित प्रभाव हुआ था। अब द्रौपदी के चेहरे पर भी वह क्रीड़ाशील हास्य नहीं था। भीम की मुद्रा भी सागर-तट पर सीपियाँ बटोरने वाले उन्मुक्त बालक के समान न रहकर दायित्वपूर्ण सैनिक की-सी हो गई थी।

"तुम लोग माधव की बात क्यों नहीं मानते।" कुन्ती ने कुछ चिन्तित आग्रह के साथ कहा, "वह वयस् में तुमसे छोटा होने पर भी अधिक अनुभवी है। वह कंस और जरासंध के षड्यन्त्रों से निपटता रहा है।"

"ठीक है माँ।" अर्जुन धीरे-से बोला, "हममें से कृष्ण के परामर्श की अवज्ञा तो किसी ने भी नहीं की।"

"तो फिर चलो, पहले हम अपनी राज-नगरी देख आएँ और प्रजाजन से मिल आएँ।" युधिष्ठिर ने अपना निर्णय सुना दिया।

कृष्ण और बलराम आगे-आगे चलते हुए पहाड़ी की दूसरी ओर नीचे उतर गए, जैसे वे इस क्षेत्र से भली-भाँति परिचित हों। दुर्ग की प्राचीर के साथ लगते हुए, मकानों जैसे मनुष्यों के कुछ आवास थे, किन्तु उस बस्ती का क्षेत्रफल तथा मकानों की संख्या तो पांडवों के लिए और भी निराशाजनक थी। कहाँ हस्तिनापुर जैसा सुविशाल, विस्तृत, समृद्ध तथा सघन नगर और कहाँ वनवासियों के दस-पाँच घरों जैसा आवासीय क्षेत्र…यह उनके पूर्वजों की कीर्ति कहने वाली, एक साम्राज्य की राजधानी थी ?…

पर किसी ने भी कुछ कहा नहीं। वे लोग चुपचाप आगे बढ़ते चले गए।

वे लोग बस्ती के निकट पहुँचे तो विभिन्न मकानों से कुछ घबराए हुए स्त्री-पुरुष बाहर निकल आए। उन्होंने अपने बच्चों को अपने साथ इस प्रकार चिपका रखा था, जैसे उन्हें भय हो कि कहीं कोई उनके बच्चों को उनसे छीन ही न ले।…

भीम शेष लोगों से आगे बढ़ आया और उच्च स्वर में पुकारकर बोला, "पांडु-पुत्र, महाराज युधिष्ठिर अपने प्रजा-जन को अभय-दान करते हैं। वे अपनी प्रजा से मिलने तथा उनका कुशल-क्षेम पूछने आये हैं। और जो लोग अपने घरों में हों, उन्हें भी बुला लो। तुम्हें कोई असुविधा हो, राजपुरुषों के व्यवहार में कोई अनुचित बात हो तो निर्भय होकर अपने राजा से कहो। वे तुम्हारी रक्षा करेंगे।"

युधिष्ठिर ने स्पष्ट देखा कि भीम की घोषणा से उपस्थित लोगों के चेहरे पर प्रसन्नता के स्थान पर आश्चर्य का भाव उभरा था।

"पर महाराज ! यहाँ तो न कोई शासन है, न राजपुरुष।" एक वृद्ध ने हताश-भाव से कहा, "यह तो मैं अपने जीवन में पहली बार सुन रहा हूँ कि हम किसी राजा की प्रजा हैं। हाँ ! यह मैंने अपने पिता और पितामह से अवश्य सुना था कि कभी यहाँ कौरवों का राज्य हुआ करता था। राजा और राजपुरुष थे, प्रासाद और सभाएँ थीं।…किन्तु मैंने तो अपने जीवन में दस्यु ही देखे हैं, राजपुरुष तो कभी कोई आया ही नहीं।"

"क्या यहाँ दस्यु बहुत आते हैं ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"वे ही आते हैं महाराज।" वृद्ध बोला, "जहाँ न कृषि हो, न व्यापार, न कोई उद्योग"जहाँ कोई आजीविका ही न हो, वहाँ प्रजा से कर उगाहने के लिए कोई राजपुरुष भी आएगा, तो दस्यु का ही रूप धारण करेगा। जो कोई भी ग्राम में आता है, चाहे वह राजपुरुष हो, दस्यु हो, कोई तपस्वी हो अथवा यात्री" उसके ठहरने और खाने-पीने की व्यवस्था तो ग्रामवासियों को करनी ही पड़ती है। इतना भी न कर पाओ तो कोई शाप देता है, कोई कशा फटकारने लगता है, तो कोई लूट-पाट मचाने लगता है। उसमें बाधा दो तो वह खड्ग निकाल लेता है। कुछ नहीं मिलता तो स्त्री-धन और गोधन को ही हाँकने लगता है"।"

"तो फिर लोग यहाँ कैसे रहते हैं ?" अर्जुन ने पूछा।

"रहते ही कितने लोग हैं।" वृद्ध ने उत्तर दिया, "एक-एक कर सब लोग खांडवप्रस्थ का त्याग करते जा रहे हैं। कोई नया घर बसता तो है नहीं, बस पुराने उजड़ रहे हैं।"

"घर छोड़कर लोग कहाँ जाते हैं ?"

"जिसके पग जिधर उठ जाते हैं, वह उधर ही चल देता है।" वृद्ध बोला, "कोई दस्युओं से बचने के लिए वन में भाग गया है और कोई दस्यु बनने के लिए वन में चला गया है।"

"पर लोग कोई काम क्यों नहीं करते ?" नकुल ने आगे बढ़कर पूछा, "यमुना का तट है। जल का अभाव नहीं है। अच्छी खेती हो सकती है। जल-परिवहन का विकास हो सकता है। यात्रियों के लिए सुविधाएँ जुटाई जाएँ तो व्यापार भी हो सकता है"।"

"आप ठीक कहते हैं राजकुमार।" वृद्ध ने समर्थन की ओट में विरोध किया, "जहाँ सुशासन नहीं होता, वहाँ उर्वर से उर्वर भूमि बंजर हो जाती है और विशाल से विशाल नदी का जल सूख जाता है।" उसने अपनी आँखों पर हथेली की ओट देकर अपने सामने खड़े लोगों को ध्यान से देखा, "लोग कहते हैं कि इन्द्र वर्षा करता है, सूर्य अन्न को पकाता है, पवन नदी के जल को वेग देता है, पर यदि मेरे कथन को छोटा मुँह बड़ी बात न माना जाए तो कहना चाहूँगा कि कोई कुछ नहीं करता, जो कुछ करता है, सुशासन ही करता है। देश में सुशासन न हो, तो न समय से वर्षा होती है, न धूप में प्रखरता आती है, न नदी का जल बहता है और न उस पर नौका तैरती है।"

"आप ठीक कहते हैं आर्य।" कृष्ण ने उसका समर्थन किया, "सुशासन न हो तो वर्षा जल-प्लावन बन जाती है, गोरस बच्चों के उदर में जाने के स्थान पर रानियों के स्नान-सरोवर में पहुँच जाता है, और अन्न पककर प्रजा का खाद्य बनने के स्थान पर पकने से पहले ही पशुओं का चारा बन जाता है।" कृष्ण ने रुककर उसे देखा, "इसीलिए अब महाराज युधिष्ठिर और उनके भाई, ये पांडव राजकुमार यहाँ आए हैं कि यहाँ की अराजकता को दूर कर यहाँ सुशासन स्थापित करें। आप निश्चिन्त रहें आर्य ! अब इस क्षेत्र में धर्म-राज्य स्थापित होगा।"

वृद्ध कुछ कहता, उसे पूर्व ही युधिष्ठिर ने कहा, "आप सबसे कह दें कि जो प्रजा-जन धर्म-राज्य के अधीन रहना चाहते हैं, उनकी सुरक्षा का दायित्व हमारा है। हम प्रजा की रक्षा ही नहीं, उसका पालन भी करेंगे। जो कृषि करना चाहेगा, उसकी भूमि तथा उपज की रक्षा की जाएगी, पशुपालकों के गोधन की पूरी रक्षा होगी, व्यापारियों को निष्कंटक

मार्ग प्रदान किए जाएँगे। श्रमिकों को उचित पारिश्रमिक दिलाया जाएगा तथा धन के विनिमय इत्यादि में वचन का पालन करवाया जाएगा।…"

"यह सब आप कैसे करेंगे महाराज !" वृद्ध कुछ व्यग्रता से बोला, "कोई दस्यु आपकी सभा में तो उपस्थित होगा नहीं। आपके दंडधर उन्हें उनकी गुफाओं, कंदराओं, सघन-वनाश्रयों तथा नदी के कछारों से पकड़कर लाने से रहे। और जिस किसी एकाध को आप पकड़ मंगवाएँगे, वह या तो स्वयं किसी बड़े आदमी के कुल-गोत्र का व्यक्ति निकल आएगा, या फिर उसकी रक्षा के लिए कोई राजा, महापुरुष, सेनापति अथवा देवता आ खड़ा होगा। किसी अपराधी को किसी महापुरुष का संरक्षण प्राप्त है, किसी को किसी का। समर्थ लोगों ने अपने-अपने दस्यु पाल रखे हैं। हमारा नगर तो अपराधी सेनाओं की छावनी बन गया है महाराज। इन सबसे कैसे निबटेंगे आप ?"

वृद्ध की चिन्ताओं ने युधिष्ठिर के मर्म को प्रभावित किया : अराजकता से जन-सामान्य कितना कष्ट उठाता है…और यह सब हो रहा है उस क्षेत्र में, जिसे कौरवों का साम्राज्य कहा जाता है।…एक ओर युधिष्ठिर का मन पीड़ित हुआ और दूसरी ओर जैसे वह धृतराष्ट्र का कृतज्ञ हो उठा…पितृव्य ने अपनी ओर से पांडवों को यह निष्कासन न दिया होता, तो युधिष्ठिर कैसे जान पाता कि उसकी अपनी नाक तले क्या-क्या हो रहा है।…

"आप निश्चिन्त रहें आर्य।" युधिष्ठिर के स्वर में संकल्प की दृढ़ता थी, "यहाँ धर्म-राज्य स्थापित होगा और दुष्टों का दलन होगा। दुष्ट-दलन क्षत्रिय राजा का प्रथम कर्तव्य है।"

"वह तो ठीक है महाराज !" वृद्ध अपने स्थान पर अडिग रहा, "किन्तु वे दुष्ट कोई साधारण जन तो हैं नहीं। बड़े-बड़े लोग हैं।"

"कौन लोग हैं ?"

"नहीं बता सकता। एक बार उन्हें पता चल गया कि मैंने किसी का नाम लिया है तो फिर मेरी रक्षा कौन करेगा।" वृद्ध धीरे-से बोला, "अब तक जो कुछ कह गया, वही पर्याप्त है। अब और बाध्य न करें।"

वृद्ध ने हाथ जोड़कर माथे से लगाए और चल पड़ा। युधिष्ठिर समझ नहीं पाए कि वह उसका अभिवादन था, अथवा वितृष्णा-प्रदर्शन। उनकी आँखें वृद्ध का पीछा करती रहीं, किन्तु वृद्ध ने एक बार भी पलटकर नहीं देखा। जब वह कुछ दूर निकल गया तो ग्राम के अन्य लोग भी चुपचाप उसके पीछे चले गए।

"चलिए महाराज !" कृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा, "नगर आप देख चुके, प्रजा का साक्षात्कार हो चुका। अब आप समझ गए होंगे कि आपके पितृव्य ने आपको कौरवों की प्राचीन राजधानी क्यों प्रदान की है।…"

"तुम्हें यह सब पहले से ही ज्ञात था माधव ?" अर्जुन के स्वर में जिज्ञासा भी थी और प्रतिवाद भी।

"ज्ञात तो नहीं था, किन्तु आभास था।" कृष्ण ने स्वीकार किया।

"तो फिर तुमने इसका विरोध क्यों नहीं किया ?"

"प्रजा के हित में।" कृष्ण के चेहरे पर लीलामयी मुस्कान थी, "पांडव यहाँ न आते

तो इन लोगों का हित कैसे होता ?"

"इनका हित तो हम हस्तिनापुर में बैठे भी साध सकते थे।" भीम बोला, "एक सैनिक अभियान में ये सारे चोर और दस्यु समाप्त कर दिए जाते।"

"सिंहासन पर बैठे-बैठे कोई राजा प्रजा का हित नहीं साध सकता मध्यम !" कृष्ण के स्वर में एक असाधारण अनुगूँज थी, "उसके लिए राजा को प्रजा के दुःख-सुख में उसके साथ जीना और मरना पड़ता है।"

पांडवों ने अभी भोजन समाप्त ही किया था कि उन्हें समाचार मिला कि महर्षि वेदव्यास पधारे हैं।

युधिष्ठिर के मन में उत्साह का ज्वार जैसा उठ आया। उसने किसी से कहा नहीं था, किन्तु उसके मन में बार-बार यह बात कौंध रही थी कि वे लोग सदा के लिए हस्तिनापुर छोड़ आए हैं। शब्दों में किसी ने भी अभिव्यक्त नहीं किया, किन्तु कोई भी स्पष्ट देख सकता था कि राज्य का ही बँटवारा नहीं हुआ था, परिवार का भी बँटवारा हो गया था, और इस बँटवारे में परिवार के सारे ही वृद्ध-जन दुर्योधन के भाग में आए थे। धृतराष्ट्र और गान्धारी को तो दुर्योधन के पास रहना ही था, किन्तु पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, विदुर काका, कृपाचार्य, पितामह बाह्लीक, सोमदत्त···सब लोग हस्तिनापुर में ही रह रहे थे।···वैसे वे लोग इस बीहड़ वन में आकर करते भी क्या ?···अपने स्नेहवश अथवा युधिष्ठिर के आग्रहवश यदि उनमें से कोई पांडवों के साथ आ ही जाता तो युधिष्ठिर उनके सुख से रहने के लिए कौन-सी सुविधाएँ जुटा सकते थे ? उसके पास था ही क्या ?···पर क्या ये सम्बन्ध प्रेम के नहीं, सुख-सुविधाओं के ही हैं ? जिसके पास सुख-सुविधाएँ नहीं हैं, उसके परिवार का कोई वृद्ध उससे कोई सम्बन्ध ही नहीं रखेगा ? पांडवों के साथ केवल उनकी माँ आई हैं। इसका अर्थ हुआ कि केवल वे ही उनकी अपनी हैं।···विदुर काका के विषय में ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता···किन्तु वे भी नहीं आए···

सहसा युधिष्ठिर सजग हो उठे : वे यह सब क्या सोच रहे हैं ? महर्षि के आने पर उनका स्वागत करने के स्थान पर वे अन्य कुल-वृद्धों के प्रति अपने मन में आक्रोश संचित कर रहे हैं।···यदि पितामह, आचार्य अथवा विदुर काका स्वयं ही उनके साथ आने का प्रस्ताव रखते तो क्या वे उनके प्रस्ताव का स्वागत करते ?···नहीं। कदाचित् वे स्वयं ही उन्हें इस विचार से विरत करने का प्रयत्न करते।···आज प्रातः जब वे लोग यहाँ पहुँचे हैं, तो यह निर्णय करना भी कठिन हो रहा था कि वे इस तथाकथित प्रासाद में वास करें अथवा वन में ही अस्थायी शिविर स्थापित करें। अब तो यह भवन कुछ स्वच्छ लग रहा है, किन्तु प्रातः क्या था इसमें ? मकड़े, छिपकलियाँ, चूहे और चमगादड़। ऐसे में कुल-वृद्धों को वे कहाँ ठहराते। अपनी माँ के प्रति तो उनका भाव ही कुछ और है। उन्हें वे स्वयं से पृथक् कर देखते ही नहीं। जब से युधिष्ठिर को स्मरण है···माँ उनके साथ ही रही हैं। पर्वतों पर, वन में, हस्तिनापुर के उस पुरातन खंडहर में, वारणावत के शिव-भवन में, हिडिंब वन में. एकचक्रा में ब्राह्मण के घर में, कांपिल्य में कुम्भकार

के घर में।...माँ को तो उनके साथ रहना ही है...वे जहाँ भी रहें, जैसे भी रहें।...कृष्णा के विषय में थोड़ी-सी चिन्ता थी युधिष्ठिर को, किन्तु उसने स्वयं ही स्पष्ट कर दिया था कि उसने तो भिक्षोपजीवी तपस्वी के कंठ में जयमाला डाली थी। उसने स्वयंवर के पश्चात् पहली रात कुम्भकार के घर में भूमि पर उनके चरणों की ओर सोकर व्यतीत की थी।...कृष्ण और बलराम उनके साथ आए थे, किन्तु उनकी सुविधा का ध्यान युधिष्ठिर क्या रखते, वे तो स्वयं ही युधिष्ठिर के लिए सुविधाओं का प्रबन्ध करने में लगे हुए थे।...

सबको आशीर्वाद देकर महर्षि बैठे तो युधिष्ठिर से रहा नहीं गया। उसने पूछ ही लिया, "हस्तिनापुर में सब कुशल तो हैं न ?"

महर्षि ने निर्विकार ढंग से युधिष्ठिर की ओर देखा और फिर मुस्करा पड़े, "जिस प्रकार बुद्धि और विवेक को निष्कासित कर कोई व्यक्ति, तथा धर्म और न्याय को निष्कासित कर कोई समाज सुखी नहीं हो सकता, उसी प्रकार तुम्हें निष्कासित कर कोई परिवार, समाज अथवा राज्य सकुशल नहीं रह सकता।"

"महर्षि !" युधिष्ठिर का स्वर अतिरिक्त रूप से गम्भीर था, "जिनकी कुशलता का ध्यान रखने के लिए पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य और काका विदुर हस्तिनापुर में बैठे हैं...उनकी कुशलता में किसी को क्या सन्देह हो सकता है ?"

"तुमने ठीक कहा वत्स !" व्यास बोले, "किन्तु तुम भूल गये कि वासुदेव कृष्ण उनके साथ नहीं हैं।"

"पितामह ! क्या आपको नहीं लगता कि इस प्रकार की सारी बातें मात्र बौद्धिक विलास है।" भीम का स्वर पर्याप्त उग्र था, "हमें हस्तिनापुर से निष्कासित कर दुर्योधन को क्या हानि हुई ? उसे राज्य मिला, धन-सम्पत्ति मिली। सुख-भोग, वैभव-विलास मिला। सुख क्या इन सबके बाहर है। मुझे तो कभी-कभी लगता है कि व्यक्ति पाप से ही सुखी हो सकता है, क्योंकि जीवन की सफलता तथा धन-सम्पत्ति अधर्मपूर्वक अधिक सरलता से प्राप्त होती है, और सुख और सफलता का सम्बन्ध धन-सम्पत्ति से ही है।"

"अधिकांश लोग तुम्हारे ही समान सोचते हैं भीम।" महर्षि ने सहज भाव से उत्तर दिया, "कदाचित् कहना यह चाहिए कि शायद सामान्य मानव की सोचने की स्वाभाविक पद्धति यही है।"

"तो इसमें अनुचित ही क्या है ?" भीम ने तत्काल पूछा।

"इसमें अनुचित कुछ नहीं है।" व्यास मुस्कराए, "यह मात्र भ्रम है, जैसे जल में प्रतिबिम्ब देखकर बालक सोच लेता है कि चन्द्रमा उस जल के भीतर है। यह बालक का सत्य है पुत्र ! जब तक उसका यह भ्रम टूटता नहीं, तब तक वही उसका सत्य है।"

"किन्तु जो कुछ मैंने कहा, उसमें भ्रम क्या है ?" भीम बोला, "वह घोर यथार्थ है। उसे आप भी देख रहे हैं और मैं भी।"

व्यास कुछ देर तक भीम को चुपचाप देखते रहे और फिर धीरे-से बोले, "जीवन में अधिक सफल मैं हूँ या दुर्योधन ?"

"आप हैं पितामह !"

"अधिक विकास मेरा हुआ है या दुर्योधन का ?"

"आपका।"

"अधिक सुखी मैं हूँ या दुर्योधन ?"

"आप हैं !"

"पर न तो मेरे पास धन-सम्पत्ति है, न वैभव-विलास, न राज्य है न सेना।" व्यास मुस्कराए। उनकी दृष्टि भीम पर टिकी रही, किन्तु भीम ने कोई उत्तर नहीं दिया। व्यास धीरे-से बोले, "जीवन में प्राप्तव्य केवल एक है''मन की शुद्धता, आत्मा की निरवरणता और भौतिक बन्धनों से मुक्ति। सारा विकास, सारा सुख और सारी उपलब्धियाँ इसी में हैं ? दुर्योधन ने जो कुछ किया है, क्या उससे उसका मन पहले की तुलना में कुछ अधिक शुद्ध हुआ है ? क्या उसकी आत्मा पहले की तुलना में अधिक तमसाच्छन्न नहीं हुई ? क्या वह सांसारिकता के बन्धनों में और अधिक नहीं बँधा है ?" व्यास ने क्षण भर रुककर सबको देखा, "प्रकृति के नियम बड़े विचित्र हैं पुत्र ! वह भ्रम को प्रोत्साहित करती है, माया का प्रपंच रचती है। मनुष्य सोचता है कि वह अपने लिए सुख संचित कर रहा है, जबकि वह अपने लिए अनन्त यातना का सृजन कर रहा होता है।" वे निमिष भर रुके, "आकाश से वर्षा के रूप में जल की जो बूँद टपकती है, वह जल का शुद्धतम रूप है। पृथ्वी पर वह अपनी यात्रा में पुष्प की पखुड़ी पर टपककर, वहीं से अपने शुद्धतम रूप में सूर्य की किरणों के सहारे आकाश की ओर लौट सकती है किन्तु वह पृथ्वी के विभिन्न प्रकार के मलों को अपने भीतर संचित कर यह कल्पना भी कर सकती है कि वह अत्यन्त समृद्ध है, अपनी इच्छानुसार सम्पत्ति एकत्रित करने से उसे कोई नहीं रोक रहा। उसे यह स्मरण नहीं रहता कि उसे आकाश में लौटना भी है, और यह तब तक सम्भव नहीं होगा, जब तक वह पुनः अपने उसी मौलिक शुद्ध रूप को प्राप्त न कर ले, जब तक वह अपने भीतर समाए मल के अंतिम कण तक को निष्कासित न कर ले। जब तक वह अपने आपको अपनी मूल प्रकृति के समान शुद्ध नहीं कर लेगी, उसे इसी प्रकार पृथ्वी के मल के बीच भटकना होगा।''वही स्थिति आत्मा की है पुत्र। आसक्ति से अधर्म की वृद्धि होती है और अर्जन से आसक्ति बढ़ती है। उपलब्धियों से अहंकार की वृद्धि होती है। अधर्म हो, आसक्ति हो अथवा अहंकार हो''ये सब तो सुख के साधन नहीं हो सकते पुत्र ! क्योंकि ये तुम्हें शांति नहीं दे सकते।" व्यास ने रुककर सब पर एक दृष्टि डाली, "तुम सुखी हो, क्योंकि तुमने अधर्म का पक्ष नहीं लिया, तुम सुखी हो क्योंकि तुममें आसक्ति नहीं है, अन्यथा प्राण रहते, तुम लोग हस्तिनापुर नहीं छोड़ सकते थे। तुम्हारा मन निर्मल और शान्त है क्योंकि उसमें अहंकार का ताप नहीं है। इसलिए यह मत सोचो कि दुर्योधन अधर्म करके भी सुखी है। उसने अपने लिए जाने कितने यातनामय एवं पश्चात्तापपूर्ण भावी जन्मों की नियति रच डाली है। और इस जीवन में हस्तिनापुर की सारी सम्पत्ति लेकर भी वह सुखी नहीं होगा। वह तुम्हारी उन्नति देखकर ईर्ष्याग्नि में जलता रहेगा। उसकी स्थिति उस व्यक्ति की-सी है, जो अपने सामने भोजन से भरे थाल को लिए बैठा रहेगा, किन्तु उसे खाकर तृप्त होने के स्थान पर, वह दूसरे व्यक्ति को भोजन करते देख यह सोच-सोचकर पीड़ित होता रहेगा, कि उस व्यक्ति को भोजन मिला ही क्यों।" महर्षि ने अपनी आँखें बन्द कर लीं, "सुख अर्जन में नहीं विसर्जन में है पुत्र। भोग में नहीं त्याग में है, विनाश में नहीं

निर्माण में है। तुम लोग यहाँ पहले एक नगरी का निर्माण करो, जो तुम्हारी राजधानी हो। ध्यान रहे कि तुम्हारी इस नगरी का निर्माण निर्धनों और असहायों के रक्त से नहीं, उनके रक्षण से हो। तुम धर्म की रक्षा करो, धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा।" व्यास रुके जैसे सब कुछ कह चुके हों, किन्तु क्षण भर में ही पुनः बोले, "और पुत्र ! इस निर्माण से तुम्हारा अहंकार न जागे। नगरी का नाम अपने नाम पर मत रखना, किसी भी मनुष्य के नाम पर मत रखो। इसे देवताओं को समर्पित कर दो। चाहो तो देवराज के नाम पर ही इसका नाम इन्द्रप्रस्थ रख लो। "

युधिष्ठिर की दृष्टि कृष्ण की ओर उठी, कृष्ण के चेहरे पर सहज हास और स्वीकृति का भाव था।

"ठीक है पितामह ! जैसी आपकी इच्छा।" युधिष्ठिर बोले।

"क्यों ? इन्द्र के नाम पर क्यों ?" भीम बोला, "इन्द्र ने क्या किया है हमारे लिए, कि हम अपने बसाए नगर का नाम इन्द्र के नाम पर रख दें ?"

महर्षि ने भीम के विरोधपूर्ण मुख को निहारा जैसे उसे बहलाते हुए बोले, "जो अतीत में काम नहीं आया, वह भविष्य में भी काम नहीं आएगा, ऐसा क्यों सोचते हो पुत्र। जो तुम्हारा मित्र नहीं रहा, वह मित्र होगा भी नहीं···ऐसा नहीं मानना चाहिए।" महर्षि उठ खड़े हुए, "मैं वन में एकान्तवास करूंगा, मेरी चिन्ता मत करना। तुम लोग अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध करो और भोजन की व्यवस्था।" उनकी दृष्टि घूमकर कृष्ण पर टिक गई, "गोविन्द तुम्हारे साथ हैं, तो तुम्हें चिन्ता किस बात की ?"

महर्षि चले गए।

"मेरी तो समझ में कुछ नहीं आता," भीम भुनभुनाया, "बैठे-बैठाए अपने नगर का नाम हम इन्द्र के नाम पर क्यों रख दें।"

"मध्यम ! कोई-न-कोई कारण अवश्य होगा," सहदेव बोला, "अन्यथा न तो महर्षि ऐसा आदेश देते और न ही कृष्ण उसे सहज ही स्वीकार कर लेते।"

भीम मौन हो गया।···शायद सहदेव ठीक ही कह रहा था। कृष्ण कभी भी इन्द्र का प्रशंसक नहीं रहा, और अकारण ही कोई बात कृष्ण मानता भी नहीं।

रात्रि से पहले पांडवों ने कच्ची प्राचीर के भीतर का सारा भाग स्वच्छ एवं व्यवस्थित कर लिया। उनके साथ का प्रत्येक व्यक्ति उस प्राचीर के भीतर आ गया। जिनके लिए भवन में स्थान नहीं था, उनके लिए खुले स्थान में कुछ अस्थायी मंडप बना लिए गए थे। सैनिकों और कर्मचारियों को भी भीम ने उस प्राचीर के बाहर नहीं रहने दिया था। चारों ओर सघन वन था और यह तो वे जान ही चुके थे कि दस्यु तथा साहसिक लोगों की टोलियाँ इस सारे क्षेत्र में बहुत सक्रिय थीं, ऐसे में व्यर्थ ही सैनिकों को संकट में धकेलने का क्या लाभ। वैसे भी दिन-भर की गतिविधि से सब लोग काफी थक चुके थे। ऐसे में प्रहरी लोग बहुत सजग-सचेत होकर रात-भर चौकसी नहीं कर पाएँगे। अच्छा है कि सबको विश्राम करने दिया जाए। सैनिक आक्रमण का तो अभी कोई भय था नहीं।

2

रात के तीसरे प्रहर भीम की नींद उचट गई। उसे आश्चर्य हुआ कि अपनी गहरी नींद के लिए प्रसिद्ध, वह असमय ही कैसे जाग गया।··· उसने स्वयं अपने अनुभव से ही जाना था कि निश्चिंतता में वह चाहे कितनी ही गहरी नींद क्यों न सोता हो, किंतु संकट के आशंकापूर्ण काल में उसके भीतर कोई अज्ञात चेतना सक्रिय हो उठती थी, जो नींद में भी उसे सदा सावधान रखती थी। कुछ भी अस्वाभाविक होने पर वह उसे झंझोड़ कर जगा देती थी।

उसने आँखें खोल, पूर्णतः चैतन्य होकर इधर-उधर देखा। सब लोग निश्चिंत सो रहे थे। बहुत संभव है कि प्राचीर के साथ लगे बैठे प्रहरी भी सो गए हों। कहीं किसी गतिविधि का कोई आभास नहीं था। वे न सोते तो कदाचित् भीम को आश्चर्य होता। वे भी तो अन्य लोगों के ही समान बहुत थके हुए थे।···

भीम को लगा कि उसने एक हल्की-सी सरसराहट सुनी है। यह सरसराहट उसके कानों ने नहीं, उसके भीतर जगी बैठी उस असाधारण चेतना ने ही सुनी थी। बहुत संभव है कि वह इस सरसराहट से ही जागा हो··· यह नहीं कि वहाँ कोई ध्वनि नहीं थी। ध्वनियाँ तो वहाँ अनेक थीं और निरन्तर प्रवहमान थीं। आसपास इतना बड़ा वनप्रांतर था तो क्या रात के इस सन्नाटे में ध्वनियाँ नहीं होंगी। ध्वनियाँ तो थीं, किंतु वे वनस्पति तथा इतर प्राणियों के जगत् की सामान्य ध्वनियाँ थीं। उन सारी ध्वनियों से न तो भीम के कानों को कोई असुविधा होती थी न उसकी उस अंतरंग चेतना को··· किंतु यह सरसराहट कुछ विचित्र थी। उसका प्रकृति से कोई सामंजस्य नहीं था··· वह अत्यन्त धीमी तथा प्रायः अश्रव्य थी, किंतु उसमे वैषम्य था···

भीम धीरे से उठा और प्राचीर के साथ-साथ चलता हुआ काफी दूर निकल गया।··· सरसराहट की वह ध्वनि निकटता के कारण प्रबल नहीं हुई थी, किंतु अब वह कर्ण-गोचर हो गई थी और उसे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने में सुविधा हो गयी थी।

भीम रुक गया। प्राचीर के भीतर कुछ नहीं था, किंतु उसके कान कह रहे थे कि यही वह स्थल था, जहाँ बाहर से कोई व्यक्ति प्राचीर में से भीतर घुसने के लिए मार्ग बना रहा था।···भीम वहीं बैठ गया।···हाँ ! कोई व्यक्ति कुछ प्रयत्न कर तो रहा था किन्तु वह कुदाल, गेंहती अथवा सब्बल का प्रयोग नहीं कर रहा था। उसके पास कोई बहुत छोटा-सा उपकरण था, जिससे वह प्राचीर को तोड़ नहीं, कुरेद रहा था।

पहले तो भीम की इच्छा हुई कि वह द्वार से बाहर जाकर देखे कि वह कौन व्यक्ति है और क्या कर रहा है, किन्तु तत्काल उसके विवेक ने उसे रोक लिया···। वह यहाँ से प्राचीर के द्वार तक चलकर जाएगा और फिर प्राचीर के बाहर से उतना ही चलकर फिर वापस इसी स्थल पर पहुँचेगा, तो इतने समय में काफी कुछ घटित हो चुका होगा।···उसके चलने-फिरने से जो ध्वनियाँ उत्पन्न होंगी, सम्भव है उनसे वह व्यक्ति सावधान हो जाए और पकड़ में ही न आए।···यह भी तो सम्भव था कि वह व्यक्ति

अकेला न हो। उसके संगी-साथी, इधर-उधर बिखर कर चौकसी कर रहे हों।...

भीम उसी स्थल पर बैठ गया।...भीतर की ओर प्राचीर से लगकर भीम बैठा था और बाहर से वह व्यक्ति प्राचीर को कुरेद रहा था। इसका अर्थ था कि उसे भीम के यहाँ उपस्थित होने का कोई आभास नहीं था, अन्यथा वह अपना कार्य इस प्रकार चलाए न रखता।

भीम ने प्राचीर पर अपनी हथेली रख दी और अनुभव करने का प्रयत्न किया कि ठीक-ठीक किस स्थान पर उसका उपकरण कार्य कर रहा था। वह अपनी हथेली को थोड़ी-थोड़ी देर में अनुमान के अनुसार आगे-पीछे चलाता रहा। सहसा उसने अनुभव किया कि सरसराहट की अनुभूति उसकी हथेली पर उतर ही नहीं आई है, उसके सारे शरीर पर जैसे कोई छोटा-सा कीट रेंगने लगा है...

भीम रुक गया। यही वह स्थल था, जिस पर उस व्यक्ति का उपकरण प्रहार कर रहा था। ऐसा लग रहा था कि उस स्थल को अब उसका उपकरण छील रहा है...

भीम ने अपने खड्ग से, ठीक उसी स्थान पर भीतर से मिट्टी छीलनी आरम्भ कर दी, जैसे बाहर से होने वाले यन्त्र के उस प्रहार से भीतर की ओर भी मिट्टी गिरने लगी हो।...भीम को लगा कि उस व्यक्ति की गतिविधि पहले से कुछ तीव्रतर हो गई थी। अपनी सफलता का संकेत मिलते ही उसका उत्साह दुगुना हो गया था।

थोड़ी ही देर में वहाँ एक छोटा-सा छिद्र बन गया। छिद्र इतना छोटा था कि मनुष्य तो दूर, कोई छोटा जीव भी उसमें से प्रवेश नहीं कर सकता था। हाँ, बाहर वाला व्यक्ति उस छिद्र में से भीतर झाँक सकता था। भीम को सावधान हो जाना चाहिए था। यदि उसने देख लिया कि उसी स्थान पर भीतर कोई और बैठा है, तो वह एक क्षण भी वहाँ नहीं टिकेगा और भीम का यह सारा श्रम व्यर्थ हो जाएगा।

भीम सरक कर एक ओर हो गया और चुपचाप उस व्यक्ति के प्रयत्न की सफलता की प्रतीक्षा करता रहा। निश्चय ही वह व्यक्ति न तो साधारण चोर था न सेंधमार ! वह तो किसी कलाकार की तन्मयता से, जैसे कोई मूर्ति गढ़ रहा था। थोड़ी ही देर में भीम को उसका उपकरण भी दिखाई पड़ने लगा। वह तो लेपक की करनी थी। जिस करनी से प्राचीरों का निर्माण होता था, वह उसी से एक प्राचीर में सेंध लगाने का प्रयत्न कर रहा था।...किन्तु उसकी कार्य-पद्धति एक फूहड़ सेंधमार की नहीं थी, वह तो किसी दक्ष लेपक के समान बड़ी कलात्मकता से करनी चला रहा था। जितनी भी मिट्टी ढीली होती थी, उसे बड़े प्रयत्न से हटाकर छिद्र को गोलाई में आकार देकर उसे साफ-सुथरा कर, फिर से छेद को बड़ा करने का प्रयत्न करता।... उसे इस प्रकार काम करते देखकर भीम को सन्देह होने लगा था कि वह भीतर प्रवेश करने के लिए मार्ग बना रहा था अथवा प्राचीर में एक सुन्दर, कलात्मक गोल छिद्र बनाने का प्रयत्न कर रहा था।

काम करने की उसकी शैली से इतना तो स्पष्ट ही था कि वह सर्वथा अकेला था। इतनी देर में न तो कोई हाथ उसकी सहायता के लिए आगे बढ़ा था, न किसी ने उससे वार्तालाप करने का कोई प्रयत्न किया था, न किसी ने काम जल्दी समाप्त करने का निर्देश दिया था। वह अकेला ही जैसे आत्म-सन्तोष के लिए धीरे-धीरे अपना कार्य करता जा रहा था।

भीम ने अपना धैर्य नहीं छोड़ा।

उस व्यक्ति ने जब अपनी इच्छानुसार प्रवेश-स्थान बना लिया, अपने हाथों से टटोलकर उसके सौन्दर्य और उपयोगिता की ओर से अपना सन्तोष कर लिया, तो धीरे से उसने गर्दन तक अपना सिर भीतर डालकर चारों ओर देखा।

उसी समय भीम ने हाथ बढ़ाकर उसकी गर्दन पकड़ कर उसे भीतर घसीट लिया।

भीम का स्पर्श उसके लिए सर्वथा आकस्मिक और अनपेक्षित था। वह न केवल उससे चौंक उठा था, वरन् उसका सारा साहस ही उसका साथ छोड़ गया था। उसने अपने हाथ-पैर ढीले छोड़ दिए थे और मरे हुए केंचुए के समान लटक गया था। उसके हाथ से । करनी छूट कर गिर गई थी और भीम को लगा कि उसकी चेतना भी लुप्त हो रही थी।

"डरो नहीं।" भीम ने बहुत धीरे से कहा, "मैं तुम्हारा शत्रु नही हूँ। हाँ ! इतना अवश्य है कि तुम मेरी इच्छा और अनुमति के अभाव में अपना मनोवांछित नहीं कर पाओगे।"

उस व्यक्ति में कुछ चेतना का संचार हुआ। उसने अपनी ग्रीवा उठाई और धीरे से भीम के चेहरे की ओर देखा, "कौन हो तुम ?"

"मैं कोई भी हूँ, किन्तु तुम्हारा शत्रु नहीं हूँ।" भीम ने कहा, "वैसे तुम्हारा परिचय पाए बिना मैं अपने विषय में कुछ भी नहीं बताऊँगा।"

"मेरा क्या परिचय।" वह व्यक्ति कुछ-कुछ सहज हो चला था, "मैं तो एक साधारण लेपक हूँ। भवननिर्माण का कार्य किया करता था।"

"तुम्हारा नाम भी तो कुछ होगा।"

"अक्षय ! अक्षय लेपक !" उसने कहा।

"तुम्हें यहाँ किसने भेजा ?" भीम ने पूछा।

"भूख ने।"

भीम को आश्चर्य हुआ, "तुमने कहा कि तुम लेपक हो। भवन-निर्माण का कार्य करते हो। तो फिर तुम भूखे क्यों हो ? क्या तुम्हें इतना भी पारिश्रमिक नहीं मिलता कि अपना पेट पाल सको ?"

"भवन-निर्माण का काम अब है ही कहाँ।" वह निष्प्राण स्वर में बोला, "कौन बनवाता है यहाँ भवन ! न यहाँ राजा है, न राजपुरुष। न व्यापारी, न श्रीमान। अब तो कृषक भी अपनी भूमि छोड़कर वनों में भाग गए हैं।...और दस्यु जो कार्य कराते हैं, उसका कोई पारिश्रमिक नहीं देते। उनका पारिश्रमिक है...प्राण-दान। वे प्राण नहीं हर लेते, यही उनका पारिश्रमिक है।"

"तो इतना बड़ा वन पड़ा है चारों ओर, उसके कंद-मूल खाकर जीवन-यापन कर सकते हो। चोरी करने का अपराध क्यों कर रहे हो ?"

"यह वन है, फलों की वाटिका तो है नहीं, फिर भी इतने दिनों से जैसे-तैसे कंद-मूल ही खा रहा था, किन्तु आज जब यहाँ इतने लोग आ गए। उन्होंने कितने कंदु लगाए और फिर गेहूं की रोटी की सोंधी-सोंधी गंध आने लगी तो मुझे ज्ञात हुआ कि मनुष्य अन्न का ही कीड़ा है। सारा दिन मन व्याकुल रहा। सामने आने का साहस नहीं हुआ। मैं न भिक्षुक हूं न ब्राह्मण ! हाथ फैला कर अन्न कैसे माँगता। प्राचीर के भीतर रोटियाँ

बनती रहीं और मैं प्राचीर के बाहर मँडराता फिरा। सारा दिन ऐसे ही काट दिया मैंने। रात को सोने लगा तो लगा जैसे वर्षों से भूखा हूँ, इतना भूखा कि यदि गेहूँ की रोटी नहीं खाई तो मुझे नींद नहीं आयेगी।…अपने आपको बहुत रोका मैंने, बहुत टाला, बहुत समझाया, बहुत बहकाया, किन्तु मन ऐसा पापी है कि रुका ही नहीं। अंततः मैंने अपनी करनी उठा ली कि प्राचीर में सेंध लगाऊँगा और गेहूँ, गेहूँ का आटा, गेहूँ की रोटी…जो कुछ भी मिले, मैं उसकी चोरी करूँगा।"

"तुम्हारे साथ और कोई नहीं है ?" भीम ने पूछा।

"नहीं।"

"तुम मुद्राएँ, स्वर्ण, आभूषण अथवा माणिक्य चुराने की बात सोच कर क्यों नहीं आए। रोटी ही चुराने की बात क्यों सोची तुमने ?"

अक्षय थोड़ी देर तक मौन खड़ा आश्चर्य से भीम को देखता रहा, और फिर बोला, "एक तो मुझे ज्ञात ही नहीं था कि जो लोग यहाँ आकर रुके हैं, वे कौन लोग हैं, इसलिए मैं यह जानता ही नहीं था कि उनके पास मुद्राएँ, स्वर्ण, आभूषण अथवा माणिक्य हैं भी या नहीं।" वह थोड़ी देर थमकर जल्दी से बोला, "दूसरे, मेरे लिए उन वस्तुओं का कोई महत्व ही नहीं है।"

"क्यों ?" भीम चकित था, "तुम एक स्वर्ण-मुद्रा से कितनी ही रोटियाँ क्रय कर सकते हो।"

"नहीं।" अक्षय के चेहरे पर असहायता की मुस्कान उभरी, "यदि मैं स्वर्ण मुद्रा ले जाकर, किसी हाट को खोजकर कुछ क्रय करने का प्रयत्न करूँगा तो वह स्वर्ण मुद्रा मुझसे कोई भी छीन लेगा, और…।"

"और क्या ?"

"बहुत सम्भव है कि और स्वर्ण पाने के लोभ में वह मेरी हत्या ही कर दे।"

"हुँ।" भीम चिन्तित मुद्रा में खड़ा रह गया।

"अब बताओ, तुम कौन हो ?" अक्षय ने धीरे से कुछ आत्मीयतापूर्ण स्वर में पूछा, "तुमने कहा था, तुम मेरे शत्रु नहीं हो।"

"हाँ ! मैं तुम्हारा शत्रु नहीं हूँ।" भीम ने कुछ अन्यमनस्क भाव से कहा, "पर क्या तुम सचमुच नहीं जानते कि जिन लोगों ने आज प्रातः यहाँ आकर शिविर स्थापित किया है, वे कौन हैं ?"

"नहीं ! कैसे जानूँगा मैं।" उसने कहा, "वैसे दस्युओं का कोई बड़ा दल लगता है। उनके पास गज और रथ हैं, जो सामान्य दस्युओं के पास नहीं होते, किन्तु खांडवप्रस्थ में तो ऐसे दस्यु भी हैं, जिनकी अपनी सेनाएँ हैं। यदि कभी हस्तिनापुर से सेना आ जाए और धृतराष्ट्र यहाँ अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न करे, तो ये दस्यु उससे युद्ध करने में भी समर्थ हैं। वे लोग अत्यन्त संगठित हैं और उन्हें महाशक्तियों का संरक्षण प्राप्त है। उनमें से कुछ तो देवराज इन्द्र की जय बोलते हैं, कुछ अग्निदेव की, कुछ नागराज वासुकि की और कुछ दस्युराज शंबर की।" उसने रुककर भीम की ओर देखा, "पर तुम कौन हो ?"

"हम लोग हस्तिनापुर से आए हैं। हम दस्युओं का आधिपत्य समाप्त कर यहाँ

महाराज युधिष्ठिर का राज्य स्थापित करेंगे।" भीम ने धीरे से कहा, "मैं महाराज युधिष्ठिर का छोटा भाई युवराज भीम हूँ।"

अक्षय का सारा शरीर काँप गया, "पर तुमने तो कहा था कि तुम मेरे शत्रु नहीं हो।"

"हाँ ! मैं तुम्हारा शत्रु नहीं हूँ, क्योंकि मैं दस्युओं से तुम्हारी रक्षा करूँगा।" भीम बोला, "मैं तुम्हारा शुभचिन्तक हूँ, इसलिए वही करूँगा, जिसमें तुम्हारा हित हो।"

"पर मैंने तुम्हारे दुर्ग की प्राचीर में सेंध लगाई है।" अक्षय बोला, "मैं यहाँ चोरी के प्रयोजन से आया था।"

"उस अपराध के लिए मैं तुम्हें महाराज युधिष्ठिर के सम्मुख उपस्थित करूँगा।" भीम ने उत्तर दिया, "किन्तु मुझे विश्वास है कि वे तुम्हारी भूख को अपराधी मानकर तुम्हें क्षमा कर देंगे।"

"और यदि उन्होंने मुझे क्षमा नहीं किया तो ?" अक्षय अब भी भय से काँप रहा था।

"नहीं ! वे अवश्य ही तुम्हें क्षमा कर देंगे। धर्मराज अत्यन्त दयालु हैं। वे तुम्हें अपराधी नहीं मानेंगे।"

"तो फिर आप ही क्यों मुझे क्षमा नहीं कर देते ?" अक्षय के स्वर में विनय भी थी और आग्रह भी।

"मैं अपने कर्तव्य के हाथों बँधा हुआ हूँ।" भीम ने कहा, "मैं राजा की इच्छा के बिना उनके अपराधी को मुक्त नहीं कर सकता।"

"कहीं वे भी राजधर्म में बँधकर मुझे कारावास का दण्ड दे दें तो ?"

"मैं तुम्हें अपने बन्दी के रूप में उनसे माँग लूँगा, और वचन देता हूँ कि तुम्हें सुरक्षित मुक्त कर दूँगा।"

अक्षय की आँखों में कुछ आश्वस्ति दिखाई दी।

प्रातः भीम ने अक्षय को अभियोग सहित युधिष्ठिर के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। युधिष्ठिर ने अभियोग सुना और मौन रह गए।

थोड़ी देर में उन्होंने अपनी दृष्टि उठाई और अक्षय से सम्बोधित हुए, "मनुष्य को विधाता ने उच्चतर चेतना दी है। श्रम मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। श्रम कर धर्मपूर्वक आजीविका कमाना उसकी प्रकृति के अधिक अनुकूल है। पशु इस चेतना से वंचित है, इसलिए उससे अपनी इच्छानुसार कार्य करवाने के लिए मनुष्य उसे लोभ तथा त्रास के माध्यम से कर्मशील बनाता है। जब विधाता ने तुम्हें मनुष्य बनाया है, तो तुम प्रयत्नपूर्वक पशु धरातल पर क्यों जीना चाहते हो ?"

अक्षय को राजा से इस प्रकार के प्रश्न की तनिक भी आशा नहीं थी। वस्तुतः युधिष्ठिर के सम्मुख उपस्थित किए जाने तक तो वह भीम का वचन भी पूर्णतः भूल चुका था और यह मान बैठा था कि या तो उसे कारावास का दण्ड दिया जाएगा या राजा बहुत दयालु हुआ तो गिन-गिन कर कशा लगाए जाएँगे···किन्तु यह प्रश्न···

"महाराज !" उसका भय कुछ कम हो गया था, "जिस प्रकार कल मैं गेहूँ की रोटी की सोंधी गंध सूँघ-सूँघकर उसे पाने के लिए तड़पता रहा हूँ और भय के कारण सम्मुख आने से स्वयं को विरत करता रहा हूँ, उससे मैं अपनी दृष्टि में भी पशु ही हो चुका हूँ···लोभी कुत्ता, जिसे अपनी इन्द्रियों पर तनिक भी अधिकार नहीं है··· किन्तु महाराज ! यदि मुझे अभय दें तो इतना तो कहना ही चाहूँगा, कि मुझे मनुष्य से पशु बनाने का अपराधी स्वयं शासन है। यदि यहाँ सुशासन होता तो मेरे ही समान यहाँ सहस्रों मनुष्यों की ऐसी दुर्गति क्यों होती ?"

अक्षय ने कह तो दिया, किन्तु कहकर जैसे उसकी आत्मा काँप उठी : कहीं राजा ने कुपित होकर उसकी त्वचा उसके माँस से पृथक् करवा दी तो ?···

किन्तु युधिष्ठिर के चेहरे पर तनिक भी रोष नहीं झलका। वे पहले के ही समान अत्यन्त शान्त भाव से बोले, "मैं स्वीकार करता हूँ कि शासन का प्रथम कर्तव्य है, दुष्ट-दलन। यहाँ शासन था ही नहीं, अतः दुष्ट-दलन नहीं हुआ और उन दुष्टों के कारण, तुम्हें मनुष्य से पशु बनना पड़ा। किन्तु अब यहाँ धर्म-राज्य स्थापित होगा। यह शुभ-कार्य, हम तुमसे आरम्भ करते हैं।"

युधिष्ठिर रुक गये। अक्षय ने उसकी ओर आतुर दृष्टि से देखा : जाने महाराज ने क्या निश्चय किया है।

"तुम्हारे साथ भवन-निर्माण का कार्य करने वाले अन्य लेपक भी होंगे।"

"हमारा पूरा समूह इसी वन-प्रान्तर में मारा-मारा फिर रहा है महाराज।"

"उन सबको ले आओ और हमारे लिए नगरी का निर्माण करो।"

"पारिश्रमिक मिलेगा महाराज ?" अक्षय के मुख से जैसे अनायास ही निकल गया।

युधिष्ठिर के चेहरे पर मधुर मुस्कान फैल गई, "यदि एक दिन के कार्य के पश्चात् हम तुम्हें पारिश्रमिक नहीं देंगे तो तुम अगले दिन कार्य कैसे करोगे ?···और उससे भी महत्वपूर्ण प्रश्न यह है अक्षय कि तब तुम पशु से मनुष्य कैसे बनोगे ?"

"जी महाराज !" अक्षय बोला, "किन्तु···" ?

"किन्तु क्या लेपक ?"

"आप भूख से हमारी रक्षा कर भी लें, तो दस्युओं से हमारी रक्षा कौन करेगा ?" वह बोला, "आप हमें जो भी पारिश्रमिक देंगे, वे लोग उसे हमसे छीन लेंगे।"

"उनसे भी तुम्हारी रक्षा की जाएगी।" युधिष्ठिर बोले, "तुम्हारी ही क्यों, इस क्षण से हम अपने प्रत्येक प्रजाजन की रक्षा के लिए कर्तव्य-बाध्य हैं।"

"पर कैसे करेंगे आप हमारी रक्षा।" अक्षय जैसे अपने ही रोष में रो पड़ा, "आप कितने सैनिक भेजेंगे। यहाँ तो इतने दस्यु हैं, जितने खांडव-वन में वृक्ष नहीं हैं।"

"चिन्ता मत करो !" युधिष्ठिर के स्वर में सांत्वना थी, "हम तुम्हें अपने इस अवरोध के भीतर आवास देंगे।"

"प्रत्येक लेपक को ?" उसने आश्चर्य से पूछा।

"प्रत्येक लेपक को। प्रत्येक श्रमिक को।" युधिष्ठिर बोले, "वरन् तुम लोग इस नए प्रस्तावित नगर की सीमाएँ ही श्रमिकों के आवासों के निर्माण से आरम्भ करो। बाहर की ओर से वह प्राचीर हो और भीतर से वे श्रमिकों के आवास हों। मेरा विश्वास करो

वे तुम्हें कोई क्षति नहीं पहुँचा सकेंगे।"

किन्तु अक्षय के चेहरे की प्रसन्नता अधिक देर स्थिर नहीं रह सकी, "ऐसे में वे और भी दुष्टता करेंगे। हम दिन-भर में जितना निर्माण करेंगे, वे रात के अन्धकार में उसे नष्ट कर जाएँगे।"

"उसकी चिन्ता तुम्हें नहीं करनी है।" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "दुष्ट-दलन हमारा धर्म है और आत्मरक्षा हमारी आवश्यकता । वैसे तुम लोग जितनी देर काम करोगे, उसका पारिश्रमिक तुम्हें दिया जाएगा, चाहे वह निर्माण रहे अथवा दस्युओं द्वारा भंग कर दिया जाए।"

"तो ठीक है महाराज ! आप मुझे मुक्त कर दें, मैं अपनी बस्ती में जाकर अपनी श्रेणी के लोगों को सूचित कर दूँगा । जो लोग आना चाहेंगे, वे कल से काम पर आ जाएँगे। जो नहीं आना चाहेंगे, उनकी इच्छा ।"

"ठीक है।" युधिष्ठिर की दृष्टि उसके चेहरे पर टिक गई, "कहीं ऐसा तो नहीं कि तुम्हारा मन्तव्य जानकर कोई तुम्हें यहाँ आने से रोके ?"

अक्षय को जैसे कुछ स्मरण हो आया, "आपने ठीक ही कहा है महाराज ! यदि उन्हें कहीं यह सूचना मिल गई कि मैं यहाँ धर्मपूर्वक अपनी आजीविका कमा कर भी सुरक्षित रहूँगा और वे लोग मेरा रक्त नहीं पी सकेंगे, तो बहुत सम्भव है कि वे लोग मुझे यहाँ आने ही न दें ! " पर अगले ही क्षण जैसे उसे कोई समाधान सूझ गया, "किन्तु कोई बात नहीं महाराज ! मैं उनके सम्मुख झूठ बोल दूँगा। मैं कह दूँगा कि मैं तो यहाँ चोरी की टोह में काम कर रहा हूँ। जैसे ही अवसर मिलेगा, चोरी करके भाग जाऊँगा। पर महाराज। ऐसे में यह न हो कि कुछ दस्यु ही मेरे साथ लग जाएँ और श्रमिकों के रूप में यहाँ आ जाएँ।"

"तुम उनकी चिन्ता मत करो। यहाँ आने वाला प्रत्येक दस्यु या तो अपनी वृत्ति छोड़ेगा या फिर अपने प्राणों से हाथ धोयेगा।" युधिष्ठिर ने कहा, "किन्तु तुम मिथ्या-भाषण करो, यह तो उचित नहीं है।"

"मिथ्या-भाषण ! इसमें मिथ्या क्या है ?" अक्षय बोला, "अपने रहस्य को अनुद्घाटित रखने के लिए मिथ्या-भाष्ण तो करना ही पड़ता है।"

"जब तक हम अधर्म को जीवन की अनिवार्यता मानते रहेंगे, तब तक हमें उससे मुक्ति नहीं मिलेगी अक्षय !" युधिष्ठिर का स्वर एक विचित्र प्रकार की आत्मीयता लिए हुए था, "यदि स्वच्छतापूर्वक जीना है तो हमें निश्चय करना होगा कि हम अधर्म से मिली कोई भी सुविधा स्वीकार नहीं करेंगे।"

"महाराज सत्य कह रहे हैं।" अक्षय धीरे से बोला, "शायद आपकी शरण में हमें भी स्वच्छ जीवन मिल सके।"

3

अगले दिन प्रातः ही अपने वचनानुसार अक्षय भीम के पास आ उपस्थित हुआ। जाने क्यों उसे युधिष्ठिर अथवा किसी अन्य व्यक्ति के पास जाना सुविधाजनक नहीं लग रहा था। यद्यपि भीम ने उसे प्राचीर में सेंध-लगाते हुए पकड़ा था, किंतु फिर भी उसे भीम ही अधिक सुलभ और आत्मीय लगता था। अक्षय को लगता था कि भीम के पास राजकीय अधिकार तो सारे थे, किंतु उसके आस-पास राजसी महिमा का कोई अवरोध नहीं था।

"अकेले ही आए हो ?" भीम ने कुछ चकित होकर पूछा।

"अभी तो अकेला ही आया हूँ।" वह इस प्रकार बोला, जैसे उसे स्वयं भी अपनी बात पर विश्वास न हो, "अन्य लोगों ने बाद में आने के लिए कहा है।"

"बाद में का क्या अर्थ ?" भीम के स्वर में हल्की-सी खीझ थी, "निर्माणकार्य तो प्रातः ही आरम्भ होता है। वैसे भी इस ऋतु में दिन चढ़ते ही सूर्य इतना प्रखर हो जाएगा कि काम हो नहीं पाएगा। सबकी इच्छा होगी कि यमुना के जल में डुबकियाँ लगाते रहें।"

"मुझे लगता है राजकुमार ! कि उनकी अपनी इच्छा तो है कि वे काम कर श्रम से अपनी आजीविका चलाएँ, किंतु वे भयभीत हैं।"

"ओह-हो !" भीम कुछ खीझ उठा, "क्यों भयभीत हैं ? हमने जब कहा है कि उनकी रक्षा का दायित्व हमारा है तो उनके भय का कारण ही कहाँ है।"

"आप बहुत भोले हैं राजकुमार !" अक्षय बहुत साहस करके बोला, "आपके कहने से ही कोई आपका विश्वास कैसे कर लेगा। कोई प्रमाण भी तो होना चाहिए न।"

"क्या अभिप्राय है तुम्हारा ?" भीम ने उसे घूरकर देखा। उसकी आँखों के सामने अपने और अर्जुन के पराक्रम के सारे दृश्य घूम गए।...ऐसे-ऐसे विकट कार्य किए हैं उन्होंने और यह मूर्ख कहता है कि कोई प्रमाण भी तो होना चाहिए।

अक्षय कुछ सहम गया : वह जिसके भरोसे खांडवप्रस्थ की सारी छोटी-बड़ी दस्यु शक्तियों को अंगूठा दिखाने की बात सोच कर आया था, वह ही उससे रुष्ट हो गया तो ?

भीम तत्काल अपनी भूल समझ गया : उसे अपने पक्ष में आए किसी व्यक्ति को भयभीत नहीं करना था, अन्यथा वह उसकी गणना भी एक नए दस्यु के रूप में करने लगेगा।

"कैसा प्रमाण चाहिए, तुम्हारे मित्रों को ?" वह सायास मुस्कराया, "जो कहो, वही प्रमाण उपस्थित कर दें।"

अक्षय इस बार कुछ सावधान होकर बोला, "मुझे तो कोई प्रमाण नहीं चाहिए युवराज ! देखिए, मैं तो आपके विश्वास पर यहाँ आ ही गया हूँ।" उसका स्वर लगभग वैसा ही था, जैसा निर्भयता का अभिनय करने वाले किसी भयभीत बालक का होता है,"वे लोग शायद रुक कर देखना चाहते हैं कि कोई दस्यु-दल आपसे भयभीत होकर आपका मित्र बनता है या नहीं...या फिर इंद्र अथवा अग्नि में से कोई आपका सहायक हो जाए...।"

"इंद्र यहाँ आया हुआ है क्या ?' भीम ने कुछ आतुर और उत्सुक स्वर में पूछा।

"इंद्र यहाँ कब आते हैं।" अक्षय बोला, "यहाँ तो इंद्र वही है जो इंद्र की जय बोलकर उत्पात करनेवाले दल का नेता है।"

"यह ठीक कह रहा है मध्यम !"

कृष्ण का स्वर सुनकर भीम चौंक कर मुड़ा, "तुम कब आए।"

"यह ठीक कह रहा है।" कृष्ण ने दुहराया, "पांडवों के पराक्रम की न यहाँ किसी को सूचना है, न उसका ज्ञान। तो फिर उनकी बात का विश्वास कोई कैसे कर सकता है। और इन लोगों के भय की यह सीमा है कि वे यह विश्वास किए बैठे हैं कि यहाँ निर्माण-कार्य आरंभ होते ही दस्युओं के अनेक दल हम पर टूट पड़ेंगे और सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा।"

"तुम्हें यह सब कैसे मालूम हुआ ?" भीम ने पूछा।

"मैं और अर्जुन आज प्रातः से ही इस क्षेत्र में घूम रहे हैं।" कृष्ण के चेहरे पर मधुर मुस्कान थी, "हमने बहुत कुछ नया जाना और सीखा है मध्यम ! यहाँ के निवासियों के मन में एक आशंका यह भी है कि जाने हमारे पास निर्माण के लिए धन भी है या नहीं, और यदि धन भी है तो हम उन्हें पारिश्रामिक देंगे भी या नहीं।"

"हाँ ! हाँ ! !" अक्षय कुछ उत्साहित होकर बोला, "मेरी श्रेणी के अनेक लोग यही बात कह रहे थे।"

"इसलिए जब तक हम उनका विश्वास नहीं जीत लेते, हमारा काम गति नहीं पकड़ सकता।" सहसा कृष्ण ने अक्षय की ओर मुड़ कर कहा, "यदि तुम्हारी श्रेणी का कोई व्यक्ति नहीं आता तो क्या तुम अकेले ही प्राचीर निर्माण का कार्य आंरभ कर सकते हो ?"

"मुझे उसमें क्या आपत्ति हो सकती है।" अक्षय कह तो गया, किंतु उसके मन का असमंजस उसके चेहरे पर अंकित था, "पर उसमें कितना समय लग जाएगा। कब पूरी होगी वह।"

"उसमें तुम्हारे लिए कोई कठिनाई नहीं है।" कृष्ण ने कहा, "एक दीर्घकाल के लिए तुम्हारी आजीविका का प्रबंध हो जाएगा। बस ! तुम्हें यह भय न व्यापे कि तुम अपनी श्रेणी के लोगों से पृथक, अकेले होकर कोई ऐसा काम कर रहे हो जो तुम्हारी श्रेणी के अन्य लोग नहीं करना चाहते। तुम्हें यह न लगे कि तुम्हारी श्रेणी के लोग तुम्हारे विरोधी हैं। तुम्हें यह न लगे कि तुम असुरक्षित हो।"

अक्षय चुपचाप खड़ा भूमि को घूरता रहा।

"वैसे मुझे पूर्ण विश्वास है कि ऐसी स्थिति अधिक समय तक नहीं रहेगी।" कृष्ण ने कहा, "यदि तुम पूरा एक दिन भी निष्कम्प रहकर कार्य करते रहोगे, तो तुम्हारी श्रेणी के लोग अगले दिन से तुम्हारे साथ काम करने के लिए आ जाएँगे।"

"क्या यह संभव है ?" अक्षय को विश्वास नहीं हो रहा था।

"मैं चाहता हूँ कि तुम केवल एक दिन बिना किसी प्रमाण के हमारा विश्वास करो।" कृष्ण की दृष्टि और मुस्कान ने सम्मोहन की सृष्टि की, "दूसरे दिन तुम अपनी इच्छानुसार कोई भी निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र हो।"

"मैं प्रस्तुत हूँ।" अक्षय किसी भी प्रकार के प्रतिरोध के लिए जैसे सक्षम ही नहीं

रह गया था।

"तो फिर कार्य आरंभ करो।" कृष्ण ने उसे आदेश दिया।

अक्षय निर्माण-स्थल पर चला गया और भीम कृष्ण के साथ युधिष्ठिर के मंडप में आ गया। वहाँ सारे पांडव एकत्रित थे और नगर-निर्माण के विषय में ही चर्चा कर रहे थे।

"नगर-निर्माण से पहले हमें यहाँ एक छोटा-मोटा अश्वमेध यज्ञ करना पड़ेगा।" कृष्ण ने गंभीर स्वर में कहा, "अन्यथा हमें न तो उपयुक्त संख्या में श्रमिक मिल पायेंगे, न लेपक न वास्तुकार।"

"कैसा अश्वमेध यज्ञ ?" युधिष्ठिर ने किंचित आश्चर्य से पूछा।

कृष्ण ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया। वे कुछ इस प्रकार आत्मलीन रहे, जैसे युधिष्ठिर ने उनसे कुछ पूछा ही न हो। स्वयं को एक आसन पर आरामपूर्वक स्थापित कर वे निश्चिंत भाव से बोले, "यहाँ दस्यु-दमन किए बिना, प्रजा के मन से उनका भय नहीं जाएगा। लगता है कि यहाँ के सारे दस्यु-दल नगर-निर्माण के विरोधी हैं। बहुत संभव है कि उन्हें लगता हो कि नगर-निर्माण से यहाँ व्यवस्था की स्थापना हो जाएगी और अराजकता समाप्त हो जाएगी।"

"तो क्या हुआ ?" भीम बोला, "कौन है जिसे व्यवस्था नहीं, अराजकता चाहिए ?"

"बड़े भोले हो मध्यम !" कृष्ण के स्वर में ताड़ना भी थी और स्नेह भी, "व्यवस्था में दुष्ट-दलन होता है, इसलिए दस्यु अराजकता चाहता है। अशासन अथवा दुर्बल शासन सदा ही दुष्टों का सहायक होता है।"

"अश्वमेध यज्ञ से क्या तात्पर्य है आपका ?" नकुल ने पूछा।

"भई ! लेपक को निर्माण-कार्य पर लगा दिया जाए चाहे वह अकेला ही क्यों न हो और हमारे सारे योद्धा, दस्यु-दलों से उसकी रक्षा करें। यदि हम उसे किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचने देते और उसका कार्य निर्विघ्न चलता रहता है, तो खांडवप्रस्थ में हमारा आधिपत्य प्रमाणित होता है और धर्मराज के शासन की घोषणा हो जाती है।"

"तो इसमें कठिनाई ही क्या है।" भीम पूर्ण उत्साह में बोला,"एक लेपक तो हमारे पास है ही। महाराज उसे कार्यारंभ का आदेश दें और मैं अपनी गदा लेकर उसकी रक्षा के लिए खड़ा हो जाता हूँ।"

"मेरे विचार से यह उचित रण-नीति नहीं है।" अर्जुन धीरे से बोला, "हमें लेपक अक्षय की भी रक्षा करनी है और अपने पूरे शिविर तथा इस भवन की भी। संभावित आक्रमणकारियों को इतनी स्वतंत्रता भी नहीं देनी है कि वे जब चाहें अपनी सुविधा और अपनी योजना के अनुसार हम पर आक्रमण करें।"

"ठीक है, हमें प्रतिरक्षात्मक ही नहीं आक्रामक युद्ध भी करना है।" कृष्ण ने कहा, "किंतु निर्माण-कार्य आरंभ कराना भी तो एक प्रकार का आक्रमण ही है। यह उनके लिए चुनौती भी है और एक प्रकार का चक्रव्यूह भी।"

"वह तो ठीक है।" अर्जुन ने उत्तर दिया, "किंतु यदि केवल उसकी ही रक्षा की गयी और उसकी रक्षा के लिए केवल मध्यम को ही नियुक्त किया तो हमारी सफलता

पूर्णतः निश्चित नहीं है।"

"क्यों निश्चित नहीं है ?" भीम का स्वर कुछ उखड़ा हुआ था, "क्या भीम की सफलता में कुछ संदेह है तुम्हें ?"

"नहीं मध्यम ! यह बात नहीं है।" अर्जुन ने स्पष्ट किया, "आप वहाँ अक्षय की रक्षा कर रहे हों। तभी एक या एक से अधिक दस्यु दल, शिविर पर अथवा अन्य कुछ स्थानों पर आक्रमण कर दें। आपको आक्रमण-स्थल पर जाना पड़ जाए और पीछे अक्षय असुरक्षित रह जाए तो ?"

"मेरा विचार है कि हम थोड़ा शक्ति-प्रदर्शन भी करें और थोड़ा वैभव-प्रदर्शन भी।" कृष्ण ने धीरे से कहा, "वैभव-प्रदर्शन से लेपक-श्रेणी तथा श्रमिकों को यह आश्वासन मिलेगा कि हमारे पास धन है और हम उनका पारिश्रामिक देने में समर्थ हैं। दस्यु-दलों के लिए वह आकर्षण भी होगा और चुनौती भी।"

"तो फिर निर्माण-कार्य आंरभ कराओ।" युधिष्ठिर ने कहा, "भीम अक्षय की रक्षा पर नियुक्त रहे। नकुल और सहदेव इस भवन की सुरक्षा का प्रबन्ध करें। कृष्ण और अर्जुन शिविर की रक्षा का दायित्व लें। बलराम भैया यहां मेरे साथ रहें। हम आवश्यकतानुसार सहायता के लिए पहुँचते रहेंगे।"

अक्षय ने हाथ में करनी ली, तो उसका हाथ काँप रहा था, जाने उसका यह निश्चय उचित था या नहीं। उसकी श्रेणी का कोई आदमी उसके साथ नहीं आया था। वे काम करना चाहते थे। निर्माण-कार्य से उनका कोई विरोध नहीं था।··· पर वे दस्युओं से इतने भयभीत थे कि यहाँ आने का साहस ही नहीं कर पा रहे थे। यदि इन राजकुमारों का विश्वास कर, वे मान भी लें कि यहाँ वे लोग सुरक्षित हैं, तो उनके परिवार तो बस्ती में थे। वे तो सुरक्षित नहीं थे।···

तभी उसके मन में एक दूसरा विचार कौंधा··· वह बस्ती में रहने वाले परिवारों की बात सोच रहा है··· किन्तु क्या वह स्वयं सुरक्षित है ? उसके साथ काम करने के लिए उसकी श्रेणी के जो अन्य लोग यहाँ आएँगे, वे सुरक्षित हैं ?···यह मोटा राजकुमार हाथ में गदा लिए, बहुत आश्वस्त होकर यहाँ खड़ा है, वह दस्युओं द्वारा दूर से चलाए गए बाणों से उसकी रक्षा कर लेगा ? वे जो जलते हुए अग्निकाष्ठ फेंकेंगे, उन्हें यह अपनी गदा से रोक लेगा ?··· वे आक्रमण कर यहाँ इस प्रतीक्षा में खड़े रहेंगे, कि यह अपनी गदा से उन्हें पीटे ? वे जब स्फूर्ति से भागेंगे, तो यह उनके पीछे दौड़ भी पाएगा ? इसे अश्वारोहण का अभ्यास भी है कि घोड़े पर चढ़ने के प्रयत्न में यह बार-बार धरती पर ही गिरता रहेगा ? और यदि यह अश्वारूढ़ हो भी गया तो क्या भरोसा है कि यह फिसल कर गिर नहीं पड़ेगा, अथवा इसके बोझ से दबकर घोड़ा ही बैठ नहीं जाएगा ?···

अक्षय को लगा, जैसे वर्षों के पश्चात् उसने एक हास्यपूर्ण स्थिति की कल्पना की है, अर्थात् वह कुछ तो निश्चिंत हुआ ही है, अन्यथा भय से निरंतर सूखता हुआ मनुष्य ऐसी मनोरंजक कल्पना कर ही कैसे सकता है ?···पर तत्काल ही उसका मन जैसे सहम कर खड़ा हो गया··· यदि उसे अपनी सुरक्षा का विश्वास नहीं है तो वह यहाँ क्या

कर रहा है ? क्यों वह इन आगंतुकों की बात मान कर उन दस्युओं को अपना चिर-शत्रु बना रहा है ? जाने ये लोग यहाँ रह भी पाएँगे अथवा नहीं, रहना चाहेंगे या नहीं, उसे तो फिर इन्हीं दस्युओं की दया पर जीना होगा··· पर वह अपनी इच्छा से काम करने या न करने के लिए स्वतंत्र कहाँ था ? वह तो रात को चोरी के आरोप में बंदी बनाया गया था। यह तो उसका भाग्य अच्छा था कि इस मोटे ने उस पर अपनी गदा से प्रहार नहीं किया, नहीं तो रात को ही उसके प्राण निकल गए होते और अब तक उसके शव को वन के भूखे पशु खा गए होते।··· उन लोगों ने उस पर दया की, उसे न केवल जीवित छोड़ दिया, वरन् स्नेह और सम्मान का व्यवहार किया। वे उससे निःशुल्क काम नहीं करवा रहे, पारिश्रामिक देने का वचन दिया है, वह भी गेहूँ की रोटी के रूप में। उस मोर-मुकुट वाले ने तो यह भी कहा है कि एक दिन के पश्चात् वह चाहे तो काम छोड़ कर जाने के लिए भी स्वतंत्र है।··· कैसी मोहिनी मुस्कान है उसकी। सामने वाले व्यक्ति का हाथ पकड़ कर रोक ही नहीं लेती, सहमत हो जाने के लिए मनुहार भी करने लगती है। बेड़ियाँ बनकर पैरों को जकड़ लेती है और अनायास ही जिह्वा से सहमति उगलवा लेती है।··· कैसे भले हैं ये लोग ! अवसर मिलने पर भी अब वह दस्युओं के भय के मारे यदि इनका साथ नहीं देगा, तो कैसे मुक्त हो पाएगा दस्युओं के अत्याचार से ?···आज वह इनका आश्वासन पाकर भी सशंक है, और कल यह आश्वासन भी नहीं रहा तो ?···

अक्षय ने अपनी करनी से मसाला डाला और उस पर पत्थर जमा दिया। उसके हाथ ने अपनी पूरी दक्षता से पत्थर को जमाया और मन ने कहा, 'देख ! तनिक भी प्रमाद न हो। काम अच्छा और दृढ़ हो। ऐसा काम, जो इन आगंतुकों का मन मोह ले, ताकि वे यहाँ न भी रहें, तो भी उसे अपने साथ ले जाएँ। इनके साथ रहेगा, तो सुरक्षित भी रहेगा, भूखा भी नहीं मरेगा, और अपमानजनक जीवन भी नहीं जीना पड़ेगा। उसके सौभाग्य ने ही जैसे इन आगंतुकों को यहाँ भेजा है। ऐसे स्वामी उसे फिर कहाँ मिल पाएँगे ?···'

उसने पूरी दक्षता से आठ-दस पत्थर जमा कर ही अपनी दृष्टि ऊपर उठाई और उसकी दृष्टि जैसे क्षितिज पर ही जम गई। दूर वहाँ, ढूहों, ढीलों और वृक्षों के पीछे कौन छिपा बैठा था ? नहीं। वह उसकी आँखों का भ्रम नहीं था··· निश्चित रूप से वहाँ कुछ लोग छिपे हुए थे। वह उनमें से किसी का सिर, किसी की भुजा और किसी की टाँग स्पष्ट रूप से देख पा रहा था··· नहीं। वे पूरी तरह से छिपे हुए भी नहीं थे। यदि स्वयं को पूर्णतः अदृश्य ही रखना चाहते तो इतने असावधान नहीं रहते। वे तो जैसे अपने-आपको प्रदर्शित करने के लिए ही इस प्रकार आ बैठे थे···

अक्षय ने अपनी रीढ़ की हड्डी पर भय की सिहरन का अनुभव किया··· फिर जैसे आश्वासन पाने के लिए उसने दूर खड़े सैनिकों और उनके शस्त्रों की ओर देखा।··· ये सैनिक आगे क्यों नहीं बढ़ रहे थे। वे आदेश की प्रतीक्षा में थे, अथवा उन्हें वे छिपे हुए लोग दिखाई नहीं पड़ रहे थे ?

उसकी दृष्टि पुनः जाकर उन अध-छिपे लोगों पर टिक गई।

भीम ने भी अक्षय की दृष्टि का अनुसरण करके देखा।

"कौन है वे लोग ?"

"कह नहीं सकता राजकुमार।" अक्षय का असमंजस बहुत स्पष्ट था, "बस्ती के साधारण लोग भी हो सकते हैं, जो अपनी उत्सुकतावश यह देखने के लिए यहाँ आ बैठे हों कि यहाँ क्या हो रहा है।··· और दस्यु भी हो सकते हैं, जो आक्रमण करने की ताक में हों··· और यह भी संभव है कि किसी योद्धा के सैन्य-शिविर के लोग हों, जो अपने स्वामी के लिए सूचनाएँ एकत्रित कर रहे हों···।"

भीम ने उसे प्रशंसा भरी दृष्टि से देखा, "तुम इतना सोच-समझ लेते हो, विश्लेषण कर लेते हो, तो तुम्हें कोई उच्चतर कार्य करना चाहिए, जिसमें मात्र शारीरिक श्रम ही न हो, कुछ बौद्धिक कार्य और दायित्व भी जुड़ा हो।"

"मैं अपनी श्रेणी कैसे बदल सकता हूँ ?"

"क्यों ?"

"मेरे पिता लेपक थे। मैं लेपक परिवार में उत्पन्न हुआ हूँ।"

भीम ने जोर का ठहाका लगाया, "मानसिक विकास और वृत्ति-परिवर्तन से श्रेणियाँ और वर्ण तो अपने-आप परिवर्तित हो जाते हैं। कौन अपना विकास नहीं चाहता ?"

"कभी किसी की श्रेणी भी बदली है ?" अक्षय ने आश्चर्य से पूछा।

"क्यों नहीं ? विश्वामित्र क्षत्रिय राजा होते हुए ऋषि बने, नहुष क्षत्रिय होते हुए सर्प हुए, हस्तिनापुर में कर्ण सूत होते हुए, क्षत्रिय हो गया, और संजय सूत होने पर भी मुझे लगता है कि ब्राह्मण हो जाएगा। उसकी प्रवृत्ति वही है।···अच्छा छोड़ो इसे। इस विषय में फिर बात कर लेंगे। पहले देखें कि वे लोग हैं कौन और वहाँ क्या कर रहे हैं ?"

अक्षय का ध्यान पहली बार इस ओर गया कि यह मोटा राजकुमार उन छिपे हुए लोगों से तनिक भी भयभीत नहीं था और बड़े सहज ढंग से हाथ हिला कर उन्हें अपने निकट आने के लिए कह रहा था। उसने अपने सैनिकों को बुलाने का तनिक भी प्रयत्न नहीं किया था।

उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे लोग भी उसके संकेत पर कुछ इस प्रकार अपने छिपने के स्थानों से बाहर निकल उनकी ओर बढ़ने लगे, जैसे वहाँ छिपे बुलाए जाने की ही प्रतीक्षा कर रहे हों।···पर वे थे कौन ? उनके हाथों में शस्त्र भी नहीं थे कि वह मान लेता कि वे लोग इस मोटे राजकुमार को घेरकर उस पर आक्रमण करने के लिए आगे बढ़ रहे थे।··· और यह राजकुमार तो इतना आश्वस्त था, जैसे वह अपने आत्मीय जनों के बीच घिरा हुआ था। उसके मन में न भय था न अविश्वास···या वह अपने आत्मविश्वास के हाथों छला जा रहा था ? क्या वह नहीं जानता था कि इस खांडवप्रस्थ में पिता और पुत्र भी एक-दूसरे से इस प्रकार आश्वस्त नहीं रहते थे ?

वे लोग निकट आए तो अक्षय ने पहचाना···वे सब तो उसी की श्रेणी के लोग थे··· उनमें से कुछ के हाथों में करनी या भवन-निर्माण का कोई अन्य उपकरण था···वे लोग तो इस प्रकार तैयार होकर आए लगते थे, जैसे अच्छे दिनों में कोई आजीविका अर्जन करने के लिए जाता है···

वे राजकुमार से कुछ दूरी पर ही खड़े हो गए, जैसे अब और आगे बढ़ने का

साहस न हो रहा हो।

"मैं हस्तिनापुर के स्वर्गीय सम्राट पांडु का द्वितीय पुत्र तथा खांडवप्रस्थ के महाराज युधिष्ठिर का छोटा भाई भीम हूँ। तुम लोग कौन हो और यहाँ क्या करने आए हो ?" भीम ने उच्च स्वर में पूछा।

उन लोगों ने पहले भीम की ओर देखा और फिर परस्पर एक-दूसरे को देखने लगे।···उनमें से कोई स्पष्ट रूप में कुछ नहीं बोला, किंतु एक हल्के, गुनगुनाते, अस्पष्ट स्वर में सब लोग ही कुछ-न-कुछ कह रहे थे। भीम के चेहरे पर अधैर्य की कुछ हल्की रेखाएं उभरीं और फिर उसने अपने साथ खड़े अक्षय की ओर देखा।

"ये सब तो मेरी ही श्रेणी के लोग हैं राजकुमार।" अक्षय धीरे से बोला, "लगता है, काम करने आए हैं।"

भीम कुछ आश्वस्त होकर उन लोगों की ओर मुड़ा, "तुम लोग लेपक हो ?"

"हाँ !" एक सामूहिक किंतु उल्लसित स्वर आया।

"तुम लोग यहाँ निर्माण-कार्य के लिए आए हो ?" भीम ने पुनः पूछा।

"हाँ !" फिर उसी प्रकार सामूहिक उत्तर आया।

"तो आओ। तुम सबका स्वागत है। निर्माण आरंभ करो।" भीम के स्वर में प्रसन्नता स्पष्ट झलक रही थी।

किंतु उनमें से एक भी आगे नहीं बढ़ा।

भीम के मन में खीझ जन्मी। ये कैसे लोग हैं, जो निर्माण के लिए आए हैं, और फिर आगे नहीं बढ़ रहे। ये निश्चित रूप से उस प्रकार के लोग थे, जो भोजन करने के लिए आसन पर बैठ भी जाते हैं और फिर सामने रखे थाल की ओर हाथ नहीं बढ़ाते। आग्रह पर आग्रह की प्रतीक्षा करते रहते हैं।

"क्या बात है ?" भीम ने पूछा, "तुम लोग कार्य आरंभ क्यों नहीं कर रहे ? क्या तुम लोग नहीं जानते कि समय कम है और काम बहुत अधिक है ?"

"जानते हैं !" एक अस्पष्ट सा उत्तर आया।

"तो फिर काम क्यों आरंभ नहीं करते ?"

इस बार एक वृद्ध कुछ आगे बढ़ आया, "बात यह है राजकुमार ! कि हम लोग काम आरंभ करने से पहले, अपने पारिश्रामिक के विषय में आश्वस्त हो जाना चाहते हैं। कार्य पूरा हो जाने के पश्चात् पता नहीं पारिश्रमिक मिले, न मिले।"

"पारिश्रमिक तुम्हें मिलेगा।" भीम उन्हें आश्वस्त करता हुआ बोला, "क्या तुम्हें मेरा विश्वास नहीं है ?"

"विश्वास तो है।" वृद्ध बोला, "पर इतना अधिक भी नहीं है कि हम उस विश्वास के सहारे सारा दिन काम कर सकें। यदि पारिश्रमिक पहले ही मिल जाता तो हमें कार्य करने में सुविधा होती···।"

"ओह !" भीम के चेहरे पर पहली बार वक्रता उभरी, "शस्त्रबल से हमें लूटने में स्वयं को असमर्थ पाकर अब तुमने यह युक्ति निकाली है।" भीम की दृष्टि उन सबके चेहरे परख गई, "जब तुमने हमारा कोई कार्य किया ही नहीं, तो तुम्हें हम पारिश्रमिक किस बात का दे दें।···और यदि मैं तुम लोगों को पहले पारिश्रमिक दे दूँ, और तुम लोग

बिना कोई काम किए, यहाँ से उठकर चल दो, तो मैं क्या करूँगा ?"

"आपके पास पर्याप्त शस्त्र-बल है राजकुमार !" वृद्ध बोला, "आप चाहें तो कोड़े मार-मार कर हमसे निःशुल्क कार्य करवा सकते हैं, और शुल्क देकर तो आपका हम पर पूरा अधिकार ही बन जाता है। हम निर्बल और असहाय लोग हैं। आपसे पारिश्रमिक लेकर बिना काम किए हम अपने घर तक सुरक्षित पहुँच ही कैसे सकते हैं ?"

भीम ने कुछ विचार किया, "ठीक है।" वह बोला, "तुम लोगों के मन में अविश्वास का भाव बहुत सघन हो गया लगता है। किसी पर भी विश्वास नहीं कर सकते तुम लोग।" उसने उन लोगों की ओर देखा, "तुम कार्य आरंभ करो। मैं पारिश्रमिक के लिए धन लाए जाने की व्यवस्था करवाता हूँ।"

किंतु उनमें से एक व्यक्ति भी अपने स्थान से नहीं हिला।

"अब क्या है ?"

"राजकुमार ! हमें धन नहीं चाहिए।" वही वृद्ध बोला, "हमें तो पारिश्रमिक के रूप में गेहूँ चाहिए।"

"गेहूँ ?"

"हाँ, राजकुमार !" वृद्ध ने उत्तर दिया, "तुम्हारी मुद्राएँ, यहाँ खांडवप्रस्थ में लुटने के काम तो आ सकती हैं, हम जैसे निर्धन और असहाय लोगों का पेट भरने के लिए नहीं। हमें तो गेहूँ ही चाहिए।"

भीम चुपचाप उन्हें देखता रहा। उसके अधरों पर एक हल्की विनोदपूर्ण मुस्कान खेल रही थी।

"क्यों ? नहीं दोगे न गेहूँ ?" वृद्ध का अविश्वास अत्यन्त मुखर हो आया था।

भीम खुलकर हँस पड़ा, "मैं तुम्हें दोष नहीं देता काका ! कि तुम उन लोगों का अविश्वास कर रहे हो, जिनके मुख से निकला शब्द कर्म का प्रमाण होता है, और जो स्वयं भूखे रहकर भी द्वार पर आए भूखे व्यक्ति को भोजन किए बिना नहीं जाने देंगे। तुम्हारा कोई दोष नहीं है। तुमने आज तक शायद वे ही लोग देखे हैं, जिनके लिए शब्द अपने झूठ को छिपाने के लिए आवरण मात्र है। मैं तुम्हें दोष नहीं देता...।"

"दोष मैं माँग भी नहीं रहा राजकुमार !" वृद्ध कुछ अधीर होकर बोला, "गेहूँ दे रहे हो या नहीं ?"

"ओह !" भीम पुनः हँसा, "मैं तुम्हारे पारिश्रमिक की गेहूँ की बोरियाँ मँगवा कर तुम्हारे निकट यहीं रखवा देता हूँ, तुम लोग काम आरंभ करो।" वह रुका, "या पहले तुम गेहूँ अपने घर पहुँचा कर आओगे और तब काम करोगे ?"

"नहीं ! नहीं ! ! इतना ही पर्याप्त है।" वृद्ध बोला और वह अपने साथियों की ओर मुड़ा, "आओ भाइयो।"

लेपक आशंकित थे कि उनके काम आरंभ करते ही, भूमि पर पड़े उन पत्थरों अथवा इधर-उधर उगे हुए वृक्षों के पत्तों में से दस्युओं के दल अथवा विरोधी सैनिक प्रकट हो जाएँगे और उन पर शस्त्रास्त्रों की मार पड़नी आरंभ हो जाएगी।...किंतु ऐसा कुछ नहीं हुआ था। काम निर्विघ्न चलता रहा और क्रमशः उनका संदेह, संकोच तथा भय, हल्के कोहरे के समान विलीन होता चला गया।...उन्होंने यह भी देखा कि कुछ सैनिक खच्चरों पर लाद कर गेहूँ की बोरियाँ वहाँ ला रहे हैं और एक ओर रखते जा रहे हैं।...उनका उत्साह और उल्लास बढ़ता जा रहा था। किसी के मन में यदि कोई भय था तो यही, कि कहीं यह निर्माण-कार्य शीघ्र समाप्त न हो जाए।

भोजन का समय हुआ तो पुनः एक संशय-सा उनके ऊपर आकाश में आ टँगा।

वृद्ध लेपक हरदत्त अपनी करनी प्राचीर पर टिका धीरे-धीरे अक्षय के पास आया, "भोजन का क्या करना है ?"

"क्यों ?" अक्षय जैसे पूर्णतः परिहास की मुद्रा में था, "तुमने मँगवा तो रखी हैं गेहूँ की बोरियाँ। मुट्ठी भर-भर गेहूँ लो और चबाओ।"

"पागल मत बन।" हरदत्त पुनः धीरे से बोला, "भोजन के लिए अवकाश मिलेगा या रात तक ऐसे ही खटते रहना होगा।"

"जाकर पूछ क्यों नहीं लेते उस राजकुमार से।" अक्षय ने उत्तर दिया।

"उससे पूछना होता, तो तेरे पास क्यों आता।" हरदत्त बोला, "तूने अपने भोजन के विषय में क्या सोचा है ?"

"मैंने ?" अक्षय मुस्कराया, "मैं भोजन के विषय में सोचता ही नहीं। मैं तो अपने उस कुटीर के विषय में सोचता रहा हूँ, जो इस प्राचीर के भीतर बनेगा और खांडवप्रस्थ के उन दुष्टों से सुरक्षित होगा।"

हरदत्त ने अक्षय को ऐसे देखा, जैसे वह पागल हो गया हो, "अरे, जीवित रहेगा तो उस कुटीर में निवास करेगा। भोजन के बिना कोई जीवित रह सका है क्या ?"

"मेरा काम है श्रम करना और राजा का काम है मेरी आवश्यकताओं की पूर्ति।" अक्षय बोला, "भोजन के विषय में सोचना, मेरा नहीं, राजकुमार का काम है।"

"वह अपने भोजन के विषय में सोच रहा होगा। सोच क्यों रहा होगा, कहीं बैठा भोजन का आस्वाद ले रहा होगा।" हरदत्त ने इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई; "तू अपनी बात कर।"

"अच्छा !" अक्षय जैसे उसे चिढ़ाते हुए बोला, "मुझे खिलाए बिना वह स्वयं बैठा भोजन कर रहा होगा..."

हरदत्त को लगा कि कहीं वह खीझ कर इस मूर्ख अक्षय पर हाथ ही न छोड़ बैठे...यह उन लोगों से कुछ पहले यहाँ क्या आ गया, अपनी स्थिति ही भूल गया। कैसी बहकी-बहकी बातें कर रहा है।...हरदत्त निराश होकर मुड़ा...पर वह अपने स्थान पर पहुँचा नहीं। उसकी आँखें उन सैनिकों पर जम गई थीं, जो भोजन लेकर उन लोगों की ओर आ रहे थे

और उसके पैर अपने स्थान से उठना भूल गए थे...

"चलो ! सब लोग अपना-अपना भोजन ले लो।" सैनिक ने उच्च स्वर में पुकार कर कहा।

भोजन के पश्चात् उन लोगों ने थोड़ा विश्राम किया और फिर से कार्य आरंभ हो गया। वे लोग आज इतने प्रसन्न थे, जैसे प्रातः से श्रम न कर रहे हों, किसी अत्यन्त सुखद परिवेश में छुट्टी मना रहे हों।

"इन पांडवों ने खांडवप्रस्थ आने में इतना विलंब क्यों किया ?" एक कह रहा था, "पहले आ जाते तो इनका क्या बिगड़ जाता। पर क्यों आते ? आ जाते तो हम इतने निर्बल और असहाय नहीं रहते। हम इतना कष्ट नहीं झेलते। हम पहले ही पीड़ा और भय से मुक्त न हो जाते...।"

"मुझे तो अब भय लग रहा है।..." दूसरे ने कहा।

"अब ? अब काहे का भय ?" पहले ने पूछा।

"अरे ये लोग राजा-राजकुमार हैं। जाने कब इनके मन में समा जाए कि यह स्थान रहने योग्य नहीं है। इनका क्या है, ये लोग अपना सामान समेट कर चल देंगे और हम फिर उसी पुराने अंधकार में डूब जाने को यहीं रह जाएँगे...।" दूसरे ने कहा।

"मुझे इसका भय तो नहीं है।" तीसरा बोला, "पर हाँ ! यह भय अवश्य है कि यह प्राचीर बन गयी तो हमारा काम समाप्त हो जाएगा। फिर हम कहाँ जाएँगे ?"

"क्या व्यर्थ की बातें सोच रहे हो तुम लोग।" अक्षय ने उनकी बातों में हस्तक्षेप किया, "ये पांडु-पुत्र किसी एक भवन का निर्माण करवाने वाले न्यायप्रिय और दयालु स्वामी मात्र नहीं हैं, कि अपने भवन का निर्माण करवा कर ये तुम लोगों को हाथ जोड़ कर विदा कर देंगे। ये लोग खांडवप्रस्थ के राजा हैं। यहाँ आए हैं, रहने के लिए। यहाँ रहेंगे तो चारों ओर शांति स्थापित करेंगे। पूरा नगर बसेगा। लेपक श्रेणी के लोगों के साथ, अन्य भी बीसियों प्रकार के लोग आकर बसेंगे। सबको भोजन मिलेगा, वस्त्र मिलेगा, आवास मिलेगा, आजीविका मिलेगी, सुरक्षा और सम्मान मिलेगा, न्याय मिलेगा। सब लोग सुख से रह सकेंगे।"

"अच्छा। तूने इतना कैसे जाना ?" वृद्ध हरदत्त ने पूछा।

"प्रातः से तुम लोग देख नहीं रहे उनका व्यवहार ?" अक्षय बोला, "मैंने उन लोगों की बातें सुनी हैं, उनको देखा-परखा है। मुझे लगता है कि अब हमारे भी अच्छे दिन आ रहे हैं।..."

अंधकार घिरने लगा तो भीम ने आकर दिन का काम समाप्त होने की घोषणा की और कहा कि वे लोग अपने-अपने भाग का गेहूँ ले जाएँ।

"गेहूँ का वितरण कौन करेगा राजकुमार ?" हरदत्त से पूछे बिना नहीं रहा गया।

"क्यों ? वे सैनिक खड़े हैं। वे ही वितरित करेंगे।"

"क्या वे हमसे अपना भाग नहीं माँगेंगे ?" हरदत्त धीरे से बोला, "आप स्वयं बाँट देते तो···" और सहसा वह सहम कर चुप हो गया, कहीं वह अपनी मर्यादा का उल्लंघन तो नहीं कर बैठा ?··· कहीं राजकुमार भी लेपकों को गेहूँ वितरित करते हैं ?··· राजकुमार रुष्ट हो गया तो ?···

पर भीम रुष्ट नहीं हुआ। वह हँस पड़ा, "अपना भय त्यागो हरदत्त काका ! यहाँ कोई तुमसे अपना भाग नहीं माँगेगा। उन्हें महाराज युधिष्ठिर की ओर से पर्याप्त अन्न मिलता है। फिर भी यदि कोई तुमसे माँगे अथवा छीने तो निस्संकोच मुझे बताओ। यह मेरे हाथ में गदा है न। यह भ्रष्ट और अत्याचारियों की काल है···।" भीम ने रुक कर उसकी बाँह थाम ली, "मुझे तो केवल यह बताओ कि तुम लोग कल काम पर आ रहे हो न ?"

"निश्चित रूप से। इसमें संदेह की क्या बात है राजकुमार ?" हरदत्त बोला, "इतने दिनों के पश्चात् तो ऐसा काम मिला है, जिसका पारिश्रमिक भी दिया जाता है। हमारा विश्वास कीजिए, जितने लोगों ने आज काम किया है, वे तो कल आएँगे ही, बहुत संभव है कि कुछ और भी आना चाहेंगे। क्या आप उन्हें भी काम देंगे ?"

"महाराज युधिष्ठिर के राज्य में हर हाथ को काम मिलेगा।" भीम बोला, "श्रम मनुष्य की सहज एवं नैसर्गिक वृत्ति है, और आजीविका उसका अधिकार है।··· फिर हरदत्त काका ! यह तो निर्माण की घड़ी है। चारों ओर काम ही काम है। निर्माण करने वाले जितने हाथ मिलें, श्रम के इच्छुक जितने मन मिलें··· उन सबको ले आओ।"

हरदत्त ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और अपना पारिश्रमिक लेने के लिए आगे बढ़ गया।

गेहूँ को अच्छी तरह अपने अंगोछे में बाध लेने के पश्चात् उसने दृष्टि उठाई तो उसे अक्षय अपने सामने खड़ा दिखाई दिया।

"कल काम पर अवश्य आना काका।" वह बोला।

"अवश्य आऊँगा। मैं क्या बावला हूँ कि ऐसे अच्छे काम और ऐसे अच्छे स्वामियों को छोड़ निठल्ला घर बैठा रहूँ।" हरदत्त बोला, "पर तू इस प्रकार क्यों बोल रहा है, जैसे यहीं से हमें विदा कर रहा हो। तू हमारे साथ घर नहीं चल रहा क्या ?"

"नहीं काका। मैं यहीं रहूँगा। पांडवों के इस शिविर में।" वह बोला, "वहाँ क्या रखा है ? हमें कल भी रहने के लिए यहीं आना है, तो फिर आज ही से क्यों न रहने लगें ?"

"तेरी इच्छा है भाई।" हरदत्त ने उत्तर दिया, "तू यहाँ अकेला ही रहना चाहे तो तुझे कौन रोक सकता है। मैंने तो इसलिए कहा था, कि बस्ती में हम सब इकट्ठे रहते आए हैं। फिर वहाँ तेरा घर है।···"

"अब तो यहीं घर बनाऊँगा काका।"

"अच्छा भाई। कल भेंट होगी।" हरदत्त के मन में सहसा ही घर जाने की जल्दी मच गई थी।

हरदत्त के जाने के बाद सहसा अक्षय जैसे स्वयं ही अपने इस निश्चय पर संदेह

करने लगा : क्यों रुक गया, वह पीछे ? कौन बैठा है उसका अपना यहाँ ?··· अपना और पराया ?···अक्षय के मन में जैसे प्रश्नों के सैकड़ों बिच्छू दंश मार रहे थे··· कौन होता है अपना ? और कौन होता है पराया ? इन सब शब्दों का कोई अर्थ भी है ? इससे पहले कब मिला था वह भीम से ? क्या संबंध था उसका इस मोटे राजकुमार से ? वह तो यहाँ चोरी करने आया था··· पकड़ा भी गया था··· फिर भी भीम ने न स्वयं उसे दंडित किया और न महाराज युधिष्ठिर से दंड दिलवाया।···कहीं भीम अपना-पराया.सोचने बैठता तो कहाँ होता अक्षय इस समय ! बेड़ियों में बँधा कहीं सैनिकों के कोड़े झेल रहा होता··· या क्या पता है कि मृत्यु-लोक में ही पहुँच गया होता ! भीम ने न केवल यह सब होने दिया, वरन्! उसकी सारी आवश्यकताओं की देख-भाल की।···उसे भीम अच्छा लगने लगा था, अपना लगने लगा था···शायद इसीलिए अक्षय यहाँ रुक गया था कि वह उस मोटे राजकुमार भीम के साथ कुछ और समय व्यतीत कर सके। उसकी बातें सुन सके। उसने कहा था कि विकास का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को है। विकास से क्या तात्पर्य था उसका ? अधिक सुविधाएँ ? समृद्धि ? अधिक ज्ञान ? स्वच्छ जीवन ? निर्मल मन ?··· क्या है विकास ?··· और उनके साथ वह यादव राजकुमार भी तो है···कृष्ण। कृष्ण ने कहा था न कि वह एक दिन बिना प्रमाण के उसका विश्वास करे।···बस एक दिन ! और एक ही दिन में क्या कुछ हो गया।···कैसा मनमोहन रूप है कृष्ण का··· और उसकी वाणी···किसी अत्यन्त मधुर वेणु की टेर जैसी ! कितनी प्रिय लगती है कानों को।···

प्रातः भीम निर्माण-स्थल पर आया तो सब कुछ शांत और सहज था। कुछ भी असामान्य दिखाई नहीं दे रहा था।

"कैसे हो नायक ?" भीम ने पूछा।

"आपकी कृपा है राजकुमार।"

"रात की कोई घटना ?"

"नहीं ! सब ओर शांति रही !" नायक ने उत्तर दिया।

"तुम किस समय से यहाँ हो ?"

"मैं तो ब्रह्म मुहूर्त में ही आया हूँ राजकुमार ! किंतु मैंने रात के प्रहरियों से सारी जानकारी ले ली थी। कोई उत्पात नहीं हुआ।"

और सहसा भीम की दृष्टि प्राचीर के पास अकेले खड़े अक्षय पर जाकर ठहर गई, "अभी तुम्हारी श्रेणी के लोग नहीं आए ?"

"नहीं राजकुमार !" अक्षय का स्वर कुछ आशंकित था, "मैं भी यही सोच रहा था। लगता है कि कहीं कोई उत्पात हुआ है, नहीं तो अब तक उन लोगों को आ जाना चाहिए था।"

"नायक ने बताया है कि कहीं कोई उत्पात नहीं हुआ !" भीम बोला, "तुम्हारे मन में यह आशंका क्यों है ?"

"मैं यहाँ की बात नहीं कर रहा राजकुमार !" अक्षय बोला, "मुझे भय है कि रात

को बस्ती में कुछ-न-कुछ ऐसा अवश्य हुआ है, जिसके कारण वे लोग अभी तक यहाँ आए नहीं हैं।···मेरा विचार है कि थोड़ी प्रतीक्षा और कर लीजिए। तब भी न आएँ, तो आपको कुछ सैनिक बस्ती में भेजने चाहिए।"

"तो थोड़ी प्रतीक्षा क्यों ?" भीम ने उसकी ओर देखा, "हम अभी चलकर देखते हैं कि बस्ती में सचमुच कुछ हुआ है क्या।"

" 'हम' से क्या तात्पर्य है आपका ?" अक्षय का स्वर डरा हुआ था।

"तुम और मैं !" भीम ने उसकी भुजा पकड़ ली, "चलो।"

"कुछ तो अपनी मर्यादा का विचार कीजिए राजकुमार !" अक्षय जैसे प्रतिरोध करता हुआ बोला, "आप जाएँगे वहाँ ! किन्हीं सैनिकों को भेजिए, जाकर पता लगा आएँगे।··· वैसे भी राजकुमार ! सैनिकों के बिना वहाँ जाने में जान का जोखिम है।"

"आओ।" भीम ने उसे अपनी ओर खींचा, "यदि वहाँ जाने में सचमुच जोखिम है, तो अपने सैनिकों को मैं उस संकट में क्यों धकेलूँ। मुझे स्वयं ही वहाँ जाना चाहिए। देखना मेरी यह गदा जोखिम का कैसे चूर्ण बनाती है।"

भीम ने अक्षय को कुछ भी कहने-सुनने का अवसर नहीं दिया। उसे रथारूढ़ करा कर ही उसने उसका हाथ छोड़ा।

मार्ग में उन्हें कहीं कोई व्यक्ति नहीं मिला। इतना सूना मार्ग अक्षय ने पहले कभी नहीं देखा था : जैसे बस्ती और आस-पास के ग्रामों के लोग ही नहीं वन के निकट तथा वन में रहने वाले सारे के सारे लोग कहीं चले गए हों।···

"क्या बात है ?" उसे चिंतित और परेशान देखकर भीम ने पूछा।

"कितना सन्नाटा है यहाँ।" अक्षय धीरे से बोला।

"अभी लोग घरों से निकले नहीं होंगे।" भीम ने निश्चिंत भाव से कहा, "तुम्हारी बस्ती के लोग बड़े आलसी प्रतीत होते हैं।"

"नहीं। ऐसी बात नहीं है।" अक्षय ने त्वरित ढंग से उत्तर दिया, "आज मुझे सब कुछ असामान्य-सा लग रहा है।"

भीम ने और कुछ नहीं पूछा। उसका ध्यान अपने घोड़ों की ओर चला गया। यहाँ न तो मार्ग ही बहुत साफ था और न रथों का आवागमन ही होता दिखाई देता था। पर्याप्त स्थान न होने के कारण कहीं रथ किसी अड़ियल वृक्ष से टकरा ही न जाए। पता नहीं यहाँ कोई ऐसा सूत-परिवार भी था या नहीं जो अश्वों और रथों के विषय में ठीक-ठीक जानता हो···

अक्षय ने रुकने का संकेत किया।

"क्या बात है ?" भीम ने उसकी ओर मुड़कर निश्चिंत भाव से पूछा, "अभी तो तुम्हारी बस्ती दूर है।"

"बस्ती तो अभी दूर है," अक्षय असमंजस की स्थिति में बोला, "किन्तु मेरा मन कहता है कि आज कुछ-न-कुछ असाधारण घटित हुआ है। हमें इस प्रकार असावधानी में बस्ती तक नहीं चले जाना चाहिए। ऐसा न हो कि वहाँ जाकर हम किसी संकट में फँस जाएँ।

भीम ठठाकर हँस पड़ा और अक्षय के प्राण जैसे उसके कंठ में आ फँसे···यह मोटा

राजकुमार कुछ समझता तो है नहीं। इस प्रकार ठठाकर हँस रहा है कि सबको पता लग जाए कि कोई आ रहा है। गोपनीयता की इसे तनिक भी चिंता नहीं है।"उसने अपने अधरों पर अँगुली रख भीम को मौन होने का संकेत किया।

भीम ने उसी सहज भाव से जोखिम से सर्वथा अनजान बालक के रूप में उसकी ओर देखा, "क्या बात है ?"

अक्षय ने घबराकर कहा, "हमें इस प्रकार प्रकट रूप से बस्ती की ओर नहीं जाना चाहिए राजकुमार ! और कोई ध्वनि तो करनी ही नहीं चाहिए।"

"क्यों ?" भीम ने इस बार कुछ उद्दंडता से पूछा।

"वे लोग यहीं कहीं छिपे होंगे।" अक्षय ने यथासंभव अपने स्वर को दबा कर कहा।

"कौन ?"

"हमारे शत्रु। उन्हें तनिक-सी भी भनक मिल गई तो वे हम पर आक्रमण कर देंगे।"

भीम पुनः ठठाकर हँसा, "यही तो चाहता हूँ मैं। वे हम पर आक्रमण करें तो सही। यहाँ जिसे भी देखा वह आक्रमण की धमकी देता रहता है, पर आक्रमण करता ही नहीं। पता तो चले कि हमारा शत्रु है कौन। यहाँ शत्रुओं की चर्चा बहुत है पर उसका साक्षात्कार नहीं होता।"

अक्षय असहाय दृष्टि से उसकी ओर देखता रह गया, अब ऐसे आदमी को समझाया भी क्या जा सकता था। न वह संकट को समझता है, न संकट से बचने के परामर्श को। पर अक्षय इस प्रकार जानते-बूझते इस मोटे राजकुमार के अज्ञान के कारण अपने प्राण नहीं दे सकता। यदि इसे अपने प्राणों का मोह नहीं है तो न हो, पर अक्षय को तो अपने प्राण प्यारे हैं। वह इस तरह जानबूझ कर मरना नहीं चाहता, "आप भूलते हैं राजकुमार ! कि आपकी सेना इस समय आपके साथ नहीं है।"

भीम इतनी जोर से हँसा कि आसपास के वृक्षों पर स्तब्ध बैठे पक्षी उड़ गए और एक अल्पकालीन कोलाहल उठकर शांत हो गया। अक्षय ने अपने आपको इतना असहाय शायद पहले कभी नहीं पाया था। वह चुपचाप भीम की ओर देखता रहा और मन-ही-मन उस घड़ी को कोसता रहा, जिस समय वह भीम के साथ बस्ती में आने के लिए चल पड़ा था। निश्चय ही वह कोई अत्यंत ही अशुभ घड़ी रही होगी, अन्यथा कोई व्यक्ति जानते-बूझते इस प्रकार की मूर्खता नहीं कर सकता...

भीम ने उसकी ओर देखा और बोला, "तुम उन छोटे-मोटे सैनिकों को सेना कहते हो ? मेरी सेना है मेरी यह गदा। यदि यह मेरे साथ है तो मुझे किसी सेना की आवश्यकता नहीं है। पर तुम इतना डरते क्यों हो ? तुम्हारी रक्षा का दायित्व मुझ पर है। मेरे जीते-जी तुम्हें हाथ लगाना तो दूर कोई तुम्हारी ओर वक्र दृष्टि से देख भी नहीं सकता।"

अक्षय ने फिर भीम को एक असहाय दृष्टि से देखा और मौन रह गया। भीम ने न केवल उसकी भंगिमा को देखा वरन् वह उसके अभिप्राय को भी भली-भाँति समझ गया। बोला, "तुम कहोगे कि मेरे जीते-जी तो ऐसा नहीं होगा, किंतु मेरी मृत्यु के पश्चात् तो हो ही सकता है। और शायद तुम यह भी समझते हो कि मुझे यमलोक पहुँचाने में तुम्हारे इन दस्युओं को देर ही कितनी लगेगी। है न ?"

अक्षय स्वीकृति में सिर हिलाना चाहता था, किंतु भीम का डील-डौल उसे इतना

आतंकित कर रहा था कि यदि वह चाहता भी तो उसका सिर हिलने से इंकार कर देता। वह फटी-फटी आँखों से भीम की ओर देखता भर रहा।

"चलो। अच्छा है। इसी बहाने तुम देख लो कि भीम को यमलोक भिजवाने के लिए इन छोटे-मोटे दस्युओं और सेनानायकों की टुकड़ियाँ सक्षम नहीं हैं। इन सबके लिए तो मैं अकेला ही पर्याप्त से भी बहुत अधिक हूँ।"

वे लोग बस्ती के निकट आ पहुँचे। भीम ने पुनः मुड़कर अक्षय की ओर देखा, "किसके द्वार पर रोकूँ ?"

अक्षय ने एक द्वार की ओर संकेत किया और उसके कंठ से फटा-फटा स्वर फूटा, "हरदत्त के घर के सामने।"

भीम ने वल्गा खींच ली। अश्व ठहर गए। भीम अभी सोच ही रहा था कि वह स्वयं उतरकर द्वार खटखटाए या अक्षय से पुकारने के लिए कहे, कि वह द्वार भीतर से किसी ने धीरे से खोल दिया, जैसे कोई द्वार से लगा ही बैठा हो। भीम को उसे पहचानने में तनिक भी कठिनाई नहीं हुई। वह स्वयं हरदत्त ही था। वह अधरों पर अँगुली रखे उसे भीतर आने का संकेत कर रहा था।

भीम रथ से उतरकर नीचे आया और बिना अपने स्वर को मंद किए सहज भाव से बोला, "मुझे तुम्हारे घर में प्रवेश करने में कोई आपत्ति नहीं है, वरन् तुम्हारा आतिथ्य स्वीकार कर मुझे प्रसन्नता ही होगी, पर तुम लोग इतने भयभीत क्यों हो ? मैं डरे हुए चूहे के समान अपने प्राण बचाने के लिए तुम्हारे संकेत पर इस प्रकार घर में प्रवेश नहीं कर सकता। तुम बाहर निकलो और मुझे स्पष्ट रूप से निःसंकोच बताओ कि तुम लोग अभी तक कार्य करने के लिए वहाँ क्यों नहीं आए ?"

हरदत्त ने मुख से एक भी शब्द नहीं कहा। उसने दोनों हाथ जोड़ दिए और उन जुड़े हुए हाथों से भीम को भीतर आने का विनीत अनुरोध किया। अब भीम स्वयं को रोक नहीं पाया। वह लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ उसके कुटीर में प्रवेश कर गया। भीम और अक्षय के भीतर आते ही हरदत्त ने कपाट बंद कर लिए। भीम धैर्यपूर्वक उसकी ओर देखता रहा। हरदत्त ने भीतर से साँकल लगाया और उसके बाद भी दीवार से अपनी पीठ सटाकर खड़ा हो गया जैसे बाहर से द्वार खोलने का प्रयत्न करने पर वह उसे अपनी पीठ के बल से रोक लेगा।…

"राजकुमार ! हम लोग बहुत संकट में फँस गए हैं। आपके लिए भी कम जोखिम नहीं है…।"

भीम को लगा कि अब वह और धैर्य धारण नहीं कर सकता। बोला, "हरदत्त ! मुझे शीघ्र और ठीक-ठीक बताओ कि ऐसा कौन-सा संकट है जिसके लिए तुम लोग इतने परेशान हो। अपने अधैर्य में मैं कहीं तुम पर ही हाथ न उठा बैठूँ।"

हरदत्त की आँखों की रही-सही ज्योति भी बुझ गई, "मुझे यही भय था।" वह जैसे अपने आपसे बोला, "हमारे लिए तो एक ओर कुआं है, दूसरी ओर खाई। हमें तो कोई भी सबल जब चाहे पीस सकता है। आपकी बात मानें तो वे लोग हमें मार डालेंगे, और उनकी बात मानें तो आप हमें जीवित नहीं छोड़ेंगे। निर्बल और असहाय लोगों के लिए तो मृत्यु ही एकमात्र उपाय है।"

भीम ने अपने दाँत पीस लिए किंतु अपने क्रोध को नियंत्रित करता हुआ बोला, "ऐसी कोई बात नहीं है। बात केवल यह है कि तुम मूर्ख हो, इसलिए हमारी किसी बात का विश्वास नहीं करते। हम चाहें तो तुमसे बलात् भी काम करवा सकते हैं, किंतु हमारी ऐसी कोई इच्छा नहीं है। तुम हमारे जोखिम की चिंता मत करो। मुझे केवल यह बताओ कि तुम्हारा संकट क्या है··· और मेरा नहीं तो धर्मराज युधिष्ठिर के नाम का विश्वास करो। मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि तुम लोग यदि हमारे लिए निर्माण कार्य नहीं भी करोगे तो भी हम तुम्हारा संकट दूर करने का प्रयत्न ही नहीं करेंगे, हम तुम्हारा संकट दूर करके रहेंगे। धर्मराज युधिष्ठिर तुम्हारे राजा हैं और राजा का धर्म अपनी प्रजा का संतान के समान पालन करना है। हम अपने उसी धर्म का निर्वाह करेंगे। बोलो, कैसा संकट है ?"

हरदत्त के अधरों पर एक फीकी-सी मुस्कान आई और वह अपने संपूर्ण आत्मबल को संचित कर बोला, "आज प्रातः वे आए थे। बस्ती के सारे लोगों को उन्होंने घरों से निकाल कर, बाहर मैदान में एकत्रित कर लिया था। कृपा यही की कि वन में नहीं ले गए। हमारे प्रत्येक बच्चे के कंठ पर उन्होंने शूल रख दिया, और कहा कि यह केवल चेतावनी थी। यदि हम आपके लिए प्राचीर-निर्माण का काम करेंगे तो वे शूल हमारे बच्चों के कंठ में प्रवेश ही नहीं करेंगे, वे उसके आरपार हो जाएँगे।···" उसने एक निरीह दृष्टि भीम पर डाली और बोला, "आप ही बताइए राजकुमार ! अब ऐसे में कौन पिता गेहूँ की रोटी खाने के लिए प्राचीर-निर्माण का काम करने जाएगा ?"

"तुम सूचना देने के लिए हमारे पास क्यों नहीं आए ?" भीम का स्वर हल्की-सी कठोरता लिए हुए था, "क्या तुम्हें तनिक भी विश्वास नहीं है कि हम तुम्हारी रक्षा कर सकते हैं ?"

"यदि हम यह विश्वास कर भी लें कि आप हमारी रक्षा कर लेंगे, तो पीछे, यहाँ बस्ती में हमारे बच्चों की रक्षा कौन करेगा ?" हरदत्त बोला, "और बात विश्वास अथवा अविश्वास की नहीं है। हम आपके सैनिकों के अवरोध में नहीं रह सकते। न आपके पास इतने सैनिक हैं, कि प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा के लिए आप सैनिकों के एक-एक गुल्म को नियुक्त करते रहें। आपके सामर्थ्य और आश्वासन के बावजूद हम प्रत्येक क्षण उनकी दया पर ही जीवित हैं। जब भी उनकी इच्छा होगी, वे हम में से जिसकी चाहे हत्या कर सकते हैं।"

"किसी की हत्या तो कोई कठिन काम नहीं है।" भीम बोला, "हत्या तो हम भी कर सकते हैं। अभी मेरे सैनिक आकर तुम्हारे बच्चों के कंठ में अपने शूल चुभोने लगेंगे, तो तुम निर्माण-कार्य के लिए चलोगे, या नहीं ?"

"यही तो हमारी असहायता है।" हरदत्त बोला, "हम किसी से भी तो अपनी रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं।"

"इस लिए तो कह रहा हूँ कि तुम्हारी रक्षा हम करेंगे।" भीम रुका, "तुम मुझे बताओ, दस्युओं का कौन-सा दल था वह ?···अथवा उससे क्या··कोई भी दल रहा हो, होगा तो खांडव-वन में ही ! मैं अभी जाकर, अपनी गदा से उन सबको नष्ट करता हूँ। तुम लोग शांति से अपने घर में बैठे रहो।"

भीम हरदत्त को हटा, कपाट खोल अपने रथ की ओर चल पड़ा।

हरदत्त ने असहाय दृष्टि से एक बार भीम के उस विराट् डील-डौल को देखा, उसके कंधे पर रखी, उस भारी गदा को परखा, और उसकी आँखें जाकर अक्षय पर ठहर गईं। अक्षय ने जैसे नयनों ही नयनों में उसे कोई संदेश दिया, दोनों में कोई मूक संधि हुई और वे दोनों भाग कर भीम के सामने ही नहीं पहुँचे, घुटनों के बल उसके मार्ग में बैठ गए।

"हम पर दया करें राजकुमार !" वे बोले, "आप उन पर आक्रमण करेंगे, तो वे लोग यही समझेंगे कि उसके लिए हमने ही आपसे प्रार्थना की है। वे हमसे और भी रुष्ट होंगे और हमें पीड़ित करने के लिए नए से नए साधन खोज निकालेंगे। आप उनके एक व्यक्ति का वध करेंगे, वे हममें से दस की हत्या कर जाएँगे।"

"आज मेरी समझ में आया कि उनकी रक्षा कौन कर रहा है।" भीम बोला, "तुम न तो उनसे स्वयं लड़ोगे, न किसी को लड़ने दोगे। तुम उनके रक्षा-कवच हो।"

"हाँ राजकुमार !" हरदत्त बोला, "अब सबल निर्बलों की रक्षा नहीं करते, निर्बल ही सबलों के रक्षा-कवच बन गए हैं।"

"पर मुझे यह स्थिति स्वीकार नहीं है।" भीम का स्वर कुछ दृढ़ हो गया, "तुम बाड़े के पशुओं के समान जीवित रहना चाहते हो तो रहो। मुझे यह स्वीकार नहीं है कि महाराज युधिष्ठिर की प्रजा बाड़े के पशु के समान जिए। मुझे तो उन दस्युओं को समाप्त करना ही होगा। तुम मुझे यह बताओ कि वे कौन थे और उनका ठिकाना कहाँ है।"

हरदत्त कुछ नहीं बोला। अपना सिर झुकाए, दाहिने पैर के अंगूठे से भूमि कुरेदता रहा।

"बोलो !" भीम का आक्रोश मुखर होता जा रहा था। उसके चेहरे से प्रकट था कि अब वह अपने क्रोध को अधिक देर नियंत्रित नहीं रख पाएगा, "यह न हो कि मैं अपने मनोनुकूल कुछ कर बैठूँ और बाद में तुम कहो कि तुम्हें धमकाने वाले लोग कोई और ही थे।..."

हरदत्त ने भी जैसे अपने आवेश में अपना झुका हुआ मस्तक उठाया और बोला, "वे साधारण दस्यु नहीं थे, कि मैं आपको नाम बता दूँ और आप उन्हें घसीटते हुए ले आएँ। वे देवराज इंद्र के सैनिक थे। उनका नायक स्वयं उनके साथ आया था।..."

भीम के लिए भी जैसे क्षणभर में सारा ब्रह्मांड घूम गया... इंद्र के सैनिक।...उनका नायक।...

अगले ही क्षण उसका मन पुनः स्थिर होकर अपनी लीक पर चल पड़ा...इंद्र के सैनिक हैं तो क्या हुआ ?... जो दस्यु का कार्य करे, वह दस्यु है ! अपनी प्रजा को पीड़ित करने वाले इन दस्युओं को दंड देना भीम का धर्म है। उन दस्युओं का नाम चाहे कुछ भी हो...

उपयुक्त रथ और शस्त्रास्त्र भी ले लेगा, और एक बार ही सदा के लिए इस झंझट को समाप्त कर देगा…

उसने पलट कर अक्षय की ओर देखा, "मेरे साथ चलोगे, या अब तुम भी यहीं रहोगे ?"

निमिष भर के लिए अक्षय की आँखों में असमंजस झलका, किंतु तत्काल ही उसके निश्चय ने जैसे आकार ले लिया, "मेरा निर्णय हो चुका राजकुमार ! मैं अब सदा के लिए आपके साथ हूँ।"

भीम की इच्छा हुई कि आगे बढ़कर उसे अपनी बाँहों में समेट ले, किंतु यदि वह अपने आवेश को इस प्रकार अभिव्यक्त करता तो संभवतः अक्षय के लिए श्वास लेना भी दूभर हो जाता। उसने वहीं से संकेत किया, "आओ।"

रथ चल पड़ा तो हरदत्त ने जैसे अपने-आपसे कहा, इंद्र का नाम सुनते ही सारे रथ, विपरीत दिशा में मुड़ जाते हैं।

"मेरा तो विचार है कि हमें अपनी रणनीति बदल देनी चाहिए।" कृष्ण ने कहा, "हमें अब युद्ध के स्थान पर शांति-वार्ता आरंभ करनी चाहिए।"

सबने ही चकित दृष्टि से कृष्ण की ओर देखा, किंतु भीम तो जैसे क्षुब्ध ही हो उठा, "क्यों ? क्यों रणनीति बदल देनी चाहिए ? अपने शत्रुओं से शांति-वार्ता का क्या अर्थ है ?"

उसे लग रहा था कि उसने हरदत्त के घर से चलते समय निश्चय करने में भूल की थी। उसे उसी समय खांडव-वन की ओर चल पड़ना चाहिए था। वह इंद्र के सैनिकों का वध कर, उनका स्कंधावार उजाड़ कर अपने शिविर में लौटता तो इस प्रकार की स्थिति ही उत्पन्न न होती। उसे क्या पता था कि कृष्ण भी युद्ध के स्थान पर शांति-वार्ता का पक्ष लेगा।…उसका आवेश बढ़ता ही जा रहा था।…इससे पूर्व कि कोई उसके प्रश्न का उत्तर देता, वह पुनः बोला, "चार व्यक्ति हमारे राज्य में मनमाना उत्पात करें और हम उनसे मैत्री-वार्ता करने चल दें, केवल इसलिए, क्योंकि वे लोग स्वयं को इंद्र के सैनिक कहते हैं। हम, जो सम्राटों की सेनाओं से नहीं डरते, एक नाम से डर जाएँ, एक शब्द से ? इंद्र है क्या ? वह आए और अपने वज्र को मेरी इस गदा से टकरा कर देखे, तो पता चले कि वह क्या है और मैं क्या हूँ।"

"मध्यम !" कृष्ण की वाणी में तनिक भी विकार नहीं आया था, "मैं न इंद्र से डरता हूँ, न ही तुम्हें उससे दुर्बल मानता हूँ।"

"तो फिर युद्ध से घबराते क्यों हो ?"

"युद्ध से घबराता भी नहीं, किंतु युद्ध तो अंतिम साधन है।" कृष्ण ने मुस्करा कर कहा, "मैं तो केवल यह सोच रहा हूँ कि हमें अपनी राजधानी का निर्माण शीघ्रातिशीघ्र करना है। कब तक हम अपने सैनिकों के साथ इस प्रकार शिविर में पड़े रहेंगे।…"

"मैं भी तो वही प्रयत्न कर रहा हूँ।" भीम तड़प कर बोला, "और वे उसी इंद्र के सैनिक हैं, जो हमारे निर्माण में आड़े आ रहे हैं। यदि उसके सैनिक इन लेपकों और

श्रमिकों को इसी प्रकार धमकाते रहेंगे, तो कौन करेगा निर्माण-कार्य ? कैसे बनेगा हमारा नगर ?"

"उसी का एक मार्ग दिखाई दे रहा है मुझे।" कृष्ण ने उत्तर दिया, "जब तक इन लेपकों और श्रमिकों के मन में तनिक भी भय है, तब तक वे हमारे नगर का निर्माण नहीं करेंगे, और जब तक हम निर्माण नहीं करेंगे, तब तक हम अपनी प्रजा को रहने के लिए सुरक्षित स्थान नहीं दे पाएँगे। जब तक उनके लिए सुरक्षित स्थान नहीं होगा, वे निर्भय नहीं हो सकते…"

"तो ?" भीम ने पूछा।

"तो हमें पहले निर्माण करना चाहिए, युद्ध की बात बाद में करनी चाहिए।"

"मैं भी तो युद्ध इसीलिए चाहता हूँ कि निर्माण हो सके, अन्यथा न ये लोग विघ्न डालना छोड़ेंगे, न लेपक आएँगे और न निर्माण होगा।" भीम ने बलपूर्वक कहा।

"मेरा विचार है कि हम स्वयं इंद्र से निर्माण के लिए सहायता माँगें। यदि वह हमारी बात मान कर हमें सहायता देता है तो उसके ये नायक और सैनिक निर्माण में बाधा डालने का साहस कभी नहीं कर पाएँगे। जब इंद्र के सैनिक बाधा नहीं डालेंगे तो शेष छोटे-मोटे दस्यु भी इसका विरोध नहीं करेंगे, क्योंकि इसका विरोध एक प्रकार से इंद्र का ही विरोध माना जाएगा। यदि इंद्र के सैनिक तथा अन्य छोटे-बड़े दस्यु बाधा नहीं डालेंगे तो लेपकों का भय अपने आप समाप्त हो जाएगा। और हमें निर्माण में किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं होगी। क्यों मध्यम ?" कृष्ण ने भीम की ओर देखा।

"तुम लोग मुझे मूर्ख समझते हो क्या जो मैं शांति से होने वाले काम में टाँग अड़ाऊँगा, पर ऐसा हो तब न।" भीम बोला, "तुम तो यह माने बैठे हो कि तुमने संदेश भेजा और इंद्र अपने विश्वकर्मा के साथ यहाँ उपस्थित हो जाएगा। यदि इंद्र तुम्हारी सहायता करने के लिए इतना ही उत्सुक होता तो उसके सैनिक यहाँ इस प्रकार उत्पात क्यों करते ?"

"किंतु कृष्ण की योजना के अनुसार इंद्र से संपर्क करने में हानि ही क्या है ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"हानि केवल यह है कि इंद्र सहायता तो नहीं भेजेगा, इसे हमारी दुर्बलता मान कर, वह अपनी निर्माण विरोधी गतिविधि और भी दृढ़ कर देगा।" भीम ने कहा, "यदि हम उसके स्कंधावार पर आक्रमण कर उसकी सेना को नष्ट कर देते हैं, इस सारे क्षेत्र में उसकी सैनिक क्षमता समाप्त कर देते हैं, तो हमारी शक्ति को देखते हुए वह स्वयं हमारी मित्रता चाहेगा। उस समय कृष्ण चाहे तो उससे मैत्री कर ले।"

"वाह मध्यम !" कृष्ण ने हँसकर कहा, "यह विवाद तो बहुत ही अच्छा है… युद्ध से पहले शांति या युद्ध के पश्चात् शांति। मैं सदा से मानता आया हूँ कि युद्ध अंतिम उपाय है। जब तक शांति के लिए कोई भी मार्ग खुला हो, तब तक युद्ध की बात नहीं सोचनी चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि हमारा प्रस्ताव मान कर इंद्र हमारी सहायता करने आ ही जाएगा, किंतु यदि हम युद्ध की बात सोचते हैं तो हमें इतने निश्चिंत नहीं होना चाहिए कि हम इंद्र की सेना की इन कुछ टुकड़ियों को पराजित कर अपना लक्ष्य प्राप्त करने में सफल हो ही जाएँगे। यह भी संभव है कि हम इस क्षेत्र में इंद्र की शक्ति ध्वस्त

कर दें, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उससे इस क्षेत्र की अन्य शक्तियाँ तथा छोटे-बड़े दस्यु समाप्त हो जाएँगे। बहुत संभव है कि इंद्र की शक्ति समाप्त होने पर, वे लोग और भी प्रबल हो उठें और हमारे लिए एक स्थायी समस्या बन जाएँ। और फिर इंद्र ही कहाँ शांत रहने वाला है। वह और सैनिक ला सकता है। हमारे शत्रुओं से मित्रता कर सकता है। अवसर की प्रतीक्षा कर हमारे लिए किसी भी समय भयंकर शत्रु सिद्ध हो सकता है।..."

"यदि वह इतना ही धूर्त है, तो यह सब तो तुम्हारी शांति-वार्ता के बाद भी हो सकता है।" भीम बोला।

"यदि हमारी शांति-वार्ता के बाद भी वह अपनी दुष्टता नहीं छोड़ता तो अंततः हमें शस्त्र उठाने से कौन रोक सकता है।" कृष्ण ने उत्तर दिया।

"मुझे तो कृष्ण की योजना ही ठीक लगती है।" युधिष्ठिर ने कहा, "अब मेरी समझ में आ रहा है कि भगवान वेदव्यास ने आरंभ में हीं क्यों इंद्र की सहायता लेने के लिए कहा था।"

"मैं कृष्ण की सी वाक्-चातुरी कहाँ से लाऊँ ?" भीम ने जैसे हथियार डाल दिए, "आप सबको तो उसकी ही योजनाएँ पसंद आएँगी। वह न शस्त्र उठाएगा, न युद्ध करेगा, फिर भी सबको पराजित कर देगा।"

"और नहीं तो क्या।" बलराम ने अपने भारी स्वर में कहा, "वह काल यवन से लड़ता नहीं। युद्ध छोड़कर भाग जाता है... और काल-यवन उसके भ्रम में मुचकुंद से जा टकराता है और नष्ट हो जाता है।"

"हाँ ! दूसरों से तो लड़ता नहीं, और जब देखो, मेरे विरोध में जम जाता है।" भीम रुष्ट दिखने का अभिनय कर रहा था, किंतु उसके स्वर में क्रोध का कण भी नहीं था।

"नहीं मध्यम ! मेरा तुमसे कोई विरोध नहीं है।" कृष्ण ने हँसकर कहा, "बात केवल क्रम की है। इंद्र के पास पहले शांति-दूत भेजा जाए या तुम्हारे साथ सेना। बहुत संभव है कि इस संधि के पश्चात् भी हमें तुम्हारी योजना की आवश्यकता हो।"

"ऐसा ही है तो क्रम उलट दो। पहले मुझे सैनिकों के साथ जाने दो और यदि मैं इंद्र का उचित प्रबंध करने में असफल रहा, तो फिर शांति-वार्ता कर लेना।" भीम ने अंतिम प्रयत्न किया।

"शांति-वार्ता के असफल होने पर युद्ध करना अपमानजनक नहीं है, किंतु युद्ध में पराजित होकर संधि का प्रस्ताव भेजना अपमानजनक होगा।"

"मध्यम ! कृष्ण सचमुच तुम्हारे विरुद्ध कुछ नहीं कह रहा। तुम युद्ध की तैयारी रखो। सेना को प्रशिक्षित करो। मेरा विचार है कि इस अवधि का लाभ उठाकर तुम बलराम भैया से गदा-युद्ध का सघन प्रशिक्षण लो और हमारे शांति-संदेश के उत्तर में यदि इंद्र अपना व्यवहार नहीं बदलता तो हम सब तुम्हारे साथ जाएँगे युद्ध करने।" अर्जुन ने अनुनय के से स्वर में कहा।

"मैं तुम लोगों के साथ तो जाना चाहता ही नहीं था।" भीम हँस पड़ा, "मैं तो अकेला ही मोर्चा मार लेना चाहता था। चलो, तुम लोग कहते हो तो थोड़ी प्रतीक्षा कर

लेता हूँ, किंतु इतना याद रखो कि नगर का निर्माण शीघ्र आरंभ होना चाहिए। विलंब प्रत्येक प्रकार से हमारे लिए घातक है। इस प्रकार शिविर में पड़े रहेंगे तो बाहर से भी हम पर आक्रमण होंगे। असुविधाओं के कारण हमारे साथ आए लोग हमें छोड़-छोड़ कर चले जाएँगे। और मुझे तनिक भी आश्चर्य नहीं होगा कि दुर्योधन भी हमें असुरक्षित और असहाय पाकर किसी-न-किसी बहाने हम पर आक्रमण कर दे।"

"भीम ठीक कह रहा है।" बलराम ने पहली बार अपनी राय दी, "हमें किसी भी शत्रु को दुर्बल नहीं समझना चाहिए।"

"तो ठीक है," युधिष्ठिर बोले, "कृष्ण ही इंद्र से संपर्क करे। जिस किसी प्रकार उचित और सम्मानपूर्ण संधि हो सके, संधि कर ले और यथाशीघ्र निर्माण कार्य आंरभ हो।"

5

"आइए देव विश्वकर्मा !" युधिष्ठिर ने स्नेह और सम्मानपूर्वक कहा, "अपने प्रासाद में आपका स्वागत कर मुझे अधिक प्रसन्नता होती, किंतु विधि ने हमें यह अवसर ही नहीं दिया।"

"आपको इस प्रकार संकुचित होने की कोई आवश्यकता नहीं महाराज !" विश्वकर्मा का स्वर भी अत्यन्त विनीत था, "यह विधान मेरे लिए ही है, कि मेरा स्वागत सपाट धरती पर हो और प्रासादों का निर्माण हो जाए तो मुझे आग्रहपूर्वक विदा कर दिया जाए। जिनके प्रासाद बन जाते हैं, उन्हें मेरी स्मृति परेशान नहीं करती।"

"बेघरों को घर देने का पुण्य विधाता ने आपके ही भाग्य में डाला है देव ! तो आपका स्मरण ही नहीं स्वागत भी हम जैसे लोग ही तो करेंगे, जो अपने सिर पर एक छत की प्रतीक्षा में आकाश के नीचे पड़े हैं।" युधिष्ठिर ने हाथ जोड़ कर स्वागत किया, "आप पधारिए, और हमें सनाथ कीजिए।"

"विश्वकर्मन् !" वेदव्यास ने अपनी गंभीर वाणी में कहा, "आपको यहाँ भेज कर देवराज इंद्र ने हम सब पर बहुत कृपा की है। वैसे तो एक प्राचीन हवेली इन पांडवों के पूर्वजों के प्रताप से यहाँ सुरक्षित है, जिसमें ये सतोगुणी, तपस्वी राजकुमार निवास कर सकते हैं और उससे संतुष्ट भी रह सकते हैं।...किंतु देव ! वह राजाओं के निवास के लिए उपयुक्त नहीं है। राजप्रासाद मात्र राजा का निवास ही नहीं है, वह राज-व्यवस्था का केन्द्र भी है। इसलिए उसे राजा के गौरव के अनुकूल होना चाहिए। यही कारण है कि हमने देवराज इंद्र से उसके निर्माण के लिए सहायता माँगी थी। देवराज ने आपको भेजकर हम पर कृपा की है। हम उसके लिए उनके और आपके आभारी हैं। अब यह आपकी कृपा पर निर्भर है कि आप कब तक इन राजकुमारों के लिए उपयुक्त प्रासाद

और सैनिकों और नागरिकों के लिए एक सुंदर, सुरक्षित और सुविधाजनक नगर का निर्माण कर देते हैं।"

विश्वकर्मा गंभीर हो गए। लगा कि कुछ बोलने से पहले उन्हें भावों को सुव्यवस्थित करने अथवा शब्दों के चयन की आवश्यकता आ पड़ी है। वे बोले तो उनका स्वर मंथर तथा सावधान था, "महाराज ! यदि देवराज कोई कूटनीतिक संदेश भेजना चाहते तो निश्चित रूप से उन्होंने अपना कोई विशेष दूत भेजा होता। उन्होंने मुझे आने का आदेश दिया है, इसका कहीं यह अभिप्राय है कि वे कूटनीति को बीच में आने देना नहीं चाहते। मैं कलाकार हूँ, अतः सत्य को सजा-सँवार तो सकता हूँ किन्तु उसे छुपाने में सहायक नहीं हो सकता अतः देवराज की इच्छा को यदि मैं स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष कह दूँ, तो आप उसे मेरी असावधानी तो नहीं मानेंगे।"

"नहीं ! देव विश्वकर्मा ! आप स्पष्ट शब्दों में देवराज की इच्छा हमें बता दें। हमारे लिए तो यह और भी सुगम हो जाएगा।" युधिष्ठिर ने कहा, "सत्य सदा ही छद्म से अधिक स्पृहणीय है, चाहे वह कितना ही अनलंकृत क्यों न हो।"

"देवराज इंद्र ने कहा है कि खांडवप्रस्थ पर कुरु के वंशज के रूप में युधिष्ठिर का अधिकार स्वीकार करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु यदि महाराज युधिष्ठिर देवराज का स्नेह और सौहार्द चाहते हैं तो वे खांडव-वन को यथावत रहने दें, अपने नगर की सीमाएँ खांडव-वन से दूर ही रखें। उनके पूर्वज भी यही करते आए हैं।"

"हमने इंद्र से महाराज युधिष्ठिर के राज्य की मान्यता माँगी थी क्या ?" भीम उठ खड़ा हुआ, "यहाँ सदा से कौरवों का राज्य रहा है। अब भी है। यह कौरवों की प्राचीन राजधानी है, और इसे इसी रूप में स्वीकार कर हम यहाँ वास करने के लिए आए हैं। निर्माण-कार्य में सहायता के बहाने यह राजनीतिक वार्ता क्यों ?"

"इसीलिए मैंने कहा था कि मुझे सत्य को उसके अनावृत और अनलंकृत रूप में कहने की अनुमति दी जाए।" विश्वकर्मा ने अब भी कोमल स्वर में कहा।

"आप अपनी बात कहें, देव विश्वकर्मा !" कृष्ण ने भी उतने ही विनीत और कोमल स्वर में उत्तर दिया, "उसमें किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं है, किंतु युवराज भीमसेन ने यदि अपना सत्य उतने ही सरल भाव से अनावृत्त और अनलंकृत रूप में कह दिया तो आपको भी विचलित नहीं होना चाहिए।"

"नहीं ! मैं विचलित नहीं हूँ।" विश्वकर्मा हंस पड़े, "देवराज ने मुझे आदेश दिया है कि मैं जिस नगर का निर्माण करूँ, वह खांडव-वन को न छुए। खांडव-वन का इसी प्रकार बने रहना उनके लिए बहुत आवश्यक है।"

"अर्थात महाराज युधिष्ठिर के राज्य के भीतर एक टुकड़े में वे अपना राज्य बनाए रखना चाहते हैं।" कृष्ण के अधरों पर अद्‌भुत मुस्कान थी।…

"नहीं। राज्य तो महाराज युधिष्ठिर का ही रहेगा, उस पर आधिपत्य भी उन्हीं का रहेगा, बस देवराज की इच्छा का सम्मान करते हुए, वे उसे ध्वस्त न करें।"

"उसे ध्वस्त करने का हमें कोई लाभ नहीं है।" युधिष्ठिर ने कहा, "नगर के निकट वन रहेगा, तो हमें लकड़ी, पत्तों तथा वनज-फलों तथा अन्य वस्तुओं की सुविधा भी रहेगी। वायुमंडल शुद्ध रहेगा। वर्षा अच्छी होगी। पशुओं के लिए गोचर भूमि तथा वनस्पति

की सुविधा रहेगी।···नहीं। हमें खांडव-वन को नष्ट करने का कोई लाभ नहीं है। यह न होता तो कदाचित् हमें अपने नगर के निकट एक वन उगाना पड़ता। हम खांडव-वन को इसी प्रकार बनाए रखेंगे।"

"खांडव-वन को बनाए रखने का महत्व मेरी समझ में आता है।" सहसा अर्जुन बोला, "किंतु इंद्र के लिए वह इतना महत्वपूर्ण क्यों है कि वे उसके लिए अन्य राजा के राज्य में भी हस्तक्षेप करने में संकोच नहीं करते ?"

"अपने मन की तो इंद्र स्वयं ही जानें।" विश्वकर्मा ने उत्तर दिया, "किंतु उन्होंने कहा है कि पहले इसी खांडव-वन में भयंकर असुरों, दैत्यों और राक्षसों का निवास था। देवराज ने उन पर विजय पाई थी। यह उनका विजय-स्मारक है। इसलिए देवराज यह नहीं चाहते कि यह विजय-स्मारक नष्ट हो अथवा किसी अन्य के आधिपत्य में चला जाए।"

"अर्थात इसे वे अपनी संपत्ति मानते हैं ?" भीम ने पूछा।

"नहीं ! संपत्ति तो वह आपकी ही है। बस ! देवराज के प्रति अपनी मैत्री का ध्यान रखते हुए, उनकी भावना के सम्मान में आप इस वन को नष्ट करने का प्रयत्न न करें।"

"देव विश्वकर्मा ! महाराज युधिष्ठिर के वचन के पश्चात् आपको किसी और आश्वस्ति की आवश्यकता तो नहीं होनी चाहिए," कृष्ण ने अपनी संगीतमयी वाणी में कहा, "किंतु मैं भी सारे पांडवों की ओर से आपको वचन देता हूँ कि खांडव-वन को हमारी ओर से तब तक कोई हानि नहीं होगी, जब तक वह स्वयं ही हमारी क्षति न करने लग जाए।··· और यह कहना तो आवश्यक नहीं है कि खांडव-वन हमें क्षति पहुँचाएगा नहीं, इसलिए हम उसको ध्वस्त नहीं करेंगे।"

विश्वकर्मा को समझने में तनिक भी विलंब नहीं हुआ कि कृष्ण ने अपने एक वाक्य से चतुराईपूर्वक इंद्र के आदेश को एक राजनीतिक संधि में बदल दिया है। इससे उनकी स्थिति इंद्र के अधीन नहीं, उसके समकक्ष हो जाती है।···पर विश्वकर्मा को उससे क्या ? वे पांडवों को इंद्र के मांडलिक राजाओं के रूप में मान्यता देने तो आए नहीं थे।···और फिर यह अधीनता और स्वामित्व तो राजनीतिक अहंकार का पाखंड मात्र है, इससे विश्वकर्मा को क्या लेना-देना। वे तो आए हैं कि यदि पांडव देवराज की योजना के अनुसार अपना नगर बनवाना चाहें, तो विश्वकर्मा वैसे नगर का निर्माण कर दें···

"तो फिर ठीक है।" विश्वकर्मा ने कहा, "मैं नगर का निर्माण आरंभ करता हूँ। मैं पहले प्राचीर नहीं बनाऊँगा। उससे श्रमिकों, लेपकों तथा वास्तुकारों के आवागमन तथा निर्माण-सामग्री लाने में बाधा होती है। वैसे भी जितना समय प्राचीर और उसके द्वारों के निर्माण में व्यय होगा, उतना ही आपके प्रासाद के निर्माण में विलंब होगा···मैं सबसे पहले आपके लिए प्रासाद का निर्माण कर देता हूँ, ताकि आपको निवास की कठिनाई न हो। बाद में अन्य भवनों, पथों, मार्गों, वाटिकाओं, तड़ागों इत्यादि का निर्माण होगा, और अंत में प्राचीर तथा नगर द्वार बनाए जाएँगे।"

"ठीक है !" युधिष्ठिर सहमत हो गए, "वैसे प्राचीर बन जाती तो हमारा शिविर अपेक्षाकृत सुरक्षित हो जाता, बाहरी आक्रमणों को हम अपनी सैनिक शक्ति से रोक

सकते ···, साथ ही, आस-पास की बस्तियों और प्राचीन नगर के अवशेषों में जो लोग निवास कर रहे हैं, उन्हें हम सुरक्षित उस प्राचीर के भीतर बसा सकते, और आस-पास के दस्युओं अथवा अन्य सैनिक शक्तियों से उनकी रक्षा कर पाते।···"

"देवराज ने कहा है, उसकी आप चिंता न करें।" विश्वकर्मा ने उत्तर दिया, "मेरी, मेरे सहयोगियों की तथा हमारे निर्माण की रक्षा का दायित्व इंद्र-सेना का है। हम अपना निर्माण-कार्य इंद्र-ध्वज के अधीन करेंगे, इसलिए एक तो कोई हम पर आक्रमण करने का साहस ही नहीं करेगा और यदि कोई ऐसा करेगा, तो इंद्र-सेना हमारी रक्षा कर लेगी।"

भीम अब स्पष्ट देख पा रहा था कि वासुदेव कृष्ण तथा महर्षि व्यास ने इंद्र से निर्माण-कार्य में सहायता लेने का परामर्श क्यों दिया था। विरोधी बन जो उन पर आक्रमण कर रहे थे, अब वे ही उनके रक्षक हो गए थे। इससे सुविधा तो हुई थी, किंतु पांडवों के पराक्रम और प्रतिष्ठा को धक्का लगा था। भीम को इससे कहीं अधिक प्रसन्नता होती यदि उसे इंद्र-सेना पर आक्रमण करने की अनुमति दी गई होती और उसके संरक्षण में उनकी अपनी राजधानी का निर्माण होता···

"मेरा विचार है कि हमारे प्रस्ताव के इस अंग से देवराज को अवश्य प्रसन्नता हुई होगी, कि हम खांडवप्रस्थ का नाम अब इंद्रप्रस्थ रखना चाहते हैं।" व्यास बोले, "हमारे इस सौहार्द-प्रदर्शन के पश्चात् देवराज को अपने मन में किसी प्रकार शंका नहीं रखनी चाहिए।"

"नहीं ! देवराज के मन में आपकी ओर से कोई आशंका नहीं है।" विश्वकर्मा पूर्णतः आश्वस्त लग रहे थे, "हम कल प्रातः से ही नगर के निर्माण का कार्य आरंभ करते हैं। मै इंद्रप्रस्थ का निर्माण सामान्य रूप से एक अत्यन्त सुंदर नगर के रूप में कर दूँगा, किंतु यदि आपके मन में किसी विशेष प्रकार के भवन, क्षेत्र अथवा स्थान की कल्पना हो, तो मुझे बता दें, ताकि मैं उसका भी प्रावधान कर लूँ।"

कुछ देर तक वहाँ पूर्ण मौन छा गया। किसी ने अपनी कोई इच्छा प्रकट नहीं की।

"क्या आप लोगों के मन में अपने प्रासाद, अपने भवन और अपने नगर की कोई परिकल्पना नहीं है ?" विश्वकर्मा ने कुछ आश्चर्य से पूछा।

"परिकल्पना क्यों नहीं है !" द्रौपदी बोली, "मेरे मन में अब भी कांपिल्य बसा हुआ है। गंगा-तट का वह प्रासाद ! जैसे देव-सरिता गंगा हमारे घर के आँगन में ही बहती हो। आँगन से गंगा-दर्शन, कक्षों के गवाक्षों से गंगा-दर्शन, अटारियों से गंगा-दर्शन···।"

"मैं भी सोचता हूँ कि देव विश्वकर्मा ! यमुना-तट पर एक विहार-भूमि अवश्य बनाई जाए। उसमें क्रीड़ा भवन भी हों··· अनेक क्रीड़ा-भवन ! कुछ ऐसी व्यवस्था हो कि हम जल-क्रीड़ा भी कर सकें, वन-क्रीड़ा भी कर सकें और भवनों में भी क्रीड़ा की व्यवस्था हो।···"

भीम को स्मरण हो आया, वह हिडिंब वन में भी सालकटंकटी के साथ बैठकर अपनी कल्पना के नगर बसाया करता था···'कृषि के लिए बैलों की आवश्यकता होगी, इसलिए हम गोशालाएँ बनाएँगे। गोशालाओं के निकट गोपालों की बस्तियाँ बसाएँगे। हम कंदराओं और गुफाओं में नहीं रहेंगे। अपने रहने के लिए भवन बनाएँगे, प्रासाद

बनाएँगे। उनके निर्माण के लिए हम वास्तुकारों को बसाएँगे। भवन-निर्माण की सामग्री तैयार करने वाले श्रमिकों की भी हमें आवश्यकता होगी। उनके रहने की व्यवस्था करनी होगी। इतने सारे लोग होंगे, तो उनकी आवश्यकताओं के लिए हाट भी बनेगा। व्यापारी भी आएँगे। आने-जाने के लिए मार्ग भी बनेंगे।''यात्रा के लिए रथ और अश्वों की आवश्यकता भी होगी। फिर जब इतने लोग एकसाथ रहेंगे, तो उनकी सुरक्षा के लिए प्रहरी और सैनिक भी होंगे। शिष्य और गुरु भी होंगे, दुष्ट दलन और न्याय-पालन के लिए न्यायाधिकरण भी होंगे और न्यायपाल भी।'''' किंतु आज तो उसने इसमें से कोई एक बात भी नहीं कही थी''वह नगर हिडिंबा के लिए था''' और यह द्रौपदी के लिए। दोनों एक जैसे कैसे हो सकते हैं। द्रौपदी कांपिल्य जैसे नगर की रहने वाली थी, और हिडिंबा हिडिंब वन से कभी बाहर नहीं निकली थी''' वह द्रौपदी के लिए हिडिंबा के अनुकूल नगर कैसे बसा सकता था'''

"ठीक है। वह हो जाएगा।" विश्वकर्मा ने भीम की ओर देखा, "मेरा अपना विचार है कि यमुना के जल के ही समान यमुना-तट का लाभ भी इंद्रप्रस्थ के नागरिकों को खूब मिलना चाहिए।''वैसे भी यदि सरिता-तट का अपने मनोनुकूल विकास न कर लिया जाए, तो प्रवासी या अवांछनीय लोग अनियंत्रित तथा अव्यवस्थित रूप में जहाँ-तहाँ बस जाते हैं और नगरवासियों को न तो सम्यक् रूप से पेयजल मिल पाता है, न उनके नहाने के लिए उचित घाट बन पाते हैं''' विहार-भूमि और क्रीड़ा-भवनों के लिए तो स्थान बचता ही नहीं है'''।"

"मेरी इच्छा है देव विश्वकर्मा।" युधिष्ठिर ने धीरे से कहा, "यदि आपके लिए बहुत असुविधाजनक न हो, तो किसी एकांत स्थान पर एक गुरुकुल तथा उससे लगती हुई तपोभूमि की व्यवस्था अवश्य करें। धौम्य मुनि का आश्रम बन जाएगा तो समझिए कि भावी पीढ़ियों का विकास भी सुनिश्चित हो जाएगा। तपोभूमि के अभाव में इंद्रप्रस्थ कहीं भोग-भूमि ही न हो जाए।"

"आवश्यकता तो एक युद्धशाला की भी है।" अर्जुन ने धीरे से कहा, "किंतु मैं चाहता हूँ कि मुनि धौम्य के आश्रम तथा महाराज युधिष्ठिर की तपोभूमि के अंग के रूप में ही यह युद्धशाला भी विकसित हो। शस्त्राभ्यास को भी साधना के रूप में स्वीकार किया जाए और वह धर्मपूर्ण आचरण से तनिक भी भिन्न न हो।''किंतु ये बातें तो बाद की हैं। इस समय तो देव विश्वकर्मा इन स्थानों और उनके लिए उपयुक्त भवनों का निर्माण कर दें।"

"समझ गया !" विश्वकर्मा ने कहा, "मैं आपकी आवश्यकताओं और अपेक्षाओं के अनुरूप नगर का निर्माण कराता हूँ। मेरे सहयोगी वास्तुशिल्पी अपना कार्य पूरी दक्षता से करेंगे, किंतु यदि आप अपनी ओर से कुछ लेपकों तथा श्रमिकों का प्रबन्ध कर दें तो कार्य में गति आ जाएगी। और नगर शीघ्र तैयार हो जायगा।''' एक बात और है।" विश्वकर्मा ने युधिष्ठिर की ओर देखा।

"आप निस्संकोच कहें देव !" युधिष्ठिर बोले।

"निर्माण-सामग्री का अभाव न हो, इसकी व्यवस्था आप कर दें। धन के अभाव में भी कार्य यदि रुकता है तो वास्तुकारों और वास्तु-शिल्पियों का ही नहीं लेपकों और

श्रमिकों का भी उत्साह भंग होता है।"

"इसकी आप चिंता न करें।" कृष्ण का हास्य सारे परिवेश को गुँजा गया, "यह चेतावनी आप अपनी ओर से दे रहे हैं अथवा देवराज ने ही ऐसी कोई आशंका प्रकट की थी··· ?" कृष्ण ने रुककर विश्वकर्मा की ओर देखा, किंतु उन्हें बोलने का अवसर नहीं दिया गया, "मै आपको इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए बाध्य करना नहीं चाहता। मैं मान लेता हूँ कि ये दोनों ही बातें हो सकती हैं। इसलिए मैं अपनी ओर से आपको आश्वस्त कर देना चाहता हूँ कि महाराज युधिष्ठिर के पास अपना पर्याप्त धन है, उन्हें पंचालराज द्रुपद का भी पूर्ण सहयोग प्राप्त है··· और फिर यादवों का सारा धन किसके लिए है। आप इंद्रप्रस्थ का निर्माण आरंभ करें, आपको न सामग्री का अभाव होगा, न धन का।"

"मैं आश्वस्त हुआ वासुदेव ! अब मुझे किसी प्रकार का संशय नहीं है।" विश्वकर्मा बोले, "देवलोक में कहा जाता है कि आपका वचन लक्ष्मीपति विष्णु से किसी भी प्रकार कम विश्वसनीय नहीं है।"

संध्या समय युधिष्ठिर जब महर्षि वेदव्यास से मिलने के लिए गए, तो महर्षि अकेले बैठे जैसे उन्हीं की प्रतीक्षा कर रहे थे।

"आओ धर्मराज !"

युधिष्ठिर उनके चरणस्पर्श कर बैठ गए।

"तुम्हारा नगर अब बन जाएगा युधिष्ठिर।" महर्षि बोले,"किंतु तुम्हारे जीवन का लक्ष्य नगर-निर्माण नहीं, धर्मराज्य की स्थापना करना है। इसलिए पुत्र ! तुम यह मानकर चलो कि यह नगर तुम्हारी या पांडवों के राज्य की राजधानी नहीं, इस भारतवर्ष में धर्मराज्य की राजधानी है।"

"आप आदेश दें महर्षि ! मैं प्रयत्न करूँगा कि आपकी अपेक्षाओं पर पूरा उतर सकूँ।" युधिष्ठिर अत्यन्त विनीत भाव से बोले।

"युधिष्ठिर !धर्म वहीं है, जहाँ न्याय है। न्याय का अर्थ है, प्रत्येक मनुष्य को अपने विकास के लिए पूर्ण अवसर का प्राप्त होना।" वेदव्यास बोले, "आगे बढ़ने का मार्ग तो सबके लिए प्रशस्त हो, किंतु किसी को भी अन्य लोगों का मार्ग रोककर अपने लिए कुछ अधिक प्राप्त करने का विशेषाधिकार न हो। तुम्हारी प्रजा के एक भी व्यक्ति को यह न लगे कि क्षमता होने पर भी वह जीवन में आगे नहीं बढ़ सका। उसको कभी यह न लगे कि उससे कम क्षमतावान व्यक्ति उसके प्रति अन्याय कर जीवन में उससे आगे बढ़ गया है। इसका अर्थ है कि शासन का विधान बहुत सोच-समझ कर बनाया जाए और उस विधान को उसकी भावना सहित पूर्णरूपेण, बिना किसी अपवाद के, प्रजा पर लागू किया जाए। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रकृति और स्वभाव के अनुकूल कार्य मिले, जो उसकी आजीविका का साधन हो। किसी को अपना कार्य बोझ न लगे। ब्राह्मण-पुत्र को बिना उसके आचरण पर ध्यान दिए, यदि ब्राह्मण मान लोगे और उससे ब्राह्मण-कर्म करवाओगे, तो उस सम्मान के लोभ में चाहे वह ब्राह्मण-वेश धारण कर, ब्राह्मण की

दिनचर्या का पाखण्ड रचाएगा, किंतु न उसकी अपनी आत्मा का विकास हो पाएगा, और न ही वह तुम्हारी प्रजा का हित कर पाएगा। अनधिकारी का सम्मान और अधिकारी की अवमानना"दोनों ही समान कोटि के पाप हैं धर्मराज। इसलिए क्षत्रिय के रूप में शस्त्र धारण का अधिकार उसी को देना, जो उसके दायित्व के रूप में न्याय के लिए शस्त्र-धारण करना अपना धर्म मानता हो। जिसके लिए न्याय के पक्ष में, असहाय और दुर्बल लोगों की रक्षा करते हुए अपने प्राण देना जीवन की चरम उपलब्धि हो। उन्हें क्षत्रियों का अधिकार कभी मत देना, जिन्हें प्रजा के धन से पालित-पोषित हो, जीवन के सारे भोग, भोगकर न्याय-युद्ध के समय अपने प्राण ही सबसे प्रिय हो जाएँ"' और वे पूछने लगें कि वे अन्य लोगों की रक्षा करते हुए अपने प्राण क्यों दें। जिन्हें अपने प्राणों का मोह होता है, अथवा जिन्हें न्याय से अपना स्वार्थ अधिक प्रिय होता है।"वे क्षत्रिय नहीं हैं, चाहे वे किसी परमवीर क्षत्रिय की ही संतान क्यों न हों। अन्यायी तथा स्वार्थी लोगों का क्षत्रियत्व मात्र राक्षसत्व होता है। उनके हाथ में शस्त्र देकर अपने राज्य में दस्युओं का निर्माण मत करना।'''"

"और वैश्य कौन हैं महर्षि !" युधिष्ठिर ने पूछा।

"जिनकी जन्मजात वृत्ति धर्मपूर्वक धन अर्जित करने की है वे वैश्य हैं। वे उत्पादन करते हैं, चाहे कृषि से करें अथवा उद्योग से। वे व्यापार भी करते हैं। किंतु धर्म का त्याग कर, न्याय की उपेक्षा कर, प्रजा को धोखा देकर, अथवा षड्यंत्र रच कर अन्य लोगों का अहित कर जो धन एकत्रित करता है, वह दस्यु है, वैश्य नहीं। व्यवसाय के नाम पर जन-विरोधी द्रव्यों का उत्पादन तथा व्यापार, व्यवसाय नहीं है। विषम परिस्थितियों में किसी की बाध्यता का लाभ उठाकर उसे लूटना भी व्यवसाय नहीं है। वस्तुतः जिसके उत्पादन, उद्योग तथा व्यवसाय से धर्म की हानि किए बिना, समाज में समृद्धि आती है, वह वैश्य है। समाज को वंचित कर अपने लिए धन संचित करने वाला व्यक्ति वैश्य नहीं, अपराधी है। राजा के लिए उचित है कि वह उसे दंडित करे।''' और पुत्र ! जिसकी अपनी किसी वृत्ति, योग्यता तथा क्षमता का विकास नहीं हुआ है, दूसरों के निर्देशानुसार वह क्षुद्र काम करने वाला व्यक्ति शूद्र माना जाना चाहिए। यह मनुष्य की अविकसित स्थिति है। इसलिए इसमें व्यक्ति कदाचित अपने तथा अपने समाज के लिए चिंतन नहीं कर सकता, केवल अपने शरीर-श्रम के आधार पर समाज के लिए उपयोगी हो सकता है। राजा के रूप में तुम्हारे लिए आवश्यक है कि तुम इनमें से किसी की भी उपेक्षा मत करो। किसी भी व्यक्ति को न शोषण करने दो, न शोषित होने दो। तुम्हारी सभा में इन सारे वर्णो, वर्गो तथा श्रेणियों के प्रतिनिधि हों। उन सबके परामर्श से शासन करो। तुम्हारी प्रजा का समस्त अनासक्त बुद्धि-वैभव समाज के लिए चिंतन करे, समस्त न्याय-स्फूर्त शौर्य दुष्ट-दलन कर प्रजा की बाहरी और भीतरी शत्रुओं से रक्षा करे, समस्त भौतिक ज्ञान और सांसारिक बुद्धि समाज-हित में उत्पादन और अर्जन करे और समस्त शरीर-श्रम निर्लोभ मन से निर्माण-कार्य में लगे। इस बात का ध्यान रखना पुत्र ! कि इन सबके कार्य समाज के लिए उपयोगी हैं। संकीर्ण स्वार्थ के कारण लोग उनका महत्व कम और अधिक आंकेंगे''' अनुपात में अतंर हो भी सकता है, किंतु किसी के पास इतना कम न हो कि वह अपमान और भूख का जीवन जिए, अथवा मृत्यु के वरण को

बाध्य हो··· और किसी के पास इतना अधिक न हो कि उसकी समृद्धि समाज के लिए दुष्ट शक्ति के रूप में स्थापित हो जाए। ईश्वर अपने विधान के अनुसार किसी को कम और किसी को अधिक क्षमता देता है, दे। वह पूर्ण न्यायी तथा समदर्शी है। उसके न्याय पर हम संदेह नहीं कर सकते।··· किंतु तुम पूज्य-पूजन करते हुए भी किसी का उसकी अक्षमता, दुर्बलता अथवा अज्ञान के लिए अपमान मत करना।" महर्षि क्षण भर मौन रहे और पुनः बोले, "तुम्हारा नगर भोग और अत्याचार का केन्द्र न बने, वह न्याय और सौहार्द की राजधानी हो।"

"राजकुमार !" अक्षय हाथ जोड़कर भीम के सम्मुख खड़ा हो गया, "अब आपके नगर का निर्माण देव विश्वकर्मा और उनके वास्तुशिल्पी करेंगे, तो मेरी और मेरी श्रेणी के लोगों की तो आपको आवश्यकता ही नहीं रही।" उसकी वाणी कुछ अधिक हताश हो गई, "आप कह सकते हैं कि जिस समय प्राचीर-निर्माण का कार्य आपने मेरी श्रेणी के लोगों को सौंपा था, उस समय तो वे लोग अपने प्राणों के भय से आए ही नहीं, तो अब आपको उपालंभ देने का मुझे क्या अधिकार है ?"

"तुम तो बहुत वाचाल हो गए हो भाई !" भीम ने हँसकर उसकी ओर देखा, "तुमने स्वयं ही देखा, स्वयं ही विश्लेषण किया और स्वयं ही अनेक निष्कर्षों तक भी पहुँच गए।···पर अपने सत्य को इतना महत्व मत दो। संभव है, वह तुम्हारा भ्रम ही हो।"

"मैं समझा नहीं राजकुमार !" अक्षय चकित खड़ा था।

"जिन परिस्थितियों का तुमने यह विश्लेषण किया है, उन्हीं का विश्लेषण मैंने भी अपने ढंग से किया है।" भीम बोला, "किंतु मेरे निष्कर्ष, तुम्हारे निष्कर्षों से मेल नहीं खाते।"

"कैसे राजकुमार ?"

"देखो ! तुम एक साधारण लेपक मात्र हो, किंतु इतने जड़ अभी नहीं हुए हो कि कुछ नया सीख न सको।" भीम बोला, "विश्वकर्मा के साथ अनेक वास्तुशिल्पी आए हैं और वे लोग अपने कार्य में अत्यन्त दक्ष हैं। वे इंद्रप्रस्थ का निर्माण करेंगे और देवलोक लौट जाएँगे।" भीम ने रुककर उसकी ओर देखा, "ऐसा तो नहीं है कि उसके पश्चात् हमारे नगर में फिर कभी भवनों का निर्माण नहीं होगा, अथवा हमें अन्य नगरों के निर्माण की आवश्यकता नहीं होगी।···अब हर बार तो न तो विश्वकर्मा आएँगे, और न ही देवलोक से वास्तुशिल्पी। तब हमारे नगरों और भवनों का निर्माण कौन करेगा ?"

"कौन करेगा ?" अक्षय ने बिना सोचे-समझे पूछा।

"तुम करोगे।" भीम बोला, "और लेपक के रूप में नहीं, वास्तुकार के रूप में।"

"वास्तुकार के रूप में ? किंतु वास्तुकार तो ब्राह्मण होता है।" अक्षय ने चकित होकर कहा।

"तुम वास्तुकला का अध्ययन करो। वास्तुकार बन जाओगे तो ब्राह्मण भी हो जाओगे। तुम्हारा आचरण वैसे भी शुद्ध है। अपने शिक्षण के पश्चात् तुम्हारे आचरण में और भी सुधार होगा।" भीम बोला, "क्षुद्र बातों से मन हटा लोगो और उदात्ततर विषयों

का चिंतन करोगे, सामाजिक हित को अपने स्वार्थ से श्रेष्ठतर मानोगे, तो तुम्हें ब्राह्मण होने से कौन रोक सकेगा।"

"पर यह सब मुझे सिखाएगा कौन ?" अक्षय की परेशानी तनिक भी कम नहीं हो रही थी।

"क्यों ? वास्तुकला तो तुम देव विश्वकर्मा से सीखोगे और आचरण की शुद्धता धौम्य मुनि से।" भीम बोला, "विश्वकर्मा ने अपने वास्तुशिल्पियों के दल के साथ कार्य करने के लिए हमसे लेपक और श्रमिक माँगे हैं। मेरी इच्छा है कि मैं तुम्हें लेपक के रूप में नहीं, प्रशिक्षणार्थी के रूप में विश्वकर्मा को सौंप दूँ। सीखने की क्षमता तुममें है। श्रम करोगे, तो वास्तुकार बनते तुम्हें देर नहीं लगेगी।"

"ओह राजकुमार !" अनायास ही अक्षय के हाथ जुड़ गए, उसे लगा कि-यदि उसने अब कुछ बोलने का प्रयत्न किया तो शायद उसके कंठ से वाणी न फूटे, आँखों से अश्रु चाहे निकल आएँ।

6

"नगर का निर्माण हो गया तो महाराज युधिष्ठिर ने महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास को अपने आगे रख इसी द्वार से नगर में प्रवेश किया था।" सहदेव ने बताया, "इस द्वार का नाम भी हस्तिनापुर के प्रमुख द्वार के नाम के ही समान 'वर्द्धमान' रखा गया है।"

"श्रीकृष्ण यहाँ नगर का निर्माण होने तक रुके रहे ?" नारद ने पूछा।

सहदेव ने ध्यान दिया कि अवस्था में बहुत बड़े होने पर भी कृष्ण को देवर्षि नारद बहुत सम्मान से याद करते हैं। पांडवों के लिए कृष्ण मातुल-पुत्र थे, सखा और सहायक थे, किंतु देवर्षि तो उन्हें महान् विभूति मानते थे...

"हाँ कृष्ण और बलभद्र भैया, नगर का निर्माण पूरा करवा, हमें नगर में प्रवेश करवाकर ही द्वारका लौटे।" सहदेव बोला, "हमारी इच्छा थी कि वे यहाँ रहें, किंतु वे और रुक नहीं सकते थे।..."

"तुम लोगों को हस्तिनापुर की स्मृति तो आती होगी।" नारद धीरे से बोले, "हर समय मन में इंद्रप्रस्थ और हस्तिनापुर की तुलना होती रहती होगी। इच्छा होती होगी कि किसी प्रकार इंद्रप्रस्थ में हस्तिनापुर को ही पुनर्जीवित कर लें।"

"स्मृति तो आती ही है। सबसे पहली बात तो यह है कि यमुना गंगा के समान नहीं है, फिर भी हम जानते हैं कि अब यमुना ही हमारी है।" सहदेव बोला, "वैसे तुलना की बात तो यह है कि पांचाली इंद्रप्रस्थ की तुलना कांपिल्य से करती है, हम हस्तिनापुर से करते हैं, माँ कभी भोजपुर को और कभी मथुरा अथवा हस्तिनापुर को याद कर लेती हैं...और जब तक कृष्ण और बलराम भैया यहाँ थे, वे इसकी तुलना द्वारका से करते

रहते थे।" सहदेव ने रुककर नारद की ओर देखा, "किंतु देवर्षि ! हमें हस्तिनापुर से इतना प्रेम कभी नहीं था कि हम इंद्रप्रस्थ के रूप में हस्तिनापुर को ही पुनर्जीवित करना चाहें। यह हमारा सौभाग्य ही था कि इंद्रप्रस्थ के निर्माण से पूर्व हम कई और नगरों से भी भली प्रकार परिचित हो चुके थे।... और इसके निर्माण के लिए हमें देव विश्वकर्मा जैसे वास्तुकार का सहयोग प्राप्त हुआ था। ऐसे में यदि हम हस्तिनापुर जैसे एक प्राचीन नगर का ही पुनर्निर्माण करते तो यह कोई समझदारी नहीं होती।"

"वह तो ठीक है सहदेव।" नारद ने स्नेहपूर्वक उसके कंधे पर हाथ रखा, "मेरा तात्पर्य तो केवल इतना ही था, कि हमारे मोह इतनी जल्दी छूटते नहीं। जिसे हम नवीन कहते हैं, वह प्रायः प्राचीन का ही नव-सृजन होता है।...और फिर हस्तिनापुर कोई साधारण नगर नहीं है।"

उनका रथ नगर-द्वार से भीतर प्रवेश कर चुका था और इंद्रप्रस्थ के नव-निर्मित प्रशस्त मार्गों पर दौड़ रहा था।...देवर्षि नारद जब से इंद्रप्रस्थ आए थे, पांडव उन्हें अपने नगर का चप्पा-चप्पा दिखा रहे थे। सहदेव यह भी देख रहा था कि देवर्षि को न तो इंद्रप्रस्थ के तीन ओर खोदी गई खाइयों में कोई रुचि थी, न उसकी भव्य प्राचीर में, जो सजग प्रहरी के समान इंद्रप्रस्थ की रक्षा कर रही थी। उन्हें उन सुन्दर घाटों में भी कोई आकर्षण दिखाई नहीं पड़ा था, जो पांडवों ने अत्यन्त चाव से बनवाए थे। इंद्रप्रस्थ की सुरक्षा-व्यवस्था की ओर तो उन्होंने देखा भी नहीं था।... सहदेव इस विषय में जितना सोचता था, उसे यह उतना ही स्वाभाविक लगता था। देवर्षि अद्‌भुत परिभ्रामक थे। सृष्टि को जितनी निकट से उन्होंने देखा था, शायद ही किसी और ने देखा हो।...तो फिर उन्हें कोई एक नगर प्रिय हो भी कैसे सकता था। वैसे भी प्रकृति के सौन्दर्य की स्पर्धा मनुष्य का निर्माण तो कर नहीं सकता। नगर का तो अर्थ ही था प्रकृति का स्थानापन्न। यद्यपि उन लोगों ने इंद्रप्रस्थ में सायास प्रकृति को यथासंभव बनाए रखा था, फिर भी लगता था कि नगर बनाने के लिए प्रकृति को वहाँ से सर्वथा हटा दिया गया था। जहाँ प्रकृति जैसा कुछ दिखाई पड़ता भी था, वह कृत्रिम था।...

"सहदेव !" देवर्षि बोले, "तुम्हें क्या लगता है, इंद्रप्रस्थ के निर्माण में तुम लोगों की सहायता किस-किसने की।"

"बहुत सारे लोगों ने सहायता की है देवर्षि।"

"फिर भी, तुम्हें नाम गिनाने को कहूँ तो प्रमुखता से किन के नाम लोगे ?"

"कृष्ण, बलराम भैया, महर्षि वेदव्यास तथा विश्वकर्मा के माध्यम से इंद्र ने।"

"नगर-निर्माण के पश्चात् वे सब लोग विदा हो गए ? उनमें से किसी ने भी इंद्रप्रस्थ में निवास करने की इच्छा प्रकट नहीं की ?" नारद ने पूछा।

सहदेव हँस पड़ा, "उनमें से कौन यहाँ निवास करता ? महर्षि वेदव्यास नगरों में नहीं रहते। विश्वकर्मा का निवास सदा ही निर्माण-स्थल पर रहता है।... और वैसे भी वे देवलोक के वासी हैं। कृष्ण और बलराम भैया को द्वारका पहुँचना था। वे द्वारका छोड़कर स्थायी रूप से इंद्रप्रस्थ में कैसे रह सकते हैं ?"

सहदेव को लगा कि नारद ने उसकी बात ध्यान से नहीं सुनी, या शायद सुनी ही नहीं।... वे तो अपनी ही किसी उधेड़बुन में मग्न लग रहे थे। तो फिर वे ऐसे प्रश्न

पूछ ही क्यों रहे थे ?...

"अच्छा सहदेव !" नारद पुनः बोले, "क्या तुम लोगों ने कभी इस विषय में विचार किया है कि तुम्हारे कुल-वृद्धों में से कोई भी हस्तिनापुर छोड़कर तुम्हारे साथ इंद्रप्रस्थ में रहने के लिए क्यों नहीं आया ? क्या उन्हें दुर्योधन और उसके भाई तुम लोगों से अधिक प्रिय हैं ?" नारद ने रुककर उसकी ओर देखा, "युधिष्ठिर शायद इस बात को स्वीकार न करे, किंतु मुझे विश्वास है कि धृतराष्ट्र के मन में पक्षपात है और दुर्योधन के मन में तुम लोगों के लिए विरोध है। मैं यह भी मानता हूँ कि यह कुरुओं के साम्राज्य का निर्विरोध विभाजन नहीं है। अतः किसी-न-किसी समय धार्तराष्ट्रों और पांडवों में विरोध होना अनिवार्य है। ऐसे समय में कुल-वृद्धों को दोनों में से किसी एक का पक्ष लेना पड़ेगा। आज यदि भीष्म, वाह्लीक, सोमदत्त, द्रोण, कृपाचार्य, विदुर इत्यादि लोगों ने हस्तिनापुर में ही रहने का निर्णय किया है, तो क्या उन्होंने धृतराष्ट्र और उसके पुत्रों का पक्ष चुन लिया है ?"

सहदेव गंभीर दृष्टि से देवर्षि को देखता रहा।

"देवर्षि ! मैंने इस विषय में सोचा नहीं है, किंतु आपकी यह बात मानने को मेरा मन तनिक भी सहमत नहीं है कि हमारे कुल-वृद्धों ने दुर्योधन का पक्ष चुन लिया है। हमारे पास ऐसा स्थान ही कहाँ था कि हम उनमें से किसी को अपने साथ रहने के लिए आमंत्रित करते। अपने कुल वृद्धों को वनवास के लिए आमंत्रित करना तो उनके प्रति अन्याय है।"

"क्यों ? अब तो नगर बन गया है। अब निमंत्रण भेजकर देख लो।" नारद मुस्करा रहे थे, "कोई तर्क अथवा प्रमाण भी है, तुम्हारे पास, या बस यूँ ही तुम लोग यह माने बैठे हो कि पांडव सब लोगों को इतने प्रिय हैं कि कोई धृतराष्ट्र अथवा दुर्योधन का पक्ष ले ही नहीं सकता ?"

"नहीं ! ऐसा कुछ तो मेरे मन में नहीं है।" सहदेव बोला, "किंतु हम लोग अपने कुल-वृद्धों को इतने अप्रिय भी नहीं हैं कि वे लोग हमारे साथ रहना ही न चाहें।"

"तो क्यों नहीं आए वे तुम्हारे साथ ?"

"महाराज युधिष्ठिर का खांडवप्रस्थ के राजा के रूप में राज्याभिषेक हुआ था, इसलिए उन्हें तो यहाँ आना ही था। उनकी माता और भाइयों को भी उनके साथ आना ही था। इसलिए हम लोग चले आए।" सहदेव बोला, "गंगा-तट का अपना प्रासाद छोड़कर पितामह इस वय में इस वन में हमारे साथ क्या करने के लिए आते ?"

"बस ? और कोई कारण नहीं हो सकता ?" नारद के अधरों पर वक्रता आ गई थी।

"हाँ। आप कह सकते हैं कि हस्तिनापुर से निष्कासित हम किए गए थे, पितामह नहीं। तो फिर वे हस्तिनापुर क्यों छोड़ते ?"

"क्या तुम यह मानना नहीं चाहते सहदेव ! कि युधिष्ठिर की महारानी, द्रपुद-पुत्री कृष्णा है। द्रुपद और भीष्म में कभी सौहार्द नहीं रहा। द्रुपद-पुत्र शिखंडी भीष्म के वध की प्रतिज्ञा किए बैठा है। माना यही जाता है कि द्रुपद ने भीष्म के वध के लिए शिखंडी को नियुक्त कर रखा है।" नारद ने सहदेव की ओर देखा, "जिस घर की स्वामिनी द्रुपद

की पुत्री और शिखंडी की बहन हो, भीष्म उस घर में कैसे रह सकते हैं ? यही बात आचार्य द्रोण के साथ भी है।…"

सहदेव ने उनकी ओर देखा भर, कहा कुछ भी नहीं।

"द्रोण की मान्यता है कि द्रुपद ने उसका अपमान किया, और प्रतिहिंसा में द्रोण ने कोई कसर नहीं छोड़ी। अब द्रुपद की पुत्री के घर में द्रोण का स्वागत कैसे हो सकता है ?…" नारद बोले।

"किंतु हमारे मन में तो आचार्य के लिए कोई विरोध नहीं है।" सहदेव बोला, "न ही पांचाली ने कभी ऐसा कोई भाव प्रकट किया है।"

"जिस कृष्णा ने अपने भाई धृष्टद्युम्न के साथ द्रोण के वध के लिए जन्म लिया है, उसके मन में द्रोण के लिए कोई विरोध नहीं होगा, यह मैं कैसे स्वीकार कर सकता हूँ।" नारद मुस्करा रहे थे, "हाँ ! कृष्णा में इतना संयम अवश्य है कि वह उस विरोध के वर्तमान रहते हुए भी, अपने पतियों के आचार्य का अपने घर में स्वागत करे, किंतु द्रोण स्थायी रूप से इंद्रप्रस्थ में रहने की कल्पना भी नहीं कर सकता।"

"क्या आप विदुर काका के विषय में भी कोई ऐसी ही बात सोचते हैं ?" न चाहते हुए भी सहदेव के मुख से अनायास ही निकल गया।

"नहीं। दुर्योधन की अपेक्षा युधिष्ठिर के सान्निध्य में विदुर कहीं अधिक सुखी रह सकता है।" नारद बोले, "किंतु मेरा अनुमान है कि धृतराष्ट्र से पर्याप्त विरोध होते हुए भी विदुर के मन में उसके प्रति साहचर्य से उत्पन्न स्नेह है। वह उसका हित चाहता है। उसे त्याग नहीं सकता, इसलिए वह हस्तिनापुर से दूर रह भी नहीं सकता। वैसे…" नारद चुप हो गए।

"वैसे क्या देवर्षि ?"

"वैसे, तुम लोगों के भी हित में यही है कि धृतराष्ट्र की सभा में तुम्हारे पक्ष का कोई व्यक्ति रहे, ताकि वह धृतराष्ट्र को तुम लोगों की ओर प्रवृत्त करता रहे। दुर्योधन के विष को काटता रहे और हस्तिनापुर राज्य को धर्म के मार्ग की ओर प्रेरित करता रहे।…"

"क्या पितामह भीष्म के हस्तिनापुर में रहते हुए भी इसकी आवश्यकता है ?" सहदेव ने कुछ चकित होकर पूछा।

"भीष्म मध्यस्थ है। वह तुम्हारा पक्ष कभी नहीं लेगा। वह धर्म की बात कहेगा, न्याय की चर्चा करेगा… बहुत होगा तो कौरवों के हित की बात करेगा। यह तो संभव है कि मतभेद होने पर विदुर इंद्रप्रस्थ में तुम्हारे पास आ जाए, किंतु भीष्म या तो विरक्त हो जाएगा, अन्यथा प्राण दे देगा। वह उनके विरुद्ध तुम्हारे पक्ष में नहीं आएगा।"

"तो क्या पितामह हमारे विरोधी हैं ?" सहदेव जैसे तड़पकर बोला।

"नहीं। वह न तुम्हारा विरोधी है, न उनका। मैंने कहा न कि भीष्म मध्यस्थ है।" नारद ने सहसा विषय बदल दिया, "अच्छा यह बताओ कि तुम्हारे नगर का किस-किस दिशा में विकास हुआ है ?"

"विकास ! हाँ। विकास तो बहुत हुआ है।" सहदेव ने उत्तर दिया, "नगर की जनसंख्या बहुत बढ़ गई है। व्यापार में भी वृद्धि हुई है। आजीविका की खोज में प्रतिदिन अनेक श्रमिक, सैनिक, कृषक, कलाकार, व्यापारी और उद्यमी…बहुत प्रकार के लोग आ रहे

हैं। उनके लिए निरंतर भवन और मार्ग बन रहे हैं। हाट और आगार बन रहे हैं। गतिविधि बढ़ रही हैं और हमें निरंतर सावधान रहना पड़ता है कि आजीविका की खोज में आए इन लोगों की ओट में कहीं दुष्ट और साहसिक लोग भी नगर में न आ जाएँ। वैसे ही इस क्षेत्र में साधारण चोरों से लेकर दस्युओं और साहसिकों की कमी नहीं है। मुझे लगता है कि अराजकता के कारण यहाँ के पूर्व निवासियों में अपराध-कर्म ही स्वीकृत जीवन-पद्धति हो गया था। वे लोग अब भी धर्मपूर्वक आजीविका अर्जित करने के विश्वासी नहीं हैं।"

"तो प्रजा की सुरक्षा के लिए तुम लोग क्या कर रहे हो ?" नारद ने पूछा।

"यद्यपि हमने भी आचार्य द्रोण से शस्त्रास्त्रों की शिक्षा पाई है, फिर भी अनेक बार लगता है कि इन साहसिकों के पास बड़े विकसित और परिष्कृत शस्त्रास्त्र हैं। वे हमारे प्रहरियों, दंडधरों यहाँ तक कि साधारण सैनिकों पर भी भारी पड़ते हैं। इसलिए यह आदेश प्रचारित कर दिया गया है कि ऐसे अवसरों पर, लोग अपने प्राण संकट में न डालें। इन घटनाओं की सूचना तत्काल महाराज अथवा उनके प्रतिनिधियों को दी जाए।"

"और शस्त्र शक्ति ?"

"धनंजय निरंतर नए और अधिक सक्षम दिव्यास्त्रों के आविष्कार और निर्माण में लगे रहते हैं। सेनानायकों को निरंतर नए शस्त्रों के व्यवहार में प्रशिक्षित किया जा रहा है।...हम जानते हैं कि यदि हम अपनी प्रजा की समुचित रक्षा नहीं कर पाए तो जैसे प्रजा का इंद्रप्रस्थ में प्रवेश हुआ है, वैसे ही उनका निष्क्रमण भी आरंभ हो जाएगा...।"

उनका रथ युधिष्ठिर के भवन के सम्मुख आकर रुक गया। अनेक सैनिक-असैनिक कर्मचारियों एवं ब्राह्मणों के साथ नकुल उनकी अगवानी के लिए रथ के निकट आ गया। वे लोग कुछ समय पहले से ही उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

"नगर-भ्रमण कर आए देवर्षि ?" प्रणाम करने के पश्चात् नकुल ने पूछा।

"कर आए।" नारद बोले, "विश्वकर्मा ने सुंदर नगर बनाया है, तुम्हारे लिए। युधिष्ठिर इससे संतुष्ट है क्या ?"

"भैया तो खांडवप्रस्थ से भी संतुष्ट थे।" नकुल हँसा, "फिर इंद्रप्रस्थ से क्यों संतुष्ट न होंगे।"

"भैया के साथ-साथ हम सब आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं देवर्षि ! आइए पधारिए।"

"कैसा लगा आपको हमारा इंद्रप्रस्थ ?" नारद को आसन पर ससम्मान बैठा कर युधिष्ठिर ने पूछा, "कोई दोष हो तो कहने में तनिक भी संकोच न करें।"

"वत्स युधिष्ठिर ! वस्तुतः मेरा मन तुम्हारे नगर की तुलना में कहीं अधिक तुम्हारे परिवार के संबंधों में यात्रा करता रहा है। यद्यपि तुम्हारा नगर बहुत सुदर है और चूँकि इसका निर्माण अपने ही राज्य में तुमने स्वयं करवाया है, इसलिए तुम्हें इससे मोह भी कुछ अधिक ही होगा। उसमें मेरा अधिक रुचि न लेना कदाचित तुम्हें अच्छा भी न लगे, किंतु मेरे लिए सदा ही नगरों की अपेक्षा मानवीय-संबंध अधिक महत्वपूर्ण रहे हैं। मेरा मन उनके सौंदर्य पर अधिक मुग्ध होता है। यही कारण है कि मार्ग में भी मैं सहदेव से नगर के विषय में कम, तुम्हारे पारिवारिक संबंधों के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त

करता रहा हूँ ।"

"यह तो हमारा सौभाग्य है देवर्षि ! कि आपको हमारे परिवार और परिवारजनों के पारस्परिक संबंधों में इतनी रुचि है। मैं इसे आपकी आत्मीयता ही मानता हूँ।" युधिष्ठिर ने कहा।

"तो युधिष्ठिर ! मैं तुमसे एक प्रश्न और पूछता हूँ।" नारद बोले, "मैं जानता हूँ कि तुम असत्य भाषण कभी नहीं करते, इसलिए झूठ नहीं बोलोगे, किंतु इसे मेरी ओर से मर्यादा का अतिक्रमण भी मत मानना। वस्तुतः मेरे मन में कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो मुझे व्यग्र तो नहीं कर रहे, किंतु वे स्वतः शांत भी नहीं हो रहे।"

"पूछिए देवर्षि ! संकोच की तो कोई बात ही नहीं है।"

"जहाँ तक मैं जानता हूँ युधिष्ठिर !" नारद ने बात आरंभ की, "दुर्योधन में कितने भी अवगुण हों किंतु वह अपने पिता की आज्ञा की अवज्ञा नहीं करता। उस परिवार में सहस्रों त्रुटियाँ हों किंतु दुर्योधन के भाई उसका विरोध नहीं करते। वे सब एक हैं और संगठन उनकी शक्ति है।" नारद ने रुककर युधिष्ठिर की ओर देखा, "क्या तुम भी अपने भाइयों के विषय में यही बात कह सकते हो ?"

युधिष्ठिर ने नारद की ओर देखा तो उनकी आँखों में पूर्ण शांति थी, "महर्षि ! मैंने तो अपने भाइयों में परस्पर मतभेद की बात कभी स्वप्न में भी नहीं सोची। मुझे याद नहीं पड़ता कि हम में कभी कोई विरोध हुआ हो। छोटे-मोटे मतभेद तो हममें होते ही रहते हैं, उनके विषय में हम लोग परस्पर चर्चा भी कर लेते हैं, और फिर सर्वसम्मति से निर्णय करते हैं। यह संभव न हो तो मेरे अनुज बड़े भाई की इच्छा का सम्मान कर मुझ से सहमत हो जाते हैं। मुझे एक भी घटना ऐसी याद नहीं पड़ती जब मुझे अपने किसी मतभेद को दबाने के लिए बड़े भाई के अधिकार का उपयोग करना पड़ा हो।" उन्होंने चकित होकर नारद की ओर देखा, "किंतु महात्मन् ! इस प्रश्न का संदर्भ मैं समझ नहीं पाया।"

नारद ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया, किंतु जब युधिष्ठिर ही नहीं उन पाँचों भाइयों की दृष्टि निरंतर उनकी ओर जिज्ञासा में उठी ही रही तो बोले, "मेरी बात को अन्यथा न लेना। मानव-मन दुर्गम ही नहीं, अगम है। उसकी जटिलताओं को समझना बड़े-बड़े ऋषियों के लिए भी सरल नहीं रहा है। जिन लोगों में परस्पर असाधारण प्रेम होता है, वे ही लोग जब कारण-अकारण एक-दूसरे से टूटे हैं, तो विकट शत्रु हो गए हैं। मेरे मन में कभी-कभी तुम लोगों के विषय में यह चिंता जन्म लेती है कि कहीं तुम्हारी एकता में किसी प्रकार का कोई विघ्न न आए, क्योंकि तुम्हारी सबसे बड़ी शक्ति तुम्हारी एकता ही है।"

युधिष्ठिर निश्छल मन से हँस पड़े, "मैं तो ऐसा कोई कारण नहीं देखता देवर्षि ! आप अपनी आशंका का कारण बताएँ, तो ही मैं कुछ कह सकूँगा।"

नारद ने उन पाँचों भाइयों को देखा : युधिष्ठिर के मुख पर सहज उल्लास था। देवर्षि के संकेत करने के पश्चात् भी उनके मन में किसी प्रकार की कोई आशंका नहीं जन्मी थी। किन्तु अन्य चार भाइयों के चेहरे पर उत्कंठा के कुछ चिह्न अवश्य प्रकट हो गए थे। शायद वे मन ही मन देवर्षि के कथन का कारण ढूँढ़ रहे थे।

"मैंने तुम लोगों के व्यवहार में ऐसा कुछ नहीं पाया, जिससे मुझे ऐसी आशंका हो, किंतु पुत्र ! संसार में धरती, धन तथा नारी को लेकर अत्यंत प्रेम करने वाले भाइयों में भी मतभेद ही नहीं शत्रुता तक होती देखी गई है। मैं जानता हूँ कि यह बात तुम जैसे सतोगुणी भाइयों के विषय में नहीं कही जा सकती, किंतु मैंने तुमसे कहा न कि मानव मन अत्यंत जटिल होता है। उसके विषय में हम कभी भी बहुत निश्‍चित होकर नहीं रह सकते।"

नारद ने अपने चिंतन-संसार से बाहर निकलकर पुनः युधिष्ठिर की ओर देखा, जैसे उससे स्पष्टीकरण माँग रहे हों।

युधिष्ठिर गंभीर ही नहीं चिंतित दीखे, "धरती और धन में ऐसा कुछ नहीं है जो मेरे भाइयों को लुभाकर उन्हें एक-दूसरे के विरोध में खड़ा कर सके। मेरे भाइयों के मन में लोभ तो है ही नहीं, और वे अन्याय और अधर्म से कोई वस्तु अपने लिए प्राप्त करने की कल्पना भी नहीं करते। आप जानते हैं, उनकी वृत्ति भोग की नहीं है। यदि कभी जीवन में किन्हीं परिस्थितियों में मेरे भाइयों में से किसी के मन में इनकी आकांक्षा जागी तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि अन्य भाई उसका त्याग करने में एक क्षण भी नहीं लगाएँगे। हाँ ! नारी के विषय में इस प्रकार निश्‍चित होकर कहने में कुछ कठिनाई हो सकती थी। शायद यह आंशका सबसे पहले हमारी माता के मन में ही जन्मी थी। संभवतः इसीलिए उन्होंने यह चाहा था कि पांचाली को लेकर हम एक-दूसरे से पृथक न हों। इस समस्या के समाधान के रूप में उनकी इच्छा हुई कि हम पाँचों का विवाह पांचाली से हो। हम पाँचों का पांचाली से विवाह, उसी शत्रु के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए बनाया गया वह दुर्ग है, जिसकी ओर आपने अभी संकेत किया है।"

नारद कुछ क्षण युधिष्ठिर की ओर देखते रहे, जैसे सोच रहे हों कि अपने मन की बात कहकर कहीं वे युधिष्ठिर को कष्ट तो नहीं पहुँचाएँगे। अंततः वे बोले, "प्रकृति बड़ी मायाविनी है पुत्र ! इस माया की सृष्टि में जो जैसा दिखाई देता है, वस्तुतः वैसा होता नहीं। प्रकृति ने सब कुछ द्वंद्वमय बनाया है। हम जिसे अपना रक्षा-कवच मानते हैं, कालांतर में प्रकृति उसे ही हमारी कारा बना देती है। तुम्हारी माता ने तुम पाँचों को परस्पर एक साथ बाँधे रखने के लिए जिस युक्ति का आविष्कार किया है, मेरे मन में आशंका यह है कि कहीं वही युक्ति तुम्हारे विनाश का कारण न बन जाए।"

"वह कैसे देवर्षि ?" भीम ने पहली बार मुख खोला, "वैसे तो हम पूर्ण आश्‍वस्ति से यह भी कह सकते हैं कि मनुष्य के मन में काम का वेग कितना भी दुर्निवार क्यों न हो, हम पाँचों भाई पर-नारी की कामना नहीं कर सकते। हमारा संयम व्यभिचार को कभी सुखकर नहीं मान सकता।..."

नारद ने सहसा उसकी ओर देखा, "मैं भी तुमसे यही कह रहा हूँ पुत्र ! पांचाली का विवाह तुम पाँचों से हुआ, ताकि तुममें उसको लेकर कोई मतभेद न उभरे, किंतु यही तथ्य तुम्हारे लिए अब संकट का कारण बन सकता है। पांचाली तुम पाँचों की पत्नी है, इसलिए उसकी कामना में तुम पाँचों के लिए कोई अनौचित्य नहीं है। उस दृष्टि से वह तुम्हारे लिए पर-नारी भी नहीं है। जिसकी कामना तुम सब कर सकते हो, वही तुममें विरोध का अंकुर भी उपजा सकती है। तुमने सुंद और उपसुंद की कथा सुनी

होगी। वे राक्षस थे किंतु दोनों भाइयों में अनुल्लंघनीय प्रेम था। उनके उस प्रेम के भंजन के लिए देवताओं ने तिलोत्तमा का उपयोग किया था और अंततः वे दोनों एक-दूसरे के हाथों से ही मारे गए थे।"···

"तो आप हम पाँचों भाइयों को सुंद और उपसुंद के समकक्ष रखते हैं देवर्षि ?" भीम के स्वर में प्रतिवाद था।

"नहीं।" नारद बोले, "तुम लोगों को सुंद और उपसुंद के समकक्ष नहीं रखता। मैं पांचाली को तिलोत्तमा से भी अधिक कमनीय नारी मानता हूँ, इसलिए मेरी इच्छा है कि तुम लोग उससे अपने संबंधों के संदर्भ में कुछ ऐसे नियम अवश्य बना लो, जिससे जिस समय वह एक भाई की पत्नी हो, उस समय वह अन्य भाइयों के लिए पर-स्त्री ही हो जाए। मुझे पूर्ण विश्वास है, कि यदि तुम लोग ऐसा कोई नियम बना लोगे और सावधानी से उसका पालन करोगे तो तुम लोगों में न कोई मतभेद जन्म लेगा, न विरोध उपजेगा और न कभी विभाजन की स्थिति आएगी।"

पाँचों पांडव इस प्रकार चुप होकर एक-दूसरे की ओर देख रहे थे जैसे वे देवर्षि नारद से अपनी सहमति जता रहे हों और कह रहे हों कि उन्हें यह बात पहले क्यों नहीं सूझी···

"यदि मेरा परामर्श मानो तो इसी क्षण से तुम अपने लिए नियम निर्धारित कर लो, ताकि मैं निश्चिंत होकर यहाँ से जा सकूँ।"

"मेरा प्रस्ताव है," युधिष्ठिर ने उन सबकी ओर देखा, "कि पांचाली हममें से प्रत्येक के घर में एक-एक वर्ष निवास करे। उस काल में अन्य भाइयों के लिए वह पर-स्त्री ही रहे। यद्यपि मैं मानता हूँ कि हम में से कोई भी इस नियम का उल्लंघन नहीं करेगा फिर भी मर्यादा की रक्षा के लिए हम इसे अनुशासन के रूप में स्वीकार कर लें कि उस काल में यदि कोई दूसरा भाई उनके एकांत का अतिक्रमण करे तो यह निन्दनीय कर्म माना जाएगा, अतः वह प्रायश्चित्त स्वरूप बारह वर्षों तक ब्रह्मचर्यपूर्ण वनवास करे।" युधिष्ठिर ने उनकी ओर देखा, "क्या हम सब इसके लिए सहमत हैं ?"

उन्हें अधिक चिंतन-मनन की आवश्यकता नहीं थी। वे लोग तत्काल ही सहमत हो गए।

"यदि तुम सब इसके लिए सहमत हो और इस प्रतिज्ञा का नियमपूर्वक पालन करोगे तो तुम में कभी किसी प्रकार का मतभेद उत्पन्न नहीं होगा।" नारद बोले, "यद्यपि काम का वेग मनुष्य के नियंत्रण से स्वतंत्र है फिर भी मैं तुम लोगों के संदर्भ में इस प्रतिज्ञा का विश्वास कर सकता हूँ।" नारद ने उन्हें देखा, "किंतु धर्मराज के साथ सिंहासन पर बैठने की अधिकारिणी केवल पांचाली ही होगी।"

"हमें स्वीकार है।" पाँचों भाइयों ने एक साथ कहा।

युधिष्ठिर को आशीर्वाद दे, कुंती एक आसन पर बैठ गई, "पांचाली को भी बुला लो पुत्र। एक बात मेरे मन में आई है, सोचती हूँ कि तुम लोगों से उसकी चर्चा कर ही लूँ।"

"चर्चा की क्या आवश्यकता है माँ! तुम आदेश करो। तुम्हारी इच्छा पूरी होगी।"

युधिष्ठिर आकर माँ के निकट बैठ गये।

"नहीं। ऐसी कोई इच्छा नहीं है, जिसके लिए आदेश करूँ।" कुंती ने उत्तर दिया, "वैसे तो बड़े भाई के रूप में तुम अपने छोटे भाइयों का पूरा-पूरा ध्यान रखते ही हो, फिर भी कुछ बातें ऐसी होती हैं, पुत्र ! जो केवल जीवन के अनुभव से ही लक्ष्य की जा सकती हैं।···इसलिए सोचती हूँ कि तुम्हारा ध्यान उधर आकृष्ट करा दूँ। फिर जैसा तुम लोग उचित समझो।"

द्रौपदी ने आकर कुंती को प्रणाम किया।

"सदा सुखी रहो पुत्री।" कुंती ने उसका माथा सूँघा, "मैं तुम्हें बुलाने के लिए कह ही रही थी। तुमसे कुछ कहना है।"

"आप किसी से कहलवा देतीं···।"

"क्यों ? कहलवा क्यों देती ?" कुंती बोली, "तुझे देखने का मन नहीं करता मेरा ? तुझसे दो बातें करने की मेरी इच्छा नहीं होती ?"

"ओ मेरी माँ !" द्रौपदी कुंती के कंठ से जा लगी, "कैसा अद्‌भुत भाग्य पाया है मैंने। आपकी जेठानी की बहुएँ सुनेंगी तो ईर्ष्या से ही मर जाएँगी···।"

"नहीं। ऐसी बात नहीं है कृष्णा।" कुंती ने सहज भाव से कहा, "गांधारी को अपनी पुत्र-वधुएँ बहुत प्रिय हैं।···अच्छा सुनो।" कुंती ने द्रौपदी का हाथ, अपनी दोनों हथेलियों में थाम लिया, "महर्षि नारद तुम लोगों के लिए बहुत सुंदर व्यवस्था कर गए हैं। कुछ आशंकाएँ मेरे मन में भी थीं, किंतु मेरे पास उनका समाधान नहीं था। अब, जब उन्होंने यह व्यवस्था कर ही दी है तो नई परिस्थितियों में कुछ भिन्न चिंताएँ उभरी हैं।"

"कहो माँ।"

"पुत्र ! नियम अपने-आप में वरेण्य होते हैं, किंतु यदि चाहो कि उनका समुचित पालन भी हो तो उन्हें व्यावहारिक भी बनाना चाहिए। नियम-पालन के मार्ग में जो व्यावहारिक कठिनाइयाँ हों, उन्हें दूर करना भी हमारा कर्त्तव्य है।"

"अपनी इच्छा कहो, माँ।"

"यदि किसी को एक क्षेत्र से निष्कासित किया जाए, तो उसके ठहरने के लिए कोई अन्य क्षेत्र भी तो बना देना चाहिए, अन्यथा वह व्यक्ति बाध्य होकर नियम भंग करेगा और निषिद्ध क्षेत्र में प्रवेश करने का प्रयत्न करेगा।"

"ठीक है माँ। मैं समझ रहा हूँ।"

"पुत्र ! पांचाली तुम पाँचों की पत्नी अवश्य है, किंतु इस व्यवस्था के अन्तर्गत वह एक वर्ष के लिए तुममें से किसी एक भाई की ही पत्नी होगी, उस अवधि के लिए शेष चार भाई तो पत्नी-विहीन ही होंगे न। और जो एक पांडव एक वर्ष के लिए सपत्नीक होगा, वह अगले चार वर्षों के लिए पत्नी-विहीन जीवन व्यतीत करेगा···"

"हाँ माँ। यही स्थिति होगी।"

"ऐसे में क्या यह स्वीकार किया जा सकता है कि पाँचों पांडव समीचीन रूप से विवाहित हैं ? क्या तुम पाँचों एक भरा-पूरा दांपत्य जीवन पा सकोगे, दांपत्य अपेक्षाओं को पूर्णतः तृप्त कर पाओगे ?"

"नहीं। शायद नहीं।" युधिष्ठिर धीरे से बोले।

"ऐसे में क्या यह अच्छा नहीं है, कि तुम अपने तथा अपने छोटे भाइयों के एक-एक अतिरिक्त विवाह के विषय में सोचो, और उन्हें उसके लिए प्रेरित करो…।"

द्रौपदी की दृष्टि कुंती के चेहरे पर चिपक गई : ठीक ही तो कह रही हैं माँ। स्वयं द्रौपदी ने तो मान लिया था कि द्रौपदी का विवाह पाँचों पांडवों के साथ हुआ था, इसलिए वे विवाहित थे, किंतु व्यवहारतः तो वे विवाहित नहीं थे… चार वर्षों तक द्रौपदी जिस पांडव के साथ सहवास नहीं करेगी, वह स्वयं को विवाहित कैसे मानेगा ?

"इसलिए तुम्हें चाहिए कि सबसे पहले भीम को तुम विवाह के लिए प्रेरित करो।" कुंती ने द्रौपदी की ओर देखा, "क्यों कृष्णा ! तुम्हें यह तो नहीं लगेगा कि मैं तुम्हारे साथ अन्याय कर रही हूँ ?…अथवा तुम्हारे विरुद्ध कोई षड्यंत्र रच रही हूँ ?"

"नहीं माँ ! यदि उनके विवाहों के आड़े आऊँ, तो मैं उनके साथ अन्याय करूँगी।" द्रौपदी अत्यन्त मधुर स्वर में बोली, "यह तो आपका ही अपने पुत्रों की असुविधा समझने वाला जागरूक मन है, जिसने हमें समय से चेता दिया, नहीं तो मैं पांडवों को विवाहित मान, अविवाहित का-सा जीवन व्यतीत करने को बाध्य करती रहती और उनकी पीड़ा कभी समझ नहीं पाती।"

"तू बहुत करुणामयी है पुत्री ! तेरा मन उदार और ईर्ष्याशून्य है, नहीं तो कौन-सी स्त्री 'सपत्नी' शब्द से ही विचलित नहीं हो जाती।" कुंती की वाणी ही नहीं आँखों में भी स्नेह था, "तो पुत्र युधिष्ठिर ! तुम भीम का ध्यान काशी की राजकुमारी बलंधरा के स्वयंवर की ओर दिलाओ। संभव हो तो वहाँ जाने के लिए उसे प्रेरित भी करो।"

"हाँ ! बलंधरा के स्वयंवर की चर्चा मैंने भी सुनी है।" द्रौपदी बोली, "उसके लिए बल और पराक्रम को ही शुल्क रखा गया है।"

"मैं निश्चित रूप से तो नहीं कह सकती", कुंती ने कहा, "किंतु मुझे लगता है कि कांपिल्य में भीम द्वारा प्रदर्शित बल-पराक्रम से काशिराज अनभिज्ञ नहीं होंगे। उस पर भी यदि उन्होंने बल और पराक्रम को ही स्वयंवर का शुल्क रखा है, तो बहुत संभव है कि यह स्वयंवर भीम के लिए ही हो।"

"ठीक है माँ। उस स्वयंवर में भीम का ही जाना उचित है। उसका विवाह हो जाए तो फिर अर्जुन से भी चर्चा करूँगा…"युधिष्ठिर ने रुक कर माँ की ओर देखा, "वैसे मैंने सुना है कि शिवि नरेश गोवासन की पुत्री के स्वयंवर की भी तैयारियाँ चल रही हैं।…"

"तुम्हें यह समाचार भी मिला होगा कि मद्रदेश के एक राजा द्युतिमान की राजकुमारी विजया के विवाह की भी चर्चा हो रही है…।"

"माँ ! विवाह योग्य राजकुमारियों का अन्वेषण करने के लिए तुमने अपना कोई गुप्तचर तो नियुक्त नहीं कर रखा ?" युधिष्ठिर हँसे, "अपने गूढ़ पुरुषों के सारे तंत्र के होते हुए भी मुझे ये सारी सूचनाएँ नहीं मिलतीं, जो तुम्हें अपने कक्ष में बैठे-बैठे स्वतः ही प्राप्त होती रहती हैं…।"

"मैं पाँच पुत्रों की माँ हूँ युधिष्ठिर ! जिसकी अभी केवल एक ही बहू आई है, इसलिए ये सूचनाएँ स्वतः मेरे पास आ जाती हैं…।" कुंती रुकी, "किंतु यदि धर्मराज युधिष्ठिर अपने गुप्तचरों से राजनीतिक महत्व की सूचनाएँ न मँगवा कर, विवाह-योग्य राजकुमारियों की सूचियाँ मँगवाएँगे, तो वे धर्मराज न रह कर विलासराज हो जाएँगे।…तुम

अपने धर्म का निर्वाह करो पुत्र ! मैं अपने धर्म का निर्वाह कर रही हूँ।"

तभी भीम ने आकर प्रणाम किया, "अरे माँ ! तुम यहाँ बैठी हो, मैं तो तुम्हारे भवन में गया था।"

"झूठा कहीं का।" कुंती ने लाड़ से उसकी पीठ पर थपकी दी, "मुझे यहाँ बैठे देखकर बातें बना रहा है।"

"नहीं माँ ! चाहो तो अपनी दासियों को यहीं बुलवा कर अभी पूछ लो।" भीम की वाणी में प्रस्ताव के प्रति तनिक भी गंभीरता का भाव नहीं था।

"लगता है कि मध्यम पांडव किसी विशिष्ट दासी के दर्शनों की योजना बना रहे हैं।" द्रौपदी मुस्कराई।

"तुम सास-बहू तो एक से बढ़कर एक हो।" भीम हँसा, "शब्दों से वह सूँघ लेती हो, जो किसी के मन में भी नहीं होता।"

"दासी क्यों, हम तेरे लिए राजकुमारी के दर्शनों का प्रबंध कर रहे हैं।..."

"कौन-सी राजकुमारी ?"...

"आ यहाँ बैठ !" कुंती ने उसकी कलाई थामकर कहा, "हम तीनों मिलकर तुम्हें काशी भेजने का षड्यंत्र रच रहे हैं।"

"क्यों माँ ? काशी जाकर क्या गंगाजल लाना है ?" भीम हँसा।

"नहीं रे। गंगाजल लाने के लिए तो कोई साधारण व्यक्ति भी जा सकता है, उसके लिए महावीर को क्यों भेजा जाएगा।"

"वहाँ राजकुमारी बलंधरा का स्वयंवर है भीम, जिसका शुल्क है, बल और पराक्रम।" युधिष्ठिर ने बताया, "अब बताओ, इस युग में संपूर्ण आर्यावर्त्त में भीम से बढ़कर पराक्रमी और कौन है।...हम चाहते हैं कि तुम बलंधरा को स्वयंवर में प्राप्त करो।"

भीम के नयनों में तत्काल प्रसन्नता की ज्योति जागी, किंतु अगले ही क्षण उसकी दृष्टि द्रौपदी के चेहरे पर जा टिकी।...कहीं पांचाली ने बुरा तो नहीं माना ?... पता नहीं धर्मराज को भी क्या सूझा कि ऐसी चर्चा पांचाली के सामने ही ले बैठे...

किंतु न तो द्रौपदी ने अपनी ओर से कुछ कहा, न उसकी ओर देखा और न ही अपने गंभीर चेहरे से किसी प्रकार का कोई भाव अभिव्यक्त होने दिया...

"माँ ! तुम्हारी इच्छा पूरी करने का अर्थ है मातुल शल्य से भिड़ंत। बहुत संभव है, जरासंध भी आया हो।... और दुर्योधन तो होगा ही...।" भीम बोला, "और कोई...।"

"अरे तुम बलराम को भूल ही जाते हो।" कुंती ने जोड़ा।

"नहीं माँ। बलभद्र भैया की स्वयंवरों में तनिक भी रुचि नहीं है, वे रेवती भाभी से विवाह कर पूर्णतः तृप्त लगते हैं। हाँ युद्ध का प्रसंग हो तो बात और है।" भीम बोला, "पर मातुल के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। लगता है कि राजकुमारियों में उनकी रुचि अब भी बनी हुई है।"

"अच्छा ! है उसकी राजकुमारियों में रुचि तो ?" कुंती ने कृत्रिम रोष जताया।

"अब मातुल की आकांक्षित कन्या को मैं जय कर ले आऊँ...यह धर्म तो नहीं है न ! माता माद्री जीवित होतीं, तो ऐसा करने देतीं क्या ?" भीम के चेहरे से तनिक भी पता नहीं लग रहा था कि वह मात्र परिहास कर रहा है, अथवा यह उसकी गंभीर

आपत्ति थी।

"तुमने द्रौपदी के स्वयंवर में यह सब क्यों नहीं सोचा ?" कुंती ने मानो भीम की क्रीड़ा में सहयोग किया।

"पांचाली संकेत कर देती तो मैं मान लेता कि उसने निश्चय कर लिया है। मैं मातुल का विरोध वहाँ भी नहीं करता।" भीम हँस रहा था, "पांचाली ने कोई संकेत नहीं किया, तो मैं समझ गया कि मातुल का विरोध उसे भी अभीप्सित था।"

"मैंने तो यहाँ भी कोई संकेत नहीं किया है मध्यम !" द्रौपदी ने क्रीड़ामयी आँखों से उसकी ओर देखा, "आप इसका क्या अभिप्राय समझते हैं ?"

"संभव है कि इसमें पांचाली की यह इच्छा निहित हो कि मध्यम पांडव काशी की राजकुमारी को स्वयंवर में प्राप्त कर, पांचाली की दासी बनाकर इंद्रप्रस्थ ले आए।" भीम धीरे से बोला, "पर यदि यह अभिप्राय न हो तो इसे मध्यम पांडव की बुद्धि का दोष माना जाए, उसकी आकांक्षाओं को लांक्षित न किया जाए।..."

"कृष्णा !" कुंती की तर्जनी, चिंता में अपने चिबुक पर जा लगी, "देख तो यह विशालकाय मध्यम पांडव तुझसे कितना भयभीत है।"

"मध्यम भयभीत नहीं हैं माँ। इतने कोमल हृदय हैं कि मेरी पीड़ा उनसे देखी नहीं जाती, इसलिए मुझे आहत नहीं करना चाहते।..." द्रौपदी बोली।

"तो बेटी ! इसे बंधन-मुक्त कर, ताकि यह काशी जा सके।" कुंती ने कहा, "नहीं तो यह अपने मातुल ही नहीं, अन्य प्रतियोगियों के विरुद्ध भी आचरण न करने के अनेक धर्मसंगत तर्क ढूँढ़ लाएगा।"

भीम ने अत्यन्त चाव से द्रौपदी की ओर देखा।

"मध्यम ! जिस माता के पाँच पुत्र हों, उसके लिए एक पुत्रवधू पर्याप्त नहीं होती। अपने अग्रज और मुझे अपराधबोध से मुक्त करने के लिए, तुम बलंधरा को प्राप्त करने का प्रयत्न करो।" द्रौपदी क्षण भर रुकी, "मैं मात्र माँ की इच्छा-पूर्ति के लिए ही यह नहीं कह रही, मेरी न्याय-बुद्धि का भी यही निश्चय है।"

भीम का असमंजस विलुप्त हो गया, "माँ ! हमारे परिवार की परंपरा है कि काशी जाओ, तो वहाँ की सारी राजकुमारियों को प्राप्त करो...क्या मुझे भी यही आदेश है ?"

"यह लड़का तो..." कुंती मुस्कराई, "नहीं ! तुम्हें केवल बलंधरा को ही स्वयंवर में प्राप्त करना है। उसका हरण नहीं करना है।"

"ठीक है माँ। तुम्हारी आज्ञा का पालन होगा।"

7

सैनिक ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया, "राजकुमार ! द्वार पर एक ब्राह्मण खड़ा गुहार

कर रहा है।"

अर्जुन अभी पूरी तरह सोया नहीं था, किंतु सोने की प्रक्रिया आरंभ अवश्य हो गयी थी। उसे लगा, सैनिक के प्रणाम से ही उसकी तंद्रा का आवरण चीर कर उसकी चेतना लौटी थी, अन्यथा वह प्रायः सो ही चुका था। हाँ ! नींद अभी गहराई नहीं थी, इसलिए सैनिक की एक ही पुकार से उचट गई। वह भीम के समान इतनी गहरी नींद नहीं सोता था कि कोई चिल्ला-चिल्ला कर उसे हिलाता रहे और उसकी नींद न टूटे, किंतु उसकी नींद इतनी कच्ची भी नहीं थी कि किसी के एक बार पुकारने से ही वह जाग जाए।

अर्जुन उठकर बैठ गया, "क्या बात है ? क्या चाहता है वह ?"

"राजकुमार वह अपने गोधन की रक्षा चाहता है। चोरों का एक दल उसकी गायों को बलात् हाँक कर लिए जा रहा है···।"

अर्जुन को जैसे किसी पशु ने अपने तीखे दाँतों से काट लिया अथवा किसी ने तीक्ष्ण शूल उसके वक्ष में उतार दिया था।··· तो वे चोर फिर आ गए।···उन्हें शायद यह सूचना मिल गई थी कि भीम महाराज युधिष्ठिर के आदेश से इंद्रप्रस्थ से बाहर गया हुआ है, और अर्जुन दिव्यास्त्रों के निर्माण-हेतु वन में अपनी कार्यशाला में व्यस्त है। उन्हें यह सूचना कदाचित् नहीं मिली थी कि अर्जुन आज संध्या को इंद्रप्रस्थ में लौट आया है।···और अकेला नहीं लौटा है, अपने उन दिव्यास्त्रों को लेकर लौटा है, जिनसे योजन-भर में बिखरे असंख्य शत्रुओं से वह अकेला ही निबट सकता है···वैसे क्या वे समझते हैं कि भीम और अर्जुन उपस्थित न हों तो इंद्रप्रस्थ असुरक्षित है ?···धर्मराज युधिष्ठिर और नकुल, सहदेव तो क्या, अब तो इन चोरों पर इंद्रप्रस्थ के सेनानायक भी भारी पड़ेंगे···

किंतु इन विचारों से अर्जुन का मन शांत नहीं हो रहा था। उसे लगा कि इन चोरों ने घात लगा कर आक्रमण किया है। वे न अपनी दुष्टता छोड़ रहे हैं, न चतुराई। पांडवों की सहृदयता का उन्होंने कोई लाभ नहीं उठाया है।···किंतु उन्हें अपनी चतुराई काफी महँगी पड़ेगी। शायद वे नहीं जानते कि आज ही अर्जुन के दिव्यास्त्र बनकर आए हैं। उन्होंने अपनी इस चतुराई से अर्जुन को उन दिव्यास्त्रों के परीक्षण का अवसर दे दिया है···

"वह ब्राह्मण कहता है कि महाराज युधिष्ठिर यदि एक निर्धन और असहाय ब्राह्मण के गोधन की चोरों से रक्षा नहीं कर सकते, तो वे कैसे धर्मराज हैं ?···"

अर्जुन के लिए इस प्रश्न का तनिक भी महत्व नहीं था।···वह जानता था कि राजा की धर्मपरायणता को सिद्ध करने के लिए उसे ब्राह्मण से शास्त्रार्थ नहीं करना है। राजा की धर्मपरायणता तो उसके अपने तथा उसके कर्मचारियों के आचरण से सिद्ध होती है, शासन-तंत्र की सक्रियता से सिद्ध होती है। वह तत्काल जाकर उन चोरों को दंडित करेगा और गोधन लौटा लाएगा, तो राजा की धर्मपरायणता में ब्राह्मण की निष्ठा पुनः स्थापित हो जाएगी···

अर्जुन को लगा कि उसके मन में उन चोरों को दंडित कर गोधन लौटा लाने का संकल्प जगा है, किंतु उस संकल्प के बीज-रूप उसके मन में क्षोभ है। और जब मन

में क्षोभ हो तो योद्धा उत्साह अथवा उल्लास का अनुभव नहीं करता, उसके मन पर चिंता और अवसाद की परतें घनी होती जाती हैं।···

वे लोग जब से खांडवप्रस्थ में आए थे, इन चोरों, दस्युओं, साहसिकों और लुटेरों से अनवरत लड़ रहे थे।··· पहले तो ये अपराधकर्मी, खांडव-वन को अपना अभयारण्य मानकर अधिकारपूर्वक यहाँ रहते थे। पांडवों से वे इस प्रकार लड़े थे, मानो वे पांडवों को निष्कासित कर, यहाँ अपना राज्य ही स्थापित कर लेंगे।··· अब स्थिति वह नहीं रही थी। क्रमशः वे लोग दुर्बल हो गए थे। उनकी संख्या भी कम हो गई थी और उनका मनोबल भी टूट गया था। इसलिए उनके प्रहारों की निरंतरता भंग हो गई थी। और प्रहार उतने आक्रामक भी नहीं थे।··· फिर भी इंद्रप्रस्थ की प्रजा अभी सर्वथा भयमुक्त नहीं हुई थी। इसीलिए गोधन की चोरी का समाचार प्रहरियों अथवा सामान्य सेनानायकों को न देकर स्वयं राजकुमार अर्जुन को दिया जा रहा था।···

अर्जुन उठकर अपने कक्ष से बाहर आया।

···यह कहीं किसी पड़ोसी राजा का षड्यंत्र ही तो नहीं ? कई बार आस-पास के राज्य अपने सीमावर्ती क्षेत्रों में इस प्रकार का उत्पात करते रहते हैं, ताकि एक ओर वे उनका बल तौलते रहे और दूसरी ओर उन्हें किसी-न-किसी व्यूह में उलझाए रखें। ऐसे में वे कभी-कभी लूटपाट का व्यवसाय करने वाले भृतक सैनिकों की सहायता लेते हैं और कभी अपनी ही सेना के गुल्म भेज देते हैं।··· वैसे वे भृतक सैनिक क्या होते हैं, होते तो वे दस्यु ही हैं। जाने किसने उन्हें भृतक सैनिकों का नाम दे दिया है।···

सहसा अर्जुन का मन पलटा। यदि यह काम किसी सीमावर्ती राजा की सेना का है तो उसे चाहिए कि वह उसकी सूचना युधिष्ठिर को दे और अपने सेनानायकों को भी सचेत करे।··· किंतु यदि यह किसी राजा की सेना का गो-हरण-अभियान होता, तो वह दिन के समय होता।··· और कोई राजा कितना भी कायर क्यों न हो, जब ऐसे अभियान पर निकलता है तो अपने शक्ति-प्रदर्शन के लिए चुनौती का थोड़ा-सा नाटक वह अवश्य करता है। रात को इस प्रकार बिना किसी चेतावनी दिए गोधन की चोरी करने वाला कोई राजा अथवा दुस्साहसी दस्यु नहीं होगा। यह तो खांडव-वन का कोई धृष्ट चोर ही होगा।···

जो कोई भी हो···अर्जुन के पास अब सोचने का अधिक समय नहीं था। यदि एक बार वह चोर ब्राह्मण के गोधन के साथ खांडव-वन में प्रवेश कर गया तो फिर उसे पकड़ पाना कठिन हो जाएगा। इस समय तो चिंतन-मनन तथा योजना निर्माण से कहीं अधिक आवश्यकता त्वरित एवं तत्काल कर्म की थी। अर्जुन अकेला ही लपक कर जाए तो अपने दिव्यास्त्रों की सहायता से, वह उन चोरों से निबट सकता है। इस समय तो न योजना-बुद्धि की आवश्यकता है, न शस्त्र-बल की। आवश्यकता है थोड़े साहस और कठोरता की। जिस अर्जुन में युद्ध-क्षेत्र में अनेक महारथियों से अकेले ही जूझ पड़ने का साहस और क्षमता है, उसे कुछ भीरु-हृदय चोरों से गोधन लौटा लाने के लिए किसी सेना अथवा सेना-नायक की आवश्यकता नहीं है।···

किन्तु उसे अपने दिव्यास्त्र ले लेने चाहिए।···भीम होता तो कदाचित् निःशस्त्र ही निकल पड़ता। वन में से ही किसी वृक्ष की बड़ी-सी शाखा तोड़ता अथवा पूरा वृक्ष ही

उखाड़ता और चोरों से जूझ पड़ता। किन्तु अर्जुन की यह रणनीति नहीं है। अकेले ही यदि अनेक योद्धाओं से निबटना है, युद्ध के कोलाहट से घबराए हुए पशु-धन को इधर-उधर भागकर वन में खो जाने से रोकना है, उन्हें लौटाकर सुरक्षित इन्द्रप्रस्थ में लाना है"तो उसे दिव्यास्त्रों से सज्जित होना ही चाहिए। दिव्यास्त्रों के अभाव में, यदि वह गोधन लौटा लाया, किन्तु चोर भाग गए, तो उसका काम अपूर्ण ही रह जाएगा। वही चोर पुन: अधिक सावधानी से, अधिक संगठित होकर आएँगे और अधिक घातक प्रहार करेंगे। उसे इस अपराध का प्रतिशोध ही नहीं लेना है, भविष्य के अपराधों का प्रतिरोध भी करना है।"

"ब्राह्मण को मैं क्या उत्तर दूँ राजकुमार ?" सैनिक ने पूछा।

अर्जुन चौंका। उसने अभी तक सैनिक को कोई निर्देश नहीं दिया था। अपनी विचार-प्रक्रिया में लीन, उसका ध्यान इस ओर गया ही नहीं कि सैनिक उसके आदेश की प्रतीक्षा में होगा और बाहर खड़ा ब्राह्मण भी आश्वासन की राह देख रहा होगा।"

"चलो। मैं स्वयं देखता हूँ।" अर्जुन ने सैनिक को आगे चलने का संकेत किया।

कक्ष से निकल गलियारे को पार करते ही सैनिक ने व्याकुल ब्राह्मण की ओर संकेत किया।

अर्जुन को देखते ही ब्राह्मण ने आशीर्वाद की मुद्रा में हाथ उठाया और याचना के स्वर में बोला, "मुझ निर्धन के धन की रक्षा करो, राजकुमार ! वे लोग मेरी एक-एक गाय हाँककर ले गये हैं। मेरे शिशु दूध के अभाव में भूखे मर जाएँगे।""

"धैर्य धारण करें महात्मन् !" अर्जुन ने शान्त स्वर में कहा, "मुझे बताएँ कि गायों की संख्या क्या है ?"

"मेरे पास तो केवल दस ही गाएँ हैं। वे सारी की सारी हाँककर ले गये हैं।"" ब्राह्मण बोला, "जो श्रेष्ठि इन्द्रप्रस्थ को बहुत सुरक्षित नगर समझ कर यहाँ बसने के लिए आ गए हैं, वे सुनेंगे तो उन्हें कैसा लगेगा। उनके पास तो धन""

वह और भी बहुत कुछ कहना चाहता था, किन्तु अर्जुन ने अपने हाथ के संकेत से उसे चुप करा दिया, "चोरों की संख्या क्या थी ?"

"मुझे तो तीन-चार आदमी ही दिखाई दिए।" ब्राह्मण ने कहा, "हो सकता है कि अन्धेरे में और लोग भी हों।"

"वे सशस्त्र थे क्या ?"

"उनके हाथों में शूल थे और कन्धों पर धनुष टँगे हुए थे। धनुष थे तो बाण भी होंगे ही, किन्तु मुझे तूणीर दिखाई नहीं दिए।" ब्राह्मण बोला, "पर मुझे दिखने-न-दिखने से क्या होता है। जिस नगर में सशस्त्र दस्यु असहाय ब्राह्मण का गोधन चुरा लेते हैं, वहाँ कौन सुरक्षित है ?"

"किस दिशा में गए हैं वे ?"

"उत्तर की ओर। वे किसी और दिशा में मुड़ भी सकते हैं।" ब्राह्मण बोला, "यदि वे लोग वन में प्रविष्ट हो गए तो फिर मेरा क्या होगा ? वे लोग उधर गए और मैं उसकी विपरीत दिशा में आपके पास आया। अब तो वे कहाँ के कहाँ निकल गए होंगे।"

"आप व्याकुल न हों भूदेव।" अर्जुन का स्वर पर्याप्त स्थिर था, "मुझे तो वे साधारण

चोर दिखाई पड़ते हैं। उनके स्थान पर यदि किसी राजा की सशस्त्र सेना भी होती, तो मैं आपका गोधन लौटा लाता।"

"उसमें मुझे तनिक भी संशय नहीं है।" ब्राह्मण का अधैर्य पहले से भी अधिक मुखर हो उठा, "किन्तु यदि वे खांडव वन में प्रविष्ट हो…।"

"आपका गोधन खांडव-वन से भी लौटा कर लाया जाएगा।" अर्जुन बोला, "आपको तो केवल अपने गोधन की चिन्ता है, मुझे प्रजा की सुरक्षा, शासन की विश्वसनीयता तथा महाराज युधिष्ठिर के निष्कलुष यश की भी चिन्ता है।" वह सैनिक की ओर मुड़ा, "इन्हें ले जाकर मेरे रथ में बैठाओ। मेरे सारथि पुरु को सन्नद्ध करो। मैं अपने शस्त्र लेकर आता हूँ।"

अर्जुन चला गया। ब्राह्मण रथ में बैठ तो गया किन्तु वह तनिक भी आश्वस्त नहीं हुआ था। उसने सारथि की ओर देखा, "ऐसे तो कोई राजा शासन नहीं चला सकता। प्रजा की सुरक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं है। राज्य में दस्यु इस प्रकार निरंकुश घूमेंगे तो कोई पांडवों के राज्य में रह पाएगा ? हमने तो सुना था कि जहाँ राजा युधिष्ठिर होते हैं, वहाँ…।"

सहसा ब्राह्मण ने देखा, सारथि का सारा ध्यान रथ और घोड़ों की ओर था। उसने शायद ब्राह्मण का कहा हुआ एक शब्द भी नहीं सुना था।

युधिष्ठिर ने पांचाली को मुग्ध नेत्रों से निहारा।

"क्या देख रहे हैं ?" पांचाली कुछ संकुचित हुई। युधिष्ठिर ने शयन-कक्ष के एकान्त में भी कभी उसे इन नेत्रों से नहीं देखा था। उसके मन में कहीं यह कसक थी कि युधिष्ठिर कभी भी भीम के समान मुखर प्रेमी क्यों नहीं बनते,…किन्तु कहीं उसका मन धर्मराज के व्यक्तित्व पर इस कारण मुग्ध भी था। उनकी दृष्टि ने पांचाली को नारी-सौन्दर्य की अद्‌भुत प्रतिमा होने का गौरव तो दिया था, किन्तु पुरुष होते हुए भी उसे मर्यादा से पतित कर, कभी कामिनी अथवा भोग्या होने का अहसास नहीं दिया। उनका काम-व्यवहार भी जैसे दिव्य ही था। उसमें न अधिग्रहण था, न भोग, वह तो जैसे सहयोग तथा आनन्द का उत्सव था। शृंगार-प्रसंग में भी उन्हें अपने सुख की अपेक्षा कभी नहीं रही…

"प्रकृति के इस दिव्यास्त्र को देख रहा हूँ।" युधिष्ठिर ने कहा, और तत्काल ही संशोधन किया, "नहीं ! दिव्यास्त्र कहना शायद उचित नहीं, तुम्हें तो देवास्त्र ही कहना चाहिए।"

"मैं क्या आहत करती हूँ, घाव पहुँचाती हूँ, पीड़ा देती हूँ ?" पांचाली ने अपनी भंगिमा को कुछ और प्रखर किया।

"नहीं !" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "तुम्हारे माध्यम से प्रकृति मेरे मन में निराशा, विषाद, अभाव, घृणा, ईर्ष्या इत्यादि के भावों को निरस्त करती है। तुम शान्ति, सन्तोष, उपलब्धि और प्राप्ति जैसे भावों की द्योतक हो। तुम सम्मुख होती हो तो जीवन का ऋणात्मक पक्ष निकट नहीं फटकता। जीवन जैसे प्रकृति का सुन्दरतम उद्यान बन जाता है, जिसमें दिव्य रस, रंग तथा गंध है। यह लोक किसी दिव्य लोक में परिणत हो जाता

"शब्दों का मायाजाल मत रचिए। मैं समझती हूँ। आपने नयन-बाण, नयन-कटाक्ष अथवा काम-बाण जैसे शब्दों का प्रयोग न कर, दिव्यास्त्र तथा देवास्त्र शब्दों का प्रयोग किया है।" पांचाली इठलाई, "कहना तो यही चाहते हैं न कि मेरा रूप काम की सृष्टि करता है। आपको दिव्यता के आसन से पतित कर लौकिकता और भोग के धरातल पर ला पटकता है···।"

"नहीं देवि !" युधिष्ठिर के स्वर में प्रशंसा की दीप्ति के स्थान पर अब चिन्तन की गम्भीरता थी, "काम तो मेरे मन में है। तुम रति बनकर उसका शमन करती हो। अनंग मेरे अपने भीतर छिपा न बैठा हो तो नारी का रूप मेरे मन में रंचमात्र भी विकार उत्पन्न नहीं कर पाएगा। तुम तो मेरी वासना को भी दिव्य रूप प्रदान करती हो। तुम श्रद्धा-स्वरूपा हो, वासना-रूपा नहीं। तुम मेरे मन को सौन्दर्य के भव्य धरातल पर स्थिर रखती हो।"

"आप सत्य कहते हैं, मैं लौकिकता और भोग को प्रेरित नहीं करती ?" पांचाली ने कटाक्ष किया, "मैं नारी हूँ। नारी के लिए तो पुरुष यही कहता है।"

युधिष्ठिर क्षण भर मौन रहे, जैसे सोच रहे हों कि अपने भाव को किन शब्दों में कहें, "नारी तो तुम हो ही, इसलिए वासना का रूप धारण करोगी तो आसक्ति और भोग की सृष्टि करोगी। प्रेरणा बनकर रहोगी, तो वासना और आसक्ति नहीं जागेगी। नारी की हीन वृत्तियों को धारण करोगी तो प्रकृति का पार्थिव और स्थूल रूप प्रकट करोगी, किन्तु उदात्त वृत्तियों को प्रेरित करोगी तो दिव्य और उदात्त जीवन की सृष्टि करोगी। नारी का एक रूप वह है, जो पुरुष को निरन्तर भोगासक्ति में निमज्जित करता चलता है, और दूसरा रूप वह है, जो हीनता की ओर पग उठते ही पुरुष को टोक देता है। नारी, पुरुष का नरक भी है और स्वर्ग भी।"

पांचाली की आँखों में प्रशंसा का भाव था, "किन्तु आप यह कैसे अस्वीकार कर सकते हैं कि नारी-पुरुष सम्बन्धों में काया महत्वपूर्ण है।···"

"शरीर जब तक देव-कार्यों का निमित्त है, तब तक तो वह देवास्त्र ही है।" युधिष्ठिर बोले, "सृष्टि को चलाए रखने के लिए, सन्तान को जन्म देने के लिए तो शरीर आवश्यक है ही। इस दायित्व को पूर्ण करने के पश्चात् यह शरीर है दिव्य-कार्यों के लिए···अपनी आत्मा पर जम गया मल धोने के लिए। इसीलिए इस शरीर को तपस्या और साधना में लगाया जाता है, स्वच्छ जीवन जिया जाता है। लोभ, मोह, क्रोध, काम, घृणा तथा द्वेष से मुक्ति पाने का प्रयत्न किया जाता है।" युधिष्ठिर ने द्रौपदी की ओर देखा, "किन्तु प्रकृति मायामयी है। कर हम वह रहे हैं, जो प्रकृति चाहती है, और मानते यह हैं कि हम अपनी इच्छा से, अपने सुख के लिए स्वतन्त्र रूप से कार्य सम्पादन कर रहे हैं। इस देवास्त्र को मात्र अस्त्र न मानकर, हम मूल अस्तित्व मान बैठे हैं।"

"वह ठीक है," द्रौपदी बोली, "किन्तु जहाँ तक मुझे स्मरण है, आपने इस शरीर को कभी अस्त्र नहीं कहा। आज चाहे आप इसे 'दिव्य' कहें या 'देवों का' कहें, किन्तु कह आप अस्त्र ही रहे हैं।" द्रौपदी रुकी, किन्तु युधिष्ठिर के कुछ कहने से पूर्व ही पुनः बोली, "क्षत्रिय तो आप जन्म से ही हैं। शस्त्रास्त्रों से आपका सम्बन्ध आरम्भ से ही

रहा है, किन्तु सामान्य, दैनन्दिन जीवन में अस्त्रों की इस प्रकार चर्चा तो आपने पहले कभी नहीं की। आपका मन आज अस्त्रों को उपमान बनाने पर क्यों तुला हुआ है ?"

"ओह !" युधिष्ठिर की हँसी में जैसे कुछ नया पा जाने का भाव था, "अर्जुन ने बड़े श्रम से अपने निर्देशन में कुछ दिव्यास्त्र बनवाए हैं। वे दिव्यास्त्र आज ही तैयार होकर आए हैं। कदाचित् इसी से मेरा मन इन शब्दों और बिम्बों में उलझ गया है।"

"पर क्यों ?" द्रौपदी की जिज्ञासा शान्त नहीं हुई थी, "ऐसा क्यों ?"

"जिस समय अर्जुन ने लौकिक शस्त्रास्त्रों के साथ दिव्यास्त्रों और देवास्त्रों की चर्चा की, मेरे मन में उसी क्षण यह प्रश्न उठा कि दिव्यास्त्र और देवास्त्र वे शस्त्रास्त्र हैं, जिनका निर्माण कर मनुष्य, अन्य मनुष्यों का विनाश करता है, या वे उपकरण हैं, जिन्हें स्वयं प्रकृति ने बनाकर इस संसार में भेजा है।...तो फिर यह कैसे न सोचता कि संसार में देवों का बनाया हुआ अस्त्र तो मनुष्य का शरीर ही है...कोई मात्र अस्त्र है, कोई दिव्यास्त्र और कोई देवास्त्र।"

"तो आपने शरीर को यन्त्र क्यों नहीं कहा ?" द्रौपदी बोली, "यन्त्र भी तो प्रकृति की ही इच्छा पूरी करेगा। 'अस्त्र' में तो आक्रामकता का भाव है।"

"हाँ ! यदि निष्क्रिय होकर जन्म और मृत्यु के चक्र में पड़ा रहे, तो यन्त्र ही है, किन्तु यदि वह किन्हीं अस्पृहणीय गुणों अथवा दुर्गुणों का संहार करता है, तो फिर अस्त्र है।" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "यन्त्र में जो यान्त्रिकता है, वह मनुष्य में नहीं होती, इसलिए उसे अस्त्र का महत्व दे दिया।"

द्रौपदी समझ नहीं पाई कि उसकी पिछली जिज्ञासा समाप्त हो गई थी अथवा उसके मन में एक नई उत्सुकता ने जन्म ले लिया था।...पर अब उसकी रुचि इस सैद्धांतिक चर्चा में समाप्त हो गई थी। उसका मन जैसे चिन्तन का एक नया मोड़ मुड़ गया था।...ऐसा क्या है अर्जुन द्वारा बनवाए गए उन दिव्यास्त्रों में कि वे युधिष्ठिर जैसे पुरुष के भी मन-मस्तिष्क पर छा गए थे ?

"अर्जुन ने जो नए शस्त्रास्त्र बनवाए हैं, वे सामान्य अस्त्रों से भिन्न हैं क्या ?" पांचाली ने सहज भाव से पूछा, "मैं तो यही जानती हूँ कि शस्त्रास्त्र तो सब एक जैसे ही होते हैं। हाँ ! उनका प्रयोग करने वाले योद्धा की विशिष्टता ही उन्हें विशिष्ट बना देती है।...या फिर जब किसी को कुछ अधिक विशिष्ट शस्त्रास्त्रों की आवश्यकता होती है तो वह ऋषियों अथवा देव-शक्तियों से उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।"

"ठीक सुना है तुमने।" युधिष्ठिर बोले,"किन्तु अपनी भिन्न परिस्थितियों, आवश्यकताओं और क्षमताओं के अनुसार नए शस्त्रास्त्र बनाए भी तो जा सकते हैं।"

"अर्जुन क्या कोई शिल्पी है ?" द्रौपदी मुस्कराई, "योद्धा शस्त्रास्त्रों का प्रयोग मात्र जानता है, उनका निर्माण करना नहीं। वह जिस रथ पर युद्ध-अभियान करता है, उसके घोड़ों और अन्य विशेषताओं के विषय में वह सारथि से कुछ अधिक जानता है क्या ?"

युधिष्ठिर मुग्ध-भाव से द्रौपदी को देखते रहे, बोले कुछ भी नहीं।

"आप कुछ कह क्यों नहीं रहे ?" द्रौपदी ने अचकचाकर पूछा।

"सोच रहा था कि तुम जैसी पंडिता से तर्क-वितर्क करने से तो कहीं अच्छा है कि तुम्हें ले जाकर वे शस्त्रास्त्र दिखा ही दिए जाएँ।"

"क्यों ? आप मुझसे चर्चा नहीं करना चाहते ?" द्रौपदी के स्वर में वक्रता थी।

"नहीं। ऐसा कुछ नहीं है शुभे ! किन्तु शब्दों को प्रमाणित करने के लिए यदि प्रमाण साक्षात सामने हो तो जिज्ञासु को उसे धारण करने में सुविधा होती है, और समझाने वाले का कार्य भी सरल हो जाता है।"

"तो यहाँ मँगवाएँगे वे शस्त्रास्त्र।"

"मँगवाने का कोई काम नहीं है।" युधिष्ठिर ने कहा, "शस्त्रागार में ही चलना पड़ेगा। वहीं चर्चा भी हो जाएगी।"

"वही तो। मैं भी सोच रही थी।" द्रौपदी बोली, "पिताजी शस्त्रों का अकारण शस्त्रागार से हटाया जाना तनिक भी पसन्द नहीं करते थे। वे कहते थे कि शस्त्रों को दैनन्दिन के प्रयोग की साधारण वस्तुओं के समान कहीं भी ले जाना अथवा कहीं भी रख देना क्षत्रिय का धर्म नहीं हैं। जैसे देव-प्रतिमाएँ मन्दिर में ही प्रतिष्ठित रहती हैं, वैसे ही शस्त्रास्त्र या तो क्षत्रिय के अंगों को सुशोभित करते हैं, अथवा शस्त्रागार को। उन्हें बिना किसी विशेष प्रयोजन के शस्त्रागार से हटाया जाना, उनका अपमान है और वह उनके तेज का हरण कर लेता है।"

"ठीक कहते हैं, पंचाल नरेश !" युधिष्ठिर बोले, "उठो ! तुम्हें अपना शस्त्रागार भी दिखा ही दें। विश्वकर्मा द्वारा निर्मित होने पर तुमने वह भवन तो देखा है, कदाचित् उसमें लगे हुए शस्त्रास्त्र नहीं देखे।···तुम यह भी देख लेना कि अनुभवी योद्धा किस प्रकार शस्त्र-शिल्पियों का मार्ग निर्देशक बन जाता है।"

"अच्छा।" द्रौपदी उठ खड़ी हुई, "फिर तो पितामह भीष्म और आपके आचार्य द्रोण अब तक दिग्गज शस्त्र-शिल्पी बन चुके होंगे।"

युधिष्ठिर ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया, जैसे किसी विचार में उलझ गए हों। कुछ पग चलकर बोले, "मैंने इस विषय में कुछ सोचा नहीं था। तुम्हारे प्रश्न से ही यह बात मेरे मन में आई है···इसका अर्थ यह हुआ कि योद्धा का अनुभव मात्र ही शस्त्र-निर्माण में सहायक नहीं होता, क्योंकि पितामह ने किन्हीं नए प्रकार के शस्त्रास्त्रों का निर्माण किया हो, ऐसा मैंने नहीं सुना। लगता है कि वासुदेव कृष्ण तथा अर्जुन किसी भिन्न श्रेणी के योद्धा हैं। ये लोग जितना सेना के व्यूहों के विषय में जानते हैं, उतना शस्त्रों की संरचना को भी समझते हैं। और इनको युद्ध-सम्बन्धी शास्त्र का जितना ज्ञान है, उतना ही इन्हें उनका व्यावहारिक अनुभव है और साथ-साथ उन्हें कार्यान्वित करने की शारीरिक और मानसिक क्षमता भी।"

"शायद आप ठीक ही कह रहे हैं।" द्रौपदी अपनी गति बढ़ाकर युधिष्ठिर के निकट आ गई थी।

अर्जुन शस्त्रागार के द्वार पर पहुँचा तो प्रहरी उसे मार्ग देने के लिए एक ओर नहीं हटा। हाथ जोड़कर बोला, "महाराज तथा महारानी भीतर शस्त्रास्त्र देख रहे हैं।"

."अर्जुन चकित खड़ा रह गया : रात्रि के इस समय युधिष्ठिर और द्रौपदी यहाँ ? यह तो उनके शयन का समय है···। कहीं उस ब्राह्मण की गुहार युधिष्ठिर तक भी तो नहीं पहुँच गई···और वे स्वयं ही शस्त्र लेकर चोरों को दंडित करने की योजना बना कर चल पड़े हों ?···किंतु फिर पांचाली क्यों उनके साथ है ?···

"क्या महाराज युद्ध-वेश में हैं ?" उसने पूछा।

"नहीं तो।" प्रहरी सहज भाव से बोला।

तो फिर ?···अर्जुन सोच रहा था··· यदि इस समय वे पांचाली के साथ अपने विश्राम कक्ष में नहीं हैं, तो उन्हें किसी उद्यान में होना चाहिए था, यमुना-तट की किसी सुंदर वाटिका में होना चाहिए था··· ग्रंथागार या शस्त्रागार में ?···

"कोई और तीसरा व्यक्ति भी उनके साथ है ?" अर्जुन ने पूछा, "क्या वे शस्त्र-अधीक्षक के साथ निरीक्षण के लिए···।"

"नहीं राजकुमार ! उनके साथ और कोई नहीं है।" प्रहरी बोला, "महाराज तथा महारानी सर्वथा एकांत में हैं···।"

अर्जुन अब तक मात्र अपनी उत्सुकता शांत करने के लिए ही जिज्ञासा कर रहा था, किंतु प्रहरी के इन शब्दों ने तो जैसे उसके हाथ-पाँव ही नहीं, उसकी जिह्वा को भी बाँध दिया था··· 'महाराज तथा महारानी सर्वथा एकांत में हैं···' 'महाराज और महारानी एकांत में हैं'···युधिष्ठिर और पांचाली एकांत में हैं···रात्रि का समय है···और वे एकांत में हैं···अर्जुन जानता है कि यह उनका विश्राम-कक्ष नहीं है।···देवर्षि नारद का लगाया प्रतिबंध यहाँ सार्थक नहीं है।···किंतु इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह रात्रि का समय है और युधिष्ठिर तथा पांचाली एंकात में हैं।···यदि इस समय अर्जुन शस्त्रागार में प्रवेश करता है तो यह उनके एकांत का अतिक्रमण होगा, प्रतिबंध का तिरस्कार, मर्यादा-भंग ···और अपने बड़े भाई तथा राजा की अवज्ञा···

···नहीं। ऐसी स्थिति में अर्जुन शस्त्रागार में प्रवेश नहीं कर सकता।···

किंतु अपने गोधन की रक्षा के लिए गुहार करता वह ब्राह्मण···और गोधन को चुरा कर भागते हुए वे दस्यु ?···

"वे कितनी देर में बाहर आने के लिए कह गए हैं ?" अर्जुन ने पूछ तो लिया, किंतु तत्काल ही उसकी समझ में आ गया कि इस प्रश्न की कोई सार्थकता नहीं थी। कोई राजा द्वार पर खड़े प्रहरी को इस प्रकार की सूचनाएँ नहीं देता।

"कह नहीं सकता।" प्रहरी मुँह-ही-मुँह में बुदबुदाया।

अर्जुन ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। उसके अपने मन की उलझन प्रहरी के उत्तर से कहीं अधिक प्रबल थी···

वह शस्त्रागार के बाहर खड़ा प्रतीक्षा करता रहा तो वे दस्यु अपनी लूट के धन के साथ खांडव-वन में सुरक्षित प्रवेश कर जाएँगे। और ···तब महाराज युधिष्ठिर के माथे पर जो कलंक लगेगा। वह क्या उनके तिरस्कार से कम गंभीर होगा ?···राजा एकांत में रानी के साथ हैं, इसलिए चोरों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं होगी ?···क्या प्रजा पांडवों को अत्यन्त विलासी शासक घोषित नहीं कर देगी ?···अर्जुन को एक उल्लंघन तो करना ही होगा। चाहे वह प्रजा-रक्षक के रूप में अपने दायित्व का उल्लंघन करे···या

फिर शस्त्रागार में प्रवेश कर युधिष्ठिर और द्रौपदी के एकांत का अतिक्रमण करे, मर्यादा का उल्लंघन करे…

अर्जुन का असमंजस किंकर्तव्यविमूढ़ता में वदलता जा रहा था। न उसका मस्तिष्क काम कर रहा था, न उसके अंग ही सक्रिय हो रहे थे…किंतु उसकी चेतना यह नहीं भूल पाई थी कि वह ब्राह्मण अभी प्रतीक्षा में खड़ा होगा… दस्यु गोधन के साथ निरंतर इन्द्रप्रस्थ से दूर होते जा रहे होंगे और काल गति के साथ-साथ पांडवों की यशोगाथा छीजती चली जाएगी…और यह अर्जुन के लिए असह्य था।

शस्त्रागार में प्रवेश करने से अर्जुन धर्म की दृष्टि में नियम-भंग करने का अपराधी होगा। उसके लिए दंड पहले से ही प्रस्तावित किया जा चुका है। अर्जुन उस दंड का भागी होगा…उसे भाइयों से दूर वन में एकांत में रहना होगा। इन्द्रप्रस्थ को असुरक्षित छोड़ना होगा और वन्य-जीवन के कष्ट सहने होंगे… पर यह सव तो उसे ही सहना होगा। क्या इतना-सा दंड वह प्रजा-पालन की तपस्या के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता ? यदि अपने कष्ट और प्रजा के कष्ट में से एक का चुनाव करना ही पड़े तो वह किसे चुनेगा ? वह तपस्या से मुँह क्यों मोड़ना चाहता है। ऋषिगण स्वयं अपनी इच्छा से वनवास स्वीकार करते हैं। स्वयं वो भूखा रखते हैं। अपने शरीर को तपाते हैं तभी तो वे धर्म को अर्जित कर पाते हैं…यदि वह कुछ तटस्थ होकर सोचे तो संकट की यह घड़ी क्या अनायास ही उसके लिए धर्म और श्रेय का एक सुअवसर वनकर नहीं आई है ? वह जानता है कि शस्त्रागार में प्रवेश कर वह युधिष्ठिर और द्रौपदी का तिरस्कार नहीं कर रहा, प्रजा-पालन के हेतु एक जोखिम भरा कार्य कर रहा है। निश्चय ही धर्मराज और द्रौपदी उसके मंतव्य को समझ पाएँगे। वे उसे अपराधी न मान, उसके धर्म-कार्य की प्रशंसा ही करेंगे। वह किसी का भी तिरस्कार करे किंतु प्रजा-पालन का तिरस्कार नहीं कर सकता… इतना ही नहीं है उसने अव थोड़ा भी विलंव किया तो, दस्यु सफल-काम होकर अपने स्थान पर लौट जाएँगे, और अपने साथियों को यह कहकर प्रोत्साहित करेंगे कि युधिष्ठिर और उसके भाइयों को अव अपनी प्रजा की कोई चिंता नहीं है। पांडवों के राज्य में प्रजा सर्वथा असुरक्षित है। कोई भी जाकर सरलता से उसे लूट सकता है। पांडव उसकी रक्षा के लिए धनुष भी नहीं उठाएँगे।….

अर्जुन भीतर तक सिहर उठा। नहीं ! अव और सोच-विचार का समय नहीं था। वह उच्च स्वर में पुकार कर वोला, "महाराज ! मैं अपने शस्त्र लेने के लिए आ रहा हूँ। मुझे क्षमा कीजिएगा।"

युधिष्ठिर ने अर्जुन के स्वर को पहचाना। उन्हें हल्का-सा आश्चर्य भी हुआ कि इस समय अर्जुन को शस्त्रों की क्या आवश्यकता आन पड़ी है…पर इसमें कोई वहुत वड़ी अनहोनी भी नहीं थी। अर्जुन पिछले कितने ही दिनों से इन शस्त्रों के निर्माण के विषय में सोचता-समझता रहा था। शिल्पियों से चर्चा करता रहा था। वहुत संभव है कि अभी उसका मन पूर्णतः संतुष्ट न हुआ हो। वह अव भी उनके विषय में कुछ सोच रहा हो। उनमें कुछ संशोधन करना चाहता हो। जैसे वे द्रौपदी से उनकी चर्चा करने के लिए यहाँ चले आए हैं, वैसे ही वह भी किसी से उनकी चर्चा करना चाहता हो…

"आओ अर्जुन।" युधिष्ठिर ने कहा, "अच्छा है कि तुम भी आ गए। संभवतः पांचाली

की जिज्ञासाओं को शांत करने में मुझे तुम्हारी सहायता की आवश्यकता हो…।"

अर्जुन भीतर आया तो युधिष्ठिर को यह देखकर कुछ आश्चर्य हुआ कि वह उन दोनों की ओर उन्मुख नहीं था। वह बहुत जल्दी में था और उसके मन में कोई अन्य योजना काम कर रही थी, "क्या बात है अर्जुन ?"

"दस्यु एक ब्राह्मण का गोधन चुराकर भाग रहे हैं।" अर्जुन बोला, "मुझे उनसे निबटना है।" उसके हाथ निरंतर शस्त्र बटोर रहे थे, उसकी आँखें एक बार भी युधिष्ठिर और द्रौपदी की ओर नहीं उठी थीं। और वह लगातार इस समय उनके एकांत को भंग करने का अपराध-बोध लिए हुए क्षमा-याचनापूर्वक स्पष्टीकरण देता जा रहा था, "मैं आपका तिरस्कार करने का अपराध नहीं करना चाहता था, किंतु मैं प्रतीक्षा नहीं कर सकता था। असहायों की रक्षा तो प्राण देकर भी की जाती है…मैं पांडवों की कीर्ति को धूमिल कैसे होने देता।"

"तुमने कोई अपराध नहीं किया है अर्जुन !" युधिष्ठिर ने कहा, "मेरा तिरस्कार हुआ ही कहाँ है, जो तुम इस प्रकार चिंतित हो…।"

"हाँ धनंजय ! तुमने हमारा कोई तिरस्कार नहीं किया।" द्रौपदी ने अपना मत दिया।

किंतु अर्जुन ने जैसे यह सब सुना ही नहीं। वह शस्त्र ले चुका तो सिर उठाकर बोला, "इस समय जा रहा हूँ। इस मर्यादा भंग का दंड आकर ग्रहण करूँगा।"

अर्जुन वेगपूर्वक बाहर चला गया। युधिष्ठिर इतना कुछ कहना चाह रहे थे, किंतु अर्जुन अब वहाँ था ही नहीं। उन्होंने द्रौपदी की ओर देखा, "क्या अर्जुन ने कुछ अनुचित किया ?"

"नहीं आर्यपुत्र ! मैं तो ऐसा नहीं समझती। मेरे विचार से तो हम ही धनंजय के कर्तव्यमार्ग में बाधा-स्वरूप आ अड़े थे। उसे ही असुविधा हुई होगी और अब वह एक अपराध-भाव अपने मन में लेकर गया है। उसे उन दस्युओं से निबटने में भी असुविधा होगी। हम यहाँ न होते तो वह उन्मुक्त मन से इससे कहीं अधिक उल्लासपूर्वक गया होता। उसका सामर्थ्य इस प्रकार संकुचित न हुआ होता।"

अर्जुन अपने रथ के पास पहुँचा तो ब्राह्मण ने उसे याचक की प्रहारक दृष्टि से देखा, "बहुत विलंब कर दिया राजकुमार।"

अर्जुन ने कुछ कहा नहीं किंतु ब्राह्मण का वह एक वाक्य उस अग्निबाण के समान उसके वक्ष में धँसता चला गया जो प्रतिक्षण सहस्रों अग्नि-स्फुलिंगों से दग्ध करता अपना मार्ग बनाता चलता है।…अभी तो विलंब ही हुआ है… वह सोच रहा था…यदि कहीं वह ब्राह्मण को अपनी असमर्थता ही जता देता तो ब्राह्मण उसके तथा उसके भाइयों के विषय में क्या सोचता ?…

"आप चिंता न करें भूदेव !" वह धीरे से बोला, "आप केवल सारथि को मार्ग बताते चलें। आप तो केवल अपने गोधन की रक्षा करना चाहते हैं और मुझ पर इस समय पांडवों के संपूर्ण राज्य और प्रजा की रक्षा का दायित्व है। यदि मैंने अपने शत्रुओं को पराजित नहीं किया, तो क्षतिपूर्ति के रूप में महाराज युधिष्ठिर से आपको गोधन

मिल जाएगा, किंतु पांडवों को उनका यश और सम्मान कोई नहीं लौटाएगा।"

ब्राह्मण अपनी भूल समझ गया। उसने अपनी घबराहट और अल्पज्ञता में शायद अर्जुन को आहत कर दिया था। पर वह क्या करता, उसकी गऊओं के छिन जाने का अर्थ था कि उसके बच्चे दूध के अभाव में अपना स्वास्थ्य खो बैठेंगे। संभव है कि भूखे रहने की भी स्थित आ जाए··· पर अर्जुन कह रहा था कि दस्युओं से गऊओं के न लौटने पर महाराज युधिष्ठिर उसकी क्षतिपूर्ति कर देंगे।··· उसने यह तो कभी सोचा ही नहीं था।···इससे पहले तो कभी किसी ने इस प्रकार हुई चोरी की भरपाई की चर्चा नहीं की थी···पर पहले यह स्थान कौरवों के राज्य की सीमा के अंतर्गत तो माना जाता था, किंतु पांडव यहाँ निवास नहीं करते थे। तब यहाँ का राजा धृतराष्ट्र था जिसे हस्तिनापुर के प्रासाद में होने वाले हरण और अपहरण ही दिखाई नहीं दे रहे थे तो खांडवप्रस्थ में क्या हो रहा है, यह कहाँ से दिखाई पड़ता।··· वह तो अभी जैसे उसी मनस्थिति में था। उसने सोचा ही नहीं था कि राजा बदल गया था, शासन बदल गया था और उसके साथ-साथ शासन की नीतियाँ भी बदल गई थीं···

रथ इन्द्रप्रस्थ की प्राचीर से बाहर निकल आया था। ग्राम-प्रांतर आरंभ हो गया था। अंधकार में बहुत वेगपूर्वक आगे नहीं बढ़ा जा सकता था, किंतु यही कठिनाई तो दस्यु-समूह को भी रोकेगी। यदि वे अंधकार में आगे बढ़ना चाहेंगे तो अधिक वेग से गऊओं को हाँक नहीं सकेंगे और यदि उल्काओं की सहायता से अपना मार्ग देखने का प्रयत्न करेंगे तो वे उल्काएँ ही अर्जुन को उनकी गतिविधि का पता देंगी···

"मेरा ग्राम उस ओर है।" ब्राह्मण ने अपनी तर्जनी से उत्तर-पूर्व दिशा की ओर संकेत कर दिया।

सारथि ने अर्जुन की ओर देखा। अर्जुन ने अपने हाथ के संकेत से उसे अपने मार्ग पर बढ़ते रहने का आदेश दिया, और ब्राह्मण से संबोधित हुआ, "आपके ग्राम में अब क्या रखा है ब्राह्मण देवता। दस्यु तो कब से गोधन लेकर वहाँ से चले आए हैं। हम उन्हें खांडव-वन के मार्ग में रोकने का प्रयत्न करेंगे।"

"पर खांडव-वन तो बहुत बड़ा है। उसमें कहीं से भी प्रवेश किया जा सकता है।" ब्राह्मण बोला, "आप उन्हें कहाँ रोकेंगे राजकुमार ?"

अर्जुन हँसा, "उसकी आप चिंता न करें। दस्यु अपहृत गोधन के साथ सघन वन में किसी भी स्थान से प्रवेश नहीं कर सकते। नगर के ही समान वन में भी प्रवेश करने के निश्चित स्थल होते हैं। हम खांडव-वन के भीतर अभी तक अपना मार्ग नहीं बना पाए हैं, किंतु उस तक पहुँचने की सारी पगडंडियाँ हमारी देखी-भाली हैं। उन मार्गों पर हमारे प्रहरी भी होंगे। मार्ग में हमारे सैनिक भी उन्हें रोकेंगे। मुझे पूर्ण विश्वास है कि खांडव-वन में प्रवेश करने से पहले ही हम उन्हें पकड़ लेंगे।"

एक ओर अंधकार सघन होता जा रहा था और दूसरी ओर अर्जुन के रथ का वेग बढ़ता जा रहा था। रथ पर लगी उल्काओं के प्रकाश में अर्जुन स्पष्ट देख पा रहा था कि ब्राह्मण का चेहरा अब भी सहज-सामान्य नहीं था।··· पहले ब्राह्मण पीड़ित दिखाई पड़ रहा था, किंतु अब वह भयभीत था। पहले खो गई गायों की क्षति का विषाद था तो अब शायद उसे अपने प्राणों का भय सता रहा था।

अर्जुन ने उसकी ओर देखा, "आपको भय तो पीड़ित नहीं कर रहा भूदेव ?"

ब्राह्मण अपने भय को भगाने के लिए हँसा, "मन को समझा तो रहा हूँ राजकुमार ! कि मैं तुम्हारे साथ सुरक्षित हूँ, किंतु मन कहीं आशंकित तो है ही कि गोधन प्राप्त करने के लिए प्राण तो नहीं देने पड़ेंगे।" ब्राह्मण ने प्रयत्नपूर्वक अपने स्वर के कंपन को नियंत्रित किया, "ईश्वर ने बार-बार आश्वासन दिया है कि वह मनुष्य का कल्याण करने के लिए सदैव उसके निकट ही वर्तमान है, किंतु संसार की माया में जकड़ा मनुष्य का आशंकित मन कभी भी उसका अनुभव नहीं कर पाता। वैसे ही तुम्हारा शौर्य और संरक्षण मेरे सामने है, किंतु मेरा भयभीत मन अपने कंपन में उसका विश्वास नहीं कर पाता।"

"अब विश्वास की आवश्यकता नहीं, अब तो प्रमाण ही लीजिए।" अर्जुन ने सारथि को मुड़ने का संकेत किया, "मुझे उस ओर किसी के गतिशील होने का अनुमान हो रहा है।"

"हाँ। उधर की प्रकृति कुछ अस्थिर तो है।" सारथि ने उत्तर दिया और घोड़े उधर ही मोड़ दिए।

"थोड़ी दूर पर ही प्रहरी की कुटिया मिलेगी।" अर्जुन बोला, "वहाँ रोकना।"

"राजकुमार। उससे तो और भी देर हो जाएगी।" ब्राह्मण के स्वर में आशंका भी थी और आपत्ति भी।

"प्रहरी से प्राप्त सूचनाएँ, हमारा समय बचाएँगी भी।" अर्जुन ने उसे आश्वस्त किया।

रथ के रुकते ही प्रहरी कुटिया से बाहर निकल आया, "प्रणाम राजकुमार।"

"प्रहरी ! कुछ दस्यु गोधन के साथ यहाँ से गए हैं क्या ?"

"हाँ राजकुमार ! अभी थोड़ी ही दूर गए होंगे। वे स्वयं घोड़ों पर थे और गायों के एक झुंड को हाँक रहे थे।"

"तुमने उन्हें टोका नहीं ?"

"वे सशस्त्र थे।" प्रहरी बोला, "यदि उन्हें टोकता तो आपको यह सूचना देने के लिए जीवित नहीं बचता।" उसके स्वर का भय पर्याप्त मुखर था।

"ठीक है। तुमने उचित ही किया।" अर्जुन ने उसे सांत्वना दी, "किंतु सैनिकों की चौकी पर मुझे कोई दिखाई नहीं पड़ा। वे लोग कहाँ गए।"

"कुछ ही देर पहले पूर्व की ओर कोई आक्रमण हुआ है। सैनिक उसी ओर गए हैं।" प्रहरी ने बताया।

"चलो।" अर्जुन ने सारथि को संकेत किया और रथ ने गति पकड़ ली।

प्रहरी की सूचनाओं के प्रकाश में अर्जुन के मन में कई बातें स्पष्ट हो रही थीं : यह इक्के-दुक्के दस्युओं की छोटी-मोटी चोरी जैसी घटना नहीं थी। एक दस्यु-दल आता है और निरीह ग्रामीणों के गोधन का अपहरण कर खांडव-वन की ओर भागता है। उनका मार्ग निष्कंटक करने के लिए किसी और स्थान पर उनके सहयोगियों के द्वारा आक्रमण का नाटक होता है। मार्ग के सैनिक उस आक्रमण का सामना करने के लिए अपने स्थान से हट जाते हैं, और दस्युओं को वन में प्रवेश करने के लिए खुला मार्ग मिल जाता है। यह चोरों का कृत्य है या खांडव-वन के सैनिक-दलों का सैनिक अभियान ?··· अर्जुन को उन दस्युओं को अपने मित्र सैनिकों से मिलने से पहले ही पकड़ना होगा···

तभी अर्जुन का ध्यान कुछ दूरी पर जलती दो गतिशील उल्काओं की ओर आकृष्ट हुआ। उनकी गति से ही अनुमान किया जा सकता था कि वे अश्वारोहियों की उल्काएँ हैं… किंतु अश्वों की गति हाँके जाते हुए गोधन की गति से प्रतिबंधित जान पड़ती थीं…

"सारथि ! वे उल्काएँ देख रहे हो ?"

"हाँ राजकुमार।"

"उनके निकट ले चलो।"

अर्जुन ने अपना धनुष सँभाला और बाण-संधान के लिए सन्नद्ध हो गया।

उल्काओं और अर्जुन के रथ का अंतराल कुछ कम होते ही अर्जुन ने बाण छोड़ दिया। एक चीत्कार के साथ किसी के गिरने का शब्द हुआ… और उल्काओं की गति रुक गई।

अर्जुन को इसी क्षण की प्रतीक्षा थी। निमिष भर में ही उसने अनेक बाण छोड़ दिए।…दस्यु-दल की ओर से कोई बाण नहीं आया। शायद वे धनुर्धारी नहीं थे।…

रथ कुछ और निकट आ गया। तीन दस्यु भूमि पर गिरे पड़े थे और चौथा बाएँ हाथ में उल्का और दाएँ में खड्ग लिए जैसे अर्जुन की प्रतीक्षा कर रहा था।…किंतु उसके चेहरे पर न तो उत्साह के लक्षण थे, न निर्भीकता के। वह भयभीत कुत्ते के समान गुर्रा कर दूसरों को डराने का प्रयत्न कर रहा था…

"खड्ग फेंक दो।" अर्जुन ने उसे आदेश दिया।

"बड़े वीर बनते हो," वह रोते-से स्वर में बोला, "अँधेरे में बाण मार कर मेरे तीन साथियों का वध कर दिया। अभी हमारी सेना आ जाएगी, तो देख लेंगे तुम्हारी वीरता।…"

"मैं कह रहा हूँ कि खड्ग फेंक दो और हाथ बाँध कर खड़े हो जाओ।…"

सहसा दस्यु ने अपनी उल्का अर्जुन को दे मारी और अंधकार में भागा…किंतु अर्जुन असावधान नहीं था। दस्यु की उल्का तो उस तक नहीं पहुँची, किंतु उसके बाण ने अँधेरे में भी दस्यु को मार गिराया…

"सारथि।" अर्जुन बोला, "गोधन को घेरने में सहायता करो। मैं इन दस्युओं को देखता हूँ।"

अर्जुन ने रथ से उतरकर एक उल्का उठा ली और उनके निकट आया। उनमें से तीन का प्राणांत हो चुका था और चौथा पीड़ा में बुरी तरह छटपटा रहा था।

"कहाँ से आए हो तुम लोग ? निवास कहाँ है तुम्हारा ?" अर्जुन ने पूछा।

"यह बाण-संधान बहुत महँगा पड़ेगा तुमको।" वह पीड़ा से ऐंठता हुआ बोला, हमारे स्वामी को पता तो चल ही जाएगा कि तुमने हम लोगों को मारा है। वह इसका प्रतिशोध अवश्य लेंगे। तुम्हारे परिवार का एक भी व्यक्ति जीवित नहीं बचेगा।"

"तुम किस के अनुयायी हो ?"

"स्वयं जान जाओगे।" दस्यु बोला, "जो तुम्हारे वक्ष पर चरण रख कर तुम्हारी अस्थियों का चूर्ण बनाएगा, वही हमारा स्वामी है।"

"निवास कहाँ है ?"

"खांडव-वन में।"

"तुम्हारा स्वामी भी वहीं है ?"

"हाँ। वहीं है।'''और तुम्हें वह कदापि जीवित नहीं छोड़ेगा।"

"क्या करेगा वह ?" अर्जुन ने जैसे उसे चिढ़ाया, "सेना लेकर हम पर आक्रमण करेगा ?"

"नहीं । वह गुप्त युद्ध करता है। वह अदृश्य रहकर तुम पर प्रहार करेगा। सारा इंद्रप्रस्थ अग्नि में धू-धू कर जल जाएगा। एक बालक को भी कहीं आश्रय नहीं मिलेगा। वह तुम्हें छोड़ेगा नहीं।" दस्यु बोला।

"उसके पूर्व ही हम उस पर आक्रमण कर उसे समाप्त कर देंगे।"

"असंभव।" दस्यु बोला, "तुम उसके दुर्ग तक पहुँच ही नहीं पाओगे। उसके चारों ओर जाने कितने सुरक्षा-कवच हैं। उन्हें भेदने का प्रयत्न करोगे तो ब्रह्मांड हिल उठेगा।''' इंद्र का वज्र गिरेगा तुम पर।"

अर्जुन हँसा, "इंद्र हमारा मित्र है। इंद्रप्रस्थ बसाने में उसने हमारी सहायता की है।'''"

"इसलिए सहायता नहीं की थी उसने कि तुम उसके मित्रों का इस प्रकार दमन करो।'''"

"इंद्र तुम्हारा मित्र है ?"

इस बार दस्यु ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"बोलो।" अर्जुन ने उसे झकझोरा''किंतु दस्यु अचेत हो चुका था।'''

प्रातः जब अर्जुन, युधिष्ठिर से मिलने के लिए गया तो द्रौपदी, नकुल और सहदेव भी वहीं थे।

प्रणाम कर अर्जुन एक ओर बैठ गया तो युधिष्ठिर ने पूछा, "दस्यु पकड़े गए ?"

"तीन की मृत्यु हो गई। चौथा घायल और अचेत था। उसे मैं सैनिकों को सौंप आया था। वे वैद्य से उसका उपचार कराएँगे। जीवित बच गया तो आपके न्यायाधिकरण में उपस्थित करेंगे।" अर्जुन ने बताया, "किंतु इन सबसे महत्वपूर्ण सूचना यह है कि वे साधारण चोर प्रतीत नहीं होते। वह मुझे इंद्र का भय दिखा रहा था। स्वयं को इंद्र का मित्र बता रहा था। उसके स्वामी ने खांडव-वन में अपना दुर्ग बना रखा है। किसी शुभ लक्ष्य के लिए तो वह यहाँ छिपा बैठा नहीं होगा।" अर्जुन ने रुक कर उन सबकी ओर देखा, "जिस प्रकार इन दस्युओं का मार्ग प्रशस्त करने के लिए, उनके मार्ग से हमारे सैनिकों को हटाने के लिए किसी अन्य दिशा में सैनिक अभियान का नाटक किया गया। वह कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसका अर्थ है कि यहाँ, हमारी नाक के नीचे हमारे शत्रुओं का संगठित व्यूह है। क्यों है वह ?'''और शायद आपको स्मरण हो कि इसी खांडव-वन की सुरक्षा का वचन इंद्र ने हमसे चाहा था।"

"मेरा तो विचार है कि इन बातों पर बहुत माथा-पच्ची करने की आवश्यकता नहीं है।" नकुल बोला, "एक बार सेना लेकर एक जोर का धावा बोल दिया जाए और वहाँ जितनी भी सेनाएँ, सैनिक दल, दस्यु-दल और छोटे-मोटे अपराधी हैं, उन्हें वहाँ से खदेड़ दिया जाए।"

"उन्हें वहाँ से खदेड़ दोगे नकुल ! तो वे विभिन्न दिशाओं में बिखर कर विभिन्न स्थानों में जा छिपेंगे।" सहदेव बोला, "उससे हमारी कठिनाई बढ़ नहीं जाएगी ?"

"हाँ ! सहदेव कह तो ठीक ही रहा है।" अर्जुन बोला, "यहाँ वे सब एक स्थान पर तो हैं। हमारी आँखों के सामने तो हैं।"

"तुम लोग तो बाल की खाल निकालते हो।" नकुल कुछ रुष्ट होकर बोला, "खदेड़ने का अर्थ सचमुच खदेड़ना ही नहीं है। हम उन सबको वहीं समाप्त कर देंगे।"

"तुम्हारी बात ठीक है भाई।" अर्जुन बोला, "किंतु तुम भी जानते हो कि वहाँ के विभिन्न सैनिक दल विभिन्न देव-शक्तियों और महाशक्तियों की जय बोलते हैं। मैंने तुम्हें बताया है कि वह दस्यु मुझे इंद्र का भय दिखा रहा था। यदि कहीं इसका यह अर्थ है कि वे उन महाशक्तियों द्वारा संरक्षित हैं, तो न तो उनको खदेड़ना सरल है, न उनको समाप्त करना। यदि वे शक्तियाँ उनकी सहायता के लिए आईं तो यह छोटा-मोटा सैनिक टकराव मात्र नहीं होगा…।"

"हम उन लबाड़ियों और मिथ्या उद्घोषकों से डरते हैं क्या ?" नकुल के माथे पर बल पड़ गए।

"इस विषय में तो मैंने अभी सोचा ही नहीं है।" अर्जुन बोला, "बस इतना जानता हूँ कि यदि इन अपराधियों और आततायियों से अपनी प्रजा को बचाना है तो बहुत गंभीरता से एक योजनाबद्ध दीर्घकालीन अभियान चलाना होगा।"

"नहीं सोचा है, तो अब सोच लेते हैं।" नकुल ने उत्फुल्ल दृष्टि से अर्जुन की ओर देखा, "आपने इतने दिव्यास्त्र तैयार करवाए हैं। उनके सामर्थ्य का परीक्षण भी हो जाएगा।…"

अर्जुन ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया।

"क्या बात है अर्जुन ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"वस्तुतः मैं तो किसी और प्रयोजन से आया था।" अर्जुन बोला, "यह बात तो बीच में अकस्मात् ही आ गई।"

"किस उद्देश्य से आए थे तुम ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"कल रात मुझसे मर्यादा-भंग का अपराध हुआ है।" अर्जुन बोला, "अब धर्म यही है कि मैं संकल्पानुसार ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ बारह वर्षों के लिए वनवास करूँ।"

"क्या ?" सब चकित थे।

युधिष्ठिर की आँखों में मंद हास उभरा, "मैं तुम्हारी बात समझता हूँ अर्जुन ! किंतु मैं तुम्हें आश्वस्त करना चाहता हूँ कि तुमसे मर्यादा-भंग का अपराध नहीं हुआ। यह सत्य है शब्द का अर्थ मात्र देखा जाए तो उस समय शस्त्रागार में मैं और पांचाली एकांत में थे, किंतु वह शस्त्रागार था, हमारा विश्राम-कक्ष नहीं। शस्त्रागार में एकांत की कोई मर्यादा नहीं होती, जिसका तुम्हारे द्वारा अतिक्रमण हुआ हो। उस समय शस्त्रागार में तुम्हारे प्रवेश को मैंने अपना तिरस्कार नहीं माना। मुझे तनिक भी बुरा नहीं लगा।" युधिष्ठिर ने रुककर उन सब लोगों पर एक गहरी दृष्टि डाली, "यदि कहीं उस समय तुम अपने शस्त्र न लेते और शस्त्रों के अभाव में ब्राह्मण की सहायता न करते, तो राजा के रूप में मैं अधर्म का भागी होता। तुम अपने भाई की मर्यादा की रक्षा करते, और प्रकारांतर

से मुझसे राजा की राज-मर्यादा भंग हो जाती। तुमने तो एक प्रकार से मुझे अधर्म से बचा लिया । राजा का तिरस्कार नहीं किया, उसका उपकार किया।"

"राजन् ! मैं आपके भावों को समझता हूँ। आप धर्मराज हैं, और क्षमा आपका धर्म है। आप अपने अपराधी को तत्काल क्षमा कर देते हैं, किंतु धर्म के क्षेत्र में न तो बहानों की आड़ लेनी चाहिए। और न क्षमा-याचना करनी चाहिए।" अर्जुन हँसा, "देवर्षि नारद के सम्मुख हमने जो मर्यादा बाँधी थी, वह यह नहीं थी कि हममें से जो कोई नियम-भंग का अपराधी होगा, वह राजा अथवा अन्य भाइयों के द्वारा दंडित किया जाएगा। उसे स्वयं स्वेच्छा से बारह वर्षों का ब्रह्मचर्यपूर्ण वनवास स्वीकार करना है।"

"पर उस नियम की आत्मा को समझो धनंजय !" द्रौपदी बोली, "उस एकांत में शृंगार का भाव है, और अतिक्रमण भी एक प्रकार से लज्जा का अतिक्रमण है। तुमने किसी की लज्जा का अतिक्रमण नहीं किया है। शस्त्रागार में तुम्हारे प्रवेश के संदर्भ में शृंगार का भाव तो दोनों ही पक्षों में नहीं था। तुमसे कोई अपराध नहीं हुआ, तुमने किसी नियम को नहीं तोड़ा, कोई मर्यादा भंग नहीं की। मुझे तुमसे कोई शिकायत नहीं है। मैं किसी भी प्रकार स्वयं को तिरस्कृत अथवा अपमानित नहीं पाती !··· तो तुम अपने इन भाइयों और मुझे छोड़कर वनवास के लिए क्यों जाना चाहते हो ?"

"यह तुम्हारी उदारता है देवि ! किंतु मैं भी अपना धर्म समझता हूँ।" अर्जुन गंभीर वाणी में बोला, "वचन के निर्वाह से बड़ा कोई धर्म नहीं, और वचन-भंग से अधम पाप नहीं। यह हम पाँचों भाइयों का वचन था, और मैं उसी पर अटल हूँ। क्षमा माँगना अथवा स्वीकार करना पांडवों को शोभा नहीं देता। हम धर्म पर टिके रहकर दंड स्वीकार करते हैं। और यह तो कोई ऐसा दंड भी नहीं। ऋषि-मुनि स्वेच्छा से तपस्या करने के लिए वन में जाते हैं, मैं इस व्याज से जा रहा हूँ। प्रकृति के निकट रहकर अपने जीवन को स्वच्छतर बनाने का प्रयत्न करूँगा। कुछ तीर्थाटन करूँगा, कुछ बनवासी ऋषि-मुनियों के सान्निध्य में रहूँगा। और अवधि समाप्त होते ही लौट आऊँगा।"

"अर्जुन ! मेरी बात सुनो। शीघ्रता में इस प्रकार का निर्णय करना उचित नहीं है। हम सब धर्म-विचार ही कर रहे हैं। यदि तुम अंततः इसी निष्कर्ष पर पहुँचो कि तुम धर्म-भंग के अपराधी हो, तो चले जाना।" युधिष्ठिर के स्वर में पुलक-का-सा भाव था, "चौदह वर्षों तक लक्ष्मण अपने बड़े भाई राम और उनकी पत्नी सीता के संग रहे। उसे किसी भी प्रकार अमर्यादित कर्म नहीं माना जा सकता। छोटा भाई अपनी पत्नी के संग हो, तो बड़े भाई का वहाँ जाना अनुचित है।···"

"आप ठीक कह रहे हैं भैया ! मैं आपके कथन का विरोध नहीं करता।" अर्जुन ने उत्तर दिया, "किंतु हमारा संदर्भ कुछ भिन्न है। मैं यदि वन नहीं जाता तो आपके तिरस्कार का अपराधी होऊँ या न होऊँ, वचन-भंग का अपराधी हो जाऊँगा। आप मेरे प्रति अपने मोह को तनिक हटाकर बताएँ, क्या आप चाहेंगे कि मैं अपने धर्म का निर्वाह न करूँ ?"

युधिष्ठिर अर्जुन का धर्म-संकट समझ रहे थे, किंतु अकस्मात् आ पड़े एक धर्म के निर्वाह के लिए इतना बड़ा दंड ?···

"और यदि मैं पूछूँ कि तुम जानते-बूझते हमें तथा इंद्रप्रस्थ को इस प्रकार असुरक्षित छोड़कर क्यों जा रहे हो, तो ?" युधिष्ठिर बोले, "तुम जानते हो कि खांडव-वन में हमारे

लिए कितने संकट संगठन-वद्ध होकर बैठे हैं। जब तुम्हारे यहाँ होते हुए भी, हम उन पर नियंत्रण नहीं पा सके तो तुम्हारी अनुपस्थिति में हमारी क्या स्थिति होगी ?"

लगा, क्षण भर के लिए अर्जुन मौन ही नहीं स्तब्ध ही रह गया। युधिष्ठिर सत्य ही कह रहे थे।··· क्या अर्जुन के चले जाने से इंद्रप्रस्थ और पांडव और भी असहाय नहीं हो जाएँगे ? इंद्रप्रस्थ की प्रजा उन सशस्त्र अपराधकर्मियों द्वारा और अधिक पीड़ित नहीं होगी ?···

अर्जुन ने अपना मस्तक झटक दिया, "मैं आपके कथन का महत्व समझता हूँ, किंतु ऐसा कौन-सा धर्म है, जिसके पालन में सकंट नहीं है। जब राम वनवास के लिए गए थे, तो अपने पीछे परिवार और राज्य के लोगों को रोते-विलखते नहीं छोड़ गए थे ?" अर्जुन ने रुककर युधिष्ठिर की ओर देखा, "मेरे प्रति अपने मोह के कारण कदाचित् आपने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि यह व्रत हमने परस्पर विचार-विमर्श के पश्चात् लिया था। हम सब इसमें सहभागी हैं। मैंने उस व्रत का अतिक्रमण किया है, कारण कुछ भी हो। अव यदि प्रतिज्ञा के अनुसार वन नहीं जाता तो मैं अपने धर्म से पतित होता हूँ, और यदि आप मुझे रोकते हैं, तो आप अपने धर्म से स्खलित होंगे।···" अर्जुन पुनः रुका, "आप मुझे क्षमा करें। धर्म के संदर्भ में आपको कुछ समझाना भी अपने सामर्थ्य की सीमा का अतिक्रमण करना है।"

युधिष्ठिर ने कुछ क्षण मौन रहकर अर्जुन की ओर देखा, "धर्म के बंधन से बड़ा कोई बंधन नहीं है अर्जुन !··· और तुमने उसी में मुझे बाँध दिया है। ···ठीक है। तुम अपने धर्म का पालन करो, हम अपने धर्म का निर्वाह करेंगे।···"

8

गंगा के जल को अंजुलि में लेकर अर्जुन को लगा, जैसे उसने अपने किसी अत्यन्त प्रिय व्यक्ति का स्पर्श किया हो।···हस्तिनापुर में भी वे लोग वर्षों गंगा के निकट रहे थे। गंगा-जल पिया था, उसी में स्नान किया था और प्रहरों-प्रहर उसमें क्रीड़ाएँ करते रहे थे। प्रमाणकोटि में भी तो गंगा ही थी, जिसमें दुर्योधन ने भीम को डुबोया था।···कांपिल्य में भी गंगा थी···नहीं थी तो इंद्रप्रस्थ में ही गंगा नहीं थी। अब पांडवों को यमुना भी उतनी ही प्रिय हो चुकी थी। कृष्ण का तो सारा शैशव ही यमुना-तट पर बीता था।···किंतु आज एक अतंराल के पश्चात् फिर से गंगाजल को अंजुलि में लेते ही अर्जुन को जैसे रोमांच-सा हो आया था। उसने अंजुलि मुख से लगाई और उसका जल पी गया। एक के पश्चात् एक कर कितनी ही अंजुलियाँ गंगा-जल पिया···और फिर दूर तक फैले हुए गंगा-जल पर दृष्टि दौड़ाई···

"यह स्थान गंगाद्वार कहलाता है पार्थ !" साथ आए ब्राह्मणों में से एक ने बताया,

"माना जाता है कि गंगा यहीं से पर्वत श्रेणियों को त्याग कर समतल भूमि में प्रवेश करती है, इसलिए यह गंगाद्वार है। यह भी माना जाता है धनंजय ! कि यहीं महादेव शिव ने गंगा को लोक-कल्याण के लिए अपनी जटाओं में धारण किया था, इसीलिए यह हरद्वार है।"

"इस क्षेत्र में महादेव शिव का वहुत महत्व है अर्जुन।" दूसरे ब्राह्मण ने बताया, "शिव के प्राचीन मंदिर 'केदारनाथ', के लिए मार्ग यहीं से जाता है। प्रजापति दक्ष की राजधानी यहाँ से कुछ ही दूरी पर कनखल में थी, जिनकी पुत्री सती का विवाह महादेव शिव से हुआ था। दक्ष ने अपने यज्ञ में अपनी पुत्री और जामाता को आमंत्रित नहीं किया था, किंतु अपने मायके के मोह में सती उस यज्ञ के अवसर पर आई। अपने पति की उपेक्षा और निरादर देखकर आक्रोश में सती ने उसी यज्ञ-कुंड में कूदकर आत्मदाह किया। शिव ने दक्ष को दंडित करने के लिए वीरभद्र को भेजा। वीरभद्र ने यज्ञ-ध्वंस किया। वह कुंड गंगा-तट पर अब भी वर्तमान है, और कुछ आगे चलकर महादेव के गण वीरभद्र का मंदिर है। वह सारा क्षेत्र भी वीरभद्र के नाम से ही जाना जाता है। यहीं से हिमालय क्षेत्र आंरभ होता है। इसी क्षेत्र के राजा हिमवान की पुत्री बनकर माता पार्वती ने पुनः जन्म लिया था और अपनी तपस्या के द्वारा पुनः महादेव को अपने पति के रूप में प्राप्त किया था। इसी हिमालय की एक ऊँची चोटी, कैलाश को, महादेव का स्थान भी माना जाता है। मानसरोवर के निकट स्थित यह कैलाश पर्वत तो महादेव का स्थान है ही, किंतु कुछ लोगों की मान्यता यह भी है कि मानसरोवर से निकलने वाली अलकनन्दा ही गंगा की मुख्य धारा है, जो इस क्षेत्र से, जिसे महादेव शिव की जटाएँ कहा जाता है, निकली है। अतः शिव ने स्वर्ग से नीचे आती गंगा को वहीं अपनी जटाओं में धारण किया है।"

"यह क्षेत्र विष्णु की दृष्टि से भी कम महत्व का नहीं है धनंजय।" तीसरे ब्राह्मण ने कहा, "बद्रिका आश्रम के लिए यहीं से मार्ग जाता है, अतः इसे हरिद्वार भी कहा जाता है। वैसे भी गंगा की उत्पत्ति विष्णु के चरण-नखों से मानी जाती है, इसलिए गंगाद्वार हरिद्वार ही हो जाता है।"

"यह क्षेत्र हरिहर क्षेत्र है। पवित्र है। महातीर्थ है। यह भूमि अध्यात्म की जननी है, किंतु तुम्हें कुछ सावधान रहने की भी आवश्यकता है राजकुमार।" एक अन्य ब्राह्मण ने कहा, "मेरी दृष्टि से यह नागों की भूमि भी है। तुमने ध्यान दिया ही होगा, कि महादेव शिव भी अपने कंठ में नाग धारण करते हैं। यह किस बात का संकेत है ? कृष्ण ने वृन्दावन में कालियदह से कालिया नाग को भगाया था, अर्थात वह वहाँ रहता था। खांडव-वन में भी बड़ी संख्या में नाग रहते हैं। तुम कह सकते हो कि नाग कहीं भी हो सकते हैं···किंतु यहाँ वे रहते ही नहीं, यह भूमि अभी बहुत दूर तक उन्हीं के आधिपत्य में है। अतः उनसे सावधान रहना।"···

"तो ठीक है। आज रात के विश्राम के लिए, यहीं डेरा डाला जाए।" अर्जुन बोला, "यह भूमि पवित्र भी है और सुन्दर भी। यहाँ कुछ दिन विश्राम कर आगे बढूँगा।"

अपनी प्रतिज्ञा से पीछे हटने की बात अर्जुन ने कभी सोची भी नहीं थी"यह जैसे उन सारे भाइयों की प्रकृति में ही नहीं था। ऐसा अधर्म वे कैसे कर सकते थे। अपने आदर्शों से पतित होकर, धर्म से गिरकर जीने का कोई अर्थ नहीं था। वह मानव-जीवन नहीं था।"किंतु अपनी माता और अपने भाइयों से वियुक्त होते हुए अर्जुन ने विषाद का अनुभव न किया हो, ऐसी बात नहीं थी"और फिर पांचाली कृष्णा"

पर अर्जुन ने उसी क्षण यह सोच लिया था कि उसे इस घटना को न दंड के रूप में स्वीकार करना है, न उससे पीड़ित होना है। यह तो तपस्या का एक अवसर था। विधाता ने यदि ऐसी कोई स्थिति उत्पन्न कर दी है कि अपने धर्म की रक्षा करते हुए भी अर्जुन को इस प्रकार निष्कासित हो अपने भाइयों, माँ तथा पांचाली से वियुक्त होना पड़ा है, तो इसका भी कोई प्रयोजन होगा। उन्होंने हस्तिनापुर में रहकर आचार्य द्रोण के गुरुत्व में अपनी शारीरिक क्षमताओं का बहुत विकास किया है, किंतु अपनी आत्मा के विकास का कदाचित् उन्हें कोई अवसर नहीं मिला। पिछले इतने सारे वर्षों में उन्हें या तो भोग और भोग के अधिकारों की चेतना रही है, या फिर भोग तथा अपने अधिकारों से वंचित होने की। स्वेच्छा से अपने ऐश्वर्य को त्याग कर, तपस्या की ओर प्रवृत्त होने का कोई अवसर ही नहीं आया।"अब प्रतिज्ञा-भंग के व्याज से विधाता ने उसके सम्मुख एक संयोग उत्पन्न किया था।"यदि किसी व्यक्ति के दुर्भाग्यवश राजा उसे कारागार में डाल दे तो उस अवधि को, अपने शत्रुओं को कोसने तथा अपने भाग्य पर कुढ़ने में व्यतीत करने से कहीं अच्छा है कि उसमें व्यक्ति अपनी आत्मा के विकास का प्रयत्न करे। उसे अपनी साधना और तपस्या का सुसंयोग बना ले। यदि विधाता ने उसे, एक विशिष्ट अवधि तक अपने तथा अपने परिवार के लिए सांसारिक चिंताओं से मुक्त कर दिया है, तो वह उसका लाभ उठाए और ब्रह्म-चिंतन करे, जिसके लिए संसार उसे अवकाश नहीं दे रहा था"

अर्जुन प्रातः उठा तो उसने पाया कि उसके साथ आए ब्राह्मणों ने गंगा-तट पर दूर तक अग्नि प्रकट कर अग्निहोत्र का प्रबंध किया था। वे लोग कदाचित स्नान तथा अग्निहोत्र इत्यादि से निवृत्त होकर अपनी साधना के लिए बैठ चुके थे"अर्जुन को लगा कि किसी भी साधना के लिए सबसे पहले तो अपनी निद्रा को जय करना आवश्यक है। इससे पहले जब धुनर्विद्या की प्रचंड साधना की व्याकुलता उसमें जागी थी, तो भी वह शब्दवेधी बाण की साधना के लिए रात-रात जागा करता था।"अब यदि उसने इंद्रप्रस्थ से निष्कासन के इस काल को अपने विश्राम का काल बना लिया"इच्छा भर सोया और मन को तृप्त करने की सीमा तक खाता-पीता रहा, तो कदाचित साधना की स्थिति नहीं आएगी।"

अर्जुन अपने शिविर से बाहर निकल गंगा-तट पर आया। उषा काल की प्रकृति में स्वच्छता और पवित्रता का भाव उसे पहले भी आकृष्ट करता रहा था, किंतु गंगा के जल में जाने क्या था कि उसे हाथ में लेते ही, मन में एक असाधारण पवित्रता की अनुभूति होने लगती थी। मन से भोग की इच्छाएँ तो न जाने कहाँ विलीन हो जाती थीं, ज्ञान और चिंतन की भी उपेक्षा कर, मन भक्ति में तल्लीन होने लगता था। गंगा-जल

का स्पर्श जैसे उसे हरि और हर दोनों का ही स्पर्श कराने लगता था। अपने चारों ओर, अति निकट जैसे उस विराट सत्ता का अनुभव होने लगता था। लगता था, हाथ बढ़ाकर उसका स्पर्श किया जा सकता है।''' अर्जुन का मन इस समय जैसे भक्ति से आप्लावित हो रहा था। उसका मन चाह रहा था कि अदृष्ट क्षण भर को उसके सम्मुख प्रकट हो जाए और वह उसके चरणों में लोट जाए'''

उसने गंगा की धारा में प्रवेश किया। जल अत्यन्त स्वच्छ और शीतल था। उस पारदर्शी जल में से तह में जमे गोल-गोल पत्थर स्पष्ट दिख रहे थे। उन पत्थरों पर चलना सरल नहीं था। वे नुकीले नहीं थे, चुभते भी नहीं थे, किंतु तलवों को सहज वेग से आगे बढ़ने नहीं देते थे।'''किंतु जल की प्रवृत्ति अभूतपूर्व थी''' शरीर में एक प्रकार की सिहरन हुई। मन कृतज्ञता से विह्वल हो गया और पूर्णकाम होने के आनन्द से जैसे आँखों में अश्रु भर आए। अपने-आपको गंगा की धारा में समर्पित करते हुए, उसके मन ने जैसे पुकारा, "मां !" '''हाँ ! प्रकृति माँ ही तो थी। उस ब्रह्म की आदिशक्ति, उसकी माया, उसकी अर्द्धांगिनी, उसका प्रकट रूप। उसी में से मनुष्य जन्म ग्रहण करता था, उसके शरीर का निर्माण और पोषण होता था''' और फिर यह शरीर उसी को समर्पित हो जाता था। यह माँ स्नेहमयी थी, करुणामयी थी, महिमामयी थी, वैभवमयी थी'''कठोर तथा कराला थी'''संतान को ज्ञान नहीं होता कि क्या उसके हित में है और क्या हित में नहीं है'''किंतु माँ जानती है कि कब उसे दुलराना है, कब खिलाना है, कब बहलाना है और कब उसे ताड़ना है'''वह इस शरीर का निर्माण भी करती है, पोषण भी करती है, उसे क्षीण भी करती है और फिर उसका क्षय कर उसे पंच-तत्वों में परिणत भी कर देती है'''प्राणी को आश्चर्य होता है कि जिस माँ ने उसे जन्म दिया है, उसका पोषण किया है, वह इतनी निर्मम क्यों हो गई है, किंतु माँ ही जानती है कि वह शरीर क्षीण और असमर्थ हो चुका है, वह उसका क्षय नहीं करेगी, तो प्राणी को नया शरीर कैसे मिलेगा। उस निर्ममता में भी उसकी ममता ही है'''

भक्ति के आवेश में अर्जुन के दोनों हाथ परस्पर जुड़ गए, "तुम्हारी जय हो माँ। जय हो'''।"

अर्जुन को लगा, उसके हाथ ही नहीं जुड़े, उसकी आँखें भी मुँद रही थीं। यह उसकी भक्ति थी या थकान ? वह शिथिल हो रहा था या उसकी चेतना लुप्त हो रही थी ? क्या वह समाधिस्थ होता जा रहा था ? किंतु यह समाधि की-सी ऊर्जस्वित स्थिति तो नहीं थी'''न ही उसे कोई अतीन्द्रिय अनुभूति हो रही थी, न चेतना के किसी उच्चतर धरातल की'''पता नहीं यह समाधि थी या नहीं, किंतु इतना अनुभव वह कर रहा था कि वह अक्षम होता जा रहा था, उसके हाथ-पैर चल नहीं रहे थे, उसकी आँखें मुँद रही थीं, वह शायद अचेत ही हो रहा था'''क्या वह जल में डूब रहा था ?'''नहीं। शायद वह डूब नहीं रहा था'''उसका दम घुट नहीं रहा था, उसे श्वास में किसी प्रकार की कठिनाई का कोई अनुभव नहीं हो रहा था। उसका मस्तिष्क ही जैसे अलसा कर निद्रामग्न होता जा रहा था'''जल में उसके आसपास कोई अदृश्य-सी गतिविधि तीव्र हो गई थी'''धारा में पहले जैसा सहज प्रवाह नहीं रह गया था''' जल में कैसा भयंकर आलोड़न-विलोड़न हो रहा था, जैसे अनेक बड़े-बड़े मत्स्य उसके आस-पास किसी भयंकर

आयोजन में जुट गए हों···किंतु उसकी पलकें कुछ इतनी बोझिल हो गई थीं, कि वह अपनी आँखें खोल कर देखने में पूर्णतः असमर्थ हो चुका था···उसकी क्षीण अनुभव-शक्ति भी उसका साथ छोड़ गई थी···

अर्जुन की चेतना लौटी तो उसे लगा कि वह किसी विचित्र प्रकार की प्रगाढ़ निद्रा से जागा है। उसकी पलकें अब भी बहुत भारी थीं, आँखें बंदी थीं, मन शिथिल और शरीर तंद्रालस। किंतु अपनी सक्रियता के अभाव में भी, उसका निष्क्रिय मन स्मृति की हल्की-हल्की पर्तें उघाड़ रहा था···उसे स्मरण होता आ रहा था कि इंद्रप्रस्थ से अपनी यात्रा आरंभ करके वह गंगाद्वार आ पहुँचा था। रात भर विश्राम करके प्रातः अग्निहोत्र से पहले उसने स्नान के लिए गंगा में प्रवेश किया था···पर इस समय तो न वह जल में था, न गंगा की रेत पर···कहाँ था वह ?

उसने झटके से आँखें खोलीं और उठ कर बैठ गया।···उसका मस्तिष्क इतना सचेत हो चुका था कि वह यह समझ सकता कि उसने जिस झटके से आँखें खोली थीं और जिस स्फूर्ति से वह उठकर बैठा था···न तो तत्काल उसकी आँखें ही खुल पाई थीं और न उसके उठ-बैठने में वह वेग ही था। लगता था कि उसके प्रत्येक प्रयत्न पर एक असाधारण बोझ था, जो प्रत्येक गति को बोझिल कर रहा था···

किंतु फिर भी उसने देखा···वह किसी अपरिचित कक्ष में एक पर्यक पर लेटा हुआ था। उसके ठीक सामने एक असाधारण सुंदरी तरुणी बैठी थी। विशुद्ध जांबूनद नामक सुवर्ण के समान उसका गौर वर्ण था। पर्यक से कुछ हट कर अनेक दासियाँ खड़ी थीं।···

उसे आँखें खोलते देख उस तरुणी के मुख-मंडल पर प्रसन्नता का जैसे विस्फोट हो गया, "आर्य ! आप चिंता न करें। आप पूर्णतः सुरक्षित, स्वस्थ और सक्षम हैं।"

"तुम कौन हो देवि ?" अर्जुन ने पूछा।

"मैं उलूपी हूँ।" वह मुस्कराई, "नागराज कौरव्य की पुत्री।"

"मैं कहाँ हूँ।"

"नागराज कौरव्य के प्रासाद में।"

"मैं क्या गंगा में डूबकर अचेत हो गया था ?"

"नहीं। मैंने औषधि सुँघा कर आपको अचेत कर दिया था।"

"क्यों ? मेरी तुमसे क्या शत्रुता है सुंदरी ?"

उलूपी अत्यन्त मधुर ढंग से मुस्कराई। उसके अधरों और नयनों में एक कामना साकार हो रही थी, "शत्रुता है तो नहीं, किंतु तुमने काम तो शत्रु का-सा ही किया। मुझे कितनी पीड़ा दी है तुमने। कामदेव के बाणों को झेलना सरल होता है क्या ?"

अर्जुन कुछ बोला नहीं। केवल उसकी ओर देखता रहा।

कामदेव ने बाण उलूपी के वक्ष में मारे और चेतना अर्जुन की लुप्त हुई। यह तो विचित्र कार्य-कारण संबंध हैं।···अर्जुन के मन में सोया उत्फुल्ल परिहास जैसे अपनी आँखें खोल रहा था।

"मुझे कल संध्या समय ही सूचना मिल गई थी कि तुम आए हो।" उलूपी मुग्ध

भाव से बोली, "मैंने गंगा-तट पर तुम्हें देखा था। रात भर मैं तुम्हारे लिए व्याकुल रही थी। प्रातः पुनः तुम्हें देखा—गंगा-तट पर खड़े हुए और फिर गंगा-स्नान करते हुए। मेरा मन नियंत्रण में नहीं रहा। मैं तुम्हें प्राप्त करना चाहती थी···तुरंत, तत्काल। अपनी विह्वलता का मेरे पास कोई उपचार नहीं था। मैं प्रतीक्षा नहीं कर सकती थी। प्रत्यक्ष रूप में तुम्हारे सम्मुख आती, तुमसे परिचय होता, मिलती रहती तो घनिष्ठता भी होती। मुझे पूर्ण विश्वास है कि अंततः मैं तुम्हें लुब्ध कर ही लेती···किंतु तब तक तो कामदेव मेरा प्राणांत ही कर देते। इसलिए मैं तुम्हें अचेत कर यहाँ ले आई।···"

"और उस अचेतावस्था में मैं गंगा में डूब जाता तो ?" अर्जुन धीरे से बोला।

"उन सब समस्याओं के विषय में मैंने विचार कर लिया था। हमने तुम्हें जल के ऊपर ही रखा था।" उलूपी बोली, "अब तुम गंगाद्वार से कुछ दूर गंगा-तट के प्रासाद में हो···नागराज कौरव्य के प्रासाद में ! मैं उनकी कुमारी कन्या हूँ। मैं आत्म-समर्पण कर रही हूँ। काम-यातना से मेरी रक्षा करो। अपनी अनुरागिनी को इस प्रकार पीड़ित मत करो।"

अर्जुन अब तक पूर्णतः सचेत हो चुका था। जिस औषधि को सुँघा कर उसे अचेत किया गया था, उसका प्रभाव जिस तीव्रता से आया था, उसी क्षिप्रता से नष्ट भी हो गया था।

अर्जुन का मन विचार कर रहा था···उलूपी ने उसके प्रति अपने प्रेम की चर्चा की थी। वह अपनी काम-पीड़ा की दुहाई दे रही थी।···नाग-कन्या बहुत मुखर थी···शायद चतुर भी।···प्रेम का दीर्घकालिक साहचर्य नहीं माँग रही थी वह। वह काम-पीड़ा से मुक्ति माँग रही थी। क्षणिक साहचर्य।···यह उसकी उन्मुक्तता थी अथवा पिता की अनुपस्थिति में मनमानी करने का आवेग ?···

"तुम सुंदरी हो, युवती हो, अविवाहिता हो, कामातुरा हो···तुम्हारा तिरस्कार मेरा धर्म नहीं है।" अर्जुन बोला, "किंतु तुम जानती हो कि मैं कौन हूँ। मेरे प्रति तुम्हारा यह व्यवहार तुम्हारे पिता को आपत्तिजनक लगेगा या नहीं ?"

"तुम पांडुपुत्र कौन्तेय अर्जुन हो, इंद्रप्रस्थ के राजा धर्मराज युधिष्ठिर के छोटे भाई।" वह बोली, "जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं प्रेम तथा विवाह इत्यादि विषयों में पूर्ण स्वतंत्र हूँ। अन्य जातियों के विषय में मैं नहीं जानती, किंतु नाग-जाति हमें यह स्वतंत्रता देती है। कन्या हूँ, इसलिए किसी की भी कामना कर सकती हूँ। मेरे पिता नागराज कौरव्य को इसमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती।"

"तुम बहुत चतुर हो उलूपी।" अर्जुन ने उसे विस्मय से देखा, "तुम्हारी सूचनाएँ सत्य हैं।···किंतु क्या यह भी जानती हो कि मैं इंद्रप्रस्थ छोड़ कर यहाँ क्यों आया हूँ ?"

"नहीं।"

अर्जुन ने उसे सारी घटना सुनाई, "विचार करो। मुझे प्रतिज्ञा के अधीन बारह वर्षों तक वनवासी के रूप में ब्रह्मचर्य का पालन करना है। ऐसे में यदि तुम पूर्ण स्वतंत्र हो भी तो मैं तुम्हें कैसे अंगीकार कर सकता हूँ ?"

उलूपी के चेहरे पर एक क्षणिक हताशा झलकी, किंतु वह मौन नहीं रही। बोली, "मैंने तो समझा था कि तुम वीर क्षत्रिय हो। असहाय और पीड़ित व्यक्ति की सहायता

करोगे। मैं क्या जानती थी कि अब क्षत्रिय भी अपने धर्म से च्युत हो चुके हैं।"

"धर्म से च्युत ?" अर्जुन हँसा, "शृंगार के प्रसंग में वीरता कहाँ से आ गई ? प्रेम-निवेदन में क्षत्रिय का धर्म ?"

"और नहीं तो क्या ?" उलूपी आक्रोशपूर्वक बोली, "मेरे प्राण जा रहे हैं। और तुम अपनी प्रतिज्ञा को रट रहे हो। यह क्यों नहीं सोचते कि दो धर्मो में से कौन-सा धर्म बड़ा है··· दयापूर्वक किसी के प्राणों की रक्षा अथवा अपनी प्रतिज्ञा के पालन का अहंकार। क्या मिलेगा, तुम्हें प्रतिज्ञा का पालन करके ? स्वयं को तपाओगे, जलाओगे, मुझे विरह में तड़पाकर मारोगे और फिर अहंकारपूर्वक अपने भाइयों से कहोगे कि तुमने प्रतिज्ञा पूरी की।···"

उलूपी ने मौन होकर अर्जुन को देखा, तो अर्जुन का मन दहल गया : कितनी यातना थी, उसकी आँखों में।···और उसका सौन्दर्य जैसे उस यातना से सान पर चढ़ गया था···नयनों में ऐसा चुंबकीय आकर्षण कि मनुष्य खिंचता ही चला जाए। नारी की आँखें थीं या अजगर की ?···उलूपी वास्तविक रूप में नाग-कन्या थी···अर्जुन को लगा, उसका मन इस असाधारण सुंदरी के लिए करुणा और सहानुभूति से भर गया है···किंतु तभी जैसे चिंहुक कर किसी ने उसके मन पर दंश किया, "अब क्षत्रियों का धर्म क्या कामातुराओं के प्राणों की रक्षा करना ही रह गया है ? क्षत्रिय, धर्म की रक्षा करेगा या काम की ? काम-यातना में किसी को धर्म का मर्म समझ में भी आता है क्या ?···"

किंतु अर्जुन का मन सहमत नहीं हुआ···तभी उसने उसे पहचाना···उसकी सहानुभूति, उसकी करुणा क्या उसके आसक्त मन की उपज नहीं थी ? उसके मन में कामना थी ही नहीं, या कामना थी तो, किंतु अपनी प्रतिज्ञा में बँधा होने के कारण वह कामना का दमन कर रहा था ?···यह ब्रह्मचर्य नहीं है। ब्रह्मचर्य में तो काम का भाव मन में उत्पन्न ही नहीं होना चाहिए। वैराग्य वह होता है, जहाँ अनुराग हो ही नहीं, अनुराग का दमन, वैराग्य नहीं होता।···

"मैं तुम्हारा धर्म-संकट समझती हूँ प्रिय !" सहसा उलूपी बोली, "मैं तुम्हारा धर्म नष्ट करना नहीं चाहती, किंतु धर्म के संबंध में एक जिज्ञासा कर सकती हूँ ?"

"पूछो।"

"धर्म का मर्म उसके शब्दों के अंधानुकरण में है, या उसकी आत्मा को पहचान कर उसके अनकूल आचरण करने में ?"

"निश्चित रूप से उसकी आत्मा को पहचान, उस पर आचरण करने में।"

"तो अपने धर्म को ठीक से पहचानने का प्रयत्न करो मेरे प्राण ! उसका विश्लेषण कर देखो। तुम पाँचों भाइयों की प्रतिज्ञा, तुम्हें सुख-वंचित करने के लिए नहीं, द्रौपदी की रक्षा के लिए है। वह प्रतिज्ञा तुम्हारी साधना नहीं है, द्रौपदी का रक्षा-कवच है। उसका अर्थ क्या केवल इतना ही नहीं है, कि तुम पाँचों की अपेक्षाओं को मर्यादित कर द्रौपदी को संभावित कठिनाइयों से बचाया जाए ? और उस मर्यादा की रक्षा के लिए उसके अतिक्रमण को अपराध माना गया। अपने उस अपराध के दंडस्वरूप तुम्हें बारह वर्षों के लिए पांचाली कृष्णा के साहचर्य सुख से वंचित किया गया। तुम्हें अपने अपराध का प्रायश्चित्त करने के लिए कहा गया। उस प्रायश्चित्तस्वरूप तुम बारह वर्षो तक द्रौपदी

के प्रति ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करोगे, उससे बारह वर्षों तक काम-सुख की अपेक्षा नहीं करोगे ? तुम्हारे वनवास मात्र से उस प्रतिज्ञा का मर्म पूरा नहीं होता, तुम्हें इंद्रप्रस्थ से दूर रख, द्रौपदी के प्रेम-सुख से वंचित कर ही, प्रतिज्ञा का लक्ष्य पूरा होता है। तुम इंद्रप्रस्थ से दूर रहो, फिर चाहे वन में रहो या प्रासाद में रहो, उससे तुम्हारे भाइयों और पांचाली को क्या अंतर पड़ता है··· । प्रतिज्ञा कहती है कि तुम्हारा धर्म है कि इन बारह वर्षों तक तुम पांचाली को स्मरण भी मत करो··· और मैं भी तो उसे विस्मृत करने में ही तुम्हारी सहायता कर रही हूँ प्रियतम ! जितने समय तक मुझ में अनुरक्त रहोगे, उससे विरक्त रहोगे, अर्थात अपनी प्रतिज्ञा को उसके वास्तविक अर्थों में पूर्ण करोगे।···"

"ठहरो उलूपी।" अर्जुन ने उसे टोका, "तुम्हारे विश्लेषण की ध्वनि समझ रहा हूँ मैं।··किंतु मुझे देखना है कि कहीं यह तुम्हारे कामातुर मन का षड्यंत्र ही तो नहीं। प्रतिज्ञाएँ इसलिए तो नहीं होतीं कि किसी तर्क अथवा कुतर्क की आड़ लेकर उनके बंधन से छुटकारा पा लिया जाए।"

"प्रतिज्ञाएँ इसलिए भी नहीं होतीं कि मूढ़ों के समान उन शब्दों को अनावश्यक महत्व देकर स्वयं को व्यर्थ कष्ट दिया जाए।"

"क्या यह तुम्हारा काम ही नहीं बोल रहा ?"

"मेरा मन तो कामातुर है ही प्रिय।" उलूपी बोली, "मुझे किसी प्रकार का कोई भ्रम नहीं है। मैं तुम्हारा धर्म नष्ट करना नहीं चाहती, किंतु अपना प्राप्तव्य भी छोड़ नहीं सकती।··तुम इसे चाहे षड्यंत्र कहो, चाहे कुतर्क; किंतु मेरे लिए तो ये अपने प्राणों की रक्षा की युक्तियाँ हैं।"

उलूपी मौन हो गयी थी, किंतु उसके नयन याचना के भँवर पर भँवर उत्पन्न कर रहे थे। अर्जुन को लग रहा था कि वह अब इन भँवरों से बच नहीं पाएगा। उलूपी के नयन अद्‌भुत रूप से आकर्षक थे। वे उसे सम्मोहित किए दे रहे थे। उनकी ओर देखते ही उसका मन कैसा तो विलोड़ित होने लगता था, जैसे कोई उसे आक्रोशपूर्वक मथ रहा हो। हाथ जैसे बरबस उठकर उसके अश्रु पोंछ देना चाहते थे और भुजाएँ थीं कि उलूपी को अपने आलिंगन में बाँध लेना चाहती थीं।··उलूपी के तर्कों ने उसकी प्रतिज्ञा के सारे बंधन जैसे काट दिए थे···अब वह बँधा हुआ नहीं, स्वतंत्र था··उसका मन प्रतिज्ञा के उसी अर्थ को स्वीकार कर रहा था, जिसकी विवेचना उलूपी ने की थी···

अर्जुन चौंका··वह भक्ति और यह काम ?··उसके साथ ऐसा क्यों हो रहा है ? ये दोनों विरोधी भावनाएँ ? आज ही प्रातः जिस तीव्रता से उसने अपने मन में भक्ति के वेग का अनुभव किया था, इस समय उसी तीव्रता से वह कामदेव की दुंदुभी सुन रहा है··माँ की यह कैसी माया है। पहले प्रकृति के उस श्रद्धामय रूप से मुग्ध किया और अब नारी का यह काम-मय रूप··यह नारी नहीं, कामिनी है। इस कामिनी ने उसके मन की सारी भक्ति नष्ट कर दी है··नहीं। शायद नष्ट नहीं की है, अप्रासंगिक कर दी है। पता नहीं वह अदृश्य शक्ति कहाँ है, इस समय तो उलूपी ही यथार्थ है, वही सम्मुख है··और वही प्रासंगिक है··काम इतना प्रबल है ? नारी इतनी शक्तिशालिनी है ? ··पर नहीं। काम इस नारी में है, या अर्जुन के मन में ? अर्जुन के मन में काम न होता तो उलूपी किसे प्रेरित करती ?···भक्ति भी उसके अपने मन में है, और यह काम भी उसका

अपना है।"क्या दोनों एक साथ हैं ? एक का दमन कर दूसरा प्रबल हो उठता है"और जब पहला प्रबल होता है, तो दूसरे का दमन कर देता है।"या"या, ये दोनों एक ही भाव के दो अलग-अलग पक्ष हैं। जब उसका ऊर्ध्वगमन होता है तो वह भक्ति में परिणत हो जाता है और जब उसका अधोगमन होता है तो वही काम के रूप में प्रकट होता है...

"क्या सोच रहे हो प्रिय ?" उलूपी उसके अत्यन्त निकट आ गई थी। उसके गर्म श्वासों का अनुभव अर्जुन अपने मुख पर कर रहा था।...

"सोच रहा हूँ कि यह एक नाग कन्या का काम-आह्वान है अथवा एक प्रणयिनी का प्रणय-निवेदन ?" अर्जुन बोला, "यह अस्थायी पतित्व है अथवा जीवन-संबंध ?"

उलूपी मुस्कराई, "तुम्हें पा न सकी, तो और किसी की हो नहीं सकती ? और तुम्हारी होकर किसी अन्य पुरुष की कामना का कोई अर्थ नहीं है।"

"इसका अर्थ समझती हो ?"

"समझती हूँ।"

"मैं अधिक समय तक यहाँ रुक नहीं सकता।" अर्जुन बोला, "अपनी प्रतिज्ञा की तुम्हारे द्वारा की गई व्याख्या स्वीकार कर भी लूँ तो बारह वर्षों तक किसी एक स्थान पर रुक नहीं सकता।"

"जानती हूँ।"

"सारे जंबूद्वीप के तीर्थों की यात्रा का संकल्प लेकर निकला हूँ।"

"जानती हूँ।"

"तुम मेरे साथ चलोगी ?"

"ले चलोगे तो तुम्हारे साथ चलूँगी, जैसे सीता राम के साथ गई थी।" उलूपी इठलाई, "किंतु स्मरण रखना मैं कामातुरा हूँ। साधना नहीं कर पाओगे। मैं तुम्हारे साथ गई तो वनवास के लिए नहीं वन-विहार के लिए चलूँगी"।"

"और यदि तुम्हें साथ न ले गया तो ?"

"तो तुम्हारा बोझ बनना नहीं चाहूँगी, यहीं तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगी।"

"यदि मैं कभी लौट कर न आया तो ?"

"तो मैं तुम्हारे पास पहुँचूँगी।"

"कहाँ ?"

"कहीं भी। धरती पर, आकाश में, पाताल में। कहीं भी खोज लूँगी तुम्हें।"

"तुम्हारे पिता इसे स्वीकार करेंगे ?"

"अपने जीवन की मैं स्वयं स्वामिनी हूँ। मेरे पिता उसमें कोई आपत्ति नहीं करेंगे। यह उनका अधिकार-क्षेत्र नहीं है। फिर भी उनका आशीर्वाद लेकर आऊँगी।"

अर्जुन के मन में सहसा अनुराग का उत्स फूट निकला"कैसी तीव्र कामना है उसकी ? अपने प्रिय के एक समागम के लिए सारा जीवन उसकी होकर बैठी रहेगी।... जीवन भर का संबंध करने से पहले कुछ सोचना नहीं चाहती, अपने समर्पण के बदले अर्जुन से कोई आश्वासन नहीं चाहती। यह कोई सांसारिक अनुबंध नहीं है, यह तो सहज नैसर्गिक समर्पण है... या अपना चरम सुख वह थोड़े ही समय में पा लेना चाहती है... भविष्य

की कोई चिंता नहीं है, कोई कामना नहीं है…

"बोलो, मेरे क्षत्रिय वीर !" उलूपी ने उसके कंठ में भुजाएँ डाल दी थीं, "मेरे प्राण बचेंगे या नहीं ? मेरी कामना पूरी होगी या नहीं ?"

अर्जुन की भुजाओं ने उलूपी को थाम लिया।

9

उसने भूमि पर माथा टिकाकर मुनि को प्रणाम किया, "ऋषिवर ! मैं अक्षय हूँ।"

"आओ अक्षय !" धौम्य मुस्कराए, "तुम्हारा स्वागत है। युवराज भीम ने तुम्हारी कुछ ऐसी चर्चा की थी कि मैं तुमसे मिलने के लिए लालायित हो उठा था। इसीलिए तुम्हें बुला भेजा।"

"युवराज की मुझ पर आरंभ से ही बहुत कृपा रही है महर्षि।" अक्षय बोला, "वे सदा मुझे प्रोत्साहित करते रहे हैं। सोचता हूँ तो चकित रह जाता हूँ…एक चोर को इतना स्नेह देने वाला राजकुमार…।"

"हमारे भीम में बहुत सारे अद्भुत गुण हैं।" धौम्य बोले, "कहो, तुम्हारी क्या समस्या है ?"

"मैं कुछ समझ नहीं पा रहा पूज्यपाद ! कि मैं आरंभ कहाँ से करूँ।" अक्षय कुछ क्षणों तक अटपटाया हुआ-सा मुनि की ओर देखता रहा, "पहले मैं एक लेपक था। मैं जानता था कि मैं एक शूद्र हूँ। लोगों को भी मेरे विषय में कोई संदेह नहीं था। मेरी अपनी और समाज की दृष्टि में मेरा स्थान निश्चित था।… अब मैं वास्तुकार हूँ। मेरा संबंध वास्तु-शास्त्र से है, और शास्त्र का अध्येता तो ब्राह्मण होता है महर्षि ! मैं समझ नहीं पा रहा था कि मैं कौन हूँ। मैं अब शूद्र नहीं हूँ। केवल अपने शरीर से काम लेने वाला यंत्र नहीं हूँ। मेरा विकास हुआ है। मैं ज्ञान का आदान-प्रदान करता हूँ। सोचा, समझता और निष्कर्ष निकालता हूँ। उनको कार्यान्वित करता हूँ। मैं जो नहीं हूँ, उसे जानता हूँ, किंतु क्या हूँ, इसे जान नहीं पाया हूँ। मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि मैं कौन हूँ। मेरी श्रेणि क्या है ? मेरा वर्ण क्या है ? समाज में मेरा स्थान क्या है ?"

"ओह !" ऋषि मुस्कराए, "लेपक की श्रेणि और वर्ण को लेकर जितने आवश्वस्त तुम हो, उतने ही आश्वस्त तुम वास्तुकार की श्रेणि और वर्ण को लेकर क्यों नहीं हो ?"

"मेरा जन्म लेपक के वंश में हुआ था।" अक्षय बोला, "मैंने लेपक के रूप में ही शिक्षा पाई। मैंने वही कार्य किया। मैं लेपक समाज का सदस्य था… किंतु…।"

"ठीक है।" ऋषि बोले, "इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है कि व्यक्ति का जो व्यवसाय होता है, वह उसी श्रेणि का अंग होता है…।"

"हाँ !" अक्षय अपनी उत्तेजना सँभाल नहीं पा रहा था, "किंतु वह व्यवसाय अंगीकार

करता है, युवा होने पर, और उसका वर्ण उसके जन्म से ही निश्चित हो जाता है। मैं लेपक का कार्य करूँ तो लेपक श्रेणि का सदस्य हूँ, कार्य छोड़ दूँ तो उस श्रेणि का सदस्य नहीं हूँ।...किंतु शूद्र तो मैं जन्म से हूँ। कुछ करूँ, न करूँ। लेपक रहूँ या वास्तुकार बन जाऊँ। वर्ण तो वही रहेगा न। मेरी श्रेणि चाहे वास्तुकार की हो जाए, किंतु मैं नया वास्तुशास्त्र भी रच डालूँ, तो भी मेरा वर्ण तो वही रहेगा न ?"

धौम्य ने सहज मुस्कान से उल्लसित एक दृष्टि अक्षय पर डाली और बोले, "तुम 'वर्ण' का आधार समझ लो, तो तुम्हें किसी प्रकार का भ्रम नहीं रहेगा।"

"क्या है 'वर्ण' का आधार ?"

धौम्य कुछ अन्तर्मुखी हो गए, "अध्यात्म की दृष्टि में सब जीव समान हैं, क्यों कि परमात्मा प्रत्येक जीव में आत्मा के रूप में विद्यमान है। यह सारा वर्गविभाजन समाज ने अपनी सुविधा के लिए किया है। वर्ण का संबंध वस्तुतः व्यक्ति के स्वभाव और उसकी क्षमता से है। गुणों का संबंध आनुवंशिकता से होता है, इसलिए समाज में जन्म से वर्ण का निर्धारण भी होता है। जिस परिवार में बालक पलता है, वहाँ का शिक्षण भी उसकी रुचियों-अरुचियों, क्षमताओं-अक्षमताओं का निर्धारण करता है, इसलिए परिवार तथा गुरुकुल के शिक्षण का महत्त्व है। यदि पुत्र अपने पिता से उत्तराधिकार में वे ही रुचियाँ तथा वृत्तियाँ ग्रहण करता है, वैसी ही क्षमता भी पाता है और वैसा ही आचरण भी करता है, तथा अपने पिता के ही व्यवसाय तथा जीवन-दर्शन को अंगीकार करता है, तो किसी पुनर्विचार की आवश्यकता नहीं होती। जन्म, वृत्ति, कर्म अथवा व्यवसाय से किसी एक वर्ण से संबद्ध होने पर कहीं कोई द्वंद्व नहीं जागता।... किंतु प्रकृति की लीला बड़ी विचित्र है। अनेक बार पुत्र अपने पिता के सर्वथा विपरीत चलता है। या तो उसका रुचि-भेद हो जाता है, या क्षमता-भेद। वह ब्राह्मण पिता का पुत्र होकर भी न उतना ज्ञान अर्जित कर सकता है, न वैसी तपस्या कर सकता है, और न वैसा आचरण ही कर सकता है, किंतु वह ब्राह्मण का ही व्यवसाय करना चाहता है, ब्राह्मणों की श्रेणि नहीं छोड़ना चाहता और न ही किसी इतर वर्ण को स्वीकार करना चाहता है। संकट वहाँ उत्पन्न होता है। व्यक्ति जन्म तो ब्राह्मण कुल में ले, वृत्ति से वह क्षत्रिय हो, और कर्म वह चांडाल का करे, तो उसका वर्ण निर्णय कैसे होगा ?" धौम्य ने बहिर्मुखी होकर अक्षय की ओर देखा, "संन्यासी का कोई वर्ण नहीं होता, क्योंकि न उसका कोई व्यवसाय है, न उसे किसी के साथ रक्त-संबंध के आधार पर संपत्ति बाँटनी है, न उसे किसी समाज या श्रेणि का अंग बनकर रहना है। वर्ण की आवश्यकता वहीं होती है, जहाँ व्यवसाय का प्रश्न है और जहाँ हम इस बात का निर्णय करना चाहते हैं कि उस व्यक्ति की वृत्ति, शिक्षा, क्षमता और आचरण उस व्यवसाय के दायित्वों के अनुकूल हैं या नहीं।..."

"आप ठीक कह रहे हैं महात्मन्।" अक्षय जैसे धौम्य से सहमत होते हुए भी सहमत नहीं हो पा रहा था, "किंतु वर्ण का निर्णय तो एक व्यक्ति के जीवन में एक ही बार होगा न। जब मैं एक बार शूद्र घोषित कर दिया गया, तो फिर मैं ब्राह्मण कैसे हो सकता हूँ ?"

"विकास के माध्यम से।" ऋषि बोले, "जिस व्यक्ति का शरीर मात्र एक उपकरण है, वह कुछ सोच-समझ नहीं सकता, स्वयं निर्णय नहीं कर सकता, दूसरों का अनुसरण

और सेवा ही कर सकता है,—वह शूद्र है। वही व्यक्ति विकास प्रक्रिया में, स्वतंत्र रूप से उत्पादन, व्यवसाय अथवा उद्यम से धर्मपूर्वक धनोपार्जन के योग्य होकर समाज को समृद्ध करने लगता है, तो वह वैश्य हो जाता है। अपना और अधिक विकास कर, वह समाज के संगठन, रक्षण तथा पालन में समर्थ हो जाता है, तो वह क्षत्रिय हो जाता है''' और वह अपने स्वार्थ तथा भोग की इच्छा छोड़, ज्ञान के अर्जन, ग्रहण, वितरण, विकास तथा समाज-हित में शास्त्र का चिंतन-मनन करने लगता है, तो वह ब्राह्मण हो जाता है।" धौम्य ने अक्षय की ओर देखा, "इसमें कठिनाई क्या है ? ये तो व्यक्ति के विकास के विभिन्न-सोपान मात्र है।"

"आपका कथन सत्य है ज्ञान-निधि।" अक्षय के मन में बातें कुछ-कुछ स्पष्ट होने लगी थीं, किन्तु वह अब भी किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पा रहा था, "किंतु एक बार वर्ण-निर्णय हो जाने के पश्चात् व्यक्ति, समाज के उसी वर्ग से जुड़ जाता है, उसी का अंग हो जाता है। ऐसे में वर्ण-परिवर्तन की स्थिति में समाज का कोई दूसरा अंग उसे अंगीकार क्यों करने लगा ?"

"उसकी आवश्यकता ही क्या है ?" धौम्य बोले, "किसी से उसकी स्वीकृति प्राप्त करके करना ही क्या है। व्यक्ति स्वयं अपनी वृत्ति और स्वभाव को जानता है, तो वह उसके अनुसार अपना कर्म और व्यवसाय चुन सकता है।"

"व्यावहारिक जीवन में हम इतने समाज-निरपेक्ष नहीं हो सकते महर्षि !" अक्षय ने जैसे उन्हें अव्यावहारिक होने का उपालंभ दिया, "जब किसी का विवाह होता है, रक्त-संबंध स्थापित होता है, सामाजिक व्यवहार आरंभ होता है तो क्या अपने वर्ण के प्रति अन्य लोगों की स्वीकृति महत्त्वपूर्ण नहीं होती ?" अक्षय क्षण भर के लिए रुका, "मेरे विवाह का प्रश्न उठता है। मैं किसी ब्राह्मण कन्या की आकांक्षा करता हूँ। वर्ण के प्रति जिज्ञासा की जाने पर मैं कहता हूँ कि मैं शूद्र-पुत्र होकर भी ब्राह्मण हूँ, तो कोई ब्राह्मण मेरे इस नए वर्ण को स्वीकार करेगा ?"

"यह परिवर्तन की स्थिति है इसे आक्रोश से नहीं, विश्लेषण से समझने का प्रयत्न करो।" धौम्य बोले, "एक व्यक्ति यदि वंश, वृत्ति, व्यवसाय तथा आचरण से ब्राह्मण है, तो उसे कोई भी ब्राह्मण मानेगा, किंतु यदि कहीं कोई ब्राह्मण-पुत्र वधिक का व्यवसाय अंगीकार करता है, तो उसके विवाह के अवसर पर भी अन्य निष्ठावान ब्राह्मण सोच-विचार करेंगे। कोई तपस्वी ब्राह्मण अपनी कन्या सुविधा से रजोगुणी क्षत्रिय-कर्मा ब्राह्मण को भी नहीं देगा''एक वैश्य-पुत्र यदि अपना वाणिज्य-व्यवसाय छोड़, भिक्षोपजीवी ब्राह्मण बनकर किसी गुरुकुल में अध्यापन कर रहा हो, तो क्या श्रेष्ठि-समुदाय अपनी कन्या का विवाह उससे करते समय इस पर विचार नहीं करेगा ? कन्या के विवाह के समय उसका परिवार ससुराल में उसके लिए सुख, सुविधा और सम्मान की आकांक्षा तो करता ही है, किंतु यह भी चाहता है कि उसे श्वसुर-कुल में अपने मायके के अनुकूल ही जीवन-पद्धति तथा वैचारिक परिवेश मिले, ताकि उसे नए जीवन की चुनौती इतनी बड़ी न लगे कि वह उसके लिए कष्टकर हो सके।" ऋषि हँसे, "वैसे मुझे पहले ही समझ जाना चाहिए था कि समस्या तुम्हारे विवाह की है।"

"नहीं। ऐसी बात तो नहीं है।" अक्षय कुछ संकुचित सा हो गया, "मैंने अपनी

बात तो केवल उदाहरण-स्वरूप ही कही थी। विभिन्न वर्णों में विवाह होते हैं, किंतु शास्त्र ने अनुलोम और प्रतिलोम विवाह का अंतर किया है। इसका क्या अर्थ ? ऐसा क्यों नहीं हो सकता कि पति के अनुसार, पत्नी का वर्ण परिवर्तित हो जाए, या पत्नी के वर्णानुसार पति का वर्ण परिवर्तित हो जाए।"

"वह तो होता ही है। किसी विद्वान् ब्राह्मण से विवाह कर गणिका, या तो स्वयं ब्राह्मणी हो जाएगी, अथवा उस विद्वान ब्राह्मण को लंपट बना गणिका-समाज का अंग बना देगी।"

"तो फिर शास्त्र प्रतिलोम विवाह की अनुमति क्यों नहीं देता ?" अक्षय बोला, "यदि मनुष्य अपने विकास के साथ-साथ वर्ण परिवर्तित कर सकता है, तो अनुलोम और प्रतिलोम विवाह का अंतर ही क्यों है ?"

"यह स्त्री के हितों की रक्षा के लिए है।" धौम्य बोले, "वैसे तो स्त्री और पुरुष के विकास के नियम पृथक् नहीं हैं। विकास स्त्री का भी होता है और पुरुष का भी, किंतु सामान्यतः यह देखा गया है कि पुरुष अविकसित पत्नी के होते हुए भी अपना विकास कर लेता है, किंतु अविकसित पति के संग रहकर स्त्री अपना विकास असंभव पाती है।..."

"वह कैसे ?"

"कम विकसित व्यक्तित्व वाली स्त्री जब अधिक विकसित परिवार में जाती है, तो वह अनुलोम विवाह है, अतः शास्त्र-विहित है, क्योंकि वहाँ नारी के व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध नहीं होता, किंतु स्त्री जब किसी ऐसे परिवार में जाती है, जहाँ परिवार उसके व्यक्तित्व की अपेक्षा अल्पविकसित है तथा उस परिवेश में उसके व्यक्तित्व का और अधिक विकास संभव नहीं है... तो वह प्रतिलोम विवाह है। शास्त्र द्वारा इसका निषेध है। इसमें स्त्री का दम घुट जाएगा।" ऋषि ने रुककर अक्षय की ओर देखा, "विकास से मेरा तात्पर्य बौद्धिक, मानसिक तथा आत्मिक विकास से है। यह आर्थिक विकास नहीं है, न ही शिल्प अथवा कला का विकास इसके समतुल्य है। अधिकांशतः आर्थिक समृद्धि के साथ-साथ आत्मिक पतन आता है। इसलिए ब्राह्मण वृत्ति तथा ब्राह्मण संस्कारों में पली कन्या, समृद्ध वैश्य परिवार में न तो अपना विकास कर सकती है, न ही प्रसन्न रह सकती है।"

"तो मेरे लिए क्या आज्ञा है ?"

"इसमें आज्ञा के लिए अवकाश ही कहाँ है ?" मुनि बोले, "निर्णय तो तुम्हें स्वयं ही करना है। धर्मशास्त्र तो बस मार्ग- निर्देश करते हैं, मर्यादा निर्धारित करते हैं।... वह कन्या कौन है ?"

"कन्या !" अक्षय का असमंजस उसके कंठ में अटक गया, "अभी ऐसा कोई निश्चय नहीं किया है। कोई प्रस्ताव भी नहीं है।..."

"मन में विचार तो आया है।" धौम्य हँसे।

"हाँ ! विचार तो आया है।" अक्षय प्रयत्नपूर्वक बोला, "मैंने एक श्रेष्ठि के लिए प्रासाद का प्रारूप तैयार किया था। उसी श्रेष्ठि की कन्या है। उसकी मुझ पर बहुत कृपा रही है। वह वास्तुकला का अध्ययन करने के बहाने मेरे पास आती रही है। उसके संकेत

मैं समझ रहा हूँ, किंतु निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ।"

"यदि हम वास्तुकार का वर्ण ब्राह्मण और श्रेष्ठि-पुत्री का वर्ण वैश्य मानें तो यह विवाह अनुलोम विवाह है। शास्त्र इसका निषेध नहीं करता, क्योंकि इससे उस कन्या का मानसिक, आत्मिक तथा आध्यात्मिक विकास अवरुद्ध नहीं.होगा।" मुनि ने अक्षय की ओर देखा, "किंतु यदि तुम्हें कोई आपत्ति न हो, तो मैं तुमसे कुछ पूछना चाहूँगा।"

"अवश्य पूछें। मैं इसे अपना सौभाग्य मानता हूँ कि आपको मेरे विषय में इतनी रुचि है।"

"क्या तुमने उस कन्या को बता दिया है कि तुम एक लेपक के पुत्र हो और तुमने अपना जीवन एक लेपक के रूप में ही आरंभ किया था ?"

"नहीं।" अक्षय बोला, "ऐसा काई अवसर ही नहीं आया।"

"तो मेरा तुम्हें आग्रहपूर्ण परामर्श है कि उस कन्या से अपने विवाह का निर्णय तब ही करना, जब वह तुम्हारा वर्तमान ही नहीं, अतीत भी स्वीकार कर ले।"

अक्षय चौंका, "क्या आप एक रूढ़िवादी ब्राह्मण के रूप में ही नहीं सोच रहे हैं ?"

"नहीं।" धौम्य खिलखिलाकर हँस पड़े, "मैं तुम्हारे शुभचिंतक के रूप में सोच रहा हूँ।··· तुम इस समय श्रेष्ठियों के प्रासादों का निर्माण करा रहे हो और साधारणतः धन का तुम्हें अभाव नहीं है, किंतु तुम्हारी वृत्ति ब्राह्मण की हैं। तुम यदि भवन-निर्माण के अर्थोपार्जन के सोपान पर रुक गए होते तो मैं निश्चित रूप से कह सकता था कि तुम संपन्न से धनी और धनी से धनाढ्य व्यक्ति हो गए होते।··· किंतु मैंने कहा कि तुम्हारी वृत्ति ब्राह्मण की है। तुम वास्तुकला के शास्त्र में प्रवेश कर चुके हो। वास्तुकार हो। बहुत संभव है कि तुम वास्तु-चिंतक का कार्य कर मनीषियों की श्रेणि में प्रविष्ट हो जाओ। तब तुम चिंतन करोगे—भूमि का, वायु-मंडल का, भूगर्भ का। देश के ऐतिहासिक-भौगोलिक, सांस्कृतिक-आध्यात्मिक पक्षों का।··· तब तुम्हें धन का मोह नहीं रहेगा। तुम धनोपार्जन के लिए कोई काम नहीं करोगे। बहुत संभव है कि धन से मुक्ति चाहो। तब वह श्रेष्ठि कन्या दुखी होकर, तुम्हारे मार्ग की बाधा तो नहीं बनेगी ?"

"मेरे पास आपके इस प्रश्न का इस समय कोई उत्तर नहीं है," अक्षय बोला, "किंतु यह प्रश्न मेरे भविष्य से संबंधित है, भूत से नहीं। आप यह क्यों चाहते हैं कि मैं उस श्रेष्ठि कन्या को अपने अतीत के विषय में बता दूँ ?"

"दो कारणों से, " मुनि बोले, "प्रथम तो तुम्हारी अपनी सत्य-निष्ठा की रक्षा के लिए, और द्वितीय, यह देखने के लिए कि वह श्रेष्ठि कन्या प्रतिभा और परिश्रम की पारखी है या केवल रूप, यौवन और धन पर मुग्ध होने वाली है। यदि वह तुम्हारा अतीत जानकर भी तुमसे विवाह करती है, तो इसका अर्थ है कि वह तुम्हारी प्रतिभा और श्रम का सम्मान करती है। ऐसी स्थिति में भविष्य में भी वह तुम्हें धन में आसक्त करने का प्रयत्न नहीं करेगी। और यदि वह तुम्हारे रूप एवं यौवन पर मुग्ध है और तुम्हें पर्याप्त धनी मानती है, तो तुम्हारा अतीत जान वह तुमसे दूर हट जाएगी।"

"क्यों ? जो अतीत में कंगाल था, आवश्यक तो नहीं कि वह भविष्य में भी कंगाल हो जाए।" अक्षय बोला।

"नहीं ! ऐसा कुछ नहीं है··· किंतु विकास का अंतिम चरण तो धन से अनासक्ति

और धन-विसर्जन में ही है।" ऋषि बोले, "अपना जितना विकास कर तुम वर्तमान में पहुँचे हो, यह पर्याप्त संकेत है कि भविष्य में और भी विकास करोगे··· और ब्राह्मणत्व की चरम परिणति तो सायास निर्धनता में ही है पुत्र।"

"ओह !" अक्षय मौन बैठा ऋषि को देखता रहा। फिर धीरे-धीरे बोला, "इस समय मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा। उस श्रेष्ठि कन्या का मोह मुझे कुछ समझने नहीं दे रहा।··· मैं आपकी बातों पर विचार करूँगा और फिर आपके पास आऊँगा। अनुमति है न ?" उसने हाथ जोड़ दिए।

"तुम्हारा सदा स्वागत है पुत्र।" धौम्य बोले, "प्रभु तुम्हें सद्बुद्धि दें।"

10

सारा दिन और उसके बाद की रात कैसे व्यतीत हो गई, उन्होंने लक्ष्य ही नहीं किया।··· सूर्योदय हुआ तो अर्जुन चौंका, "मुझे जाना है उलूपी।"

"रुक नहीं सकते ?" उलूपी ने पूछा था।

"मेरे साथ आए ब्राह्मण अब तक मुझे खोजने के लिए गंगा-तट की बालुका का कण-कण छान चुके होंगे।"

"ये इतने ढेर सारे लोग अपने साथ लेकर चलोगे, तो तुम्हारा वनवास क्या होगा।" उलूपी बोली,"इन लोगों से ही बस्ती बस जाएगी।"

"नहीं। ये लोग सारी यात्रा में मेरे साथ नहीं रहेंगे। धीरे-धीरे इन लोगों को लौटा दूँगा।"

"कौन-कौन लोग आए हैं तुम्हारे साथ ?"

"वेद-वेदांगों के विद्वान, अध्यात्म-चिंतक, भिक्षोपजीवी ब्रह्मचारी, भगवद्भक्त, पुराणों के ज्ञाता सूत, संन्यासी, मधुर स्वर में कथाओं का पाठ करने वाले कथावाचक ब्राह्मण··· तथा और भी कुछ ऐसे ही लोग"···अर्जुन मुस्कराया, "मैं कल प्रातः से विलुप्त हूँ। यदि मैं अब भी उनके पास न पहुँचा तो बहुत संभव है कि वे लोग इंद्रप्रस्थ की ओर चल पड़ें और महाराज युधिष्ठिर को सूचना दें कि अर्जुन गंगा की धारा में कहीं बह गया है।"

"हमारी क्या क्षति है। कुछ आनन्द ही रहेगा।" उलूपी उत्फुल्ल होकर हँसी, "लौट कर फिर वे लोग तुम्हें खोजने यहीं आएँगे। तुम्हारे वियोग में थोड़ी अतिरिक्त यात्रा कर लेंगे तो तपस्या का पुण्य ही प्राप्त करेंगे···।"

"नहीं। मेरी माता, भाई और द्रौपदी इन सूचनाओं से व्याकुल हो उठेंगे···।"

"ओह द्रौपदी।" उलूपी के मन से हताश कराह फूटी।

"बहुत संभव है धर्मराज अपना राज्य छोड़ कर मुझे खोजने के लिए गंगा-सागर

तक की यात्रा पर निकल जाएँ।"

"कोई कहीं नहीं जाएगा। जिन्होंने तुम्हें बारह वर्षों के लिए इंद्रप्रस्थ से निष्कासित किया है, वे तुम्हें इन सारे वर्षों में खोजते नहीं फिरेंगे।" उलूपी के स्वर में कुछ कटुता आ गई थी, "तुम भी विचित्र व्यक्ति हो, जिन्होंने निष्कासित किया, उनके लिए तो इतने व्याकुल हो, और जो अपने प्रासाद में ही नहीं, अपने हृदय में भी ससम्मान ठहरा रही है, उसकी कोई चिंता ही नहीं है।"

"ऐसा कुछ नहीं है उलूपी ! तुम जानती हो कि यह सत्य नहीं है।" अर्जुन का स्वर उलूपी को सांत्वना देने का प्रयत्न कर रहा था, "मुझे तो यात्रा पर जाना ही है, मैं ठहर नहीं सकता।"

"ठहर नहीं सकते, या अब और मेरा संग नहीं चाहते ?"

"ठहर नहीं सकता। और तुम्हारा संग चाहता हूँ तो कौरव्य नाग के प्रासाद में नहीं, इंद्रप्रस्थ के प्रासाद में।" अर्जुन ने उत्तर दिया, "तुम्हें मालूम होना चाहिए कि श्वसुर के घर में जामाता अतिथि ही होता है। वह वहाँ का स्थायी निवासी नहीं हो सकता।"

"जानती हूँ, किंतु दो-चार दिन रुक जाओगे, तो तुम्हारा क्या बिगड़ जाएगा ?"

"यदि ऐसी ही बात है, तो मुझसे यहाँ ठहरने का आग्रह करने के स्थान पर, तुम मेरे साथ चलो। जहाँ मेरे साथ इतनी संख्या में ब्राह्मण और विद्वान चल रहे हैं, वहाँ तुम भी चलो। जहाँ उनका प्रबंध होगा, वहाँ तुम्हारा भी हो जाएगा।" अर्जुन ने उसकी ओर देखा, "चलो उठो। करो तैयारी।"

उलूपी के चेहरे पर अकस्मात ही उल्लास की वेगपूर्ण लहर आई, किंतु उसने सायास स्वयं को उसके साथ बह जाने से रोका, "मैंने स्वेच्छा से, अपने पिता की अनुपस्थिति में आपका वरण किया है, किंतु उनकी अनुपस्थिति में यह घर छोड़कर चोरों के समान विदा नहीं हो जाना चाहती।" वह क्षण भर रुकी, जैसे कोई निश्चय कर रही हो, "आप चलिए। मैं अपने पिता की प्रतीक्षा करूँगी··· और उनके साथ परामर्श के पश्चात् उनसे विदा लूँगी। आप मेरी चिंता न करें। मुझे यात्रा में तनिक भी भय नहीं है। मैं यथासमय आपके पास पहुँच जाऊँगी।"

अर्जुन को विदा कर उलूपी मानसिक और भौतिक तैयारियाँ करती रही।··· पर किसी एक निश्चय पर पहुँचना उसके लिए कठिन हो रहा था।··· यदि वह अर्जुन के पास जाना चाहती थी, तो अपने साथ कुछ भी ले जाने का कोई अर्थ नहीं था। अगले अनेक वर्ष अर्जुन को एक वनवासी ब्रह्मचारी के रूप में व्यतीत करने थे··· उस जटाधारी वनवासी के साथ स्वर्णाभूषणों से लदी उलूपी कैसी लगेगी ? यदि उसके पिता उसे विदा करते हुए, रथ, गज, अश्व तथा दास-दासियाँ देना चाहेंगे, तो उन्हें वह वनों में कहाँ-कहाँ यात्रा करवाएगी ? उन्हें कहाँ ठहराएगी और उनके पालन की व्यवस्था कैसे करेगी।··· अर्जुन को यात्रा के लिए कोई वाहन नहीं चाहिए, सेवा के लिए कोई दास-दासी नहीं चाहिए··· शयन के लिए राजसी कक्ष नहीं चाहिए, भोजन के लिए पक्वान्न और उन्हें पकाने वाले रसोइए नहीं चाहिए···तो क्या करेगी उन सबका ?···

और यदि वह यह सारा यौतुक लेकर कुंती की पुत्रवधू के रूप में इंद्रप्रस्थ पहुँचती है, जहाँ अर्जुन नहीं है और न वर्षों तक लौटने वाला है, तो उससे वह अपने पिता के इस प्रासाद में ही क्या बुरी है ? यहाँ उसे क्या असुविधा है ?''' वह अपने पिता के घर से इतनी दुखी तो नहीं है कि ससुराल जाने की प्रसन्नता में ऐसे स्थान पर जा रहे, जहाँ और तो सब हों, बस उसका प्रिय ही न हो''' फिर जाने अर्जुन की अनुपस्थिति में वे लोग उसे स्वीकार करें या न करें'''उसने भीम की पत्नी हिडिंबा के विषय में सुन रखा था''' हिडिंब-वन में वह भीम की पत्नी के रूप में रही, किंतु वह उनके साथ न हस्तिनापुर गई, न इंद्रप्रस्थ।''' उलूपी यह नहीं जानती कि कारण क्या था ? कौन नहीं चाहता था'''हिडिंबा ने अपना स्थान छोड़ना नहीं चाहा।''' या पांडवों ने उसे साथ ले जाना नहीं चाहा''' उलूपी अर्जुन के बिना इंद्रप्रस्थ जाने की भूल नहीं करेगी।''' पर क्या वह अर्जुन के साथ बारह वर्षों की तीर्थ-यात्रा करेगी ?'''यात्रा में उसे कोई कष्ट नहीं था। अर्जुन का संग मिले, तो उसे वनचरों का-सा जीवन व्यतीत करने में भी कोई असुविधा नहीं थी।''' किंतु यदि अर्जुन चाहे कि वह ध्यान लगाए बैठा रहे और उलूपी कुटिया को झाड़ती-बुहारती रहे या वन के वृक्षों से फल और समिधा तोड़ती फिरे, तो यह उससे नहीं होगा। वह वन-विहार कर सकती है, भोग का जीवन जी सकती है, अर्जुन को साधना से विरत कर सकती है''' स्वयं साधनारत नहीं हो सकती''' किंतु जानते-बूझते अर्जुन के वियोग में स्वयं को तपाने का भी क्या अर्थ ?'''

उलूपी कोई निश्चय नहीं कर पा रही थी''' और अर्जुन उससे दूर होता जा रहा था। उलूपी अपनी आँखें बंद करती तो उसके सामने एक ही बिंब उभरता था'''संन्यासी वेश में अर्जुन उससे विपरीत दिशा में निरंतर आगे बढ़ता जा रहा था और वह किसी जड़ शिला के समान अपने स्थान पर पड़ी-पड़ी उसे देख रही थी'''

पर यदि वह कोई निर्णय कर भी लेती तो क्या। पिता से मिले बिना, उनको सूचना दिए बिना, उनसे आशीर्वाद पाए बिना, वह उनका प्रासाद छोड़ कर चली तो नहीं जाती। उसे उनकी प्रतीक्षा तो करनी ही थी।''' बहुत संभव है कि वह इसीलिए किसी निष्कर्ष पर न पहुँच पा रही हो, क्योंकि उसके जाने की कोई संभावना नहीं थी।'''तो वे आ ही लें। पिता से चर्चा करके, विचार-विमर्श के पश्चात् वह निश्चय करेगी कि अर्जुन से उसे कब और कहाँ मिलना है। अर्जुन कितने ही वेगपूर्वक क्यों न चले, चलेगा तो पैरों-पैरों ही, उलूपी रथ पर जाएगी तो उसे कहीं भी पा लेगी'''

कौरव्य सप्ताह भर पश्चात् लौटे। उलूपी उन्हें देखते ही समझ गई कि वे अपनी सामान्यतः प्रसन्न रहने वाली मुद्रा में नहीं हैं। उद्विग्न ही नहीं, उसे वे कुछ व्याकुल भी लगे। सदा के समान यात्रा से लौटने पर उन्होंने अपनी पुत्री को कंठ से नहीं लगाया, और न ही उसके सम्मुख उपहारों का ढेर ही लगाया।'''

"आप मेरे लिए कोई उपहार भी नहीं लाए बाबा।" उलूपी ने परिहास से उनकी उद्विग्नता को कुछ कम करने का प्रयत्न किया।

किंतु कौरव्य कुछ अधिक ही खीझ उठे, "किसी हाट में नहीं गया था, न ही किसी मेले से होकर आ रहा हूँ।"

"ऐसा तो मैंने कुछ नहीं कहा बाबा।" पिता के उत्तर से उलूपी हतप्रभ-सी रह गई

थी··· जो पिता बाहर से लौटकर इतना लाड़-प्यार जताते थे, वे अपनी ओर से तो कुछ कह ही नहीं रहे थे, उसके लाड़ को समझ भी नहीं रहे।···

"क्या बात है बाबा ! आपका मन शांत नहीं है ?"

कौरव्य को अपनी भूल समझ में आ गई थी। बोले, "क्या करूँ बेटी ! यह राजनीति किसी को शांत रहने ही नहीं देती। हर समय आघात-प्रतिघात। युद्ध, हिंसा और षड्यंत्र। जिस क्षण हम स्वयं को सुखी और सुरक्षित समझने लगते हैं, उसी क्षण कोई पवन-झकोरा हमारे कानों में कह जाता है कि संसार में सुरक्षा नाम की कोई वस्तु है ही नहीं।···"

"आप किस बात से चिंतित हैं बाबा।" उलूपी ने स्नेहपूर्वक पूछा, "किस कारण से आशंकित हैं आप ?"

पहले तो लगा कि अपनी रौ में कौरव्य सब कुछ बता ही देंगे, किंतु तभी जैसे उन्होंने स्वयं को सँभाल लिया, "चिंतित तो मैं हूँ उलूपी ! किंतु वे राजा कौरव्य की चिंताएँ हैं, शासक की, राजनीतिज्ञ की। वे तेरे पिता की चिंताएँ नहीं हैं··· इसलिए तू उनकी चर्चा छोड़। तू तो प्रसन्न है न ?"

"मैं तो बहुत प्रसन्न हूँ बाबा। बहुत ही प्रसन्न।"

"क्यों ? क्या मिल गया तुझे ?"

उलूपी तत्काल उत्तर देना चाहती थी, किंतु अकस्मात् ही क्या हो गया, वह समझ नहीं पा रही थी। बात उसकी जिह्वा पर थी और जिह्वा कुछ कह नहीं रही थी।

"क्या बात है उलूपी ?"

उलूपी की पलकें उठीं और पुनः झुक गईं।

"प्रासाद में एक पाहुना आया था महाराज।" उलूपी को कुछ न कहते देख, उसकी सखी नागचंपा बोली, "उसी से···।"

"हट।" झुंझलाई-सी उलूपी का हाथ ऐसे उठा, जैसे उसे मार बैठेगी।

नागचंपा खिल-खिलाती हुई आगार से बाहर निकल गई।

कौरव्य बहुत कुछ समझ गए थे। उनके होंठ प्रसन्न मुद्रा में मुस्कराए और आँखों में से चंचलता झाँकने लगी, "कौन था पाहुना ? कहाँ छिपा रखा है उसे ?"

"धत्।" उलूपी के कपोलों पर लज्जा की लाली थी।

"अच्छा चल। अब हम गंभीर हो जाएँ।" कौरव्य ने उसकी भुजा पकड़कर एक आसन पर बैठा दिया, "बता। पूरी बात बता।"

उलूपी चुप रही।

"कौन है ?"

उलूपी ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"स्वयं आया था ?"

"नहीं। मैं लाई थी।"

"कहाँ मिला था ?"

"मैंने उसे गंगा-तट पर देखा था—गंगा-द्वार में।"

"निमंत्रित करके लाई ?"

"नहीं।"

"लुभा कर लाई ?"

"अचेत करके।"

"ओह। कौन था ?"

"पांडुपुत्र कौन्तेय अर्जुन।"

कौरव्य उठकर खड़े हो गए। उनके चेहरे पर असंतोष के भाव बहुत स्पष्ट थे।

"क्या हुआ बाबा ?"

"उसने प्रेम-निवेदन किया ?"

"नहीं।"

"विवाह का प्रस्ताव रखा ?"

"नहीं। मैंने याचना की। मैंने उनका वरण किया। हम रात्रि भर साथ रहे।..."

"यह सब अच्छा नहीं हुआ उलूपी।"

"क्यों ? क्या अर्जुन वरण-योग्य नहीं है ?"

"नहीं। वह तेरे लिए नहीं है। तेरा उससे विवाह नहीं हो सकता।"

"क्यों नहीं हो सकता ?" उलूपी कुछ उत्तेजित हो उठी थी, "मुझे क्या स्वयंवर का अधिकार नहीं है ? मुझे प्रेम, रमण और विवाह की स्वतंत्रता नहीं है ?"

"है क्यों नहीं।" कौरव्य ने शांत स्वर में कहा, "किसी भी नाग-कन्या को इन विषयों में जितनी स्वतंत्रता है, उतनी ही तुझे भी है, किंतु प्रत्येक स्वतंत्रता की एक सीमा भी होती है। तू वृत्त के भीतर स्वतंत्र है, किंतु वृत्त की परिधि का अतिक्रमण करने की अनुमति तुझे भी नहीं है।"

उलूपी ने क्षण भर पिता को देखा, कुछ सोचा और फिर बोली, "मुझे लगता है कि आपके सारे आश्वासनों के पश्चात भी मेरे मन में कुछ आशंकाएँ थीं, तभी तो मैंने आपके आने की प्रतीक्षा नहीं की। जितनी जल्दी हो सका पार्थ से विवाह कर लिया। मेरी आशंका सत्य ही थी। आप पर मेरा अविश्वास सत्य ही था।..."

"तू मुझ पर जितना चाहे अविश्वास कर," कौरव्य बोले, "किंतु मेरी इस बात पर विश्वास अवश्य कर कि तू अर्जुन से विवाह नहीं कर सकती।"

"पर क्यों ? मैं अर्जुन से विवाह क्यों नहीं कर सकती ?"

"पांडवों से नागों के राजनीतिक संबंध अच्छे नहीं हैं।"

"मेरे प्रेम और विवाह के मार्ग में राजनीतिक संबंध कहाँ से आ गए ?" उलूपी झल्लाकर बोली, "यह मेरा जीवन है, मेरे-संबंध हैं। राजनीति को कब से यह अधिकार मिल गया है, कि वह लोगों के प्रेम और विवाह जैसे व्यक्तिगत मामलों में अपनी टाँग अड़ाए।"

"राजनीति तो सर्वग्रासी है पुत्री !" कौरव्य कुछ क्षण मौन रहकर बोले, "अभी तो मैं तुझको केवल इतना ही बता सकता हूँ कि यह विवाह नहीं हो सकता। तक्षक इस संबंध को स्वीकार नहीं करेगा। वह नहीं चाहता कि नाग युवक-युवतियों के संबंध इतर जातियों से हों... और पांडवों से तो एकदम ही नहीं।"

"मैं तक्षक से इसकी स्वीकृति माँगने ही नहीं जा रही।" उलूपी का स्वर उत्तेजित हो उठा, "और मैं आपको बता दूँ बाबा। इस संबंध में मैं किसी की एक नहीं सुनूँगी।

आपकी भी नहीं। मैंने अर्जुन का वरण किया है और मैं उसके पास जाऊँगी। मेरे साथ यह छलना नहीं चलेगी। आपने सदा से कहा कि मैं प्रिय लगने वाले किसी भी पुरुष का वरण करने में स्वतंत्र हूँ और अब, जब मैंने वरण कर लिया है, आप मुझे तक्षक की आड़ में रोक रहे हैं।"

"मैं तुम्हें रोक नहीं रहा···।"

"आप नहीं रोक रहे, तो तक्षक भी मुझे नहीं रोक सकता।" उलूपी बोली, "उसका अधिकार ही क्या है मुझ पर ? मैं उससे सहमत नहीं हूँ कि नाग जाति अन्य जातियों से भिन्न है, इसलिए अन्य जातियाँ उनकी शत्रु हैं। एक तो मनुष्यों में ऐसी कोई भिन्नता हीं नहीं है, और यदि कोई हमसे भिन्न ही है, तो आवश्यक नहीं कि वह हमारा शत्रु ही हो और हमें उसका वध ही करना पड़े। मैं तक्षक की इन बातों को स्वीकार नहीं करती। मैं उसे अपना अभिभावक नहीं मानती। इसलिए मुझे उससे अनुमति लेने की भी आवश्यकता नहीं है।···"

"मेरी बात समझने का प्रयत्न कर उलूपी।" कौरव्य जैसे हताश होकर बैठ गए, "मैं भी तक्षक के सिद्धांतों से सहमत नहीं हूँ। मानवता का विभाजन मुझे भी प्रिय नहीं है। मैं भी तक्षक की आज्ञाओं के पालन के लिए बाध्य नहीं हूँ।··· किंतु पुत्री ! हमें सहमत करने के, हमें बाध्य करने के, उसके पास अपने साधन हैं।···"

"क्या हैं उसके साधन ? सुनूँ तो ? क्या करेगा वह ?" आक्रोश से उलूपी की आँखें लाल हो आई थीं, "वह मेरी हत्या कर देगा ? मैं नहीं डरती उससे।"

"तू जानकर भी अनजान बनती है पुत्री !" कौरव्य बोले, "यदि तू यह संबंध नहीं तोड़ेगी, तो वह तुझे कुछ नहीं कहेगा।··· और तू जानती है कि वह सम्मुख युद्ध नहीं करता। यदि वह सम्मुख युद्ध करे, तो शायद कभी भी तुझे पीड़ा नहीं पहुँचा पाए। वह तुझे पीड़ित करने के लिए तेरे प्रियजनों पर नाग-विष का प्रयोग करेगा। कल्पना कर कि वह तुझे पीड़ित करने के लिए मुझे विष दे दे···या वह अवसर पाकर अर्जुन को ही दंश मार दे···। उसके विषधर कहाँ नहीं हैं ?···"

उलूपी स्तब्ध रह गई। उसकी कल्पना में एक से एक भयंकर दृश्य उभर रहे थे··· अर्जुन तो बारह वर्षों के लिए तीर्थ-यात्रा पर था। वह सेना के साथ नहीं था, वह अपने लोगों में नहीं था··· वह वनों में से गुजरेगा, सरिता-तटों और सागर-तट पर एकांत में साधना करेगा··· गुफाओं और कुंजों में विश्राम करेगा··· ऐसा कौन-सा स्थान था, जहाँ तक्षक के विषधर नहीं पहुँच सकते थे··· ठीक कह रहे थे उसके बाबा। तक्षक सहमत नहीं करता, वह व्यक्ति को इतना डरा देता है कि कोई उससे असहमत होने का साहस नहीं करता··· उलूपी हठ करेगी तो उसके प्रियजनों के प्राण जाएँगे और उसे मिलेगी केवल वेदना। वह अपने सुख के लिए न अर्जुन के प्राणों को जोखिम में डालेगी, न अपने बाबा के प्राणों को··· वह प्रतीक्षा करेगी··· कभी तो तक्षक का यह आंतक समाप्त होगा···

"किंतु बाबा ! अब तो यह विवाह हो चुका। मैं उसकी पत्नी हूँ, वह मेरा पति है।" उलूपी ने जैसे अंतिम प्रयत्न किया।

"इस संबंध को अपने ही मन में रखना बेटी।" कौरव्य धीरे से बोले, "न इसकी

सामाजिक मान्यता माँगना, न किसी धरातल पर ऐसा कोई सार्वजनिक व्यवहार करना।..."

"मैं प्रयत्न करूँगी बाबा।..."

11

"युवराज ! मैं आपको काशी के स्वयंवर में विजयी होने पर बधाई देता हूँ।" अक्षय ने भीम को प्रणाम किया, "और आपके लिए नई रानी के संग सुदीर्घ और सुखी दांपत्य जीवन की कामना करता हूँ।"

"तुम तो बड़ी परिष्कृत भाषा बोलने लगे हो मित्र।" भीम ने आगे बढ़कर उसके कंधे पर हाथ रखा, "किसी पाठशाला में तो भर्ती नहीं हो गए ?"

"नहीं युवराज !" अक्षय हँसा, "पाठशाला में भर्ती नहीं हुआ हूँ। मेरे चारों ओर एक बड़ी-सी पाठशाला उग आई है, उसी में घिर गया हूँ।"

भीम ने अपनी आँखें फैलाकर उसकी ओर देखा, जैसे किसी बड़े आश्चर्य से उसका साक्षात्कार हो गया हो, "तुम कविता तो नहीं करने लगे ?"

"नहीं युवराज ! मैं वास्तुकला के माध्यम से दर्शन में प्रवेश पा गया हूँ। मन में प्रश्न तो यही उठा था कि उस भवन का वास्तविक स्वरूप क्या हो, जिसमें हमें जीवन व्यतीत करना है ?... किंतु स्थिति बड़े वेग से बदली।... इस विषय में मैं जितना अध्ययन और मनन करता गया, उतना ही वह मायावी प्रश्न अपना स्वरूप बदलता गया।... और सहसा मैंने लक्ष्य किया कि मेरा प्रश्न सर्वथा परिवर्तित हो चुका है। अब मेरा प्रश्न था कि उस जीवन का स्वरूप क्या है, जो हमें उस भवन में व्यतीत करना है ?" वह रुक गया,"पर आपने यह क्यों पूछा कि मैं कविता तो नहीं करने लगा ?"

"इसलिए कि तुम्हारी भाषा कुछ सुलझाने के स्थान पर, बातों को उलझाने के काम आने लगी है।" भीम हँस पड़ा, "यदि तुम कविता नहीं करते, तो मुझे समझाओ कि तुम्हारे चारों ओर एक बड़ी-सी पाठशाला कैसे उग आई है ? पाठशाला न हुई गन्ने की पौधशाला हो गई।"

"आप बहुत रोचक बातें करते हैं युवराज।" अक्षय हँसा, "वैसे मेरी भाषा में परिष्कार तो आया है, ऋषियों की वाणी को पढ़ने से, चिंतनशील व्यक्तियों से चर्चा करने से और..."

"अरे भई। वह पाठशाला...।" भीम ने उसे टोका।

"सारा जगत ही पाठशाला है राजकुमार।" वह गंभीर हो गया, "सबने ही मुझे कुछ-न-कुछ सिखाया है।"

"अच्छा ! तो तुम्हारी यह स्थिति है।..." भीम की परिहास-मुद्रा लौट आई थी, "यह बताओ कि मेरे विवाह के संदर्भ में संध्या समय जो मंगल समारोह हो रहा है, तुम उसमें नहीं आ रहे ?"

"नहीं। इसीलिए तो प्रातः ही अलग से आपको बधाई देने आ पहुँचा हूँ।"

"क्यों ? संध्या समय क्यों नहीं आ रहे ?"

"मुझे भीड़, समारोहों और उत्सवों से भय लगने लगा है।"

"क्यों ? तुम्हारा विवाह नहीं हुआ ?"

"नहीं ! अभी तो नहीं हुआ।"

"वह श्रेष्ठि कन्या क्या हुई ?"

"उसने द्वारका के किसी धनी श्रेष्ठि से विवाह कर लिया।"

"तुम्हारा हृदय तोड़ गई ?"

"नहीं ! उसका कहना है कि मैंने उसका हृदय तोड़ दिया है।" अक्षय ने क्षणभर रुककर भीम की ओर देखा, "वस्तुतः युवराज ! मैंने ही विवाह करना अस्वीकार कर दिया था।…"

"क्यों ?"

"मैं जिस जीवन के सत्य को जानने के लिए उस पर से माया का आवरण हटाने का प्रयत्न कर रहा था, वह उस पर मिथ्या आचरण के नए आवरण चढ़ाती जा रही थी।…"

भीम ने कुछ कहा नहीं, केवल उसकी ओर देखता रहा।

"मेरी बुद्धि और विवेक की इतनी प्रशंसा करती थी, किंतु जीवन संबंधी मेरे किसी निष्कर्ष को मानने को तैयार नहीं थी। सिद्धांततः वह मेरी प्रत्येक बात से सहमत थी, किंतु उसे व्यावहारिक धरातल पर कभी स्वीकार नहीं करती थी।" अक्षय ने भीम पर अपनी दृष्टि टिकाई, "युवराज ! वह चाहती थी कि जिन लोगों के प्रति मेरे मन में कण मात्र भी आदर नहीं है, मैं उनकी प्रशंसा करूँ, जो लोग पापी हैं, उनके स्वागत-सत्कार के लिए उन्हें अपने घर बुलाऊँ।… मुझसे नहीं होता यह सब युवराज ! मेरा कलेजा फट जाता है, जब मैं पापियों को फटकार नहीं सकता।… वह चाहती थी कि मैं धर्म पर न चलूँ। अधर्म की आय से जीवन-यापन करूँ…"

"अधर्म की आय ?"

"वह चाहती थी कि मैं जिस व्यक्ति के भवन का निर्माण करूँ, उसकी रुचि देखकर वैसा ही भवन बना दूँ, ताकि वह प्रसन्न हो जाए। जानते हुए भी उसे यह न बताऊँ कि उस भवन में दोष क्या है। यह अधर्म की आय नहीं तो क्या है। मैं किस बात के लिए उनसे धन लेता हूँ ? यह बताने के लिए ही तो कि उस भवन में कहाँ क्या दोष रह जाएगा। यदि मैं वास्तुकला के ज्ञान का प्रयोग ही नहीं करता, तो धन लेने का अधिकार ही क्या है मुझे ?… सार्वजनिक रूप से लोगों के सम्मुख वह मेरी, मेरे आचरण की, मेरे आदर्शों की भरपूर प्रशंसा करती थी और एकांत में मुझे समझाती थी कि यह सब मूर्खता है। उसका विचार था कि आदर्शों पर चलने का प्रयत्न केवल विक्षिप्त लोग करते हैं। आदर्श केवल शोभा के लिए होते हैं।…"

"और तुम क्या मानते हो अक्षय ?"

"मुझे लगता है कि जब तक मैं अज्ञानी था, जानता ही नहीं था कि आदर्श क्या है, सत्य क्या है, स्वच्छता क्या है, तब तक मेरा किसी से झूठ बोलना, किसी को बहकाना,

अधर्म की कमाई खाना ठीक था। ठीक क्या था, वह मेरी बाध्यता थी, मेरे पास कोई विकल्प नहीं था।··· किंतु अब ! सब कुछ जान लेने के पश्चात् मैं वह सब नहीं कर सकता। जब मैं लेपक था, तब मैं कैसा भी भवन बनाता, कोई बात नहीं थी, किंतु अब जब मैं वास्तुकार हो चुका हूँ, अब यदि मैं ऐसा भवन बनाऊँ जिसमें सूर्य और पवन का प्रवेश न हो, जो सुरक्षित और सुंदर न हो—तो मेरी आत्मा मुझे धिक्कारेगी नहीं ?"

भीम पहली बार उसकी बातों से सचमुच प्रभावित हुआ था। वस्तुतः वह स्तब्ध-सा रह गया था।··· यहाँ, उसके सामने एक ऐसा व्यक्ति खड़ा था, जिसका सचमुच विकास हुआ था—मन का ही नहीं, आत्मा का भी ! वह स्वच्छ और सात्विक जीवन से परिचित होकर, पुनः मलिन जीवन जीने को तैयार नहीं था···

"तुमने उसके पिता से चर्चा नहीं की ?"

"उसके पिता से क्या चर्चा करता, वह तो आचरणहीन मनुष्य है। चरित्र नहीं है उसका।" अक्षय बोला, "उससे तो मेरा पहले ही झगड़ा हो गया था।"

"क्यों ?"

"उसने मुझे कहा कि वह दूसरा प्रहर आरंभ होते ही मुझसे भेंट करेगा, क्षण भर भी विलंब नहीं करेगा, किंतु आधा प्रहर बिताकर आया।" अक्षय ने बताया, "आते ही उसने विलंब के लिए क्षमा माँगी और कहा उसे खेद है कि मुझे कष्ट हुआ। पर युवराज ! मैं जानता हूँ कि उसे रंच मात्र भी खेद नहीं था। वह झूठ बोल रहा था। मैंने उससे कहा कि समय-निष्ठा चरित्र का गुण है। समय निश्चित करके न आना, मिथ्या-भाषण ही नहीं, वचन-भंग भी है। यह चरित्र का दूषण है। जानते हैं, उसने क्या कहा ?"

"क्या कहा ?"

"बोला, कोई व्यापारी आ गया था। उससे व्यापार-चर्चा में विलंब हुआ। उस विनिमय में उसने एक सौ पण कमाए थे। यदि वह सौ पण छोड़कर समय से मेरे पास आकर अपनी समय-निष्ठा सिद्ध करता, अथवा वचन का पालन करता, तो उसे क्या मिल जाता ?" अक्षय जैसे अपनी कल्पना में सत्य की हत्या होते देख रहा था, "जिस व्यक्ति को चरित्र नहीं चाहिए, सौ पण चाहिए, वह इस योग्य है कि उससे जीवन में कोई व्यवहार रखा जाए। जो सत्य कोटि-कोटि पणों से अधिक मूल्यवान है, उसे उस मूर्ख ने एक सौ पणों में बेच दिया। छिः।"

भीम अपनी आँखों में प्रशंसा लिए अक्षय को देखता रहा : यह लेपक जिसने असह्य दारिद्र्य को झेला है, वह आज भी सत्य को, चरित्र को, वचन को धन से अधिक मूल्यवान समझता है··· और वह श्रेष्ठि जो सदा धन में ही खेलता रहा होगा, उसके लिए धन इतनी बड़ी चीज है।···

"उस श्रेष्ठि का नाम बता सकते हो ?"

"नाम बता कर क्या होगा युवराज ! वह अब इंद्रप्रस्थ में नहीं है, और अच्छा है कि इंद्रप्रस्थ छोड़ गया है। महाराज युधिष्ठिर के राज्य में ऐसे व्यक्ति का क्या काम।"

"कहाँ गया होगा ?"

"मैंने कभी जानने का प्रयत्न नहीं किया।" अक्षय बोला, "वैसे मेरा अनुमान है कि वह या तो हस्तिनापुर चला गया है या फिर जरासंध के पास राजगृह।"

"तुम अब क्या करने की सोच रहे हो ?"

"सोचता हूँ कि धौम्य मुनि के गुरुकुल में रहूँ और बालकों को शिक्षा दूँ।..."

"मैं तुम्हारे विवाह के विषय में पूछ रहा था।"

"लगता है कि मुझे अब विवाह की आवश्यकता नहीं है।" अक्षय बोला, "विवाह मुझ से वे सारे समझौते करवाएगा, जिन्हें मैं स्वीकार नहीं कर सकता।"

"तुम जानते हो कि गुरुकुल में तुम्हारी वह आय नहीं रहेगी, जो वास्तुकार और वास्तुशिल्पी के रूप में है ?" थोड़ी देर मौन रहकर भीम ने पूछा।

"जानता हूँ।" अक्षय बोला, "धन मुझे बहुत आकृष्ट नहीं करता युवराज ! उसका मलिनपक्ष मुझ में घृणा उपजाता है।..."

"ओह !" भीम समझ नहीं पाया कि वह उसके प्रति अपना सम्मान किस प्रकार अभिव्यक्त करे।

12

गंगाद्वार से चले हुए अर्जुन को कई मास हो गए थे। साथ आए ब्राह्मणों में से अधिकांश को उसने गंगाद्वार से ही लौटा दिया था। उनमें से कुछ, जो अधिक हठी थे, और अंत तक राजकुमार के साथ रहना चाहते थे, अंग, और बंग तक तो साथ चले, किंतु कलिंग में सागर-तट तक आ कर वे भी लौट गए।...अर्जुन ने तभी पाया था कि व्यक्ति नगर में रहे अथवा वन में, गृहस्थों के साथ रहे अथवा संन्यासियों के साथ—वह एक प्रकार का सामाजिक जीवन ही जीता है। बस समाज का रूप बदल जाता है। व्यक्ति उस समाज की सामाजिकता में उलझता जाता है। और उसी में अपना विकास चाहता है। बाहर की घटनाएँ तब भी प्रमुख रहती हैं, जिनमें व्यस्त रह, वह अपनी आत्मा की पुकार नहीं सुन पाता।तब भी वह छोटे-मोटे सांसारिक प्रश्नों से परेशान रहता है, छोटी-मोटी व्यवस्थाओं की व्यस्तताओं में स्वयं को खो देता है।

अकेला होने के पश्चात् अर्जुन को पहली बार अपनी मनःस्थिति में परिवर्तन होता दिखाई दिया। वह माँ प्रकृति की गोद में अकेला था। उसके आस-पास प्रकृति का वह रूप था, जिसकी चेतना का उसे कोई अनुमान नहीं था। सागर, पर्वत, वन... इनमें प्राण थे क्या ? वह नहीं जानता। मनुष्य के ज्ञान ने इन्हें सदा निष्प्राण ही माना है। जिनमें प्राण नहीं हैं, उनमें चेतना क्या होगी ?... किंतु अर्जुन की आस्था कहती है कि जब सत्य केवल ब्रह्म ही है, और किसी पदार्थ का कोई अस्तित्व ही नहीं है—तो सृष्टि में एक कण भी निष्प्राण कैसे हो सकता है ? यह सब ब्रह्म का ही तत्त्व है, स्वयं ब्रह्म है ... ब्रह्म निष्प्राण हो, चेतनाशून्य हो... यह कैसे संभव है।... हाँ। अर्जुन ने अपनी ज्ञानेन्द्रियों से इसका अनुभव नहीं किया है। ...यह उसकी ज्ञानेन्द्रियों की सीमा है या... ? क्या

मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ सर्वशक्तिमान हैं ? नहीं। सहस्रों तथ्यों की अनुभूति पशु-पक्षी नहीं कर सकते, मनुष्य कर सकता है, क्योंकि मनुष्य उनसे श्रेष्ठतर प्राणी है। उनसे अधिक क्षमतावान है। किंतु मनुष्य की क्षमता की भी सीमा है। यदि वह एक निश्चित दूरी से आगे नहीं देख सकता, एक निश्चित दूरी के परे की ध्वनियाँ नहीं सुन सकता, सृष्टि की अनेक जटिल संरचनाओं को नहीं समझ सकता, तो उसका अर्थ यह तो नहीं कि उसके परे सृष्टि ही नहीं है, या सृष्टि की उस संरचना का अस्तित्व नहीं है।··· प्रकृति के इन तत्त्वों के देवत्व का अनुभव करने के लिए मनुष्य को अपनी अनुभव-सीमा बढ़ानी होगी, अपनी क्षमताओं का विकास करना होगा, अपनी ज्ञानेन्द्रियों के परे जाना होगा, इंद्रियातीत ज्ञान और अनुभव···

किंतु इस समय तो ब्रह्म के इन प्रकट अंशों में घिरा होते हुए भी वह स्वयं को अकेला ही अनुभव कर रहा था, उसका उनसे कोई तादात्म्य नहीं हो पाता था, किसी भी धरातल पर उनमें परस्पर कोई संप्रेषण नहीं था। उसे सागर के भरण-पोषण की चिंता नहीं करनी थी, उसकी रक्षा का प्रयत्न नहीं करना था। वैसे ही सागर को उसकी कोई चिंता नहीं थी। अर्जुन ने आज कुछ खाया है या नहीं, यह विचार कर सागर उसके लिए भोजन जुटाने का उद्यम नहीं करता था।··· वन में वृक्ष थे, जीव-जंतु थे··· उनमें प्राण थे, गतिविधि थी···किंतु वे सब अर्जुन के साथ किसी बंधन में नहीं बंधे थे। उनके मध्य मोह का बंधन नहीं था।··· वैसे मनुष्य का क्या है, वह किसी के भी प्रति मोह उत्पन्न कर सकता है, उसमें स्वयं को बाँध सकता है। अपने-पराए की धारणा को जन्म दे सकता है··· उसमें से उद्भूत अहंकार का पोषण कर सकता है···

अर्जुन को यह सब नहीं करना है। उसने इंद्रप्रस्थ छोड़ा है, तो इसलिए नहीं कि किसी वन-क्षेत्र को, किसी पर्वत-खंड को अथवा किसी सागर-तट को अपना मान, उस पर आधिपत्य जमा, उसकी रक्षा का प्रयत्न कर अपने अहंकार को स्फीत करता रहे··· जब सागर आत्मलीन है, अपने सौन्दर्य पर मुग्ध है, पर्वत चारों ओर से निस्पृह हो ऊपर आकाश की ओर ताकता, किसी अलौकिक सौन्दर्य को देख आत्म-विभोर है, तो अर्जुन को बाहर भटकने की क्या आवश्कयता है। वह अपने भीतर क्यों नहीं झाँकता ? अपनी आत्मा में लीन क्यों नहीं होता ? अपने भीतर वर्तमान उस अलौकिक सौन्दर्य को क्यों नहीं देखता ?···अब उस परम सत्ता और उसके मध्य और कोई नहीं है। वह उसी के भरोसे है, उसी के सहारे है, उसी पर निर्भर है··· वार्ता करेगा तो उसी से, चिंता करेगा तो उसी की, याचना करेगा तो उसी से, तादात्म्य करेगा तो उसी से,··· आज तक उसे वह दिखाई देता रहा है, जिसका अस्तित्व मिथ्या है, भ्रम है···अब वह उसे देखेगा, जो वस्तुतः अस्तित्ववान है, जो है किंतु दीखता नहीं···आज तक वह प्रतिबिंब में ही रमा रहा है, अब वह मूल बिंब तक पहुँचेगा···शायद इसी प्रकार के प्रयत्न को तपस्या कहते हैं···

प्रातः नींद टूटी तो उसके मन में एक ही विचार था।··· आज से उसे एक नया जीवन आरंभ करना है··· वह स्नान कर आए, भोजन के लिए कुछ फलों का प्रबंध करे। उसके पश्चात् उसे रहने का ठिकाना करना है—एक कुटिया का निर्माण।···अपने वस्त्रों का क्या करेगा वह ··· और तब अर्जुन की प्रज्ञा ने देखा कि उसका रजोगुण उसे भ्रमित कर रहा था··· वह फिर उसे ममता की माया में उलझा रहा था। उसे सब से पहले अपने

इसी रजोगुण को नियंत्रित करना होगा।··· तो क्या उसे आलसियों का जीवन जीना है ? खाना है, पीना है और सो जाना है ? समय को गँवाना है ? इस मनुष्य-जीवन को व्यर्थ नष्ट करना है ?··· कृष्ण कहते हैं न, 'फल में आसक्ति न हो और अकर्म में प्रीति न हो।' अकर्मण्यता पाप है। कर्म तो करना है, किंतु कर्म रजोगुण से प्रेरित न हो, और न उसमें फल की आसक्ति निहित हो।··· तो इस रजोगुण से मुक्ति कैसे हो ?···

अर्जुन स्नान कर आया। पहले तो उसकी इच्छा हुई कि वह सरिता तट पर बैठ कर ही ध्यान करे, किंतु फिर उसने उस विचार को टाल दिया··· संभव है कि इस वन-प्रांतर में कुछ लोग रहते हों, कोई वनचर, कोई साधक-तपस्वी, कोई संन्यासी··· वे लोग स्नान करने अथवा अपनी अन्य आवश्यकताओं के लिए जल लेने के लिए आएँगे, तो उनसे साक्षात्कार होगा, चर्चा होगी, परिचय होगा···और फिर एक नया समाज बन जाएगा। वह उस समाज का अंग बन जाएगा, तो यह एकांतवास कैसे होगा ? मनुष्य नहीं भी आएँगे तो वन्य-पशु तो आएँगे ही जल पीने। वे अर्जुन लिए के बाधा बनेंगे और अर्जुन उनके लिए बाधा बनेगा··· इससे तो यही अच्छा है कि वह किसी एकांत स्थान में बैठ कर ध्यान करे··· अर्जुन एक ऊँचा-सा टीला देखकर उसकी ओट में बैठ गया। दूसरी ओर वृक्षों की ओट थी। जव तक कोई बहुत निकट आ, उन वृक्षों में ही घुसकर न देखे, तव तक बाहर वालों के लिए वह अदृश्य ही था। पद्मासन में बैठकर अर्जुन ने अपनी आँखें मूँद लीं···

अर्जुन स्थान-स्थान पर एकांतवास करता, ध्यान-धारण करता, अपनी यात्रा का क्रम चलाए चल रहा था। अब जैसे अकेले रहने का अभ्यास-सा हो गया था। कोई और आ जाता तो अपना अभ्यास टूटते देख उसे अच्छा नहीं लगता था। एकांत में जिस एक संपूर्ण अस्तित्व की अनुभूति अपने चारों ओर उसे होती रहती थी, अन्य मनुष्यों के निकट आ जाने से वह संपूर्ण अस्तित्व टूटकर खंड-खंड हो जाता था और मन की शांति ही नष्ट नहीं होती थी, मन की एकाग्रता विक्षिप्त-सी हो जाती थी। आनन्द की स्थिति विलीन हो जाती थी और चेतना किसी उच्च धरातल से पतित होती हुई निम्न स्थिति में आ जाती थी। इसलिए अधिकांशतः किसी नगर के निकट होने का आभास होने पर वह अपना मार्ग बदल लेता था, किंतु तीर्थो के निकट, देवालय के दर्शन करने के लिए एकांतवास का अपना नियम बदलना ही पड़ता था···

स्नान कर अर्जुन ध्यान करने के लिए बैठा ही था कि पशु-पक्षियों की असाधारण हलचल से उसका ध्यान भंग हो गया।··· उसने चकित दृष्टि से इधर-उधर देखा : यह तो वन में अत्यन्त शांति का समय था। इस समय वन में इतना कोलाहल सर्वथा अप्रत्याशित था।··· थोड़ी ही देर में अश्वों की टापें भी सुनाई देने लगीं। अर्जुन समझ गया कि कोई बड़ा दस्यु-दल अथवा किसी राजा का सैन्य-बल किसी अभियान पर निकला था।··· यदि दस्यु-दल था तो किन्हीं असहाय शांति-प्रिय लोगों पर अत्याचार किए जाने की भूमिका थी··· और राजा का सैन्य-वल था तो किसी अत्याचारी से लोहा लेने का आयोजन था··· कौन हो सकता है ?···

तभी अर्जुन के साधक मन ने उसे डाँटा···'रजोगुण ऐसे शांत होगा क्या ? कोई भी हो, तुम्हें उससे क्या ? तुम अपनी साधना करो।' ···किंतु अर्जुन पुनः ध्यान नहीं लगा सका। यदि उसके निकट ही किसी पर अत्याचार होने जा रहा था तो वह इस प्रकार शांत होकर नहीं बैठ सकता था। साधनारत था तो क्या हुआ, था तो वह क्षत्रिय ही। आर्त्त-त्राण उसका धर्म था। धर्म से इस प्रकार मुख मोड़ कर वह कौन-सी सिद्धि प्राप्त करेगा ?··· कृष्ण ने कहा था, 'न फल में आसक्ति हो न अकर्म में प्रीति।' ··· यह कहीं उसकी निष्क्रियता का ही तर्क तो नहीं है, जो उसे भ्रमित करने का प्रयत्न कर रहा था। अपने रजोगुण को शांत करने का अभ्यास करता-करता, कहीं वह तमोगुण का ही तो अभ्यस्त नहीं हो रहा ?··· उसे फल में आसक्ति नहीं है। वह तो यह जानता भी नहीं है, कि वे कौन लोग हैं। केवल अश्वों की टापों को सुन उसके मन में आया है कि वह साधारण नागरिकों का यात्री-दल नहीं है, व्यापारियों का सार्थ भी नहीं है, यह तो सैन्य-वल है, चाहे राजा का हो, अथवा दस्युओं का···

अर्जुन को लगा, उसे इस स्थान से हट जाना चाहिए। कुछ दूरी पर एक निर्जन शिवालय है। वह उसी में शरण ले ले। यह सैन्य-वल जव अपनी राह चला जाएगा और ये पक्षी शांत हो जाएँगे, तो वह पुनः इसी स्थान पर लौट सकता है।··· राजा है तो सेना भी होगी ही। और सेना राज्य की रक्षा और प्रशासनिक कारणों से प्रयाण करती ही रहेगी··· तो अर्जुन कहाँ तक उसकी खोज-खवर रखता फिरेगा ?··· यह उसका काम नहीं था···

'पर यदि यह राजा की सेना न हुई, कोई दस्यु-दल हुआ तो ?'···तो क्या ? अर्जुन ने अपने मन को झिड़क दिया, दस्यु-दल है, तो उसका प्रतिकार करना, उसे पकड़ना, दंडित करना, उससे अपनी प्रजा की रक्षा करना··· यह सब यहाँ के राजा का कर्तव्य है, अर्जुन का नहीं।··· कौन-सा क्षेत्र है यह ? किस राजा द्वारा शासित है ?··· कदाचित् वह मणिपूर के निकट था। हो सकता है कि यह क्षेत्र भी मणिपूर के ही अधीन हो।··· तो ठीक है, यह समस्या मणिपूर के राजा की है, अर्जुन की नहीं। धर्मराज युधिष्ठिर अभी चक्रवर्ती सम्राट् नहीं वने हैं, कि मणिपूर को उनका मांडलिक राज्य मानकर उसकी रक्षा के लिए अर्जुन को जाना चाहिए··· वस्तुतः यह उसका रजोगुण ही था, जो उसे शांति से बैठने नहीं दे रहा था। उसे इसका नियंत्रण करना ही होगा···

अर्जुन उठकर उस भग्न-शिवालय की ओर चल पड़ा।

शिवालय शांत था। बाहर की ध्वनियाँ भी कम ही आ रही थीं··· और सामने शिवलिंग था, जिसे देखते ही महादेव जैसे साक्षात् सामने आ खड़े होते थे। अर्जुन को और क्या चाहिए था ?··· यह तो जैसे उस सैन्यबल के कोलाहल के वहाने महादेव ने स्वयं उसे अपने निकट बुला लिया था।

वह शिवलिंग के सम्मुख पद्मास लगाकर बैठ गया।

कुछ ही क्षण बीते होंगे कि कुछ लोगों की दवी-घवराई ध्वनियों और भागते हुए पगों की आहट ने उसका ध्यान भंग कर दिया··· ओह ! यहाँ भी !···

उसने आँखें खोलीं : उसके सम्मुख अनेक वनचर खड़े थे। वे भी शायद आश्रय की खोज में आए थे और यहाँ एक संन्यासी को समाधिस्थ देखकर घवरा गए थे।

अर्जुन को आँखें खोलते देख, उन्होंने अपने हाथ जोड़ दिए और घुटनों के बल भूमि पर बैठ गए, "हमें क्षमा करें महात्मन् ! हम आपके तप में विघ्न उत्पन्न करने नहीं आए। हम तो उन योद्धाओं से अपने प्राण बचाने के लिए यहाँ छिपने आए थे।"

"कौन हैं वे योद्धा ?" अर्जुन से पूछे बिना नहीं रहा गया।

"अभी कह नहीं सकते।" उनमें से एक व्यक्ति बोला, "आजकल मणिपूर राज्य में बहुत उथल-पुथल है। राजा चित्रवाहन वृद्ध हो गए हैं। चारों ओर से दस्युदल घिर आए हैं। संभव है आस-पास के छोटे-मोटे राजा ही इस अवसर का लाभ उठाकर उन दस्युओं को प्रेरित कर रहे हों, उनसे सहयोग कर रहे हों, अथवा अपने ही सैनिकों को दस्युओं के वेश में भेज रहे हों।···"

"राजा चित्रवाहन क्या पूर्णतः असमर्थ हो चुके हैं ?"

"नहीं ! पूर्णतः असमर्थ तो नहीं हुए, किंतु पर्याप्त शिथिल हो गए हैं। अब उनकी, कठिन जीवन व्यतीत करने की अवस्था नहीं रही।"

"तो प्रजा की रक्षा कौन करता है ?"

"युवराज !"

"देखो बाबा ! यह दस्यु-दल नहीं है।" सहसा उनमें से एक तरुण ने कहा, "यह तो युवराज का सैन्य-बल है। कदाचित ये लोग दस्यु-दमन के लिए ही जा रहे हैं।"

अर्जुन ने देखा : वे लोग शिवालय के सामने से जा रहे थे। बहुत थोड़े-से सैनिक थे। साधारण शस्त्रास्त्रों से सज्जित थे। उनके आगे-आगे एक सुकुमार-सा राजकुमार युद्ध-वेश में चल रहा था। उसके चेहरे की सुकुमारता को देखकर अर्जुन का मन जैसे काँप गया, निश्चित रूप से न तो अवस्था की दृष्टि से ही वह अभी परिपक्व हुआ था, न उसके शरीर का गठन ही इतना सुदृढ़ था कि उसके कठोर युद्ध-प्रशिक्षण का ही कोई प्रमाण मिलता। ···इस कोमल, अप्रशिक्षित बालक के कंधों पर मणिपूर की प्रजा की रक्षा का बोझ आ पड़ा है ?··· तभी तो आस-पास के सारे राजा दस्यु हो गए हैं···

"बाबा ! युवराज का सैन्य-बल तो है, पर वह देखो, सामने दस्यु-दल भी है।" उसी तरुण ने पुनः पुकार कर कहा।

अर्जुन ने देखा : सामने ही नहीं, दाएँ-बाएँ भी दस्यु-दल घिर आए थे। युवराज के सैनिक संख्या में कम थे और बहुत उत्साह में भी नहीं लग रहे थे··· दस्युओं ने जैसे उन लोगों को घेरने के लिए इस वन में उनके चारों ओर व्यूह-रचना कर रखी थी।

'इस संसार में इतनी दुष्टता क्यों है ?' ··· अर्जुन का मन जैसे पुकार-पुकार कर किसी से पूछ रहा था··· 'राजा वृद्ध हो गया है तो इन लोगों को उस पर दया क्यों नहीं आती ? उससे सहानुभूति क्यों नहीं होती ?··· सब उसके शत्रु हो गए हैं।' अर्जुन को लगा, जैसे वह इस सारी प्रक्रिया को एक बिंब के माध्यम से साक्षात् देख रहा है।··· एक सिंह वृद्ध, दुर्बल और असहाय हो गया है और वन के सारे सियार उसका मांस नोचने के लिए उसका घेरा डालकर बैठ गए हैं।···संसार में कोमल और दुर्बल लोग आत्मसम्मान और अधिकारों के साथ जीवित क्यों नहीं रह सकते ?··· इतनी निर्ममता क्यों है यहाँ ? दया, ममता, सहानुभूति क्यों नहीं है ? ये लोग मनुष्य नहीं हैं ? भूखे भेड़िए हैं ?··· भेड़िए ही तो हैं। उनके चेहरों पर क्रूरता जैसे नृत्य कर रही है··· और

वह कोमल युवराज !··· वेचारा कैसा निरीह-सा खड़ा, असहाय-सी दृष्टि से उन लोगों को देख रहा है···

अर्जुन का क्षत्रिय मन अव स्वयं को और निर्लिप्त नहीं रख सका।

"तुम लोग समझते हो कि इस भिड़ंत में युवराज सुरक्षित रहेंगे ?" अर्जुन ने वनचरों की ओर देखा, "वे अपनी भी रक्षा कर लेंगे, और तुम लोगों को भी सुरक्षा प्रदान कर सकेंगे ?"

वनचरों के समूह में से कोई भी कुछ नहीं वोला। वे लोग फटी-फटी आँखों से अर्जुन की ओर देखते रहे।

"तुम लोग युवराज की सहायता करना चाहते हो ?" अर्जुन ने पूछा।

"हाँ !" उनमें से कुछ के कंठ से निकला और शेष लोगों ने मात्र अपने सिर हिला दिए।

"तो तुम लोगों में से जिनके पास सवसे दृढ़ धनुष हों, वे चार-पाँच धनुष मुझे दे दो और सारे वाण एकत्रित कर दो-तीन लोग मेरे साथ चलो।" अर्जुन वोला, "तुम्हारा काम केवल मुझे वाण पकड़ाते जाना होगा। शेष सव मैं देख लूँगा।"

उन्होंने आश्चर्य से अपने सम्मुख खड़े उस संन्यासी को देखा, जो योद्धाओं की-सी भाषा वोल रहा था।

"आश्चर्य मत करो।" अर्जुन वोला, "मैंने युद्ध की शिक्षा प्राप्त की है और मुझे वड़े युद्धों का अनुभव है। यदि तुम लोग मेरी सहायता करोगे, तो तुम्हारे युवराज को कोई भय नहीं होगा।"

"भय रहे न रहे, किंतु हम आपकी सहायता तो करेंगे ही।" एक युवक वोला, "यह लीजिए मेरा धुनष ! पर्याप्त दृढ़ है। मैं इससे वाण मार कर सिंहों और गजों का आखेट करने का साहस करता हूँ।"

अर्जुन ने धनुष पकड़ लिया। उसे टंकारा।···वह शिवालय से वाहर आ गया।

सैनिक, दस्युओं के व्यूह के पर्याप्त निकट आ गए थे और उन्हें समझ में आ गया था कि न केवल दस्युओं के विभिन्न दल परस्पर मिल गए हैं, वे व्यूह-वद्ध भी हैं और उनकी संख्या भी सैनिकों से कहीं अधिक है।

अर्जुन के मन में आशंका जन्म ले रही थी : ये सैनिक किसी भी क्षण युवराज को छोड़कर भाग सकते थे।

"युवराज ! आत्मसमर्पण करो।" दस्यु-दलों में से एक का नेता सम्मुख आ गया, "यदि तुम अपने और अपने सैनिको के शस्त्रास्त्र हमें सौंप दोगे तो हम उन्हें जीवित घर लौट जाने देंगे··· यह हमारा वचन है।"

"नहीं।" युवराज ने अपने कोमल तरुण कंठ से कहा, "युद्ध होगा।"

"पछताओगे।" दस्यु नेता वोला।

उत्तर में युवराज ने एक शब्द भी नहीं कहा और बाण छोड दिया। दस्यु-नेता घायल होकर भूमि पर गिर पड़ा और चारो ओर से दस्युओं के धनुष तन गए···

किंतु तभी अर्जुन ने अपने धनुष को टंकारा और इससे पहले कि दस्युओं के बाण सैनिकों तक पहुँचते, अर्जुन के वाण अवाध गति से दस्युओं पर वरसने लगे।

दस्यु-दल चकित रह गया। इतनी बड़ी संख्या में बाण !···जैसे धनुर्धारियों की कोई विशाल सेना आ गई हो।

"बाण छोड़ो।" दस्यु नेता ने आदेश दिया।

उसके आदेश का पालन हुआ। बाण चले भी।···किंतु कोई भी देख सकता था कि न तो उस आदेश में कोई आत्मबल था, न बाण चलाने वाले दस्युओं में कोई उत्साह ! शायद बहुत विलंब हो चुका था। उन्हें इस बाण-वर्षा से पहले ही आघात करना चाहिए था···

अर्जुन आगे बढ़कर युवराज के निकट पहुँच गया था। युवराज के चेहरे पर असीम उत्साह था और उसकी आँखों में सघन कृतज्ञता। सैनिक भी वीरता के आवेश में आ चुके थे।

"युवराज !" अर्जुन बोला, "अपने सैनिकों से कहो कि अपने बाणों का भंडार मुझे सौंप दें और खड्ग-युद्ध के लिए सन्नद्ध रहें। वैसे उसकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी।"

युवराज ने देखा, वनचरों का दल युद्ध-क्षेत्र में इधर-उधर बिखरे पड़े बाणों को समेट कर उस अज्ञात सहायक तक पहुँचा रहा था। उसके बाणों का वेग सचमुच ऐसा था कि दस्यु-दलों का सारा उत्साह भंग हो गया था और शायद वे पलायन करने के विषय में सोच रहे थे···

"सैनिको ! अपने बाण इस योद्धा को सौंप दो और खड्ग तथा शूल-युद्ध के लिए सन्नद्ध रहो।" युवराज ने आदेश दिया, "स्वयं को प्रयत्नपूर्वक इस वीर की बाण-वर्षा के पीछे रखो।"

"दस्युओ !" अर्जुन ने उच्च स्वर में कहा, "जीवन चाहते हो तो आत्म-समर्पण करो। युद्ध तुम कर नहीं पाओगे, और पलायन तुम्हें मैं करने नहीं दूँगा। तुम्हारे सम्मुख दो ही विकल्प हैं, मृत्यु अथवा आत्म-समर्पण।"

"वीर योद्धा !" दस्यु नायक ने पुकार कर उत्तर दिया, "हमें वचन दो कि आत्म-समर्पण के पश्चात हमारे प्राण नहीं लिए जाएँगे।"

"यह अधिकार मुझे नहीं है। यह राजा और युवराज की इच्छा पर निर्भर है।" अर्जुन ने उत्तर दिया, "यदि मेरे बाणों से बचना चाहते हो तो आत्म-समर्पण करो।"

अर्जुन की बाण-वर्षा का वेग कुछ इतना बढ़ गया था कि न प्रतिकार का अवसर था, न प्रतीक्षा का समय ! अगले ही क्षण दस्यु अपने शस्त्र फेंक कर सामने निकल आए।

"सैनिको ! इन्हें बंदी करो।"

और उसी क्षण से अर्जुन सजग हो गया···उसे तत्काल यहाँ से निकल जाना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि युवराज की कृतज्ञता अथवा असहायता उसे अपने स्नेह-पाश में बाँधकर मणिपूर ले जाए और वहाँ वह राजप्रासाद का अतिथि हो जाए। उसे नए मोह नहीं पालने थे, नए संबंध नहीं बनाने थे और नए दायित्व नहीं ओढ़ने थे। वह तपस्या के लिए निकला था, उसे तपस्या ही करनी चाहिए थी···

किंतु यदि वह अंतिम दस्यु के बंदी होने से पहले चला गया, तो बहुत संभव था कि दस्यु-दल पुनः कुछ उत्पात करे। ऐसे में उसका सारा किया-धरा व्यर्थ हो जाएगा।···अर्जुन एक विचित्र-से द्वन्द्व में फँसा धनुष ताने प्रहरी-सा खड़ा रहा और सैनिक

उन दस्युओं को बाँधते रहे।

युवराज अपने अश्व से नीचे नहीं उतरा और न ही वह अर्जुन के निकट आया। अर्जुन ने उड़ती-उड़ती दृष्टि उस पर डाली तो उसकी आँखों की कृतज्ञता तथा कपोलों का संकोच देख कर जैसे पराभूत हो गया।"युवराज शायद इस अयाचित सहायता से इतना विह्वल हो गया था कि उसके लिए अपना संयम बनाए रखना कठिन हो रहा था। अर्जुन उसे और किसी असुविधा में डालना नहीं चाहता था।

सैनिकों ने दस्युओं को बाँधकर हाँका तो युवराज के कुछ कहने से पहले ही अर्जुन ने उच्च स्वर में कहा, "अच्छा ! विदा मित्रो।"

सैनिकों, दस्युओं तथा वनचरों को वहीं खड़ा छोड़ अर्जुन वृक्षों के पीछे विलीन हो गया।

युवराज विचित्र प्रकार के संकोच से जड़ीभूत अपने स्थान पर जैसे ठगा-सा खड़ा रह गया।

13

"क्या समाचार है नायक ?" भीम का स्वर हल्की-सी उत्तेजना लिए हुए था, उसे नायक का इस प्रकार हाथ जोड़कर मौन-मूक खड़े रह जाना अच्छा नहीं लगा था।

"राजकुमार ! हम आज भी आपके आदेशानुसार कृषि-भूमि तैयार नहीं कर पाए।" नायक का माथा झुका हुआ था।

"क्या हुआ ?"

नायक को लगा भीम उससे रुष्ट नहीं था। इसका अर्थ था कि उसका सारा आक्रोश विरोधी पक्ष के लिए था। वह अपने वृक्षछिदों, अपने कृषकों अथवा अपने सैनिकों को दोषी नहीं ठहरा रहा था।

"राजकुमार ! जैसे ही वृक्षछिदों ने अपनी कुल्हाड़ियों से वृक्षों पर प्रहार किया, वैसे ही उन लोगों ने अनेक दिशाओं से प्रकट होकर हम पर आक्रमण कर दिया।" नायक बोला, "वे सैनिक तो नहीं थे, किंतु सशस्त्र थे। वृक्षछिदों की कुल्हाड़ियाँ उन्होंने इस तत्परता से छीनीं, जैसे वे इस कार्य के चिर-अभ्यस्त रहे हों।"

"तो तुम लोगों ने हस्तक्षेप क्यों नहीं किया ?"

"हस्तक्षेप तो हमने किया..."

"किंतु पकड़ नहीं पाए ?"

"वे जमकर लड़ें तो हम उन्हें पराजित भी कर सकते हैं, महाबली ! उन्हें बंदी भी कर सकते हैं, और आपकी आज्ञा हो तो उनका वध भी कर सकते हैं।"

"तो फिर करते क्यों नहीं ?" भीम ने उसे घूरकर देखा।

"दुर्बल पड़ते ही वे भागकर वन में छिप जाते हैं।" नायक ने आँखें उठाकर भीम की ओर देखा, "और वृक्षों के पीछे से पत्थर भी बरसते हैं और बीच-बीच में बाण भी।"

"उनका पीछा करो। वन में घुस जाओ। उनकी शरण-स्थली तक जाओ।" भीम का रोष कुछ-कुछ मुखर होने लगा था, "वे वन में ही छिपते हैं, सागर में नहीं, जिसमें प्रवेश करने पर तुम डूब जाओगे।"

"इस बार तो हमने सोचा था कि हम उनका पीछा करेंगे, किंतु वन में प्रवेश करने से पहले ही प्रशिक्षित सैनिकों की एक बड़ी टोली"पूरी की पूरी वाहिनी ही समझिए"किसी दिशा से आ गई।"

"कौन थे वे लोग ?" भीम की आँखें जैसे पूरी खुल गई, "दुर्योधन के सैनिक ?"

"नहीं राजकुमार ! उन्होंने स्वयं को इंद्र का सैनिक बताया।" नायक मंद स्वर में बोला, "उन्होंने कहा कि यदि हम वन में प्रवेश करेंगे तो यह उनकी सीमा का अतिक्रमण होगा, क्योंकि वह इंद्र-संरक्षित क्षेत्र है।..."

"इंद्र-संरक्षित क्षेत्र।" भीम उठकर खड़ा हो गया, "हमारे राज्य के भीतर इंद्र-संरक्षित क्षेत्र का क्या अर्थ है ?"

उसे लगा कि इस समय सैनिकों के सम्मुख वह चाहे कुछ भी कह ले, किंतु मन-ही-मन वह जानता था कि खांडव-वन इंद्र-संरक्षित क्षेत्र था... पांडवों ने भी प्रायः इसे स्वीकार कर ही लिया था।...

"उन्होंने कहा, यदि हम वन में प्रवेश करेंगे, तो हमें रोकने के लिए उन्हें बल प्रयोग करना पड़ेगा।" नायक ने बताया, "किंतु वे इंद्र के सैनिक थे, और इंद्र तथा पांडवों में मैत्री-संबंध हैं। इसलिए यदि हम उन्हें युद्ध के लिए बाध्य करते हैं, तो संधि तोड़ने का अपराध हम करेंगे।"उन्होंने यह भी कहा, राजकुमार ! कि इस प्रकार के किसी भी संघर्ष से पहले, हमें अपने राजा से पूछ लेना चाहिए।"

नायक ने अपनी बात समाप्त कर, जैसे किसी आदेश की अपेक्षा में भीम की ओर देखा।

भीम की इच्छा हुई कि वह चिल्लाकर कहे कि इंद्र के साथ उनकी ऐसी कोई संधि नहीं हुई है"किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि खांडवप्रस्थ में आने के क्षण से ही वे लोग इंद्र से संघर्ष टालने तथा उसे अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते रहे हैं। महर्षि व्यास ने भी यही चाहा था। कृष्ण की भी यही इच्छा थी। जिस कृष्ण ने वृन्दावन में इंद्र की पूजा का निषेध कर गोवर्धन पर्वत की पूजा की थी, जाने क्यों वह खांडवप्रस्थ में इंद्र को प्रसन्न करने के लिए इतना आतुर हो उठा था।

उन लोगों ने भी तो चाटुकारों के समान, इंद्र को प्रसन्न करने के लिए अपने नगर का नाम इंद्रप्रस्थ रखा था। कृष्ण ने नगर के निर्माण में इंद्र की सहायता चाही थी। बहुत संभव है कि इंद्र से अपना मनोमालिन्य दूर करने के लिए कृष्ण किसी अवसर की प्रतीक्षा में ही हो।"और इससे उपयुक्त अवसर और क्या हो सकता था। "इंद्र ने भी अपना सौहार्द दिखाने के लिए विश्वकर्मा को भेज दिया था"पर वही इंद्र अब बार-बार इन अपराधियों की रक्षा करने के लिए क्यों आ जाता है ?...

भीम ने जल्दी ही निर्णय कर लिया। अब वह और विलंब नहीं कर सकता। संधि

हो या न हो। इंद्र से मैत्री रहे या टूटे। वह इस प्रकार न तो अपना अपमान सहेगा और न इंद्रप्रस्थ की क्षति इस प्रकार मौन-मूक खड़ा देखता रहेगा।

"तुम चलो नायक !" भीम ने कहा, "आज रात विश्राम करो। कल प्रातः हमारा अभियान आरंभ होगा।" वह रुका, "इंद्रप्रस्थ की जनसंख्या बहुत बढ़ गई है। हमें कृषकों के लिए कृषि-भूमि की भी आवश्यकता है और प्रजा के लिए अन्न की भी। हम कृषि-भूमि तैयार करेंगे ही, चाहे हमें सारा खांडव-वन ही उखाड़ कर क्यों न फेंक देना पड़े। तभी हमारे शत्रुओं का यह आश्रय-स्थल भी नष्ट होगा।" भीम ने जैसे उसे अंतिम संदेश दिया, "तुम दंडधरों और प्रहरियों को पीछे हटा दो। अपने सैनिकों को तैयार रखो। मैं इंद्रप्रस्थ से भी कुछ वाहिनियाँ लेकर आऊँगा। कल इस समस्या को हम सदा के लिए समाप्त कर देंगे।"

नायक के चेहरे पर उल्लास झलका, "जैसी राजकुमार की इच्छा।"

प्रणाम कर वह बाहर चला गया।

भीम की इच्छा तो हो रही थी कि वह अपनी गदा लेकर अकेला ही खांडव-वन की ओर चला जाता और इंद्र ही नहीं, अपने-आपको अग्नि के सैनिक कहने वाले खांडव-वन के इन सारे दस्युओं को नष्ट कर आता। यदि वह हिडिंब और वकासुर से भिड़ सकता था, तो खांडव-वन के इन दुस्साहसियों में ही ऐसी क्या बात थी।...पर वह जानता था कि उसके भाई उसकी इस योजना से कभी सहमत नहीं होंगे।...उसे युधिष्ठिर से तो चर्चा कर ही लेनी चाहिए थी।

युधिष्ठिर ने धैर्यपूर्वक भीम की बात सुनी, और पूछा, "तो फिर क्या सोचा है तुमने ?"

"मैं कल अपने चुने हुए सैनिकों को वृक्षछिदों के रूप में अपने साथ ले जा रहा हूँ। वे लोग वृक्षों को काट कर कृषि-भूमि तैयार करेंगे। उन पर आक्रमण हुआ तो वे वृक्षछिदों के समान अपनी कुल्हाड़ियाँ छोड़कर भागेंगे नहीं, अपना छद्म वेश छोड़कर उन दस्युओं से युद्ध करेंगे। आवश्यकता हुई तो उनके पीछे वन में सभी दिशाओं से प्रवेश करेंगे। कल अंतिम निर्णय हो जाएगा। खांडव-वन के वृक्ष कट जाएँगे, दस्यु नष्ट कर दिये जाएँगे, कृषि-भूमि तैयार कर दी जाएगी और कृषकों के साथ-साथ कृषक-वेश में, सशस्त्र सैनिक वहाँ बसा दिए जाएँगे, ताकि आवश्यकता पड़ने पर वे भूमि की, अपनी और कृषकों की रक्षा कर सकें।"

"योजना तो बहुत अच्छी है मध्यम !" भीम की बात सुनकर सहदेव बोला, "किंतु शायद आपने इस बात पर विचार नहीं किया कि यह अभियान पहले भी चलाया जा सकता था,...पर चलाया नहीं गया। क्यों ?"

"क्यों का क्या अर्थ ?" भीम बोला, "हमने इन दस्युओं को शायद कभी अपने लिए गंभीर समस्या ही नहीं समझा...या हम इंद्र का मुँह जोहते रहे कि हमारा मैत्रीपूर्ण व्यवहार देखकर वह भी सुधर जाएगा और अपने सैनिकों को रोक लेगा।..."

"नहीं।" युधिष्ठिर ने पर्याप्त दृढ़ स्वर में कहा, "बात यह नहीं है।"

"तो बात क्या है ?" भीम ने कुछ उद्दंडतापूर्वक पूछा।

"सत्य यह है भीम कि हम अभी इन महान् देव शक्तियों को भली प्रकार समझ

नहीं पाए हैं। एक ओर इंद्र हमारा मित्र है और दूसरी ओर वह हमारे ही राज्य में हमारे शत्रुओं को अभय दिए हुए है। ये महाशक्तियाँ मित्रों के राज्य में शत्रुओं का, और शत्रुओं के राज्य में मित्रों का पोषण क्यों करती हैं यह समझना बड़ा कठिन हो रहा है। इनकी योजनाएँ क्या हैं, वे ही जानें। जाने क्यों वे स्वयं को अपने राज्य और अपनी प्रजा तक सीमित नहीं रख सकतीं। उन्होंने सारी सृष्टि में अपने हाथ-पाँव पसार रखे हैं। खांडव-वन के इन दस्युओं को इंद्र से शस्त्रों की भी प्राप्ति होती है और सैन्य-शक्ति का संरक्षण भी मिलता है। जिस नायक ने तुम्हें यह सूचना दी है कि इन्द्र के सैनिकों ने कहा है कि इन्द्र और पांडवों में संधि है, उस नायक ने तुम्हें शायद यह नहीं बताया कि यदि वह संधि की चिंता किए बिना इन्द्र के सैनिकों से भिड़ने का प्रयत्न करता तो उनके दिव्यास्त्रों के सम्मुख हमारे सैनिकों की एक नहीं चलती। इन्द्र ने अपने इन्हीं अस्त्र-शस्त्रों तथा सैनिकों के माध्यम से न केवल इन दस्युओं को अभय दे रखा है, उसने अग्नि तथा अन्य देव-शक्तियों के अनुयायियों को निस्तेज भी कर रखा है···।"

"यही तो उनकी राजनीति है ज्येष्ठ !" सहदेव ने कहा, "मेरा अनुमान है कि यदि इंद्र से यह पूछा जाए कि उसने हमारे राज्य के भीतर अपने अभयारण्य क्यों बना रखे हैं तो उसका यही उत्तर होगा कि यदि वह अपना सैन्य बल यहाँ से हटा लेगा तो अग्नि का पक्ष अधिक सबल हो उठेगा। इसी शक्ति-संतुलन को बनाए रखने के लिए उसे स्थान-स्थान पर अपने सैनिक बनाए रखने पड़ते हैं।"

"तुम कदाचित ठीक कह रहे हो सहदेव ?" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "उनका शक्ति-संतुलन बना रहे, चाहे शेष राज्यों की प्रजा उससे कितनी ही पीड़ित क्यों न हो। खांडव-वन के निवासियों से इंद्रप्रस्थ त्रस्त है। अपनी सारी वीरता और रण-कौशल के बावजूद हम असहाय हैं। हमारे पास उस कोटि के पर्याप्त अस्त्र-शस्त्र नहीं हैं, जिससे हम उन सारी देव-असुर-नाग-शक्तियों को नियंत्रित कर सकें। हम इन्द्रप्रस्थ नगर का विस्तार नहीं कर सकते। हम अपने राज्य में और कृषि-भूमि प्राप्त नहीं कर सकते। इससे बड़ी असहायता और क्या होगी कि हम अपने नगर के विस्तार और निर्माण के लिए इन देव-शक्तियों की इच्छा के अधीन हैं।" युधिष्ठिर ने रुककर भीम की ओर देखा, "मैं तो एक और आशंका से पीड़ित हूँ···।"

"क्या है भैया ?" भीम ने पूछा।

"मैं देख रहा हूँ कि इन्द्रप्रस्थ में राजाज्ञा का उल्लंघन कर अथवा गंभीर से गंभीर अपराध करके भी अपराधी दंड से बचने के लिए खांडव-वन में आश्रय पा जाता है। वह जानता है कि हमारे दंडधर और सैनिक ही नहीं, हमारे नायक और सेनापति भी खांडव-वन में प्रवेश नहीं कर सकते। यदि यही स्थिति रही तो निश्चित रूप से इंद्रप्रस्थ अपराधियों के लिए स्वर्ग बन जाएगा। संसार में कहीं से भी कोई अपराधी उठेगा और इंद्रप्रस्थ में अपराध कर खांडव-वन में जा छिपेगा···।"

"तो इसमें इतना उद्विग्न होने की क्या बात है ?" भीम का स्वर सहज हो आया था, "यदि ऐसी ही बात है तो हमारे लिए सरल मार्ग है कि हम खांडव-वन को आग लगाकर भस्म कर डालें। न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी। वन भी समाप्त हो जाएगा और हमें पर्याप्त कृषि-भूमि भी मिल जाएगी।"

"नहीं। हम ऐसा नहीं कर सकते।" युधिष्ठिर ने कठोर स्वर में कहा,"वन को जलाने का अर्थ है कि हम ईंधन, भवन-निर्माण की लकड़ी तथा फलों जैसे उपयोगी साधनों को व्यर्थ ही जलाकर नष्ट कर दें। नृशंसता की चरम-सीमा पर जाकर असंख्य वन्य प्राणियों को अकारण ही जला कर मार डालें और असाधारण विपुल मात्रा के धुएँ से इंद्रप्रस्थ का वायुमंडल दूषित कर लें।" युधिष्ठिर ने भीम की ओर देखा, "हम अनृशंसता को धर्म की धुरी मानकर शासन चलाने का प्रयत्न कर रहे हैं। ऐसे में इतनी बड़ी संख्या में निरीह प्राणियों तथा वनस्पति की हत्या कर हम नृशंसता का कीर्तिमान स्थापित नहीं कर सकते।..."

भीम ने कुछ अचकचाकर इस प्रकार युधिष्ठिर की ओर देखा जैसे कहना चाहता हो कि, 'जब भी कोई संकट आता है तो तुम इस प्रकार हमारे हाथ क्यों बाँध देते हो ?...'

"इतना ही नहीं," सहदेव ने अपना मत दिया, "यदि हमने ऐसा कुछ किया तो वे सारे अपराधी जिन्होंने स्वयं को खांडव-वन में सीमित कर रखा है, वन से निकलकर विभिन्न नगरों और ग्रामों में जा छिपेंगे। एक सीमित क्षेत्र का विष असीम हो जाएगा। हम कहाँ-कहाँ खोजते फिरेंगे उन लोगों को।"

"तो इसका अर्थ है कि यथास्थिति बनी रहे ?" भीम ने पूछा, "जिस प्रकार हम अब तक पीड़ित और अपमानित होते रहे हैं, वैसे ही भविष्य में भी होते रहें ?" सहसा भीम का स्वर प्रचंड हो उठा, "हम में और एकचक्रा के उस कायर राजा में अंतर ही क्या है जिसने अपनी प्रजा को बकासुर की कृपा पर छोड़ रखा था ?"

"शांत हो भीम !" युधिष्ठिर का स्वर कुछ कोमल हो गया, "तुम्हारी पीड़ा मैं समझता हूँ। महाबली भीम से अपनी असहायता सहन नहीं होती। पीड़ित हम भी हैं भाई ! अपनी प्रजा पर अत्याचार होते देखकर मेरा मन भी व्यथा से ऐंठ-ऐंठ जाता है। तुम जैसे असाधारण बलशाली भाई के होते हुए भी अपनी असहायता देखकर मैं स्वयं को कितना अपमानित अनुभव करता हूँ, किंतु यदि हम स्वयं से अधिक समर्थ और सबल व्यक्ति से प्रतिशोध नहीं ले सकते तो क्या स्वयं से दुर्बल और असहाय जीवों की हत्या कर दें ?"

"मैं तो समझता हूँ," सहदेव बोला, "कि न केवल आप खांडव-वन को जलाना नहीं चाहते, वरन् आप उसे जला सकते भी नहीं।"

"क्या अभिप्राय है तुम्हारा ?" सारे विवाद में नकुल पहली बार बोला।

"आप खांडव-वन का एक वृक्ष काटने का प्रयत्न करते हैं तो वहाँ विप्लव मच जाता है। उस पर भी आप समझते हैं कि आप खांडव-वन जलाना चाहेंगे तो कोई आपको कुछ नहीं कहेगा। जहाँ तक मैं समझता हूँ आपके पास इतने साधन नहीं हैं कि खांडव-वन पर आश्रित तथा उसमें सुरक्षित बलों के प्रतिरोध के बावजूद आप उसे जलाने में सफलता प्राप्त कर पाएँ।"

"हाँ। एक पक्ष यह भी है।" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "हमें इस कोण से भी विचार कर लेना चाहिए।"

"तो ?" भीम ने पूछा।

"यही मेरी चिंता का विषय है," युधिष्ठिर ने कहा, "हम अपनी इन दुर्बलताओं

और न्यूनताओं पर कैसे नियंत्रण पा सकते हैं।"

"तो मेरे लिए क्या आदेश है ?" भीम कुछ खीझ कर बोला।

युधिष्ठिर की आँखें भीम पर टिक गईं, "अभी मैं कुछ निर्णय नहीं कर पाया हूँ भीम ! तुम्हें थोड़ी प्रतीक्षा करनी चाहिए। यदि यह मात्र कुछ अपराधियों को दंडित करने की समस्या होती, तो मैं तुम्हें पूर्ण अधिकार देकर सैनिक कार्यवाही के लिए भेज देता, किंतु इसमें कई प्रकार की राजनीतिक उलझनें हैं !"

भीम के चेहरे के भाव कह रहे थे कि उसे युधिष्ठिर का यह आदेश सुखकर नहीं लगा है। वह अपने विरोध का दमन कर कुछ संयत वाणी में बोला, "आप जानते हैं कि मैं इंद्रप्रस्थ के व्यापारियों के साथ मद्र देश की यात्रा की तैयारी किए बैठा हूँ। यदि मैं चला गया तो यह अभियान लंबे समय तक के लिए टल जाएगा।"

युधिष्ठिर ने क्षण भर विचार किया और कहा, "वैसे हमें ऐसी कोई जल्दी भी नहीं है। तुम व्यापारियों के साथ मद्र-यात्रा कर आओ। मातुल शल्य और उनके परिवार से मिल आओ। हम इस समस्या पर भली प्रकार विचार कर लें। जब तक तुम लौटोगे, स्थितियाँ कुछ और स्पष्ट हो जाएँगी।"

"इसका अर्थ है कि आप स्वयं ही उन लोगों से टकराने के इच्छुक नहीं हैं।"

"सत्य तो यह है कि मैं इस स्थिति में उन लोगों से टकराना नहीं चाहता।" युधिष्ठिर ने स्वीकार किया, "मैं पहले यह खोज निकालना चाहता हूँ कि इंद्र की इस क्षेत्र में क्या रुचि है ? वह खांडव-वन को क्यों बचाना चाहता है ? वह इन अपराधियों को संरक्षण क्यों दे रहा है ?" युधिष्ठिर ने रुककर उसे देखा, "मैं अपने सामर्थ्य को भी तौल लेना चाहता हूँ। यदि संभव हो तो सैनिक कार्यवाही के बिना ही इस समस्या का समाधान चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि हम खांडव-वन और उसके जीवों की कम-से-कम क्षति करते हुए, अपने लक्ष्य की प्राप्ति करें।"

"तो ठीक है," भीम कुछ अन्यमनस्क हो चला था, "मैं मद्र-यात्रा के लिए प्रयाण की तैयारी करता हूँ।"

14

ब्रह्म मुहूर्त में ध्यान करने के लिए अर्जुन आसन जमाकर बैठ गया था। मध्याह्न होने को आया था किंतु वह एक बार भी पूर्णतः आत्मलीन नहीं हो पाया था। कल जो कुछ घटित हुआ था, उसकी स्मृति अर्जुन का पीछा ही नहीं छोड़ रही थी।...वह बार-बार अपने-आप से पूछ रहा था कि अपनी साधना छोड़कर उसे पराए राज-काज में हस्तक्षेप करने की क्या आवश्यकता थी ? यदि वह सांसारिक घटनाओं में इस प्रकार लिप्त रहेगा, तो वह ब्रह्म का साक्षात्कार कैसे कर पाएगा। इस सृष्टि के सत्य को कैसे जान पाएगा ? चरम

सत्य से उसका साक्षात्कार कैसे होगा ?...पर वह क्या करता, आँखों के सम्मुख घटित होते अत्याचार को देखकर निश्चल बैठा भी तो नहीं जा सकता। वह इतना तटस्थ कैसे हो जाए कि उसके सम्मुख दस्युओं के अनेक दल एक असहाय किशोर युवराज को घेर कर बंदी बना लें, अथवा उसका वध कर दें और अर्जुन बैठा देखता रहे ? वह चैतन्य मनुष्य से चेतनाशून्य शिला कैसे बन जाए ?...किंतु उसका रजोगुण यदि इसी प्रकार बार-बार जागता रहा, तो वह अपनी साधना छोड़, स्थानीय राजनीति में लिप्त होता जाएगा...और कोई बड़ी बात नहीं कि वह किसी नए राज्य की नींव डाल दे।...नहीं। उसे यह सब नहीं करना है। पांडवों को नए-नए राज्यों की स्थापना की आवश्यकता नहीं है। वे तो इंद्रप्रस्थ की प्रजा का धर्मपूर्वक पालन करें, उसे स्वतंत्रता, समता और सुरक्षा प्रदान कर सकें...यही बहुत है।...संयोग से उसे जो यह एकांत मिला है, इसे वह अपनी आध्यात्मिक साधना में लगा सकेगा, तो यह निष्कासन भी सार्थक हो जाएगा, अन्यथा इंद्रप्रस्थ लौटकर शासन-कार्य से मुक्ति का कोई उपाय नहीं है...

अर्जुन ने नेत्र मूंदे और अन्तर्मुखी होने का प्रयत्न किया। उसका ध्यान त्रिकुटी पर केन्द्रित हुआ और फिर ज्योतिर्पुंज-सा उस पर एक मुख-मंडल उदित हो गया...असहाय-सा, व्याकुल किंतु तेजस्वी मुख-मंडल ! यह कल देखे गए युवराज का चेहरा था।...ओह ! अर्जुन ने आँखें खोल दीं। यह चेहरा ऐसा चिपक गया था, उसकी चेतना से कि सारे प्रयत्नों के बाद भी उससे मुक्ति नहीं थी।...अर्जुन ने तो मनुष्य की पीड़ा के अत्यन्त बीभत्स रूप देखे थे...सम्मुख मृत्यु से भयभीत लोग, मृत्यु की पीड़ा को झेलते-तड़पते लोग, भूख, रोग और यातना से ग्रस्त बिलबिलाते लोग...किंतु किसी चेहरे ने उसे इस प्रकार उद्विग्न नहीं किया था...और फिर युवराज का चेहरा न पीड़ित था, न भयभीत। उसकी आँखों में तेजस्विता भी थी।...फिर उसकी पीड़ा ?...उसकी असहायता ?...कदाचित् अपनी असमर्थता से व्याकुल था युवराज ! उसकी तेजस्विता उसे अपनी प्रजा की रक्षा के लिए बाध्य कर रही थी और उसका विवेक उसे बता रहा था कि इन दस्यु-दलों को पराजित कर अपने दायित्व-निर्वाह का सामर्थ्य नहीं है उसमें।...

'ओह !' अर्जुन चौंका, 'मैं उसी के विषय में क्यों सोचता जा रहा हूँ । मैं यहाँ ब्रह्म-चिंतन करने के लिए बैठा हूँ या युवराज चिंतन...'

अर्जुन अपने स्थान से उठ खड़ा हुआ, 'इससे तो कहीं अच्छा है कि वह किसी जलस्रोत में स्नान कर आए। ब्रह्म-चिंतन नहीं कर सकता, तो प्रकृति-चिंतन ही सही। इस युवराज से तो मुक्ति मिले।'

अर्जुन उस कोठरी से निकला और शिवालय के आँगन को पार करता हुआ, बाहरी द्वार पर पहुँचा।...उसके पग थम गए...द्वार के बाहर उसके सम्मुख अनेक सैनिक खड़े थे।

सैनिकों ने हाथ जोड़ कर उसका अभिवादन किया। तत्काल अर्जुन की आशंकाओं का शमन हो गया...तो ये सैनिक, शत्रु-भाव से नहीं आए थे।...वे बाहर खड़े उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे... ? अर्जुन ने आशीर्वाद की मुद्रा में अपनी भुजा उठाई, "कौन हो तुम लोग ?"

"हम मणिपूर के महाराज चित्रवाहन के सैनिक हैं तपस्विश्रेष्ठ !" उनका नायक

बोला, "और महाराज की आज्ञा से ही आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं। हम प्रातः से यहाँ खड़े प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कब आप समाधि से उठें और कब हम राजा की प्रार्थना आपके सम्मुख निवेदित करें।"

"तुम्हें यह कैसे ज्ञात हुआ कि मैं यहाँ हूँ।"

"आपको यहाँ कौन नहीं जानता प्रभु !" वह बोला, "जिस वनचर से पूछ लें, वही बता देगा कि आप कहाँ साधना कर रहे हैं।"

"ओह !" अर्जुन ने मन-ही-मन सोचा···वह तो समझ रहा था कि वह सर्वथा एकांत में रह रहा है, और यहाँ प्रत्येक वनचर जानता है कि वह कहाँ है···

"क्या आदेश है तुम्हारे महाराज का ?" अर्जुन ने पूछा।

"आदेश नहीं महाराज ! केवल निवेदन है, प्रार्थना है, अनुराग और सम्मान भरा विनीत अनुरोध है।"

"क्या चाहते हैं महाराज ?"

"राजप्रासाद में पधारकर आप उन्हें धन्य करें।"

"क्यों ?"

"आपने मणिपूर राज्य की ही नहीं, युवराज की भी रक्षा की है। महाराज कृतज्ञतावश आपकी चरणसेवा करना चाहते हैं।"

अर्जुन तत्काल कोई निर्णय नहीं कर पाया, प्रासाद में जाना उचित होगा ?···

"क्या आदेश है स्वामी ?" नायक ने पूछा।

"नायक ! महाराज से कहना मैंने ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वनवास का संकल्प लिया है। ऐसे में राजप्रासादों से संपर्क मेरे लिए स्पृहणीय नहीं है।"

"ऐसी आशंका उन्हें थी।" नायक अपने घुटनों के बल बैठ गया, "इसीलिए उन्होंने मुझसे यह प्रार्थना करने के लिए कहा है कि कोई तपस्वी अपनी कामना-पूर्ति के लिए राजप्रासादों में जाए, तो यह दोष हो सकता है, किंतु गृहस्थों पर कृपा करने के लिए तो सारे महात्मा, समाज में पदार्पण करते ही हैं हम पर कृपा करें स्वामी। आपने जो उपकार किया है, उसका कोई प्रतिकार नहीं हो सकता, किंतु महाराज आपकी अभ्यर्थना करना चाहते हैं।"

"अभ्यर्थना !" अर्जुन के स्वर में हल्की-सी वक्रता थी, "तपस्वी राजप्रासाद में जाए, तो न तपस्वी का सम्मान बढ़ता है, न राजा का। राजा तपस्वी के आश्रम में आए तो दोनों के ही सम्मान में वृद्धि होती है।"

नायक ने पुनः हाथ जोड़ दिए, "तो क्या मैं महाराज से निवेदन करूँ कि आपने उन्हें यहाँ उपस्थित होने का आदेश दिया है ?"

"नहीं ! मेरा यहाँ कोई आश्रम नहीं है।" अर्जुन संयत स्वर में बोला, "मैंने एक सामान्य बात कही है। मेरी ऐसी कोई इच्छा नहीं है कि मैं महाराज की अवहेलना करूँ।"

"ऐसी कोई बात नहीं है।" नायक बोला, "आपके ही कथनानुसार महाराज आपके सम्मुख उपस्थित होकर भी सम्मानित ही होंगे। हम जानते हैं कि हमारे देश में राजाओं ने सदा ही ऋषियों की चरण-धूलि अपने मस्तक पर लगाई है।"

अर्जुन के असमंजस ने फिर उसे आ घेरा···राजप्रासाद !···राजप्रासादों से ही तो

वह दूर रहना चाहता है, और यहाँ फिर एक राजप्रासाद...

"अच्छा ! मैं विचार करूँगा।" अर्जुन बोला, "इस समय मुझे स्नान करने जाना है। मार्ग दो।"

सैनिक सामने से हटकर, मार्ग के दोनों ओर पंक्तिबद्ध खड़े हो गए।

अर्जुन ने कुछ डग ही भरे होंगे कि एक नारी कंठ ने पुकारा, "तपस्वी।"

अर्जुन रुक गया।

वह चपल पगों से चलती हुई उसके निकट आई। "मैं राजकुमारी की सखी हूँ तपस्वी ! इन सैनिकों के साथ ही आई हूँ। राजकुमारी ने गुप्त अनुरोध किया है कि महाराज की प्रार्थना मत ठुकराना। राजप्रासाद में अवश्य पधारना।..."

"राजकुमारी !...क्यों राजकुमारी ने ऐसा अनुरोध क्यों किया है ?"

"यह तो वे ही बताएँगी।" वह बोली, "उन्होंने कहा था, मेरी ओर से कह अवश्य देना। वे महाराज का सम्मान न भी रखना चाहें तो मेरी प्रार्थना की लाज अवश्य रखें।"

सखी वहीं खड़ी रह गई और अर्जुन आगे बढ़ गया।...इस सारे व्यवहार का अर्थ क्या था ?...राजा का निमंत्रण तो फिर भी कोई अर्थ रखता था...यह राजकुमारी का संदेश !...किस अधिकार से वह इस प्रकार का आग्रह कर रही है ?...क्या वह स्वयं को अपने पिता से भी अधिक महत्वपूर्ण समझती है ?...या वह राजकीय शक्तियों से युवती के नयन-बाणों को अधिक शक्तिशाली समझती है ? वह स्त्री के आकर्षण में बाँध कर अर्जुन को राजप्रासाद में राजा के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहती है ?...पर उसका ध्यान क्या इस ओर नहीं गया कि अर्जुन इस समय तपस्वी के वेश में है ? और तपस्वी को राज-संपर्कों से उतनी वितृष्णा नहीं होती, जितनी कामिनी के आकर्षण से। फिर भी उसने यह दुस्साहस किया है।...क्या बहुत रूपवती है वह ?...या पुरुष मात्र को वह इतना निर्बल समझती है कि वह कामिनी के आग्रह की उपेक्षा नहीं कर सकता ? क्या कोई भी पुरुष नारी मात्र को उपलब्ध होता है ? पुरुष नारी का क्रीड़ा-कंदुक है क्या ?...

अर्जुन को लगा कि राजकुमारी के संदेश से उसके मन में पुष्कल वितृष्णा उपजी है।...राजकुमारी ने जैसे अपने इस कृत्य से उसका अवमूल्यन करने का प्रयत्न किया है।...यदि कहीं अपनी जिज्ञासावश ही अर्जुन मणिपूर के राजप्रासाद में चला गया...राजा की कृतज्ञता से उद्भूत उस निर्दोष आमंत्रण का सम्मान रखने का विचार ही वहाँ ले गया...तो वह अपनी दृष्टि में ही बहुत छोटा हो जाएगा...

किंतु बहुत संभव है कि वह लौट कर जाए, वे सैनिक उसकी प्रतीक्षा में वहीं खड़े हों।...तो क्या वे उसे बलात् ले जाएँगे ?...अर्जुन का मन जैसे तप उठा...यदि उन लोगों ने ऐसा कोई दुस्साहस किया, तो...सहसा अर्जुन को लगा कि उसके मन में उसके अहंकार की माया चल रही है।...वह भूल ही नहीं पा रहा कि वह पांडु-पुत्र अर्जुन है, जिसके रूप पर संसार की श्रेष्ठ सुंदरियाँ मुग्ध हो जाती हैं, इसीलिए उसकी अपनी कल्पना द्वारा उद्भूत राजकुमारी का रूप-दर्प उसे पीड़ित कर गया।...इस समय भी कदाचित मणिपूर के सैनिक तो वहाँ हाथ बाँधे खड़े हों, और उसका शौर्य-अहंकार अपना फन काढ़े फुफकारता हुआ स्वयं अर्जुन को उद्विग्न किए हुए था...सबसे पहले तो उसे अपनी अहंता को जीतना होगा...संसार और कुछ हो न हो, अहंकार का प्रपंच तो है ही...इस अहंकार को जीते

बिना वह न काम को जीत पाएगा, न क्रोध को, न लोभ को···

अर्जुन नदी के तट पर पहुँच गया था।

सहसा उसके मन में आया···वह लौटकर उस भग्न शिवालय में जाए ही क्यों ? वहाँ उसका धरा ही क्या है ?···उसे चाहिए कि वह नदी में छलांग लगा दे और धारा के सहारे तैरता ही चला जाए। जब थक जाए तो जहाँ पहुँचे, वहीं वन में किसी वृक्ष के नीचे टिक जाए।···ताकि वहाँ न उसे राजा के सैनिक ढूँढ़ सकें, न राजकुमारी की सखी !···न कोई उससे अनुरोध करे, न प्रार्थना !···वह मात्र प्रकृति के संसर्ग में रहे, और अपनी क्षमताओं की तुच्छता का अनुभव करे, अपने अहंकार को विगलित करे, माया के प्रपंच को समझे और उस विराट् सत्य को उसके सत्य रूप में देखने का प्रयत्न करे···

निरतंर होने वाली किसी ध्वनि से अर्जुन का ध्यान भंग हो गया। उसने आँखें नहीं खोलीं, किंतु उसका मन जैसे अनुमान लगाने के लिए कटि कस कर खड़ा हो गया। इस सघन वन में यह कोई वृक्षछिद् घुस आया है, जो अपनी कुल्हाड़ी से किसी वृक्ष पर निरंतर प्रहार कर रहा है। उसे वृक्ष काट कर लकड़ी प्राप्त करने की पड़ी है, यह उसने सोचा भी नहीं होगा कि उसके इस कृत्य से पास बैठे किसी साधक की साधना का वध पहले होगा, और यह वृक्ष बाद में गिरेगा।···पर नहीं। यह शायद वृक्ष पर पड़ने वाली कुल्हाड़ी की ध्वनि नहीं थी। यह तो कोई घन था, जो शिविर स्थापित करने के लिए खूँटे ठोक रहा था···किसी वृक्षछिद् का यहाँ आकर वृक्ष काटना उतना अस्वाभाविक नहीं था, जितना किसी का शिविर स्थापित करने के लिए खूँटे गाड़ना।···वन में शिविर स्थापित करने का काम तो कोई दस्यु ही कर सकता है···

अर्जुन की मुँदी पलकें तत्काल खुल गईं। वह अपने स्थान से उठ खड़ा हुआ···

पर यह तो कोई अकेली नारी थी। उसके इतने निकट वह अपने कोमल हाथों से खूँटे क्यों गाड़ रही थी···और इन बाँसों को काट-पीट कर क्या करने का प्रयत्न कर रही थी ? ऐसा तो संभव नहीं था कि उसने इतने निकट ध्यानस्थ बैठे अर्जुन को देखा ही न हो।···और देखकर भी वह यह सब क्या कर रही है ?···

"कौन हो तुम ?" अर्जुन ने उसके निकट आकर पूछा।

"तुम्हारी शत्रु नहीं हूँ।" तरुणी ने सिर उठाकर उसकी ओर देखा।

अर्जुन स्तब्ध खड़ा रह गया :···यह तरुणी कोई वनचर कन्या नहीं हो सकती। उसका रूप, उसकी वेश-भूषा, उसकी शब्दावली, उसका उच्चारण··· सब ही तो साक्षी दे रहे थे कि वह वनचर-कन्या नहीं थी। उसकी अंगकांति नूतन मधूक पुष्पों के समान प्रतीत हो रही थी।···और फिर उसका चेहरा युवराज से इतनी समानता रखता था, जैसे युवराज ही स्त्री-वेश धारण कर यहाँ चला आया हो···

अर्जुन ने अपना मस्तक झटका···यह क्या हो गया है उसे। प्रत्येक चेहरा उसे, उस युवराज का चेहरा ही क्यों लगने लगता है ? इतना सम्मोहित हो गया है, वह उस तरुण से ?

"मेरी शत्रु नहीं हो, तो मेरा ध्यान क्यों भंग किया ? मेरी सुविधा-असुविधा का

तो ध्यान रखा होता।" अर्जुन बोला, "तुम यह कोलाहल कहीं और नहीं कर सकती थीं ?"

इस बार वह तरुणी उठकर खड़ी हो गई, "अभी थोड़ी देर में मेघ आते, वर्षा करते, तुम भीग जाते, तो तुम्हारा ध्यान भंग नहीं होता ?"

"वह तो जब होता, तब होता, तुमने तो पहले ही भंग कर दिया।"

"पर यह कुटिया बन जाएगी तो मेघ तुम्हारा ध्यान भंग नहीं कर पाएँगे।"...तरुणी धीरे से बोली।

"तो तुम मेरे लिए कुटिया का निर्माण कर रही थीं ?" अर्जुन चकित रह गया।

"और क्या ?" तरुणी बोली, "कहा तो कि तुम्हारी शत्रु नहीं हूँ। जाने कैसे व्यक्ति हो, किसी की कोई बात समझते ही नहीं हो।..."

अर्जुन का मन उसकी सरलता पर जैसे रीझ उठा, "पर तुम मेरे लिए कुटिया का निर्माण क्यों कर रही थीं ? क्या मैं असमर्थ हूँ ?"

"इसलिए नहीं कि तुम असमर्थ हो।" तरुणी ने सीधे उसकी आँखों में झाँका, "इसलिए, क्योंकि मैं समर्थ हूँ।"

"तो तुम मेरी सहायता करने का प्रयत्न कर रही थीं ?"

तरुणी ने स्वीकृति में सिर हिला दिया।

"और यदि मैं कहूँ कि तुम मेरे साथ शत्रुता निभा रही हो तो ?"

"कैसे ?" तरुणी जैसे आहत हो उठी थी।

"नारी को तपस्वी के निकट नहीं आना चाहिए।" अर्जुन मुग्ध भाव से बोला, "और विशेषकर जब, तब वह युवती भी हो और अप्सराओं से बढ़कर सुंदर भी।"

"सौन्दर्य किसी का दोष तो नहीं हो सकता।"

"नहीं ! किंतु वह किसी की दुर्बलता तो हो सकता है।"

"तो अपनी दुर्बलता को जीतो !" तरुणी अत्यन्त मधुर ढंग से अपना विरोध जता रही थी, "अपनी दुर्बलता के लिए किसी अन्य को कलंकित क्यों करते हो। जिस प्रकार कस्तूरी-मृग अपने अज्ञान के कारण इधर-उधर भटकता है, उसी प्रकार तुम भी अपने अज्ञान के कारण दूसरों को दोषी ठहराते हो।"

तरुणी सब कुछ छोड़कर चल पड़ी।

"कहाँ जा रही हो ?"

"अपने घर।"

"और तुम्हारे ये बहुमूल्य उपकरण ?"

"नहीं चाहिए।"

"ओ-हो ! बहुत धनी मालूम होती हो।"

"हाँ। धनी तो हूँ ही।"

"कौन हो ?"

"मणिपूर की राजकुमारी।"

अर्जुन चौंका : क्या वह सत्य कह रही है ? क्या वह सचमुच राजकुमारी है, वही राजकुमारी, जिसने कल अपनी सखी के हाथों संदेश भेजा था। अर्जुन नहीं गया, तो वह आ गई। राजकुमारी है, तभी तो उसने यह भी खोज करवा ली, कि अर्जुन अपना

पहला स्थान छोड़कर कहाँ चला गया है...

"क्या तुम सचमुच राजकुमारी हो ?"

"नहीं। तुम्हारी शत्रु हूँ, जैसे तुम हमारे शत्रु हो।"

"मैं तुम्हारा शत्रु कैसे हूँ ?"

"उन दस्यु नायकों को बंदी करवा दिया न तुमने, तो आस-पास के बीसियों राजा और दस्युदल अब हमारे और भी प्रबल शत्रु हो गए हैं। वे सब सम्मिलित रूप से हम पर आक्रमण करेंगे और हमारे वंश को समाप्त कर देंगे।"

"यह तो तुम्हारा दूषित दृष्टिकोण है, मैंने तो तुम्हारे वंश और राज्य की रक्षा की थी।"

"तुम्हारा भी तो दूषित दृष्टिकोण है कि जो तुम्हारे लिए कुटिया बनाकर तुम्हारी सहायता कर रहा हो, उसे अपना शत्रु कहते हो। अच्छा ! अब चलती हूँ।" वह पुनः चल पड़ी।

अर्जुन की इच्छा हुई कि आगे बढ़कर उसका हाथ थाम ले, या कम से कम उसका मार्ग ही रोक ले। उसे रुक जाने को कहे। उसके चले जाने से जिस विह्वलता का अनुभव अर्जुन कर रहा था, उसने उस सुख को रेखांकित कर दिया था, जो राजकुमारी के सान्निध्य में उसे मिल रहा था।...किंतु एक साधक के लिए इस प्रकार किसी तरुणी को रोकना और उससे प्रेम-याचना करना सरल नहीं था।... पता नहीं वह कौन थी। उसने अपना परिचय मणिपूर की राजकुमारी के रूप में दिया था, किंतु राजकुमारियाँ इस प्रकार वनों में बैठे साधकों के लिए अपने हाथों से कुटीरों का निर्माण नहीं करतीं...पर यदि वह राजकुमारी नहीं थी, तो कौन थी ? और उसने अपना परिचय राजकुमारी के रूप में क्यों दिया था ? यह कैसा माया-जाल था ?...

अर्जुन का एक मन कहता था कि वह राजकुमारी ही थी, क्योंकि युवराज से उसकी अद्‌भुत समानता थी, और उसका दूसरा मन कहता था कि यह संभव ही नहीं था कि वह राजकुमारी हो। वह कोई वनचर कन्या थी, जो किन्हीं अज्ञात कारणों से उसके साथ परिहास कर गई थी...

अर्जुन का सारा दिन इसी ऊहापोह में निकल गया। कई बार उसने इस विषय को अपने मन से झटक देने का भी प्रयत्न किया...वह राजकुमारी थी तो क्या...और नहीं थी तो क्या। अर्जुन को क्या लेना-देना था उस राजकुमारी से। वह अपनी प्रतिज्ञावश पूरे जंबूद्वीप की परिक्रमा कर रहा है। वही करता रहे। उसे अपनी साधना की ओर ध्यान देना चाहिए, न कि राजकुमारियों के आचरण और उसके कारणों की ओर...

किंतु राजकुमारी संबंधी जिज्ञासाएँ उसके मन से कुछ इस प्रकार चिपक गई थीं, कि उनसे स्वयं को मुक्त करना, सर्वथा असंभव प्रतीत हो रहा था। उसकी एकाग्रता जाने कहाँ खो गई थी, संकल्प विलुप्त हो गया था। आँखें बंद करते ही या तो सामने युवराज का बिंब आ उपस्थित होता था, या राजकुमारी का। या तो वे बिंब परस्पर लड़ने लगते थे, या परस्पर एक-दूसरे में गड्डमड्ड हो जाते थे। उसका मन किसी ऐसे पुराने, प्रेत-ग्रस्त प्रासाद के समान हो गया था, जिसमें दिन भर प्रश्नों के चमगादड़ उड़ते रहते थे और उनका कोई समाधान नहीं होता था...

संध्या होते-होते अर्जुन ने अपने मन के विरुद्ध लड़ना बंद कर दिया था। उसे लगा, वह आत्म-समर्पण की मुद्रा में आ गया है। अपनी इस मनःस्थिति से मुक्त होने का एक ही उपाय था, कि वह राजा का निमंत्रण स्वीकार करे, राजप्रासाद का आतिथ्य ग्रहण करे और अपने प्रश्नों के उत्तर पाने का प्रयत्न करे। वहीं, वह जान पाएगा कि वह तरुणी राजकुमारी थी या नहीं ? राजकुमारी थी तो वन में क्या करने आई थी ?···युवराज से उसके चेहरे की समानता वास्तविक थी, या यह उसका भ्रम मात्र था ?··· पर यदि वह राजकुमारी नहीं थी ?···

अर्जुन डरा···कहीं वह अपने इस विक्षिप्त मन के हाथों उद्विग्न होकर अपने ही चेहरे पर चाँटा न मार ले···

अगले दिन मध्याह्न से पूर्व ही अर्जुन ने राजप्रासाद का द्वार आ खटखटाया, "महाराज को सूचना दो कि जिस संन्यासी ने युवराज के पक्ष में दस्यु-दलों के विरुद्ध युद्ध किया था, वह महाराज के निमंत्रण पर उनका सत्कार ग्रहण करने के लिए आया है।"

उसकी इस सूचना का तत्काल प्रभाव हुआ। द्वार-रक्षकों के नायक ने सम्मानपूर्वक उसे आतिथ्य-मंडप में पहुँचाया और महाराज को सूचना देने के लिए अनुचर भीतर भेज दिए गए।

"क्या युवराज को भी सूचना भिजवा दी गई है ?" अर्जुन ने उस आतिथ्याधिकारी से पूछा।

"उसकी आवश्यकता नहीं तपस्विश्रेष्ठ !" आतिथ्याधिकारी बोला, "युवराज और महाराज एक ही स्थान पर होंगे। आप चिंता न करें, महाराज के साथ-साथ युवराज भी आपके दर्शन करेंगे।"

जब तक भीतर से कोई आदेश आता, आतिथ्याधिकारी ने अर्जुन के सम्मुख कई प्रकार के फल और स्वादिष्ट व्यंजन उपस्थित कर दिए।

"नहीं।" अर्जुन ने अनिच्छा के रूप में अपना हाथ उठाया, "इसकी आवश्यकता नहीं है। तपस्वी का खान-पान नियमाधीन होता है।"

"आप समर्थ हैं," आतिथ्याधिकारी ने विनीत-भाव से कहा, "सेवक तो अपनी सीमाओं में सत्कार का प्रयत्न ही कर सकता है। यदि आपके नियम भंग न होते हों तो कुछ थोड़ा-सा ग्रहण कर मुझ पर उपकार करें।"

अर्जुन के मन में जिज्ञासा रूपी दैत्य, विकट मल्लयुद्ध में व्यस्त थे···क्या सचमुच मणिपूर की राजकुमारी ही कल उसके लिए कुटिया का निर्माण करने गई थी ?···और यदि वह राजकुमारी ही थी और वह उसके लिए कुटिया का निर्माण करवाना ही चाहती थी, तो उसने अपने सेवकों को इस कार्य के लिए क्यों नहीं भेजा ?···अपने हाथों खूँटे गाड़कर, बाँस काट-काट कर, उन्हें बाँध कर क्या राजकुमारी सचमुच कुटीर-निर्माण कर सकती थी ? क्या वह अर्जुन के प्रति इतनी विकट कृतज्ञता का अनुभव कर रही थी कि उसके लिए वह अपने हाथों इस प्रकार के निर्माण का काम करना चाहती थी ?···पर यदि किसी को कृतज्ञ होना ही चाहिए था, तो वह युवराज था।···किंतु युवराज स्वयं

तो कुटीर-निर्माण करने आया ही नहीं था। अपनी बहन को क्यों भेज दिया ?···क्या वह राजकुमारी थी ही नहीं ? कोई वनचर-कन्या ही अर्जुन के साथ यह विनोद कर गई थी ?

आतिथ्याधिकारी ने उससे और किस-किस प्रकार से कुछ खा लेने का आग्रह किया, यह न अर्जुन ने देखा, न सुना। उसके मन में होने वाला दंगल इतना आकर्षक था कि उसकी उपस्थिति में और किसी ओर ध्यान जा ही नहीं सकता था।···

कुछ लोगों की पदचाप से अर्जुन अपनी आत्मलीनता से कुछ उबरा।

"महाराज आ गए।" आतिथ्याधिकारी ने कहा।···तो ये महाराज चित्रवाहन थे।···अर्जुन ने उस ओर देखा, ···वार्धक्य अपना प्रताप दिखा रहा था। महाराज की काया क्षीण थी। वैसे अपनी चाल से वे पर्याप्त स्वस्थ ही नहीं सशक्त भी लग रहे थे, फिर भी इतना तो एक दृष्टि में ही समझ में आ जाता था कि यौवन-पक्षी उस पिंजरे को त्याग, उड़ चुका था···

"तुम्हारा स्वागत है वीर तपस्वि !" चित्रवाहन ने हाथ जोड़कर मधुर वाणी में कहा, "तुम्हारा वेश चाहे कैसा भी हो, किंतु तुम्हारी आत्मा एक वीर की आत्मा है और शरीर अत्यन्त सामर्थ्यवान है।"

अर्जुन ने साधकों के समान आशीर्वाद की मुद्रा में अपना दाहिना हाथ उठा दिया···। वह अभी से अपना मर्म प्रकट नहीं करना चाहता था।

"आइए। पधारिए।" चित्रवाहन ने अपने साथ भीतर चलने का निमंत्रण दिया।

अर्जुन चित्रवाहन के साथ-साथ चल पड़ा। उसके मन में बार-बार इच्छा हो रही थी कि वह पूछे कि राजकुमारी कहाँ है ? किंतु इस प्रकार का प्रश्न शिष्टजनोचित नहीं था।···तो क्या वह पूछे कि राजकुमारी उसका कुटीर-निर्माण करने स्वयं क्यों गई थी ?···किंतु यह प्रश्न तो कुछ वैसा ही था, जैसे वह यह पूछ बैठता कि महाराज उसका स्वागत करने स्वयं क्यों आए हैं। अनुचर भेजकर उसे अपने कक्ष में क्यों नहीं बुला लिया ?···या वह महाराज को यह सूचना दे कि कल राजकुमारी उसके कुटीर-निर्माण के लिए गई थी ?···यदि उत्तर में चित्रवाहन ने कहा, 'मुझे मालूम है। वह मेरे ही आदेश से गई थी।' तो ?···

चित्रवाहन ने अर्जुन को लाकर अपने निजी आगार में बैठाया, और अपने साथ आए अनुचरों में से एक से कहा, "जाओ ! चित्रांगदा से कहो कि तपस्वी आए हैं।" तब वे अर्जुन की ओर मुड़े, "आपके सान्निध्य का सौभाग्य हमें कुछ काल तक तो मिलेगा न ?"

"वस्तुतः मेरे कहीं भी ठहरने की अवधि निश्चित नहीं है।" अर्जुन ने कहा, "मैं जंबूद्वीप की परिक्रमा कर रहा हूँ। पवित्र तीर्थ-स्थलों के दर्शन कर रहा हूँ और प्रकृति के सौन्दर्य का साक्षात्कार कर रहा हूँ। जिस दिन मन ने कहा, मैं आगे बढ़ जाऊँगा। वैसे तपस्वी के लिए अधिक समय तक समाज के निकट रहना वर्जित है।"

चित्रवाहन ने जैसे पहली बार अपनी गंभीर दृष्टि अर्जुन पर टिकाई, "आपकी साधना के विषय में मैं कुछ नहीं जानता, किंतु आपकी वीरता की सूचना मुझे है। हमारी रुचि इसमें है कि आप हमारे राज्य में अधिक से अधिक समय तक ठहरें और यदि संभव

हो तो राजधानी के निकट···निवास करें।"

अर्जुन को चित्रवाहन का अभिप्राय समझने में कठिनाई नहीं हुई। चित्रवाहन ने स्पष्ट नहीं कहा था, किंतु उनकी इच्छा थी कि अर्जुन मणिपूर में अधिक से अधिक समय तक ठहरे और मणिपूर के राजवंश के शत्रुओं से निबटने में उनकी सहायता करे।···निश्चित रूप से कोई राजा किसी तपस्वी को इस प्रकार का आदेश नहीं दे सकता था, न उसे बाध्य कर सकता था, इसलिए चित्रवाहन ने मात्र अपनी इच्छा प्रकट की थी···राजा का अपना शरीर जराग्रस्त हो चुका था और उनका युवराज अभी किशोर था, शारीरिक दृष्टि से अत्यन्त कोमल था। उन दोनों में से कोई भी ऐसा योद्धा नहीं था, जो शत्रु राजाओं और दस्यु दलों से लंबे समय तक लोहा ले सकता।···राज्य छिन जाने और वंश के नष्ट हो जाने की आशंकाएँ महाराज को प्रतिक्षण उद्विग्न कर रही होंगी।···ऐसे में एक समर्थ सहायक देखकर राजा के मन में इस प्रकार की इच्छा का जन्म लेना स्वाभाविक ही था···

पर अर्जुन इस प्रकार की प्रार्थना कैसे स्वीकार कर सकता था। उस दिन भी युवराज की असहायता देखकर उसके मन में सहानुभूति जागी थी, वह अपने रजोगुण को नियंत्रित नहीं रख पाया था और उसने शस्त्र उठा लिए थे।···आज भी वह महाराज चित्रवाहन की इच्छा में निहित उनकी असहायता को समझ रहा है। उसके मन में उनके लिए सहानुभूति है, क्योंकि दुर्बल की सहायता करना उसका धर्म है।···किंतु इस संसार में ऐसे तो कितने ही निर्बल और असहाय राजा होंगे, जो अपने दुष्ट और सबल विरोधियों से पीड़ित और प्रताड़ित होंगे। वह किस-किसकी रक्षा के लिए, आजीवन उनके राज्य में रुके रहने और उनकी रक्षा करने का वचन देता रहेगा ? जो इंद्रप्रस्थ की रक्षा के लिए नहीं रुका, वह मणिपूर की रक्षा के लिए रुक जाएगा ?

"यह आपकी समस्या का समाधान नहीं है।" अर्जुन ने सायास अपनी वाणी को विनीत बनाया, ऐसा न हो कि उसकी असहमति चित्रवाहन को अपना तिरस्कार लगे।

"तो आप मेरी समस्या समझते हैं ?" चित्रवाहन हल्के मन से मुस्कराया।

"क्यों नहीं।"

"तो आपने उसका समाधान भी खोज निकाला होगा।"

"मैंने स्वयं तो कोई समाधान नहीं खोजा है, किंतु हमारे ऋषियों ने सम्राटों के लिए अश्वमेध तथा राजसूय यज्ञों का जो विधान रचा है, वही ऐसी समस्याओं का समाधान है। एक न्यायी तथा धर्मपरायण आचरण करने वाले सम्राट् की छत्र-छाया में ही छोटे-छोटे राजा सुरक्षित रह सकते हैं।···"

"हाँ। ऋषियों ने तो विधान रचा है," चित्रवाहन ने उत्तर दिया, "किंतु जो सम्राट् बनता है, वह जरासंध के समान छोटे राजाओं का राज्य छीन, या तो उनका वध कर देता है या उन्हें कारागार में डाल देता है। उसे धर्म की नहीं राज्य की भूख है। उसे न्याय नहीं सत्ता चाहिए।"

"हाँ। कहते तो आप ठीक हैं।" अर्जुन ने कहा, "चारों ओर जरासंध, कंस और कालयवन ही दिखाई देते हैं···" वह अभी कुछ और भी कहता, किंतु तभी उसने देखा कि कल जो राजकुमारी उसके लिए कुटीर-निर्माण करने गई थी, वही आगार में प्रवेश कर रही थी···

"आओ चित्रांगदा।" चित्रवाहन ने उसका स्वागत किया, "अपने मित्र तपस्वी का सत्कार करो।"

अर्जुन स्थिर नहीं रह सका...तो सचमुच ही मणिपूर की राजकुमारी चित्रांगदा कल उसके लिए अपने हाथों से कुटीर-निर्माण करने के लिए आई थी...और अब अर्जुन की समझ में आ रहा था कि उसके मन में बार-बार युवराज का चेहरा क्यों साकार हो-हो कर उभर रहा था...राजकुमारी चित्रांगदा के मुख-मंडल से समानता के कारण।...कैसी सुंदर थी चित्रांगदा। जैसे किसी कवि के हृदय का कोई सुंदर भाव ओस की बूँदों में नहाकर, मंत्रों का शरीर धारण कर उसके सम्मुख आ खड़ा हुआ हो।...कल भी वह ऐसी ही सुंदर लग रही थी, तभी तो अर्जुन का वह सारा ऊहापोह जागा था...

अर्जुन के मन में जैसे एक अनाम-सी कामना रूप धारण कर रही थी। उसकी इच्छा हो रही थी, वह चित्रांगदा के दोनों हाथ थामकर कहे, "राजकुमारी ! तुम मेरे लिए कुटिया बनाने का कष्ट मत करो। मैं अपनी पलकों से एक-एक पत्ता चुनकर तुम्हारे लिए सपनों के समान सुंदर और कोमल कुटिया बनाऊँगा। बस तुम उसमें आ बसने का आश्वासन भर दे दो।"

चित्रांगदा के अधरों पर एक वक्र मुस्कान उभरी, "तपस्वी आ तो गए हैं, किंतु वे हमारा आतिथ्य ग्रहण करेंगे ? ऐसा न हो कि हम उनके लिए कुटिया बनाएँ और वे उसमें वास न करें, हम उनके लिए थाल सजाएँ और वे उसे अंगीकार न करें।"

"ऐसे क्यों कह रही हो चित्रा ?" चित्रवाहन ने कुछ हतप्रभ होकर पूछा।

"संन्यासी हैं। कोई सामाजिक मर्यादा उन्हें बाँध तो पाएगी नहीं। और वैसे भी हम गृहस्थों की छोटी-छोटी आकांक्षाएँ उनके लिए आकर्षक नहीं होती हैं।"

अर्जुन उसके कटाक्ष को समझ गया था। चित्रवाहन की प्रतिक्रियाएँ बता रही थीं कि वह चित्रांगदा के अर्जुन से पहले साक्षात्कार की घटना को नहीं जानते थे।

"मैंने राजकुमारी को पहले भी कहीं देखा है।" अर्जुन ने चित्रांगदा के गूढ़-वचनों को आगे बढ़ने से रोक दिया।

"अवश्य देखा होगा।" चित्रवाहन ने यह जानने की उत्सुकता ही नहीं दिखाई कि अर्जुन ने उसे कहाँ देखा है, "राज-काज के लिए प्रायः इसे भाग-दौड़ करनी पड़ती है।"

"क्यों ? आपके युवराज राज-काज नहीं सँभालते ?" अर्जुन के मुख से अनायास ही निकल गया।

"युवराज। यही तो है युवराज। सारा राज-काज यही तो सँभालती है।" चित्रवाहन ने तत्काल कहा, "यह मेरी एकमात्र संतान है। कन्या है किंतु हेतु-विधि से मैं इसे अपना पुत्र ही मानता हूँ।"

ओह !... अर्जुन के मन में विचारों का बवंडर उठ खड़ा हुआ...तो यही है स्त्री-वेश में राजकुमारी और यही है पुरुष-वेश में युवराज ! तभी तो युवराज इतना कोमल, असहाय और भीरु लगता था और जब राजकुमारी को देखा तो लगता था, युवराज ही नारी-वेश धारण करके आ गया है...युवराज की सहायता अर्जुन ने की और महाराज चित्रवाहन ने उसे प्रासाद में आने का निमंत्रण भेजा...वह नहीं आया तो राजुकुमारी उसे घेरकर लाने के लिए गई...

"आपने मेरी बात का उत्तर नहीं दिया तपस्वि !" चित्रांगदा अब भी मुस्करा रही थी।

"जो व्यक्ति चलकर आपके द्वार पर आ गया हो, वह आपका आतिथ्य स्वीकार नहीं करेगा क्या ?..." अर्जुन हँसा,"घर आए अतिथि को कोई आतिथेय यह नहीं पूछता कि वह आतिथ्य ग्रहण करेगा या नहीं।... और मैं तो तपस्वी हूँ। प्रभु की कृपा तथा समाज की भिक्षा पर ही पलता हूँ।"

चित्रांगदा का मुख-मंडल गंभीर हो गया। उसने परीक्षक दृष्टि से अर्जुन को देखा, किंतु कुछ कहे बिना आगार से बाहर जाने के लिए मुड़ गई।

अन्यमनस्क दृष्टि से अर्जुन चित्रांगदा के जाते हुए चरणों को देखता रहा और सोचता रहा...यदि वह उसे लुभाने वन में न आई होती, तो आज वह यहाँ न आता। पिता के अज्ञान में चित्रांगदा क्यों लुभाने आई थी उसे ? राजा ने भी तो उसे आमंत्रित किया था।...आज भी उन्होंने प्रकारांतर से इच्छा प्रकट की है कि वह राजधानी के निकट रहे और लंबी अवधि तक रहे।... राजा जराग्रस्त हो चुके हैं। उनको कोई पुत्र नहीं है। वह पुत्री को पुत्र मानकर उसे युवराज कहते हैं...और चित्रांगदा को पुरुष-वेश में राजकाज करना पड़ता है।...अर्जुन तो उसके वेश के कारण भ्रमवश उसे पुरुष समझता रहा, किंतु अन्य लोग तो जानते ही होंगे कि राजा का कोई पुत्र नहीं है। पड़ोस के राजा भी जानते होंगे कि युवराज एक स्त्री है, दस्यु-दल भी जानते होंगे कि जिस पर उन्हें आक्रमण करना है...उसका वेश चाहे पुरुष का हो, किंतु है वह स्त्री ही...कैसी असहाय स्थिति है पिता-पुत्री की...

पर अर्जुन के मन में क्या है ? वह राजकुमारी की वास्तविकता जानने को क्यों व्यग्र हो उठा था ?...क्यों वह अपनी उत्सुकता शांत करने के लिए राजप्रासाद तक चला आया था ? वह तरुणी राजकुमारी होती, न होती, उसे क्या ?...यहाँ तक चले आने तथा चित्रांगदा को देखने और उसका परिचय पाने के पश्चात् जो स्थिति उसके मन की हो गई है, उसके पश्चात् वह वन में जाकर तपस्या कर पाएगा क्या ? उसका ध्यान किसी अन्य मूर्ति में लग पाएगा ? किसी और का भजन कर पाएगा ?...मायापति की माया बड़ी प्रबल है। अर्जुन उससे जितना ही मुक्त होना चाहता है, वह उतना ही उसे बाँध लेती है...चित्रांगदा के रूप से दग्ध होने से बचने के लिए यदि वह अपनी भावनाओं का दमन कर कहीं और चला जाएगा, तो सदा स्वयं को धिक्कारता रहेगा कि क्षत्रिय होकर भी उसने दुर्बलों की रक्षा का अपना कर्त्तव्य नहीं निभाया। आर्त्त-त्राण ही तो उसका धर्म है, कर्तव्य है... और अपने कर्त्तव्य के प्रति निष्ठा ईश्वर की उपासना का उच्चतम रूप है... वह महाराज चित्रवाहन को इस प्रकार संकट में छोड़कर नहीं जा सकता।...और यहाँ रहकर वह चित्रांगदा से दूर नहीं रह सकता...चित्रांगदा...चित्रांगदा...

"महाराज !"

"कहिए तपस्विश्रेष्ठ।"

"आप मुझे कुछ दान देंगे ?"

"क्या चाहिए आपको ?" चित्रवाहन के मन में मानो उत्साह का स्रोत फूट पड़ा, "आप स्वेच्छा से संसार के सारे सुख छोड़कर, तपस्या कर रहे हैं। मेरे पास ऐसा क्या

है, जिसकी आपको आकांक्षा है।"

"तपस्या तो कर रहा हूँ।" अर्जुन बोला, "किंतु लगता है कि विधाता ने तपस्या के फल की ओर संकेत कर दिया है। यदि फल मिल जाए, तो तपस्या सफल हो जाए।"

चित्रवाहन ने अर्जुन की ओर देखा, "मैं नहीं जानता तपस्वि ! कि तुम्हारे मन में क्या है, किंतु अपने मन को मैं जानता हूँ। तुम्हें यहाँ अधिक से अधिक समय तक रोके रखने के लिए मैं अपनी क्षमता भर कुछ भी दे सकता हूँ।''किंतु तुम यह भी समझ लो कि तुम्हें तुम्हारी तपस्या के कारण नहीं, तुम्हारी वीरता के कारण रोके रखना चाहता हूँ। मणिपूर को तुम्हारे युद्ध-कौशल और शस्त्र-क्षमता की आवश्यकता है। तुम यहाँ रहोगे तो मेरे शत्रु मणिपूर के निकट फटकने का साहस भी नहीं करेंगे।''"

चित्रांगदा ने दासियों के साथ आगार में प्रवेश किया। वह अतिथि के सत्कार की व्यवस्था करके लौटी थी। दासियों ने अपने हाथों में फलों और मिठाइयों के थाल उठा रखे थे।

"मैंने तो तुम्हें बता दिया तपस्वि ! कि मैं क्या चाहता हूँ !" चित्रवाहन ने अपनी बात आगे बढ़ाई, "अब तुम बताओ, तुम्हारे मन में क्या है ?"

"आप अपनी कन्या का दान मुझे कर दें।"

चित्रांगदा संकुचित होकर पीछे हट गई, और चित्रवाहन ने जैसे कुछ चौंककर अर्जुन की ओर देखा, "कौन हो तुम ?"

"मैं हस्तिनापुर के स्वर्गीय सम्राट पांडु का तीसरा पुत्र कौंतेय अर्जुन हूँ।" अर्जुन बोला, "अब हम हस्तिनापुर में नहीं हैं। कौरवों की प्राचीन राजधानी खांडवप्रस्थ में आ गए हैं। वहाँ यमुना-तट पर हमने एक नया नगर बसाया है, 'इंद्रप्रस्थ।' मेरे बड़े भाई धर्मराज युधिष्ठिर वहाँ के राजा हैं।"

"यह तो मुझे पहले ही समझ जाना चाहिए था कि ऐसा कृत्य करने वाला वीर साधारण तपस्वी नहीं है।" चित्रवाहन ने जैसे अपने-आपसे कहा, "इंद्रप्रस्थ का निर्माण हो चुका है और धर्मराज युधिष्ठिर वहाँ राजा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं।''कितना अच्छा होता है कि धर्मराज युधिष्ठिर चक्रवर्ती सम्राट् बन, हमारे छोटे-छोटे राज्यों को तुम्हारे समान वीर के बाहुबल का संरक्षण दे सकते।" चित्रवाहन ने अर्जुन की ओर देखा, "देखो पार्थ ! मेरी एक ही पुत्री है। मैंने तुमसे पहले ही कहा कि हेतु-विधि से इसे मैं अपना पुत्र मानता हूँ। तुम इसका अर्थ समझते हो ?"

अर्जुन कुछ नहीं बोला। वह अपेक्षा भरी दृष्टि से चित्रवाहन को देखता रहा।

"चित्रांगदा का पुत्र धर्मतः मेरा पुत्र माना जाएगा। वह मेरे स्थान पर मणिपूर पर राज्य करेगा। अपना पहला पुत्र मुझे दे सकोगे ? यह चित्रांगदा के साथ विवाह का शुल्क है।"

"यदि मुझे यह सब स्वीकार्य हो, तो आप चित्रांगदा का विवाह मुझसे कर देंगे ?" अर्जुन ने पूछा।

"तुम जैसा जामाता पाना मेरा सौभाग्य होगा।" चित्रवाहन ने कहा, "किंतु चित्रांगदा के लिए भी यह इतना ही सुखद है क्या ?"

"क्यों ?" अर्जुन ने चित्रांगदा की ओर देखते हुए, चित्रवाहन से कहा, "आप समझते

हैं कि चित्रांगदा मेरे साथ सुखी नहीं रह पाएगी ?"

"नहीं। ऐसा तो नहीं समझता मैं।" चित्रवाहन कुछ-कुछ अन्तर्मुखी हो गए थे, "किंतु मैंने उससे इस विषय में अभी कोई चर्चा नहीं की है।"

"तो आप चर्चा कर लें।" अर्जुन धीरे से बोला, "मैं प्रतीक्षा करूँगा।"

"क्या कहती हो चित्रा ?" चित्रवाहन ने चित्रांगदा की ओर देखा, "क्या मैं धनंजय को वचन दे सकता हूँ ?"

लगा कि चित्रांगदा के चेहरे पर लज्जा की लाली स्वाभाविक रूप से फैल गई, किंतु उसने प्रयत्नपूर्वक उसे रोक दिया और अत्यन्त व्यावहारिक चर्चा के समान बोली, "मैं आपकी पुत्री हूँ पिताजी ! मुझे आपकी सुविधाओं-असुविधाओं, आकांक्षाओं -अभिलाषाओं का ध्यान रखना है··· और आपको अपने राज्य और प्रजा के हित के विषय में सोचना है। मणिपूर को युवराज भी चाहिए और भावी राजा भी। मेरा पुत्र धर्मतः आपका पुत्र होगा और वही आपके पश्चात् मणिपूर का राजा होगा। यह सब निश्चित है।··· अब अपने जामाता का चयन तो आपको ही करना है। आप अपने वंश और राज्य के हितों का ध्यान रखते हुए जिसका चयन करेंगे, वह मुझे स्वीकार्य होगा। मेरी ओर से कोई आपत्ति नहीं होगी।"

चित्रवाहन ने कुछ क्षणों तक चित्रांगदा के चेहरे के भावों को पढ़ा, कुछ क्षणों तक मन-ही-मन विचार किया और फिर निश्चयपूर्वक दासी को आदेश दिया, "जाओ ! राजपुरोहित को संदेश दो कि राजकुमारी का विवाह पांडुपुत्र कौन्तेय अर्जुन के साथ होना निश्चित हुआ है। उसी के संदर्भ में विचार-विमर्श के लिए हमें उनकी प्रतीक्षा है।"

15

"महाराज !"

युधिष्ठिर ने सिर उठाकर देखा : गूढ़ पुरुषों का नायक ईशानप्रिय प्रणाम कर रहा था।

"कहो ईशान। कोई विशेष समाचार लाए हो ?"

नायक चलता हुआ निकट आ गया। इतनी दूर से बोलता तो उच्च स्वर में बोलना पड़ता, और गोपनीय चर्चा का उच्चारण राजप्रासाद में भी उच्च स्वर में नहीं होना चाहिए। "महाराज ! राजकुमार अर्जुन ने जिस दस्यु और घायल को अचेत अवस्था में हमें सौंपा था, वह स्वस्थ और सचेत हो गया है।"

"क्या कहा उसने ? किसका अनुचर है वह ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"उसका कहना है कि काम चाहे वह किसी के लिए करे, किंतु उसका स्वामी तक्षक

है। वह स्वयं को तक्षक का गुप्त प्रहार करने वाला विषधर बताता है।"

"तक्षक ! तक्षक के अनुचर यहाँ क्या कर रहे हैं ?"

"अनुचर नहीं महाराज ! स्वयं तक्षक भी यहीं है।" ईशानप्रिय ने उत्तर दिया, "खांडव-वन में अपना दुर्ग बनाकर तक्षक उसी में छिपा बैठा है। ये सब लोग उसी के लिए काम कर रहे हैं, और इंद्र के सैनिक उसी की रक्षा कर रहे हैं।"

"और अग्नि के सैनिक ?"

"उनके विषय में अभी मैं कुछ कह नहीं सकता कि वे इस क्षेत्र में तक्षक की रक्षा कर रहे हैं, अथवा उसे समाप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। तक्षक के संदर्भ में अग्नि और इंद्र सहमत नहीं लगते।"

"और कुछ ?"

"नहीं महाराज !"

"अच्छा, तुम जाओ, और जाते हुए किसी को कहो कि नकुल और सहदेव को यहाँ आने का मेरा अनुरोध भिजवा दे।"

ईशानप्रिय चला गया और युधिष्ठिर चिंता के आधिक्य से व्याकुल हो, उठ खड़े हुए। उन्हें लगा वे अपने स्थान पर निश्चल बैठे नहीं रह सकेंगे। यह सूचना उन्हें अब मिली है। इस समय, जब न भीम यहाँ है, न अर्जुन। यदि भीम और अर्जुन इंद्रप्रस्थ में होते तो शायद वे अपनी चिंता उनसे बाँट सकते और उसकी व्याकुलता कुछ कम हो सकती।...पर दूसरे ही क्षण उनका आवेश कुछ कम हुआ...भीम उनकी यह चिंता चाहे कुछ कम कर देता, किंतु वह अन्य प्रकार से उद्विग्नता बढ़ा भी देता। वह हिंसा और युद्ध का पक्ष लेता।...किंतु राजा के रूप में युधिष्ठिर जानते हैं कि प्रत्येक समस्या का समाधान बल और हिंसा नहीं है। राजनीति, हिंसा का नहीं, न्याय और धर्म का पर्याय होनी चाहिए, अन्यथा एक आततायी दस्यु और राजा में अंतर ही क्या रह जाएगा...

इन्द्रप्रस्थ का निर्माण हो जाने के पश्चात् युधिष्ठिर ने मन-ही-मन, यह मान लिया था, कि अब विरोध और संघर्ष का युग समाप्त हो गया और केवल प्रशासन ही शेष बचा है, किंतु आज भी उन्हें लग रहा है कि इन्द्रप्रस्थ की समस्याएँ सुलझी नहीं हैं। समस्याओं की उन्हें विशेष चिंता नहीं थी। राजा के सामने समस्याएँ तो आएँगी ही। राजा होता ही किसलिए है, इसीलिए तो कि वह पिता के समान अपनी प्रजा की समस्याएँ सुलझाए। यदि उसे अपनी प्रजा की समस्याएँ सुलझाने में कोई रुचि न हो तो उसके राजा होने का अर्थ ही क्या है। उस राजा की किसी को आवश्यकता ही क्या है। इसलिए युधिष्ठिर को प्रशासन, धर्म, न्याय अथवा प्रजा-पालन की समस्याओं से तनिक भी व्याकुलता नहीं होती। उन्हें व्याकुलता तो होती है अन्याय और अत्याचार को देखकर। विश्वासघात, असत्य तथा षड्यंत्रों को देखकर। असहाय लोगों के शोषण तथा पीड़न की योजनाओं को देखकर। युद्ध करने अथवा रक्त बहाने की चर्चा सुनकर उन्हें भीम के समान प्रसन्नता नहीं होती।...पर भीम के अनुसार तो यही वीरता है, यही क्षत्रिय धर्म है। भीम के अनुसार ही क्यों, शायद सारा क्षत्रिय-समुदाय रक्तपात से ही आनंदित होता है...वह रक्तपात चाहे अनावश्यक और अन्यायपूर्ण ही क्यों न हो।...और जो व्यक्ति

इसमें उनके समान रुचि नहीं लेता उसे वे मन-ही-मन कायर भी मान लेते हैं"युधिष्ठिर क्या सचमुच कायर हैं ?

"युधिष्ठिर ने इस संदर्भ में बहुत सोचा है। उनकी तनिक भी इच्छा नहीं होती कि वे स्वयं को कायर अथवा भीरु मान लें। वे संकट का सामना कर सकते हैं, अपने प्राणों को जोखिम में डाल सकते हैं"बस वे हत्याओं के व्यापार को अपनी उपलब्धि नहीं मान सकते। उस पर गर्व नहीं कर सकते। किसी के प्राण लेकर वे सुख का अनुभव नहीं कर सकते।"वे अपने जीवन का लक्ष्य, ईश्वर के बनाए हुए अन्य जीवों को वंचित करना नहीं मानते। वे किसी से कुछ भी छीनना नहीं चाहते।"किंतु यह संसार बिना लूट-खसोट के चल क्यों नहीं सकता ?"क्यों मनुष्य इस सीमा तक रक्त-पिपासु और विष-वमन-कर्ता है ?"क्या यह संसार कभी भी मनुष्य के जीने योग्य नहीं बन सकता ?"यदि मानवता के लिए कोई आशा नहीं है, तो युधिष्ठिर इस जीवन को स्पृहणीय कैसे मान लें ?"खांडवप्रस्थ का नाम जब 'इंद्रप्रस्थ' रखा था तो उनकी समझ में तत्काल यह नहीं आया था कि महर्षि व्यास को अकस्मात् ही इंद्र से इतना मोह क्यों हो गया था।"युधिष्ठिर का देवराज से कोई विरोध नहीं था, किंतु वे यह भूल नहीं सकते थे कि वासुदेव कृष्ण का किसी-न-किसी रूप में अब तक इंद्र से कोई-न-कोई विरोध चलता ही आया था। कृष्ण ने अपने उस विरोध को कभी उनके आड़े नहीं आने दिया और एक प्रकार से उन्हें महर्षि की बात मान लेने के लिए प्रोत्साहित ही किया। युधिष्ठिर प्रसन्न थे कि उन्हें वासुदेव कृष्ण और देवराज इंद्र में से किसी एक को चुनने की बाध्यता में से गुज़रना नहीं पड़ा। अन्यथा एक का समर्थन प्राप्त करने के लिए दूसरे का विरोध भी आमंत्रित करना पड़ सकता था।

युधिष्ठिर ने मान लिया था कि अब इंद्र का, इंद्रप्रस्थ, उसकी प्रजा तथा पांडवों से किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं था। वे क्या जानते थे कि देवराज उनके समान सरल नहीं था। उसकी मित्रता का अर्थ केवल मित्रता ही नहीं था"मित्रता के भीतर कहीं शत्रुता भी अंतर्निहित थी" बहुत संभव है कि उसकी शत्रुता में भी मैत्री का कोई अंश वर्तमान रहता हो"

द्वार पर पदचाप हुई तो युधिष्ठिर ने पलटकर देखा। नकुल और सहदेव दोनों इकट्ठे ही आ गये थे। उन्होंने आगे बढ़कर उन्हें प्रणाम किया। युधिष्ठिर ने निःशब्द संकेत से उन्हें बैठने के लिए कहा।

नकुल तथा सहदेव निरन्तर अपेक्षा भरी दृष्टि से युधिष्ठिर की ओर देख रहे थे और युधिष्ठिर यह निश्चय ही नहीं कर पा रहे थे कि उनसे अपने मन की बात किस रूप में कहें"

"क्या बात है भैया ?" अंततः सहदेव ने अपनी ठहरी हुई गंभीर वाणी में पूछा, "आप कुछ विचलित दिखाई दे रहे हैं।"

युधिष्ठिर ने उसकी ओर देखा, "मैं खांडव-वन के विषय में सोच रहा था।"

"इसमें आपके हृदय की कोमलता और दया ही आड़े आ जाती है भैया। अन्यथा

हम लोग कब से इन आततायियों को मार कर यहाँ से भगा चुके होते।" नकुल कुछ प्रयत्न करके बोला।

"नहीं ! सर्वथा ऐसी बात तो.नहीं है।" युधिष्ठिर बोले, "वे लोग साधारण अपराधी नहीं हैं। वे जो कुछ कर रहे हैं, अपनी इच्छा से और अपने बल पर नहीं कर रहे हैं। क्या तुम्हें यह सूचना है कि खांडव-वन के गर्भ में स्वयं तक्षक दुर्ग बनाकर छिपा बैठा है ?"

नकुल ने कुछ आश्चार्य से सहदेव की ओर देखा, "मुझे तो खैर यह सूचना नहीं थी, किंतु तक्षक से इतने भयभीत होने का क्या कारण है ? हम इतने असमर्थ तो नहीं हैं कि तक्षक को उसकी दुष्टता का दंड न दे सकें।"

"नहीं। बात इतनी ही नहीं है।" युधिष्ठिर बोले, "तक्षक का हमारी राजधानी के इतने निकट गुप्त रूप से दुर्ग बनाकर निर्भय और सुरक्षित रहना अपने आप में ही एक बड़ा संकट है। स्पष्ट है कि वह जानबूझकर हमारी सत्ता को चुनौती देने की इच्छा से यहाँ जमा बैठा है अन्यथा नाग-क्षेत्रों में उसके रहने के लिए स्थान की कोई कमी नहीं है।"

"क्या यह प्रमाणित हो चुका है कि वह शत्रु-भाव से हमारे राज्य में छिपकर रह रहा है ?" नकुल ने पूछा।

"प्रमाणित ?" सहदेव ने उसकी ओर देखा, "क्या तात्पर्य है तुम्हारा ?"

"कहीं ऐसा तो नहीं कि उसके मन में हमारे प्रति शत्रु-भाव हो ही नहीं और हम स्वयं ही मान लें कि वह हमारा शत्रु है ?"

"इसमें अधिक सोच-विचार का अवकाश नहीं है।" युधिष्ठिर बोले, "तक्षक की फुफकार तो इंद्रप्रस्थ में प्रतिदिन सुनाई पड़ रही है। जाने वह किसी दिन डस भी बैठे।"

"मेरी समझ में तो केवल यह आ रहा है कि तक्षक कभी सम्मुख युद्ध नहीं करता। वह अंधकार में छिपकर दंश करता है। वह हमारे बहुत निकट है और इंद्र उसका सुरक्षा-कवच बना हुआ है।···इस सबका अर्थ क्या है ?" सहदेव बोला, "क्या वह पांडवों का राज्य नष्ट करना चाहता है ? क्या वह हमसे अप्रसन्न है ?"

"मैं नहीं समझता कि पांडवों का राज्य इस सृष्टि में कोई इतनी बड़ी शक्ति है कि देवराज इंद्र को हमें नष्ट करने के लिए षड्यंत्रकारी तक्षक की सहायता लेकर हम से गुप्त युद्ध करना पड़े।" युधिष्ठिर ने कहा, "इंद्र का लक्ष्य कोई और है, किंतु उसने हमें इस प्रकार बाँध रखा है कि हम उसके छोटे-से-छोटे अनुचर को भी उसके अपराधों के लिए दंडित नहीं कर पा रहे। इससे हमारी प्रजा पीड़ित है। हमारी राज-सत्ता हास्यास्पद होकर रह गई है···और हमारा विकास तो हो ही नहीं सकता।"

"तो क्या हम अपनी असुविधा की चर्चा इंद्र तक नहीं पहुँचा सकते ?" नकुल ने पूछा।

"पहुँचा क्यों नहीं सकते ?" सहदेव बोला, "किंतु प्रश्न तो यह है कि इंद्र की अपनी योजनाओं में पांडवों की असुविधा का कोई महत्व भी है या नहीं ?···जब कोई राजा नदी पर सेतु बाँधता है, तो वह इस बात की चिंता करता है कि चींटियों के कितने घरौंदे नष्ट हुए ?"

"तो हम इतने अपदार्थ हैं ?"

"कुछ ऐसा ही लग रहा है नकुल !" युधिष्ठिर धीरे से बोले, "यह संसार बड़ा विचित्र है। कोई शांतिपूर्वक रहना चाहे तो लोग उसे रहने नहीं देते। तुम रक्तपात न करना चाहो, तो लोग तुम्हारा रक्त बहाने को तैयार हो जाते हैं। तुम किसी को मित्र मान लो, तो वह तुम्हारे विरुद्ध षड्यंत्र करने लगता है।"मेरी तो कई बार इच्छा होती है कि मैं सब कुछ छोड़-छाड़ कर तपस्या करने के लिए हिमालय-क्षेत्र में चला जाऊँ।"

"भैया ! आप क्षत्रिय राजा हैं। आप में रजोगुण की प्रधानता होनी चाहिए।" सहदेव ने स्नेहपूर्वक उनकी ओर देखा।

"मैंने राजा का दायित्व इसलिए स्वीकार किया है कि मैं न्यायपूर्वक अपनी प्रजा का पालन कर सकूँ"एक पिता के समान। धर्मपूर्वक शासन, मेरा लक्ष्य है, किंतु"" वे रुके, "किंतु राजा बने रहने के लिए यदि मुझे विश्वासघात, क्रूरता तथा षड्यंत्रों का सहारा लेना होगा, तो मैं अपने धर्म की रक्षा कैसे कर पाऊँगा ? और मुझे धर्म से अधिक प्रिय कुछ भी नहीं है।"इस प्रकार राजा तो क्या, मैं एक मनुष्य भी नहीं रह पाऊँगा।"

"आपको दुष्ट-दलन तो करना ही होगा महाराज !" सहदेव अत्यन्त निश्चयात्मक स्वर में बोला, "इसका निर्णय आप करें, कि धर्म की सीमाओं का अतिक्रमण न करते हुए आप यह कैसे कर सकते हैं। हम सब आपके अनुगत हैं।"

"ठीक कहते हो सहदेव।" युधिष्ठिर आत्मलीन होते जा रहे थे।

16

चित्रांगदा ने सहसा लक्ष्य किया कि अर्जुन ने बहुत समय से एक शब्द भी नहीं कहा था"शायद वे सो गए थे।

उसने कुहनी के बल उचककर देखा : हाँ। अर्जुन की श्वास-गति बता रही थी कि वे गहरी नींद में थे।"

"वे दिन भर राज्य संबंधी इतने सारे कार्य करते थे, व्यायाम करते थे, युद्ध अथवा युद्ध का अभ्यास करते और कराते थे"इस समय तक थककर चूर हो जाते थे"और चित्रांगदा दिन-भर उनकी प्रतीक्षा करती थी, पुरानी घटनाएँ स्मरण करती थी और भविष्य के स्वप्न देखती थी"उसे इस समय ऐसी नींद आए तो कहाँ से ?"

यही चित्रांगदा थी, जो मणिपूर के युवराज के रूप में राज-सभा का संचालन करती थी, मंत्रियों से परामर्श करती थी, सेना का नेतृत्व करती थी, प्रजा को आश्वासन देती थी"वह शारीरिक व्यायाम के रूप में अश्वारोहण करती थी, आखेट करती थी"उसने नींद को कभी बुलाया ही नहीं था, नींद ही उसका पीछा किया करती थी"

नींद का यह व्यतिक्रम शायद उस दिन से आरंभ हुआ था, जिस दिन उसने अर्जुन

को देखा था···वह नहीं जानती थी कि वह तपस्वी कौन है। जानने की आवश्यकता भी नहीं थी···वनों में यदाकदा तपस्वी मिल ही जाया करते थे।···और तपस्वी को जानना भी क्या। वे संसार छोड़कर किसी अन्य उपलब्धि के पीछे, सबकी उपेक्षा कर रहे थे। तो समाज को ही क्या चिंता थी उनकी। वैसे भी न संसार उनके लिए उपयोगी था, न वे संसार के लिए। संन्यासी को चित्रांगदा से कोई अपेक्षा नहीं थी, और चित्रांगदा को संन्यासी से···

किंतु उस दिन चित्रांगदा एक निर्णायक युद्ध के लिए गई थी। हृदय अत्यन्त संवेदनशील था और मस्तिष्क अत्यन्त जागरूक।···मन भीतर ही भीतर कहीं भीरु भी हो रहा था, शायद इसीलिए वह ऊपर से बहुत साहसी दीखने का प्रयत्न कर रही थी··· दस्यु-समस्या क्रमशः गंभीर होती जा रही थी। चित्रांगदा मानती थी कि दस्यु-दल कितने ही संगठित क्यों न हो जाएँ, उनके लक्ष्य कितने ही गंभीर और भयंकर क्यों न हों—उनसे निबटना मणिपूर की सैन्य-शक्ति के लिए कठिन नहीं था।··· किंतु जब से पड़ोसी राज्य-शक्तियाँ उनकी सहायक हो गई थीं, स्थिति कुछ अधिक ही विकट हो गई थी।···

···वह जानती थी कि सैन्य संगठन और युद्ध-नयन, अब उसके पिता के लिए संभव नहीं था। मणिपूर के राजा और प्रजा, दोनों चित्रांगदा पर ही निर्भर थे··· और संयोग था कि मणिपूर का राज-परिवार काल के उस खंड में बंदी हो गया था, जहाँ उसे पड़ोस की किसी अन्य राज-शक्ति से सहायता नहीं मिल सकती थी··· और कहीं दूर तक जाने का अवसर नहीं था।··· इसीलिए चित्रांगदा को लग रहा था कि यह एक निर्णायक युद्ध था··· उसे प्रत्येक परिणाम के लिए तैयार रहना चाहिए था···

··· जाने पिता के मन में क्या था, किंतु ऊपर से वे आश्वस्त दीखते थे कि उनकी पुत्री एक सक्षम और योग्य युवराज के रूप में सारी प्रशासनिक और सैन्य समस्याओं का सफलतापूर्वक समाधान कर सकती थी। वे चिंतित नहीं लगते थे। चित्रांगदा उनकी यह शांति नष्ट करना नहीं चाहती थी। यदि कहीं वह अपनी सारी चिंताएँ पिता के सम्मुख प्रकट कर देती, तो बहुत संभव था कि उनकी व्याकुलता सारे राज्य के लिए असुविधाजनक हो उठती···

अपनी इन्हीं चिंताओं में घिरी, दस्यु-दलों के विरुद्ध एक निर्णायक युद्ध के लिए वह वहाँ पहुँची थी। ऐसे में वह किसी साधु-संन्यासी, तपस्वी-साधक की ओर क्या ध्यान देती··· किंतु जिस क्षण उसने वह प्रायः आत्मघाती युद्ध आरंभ किया था और मन में कहीं कोई दमित आकांक्षा थी कि मणिपूर के राजवंश की रक्षा के लिए कहीं से कोई दैवी सहायता आ जाए, तभी अर्जुन उसके सम्मुख आ खड़ा हुआ था··· अर्जुन ने यदि उससे युद्ध करने की अनुमति माँगी होती, अथवा पूछा होता कि क्या चित्रांगदा को सहायता की आवश्यकता है, तो कदाचित उसने अर्जुन का तिरस्कार ही किया होता।··· एकांत वनों में बैठकर , कुछ काल्पनिक सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए साधना करने वाले साधक-संन्यासी का युद्ध से क्या संबंध ?··· किंतु वह देख रही थी कि वेश कुछ भी रहा हो, वह व्यक्ति वास्तविक योद्धा था। उसके धनुष से छूटते हुए बाण बता रहे थे कि वह असाधारण रूप से सिद्ध-हस्त धनुर्धारी था।··· चित्रांगदा के मन में अनेक विचार आ रहे थे··· यदि परशुराम संन्यासी होकर धनुर्धर हो सकते थे, यदि द्रोण और कृप

तापस ब्राह्मण होकर युद्धाचार्य हो सकते थे तो कोई और तपस्वी भी शस्त्राचार्य हो सकता था''' उसे कांपिल्य में हुए द्रौपदी के स्वयंवर की कथा भी याद आ गई।''' अर्जुन ने जब स्वयंवर की प्रतिज्ञा पूरी की थी, तव वह भी भिक्षोपजीवी तपस्वी के वेश में ही था।''' चित्रांगदा क्या जानती थी कि यह तपस्वी कौन था।''' हो सकता था कि यह भी कोई योद्धा ही हो, जो किसी सिद्धि के लिए साधना कर रहा हो। तभी चित्रांगदा ने पहली वार ध्यान से अर्जुन को देखा था''लंवा-ऊंचा, तना हुआ सीधा वलिष्ठ शरीर''' तेजस्वी मुख-मंडल, आकर्षक श्यामलं वर्ण''' और नयनों में असाधारण ओज''' चित्रांगदा समझ नहीं पाई थी कि वह उसकी वीरता से अधिक प्रभावित थी या उसकी उदारता से''' या''' या उसके पौरुष पूर्ण मनमोहक रूप से''' उसे लग रहा था कि उसे एक ऐसा समर्थ सहायक मिल गया था, जो मणिपूर की रक्षा कर सकता था, जो उसके पिता का अवलंव बन सकता था। वृद्ध महाराज चित्रवाहन को शक्तिशाली वना सकता था, उनके शत्रुओं का नाश कर सकता था।

किंतु वह अपने हृदय की ओर देखती थी, तो उसे लगता था कि यह वह व्यक्ति है, जो उसके मन-प्राण पर छा गया था। वह उसके विना रह नहीं सकती थी''उसे अपने पिता तो क्या, संसार की किसी अन्य वस्तु में रुचि नहीं रह गई थी।''' वह उसे सव कुछ भुला दे रहा था'''

अपनी उसी आत्म-विस्मृति में चित्रांगदा, अर्जुन को अपना परिचय दिए विना ही लौट आई थी''' एक प्रकार से तो अर्जुन ही उसे वहाँ खड़ा छोड़कर चला गया था'' किंतु वह न चाहती तो विना किसी वार्तालाप के, अर्जुन ऐसे ही कैसे चला जाता''' उसका हृदय प्रतिक्षण दौड़कर अर्जुन के निकट जाना चाहता था, किंतु वह जा नहीं सकती थी। किस व्याज से जाए ? क्या कहकर उसे बुलाए ?''' पर तभी महाराज चित्रवाहन ने अर्जुन को राजप्रासाद में बुलाने का निश्चय किया था। उन्होंने उसे आमंत्रित करने के लिए अपने सैनिक भेजे थे''' किंतु चित्रांगदा आश्वस्त नहीं थी। जाने तपस्वी, राजा के निमंत्रण पर आए, न आए। राजाओं के आदेश संन्यासियों को वाँध नहीं पाते। वह राजाओं की कृपा का ही याचक होता, तो किसी राज्य की सेना का सेनापति होता। संभव है किसी राज्य का अधिपति होता। यदि वह वन में साधना करने के लिए वैठा था तो वह महाराज चित्रवाहन के निमंत्रण पर राजप्रासाद में क्यों आएगा ?''' यदि उसने अपना स्थान बदल लिया ? वह अन्यत्र कहीं चला गया ? वह साधक-संन्यासी है। संसार की काराएँ तोड़ने के लिए घर से निकला है,''' तो क्या स्थान का मोह ही नहीं तोड़ पाएगा ?'''

और तभी चित्रांगदा को एक युक्ति सूझ गई थी''' उसने अपनी दासी को सैनिकों के साथ भेजा था''' राजा के निमंत्रण का तिरस्कार हो सकता था, किंतु राजकुमारी का निमंत्रण ?''' संन्यासी अपनी जिज्ञासा में राजकुमारी के दर्शन करने के लिए आ सकता है''' नारी के आकर्षण में आ सकता था''' राजकुमारी के माध्यम से राज्य-प्राप्ति के लोभ में आ सकता था''' आए या न आए, उसकी प्रकृति का ज्ञान हो ही जाएगा''यदि इतने प्रलोभनों के वाद भी वह नहीं आया तो चित्रांगदा को स्वीकार करना पड़ेगा कि उस संन्यासी को सांसारिक वंधन वाँध नहीं पाएँगे''' पर यदि ऐसा ही है तो वह उस सांसारिक

संघर्ष में उसकी सहायता करने क्यों आया ?...चित्रांगदा कुछ समझ नहीं पा रही थी...

राजकुमारी के निमंत्रण पर भी संन्यासी नहीं आया था और चित्रांगदा का हृदय उसे न पा सकने की आशंका से टूक-टूक हुआ जा रहा था। इन सारी आशंकाओं को हृदय में लिए हुए वह हाथ पर हाथ धरे, संन्यासी को इस विस्तृत संसार में विलुप्त होते नहीं देख सकती थी...

चित्रांगदा का मन कहता था कि उसे कुछ-न-कुछ प्रयत्न करना ही चाहिए। यदि प्रयत्न करने के बाद भी संन्यासी उसे न मिला, तो वह सोचेगी कि उसे उसके बिना कैसे जीना है... अभी तो तपस्वी उसके सामने था, उसके गुप्तचर लगातार उसे उस योद्धा तपस्वी की गतिविधि की सूचनाएँ दे रहे थे। वह उसकी दृष्टि से ओझल नहीं हुआ था, किंतु उसके तनिक-से प्रमाद से, वह इस प्रकार विलीन हो सकता था, कि पुनः उसे खोज पाना असंभव हो जाए।...

चित्रांगदा जानती थी, उसके पिता के निमंत्रण की कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई थी, और शायद पिता भी अपने स्थान पर संतुष्ट होकर निष्क्रिय हो गए थे। वे उस योद्धा-तपस्वी के कृतज्ञ थे। उन्होंने कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए उसे आमंत्रित किया था। यदि वह नहीं आया, तो चित्रवाहन क्या करें। उन्होंने अपना कर्तव्य पूरा किया था। नहीं आया, तो संन्यासी की इच्छा। वे अपनी इच्छा संन्यासी पर आरोपित तो नहीं कर सकते। ...किंतु चित्रांगदा संन्यासी को इतनी स्वतंत्रता नहीं दे सकती थी। यदि आवश्यक हुआ तो वह संन्यासी पर अपनी इच्छा, आरोपित भी करेगी... उसे आकर्षित करेगी। जहाँ धन, सत्ता, सुख-सुविधाएँ—सब असफल हो जाती हैं, नारी का रूप वहाँ भी चमत्कार दिखा सकता है। तपस्वियों का सबसे विकट शत्रु कामदेव है। कामदेव को जीतना असंभव है... और उनका उपकरण है, नारी। ईश्वर की माया का साक्षात् रूप है नारी! ... चित्रांगदा देखेगी कि तपस्वी, ईश्वर की माया का तिरस्कार कैसे करता है। वह अपने रूप का माया-जाल फैलाएगी।... जो संन्यासी यश पर लुब्ध नहीं हुआ, धन पर लुब्ध नहीं हुआ... उसे रूप पर मुग्ध होना पड़ेगा... उसने चित्रांगदा को पुरुष-वेश में देखा था। बहुत संभव है कि उसके रूप की ओर ध्यान ही न दिया हो। दिया हो, तो उसे कोई कोमल तरुण समझा हो। बहुत संभव है कि उसके मन में उस कोमल तरुण के प्रति आकर्षण नहीं वितृष्णा ही जागी हो...पर वह दासी के माध्यम से राजकुमारी का संदेश भी भिजवा चुकी है।... उसके आशंकित मन ने उसे स्मरण दिलाया... किंतु उसकी प्रबल आकांक्षा ने आशंका को डपट दिया ... दासी के माध्यम से उसे जब राजकुमारी का संदेश मिला था, तो किसी ने उसे बताया ही नहीं होगा कि राजकुमारी चित्रांगदा कितनी सुंदर है। 'राजकुमारी' शब्द ही तो पर्याप्त नहीं है... पद और पदार्थ में कुछ भेद भी होता है... उसे यदि तपस्वी को लुब्ध करना है, तो अपना परिचय भी देना होगा और अपने रूप का वैभव भी प्रदर्शित करना होगा।... अच्छा ही है कि तपस्वी, दासी द्वारा दिए गए संदेश में बँधा राजप्रासाद में नहीं चला आया। नहीं तो कदाचित् वह स्वयं चित्रांगदा की दृष्टि से ही गिर जाता। तपस्वी का चरित्र इतना हल्का नहीं है... उसका मूल्य इतना कम नहीं है... उसे घेरना होगा, मनाना होगा, लुभाना होगा...

और अंततः चित्रांगदा ने कुटीर-निर्माण के बहाने तपस्वी के निकट जाने का निर्णय

किया था । वह जानती थी कि यह सब उसके पिता को अच्छा नहीं लगेगा। वे तपस्वी के कृतज्ञ थे कि उसने उनकी सहायता की थी। एक प्रकार से उनकी रक्षा ही की थी। यदि तपस्वी समय पर वहाँ न पहुँचा होता, तो बहुत संभव था कि चित्रांगदा के सैनिक दस्यु-दलों के भय से उसे छोड़कर भाग जाते। बहुत संभव था कि वह बंदी बना ली गई होती। बहुत संभव था कि दस्यु उसका वध कर देते। महाराज चित्रवाहन यह सब जानते थे··· किंतु कृतज्ञता का भाव कितना ही सघन क्यों न रहा हो, वे यह कदापि स्वीकार नहीं करते कि उसके प्रतिदान में चित्रांगदा तपस्वी को मुग्ध करने के लिए इंद्र की अप्सराओं के समान अपने रूप और यौवन का माया-जाल फैलाए। ··· पर चित्रांगदा तो यह सब अपनी कृतज्ञता के कारण नहीं कर रही थी··· यह प्रतिदान नहीं था··· वह तपस्वी को कुछ देने का प्रयत्न नहीं कर रही थी, वह तो स्वयं उसे पाने का प्रयत्न कर रही थी··· यह तो उसकी अपनी आकांक्षा थी··· उसकी अपनी लालसा थी, जिसे वह पूर्ण करना चाहती थी··· अपने हृदय की रिक्तता को भरना चाहती थी··· तपस्वी को वह पा लेना चाहती थी··· समग्रतः पूर्णतः··· सदा के लिए···

उसने गुप्त रूप से अकेली जाकर तपस्वी को लुभाने के लिए, अपना रूप-जाल फैलाया था। राजकुमारी का स्वयं अपने हाथों कुटीर-निर्माण करना, सचमुच बचकाना कार्य था। वह चाहती थी कि तपस्वी भी समझ जाए कि राजकुमारी के वहाँ आने का वह कारण नहीं था, जो वह बता रही थी।··· वास्तविक कारण क्या था, यह समझना तो तपस्वी की अपनी बुद्धि पर निर्भर करता था।··· वह इतना ही समझ जाता कि राजकुमारी उसके निकट आना चाहती थी, या उसे अपने निकट बुलाना चाहती थी।··· वह जानती थी कि उसके पिता को भी यह अत्यन्त प्रिय होगा। वे चाहेंगे कि शत्रुओं से मणिपूर को बचाने के लिए, जब तक संभव हो, तपस्वी सुरक्षाकवच बनकर उनके निकट रहे··· उसके पश्चात् चाहे जो भी हो···

वह तपस्वी के निकट जा, उसका ध्यान भंग कर, उसे अपना परिचय देकर लौट आई थी। तपस्वी के हाव-भाव बता रहे थे कि उसे चित्रांगदा का इस प्रकार आना अप्रिय नहीं लगा था। वह उसे प्रकारांतर से यह भी समझा आई थी कि उसके द्वारा की गई मणिपूर की रक्षा अस्थायी भी हो सकती थी, और राजवंश को महंगी भी पड़ सकती थी, इसलिए तपस्वी को वहीं ठहरना चाहिए था—लंबे समय के लिए, और यदि संभव हो तो सदा के लिए···

किंतु वह यह नहीं जानती थी कि तपस्वी ने उसके सौन्दर्य के प्रति अपनी जिस दुर्बलता की चर्चा की थी, वह उसकी वास्तविक प्रशंसा थी या परिहास मात्र था··· पर इससे अधिक वह कुछ कर भी तो नहीं सकती थी। प्रतीक्षा··· प्रतीक्षा··· बस प्रतीक्षा···

अगले दिन तपस्वी राजप्रासाद में आ उपस्थित हुआ था और उसने अपना वास्तविक परिचय भी दिया था। निश्चित रूप से पिता उतने ही प्रसन्न हुए थे, जितने उन्हें जामाता के रूप में पाकर किसी समय राजा द्रुपद हुए होंगे। चित्रांगदा ने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि पंचाल की वीर्यशुल्का राजकुमारी कृष्णा के स्वयंवर की प्रतिज्ञा पूरी करने वाला वीर, स्वयं उसके द्वार पर आकर उसके पिता से उसकी याचना करेगा।···और पिता द्वारा रखी गई सारी प्रतिज्ञाएँ उसने स्वीकार कीं··· चित्रांगदा का सौभाग्य···

.मणिपूर के लिए कदाचित् यह स्वर्णकाल था।''' चित्रांगदा को वह पति मिला था, जिसके मिलने की उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी। महाराज चित्रवाहन को ऐसा मंत्री और सेनापति मिला था, जैसे पहले कभी नहीं मिला था। अर्जुन ने मणिपूर की प्रजा के मन से उनके प्रिय युवराज की स्मृति ही जैसे धो डाली थी। चारों ओर बस 'धनंजय', 'धनंजय' ही सुनाई पड़ता था। धनंजय ही तो था वह। उसकी उपस्थिति मात्र से दस्यु-दलों का साहस नष्ट हो गया था। अब मणिपूर उनके लिए एक दुर्बल 'आखेट' नहीं रह गया था''' वह उनके लिए आंतक का रूप धारण कर चुका था। जिस राजा ने मणिपूर की ओर भुजा बढ़ाई, उसकी भुजा मरोड़ दी गई, जिसकी दृष्टि इधर फिरी, वह जल गई''' दुष्टों, अपराधियों और अत्याचारियों ने मणिपूर ही नहीं, उसके आसपास का सारा क्षेत्र ही जैसे त्याग दिया''' मणिपूर इस समय सबसे अधिक सुरक्षित और शांत स्थान था। अराजकता से त्रस्त लोग यहाँ आकर त्राण पाते थे। व्यापारी अपने वैभव का खुला और निर्भीक प्रदर्शन करते थे।''' चित्रांगदा तो समझ ही नहीं पाती थी कि मणिपूर में इतना धन कहाँ से आ रहा है''' लगता था जैसे खेतों में उपज बढ़ गई है, व्यापारियों का लाभ बढ़ गया है, कारीगरों और कलाविदों का भाग्योदय हो गया है'''मणिपूर कितना समृद्ध हो गया था'''

समृद्ध तो चित्रांगदा भी हुई थी।'''इन्हीं दिनों तो उसकी समझ में आया था कि पति, पत्नी का 'सौभाग्य' क्यों होता है।''' पर उस समृद्धि और सौभाग्य के विषय में वह धनंजय से चर्चा भी नहीं कर पाई थी।'''वे व्यस्त थे, किंतु इतने व्यस्त तो नहीं थे''' वे उससे दूर रहते थे किंतु इतने दूर तो नहीं थे'''. तो क्या यह चित्रांगदा का अपना ही संकोच था ?''' पर इसमें संकोच की क्या बात थी''' यह तो हर्ष का विषय था, आह्लाद का'''

उसने अर्जुन को उनकी भुजा पकड़ कर हिलाया, "आर्यपुत्र !"

"मुझे नींद आ रही है प्राण सखी।"

"नींद आ रही है ?"

"हाँ !"

"तो गुडाकेश किसका नाम है ?" चित्रांगदा ने कटाक्षपूर्वक अर्जुन की ओर देखा, "गुडाका को जीता नहीं और उसके 'ईश' बन गए।"

"ओ-हो। चित्रांगदा !" अर्जुन उठकर बैठ गया, "निद्रा और आलस्य को जीतने की यह प्रशस्ति युद्ध-क्षेत्र के संदर्भ में है। शयनागार में आकर कोई गुडाकेश कैसे हो सकता है।"

"वह सब मैं नहीं जानती !" चित्रांगदा इठलाई, "क्या मुझे आपको बताना पड़ेगा कि अब आपके पास मेरे लिए अवकाश नहीं होता।"

अर्जुन ने उसे अनुरागमयी दृष्टि से देखा,"मेरे पास अवकाश होता है या नहीं, कह नहीं सकता, किंतु इतना निश्चित है कि अब तुम्हारे पास बहुत अवकाश होता है। तुम आलसी होती जा रही हो। इसलिए'''।"

"इसलिए क्या ?"

"इसलिए कल प्रातः तुम मेरे साथ अश्वारोहण के लिए चलोगी। सेना की

रथ-प्रतियोगिता में भी तुम उपस्थित रहोगी"'।"

"मुझे अब अश्वारोहण की अनुमति नहीं है।" चित्रांगदा हल्के से मुस्कराई।

"अनुमति नहीं है ?" अर्जुन ने चकित होकर उसकी ओर देखा,"किसकी अनुमति नहीं है ?"

"धाय की और वैद्यराज की"'।"

"धाय की ?"'" और सहसा अर्जुन की समझ में आ गया, "ओह ! तो हमारी चित्रा अब गर्भवती है। तो तुमने मुझे बताया क्यों नहीं ?"

"बता ही तो रही हूँ।" चित्रांगदा मुस्कराई।

"ऐसी सुखद सूचना देने की यह विधि अपनाई है तुमने ?" अर्जुन की वाणी में आह्लाद था, "कोई समारोह किया होता, कोई वर माँगा होता, कोई"'।"

"दीजिए ! क्या वर देते हैं।" अर्जुन की प्रसन्नता से चित्रांगदा के मन में जैसे पूर्णकाम होने का भाव जाग रहा था।

"हम तुम्हें पुत्रप्रसू होने का वरदान देते हैं देवि !" अर्जुन गंभीर हो गया, "अब हम मणिपूर से चलने की योजना बना सकते हैं"'।"

चित्रांगदा का मन अकस्मात् ही बुझ गया"' उत्साह क्षीण हो गया और उपलब्धि के स्थान पर वंचना की अनुभूति होने लगी"' पुत्र-प्राप्ति होगी तो पिता छिन जाएँगे"' मणिपूर भी तो छिन जाएगा"' और पुत्र ही कौन उसके पास रहेगा"' पुत्र मणिपूर में रहेगा और वह इंद्रप्रस्थ चली जाएगी"' इस समय वह मणिपूर में थी, पिता के पास थी, अर्जुन भी थे और उसकी होने वाली संतान भी"' सब कुछ उसके पास था"' अब और कोई उपलब्धि नहीं होने वाली थी"'मिलेगा कुछ नहीं, छिनेगा ही छिनेगा"' या तो मणिपूर, महाराज चित्रवाहन और उसकी भावी संतान सब छिन जाएँगे"' या फिर इनके मोह के कारण अर्जुन छिन जाएँगे। ओह चित्रागंदा ! क्या तू इंद्रप्रस्थ से उसका अर्जुन नहीं छीन सकती ? तेरे रूप-सौन्दर्य में, यौवन तथा काम में तेरे प्रेम और समर्पण में इतनी भी शक्ति नहीं है कि तू अर्जुन को इंद्रप्रस्थ जाने से रोक सके ?"'

"किस चिंता में पड़ गई चित्रा ?"

"कुछ नहीं।" चित्रांगदा बोली, "सोच रही थी, व्यर्थ ही आपको जगा दिया। यदि आप पूर्ण विश्राम नहीं करेंगे, तो अगले दिन पूरा श्रम कैसे करेंगे ?"

"वैसे तो व्यक्ति को श्रम भी चाहिए और विश्राम भी, जैसे स्त्री को पति भी चाहिए और पुत्र भी," अर्जुन ने उसकी ओर अर्थपूर्ण दृष्टि से देखा, "किंतु जीवन में कभी-कभी ऐसे अवसर भी आते हैं, जब दोनों में से किसी एक को चुनना पड़ता है—श्रम करो तो विश्राम नहीं मिलता, और विश्राम करो तो श्रम की कामना नहीं रह जाती"' !"

अर्जुन ने पुनः सो जाने के लिए करवट बदल ली।

चित्रांगदा ने अर्जुन की ओर देखा, उन्होंने वाक्य पूरा नहीं किया था। शायद वे यही कहना चाहते थे कि पुत्र और पति में से भी किसी एक को चुनना पड़ता है।"' किसी एक को ?"' पर किसी एक को क्यों ? दोनों क्यों नहीं मिल सकते ?"'

17

भीम के भेजे हुए अश्वारोही रात्रि को ही इंद्रप्रस्थ पहुँच गए थे, जिन्होंने व्यापारियों और युवराज भीम के सकुशल लौटने का समाचार दिया था। तत्काल ही यह समाचार सारे इंद्रप्रस्थ में प्रचारित हो गया था। और सोने की तैयारी करता हुआ नगर जैसे उल्लास के मारे जाग उठा था। कुंती अपने भवन में भीम का स्वागत करने की तैयारी कर रही थी। बलंधरा ने तत्काल अपने भवन में दीपमालिका का आयोजन कर डाला। युधिष्ठिर ने सारे नगर को सज्जित करने और युवराज के स्वागत के लिए सारे मुख्य द्वारों पर तोरण खड़े करने का आदेश दे दिया। नकुल और सहदेव तत्काल व्यवस्था में लग गए। उन्हें भीम की अगवानी करनी थी। व्यापारियों के साथ आ रहे सामान की चुंगी तथा निरीक्षण संबंधी राजकीय व्यवस्था करनी थी।··· और श्रेष्ठियों के प्रासाद अपने परिवार के लोगों की अगवानी और आने वाले सामान के रख-रखाव के आयोजन में लग गए। अनेक परिवारों के सदस्य श्रेष्ठियों के साथ गए थे—कोई कर्मचारी के रूप में, कोई पर्यटक के रूप में, कोई तीर्थ-यात्री के रूप में।··· वे सारे कारीगर जिन्होंने अपना सामान श्रेष्ठियों के माध्यम से भेजा था, उत्कंठा से प्रतीक्षा कर रहे थे। नगर के विभिनन व्यापारी आने वाले सामान का क्रय करने के लिए व्याकुल थे··· लगता था इंद्रप्रस्थ में सारी रात कोई सोया ही नहीं।

प्रातः दूसरे प्रहर के आरंभ होते-न-होते भीम का गज वर्द्धमान द्वार पर आ लगा था। श्रेष्ठियों के कर्मचारियों, पशुओं, वस्तुओं इत्यादि के उतरने के लिए नगर के बाहर ही व्यवस्था की गई थी। उन्हें कर तथा निरीक्षण संबंधी राजकीय कार्यवाही के पश्चात् अनुमति लेकर नगर में प्रवेश करना था। श्रेष्ठि-नेताओं, तथा प्रमुख राजकर्मचारियों के साथ भीम ने नगर में प्रवेश किया। नकुल और सहदेव उनकी अगवानी कर, उन्हें सीधे युधिष्ठिर के भवन में ले आए, जहाँ धर्मराज ने स्वयं उनका स्वागत कर, आतिथ्य ग्रहण करने के लिए आमंत्रित किया।

"महाराज की जय हो।" नगर-श्रेष्ठि ने युधिष्ठिर को प्रणाम किया, "हम सारे श्रेष्ठि आपके कृतज्ञ हैं कि आपने युवराज को अपने सैनिकों सहित हमारी रक्षा के लिए साथ भेजा। हम प्रसन्नतापूर्वक आपको सूचित करते हैं कि इस यात्रा में न तो हमारा एक भी व्यक्ति मारा गया और न ही हमारा सामान एक भी बार लूटा गया। ऐसा नहीं है कि उसका प्रयत्न नहीं किया गया। प्रयत्न तो बार-बार किए गए, किंतु युवराज ने उनके छक्के छुड़ा दिए। परिणामस्वरूप न तो कोई दस्यु-दल हमसे कुछ छीन पाया और न ही कोई राजा किसी-न-किसी व्याज से हमें लूटने का साहस कर पाया। विभिन्न राज्यों के राजकर्मचारियों ने उत्कोच इत्यादि लेने के जो प्रयत्न किए, युवराज के हुंकार के सामने वे भी विफल हुए। प्रथम बार हम केवल आधिकारिक कर देकर अपनी व्यापारिक यात्रा पूरी करके आए हैं, और हमें यह समझ में आया है कि धर्मराज की प्रजा का सुख क्या अर्थ रखता है। इस बार हमने जितना लाभ कमाया है, उतना पहले कभी नहीं कमाया। हमने यह निर्णय किया है कि हम लाभ के अनुपात में ही अधिक राशि राजकोष को

भेंट करेंगे, अपने कम्मकरों को अधिक शुल्क देंगे और अपने कर्मचारियों का वेतन बढ़ा देंगे। हमारे लाभ से हमारे महाराज भी लाभान्वित होंगे और उनकी प्रजा भी।"

नगर-श्रेष्ठि ने रुककर अपने साथियों को संकेत किया। बारी-बारी आकर उन्होंने अपने उपहार युधिष्ठिर के सिंहासन के सम्मुख रख दिए और हाथ जोड़कर अपने-अपने स्थान को लौट गए।

नगर-श्रेष्ठि पुनः बोला, "महाराज से हमारा निवेदन है कि वे जिस प्रकार अपने राज्य की सीमाओं के भीतर अपनी प्रजा की रक्षा करते हैं, वैसे ही वे अन्य राज्यों की सीमाओं में भी हमारी रक्षा करें। युवराज स्वयं उन्हें बताएँगे कि हमारी सीमाओं के बाहर राजा तथा दस्यु में कोई अंतर नहीं है। वहाँ न किसी का धन सुरक्षित है, न प्राण! छोटे-छोटे राज्यों की स्वतंत्र सेनाओं के कारण वैधानिक कठिनाइयाँ ही कम नहीं हैं–अवैधानिक लूट-पाट की तो बात ही क्या। महाराज से छिपा नहीं है कि छोटे-छोटे राज्यों तथा उनकी दस्युओं-सरीखी सेनाओं के कारण प्रजा कितनी दुखी रहती है। हम कामना करते हैं कि हमारे महाराज इनका दमन कर आर्यावर्त्त में अपना प्रभुत्व स्थापित कर चक्रवर्ती सम्राट का पद ग्रहण करें, ताकि हम एक बड़े साम्राज्य के नागरिक के रूप में स्वतंत्र रूप से सुरक्षित विचरण करें। जब तक महाराज ऐसा प्रयत्न करने का निश्चय नहीं करते, तब तक वे हमारे सार्थों की सुरक्षा का वैसे ही दायित्व लें, जैसा कि उन्होंने इस बार लिया है।..."

नगर श्रेष्ठि ने पुनः हाथ जोड़े और अपने साथियों के साथ सभा से बाहर चले गए।

युधिष्ठिर के सिंहासन के सम्मुख उपहारों का ढेर लगा था और श्रेष्ठि-दल उनकी भरपूर प्रशंसा करके गया था, किंतु उनके मुख-मंडल पर तनिक भी उत्साह नहीं था। भीम के लौट आने का उल्लास भी जैसे धूमिल हो गया था। वे अपने भाइयों की ओर मुड़े। उन्होंने कुछ कहा नहीं, किंतु उनकी आँखें पूछ रही थीं, 'अब ?'

"यह तो बड़ी जटिल समस्या है।" नकुल बोला, "व्यापारियों के प्रत्येक सार्थ के साथ इंद्रप्रस्थ की सेना नहीं जा सकती। हम दूसरे राज्यों की सीमाओं के भीतर इन व्यापारियों की रक्षा का दायित्व कैसे ले सकते हैं ?"

युधिष्ठिर ने नकुल के प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया। वे सहदेव की ओर मुड़े, "तुम्हारा क्या विचार है ?"

सहदेव अभी तक जैसे कोई निर्णय नहीं कर पाया था। युधिष्ठिर ने पूछ लिया था, तो उसे मुखर होना ही पड़ा। बोला, "नकुल ने कुछ अनुचित नहीं कहा, किंतु यदि हम ही अपने व्यापारियों की रक्षा नहीं करेंगे, तो वे व्यापार कैसे कर पाएँगे ? सुरक्षा और शांति के बिना व्यापार कैसे हो सकेगा ? और यदि वे व्यापार नहीं कर पाएँगे तो हमारा राज्य समृद्ध कैसे होगा। कृषि और उद्योगों का महत्त्व मुझे मालूम है, किंतु धनोपार्जन में वे व्यापार से स्पर्धा नहीं कर सकते। अब प्रश्न यह है कि हम अपने राज्य और प्रजा की रक्षा के लिए कौन-सा ऐसा उपाय खोजें, जो हमारे सामर्थ्य के भीतर हो और अधर्मसंगत

भी न हो। हम यह कहकर तो छुटकारा नहीं पा सकते कि अपनी प्रजा के प्रति हमारा दायित्व अपने राज्य की सीमाओं के भीतर ही भीतर है।"

"यदि एक बार हमने ऐसा कुछ मान लिया ज्येष्ठ ! तो हमारे प्रजा-जन प्रत्येक राज्य में लुटेंगे और पिटेंगे।" भीम ने जैसे अपनी ओर से निष्कर्ष प्रस्तुत कर दिया, "मान यह लिया जाएगा कि वे सर्वथा अनाथ हैं। उनका कोई रक्षक नहीं है। अतः उन्हें लूटना सबके लिए सरल और सुविधाजनक हो जाएगा। दस्यु जो लूटेंगे, वह अलग, राजा और प्रजा ही उन्हें लूट खाएँगे।"

"मध्यम ने ठीक ही कहा है।" सहदेव ने जोड़ा, "किंतु होना तो यह चाहिए कि प्रत्येक राजा अपने राज्य के भीतर व्यापारियों को सुरक्षा प्रदान करे··· व्यापारी चाहे किसी राज्य की प्रजा हों। जो राजा अपनी प्रजा की रक्षा करता है, वह अन्य राज्यों से आए हुए अपने अतिथियों की रक्षा नहीं करेगा ?"

"धर्म तो यही है, किंतु प्रत्येक राजा धर्मपूर्ण आचरण नहीं करता।" भीम ने कहा, "मैंने पाया कि राजा भी दस्यु-वृत्ति से ग्रस्त हैं। वे मानते हैं कि व्यापारी की रक्षा करने पर, कर अथवा शुल्क के रूप में उन्हें जो कुछ प्राप्त होगा, वह बहुत कम है, और व्यापारियों को लूटकर सरलता से जो धन उनका हो जाएगा, वह कहीं अधिक है। तो ऐसे में वे अधिक लाभ का सौदा ही क्यों न करें।"

"यह राज-धर्म नहीं, दस्यु-कर्म है।" युधिष्ठिर ने जैसे अपने-आपसे कहा।

"यही तो हमारा दुर्भाग्य है।" सहदेव बोला, "हमारे चारों ओर इसी प्रकार के राजा कुकुरमुत्तों के समान उग आए हैं। वे प्रजा का पालन करने के लिए नहीं हैं, प्रजा उनका पालन करने के लिए है।"

"क्या हम अन्य राजाओं से कुछ इस प्रकार की संधि नहीं कर सकते," नकुल ने कुछ संकुचित स्वर में पूछा, "कि अपने राज्य में हम उनके व्यापारियों की रक्षा करें, और वे अपने राज्य में हमारे व्यापारियों की रक्षा करें।"

"राजनीति में इस प्रकार की पारस्परिक संधियाँ महत्त्वपूर्ण हैं," युधिष्ठिर ने स्वीकार किया, "किंतु इसमें भी पहली शंका तो यही है कि संधि के पश्चात भी यदि वह राजा ऐसा नहीं करता, तो क्या हम भी उसके व्यापारियों को लूटने लगें ?" उन्होंने रुककर नकुल की ओर देखा, "दूसरी विचारणीय बात यह है कि ऐसी संधि केवल उन राज्यों के साथ हो सकती है, जहाँ हमारे व्यापारी तो जाते ही हों, उनके व्यापारी भी हमारे राज्य में आते हों। जिन राज्यों के व्यापारी, हमारे राज्य में आते ही नहीं, वे राजा हमारे व्यापारियों की रक्षा क्यों करेंगे ?··· इसका अर्थ हुआ कि हम स्वयं ही अपने व्यापारियों का व्यापार क्षेत्र सीमित कर रहे हैं।"

"ऐसा तो हो सकता है कि हम केवल उन्हीं राज्यों के व्यापारियों को अपने यहाँ आने दें, जिन राज्यों के राजा हमारे व्यापारियों की रक्षा के लिए वचनबद्ध हों ?" भीम ने युधिष्ठिर की ओर देखा, "ऐसे में हमें विभिन्न राज्यों के व्यापारियों में भेद-भाव करने की आवश्यकता नहीं रहेगी।"

"बात केवल व्यापारियों की ही नहीं है।" इस बार युधिष्ठिर का स्वर पहले की तुलना में पर्याप्त मंद था, "सूचनाएँ तो चारों ओर से आ रही हैं। हमारे आचार्य और

ब्रह्मचारी, साधक और तपस्वी, अध्ययन, अध्यापन अथवा साधना के लिए अपने गंतव्य तक पहुँचने के लिए अन्य राज्यों से होकर यात्रा करना चाहते हैं, उन्हें इंद्रप्रस्थ से बाहर निकलते ही इतर राज्यों द्वारा खड़ी की गई अनेक प्रकार की बाधाओं और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।...' युधिष्ठिर की दृष्टि कहीं शून्य में स्थिर हो गई, "पर्यटक और तीर्थयात्री भी तो हैं, जो लोग पूरे जंबूद्वीप की यात्रा करना चाहते हैं...किंतु अन्य राज्यों में उनके धन और प्राणों की रक्षा का प्रबंध न होने के कारण, वे कहीं जा ही नहीं सकते।... वस्तुतः ये सारी समस्याएँ छोटे-छोटे राज्यों के कारण हैं। ये राज्य न बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा कर सकते हैं, न प्रजा की समुचित रक्षा का भार वहन कर सकते हैं।"

"पचास योजनों पर नया राज्य आरंभ होगा, तो समस्याएँ तो होंगी ही।" नकुल ने कहा, "सीमाओं पर टकराहट होगी। सेनाओं का आवागमन होगा। छोटे-बड़े युद्ध होंगे। चारों ओर अशांति फैलेगी। प्रजा तो दुखी होगी ही।"

"भौगोलिक दृष्टि से छोटे राज्यों की समस्याएँ हैं।" सहदेव ने अपना मत दिया, "किंतु क्या यह क्षत्रियों के चारित्रिक पतन और राजाओं के लोभ और स्वार्थ की समस्या नहीं है ?... राज्य चाहे छोटे रहें, किंतु यदि प्रत्येक राजा अपने राज्य में धर्म का शासन स्थापित करता है, तो किसी को किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होगी।..."

"धर्म का शासन।" नकुल ने जैसे मुँह चिढ़ाया, "देवराज इंद्र तक तो तक्षक जैसे व्यक्ति को हमारे राज्य के भीतर अभय प्रदान कर रहे हैं, ताकि कहीं देव अग्नि इस क्षेत्र में उनसे प्रबल न हो जाएँ।"

"छोटे-छोटे राज्य इन देव-शक्तियों के अनुकूल पड़ते हैं।" युधिष्ठिर ने कहा, "राज्य जितना छोटा और असमर्थ होगा, उतना ही महाशक्तियों पर निर्भर होगा, तो महाशक्तियाँ क्यों चाहेंगी कि कोई राज्य अपने आप में समर्थ और सबल हो।"

"यह सब ठीक है।" भीम ने जैसे कुछ ऊबकर कहा, "प्रश्न तो यह है कि अब हमें करना क्या है ? क्या हम नगर-श्रेष्ठि के परामर्श पर इन छोटे राज्यों को समाप्त कर साम्राज्य स्थापित करने जा रहे हैं, अथवा हम अपने व्यापारियों की रक्षा के साथ सदा ही रक्षक सेनाएँ भेजते रहेंगे ?"

"इन प्रश्नों पर तो हम तब विचार करेंगे मध्यम ! जब हम पहले यह निश्चय कर लेंगे कि हमें नगर श्रेष्ठि के परामर्श से ही अपने नीतियाँ निर्धारित करनी हैं।" सहदेव बोला, "और फिर हमें अपना सामर्थ्य भी तो देखना है।"

"यदि मैं व्यापारियों के सार्थों के साथ अपनी रक्षक सेनाएँ भेजता रहूँगा तो मेरे चारों भाई सदा व्यापार-यात्राओं पर ही रहेंगे।" युधिष्ठिर ने प्रकारांतर से सहदेव का समर्थन किया, "और हमें अपने सामर्थ्य पर भी दृष्टि रखनी चाहिए। हम खांडव-वन के दस्युओं के साथ तो पूरी तरह निबट नहीं पा रहे, अब हम व्यापारियों की सुरक्षा के लिए अश्वमेध यज्ञ करने बैठ जाएँगे ?"

"जहाँ तक मेरा संबंध है," भीम का स्वर उल्लासपूर्ण था, "मैं खांडव-वन के दस्युओं से निबटने के लिए भी पूर्णतः सन्नद्ध हूँ और अश्वमेध यज्ञ के अश्व के साथ जाने में भी मुझे काई आपत्ति नहीं है।"

"भीम ! राजधर्म प्रजा-पालन में है, रक्त-पात में नहीं।" युधिष्ठिर ने धीरे से कहा, "हमें बल-प्रयोग केवल वहीं करना है, जहाँ वह धर्म-संगत भी हो और पूर्णतः अनिवार्य भी। मेरी महत्त्वाकांक्षा न कंस बनने की है, न जरासंध अथवा काल्यवन बनने की।"

"मेरा विचार है अग्रज ! यदि आपकी इच्छा कंस, जरासंध और काल्यवन बनने की नहीं है, तो ऐसे लोगों के दलन की इच्छा अवश्य होनी चाहिए। दुष्ट-दलन क्षत्रिय राजा का पहला कर्तव्य है।" भीम ने अपने स्थान से उठते हुए कहा, "अब आपकी अनुमति हो, मैं जरा स्नान, भोजन और विश्राम की ओर ध्यान दूँ, क्योंकि उनका अभाव मुझे कंस, जरासंध और काल्यवन के समान ही पीड़ित कर रहा है।"

"हाँ ! हाँ ! जाओ !" युधिष्ठिर की मुद्रा कुछ संकुचित हो गई, "हमें पहले ही इसका ध्यान करना चाहिए था। तुमने तो अभी न माँ को प्रणाम किया है और न द्रौपदी और बलंधरा से भेंट की है।"

"हाँ। जाकर उसके संशय-राक्षस का भी दमन करूँ, नहीं तो बलंधरा यही विश्वास करती रहेगी कि मैं व्यापारियों के साथ मद्र देश की यात्रा पर नहीं गया था, हिडिंबा से मिलने चला गया था।" भीम हँसता हुआ उठा, "मैं जब तक हिडिंबा के साथ था, मैंने कभी उसका राक्षसी रूप नहीं देखा था, किंतु जब बलंधरा को उससे आतंकित देखता हूँ तो लगता है, वह सचमुच राक्षसी ही है।"

"हम समझ रहे हैं मध्यम !" नकुल हँसा, "आज आप बलंधरा के व्याज से हिडिंबा को ही याद कर रहे हैं।"

भीम ने उत्तर नहीं दिया। वह हँसता हुआ प्रकोष्ठ से बाहर निकल गया।

.

कुंती ने भीम का माथा चूमा और पूछा, "तू स्वस्थ तो है पुत्र ?"

"माँ ! मैंने तो जिस-जिस मार्ग से यात्रा की, उस मार्ग के सारे राजाओं का स्वास्थ्य सुधरता गया।"

"अच्छा ! उनका स्वास्थ्य कैसे सुधरा ?" कुंती हँसी।

"किसी को लोभ का रोग था, उसका उपचार किया।" भीम ने उत्तर दिया, "किसी की पीठ मार खाने के लिए खुजला रही थी, उसकी खुजली मिटाई। कोई प्रजा की चीत्कार सुन नहीं पा रहा था, उसके कान साफ किए और उन्हें सुनने के योग्य बनाया। बहुत सेवा की है माँ ! मैंने लोगों की।"

"अच्छा किया पुत्र !" कुंती ने उसकी पीठ पर हाथ फेरा, "निर्बल की सदा रक्षा करनी चाहिए।··· तुम बलंधरा से मिल आए ?"

"नहीं माँ। पांचाली से भी नहीं।"

"जा ! उनसे भेंट कर भोजन के लिए यहीं आ जा। मैंने तेरे लिए स्वादिष्ट भोजन बनवाया है।"

"और यदि बलंधरा भी चूल्हा-चौका लिए काशी के पकवान बनाए बैठी हो, तो ?"

"उसे कहना, उसका भी निमंत्रण है। उसके हाथ का तो प्रतिदिन खाता ही है।"

"अच्छा माँ।"

भीम को देख, बलंधरा ने अपना उल्लास तो पूरा जताया, किंतु उसकी घबराहट भी छिपी नहीं रही।

"क्या बात है ?"

"कुछ नहीं।" उसने आरती की थाली, साथ खड़ी दासी को पकड़ा दी, "मैंने सुना है कि श्रेष्ठियों ने आपके कार्य की बहुत प्रशंसा की है और महाराज से निवेदन किया है कि उनकी प्रत्येक यात्रा पर आपको उनके साथ भेजा जाए।"

"तुम्हें तो इंद्रप्रस्थ की गूढ़ पुरुष-व्यवस्था की प्रमुख होना चाहिए प्रिये !" भीम ने उसे प्रशंसा भरी आँखों से निहारा, "मैं घर पहुँचा भी नहीं और वहाँ की सारी सूचनाएँ तुम तक पहुँच भी गई।"

"मैं आपसे कहे देती हूँ कि आप यह स्वीकार मत कीजिएगा।"

"क्या ? व्यापारियों की प्रशंसा ?"

"नहीं। उनकी योजना।"

"इस तिरस्कार का कारण ?" भीम गंभीर हो गया था।

"अरे तब तो आप सदा यात्रा पर ही रहेंगे और मैं आपकी प्रतीक्षा में सूखती रहूँगी।" बलंधरा बोली, "और यदि जाना ही हो तो अन्य राजकुमार भी तो हैं। जोखिम वाले सारे काम आपको ही क्यों सौंपे जाते हैं ?"

"ओह !" भीम ने उसे गंभीर दृष्टि से देखा, "देखो। तुम यदि मुझे राजाज्ञाओं का पालन करने से रोकोगी अथवा मुझे अपने भाइयों के विरुद्ध उकसाओगी, तो मैं हिडिंबा के पास चला जाऊँगा।..."

बलंधरा भौचक खड़ी भीम को देखती रह गई... यह हिडिंबा कहाँ से आ गई बीच में... और सहसा वह मुस्करा पड़ी, "अच्छा ! हिडिंबा के पास जा नहीं सकेंगे, तो उसे बुला लेंगे ?"

"हाँ।"

"आपने हिडिंबा को बुलाया और मैंने पांचाली को आमंत्रित किया...।"

"अच्छा ! रहने दो उन दोनों को।" भीम ने पुनः गंभीरता का अभिनय किया, "आज तो हम दोनों को माँ ने भोजन के लिए आमंत्रित किया है।..."

18

हवन-कुंड में पूर्णाहुति डाल, पुरोहित ने शिशु को दीर्घायु होने का आशीर्वाद दिया।

"राजकुमारी ! शिशु के लिए नाम क्या सोचा है ?"

"बभ्रुवाहन।" चित्रांगदा ने अर्जुन की ओर देखा।

अर्जुन ने सहमति के रूप में सिर हिला दिया। वह मन-ही-मन सोच रहा था, 'चित्रवाहन' का अधिकारी 'बभ्रुवाहन' ही हो सकता है।

बभ्रुवाहन को गोद में लिए हुए मंत्रोच्चार करते हुए ब्राह्मणों में घिरी हुई चित्रांगदा अपने पिता के सम्मुख आ खड़ी हुई।

चित्रवाहन ने अपनी भुजाएँ उसकी ओर बढ़ा दीं। उसके हाथ शिशु को थामने के लिए लालायित हो रहे थे।

चित्रांगदा को लगा कि जिस तत्परता से उसके हाथ आगे बढ़ने चाहिए थे, उस तत्परता से वे आगे नहीं बढ़े···क्यों संकुचित हो रही थी वह ? शिशु को उसके नाना को सौंपते हुए उसका हृदय इस प्रकार प्रकंपित क्यों था ?··· 'नहीं !' किसी ने उसके मन में कहा, 'नाना की गोद नहीं है यह। बभ्रुवाहन, धर्मतः महाराज चित्रवाहन का पुत्र है। उसका जनक पौरव अर्जुन है, किंतु वह अर्जुन का नहीं, चित्रवाहन का उत्तराधिकारी है।··· वह अपने पुत्र को महाराज चित्रवाहन को सौंप देगी और खाली गोद लिए, अपने पति के साथ, यहाँ से बहुत दूर चली जाएगी।' आज उसने पहली बार लक्ष्य किया था कि यह नन्हा-सा शिशु उसका पुत्र ही नहीं था, वह जैसे उसका साक्षात् हृदय ही था, स्वयं उसका प्राण था··· और वह साधारण नारी थी, किन्हीं काल्पनिक कथाओं की यातुधानी नहीं थी, जो अपना हृदय मणिपूर में छोड़कर सारे संसार में भ्रमण करती फिरे··· यदि उसने अपना यह हृदय, अपने शरीर से पृथक् भी किया, तो शायद उसके प्राण नहीं बचेंगे··· और फिर जाने उसका कभी लौटकर मणिपूर आना हो न हो। जाने बभ्रुवाहन को इंद्रप्रस्थ आने की सुविधा मिले, न मिले···जाने जीवन भर उनकी भेंट कभी हो न हो···

वह बभ्रुवाहन को अपने पिता की गोद में कैसे डाल सकती है ?

चित्रवाहन ने अपने उत्साह में चित्रांगदा के संकोच को लक्ष्य नहीं किया। उनके लिए यह अनन्त सौभाग्य का दिन था··· उनके हाथों ने चित्रांगदा द्वारा शिशु के सौंपे जाने की प्रतीक्षा नहीं की; अधिकारपूर्वक शिशु को थाम लिया।··· किंतु शिशु के ले लिए जाने से चित्रांगदा के पग फिर वहाँ से उठ नहीं सके। पहले तो वह खड़ी, प्रतीक्षा करती रही कि पिता, उसका पुत्र उसे लौटा दें, किंतु जब चित्रवाहन ने इस विषय में कोई रुचि नहीं दिखाई, तो वह उनके निकट ही बैठ गई। उसे लग रहा था कि किसी अदृश्य रज्जु ने उसके पैरों को बाँध कर वहाँ डाल दिया है।···

अर्जुन पृथक् बैठा था। वह समझ नहीं पा रहा था कि वह प्रसन्न था अथवा अवसन्न।··· बभ्रुवाहन उसकी प्रथम संतान था। इसके पूर्व उसने किसी शिशु को इतने निकट से नहीं देखा था, उसके अंगों को इस प्रकार नहीं निहारा था, उसके शरीर को इस प्रकार नहीं सहलाया था··· किसी शिशु को गोद में ले, सहज रूप से उसका मुख चूम लेने के लिए मन ऐसे नहीं अकुलाया था···किंतु वह जानता था कि यह उसका पुत्र होते हुए भी चित्रवाहन का शुल्क था··· उसे चित्रवाहन को सौंपे बिना वह चित्रांगदा को अपने साथ नहीं ले जा सकता था। वह उसकी पत्नी थी, किंतु चित्रवाहन उसका

'दान' तब तक नहीं करेंगे जब तक वह उनका शुल्क नहीं देगा।''' आज शुल्क चुका दिया जाएगा और वह एक प्रकार से चित्रवाहन के ऋण से मुक्त हो जाएगा। वह और चित्रांगदा अब मणिपूर में बंधक नहीं रहेंगे। वे अपनी यात्रा पर आगे जा सकते थे। अब वे इंद्रप्रस्थ की ओर बढ़ सकते थे''' अपने पहले पुत्र से वियोग का अवसाद उसके मन में था, किंतु वह एक अभियान की पूर्णता की तृप्ति का अनुभव भी कर रहा था'''

उसने सोचा था कि बभ्रुवाहन अपने पिता को सौंप कर, चित्रांगदा लौटकर उसके पास आ जाएगी''' किंतु चित्रांगदा तो जैसे भूल ही गई थी कि वह अर्जुन के साथ इस मंडप में आई थी। हवन-कुंड के पास दोनों साथ-साथ बैठे थे और उन्होंने अपने पुत्र की स्वस्थ दीर्घायु के लिए साथ-साथ हवन किया था। अब समारोह संपन्न हो चुका था''' फिर चित्रांगदा को क्यों स्मरण नहीं हो रहा कि उसे लौटकर अर्जुन के पास आना है ? वह उसकी प्रतीक्षा कर रहा है'''

चित्रवाहन संसार भर को विस्मृत किए बभ्रु को अपनी गोद में लिए गदगद बैठे थे। उनके मन के किसी कोने में यह विचार नहीं था कि अब उन्हें यहाँ से उठना भी है''' और चित्रांगदा की तो दृष्टि ही बभ्रु पर से हट नहीं रही थी।'''

राजा को वहाँ से उठते न देख, सारे मंत्री उनके चारों ओर घिर आए, "बधाई हो महाराज ! आज मणिपूर को वस्तुतः युवराज प्राप्त हुआ है।"

"ठीक कह रहे हो पुण्यप्रताप।" चित्रवाहन ने उसकी ओर देखा, "वैसे तो हमारी चित्रा भी युवराज ही थी, किंतु यह युवराज अब मणिपूर का राजा भी बनेगा।"

"युवराज के लिए कोई विशेष धाय रखी गई है, जो राजकुमारी के इंद्रप्रस्थ चले जाने के बाद भी युवराज के पालन-पोषण का दायित्व सँभाल सके ?" मंत्री पुण्यप्रताप ने अपनी स्वामि-भक्ति जताई, "ऐसा न हो कि योग्य धाय के अभाव में युवराज को कोई कष्ट हो।"

"तुम्हारी दृष्टि में ऐसी कोई धाय है क्या ?" चित्रवाहन ने पूछा।

"मैं सोच रहा था कि ग्राम में हमारी एक संबंधी स्त्री है तो जिसके बालक का निधन हो गया है, किंतु जाने वह यह काम करना चाहे, न चाहे। वैसे वह आ जाए तो युवराज को अपना दूध भी पिला सकती है।"

"तुम हमें उसका नाम-ग्राम इत्यादि दे दो," चित्रवाहन बोले, "आगे की कार्यवाही हम स्वयं कर लेंगे। वैसे जब तक चित्रा यहाँ है, तब तक मुझे कोई विशेष चिंता नहीं है।"

चित्रांगदा ने उनकी चर्चा और आगे नहीं सुनी''' वह इतने से ही जैसे भर पाई थी''' यहाँ उसके पुत्र के पालन-पोषण के लिए किसी और 'माँ' को खोजा जा रहा है। मंत्री पुण्यप्रताप बभ्रु को किसी ऐसी स्त्री को सौंप देना चाहता है, जिसकी अपनी संतान मर चुकी है। उससे युवराज का अनिष्ट नहीं होगा ? जिस माँ के अपने बच्चे जीवित नहीं रह पाते, वह बभ्रु को दूध पिलाएगी ? बभ्रु उसके वक्ष से लगकर सुरक्षित रह पाएगा क्या ?''' पर इसमें एक ही सुखद बात थी कि महाराज यह नहीं कह रहे थे कि बभ्रु उन्हें सौंपकर चित्रांगदा अपने पति के साथ चली जाए।''' वह कह रहे थे कि जब तक

चित्रांगदा यहाँ है तब तक उन्हें विशेष चिंता नहीं है...

चित्रांगदा ने बभ्रु को दूध पिलाकर सुला दिया तो अर्जुन ने उसकी ओर करवट बदली, "क्या अब हम लोग मणिपूर से विदा होने की योजना बना सकते हैं ?"

चित्रांगदा को लगा कि प्रातः की घटनाओं से हुए उसके घाव अभी भरे भी नहीं थे कि किसी ने अपने नखों से उन्हें पुनः छील दिया।... पता नहीं ये पुरुष 'संतान' के प्रेम का अनुभव क्यों नहीं कर पाते। उसके पिता कितने सहज रूप से बभ्रु पर अपना अधिकार जमाए बैठे हैं। उन्होंने एक बार भी नहीं सोचा कि उनके इस आचरण से चित्रांगदा के मन पर क्या बीत रही होगी।... और अब पार्थ पूछ रहे हैं कि बभ्रु को यहाँ छोड़ कर वह उनके साथ कब चलेगी ?...

"तुमने कोई उत्तर नहीं दिया चित्रा ?"

"क्या उत्तर दूँ मैं।" बहुत प्रयत्न करने पर भी चित्रांगदा अपनी खीझ नहीं रोक सकी, "तेरह दिन का बभ्रु क्या इतना आत्मनिर्भर हो गया है कि उसे पिताजी को सौंप कर मैं आपके साथ चल दूँ ?"

अर्जुन ने कुछ नहीं कहा। इस समय कुछ भी कहने का कोई लाभ नहीं था। इस समय उसे चित्रांगदा के मन और शरीर की स्थिति को समझना चाहिए। गर्भ-काल की असुविधाओं और प्रसव के कष्टों को सहकर उसने बभ्रु को पाया है... और उससे प्राप्त सारा हर्ष तत्काल ही विषाद में परिणत होने को तैयार खड़ा था।... उसका शरीर दुर्बल था, मन क्लांत था। इस समय उसे किसी द्वन्द्व से गुजरना पड़ा, तो संभव है वह उसके लिए असह्य हो जाए...

अर्जुन को लगा, इस सारी सहानुभूति के नीचे से कई निरीह-सी आशंकाएँ अपना सिर उठा रही हैं।... नारी का तो परीक्षण ही संतान के जन्म के पश्चात् होता है। पहले तो उसे पति ही प्रिय होता है... उसका सुख और हर्ष ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य होता है... उसके और उसके प्रिय के मध्य कोई तीसरा नहीं होता... किंतु माँ बनते ही उसका दृष्टिकोण बदलने लगता है। संतान की इच्छा और प्रसन्नता ही उसके लिए सब कुछ हो जाती है।... पुत्र अपने पिता का प्रतिद्वन्द्वी नहीं होता, किंतु स्त्री उन्हें प्रतिद्वन्द्वी बना देती है। नन्हे से असमर्थ, असहाय और पूर्णतः परावलंबी पुत्र से पिता की क्या प्रतिद्वंद्विता ?... वह तो स्वयं ही अपना सब कुछ उसको देने के लिए तत्पर होता है... किंतु उसके कारण पत्नी द्वारा अपनी उपेक्षा उसे सहन नहीं होती। वह जानता है कि उस उपेक्षा का कर्ता पुत्र नहीं है, किंतु पत्नी की असंतुलित बुद्धि के कारण निमित्त तो वह बन ही जाता है।... शायद पुरुष की यही असहायता उसे विचलित कर देती है कि उसकी पत्नी उसकी अपनी प्रिय संतान की आड़ में उसकी उपेक्षा कर रही है।... प्रतिस्पर्धी बराबर का हो तो कोई उसका प्रतिकार भी करे... यहाँ तो प्रतिस्पर्धी उसे बना दिया जाता है, जिसका प्रतिकार करते हुए पुरुष को अपने पौरुष पर ही लज्जित होना पड़े...

"रुष्ट हो गए क्या ?"

"नहीं ! रुष्ट नहीं हूँ।" अर्जुन ने उत्तर दिया, "रुष्ट होने का तो कोई कारण नहीं है।"

"तो बोलते क्यों नहीं ?"

"क्योंकि सोच रहा था।"

"क्या ?"

"सोच रहा था कि आगे तुम्हारे लिए कठिन दिन हैं। तुम वचनानुसार बभ्रु को अपने पिता को सौंप नहीं पाओगी···।"

चित्रांगदा जैसे स्वयं को संयत करने का प्रयत्न करती रही, किंतु जब स्वयं को रोक नहीं पाई तो फूट पड़ी, "अपने पुत्र से प्रेम करना पाप है क्या ? अपनी संतान को पालना माँ का धर्म नहीं है ?"

"स्वयं को शांत करो चित्रा !" अर्जुन ने मुस्कराने का प्रयत्न किया, "मैं तुम पर कोई आरोप नहीं लगा रहा। मैं तुम्हें दोषी नहीं ठहरा रहा। मेरा तुमसे कोई विरोध भी नहीं है··· और मैं तुमसे तुम्हारा पुत्र न छीन रहा हूँ, न तुम्हें उससे वियुक्त कर रहा हूं···।"

"तो ?" चित्रांगदा स्वयं नहीं समझ पाई कि वह अर्जुन से क्या पूछना चाहती है।

अर्जुन ने भी यह चिंता नहीं की कि चित्रांगदा के इस अस्पष्ट प्रश्न का अभिप्राय क्या था। वह अपनी बात कहता गया, "तुमने अभी कहा कि संतान को पालना माँ का धर्म नहीं है क्या ? मैं भी धर्म की ही चिंता कर रहा था।"

"कैसा धर्म ?"

"अपने वचन का पालन मनुष्य का धर्म नहीं है क्या ?" अर्जुन ने उसकी ओर देखा, "जब तुम्हारे पिता ने हमारे विवाह के संदर्भ में यह प्रतिबंध लगाया था कि मुझे तुमसे विवाह करने के लिए उसका शुल्क चुकाना होगा, तब तो तुमने कोई आपत्ति नहीं की थी।"

"यदि आपत्ति करती तो क्या करते आप ?"

"इस प्रतिज्ञा पर विवाह नहीं करता।"

"आप व्यर्थ उद्विग्न न हों।" चित्रांगदा का स्वर पर्याप्त सामान्य हो गया था, "मैं आपकी प्रतिज्ञा-पूर्ति के मार्ग में नहीं आऊँगी।"

"मैं जानता हूँ।" अर्जुन ने कहा, "किंतु तुम भी यह जान लो कि जब तक मैं तुम्हारे पिता का शुल्क नहीं चुकाता, तुम मेरे माथे पर उनके ऋण के रूप में बोझ हो।··· जब तक मैं उनका शुल्क नहीं चुकाता, तब तक मैं तुम्हें यहाँ से अपने साथ लेकर नहीं जा सकता।··· और इतना तो तुम जानती ही हो, कि मैं सदा के लिए यहाँ रह नहीं सकता। मुझे जाना ही है।"

"मैं सब कुछ समझती हूँ," चित्रांगदा का स्वर शांत था, "किंतु आप इतनी-सी बात क्यों नहीं समझते कि बभ्रु अभी बहुत छोटा है। मैं उसे किसी धाय के भरोसे छोड़ कर नहीं जा सकती।"

"वैसा कुछ मैंने कहा भी नहीं है।" अर्जुन कुछ अन्तर्मुखी हो गया, "मैं अपने धर्म की बात सोच रहा हूँ, तो तुम्हारे मोह को लेकर भी चिंतित हूँ। तुम उस बभ्रु से मोह

बढ़ा रही हो, जो हमारा नहीं है। बभ्रु महाराज चित्रवाहन का पुत्र है।"

"आपका धर्म यही कहता है, किंतु मेरे पिता का भी तो कोई धर्म होगा। वे अपनी पुत्री को वंचित करना नहीं चाहेंगे।" चित्रागंदा बोली, "पिता का तो धर्म ही अपनी संतान को देना है, उससे कुछ छीनना नहीं।"

अर्जुन ने कोई उत्तर नहीं दिया··· पता नहीं चित्रांगदा अपने पिता के धर्म की चर्चा कर रही थी, या उनकी आड़ में वह अर्जुन को ही पिता का धर्म समझा रही थी··· पिता के रूप में उसे भी बभ्रु के लिए संसार भर की सुख-सुविधाएँ जुटानी थीं, उससे उसकी माँ को छीनना तो पिता का धर्म नहीं था।··· वह अपने धर्म के विषय में सोच रहा था··· अपने वचनानुसार, महाराज चित्रवाहन को शुल्क-दान, किंतु बभ्रु के पिता के रूप में उसका क्या धर्म था ? उस नवजात शिशु के पिता के रूप में उसे क्या करना चाहिए था ?···

अर्जुन को लगा कि इस बार कदाचित् उसका अपना मोह जाग रहा है··· संतान का मोह उसे जकड़ रहा है··· और यदि यह इसी प्रकार बढ़ता रहा, तो निश्चय ही वह उसे उसके धर्म से डिगा देगा··· बभ्रु यदि अपने नाना के परिवार में पलेगा, तो उसे सुख-सुविधाओं का कोई अभाव नहीं होगा। उसकी उपेक्षा नहीं होगी। वह मणिपूर का युवराज है, भावी राजा है। उसे पिता का वात्सल्य देने के लिए अर्जुन उसके निकट रहा, तो अपने धर्म से विचलित होगा··· और यदि किसी युक्ति से बभ्रु को वह इंद्रप्रस्थ ले भी गया, तो बभ्रु धर्मराज युधिष्ठिर का उत्तराधिकारी तो नहीं हो सकता··· वह इंद्रप्रस्थ का युवराज नहीं हो सकता।··· क्या यह धर्म है पिता का कि वह अपने मोह के कारण पुत्र को इस प्रकार वंचित करे ?··· नहीं ! पुत्र के वियोग का कितना भी कष्ट क्यों न हो, अर्जुन न तो चित्रवाहन को दिए गए अपने वचन से पीछे हट सकता है··· और न ही अपने पुत्र को राजसिंहासन से वंचित कर सकता है···

बभ्रु अपने छोटे-छोटे पगों से अटपटा-सा दौड़ता हुआ आया और चित्रांगदा से लिपट गया, "माँ !"

"क्या बात है बभ्रु ! किससे बचकर भागा है ?"

"माँ ! गोदी ! नींद आई है।"

"पल्लविका !" अर्जुन ने दासी को पुकारा, "बभ्रु को ले जाकर सुला दो।"

"नहीं।" बभ्रु ने विरोध किया, "माँ की गोद में सोऊँगा।"

"तू जा पल्लविका !" चित्रांगदा बोली, "मैं युवराज को सुला लूँगी।"

लौटती हुई पल्लविका को अर्जुन चुपचाप देखता रहा। वह कक्ष से निकल गई तो बोला, "क्यों बभ्रु के लिए कठिनाइयाँ बढ़ा रही हो। वह धाय और दासी के साथ जितना अधिक समय व्यतीत करेगा, हमारे जाने के पश्चात् उतना ही सुखी रहेगा।"

"माँ के होते हुए उसे क्या आवश्यकता है कि वह धाय अथवा दासी के वक्ष में मुँह छिपाकर सोए ?"

"और जब माँ चली जाएगी, तब ?"

"तव की तव देखी जाएगी।" चित्रांगदा वोली, "भविष्य की आशंकाओं के मारे वर्तमान का सुख क्यों छोड़ दें ?"

"वर्तमान का सुख मत छोड़ो, किंतु ग्रहण हो या त्याग··· योजनावद्ध ढंग से ही करना चाहिए। त्याग की भी तैयारी करनी पड़ती है। वह क्रमशः हो, तो ही अच्छा है।"

चित्रांगदा वभ्रु को लेकर पर्यंक पर वैठ गई। उसने उसे अपनी गोद में एक करवट लेटा लिया था और उसे धीरे-धीरे थपकती जा रही थी, और सहसा वह अर्जुन की ओर मुड़ी, "वभ्रु अव तुतलाकर छोटे-छोटे वाक्य वोलने लगा है। डगमगाता हुआ अटपटी चाल से थोड़ा-थोड़ा दौड़ने लगा है। अव ही तो संतान को पालने का थोड़ा वहुत सुख मिलने लगा है।··· आपको वह एकदम अच्छा नहीं लगता ?"

"अच्छा क्यों नहीं लगता। शिशु तो किसी का भी हो, सवको अच्छा लगता है।" अर्जुन चित्रांगदा का अभिप्राय समझ रहा था, "किंतु तुम्हारी ही वात को मैं उलट कर कहना चाहता हूँ, वभ्रु अव वोलने भी लगा है, सारे प्रासाद में भागता फिरता है।··· अव उसे महाराज भी सँभाल लेंगे। तुम मेरे साथ चलने की तैयारी करो।"

"मुझे मालूम है कि वह भागता-फिरता ही नहीं है, गिरता-पड़ता भी रहता है। अव ही तो वह माँ को पहचानने लगा है और अपनी प्यारी वोली में माँ को पुकार कर अपनी इच्छाएँ जताने लगा है। अव ही तो वह कहने लगा है कि वह माँ के हाथ से खाएगा और माँ के पास सोएगा। अव ऐसे में मैं उसे छोड़कर चल दूँ ? ताकि मुझे न पाकर वह रो-रो कर हल्कान होता रहे और किसी को समझ में ही न आए, कि उसे चुप कैसे कराएँ।···"

"अपनी प्रजा का पितृवत् पालन करने वाले महाराज चित्रवाहन क्या एक वच्चे को पालने की व्यवस्था भी नहीं कर सकते ?" अर्जुन कुछ खीझ कर वोला, "तुम्हें अपने पुत्र के मोह में न तो मेरा वचन स्मरण रहता है, न अपना कर्तव्य ! अव तुम्हारे लिए वभ्रु ही सव कुछ हो गया, जिस पिता ने तुम्हें जन्म दिया और पालन-पोषण कर इतना वड़ा किया, उनका हित भी तुम्हारे लिए कोई अर्थ नहीं रखता ?"

चित्रांगदा की दृष्टि में क्रोध झलका, किंतु उसकी वाणी अव भी संयत ही रही, "मुझे अपने पिता के हित का पूर्ण वोध है। मैं जानती हूँ कि मेरे पिता की क्या आवश्यकता है। उनके प्रति मेरा दायित्व आपके समान न तो मात्र वचन पूर्ण करने तक है, न शुल्क-दान तक। मैं जीवन में जैसे-जैसे समर्थ होती गई हूँ, मैंने अपने पिता को असमर्थ होते ही देखा है। सदा उन्हें सहारा दिया है, उनके दायित्वों का वहन स्वयं किया है, स्त्री होते हुए भी युवराज के रूप में पुरुष वनकर प्रजा का पालन किया है··· और अव आप उनके प्रति मुझे अपना कर्तव्य स्मरण करा रहे हो।··· " क्रमशः उसकी वाणी कुछ उत्तेजित होती गई, "क्या है उनके प्रति मेरा कर्तव्य ? क्रमशः वृद्ध और असहाय होते हुए उस धर्म प्राण क्षत्रिय पर इस शिशु की रक्षा का वोझ डाल कर उनकी कमर और भी झुका दूँ। उस असमर्थ पिता के पास इस दूध पीते युवराज को छोड़कर चली जाऊँ, ताकि शत्रु इन दोनों की हत्या कर मणिपूर के राजवंश को सदा के लिए समाप्त कर दें। उनकी रक्षा का मुझ पर कोई दायित्व नहीं है ?"

अर्जुन ने उसे एक भरपूर दृष्टि से देखा, "तुम पहले अपने मन में यह स्पष्ट कर

लो कि तुम मणिपूर में अपने पिता की रक्षा के लिए रुकी रहना चाहती हो या वभ्रु के पालन-पोषण के लिए अथवा पुत्र को अपनी आँखों के सम्मुख देखते रहने के माँ के सुख के लिए।"

"क्या ये सब एक-दूसरे से संबद्ध नहीं हैं ?"

"नहीं। ये सब अपने मन को बहकाए रखने के लिए खोजे गए कारण हैं। तुम अपने मोह को न छोड़ पा रही हो, न स्वीकार कर रही हो। तुम अपनी कर्तव्य-परायणता का हौवा दिखाकर मुझे स्वार्थी और अपराधी घोषित करना चाहती हो।..."

"क्यों ? मैं आपसे प्रेम नहीं करती ? आपको पाने के लिए मैंने प्रयत्न नहीं किया ? आपको मणिपूर में अटकाए रखने के लिए मैंने नाटक नहीं किया ?..."

"वह सब तुमने किया।" अर्जुन शांत मन से बोला, "किंतु वह सब तुमने मेरे प्रेम के कारण नहीं किया।... यह बात मुझे अब समझ आ रही है कि तुम तब भी अपने-आप से प्रेम करती थीं, और अब भी अपने-आपसे प्रेम करती हो। तुमको सब कुछ अपने लिए चाहिए। तुम धर्म को नहीं समझतीं। तुम किसी से प्रेम नहीं करतीं, क्योंकि तुम त्याग नहीं कर सकतीं। तुम बभ्रु से प्रेम नहीं करतीं, अपने-आपसे प्रेम करती हो। तुम बभ्रु के पास उसकी सुविधा के लिए नहीं, अपने सुख के लिए बनी रहना चाहती हो। तुम न अपने पिता के लिए जी सकती हो, न अपने पति के लिए, न अपने पुत्र के लिए। तुम केवल अपने लिए जी सकती हो... और तुम वही करोगी।..."

"अभी उठकर आपके साथ चल पड़ूँ तो मैं आदर्श नारी हो जाऊँगी ?" चित्रांगदा का स्वर वक्र हो गया, "क्यों क्या वात्सल्य की तुलना में शृंगार, धर्म के अधिक निकट है ? वात्सल्य पाप है और शृंगार जीवन का धर्म है ?"

"कुतर्क मत करो।" अर्जुन पर्याप्त संयत स्वर में बोला, "पुत्र हो जाने के पश्चात भी जो स्त्री पति का संग-निर्वाह करती है, वही सती है। जिसे पुत्र पति से अधिक प्रिय हो, वह सती नहीं होती। इसलिए नहीं कि वात्सल्य कोई हीन भाव है, इसलिए कि तुम मेरी धर्मपत्नी हो, काम-संगिनी नहीं। मैं अपनी कामनाओं को अस्वीकार नहीं करता। काम-भाव को हमारे ऋषियों ने देवत्व की उदात्तता प्रदान की है।... पर पति-पत्नी का संबध, केवल शरीर-भोग तक सीमित नहीं है। पति-पत्नी के रूप में वे धर्मपूर्वक काम तथा अर्थ का भोग करते हुए मोक्ष को प्राप्त करते हैं।... पर शायद तुमने दांपत्य-जीवन को कभी इस दृष्टि से नहीं देखा। तुम्हें अब मेरी आवश्यकता नहीं है।..."

"ऐसा मत कहिए। इतने क्रूर मत बनिए।" चित्रांगदा की आँखों में अश्रु आ गए, "हो सकता है कि मैं एक दुर्बल नारी हूँ, जो किसी को भी नहीं छोड़ सकती... न पिता को, न पुत्र को, न पति को...।" उसने अर्जुन की ओर देखा, "क्या यह संभव नहीं है कि आप सदा के लिए मणिपूर में ही रह जाएँ ?"

अर्जुन हँस पड़ा, "यह धर्मसंगत नहीं है। मेरे लिए यहाँ रहना उचित नहीं है। फिर मुझ पर मेरी माता और मेरे भाइयों का अधिकार है। तुम्हारे अथवा अपने सुख के लिए मैं न अपनी माता का त्याग कर सकता हूँ न अपने भाइयों का, न अपनी पत्नी का...।"

"हाँ। आपकी तो एक पत्नी भी वहाँ है।" चित्रांगदा बोली, "एक मैं ही न हुई तो क्या अंतर पड़ेगा।"

"तुम इस समय संतुलित मन से सोच नहीं पा रही हो," अर्जुन बोला, "इसलिए मेरे दायित्वों और कर्तव्यों को समझ नहीं पा रही हो।''' पर मैं न तो तुमसे रुष्ट हूँ, न तुम्हारा शत्रु हूँ। तुम्हारा सुख मुझे अब भी उतना ही प्रिय है। यदि तुम यहाँ रह कर सुखी हो, तो यहीं रहो।''जब तुम्हें लगे कि तुम्हें मेरी आवश्यकता है, तुम इंद्रप्रस्थ आ सकती हो। तुम्हारा स्वागत होगा। स्वयं न आ सको तो संदेश भिजवा सकती हो, मैं तुम्हारे इंद्रप्रस्थ पहुँचने की व्यवस्था कर दूँगा, अथवा स्वयं आकर तुम्हें ले जाऊँगा।"

"ओह ! प्राण-सखा !" चित्रांगदा का स्वर अत्यन्त विह्वल था, "तुम अपने सुख के लिए क्यों नहीं जी सकते ?"

"हमारा जीवन धर्म के लिए है चित्रा ! सारा सुख उस धर्म के निर्वाह में ही है।" अर्जुन बोला, "अपने सुख के लिए जीना, तो कोई जीना नहीं होता।"

"मेरी समझ में तुम्हारी बात नहीं आती। व्यक्ति अपने सुख के लिए न जिए, तो किसके लिए जिए ?" चित्रांगदा ने विवाद त्याग दिया, "अच्छा ! मुझे विचार करने के लिए कुछ समय तो दो।"

"तुम सोच लो।" अर्जुन बोला, "किंतु यह भी जान लो कि जो लोग जीवन में सुख खोजते हैं, वे कभी सुखी नहीं होते। सुख उन्हीं को मिलता है जो धर्म को जानना चाहते हैं, उस पर चलना चाहते हैं, उसके लिए कष्ट सहने को तैयार रहते हैं।"

"मैं यह सब नहीं समझती।" चित्रांगदा बोली, "मैं तो केवल इतना ही जानती हूँ कि बभ्रु मेरा पुत्र है, और मैं उसे छोड़कर नहीं रह सकती।"

"तुम विचार कर लो।" अर्जुन का स्वर उदासीन हो चला था, "मैं कल ही तो मणिपूर नहीं छोड़ रहा।''किंतु अब निश्चय कर ही लो कि तुम क्या चाहती हो। मुझे तुम्हारा प्रत्येक निश्चय स्वीकार होगा।"

19

"अर्जुन !"

अर्जुन ने पलटकर देखा प्रभास क्षेत्र में इस एकांत सागर-तट पर उसे पहचानने वाला कौन था ?''उसकी आँखें क्षण भर के लिए आश्चर्य से फैलीं और फिर जैसे उसका मन विह्वल होकर जल के रूप में उसकी आँखों में समा गया।''उसके सामने कृष्ण खड़ा था। रुकना अर्जुन के लिए संभव नहीं था। अगले ही क्षण अर्जुन, कृष्ण की आमंत्रणमयी भुजाओं में समा गया।

"तुम यहाँ कैसे ?" अलग होते ही अर्जुन ने पूछा।

"उलटी बात कर रहे हो मित्र ! यह प्रभास-क्षेत्र है, हमारा क्षेत्र ! चकित तो मुझे होना चाहिए कि तुम यहाँ कैसे !"

"मुझे कुछ अनुमान तो था कि मैं द्वारका के निकट हूँ, किंतु ठीक-ठीक कितनी दूर हूँ, यह मैं नहीं जानता था।" अर्जुन बोला, "तुम यहाँ किसी काम से आए हो ?"

"तुम्हारा स्वागत करने ही आया हूँ। यदि यह काम है तो समझ लो काम से ही आया हूँ, अन्यथा अपना सुख प्राप्त करने आया हूँ।"

"तुम्हें सूचना थी कि मैं यहाँ हूँ ?"

"हाँ !" कृष्ण मुस्कराए, "अपने क्षेत्र में आने-जाने वाले लोगों की खोज-खबर नहीं रखेंगे, तो यादव अपना शासन कैसे चलाएँगे।"

"पर कैसे ?" अर्जुन चकित था, "क्या यहाँ आने-जानेवाले प्रत्येक व्यक्ति की सूचना तुम्हें रहती है ?"

"नहीं ! प्रत्येक व्यक्ति की नहीं किंतु यहाँ की गति-विधि की सूचना तो रखनी ही पड़ती है। तीर्थ-स्थलों की शांति बनी रहे और वहाँ आनेवाले यात्री कष्ट न पाएँ, उसके लिए शासन को सजग तो रहना ही पड़ता है। इसलिए जब कोई विशिष्ट व्यक्ति आ जाए तो हमें उसकी सूचना भी मिल जाती है।" कृष्ण की वाणी कुछ गंभीर हो गई, "और अभी तो चारों ओर हमारे विरोधी फैले हुए हैं, उनसे अपनी रक्षा के लिए भी हमें अपनी आँखें खुली रखनी पड़ती हैं, और अपने तटों पर निरंतर प्रहरी के समान सजग रहना पड़ता है।"

"किंतु यहाँ प्रहरी कहाँ हैं ? मुझे कोई सैनिक चौकी तो दिखाई ही नहीं पड़ी।" अर्जुन बोला।

"जो दिखाई पड़ें, वे प्रहरी नहीं होते, क्योंकि शत्रुओं और अपराधियों को यह ज्ञात होता है कि उन्हें किससे बचना है अथवा किसको अपने प्रभाव से शिथिल कर उसे कर्तव्यच्युत करना है।" कृष्ण हँस पड़े, "शासन को ईश्वर के ही समान सर्वव्यापी किंतु अदृश्य होना चाहिए पार्थ ! जो प्रकट है, वह बल है, शासन तो अदृश्य होता है। अकारण बल-प्रदर्शन नहीं होना चाहिए।"

"तुम्हारी गुप्तचर-व्यवस्था पर्याप्त दृढ़ मालूम होती है।" अर्जुन हँसा, "नहीं तो एक तीर्थ-स्थान पर एक संन्यासी का आगमन कोई ऐसी घटना तो नहीं, जिसकी सूचना तुम तक पहुँच जाए।"

"आओ ! कहीं बैठें।" कृष्ण ने कहा, "हमारा सागर-तट बहुत सुंदर है।"

अर्जुन ने कुछ नहीं कहा, चुपचाप कृष्ण के पीछे-पीछे चल पड़ा।

कृष्ण के निकट खड़े होकर उसने सागर की ओर देखा : सचमुच बहुत सुंदर स्थल था। अपनी इस यात्रा में अर्जुन ने सहस्रों योजनों तक फैला सागर-तट देखा था। सागर ने उसे सदा ही लुभाया था, फिर भी उसे तनिक भी संदेह नहीं था कि अनन्त सागर कहीं बहुत संकीर्ण भी दिखाई देता था, कहीं उद्दाम और कहीं बहुत प्रचंड। कहीं-कहीं चट्टानों के सम्मुख वह अवश, अक्षम और निरीह भी हो जाता था। उसका सौन्दर्य जल का ही सौन्दर्य था, और जल सब कहीं था, फिर भी उसका कोई रूप मनमोहक था, कोई नहीं। लहरें तो सब एक जैसी ही थीं, फिर भी जैसे प्रत्येक लहर, दूसरी लहर से भिन्न थी, और पर्याप्त नवीनता लिए हुए थी।...

"तुम्हें यह ज्ञात था कि मैं इंद्रप्रस्थ में नहीं हूँ ?" अर्जुन ने बैठते हुए कहा।

"हाँ ! इंद्रप्रस्थ छोड़े, तुम्हें वर्षों हो गए, क्या अब तक मुझे यह सूचना ही नहीं मिलती ?"

"मेरे इंद्रप्रस्थ छोड़ने का कारण भी ज्ञात है ?"

"हाँ ! कारण भी ज्ञात है। तुम तो ऐसे पूछ रहे हो, जैसे इंद्रप्रस्थ से हमारा कोई संपर्क ही न हो। हमारे पत्र-वाहक इंद्रप्रस्थ आते-जाते हैं, इसलिए सूचनाएँ मिलती रहती हैं।"

"मैंने इंद्रप्रस्थ छोड़कर कुछ अनुचित तो नहीं किया ?"

"यहाँ प्रसंग उचित और अनुचित का नहीं है," कृष्ण बोले, "तुम इंद्रप्रस्थ से चले आए, इसलिए इंद्रप्रस्थ का विकास नहीं हुआ, उसका विकास थम गया, किंतु तुमने इतनी लंबी यात्रा की, इतने नए संबंध बनाए, नई परिस्थितियों से जूझे, तो तुम्हारा अपना विकास हुआ। अब इसका समाधान कौन-सा गणित करेगा कि यह लाभप्रद था या हानिप्रद, उचित था या अनुचित !"

"वस्तुतः अपने पारिवारिक संतुलन को बनाए रखने के लिए आवश्यक था कि इस प्रकार का कोई विधान बनाया जाए। वह हमने बनाया।" अर्जुन बोला, "अब यह संयोग ही था कि मुझे ही एकांत में बैठे धर्मराज और द्रौपदी के दर्शन करने पड़े। अतः उसका दंड तो मुझे स्वीकार करना ही था।"

"दंड का विधान क्या था ?"

"दंड के अनुसार मुझे बारह वर्ष इंद्रप्रस्थ तथा अपने भाइयों से दूर रहना था।" अर्जुन बोला, "किंतु नीति यह भी थी कि जो इस दंड के अधीन इंद्रप्रस्थ तथा अपने परिवार से दूर रहे, वह अपना समय व्यर्थ इधर-उधर नष्ट न करे, अतः वह वनवास करे तथा ब्रह्मचर्य का पालन करे, ताकि बाध्य होकर किए गए इस वनवास में वह कुछ साधना तथा तपस्या कर, अपना विकास कर सके।" अर्जुन रुका, "किंतु परिस्थितियों ने मुझे न तो पूर्णरूपेण वनवास करने दिया, और न ही ब्रह्मचर्य का पालन ही।"

"वह सब मुझे ज्ञात है।" कृष्ण ने उत्तर दिया, "और अच्छा ही है कि तुम उलूपी और चित्रांगदा के प्रासादों में रह आए हो, अन्यथा तुम द्वारका चलने से भी इंकार कर देते।"

"तो तुम यह भी जानते हो कि मैं कब कहाँ हूँ ?"

"नहीं ! हर समय निश्चित सूचना तो नहीं होती थी कि तुम कहाँ हो, किंतु तुम्हारी यात्रा की प्रगति का कुछ-न-कुछ अनुमान तो रहता ही था।" कृष्ण ने उत्तर दिया, "इसलिए एक प्रकार से मुझे तुम्हारी प्रतीक्षा भी थी।"

"इंद्रप्रस्थ का क्या समाचार है ?" अर्जुन पूछे बिना नहीं रह सका, यद्यपि उसके मन में एक अटपटी-सी अनुभूति यह भी थी कि उसने अभी कृष्ण, उसके परिवार और द्वारका के विषय में कुछ भी नहीं पूछा है।

"इंद्रप्रस्थ के भीतर तो प्रायः सब कुछ ठीक-ठाक ही है, किंतु मेरी दृष्टि में उसका विकास अवरुद्ध है।" कृष्ण ने गंभीर स्वर में कहा, "धर्मराज युधिष्ठिर के मूर्धाभिषिक्त होने का जो लाभ आर्यावर्त को होना चाहिए था, वह अभी तक नहीं हो पाया है।..."

"क्यों ?"

"उनके चारों ओर विरोधी शक्तियाँ सक्रिय हैं।" कृष्ण बोला, "और वे उनका दमन नहीं कर रहे ।"

"दमन कर नहीं रहे या दमन करने में असमर्थ हैं ?"

"सामर्थ्य शारीरिक भी होती है और मानसिक भी अर्जुन ! इस समय इंद्रप्रस्थ में दोनों का ही अभाव है।"

"मैं समझा नहीं।" अर्जुन बोला।

"कुछ शत्रु ऐसे हैं, जिनका दमन करने के साधन पांडवों के पास नहीं हैं।" कृष्ण ने बताया, "और कुछ शत्रु ऐसे हैं जिनके दमन में समर्थ होते हुए भी धर्मराज अपनी वृत्ति की कोमलता के कारण, किंकर्तव्यविमूढ़-से बैठे हैं।"

"हाँ महाराज युधिष्ठिर ने आनृशंसता का संकल्प ले रखा है।"

"नृशंस तो किसी को होना ही नहीं चाहिए। दया, मानवता के उच्चतम आदर्शो में से एक है, किंतु दया और आत्मघात में अंतर है।" कृष्ण के मुख-मंडल पर जैसे कोई दिव्य प्रकाश था, "राजा को क्रूर नहीं होना चाहिए, किंतु शत्रुओं और अत्याचारियों के दमन के लिए उसे कठोर तो होना ही पड़ेगा। यदि वह अपनी ही रक्षा नहीं करेगा, तो प्रजा की रक्षा कैसे करेगा ? यदि राजा सर्प के प्रति कठोर नहीं होगा, तो गाय की रक्षा कैसे होगी ? क्या हम सर्पों को यह अनुमति देंगे कि वे हमारी गोशालाओं में घुस आएँ और मनमाने ढंग से हमारे गोधन को नष्ट कर दें ?"

"ठीक कहते हो मित्र ?" अर्जुन बोला, "किंतु धर्मराज की प्रकृति तो नहीं बदली जा सकती।"

"प्रकृति तो किसी की भी नहीं बदली जा सकती।" कृष्ण बोले, "और प्रकृति को बदलने की आवश्यकता भी क्या है ! बदलनी तो मात्र नीति है। अपने कर्तव्य की पूर्ति के लिए कठोरता धारण करने से न कोई पतित होता है, न मानवता-शून्य ! धर्मपरायण होने का अर्थ मूर्ख होना तो नहीं है न ! हमें अपने भ्रमों से मुक्त होना है, न्याय-अन्याय के बोध से नहीं ! हमें अपना अहंकार और मोह त्यागना है। अपने अधिकारों का त्याग तो आत्मघाती होगा पार्थ !" और सहसा, कृष्ण ने जैसे अपने आपको पूर्णतः परिवर्तित कर लिया, "चलो ! उठो ! अब द्वारका चलते हैं। तुम भी तो यादवों की राजधानी को देखो।" वे उठकर खड़े हो गए थे।

"इस वेश में ?" अर्जुन ने पूछा।

कृष्ण ने लीलामयी दृष्टि से अर्जुन की ओर देखा : इतनी देर के वार्तालाप में, उनका मन जैसे विचारों में मग्न था और अर्जुन के वेश को जैसे वे विस्मृत ही कर चुके थे, "वैसे तो तुम इस वेश में भी चलते तो कोई हानि नहीं थी···कुछ विनोद ही रहता, किंतु यदि तुम्हें लगता है कि द्वारका की सुंदरियाँ तुम्हें तुम्हारे सुसज्जित राजकुमार के वेश में ही देखें तो वही सही।" कृष्ण ने अपना हाथ बढ़ाकर उसे उठाया, "पहले हम रैवतक पर्वत पर चलते हैं। कुछ दिन वहाँ रह लो। अपनी इच्छानुसार अपना रूप सँवार लो, फिर जब उचित समझो, तब द्वारका चलो। तब तक मैं द्वारका को भी तुम्हारे स्वागत के लिए सँवार दूँगा।"

अर्जुन के मन में रैवतक पर्वत को लेकर अनेक प्रश्न थे, किंतु अपनी जिज्ञासा

को इस प्रकार प्रकट करने में उसे कुछ संकोच हो रहा था, जब कृष्ण उसे वहाँ ले ही जा रहा है, तो बालकों के समान व्यर्थ में प्रश्न पूछ-पूछ कर उसे परेशान करने की क्या आवश्यकता थी। वह स्वयं वहाँ जाकर अपनी आँखों से सब कुछ देख लेगा"फिर आवश्यकता होगी, तो पूछ भी लेगा"

रैवतक ने अर्जुन को सचमुच चकित कर दिया। यह एक प्रकार से यादवों की राजधानी का ही अंग था, किंतु उनके दैनन्दिन जीवन का अंग न होकर, उनके जीवन का समारोह था। उन्होंने इस पर्वत को जैसे अपने उत्सवों के लिए सजा रखा था। कोई समाज हो, कोई उत्सव हो, कोई धार्मिक समारोह हो"उसके लिए वे लोग यहीं आते थे। उन्होंने इसी पर्वत की सबसे ऊँची चोटी पर महादेव के एक विशाल मंदिर की स्थापना की थी और उसके आस-पास अत्यन्त मनोरम उद्यानों का एक सात्विक संसार रचा था। उससे कुछ नीचे उतरकर उस मार्ग का निर्माण किया गया था, जो रैवतक की परिक्रमा के उपयोग में आता था। परिक्रमा का यह मार्ग मानो लौकिक और अलौकिक सुखों की सीमा-रेखा थी। लौकिक सुख, समारोह, आयोजन, भोग और वैभव-प्रदर्शन"सबके सब, उस पथ के नीचे ही रह जाते थे। ऊपर के क्षेत्र में केवल धार्मिक समारोह होते थे और उसमें भाग लेने के लिए, लौकिक भावों को नीचे ही त्याग कर जाना होता था।"परिक्रमा-पथ से नीचे उतरकर क्रीड़ा के अनेक आयोजन दिखाई देते थे। वहाँ वैभवशाली यादवों के अनेक निजी प्रासाद थे, जिनका उपयोग एकांतवास के लिए भी होता था और निजी उत्सवों के लिए भी। सार्वजनिक उत्सवों, मेलों और समाजों के लिए विस्तृत क्रीड़ा-भूमि और विलास भवनों का निर्माण किया गया था" रैवतक-क्षेत्र में कृष्ण का भी अपना भवन था। कृष्ण के सेवकों को यह सूचना थी कि उनके स्वामी अपने किसी अत्यन्त सम्मानित अतिथि के साथ भवन में पधार रहे हैं और यहाँ वे कुछ दिन निवास करेंगे। सेवकों ने अर्जुन की वेशभूषा के प्रति तनिक भी आश्चर्य प्रकट नहीं किया था। उनका व्यवहार अत्यन्त सहज और सामान्य था, जैसे इस प्रकार के लोग यहाँ प्रायः आया-जाया करते हों।

"तुम प्रायः यहाँ आकर रहते हो क्या ?" अर्जुन ने पूछा।

"जब कोई समाज नहीं होता तो एकांतवास के लिए यह बहुत अच्छा स्थान है।" कृष्ण ने बताया।

"तो यह एक प्रकार से द्वारका से बाहर कृष्ण का गुप्त स्थान था। गुप्तचर यहीं उनसे भेंट करते होंगे। वे विभिन्न प्रकार की वेश-भूषाओं में आते होंगे।"पर कृष्ण अपनी दार्शनिक चर्चाओं के लिए विद्वानों, ऋषि-मुनियों, चिंतकों-बुद्धिजीवियों तथा साधकों के साथ भी तो गोष्ठियाँ करते होंगे। उनके लिए भी यह बहुत उपयुक्त स्थान था"नगर से दूर, पर्वत के ऊपर, जहाँ के गवाक्षों से सागर की लहरें दिखाई देती हों और उनका गर्जन सुनाई देता हो"

"और जब कोई समाज होता है ?"

"तो द्वारका का सारा वैभव, विलास, सुख और उन्माद यहीं एकत्रित हो जाता

है। विश्वकर्मा ने इंद्रप्रस्थ में खांडव-वन के साथ-साथ यमुना-तट पर क्रीड़ा-भूमि और विलास-भवन का निर्माण तो किया है, किंतु समाज-समारोह के लिए स्थान नहीं बनाया।"

"हाँ ! वारणावत में उसकी व्यवस्था थी।" अर्जुन बोला, "मुझे तुम्हारे रैवतक-पर्वत से वारणावत का ही स्मरण हो आया। हाँ ! यह ऊँचाई पर है और वह समतल भूमि पर स्थित है।"क्रीड़ाओं के लिए कुछ थोड़ी-सी व्यवस्था प्रमाणकोटि में भी थी। कुरुओं के पास सागर-तट नहीं है, इसलिए उन्होंने सरिता-तट पर ही अपने क्रीड़ा-स्थल बनाए हैं। किंतु हमारा दुर्भाग्य है, कि उन क्रीड़ा-स्थलों को हमारे लिए मृत्यु-स्थलों में परिवर्तित कर दिया गया।"

"वस्तुतः वे तुम्हारे क्रीड़ा-स्थल नहीं थे, वे दुर्योधन के क्रीड़ा-स्थल थे और दुष्टों की क्रीड़ा भी दुष्टतापूर्ण ही होती है। सज्जन पुरुष की क्रीड़ा, जीवन को प्रोत्साहित करने तथा जिजीविषा में वृद्धि करने में है"'और दुर्योधन जैसे लोगों की क्रीड़ा मृत्यु का तांडव करने में है।" कृष्ण की वाणी प्रसन्न प्रवाहयुक्त थी, "प्रकृति तो है ही क्रीड़ामयी। ये दोनों उसी के रूप हैं।"मैं समझता हूँ कि अभी न तो पूर्णरूपेण पांडवों का राज्य स्थापित हुआ है, न इंद्रप्रस्थ का निर्माण पूरा हुआ है। जब तुम भी खाडंव-वन से कुछ और भूमि प्राप्त करोगे तो यमुना-तट पर अपने और अपनी प्रजा के लिए एक सुंदर और विस्तृत क्रीड़ा-भूमि का निर्माण करना।"

वे लोग रैवतक पर्वत पर दो दिन निवास कर द्वारका आ गए थे। कृष्ण ने ठीक ही कहा था, इन दो दिनों में अर्जुन ने अपना वेश द्वारका के अनुकूल बना लिया था, और द्वारका अर्जुन के लिए सुसज्जित हो गई थी। जब तब रैवतक पर्वत से उतरकर कृष्ण के साथ अर्जुन द्वारका आया, तब तक द्वारका में यह सूचना पर्याप्त प्रचार पा चुकी थी कि पंचाल की राजधानी कांपिल्य में, धनुर्विद्या की कठोरतम प्रतिज्ञा को पूर्ण कर महाराज द्रुपद की पुत्री, वीर्यशुल्का पांचाली कृष्णा को जय करने वाला संसार का प्रसिद्ध धनुर्धारी तथा वसुदेव की बहन कुंती का पुत्र अर्जुन द्वारका आ रहा है। नगर सायास सजाया हुआ प्रतीत हो रहा था। स्थान-स्थान पर तोरण बनाए गए थे और प्रायः सारे ही मार्ग में रंग-बिरंगे ध्वज लहरा रहे थे। मार्ग के दोनों ओर नर-नारी खड़े थे और जहाँ-जहाँ भवनों की अटारियाँ दिखाई देती थीं, लोगों से आकंठ भरी हुई प्रतीत होती थीं। भय होता था कि कहीं गवाक्षों से लोग बाहर न गिर पड़ें।"'

अर्जुन को आश्चर्य हो रहा था"' क्या यह सब उसके स्वागत के लिए था ? उसके लिए, जो अपनी एक प्रतिज्ञावश एक अज्ञात पथिक की भाँति सारे जंबूद्वीप की यात्रा कर रहा था ?"यदि यही स्वागत मातुल वसुदेव के घर में होता तो वह मान लेता कि यह मातुल का स्नेह था, किंतु सारे नगर के लोग उसके स्वागत को इस प्रकार व्यग्र क्यों थे ?"' और कुछ नहीं, यह सारा तो कृष्ण का ही प्रेम था, जिसने यह रूप धारण कर लिया था। वह चमत्कारी पुरुष है। उसके एक कथन से नगरियाँ सज्जित हो सकती हैं, उसकी इच्छा जानकर राज्य पलट सकते हैं, राजवंश बन और मिट सकते हैं"तो फिर अपने ही नगर में वह ऐसा क्यों नहीं कर सकता। वस्तुतः द्वारका अर्जुन के लिए

नहीं, कृष्ण के लिए सजी थी''' कृष्ण की इच्छा जानकर, कृष्ण को रिझाने के लिए'''अर्जुन को कृष्ण का कृतज्ञ होना चाहिए'''.

वे लोग मार्ग में कहीं भी नहीं रुके। रथ चलता गया और कृष्ण के भवन में आकर ही रुका। रुक्मिणी, सत्यभामा और जामवती ने उसकी आरती उतारी और सत्कारपूर्वक उसे भवन के भीतर ले गईं।'''

कृष्ण की पत्नियों से अर्जुन की यह पहली भेंट थी। उसने सुना था कि अपने पिता सत्राजित की शतधन्वा द्वारा हत्या के पश्चात् कृष्ण को खोजती हुई सत्यभामा हस्तिनापुर आई थी, किंतु उस समय अर्जुन अपनी माता और भाइयों के साथ शायद हिडिंब वन में था।

"आप पांचाली कृष्णा को अपने साथ नहीं ला सकते थे पार्थ ! तो उलूपी अथवा चित्रांगदा को ही ले आते।" रुक्मिणी ने मुस्करा कर कहा, "अब एक ऐसा सुदर्शन युवा, ब्रह्मचारियों के समान अकेला द्वारका में आए, तो द्वारका के पुरुष किसके दर्शन करेंगे ?"

"ऐसा परिहास मत करो वैदर्भी ! बेचारा पहली बार आया है। कहीं संकोच के मारे कुछ खा-पी ही न सका, तो तुम्हारे बनाए वे सारे पकवान निरर्थक हो जाएँगे।" कृष्ण ने हस्तक्षेप किया।

अर्जुन कुछ कहता, उससे पहले ही वार्तालाप की बागडोर सत्यभामा ने सँभाल ली, "यह तो वीर पुरुषों की रीति ही नहीं है कि अपने साथ सुंदरी पत्नी लाओ और नगर के पुरुषों की दृष्टि को परितृप्त करो। वीर पुरुष तो एकाकी आते हैं और नगर की सुंदरियों को अवसर देते हैं कि वे अपना भाग्य-परीक्षण कर लें।" उसने रुक्मिणी की ओर देखा, "तुमने ध्यान नहीं दिया दीदी ! ये जिस नगर में जाते हैं, वहीं से अपने लिए एक पत्नी प्राप्त करते हैं, यदि अपने साथ उलूपी और चित्रांगदा को ले आते, तो द्वारका को वह सौभाग्य कैसे मिलता, जो गंगाद्वार और मणिपूर को मिला ?"

"ओह ! आज तो व्यूह-रचना बड़ी सुदृढ़ है।" कृष्ण मुस्कराए, "किंतु पार्थ ! यह युद्ध तो तुम्हें स्वयं ही करना होगा। मैं शस्त्र धारण नहीं करूँगा।"

"मुझे तो युद्ध ही नहीं करना है।" अर्जुन भी परिहास की मुद्रा में आ चुका था, "जब मैं ही शस्त्र धारण नहीं करूँगा, तो तुम्हें क्या आवश्यकता है शस्त्रबद्ध होने की।"

"ओह ! यह तो बड़ी विचित्र स्थिति है," रुक्मिणी बोली, "जिसके विरुद्ध व्यूह-रचना है, न वह शस्त्र धारण करेगा, न उसका मित्र शस्त्र उठाएगा। तो फिर आखिर युद्ध किससे होगा ?"

"अरे भाई। पार्थ अथवा उसके किसी मित्र को शस्त्र उठाने की आवश्यकता ही क्या है।" सत्यभामा बोली, "यहाँ तो लगता है पार्थ का ही स्वयंवर होगा। उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील सुंदरियाँ स्वयं ही शस्त्रबद्ध होकर परस्पर निर्णय करेंगी।"

अर्जुन ने हाथ जोड़ दिए, "मुझे क्षमा करें देवि ! मैं अपने लिए पत्नियाँ बटोरने के लिए निकला हुआ कोई राजकुमार नहीं हूँ, जिसका स्वयंवर रचाकर आप सुंदरियों को परस्पर युद्ध करती हुई देखना चाहती हैं। मैं तो वचन-भंग के अपराध में राज्य-निष्कासित, दंडित मनुष्य हूँ। सोचा था कि यह समय साधना में व्यतीत करूँगा। ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ वनवास करूँगा, किंतु गंगाद्वार में ही उलूपी ने मुझे अपने

निश्चय से विरत कर दिया। फिर चित्रांगदा के आकर्षण ने मुझे बाँध लिया। यहाँ आकर कृष्ण के मोह में नगर में चला आया, और अब आप मेरा स्वयंवर रचा रही हैं।"

"तो इसमें चिंतित होने की क्या बात है।" सत्यभामा पुनः बोली, "तुम्हें कुछ नहीं करना होगा। हमें तो तुम्हारी प्रदर्शनी भर लगानी है। फिर देखना द्वारका की सुंदरियाँ अपने-आप तुम्हें चुन लेंगी।"

"वैसे भी अगले सप्ताह रैवतक पर्वत पर यादवों का समाज जुटने ही वाला है," रुक्मिणी ने जोड़ा, "वहाँ पार्थ को सुसज्जित कर किसी ऊँचे टीले पर खड़ा कर देंगे। बस ! आगे की प्रक्रिया अपने-आप चल पड़ेगी।"

"तुमने ठीक कहा रुक्मिणी !" कृष्ण ने अपना मौन तोड़ा, "वह एक बहुत ही उपयुक्त अवसर है। उस दिन अर्जुन अधिकांश यादवों से मिल पाएगा।"

"चलिए ! अघोषित स्वयंवर ही सही।" सत्यभामा ने टिप्पणी की।

रैवतक पर्वत पर बहुत समारोह था।

अर्जुन भी कृष्ण के साथ आया था। उसने पिछले सप्ताह भर में द्वारका के कई रूप और कई स्थान देखे थे। इतनी भीड़ तो उसने द्वारका में भी किसी एक स्थान पर नहीं देखी थी। संभवतः द्वारका में यह भीड़ बिखरी हुई अपने-अपने घरों के भीतर छिपी होती होगी। यहाँ सब लोग एक ही स्थान पर एकत्रित हो गए थे। सारे मार्ग वाहनों से अटे पड़े थे। अनेक लोग अपने बच्चों के साथ पैदल भी चल रहे थे। यदि वे भी अपने वाहन लाए होते, तो शायद यहाँ खड़े होने का भी स्थान न बच पाता।...नारी, पुरुष, बच्चे, बूढ़े...सब असीम उत्साह से तरंगायित थे। उनकी वेश-भूषा, आभूषण और साधन इत्यादि देखकर तो लगता था कि द्वारका में कोई व्यक्ति निर्धन है ही नहीं...शायद आज का उत्सव उन्होंने अपने वैभव-प्रदर्शन के निमित्त ही रखा था।...

प्रत्येक व्यक्ति अथवा परिवार सबसे पहले मंदिर में जाकर पूजा-अर्चना करता था। वहाँ से वापसी पर वह ब्राह्मणों के भोजन की व्यवस्था करता था। उसके पश्चात् वह इस विस्तृत क्षेत्र में अपने परिचितों को ढूँढ़ता और उनसे भेंट करता था। अनेक लोगों की रुचि उस अस्थायी हाट में अधिक थी, जो उनके स्थानीय तथा बाहरी व्यापारियों के प्रयत्न से आज खुले मैदान में उग आया था। कुछ लोग खाने-पीने की व्यवस्था में लगे थे। कोई दल किसी क्रीड़ा में मग्न हो गया था...और अनेक स्थानों पर नृत्य और संगीत मंडलियाँ अपनी कला का प्रदर्शन कर रही थीं।

तभी अर्जुन की दृष्टि रेवती और बलराम पर पड़ी। बलराम आज मांगलिक वेश में थे और प्रसन्नता की उत्ताल तरंगों पर तैरते क्षीव-से लग रहे थे। रेवती ने स्वर्ण-आभूषणों के स्थान पर पुष्प गुच्छों से शृंगार किया था। दोनों एक विचित्र मस्ती में झूमते-से लग रहे थे। उनके साथ-साथ गंधर्वों का एक दल भी था, जो निरंतर गाता-बजाता चल रहा था।...बलराम को देखकर लोग प्रणाम कर मार्ग दे देते थे। बलराम उनको अभिवादन का उत्तर तो दे रहे थे, किंतु उन्होंने एक बार भी यह देखने का प्रयत्न नहीं किया कि कौन उन्हें प्रणाम कर रहा है और कौन उनके लिए मार्ग छोड़ रहा है। वे रेवती का

हाथ थामे अपनी धुन में आगे बढ़ते जा रहे थे।

पीछे से एक रथ असाधारण वेग से आ रहा था। अर्जुन का ध्यान शायद उसकी ओर न भी जाता, किंतु एक तो उसका वेग ही इतना अनियंत्रित और असावधान था, और फिर बलराम के दल के मार्ग से न हटने पर उस सारथि को अकस्मात् ही अपना रथ रोकने के लिए तत्काल जितना प्रयत्न करना पड़ा और उसने अपने अश्वों को नियंत्रित करने के लिए जिस अद्भुत कौशल का प्रदर्शन किया, उससे अर्जुन का ध्यान अनायास ही उस ओर खिंच गया"उसने ध्यान से देखा रथ का सारथ्य एक स्त्री कर रही थी। यद्यपि क्षत्रियों में सामान्यतः स्त्रियाँ भी पुरुषों के ही समान स्वावलंबी थीं, किंतु युद्ध तथा सारथ्य जैसे विषयों में वे ऐसी रुचि नहीं लेती थीं कि उनमें से कोई दक्ष योद्धा अथवा इतनी कुशल सारथि बन जाती।"किंतु यह तरुणी तो सचमुच अद्भुत थी!"उसका सारथ्य-कौशल ही नहीं उसका रूप भी आकर्षक था। वहाँ उपस्थित अन्य स्त्रियों के समान उसका प्रसाधन और शृंगार रेखांकित नहीं था, उसका तेज अधिक मनोरम था। उसका वेश मांगलिक अवसरों के अनुकूल तो था, किंतु यह भी स्पष्ट था कि उसने समारोह के लिए अपना शृंगार नहीं किया था। उसका नैसर्गिक रूप ही इतना मोहक था कि"

"क्या बात है अर्जुन ! वनवासी का भी मन नियंत्रण में नहीं है ?"

अर्जुन ने कृष्ण की ओर देखा, वे अत्यन्त मधुर ढंग से मुस्करा रहे थे। उनके नयनों, अधरों तथा वाणी में कहीं रंच मात्र भी विरोध अथवा अप्रसन्नता का भाव नहीं था।

अर्जुन कुछ आश्वस्त हुआ, यह कृष्ण की उदारता ही थी कि उन्होंने अर्जुन के मन के भाव को पहचान कर भी, उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं देखा।"अन्यथा वे सोच सकते थे कि यह अर्जुन कितना पतित है कि वनवासी के रूप में ब्रह्मचर्य का पालन करने का संकल्प करने के पश्चात् भी न अपनी वासना को नियंत्रित कर पाया है, न अपने मन पर ही उसका कोई वश है।"और फिर कृष्ण इसलिए तो उसे अपने साथ द्वारका नहीं लाए थे कि वह यादव कन्याओं को देखे और उनके रूप और यौवन पर मुग्ध हो"वैसे शायद अर्जुन का रैवतक पर्वत के इस समाज में आना ही उचित नहीं था। इस प्रकार के समारोहों में, जहाँ चारों ओर लौकिक सौन्दर्य और उल्लास बिखरा हो, सुख के साधन पुकार रहे हों, लोग उन्मुक्त विहार कर रहे हों, वह अपनी कामनाओं का दमन नहीं कर पाता। पता नहीं उन लोगों का मन कैसा होता है, जो इस विपुल मात्रा में यौवन और सौन्दर्य का उन्मुक्त प्रदर्शन देखकर भी विचलित नहीं होते। अर्जुन के तो न नयन उसकी उपेक्षा कर सकते हैं, न उसके मन की गति ही कुछ थमती है" वह वन के किसी एकांत कोने में ही रहा होता तो ठीक रहता"

"कुछ और भी देखोगे या उस यादव कन्या को ही समारोह का पुंजीभूत स्वरूप मान लिया है।" कृष्ण के स्वर में अब भी परिहास ही था।

"चलो ! कहीं और चलो कृष्ण !" अर्जुन ने कहा, "लगता है मेरा मन फिर से मुँहजोर तुरंग का रूप धारण कर रहा है।"

"चलो ! जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, वहीं चलो।" कृष्ण ने गंभीर वाणी में कहा, "कहो

तो महादेव के मंदिर में चलकर बैठें। संभव है, महादेव के भय से तुम्हारा मन नियंत्रित हो जाए।"

अर्जुन समझ नहीं पाया कि यह भी गंभीरता के छद्म में कृष्ण का परिहास ही था, अथवा वे वस्तुतः गंभीर थे।

"मुझे लगता है कृष्ण ! कि मेरे भीतर दो विरोधी धाराएँ निरंतर प्रवाहित होती रहती हैं।" अर्जुन कृष्ण के साथ-साथ चल पड़ा, "जब मैं किसी देवालय में जाता हूँ, जब किसी तीर्थस्थान में पहुँचता हूँ, तो मेरा मन जैसे आरोहण की स्थिति में आ जाता है। जीवन के ये छोटे-मोटे साधारण सुख और भोग अत्यन्त नगण्य लगने लगते हैं और मन में कहीं उनका लेश भी नहीं होता। मन व्याकुल होने लगता कि किसी प्रकार संसार के इस सारे प्रपंच को तोड़कर मैं उस सत्य के दर्शन पा जाऊँ, जो शाश्वत है, सृष्टि का आधार है, जो मूल अस्तित्व है, जो सत्, चित् और आन्नद है। उस समय सारी कामनाएँ, सारी वासनाएँ, सारे सुख और भोग, सारी सांसारिक उपलब्धियाँ मलिन दीखने लगती हैं। उनसे वितृष्णा होने लगती है। मन उन्हें त्यागने को आतुर होने लगता है। उस त्याग में कितना सुख है···और···।"

कृष्ण ने प्रश्नवाचक दृष्टि से उसकी ओर देखा।

"और फिर सहसा ही मैं बदल जाता हूँ, मेरा मन बदल जाता है। मन में कामनाएँ उठने लगती हैं। भोग और सुख आकर्षक लगने लगते हैं। न उनमें कोई दोष दिखाई देता है, न उन्हें ग्रहण करने की आतुरता बुरी लगती है। लगता है ईश्वर ने यह सृष्टि, सुख-भोग त्यागने के लिए तो नहीं की है। कामनाओं का प्रवाह कुछ इतना वेगवान होता है कि मैं थम नहीं पाता और उनके साथ बहने लगता हूँ···" अर्जुन ने रुककर कृष्ण की ओर देखा, "एक ओर वनवासी के रूप में ब्रह्मचर्य का पालन करने का संकल्प लेकर निकला था और दूसरी ओर इसी यात्रा में दो-दो विवाह कर लिए और अब···।"

कृष्ण ने उसकी ओर न देखकर अपनी दृष्टि दूर किसी पर्वत शिखर पर टिका दी। बोले तो इस बार उनकी वाणी अत्यन्त गंभीर थी, "योगी न तो वे होते हैं अर्जुन ! जो बहुत खाते हैं, और न वे जो बहुत कम खाते हैं।"

अर्जुन ने चौंककर उनकी ओर देखा, "मेरी समस्या खाने-पीने की नहीं है।"

"जानता हूँ।" कृष्ण मुस्कराए, "तुम्हारी समस्या भोग और त्याग की है। मैं भोग को ही बहुत अधिक खाना, और त्याग को बहुत कम खाना कह रहा हूँ।"

"तो क्या व्यक्ति को तपस्या नहीं करनी चाहिए ?" अर्जुन ने चौंककर पूछा।

"व्यक्ति को सहज होकर जीना चाहिए।" कृष्ण बोले, "स्वयं को तपाना, और व्यर्थ कष्ट देना निरर्थक होता है, जैसे तुम्हारे साथ हो रहा है। तुमने अपनी इंद्रियों का दमन किया। विषयों से उनको दूर रखा। उन्हें अतृप्त रखा।··किंतु जैसे ही किन्हीं कारणों से वह दमन कुछ हल्का पड़ा कि वे इंद्रियाँ पीछे खींचे गए धनुष के समान दुगुने वेग से प्रहार करेंगी।··इसलिए कहता हूँ, सहज रूप से जीवन जीओ। न इंद्रियों का दमन करो, न विषयों को छोड़कर वन में भागो। संसार के बीच रहो···।"

"किंतु यह तो भोग का दर्शन है।" अर्जुन बोला, "भोग से तृष्णा की अग्नि और प्रज्वलित होती है। तृष्णा मनुष्य को अधर्म की ओर ले जाएगी। फिर न संयम रहेगा,

न नियंत्रण, न अनुशासन, न"' ।"

"मैं न तो इंद्रियों को तृप्त करने को कह रहा हूँ, न उन्हें अतृप्त रख, उनकी मृत्यु की प्रतीक्षा करने को," कृष्ण ने मुस्कराकर उसे देखा, "भोग से मुक्ति पाने को बहुत व्यग्र हो फाल्गुनी ! तो मन को अनासक्त कर लो। तुम्हें न विषयों को जीतना है, न इंद्रियों का दमन करना है"'जीतना है तो अपनी आसक्ति को। अनासक्त होकर विषयों के मध्य रहो"'वे तुम्हें तनिक भी बाँध नहीं पाएँगे।"

अर्जुन मौन ही रहा। वह कृष्ण की बात पर विचार कर रहा था"'ठीक ही तो कह रहे थे कृष्ण ! काम नारी में तो नहीं है, काम तो उसके अपने मन में है। अपने मन के इस काम को जय किए बिना, वह वन-पर्वतों पर कितना भी भटक ले, क्या लाभ होगा।"'और एक बार वह काम से अनासक्त हो जाए, इंद्रलोक की अप्सराएँ भी उसे मोहित नहीं कर पाएँगी"'

"तुम कह सकते हो अर्जुन ! कि अनेक संन्यासी वन में कठोर तपस्याएँ करते हैं। वे तो पुनः अपनी उन दमित इंद्रियों से पीड़ित नहीं होते।"'" कृष्ण ने पुनः कहा, किंतु उनकी दृष्टि अब भी अर्जुन की ओर नहीं घूमी थी। वे पहले के ही समान क्षितिज की ओर देख रहे थे, "इसका विरोध करना हो तो कहा जा सकता है कि कठोर तपस्या के पश्चात् लौटकर तपस्वियों के भोगी और अहंकारी होकर राक्षस हो जाने के भी अनेक उदाहरण हमें उपलब्ध हैं। राक्षस न भी हुए तो ऋषियों के तपस्या-स्खलित होकर पतित होने की घटनाएँ हमारे लिए अपरिचित नहीं हैं"'किंतु मैं उनकी बात नहीं कह रहा।" कृष्ण ने अपनी दृष्टि अर्जुन पर टिका दी, "मैंने कहा है सहज होकर जीओ।"'और व्यक्ति सहज होता है केवल अपनी स्वाभाविक स्थिति में। इसलिए अपने स्वभाव को जानो, अपनी प्रकृति को समझो। तुम्हारा स्वभाव ही तुम्हारा स्वधर्म है। उसे पहचानो ! तुम क्षत्रिय हो, वंशानुक्रम, प्रशिक्षण और कर्म से नहीं, अपने स्वभाव से भी। तुम किसी तपस्वी के अनुकरण में अपने क्षत्रिय-भाव को त्यागने का प्रयत्न करोगे, तो सफल नहीं हो पाओगे। क्षत्रिय होकर अपने स्व-धर्म में युद्ध-क्षेत्र में प्राण त्यागना ही तुम्हारे लिए श्रेयस्कर होगा, भिक्षा माँगकर जीवनयापन करना अथवा संन्यासी होकर एकांतवास करना नहीं। प्रयत्न करोगे, तो असफल रहोगे। तुम्हें अपना स्व-धर्म परिवर्तित नहीं करना है, उसका त्याग भी नहीं करना है। तुम्हें उसका विकास करना है, परिष्कार करना है। तुम्हें अपने स्वार्थ में आसक्त होकर शस्त्रबल से दमन और अपहरण नहीं करना है, अनासक्त होकर अपने शस्त्र-कौशल से आर्त्त-त्राण करना है, समाज को अनुशासित करना है, धर्म-राज्य की स्थापना करनी है"'।"

"पर तुम तो मुझे योगी बनने के लिए कह रहे हो !" अर्जुन ने उनकी आँखों में देखा, "क्या संसार का त्याग किए बिना कोई योगी हो सकता है ?"

"तन से मत त्यागो, मन से त्यागो। विषयों के मध्य रहकर भी उनके होकर मत रहो।" कृष्ण की वाणी में जाने कैसा संगीत जाग रहा था, "कर्म करते हुए भी उसमें लिप्त न होना योग है। लेखनी से लिखो, किंतु मसि से तुम्हारे हाथ काले न हों। कर्म-कौशल ही तो योग है।" कृष्ण की दृष्टि घूमी तो अर्जुन को लगा कि वह उसमें बँध ही गया है, "विषयों से दूर रहने के लिए संसार-त्याग, संन्यास ग्रहण करोगे, तो कर्म से भी भागोगे।

ऐसे में तुम विषयों का त्याग नहीं कर रहे, कर्म का त्याग कर रहे हो···।"

"कर्म का त्याग ?" अर्जुन ने कृष्ण की ओर देखा।

"हाँ ! कर्म का त्याग।" कृष्ण की वाणी पुनः प्रवाह में आ गई, "किसी नाम से किया जाए, कर्म का त्याग अनिष्टकारी है। अकर्म में प्रीति नहीं होनी चाहिए। वह तुम्हें तमोगुण के महा-अंधकार में धकेल देगी।···कर्म तो करना ही है। कर्म के बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। कर्म के अभाव में सृष्टि का अस्तित्व नहीं रहेगा।"

"कर्म करेंगे, तो कर्म-बंधन भी तो हमें ही बाँधेगा।" अर्जुन ने कुछ मंद स्वर में आपत्ति की , "हमने इंद्रप्रस्थ का निर्माण किया, तो हमें उसकी रक्षा भी तो करनी होगी, उसका पालन-पोषण भी तो करना होगा। फिर तो हम बँध गए, उसी नगर से।"

"बंधन कर्म का नहीं होता अर्जुन ! आसक्ति का होता है।" कृष्ण की वाणी जैसे आदेश का रूप धारण करती जा रही थी, "तुम्हें इंद्रप्रस्थ में आसक्ति होती, तो उसे छोड़ बारह वर्षो तक भटकने के लिए नहीं निकल पड़ते। तुम्हें कर्म के फल में आसक्ति होती, तो ब्राह्मण के गोधन की रक्षा कर, तुम उससे अपने शुल्क के रूप में पशु अथवा धन वसूल कर रहे होते और वहीं कहीं उन गोओं का पालन-पोषण कर रहे होते। यदि कर्म-फल में आसक्ति न हो, तो कर्म तुम्हारा बंधन नहीं हो सकता। मैंने और भैया बलभद्र ने कंस का वध किया, यादवों को मुक्त किया और द्वारका का निर्माण किया···किंतु न हमें द्वारका बाँध सकी, न द्वारका का राजसिंहासन। वह अनासक्त कर्म था। निष्काम कर्म। निष्काम कर्म बंधन नहीं होता। वह घोर कर्म के मध्य भी अकर्म की स्थिति उत्पन्न करता है···।"

अर्जुन के पग कृष्ण के साथ चल रहे थे, किंतु उसका मन जैसे आत्मलीन होता जा रहा था···घोर कर्म में भी अकर्म की स्थिति ?···कांपित्य में यही तो हुआ था। द्रौपदी का स्वयंवर···देश-विदेश के राजाओं का आगमन···पांडवों को खोज कर निकालना···कृष्ण द्रुपद की सहायता कर रहे थे, पांडवों की रक्षा कर रहे थे, पांडवों को पुनर्जीवित कर रहे थे, दुर्योधन और जरासंध जैसे राजाओं का दमन कर रहे थे··· और इतने पर भी कैसे शांत होकर एक और बैठे थे, जैसे वे कुछ कर ही न रहे हों···उनका उस सारे घोर कर्म से कुछ लेना-देना ही न हो···घोर कर्म में अकर्म···

अर्जुन को लग रहा था, कृष्ण उसके समवयस्क सखा तो हैं, किंतु वे उससे कहीं अधिक बड़े हैं, महान हैं। उन्होंने तो जीवन के सत्य का जैसे साक्षात्कार कर लिया है।···अर्जुन को लगा, कृष्ण के प्रति उसका स्नेह जैसे स्नेह न रहकर श्रद्धा में परिणत हो रहा है···कृष्ण उसके सखा नहीं थे, उसके गुरु थे, मार्ग-दर्शक। अर्जुन को शायद ऐसे ही गुरु की आवश्यकता थी, जो उसके सम्मुख शास्त्र-वचन को उद्धृत न करे, उन सिद्धांतों को अपने जीवन में मूर्तिमान करके दिखाए···अर्जुन को अमूर्त धर्म-वाक्यों से क्या लेना···वह तो ऐसा ही मार्गदर्शक चाहता है, जो समस्याओं के मध्य में उसकी बाँह पकड़ कर उसे निकाल ले जाए। जिसकी भुजा का सहारा, साक्षात् उपलब्ध हो, जिसकी शरण में अर्जुन को किसी घने-वृक्ष की छाया का-सा अनुभव हो···उसकी इच्छा हुई कि वह इसी क्षण कृष्ण के चरणों में नत हो जाए···

"क्या सोच रहे हो सखा ?"

अर्जुन सजग हुआ। उसने कृष्ण की ओर देखा, वे उसके प्रिय सखा के रूप में सामने खड़े मुस्करा रहे थे। इस समय वे सर्वथा आत्मीय लग रहे थे। उनमें कुछ भी असाधारण नहीं था, कुछ भी भिन्न नहीं था। उनका दिव्य-भाव जाने कहाँ तिरोहित हो गया था"'साधारण मनुष्य के समान अधरों पर नटखट मुस्कान लिए उसे देख रहे थे, जैसे कह रहे हों, 'देखा, तुम्हें कैसे छकाया।"' कृष्ण यह कैसे कर लेते हैं"' कभी तो वे इतने निकट, इतने आत्मीय, इतने अपने होते हैं, और कभी वे इतने दिव्य, इतने विराट, इतने दूर होते हैं, जैसे आकाश पर खड़े हों, जिन्हें छूना अर्जुन के लिए संभव न हो"'

"मैं सोचता हूँ कृष्ण ! जिस अनासक्ति की चर्चा तुम कर रहे हो, क्या इस संसार में रहकर वह संभव है ?"'"

"क्यों ? संभव क्यों नहीं ?" कृष्ण ने कहा, "मिट्टी का साधारण-सा खिलौना टूट जाने पर, एक छोटा बालक जिस प्रकार गला फाड़कर चिल्लाता है, उसी प्रकार किसी वयस्क को रोते देखा है तुमने ?"

"नहीं !"

"क्यों नहीं रोता वयस्क ? इसलिए कि उसका परिपक्व और प्रौढ़ मन, अपने चिंतन-मनन, ज्ञान तथा अनुभव से यह समझ चुका है कि मिट्टी का खिलौना इतना मूल्यवान नहीं कि उसके लिए इस प्रकार रोया जाए।" कृष्ण ने अर्जुन की ओर देखा, "क्या उसी प्रकार कुछ और अधिक प्रौढ़ नहीं हुआ जा सकता, जिससे सांसारिक सुखों की वास्तविकता भी मिट्टी के उस खिलौने के समान हमारे सामने प्रकट हो जाए ?"

"संभव क्यों नहीं !" अर्जुन जैसे अपने-आपसे बोला।

"उन सुखों की निरर्थकता का साक्षात्कार हम कर लेंगे, तो उनके प्रति आसक्ति अपने-आप ही समाप्त हो जाएगी।" कृष्ण ने कहा।

"तुम ठीक कह रहे हो। मेरा ध्यान कभी इस ओर गया ही नहीं।" अर्जुन पुनः अपने भीतर कहीं बहुत गहरे डूब गया था।

रात को अर्जुन सोने के लिए लेटा तो प्रातः रैवतक पर्वत पर देखी उस तरुणी का बिंब पुनः उसके सम्मुख आ खड़ा हुआ। कौन थी वह ?"'उसके मन में जैसे संघर्ष छिड़ गया"'क्यों सोच रहा है अर्जुन उसके विषय में ? प्रातः भी कृष्ण ने परिहास किया था"''वनवासी का भी मन नियंत्रण में नहीं है ?'"'हाँ ! नहीं है, वनवासी का मन नियंत्रण में !"'कैसे हो सकता है ?"'कृष्ण ने ठीक ही कहा था, इंद्रियाँ विषयों का भोग न करें और मन उनमें रमा रहे, तो क्या लाभ ? होना तो यह चाहिए कि इंद्रियाँ विषयों के संपर्क में भी हों, तो मन उनसे अनासक्त रहे"'

"कृष्ण !"

"क्या बात है, नींद नहीं आ रही क्या ?" कृष्ण ने पूछा।

"नहीं। ऐसी तो कोई बात नहीं।" अर्जुन अपने उत्साह का दमन करता हुआ बोला, "ऐसे ही मन में जिज्ञासा उठी कि प्रातः रैवतक पर जिस तरुणी को अपने रथ का सारथ्य करते देखा था, वह कौन थी ?"

"ओह वह ! तुम उसे नहीं जानते क्या ?"

अर्जुन ने अपनी दृष्टि पुनः उस विंब पर टिकाई"कौन है वह ? पहले कभी उसे देखा है क्या ?"पर देखा कहाँ होगा, वह तो पहली बार द्वारका आया है।"द्वारका में नहीं, हस्तिनापुर में ? कांपिल्य में ?"इंद्रप्रस्थ में ? पर इंद्रप्रस्थ से निकले हुए भी उसे कई वर्ष हो चुके हैं"' तब वह तरुणी नहीं, बालिका रही होगी"'

"नहीं ! लगता तो नहीं कि उसे पहले कभी देखा हो।" अर्जुन बोला, "कौन है वह ?"

"मेरे पिता वसुदेव की लाड़ली पुत्री, मेरी भगिनी और सारण की सहोदरा। उसका नाम सुभद्रा है।"

सुभद्रा ! "'अर्जुन ने उसका नाम ही सुना था"साक्षात्कार का कभी अवसर ही नहीं आया"तो यह है सुभद्रा"मातुल की लाड़ली पुत्री ही नहीं, कृष्ण और बलराम की लाड़ली बहन भी"परम स्वतंत्र तथा आत्मनिर्भर ! उसका पालन-पोषण ही द्वारका के उन्मुक्त वातावरण में कुछ इस ढंग से हुआ था, जहाँ व्यक्ति अपने निर्णय स्वयं करता है।"'अर्जुन ने कृष्ण से ही सुना था कि सुभद्रा ने अश्वारोहण में दक्षता प्राप्त कर ली थी। वह खड्ग चला लेती थी, धनुष-बाण उसके प्रिय सहचर थे, सारथ्य-कर्म तो उसने स्वयं कृष्ण से ही सीखा था"तो यह सुभद्रा थी वह"'

कल ही कृष्ण ने कुछ समय इसकी चर्चा में नहीं, इसकी चिंता में व्यतीत किया था"'आजकल उसके परिवार में सुभद्रा के विवाह की बड़ी चर्चा थी। वसुदेव चाहते थे कि अब सुभद्रा का विवाह हो जाए। उसकी शिक्षा-दीक्षा हो चुकी थी और विवाह के लिए वह उपयुक्त आयु भी प्राप्त कर चुकी थी"माता रोहिणी और देवकी भी चाहती थीं कि अब सुभद्रा अपने सुसराल जाए। बलराम भी उसके लिए चिंतित थे"' चारों ओर से उसके लिए संबंध भी आ रहे थे"' और स्थिति जटिल होती जा रही थी।"'"यदि तुम लोग उसका विवाह करना चाहते हो और संबंध भी आ रहे हैं, तो इसमें जटिलता क्या है ?" अर्जुन ने कुछ चकित होकर पूछा था।

कृष्ण हँसे थे, "किसी महत्वपूर्ण विषय में निर्णय लेना बड़ा कठिन ओर समयापेक्षी होता है मित्र।"

"क्यों ?"

"यदि विधाता ही किसी बात का निर्णय कर दे, मनुष्य के लिए कोई विकल्प ही न रखे तो मनुष्य चाहे शिकायत करता रहे कि उसे निर्णय का अवसर ही नहीं मिला, किंतु निर्णय तत्काल होता है।"'और जब स्थिति यह हो कि चुनाव के सारे मार्ग खुले हों, प्रत्येक विकल्प सुंदर और आकर्षक हो"साथ ही निर्णय करने का अधिकार अनेक लोगों को हो तो निर्णय करना कठिन होता जाता है।"'"

"तो सुभद्रा के विवाह के संबंध में निर्णय करने का अधिकार किसी एक व्यक्ति को नहीं है क्या ?" अर्जुन के मन में स्थिति स्पष्ट नहीं हो रही थी, "क्या मातुल स्वयं यह निर्णय नहीं कर सकते ?"'या फिर स्वयंवर"सुभद्रा स्वयं भी तो अपने वर का चयन

कर सकती है।"

"सुभद्रा परिवार में सबसे छोटी है। इसीसे माता-पिता के अतिरिक्त हम, उसके भाई भी उसके अभिभावक के समान हो गए हैं। और हम सब लोग, विभिन्न प्रत्याशियों के विषय में अपनी-अपनी स्वतंत्र धारणाएँ बनाए हुए हैं।" कृष्ण मुस्करा रहा था, "सुभद्रा पर सब ओर से दबाव है कि वह उनका अनुरोध स्वीकार करे।..."

"तो सुभद्रा किसकी ओर अधिक प्रवृत्त है ?" अर्जुन की उत्सुकता जाग रही थी।

"यही तो सबसे रोचक पड़ाव है, इस यात्रा का !" कृष्ण जैसे उस स्थिति का आनन्द उठा रहे थे, "सुभद्रा ने वह सारी बिसात ही उलट दी है। वह कहती है कि इस संदर्भ में किसी का भी निर्णय उसे स्वीकार्य नहीं है। वह अपना निर्णय स्वयं करेगी। वह स्वयंवर चाहती है।"

"तो तुम लोग उसकी बात मान क्यों नहीं लेते ?" अर्जुन बोला, "स्वयंवर कोई ऐसी असंभव शर्त तो है नहीं।"

"नहीं ! असंभव क्या है ! वह तो कठिन भी नहीं है...और ऐसी कोई अशोभनीय माँग भी नहीं है।" कृष्ण ने उत्तर दिया, "बात तो यह है कि हमारा परिवार अपने ही द्वन्द्व में फँस गया है। स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता की जितनी शिक्षा सुभद्रा को दी गई है, स्वावलंबन का जितना गौरव-गान उसके सम्मुख किया गया है, अब उसी स्वतंत्रता, आत्मनिर्भरता और स्वावलंबन का अधिकार हम लोग उसे देना नहीं चाहते।"

"क्यों ?"

"उससे उसके अभिभावकों की स्वतंत्रता सीमित होती है। उसका अर्थ है कि उसके अभिभावक उसपर से अपना सारा अधिकार समाप्त मान लें।" कृष्ण ने रुक कर अर्जुन की ओर देखा, "वास्तविकता यह है कि सब लोग डरे हुए हैं कि जाने सुभद्रा के मन में क्या है। जब वह किसी भी प्रस्ताव के विषय में किसी से कोई चर्चा ही नहीं करना चाहती और स्वयंवर के लिए हठ पकड़े हुए है, तो कहीं ऐसा तो नहीं कि उसने अपने मन में कोई ऐसा भयंकर निर्णय कर रखा हो, जो परिवार के अन्य लोगों को स्वीकार ही न हो।"

"क्या तुम्हारे मन में भी ऐसी कोई आशंका है ?" अर्जुन ने पूछा, "क्या तुम्हें भी अपनी इस छोटी बहन पर भरोसा नहीं है ?"

"मुझे अपनी बहन पर तो भरोसा है, उसकी बुद्धि और रुचि पर भी मैं विश्वास कर सकता हूँ, किंतु उसके वय की उद्दंडता तथा परंपरा-भंजन की आतुरता से मैं बहुत आश्वस्त नहीं हूँ।"

अर्जुन का ध्यान पिछले कुछ दिनों की घटनाओं की ओर चला गया। द्वारका में अपने मातुल से संबंधित विभिन्न परिवारों में वह आमंत्रित होता रहा था। कृष्ण के साथ तो वह उसके भवन में रह ही रहा था। बलराम, सारण और वसुदेव के घर भी आमंत्रित किया गया था। वहाँ वह परिवार के विभिन्न लोगों से मिला और परिचित हुआ था...किंतु सुभद्रा से उसकी भेंट कहीं नहीं हुई थी। सुभद्रा अन्य किसी घर में तो आई ही नहीं, अपने घर पर भी नहीं मिली। वह अन्यत्र व्यस्त थी। उसकी अपनी रुचियाँ थीं, अपनी व्यस्तता थी। उसके पास न तो इतना समय था कि वह स्वयं किसी से मिल...

जाती, और न ही उसे अपने परिवार की इस सामाजिकता से कोई मोह था, कि उसके लिए वह अपनी जीवन-पद्धति की उपेक्षा करती···वसुदेव प्रसन्न नहीं थे···वे इसे सुभद्रा की व्यस्तता नहीं, उद्दंडता मानते थे···

"तो तुम भी चाहते हो कि वह परिवार के बड़ों की बात मान ले ?" अर्जुन ने कुछ-कुछ आपत्तिजनक स्वर में पूछा था।

"यदि परिवार के सब बड़े एकमत हो जाते तो फिर कोई संकट ही नहीं था।" कृष्ण ने कहा, "मूल समस्या तो यह है कि सुभद्रा के अभिभावक ही एकमत नहीं हैं। इसलिए मैं भी आशंकित हूँ कि कहीं वह किसी दबाव में बलराम भैया की बात न मान ले।"

"बलराम भैया ने भी किसी को चुन रखा है ?" अर्जुन ने विस्मय से पूछा, "मेरी धारणा थी कि परिवार की ऐसी समस्याओं में उनकी कोई रुचि नहीं है।"

"बलराम भैया तो बस फिर बलराम भैया ही हैं।" कृष्ण बोले, "न दिखाएँ तो बड़ी से बड़ी बात में अपनी कोई रुचि न दिखाएँ···युद्ध हो जाए, राज्य बन और बिगड़ जाएँ, राजवंशों के भाग्य का निबटारा हो जाए, वे किसी से एक प्रश्न भी नहीं पूछेंगे। आपके मन में जो आए, वह कर लीजिए।···पर यदि उनके मन में कोई बात आ गई, तो उसका जितना विरोध होगा, वे उस पर उतना ही अड़ते चले जाएँगे। आप उन्हें समझाने का जितना प्रयत्न करेंगे ? उनका मस्तिष्क तर्क की ओर से अपने कान उतने ही बंद करता चला जाएगा···कभी तो अपने कृष्ण की एक बात पर अपने प्राण न्यौछावर करने को आतुर दिखाई पड़ेंगे, और कभी इस बात पर ही धरना देकर बैठ जाएँगे कि सारी बातें कृष्ण की ही क्यों मानी जाएँगी। कृष्ण बहुत बुद्धिमान है और बलराम एकदम मूर्ख है ?···बस अड़ते जाएँगे तो अड़ते ही चले जाएँगे।···बच्चों की-सी हठ पकड़ लेंगे और किसी की एक नहीं सुनेंगे···।"

"तो उन्होंने सुभद्रा के लिए किसे चुन लिया है ?"

"दुर्योधन को !"

"दुर्योधन को ?" अर्जुन के वक्ष पर जैसे किसी ने तप्त शलाका रख दी थी, "क्यों ? दुर्योधन को क्यों ? क्या बलराम भैया नहीं जानते कि दुर्योधन कितना अधर्मी है ?"

"जानते क्यों नहीं।" कृष्ण के अधरों पर मुस्कान तो अब भी थी, किंतु उसमें विषाद का बहुत हल्का-सा रंग घुला हुआ था, "क्या तुम्हारे पितामह भीष्म नहीं जानते कि दुर्योधन और धृतराष्ट्र कैसे मनुष्य हैं, किंतु क्या उन्होंने उनका त्याग कर दिया ? क्या वे उन्हें अपना आत्मीय नहीं मानते ?···बलराम भैया भी संबंधों की दृष्टि से धृतराष्ट्र के परिवार को पराया नहीं मानते। साथ ही वे भीम तथा दुर्योधन को अपना समान रूप से प्रिय मानते हैं। शायद उन्हें दुर्योधन, भीम से कुछ अधिक योग्य शिष्य लगता है। अपने शिष्य की योग्यता के लिए उनके मन में पर्याप्त आकर्षण है। वैसे वे भी पितामह भीष्म के समान स्वयं को मध्यस्थ ही मानते हैं···।"

"वह सब ठीक है। उनकी जो इच्छा हो, वे मानते रहें।···" अर्जुन को लगा उत्तेजना के कारण उसकी वाणी जैसे लड़खड़ा रही है, "किंतु उस पापी, अधर्मी और आततायी के साथ सुभद्रा कैसे रह पाएगी ?"

"वह सब ठीक है। वे मानते हैं कि जिन्हें वह अपना शत्रु मानता है, उनके विरुद्ध वह क्रूरता की किसी भी सीमा तक जा सकता है, किंतु अपनी पत्नी के लिए वह अच्छा पति है, अपनी संतान के लिए अच्छा पिता है, भाइयों के लिए अच्छा भाई है और माता-पिता के लिए एक योग्य और आज्ञाकारी पुत्र है।···"

"और मनुष्य के रूप में ?"

"यही तो समझने से वे इंकार करते हैं।"

अर्जुन ने कुछ नहीं कहा। उसके हृदय में जैसे विकट मंथन चल रहा था···आखिर क्या था यह सब ? बलराम भैया यदि संबंधों को ही इतना महत्त्व देते हैं, तो उन्हें यह क्यों स्मरण नहीं रहता कि पांडव उनकी सगी बूआ के पुत्र हैं···और दुर्योधन पांडवों का घोर शत्रु है···ऐसे में उन्हें दुर्योधन से इतनी सहानुभूति क्यों है ?···वे शायद इन संबंधों को नहीं मानते। गुरु के रूप में केवल अपने शिष्य की योग्यता पर ही दृष्टि रखते हैं।···हाँ ! गुरु को शिष्य प्रिय होता है, उसके गुण प्रिय होते हैं··· आचार्य द्रोण को भी अर्जुन प्रिय था···और शायद आज भी प्रिय है, किंतु उन्होंने अर्जुन को अश्वत्थामा से अधिक कभी नहीं माना···पर सबसे बढ़कर तो धर्म है। क्या बलराम भैया धर्म के विषय में कभी नहीं सोचते ?···कृष्ण तो दिन-रात धर्म के विषय में ही चिंतन करता रहता है···

"और मैं सोचता हूँ कि यदि कहीं यह संबंध हो गया," कृष्ण कह रहे थे, "तो मैं उसे वह सम्मान नहीं दे पाऊँगा, जो सुभद्रा के पति को मिलना चाहिए।"

"कृष्ण ! तुम क्या बलराम भैया के सम्मुख इतने असहाय हो ?" अर्जुन समझ नहीं पाया कि उसके मुख से यह वाक्य कैसे निकल गया।

कृष्ण ने पहले तो अर्जुन की ओर देखा भर··· और अर्जुन के मन में आया कि वह कृष्ण से अपने इस वाक्य के लिए क्षमा माँग ले···किंतु तभी कृष्ण की आँखों में एक अद्‌भुत मुस्कान उभरी···लहर के समान यात्रा करती हुई उनके अधरों पर आई, और फिर सहसा सारी सागर-वेला पर ही नहीं, सारे परिवेश में फैल गई। उसके छींटे अर्जुन पर भी पड़े···

"मैंने यह तो नहीं कहा कि मैं असहाय हूँ। किंतु बलभद्र मेरे बड़े भाई हैं। उनकी मर्यादा की रक्षा करना भी तो मेरा धर्म है। कृष्ण तो केवल धर्म के सम्मुख असहाय है।···किंतु वह असहायता नहीं है, धर्म ही तो सबसे बड़ा संबल है। हम धर्म की रक्षा करेंगे, तो धर्म हमारी रक्षा करेगा।"

अर्जुन अपने सखा की ओर देखता रहा, देखने में कृष्ण चंचल थे, चतुर थे। बाह्य जीवन में वे योजनाएँ बनाते और कार्यान्वित करते दिखाई देते थे। किसी का पक्ष लेते थे, किसी का विपक्ष।···किंतु वस्तुतः वे केवल धर्म की रक्षा कर रहे थे।···और अर्जुन का मन कहता था, जहाँ धर्म है, वहीं जय है···

कल इतनी चर्चा हुई थी सुभद्रा की और अर्जुन ने उसे देखा तक नहीं था···और आज जब वह रैवतक के समारोह में इस सीमा तक लीन था कि सुभद्रा संबंधी कोई विचार मस्तिष्क के किसी कोने में भी नहीं था, तो सुभद्रा स्वयं आकर उसके सामने खड़ी हो

गई थी…

…तो यह है वह सुभद्रा…अर्जुन अपना मन एक विचित्र प्रकार से ऐंठ रहा था…और इसका विवाह बलराम, दुर्योधन से कर देना चाहते हैं।…संभव है मातुल वसुदेव ने भी उसके लिए कोई योग्य वर विचार रखा हो। परिवार में इतने लोग और हैं…इसकी माताएँ, इसके भाई…सबने कुछ-न-कुछ सोचा होगा…सबका कोई-न-कोई मत होगा…अर्जुन को यह सब तनिक भी अच्छा नहीं लग रहा था…उसका सुभद्रा पर कोई अधिकार क्यों नहीं है ? वह उसके विषय में निर्णय क्यों नहीं कर सकता ?…

अर्जुन समझ नहीं पा रहा था कि उसका मन इतना विह्वल क्यों था।

"अर्जुन।" कृष्ण ने मुस्कराकर उसकी ओर देखा, "क्या तुम सुभद्रा से विवाह करना चाहोगे ? मैं देख रहा हूँ कि प्रातः से अब तक तुम उसी के विषय में सोच रहे हो।"

"नहीं ! मैं उसके विषय में नहीं सोच रहा।" अर्जुन कृष्ण के प्रश्न की स्पष्टता और आकस्मिकता से जैसे विचलित हो गया था, "मैं वस्तुतः उसके विवाह संबंधी तुम्हारी चर्चा पर विचार कर रहा था।"

"जानता हूँ, तुम विचार ही कर रहे थे।" कृष्ण मुस्करा रहे थे, "तुम्हारे उस मनन को देखकर ही मैं भी विचार करने लगा था कि क्या तुम सुभद्रा से विवाह करना चाहोगे ?"

अर्जुन कुछ सँभला। उसे लगा, जैसे कृष्ण वरदाता की मुद्रा में उसके सम्मुख खड़े, कह रहे हों, "माँग अर्जुन ! क्या चाहिए। जो तुझे सर्वाधिक प्रिय हो, वह माँग ले। जो सबसे मूल्यवान हो, वह माँग ले। जो पाना तुझे असंभव लगता हो, वही माँग ले।"

"क्या यह संभव है कृष्ण ?"

"क्यों नहीं।"

"मैं विवाहित हूँ।"

"दुर्योधन भी तो विवाहित है।" कृष्ण ने आश्वस्त भाव से कहा, "वैसे तुम्हारी पहली पत्नी पांचाली कृष्णा केवल तुम्हारी पत्नी नहीं है। पिछले कितने ही वर्ष तुमने उसके बिना ही बिताए हैं और भविष्य में भी ऐसे अवसर आ सकते हैं। उलूपी से तुम्हारा संबंध मात्र एक रात्रि का ही रहा। भविष्य अभी बहुत अनिश्चित है, और चित्रांगदा भी कदाचित् मणिपूर छोड़ कर शायद ही तुम्हारे पास इंद्रप्रस्थ आए। ऐसी स्थिति में एक रानी ऐसी भी तो चाहिए, जो तुम्हारे साथ इंद्रप्रस्थ में रहे।"

"यदि देवी सुभद्रा मेरी पत्नी बन सके, तो मेरा इससे बड़ा सौभाग्य और क्या होगा।" अर्जुन की वाणी जैसे स्वयं अपने शब्दों पर विश्वास नहीं कर पा रही थी।

"यह तो तुम्हारी आकांक्षा की तीव्रता पर निर्भर करता है।" कृष्ण अत्यन्त सहज ढंग से कह रहे थे, जैसे इस विषय में कुछ भी अस्वाभाविक न हो, "सुभद्रा सरलता से तो नहीं मिलेगी।"

"मेरी आकांक्षा के बल को परखने के लिए क्या प्रमाण चाहिए तुम्हें ?"

"केवल तुम्हारा शब्द ही प्रमाण है।" कृष्ण ने कहा, "तुम चाहो तो मैं पिताजी से चर्चा करूँ।"

अर्जुन के लिए अपने विह्वल मन को सँभालना कठिन हो रहा था। बोला, "कृष्ण ! तुमने मुझ पर और मेरे भाइयों पर बहुत सारे उपकार किए हैं, किंतु यह तुम्हारा सब

से बड़ा उपकार होगा।"

किंतु कृष्ण का ध्यान अर्जुन के कृतज्ञता-ज्ञापन की ओर नहीं था। वे जैसे मन ही मन अपनी योजना बना रहे थे, अथवा बना चुके थे, "मेरा विचार है कि तुम सुभद्रा के साथ सुखी रहोगे, और मैं यह भी सोचता हूँ कि सुभद्रा के लिए भी तुमसे श्रेष्ठतर पति दूसरा नहीं हो सकता। तुम्हारी पत्नी के रूप में वह हम दोनों के कुलों के सम्मान की रक्षा कर पाएगी। ...किंतु अब हमें यह तय करना है कि यह विवाह किस प्रकार हो।"

"तुमने कहा न कि तुम मातुल से चर्चा करोगे !" अर्जुन बोला।

"हाँ ! कहा तो था...। किंतु उस पर विचार करने से लगता है कि तुम्हारे लिए सुभद्रा को प्राप्त करने का वह निश्चित मार्ग नहीं हो सकता।"

"क्यों ?"

"क्योंकि यह सुभद्रा के लिए आए संबंध प्रस्तावों में से एक प्रस्ताव और होगा। पिताजी जैसे अन्य प्रस्तावों पर विचार कर रहे हैं, वैसे इस पर भी करेंगे। सुभद्रा के भाई अन्य प्रस्तावों के समान, इस पर भी आपत्तियाँ करेंगे। सुभद्रा एक और प्रस्ताव से विद्रोह करेगी। अपने विरोध में वह और भी दृढ़ होगी।...नहीं मित्र ! यह सुभद्रा-प्राप्ति का निश्चित मार्ग नहीं है।..."

'पर कृष्ण ! मैं समझता हूँ कि मेरे विषय में सुनते ही मातुल अन्य प्रस्तावों का तत्काल तिरस्कार कर देंगे।" अर्जुन बोला, "वे हमसे इतना प्रेम करते हैं।"

कृष्ण ने जिस दृष्टि से अर्जुन को देखा, वह कह रही थी, 'कितने अबोध और अनजान हो तुम। मानव-मनोविज्ञान को तनिक भी नहीं समझते।'...वे बोले तो उनका स्वर सुविचारित निष्कर्ष की गंभीरता लिए हुए था, "मातुल के रूप में वे तुमसे बहुत प्रेम करते हैं, किंतु कन्या के पिता के रूप में जब वे संबंध-प्रस्तावों पर विचार करेंगे, तो उस समय वे तुम्हारे मातुल नहीं होंगे।...वे यह आपत्ति भी कर सकते हैं कि तुम सुभद्रा के समवयस्क नहीं हो, अवस्था में उससे बड़े हो।...वे यह भी कह सकते है कि तुम किसी राज्य के न राजा हो, न युवराज ! तुमसे विवाह कर, सुभद्रा अपने जीवन में कभी रानी नहीं बन सकती, जबकि दुर्योधन, शिशुपाल अथवा ऐसे ही किसी अन्य राजा अथवा युवराज से विवाह होने पर वह निश्चित रूप से महारानी बनेगी।..." कृष्ण ने अर्जुन की ओर देखा, "वे यह भी कह सकते हैं कि पांडवों का राज्य बहुत छोटा है... मात्र इंद्रप्रस्थ नगर तक सीमित है वह। बहुत समृद्ध भी नहीं है। पांचालों, यादवों तथा इंद्र की सहायता न होती तो शायद तुम लोग इंद्रप्रस्थ का भी निर्माण न कर पाते...।"

"ऐसा सोचते हैं मातुल ?"

"नहीं। तुम्हारे मातुल ऐसा नहीं सोचते।" कृष्ण ने निश्चयात्मक स्वर में कहा, "किंतु वर का चयन करते हुए, किसी भी कन्या का पिता इस प्रकार विचार कर सकता है।...इसीलिए कह रहा हूँ मित्र ! कि सुभद्रा प्राप्ति का यह निश्चित मार्ग नहीं है।...और यदि कोई निश्चित मार्ग हो तो अनिश्चित मार्ग क्यों स्वीकार किया जाए ?..."

"तो क्या कोई निश्चित मार्ग है ?"

"चलो निश्चित न सही, प्रायः निश्चित मार्ग तो है," कृष्ण ने उत्तर दिया, "हम

उसे सर्वाधिक सुरक्षित मार्ग मान सकते हैं।"

"क्या है वह सुरक्षित मार्ग ?"

"तुम सुभद्रा का हरण कर उसे इंद्रप्रस्थ ले जाओ···।"

अर्जुन की आँखें आश्चर्य से फैल गईं···क्या हो गया है कृष्ण को··वे अपनी बहन के हरण का परामर्श दे रहे हैं उसे···

"अपने मातुल की कन्या का हरण करूँ ? सुभद्रा का ?" अर्जुन समझ नहीं पा रहा था कि वह कृष्ण से पूछ रहा था, अथवा अपने-आपसे, "तुम्हारे, द्वारका के, यादवों के आतिथ्य, सम्मान और सत्कार का इस प्रकार तिरस्कार करूँ ?"

कृष्ण अपने लीलामय नेत्रों से अर्जुन की बौखलाहट देखते रहे··· अर्जुन चुप हुआ तो वे बोले, "तुम समझ लो कि मैं किसी से पूछे बिना, बिना किसी से परामर्श किये, बिना किसी को सूचना दिये सुभद्रा का स्वयंवर आयोजित कर रहा हूँ···"

"स्वयंवर ?"

"हाँ ! स्वयंवर ! सुभद्रा को वीर्य-शुल्का समझो। उसके स्वयंवर की प्रतिज्ञा है शौर्य, साहस, शस्त्रास्त्र-परिचालन तथा रथ-संचालन की अद्भुत दक्षता।" कृष्ण के चेहरे पर अगंभीरता का कोई लक्षण नहीं था, "तुम्हें शारीरिक संकट भी झेलना होगा और असफल होने पर तिरस्कार और अपमान का जोखिम भी उठाना होगा··· और यदि तुम सफल हो गए तो मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि सुभद्रा तुम्हारी होगी, हमारे संबंध पहले से कहीं अधिक दृढ़ और मधुर होंगे, द्वारका में तुम्हारा सम्मान बढ़ेगा··और कोई यादव स्वयं को अपमानित अनुभव नहीं करेगा।···"

"यह सब कैसे संभव है कृष्ण !"

"संभव है।" कृष्ण का स्वर दृढ़ था, "किसी भी स्वयंवर में प्रतिज्ञा पूर्ति का अवसर सारे योद्धाओं को एक साथ नहीं मिलता। वे लोग बारी-बारी ही अपना सामर्थ्य-परीक्षण करते हैं। कोई पहले आता है और कोई बाद में। पूर्वापर के बिना कोई स्वयंवर होते देखा है तुमने ? द्रौपदी के स्वयंवर में तुम्हें सर्वथा अंत में अवसर मिला था। मैं चाहता हूँ कि सुभद्रा के स्वयंवर में तुम्हें सबसे पहले अवसर मिले।··यदि तुम असफल हो जाओ, तो अन्य वीर अपने भाग्य की परीक्षा कर सकते हैं।"

"किंतु स्वयंवर में कन्या की इच्छा का भी समावेश होता है, उसके अभिभावक प्रतिज्ञा निश्चित करते हैं। प्रतिज्ञा की घोषणा होती है···।"

"वह सब कुछ सत्य है !" कृष्ण ने अर्जुन को बीच में ही टोक दिया, "इसे एक प्रकार का अघोषित स्वयंवर समझो। सुभद्रा के बड़े भाई के रूप में मैंने प्रतिज्ञा निश्चित की है। तुम पहले अपनी क्षमता का परिचय दो··उसके पश्चात् आएगी सुभद्रा की इच्छा···।"

"मैं समझा नहीं।" अर्जुन बोला, "और वैसे भी मैं हरण जैसे संकटपूर्ण कार्य की तैयारी करके नहीं आया। तुम रुक्मिणी का हरण करने गए थे, तो कैसी तैयारी से गए थे। मेरे पास तो युद्धक रथ क्या, साधारण यात्री-रथ भी नहीं है। अपहरण कर यादव योद्धाओं की चुनौती को पार कर जाने के लिए शस्त्रास्त्र तो दूर एक साधारण खड्ग भी लेकर नहीं चला हूँ मैं···"

"अर्जुन ! मैं तुम्हें अपना रथ दूँगा, अपने ही घोड़ों से जुता हुआ, किंतु कोई सारथी

नहीं होगा। तुम्हें अपना सारथ्य स्वयं ही करना होगा।" कृष्ण मानो स्वयंवर का सारा स्वरूप स्पष्ट कर रहे थे, "रथ में एक बड़े युद्ध के लिए पर्याप्त शस्त्रास्त्र होंगे, किंतु तुम्हारे साथ कोई योद्धा नहीं होगा। तुम्हें अपना युद्ध स्वयं ही लड़ना होगा।" कृष्ण ने रुककर अर्जुन की ओर देखा, "सुभद्रा रैवतक पर्वत पर पूजा और देवदर्शन के लिए जाएगी। उसके साथ कुछ सशस्त्र रक्षक भी होंगे। वे रक्षक विशेष योद्धा नहीं होते। सुभद्रा का अपहरण कर तुम उसे अपने रथ में बैठाओगे। वे रक्षक प्रतिरोध करेंगे। तुम उन्हें पराजित कर रथ निकाल ले जाओगे।"किंतु सावधान रहना, यदि अनिवार्य न हो, तो उनका वध मत करना। अपने रक्षकों के वध से यादव कुपित हो उठेंगे।"यदि तुम वहाँ से सफलतापूर्वक निकल गए, तो पर्वत से नीचे उतरते ही द्वारका के सीमा-रक्षकों से तुम्हारा सामना होगा। सावधान ! वे पूर्ण सैनिक तथा योद्धा होते हैं। संभव है उनसे दुर्धर्ष युद्ध करना पड़े। उस अवरोध को पार कर सके तो मार्ग पर यादवों की कुछ सैनिक चौकियाँ मिलेंगी"और अंततः द्वारका से बाहर निकलते हुए पुनः सीमा-रक्षकों का गुल्म मिलेगा।" कृष्ण ने क्षण भर रुककर अर्जुन की ओर देखा, "उनमें से किसी को सूचना नहीं होगी कि तुम स्वयंवर की प्रतिज्ञा पूरी कर रहे हो। वे यही जानेंगे कि तुम, यादव-कन्या, वसुदेव-पुत्री तथा कृष्ण-भगिनी देवी सुभद्रा का उसकी इच्छा के विरुद्ध अपहरण कर रहे हो। वे प्राण-पण से लड़ेंगे। केवल सुभद्रा को छुड़ा लेने का नहीं, तुम्हारे वध का प्रयत्न करेंगे। तुम यदि उनसे बचकर सुरक्षित द्वारका से बाहर निकल गए और सुभद्रा को अपने साथ ले जा सके, तो मेरा विश्वास करो कि यादव सेना तुम्हारा पीछा नहीं करेगी। तुम स्वयंवर की प्रतिज्ञा पर खरे उतरे मान लिए जाओगे और वीर्य-शुल्का सुभद्रा तुम्हारी होगी।"

"किंतु सुभद्रा की इच्छा ?"

"मैंने कहा न कि यदि तुम सुरक्षित द्वारका से बाहर निकल गए और सुभद्रा को अपने साथ ले जा सके"।"

"किंतु सुभद्रा की इच्छा ?" अर्जुन अब भी चकित भाव से कृष्ण की ओर देख रहा था।

"सुभद्रा की इच्छा !" कृष्ण लीलापूर्वक मुस्कराए, "वह अपनी इच्छा तुम्हें रथ में ही बताएगी। बस समझ लो कि यदि उसकी इच्छा न हुई तो तुम उसे अपने साथ नहीं ले जा पाओगे।" कृष्ण रुक गए, "पर एक बात के लिए सजग ही नहीं सावधान भी रहना"।"

"क्या ?"

"सुभद्रा की स्वीकृति पाने के लिए तुम बलप्रयोग नहीं करोगे।"" कृष्ण की मुद्रा पर कैसा तो कठोर भाव आ गया था, "बोलो ! है स्वीकार ?"

अर्जुन ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया"यह सारा कुछ उसके लिए इतना आकस्मिक और अनपेक्षित था कि किसी निश्चय पर पहुँचना, उसके लिए संभव नहीं हो पा रहा था।"उसके अपने मन ने तो सुभद्रा की कामना मात्र की थी। कृष्ण की सहमति से वह कामना प्रबल होकर उसके हृदय का चीत्कार बन गई थी। अब सुभद्रा को पाने की इच्छा त्याग देना उसके लिए सरल नहीं था"किंतु इच्छा हो या कामना"वह स्वयंसिद्ध

तो नहीं होती, उसका औचित्य सिद्ध करना पड़ता है।…अभी तो उसका अपना मन ही इस हरण के औचित्य को पूर्णतः ग्रहण नहीं कर पाया था…मातुल की अनुमति के बिना ?…और फिर माँ क्या सोचेंगी कि उनका पुत्र काम के हाथों इतना विवश हो गया कि कन्या की इच्छा के विरुद्ध उसका अपहरण कर लाया…

"तुमने उत्तर नहीं दिया अर्जुन !" कृष्ण ने पुनः कहा।

"मुझे मातुल की ओर से, सुभद्रा के बड़े भाई के रूप में तुम्हारी अनुमति प्राप्त है।" अर्जुन बोला, "वैसे ही मैं चाहता हूँ कि मैं माँ और ज्येष्ठ से भी अनुमति प्राप्त कर लूँ…। यदि वे मुझे अनुमति दे दें, तो फिर इस स्वयंवर में मुझे कोई आपत्ति नहीं है।"

कृष्ण को निर्णय में निमिष मात्र ही लगा होगा। बोले, "अच्छा प्रस्ताव है। तुम युधिष्ठिर के नाम पत्र लिखो।…या तुम बूआ को पत्र लिखना चाहते हो ?"

"नहीं ! पत्र तो महाराज युधिष्ठिर के ही नाम जाए, तो अच्छा है।" अर्जुन ने उत्तर दिया, "वे हमारे राजा हैं। उनकी अनुमति हर प्रकार से आवश्यक है। वैसे, यदि माँ की अनुमति न हुई, तो महाराज भी अनुमति नहीं देंगे। माँ के लिए यह तनिक भी आवश्यक नहीं है, कि वे अपने पुत्रों से अनुमति लें, किंतु पुत्र माँ से अनुमति लिए बिना कोई निर्णय नहीं करेगा।"

"तो फिर धर्मराज को ही पत्र लिखो। मैं किसी पत्र-वाहक को भेज दूँगा।" अर्जुन को कुछ कहने को आतुर देखकर कृष्ण ने अपने हाथ के संकेत से उसे रोका, "निश्चिंत रहो, पत्र का संदेश गुप्त ही रहेगा, कोई विशेष आडंबर करने की आवश्यकता नहीं है। पत्र-वाहक अपने दैनन्दिन कार्य के रूप में ही पत्र ले जाएगा।…और अर्जुन ! धर्मराज का उत्तर आने तक तुम चाहो तो ब्रह्मचारी के रूप में वनवास कर सकते हो।…मेरे मित्र के रूप में द्वारका का सत्कार ग्रहण कर सकते हो। इच्छा हो तो शस्त्रास्त्रों का अभ्यास कर स्वयं को अधिक सक्षम बना सकते हो। या… ।"

"बस ! बस ! इससे अधिक विकल्प सुझाने की आवश्यकता नहीं है। मैं इनमें से ही कोई चुन लूँगा।" अर्जुन पुनः गंभीर हो गया, "एक शंका मेरे मन में और भी उठी है।"

"वह भी कह डालो। शंका सागर !" कृष्ण हँसे, "जाने तुम्हारे मन में इतनी शंकाएँ क्यों उठती हैं।"

"पितामह भीष्म ने जब काशीराज की पुत्रियों का हरण किया था, तो शाल्व ने राजकुमारी अंबा से कहा था कि धर्मतः हरण के क्षण से ही वह भीष्म की पत्नी हो गई… ।"

"तो ?"

"वैसे ही यदि मैं सुभद्रा हरण करता हूँ। लोक-मान्यता यह हो कि धर्मतः उसी क्षण से वह मेरी पत्नी हुई, और उसके पश्चात् मुझे यह ज्ञात हो कि सुभद्रा मुझसे विवाह नहीं करना चाहती, तो हम दोनों के लिए धर्म-संकट उत्पन्न नहीं हो जाएगा ?"

कृष्ण ने अर्जुन को देखा। उनके नयन जैसे कह रहे थे, 'अर्जुन ! तुम इतनी विपरीत परिस्थितियों की कल्पना क्यों करते हो ?' किंतु मुख से उसने यह कहा नहीं। बोले, "जब कह दिया कि रथ पर सुभद्रा अपनी इच्छा प्रकट कर देगी।"

"पर तुम उससे पूछ ही क्यों नहीं लेते ?" अर्जुन ने कुछ झल्लाकर पूछा, "तुम एक साधारण-सी स्थिति को इतना जटिल क्यों बना रहे हो ?"

"साधारण स्थिति को जटिल मैं नहीं बना रहा, तुम बनाना चाहते हो।" कृष्ण मुस्काए, "सुभद्रा से पूछना, पिताजी से अनुमति लेना अथवा बलराम भैया से चर्चा करना... ये सब एक ही समस्या के विभिन्न रूप हैं। जैसे ही द्वारका में यह चर्चा, हम दोनों के अतिरिक्त किसी तीसरे तक पहुँची, यह एक सार्वजनिक सूचना हो जाएगी, सभी संबद्ध पक्षों को ज्ञात हो जाएगा कि सुभद्रा से विवाह करने के प्रसंग में अर्जुन द्वारका पहुँचा हुआ है। द्वारका के भीतर और बाहर हलचल मच जाएगी। सारे संबंध-प्रस्ताव सजीव होकर प्रेतों के समान हमारे चारों ओर मँडराने लगेंगे।...और तुम्हें पता है न बलराम भैया की हठ का। पिता जी सचेत और सक्रिय हो जाएँगे।...और सुभद्रा ! वह फिर इस बात पर अड़ जाएगी कि उसके लिए स्वंयवर का आयोजन क्यों नहीं किया जा रहा।...परिणाम समझते हो न ? और कुछ हो या न हो, सुभद्रा का विवाह तुमसे नहीं होगा।"

"ओह ! हाँ !" अर्जुन कुछ अनमना-सा हो गया...कृष्ण ठीक कह रहे थे...इस समय जो अर्जुन यादवों का आत्मीय बना, उनके सत्कार का भाजन था...वही अर्जुन पराया हो जाएगा।...उसकी विभिन्न राजकुमारों से तुलना की जाएगी...उसकी त्रुटियाँ ढूँढ़ी जाएँगी।...वह, जो आज तक उनके घर का व्यक्ति है, अकस्मात ही निकाल कर बाहर खड़ा कर दिया जाएगा।...

"ठीक है ! तुम्हारी ही योजना रही ! मैं ज्येष्ठ को पत्र लिखता हूँ।"

अर्जुन के मन में अनेक प्रश्न थे...क्या-क्या लिखे वह युधिष्ठिर को और क्या न लिखे ?...क्या वह लिखे कि वह सुभद्रा में इतना अनुरक्त हो उठा है कि उसके बिना नहीं रह सकता, इसलिए उससे विवाह करना चाहता है। मातुल की यह इच्छा नहीं है, बलभद्र भी इस संबंध के लिए सहमत नहीं हैं...सुभद्रा के मन का भी उसे पता नहीं है...फिर भी वह विवाह करना चाहता है।... यदि युधिष्ठिर पूछे कि उसने उलूपी और चित्रांगदा से विवाह करने से पहले तो उससे नहीं पूछा था। अब ऐसा क्या विशेष हो गया है कि युधिष्ठिर से पूछने की आवश्यकता आ पड़ी है ?...क्या वह वे सारी परिस्थितियाँ लिखे, जिसमें वह विवाह हुआ था ? उलूपी ने स्वयं अर्जुन को पाने की इच्छा प्रकट की थी। इच्छा क्या प्रकट की थी, वह तो अर्जुन न.. अपहरण करके ही ले गई थी। वह कामातुरा थी...चित्रांगदा से भी उसका विवाह चित्रांग.. और उसके पिता की इच्छा से हुआ था, उनकी शर्तों पर हुआ था। चित्रांगदा शा.द इंद्रप्रस्थ आने वाली भी नहीं थी...किंतु सुभद्रा को साथ लेकर वह इंद्रप्रस्थ आ रह. था। यदि वह सुभद्रा को जय कर सका तो वह उनके साथ, परिवार की सदस्या होकर उन्हीं के भवन में उनके साथ इंद्रप्रस्थ में रहेगी। परिवार के प्रत्येक सदस्य को उसे स्वीकार करना होगा, उससे व्यवहार रखना होगा।...इस संबंध से, संभव है मातुल के साथ संबंध बिगड़ें। संभव है, यादव वंश इससे कुपित होकर ससैन्य इंद्रप्रस्थ पर आक्रमण करें।...तब पांडवों को उनसे युद्ध करना होगा...इंद्रप्रस्थ में सुभद्रा और अर्जुन की सुरक्षा का ही नहीं, इंद्रप्रस्थ की ही सुरक्षा का प्रबंध करना

होगा। पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक संबंधों के समीकरण बदल जाएँगे···जो मित्र हैं, वे शत्रु हो जाएँगे।···इसलिए महाराज युधिष्ठिर की अनुमति आवश्यक है। क्या वे राजनैतिक और सामारिक संकट झेलने को तैयार हैं ?···

और यदि धर्मराज ने पूछा कि इतना संकट है, तो वह इस संबंध के लिए इतना आतुर ही क्यों है ? क्या वह अपनी कामनाओं का इतना-सा संयमन नहीं कर सकता ? क्यों वह अपने परिवार और राज्य को अपनी कामनाओं की ज्वाला में दग्ध करना चाहता है ?···तो क्या अर्जुन लिख दे महाराज युधिष्ठिर को कि द्वारका में आकर ही उसने अनुभव किया है कि द्रौपदी, उलूपी और चित्रांगदा जैसी पत्नियाँ होते हुए भी वह वस्तुतः पत्नीविहीन है।···कह दे वह कि सुभद्रा ने उसके मन को कुछ उसी प्रकार विह्वल कर रखा है, जैसा किसी समय द्रौपदी ने किया था ! बता दे वह अपने भाइयों को कि द्वारका आकर ही उसने अनुभव किया है कि कृष्ण की मैत्री, स्नेह और सौहार्द के होते हुए भी उनके सबसे बड़े मित्र और सहायक यादव, पांडवों को इस योग्य भी नहीं मानते कि वे अर्जुन को अपनी कन्या के योग्य वर स्वीकार करें। पांडव उनकी दया के पात्र हैं, स्पृहा के नहीं। इंद्रप्रस्थ उनके लिए बहुत छोटा-सा राज्य है। महत्वहीन और समृद्धिशून्य।···यदि पांडवों को राजाओं और राजवंशों की बिरादरी में सिर उठाकर सम्मानपूर्वक, बराबरी के आधार पर जीना है, तो उन्हें अपने राज्य का विस्तार करना होगा, धन-धान्य और संपन्नता की दृष्टि से कुछ और समृद्ध होना होगा। यादवों के निरीह और असहाय संबंधी नहीं, उनके योग्य समर्थ और सक्षम संबंधी बनना होगा···वैसे धर्मराज से इन तथ्यों को गोपनीय रखने का कोई औचित्य भी नहीं है। उन्हें यह सब ज्ञात होना चाहिए ! वे राजा हैं और राजा को अपने राज्य से संबद्ध सारी सूचनाएँ होनी चाहिए। उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि उन्हें धृतराष्ट्र ने किस प्रकार वंचित किया है, जैसे कोई अपने किसी निर्धन संबंधी को उसकी आजीविका के लिए दयावश कोई उपेक्षित भूखंड दे दे। यदि यादवों की दृष्टि में भी हस्तिनापुर का राज्य इंद्रप्रस्थ से इतना अधिक समृद्धिशाली और महत्वपूर्ण है कि वे पापी, अधर्मी और आततायी दुर्योधन से अपनी कन्या का संबंध करने का न केवल विचार कर सकते हैं वरन् स्वयं अपनी पहल पर इसका प्रस्ताव हस्तिनापुर भेज सकते हैं···किंतु अर्जुन की तीव्र इच्छा होने पर, कृष्ण की इस मैत्री के बावजूद वे अर्जुन के प्रस्ताव का तिरस्कार कर सकते हैं, तो पांडव किस आधार पर आश्वस्त बैठे हैं ?···आखिर कब तक वे यादवों की मैत्री और पांचालों के संबंधी होने के आश्वासन पर जीवित रहेंगे···

सहसा अर्जुन का चिंतन रुक गया···यद्यपि उसकी माता का संबंध शूरसेन के परिवार से है···किंतु शायद अब वह शूरसेन की कन्या नहीं, कुंतिभोज की पुत्री होकर ही रह गई है। वह द्वारका वालों की पुत्री नहीं है। इसलिए पांडव उनके उतने आत्मीय नहीं हैं, जितने वे कांपिल्य वालों के हैं। द्रौपदी का कष्ट हरण करने के लिए जैसे द्रुपद, धृष्टद्युम्न तथा शिखंडी दौड़ेंगे, वैसे द्वारका से सिवाय कृष्ण के और कोई पांडवों की सहायता को नहीं आएगा···बलराम भैया भी नहीं···किंतु यदि सुभद्रा का विवाह अर्जुन से हो जाता है तो शायद मातुल·वसुदेव, बलभद्र और अन्य यादव भी वैसी ही आतुरता से आकर उनके पक्ष में खड़े हो जाएँगे···

पर कहीं यह अर्जुन के मन का काम मात्र ही तो नहीं है, जो उसे इस प्रकार अनेक तर्क सुझा रहा है ?…कहीं उसका यह कृत्य यादवों को उनका मित्र बनाने के स्थान पर शत्रु ही तो नहीं बना देगा ?…पर नहीं। यदि ऐसी कोई संभावना होती तो कृष्ण उसे इस प्रकार का परामर्श ही नहीं देते…और वह धर्मराज से अनुमति तो माँग ही रहा है। उनके मन में तो काम नहीं है। वे तो सोच-विचार कर ही उसे अनुमति देंगे…

युधिष्ठिर को अर्जुन का संदेश मिला तो वे चकित रह गए।…

अर्जुन द्वारका में था, यह उनके लिए सुखद समाचार था। वह सुभद्रा से विवाह करना चाहता था इसमें भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी…किंतु सुभद्रा-हरण ?…ठीक है कि उन लोगों के वंश पृथक थे किंतु कृष्ण के परिवार को युधिष्ठिर ने सदा अपना ही परिवार समझा था।…अपने ही परिवार में कन्या-हरण ! यह उचित था क्या ? ऐसे में कौन किसका विश्वास करेगा ? अर्जुन को ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए, जिससे यादव अपने-आपको अपमानित अनुभव करें…किंतु यादवों को भी तो कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिए, जिससे पांडव स्वयं को उपेक्षित अनुभव करें…युधिष्ठिर ने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि यादव उन्हें इतना हीन समझते हैं, कि अर्जुन जैसे पुरुष से वे अपनी कन्या का संबंध नहीं…और उनमें से भी स्वयं मातुल वसुदेव ?…पर यदि मातुल पहले से ही उनके विषय में अच्छी धारणा नहीं रखते, …और अब अर्जुन ने सुभद्रा का हरण किया तो मातुल के मन पर और गहरा आघात होगा, मातुल को बुरा लगा तो माँ को भी बुरा लगेगा। माँ…

युधिष्ठिर कुंती के पास पहुँचे, "माँ !" उन्होंने अर्जुन का पत्र आगे बढ़ा दिया।

कुंती ने पत्र पढ़ा। दो क्षण मौन रहकर विचार किया और निर्द्वन्द्व मन से स्पष्ट शब्दों में बोली, "अर्जुन को लिख दो, वह निर्भय होकर सुभद्रा को ले आए। मुझे न सुभद्रा को पुत्र-वधू मानने में कोई आपत्ति है, न उसके हरण में।"

"किंतु माँ ! हरण जैसा नृशंस कार्य !" युधिष्ठिर बोले, "मातुल को अच्छा लगेगा क्या ?"

"मातुल को अच्छा न लगने की भला इसमें क्या बात है ?" कुंती के स्वर में कुछ कठोरता थी, "उन्हें सुभद्रा के लिए वर नहीं चाहिए क्या ?"

"किंतु उनकी इच्छा ? सुभद्रा की इच्छा ?"

"सुभद्रा की इच्छा नहीं होगी तो अर्जुन उसे इंद्रप्रस्थ नहीं ला पाएगा।" कुंती पर्याप्त दृढ़ स्वर में बोली, "और यदि सुभद्रा को अर्जुन अपने पति के रूप में स्वीकार्य है, तो तुम्हारे मातुल की इच्छा-अनिच्छा का कोई महत्व नहीं रह जाता।"

"मैं अर्जुन की सहायता के लिए जाऊँ माँ ?" भीम ने आतुरता से पूछा, "वह वहाँ अकेला है और यादवों के इतने महारथी और अतिरथी ! कहीं…।"

"नहीं ! यह पराक्रम अर्जुन को ही करने दो।" कुंती हँस पड़ी, "तुम्हारा क्या भरोसा है, अभी अर्जुन की सहायता करने जाओ और बाद में कहो कि तुमने और अर्जुन ने मिलकर सुभद्रा का हरण किया, इसलिए…।"

"माँ ! तुम तो···।"

भीम कुछ और कहना चाहता था कि युधिष्ठिर बीच में ही बोले, "शायद तुमने मातुल के पक्ष से विचार नहीं किया माँ ! उनके मन में हमारा क्या सम्मान रह जाएगा ?"

"पराक्रम से सम्मान बढ़ता है, कम नहीं होता।" कुंती बोली, "उसने ठीक लिखा है कि द्वारका के यादवों के मन में हमारे प्रति दया और सहानुभूति तो है, किंतु सम्मान नहीं है। हमें वह सम्मान तो अर्जित करना ही पड़ेगा।"

"तुम क्या कहती हो पांचाली ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

द्रौपदी मुस्कराई, "लोग अपनी पत्नियों से पूछकर, राजकुमारियों का हरण नहीं करते।"

"फिर भी इस संदर्भ से तुम्हारा परामर्श क्या है ?"

"उन्होंने अपने राजा की अनुमति माँगी है, ताकि सैनिक संघर्ष हो, तो राजा को ज्ञात हो कि उसका धर्म क्या है।" द्रौपदी अब भी पर्याप्त तटस्थ दिखाई दे रही थी।

"मैं तुमसे तुम्हारी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया जानना चाहता हूँ।" युधिष्ठिर के स्वर में आग्रह था, "अर्जुन अपने साथ सुभद्रा जैसी पत्नी लाएगा, तो तुम्हें कैसा लगेगा ?"

"बड़ी विचित्र स्थिति है क्षत्रिय-पत्नी की।" द्रौपदी गंभीर ही नहीं, कुछ-कुछ अन्यमनस्क भी हो चुकी थी, "सपत्नी का कोई स्त्री स्वागत नहीं करती, किंतु वीर-पत्नी अपने पति के पराक्रम में बाधा नहीं डालती··और मैं तो स्वयं पाँच पतियों की भार्या हूँ। मैं उन पर एकाधिकार की कल्पना भी कैसे कर सकती हूँ।"

द्रौपदी उठकर अपने भवन में चली आई। जो कुछ युधिष्ठिर उससे पूछ रहे थे, वह तो कदाचित् गृह-कलह से बचने के लिए उसकी औपचारिक सहमति प्राप्त करने का प्रयत्न था, किंतु उसे भी तो अपने-आपसे बहुत कुछ पूछना था··इन परिस्थितियों में अर्जुन का धर्म क्या था··यह प्रश्न अपने स्थान पर महत्वपूर्ण था··किंतु द्रौपदी की प्रतिक्रिया ? उसकी भावनाएँ ? उसकी इच्छा ?···ठीक ही कहा था उसने, क्षत्रिय-पत्नी की विचित्र स्थिति थी··सपत्नी की चर्चा ही भयानक थी। वह उसके पति को उससे छीन लेगी। वह उसके प्रति अर्जुन का प्रेम क्षीण नहीं तो मंद अवश्य कर देगी···और फिर यह जो आ रही थी, साधारण राजकुमारी नहीं थी। यह सुभद्रा थी ! कृष्ण की चंचला भगिनी ! यादव-कन्या।··सुंदर, बुद्धिमती, सुशिक्षित, रण-कुशल। अर्जुन को तो वह मुग्ध करेगी ही··बहुत संभव है, वह पूरे परिवार की ही लाड़ली हो जाए।··किंतु द्रौपदी का उससे क्या विरोध ? वह उसके सखा की भगिनी थी। छोटी बहन-सरीखी ! और इन पाँचों भाइयों की ऐसी-ऐसी रानियों की महारानी होगी··द्रौपदी !···उसका अपना ही साम्राज्य समृद्ध हो रहा है···और सबसे बड़ी बात तो वीर पति के पराक्रम और कुल गौरव की थी··द्रौपदी का सुभद्रा से विरोध ही क्या हो सकता था ?···

20

अर्जुन ने रथ का निरीक्षण किया : न केवल कृष्ण के इस रथ में उनके अपने अश्व"शैव्य तथा सुग्रीव"जुते हुए थे; बाहुक ने रथ को काफी सुसज्जित भी कर दिया था। जाने क्या सोचकर बाहुक ने रथ को सजाया था"निश्चित रूप से कृष्ण ने उसे अर्जुन के अभियान के विषय में कुछ नहीं बताया होगा। इंद्रप्रस्थ से युधिष्ठिर की अनुमति आ जाने पर द्वारका में अर्जुन के अकेले आखेट पर जाने की सूचना कृष्ण ने अवश्य प्रचारित कर दी थी।"किंतु आखेट पर जाने के लिए तो कोई रथ को सज्जित नहीं करता"अब बाहुक के मन की तो बाहुक ही जाने"'

रथ का सारा पृष्ठभाग शस्त्रास्त्रों से अटा पड़ा था, जैसे अर्जुन दिग्विजय के लिए जा रहा हो ! कृष्ण ने बड़ी सावधानी से विभिन्न प्रकार के ये शस्त्रास्त्र रखवाए थे'"हाथी को गदा से मारना, सिंह को बाण से। मृग के लिए तो ये हल्के बाण ही पर्याप्त होंगे, किंतु अरना भैंसा आए तो इन भारी बाणों की आवश्यकता पड़ेगी।"बाघ झपट पड़े तो बाणों से क्या होगा, तब यह शूल उत्तम रहेगा, और यह त्रिशूल'" ।" वन में जितने प्रकार के पशुओं की कल्पना की जा सकती है उतने ही प्रकार के शस्त्र रथ में रखवा दिए थे'"

अर्जुन ने कवच धारण कर लिया था और कटि में एक भारी खड्ग बाँध लिया था।"अब विलंब का कोई कारण नहीं था।

"जाओ मित्र ! सफल होकर मिलो !" कृष्ण ने कहा, "चिंता मत करना, पराक्रम करना !"

अर्जुन का कंठ अवरुद्ध हो आया"कृष्ण जैसा सखा कहाँ मिलेगा उसे ! उसके ऋण से उऋण होना संभव है क्या !"'

रथारूढ़ होकर अर्जुन ने वल्गा सँभाली तो उसका मन अपनी योजना बुनने लगा : "द्वारका में प्रचारित किया गया था कि अर्जुन आखेट के लिए जा रहा है। इसलिए द्वारका से बाहर निकल वन अथवा रैवतक पर्वत की ओर जाने में उसे कोई कठिनाई नहीं थी। वह तो आखेट के लिए जाने वालों का स्वाभाविक मार्ग था'" किंतु रैवतक पर्वत पर रथ सहित उसका देव-स्थानों तक जाना किसी के भी मन में शंका उत्पन्न कर सकता है'" उसे रैवतक पर नहीं जाना है, किंतु वह रैवतक से दूर भी नहीं रह सकता। सुभद्रा मंदिर में पूजा कर रैवतक की परिक्रमा करेगी। परिक्रमा के पश्चात वह द्वारका के जितनी निकट होती जाएगी, उतनी ही अर्जुन की कठिनाई बढ़ती जाएगी। '" इसका अर्थ है कि उसे उस स्थान पर सुभद्रा की प्रतीक्षा करनी चाहिए, जहाँ वह परिक्रमा के पश्चात पर्वत से नीचे उतरेगी और नगर की ओर मुड़ेगी'" मार्ग में रुकने का सबसे सरल उपाय था घोड़ों को रथ से खोलकर सुस्ताने के लिए छोड़ देना, अथवा उनके सामने चारा डाल देना।'" किंतु वह अश्वों को खोल नहीं सकता। सुभद्रा को देखते ही, निमिर्ष भर में उसे स्फूर्तिपूर्वक सुभद्रा को उठाकर अपने रथ में बैठा लेना था और चल पड़ना था'" किंतु अश्वों को खोल देने पर यह इतना सरल नहीं होगा। अश्वों को

जोतने में भी तो कुछ समय लगेगा… उसे इसी प्रकार प्रतीक्षा करनी होगी…किंतु ऐसे में क्या यह उचित नहीं है कि वह रथ को मार्ग से उतार कर वृक्षों के पीछे खड़ा कर दे… इस प्रकार एक तो वैसे ही आते-जाते नागरिकों की उस पर दृष्टि नहीं पड़ेगी, और दूसरे यदि किसी ने देख भी लिया तो यही माना जाएगा कि आखेट के लिए वन में प्रवेश करने से पूर्व वह किसी की प्रतीक्षा कर रहा है…

रैवतक पर हुए समारोह के पश्चात् अर्जुन की सुभद्रा से कई बार भेंट हो चुकी थी… कभी स्वयं कृष्ण के भवन में, कभी बलराम के घर, कभी मातुल वसुदेव के घर ! अर्जुन ने जितनी बार उसे देखा, उससे चर्चा की, अथवा उसे शस्त्रास्त्रों का अभ्यास करते देखा, उसकी कामना तीव्र होती गई। किंतु सुभद्रा ने उसमें अतिरिक्त रुचि कभी भी नहीं दिखाई… हाँ ! उसकी उपेक्षा अथवा अनादर भी नहीं किया। कृष्ण के घर में कई बार तो ऐसे एकांत अवसर भी आए कि अर्जुन का मन अनायास ही अपनी बात कह देने के लिए आतुर हो उठा, किंतु उसे हर बार लगा, यह उचित नहीं होगा। कृष्ण ने उसे सुभद्रा का हरण करने के लिए कहा था, उसका मन जीतने का परामर्श कभी नहीं दिया था।… यदि उसका कोई अवकाश होता तो कृष्ण हरण की बात ही क्यों करते। ऐसा न हो कि वह अपने मन की बात कहकर कृष्ण की योजना में कोई विघ्न उपस्थित कर दे…

सुभद्रा को आते देखकर अर्जुन सचेत हो गया।

सुभद्रा के साथ चार खड्गधारी रक्षक थे। उसके अपने हाथ में पूजा की थाली थी और उसके आस-पास अनेक दासियाँ हाथों में फल, फूल अथवा मिष्टान्न इत्यादि लिए चल रही थीं। यह सुभद्रा का वह तेजस्वी और जुझारू रूप नहीं था, जो उत्सव के दिन अर्जुन ने देखा था। आज वह पर्याप्त कोमल और भीरु लग रही थी।…जाने क्यों आज वह बहुत आत्मलीन दिखाई पड़ रही थी। उसका रूप आकर्षक था एक सीमा तक उत्तेजक भी। उसके मुख-मंडल पर छाई सात्विकता, देखनेवाले के मन को शांति अवश्य देती थी, किंतु उसे और भी अधिक कमनीय बना रही थी।… अर्जुन को लगा, जैसे स्वयं देवी पार्वती अपने आराध्य को पाने के लिए तपस्या कर हिमालय से उतरकर नीचे आ रही थी… और देखो, साक्षात् वरदान-सा स्वयं अर्जुन वहाँ खड़ा था। यदि सुभद्रा को ज्ञात होता कि भगवान महादेव ने उसकी मनोकामना पूरी कर दी है, तो उसे रैवतक पर जाने की आवश्यकता ही क्या थी ?…

किंतु तभी अर्जुन के मन में दूसरे विचार ने सिर उठाया… वह तो जानता भी नहीं कि सुभद्रा के मन में क्या है। यदि कहीं उसके मन का वरदान अर्जुन न हुआ तो ?… यदि अर्जुन के पराक्रम को उसने उसका दुस्साहस माना तो ?… किंतु अब सोचने का समय नहीं था।… उसे सुभद्रा को प्राप्त करना था, तो यह सारा जोखिम तो उसे उठाना ही था… कृष्ण ने कहा था कि सुभद्रा उसे अपनी इच्छा रथ में ही बताएगी…

उसने रथारूढ़ हो घोड़ों को आगे बढ़ाया और रथ लाकर सुभद्रा के ठीक सामने खड़ा कर दिया…

सुभद्रा ने चौंककर रथ को देखा, इस रथ को वह पहचानती थी… यह कृष्ण का रथ था। रथारोही का रूप भी कृष्ण से कुछ समानता रखता था, किंतु वह कृष्ण नहीं

था। यह उसके भैया का वेश नहीं था…

अर्जुन रथ से कूदकर उसके सामने आया।

"ओह पार्थ !" सुभद्रा सस्मित बोली, "आपने तो मुझे चौंका ही दिया।"

और तभी अर्जुन ने झुककर सुभद्रा को अपनी भुजाओं में उठाया और रथ में बैठा दिया। सुभद्रा ने कुछ नहीं कहा, केवल विस्मित दृष्टि से उसे देखती रही।

रक्षकों की समझ में नहीं आया कि उनकी आँखों के सम्मुख क्या घटित हो रहा था। सुभद्रा जिस रथ में आई थी, वह भी थोड़ी दूरी पर खड़ा था। सारथि स्वामिनी के आने की प्रतीक्षा कर रहा था। यदि देवी सुभद्रा को अपने रथ में न जाकर, पार्थ के साथ इस रथ में जाना था, तो वे उन्हें पूर्व सूचना भी दे सकती थीं।… यदि यह पूर्व-नियोजित नहीं था, तो अधिक स्वाभाविक था कि पार्थ आकर देवी सुभद्रा से निवेदन करता, या उन्हें आमंत्रित करता।… किंतु पार्थ ने तो उन्हें अपनी भुजाओं में उठाकर रथ में बैठा दिया था। देवी सुभद्रा ने भी विस्मय ही प्रकट किया था…

अर्जुन ने बाएँ हाथ में वल्गा पकड़, दाएँ हाथ से खड्ग खींच लिया, "मार्ग से हट जाओ। जाकर द्वारका में सूचना दे दो, मैंने देवी सुभद्रा का हरण कर लिया है।"

निमिर्ष भर में सब कुछ स्पष्ट हो गया। रक्षक खड्ग लेकर झपटे और दासियाँ चीत्कार कर गिरती-पड़ती भाग गई।… किंतु चार रक्षकों के लिए अर्जुन को रोक पाना संभव नहीं था। खड्गों की दो-चार टकराहटों के पश्चात् ही अर्जुन को मार्ग मिल गया और उसका रथ पूरे वेग से दौड़ पड़ा।

अर्जुन सतर्क था कि उसके हाथों द्वारका के इन साधारण खड्गधारी रक्षकों में से भी किसी का वध न हो, उसका रथ कितने ही वेग से क्यों न चले, किंतु मार्ग में आए किसी साधारण व्यक्ति को भी चोट न आए। वह नहीं चाहता था कि यादव उसे आक्रामक अथवा अन्यायी मानें। सुधर्मा सभा में उस पर यह आरोप न लगाया जा सके कि वह क्रूर तथा आततायी है। वे लोग उसके शौर्य, साहस और वीरता की जितनी और जैसी परीक्षा लेना चाहें ले लें, किंतु न तो वह उनका विरोधी घोषित हो, न उन्हें वह अत्याचारी प्रतीत हो…

हरण करते समय तो उन चार रक्षकों से एक छोटी-सी झड़प भी नहीं हुई। बस ऐसा ही लगा, जैसे उन्हें खड्ग दिखाकर धमका भर दिया हो और वे अपना सामर्थ्य पहचान कर पीछे हट गए हों। उनके लिए अर्जुन से लड़ने से कहीं सुरक्षित मार्ग था, जाकर सुधर्मा सभा में शोर मचाना। इस प्रकार वे अपने धर्म का पूर्ण निर्वाह भी कर लेंगे और उनके प्राण भी सुरक्षित रहेंगे…

किंतु अब सामने सैनिक चौकी थी। संभव है यहाँ सौ-पचास सशस्त्र सैनिक हों और वे लोग युद्ध करने का साहस दिखाएँ। वैसे तो शायद उन्हें अभी तक इस हरण की सूचना भी न मिली हो, किंतु वे रथ को अवश्य रोकेंगे। उन्हें यही निर्देश है कि यहाँ स्वयं महाराज उग्रसेन का रथ भी रुकेगा।… किंतु अर्जुन रथ को रोक नहीं सकता। रथ के रुकने से विलंब होगा। सैनिकों को कहीं से सूचना मिल सकती है। सुभद्रा, जो अब तक स्तब्ध-सी चुपचाप बैठी है, चिल्ला सकती है, सैनिकों को अपनी सहायता के लिए पुकार सकती है, अथवा रथ से कूद सकती है…अर्जुन को इन सैनिकों अथवा उनकी

सहायता के लिए आ सकने वाली सेनाओं का भय नहीं था। उसके मन में न तो यादव वीरों से पराजित होने का भय था, न अपने प्राण गँवाने का। ··· उसकी सारी घबराहट केवल एक ही बिंदु पर टिकी हुई थी··· रैवतक पर्वत से भागते हुए सुभद्रा के वे रक्षक किसी भी क्षण सुधर्मा सभा में पहुँच कर दुहाई मचा सकते हैं। ऐसे में यदि यादव वीरों ने उसका पीछा किया,··· स्वयं मातुल अथवा भैया बलभद्र आकर उसके सम्मुख धनुष तान कर खड़े हो गए तो ? वह मातुल अथवा बलराम पर आक्रमण कर पाएगा क्या ? यह सारण, उद्धव अथवा सात्यकि का वध कर पाएगा क्या ? वह अक्रूर, कृतवर्मा अथवा अन्य वीरों को अपना शत्रु मान कर उनसे युद्ध कर पाएगा क्या ?··· केवल इसलिए कि वह सुभद्रा के रूप को देखकर उसमें आसक्त हो गया है ? अपनी कामनाओं को पूर्ण करने के लिए, एक स्त्री को प्राप्त करने के लिए वह अपने इन आत्मीय जनों से युद्ध कर पाएगा ? उनका वध कर पाएगा ?···

'ओह कृष्ण ! तुमने किस धर्म-संकट में फँसा दिया मुझे।'

रथ वायु-वेग से दौड़ रहा था और अर्जुन का मन उससे भी अधिक वेगवान हो गया था··· वह सहस्रों कल्पनाएँ कर रहा था, असंख्य संभावनाओं पर विचार कर रहा था, अनेक जटिल परिस्थितियों की सृष्टि कर उनका समाधान कर रहा था··· बस उसका ध्यान नहीं था, तो एक सुभद्रा की ओर ही नहीं था।···

अर्जुन को अकस्मात् ही अपने सामने खड़े देख कर सुभद्रा केवल विस्मित ही हुई थी।··· उसने सुन रखा था कि अर्जुन आखेट के लिए जाने वाला है।··· किंतु वह यहाँ खड़ा क्या कर रहा है ? भैया कृष्ण और बलराम के घर उसने उसे कई बार देखा था। कई बार वह उनके घर पिताजी से मिलने भी आया था···किंतु उसकी सुभद्रा से कभी कोई विशेष बात नहीं हुई थी। भैया कृष्ण और बलराम दोनों ही सुभद्रा को स्वयं से इतनी छोटी मानते थे कि उनकी किसी गंभीर बात में वह सम्मिलित ही नहीं हो पाती थी। तो ऐसे में कृष्ण के इस मित्र से वह क्या बात कर पाती।···

पर यहाँ तो जैसे वह उसके लिए ही खड़ा था। कुछ कहना था क्या ? कहीं भैया कृष्ण ने ही तो कोई संदेश नहीं भेजा ?··· नहीं। भैया को संदेश ही भेजना होता तो अपने इस सम्मानित मित्र को क्यों भेजते ? उनके पास संदेशवाहकों का कोई अभाव था क्या ?··· नहीं। संदेश नहीं। वैसे ही जाते-जाते सुभद्रा को देखकर रुक गया होगा।···

और तभी अर्जुन ने उसे अपनी भुजाओं में उठाकर रथ पर बैठा लिया। यदि अर्जुन ने उसके हरण की घोषणा न की होती, तो भी वह यही मानती कि भैया के ही समान वह उसे छोटी बच्ची समझ कर, उसके साथ उसी के समान व्यवहार कर रहा है··· पर उसने तो उसके हरण की घोषणा की थी··· सुभद्रा के मन में विचारों के असंख्य बवंडर एक साथ उठ खड़े हुए थे।··· अर्जुन का वह स्पर्श ! कैसा कमनीय था वह। पुरुष के उस एक स्पर्श ने उसके भीतर की नारी को चैतन्य कर दिया था। ··· नारी के चैतन्य होते ही उसकी लज्जा और आत्म-रक्षा की भावनाएँ भी सजग हो गई थीं। उसे अर्जुन के इस दुस्साहस पर जैसे क्रोध आया। वह उसका हरण कर रहा है। उसे असहाय पाकर,

उसकी इच्छा के अभाव में, उसके माता-पिता से पूछे बिना, बलात् हरण कर रहा है। इस समय सुभद्रा का कोई रक्षक नहीं है। उसे अपनी रक्षा स्वयं करनी होगी...

उसकी आत्मरक्षा की भावना अंकुरित हुई, तो उसके भीतर विलुप्त क्षत्राणी भी साक्षात् हो उठी... उसे स्मरण हो आया कि वह खड्ग चला सकती है। धनुष-बाण का प्रयोग कर सकती है, इतने सारे शस्त्र रखे हैं रथ में। वह उसकी ओर से निश्चिंत रथ हाँक रहा है। अभी वह एक शूल या शक्ति उठाकर भोंक दे तो उसके वक्ष के आर-पार हो जाएगी... खड्ग का एक वार अभी इस धनंजय को बता देगा कि किसी यादव-कन्या का अपहरण क्या अर्थ रखता है।

सुभद्रा ने दृष्टि घुमाकर शस्त्रों की ओर देखा : कितना असावधान था अर्जुन! ...और तभी सुभद्रा का मन जैसे पलट गया... वह स्वयं असावधान नहीं थी क्या?... वह क्यों समझ नहीं पा रही थी कि अब वह युवती हो गई है। पुरुष मन उसकी ओर आकृष्ट होता है। अर्जुन जैसा योद्धा, जिसने कांपिल्य में भीषण प्रतिज्ञा पूरी कर द्रौपदी जैसी नारी को प्राप्त किया था, वह स्वयं उसका हरण कर रहा था ... उसने सुभद्रा को इस योग्य समझा था और उसके लिए अपने प्राणों का पण लगाने यहाँ आया था। यादवों की नगरी में से वह वसुदेव की पुत्री तथा कृष्ण और बलराम की बहन का हरण कर रहा था...

सहसा सुभद्रा का मन चौंककर खड़ा हो गया... कृष्ण के इस मित्र ने, कृष्ण की बहन के हरण का साहस कैसे किया? नहीं जानता वह भैया कृष्ण को? ...और तभी उसका ध्यान रथ की ओर चला गया... यह भैया का ही रथ था, भैया के ही घोड़े थे...और निश्चित रूप से ये सारे शस्त्र भी भैया के ही थे। भैया ने यह रथ अर्जुन को न सौंपा होता तो ये अश्व अर्जुन के चलाए चलते ही नहीं। भैया ने ये शस्त्रास्त्र स्वयं इस रथ में न रखवाए होते तो अर्जुन स्वयं मास भर भी लगा रहता तो ये सारे शस्त्र रथ में सजाए न जा सकते।... इतने शस्त्रास्त्र दिये हैं भैया ने कि अर्जुन सारी यादव सेना के विरुद्ध अकेला ही कई दिन तक लड़ता रहे...

तो भैया ने भेजा है अर्जुन को, सुभद्रा के हरण के लिए। यह रथ और शस्त्रास्त्र ही भैया ने नहीं दिए, यह साहस भी भैया का ही दिया हुआ है।...

पर भैया ने उसकी इच्छा-अनिच्छा की चिंता क्यों नहीं की? उसकी इच्छा?... और उसकी आँखें पुनः उस शस्त्र-भंडार पर जा टिकी... ये शूल और शक्तियाँ ... यही तो वे शस्त्र थे, जिनका अभ्यास पि[illegible] दिनों सुभद्रा करती आ रही है। उन्होंने अर्जुन को भेजा है कि वह सुभद्रा का ह[illegible] कर ले, तो वे शस्त्र भी साथ रख दिए हैं, जिन से सुभद्रा अपनी रक्षा कर सके... अर्थात सुभद्रा को यह निर्णय आज और अभी करना होगा कि उसे अर्जुन का वरण करना है या नहीं।... यदि उसे अपने पति के रूप में अर्जुन स्वीकार नहीं है, तो उसे तत्काल शस्त्र उठा लेने चाहिए और यादव सैनिकों की चौकियों के निकट सहायता की गुहार करनी चाहिए।... अभी इन मार्गों पर यादव वीरों की भीड़ लग जाएगी और अर्जुन के लिए पग भर चलना भी दूभर हो जाएगा।... और यदि उसे अर्जुन स्वीकार है, तो उसे कुछ करने की आवश्यकता ही नहीं है। वह चुपचाप बैठी रहे...अर्जुन ही उसका पति होगा।...

तो भैया कृष्ण ने उसे बाध्य कर दिया है कि वह इसी क्षण निर्णय करे। बहुत दिनों से वह टाल रही है उन्हें ! अब नहीं टाल सकती। यही निर्णय का क्षण है। उसे निर्णय करना ही होगा··· पर भैया क्यों बाध्य कर रहे हैं उसे ? क्यों उसे मनोनुकूल अवसर नहीं दिया जा रहा ? यदि भैया उसे बाध्य कर, उससे 'हाँ' करवाना चाहते हैं, तो वह इसके विरुद्ध विद्रोह करेगी। वह इस आरोपित पुरुष को अपना पति स्वीकार नहीं करेगी···

उसने हाथ बढ़ाकर शूल उठा लिया और अर्जुन की ओर देखा : अर्जुन की दृष्टि मार्ग पर ही लगी हुई थी। सामने द्वारका की अंतिम सैनिक चौकी थी। इसका अर्थ है कि मार्ग की दो चौकियों को अर्जुन पार कर आया था और इस चौकी के पश्चात् तो वे द्वारका से बाहर होंगे।··· यदि सुभद्रा शूल का प्रहार कर अर्जुन को आहत कर देती है और रथ पर से कूद कर सुरक्षित अपने घर पहुँच जाती है, तो उसका अर्थ होगा अर्जुन का तिरस्कार। उसके रक्षक अब तक सुधर्मा सभा में पहुँच चुके होंगे। यादवों की सेना अपने वीरों के नेतृत्व में आ ही रही होगी। यदि वह अर्जुन को इस प्रकार बाधित कर लेगी तो वे लोग इतने में आ ही लेंगे। बलराम भैया, अर्जुन को बाँधकर द्वारका ले जाएँगे। उसे दंडित करेंगे··· वे उसे बंदी कर सकते हैं, उसका अंग-भंग कर सकते हैं··· और उसकी हत्या भी कर सकते हैं।··· यदि इतना कठोर दंड नहीं भी दिया गया तो अर्जुन का तिरस्कार तो होगा ही और फिर वह अर्जुन को अपने पति के रूप में कभी नहीं पा सकेगी···कभी नहीं। कभी नहीं···

सैनिक चौकी निकट आ गई थी। नायक आगे बढ़ आया था और रथ को रुकने का संकेत कर रहा था··· सुभद्रा जानती थी कि नायक कृष्ण का रथ पहचान लेगा और तत्काल उन्हें आगे बढ़ जाने का संकेत करेगा··· किंतु अर्जुन जिस वेग से रथ दौड़ा रहा था और उसके मंथर होने का कोई भी लक्षण नहीं था, उससे तो सैनिकों को संदेह हो ही जाएगा और वे तत्काल मार्ग में अवरोध खड़ा करने का प्रयत्न करेंगे··· बहुत संभव है कि वे मार्ग बंद करने के लिए अस्थायी फाटक का भी प्रयोग करें··· पहले ऐसा नहीं होता था। यादवों के रथ द्वारका के भीतर ही अबाध गति से नहीं चलते थे, द्वारका में उनके प्रवेश और निष्क्रमण पर भी किसी प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं था।··· किंतु सत्राजित की हत्या कर शतधन्वा के द्वारका के बाहर भाग जाने के बाद से ही इस प्रकार के नियम बना दिये गए थे···

सुभद्रा का अनुमान ठीक था। वह देख रही थी कि रथ के वेग को कम न होते देख नायक ने अपने सैनिकों को संकेत किया था और वे भागते हुए काष्ठ के बड़े-बड़े अवरोधक उठा लाने का प्रयत्न कर रहे थे··· तभी सुभद्रा ने एक चमत्कार देखा··· सहसा अर्जुन ने अश्वों की वल्गा अपने दाँतों से थाम ली थी और दोनों हाथों से धुनष-बाण-परिचालन आरंभ कर दिया था।··· पर यह बाण चलाना मात्र नहीं था। यह तो उसके धनुष से जैसे बाणों की एक नदी प्रवाहित होने लगी थी। बाणों की वह धारा धनुष से छूटते ही दो वर्गों में विभाजित हो रही थी। एक वर्ग मार्ग की बायीं ओर जा रहा था, दूसरा दायीं ओर ! मार्ग के दोनों ओर जैसे बाणों की प्राचीरें खड़ी हो गई थीं, जिनके मध्य से रथ सुचारु गति से निर्विघ्न निकलता जा रहा था। साधारण सैनिक तो क्या, सुभद्रा को लगा कि बड़े-बड़े महारथी भी इन बाण-प्राचीरों के मध्य धँसने का

साहस नहीं कर सकते। अर्जुन के रथ के सम्मुख कोई बाधा खड़ी नहीं की जा सकती। उसकी गति को कोई रोक नहीं सकता।''' और अद्भुत तथ्य यह था कि एक भी सैनिक घायल तक नहीं हुआ था। अर्जुन ने उन्हें बाणों के मध्य आने का अवसर ही नहीं दिया था'''

और तब सुभद्रा का ध्यान इस ओर भी गया कि इसके पूर्व के द्वारका के दो अवरोध-द्वार भी अर्जुन ने कुछ इसी प्रकार पार किए होंगे। जाने तब उसका ध्यान कहाँ था कि उसने यह अलौकिक चमत्कार देखा ही नहीं। शायद यह वही समय रहा होगा, जब सुभद्रा अर्जुन पर शस्त्र से प्रहार कर, उसे आहत कर रथ से नीचे फेंक देने की योजना बना रही थी।'''यदि कहीं उसने यह चमत्कार देखे बिना ही प्रहार कर दिया होता?'''

सुभद्रा का उठा हुआ हाथ झुक ही नहीं गया, उसके हाथ से शूल स्वतः छूटकर गिर पड़ा।

खटके से अर्जुन का ध्यान मार्ग से हटकर सुभद्रा की ओर भटक आया।''' सुभद्रा को अपनी भुजाओं में उठाकर रथारूढ़ कराने के पश्चात् से ही उसका ध्यान सुरक्षा-समस्या को लेकर कुछ इस प्रकार एकाग्र रहा था कि वह भूल ही बैठा था कि रथ में उसके अतिरिक्त कोई और भी है''' उसकी चेतना ने एक साथ ही कई तथ्यों को ग्रहण किया''' वह द्वारका की अंतिम सैनिक चौकी पार कर आया था। सैनिक, रक्षक, प्रहरी''' सब पीछे छूट गए थे और अब कोई अश्व अथवा रथ उसका पीछा नहीं कर रहा था।''' साथ ही उसने देखा कि सुभद्रा के हाथ से शूल छूटकर नीचे गिर पड़ा था।''' इसका अर्थ था कि सुभद्रा ने रथ में पड़े शस्त्रास्त्रों में से शूल उठाया था। वह शूल उसने निश्चित रूप से द्वारका के सैनिकों के आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए नहीं उठाया था। वह अवश्य ही उसने अर्जुन से अपनी रक्षा करने अथवा उससे मुक्त होने का प्रयत्न करने के लिए ही उठाया होगा''' तो फिर उसने उसे फेंक क्यों दिया? उसने अर्जुन पर आक्रमण क्यों नहीं किया?

''' सहसा उसे स्मरण हो आया, कृष्ण ने कहा था, रथ में ही सुभद्रा उसे अपनी इच्छा बताएगी''' तो सुभद्रा ने उठाया हुआ शूल फेंक कर अपनी इच्छा ही प्रकट की है।''' क्या कृष्ण ने इतनी दूर तक यह सब कुछ अपने अनुमान से ही दृश्यमान कर लिया था? वे सुभद्रा के चरित्र को इतनी गहराई से समझते हैं कि वे पूर्ण आत्मविश्वास से बता सकते हैं कि किन परिस्थितियों में उसकी प्रतिक्रिया क्या होगी! यदि वे सुभद्रा से पूछते कि वह किस से विवाह करना चाहती है, तो बहुत संभव था कि उसके मन में कोई भी नाम न होता, अथवा नाम होता भी तो वह उन्हें न बताती। यदि अर्जुन के नाम का प्रस्ताव करते, तो स्वयं को परम स्वतंत्र मानने वाले युवा मन की तत्काल प्रतिक्रिया उसके तिरस्कार की ही होती। कृष्ण उसे अर्जुन के गुण बताते, तो शायद वह उन गुणों को सुनती ही नहीं, सुनती तो उन पर ध्यान न देती। अर्जुन उसके सामने खड़ा होता, तो उसकी ओर आँखें न उठाती। उठाती तो उसके रूप को न देखकर अपने मन के आक्षेपों से उसका चेहरा ढँक कर देखती'''

'''शायद इसीलिए कृष्ण ने उसे इन परिस्थितियों में डाला था, ताकि वह बाध्य होकर अर्जुन का रण-कौशल देखे, शस्त्रास्त्र परिचालन में उसकी दक्षता देखे, उसकी

कोमल और कठोर मुद्राएँ देखे··· और तत्काल निर्णय करे कि उसे अर्जुन से विवाह करना है अथवा किसी और से ?··· अब तक उसने निर्णय कर ही लिया होगा···

अर्जुन ने शांत मन से उसकी ओर देखा : सुभद्रा अत्यन्त सहज भाव से मुस्करा रही थी, जैसे कुछ भी उसकी इच्छा के विरुद्ध न हुआ हो··· और जो कुछ हुआ था, उसमें न कुछ उसके मन के प्रतिकूल था, न उसमें उसकी तनिक भी अवहेलना अथवा अवमानना थी।···

अर्जुन ने वल्गा बाएँ हाथ से सँभाली और अपना दाहिना हाथ सुभद्रा की ओर बढ़ा दिया। आतुर प्रेमिका-सी सुभद्रा उसके कंधे से आ लगी।

21

सुभद्रा के रक्षकों को सुधर्मा सभा के सभापाल के पास पहुँचने में अधिक समय नहीं लगा।

"क्या बात है, इतने घबराए हुए क्यों हो ?" सभापाल को उनका इस प्रकार आना अपनी मर्यादा का उल्लंघन लग रहा था।

"सभापाल ! कौंतेय अर्जुन ने देवी सुभद्रा का अपहरण कर लिया है।" नायक ने हाँफते हुए बताया, "हमने उसे वहाँ खड़े अवश्य देखा था, किंतु हम तो कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि वासुदेव कृष्ण के घर आया हुआ पाहुना, जिसका कल तक सारी द्वारका ने सत्कार किया था, देवी सुभद्रा का अपहरण कर लेगा। इसीलिए हम सावधान नहीं थे। उसने जब अपनी भुजाओं में उठाकर देवी सुभद्रा को अपने रथ में बैठा लिया, तो भी हमें संदेह नहीं हुआ कि यह अपहरण था।···"

"क्यों ? तुम्हें संदेह क्यों नहीं हुआ ?" सभापाल ने कुछ तीखे स्वर में पूछा।

"मैंने सोचा कि दोनों कहीं भ्रमण के लिए जा रहे होंगे, और बहुत संभव है कि अर्जुन, देवी को उनके घर ही ले जा रहा हो।" नायक बोला, "यहाँ तक कि जब अर्जुन ने स्वयं अपनी जिह्वा से कह दिया कि वह देवी का हरण कर रहा है, तब भी क्षणों तक मैं यही सोचता रह गया कि कहीं यह उसका परिहास ही तो नहीं था।

"तुम्हारा दोष यह है नायक ! कि तुम सोचते बहुत हो।" सभापाल कुछ रुष्ट स्वर में बोला, "और सोचने के नाम पर भी चिंतन और विश्लेषण कम करते हो, आधारहीन कल्पनाएँ और अनुमान ही अधिक भिड़ाते हो।··· वह दुष्ट अपहरण कर रहा था और तुम सोचते रहे कि प्राधुण परिहास कर रहा है। अब बलभद्र का क्रोध तुम्हीं झेलना, मैं तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकत।···"

सभापाल के आदेश से, सुधर्मा सभा के चारों ओर लगे हुए, बड़े-बड़े घंटे बजा दिये गए। उनकी ध्वनि सुनकर नगर के अन्य स्थानों पर लगे हुए घंटे भी टनटना उठे।

सारे नगर में जैसे कोलाहल मच गया''' प्रहरी, रक्षक, दंडधर, सैनिक, रथी, महारथी और अतिरथी–सबके सब सुधर्मा सभा की ओर भागने लगे।''' सब ही जानते थे कि सभापाल के द्वारा इस प्रकार घंटे बजवाए जाने का अर्थ क्या है। निश्चित रूप से कोई ऐसी आकस्मिक घटना हो गई थी, जिसके प्रतिकार के लिए तात्कालिक सैनिक अभियान की आवश्यकता थी, अन्यथा सारी द्वारका के घंटे इस प्रकार उग्र निनाद न कर रहे होते।'''

अपने भवन में कृष्ण ने भी वह निनाद सुना''' उन्हें संतोष हुआ।''' अर्जुन अपने अभियान में सफल हो गया लगता था।''' वस्तुतः कृष्ण को तो, प्रातः अर्जुन को विदा करने के क्षण से ही इन ध्वनियों की प्रतीक्षा थी। इन ध्वनियों को सुनने के पश्चात् सुधर्मा सभा के लिए तत्काल प्रस्थान की तैयारी भी थी। वाहुक रथ तैयार कर बाहर खड़ा प्रतीक्षा कर रहा था।''' किंतु अन्य लोगों से पहले सभा में पहुँच कर कृष्ण को करना भी क्या था। इतना समय तो दिया ही जाना चाहिए था कि प्रमुख यादव-गण सभा में पहुँच लें, घटना की सूचना प्राप्त कर, परस्पर विचार-विमर्श भी कर लें, संभव हो तो किसी निश्चय पर भी पहुँच लें, किंतु उनका अभियान आरंभ होने से पहले कृष्ण को वहाँ पहुँच जाना चाहिए था'''

रुक्मिणी ने कुछ आश्चर्य से कृष्ण की ओर देखा : वे प्रातः से ही कहीं जाने को तैयार थे, किंतु जा नहीं रहे थे। उसे कुछ-कुछ आभास था, शायद वे किसी सूचना की प्रतीक्षा कर रहे थे। अब जब सारी द्वारका घंट-ध्वनि से निरंतर निनादित हो रही थी, तो रुक्मिणी समझ गई कि कृष्ण कदाचित इसी सूचना की प्रतीक्षा में रहे होंगे।''' किंतु वे तो अब भी हिल नहीं रहे थे।''' द्वारका के जीवन में जिस किसी व्यक्ति का तनिक-सा भी महत्त्व था, वह भी सुधर्मा सभा की ओर भागा चला जा रहा था''' और कृष्ण थे कि निश्चिंत घर में बैठे थे।'''

"क्या आपको सभा में नहीं जाना है ?" रुक्मिणी से पूछे बिना रहा नहीं गया।

"जाना तो है।"

"तो फिर जा क्यों नहीं रहे ?"

"प्रत्येक कार्य के लिए उपयुक्त समय होता है, देवि ! उसी को हम शुभ मुहूर्त कहते हैं।" कृष्ण ने मुस्कराकर कहा, "उतावली तो श्रेष्ठ पुरुषों का गुण नहीं है।"

कृष्ण को परिहास की इस मुद्रा में देखकर, रुक्मिणी के मुख से अनायास ही निकला, "किंतु यह तो किसी आकस्मिक संकट की सूचना है।"

"सूचना तो आकस्मिक संकट के समान ही है, किंतु वस्तुतः कोई संकट है नहीं।" कृष्ण का स्वर पूर्णतः आश्वस्त था, "सभापाल ने रज्जू को सर्प समझ लिया है।"

"तो आपको जाकर उसे समझाना चाहिए कि यह रज्जू है, सर्प नहीं।"

"जाऊँगा। उसे तथा अन्य यादवों को समझाने जाऊँगा, किंतु पहले उन्हें उसे सर्प समझकर उस पर प्रहार करने की तैयारी तो करने दो। यदि उन्हें पहले ही समझ में आ गया कि वह सर्प नहीं है, तो उन्हें कुछ समझाने की आवश्कयता ही क्या है ?"

बलराम ने सभा में प्रवेश किया तो कोई भी देख सकता था कि उनका क्रोध अपनी

पराकाष्ठा पर था। चेहरा तमतमाया हुआ था, आँखें जैसे चिंगारियाँ बरसा रही थीं, और नथुने रह-रहकर फड़क रहे थे। उन्हें अपने भवन में ही सुभद्रा के एक रक्षक से सारी घटना की सूचना मिल गई थी।

उन्होंने दृष्टि उठाकर इधर-उधर देखा : अभी सभा आरंभ नहीं हुई थी। लोग इधर-उधर छोटे-बड़े दलों में बँटे हुए खड़े, उत्तेजित स्वर में चर्चा कर रहे थे। बलराम को लगा कि एक ओर तो ये लोग निष्क्रिय खड़े चर्चा कर रहे हैं और दूसरी ओर उस सारी चर्चा में कहीं आक्रोश भी नहीं है, वे तो जैसे उसमें रस ले रहे थे। बलराम के फट पड़ने के लिए इतना ही पर्याप्त था।

"हम लोग इस प्रकार खड़े हुए, यहाँ किस बात की प्रतीक्षा कर रहे हैं ?" उन्होंने क्रुद्ध स्वर में पूछा, "अर्जुन के इंद्रप्रस्थ पहुँच जाने की ?"

"इंद्रप्रस्थ पहुँच भी जाए तो क्या ?" कृतवर्मा उतने ही उत्तेजित स्वर में बोला, "क्या इंद्रप्रस्थ में प्रवेश कर जाने मात्र से वह हमारे प्रतिशोध से बच जाएगा ?"

"वह प्रश्न ही और है।" बलराम बोले, "मैं तो यह पूछ रहा हूँ कि हम लोग इस प्रकार निठल्ले क्यों खड़े हैं। क्या मैं यह मान लूँ कि अपहरण मेरी ही बहन का हुआ है, यादवों की पुत्री का नहीं, इसलिए उसे उस विश्वासघाती अर्जुन से मुक्त कराने के लिए अकेले मुझे ही जाना है ? शेष लोग पथों तथा वीथियों में खड़े केवल चर्चा का रस लेंगे ?"

"नहीं ! ऐसा कुछ नहीं है आर्य बलभद्र !" सभापाल अपने भय को सम्मान के आवरण में लपेटकर बोला, "हम लोग महाराज उग्रसेन के आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं···।"

"क्यों ? क्या सेना का नेतृत्व महाराज उग्रसेन करने वाले हैं, या उनके आदेश से अर्जुन के रथ के पहिए रुक जाएँगे ?" बलराम ने उद्दंड भाव से पूछा।

बलराम की इस मुद्रा का कोई उत्तर सभापाल के पास नहीं था। वस्तुतः यह संवाद की स्थिति तो थी ही नहीं, जिसमें बलराम से तर्क संभव हो सकता। बलराम क्रोध में थे और अपने उस क्रोध को वे अभिव्यक्त कर रहे थे। ऐसे में वे किसी की कोई बात सुनने वाले नहीं थे··· सहसा सभापाल का ध्यान कृष्ण की ओर चला गया, "और फिर अभी तो कृष्ण भी नहीं आए। वे लोग आ जाएँ तो हम सभा आरंभ करें।"

"आपके सभा आरंभ कर लेने भर से कोई अमोघ बाण नहीं छूटने लगेंगे कि अर्जुन आहत होकर रथ से गिर पड़ेगा, और न ही आपकी सभा के आह्वान से उसके मार्ग में भूमि से कोई सागर उगकर उसका मार्ग रोक लेगा।" बलराम का क्रोध कुछ और उग्र हो गया, "और फिर यह क्या बात हुई कि जो लोग अपनी असावधानी के कारण या तो आ नहीं रहे, या आने में विलंब कर रहे हैं, उनकी प्रतीक्षा में उन लोगों को काम करने से रोका जा रहा है, जो कुछ करने के लिए व्यग्र हैं।" उन्होंने उपस्थित लोगों पर एक दृष्टि डाली और आवेशभरे स्वर में कहा, "मैं तो एक ही बात जानता हूँ, अर्जुन ने यादवों का अपमान किया है। हमें उसका प्रतिशोध लेना है। अपने अपमान का कलंक धो डालने की जिनकी इच्छा हो, वह चले मेरे साथ। अर्जुन अभी बहुत दूर नहीं गया होगा। हम अभी उसे बाँधकर ले आएँगे। उसे मालूम तो हो कि यादवों का अपमान करने का अर्थ क्या होता है।"

"वह तो ठीक है।" सभापाल बोला, "किंतु सैनिक अभियान से पहले महाराज की अनुमति तो लेनी होगी न ?"

"अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए मुझे राजा की अनुमति लेनी होगी ? अन्याय का प्रतिकार करने के लिए मुझे राजा से पूछना होगा ?" बलराम की उग्रता विकट हो गई थी, "किंतु कंस को मारने के लिए तो हमें किसी की अनुमति की आवश्यकता नहीं पड़ी थी।"

"मैं तो चकित हूँ," अक्रूर ने सबको सुनाते हुए, जैसे अपने-आपसे कहा, "कुंती का पुत्र इस प्रकार का कार्य करने का साहस कर ही कैसे सकता है।..."

"यह सब कृष्ण के प्रेम का परिणाम है।" कृतवर्मा ने उग्र स्वर में कहा, "वह समझता है कि वह कृष्ण का दुलारा है, तो कोई उससे कुछ कहेगा ही नहीं।"

सात्यकि को लगा बलभद्र मर्यादा को तोड़कर कुछ अधिक ही आगे बढ़ रहे हैं। यद्यपि उसे बलराम द्वारा अर्जुन का विरोध भी अच्छा नहीं लग रहा था, किंतु इसमें तो एक प्रकार से कृष्ण की भी अवमानना थी।... वैसे यह कोई नई बात नहीं थी। अपने आक्रोश में बलराम कई बार कहनी-अनकहनी बहुत कुछ कह जाया करते थे, किंतु यह मान लिया जाता था कि बलराम क्रोध में यह सब कह रहे हैं, वस्तुत उनके मन में कृष्ण के प्रति कोई विरोध नहीं है... और यदि कोई छोटा-मोटा विरोध होगा भी तो कृष्ण की एक मुस्कान से वह सब मिट जाएगा... सबसे बड़ी बात तो यह थी कि बलराम ऐसी बातें सार्वजनिक रूप से नहीं कहते थे... पर आज तो स्थिति कुछ बदली हुई लगती थी... वे सुधर्मा सभा में, सारे यादव-प्रमुखों के सम्मुख ऐसी बातें कह रहे थे।

सहसा सात्यकि का ध्यान स्यमंतक मणि की ओर चला गया... स्यमंतक मणि को लेकर बलराम ने कृष्ण पर संदेह किया था। तब वे इतना क्रुद्ध हो गए थे कि कृष्ण के सारे विरोधी उनको अपने मित्र तथा कृष्ण के सारे मित्र अपने परमशत्रु लगने लगे थे।... इसीलिए उन्होंने पांडवों के शत्रु दुर्योधन को अपना शिष्य मानकर, उसे गदा-युद्ध सिखाया था... आज फिर बलराम के मन में सुभद्रा-हरण को लेकर कृष्ण और अर्जुन दोनों का ही विरोध जाग उठा था।

"भैया बलराम !" सात्यकि अपने स्वर को ऊँचा उठाता हुआ बोला, "आप कृष्ण को आ तो जाने दें। उनसे बात करके ही मालूम होगा कि वास्तविक घटना क्या है। बहुत संभव है कि इसमें सुभद्रा की अपनी इच्छा भी हो... और यदि सुभद्रा अपनी इच्छा से अर्जुन के साथ गई है, तो अर्जुन के प्रति रोष का कोई कारण ही नहीं रह जाता है।..."

बलराम ने अपनी क्रुद्ध आँखें सात्यकि की ओर फेरीं, "सुभद्रा अभी बच्ची है। उसे अपने भले-बुरे का ज्ञान नहीं है, इसलिए उसकी इच्छा-अनिच्छा का कोई अर्थ ही नहीं है।..."

कृतवर्मा की न तो अर्जुन में अधिक रुचि थी, न सुभद्रा में। वह शायद चुप ही रहता, किंतु सात्यकि के विरोध का ऐसा अवसर वह छोड़ना नहीं चाहता था।... और फिर यहाँ तो बलराम को सात्यकि के विरुद्ध भड़काने का सुनहरा अवसर था।

"बलभद्र ! कन्याएँ अपनी इच्छा से ही सही जब हरण-कर्ता के साथ चली जाती

हैं, तो क्या वह हरण, हरण नहीं रहता, या उससे कन्या-पक्ष आहत और अपमानित नहीं होता ?" कृतवर्मा बोला, "सात्यकि से पूछो तो जरा कि रुक्मिणी अपनी इच्छा से कृष्ण के साथ आई थी या नहीं। साथ आना तो क्या, उसने तो संदेश-वाहक के हाथ पत्र भेजकर कृष्ण को बुलाया था। तो भी भीष्मक ने उसका विरोध किया था या नहीं ? रुक्मी के नेतृत्व में विदर्भ की सेनाएँ लड़ने आईं या नहीं ? यादव क्या विदर्भो से भी गए बीते हैं कि अपने अपमान का प्रतिशोध लेने का प्रयत्न भी नहीं करेंगे ?"

"विदर्भो ने क्या किया, इससे हमें क्या लेना-देना।" बलराम पूर्णतः उन्माद की स्थिति में थे, "यादव-कन्या का अपहरण करनेवाला मनुष्य जीवित नहीं बच सकता। यादवों का अपमान करना इतना सरल नहीं है। चलो ! अपने शस्त्र बाँधो। रथ और अश्व तैयार करो। हम अर्जुन के पीछे जाएँगे। मार्ग में नहीं मिला, तो इंद्रप्रस्थ तक जाएँगे। जिस इंद्रप्रस्थ का निर्माण हमने अपने हाथों किया है, उसे अपने इन्हीं हाथों से नष्ट भी कर आएँगे।"

सात्यकि को लगा, अब उन्माद को रोका नहीं जा सकता... और कृष्ण अभी तक नहीं आए थे। संभव है कि वे भी अभियान की तैयारी कर रहे हों।... नारायणी सेना के नायकों को सूचनाएँ भिजवा रहे हों, शस्त्रास्त्र एकत्रित करवा रहे हों, अपनी अश्वशालाओं से अश्व मँगवा रहे हों... पर यदि बलराम और कृतवर्मा उन्माद के इस ज्वार के मुकुट बनकर चल पड़े और उन्होंने अर्जुन को बाँध ही लिया, तो फिर कृष्ण आकर भी क्या करेंगे ?... किंतु तभी सात्यकि का चिंतन जैसे स्तंभित होकर खड़ा हो गया।...क्या इतना ही सरल है अर्जुन को बाँधकर ले आना ?... यदि ऐसा ही होता तो अर्जुन इस प्रकार का दुस्साहस करता ? कृष्ण ने सात्यकि को अर्जुन से धनुर्विद्या सीखने का परामर्श क्यों दिया था ?...इसका अर्थ था कि यादवों में कोई भी ऐसा धनुर्धारी नहीं था, जिसे सात्यकि अपना गुरु मानता। ...कृतवर्मा जान-बूझकर बलराम को उत्तेजित कर रहा था।... कहीं ऐसा तो नहीं कि वह कृष्ण और बलराम को परस्पर ही उलझा देना चाहता हो ?... उसका कोई भरोसा नहीं है, कहीं वह कृष्ण का भक्त प्रतीत होने लगता है और कहीं उनका परम शत्रु। पता नहीं वह किसका मित्र है और किसका शत्रु। पता नहीं वह स्वयं भी इस बात को समझता है या नहीं। बस किसी बात पर अड़ जाता है तो अड़ ही जाता है... परिणाम कुछ भी हो !

"चलो। जिस-जिसको यादवों का सम्मान प्रिय हो, वह चले मेरे साथ !" बलराम ने द्वार की ओर पग बढ़ाए।

"आर्य बलभद्र !" सभापाल अपने असमंजस में कोई निर्णय नहीं ले पा रहा था, "आप महाराज उग्रसेन के आने तक तो रुक जाएँ... या... या..." वह हकलाया, "कृष्ण को तो आ लेने दें।"

"मैं उनके आने की प्रतीक्षा नहीं कर सकता।" बलराम बोले, "वे आ जाएँ तो आप ही उनसे पूछ लीजिएगा कि संकट के इस काल में उनसे यह प्रमाद कैसे हो गया कि वे सुधर्मा सभा के घंटनाद को सुनकर भी घर में ही बैठे रहे। किसी राज्य अथवा समाज का नेतृत्व प्रमाद तथा आलस्य से नहीं होता। उन्हें अपने आचरण पर एक बार गंभीरता से विचार करना चाहिए।...मैं उन आलसियों के लिए रुक नहीं सकता।"

"पर ऐसे में आपका यह निर्णय सुधर्मा-सभा का निर्णय नहीं माना जा सकता।" सभापाल बोला,, "यह आपका व्यक्तिगत निर्णय है और अपने आचरण के लिए आप स्वयं उत्तरदायी होंगे।"

अपनी इस क्षुब्ध स्थिति में भी बलराम हँसे, "महाराज उग्रसेन को कंस के कारागार से मुक्त कराने का निर्णय सुधर्मा सभा अथवा यादवों का निर्णय नहीं था। वह भी मेरा और कृष्ण का व्यक्तिगत निर्णय ही था। और श्रीमन् !" वे सभापाल की ओर घूमे, "अपने आचरण के लिए सदा मैं स्वयं ही उत्तरदायी रहा हूँ। मेरे आचरण के लिए आप उत्तरदायी कैसे हो सकते हैं ?···"

बलराम शायद अभी कुछ और भी कहते किंतु तभी द्वारपाल ने महाराज उग्रसेन के आने की सूचना दी। महाराज के साथ-साथ वसुदेव भी आए थे। उनके पीछे ही कृष्ण और उद्धव भी आ पहुँचे थे।

बलराम पर उग्रसेन से अधिक अपने पिता की उपस्थिति का प्रभाव पड़ा। उनकी उग्रता कुछ मर्यादित हुई, किंतु वे अधिक धैर्य नहीं रख सके। उग्रसेन के आसन पर विराजमान होते ही वे उच्च स्वर में बोले, "महाराज ! अर्जुन ने सुभद्रा का अपहरण किया है। यह यादवों का घोर अपमान है। मेरा प्रस्ताव है कि यादवों को तत्काल रण-सज्जित होकर, अर्जुन का पीछा कर, उसे बंदी कर, यहाँ ला, दंडित करने का आदेश दिया जाए।" कुछ सोचकर वे कुछ थमे और बोले, "हाँ ! इस विषय में कृष्ण का मत भी जान लें। इतना बुद्धिमान होकर भी वह इस समय तनिक भी सक्रिय नहीं लग रहा है। इतनी देर से आया है और शांति से एक ओर बैठ गया है।···"

उग्रसेन ने कृष्ण की ओर देखा, "वासुदेव ! क्या विचार है तुम्हारा ? क्या हमें अर्जुन अथवा युधिष्ठिर से संपर्क कर किसी प्रकार की चर्चा नहीं करनी चाहिए ? उस पर तत्काल आक्रमण ही कर देना चाहिए ?"

"आक्रमण नहीं करेंगे तो क्या करेंगे महाराज ?" कृतवर्मा बोला,"यादव अब अपराधियों को दंडित भी नहीं करेंगे ? अपने अपराध का प्रतिशोध भी नहीं लेंगे ?"

उग्रसेन ने पुनः कृष्ण की ओर देखा !

"यदि अर्जुन ने यादवों का अपमान किया है, तो उसे अवश्य दंडित किया जाना चाहिए।" कृष्ण ने अत्यन्त शांत स्वर में कहा, "हमें पूर्ण गंभीरता से इस तथ्य का विश्लेषण करना चाहिए कि क्या सचमुच ही अर्जुन के इस कार्य से यादवों का अपमान हुआ है ? क्या अर्जुन ने सचमुच अधर्मरत हो, मर्यादा का खंडन किया है ?"

कृतवर्मा का मुख आश्चर्य से खुल गया, "सुभद्रा के अपहरण से यादवों का अपमान नहीं हुआ है क्या ? अपनी कन्या को छुड़ाना और हरणकर्ता को दंडित करना हमारा धर्म नहीं है क्या ?"

कृष्ण तनिक भी विचलित नहीं हुए। उसी प्रकार शांत भाव से बोले, "क्षत्रियों में विवाह के लिए हरण का प्रचलन नहीं है क्या ? आपको पहले तो यह निर्णय करना चाहिए कि वह हरण है अथवा अपहरण ? यदि यह हरण है और अर्जुन सुभद्रा से विवाह करना चाहता है तो इसमें यादवों का सम्मान है या अपमान ?"

"सम्मान कैसे ?" बलराम के मुख से अनायास ही निकल गया।

"पांचालराज द्रुपद के जामाता, विश्व के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुन ने यादवों को इतना सम्मानित, प्रतिष्ठित तथा अपना संबंधी होने के योग्य माना है तभी तो उनकी कन्या से विवाह का प्रस्ताव रखा है।…"

"होगा वह द्रुपद का जामाता !" बलराम आक्रोश से उबल पड़े, "किंतु हमने सदा पांडवों की रक्षा की है। उन्हें सहारा हमने ही दिया है। हमने उनके लिए इंद्रप्रस्थ का निर्माण न किया होता, तो वे उसी वन में कुटीर बनाकर रह रहे होते अथवा दस्युओं से दुखी होकर कहीं चले गए होते। और आज वही अर्जुन हमारी बहन का अपहरण कर हमें सम्मानित कर रहा है ?"

"है क्या पांडवों के पास… चारों ओर अपने शत्रुओं से घिरा हुआ, धन-धान्य से शून्य इंद्रप्रस्थ का एक छोटा-सा राज्य ?" कृतवर्मा बोला, "उनकी हैसियत ही क्या है कि वे यादवों के इस समृद्ध और शक्तिशाली वंश से संबंध जोड़ने का स्वप्न देखें ? न उनके पास यादवों जैसी संपत्ति, न वैसा राज्य, न वैसी सेना !…"

"मैं जानता हूँ कि यादवों के पास समृद्धि का बहुत बल है।" कृष्ण ने अपना दाहिना हाथ उठाकर कृतवर्मा को बीच में ही चुप करा दिया, "हम राज्यों और राजवंशों के समाज में श्रेष्ठ स्थिति को प्राप्त हैं, इसलिए हमें उसका लाभ होना चाहिए, हमें सुभद्रा के लिए श्रेष्ठ वर चुनने का अवसर मिलना चाहिए।"

"वह तो है ही।" बलराम ने जैसे कृष्ण को अपने ही विचारों की पुष्टि करते हुए पाकर कहा, "इसीलिए तो हम सुभद्रा के लिए श्रेष्ठतम वर चुनना चाहते हैं।"

"आप श्रेष्ठतम वर नहीं चुनना चाहते, आप केवल धनी वर चुनना चाहते हैं। आप अपने सामर्थ्य का लाभ उठाने के स्थान पर हानि उठाना चाहते हैं। आप धनी हैं, इसलिए धन के दुर्गुणों से युक्त पापी, आततायी, अधार्मिक और अन्यायी वर चुनना चाहते हैं अपनी बहन के लिए।" कृष्ण के स्वर में ऐसा तेज था कि सारी सभा मानो हतप्रभ होकर उनकी ओर देख रही थी, "आप धनी हैं, शक्तिशाली हैं, स्वतंत्र हैं, समर्थ हैं… इसलिए आपको अपनी बहन के लिए ऐसा वर चुनना चाहिए, जो धर्म के मार्ग पर चलता हुआ, स्वच्छ जीवन व्यतीत करता हो, दुर्योधन जैसा पापी नहीं जो पर-संपत्ति और पर-नारी पर दृष्टि गड़ाए हो, जो षड्यंत्र कर अपने सत्वगुणी भाइयों की हत्याएँ करवाता हो, जो अपने लोभ, अहंकार, ईर्ष्या और धन, सत्ता और शक्ति के मद में मातुल कंस के समान राक्षस हो गया हो…।"

"अवसर पड़ने पर अर्जुन भी वैसा ही नहीं हो जाएगा, इसका क्या प्रमाण है तुम्हारे पास ?" अक्रूर स्वयं समझ नहीं पाए कि यह एक तटस्थ व्यक्ति की मात्र जिज्ञासा थी अथवा वह कृष्ण का अस्पष्ट विरोध करने का प्रयत्न था।

"प्रमाण यह है कि समर्थ होने पर भी भीम ने अपनी हत्या का प्रयत्न करने वाले दुर्योधन का वध नहीं किया।" कृष्ण बोले, "युवराज बन जाने पर भी युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र, दुर्योधन तथा उसके साथियों को अपदस्थ कर उनकी हत्या करना तो दूर, उन्हें तानिक-सी क्षति पहुँचाने का भी कोई प्रयत्न नहीं किया। द्रुपद को पराजित कर भी पांडवों ने उनका राज्य छीनने अथवा उनसे किसी प्रकार का लाभ उठाने की कोई चेष्टा नहीं की। वारणावत जाने के संकट को जानते हुए भी अपने पितृव्य की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया।

कांपिल्य और हस्तिनापुर में अवसर मिलने पर भी वारणावत कांड का प्रतिशोध लेने का प्रयत्न नहीं किया। कुरु-राज्य के बँटवारे के नाम पर खांडवप्रस्थ पाकर भी न विरोध किया, न लोभ दिखाया। द्रौपदी जैसी स्त्री पाकर भी अर्जुन का धर्मविरुद्ध काम नहीं जागा। राजा और भाई के क्षमा करने पर भी वह प्रतिज्ञा के अनुसार बारह वर्षों के लिए इंद्रप्रस्थ छोड़ आया।··· कितने प्रमाण चाहिए आपको···।"

"यह पांडवों की कायरता भी तो हो सकती है।" कृतवर्मा पुनः बोला।

"कायरता धर्म से डिग जाने में होती है, धर्म पर स्थिर रहने में नहीं।" कृष्ण का स्वर पहले से भी अधिक दृढ़ हो गया था, "इतनी विकट विरोधी परिस्थितियों में, प्राणों का भय होने पर भी जिन्होंने अपना धर्म नहीं छोड़ा, वे कायर नहीं हो सकते।···"

"यदि वह इतना ही वीर है तो सुभद्रा का अपहरण कर भाग क्यों गया ?" बलराम ने कटु स्वर में कहा, "सामने खड़ा हो, चुनौती देता तो मैं देखता उसकी वीरता।" और जैसे बलराम ने पुनर्विचार के रूप में जोड़ा, "और वैसे भी अभी ऐसा क्या बिगड़ गया है। हम अभी तीव्रगामी रथों में उसके पीछे जाते हैं और देखते हैं कि वह कितना वीर है।···"

"अवश्य जाइए !" कृष्ण के अधरों पर वक्रता थी, "मैं न किसी को अर्जुन के पीछे जाने से रोक रहा हूँ, न किसी को उससे युद्ध करने से हतोत्साहित कर रहा हूँ। उसके पास इस समय मेरा युद्धक रथ है, शस्त्रास्त्रों का विशाल भंडार है और अपना युद्ध कौशल एवं पराक्रम है। जिसमें साहस हो, जाकर लड़ ले, उसे पराजित कर सुभद्रा को लौटा लाए।"

"तुम यादवों को उसका भय दिखा रहे हो ?" अक्रूर ने पूछा।

"नहीं ! यादवों को अपनी वीरता के परीक्षण का अवसर दे रहा हूँ।"

"तुम साथ नहीं जाओगे ?" कृतवर्मा ने पूछा।

"मैं अधर्म-युद्ध में किसी का साथ नहीं दे सकता।" कृष्ण ने कहा, "यादवों का भी नहीं।"

"अपने अपमान का प्रतिशोध अधर्म है ?" बलराम की दृष्टि फिर से कठोर हो गई थी।

"नहीं ! किंतु अपने अहंकार के मद में उचित-अनुचित की सूक्ष्म रेखा को मिटा देना अधर्म अवश्य है।" कृष्ण का स्वर शांत था, "यह आपको सोच लेना चाहिए भैया! कि आप अपने अहंकार का पोषण कर रहे हैं, अथवा अपमान का प्रतिशोध ले रहे हैं।···"

"मेरा तुमसे कोई विरोध नहीं कृष्ण !" वसुदेव ने सारी चर्चा में पहली बार मुख खोला, "किंतु तुम मुझे यह बताओ कि यदि अर्जुन सुभद्रा के योग्य वर भी है, पांडव हमारे कुल के तुल्य प्रतिष्ठा-संपन्न भी हैं··· सुभद्रा की कामना में कोई अनौचित्य भी नहीं है, तो अर्जुन ने मुझसे सुभद्रा की याचना क्यों नहीं की ? उसने मुझसे क्यों नहीं कहा कि वह सुभद्रा से विवाह करना चाहता है ? उसने सुभद्रा का हरण क्यों किया ?"

"वह शुल्क देकर सुभद्रा को प्राप्त करना चाहता तो आप उसकी इच्छा पूरी नहीं करते, क्योंकि धन के विपर्यय में कन्या प्रदान करना श्रेष्ठ पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं है। यादवों में कन्या-विक्रय सर्वथा अशोभनीय माना जाता है।" कृष्ण बोले, "दान के रूप

में कन्या को स्वीकार करना पौरुषहीनता है। जिसमें सामर्थ्य हो, वह क्यों बैठकर अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करेगा, कि कब उस पर दया कर कन्या के अभिभावक उसे कन्या-दान करेंगे।"

"किंतु इन दो के अतिरिक्त और मार्ग भी तो हैं।" वसुदेव बोले।

"हैं ! क्षत्रियों के लिए एक मार्ग है स्वयंवर और दूसरा हरण।" कृष्ण मुस्कराए, "स्वयंवर सर्वथा अनिश्चित है। भैया बलभद्र स्वयं स्वीकार कर चुके हैं कि सुभद्रा की चयन-बुद्धि पर आश्रित रहना विवेक-संगत नहीं है। स्वयंवर में सुभद्रा जाने किसका चयन करती। अर्जुन ने अनिश्चित को छोड़ निश्चित मार्ग चुना। हरण में अनिश्चय के लिए कोई अवकाश नहीं था।"

"किंतु सुभद्रा की इच्छा ! उसका कोई महत्त्व नहीं है ?"

"उसकी इच्छा को न आप महत्त्व दे रहे थे, न अर्जुन ने दिया।" कृष्ण ने उत्तर दिया, "किंतु मैं पूर्ण निश्चय से कह सकता हूँ कि यदि अर्जुन सुभद्रा के मनोनुकूल न होता, तो सुभद्रा शूल अथवा खड्ग से उसका वक्ष चीर कर कब से घर लौट आई होती !…"

"उसके पास शस्त्र कहाँ थे ?"

"मेरे उस रथ में पर्याप्त शस्त्र हैं। सुभद्रा उनमें से किसी का भी उपयोग कर सकती थी।" कृष्ण मुस्कराए,"आप यह समझिए कि अर्जुन ने सुभद्रा का हरण किया है और सुभद्रा ने अपने स्वयंवर में अर्जुन को वरमाला पहनाई है।"

वसुदेव ने कोई उत्तर नहीं दिया। वे सिर झुकाकर जैसे अपने मन में झाँक रहे थे : क्या कृष्ण सत्य कह रहा था ? यादवों ने समृद्ध और समर्थ होकर क्या धर्म और अधर्म का भेद भुला दिया है ?… उनके लिए समृद्धि, धर्म से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है ?… अभी उन्होंने सुभद्रा के वर का चयन नहीं किया था, किंतु दुर्योधन के नाम पर विचार तो चल ही रहा था। यदि उन लोगों ने धर्म की दृष्टि से विचार किया होता, तो उस आततायी के नाम पर विचार ही न किया होता।… अब उनकी समझ में स्पष्ट रूप से आ रहा था कि धन के साथ कीटाणुओं के समान लगे हुए दुर्गुणों को वे देख नहीं पाए थे। वे लोग सुविधाजीवी हो गए थे। कष्ट में रहने की बात नहीं सोच सकते थे।…और एक वह है पांचालराज द्रुपद ! उसने तो निर्धन और वनवासी अर्जुन के साथ अपनी राजकुमारी विदा कर दी थी।… क्या हो गया है यादवों को ?… पर इस कृष्ण को कोई प्रमाद नहीं छूता। वह ऐश्वर्य के मध्य रहकर भी जैसे उससे अछूता ही है। उसे धनी किंतु अधर्मी व्यक्ति का अधर्म तो दिखाई देता है, उसका धन नहीं। वह कंगाल से कंगाल व्यक्ति को भी उसकी सात्विकता के अनुपात में गले से लगा सकता है…

"तुम क्या कहते हो बलराम !" वसुदेव ने पूछा।

"मुझे पता था कि कृष्ण आ गया तो कोई-न-कोई ऐसी बात अवश्य कह देगा, जिससे सबका उत्साह मंद पड़ जाएगा।" बलराम का अनुत्साह उनके चेहरे पर प्रकट हो गया था।

"तुम क्या कृष्ण से सहमत नहीं हो ?" उग्रसेन ने प्रश्न किया।

"मुझे इस प्रकार अर्जुन द्वारा सुभद्रा का हरण अच्छा नहीं लग रहा है, किंतु कृष्ण

के तर्क के सम्मुख, मैं अर्जुन को अपराधी भी नहीं ठहरा पा रहा हूँ।" बलराम बोले, "इसलिए समझ नहीं पा रहा हूँ कि क्या करना मेरे लिए उचित है ?"

"हमारे सम्मुख दो ही विकल्प हैं भैया।" कृष्ण बोले, "या तो हम सेना लेकर जाएँ और अर्जुन से युद्ध करें, या फिर अपना समाज लेकर जाएँ और उसे ससम्मान द्वारका ले आएँ तथा सुभद्रा से उसका विवाह कर उन दोनों को विदा करें। आप इन दोनों में से कुछ भी करने को स्वतंत्र हैं, किंतु परिणाम दोनों का एक ही होगा।"

बलराम के चेहरे पर खीझ झलकी, "तुम मुझे इस प्रकार पहेलियाँ मत बुझाया करो। किसी से युद्ध कर उसे दंडित करने का प्रयत्न और किसी को ससम्मान आग्रहपूर्वक आमंत्रित कर लाने के अभियान का परिणाम एक ही कैसे हो सकता है ?"

"परिणाम तो एक ही होगा।" कृष्ण मुस्करा रहे थे, "किंतु एक में परिस्थितियाँ आपके लिए सुखद होंगी और दूसरे में त्रासद। अब यह आपकी इच्छा है कि आप उन दोनों में से किसका चुनाव करते हैं।"

बलराम के चेहरे के भाव बता रहे थे कि अब यदि कृष्ण ने अपनी बात शीघ्र ही स्पष्ट नहीं की, तो वे फट पड़ेंगे।''' उग्रसेन ने बलराम को बोलने का अवसर नहीं दिया। कहा, "अपनी बात स्पष्ट कर कहो, कृष्ण।"

"हमारे जो योद्धा अर्जुन से युद्ध करने जाएँगे, वे निश्चित रूप से पराजित होंगे।" कृष्ण बोले, "ऐसे में अर्जुन सुविधा से सुभद्रा को इंद्रप्रस्थ ले जा सकेगा। वहाँ उन दोनों का विवाह होगा।''' और यदि आप सत्कारपूर्वक अर्जुन को द्वारका में लौटा लाएँगे, तो भी अर्जुन और सुभद्रा का विवाह होगा।" कृष्ण ने सभा पर एक दृष्टि डाली, "दोनों स्थितियों में परिणाम एक ही हुआ या नहीं।''' किंतु पहली परिस्थिति में हम सुभद्रा से यह भी नहीं पूछ पाएँगे कि क्या वह अर्जुन से विवाह करना चाहती है ? क्या वह उसे पति के रूप में पाकर प्रसन्न है ? हम उनके विवाह के समारोह में सम्मिलित भी नहीं हो पाएँगे। हमारे लिए सुभद्रा का विवाह, अनन्त काल तक एक यादव-कन्या का अपमानजनक हरण ही रह जाएगा। पांडवों से हमारे संबंध सुधर नहीं पाएँगे और वे धर्मप्राण योद्धा सदा के लिए हमसे पृथक् हो जाएँगे।''' किंतु दूसरी स्थिति में हम जान पाएँगे कि सुभद्रा अर्जुन को पाकर प्रसन्न है या नहीं। यदि वह प्रसन्न है तो हम उनके विवाह में सम्मिलित होंगे। हम उस समारोह के अंग होंगे। यह प्रसंग हमारे लिए अपहरण का अपमान लिए हुए नहीं होगा, उत्सव और समारोह का अवसर होगा। पांडवों से हमारे संबंध बिगड़ेंगे नहीं, और घनिष्ठ होंगे। परिणाम यह होगा कि जंबूद्वीप में धर्म-राज्य की स्थापना करने में वे हमारे सबसे बड़े सहायक होंगे।"

उग्रसेन और वसुदेव दोनों ही मौन थे। अक्रूर उनके चेहरों की ओर देख रहे थे, और कृतवर्मा की दृष्टि बलराम पर टिकी थी। सात्यकि विस्मय और प्रशंसापूर्ण उत्सुकता से कृष्ण की ओर देख रहा था''' कृष्ण की वाणी सारे यादव योद्धाओं के शस्त्रों से शक्तिशाली, प्रखर और धारदार थी। उद्धव सदा के समान मुग्ध-भाव से कृष्ण को निहार रहा था। कभी-कभी उसकी यह मुग्धावस्था भक्ति को छूने लगती थी।

"मुझे तो लगता है वसुदेव ! कि सुभद्रा तथा हमारा हित इसी में है कि हम अर्जुन को जामाता के रूप में स्वीकार करें।" उग्रसेन ने धीरे से कहा, "इसी में सुभद्रा का

हित है और इसी में यादवों का कल्याण है।"

"महाराज का विचार ठीक ही है," कृतवर्मा ने अपना स्वर कुछ ऊँचा उठाते हुए कहा, "किंतु हमें देखना यह है कि कहीं हम स्वयं को दुर्बल पाकर एक अत्याचारी के अधर्मपूर्ण कृत्य को तो स्वीकृति नहीं दे रहे। जिन यादवों ने कंस, जरासंध तथा काल यवन जैसे अत्याचारियों की सेनाओं के सम्मुख सिर नहीं झुकाया, वे अर्जुन की उद्दंडता को इसलिए स्वीकार कर लें, क्योंकि अपनी धनुर्विद्या के बल से वह हम पर भारी पड़ता है।"

"हाँ ! यह प्रश्न तो मुझे भी पूछना है।" अक्रूर ने कहा, "हम स्वयं को दुर्वल पाकर अधर्म के सम्मुख नतमस्तक हो रहे हैं ?"

"नहीं !" कृष्ण का तेजस्वी स्वर सभा-भवन में गूँज गया, "मैंने अर्जुन से युद्ध करना इसलिए अस्वीकार नहीं किया, क्योंकि मैं उसके सम्मुख अक्षम हूँ। मैं युद्ध से विमुख इसलिए हुआ क्योंकि वह मात्र हमारा अहंकार होगा। धर्म उसकी ओर है, इसलिए मैं उससे युद्ध करना नहीं चाहता। मैं धर्म के विरुद्ध लड़ना नहीं चाहता, क्योंकि जहाँ धर्म है, वहीं जय भी है।"

"कृष्ण से अधिक धर्म के मर्म को कोई नहीं जानता !" वसुदेव ने अत्यन्त शांत स्वर में कहा, "इसलिए मैं कृष्ण के वचन को प्रमाण मान कर यह स्वीकार करता हूँ कि अर्जुन का कृत्य पापपूर्ण नहीं है। उसने अधर्म नहीं किया है, इसलिए हमें उसके विरुद्ध शस्त्र उठाने की कोई आवश्यकता नहीं है।"

"यदि आप लोग वसुदेव से सहमत हैं, तो उनके मत को सभा का निश्चय मान लें ?" उग्रसेन ने कहा।

"हम सहमत हैं।" अनेक स्वरों ने कहा।

निश्चय ही बहुमत ने अपनी सहमति नहीं दी थी, किंतु उसके विरुद्ध एक भी स्वर नहीं उठा।

"तो ठीक है !" उग्रसेन ने अपना निर्णय दिया, "हमारे योद्धा तीव्रगामी अश्वों को लेकर अर्जुन के पीछे जाएँ, और उसे सभा के निर्णय से अवगत कराएँ। अर्जुन और सुभद्रा को ससम्मान द्वारका लौटा लाएँ। द्वारका में उनका विवाह हो। विवाह के पश्चात् जितने समय तक वे लोग द्वारका में रहना चाहें, रहें। उनके लिए पृथक भवन का प्रवंध किया जाए।... और जब अर्जुन सुभद्रा को लेकर इंद्रप्रस्थ पहुँचे तो यादव वीर उनके सम्मान के योग्य उपहार लेकर इंद्रप्रस्थ जाएँ, और इस संबंध की पुष्टि कर आएँ।"

22

अर्जुन द्वारका में अपने भवन के गवाक्ष पर खड़ा सागर की लहरों को देख रहा था :

कैसा आकर्षण था, इन लहरों में कि एक बार मनुष्य देखना आरंभ करता था तो देखता ही चला जाता था। जाने कहाँ, इस अनन्त सागर के किस छोर से लहर उठती और फिर तट पर आकर उसी में विलीन हो जाती थी।···अर्जुन को लग रहा था, सागर की ये लहरें भी समय के समान ही थीं···जाने हमारा भविष्य कहाँ उगता था, अनन्त काल की कितनी यात्रा करके, हमारे सामने तब ही प्रकट होता था, जब वह हमारा वर्तमान बन जाता था, और फिर अतीत बनते-बनते उसी महाकाल में जाने कहाँ समा जाता था।···समुद्र से तो इस काल-यात्रा का कोई विशेष ही सम्बन्ध लगता था। काल के सबसे बड़े मापक उस सूर्य को सागर प्रतिदिन इसी स्थान पर उगलता था और फिर सन्ध्या होते-होते उसे किसी अन्य तट पर लील भी लेता था।···

जब अर्जुन प्रभास क्षेत्र से कृष्ण के साथ द्वारका आया था, तो यही मानकर आया था कि वह अधिक-से-अधिक दो-चार सप्ताह कृष्ण के साथ व्यतीत कर आगे बढ़ जाएगा। वह अपनी यात्रा का चक्र प्रायः पूर्ण कर चुका था···और निष्कासन का समय भी अधिक शेष नहीं था···पर तब वह क्या जानता था कि यहाँ सुभद्रा नाम की एक तरुणी उसे इतना मुग्ध कर लेगी कि उसकी कोई योजना पूर्ववत् नहीं रह जाएगी।···

कैसा संयोग था कि वह कृष्ण के साथ रैवतक के उत्सव में गया और वहाँ सुभद्रा भी आ गई। आ क्या गई, आकर उसके ठीक सामने खड़ी हो गई। उसका मन कैसा मुग्ध हो उठा था, उस पर।···और उसे देखते ही कृष्ण समझ गये थे कि उसके मन में क्या था !···उसके पश्चात तो सारी प्रेरणा ही कृष्ण की थी, सारी योजनाएँ ···

अर्जुन का चिन्तन सहसा ही स्तंभित खड़ा रह गया···उसके बाद की योजनाएँ ?···कौन कह सकता है कि उस दिन अर्जुन को रैवतक पर्वत पर ले जाना और ठीक उस स्थान पर खड़ा कर देना, जहाँ सुभद्रा को आकर रुकना था, कृष्ण की ही योजना नहीं थी ?···कृष्ण ! जाने कृष्ण अपनी योजनाएँ कब बनाते हैं और कैसे बनाते हैं कि काल को उनकी आज्ञा का पालन करना पड़ता है। कांपिल्य में पांडवों को प्रकट करने की योजना भी कृष्ण ने ही बनाई थी।···कहीं प्रभास में ही···या इन्द्रप्रस्थ के निर्माण के समय ही कृष्ण ने सुभद्रा के साथ उसके विवाह की योजना नहीं बना ली थी ?···

"भैया और भाभी आए हैं !"

अर्जुन ने मुड़कर देखा : सुभद्रा खड़ी उसकी ओर देख रही थी।

"कौन ? कृष्ण ?"

"हाँ ! बाहर रथ रुका है। आते ही होंगे।"

अर्जुन उत्साहपूर्वक द्वार की ओर बढ़ा। कृष्ण और रुक्मिणी तब तक भवन में प्रवेश कर चुके थे। कृष्ण ने आगे बढ़कर अर्जुन को अपनी भुजाओं में बाँध लिया।

"मैं तुम्हारे ही विषय में सोच रहा था।" अर्जुन बोला।

"तो क्या सोचा ?"

"सोचना क्या था। मन में बार-बार आ रहा था कि तुम्हारे स्नेह के बन्धनों की उपेक्षा कर अब मुझे द्वारका से चल पड़ना चाहिए।"

"क्यों ? अभी तो इन्द्रप्रस्थ से तुम्हारा निष्कासन पूरा नहीं हुआ है।" कृष्ण ने आसन पर बैठते हुए कहा, "तुम्हें निष्कासन का शेष समय कहीं-न-कहीं तो व्यतीत करना

ही है। तो द्वारका ही क्या बुरी है ?"

अर्जुन हँस पड़ा, "जब द्वारका आया था, तो मन में यही था कि अपने मातुल के घर जा रहा हूँ। नहीं तो अपने मित्र से भेंट करने जा रहा हूँ, किन्तु ...अब लगने लगा है कि मैं अपने श्वसुर-कुल में रह रहा हूँ।"

"नए सम्बन्ध की आड़ में पुराने सम्बन्धों को भुला देना चाहते हो ?" कृष्ण ने उसे नटखट दृष्टि से देखा, "किन्तु ऐसा तो द्वारका में टिकने के लिए करना चाहिए, यहाँ से भागने के लिए नहीं।"

"वस्तुतः मैं सोच रहा था", अर्जुन बोला, "कि इन्द्रप्रस्थ से मेरा निष्कासन दण्ड-स्वरूप हुआ था, इसलिए नहीं हुआ था कि मैं द्वारका में राजसी सत्कार ग्रहण करूँ।"

"वह ठीक है। अधिकांश समय तुमने तपस्या और तीर्थाटन में ही बिताया है।" कृष्ण ने कहा, "किन्तु अब तुम अकेले नहीं हो। तुम्हारे साथ सुभद्रा भी है। इसलिए हम लोग नहीं चाहेंगे तुम वन-वन भटकते फिरो, या किसी एकांत स्थान पर समाधि लगाकर बैठ जाओ, और सुभद्रा पत्थरों और वृक्षों से अपना सिर फोड़ती फिरे।"

"तो क्या तुम चाहोगे कि मैं निष्कासन की समाप्ति तक द्वारका में ही डेरा डाले रहूँ ?"

"नहीं ! मैं चाहूँगा कि जितना समय उचित समझो, द्वारका में व्यतीत करो, और जब लगे कि अब तुम्हें द्वारका से चल ही देना चाहिए, तो यहाँ से पुष्कर चले जाओ और निष्कासन का शेष समय वहीं व्यतीत करो, ताकि तुम्हारी साधना भी चलती रहे और सुभद्रा को अधिक कष्ट भी न उठाना पड़े। तुम अपनी नव-विवाहिता को दण्डित तो नहीं करना चाहोगे न ?"

"तुम्हारा सुझाव ठीक ही है।" अर्जुन चिन्तनशील स्वर में बोला, "समय पूरा होने पर पुष्कर से इन्द्रप्रस्थ जाने में अधिक समय भी नहीं लगेगा, और पुष्कर में मैं थोड़ी-बहुत साधना भी कर पाऊँगा।"

"साधना करना", कृष्ण ने उत्तर दिया, "किन्तु कुछ मेरी बातों पर भी विचार करना।"

"कौन-सी बात ?"

"अब इन्द्रप्रस्थ का राज्य इतना नगण्य और महत्त्वहीन नहीं रहना चाहिए कि उनके अपने संबंधी पांचालों और यादवों को भी उन्हें अपना संबंधी मानने में संकोच हो।" कृष्ण ने कहा।

"तो क्या इन्द्रप्रस्थ अन्य दुर्बल राज्यों का निगरण करे ? निगल जाए उनको ?" अर्जुन का स्वर कुछ उत्तेजित था, "धर्म-स्थापना और प्रजा-पालन के लिए सीखी हुई यह रण-विद्या, दुर्बलों को नष्ट कर उनके अधिकार छीनने में लगाई जाए ?"

"नहीं।" कृष्ण मुस्कराए, "धर्मराज के राजा बनने का लाभ प्रजा को हो, इसलिए सारे जंबूद्वीप को अन्याय समाप्त करने तथा धर्मराज्य की स्थापना की प्रेरणा इन्द्रप्रस्थ से मिले। इसके लिए इन्द्रप्रस्थ को शक्तिशाली और समृद्ध बनना होगा।"

"ऐसा हो तो मुझसे अधिक प्रसन्नता और किसको होगी।" अर्जुन बोला, "किन्तु तुम धर्म-स्थापना का केन्द्र द्वारका को क्यों नहीं बनाना चाहते। यादव तो समर्थ हैं, तुम उनसे यह काम क्यों नहीं लेना चाहते ?"

"यादवों में अब बहुत अन्तर आ चुका है अर्जुन !" कृष्ण ने चिन्ता-दग्ध स्वर में कहा, "अब वे पहले जैसे यादव नहीं हैं, जो कंस के क्रूर शासन से पीड़ित थे, जो जरासंध से आतंकित और त्रस्त थे। अब उन्हें न कालयवन का भय है न जरासंध का, न शिशुपाल और रुकमी का। अब वे साधारण कृषक अथवा पशु-पालक भी नहीं हैं। अब वे स्वतंत्र हैं, महाराज उग्रसेन का शासन उनपर नाममात्र का ही है। उनके कृषकों के पास विशाल भूखण्ड हैं। भूमि उपजाऊ है। जल का कोई अभाव नहीं है। वे स्वेच्छा से मनमानी फसलें उपजा सकते हैं। पशु-पालकों के पास सुदीर्घ बाड़े हैं। असंख्य गोधन है। योजनों तक फैली हुई गोचर-भूमि है। उद्योगों की भी कमी नहीं है। प्रत्येक घर में कोई-न- कोई उद्योग भी हो ही रहा है। वे सागर-तट पर बसे हैं, विभिन्न देशों के व्यापारियों से कर लेते है। सागर के वक्ष पर उनकी बड़ी-बड़ी नौकाएँ और जलपोत चलते हैं। उनके पास अपार सैन्य-शक्ति है। उन्हें किसी का भय नहीं है···।"

"यह तो अच्छा ही हुआ कृष्ण !" अर्जुन प्रसन्न मन से बोला, "समृद्धि तो सौभाग्य है। यादव अपने कष्ट के दिनों को भूलकर सुख की नींद सो सकेंगे। यह सब वस्तुतः तुम्हारे अक्लांत प्रयत्नों का परिणाम है।"

"यही तो सृष्टि का रहस्य है।" कृष्ण मुस्कराए, "आततायी के भय से मुक्त होकर मनुष्य स्वयं ही आततायी बनने की प्रक्रिया आरम्भ कर देता है। अपने कष्टों से मुक्त होकर, वह दूसरों के कष्टों के प्रति असंवेदनशील हो जाता है। दूसरों के शासन से मुक्त होकर, वह स्वयं दूसरों पर शासन करने की आकांक्षा करने लगता है।"

अर्जुन ने उसे आश्चर्य से देखा, "पर क्या यादवों के विषय में भी यह सत्य है?"

"क्यों, सत्य क्यों नहीं ?" कृष्ण का स्वर गंभीर था, "उन्हें भी तो अब धर्म के स्थान पर धन दिखाई देने लगा है। वे भी अब तपस्या से अधिक महत्व भोग को देने लगे हैं। स्वयं मेरे परिवार में अर्जुन तथा दुर्योधन समान तुला पर तुलने लगे हैं···और वैभव के आधिक्य के कारण दुर्योधन अधिक वरेण्य होने लगा है।"

"मैं उन्हें दोष नहीं देता।" अर्जुन निश्छल भाव से बोला, "कन्या का विवाह करने से पूर्व परिवार-जन वर की धन-सम्पत्ति के विषय में विचार तो करते ही हैं।"

"मैं कब कहता हूँ कि वे विचार न करें।" कृष्ण बोले, "विचार करें, वर की योग्यता पर, उसके कुल-शील पर, उसके चरित्र और आचरण पर, उसकी धन-सम्पत्ति पर, किन्तु यह भी देख लें कि उनकी कन्या को पति-गृह में धर्म भी मिलेगा या वह अधर्म की वृद्धि के लिए ही वहाँ जा रही है।···नहीं अर्जुन !" कृष्ण मानो गम्भीरता से चिन्ता की ओर बढ़ रहे थे, "मैं जिस धर्म-राज्य की कल्पना करता हूँ, उसकी स्थापना अब यादवों द्वारा नहीं हो सकती।···महाराज द्रुपद से कुछ अपेक्षा की जा सकती थी, किन्तु वे धर्म से अधिक प्रतिशोध के हो चुके हैं। न वे अपना अहंकार छोड़ पाएँगे, न धर्म को निरपेक्ष भाव से देख पाएँगे।···यह कार्य तो धर्मराज युधिष्ठिर को ही करना होगा, पांडवों को अपना कर्तव्य समझना होगा। तुमने देख ही लिया है कि इन्द्रप्रस्थ का राज्य अभी इतना छोटा और अल्प-शक्ति-सम्पन्न है कि उनके अपने मित्र यादव भी राजकुमार अर्जुन को ··पने सम्बन्ध-योग्य नहीं समझते।" कृष्ण ने अर्जुन की ओर देखा, "धर्म को इतना दुर्बल : नगण्य तो नहीं होना चाहिए मित्र ! इन्द्रप्रस्थ इतना दुर्बल रहकर जंबूद्वीप को धर्म

का मार्ग कैसे दिखाएगा ? अन्य राजा यदि उसकी श्रेष्ठता स्वीकार नहीं करेंगे तो उसे अपना आदर्श तथा अनुकरणीय कैसे मानेंगे। वह पापियों और अधर्मियों को आतंकित कैसे करेगा ? उन्हें पाप से विरत कैसे करेगा ? नहीं अर्जुन ! धर्मराज को कुछ उद्यम करना होगा। उन्हें चक्रवर्ती सम्राटों के लिए आदर्श, अनुकरणीय तथा त्रास···तीनों बनना होगा···।"

अर्जुन मौन बैठा कृष्ण की ओर देखता रहा, फिर धीरे-से बोला, "तुम जानते हो, कृष्ण ! धर्मराज को न राज्य में रुचि है, न वैभव में। यदि अपनी माता और भाइयों का विचार न होता तो कदाचित् वे इन्द्रप्रस्थ का राज्य भी ग्रहण न करते ! अब यदि उन्हें राज्य के विस्तार हेतु युद्ध करने के लिए कहा जाएगा, तो वे कभी भी सहमत नहीं होंगे। वे मानते हैं कि शासन तो केवल अपना होना चाहिए। दूसरों पर शासन करने की इच्छा उनके लिए सत्वगुणी नहीं है।···"

"ठीक है ! मैं भी दूसरों पर शासन करने का समर्थक नहीं हूँ, किन्तु स्वयं दूसरों के शासन से मुक्त होने की इच्छा तो सत्वगुणी है। स्वशासन तो सांसारिक इच्छा नहीं है। धर्म का राज्य होगा, तो प्रत्येक व्यक्ति स्वशासित होगा।" कृष्ण ने कहा, "वस्तुतः जिन्हें राज्य में आसक्ति है, वे धर्म-शासन कर ही नहीं सकते। वे अपना स्वार्थ देखेंगे, भोग देखेंगे। यदि आज यादवों को यह अवसर दिया गया तो या तो वे धन, वैभव, सम्पत्ति और सत्ता के लिए परस्पर एक-दूसरे से लड़कर पृथक् हो जायेंगे, या फिर जरासंध के ही समान एक क्रूर अत्याचारी शासन स्थापित करेंगे।"

"किन्तु महाराज उग्रसेन तो ऐसे लोभी और अन्यायी नहीं लगते।"

"महाराज उग्रसेन का शासन अब है ही कहाँ ?" कृष्ण बोले, "उनकी तो मात्र छत्र-छाया ही है । यादवों में स्वतन्त्रता भी है और प्रतिद्वन्द्विता भी। यदि द्वारका के राज्य का विस्तार हुआ तो साम्राज्य का विस्तार होगा, धर्म-राज्य का नहीं। वह राज्य दूसरों के अधिकार-हनन के लिए होगा, धर्म की स्थापना के लिए नहीं। मुझे लगता है कि नारायणी सेना ने अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया है, अतः अब उसकी उपयोगिता भी समाप्त हो चुकी है। अब कदाचित धर्म-रक्षा के लिए युद्ध का कोई अवसर उसे नहीं मिलेगा !···"

"कृष्ण ! यादव तुम्हारे अपने हैं, सगे-सम्बन्धी, नाते-रिश्तेदार ! उनका और तुम्हारा रक्त एक है। तुम्हें उनसे प्रेम नहीं है क्या ?" अर्जुन चकित था।

"मुझे किससे प्रेम नहीं है ?" कृष्ण के चेहरे पर परम शान्ति का भाव था, "किन्तु आसक्ति किसी में नहीं है। मेरी आसक्ति केवल धर्म में है। मैं जानता हूँ कि यादवों ने यदि और ऐश्वर्य प्राप्त किया, तो उसमें न उनका हित है, न धर्म का। प्रेम को इतना संकीर्ण मत करो पार्थ ! कि वह मोह अथवा आसक्ति का पर्याय हो जाए।" कृष्ण ने अर्जुन की ओर देखा, "इसीलिए कहता हूँ कि शासन का अधिकार केवल उसे ही है, जिसे शासन में आसक्ति नहीं है, जो भोग के लिए, वैभव-विलास के लिए, अपने अधिकार और अहंकार के लिए शासन नहीं करता। शासन करता है तो केवल धर्म-स्थापना के लिए, और धर्म के लिए निमिष भर में सम्पूर्ण संसार का साम्राज्य त्याग सकता है··· और इस दायित्व के लिए मुझे धर्मराज युधिष्ठिर से अधिक उपयुक्त और कोई व्यक्ति

23

चरण-स्पर्श कर प्रणाम करने के पश्चात् सुभद्रा खड़ी हुई तो उसने कुन्ती की आँखों में उमड़ती हुई अथाह ममता को पहचाना। वहाँ अस्वीकार अथवा परीक्षण का एक कण भी नहीं था। वहाँ तो स्वीकृति ही स्वीकृति थी।

कुन्ती ने अपनी तर्जनी से उसके चिबुक को ऊपर उठाया और उसे प्रशंसापूर्ण दृष्टि से निहारती हुई बोली, "इस घर में तुम्हारा स्वागत है बहू ! सम्बन्ध तो हमारा पहले भी था, किन्तु अब वह और भी प्रगाढ़ हो गया है तुम मेरे उस भाई की पुत्री हो, जिसके साथ मैं बहुत रही नहीं। जिसे मैंने स्नेह के प्रमाण-स्वरूप कभी कुछ दिया नहीं है, किन्तु उसने सदा भाई के धर्म का निर्वाह किया है।"तुम उस कृष्ण की बहन हो, जो हमारा सबसे बड़ा सहायक है, हमारे राज्य का ही नहीं, हमारे जीवन का भी आधार है।" कुन्ती ने मौन होकर उसे निहारा, "मेरे घर में एक-से-एक सुन्दर पुत्रवधु आई हैं सुभद्रे ! किन्तु तुम तो तुम ही हो। तुम्हारे समान दूसरी कोई नहीं है। आज से इस घर को अपना मानकर, यहाँ अधिकारपूर्वक रहो और अपने धर्म का निर्वाह करो। बड़ों का आदर करो। छोटों को स्नेह दो। तुम देखोगी सब तुमसे कितना प्रेम करते हैं। युधिष्ठिर राजा है क्योंकि वह बड़ा है, किन्तु अधिकार का भोग सारे भाई समान रूप से करते हैं। मेरे सारे पुत्र अपने-अपने गुणों के कारण महत्वपूर्ण हैं, किन्तु फिर भी अर्जुन विशिष्ट है। तुम उसकी पत्नी हो, अतः तुम्हारा भी विशेष महत्व है। तुम हमारे कुल का सौभाग्य हो, अतः इस कुल से कभी रुष्ट न होना। कोई असुविधा हो तो अपने पति से कहना। असुविधा दूर न हो तो निस्संकोच मेरे पास आ सकती हो। मेरे पास कोई अधिकार नहीं है, किन्तु मेरे पुत्र माँ के प्रति अपने स्नेह के कारण मेरा कहा कभी नहीं टालते।"

कुन्ती ने सुभद्रा के माथे का चुम्बन किया, उसे निहारा और अपने वक्ष से लगा लिया !

"माँ ! सारा वात्सल्य बहू पर ही ढाल दोगी, तो मेरे लिए क्या बचेगा ?" अर्जुन बोला, "मैं भी तो खड़ा हूँ, तुम्हारी एक आशीष के लिए।"

कुन्ती मुस्कराई, "वात्सल्य की कोई निश्चित मात्रा मान रखी है क्या तूने ? और पुत्र यह भी तो तेरी अर्द्धांगिनी ही है। इसे दिया गया वात्सल्य, क्या तुम तक नहीं पहुँचता ? इसे अपने वक्ष से लगाती हूँ, तो क्या तेरा वक्ष शीतल नहीं होता ? पति-पत्नी में तो किसी प्रकार का कोई विभाजन नहीं होता पुत्र ! स्वयं को समग्रता में पत्नी को सौंपेगा, तभी तो पत्नी को समग्र रूप में पाएगा। तुम अपनी माँ को सम्पूर्ण रूप से अपनी पत्नी

को समर्पित नहीं करोगे, तो तुम्हारी पत्नी तुम्हारी माँ के प्रति सम्पूर्ण रूप से समर्पित कैसे होगी !"

अर्जुन ने कुन्ती के चरण-स्पर्श कर प्रणाम किया। कुन्ती ने आशीष देकर कहा, "जा,अपने भाइयों से भेंट कर, पांचाली से भी मिलकर आ। तब तक सुभद्रा मेरे पास रहेगी।"

"ज्येष्ठ और मध्यम से मैं मिल चुका हूँ माँ।" अर्जुन बोला, "नकुल और सहदेव भी हमसे मिल गये हैं।"

"जाओ, फिर पांचाली से मिल आओ।"

द्रौपदी को अपने कक्ष में बैठे-बैठे ही सारी सूचनाएँ मिल रही थीं। अर्जुन और सुभद्रा के द्वारका से चलने की सूचना भी मिल गयी थी और पुष्कर में पहुँचने की भी ! पुष्कर से उनके प्रयाण का समाचार भी आया था और इन्द्रप्रस्थ में उनके स्वागत की तैयारियाँ भी उसकी नाक के नीचे होती जा रही थीं; किन्तु द्रौपदी का मन था कि वह बोझिल से बोझिलतर होता जा रहा था। उसमें एक बार भी उत्साह नहीं जागा कि बारह वर्षों के प्रवास के पश्चात् लौटे अर्जुन का टूटकर स्वागत करे !···जैसे-जैसे अर्जुन के निकट आने के समाचार मिलते जा रहे थे उसका संकट जैसे गहराता जा रहा था। उसे लग रहा था कि वह अर्जुन का सामना करना नहीं चाहती, किन्तु दूसरी ओर वह अर्जुन से अब और अधिक दूर रहने की कल्पना भी नहीं कर सकती थी।···तो क्या चाहती थी वह ?···वह अर्जुन से रुष्ट थी, किन्तु उससे विरक्त नहीं थी। इस रोष का आधार तो उसके प्रति द्रौपदी की अपनी आसक्ति ही थी। आसक्ति के प्रवाह में आए विघ्न के कारण ही तो यह रोष था···विचित्र प्रकार का कष्टदायक भाव था, यह रोष भी ! आसक्ति उसे अर्जुन से दूर नहीं जाने देगी और रोष उसे उसके निकट नहीं जाने देगा···वह उससे दूर खड़ी, उस पर दृष्टि गड़ाए रहेगी और अपना रक्त जलाती रहेगी।···

पर वह रुष्ट क्यों थी ? उसके भी तो पाँच पति थे। अन्य सारे भाइयों ने भी तो और विवाह किए थे।···तो फिर अर्जुन से ही वह इतनी रुष्ट क्यों थी ?···वह जितनी बार अपने मन से यह प्रश्न पूछती थी, उतनी ही बार उसका मन क्रुद्ध अश्व के समान दुलत्तियाँ झाड़ने लगता था और उसके नथुनों से क्रोध के मारे झाग गिरने लगता था। वह किसी प्रकार का उत्तर नहीं देना चाहता था, कोई तर्क नहीं सुनना चाहता था। वह तो बस, अपना सब कुछ छिन जाने के भय से आशंकित, अपने आहत अभिमान को भीतर ही भीतर छिपाए, अपने घावों से रिसते हुए रक्त के लिए बाहर निकलने के सारे कपाट उढ़काए, अपने आँसुओं को रोके हुए क्रुद्ध और पीड़ित खड़ा था।···ऐसे में क्या तो कोई उससे उत्तर माँगता और क्या वह किसी को उत्तर देता।

···पर द्रौपदी का विवेक जानता था, उसे अर्जुन से रुष्ट होने का कोई अधिकार नहीं था। अर्जुन दोषी नहीं था।···उसका तो तब भी कोई दोष नहीं था, जब उसने युधिष्ठिर और उसका तिरस्कार करने के अपराध को मान्यता दे, बारह वर्षों का निष्कासन स्वीकार किया था।···और आज भी उसका कोई दोष नहीं था, जब वह सुभद्रा से विवाह कर

घर लौट रहा था।...किंतु द्रौपदी क्या करती, वह अर्जुन को किसी के साथ बाँट नहीं सकती थी, किसी के साथ भी नहीं...

दासी ने कपाट खोल कर सूचना दी, "महारानी ! राजकुमार धनंजय आपसे भेंट करने आ रहे हैं।"

द्रौपदी ने दृष्टि उठाकर दासी को देखा भर ! उन आँखों में कोई भाव नहीं था। मुख से भी उसने आदेश के रूप में कोई शब्द नहीं कहा। दासी ने थोड़ी देर प्रतीक्षा की और फिर सिर झुकाकर कक्ष से बाहर निकल गई।

इस बार कपाट खुलने की आहट हुई तो वह समझ गई कि अर्जुन आ गया है। उसकी आँखें उसे देखना चाहती थीं, किंतु न तो उसकी पलकें ही खुल रही थीं, और न उसकी गर्दन ही ऊपर उठ रही थी।

"कृष्णा !"

द्रौपदी के विवेक ने उसे बहुत सँभाला, किंतु उसके आक्रोश का वेग नहीं रुका। झटके से उसकी ग्रीवा उठी, आँखों में अश्रु थे और वाणी में चीत्कार, "क्या करने आए हो यहाँ ? अपनी उस नई नवेली के पास ही क्यों नहीं जाते ?"

अर्जुन को द्रौपदी के रोष की आशंका थी, किंतु अपने इस प्रकार के स्वागत की कल्पना उसने नहीं की थी। उसका विचार था कि द्रौपदी अपने रोष को छिपा कर ऊपर से प्रसन्नता दिखाने का प्रयत्न करेगी, किंतु यहाँ तो द्रौपदी का छद्महीन आक्रोश उसके सम्मुख खड़ा था...साक्षात् !

"कृष्णा ! यह तुम्हारी उपेक्षा नहीं है। तुम अब भी मेरी हृदयेश्वरी हो। कितनी भी नई-नवेलियाँ आएँ, किंतु कोई तुम्हारा स्थान ले ले...यह तो संभव ही नहीं है।" अर्जुन ने अत्यन्त कोमल स्वर में कहा, "फिर भी यदि तुम मुझे अपराधी मानती हो, मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।...सोचो, तुमसे वियुक्त हुआ, इसीलिए उलूपी मुझे लुभा सकी। वह साथ नहीं गई, तो चित्रांगदा के लिए मन ने चीत्कार किया। उसने भी साथ नहीं निभाया, तो सुभद्रा ने लुब्ध किया। तुम्हारे अभाव की पूर्ति करने का प्रयत्न करता रहा, किंतु तुम्हारा स्थानापन्न कोई नहीं है।"

"पहला बंधन चाहे कितना भी दृढ़ क्यों न हो, जब उसके ऊपर से दूसरा बंधन बाँधा जाता है, तो पहला किसी-न-किसी मात्रा में शिथिल हो ही जाता है।" द्रौपदी बोली, "यदि तुम्हारा हृदय सारा का सारा मेरा ही है, उसमें तनिक भी स्थान सुभद्रा के लिए नहीं है, तो फिर उससे विवाह ही क्यों किया ? क्यों किया उसका हरण ? क्यों लाए उसे इंद्रप्रस्थ में ?" द्रौपदी ने एक प्रखर दृष्टि उस पर डाली, "वह कृष्ण की बहन है तो क्या, वह मेरी समकक्ष हो जाएगी ? मेरी समता करेगी वह ? मेरी सपत्नी होकर रहेगी वह यादव-कन्या ? मेरे साथ, वह तुम्हें बाँटने आई है ?"

अर्जुन को लगा, शायद द्रौपदी भी अपनी पीड़ा का कारण नहीं समझ पा रही है...किंतु उसके ये उद्गार अर्जुन को कुछ संकेत दे रहे थे।...द्रौपदी ने युधिष्ठिर, भीम, नकुल तथा सहदेव के अन्य विवाहों पर कोई आपत्ति नहीं की थी। उलूपी और चित्रांगदा के विषय में भी उसने कुछ नहीं कहा था।...उसे केवल अर्जुन के ही विवाह में आपत्ति थी, और वह भी केवल सुभद्रा के साथ !...

अपने प्रति उसके प्रेम को अर्जुन समझता था···यदि वह किसी भी अन्य नारी को उसके निकट होते नहीं देख सकती थी, तो उसने उलूपी और चित्रांगदा के विषय में कुछ भी क्यों नहीं कहा ? सारा आक्रोश सुभद्रा के प्रति ही क्यों है ?···और यह सपत्नी और समकक्षता की चर्चा···

सहसा अर्जुन का ध्यान कुंती की ओर चला गया···माँ ! कितनी समझदार है। वे कुछ-न-कुछ अवश्य ही भाँप रही होंगी। इसीलिए तो उन्होंने सुभद्रा को अपने पास रोक लिया। यदि कहीं अर्जुन, सुभद्रा को साथ लेकर द्रौपदी से मिलने चला आया होता, तो एक ओर या तो द्रौपदी अपना आक्रोश ही अभिव्यक्त न कर पाती और उसके मन में सदा के लिए एक ग्रंथि पड़ जाती, या यदि वह आक्रोश व्यक्त करती तो सुभद्रा के लिए यह पहली भेंट कितनी कटुता लिए होती।···

"कृष्णा।" सहसा अर्जुन बोला, "मैं अपनी भूल समझ रहा हूँ। उसके लिए लज्जित हूँ। आशा है, मुझे क्षमा करोगी।"

द्रौपदी का मन जैसे चीत्कार कर रहा था, "धनंजय ! तुम्हें क्षमा नहीं करूँगी, तो अपनी इस क्रूरता के लिए स्वयं को ही कैसे क्षमा कर पाऊँगी।···" किंतु उसके मुख से एक भी शब्द नहीं निकला। वह निःशब्द आँखों से उसकी ओर देखती रही।

अर्जुन अपने स्थान से उठा और धीरे-धीरे द्वार की ओर बढ़ गया।

द्रौपदी की इच्छा होती रही कि वह उसे पुकार ले, लपककर उसकी भुजा थाम ले, उसे रोक ले, किंतु उसका आहत अभिमान इंद्रियों को सर्वथा निष्क्रिय करने वाले किसी लेप के समान उन पर आरोपित हो चुका था···

अर्जुन लौट कर कुंती के पास आया, "माँ ! मैं सुभद्रा को अपने भवन में ले जा रहा हूँ।"

"जाओ पुत्र ! विश्राम करो। तुम लोग थके हुए होगे।" कुंती बोली, "युधिष्ठिर के पास सूचना आई है कि द्वारका से कृष्ण, सारण, सात्यकि, अक्रूर, कृतवर्मा तथा अन्य लोग सुभद्रा के लिए अनेक उपहार लेकर आ रहे हैं। उनके स्वागत की तैयारी भी करो पुत्र !"

"अच्छा माँ !"

अर्जुन जल्दी में था। न वह और ठहर सकता था, न अपने भवन तक पहुँचने में विलंब कर सकता था !

"क्या बात है आर्यपुत्र ?" सुभद्रा ने पूछा, "इस शीघ्रता का कारण ?"

"प्रिये ! वही हुआ है, जिसकी आशंका मेरे मन में थी।" अर्जुन बोला, "पांचाली रुष्ट है। उसे मनाना होगा, अन्यथा इंद्रप्रस्थ के राजवंश में कोई उल्लास पनप नहीं सकेगा। तुम मेरी एक इच्छा पूर्ण करोगी सुभद्रे ?"

"आपकी सारी इच्छाएँ पूर्ण होंगी। आप आदेश तो करें।" सुभद्रा बोली, "मैं किसी से स्पर्धा करने नहीं आई, न किसी की प्रसन्नता छीनने आई हूँ। वे बड़ी हैं, योग्य हैं, सुंदर हैं, गुणवती हैं··· सबसे बड़ी बात है कि वे आपके प्रति इतनी निष्ठावान हैं ! मैं कृष्ण की बहन हूँ पार्थ ! प्रतिभा की पूजा करती हूँ, और वरिष्ठता का सम्मान।"

"तुम मेरी बात समझ गई हो प्रिये ! अब तुमसे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।"

अर्जुन ने अपने हाथों से सुभद्रा का गोप-बाला का-सा वेश सजाया ! सुभद्रा ने

राजरानियों की-सी अपनी लाल साड़ी के स्थान पर व्रजवासिनी गोपियों का घाघरा पहन लिया था। उन्हीं की-सी चोली और वैसे ही आभूषण भी धारण कर लिए थे।

"यह ठीक है।" अर्जुन ने अंतिम रूप से उस पर निरीक्षक दृष्टि डाली, "अब शेष सब कुछ तुम्हारे बुद्धि-कौशल पर छोड़ता हूँ प्रिये।"

"आप चिंता न करें आर्य पुत्र।"

सुभद्रा निस्संकोच चलती हुई द्रौपदी के कक्ष में आई। उसने हाथ जोड़ कर प्रणाम किया, "महारानी की जय हो !"

द्रौपदी ने उसे देखा : एक असाधारण रूपवती गोपी ! ...और कैसा तेज था उसके मुख-मंडल पर !

"कौन हो ?"

"आपकी दासी हूँ महारानी !"

"क्या चाहती हो ?"

"आपका आश्रय।"

"क्यों ? मेरा आश्रय क्यों चाहती हो ? तुम्हारा पति तुम्हें आश्रय देने में समर्थ नहीं है क्या ?"

"जो स्वयं आपके द्वार का याचक हो महारानी ! वह मुझे क्या आश्रय देगा।" सुभद्रा ने वैसे ही विनीत भाव से कहा।

"क्या नाम है तुम्हारे पति का ?"

"पांडुपत्र कौन्तेय अर्जुन महारानी !"

"तुम ? तुम ?..."

"मैं सुभद्रा हूँ महारानी ! व्रज के गोपाल कृष्ण की छोटी बहन।"

द्रौपदी को रोमांच हो आया। कंठ में हूक-सी उठी और आँखें भीग गईं। इस सुभद्रा से रूठी थी वह ! इसे लाने के लिए अर्जुन के प्रति रोष से भर उठी थी ? उसने दौड़ कर सुभद्रा को अपनी भुजाओं में भर लिया, "तुम सुखी रहो बहन ! तुम्हारे पति शत्रुरहित हों।"

सुभद्रा ने अपना मस्तक द्रौपदी के वक्ष से टिका दिया, "अपना घर छोड़कर तुम्हारे भरोसे आई हूँ जीजी। निराश मत करना। मुझे आश्रय दो।"

द्रौपदी की भुजाएँ सुभद्रा के चारों ओर कस गईं, उसने जैसे अपने सुख को सहेजने के लिए अपनी आँखें बंद कर लीं।

24

रथों की दौड़ की प्रतियोगिता का अभ्यास पूरा कर सात्यकि ने अश्वों को खोल दिया।

उन्हें सहलाया और थपथपाया। सारथि ने अश्व सँभाल लिए तो सात्यकि कृष्ण की ओर मुड़ा, "तो अर्जुन और सुभद्रा इंद्रप्रस्थ पहुँच गए हैं ?"

"हाँ ! और अब हमें भी इंद्रप्रस्थ चलने की तैयारी करनी चाहिए।"

"क्यों ?" सात्यकि इस सूचना से कुछ उत्साहित नहीं हुआ, "ऐसी क्या जल्दी है। हम अपनी इस रथ-स्पर्धा का अभ्यास तो पूर्ण कर लें।···और मैं तो उसके पश्चात् धनुर्विद्या का अभ्यास भी करना चाहता हूँ।"

"फिर तो तुम्हें भी हमारे साथ इंद्रप्रस्थ अवश्य चलना चाहिए।" कृष्ण बोले, "वहाँ अर्जुन के पास रहकर धुनर्विद्या का जितना अभ्यास करना चाहो, कर लेना।"

"सोचा तो मैंने भी था कि किसी उपयुक्त समय पर मैं धनंजय से यह प्रार्थना करूँगा, किंतु इस अवसर पर ?···"

"क्यों ? इस अवसर में ऐसा क्या आपत्तिजनक है ?" कृष्ण ने कहा, "मैं तो चाहता हूँ कि प्रद्युम्न, सांब, चारुदेष्ण और गद भी धनंजय से ही धनुर्विद्या सीखें।

"हम लोग सुभद्रा के विवाह के उपहार लेकर जाएँगे। सारा परिवेश कन्या-पक्ष और वर-पक्ष के समारोहों का होगा।" सात्यकि बोला, "ऐसे में मैं अपनी शिक्षा का खटराग ले बैठूँ··· ?"

"देखो युयुधान !" कृष्ण ने उसपर एक स्नेह भरी दृष्टि डाली, "अर्जुन से इस संदर्भ में चर्चा तो की ही जा सकती है। वैसे मैं तो चाहता था कि अर्जुन के द्वारका में रहते हुए ही तुम्हारी शिक्षा आरंभ हो जाती। वह नहीं हो सका तो अब स्थिति देखकर उसे आरंभ किया जा सकता है। हाँ ! अर्जुन की सुविधा-असुविधा का ध्यान तो रखना ही होगा। यदि परिस्थितियाँ अनुकूल हुई तो तत्काल अपना अभ्यास आरंभ कर सकते हो। अनुकूल न हुईं तो योजना-निर्धारण का कार्य हो जाएगा। तुम्हारे साथ और कौन-कौन सीखेगा, यह भी निश्चय हो जाएगा।···रही तुम्हारी सारथ्य के अभ्यास की बात, तो यहाँ से इंद्रप्रस्थ की यात्रा में जितना अभ्यास चाहे कर लेना।"

"यदि आपकी इच्छा है, तो मैं अवश्य चलूँगा।" सात्यकि बोला, "मैंने तो उनकी राजधानी भी नहीं देखी। इधर तो सुना है कि उनके परिवार में कुछ वृद्धि भी हुई है। मैंने कांपिल्य में जब उन्हें देखा था तो पाँच ही थे।"

"हाँ ! उनके परिवार में वृद्धि तो हुई है।" कृष्ण हँसे, "धर्मराज युधिष्ठिर ने शिवि के पौरव नरेश गोवासन की पुत्री से विवाह कर लिया है। यह पत्नी उन्होंने स्वयंवर में प्राप्त की है। यौद्धेय नाम के उनके एक पुत्र ने भी जन्म लिया है।"

"द्रौपदी ने भी तो उनके एक पुत्र को जन्म दिया है न ?"

"हाँ। प्रतिविन्ध्य। वैसे कृष्णा के चार पुत्र हैं···प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, शतानीक, और श्रुतसेन। प्रतिविन्ध्य धर्मराज का पुत्र है, सुतसोम मध्यम पांडव भीम का, शतानीक नकुल का और श्रुतसेन सहदेव का। महाबली भीम ने काशी की राजकुमारी बलंधरा से विवाह किया है। उसका भी एक पुत्र है सर्वग। नकुल की पत्नी है करेणुमती। यह शिशुपाल की पुत्री तथा धृष्टकेतु की बहन है। उसका पुत्र है निरमित्र।···"

"गोविन्द !" सात्यकि ने कृष्ण को बीच में ही रोक दिया, "मुझे इस संबंध पर आश्चर्य होता है। शिशुपाल ने अपनी पुत्री का विवाह आपके प्रिय पांडवों में से एक

के साथ कैसे कर दिया।"

"मैं जानता था कि तुम्हें आश्चर्य होगा।" कृष्ण बोले, "मेरे प्रति शिशुपाल के भावों को जानने वाले किसी भी व्यक्ति को आश्चर्य ही होगा।...पर मुझे लगता है कि शिशुपाल ने यह संबंध कुछ तो नकुल के गुणों पर रीझ कर और कुछ मुझसे शत्रुता निबाहने के लिए ही स्वीकार किया होगा।"

"आपके मित्र-परिवार से संबंध करके वह आपसे शत्रुता कैसे निबाह सकता है ?"

"बहुत संभव है कि पांडवों का संबंधी बनकर वह उन्हें मेरे विरुद्ध भड़काने की योजना बना रहा हो।" कृष्ण ने उत्तर दिया, "यह भी संभव है कि वह इस संबंध के माध्यम से अपने स्वामी जरासंध का पक्ष प्रबल करने का प्रयत्न कर रहा हो। कारण जो भी हो। मैं यही मानता हूँ कि अपने किसी षड्यंत्र में वह पांडवों को लिप्त करने का प्रयत्न अवश्य करेगा।..."

"तो आपने पांडवों को इस संबंध के विरुद्ध चेताया क्यों नहीं ?" सात्यकि के स्वर में आश्चर्य था।

"उसकी आवश्यकता नहीं है।" कृष्ण बोले, "पांडवों की वृत्ति ही ऐसी नहीं है कि उन्हें कोई अपने षड्यंत्र में सम्मिलित कर ले। जरासंध का पक्ष तो वे ले ही नहीं सकते।...और फिर इस संबंध के कुछ लाभ भी हैं। इसी सूत्र से शिशुपाल का पुत्र, धृष्टकेतु पांडवों के अनुराग में रँगता जा रहा है। शिशुपाल के जीवन में न सही, किंतु उसके पश्चात् चेदि-राज्य में धृष्टकेतु के प्रभाव से जरासंध और पाप...दोनों का ही प्रभाव कम हो जाएगा।"

सहसा सात्यकि ने विषय बदल दिया, "हमारे साथ अक्रूर और कृतवर्मा भी इंद्रप्रस्थ जाएँगे ?"

"हाँ। पिताजी चाहते हैं कि तुम्हारे पिता सत्यक, अक्रूर काका और कृतवर्मा भी अवश्य हमारे साथ जाएँ।"

"आप जानते हैं कि अक्रूर और कृतवर्मा ने सत्राजित की हत्या में शतधन्वा की सहायता की थी ?"

"जानता क्यों नहीं ?"

"फिर भी उन्हें साथ ले जा रहे हैं ?"

"ओह सात्यकि !" कृष्ण खिलखिलाकर हँस पड़े, "तुमने आज तक उन्हें उसके लिए क्षमा नहीं किया ?"

"न तो क्षमा किया है, न क्षमा करूँगा।" सात्यकि बोला, "मैं उनसे घृणा करता हूँ।"

"शतधन्वा ने सत्राजित की हत्या की थी, उसके लिए उसे दंडित कर दिया गया। अक्रूर और कृतवर्मा को भी उनके कर्म का फल मिल गया।...अब उन्हें कुछ पुण्य करने का भी तो अवसर देना चाहिए।" कृष्ण कुछ अन्तर्मुखी हो गए, "घृणा पाप से करो, पापी से नहीं। अपने मन को क्यों घृणा से कलुषित करते हो ? मुझे लगता है कि उन दोनों का लोभ कुछ कम हुआ है। सद्वृत्तियाँ पनपी हैं। यदि हम उन्हें पूर्णतः त्याग देंगे, तो बहुत संभव है कि उनका चरित्र पुनः पतन की ओर अग्रसर हो जाए। हमें उन्हें सँभलने में सहायता करनी चाहिए।"

"आपको विश्वास है कि वे आपके प्रति निष्ठावान हैं ?"

"मेरे प्रति तो वे पूर्णतः निष्ठावान हैं।" कृष्ण बोले, "किंतु यह उन्हें क्षमा करने का कारण नहीं है। मैंने अपने प्रति उनका अपराध क्षमा किया है, समाज के प्रति उनके अपराध क्षमा नहीं कर सकता। धर्म के प्रति निष्ठा, किसी भी व्यक्ति के प्रति निष्ठा से महान् है। इसलिए मैं चाहता हूँ कि वे धर्म के प्रति अपनी निष्ठा का प्रमाण दें।"

"आप ही क्षमा कर सकते हैं ऐसे लोगों को।" सात्यकि बोला, "मैं तो कभी क्षमा नहीं करूँगा।"

"मैं अधर्म के कारण वध भी कर सकता हूँ, किंतु उससे पहले सौ बार क्षमा भी करता हूँ। मनुष्य भूलें करके ही आगे बढ़ता है, इसलिए भूल-सुधार का अवसर अवश्य दिया जाना चाहिए।" कृष्ण ने सात्यकि की ओर देखा, "मुझे भय है कि तुम्हारा और कृतवर्मा का पारस्परिक विरोध कहीं यादवों का विभाजन ही न कर दे।"

"यादवों में अन्तर्कलह मैं भी नहीं चाहता।" सात्यकि बोला, "किंतु आपके समान इतना बड़ा हृदय कहाँ से लाऊँ, जो हत्यारे के सहायक को क्षमा कर दे।"

कृष्ण ने कोई उत्तर नहीं दिया। वे अपने विचारों में खो गए थे।

इंद्रप्रस्थ में यादवों का आशातीत स्वागत हुआ। धौम्य मुनि ने अपने शिष्यों के साथ स्वयं मंत्रोच्चार कर उनकी अगवानी की। अतिथि भवन में उनका स्वागत करने धर्मराज युधिष्ठिर आए।

"पृथा नहीं आई ?" अक्रूर ने पूछा।

"वे आपके आतिथ्य का प्रबंध अपने भवन में कर, आपकी प्रतीक्षा कर रही हैं। युधिष्ठिर ने बताया।

"हाँ भाई। वर की माता है। हमें ही उसके पास जाना होगा।"

"नहीं। ऐसी बात नहीं है मातुल। उन्हें भय था कि व्यवस्था किसी और को सौंप कर वे आपकी अगवानी के लिए आ गईं तो आपके योग्य तैयारी नहीं हो पाएगी।"

"मैंने तो विनोद में कहा पुत्र।" अक्रूर ने अपना उपालंभ लौटा लिया, "हम अपनी पृथा को जानते नहीं क्या।"

"वैसे हमें ही बूआ के पास जाना चाहिए।" कृष्ण बोले, "सुभद्रा और धनंजय भी हमें वहीं मिलेंगे। क्यों भैया ?"

"जैसा तुम उचित समझो।" बलराम ने उत्तर दिया, "हम जैसे पहले बूआ के बालक थे, वैसे ही आज हैं। सुभद्रा के लिए कुछ उपहार लेकर आए हैं, इससे स्थिति कुछ बदल तो नहीं जाएगी।"

"आप लोग आइए। रथ तैयार हैं।" नकुल ने आकर कहा।

"रथ हमारे पास हैं न।" उद्धव ने कुछ असमंजसपूर्ण स्वर में कहा।

"तुम्हारे अश्व लंबी यात्रा करके आए हैं उद्धव !" युधिष्ठिर बोले, "उन्हें अब विश्राम करने दो। यहाँ जो कुछ है, वह तुम्हारा ही है। कृष्ण की सहायता न होती, तो न हमारा यह नगर बसता और न मैं यहाँ का राजा होता।"

"यह आपकी उदारता है धर्मराज !" उद्धव ने तत्काल हाथ जोड़ दिए, "हमारे लिए तो ऐसा सोचना भी पाप है।"

कुंती के भवन के द्वार पर उनका स्वागत स्वयं सुभद्रा और अर्जुन ने किया।

कृष्ण ने अर्जुन को अपनी भुजाओं में भर लिया और प्रद्युम्न, सांब, और चारुदेष्ण दौड़ कर सुभद्रा से चिपट गए, "बूआ।"

सुभद्रा ने उन्हें अपनी भुजाओं में समेट लिया,"आओ। कितने दिनों में याद आई तुम्हें अपनी बूआ।"

"बूआ ! इस बार स्वयं आई हो, या इस बार भी फूफा तुम्हें रथ में बैठा, रथ भगा लाए ? सांब ने सुभद्रा के कान में फुसफुसाकर पूछा।

"नहीं रे। इस बार तो मैं तेरे फूफा को रथ में डाल, भगा लाई।" सुभद्रा के अधरों पर मुस्कान थी और वह स्वयं समझ नहीं पाई कि उसकी आँखों में अश्रु क्यों आ गए।

"क्या कह रहा है यह दुष्ट ?" बलराम ने निकट आकर पूछा।

"कुछ नहीं। हमारी आपस की बात है।" सुभद्रा ने अश्रु पोंछ लिए, "आइए भैया। आइए काका।"

भवन के भीतर प्रवेश करने पर सबसे पहले उन्हें कुंती दिखाई दी। कुंती ने जैसे एक दृष्टि में ही देख लिया कि कौन-कौन आया है। वह अक्रूर के कंधे से जा लगी।

"पृथा ! तुम अब हमारी समधन हो।" अक्रूर ने मुस्कराने का प्रयत्न किया।

"तो क्या मैं तुम्हारी बहन नहीं रही ?" कुंती बोली, "मैंने तो समझा था कि हमारा संबंध और भी प्रगाढ़ होगा और भैया ! तुम !"

"चलो ! तुम ही जीतीं।" अक्रूर बोले, "इस घर में हमारी बहन भी है और बेटी भी। ठीक तो है सुभद्रा !"

"हाँ काका।"

"जैसे सुभद्रा के भतीजे अपनी बूआ के गले मिले हैं, तुम अपनी बूआ से नहीं मिलोगे ?" कुंती ने बलराम, कृष्ण, सारण और उद्धव की ओर देखा, "या अब तुम लोग भी मेरे भतीजे नहीं रहे, सुभद्रा के भाई ही रह गए हो ?"

"नहीं बूआ। आप ऐसा क्यों सोचती हैं।" चारों भाई कुंती के चरण स्पर्श करने के लिए आगे बढ़े और कुंती ने उन्हें वक्ष से लगा लिया, "यह सारण है ?"

"नहीं बूआ ! यह उद्धव है।" कृष्ण ने बताया, "और यह है सारण।"

"अच्छा ! मैं तुम्हारा अपनी बहुओं से भी परिचय कराऊँ।" कुंती बोली, "द्रौपदी को तुम जानते ही हो।"यह जो इंदीवर के समान श्याम वर्ण वाली राजमहिला है यह काशी की राजकुमारी, भीम की पत्नी बलंधरा है। यह जो चंपा की माला के समान गौर वर्ण वाली सुंदरी बैठी है यह मद्रराज द्युतिभान की पुत्री विजया है। यह सहदेव की पत्नी है। यह नीलकमल के समान श्याम वर्ण वाली कमलनयनी, करेणुमती है, यह नकुल की पत्नी है।" कुंती ने कृष्ण की ओर देखा, "इनसे तो तुम भी नहीं मिले हो कृष्ण !"

"नहीं बूआ !" कृष्ण ने उत्तर दिया, "ये विवाह इंद्रप्रस्थ के निर्माण के पश्चात् मेरे द्वारका जाने के बाद हुए हैं।"

"अच्छा बलभद्र ! भैया वसुदेव क्यों नहीं आए ? मुझे बहुत आशा थी कि सुभद्रा

के व्याज से मैं भैया और भाभी से मिलूँगी।"

बलराम ने उत्तर नहीं दिया। उन्होंने कृष्ण की ओर देखा।

"वैसे तो वे कहीं भी आते-जाते नहीं हैं बूआ।" कृष्ण ने उत्तर दिया, "किंतु आपके पास न आने का कारण यह नहीं है। वे आपको पूर्ववत् अपनी भगिनी के रूप में ही देखना चाहते हैं, इसलिए सुभद्रा की सास को उपहार देने वे नहीं आए।"

"मुझे जो भेज दिया उन्होंने।" अक्रूर बोले, "बहुत लोभ मत कर पृथा ! एक समय में एक ही भाई से भेंट को पर्याप्त मान।"

"भाइयों से मिलना भी कभी पर्याप्त हुआ है भैया !" कुंती की आँखें डबडबा आईं।

"तुम इतने चिंतित क्यों हो अर्जुन ?" कृष्ण ने एक किनारे लगाकर रथ रोक दिया।

"चिंता की बात नहीं है क्या सखा ?" अर्जुन ने कृष्ण की ओर देखा, "यह सब देखा न होता तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था कि हमारे नेत्रहीन पितृव्य इतनी दूर तक देख सकते हैं। वे जानते थे कि यदि इस बार दुर्योधन हमसे टकराया तो पांडवों, यादवों तथा पांचालों का सम्मिलित बल उसे नष्ट कर डालेगा। इसलिए राज्य-विभाजन का प्रस्ताव कर, दुर्योधन को राज्य का एक बड़ा भाग भी दे दिया, उसे हमारे हाथों से साफ सुरक्षित निकाल भी लिया, और हमें उन देव तथा दस्यु शक्तियों के मध्य ला पटका, जिनके षड्यंत्रों का हमारे पास कोई निराकरण ही नहीं है।"

"निराकरण तो प्रत्येक समस्या का है।" कृष्ण के अधरों पर अत्यन्त मोहक मुस्कान थी, "प्रश्न तो यह है कि बाहर के षड्यंत्रों से टकराने से पहले क्या हम अपने मन के बंधन तोड़ सके हैं ?"

"तुम किस बंधन की चर्चा कर रहे हो सखा ?" अर्जुन की दृष्टि में आश्चर्य था।

"वारणावत जाते हुए क्या धर्मराज को किंचित् आभास नहीं था कि धृतराष्ट्र क्या करने वाले हैं ?" कृष्ण ने पूछा।

"आभास तो था। विदुर काका ने संकेत भी कर दिया था।···शिव-भवन को देखकर तो सब कुछ स्पष्ट हो गया था।" अर्जुन ने कृष्ण की ओर देखा, "क्यों पूछ रहे हो यह सब ?"

"संकट का आभास होते हुए भी, धर्मराज ने वारणावत जाने से इंकार तो नहीं किया ?"

"कैसे कर सकते थे ? पिता की आज्ञा का उल्लंघन कोई कर सकता है ?" अर्जुन बोला,"धृतराष्ट्र हमारे पिता के बड़े भाई हैं, और पिता के स्थान पर हैं, उनकी आज्ञा का उल्लंघन अधर्म होगा।"

"प्रह्लाद द्वारा अपने पिता की आज्ञा का उल्लंघन अधर्म नहीं था, तो युधिष्ठिर द्वारा धृतराष्ट्र की आज्ञा का उल्लंघन अधर्म क्यों है··· ?"

अर्जुन को तत्काल कोई उत्तर नहीं सूझा। कुछ सोचकर बोला, "प्रह्लाद अपने पिता की आज्ञा न मानकर परमपिता की आज्ञा का पालन कर रहा था।"

"धर्म पर चलना परमपिता की आज्ञा पर चलना ही है।" कृष्ण के स्वर में एक गहरी अनुगूँज थी, "और आत्म-रक्षा परम धर्म है।···वस्तुतः धर्मराज ने धर्म के नाम पर

स्वयं को मुक्त नहीं किया है, विभिन्न प्रकार के बंधनों में बाँधा है। यह उनकी तपस्या अवश्य है, किंतु तपस्या तो फिर कठिनाई ही उत्पन्न करेगी।…" कृष्ण कुछ क्षण मौन रहकर पुनः बोले, "तुम पूछ सकते हो कि राज्य के विभाजन के समय धर्मराज पिता की आज्ञा से बाध्य थे, किंतु मैं तो स्वतंत्र था, फिर मैंने धृतराष्ट्र का प्रस्ताव स्वीकार क्यों किया ? पांडवों को उसका विरोध करने का परामर्श क्यों नहीं दिया ?"

अर्जुन ने कृष्ण की ओर देखा।

"पांडव धृतराष्ट्र के संरक्षण में, हस्तिनापुर में रहते, तो वारणावत जैसी जाने कितनी घटनाएँ होतीं। धर्मराज अपना धर्म मानकर धृतराष्ट्र की आज्ञाओं का पालन करते और तुम लोगों के प्राण सदा संकट में रहते। इसलिए तुम लोगों की सुरक्षा के लिए आवश्यक था कि तुम लोग धृतराष्ट्र से दूर रहो, चाहे और कितने ही बड़े संकट के निकट रहो। बाहरी शत्रुओं से धर्मराज युद्ध तो करेंगे।"

"तुम किन्हीं भीतरी बंधनों की बात कर रहे थे।" अर्जुन ने याद दिलाया।

"अपने शैशव में धर्मराज ने धृतराष्ट्र की कृतज्ञता का बंधन कुछ ऐसा बाँध लिया है कि वह कितना भी दुर्व्यवहार करे, धर्मराज उसका विरोध नहीं कर पाएँगे। स्वयं धृतराष्ट्र को कदाचित् इसका अनुमान नहीं है। यदि कहीं उसे यह आभास हो गया होता, तो वह धर्मराज को बार-बार हस्तिनापुर से निष्कासित न कर, उन्हें अपने निकट रखकर, अपना दास बनाए रखता।…"

"तो क्या यह भैया का बंधन है, धर्म नहीं ?" अर्जुन शायद स्वयं अपने मन में स्पष्ट नहीं था, "वे तो अपने शत्रु से भी प्रेम करते हैं।"

"जिसे हम प्रेम कहते हैं, कई बार वह मात्र हमारा मोह होता है। तपस्या का भी तो अपना एक अंहकार होता है।" कृष्ण ने अर्जुन की भुजा थाम ली, "सुनो मित्र ! मेरी इच्छा है कि युयुधान, सात्यकि, प्रद्युम्न, सांब और चारुदेष्ण इत्यादि इंद्रप्रस्थ में रहकर, तुमसे धनुर्वेद की शिक्षा ग्रहण करें, किंतु यहाँ की परिस्थितियाँ देखकर मुझे नहीं लगता कि अभी अनुकूल अवसर है। इस समय तुम यदि शिक्षण में लगोगे तो इंद्रप्रस्थ की सुरक्षा पर से तुम्हारा ध्यान हट जाएगा।"

"ओह कृष्ण !" अर्जुन हँस पड़ा, "मैं इतने वर्षों तक इंद्रप्रस्थ से बाहर था। तुम्हारा विचार है कि तब इंद्रप्रस्थ सुरक्षित नहीं था।"

"मेरा विचार है कि तुम्हारे भाइयों ने इंद्रप्रस्थ को बचाए अवश्य रखा है, किंतु उसकी सुरक्षा-समस्या को टाला ही है, उसका समाधान नहीं किया।"

"इन सारे वर्षों में इंद्रप्रस्थ पर एक भी आक्रमण नहीं हुआ है।" अर्जुन ने कहा, "तो सुरक्षा-समस्या…।"

"आक्रमण हुआ नहीं है, किंतु आक्रमण की संभावना लगातार बनी हुई है।" कृष्ण ने उत्तर दिया, "इंद्रप्रस्थ की प्राचीर के बाहर कुछ भी सुरक्षित नहीं है। तुम एक कृषक को भूमि तक नहीं दिला सकते खांडव-वन से। प्रयत्न करो तो अपने लिए एक क्रीड़ा क्षेत्र भी नहीं बना सकते। तुम अपने उन गुप्त शत्रुओं से आँखें मूँदे बैठे हो, और वे अवसर की प्रतीक्षा में हैं।…इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि पहल हमारी ओर से हो। इससे पहले कि वे अपनी मनमानी कर बैठें, हमें उन्हें समाप्त कर स्वयं को सुरक्षित

कर लेना चाहिए।···"

"हमें···।" अर्जुन ने कृष्ण की ओर देखा, "तुम तो कल द्वारका जा रहे हो।"

"नहीं। शेष सब लोग बलराम भैया के साथ लौट रहे हैं। मैं नहीं जा रहा।" कृष्ण क्षण भर रुके, "वैसे तो प्रत्यक्ष युद्ध में हमें बलभद्र भैया, सात्यकि, उद्धव, कृतवर्मा इत्यादि की सहायता ही रहती, किंतु यह प्रत्यक्ष युद्ध नहीं है। शत्रु छिपा हुआ है और छिपा ही रहना चाहता है। वह जानता है कि कब और कहाँ प्रहार करना है। हम नहीं जानते कि कौन कब और कहाँ प्रहार करेगा।··इसलिए हमें भी गोपनीयता की रक्षा करनी है। अतः उन सबको वापस भेज रहा हूँ कि कहीं शत्रु यह न मान ले कि पांडव युद्ध की तैयारी कर रहे हैं और उन्होंने यादव वीरों को सहायता के लिए बुलाया है।"

"यदि हमारे वे गुप्त शत्रु ऐसा मान ही लेंगे, तो हमारी क्या क्षति कर सकते हैं ? हम उनसे भयभीत नहीं हैं।"

"हम भयभीत नहीं हैं, किंतु वे भयभीत हो सकते हैं।" कृष्ण बोले, "वे भयभीत होकर बिखर गए और अपने अन्य गुप्त स्थानों को चले गए, तो उन्हें पुनः खोज पाना कठिन होगा।"

"तो ?"

"मैंने कहा था न कि धर्मराज को धर्मराज्य की स्थापना करनी है। यदि खांडव-वन में हमारी नाक के नीचे ऐसे घातक शत्रु छिपे रहे, तो पांडवों की सेनाएँ जिस राजा के विरुद्ध बलप्रयोग करेंगी, वही इन दुष्टों की शरण में चला जाएगा अथवा ये उसकी सहायता को जा पहुँचेंगे। इसलिए इन्हें समाप्त करना आवश्यक है। तुम समझो कि खांडव-वन पर नियंत्रण प्राप्त करना धर्मराज को चक्रवर्ती बनाने की ओर हमारा पहला पग होगा, और यदि खांडव-वन हमारे लिए अजेय हो जाता है तो यह पांडवों के नाश का आरंभ है।··बोलो ! क्या निर्णय है तुम्हारा ?"

"खांडव-विजय।"

"तो कल हम बलराम भैया और शेष लोगों को द्वारका के लिए विदा कर देते हैं। तब हम दोनों देखेंगे कि क्या किया जा सकता है।" कृष्ण रथारूढ़ होते हुए बोले, "पर याद रखना, यह सब गोपनीय है। तुम्हारे अपने भाइयों को भी सूचना नहीं होनी चाहिए कि हम ऐसा कुछ करने जा रहे हैं। ऊपर से सब कुछ सामान्य होना चाहिए। हम लोग यदि विलास और राग-रंग में लीन दिखाई दें, तो और भी अच्छा है।···"

अर्जुन ने कुछ कहा नहीं। चुपचाप बैठा कृष्ण की ओर देखता रहा।

25

सुभद्रा का मन कुछ बुझा-बुझा था, जैसे शरीर में ऊर्जा न रह गई हो। बिस्तर से उठने

की इच्छा ही नहीं हो रही थी। इच्छा होती थी कि दिनभर इसी प्रकार लेटी रहे और कोई उससे मीठी-मीठी बातें करता रहे। या फिर वह गहरी नींद सो जाए और मधुर स्वप्न देखती रहे। सृष्टि का सारा सुख और आनन्द उसके चारों ओर बिखरा रहे और कठोरता, क्रूरता तथा कुरूपता का अस्तित्व ही न रहे।...

अर्जुन को बाहर जाने की तैयारी करते देख, उससे रहा नहीं गया। पूछ ही बैठी, "आर्यपुत्र ! कहीं जा रहे हैं क्या ?"

"हाँ भाई। आखेट के लिए जाना है।"

सुभद्रा चौंक गई, कहाँ वह सोच रही थी कि संपूर्ण सृष्टि में कठोरता, क्रूरता और कुरूपता का अस्तित्व ही न रहे, और यहाँ उसके अपने पति आखेट के लिए जा रहे थे। वे मृगों पर बाण चलाएँगे और मृगियाँ तथा मृगशावक देखते रह जाएँगे।...

"किसका आखेट करेंगे आप ? मृगों का ?"

अर्जुन ने स्नेह भरी दृष्टि से सुभद्रा को देखा, "नहीं। सिंह का आखेट करेंगे, व्याघ्र का करेंगे, वराह का करेंगे...।" एक बार तो अर्जुन के मन में आया कि वह कृष्ण के साथ हुई सारी वार्ता ही सुभद्रा को सुना दे, किंतु फिर उसने स्वयं को संयत किया, "तुम तो इस प्रकार पूछ रही हो, जैसे इससे पहले कभी कोई क्षत्रिय आखेट खेलने ही न गया हो।"

"नहीं ! क्षत्रिय तो आखेट के लिए जाते ही रहे हैं। मेरा ही मन पहली बार इतना कोमल और करुणायुक्त हुआ है।" सुभद्रा हँस पड़ी, "क्या यह संभव नहीं कि मैं भी आपके साथ चलूँ। संभव है कि आपके साथ रहकर मेरा मन कुछ बदले।...यहाँ भवन के अवरोध में मन कैसा तो हो जाता है।"

"यह भवन के अवरोध के कारण नहीं है देवि ! यह सारे परिवर्तन तो तुम्हारे गर्भ धारण करने के कारण हैं।" अर्जुन हँसा, "तुम भूल गईं कि माँ ने तुम्हें अश्वारोहण से भी मना किया है, और तुम मेरे साथ आखेट पर जाना चाहती हो।"

"आप ठीक कह रहे हैं, किंतु मैं आपके बिना एकदम अकेली हो जाती हूँ।..."

"माँ अथवा पांचाली के पास चली जाना अथवा उन्हें बुला लेना। किसी देवरानी-जेठानी के पास चली जाना।"

"आप रुक नहीं सकते ?"

"आज तो कठिन है प्रिये !" अर्जुन का स्वर मंद और मधुर हो गया, "मैंने कृष्ण को वचन दे रखा है। तुम्हारे भैया मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।"

"मुझे अनुमान होता कि मेरी यह मनःस्थिति हो जाएगी, तो मैं प्रद्युम्न इत्यादि को यहाँ रोक लेती।" सुभद्रा बोली, "अच्छा जाइए। पर देखिए, निरीह मृगों को मत मारिएगा, व्याघ्र और सिंह का आखेट कीजिएगा, ताकि संसार में क्रूरता कम हो।"

खांडव-वन की सीमा पर पहुँचते ही कृष्ण ने रथ रोक दिया। पीछे आने वाले अनेक रथ एक के बाद एक कर रुकते गए। उन रथों में अर्जुन अपने सैनिकों को लाया था, किंतु न तो वे सैनिक वेश-भूषा में थे और न उनके पास शस्त्र ही थे। वे लोग अपने-अपने

रथ छोड़कर उतर आए थे और अर्जुन के आदेश की प्रतीक्षा कर रहे थे।

"सैनिको !" अर्जुन ने उच्च स्वर में उन्हें संबोधित किया, "हम लोग युद्ध करने नहीं, आखेट खेलने आए हैं। इसीलिए हमने तुम्हें शस्त्रास्त्र नहीं दिए हैं। मेरे और मधुसूदन के पास शस्त्र हैं, किंतु वे भी आखेट भर के लिए ही हैं, सशस्त्र शत्रुओं से युद्ध करने के लिए नहीं। इसलिए वन में यदि कोई तुम्हें रोके, टोके, किसी एक दिशा में जाने का निषेध करे तो उससे संघर्ष करने का प्रयत्न मत करना। हम यहाँ मनोरंजन के लिए आए हैं। किसी प्रकार का संघर्ष हो जाने पर वह मनोरजंन नहीं रहेगा। कोई तुम्हारा परिचय पूछे तो अपना परिचय दे देना, कि तुम हमारे आखेट के लिए पशुओं को हाँकने आए हो। उसका भी परिचय पूछ लेना। इतना ध्यान रखना कि जिधर मनुष्य जितने अधिक होंगे, वन्य पशु उतने ही कम होंगे। मनुष्यों की बड़ी बस्ती होगी तो आस-पास हिंस्र पशु एकदम नहीं होंगे। स्वयं को जोखिम में मत डालना। तुम्हारा काम न तो हमारे लिए पशुओं को घेरना है, न खोजना। यदि तुम्हें दिन भर में एक भी पशु दिखाई न दे तो चिंता मत करना। जो कुछ दिखाई दे, वह याद रखना और हमें ठीक-ठीक बताना, ताकि हमें यह अनुमान हो सके कि वन कहाँ विरल है, कहाँ सघन, कहाँ मनुष्यों का वास है, कहाँ पशुओं का, कहाँ हिंस्र पशु हैं, कहाँ निरीह प्राणी। इससे हमारे लिए सदा के लिए आखेट सरल हो जाएगा।" अर्जुन ने रुककर उनके चेहरों पर एक दृष्टि डाली और पुनः कहा, "जाओ। अब दलों में बँटकर विभिन्न दिशाओं में फैल जाओ। पहले तुम्हें हमारे प्रहरी मिलेंगे, फिर सैनिक। उनके आगे खांडव-वन होगा और तुम लोग होगे। आँखें खुली रखना, मन नियंत्रित। जाओ।"

सारे सैनिक चार-चार के दलों में बँटकर विभिन्न दिशाओं में फैल गए।

"अब ?" अर्जुन ने कृष्ण की ओर देखा।

"अब क्या ! आखेट ही तो करना है। चलो, आगे बढ़ते हैं।"

कृष्ण ने वल्गा थाम ली और रथ को आगे बढ़ाया। पांडवों की सैनिक चौकियाँ पीछे छूट गईं। कृष्ण थे कि रथ को सघन से सघन वन में धँसाते ही जा रहे थे। अर्जुन को कृष्ण के सारथ्य पर इतना आश्चर्य नहीं हो रहा था, जितना यह देखकर कि एक ओर जहाँ विशाल और सघन वृक्षों, कंटीली झाड़ियों और झूलती लताओं के कारण वन में कहीं कोई मार्ग ही नहीं सूझता था और यह कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि इसमें रथ आगे बढ़ सकता है, वहीं ध्यान से देखने और प्रयत्न करने पर पगडंडियाँ तो मिल ही जाती थीं, रथ के लिए भी मार्ग बनता जा रहा था। लगता था कि प्रतिदिन नहीं तो कभी-न-कभी यहाँ रथ आते ही हैं। कम से कम उनके आवागमन की व्यवस्था बनाए रखने का प्रयत्न अवश्य दिखाई देता था।…पगडंडियाँ तो नियमित चलती हुई लगती थीं। वनचर इनका प्रयोग करते होंगे, या अश्वों की टापें इनपर घास नहीं जमने देती थीं।…

सहसा कहीं से सनसनाता हुआ एक बाण आया और वृक्ष में धँस गया। स्पष्ट रूप से यह उनका वध करने के लिए नहीं, उन्हें चेतावनी देने के लिए चलाया गया था।

कृष्ण ने वल्गा खींच ली। अश्व रुक गए।

वृक्षों के पीछे से निकलकर चार सैनिक रथ के सम्मुख आ खड़े हुए। उनका वर्ण तप्त स्वर्ण जैसा और श्मश्रु अग्नि के समान थे।

"कौन हो ? कहाँ जाना है ?"

कृष्ण मुस्कराए, "हमने तो नहीं पूछा कि तुम कौन हो, और यहाँ क्या कर रहे हो ?"

"तो पूछ लो ! हम अग्नि के सैनिक हैं, और उनकी आज्ञा से यहाँ स्थित हैं।" एक सैनिक बोला, "तुम कौन हो ?"

"मैं द्वारका का वासुदेव कृष्ण हूँ और ये इंद्रप्रस्थ के महाराज युधिष्ठिर के छोटे भाई पांडव अर्जुन हैं।" कृष्ण ने बताया, "हम यहाँ आखेट के लिए आए हैं।"

"आखेट के लिए आए हो, यह तो ठीक है, किंतु कहीं आखेट हो मत जाना। इस वन में व्याध भी हैं और व्याघ्र भी···।"

"कुछ सोच-समझ कर बात कर।" दूसरे सैनिक ने उसे टोक दिया, "ये इंद्रप्रस्थ के राजकुमार हैं। इन्हीं का राज्य है यहाँ। अभी चाहें तो तुझे बँधवा दें। व्यक्ति को पहचानता तो है नहीं, बस बकवाद आरंभ कर देता है।···"

कृष्ण देख रहे थे कि दूसरा सैनिक यद्यपि अर्जुन की प्रशंसा में यह सब कुछ कह रहा था, किंतु न तो उसके शब्दों में सम्मान था और न ही उसकी वाणी में। वह तो पांडवों की सत्ता का उपहास कर रहा था, जैसे कह रहा हो, कि 'यदि तुम्हारा ही राज्य है तो हटाओ हमें यहाँ से, दो अपनी सत्ता का प्रमाण।···'

"और इन्हें नहीं जानते हो।" उसने कृष्ण की ओर संकेत किया, "ये द्वारका के कृष्ण हैं। राजा नहीं हैं, किंतु भगवान के समान पूजे जाते हैं। जिस राजा को चाहें क्षण भर में रंक कर दें और जिस रंक को चाहें, राजा बना दें···।"

"ओह ! हो ! आप तो स्वामी लोग हैं।" पहले सैनिक ने कहा, "जाइए ! जाइए ! ! आखेट कीजिए। वन भी आपका है और वन्य जंतु भी आपके ही हैं।" सम्मान तो उसके स्वर में भी नहीं था।

"अच्छा सैनिक !" कृष्ण सैनिकों के उपहास से पूर्णतः अविचलित थे, "तुम्हारा तो इसी वन में वास है। तुम तो जानते होगे कि आखेट के लिए हमें पशु किस ओर अधिक मिलेंगे।" कृष्ण ने रुककर उसकी ओर देखा, "हमें छोटे-छोटे निरीह जंतु नहीं चाहिए, हमें तो हिंस्र पशु चाहिए, जिनके गर्जन से यह वन थर्राता रहता है।···"

"ओह ! हाँ। क्यों नहीं। क्यों नहीं महाराज।" उसने पहले सैनिक को, अपनी बाईं आँख दबाकर, कोई संकेत किया, "आप यहाँ से सीधे जाकर कुछ बाएँ मुड़ जाएँ, फिर तो आपको झुंड के झुंड मिलेंगे, हिंस्र पशु। इच्छा भर आखेट कीजिए। " वह अपने साथियों की ओर मुड़ा, "क्यों भाइयो ?"

"सत्य है। सत्य है।"

"और यदि हम बाएँ न जाकर दाएँ जाना चाहें तो आपको कोई आपत्ति होगी ?" कृष्ण ने पूछा।

"हमें क्या आपति है।" दूसरे सैनिक ने कहा, "हम अपने मंडप में प्रवेश नहीं करने देंगे, शेष सारा खांडव-वन आपका है। दाएँ जाइए, बाएँ जाइए, आगे जाइए, पीछे

जाइए···हमें क्या लेना-देना है। वह तो आपने हमसे हिंस्र पशुओं के विषय में पूछा तो हमने आपकी सहायता के विचार से बता दिया।"

"आप धन्य हैं। आप धन्य हैं।" कृष्ण ने अपनी मोहिनी मुस्कान उनपर बिखेरी और रथ आगे बढ़ा दिया, "क्या समझे अर्जुन !"

"लगता तो नहीं कि ये किन्हीं दस्यु-दलों, अपराध-कर्मियों अथवा हमारे विरोधियों को वन में संरक्षण दे रहे हों।" अर्जुन कुछ सोचता हुआ बोला, "किंतु हमारी सत्ता को वे स्वीकार नहीं करते।"

"वह तो स्पष्ट ही है।" कृष्ण बोले, "उनके पास सैनिक भी कम संख्या में हैं और शस्त्रास्त्र भी थोड़े ही हैं। वह सब कुछ उनके मंडप में ही है।"

"तो अब किधर चलना है ?"

"उन्होंने जिस दिशा में हिंसक पशुओं का आधिक्य बताया है न, उसी दिशा में चलते हैं।" कृष्ण बोले, "पता लग जाएगा कि उधर सचमुच हिंस्र पशु ही अधिक हैं, अथवा उनके शत्रु सैनिक हैं, जिनसे वे हमें भिड़ाना चाहते हैं।"

"मुझे भी लगता है कि उधर हिंस्र पशु नहीं, उनके विरोधी ही होंगे।" अर्जुन बोला, "उनकी वाणी में न हमारे प्रति सम्मान था, न विश्वसनीयता।···पर मेरा भी ध्यान इस ओर गया कि हमारे वन में विचरण में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी।"

रथ आगे बढ़ता गया। वन का कुछ पता ही नहीं चल रहा था। कहीं वह सहसा विरल हो जाता था। और कहीं सघन। मार्ग में वन्य जीव-जंतु बहुत ही कम थे। बड़े आकार का हिंस्र पशु तो कोई दिखा ही नहीं, छोटे पशुओं की संख्या भी नगण्य ही थी। हाँ, जिधर से रथ आगे बढ़ता था, उधर से पक्षी कोलाहल करते हुए उड़ जाते थे।

"मुझे लगता है कि ये पक्षी तो निकट ही स्थित कुछ लोगों को हमारे आने की चेतावनी देने का कार्य कर रहे हैं।"

"तुम ठीक ही कह रहे हो, किंतु वे सायास ऐसा नहीं कर रहे हैं।" कृष्ण बोले, "यह भी किसी और की बुद्धि का चमत्कार है। यहाँ के कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में पक्षियों की तनिक भी हानि नहीं की गई है; और अन्य जीव-जंतुओं को समाप्त कर पक्षियों को पूर्णतः निर्भय कर दिया गया है। परिणामतः उनकी संख्या पर्याप्त है।···हम तो रथ पर आए हैं, मेरा विचार है कि यदि कोई पैदल भी आए तो ये इसी प्रकार कोलाहल करेंगे। यदि किसी ने सायास यह तंत्र रचा है, तो सचमुच वह बहुत चतुर है और इन पक्षियों की रक्षा कर इनसे बहुत महत्वपूर्ण कार्य ले रहा है।"

पक्षियों का कोलाहल समाप्त होने से पहले ही अनेक दिशाओं से अनेक सैनिक निकल आए थे, "रुको।"

कृष्ण ने रथ रोक लिया।

"कहाँ जाना है ?" सैनिक प्रमुख ने पूछा।

"हम आखेट के लिए आए हैं।" कृष्ण ने सहज भाव से कहा, "हमें हिंस्र पशु किस ओर मिलेंगे ?"

"वापस लौट जाओ, और फिर कभी इधर मत आना।" सैनिक-प्रमुख बोला, "यह निषिद्ध-क्षेत्र है। मुँह उठाए चले आए हो, नहीं जानते कि कोई तुम्हारा भी आखेट कर

सकता है।" वह झल्लाया हुआ लग रहा था, "पता नहीं सारे प्रहरी और सचेतक कहाँ मर जाते हैं कि लोग आखेट करने यहाँ तक आ जाते हैं।"

"हम सिंह और व्याघ्र से नहीं डरते।" कृष्ण ने किसी अत्यन्त सरल बालक के समान कहा।

"मैं सिंह और व्याघ्र की बात नहीं कर रहा हूँ मैं···" सैनिक-प्रमुख कुछ कहते-कहते रुक गया, "तुम लोग लौट जाओ। नहीं तो मुझे अपने सैनिकों को बलप्रयोग का आदेश देना पड़ेगा।"

"अच्छा ! हम आपके क्षेत्र में आखेट नहीं करेंगे।" अर्जुन ने जैसे समझौते का प्रस्ताव रखा, "हम आगे निकल जाते हैं। वहाँ आखेट कर लेंगे।"

"कहा न ! तुम आगे नहीं जा सकते।" सैनिक-प्रमुख ने दाँत पीसे, "अपना समय नष्ट मत करो, और न ही मुझे क्रोध दिलाओ। मैं तो तुम्हें जीवित लौटने का अवसर भी दे रहा हूँ, आगे बढ़ गए तो कभी जीवित नहीं लौटोगे। तुम्हारे परिवार के लोग तुम्हें खोजने के लिए आएँगे और उनमें से कोई बिकेगा, कोई कटेगा, कोई झेलेगा, कोई भोगेगा, कोई मरेगा। जाओ, यहाँ से।"

"अच्छा ! हम लौट जाते हैं। फिर किसी दिन आ जाएँगे, जब आप क्रोध में नहीं होंगे।" कृष्ण ने घोड़े मोड़ लिए थे।

"इधर कभी मत आना, नहीं तो तुम्हारी कुशल नहीं है।" सैनिक-प्रमुख ने पीछे से चिल्लाकर कहा, "मेरी मानो तो खांडव-वन की दिशा में मुँह भी मत करना।"

कृष्ण ने मुस्कराकर अर्जुन की ओर देखा, "क्यों ?"

"सम्भव है, आगे उनकी बस्तियाँ हों।" अर्जुन बोला।

"यह भी तो सम्भव है कि आगे उनका दुर्ग हो।" कृष्ण ने कहा, "इतना तो स्पष्ट है कि खांडव-वन में जिन सैनिक शक्तियों ने अपने स्कंधावार बना रखे हैं, वे पांडवों की शक्ति से तनिक भी भयभीत नहीं हैं। वे स्वयं को पूर्णतः सुरक्षित मानते हैं। उन्होंने यह भी नहीं जानना चाहा कि हम कौन हैं।"

"यह तो हमारी नाक के नीचे, धर्मराज की सत्ता को चुनौती देना है। और तुम धर्मराज को चक्रवर्ती सम्राट बनाने की बात कहते हो।" अर्जुन के मन का सारा उल्लास कहीं खो गया था।

"मेरा विचार है कि धर्मराज के राजसूय यज्ञ की पहली आहुति खांडव-वन में ही पड़नी चाहिए। यहीं से श्रीगणेश हो।" कृष्ण का स्वर निर्द्वन्द्व था।

अर्जुन ब्राह्मण के गोधन के चोरों के पीछे जाने की घटना भूला नहीं था। उस दस्यु ने भी अर्जुन को धमकाया था। भीम ने उसे वन के वृक्ष काटने के मार्ग में आई बाधाओं के विषय में भी बताया था। यह सूचना भी अर्जुन को मिल गई थी कि वन में तक्षक के विषधर थे, जो छिपकर किसी को भी दंश मार सकते थे।···पर ये सैनिक किसके थे ? पहले जो दल मिला था, वे अग्नि के सैनिक थे। तो दूसरा दल क्या इन्द्र-सैनिकों का था। ये लोग इन्द्र की जय बोलने वाले सामान्य दस्युओं से भिन्न थे।···किन्तु ये लोग किसके भरोसे इतने निर्भय थे ? इन्द्र के भरोसे ? इनका विचार है कि युद्ध हुआ तो इन्द्र देवलोक से इनकी रक्षा करने आएगा ?···

कृष्ण जानबूझकर रथ को उसी मार्ग से लौट कर लाए थे, जिस मार्ग से वे लोग गए थे।...अग्नि-सैनिकों के मण्डप के पास आकर उनकी गति विशेष रूप से मन्थर हो गई थी।...

उनकी आहट पाकर अग्नि-सैनिक पुनः बाहर निकल आए थे, किन्तु इस बार उन्होंने बाण-सन्धान नहीं किया। उनके साथ उनका कोई अधिकारी भी था। उसने हाथ जोड़कर कृष्ण और अर्जुन को प्रणाम किया और रुकने का संकेत किया।

कृष्ण ने रथ रोक लिया तो वह बोला, "थक गए होंगे। थोड़ा विश्राम कर लीजिए।"

कृष्ण और अर्जुन ने एक-दूसरे की ओर देखा : इस बार उन्हें उद्दंडता और उपहास का सामना नहीं करना पड़ रहा था। यह एक प्रकार का निमन्त्रण था। स्वर में विनय का भी स्पर्श था।

"नहीं ! ऐसी कोई क्लांति नहीं है।" कृष्ण ने उतने ही मधुर ढंग से उत्तर दिया, "वस्तुतः कोई आखेट तो हुआ ही नहीं, इसलिए विशेष श्रम नहीं करना पड़ा। बस, इधर-उधर से टकराकर लौट आए। पता नहीं इस वन में प्रत्येक डगर पर निषेध क्यों खड़ा है। अब वन में कोई आखेट भी न कर सके तो वन का क्या लाभ ?"

"आप आखेट को बहुत उत्सुक हैं ?"

"आए तो इसी विचार से थे।"

"आखेट न मिलने से निराशा हुई ?"

"ऐसा ही समझिए !"

"आप थोड़ा समय दें तो आखेट विषयक चर्चा भी हो जाए," वह अधिकारी बोला, "और उसका क्षेत्र भी आपको बता दें।"

"नहीं ! ऐसी कोई बात नहीं है।" अर्जुन समझ नहीं पाया कि कृष्ण को ऐसी कौन-सी व्यग्रता थी कि उन्होंने अधिकारी की बात सुने बिना ही रथ आगे बढ़ा दिया, "हम स्वयं खोज लेंगे ?"

"मेरी बात सुनिए।" अधिकारी उनके पीछे प्रायः दौड़ पड़ा, "मुझे भी उसी दिशा में जाना है। मुझे अपने साथ ले चलिए।"

कृष्ण ने रथ रोक दिया, "आइए।"

अधिकारी रथ में बैठ गया। रथ चल पड़ा तो उसने पूछा, "फिर कब आएँगे आखेट के लिए ?"

"कल नहीं आएँगे, परसों आएँगे।" कृष्ण ने उत्तर दिया।

"प्रातः आएँगे ?"

"हाँ, प्रातः। प्रायः आज के ही समय। पर थोड़ा विलम्ब भी हो सकता है।"

"सचमुच आखेट करना चाहते हैं ?"

"और क्या नाटक कर रहे हैं हम ?" अर्जुन कुछ रोष से बोला।

"नहीं, मेरा अभिप्राय यह नहीं था।" अर्जुन के रोष के उत्तर में अधिकारी तनिक भी कठोर नहीं पड़ा, "कई लोग शश का आखेट करना चाहते हैं, कई मूषक का, किन्तु कुछ लोग जोखिम-विहीन आखेट को आखेट ही नहीं मानते। वे शत्रु का रक्त बहाते हैं तो अपना रक्त बहने पर भी विचलित नहीं होते।"

"आनन्द तो उसी आखेट का है, जिसमें पौरुष को चुनौती हो।" कृष्ण बोले, "निरीह आखेट क्षत्रियों को शोभा नहीं देता।"

"यदि सचमुच आखेट करना चाहते हैं, तो परसों प्रातः आज के समय से ही आइएगा। इसी मार्ग से आइएगा और हमारे मंडप से कुछ आगे जाकर जहाँ विशाल वृक्षों का जमघट दिखाई दे, वहाँ थोड़ी प्रतीक्षा कीजिएगा। आपका आगमन जितना गोपनीय हो, उतना अच्छा है। गोपनीयता, आकस्मिकता तथा त्वरित कर्म"ये ही सफलता की कुँजियाँ हैं।" वह मुस्कराया, "आपको आखेट मिल जाएगा। ऐसा आखेट आपने जीवन भर न किया होगा।"" सहसा उसकी मुद्रा एकदम बदल गई, "अब आप मुझे उतार दीजिए।"

"आपका गन्तव्य ?"'कृष्ण ने आश्चर्य जताया।

"पहुँच गया गन्तव्य पर। लक्ष्य पूरा हुआ।" उसके चेहरे पर अर्थपूर्ण मुस्कान थी।

रथ अभी रुका भी नहीं था कि वह कूदकर वृक्षों में कहीं विलीन हो गया।

"इसका क्या अर्थ है ?" अर्जुन ने चकित भाव से पूछा।

"इसका अर्थ स्पष्ट है कि हमारा आज का श्रम सार्थक हुआ। हमें परसों आखेट के लिए अवश्य आना चाहिए। जैसा उसने कहा, वैसा करना चाहिए।"सम्भवतः आखेट से उसका अभिप्राय है"संघर्ष ! हो सकता है कि युद्ध की ही स्थिति आ जाए।"

"हमें इसके दूसरे पक्ष पर भी विचार कर लेना चाहिए," अर्जुन ने कहा, "बहुत सम्भव है कि वे लोग हमारे लिए कोई षड्यन्त्र रच रहे हों।""

"यदि ऐसा है, तो भी हमें आना चाहिए," कृष्ण बोले, "इतना जोखिम तो उठाना ही होगा। वैसे मेरा विचार है कि षड्यन्त्र तो रचा ही जा रहा है, किन्तु हमारे विरुद्ध नहीं।"

"क्यों लगता है तुम्हें ऐसा ?"

"हम जब यहाँ से गए थे तो अग्नि-सैनिकों ने हमारे साथ उद्दण्ड और अविनीत व्यवहार किया था, जब लौटे तो वे लोग तनिक भी अविनीत नहीं थे। होना यह चाहिए था कि हमारे असफल लौट आने पर वे हमारा अधिक उपहास करते, किन्तु ऐसा नहीं हुआ।" कृष्ण ने अर्जुन की ओर देखा, "क्यों ?"

"क्यों ?"

"मुझे लगता है कि उन्होंने हमारे उस दिशा में जाने की सूचना अपने अधिकारियों तक पहुँचा दी होगी और अधिकारियों को लगा होगा कि किन्हीं कारणों से उन्हें हमारी मैत्री चाहिए, अतः हमारे साथ विनीत तथा मैत्रीपूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिए। जब हम लौटे तो वही प्रयत्न हुआ और अब यह निमन्त्रण।""

"हुँ।" अर्जुन अब भी शंकाग्रस्त था, "और यदि उन्होंने हमें पुनः बुलाकर घेरने का ही षड्यन्त्र रचा हो ?"

"यदि हमारी क्षति करनी थी तो वे आज भी उसका प्रयत्न कर सकते थे।" कृष्ण ने उत्तर दिया, "हमारा परिचय आज भी उन्हें ज्ञात था। हम अधिक शस्त्रास्त्र लेकर भी नहीं गए थे, हमारे साथ सैनिक भी नहीं थे और हमने तनिक-सा भी शक्ति-प्रदर्शन नहीं किया था।"उनके पास समय भी पर्याप्त था। यदि वे चाहते तो हमारे जाने और लौटने के बीच के समय में और सैनिक भी मँगा सकते थे।""

"हाँ। तुम्हारा ही दृष्टिकोण ठीक है।" अर्जुन सहमत हो गया, "यह भी तुमने अच्छा ही किया कि कल आने के लिए नहीं कहा। कल धर्मराज महर्षि व्यास के दर्शन करने उनके आश्रम जा रहे हैं।"

"मुझे स्मरण था।" कृष्ण मन्द-मन्द मुस्कराए, "यह भी अच्छा संयोग है कि तीन-चार दिनों के लिए धर्मराज इन्द्रप्रस्थ में नहीं होंगे। प्रशासकीय अधिकार भीमसेन के हाथ में होंगे। हमें यदि कोई उग्र आयोजन करने की आवश्यकता हुई, तो उनकी अनुपस्थिति में वह अपेक्षाकृत सुविधाजनक होगा।"

"ठीक कहते हो मधुसूदन !" अर्जुन ने स्वीकार किया, मध्यम पांडव हमारी कठोरता के आड़े नहीं आएँगे।"

"आज हमें बस एक ही काम और करना है।" सहसा कृष्ण ने कहा।

"क्या ?"

"साथ आए सैनिकों से जो छोटी-से-छोटी सूचना भी मिले, उसे ध्यान से सुना जाए और उसी के अनुसार खांडव-वन का मानचित्र तैयार करवाया जाए। मुझे पूर्ण विश्वास है कि उन सैनिकों के माध्यम से भी हमें अत्यन्त महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होंगी।"…कृष्ण विचारमग्न हो गए लगते थे।

"यदि आप अतिथि भवन में भैया के पास जा रहे हैं, तो मैं भी आपके साथ चलूँगी।" सुभद्रा ने कहा, "आज भी आखेट का बहाना बनाकर भागने का प्रयत्न मत कीजिएगा। आपका प्रतिदिन आखेट के लिए जाना आवश्यक नहीं है…वैसे भी इस ग्रीष्म में आखेट के लिए वन में भटकना…।"

"पार्थ ! कृष्ण से भेंट करने जा रहे हो, तो मैं भी चलूँगी।" द्रौपदी ने कहा, "गोविन्द मेरे भी सखा हैं।"

"गोविन्द तो सबका सखा है, किन्तु उसके साथ आखेट के लिए जाने की पूर्व-योजना है मेरी। वह मेरी प्रतीक्षा कर रहा होगा।" अर्जुन बोला, "तुम लोग वहाँ जाकर क्या करोगी ?"

"रथ में बैठकर तुम्हें बाण चलाते देखेंगे हम।" द्रौपदी बोली, "क्या पहले कभी क्षत्रिय राजाओं की पत्नियाँ उनके साथ आखेट के लिए नहीं गईं ?"

"देखिए। इस स्थिति में आप मेरी उपेक्षा करेंगे तो मुझे बहुत दुःख होगा।…" सुभद्रा कुछ कहते-कहते रुक गई।

अर्जुन सोच ही रहा था कि क्या उत्तर दे कि द्रौपदी बोली, "पार्थ ! तुम्हें सुभद्रा की दोहद इच्छा पूर्ण करनी चाहिए। वह ठीक कहती है, उसे इस अवस्था में छोड़कर, हर दूसरे दिन इस प्रकार आखेट के लिए जाना उचित नहीं है।…और वैसे भी …" द्रौपदी ने उसे वक्र दृष्टि से देखा, "वह बेचारी यह सोच-सोचकर प्रसन्न होती रही कि उसके भैया आए हुए हैं और तुम मधुसूदन को लेकर आखेट के लिए चले जाओ, यह तो उचित नहीं है धनंजय ! तुम भाई-बहन के मध्य प्राचीर मत बनो।…"

"ओह पांचाली।" अर्जुन समझ रहा था कि द्रौपदी उसे इस प्रकार फन्दे में फँसाकर अपना मनोविनोद कर रही थी…

"अच्छा चलो। तुम दोनों ही चलो।" अर्जुन ने भी क्रोध और असहायता का अभिनय किया, "जब स्वयं कृष्ण तुम्हें कहेगा न कि हमें आखेट के लिए जाना है, और तुम लोग साथ नहीं जा सकतीं, तभी तुम्हारी बुद्धि ठिकाने आएगी।"

कहा तो अर्जुन ने भी विनोद के ढंग से ही था, किन्तु मन-ही-मन उसे विश्वास भी था कि कृष्ण के पास इस समस्या का कोई-न-कोई समाधान होगा ही। द्रौपदी को मनाना कठिन नहीं था, किन्तु सुभद्रा···वह गर्भवती थी, शरीर कष्ट में था, मन अधिक द्रवितावस्था में था···और मायके के सम्बन्ध में स्त्री अधिक संवेदनशील भी होती है। सम्भव है अर्जुन का आग्रह उसे अनुचित लगे और उसका मन दुःख जाए, किन्तु कृष्ण का अनुरोध उसे कभी बुरा नहीं लगेगा···

"आओ! आओ!" कृष्ण ने उनका स्वागत किया, "आज तो सखा! सारा रनिवास भी साथ ही ले आए तुम।"

"क्यों, सारा रनिवास क्यों?" अर्जुन के स्थान पर द्रौपदी ने उत्तर दिया, "अभी तो उलूपी और चित्रांगदा नहीं आईं।"

यद्यपि द्रौपदी ने यह वाक्य पर्याप्त हँसकर कहा था, फिर भी उसमें निहित वक्रता अर्जुन से छिपी नहीं रह सकी।

"अरे हाँ। कृष्णा ने अच्छा स्मरण दिलाया।" कृष्ण की मुद्रा गम्भीर हो गई, "उलूपी की कोई सूचना?"

"नहीं! मैं स्वयं चकित हूँ कि कोई सूचना क्यों नहीं है।"

"तुमने अपनी ओर से कोई सन्देश भेजा?"

"मैंने आते ही दोनों को अपने इन्द्रप्रस्थ पहुँचने का समाचार भिजवा दिया था।" अर्जुन बोला, "वैसे बड़े आश्चर्य की बात है कि उन दोनों की ओर से मुझसे सम्पर्क करने अथवा इन्द्रप्रस्थ पहुँचने का तनिक भी प्रयत्न दिखाई नहीं देता। ऐसा लगता है कि न वे मेरी पत्नियाँ हैं, न उन्हें मुझसे कोई लगाव है। वह सम्बन्ध जैसे मेरी ओर से बलात् उनपर आरोपित किया गया था।···"

"भैया! यह क्या आरम्भ कर दिया आपने।" सुभद्रा उपालम्भ के स्वर में बोली, "हम आई थीं कि कुछ हास-विलास और मनोविनोद रहेगा और आपने पार्थ को उनकी वियुक्ता पत्नियों का स्मरण दिला दिया। अब इस दो-दो पत्नियों के विरही पति से कोई आनन्ददायी चर्चा कैसे कर सकता है?"

"नहीं सुभद्रा! तुम्हें उनके प्रति भी वैसा ही भाव रखना चाहिए, जैसा तुमने कृष्णा के प्रति और कृष्णा ने तुम्हारे प्रति रखा है।" कृष्ण के स्वर में स्नेह भी था और वर्जना भी।

"मुझे उनसे कोई ईर्ष्या नहीं है भैया!" सुभद्रा ने उत्तर दिया, "मैं तो पार्थ की मनःस्थिति की बात कह रही थी।"

"अच्छा सुनो! पार्थ को भी आश्चर्य है कि उलूपी की ओर से संपर्क का कोई प्रयत्न क्यों नहीं हो रहा, जबकि उलूपी ने एक प्रकार से उनका अपहरण किया था और

अपने पिता के आने की प्रतीक्षा किए बिना व्यग्रता में गंधर्व-विवाह कर लिया था।"

कृष्ण बोले, "यदि मैं परिस्थितियों का विश्लेषण करूँ तो यही कहूँगा कि शायद वह यह प्रयत्न करेगी भी नहीं"'और निकट भविष्य में तो निश्चित रूप से नहीं करेगी।"

"क्यों ? ऐसा क्यों ?" द्रौपदी ने पूछा।

"मुझे लगता है कि उलूपी का पिता कौरव्य चाहे अपनी इच्छा से,अथवा परिस्थितियों के दबाव से तक्षक का समर्थक है।"'और यदि ऐसा है तो तक्षक यह संबंध कभी होने नहीं देगा। संभव है कि उलूपी के मन में भी ऐसी कोई आशंका पहले से ही रही हो। इसीलिए उसने पिता की अनुपस्थिति में यह विवाह किया, ताकि यदि पिता विरोध करें तो वह कह सके कि अब तो यह विवाह हो चुका है।"

"विवाह तो हो ही चुका है," द्रौपदी बोली, "अब वह उलूपी को कैसे रोक सकता है।"

"यही तो बात है।" कृष्ण हँसे, "जो हो भी चुका है, उसे मान्यता दे देना तक्षक की नीति नहीं है, अन्यथा वह धर्मराज को इस क्षेत्र का राजा मानकर, खांडव-वन छोड़ अन्यत्र चला न गया होता। वह तक्षक है, जो घटित को भी स्वीकार नहीं करता और निरंतर उसे अघटित बनाने का प्रयत्न करता रहता है।"'उलूपी अथवा उसके पिता की ओर से संपर्क करने के किसी भी प्रयत्न का न होना, क्या घटित को अघटित करने का ही प्रयत्न नहीं है ?"

"तो क्या उलूपी कभी स्वाभाविक दांपत्य जीवन व्यतीत नहीं कर पाएगी ?" इस बार सुभद्रा के मन में पर्याप्त करुणा थी।

"मैं कोई भविष्यवाणी नहीं कर रहा।" कृष्ण ने उत्तर दिया, "मैं तो केवल परिस्थितियों का विश्लेषण कर रहा हूँ। यदि उलूपी और उसके पिता साहस करें, तक्षक से विद्रोह करें, तो स्थिति इसके ठीक विपरीत भी हो सकती है।"'पर उसकी संभावना बहुत कम है।"

"क्यों ? क्या तक्षक का आतंक सर्वव्यापी और सार्वकालिक है ?" अर्जुन का आक्रोश सिर उठा रहा था।

"जब पांडव अपने सारे शस्त्र कौशल, साहस और वीरता के रहते हुए, खांडव-वन से तक्षक़ का आतंक समाप्त नहीं कर पाए..."

"वह तो इसलिए, क्योंकि इंद्र उसकी रक्षा कर रहा है, और इंद्र से युद्ध करने के साधन हमारे पास नहीं हैं।" अर्जुन ने कहा।

"तो बेचारे कौरव्य नाग के पास ही कौन-से साधन हैं कि वह तक्षक अथवा उसके संरक्षक इंद्र से लड़े।" कृष्ण बोले, "और वह तो अपनी सामाजिकता से भी बँधा हुआ है। उसे तक्षक के विरुद्ध सहायता कहाँ से मिलेगी ?"

"गोविन्द ! यदि पार्थ ही उलूपी के पास चले जाएँ ?" द्रौपदी ने पूछा।

"तो भी स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं आएगा।" कृष्ण ने कहा, "जिस किसी भय से बँधी उलूपी अर्जुन से संपर्क नहीं कर रही है, अर्जुन के जाने से उलूपी का वह भय बढ़ जाएगा।"'वस्तुतः मैं यह नहीं मानता कि उलूपी अपने प्रति किसी भय से अपने हाथ-पैर और जिहवा को बाँधे पड़ी होगी।"'तक्षक की कार्य-पद्धति यही है। उसकी सबसे

वड़ी शक्ति हैं उसके विषधर, जो छिपकर किसी भी व्यक्ति पर घात करते हैं। उसे दंश मारते हैं···।"

"वे सर्प हैं ?" सुभद्रा ने आश्चर्य से पूछा।

"नहीं। नाग जाति के मनुष्य हैं।" कृष्ण बोले, "वे विभिन्न प्रकार के विष को, विशेष-कर सर्प-विष को मनुष्य के शरीर में विभिन्न पद्धतियों से पहुँचाने में सिद्ध-हस्त हैं। वे अपना परिचय नहीं देते। अत्यन्त गोपनीयता से कार्य करते हैं और अत्यन्त धूर्त हैं। न उलूपी जानती होगी, न कौरव्य कि उनके सेवकों में से कौन तक्षक का विषधर है, उनके सैनिकों में से कौन उनसे भी अधिक तक्षक के प्रति निष्ठावान है। यह गुप्त तंत्र है। उनमें से कितने ही तक्षक के विषधर होंगे, जिन्हें तक्षक ने कौरव्य की चौकसी के लिए नियुक्त किया होगा, और कौरव्य उन्हें अपना सैनिक समझ कर अपनी ओर से वेतन देते होंगे।···"

"क्या वे उलूपी को भी डस सकते हैं ?" द्रौपदी जैसे चकित थी।

"शायद वे उलूपी पर प्रहार न करें, उसे भयभीत करने के लिए वे उसके पिता, उसके पति और उसके पुत्र पर प्रहार कर सकते हैं···।"

"पुत्र ?" अर्जुन उत्तेजना के मारे अपने स्थान से उठ खड़ा हुआ।

"ओह। तो तुम्हें शायद इसकी सूचना ही नहीं है।" कृष्ण बोले, "उलूपी ने तुम्हारे एक पुत्र को भी जन्म दिया है। इरावान नाम है उसका।"

"तुम्हें ये सारी सूचनाएँ कहाँ से मिलती हैं ?" अर्जुन समझ नहीं पाया कि इस वाक्य में कृष्ण के प्रति प्रशंसा का भाव था अथवा संशय का।

"सूचनाएँ अपने-आप में एक शक्ति हैं, इसलिए स्वयं को शक्तिशाली बनाने के लिए जैसे मैं युद्ध का अभ्यास करता हूँ, शस्त्रों का निर्माण अथवा क्रय करता हूँ, वैसे ही सूचनाएँ प्राप्त करने का भी प्रयत्न करता हूँ।"

"ठीक है। प्रत्येक राजा अपने गुप्तचर नियुक्त करता है।" अर्जुन बोला, "किंतु वह अपने राज्य के विषय में अथवा विशेष लोगों के विषय में सूचनाएँ प्राप्त करता है। तुम्हें सारे संसार की सूचनाएँ कैसे प्राप्त हो जाती हैं ? द्वारका से गंगाद्वार का कोई संबंध नहीं। कौरव्य और उलूपी से तुम्हारा कुछ लेना-देना नहीं··· फिर भी तुम जानते हो कि उलूपी की समस्या क्या है। मुझे कोई सूचना नहीं कि इरावान नाम का मेरा कोई पुत्र भी है, और तुम जानते हो कि अर्जुन का ज्येष्ठ पुत्र इरावान है, जो गंगाद्वार में पल रहा है···।"

"हाँ !" कृष्ण हँसे, "मैं जानता हूँ, क्योंकि मेरा संबंध किसी एक राज्य से नहीं है, किसी एक राजवंश से नहीं है। मेरा कोई व्यक्तिगत मित्र नहीं है, कोई शत्रु नहीं है। मेरा संबंध केवल धर्म से है। इसलिए जहाँ धर्म है, वहाँ मेरे मित्र हैं, जहाँ अधर्म है, वहाँ मेरे शत्रु हैं। राजाओं ने धरती को अपने और पराए की सीमा में बाँटा है, मैं उन सीमाओं को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि मैं कोई अपना और पराया स्वीकार नहीं करता। सब मेरे अपने हैं। मुझे किसी एक राज्य और राजवंश की चिंता नहीं है, मुझे प्रत्येक जीव की चिंता है। इसलिए जहाँ कहीं जो कुछ घटित हो रहा है, उन सबमें मेरी रुचि है।"····

"यही नहीं कि तुम्हें सबमें रुचि है," अर्जुन बोला, "मुझे तो लगता है, कि तुम प्रत्येक कण के भीतर विद्यमान हो। तुम सबके पेट में घुसे हुए हो। सबके विषय में सब कुछ जानते हो।"

कृष्ण हँसे, "सृष्टि वस्तुतः एक ही तत्त्व है, उसे विभाजित करना या तो अज्ञान है या स्वार्थ। और सत्य तो यह है कि स्वार्थ भी अज्ञान ही है। मेरा तादात्म्य सचमुच प्रत्येक कण से होता है। इतना विराट् हूँ मैं। तो स्वयं को अहंकार की सीमाओं में बाँध कर संकुचित क्यों करूँ ?"

अर्जुन की इच्छा हुई, पूछे, 'तुम प्रत्येक कण में हो, तो क्या तुम ईश्वर हो ?' किंतु उसने पूछा नहीं। यह चर्चा वह कृष्ण से फिर किसी समय भी कर सकता था... किंतु आज तो उन्हें आखेट के लिए जाना था। अग्नि-सैनिकों का वह अधिकारी...

"तुम्हें नहीं लगता कृष्ण ! आज ऊष्मा कुछ अधिक ही हो गई है...।"

"हाँ। जब ग्रीष्म ऋतु आ पहुँची है, तो ऊष्मा से कहाँ तक बचोगे ?" कृष्ण बोले, "तो आखेट के लिए चलें ? पर इस ऊष्मा में आखेट कुछ कष्टप्रद होगा। फिर ये महिलाएँ भी साथ चलना चाहेंगी।..."

"तो ?"

"यमुना में जल-विहार के लिए चलते हैं।" कृष्ण बोले, "मुझे भी अपनी यमुना से बिछड़े बहुत दिन हो गए हैं। यमुना-तट के क्रीड़ा भवन में चलते हैं। कुछ जल-विहार हो जाएगा, कुछ नृत्य और संगीत...।"

अर्जुन समझ रहा था कि कृष्ण ने अपनी योजना कदाचित बदल दी थी। यदि वे लोग जल-विहार, नृत्य और संगीत की योजना बनाकर चलें तो किसी को यह आभास ही नहीं होगा कि वे लोग वस्तुतः खांडव-वन में किसी विशेष अभियान पर निकले हैं। उस अग्नि-सैनिक ने गोपनीयता, आकस्मिकता तथा त्वरित प्रहार पर बल दिया था...

"यदि नृत्य और संगीत की इच्छा है तो फिर तुंबरु गंधर्व के शिष्यों की टोली को भी साथ ले लेते हैं।" अर्जुन ने प्रस्ताव रखा।

"हाँ ! अच्छा ही है।" कृष्ण सहमत हो गए, "हम जल-विहार के लिए दूर निकल गए अथवा वन की ओर चले गए तो कृष्णा और सुभद्रा का मनोरंजन करने के लिए वे गंधर्व बालाएँ तो होंगी..."

"तो फिर मैं अपनी कुछ सखियों को भी साथ ले लेती हूँ।" द्रौपदी बोली।

"अवश्य !" कृष्ण बोले, "सुभद्रा ! तुम भी जिसे चाहो बुला लो।"

अंगरक्षकों और सैनिकों को विहार भूमि में विभिन्न स्थानों पर नियुक्त कर वे लोग क्रीड़ा-भवन में चले गए।

"सुभद्रा ! तुम अधिक ऊधम नहीं मचाना, और कृष्णा ! तुम इसका ध्यान रखना !" कृष्ण ने कहा, "जब तक नृत्य और गायन की तैयारी आरंभ होती है, हम यमुना में नहा कर आते हैं।"

"हो आइए ! नृत्य और संगीत की ही नहीं, मैं भोजन की तैयारी भी करवाती हूँ।"

द्रौपदी बोली, "जहाँ इतनी सारी महिलाएँ एकत्रित हों, वहाँ पाकशाला न खुल जाए, तो बात ही क्या।"

सब लोगों को किसी-न-किसी काम में व्यस्त होते देखकर, अर्जुन और कृष्ण वहाँ से हट गए। वे सहज रूप से चलते हुए क्रीड़ा-भूमि से बाहर निकल आए।

थोड़ी ही देर में उनका रथ खांडव-वन में अपने गंतव्य पर पहुँच गया। कृष्ण ने रथ रोक दिया। चारों ओर देखा : कहीं कोई नहीं था।

"क्या सोचते हो कृष्ण ?" अर्जुन ने दबे स्वर में पूछा।

"हमें प्रतीक्षा करनी चाहिए। वह चर्चा व्यर्थ का परिहास नहीं थी।"

"घोड़ों को खोल दूँ ?" अर्जुन ने पूछा, "लगेगा, उन्हें विश्राम देने के लिए रुके हैं।"

"ठीक है।"

अर्जुन ने घोड़े खोल दिए और वे दोनों विश्राम की मुद्रा में बैठ गए। दोनों मौन थे, किंतु वन में विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ अपनी प्रतिध्वनियों के साथ लुका-छिपी खेल रही थीं। थोड़ी देर में ही लगने लगा जैसे वह भी कोई नैसर्गिक संगीत था, जिसमें अलौकिक लय थी। तुंबरु के शिष्य, यह सब कुछ सीखते थे, यहाँ के जीव- जंतुओं और वनस्पतियों को यह सब सीखना नहीं पड़ता था। लोग संगीत सुनने के लिए एकत्रित होते थे, किंतु यहाँ कोई सुनने वाला ही नहीं था। लगता था प्रकृति अपने लिए ही गा रही थी···

नैसर्गिक लय भंग हुई।

किसी के पदचाप ने लय का क्रम खंडित कर दिया था। वन की सघनता के कारण आने वाले व्यक्ति को दूर से ही देख पाना संभव नहीं था।··· किंतु पगध्वनि से लगता था कि वह व्यक्ति पूर्ण आश्वस्त भाव से चल रहा था। न वह स्वयं को छिपाने का प्रयत्न कर रहा था और न ही वह अपनी पग-ध्वनि को दबाने का इच्छुक था··· कुछ क्षणों में जो व्यक्ति उनके सामने आया, वह तपे सोने के से वर्ण वाला लंबा-ऊँचा, किंतु इकहरे बदन का, वल्कल तथा जटाधारी ब्राह्मण था।

"यह तो कोई तपस्वी लगता है।" अर्जुन ने कहा।

"खांडव-वन में तपस्वी !" कृष्ण के स्वर में हल्का-सा विस्मय था, "इन दुष्टों के मध्य कोई तपस्वी रह कैसे सकता है ?"

ब्राह्मण निकट पहुँच कर उनके सम्मुख खड़ा हो गया।

कृष्ण तथा अर्जुन ने प्रणाम किया, "कहिए ब्राह्मण देवता। कैसे कष्ट किया ?"

"ब्राह्मण ने जैसे सतर्कता से इधर-उधर देखा, "भूखा हूँ। भोजन चाहता हूँ। तृप्त कर सकोगे ?"

अर्जुन ने उसे परीक्षक दृष्टि से देखा : कहीं, यह भी कोई षड्यंत्र ही न हो। अपना संशय मिटाने के लिए बोला, "इतने सघन वन में बैठा कोई तपस्वी भिक्षा के लिए किसी गृहस्थ के आने की प्रतीक्षा नहीं करता। वह वन के फल और कंद-मूल खा सकता है।" वह रुका, "हमें देखकर अकस्मात् ही आपकी भूख जाग गई है, या आपको हमारे आने

का पूर्व आभास हो गया था ?"

ब्राह्मण मुस्कराया, "मैं अग्नि हूँ। मुझे तुम लोगों के आने की पूर्व सूचना थी धनंजय।"

"ओह, देव अग्नि !" कृष्ण ने कहा, "किंतु इस छद्मवेश की आपको क्या आवश्यकता है ?"

"यह खांडव-वन पहले किसी समय अत्यन्त भयंकर राक्षसों तथा दैत्यों का घोर आश्रय-स्थल था। मैंने ही इस वन को जलाकर इस स्थान को उनसे खाली कराया था··· किंतु मेरे प्रति अपने विरोध के कारण इंद्र ने पुनः यहाँ वन उगाया। वैसे ही लोगों को यहाँ बसने की सुविधा प्रदान की, और आज फिर यह खांडव-वन षड्यंत्रों और अपराधों की भूमि है।" अग्नि ने कहा, "यहाँ तो प्रत्येक कण से सावधान रहना चाहिए ! यदि यह सूचना प्रचारित हो जाए कि मैं स्वयं तुम लोगों से मिलने के लिए यहाँ आया था, तो क्या तुम समझते हो कि स्थिति इसी प्रकार शांत रहेगी ?"

"ठीक है।" कृष्ण के स्वर में स्थिति का पूर्ण बोध था, "कहिए ! हम आपकी क्या सहायता कर सकते हैं। आप वस्तुतः भोजन माँगने के लिए तो यहाँ तक आए नहीं होंगे।"

"मैं अपनी माँग तो तुम्हारे सामने तब ही रखूँगा, जब पहले यह स्पष्ट हो जाए कि तुम्हारा इंद्र के प्रति क्या भाव है ?" अग्नि का स्वर शांत तथा स्थिर था।

"इंद्र हमारे मित्र हैं।" अर्जुन बोला, "आप जानते ही होंगे कि इंद्रप्रस्थ के निर्माण में इंद्र ने हमारी पर्याप्त सहायता की थी। उन्होंने देव विश्वकर्मा को इस कार्य के लिए भेजा था, नहीं तो कदाचित् इंद्रप्रस्थ का निर्माण ही न हो पाता। आप यह भी जानते होंगे कि हमने इंद्र के इस उपकार को स्वीकार करने के लिए ही अपने नगर का नाम इंद्रप्रस्थ रखा है।"

"जानता हूँ।" अग्नि ने कहा, "किंतु क्या तुम जानते हो अर्जुन ! कि तुमसे इन संबंधों के बावजूद इंद्र ने तुम्हारे शत्रु तक्षक को यहाँ खांडव-वन में छुपा रखा है, और वह उसकी लगातार सहायता कर रहा है। उसे यहाँ बनाए रखने के लिए वह अन्य लोगों का बल ध्वस्त करता रहता है। मुझे देख रहे हो, मेरे स्कंधावार को भी तुमने देखा है। मैंने सात बार खांडव-दाह का प्रयत्न किया और असफल रहा। इंद्र से बार-बार पराजित होकर मैं जो इतना तेजहीन और निष्क्रिय हो गया हूँ, वह आखिर क्यों ? देवकुल का इंद्र होकर भी वह मुझसे शत्रु का-सा व्यवहार कर रहा है और तक्षक की सहायता कर रहा है। तक्षक जैसे दुष्ट तथा दुस्साहसी व्यक्ति को इस प्रकार संरक्षण देने का क्या अर्थ है ? क्या प्रयोजन है इंद्र का ? क्या इंद्र को नहीं मालूम है कि तक्षक तथा उसके अनुचर ही नहीं, इस वन में आश्रय पाए हुए अन्य दैत्य, निशाचर, राक्षस तथा यातुधान किस कोटि के अपराधकर्मी हैं ? उन लोगों के आस-पास योजनों तक धर्म का अंकुर नहीं उपज सकता। फिर भी इंद्र उनकी रक्षा कर रहा है। उनका पोषण कर रहा है। क्यों ? वह उनका उपयोग कहाँ करना चाहता है ? किसके विरुद्ध करना चाहता है ? क्यों करना चाहता है ?" अग्नि ने रुककर अर्जुन की आँखों में देखा, "मेरी चिंता छोड़ दो। अपनी और अपनी प्रजा के हित की बात सोचो। इन क्रूर अपराधियों के पड़ोस में बस कर तुम्हारी प्रजा सुखी रह सकती है ?"

"नहीं।" अर्जुन के मुख से अनायास ही निकला।

"तो तुम्हारा मित्र होकर भी उसने क्यों तुम्हारी राजधानी की सीमा पर उन लोगों को बसा रखा है ?" अग्नि जैसे धधक उठे, "क्या यह व्यवहार मैत्रीपूर्ण है ?"

"नहीं, यह व्यवहार बहुत मैत्री-पूर्ण तो नहीं।" अर्जुन धीरे से बोला, "पर यदि हम खांडव-वन के विरुद्ध अभियान करें तो इंद्र क्या खुले रूप में तक्षक की सहायता के लिए आएगा ?"

"अवश्य आएगा।" अग्नि के स्वर में पर्याप्त दृढ़ता थी।

"मुझे अब भी विश्वास नहीं होता।" अर्जुन बोला, "तक्षक को सैनिक सहायता भिजवा दी जाए··· यह तो संभव है, किंतु स्वयं इंद्र साक्षात् उपस्थित होकर तक्षक के पक्ष से युद्ध करे···।"

"इस पर विश्वास तब ही करना, जब स्वयं देख लो।" अग्नि ने उत्तर दिया, "किंतु खांडव-वन को अपना दुर्ग बनाए बैठे अपराधियों से निपटना चाहते हो या नहीं ?"

"क्यों नहीं चाहता। किंतु उसके लिए साधन कहाँ हैं ?"

"इसीलिए तो मैं उपस्थित हुआ हूँ। अग्नि ने कहा, "हम परस्पर एक दूसरे के सहायक हो सकते हैं।"

"आप सहायता करना चाहते हैं या सहायता लेना चाहते हैं ?" कृष्ण ने अग्नि की ओर देखा, "महाशक्तियों का छल-छंद किसी से छिपा नहीं है। वे कितनी भी सहायता करें, कितने भी प्रेम और सौहार्द का प्रदर्शन करें, किंतु उनका कोई भी कार्य निःस्वार्थ नहीं होता। यदि आप इंद्र के विरुद्ध हमारी सहायता करेंगे तो इंद्र के बल को तोड़ने के पश्चात् आप यहाँ अपना शक्तिशाली स्कंधावार स्थापित करना चाहेंगे, इंद्र के ही समान अपने किन्हीं भयंकर गणों को बसाना चाहेंगे तो हमारा क्या हित होगा ? आधिपत्य इंद्र का न हुआ आपका हुआ तो भी हमारी सत्ता और स्वतंत्रता उतनी ही बाधित रहेगी।··· और कौन जाने, आप अपने जिन गणों को हम पर आरोपित करें, वे इन दुष्टों से भी अधिक भयंकर हों।"

"मेरा विश्वास करो। मैं वचन देता हूँ कि इंद्र का आधिपत्य समाप्त कर उसके संरक्षण में पलने वाले इन अपराधियों को नष्ट कर मैं अपना स्कंधावार यहाँ से हटा लूँगा। मेरा स्वार्थ केवल इतना ही है कि मेरे अनुयायियों को पीड़ित करने वाले, इंद्र द्वारा पोषित ये दुष्ट नष्ट कर दिए जाएँ।"

"यदि आपने अपना वचन पूरा नहीं किया ?" अर्जुन ने पूछा।

"देव शक्तियों से तुम यह अपेक्षा नहीं कर सकते, किंतु यदि ऐसा हुआ तो तुम पुनः इंद्र की सहायता से मेरे विरुद्ध सैनिक-अभियान करने को स्वतंत्र हो।" अग्नि ने कहा, "इस स्कंधावार के नष्ट हो जाने से, न तो इंद्र समाप्त हो जाएगा, न उसकी सत्ता और न उसकी अधिकार-लिप्सा।"

अर्जुन ने कुछ क्षणों तक मौन दृष्टि से अग्नि को देखा, "हमारे पास खांडव-वन में निवास करने वाले इंद्र-समर्थक अपराधियों के विरुद्ध व्यूह-रचना के साधन नहीं हैं। इसीलिए हम खांडव-वन को अपने इन शत्रुओं से खाली करा, उसपर पूर्ण आधिपत्य स्थापित नहीं कर पाए। ऐसे में क्या हम आपके बल को पुष्ट कर सकते हैं ?"

अग्नि के पास प्रस्ताव पहले से तैयार था। उन्होंने पूर्ण आश्वस्त शब्दों में कहा, "उन दुष्टों से निबटने का सामर्थ्य मुझमें है। उसके लिए तुम्हें कुछ भी नहीं करना है…"

"तो फिर बार-बार पराजित हो आप निस्तेज क्यों हो गए हैं देव अग्नि ?" कृष्ण ने पूछा।

"तुम मेरी इतनी ही सहायता करो कि न इंद्र खांडव-वन के भीतर पहुँचे और न वन से निकलकर भागने वाले वे अपराधी इंद्र तक जीवित पहुँचें।" अग्नि ने उत्तर दिया, "यदि इंद्र की सहायता उन तक पहुँच गई तो मैं पुनः अक्षम हो जाऊँगा, और यदि ये अपराधी इंद्र तक पहुँच गए तो इंद्र इन्हें सुरक्षित निकाल ले जाएगा। मेरा सारा अभियान असफल हो जाएगा।"

"क्यों ? जब इंद्र का स्कंधावार ही ध्वस्त हो गया और ये दुष्ट यहाँ से भाग गए, तो आपका अभियान असफल कैसे हो जाएगा ?"

"तुम भूलते हो पार्थ ! कि खांडव-वन न तो मेरा शत्रु है, न तुम्हारा। वह तो एक अत्यन्त लाभकारी वन था। हमारे लिए हानिकारक तो तब बना, जब वह मानवता के शत्रु इन अपराधियों का गढ़ बना। यदि इंद्र उन्हें सुरक्षित निकाल ले गया, तो खांडव-वन तो व्यर्थ ही जल जाएगा। हमारा लक्ष्य तो इन अपराधियों का विनाश है, खांडव-दाह नहीं।" अग्नि ने रुककर बारी-बारी कृष्ण और अर्जुन की ओर देखा, "बोलो ! मेरी सहायता कर सकोगे ?"

"क्यों पार्थ ?" कृष्ण ने स्वयं कोई उत्तर नहीं दिया।

"मैं समझता हूँ कि इतने बड़े अभियान के लिए हमारे पास उपयुक्त शस्त्रास्त्र नहीं हैं।" अर्जुन ने रुककर अग्नि को देखा, "एक बात और है। हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि यह सारा अभियान शीघ्रातिशीघ्र समाप्त हो जाए। विलंब से जैसा कि आप कह रहे हैं, इंद्र का बल तो बढ़ ही सकता है। साथ ही यदि यह सूचना महाराज युधिष्ठिर को मिलती है कि हम अपराधियों के साथ-साथ खांडव-वन को भी नष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं, तो संभवतः उनका दयालु मन इसे स्वीकार न कर पाए और अपनी करुणा के वश, वे हमें इससे रोक दें।"

"क्यों ? क्या वे अपने शत्रुओं से मुक्ति नहीं चाहते ?"

"चाहते क्यों नहीं, किंतु वे युद्ध में भी क्रूरता के समर्थक नहीं हैं।" अर्जुन बोला, "वैसे तो क्रूरता का समर्थक मैं भी नहीं हूँ। अनावश्यक हिंसा का समर्थक हम में से कोई भी नहीं है, किंतु युद्ध में हमारी नीति यह तो रहती ही है कि युद्ध का लक्ष्य तो प्राप्त कर ही लें…।"

"और युधिष्ठिर ?"

"वे प्रतिशोध नहीं, प्रतिकार चाहते हैं। दंड नहीं, क्षमा के समर्थक हैं। वे युद्ध, दुष्ट-दलन और दंड में भी कोमल हैं, और प्रतिहिंसा के स्थान पर आनृशंसता के पक्षधर हैं।" अर्जुन बोला, "इसलिए एक ओर तो शायद उनको इस बात में भी आपत्ति हो कि तक्षक इत्यादि को मात्र वन से बाहर निकालने के लिए, इतने बड़े वन को नष्ट कर दिया जाए।… और दूसरी ओर वे यह भी पूछ सकते हैं कि यदि तक्षक तथा अन्य अपराधकर्मी वन को छोड़कर भाग रहे हैं, तो उनके विरुद्ध सैनिक अभियान की आवश्यकता

ही क्या है ?"

"क्या उन्हें समझाया नहीं जा सकता कि शत्रु के दुर्ग को नष्ट कर उसकी सेनाओं को अक्षुण्ण छोड़ देने से राजा को कोई लक्ष्य प्राप्त नहीं होता।" अग्नि का स्वर आवेशपूर्ण था, "समझदार राजा वह होता है, जो अपने शत्रु को भविष्य में कभी उठने योग्य ही न छोड़े।"

"नहीं। उन्हें कठोरता और क्रूरता के लिए सहमत नहीं किया जा सकता।" अर्जुन बोला, "इसीलिए तो कह रहा हूँ कि हम अपना अभियान उनके इंद्रप्रस्थ लौटने से पूर्व समाप्त कर लें, तो सुविधा रहेगी।"

"उसकी तुम चिंता मत करो।" अग्नि ने कहा, "हमारा अभियान अत्यंत त्वरित और वेगवान होगा। विलंब किसी का भी सहायक नहीं होता। किंतु तुम युधिष्ठिर की आज्ञा के बिना इस अभियान को पूरा कर पाओगे ? तुम्हें यह तो नहीं लगेगा कि तुम ने अपने बड़े भाई और राजा की आज्ञा न लेकर उनकी अवज्ञा की है ?"

अर्जुन किंचित् मुस्कराया, "अपनी प्रजा के हित और उसकी रक्षा के लिए अपराधियों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही का अधिकार मुझे महाराज की ओर से प्राप्त है। यह आवश्यक तो नहीं कि सेनापति राजा को अपनी योजनाओं की विस्तृत सूचना देकर अपने हाथ बाँध ले। उनको तो केवल उद्देश्य तथा परिणाम की ही सूचना दी जानी चाहिए।···वैसे उनकी इंद्रप्रस्थ से अनुपस्थिति के कारण, इस समय हमारे राजा महाबली भीम हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि उन्हें इस अभियान में तनिक भी आपत्ति नहीं होगी।" अर्जुन ने रुककर अग्नि की ओर देखा, "किंतु इस अभियान के लिए जिस प्रकार के रथ की आवश्यकता है··· वह मेरे पास नहीं है। मेरा रथ इस वन में दौड़ नहीं पाएगा। उसमें अधिक शस्त्रास्त्रों के लिए स्थान भी नहीं। मुझे एक शक्तिशाली और वेगवान रथ की आवश्यकता होगी। और ··· " वह रुका, "इस युद्ध के लिए जैसे प्रहारक अस्त्रों की आवश्यकता है, वे दिव्य और उत्तम अस्त्र तो मेरे पास हैं, किंतु उनके संधान के लिए, मेरे बाहुबल को सह सकने वाला श्रेष्ठ धनुष नहीं है। मेरा विचार है कि कृष्ण के पास भी उनके बल-पराक्रम के अनुरूप कोई आयुध नहीं है। देव अग्नि ! पुरुषार्थ से जो कार्य हो सकते हैं उनके लिए हम प्रस्तुत हैं, किंतु साधन··· ?"

अग्नि के अधरों पर मुस्कान उभरी, "मैं तुम्हें गांडीव धनुष देता हूँ अर्जुन। जो धनुषों में रत्न समझा जाना चाहिए। यह धनुष मैंने तुम्हारे लिए वरुण से प्राप्त किया है। विश्वास करो, वरुण भी इंद्र के शोषण से अत्यंत पीड़ित है। असहाय होने के कारण वह कुछ कर नहीं सकता, किंतु मन से पूर्णरूपेण वह हमारा सहायक है। मुझे एकाकी मत समझो। आवश्यकता हुई तो हमारे और भी सहायक आएँगे।" अग्नि कुछ क्षण मौन रहे और फिर बोले, "मैं तुम्हारे लिए दिव्य अश्वों से जुता एक रथ भी लाया हूँ।"

अग्नि ने पीछे मुड़कर अपने हाथ से संकेत किया।

अर्जुन ने देखा, उस दिशा में शायद अग्नि के अनेक अनुचर उनकी प्रतीक्षा में खड़े थे। इनका संकेत पाते ही वे एक विशाल रथ आगे ले आए। उसमें जुते अश्वों का वर्ण ज्योत्स्ना के समान उज्ज्वल था। उनकी कांति धवल मेघों की सी थी। रथ का आकार अत्यंत विशाल था और उसमें विभिन्न प्रकार के शस्त्रास्त्र लदे हुए थे, जैसे

वह कभी समाप्त न होनेवाला अक्षय शस्त्रागार हो। रथ का ध्वज-दंड रथ के ही रूपाकार के अनुकूल सुवर्णमय तथा सुंदर था। ध्वज पर सिंह और व्याघ्र के समान भयंकर आकृति वाले एक दिव्य वानर का अत्यन्त जीवन्त चित्र था।

"और कृष्ण !" अग्नि बोले, "तुम्हारे लिए सुदर्शन नाम का यह चक्र है। मधुसूदन ! इस चक्र के द्वारा तुम युद्ध में मनुष्यों को तो क्या देवताओं को भी जीत सकते हो, और वरुण की दी हुई यह कौमोदकी नामक गदा भी तुम्हारे लिए है। इसे तुम अपने शत्रुओं की अमोघ मृत्यु ही समझो।"

अग्नि के अनुचरों ने चक्र और गदा लाकर कृष्ण के सम्मुख रख दिए और हाथ जोड़कर एक ओर हट गए।

"बोलो। अब क्या कहते हो ?" अग्नि प्रश्नवाचक दृष्टि से उनकी ओर देख रहे थे।

"हम प्रस्तुत हैं हव्यवाहन।" कृष्ण सहज भाव से बोले, "इस अवसर की हम कई वर्षों से प्रतीक्षा कर रहे थे।"

26

नृत्य और संगीत की तैयारी की धूम मच गई। तंबुरु की शिष्य नर्तकियाँ नेपथ्य में व्यस्त हो गई। वाद्य-यंत्रों को बाँध कर सुर-ताल में लाया गया। कौन क्या गाएगा और किस नृत्य में कौन भाग लेगा यह विवाद भी अपने-आपमें बहुत प्रबल था।...

सुभद्रा और द्रौपदी की व्यस्तता इतनी बढ़ी कि वह अस्त-व्यस्तता में परिणत हो गई। एक लंबे समय तक उन्हें ध्यान ही नहीं आया कि कृष्ण और अर्जुन, यमुना में जल-विहार के लिए गए थे और वे अभी तक लौटे नहीं हैं। वस्तुतः द्रौपदी ने भोजन तैयार करवाने का जो प्रबंध अपने हाथ में ले लिया था, उसके कारण वह नहीं चाहती थी कि वे लोग शीघ्र लौटें। वे लौट आए तो उसके प्रबंध में बाधा पड़ने की संभावना थी। उसकी इच्छा थी कि वह भोजन तैयार करवा ले, ताकि जब कृष्ण और अर्जुन लौटें तो उन्हें भोजन परोसा जा सके और तन्मय होकर संगीत और नृत्य का आनन्द लिया जा सके।

सुभद्रा ने कुछ देर तो संगीत का आनन्द लिया। वह चाहती थी कि यहाँ भी एक बार रैवतक पर्वत पर होने वाले उत्सवों का-सा समा बँध जाए, वे ही आनन्द के दिन लौट आएँ और वह अपने कष्ट और वर्तमान परिवेश भूलकर उसमें लीन हो जाए... किंतु आधे प्रहर के ही बाद वह चौंक उठी, जैसे किसी की सुहानी नींद टूट जाए... कहाँ चले गए पार्थ। वह इतना आग्रह कर इसलिए तो उनके साथ नहीं आई थी कि वे उसे इन नर्तकियों के बीच छोड़कर, स्वयं भैया के साथ विहार करते फिरें। इन नर्तकियों का

नृत्य ही देखना था, तो अपने भवन में भी देखा जा सकता था...

उसकी व्याकुलता कुछ बढ़ गई तो उसने द्रौपदी से चर्चा की, "वे लोग अभी तक आए नहीं।"

"आ जाएँगे। तुम उनकी चिंता मत करो।" द्रौपदी ने कहा और पुनः अपने प्रबंध में व्यस्त हो गई।

...किंतु वह भी अधिक समय तक आत्मलीन नहीं रह सकी।... सुभद्रा ने ठीक ही कहा था कि उन्हें गए बहुत देर हो गई थी।...दोनों मित्र या तो तैरते-तैरते दूर निकल गए होंगे, या यमुना-तट पर किसी वृक्ष के नीचे बैठे किसी गंभीर चर्चा में व्यस्त हो गए होंगे... यहाँ भोजन ठंडा होता रहेगा और वे वहाँ अपने विवाद में उलझे बैठे रहेंगे...

सहसा अंगरक्षकों का नायक उसके सम्मुख आ उपस्थित हुआ, "महारानी ! कुछ ऐसा आभास मिला है, जैसे खांडव-वन में आग लग गई है।"

"किसी ने चूल्हा जलाया होगा।" द्रौपदी ने इस सूचना को तनिक भी गंभीर नहीं माना, "मैंने सुना है कि इस वन में बहुत सारे लोग निवास करते हैं। तो वे अपना भोजन भी तो पकाते ही होंगे। इसमें चिंतित होने की क्या बात है।"

"नहीं देवि ! यह अग्नि चूल्हा जलने जैसी नहीं है।" नायक ने कहा, "वह दावानल है, जो क्रमशः प्रबल होता जा रहा है। आप तनिक बाहर निकलकर देखें, तो आपको भी उसकी भयंकरता का अनुमान हो जाएगा।"

"मुझे क्या करना है उसका अनुमान करके।" द्रौपदी उसी प्रकार उल्लसित स्वर में बोली, "जल जाने दो निगोड़े को। सारे पांडव इस खांडव-वन को लेकर बहुत चिंतित हैं।"

अब नायक अपनी घबराहट छिपा नहीं पाया, "महारानी। राजकुमार अर्जुन और वासुदेव कृष्ण वन की ओर ही गए हैं। उनका रथ हमें इस ओर के सुरक्षित क्षेत्र में कहीं नहीं मिला है।..."

"तो जाओ। उन्हें खोजो।" सुभद्रा ने घबराकर कहा, "वे वहाँ दावानल में घिरे बैठे होंगे, और तुम यहाँ हमें सूचना देने चले आए।"

"आप लोगों को इस क्षेत्र में छोड़कर हम कहीं नहीं जा सकते।" नायक बोला, "राजकुमार ने इसका निषेध किया है..."

"वे लोग चाहे वहाँ किसी संकट में फँस जाएँ," सुभद्रा ने तड़पकर कहा, "तुम लोग यहाँ हमें सूचनाएँ ही देते रहोगे।" वह उठ खड़ी हुई, "जाओ ! रथ ले आओ ! मैं स्वयं उन्हें देखने जाऊँगी।"

"नहीं देवि ! इसकी आवश्यकता नहीं है।" नायक विनीत भाव से बोला, "आप लोग भोजन कर लें। आपको प्रासाद में सुरक्षित पहुँचा कर हम लोग युवराज को सूचित करेंगे।"

"नहीं करना है हमें भोजन...।" सुभद्रा के स्वर में आक्रोश था।

द्रौपदी ने हाथ के संकेत से उसे धैर्य रखने का संकेत किया और बोली, "दासियों को कहो, सबको भोजन करा दें, ताकि हम वापस इंद्रप्रस्थ चल सकें।"

नायक चला गया।

"ये लोग एकदम नहीं सोचते कि पीछे हमारी क्या दशा होगी।" सुभद्रा अब भी झल्लाई हुई थी।

"धैर्य धारण करो सुभद्रा।" द्रौपदी शांत स्वर में बोली, "मुझे लगता है कि जो कुछ भी घटित हो रहा है, वह आकस्मिक नहीं है। यह कृष्ण तथा अर्जुन की योजना ही होगी।" उसने रुककर सुभद्रा को देखा, "तुम उनके लिए चिंतित हो, जो सदा दूसरों की चिंता करते हैं। यदि यह सब आकस्मिक होता तो वे लोग हमारी सुरक्षा के लिए चिंतित होकर यहाँ भागे आते और हमें सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने का प्रबंध करते…।"

"पर यदि वे स्वयं ही सुरक्षित न हों तो ?" सुभद्रा बोली।

"ऐसा संभव नहीं है।" द्रौपदी के चेहरे पर परम शांति थी, "मुझे तो लगता है कि क्रीड़ा के लिए यहाँ आना तो छद्म मात्र था, उनकी वास्तविक योजना तो कुछ और ही थी।"

"पर कोई मध्यम को सूचित क्यों नहीं करता ?"

"मैं देखती हूँ कि क्या करना है।" द्रौपदी बाहर निकल आई… वस्तुतः सारा आकाश इस प्रकार लाल हो रहा था, जैसे खांडव-वन एक बड़े से भाड़ में बदल गया हो…

"महारानी !" द्रौपदी को देखकर नायक आगे बढ़ आया, "अभी-अभी देव अग्नि का एक सैनिक, राजकुमार का संदेश लाया है कि वे व्यस्त हैं और अभी लौट कर नहीं आ सकते। उन्होंने आदेश दिया है कि आप लोगों को सुरक्षित इंद्रप्रस्थ पहुँचा दिया जाए।"

"कहीं यह कोई षड्यंत्र तो नहीं नायक ?" द्रौपदी बोली, "तुमने कैसे मान लिया कि वह देव अग्नि का सैनिक था और संदेश पार्थ का ही था ?"

"लिखित आदेश है महारानी !" नायक बोला, "हमें राजधानी से भी संदेश मिला है कि हमारी सेनाएँ नगर प्राचीर से बाहर निकल खांडव-वन को प्रायः घेर चुकी हैं। युवराज भीम स्वयं सेना का नेतृत्व कर रहे हैं। मेरा अनुमान है महारानी कि यह अग्नि शीघ्र नहीं बुझेगी। दावानल को शांत करना वैसे भी कठिन है, और इसे तो शायद युवराज बुझने ही न दें।"

द्रौपदी को लगा कि उसे कृष्ण तथा अर्जुन की योजना कुछ-कुछ समझ में आ रही थी।

"अच्छा। तुम प्रयाण की तैयारी करो।" उसने नायक से कहा।

"हमें वहाँ नृत्य और गान में लगा स्वयं कहाँ चले गए थे ?" सुभद्रा ने रोषपूर्ण दृष्टि से अर्जुन को देखा, "आपको पता भी है, पीछे हमारी क्या स्थिति हुई।"

"गए कहाँ थे।" अर्जुन का स्वर विनोदपूर्ण था, "वहीं यमुना-तट पर मैं और कृष्ण कुछ चर्चा कर रहे थे।

"अच्छा ! फिर तुम्हारी उस चर्चा से खांडव-वन में आग लग गई। काफी गरमागरम चर्चा रही होगी।" द्रौपदी ने कहा, "और वे जो कुछ जीव-जंतु चीत्कार कर रहे थे, वे तुम्हारे वाग्बाणों से ही आहत हुए होंगे।… हाँ। तुम्हारा व्यंग्य काफी धारदार है न।"

अर्जुन हँस पड़ा, "क्या जानना चाहती हो ? युद्ध-प्रसंग ?"

"हमें क्या पता कि वहाँ युद्ध हुआ या मात्र चर्चा ही हुई।" सुभद्रा ने अज्ञान का अभिनय किया, "हमें तो केवल यह पता है हम लोग यमुना-तट पर गए थे। सुना था कि वहाँ विहार-भूमि है, क्रीड़ा-भवन है। यही मान कर लोग विभिन्न क्रीड़ाओं में लग गए थे··· नृत्य और गीत-संगीत भी आरंभ हो गया था। सहसा ही वीणा, वेणु और मृदंग की ध्वनियों में कोलाहल आ मिला। सेनाओं और सैनिक-समूहों के आदेश-निर्देश और युद्ध-अभियान की ध्वनियाँ मिश्रित हो गईं। गोधूलि के पश्चात् जो थोड़ा-सा अंधकार छाया था, उसमें अग्नि की लपटें उठने लगीं··· और फिर चीत्कार-ही-चीत्कार ! कभी लगता था दावाग्नि, प्रलय का रूप धारण कर रही है, कभी लगता था कि प्लावन के मेघ आ गए हैं और सारा संसार वर्षा के जल में डूबने वाला है। कभी विद्युत चमकती थी और कभी सागर का उद्घोष सुनाई देता था।···।"

"और तुम्हें लगा होगा कि तुम इंद्रप्रस्थ में नहीं, द्वारका में हो जहाँ सागर में असाधारण झंझावात आ गया है और बड़वानल अपने पगों पर चल कर धरती के तल तक पहुँच गया है।" अर्जुन मुस्करा रहा था।

"यह क्या कोई परिहास है।" द्रौपदी ने भी कृत्रिम क्रोध जताया, "यह नहीं सोचा कि कोमलांगी राज-कन्याएँ वहाँ विहार कर रही हैं। यदि युद्ध-अभियान पर गए थे तो हमें साथ लेकर जाने का क्या प्रयोजन था ? और यदि युद्ध छिड़ ही गया था, तो हमारी सुरक्षा का भी प्रबंध होना चाहिए था न। खांडव-दाह करने से पहले यह तो सोचना चाहिए था कि कोई सिंह या व्याघ्र अपने प्राण बचाने के लिए विहार भूमि में आ जाता तो हमारा क्या होता ?"

"यह भूल तो हमसे हुई कि तुम लोगों को पूर्णतः असुरक्षित छोड़ दिया।" अर्जुन बोला, " इसीलिए तो सिंह और व्याघ्र तो क्या, एक सियार तक को तुम लोगों के निकट नहीं आने दिया।"

"हाँ। यह बात तो है।" सुभद्रा कुछ-कुछ सहज हो गई थी, "मुझे आश्चर्य भी हुआ कि खांडव-वन धू-धू जल रहा था, युद्ध और संघर्ष की ध्वनियाँ भी आ रही थीं, किन्तु कोई मनुष्य अथवा मनुष्येत्तर प्राणी इस ओर क्यों नहीं आ रहा। ऐसा लगता था, जैसे खांडव-वन और इन्द्रप्रस्थ के मध्य यमुना नदी आ गई हो।"

"हाँ। यह कैसे हुआ पार्थ ?" द्रौपदी ने पूछा, "यह जानते हुए भी कि तक्षक और उसके सहयोगी तथा अन्य अपराधकर्मी वहाँ छिपे बैठे हैं, जिस खांडव-वन में पांडव-वीर घुसने का साहस नहीं कर पाए, उसी खांडव-वन को इस प्रकार चुटकियों में नष्ट कर तुम और कृष्ण लौट आए।··इसका क्या अर्थ हुआ ? अब तक क्या उसकी भयंकरता की जो सूचनाएँ हमारे सैनिकों ने दी थीं··वे मिथ्या थीं ? या पांडव ही अपनी भीरुता के कारण उस वन में प्रवेश करने का साहस नहीं कर पा रहे थे ?"

"नहीं। ऐसा कुछ नहीं था।" अर्जुन आसन पर विश्राम की मुद्रा में बैठ गया, "सचमुच हमारे पास खांडव-वन को नष्ट करने के लिए साधन नहीं थे। वस्तुतः यह सारा अभियान तो अग्नि का ही था। हमारा कार्य तो इतना ही था कि इन्द्र तथा किसी अन्य शक्ति की सैनिक सहायता खांडव-वन में न पहुँचने देते, और न ही वन में छुपे अपराधियों

को सुरक्षित इन्द्र तक पहुँचने देते।..."

"अच्छा ! तनिक विस्तार से बताओ कि हुआ क्या ?" द्रौपदी सुनने की मुद्रा में बैठ गई थी।

"वस्तुतः मैं और कृष्ण युद्ध के लिए तो वहाँ गये ही नहीं थे। हम तो यही मानकर वहाँ पहुँचे थे कि देव अग्नि की सेना के किसी सेनापति से हमारी भेंट हो जाएगी, कुछ चर्चा होगी... और सम्भव है कि कोई योजना बन जाए।" अर्जुन बोला, "हम क्या जानते थे कि स्वयं अग्नि आएँगे और चर्चा की नहीं, युद्ध की पूर्ण सन्नद्धता के साथ आएँगे।"

"युद्ध की सन्नद्धता ?"

"हाँ।" अर्जुन बोला, "उन्होंने अपना अभिप्राय कहकर हमारी सहायता माँगी। हमने साधनों का अभाव बताया। उन्होंने तत्काल शस्त्र तथा रथ प्रस्तुत कर दिए और पूछा अब ? हमने कमर कस ली, दास्ताने पहन लिए और धनुष की प्रत्यंचा चढ़ा ली। वस्तुतः हमें वन के भीतर जाना ही नहीं था। वन के भीतर का सारा अभियान अग्नि के अपने सैनिकों के हाथों में था। हमें तो बाहर का ही व्यापार सम्भालना था। पहले तो मुझे लगा कि यह एक परिहास ही है कि वरुण द्वारा दिया गया ऐसा श्रेष्ठ रथ और गांडीव जैसा धनुष लेकर, दावानल से भयभीत होकर वन से निकल आए सियारों को मारने का काम करना पड़ रहा है, किन्तु थोड़ी ही देर में स्थिति बदल गई।..."

"क्या बदला ?" सुभद्रा की व्यग्र उत्सुकता उसकी आँखों से साक्षात् झाँक रही थी।

"पहले तो तक्षक के नाग अपने शस्त्रास्त्रों से सज्जित होकर बाहर निकले और उन्होंने हम पर आक्रमण किया। निश्चित रूप से ये वे नाग-सैनिक थे, जिन्होंने वन के भीतर या तो अग्नि के सैनिकों को पराजित कर दिया था, या उनसे बचकर निकल आए थे। पहले तो मेरे मन में आया भी कि अपने प्राण बचाकर भागते हुए इन असहाय सैनिकों से क्या युद्ध करना ?...पर फिर स्मरण हो आया कि ये ही तो वे अपराधी हैं, जो प्रतिदिन हमारी प्रजा का रक्त पीते हैं। अब ये ही जीवित बच गए, तो प्रजा सुरक्षित कैसे रहेगी।" अर्जुन ने रुककर उन दोनों की ओर देखा..."वस्तुतः अपनी क्रूरता में अत्यन्त भयानक लोग भी, अपनी दयनीय स्थिति में करुणा के पात्र लगने लगते हैं।..किन्तु वे दया के पात्र नहीं होते। मेरा क्षत्रियत्व जागा और मैंने उनका संहार करना आरम्भ कर दिया। मैंने सोचा कि यदि मैंने उनका संहार न किया तो वे लोग समर्थ होकर जब लौटेंगे, तो इससे भी कहीं अधिक क्रूर होंगे, जितने वे अब तक हैं।..."

"क्या वन में केवल नाग ही थे ?" द्रौपदी ने पूछा, "आज तक तो इन्द्रपस्थ में यह चर्चा थी कि उसमें विभिन्न शक्तियों के अनुयायी और विभिन्न वर्गो के अपराधकर्मी अपना बसेरा बनाए बैठे थे।"

"नहीं। केवल नाग नहीं थे।" अर्जुन ने उत्तर दिया, "जैसे-जैसे खांडव-वन धधकता चला गया और अग्नि के सैनिकों का अभियान प्रखरतर होता चला गया, वन के भीतर निर्मित विभिन्न छोटे-बड़े दुर्ग और स्कंधावार ढहते चले गए, अनेक जातियों और वर्गो के अपराधकर्मी और भृतक सैनिक बाहर आने को बाध्य हुए।..मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ पांचाली ! कि परस्पर एक-दूसरे के शत्रु कहलाने वाले नाग और गरुड़ मिलकर

हम पर आक्रमण कर रहे थे।…"

"गरुड़ आक्रमण कर रहे थे, भैया कृष्ण पर ?" सुभद्रा चकित थी।

"हाँ। पता नहीं कैसे लोग अपनी जाति के शत्रुओं के समर्थक होकर अपनी ही जाति के बैरी हो गए हैं।…"

"छोटे-छोटे स्वार्थों और अदूरदर्शिता का परिणाम है यह, और क्या ?" द्रौपदी बोली, "तुग दोनों…तुम और कृष्ण, एक ही स्थान पर व्यूह रचना करके खड़े थे क्या ?"

"अरे नहीं।" अर्जुन ने उत्तर दिया, "यदि व्यूह-रचना कर एक ही स्थान पर खड़े रहना था, तो फिर ऐसे विराट रथ की मुझे क्या आवश्यकता थी।…हम दोनों अपने-अपने रथ पर थे और निरन्तर वन के चारों ओर सन्नद्ध तथा तत्पर प्रहरी के समान दौड़ रहे थे। कभी एक साथ मिलकर खड़े हो जाते थे और कभी विपरीत दिशाओं में भागते चले जाते थे।" अर्जुन जैसे कुछ स्मरण करने के लिए रुका, "पहले तो लगा कि अपना आश्रय जल जाने अथवा ध्वस्त कर दिए जाने के कारण वन में से निकलकर आने वाले असुर, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और नाग…अपने प्राण बचाने के लिए ही भाग रहे हैं, किन्तु हमारा यह भ्रम थोड़ी ही देर में मिट गया। वे लोग तो योजना-बद्ध रूप से हम पर आक्रमण कर रहे थे। उनके पास हमारी अपेक्षाओं से कहीं अधिक समर्थ और शक्तिशाली शस्त्रास्त्र थे। वे निकट आकर ही नहीं, दूर से भी हम पर प्रहार कर रहे थे और युद्ध की मुद्रा में वे तनिक भी दीन नहीं लग रहे थे।"

"तुमसे उनकी क्या शत्रुता थी।" द्रौपदी बोली, "वन का दाह तो अग्नि और उसके सैनिक कर रहे थे।"

"हमसे उनकी कोई आज की शत्रुता थी।" अर्जुन हँसा, "हमसे तो वे उस दिन से शत्रुता पाल रहे हैं, जिस दिन से हम यहाँ आकर बसे हैं। और फिर आज तो हम अग्नि के सहायक थे। उन्हें सुरक्षित निकल भागने से रोक रहे थे और न उन्हें इन्द्र तक पहुँचने दे रहे थे, न इन्द्र की सहायता उन तक आने दे रहे थे।"

"इन्द्र और उसके सहायक कितनी देर में पहुँचे वहाँ ?" द्रौपदी ने पूछा ।

"मुझे तो इस बात का आश्चर्य हो रहा है कि जब आप लोगों ने एक सियार तक को तो वहाँ से निकलने नहीं दिया, तो इन्द्र तक यह सूचना कैसे पहुँची ?" सुभद्रा बोली, "यह कोई योजना-बद्ध युद्ध तो था नहीं । न इस युद्ध की किसी भी पक्ष से घोषणा हुई, न सेनाओं के प्रयाण हुए, न…।"

"तुम ठीक कह रही हो सुभद्रा !" अर्जुन बोला, "मैं स्वयं चकित हूँ कि इन देव शक्तियों के पास ऐसा कौन-सा तन्त्र है, जिससे इन्द्र को तत्काल यह सूचना पहुँच गई कि यहाँ उसके मित्र संकट में हैं।" वह रुका, "इतना ही नहीं, मुझे तो इन देव-शक्तियों की राजनीति भी समझ में नहीं आती। एक ओर तो वरुण ने वे सारे शस्त्र लाकर अग्नि को समर्पित किए, जो अग्नि ने हमें दिए, और दूसरी ओर वह इन्द्र के सहायक के रूप में युद्ध करने के लिए भी आ खड़ा हुआ।"

"इन्द्र का भय। और क्या।" द्रौपदी बोली, "अपनी सत्ता के मद में इन्द्र किसी की भावना की चिन्ता तो करता नहीं है।"

"तो इन्द्र ने आप पर आक्रमण किया ?" सुभद्रा ने पूछा।

"इन्द्र का आक्रमण आकस्मिक भी था और भयंकर भी।" अर्जुन बोला, "वस्तुतः वह किसी भी प्रकार मुझे और कृष्ण को पराभूत कर वन में घुस जाना चाहता था। पर हम दोनों भी यह जानते थे कि यदि इन्द्र वन में पहुँच जाता तो फिर यह सारा अभियान निरर्थक हो जाता। इसलिए किसी भी मूल्य पर हम उसे मार्ग नहीं दे सकते थे।"

"तो इन्द्र आपसे पराजित हो गया ?" सुभद्रा के स्वर में असाधारण उल्लास था।

"नहीं ! यह तो मैं नहीं कहूँगा।" अर्जुन बोला, "किन्तु युद्ध अत्यन्त भयंकर था। जितनी देर युद्ध हुआ, यह कहना कठिन था कि कौन-सा पक्ष किस पर भारी पड़ रहा है। न मैं और कृष्ण उन्हें तिल भर डिगा सके, न वे हमें कण भर हटा सके।"

"जब कोई पराजित ही नहीं हुआ, किसी ने समर्पण ही नहीं किया, तो युद्ध स्थगित कैसे हो गया ?" द्रौपदी बोली, "तुम लोगों ने युद्ध की कोई अवधि निर्धारित की थी क्या ? समय पूरा हो गया तो युद्ध समाप्त ?"

"नहीं।" अर्जुन बोला, "कहीं इस प्रकार भी युद्धों का निर्णय होता है ?"

"तो ?"

"अपने मन की बात तो इंद्र ही जानें, किंतु मुझे लगता है कि उनके साथ हमारा संबंध बड़ा ही विचित्र है।" अर्जुन कुछ चिंतनशील स्वर में बोला, "एक ओर वे हम से शत्रुता नहीं मोल लेना चाहते, और दूसरी ओर वे हम पर मन से विश्वास भी नहीं कर पाते। इंद्रप्रस्थ के निर्माण में उन्होंने हमें सहायता भी दी और हमारी ही नाक के नीचे, वे हमारे शत्रुओं को संरक्षण भी देते रहे।··· कल उन्होंने देवास्त्रों से हम पर इतने घातक आक्रमण भी किए, और फिर युद्ध के अंत में अपना वात्सल्य भी जताते रहे।···" अर्जुन रुका, "कृष्ण के साथ उनका संबंध फिर भी एक स्थिर रूप ले चुका है, किंतु मेरे साथ···"

"भैया के साथ क्या संबंध है उनका ?" सुभद्रा ने जिज्ञासा की।

"मुझे ऐसा लगता है कि गोवर्धन-पूजा के संदर्भ में देवराज, कृष्ण से पर्याप्त पीड़ित हो चुके हैं। वे उससे डरते हैं। उसे रुष्ट करना नहीं चाहते, किंतु उसे अपना स्नेह भी नहीं दे सकते।··· जबकि मुझे अपना स्नेह तो दे सकते हैं, किंतु मुझ पर विश्वास नहीं कर सकते···।"

"इस विश्लेषण को छोड़ो और बताओ कि युद्ध कैसे स्थगित हो गया ?" द्रौपदी बोली।

"निश्चित बात तो देवराज ही जानें।" अर्जुन बोला, "किंतु मेरा अनुमान है कि अग्नि के सैनिक-अभियान और हमारे सामर्थ्य को देखकर, यह तो वे समझ ही गए थे कि खांडव-वन को वे बचा नहीं सकते, इसलिए उनका सारा प्रयत्न इस बात पर केन्द्रित हो गया कि वे किसी प्रकार अपने मित्र तक्षक और उसके परिवार को इस संकट से सुरक्षित निकालकर ले जाएँ। वे वस्तुतः टिककर युद्ध करना नहीं चाहते थे, क्योंकि उसमें उनकी पराजय निश्चित थी। बहुत संभव था कि उन्हें दुर्बल पड़ते देख, उनके साथ की कुछ देव-शक्तियाँ अग्नि के पक्ष में आ खड़ी होतीं।··· इसलिए उनका आक्रमण एक प्रकार का सुरक्षा-अभियान था··· यह बात आरंभ में तो स्पष्ट नहीं थी, किंतु उनके बाद

के व्यवहार से खुलकर सामने आ गई।"

"कैसे ?"

"हुआ यह कि जब वे एक के पश्चात एक भयंकर देवास्त्रों का प्रयोग कर हमें विचलित करने का प्रयत्न कर रहे थे, उन्हें उनके चरों ने यह सूचना दी कि उनका मित्र तक्षक उस समय खांडव-वन में उपस्थित ही नहीं था। किन्हीं कारणों से वह उस समय कुरुक्षेत्र गया हुआ था।" अर्जुन ने रुककर उन दोनों की ओर देखा, "मुझे लगता है कि उनके युद्ध का उत्साह उसी समय से आधा रह गया। इसी बीच एक और घटना घट गई···।"

"वह क्या ?"

"युद्ध के उस कोलाहल में जब हमारा ध्यान किसी अन्य ओर केन्द्रित था, तक्षक का पुत्र अश्वसेन हमारी आँख बचाकर निकल भागा और सुरक्षित इंद्र तक जा पहुँचा···।"

"इसका अर्थ तो यह हुआ कि तुम लोग अपने उद्देश्य में असफल हो गए।" द्रौपदी बोली, "लक्ष्य तो था कि वन में अवस्थित कोई भी जीव सुरक्षित इंद्र तक न पहुँच पाए। वह तो पूरा नहीं हुआ।"

"पर आर्यपुत्र ! यह हुआ कैसे ?" सुभद्रा बोली, "लक्ष्य-वेध के लिए पक्षी की आँख पर दृष्टि टिकाने के पश्चात जिस पार्थ को और कुछ दिखाई ही नहीं पड़ता था, वह आज अपने लक्ष्य से कैसे चूक गया ?"

"ओह ! वह !" अर्जुन जैसे एक दोराहे पर खड़ा था ? सुभद्रा उसकी एकाग्रता की प्रशंसा कर रही थी या उसके युद्ध-कौशल में छिद्रान्वेषण कर रही थी ?

"आपने बताया नहीं।"

"वस्तुतः तक्षक की पत्नी अपने शरीर के चारों ओर अनेक ढीले वस्त्रों को लपेट अपने प्राण बचाने के लिए अस्त-व्यस्त-सी निकल भागी थी।" अर्जुन ने बताया, "कृष्ण उस समय किसी अन्य स्थान पर था। मेरा मन उसे देखकर क्षण भर को द्वन्द्वग्रस्त हो उठा था कि अपने प्राण बचाने के लिए भागती हुई एक निरीह स्त्री के प्राणों का हरण करना क्षत्रिय धर्म है क्या ?···बस। उसी क्षण मेरी आँख लक्ष्य-वेध से चूकी···।"

"पर अश्वसेन कैसे बच निकला ?" सुभद्रा ने व्यग्रता से पूछा।

"उधर देवराज ने प्रबल आघात किया। लगा कि निमिष भर में ही देवराज ने अपने बाणों की छाया में अश्वसेन की माँ को उस युद्ध की ज्वाला से निकाल लिया···।"

"पर अश्वसेन ?··· " सुभद्रा पुनः बोली।

"वही बता रहा हूँ।" अर्जुन पूर्णतः शांत स्वर में बोला, "यह तो बाद में पता चला कि अश्वसेन की माता के अनेक ढीले वस्त्रों तथा उसकी अस्त-व्यस्त चाल का रहस्य क्या था। वस्तुतः उसने अपने उन्हीं ढीले वस्त्रों में अश्वसेन को भी लपेट रखा था।···तक्षक वन में था नहीं और अश्वसेन सुरक्षित इंद्र के पास पहुँच चुका था। खांडव-वन को अब देवराज बचा नहीं सकते थे। शायद इन्हीं कारणों से देवराज की रुचि युद्ध में तनिक भी नहीं रह गई थी। वे अपने मित्र और उसके परिवार को बचाने आए थे। उनका अभियान पूरा हो चुका था, तो फिर वे व्यर्थ ही श्रम क्यों करते ? अपने दिव्यास्त्रों और देवास्त्रों को नष्ट क्यों करते ?"

"तब ही आपके प्रति उनका वात्सल्य जाग उठा होगा।" सुभद्रा के अधरों पर एक वक्र मुस्कान थी।

"हाँ ! उन्होंने युद्ध स्थगित किया। मेरी और कृष्ण की प्रशंसा की। हमारे युद्ध कौशल की सराहना की। देव अग्नि के प्रति कोई उद्‌गार प्रकट नहीं किया, किंतु मुझे कोई वरदान माँग लेने को कहा।"

"उन्हें लगा होगा कि कहीं स्थायी रूप से आप उनके विरुद्ध अग्नि से न मिल जाएँ।" सुभद्रा बोली, "तो क्या माँगा आपने ?"

मैंने कहा, "यदि वे प्रसन्न ही हैं तो ऐन्द्रास्त्र तथा कुछ अन्य देवास्त्र मुझे प्रदान करें।" अर्जुन बोला, "तो उन्होंने कहा कि मैं अपनी क्षमता बढ़ाऊँ। जिस दिन महादेव शिव मुझ से प्रसन्न हो जाएँगे, इंद्र मुझे देवास्त्र प्रदान कर देंगे।"

"तो अब खांडव-वन में कौन है ? उस पर किसका आधिपत्य है ?" द्रौपदी ने पूछा।

"खांडव-वन का तो अब अस्तित्व ही नहीं रह गया।" अर्जुन ने उत्तर दिया,"फिर भी अग्नि और उनके सैनिक उस क्षेत्र के भीतर हैं और मध्यम पांडव महावीर भीम के नेतृत्व में हमारी सेना ने उसे बाहर से घेर रखा है। अग्नि के सैनिक शत्रुओं के छिपे हुए ठिकानों को पूर्णतः ध्वस्त कर लें तो फिर पांडव सेनाएँ उसका अधिग्रहण करेंगी। ... तब ही यह पता चलेगा कि देव अग्नि अपनी संधि का किस सीमा तक पालन करते हैं।"

"और यदि उन्होंने वह पालन न किया तो ?"

"अब कोई संकट नहीं है। खांडव-वन के स्थान पर उग आए उस क्षेत्र को वे हमसे लड़कर नहीं जीत पाएँगे।" अर्जुन बोला, "उसका उन्हें कोई लाभ भी नहीं है।..."

तभी दासी ने हाथ जोड़कर सूचना दी, "राजकुमार ! वासुदेव कृष्ण पधारे हैं।"...

तीनों के चेहरों पर उल्लास जागा।

"बुलाओ उन्हें।" अर्जुन बोला, और फिर द्रौपदी और सुभद्रा को अपने स्थान से उठते देख, स्वयं भी उठ खड़ा हुआ, "मैं स्वयं ही चलता हूँ।"

कृष्ण की अगवानी कर अर्जुन ने उन्हें भीतर ला बैठाया ।

"क्या चर्चा हो रही है भाई !"

"खांडव-दाह की चर्चा चल रही थी।" अर्जुन ने बताया, "मुझे अनुमान होता कि इन लोगों की इस सारे अभियान में इतनी रुचि है, तो इन्हें क्रीड़ा-भवन में न छोड़ कर अपने साथ ही न ले चलते। सारा वृतांत अपनी आँखों से देख लेतीं।"

"तुमने मयदानव के विषय में क्या सोचा है अर्जुन ?" कृष्ण ने विषय बदल दिया।

"मयदानव ?" सुभद्रा चौंकी, "इस बीच मयदानव का प्रसंग कहाँ से आ गया ?"

"ओह ! तो अर्जुन ने तुम्हें मयदानव के विषय में नहीं बताया।" कृष्ण ने कहा, "मयदानव भी खांडव-वन में तक्षक नाग के दुर्ग में ठहरा हुआ था। यह तो वही जाने कि वह वहाँ क्या करने आया था, किंतु जब तक्षक का दुर्ग नष्ट हो गया, तो मयदानव अपने प्राण बचाने के लिए भागा। एक ओर से अग्नि उसे भस्म करने के लिए दौड़े और दूसरी ओर अपनी दाहिनी तर्जनी पर सुदर्शन चक्र धारण किए मैं आया।... और

उस दानव की चतुराई तो देखो : वह तत्काल अर्जुन के पैरों पर लोट गया और अर्जुन ने तत्काल उसके सिर पर अभय का हाथ रख दिया।...”

“क्यों आर्यपुत्र ! उस दानव पर इतनी दया क्यों आ गई ?” सुभद्रा हँसी, “इतना बड़ा खांडव-वन जल गया, किसी को क्षमा नहीं किया गया। तो फिर मयदानव पर यह कृपा कैसे हो गई ?”

“उस समय तो कोई सोच-विचार नहीं किया था,” अर्जुन जैसे अपने-आपसे बातें कर रहा था, “देखा कि अग्नि और कृष्ण के क्रोध के बीच मयदानव खड़ा है। क्षण भर का भी विलंब हो गया तो वह मृत्यु की चादर ओढ़कर सो जाएगा। शायद इसीलिए तत्काल उसके सिर पर हाथ रख दिया। किंतु अब सोचता हूँ तो...।”

“तो क्या ?”

“लगता है कि उस समय भी मेरे मन में कहीं गहरे यह बात थी कि मयदानव को नष्ट होने में एक क्षण भी नहीं लगेगा, किंतु वैसा कलाकार, वैसा वास्तुशिल्पी बनाने में काल को जाने कितने युग लग जाएँगे।... वस्तुतः मैंने मयदानव को नहीं, उसकी कला को, वास्तुशिल्प को अभय दिया था...।”

“अब क्या सोचा है तुमने ?” कृष्ण ने पूछा।

“सोचना क्या है। सोचने का क्षण तो बीत चुका।” अर्जुन बोला, “उसके प्राण बच गए हैं अब वह जहाँ जाना चाहे, चला जाए। मेरा विचार है कि उसे क्षमा करने में महाराज युधिष्ठिर को भी कोई आपत्ति नहीं होगी।”

“महाराज युधिष्ठिर तो उसे क्षमा कर ही देंगे,” कृष्ण ने कहा, “वस्तुतः उसने तो ऐसा कोई अपराध भी नहीं किया है जिसके कारण वह दंडित हो सके। उसका अपराध तो मात्र इतना ही है कि वह तुम्हारे शत्रु का अतिथि था...”

“क्यों ? हम यह क्यों नहीं मान सकते कि वह भी अन्य अपराधकर्मियों के समान किसी दुष्ट योजना को कार्यान्वित करने का विचार मन में लिए तक्षक के पास छिपा बैठा था ?” द्रौपदी के स्वर में कुछ आवेश था।

“कल्पना तो हम कुछ भी कर सकते हैं कृष्णे ! किंतु यह कल्पना युक्तियुक्त नहीं है।”

“क्यों ?”

“क्योंकि मयासुर, असुर होने पर भी सृजनकर्ता कलाकार है। वह ध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है, उसके पास नए प्रासादों, दुर्गों, मंदिरों अथवा उद्यानों की योजनाएँ हो सकती हैं।” कृष्ण ने रुककर अर्जुन की ओर देखा, “पार्थ, क्या तुमने कभी यह सुना है कि ध्वंस, विनाश, हत्या अथवा अपहरण के लिए कभी किसी ने किसी वास्तुशिल्पी को अपने घर पर आमंत्रित किया हो ?” कृष्ण मुस्करा रहे थे।

“नहीं, कलाकार तो निर्माण ही कर सकता है।” अर्जुन गंभीर स्वर में बोला, “किंतु शत्रु पक्ष का निर्माण करने वाला कलाकार क्या हमारा शत्रु नहीं हो जाता। यदि वह तक्षक के लिए सैनिक-दृष्टि से किसी अप्रतिहत रक्षा-कवच का निर्माण कर रहा था तो क्या वह हमारे विरुद्ध व्यूह-रचना में सहायक नहीं था।” अर्जुन मुस्कराया, “वैसे मैं यह तर्क ही दे रहा हूँ। मेरा किंचित् भी यह विश्वास नहीं है कि मयदानव तक्षक के

पास इस प्रकार की कोई योजना लेकर गया होगा।"

"मैं यह मानता हूँ कि कलाकर अपनी प्रेरणा से जो भी निर्माण करता है वह किसी के अहित के लिए नहीं होता। कभी-कभी कोई दुष्ट मस्तिष्क कलाकार की उस प्रतिभा का दुरुपयोग करने का प्रयत्न करता है तो कलाकार स्तब्ध रह जाता है कि उसकी रचना का लक्ष्य तो यह नहीं था। वैसे मयदानव ने तो दुर्गो का नहीं, प्रासादों और उद्यानों का ही निर्माण किया है। मुझे नहीं लगता है कि तक्षक खांडव-वन में प्रासाद अथवा उद्यान बनाने की कल्पना भी कर सकता था।…पर मान लो यदि ऐसा कोई प्रमाण मिल भी जाए कि वह धन के लोभ में तुम्हारे शत्रु के आदेश पर सैनिक-महत्व की किसी निर्माण-योजना में लगा हुआ था तो भी वह तुम्हारा शत्रु नहीं हो जाता। निर्माण उसका व्यवसाय है, निर्माण उसका धर्म है, निर्माण उसका जीवन है। यदि तक्षक ने उसे बुलाकर कोई निर्माण-योजना उसके सम्मुख रखी भी थी तो वह उसे युद्ध के व्यूह के रूप में नहीं देखता होगा…।"

"इसमें इतने तर्क-वितर्क की क्या आवश्यकता है," सुभद्रा ने कृष्ण की बात काट दी, "आप लोग उसी से क्यों पूछ नहीं लेते कि वह वहाँ क्या करने आया था।"

"पूछ तो हम सकते ही हैं," अर्जुन बोला, "किंतु मेरा और कृष्ण का यह विचार है कि यदि वह तक्षक का कोई कार्य करने आया भी था तो इतने मात्र से वह हमारा अपराधी नहीं हो जाता।"

"वह हमारा अपराधी नहीं है, किंतु उस युद्ध में उसकी मृत्यु हो सकती थी… वरन् मृत्यु होने ही जा रही थी कि तुमने उसे जीवन-दान दिया। अब वह तुम्हारे पास है। उसे अपना अतिथि समझो, बंदी समझो या अपना दास समझो। प्रश्न यह है कि तुम उससे कोई लाभ उठाना चाहते हो या नहीं ?"

"इस विषय में सोचने का अवकाश ही कहाँ मिला है ? मैंने तो केवल यही जाना है कि मेरे मन में उसके विरुद्ध कुछ नहीं है, इसलिए उसे मुक्त कर दिया जाना चाहिए।"

"तुम ठीक कह रहे हो पार्थ !" कृष्ण बोले, "किंतु वह तुम्हारा कृतज्ञ है। तुम उसे अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने का अवसर दो। ऐसा क्यों नहीं हो सकता…" कृष्ण ने दृष्टि उठाकर बारी-बारी उन सबको देखा, "कि हम उससे उसकी कृतज्ञता की अभिव्यक्ति के रूप में इंद्रप्रस्थ में एक असाधारण महत्त्व के निर्माण का आग्रह करें ?"

"क्या तुम नहीं समझते कृष्ण ! कि यह उसके साथ अत्याचार होगा।" अर्जुन बोला, "एक ओर तो हम यह स्वीकार कर रहे हैं कि उसका कोई अपराध नहीं है और दूसरी ओर हम उससे दंड-स्वरूप निर्माण करवाने की योजना भी बना रहे हैं।"

"नहीं।" कृष्ण बोले, "तुम कलाकार के मन को नहीं समझते। यदि तुम इस प्रकार मुक्त कर देते हो तो उससे तुम्हारी कृतज्ञता का बोझ उठाया नहीं जाएगा। यदि तुम उसे इंद्रप्रस्थ में निर्माण का अवसर देते हो तो उसके लिए दंड नहीं होगा। उसे तो कहीं-न-कहीं निर्माण करना ही है। यहाँ निर्माण करेगा तो आत्माभिव्यक्ति का अवसर भी पाएगा, सृजन का सुख भी प्राप्त क़रेगा और तुम्हारी कृतज्ञता के बोझ से मुक्त भी हो जाएगा।"

"वैसे पार्थ ! इसमें आपत्तिजनक तो कुछ भी नहीं है।" द्रौपदी ने धीरे से कहा,

"यह संयोग ही है कि यहाँ इंद्रप्रस्थ का निर्माण होने के पश्चात् तुम बारह वर्षों के प्रवास के लिए चले गए और तुम्हारे लौटने के पश्चात का समय कुछ उत्सवों में बीता और कुछ खांडव-प्रस्थ के दुष्टों से मुक्ति पाने की योजनाओं में। शायद हमें यह सोचने का अवसर ही नहीं मिला कि हमें इंद्रप्रस्थ में कुछ सुंदर और उत्कृष्ट प्रासादों का निर्माण भी कराना है। यदि इस प्रकार की योजनाओं पर विचार किया जाता और उसके लिए श्रेष्ठ शिल्पियों के नाम सोचे जाते तो बहुत संभव है कि हममें से ही किसी के मन में मयदानव के नाम का विचार आता। अब, जब यह सब संयोगवश ही हो गया है और मयदानव जैसा शिल्पी इंद्रप्रस्थ में वर्तमान है तो तुम धर्मराज से इस विषय में चर्चा क्यों नहीं करते।" द्रौपदी ने मुस्कराकर विनोदपूर्ण दृष्टि से कृष्ण की ओर देखा, "गोविन्द ने द्वारका का निर्माण करवाया है तो देखो वे यहाँ भी सुंदर प्रासाद बनवाने के लिए कितने उत्सुक हैं।"

"मैं तो विनाश में से निर्माण की बात सोच रहा हूँ।" कृष्ण की हँसी बड़ी लीलामयी थी, "मैं जानता हूँ कि मयासुर ने खांडव-वन में साक्षात् मृत्यु को अपनी आँखों से देखा है और अपने प्राणों में उसका त्रास अनुभव किया है, इसलिए उसके लिए सौन्दर्य के सृजन और जीवन के माधुर्य का महत्त्व कहीं अधिक बढ़ गया है। इस समय वह जो निर्माण करेगा वह सचमुच अद्‌भुत और असाधारण होगा।"

"पर भैया ! उसके लिए भी धर्मराज से पूछना तो होगा।" सुभद्रा ने कहा।

"हाँ ! धर्मराज से पूछना तो होगा, वरन् उनके सम्मुख प्रस्त.व रखना होगा।"

कृष्ण बोले, "वैसे वे भी अभी अर्जुन से बहुत कुछ पूछेंगे।"

"क्या ?" अर्जुन ने चकित दृष्टि से कृष्ण की ओर देखा।

कृष्ण मुस्कराए, "धर्मराज तुमसे पूछेंगे कि तुमने उनके खांडव-वन का दाह क्यों किया ? वे तुमसे पूछेंगे कि खांडव-वन में इतर जीवों की निरीह हत्या क्यों की गई ?"

अर्जुन हँस पड़ा, "मैं कई बार भैया के द्वंद्वों के विषय में सोचता हूँ तो मुझे लगता है कि उनके लिए अपने स्वधर्म और राजधर्म दोनों का निर्वाह कितना कठिन हो रहा है। वे तनिक भी नृशंस नहीं होना चाहते और उन्हें राजदंड ग्रहण कर दुष्ट-दलन करना पड़ता है। जिस अपराधी के लिए उनका हृदय 'क्षमा'-'क्षमा' पुकार रहा होता है उसको उनका विवेक मृत्यु दंड भी देता है। क्या ऐसी स्थिति से कोई मुक्ति नहीं है कृष्ण ?"

कृष्ण की मुद्रा गंभीर हो गई। बोले, "द्वंद्व के मूल में अहंकार है पार्थ ! कर्ता का अहंकार। अहंकार के मूल में आसक्ति है। हम अनासक्त हो जाएँ तो न हमारा अहंकार रहेगा और न द्वंद्व।"

और अकस्मात् ही कृष्ण का भाव परिवर्तित हो गया, "सुनो पार्थ ! इस सारी घटना को मैं एक नए रूप में देख रहा हूँ।"

सबने निःशब्द कृष्ण की ओर देखा।

"मैंने तुमसे कहा था कि धर्मराज के नेतृत्व में पांडव धर्म-साम्राज्य की स्थापना करें। मुझे लगता है कि उसके लिए एक प्रकार से राजसूय यज्ञ का आरंभ हो गया है। खांडव-वन उस यज्ञ की पहली आहुति है। हमें उस यज्ञ को शांत नहीं होने देना चाहिए। इस विजय की स्मृति में मयदानव द्वारा प्रासाद बनाया जाना चाहिए। वह प्रासाद धर्मराज

के चक्रवर्ती पद की घोषणा करे।''' और उसी प्रासाद से पांडवों की सेनाएँ राजसूय-यज्ञ के लिए प्रेरित हों। मुझे पूरा विश्वास है कि इस खांडव-दाह में अनेक राजाओं का विरोध जल गया होगा, अनेक का साहस और अनेक की दुष्टता। लोहा इस समय गर्म है। उसके ठंडा होने के पूर्व ही पांडवों को उस पर प्रहार कर देना चाहिए।"

अर्जुन की आँखों में कृष्ण के प्रति श्रद्धा घनीभूत हो आई : 'कितनी दूर तक देखता है कृष्ण।'

27

"धर्मराज ! खांडव-दाह के पश्चात् अब हम एक प्रकार से पूर्णतः स्वतंत्र हो गए हैं। हमने अपनी भूमि पर बैठे हुए बहुत से शत्रुओं और अनेक शत्रुधर्मी मित्रों को नष्ट कर, अपनी भूमि मुक्त करा ली है। अब हम इंद्रप्रस्थ का विस्तार कर सकते हैं, अपने लिए तथा अपनी प्रजा के लिए अधिक कृषिभूमि, आवासीय भूमि तथा क्रीड़ाभूमि प्राप्त कर सकते हैं। हमारी प्रजा अब चोरों, लुटेरों और दस्यु-दलों के कष्टों से पूर्णतः मुक्त हो गई है।'''" कृष्ण बोले, "किंतु खांडव वन में देव तथा दानव शक्तियों की उपस्थिति से जिन शत्रुओं का हमें तनिक भी भय नहीं था, अब उनका भय बढ़ गया है। हमें उनसे अपनी रक्षा का प्रबंध करना है।'''"

युधिष्ठिर ने कृष्ण की ओर कुछ इस प्रकार देखा, जैसे वे इस बात को कुछ और स्पष्ट शब्दों में सुनना चाहते हों'''

कृष्ण मुस्कराए, "इंद्र-सेना की उपस्थिति के कारण यदि हम खांडव-वन पर अधिकार नहीं जमा सकते थे, तो दुर्योधन अथवा जरासंध के लिए भी उस वन पर आक्रमण करना संभव नहीं था।'''अब, इंद्र सेना के हट जाने के कारण, कोई भी दुस्साहसी राजा खांडव-वन पर ही नहीं, इंद्रप्रस्थ पर भी आक्रमण करने की बात सोच सकता है'''।"

युधिष्ठिर ने एक अन्वेषक दृष्टि कृष्ण पर डाली, "तुम्हारा विचार है कि इंद्र ने हम से वह भूमि छीन कर, अन्य शक्तियों से हमें एक प्रकार का अभय दे रखा था ?"

"कुछ-कुछ ऐसा ही समझिए धर्मराज !" कृष्ण बोले, "सिंह के जबड़ों में फँसे हुए मृग-शावक को किसी अन्य सिंह अथवा व्याघ्र का भय नहीं होता, किंतु इसका अर्थ यह तो नहीं है कि वह सुरक्षित है। उसके प्राण तो संकट में ही हैं।" कृष्ण ने रुक कर युधिष्ठिर की ओर देखा, "पर यदि प्रकृति के किसी चमत्कारवश वह सिंह मर जाए या मृग-शावक उसके दाँतों से फिसल कर गिर पड़े तो उसे अन्य सिंहों के ही नहीं, सियारों के आक्रमण का भी भय हो सकता है।"

"पर हम मृग-शावक के समान निरीह नहीं हैं कृष्ण !" भीम के मुख-मंडल पर आवेश था।

"मुझ से अधिक इस तथ्य को और कौन जान सकता है।" कृष्ण बोले, "हम मृग-शावक के समान इंद्र रूपी सिंह के जबड़ों में फँसे हुए थे। हमें इंद्र-सेना के दाँत निरंतर चुभ रहे थे, और यह भय निरंतर सता रहा था कि वे दाँत यदि कुछ और कठोर हो गए तो न केवल हमारा कष्ट बढ़ जाएगा, हमारा सर्वनाश भी हो जाएगा; फिर भी हम अन्य हिंस्र पशुओं के आक्रमण से सुरक्षित थे, क्योंकि खांडव-वन इंद्र के संरक्षण में था। हमें अग्नि जैसे सहायक मिले और हमने साहस किया। हम उस सिंह के जबड़े से छूट ही नहीं गए, हमने वह जबड़ा तोड़ भी दिया। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इंद्र अब फिर से पांडवों के साथ वैसा व्यवहार करने का साहस नहीं कर पाएगा।..."

"तो हमें भय किसका है ?" भीम ने पूछा, "दुर्योधन का ?"

"दुर्योधन हम पर प्रत्यक्ष आक्रमण नहीं करेगा।" कृष्ण बोले, "किंतु हमारे संकट की घड़ी में वह इंद्रप्रस्थ पर आक्रमण भी कर सकता है... और हमारे शत्रुओं की सहायता भी।"

"हस्तिनापुर मे पितामह भीष्म, पितृव्य धृतराष्ट्र, आचार्य द्रोण तथा विदुर काका के होते हुए, दुर्योधन हम पर आक्रमण कर देगा ?" युधिष्ठिर के स्वर में प्रबल आपत्ति थी, "विश्वास तो क्या, मैं ऐसी कल्पना भी नहीं कर सकता।"

"ऐसी कल्पना मैं भी नहीं करता, किंतु अब आप इस जंबूद्वीप के राजनीतिक परिदृश्य पर एक दृष्टि डालिए।..." कृष्ण बोले, "गिरिव्रज में बैठा है जरासंध ! उसने छ्यासी मूर्धाभिषिक्त राजाओं को पशुबल से हरा कर बंदी कर लिया है। वह कहता है कि रुद्र-यज्ञ में वह उनकी बलि देकर महादेव को प्रसन्न करेगा... " कृष्ण का मुख-मंडल आवेशमय हो आया, "किसी देवता की पूजा के लिए मनुष्यों का वध कभी नहीं देखा गया। फिर वह तो कल्याणकारी देवता भगवान शिव की पूजा मनुष्यों के रक्त से करना चाहता है। ...ऐसे राजा की प्रजा की क्या स्थिति होगी... उसकी कल्पना ही की जा सकती है।" कृष्ण ने स्वयं को संयत किया, "जरासंध की पशु-शक्ति से प्रत्येक व्यक्ति प्रभावित है। प्रत्येक राजा उसी का अनुकरण करना चाहता है, और आजकल तो घर-घर में राजा हैं। किसी को किसी का भय नहीं। धर्म का बंधन मानने की उन्हें आवश्यकता नहीं है। सभी निर्भीक होकर अपना-अपना प्रिय कार्य कर रहे हैं।"

"राजाओं का प्रिय कार्य तो प्रजा का पालन करना है।" युधिष्ठिर ने शांत स्वर में कहा, "ऐसे में उनके आचरण में हमें क्या आपत्ति हो सकती है ?"

लगा कि युधिष्ठिर के इस निश्छल उत्तर पर कृष्ण कहीं खीझ ही न पड़ें, किंतु वे मुस्कराए " 'प्रजा-पालन' राजाओं का प्रिय कार्य होना चाहिए, पर ऐसा है नहीं। जरासंध के व्यवहार से हम परिचित ही हैं। हमने कंस का शासन भी देखा है। ये राजा प्रजा का पालन नहीं करते, उसका रक्तपान करते हैं।...शिशुपाल को जरासंध बहुत प्रिय है, अतः वह एक प्रकार से उसका सेनापति बना बैठा है। स्वयं मेरे श्वसुर भीष्मक, हमारा पूर्ण तिरस्कार कर जरासंध के आज्ञाकारी सेवक का धर्म निर्वाह कर रहे हैं। दंतवक्र तो जरासंध के पालतू कुत्ते के समान व्यवहार कर रहा है। करभ और मेघवाहन उसके परम मित्र हैं। पौंड्रक उसका विश्वस्त सेवक है। यवनाधिपति भगदत्त आपके हितू होते हुए भी जरासंध के भय से आपकी सहायता नहीं करेंगे।" कृष्ण रुके, "जरासंध के इन

मित्रों को तो आप अपना तथा धर्म का शत्रु ही मानें।''' दूसरी ओर हैं दुर्योधन, भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कर्ण, रुक्मी, एकलव्य, द्रुम, श्वेत, शैव्य, शकुनि''' ये सब आपके अमित्र तथा एक प्रकार से दुर्योधन के मित्र हैं। संयोग मिलते ही ये सब जरासंध के मित्र हो जाएँगे''' ऐसे में क्या करेंगे पांडव ? क्या करेंगे द्रुपद और क्या करेंगे विराट ? '''क्या आपको नहीं लगता धर्मराज कि पांडवों को इस समय साहस करना चाहिए और इससे पहले कि जरासंध और उसके मित्र सारी धरती पर अधर्म का ध्वज फहरा दें, उस आँधी को गिरिव्रज में ही बंदी कर देना चाहिए ?"

युधिष्ठिर सशब्द हँसे, किंतु उन्होंने कुछ कहा नहीं।

"क्यों ? क्या हुआ ?" सहदेव ने कुछ चकित होकर पूछा, "आप हँसे क्यों भैया ?"

"सोच रहा हूँ कि ईश्वर की इस पृथ्वी पर ये राजा स्वयं को परम स्वतंत्र मान कर आधिपत्य जमाने का प्रयत्न कर रहे हैं।" युधिष्ठिर बोले, "इन्हें न धर्म दिखाई देता है, न महाकाल !"

"धर्मराज ! यह बहुत अच्छा है कि आप इस प्रकार सोचते हैं।" कृष्ण बोले, "आप अनुभव करते हैं कि पृथ्वी जरासंध की नहीं है, आप जानते हैं कि प्रजा के प्राणों और सुख-दुःख का स्वामी जरासंध नहीं है, पर आप देख रहे हैं कि वह स्वामी बनने का प्रयत्न कर रहा है।"

"तुम मुझ से क्या अपेक्षा करते हो कृष्ण !" युधिष्ठिर ने कुछ अतिरिक्त स्नेहयुक्त स्वर में कहा, "तुम जानते हो कि राजसत्ता में जरांसध के समान मेरी आसक्ति नहीं है।"

"राजसत्ता में आपकी आसक्ति नहीं है, इसीलिए तो आप कर्म के उपयुक्त पात्र हैं।" कृष्ण मुस्कराए, "आप यह कह सकते हैं कि जिसकी यह सृष्टि है, जिसने इसके पालन का दायित्व उठाया है, वह ईश्वर स्वयं ही इसकी रक्षा करेगा। वह तो करेगा ही। किसी को कष्ट में देखकर, आप इसलिए उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते, कि यह दंड उसे ईश्वर ने दिया है, इसलिए उसकी सहायता भी वही करेगा।''' ईश्वर ने मनुष्य को कर्म का अधिकार दिया है। फल ईश्वर के नियमों के अधीन है। फल तो वही देगा, किंतु कर्म तो मनुष्य को ही करना होगा। कर्म न कर, मनुष्य अकर्म का दोषी होगा, और तब वह ईश्वर द्वारा दंडित भी होगा।"

"तुम मुझ से क्या चाहते हो कृष्ण ?"

"मैं क्या चाहता हूँ।" अकस्मात् ही अत्यन्त गंभीर कृष्ण के स्थान पर एक लीलामय कृष्ण प्रकट हो गए, "मुझे तो कुछ नहीं चाहिए, बस आप अपने धर्म का पालन करें।"

"धर्म ! क्या है मेरा धर्म ?"

"दुष्ट और अत्याचारी राजाओं के पगों तले कुचली जाती हुई असहाय प्रजा का चीत्कार सुनें। उसकी सहायता करें। इन राजाओं का नियमन करें'''।"

"अर्थात् ?"

"राजसूय यज्ञ !"

"राजसूय यज्ञ !" युधिष्ठिर चौंक उठे, "उसके लिए हमारे पास साधन हैं ? एक ओर तुम इतने शक्तिशाली राजाओं की सूचियाँ गिना रहे हो, और दूसरी ओर इंद्रप्रस्थ

जैसे एक छोटे-से राज्य के राजा से राजसूय यज्ञ की अपेक्षा करते हो !..."

"पहले आप यज्ञ के लिए सहमत हों, तो फिर उसके साधनों पर विचार किया जाए !"

युधिष्ठिर कुछ आत्मलीन हो गए, "तुमने ठीक कहा कृष्ण ! हमें पहली सीढ़ी चढ़कर ही दूसरी सीढ़ी की बात करनी चाहिए, और सचमुच मैं अभी पहली सीढ़ी ही चढ़ नहीं पाया हूँ।..." युधिष्ठिर ने रुक कर कृष्ण और अपने भाइयों की ओर देखा, "राजसूय यज्ञ के लिए शास्त्र की व्यवस्था के विषय में मैं जानता हूँ। हमारे शास्त्रकारों ने छोटे-छोटे संकीर्ण राज्यों की असुविधाओं तथा निर्मम, अधर्मी एवं स्वार्थी राजाओं के अत्याचारों और उत्पीड़न से प्रजा को बचाए रखने के लिए इस यज्ञ की व्यवस्था की है। जहाँ शास्त्रकार यह चाहते हैं कि परम स्वतंत्र राजाओं की निर्मम इच्छाओं का नियमन कर, प्रजा की रक्षा की जाए, वहाँ उसकी यह इच्छा भी है कि जंबूद्वीप में शासन चाहे एकाधिक हों, किंतु वह सदा एक ही राष्ट्र रहे। प्रत्येक नागरिक संपूर्ण तथा समग्र जंबूद्वीप को न केवल अखंड देश माने, वरन् उसे अपना मान कर उससे प्रेम भी करे। राजा चाहे अपनी सीमाओं के लिए एक-दूसरे की सेनाओं से लड़ते रहें, किंतु प्रजा के लिए संपूर्ण जंबूद्वीप में कहीं कोई सीमा न हो।... यह सब मैं जानता हूँ..."

"तो ?"

"किंतु उसका एक नृशंस पक्ष भी है।" युधिष्ठिर बोले, "राजसूय यज्ञ करने वाले राजा की सेनाएँ दिग्विजय के लिए निकलेंगी तो क्या रक्तपात नहीं होगा ? सम्राट् बनने के इच्छुक राजा की सेनाओं से अन्य राजा अपने राज्य, अपनी सत्ता तथा अपने सम्मान की रक्षा नहीं करेंगे ? राजाओं की महत्त्वाकांक्षाओं के कारण क्या व्यर्थ ही सेनाएँ नहीं कटेंगी ? प्रजा को सम्राट् का रक्षण तो बहुत बाद में मिलेगा, उसके द्वारा छेड़े गए धर्मयुद्ध का उत्पीड़न बहुत पहले झेलना पड़ेगा।"

"आप ठीक कहते हैं धर्मराज ! इसीलिए हम युद्ध की हिंसा को आपद्धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं और दुष्ट-दलन को क्षत्रिय राजा की हिंसा नहीं मानते।" कृष्ण बोले, "देश में यदि चक्रवर्ती सम्राट नहीं होगा, एक-एक योजन की दूरी पर स्वतंत्र राजा होगा, तो आप समझते हैं, उनमें हिंसा नहीं होगी ? वे परस्पर युद्ध नहीं करेंगे ? उनकी सीमाओं पर नित्यप्रति टकराहट नहीं होगी ? उन राजाओं को स्वतंत्र छोड़ दिया जाए, तो जितनी हिंसा वे प्रतिदिन के पारस्परिक युद्धों में करेंगे, वह एक धर्मप्राण राजा के राजसूय यज्ञ में होने वाली हिंसा से कहीं अधिक होगी। राजसूय यज्ञ करने वाला राजा, छोटे राजाओं के द्वारा होने वाली उस सारी हिंसा को रोक देता है।"

युधिष्ठिर को लगा कि कृष्ण ठीक ही कह रहे हैं। वे राजसूय यज्ञ नहीं करेंगे तो इसका अर्थ यह तो नहीं कि अन्य राजा भी परस्पर युद्ध नहीं करेंगे।... और पारस्परिक युद्धों में कम हिंसा तो नहीं होती...

"पर केशव !" युधिष्ठिर के मन में दूसरे संशय ने सिर उठाया, "कहीं ऐसा तो नहीं कि बहुजनहिताय कहा जाने वाला यह धर्म-युद्ध वस्तुतः महत्त्वाकांक्षी राजाओं की युद्ध-लिप्सा की आड़ मात्र हो। कहीं ऐसा तो नहीं कि मेरे अपने मन का लोभ मुझे ठग रहा हो। उसने अपना रूप बदल लिया हो और मैं उसके बहकावे में, उच्च सिद्धांतों

का उच्चारण करता हुआ, निकृष्ट कार्य कर रहा होऊँ।"

"इसे स्वयं आपसे अधिक और कौन जान सकता है।" कृष्ण बोले, "किंतु यदि जरासंध का वध कर उसके कारागार से आप बंधन में पड़े उन छयासी राजाओं को मुक्त करा दें, तो क्या यह अनावश्यक हिंसा होगी, अथवा आपके मन का लोभ ?"

"नहीं ! न तो वह अनावश्यक हिंसा है, न मेरे मन का लोभ ! अत्याचारी से निरीह लोगों को मुक्त कराना तो क्षत्रिय का धर्म है।…"

"मैं आपको वही धर्म करने के लिए कह रहा हूँ।"

"किंतु जरासंध से युद्ध ?…" युधिष्ठिर का असमंजस अभी समाप्त नहीं हुआ था।

"हम इंद्र से लड़ सकते हैं तो क्या जरासंध से नहीं लड़ सकते ?" भीम ने कुछ चुनौतीपूर्ण स्वर में कहा।

"वह सारी स्थिति और थी भीम !" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "कृष्ण और अर्जुन ने अग्नि और वरुण के दिए हुए शस्त्रों से, अग्नि की सहायता के साथ इंद्र को कुछ समय के लिए रोके रखा। इसे इंद्र को पराजित करना नहीं कहा जा सकता। देवलोक यहाँ से बहुत दूर है, इसलिए इंद्र अपनी पूरी सेना के साथ युद्ध करने नहीं आया था। फिर तक्षक तथा अश्वसेन के बच जाने के पश्चात् युद्ध की कोई सार्थकता न देख उसने युद्ध बंद कर दिया। इसे पराजित होना नहीं कहा जा सकता। यदि इंद्र सचमुच पराजित हुआ होता तो उसे इस समय या तो पांडवों का बंदी होना चाहिए था अथवा अधीनस्थ राजा।… वैसे भी युद्ध समाप्त कर उसने दीन होकर अर्जुन से शरण नहीं माँगी थी, उसने अपना बड़प्पन दिखाते हुए, अर्जुन से कुछ माँग लेने को ही कहा था। विजेता, याचक नहीं होता, किंतु अर्जुन ने हाथ जोड़कर दीनतापूर्वक इंद्र से ऐन्द्रास्त्र की याचना की थी…।"

"धर्मराज ठीक कह रहे हैं।" कृष्ण ने अपनी सहमति जताई, "अर्जुन को इंद्र विजेता नहीं कहा जा सकता। उसका श्रेय यह है कि उसने इंद्र से युद्ध करने का साहस किया और देवराज को युद्ध में रोके रखा, किंतु न तो उसने इंद्र की सेना को नष्ट किया, न इंद्र की शक्ति कम हुई।…"

"जरासंध के साथ ऐसा नहीं होगा।" युधिष्ठिर बोले, "हमें अपनी सेना गिरिव्रज तक ले जानी होगी और वह अपने राज्य में अपनी संपूर्ण सेना की सहायता से अपने व्यूह बाँध कर हम से युद्ध करेगा… और फिर यह कोई अल्पकालीन टकराव नहीं होगा। या तो हमें जरासंध को उसकी सेना के साथ नष्ट करना होगा, या फिर वह ही हमें नष्ट कर देगा।…"

"सत्य कह रहे हैं धर्मराज !" कृष्ण ने पुनः अपनी सहमति जताई, "इतना ही नहीं, हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जरासंध युद्ध करेगा, तो उसके साथ उसके अनेक मित्र राजाओं की सेनाएँ होंगी, और हमारे साथ शायद कोई न हो। बहुत से बहुत पांचाल और यादव कुछ दूर तक पांडवों का साथ दे सकते हैं।… ऐसे में हम यह नहीं कह सकते कि पांडव जरासंध से युद्ध के लिए साधन-संपन्न हैं।" कृष्ण ने रुक कर उनकी ओर देखा, "किंतु यदि किसी प्रकार हम जरासंध को पराजित कर सकें, तो न केवल जरासंध के मित्र हम से भयभीत हो जाएँगे, वरन् उसके द्वारा बंदी किए गए वे छयासी

राजा और उनके भाई-बंधु सब हमारे परम हितैषी मित्र हो जाएँगे। उसके पश्चात् धर्मराज का सम्राट बनना कोई बहुत कठिन काम नहीं रह जाएगा।..."

"यह तो बहुत ही अद्भुत बात है गोविन्द।" नकुल ने कुछ विस्मय से कहा, "एक ओर आप कह रहे हैं कि हमारे पास जरासंध को पराजित करने के साधन नहीं हैं, और दूसरी ओर आप उसको पराजित करने के परिणामों की चर्चा कर रहे हैं।"

"हाँ। अद्भुत बात तो है ही।" कृष्ण मुस्कराए, "मैं यह सोच रहा हूँ कि न हम सामरिक दृष्टि से जरासंध के समकक्ष पहुँचते हैं, और न ही हमें समर में शस्त्रों से उसे वीर क्षत्रिय के समान मारना ही चाहिए।..."

"क्या अभिप्राय है तुम्हारा ?" अर्जुन भी कुछ चकित हो गया था।

"जिसका हम सम्मुख युद्ध में शस्त्र से वध करते हैं, उसे शत्रु मानते हुए भी हम एक प्रकार से वीर क्षत्रिय का सम्मान देते हैं।" कृष्ण बोले, "और मैं जरासंध को इस सम्मान के योग्य नहीं समझता।"

"कृष्ण ! तुम कहो तो मैं जरासंध को बाहु-युद्ध की चुनौती दूँ ?" भीम ने कहा, "ऐसा पटकूँगा उसे कि फिर कभी उठ ही नहीं पाएगा।"

"मेरे मन में भी कुछ ऐसी ही योजना थी।" कृष्ण मुस्कराए।

"पर जरासंध ऐसी किसी चुनौती को स्वीकार ही क्यों करेगा ?" सहदेव ने शंका प्रकट की।

"इसी में तो हमारा कौशल है कि वह हमारी ऐसी चुनौती स्वीकार कर ले और मध्यम बाहु-युद्ध में उसे यमलोक पहुँचा दें।" कृष्ण ने मुड़ कर युधिष्ठिर की ओर देखा, "आप सहमत हैं महाराज ?"

"मुझे तुम्हारे कौशल पर पूर्ण विश्वास है केशव ! तुम जरासंध को इस द्वन्द्व-युद्ध के लिए भी तैयार कर लोगे।" युधिष्ठिर बोले, "किंतु यद्यपि भीम महावीर है, किंतु मुझे उसकी जय में संशय है।..."

"क्यों ? मैं हिडिंब और बकासुर का बाहु-युद्ध में वध कर सकता हूँ, तो जरासंध को धराशायी क्यों नहीं कर सकता ?" भीम ने आहत अभिमान के साथ पूछा, "हिडिंब और बक युवा थे, हृष्ट-पुष्ट थे, हिंस्र और आक्रामक थे, विभिन्न लोगों की बाहु-युद्ध में हत्या कर उनका भक्षण कर चुके थे।"

"सत्य कह रहे हो।" युधिष्ठिर बोले, "यह मत समझना मध्यम ! कि मैं तुम्हारी शक्ति को कम आँक कर किसी भी प्रकार से तुम्हें हीन सिद्ध करना चाहता हूँ। तुम जानते हो कि हमारे रक्षक तुम और अर्जुन ही हो। तुम्हें हीन सिद्ध करने के साथ ही हम सब भी हीन हो जाएँगे...।"

"तो ?"

"तुम्हारे प्रति मेरा मोह ही मुझे आशंकित करता है।" युधिष्ठिर ने धीरे से कहा, "मुझे लगता है कि हिडिंब और बक युवा होने के कारण शक्तिशाली तो थे, किंतु वे मल्लयुद्ध की विद्या से शून्य और बाहु-युद्ध के लिए अनुभवहीन थे। जरासंध यद्यपि वार्धक्य की ओर बढ़ रहा है, किंतु वह अखाड़े का मल्ल है। अनुभवी और चतुर है। वह सरलता से तुम्हारे हाथ नहीं आएगा। और ..." युधिष्ठिर रुक गए।

"और क्या भैया ?" अर्जुन ने पूछा।

"मुझे उसकी नैतिकता पर तनिक भी विश्वास नहीं है।"

"अर्थात् ?"

"वह धर्म-युद्ध नहीं लड़ेगा।" युधिष्ठिर ने कहा।

"हम पहले नियम निश्चित कर लेंगे।" कृष्ण ने उन्हें आश्वस्त करने का प्रयत्न किया।

"मुझे आशंका है कि पराजित होने की स्थिति में वह उन नियमों का उल्लंघन करेगा।" युधिष्ठिर बोले, "मान लो कि वह द्वन्द्व युद्ध की चुनौती स्वीकार कर लेता है, किंतु पराजित होकर, वह अपनी सेना का आह्वान करता है, तो तुम क्या करोगे ? क्या तुम उसकी संपूर्ण सेना से युद्ध करोगे ?"

"नहीं। सेना सहित युद्ध तो मैं वैसे भी नहीं करना चाहता।" कृष्ण बोले, "सेनाओं के युद्ध में हिंसा कहीं अधिक होगी। यदि बाहु-युद्ध में ही निर्णय हो जाता है, तो सैन्य-सज्जित होने की क्या आवश्यकता है।"

"यह तो तुम सोचते हो न।" अर्जुन बोला, "किंतु आवश्यक तो नहीं कि जरासंध की चिंतन-पद्धति भी यही हो।"

"उस अहंकारी को यदि हम उसके अहंकार में बाँध पाए, तो वह वही सब कुछ करेगा, जो हम चाहते हैं।" कृष्ण पूर्णतः आश्वस्त लग रहे थे, "यदि मैं, अर्जुन और भीम गुप्त रूप से गिरिव्रज पहुँच जाते हैं···।"

"केशव ! तुम भी भीम और अर्जुन के साथ जाओगे ?" युधिष्ठिर ने जैसे आश्वस्त होना चाहा।

"अवश्य ! मध्यम को अकेले भेज कर तो मैं जरासंध से अपनी मनमानी नहीं करवा सकता।" कृष्ण बोले, "यदि आप अनुमति दें, तो इस अभियान पर मैं, अर्जुन तथा मध्यम— हम तीनों ही जाएँ।"

किंतु युधिष्ठिर सहज रूप से प्रसन्न होकर उन्हें अनुमति नहीं दे पाए। वे चिंतन करते हुए चुपचाप बैठे रहे।

"क्या बात है ज्येष्ठ ? आप कुछ कह नहीं रहे ?" अर्जुन ने पूछा।

"मैं सम्राट का पद प्राप्त करने की इच्छा से स्वार्थवश, केवल साहस के भरोसे, आप लोगों को जरासंध के पास कैसे भेज दूँ ? भीम और अर्जुन दोनों मेरे दो नेत्र हैं और कृष्ण ! तुम्हें मैं अपना मन मानता हूँ। अपने मन और नेत्रों को मैं संकट में कैसे डाल सकता हूँ ?" ···युधिष्ठिर ने धीरे से कहा, "मुझे तो यह इच्छा त्याग देनी ही उचित लगती है। राजसूय का अनुष्ठान अत्यधिक कठिन है। मेरे मन में उसके लिए अब कोई उत्साह नहीं रहा।"

"जो राजा दुर्बल होकर भी बलवान से भिड़ जाता है, वह तो नष्ट होता ही है। जो उद्योग और उद्यम नहीं करता, वह भी नष्ट हो जाता है।" भीम ने कुछ आवेशपूर्ण स्वर में कहा, "कृष्ण में नीति है, मुझ में बल है और अर्जुन में विजय की शक्ति है। हम तीनों मिलकर जरासंध का वध कर डालेंगे, जैसे तीनों अग्नियाँ मिलकर यज्ञ की सिद्धि कर देती हैं।"

युधिष्ठिर ने भीम की ओर देखा। क्या भीम के मन में कहीं लेशमात्र भी यह भाव है कि युधिष्ठिर को सम्राट् बनाने के लिए, उसे अपने प्राणों को संकट में डालना पड़ रहा है ?··· नहीं। वह तो जैसे अपने विकास के लिए ऊर्जस्वित होकर उसके सम्मुख खड़ा था, जैसे यदि उसे अनुमति न मिली, तो उसका अपना विकास रुक जाएगा··· युधिष्ठिर ने मन-ही-मन कहीं एक पुलक का अनुभव किया··· शायद उसका कोई भी भाई स्वयं को अन्य भाइयों से पृथक् कर वैयक्तिक धरातल पर कुछ नहीं सोचता। वे तो सब कुछ सामूहिक रूप में ही सोचते हैं।··· राजसूय यज्ञ उन सब का सामूहिक यज्ञ है।···युधिष्ठिर का सम्राट् बनना मानो उन सब का सम्राट् बनना है।··· युधिष्ठिर उनकी मार्ग की बाधा नहीं बन सकता···

"राजन्! शस्त्रास्त्र , पराक्रम, श्रेष्ठ सहायक, यश और बल की प्राप्ति बड़ी कठिनाई से होती है, किंतु ये सभी दुर्लभ वस्तुएँ मुझे अपनी इच्छानुरूप प्राप्त हुई हैं।" अर्जुन के मन में द्वारका में कृष्ण के द्वारा कही हुई सभी बातें जैसे जीवन्त होकर उठ खड़ी हुई थीं, "शत्रुओं को जीतने में जिसकी प्रवृत्ति हो, वही सब प्रकार से श्रेष्ठ क्षत्रिय है। बलवान् पुरुष सब गुणों से हीन हो, तो भी वह शत्रुओं के संकट से पार हो सकता है। जो निर्बल है, वह सर्वगुण संपन्न होकर भी क्या करेगा। महाराज ! सिद्धि और प्रारब्ध के अनुकूल पुरुषार्थ ही विजय का हेतु है। कोई बल से संयुक्त होने पर भी प्रमाद करे, कर्तव्य में मन न लगाए, तो वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। प्रमाद दोष के कारण बलवान से बलवान योद्धा भी मारा जाता है।"

युधिष्ठिर के मन में अब भी उत्साह नहीं जाग रहा था। अपने सब से प्रिय तीन व्यक्तियों को वे अपने सब से बड़े शत्रु तथा अपने युग के सब से क्रूर तथा अत्यन्त बलवान राजा के घर में निःशस्त्र कैसे भेज दें ?··· किंतु इतना तो उनके मन में स्पष्ट हो ही गया था कि वे अपने सम्राट् पद के लिए इन तीनों को संकट में नहीं धकेल रहे थे, वे तीनों स्वयं अपनी इच्छा से, उत्साहपूर्वक जरासंध का नाश करने के लिए जाना चाहते थे। युधिष्ठिर को तो यह भी लग रहा था कि राजसूय यज्ञ अथवा युधिष्ठिर का सम्राट-पद तो जैसे उनकी कोई समस्या ही नहीं थी। पापी जरासंध का जीवित रहना ही उनके लिए चुनौती था। वे तो अधर्म से लड़ने के लिए जाना चाहते थे। धर्म-स्थापना करना चाहते थे। जरासंध के कारागार में पड़े असहाय तथा निर्बल राजाओं को स्वतंत्र करना, अन्य राजाओं को जरासंध के आतंक से मुक्त करना, तथा प्रजा को जरासंध-मंडल के अत्याचारी राजाओं के शोषण से छुटकारा दिलवाना ही उनका लक्ष्य था।··· ऐसे में युधिष्ठिर उन्हें कैसे रोक सकते थे ? उनके प्रति युधिष्ठिर का मोह धर्म-स्थापना के मार्ग में तो नहीं आना चाहिए था।··· यह सत्य है कि युधिष्ठिर के मन में उत्साह नहीं था, किंतु वे लोग युधिष्ठिर के उत्साह से परिचालित नहीं थे। वे अपने साहस और उत्साह के भरोसे जाना चाहते थे···

"मैं तुम लोगों का विरोध नहीं कर रहा, किंतु इस प्रकार त्वरित निश्चय के विरुद्ध हूँ।" युधिष्ठिर ने मंद स्वर में कहा, "हमें शांत मन से इस विषय में भली प्रकार विचार कर लेना चाहिए। फिर जैसा सब का मत हो···।"

भीम के मन में आया कि कहे, सब ने अपना मत तो प्रकट कर ही दिया है,

अब विचार किस पर करना है और किसके साथ करना है··· किंतु अर्जुन ने आगे बढ़कर चुपचाप उसकी कलाई थाम ली थी···जिसका अर्थ था कि भीम इस समय मौन ही रहे···

भीम के मन में आए विचार, उसके मन में ही रह गए। जिह्वा से उसने कुछ नहीं कहा।···किंतु तत्काल ही उसे लगा कि उसके शब्द चाहे शांत हो गए हों, उसका रोष शांत नहीं हुआ है। पहले उसके रोष का पात्र युधिष्ठिर था, अब उसका लक्ष्य अर्जुन हो गया था।··· वह छोटा होकर भी उसे इस प्रकार चुप क्यों करा देता है ?···पर जब वह शांत मन से सोचता है, तो उसे लगता है, अच्छा ही हुआ कि अर्जुन ने उसे चुप करा दिया, नहीं तो अपने रोष में भीम जाने क्या-क्या कह जाता··· इस समय ज्येष्ठ ने यही तो कहा था कि भली-भाँति विचार करने के पश्चात् जो सब का मत होगा··· तो इसमें भीम के लिए विरोध का अवकाश कहाँ था ?···

युधिष्ठिर अपने प्रासाद में चले आए, किंतु राजसभा की चिंताएँ शांत नहीं हुईं। उनके मन में अभी भी थोड़ा ऊहापोह शेष था··· जो पांडव कल तक इंद्रप्रस्थ जैसे छोटे-से राज्य में भी भयभीत-से बैठे थे, जो खांडव-वन में घुसने का साहस नहीं करते थे, आज वे ही पांडव राजसूय यज्ञ की बात सोचें– क्या है यह ? क्या अंतर आ गया है स्थितियों में ? इतना ही तो कि किन्हीं कारणों से खांडव-वन जल गया है।··· उससे पांडवों की शक्ति में ऐसी क्या वृद्धि हो गई कि वे राजसूय-यज्ञ की योजनाएँ बनाने लगें और उठकर जरासंध से लड़ने चल पड़ें ?··· कृष्ण समझता है कि यह संभव है ! वह यह भी चाहता है कि पांडव यह दुस्साहस करें। अकेले पांडव ही नहीं, कृष्ण भी सम्मिलित रहेगा, इस सारे दुस्साहस में। वह उनके साथ निहत्था जरासंध के घर जाएगा। उस जरासंध के घर, जो आरंभ से ही उसके प्राणों का ग्राहक रहा है··· निश्चित रूप से कृष्ण की नीति पराजित नहीं होगी। वह साथ जाएगा, तो भीम और अर्जुन पर कोई संकट नहीं आएगा। उसका विचार है कि भीम बाहु-युद्ध में न केवल जरासंध को पराजित कर सकता है, वरन् वह उसका वध भी कर सकता है···

सहसा युधिष्ठिर के विचारों ने एक नया मोड़ लिया···यदि जरासंध की सारी शक्ति का तोड़ अकेला भीम हो सकता है, तो अन्य लोग भी तो हो सकते हैं। संसार में न मल्लों की कमी है, न योद्धाओं की। ठीक है कि भीम असाधारण रूप से बलशाली है, किंतु मल्ल विद्या में न कृष्ण किसी से कम है, न बलराम।··· यदि कृष्ण, भीम को जरासंध से भिड़ा कर उसका वध करवा सकता है, तो यही कार्य वह बलराम के साथ जाकर भी कर सकता था। बलराम जरासंध को बाहु-युद्ध में निश्चित रूप से पछाड़ सकते थे। तो कृष्ण क्यों नहीं ले गया बलराम को ? क्यों भटकते रहे यादव ? क्यों मथुरा छोड़कर इधर-उधर छिपते फिरे ? क्यों बार-बार पराजित हुए ? क्यों युद्ध से कतराते फिरे ? क्या आवश्यकता थी, इतने लंबे समय तक इस आंतक में जीने की ?··· क्यों नहीं दोनों भाई जरासंध से भिड़ गए ?··· इसलिए कि कृष्ण अपने भाई को संकट में नहीं डालना चाहता था ?··· इसलिए कि बलराम उसकी बात नहीं मानते थे ?···

युधिष्ठिर ने अपना सिर झटक दिया··· नहीं ! कृष्ण के विषय में यह सब सोचना

उचित नहीं है। कृष्ण में न तो साहस की कमी है, न त्याग की, और फिर उसका दृष्टिकोण इतना संकीर्ण नहीं है। कृष्ण इतना ही स्वार्थी होता, तो उसे भाग-भाग पांडवों की सहायता के लिए इस प्रकार आने की आवश्यकता नहीं थी।··· कृष्ण के इस व्यवहार का कारण कुछ और ही होगा। कृष्ण को समझना इतना सरल नहीं है। युधिष्ठिर को कुछ प्रतीक्षा करनी चाहिए।···

"आप कुछ चिंतित प्रतीत हो रहे हैं आर्यपुत्र !" देविका ने युधिष्ठिर के निकट आकर कहा, "कोई विशेष बात है क्या ?"

"पौरवी !" युधिष्ठिर ने देविका को उसकी वंश-संज्ञा से संबोधित किया, "तुम चिंतन और चिंता में अंतर क्यों नहीं करतीं ? मैं जब भी कुछ सोच रहा होता हूँ, तुम्हें लगता है कि मैं किसी संकट में फँस गया हूँ, इसलिए चिंतित हूँ।"

"जब आप मुझ से बाँटने लगेंगे, तो मैं आपकी चिंता को भी चिंतन मानने लगूँगी।" देविका बोली, "यदि अपने विचारों को स्वयं तक सीमित रखेंगे, तो मुझे आपके चारों ओर चिंताएँ ही मँडराती दिखाई देंगी न।"

"यौद्धेय कहाँ है ?"

"प्रतिविंध ले गया है अपने साथ ! यहीं कहीं खेल रहे होंगे।" देविका ने रुक कर युधिष्ठिर की ओर देखा, "आपने अपने चिंतन के विषय में नहीं बताया।"

"भीम, अर्जुन और कृष्ण चाहते हैं कि मैं उन्हें जरासंध से युद्ध करने के लिए गिरिव्रज जाने की अनुमति दे दूँ।"

"कृष्ण क्यों साथ जाना चाहते हैं ?" देविका ने जैसे विरोध किया।

"कृष्ण साथ नहीं जा रहा। वह भीम और अर्जुन को अपने साथ ले जा रहा है।" युधिष्ठिर ने बताया।

"पर ऐसा होना नहीं चाहिए।" देविका बोली, "जरासंध वर्षों से श्रीकृष्ण के लिए मन में विष पाल रहा है। वह उन्हें अच्छी तरह पहचानता है। जीवन में इतनी बार उनका आमना-सामना हो चुका है कि वे कितना ही छद्मवेश क्यों न धारण करें, जरासंध उन्हें पहचान लेगा··· और उसके पश्चात् वह उन पर तनिक भी दया नहीं करेगा।···" देविका ने युधिष्ठिर की ओर याचक दृष्टि से देखा, "श्रीकृष्ण के अतिरिक्त पांडवों का सहायक ही कौन है कि उन्हें आप इस प्रकार संकट में डाल रहे हैं।"

युधिष्ठिर को कुछ आश्चर्य हुआ : वे सोच रहे थे कि कृष्ण भीम और अर्जुन को संकट में डाल रहा है और देविका कह रही है कि वे कृष्ण को संकट में न डालें···

"तुम ठीक कह रही हो पौरवी ! कृष्ण के सिवाय पांडवों का बंधु और कौन है।" युधिष्ठिर बोले, "किंतु तुम ही बताओ, पांडवों की इच्छा से कृष्ण चलता है या कृष्ण की इच्छा से पांडव चलते हैं ?"

देविका मौन खड़ी युधिष्ठिर को देखती रही। फिर धीरे से बोली, "आप ठीक कहते हैं, इच्छा तो गोविंद की ही चलती है।··· पर वे स्वयं को इस प्रकार संकट में क्यों डाल रहे हैं ?"

"यह तो वही जाने।" आत्मलीन होते हुए युधिष्ठिर ने अपनी आँखें बंद कर लीं।

"कृष्ण !" विदा होते-होते अर्जुन रुक गया, "क्या तुम्हारे मन में यह विचार पहले कभी नहीं आया कि तुम्हें जरासंध का वध कर देना चाहिए।"

"आततायी अपने पाप से मारा जाता है अर्जुन !" कृष्ण बोले, "किसी की इच्छा से नहीं।"

अर्जुन क्षण भर के लिए जैसे स्तब्ध खड़ा रह गया। प्रकृति के शाश्वत सत्यों को कृष्ण कितनी सहजता से अभिव्यक्त करता रहता है।··· व्यक्ति किसी की इच्छा से नहीं मरता··· ईश्वर की इच्छा से भी नहीं ? वह मरता है अपने कर्मों से ? अपने पापों से ?··· किंतु व्यक्ति कितने ही पुण्य करे, इस मानव शरीर को तो प्रकृति द्वारा बनाए गए नियमों के अधीन नष्ट हो ही जाना है···

"आततायी अपने पाप से मारा जाता है," अर्जुन हँसा, "और जो आततायी न हो।"

"वह अपने कर्म-बंधनों में बँधा आता है और उन्हीं में बँधा चला जाता है।" कृष्ण हँसे, "सारे मनुष्य आततायी ही तो नहीं होते। उनमें पुण्यात्मा भी होते हैं, महात्मा भी होते हैं। कुछ अपने पुण्यों के क्षय होने से शरीर त्यागते हैं, कुछ अपनी कामनाओं से मुक्त हो जाने के कारण। कामना-मुक्त होकर कोई शरीर धारण नहीं करता।"

"तुमने अच्छा किया, हमें पापात्मा होने से बचा लिया, क्योंकि मरता तो प्रत्येक व्यक्ति है।" अर्जुन बोला, "वस्तुतः मैं पूछ यह रहा था कि आज से पहले तुमने क्या कभी जरासंध के वध की योजना नहीं बनाई।"

"इस प्रकार नहीं, जिस प्रकार आज बनाई है।" कृष्ण बोले।

"क्यों ? जैसे तुम आज मध्यम द्वारा बाहु-युद्ध में जरासंध के वध की योजना बना रहे हो वैसे ही बलराम भैया को साथ ले जाकर यह कार्य पहले भी तो पूरा कर सकते थे।" अर्जुन बोला, "या तुम समझते हो कि जरासंध बलभद्र भैया पर भारी पड़ता ?"

"नहीं ! ऐसा कुछ नहीं है।" कृष्ण मुस्कराए, "अब हम तीन व्यक्ति जा रहे हैं··· मैं, तुम और भीम। पहले जाते तो मैं और भैया बलराम, तुम्हारा स्थानापन्न कौन होता ? तुम साथ नहीं थे, इसलिए पहले जाने की योजना नहीं बनाई।"

"तुम ने फिर विनोद आरंभ कर दिया।" अर्जुन बोला, "मैं गंभीरता से पूछ रहा हूँ।"

इस बार कृष्ण भी गंभीर हो गए, "तुम पूछ तो रहे हो गंभीरता से, किंतु तुमने गंभीरतापूर्वक इस विषय में विचार नहीं किया।" उन्हेंने कुछ रुक कर कहा, "यदि जरासंध, मध्यम पांडव के हाथों मारा जाता है, तो यह विजय किसकी है ?"

"धर्मराज युधिष्ठिर की।"

"सम्राट् कौन बनेगा ?"

"हमारे ज्येष्ठ !"

"धर्मराज्य कौन स्थापित करेगा ?"

"धर्मराज !"

"यदि जरासंध बलराम भैया के हाथों मारा जाता तो यह महाराज उग्रसेन की विजय होती। महाराज उग्रसेन ही सम्राट् होते और उनसे ही अपेक्षा होती कि वे धर्मराज्य की

स्थापना करें।" कृष्ण रुके, "किंतु तुम जानते हो पार्थ ! कि महाराज उग्रसेन से तो अकेले यादव ही नहीं संभल रहे। उनसे एक विराट साम्राज्य सँभालने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। दुर्बल राजा के राज्य में चारों ओर अराजकता फैल जाती है। विभिन्न राजा उच्छृंखल और अत्याचारी हो जाते हैं। प्रजा पीड़ित होती है।" वे मुस्कराए, "सत्य तो यह है सखे ! कि जरासंध का भयंकर विरोध करते हुए भी, मैंने आज तक उसके वध की गंभीर चेष्टा नहीं की थी। एक बार तो गोमंतक क्षेत्र में बलभद्र जरासंध का वध करने ही वाले थे, कि मैंने उन्हें रोक दिया। जरासंध आज तक समझ नहीं पाया होगा कि उसके परम शत्रु ने उसे यमफाँस से क्यों बचा लिया।"

अर्जुन के मन में अब कोई संशय नहीं रह गया था।··· उसका मन एक प्रकार के आश्चर्य-मिश्रित आह्लाद से भर गया था।··· कृष्ण अपने परमशत्रु को भी प्रतिशोध के लिए नहीं मारते। वे क्रोध में उसका वध नहीं करते।··· वे प्रजा के हित की बात सोचते हैं। धर्म की बात सोचते हैं।··· इतना ही नहीं जरासंध का इतना बड़ा साम्राज्य, जिसे वे सहज ही अपने अथवा यादवों के लिए प्राप्त कर सकते थे, उन्हें लुब्ध नहीं करता, क्योंकि उससे यादव और अधिक संपन्न और समृद्ध होकर उद्दंड और अहंकारी हो जाएँगे। प्रजा को वस्तुतः एक निःस्पृह तथा धर्मप्राण राजा चाहिए। कृष्ण को उसके लिए युधिष्ठिर ही उपयुक्त पात्र दिखाई देते हैं। तो वे यह साम्राज्य उन्हीं को दिलवाएँगे, उन्हें ही सम्राट् बनवाएँगे।···क्या कृष्ण के मन में कभी भी क्षण भर के लिए भी लोभ नहीं जागता ?··· पांडवों का इतना बड़ा उपकार, और उसकी रंचमात्र भी चर्चा नहीं···अर्जुन को लगा कि वह जितना ही सोचता जाता है, उसके सम्मुख कृष्ण का आकार उतना ही बड़ा होता जाता है।··· वे अर्जुन के समवयस्क हैं, उसके सखा हैं, किंतु वे अर्जुन से बहुत बड़े हैं, बहुत महान्··· अर्जुन प्रयत्न करके भी उनकी परछाई तक को छू नहीं पाएगा··· वह तो श्रद्धा से नत होकर उनके चरणों में बैठने योग्य ही है···

"आपने हमारे गिरिव्रज जाने के विषय में क्या निश्चय किया, महाराज !" भीम ने पूछा, "मुझे लगता है कि इसमें जितना विलंब होगा, कार्य उतना ही कठिन होता जाएगा।"

युधिष्ठिर ने मुस्करा कर भीम की ओर इस प्रकार देखा, जैसे कोई वयस्क खिलौने के लिए हठ करते हुए किसी बच्चे की ओर देखता है, "लगता है तुम्हें रात भर नींद नहीं आई।"

"हाँ महाराज !" भीम भी किसी धृष्ट बालक के समान मुस्कराया, "रात भर सोचता रहा कि महाराज मेरे विषय में चिंता कर-कर के व्याकुल हो रहे होंगे।"

कृष्ण ने ठहाका लगाया, "आज तो मध्यम ने बहुत ही श्रेष्ठ युक्ति निकाली है धर्मराज ! अब इसका निर्णय कौन करेगा कि कौन किसकी अधिक चिंता करता रहा है।"

"निश्चित रूप से भीम को ही मेरी अधिक चिंता रही है।" युधिष्ठिर बोले, "मैं तो उसकी सुरक्षा की चिंता कर रहा था, और उसे मेरी व्याकुलता की भी चिंता थी। अधिक सूक्ष्म चिंता तो उसी की हुई न ?"

"तो ठीक है। अब आप बता दें कि आपकी व्याकुलता समाप्त हो गई है और आपने हमें गिरिव्रज जाने की अनुमति देने का निश्चय कर लिया है, तो मध्यम भी रात को निश्चिंत होकर सो सकेंगे।" अर्जुन ने अपनी सम्मति दी।

"मैंने यह निश्चय तो कर लिया है कि तुम लोगों को गिरिव्रज जाने से नहीं रोकूँगा, किंतु तुम लोगों की सुरक्षा के विषय में अभी आश्वस्त नहीं हो पाया हूँ।" युधिष्ठिर की वाणी में निश्चय अथवा आदेश से कहीं अधिक प्रस्ताव का-सा भाव था, "क्या ऐसा संभव नहीं है कि तुम लोग सीधे जरासंध से टकराने के स्थान पर पहले अन्य राजाओं को अपने अधीन कर अपनी शक्ति बढ़ाओ और तब जरासंध पर आक्रमण करो।"

"धर्मराज !" कृष्ण ने निर्द्वन्द्व स्वर में कहा, "हम जरासंध के पक्ष के किसी भी राजा पर हाथ डालेंगे, तो पूरा का पूरा जरासंध-मंडल हम पर टूट पड़ेगा। आप यह न समझें कि मैं उन से भयभीत हूँ। गोमंतक पर्वत पर मैं और बलराम भैया संपूर्ण जरासंध-मंडल का सामना कर चुके हैं। आवश्यकता पड़ी तो मैं मध्यम और अर्जुन के साथ मिलकर भी उनका सामना कर सकता हूँ, किंतु उसमें बहुत रक्तपात होगा। व्यर्थ ही इतने सारे राजाओं की सेनाएँ जूझेंगी और उनके सैनिक मरेंगे।" कृष्ण ने रुक कर युधिष्ठिर की ओर देखा, "हमारी युक्ति तो यह है कि बिना एक भी सैनिक की हत्या किए हम जरासंध का वध करें, उसके समर्थक राजाओं को भयभीत कर अपने पक्ष में करें, और उसके शत्रुओं को हम अपने हितैषी मित्र दिखाई पड़ें।"

"जहाँ तक इस योजना का संबंध है, मुझे कोई आपत्ति नहीं है।" युधिष्ठिर ने कहा, "मैं अभी तक इस विषय में आश्वस्त नहीं हो पाया कि जरासंध तुम्हारी इच्छा के प्रतिकूल, तुम तीनों को देखते ही अपनी सेना सहित तुम पर टूट नहीं पड़ेगा। तुम्हें यह विश्वास क्यों है, कि वह द्वन्द्व-युद्ध ही करेगा और उसके लिए भीम को ही चुनेगा ?··· और जब बाहुयुद्ध में भीम उसका वध कर देगा, तो उसकी सेना और सेनापति क्या तटस्थ भाव से खड़े देखते रहेंगे और तुम तीनों को कोई हानि नहीं पहुँचाएँगे।"

"मैं इस विषय में पूर्णतः आश्वस्त हूँ।" कृष्ण सहज भाव से बोले।

"पर क्यों ?" सहदेव ने पूछा।

"मैं जरासंध के मन को इतने निकट से जानता हूँ कि मैं बता सकता हूँ कि किन परिस्थितियों में उसकी प्रतिक्रिया क्या होगी।" कृष्ण का स्वर पर्याप्त दृढ़ था, "इतने समय से यादवों का उसके साथ संघर्ष चल रहा है, वह उसे बिना जाने ही नहीं है।"

"पर वह तो कभी भी आपका मित्र नहीं रहा।" नकुल बोला।

"मित्र को न भी जानो तो कोई हानि नहीं, किंतु शत्रु को जानना बहुत आवश्यक है।" कृष्ण बोले, "इसलिए मैं उसे जानता हूँ। मैं उसके भय को जानता हूँ। मैं उसके अहंकार को जानता हूँ, और मैं यह भी जानता हूँ कि उसके सारे मित्र और संबंधी, नौकर और सैनिक जब उसके आतंक की रज्जु से बँधे, उसके पक्ष में खड़े दिखाई पड़ते हैं। आतंक की रज्जु ढीली हुई या जरासंध तनिक भी पराजित होता दिखाई दिया कि उसके आस-पास के सारे लोग उसके हाथों से फिसल कर, उसके विपक्ष में जा खड़े होंगे।··· इसलिए यह परम आवश्यक है कि उसका आतंक नष्ट कर दिया जाए।"

"क्या तुम्हें ऐसा नहीं लगता गोविंद ! कि उसके राज्य में प्रविष्ट होते ही उसके

सैनिक तुम पर आक्रमण कर तुम्हें बंदी कर लेंगे ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"यदि उन्हें सूचना मिल गई, तो वे अवश्य ही हमें बंदी कर लेंगे।" कृष्ण बोले, "किंतु हम उसका अवसर ही क्यों आने देंगे। हम छद्मवेश में जाएँगे, और तब तक स्वयं को प्रकट नहीं करेंगे, जब तक सारी परिस्थितियाँ हमारे अनुकूल नहीं हो जातीं।" कृष्ण रुके और उन्होंने युधिष्ठिर पर अपनी सारी सम्मोहिनी डाल दी, "आपको यदि मुझ पर तनिक भी विश्वास हो, तो भीम और अर्जुन को मेरे साथ भेज दीजिए। मैं आपको वचन देता हूँ कि आपके इन दोनों छोटे भाइयों का अनिष्ट नहीं होगा।"

कृष्ण के इन शब्दों ने युधिष्ठिर के मन को जैसे ठोकर मारकर सहस्रों तरंगें उत्पन्न कर दीं... कृष्ण के शब्दों के प्रकाश में उन्होंने अपने मोह को पहचाना, "नहीं केशव ! यह मेरा अभिप्राय एकदम नहीं है। तुम भी मेरे उतने ही भाई हो, जितने ये हैं। यदि मात्रा में न्यूनाधिक कर इस संबंध को प्रकट किया जा सके, तो मैं कहूँगा, कि ये मुझ से अधिक तुम्हारे भाई हैं। अर्जुन मेरे बिना रह सकता है, किंतु तुम्हारे बिना नहीं रह सकता। ...और फिर तुम हमारे लिए भाई से कहीं अधिक बढ़कर हो। हमारे रक्षक हो, स्वामी हो। यदि तुम स्वीकार करो मधुसूदन।" युधिष्ठिर पर्याप्त भावुक हो उठे थे, "तो मैं अभी अपना यह मुकुट उतार कर तुम्हारे चरणों में रख देना पसंद करूंगा। मैं इस सिहांसन पर बैठने की अपेक्षा तुम्हारा सारथि अथवा चंवर-धारक बन कर जीना कहीं अधिक श्रेयस्कर मानता हूँ।"

"धर्मराज !" कृष्ण का स्वर स्नेह से आप्लावित था, "आपने तो मुझे सर्वथा अवाक् कर दिया है। आप मेरे बड़े भाई हैं। यह सब कह कर मुझे अपने स्नेह से वंचित न कीजिए। आप तो केवल हम तीनों को गिरिव्रज जाने की अनुमति दीजिए।..."

"जाओ कृष्ण ! ले जाओ इन्हें। तुम्हारी विजयिनी यात्रा मंगलमय हो।" युधिष्ठिर जैसे स्वयं को संयत करते हुए बोले, "तुम में बुद्धि, नीति, बल, प्रयत्न तथा उपाय सब कुछ है। तुम्हारा मार्ग तो तुम्हारे क्रूरतम शत्रु भी नहीं रोक सके, मैं तो तुम्हारा एक साधारण भक्त हूँ।"

28

कृष्ण, भीम तथा अर्जुन को यात्रा करते हुए कितने ही दिन हो चुके थे। वे कुरु प्रदेश से चल कर कुरु-जंगल पार कर पूर्व कोसल प्रदेश से होते हुए कोसल, तथा वहाँ से मिथिला आए थे। मगध मिथिला से लगा हुआ ही था। उन्होंने मार्ग में सरयू, गंगा, गंडकी तथा शोण जैसी नदियाँ पार की थीं, और अब गोरथ पर्वत को पार कर गिरिव्रज के नगर-द्वार के सम्मुख आ खड़े हुए थे। उन लोगों ने स्नातक ब्राह्मणो के से वस्त्र धारण कर रखे थे और कुश एवं चीर की सहायता से अपना क्षत्रिय वेश छिपा लिया था।

नगर द्वार के सम्मुख बड़ी संख्या में लोग एकत्रित थे। एक ओर व्यापारियों और कलाकारों का जमावड़ा था, तथा दूसरी ओर अनेक वाहिनियाँ रक्षा और छान-बीन के कार्य में लगी हुई थीं। नगर के भीतर जाने वालों की भली प्रकार छान-बीन हो रही थी।

"क्यों भाई ! नगर-द्वार पर आज इतनी भीड़ क्यों है ?" भीम ने पास से जाते हुए एक व्यक्ति की बाँह थाम कर पूछा, "युद्ध इत्यादि की संभावना है क्या"या तुम्हारे सम्राट् नया विवाह करने की तैयारी कर रहे हैं ?"

उस व्यक्ति को बाँह पकड़ कर इस प्रकार रोक लिया जाना अच्छा नहीं लगा। उसने कुछ रोषपूर्वक दृष्टि उठाकर देखा, किंतु भीम का डील-डौल देखकर उसका क्रोध स्वतः ही शांत हो गया। धैर्यपूर्वक बोला, "नहीं महात्मन्। इन दोनों में से कुछ भी नहीं है। वस्तुतः महाराज एक बड़े यज्ञ का आयोजन करने जा रहे हैं। अनेक क्षत्रिय राजाओं की बलि देकर, वे महादेव रुद्र को प्रसन्न करेंगे। उसी संदर्भ में जहाँ एक ओर नगर में आने-जाने वालों की संख्या बहुत बढ़ गई है, वहीं सैनिक, अधिकारियों तथा गुप्तचरों का अन्वेषण भी सूक्ष्म और बहुत दीर्घकालीन हो गया है। दस व्यक्ति नगर में प्रवेश पाते हैं तो पचास प्रवेशार्थी और आ जाते हैं। भीड़ छँटे भी तो कैसे। एक सप्ताह से तो मैं ही नगर-द्वार के बाहर पड़ा हुआ हूँ, अभी मेरी बारी ही नहीं आई।"

"अरे भाई ! यदि इतना ही कठिन है गिरिव्रज में नगर-द्वार से प्रवेश पाना, तो कहीं और से घुस जाओ।" कृष्ण ने हँसकर कहा, "तुमने नगर-द्वार से ही जाने का कोई संकल्प तो किया नहीं है।"

"हाँ। कहीं और से घुस जाओ, जैसे गिरिव्रज कोई साधारण नगर हो।" उसने कृष्ण को मुँह चिढ़ाया, "पाँच पर्वतों की गोद में बसा है गिरिव्रज।"

"पाँच पर्वत ?" अर्जुन ने कुछ आश्चर्य प्रकट किया।

"हाँ ! विपुल, वराह, वृषभ, मातंग और चैत्य।" वह व्यक्ति कुछ ऐसे बोला, जैसे उन्हें नगर का भूगोल पढ़ा रहा हो, "एक तो उन पर्वतों की कठिन चढ़ाई चढ़े कौन। व्यक्ति अपने आप को तो ठेल-ठाल भी ले, किंतु हमारे साथ तो सामान भी इतना है।"

"हमारे पास तो कोई सामान नहीं है, हम चढ़ जाएँ, " कृष्ण ने चंचल मुद्रा में पूछा, जैसे यह मात्र परिहास ही हो, "साधक लोग तो हिमालय तक की चोटियों पर जा चढ़ते हैं।"

"चढ़ सको तो चढ़ जाओ, हृष्ट-पुष्ट दीखते हो। पर्वत चढ़ने में तुम्हें क्या कठिनाई है।" वह व्यक्ति बोला, "किंतु पर्वत-शृंगों पर सैनिक-निरीक्षकों की चौकियाँ हैं। पर्वत चढ़ता व्यक्ति उनसे छिप नहीं सकता। वे देख लें तो पूछताछ नहीं करते, बस चोटी पर से धकेल भर देते हैं। व्यक्ति बच जाए, तो स्वयं शृंग पर ले जाकर पुनः धकेल देते हैं। जब वह मर जाए, तो उसके शव को नगर-द्वार के निकट किसी पेड़ पर टाँग देते है।"

"यह तो बहुत बड़ा दंड है।" अर्जुन बोला, "नगर प्रवेश के लिए मृत्यु-दंड ?"

"जरासंध का न्याय तो ऐसा ही है। उसकी इच्छा के अनुसार चलो तो सुख पाओ, जीवन के भोग का आनन्द लो। उसकी आज्ञा का उल्लंघन करो तो कष्ट झेलो और

प्राण गँवाओ।"

"राजा से भेंट कर उसे बताना चाहिए कि उसका यह विधान कठोर ही नहीं बहुत क्रूर और अन्यायपूर्ण है।" कृष्ण ने कहा।

"कौन कह सकता है राजा के सम्मुख ऐसी बातें।" वह व्यक्ति हँसा, "जो जिह्वा ऐसी बात कहेगी, वह अपने मुख में नहीं रहेगी, या फिर वह मस्तक ही कंधों पर टिक नहीं पाएगा।"

"बहुत अत्याचारी है तुम्हारा राजा।" भीम रोषपूर्वक बोला।

उस व्यक्ति के चेहरे पर भय प्रकट हुआ। अकस्मात् ही वह सजग हो उठा था कि वह जरासंध के ही नगर-द्वार के बाहर खड़ा राजा के विषय में इतना कुछ कह गया है।

"डरो मत।" कृष्ण ने मुस्करा कर उसे आश्वस्त किया, "हम भी नगर में जा ही रहे हैं। राजा से मिलकर कहेंगे कि राजा का ऐसा आचरण नीतियुक्त नहीं है।"

"कह सको, तो अवश्य कहो।" वह अत्यन्त मंद स्वर में बोला, "किंतु मुझे सूचना मिली है कि राजा ने यज्ञ करने से पूर्व अनिष्ट की शांति के लिए व्रत की दीक्षा ले ली है। वह क्षेत्र-संन्यास लेकर नियमानुसार उपवास कर रहा है। ऐसे में उससे कौन मिल सकता है।..."

"कोई नहीं ?"

"कोई नहीं।"

"तो हम दान की भी कोई आशा न रखें ?"

"नहीं ! दिन के एक विशेष प्रहर में तपस्वियों को मुँह-माँगा दान देने का संकल्प तो उसका है। उस समय पहुँच जाओ। जो माँगोगे, वही मिल जाएगा।"

"बड़ा दानी और धार्मिक राजा है।" भीम ने राजा की दानशीलता से गद्‌गद होने का अभिनय किया।

"अजी काहे का दानी और महात्मा।" वह व्यक्ति विषाक्त स्वर में बोला, "भगवान महादेव को प्रसन्न कर सिद्धियाँ प्राप्त करने के हथकंडे हैं, कोई निष्काम दान थोड़ी है। एक-एक कण दान के साथ सहस्रों कामनाएँ जुड़ी हुई हैं।"

सहसा वह व्यक्ति पुनः घबरा गया। उसे याद आ गया कि वह फिर अपनी रौ में कुछ ऐसी बातें कह गया है, जो राज-निन्दा के अन्तर्गत आती हैं।

"अच्छा भाई ! चलता हूँ।" वह बोला, "तुम जाने कैसे मनुष्य हो, तुम्हारे पास खड़ा रहा तो मेरे मुख से वे बातें भी निकल आएँगी, जो मेरे मन में भी नहीं हैं।"

वह जाने के लिए मुड़ा।

"अरे भाई ! तुम तो बहुत जल्दी में प्रतीत होते हो।" कृष्ण ने लपक कर उसकी भुजा थाम ली, "यह तो बताओ की पर्वत शृंग पर जो सैनिक चौकियाँ हैं, वहाँ से नीचे राजधानी में समाचार लाने वाले चर अश्वों पर नीचे उतरते हैं या गजों पर। मैंने सुना है कि तुम्हारे राजा को गजारोहण बहुत प्रिय है।"

वह व्यक्ति हँसा, "अद्‌भुत व्यक्ति हो तुम भी। इन पर्वत शृंगों से गज अथवा अश्व नीचे की ओर दौड़ेंगे तो मुँह के बल गिर कर अपने प्राण ही नहीं दे देंगे ?"

"तो क्या ऊपर से समाचार स्वयं पैदल चल कर नीचे के सैनिक अधिकारियों अथवा राजा के पास पहुँचते और उनसे भेंट करते हैं ?"

"इसका अर्थ है कि तुम चैत्य पर्वत पर पड़े हुए बड़े-बड़े नगाड़ों के विषय में कुछ नहीं जानते !"

"नगाड़े। पर्वत पर।" भीम हँसा, "पर्वत पर दंगल होता है क्या, जो वहाँ नगाड़ों की आवश्यकता होती है।"

"नगर की सुरक्षा के लिए पर्वत शृंगों पर नियुक्त सैनिकों अथवा गुप्तचरों में से किसी की दृष्टि में कोई ऐसी बात आ जाए, जो नगर के लिए संकटपूर्ण हो सकती हो, तो चैत्य-पर्वत पर रखे हुए नगाड़े गर्जन करने लगते हैं। कुछ ही क्षणों में सारे गिरिव्रज में संकट की सूचना प्रचारित हो जाती है।"

"बड़ी सूक्ष्म और कठोर सुरक्षा-व्यवस्था है।" कृष्ण ने प्रशंसा की, "तभी तो गिरिव्रज शत्रुओं के लिए अजेय है।"

"है तो अजेय ही।" वह व्यक्ति बोला, "अच्छा ! मैं चलता हूँ।"

वह चला गया।

"अब ?" भीम ने कृष्ण की ओर देखा।

"इधर आओ !" अर्जुन ने संकेत किया।

वे लोग भीड़ से कुछ दूर, अपेक्षाकृत एकांत में आ गए।

"मेरा विचार है कि हमें नगर-द्वार से गिरिव्रज में प्रवेश नहीं करना चाहिए।" अर्जुन ने कहा।

"क्यों ?" भीम ने पूछा, "भीड़ से डर गए हो क्या ?" और बिना अर्जुन का उत्तर सुने ही वह पुनः बोला, "भीड़ से घबराना नहीं चाहिए। इसमें तो मेले-ठेले का आनन्द लेना चाहिए। बहुत एकांतप्रिय होना अच्छा नहीं···।"

"मध्यम !" अर्जुन ने उसे रोका, "भीड़ की बात नहीं कह रहा। वे लोग जिस प्रकार प्रत्येक प्रवेशार्थी की छान-बीन कर रहे हैं, उसमें हम पहचाने जाएँ, या न पहचाने जाएँ, कृष्ण अवश्य पहचाना जाएगा। जरासंध के अनेक गुप्तचर कृष्ण को अच्छी तरह पहचानते होंगे। नगर-द्वार से प्रवेश करने पर हम इस छद्मवेश में जरासंध तक नहीं पहुँच सकेंगे। हमारा रहस्य उससे पहले ही खुल जाएगा।"

"यह तो है ही " कृष्ण ने कहा, "मुझे लगता है कि जरासंध तक पहुँचने में हमें बहुत विलंब भी हो जाएगा। जितने प्रवेशार्थी, नगर-द्वार से बाहर प्रतीक्षा कर रहे हैं, उन सब की बारी आते-आते कई सप्ताह लग जाएँगे।"

"तो हमें कौन-सी जल्दी है।" भीम ने निश्चिंत स्वर में कहा, "कुछ विश्राम करेंगे और कुछ सैर-सपाटा। इंद्रप्रस्थ से यहाँ तक, काफी लंबी यात्रा कर चुके हैं हम।"

"ठीक कहते हो मध्यम।" कृष्ण मंद किंतु गंभीर स्वर में बोले, "वैसे तो मुझे भी कोई जल्दी नहीं थी, किंतु इस व्यक्ति से चर्चा करने के पश्चात् मेरा मन शीघ्रता के लिए भयंकर रूप से आतुर हो उठा है।"

"क्यों ?" अर्जुन ने पूछा।

"तुमने सुना नहीं कि जरासंध यज्ञ के लिए व्रत-दीक्षित होकर उपवास कर रहा

है।" कृष्ण बोले, "इसका अर्थ है कि उसने बलि के लिए शेष चौदह राजा भी बंदी कर लिए हैं। यह न हो कि जब तक हम अपनी मंथर गति से उसके निकट पहुँचें; तब तक वह अपने संकल्प के अनुसार एक सौ क्षत्रिय राजाओं की बलि देकर यज्ञ-भूमि को कलंकित तथा भगवान रुद्र की पूजा को दूषित कर चुका हो। तब उसका वध कर उसे दंडित तो किया जा सकता है, किंतु बंदी राजाओं को बचाने तथा धर्मराज के लिए उनका समर्थन प्राप्त करने का लक्ष्य पूरा नहीं किया जा सकेगा।"

"तो ?"

"हम न तो नगर-द्वार से अपने प्रवेश की बारी की प्रतीक्षा कर सकते हैं और न ही, सैनिक अधिकारियों तथा गुप्तचरों को अपने परीक्षण और पूछताछ की अनुमति दे सकते हैं।" कृष्ण बोले, "ऐसे में हमारे लिए एक ही मार्ग है कि हम रात के समय पाँच पर्वतों में से किसी एक पर बाहर से चढ़ें और सूर्योदय होने से पूर्व नीचे उतर, नगर के कोलाहल में सम्मिलित हो जाएँ।"

"तो इसमें चिंता की क्या बात है।" भीम ने उत्साहपूर्वक कहा, "ये तो नाम मात्र के पर्वत हैं, मैं तो रात भर में हिमालय पर्वत पर जा चढ़ूँ। लोग पता नहीं क्यों इन्हें पर्वत कहते हैं। इन्हें तो टीले कहना चाहिए।" उसने रुक कर कृष्ण और अर्जुन की ओर देखा, "वैसे तो मुझे विश्वास है कि तुम लोग भी नहीं थकोगे, पर यदि थक भी गये, तो मैं तुम दोनों को अपने कंधों पर बैठा कर पर्वत पर चढ़ जाऊँगा'''।"

"उसकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी मध्यम।" कृष्ण बोले।

"कृष्ण ! मान लो, हम अपनी योजना के अनुसार बाहर से पर्वत पर चढ़ कर दूसरी ओर उतर गए, अर्जुन बोला, "उसके पश्चात् हम क्या करेंगे ?"

"क्यों ? जरासंध से जा भिड़ेंगे।" भीम बोला।

"मध्यम ! तुम देख रहे हो कि नगर में समारोह की स्थिति है। चारों ओर प्रहरी फैले हुए हैं। सैनिक लोग स्थान-स्थान पर सजग ही नहीं, सन्नद्ध भी होंगे। ऐसे में कोई तुम्हें जरासंध से भिड़ने देगा ?" अर्जुन ने अपना मत प्रकट किया।

"क्यों ? जब कृष्ण ने कंस का वध किया था, तब मथुरा में समारोह नहीं था क्या ?" भीम ने तर्क दिया, "तब भी तो प्रहरी और सैनिक सन्नद्ध रहे होंगे।"

"ठीक है ! पर कंस प्रकट रूप में न तो कृष्ण को अपना शत्रु घोषित कर रहा था और न ही वह अपनी प्रजा के सामने प्रकट करना चाहता था कि वह कृष्ण की हत्या करवा रहा है। इसीलिए कंस के सैनिकों ने प्रकट रूप में हस्तक्षेप नहीं किया।" अर्जुन बोला, "किंतु जरासंध के लिए इस प्रकार का कोई बंधन नहीं है। उसके सैकड़ों सैनिक खुले रूप में कृष्ण पर बाण-संधान कर सकते हैं। हमारे पास शस्त्र भी नहीं हैं, कि विपत्ति का ऐसा क्षण आने पर हम अपनी रक्षा कर सकें।"

"नहीं। इस प्रकार लड़ने-भिड़ने की आवश्यकता नहीं है।" कृष्ण ने चिंतनशील वाणी में कहा, "जब तक परिस्थितियाँ सर्वथा हमारे अनुकूल नहीं हो जातीं, तब तक हमें न प्रकट होना है, न आघात करना है।"

"इसीलिए तो पूछ रहा हूँ कि क्या सोचा है तुमने।" अर्जुन बोला।

"इस समय तो मुझे एक ही मार्ग सूझ रहा है।" कृष्ण ने उत्तर दिया, "उस व्यक्ति

की सूचना के अनुसार, अपने व्रत के अंग के रूप में जरासंध ने 'क्षेत्र-संन्यास' ले रखा है, अर्थात् वह अपने निर्धारित क्षेत्र का बंदी है। वह उससे बाहर नहीं जाएगा। यदि हम भी स्वयं को उसके साथ उसी क्षेत्र में बंदी कर सकें, तो फिर हमारा लक्ष्य पूरा होने में अधिक कठिनाई नहीं होगी।"

"मुझे तो भय है कि हम उसके निकट भी जा सकेंगे या···।"

"क्यों ? निकट क्यों नहीं जा सकते ?" भीम के स्वर में जिज्ञासा से कहीं अधिक आपत्ति थी।

"जरासंध व्रत-दीक्षित हो चुका है। ऐसे में कहीं भी यह कहकर हमें रोका जा सकता है कि इन परिस्थितियों में राजा हम से नहीं मिल सकता।" अर्जुन बोला, "हम उसे बाध्य तो नहीं कर सकते कि वह हम से मिले ही।"

"हाँ ! इसकी संभावना तो है," कृष्ण बोले, "किंतु यदि हमारे वेश का छद्म खुल ही न गया तो हम दान प्राप्त करने के व्याज से राजा तक पहुँच सकते हैं। यदि राजा स्वेच्छा से दान कर रहा हो तो याचक ब्राह्मण को उसके पास पहुँचने से कोई नहीं रोक सकता।"

रात का अंधकार सघन होते ही गिरिव्रज का नगर-द्वार पूर्णतः शांत हो गया था। अन्वेषक अधिकारी अपना कार्य समाप्त कर अपने घरों को जा चुके थे। अब वहाँ केवल वे प्रहरी तथा सैनिक थे, जिन्हें न अन्वेषण करना था, न किसी को नगर में प्रवेश की अनुमति देनी थी। उनका तो बस एक ही दायित्व था कि रात्रि के समय, न कोई नगर से बाहर जा सके और न कोई बाहर से भीतर प्रवेश कर सके। वे अपने धनुषों, खड्गों तथा शूलों के साथ पूर्णतः सन्नद्ध थे, ताकि यदि कोई व्यक्ति सीमा-रेखा पार करने का प्रयत्न करे तो बिना किसी पूछताछ के उस पर प्रहार कर उसका वध कर दिया जाए।

जिन लोगों को रात्रि से पूर्व नगर में प्रवेश की अनुमति मिल गई थी, वे नगर के भीतर अपने गतंव्य की ओर प्रस्थान कर चुके थे, और जिन्हें अनुमति नहीं मिली थी, अतः अधिकारियों के लौटने की प्रतीक्षा करनी ही थी, अतः वे विश्राम करने के लिए अपने डेरों पर चले गए थे। इस समय की शांति देखकर यह कल्पना करना कठिन ही था कि दिन के समय इसी स्थान पर इतना कोलाहल होता है···

कृष्ण, अर्जुन और भीम उजाला रहते ही वन में चले गए थे, ताकि वे लोग जन-शंकुलता से दूर रहें। न कोई उन्हें देखे और न ही प्रश्न करे। कृष्ण जानते थे कि वे लोग कितना ही वेश क्यों न बदलें, उन्हें जानने वाले लोग उनके डील-डौल और आकृतियों से उन्हें पहचानने में भूल नहीं कर सकते।···अंधकार तथा निष्क्रियता के आवरण ने पृथ्वी को ढंक लिया तो उन्होंने वन की ओर से पूर्ण सावधानी का पालन करते हुए चैत्यक पर्वत पर चढ़ना आरंभ कर दिया।···प्रातः भीम ने ही पर्वत पर चढ़ना सब से सरल बताया था और इस समय उसी को यह कार्य सब से कठिन लग रहा था। पर्वत पर चढ़ने का इधर से कोई निश्चित मार्ग तो था नहीं। शायद वर्षो से इस दिशा से किसी ने चढ़ने का प्रयत्न ही नहीं किया था।···अंधकार के कारण कुछ विशेष दिखाई नहीं दे

रहा था। बहुत निकट जाने पर ही वृक्षों का स्वरूप प्रकट होता था। कौन-सी झाड़ी कब किसे लपेट लेगी, इसका अनुमान कठिन था। भूमि की स्थिति का जानना तो असंभव ही था। कभी कोई बेढब शिला, पैरों से टकरा जाती थी, कभी कोई फिसलन भरा पत्थर उनके जमे-जमाए पग ढकेल देता था। कंकड़ तथा गोल रोड़े लुढ़कने लगते तो ऊपर चढ़ना तो दूर, स्वयं को सँभालना ही कठिन लगने लगता था।...उस पर कृष्ण का निर्देश निरंतर उनके कानों पर बज रहा था कि किसी प्रकार का कोई शब्द नहीं होना चाहिए। यह चढ़ाई गोपनीय थी। इतनी गोपनीय, कि यदि प्रत्येक झाड़ी में जरासंध का एक गुप्तचर बैठा हो, तो उसे यह भनक भी न लगे कि किसी अन्य जीव का उसके निकट अस्तित्व भी है।...यदि कृष्ण ने यह बंधन न लगाया होता, तो भीम के लिए यह काम अधिक कठिन न होता। वह वृक्षों को हाथों से तोड़ता-मरोड़ता, पैरों से ठोकरें जमाता और छाती से घर्षण करता निकल जाता।...पर इस बंधन के विरुद्ध वह प्रतिवाद भी नहीं कर सकता था, गोपनीयता तो आवश्यक थी ही...

निशीथ के कुछ पश्चात् वे लोग प्रायः चैत्यक की चोटी तक पहुँच गए थे...और तब ही उन्हें आभास हुआ था कि जिन वृक्षों, झाड़ियों और लताओं को वे अब तक कोसते आए थे, वे उनके लिए एक प्रकार से रक्षा-कवच का काम कर रहे थे।...अब जब वे लोग उस क्षेत्र में पहुँच गए थे, जहाँ वन था ही नहीं, भूमि पर छिटकी चाँदनी हर पग पर उनकी उपस्थिति की घोषणा करती जा रही थी। यदि कहीं, कोई भी सजग प्रहरी बैठा होगा, तो अवश्य ही उन्हें देख लेगा...

"अब हमें रेंग कर ऊपर तक चढ़ना चाहिए।"

कृष्ण के इस नए निर्देश से भीम एकदम भड़क उठा, "ऐसी रात्रि में इस एकांत पर्वत पर कौन बैठा है, जो हमें देख लेगा। और यदि कोई देख ही लेगा, तो इससे पहले कि वह किसी को सूचना दे, मैं उसकी गर्दन मरोड़ दूँगा।"

"वह तो तुम कर ही सकते हो मध्यम !" कृष्ण बोले, "इसलिए तुम से वह करने के लिए कह रहा हूँ, जो तुम नहीं कर सकते। मैं मान लेता हूँ कि इस समय पर्वत-शृंग पर उसकी रखवाली करने के लिए कोई नहीं बैठा होगा, किंतु मुझे तो तुम्हारा संयम देखना है, कि तुम अपने व्यक्तित्व को कितनी देर छिपाए रख सकते हो और अपनी प्रकृति का कितना दमन कर सकते हो। इसी को तो तपस्या कहते हैं।"

"मैंने तो कभी तपस्वी होने का दावा ही नहीं किया।" भीम ने धीरे से उत्तर दिया, "तपस्वी तो वह है मौनी बाबा। जो तुम्हारे साथ-साथ चुपचाप रेंग रहा है।"

"लो । अब तो हम पहुँच ही गए।" कृष्ण ने भीम की ओर देखा, "दो-चार पग और रेंगो और हाथ बढ़ाकर चैत्यक की चोटी को छू लो। ऐसे...." और कृष्ण ने भीम की ओर देखते हुए, अपना हाथ ऊपर उठा दिया।

सहसा उन्हें लगा कि उनके उठे हुए हाथ को किसी ने पकड़ लिया है, और वह पकड़ने वाला हाथ, न भीम का था, न अर्जुन का। वे लोग तो उनके साथ ही लेटे हुए थे...

पलक झपकते ही, उस अदृश्य व्यक्ति के हाथ पर कृष्ण की पकड़ कस गई और इससे पहले कि वह उन्हें उठाता, कृष्ण उठ खड़े हुए और उनकी भुजा के एक झटके

ने उस व्यक्ति को धराशायी कर दिया।

भीम और अर्जुन ने भी सारी स्थिति भाँप ली थी। उन्होंने कुछ ही दूरी पर अपनी ओर बढ़ते कुछ और लोगों को देखा। निश्चित रूप से वे साधारण नागरिक नहीं थे। रात को इस समय इस पर्वत-शिखर पर किसी सामान्य नागरिक के उपस्थित होने का कोई अर्थ ही नहीं था। वे अवश्य ही प्रहरी अथवा सैनिक थे, जो उन्हें पकड़ने के लिए आगे बढ़ रहे थे।

भीम और अर्जुन ने उन्हें और आगे बढ़ने का अवसर नहीं दिया। वे तत्काल उन पर झपटे और लगा कि भीम के हाथ का संकेत पाते ही एक-एक कर वे व्यक्ति धराशायी होने लगे। कृष्ण से भिड़ने वाला व्यक्ति भी अचेत हो चुका था। अतः कृष्ण भी उनसे आ मिले। कुछ ही क्षणों में बिना किसी भी विशेष प्रयत्न के वे सारे सैनिक अचेत हो चुके थे।

भीम इस आकस्मिक युद्ध और विजय पर एक ठहाका लगाना ही चाहता था कि उसकी दृष्टि अपनी ओर भागती आती हुई एक धुँधली-सी छाया पर पड़ी। उसने यह भी देखा कि वह छाया सहसा ठिठक कर रुक गई और फिर विपरीत दिशा में दौड़ पड़ी।...भीम के पास सोचने अथवा अपने साथियों के साथ परामर्श करने का अवकाश नहीं था। वह तत्काल उस छाया के पीछे दौड़ पड़ा...

और तभी उन निष्क्रिय पड़े व्यक्तियों में से एक चिल्लाया, "नगाड़े बजा दो।"

कृष्ण का ध्यान उस सैनिक की ओर चला गया। वह अचेत नहीं था, किंतु इतना आहत अवश्य था कि उठ नहीं सकता था। इसलिए अब तक अचेत-सा पड़ा था, किंतु अपने भागते हुए साथी को देख, उसके माध्यम से इस आक्रमण की सूचना भिजवाने की सजगता उसमें अब भी थी...

"इसे देखो अर्जुन ! मैं नगाड़े को देखता हूँ।" कृष्ण ने कहा और वे उसी दिशा में भागे, जिधर वह छाया भागी थी।

भीम ने उस भागती हुई छाया को पकड़ लिया था और वह उसे चिल्लाने से रोकने के लिए उसका मुँह अपने हाथ से दबाए, उसे अपनी भुजाओं में उठाए हुए लौट रहा था।

"रुको मध्यम !"

भीम रुक गया।

"मेरी बात ध्यान से सुनो।" कृष्ण ने उस बंदी सैनिक से कहा, "यदि तुमने चिल्लाने अथवा सहायता के लिए किसी को पुकारने का प्रयत्न किया तो या तो हम तुम्हारा गला घोंट देंगे, अथवा पर्वत की दूसरी ओर उछाल देंगे...फिर तुम्हारे साथ जो भी हो।"

उस अँधेरे में भी कृष्ण ने उस व्यक्ति के चेहरे को भय से विकृत होते हुए देखा।

"और यदि तुम हमारे प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दोगे, तो हम तुम्हें तुम्हारे किसी एक आहत साथी के साथ बाँध जाएँगे। तुम मुक्त होकर अपने किसी भी अधिकारी को सूचना देने के लिए स्वतंत्र होगे। स्वीकार है ?"

"उस व्यक्ति ने अपना भयभीत सिर हिला दिया।"

"मध्यम। इसे बोलने दो।" कृष्ण ने कहा और भीम ने उस व्यक्ति को कृष्ण के सम्मुख भूमि पर खड़ा कर दिया।

"नगाड़े कहाँ हैं ?" कृष्ण ने पूछा।

"उधर !" उस सैनिक ने हाथ से संकेत किया, "विजय-स्तंभ के नीचे।"

"और यह विजय-स्तंभ क्या है ?"

"महाराज ने अपनी विजयों की स्मृति में बनवाया है।"

कृष्ण ने निमिष भर कुछ सोचा और पूछा, "तुम्हारे पास कृपाण है ?"

"जी।"

"लाओ। दो मुझे।"

सैनिक ने आज्ञा का पालन किया।

"मध्यम ! इसे इसके वस्त्र से किसी आहत सैनिक के साथ बाँध कर विजय-स्तंभ के पास आओ।"

भीम उस सैनिक को अपने कंधे पर उठा कर ले गया।

हाथ में उस सैनिक की कृपाण लिए हुए कृष्ण विजय-स्तंभ के पास आए। ज्योत्स्ना के धुँधले प्रकाश में उन्होंने देखा, थोड़ी-थोड़ी दूरी पर त्रिकोण बनाते हुए तीन दीर्घाकार नगाड़े रखे हुए थे। निश्चित रूप से उन्हें बजाया जाता होगा तो भयंकर शब्द होता होगा, जो इन पाँच पहाड़ियों से घिरे नगर को सिर से पाँव तक गूँजा देता होगा। ...यदि किसी ने पास या दूर से दो पांडवों के साथ कृष्ण को आते देख लिया होगा तो वह ये ही नगाड़े बजाएगा।...इन अचेत सैनिकों में से जिसकी चेतना लौटेगी, वह भी ये ही नगाड़े बजाने का प्रयत्न करेगा...इन नगाड़ों का बने रहना उचित नहीं है...कृष्ण ने कृपाण की नोक नगाड़े में चुभो दी...किंतु नगाड़े पर मढ़ा हुआ चमड़ा इतनी सुविधा से कटने वाला नहीं था। कृष्ण ने कटार पर अपना दबाव बढ़ाया...चमड़ा कुछ दूर तक चिर गया था।...कृष्ण ने एक-एक कर तीनों नगाड़ों का चमड़ा चीर दिया...

भीम आकर उनके पास खड़ा हो गया था।

"मध्यम !" कृष्ण बोले, "कृपाण से इन नगाड़ों का सारा चमड़ा काट डालो, इतना कि इनका जीर्णोद्धार अथवा पुनर्निर्माण एकदम संभव न रहे।"

"कटार की क्या आवश्यकता है।" भीम बोला, "मैं वैसे ही इन नगाड़ों को लीर-लीर कर देता हूँ।"

"नहीं मध्यम ! हल्का-सा भी शब्द नहीं होना चाहिए, नहीं तो हमारे किए कराए पर पानी फिर जाएगा।"

"समझ गया। लाओ, कृपाण मुझे दो।" भीम ने कृष्ण के हाथ से कृपाण ले ली।

कृष्ण का ध्यान अब उस विजय-स्तंभ की ओर चला गया। वे उसकी ओर बढ़े ही थे कि अर्जुन भी उनसे आ मिला।

"उस बंदी का क्या किया ?"

"वह अचेत हो गया है।"

"ठीक है ! आओ देखें।"

उस चाँदनी में विजय-स्तंभ बहुत स्पष्ट किंतु भयंकर दिखाई पड़ रहा था। एक

हिंस्र सिंह निरीह और असहाय मृगों का पीछा कर रहा था। उसका मुँह गर्जन करने की मुद्रा में खुला हुआ था। मुख पर रक्त लगा ही नहीं हुआ था, रक्त की बूंदें टपक भी रही थीं। उसके तीन पंजों के नीचे एक जीवित किंतु आहत मृग पड़ा हुआ था, और उसका उठा हुआ चौथा पंजा घबरा कर भागते हुए मृग को दबोचने की प्रक्रिया में था।...

विजय-स्तंभ क्या था, हिंसा तथा राक्षसी क्रूरता का बीभत्स चित्रण था।...कृष्ण को समझते देर नहीं लगी कि इसमें जरासंध ने स्वंय को सिंह तथा अन्य राजाओं को डरे-सहमे हुए मृगों के रूप में चित्रित किया था।

कृष्ण ने उस सिंह के उठे हुए पंजे को पकड़ कर पीछे की ओर खींचा। पत्थर पर्याप्त कठोर था, किंतु कृष्ण ने हार नहीं मानी। पूरी एकाग्रता से अपने सारे शरीर का बल अपनी भुजाओं में केन्द्रित कर उसे पुनः खींचा। सिंह का पंजा टूट कर कृष्ण के हाथ में आ गया।...

"जरासंध ! ऐसे ही तुम्हारा पंजा भी तोड़ा जाएगा।" कृष्ण ने धीरे से कहा।

"इसे मेरे लिए छोड़ दो कृष्ण !" भीम ने कहा, "तुम्हें मालूम है कि ऐसे कामों में मेरी अत्यंत गंभीर रुचि है।" भीम बोला, "किंतु मैं इसे हाथों से खींच कर नहीं, पैरों की ठोकरों से ध्वस्त करूँगा।"

भीम ने उस पर अपने पैर का एक जोरदार प्रहार किया। कृष्ण और अर्जुन भी पूरी निष्ठा से उसे गिराने का प्रयत्न कर रहे थे। तीनों में एक प्रकार की होड़-सी मच गई थी कि कौन उस स्मारक का कितना भाग नष्ट करता है।

थोड़ी ही देर में उन्होंने उस स्मारक को प्रायः नष्ट कर दिया था।

"यह तो हुआ।" कृष्ण ने हाथ झाड़ते हुए कहा, "किंतु इसमें हमारा काफी समय नष्ट हो गया है। अब हमें शीघ्र ही नीचे उतर कर नगर में कहीं छिप जाना चाहिए। यह न हो कि सूर्योदय हो जाए और हम पर किसी की दृष्टि पड़ जाए।"

"उन अचेत और आहत सैनिकों का क्या करना है ?" अर्जुन ने पूछा।

"वहीं पड़े रहने दो। अगली पाली के सैनिक आएँगे, तो स्वयं उन्हें सँभाल लेंगे।" कृष्ण ने उत्तर दिया, "आओ ! अब विलंब मत करो।"

वे लोग पर्वत की ढाल पर नगर की ओर फिसलते चले गए।

पर्वत से नीचे उतरते-उतरते दिन का उजाला हो गया। नगर में साधारण कार्य-कलाप आरंभ हो चुका था। गिरिव्रज में पशुओं की कमी नहीं थी। प्रत्येक गृहस्थ के द्वार पर दो-चार पशु बँधे ही हुए थे। यद्यपि नगर के निकट कोई नदी नहीं बहती थी, किंतु जल की विपुलता दिखाई देती थी। घर-घर में कुएँ थे और नगर में सार्वजनिक बावड़ियाँ तथा सरोवर भी दिखाई पड़ रहे थे।

"नगर में समृद्धि की तो कमी नहीं लगती ।" अर्जुन ने धीरे से कहा।

"राक्षसों के नगर में समृद्धि की क्या कमी।" कृष्ण बोले, "यहाँ का तो सारा व्यापार ही पराए धन पर चलता है। जिस जरासंध ने सौ राजाओं को पराजित कर, बलि देने के लिए बंदी कर रखा है, उसने उनके कोष भी तो हथिया लिए होंगे। वह राजकोष

को उन राजाओं की रानियों अथवा उनके पुत्रों को तो नहीं दे आया होगा।"

क्रमशः हाट खुलते जा रहे थे। व्यापारी समृद्ध और प्रसन्न दिखाई पड़ते थे। नगर में समारोह का-सा वातावरण था।

"क्यों भाई ! आज नगर में कोई उत्सव है क्या ?" भीम ने एक दुकानदार से पूछा।

"आज ही क्यों ? यहाँ तो प्रतिदिन ही कोई-न-कोई उत्सव होता रहता है।" दुकानदार ने उत्तर दिया, "कभी किसी राजा को बंदी बना कर लाया जा रहा है, कभी किसी को। और अब तो उनकी बलि की तैयारी है। इधर महाराज का अनिष्ट-शांति का व्रत पूरा हुआ, और उधर राजाओं की बलि हुई। मुंड पर मुंड लुढ़केंगे। रक्त के फव्वारे चलेंगे और चीत्कारों से इन पाँचों पर्वतों की नींवें तक हिल जाएँगी।"

"प्रजा तो प्रसन्न है न ?" कृष्ण ने पूछा।

"तुम कौन हो ?" दुकानदार ने संशयपूर्वक उन तीनों की ओर देखा।

"परदेशी हैं।" कृष्ण ने कहा, "भाग्य-परीक्षण के लिए आए हैं।"

"वृक्ष में हृदय है तो भाग्य फलित नहीं होगा।" दुकानदार बोला, "हाँ ! हृदय को पत्थर बना सको, तो गिरिव्रज की वीथियों में बहता स्वर्ण समेट कर गठरी बाँध लो।"

"तुम अपने नगर से प्रसन्न नहीं लगते भाई।" अर्जुन ने अत्यन्त मधुर स्वर में कहा।

"प्रसन्न क्या होना। अपना कपाल फोड़ते हैं कि जाने पिछले जन्म में कौन-से कुकर्म किए थे कि इस पाप नगरी में जन्म मिला।"

"क्यों भाई ! तुम इतने दुखी क्यों हो ?" कृष्ण ने उसकी ओर सहानुभूति भरी दृष्टि से देखा।

"क्या कहें महाराज ! यहाँ तो जबरे का ही बोलबाला है। जो दूसरे का रक्तपान कर सके, वही प्रसन्न रह सकता है, अन्यथा कोई सुनवाई नहीं है। आप किसी का विश्वास नहीं कर सकते''न अपने पड़ोसी का, न भाई-बंधु का, न मित्र-जार का। जिसको अवसर मिलेगा''वही कृपाण घोंप देगा आपकी पीठ में।"

"राजा कुछ नहीं करता ?"

"राजा को अवकाश कहाँ है प्रजा के लिए।" दुकानदार बोला, "वह तो इसको मार, उसको मार। वह अपना राज्य भी बढ़ा रहा है और अपना अहंकार भी । घर के भीतर क्या हो रहा है, उसकी कुछ चिंता ही नहीं।"

"पर नगर में लोग इतने प्रसन्न क्यों दीखते हैं फिर ?" भीम ने कहा।

"लूट में सम्मिलित हो जाएँ, तो आप भी प्रसन्न ही दीखेंगे।" वह बोला, "भेड़ियों का झुंड है, मृगों का आखेट चल रहा है। जबरे को देखें तो हाथ जोड़ें, चरण चाटें, उपहार दें। दुर्बल को पाएँ तो उसके कंठ में अपने दाँत गड़ा दें। भगवान जाने इस नगर का क्या होने वाला है।"

"यहाँ कोई धर्मात्मा नहीं रहता ?" कृष्ण ने पूछा।

"कुछ नाग हैं, कुछ राक्षस''जो धर्मात्माओं के समान पूजे जा रहे हैं। किसी का साहस नहीं है कि कहे कि पापियो ! तुम्हारे अधरों पर तो निर्बलों का रक्त लगा है, यह कपाल पर चंदन लगाए क्यों घूम रहे हो।" वह रुका, "अब आप पधारिए महाराज !

मेरी जिह्वा तो थमती ही नहीं है। अभी कोई गुप्तचर आ गया तो आप भी व्यर्थ कष्ट में पड़ेंगे।"

"चले जाएँगे भाई।" कृष्ण बोले, "तुम हमारे लिए चिंता मत करो। अपनी सुरक्षा की इतनी ही चिंता होती तो हम अपने घरों में घुसकर बैठे होते। हम तो निकले ही हैं संकटों से जूझने।"

"तो ठीक है।" दुकानदार बोला, "कोई अनहोनी हो गई, तो मुझे दोष मत दीजिएगा कि मेरे कारण आप संकट में फँसे।"

"तुम्हें दोष नहीं देंगे।" कृष्ण बोले, "मैंने तो सुना है कि तुम्हारा राजा बहुत धर्मात्मा है। आजकल उपवास कर रहा है, ब्राह्मणों को मुँहमाँगा दान दे रहा है। किसी यज्ञ की तैयारी है।"

"दान देने वाले सब धर्मात्मा होते हैं क्या ?" दुकानदार तड़पकर बोला, "सकाम दान कर रहा है। एक सौ क्षत्रिय राजाओं की बलि चढ़ाने जा रहा है। उस पाप-कर्म में सफलता पाने की कामना से ब्राह्मणों को उत्कोच दे रहा है।"

"किस समय मिलता है यह दान ?" कृष्ण ने पूछा, "हमें मिल पाएगा क्या ? बहुत दूर से आए हैं हम।"

"सब को मिलता है, तो तुम्हें क्यों नहीं मिलेगा।" उसने उत्तर दिया, "तुम भी जा घुसो भिखमंगों की उस भीड़ में। बन जाओ उस हत्यारे राजा के चारण। उसकी और उसके पुरखों की स्तुति करो। उसे धर्मराज, धर्मात्मा और महादानी सिद्ध करो, तुम्हें भी कुछ टुकड़े दे ही देगा।"

"अभी सीधे वहीं चले जाएँ ?" कृष्ण ने पूछा।

"जब इच्छा हो चले जाओ, किंतु दान तो गोधूलि के बाद ही मिलता है। प्रातः से भीड़ एकत्रित होने लगती है। अपनी बारी तुम भी लगा लो।"

"अच्छा भाई हम चलते हैं।" कृष्ण ने आशीर्वाद की मुद्रा में अपना हाथ उठाया, "प्रभु तुम्हारा कल्याण करे। मुझे तो तुम विभीषण का ही दूसरा रूप लग रहे हो। उसी के समान लंका के राक्षस-राज्य में रह कर तपस्या कर रहे हो।"

वे तीनों चल पड़े।

दिन भर वे लोग हाटों और वीथियों में घूमते रहे। सारे नगर में उत्सव और समारोह का वातावरण था। किंतु समारोह तो राजा और राजकर्मचारियों की ओर से ही था। प्रजा की विशेष भागीदारी दिखाई नहीं पड़ रही थी। फिर भी स्थान-स्थान पर भीड़ तो थी ही। नगर के बाहर से भी बहुत लोग आए हुए लग रहे थे। अनेक व्यापारी थे। बहुत सारे ब्राह्मण दान के लोभ में उपस्थित थे। नागरिकों के अपने अतिथि भी थे, जो नगर का उत्सव देखने की इच्छा से टिके हुए थे। स्थान-स्थान पर दंडधरों, प्रहरियों और सैनिकों की चौकियाँ थीं, जो नगर में अनुशासन बनाए रखने के लिए स्थापित की गई थीं। उन में उपस्थित राज-कर्मचारी अपने मनोरजंन में व्यस्त दिखाई देते थे। कोई मदिरा में धुत्त था, तो कोई किसी चंचल गणिका से बतियाने में लगा हुआ था। वे लोग अनुशासन

की रक्षा करने से अधिक उसे भंग करते ही दिखाई पड़ रहे थे।

राजा अपने आयोजन में व्यस्त था। नगर में समारोह था और समारोह के लिए भीड़ थी। नगर में क्या हो रहा था, कदाचित् वह सब सुनने और जानने के लिए राजा के पास न अवकाश था, न इच्छा।

भीड़ की भीड़ राजप्रासाद की ओर चली जा रही थी। उसमें स्नातक ब्राह्मण भी थे, साधारण याचक भी, साधु-संन्यासी और तपस्वी भी।"सब का एक ही लक्ष्य था"राजप्रासाद ! राजा अपने यज्ञ से पहले पूर्ण अनिष्टशमन चाहता था। ये सारे लोग राजा से दान ग्रहण कर, उसे आशीर्वचन देने जा रहे थे।[1] वे स्नातक ब्राह्मणों के वेश में थे और चंदन के लेप तथा फूलों की मालाओं से इस प्रकार आच्छन्न थे कि उनके रूप को देखना संभव ही नहीं था। वे फूलों तथा अन्य उपकरणों से अलंकृत मूर्तियों के समान थे, जिनमें से किसी एक को व्यक्तिगत रूप से पहचानना कठिन था।

आगंतुकों से ठसाठस भरी, राजप्रासाद की तीन ड्यौढ़ियाँ पार कर वे उस सभागार में आए, जहाँ जरासंध का दानयज्ञ चल रहा था। सभागार का आकार अत्यन्त विराट था, जिसमें एक ओर जरासंध एक ऊँचे सिंहासन पर बैठा था। उसके निकट अनेक मंत्री और राजकर्मचारी थे। भंडारी लोग थालियों में रखे वस्त्र और मिष्टान्न ला रह थे।

थालियाँ उनके हाथों से होती हुई जरासंध के सम्मुख पहुँचती थीं। वह अपने हाथ से उनका स्पर्श कर देता था और थलियाँ पुनः कर्मचारियों से शृंखला से होकर याचकों तक आ पहुँचती थीं। याचकों की भीड़ टूटी पड़ रही थी। सब का एक ही प्रयत्न था कि अन्य लोगों को धकिया कर वे सब से आगे पहुँच जाएँ और कर्मचारियों से थाली प्राप्त कर लें।

भीम ने उस भीड़ में से आगे जाने का मार्ग बनाने का प्रयत्न करना चाहा तो कृष्ण ने उसे संकेत से रोक दिया। भीम समझ नहीं पाया कि कृष्ण की क्या इच्छा है, किंतु इतना तो वह जानता ही था कि सारी योजना कृष्ण की ही थी। जाने उसने अपने मन में क्या सोच रखा था। बहुत कुछ तो निश्चित था, किंतु बहुत कुछ ऐसा भी था, जो यहाँ की परिस्थितियाँ देखकर कृष्ण को ही तय करना था। अब इस भीड़ में भीम सार्वजनिक रूप से न तो कृष्ण से कुछ पूछ सकता था और न वह स्वतंत्र रूप से निर्णय ले सकता था। उसे तो वही करना था, जिसका कृष्ण निर्देश करे।"किंतु वह यह देख-देख कर विचलित अवश्य हो रहा था कि कृष्ण अपने पीछे आने वाले प्रत्येक याचक को आगे बढ़ने की अनुमति ही नहीं दे रहे थे, वरन् वे उन्हें इसके लिए प्रेरित भी कर रहे थे। हर बार वे पीछे हटने का कोई-न-कोई कारण खोज लेते थे।"पता नहीं कृष्ण के मन में क्या था। यह तो निश्चित ही था, कि वे लोग दान लेने नहीं आए थे, पर जो कुछ भी करना था, उसके लिए जरासंध तक पहुँचना तो आवश्यक था। वे लोग जरासंध तक पहुँचेंगे ही नहीं, तो उसका वध कैसे करेंगे"

जब दो-चार याचक ही और रह गए तो एक कर्मचारी ने एक थाली उनकी ओर

---

1. "कृष्ण, अर्जुन और भीम भी उसी भीड़ का अंग बनकर बढ़ते जा रहे थे।

भी बढ़ाई।

"नहीं। हम यह नहीं लेंगे।" कृष्ण ने कहा।

"तो क्या लोगे ?"

"अपना मुँह-माँगा लेंगे।"

"माँगो।"

"उसी से माँगेंगे, जिसके हाथ से लेना है।"

कर्मचारी ने चकित होकर कृष्ण की ओर देखा, "किसके हाथ से लेना है ?"

"राजा के हाथ से।"

"तो राजा ही तो दे रहे हैं। मैं कौन-सा अपने घर से लाया हूँ।"

"नहीं! हम महाराज के हाथ से ही लेंगे। बीच में कोई निमित्त भी नहीं होना चाहिए।"

कर्मचारी ने कुछ खीझ कर शेष याचकों को निपटाया और कहा, "बोलो ! क्या माँगना है महाराज से ?"

"इन दोनों ने व्रत ले रखा है," कृष्ण ने भीम और अर्जुन की ओर संकेत किया, कि मध्य-रात्रि से पहले नहीं बोलेंगे, "इसलिए ये लोग मध्य-रात्रि के बाद ही महाराज को बताएँगे कि यें लोग क्या दान लेना चाहते हैं।"

भीम और अर्जुन ···दोनों ही ने संकेत समझ लिया। उन्हें अब कुछ भी नहीं बोलना है। वार्तालाप का सारा दायित्व कृष्ण का ही था।

"तो फिर मध्य रात्रि के बाद ही आते, इस समय क्यों आ गए हो ?" कर्मचारी ने चिढ़ कर कहा।

"मध्यरात्रि में तुम हमें इस सभागार में प्रवेश करने दोगे, तो मध्यरात्रि में ही आ जाएँगे।" कृष्ण बोले, "क्या कहते हो, अभी जाएँ ?"

"जाओगे नहीं तो क्या मध्यरात्रि तक मेरे सिर पर सवार रहोगे ?" कर्मचारी का स्वर कुछ ऊँचा हो गया।

"वचन देते हो कि मध्यरात्रि में राजा के शयन-कक्ष में प्रवेश करने दोगे ?"

कर्मचारी पूर्णतः अनियंत्रित हो उठा, "अपनी मर्यादा में रहो। यह थाली लेनी है तो लो, नहीं तो चलते बनो। वचन तो ऐसे माँग रहे हैं, जैसे राजा के जामाता हों···।"

लगा, जरासंध की अधमुँदी-सी आंखें खुल गईं। उसने पास खड़े मंत्री से कुछ कहा। मंत्री ने पुरोहित को कोई संदेश दिया, और पुरोहित उनकी ओर बढ़ा।

"थाली लोगे या बाहर जाओगे ?" कर्मचारी ने चेतावनी भरे स्वर में पूछा। लगा कि मना करते ही वह उनको धक्के मार कर बाहर निकाल देगा।

"राजपुरोहित इधर आ रहे हैं। मैं उन्हीं को उत्तर दूँगा।" कृष्ण ने कहा।

कर्मचारी के लिए अपनी यह उपेक्षा असह्य थी। उसका हाथ उठते-उठते रह गया, किंतु वाणी की कटुता और सघन हो गई, "वह राजपुरोहित नहीं है। यज्ञ कराने वाला दलाल है। उससे बात कर तुम बहुत महान् नहीं हो जाओगे। और वह तुम्हें इस थाली से अधिक दे भी क्या सकता है। उसके तो अपने मुख से एक-एक थाली के लिए लार टपकती रहती है।"···

पुरोहित निकट आ गया था। उसने स्नातक ब्राह्मणों की-सी उनकी वेशभूषा देखकर

हाथ जोड़ कर नमकार किया, "क्या बात है महाराज ! सम्राट् जानना चाहते हैं, क्या इच्छा है आपकी ?"

"इन्हें दान में यह थाली नहीं चाहिए। सम्राट् से कोई विशेष दान माँगते हैं।" कर्मचारी ने जैसे उनकी शिकायत की।

"तो माँगने दो। सम्राट् इतने असमर्थ तो नहीं हैं कि तपस्वी ब्राह्मणों की छोटी-मोटी इच्छाएँ भी पूरी न कर सकें।"

"पर ये अपनी इच्छा तो मध्यरात्रि के पश्चात् बताएँगे···ऐसा व्रत है इनका।" कर्मचारी अपने असमर्थ आक्रोश से रुआंसा हो गया था, "सम्राट् क्या इन भिखमंगों के लिए मध्यरात्रि तक बैठे जागते रहेंगे ? वे उपवास के मारे वैसे ही कम उद्विग्न नहीं हैं, ऊपर से ऐसे विचित्र याचक आ जाएँ···।"

"तो तुम क्या चाहते हो ?" पुरोहित ने पूछा।

"इन्हें निकाल बाहर करना चाहता हूँ।" कर्मचारी ने दृढ़ता से कहा।

"द्वार पर आया याचक बिना दान लिए लौट जाएगा, तो सम्राट् का व्रत नहीं टूट जाएगा।" पुरोहित ने उसे डाँटा, "तुम चाहते हो कि सम्राट् के सारे किए-धरे पर पानी फिर जाए ?"

कर्मचारी हतप्रभ खड़ा रह गया···यह तो उसने सोचा ही नहीं था···पर उसकी खीझ उद्दंडतापूर्वक अपने स्थान पर अड़ी हुई थी, "तो ये लोग मध्यरात्रि तक यहीं जमें रहेंगे ?"

"अब ये लोग आ गए हैं, तो दान दिए बिना तो इन्हें बाहर भेजा नहीं जा सकता, नहीं तो इतने दिनों का सम्राट् द्वारा किया गया आयोजन ध्वस्त हो जाएगा···" पुरोहित रुका, "अच्छा ठहरो मैं सम्राट् से ही पूछता हूँ।"

उन लोगों को वहीं खड़े छोड़ पुरोहित जरासंध के पास लौट गया। मंद स्वर में थोड़ी देर वह जरासंध को स्थिति समझाता रहा। उसकी बात सुनकर जरासंध ने एक बार इन लोगों की ओर देखा और पुरोहित को कोई आदेश दे दिया।

पुरोहित लौट आया, "ये दान दिए बिना नहीं लौटाए जा सकते, किंतु इनका मध्य रात्रि तक इसी सभागार में रहना आवश्यक नहीं है।" उसने कहा, "सम्राट् के संन्यास-क्षेत्र की मर्यादा के भीतर ये कहीं भी आ-जा सकते हैं, जैसे कि सम्राट् आते-जाते हैं। दान स्वीकार करने से पूर्व ये उससे बाहर नहीं जा सकते।···"

"तो इस समय इनका क्या करूँ ?" कर्मचारी का स्वर बहुत ऊँचा नहीं उठा, किंतु उसका आक्रोश बहुत मुखर था।

"यज्ञशाला में इनके ठहरने की व्यवस्था करवा दो।"

"हाँ। ठहरने की व्यवस्था करवा दो, जैसे कंगले भिखारी न हों, राज-अतिथि हों।"

"साधु-संन्यासियों के प्रति तुम्हारे ये दुर्वचन उचित नहीं हैं, कर्मचारी।" पुरोहित ने उसे डाँटा, "इससे सम्राट् के पुण्य की हानि होगी।"

कर्मचारी सहम कर चुप हो गया। उसे उस क्षण वहाँ से टल जाना ही अपने हित में लगा। उसने संकेत कर उन्हें अपने पीछे आने के लिए कहा।

उन्हें यज्ञशाला में पहुँचा कर कर्मचारी चले गए। पूर्ण एकांत हो गया तो कृष्ण बोले, "हमें अपने मन के सर्वथा अनुकूल परिस्थितियाँ मिल गई हैं। इस समय हम लोग जरासंध के साथ उसके संन्यास-क्षेत्र में बंदी हैं। हमारे इस प्रकार बंदी होने का अर्थ है कि इस क्षेत्र के भीतर और कोई नहीं होगा, संभवतः जरासंध के सेवक और अंग-रक्षक भी नहीं। जरासंध ने हमें बिना दान लिए लौटने नहीं दिया, इसका अर्थ है वह अपने व्रत के प्रति बहुत गंभीर है…।"

"गंभीर तो उसे होना ही चाहिए, " अर्जुन बोला,"आखिर वह एक यज्ञ करने जा रहा है।"

कृष्ण के मुखमंडल पर अवसाद का एक झीना-सा आवरण छा गया, "कितना स्वार्थी और पतित हो जाता है मनुष्य। एक सौ मनुष्यों की अकारण और क्रूरतापूर्ण हत्या को वह धार्मिक कृत्य मान रहा है। सब से बड़ा अनिष्ट करने के लिए, अनिष्ट-निवारण हेतु, उपवास कर रहा है…।"

"किंतु राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञों को तो पवित्र यज्ञ माना गया है," भीम ने कहा, "महाराज युधिष्ठिर भी तो राजसूय यज्ञ की तैयारी कर रहे हैं, तो फिर जरासंध को क्यों उसका अधिकार नहीं है ?"

"राजसूय और अश्वमेध यज्ञ प्रजा को एक सुरक्षित तथा विशाल धर्मराज्य देने के लिए संपन्न किए जाते हैं, अत्याचार, पीड़न तथा शोषण बढ़ाने तथा अधर्म को बल देने के लिए नहीं।" कृष्ण बोले, "क्या लक्ष्य है जरासंध का ? क्या उसने सोचा भी है कि प्रजा के लिए समता, सुरक्षा, सम्मान और समृद्धि का क्या अर्थ है ? उसके आचरण में कहीं तनिक-सी सात्विकता, दया, प्रेम तथा स्वार्थहीनता आई है ? क्या उसने अपने अहंकार के सिवा, किसी अन्य का पालन-पोषण किया है ? मध्यम ! किसी का धन छीनने के लिए उसकी हत्या करने और हत्यारे को दण्डित करने के लिए उसका वध करने में बहुत अंतर है। पाप को मिटाने के लिए धर्म-कर्म करना और पापकर्म को ही धर्म का नाम देना…दोनों एक हैं क्या ? तुमने देखा नहीं, वह कर्मचारी दान देते हुए भी कितना अहंकारी प्रतीत हो रहा था।"

"अच्छा तो हमने माना कि अपने इस यज्ञ के प्रति जरासंध बहुत गंभीर है।" भीम ने जैसे विषयांतरण के लिए कहा, "तो उससे हमें क्या लाभ होगा ?"

"इसका अर्थ है कि मध्य रात्रि के बाद वह हम से यह पूछने अवश्य आएगा कि हमें दान में क्या चाहिए।" कृष्ण बोले, "और जो कुछ हम माँगेंगे, उसे वह मना नहीं कर सकता, नहीं तो उसका व्रत खंडित हो जाएगा। खंडित-व्रत व्यक्ति यज्ञ नहीं कर सकता। अतः यज्ञ करने के लिए, उसे अपना व्रत एक बार फिर से आरंभ करना होगा। और ऐसा वह कभी नहीं चाहेगा।"

"अपने यज्ञ के प्रति वह बहुत गंभीर है, " अर्जुन बोला,"किंतु इसका यह अर्थ तो नहीं है कि वह मरने भी लगेगा, तो सहायता के लिए अपने सैनिकों और सेनापतियों को नहीं पुकारेगा। यदि उसे अपने व्रत और अपने जीवन में से किसी एक को चुनना पड़ा तो वह अपने जीवन को ही चुनेगा। ऐसा चरित्रवान वह नहीं है कि व्रत के लिए अपने प्राण दे दे।"

"ठीक कहते हो। उसके चरित्र का प्रशंसक मैं भी कभी नहीं रहा।" कृष्ण बोले, "किंतु क्षेत्र-संन्यास के माध्यम से जहाँ उसने स्वयं को इस क्षेत्र में बंदी कर रखा है, वहाँ उसका अर्थ यह भी है कि यज्ञ-पर्यन्त यह राजा का निवास-स्थान है। एक प्रकार से उसका अंतःपुर है। मेरा विचार है कि रात्रि के समय इस सारे क्षेत्र में से सारे सैनिक तथा प्रहरी बाहर चले जाते होंगे। वे लोग इस क्षेत्र के बाहर से राजा की रखवाली करते होंगे। उनमें से कितने जागते होंगे और कितने सो गए होंगे, कहना कठिन है। इसका अर्थ है कि बहुत सुविधा से उसे सहायता नहीं मिल पाएगी। इसलिए हमसे उसे स्वयं युद्ध करना होगा, और वह युद्ध हमारी अपनी इच्छाओं के अनुकूल परिस्थितियों में होगा।"

मध्य रात्रि के तत्काल पश्चात् सचमुच जरासंध आकर उनके सम्मुख खड़ा हो गया।

"लो ! मैं आ गया।" वह बोला, "बोलो, क्या याचना है तुम्हारी ?"

कृष्ण ने अपने शरीर से सारी मालाएँ पृथक कर दीं।

"तुम !" जरासंध अपने स्थान पर स्तब्ध खड़ा रह गया, "तुम मेरे मित्र नहीं हो। तुम यज्ञ के अवसर पर मेरे घर क्या करने आए हो ?"

"तुम मेरे मित्र नहीं हो।" कृष्ण बोले, "इसलिए तुम्हारे नगर में द्वार से नहीं आया। तुम्हारे पर्वत को लाँघ कर, तुम्हारा विजय स्तंभ ध्वस्त कर, तुम्हारे नगाड़े फाड़ कर तुम्हारे नगर में आया हूँ जैसे शत्रु के घर जाना चाहिए। तुम मेरे मित्र नहीं हो, इसलिए तुम्हारा सत्कार ग्रहण नहीं किया।"

"ये लोग कौन हैं ?" जरासंध ने भीम और अर्जुन की ओर देखा, "किन लोगों को इस प्रकार छुपा पर मेरे घर में घुसा लाए हो ?"

कृष्ण के संकेत पर भीम और अर्जुन ने अपना रूप छिपाने के लिए लपेटे गए वस्त्र और पुष्प-आभूषण उतार दिए।

"ये हैं पांडु-पुत्र भीम और अर्जुन ! महाराज युधिष्ठिर के छोटे भाई।" कृष्ण बोले, "तुम इन्हें पहचानते ही होगे। कांपिल्य में द्रौपदी के स्वयंवर के अवसर पर तुमने इन्हें देखा होगा।"

जरासंध के मुख का वर्ण पीला पड़ गया, "यह धोखा है। क्षात्र धर्म नहीं है यह।"

"तुम आज तक जो कुछ करते आए हो, वह क्षात्र-धर्म है क्या ?" कृष्ण हँस पड़े, "फिर भी हम क्षात्र-धर्म नहीं छोड़ेंगे।"

"तुम तीन महारथी और मैं अकेला," "जरासंध ने जिह्वा से अपने अधर गीले किए, "और फिर मेरे पास कोई शस्त्र भी नहीं है।"

"शस्त्र तो हमारे पास भी नहीं है।" कृष्ण ने अपने दोनों हाथ उठा दिए, "और यदि तुम हम में से किसी एक के साथ लड़ना चाहो, तो शेष दो व्यक्ति बीच में हस्तक्षेप भी नहीं करेंगे।"

"मैं तुम्हारा विश्वास नहीं करता।" जरासंध कुछ-कुछ सँभलता जा रहा था, "गोमंत पर्वत पर भी तुम दोनों भाई निःशस्त्र ही दिखाई देते थे, किंतु इतने सारे शस्त्र कहाँ से प्रकट हो गए थे ?"

"मैं भी तुम्हारा विश्वास नहीं करता।" कृष्ण गंभीर वाणी में बोले, "नहीं तो हम तुम्हें चेतवानी देकर आए होते और सार्वजनिक रूप से मध्यम पांडव तुम्हारे साथ बाहु-युद्ध करते।"

"तो अब क्या चाहते हो ?" जरासंध बोला, और सहसा उसकी मुद्रा बदल गई, "मैं तुम से भयभीत नहीं हूँ। तुम ही कायरों के समान मथुरा छोड़ कर भाग गए थे और आज तुम ही छिपकर मेरे घर में घुस आए हो।"

"बीसियों राजाओं की क्रूर सेनाओं को एकत्रित कर मथुरा की निरीह प्रजा को नष्ट करना यदि वीरता है, तो तुम वीर हो। सहस्रों सैनिकों द्वारा दो क्षत्रियों को घेर कर, आग लगा उन्हें जीवित जला देने का प्रयत्न वीरता है, तो तुम वीर हो। उन्हीं दो व्यक्तियों से पराजित होकर पलायन करना वीरता है, तो तुम वीर हो।" कृष्ण मुस्कराए, "तुम्हारी सारी सुरक्षा व्यवस्था को अंगूठा दिखा तुम्हारे घर में घुस आना प्रवचंना है, तो मैं प्रवंचक हूँ।...और जहाँ तक वीरता की बात है, सुनो जरासंध। हम अपनी वीरता की परीक्षा भी देंगे, और तुम्हारी वीरता को भी परखेंगे।..." कृष्ण ने रुक कर उसे देखा, "यदि तुमने अपने सहायक बुलाने का प्रयत्न किया तो हम तीनों तत्काल तुम पर आक्रमण कर देंगे, और यदि तुम हम में से किसी एक से युद्ध करना चाहो... ।"

"मैं वह सब कुछ नहीं करूँगा।" जरासंध उत्तेजित स्वर में बोला, "मैं अभी अपने सैनिकों और सेनापतियों को पुकारता हूँ। तुम इस बार मेरे हाथों से बचकर नहीं जा सकते।"

"जरासंध !" कृष्ण की वाणी में चेतावनी थी, "यदि तुमने किसी को पुकारा तो हम उसे युद्धारंभ मानेंगे, और हम तीनों अपनी नीति से युद्ध करेंगे। बहुत संभव है कि तुम्हारे किसी सहायक के आने से पहले ही तुम्हारा प्राणांत हो जाए।" वे थम कर बोले, "और यदि तुम हममें से किसी एक से द्वन्द्व-युद्ध करना चाहो... ।"

"मैं तुम पर विश्वास नहीं करता।" जरासंध बोला, "तुम निःशस्त्र युद्ध आरंभ करोगे और फिर तुम्हारे शस्त्र तुम्हारे हाथों में प्रकट होने लगेंगे।...मैं अर्जुन को भी जानता हूँ उसे बाहु-युद्ध का अभ्यास नहीं है, इसलिए वह भी कहीं-न-कहीं धनुष-बाण छिपा कर लाया ही होगा। मृत्यु को सम्मुख देखेगा तो सारा क्षात्र-धर्म भूलकर धनुष-बाण उठा लेगा। वैसे भी अर्जुन को मल्लयुद्ध में मारकर मुझे क्या यश मिलेगा। चींटी को पैरों तले कुचल कर हाथी यशस्वी नहीं हो सकता।" जरासंध रुका, "हाँ ! भीम से बाहु-युद्ध किया जा सकता है। मैंने उसे कांपिल्य में राजाओं की भीड़ से लड़ते देखा है। वहाँ सशस्त्र युद्ध करने की कोई मनाही नहीं थी, फिर भी उसने शस्त्र धारण नहीं किया था। हाँ, इस मध्यम पांडव से बाहु-युद्ध किया जा सकता है। उसे मार कर मेरे यश को कलंकित नहीं होना पड़ेगा।" उसने कृष्ण की ओर देखा, "पर इसकी क्या आश्वस्ति है कि भीम को पराजित होते देख तुम लोग हस्तक्षेप नहीं करोगे और अपने शस्त्रों से मुझे मार नहीं डालोगे ?"

"तुम्हें मेरे वचन का विश्वास करना होगा।" कृष्ण बोले,"हम तीनों इसी समय तुम पर टूट पड़ें, तो न तुम हमें रोक सकते हो, न अपने प्राणों की रक्षा कर सकते हो। फिर भी हमने तुम्हें जीवित छोड़ रखा है। यह इसीलिए क्योंकि हम चाहते हैं कि हम

क्षत्रियों के समान धर्म-युद्ध करें, किंतु हम तुम्हें रणक्षेत्र में वीरगति पाने वाले क्षत्रिय योद्धा का गौरव नहीं दे सकते। इसलिए युद्ध-भूमि में शस्त्रों से तुम्हारा वध नहीं होगा। तुम यहीं एक दस्यु की मृत्यु प्राप्त करोगे— गौरवहीन, एकांत मृत्यु।"

जरासंध की आँखें भय से फैल गईं। उसका शरीर कृष्ण की वाणी से थराथरा उठा। वह कृष्ण को जानता था; कृष्ण का कहा असत्य नहीं हो सकता।

"यह धर्म नहीं है कृष्ण।" उसने जैसे अपनी रक्षा का अंतिम प्रयत्न किया।

"इसमें अधर्म कहाँ है ?" कृष्ण वोले, "तुमने स्वयं भीम के साथ वाहु-युद्ध स्वीकार किया है। हम तुम्हें उसका पूर्ण अवसर देंगे। हाँ। यदि तुम्हें मृत्यु से भय लगता हो, युद्ध के नाम से मन भड़कता हो और जीवन से मोह भी हो, तो अपने कारागार में बंदी उन सौ राजाओं को मुक्त कर दो। अपने पुत्र सहदेव का राज्याभिषेक कर, राजसत्ता उसको दे दो।"

"यह संभव नहीं है।" जरासंध वोला, "न मैं युद्ध से डरता हूँ, न मृत्यु से। मैं तुम्हारी धूर्तता से डरता हूँ। जाने तुम कव कोई चाल खेल जाओ।"

"तो फिर अपनी इच्छानुसार तुम भीम से वाहु-युद्ध कर लो। तुम विजयी हुए, तो हम चुपचाप लौट जाएँगे।...और यदि तुम पराजित हुए, तो न यह राज्य तुम्हारा है, न तुम्हारे प्राण।"

"मुझे स्वीकार है।" जरासंध वोला, "चलो वाहर किसी अखाड़े में चलो।"

"वाहर किसी अखाड़े में जाने से तुम्हारा क्षेत्र-संन्यास का व्रत भंग हो जाएगा, इसलिए यहीं युद्ध करो।" कृष्ण वोले, "और फिर जिस युद्ध में जीवन-मृत्यु का निर्णय होने वाला है, उसमें अखाड़ा हुआ न हुआ।"

"यह यज्ञ-भूमि है, यहाँ रक्तपात उचित नहीं।"

"जहाँ सौ राजाओं की वलि दी जाएगी, वह यज्ञ-भूमि क्या रक्तपात से शून्य रह पाएगी।"

"तो द्वन्द्व-युद्ध के निर्णायकों, साक्षियों तथा दर्शकों को तो वुला लेने दो।" जरासंध के स्वर में विचित्र प्रकार की याचना थी।

"जरासंध !" कृष्ण की वाणी कठोर तथा चेतावनीयुक्त थी, "तुम्हारी कोई चतुराई नहीं चलेगी। यदि तुमने अपने सहायक वुला लिए और उन्होंने भीम और तुम्हारे द्वन्द्व-युद्ध में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया तो मेरे हाथ में भी सुदर्शन चक्र होगा और अर्जुन के हाथ में गांडीव धनुष। भीम भी निःशस्त्र युद्ध नहीं करेंगे। विश्वास रखो, आज तुम्हारी सहायता को आने वाला प्रत्येक सैनिक, सेनापति तथा मंत्री मारा जाएगा।"

"इसमें चतुराई की क्या वात है।" जरासंध ने अपनी रक्षा के लिए तर्क दिया, "युद्ध से पहले पुरोहित से गोरोचन, माला तथा अन्य मांगलिक पदार्थ तो मँगाए ही जाते हैं। अब तुम कहोगे कि पीड़ा से मुक्ति के लिए तथा मूर्च्छित की चेतना लौटाने के लिए औषधियाँ भी न मँगाई जाएँ। कोई वैद्य भी न वुलाया जाए।"

"ठीक समझा तुमने।" कृष्ण वोले, "इस युद्ध में न मांगलिक पदार्थ आएँगे, न औषधियाँ। न पुरोहित उपस्थित रहेगा, न वैद्य।"

सहसा जरासंध के मन में आशा की एक किरण जागी।...ठीक है कि कृष्ण ने

उसे पूर्णतः घेर लिया था, किंतु शायद एक बात की ओर कृष्ण का ध्यान नहीं गया था।...यह जरासंध की भूमि थी। यहाँ उसका परिवार रहता था। यहाँ उसके दास और सेवक थे, सैनिक और कर्मचारी थे। ठीक है कि इस समय जरासंध अकेला था, किंतु उषा की पहली किरण के साथ-साथ, उसके सहायक, सैनिक और कर्मचारी बिना पुकारे भी उसके निकट आने लगेंगे।...बाहर के प्रहरी बदलेंगे और वे लोग अपने स्वामी को प्रणाम करने अवश्य आएँगे।...तब वह अकेला नहीं रहेगा। वह किस स्थिति में है, यह बात किसी से छुपी नहीं रहेगी। उसके सैनिक और सेनापति उसकी सहायता को आ जाएँगे। तब इन तीनों को कौन बचा लेगा, जरासंध के क्रोध से ...तो इस असहायता का अर्थ ही क्या है ? केवल इतना ही तो करना है कि किसी प्रकार भीम को उषा काल तक उलझाए रखना है। जरासंध कितना भी अकेला हो, असहाय हो, किंतु इतना असमर्थ वह नहीं है कि रात्रि के ये दो प्रहर वह भीम से भिड़ा न रह सके। वह कोई मिट्टी का बना कुंभ नहीं है कि भीम उसे उठाकर पटक देगा, तो वह फूट जाएगा...

"ठीक है।" इस बार जरासंध पूर्ण आत्मविश्वास के साथ बोला, "तुम ही युद्ध-निर्णायक रहो। जय-पराजय का तुम्हारा निर्णय ही मुझे मान्य होगा।"

"मैं न तो यहाँ न्यायाधीश बन कर आया हूँ, न निर्णायक।" कृष्ण बोले, "हम तीनों को तुम अपना शत्रु ही समझो।...और फिर यह मरणांतक युद्ध है। इसमें न्याय क्या और निर्णय कैसा। एक ही नियम है कि प्रतिद्वन्द्वियों में से किसी के पास शस्त्र न हों। और प्रतिद्वंद्वियों में से एक की मृत्यु पर ही इसे समाप्त होना है। दोनों के जीवित रहते तो यह रुक सकता ही नहीं।"

"तो फिर ठीक है।" जरासंध बोला, "आओ भीम।"

उसने अपना किरीट उतार कर अपने केशों को कसकर पीछे बाँध लिया। धोती को समेट, कमर कस ली।

भीम ने आगे बढ़कर उससे हाथ मिलाया और अलग होकर ताल ठोंका।

भीम के अलग होते ही जरासंध ने उसके कंधे पर बलपूर्वक प्रहार किया। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उसके जिस प्रहार से उसके प्रतिद्वन्द्वी धरती पर लोट-लोट जाते थे, उसके उसी प्रहार से भीम तनिक-सा विचलित भी नहीं हुआ। उसने पूर्ण आत्मविश्वास के साथ अपने हाथों को शस्त्रों के समान आगे बढ़ा दिया, जैसे उन में बाँध कर वह जरासंध को पीस डालेगा...जरासंध चित्रहस्त का प्रयोग करना चाहता था और भीम था कि उसे किसी प्रकार कक्षाबंध में फाँस लेना चाहता था। जरासंध ने अपनी दोनों भुजाओं को एक-दूसरी में फँसा कर भीम के वक्ष पर जोर का प्रहार किया। भीम कुछ पीछे हटा किंतु उसने तत्काल ही चरणपाश का सुंदर प्रयोग किया। जरासंध को अपनी रक्षा के लिए बाहुपाश का प्रयोग करना पड़ा। भीम ने अपने दोनों हाथों की अंगुलियाँ परस्पर फँसा कर जरासंध के सिर को पकड़ कर दबाया। जरासंध को तनिक भी आशा नहीं थी कि वह इतने प्रबल पूर्णकुंभ का प्रयोग करेगा। उसे अपना बाहुपाश भूल गया और उसने स्वयं को मुक्त करने के लिए जरोहस्त की मुद्रा में भीम के वक्ष पर पूर्ण बल से प्रहार किया। भीम पीछे हटा तो जरासंध ने आगे बढ़कर अपने अंगों और भुजाओं से भीम के शरीर को दबाकर, उसकी पीठ में अपने गले की हंसली भिड़ा कर, उसके

पेट को दोनों हाथों से कस लिया और उठाकर उसे परे फेंक दिया।

कृष्ण कुछ चिंतित होने लगे थे...भीम को इतनां समय नहीं लगाना चाहिए था। वह एक कुशल मल्ल के समान अपनी दक्षता दिखाने में लग गया था, और यह भूल गया था कि उसे कम से कम समय में जरासंध का प्राणांत करना था। इस प्रकार तो दो प्रहर व्यतीत होते पता भी नहीं चलेगा। ब्रह्म मुहूर्त होते ही इस युद्ध की सारी गोपनीयता नष्ट हो जाएगी और जरासंध के सेनापति अपनी सेनाओं के साथ प्रकट हो जाएँगे। तब इस सारे आयोजन का कोई अर्थ ही कहाँ रहेगा। तब युद्ध होगा, सशस्त्र युद्ध। सहस्रों की संख्या में योद्धा मारे जाएँगे।...

"मध्यम विलंब क्यों कर रहा है ?" कृष्ण ने मंद स्वर में अर्जुन से पूछा।

"मध्यम विलंब नहीं कर रहे।" अर्जुन ने उत्तर दिया, "उन्हें अभी क्रोध नहीं आया है। यदि तुम किसी प्रकार उन्हें क्रोध दिला सको, तो वे तत्काल जरासंध का वध कर डालेंगे।..."

"कुंतीनन्दन।" कृष्ण ने भीम से कहा, "जरासंध, कंस का श्वसुर है, जो मेरे मामा थे।"

भीम ने कृष्ण की ओर देखा, क्यों कह रहे हैं कृष्ण यह सब ? क्या भीम यह सब जानता नहीं ?...इस प्रकार तो उसकी एकाग्रता भंग होगी और जरासंध उसे किसी-न-किसी पेंच में फँसा लेगा।

"इनकी अवस्था मेरे नाना के समान होगी।" कृष्ण बोले, "ऐसे वृद्ध को पराभूत करना तो दूर, तुम उसे थका भी नहीं पा रहे...।"

भीम की आँखों में क्रोध की लाली उतर आई। कृष्ण उसे असमर्थ बता रहे थे।...उसने जरासंध के उदर के नीचे हाथ लगा कर, दोनों हाथों से उसके पेट को लपेट लिया और अपने वक्ष से ऊँचा उठा कर भूमि पर दे मारा।

जरासंध इस आकस्मिकता से हतप्रभ रह गया और कृष्ण के अधरों पर मुस्कान खेल गई, "मध्यम ! पारितोषिक जीतने के लिए मल्ल-विद्या की सूक्ष्मताओं को दिखाने और वास्तविक मरणांतक युद्ध में बहुत अंतर होता है।..."

जरासंध ने भीम के उदर में आघात किया। वह भीम के दूसरे आक्रमण से बचने के लिए मूर्च्छा का प्रयोग कर रहा था... किंतु भीम में जाने कहाँ से असाधारण स्फूर्ति आ गई थी। युद्ध के कारण जैसे-जैसे जरासंध में शिथिलता बढ़ रही थी, वैसे-वैसे ही भीम में नव-स्फूर्ति जाग रही थी।

जरासंध ने भीम पर आक्रमण किया तो भीम ने लात के प्रहार से उसे पछाड़ दिया। वह जरासंध को दबाने के लिए झुका तो जरासंध ने उसका कंधा पकड़ लिया। वह कंधे से खींच कर उसे मुँह के बल गिराने का प्रयोग कर रहा था। भीम 'निग्रह' की भयंकरता को समझता था। वह एक बार गिर गया तो जरासंध उसकी पीठ पर आरूढ़ हो जाएगा। निग्रह से मुक्ति के लिए उसने 'प्रग्रह' का प्रयोग किया। जरासंध को पीठ के बल गिराने के लिए भीम ने उसकी टाँग पकड़ कर खींची। जरासंध संभल नहीं पाया और पीठ के बल जा गिरा।...संतोषपूर्ण मुद्रा में कदाचित् प्रंशसा पाने की अपेक्षा में भीम की दृष्टि कृष्ण की ओर उठ गई।

कृष्ण ने मुख से एक शब्द भी नहीं कहा। उनके हाथ में दातुन-भर छोटा-सा सरकंडा था। कृष्ण ने सरकंडा भीम को दिखाते हुए, उसे दातुन के ही समान बीचोंबीच चीर कर दो टुकड़े कर, भूमि पर डाल दिया…

निमिष भर में भीम की समझ में आ गया कि कृष्ण के संकेत का अर्थ क्या है…

जरासंध भूमि से उठने के लिए स्वयं को साध ही रहा था कि भीम अपनी पूरी शक्ति से उसकी एक टाँग पर जा कूदा।…जरासंध कराह कर एक करवट हो गया। भीम उसकी टाँग से हटा नहीं। वह उसकी एक जंघा पर जैसे जम कर खड़ा हो गया और दूसरी टाँग को पकड़ कर उसने अपने वक्ष की ओर खींचा…

जरासंध युद्ध से थक गया था। इस आघात की पीड़ा से वह कराह उठा था। वह किसी प्रकार मुक्त होने के लिए छटपटाना ही चाहता था कि भीम ने उसकी जंघा पर दृढ़तापूर्वक बैठ कर, दूसरी टाँग अपने कंधे से बाँध ली।…इससे पहले कि जरासंध समझ पाता कि भीम क्या करने जा रहा है, भीम उठकर खड़ा हो गया…

जरासंध के मुख से मरते हुए पशु के डकराने के समान एक चीत्कार फूटा और वह पूर्णतः शिथिल हो गया।…

29

रुदन और चीत्कार के अशुभ तथा भयंकर स्वरों ने जरासंध पुत्र सहदेव को जगा दिया। सहदेव चौंक कर उठ बैठा। मधुर संगीत उत्पन्न करते हुए वाद्य-यंत्रों से तो वह प्रायः जगाया जाता था। कभी-कभी शंखनाद से भी उसकी नींद टूटती थी। भेरी-नाद भी उसके लिए अपरिचित नहीं था, किंतु यह सामूहिक रुदन और चीत्कार ? इस प्रकार के स्वरों से तो जैसे वह परिचित ही नहीं था।…

"महाराजकुमार !" सेनापति शौर्य किरीट सिर झुकाए, हाथ जोड़े उसके सम्मुख खड़ा था। मंत्रिगण उसके पीछे जैसे स्वयं को छिपाने का प्रयत्न कर रहे थे।

"क्या बात है सेनापति ?" उसने मन में उभड़ती-घुमड़ती आशंकाओं का संयमन करने का प्रयत्न किया, "ऐसा क्या घटित हो गया कि राजप्रासाद का परिवेश इतना अशुभ हो उठा है ?"

"महाराजकुमार ?" सेनापति हाथ जोड़े हुए घुटनों के बल जैसे गिर ही पड़ा, "हम सब पर अपरिहार्य संकट आया है महाराजकुमार ! सम्राट इस संसार में नहीं रहे।…"

"क्या ?" सहदेव का मुख आश्चर्य से खुल गया, "क्या हुआ उन्हें ?"

"ईश्वर ही जानता है कि क्या हुआ।" सेनापति बोला, "हम तो इतना ही जानते है कि कल संध्या समय दान-वितरण करने के पश्चात्, अपने व्रत के अनुसार वे एकांतवास के लिए यज्ञ-भूमि में बनाए गए विश्राम-कक्ष में चले गए थे। उस क्षेत्र की सीमाओं के

बाहर चाहे कितने ही प्रहरी और अंगरक्षक रहे हों, यह सत्य है कि उनके निकट कोई भी सेवक, सैनिक अथवा प्रहरी नहीं ···।"

"उनके देहांत की सूचना किसने दी ?" सहदेव उठकर खड़ा हो गया, "और उनका शरीर कहाँ है ?"

सेनापति ने कुछ कहना चाहा, किंतु फिर जैसे थोड़ा हकला कर चुप रह गया।

"बोलो !"

किंतु सेनापति शौर्यकिरीट कुछ नहीं बोला।

इस बार वृद्ध मंत्री साहस कर आगे आया, "महाराजकुमार ! राजप्रासाद के द्वार पर प्रहरियों का एक गुल्म होता है। लगता है कि रात को किसी समय उनकी आँख लग गई।···"

"सब एक साथ सो गए ?"

"दैवयोग से कुछ ऐसा ही हो गया लगता है महाराजकुमार।" मंत्री साहसपूर्वक बोला, "ब्रह्म मुहूर्त में जब उनमें से किसी एक की आँख खुली तो उसने वहाँ कुछ असाधारण देखा··· ।"

"क्या देखा ?"

"रात्रि के अंधकार में सम्राट् के शरीर को कोई बहुत कुचली-मसली अवस्था में वहाँ डाल गया था।···"

सहदेव ने अपनी व्याकुलता में तीन-चार पग उठाए, "सम्राट के एकांत-क्षेत्र में प्रहरियों ने न किसी को जाते देखा, न निकलते। तो ऐसी दुर्घटना कैसे घट गई ? क्या करते हैं हमारे प्रहरी ?"

"महाराजकुमार ! यह प्रेत-बाधा भी तो हो सकती है।" एक मंत्री ने अत्यन्त संकुचित भाव से कहा।

"नहीं युवराज ! कोई प्रेत-बाधा नहीं है।" इस बार सेनापति शौर्यकिरीट के स्वर में कुछ अधिक आत्मबल था, "हमें अब यह स्वीकार करना चाहिए कि हमारे प्रहरी पूर्णतः विश्वस्त थे कि सम्राट का कोई अनिष्ट हो ही नहीं सकता, इसलिए वे निश्चिंत होकर सो जाया करते थे। इसी असावधानी का लाभ हमारे शत्रुओं ने उठाया है।" सेनापति रुका, "मुझे यह सूचना मिली है कि कल संध्या समय जब सम्राट् अपने व्रतानुसार ब्राह्मणों को दान दे रहे थे तो तीन ब्राह्मणों ने मध्य रात्रि के पश्चात् सम्राट से याचना करने की बात कहीं थी । उन्हें रात्रि को सम्राट् के एकांत-क्षेत्र के भीतर यज्ञशाला के पास ठहराया गया था। वे अब वहाँ नहीं हैं। एक सूचना और मिली है युवराज ! कि सम्राट् का प्रिय रथ 'सोदर्यवान्' अपने स्थान पर नहीं है। मेरा अनुमान है कि वे तीन ब्राह्मण वस्तुतः ब्राह्मण नहीं थे। वे छद्म वेश में आए थे। संभवतः उन्हीं तीनों ने सम्राट् का वध किया है और वे ही उनका 'सोदर्यवान' रथ लेकर भाग गए हैं।"

"यदि ऐसा है तो वे अभी बहुत दूर नहीं गए होंगे।" सहदेव बोला, "चारों ओर अश्वारोही दौड़ा दिए जाएँ और अपनी वाहिनियों को सन्नद्ध होने का आदेश दिया जाए। उन हत्यारों को बंदी बनाकर एक प्रहर के भीतर मेरे सम्मुख लाया जाए। वे भागने का प्रयत्न करें तो उनका वध कर दिया जाए। उनके साथ उनके कोई सहयोगी हों तो, उनके

साथ भी वही व्यवहार किया जाए। ऐसी सेनाओं का क्या लाभ, जो सम्राट की रक्षा न कर सकें।...''

सहदेव के मौन होते ही द्वारपाल ने सम्मुख आकर हाथ जोड़े, "युवराज की जय हो। गुप्तचर-प्रमुख सदाशिव कुछ निवेदन करना चाहते हैं।"

"उपस्थित करो।"

सदाशिव ने आगे आ हाथ जोड़ कर प्रणाम किया, "युवराज की जय हो। मैं कुछ अत्यन्त गंभीर सूचनाएँ लाया हूँ, अन्यथा शोक की ऐसी घड़ी में मैं आपको कष्ट न देता।..."

"बोलो सदाशिव। जो भी सूचना हो, निस्संकोच कहो।"

"युवराज ! पर्वतों के गर्भ में बने हमारे दुर्ग-कारागार को तोड़कर, कोई उन सारे बंदी राजाओं को मुक्त करा ले गया है, जिन्हें सम्राट ने बलि के लिए वहाँ बंदी कर रख था।"

"और हमारे प्रहरी ?" सहदेव ने पूछा।

"उनके शव हमें नहीं मिले हैं।" सदाशिव ने बताया, "संभव है वे शत्रु के भय से भाग गए हों...किंतु युवराज ! इस संभावना का तिरस्कार भी नहीं किया जा सकता कि शत्रु उन्हें बंदी बना कर अपने साथ ले गए हों।"

इस बार सहदेव ने कोई तत्काल प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। वह शोकाकुल से कहीं अधिक चिंताकुल लग रहा था।

सहदेव किसी प्रकार का निर्णय कर कोई आदेश देता, उससे पहले ही अस्ति तथा प्राप्ति दोनों ही उच्च स्वर में विलाप करती हुई आगार में आ गई और सहदेव के कंधे से लग गई।

चिंता ने सहदेव के शोक को सुखा डाला था। न उसकी आँखों में अश्रु थे, न कंठ में हिचकियाँ। अपनी बहनों का इस प्रकार रोते हुए आना और इस मंत्रणा में बाधा बनना उसे अच्छा नहीं लगा था। वस्तुतः यह समय बैठ कर रोने का था ही नहीं। यह समय तो सक्रिय होने का था। वह उनको कंधे से लगा कर कैसे रोता या रुलाता। राजपुत्रों के पास अपने पिता की मृत्यु पर अश्रु बहाने का समय नहीं होता। यदि उस समय वे शोकाकुल होकर अश्रु बहाने बैठ जाएँ, तो फिर सारा जीवन अश्रु ही बहाते रहेंगे।...

उसने अपनी बहनों की पीठ थपथपा कर उन्हें अपने कंधों से पृथक् किया और अपनी दासियों को संकेत किया कि उन्हें सँभालें।

"इतनी बड़ी-बड़ी घटनाएँ हो गई और हमारे प्रहरियों, सैनिकों, गुप्तचरों तथा प्रजाजनों में से किसी ने भी कुछ असाधारण नहीं देखा।" सहदेव बोला, "आश्चर्य है ! यह किन्हीं अदृश्य प्रेतों का कार्य है या हमारे ही सारे प्रहरी शत्रु से मिल गए हैं।"

"एक असाधारण घटना की सूचना मुझे मिली है युवराज।" सहसा सदाशिव ने कहा। सहदेव ने चौंक कर उसकी ओर देखा।

"सूचना मिली है कि नगर- द्वार के बाहर चैत्य पर्वत के नीचे एक बड़ी भीड़ देखी गई है, जो वासुदेव कृष्ण की जय बोल रही थी।" सदाशिव ने कहा।

सहदेव का मुख आश्चर्य से खुल गया, "इस सूचना को मात्र एक असाधारण सूचना

मानकर अब तक तुम उसे अपने पास ही दबाए बैठे हो ?" सहदेव ने लगभग चीख कर कहा, "इस सूचना का महत्व नहीं समझते तुम। तुम्हारे जैसे व्यक्ति की गुप्तचर-प्रमुख के रूप में नियुक्ति किसी भी साम्राज्य को ध्वस्त करने के लिए पर्याप्त है।"

"क्यों युवराज ?" सदाशिव का सिर झुका हुआ था।

"तुम इतनी-सी बात समझ नहीं पा रहे हो कि ये दोनों दुस्साहसपूर्ण कृत्य करने वाले या तो वासुदेव श्रीकृष्ण स्वयं हैं, अथवा उनके साथी। नहीं तो गिरिव्रज में कृष्ण की जय बोलने वाले लोग कहाँ से आएँगे और क्यों उनकी जय बोलेंगे। इस 'जय' में छिपी चेतावनी को तुम समझ नहीं पा रहे हो ?"

सदाशिव कुछ कहता, उससे पूर्व ही अस्ति तथा प्राप्ति, पुनः बहुत नाटकीय ढंग से चीत्कार कर उठीं। लगा या तो उन्हें कोई दौरा पड़ जाएगा अथवा वे अचेत होकर गिर पड़ेंगी।...

"कृष्ण यहाँ आया है, गिरिव्रज में।" वे चिल्ला कर बोलीं, "उसे पकड़ो भैया !"

"उसने पहले हमारे पति का वध किया, अब हमारे पिता की ऐसी दुर्गति की...।" प्राप्ति का चीत्कार जैसे प्रासाद की दीवारों से अपना सिर फोड़ रहा था।

अस्ति ने निकट आकर सहदेव की भुजा पकड़ कर उसे झिंझोड़ा, "सेना भेजो भैया। उसका वध करवाना ही पर्याप्त नहीं है। उसे जीवित बँधवा कर मँगवाओ। उसकी खाल खिंचवा दो। उसकी बोटी-बोटी कर उसे चील-कौवों को खिला दो...।"

"सदाशिव !" सहदेव ने अपनी बहनों की ओर ध्यान नहीं दिया, "शीघ्र जाओ ! जाकर पता लगवाओ, कि उस भीड़ में क्या सचमुच वासुदेव कृष्ण भी हैं।...और यदि वे स्वयं यहाँ हैं, तो अपने सारे तंत्र को आदेश दो कि उनकी गति-विधि पर दृष्टि रखी जाए। उनके संबंध में सारी सूचनाएँ मुझे भिजवाई जाएँ और उनके विरुद्ध किसी प्रकार की कोई कार्यवाही करने का प्रयत्न न किया जाए। वे प्रासाद में आना चाहें, तो उनकी अगवानी कर उन्हें सादर यहाँ लाया जाए। मुझ से मिलना चाहें, तो उस भेंट की व्यवस्था की जाए...।"

"भैया !" अस्ति ने सहदेव का हाथ कुछ इस प्रकार झिंझोड़ा, जैसे वह अपना मानसिक संतुलन खो चुका हो, "क्या कर रहे हैं आप ? वह हमारे पिता का हत्यारा है। वह आपके बहनोई का हत्यारा है। आप वीर क्षत्रिय होकर क्या अपने शत्रु से प्रतिशोध भी नहीं लेंगे ?"

सहदेव ने उसे झटक दिया, "मुझे मालूम है कि मुझे क्या करना है। मुझे कंस और जरासंध की राजनीति आगे नहीं चलानी है। तुम्हें अपने पति और पिता की हत्याओं का प्रतिशोध चाहिए, तो उन सारे राजाओं, सेनापतियों तथा सैनिकों की विधवाओं को भी अपने पतियों की हत्याओं का प्रतिशोध चाहिए, जिनका वध कंस और सम्राट् जरासंध ने किया था। उसी प्रतिशोध-स्वरूप प्राण गँवाए हैं पिता जी ने।..."

"तुम्हारा रक्त यदि एक दम ही ठंडा हो गया है, तुम यदि कृष्ण से इस सीमा तक भयभीत हो भैया कि उसका सामना करने का साहस नहीं कर सकते तो थोड़ी राजनीतिक चुतराई तो दिखाओ। चाहे कृष्ण को अपनी सीमाओं से निकल जाने दो, पर अपने सैनिकों को उसे बंदी बनाने का आदेश देकर, अपनी सत्ता और शक्ति का प्रदर्शन तो करो।..."

अस्ति का कंठ अश्रुओं से अवरुद्ध हो गया।

"अपने कुल को इस प्रकार कलंकित मत करो भैया।" प्राप्ति ने धिक्कारपूर्ण विनती की, "इस ख्यातनामा वंश की लाज रखने का अभिनय तो करो।"

"वही कर रहा हूँ।" सहदेव का स्वर पर्याप्त स्थिर था, "यदि इस समय मैंने राजनीतिक चतुराई न दिखाई तो पिताजी के शव का अंतिम संस्कार भी नहीं हो पाएगा।" सहसा सहदेव की मुद्रा एकदम परिवर्तित हो गई, "और हमारे कुल की ख्याति जरासंध और कंस बनने में ही नहीं है। प्रजा को आतंकित कर ही हमारा कुल गौरवान्वित नहीं होगा…।"

"तो और कैसे होगा…कृष्ण से आंतकित होकर ? उसके चरण चाट कर ?" अस्ति फुफकारती हुई बोली।

"चुप रहो तुम।" मंत्रियों और सेनापति ने सहदेव के स्वर में पहली बार आदेश की गंभीरता को पहचाना, "मगध की प्रजा ने आज तक अपने सम्राट को आतंक के रूप में देखा है, उससे कभी प्रेम नहीं किया।…अब वह अपने सम्राट् से प्रेम भी करेगी।"

अपने मंत्रियों और सेनापतियों के साथ सहदेव नगर-द्वार से बाहर निकला। वे शोक की मुद्रा में थे। उनका वेश और व्यवहार उसी के अनुकूल था। उनके आगे-आगे दास-दासियाँ विभिन्न प्रकार के उपहार लेकर चल रहे थे।

सहदेव को आते हुए देख, अर्जुन और भीम की दृष्टि कृष्ण पर टंग गई। कृष्ण पूर्ण आश्वस्त मुद्रा में खड़े रहे, जैसे कुछ भी असाधारण घटित न हो रहा हो। जरासंध के कारागार से छूटी हुई राजाओं की भीड़ जैसे अभी तक विश्वास नहीं कर पाई थी कि वे लोग सचमुच मुक्त हो चुके हैं। सहदेव को इस प्रकार अपनी ओर आते देख, वे भयभीत मृग के समान चौकन्ने हो गए।

"हमने यहाँ रुक कर अच्छा नहीं किया वासुदेव।" एक बोला, "हमें तत्काल यहाँ से पलायन कर जाना चाहिए था।"

"क्यों ? क्या सहदेव की मैत्री नहीं चाहिए आपको ?"

"मैत्री !" उसका मुख वितृष्णा से विकृत हो उठा, "जरासंध पुत्र और मैत्री।"

"देखो !" कृष्ण मुस्करा रहे थे।

दास-दासियों ने सारे उपहार लाकर कृष्ण के सम्मुख रख दिए। भूमि पर मस्तक टेक, वे हट गए। सहदेव चलता हुआ उपहारों से भी आगे निकल आया। वह कृष्ण के एकदम सम्मुख खड़ा था। उसने हाथ जोड़े और अपने घुटनों के बल बैठ गया, "वासुदेव ! मैं आपकी शरण आया हूँ।"

"क्यों ? शस्त्र सज्जित होकर युद्ध करने क्यों नहीं आए ?" कृष्ण ने अत्यन्त मधुर ढंग से पूछा, "अपने पिता के वध का प्रतिशोध नहीं लोगे ?"

"नहीं।"

"क्यों ?"

"प्रतिशोध का कोई प्रतिशोध नहीं होता। वह दुराग्रह होगा।"

"मेरी शरण क्यों आए हो ? भय के कारण ?"

"नहीं।"

"लोभ के कारण ?"

"नहीं।"

"अपने पिता का राज्य नहीं चाहिए तुम्हें ?"

"नहीं।"

"तो क्या चाहिए तुम्हें ?"

"मगध को थोड़ा धर्म चाहिए। मेरे मृत पिता को आपकी क्षमा चाहिए।...और व्यक्तिगत रूप से मुझे अपने पिता का मृतक-संस्कार करने की अनुमति चाहिए।"

"यदि मैं कहूँ कि तुम्हारे पिता इतने अधर्मी और पापात्मा थे कि उन्हें अंतिम संस्कार का गौरव नहीं मिलना चाहिए, तो ?" भीम ने उस पर अपनी वक्र दृष्टि डाली।

"मैंने इसीलिए हाथ जोड़कर वासुदेव से विनती की है कि मेरे दिवंगत पिता को उनकी क्षमा चाहिए।"

"क्या तुम्हारे पिता के अपराध क्षम्य हैं ?" भीम ने पुनः पूछा।

"नहीं। किंतु वासुदेव कृपालु हैं। बहुत कृपालु हैं।"

"तुम्हें मगध का राज्य नहीं चाहिए ?" कृष्ण ने पूछा।

"मैंने देखा है कि राज्य, धन, संपत्ति और अधिकार के लिए, कैसे-कैसे पाप करने पड़ते हैं। व्यक्ति कैसा क्रूर होता जाता है। जीवन नरक हो जाता है राजा का। मुझे यह दंड नहीं चाहिए।"

"तुम्हें यह दंड नहीं चाहिए, किंतु जरासंध के पुत्र होने के नाते दंड तो तुम्हें मिलेगा ही। सम्राट् के पुत्र के रूप में तुम्हें बहुत सारी सुख-सुविधाएँ मिली हैं, उनका प्रायश्चित्त नहीं करोगे तुम ?" कृष्ण बोले, "अपने पिता से तुम्हारा संबंध इतना एकांगी तो नहीं हो सकता कि उसके लाभ तो तुम्हें मिलें, किंतु उसकी हानियों से तुम बच जाओ।"

"तो दंड मिले प्रभु।" सहदेव बोला, "किंतु उससे पहले मुझे अपने पिता का अंतिम संस्कार कर लेने दिया जाए।"

"जाओ सहदेव। एक अच्छे पुत्र के रूप में तुम अपने पिता का मृतक कर्म करो।" कृष्ण बोले, "उसके पश्चात् अपना दंड ग्रहण करने के लिए यहाँ चले आओ !...तुम्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह राज्य अब धर्मराज युधिष्ठिर का है। उन्हीं के प्रतिनिधि के रूप में मैं तुम्हें आदेश देता हूँ कि तुम इस प्रदेश पर उनकी ओर से शासन करोगे। हम तुम्हारा राज्याभिषेक करेंगे, किंतु तुम महाराज युधिष्ठिर के प्रतिनिधि अथवा मांडलिक राजा होगे। तुम्हारे पिता ने धर्म की जितनी क्षति की है, तुम उसकी क्षतिपूर्ति करोगे। तुम प्रजा को न्याय दोगे और निःस्वार्थ शासन करोगे। तुम प्रजा के स्वामी नहीं सेवक होगे। दुष्टों का पालन नहीं दलन करोगे। सात्विक लोगों का पालन-पोषण करोगे और निर्बल और असहाय लोगों की रक्षा करोगे। यदि तुम्हें स्वीकार हो तो अपने पिता का मृतक संस्कार कर सकते हो।"

"मुझे स्वीकार है वासुदेव।" सहदेव बोला, "मैं अपने पिता के अधर्म को तनिक भी धो पाया तो उसे अपना पुण्य मानूँगा।"

"तो उसका श्रीगणेश यहीं और अभी करो।"

"आदेश दें प्रभु।"

"इन राजाओं को, जिन्हें तुम्हारे पिता ने बंदी कर, इनका राज्य और धन छीन लिया था, इनका राज्य और राजकोष लौटा दो।" कृष्ण के अधरों पर माधुर्य जैसे घनीभूत हो आया था।

"वह सब अब आपका है।" सहदेव बोला, "लौटाने वाला मैं कौन होता हूँ। आप जिसे जो चाहें दे दें। मगध का राज्य भी आप ही का है। उसे भी किसी को देना चाहें तो तनिक भी विलंब न करें।"

"जाओ मित्रो !" कृष्ण उन राजाओं की ओर मुड़े, "अपनी-अपनी राजधानियों को लौट जाओ, और धर्मराज के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने की तैयारी करो।"

30

शिशुपाल को सूचना मिली, तो वह स्तब्ध रह गया। जरासंध का वध ? सम्राट् जरासंध का वध ?⋯कृष्ण ने मरवा डाला जरासंध को ? ? ⋯⋯तो क्या करते रहे थे जरासंध के रक्षक ? उसकी सेनाएँ ? उसके सेनापति ? उसके मल्ल ? उसका पुत्र सहदेव, उसका पौत्र मेघसंधि—क्या करते रहे, वे सब लोग ?⋯और फिर इन तीन व्यक्तियों के लिए तो स्वयं जरासंध, अकेला ही पर्याप्त था।⋯

कृष्ण को कुछ लोग मायावी मानते हैं⋯ शिशुपाल ने आज तक उसकी माया को स्वीकार नहीं किया। उसने उसे तनिक भी असाधारण नहीं माना। वह तो यह ही मानता आया है कि वह धूर्त्त है,पाखंडी है। मंदबुद्धि लोगों को मूर्ख बना रहा है। क्षत्रियों के समान सीधा-सीधा किसी से नहीं टकराता। शस्त्र उठाने से पहले बहुत कुछ सोचता है और कोई-न-कोई सुरक्षित मार्ग खोज निकालता है।⋯ पर यहाँ कौन-सा मार्ग खोजा होगा उसने ? जरासंध उसे अच्छी तरह पहचानता था। गिरिव्रज में कोई भी उसे पहचानते ही उसका वध कर देता। जरासंध के सम्मुख पड़ते ही उसके अंगरक्षक इसे मार डालते, स्वयं जरासंध शस्त्र के बिना अपनी भुजाओं में पीस कर ही इसे चूर्ण कर डालता⋯ किसी प्रकार, किसी माया, ठग-विद्या, मंत्र-तंत्र के कारण यदि यह नहीं भी होता, तो भीम जरासंध का वध कैसे कर सकता था ? भीम में इतना बल आया कहाँ से ? शिशुपाल का तो आज भी यही विचार है कि भीम और अर्जुन दोनों मिलकर भी जरासंध की गदा उठा तक नहीं सकते।⋯ तो फिर वे लोग उस गदा की मार सह कर उसका प्रतिकार करके, जरासंध का वध कैसे कर आए।⋯ जरासंध के जीवित रहते यदि उन्हें पहचाना नहीं जा सका तो क्या उस महान् मल्ल की मृत्यु के पश्चात् भी कोई नहीं जान पाया कि ये तीन प्रवंचक वहाँ क्या करने आए हैं ? जरासंध की मृत्यु के पश्चात् भी उसके अंगरक्षकों ने भीम, अर्जुन और कृष्ण को जीवित छोड़ दिया ? सहदेव पितृविहीन होने

के पश्चात भी इनका वध नहीं कर सका ?...

और सहसा शिशुपाल का मन दूसरी ओर चल पड़ा। सहदेव ही क्यों, शिशुपाल भी तो पितृविहीन हो गया है। यह ठीक है कि दमघोष जीवित हैं, किंतु वे तो केवल उनके जनक थे। उन्होंने शिशुपाल के लिए वह सब नहीं किया, जो जरासंध ने कर दिखाया...। शिशुपाल नहीं जानता कि सहदेव के पिता की मृत्यु हुई कि नहीं, किंतु उसका अपना पिता अवश्य मर गया था, उसके सिर से सचमुच एक संरक्षक का वरदहस्त उठ गया था...

जरासंध उसके लिए एक वट वृक्ष के समान था, जिसकी छाया उस पर पड़ती ही रहती थी। शिशुपाल को लगता था कि कंस की मृत्यु के पश्चात् जरासंध ने यदि किसी से प्रेम किया था तो शिशुपाल से ही। अपने पुत्र सहदेव से भी उसने शायद ही उतना प्रेम किया हो, अन्यथा जरासंध मंडल का सेनापति शिशुपाल कैसे बन जाता। जरासंध से संबंध रखने वाले प्रायः सारे लोग जानते हैं कि जरासंध ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में सहदेव को कभी वह महत्त्व नहीं दिया, जो उसने कंस और शिशुपाल को दिया...

कंस की मृत्यु के समय शिशुपाल छोटा था। उसे राजनीति की समझ नहीं थी, इसलिए वह कृष्ण की भयंकरता को भी समझ नहीं पाया था। वह उसे साधारण ग्वाला समझता था और वही समझता रहा। उसके पिता दमघोष प्रायः कहा करते थे कि यद्यपि कृष्ण उसका मातुल-पुत्र है, किंतु उसे उससे बहुत सावधान रहना चाहिए। जो व्यक्ति अपने मातुल का वध कर सकता है, वह किसी का भी वध कर सकता है। और कंस तो मात्र मातुल ही नहीं था कृष्ण का, वह स्वामी भी था।... स्वामी का वध।... भयंकर...

शिशुपाल को अपने प्रति जरासंध के प्रेम का आभास पहली बार तब हुआ था, जब जरासंध ने भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल से निश्चित कर दिया था। भीष्मक ने कोई आपत्ति नहीं की थी। उन्होंने शिशुपाल को अपने जामाता के रूप में स्वीकार कर लिया था। रुक्मिणी उसकी वाग्दत्ता थी। उसका भाई रुक्मी तो इस संबंध से इतना प्रसन्न था कि उसे लगता था कि न तो इससे अच्छा अन्य कोई संबंध हो सकता था, न श्रेष्ठतर वर। वह जरासंध के प्रति कृतज्ञ था कि उसने अपनी बुद्धिमत्ता से, शिशुपाल को उनके परिवार के इतने निकट पहुँचा दिया था।... शिशुपाल उनके परिवार का अंग ही हो जाता, किंतु यह कृष्ण बीच में कूद पड़ा। उसने रुक्मिणी का हरण कर लिया।... वह कहता है कि रुक्मिणी ने एक ब्राह्मण के हाथ पत्र भेजकर उसे बुलाया था और उसे, जरासंध से भयभीत अपने पिता भीष्मक के इस अत्याचार से मुक्त करा, अंगीकार करने की प्रार्थना की थी।... और शिशुपाल आज तक समझ नहीं पाया था कि यह कैसे संभव था। रुक्मिणी ने कृष्ण को कभी देखा नहीं था कि उनमें कोई संपर्क होता। कृष्ण राजकुमार भी नहीं था कि उसकी चर्चा विदर्भ के राजप्रासाद में होती और रुक्मिणी उसके रूप और गुणों को सुन-सुनकर मुग्ध होती रहती।... और वैसे भी कृष्ण में मुग्ध कर लेने वाला ऐसा था भी क्या ? वन में पला। पशुओं के मध्य खेला। वनवासी जीव। काला वर्ण, दुबला-पतला शरीर, और उन सब के ऊपर उसका वह मोर-मुकुट। बेचारा। न राजा के घर उत्पन्न हुआ, न राजा बन सका। सोने का मुकुट पहन नहीं

सकता, तो मोर का मुकुट ही सही। जैसे वनवासिनी महिलाएँ लता से तोड़ कर अपने केशों में कोई पुष्प लगा लेती हैं, वैसे ही यह ग्वाला अपने केशों में किसी पक्षी का पंख खोंस लेता है··· और उस पर समझता है कि वह इतना सुंदर दिखाई पड़ता है कि अपने प्रासाद में बैठी रुक्मिणी उसपर मुग्ध हो जाएगी और पत्र लिखकर उसे बुलाएगी। ··· व्यक्ति कोई कथा गढ़े, तो ऐसी गढ़े जो विश्वसनीय हो···

रुक्मिणी उस पर मुग्ध हुई हो या न हुई हो, उसने उसे बुलाया हो या न बुलाया हो, किंतु कृष्ण के कारण शिशुपाल का विवाह रुक्मिणी से नहीं हो पाया। वह उसकी वाग्दत्ता का हरण कर के ले गया। जरासंध, भीष्मक, रुक्मी तथा स्वयं शिशुपाल मिलकर भी कृष्ण का कुछ नहीं बिगाड़ सके।··· शिशुपाल ने कृष्ण को न तब वीर माना था और न आज ही मानता है, किंतु इतना तो उसकी समझ में आ ही गया था कि उसे कृष्ण के षड्यंत्रों से सावधान रहना पड़ेगा।

वह वीर नहीं था, किंतु भयंकर षड्यंत्रकारी था। उसके षड्यंत्रों का तोड़ बड़े-बड़े वीरों के पास भी नहीं था। उसकी इच्छा तो तब भी थी कि जरासंध, कृष्ण से निबटने का काम उसे सौंप दे, किंतु जाने क्या बात थी कि जरासंध ने स्वतंत्र रूप से यह काम उसे कभी नहीं सौंपा। स्वयं जरासंध ने जितने भी आक्रमण किये, उनमें उसे कोई और सफलता चाहे मिली हो, किंतु न तो कृष्ण को वह बंदी कर पाया और न ही उसका वध कर पाया। ···और शिशुपाल यह सोच-सोच कर ही तड़पता रहा कि जरासंध ने उसके हाथ बाँध रखे हैं और वह अपने मनचाहे ढंग से कृष्ण से प्रतिशोध नहीं ले पा रहा··· बहुत संभव है कि जरासंध के मन में यह आशंका रही हो कि जिस कृष्ण को वह स्वयं पराभूत नहीं कर पाया, यदि किसी और ने उसे पराजित कर दिया, तो जरासंध का यश मलिन होगा। वट्-वृक्ष अपनी छत्र-छाया में पलने वाले पौधों को लू नहीं लगने देता, तो उनका पूर्ण-विकास भी नहीं होने देता···

शिशुपाल देख रहा था कि कृष्ण अपनी सारी चतुराई के बाद भी द्वारका के यादवों का राजा नहीं बन पा रहा था। कृष्ण के मित्र कहते हैं कि वह राजा बनना ही नहीं चाहता, किंतु शिशुपाल ऐसी बातों का विश्वास नहीं करता। संसार में ऐसा कौन-सा मनुष्य है, जो बन सकता हो और राजा बनना न चाहता हो। शिशुपाल को लोगों को मूर्ख बनाने वाले इन आदर्शों में कोई विश्वास नहीं है। वह जानता है कि कृष्ण की कोई-न-कोई बाध्यता अवश्य है, जिसे वह प्रकट नहीं करता। बहुत संभव है कि वह अपने पिता के जीवित रहते राजा न बनना चाहता हो। यदि वह अपने पिता को सिंहासनासीन न कर स्वयं राजा बन बैठेगा तो द्वारका के यादव, उसे दूसरा कंस नहीं मान लेंगे ?··· यह भी तो संभव है कि जैसे ही कृष्ण के राजा बनने की बात आए, बड़े भाई के रूप में बलराम अपना अधिकार प्रस्तुत करे। इन्हीं कारणों से वह अपनी सत्ता का केन्द्र द्वारका में नहीं, इंद्रप्रस्थ में बना रहा है। उसे ये मूर्ख पांडव मिल गए हैं, जो उसे भगवान् के समान पूजते हैं। वह जिस दिन चाहेगा, युधिष्ठिर अपना किरीट उतार कर उसके चरणों में रख देगा।···शिशुपाल ने अपनी पुत्री करेणुमती के मुख से वह घटना बड़े विस्तार से सुनी थी, जब इन पांडवों ने कृष्ण को इंद्रप्रस्थ से विदा करने के बहाने एक सम्राट् का सा सम्मान दिया था। करेणुमती ने बताया था कि इस कृष्ण

को रथ में बैठा कर युधिष्ठिर दारुक को हटा कर स्वयं सारथि के स्थान पर जा बैठा था। अर्जुन ने उस पर चंवर डुलाया था। भीम ने उस पर स्वर्ण-विभूषित छत्र लगाया था। नकुल और सहदेव ने सेवकों के समान व्यजन डुलाया था।... यह कृष्ण इसीलिए पांडवों से इतना प्रसन्न रहता है। इसीलिए इसने पांडवों को दुर्योधन के विरुद्ध प्रतिष्ठित किया था। इसीलिए इसने पाँचों का पांचाली से विवाह करवा दिया था, ताकि द्रुपद पांडवों के माध्यम से उसका मित्र बना रहे। कहने को तो कहता है कि न उसे शासन करना है, न राजा बनना है, पर प्रत्येक क्षण तो वह सत्ता के समीकरण स्थापित करने का प्रयत्न करता रहता है।... बहुत संभव है कि उसने रुक्मिणी का हरण भी इसीलिए किया हो कि इस संबंध से भीष्मक और रुक्मी उसके मित्र हो जाएँगे और विदर्भ की शक्ति भी उसका महत्त्व स्थापित करने के काम आएगी। किंतु वहाँ उसकी यह चाल उलटी पड़ गई। वह रुक्मिणी को तो ले गया, किंतु भीष्मक तथा रुक्मी उसके शत्रु हो गए। कृष्ण की शक्ति बढ़ने के स्थान पर कम हो गई...

शिशुपाल को रुक्मिणीहरण तथा द्रौपदी-स्वयंवर के प्रसंग स्मरण आते हैं तो उसके वक्ष पर सर्प लोटने लगते हैं।... यह कृष्ण उसके वक्ष पर पाँव रखकर उसकी वाग्दत्ता का हरण कर ले गया, और उसकी आकांक्षित द्रौपदी का विवाह उसने अपने मित्र अर्जुन से करवा दिया। यह इसका ही षड्यंत्र रहा होगा कि कांपिल्य में द्रुपद ने स्वयंवर की प्रतिज्ञा धनुष के अधीन रख दी, अन्यथा अर्जुन द्रौपदी को कभी प्राप्त न कर पाता।... कृष्ण ने कांपिल्य में पांडवों को प्रतिष्ठा दिलवाई और उनके माध्यम से स्वयं प्रतिष्ठित हुआ। सम्राट् जरासंध को वहाँ से भी चुपचाप चले जाना पड़ा...नहीं तो सामान्यतः अपेक्षा तो यही की जा रही थी कि जरासंध द्रुपद का वध कर द्रौपदी का हरण कर ले जाएगा और अपने किसी प्रिय व्यक्ति से उसका विवाह कर देगा।

ये पांडव एकदम मूर्ख हैं...शिशुपाल ने करवट बदली...यदि हस्तिनापुर और इंद्रप्रस्थ एक हो जाएँ तो कौरव इतनी बड़ी सैनिक शक्ति हो जाएँ कि कोई उनकी ओर आँख उठा कर भी न देखे। ... कृष्ण की तो बिसात ही क्या है, किंतु अपनी मूर्खतावश ये लोग भीष्म, द्रोण, कर्ण, दुर्योधन, अश्वत्थामा इत्यादि को अपना विरोधी बनाकर इस षड्यंत्रकारी कृष्ण के चरण धो-धो कर पी रहे हैं। वे समझते हैं कि कृष्ण से संबंध घनिष्ठ कर उनकी शक्ति बढ़ जाएगी। वे यह नहीं जानते कि इससे केवल कृष्ण की ही शक्ति बढ़ेगी...

इन्द्रप्रस्थ का निर्माण कर पांडव वहाँ स्थापित हुए तो शायद इसी शक्ति-संतुलन को समाप्त करने के लिए जरासंध ने उसके सामने प्रस्ताव रखा था कि वह अपनी पुत्री करेणुमती का विवाह किसी एक पांडव से कर दे।...शिशुपाल ने इस विषय में कुछ सोचा नहीं था। करेणुमती अभी बहुत छोटी थी। पांडवों में सबसे छोटे नकुल और सहदेव भी करेणुमती से अवस्था में कुछ बड़े ही बैठते थे।...किन्तु राजपरिवारों में जब सम्बन्ध करने की राजनीतिक इच्छा प्रबल होती है, तो वर की अवस्था नहीं देखी जाती।...वैसे तो पांडव उसकी मौसी के पुत्र थे, किन्तु शिशुपाल ने उन्हें कभी इस योग्य नहीं समझा था कि उनसे वह अपने परिवार के किसी सदस्य का विवाह सम्बन्ध करे...किन्तु जरासंध की इच्छा वह समझ रहा था। यदि द्रौपदी के विवाह के माध्यम से पांचालराज द्रुपद,

पांडवों का इतना प्रिय ही नहीं, उनका पूज्य तथा कुल-वृद्ध के रूप में उनका स्वामी हो गया है, तो करेणुमती के सम्बन्ध से पांडवों में वही स्थान शिशुपाल को भी मिल जाएगा"'और शिशुपाल तो पांडवों की सगी मौसी का पुत्र भी है"'जरासंध की यह इच्छा भी थी कि शिशुपाल पांडवों का आत्मीय बनकर एक ओर तो उन्हें हस्तिनापुर के निकट न होने दे और दूसरी ओर उन्हें कृष्ण से तोड़े। हस्तिनापुर के कौरवों से मिलने पर पांडवों के स्वयं इतने शक्तिशाली हो जाने की संभावना थी, जिस में जरासंध को अपने लिए संकट दिखाई पड़ने लगता था"इसलिए उन्हें हस्तिनापुर से दूर रखना आवश्यक था"दूसरी ओर उनके बल से कृष्ण बलशाली और महत्वपूर्ण होता जाता था। कृष्ण को दुर्बल करने के लिए आवश्यक था कि पांडवों को उससे तोड़ लिया जाए।"कृष्ण का मित्र अब था ही कौन ? एक द्रुपद था, एक विराट था और ये पांडव। यदि पांडव किसी प्रकार कृष्ण के शत्रु हो जाएँ तो द्रुपद भी कृष्ण का मित्र नहीं रह पाएगा।"'और कृष्ण के दुर्बल होते ही जरासंध या तो स्वयं उस पर झपट पड़ेगा, या शिशुपाल को संकेत कर देगा"कृष्ण का वध कर शिशुपाल को कितनी प्रसन्नता होगी"'

इंद्रप्रस्थ और द्वारका से संबंध शिथिल होने पर पांडव इतने दुर्बल हो जाएँगे कि सहारा ढूँढ़ते हुए, वे स्वयं ही जरासंध की शरण में आ जाएँगे। जरासंध का उनसे कोई प्रत्यक्ष विरोध नहीं था। बस ! वे कृष्ण का साथ छोड़ दें। कृष्ण का मित्र जरासंध का तो शत्रु होगा ही। वे कृष्ण को छोड़ देंगे, तो जरासंध को उनके सिर पर वरदहस्त रखने में क्या कठिनाई थी। वे एक बार जरासंध की शरण में आ जाते तो जरासंध उन्हें हस्तिनापुर जीतने के लिए भी प्रेरित करता"' इन्हीं सारी संभावनाओं ने उसे करेणुमती का विवाह नकुल से करने के लिए प्रेरित किया था"'

जरासंध को पांडवों की एकता भी नहीं भाती थी अपनी एकता के कारण यदि वे दुर्योधन के लिए चुनौती हो सकते थे, तो उसी एकता के बल पर वे जरासंध को भी आँखें दिखा सकते थे। उनमें दरार की पहली संभावना कुंती और माद्री के पुत्रों का विभाजन करवा कर ही हो सकती थी। युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन को एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा करना असंभव था। इसीलिए शिशुपाल ने नकुल को चुना था। जिस दिन करेणुमती का बंधन उस पर कस जाएगा, उस दिन उसके माध्यम से स्वयं शिशुपाल पांडवों को अपनी इच्छानुसार नचाने की योजना बना सकेगा"'

पर यह सब हुआ नहीं। शिशुपाल को कुछ ही दिनों में लगा कि करेणुमती उसकी पुत्री से कहीं अधिक नकुल की पत्नी थी। नकुल ही नहीं, उसे अन्य पांडव भी अपने परिवार जन के समान प्रिय थे। वह उनका अनिष्ट करने की कल्पना भी नहीं कर सकती थी। वह उसकी इच्छानुसार पांडवों के विभाजन में तनिक भी सक्रिय नहीं थी।"' फिर भी इंद्रप्रस्थ में प्रवेश के लिए शिशुपाल के लिए मार्ग खुल गए थे। यदि करेणुमती उसके संकेतों पर चलना नहीं चाहती तो क्या, वह स्वयं पांडवों को प्रभावित कर सकता था। युधिष्ठिर उसे अपनी मौसी के पुत्र के रूप में भी आदर देता था और नकुल के ससुर के रूप में तो वह उनका सम्मान्य अतिथि था ही। कृष्ण का प्रभाव कम करने के लिए शिशुपाल ने स्वयं युधिष्ठिर की सभा में बैठना आरंभ कर दिया था"' किंतु तब शिशुपाल ने यह नहीं सोचा था कि उसके इस महत्त्व को कम करने के लिए कृष्ण सुभद्रा का

विवाह अर्जुन से करवा देगा। सुभद्रा अवस्था में अर्जुन से पर्याप्त छोटी थी, किंतु करेणुमती भी तो नकुल से इसी प्रकार छोटी थी। करेणुमती का विवाह नकुल से हो सकता था, तो सुभद्रा का संबंध अर्जुन से क्यों नहीं हो सकता था।''' करेणुमती की अपेक्षा सुभद्रा कहीं अधिक महिमावती और प्रभावशालिनी थी, जैसे भाइयों में अर्जुन नकुल की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण था। शिशुपाल आरंभ में ही समझ गया था कि सुभद्रा का विष काटने की क्षमता करेणुमती में नहीं थी। पर उसे संतोष यही था कि कृष्ण आज भी राजा नहीं था। उसके पास कोई पद नहीं था। वह व्यक्तिगत रूप से कितना भी प्रभावशाली क्यों न हो, किंतु राजाओं की सभा में उसका महत्त्व ही क्या था। न वह राजा था, न राजपुत्र, न उसका राज्याभिषेक हुआ था और न वह राजाओं के समान किरीट धारण कर सकता था'''

खांडवदाह के पश्चात् शिशुपाल को सूचनाएँ मिल रही थीं कि कृष्ण पांडवों को राजसूय यज्ञ करने के लिए प्रेरित कर रहा है, और शिशुपाल मन-ही-मन हँसता रहता था कि जरासंध के वर्तमान होते हुए, कृष्ण पांडवों द्वारा राजसूय यज्ञ की बात सोच भी कैसे सकता है।''' युधिष्ठिर के स्थान पर यदि कहीं यह चर्चा दुर्योधन ने की होती, तो भी शिशुपाल उसे कुछ अधिक गंभीरता से ग्रहण करता। दुर्योधन के पास भीष्म तथा द्रोण जैसे योद्धा थे, कर्ण तथा अश्वत्थामा जैसे वीर थे''' युधिष्ठिर के साथ कौन था''' कृष्ण ? जो मथुरा को भी बचा नहीं पाया और भाग कर द्वारका चला गया'''

दो दिन पूर्व ही तो धृष्टकेतु ने उसे सूचना दी कि भीम और अर्जुन को लेकर कृष्ण गुप्त रूप से जरासंध से मिलने के लिए गया है, तो शिशुपाल किंकर्तव्यविमूढ़ खड़ा रह गया। कृष्ण, जरासंध से मिलने गया है'''क्या वह जरासंध से कोई सहायता माँगेगा ? किंतु किसी सम्राट् से ऐसी सहायता माँगी ही कैसे जा सकती है कि वह किसी अन्य राजा को सम्राट् बनने में सहायता करने के लिए अपना पद छोड़ दे ?''' और फिर कृष्ण और जरासंध का संबंध क्या कभी ऐसा मधुर हो सकता था कि कृष्ण जरासंध से सहायता माँगे ? कृष्ण ने जरासंध के जामाता कंस का वध किया था, जरासंध इसे भूल ही कैसे सकता था''' और जरासंध ने सहस्रों यादवों को यमराज को सौंप ही नहीं दिया था, मथुरा को जला कर क्षार कर दिया था। यादवों से उनकी धरती छीन ली थी, उन्हें सदा के लिए प्रवासी बना दिया था।''' ऐसे में कौन किसको क्षमा करेगा और कौन किस की सहायता करेगा''' जाने कृष्ण क्या सोच कर गिरिव्रज की ओर गया है और किस भरोसे भीम और अर्जुन उसके साथ गए हैं'''

शिशुपाल ने अपना कर्तव्य समझ कर अपने संदेशवाहक अश्वारोही मगध की ओर दौड़ा दिए थे। जरासंध को सूचना होनी ही चाहिए कि कृष्ण उससे मिलने के लिए आ रहा है।

और तभी शिशुपाल के मन में हर्ष की एक लहर उठी थी''' यदि कहीं जरासंध कृष्ण को पकड़ कर अपनी भुजाओं में पीस डाले, तो शिशुपाल की चिर-संचित अभिलाषा पूरी हो जाए। कृष्ण नहीं रहेगा तो पांडवों को भी शिशुपाल की आवश्यकता पड़ेगी। वह उन्हें जरासंध से क्षमा दिलवा देगा और उनकी सारी मूर्खताओं को कृष्ण के खाते में डाल देगा। भीम और अर्जुन जैसे योद्धाओं को अपना अनुगत पाकर जरासंध को

भी हर्ष ही होगा।''' पर कहीं जरासंध ने भीम और अर्जुन का भी वध कर दिया, तो ? '''शिशुपाल को लगा कि उससे भी उसकी कोई हानि नहीं होने जा रही है। भीम और अर्जुन के न रहने पर इंद्रप्रस्थ का राज्य चलाने के लिए युधिष्ठिर के पास रह ही कौन जाएगा ? नकुल और सहदेव। सहदेव तो वैसे भी अन्तुर्मुखी स्वप्नजीवी दार्शनिक है। इंद्रप्रस्थ की बागडोर नकुल के हाथ में होगी'''उसकी पत्नी के रूप में करेणुमती कहीं अधिक प्रभावशालिनी और शक्तिमती हो उठेगी। वह चाहे द्रौपदी से टक्कर न ले सके, किंतु अर्जुन के न रहने पर सुभद्रा का पत्ता तो काट ही सकती है। अर्जुन और सुभद्रा''' दोनों का महत्त्व समाप्त हो जाने पर इंद्रप्रस्थ में कृष्ण का प्रभाव क्या रह जाएगा ?'''

शिशुपाल देर तक मन-ही-मन हँसता रहा''' यह कृष्ण स्वयं को बुद्धिमान समझता है, और अब स्वयं ही भीम और अर्जुन को लेकर अपने विनाश की ओर चल पड़ा है। विनाश-काल आने पर बुद्धि स्वतः ही विपरीत हो जाती है'''

शिशुपाल के अश्वारोही मार्ग में ही होंगे कि समाचार आ गया था कि कृष्ण ने भीम के माध्यम से जरासंध का वध करवा दिया है। वध भी क्या, भीम ने जरासंध को किसी पशु के समान मध्य से चीर दिया है।''' जरासंध द्वारा नर-बलि के लिए बंदी किए गए सारे राजाओं को कारागार से मुक्त करवा दिया गया है। और जरासंधपुत्र सहदेव, कृष्ण का शरणागत हो गया है''' शिशुपाल को लग रहा था कि उसके भीतर आग ही आग भरी हुई है। यदि कहीं कृष्ण उसके सामने पड़ जाता, तो वह उसे जीवित जला देने से भी संकोच न करता। ऐसा क्यों होता है कि जहाँ कृष्ण की मृत्यु निश्चित होती है, वह वहाँ से न केवल जीवित और सुरक्षित निकल आता है, वरन् अपने विरोधी को भारी क्षति पहुँचाता है।'''शिशुपाल का अनुमान ही असत्य प्रमाणित नहीं होता, उसे भारी पीड़ा भी पहुँचती है। उसका शत्रु कैसा भी क्यों न हो, कृष्ण हर बार बच जाता है''' उसकी मृत्यु क्यों नहीं होती ?'''

और सहसा शिशुपाल का मन उदासीन होकर भाग्यवादी हो गया।''' भाग्य में जो लिखा है, वही होगा। जो जितनी आयु ब्रह्मा से लिखवा कर लाया है, उतनी तो वह पूरी करेगा ही''' काल का क्षण आने पर यमराज उसे निमिष भर अधिक जीने नहीं देंगे।''' तो कृष्ण की मृत्यु का क्षण अभी नहीं आया है।''' कैसे आएगा ? उसकी दमित कामना ने पुनः सिर उठाया''' अभी उसका शिशुपाल से तो युद्ध हुआ ही नहीं है। बहुत संभव है कि विधाता ने उसकी मृत्यु शिशुपाल के हाथों ही लिखी हो।'''उसे लगा कि सहसा उसके भीतर एक प्रकाश छा गया है। आज उसने अपने जीवन का वास्तविक सत्य पा लिया है। उसके मन में सहसा हर्ष के सहस्रों उत्स फूट पड़े।'''आज तक उसने इस रूप में क्यों नहीं सोचा ? अपने सौभाग्य को वह दुर्भाग्य मान कर क्यों कोसता रहा ? जो काम उसके हाथों होना था, वह जरासंध के हाथों कैसे हो सकता था ? विधाता की भी विचित्र लीला है, जो कार्य सेनापति के हाथों होना है, उसे सम्राट् भी नहीं कर सकता।'''तभी तो कृष्ण बार-बार जरासंध के चंगुल में फँस कर भी बचता रहा, और शिशुपाल का ध्यान कभी इस ओर गया ही नहीं'''

शिशुपाल को लगा, जरासंध की मृत्यु का समाचार पाकर, जो विषाद उसके मन पर छा गया था, वह सारा का सारा, आँधी के साथ उड़ गए मेघों के समान कहीं विलीन

हो गया था। उसकी हताशा उस से सदा के लिए विदा ही नहीं हो गई थी, उसके मन में एक नई ऊर्जा और प्रेरणा जगा गई थी।··· यह समय जरासंध के वध के कारण, पांडवों से रुष्ट होने का नहीं था। यह समय तो उनसे मैत्री बढ़ाने का, उनसे आत्मीयता जताने का था। उसे कृष्ण से भी अधिक पांडवों का सगा बनना था। पांडवों को यदि कृष्ण की आवश्यकता थी, द्रुपद की आवश्यकता थी, तो उन्हें शिशुपाल की आवश्यकता भी हो सकती है। शिशुपाल किसी भी योद्धा से कम शक्तिशाली नहीं है, उसकी सेना किसी सेना से दुर्बल नहीं है··· और फिर दंतावक्त्र उसके साथ है, सुनीथ उसके साथ है, रुक्मी उसके साथ है, शाल्व उसके साथ है··· क्या युधिष्ठिर को इतनी-सी बात समझ में नहीं आएगी कि जरासंध की मृत्यु के पश्चात् भी मगध साम्राज्य समाप्त नहीं हो गया है, जरासंध नहीं है, तो उसका पुत्र सहदेव है, उसके मित्र राजा हैं और उन सब का सेनापति है शिशुपाल।··· युधिष्ठिर को यदि केवल कृष्ण चाहिए, तो ये सारे राजा दुर्योधन से जा मिलेंगे···

31

चेदिराज शिशुपाल ने नगरद्वार से बाहर आकर भीम की अगवानी की।

"आइए कौंतेय भीमसेन ! आपका स्वागत है।" शिशुपाल बोला, "मैं समझ नहीं पा रहा कि आपके साथ अपने किस संबंध के अनुरूप व्यवहार किया जाए। आपको अपनी मौसी कुंती का पुत्र मानकर अपना बड़ा भाई मानूँ, अथवा अपनी पुत्री करेणुमती के पति नकुल का बड़ा भाई। आप समधी का-सा व्यवहार चाहेंगे या भाई का-सा ?"

भीम ने देखा कि शिशुपाल के चेहरे पर सचमुच कोई विरोध नहीं था। उसे इस मधुर ढंग से बात करते हुए भीम ने पहले कभी नहीं देखा था। उसकी प्रकृति ही बदल गई है··· या यह सब सायास था ?··· उसकी प्रकृति के लोग सायास होकर भी इतने मधुर नहीं हो सकते। करेला कम कड़वा तो हो सकता है, मीठा तो नहीं हो सकता न। और फिर सेना ले कर द्वार पर आए, योद्धा के प्रति सायास मधुर होने का क्या अर्थ ? राजा होकर भी क्या वह इतना अचेत और अज्ञानी है कि वह नहीं जानता कि इंद्रप्रस्थ में क्या हो रहा है ? वह नहीं जानता कि भीम किस अभियान पर निकला है ? ··· और यदि वह जानता है कि भीम का लक्ष्य क्या है, तो उसके पश्चात् भी क्या वह ऐसा व्यवहार कर सकता है ?

"अच्छा है तुमने यह प्रश्न नहीं किया कि मेरे साथ मित्र का-सा व्यवहार किया जाए अथवा शत्रु का-सा।" भीम उच्च स्वर में हँसा, "भाई और समधी तो दोनों बंधु ही हैं।" भीम तत्काल गंभीर हो गया, "वैसे शिशुपाल ! मैं तुम्हारे द्वार पर खड़ा हूँ, अपनी ओर से कोई अपेक्षा नहीं कर सकता। अब यह तो तुम्हारी इच्छा है कि मेरे साथ किस

प्रकार का व्यवहार करना चाहते हो।"

"ओह ! यह तो गंभीर समस्या हो गई।" शिशुपाल भीम से भी उच्चतर स्वर में हँसा, "इस पर तो विचारार्थ विद्वानों की गोष्ठी बुलानी पड़ेगी। पर उनके सम्मुख समस्या क्या रखी जाए··· भाई तथा समधी का संबंध, अथवा मूलभूत प्रश्न कि एक संबंध के रहते हुए यदि किसी से दूसरा संबंध हो जाए, तो उन दोनों का समीकरण वर्तमान में क्या होगा ?"

भीम देख रहा था कि शिशुपाल के मुख पर एक सर्वथा कृत्रिम गंभीरता थी, जैसे वह अभिनय कर रहा हो और यह भी जता रहा हो कि वह अभिनय कर रहा है। विचित्र था शिशुपाल का यह रूप। भीम ने उसे इस रूप में तो पहले कभी नहीं देखा था। वह स्थिति की गंभीरता को समझने के लिए प्रस्तुत ही नहीं था।

"मेरे साथ सेना भी है।" भीम ने उसे संकेत किया।

"जब महाबली पांडव चलते हैं तो उनके साथ सेना होती ही है।" शिशुपाल ने भीम के प्रयत्न को निष्फल कर दिया, "चलो। नगर में प्रवेश करो महाबली ! या नगर-द्वार के बाहर ही शिविर स्थापित करना है ?" और उसने भीम को उत्तर देने का अवसर ही नहीं दिया, "तो हम यहाँ भी समन्वय कर लेते हैं। शिविर तो नगर-द्वार के बाहर ही स्थापित हो, किंतु महाबली प्रासाद में पधारें और मेरा आतिथ्य ग्रहण करें।"

भीम ने ध्यान से उसकी ओर देखा, कहीं शिशुपाल मदिरा के प्रभाव में तो नहीं है ?···नहीं। वह मदिरा के प्रभाव में नहीं था। पूर्णतः सजग और सचेत था। किंतु उसका व्यवहार निश्चित रूप से सहज-स्वाभाविक नहीं था··· वह किसी योजना के अधीन सायास इस प्रकार का व्यवहार कर रहा था।

प्रासाद में पहुँच कर भी शिशुपाल ने भीम को अपनी बात कहने का अवसर नहीं दिया। वह उसका सत्कार करने की आड़ में गंभीर वार्ता को किसी-न-किसी प्रकार टालता रहा।

रात्रि को जब भीम सोने की तैयारी कर रहा था, तो शिशुपाल आ कर उसके पास बैठ गया, "महाबली भीमसेन। क्या मैं जान सकता हूँ कि आप इस सैनिक-सज्जा के साथ किस अभियान पर निकले हैं ?"

"कुछ सूचना तो तुम्हें होगी शिशुपाल।" भीम बोला, "चेदि राज्य इंद्रप्रस्थ से इतना दूर तो नहीं कि वहाँ के समाचार यहाँ न आते हों।"

"ओह ! राजनीति। वैसे मैं तो पारिवारिक समाचार के रूप में पूछ रहा था।" शिशुपाल पुनः उच्च स्वर में हँसा, "चलो, मान लेते हैं कि राजा के रूप में मुझे ये सूचनाएं स्वयं प्राप्त करनी चाहिए। फिर भी भीमसेन ! मैं देखना चाहता हूँ कि मेरे गुप्तचरों ने जो सूचना मुझे दी, वह सत्य भी है या नहीं।"

"सत्य यह है भाई ! कि महाराज युधिष्ठिर चक्रवर्ती सम्राट पद के लिए राजसूय यज्ञ कर रहे हैं।" भीम ने सहज भाव से उत्तर दिया, "हम चारों भाई चार दिशाओं में सैनिक अभियान के लिए निकले हैं, ताकि प्रेम अथवा बल से, वार्ता अथवा युद्ध से सारे भारत के राजाओं को धर्मराज को सम्राट् मानने के लिए सहमत कर सकें।"

"आप मेरे पास भी इसलिए आए हैं ?" शिशुपाल ने पूछा।

"हाँ।"

शिशुपाल ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया। उसने चिंतन की मुद्रा बनाई और शून्य को घूरता रहा। थोड़ी देर के पश्चात् वह बोला, "मैंने तो सुना था कि युधिष्ठिर को राज्य का कोई लोभ नहीं है। और फिर अब तो उनके पास इंद्रप्रस्थ जैसा स्थिर और समृद्ध राज्य है, तो यह साम्राज्य का लोभ क्यों ?"

"राजसूय यज्ञ लोभ से नहीं होता, धर्म के दायित्व-बोध से होता है।" भीम ने कहा।

"सेना लेकर अपने पड़ोसी राजाओं से युद्ध कर सैनिकों और प्रजा की हत्या से कौन-सा धर्म होगा ?" शिशुपाल की वाणी कुछ वक्र हो उठी, "यह धर्म आपको उस वासुदेव कृष्ण ने ही सिखाया होगा।"

भीम के सारे शरीर का रक्त सहसा ही उसके मस्तिष्क की ओर दौड़ने लगा। उसे लगा कि यदि उसने स्वयं को तत्काल नहीं सँभाला तो वह उस शिशुपाल को उठा कर भूमि पर पटक देगा अथवा खड्ग निकाल कर इसका मस्तक धड़ से अलग कर देगा··· किंतु यह नीति नहीं थी। उसे अपना मस्तिष्क ठंडा रखना था। यथासंभव कम से कम रक्तपात करना था। उसका हाथ उठ गया और शिशुपाल का शव भूमि पर जा गिरा तो इंद्रप्रस्थ लौट कर उसे करेणुमती की जिन आँखों का सामना करना पड़ेगा, उन्हें वह कैसे सहन करेगा···

"आजकल इस भारतवर्ष में घर-घर में राजा हैं, और सब अपनी मनमानी कर रहे हैं। किसी को प्रजा की सुविधा-असुविधा की चिंता नहीं है।" भीम ने कहा, "सारे जंबूद्वीप को एक चक्रवर्ती सम्राट् के राज्य के अन्तर्गत लाने का अर्थ है, दैनन्दिन होने वाले छोटे-छोटे स्वार्थपूर्ण युद्धों से मुक्ति, संपूर्ण जंबूद्वीप में सुख-शांति तथा निर्विघ्न यात्राओं की सुविधा। व्यापार की समृद्धि और शिक्षा का प्रसार। लोगों को भ्रमण और तीर्थयात्राओं के लिए सुरक्षित वातावरण।" भीम ने रुक कर शिशुपाल की ओर देखा, "वर्षों से इस संपूर्ण जंबूद्वीप में न राजसूय यज्ञ हुआ है, न क्षत्रिय एक स्थान पर जुटे हैं, न उनमें विचार-विमर्श हुआ है। विद्वान् कूप-मंडूक हो गए हैं और अपनी संकीर्ण दीर्घाओं में अपने अहंकार को स्फीत किए बैठे हैं। धर्मराज युधिष्ठिर के राजसूय में देश भर के विद्वानों, पंडितों, ऋषियों, मुनियों, साधकों का सम्मेलन होगा, ज्ञान-चर्चा होगी, ज्ञान का आदान-प्रदान होगा, जड़ताएँ टूटेंगी, ज्ञान के बंद क्षेत्र में प्रेरणादायक अभिनव ज्ञान का झोंका आएगा। ऊँट पर्वत के नीचे आ जाएगा और उसे अपनी उच्चता का ठीक ज्ञान होगा। ज्ञानी लोगों की पूजा होगी और पाखंडी अपना भ्रम टूटने के भय से भाग जाएँगे। साधकों को महाराज भारी दक्षिणा देंगे और सारे चिंतक, कलाकार, दार्शनिक, सर्जक, वैज्ञानिक अपने-अपने स्थान पर बैठे अपनी साधना सफलतापूर्वक कर पाएँगे।···"

भीम अभी कुछ और भी कहता, किंतु शिशुपाल ने उसे टोक दिया, "पर इस सब से हम राजाओं का क्या लाभ होगा ?"

"राजाओं का तो लाभ ही लाभ है। जिस धन को वे अपने भोग का साधन मान कर उस पर कुंडली मारे फन काढ़े नाग के समान बैठे हुए हैं, वह धन उनसे छीन कर धर्मराज देश के उच्चतम साधकों को दे देंगे, प्रजा में वितरित करेंगे, विभिन्न क्षेत्रों के

विकास के लिए उसका उचित उपयोग करेंगे। राजाओं का धन छिनेगा। उनका मद उतरेगा। उन्हें सद्बुद्धि आएगी। वे प्रजा की ओर ध्यान देंगे और अपना जीवन सार्थक करेंगे।"

"मैं आपसे तनिक भी सहमत नहीं हूँ भीमसेन।" शिशुपाल बिना तनिक भी उत्तेजित हुए, अत्यन्त संतुलित तथा स्थिर वाणी में बोला, "इससे राजा दुर्बल होंगे, उनके भोग के साधन उनसे छिनेंगे, वे अधिकारों से वंचित होंगे। आप कह सकते हैं कि वे पुण्य अर्जित करेंगे, किंतु उस पुण्य का क्या करना, जिसका भोग इंद्रियों के जीते-जागते इस संसार में नहीं किया जा सकता। आप कहेंगे, उस पुण्य से स्वर्ग मिलेगा, स्वर्गीय भोग मिलेंगे।"किंतु हम में से किसी ने स्वर्ग नहीं देखा है। मैं स्वर्ग के अस्तित्व को नहीं मानता। आपके संतोष के लिए मान भी जाऊँ, तो यही कहूँगा कि निश्चित को छोड़, अनिश्चित की ओर भागना मूर्खता है। संसार के प्रत्यक्ष भोगों को छोड़कर किसी काल्पनिक लोक के काल्पनिक सुखों के पीछे भागना कहाँ की बुद्धिमत्ता है। इसलिए सम्राट् बनकर दान देने के स्थान पर अपने शत्रुओं को हवन-कुंड में होम देना चाहिए। इंद्रिय गम्य भोगों के साथ-साथ अधिकार सुख की मादकता का आनन्द लेना चाहिए।"

"यही सब कुछ तो जरासंध करना चाहता था।" भीम ने कहा।

"इसीलिए तो कह रहा हूँ कि आप भी वही करें।" शिशुपाल ने निर्द्वन्द्व वाणी में निस्संकोच कहा, "जरासंध यह मानता था और यही करता था, इसलिए जंबूद्वीप के सारे समर्थ और शक्तिशाली राजा उसके साथ थे...।"

भीम की इच्छा हुई कि वह जोर का एक अट्टहास करे... इस मूर्ख को तो देखो, इसे सुनीथ, शाल्व, दंतावक्त्र, कंस, भीष्मक, दमघोष इत्यादि समर्थ राजा दिखाई पड़ते हैं, जो अपने राजप्रासाद में भी स्वतंत्र नहीं थे। उनके लिए प्रत्येक निर्देश जरासंध की ओर से आता था। जो उसका संकेत पाकर उठते और बैठते थे, वे समर्थ और शक्तिशाली थे।... उसे यादव, पंचाल, मत्स्य और कौरव दिखाई नहीं देते, जिन्हें जरासंध की तनिक भी चिंता नहीं थी...

"यदि धर्मराज युधिष्ठिर भी उसी नीति पर चलें तो प्रभावशाली राजा अपने अधिकारों की सुरक्षा का आश्वासन पाकर उनकी सभा में सम्मानपूर्वक सम्मिलित हो सकते हैं...।"

भीम ने कुछ कहा नहीं। वह शिशुपाल की ओर देखता रहा, जैसे उसे अपनी बात पूर्णतः कह लेने का अवसर दे रहा हो।

"आप यह कह सकते हैं कि जरासंध का वध कर देने मात्र से उसके कारागार में बंदी सौ के सौ राजा धर्मराज के पक्ष में आ गए हैं।" शिशुपाल हँसा, "किंतु उन राजाओं की ओर देखिए तो। उनकी क्षमता ही क्या है ? ऐसे-ऐसे सौ राजा तो किसी समर्थ राजा के एक चरण के नीचे दब जाते हैं। उनकी संख्या बड़ी लगती है, किंतु उनमें बल कितना है ?" शिशुपाल रुका, "इसीलिए कहता हूँ कि जरासंध का वध कर आपने उन सौ राजाओं को तो अपना मित्र बना लिया है, किंतु उन सारे शक्तिशाली राजाओं को अपना शत्रु भी बना लिया है, जो जरासंध के मित्र थे। आप समझते होंगे कि जरासंध के कारावास से मुक्त हुए वे सौ राजा आपके सहायक होंगे किंतु मैं समझता हूँ कि उनकी रक्षा का बोझ भी आपके सिर पर पड़ा है। जरासंध के मित्र अवसर पाते ही

उन राजाओं को मारेंगे और आपको उनकी रक्षा के लिए दौड़ना पड़ेगा। ऐसे में राजसूय यज्ञ में वे आपकी क्या सहायता कर सकते हैं ?…"

भीम ने अपनी दृष्टि शिशुपाल के चेहरे पर टिका दी, "तुम क्या चाहते हो शिशुपाल ?"

"मैं ? मैं क्या चाहूँगा ?" शिशुपाल क्षणभर के लिए अटपटा गया, "मैं तो आपका संबंधी हूँ, समधी भी हूँ। राजपुत्र हूँ और राजा हूँ। हमारा वर्ग एक ही है, कृष्ण के समान नहीं हूँ कि ग्वाला होकर राजाओं के समाज में बलात् पैठने का प्रयत्न करूँ। मैं स्वयं को आपसे भिन्न नहीं मानता। इसलिए आपकी उन्नति में अपनी भी उन्नति मानता हूँ। जैसे पिता अपने पुत्र को कंधों पर बैठाकर उसे ऊँचा उठा कर प्रसन्न होता है, वैसे ही मैं धर्मराज को ऊँचा उठाने के लिए उनका आधार बनने को भी प्रस्तुत हूँ…।"

भीम को लगा कि उसका धैर्य समाप्त-प्राय है। उसने कुछ अधीरता से कहा, "मुझे तो केवल इतना ही बताओ कि तुम धर्मराज युधिष्ठिर को सम्राट स्वीकार करोगे या नहीं ? कर दोगे या नहीं ?"

"स्पष्ट प्रश्न का स्पष्ट उत्तर देता हूँ। आप सेना लेकर आए हैं कि धर्मराज को सम्राट् मानूँ और कर दूँ, तो आपके भय से इन दोनों में से कुछ भी नहीं करूँगा।" शिशुपाल के चेहरे पर कुछ तेज झलका,"किंतु आप लोगों को अपना आत्मीय मानता हूँ। परिजन के रूप में आपकी उन्नति को अपनी उन्नति मानता हूँ। उस दृष्टि से जैसे आप अपने बड़े भाई की ओर से सैनिक अभियान पर निकले हैं, वैसे ही मैं भी धर्मराज की ओर से युद्ध लड़ सकता हूँ। आत्मीयता के इस अधिकार से माँगें तो यह सारा राज्य आपका है, राजकोष आपका है।"

भीम मन-ही-मन मुस्कराया। शिशुपाल यह सब सरल भाव से नहीं कह रहा था… पाखंड कर रहा था वह। अपनी नीचता को उदारता के छद्म से ढंकना चाहता था, अपने स्वार्थ को वह आत्मीयता के रूप में प्रस्तुत कर रहा था।

"तुम ठीक कहते हो शिशुपाल। सम्राट् को भय और आंतक के बल पर सम्राट् नहीं होना चाहिए। वह तो प्रेम, स्नेह, आत्मीयता और सेवा से सम्राट् बनता है। हम धर्मराज के चाकर इसलिए नहीं हैं कि उनसे युद्ध में पराजित हुए हैं, अथवा हम उनकी सैनिक शक्ति से भयभीत हैं। हम ही तो उनकी सेना हैं। हम ही उन्हें सम्राट बना रहे हैं… उनके सम्राटत्व में हमारा अधिकार सन्निहित है। तुमने ठीक कहा, भाई। हम पृथक् हैं ही कहाँ… हम संबंधी भी हैं और समधी भी।"

शिशुपाल के चेहरे पर उल्लास झलका, "मैं तो आपको यहाँ तक आश्वासन दे सकता हूँ कि आपको मेरे मित्रों में से भी किसी से युद्ध करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। वे सब धर्मराज के राजसूय में सम्मिलित होंगे। आखिर यह हम सब का एक सम्मिलित सामाजिक उत्सव ही तो है। आपके घर विवाह हो, कोई धार्मिक कृत्य हो… तो क्या मैं उसमें सम्मिलित नहीं हूँगा ? आपका तिलक नहीं करूँगा ? शगुन नहीं दूंगा ? …वैसा ही यह उत्सव भी है। आप किसी का राज्य नहीं छीन रहे, किसी को सिहांसन से अपदस्थ नहीं कर रहे, किसी का हवन-कुंड में होम नहीं कर रहे… तो फिर आपके उत्सव में सम्मिलित होने में किसी को क्या आपत्ति हो सकती है ?…"

भीम ने बिना कुछ कहे ही सहमति में सिर हिला दिया, जैसे शिशुपाल ने कोई अत्यन्त मौलिक और महत्वपूर्ण बात कही हो।

"देखिए, जैसे स्नेह देने से स्नेह मिलता है, वैसे ही महत्व देने से महत्त्व भी मिलता है।" शिशुपाल ने गंभीर मुद्रा बनाई, "आप जिसको जितना और जैसा महत्त्व देंगे, वैसा ही महत्त्व वह आपको भी देगा।..."

"मैं समझा नहीं शिशुपाल।"

"इसमें समझने की क्या बात है आर्य।" शिशुपाल ने अत्यन्त मधुर मुद्रा बनाई, "अपने दैनन्दिन जीवन में हम सब ही अपने पुत्रों और सेवकों में अंतर करते हैं। आप अपने पुत्र से स्वयं को अभिन्न मानते हैं, इसलिए आपका पुत्र भी आपका सेवक और दास होकर रहता है। किंतु जिस भृत्य को पराया मान कर आप उसका श्रम शुल्क देकर क्रय करते हैं, पारिश्रमिक न मिलने पर वह भी आपकी सेवा नहीं करना चाहता। ठीक है न ?"

"ठीक है।" भीम ने कहा।

"अब राजसूय यज्ञ में आपके मांडलिक राजा भी आएँगे, परिजन भी होंगे, मित्र-मंडली भी होगी।" शिशुपाल बोला, "इतना बड़ा उत्सव होगा, सहस्रों काम होंगे, अनेक दायित्व होंगे। अब ये सारे काम आप अकेले ही तो नहीं करेंगे न ? कोई उपहार स्वीकारने का कार्य करेगा तो कोई उच्छिष्ट बर्तन धोने का। इसी से तो पता चलेगा, कि आपके मन में किसके लिए कितना स्नेह है, कितना सम्मान है।" शिशुपाल रुक कर बोला, "वैसे भी महाबली। अपने-पराए का अंतर तो करना ही पड़ता है। जिन्हें आत्मीय मानें, उन्हें आदर-मान भी देना पड़ता है।... और फिर जो आपका भृत्य है, वह भृत्य ही रहेगा, चाहे कितना ही मुँह लगा क्यों न हो, और जो आपका मित्र है, वह मित्र ही रहेगा, चाहे वर्षों के पश्चात् भेंट होती हो।"

"तुम तो बहुत अनुभव की बातें करने लगे हो शिशुपाल।" भीम को लगा, उसकी वाणी में अनायास ही हल्का-सा व्यंग्य आ गया था। उसकी इच्छा हो रही थी कि वह शिशुपाल से पूछे कि उसे भीम को उपदेश देने का अधिकार किसने दे दिया ? भीम रक्तपात से बचने के लिए कुछ नम्र हो गया तो इसका यह अर्थ तो नहीं कि जो चाहे उसका कुलवृद्ध बनकर उसे उपदेश देने लगे। वह तो इस प्रकार बोल रहा था, जैसे कोई आचार्य अपने शिष्य को जीवन के रहस्यों से परिचित करवा रहा हो... और कितना बोलता है यह शिशुपाल ! बोलता है तो चुप ही नहीं होता। यदि इसकी अपनी जिह्वा नहीं थकती, तो इसे इतना तो समझना चाहिए कि दूसरे व्यक्ति के कान थक सकते हैं... वह यह सब समझता हो या न समझता हो, किंतु वह अपने-आपको बहुत कुछ समझता था। अंततः शिष्य तो वह जरासंध का ही था न। वह भी स्वयं को बहुत अधिक आँकने लगा था। सारे देश के राजाओं का भाग्य विधाता बन गया था वह। और इसे देखो तो... स्पष्ट न कह कर, प्रकारांतर से राजसूय यज्ञ में अपने तथा अपने मित्रों के लिए सम्मान और महत्त्व की माँग कर रहा था। जैसे पांडव यह यज्ञ कृष्ण की इच्छा से संसार में धर्म की स्थापना के लिए न कर रहे हों, शिशुपाल के लिए कर रहे हों।... भीम के मन में आया कि वह उससे कहे कि वे लोग यज्ञ के ब्रह्मा का स्थान, महामुनि

वेद व्यास को न देकर, उसे ही दे देंगे''' या वह चाहता है कि सम्राट् के रूप में धर्मराज के स्थान पर उसका ही अभिषेक हो जाए'''

"अच्छा शिशुपाल।" भीम ने स्वयं को कुछ अधिक ही नियंत्रित कर धीरे से कहा, "शेष बातें हम कल कर लेंगे। इस समय तो मुझे नींद आ रही है।"

"हाँ। प्रातः जल्दी उठना भी है।" किन्तु शिशुपाल अपने स्थान से हिला भी नहीं, "पर यज्ञ में यह ध्यान रखना होगा कि अनुपयुक्त व्यक्ति महत्त्व का पात्र न बने। मैंने देखा है कि अनेक वार लोग ऐसे उत्सवों में कलह से बचने के लिए अनेक प्रकार के समझौते कर लेते हैं, किंतु वह उचित नहीं है। तनिक से विवाद को टालने के लिए अथवा किसी का मन रखने के लिए अयोग्य लोगों को मुँह नहीं लगाना चाहिए'''।"

भीम ने निद्रा का अभिनय त्याग दिया। उसे लगा कि शिशुपाल ये बातें केवल सामान्य नीति के रूप में नहीं कह रहा है। उसके मन में निश्चित रूप से कोई विशेष लक्ष्य है, जिसे अपने सहयोग के मूल्य के रूप में वह उसके सामने रखना चाहता है। ऐसे में यदि भीम खर्राटे लेने का अभिनय करेगा, तो शिशुपाल उठकर नहीं जाएगा'''

"क्या मैं तुम्हारा अभिप्राय स्पष्ट शब्दों में जान सकता हूँ ?" भीम ने उसकी ओर देखा।

"तुम लोगों को कृष्ण को इतना महत्त्व नहीं देना चाहिए।" शिशुपाल बोला, "वह तो तुम लोगों से आत्मीयता जताने का प्रयत्न करेगा ही, किंतु तुम्हें उसे उसका स्थान दिखा ही देना चाहिए।"

"क्यों वह हमारा आत्मीय नहीं है क्या ?" भीम ने पूछा, "वह हमारा मातुल-पुत्र है, जैसे तुम हमारी मौसी के पुत्र हो। उसका तुम से भी वही संवंध है, जो हम से है।"

"इस प्रकार के संवंधों से तो कोई हमारे स्नेह और सम्मान का पात्र नहीं हो जाता।" शिशुपाल बोला, "राजाओं के वहुत सारे संवंधी होते हैं, किंतु वे सभी राजा नहीं होते''' वे सिंहासन पर नहीं वैठते, वे किरीट धारण नहीं करते। वे हमारे समकक्ष कैसे हो सकते हैं ?"

भीम मुस्कराए विना नहीं रह सका, "पद पर तुम्हारा इतना वल है शिशुपाल। प्रतिभा पर तनिक भी नहीं।"

"प्रतिभा क्या होती है ?" शिशुपाल जैसे अपना नियंत्रण खोकर भीम को मुँह चिढ़ा रहा था, "प्रतिभा तो वही होती है , जो पद को प्राप्त करे। प्रतिभा कारण है, पद उसका कार्य। पद नहीं है, तो समझ लो प्रतिभा भी नहीं है, पाखंड ही पाखंड है।"

"नहीं चेदि नरेश।" भीम ने अत्यन्त धैर्यपूर्वक कहा, "मैं यह मानता हूँ प्रतिभा पद की मुखापेक्षी नहीं होती। पद पर बैठा व्यक्ति बस उसी समय तक महत्त्वपूर्ण होता है, जव तक वह पद पर है, और उन्हीं के लिए महत्त्वपूर्ण होता है, जिन्हें उससे कोई काम होता है। प्रतिभा इन सब से स्वतंत्र है'''न वह पद पर विराजती है, न पद उसे त्यागता है। न वह किसी की कृपा पर निर्भर होती है, न उसे किसी की मान्यता की आवश्यकता होती है। तुम जब चाहो किसी भी साधारण व्यक्ति को पकड़, किसी पद पर नियुक्त कर, सीमित अर्थों में उसे महत्वपूर्ण बना सकते हो, और जब तुम्हारी इच्छा हो उसे उस पद् से मुक्त कर, उसे पुनः साधारण एवं महत्वहीन बना सकते हो।'''किंतु कितना भी चाहो, एड़ी चोटी का बल लगा लो, किसी को कण भर प्रतिभा नहीं दे सकते,

और न किसी की प्रतिभा छीन सकते हो। पद तो सांसारिक स्थिति है, प्रतिभा ईश्वर का दिया हुआ वरदान है।"...

"पद के बिना कौन महत्वपूर्ण है, बताओ तुम ?" शिशुपाल के मुख पर चुनौती का अहंकार था।

"पद के कारण धृतराष्ट्र महत्वपूर्ण हैं, और प्रतिभा के कारण हमारे पितामह भीष्म। धृतराष्ट्र को केवल राजकर्मचारी ही शीश झुकाएँगे और पितामह को देख कर बड़े-बड़े उद्दंड मस्तक स्वयं श्रद्धा से नत हो जाते हैं।" भीम बोला, "महामुनि वेद व्यास के पास कोई पद नहीं। वे राजसभा में हों, अथवा किसी सामान्य वृक्ष के नीचे...वे महामुनि ही रहेंगे। उग्रसेन राजा हैं, किंतु क्या स्थिति है उनकी ? कृष्ण राजा नहीं हैं, किंतु समस्त राजा उनके नचाए नृत्य करते हैं।..."

शिशुपाल का मुँह जैसे कड़वा हो गया, "मुझे तुम लोगों की यही बात नहीं रुचती। कृष्ण एक साधारण जन का पुत्र है, मेरे या तुम्हारे समान राजपुत्र नहीं है वह। पशुओं को चराता रहा है वह, राजनीति नहीं पढ़ता रहा। गोप बालकों और गोपियों में पला है वह, उसे राजसी संस्कार नहीं मिले। तुम लोग समझते हो बड़ी प्रतिभा है उसमें। प्रतिभा होती तो मथुरा का राजा हो गया होता..."

"जैसे कंस हो गया था।" भीम उपेक्षा से हँसा, "कृष्ण को राज्य नहीं, धर्म प्रिय है। वह राजाओं का राजा है...राजराजेन्द्र ! तुम उसके महत्व को समझते नहीं हो। उसने जीवन में एक भी काम अपने सुख और स्वार्थ के लिए नहीं किया...।"

"कंस को किस परमार्थ के लिए मारा उसने ?" शिशुपाल अपने क्रोध के वश होता जा रहा था।

"यादवों की स्वतंत्रता और सम्मान के लिए।" भीम बोला, "कंस यादवों का राजा नहीं, जरासंध का दास था।...और राजा तो क्या, वह मनुष्य भी नहीं था, नराधम था वह, राक्षस था।"

"और रुक्मिणी का हरण किसके लिए किया उसने ?" शिशुपाल बोला, "परनारी का, दूसरे पुरुष की वाग्दत्ता का ?"

"किसी राक्षस से आंतकित हो कोई भीरु पिता तथा स्वार्थी भाई यदि किसी कन्या का विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध बलात् किसी पुरुष से करना चाहते हों तो क्या उसे यह अधिकार नहीं है कि वह अपने मन-भावन को प्राप्त करने का प्रयत्न करे ?" भीम ने भी अपने आक्रोश को गुप्त नहीं रखा, "कृष्ण ने रुक्मिणी को वही अधिकार दिया। विप्र, नारी, गाय, वृद्ध तथा बालक की रक्षा प्रत्येक क्षत्रिय का धर्म है। वही कृष्ण ने किया।"

"और वे सोलह सहस्र रानियों की कथा ? कितनी स्त्रियाँ हैं, कृष्ण के अंतःपुर में ?" शिशुपाल का मुख पिटे हुए कुत्ते के समान विकृत होता जा रहा था।

"भौमासुर के अवरोध से मुक्त की गई स्त्रियाँ न तो उस अर्थ में कृष्ण की पत्नियाँ हैं, न वे उसके अंतःपुर में रहती हैं।" भीम ने शिशुपाल के आक्रोश की चिंता नहीं की; "जिन स्त्रियों को कलंकिनी मानकर उनके पति, पुत्र, पिता अथवा भाई स्वीकार नहीं कर रहे थे, उन सोलह सहस्र स्त्रियों का कलंक धारण किया है, कृष्ण ने अपने माथे

पर। तुम्हारे मित्र सौभ-नरेश के पितामह ने अपनी वाग्दत्ता अंबा को इसलिए अस्वीकार कर दिया था कि हमारे पितामह भीष्म अपने अज्ञान में उसका हरण कर लाए थे—और कृष्ण ने तो उन अपरिचित अपहृत दुखिया स्त्रियों को सहरा दिया है, जिनका कोई नहीं था। वह उनके भरण-पोषण के लिए उत्तरदायी है, उनकी रक्षा के लिए उत्तरदायी है, उसने उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाने के लिए अपना नाम दिया है। क्या पाप किया है कृष्ण ने ?…"

स्तब्ध और अवाक् शिशुपाल भीम की ओर देखता रहा, किंतु वह उससे सहमत तनिक भी नहीं हुआ, और सहसा वह उठ खड़ा हुआ, "तुम लोगों पर जादू कर रखा है उस कृष्ण ने । तुम सब को वह एक दिन ले डूबेगा। मेरी बात का मर्म अभी नहीं समझ रहे हो, किंतु जब समझोगे, तब तक बहुत देर हो चुकी होगी।"

शिशुपाल वहाँ खड़ा नहीं रह सका। बिना कुछ और कहे, वह कक्ष से बाहर निकल गया।

शिशुपाल अपने पर्यक पर जाकर लेटा, तो उसे लगा कि उसका मन पूर्णतः शांत हो गया है। कृष्ण के प्रति अपना जितना विरोध वह प्रदर्शित करना चाहता था, उतना कर आया था। अपना तथा अपने मित्रों का जितना सामर्थ्य वह जताना चाहता था, जता आया था। ठीक है कि भीम ने उसकी एक भी बात से सहमति नहीं जताई तो क्या। यह तो बैल है, इसमें बस शरीर का बल है, बुद्धि तो अन्य भाइयों में ही है। जब यह जाकर उन्हें बताएगा कि शिशुपाल ने क्या कहा है तो युधिष्ठिर और अर्जुन स्वयं ही सँभल जाएँगे। शेष उन्हें करेणुमती समझा देगी।

शिशुपाल को अपना लक्ष्य पूरा होने का ऐसा मद चढ़ा कि कुछ ही क्षणों में वह गहरी नींद हो गया।

32

वासुदेव कृष्ण, यादव महारथियों के साथ यज्ञ में भाग लेने के लिए इंद्रप्रस्थ पहुँच गए थे। उनके साथ बलराम, सारण, गद, कंक, उल्मुक, निशठ अंगावह, प्रद्युम्न, सांब तथा चारुदेष्ण भी अपनी सैनिक साज-सज्जा के साथ आए थे। लगता था, वे लोग किसी यज्ञ में नहीं, युद्ध में सम्मिलित होने के लिए आए थे। सात्यकि पहले से ही इंद्रप्रस्थ में था। वह भी जाकर उनमें सम्मिलित हो गया था।

कृष्ण को यह देखकर सुखद आश्चर्य हुआ कि इंद्रप्रस्थ में मयदानव द्वारा आरंभ किए गए भवन बनकर पूर्णतः तैयार हो चुके थे। सभा-भवन तो अपने सौन्दर्य और विशालता में अद्भुत था। राजसूय यज्ञ की तैयारियाँ लगभग पूरी हो चुकी थीं। युधिष्ठिर ने अतिथियों के आवास के लिए जितना व्यापक प्रबंध किया था, उसके पीछे इंद्रप्रस्थ

की संपन्नता दिखाई दे रही थी। कृष्ण को पूर्ण विश्वास था कि चारों पांडव चारों दिशाओं से जब दिग्विजय करके लौटेंगे, तो उनके पास इस यज्ञ के लिए पर्याप्त धन संचित हो जाएगा। फिर भी यदि किसी प्रकार की कोई कमी रह जाती, अथवा पांडवों के गौरव के अनुकूल धन संचित न होता तो उसकी पूर्ति के लिए पर्याप्त धन कृष्ण अपने साथ लाए थे।''समग्रतः स्थिति उनके अनुमान से कुछ श्रेष्ठतर ही थी।''वे तो सोच कर आए थे कि यादवों की वाहिनियाँ इंद्रप्रस्थ की प्राचीर के बाहर यमुना-तट पर शिविर में रहेंगी, किंतु नकुल उन्हें सीधे स्कंधावार में ले गया था, जहाँ सब प्रकार की सुविधाओं से संपन्न आवास की पूर्ण व्यवस्था थी। स्वयं कृष्ण, उनके भाइयों तथा पुत्रों के लिए वही भवन सुरक्षित रखा गया था, जिसमें वे पहले भी प्रायः ठहरा करते थे। ऐसा एकदम नहीं लगता था कि यादव किसी अन्य राज्य में प्रवास की स्थिति में हैं। उन्हें अपने स्थायी निवास जैसी प्रायः सारी सुविधाएँ उपलब्ध करा दी गई थीं।

धौम्य मुनि तथा महर्षि वेदव्यास को आगे कर, भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव को साथ लेकर युधिष्ठिर उनसे मिलने आए।

कृष्ण ने उन सबका विधिवत अभिवादन कर, उन्हें बैठाया और कहा, "धर्मराज ! मैं तो स्वयं आपके दर्शनार्थ आने वाला था। मेरी इच्छा थी कि यादवों की ओर से आपके लिए भेजे गए उपहार भी विधिवत् आपको समर्पित कर आता। एक कार्य पूरा हो जाता और मेरे मन से उसका बोझ उतर जाता।"

युधिष्ठिर अपना स्थान छोड़कर, कृष्ण के निकट आ गए, "जनार्दन ! आपने मुझे क्या नहीं दिया। क्या नहीं है इस समय पांडवों के पास। आपकी कृपा से मेरे चारों भाई चारों दिशाओं से विजयी हो, करद राजाओं द्वारा दिए गए उपहारों के रूप में विपुल धन-धान्य लेकर लौटे हैं। कहीं भी हमारी सेनाओं का कोई गंभीर विरोध नहीं हुआ है। जहाँ कहीं सैनिक टकराव हुए भी हैं, वहाँ शत्रुओं को पराजित करने में पाडंवों को अधिक कठिनाई नहीं हुई। मैं इस यज्ञ के कारण मन-ही-मन भयभीत भी था कि इसमें अनावश्यक मानव-रक्त बहेगा, सहस्रों सैनिकों के प्राण जाएँगे, किंतु वैसा कुछ नहीं हुआ है।''"

"मैं जानता था कि पांडव वीरों के सम्मुख कोई राजा टिक नहीं पाएगा।" कृष्ण बोले, "किन्तु धर्मराज ! हस्तिनापुर की नीति क्या रही ?"

"भैया ने हमें हस्तिनापुर पर आक्रमण करने का निषेध कर दिया था।" भीम ने कुछ-कुछ आपत्ति के रूप में कहा, "अन्यथा''"

"तो क्या दुर्योधन ने कर भिजवा दिया ?" कृष्ण ने पूछा।

"नहीं।" युधिष्ठिर बोले, "मैंने उसकी आवश्यकता नहीं समझी।"

"हस्तिनापुर यदि पराजित भी नहीं हुआ और उसने कर भी नहीं दिया तो वह धर्मराज के अधीन कैसे माना जा सकता है।" कृष्ण बोले, "और यदि एक भी राज्य धर्मराज से स्वतंत्र है, तो धर्मराज सम्राट् कैसे माने जा सकते हैं ?"

"मैंने उसकी आवश्यकता नहीं समझी।" युधिष्ठिर ने पुनः कहा।

"क्यों ?"

"हस्तिनापुर में हमारे पितामह और पितृव्य राजा हैं। इंद्रप्रस्थ तथा हस्तिनापुर दो पृथक राज्य नहीं हैं। इनमें से किसी एक को राजसूय करने के लिए दूसरे को पराजित

करना अथवा उसे करद राज्य घोषित करना आवश्यक नहीं है। हम एक ही परिवार की दो शाखाएँ हैं। वे लोग परिवारजन के रूप में यज्ञ में सम्मिलित होंगे।"

"क्या दुर्योधन इस स्थिति को इसी रूप में स्वीकार करेगा ?" कृष्ण ने पूछा।

"मुझे दुर्योधन पर नहीं, पितामह तथा पितृव्य पर विश्वास है।" युधिष्ठिर ने कह तो दिया किंतु उनकी वाणी में पर्याप्त आत्मवल नहीं था।

"आपने उन्हें आमंत्रित करने के लिए अपना दूत भेज दिया है ?"

"नहीं। अभी तो नहीं भेजा।"

"क्यों ?"

"मैं तुम्हारी अनुमति की प्रतीक्षा कर रहा था वासुदेव।" युधिष्ठिर ने कहा, "अब तुम आ गए हो, हमें अनुमति दो कि हम यज्ञ की तैयारी करें। मैं तो महर्षि से कह रहा था कि वासुदेव कृष्ण ही यज्ञ की दीक्षा लें। तुम्हारे यज्ञ करने से हम सव पापरहित हो जाएँगे।"

"नहीं धर्मराज !" कृष्ण का स्वर गंभीर था, "सम्राट् के लिए पाँच गुण होने चाहिए: शत्रुविजय, प्रजापालन, तपःशक्ति, धन-समृद्धि तथा उत्तम नीति। शत्रुओं को जीतकर मान्धाता ने सम्राट् का पद प्राप्त किया था, भगीरथ ने प्रजा का पालन कर के, कार्तवीर्य ने तपोवल से, राजा मरुत ने अपनी समृद्धि से, राजा भरत सहज बल से सम्राट् बने थे। आप में तो ये पाँचों गुण एक साथ हैं। सम्राट् तो आपको ही होना है। आप अपने इस अभीष्टि यज्ञ को आरंभ कीजिए। मैं आपका कल्याण करने के लिए अपने परिवारजनों और सेना के साथ उद्यत हूँ। मुझे आवश्यक कार्य में लगाइए, मैं आपकी सब आज्ञाओं का पालन करूँगा।"

"वासुदेव। मेरी इच्छा है कि यज्ञ संबंधी अनेक बातों का निर्णय अभी हो जाए।" महर्षि वेदव्यास ने पहली बार मुँह खोला, "युधिष्ठिर यज्ञ करने को तो अत्यन्त आतुर है, किंतु सम्राट् बनने की महत्वाकांक्षा उसके मन में नहीं है।"

"यह कैसा विरोधाभास ?" कृष्ण हँस पड़े, "सम्राट नहीं वनना चाहते तो यज्ञ करने को आतुर क्यों हैं ?"

"पांडवों के राजकोष में अथाह धन एकत्रित हो गया है।" युधिष्ठिर चिंतित स्वर में बोले, "उसका तत्काल धर्मपूर्ण वितरण न हुआ तो यह कोष अनर्थ को जन्म देगा। यह संचय प्रजा के पालन के लिए है, दुष्टों के दलन के लिए है, विप्रों तथा विद्वानों के सम्मान के लिए है, कृषि के विकास के लिए है, व्यापार के संरक्षण के लिए है, कलाओं के गौरव को स्थापित करने के लिए है···यह पांडवों के भोग के लिए नहीं है जनार्दन। इससे पहले कि यह धन पांडवों को लुब्ध कर दिग्भ्रमित करे, मेरी इच्छा है कि राजसूय के माध्यम से इसका वितरण हो जाए, ताकि यह अपने उपयोग के उपयुक्त स्थान पर पहुँच जाए।"

"तो सम्राट् क्यों नहीं बनना चाहते राजन् ?" कृष्ण ने पूछा, "वस्तुतः सम्राट् होने के योग्य वही व्यक्ति है, जो संचित धन पर लुब्ध नहीं होता, उससे चिंतित होता है।"

"संचित धन यदि मुझे भोग की ओर ले जाएगा, तो संचित अधिकार मुझे राजमद की ओर प्रेरित करेगा। मैं अपनी परीक्षा लेने का दुस्साहस नहीं करना चाहता।" युधिष्ठिर

बोले, "धन वितरण करूँगा, तो जिन्हें मिलेगा वे तो प्रसन्न होंगे ही, मेरा प्रतिस्पर्धी राजन्य समाज भी ईर्ष्याविहीन होकर प्रसन्न होगा कि मेरा धन-बल क्षीण हो रहा है और मैं दुर्बल हो रहा हूप, किंतु सम्राट् पद धारण करने से उनकी ईर्ष्याग्नि भड़केगी। उनका अभिमान आहत होगा। मेरी आज्ञा के अधीन कार्य करना उन्हें अच्छा नहीं लगेगा। संभव है उससे संसार का हित होने के स्थान पर अहित हो। महत्वपूर्ण मेरा सम्राट् होना नहीं है केशव ! महत्वपूर्ण तो संसार का हित है।"

सहसा कृष्ण की मुद्रा परिवर्तित हो गई। उनके मुख-मंडल पर हास्य के स्थान पर क्षात्र-तेज लहराया, "मैं भी संसार के हित की ही चिंता कर रहा हूँ धर्मराज।" कृष्ण बोले, "इस युग के अधिकांश राजा, शासन के अधिकारी नहीं हैं। उन्होंने प्रजा पर आधिपत्य अवश्य जमा रखा है। हमें इस अधर्मपूर्ण, अन्यायपूर्ण आधिपत्य को समाप्त करना है, और अधिकारियों को अधिकार सौंपना है। आपके इस यज्ञ में जो राजा भृत्य के समान काम नहीं करेगा, संसार का बंधु मेरा यह सुदर्शन चक्र उस राजा के शरीर को कबंध बना देगा।" वे रुके, "और जहाँ तक मेरा संबंध है, मेरी इच्छा है कि आप मुझे विद्वान् ब्राह्मणों और विप्रों के चरण पखारने का कार्य दें।"

"वासुदेव !" व्यास कुछ उत्कंठित स्वर में बोले, "हम आपको तंत्र-स्वामी बनाना चाहते हैं। यज्ञ की सारी व्यवस्था आप देखें।"

"यह सम्मान आप कुलवृद्ध पितामह भीष्म को तथा कौरवों के गुरु आचार्य द्रोण को दें।" कृष्ण मुस्कराए, "मुझ से मेरा सुख न ही छीनें तो अच्छा है महर्षि।"

युधिष्ठिर अवाक् बैठे रह गए। वे कृष्ण की बातें सुन-सुन कर इस प्रकार मुग्ध होते जाते थे कि वे उनकी प्रशंसा में कुछ कहने से पूर्व ही विह्वल हो कर बोलने के अयोग्य हो जाते थे। वासुदेव कृष्ण के पास अपने ही इतने साधन थे कि वे जिस दिन चाहते राजसूय यज्ञ कर डालते, किंतु न वे राजा बनना चाहते हैं, न राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं।...और वे युधिष्ठिर को सम्राट् के रूप में प्रतिष्ठित करने को इतने आतुर हैं कि उसका विरोध करने वाले राजा का वध कर देंगे।...क्या महत्व मिलेगा उन्हें, युधिष्ठिर को सम्राट् बना कर ? ...क्या महत्व चाहते हैं वे इस राज-समाज में ? वे राजाओं का शासन करना नहीं चहाते, विप्रों के चरण धोना चाहते हैं।...अहंकार का ऐसा विगलन। विनय की ऐसी चरमावस्था।...कृष्ण मनुष्य नहीं हैं...मानवीय सीमाओं और दुर्बलताओं पर ऐसी विजय कोई मनुष्य पा सकता है क्या ?...

"वासुदेव। तुमने तंत्र-स्वामी की नियुक्ति तो कर दी, अब बताओ यज्ञ का ब्रह्मा किसे बनाया जाए ?" महामुनि ने अपनी गंभीर वाणी में पूछा।

"आपकी उपस्थिति में और किसी के ब्रह्मा बनने का प्रश्न ही नहीं उठता।" कृष्ण बोले, "आप हमारे जीवन-यज्ञ के निरीक्षक हैं, तो क्या इस राजसूय-यज्ञ के निरीक्षक नहीं होंगे।"

"वासुदेव। तुम जिस दैवी अधिकार से बोलते हो, उसका विरोध संभव नहीं है।" महामुनि ने अपनी स्वीकृति दी, "अब बताओ उद्गाता कौन होगा ?"

कृष्ण हँस पड़े, "महर्षि । यज्ञ के ब्रह्मा आप होंगे और उसके उद्गाता की नियुक्ति मैं करूँगा ?"

"ओह वासुदेव ! तुमने तो एक ही युक्ति में मुझे पूर्णतः बाँध दिया।" व्यास ने मुग्ध दृष्टि से कृष्ण की ओर देखा, "अच्छा ! मैं धनंजय गोत्री ऋषि सुसामा को उद्‌गाता नियुक्त करता हूँ। वे यज्ञ में सामगान करेंगे। अध्वर्यु का कार्य यजुर्वेद ऋत्विक याज्ञवल्क्य करेंगे। होता के रूप में मैं धौम्य और पैल की नियुक्ति करता हूँ। वे लोग ऋचाओं का गान करेंगे। ऋग्वेद का इन दोनों से अधिक ज्ञाता कौन है।"

"उत्तम निर्णय है।" युधिष्ठिर ने अपनी सहमति दे दी।

"तो पुत्र ! अब तुम यज्ञस्थान का पूजन करो।" वेदव्यास बोले, "और सब से पहले यज्ञ के लिए आवश्यक सामग्री मँगवाने का प्रबंध किसी पटु-प्रबंधक को सौंपो और समस्त अतिथियों, आगंतुकों तथा अभ्यागतों की भोजन-व्यवस्था के लिए अन्न की आपूर्ति का दायित्व किसी को दो।"

"सहदेव से श्रेष्ठतर प्रबंधक और कौन होगा। वह अपने मंत्रियों के साथ यज्ञ-संबंधी सामग्री एकत्रित करे।" युधिष्ठिर बोले, "अन्न की आपूर्ति का प्रबंध मेरे सारथि इंद्रसेन, भीम के सारथि विशोक तथा अर्जुन के सारथि पूरु करें।"

"उत्तम चयन है।" कृष्ण बोले, "धर्मराज ! अब आप राजाओं, विद्वानों, विप्रों, प्रमुख श्रेष्ठियों तथा कलाकारों को आमंत्रित करने के लिए अपने दूत भेज दीजिए।"

"मुझे कुछ कहना है कृष्ण।" भीम ने सहसा कुछ असहज ढंग से कहा।

सब ने चौंक कर उसकी ओर देखा : वह सहज नहीं था। उसके मन का द्वन्द्व उसके चेहरे पर भी लिखा हुआ था।

"क्या बात है मध्यम ?" अर्जुन से पूछे बिना नहीं रहा गया।

"मेरा धर्मराज से कुछ मतभेद है।" भीम ने धीरे से कहा, "क्या दुर्योधन, कर्ण और शकुनि को इंद्रप्रस्थ आने का निमंत्रण दिए बिना हमारा यज्ञ नहीं हो सकता ?"

"हम पितामह, पितृव्य धृतराष्ट्र तथा विदुर काका को आमंत्रित करें और दुर्योधन इत्यादि को आमंत्रित न करें तो यह हमारी अभद्रता नहीं मानी जाएगी क्या ?" युधिष्ठिर ने कहा।

"तो मत बुलाइए हस्तिनापुर से किसी को।" भीम बोला, "क्या आवश्यकता है उन्हें यहाँ बुलाने और अनावश्यक वितंडावाद करने की। वे लोग न केवल यहाँ आएँगे, वरन् परिजनों के समान आएँगे। मन में ईर्ष्या लिए हुए, ऊपर से स्नेह जताएँगे। परिवारजनों के रूप में आएँगे, तो उन्हें महत्व भी दिया जाएगा और अधिकार भी···जिसके वे सर्वथा अयोग्य हैं।"

"हस्तिनापुर जैसे महत्वपूर्ण और शक्तिशाली राज्य की उपेक्षा कर राजसूय यज्ञ की शोभा नहीं होगी।" कृष्ण बोले, "इस यज्ञ में सार्वभौमिकता तो होनी ही चाहिए। हस्तिनापुरवालों को परिवार-जनों तथा परिजनों के रूप में नहीं बुलाना चाहते तो मांडलिक अथवा करद राजा के रूप में बुलाओ। बुलाना तो उन्हें चाहिए ही।"

"वासुदेव का कथन उचित ही है।" वेदव्यास बोले, "किंतु उसके साथ यह भी ध्यान रखो कि राजसूय की दीक्षा ग्रहण करने वाला राजा एक सार्वभौम पद पर प्रतिष्ठित होने जा रहा है, इसलिए उसका दृष्टिकोण भी सार्वभौमिक होना चाहिए। उसे अपने शत्रुओं और विरोधियों को क्षत्रिय राजा के रूप में युद्ध-क्षेत्र में पराभूत करने का अधिकर है,

किंतु सार्वभौमता को संकीर्ण तथा संकुचित करने और सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए आए राजाओं के प्रति समदृष्टि न रखने का अधिकार नहीं है।" महामुनि ने रुक कर युधिष्ठिर की ओर देखा, "इस यज्ञ का राजनीतिक महत्व अवश्य है पुत्र। किंतु यह यज्ञ है, और यज्ञ एक आध्यात्मिक अनुष्ठान है। यज्ञ में दीक्षित राजा को केवल धर्म को दृष्टि में रखना है, व्यक्तिगत संबंधों तथा रागद्वेष को नहीं। यदि युधिष्ठिर के मन में यह आशंका है कि दुर्योधन तथा उसके मित्र उसे सम्राट नहीं मानेंगे और यहाँ आकर उपद्रव करेंगे तो उसके लिए दो ही मार्ग हैं कि वह क्षत्रिय राजा के समान अपनी सेना भेजे और हस्तिनापुर के राजा को पराजित करे, क्षात्र-धर्म के आधार पर उनसे अपने लिए सम्राट् की मान्यता प्राप्त करे, अथवा यज्ञ-दीक्षित राजा के समान आध्यात्मिक धरातल पर मन से उनके प्रति विरोध, घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, आशंका इत्यादि को दूर कर उसी दृष्टि से उनको भी देखे और प्रमाणित करे कि उसके मन में किसी के प्रति कोई भेदभाव नहीं है। सम्राट को समदृष्टि युक्त होना चाहिए। सारे मांडलिक राजा उसकी प्रजा के समान हैं, इसलिए किसी के भी प्रति उसके मन में पूर्वाग्रह नहीं होना चाहिए।"

"मेरे मन में वैसे भी उनके प्रति कोई भेद-भाव नहीं है महात्मन्।" युधिष्ठिर बोले, "मैं किसी भी क्षण परीक्षा देने को प्रस्तुत हूँ। मेरे मन में दुर्योधन के प्रति घृणा नहीं है। यदि मेरे मन में उसके प्रति भाइयों का-सा प्रेम न भी हो तो मानवीय स्नेह अवश्य है। ऐसे लोगों के प्रति तो हमारे मन में करुणा का भाव ही होना चाहिए, जो राज-मद और राज्य-मोह में कभी शांत और सुखी नहीं रह सकते। सारे भोगों के होते हुए भी उनका भोग नहीं कर सकते। मेरे लिए दुर्योधन ईर्ष्या का पात्र नहीं, दया का पात्र है, महामुनि। उसे मैं क्या दंड दूँ, जो पहले से प्रकृति के द्वारा दंडित है। वह मानसिक रोगी है।..."

"ज्येष्ठ ठीक कह रहे हैं। हमारी समस्या यह है कि इसके जोखिम समझते हुए भी हम इस प्रकार के उदास चिंतन का विरोध नहीं कर सकते।" भीम बोला, "मुझे भय तो यही है, कि वह मानसिक रोगी, वह विक्षिप्त कहीं हम पर पुनः प्रहार न कर बैठे। जानते-बूझते हम किसी विक्षिप्त व्यक्ति को स्वस्थ लोगों के समान अपने समारोह में तो नहीं बुला सकते, कि वह आकर यहाँ जैसा चाहे, उत्पात् करे।"

"भीम से इस विषय में मेरी पर्याप्त चर्चा हो चुकी है।" युधिष्ठिर ने पूर्णतः शांत स्वर में कहा, "यह दुर्योधन के पिछले व्यवहार को बार-बार स्मरण करता है, किंतु इस तथ्य पर विचार नहीं करता कि दुर्योधन सदा से आशंकित था कि हम उसका राज्य, अधिकार तथा धन-संपत्ति उससे छीन लेंगे। यदि कोई आशंकित तथा भयभीत व्यक्ति अपनी क्षति की आशंका से पीड़ित होकर अपनी रक्षा के प्रयत्न में किसी पर भ्रमवश आघात कर बैठे तो उसे इतना बड़ा पापी नहीं समझ लेना चाहिए कि आजीवन उसमें सुधार ही न हो सके। अब वह स्थिति नहीं है। हम यहाँ आ चुके हैं। हस्तिनापुर का राज्य पूर्णतः उसका है। अब वह यहाँ स्वस्थ मनःस्थिति में आएगा, तो क्यों उत्पात् करेगा।... और फिर बहुत कुछ हमारे व्यवहार पर निर्भर है। यदि हम उसे आत्मीय परिजन के रूप में स्वीकार करेंगे तो वह क्यों परायापन दिखाएगा। स्नेह में इतनी शक्ति होती है कि वह पशु को भी सुधार...।"

"बस ! यही बात तो बार-बार मैं कहता हूँ।" भीम ने युधिष्ठिर का कथन बीच में ही काट दिया, "पशु को हम सुधार सकते हैं, क्योंकि पशु को हम से ईर्ष्या नहीं होती, स्पर्धा नहीं होती, घृणा नहीं होती। वह तो केवल आवश्यकताओं की पूर्ति चाहता है। पशु तो केवल पशु होता है, वह नीच और उच्च प्रकृति का नहीं होता।"

"यदि पशु को सुधारना हो तो हम उसके गले में रस्सी डाल कर खूँटे से बाँध देते हैं। वह उत्पात् करे तो उसे दंड देते हैं।..." नकुल बोला, "दुर्योधन को सुधारने का भी यदि यही एक मार्ग है, तो हमें पहले हस्तिनापुर पर सैनिक अभियान करना चाहिए।"

"नहीं।" युधिष्ठिर का स्वर कुछ आवेशपूर्ण हो गया था, "हस्तिनापुर पर आक्रमण करने का कोई कारण नहीं है। हम अपने गुरुजनों और बंधु-बांधवों के विरुद्ध शस्त्र क्यों उठाएँगे।"

"तो युधिष्ठिर ! यदि तुम्हें राजसूय यज्ञ करना है तो..."

"यज्ञ तो करना ही है।" कृष्ण ने महामुनि की उक्ति पूरी नहीं होने दी, "जो निश्चित हो चुका, उस पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता नहीं है। हम यज्ञ के संकल्प से पीछे नहीं हट सकते।"

"तो युधिष्ठिर ! तुम्हें दुर्योधन को अपने अधीन करना ही होगा, शस्त्र से करो अथवा अपने प्रेम से।" वेद व्यास बोले, "अन्यथा राजसूय यज्ञ नहीं हो सकेगा।"

"मैं उसे अपने प्रेम से जीत लूँगा, आप चिंता न करें।" युधिष्ठिर बोले, "मुझे भय है तो यही कि कहीं भीम अपनी आशंकाओं से पीड़ित होकर दुर्योधन को आहत न कर दे।"

"हमारे ज्येष्ठ भी अद्भुत हैं। वे अपने प्रेम के प्रभाव से दुर्योधन जैसे पशु को तो जीत सकते हैं, किन्तु भीम जैसे महामानव को नहीं जीत सके।" भीम ने अट्टहास किया।

"मैं मध्यम की आशंकाओं से असहमत नहीं हूँ, किंतु यज्ञ के अवसर पर मैं धर्मराज की नीति अंगीकार करना ही उत्तम समझता हूँ।" कृष्ण बोले, "हस्तिनापुर निमंत्रण जाए, और उन्हें पृथक् राजा के रूप में नहीं, परिवारजनों के रूप में ही आमंत्रित किया जाए। बहुत संभव है कि कुलवृद्ध तो हमारा निमंत्रण स्वीकार कर इंद्रप्रस्थ आ जाएँ किंतु दुर्योधन और उसके मित्र आएँ ही नहीं। और यदि वे आएँ तो उन्हें परिवार वालों के समान ही स्नेह दिया जाए, उस पर भी यदि वह उत्पात् करे, तो युधिष्ठिर शस्त्र नहीं उठाएँगे। शस्त्र मैं उठाऊँगा। यज्ञ को अनुशासित रखने का दायित्व मेरा होगा।"

"अब जाकर मैं निश्चिंत हुआ वासुदेव।" व्यास बोले, "अब किसी विघ्न-बाधा की आशंका मुझे नहीं है। यज्ञ-भूमि-पूजन के पश्चात् युधिष्ठिर यज्ञ की दीक्षा ले लें।"

"और आपकी अनुमति हो महर्षि तो हम लोग भी सुभद्रा से मिलकर उसके पुत्र अभिमन्यु को आशीर्वाद दे आएँ।" कृष्ण भी उठ खड़े हुए।

33

शिशुपाल के मन में जितनी आशंकाएँ थीं, उतनी ही अपेक्षाएँ भी थीं। जब भीम उसके पास आया था तो शिशुपाल ने जहाँ पांडवों के प्रति अपना सौहार्द बहुत मुखर होकर जताया था, वहीं उनके प्रति अपने संभावित विरोध के कारण भी स्पष्ट कर दिए थे। उसे लुभाया भी था और डराया भी। उसे आँखें भी दिखाई थीं और उसे फाँसने के लिए जाल भी फैलाया था।''' पर पता नहीं वह बैल कुछ समझा भी या नहीं। उसने युधिष्ठिर को कुछ बताया भी या नहीं।'''यदि उसने ठीक से अपने भाइयों को समझा दिया होगा, तो युधिष्ठिर लालायित होकर उसे कंठ से लगाने के लिए आगे बढ़ेगा। युधिष्ठिर को तनिक भी बुद्धि होगी, तो उसे यह समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि जरासंध की चाहे मृत्यु हो गई हो, किंतु उसकी शक्ति अभी समाप्त नहीं हुई है। जरासंध-मंडल न केवल जीवित है, वरन् पूर्णतः शक्तिशाली भी है।'''जरासंध पुत्र सहदेव जाने क्या सोच कर चुप है। बहुत संभव है कि पिता की अकस्मात मृत्यु से भयभीत हो गया हो और परिस्थितियों को परखने का प्रयत्न कर रहा हो। नागराज का पुत्र एक केंचुआ नहीं हो सकता। उपयुक्त अवसर पर वह अपनी क्षमता दिखाएगा।'''पिता के आतंक में जीने के कारण उसका पूर्ण विकास नहीं हो पाया है, किंतु अब परिस्थितियों के थपेड़े उसके भीतर छिपी क्षमताओं का पूर्ण विकास करेंगे'''और यदि सहदेव किन्हीं कारणों से जरासंध न भी बन पाया, तो शक्ति का केन्द्र शुक्तिमती में भी विकसित हो सकता है। यदि शिशुपाल जरासंध-मंडल का सेनापति हो सकता है, तो वह उसका सम्राट् भी हो सकता है। सुनीथ, दंतावक्त्र, शाल्व, रुक्मी तथा भीष्मक में से कोई भी शिशुपाल का विरोध नहीं करेगा।'''किन्हीं असाधारण परिस्थितियों के कारण यह भी नहीं हो पाया, तो दुर्योधन तो कहीं नहीं गया है। दुर्योधन को केन्द्र में रखकर एक ऐसी नई शक्ति उभर सकती है, जो पांडवों और यादवों के नाक में दम कर देगी।

किंतु इन सब अपेक्षाओं और आश्वासनों के ढेर के नीचे शिशुपाल का एक बहुत सहमा हुआ अचेत मन था, जो कभी-कभी कुछ चैतन्य होकर, उठ बैठने के लिए अपने हाथ-पैर पटकता था'''और उसी समय शिशुपाल को लगता था कि यह जो व्यक्ति है'''कृष्ण'''यह उसका सारा गणित उलट देगा। इसके छल-छंद को कोई नहीं समझ सकता। ऊपर से सब कुछ सहज, सामान्य और ठीक दिखाई देगा, किंतु अकस्मात ही कृष्ण अपना सिर उठाएगा और सारी परिस्थितियाँ विपरीत दिशा में घूम जाएँगी। क्या पता है कि कब यह कौरवों, पांडवों और यादवों को एक कर दे।'''

इस प्रकार का भय जागते ही शिशुपाल का मस्तक एकदम घूम जाता है। तब उसे सारा संसार अपने विरुद्ध षड्यंत्र करता दिखाई देता है। उसे लगने लगता है कि किसी भी क्षण भीष्मक में अपनी पुत्री और रुक्मी के मन में अपनी बहन के प्रति प्रेम जाग जाएगा। वे लोग न केवल कृष्ण से समझौता कर लेंगे, वरन् उसका समर्थन भी करने लगेंगे। उनका क्या है, उन्हें तो रुक्मिणी का विवाह ही करना था'''शिशुपाल से न हुआ, कृष्ण से हो गया।'''और कृष्ण को तो यौतुक भी नहीं देना पड़ा।'''उधर पांचाल

भी पांडवों के साथ हैं। जरासंध द्वारा बंदी किए गए राजा तो कृष्ण के साथ हैं ही…
पर शिशुपाल ने अपने इस भयभीत मन के मुख पर हाथ रख कर उसे मौन ही नहीं, शायद अचेत ही कर दिया था। जरासंध-मंडल का सेनापति एक कंगले गोपाल से इस प्रकार भयभीत होने लगा, तो क्षत्रियों के इस समाज में वह मुँह कैसे दिखाएगा ?…चेदिराज को अपनी शक्ति को भी स्मरण रखना होगा…वह पांडवों की मौसी का पुत्र था, उनका समधी था, उनके घर में उसका केवल सम्मान होना चाहिए…और कुछ नहीं…उसे इंद्रप्रस्थ में अपनी अवमानना का भय होना ही नहीं चाहिए।…

और इंद्रप्रस्थ में अपना स्वागत देखकर सचमुच उसका मन उत्फुल्लता का अनुभव कर रहा था। उसकी अगवानी करने के लिए हस्तिनापुर के महाराज धृतराष्ट्र का मंत्री तथा सारथि संजय आया था।

"संजय तुम ?" शिशुपाल कुछ विस्मित स्वर में बोला।

"हाँ महाराज !" संजय ने विनीत भाव से हाथ जोड़ कर सिर झुकाया, "धर्मराज ने राजाओं के स्वागत का दायित्व मुझे ही सौंपा है।"

"तुम्हें ? यादवों में से किसी को नहीं ?"

"नहीं महाराज ! यह सेवा मुझे ही सौंपी गई है।"

"अच्छा संजय।" शिशुपाल ने स्वयं को कुछ संतुलित किया, "तंत्र-नियंत्रण का कार्य किसे सौंपा गया है ? नीति-निर्धारक कौन है ?"

"पितामह भीष्म तथा आचार्य द्रोण तंत्र-नियंत्रक हैं। सारे उत्सव का आयोजन उन्हीं की इच्छानुसार हो रहा है।" संजय ने कहा, "व्यवस्था तो घर वालों को ही सँभालनी होगी। अश्वत्थामा ब्राह्मणों का स्वागत कर रहे हैं, दुःशासन को सबकी भोजन-व्यवस्था का दायित्व सौंपा गया है। अर्थ-व्यवस्था मंत्री विदुर के हाथों में है।"

शिशुपाल ने और कुछ नहीं पूछा। संजय के अनुसार तो सारे कार्य हस्तिनापुर के कौरवों को सौंप दिए गए थे।…ठीक ही तो कह रहा था संजय। घर वाले तो ये ही लोग थे। यादवों को उन्होंने 'घरवाले' नहीं समझा था। सुभद्रा की ओर से यदि कृष्ण-बलराम परिवारजन हो जाते तो करेणुमती के संबंध से यह सम्मान शिशुपाल को भी मिलना चाहिए था। किंतु यादवों को ऐसा कोई महत्व नहीं दिया गया था…

करेणुमती ने तो बहुत चाहा था कि वह उसी के भवन में ठहरे, किंतु शिशुपाल इस राजसूय यज्ञ में केवल करेणुमती के पिता के रूप में ही सम्मिलित नहीं होना चाह रहा था। इस संबंध के बिना भी उसकी स्थिति पर्याप्त महत्वपूर्ण थी। वह यहाँ शक्तिशाली और महिमावान चेदिराज के रूप में प्रतिष्ठा पाना चाहता था। चेदिपति, जिसका नाम सुनते ही शत्रुओं की शिराओं में रक्त जम जाता था।…और वैसे भी उसका सार्थ बहुत विशाल था।…

अन्य महत्वपूर्ण राजाओं के समान शिशुपाल के ठहरने की व्यवस्था भी एक पृथक भवन में थी। वह वहाँ स्वतंत्र रूप से रह सकता था और जब इच्छा हो न केवल करेणुमती से मिलने जा सकता था, उसे अपने भवन में बुलाकर अपनी इच्छानुसार उसका सत्कार कर सकता था।

शिशुपाल स्नान और विश्राम आदि कर चुका तो द्वारपाल ने सिंधुराज जयद्रथ के

आने की सूचना दी। शिशुपाल ने बाहर निकल कर उसका स्वागत किया, "पधारें सिंधुराज।"

"मुझे सूचना मिल गई थी कि इंद्रप्रस्थ में आपका पदार्पण हो चुका है।" जयद्रथ ने अत्यन्त शालीन भाव से कहा, "किंतु मैंने सोचा कि आप यात्रा से आए हैं। स्नान और विश्राम तो कर लें।"

"बड़ी कृपा की आपने।"

"समुचित व्यवस्था तो है न ? कोई असुविधा हो तो कहें।" जयद्रथ ने आतिथेय के रूप में हाथ जोड़े, "असुविधा न हो, कोई इच्छा हो तो भी कहें। प्रतापी चेदिराज की प्रत्येक आज्ञा का पालन किया जाएगा।"

"सिंधुराज ! आप···।" शिशुपाल को अपना प्रश्न ठीक-ठीक पूछने के लिए उपयुक्त शब्द नहीं मिल रहे थे।

"यह आयोजन चाहे युधिष्ठिर का है, किंतु कुल के स्वामी तो धृतराष्ट्र ही हैं। मैं महाराज धृतराष्ट्र का जामाता हूँ।" जयद्रथ उसके प्रश्न का भाव समझ कर बोला, "आप हमारे अतिथि हैं।"

"ओह !" शिशुपाल का मन कुछ और उत्फुल्ल हो गया, "हाँ । यह तो उचित ही है। मुझे कुछ विस्मय इसलिए हुआ, क्योंकि मैं निरंतर यह सुनता रहा था कि युधिष्ठिर और दुर्योधन में कुछ वैमनस्य हो गया था।"

"आपकी सूचना कोई बहुत मिथ्या नहीं थी।" जयद्रथ बोला, "किंतु वह वैमनस्य दुर्योधन और भीम का ही समझिए। कुल के स्वामी तो महाराज धृतराष्ट्र ही हैं। उनकी किसी आज्ञा का उल्लंघन करना तो दूर, युधिष्ठिर उपेक्षा भी नहीं करेगा। महाराज आज केवल इतना ही कह दें, कि पिता की उपस्थिति में पुत्र का यज्ञ करना धर्मसंगत नहीं है, तो युधिष्ठिर इस राजसूय यज्ञ में अपने स्थान पर, महाराज धृतराष्ट्र का सम्राट् के रूप में अभिषेक कर देगा। युधिष्ठिर की तो एक ही राजधानी है···इंद्रप्रस्थ ! महाराज की दो-दो राजधानियाँ है···हस्तिनापुर और इंद्रप्रस्थ। इंद्रप्रस्थ में उनका पुत्र युधिष्ठिर शासन करता है, और हस्तिनापुर में द्वितीय पुत्र दुर्योधन।" जयद्रथ ने कुछ थम कर शिशुपाल की ओर देखा, "अरे पितृ और पितृव्य में कोई अतंर होता है क्या ? पुत्र और भ्रातुष्पुत्र में कभी किसी ने भेद किया है ?"

शिशुपाल को यह सब सुनकर बहुत प्रसन्नता हो रही थी। इस सारी चर्चा में यादव कहीं नहीं थे। कृष्ण का कोई महत्व नहीं था यहाँ···

"पर जो कुछ पांडवों के साथ हस्तिनापुर में हुआ, उस सबको क्षमा कर देगा युधिष्ठिर ?" शिशुपाल ने पूछा।

"क्षमा।" जयद्रथ हँसा, "जैसे-जैसे नकुल ने हस्तिनापुर जाकर इन लोगों को आमंत्रित किया है, उससे तो लगता था कि पाडंवों से ही कोई अपराध हो गया है और दुर्योधन उनसे रूठा हुआ है। पांडवों ने आग्रहपूर्वक उन्हें आमंत्रित किया है, दुर्योधन तो उनसे क्षमा माँगने नहीं आया था।" जयद्रथ रुका, "और क्षमा का प्रमाण तो यह है, कि युधिष्ठिर ने सारे यज्ञ की भोजन व्यवस्था दुःशासन को सौंप रखी है, जिसे चाहे विष खिला दे।"

"अच्छा।" शिशुपाल चकित था, "दुर्योधन को भी कोई दायित्व सौंपा गया है क्या ?"

"दुर्योधन को ? हाँ। देश-विदेश के राजा-महाराजा युधिष्ठिर के लिए जो उपहार लाए हैं, उन्हें ग्रहण करना और सँभाल कर रखने का दायित्व दुर्योधन का है।" जयद्रथ बोला, "इतना महत्वपूर्ण कार्य अपना भाई ही कर सकता है। किसी बाहरी व्यक्ति का क्या विश्वास किया जा सकता है। किसी बहुमूल्य मणि पर ही मन डोल जाए और मणि कहीं से कहीं पहुँच जाए।"

"धन को व्यय करने का अधिकार किसे दिया गया है ?"

"मंत्री विदुर को। वे ही धन व्यय कर रहे हैं।" जयद्रथ बोला, "वस्तुतः महाराज धृतराष्ट्र को विदुर से अधिक विश्वास किसी पर नहीं है।"

"तो यह भी युधिष्ठिर का चयन नहीं है ?"

"नहीं।···" जयद्रथ ने पुनर्विचार कर जोड़ा, "वैसे युधिष्ठिर का भी विदुर से बहुत प्रेम है, किंतु यह नियुक्ति तो महाराज धृतराष्ट्र ने ही की है।···वैसे ब्राह्मणों को दी जाने वाली दक्षिणा को विदुर के नियंत्रण से मुक्त रखा गया है···।"

"उसका नियंत्रण कौन कर रहा है ?" शिशुपाल ने पूछा, "विद्वान् ब्राह्मणों की दक्षिणा की राशि कम तो नहीं होती···।"

"वह अधिकार कृपाचार्य का है।" जयद्रथ ने बताया, "विद्वान् ब्राह्मणों का विषय है, इसलिए कौरवों के कुल-गुरु को सौंपा गया है।"

"उचित ही है।···" शिशुपाल ने कहा। उसका ध्यान जयद्रथ की बातों से हट कर कहीं और पहुँच गया था···इन सूचनाओं का तो एक ही अर्थ था कि हस्तिनापुर तथा इंद्रप्रस्थ में कोई मतभेद अथवा वैमनस्य नहीं रह गया है। सारे दायित्व कौरवों को गृहस्वामियों के समान सौंपे गए थे। और इनमें बाहर का एक भी व्यक्ति नहीं था। क्या सचमुच पांडव एकदम भूल गए कि उनसे सब कुछ छीन कर धृतराष्ट्र ने उन्हें खांडवप्रस्थ में दस्युओं से लड़ते-लड़ते मर जाने के लिए छोड़ दिया था ?···

"अच्छा। अब अनुमति दें।" जयद्रथ उठकर खड़ा हो गया, "कुछ और नरेश भी पधारने वाले हैं···आपको तनिक-सी भी असुविधा हो तो मुझे संदेश भिजवा दें। संकोच न करें, इसे अपना ही घर समझें।"

शिशुपाल ने बिना कुछ कहे, प्रतिनमस्कार में हाथ जोड़ दिए।

जयद्रथ बाहर की ओर जा रहा था और उसकी पीठ पर दृष्टि गड़ाए शिशुपाल सोच रहा था···यज्ञ कर रहा था युधिष्ठिर। सैनिक अभियान किए उसके भाइयों ने। तब हस्तिनापुर में उनका कोई परिजन नहीं था। उन पांडवों में से एक—नकुल—की पत्नी थी करेणुमती। घर की वधु। स्वामिनी ! उसी के पिता को धृतराष्ट्र का जामाता कह रहा था कि कोई असुविधा हो तो उसे सूचित कर दिया जाए। यहाँ शिशुपाल और करेणुमती का क्या, युधिष्ठिर का भी कोई अधिकार दिखाई नहीं पड़ रहा था। सारा अधिकार धृतराष्ट्र का था। यह घर धृतराष्ट्र का था···और धृतराष्ट्र के घर में कृष्ण के लिए कोई स्थान नहीं था···

संध्या समय करेणुमती अपने पिता और भाई से मिलने के लिए उनके भवन में आई।

शिशुपाल ने कुशल-क्षेम पूछकर उसे बैठाया।

"एक बात बता पुत्री।" उसने स्नेहयुक्त वाणी में पूछा, "क्या अब कौरवों और पांडवों में किसी प्रकार का कोई वैमनस्य नहीं है ?"

"जो व्यवहार धृतराष्ट्र और दुर्योधन ने पांडवों के साथ किया है, और जो प्रकृति उनकी है, उसके पश्चात् यह संभव कैसे है कि उनमें किसी प्रकार का कोई वैमनस्य न रहे।"

"किंतु जो कुछ मैं देख रहा हूँ, उससे तो ऐसा नहीं लगता।" शिशुपाल बोला, "यहाँ तो सब ओर हस्तिनापुर का ही साम्राज्य है।"

"इसका केवल एक ही अर्थ है पिता जी ! कि धर्मराज ने अपने मन में उन लोगों के प्रति भी कोई वैमनस्य नहीं रखा है, जिन्होंने उन्हें सब प्रकार से प्रवंचित किया है।" करेणुमती बोली, "धर्मराज घृणा को जीतने का प्रयत्न कर रहे हैं। उनके लिए राजसूय यज्ञ राजनीति से अधिक आध्यात्मिक अभियान है। वे अपने लोभ को जय करने के लिए, अपना सारा धन वितरित कर देंगे। वे अपने मांडलिक, अधीनस्थ और करद राजाओं की प्रजा से कर न लेते हुए भी उनकी रक्षा करेंगे। वे समर्थ होते हुए भी, जरासंध के समान जय किए हुए राजाओं को न बंदी करेंगे, न उनकी बलि देंगे, वे उनका सत्कार करेंगे, सम्मानित अतिथियों के समान, अपने मित्रों के समान, परिजनों के समान। धर्मराज संसार में रह कर सांसारिकता के विरुद्ध अपना महासमर लड़ रहे हैं पिता जी।"

शिशुपाल बिना किसी प्रतिक्रिया के स्तब्ध-सा खड़ा रहा, जैसे करेणुमती की बातें उसकी समझ में ही न आ रही हों।

"आप ध्यान से देखें पिता जी।" करेणुमती पुनः बोली, "इस यज्ञ का सांसारिक पक्ष सारा का सारा धृतराष्ट्र के हाथ में है। धृतराष्ट्र, उसके मंत्री, उसके पुत्र, जामाता, आचार्य, पुरोहित···उसमें कहीं न पांडव हैं, न पांडवों का कोई विश्वसनीय और प्रिय। और दूसरी ओर यज्ञ का आध्यात्मिक पक्ष पांडवों के पास है। ब्रह्मा, होता, अध्वर्य, उद्‌गाता···। वेदव्यास वहाँ हैं, धौम्य वहाँ है, धर्मराज वहाँ हैं···।"

"किंतु अपने शत्रुओं पर इतना विश्वास करना उचित नहीं है, पुत्री।" शिशुपाल बोला, "मैंने संसार को देखा-परखा है। यह मूर्खता है। युधिष्ठिर तुम सब को डुबोएगा, एक दिन ! वह तो धर्मात्मा कहला कर यश लूटेगा और तुम सब पूर्णतः वंचित होकर संसार भर के कष्ट उठाओगे।"

"यह सोचना हमारा कार्य नहीं है पिता जी।" करेणुमती बोली, "हम सब धर्मराज के अधीन हैं। उनकी इच्छा हमारे लिए आदेश है, और उसका पालन करना हमारा धर्म है।"

शिशुपाल ने चकित होकर करेणुमती की ओर देखा : उसे लगा कि वह सामने बैठी इस युवती को पहचान नहीं पा रहा है। यह उसकी पुत्री नहीं हो सकती, यह युधिष्ठिर की अनुज-वधु ही हो सकती है। यह सब उसके रक्त में नहीं है। इस प्रकार का पूर्ण समर्पण उसकी नीति में कहीं नहीं आता।···इस प्रकार के धर्म को वह नहीं पहचानता···

"तुम लोगों को कृष्ण भी कुछ नहीं समझाता ? वह तो बहुत चतुर है। कभी अपनी क्षति नहीं होने देता।"

"नहीं उन्होंने कभी धर्मराज की नीति का विरोध नहीं किया।" करेणुमती बोली, "वे तो स्वयं द्वारका से इतना धन उठा कर लाए हैं कि धर्मराज चाहें तो यादवों के धन से ही यह यज्ञ कर डालें।…"

"और कृष्ण को क्या अधिकार दिया है युधिष्ठिर ने ?" शिशुपाल को स्मरण हो आया कि बहुत इच्छा होने पर भी वह प्रातः जयद्रथ से यह प्रश्न नहीं पूछ पाया था।

"अधिकार ? कैसा अधिकार ?"

"काम ? दायित्व ? इस यज्ञ में क्या भूमिका है कृष्ण की ?"

"गोविन्द विद्वान् ब्राह्मणों के चरण पखारते हैं।" करेणुमती बोली।

शिशुपाल के मन में कहीं प्रसन्नता का विस्फोट हुआ…क्या है यह सब ?…युधिष्ठिर ने समारोह के सारे अधिकार कौरवों को सौंप दिए हैं और स्वयं को बहुत महान् समझने वाले इस कृष्ण को बैठा दिया है, कंगले ब्राह्मणों के चरण पखारने के लिए। उसने कृष्ण को उसका उपयुक्त स्थान दिखा दिया है।…शिशुपाल तो समझ रहा था कि युधिष्ठिर एकदम मूर्ख है, किंतु नहीं। वह मूर्ख नहीं है।…उसे भीम ने शिशुपाल के विचार बता दिए होंगे। युधिष्ठिर को एक चक्रवर्ती सम्राट् के शक्ति-संतुलन की बात समझ में आ गई होगी। उसने दुर्योधन को तो आत्मीयता जता कर अपने साथ मिला लिया, और जरासंध के वध के कारण उत्पन्न शिशुपाल के विरोध को जीतने के लिए कृष्ण को कंगलों के चरण धोने पर लगा दिया…

अब शिशुपाल के मन में युधिष्ठिर के व्यवहार के प्रति कोई आपत्ति नहीं थी। संभव है, अभी कुछ और आश्चर्यजनक घटनाएँ हों…संभव है। युधिष्ठिर उसके कुछ और निकट आए। वह जरासंध-मंडल के प्रति अपनी आसक्ति प्रकट करे। शिशुपाल को तो बस बैठकर युधिष्ठिर की लीला ही देखनी थी।

यज्ञभूमि का पूजन कर युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ की दीक्षा ले ली। यज्ञाग्नि प्रज्वलित हुई और मंत्रोच्चार से सारे परिवेश में दिव्यता का संचरण होने लगा। युधिष्ठिर और उसके भाइयों के लिए यज्ञ का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग यही था। उनके लिए अपने सारे अतिथि महत्वपूर्ण थे, उनका आदर-सत्कार भी आवश्यक था, किंतु यज्ञ तो देवताओं का आवाहन था, उनका पूजन था। ईश्वर की आराधना से अधिक महत्वपूर्ण और क्या हो सकता है ?

यज्ञ के ब्रह्मा, अध्वर्यु, होता तथा उद्‌गाता ने अपना आसन नहीं छोड़ा। उनके शिष्य अवश्य बारी-बारी अपना काम कर रहे थे। किंतु उनका उठना-बैठना अथवा आवागमन यज्ञ-प्रक्रिया में बाधा नहीं था। कोई उनके लिए रुकता नहीं था। वे लोग एक या दो प्रहर तक बैठते थे और स्थानापन्न के आ जाने पर उसके लिए स्थान बनाने के लिए उठ जाते थे। पाँचों पांडव भी किसी अति आवश्यक कार्य के लिए ही उठते थे, किंतु उनका सारा ध्यान यज्ञ की ओर ही लगा हुआ था।

कृष्ण आगंतुक विप्रों के चरण पखारने के पश्चात्, किसी समय तो प्रहरों यज्ञशाला में ही बैठे होते थे, और किसी समय वे विप्रों तथा विद्वानों के आवास पर जाकर उनसे

किसी विषय पर गंभीर चर्चा में मग्न रहते थे। उन्हें दार्शनिक वार्ताओं में बहुत रस आता था। इस समय भी वे ऋषि अंगिरस के निकट अत्यन्त विनीत भाव से बैठे ब्रह्म के स्वरूप की चर्चा कर रहे थे...

"महर्षि ! क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि ब्रह्म के किसी एक रूप को वास्तविक रूप मानना तथा शेष रूपों का निषेध करना, अनुचित है ?"

"सर्वथा अनुचित है पुत्र।" ऋषि बोले, "ईश्वर असीम है, इसलिए उसका कोई रूप नहीं। मनुष्य ससीम है, इसलिए उसकी कल्पना सीमित है। वह उसी के भीतर ईश्वर के रूप की कल्पना करेगा। किंतु कल्पना भी तो ईश्वर की ही दी हुई है। कल्पना अपने आप में ईश्वर का तत्व है। मनुष्य उससे बँधा है, इसलिए उससे बाहर नहीं जा सकता। ईश्वर के लिए ऐसी कोई बाध्यता नहीं है। उसकी असीमता देखनी हो तो संसार के विभिन्न जीव-जंतुओं को देखो। इन सारे रूपों में भी वह स्वयं ही तो प्रकट हुआ है। जब सत्य केवल वही है, तो उसके बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व हो ही कैसे सकता है। इसलिए तुम्हारे सम्मुख अथवा तुम्हारी कल्पना में जितने भी रूप हैं, सब उसके ही रूप हैं। जिस रूप की भी आराधना करोगे, वह उसी की आराधना होगी।..."

"तो फिर साधक किस रूप की आराधना करे ?" कृष्ण ने पूछा।

ऋषि कुछ कहने ही वाले थे कि रुक गए। मुस्कराए और बोले, "सब कुछ जानते हुए भी अज्ञानी बन कर क्यों पूछ रहे हो पुत्र ?"

"आपका शिष्य हूँ महर्षि।"

"मुझ पर कृपा है तुम्हारी, जो मुझे यह गौरव दे रहे हो। यह भी किन्हीं जन्मों का पुण्य होता है। वासुदेव ! कि ईश्वर योग्य पुत्र के रूप में पिता को तथा योग्य शिष्य के रूप में गुरु को गौरव देता है।" ऋषि किसी अलौकिक आनन्द में लीन लग रहे थे, "ईश्वर तुम्हारे भीतर करुणा के रूप में विद्यमान है वासुदेव ! तुम जिस सरलता से अन्य जीवों के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकते हो, वह अद्भुत है पुत्र। तुम उनमें ईश्वर को देखते हो, तो अपने भीतर भी ईश्वर को देख सकते हो। यदि आत्मा में स्थित हो कर, आत्मस्थ होकर देखोगे तो प्रत्येक जीव में वही दिखाई देगा, और वह तुम से भिन्न नहीं होगा। यह सृष्टि तो उसी का विराट् रूप है। सारा उसी का प्रपंच है। वह हमारे भीतर है, और हम उसके भीतर हैं।"

"ज्ञान तो बहुत लोगों को है प्रभु। किंतु अनुभूति ? ज्ञान से उसके दर्शन होंगे क्या ? अनुभूति के बिना, उस पर आस्था जगेगी ?"

"सूचना जब संवेदना बनती है, तो अपने-आप अनुभूति हो जाती है।" ऋषि बोले, "वास्तविक आस्था तो अनुभूति के बाद ही उत्पन्न होती है पुत्र। किंतु यदि चोर को सूचना मिल जाए कि बंद कपाटों के पीछे कक्ष में स्वर्ण-भंडार है, तो जैसे उसे बिना स्वर्ण को देखे ही आसक्ति का अनुभव होता है, वैसे ही सूचनाओं के आधार पर भी सात्विक मन में आस्था उत्पन्न हो सकती है।"

"जिस में सात्विकता होती है, आस्था होती है, वही क्यों पीड़ित होता है महर्षि ! क्या ईश्वर नहीं चाहता कि मनुष्य उसके न्याय में विश्वास करे ?"

"ऐसे अनजान बनकर पूछ रहे हो, जैसे तुम प्रभु की लीला से सर्वथा अनभिज्ञ

हो।" ऋषि आकाश की ओर देख कर उच्च स्वर में हँसे, "वह जिस से रुष्ट होता है, उसे इतना सुख देता है, कि वह प्रभु को भूला ही रहे।'''" ऋषि ने रुक कर कृष्ण की ओर देखा, "अब तुम मेरे एक प्रश्न का उत्तर दो वासुदेव।"

कृष्ण ने जिज्ञासु दृष्टि से ऋषि की ओर देखा।

"इस यज्ञ-भवन में इतने बड़े-बड़े पंडित, विद्वान्, आचार्य और ज्ञानी उपस्थित हैं, तुम उनके पास न जाकर हम जैसे अल्पज्ञों के पास क्यों अपना समय नष्ट करते हो ?"

"पंडित यदि स्वभाव से साधु न हो तो वह लंपट हो जाता है महर्षि।"

अंगिरस जैसे अट्टहास ही कर उठे, "किंतु वे लोग अपना समय कैसे व्यतीत करते हैं ? यज्ञ-मंडप में तो वे जाते ही नहीं।"

"वे यहाँ कुछ पाने नहीं आए हैं महर्षि। वे तो मात्र प्रदर्शन करने आए हैं।" कृष्ण बोले, "उन्हें सत्यान्वेषण तो करना नहीं है, तत्व को खोजना नहीं है। उन्हें तो अपने मत की प्रतिष्ठा कर दूसरे के मत का खंडन करना है। इसलिए जल्प में लगे रहते हैं। जो जल्प भी नहीं कर सकते, वे वितंडावाद करते हैं। सोचता हूँ एक बार भैया बलभद्र अथवा मध्यम पांडव भीम को उनके पास भेज दूँ ताकि वितंडावाद का चरम पुरस्कार उन्हें मिल जाए''' ।"

हँसते-हँसते ऋषि की आँखों में पानी आ गया।

"मैंने सोचा, पता नहीं पांडवों के इस यज्ञ-क्षेत्र में और कहीं मदिरा का आनन्द आए या न आए, किंतु मित्र सुनीथ के भवन में तो सुख की कुछ घटिकाएँ बिताई ही जा सकती हैं।"

सुनीथ ने आगे बढ़कर शिशुपाल को वक्ष से लगा लिया, "यह तुमने बहुत ही अच्छा किया मित्र। इस यज्ञ के धुएँ से मेरा तो दम घुटने लगता है। ये दढ़ियल संन्यासी पता नहीं इसमें और कोई सुख पाते हैं या नहीं, किंतु राजाओं को मूर्ख बनाने का सुख अवश्य पाते होंगे।"

वे दोनों भीतर चले आए। वहाँ भगदत्त, वृहदन्त, लोहित तथा चित्रायुद्ध पहले से ही हाथों में पात्र लिये बैठे थे।

"ओह !" शिशुपाल कुछ विस्मय से बोला, "मैं समझता था कि इस पृथ्वी तल पर एक मैं ही ऐसा बुद्धिमान व्यक्ति हूँ, जो पांडवों के यज्ञ में आकर भी ऐसी अच्छी-अच्छी बातें सोच सकता हूँ, किंतु यहाँ तो मुझ से भी चतुर लोग बैठे हुए हैं।"

"अरे भाई। युद्ध में अर्जुन से पराजित होकर यहाँ आना पड़ा, नहीं तो मंत्रोच्चारण सुनने के लिए इतना कष्ट सहकर इतनी दूर आना किस के लिए सुखद हो सकता है।" वृहदन्त बोला, "अब जब आ ही गए हैं, तो सोचा वहाँ 'स्वाहा-स्वाहा' सुनने से तो अच्छा है कि चल कर मित्रों के पास बैठा जाए।" उसने पात्र खाली कर दिया, "अब देखो। क्या बाध्यता है। अरे सहस्रों स्वर्ण-मुद्राओं के उपहार लेकर हम आए। रत्न तथा बहुमूल्य मणि-माणिक्य दिए, वे अलग।'''और दान मिल रहा है इन वनवासी भिक्षुओं को।'''अरे अपने पास नहीं रखना था, वितरण ही करना था तो फिर हम से यह सारा धन छीनने

की आवश्यकता क्या थी ?···"

"मैं यहाँ पराजित होकर नहीं आया हूँ, न ही स्वयं को युधिष्ठिर का अधीनस्थ अथवा मांडलिक राजा मानता हूँ।" शिशुपाल ने पात्र उठा लिया, "मैं तो इसे अपने समधियों का आनन्दोत्सव मान कर उसमें सम्मिलित होने चला आया।"

"चलो। जैसे भी आए, आए तो। युधिष्ठिर का सम्राट् के रूप में अभिषेक तो देखोगे ही न। तुम उसके समधी हो तो वह तुम्हारा अभिषेक तो नहीं कर देगा।" भगदत्त ने कहा, "किसी समय पांडु से मेरी मित्रता थी। उस दृष्टि से मेरे लिए भी उचित था कि मैं युधिष्ठिर को अपने मित्र का पुत्र मानकर उससे युद्ध न करता, किंतु मेरी समस्या यह थी कि मैं जरासंध का भी प्रिय था। युधिष्ठिर ने जरासंध का वध करवाया···"

"युधिष्ठिर ने नहीं करवाया जरासंध का वध।" शिशुपाल ने उसकी बात काट दी, "जरासंध को मरवाने वाला कृष्ण है। मुझे तो लगता है कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के बहाने, वह अपने शत्रुओं को ठिकाने लगा रहा है।"

"फिर तो तुम्हें भी सावधान रहना चाहिए शिशुपाल।" पुलिंद पति सुमित्र ने कहा, "तुम भी उसका बहुत विरोध करते रहे हो।"

"यही तो देखना है कि कौन किसे ठिकाने लगाता है।" शिशुपाल ने पात्र खाली कर दिया, "मेरे एक संकेत पर युधिष्ठिर ने कृष्ण को कंगले ब्राह्मणों के चरण पखारने पर नियुक्त कर दिया है।"

"अस्तु, मैं अपनी बात कह रहा था," भगदत्त ने पुनः चर्चा-सूत्र अपने हाथ में लिया, "जरासंध की ओर से मुझे पांडवों का विरोध करना था, इसलिए मैंने अर्जुन से युद्ध किया।···और जब मैं उससे पराजित हो गया, तो मुझे स्मरण हो आया कि वह मेरे मित्र का पुत्र है, इसलिए मैंने उसकी वीरता पर रीझ कर उसे मुक्तहस्त उपहार दिए।"

भगदत्त ने प्रबल अट्टहास किया और मदिरा का भरा हुआ पात्र उठा कर इस प्रकार अपने कंठ में ढाल लिया, जैसे भीतर जलती अग्नि को शांत करने के लिए जल उंड़ेल रहा हो।

"दुर्योधन बहुत आनन्द में है।" चित्रायुद्ध बोला, "न लड़ा, न हारा, न जीता और फिर भी स्वामी के समान बैठा सब से उपहार ग्रहण कर रहा है। किरीटधारी राजा आते हैं और दीनतापूर्वक अपना धन उसके चरणों में इस प्रकार रख देते हैं, जैसे वह ही स्वामी हो।"

"वह आनन्द में नहीं होगा।" भगदत्त ने कहा, "वह ईर्ष्याग्नि में जल रहा होगा। अपने हाथों में उपहार लेता होगा, तो उपहारों का मूल्य देखकर उसका हृदय छिलने लगता होगा और हथेलियाँ जलने लगती होंगी। वह नरक की यातना भुगत रहा होगा।"

"चलो हम इस यातना से तो बच गए।" बृहन्त कुछ अधिक ही पी गया था, उसकी जिह्वा लड़खड़ाने लगी थी।

"क्यों तुम कैसे बच गए ?" लोहित ने प्रश्न किया।

"हमें चक्रवर्ती तो बनना नहीं है। हम तो ऐसे ही रहेंगे क्षत्रिय राजा, मांडलिक राजा, करद राजा···" वह लड़खड़ाती वाणी में बोला, "हमें किसी-न-किसी को तो कर देना ही था। चलो, युधिष्ठिर को ही सही। उसके भाइयों में इतना गुण तो है न, कि

श्रद्धापूर्वक जो दे दो, वे लोग उसी को लेकर चल जाते हैं। अपनी ओर से माँग नहीं रखते।'

'हाँ! वे तो कहते हैं कि युधिष्ठिर को सम्राट् मान लो, चाहे कुछ दो या न दो।' लोहित की हंसी कुछ बहकी हुई थी, 'बेचारे, अपने घर बुला कर खिला-पिला भी तो रहे हैं।'

'वैसे भी वह धर्मराज है।' विश्वगश्व ने जोड़ा, 'संभव है कि उसके सम्राट् बनने से प्रजा का कल्याण ही हो।'

'उसे छोड़ो।' पुलिंद बोला, 'मुझे तो यह बताओ कि इस यज्ञ में जहाँ साधारण से साधारण राजा भी आया है, पांचाल से कोई नहीं आया? न द्रुपद न धृष्टद्युम्न? युधिष्ठिर ने द्रुपद को आमन्त्रित नहीं किया होगा क्या? और चक्रवर्ती सम्राट् के निमंत्रण को इस प्रकार ठुकराया तो नहीं जा सकता?'

'मुझे लगता है कि पांचाल युधिष्ठिर की सहमति से ही नहीं आए हैं।' भगदत्त ने कहा, 'यहाँ तंत्र-नियंत्रक के रूप में बैठे हैं भीष्म तथा द्रोण। द्रुपद का इन दोनों के प्रति ही शत्रु-भाव है। द्रुपद आते तो धृष्टद्युम्न और शिखंडी भी आते। शिखंडी ने भीष्म के वध का संकल्प ले रखा है और धृष्टद्युम्न ने द्रोण के वध का। वे आमने-सामने आ जाते तो?'

'इसका अर्थ हुआ कि पांडवों का इन दोनों के साथ निर्वाह नहीं हो सकता था। युधिष्ठिर को दोनों में से किसी एक को चुनना था। उसने कांपिल्य तथा हस्तिनापुर में से हस्तिनापुर को चुना।' लोहित बोला।

'हाँ।'

'किंतु आप कह रहे थे आर्य भगदत्त! कि पांचाल नहीं आए तो युधिष्ठिर की सहमति से नहीं आए?' विश्वगश्व ने कहा।

'हाँ।'

'तब तो युधिष्ठिर सचमुच चक्रवर्ती सम्राट् होने के योग्य है।' लोहित ने जैसे अपने-आप से कहा।

'क्यों?' शिशुपाल के स्वर में विरोध भी था और पीड़ा भी।

'इतना बड़ा वीर और कहाँ मिलेगा, जो अपने घर में पत्नी के पिता का ऐसा तिरस्कार कर अपने पिता का सत्कार करने का साहस कर सके?' लोहित ने लड़खड़ाते हुए स्वर में कहा और उच्च स्वर में हँसने लगा।

'हा! हा! हा! तब तो वह सचमुच चक्रवर्ती सम्राट् होने के योग्य है।' पुलिंदराज सुमित्र क्लीव के समान निरंतर हँसता जा रहा था।

'किंतु मैं यह बात गंभीरता से कह रहा हूँ।' भगदत्त ने कहा, 'युधिष्ठिर जानता है कि पांचाल किसी भी स्थिति में न तो पांडवों के विरुद्ध युद्ध-सज्जित हो सकते हैं, न उनके शत्रुओं से संधि कर सकते हैं, किंतु दुर्योधन के साथ यदि वह मैत्रीपूर्ण संबंध नहीं बना पाया तो उसका परिणाम अवश्य ही एक भयंकर युद्ध होगा।'

'तुम गंभीरता से कह रहे हो तो मैं क्या व्यर्थ बकवास कर रहा हूँ?' लोहित सचमुच बहक गया लगता था, 'मैं भी गंभीरता से ही कह रहा हूँ। विचार कर मुझे बताओ कि युधिष्ठिर के इस प्रस्ताव पर द्रौपदी की क्या प्रतिक्रिया हुई होगी? बताओ मुझे

हवन-कुंड से उत्पन्न हुई वह तेजस्विनी नारी अपने पितृकुल का अपमान चुपचाप सहन कर लेगी क्या ?"

"महाराज लोहित का कथन सचमुच तर्क-संगत है।" सुमित्र ने समर्थन किया, "अपने पितृ-कुल की यह उपेक्षा द्रौपदी ने कैसे सही होगी ?"

"युधिष्ठिर को सम्राट् नहीं होना चाहिए।" लोहित कुछ और लड़खड़ा गया, "उसे तो हमारा आचार्य होना चाहिए।"

"क्यों ?"

"ताकि वह हमें शिक्षा दे सके कि अपने श्वसुर कुल के प्रभाव को अपने परिवार में प्रवेश करने से कैसे रोका जा सकता है।"

लोहित अपनी बात पर स्वयं ही हँसता-हँसता लोट-पोट हो रहा था।

34

अभिषेचनीय कर्म के दिन यज्ञ-भवन में विशेष भीड़ थी। जो राजा यज्ञ-वेदी को एक बार प्रणाम कर पुनः वहाँ कभी झाँकने भी नहीं आए थे, वे भी आज न केवल वहाँ उपस्थित थे, वरन् अपनी उपस्थिति जताने के लिए अत्यन्त व्याकुल भी थे। परिवारजनों, संबंधियों, राजाओं, विप्रों, तपस्वियों तथा ऋषियों का आज यहाँ अद्‌भुत समागम था।

सभा में पधारे हुए सभी महानुभावों का यथोचित स्वागत कर उन्हें आसनों पर बैठा दिया गया तो आचार्य द्रोण ने अपनी दाहिनी भुजा उठा कर उपस्थित समाज को शांत होने का संकेत किया।

भीष्म ने सभा आरंभ की, "भरतकुलभूषण युधिष्ठिर ! आज राजसूय यज्ञ का अभिषेचनीय-कर्म-दिवस है। आचार्य, ऋत्विज, संबंधी, स्नातक, प्रिय मित्र तथा राजा—शास्त्र इन छहों को अर्घ्य देकर पूजने योग्य बताते हैं। ये लोग यदि एक वर्ष के अतंराल से किसी के घर आएँ, तो वे अर्घ्य के अधिकारी होते हैं। इस सभा में उपथित ये सभी महानुभाव हमारे यहाँ सुदीर्घ काल के पश्चात् पधारे हैं। इसलिए राजन् ! तुम बारी-बारी इनको अर्घ्य दो, और···" भीष्म क्षण भर रुके और अपने स्वर को उच्चतर करते हुए बोले, "इन सब में जो श्रेष्ठ और शक्तिशाली हो, उसे सब से पहले अर्घ्य अर्पित करो।"

युधिष्ठिर अपने आसन से उठकर खड़े हो गए। कुछ क्षणों के विचार भरे मौन के पश्चात् बोले, "पितामह। आर्यावर्त ही नहीं, संपूर्ण जंबूद्वीप की समस्त विभूतियाँ यहाँ वर्तमान हैं। आप आदेश दें मैं सबसे पहले किसको अर्घ्य दूँ ? जिसे आप इस अग्रपूजा के योग्य समझते हों, उसका नाम लें पितामह ! ताकि उसे अर्घ्य दिया जाए।"

सभा में सन्नाटा छा गया, जैसे युधिष्ठिर ने किसी मंत्र से सभा में उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति को बाँध दिया हो। यह मौन नहीं था, एक प्रकार की स्तंभनावस्था थी···उत्कंठित

श्वास जैसे सभागार की दीवारों पर सिर पटक रहे थे, किसे चुनेंगे पितामह ? कौन होगा उनके द्वारा मनोनीत पुरुष ?…

भीम ने सभाजनों की प्रतिक्रिया की ओर ध्यान ही नहीं दिया। वे सहज रूप से अपने चिंतन में लीन हो गए…यह क्या कोई सरल कार्य था।…संपूर्ण जंबूद्वीप के चुने हुए सहस्रों महामानव यहाँ एकत्रित हुए थे।…राजा, महाराजा, योद्धा, मल्ल, विद्वान्, ऋषि, मुनि, चिंतक, दार्शनिक, सिद्ध, साधक, तपस्वी, व्यापारी, कलाकार, गायक, चित्रकार, सर्जक साहित्यकार, कथा-वाचक, एक से एक बढ़कर सुदर्शन तथा हृष्ट-पुष्ट पुरुष…कौन नहीं है यहाँ ? अपने-आप में सब एक से बढ़कर एक…जैसे प्रकृति ने जितने भी रत्न, मणि, माणिक्य उत्पन्न किए हैं, वे सब एक ही स्थान पर एकत्रित हो गए हैं…

इन सब को अर्घ्य दिया जाएगा, किंतु सबसे पहले अर्घ्य किसे दिया जाए ? अर्घ्य तो बिना किसी को वंचित किए हुए सहस्रों लोगों को दिया जा सकता है, किंतु अग्रपूजा तो किसी एक ही व्यक्ति की हो सकती है। इसलिए यह तो निश्चय करना ही होगा कि अग्रपूजा किसकी हो ?…यदि भीष्म अपने इस वय में भी इसका निर्णय नहीं कर सकते, तो युवक युधिष्ठिर इसका निर्णय कैसे कर पाएगा ?…

भीष्म ने एक दृष्टि उपस्थित राज-समाज पर डाली। उन्हें लगा, जैसे प्रत्येक राजा अपने महत्व में फूला हुआ बैठा है। सब अपना-अपना महत्व जानते हैं, दूसरों का महत्व कोई नहीं जानता, या जानना नहीं चाहता। अपना महत्व और दूसरे का दोष जानना कितना सरल है, किंतु न किसी को अपना दोष दिखाई देता है, न दूसरे का गुण।… जिसे देखो, उसी की आँखें, मुद्राएँ, भंगिमाएँ, हाव-भाव, सब अपने महत्व की घोषणा कर रहे हैं, …'हम महत्वपूर्ण हैं…हम सब से महत्वपूर्ण हैं…हमने राजसूय यज्ञ नहीं किया, युधिष्ठिर ने कर लिया। किंतु राजसूय यज्ञ से क्या होता है। हमने कभी उसकी इच्छा ही नहीं की। जिस क्षण इच्छा की होती, उसी दिन, उसी क्षण उसे कर लिया होता।…पर सोचा, कौन प्रपंच करे। फिर कौन-सा यह युधिष्ठिर ने स्वयं किया है। उसकी सहायता के लिए उसके चार भाई हैं। वैसे चार भाई हमारे भी होते, तो हम कब के राजसूय यज्ञ कर चुके होते…।'

कैसी विचित्र स्थिति थी… भीष्म सोच रहे थे… वे सब लोग अपने मन पर रखे, अपनी तुच्छता के बोझ को कम करने के लिए, युधिष्ठिर को तुच्छ प्रमाणित करना चाहते थे। वे युधिष्ठिर की अवमानना भी करना चाहते थे, और उसी युधिष्ठिर से अपने लिए सम्मान भी पाना चाहते थे। शायद युधिष्ठिर की अवमानना कर के ही, वे अपना सिर ऊँचा उठा हुआ अनुभव कर सकते थे। ऐसे सिर बहुत कम होते हैं, जो उन्नत सिरों के बीच में से उनके ऊपर दिखाई पड़ें। अधिकांश को तो अपना उन्नत सिर दिखाने के लिए अन्य लोगों के कबंध के ऊपर के अंश को काटना ही पड़ता है।…

ये सब अतिथि हैं। अतिथियों की पूजा गृहस्थ का धर्म है… किंतु इन सबकी इच्छा पूरी नहीं की जा सकती… अतिथि बनकर आए हुए किसी व्यक्ति की इच्छा ही तो राजसूय-यज्ञ में हुई अग्रपूजा जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए आधार नहीं हो सकती।… कहने को तो कहा जा सकता है कि युधिष्ठिर किसी की भी पूजा कर ले, किसी को क्या अंतर पड़ता है ?… जिसका जो महत्त्व है, वह तो रहेगा ही। जिसकी पूजा नहीं

होगी, उसका कोई गुण, उससे छिन तो जाएगा नहीं''' और जिसकी पूजा होगी, उसके अवगुण नष्ट तो होंगे नहीं।''' और महत्त्व तो गुणों से ही होता है। राजा की पूजा किसी गुणहीन को गुणवान तो बनाने से रही। प्रश्न तो राजा की गुणग्राहकता का है'''

भीष्म निरंतर सोचते जा रहे थे''' व्यक्तिगत संबंधों की बात और है। वहाँ किसी से तुलना नहीं है। कोई व्यक्ति किसी से कितना भी प्रेम कर सकता है, उसे महत्त्व दे सकता है, उसे मान-सम्मान और धन दे सकता है। कोई चाहे तो नागफणी से अपना घर-द्वार सुशोभित करे और तुलसी को उखाड़ कर बाहर फेंक आए। कोई उसे क्या कह सकता है।''' पर राजसूय यज्ञ कोई व्यक्तिगत प्रसंग नहीं है, यह सार्वजनिक समारोह है। यहाँ व्यक्ति की निजी रुचि या निजी संबंध बीच में नहीं आना चाहिए। पूजा, व्यक्ति की नहीं होगी, पूजा तो उसके गुणों की होगी। जिसकी पूजा होगी, उसके चिंतन को, उसके आचरण को, समाज में प्रतिष्ठा मिलेगी। जन-सामान्य के सम्मुख उसे एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया जाएगा। उसके कृत्यों को धर्म माना जाएगा।''' और अयोग्य व्यक्ति की पूजा का अर्थ है, योग्यता पर अयोग्ता का आधिपत्य, सत्य पर झूठ का वर्चस्व, सदाचरण पर दुराचरण की प्रतिष्ठा''' और इन सब का अर्थ होगा, धर्म पर अधर्म का आरोपण।''' एक बार समाज में धर्म पर अधर्म का आरोपण हो जाए, योग्य लोगों के मस्तक पर अयोग्य व्यक्ति को स्थापित कर दिया जाए, तो मेधा, प्रतिभा और योग्यता का असत्य के उस वातावरण में दम घुटने लगता है। स्थापित अन्याय सदा भय से थरथराता रहता है कि कहीं किसी कोने से न्याय की गुहार न उठ जाए।''' इसलिए वह अनवरत न्याय का, धर्म का, प्रतिभा का मस्तक कुचलने के प्रयत्न में लगा रहता है। वट की छाया में घास ही नहीं, अनेक पौधे और नन्हे-मुन्ने वृक्ष भी पनप सकते हैं, किंतु घास की छाया में वट के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती''' एक छोटी-सी भूल, कितने बड़े विनाश का कारण बन सकती है।''' और फिर यह राजसूय यज्ञ तो जंबूद्वीप की भावी राजनीति का नेतृत्व करेगा, पांडव किस नीति का समर्थन करेंगे''' यह सब तो आज यहीं निर्णीत हो जाएगा''' यदि युधिष्ठिर के राजसूय का संकल्प धर्म-राज्य स्थापित करना है, तो अग्रपूजा भी उसी व्यक्ति की होनी चाहिए जो धर्म को जानता हो, धर्म को समझता हो, धर्म पर चलता हो'''

और सहसा भीष्म को लगा, कि बड़ी असंभव-सी कसौटी रख दी है, उनके मन ने। धर्म को किसने समझा है आज तक ? भीष्म इन कौरव-पांडवों के दादा हैं। कितना अधिक जीवन देखा है, उन्होंने इन युवकों की तुलना में।''' और जीवन-भर उन्होंने किया ही क्या है, सिवाय धर्म के चिंतन के। धर्म-अधर्म का द्वन्द्व उनके मन में सदा रहा है, वे सदा ही सत्य-असत्य तथा कर्तव्य-अकर्तव्य को परखने का प्रयत्न करते रहे हैं''' पर क्या भीष्म जान चुके हैं कि धर्म क्या है ?''' वे तो आज तक अपने द्वन्द्व से ही नहीं उबर पाए। वे जितना अधिक सोचते हैं, उतना ही अधिक प्रश्नों की गुत्थियों की गहराई में उतरते जाते हैं, उलझते जाते हैं, और अंत में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि धर्म का मर्म अत्यन्त सूक्ष्म है, उसे समझ पाना प्रायः असंभव है'''

यदि धर्म को जानने वाले की ही अग्रपूजा होनी है, तो फिर किसी ऋषि की ही खोज करें भीष्म।''' ऋषि तो अनेक हैं''' नारद, वेद व्यास, सुसामा, धौम्य, अंगिरस,'''

और दुर्वासा भी।··· ये सब ही धर्म को समझते हैं।··किंतु इन्होंने तो समाज को ही त्याग दिया है। वे धर्म का नहीं, तापस-धर्म का पालन कर रहे हैं··· वे तो समाज का अंग ही नहीं है। उनकी अग्रपूजा कर भीष्म क्या संन्यास-धर्म की स्थापना करना चाहते हैं। गृहस्थ धर्म की हीनता रेखांकित करेंगे भीष्म। समाज को छिन्न-भिन्न करना चाहते हैं वे··· ?

समाज में तो हैं ये राजा लोग।··· भीष्म को लगा, यह विचार न हो, कोई विस्फोट हो।··· ये राजा और धर्म ?··· दूर-दूर तक कोई संपर्क नहीं है, इनका धर्म से।··· ये सब अहंकार और विलास के पुतले हैं।···अहंकार और विलास के सान्निध्य में कहीं धर्म टिक पाया है क्या।··· तो फिर ? तो फिर ?···

और भीष्म की दृष्टि बार-बार, घूम-फिर कर, आकर कृष्ण पर ठहर जाती थी··कृष्ण राजा नहीं है, किंतु आर्यावर्त्त की राजनीति में जितनी पैठ उसकी है, और किसी की नहीं है। उसने कंस और कालयवन ही नहीं, जरासंध को भी धूल चटा दी। कृष्ण पर बार-बार आक्रमण करके भी जरासंध कुछ नहीं कर सका। कृष्ण ने पहले उसे अक्षम किया और फिर उसका वध करवा दिया। भीष्मक, रुक्मी, शिशुपाल, दंतावक्त्र, शाल्व, सुनीथ··· सारे के सारे दुष्ट क्षत्रिय, उसी के आंतक के मारे शांत हुए बैठे हैं।··· यदि कहीं कृष्ण न होता, या वह इतना चतुर, सक्रिय और समर्थ न होता, तो इन पापी राजाओं ने आर्यावर्त्त में से न्याय, धर्म और ज्ञान की ज्योति पूर्णतः बुझा दी होती। यहाँ पाप, अज्ञान, अन्याय और अधर्म का अंधकार इतना सघन हो जाता कि मानवता तक दिखाई न पड़ती, आर्यत्व की तो बात ही क्या ? यह राजा स्वयं को क्षत्रिय कहते हैं, आर्य कहते हैं, किंतु उनके आचरण राक्षसों और निशाचरों के से हैं। वे पूर्णतः राक्षस हो चुके हैं···और उस कृष्ण को देखो··· कंस का वध करके भी उसने किरीट धारण नहीं किया। कुशस्थली को जीता, द्वारका का निर्माण किया, यादवों का नेतृत्व किया, किंतु राजा के रूप में उग्रसेन को ही सिंहासनासीन किया। जरासंध का वध करवाया तो उसी के पुत्र सहदेव का राजतिलक कर आया।··· यदि कहीं कृष्ण के मन में राजा बनने की समा जाती, तो कदाचित् सब से विशाल साम्राज्य कृष्ण का ही होता।··· पर वह तो राजा बनना ही नहीं चाहता।··यहाँ, इन राजाओं की सभा में आकर भी, ऋषियों के चरण धोने का कार्य करता रहा··कैसी अपूर्व श्रद्धा है कृष्ण के मन में, इन त्यागी, ज्ञानी, निःस्वार्थ तपस्वियों और साधकों के लिए। वह धन नहीं खोजता, अधिकार नहीं खोजता, वह धर्म को खोज रहा है···

ऋषि नहीं है कृष्ण, संन्यासी नहीं है। न समाज से पलायन किया है उसने न समस्याओं से और न कर्म से। इस देश की राजनीति में, यादवों के प्रशासन में, अपनी पारिवारिक समस्याओं में, आकंठ धँसा है कृष्ण। पर कैसा अनासक्त है। जिनके लिए अपने प्राणों का पण लगाकर काम करता है, उनसे कुछ भी पाने की अपेक्षा नहीं करता। सृष्टि को देने ही देने के लिए जन्म हुआ है उसका, उससे कुछ प्राप्त करने के लिए नहीं।··· किस ऋषि ने साधा है ऐसा योग ?···

सहसा भीष्म की विचार-शृंखला टूटी। किधर बह रहे हैं वे। उनके मन में तो जैसे कृष्ण के लिए स्नेह, सम्मान और श्रद्धा को भी पार कर भक्ति उमड़ आई है।···

और ठीक ही तो उमड़ी है भक्ति।''' जिसे देखो, वही याचक है : सृष्टि से, पृथ्वी से, राजा से, समाज से, संबंधियों से''' सब से कुछ न कुछ माँगता ही है।''' किंतु कृष्ण ने तो कभी कुछ नहीं माँगा''' दिया ही दिया है।''' जो जीवन को खाने के लिए बैठ जाता है, जीवन उसे खा जाता है। जो धर्म की रक्षा नहीं करता, धर्म उसकी रक्षा नहीं करता। कृष्ण धर्म की रक्षा करता है, धर्म कृष्ण की रक्षा कर रहा है'''

भीष्म जैसे अपने-आप में नहीं थे। वे सम्मोहन की-सी अवस्था में उठ खड़े हुए और बिना विशेष प्रयत्न अथवा समारोह के सहज भाव से बोले, "राजसूय यज्ञ के लिए उपस्थित हुए विशिष्टजन ! मुझसे चक्रवर्ती युधिष्ठिर ने पूछा है कि धर्म की स्थापना करने वाले इस यज्ञ में वे किसकी अग्रपूजा करें। मैं पर्याप्त चिंतन कर इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि इस सारे समाज में अग्रपूजा के योग्य निस्संदेह एक ही महानुभाव हैं''' द्वारका के वासुदेव कृष्ण। वे अपने तेज, बल और पराक्रम से देदीप्यमान हैं, वे अहंकार शून्यता, निर्लोभिता तथा धर्मनिष्ठा में असाधारण हैं, वीरता, ज्ञान तथा त्याग में अलौकिक हैं, उनमें भव्यता, दिव्यता और सात्विकता है। उनका स्थान मनुष्यों के समाज में वही है, जो ग्रह-नक्षत्रों में भगवान भास्कर का है। जो प्रभाव शून्य में वायु के आ जाने का है, वही प्रभाव किसी समाज में श्रीकृष्ण के आने का होता है। मेरा प्रस्ताव है कि चक्रवर्ती सम्राट् युधिष्ठिर वासुदेव कृष्ण की ही अग्रपूजा करें।"

वाक्य पूरा कर भीष्म अपने स्थान पर बैठे ही थे कि उन्हें लगा कि उनसे भूल हो गई है : उन्हें बिना किसी से विचार-विमर्श किए, इस प्रकार उठ कर कृष्ण के नाम की घोषणा नहीं कर देनी चाहिए थी। उन्हें द्रोण से तो चर्चा कर लेनी चाहिए थी, और यदि वह भी नहीं करना था तो उन्हें युधिष्ठिर को ही बता देना चाहिए था। उन्होंने तो अपनी ओर से घोषणा कर दी, और कहीं पांडवों ने कुछ और सोच रखा हो तो ?''' संभव है युधिष्ठिर का उनसे इस प्रकार पूछना मात्र एक शिष्टाचार हो।''' क्या सचमुच भीष्म इतने वृद्ध हो गए हैं कि अपना संतुलन खो रहे हैं ?''' क्या उनको दिया गया यह अधिकार वास्तविक था ? क्या कोई भी अधिकार वास्तविक होता है ?'''और अधिकार नाम की कोई वस्तु होती भी है ? सृष्टि की दया को मनुष्य अपना अधिकार मान कर अनाचार करने लगता है। वैसे ही युधिष्ठिर के शिष्टाचार को अपना अधिकार मान उन्होंने कोई अनर्थ तो नहीं कर दिया ?''' धृतराष्ट्र और दुर्योधन ने''' जिनके साथ वे वर्षों से रह रहे हैं''' शायद इसीलिए उन्हें कोई औपचारिक अधिकार नहीं दिया'''

और यदि पांडवों के मन में कुछ और न भी हो। युधिष्ठिर ने वस्तुतः उनको वह अधिकार दिया हो''' तो भी'''उन्हें कृष्ण से तो पूछ ही लेना चाहिए था।''' कृष्ण''' जो कहीं अपना महत्त्व नहीं जताता, जो कहीं कोई पद स्वीकार नहीं करता, भीष्म ने उस कृष्ण के नाम की घोषणा अग्रपूजा के लिए कर दी है। यदि कृष्ण को यह मान्य न हुआ तो ?''' उन्हीं के समान कृष्ण ने भी खड़े होकर यह घोषणा कर दी कि वह अपनी अग्रपूजा के लिए सहमत नहीं है, तो ? '''जो इंद्र की पूजा का विरोध कर सकता है, वह क्या अपनी अग्रपूजा का विरोध नहीं कर सकता ? अवश्य कर सकता है तो ?'''तो क्या ? किसी और की पूजा हो जाएगी। किसी एक व्यक्ति की इच्छा-अनिच्छा को देखते हुए तो यज्ञ की प्रक्रिया रुक नहीं जाएगी'''

भीष्म के मस्तक में जैसे पुनः एक धमाका हुआ : किसी और की अग्रपूजा ?... उन्हें लगा, यदि किसी और व्यक्ति के नाम का प्रस्ताव आया, चाहे वह वेदव्यास का ही नाम क्यों न हो, और पांडव उससे सहमत हो गए, तो भीष्म को उसका विरोध करना पड़ेगा। यह अनाचार भीष्म के यज्ञ-नियंता होते हुए नहीं हो सकता।... कृष्ण की उपस्थिति में किसी अन्य व्यक्ति की पूजा, अनाचार ही तो है...

और सहसा भीष्म का ध्यान अपने मन के धमाकों से हटकर सभा की ओर लौट गया...उनके द्वारा कृष्ण के नाम की घोषणा होने पर, सभा जैसे स्तब्ध रह गई थी...एक लंबे स्तब्ध सन्नाटे के पश्चात् अकस्मात् ही एक भिनभिनाहट-सी आरंभ हो गई और उसने बढ़ते-बढ़ते जनरव रूप धारण कर लिया था।

पहले तो भीष्म समझ नहीं पाए कि यह उनकी बात का समर्थन था अथवा विरोध ... किंतु ध्वनियों के उस वन में, वे अपनी समझ की पगडंडी बना पाए तो स्पष्ट हुआ कि उनकी घोषणा की सभा में मिश्रित प्रतिक्रिया हुई थी। कुछ लोग उनका समर्थन कर रहे थे और कुछ विरोध में बोल रहे थे।... यह तो होना ही था। आजकल इस समाज में इतनी अधिक स्वतंत्रता व्याप्त है कि वह उच्छृंखलता की सीमा को छूने लगी है। जब किन्हीं दो व्यक्तियों में सहमति नहीं हो पाती, तो इतने व्यक्तियों में...और व्यक्ति भी कैसे ?...स्वयं को विशिष्ट ही नहीं, असाधारण मानने वाले आर्यक्षत्रिय राजा...

और कृष्ण ?

भीष्म की दृष्टि भटकती हुई कृष्ण तक पहुँची।... कैसे बैठा है कृष्ण, जैसे सभा में उपस्थिति ही न हो।... कैसा व्यक्ति है यह ? भीष्म का मन जैसे फिर से अभिभूत हो उठा... यह व्यक्ति सशरीर कहीं विद्यमान होते हुए भी जैसे वर्तमान नहीं होता, और कहीं अनुपस्थित होते हुए भी साक्षात् वर्तमान होता है।... यहाँ इस प्रकार निर्लिप्त बैठा है, जैसे यह सारी चर्चा उसके विषय में न हो रही हो। यह बवंडर उसके व्यक्तित्व से संबंधित ही न हो। वह तो जैसे समाधिस्थ होकर, योग साध रहा था...

भीष्म को प्रसन्नता हुई, कृष्ण अपनी अग्रपूजा का विरोध नहीं कर रहा था। पूजा ग्रहण करने में उसकी अनिच्छा नहीं थी। किंतु कहीं रंचमात्र भी उल्लास था उसके मुखमंडल पर, कि भीष्म मानें कि उसकी कोई इच्छा पूरी हुई है, या उसकी किसी आकांक्षा ने आकार ग्रहण किया है।... अपने मन में इच्छाओं को जन्म देकर कृष्ण स्वयं को रिक्त नहीं करता कि पूर्ति का जल आकर उसके रिक्त स्थलों की आपूर्ति करे। वहाँ न कामना है न कामना-पूर्ति। न रिक्त है, न आपूर्ति।... संतुलन की कौन-सी दशा है यह ? ... और भीष्म को लगा कि उनके मन में से एक स्वर उठ रहा है। स्वर, जो कृष्ण के कंठ से नहीं, कृष्ण के अस्तित्व से उपजा है, भीष्म ! कामना तो याचना है, वंचना है। कामना मत कर, तू परिपूर्ण है। पाने की इच्छा ही खाली होने की प्रक्रिया है। उपलब्धि ही अभाव का मूल है। कामना से प्राप्ति होगी, और प्राप्ति से तू और भी वंचित होगा। उपलब्धि और अनुपलब्धि एक ही अस्तित्व के दो पक्ष हैं।...

'यदि तुमने अपने पिता की इच्छा-पूर्ति के लिए राज्य न त्यागा होता, तुमने अपने लिए राज्य की कामना की होती, तो तुमने अपने मन में अपने पिता के विरुद्ध विष और द्वेष का एक साम्राज्य भी स्थापित किया होता, और उसके विनिमय में पिता का

राजसिक विरोध पाकर एक अनन्त संघर्ष को जन्म दिया होता। उस संघर्ष में तुम बड़ी से बड़ी उपलब्धियों की ओर बढ़ते और स्वयं को अधिक से अधिक वंचित करते चलते।···भीष्म ! अपने को देना ही, दूसरों को पाना है, और दूसरों से लेना ही स्वयं को बंधक रखते जाना है···।'

भीष्म ने चमत्कृत होकर कृष्ण की ओर देखा : क्या है यह ? यह सब कृष्ण की माया है, या भीष्म का अपना मन ही कृष्ण की ओट लेकर, उनको छल रहा है ?···

भीष्म अपने मनोलोक से निकल, पांडवों की सभा में लौट आए।

क्रमशः जन-रव वैसे ही शांत हो गया, जैसे आलोड़ित जल के स्थिर होने पर मिट्टी के कण तल पर बैठ जाते हैं, और जल पारदर्शी हो जाया करता है।··· भीष्म को एक नई अनुभूति हुई : समर्थन करने वाले कितना अक्षम समर्थन करते हैं, और विरोधी पक्ष कितना प्रबल होता है। सत्य और न्याय के साथ सदा यह ही होता आया है। सत्य कितने कोमल स्वर में बोलता है, और असत्य अपनी कर्कशता में ही स्वयं को सत्य और सत्य को असत्य बना देता है। कृष्ण के समर्थक अपना नैतिक दायित्व पूर्ण कर, चुप ही नहीं हो गए थे, कहीं सो गए थे, किंतु उसके विरोधी प्रबल से प्रबलतर होते जा रहे लगते थे !

चेदिराज शिशुपाल मन में बहुत सारा उत्साह और ढेर सारी अपेक्षा लेकर आज की सभा में आया था। वस्तुतः यह तथ्य आज ही उसके ध्यान में आया था कि वह पहले दिन से ही अभिषेचनीय कर्म-दिवस की प्रतीक्षा में था। उसके लिए तो यह सारा राजसूय यज्ञ 'अग्रपूजा' में सिमट कर रह गया था।··· उसने बार-बार अपने-आप से पूछा था कि वह 'अग्रपूजा' के लिए इतना व्याकुल क्यों था ? अपने भीतर कोई बहुत स्पष्ट उत्तर उसे नहीं मिला था, किंतु एक अनाम-सी तृष्णा अवश्य कौंध गई थी।··· जरासंध की मृत्यु हो चुकी थी, धृतराष्ट्र अंधा था, दुर्योधन अभी स्वतंत्र किरीटधारी राजा नहीं था, द्रुपद यहाँ आया ही नहीं था··· तो किस राजा की अग्रपूजा करेगा युधिष्ठिर ? कौन-सा राजा इतना शक्तिशाली और सामर्थ्यशाली था, जिसे युधिष्ठिर यह सम्मान देना चाहेगा ?···

और जब युधिष्ठिर ने इस चयन का दायित्व भीष्म को सौंप दिया तो शिशुपाल का मन कुछ बुझ गया था। भीष्म का कुछ पता नहीं।··· वे कह दें कि वेदव्यास की अग्रपूजा कर दो, आचार्य द्रोण की कर दो··· किंतु आचार्यों तथा संन्यासियों की पूजा यज्ञ-वेदी पर ही होती है, राजाओं की सभा में राजाओं की ही पूजा हो सकती है।···

और तब भीष्म ने 'कृष्ण ' का नाम लिया था। शिशुपाल की अंतड़ियों में ऐसा मरोड़ उठा कि उसकी इच्छा हुई कि खड्ग निकाल कर अभी भीष्म का वध ही कर दे। यदि यह नहीं कर सके, तो कम से कम भीष्म की उस जिह्वा को तो काट ही ले, जिसने अग्रपूजा के लिए कृष्ण का नाम प्रस्तावित किया था···

किंतु नहीं··· उसने अपने-आपको रोका···भीष्म के कहने से क्या होता है। इतने दिनों से युधिष्ठिर ने कृष्ण को कंगले ब्राह्मणों के पैर पखारने के काम पर इसलिए तो नहीं लगा रखा कि आज उसकी अग्रपूजा हो। उसकी अग्रपूजा ही करनी होती तो उसको इस राजसूय-यज्ञ में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया होता।··· युधिष्ठिर भली

प्रकार समझता होगा कि चेदिराज शिशुपाल की उपस्थिति में कृष्ण की अग्रपूजा नहीं हो सकती।

किंतु तभी उसने देखा कि युधिष्ठिर ने उपस्थित राजाओं के समर्थन अथवा विरोध की कोई चिंता नहीं की। उन्होंने सहदेव की ओर देखा, "वासुदेव को अर्घ्य समर्पित करो सहदेव।"

शिशुपाल जैसे आकाश से गिर पड़ा"युधिष्ठिर ने वही किया, जो भीष्म ने कहा। उसने उसके औचित्य-अनौचित्य पर तनिक भी विचार नहीं किया। उसने यह नहीं सोचा कि जरासंध-मंडल का कोई भी राजा इसको स्वीकार नहीं करेगा" उसे किसी की चिंता नहीं है, शिशुपाल की भी नहीं"

सहदेव सहर्ष आगे वढ़ा। वह सभा में बैठे राजाओं के मध्य में से कृष्ण की भुजा पकड़, उन्हें उठा लाया। आगार के प्रमुख भाग में रखे सुसज्जित सिंहासन पर बैठा कर उसने भृंगारवाहक की सहायता से कृष्ण के चरण धोए। बड़ी भक्ति से उन्हें पोंछा। दासी के हाथ से स्वर्ण थाल लेकर उसमें रखी सामग्री से कृष्ण का तिलक किया"

और सहन करना शिशुपाल के वश में नहीं था। वह इस प्रकार उठ कर खड़ा हो गया, जैसे उसे किसी बिच्छु ने काट खाया हो। उसका चेहरा तमतमाया हुआ था और क्रोध के मारे मुख में से झाग गिरने की-सी स्थिति थी"

"हमने समझा था कि वार्द्धक्य ने भीष्म को कोई समझ-बूझ भी दी होगी, पर वह तो पूर्णतया सठिया गया है। मूर्ख तो वह अपनी तरुणाई से ही था"।" वह आवेश से फटे किंतु उच्च स्वर में कह रहा था।

भीष्म ने पलट कर शिशुपाल को देखा, क्रोध ने उसे असाधारण रूप से प्रखर बना दिया था, जैसे अग्नि सूखे काष्ठ को जलाकर प्रकाशमान बना देती है।" किंतु भीष्म जानते थे कि यह प्रकाश काष्ठ का नहीं, अग्नि का है। अग्नि, ताप तो फिर भी किसी को दे दे, किंतु प्रकाश किसी को नहीं देती उसका ताप भी विचित्र होता है, किसी को फलता है, किसी को नहीं। स्वर्ण को तपा कर कुंदन बना देती है, किंतु काष्ठ उसके ताप से जलकर कोयला बन जाएगा, कोयला तपेगा तो राख हो जाएगा।" शिशुपाल काष्ठ से अधिक कुछ नहीं है"और वह भी श्रेष्ठ कोटि का नहीं। इसके क्रोध की प्रखरता इसे त्यागेगी, तो इस काष्ठ का कोयला शेष बचेगा या भस्म" भीष्म स्वयं नहीं जानते"

"भीष्म मूर्ख तो अपनी तरुणाई से ही था, किंतु अब तो पूर्णतः विक्षिप्त हो गया है। कृष्ण की अग्रपूजा का आदेश दिया है उसने युधिष्ठिर को" एक कंगले पशुपालक का, जिसके पास न धन है, न सैन्यवल। अग्रपूजा वह चाहे करा ले, किंतु आवश्यकता पड़ने पर वह इस यज्ञ की रक्षा भी नहीं कर पाएगा।""

सभा सन्न रह गई। यह शिशुपाल क्या कह रहा था"

युधिष्ठिर वेग से चलते हुए शिशुपाल के निकट आए, "चेदिराज।""

"युधिष्ठिर !" शिशुपाल युधिष्ठिर की ओर पलटा, "हमारा अपमान ही करना था, तो प्रकट शत्रुता दिखाई होती। यह क्या कि सौजन्य, मैत्री और संबंधों की दुहाई देकर, हमें यहाँ बुला लिया और अब एक पदविहीन, उद्दंड, उच्छृंखल और चरित्रहीन ग्वाले को इस सारे क्षत्रिय राजसमाज के मस्तक पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न कर रहे हो।

तुम्हारी इच्छा हो तो तुम इस प्रपंची कृष्ण को अपना पूज्य और आराध्य मानो, किंतु हम अपने प्रति यह अपराध सहन नहीं करेंगे।"

अर्जुन की इच्छा हो रही थी कि वह अपने गांडीव से अभी एक बाण शिशुपाल के वक्ष में मारे, ताकि इसे मालूम हो सके कि किसी का अपमान करने का अर्थ क्या होता है। ···किंतु अभी तो धर्मराज उसे शांत करने का प्रयत्न कर रहे थे···

भीम से जो चर्चा शिशुपाल ने अपनी राजधानी शुक्तिमती में की थी, उनसे भीम आशंकित था कि शिशुपाल कोई-न-कोई उत्पात् कर सकता है, किंतु इस सीमा तक··· उसकी भुजाएँ फड़क रही थीं, कि इस शिशुपाल को भी वैसे ही चीर कर रख दे, जैसे जरासंध को चीरा था···

"शिशुपाल ! भाई !···" युधिष्ठिर उसे शांत करने का प्रयत्न कर रहे थे, "इस प्रकार किसी का अपमान करना उचित है क्या ?"

"क्या समझते हो तुम, कि तुमने अपने बाहुबल से जय कर, हमें अपने अधीन कर लिया है ?" शिशुपाल का कंठ क्रोध से सूख रहा था और स्वर बुरी तरह फट गया था, "या समझते हो कि हम तुम से भयभीत हैं, अथवा इतने अक्षम हैं कि जिसे चाहोगे, हमारे मस्तक पर आरोपित कर दोगे ? तुम्हें कर इसलिए नहीं दिया था कि तुम्हारी सेना से युद्ध नहीं कर सकते थे, न उस कारण से तुम्हारी इस सभा में आए हैं। हम यहाँ अपने सौजन्य के कारण आए हैं कि एक संबंधी के घर एक समारोह है, तो उसमें *सम्मिलित होना सामाजिक शिष्टाचार है।···किंतु जिस समाज में सौजन्य का महत्व नहीं* है, वहाँ उसके प्रदर्शन का लाभ ?"···

"मेरी बात सुनो शिशुपाल।" युधिष्ठिर ने पुनः कहा।

किंतु शिशुपाल ने युधिष्ठिर की बात नहीं सुनी। उसने रुक कर एक दृष्टि कृष्ण पर डाली और एक बार भीम को देखा। अपने सामने खड़ा युधिष्ठिर तो जैसे उसे दिखाई ही नहीं पड़ रहा था···"हम यहाँ रहे तो हमसे यह पाखंड सहन नहीं होगा, और व्यर्थ का रक्तपात होगा। बालिकाओं की गुड़ियों के खेल के समान, युधिष्ठिर अपना चक्रवर्ती का खेल खेल ले, इसलिए हम यहाँ से जा रहे हैं।···"

उसने भुजा उठा कर जैसे सारे राज-समाज को बाहर चलने का संकेत किया, और बिना यह देखे कि उसके आह्वान का प्रभाव क्या हुआ है, वह सभागार से बाहर निकल गया। भीष्म ने आश्चर्य से देखा···उसके पीछे-पीछे बाहर जाने वाले राजाओं की संख्या कम नहीं थी··· सुनीथ, दंतवक्त्र, यूपकेतु, लोहित, शाल्व, भीष्मक···

युधिष्ठिर पहले तो स्तब्ध-से खड़े, बाहर जाते हुए शिशुपाल को देखते रहे, जैसे कुछ समझ ही न पा रहे हों, और फिर उसके निकल जाने के पश्चात् किंकर्तव्यविमूढ़ से कभी अपने भाइयों की ओर देखते रहे और कभी कृष्ण की ओर··· और अकस्मात् ही वे शिशुपाल के पीछे भागे, जैसे कोई सज्जन अतिथेय, अपने रुष्ट अतिथि को मनाने के लिए जाता है···

भीष्म का विचलित मन किसी व्याकुल पक्षी के समान पंख फड़फड़ाता हुआ, कृष्ण तक उड़ा : किंतु कृष्ण तो ऐसा निर्विकार बैठा था, जैसे कुछ हुआ ही न हो। चारों पांडव अवश्य कुछ अस्थिर हो गए लगते थे··· कृष्ण के प्रायः समर्थक किसी आसन्न अनिष्ट

की आशंका से म्लान हो गए थे, और जो विरोधी उठकर बाहर नहीं गए थे, वे अनुपस्थित शिशुपाल से बल पाकर, अत्यन्त मुखर हो गए थे...

भीष्म की दृष्टि अंततः दुर्योधन की मुखाकृति पर जा ठहरी : कैसा प्रसन्न था दुर्योधन, जैसे उसके जीवन की सबसे बड़ी लालसा, आज पूर्ण हो गई हो...

इस मूर्ख ने भी अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य पांडव-विरोध निश्चित कर लिया है... भीष्म ने सोचा... इसलिए पांडवों के प्रत्येक मित्र को अपना शत्रु मान बैठा है, और उनके प्रत्येक शत्रु को अपना मित्र। यह मूर्ख अपनी इसी अंध धारणा के हाथों विनाश को प्राप्त होगा...

"इतना बड़ा आयोजन बाल-बुद्धि के भरोसे नहीं होता।" पीछे से किसी ने कहा।

भीष्म की दृष्टि भीम की ओर चली गई। वह दाँत पीस कर पलटा, "इसका निर्णय कौन करेगा, कि बाल-बुद्धि किसकी है ?"

भीष्म को संतोष हुआ कि भीम अपने स्थान से उठा नहीं, अन्यथा जाने क्या हो जाता।... आज भीम अद्भुत संयम का परिचय दे रहा था।

उस राजा ने प्रकट वितृष्णा से मुँह फेर लिया, जैसे कह रहा हो कि तुम जैसे के मुँह कौन लगे...

तभी युधिष्ठिर भुजा पकड़ कर शिशुपाल को भीतर ले आए। शिशुपाल को थाम कर लाने की शैली में न तो कहीं चक्रवर्ती सम्राट् का दंभ था और न सत्ता का कोई अधिकार। वे तो जैसे स्नेह और सौहार्द की शक्ति से ही उसे बाँध लाए थे।... भीष्म ने सोचा ... था तो वह युधिष्ठिर की सगी मौसी का पुत्र ही। ... समझदार है युधिष्ठिर, जो सम्राट् न बनकर, संबंधी बन शिशुपाल को बाँध लाया था। अच्छा है कि युधिष्ठिर में सबको साथ ले चलने का गुण है। वह अपने चारों भाइयों के सम्मान की रक्षा करता हुआ, उन्हें अपने साथ रख पाएगा। नहीं तो भीम क्या कम उद्दंड है। क्रुद्ध हो जाए, तो मदांध गज के समान सबको रौंदने लगता है।... वैसे कृष्ण का भी संबंधी है शिशुपाल ! कृष्ण का जो संबंध पांडवों के साथ है, वही तो शिशुपाल के साथ भी है। फिर क्यों विरोधी हो गया है शिशुपाल, उसका ? मात्र ईर्ष्या के कारण ? राजा होकर भी शिशुपाल जो महत्त्व प्राप्त नहीं कर सका, कृष्ण उससे कहीं अधिक महत्त्व, साधारणजन बनकर भी प्राप्त कर रहा है...

"समस्त राजा, ऋषि और भद्रजन सुनें।" युधिष्ठिर ने अपना हाथ ऊँचा उठा कर कहा, "चेदि नरेश शिशुपाल यहाँ की कार्य-पद्धति से कुछ असंतुष्ट हैं। उनका कहना है कि उन्होंने हमें कर अवश्य दिया है, किंतु वह उनका एक संबंधी का सौहार्द था। वे आज भी स्वयं को हमारे कर-दाता अधीनस्थ राजा नहीं मानते।" मेरा अपना विचार है कि युधिष्ठिर की दृष्टि उपस्थित समुदाय पर एक सिरे से, दूसरे सिरे तक घूम गई, "हमने यज्ञ का आरंभ स्वयं को अपने बंधु राजाओं का स्वामी सिद्ध करने के लिए नहीं, धर्म की स्थापना के लिए किया है। इसलिए हम जो निर्णय यहाँ लें, वह सर्वसम्मति से लें...।"

"तो क्यों अकेले उस सठियाए बुड्ढे भीष्म के कहने पर तुमने कृष्ण की अग्रपूजा करना स्वीकार कर लिया ?" शिशुपाल फिर अपने स्थान से उठ खड़ा हुआ, "जिसे राजाओं

की इस सभा में प्रवेश का भी अधिकार नहीं था, क्यों सबसे पहले उसे अर्घ्य दिया तुमने ?"

"न सौहार्द एक-पक्षी भावना है, और न मर्यादा का पालन मात्र हमारा दायित्व है।" युधिष्ठिर के कुछ कहने से पहले, सहसा सहदेव ने कहा, "हमारे पितामह के प्रति इस प्रकार का अनादर···।"

"तुम्हारे उस नपुंसक पितामह ने अपना अनादर स्वयं आरंभ किया है।" शिशुपाल ने अभद्रतापूर्वक उसकी बात काट दी, "भीष्म ने न अपना वयस देखा न अपनी अवस्था। अपनी उपस्थिति में स्वयं अपने मुख से इस कृष्ण का नाम प्रस्तावित कर दिया। क्या अवस्था है कृष्ण की और क्या स्थिति है उसकी ?"

"अग्रपूजा ही करनी थी तो अपने मातुल इसके पिता वसुदेव को द्वारका से बुला लिया होता।" सुनीथ ने शिशुपाल का समर्थन किया, "पिता के जीवित रहते, पुत्र की अग्रपूजा।"

"वयोवृद्धता की पूजा केवल उन शूद्रों में होती है, जहाँ गुणों का निर्णय नहीं हो सकता।" युधिष्ठिर ने शांत स्वर में कहा, "इसलिए न पितामह का प्रस्ताव अनुचित था और न श्रीकृष्ण को अर्घ्य दिया जाना।"

"यदि शिशुपाल का इतना ही बल है गुणों की तुलना पर, तो एक बात मुझे भी कहनी है।" सहसा भीष्म बोले, "क्षत्रियों में वीरता की पूजा होती है। यदि किसी को वासुदेव कृष्ण को महावीर मानने में आपत्ति हो, तो वह युद्ध में उसे प्रमाणित करे। मुझे तो राजाओं के इस समुदाय में एक भी भूपाल ऐसा दिखाई नहीं देता, जो युद्ध में देवकीनन्दन श्रीकृष्ण के तेज से परास्त न हुआ हो।"

"भीष्म !" शिशुपाल का क्रोध पुनः अमर्यादित हो उठा, "युद्ध का भय मत दिखाओ मुझे। कृष्ण से मैं डरता नहीं हूँ। वृष्णि वंश को क्षत्रिय मानता ही कौन है। अपने अन्नदाता कंस का कृष्ण ने वध कर डाला, और जब युद्ध के लिए सम्राट् जरासंध आए तो यह कायरों के समान भाग खड़ा हुआ। इसे वीर कहते हो तुम ? तुम जैसे कापुरुष ही इसे वीर मानेंगे; जिसने विरोध के भय से अपना राज्य त्याग दिया।··· " और शिशुपाल ने खड्ग निकाल लिया, "मैं किसी भी अवसर और किसी भी स्थान पर कृष्ण और तुम्हारी ···.दोनों की वीरता की पोल खोलने के लिए प्रस्तुत हूँ।"

भीम की आँखों में क्रोध झलका और वह मुट्ठियां भींच कर आगे बढ़ा, "तुम्हारी वीरता की पोल तो मैं खोलता हूँ अभी।"

भीष्म ने देखा, भीम यदि शिशुपाल के निकट पहुँच गया, तो वह उससे गुँथ जाएगा। शिशुपाल के हाथ में नग्न खड्ग है। फिर उसके आस-पास उसके सहयोगी और मित्र राजा लड़ने के लिए सन्नद्ध खड़े हैं। संभव है कि वे घेर कर भीम का वध कर डालें। न भी कर पाएँ तो भी इस अन्तर्वेदी में राजसूय यज्ञ के उत्सव के स्थान पर रक्तपात आरंभ हो जाएगा। शिशुपाल तो कदाचित् इस कार्य के लिए संकल्प करके ही आया है। सुनीथ उसके साथ ही खड़ा है। हाव-भाव से दुर्योधन की भी उनसे पूर्ण सहानुभूति दिखाई पड़ रही है। इसी सभा में इनके कितने सहयोगी हैं··· कौन जानता है। वे सब इनके साथ मिल जाएँगे। युद्ध में वे जीतें, न जीतें, किंतु इस सारे समारोह का उल्लास

वे नष्ट कर देंगे, और आयोजन सफलकाम नहीं हो पाएगा।..."

"रुक जाओ भीम।" भीष्म ने आदेशपूर्ण स्वर में कहा।

"कैसे रुक जाऊँ पितामह!" भीम के पग रुक तो गए, किंतु उसका आक्रोश नियंत्रित नहीं हो पा रहा था, "यह दुष्ट भरी सभा में हमारे आदरणीय तथा आत्मीय जनों के प्रति कहनी-अनकहनी कह रहा है, और कोई इसका विरोध नहीं कर रहा। कृष्ण भी नहीं, जिसने धर्मराज को वचन दिया था कि जो राजा उनकी सभा में भृत्य के समान सेवा नहीं करेगा, वह उसे कबंध में परिणत कर देगा।"

भीष्म स्वयं जाकर, भीम को भुजा से पकड़ कर अपने साथ ले आए। अपने साथ के मंच पर बैठाया और धीरे से बोले, "वासुदेव कृष्ण मौन बैठे हैं, जाने उनके मन में क्या है। नहीं तो अब तक बिगड़ी बात बनाने के लिए, विरोध और वैमनस्य मिटाने के लिए, वे संधि और शांति का कोई-न-कोई प्रयत्न अवश्य करते। संभवतः वे अपनी ओर से अग्रपूजा ग्रहण करने से इंकार कर देते। किसी और का नाम प्रस्तावित कर देते। पांडवों की सभा में उनकी अग्रपूजा, कोई इतनी बड़ी उपलब्धि तो नहीं है कृष्ण के लिए, कि वे इस समारोह के ध्वस्त होने का जोखिम उठाते।"

"तो?" भीम ने आश्चर्य से पितामह की ओर देखा।

"मेरा विचार है कि कृष्ण जान-बूझ कर शिशुपाल को इस प्रकार उत्तेजित होने का अवसर दे रहे हैं।" भीष्म बोले, "बहुत संभव है कि कृष्ण की योजना, आज इस सभा में शिशुपाल तथा उसके सहयोगियों की मदांधता समाप्त करने की हो।"

"नहीं पितामह।" भीम अब भी उतना ही उग्र और व्यग्र था, "आप कृष्ण को नहीं जानते। वह आजकल परस्पर सौहार्द और प्रेम की बहुत चर्चा करने लगा है। यह शिशुपाल जैसे हमारी मौसी का पुत्र है, वैसे ही कृष्ण की बूआ का...।"

"जानता हूँ।" भीष्म बोले।

"बस, यह अपनी बूआ को कष्ट न देने के लिए शिशुपाल का यह अनर्गल प्रलाप सुन रहा है।" और सहसा भीम पलटा, "हम क्यों चाहते हैं कि जिसे गाली दी जाए, वही उसका विरोध करे? शेष समाज क्यों न करे? भद्र समाज चुप क्यों बैठा रहे!"

भीम ठीक कह रहा है— भीष्म ने सोचा—इस प्रकार के सार्वजनिक अभद्र व्यवहार का प्रतिवाद, सार्वजनिक रूप से ही होना चाहिए। यदि सार्वजनिक विरोध नहीं होगा, तो प्रत्येक सबल व्यक्ति निर्बलों को एक-एक कर अपमानित करता रहेगा।

"ठीक है।" भीष्म बोले, "प्रतिरोध तो सार्वजनिक और सामूहिक ही होना चाहिए, किंतु हम इस समय विवाद को बढ़ाना नहीं चाहते। तुम आवेश में मत आओ। सभा में मतभेद हो सकता है। तर्क का उत्तर तर्क से दिया जाता है, मुष्टिका से नहीं।"

भीम की समझ में नहीं आया कि पितामह क्या चाहते हैं... उसे तो कभी यही समझ नहीं आया कि वे लोग इतना सोचते क्यों हैं। इसमें सोचने को है ही क्या। शिशुपाल का व्यवहार अभद्र है, उसे रोका जाना चाहिए। न माने तो बलात् उसे शांत कर दिया जाना चाहिए...

"अनर्गल प्रलाप मत करो शिशुपाल।" युधिष्ठिर का स्वर कुछ कठोर हो गया, "वासुदेव कृष्ण की अग्रपूजा के विरुद्ध तर्क-संगत आपत्ति बताओ।"

"एक आपत्ति हो तो कहूँ।" शिशुपाल का स्वर पूर्ण चीत्कार में परिणत हो गया था, "मुझे तो आपत्तियाँ ही आपत्तियाँ हैं। श्रेष्ठतर पुरुषों का तिरस्कार कर इस निकृष्टतम व्यक्ति को सबसे पहले अर्घ्य दिया गया।" क्रोध के मारे उसके मुख में झाग आ गया, "जहाँ इतने किरीटधारी राजा हों, जहाँ हस्तिनापुर के महाराज दुर्योधन वर्तमान हों, वहाँ उस व्यक्ति को अर्घ्य दिया गया, जो एक अधीनस्थ मांडलिक राजा भी नहीं है। जिसके पास किरीट, दंड, छत्र, सिंहासन तक नहीं है।"

"तो मूल आपत्ति पद की है।" भीष्म शांत किंतु उच्च स्वर में बोले, "यहाँ उपस्थित अनेक व्यक्तियों के पास राजा का पद है, वासुदेव के पास नहीं है। वैसे शिशुपाल ने जिस दुर्योधन की संस्तुति की है, राजा का पद उसके पास भी नहीं है। अभी हस्तिनापुर के राजा महाराज धृतराष्ट्र ही हैं।" वे रुके, "पर चेदिराज ! यदि तुम्हें मेरे प्रश्न का उत्तर देने में आपत्ति न हो, तो मैं पूछना चाहता हूँ कि व्यक्ति अपने पद से महान् होता है अथवा प्रतिभा से ?··· और समाज में सबसे महत्त्वपूर्ण, सबसे पूज्य क्या राजा ही होता है ? क्या राजनीतिक सत्ता हमारे जीवन में इतनी महत्त्वपूर्ण हो गई है ? क्या राजसत्ता मनुष्य की सारी दुर्बलताओं को धो कर, उसे महान् बना देती है ? क्या राजाओं का चरित्र पूजनीय है ?"

"क्यों नहीं पूछोगे ऐसे प्रश्न। अंगूर खट्टे जो हैं।" शिशुपाल का उद्दंड स्वर गूँजा, "तुम्हें राजसत्ता ने त्याग दिया, तो राजसत्ता का महत्त्व कैसे रह जाएगा ?"

"भीष्म का प्रश्न सर्वथा उचित और धर्म-संगत है।" देवर्षि नारद ने पहली बार विवाद में भाग लिया, "जीव राजसत्ता या धन पाकर महान् नहीं हो जाता। हमने एक से एक नीच राजा और धनाढ्य देखे हैं।"

"तो क्या ज्ञान पाकर जीव महान् हो जाता है ?" शिशुपाल की सहायता के लिए सुनीथ आगे बढ़ा। स्पष्टतः वह न केवल देवर्षि नारद की मर्यादा का उल्लंघन कर रहा था, वरन् वह उन पर कटाक्ष भी कर रहा था।

किंतु नारद पूर्णतः शांत रहे, "नहीं, व्यक्ति ज्ञान से भी महान् नहीं होता।"

"तो किससे महान् होता है व्यक्ति ?" दुर्योधन ने पूछा, "वीण बजाने से ?"

"व्यक्ति महान् होता है, अपने आचरण से, अपने सदाचार से।" नारद गंभीर स्वर में बोले, "जिसका तुममें नितांत अभाव है शिशुपाल।"

देवर्षि की उक्ति ने शिशुपाल को क्रोध से जैसे विक्षिप्त कर दिया, "तो उस बूढ़े भीष्म में है वह सदाचार ?··· अन्य पुरुष में अनुरक्त स्त्री का हरण कर लाया। वह तो विचित्रवीर्य ही धर्मपरायण था, जिसने अंबा से विवाह नहीं किया, नहीं तो यह अधर्मी तो शाल्व की अनुरागिनी का विवाह विचित्रवीर्य से कर ही देता··· " और फिर जैसे शिशुपाल के भीतर कोई भयंकर विस्फोट हो गया, "इस कापुरुष के होते हुए, इसके वंश में नियोग के लिए व्यास को आना पड़ा। यह निर्वीर्य क्या समझेगा हमारा महत्त्व। पूछता है कि क्या पद से व्यक्ति बड़ा हो जाता है···। नपुंसक कहीं का।"

"शिशुपाल। शांत हो जाओ।" युधिष्ठिर बोले, "तुमने कहा था कि सभा में वाद-विवाद होना चाहिए, किंतु तुम वितंडावाद कर रहे हो, अपशब्द कह रहे हो। पितामह ने एक प्रश्न हमारे सामने रखा है··पद बड़ा है या प्रतिभा ? उत्तर दो।"

"बहुत प्रतिभा है कृष्ण में ? किसी घोड़े, बैल या स्त्री को मार लेने में प्रतिभा होती है ? अपने अन्नदाता, अपने मामा, अपने स्वामी को धोखे से मार देने में प्रतिभा होती है ? जरासंध जैसे वृद्ध सम्राट को धोखे से अकेले में घेर कर मार देने में प्रतिभा होती है।…सब से अधिक प्रतिभा पशुपालकों में ही रह गई है।" शिशुपाल आपे से बाहर हो रहा था, "पांडवों ने इसे सबसे पहले अर्घ्य देकर हमारा अपमान किया है, और इसने उस अर्घ्य को ग्रहण कर ! इन पापियों को इस पृथ्वी पर रहने का कोई अधिकार नहीं है…" शिशुपाल खड्ग लेकर आगे बढ़ा।

सहसा सहदेव कूद कर उसके सामने आ गया। सामान्यतः सदा ही शांत रहने वाला मधुरभाषी सहदेव इस समय क्रोध से थर-थर काँप रहा था। उसे इतने क्रोध में पहले शायद ही किसी ने देखा हो। उसने शिशुपाल को अपनी जलती हुई आँखों से देखा, "हमें खड्ग मत दिखाओ। इन खिलौनों से हम भी बहुत खेले हैं।…अनन्त पराक्रमी वासुदेव कृष्ण की हमने जो पूजा की है, उसे जो सहन न कर सके, उन सब बलवानों के मस्तक पर मैंने यह पैर रख दिया।" सहदेव ने अपना पैर दिखाया, "यह मत समझना कि यह सब मैं मात्र आवेश में कह रहा हूँ। मेरा यह सुविचारित मत है। जिसे विवाद करना हो, विवाद करे, जिसे युद्ध करना हो, वह युद्ध करे और देखे कि पांडव भी वध कर सकते हैं।"

"तुम्हें तो मैं देखूँगा ही।" शिशुपाल बोला, "इस बूढ़े भीष्म ने जिस कृष्ण की वीरता का बड़ा बखान किया है, मैं आज उसका भी निर्णय किए देता हूँ।"

शिशुपाल खड्ग लेकर आगे बढ़ा। उसने अपना खड्ग वाला हाथ लहरा कर शेष राजाओं से कहा, "मैं तुम्हारा सेनापति बन कर, इन मूर्खों के विरुद्ध युद्ध के लिए तुम्हारा आह्वान करता हूँ। आओ, आज इन अत्याचारियों से आज तक के सारे प्रतिशोध एक साथ ले लिए जाएँ।"

सभा में कोलाहल बहुत बढ़ गया। अनेक राजा अपने शस्त्र हाथों में लिए शिशुपाल के आह्वान को कर्म में परिणत करने के लिए प्रयत्नशील दिख रहे थे।… अब रक्तपात को रोकना कठिन था।

भीष्म के चेहरे पर चिंता की रेखाएँ उभरीं और युधिष्ठिर की आँखें भय से पूरी खुल गई…

कृष्ण ने दृष्टि उठा कर पहली बार शिशुपाल की ओर देखा, किंतु उनके चेहरे पर न भय था, न आक्रोश, न उत्तेजना। वहाँ ऐसा कोई भाव ही नहीं था, जिससे लगता कि शिशुपाल नग्न खड्ग लेकर, उनकी ओर बढ़ रहा था।

कृष्ण सहज भाव से उठ कर खड़े हो गए।

शिशुपाल के पग थम गए। उसके साथ के राजा भी रुक गए।

"शिशुपाल सिद्धांत की बात नहीं कह रहा," कृष्ण ने गंभीर और शांत स्वर में कहा, "यह केवल अपनी शत्रुता का निर्वाह कर रहा है। हम प्रागज्योतिषपुर गए थे और इस पापी ने द्वारका में आग लगा दी। रैवतक पर्वत पर क्रीड़ा करते हुए भोजराज को यह बाँध कर ले गया। तपस्वी बभ्रु की पत्नी का अपहरण कर, इसने उसका शील भंग किया। भद्रारक के साथ इसने छल किया।" कृष्ण ने सभा पर दृष्टि डाली, "इसकी माता… मेरी बूआ ने मुझसे कहा था कि यह उच्छृंखल और उद्दंड है मैं इसके प्रति बड़े

भाई की-सी क्षमा-दृष्टि रखूँ। मैंने आजतक उनके आदेश का पालन किया है, किंतु इस पापी ने मुझे अपना बड़ा भाई कभी नहीं समझा। इसने रुक्मिणी जैसे नारी-रत्न की आकांक्षा की। इसकी कामना पूरी नहीं हुई, तो यह मुझसे शत्रुता पालता रहा··· और अब सभा में भद्र लोगों के समान तर्क करने के स्थान पर खड्ग निकाल कर खड़ा है।"

"जैसे इस ग्वाले ने तब रुक्मिणी का अपहरण किया था, वैसे ही यहाँ इसने अग्रपूजा का अपहरण किया।" शिशुपाल ने अभद्र अट्टहास किया, "रुक्मिणी ने इसका वरण नहीं किया था। इसे तो स्वयंवर में निमंत्रित भी नहीं किया गया था।" वह पुनः जैसे कृष्ण का अपमान करने के लिए हँसा, "और अब इस भरी सभा में इसने रुक्मिणी से मेरा संबंध स्वीकार किया है। रुक्मिणी मेरी वाग्दत्ता थी। वह मेरी मनोनीत पत्नी थी··· ।"

कृष्ण की आँखों में पहली बार क्रोध झलका, "अपना अपमान मैं सहन कर सकता हूँ, किंतु इस प्रकार भरी सभा में मैं किसी नारी का अपमान नहीं होने दूँगा।"

"तो क्या करेगा तू ?" शिशुपाल ने दंभपूर्ण दृष्टि से कृष्ण की ओर देखा। उसका खड्ग वाला हाथ निःशस्त्र कृष्ण की ओर उठ गया, "सभा से पलायन करेगा ?"

सभा स्तब्ध थी। भीष्म और युधिष्ठिर चिंतित थे। पांडव निःशस्त्र कृष्ण की रक्षा के लिए दौड़ पड़े थे, किंतु कृष्ण शांत खड़े थे। उन्होंने न एक शब्द कहा, न अपना स्थान त्यागा। शांत भाव से केवल अपना दाहिना हाथ ऊपर उठाया···

सारी सभा देख रही थी···कोई कृष्ण के निकट नहीं आया था, कृष्ण अपने स्थान से हिले भी नहीं थे, तो उन्होंने अपना सुदर्शन चक्र कहाँ से प्रकट कर लिया ? सभा में उपस्थित लोगों ने तो देखा था कि उनकी तर्जनी पर सुदर्शन चक्र चमक रहा था।

शिशुपाल के पग थम गए। उसकी आँखों में भय झलका, और उसने जैसे घबरा कर कृष्ण पर प्रहार किया···

किंतु सुदर्शन चक्र उससे भी पहले चल चुका था··· शिशुपाल का मस्तक कट कर भूमि पर जा गिरा। उसके रुंड से रक्त फूटा और फर्श पर फैल गया···

निमिष मात्र में सर्वथा अनपेक्षित घट गया था। सभा पर ऐसी जड़ता छाई, जैसे किसी ने मंत्र-बल से सब कुछ पाषाण का बना दिया था···

"सब लोग शांत हों।" कृष्ण ने गंभीर किंतु उच्च स्वर में कहा, "धर्म-स्थापना का प्रथम चरण है दुष्ट-दलन। पापी को दंडित करना। मैंने पापी को दंडित किया है।··· धर्मराज ने सबसे पहले मुझे अर्घ्य समर्पित किया है। इस यज्ञ का रक्षक मैं हूँ। जो कोई उत्पात् करेगा, वह शिशुपाल के मार्ग पर ही जाएगा। यह युद्ध-क्षेत्र नहीं है, पांडव युद्ध-भूमि से होकर, इस यज्ञ-भूमि तक आए हैं। जिसे उनसे युद्ध करने की इच्छा थी, उसे पहले ही सैनिक-समाधान कर लेना चाहिए था। सभा में केवल विचार होना चाहिए। वही हो। हमारी ओर से केवल तर्कों का आदान-प्रदान होगा, किंतु यदि कोई युद्ध की कामना करेगा, तो हम युद्ध-दान से पीछे नहीं हटेंगे।"

कितना मधुर स्वर था कृष्ण का, किंतु कितना दृढ़··· भीष्म ने सभा पर दृष्टि डाली···राजाओं की वक्र भौहें सीधी हो गई थीं, और उठी हुई भुजाएँ झुक गई थीं। कृष्ण की आकृति पर उद्विग्नता का जैसे कोई चिह्न ही नहीं था, किंतु स्फूर्ति अपना प्रमाण दे रही थी। पांडवों के साथ-साथ यादव महारथी चारों ओर सन्नद्ध खड़े थे। क्षण भर

में ही यह सभा रणभूमि में परिणत हो सकती थी"'

दुर्योधन की दृष्टि सारी सभा में भटकती फिर रही थी"' कहीं शिशुपाल का कोई मित्र अथवा सहयोगी, पांडवों की चुनौती का सामना करने के लिए खड़ा दिखाई नहीं पड़ रहा था। यहाँ तक कि शिशुपाल का पुत्र धृष्टकेतु भी एक ओर सिर झुकाए शांत बैठा हुआ था, जैसे शिशुपाल का कुछ क्षण पहले वध हुआ था, उससे उसका कोई संबंध ही न हो"' दुर्योधन की दृष्टि जाकर दु:शासन के चेहरे पर टिक गई।"' क्या हो गया था इसको ? इसकी आँखें इस प्रकार फटी-फटी क्यों हैं ? वह कृष्ण की ओर इस प्रकार क्यों देख रहा है। लगता है, यह तो अचेत होकर गिर पड़ेगा"'

"भीम !" सभा में युधिष्ठिर का स्वर गूँजा, "शिशुपाल की अन्त्येष्टि तथा धृष्टकेतु के चेदि नरेश के रूप में अभिषेक का प्रबन्ध करो। हम पिता के स्थान पर उसके पुत्र को राजा स्वीकार करते हैं।"

35

राजसूय यज्ञ कई दिन चला। एक ओर मंत्रोच्चार के साथ अग्नि में आहुतियाँ दी जा रही थीं, दूसरी ओर विद्वानों के सत्कार और दान-दक्षिणा का उपक्रम चलता रहा। श्रोत्रियों ने श्रुति संबंधी विचार-विमर्श किया और ज्ञान का परस्पर आदान-प्रदान हुआ। कलाविदों ने अपनी कलाओं का प्रदर्शन किया और कथावाचकों ने कथाओं का आख्यान। अंततः यज्ञ में पूर्णाहुति समर्पित की गई। युधिष्ठिर ने व्यास, धौम्य, नारद, समंतु, जैमिनी, पैल, वैशम्पायन, याज्ञवल्क्य, कठ तथा कलाप का पूर्ण मनोयोग से पूजन किया, और यज्ञ-समाप्ति की घोषणा करते हुए वासुदेव कृष्ण, बलराम तथा भीष्म की विधिवत् पूजा की। द्रौपदी और युधिष्ठिर ने अवभृथ स्नान किया।

बाह्लीक नरेश सुवर्ण सज्जित रथ ले आए और सुदक्षिण ने उस रथ में कांबोज देश के श्वेत अश्व जोत दिए। सुनीथ ने उल्लासपूर्वक उसके नीचे अनुकर्ष लगा दिया। चेदिराज धृष्टकेतु ने रथ में ध्वजा फहराई। दक्षिण देश के राजा ने कवच दिया। मगध नरेश सहदेव ने माला और उष्णीश प्रस्तुत की। वसुदान ने साठ वर्ष की अवस्था का गजराज प्रस्तुत किया। मत्स्य नरेश ने सुवर्ण जटित धुरी लाकर दी। एकलव्य ने अपने हाथों से उठाकर जूते युधिष्ठिर के चरणों के निकट रख दिए। अवंती नरेश ने विभिन्न नदियों और सागरों से लाए गए जल को मिला कर, अभिषेक-जल तैयार किया। चेकितान ने तूणीर और काशिराज ने धनुष अर्पित किया। शल्य ने सुंदर तथा कठोर मूंठ वाली खड्ग तथा सुवर्ण-भूषित कलश प्रस्तुत किया।

महर्षि वेदव्यास के नेतृत्व में देवर्षि नारद, देवल, असित तथा धौम्य मुनि ने युधिष्ठिर का अभिषेक किया। सात्यकि ने छत्र धारण किया और अर्जुन तथा भीम व्यजन लेकर

डुलाने लगे। नकुल और सहदेव के हाथों में चंवर थे। सुवर्ण भूषित शैक्यपात्र में से महासागरों के जल को शंख में लेकर, श्रीकृष्ण ने सम्राट् युधिष्ठिर का अभिषेक किया। सैकड़ों शंखों की मंगल-ध्वनि हुई और पांडवों ने ओजपूर्वक सम्राट् युधिष्ठिर का जयघोष किया।

जिस समारोह से अतिथियों का स्वागत हुआ था, उसी समारोह से उन्हें विदा भी किया गया। महत्वपूर्ण राजाओं को विदा करने के लिए पांडवों में से कोई-न-कोई भाई दूर तक उनके साथ गया।

भीष्म ने विदा होने की इच्छा प्रकट की तो युधिष्ठिर ने सहज रूप से उसे स्वीकार नहीं किया, "नहीं पितामह ! आप पहली बार हमारे पास इंद्रप्रस्थ में आए हैं। आपको जाने में इतनी शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। यदि आप सदा के लिए हमारे पास नहीं रह सकते, तो आपको एक-एक वर्ष बाँट कर हस्तिनापुर और इंद्रप्रस्थ में रहना चाहिए। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, कि आपको किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा।"

"मैं जानता हूँ युधिष्ठिर।" पितामह ने युधिष्ठिर की भुजा पकड़ कर उसे अपने पास बैठा लिया। वे कुछ विह्वल कंठ से बोले, "अब क्या, मैं तुम्हारे साथ तव भी आया होता, जब खांडवप्रस्थ एक वन था, तो भी तुम ने मुझे कोई कष्ट नहीं होने दिया होता...किंतु पुत्र ! कुलवृद्ध के रूप में मैं जितना स्वतंत्र दीखता हूँ, उतना स्वतंत्र हूँ नहीं। उस स्थिति में हूँ, जहाँ प्रत्येक आँख मेरे छोटे-से-छोटे कृत्य को आलोचक की दृष्टि से देखती है और उसका मनमाना अभिप्राय खोजती है। मुझे सावधान रहना पड़ता है कि मैं कुछ ऐसा न कर बैठूँ, जिससे मेरे परिवार में वैमनस्य बढ़े और अथवा मेरे परिवार के किसी सदस्य को कष्ट हो।" भीष्म ने युधिष्ठिर की आँखों में देखा, "समझ रहे हो न पुत्र मेरी स्थिति कितनी कठिन है ?"

युधिष्ठिर चुपचाप उनकी ओर देखते रहे। क्या कहते। पितामह ने जाने अपने में क्या-क्या छिपा रखा है।...

"कभी तुम से मन खोल कर बात करने का अवसर ही नहीं आया, युधिष्ठिर।" पितामह ने स्नेहपूर्वक उनके मस्तक पर हाथ फेरा, जैसे वे कोई छोटे-से बालक हों, "और तुम लोग हस्तिनापुर में मेरे पास आए थे, तो इतने छोटे बालक थे कि कोई वृद्ध मन खोल कर तुम्हें अपनी पीड़ा समझाने का प्रयत्न करता, तो तुम्हारे साथ अत्याचार होता।...और मैं तो ऐसा कर ही नहीं सकता था। मुझे तो उस समय तुम्हारी पीड़ा और कठिनाइयों को समझना था...अपना व्यथा-वैभव नहीं दिखलाना था। ...जब कुछ समझने योग्य हुए तो धृतराष्ट्र ने तुम्हें वारणावत भेज दिया। मेरी सहमति नहीं थी, किंतु मैं मौन रहा। सोचता था राजाज्ञा में हस्तक्षेप न करूँ, धृतराष्ट्र को आहत न करूँ, दुर्योधन को उत्तेजित न करूँ। यह क्या जानता था कि वह तुम्हें अग्नि-दहन के लिए भेज रहा है। जब तुम लौटे तो कुरुकुल में विभाजन हो गया। मेरा तर्क तुम्हारी सुरक्षा के लिए इस विभाजन को स्वीकार कर भी लेता, किंतु मेरा मन न कुरु-राज्य का विभाजन देख सकता था, न कौरव-परिवार का। मैं तटस्थ रहा, ताकि यह न माना जाए कि मैं विभाजन के पक्ष में हूँ।...जब तुम लोग हस्तिनापुर छोड़ कर जा रहे थे, तो मैं ही जानता हूँ कि मेरा मन कितना रोया था। एक बार तो मन में आया कि तुम्हारे कंधे पर हाथ रखकर,

मैं भी खांडवप्रस्थ चला जाऊँ, किंतु मेरे तर्क ने मुझे रोक दिया। यदि मैं तुम्हारे साथ चला आता तो कौरवों का अंतिम तथा दृढ़ विभाजन हो जाता।...मैं स्पष्ट रूप से जानता हूँ पुत्र ! कि हस्तिनापुर में रहकर भी मैं तुम्हारा पितामह हूँ और तुम मेरे पौत्र हो। हम विभाजित नहीं हुए हैं। भौतिक दूरी हो तो हो, किंतु भावात्मक और मानसिक दूरी नहीं है, किंतु यह तुम भी भली प्रकार समझते होगे पुत्र ! कि इन्द्रप्रस्थ में रहकर, मैं दुर्योधन का पितामह नहीं रह सकता।" पितामह कुछ रुके और डवडवाई आँखों से युधिष्ठिर की ओर देखते हुए वोले, "मेरी व्यथा समझते हो न पुत्र ! मैं अपने किसी पौत्र को त्यागना नहीं चाहता, चाहे वह सहस्र दुर्गुणोंयुक्त दुर्योधन ही क्यों न हो। मैं कौरव वंश को विखरने देना नहीं चाहता। कुरुवंशियों को एक-दूसरे का विरोध करते अथवा एक-दूसरे के विरुद्ध रण-सज्जित होते नहीं देखना चाहता। मैं उसे एक अविभाजित, सम्मिलित परिवार ही देखना चाहता हूँ। इसे मेरा अहंकार समझो, मूर्खता समझो, अव्यावहारिकता समझो— जो चाहे समझो, किंतु मेरी भावना को उसके वास्तविक रूप में देखो।"

"मैं समझता हूँ पितामह।" युधिष्ठिर ने अपनी ओर से उन्हें आश्वस्त करने का प्रयत्न किया।

भीष्म ने अपने अश्रु पोंछ लिए। वे मुस्कराए, "तुम केवल समझते ही नहीं हो युधिष्ठिर ! तुम मेरी भावना को स्वयं भी धारण करते हो। तुम उसके उन्नायक हो।" वे रुके, "तुम चाहते तो हस्तिनापुर से युद्ध करके भी राजसूय कर सकते थे। अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव, द्रुपद, धृष्टद्युम्न, कृष्ण, वलराम, कृतवर्मा, सात्यकि... कैसे-कैसे वीर हैं तुम्हारे पास। ये सव सैनिक अभियान करते, तो कौन रोक लेता उन्हें हस्तिनापुर में। युद्ध न भी करते, तो तुम हस्तिनापुर की उपेक्षा कर सकते थे, और मेरा विश्वास करो पुत्र ! कि यदि तुम ऐसा कुछ करते, तो मैं तुम्हें तनिक भी दोष नहीं देता।...किंतु तुम ने कौरवों को विभाजित नहीं किया। तुमने पांचालों की उपेक्षा कर दी, किंतु तुम ने कौरवों को विभाजित नहीं होने दिया। तुम ने वासुदेव की अग्रपूजा तो की, वह भी मेरी इच्छा से, किंतु यादवों को इस यज्ञ में कहीं भी कौरवों के समान महत्व नहीं दिया। प्रत्येक कौरव ने अनुभव किया कि यह यज्ञ उसके अपने परिवार का है, उसका अपना है। मैं तुम से किन शब्दों में कहूँ युधिष्ठिर ! कि मैं तुम्हारा कितना ऋणी हूँ।"

"पितामह !"

"हाँ पुत्र ! तुम्हारे साथ धृतराष्ट्र और दुर्योधन ने जो व्यवहार किया उसे केवल तुम ही क्षमा कर सकते हो, या शायद वासुदेव कृष्ण कर सकें। मैं स्वयं भी शायद यह न कर पाऊँ।" पितामह वोले, "तुमने न केवल उन्हें क्षमा किया, उन्हें सव से अधिक महत्व भी दिया। उस लोभी दुर्योधन को, जिसने तुम्हारी एक-एक कौड़ी छीन लेने का प्रयत्न किया, तुमने अपने वहुमूल्य उपहारों को प्राप्त करने और उन्हें संभालने का दायित्व दिया। और किसके पास इतना वड़ा हृदय है। अपने परिवार को विभाजन से वचाने का इससे महान प्रयत्न नहीं हो सकता पुत्र ! मुझे विश्वास है कि इससे कुरु वंश में आई सारी दरारें मिट जाएँगी और वह वंश सदा के लिए अविभाज्य हो जाएगा।"

"आपकी कामना पूर्ण हो पितामह।" युधिष्ठिर ने हाथ जोड़कर आकाश की ओर देखा, "आप मेरा विश्वास करें, मुझे कभी कोई विभाजन प्रिय नहीं रहा। विभाजन से

अहंकारी जीव का जन्म होता है और समग्रता में ब्रह्म के दर्शन होते हैं।"

"ऐसी बात तुम ही कह सकते हो धर्मराज।" भीष्म ने रुककर द्रौपदी की ओर देखा, "और पुत्री पांचाली। मैं तुम्हारी प्रशंसा किए बिना भी नहीं जा सकता।…"

"क्यों पितामह। मैंने क्या किया ?" द्रौपदी मुस्करा रही थी।

"तुमने अपने पितृकुल और श्वसुर कुल में संतुलन रखा।" भीष्म बोले, "तुमने अपने पितृकुल की ऐसी उपेक्षा सहन न की होती…।"

"इसमें मेरे पितृकुल की कोई उपेक्षा नहीं है पितामह।" द्रौपदी का स्वर शांत और गंभीर था, "मेरे पिता और भाई हमारे सहायक हैं। कभी यह सहायता उनकी उपस्थिति से होती है, कभी अनुपस्थिति से। यदि उनकी उपस्थिति से धर्मराज की कठिनाइयाँ बढ़तीं, तो वे ऐसी कामना ही क्यों करते।" द्रौपदी रुकी, किंतु पितामह के कुछ कहने से पूर्व ही पुनः बोली, "मैं तो करेणुमती के विषय में सोचती हूँ, जिसके पिता का वध हुआ, किंतु फिर भी उसने अपने श्वसुर कुल की जय मनाई।"

"तुम धन्य हो पुत्री।" पितामह ने सस्नेह द्रौपदी की ओर देखा और उठ खड़े हुए, "अब मुझे जाने की अनुमति दो।"

"पितामह ! हमें किस के सहारे छोड़ कर जा रहे हैं ?" अर्जुन ने पूछा।

"तुम समर्थ हो पुत्र।" पितामह बोले, "तुम्हारे लिए युधिष्ठिर का सहारा ही पर्याप्त है, और फिर तुम्हारे साथ वासुदेव कृष्ण हैं। जिन के साथ कृष्ण हैं, उन्हें किसी भीष्म अथवा द्रोण की क्या आवश्यकता है।" वे रुके और पुनः बोले, "तुम्हारे सहायक, चाहे वे पांचाल हों अथवा यादव—दोनों ही अद्‌भुत हैं। उन्हें अपनी सहायता का कोई प्रतिदान नहीं चाहिए—न कृतज्ञता, न महत्व और न यश।…" वे मुस्कराए, "तुम्हें पता है कि दुर्योधन ने इस बार बलराम को हस्तिनापुर आने के लिए आमंत्रित किया है ?"

"अरे, हमें तो ज्ञात ही नहीं है।" भीम ने कहा, "यह कब हुआ ?"

"यज्ञ जैसे समारोहों में ऐसा भी बहुत कुछ होता है।" भीष्म बोले, "बलराम अपने भतीजों के साथ हस्तिनापुर होते हुए जाएँगे।"

"अच्छा । तो दुर्योधन कृष्ण के प्रभाव की काट तैयार कर रहा है।" भीम बोला।

"अच्छा है।" भीष्म बोले, "बहुत संभव है, इस बहाने दुर्योधन कृष्ण का कुछ प्रभाव ग्रहण करे।"

"मेरी चिंता तो यह है कि कहीं कृष्ण, दुर्योधन का प्रभाव ग्रहण न करे।" भीम गंभीर था।

"नहीं । वह असंभव है।" अर्जुन ने पूर्णतः आश्वस्त स्वर में उत्तर दिया।

चारों ओर यात्रा की तैयारियाँ हो रही थीं। कौरवों के सेवक, अपना और अपने स्वामियों का सामान बाँध रहे थे। मार्ग में आवश्यक वस्तुओं का पर्याप्त संग्रह कर रहे थे। पितामह, धृतराष्ट्र, बाह्लीक, सोमदत्त, द्रोण इत्यादि विदा होने से पहले सब लोगों से भेंट कर रहे थे।…

दुर्योधन को यह अवसर उपयुक्त जाँचा। इस समय किसी को किसी का कोई

अता-पता नहीं था। यदि इस समय वह पांडवों का यह मय-निर्मित सभा-भवन देखने निकल जाए, तो किसी को भनक भी नहीं लगेगी। यज्ञ के इन सारे दिनों में युधिष्ठिर ने उसे कुछ ऐसा बाँध दिया था कि वह न अपने स्थान से हिल सका, न मन-माना सैर-सपाटा कर सका। जब उसे युधिष्ठिर ने यह दायित्व देना चाहा था, तो उसने बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार कर लिया था। इन पांडवों के लिए कोई भारी काम करने से यह बहुत अच्छा था। उपहार देने वाले लोग ही कितने होंगे। उपहार लिया, समेटा और आप मुक्त। तब वह क्या जानता कि जंबूद्वीप के वीर क्षत्रिय राजा लोग अपने मुकुट का तनिक भी ध्यान न करते हुए साधारण वैश्यों के समान स्वर्णमुद्राओं के ढेर लिए, उसके द्वारों पर पंक्तिबद्ध खड़े रहेंगे। और जो भी आएगा, वह सहस्र स्वर्ण मुद्राओं से कम नहीं लाएगा, तथा बहुमूल्य रत्नों से उन मुद्राओं को अलंकृत करना भी नहीं भूलेगा…दुर्योधन की समझ में बहुत बाद में आया कि यह उसके प्रति युधिष्ठिर का प्रेम अथवा सम्मान नहीं था, यह तो युधिष्ठिर का षड्यंत्र था। उसने एक ओर तो दुर्योधन को एक स्थान पर कीलित कर दिया था, ताकि वह देश-विदेश से आए, राजाओं-महाराजाओं से अपनी इच्छानुसार मिल न सके, और दूसरी ओर पांडवों के चरणों में बहती चली आती लक्ष्मी को देख-देख कर दिन-रात मन-ही-मन फुंकता रहे। दुर्योधन के सम्मुख अपने वैभव के प्रदर्शन का इससे श्रेष्ठतर और शालीन मार्ग और क्या हो सकता था ?…

और परिणाम यह है कि दुर्योधन इतने दिनों में पांडवों का यह मय-दानव निर्मित सभा-भवन भी नहीं देख पाया। एक बार तो उसके मन में उपेक्षा का भाव भी आया था… उसे क्या आवश्यकता है पांडवों का भवन देखने की ? उनकी संपत्ति देख-देखकर वह पहले ही अपना पर्याप्त रक्त जला नहीं चुका क्या ?…किंतु दूसरे ही क्षण उसका विचार बदल गया। शत्रुओं की संपत्ति ही सही, किंतु यदि असाधारण है, तो उसे देखना तो चाहिए। यादवों ने सुधर्मा-सभा बनवाई है, तो उसकी कैसी धूम है। यदि भविष्य में दुर्योधन भी कोई अत्यन्त असाधारण सभा बनवाना चाहे तो ? वह पांडवों की संपत्ति नहीं देखना चाहता, तो न देखे, किंतु उसे मय-दानव का कला-वैभव तो देखना चाहिए…

एक बार उसके मन में आया कि वह युधिष्ठिर से कहे कि वह सभा-भवन देखना चाहता है…किंतु अगले ही क्षण उसने यह विचार त्याग दिया।…वह क्यों यह जताए कि पांडवों ने कोई ऐसी असाधारण उपलब्धि कर ली है कि जिसे देखने के लिए दुर्योधन लालायित है।…वह उन्हें जताए बिना उनके अज्ञान में भी तो सभाभवन देख सकता है। क्या कोई उसे रोक लेगा ? युधिष्ठिर के द्वारपाल तथा सेवक उसे जानते नहीं क्या ? यदि किसी ने उसे भवन के किसी खंड में जाने से रोका तो जहाँ यह सूचना पांडवों तक पहुँच जाएगी कि अपनी व्यग्रता में दुर्योधन अकेला ही उनकी सभा देखने के लिए निकल पड़ा था, वहाँ युधिष्ठिर के प्रेम का पाखंड भी तो खुल जाएगा। यदि दुर्योधन को वह अपना वैसा ही भाई मानता है, जैसा वह भीम और अर्जुन को मानता है, तो दुर्योधन को उसके सभा-भवन अथवा प्रासाद में निर्विघ्न घूमने का अधिकार क्यों नहीं है ?…

अन्य लोगों की व्यस्तता का लाभ उठा कर वह भवन के एक नवीन और अपरिचित खंड में घुस गया। उसने देखा, स्थान-स्थान पर द्वारपाल, प्रहरी, अनुचर तथा दास-दासियां

के दल नियुक्त थे। किंतु उनमें से किसी ने दुर्योधन से यह नहीं पूछा कि वह किधर जा रहा था ? और क्यों जा रहा था ?···जहाँ-जहाँ से होकर वह आगे बढ़ता था, लोग हाथ जोड़ कर उसे प्रणाम करते थे और आदरपूर्वक उसे मार्ग दे देते थे। दुर्योधन को लगा कि उन लोगों के लिए उसका इधर आना न तो असाधारण था, न अनपेक्षित। जैसे पांडव अपने भवनों में इधर-उधर आते जाते थे, वैसे ही वह भी कहीं जा रहा था। वह पर्याप्त सावधान था कि अपनी भंगिमा और हाव-भाव से वह यह प्रकट न होने दे कि वह भवन को देखने के लिए निकला है, अथवा उस भवन में कुछ ऐसा दर्शनीय है, जिसे देखने की लालसा दुर्योधन के मन में है। वह सहज रूप से टहलता हुआ, एक-आध दृष्टि इधर-उधर डालता जा रहा था और सोचता जा रहा था, ऐसा तो कुछ विशेष है भी नहीं, जिसके लिए इतना शोर मचाया जा रहा है। कहीं-कहीं कोई स्तंभ अपने अलंकरण के कारण आकृष्ट करता है। कुछ मूर्तियाँ अत्यन्त सजीव भी लग रही हैं। कुछ चित्रों में भी मूर्तता दिखाई पड़ती है, किंतु इतना तो प्रत्येक नए भवन में होता है। प्रत्येक भवन की अपनी कुछ विशिष्टताएँ होती हैं···

"राजकुमार। आगे स्फटिक-स्थल है।"

दुर्योधन ने दृष्टि उठा कर देखा : न केवल द्वारपाल उसे चेतावनी के स्वर में यह सूचना दे रहा था, वरन् वह उसे मार्ग भी नहीं दे रहा था···और सहसा दुर्योधन का ध्यान इस ओर भी गया कि द्वारपाल न उसे महाराज कह रहा था, न युवराज। वह उसे 'राजकुमार' कह रहा था, जैसे वह भी यज्ञ में सम्मिलित होने आए राजकुमारों जैसा कोई साधारण राजकुमार हो···

"तो ?" दुर्योधन ने उसे कुछ कठोर दृष्टि से देखा।

"किसी को साथ ले लेते।" इस बार द्वारपाल कुछ सहमे हुए, मंद स्वर में प्रयत्नपूर्वक बोला।

दुर्योधन का रोष जागा। इच्छा हुई कि कहे आगे स्फटिक-स्थल है, तो क्या वह स्फटिक चोरी कर लेगा, कि वह अकेला नहीं जा सकता···या उसे मार्ग दिखाई नहीं देगा···

"क्यों ?" उसने अपने क्रोध को प्रकट नहीं होने दिया, किंतु उसकी कठोरता पहले से कुछ बढ़ ही गई, "क्या मुझे अकेले जाने की अनुमति नहीं है ?"

द्वारपाल कुछ क्षणों के लिए हतप्रभ रह गया। फिर कुछ सँभला। उसने दुर्योधन के प्रश्नों का सीधा उत्तर न देकर, सभीत वाणी में कहा, "राजकुमार को आपत्ति न हो, तो मैं साथ चलूँ ?"

दुर्योधन को प्रयत्नपूर्वक अपने हाथ को उस पर प्रहार करने से रोकना पड़ा। क्षुब्ध वाणी में बोला, "तुम द्वारपाल हो ?"

"जी।"

"तो द्वार पर ही खड़े रहो। मार्गदर्शक बनने का प्रयत्न मत करो।"

दुर्योधन क्षुब्ध मन से आगे बढ़ गया···पता नहीं इन पांडवों ने कैसे-कैसे लोगों को राजप्रासाद में नियुक्त कर रखा है। लगता है कि खांडव-वन के सारे दस्यु, अब पांडवों की चाकरी कर रहे हैं। राजन्य-संस्कारों का तनिक भी स्पर्श नहीं। इतनी भी समझ नहीं कि किस से क्या कहना है। जिस दुर्योधन ने पांडवों को उपहार में मिले रत्न और

मणि-माणिक्य नहीं चुराए, वह इस भवन के गलियारों और कक्षों में सुसज्जित शुभंकर चुरा लेगा या शोभाकर। मूर्ख कहीं का"'

दुर्योधन को लग रहा था कि वह द्वारपाल अब भी अपने स्थान पर खड़ा उसे घूर रहा होगा।"इस भाव से छुटकारा पाने के लिए उसे जो पहला द्वार दिखाई दिया, वह वेगपूर्वक उसी में मुड़ गया"'

उसे समझ ही नहीं आया, कि खुले द्वार में प्रविष्ट होते हुए, उसके माथे ही नहीं नाक और वक्ष पर भी ऐसा क्या टकराया कि उसका मस्तक भन्ना गया और चकरा कर वह भूमि पर गिर पड़ा। शरीर की चोट को झाड़ कर वह उठ खड़ा हुआ"किंतु अपमान की चोट कुछ अधिक ही गंभीर थी"आस-पास कोई नहीं था, नहीं तो वह मान लेता कि किसी ने उस पर प्रहार किया है। उसने क्षण भर सोचा, इधर-उधर देखा और उस द्वार के निकट जाकर खड़ा हो गया, किंतु उसने भीतर प्रवेश करने का प्रयत्न नहीं किया। धीरे से हाथ बढ़ा कर टटोला"उसका हाथ द्वार के पार नहीं गया, किसी अदृश्य दीवार पर जाकर टिक गया।

ओह !"' तो यहाँ द्वार था ही नहीं, दीवार थी। दीवार निर्दोष तथा निष्कलुष स्फटिक की थी, जिसके आर-पार देखा जा सकता था। भ्रम उत्पन्न करने के लिए उसके दोनों ओर कपाट लगा दिए गए थे, जो खुले हुए थे। खुले कपाटों को देखकर लगता था, वहाँ द्वार है। दीवार पारदर्शी थी, इसलिए आर-पार दिखाई देता था और खुले द्वार का बड़ा जीवन्त दृश्य बन जाता था"'

एक और द्वार सामने पड़ा। दुर्योधन के पग थम गए, किंतु मन नहीं थमा।"कहीं यह न हो कि यह भी द्वार न होकर, द्वार की माया ही हो"दुर्योधन ने स्वयं को सँभाला, एक बार यदि भ्रम हो गया, तो इसका यह अर्थ तो नहीं है कि वह प्रत्येक द्वार को देख कर भड़कता रहे।"कहीं तो द्वार होंगे ही। पांडवों को भी तो प्रवेश और निष्क्रमण के लिए द्वारों की आवश्यकता होती होगी"और फिर इस द्वार के कपाट तो बंद थे। खुले कपाट देखकर तो भ्रम हो सकता है, बंद कपाटों में क्या भ्रम। जब वह देख ही रहा है कि कपाट बंद हैं, तो क्यों वह अपना मस्तक उन पर दे मारेगा ? अपने हाथों से कपाट खोल कर ही तो प्रवेश करेगा"'

उसने अपनी भुजा बढ़ा कर उसके दबाव से कपाट खोलने चाहे।"कंधे पर एक झटका सा लगा"' उसके वेग को रोकने के लिए वहाँ कुछ नहीं था"यदि उसने बलपूर्वक कपाट खोलने का प्रयत्न किया होता, तो निश्चित रूप से वह औंधे मुँह भूमि पर जा गिरा होता"किंतु वे कपाट गए कहाँ ?

उसने देखा, कपाट अब भी वहीं दिखाई दे रहे थे। दुर्योधन ने अपनी आँखें झपकाईं"यह क्या माया थी ?"वह आगे बढ़ गया। शोध के लिए उसके पास समय नहीं था। यदि किसी ने उसे यहाँ खड़े देख लिया तो उसकी पोल खुल जाएगी"वैसे इतना तो वह समझ ही सकता था कि मयदानव ने सामने की ओर कुछ दूर लगे हुए कपाटों को स्फटिक के माध्यम से यहाँ झलकाया है और बंद कपाटों का भ्रम उत्पन्न किया है"'

दुर्योधन को लग रहा था कि उसकी घबराहट तनिक भी कम नहीं हुई है। वरन्

उस पर कुछ प्रतिकूल प्रभाव ही पड़ रहा है।"अब तक तो जो घटित हुआ था, वह उसकी घबराहट थी, किंतु अब उसका मन कुछ अधिक आशंकित हो उठा था। जाने यहाँ मयदानव ने कैसे-कैसे माया-जाल फैला रखे हैं। जाने दुर्योधन इन में कहाँ जा फँसे।"अब उसकी समझ में आ रहा था कि उस द्वारपाल ने 'स्फटिक-स्थल' की चेतावनी क्यों दी थी और उसने किसी को साथ ले लेने के लिए क्यों कहा था। यदि दुर्योधन का अहंकार उस समय किसी नाग के सामन फण फैला, न खड़ा हो जाता और द्वारपाल की चेतावनी और परामर्श को वह अपने लिए अपमानजनक न मानता, तो वह इस प्रकार प्रवंचित न होता"अब तो उत्तम यही था कि वह किसी प्रकार इस स्फटिक-स्थल से बाहर ही निकल जाए"

"राजकुमार।" एक दासी ने कुछ कहना चाहा।

दुर्योधन कुछ भी सुनने की मनःस्थिति में नहीं था। वह तत्काल यहाँ से निकल जाना चाहता था। उसने अपनी गति और भी बढ़ा दी"किंतु उसके अगले ही पग को, नीचे धरती नहीं मिली। दृष्टि ने कुछ नहीं बताया, किंतु स्पर्श ने बताया कि वह जल था, फिर ध्वनि ने बताया, और इस बार आँखों ने भी देखा कि वह जल था, जिसे उसने स्थल समझ कर उस पर अपने पग बढ़ा दिए थे।"

चारों ओर से दास-दासियाँ दौड़ पड़े। दुर्योधन स्पष्ट देख रहा था कि वे उस जल से निकलने में उसकी सहायता अवश्य कर रहे थे, किंतु उनकी आँखों में उसके प्रति करुणा अथवा सहानुभूति न होकर, उपहास का भाव ही अधिक था। उनमें से अनेक ने तो अपने अधरों को बलात् भींच रखा था, ताकि कहीं उनकी हँसी न फूट पड़े"

उन्होंने एक आसन लाकर रखा। दुर्योधन को सम्मानपूर्वक उस पर बैठाया। उसके शरीर को पोंछा और उसे पहनने के लिए सूखे वस्त्र दिए।

"युवराज को सूचना दी गई है, वे आ रहे हैं।" एक दासी ने कहा।

"कौन युवराज ?" दुर्योधन के मुख से अनायास ही निकल गया। वह तो केवल अपने लिए युवराज संबोधन सुनने का अभ्यस्त था"यह दूसरा युवराज"

"महाबली भीमसेन। मध्यम पांडव।" दासी ने बताया, "वे इन्द्रप्रस्थ के युवराज हैं।"

"वह तो ठीक है, किंतु उसे सूचना देने की क्या आवश्यकता थी ?"

"अब अतिथियों की देखभाल वे ही कर रहे हैं आर्य।" दासी बोली, "हमें आदेश है कि हम अतिथियों की कुशल-क्षेम की सूचना उन्हें देते रहें। आप बावड़ी में गिर पड़े हैं, यह सूचना उन्हें न दी गई तो वे क्रुद्ध होंगे।"

"पर बावड़ी है कहाँ ?" दुर्योधन ने भन्ना कर पूछा।

"यह बावड़ी ही है राजकुमार।" एक सेवक ने कहा, "भिन्नता केवल इतनी ही है इसमें जल-स्तर, स्थल से एकदम मिला हुआ है। जल इतना स्वच्छ और पारदर्शी है, तथा तल की स्फटिक शिला कुछ इस प्रकार से वक्र है कि जल के स्थान पर वही दिखाई देती है। जल को पूर्णतः स्थिर रखा जाता है, ताकि न उसमें हिलोर आए, न जल के होने का पता चले।"

"तो तुम लोगों ने मुझे बताया क्यों नहीं ?"

"मैं आपको यही तो बता रही थी, किंतु आप मेरी बात सुने बिना ही आगे बढ़ गए।" एक दासी ने कहा।

दुर्योधन ने उसकी ओर देखा : हाँ। यह वही दासी थी, जिसने उसे 'राजकुमार' कह कर संबोधित किया था और वह उसकी उपेक्षा करने के लिए शीघ्रता से आगे बढ़ गया था।

उसने अपना सिर झटका और उठ खड़ा हुआ। वह भीम के आने से पहले यहां से निकल जाना चाहता था। इस समय भीम से साक्षात्कार सुखद नहीं होगा।

किंतु भीम सामने से आ रहा था। उसे देख कर दासियाँ एक ओर हट गईं। प्रहरी अपने स्थानों पर चले गए।

"चोट तो नहीं आई दुर्योधन ?" भीम ने सहज भाव से कहा, "स्फटिक स्थल में नए व्यक्ति को अकेले नहीं आना चाहिए।"

"मैं तो स्फटिक-स्थल समझ कर आया था।" दुर्योधन ने कुछ सहज होने का प्रयत्न किया, "मैं क्या जानता था कि यह माया-स्थल है।"

"हाँ। मय दानव ने इसे माया-स्थल के रूप में ही बनाया है। उसने अपनी कला का सारा चमत्कार यहीं प्रकट किया है।" भीम ने कहा, "आओ।"

दुर्योधन की भीम के साथ जाने की तनिक भी इच्छा नहीं थी, किंतु उसके पास कोई विकल्प नहीं था। भीम, उसके गिरने की बात सुनकर उसकी सहायता के लिए ही आया था, और अब उसे सुरक्षित बाहर ले जाने के लिए स्वयं साथ चल रहा था।

"प्रस्थान की तैयारी हो गई ?" दुर्योधन ने स्थिति को कुछ सहज बनाने के लिए पूछा।

"मेरा विचार है कि सैनिकों का अग्रिम दल जा भी चुका है।" भीम बोला, "संभव है वे लोग तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहे हों।"

और तभी भीम ने देखा कि दुर्योधन ठिठक कर खड़ा हो गया है। उसने यह मानकर कि आगे जल है, अपनी धोती हाथों से पकड़ घुटनों तक ऊँची कर ली थी।

"घबराओ नहीं धृतराष्ट्र पुत्र।" भीम हँसा, "यहाँ जल तो है, किंतु वह इस पारदर्शी स्फटिक शिला के नीचे है। ऊपर तो स्थल ही है।" और भीम स्वयं आगे चल कर, उस जल के ऊपर से निकल गया।

भीम ने जल और स्थल के विषय में क्या कहा था, दुर्योधन ने नहीं सुना। उसने तो केवल इतना सुना कि भीम ने हँसकर उसे 'धृतराष्ट्र पुत्र' कहा था।...उसने उसे दुर्योधन न कहकर 'धृतराष्ट्र पुत्र' क्यों कहा ? इसलिए कि धृतराष्ट्र चक्षुविहीन थे और वे देख नहीं सकते। क्या भीम का अभिप्राय था कि वह चक्षुविहीन पिता का पुत्र है, इसलिए वह भी चक्षुविहीन है। भीम उसका उपहास करने का प्रयत्न कर रहा है...इन दास-दासियों के सामने ?...किन्तु वे लोग भी तो इन पाँचों भाइयों को 'पांडव' कहते हैं। क्या उसमें भी कोई उपहास होता है ?...

दुर्योधन ने अपना सिर झटक दिया...वह यह सब सोचना नहीं चाहता। यह

तर्क-वितर्क का समय नहीं था। वह तो एक ही बात जानता था कि भीम ने उसे 'अंधा' कहा था...

राजाओं के विदा हो जाने के पश्चात् महर्षि वेदव्यास अपने शिष्यों के साथ युधिष्ठिर के पास आए।

"पुत्र ! यह अत्यन्त सुख का विषय है कि तुम्हारा यज्ञ वासुदेव कृष्ण के संरक्षण में सकुशल समाप्त हो गया, अन्यथा इन शस्त्रधारी क्षत्रियों के कारण कोई शुभ आयोजन पूरा होना ही कठिन है।" उन्होंने कहा, "यह युग ही उत्पात् का है। शांति दुर्लभ होती जा रही है पुत्र। मुझे प्रसन्नता है कि तुमने चक्रवर्ती सम्राट् का दुर्लभ पद पाया और अब तुम्हारी छाया में प्रजा सुरक्षित और सम्मानित ढंग से जीवन-यापन कर सकेगी।"

"महर्षि ! इसमें मेरा कोई श्रेय नहीं है।" युधिष्ठिर ने हाथ जोड़कर विनीत भाव से कहा, "यह तो आपकी कृपा है और वासुदेव कृष्ण का स्नेह। उन्होंने ही इस यज्ञ के लिए मुझे प्रेरित किया था। उन्होंने ही इसके लिए साधन जुटाए। विघ्न-बाधाओं को हरने के लिए, उन्होंने जरासंध का वध भीम से करवाया और शिशुपाल का वध स्वयं अपने हाथों किया। यह न होता, तो कदाचित् आपकी आशंका सत्य हो जाती। जरासंध-मंडल के राजा शायद इस यज्ञ को पूर्णता तक नहीं पहुँचने देते।..."

"वासुदेव ने धर्म-राज्य की स्थापना का पूर्ण प्रयत्न किया है पुत्र।" व्यास बोले, "इस समय तुम पाँचों भाई स्वयं बहुत समर्थ हो। यादव और पांचाल तुम्हारे साथ हैं। कंस, जरासंध और शिशुपाल मारे जा चुके हैं।...संभवतः अधर्म स्वयं को दुर्बल पाकर निष्क्रिय पड़ा रहेगा।" व्यास रुके, "किंतु पुत्र। संगठन से जहाँ तुम अधर्म-दमन कर पाओगे, वहीं एक भय यह रहता है कि धर्म की प्रतिक्रिया में अधर्म भी संगठित होता है। ईर्ष्या-द्वेष भड़कते हैं और आहत अहंकार अनर्थ करने को तत्पर हो जाता है।"

"मैं समझा नहीं देव।" युधिष्ठिर ने ध्यान से उनकी ओर देखा, "आप किस बात से आशंकित हैं ?"

"मैं आशंकित नहीं हूँ पुत्र।" महर्षि बोले, "मैं तो प्रकृति की प्रक्रिया की चर्चा कर रहा हूँ—संभावनाओं की।" उन्होंने रुक कर युधिष्ठिर की ओर देखा, "तुमने देखा, जिस यज्ञ-भवन में धर्म की स्थापना हो रही थी, संकल्प हो रहे थे, वहीं भयभीत अधर्म का उत्पात् भी हुआ। शिशुपाल उसी का प्रमाण है पुत्र। शिशुपाल को तो वासुदेव ने तत्काल शांत कर दिया, किंतु उसके संगी-साथी, मित्र तथा सुहृद ही नहीं, तुम्हारे शत्रु तथा विरोधी भी उनके साथ मिलकर संगठित होंगे।..."

"हाँ महर्षि ! इसकी संभावना तो हो ही सकती है।" युधिष्ठिर बोले।

"पुत्र ! दस्यु उसी को लूटता है, जिसके पास धन हो, निर्धन को वह क्या लूटेगा।" व्यास बोले, "इसलिए राजाओं के संगठन, सम्राटों के विरुद्ध ही बनते हैं। अब यदि पुनः कोई जरासंध-मंडल बनता है, तो वह तुम्हारे विरुद्ध ही बनेगा। रक्तपात होगा, तो तुम्हें ही केन्द्र में रखकर होगा।..."

"क्या कह रहे हैं भगवन्।"

"इसलिए कह रहा हूँ कि सावधान रहो। तुम्हारा राज्य, तुम्हारा धन, तुम्हारा अधिकार, किसी को चुभे नहीं। तुम अपनी ओर से अपना व्यवहार उग्र और आक्रामक मत होने देना। अपनी ओर से शांति बनाए रखना। शेष प्रभु की इच्छा।" वेदव्यास बोले, "जरासंध-मंडल की रीढ़ टूट चुकी है। इसलिए आवश्यक नहीं कि जरासंध-मंडल ही पुनः संगठित हो। उसके बाहर भी कोई राजा उन लोगों को अपने चारों ओर एकत्रित कर सकता है।"

"यह केवल आपका अनुमान नहीं हो सकता।" युधिष्ठिर चिंतित स्वर में बोले, "आपको कहीं से कोई आभास मिला है, कोई सूचना, कोई प्रमाण ?..."

"तुम इसे मेरा आभास ही समझ लो।" महर्षि बोले, "और आभास का कोई प्रमाण नहीं होता।...किंतु इतनी सूचना तुम्हें अवश्य दे सकता हूँ कि इस यज्ञ तथा स्नेह-सौहार्द से दुर्योधन तुम से पहले की तुलना में और भी अप्रसन्न होकर गया है।"

"हमारी ओर से तो उसके सम्मान में कहीं कोई कमी नहीं की गई।"

"इसीलिए वह तुम से भयभीत नहीं है।" व्यास बोले, "दुर्योधन उन लोगों में से है, जो या तो भय के कारण प्रेम करते हैं, या लोभवश। तुमसे उसे कोई भय नहीं है, इसलिए वह तुमसे प्रेम नहीं करता। तुम कर्ण के समान उसके निष्ठावान सेवक नहीं हो सकते, इसलिए तुम को लेकर उसके मन में कोई लोभ भी नहीं है। वह कृष्ण से भयभीत है, इसलिए वह वासुदेव को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता रहेगा।..."

"वैसे तो वह भीम से भी भयभीत होगा।" युधिष्ठिर बोले।

"भीम से भयभीत नहीं है, क्योंकि वह जानता है, कि भीम स्वतंत्र नहीं है। उसके हाथ तुम ने बाँध रखे हैं।" व्यास बोले, "अच्छा पुत्र ! अब हमें अनुमति दो। भगवान तुम्हारा कल्याण करें। धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करना और शांति बनाए रखना।"

महर्षि ने आशीर्वाद की मुद्रा में अपना हाथ उठा दिया।

36

धृतराष्ट्र ने अपनी अंधी आँखें पुत्र के चेहरे पर टिकाईं, किंतु क्या लाभ ? उन आँखों से तो कुछ दिखाई ही नहीं पड़ता था। वह कितना भी प्रयत्न करता, उसे न दुर्योधन की आकृति दिखाई पड़ सकती थी, न उसकी मनोभावनाओं का कोई आभास मिल सकता था।...

धृतराष्ट्र की गर्दन झुक गई और चिबुक वक्ष से आ लगी।

दृष्टिहीन होना, उसके लिए सदा ही असुविधाजनक रहा था, किंतु जब-जब उसे अन्य लोगों से यह सूचना मिली कि युवराज दुर्योधन उद्विग्न, उदास अथवा अशांत है, धृतराष्ट्र को सचमुच वंचित होने का अनुभव हुआ। जिस पुत्र की अप्रसन्नता की सूचना

मात्र उसके वक्ष पर अग्निरेखा-सी खींच जाती है, उसका वही पुत्र उसके निकट उसकी इन अंधी आँखों के सम्मुख बैठा रहता है, और उसे आभास भी नहीं होता कि उसका युवराज किस स्थिति में है। वह क्या सोच रहा है, वह क्या सहन कर रहा है···

ऐसे में वाणी का ही सहारा था।

"पुत्र !" धृतराष्ट्र ने कहा, "मेरी इच्छा है कि तुम अपने भाइयों और मित्रों के साथ कुछ दिनों के लिए आखेट-हेतु चले जाओ। किसी भी स्थान पर—कितने ही दिनों के लिए।"

धृतराष्ट्र ने अपना चेहरा सायास उठाया।

देखना तो संभव नहीं था कि इस प्रस्ताव पर दुर्योधन की प्रतिक्रिया क्या थी, किंतु वह सुन तो सकता था। उन्मुख तो कान ही होने चाहिए थे, पर जाने क्यों ये दृष्टिहीन आँखें भी उसकी ओर उठ ही जाती थीं।···शायद देखने के लिए नहीं, दुर्योधन को यह जताने के लिए कि उसे उसके उत्तर की प्रतीक्षा है।

दुर्योधन ने कोई उत्तर नहीं दिया। कुछ आहट-सी हुई, जैसे दुर्योधन अपने स्थान से उठा हो और कुछ क्षण खड़ा रहने के पश्चात् टहलने लगा हो।

धृतराष्ट्र को अनुमान था कि ऐसा तब ही होता है, जब दुर्योधन के मन में कोई तीखा उत्तर उमड़ आता है और उसकी शालीनता उसकी उद्दंडता से लड़ने लगती है।

दुर्योधन की उद्दंडता किसी के लिए भी नई नहीं है, फिर भी अभी तक धृतराष्ट्र के सम्मुख थोड़ी देर के लिए वह स्वयं को संयत करने का प्रयत्न करता है। जाने सचमुच उसके मन में पिता का सम्मान है, या वह सम्मान का अभिनय करता है। पर धृतराष्ट्र को भली-भाँति ज्ञात है कि उसकी शालीनता, उसकी उद्दंडता के सामने सदा ही दुर्बल सिद्ध हुई है, जैसे किसी सिंह के सम्मुख मृगशावक।

"तुमने उत्तर नहीं दिया पुत्र।" एक धृष्ट संकोच के साथ धृतराष्ट्र ने कहा। यह संकोच उसके मन में तभी उभरता था, जब वह दुर्योधन से किसी बात का आग्रह करता था : कहीं ऐसा न हो कि वह बुरा मान जाए।

इस बार भी दुर्योधन ने तत्काल उत्तर नहीं दिया, पर एक क्षणिक मौन के पश्चात् उसका वाक्य कुछ इस प्रकार उच्चरित हुआ, जैसे किसी ने साधने के बाद बाण फेंका हो, "यह राजाज्ञा है क्या ?"

धृतराष्ट्र की जिह्वा स्तंभित रह गई। मन ऐसा दुःखी हो गया, जैसे किसी चिरशत्रु ने साध कर एकाघ्नी मार दी हो, यह दुर्योधन इस प्रकार की बातें क्यों करता है। पिता होकर भी धृतराष्ट्र जितना सँभल कर चलता है, कि कहीं पुत्र का मन न दुख जाए, वह उतना ही आक्रामक होकर, बार-बार पिता पर वार करता है, जैसे पिता को जितना अधिक तड़पता देखेगा, वह उतना ही सुखी होगा।···

"इस प्रकार की बातें क्यों करते हो पुत्र ?" और फिर धृतराष्ट्र ने जोड़ा, "मैं तुम्हारे मनोरंजनार्थ एक प्रस्ताव रख रहा हूँ, और तुम इस प्रकार व्यवहार कर रहे हो, जैसे मैं तुम्हें हस्तिनापुर से निर्वासित कर रहा हूँ।"

दुर्योधन कुछ नहीं बोला।

धृतराष्ट्र समझ नहीं पाया कि दुर्योधन अपनी भूल समझ कर, पश्चात्ताप में चुप

हो गया था, या अगले और अधिक आक्रामक आघात की तैयारी में था। दुर्योधन जब इस प्रकार का व्यवहार करता है, तो लगता है, जैसे वह अपने पिता को किन्हीं अज्ञात कारणों से दोषी मानता है—किंतु किस बात का दोषी ? ऐसा क्या किया है धृतराष्ट्र ने, जिससे दुर्योधन वंचित हुआ है ? धृतराष्ट्र यदि जन्मांध है, तो वह उसका अपना दोष नहीं है, उसके किसी पूर्व-जन्म का कोई अपराध हो तो हो, उसका उसे ज्ञान नहीं है।...और फिर जन्मांध होने की असुविधा धृतराष्ट्र ने आजीवन भुगती है। दुर्योधन को तो उससे कोई क्षति नहीं पहुँची। धृतराष्ट्र जन्मांध था, इसलिए बड़ा होने पर भी उसका राज्याभिषेक नहीं हो सका। राजा, पांडु ही हुआ। फिर भी यह भाग्य की विडंबना ही थी कि पांडु देख सकता था, अतः राजा बना, और राजा बनकर वह अपने जीवन का अधिकांश भाग हस्तिनापुर से बाहर बिताने को बाध्य हुआ। धृतराष्ट्र जन्मांध था, इसलिए वह राजा नहीं बना, ...किंतु अपनी इस वंचना के कारण वह हस्तिनापुर में ही रहा, और राज्य-सुख भोगता रहा...

सहसा दुर्योधन बोला, "आप मुझे मृगया के लिए क्यों भेजना चाहते हैं ?"

"मृगया के लिए नहीं जाना चाहते," धृतराष्ट्र ने अज्ञात कारणों से रुष्ट अपने पुत्र के घाव पर शांतिकारक लेप करना चाहा, "वारणावत चले जाओ। हमारे राज्य का वह मनोहरतम नगर है।"

"क्यों ? मुझे भी अग्निसात करने का विचार है क्या ?"

"दुर्योधन।" धृतराष्ट्र का कंठ रुंध गया। जाने उसके भाग्य में क्या है...अपने जिस पुत्र के सुख के लिए उसने न्यायान्याय, धर्माधर्म तक का विचार नहीं किया, वही पुत्र उससे इतना रुष्ट है, "तुम मुझ से इस प्रकार का व्यवहार क्यों करते हो दुर्योधन ?"

"आप मुझे हस्तिनापुर से दूर क्यों भेजना चाहते हैं ?"

"मुझे बताया गया है कि जब से तुम इंद्रप्रस्थ से लौटे हो, प्रसन्न नहीं हो।"

"हाँ ! प्रसन्न नहीं हूँ।" दुर्योधन का स्वर बहुत उद्धत हो उठा था, "उससे क्या। आप समझते हैं कि वन में मृगों का आखेट कर अथवा वारणावत में प्रकृति के मनोरम दृश्यों के बीच रहकर, मैं प्रसन्न हो जाऊँगा ?"

"मेरा तो उद्देश्य यही था पुत्र।"

"आपने मुझ से यह तो पूछा होता कि मैं प्रसन्न क्यों नहीं हूँ।"

"क्यों प्रसन्न नहीं हो ?"

"मैं शत्रु का वैभव देखकर आया हूँ। जिन्हें मैं कंगाल समझता था, जिन्हें भीख माँगने के लिए हस्तिनापुर से निर्वासित करके छोड़ दिया गया था—वे सम्राट् हो गए हैं। मैं ईर्ष्या से जल रहा हूँ।" दुर्योधन जैसे एक-एक शब्द को चबा रहा था, "मैं रात को सो नहीं पाता। मुझे कोई भी भोग आकृष्ट नहीं करता। मैं..."

"तुम पांडवों को अपना शत्रु बता रहे हो ?"

"हाँ पिताजी।"

"पांडुपुत्र तुम्हारी भुजाओं के समान हैं," धृतराष्ट्र ने कहा, "उन्हें काटो मत।"

"स्वार्थ-साधन के लिए आप में तनिक भी सावधानी नहीं है, अथवा आप मुझ से द्वेष रखते हैं।" दुर्योधन मरते हुए पशु के समान तड़प कर बोला, "जो जिसको संताप

देता है, वह उसका शत्रु होता है। पांडव मुझे सदा ही संताप देते आए हैं।"

धृतराष्ट्र ने कुछ इस प्रकार उत्तर दिया, जैसे दुर्योधन ने कोई कठोर बात कही ही नहीं है। अपने स्वर को कोमल बनाए रखकर कहा, "पर वे तो स्वयं को हम से पृथक् नहीं मानते। मुझे वे अपना पिता मानते हैं, तुम्हें अपना भाई। उन्होंने तो तुम्हें अपने बंधु अपने आत्मीय के रूप में उपहार स्वीकार करने का दायित्वपूर्ण कार्य सौंपा था···।"

"नहीं।" दुर्योधन ने ऐसा चीत्कार किया कि धृतराष्ट्र हतप्रभ रह गया।

"तो ?"

"उन्होंने मुझे ईर्ष्याग्नि में जलाने के लिए जान-बूझ कर वह कार्य सौंपा था, ताकि मैं देखूँ और तड़पूँ। मुझे तड़पता देखकर कैसे प्रसन्न हुए होंगे वे।"

"मान लो कि उनके मन में यही था, तो भी यदि तुम ईर्ष्या में न जलो, तो वे तुम्हें बलात् जला लेंगे क्या ?" धृतराष्ट्र ने समझाया, "वे तुम्हें अपना भाई मानते हैं, तुम भी उन्हें अपना भाई मान लो।"

दुर्योधन क्षण भर चुप रहा। धृतराष्ट्र ने अनुमान लगाया— वह अवश्य ही उसे घूर रहा होगा, और फिर उसकी अपेक्षा के अनुसार ही दुर्योधन फूट पड़ा, "जब हम मान चुके थे कि कुरुवंश का संपूर्ण साम्राज्य हमारा है, उसका समग्र धन-धान्य हमारा है, कोई हमारा भागीदार नहीं है।···तब ये पाँच भाई हिमालय से उतर कर आ गए—राज्य के स्वामी, हमारे भागीदार ही नहीं, संपूर्ण राज्य के स्वामी बनकर।···आप तो उन्हें देख नहीं पाए। मैंने देखा था उन्हें : कंगले, भिखमंगे···वन्य पशुओं के चर्म लपेटे हुए, जिन्होंने न कभी नगर देखा था न नागरिक, न प्रासाद न रथ, न सिहांसन न किरीट। कुछ नहीं जानते-पहचानते थे वे, सिवाय वृक्षों और वन्य पशुओं के। सभ्यता से दूर के तपस्वियों के आश्रमों के कुछ सूत्रों का ज्ञान था उनको। राजन्य संस्कृति तो दूर, किसी साधारण धनी-मानी व्यक्ति के जीवन को भी नहीं जाना था उन्होंने।···" दुर्योधन का स्वर आवेश से फटने-फटने को हो आया, "वे ही कंगले अब असंभव ऐश्वर्य के स्वामी हो गए हैं। जिनकी आँखें गुरुकुल के शस्त्रागार को देखकर फटने लगती थीं, वे राजसूय यज्ञ करने लगे हैं। वे चक्रवर्ती सम्राट् हो गए हैं···।"

धृतराष्ट्र को लगा, दुर्योधन कहीं रो ही न दे। पुचकारते हुए कहा, "पुत्र ! तुम हस्तिनापुर के युवराज हो। धन-धान्य, ऐश्वर्य-विलास, सत्ता-सेना किसी की भी कमी नहीं है तुम्हें। तुम उसका सुखपूर्वक भोग करो। कौन-सा भोग उपलब्ध नहीं है तुम्हें ?"

"सुख।" धृतराष्ट्र को लगा, दुर्योधन ने जैसे भयंकर आक्रोश में अपने दाँत पीसे हैं, "कल जो हमारे द्वार पर हाथ पसारे भीख माँगते आए थे, जिन्हें मैंने कभी अपने पैरों की धूल के बराबर भी नहीं समझा—वे चक्रवर्ती हो गए।" दुर्योधन ने अपना पैर पटका, "और दुर्योधन उनके परिजन के रूप में उनके लिए आए उपहारों को देख-देख कर, मन-ही-मन जलता रहा, और उन वस्तुओं को किसी और की थाती मान कर सहेज-सहेज कर रखता रहा···।"

"यदि ऐसी ही बात है, तो तुम भी राजसूय यज्ञ करो।" धृतराष्ट्र ने शांत स्वर में कहा।

"कौन करेगा, मेरे लिए सेनाओं का संचालन ?" दुर्योधन की हताशा, पीड़ा में बदल गई, "वे पाँच हैं और हम एक सौ। फिर भी युधिष्ठिर के समान मेरे पास न एक अर्जुन है, न भीम। वह सनकी, दुबला-पतला, स्वप्नों में खोया, मरियल-सा अजुआ, जिसे कल तक मुँह धोना नहीं आता था, आज संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी वीरवर अर्जुन बन गया है, जिसका नाम सुनते ही शत्रु की सेनाएँ शस्त्र-समर्पण कर देती हैं।" दुर्योधन का आवेश वढ़ता जा रहा था, "और वह बोदा मांस का लोंदा, मिट्टी का माधव, पेटू और विदूषक भीमा अब शत्रु-सेनाओं का काल, महावीर भीमसेन हो गया है। फिर कृष्ण उनका मित्र है। द्रुपद और धृष्टद्युम्न उनके संकेत पर भागे चले आते हैं।..."

"तुम्हारे भाई हैं, कर्ण है, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य और भीष्म पितामह हैं। तुम्हारे पास वीरों की क्या कमी है ?"

"जले पर नमक मत छिड़किए।" दुर्योधन का स्वर जैसे काँप रहा था, "इनमें से, सिवाय कर्ण के और कोई भी दिग्विजय के लिए नहीं जाएगा। वे सब अपनी गरिमा में इतने महान् हैं कि मुझे चक्रवर्ती बनाने के लिए किसी का भी शस्त्र नहीं उठेगा।"

"क्यों नहीं उठेगा ?" धृतराष्ट के स्वर में आदेश की दृढ़ता थी, "वे लोग राज्य के सेवक नहीं हैं क्या ?"

"राज्य के सेवक।" दुर्योधन के हृदय में छिपी घृणा, उसकी वाणी में मुखर हो गई, "पितामह भीष्म केवल हस्तिनापुर के शासन की सुरक्षा के लिए वचन-बद्ध हैं, अन्यथा वे संसार से वैराग्य ही ले चुके हैं। वे साम्राज्य के प्रसार के लिए, अथवा मेरे लिए ऐश्वर्य-संचयन-हेतु युद्ध नहीं करेंगे।...आपको आचार्य द्रोण से बहुत अपेक्षाएँ हैं, पर मैं जानता हूँ कि वह ब्राह्मण मन में क्या सोचता है...।"

"क्या सोचते हैं आचार्य ?"

"वह समझता है कि वह गुरु के रूप में हस्तिनापुर में कार्यरत है। उसका कार्य राजकुमारों को शिक्षा देना भर है। वह सेनापति नहीं है, वह हस्तिनापुर की सेनाओं का संचालन क्यों करे।"

"यदि ऐसी बात है," धृतराष्ट्र ने कहा, "तो इसमें बाधा ही क्या है। आचार्य को सेनापति बना दो।"

"सेनापति बना दूँ ?" दुर्योधन के स्वर में स्पष्ट उपेक्षा थी, "तब उस ब्राह्मण की महत्वाकांक्षाएँ आकाश को छूने लगेंगी।"

"दुर्योधन।"

"हाँ पिता जी।" दुर्योधन का स्वर कुछ सहज हुआ, "वह निर्धन ब्राह्मण धन कमाने के लिए हस्तिनापुर आया था। उसे यहाँ धन-संपत्ति, पद, अधिकार, मानसम्मान सब कुछ मिला, पर उसके मन का भय कभी समाप्त नहीं हुआ।"

"द्रोणाचार्य और भय ?" धृतराष्ट्र को सचमुच आश्चर्य हुआ था।

"धन छिन जाने और फिर से कंगाल हो जाने का भय, प्रेत के समान उसकी आत्मा से चिपका हुआ है। स्वयं को सुरक्षित करने के लिए, उसने द्रुपद से आधा पंचाल छीना और उसका अधिराज बन बैठा। वह राज्य द्रुपद से हमने छीना था...कौरवों और पांडवों की सम्मिलित शक्ति ने। वह ब्राह्मण तब भी हस्तिनापुर राज्य का सेवक था, पर वह

मैं उन्हें उसी स्थिति में पहुँचा कर छोड़ूँगा। पिता जी ! मैं स्पष्ट रूप से आप से कह रहा हूँ, आप मुझे रोकने का प्रयत्न मत कीजिएगा।"

"किस बात से पुत्र ?"

"मै अपनी सेना लेकर इंद्रप्रस्थ पर आक्रमण करूँगा।"

"उससे क्या होगा ?"

"या तो अपने शत्रुओं पर विजय पाऊँगा, उनको मार कर उनकी धन-संपदा छीन लाऊँगा, द्रौपदी को अपनी दासी बनाऊँगा···या फिर उनके शस्त्रों के आघात से अपने प्राण दे दूँगा।"

कुछ क्षणों तक तो जैसे धृतराष्ट्र को समझ में ही नहीं आया कि दुर्योधन कह क्या रहा है। पर पहले झटके से उबर कर चैतन्य होने पर उसका मन डूबने-डूबने को होने लगा। यह दुर्योधन पागल हो गया है। यह क्या असंभव करने की सोच रहा है।···

"एक ओर तो तुम कह रहे हो कि तुम्हारे पास न कोई अर्जुन है, न भीम, " वह व्याकुल होकर बोला, "और दूसरी ओर तुम उन पर आक्रमण की योजना बना रहे हो। तुम्हारी बुद्धि तुम्हें भ्रमित तो नहीं कर रही पुत्र। तुम्हारी ओर से युद्ध कौन करेगा ?"

"मैं ! स्वयं मैं। मेरा मित्र कर्ण।" वह बोला, "भीष्म और द्रोण चाहे मेरी दिग्विजय के लिए न लड़ें, मेरी रक्षा के लिए तो लड़ेंगे, पितामह हस्तिनापुर के युवराज की प्राण-रक्षा के लिए शस्त्र धारण करने को वचन-बद्ध हैं। द्रोणाचार्य भी, मुझे द्रुपद के जामाता से बचाने के लिए आएँगे ही, अन्यथा अर्जुन के सहयोगी—द्रुपद और धृष्टद्युम्न—आचार्य को रस्सियों से बाँध कर हस्तिनापुर के राजमार्गो पर घसीटेंगे।"

"दुर्योधन ठीक कह रहा है।" धृतराष्ट्र के मन ने कहा, "ऐसी स्थिति में भीष्म और द्रोण युद्ध से भाग नहीं सकते।···किंतु यह आवश्यक नहीं कि भीष्म और द्रोण लड़ें तो पांडवों को पराजित कर ही दें। पांडव युवा हैं, योद्धा हैं, अनेक शस्त्रों के ज्ञाता हैं, और उनके अनेक मित्र हैं। युद्ध की स्थिति में कृष्ण और उनकी नारायणी सेना पांडवों के पक्ष में खड़ी होगी। सारी पांचाल सेना, उनके पक्ष में होगी, और उनके मांडलिक राजा···नहीं। यह युद्ध नहीं हो सकता।"

"दुर्योधन।" धृतराष्ट्र का आंशकित स्वर कुछ दृढ़ हुआ, "मैं तुम्हें युद्ध की अनुमति नहीं दे सकता। तुम किसी भी स्थिति में पांडवों से युद्ध नहीं कर सकते।"

"क्यों ? क्या फिर भ्रातुष्पुत्रों के प्रति प्रेम जाग उठा है ?"

"नहीं। मुझे तुम्हारी सुरक्षा की चिंता है।" धृतराष्ट्र का स्वर फिर से कोमल हो गया, "वैसे तो मेरे सौ पुत्र हैं, किंतु मेरे लिए तो एक दुर्योधन ही है। शेष सब उसकी परछाइयाँ हैं।" वह रुका, जैसे आत्मबल बटोर रहा हो, "मैं, राजा और पिता—दोनों ही रूपों में, तुम्हें ऐसा कोई काम करने की अनुमति नहीं दे सकता, जिसमें तुम्हारे प्राणों का भय हो।"

"आप मुझे केवल तड़प-तड़प कर जीने की अनुमति दे सकते हैं। आप चाहते हैं कि मैं पांडवों के ऐश्वर्य का स्मरण करूँ और मेरे वक्ष पर नाग लोटें। मैं जलता रहूँ, तड़पता रहूँ, पर जीवित रहूँ···।" दुर्योधन रुका और जैसे पूरे आत्मबल के साथ बोला, "···लड़कर मरूँगा तो क्षत्रियों के समान युद्ध-क्षेत्र में वीर-गति पाऊँगा। नहीं लड़ूँगा, तो

घुल-घुल कर, शैया पर तड़प-तड़प कर मरूँगा, और सह नहीं पाऊँगा तो आत्महत्या कर लूँगा।"

"दुर्योधन।"

"हाँ पिता जी। अब और कोई मार्ग नहीं है। मैंने अपने-आप को बहुत समझाया है, बहुत सोचा-विचारा है। अब या तो पांडव रहेंगे, या मैं ही रहूँगा।...और आप से मैं अंतिम बार कह रहा हूँ कि आप मुझे रोकने का प्रयत्न मत कीजिएगा।"

दुर्योधन चुप हो गया और जब उसकी पदचाप द्वार की ओर चली गई, तो धृतराष्ट्र समझ गया कि वह जा रहा है। धृतराष्ट्र के मन में से चीत्कार उठा, "रोको धृतराष्ट्र ! इसे रोको। क्षत्रिय-पुत्र है, युवराज है—युद्ध तो करेगा ही। पर यह युद्ध नहीं, आत्महत्या है। पांडव और उनके मित्र इसे घेर कर मार डालेंगे।..."

पर न धृतराष्ट्र का हाथ उठा, न वाणी फूटी। रोक कर क्या कहे धृतराष्ट्र। दुर्योधन को वह अच्छी तरह जानता है। उसकी महत्वाकांक्षाएँ ही नहीं, उसके राग-द्वेष भी किसी से छिपे नहीं हैं। जहाँ वह पहुँच गया है, वहाँ से उसे लौटा लाना संभव नहीं है। आज तो वह युवक है, युवराज है, वीर और सक्षम है। जब बालक था, तब भी उसने ईर्ष्या के वशीभूत होकर भीम को विष खिलाया था, और अचेत भीम को बाँध कर जल में डुबो आया था। उसने वारणावत के लाक्षागृह में पाँचों पांडवों को कुंती समेत अग्निसात करने की योजना बनाई थी। फिर उसने उन्हें मरने के लिए खांडव-वन में भेज दिया।...धृतराष्ट्र ने अपनी ममता के विरुद्ध कभी न्याय का पक्ष नहीं लिया। वह पिता ही बना रहा, राजा कभी नहीं बन सका...पर उन सारी योजनाओं से दुर्योधन की कोई क्षति नही हुई। पांडव बचते रहे, तो दुर्योधन का कुछ नहीं बिगड़ा... पर इस बार...यदि दुर्योधन ने इंद्रप्रस्थ पर आक्रमण किया, तो पांडव उसका वध कर देंगे...जाने दुर्योधन क्यों नहीं समझता...वह अपने राज्य में, अपने धन-वैभव में प्रसन्न क्यों नहीं रह सकता ?...

पर दुर्योधन को धृतराष्ट्र क्या कहे ? उसकी अपनी ही मनःस्थिति क्या है ?...राजा न होते हुए भी, उससे हस्तिनापुर का मोह कभी नहीं छूटा, और पांडु राजा होते हुए भी, हस्तिनापुर से बाहर-ही-बाहर रहा।...कभी युद्ध के लिए, कभी मृगया के लिए...और अपनी दुर्बलता जानकर, वह राज्य छोड़ वनों में जा बैठा। कैसे त्याग दिया, उसने यह सारा वैभव। धृतराष्ट्र तो उस वैभव पर आसन बाँधे बैठा रहा, और सदा डरता रहा कि कहीं उससे यह सब छिन ही न जाए...पांडवों ने भी अपने पिता के समान ही आचरण किया। खांडवप्रस्थ के खंडहर और आस-पास का वन-प्रांतर लेकर ही संतुष्ट हो गए।...और धृतराष्ट्र का पुत्र सारा साम्राज्य और धन वैभव पाकर भी संतुष्ट नहीं हुआ। वह इस वैभव के विस्तार की बातें सोच रहा है और धृतराष्ट्र का मन इसके भी छिन जाने की आशंका से, पीपल के पत्ते के समान काँप रहा है...

सोचते-सोचते धृतराष्ट्र का मस्तक फटने-फटने को हो आया। वह निढाल होकर लेट गया : क्या करे ?...विदुर को बुलाए ? उससे चर्चा करे ? विदुर बुद्धिमान है और नीतिज्ञ है, साथ-ही-साथ धर्मज्ञ भी है। वह धर्माधर्म, उचितानुचित, न्यायान्याय की बात अवश्य उठाएगा। उसे धृतराष्ट्र कैसे कह सकेगा, कि दुर्योधन पांडवों को सुख से जीवन-यापन करते नहीं देख सकता, सम्मुख-युद्ध में उनसे लड़ नहीं सकता, बताओ,

मैं उन्हें उसी स्थिति में पहुँचा कर छोड़ूँगा। पिता जी ! मैं स्पष्ट रूप से आप से कह रहा हूँ, आप मुझे रोकने का प्रयत्न मत कीजिएगा।"

"किस बात से पुत्र ?"

"मै अपनी सेना लेकर इंद्रप्रस्थ पर आक्रमण करूँगा।"

"उससे क्या होगा ?"

"या तो अपने शत्रुओं पर विजय पाऊँगा, उनको मार कर उनकी धन-संपदा छीन लाऊँगा, द्रौपदी को अपनी दासी बनाऊँगा"या फिर उनके शस्त्रों के आघात से अपने प्राण दे दूँगा।"

कुछ क्षणों तक तो जैसे धृतराष्ट्र को समझ में ही नहीं आया कि दुर्योधन कह क्या रहा है। पर पहले झटके से उबर कर चैतन्य होने पर उसका मन डूबने-डूबने को होने लगा। यह दुर्योधन पागल हो गया है। यह क्या असंभव करने की सोच रहा है।"

"एक ओर तो तुम कह रहे हो कि तुम्हारे पास न कोई अर्जुन है, न भीम," वह व्याकुल होकर बोला, "और दूसरी ओर तुम उन पर आक्रमण की योजना बना रहे हो। तुम्हारी बुद्धि तुम्हें भ्रमित तो नहीं कर रही पुत्र। तुम्हारी ओर से युद्ध कौन करेगा ?"

"मैं ! स्वयं मैं। मेरा मित्र कर्ण।" वह बोला, "भीष्म और द्रोण चाहे मेरी दिग्विजय के लिए न लड़ें, मेरी रक्षा के लिए तो लड़ेंगे, पितामह हस्तिनापुर के युवराज की प्राण-रक्षा के लिए शस्त्र धारण करने को वचन-बद्ध हैं। द्रोणाचार्य भी, मुझे द्रुपद के जामाता से बचाने के लिए आएँगे ही, अन्यथा अर्जुन के सहयोगी—द्रुपद और धृष्टद्युम्न—आचार्य को रस्सियों से बाँध कर हस्तिनापुर के राजमार्गों पर घसीटेंगे।"

"दुर्योधन ठीक कह रहा है।" धृतराष्ट्र के मन ने कहा, "ऐसी स्थिति में भीष्म और द्रोण युद्ध से भाग नहीं सकते।"किंतु यह आवश्यक नहीं कि भीष्म और द्रोण लड़ें तो पांडवों को पराजित कर ही दें। पांडव युवा हैं, योद्धा हैं, अनेक शस्त्रों के ज्ञाता हैं, और उनके अनेक मित्र हैं। युद्ध की स्थिति में कृष्ण और उनकी नारायणी सेना पांडवों के पक्ष में खड़ी होगी। सारी पांचाल सेना, उनके पक्ष में होगी, और उनके मांडलिक राजा"नहीं। यह युद्ध नहीं हो सकता।"

"दुर्योधन।" धृतराष्ट्र का आंशकित स्वर कुछ दृढ़ हुआ, "मैं तुम्हें युद्ध की अनुमति नहीं दे सकता। तुम किसी भी स्थिति में पांडवों से युद्ध नहीं कर सकते।"

"क्यों ? क्या फिर भ्रातुष्पुत्रों के प्रति प्रेम जाग उठा है ?"

"नहीं। मुझे तुम्हारी सुरक्षा की चिंता है।" धृतराष्ट्र का स्वर फिर से कोमल हो गया, "वैसे तो मेरे सौ पुत्र हैं, किंतु मेरे लिए तो एक दुर्योधन ही है। शेष सब उसकी परछाइयाँ हैं।" वह रुका, जैसे आत्मबल बटोर रहा हो, "मैं, राजा और पिता—दोनों ही रूपों में, तुम्हें ऐसा कोई काम करने की अनुमति नहीं दे सकता, जिसमें तुम्हारे प्राणों का भय हो।"

"आप मुझे केवल तड़प-तड़प कर जीने की अनुमति दे सकते हैं। आप चाहते हैं कि मैं पांडवों के ऐश्वर्य का स्मरण करूँ और मेरे वक्ष पर नाग लोटें। मैं जलता रहूँ, तड़पता रहूँ, पर जीवित रहूँ"।" दुर्योधन रुका और जैसे पूरे आत्मबल के साथ बोला, ""लड़कर मरूँगा तो क्षत्रियों के समान युद्ध-क्षेत्र में वीर-गति पाऊँगा। नहीं लड़ूँगा, तो

घुत-घुल कर, शैया पर तड़प-तड़प कर मरूँगा, और सह नहीं पाऊँगा तो आत्महत्या कर लूँगा।"

"दुर्योधन!"

"हाँ पिता जी। अव और कोई मार्ग नहीं है। मैंने अपने-आप को वहुत समझाया है, वहुत सोचा-विचारा है। अब या तो पांडव रहेंगे, या मैं ही रहूँगा।...और आप से मैं अंतिम वार कह रहा हूँ कि आप मुझे रोकने का प्रयत्न मत कीजिएगा।"

दुर्योधन चुप हो गया और जव उसकी पदचाप द्वार की ओर चली गई, तो धृतराष्ट्र समझ गया कि वह जा रहा है। धृतराष्ट्र के मन में से चीत्कार उठा, "रोको धृतराष्ट्र ! इसे रोको। क्षत्रिय-पुत्र है, युवराज है—युद्ध तो करेगा ही। पर यह युद्ध नहीं, आत्महत्या है। पांडव और उनके मित्र इसे घेर कर मार डालेंगे।..."

पर न धृतराष्ट्र का हाथ उठा, न वाणी फूटी। रोक कर क्या कहे धृतराष्ट्र। दुर्योधन को वह अच्छी तरह जानता है। उसकी महत्वाकांक्षाएँ ही नहीं, उसके राग-द्वेष भी किसी से छिपे नहीं हैं। जहाँ वह पहुँच गया है, वहाँ से उसे लौटा लाना संभव नहीं है। आज तो वह युवक है, युवराज है, वीर और सक्षम है। जब वालक था, तव भी उसने ईर्ष्या के वशीभूत होकर भीम को विष खिलाया था, और अचेत भीम को वाँध कर जल में डुवो आया था। उसने वारणावत के लाक्षागृह में पाँचों पांडवों को कुंती समेत अग्निसात करने की योजना वनाई थी। फिर उसने उन्हें मरने के लिए खांडव-वन में भेज दिया।...धृतराष्ट्र ने अपनी ममता के विरुद्ध कभी न्याय का पक्ष नहीं लिया। वह पिता ही वना रहा, राजा कभी नहीं बन सका...पर उन सारी योजनाओं से दुर्योधन की कोई क्षति नही हुई। पांडव वचते रहे, तो दुर्योधन का कुछ नहीं विगड़ा... पर इस वार...यदि दुर्योधन ने इंद्रप्रस्थ पर आक्रमण किया, तो पांडव उसका वध कर देंगे...जाने दुर्योधन क्यों नहीं समझता...वह अपने राज्य में, अपने धन-वैभव में प्रसन्न क्यों नहीं रह सकता ?...

पर दुर्योधन को धृतराष्ट्र क्या कहे ? उसकी अपनी ही मनःस्थिति क्या है ?...राजा न होते हुए भी, उससे हस्तिनापुर का मोह कभी नहीं छूटा, और पांडु राजा होते हुए भी, हस्तिनापुर से वाहर-ही-वाहर रहा।...कभी युद्ध के लिए, कभी मृगया के लिए...और अपनी दुर्वलता जानकर, वह राज्य छोड़ वनों में जा वैठा। कैसे त्याग दिया, उसने यह सारा वैभव। धृतराष्ट्र तो उस वैभव पर आसन वाँधे वैठा रहा, और सदा डरता रहा कि कहीं उससे यह सब छिन ही न जाए...पांडवों ने भी अपने पिता के समान ही आचरण किया। खांडवप्रस्थ के खंडहर और आस-पास का वन-प्रांतर लेकर ही संतुष्ट हो गए।...और धृतराष्ट्र का पुत्र सारा साम्राज्य और धन वैभव पाकर भी संतुष्ट नहीं हुआ। वह इस वैभव के विस्तार की वातें सोच रहा है और धृतराष्ट्र का मन इसके भी छिन जाने की आशंका से, पीपल के पत्ते के समान काँप रहा है...

सोचते-सोचते धृतराष्ट्र का मस्तक फटने-फटने को हो आया। वह निढाल होकर लेट गया : क्या करे ?...विदुर को वुलाए ? उससे चर्चा करे ? विदुर बद्धिमान है और नीतिज्ञ है, साथ-ही-साथ धर्मज्ञ भी है। वह धर्माधर्म, उचितानुचित, न्यायान्याय की वात अवश्य उठाएगा। उसे धृतराष्ट्र कैसे कह सकेगा, कि दुर्योधन पांडवों को सुख से जीवन-यापन करते नहीं देख सकता, सम्मुख-युद्ध में उनसे लड़ नहीं सकता, वताओ,

कोई ऐसा मार्ग भी है, जिससे पांडव चुपचाप अपना सारा धन-वैभव लाकर दुर्योधन के चरणों में धर दें और स्वयं सर्वथा कंगाल होकर, कहीं भीख माँगते फिरें ?…

विदुर समदर्शी है। उसके लिए पांडवों और धार्तराष्ट्रों में कोई भेद नहीं है। धर्म पर चलने के कारण संभवतः पांडव ही उसे अधिक प्रिय हैं। ऐसा न हो कि विदुर कोई मार्ग तो सुझा न पाए, उल्टे पांडवों को सावधान कर दे। दुर्योधन तो कुछ कर पाए, न कर पाए, पांडव उसका अनिष्ट कर डालें। उस भीम के क्रोध को सँभालना किसी के वश का नहीं है…न ! विदुर से इस विषय में चर्चा करना व्यर्थ है।…ये विषय गोपनीय हैं…

और तब धृतराष्ट्र का ध्यान शकुनि की ओर चला गया…जब कभी सम्मुख-युद्ध से बचना हो, तो शकुनि की सहायता ली जानी चाहिए। जब न्यायान्याय, धर्माधर्म की उपेक्षा कर, अपना स्वार्थ साधना हो, तो शकुनि से बड़ा कुटिलाचार्य और कौन हो सकता है…

दूसरे ही क्षण धृतराष्ट्र का हृदय थोड़ा काँपा : शकुनि कुटिलाचार्य है। उसका मार्ग ऋजु नहीं है। ऐसा न हो कि उसका परामर्श मान कर, धृतराष्ट्र किसी और कठिनाई में पड़ जाए…पर परामर्श करने में क्या दोष है ? आवश्यक तो नहीं कि शकुनि की बात मान ही ली जाए। और यदि उसने कोई अच्छी युक्ति निकाल ही दी तो…

संध्या तक धृतराष्ट्र इस ऊहापोह में पड़ा रहा। उसका एक मन उसे बार-बार चेतावनी दे रहा था कि वह शकुनि के कुचक्र में न पड़े, और दूसरा मन अनवरत रटता जा रहा था कि बात कर लेने में कोई हानि नहीं है…वह अभी हैस-बैस में ही पड़ा था कि अनुचर ने शकुनि के आने की सूचना दी…

धृतराष्ट्र का मन प्रसन्न हो गया, शकुनि आ गया है, तो बातों-बातों में उससे परामर्श हो जाएगा। यह नहीं लगेगा कि किसी विशेष प्रयोजन से, परामर्श करने के लिए उसे बुलाया गया है…पर दूसरे ही क्षण संदेह ने सिर उठाया : वह अपने-आप आ कैसे गया ? कहीं दुर्योधन ने ही तो नहीं भेजा उसे ? मामा-भांजे में बहुत पटती है। उन्होंने मिलकर कहीं कोई षड्यंत्र ही न रचा हो। यह न हो कि धृतराष्ट्र उनका उपकरण बन उनके किसी अकरणीय का सहयोगी हो जाए। दुर्योधन तो उसका पुत्र है, उसका मन धृतराष्ट्र समझता है। उसकी इच्छाएँ-आकांक्षाएँ, उसकी शक्ति और सीमाएँ… सबसे परिचित है धृतराष्ट्र। किंतु शकुनि आज तक उसकी समझ में नहीं आया। उसके परामर्श कैसे भी हों—धृतराष्ट्र का संदेह उस पर से कभी मिटा नहीं। जो व्यक्ति भीतर से ऋजु न हो, जिसका मन और प्रकृति सरल न हों—उसकी किसी बात का विश्वास कैसे किया जा सकता है। जो कुछ वह कहता और करता रहा—वह सब धृतराष्ट्र और उनके पुत्रों के हित के लिए किया गया, माना गया, किंतु धृतराष्ट्र का मन आज तक यह निर्णय नहीं कर पाया कि शकुनि के कारण, वह जैसे-जैसे अपने भाई पांडु और उसके परिवार से दूर होता गया— क्या वह सब धृतराष्ट्र और उसके पुत्रों के हित में था ? शकुनि की कूटनीति की सहायता से दुर्योधन, पांडवों की हत्या का जो प्रयत्न करता रहा—वह सब क्या उसके लिए मंगलकारी था ? पांडवों का तो जो भला या बुरा हुआ—वह हुआ, पर दुर्योधन क्या अधिक हिंस्र और क्रूर नहीं होता गया ? क्या हिंस्र और क्रूर होना, किसी व्यक्ति के लिए मंगलकारी हो सकता है ? दुर्योधन की यह हिंसा और क्रूरता उसे

विनाश की ओर ही तो अग्रसर नहीं कर रही ?···

"आओ शकुनि।"

शकुनि ने हाथ जोड़कर उन पर अपना माथा टिकाया। वह अपना सम्मान इसी प्रकार प्रकट किया करता था, यद्यपि धृतराष्ट्र देख भी नहीं पाता था, कि वह क्या कर रहा है।

"कैसे हैं जीजा जी ?"

धृतराष्ट्र हल्के-से मुस्कराया, "तुम प्रसन्न हो ?"

"आपकी कृपा चाहिए।" वह आकर धृतराष्ट्र के निकट बैठ गया, "युवराज बहुत अशांत लग रहे हैं।"

तो शकुनि सब कुछ जानता है, और यह अपने-आप नहीं आया है। यह दुर्योधन का भेजा हुआ ही आया है।

"हाँ ! दुर्योधन अशांत है।" धृतराष्ट्र ने कहा, "किंतु मैं उसकी शांति उसे लौटा नहीं सकता।"

"क्यों ? ऐसी क्या बात है ?"

"वह पांडवों से युद्ध करना चाहता है, और उसकी अनुमति मैं उसे दे नहीं सकता।"

"युद्ध क्यों ?" शकुनि के स्वर में आश्चर्य था, "युद्ध कोई अच्छी बात तो है नहीं। युद्ध में हिंसा होती है। शत्रु तो मरता ही है, अपने पक्ष की भी हानि होती है। पर दुर्योधन पांडवों से युद्ध क्यों करना चाहता है ?"

"तुम्हारा भांजा है, तुम जानो। जाने उसे दिन भर क्या घुट्टी पिलाते रहते हो।"

शकुनि हँसा, "आप तो जीजा जी ! सदा परिहास ही करते रहते हैं।"

शकुनि की हँसी। यह हँसी धृतराष्ट्र के कानों में सदा चुभी है। इसमें कुछ ऐसा है– किसी प्रकार की क्रूरता का अंश, किसी धातु-सा कठोर, जो कानों में चुभता ही नहीं, कानों की दीवारों को छील भी जाता है।··· जब कभी धृतराष्ट्र का मन शांत और स्वस्थ होता है, शकुनि की हँसी का प्रभाव कान छीलने तक ही रहता है, पर जब मन इतना स्वस्थ नहीं होता, तब यह हँसी आत्मा तक को तपा जाती है।···

"परिहास नहीं कर रहा हूँ शकुनि। वह पांडवों से, उनका सारा धन हथिया लेना चाहता है, और मैं उसे इसकी अनुमति नहीं दे रहा।"

"क्यों ? भ्रातुष्पुत्रों के प्रेम के कारण ?"

"नहीं !" धृतराष्ट्र ने बहुत स्पष्ट कहा, "मैंने अपने विषय में बहुत सोचा है और इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि मैं ऐसा पिता हूँ, जो अपने बच्चों से कहता रहता हूँ कि किसी से लड़ो मत, किसी का कुछ छीनो मत। और सच पूछो तो यह सब सच्चे हृदय से कह रहा होता हूँ। सचमुच मैं यही चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि वे लोग सच्चे मार्ग पर चलें।··· पर जब देखता हूँ कि मेरे बेटों को मेरी यह नीति प्रसन्न नहीं कर पा रही, और वे मेरे उपदेश के विरुद्ध किसी को पीटने जा रहे हैं, और यह भी निश्चित होता है कि वे लोग उसे पीट पाने में समर्थ होंगे, उनकी कोई हानि नहीं होगी, तो मैं उनके कृत्यों को अनदेखा कर जाता हूँ।··· किंतु जब मुझे लगता है कि वे जा तो रहे हैं किसी को पीटने, पर वहाँ उनके पिट जाने की भी आशंका है, तो मैं बहुत नीतिवान पिता

बन जाता हूँ। मैं नहीं चाहता कि मेरे पुत्र मेरी इच्छा के विरुद्ध कुछ करें।"

शकुनि पुनः हँसा, "आप कुछ भी अनुचित नहीं करते जीजा जी। यह तो क्षत्रियों का काम ही है। राजसी वृत्ति है क्षत्रियों में।" वह रुका, "और युवराज भी क्या अनुचित कह रहे हैं। क्षत्रियों में तो यह चला ही आया है। क्षत्रिय अपने राज्य के विस्तार का प्रयत्न करता है। अपना वैभव बढ़ाना चाहता है। नहीं तो क्षत्रिय और तापस संन्यासी में अंतर ही क्या रह जाएगा।" उसका स्वर कुछ धीमा हुआ, जैसे कोई बहुत गोपनीय बात कहने जा रहा हो, "और फिर पांडवों ने भी तो यह लक्ष्मी अन्य राजाओं से ही छीनी है। जब वे दूसरों से छीन कर चक्रवर्ती हो सकते हैं, वीर कहला सकते हैं, तो फिर हमारे युवराज ही क्यों न कुछ क्षत्रियोचित कर दिखाएँ।"

धृतराष्ट्र को आश्चर्य हुआ, यह धूर्त्त एक ही साँस में युद्ध, हिंसा और रक्तपात की निन्दा भी कर रहा है और दूसरे का राज्य और लक्ष्मी हथिया लेने को क्षत्रियोचित बता कर दुर्योधन की योजनाओं का समर्थन भी कर रहा है।

शकुनि ने धृतराष्ट्र के चेहरे पर उभर आए, आश्चर्य और असमंजस को देखा। वह अपनी विशिष्ट शैली में हँसा, "आपको मेरी बातों में विरोध का आभास तो नहीं हो रहा जीजी जी ?"

"विरोध का आभासा नहीं। स्पष्ट विरोध दीख रहा है।"

"विरोध नहीं है जीजा जी।" शकुनि रहस्योद्घाटन के-से भाव के साथ बोला, "क्षत्रियों के तीन ही तो काम हैं··· युद्ध, मृगया और द्यूत। युद्ध और मृगया में तो हिंसा, रक्तपात और विरोध इत्यादि हैं, पर द्यूत में ऐसा कुछ भी नहीं है। क्षति की भी कोई संभावना नहीं है। रत्ती भर भी जोखिम नहीं है। वह तो क्रीड़ा है, जैसे मृगया में मारा गया अथवा आहत हुआ पशु यह कहने नहीं आता कि उसके प्राण क्यों लिए गए, उसी प्रकार द्यूत में हारा हुआ प्रतिपक्षी कभी यह नहीं कहता कि तुम ने मुझे हराया क्यों। उलटे वह हार कर भी गले मिलता है कि तुम्हारे साथ खेल कर बहुत आनन्द आया।···"

"तुम चाहते हो कि दुर्योधन पांडवों के साथ जुआ खेले ?"

"हाँ।" शकुनि बोला, "दाँव युधिष्ठिर और हमारे युवराज में हो, किंतु युवराज की ओर से खेलूंगा मैं। और जीजा जी ! जब पासे शकुनि फेंकेगा, तो युवराज के हारने का प्रश्न ही नहीं उठता। मैं पाडवों का राज्य, धन, संपत्ति, ऐश्वर्य··· सब कुछ, घड़ी, दो घड़ी में युवराज के चरणों पर डाल दूँगा। न सेनाएँ लड़ेंगी, न युद्ध होगा, और न ही युवराज को कोई जोखिम उठाना पड़ेगा···।"

धृतराष्ट्र का मन जैसे किसी दोराहे पर जाकर खड़ा हो गया। वह कई क्षणों तक चुपचाप सोचता रहा। फिर बोला, "जुआ तो हार और जीत दोनों का खेल है। तुम यदि इंद्रप्रस्थ जीतने के स्थान पर, हस्तिनापुर भी गँवा बैठे तो ?"

"पहली बात तो यह है कि द्यूत में शकुनि को पराजित किया ही नहीं जा सकता। दूसरी बात यह है कि युधिष्ठिर इस खेल में सर्वथा अनाड़ी है। वह मेरे सामने तो एकदम नहीं टिक सकता···।"

"इसी तर्क पर युधिष्ठिर जुआ न खेलना चाहे तो ?" धृतराष्ट्र ने उसकी बात काट दी।

"युधिष्ठिर मना नहीं करेगा।" शकुनि इस प्रकार बोला, जैसे सृष्टि का विधान बोल

का, पांडवों का, इंद्रप्रस्थ के साम्राज्य का सारा ऐश्वर्य, उसकी सारी लक्ष्मी, दुर्योधन के नहीं, धृतराष्ट्र के चरणों में लोटने लगेगी···

सहसा धृतराष्ट्र के मन के एक कोने में कुछ सुगबुगाहट हुई··· 'क्या कर रहे हो धृतराष्ट्र ? वे तुम्हारे भाई, दिवंगत भाई पांडु के पुत्र हैं। न्याय से तो हस्तिनापुर का राज्य भी उन्हीं का था। तुम ने उनका राज्य छीन लिया। अब वे अपने खंडहरों के राज्य इंद्रप्रस्थ को, यदि अपने पुरुषार्थ से अमरावती बना लें, तो तुम उनसे वह भी छीन लेना चाहते हो ?···'

पर उसका प्रतिपक्ष भी चुप नहीं रहा : 'संसार में प्रत्येक व्यक्ति अपनी संपत्ति वढ़ाना चाहता है। संपत्ति वढ़ती तो ऐसे ही है। एक की संपत्ति दूसरे के पास चली जाती है। लक्ष्मी तो है ही चंचला। जो अपनी लक्ष्मी की रक्षा नहीं कर सकता, वह उसे छोड़ जाती है। और फिर हम युधिष्ठिर से कुछ भी बलात् नहीं छीन रहे, यद्यपि क्षत्रियों में तो बलात् छीनना भी शूरता कहलाती है···'

उसका पहला मन पुनः बोला, 'युधिष्ठिर, दुर्योधन से कुछ ही बड़ा है। वे सब तुम्हारे पुत्र के समान हैं। तुम्हारा आदर और सम्मान करते हैं। तुम्हें पिता-तुल्य नहीं, पिता ही मानते हैं। तुम्हारी बात की कभी उपेक्षा नहीं करते।···और तुम चारों ओर जाल बाँध कर, उनके निकलने का प्रत्येक मार्ग बंद कर, उनका आखेट करने जा रहे हो···?'

इस बार धृतराष्ट्र के मन में कोई ध्वनि नहीं जागी। एक चित्र जागा : द्यूत में दुर्योधन जीत रहा है। इंद्रप्रस्थ की लक्ष्मी प्रत्येक दाँव के साथ, उसके निकट, और निकट, और निकट खिसकती आ रही है। उसके चेहरे पर उल्लास छाता जा रहा है। उसकी आँखों में अपने पिता के प्रति कृतज्ञता का भाव घना होता जा रहा है···।

धृतराष्ट्र जैसे समाधि से जागा, "शकुनि।"

"हाँ जीजा जी।"

"जाओ। तैयारी करो। परन्तु सावधान। किसी बात में कोई कमी न रह जाए। यह उत्सव ही लगे, षड्यंत्र नहीं···।"

"आप तनिक भी चिंता न करें जीजा जी।"

"तुम्हारी ओर से आश्वस्त हूँ। तुम्हारा ही भरोसा है मुझे। पर फिर भी मैं अपने इस शंकाशील मन का क्या करूँ।"

शकुनि चकित रह गया। धृतराष्ट्र ने आज तक इस स्नेह से उसके साथ बात नहीं की थी।

37

हस्तिनापुर के दूत ने सभा में प्रवेश किया और युधिष्ठिर अपने उल्लास में चक्रवर्ती

की मर्यादा भूल, उठकर खड़े हो गए,"विदुर काका।"

"नहीं सम्राट।" विदुर, आरोह-अवरोह विहीन, गंभीर और शांत स्वर में बोले, "हस्तिनापुर का राजदूत।"

युधिष्ठिर के उल्लसित आवेश पर जैसे किसी ने विपुल मात्रा में ठंडा जल छिड़क दिया। वे सिंहासन पर बैठ, स्वयं को संयमित करने का प्रयत्न करने लगे। उनके मन में बार-बार एक ही प्रश्न जैसे उछल-उछल कर ऊपर आ रहा था, "विदुर काका उनके साथ ऐसा व्यवहार क्यों कर रहे हैं ?"

"कहो दूत।" युधिष्ठिर ने प्रकट कहा, "हस्तिनापुर में सब कुशल तो है न ? महाराज धृतराष्ट्र, रानी गांधारी, युवराज दुर्योधन तथा उनके भाई स्वस्थ-सानन्द हैं ?" और युधिष्ठिर का मन तड़प-तड़प कर पूछना चाहता था,'और विदुर काका ! आप कैसे हैं ! आपको आना था तो आप राजप्रासाद में परिवार के आत्मीय, कुल-वृद्ध के रूप में आए होते। इस प्रकार दूत बनकर सभा में क्यों आए आप ? किसी औपचारिक कार्य से राजदूत को ही भेजना था तो कोई और व्यक्ति, मंत्री, सामंत, सेनापति नहीं रह गया था हस्तिनापुर की राजसभा में, कि विदुर जैसे कुल-वृद्ध को राजदूत बना डाला।'

"सम्राट्।" विदुर पूरे औपचारिक शिष्टाचार के साथ बोले, "हस्तिनापुर में सब ओर सुख-शांति है। वह राज्य समृद्धि की ओर बढ़ रहा है। राजा, रानी, युवराज तथा अन्य राजकुमार प्रसन्न और सुखी हैं।"

"अपना संदेश कहो राजदूत।" युधिष्ठिर ने भी औपचारिक होने का अभिनय किया।

"सम्राट्।" विदुर बोले, "हस्तिनापुर के महाराज ने एक विराट और भव्य सभा-भवन का निर्माण करवाया है, जो राज्य की समृद्धि और शक्ति का प्रतीक है। उसका नाम है तोरण-स्फटिक सभा। उसका विस्तार देखने योग्य है। उसका वर्णन क्या करूँ। वह अपने-आप में ही कुरुकुल के लिए गौरव की वस्तु है। उसके निर्माण पर अपना संतोष प्रकट करने के लिए, महाराज धृतराष्ट्र ने एक उत्सव का आयोजन किया है। वह राजसूय यज्ञ अथवा किसी अन्य यज्ञ जैसा धार्मिक उत्सव तो नहीं है, किंतु शारीरिक व्यायाम, मनोरंजन, हास-विलास तथा अन्य क्षत्रियोचित क्रीड़ाओं का वह महान् उत्सव होगा। उस उत्सव में देश-विदेश के भूपति एकत्रित हो रहे हैं। महाराज धृतराष्ट्र ने कहा है कि चक्रवर्ती की उपस्थिति के बिना, उस उत्सव का सारा आयोजन फीका रहेगा। क्षत्रियों के उस समाज की शोभा ही क्या हो सकती है, जिसमें उनके सिरमौर चक्रवर्ती सम्राट् युधिष्ठिर और उनके वीर और यशस्वी भाई सम्मिलित न हों। अतः आपको उन्होंने उत्सव में सम्मिलित होने के लिए सादर आमंत्रित किया है। उन्होंने मुझे आदेश दिया है कि मैं आपसे कहूँ कि उन्होंने सम्राट युधिष्ठिर को तो उत्सव में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया ही है, उन्होंने अपने पुत्रों को विशेष अनुरोधपूर्वक बुलाया है। जिस प्रकार आपके राजसूय यज्ञ के अवसर पर सारे कौरव, परिवार के आत्मीय सदस्यों के रूप में सम्मिलित हुए थे, वे चाहते हैं कि इस बार भी हस्तिनापुर में उनके सभी के सभी, एक सौ पाँच पुत्र उपस्थित हों।"

युधिष्ठिर का मन हुआ कि वे बच्चों के समान खिलखिला कर हँस पड़ें और कहें, 'विदुर काका। इतना आडंबर क्यों कर रहे हैं। स्पष्ट क्यों नहीं कहते कि महाराज ने

बुलाया है। उन्होंने एक बड़ा प्रासाद बनवाया है। गृह-प्रवेश का अवसर है। घर के लोगों को तो वहां उपस्थित होना ही चाहिए। तुम्हें भी आना पड़ेगा युधिष्ठिर। देखना, चक्रवर्ती सम्राट् की व्यस्तताएँ इस पारिवारिक उत्सव में विघ्न न डालें।'

पर दूसरे ही क्षण उनके मन में एक नया विचार आया : संभव है, महाराज ने अपने लिए नया प्रासाद न बनवाया हो, यादवों के समान सुधर्मा सभा, जैसा कोई भवन बनवाया हो। संभव है, गुरु द्रोण के आश्रम के भीतर, या उससे लगता हुआ कोई विराट भवन और क्रीड़ा-स्थल बनवाया हो, जहाँ क्षत्रियोचित क्रीड़ाएँ हो सकें– रथ दौड़ सकें, अश्व प्रतियोगिताएँ हो सकें, युद्धों के बड़े-बड़े विराट् व्यूहों के प्रदर्शन हो सकें। देखें, कौन किस से और भी जटिल व्यूह बनाता है।··· जहाँ आचार्य द्रोण जैसे गुरु होंगे, वहाँ युद्ध-शास्त्र में मौलिक चिंतन होगा, प्रगति होगी··· काश ! इंद्रप्रस्थ में भी कोई ऐसा गुरु होता···

ऐसे आयोजन के लिए तो राजकीय निमंत्रण ही उचित है। बड़ा आयोजन है, इसलिए विदुर काका जैसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति को दूत बनाकर भेजा गया है।··· वैसे उन्होंने पांडवों को अपने पुत्रों के रूप में ही स्मरण किया है।

"दूत ! निमंत्रण को अकारण अस्वीकार नहीं किया जाता, और फिर यह तो हमारे पिता का आदेश है। इसकी किसी भी स्थिति में अवहेलना नहीं की जा सकती। निमंत्रण के लिए महाराज के प्रति हमारा आभार प्रकट कीजिएगा, और उन्हें कहिएगा कि उनके उत्सव में सम्मिलित होकर हमें प्रसन्नता होगी। मैं अपने भाइयों के साथ उपयुक्त अवसर पर अवश्य उपस्थित हो जाऊँगा।"

"धर्मराज ! यह निमंत्रण पारिवारिक भी है। महाराज की इच्छा है कि उनकी सारी बहुएँ भी इस उत्सव में सम्मिलित हों।" विदुर बोले, "आपकी माता भोजकुमारी कुंती तथा पट्टमहिषी द्रुपद कुमारी महारानी कृष्णा भी सादर आमंत्रित हैं।"

"वे भी आएँगी।" युधिष्ठिर मुस्कराए, "पाँचों पांडव आएँ और उनके साथ द्रौपदी न आए, ऐसा सामान्यतः होता नहीं राजदूत ! आप आश्वस्त रहें।"

युधिष्ठिर सोचते ही रह गए कि विदुर काका अब राजदूत का अभिनय समाप्त कर, अपनी ओर से भी दो शब्द कहेंगे, किंतु विदुर ने एक शब्द भी नहीं कहा और राजदुत के रूप में चक्रवर्ती का अभिवादन कर, वे सभा से बाहर निकल गए।

विदुर का आज का व्यवहार युधिष्ठिर के लिए अनबूझ पहेली ही रहा।···ऐसा क्यों किया काका ने ? क्या उन्हें पांडवों से वियुक्त हुए बहुत दिन हो गए हैं ? क्या काका भूल गए हैं कि वे उनके वही युधु हैं, जो प्रत्येक बात में उनका परामर्श लेने, उनके पास जा पहुँचते थे। उनके स्नेह की छाया न होती, तो दिन-प्रतिदिन उग्र होते हुए दुर्योधन के ताप से उसकी रक्षा कौन करता।···एक समय तो वह भी आया था कि युधिष्ठिर ने मन में निश्चय कर लिया था कि वे कौरवों के राजप्रासाद को छोड़ कर, माँ और भाइयों सहित विदुर काका के भवन में जा रहेंगे। पर, विदुर काका ने उन्हें ऐसा करने नहीं दिया। उन्होंने व्याकुल और उद्विग्न युधिष्ठिर को समझाया था, "युधु ! व्यक्तिगत रूप से मुझे तो कोई आपत्ति नहीं है। तुम लोगों को अपने घर में पाकर, मुझे बहुत प्रसन्नता होगी। तुम्हारी काकी भी फूली नहीं समाएँगी। उन्हें कुंती भाभी की सुखदसंगति

मिलेगी, वात्सल्य के लिए तुम स्नेह-पगे पाँच पुत्र मिलोगे। तुम से खूब काम कराएँगी, खूब खटाएँगी तुम लोगों को, और मैं जानता हूँ कि तुम लोग हँसी-खुशी सब काम करोगे। माँ से कम नहीं आँकोगे, काकी को।···पर पुत्र।···"

"पर क्या काका ?" किशोर युधिष्ठिर का मन मुंह को आ रहा था, सब कुछ मानकर अंत में काका यह 'पर' क्यों लगा देते हैं ?

"पुत्र ! यह नीति-संगत नहीं होगा।" काका ने कहा था, "पहली बात तो यह है कि तुम महाराज धृतराष्ट्र के परिजन न रहकर मेरे परिजन अधिक माने जाओगे। उससे भविष्य में राज्य पर तुम्हारा अधिकार क्षीण हो जाएगा। भविष्य में राज्य के अधिकारी बने रहने के लिए तुम्हें धृतराष्ट्र के प्रासाद में ही बने रहना चाहिए।"

युधिष्ठिर कुछ समझ पाए थे, कुछ नहीं समझे। बोले, "ठीक है काका ! जैसी आपकी इच्छा।"

"एक बात और भी है युधु।" काका ने कहा था, "मैं नहीं चाहता कि तुम लोगों के प्रति मेरा स्नेह, सार्वजनिक रूप से घोषित हो।"

"क्यों काका ?" युधिष्ठिर ने कुछ विचलित होकर पूछा था, "इसमें ऐसा गोपनीय क्या है ? क्या हम इस योग्य नहीं कि आपका स्नेह प्रकट रूप से पा सकें ? इसमें भी कुछ अनुचित है क्या ?"

"तू तो एकदम पगला है युधु।" काका हँसे थे, "अरे बुद्धू हमारा नैकट्य, या हमारा परस्पर अनुराग प्रकट हो गया, तो धृतराष्ट्र और दुर्योधन तक उसकी सूचना नहीं पहुँच जाएगी क्या ?"

"तो उससे क्या होगा ?"

"उससे होगा यह कि वे लोग जब कभी तुम्हारे विरुद्ध कोई षड्यंत्र रचेंगे, मुझ से सावधान रहेंगे। अपनी योजनाएँ मुझ से गुप्त रखेंगे और अपने अज्ञान के कारण मैं न तुम्हें सूचित कर पाऊँगा और न तुम्हारी सहायता कर पाऊँगा।···"

काका की बात युधिष्ठिर को समझ तब आई थी, जब वारणावत भेजे जाने से पहले काका ने सारे गापेनीय तथ्य उन्हें बताए थे। वारणावत में काका का भेजा हुआ खनक उन्हें मिला था और फिर अग्निदाह हो जाने के पश्चात् नदी पार कराने के लिए भी काका का भेजा हुआ केवट ही उनके काम आया था।

संभव है कि वैसे ही किन्हीं कारणों से आज भी काका ने अपना निजी आत्मीय संबंध, सभा में प्रकट नहीं किया था। संभव है, अब भी वे सार्वजनिक रूप से उस दूरी को बनाए रखना चाहते हों।··· पर अब क्या आवश्यकता है उसकी ? कौन नहीं जानता उनके संबंध को ? अब वे लोग धृतराष्ट्र के प्रासाद में नहीं रहते। अब वे दुर्योधन के कुचक्रों से दूर हैं। उनका अपना राज्य है, और वे लोग समर्थ हो चुके हैं। अब काका को उनसे दूर रहने की भी क्या आवश्यकता है ? अच्छा हो कि अब काका उनके ही पास रहने आ जाएँ इंद्रप्रस्थ में···

युधिष्ठिर उनसे अवश्य कहेंगे···

पर दूसरे ही क्षण, युधिष्ठिर के मन ने करवट बदली, वे इतने आश्वस्त किस बात से हैं ? अभी उस दिन ही तो व्यासदेव ने उन्हें चेतावनी दी थी··· उन्हें और उनके

भाइयों को केन्द्र में रखकर, प्रकृति कोई हिंसक लीला रचती दिखाई देती है। उन्होंने यह भी कहा था कि कृष्ण ने राजसूय यज्ञ करवा, राजाओं को धर्म-राज्य के लिए संगठित किया है, किंतु उससे ईर्ष्या की ज्वाला भी भड़की है··· तो युधिष्ठिर यह क्यों मान बैठे हैं कि अब विदुर काका की सावधानी की आवश्यकता नहीं रही ?···

युधिष्ठिर का मन विदुर काका से भटक कर हस्तिनापुर के आयोजन की ओर चला गया। यह सम्मेलन शुभ और कल्याणकारी होना चाहिए। उसमें कोई यज्ञ नहीं है, कोई संकल्प नहीं है। किसी को चक्रवर्ती घोषित नहीं किया जाएगा, किसी की अग्रपूजा नहीं की जाएगी, इसलिए पक्ष-विपक्ष की कोई बात नहीं है। ईर्ष्या और स्पर्धा का कोई कारण नहीं है। वह तो मात्र सह-मिलन है—सम्मेलन ! आमोद-प्रमोद, मनोरंजन-क्रीड़ा··· क्षत्रियों को अच्छा लगता है, यह सब। खाना-पीना, हँसना-खेलना, जीवन का भोग···। अनेक नृपति होंगे वहाँ। मैत्रीपूर्ण वातावरण में समता के धरातल पर उन सब से भेंट होगी। नई मैत्रियों का जन्म होगा, पुरानी मैत्रियाँ प्रगाढ़ होंगी। युधिष्ठिर प्रयत्न करेंगे कि उनकी और उनके भाइयों की ओर से, उनके राज्य और सेना की ओर से किसी को भी कोई आशंका न रहे। वहाँ कोई ऐसा संगठन न बने, जो शांति की हत्या करे··· यदि ऐसा कोई संगठन हो, तो वह विलीन हो जाए। महर्षि की हिंसा की आशंकाएँ निष्फल हों। संसार में शांति बढ़े, ताप घटे··· और पांडवों को केन्द्र में रखकर तो कोई हिंसा का जाल बुने ही नहीं···

और विदुर काका। उनसे तो संध्या समय उनके आवास पर भेंट करनी होगी। देखें, वे *'काका'* बनते हैं, या तब भी, *'राजदूत'* ही बने रहते हैं।

संध्या समय, युधिष्ठिर विदुर के आवास पर अकेले ही पहुँचे। उन्होंने चरण छू कर प्रणाम किया और विदुर ने उन्हें वक्ष से लगा लिया, तो वे कुछ आश्वस्त हुए। फिर भी वे कहे बिना नहीं रह सके, "मैं इस समय चक्रवर्ती नहीं हूँ, इसलिए कृपया, आप भी इस समय हस्तिनापुर के राजदूत का अभिनय मत कीजिएगा।"

विदुर हँसे। कुछ बोले नहीं। सतर्क दृष्टि से आस-पास देखा : कोई अनुचर निकट नहीं था। उन्होंने उठ कर द्वार से बाहर झाँक कर देखा, उनका विश्वस्त अनुचर आराधन, सन्नद्ध खड़ा था। उन्होंने संकेत से उसे निकट बुलाया।

वह पास आया तो बोले, "अभी डेढ़ दो घड़ी तक मैं धर्मराज के साथ पूर्ण एकांत चाहता हूँ। किसी के आने में बाधा बनने की आवश्यकता नहीं है, किंतु कोई भी व्यक्ति अनुचर, सैनिक, अधिकारी या परिजन— इधर आना चाहे, तो हमें पूर्व सूचना दिए बिना, किसी को उपस्थित मत करना।"

वे लौटे तो युधिष्ठिर ने कुछ आश्चर्य से देखा, "कोई अत्यन्त गोपनीय बात है ?"

विदुर मुस्कराए, "सब कुछ गोपनीय ही गोपनीय है पुत्र ! मेरे वश में होता तो मैं इस भेंट को ही गोपनीय रखता, पर शायद यह संभव नहीं है।"

"क्या बात है ?" युधिष्ठिर ने कुछ चिंतित होकर पूछा।

"जो निमंत्रण मैंने तुम्हें सभा में दिया था, वह धृतराष्ट्र का निमंत्रण है अवश्य,

किंतु वह निमंत्रण के छद्मवेश में षड्यंत्र है पुत्र ! वह चक्रव्यूह है, जिसमें वे तुम्हें घेर लेना चाहते हैं। वे उसमें तुम्हारे प्रवेश के लिए द्वार खोलते जाएँगे, ताकि तुम उसमें गहरे और गहरे धँसते जाओ, और जब तुम पूर्णतः घिर जाओगे तो वे लोग सुविधापूर्वक तुम्हारा आखेट करें···।"

"मैं समझा नहीं।" युधिष्ठिर कुछ आशंकित मन से बोले।

"राजसूय यज्ञ के अवसर पर, दुर्योधन तुम्हारी संपत्ति देख कर गया है। उसकी नींद उड़ गई है। अब वह तब तक चैन की नींद नहीं सो सकेगा, जब तक वह तुम्हारी लक्ष्मी का अपहरण न कर ले। उसी के लिए यह आयोजन किया जा रहा है। यह निमंत्रण वस्तुतः द्यूत का निमंत्रण है। प्रयत्न यह होगा कि तुम द्यूत में अपना सर्वस्व हार जाओ।··क्योंकि पांडवों को नष्ट किए बिना, दुर्योधन शांति से बैठ नहीं सकता।"

युधिष्ठिर चिंतित मुद्रा में कुछ देर चुप रहे।

"क्या उन्हें आशंका नहीं थी कि आप मुझे यह सब बता देंगे ?" थोड़ी देर बाद युधिष्ठिर ने पूछा।

अब तक विदुर कुछ सँभल चुके थे। बोले, "पहली बात तो यह है कि शायद उन्हें यह अनुमान नहीं है कि मैं उनके षड्यंत्र को कितनी गहराई तक जानता हूँ। दूसरे, वे आश्वस्त हैं कि मेरे आने से उनके निमंत्रण का महत्त्व बढ़ जाएगा। मैं तुम्हें अपने राजकीय कर्तव्य के रूप में महाराज धृतराष्ट्र का निमंत्रण अवश्य दूँगा, और तुम मेरे माध्यम से आए निमंत्रण को अस्वीकार नहीं कर सकोगे।"

"आपने उन्हें समझाया नहीं कि द्यूत अनर्थ का मूल है। द्यूत की अधिकांश क्रीड़ाएँ, अंततः युद्ध में परिणत हो जाती हैं ?"

विदुर हँसे, "समझाया तो उसे जाता है, जिसकी समझ में पहले न आया हो, या जो समझना चाहे। वे तो पहले से ही समझे-समझाए बैठे हैं। महाराज धृतराष्ट्र ने मेरे समझाने के उत्तर में मुझे राजकीय आदेश दिया कि मैं इंद्रप्रस्थ जाऊँ और उनकी ओर से तुम्हें हस्तिनापुर आने के लिए आमंत्रित करूँ, द्यूत के लिए नहीं, समारोह के लिए।"

युधिष्ठिर द्वन्द्व में पड़ गए। वे क्या सोच रहे थे···और यहाँ क्या हो रहा है।

"यदि मैं हस्तिनापुर न जाऊँ तो ?" सहसा युधिष्ठिर ने पूछा।

विदुर मुस्कराए, "अपने पिता महाराज धृतराष्ट्र का आत्मीय पारिवारिक निमंत्रण है। उसे अस्वीकार कर सकोगे ?"

"नहीं। गुरुजनों की अवमानना होगी।" युधिष्ठिर कुछ सोचते हुए बोले, "यह अधर्म है।"

"इतना ही नहीं।" विदुर बोले, "मैं वैसे भी तुम्हें हस्तिनापुर न जाने का परामर्श नहीं दे सकता। वहाँ तुम्हारे संबंधी होंगे। एक विराट राज-समाज जुटेगा। तुम लोग वहाँ नहीं जाओगे, तो तुम्हारी अनुपस्थिति अपने-आप ही तुम्हारे विरुद्ध अनेक षड्यंत्रों को जन्म देगी। दुर्योधन उसका लाभ उठाएगा। लोग मानेंगे कि चक्रवर्ती हो जाने के कारण, तुम स्वयं को उनसे श्रेष्ठ समझने लगे हो। अहंकारी हो गए हो तुम ! उनके मन में ईर्ष्या जन्म लेगी। तुम से संवाद हो नहीं पाएगा। तुम्हारी विरोधी धारणाएँ पुष्ट होंगी। वे लोग घृणा के आधार पर निकट आएँगे और तुम्हारे विरुद्ध एक शक्तिशाली संगठन

खड़ा हो जाएगा। दुर्योधन उनका उपयोग तुम्हारे विरुद्ध करेगा। संभवतः वह उनकी सम्मिलित सेनाओं के बल पर किसी भी बहाने, तुम्हारे विरुद्ध युद्ध छेड़ दे।" विदुर बोले, "नहीं पुत्र ! तुम लोगों की उपस्थिति आवश्यक है, ताकि राज'समाज से तुम्हारा संपर्क बना रहे, तुम्हारा प्रभाव अक्षुण्ण हो, और तुम्हारे विरोधी परस्पर मिल न पाएँ।"

युधिष्ठिर चुपचाप सुनते रहे और फिर बहुत धीरे से बोले, "लगता है कि व्यासदेव की भविष्यवाणी सत्य होकर रहेगी।"

विदुर चौंके, "क्या कहा था, व्यासदेव ने ?"

"प्रकृति हिंसा की लीला रच रही है, और उस लीला के केन्द्र में मैं और मेरे भाई हैं।"

"ओह !"

दोनों चुपचाप एक-दूसरे को देखते रहे, जैसे संप्रेषण के लिए शब्द चुक गए हों, और दृष्टि भी असहाय हो गई हो।

"न जाऊँ तो एक प्रकार का अधर्म होगा, और जाऊँ तो दूसरी प्रकार का।"

"मेरा विचार है कि तुम्हें जाना तो चाहिए : हस्तिनापुर न जाना, तुम्हारे हित में नहीं है। या…" विदुर कुछ अटके, "या तुम अपने भाइयों से विचार-विमर्श कर लो।"

"भाई।" युधिष्ठिर एक शब्द कह कर चुप हो गए।

"क्यों ?"

"मेरा विचार है कि यदि मेरे भाइयों अथवा द्रौपदी को पता लग गया कि दुर्योधन इस प्रकार का कोई षड्यंत्र रच रहा है, तो दुर्योधन कुछ करे न करे, मेरे भाई ही इतना उत्पात् कर देंगे कि महर्षि की आशंका सत्य होकर रहेगी।"

"कैसा उत्पात् ?"

"एक तो यही हो सकता है कि वे हस्तिनापुर जाना ही अस्वीकार कर दें। या अपने विरुद्ध रचे जा रहे षड्यंत्र की आशंका से अभिभूत होकर पहुँचें, और किसी छोटी-सी उत्तेजना से आविष्ट होकर, भीम कोई ऐसा उत्पात् मचा दे कि सब कुछ अशोभनीय हो उठे, और अनेक राजाओं का हमारे प्रति सद्भाव नष्ट हो जाए।…"

"फिर तो पुत्र ! एक ही मार्ग है कि ये सारी सूचनाएँ तुम अपने-आप तक ही सीमित रखो, और सावधानी से इस प्रकार व्यवहार करो कि तुम हस्तिनापुर जाओ भी और उनके षड्यंत्रों से तुम्हारी कोई क्षति भी न हो। तुम अपने धर्म की रक्षा कर सको, और धर्म तुम्हारी रक्षा कर सके।"

"आप ठीक कह रहे हैं काका।"

"पर सावधान रहना पुत्र ! दुर्योधन को किसी प्रकार की शंका न हो कि मैंने तुम्हें इस संदर्भ में कोई सूचना दी है। मेरी सुरक्षा के लिए भी यह आवश्यक है, और हस्तिनापुर में बने रहने के लिए भी।"

"और कहाँ मैं यह सोच रहा था कि आप से कहूँगा कि आप अब हस्तिनापुर छोड़कर, हमारे पास इंद्रप्रस्थ में आ जाएँ।"

"नहीं युधू।" विदुर ने ममता भरी दृष्टि से युधिष्ठिर की ओर देखा, "मेरा हस्तिनापुर में बने रहना भी आवश्यक है, और धृतराष्ट्र से स्नेह-संबंध बनाए रखना भी। मैं वहाँ

रहूँगा, तो कुछ तुम्हारे हितो की रक्षा करूँगा, और कुछ तुम्हें सावधान करता रहूँगा। मैं इंद्रप्रस्थ आ गया तो हस्तिनापुर की सभा से हमारा संपर्क एकदम टूट जाएगा। यह तुम्हारे हित में नहीं है पुत्र।"

"आप ठीक कह रहे हैं काका।" युधिष्ठिर का मन उदास हो आया था।

दुर्योधन को स्मरण नहीं है कि निकट अतीत में पितामह ने कभी उसे इस प्रकार बुला भेजा हो। इधर के कुछ वर्षो में तो जब कभी पितामह को किसी कारणवश दुर्योधन से मिलने की आवश्यकता हुई, उन्होंने सदा ही उसे सूचना भिजवाई कि वे उससे मिलना चाहते हैं, और वे स्वयं ही उसके पास चले आए''' दुर्योधन ने कहा भी कि पितामह उसे बुला लिया करें, तो पितामह ने यही कहा कि अब वह छोटा बालक नहीं था कि पितामह के अधिकार से वे उसे आने का आदेश दें। अब वह हस्तिनापुर का युवराज था''' और युवराज भावी 'महाराज' होता है। युवराज की भी राजा के समान एक मर्यादा होती है, जिसका पालन सब को करना चाहिए। जैसे वे महाराज धृतराष्ट्र की मर्यादा का सम्मान कर उन्हें आदेश देने से बचते रहते हैं, वैसे ही उन्हें 'युवराज दुर्योधन' की मर्यादा का भी सम्मान करना होगा'''

किंतु आज उन्होंने फिर उसे एकदम उसी प्रकार बुला भेजा था, जैसे वे उसे उसकी बाल्यावस्था में बुलाया करते थे। इस आदेश से राजकीय पद और मर्यादाएँ समाप्त हो जाती थीं और केवल पितामह और पौत्र का संबंध रह जाता था।''' उसमें से यह भी आभासित होता रहता था कि पितामह अप्रसन्न हैं, और वे दुर्योधन को ठीक उसी प्रकार बुला रहे हैं, जैसे कोई न्यायाधीश किसी अपराधी को न्यायाधिकरण में उपस्थित होने का आदेश देता है, और अपराधी जानता है कि उसे न्यायाधीश के सम्मुख आरोपों का उत्तर देना होगा, और न्यायाधीश उसे अपराधी अथवा अपराधमुक्त घोषित करेगा। उसे क्षमा करेगा अथवा दंड का विधान करेगा।''' दुर्योधन जानता था कि पितामह ने जब-जब उसे इस प्रकार अपने सम्मुख उपस्थित होने का आदेश दिया था, उनके न्यायाधीश ने उसे अपराधी घोषित किया था, किंतु उनके पितामह ने उसे क्षमा कर दिया था। न्यायाधीश चाहता था कि उसे उसके कृत्यों के लिए दंडित किया जाए, उसके आचारण को सुधारने का उसका कोई प्रयत्न नहीं था।''' किंतु पितामह ने सदा चाहा था कि उसके कृत्यों को भुलाकर उसके आचरण को सुधारा जाए''' इसीलिए दुर्योधन यह मानता था कि पितामह न कभी पूर्णतः पितामह बन पाए, और न पूर्णतः न्यायाधीश।''' पर आज जाने फिर क्या हुआ था कि पुराने समय के ही समान उन्होंने उसे अपने सम्मुख उपस्थित होने का आदेश दिया था।''' क्या उन्हें द्यूत की योजना का आभास हो गया था ?''' पर नहीं इसकी सूचना उन्हें कहाँ से मिल सकती है। इस का पता तो सिवाय महाराज धृतराष्ट्र, मातुल शकुनि तथा स्वयं दुर्योधन के और किसी को भी नहीं है।''' यहाँ तक कि दुःशासन को भी नहीं।''' तो पितामह को कौन बताएगा ?''' पर वह विदुर गया है इंद्रप्रस्थ। कहीं उसे तो कोई आभास नहीं हो गया ? वह तो जैसे दुर्योधन का चेहरा देखकर सूंघ लेता है कि दुर्योधन के मन में क्या है।''' वैसे उसने महाराज धृतराष्ट्र के

मुख से कुछ उगलवा लिया हो, तो कोई बड़ी बात भी नहीं। अपनी सारी धूर्तता और सावधानी के बाद भी महाराज कभी-कभी विदुर के प्रति अत्यन्त भावप्रवण हो जाते हैं। उस समय वे भूल जाते हैं कि उन्हें उसे क्या बताना चाहिए और क्या नहीं बताना चाहिए। हो सकता है कि उसी के माध्यम से पितामह को भी कोई आभास मिल गया हो...

'पर क्या कर लेंगे पितामह ?'... दुर्योधन के उद्धत मन ने सोचा...'अब वह समय नहीं है कि वे दुर्योधन को डाँट दें, और उसकी योजनाओं को कार्यान्वित होने से रोक दें। ऐसा कुछ होगा, तो वह उन्हें स्पष्ट रूप से बता देगा कि उन्हें युवराज का सम्मान करना आना चाहिए...'

'पर इस सब की आवश्यकता ही क्या है ?'... उसने सोचा...'वह पितामह के पास न जाए तो ? क्या कर लेंगे वे ?...'

उसे लगा यह न जाने वाला स्वर उसका अपना नहीं, शकुनि का है। वह कितना भी उद्दंड हो जाए, पिता और पितामह से उसका कितना भी मतभेद हो जाए, किंतु वह उनकी इस प्रकार अवज्ञा नहीं कर सकता।... इस प्रकार अपमान नहीं कर सकता उनका... वह उनके पास जाएगा। उनकी बात सुनेगा। जाने वे क्या कहना चाहते हैं, क्यों मिलना चाहते हैं।...यदि वे थोड़ी-सी ताड़ना करेंगे, तो दुर्योधन सुन लेगा। बाल्यावस्था से सुनता ही तो आया है... एक बार और सही...

दुर्योधन जब भीष्म के सम्मुख पहुँचा, तो वे उसे क्रुद्ध अथवा रुष्ट दिखाई नहीं दिए। उनका रूप उस समय ओजस्वी भी नहीं लग रह था। वे पर्याप्त चिंतित थे... उन्हें किसी सीमा तक उदास भी कहा जा सकता था।... दुर्योधन कुछ विचलित हुआ। सिंह को देखकर मनुष्य उससे भयभीत हो सकता है। उससे अपनी रक्षा का उपाय भी कर सकता है। सिंह हिंस्र हो, तो उस पर प्रहार भी किया जा सकता है। उसे आहत भी किया जा सकता है... और कभी-कभी मानव-भक्षी के प्राण लेकर आखेटक को सुख भी मिलता है, किंतु यदि सिंह इस प्रकार निर्बल और असहाय दिखाई दे, तो उस पर प्रहार कौन करेगा ? ओज की हताशा किसे अच्छी लगेगी... और भीष्म तो फिर दुर्योधन के पितामह थे...

"आपने मुझे बुलाया पितामह ?" दुर्योधन ने प्रणाम करके पूछा।

"बैठो पुत्र।"

दुर्योधन बैठ गया।

"मुझे ज्ञात हुआ है कि तुम पांडवों से प्रसन्न नहीं हो।..." भीष्म ने दृष्टि उठा कर दुर्योधन की ओर देखा।

दुर्योधन ने अपने असमंजस में बिना सोचे-विचारे कुछ कहना चाहा, किंतु भीष्म ने अपनी हथेली उठा कर उसे बोलने से मना कर दिया।

"मैं किसी वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहता।" भीष्म ने अत्यन्त उदासीन स्वर में कहा, "मैं दोषारोपण अथवा स्पष्टीकरण में भी नहीं पड़ना चाहता। मैं इसका अथवा उसका पक्ष लेना भी नहीं चाहता। मैं तो केवल इतना कहना चाहता हूँ पुत्र ! कि सदा

मध्यस्थ रहते हुए भी मैंने यही अनुभव किया कि पांडवों के साथ कभी न्याय नहीं हुआ। जिस समय राज्य का विभाजन हुआ, उस समय तो वहुत ही अन्याय हुआ। तुमने उनके वध का भी प्रयत्न किया··· किंतु युधिष्ठिर ने अपने व्यवहार से सिद्ध कर दिया है कि उसका मन अव भी हमारी ओर से खट्टा नहीं हुआ है। वह मुझे अव भी अपना पितामह मानता है, तुम्हारे जनक को अपना पिता और तुम सव को अपना भाई। उसने अपने परम सहायक यादवों और पांचालों को एक ओर हटा कर, यज्ञ का सारा तंत्र हम कौरवों को सौंप दिया । अव तुम उन से क्यों रुष्ट हो ?···"

दुर्योधन ने फिर से कुछ कहना चाहा, किंतु भीष्म ने पुनः उसे रोक दिया।

"मैं चाहता हूँ कि तुम ऐसा कुछ मत करो कि पांडवों का मन तुम्हारी ओर से फट जाए।" भीष्म बोले, "मैं यह मान वैठा था कि पांडवों का हस्तिनापुर से पूर्ण संबंध-विच्छेद हो चुका है, किंतु उन्होंने अपने व्यवहार और हमारे सत्कार के माध्यम से प्रवल प्रमाण दिए हैं, कि संबंध-विच्छेद तो दूर, उन्होंने हमारी ओर से अपना मन मैला भी नहीं किया है।··· अव तुम अपना आचरण सुधारो। वे तुम्हें अपना भाई मानते हैं, तो तुम उनके भाई बन कर दिखाओ।"

भीष्म ने अपनी बात समाप्त कर उसकी ओर देखा।

'तो बात वहुत गंभीर नहीं है।' दुर्योधन ने मन-ही-मन सोचा, 'वृद्ध को कुछ भी ज्ञात नहीं है, वस शून्य में वाण चला रहा है।'

"अब मैं कुछ कह सकता हूँ पितामह ?" दुर्योधन ने *आहत प्रतिवादी की मुद्रा* में कहा।

"हाँ, कहो।" भीष्म वोले, "इसीलिए वुलाया है तुम्हें।"

"सव का यही विचार है कि पांडव वहुत भले हैं और मैं घोर नीच और दुष्ट हूँ।" दुर्योधन का स्वर रुदनोन्मुख हो चला था, "कोई यह नहीं देखता कि ऊपर से इतने साधु दिखने वाले और वाणी के इतने मधुर और कोमल पांडवों के मन में कितना विष है।···"

"कैसा विष ?"

"आपने यह तो देखा कि अतिथियों से उपहार ग्रहण करने का महत्त्वपूर्ण दायित्व उन्होंने मुझे सौंप दिया, किंतु यह नहीं सोचा, कि उन्होंने ऐसा क्यों किया ?"

"इसलिए कि वे तुम्हें विश्वास-योग्य समझते हैं। तुम्हें अपना भाई मानते हैं। तुम उनके आत्मीय हो अन्यथा युधिष्ठिर यह दायित्व भीम अथवा अर्जुन को सौंपता।" भीष्म वोले।

"नहीं।" दुर्योधन लगभग चीत्कार कर वोला,"इसलिए कि वे अपने वैभव का मेरे सामने प्रदर्शन कर सकें। मैं देखूँ कि किस प्रकार राजा लोग सहस्रों स्वर्ण मुद्राएँ और वहुमूल्य मणि-माणिक्य लिए हुए, वैश्यों के समान उनके द्वारों पर पंक्ति-वद्ध खड़े हैं। मैं उनका वैभव देखूँ और ईर्ष्या से जलूँ। वे मुझे चिढ़ाना नहीं चाहते थे, जलाना चाहते थे पितामह ! मुझे अपनी ही दृष्टि में अपमानित करना चाहते थे···।"

"क्या प्रमाण है तुम्हारे पास कि यह उनका सौहार्द नहीं, द्वेष था ?" भीष्म का स्वर कुछ कठोर हुआ, "तुम अपनी कुटिल प्रकृति के हाथों इतने वाध्य हो कि संसार

में किसी आचरण का कोई उज्ज्वल पक्ष देख ही नहीं सकते।"

दुर्योधन को लगा, उसकी आत्मा में फिर वही वालक दुर्योधन आ वैठा है, जो स्वयं को दीन-हीन वता कर, एड़ियाँ रगड़ कर, रो-धो कर अपने पिता और पितामह को अपनी बात के सत्य होने का विश्वास दिला सकता था। उन्हें सहमत कर सकता था। उनसे अपनी बात मनवा सकता था...

"आप जानते हैं पितामह! कि भीम मुझे बुला कर अपनी सभा का वह खंड दिखाने ले गया था, जिसे वे लोग स्फटिकस्थल कहते हैं।" दुर्योधन का स्वर पर्याप्त रोषपूर्ण हो चुका था।

"नहीं। मुझे यह ज्ञात नहीं है।" भीष्म बोले, "किंतु उससे क्या हुआ। वह स्थल युधिष्ठिर ने मुझे भी दिखाया था। वह दर्शनीय भी है और दर्शाने योग्य भी। उसमें मय दानव की अद्‌भुत कला है।"

"हाँ। अवश्य दिखाया होगा युधिष्ठिर ने आपको वह स्थल।" दुर्योधन बोला, "किंतु आपको उसने बताया होगा कि देखिए, यह स्थान स्थल जैसा दृष्टिगोचर होता है, किंतु वस्तुतः यह सरोवर है। यह स्थान सरोवर जैसा लगता है, किंतु वस्तुतः यह स्थल है। उसने आपको वताया होगा कि यहाँ द्वार है किंतु दिखाई नहीं देता, यहाँ द्वार नहीं है, किंतु उसका अभास होता है।"

"हाँ। वताया था।"

"किंतु जव भीम मुझे वहाँ लेकर गया, उसने मुझे कुछ नहीं नताया।" दुर्योधन रुआँसे स्वर में बोला, "मैं दीवार से टकराया, भूमि पर फिसला, सरोवर में गिरा और जल से वचने के लिए धोती उठा कर स्थल पर चलते हुए उन सव के उपहास का पात्र वना।..."

"भीम ने कुछ नहीं वताया ?" भीष्म ने आश्चर्य से पूछा।

"नहीं। भीम केवल अट्टहास करता रहा। अर्जुन, नकुल और सहदेव हँसते रहें। दास-दासियाँ मुँह छिपा कर चिहुँकते रहे..." दुर्योधन ने क्रोध और पीड़ा के भीषण भाव अपने चेहरे पर प्रकट किए, "केवल द्रौपदी ने बताया।..."

"क्या बताया ?"

"मुझे नहीं वताया। अपनी दासियों को बताया कि मैं अंधे पिता का अंधा पुत्र हूँ।..."

भीष्म स्तब्ध वैठे रह गए : ऐसा कहा द्रौपदी ने ?... देखने से तो द्रौपदी अत्यन्त शालीन स्त्री लगती है। कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि वह किसी को दिल दुखाने वाली ऐसी कटु बात भी कह सकती है।... पर नहीं। वह तो कह ही सकती है... पुत्री तो द्रुपद की ही है न। रक्त भी उसी का है, और संस्कार भी उसी के हैं।... उसने भी तो अपने एक वाक्य से ही द्रोण का हृदय छलनी कर दिया था। द्रोण जैसा संयमी तपस्वी उस एक वाक्य की मार नहीं झेल पाया था और हस्तिनापुर चला आया था। वर्षों हो गए, द्रोण का खौलता और उफनता हुआ रक्त आज भी ठंडा नहीं हुआ है।... ही द्रौपदी है, जिसने अपने स्वयंवर में पुकार कर कह दिया था कि वह सूतपुत्र से ाह नहीं करेगी।... कर्ण आज तक ऐंठ रहा है, उस एक वाक्य की चुभन से। वह

कभी क्षमा नहीं कर पाएगा द्रौपदी को, द्रुपद को, धृष्टद्युम्न को··· और अब द्रौपदी ने दुर्योधन को ऐसी बात कह दी है, जो उसके वक्ष से होती हुई, पसलियों में ऐसी जा चुभे कि मृत्यु-पर्यंत कसकती ही रहे···

भीष्म ने मस्तक उठाया। दुर्योधन की ओर देखा और बोले, "मैंने तुम्हें पहले ही कहा कि मैं न किसी का पक्ष लेना चाहता हूँ, न किसी को दोषी अथवा निर्दोष घोषित करना चाहता हूँ। मैं तो एक ही बात कहता हूँ कि भाइयों से शत्रुता मत करो···।"

दुर्योधन के मन में सहस्रों कमल खिल गए। उसका बाण ठीक लक्ष्य पर जा लगा था। पितामह के मन में पंचालों का विरोध जाग उठा था। उनका यह पूर्वाग्रह-ग्रस्त मन कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था कि दुर्योधन ने ये संवाद किस प्रकार गढ़े हैं···

"मैं क्या शत्रुता करूँगा पितामह। शत्रुता तो वे कर रहे हैं।"

"कटाक्ष द्रौपदी ने किया है, पांडवों ने तो नहीं।" भीष्म बोले।

"पांडवों ने कटाक्ष तो नहीं किया, किंतु प्रसन्न होकर सब से अधिक हँसे तो वे ही लोग।" दुर्योधन बोला, "वे द्रौपदी को डपट नहीं सकते थे क्या कि दुर्योधन उनका भाई है, उसका इस प्रकार अपमान नहीं होना चाहिए ?··· उलटे उसके साथ हो-हो कर हँसने लगे।"

"होनी बड़ी बलवान है प्रभु।" भीष्म ने आकाश की ओर देखा और आँखें बंद कर लीं···

38

धर्म क्या है ? युधिष्ठिर सोच रहे थे··· पितृव्य की आज्ञा का पालन अथवा आज्ञा का उल्लंघन ?··· आज्ञा का उल्लंघन तो धर्म नहीं हो सकता··· आज्ञा पिता की हो, माता की हो, कुलवृद्ध की हो···। उनके अपने छोटे भाई, उनसे असहमत होते हुए भी, अपनी इच्छा के विरुद्ध उनकी आज्ञा का पालन करते हैं, क्योंकि वह उनका धर्म है। अर्जुन बारह वर्षों के वनवास के लिए निकल गया था। किसी ने नहीं कहा था उसे जाने के लिए, वरन् सब लोग उसे रोक ही रहे थे, किंतु वह गया, क्योंकि वह उसका धर्म था। एकलव्य ने गुरु की आज्ञा का पालन किया, क्योंकि वह उसका धर्म था। ··· महाराज दशरथ ने श्रीराम को एक बार भी नहीं कहा था, वन जाने के लिए। कैकेयी ने भी नहीं कहा था। उसने केवल बताया था कि उसने महाराज दशरथ से यह वर माँगा है।··· पिता से माँगा गया वर सच्चा हो सके, इसलिए श्रीराम ने उसे पिता की आज्ञा मान लिया और चौदह वर्षों के वनवास के लिए चले गए···

'किंतु महाराज धृतराष्ट्र तो उनका सर्वस्व-हरण करने का षड्यंत्र रच रहे हैं।' ··· युधिष्ठिर के मन में एक स्वर उठा···'ऐसे में उसे पिता की आज्ञा कैसे माना जा सकता

है ? पिता कहीं सर्वस्व हरण करते हैं ?' ···'नहीं। पिता सर्वस्वहरण नहीं करते। किंतु धर्म का पालन तो तब भी किया जाना चाहिए, जब सर्वस्वहरण हो रहा हो। धर्म वही तो नहीं है, जिससे सुख मिलता हो, लाभ होता हो। धर्म की परीक्षा तो कठिन क्षणों में ही होती है। सर्वस्व दान कर के ही होती है। एकलव्य ने अपने दाहिने हाथ का अंगूठा देकर, अपना सर्वस्व ही दिया था। श्रीराम भी जानते थे कि कैकेयी के वरदान का अर्थ क्या है। उनका भी सर्वस्वहरण हो रहा था। फिर भी उन्होंने पिता के वरदान को सत्य कर दिखाया··· और आज युधिष्ठिर के सम्मुख धर्म की परीक्षा का अवसर आया है, तो वे नाप-तौल करने लगे हैं कि उन्हें हानि होगी या लाभ ?'

'किंतु जानते-बूझते सब कुछ लुटा देना तो मूर्खता है···।' युधिष्ठिर के मन में किसी ने कहा··· 'हाँ ! है तो मूर्खता ही। सांसारिक चातुरी तो कभी धर्म की श्रेणी में नहीं गिनी गई।··· जब पितामह भीष्म ने अपनी पूर्ण यौवनावस्था में दासराज को वचन दिया था कि न वे पिता का राज्य माँगेंगे और न विवाह करेंगे, तो वे सांसारिक चतुराई नहीं दिखा रहे थे। संसार के किसी बुद्धिमान ने इस कृत्य के लिए उनकी सराहना नहीं की होगी।··· किंतु भीष्म तो वे उसी प्रतिज्ञा के धर्म से ही बने। यदि उन्होंने अपना अधिकार न छोड़ा होता, पिता की इच्छा पूर्ण न की होती, तो वे 'भीष्म' नहीं बन सकते थे··· और चाहे कुछ भी बन जाते··· हरिश्चंद्र ने स्वप्न में दिए गए वचन को पूर्ण करने के लिए कौन-सा कष्ट नहीं सहा। तभी तो वे 'सत्य हरिश्चंद्र' बन सके।··· धर्म की गति अत्यन्त सूक्ष्म है, उसे समझना सरल नहीं है। उस पर चलना तो और भी कठिन है···'

'पर युधिष्ठिर।' उनके मन ने कहा, 'कुछ तो सोचो। यदि वे लोग अपने षड्यंत्र में सफल हो गए तो तुम्हारा सर्वस्व-हरण होगा। तुम तो संतोष कर लोगे, किंतु तुम्हारे भाई भी तो हैं। द्रौपदी है, अन्य बहुएँ हैं, माता हैं, बच्चे हैं··· कहाँ जाएँगे, वे सब ? क्या खाएँगे ? कहाँ रहेंगे ?··· उनकी रक्षा तो तुम्हें करनी चाहिए।'

'मैं धर्म की रक्षा करूंगा।' युधिष्ठिर ने कहा,' धर्म को मेरी रक्षा करनी होगी।'

'किंतु क्या आवश्यक है कि तुम द्यूत खेलो ?'

'नहीं। एकदम आवश्यक नहीं है। द्यूत सारे अनर्थों का मूल है। द्यूत नहीं खेलना है मुझे।' युधिष्ठिर ने कहा, 'किंतु समस्या तो पितृव्य के आदेश की है। वे बुलाएँगे, आह्वान करेंगे, आमंत्रित करेंगे··· आदेश देंगे।··· तब ? मैं आदेश का उल्लंघन कैसे करूँगा ? वे बुलाएँगे, तो मैं पीछे कैसे हटूँगा ?···'

"क्या सोच रहे हैं ?" सहसा द्रौपदी ने पूछा, "किसी गहन चिंता में हैं ?"

"नहीं। ऐसा कुछ तो नहीं।" युधिष्ठिर बोले, "आज विदुर काका आए थे न। उन्होंने जो निमंत्रण दिया है···।"

"उस निमंत्रण की बहुत चर्चा है हमारे परिवार में।" द्रौपदी बोली, "दुर्योधन यहाँ से प्रसन्न नहीं गया है। नीच प्रकृति का व्यक्ति कभी प्रसन्न रह ही नहीं सकता। प्रति क्षण वह तुलना करेगा, स्पर्धा करेगा। दूसरों की उन्नति देख कर द्वेष के कारण जलेगा।··· हमने सभा बनवाई है, तो वह भी सभा बनवाएगा। हमारे यहाँ उत्सव था, तो वह भी समारोह करेगा।··· आपने निमंत्रण स्वीकार किया या नहीं ?"

"निमंत्रण स्वीकार न करने का तो कोई कारण ही नहीं है।" युधिष्ठिर बोले, "वह पितृव्य का आदेश है। बुलाया है, तो पीछे नहीं हट सकता।"

"पीछे हटने की आवश्यकता भी क्या है।" द्रौपदी उत्साहपूर्वक बोली, "हमारे परिवार की स्त्रियाँ भी तो चल कर देखें कि हस्तिनापुर कैसा है, दुर्योधन की रानियाँ कैसी हैं"।"

"महामुनि व्यास ने भी राजाओं की ईर्ष्या का संकेत किया था।" युधिष्ठिर ने द्रौपदी द्वारा आरंभ की गयी स्त्रियों के उत्साह की चर्चा की ओर ध्यान नहीं दिया। वे धीरे से बोले, "उन्होंने कहा था, ऐसे में मैं किसी को रुष्ट न करूँ। सब से मेल-जोल करूँ" और यह तो अपने परिवार का ही उत्सव है।""

द्रौपदी हँस पड़ी, "आप तो इस प्रकार स्पष्टीकरण दे रहे हैं, जैसे मैंने आपको जाने से मना किया हो।"" वह रुकी, "किसी को आपत्ति नहीं है। रानियों ने तो नए वस्त्राभूषण भी बनवाने आरंभ कर दिए हैं। आप देखिए तो सही हस्तिनापुर में कैसी प्रदर्शनी लगती है। वस्त्राभूषणों तथा शृंगार-प्रसाधनों की"।"

युधिष्ठिर ने जैसे पहली बार द्रौपदी के उत्साह को देखा : उनकी चिंता ने द्रौपदी को तनिक भी स्पर्श नहीं किया था।" वह अन्य रानियों की चर्चा कर रही थी।" बहुत सँभव था कि अन्य रानियाँ तो बहाना मात्र हों। वह अपनी ही बात कर रही हो" वह प्रदर्शन की तैयारी में थी" अपने वैभव के प्रदर्शन की, अपने सौन्दर्य के प्रदर्शन की।" किस लिए था यह प्रदर्शन ? स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए ? दूसरों को हीन घोषित करने के लिए ? अपने अहंकार की तुष्टि के लिए ? अन्य लोगों को पीड़ित करने के लिए ?" ये रानियाँ अपने संबंधियों से मिलने जा रही थीं, अथवा कोई युद्ध जय करने ?

युधिष्ठिर को लगा कि उनके चारों ओर भयंकर युद्ध चल रहा है। संसार में जैसे प्रत्येक व्यक्ति अपने संपूर्ण अस्तित्व को लिए हुए एक महासमर में जूझ रहा है। सैनिक युद्धों में तो घोषित शत्रुओं से ही युद्ध होता है, उन्हें ही पराजित करने का प्रयत्न किया जाता है, किंतु इस महासमर में वह सिवाय अपने, अन्य प्रत्येक जीव से युद्धरत है। वह सबको जय करना चाहता है, सबको पराजित करना चाहता है। वह विश्व में स्वयं को सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित करना चाहता है" जब तक प्रत्येक जीव को पराजित नहीं कर लेगा, उसे संतोष नहीं होगा" युधिष्ठिर मन-ही-मन हँसे" अन्य लोगों को पराजित करने के प्रयत्न में, वह अपने वास्तविक शत्रु को तो भूला ही बैठा है। अपने अहंकार को अपना मित्र समझ कर उसे अपने वक्ष से चिपकाए हुए है। उसका ध्यान इस ओर जाता ही नहीं कि अपनी प्रत्येक विजय के साथ वह अपने अहंकार का पोषण कर रहा है, जो उसका सब से बड़ा शत्रु है। इस प्रकार वह अपने शत्रुओं को पराजित नहीं कर रहा, उनका पालन-पोषण कर रहा है"

क्या वे द्रौपदी से कहें कि इस प्रकार का प्रदर्शन और स्पर्धा उचित नहीं है। न तो वह स्वयं इस दिशा में सोचे, न अन्य रानियों को सोचने दे"

"आपने बताया नहीं कि आप किस बात से चिंतित हैं ?" द्रौपदी ने कहा, यह कह कर टालने का प्रयत्न मत कीजिएगा कि चिंतित नहीं हूँ, मनन कर रहा हूँ। मनन कर रहे हो, तो वही बता दीजिए कि किस विषय में इतना मनन हो रहा है।""

युधिष्ठिर ने द्रौपदी की ओर देखा : वह चंचलतापूर्वक मुस्करा रही थी।

युधिष्ठिर भी मुस्कराए, "तुम लोग अपने संबंधियों से मिलने हस्तिनापुर जा रही हो, या कौरवों की रानियों पर अपने सौन्दर्य तथा वस्त्राभूषणों की धाक जमाने ?"

"संबंधियों से मिलने का क्या अर्थ ?" द्रौपदी ने युधिष्ठिर को ऐसे देखा, जैसे उन्होंने कोई बहुत ही नासमझी की बात कह दी हो, "मिलने कोई नहीं जाता। मुझे कौन दुर्योधन की रानियों से अपनी दुख-सुख की बातें बाँटनी हैं। मिलने का अर्थ होता है, अपने वैभव का प्रदर्शन। अपने सौन्दर्य का प्रदर्शन। अपने बड़प्पन का प्रदर्शन। इस प्रदर्शन का सुख न हो तो कोई मिलने जाने का कष्ट क्यों करे ?"

द्रौपदी को खिलखिला कर हँसते देख युधिष्ठिर को लगा कि वह यह नहीं चाहती कि उसकी उक्ति को वे उसका सुविचारित और गंभीर मत समझें, किंतु युधिष्ठिर उस खिलखिलाहट के तल में बैठी उस आकांक्षा की उपेक्षा भी नहीं कर पा रहे थे, जिसे न द्रौपदी छिपा पा रही थी और न युधिष्ठिर अनदेखा कर पा रहे थे।

"तुम्हें ऐसा नहीं लगता कृष्णे।" युधिष्ठिर बोले, "कि हमारे प्रदर्शन से यदि देखने वाले के मन में हीनता या ईर्ष्या उत्पन्न होती हो, उससे स्नेह के स्थान पर द्वेष की वृद्धि होती हो, तो वैसा प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। उस शृंगार का क्या लाभ, जिससे दूसरे के मन में प्रसन्नता के स्थान पर ईर्ष्या जन्म ले ?"

"नारी प्रकृति-धर्मा है।" इस बार द्रौपदी की मुद्रा पूर्णतः गंभीर थी, "उसे न आप शृंगार से रोक सकते हैं, न प्रदर्शन से, न आत्म-मुग्धता से। वसंत आते ही सारी प्रकृति शृंगार कर उठती है, चाहे कोई देखे, या न देखे।" और नारी तो अपने यौवन में ही क्या, प्रत्येक अवस्था में शृंगार-प्रिय है।"

"मैं सारी नारी जाति का स्वभाव परिवर्तित करने का प्रयत्न नहीं कर रहा हूँ।" युधिष्ठिर बोले, "न मैं यह कह रहा हूँ कि तुम कांपिल्य अथवा द्वारका जाओ तो शृंगार मत करो। मैं तो केवल इतना कह रहा हूँ कि तुम लोग हस्तिनापुर में अपना वैभव प्रदर्शित न करो, तो अच्छा है।"

"हमारी स्पर्धा कांपिल्य अथवा द्वारका से नहीं हस्तिनापुर से है।" द्रौपदी ने अपनी दृढ़ता से युधिष्ठिर को चकित कर दिया, "वैसे मैं पूछ सकती हूँ कि आप हस्तिनापुरवासियों के लिए इतने व्याकुल क्यों हैं ?"

"तुम से कहा न कि महामुनि वेद व्यास ने ऐसी आशंका प्रकट की थी कि अन्य राजाओं की ईर्ष्या के माध्यम से प्रकृति, हमें केन्द्र में रख कर विनाश की सृष्टि रच सकती है। इसलिए हमें उन सब क्रियाओं से विरत रहना चाहिए, जिन से ईर्ष्या और विरोध का जन्म होता हो।"

"ओह ! तो जो ईर्ष्याग्नि राजसूय यज्ञ से प्रज्वलित हुई है, उसे आप इंद्रप्रस्थ की रानियों के शृंगार-निषेध से शांत करना चाहते हैं।"

युधिष्ठिर चकित थे : जिस संभावना से वे आशंकित ही नहीं, एक प्रकार से भयभीत थे, उसे सुन कर द्रौपदी तनिक गंभीर भी नहीं हुई।

"आप व्यर्थ चिंतित न हों महाराज।" सहसा द्रौपदी गंभीर हो गई, "जिस प्रकार किसी विद्वान को आप अपने ज्ञान का विकास करने से, वीर को अपने राजनीतिक प्रभाव

के प्रसार से तथा व्यापारी को अपने धन में वृद्धि करने से नहीं रोक सकते, वैसे ही आप नारी को अपने सौन्दर्य को धार देने से नहीं रोक सकते।··· और महाराज ! हमारा विकास सज्जनों में हर्ष उत्पन्न करेगा तथा दुर्जनों में द्वेष। तो फिर आप हमारा विकास रोक देंगे ?"

युधिष्ठिर ने द्रौपदी के प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया। द्रौपदी को कदाचित् उसकी अपेक्षा भी नहीं थी। वस्तुतः वह उसका प्रश्न ही नहीं था। प्रश्न के रूप में वह उसका सुविचारित मत था।···

युधिष्ठिर चुपचाप बैठे मनन करते रहे और द्रौपदी निश्चिंत होकर सो गई।···

युधिष्ठिर को नींद नहीं आई।··· वे सोच रहे थे कि यदि यही चर्चा वे भीम से करेंगे, तो शायद उसका उत्तर कुछ और भी कठोर होगा। वह प्रतिशोध की बात करेगा··· वह कहेगा कि दुर्योधन ने उन्हें पीड़ित किया था, अब यदि उनकी किसी बात से दुर्योधन को पीड़ा होती है, तो हो। दुर्योधन को अपने कृत्यों का मूल्य चुकाना ही होगा···

पर युधिष्ठिर को यह सब नृशंसता लगती है। यह क्रूरता है। इससे दूसरों की ही नहीं, उनकी अपनी शांति भी भंग होती है··· लोग दूसरों को पीड़ित कर सुख की नींद कैसे सो जाते हैं ?··· वह भी शत्रुओं को नहीं, अपने मित्रों को, अपने परिवार-जनों को, बंधु-बांधवों को ?··· किंतु बंधुओं की भी क्या परिभाषा है ?··· युधिष्ठिर ने स्वयं से पूछा··· दुर्योधन बंधु है उनका ? तो शत्रु कौन होगा ? विचित्र संबंध है उन लोगों का। दुर्योधन भाई ही रहेगा उनका, चाहे वह कुछ भी करता रहे। जीवन में जब पहला अवसर आया, उनके घर में उत्सव हुआ, तो किसे भाई मान कर उन्होंने आमंत्रित किया— दुर्योधन ही को तो। और अब वे कुरु-संतानों के रूप में अपने भाइयों के पास जाएँगे, अपने पिता और पितामह के घर जाएँगे, किंतु उनकी बुद्धि बार-बार कहती है, मत जाओ। वे भाई नहीं, दस्यु हैं। मत जाओ।··· किंतु पितृव्य का आदेशपूर्ण निमंत्रण है, पितामह चाहते हैं कि कौरव एक सौ तथा पाँच भाई न हों, एक सौ पाँच भाई हों, महामुनि व्यास चाहते हैं कि युधिष्ठिर किसी को रुष्ट न करें। वे शांति की रक्षा करें। प्रकृति की विनाश-लीला को निकट न बुलाएँ।···

क्या धर्म है युधिष्ठिर का ?

39

हस्तिनापुर के द्वार पर पांडवों का असाधारण स्वागत हुआ। दुर्योधन और उसके भाई इस प्रकार पांडवों के वक्ष से आ लगे, जैसे बहुत समय से बिछड़ा शिशु, अपनी माँ को देखकर उसकी ओर लपकता है। दुर्योधन ने इतनी भक्ति से युधिष्ठिर के चरण पकड़े कि युधिष्ठिर को विश्वास ही नहीं हो रहा था कि ऐसा भी संभव है।··· किंतु प्रमाण

उनके सम्मुख था…

"आज मैं सनाथ हुआ। घर का मुखिया ही सम्मिलित न हो, तो घर का उत्सव कैसा ?" दुर्योधन बोला, आप आ गए सम्राट्। तो हमारी 'तोरण स्फटिक सभा' धन्य हो गई। हीरे का मूल्य तो जौहरी ही जानता है। राजा तो अनेक हैं, पर क्या वे उस सभा का महत्त्व समझ पाएँगे।"

"धन्य तो मैं हुआ दुर्योधन।" युधिष्ठिर ने कुछ पुलकित होकर कहा, "जो तुम्हारे मन में मेरे प्रति स्नेह जागा। तुम्हें तो ज्ञात नहीं होगा, कि मैं कब से इस क्षण की प्रतीक्षा कर रहा था।"

"आप बड़े हैं। मेरी भूलों को क्षमा करें। अपनी मूर्खता में मैं किसी को क्या का क्या समझ लेता हूँ।" दुर्योधन बहुत विनीत भाव से बोला, "यह तो आपके राजसूय यज्ञ के अवसर पर ही मेरी समझ में आया कि हम भाई हैं। एक ही परिवार के हैं।… और प्रशासन की सुविधा के लिए चाहे हमने दो राजधानियाँ बना ली हैं, किंतु हम अविभाजित हैं। आप बड़े हैं। आप सम्राट् हैं। आपके बड़प्पन से ही हम आपके सारे छोटे भाई बड़प्पन पाते हैं। आपको सिंहासन पर बैठा कर आपको छत्र लगाने, व्यजन करने अथवा चंवर डुलाने से अर्जुन और भीम, नकुल और सहदेव छोटे नहीं हो जाते। वे गर्व करते हैं कि देखो, हमारा बड़ा भाई सम्राट् है। वैसे ही हम भी आपके छोटे भाई…।"

दुर्योधन के व्यवहार का अति उत्साह युधिष्ठिर को कुछ-कुछ खटक रहा था। उन्हें उसमें कृत्रिमता का आभास हो रहा था… किंतु युधिष्टिर नहीं चाहते थे कि उनका यह संशय कुछ बल पकड़े। कहीं ऐसा न हो कि उनका पूर्वाग्रहग्रस्त मन दुर्योधन के इस परिवर्तन को स्वीकार न करे और ये सुधरती स्थितियाँ पुनः विकृतियों को अंगीकार कर लें।…

वे लोग सबसे पहले पितामह से भेंट करने गए थे। पितामह ने उन्हें आशीर्वाद दिया। उनके लिए ईश्वर से प्रार्थना की।… और उन्हें यह कह कर विदा कर दिया कि वे यात्रा से आए हैं। थके होंगे। वे लोग स्नान-ध्यान कर भोजन और विश्राम कर लें। तब वे उनके साथ कुछ समय व्यतीत करना चाहेंगे।

पितामह से विदा होकर वे धृतराष्ट्र और गांधारी से मिलने गए थे। धृतराष्ट्र ने सहज भाव से उनके आने पर प्रसन्नता प्रकट की, किंतु गांधारी ने अपने पति से भी कुछ अधिक उत्साह दिखाया। वह कुंती से भी बहुत समारोहपूर्वक मिली, किंतु उसने सब से अधिक प्रेम द्रौपदी और सुभद्रा पर लुटाया। बलंधरा, देविका, विजया और करेणुमती को भी उसने अनेक बार अपने वक्ष से लगाया।…

"मेरी पुत्र-वधुओं को मेरे ही भवन में ठहरा दो।" उसने दुःशासन से कहा, "देखो। उनकी सुविधाओं का पूर्ण ध्यान रखना। एक-एक पुत्र-वधू की सेवा के लिए कम से कम दस-दस दासियाँ नियुक्त करो। ऐसा कुछ नहीं होना चाहिए कि मैं दे सकूँ और मेरी पुत्र-वधुओं को न मिले।"

"निश्चिंत रहो माँ।" दुःशासन ने अत्यन्त आज्ञाकारी पुत्र के रूप में कहा।

"कुंती को मेरे साथ वाले कक्ष में ठहरा दो।"

"नहीं दीदी। आप इतना कष्ट न करें।" कुंती ने अत्यन्त शालीन स्वर में कहा,

"मुझे तो अपने पुराने भवन में ही ठहरने दीजिए। मेरा विचार है कि मेरे पुत्र भी वहीं ठहरना पसंद करेंगे।"

"जैसी तुम्हारी इच्छा कुंती।" गांधारी ने स्वीकार कर लिया, "किंतु मेरी पुत्र-वधुओं को अपने साथ मत ले जाना। यहाँ रहेंगी तो उनसे मेरा परिचय बढ़ेगा, तभी तो वे भी मेरे प्रति स्नेह का अनुभव करेंगी। और फिर ये लोग अपनी देवरानियों-जेठानियों से भी मिल लें।"

"आपके तथा आपकी पुत्रवधुओं के बीच मैं नहीं पड़ूँगी।" कुंती ने कहा।

वे लोग अपने पुराने भवन में आ गए। उसकी स्थिति अब पहले से कहीं अच्छी थी और परिचारिकाओं की पूरी सेना वहाँ नियुक्त की गई थी। उन्हें सचमुच कोई असुविधा नहीं हुई और वे रात को गहरी नींद सोए।

"मैं विदुर के घर जा रही हूँ।" अगले दिन प्रातः कुंती ने कहा, "बहुत संभव है कि मुझे वहाँ कुछ विलंब हो जाए।"

"कोई बात नहीं माँ।" भीम बोला, "तुम मेरा रथ ले जाओ। विशोक तुम्हें ले जाएगा, और तुम्हारे लौटने तक वहीं प्रतीक्षा करेगा।"

कुंती चली गई।

पांडव अभी पूर्णतः तैयार भी नहीं हो पाए थे कि दुःशासन आ उपस्थित हुआ, "सम्राट् ! पिता जी ने आपको शीघ्र ही बुलाया है। वहाँ हवन की तैयारी हो गई है।"

"तुम लोग आरंभ करो। ऐसा न हो कि सब की प्रतीक्षा में शुभ मुहूर्त निकल जाए।" युधिष्ठिर ने कहा, "वैसे हम शीघ्रातिशीघ्र पहुँचते हैं।"

"नहीं सम्राट्। यह नहीं होगा।" दुःशासन बोला, "पिता जी ने कहा है कि हवन में पहली आहुति आप डालेंगे। स्फटिक तोरण सभा में प्रथम दिन होने वाली सारी क्रीड़ाओं का शगुन आप ही करेंगे। आपकी प्रतीक्षा में वहाँ सब कुछ रुका रहेगा। जब तक आप नहीं पहुँचेंगे, पिता जी कुछ भी करने नहीं देंगे।"

भीम ने परिहास की मुद्रा में कुछ चकित होने का अभिनय किया, 'बात क्या है दुःशासन। आज सम्राट् पर बहुत प्रेम लुटाया जा रहा है ?' मन-ही-मन वह विचार कर रहा था कि आज दुःशासन ने एक बार भी धृतराष्ट्र के लिए महाराज शब्द का प्रयोग नहीं किया था।

"पिता जी नहीं चाहते कि कोई कम महत्व का व्यक्ति स्फटिक तोरण सभा का शगुन करे।" वह बोला, "उससे सभा का भी महत्त्व कम होगा, और हस्तिनापुर का भी।"

"तुमने वासुदेव कृष्ण को आमंत्रित किया है या नहीं ?" सहसा अर्जुन ने पूछा।

"उनकी उपस्थिति से तो सभा की शोभा ही कुछ और हो जाती है।" दुःशासन के चेहरे पर स्नेह से कहीं अधिक आतंक था, "उन्हें तो बुलाना ही था, किंतु इस समय वे सौभ-नरेश से युद्ध में व्यस्त हैं। वे युद्ध की स्थिति में द्वारका को छोड़ कर नहीं आ सकते।" लगा दुःशासन को यह चर्चा एकदम प्रिय नहीं थी, "आइए ! आइए ! आप लोग आइए। पिता जी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

"अरे जब कृष्ण ही नहीं आया तो हस्तिनापुर में शिशुपालों का वध कौन करेगा।"

भीम अपने मुँह-ही-मुँह में बुदबुदाया।

"आइए सम्राट्। द्यूत-पटल बिछा दिया गया है।" दुर्योधन ने युधिष्ठिर को अत्यन्त सम्मानपूर्वक आमंत्रित किया, "द्यूत-फलक सामने रखे, सब लोग आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

"द्यूत।" युधिष्ठिर ने चिंतित स्वर में कहा, "किंतु मैं द्यूत के पक्ष में नहीं हूँ। मैंने तो विदुर काका से भी कहा था कि द्यूत क्षत्रियों के लिए अत्यन्त हानिकारक है।"

"अरे बड़े भैया।" दुर्योधन ने युधिष्ठिर की भुजा पकड़ कर मनुहार की, "घातक तो युद्ध भी होता है, पर क्षत्रिय उसे छोड़ देंगे क्या ? जो घातक नहीं है, वह क्षत्रियों के लिए नहीं है। और स्फटिक तोरण सभा का तो निर्माण ही हुआ है, क्षत्रियों के मनोरंजन के लिए। आप उसका उद्घाटन भी नहीं होने देंगे क्या ?"

युधिष्ठिर स्तब्ध से खड़े दुर्योधन को देखते रहे, फिर धीरे से बोले, "मेरे मन में जुआ खेलने की इच्छा नहीं है। उसमें केवल झगड़ा-फसाद होता है। कौन समझदार मनुष्य उसे पसंद करेगा। उसमें छल है, पाप है। इसमें न तो क्षत्रियोचित पराक्रम दिखाया जा सकता है, और न उसकी कोई निश्चित नीति ही है।"

"अरे द्यूतक तो बाद में खेलेंगे।" दुर्योधन हँसकर बोला, "आपको तो इस पीढ़ी के ज्येष्ठ कौरव तथा कौरवों के सम्राट् होने के नाते मात्र शगुन करना है। आप आरंभ कर दें, फिर जुआरी लोग अपने मन से खेलते रहेंगे। तोरण स्फटिक सभा में सर्वप्रथम द्यूत खेलने का सम्मान हम किसी साधारण राजा को कैसे दे सकते हैं। यह भी एक प्रकार की अग्रपूजा ही है सम्राट्। वैसे भी सम्राट के उपस्थित होते हुए कोई और पहला दाँव खेले, यह हमारी तोरण स्फटिक सभा के लिए सम्मानजनक नहीं है।"

युधिष्ठिर के पग आगे नहीं बढ़ रहे थे और उनका मन भी जैसे अड़ियल घोड़े के समान अपना विरोध प्रकट करता ही जा रहा था।... यह कैसा सम्मान है ? जिस क्रीड़ा को वे पाप समझते हैं, उसे सर्वप्रथम खेलने का सम्मान उन्हें दिया जा रहा है। राजसूय यज्ञ में धर्म-प्रर्वतक की अग्रपूजा की गई, और यहाँ जुआरियों की सभा में उन की अग्रपूजा हो रही है—धर्म राज की।....

"क्या पुत्र युधिष्ठिर आ गया ?" धृतराष्ट्र ने अपनी ज्योतिविहीन आँखों की पलकें झपकाते हुए कहा, "उसे कहो वह आकर द्यूत पटल पर बैठे।"

धर्मराज के सम्मुख अब और कोई विकल्प नहीं था। पितृव्य का आदेश हो चुका था।... वे आकर द्यूत पटल पर बैठ गए। उन्होंने पलट कर अपने भाइयों की ओर देखा : उन चारों को युधिष्ठिर से कुछ दूरी पर एक साथ ही बैठाया गया था।

"युधिष्ठिर से कहो, द्यूत आरंभ करे।" धृतराष्ट्र ने पुनः कहा।

"सम्राट् युधिष्ठिर आ गए हैं महाराज।" विदुर ने कहा।

"तो फिर आरंभ करें न। विलंब क्या है।"

युधिष्ठिर को धृतराष्ट्र की उतावली अच्छी नहीं लग रही थी, किंतु वे स्वयं को नियंत्रित किए हुए थे। जाने लोगों में यह कैसी प्रवृत्ति है कि जो कुछ वे स्वयं करना

चाहते हैं, वही वे दूसरों से भी करवाना चाहते हैं··· मदिरापान हो तो, द्यूत क्रीड़ा हो तो··· और धृतराष्ट्र तो न द्यूत खेल सकते हैं, न देख सकते हैं। फिर भी कैसे व्यग्र हो रहे हैं···

शकुनि को अपने सामने बैठते देख युधिष्ठिर कुछ चौंके, "मातुल ! आप खेलेंगे ?"

"सम्राट् के सम्मुख कोई साधारण खिलाड़ी बैठा शोभा नहीं देगा।" दुर्योधन बोला, "इसलिए यह निश्चित किया गया कि धर्मराज के सम्मुख द्यूतराज को ही बैठाया जाए···"

"किंतु आतिथेय तो तुम हो दुर्योधन। महाराज धृतराष्ट्र के स्थान पर तुम बैठो।" युधिष्ठिर का मन विकट विद्रोह कर रहा था। इच्छा हो रही थी तत्काल उठकर खड़े हो जाएँ, किंतु सामने धृतराष्ट्र, पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण तथा कृपाचार्य बैठे थे। उन सबकी अवहेलना कर, उठ जाना।··· उनके सम्मुख ऐसी उद्दंडता उचित होगी क्या ?··· और फिर वे तो पितृव्य के निमंत्रण पर यहाँ आए थे··· उसे ठुकराना···

"मैं ही खेल रहा हूँ धर्मराज।" दुर्योधन बोला, "धन मेरा ही लगेगा, किंतु मेरी ओर से पासे गंधारराज फेंकेंगे।" वह हँसा, "आपके सम्मुख किसी व्यावसायिक द्यूतक को नहीं बैठाया गया है। मातुल भी राजा ही हैं, गंधार देश के राजा। हम आपके पद की अवहेलना नहीं होने देंगे सम्राट्।"

"इसका क्या अर्थ ? ऐसा तो कभी हुआ ही नहीं।" युधिष्ठिर का ध्यान दुर्योधन द्वारा दिखाए जा रहे सम्मान और उसकी चाटुकारिता की ओर नहीं था।

"यह समझिए कि राजा की ओर से सेनापति लड़ रहा है··· ! यह तो क्षत्रियों का धर्म है। आपके यज्ञ के लिए भी तो दिग्विजय करने के लिए आपके भाई गए थे। युद्ध उन्होंने किए और विजय आपकी मानी गई।" दुर्योधन बोला, "आप आरम्भ तो कीजिए।··· बाद में यदि आप भी चाहेंगे कि आपके स्थान पर कोई और पासे फेंके, तो अपनी इच्छानुसार अपने किसी भाई को बैठा दीजिएगा।" और उसने धृतराष्ट्र की ओर देखा, "महाराज द्यूत आरंभ करने की अनुमति है ?"

"आरंभ हो।" धृतराष्ट्र ने अत्यन्त उल्लास के साथ कहा. "और द्यूत-धर्म की मर्यादा का पूर्ण पालन हो।"

युधिष्ठिर का मस्तिष्क जैसे एकदम चकरा गया : 'द्यूत-धर्म की मर्यादा का पूर्ण पालन हो' ··· क्या अर्थ है इसका ? उन्हें तो मात्र शगुन के रूप में द्यूत-क्रीड़ा आरंभ करने के लिए, सांकेतिक रूप से खेलने के लिए बैठाया गया था। वे लंबा द्यूत नहीं खेलना चाहते।··· किंतु महाराज धृतराष्ट्र की आज्ञा हो चुकी थी··· वे राजा भी थे और पिता भी। युधिष्ठिर का धर्म, उनकी आज्ञा का पालन करना ही था।··· वे स्वयं को बचाने के लिए अधर्म का सहारा नहीं ले सकते थे···

"क्या वदते हैं सम्राट् ?"

युधिष्ठिर ने अपने कंठ में पहने हुए हार को छुआ, "समुद्र के आवर्त में उत्पन्न हुआ यह कांतिमान मणिरत्न अमूल्य है। स्वर्ण से जड़ा हुआ यह कंठहार, मेरे हारों में सर्वोत्तम है। यह मेरा धन है। मैं इसे दाँव पर लगा कर तुम से खेलता हूँ।" वे रुके, "अब तुम इसके सम्मुख दाँव पर क्या लगाते हो ?"

दुर्योधन की उल्लासपूर्ण मुद्रा तत्काल परिवर्तित हो गई। उसने ऐसी मुद्रा बनाई,

जैसे युधिष्ठिर ने कोई बहुत ओछी बात कह दी हो। तिरस्कारपूर्ण स्वर में बोला, "मेरे पास मणियों और धन का अभाव नहीं है, और न ही मुझे अपने उस धन का कोई अहंकार है। आप दाँव जीतिए तो, जो कहिएगा मिल जाएगा।"

युधिष्ठिर का मन सशंक हुआ, दुर्योधन ने उसे सम्मानित करने के लिए सब से पहले द्यूत पर बैठाया है, या अपमानित करने के लिए। उसके एक-एक शब्द से विष फूट रहा है। अपने एक ही वाक्य में उसने जैसे सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उसके पास युधिष्ठिर से भी अधिक धन है, तब भी उसका उसे कोई अहंकार नहीं है, और युधिष्ठिर को अपने थोड़े धन का भी अहंकार है… युधिष्ठिर ने एक हार दाँव पर लगाया है, और दुर्योधन हार गया तो माँगे जाने पर कुछ भी दे देगा।…

तभी युधिष्ठिर का एक और मन हँसा, 'संभव है तुम्हारा ही अहंकार जाग रहा हो। तुम मान कर बैठे हो कि तुम्हारे पास दुर्योधन से अधिक धन है, इसलिए उसके द्वारा अपने धन की चर्चा तुम्हें चुभ गई।… तुम्हारे मन में उसके प्रति पूर्वाग्रह भी तो बहुत सारे हैं। उसकी बातों में तुम्हें दोष तो दिखाई देंगे ही…'

शकुनि ने पासे फेंके, और बोला, "लो। यह दाँव मैंने जीता युधिष्ठिर।"

युधिष्ठिर ने पासों को देखा, हाँ। शकुनि सचमुच जीत गया था। उसने पासे युधिष्ठिर को नहीं दिखाए थे, संभव है, उसमें ही कोई चतुराई हो।

"ये पासे मुझे दिखाओ मातुल।" युधिष्ठिर ने हाथ बढ़ाया।

"पासे तुम्हारे हाथों में भी आएँगे सम्राट्। इतने उतावले क्यों हो रहे हो। एक-आध दाँव जीत तो लो।" शकुनि बोला,"और कोई बड़ा दाँव लगाओ। यह एक आध हार अथवा मणि लगा कर खेलना सम्राटों की शोभा के अनुकूल नहीं है।"

युधिष्ठिर समझ गए कि वे छल के कीच में फँसते जा रहे हैं। धृतराष्ट्र के आदेश को पिता का आदेश मान कर वे खेलने बैठ गए। उनके साथ खेलने के लिए बैठा दिया गया शकुनि को… जो न केवल द्यूत विद्या का आचार्य है, वरन् भयंकर धूर्त भी है। एक बार बैठ कर धन शेष रहते, द्यूत से उठना क्षत्रिय की मर्यादा नहीं है, और यदि वे अपने स्थान पर, अपने किसी और भाई को शकुनि के साथ खेलने के लिए बैठा देंगे तो कठिनाई और बढ़ जाएगी। वे कम-से-कम पासों को पहचानते तो हैं। द्यूत के नियमों का तो उन्हें ज्ञान है। उनके भाइयों में से तो किसी ने कभी पासे अपने हाथ में लेकर देखे भी नहीं हैं। न उन्हें द्यूत क्रीड़ा का ज्ञान है, न उसके नियमों का।… वे अपने स्थान पर किसी और को नहीं बैठा सकते…

"तो फिर मेरी ओर से शगुन हो चुका।" युधिष्ठिर ने उठने की तैयारी की, "तुम अब जिसके साथ चाहो, द्यूत खेलो।"

शकुनि ने युधिष्ठिर के घुटने पर हाथ रखा, "महाराज की आज्ञा का उल्लंघन करके उठ रहे हो ? धर्म का त्याग कर रहे हो ?"

युधिष्ठिर का ध्यान इस ओर नहीं गया था। वे धृतराष्ट्र की आज्ञा के अनुसार खेलने बैठे थे।… अब या तो वे धृतराष्ट्र द्वारा द्यूत समाप्त करने की घोषणा पर, उनके आदेश से ही उठ सकते थे, या अपना सर्वस्व हार कर।…. यदि इन दोनों के अभाव में वे उठते थे तो राजा की आज्ञा का उल्लंघन कर वे अधर्म के भागी होते थे, पिता

की आज्ञा का उल्लंघन कर धर्म से च्युत होते थे, और धृतराष्ट्र के आदेश 'द्यूत-धर्म की मर्यादा का पूर्ण पालन हो' का विरोध करने के कारण मर्यादा का उल्लंघन होता"

"यह छल है शकुनि।" युधिष्ठिर ने अपने क्रोध को पीने का प्रयत्न किया तो उनकी आँखों में अश्रु आ गए।

शकुनि ने उनकी बात का कोई उत्तर नहीं दिया। उसने ऐसी मुद्रा बनाई कि जैसे युधिष्ठिर ने कोई अत्यन्त निरर्थक-सी बात कही हो।

"महाराज।" सहसा विदुर अपने स्थान से उठकर खड़े हो गए, "आपकी तोरण स्फटिक सभा का शगुन हो चुका। सम्राट् युधिष्ठिर ने आपकी तथा आपकी सभा की मर्यादा का पालन किया। आपकी इस सभा में पहला दाँव आपके पुत्रों में सबसे ज्येष्ठ तथा राजाओं में सबसे अग्रणी सम्राट् युधिष्ठिर ने लगाया। अब आप द्यूत रुकवा कर उन्हें उठने की आज्ञा दें। वे आपके निमंत्रण का सम्मान रखने के लिए खेलने बैठे थे, अपने व्यसन के कारण नहीं। न ही वे सर्वस्व-समाप्ति पर्यत द्यूत में सम्मिलित होने के लिए आए हैं।"

सारी सभा की दृष्टि धृतराष्ट्र के चेहरे पर जा टिकी।... किंतु धृतराष्ट्र की भंगिमा में तनिक भी परिवर्तन नहीं आया। वह उसी प्रकार शून्य दृष्टि से द्यूत-स्थल की ओर देखता रहा, जैसे विदुर ने उससे कुछ कहा ही न हो। सहसा उसने पूछा, "कौन जीता ?"

युधिष्ठिर के मन में बहुत कुछ स्पष्ट हो गया : धृतराष्ट्र की इच्छा नहीं थी कि द्यूत बंद हो। उसकी रुचि इस बात में थी कि कौन जीत रहा है।... अर्थात् वह चाहता था कि युधिष्ठिर हारे और पांडवों की संपत्ति दुर्योधन को प्राप्त हो जाए।...धर्मतः अब वे पूर्णतः धृतराष्ट्र की दया पर थे... या फिर वे धर्म छोड़ दें और उठ खड़े हों। कह दें कि वे और कुछ भी दाँव पर नहीं लगाएंगे और द्यूत भी नहीं खेलेंगे... किंतु क्या यह इतना सरल है ? दुर्योधन उन्हें इस प्रकार जाने देगा क्या ? ...द्यूत सभा के सारे झगड़े उसी क्षण से आरंभ होते हैं, जिस क्षण दोनों में से एक खिलाड़ी खेल के बीच में से उठकर जाना चाहता है।...यदि युधिष्ठिर ने उठने का प्रयत्न किया, तो दुर्योधन तत्काल उन पर द्यूत धर्म का उल्लंघन का आरोप लगाकर अशांति उत्पन्न करने का प्रयत्न करेगा।...उन्हें रोका जाएगा। संभव है कि यहाँ से निकलने के लिए पांडवों को बल-प्रयोग करना पड़े। यदि पांडवों अथवा धार्तराष्ट्रों में से किसी ने भी बल-प्रयोग किया, तो स्थिति सामान्य नहीं रहेगी। रक्तपात होगा और राजाओं के विनाश की घड़ी, अभी, इसी क्षण आ जाएगी, जिसकी आशंका महर्षि व्यास को सुदूर भविष्य में थी...

नहीं। युधिष्ठिर यहाँ क्षत्रियों का विनाश करवाने नहीं आए थे, वे तो स्नेह-सौहार्द बढ़ाने आए थे। यदि उन्हें धृतराष्ट्र के अपमान अथवा अवज्ञा की चिंता न होती, तो वे यहाँ आते ही क्यों ? अब यदि यहाँ आकर भी वही करना था तो इंद्रप्रस्थ से आने की आवश्यकता ही क्या थी। यह सब तो इंद्रप्रस्थ में रहते हुए भी हो सकता था। न आना शायद उतनी बड़ी उद्दंडता न होती, जितनी कि यहाँ आकर उनकी आज्ञा न मानना और उत्पात् मचाना।... यदि इस समय उन्होंने तनिक भी विरोध जताया तो उनके चारों भाई तो यहाँ प्रलय को साक्षात् उपस्थित कर देंगे। भीम और दुर्योधन तो वैसे ही एक-दूसरे

से युद्ध करने के लिए मचल रहे हैं···नहीं। युधिष्ठिर यह नहीं होने देंगे। यह उनका धर्म नहीं है।···

तो उनका धर्म क्या है ?

चुपचाप बैठे खेलते जाएँ, यह सब जानते हुए भी कि यह छल है, षड्यंत्र है, उन्हें वंचित करने की सुनियोजित योजना है ?···

वे या तो अपना धन ही बचा लें, या फिर अपना धर्म।

युधिष्ठिर का मन जैसे चिहुंक कर खड़ा हो गया··· वे क्या धन की रक्षा के लिए धर्म को खो देंगे ?··· यदि धन और धर्म में से किसी एक को चुनना हो तो वे क्या धन को चुनेंगे ?

नहीं। धन जाता है तो जाए, वे धर्म को नहीं जाने देंगे। वे धर्म देकर धन नहीं बचाएँगे, वे धन गँवा कर धर्म की रक्षा करेंगे।··· धन को बचाना ही होगा, तो उतना ही बचाएँगे, जितना धर्म की परिधि के भीतर बच पाएगा···

युधिष्ठिर की दृष्टि अपने भाइयों पर पड़ी, वे लोग निस्पृह से एक ओर बैठे थे। उन्हें शायद अभी तक समझ में नहीं आया था कि युधिष्ठिर किस कर्दम में फँस गए हैं। उन्हें युधिष्ठिर का धर्म-संकट ज्ञात नहीं था··· पर यदि युधिष्ठिर अपना सारा धन और राज्य, अपना धर्म बचाने के लिए हार गए, तो उनके इन भाइयों का क्या होगा ?··· वह धन अकेले युधिष्ठिर का नहीं था··· वह राज्य भी अकेले युधिष्ठिर का नहीं था···किंतु यह कह कर तो वे उसकी रक्षा नहीं कर सकते थे। जब तक उनके मध्य किसी प्रकार का विभाजन नहीं होता, तब तक उस सारे धन और राज्य के स्वामी युधिष्ठिर ही थे··· यदि उनके भाई अपना धन बचाना चाहें तो खड़े होकर सभा में कह दें कि वह धन अकेले युधिष्ठिर का ही नहीं, उनका भी है··· और उनके धन को हारने का अधिकार युधिष्ठिर को नहीं है।···

"क्या सोच रहे हो युधिष्ठिर।" शकुनि अपने कर्कश स्वर में हँसा, "धन का मोह प्रबल हो उठा है क्या ? देखा। दूसरों को उपदेश देना कितना सरल है, अपने धन का मोह त्यागना कठिन होता है। दाँव लगाते हो या स्वयं को निर्धन दास घोषित करते हो ?"

युधिष्ठिर के सम्मुख चारों ओर अंधकार ही अंधकार था। दाँव लगाए बिना निस्तार नहीं था।··· हाँ। यदि किसी दाँव में शकुनि संयोगवश हार गया और पासे युधिष्ठिर के हाथों में आ गए, तो बहुत संभव है कि वे उन पासों का छल-कपट कुछ समझ सके··· या फिर पितृव्य धृतराष्ट्र के मन में धर्म जागे अथवा उन्हें अपने भ्रातुष्पुत्रों पर दया आ जाए··· तभी यह द्यूत रुक सकता था··· अन्यथा उन्हें तो बस दाँव ही बदना था।···

"स्वर्ण निष्कों से भरी सहस्र पेटियों का अक्षय धन मैं दाँव पर लगाता हूँ।···और तुम दुर्योधन ?"

"तुम एक भी दाँव जीत जाओ सम्राट् युधिष्ठिर तो तुम्हारा हारा हुआ, पिछला सारा धन मैं तुम्हें लौटा दूँगा। तुम्हारी एक जीत, तुम्हारे हारे हुए दसों दाँवों की क्षतिपूर्ति कर देगी।" दुर्योधन बोला, "किंतु पहले धर्मपूर्वक यह घोषणा करो कि यह धन तुम्हारा है। तुम किसी और का धन तो दाँव पर नहीं लगा रहे ?"

"मैं धर्मपूर्वक घोषणा करता हूँ कि यह धन मेरा है।" युधिष्ठिर ने कहा, "मैं इसे

दाँव पर लगाता हूँ।"

"भीम ! अर्जुन ! नकुल और सहदेव। सुन लो। सम्राट युधिष्ठिर का कहना है कि यह धन उनका है।" दुर्योधन बोला, "बाद में मत कहना कि वह धन युधिष्ठिर का नहीं तुम्हारा था। यदि तुम अभी कह दो कि वह धन युधिष्ठिर का नहीं, तुम्हारा है। तुम युधिष्ठिर के स्वामित्व का तिरस्कार कर दो, तो यह द्यूत यहीं समाप्त समझो। दूसरों का धन दाँव पर लगा कर सम्राट् यह द्यूत नहीं खेल सकते।"

भीम अब तक कुछ सशंक हो चुका था। वे सब लोग जानते थे कि युधिष्ठिर को द्यूत का बस सैद्धांतिक ज्ञान ही था। उसका अभ्यास उन्हें नहीं था। शकुनि के सम्मुख तो वे तनिक भी टिक नहीं सकते थे। और अपनी इच्छा से द्यूत छोड़ कर वे उठ नहीं सकते थे। यदि वे दाँव लगाते चले गए तो संभवतः वे सारा धन हार जाएँगे··· किंतु दुर्योधन तो उनकी धन-संपत्ति के हरण से भी कहीं बड़ी चाल चल रहा था। वह पांडवों से कहलाना चाहता था कि युधिष्ठिर उनके स्वामी नहीं थे··· वे पांडवों और उनके धन के स्वामी नहीं थे।··· वे अधर्मपूर्वक अपने भाइयों के धन का हरण कर उसे द्यूत में हार रहे थे।··· दुर्योधन पांडवों की एकता को समाप्त कर, उनको परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध लड़वाना ही नहीं चाहता था, वह उनका भ्रातृ-धर्म ही खंडित कर देना चाहता था। वह पांडवों का धर्म छीनना चाहता था···

"क्यों भीम ?" दुर्योधन ने पुनः ललकारा।

भीम को मौन रहने के लिए अपना पर्याप्त दमन करना पड़ा। वह दुर्योधन की चाल में नहीं फँसेगा। धर्मतः धर्मराज उनके स्वामी थे। यह द्यूत आज सबके धर्म का निर्णय कर देगा।···

"चलो मातुल।" दुर्योधन ने कहा।

शकुनि ने पासे फेंके, "यह लो। यह दाँव भी मैंने जीता।"

सभा में तीव्र कोलाहल मच गया। दुर्योधन के अपने भाई और मित्र ही उसका जयघोष करने के लिए कम नहीं थे, और यहाँ तो पांडवों के अमित्र तथा शत्रु भी अनेक थे।

"इस बार कौन जीता ?" धृतराष्ट्र ने तीव्र उत्कंठा से पूछा।

"हम जीते हैं महाराज।" दुःशासन ने बताया।

धृतराष्ट्र के चेहरे पर उल्लास का सागर उमड़ पड़ा। उसने मुख से कुछ नहीं कहा, किंतु वह अपनी प्रसन्नता तनिक भी छिपा नहीं पा रहा था।

युधिष्ठिर के मन में धृतराष्ट्र के लक्ष्य के प्रति कोई संशय नहीं रह गया था।

"अब ?" युधिष्ठिर का एक मन कह रहा था, 'इस व्यक्ति को तुम अपने पिता के समान मानते हो ? तुम उसकी आज्ञा का पालन, अपना धर्म मानकर करते हो ?'

युधिष्ठिर ने अपने मस्तक को झटका···किसी व्यक्ति का व्यवहार देख कर उसके विषय में इस प्रकार विचार नहीं किया जा सकता। भीष्म पितामह को उनकी माता गंगा ने जल में डुबो कर उन्हें जीवन-मुक्त करना चाहा था, तो क्या पितामह ने उन्हें माता मानना अस्वीकार किया अथवा उनकी आज्ञाओं का पालन नहीं किया ? उनके पिता की कामासक्ति के कारण उनका राज्य छिना, वे स्त्री-सुख से वंचित हुए, तो क्या उन्होंने

पिता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया अथवा अपने संबंध विच्छिन्न कर लिए ?''युधिष्ठिर को अपने धर्म का पालन करना था, दूसरों के आचरण की समीक्षा नहीं करनी थी''

"बोलो युधिष्ठिर।" शकुनि उसे चुनौती भरी दृष्टि से देख रहा था।

"मैं अपना जैत्र नामक पुण्यमय राजरथ दाँव पर लगाता हूँ, जिसमें हम इंद्रप्रस्थ से यहाँ आए थे। यह मेरा धन है, जिसे दाँव पर लगाकर, मैं द्यूत खेल रहा हूँ।"

शकुनि ने पासे फेंके और अपनी निश्चित जीत की घोषणा की, "लो ! यह दाँव भी मैंने जीत लिया।"

युधिष्ठिर की दृष्टि उठी। उन्होंने पितामह को देखा : भीष्म की ग्रीवा झुकी हुई थी, नयन प्रायः मुँदे हुए थे और वे किसी चिंता में लीन दिखाई पड़ रहे थे। निश्चित रूप से वे प्रसन्न नहीं थे, किंतु इस गतिविधि में हस्तक्षेप करने की कोई इच्छा उन्होंने प्रकट नहीं की थी।...

'क्या पितामह उनका धर्म-बंधन समझते हैं ?'''युधिष्ठिर के मन में एक प्रश्न उठा, 'अथवा वे युधिष्ठिर को द्यूतक.—जुआरी—समझ कर ही लज्जित हुए बैठे हैं ? क्या वे समझते हैं कि युधिष्ठिर व्यसनी है, और अपने व्यसन के कारण जुए से उठ नहीं पा रहा है ? नहीं।''ऐसा नहीं हो सकता, अन्यथा वे उसके प्रति अपना रोष अवश्य प्रकट करते।'''

युधिष्ठिर ने विदुर की ओर देखा : वे धृतराष्ट्र के कान के निकट झुके हुए कुछ कह रहे थे। उनके चेहरे पर अनुनय-विनय के भाव थे। और धृतराष्ट्र जैसे उनकी ओर ध्यान ही नहीं दे रहा था। धृतराष्ट्र का खिला हुआ चेहरा द्यूत-स्थल की ओर उठा हुआ था। ज्योतिहीन आँखों में जितना उल्लास प्रकट हो सकता था, वह हो रहा था।''

युधिष्ठिर को कोई मुक्ति-द्वार दिखाई नहीं दे रहा था।

"मैं मांगलिक आभूषण धारण करने वाली अपनी एक लाख दासियों को दाँव पर लगाता हूँ। यह मेरा धन है, जिसे दाँव पर लगा कर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ।"

युधिष्ठिर का स्वर बहुत मंद था। वे आँखें खोल कर पासों की ओर देख भी नहीं रहे थे। उन्हें न शकुनि के हारने की आशा थी, न अपने जीतने की। वे जानते थे कि उनकी जीत मात्र इस तथ्य पर निर्भर थी कि वे अपने धर्म की रक्षा कर सकते हैं, या नहीं। कहीं ऐसा न हो कि उनकी कोई मानवीय दुर्बलता सिर उठा ले, वे स्वयं को रोक न पाएँ और वे पितृव्य की आज्ञा अथवा द्यूत की मर्यादा का उल्लंघन कर उठ खड़े हों, और दुर्योधन उद्दंडता पर उतरे तथा यहाँ शांति भंग हो जाए।

"तुम इन दासियों के स्वामी हो युधिष्ठिर ? वे तुम्हारा धन हैं ?" शकुनि ने जैसे पुष्टि चाही, "तुम इन्हें दाँव पर रख कर द्यूत खेल सकते हो ?"

"कौन अपने दास-दासियों का स्वामी नहीं होता ?" युधिष्ठिर ने उससे पूछा, "तुम अपने दास-दासियों के स्वामी नहीं हो, अथवा महाराज धृतराष्ट्र को अपने दास-दासियों पर अधिकार नहीं है ?"

"वह ठीक है।" शकुनि धूर्ततापूर्वक मुस्कराया, "मैंने दाँव चलने से पूर्व पुष्टि करना उचित समझा। हमारे गंधार में तो दास-दासियाँ अपने स्वामी का धन होते हैं। किंतु वहाँ तो परिवार का मुखिया, अपने परिवारजनों का भी स्वामी होता है।'''"

"यहाँ भी ऐसा ही होता है मातुल।" दुर्योधन ने कहा, "इसमें वहाँ और यहाँ का कोई अन्तर नहीं है। पत्नी अपने पति की, संतानें अपने पिता की, छोटे भाई-बहन अपने बड़े भाई की संपत्ति ही तो हैं। क्या हम लोग अपने पिता महाराज धृतराष्ट्र की संपत्ति नहीं हैं ?" उसने सहमति पाने के लिए युधिष्ठिर की ओर देखा।

"अवश्य।" युधिष्ठिर ने कहा, "वे हमारे पिता हैं।"

"मातुल ! तुम इस प्रकार छोटी-छोटी बातों के लिए धर्मराज पर संदेह मत किया करो। संदेह करने का तुम्हें दुष्ट रोग है। धर्मराज सदा सत्य बोलते हैं। जो उनका धन नहीं है, वे उसे कभी दाँव पर नहीं लगाएँगे : और जो उनका धन है, उसे बचाने का प्रयत्न भी नहीं करेंगे।" इस बार दुर्योधन ने पुष्टि के लिए युधिष्ठिर की ओर नहीं देखा, "तुम चलो मातुल। पासे फेंको।"

शकुनि ने पासे फेंके और चिल्लाया, "यह दाँव भी मैंने जीता।"

सभा में कोलाहल मच गया। दुर्योधन के मित्र अत्यन्त प्रसन्न थे...सुनीथ ने चिल्ला कर कहा, "युवराज सारी दासियाँ अपने पास ही मत रख लेना। कुछ बाँटना भी। मुझे तो बस वे चार दासियाँ दे देना, जिन्होंने राजसूय के अवसर पर इंद्रप्रस्थ में मेरी सेवा की थी।..." और वह बहुत अभद्र ढंग से हँसा।

भीष्म के मुँह का स्वाद कड़वा हो गया...ये हैं आज के राजा। छँटे हुए शोहदे। न किसी का मान न मर्यादा। कामुकता को भी ऐसे गौरवान्वित करते हैं, जैसे जीवन का परम पुरुषार्थ हो...भोग का अतिरेक इन्हें ले डूबेगा...

"मैं अपने एक लाख कार्य कुशल तथा अनुकूल दासों को दाँव पर लगाता हूँ। यह मेरा धन है और मैं इसे दाँव पर लगा कर, तुम्हारे साथ खेलता हूँ।"

युधिष्ठिर को लगा, उनके मन में एक उतावली-सी मच गई है।...यह सारा धन-संपत्ति, अधिकार, सत्ता, भोग के साधन—ये सब ही तो झगड़े के कारण हैं। इन्हीं के कारण युधिष्ठिर को हस्तिनापुर में इन विकृत-बुद्धि, धर्मशून्य राजाओं के समाज में आना पड़ा। उनके पास यह सारी संपत्ति न होती तो उन्हें कोई आमंत्रित नहीं करता, कोई उनका यहाँ आने के लिए आह्वान नहीं करता। यह संपति ही वह मल है, जिसके दोष के कारण उन्हें इस मलिन सभा में आना पड़ा। अब वे सारे मल को यहाँ त्याग कर ही बाहर निकल सकते हैं।...तो फिर वे किसका मोह करें।... अच्छा हो कि वे यहाँ से शीघ्रातिशीघ्र निकलें और धर्म के परिवेश में साँस लें। इस सारे छल-छंद में उनका दम घुट रहा था।...

शकुनि ने पासे फेंके और बोला, "वह देखो। यह दाँव भी मैंने जीता।"

"मैं अपने एक सहस्र युद्धक गज दाँव पर लगाता हूँ।" युधिष्ठिर ने कहा।

"सम्राट्।" शकुनि की मुद्रा पर्याप्त अभद्र हो चुकी थी, यह न भूलो कि युवराज दुर्योधन ने तुम्हारे एक जीते हुए दाँव पर पिछला सारा धन लौटा देने का वचन दिया है।...तो दाँव पिछले हारे हुए धन का पासंग तो हो...। एक सहस्र युद्धक गजों के बदले तुम्हारा अमूल्य हार, स्वर्ण निष्कों से भरी हुई एक सहस्र पेटियाँ, एक लाख दासियाँ, एक लाख दास— यह दाँव छोटा है।"

"ये युद्धक गज हैं, और वे स्वर्ण से आच्छादित रहते हैं। कम मूल्य नहीं है उनका।"

युधिष्ठिर बोले।

"चलो मान लेते हैं।" शकुनि ने कहा, "किंतु यह तो कहो कि यह धन मेरा है।"

"यह धन मेरा है, और उसे लगा कर मैं तुम से खेल रहा हूँ।" युधिष्ठिर ने कहा।

अर्जुन चिंतित दृष्टि से कभी अपने निकट बैठे भीम, नकुल और सहदेव की ओर देख लेता था, और कभी उसकी दृष्टि युधिष्ठिर पर जाकर ठहर जाती थी। वह युधिष्ठिर की स्थिति समझ रहा था। उनकी स्थिति, अपने मुख में अपना आखेट दबाए, जाल में फँसे उस सिंह की थी, जो यह समझ गया था कि अपना आखेट छोड़े बिना तो उसकी मुक्ति हो ही नहीं सकती, आखेट छोड़कर भी उसका सुरक्षित मुक्त होना निश्चित नहीं था''यदि पांडवों को अपने भाई को इस स्थिति से मुक्त कराना था और अपने हाथों निर्मित अपने राज्य तथा स्वार्जित धन को बचाना था, तो उनके सामने एक ही मार्ग था कि पांडव यह घोषणा कर दें कि वे युधिष्ठिर को न अपना राजा मानते हैं, न अपना स्वामी । न वह राज्य युधिष्ठिर का है, न वह धन।''किंतु जिस धर्म की रक्षा के लिए धर्मराज युधिष्ठिर जूझ रहे हैं, उस धर्म को उनके छोटे भाई इतनी सुविधा से त्याग देंगे? राज्य क्या धर्म से भी बड़ा है?''यदि धन-संपत्ति, राज्य और भोग, धर्म से भी अधिक आकांक्ष्य होते, तो अर्जुन मात्र एक संयोग के कारण, जब धर्मराज पांचाली के साथ शस्त्रागार में अकेले थे, बारह वर्षों के लिए द्रौपदी, अपने भाइयों, माता तथा इंद्रप्रस्थ को छोड़ वनों में क्यों भटकता रहता? इसीलिए तो, क्योंकि धर्म ही जीवन का सर्वस्व है। प्राण रहते, किसी भी लोभ अथवा त्रास के कारण धर्म का त्याग नहीं किया जा सकता। धर्मराज चौपड़ पर बैठे अपने धर्म की रक्षा कर रहे हैं, तो उनके भाइयों को अपने स्थान पर बैठे हुए उनके समर्थन में धर्म की रक्षा करनी होगी। अपने थोड़े-से लाभ के लोभ में वे धर्म का त्याग नहीं कर सकते'''

अर्जुन की दृष्टि आचार्य द्रोण पर आ टिकी। वे कृपाचार्य के साथ बैठे थे। वे धृतराष्ट्र के समान प्रसन्न नहीं दिखाई देते थे। किंतु विदुर काका के समान पीड़ित भी नहीं लग रहे थे।''पीड़ित वे नहीं थे, किंतु क्या वे अशांत भी नहीं थे? कदाचित अशांत तो थे। संभवतः वे स्वेच्छा से यहाँ नहीं बैठे थे। यद्यपि यह राजसभा नहीं थी, तो भी राजोत्सव तो था ही, इसलिए राजसभा के प्रमुख सदस्य यहाँ उपस्थित थे। हो सकता है कि आचार्य यहाँ अश्वत्थामा की इच्छा से बैठे हों। अश्वत्थामा, दुर्योधन और कर्ण के समान ही प्रसन्न लग रहा था।''यह कर्ण। पता नहीं यह किस जन्म का वैर लेकर उत्पन्न हुआ है। इसे पांडवों की प्रत्येक विपत्ति से असीम प्रसन्नता होती है। पांडवों के विनाश से कदाचित सब से अधिक प्रसन्नता इसी को होगी'''

दुर्योधन और उसके साथी हर्षोन्माद में पुनः चिल्लाए''और अर्जुन समझ गया कि धर्मराज एक और दाँव हार गए है। उसकी दृष्टि युधिष्ठिर की ओर न जाकर भीम की ओर चली गई। भीम अत्यन्त क्षुब्ध प्रतीत हो रहा था। उसे निष्क्रिय और मौन बैठने के लिए काफी कठोर आत्मदमन करना पड़ रहा था।'''अर्जुन समझ नहीं पाया कि भीम का यह क्षोभ धर्मराज के प्रति था, अथवा दुर्योधन एवं शकुनि के प्रति'''

भीम ने उसे अपनी ओर देखते पाया तो बहुत धीरे से बोला, "इन्हें क्षत्रियों के बहुत प्रिय हैं तो शुत्रओं के समान युद्ध-क्षेत्र में क्यों नहीं उतरते, मित्रों के समान

द्यूत का निमंत्रण क्यों भेजते हैं ?"...और फिर जैसे वह अपने-आप से ही बोला, "कोई बात नहीं है। आज इन्होंने द्यूत-निमंत्रण भेजा है, कल हम इन्हें रण-निमंत्रण भेजेंगे। देखता हूँ, क्षत्रियों के व्यसनों का कितना निर्वाह कर पाते हैं, ये लोग।"

"अब क्या लगाते हो युधिष्ठिर।" शकुनि की वाणी, युधिष्ठिर के हृदय को चीरती चली गई।

युधिष्ठिर ने जाने क्यों इधर-उधर देखा। किंतु फिर उसका मन अपने में ही लौट आया, 'लगता है कहीं से कोई सहायता नहीं आएगी। निर्णय तो स्वयं युधिष्ठिर को ही करना है।'...और वे अपना निर्णय कर चुके हैं : वे धर्म का त्याग नहीं कर सकते !'...किंतु यह सारा धन उनका ही नहीं, उनके भाइयों का भी है। उनका अपना धन होता तो वे एक बार में ही दुर्योधन की हथेली पर रख कर कहते, 'भाई दुर्योधन। यदि तुम्हारी सारी व्याकुलता इस धन के ही कारण है, तो लो यह सारा धन तुम ले लो और अपनी आत्मा के क्लेश को शांत कर लो। यदि यह धन लेकर तुम हम से —अपने भाइयों से वैर-विरोध छोड़ सकते हो, तो इसे ले लो।' ...किंतु वे ऐसा कर नहीं सकते। इंद्रप्रस्थ का राज्य पांडवों का है, युधिष्ठिर का नहीं।... किंतु अधर्म का सहारा लिए बिना, वे उसे बचा भी तो नहीं सकते...और अपना धर्म वे छोड़ नहीं सकते...

"क्यों ? क्या सब कुछ समाप्त हो गया ? शकुनि हँसा, "मैंने तो सुना था कि इंद्रप्रस्थ बहुत धनी राज्य है।"

"स्वर्ण दंडों तथा सधे हुए घोड़ों से युक्त एक सहस्र युद्धक रथ मैं दाँव पर लगाता हूँ। यह धन मेरा है, और मैं इसे दाँव पर लगा कर तुम से खेलता हूँ।"

"स्वीकार।" शकुनि बोला। उसने पासे फेंके और पुनः चिल्लाया, "लो यह धन भी मैंने जीता।"

"तीतर के समान, गंधर्व देश के मेरे घोड़े। वे सुवर्ण के हारों से विभूषित हैं। यह मेरा धन है। मैं इस धन को दाँव पर लगा कर तुम से खेलता हूँ।"

"तुम बहुत छोटे-छोटे दाँव लगा रहे हो युधिष्ठिर। इससे तो तुम्हारा हारा हुआ पिछला सारा धन नहीं लौट सकता।" शकुनि बोला।

युधिष्ठिर ने उसकी ओर देखा मात्र, कुछ कहा नहीं।

शकुनि ने पासे फेंके और बोला, "लो यह दाँव भी मैंने जीता।"

"लोहे और ताँबे की, शुद्ध तपे हुए सुवर्ण से भरी हुई निधियाँ। यह मेरा धन है। इसे दाँव पर लगा कर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ।" युधिष्ठिर ने अत्यन्त मंद स्वर में कहा।

शकुनि ने अपने दाँतों और मसूड़ों का फूहड़ प्रदर्शन करते हुए पासे फेंके और बोला, "लो ! यह दाँव भी मैंने जीत लिया।"

विदुर का स्वर अपेक्षा से कुछ ऊँचा हो गया, ताकि सभा में उपस्थित सब लोग सुन सकें, "महाराज ! मरणासन्न रोगी को जिस प्रकार औषधि अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार आपको मेरा शास्त्रसम्मत परामर्श अच्छा नहीं लगता। फिर भी मैं ढीठ होकर आप से कह रहा हूँ। कृपया मेरी बात पर ध्यान दीजिए।"

"क्या है विदुर।" धृतराष्ट्र ने अप्रसन्नता से कहा, "तुम क्रीड़ा के समय भी शांत

नहीं रह सकते। सब के मनोरंजन में बाधा पहुँचा रहे हो।"

"अपने भ्रातुष्पुत्रों का सर्वस्व हरण करवा कर आपका मनोरंजन हो रहा है ?" विदुर को लगा, उनकी वाणी घृणा से फट जाएगी।

"विदुर ! क्षत्रियों का मनोरंजन तो ऐसे ही होता है, युद्ध में वे शत्रु के प्राण लेते हैं, मृगया में आहत पशु की पीड़ा अथवा उसकी मृत्यु उन्हें आनन्दित करती है, और द्यूत में वे विपक्षी का सर्वस्व हरण कर सुख पाते हैं।" दुर्योधन ने कहा।

"तुम भूल कर रहे हो दुर्योधन।" विदुर ने उत्तर दिया, "सच्चे क्षत्रियों का आनन्द दस्युओं के प्राण हरण करने, दुष्टों का दलन करने, पापियों का विनाश करने में है। उनकी सभाओं में विद्वानों से जीवन के तत्व संबंधी वार्ताओं को सुना जाता है ? अपने भाइयों को बुला कर उनका आखेट नहीं खेला जाता। वहाँ सच्चरित तथा शुद्ध आचरण वाले विद्वान तपस्वियों की आवश्यकताएँ पूरी की जाती हैं, व्यसनियों का जमघट नहीं लगाया जाता।" विदुर पुनः धृतराष्ट्र से संबोधित हो गए, "शुक्राचार्य का कथन स्मरण रखिए महाराज। मधु बेचने वाला किसी ऊँचे वृक्ष पर मधु का छत्ता देख लेता है, तो उसे मधु पीकर मत्त होने की संभावना ही दिखाई देती है। मधुमत्त होकर, वृक्ष से नीचे गिर कर होने वाली अपनी मृत्यु कभी दिखाई नहीं पड़ती। वैसे ही द्यूत के मद में आपका यह पुत्र दुर्योधन अपने ऊपर आने वाले सकंट को भुला बैठा है। धूर्ततापूर्वक महारथी पांडवों को उनके धर्म-बंधन में बाँध कर उनका सर्वस्व हरण कर, उन्हें जो यह अपना शुत्र बना रहा है— उसका परिणाम यह नहीं जानता। ऐसी द्यूत सभाओं में जो व्यसन तृप्त होता है, वह रण-क्षेत्र में अपने वक्ष का रक्त पिला कर अपने शत्रुओं के व्यसन को तृप्त करने का दायित्व भी निभाता है।" विदुर का स्वर कुछ ऊँचा हुआ, "जिस दुर्योधन को आप अपना प्रिय पुत्र समझ रहे हैं। महाराज यह आपके वंश का काल है। इसे उसी प्रकार त्याग दीजिए, जिस प्रकार वृष्णियों, अंधकों, और भोजों ने कंस को त्याग था, अन्यथा अपना सारा वंश ही समाप्त समझिए।"

सारी सभा की आँखें धृतराष्ट्र की ओर मुड़ गईं, किंतु धृतराष्ट्र के चेहरे पर न कोई भाव आया और न उसके मुख से एक भी शब्द फूटा। उसने तो जैसे दाँव पर लगने वाले धन के विषय में अधिक सूचना पाने की उतावली में विदुर का एक भी वाक्य नहीं सुना था...

"आप यह देख कर बहुत प्रसन्न हो रहे हैं महाराज ! कि दुर्योधन इस द्यूत में जीत रहा है, किंतु आज का आपका यह असाधारण सुख बहुत शीघ्र ही क्षत्रियों के दूसरे व्यसन—युद्ध में परिणत होगा। आज इस द्यूत में जिस प्रकार युधिष्ठिर अपना बड़े से बड़ा धन नहीं बचा पा रहा, बहुत शीघ्र भविष्य में होने वाले उस युद्ध में आप उसी प्रकार अपने प्रिय से प्रिय व्यक्ति को भी बचा नहीं पाएँगे।"

"तुम ऐसा क्यों कहते हो विदुर।" अंतत : धृतराष्ट्र ने खीझ कर कहा, "क्या क्षत्रियों में कहीं द्यूत नहीं खेला जाता ?"

"जहाँ कहीं भी खेला जाता है, वहीं कलह जन्म लेती हैं।" विदुर ने कहा, "एक उदाहरण ऐसा नहीं है, जहाँ सर्वस्वहरण पर्यन्त द्यूत खेला गया हो, और उसके पश्चात् सुख शांति रही हो। इसीलिए कह रहा हूँ महाराज ! कि इस द्यूत को रोक दीजिए।

आपकी आज्ञा से यह द्यूत आरंभ हुआ है, और आपके आदेश से ही रुकेगा। यदि युधिष्ठिर की इच्छा से यह रुक सकता तो मैं कब से उनकी बाँह पकड़ कर, इस सभा में से उन्हें उठा ले गया होता।"

"मेरी इच्छा का इसमें क्या संबंध है ?" धृतराष्ट्र ने धीरे से कहा, "यह तो द्यूत की मर्यादा है।"

"द्यूत की मर्यादा के नाम पर जो छल-छंद हो रहा है, वह किसी से छिपा नहीं है।" विदुर ने कहा, "आप लोगों की गुप्त मंत्रणाओं से उत्पन्न यह द्यूत उस मर्यादा का अधिकारी नहीं है। यदि आपको धन ही की तृष्णा थी तो इस द्यूत की आवश्यकता नहीं थी। आप युधिष्ठिर को जानते नहीं क्या ? आपने उनसे एक बार कहा होता, तो वह अपना सारा धन लाकर आपके चरणों पर डाल देते। मैं अब भी आपसे कहता हूँ महाराज। कुंती के ये पुत्र स्वयं ही धनस्वरूप हैं, आप इनको अपनाइए। इन्हें नष्ट करने का प्रयत्न मत कीजिए।"'और," विदुर ने शकुनि की ओर अपने दाहिने हाथ की तर्जनी उठाई, "'''और यह पर्वतीय नरेश द्यूत की सारी कपट विद्या को जानता है। यदि दुर्योधन को नहीं त्याग सकते, तो इसे तो त्याग ही दीजिए। इसे कहिए कि यह जहाँ से आया है, वहीं लौट जाए।"

धृतराष्ट्र के कुछ कहने से पहले ही दुर्योधन आवेश में उठ खड़ा हुआ, "विदुर ! हम तुम्हारी कटुता की जितनी उपेक्षा करते हैं, तुम उतने ही कठोर होते जाते हो। तुम खाते हमारा हो और हितैषी हमारे शत्रुओं के बनते हो। हमने यदि द्यूत में अपने शत्रुओं का सर्वस्व-हरण कर भी लिया तो क्या अनुचित किया, वे भी तो अन्य राजाओं के धन का हरण करके ही सम्राट बने थे। तुम्हें मेरी उन्नति अच्छी नहीं लगती तो मैं क्या कर सकता हूँ।" दुर्योधन की मुद्रा कठोर हुई, "जो शत्रु का पक्षपाती हो, जो हम से द्वेष रखता हो और हमारा अहित करने वाला हो, ऐसे मनुष्य को घर में नहीं रहने देना चाहिए। अतः तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, चले जाओ, कुलटा स्त्री को मधुर वचनों से कितनी ही सांत्वना क्यों न दी जाए, कितना ही प्रेम क्यों न जताया जाए, वह पति को छोड़ ही जाती है।"

"युवराज।" विदुर तनिक भी हतप्रभ नहीं हुए थे, "इस संसार में सदा प्रिय बोलने वाले महापापी अनेक मिल जाते हैं, किंतु हितकर होते हुए भी अप्रिय वचन कहने और सुनने वाले व्यक्ति दुर्लभ होते हैं।" विदुर क्षण भर रुके, "दुर्योधन। तुम मंद बुद्धि हो, अतः तुम्हें तुम्हारा हित-अहित नहीं समझाया जा सकता, किंतु मैं अपने इष्ट-अनिष्ट का विचार न कर अपने स्वामी के हित की बात कह रहा हूँ। महाराज धृतराष्ट्र तथा इस कुरु वंश का हित इसमें नहीं है कि मैं हस्तिनापुर छोड़ कर कहीं चला जाऊँ, सब का हित इसमें है कि तुमको और इस शकुनि को यदि दंडित न किया जा सके, तो त्याग अवश्य दिया जाए।"

विदुर दुर्योधन और धृतराष्ट्र के वार्तालाप से सर्वथा अप्रभावित शकुनि अपनी कुटिल मुस्कान अधरों पर लाया, "युधिष्ठिर। तुम पांडवों का सारा धन हार चुके हो। कोई गुप्त धन शेष हो तो उसे भी दाँव पर लगाओ, ताकि तुम्हारा हारा हुआ पिछला धन लौट कर तुम्हारे पास आ सके।"

"मैं अपना शेष धन दाँव पर लगा कर तुम्हारे साथ खेलता हूँ।" युधिष्ठिर का

स्वर पर्याप्त मंद हो चुका था।

शकुनि ने पासे फेंके और हँसा, "युवराज दुर्योधन ! महाराज को बता दो, यह धन भी मैंने जीत लिया।"

युधिष्ठिर का मन अब यह बंधन तुड़ा कर भागने को हो रहा था। वे जानते थे कि वे शकुनि से एक दाँव भी जीत नहीं पाएँगे। पासे एक बार भी उनके हाथ में नहीं आएँगे...और बिना सब कुछ हारे, वे यहाँ से उठ भी नहीं सकेंगे। ऐसा केवल धृतराष्ट्र की आज्ञा से हो सकता है और धृतराष्ट्र की उन्हें सर्वस्वहरण के बिना जाने की कोई इच्छा दिखाई नहीं देती।...

"अब ?" शकुनि उनकी ओर देख रहा था।

"सिंधु नदी के पूर्वी तट से लेकर पर्णाशा नदी के किनारे तक वो भी बैल, घोड़े, गाय, भेड़, बकरी इत्यादि पशु-धन है—वह मेरा धन है। मैं उसे दाँव पर लगा कर तुम्हारे साथ खेलता हूँ।" युधिष्ठिर बोले।

शकुनि ने पासे उछाल दिए, "लो। यह धन भी मैंने ही जीता।"

"सिवाय उन ग्रामों के जो ब्राह्मणों को जीविका-स्वरूप दिए गए, शेष ग्राम, नगर और जनपद मेरा धन है तथा ब्राह्मणों को छोड़ शेष प्रजा मेरा धन है। मैं उन सबको दाँव पर लगा कर तुमसे खेलता हूँ।" इस बार युधिष्ठिर ने शकुनि के उकसाए बिना ही कहा।

शकुनि की बाछें खिल गईं। उसने निर्लज्जता से हँसते हुए दुर्योधन की ओर देखा।

'देखा।' उसकी आँखें कह रही थीं, 'मैं न कहता था कि मैं बिना युद्ध के ही युधिष्ठिर का धन और राज्य तुम्हारे चरणों पर डाल दूँगा।'

शकुनि ने पासे फेंके और इस बार वह मुख से कुछ नहीं बोला। उसने केवल, दुर्योधन की ओर देखा भर। दुर्योधन की आँखें पासों पर जा टिकीं, यह दाँव भी शकुनि जीत गया था।

"देखा पिता जी।" दुर्योधन ने असाधारण उल्लास के साथ कहा, "इसलिए मैं कहता था कि खेलें मातुल ही, किंतु जो धन हारें, वह मेरा हारें, जो धन जीतें, वह मेरे लिए जीतें।...नहीं तो पांडवों का यह सारा राज्य मातुल का हो जाता...। हस्तिनापुर का विस्तार नहीं होता, गंधार का साम्राज्य यहाँ तक विस्तृत हो जाता। मैंने युधिष्ठिर का राज्य कुरु-कुल से बाहर जाने से बचा लिया है।"

धृतराष्ट्र ने कुछ नहीं कहा, किंतु यह किसी से छिपा नहीं था, कि वह अत्यन्त प्रसन्न था। दुर्योधन ने अब तक अनुशासन के जो कृत्रिम बंधन बाँध रखे थे, वे शिथिल हो गए थे। उसने कर्ण और अश्वत्थामा की ओर देखा। उन्होंने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक, अपने हाथ वायु में लहराए।...

"बोलो सम्राट्। अब दाँव पर क्या लगाते हो ?" शकुनि के चेहरे पर उसकी सारी धूर्तता प्रकट हो गई थी।

"अब यह सम्राट् नहीं है।" दुर्योधन बोला, "अब तो यह राजा भी नहीं है। न इसके पास राज्य है, न सेना, न धन। अब वह सब कुछ मेरा है।"

"क्यों युधिष्ठिर ?" शकुनि ने उसकी ओर देखा।

युधिष्ठिर ने कुछ नहीं कहा, केवल सिर झुका लिया।

"यदि पांडवों के पास न राज्य है, न सेना, न धन···तो वे राजाओं के समान आभूषण इत्यादि धारण करके क्यों बैठे हैं।" शकुनि की दृष्टि सिर झुकाए, चुपचाप बैठे पांडवों के शरीर पर सुशोभित आभूषणों पर टिकी हुई थी।

युधिष्ठिर ने एक बार फिर धृतराष्ट्र की ओर देखा : शायद पितृव्य को अपने धर्म और मर्यादा का ध्यान आ जाए। शायद वे द्यूत की समाप्ति की घोषणा कर दें। कदाचित् वे कह दें कि पांडवों का सर्वस्वहरण तो हो चुका। अब उनके पास शेष ही क्या है कि वे द्यूत खेलें···

किंतु धृतराष्ट्र के चेहरे पर एक ही भाव था : चरम सुख का भाव।···शायद उसके ध्यान में ही नहीं था कि पांडव अब पूर्णतः दीन-हीन हो चुके हैं। उनके साथ और क्रूर होना अच्छा नहीं है, या अब उन पर दया की जानी चाहिए।···

युधिष्ठिर की निराश दृष्टि पितामह, आचार्य अथवा मंत्री विदुर की ओर उठ ही नहीं पाई। वे बोले, "मेरे ये भाई पांडुपुत्र, जिन स्वर्णाभूषणों से सुशोभित हो रहे हैं, वे राजकीय आभूषण मेरा धन है। मैं उन्हें दाँव पर लगा कर तुम्हारे साथ खेलता हूँ।"

शकुनि ने पासे फेंके नहीं। युधिष्ठिर की ओर उसने तीखी दृष्टि से देखा, "अपनी दासियों को तो तुमने आभूषणों सहित दाँव पर लगाया था। अब भाइयों की बारी आई तो केवल आभूषण ?"

"वे दासियाँ थीं, ये मेरे भाई हैं।" युधिष्ठिर ने कहा।

"स्वामी की दृष्टि में अपने धन के प्रति इतना पक्षपात धर्म-संगत नहीं है।" शकुनि बोला, "तुम्हारे लिए वह भी धन है और ये भी धन हैं। वैसे भी पहले से कम धन को दाँव पर लगाओगे, तो पिछला सारा धन, एक ही दाँव में कैसे लौटेगा ?"

और शकुनि ने पासे फेंके, "लो। यह धन भी अब तुम्हारा नहीं रहा।"

चारों पांडवों ने अपने आभूषण उतार कर भूमि पर रख दिए। सभा में दुर्योधन के मित्रों का हर्षोन्माद तथा चीत्कार इतना प्रबल था कि उसमें विदुर का स्वर सुनाई भी नहीं पड़ रहा था। फिर भी विदुर ने चिल्लाकर धृतराष्ट्र से कहा, "महाराज ! अब भी चेत जाइए। रोकिए इस द्यूत को। अभी दुर्योधन ने पांडवों के आभूषण जीते हैं, अगले दाँव में यह पांडवों को जीतेगा। इस शत्रुता को और मत बढ़ाइए, नहीं तो द्यूत की विजय का प्रायश्चित्त दुर्योधन को युद्ध-क्षेत्र में अपने रक्त से करना पड़ेगा।"

धृतराष्ट्र का हाथ कुछ इस भाव से उठा, जैसे वह विदुर को अपने हाथ से एक ओर धकेल देगा।

"अब कौन जीता है दुःशासन ?" उसने पूछा।

"महाराज हम जीते हैं।" दुःशासन ने उत्तर दिया, "पांडवों के शरीर के सारे आभूषण उतर गए हैं।"

धृतराष्ट्र के चेहरे पर पूर्ण तृप्ति के लक्षण प्रकट हुए।

भीष्म अब तक पर्याप्त चिंतित हो चुके थे।···वे आरंभ से ही सभा में आने के इच्छुक नहीं थे, किंतु यह कौरवों का पारिवारिक उत्सव था। 'तोरण स्फटिक सभा' का 'प्रवेश-समारोह' था। वे इस पारिवारिक हर्षोल्लास से तटस्थ कैसे रह सकते थे। युधिष्ठिर

को द्यूत आरंभ करने के लिए चौपड़ पर बैठाने में भी उन्हें ऐसी कोई आपत्ति नहीं थी। पांडवों की सभा में सब से सम्मानित अतिथि—कृष्ण की अग्रपूजा हुई थी, क्योंकि वह एक धार्मिक समारोह था। कौरवों की इस सभा में युधिष्ठिर को सबसे पहले द्यूत खेला कर वही सम्मान दिया गया था। उसमें कुछ भी अनुचित नहीं था···किंतु यह सम्मान तभी रह सकता था, यदि दो-चार दाँवों के पश्चात् धृतराष्ट्र द्यूत रोक कर युधिष्ठिर को खेल छोड़ उठ खड़े होने की अनुमति दे देता···किंतु उसने तो उसे बाँध कर बैठा ही लिया···

भीष्म, राजा को किसी प्रकार का आदेश नहीं दे सकते थे। मंत्रणा दी जा सकती थी···किंतु विदुर की मंत्रणा का परिणाम उन्होंने देख लिया था।···विदुर तो फिर महामंत्री था, उसका धर्म था·राजा की इच्छा के विरुद्ध भी मंत्रणा देना··· जब उसकी बात धृतराष्ट्र नहीं सुन रहा था, तो उनकी ही क्यों सुनता। घर होता, परिवार होता तो भीष्म कुलवृद्ध के अधिकार का कुछ थोड़ा-बहुत प्रयोग कर सकते थे, किंतु राजा की सभा···। भीष्म ने वर्षो पहले प्रतिज्ञा कर राज्याधिकार छोड़ा था, तो आज वे इस अधिकार की कामना कैसे कर सकते थे ?···वे देख-देख कर पीड़ित थे कि धृतराष्ट्र अपने अधिकार का दुरुपयोग कर रहा था। उस अधिकार के मूल में न न्याय था, न समदृष्टि। उस अधिकार के मूल में था एक षड्यंत्र।···किंतु युधिष्ठिर किस प्रकार अपने धर्म पर टिका था, कि देख कर मन प्रसन्न हो जाता था।···वह देख रहा था कि उसका पितृव्य उसे दोनों हाथों से लूट रहा था, किंतु वह उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर रहा था। वह देख रहा था कि यह सारा छ्ल था, किंतु वह द्यूत की मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर रहा था। वह समझ रहा था कि दुर्योधन और शकुनि उसके शत्रु थे और द्यूत के माध्यम से वे उसका रक्त-पान कर रहे थे···किंतु वह आनृशंसता का पालन कर रहा था···

एक बार भीष्म को लगा कि वे युधिष्ठिर पर मुग्ध हुए जा रहे हैं···वह सचमुच धर्मराज था। उसके मन में न लोभ था न मोह, न भय, न आशंका, न घृणा, न द्रोह, ···और कितनी ईश्वर-निर्भरता थी। तभी तो शांति से बैठा, एक के पश्चात् एक दाँव लगाता हुआ, भविष्य की कठिनाइयों की ओर से पूर्णतः आशंका विहीन, अपना सारा धन लुटाता जा रहा था···

और अगले ही क्षण उन्हें लगा कि उनका रजोगुण जाग रहा है और उनके मन में युधिष्ठिर के विरुद्ध आक्रोश ही आक्रोश संचित हो रहा है···वह विरोध क्यों नहीं करता ? जानते-बूझते, मूर्खो के समान क्यों अपना धन लुटाता जा रहा है ?···उसके स्थान पर वे होते तो भी खड्ग निकाल कर इस शकुनि के मुंड को उसके रुंड से पृथक कर देते।···तभी एक बड़ा-सा प्रश्न-चिह्न उनके सम्मुख आकर खड़ा हो गया···क्या सचमुच वे ऐसा ही करते ? जब सत्यवती का पिता दासराज उनका सर्वस्वहरण कर रहा था, उनसे जीवन का सारा सुख-वैभव त्यागने का वचन माँग रहा था, तो क्या उन्होंने खड्ग [illegible] उसके मुंड को रुंड से पृथक् कर दिया था ?···नहीं। धर्म की रक्षा के लिए [illegible] बनाए रखने के लिए, त्याग का सुख बहुत महान् है। संसार का सारा [illegible] करके भी दुर्योधन कभी उस सुख का कण मात्र भी प्राप्त नहीं कर पाएगा, [illegible] इस त्याग के माध्यम से प्राप्त कर रहा···

"बोलो युधिष्ठिर। अब ?" शकुनि अत्यन्त अपमानजनक ढंग से उनकी ओर देख रहा था, "अब यह मत कहना कि तुम्हारे पास कोई धन शेष नहीं है।"

"कहाँ है धन ?" युधिष्ठिर ने कहा, "मैं 'शेष धन' का दाँव लगा तो चुका।"

"नहीं।" शकुनि कुटिलता से मुस्कराया, "तुमने ही स्वीकार किया था कि पुत्र पिता का और छोटे भाई, बड़े भाई का धन होते हैं। क्या तुम अपने छोटे भाइयों के स्वामी नहीं हो ?"

"धन तो वे होते हैं, किंतु कोई उन्हें द्यूत के दाँव पर तो नहीं लगाता।" युधिष्ठिर ने कहा, "वे जीव हैं, प्राणी हैं, मनुष्य हैं।"

"दास-दासियाँ भी तो जीव, प्राणी तथा मनुष्य हैं। उन्हें दाँव पर लगाने में तो तुम्हें संकोच नहीं हुआ।" शकुनि ने कुछ प्रखर होकर कहा।

युधिष्ठिर शकुनि का तर्क समझ रहा था। उसकी दिशा भी पहचान रहा था। उसकी भयंकरता भी उसकी समझ में आ रही थी।

"दास-दासियों का क्रय-विक्रय होता है, उन्हें भेंट में भी दिया जाता है, उन्हें द्यूत में दाँव पर भी लगाया जाता है।" युधिष्ठिर बोले, "किंतु धन होते हुए भी अपनी संतान तथा छोटे भाइयों को न कोई भेंट में किसी को देता है, न उनके स्वामित्व का परिवर्तन होता है।"

"धन में इस प्रकार भेद-भाव का कोई नियम द्यूत में नहीं है।" शकुनि बोला, "जो धन है, वह धन है—बस।"

"शकुनि।" युधिष्ठिर का स्वर कुछ आग्रहपूर्ण हुआ, "अनेक प्रदेशों में शुल्क लेकर पुत्री अथवा बहन का योग्य पात्र को कन्या-दान किया जाता है, किंतु कोई पुत्री और बहन को द्यूत में दाँव पर नहीं लगाता। शुल्क देकर प्राप्त की गई पत्नी को अपना धन मानते हुए भी, कोई पति न उसे किसी को भेंट में देता है, न बेचता है, न द्यूत में हारता है।..."

"मैं तुम से शास्त्रार्थ करने नहीं आया, न मैं विभिन्न प्रदेशों की मान्यताओं का अध्ययन करने का इच्छुक हूँ।" शकुनि बोला, "मैं तो केवल यह जानता हूँ कि थोड़ी ही देर पहले तुमने स्वीकार किया था कि छोटे भाई, बड़े भाई का धन होते हैं। अब या तो तुम यह स्वीकार करो कि तुमने असत्य-भाषण किया था, या अपने भाइयों को दाँव पर लगाओ।"

"मैं श्यामवर्ण, तरुण, लाल नेत्रों और सिंह के समान कंधों वाले महाबाहु नकुल को ही इस समय दाँव पर रखता हूँ। इन्हीं को मेरे दाँव का धन समझो।" युधिष्ठिर ने अत्यन्त चिंतनशील स्वर में कहा, जैसे उनकी जिह्वा कुछ और कह रही हो और मन कहीं अन्यत्र काम कर रहा हो।

"महाराज।" विदुर के मुख से चीत्कार फूटा।

"क्या हुआ विदुर ?"

"महाराज ! युधिष्ठिर ने नकुल को दाँव पर लगा दिया है।" विदुर ने कहा, "अब क्या एक भाई, दूसरे भाई का दास होगा ? आप इस द्यूत को किस सीमा तक ले जाना चाहते हैं ?"

"युधिष्ठिर का धन है नकुल, तो वह उसे इच्छानुसार दाँव पर लगा सकता है।" धृतराष्ट्र ने कुछ कठोर स्वर में कहा।

"इसलिए तो कह रहा हूँ कि द्यूत रोक दीजिए।" विदुर का स्वर भी अब चेतावनीपूर्ण हो गया था, "आप अग्नि से खिलवाड़ कर रहे हैं महाराज।"

शकुनि के चेहरे पर एक पैशाचिक मुस्कान आई। उसने पासे फेंके और कहा, "लो युधिष्ठिर। तुम्हारा नकुल हमारा दास हुआ।" शकुनि ने फेंके हुए पासे समेट लिए, "अब।"

"सहदेव विद्वान् है। मुझे प्रिय है। यद्यपि वह दाँव पर लगाने योग्य नहीं है, किंतु अप्रिय कृत्य की भाँति मैं उसे दाँव पर लगा रहा हूँ। उसे ही मेरा धन मानो।"

शकुनि ने पासे फेंक दिए, "लो तुम्हारा प्रिय सहदेव हमारे अधीन हुआ। विमाता के दोनों पुत्र तुम ने दाँव पर लगा दिए। भीम और अर्जुन को दाँव पर लगाना तुम्हें और भी अप्रिय लगेगा तुम्हारे सहोदर हैं न।"

"शकुनि।" युधिष्ठिर के स्वर में तेज झलका, "हमने न कभी माताओं में भेद किया है, न भाइयों में। मैंने तो कभी दुर्योधन और भीम में भी भेद करना नहीं चाहा, किंतु यह तुम्हारी ही दुर्बुद्धि है, जो हम भाइयों में भी भेद उत्पन्न करना चाहती है।"

"दाँव लगाओ। दाँव।" शकुनि ने वितृष्णा से युधिष्ठिर की ओर देखा।

"युद्ध रूपी समुद्र में हमारे त्राण के लिए जो नौका के समान है, जिसने शत्रुओं पर सदा ही विजय पाई है, वह अर्जुन दाँव पर लगाने योग्य नहीं है, किंतु धर्म से बँधा मैं उसे भी दाँव पर लगाता हूँ। उसे ही मेरा धन समझो।"

कर्ण की आँखों में चपला कौंधी और उसने उचक कर दुर्योधन की ओर देखा। दुर्योधन ने उसे जैसे आँखों ही आँखों में बधाई दी, और शकुनि को पासे फेंकने के लिए संकेत किया।

शकुनि ने पासे फेंके। उसकी अपनी आँखें ही जैसे प्रसन्नता से फट गई, "हमने धनंजय को भी जीत लिया।"

कर्ण के मुख से उल्लासपूर्ण सीत्कार फूटा। अश्वत्थामा ने हर्ष में अपनी भुजा को ठोंका। द्रोण पहली बार कुछ विचलित दिखाई दिए और विदुर ने अपना माथा पीट लिया।

"क्या अर्जुन भी हमारा धन हो गया ?" धृतराष्ट्र ने व्यग्रता से पूछा।

भीष्म की आँखों में जैसे दो शूल चमके, "क्या अर्जुन पहले आपका ही धन नहीं था महाराज ? पुत्र से बड़ा धन भी कोई होता है क्या ?"

धृतराष्ट्र ने भीष्म की ओर ध्यान नहीं दिया। वह दुःशासन की ओर मुड़ा, "क्या अर्जुन हमारा दास हो गया ?"

"हाँ महाराज। अर्जुन अब हमारा दास है।"

धृतराष्ट्र के रोम-रोम से जैसे आनन्द के स्रोत फूट पड़े।

"पांडुनन्दन। अब तुम्हारे पास भीम ही शेष है।" शकुनि के चेहरे पर असाधारण क्रूरता थी।

युधिष्ठिर की आँखों में बाण-बिद्ध मृग-शावक की पीड़ा उभरी, "युद्ध में हमारे

सेनापति, जिनका हृदय विशाल और कंधे सिंह के समान चौड़े हैं, बल में जिनकी समानता करने वाला कोई पुरुष नहीं है, जो गदाधारियों में अगण्य तथा शत्रुओं के काल हैं। उन्हीं युवराज भीमसेन को मैं दाँव पर लगाकर तुम्हारे साथ खेलता हूँ।"

शकुनि ने एक वक्र दृष्टि भीम पर डाली। उसका विचार था कि भीम स्वयं को दांव पर लगाए जाने का विरोध करेगा।"किंतु वह तो सिर झुकाए इस प्रकार चुपचाप निष्क्रिय बैठा था, जैसे उसने सुना ही न हो कि युधिष्ठिर ने दाँव पर किसे लगाया है।"किंतु उसका चेहरा बता रहा था कि उसका मन शांत नहीं था। वह अपने अमर्ष को दबा कर, उस पर इस प्रकार चढ़ा बैठा था, जैसे मल्लयुद्ध में अपने विपक्षी को दबा कर, कोई मल्ल उस पर चढ़ बैठता है।

शकुनि ने पासे फेंके, "लो यह दाँव भी मैंने जीता।"

दुर्योधन हर्ष के उन्माद में उठ कर खड़ा हो गया। उसकी मुट्ठियाँ भिंच गईं और भुजाएँ आकाश की ओर उठ गईं। भिंचे दाँतों में से जैसे अपना सुख सँभाल न पाने के कारण प्रबल निनाद किया।"उसकी दृष्टि आकर भीम पर टिक गई।

"भीम। मेरा दास।" उसने जैसे अपने-आप से कहा।

भीम ने दृष्टि उठा कर भी नहीं देखा। वह दाँत भींचे, बैठा धरती को देखता रहा।

शकुनि की तृष्णा घी डाली गई अग्नि के समान धधक रही थी, "युधिष्ठिर ! अब बिना हारा हुआ कौन-सा धन शेष है तुम्हारे"'।"

युधिष्ठिर को जैसे बहुत जल्दी थी। उन्होंने शकुनि को वाक्य भी पूरा नहीं होने दिया। बोले, "मैं अपने भाइयों में सबसे बड़ा हूँ। मैं स्वयं अपने-आप को दाँव पर लगाता हूँ। हार गया तो क्रीत दास के समान तुम्हारी सेवा करूँगा।"

युधिष्ठिर का वाक्य पूरा हुआ ही था कि शकुनि ने स्फूर्ति-पूर्वक पासे फेंके, जैसे उसे भय हो कि युधिष्ठिर कहीं अपना दाँव बदल न दे।

"लो। यह दाँव भी मैं ही जीता।" शकुनि ने ठहाका लगाया, किंतु उसकी हँसी जैसे कंठ में ही फँस गई, "धर्मराज ! यह तो अधर्म हुआ।"

सारी सभा ने चकित होकर शकुनि की ओर देखा : पापी शकुनि और धर्म-चर्चा।

"क्या हुआ सुबल पुत्र ?" युधिष्ठिर पूर्णतः शांत नहीं थे, उनके चेहरे पर उपलब्धि का हल्का-सा हास भी था, जैसे वह दाँव शकुनि ने नहीं, उन्होंने स्वयं जीता हो।

"राजन ! बिना हारा हुआ धन शेष रहते हुए, स्वयं अपने-आप को हार जाना महान् पाप है।" शकुनि बोला।

"कौन-सा धन ?"

"आपकी प्रियतमा। पंचाल राजकुमारी द्रुपदपुत्री कृष्णा"'"

भीम ने तमक कर शकुनि की ओर देखा, किंतु शकुनि ने उसकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया, "इस अधर्ममय कर्म का प्रतिकार होना चाहिए धर्मराज। यद्यपि तुम अपने-आप को हार चुके हो, और स्वतंत्र नागरिक नहीं हो। फिर भी मैं तुम्हें एक दाँव खेलने का अवसर दे रहा हूँ। तुम द्रौपदी को दाँव पर लगाकर खेलो। यदि तुम जीत गए तो न केवल तुम स्वतंत्र हो जाओगे, तुम्हारा हारा हुआ सारा धन तुम्हें लौटा दिया जाएगा।" शकुनि रुका, "और यदि तुमने चतुराई से जानबूझ कर द्रौपदी रूपी धन को

बचा लिया है और उसे बचाए रखना चाहते हो, तो मैं तुम्हें बता दूँ कि दास का धन भी उसके स्वामी का ही होता है। इसलिए तुम पंचाल राजकुमारी को दाँव पर नहीं भी लगाओगे, तो भी तुम्हारा धन होने के कारण, वह तुम्हारे स्वामी दुर्योधन का ही धन होगी।…।"

"महाराज। महाराज।" विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा, "रोकिए। इन्हें रोकिए। यह अनर्थ मत होने दीजिए महाराज !"

धृतराष्ट्र ने कोई उत्तर नहीं दिया तो विदुर ने भीष्म की ओर देखा, "पितृव्य।"

भीष्म की समझ में नहीं आ रहा था कि वे क्या कहें। उन्हें दोनों ओर ही धर्म-संकट दिखाई दे रहा था। शकुनि ने युधिष्ठिर को सब ओर से फाँस रखा था, धन शेष रहते, युधिष्ठिर द्यूत से उठ नहीं सकता था। द्रौपदी, उसकी पत्नी थी, अतः उसका धन थी। किंतु लोग पत्नियों को दाँव पर नहीं लगाया करते थे। शकुनि पंचाली को दाँव पर लगाए जाने का आग्रह कर रहा था। उसका बचना तभी संभव था, जब या तो धृतराष्ट्र ही द्यूत रोक दे, या शकुनि ही मान ले कि युधिष्ठिर का धन समाप्त हो गया है।…अच्छा होता कि युधिष्ठिर ने ही आरम्भ से अपने भाइयों तथा दास-दासियों को द्यूत से बाहर रखने का आग्रह किया होता…अब यदि वह द्रौपदी को दाँव पर नहीं भी लगाता तो शकुनि दूसरी चाल चलेगा—दास का धन, उसके स्वामी का धन है। युधिष्ठिर द्रौपदी को किसी भी प्रकार बचा नहीं सकता…यह पापी शकुनि। और उसका भांजा दुर्योधन…

युधिष्ठिर क्षण भर मौन रहे, और फिर जैसे मन-ही-मन किसी निश्चय पर पहुँच कर बोले, "मैं द्रौपदी को दाँव पर लगाता हूँ। तुम उसे ही मेरा धन समझो।"

"धिक्कार ! धिक्कार ! !" सभा के विभिन्न कोनों में से अनेक स्वर उठे।

भीष्म को लगा, उनका सारा शरीर जैसे स्वेद से नहा गया था। द्रोण और कृपाचार्य भी सिहर उठे थे। विदुर ने दोनों हाथों से अपना मस्तक थाम लिया, और अपने आसन पर गिर-से गए।

शकुनि ने पासे उठाए।

सभा स्तब्ध थी। जाने अगले क्षण क्या होने वाला था।

शकुनि ने एक शब्द भी नहीं कहा और पासे फेंके।

"लो दुर्योधन ने द्रौपदी को भी जीत लिया।" शकुनि ने घोषणा की।

दुर्योधन के मन की प्रसन्नता, उसके कंठ से फूटी और सारे शरीर में फैल गई।

प्रसन्नता की हँसी समाप्त होते-होते दुर्योधन के चेहरे पर कठोरता प्रकट होने लगी। उसकी आँखों में जैसे कोई पिशाच अट्टहास कर उठा था। उसने एक बार दृष्टि उठा कर भीष्म की ओर देखा : पितामह अत्यन्त खिन्न मुद्रा में बैठे थे। निश्चित रूप से पांडवों के इस प्रकार पराजित और अपमानित होने से वे प्रसन्न नहीं हो सकते थे।…दुर्योधन प्रसन्न था कि पितामह राजा नहीं थे, वे राज-सेवक मात्र थे। वे राजा धृतराष्ट्र को आज्ञा नहीं दे सकते थे। कुल-वृद्ध होने के नाते, सभा में अधिक से अधिक अपना मत रखने को स्वतंत्र थे, किंतु वे धर्म का विरोध नहीं कर सकते थे। शकुनि ने उनके सामने, भरी सभा में द्यूत के नियमों के अनुसार द्रौपदी को जीता था,

और युधिष्ठिर ने अपनी इच्छा से उसे सार्वजनिक रूप से दाँव पर लगाया था।'''क्या कर सकते हैं भीष्म।'''

'''दुर्योधन ने द्रोण की ओर देखा, एक समय था कि अर्जुन उनको बहुत प्रिय था, उनका सर्वाधिक प्रिय शिष्य। पर क्या संयोग था कि अपने गुरु को प्रसन्न करने के लिए, जिस अर्जुन ने द्रुपद को अपने शस्त्रबल से पराजित कर, द्रोण के चरणों में डाल दिया था, द्रुपद की पुत्री से विवाह कर, वही अर्जुन अपने गुरु के लिए पराया हो गया। '''दुर्योधन ने भी तब हृदय से पांचाली की कामना की थी, किंतु पांचाली उसे नहीं मिली। अच्छा हुआ कि नहीं मिली'''नहीं तो वह गुरु द्रोण को खो चुका होता।'''आज उसके पास पांचाली भी थी और आचार्य द्रोण भी'''और जिस ढंग से उसने पांचाली को प्राप्त किया था, उससे आचार्य द्रोण, दुर्योधन से रुष्ट भी नहीं हो सकते । वह अर्जुन के समान आचार्य के लिए पराया नहीं हो सकता।'''अर्जुन ने पांचाली को प्राप्त कर द्रुपद का सम्मान बढ़ाया था, किंतु दुर्योधन ने उसे प्राप्त कर द्रुपद, धृष्टद्युमन, द्रौपदी तथा पांडवों—सबका ही अपमान किया है। आचार्य को न द्रौपदी से सहानुभूति है, न अर्जुन से'''अर्जुन की हानि आज द्रुपद की हानि है, द्रोण की नहीं। अर्जुन और द्रौपदी का पक्ष आज द्रुपद का पक्ष है। द्रोण उसका समर्थन कभी नहीं करेंगे। वे अर्जुन की प्रसन्नता के लिए दुर्योधन का विरोध करने की न इच्छा कर सकते हैं, न साहस।'''

दुर्योधन की दृष्टि कुछ और आगे बढ़ी''' अपने पिता की ओर : राजा धृतराष्ट्र। कितना भी दायित्व-बोध हो राजा धृतराष्ट्र में, अपने भाई के पुत्र, उन्हें कितने भी प्यारे क्यों न हों, किंतु धृतराष्ट्र मूलतः पिता हैं, राजा नहीं। '''और दुर्योधन जानता है कि पिता के रूप में धृतराष्ट्र कितने दुर्बल हो जाते हैं। त्रैलोक्य सुंदरी याज्ञसेनी द्रौपदी को स्वयंवर में उनका पुत्र बहुत इच्छा होने पर भी प्राप्त नहीं कर पाया था, तो पुत्र की वंचना से दुखी नहीं हुए थे क्या धृतराष्ट्र ?'''आज वही द्रौपदी दासी के रूप में प्राप्त की थी दुर्योधन ने।'''जो न तो ह्रस्वा है, न असाधारण रूप से लंबी, जो न अधिक कृष्णवर्णा है, न अधिक रक्तवर्णा, जिसके नयन शरद ऋतु के प्राफुल्लित कमलदत्त के समान सुंदर और विशाल हैं, जिसके शरीर से शारदीय कमल के समान सुगंध निकलती रहती है, जिसके स्वेद-बिंदुओं से विभूषित मुख कमल के समान सुंदर और मल्लिका के समान सुगंधित है, जिसके केश नीले, लंबे और घुंघराले हैं, मुख और ओष्ठ अरुण वर्ण के हैं, जिसके अंगों पर रोम नहीं है, जिसके नख उभरे हुए तथा लाल हैं, जिसकी भौंहें बड़ी सुंदर हैं, उरोज स्थूल और मनोहर हैं'''आज वही द्रौपदी दुर्योधन ने प्राप्त की थी। पुत्र की इस अभूतपूर्व उपलब्धि पर प्रसन्न नहीं होंगे क्या धृतराष्ट्र ?'''किंतु उनकी आँखें ज्योति-विहीन हैं। उन्होंने द्रौपदी का सौन्दर्य देखा ही नहीं है''' तो क्या ?'''यदि वे प्रसन्न न भी हों'''दुर्योधन एक बार दुखी होकर, आत्मघात की धमकी देगा, तो धृतराष्ट्र का सारा धर्मबोध और दायित्वबोध नवनीत हो जाएगा'''और वह नवनीत, दुर्योधन के प्रेम, दुख, विरोध—किसी भी ताप को सहन नहीं कर सकेगा।

दुर्योधन की दृष्टि पांडवों पर पड़ी : हारे हुए, पराजित, दीन-हीन निष्प्रभ बैठे थे पाँचों भाई। कुछ निजी-शस्त्र उनके पास अवश्य थे, किंतु उन शस्त्रों का प्रयोग करने

का मनोवल नहीं था उनके पास। उनकी सेनाएँ और सेनापति बहुत दूर थे। आस-पास कोई सहायक और मित्र नहीं था।"और यह मूर्ख युधिष्ठिर तो धर्मराज बनने के चक्कर में ऐसा सोच भी नहीं सकता। वह तो यही मानेगा कि यदि पांडवों ने स्वयं को दुर्योधन का दास मानना अस्वीकार किया, तो यह अधर्म होगा"यह धर्मराज इतना तो जानता ही नहीं, कि यह प्रवंचक धर्म उसका कितना बड़ा शत्रु था"

आज के समारोह के लिए निमंत्रण भेजते हुए, दुर्योधन बहुत सावधान रहा था। अपने एक-एक समर्थक को, उसनें इतने आग्रह से बुलाया था कि उनके पास अपना कोई कितना भी आवश्यक कार्य रहा हो, उन्हें आना ही पड़ा था" और पांडवों का एक भी मित्र और समर्थक नहीं बुलाया गया था। यदि कहीं द्वारका के यादव सभा में उपस्थित होते तो, पांडवों की यह स्थिति कदापि नहीं होती।"चारों ओर दुर्योधन के मित्र और संबंधी थे। उनके पास शस्त्र थे। हस्तिनापुर में उनकी सेनाएँ सन्नद्ध खड़ी थीं। पांडवों की ओर से किसी प्रकार का प्रतिरोध होते ही, वे गाजर-मूली के समान काट दिए जाएँगे, जैसे इंद्रप्रस्थ में पांडवों की सभा में कृष्ण ने शिशुपाल को काट दिया था।"दुर्योधन का मन जैसे किसी अलौकिक उल्लास से भर उठा"कितना शुभ दिन होगा वह।"कितना अच्छा हो कि आज ही प्रतिरोध करते हुए पांडव, दुर्योधन के मित्रों के हाथों मारे जाएँ"यह काँटा सदा के लिए दूर हो जाएगा, और उनकी हत्या के लिए कोई दुर्योधन को तनिक-सा दोष भी नहीं देगा"जैसे शिशुपाल के वध के लिए कोई कृष्ण को दोषी नहीं ठहराता"

हाँ। एक विदुर है"तथाकथित आदर्शवादी, बुद्धिवादी, धर्मानुकूल परामर्श देने वाला मंत्री। यह व्यक्ति कभी राजभक्त नहीं हो सका"न्याय-अन्याय और धर्म-अधर्म का विचार करने वाला बुद्धिजीवी कभी राजभक्त हो भी नहीं सकता।" पांडवों के प्रति अपने मोह को विदुर न छिपाता है, न छोड़ता है।"और दुर्योधन भी आज तक इसका कोई उपयुक्त उपचार नहीं कर सका है"

सहसा दुर्योधन की आँखें पैशाचिक उल्लास से चमक उठीं।

"विदुर।" उसने ऊँचे स्वर में कहा, "जाओ और पांचाली को सूचना दो कि पांडव उसे जुए में हार चुके हैं और अब वह हमारी दासी है। वह जहाँ भी हो, जिस अवस्था में भी हो, उसे तत्काल यहाँ उपस्थित करो।"

विदुर के लिए दुर्योधन का व्यवहार सदा ही कष्टदायक रहा था।"संबंध की दृष्टि से वह उनका भ्रातुष्पुत्र था, किंतु दुर्योधन के मुख से आज तक उनके लिए कभी 'पितृव्य' संबोधन नहीं निकला था। वह आज तक उन्हें उसी प्रकार आदेश देता आया था, जैसे स्वयं राजा धृतराष्ट्र दिया करता था। धृतराष्ट्र के आदेशों में फिर भी कहीं छोटे भाई के प्रति स्नेह की ध्वनि होती थी, दुर्योधन के व्यवहार में न सम्मान था, न स्नेह।"वह राजा नहीं था, सिंहासन पर तो धृतराष्ट्र ही बैठता था, किंतु सब जानते थे कि हस्तिनापुर का वास्तविक शासक कौन था। यहाँ सारा कार्य-संचालन दुर्योधन की ही इच्छा से होता था।"किंतु द्रौपदी को इस प्रकार दासी के रूप में जुआरियों की इस सभा में उपस्थित करने का आदेश"द्रौपदी इस कुल की पुत्रवधू है"

विदुर ने धृतराष्ट्र की ओर देखा : राजा की ओर से दुर्योधन के आदेश का कोई विरोध नहीं था। स्पष्ट ही धृतराष्ट्र का मौन दुर्योधन के आदेश को, राजाज्ञा का महत्व

प्रदान कर रहा था···और इस समय तो जैसे सारी सत्ता, सारा पराक्रम, सारा राजतंत्र दुर्योधन की मुट्ठी में था···

"विदुर।" दुर्योधन ने पहले से भी ऊँचे स्वर में कहा।

विदुर समझ रहे थे कि वे इस भरी सभा में अकेले हैं। दुर्योधन से कोई सहमत हो या न हो, पर न कोई उसका विरोध करेगा, न विदुर का साथ देगा। जिन पांडवों का इतना अपमान हो रहा है, वे भी विदुर के स्वर के साथ अपना बल नहीं जोड़ेंगे। वे धर्म से बँधे बैठे हैं। विदुर को तो अपना ही भरोसा था।···पर दुर्योधन की बात का उत्तर देना व्यर्थ था। उन्होंने सीधे धृतराष्ट्र को ही सम्बोधित किया, "राजन्। इससे पहले कि द्यूत-विजेता दुर्योधन की इच्छा पूरी करने के लिए कोई राजप्रासाद में जाए, इससे पहले कि पांडवों के प्रति कोई और गंभीर अपराध हो, मैं धर्म संबंधी एक प्रश्न राजाओं की इस सभा में रखना चाहता हूँ।"

धृतराष्ट्र जैसे झंझोड़ कर किसी स्वप्न से जगाया गया था। वह इस राजसभा में धर्म संबंधी प्रश्न पूछे जाने की मनाही नहीं कर सकता था, यद्यपि विदुर का यह प्रश्न उसे भी व्यर्थ का बखेड़ा ही लग रहा था। वह जानता था, विदुर का प्रश्न कुछ भी हो, दुर्योधन को पसंद नहीं आएगा, और दुर्योधन की अप्रसन्नता की संभावना देखते ही, धृतराष्ट्र का मन कैसा खट्टा-सा हो जाता था।···

"क्या है विदुर ?"

"मैं राजाओं और नीतिज्ञों की इस सभा से पूछना चाहता हूँ," विदुर के स्वर में से पर्याप्त आवेश प्रकट हो रहा था, "कि जब धर्मराज युधिष्ठिर जुए में पहले स्वयं को हार चुके थे, तो उन्हें द्रौपदी को दाँव पर लगाने का क्या अधिकार था ?"

दुर्योधन ने किसी को उत्तर देने नहीं दिया। वह आदेश देने की मुद्रा में उठकर खड़ा हो गया। उसका हाथ, अपनी गदा से इस प्रकार खेल रहा था, जैसे वह उससे प्रहार करने की तैयारी कर रहा हो। वह धृतराष्ट्र से संबोधित हुआ, न विदुर से। ऊँचे स्वर में उसने अपने सारथि को पुकारा, "प्रातिकामी। पांचाली द्रौपदी के पास तुम जाओ, और उसे यहाँ उपस्थित करो। वह विदुर तो कायर है। खाता हमारा है और सेवा धर्म की करता है। राजसेवक भी है, और राजाज्ञा का पालन भी नहीं करना चाहता।"

विदुर ने धृतराष्ट्र की ओर देखा, शायद राजा, दुर्योधन की बात का प्रतिवाद करे, उसे विदुर का सम्मान करने के लिए कहे, ···यह द्यूत-विजयी उन्मत्त दुर्योधन की इच्छा हो सकती है, राजाज्ञा नहीं।···शायद धृतराष्ट्र कहीं यह स्पष्ट करे कि द्यूत क्रीड़ा शकुनि और युधिष्ठिर में हो रही थी, शकुनि की विजय-पराजय के लिए दुर्योधन व्यक्तिगत रूप में उत्तरदायी और अधिकारी था। हस्तिनापुर का शासन और राजा, उसमें से किसी का पक्षधर नहीं था। द्यूत हस्तिनापुर का शासन नहीं खेल रहा था···जब कोई राजा या राजतंत्र किसी क्रीड़ा-स्थल अथवा क्रीड़ा-भवन का निर्माण करवाता है, तो उसका लक्ष्य प्रजा का मनोरंजन होता है। राजा कोई पक्ष नहीं होता, किसी का पक्षधर नहीं होता, वह मात्र अधर्म और अन्याय का विरोध करने के लिए ही साक्षात् अथवा प्रतीक के रूप में वर्तमान होता है···

किंतु धृतराष्ट्र के चेहरे पर कहीं दुर्योधन की इच्छा का कोई विरोध नहीं था। वह

तो शायद मान रहा था कि उसके मन की बात दुर्योधन के मुख से उच्चारित हो रही थी। ऐसे राजा से न्याय और धर्म की क्या अपेक्षा की जा सकती थी ?···

भीष्म भी धृतराष्ट्र की ही ओर देख रहे थे : कुलवृद्ध होकर भी न वे पौत्र के इस आदेश का प्रत्याख्यान कर रहे थे, न भ्रातुष्पुत्र को कोई शिक्षा दे रहे थे। वे राजसभा की मर्यादा की रक्षा कर रहे थे, या अपने मन के द्वन्द्वों और असमंजस में उलझ कर रह गए थे ?

प्रातिकामी सभा से बाहर चला गया। सबने उसे जाते देखा। वह न विदुर था, न मंत्री, न राजा का रक्त-संबंधी। वह दुर्योधन की आज्ञा का उल्लंघन कैसे कर सकता था। वह तो राज-कर्मचारी था। उसे तो राजाज्ञा का पालन करना ही था, और इस समय तो दुर्योधन की आज्ञा ही नहीं, उसकी इच्छा भी राजाज्ञा का बल रखती थी···

विदुर की दृष्टि पांडवों पर पड़ी : वे लोग अपने अन्तर्द्वन्द्व से छीज कर, सिर झुकाए दीन-हीन स्थिति में बैठे थे। उनकी चेतना मानो लुप्त हो गई थी, मस्तिष्क जड़ हो गया था। वे जैसे न कुछ देख रहे थे, न सुन रहे थे। चारों ओर क्या-कुछ घट रहा था, उसका उन पर जैसे कोई प्रभाव ही नहीं पड़ रहा था। वे लोग पत्थर हो गए थे। यदि वे कहीं बैठे न होते तो यही मान लिया जाता कि वे अचेत हो गए हैं···

विदुर की दृष्टि अपने सामने आई प्रत्येक आकृति को देखती और परखती रही।···किसी के चेहरे पर, दुर्योधन की विजय का मद था, किसी के चेहरे पर कुछ भीषण घटित होने की आशंका और त्रास···कुछ चेहरों पर विदुर को वितृष्णा भी दिखाई दी, किंतु विरोध ···विरोध की संभावना कहीं नहीं थी। भीष्म खिन्न लग रहे थे, कृपाचार्य प्रसन्न नहीं थे, दुर्योधन का अपना भाई विकर्ण कुछ रुष्ट लग रहा था···युयुत्सु अत्यन्त व्याकुल था···

विदुर चुप कैसे रहते। वे फिर बोले, "दुर्योधन ने यद्यपि मुझ पर कुछ आरोप लगाए हैं, फिर भी मैं उसकी आज्ञा को राजाज्ञा नहीं मानता। राजाज्ञा तो राजा के मुख से ही उच्चारित होनी चाहिए, और राजाज्ञा से पूर्व कुछ प्रश्नों पर विचार-विमर्श भी होना ही चाहिए।"

"क्या है विदुर ?" धृतराष्ट्र ने पूछा अवश्य, किंतु उस स्वर में बहुत अनिच्छा थी।

"मेरा निवेदन है राजन् ! कि पहले यह निर्णय किया जाए कि जब राष्ट्र का धन लगा कर, ऐसे द्यूत-भवनों का निर्माण किया जाता है, तो उनका उद्देश्य क्या होता है ?" विदुर का स्वर कुछ इतना ऊँचा हो गया था कि लगा, जैसे वे राजसभा की मर्यादा भूल गए हैं, और बहुत संभव है कि अपने आवेश में वे कुछ ऐसा कह जाएँ, जो उनके अपने लिए ही बहुत हितकर न हो।

"ऐसे प्रश्नों का इस समय कौन-सा प्रसंग है, महानीतिज्ञ विदुर ?" शकुनि का स्वर तो बहुत शांत था, किंतु प्रत्येक शब्द शूल के समान नुकीला, चुभने वाला और कष्टकारक था।

"आज ही तो उपयुक्त प्रसंग उत्पन्न हुआ है। सुबलपुत्र।" विदुर वार्तालाप के से सहज प्रवाह में कह गए, "जब राष्ट्र का धन लगाकर प्रजा की क्रीड़ा और मनोरंजन के नाम पर भवनों का निर्माण किया जाता है, तो वह इसलिए होता है कि प्रजा का

मन क्रीड़ा की ओर उन्मुख हो। उनका शरीर स्वस्थ हो। उनमें प्राण की वृद्धि हो। वे मन और शरीर से स्वस्थ होकर, राष्ट्र को शक्तिशाली बनाएँ। उनमें क्रीड़ा-भावना विकसमान हो। वे जीवन के निकृष्ट स्वार्थों में कम आसक्त हों। जय-पराजय की भावना से ऊपर उठकर, वे स्वच्छ-निश्छल मन से जीवन के उच्च धरातलों का स्पर्श करें, किंतु···"

"किंतु क्या ?" लगा, कर्ण जैसे किसी मूर्ख के प्रलाप का रस ले रहा है।

"किंतु यह कि राधासुत ! हस्तिनापुर में जब वैसे ही क्रीड़ा-भवन का निर्माण हुआ, तो उसमें पहला ही समारोह द्यूत-प्रेमियों का हुआ। धूर्त जुआरियों को एकत्रित कर, राजपुत्र अपनी राजनीति का छल-प्रपंच फैला रहे हैं, और कौरव वंश की कुल-वधू का अपमान होने जा रहा है···।"

प्रातिकामी अकेला ही लौट आया। द्रौपदी उसके साथ नहीं आई थी।

विदुर की बात अभी पूरी नहीं हुई थी, किंतु सभा में उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान प्रातिकामी की ओर चला गया था। स्वयं विदुर भी अपनी बात कहने से अधिक यह जानना चाहते थे कि द्रौपदी ने क्या कहा है ?

"तू अकेला ही चला आया मूर्ख।" दुर्योधन अपने क्रोध में भयंकर हो उठा था, "राजाज्ञा की अवज्ञा का फल तू नहीं जानता ? दुर्योधन को तूने कोई कोमल-हृदय, क्षमा-परायण तापस समझ रखा है ?···" जाने क्यों उसकी दृष्टि बहक कर युधिष्ठिर पर जा ठहरी थी।

"युवराज।" प्रातिकामी काँप कर रह गया।

"बोलता क्यों नहीं मूर्ख।" इस बार दुःशासन डपट कर बोला, "पांचाली क्यों नहीं आई ?"

"राजकुमार।" प्रातिकामी बड़ी कठिनाई से बोला, "द्रुपदकुमारी ने कहा है कि मैं उनके पति धर्मराज युधिष्ठिर से पूछ कर आऊँ कि पहले वे स्वयं को द्यूत में हार दास हो जाने के कारण, दबाव में पांचाली को दाँव पर लगाने को बाध्य हुए, अथवा स्वयं स्वतंत्र रहते हुए अपनी इच्छा से द्यूत के व्यसन में इन्होंने अपनी पत्नी को दाँव पर लगाया ?"

"तू मेरे आदेश का पालन करने गया था मूर्ख। अथवा उस दासी से आदेश प्राप्त करने।" दुर्योधन ने रोषपूर्वक अपनी गदा से भूमि को खटखटाया , "जाकर कह दे, वह यहीं आकर, सबके सामने इस धर्मराज का उत्तर सुने। और हाँ।" दुर्योधन अपनी वाणी को कुछ और सबल बना कर बोला, "उसे यह भी कह दे कि दासियों को आज्ञा-पालन का ही अधिकार है, प्रश्नोत्तर का नहीं।"

पर प्रातिकामी वापस जाने के लिए तत्काल मुड़ा नहीं। वह जैसे इस उत्तर के साथ लौट जाने का बल एकत्रित कर रहा था। किंतु दुर्योधन का धैर्य चुक गया था। उसने अपने अधैर्य में दुःशासन को पुकारा, "दुःशासन। मूर्ख प्रातिकामी नीच-जन्मा होने के कारण, हमारे दास इन पांडवों से डर रहा है। तुम स्वयं जाओ और उस पांचाली को ले आओ। यदि वह आनाकानी करे, अथवा वाद-विवाद का प्रयत्न करे, तो उसे बलात् ले आओ। यह न हो कि धर्मपूर्वक जुए में जीती हुई, एक साधारण दासी से एक साधारण-सी

आज्ञा का पालन करवाने के लिए, हस्तिनापुर के युवराज को स्वयं जाना पड़े।"

"मैं अभी उस नीच और उद्दंड दासी को लाकर आपके चरणों में डाल देता हूँ।" दु:शासन अपना उत्तरीय सँभालता हुआ, जिस ठसक से सभा से बाहर निकला, उससे उसका क्रूर मनोभाव अत्यन्त स्पष्ट था।

पांडव अब भी कुछ नहीं बोले थे। युधिष्ठिर अपेक्षाकृत कुछ शांत दिख रहे थे। नकुल और सहदेव एकदम मलिन मुख, सिर झुकाए चुपचाप बैठे थे। एक भीम का आक्रोश जैसे उसके उग्र श्वासों के रूप में मुखर हो रहा था। वह कभी-कभी दृष्टि उठाकर युधिष्ठिर की ओर देख लेता था, और कभी उसकी आँखें क्षण भर के लिए भीष्म पितामह पर जा टिकती थीं।

विदुर की समझ में नहीं आ रहा था कि वे क्या करें। एक से बढ़कर एक धर्मज्ञ और नीतिज्ञ विद्वानों और राजनेताओं की सभा में इन धर्मप्राण सरल पांडवों पर कैसा अत्याचार हो रहा था, जो न कभी सुनने में आया था, न देखने में। और यह सब था इस शोहदे दुर्योधन के कारण। एक खुला मदमत्त सांड दुर्बल राजाओं की पंचायत में घुस आया था और किसी को साहस नहीं हो रहा था कि उसे नाथे। एक दुष्ट पापी और अत्याचारी गुंडे के कारण सारी राजसभा निष्प्राण हो गई थी। हस्तिनापुर का शासन नि:सत्व हो गया था। सारे आर्यावर्त्त में किसी का सम्मान, सम्मान नहीं रह गया था"

"राजन्।" विदुर से अब मौन नहीं रहा गया, "आप अपने विवेक से क्यों देख नहीं पा रहे कि आपका यह युवराज कैसे भयंकर विनाश का बीज बो रहा है। यह संपूर्ण कुरुवंश का नाश करके ही रहेगा। ऐसे राजपुत्र वक्ष से लगाकर स्नेह देने योग्य नहीं होते। इसे विषैले नाग के समान दूर फेंक दीजिए। नहीं तो इसका उपद्रव कुरु-वंश में किसी को भी जीवित नहीं रहने देगा।..."

"विदुर।" दुर्योधन मुखर रूप से अशिष्ट स्वर में बोला, "कुरु कुल और आर्य राष्ट्र की चिंता करने वाले अकेले तुम ही नहीं हो इस धरती पर। उनकी चिंता हम कर लेंगे। हम जानते हैं कि तुम्हें किस की चिंता है। तुम्हें चिंता कुरु-वंश की नहीं, तुम्हें चिंता है, हमारे इन दास पांडवों की। पर अच्छा है कि अब तुम अपनी चिंता करो।" दुर्योधन ने विदुर को रक्तवर्णी आँखों से देखा, "तुमने जो कुछ मेरे विषय में कहा है, उसके पश्चात् भी तुम्हारा सिर तुम्हारे कंधों पर है, यह मेरी ही क्षमाशीलता का प्रमाण है..."

विदुर को कृष्ण का स्मरण हो आया। ऐसी ही राजसभा थी इंद्रप्रस्थ में, जब शिशुपाल प्रलाप कर रहा था, और कृष्ण ने तर्जनी पर सुदर्शन चक्र धारण कर, छोड़ दिया था। दुर्योधन कह रहा था कि विदुर का सिर उनके कंधों पर था, और विदुर सोच रहे थे कि दुर्योधन का सिर उसके कंधों पर क्यों था ? कृष्ण ! कहाँ हो तुम ?...

"मैंने बहुत सुन लिया और सह लिया।" दुर्योधन उसी आवेश में कह रहा था, तुम्हें मैं अधर्मी और पापी दीखता हूँ, और इस द्यूत-व्यसनी युधिष्ठिर को धर्मराज कहते हो। यह वह जुआरी है, जिसे द्यूत-मद में यह भी होश नहीं रहा कि वह किसे दाँव पर लगा रहा है, और किसे हार रहा है। नीच से नीच जुआरी भी अपनी पत्नी को दाँव पर नहीं लगाता, और यह धर्मराज यह कुकृत्य करके भी अभी धर्मराज ही बना हुआ है। तुम्हारे मुख से इसकी भर्त्सना के तो दो शब्द भी नहीं निकले। तुम्हारा सारा धर्म-विचार

मेरे लिए ही है। यदि तुम युधिष्ठिर जैसे अधम जुआरी को ही धर्म की साकार प्रतिमा मानते हो तो, निश्चय ही तुम्हारे विवेक में मेरी तनिक भी आस्था नहीं है। मैं पिताजी से निवेदन करूँगा कि वे इस पर विचार करें कि तुम्हारे जैसे अविवेकी को राजसभा में रखने का कोई प्रयोजन भी है क्या ?''' या फिर तुम स्वयं ही क्यों हमें छोड़ कर कहीं चले नहीं जाते''' यहाँ तो आज मैं युवराज हूँ, और कल राजा हो जाऊंगा।"

विदुर के शांत चेहरे पर प्रकट हुए आवेश को देखकर लगता था कि अगले ही क्षण या तो वे सभा छोड़ कर चले जाएँगे, या कुरु-राज्य से अपने संबंध-विच्छेद की घोषणा कर देंगे''' पर क्रमशः वे सायास अपना आवेश पी गए। अपनी चिर-परिचित शांत मुद्रा में लौट कर सहज भाव से बोले, "तुम्हारी इस इच्छा को मैं बहुत दिनों से जानता और पहचानता हूँ दुर्योधन। जैसे तुमने पांडु-पुत्रों को हस्तिनापुर से निकाल कर पहले वारणावत के लाक्षागृह में जलने को भेजा और फिर खांडवप्रस्थ के वनों में पटक दिया, वैसे ही तुम मुझे भी हस्तिनापुर से निकाल कर, मुझ से मुक्ति पा लेना चाहते हो, किंतु तुम्हारा ध्यान कदाचित् इस ओर नहीं गया कि मैं इस राज्य का वेतन-भोगी मंत्री नहीं हूँ, जिसे तुम्हारी इच्छा के अनुसार नियुक्ति या निष्कासन दिए जा सकें। मैं अपने जन्म के अधिकार से इस राज्य में हूँ। जैसे भी हूँ, इस राज-परिवार का सदस्य हूं। महाराज धृतराष्ट्र का भाई हूँ। रक्त-संबंधों को राजा अथवा युवराज की इच्छा से समाप्त या परिवर्तित नहीं किया जा सकता। तुम्हारी इच्छाओं को शासन-नीति के रूप में हस्तिनापुर अपना ले, तो इसी क्षण पितामह भीष्म भी इस राज्य की सीमाओं से बाहर दिखाई पड़ेंगे।"

"विदुर।" कर्ण ने उन्हें टोका।

किंतु विदुर का प्रवाह नहीं टूटा। उन्होंने अपना दाहिना हाथ उठाकर कर्ण को मौन रहने का संकेत करते हुए अपना कथन जारी रखा, "पर पितृव्य भीष्म का अधिकार तुम्हारी इच्छा पर आश्रित नहीं है।''' हाँ। जब तुम राजा बन जाओ, और अपने वेतन भोगी मंत्री नियुक्त करने लगो, तो उसमें यह प्रतिबंध लगा देना कि मंत्री की योग्यता उसके राजा के विचारों से तादात्म्य के आधार पर मानी जाएगी। तुम्हें मंत्रणा के लिए मंत्रियों की नहीं, तुम्हारी अनैतिक इच्छाओं का समर्थन करने वाले चाटुकारों की आवश्यकता है।'''"

सहसा विदुर का प्रवाह भंग हो गया। वे मौन नहीं, मूक ही हो गए।'''वे ही क्या, सारी सभा अवाक् हो गई थी'''

भीष्म के मन में मानो एक ज्वार उठा : खड्ग खींच लें और एक सिरे से इनके सिर धड़ से पृथक करते चल जाएँ।''' किंतु न तो उनके पैरों ने साथ दिया, न हाथों ने। भीष्म का आवेश अब उनके मन तक ही सीमित होकर रह गया था। वे केवल सोच सकते थे, उसे कार्य-रूप में परिणत करने का उन्हें अभ्यास नहीं रह गया था। स्वयं को संयत और नियंत्रित करने के अनवरत अभ्यास के कारण, तुरंत निर्णय लेकर तत्काल उसे कार्य रूप में परिणत करने की क्षमता ही जैसे उन से छिन गई थी। भीष्म, मन-ही-मन अनेक क्रांतिकारी और अपारंपरिक निर्णय करते थे, किंतु उनका शरीर अपने अभ्यास के दास के रूप में वही सब कुछ करता चला जाता था, जो वे अब तक करते आए

थे। उनके मन में ऊहापोह चलता रहता था। उन्हें अनेक बार लगा था कि उनका मन, उनका अपना मन नहीं रह गया था। उसमें कोई एक विचार या विचार-परंपरा नहीं थी। वहाँ तो जैसे विवाद-सभा जुटी हुई थी। इतने सारे विरोधी विचार हस्तिनापुर की राजसभा में भी प्रकट नहीं किए जाते थे, जितने अकेले भीष्म के मन में जाग जाया करते थे।

भीष्म, द्यूत के पक्ष में नहीं थे, किंतु धार्तराष्ट्रों और पांडवों ने जुआ खेला। स्वयं धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को बुलाया। उसके आदेश से खेल आरंभ हुआ। उसकी अंधी आँखों के सामने, उसकी पूर्ण जानकारी में जुआ खेला गया।…और अब दुःशासन एक-वस्त्रा द्रौपदी को केशों से पकड़, घसीटता हुआ, सभा में ले आया है। भीष्म के खड्ग का एक प्रहार नहीं सह पाएगा, यह नीच दुःशासन। पर क्या भीष्म वार कर पाएँगे ?…

अपने हाथ में खड्ग तौलने से पहले भीष्म अपने कर्म को मन में हज़ार बार तौलेंगे।

जो कुछ हो रहा है, वह न्याय है ? धर्म है ?

युधिष्ठिर ने धर्म-बंधन में बँध कर जुआ खेलना स्वीकार किया था। वह उसकी बाध्यता ही सही, किंतु धर्म मानकर उसने स्वयं दाँव लगाया था और वह द्रौपदी को हारा था। वह षड्यंत्र का बंदी था, किंतु उसने षड्यंत्र का विरोध नहीं किया, धर्म अर्जित करने का निश्चय किया… वह निश्चित रूप से जानता था कि परिणाम क्या होने जा रहा है… नहीं जानता था, तो उसे जानना चाहिए था। द्यूत की मर्यादा का पालन करने वाला युधिष्ठिर अबोध बालक नहीं था। वह राजसूय यज्ञ करने वाला चक्रवर्ती सम्राट् था। यदि वह बिना सोचे-समझे, परिणाम से अनभिज्ञ जुआ खेल कर हार सकता है, तो कल इसी प्रकार परिणाम से अनभिज्ञ युद्ध भी कर सकता है। क्षत्रियों के लिए द्यूत, युद्ध का ही तो दूसरा रूप है… अहिंसक युद्ध। युद्ध में भी तो युधिष्ठिर को उसके परिणाम भुगतने पड़ेंगे, तो वह द्यूत के परिणाम को भी भुगतेगा…

तो क्या धृतराष्ट्र, दुर्योधन, शकुनि और दुःशासन का कोई दोष नहीं ? कोई अपराध नहीं ? जिस विधि से युधिष्ठिर को द्यूत के लिए बुलाया गया, सहमत किया गया, दाँव लगवाए गए… वह सब धर्म-संगत था ?… और द्रौपदी के साथ उनका यह व्यवहार ? द्रौपदी दासी है या अदासी, वह एक पृथक् प्रश्न है, किंतु कोई दासी के साथ भी ऐसा व्यवहार करता है क्या ? यह व्यवहार मनुष्य के प्रति ?…स्त्री के प्रति ?

भीष्म को लगा, उनका मन कुछ क्षणों के लिए स्तब्ध खड़ा रह गया। कैसी स्थिति है उनकी : न वे इस व्यवहार का समर्थन कर सकते हैं, न इसे रोक सकते हैं।…दासी के साथ ऐसा व्यवहार अनुचित है, किंतु दासी को सभा में बुलाने का अधिकार तो स्वामी को है… पर द्रौपदी। द्रौपदी का क्या दोष है ?

द्रौपदी का कोई दोष नहीं है… भीष्म मानते हैं… द्रौपदी की न द्यूत क्रीड़ा में सहमति रही होगी, न दाँव लगाने में, न हारने में।… किंतु अपने संबंधों का दंड तो द्रौपदी को भी भुगतना ही होगा… विदुर का क्या दोष था ? धृतराष्ट्र और पांडु के ही समान, वेद व्यास ने विदुर को भी उत्पन्न किया था। धृतराष्ट्र अंधा था, पांडु रोगी। उनमें से एक विदुर ही तो तन और मन से पूर्णतः स्वस्थ बालक था।… किंतु वह हस्तिनापुर का राजा नहीं बनाया गया, नहीं बनाया जा सका, और नहीं बनाया जा सकता।… वह अपने संबंधों के कारण ही तो दंडित है। उसकी माँ न राज-कन्या है, न राज-वधू। वह दासी-पुत्र है,

अतः सारी योग्यताओं और क्षमताओं के होते हुए भी, वह राज-पुत्र नहीं बन सकता। इसमें किसी को तनिक भी अधर्म नहीं दीखता...

द्रौपदी युधिष्ठिर की पत्नी है, अतः उसका धन है। इसे न युधिष्ठिर अस्वीकार कर सकता है, न द्रौपदी। द्रौपदी उसी संबंध का दंड भुगत रही है। क्या अधर्म है इसमें ? ...किंतु यह अमानवीय है।...इसे तर्क चाहे स्वीकार करे, मनुष्य का मन स्वीकार नहीं कर सकता।... व्यक्ति मात्र संबंधों का ही तो दास नहीं है। वह अपने-आप में एक पूर्ण और स्वतंत्र अस्तित्व भी तो है। धर्म की दृष्टि में, वह केवल अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है।...द्यूत युधिष्ठिर खेले और दंड द्रौपदी पाए... यह कैसा न्याय है ? क्या यह धर्म है ?

भीष्म को लगा कि वे अगले ही क्षण द्रौपदी को मुक्त करने का आदेश दे देंगे... किंतु तभी उनके विवेक ने उन्हें रोक दिया... एक दूसरा तर्क, हाथ बाँधे उनके सम्मुख खड़ा था... माता गंगा को अपने सात पुत्रों को जल-समाधि देकर जीवन-मुक्त करने का अधिकार किसने दिया था ? क्या दोष था, उन बालकों का ?... समाज-धर्म है कि संतान माता-पिता का धन है, पत्नी पति का धन है, छोटे भाई बड़े भाई का धन हैं। ... क्या भीष्म समाज के सारे विधान को उलट देना चाहते हैं ? तो भीष्म को ही क्या अधिकार था कि वे अंबा, अंबिका और अंबालिका को, उनकी इच्छा के विरुद्ध हरण कर लाए ? उन्होंने अपनी शक्ति और शस्त्र-कौशल के आधार पर, उन राज-कन्याओं पर अधिकार प्राप्त किया था, क्योंकि उनके अनुसार वह क्षात्र-धर्म था। उसी अधिकार से उन्होंने उनका विवाह विचित्रवीर्य से कर दिया था।... माता सत्यवती ने उन्हें अपनी पुत्र-वधुओं के रूप में पाया था, और सास के रूप में प्राप्त अधिकार के आधार पर, उन दोनों बिलखती हुई राज-कन्याओं को वेद व्यास को सौंप दिया था...

द्रौपदी को अर्जुन ने वीर्य शुल्का के रूप में प्राप्त किया था, और उसी अधिकार के बल पर उसे कुंती को सौंप दिया था। कुंती ने उसे पत्नी के रूप में अपने पाँचों पुत्रों को समर्पित किया। अपने उसी संबंध से वह युधिष्ठिर की पट्टमहिषी के रूप में इंद्रप्रस्थ के सिंहासन पर बैठी... तो युधिष्ठिर उसी अधिकार से उसे द्यूत में हार भी सकता है...

यदि भीष्म ने इसका विरोध किया, तो परिवार में किसी को किसी पर कोई अधिकार नहीं रहेगा।... प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र होगा, समाज-उच्छृंखल हो जाएगा... भीष्म समाज में उच्छृंखलता फैलाना नहीं चाहते, किंतु समाज इसलिए तो नहीं बना था, कि नारी का अपमान हो, दीन-दुर्बल सताए जाएँ। समाज तो इसलिए बना था कि नारी की पूजा हो, दीन-दुर्बलों को संरक्षण मिले। परिवार, समाज का ही तो अंग है। वे इस परिवार के प्रमुख हैं। वे पितामह के रूप में दुर्योधन को आदेश दे सकते हैं, कि वह द्रौपदी को मुक्त करे। वह उनकी पौत्र-वधू है। उसके सम्मान की रक्षा उनका धर्म है...

सहसा वे चौंके : वे परिवार के मुखिया तो हैं, और रहेंगे, तो क्या वे धृतराष्ट्र को आदेश देंगे ? राजा को आदेश देंगे ? वे राजनीति में हस्तक्षेप करेंगे ? तो उस वचन का क्या होगा, जो उन्होंने माता सत्यवती के पिता को दिया था ? वय अथवा संबंध में तो वे सदा ही धृतराष्ट्र से बड़े रहेंगे। तो क्या वे सदा धृतराष्ट्र को आदेश देते रहेंगे ?

ऐसे में धृतराष्ट्र हस्तिनापुर का राजा कैसे रहेगा ? यदि वह उनसे आदेश प्राप्त करेगा, तो उसकी संप्रभुता का क्या होगा ? ...कदाचित् इसीलिए राजा लोग अपने पुत्र का राज्याभिषेक करने के बाद वानप्रस्थ ले लिया करते हैं। न वे परिवार में रहेंगे, न शासन-व्यवस्था में हस्तक्षेप करेंगे।... इसीलिए व्यास माता सत्यवती को अपने साथ अपने आश्रम में ले गए थे... किंतु भीष्म तो वानप्रस्थ भी नहीं ले सकते। वे हस्तिनापुर के शासकों के पालन-पोषण और उनकी रक्षा के लिए वचन-बद्ध हैं। वे ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकते, जिससे हस्तिनापुर का शासन या शासक दुर्बल हो... वे वचन-बद्ध ही नहीं हैं, वे अभिशप्त हैं कि वे इस राजसभा में उपस्थित रहेंगे, सारा अधर्म और अन्याय अपनी आँखों से देखेंगे, सारे आवेग और आवेश, अपने हृदय पर झेलेंगे, किंतु अपने मुख से कुछ नहीं बोलेंगे...

भीष्म को लगा कि उनका सारा आवेश जैसे उनकी दृष्टि में केन्द्रित हो गया है, और वह दृष्टि वन की किसी कुटिया में सुरक्षित बैठी सत्यवती की ओर बढ़ी है। सत्यवती ने आँखें उठाई हैं, और भीष्म की वेगवान दृष्टि स्तब्ध खड़ी रह गई है।

सत्यवती मुस्कराई है, और उसने हल्के से पूछा है, "वचन का बोझ असह्य हो उठा है पुत्र ?"

भीष्म के हाथ जुड़ गए हैं, आँखें झुक गई हैं, स्वर कोमल हो आया है, "नहीं माता ! भीष्म वृद्ध अवश्य हो रहा है, किंतु उसके कंधे अभी इतने दुर्बल नहीं हुए हैं।"...

दुःशासन ने द्रौपदी को भरी सभा में ला पटका था। द्रौपदी अपनी इच्छा से नहीं आई थी, उसे दुःशासन बलात् खींच कर लाया था, बाँह से पकड़ कर नहीं, खुले हुए अस्त-व्यस्त केशों को मुट्ठी में जकड़ कर। उसने सभा में पहुँच कर द्रौपदी के केशों को जोर का झटका देकर अपनी मुट्ठी खोल दी थी। केश खिंचने की शारीरिक पीड़ा अधिक थी या अपमान का आहत भाव... द्रौपदी स्वयं नहीं समझ पा रही थी। वह झटके को झेलने में असफल होकर, भूमि पर गिर पड़ी थी। भूमि पर बैठे हुए, उसने जब सँभल कर अपनी दृष्टि उठाई तो आँखें डबडबाई हुई थीं। मुखाकृति पर असहायता, विवशता और आक्रोश का मिश्रित भाव था। उसके दमित तेज में पीड़ा भी थी और आक्रामकता भी।

वह अधिक देर तक उस स्थिति में बैठी नहीं रह सकती थी। वह उठकर खड़ी हुई, तो सब ने स्पष्ट देखा : वह एक वस्त्रा भी थी और रजस्वला भी।

उसने अपने पतियों को देखा : वे सभा के एक कोने में दीन-हीन और मलिन-सी स्थिति में बैठे थे। उनके सिर झुके हुए थे। किसी ने गोपनीय ढंग से उसकी ओर देखा हो, तो देखा हो, किंतु प्रत्यक्ष रूप से आँखें उठाकर उसकी स्थिति को देखने का साहस किसी में नहीं था।... एक भीम अवश्य साँकलों में बँधे गजराज के समान असहाय अवस्था में उत्तप्त श्वास छोड़ रहा था।

द्रौपदी को समझते देर नहीं लगी कि जो सूचना उसे दी गई थी, वह सत्य थी... धर्मराज द्यूत में सब कुछ हार चुके थे : उसे भी, अपने भाइयों को भी, और स्वयं अपने

आपको भी। प्रातिकामी ने ठीक ही बताया था। ऐसा न होता तो दुःशासन चाहे कितना भी उद्दंड और दुस्साहसी क्यों न हो, उसे इस प्रकार खींच कर यहाँ लाने का साहस नहीं कर सकता था। यदि उसके पति पराजित होकर दास न हो गए होते, तो उसे केशों से पकड़ कर खींच कर लाने वाला दुःशासन इस समय तक जीवित खड़ा नहीं रहता।"'

द्रौपदी की दृष्टि दुःशासन की ओर उठी। वह पैशाचिक मुस्कान ओढ़े अपनी मूँछें ऐंठ रहा था। दुर्योधन और कर्ण की ओर देखने का उसका साहस ही नहीं हुआ।

"धर्मराज।" उसने युधिष्ठिर की ओर देखा।

"मैं धर्म के बंधन में बँधा हूँ देवि !" युधिष्ठिर का निष्कंप स्वर सुनाई दिया, "मैं द्यूत में हार चुका हूँ। पहले स्वयं को, और फिर तुम्हें।"'

"धर्म वह होता है, जो बंधनों से मुक्त करे।" द्रौपदी ने कहा, "यह कौन-सा धर्म है, जो आपको बाँधे हुए है, और अपनी पत्नी के सम्मान और शरीर की रक्षा से आपको रोक रहा है ?"

युधिष्ठिर ने कुछ नहीं कहा। बस सिर झुका लिया। स्पष्टतः विरोधियों की इस सभा में वे अपनी पत्नी से धर्म के स्वरूप को लेकर विवाद नहीं करना चाहते थे।

सहसा द्रौपदी चौंकी : धर्मराज ने उसे केवल यह सूचित नहीं किया था कि वे द्यूत में स्वयं को और उसे हार गए हैं'''उन्होंने यह भी सूचित किया था कि वे पहले स्वयं को हारे, और तब उन्होंने द्रौपदी को दाँव पर लगाया।''' यह क्यों बताया धर्मराज ने ?''' द्रौपदी का तेज जागा''' यह अधर्म था। उसे धर्म मिलना चाहिए।'''कौन देगा धर्म ?''' उसके पति तो सर्वथा हारे हुए और असहाय बैठे थे''' राजा। वह राजा से अपनी रक्षा और धर्म-संगत अधिकारों की माँग कर सकती थी। किंतु राजा धृतराष्ट्र है। उसने धर्म की माँग का तिरस्कार कर दिया, तो धर्म का न्याय कौन करेगा ? वह न्याय की माँग किससे करेगी ?''' उचित है कि राजा से धर्म माँगने से पहले वह कुल-वृद्धों से ही धर्म माँगे।

"पितामह ! वह सभा नहीं है, जिसमें वृद्ध न हों, वह वृद्ध नहीं है, जो धर्म की बात न बताए, वह धर्म नहीं है, जिसमें सत्य न हो, और वह सत्य नहीं है, जो छल ये युक्त हो।" उसने भीष्म की ओर देखा, "धर्म की बात आपसे अधिक और कौन जानता है। कृपया अपनी पौत्र वधु के सम्मान की रक्षा के लिए बताएँ कि स्वयं अपने-आप को जुए में पहले हार चुके धर्मराज को क्या मुझे दाँव पर लगाने का अधिकार था ? कृपा कर इस सभा को बताएँ कि मैं कुरुकुल की वधू तथा पांडवों की पत्नी हूँ, अथवा जुए में जीती गई दुर्योधन की दासी ?"

पितामह अपने ही ऊहापोह से कम पीड़ित नहीं थे, अब द्रौपदी ने भी आकर उन्हें ही पुकारा था। उनके चेहरे पर असमंजस उभरा। असमंजस तो विलंब का पर्याय है। उन्हें समय चाहिए कि वे सोच-समझ सकें। किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकें।''' पर द्रौपदी उन्हें पुकार रही थी, "कहिए पितामह। क्या यह धर्म है ?"

भीष्म का मन हुआ कि अपने स्थान से उठकर द्रौपदी के पास जा, उसके सिर पर अभय का हाथ रख दें, और कहें, "बेटी, तू ने बहुत कष्ट सहा है। आज से मैं तुझे अभय देता हूँ। कोई तुझे तीखी दृष्टि से भी नहीं देखेगा।"

किंतु तभी उनकी आंखों के सामने, उनके अपने पिता आ खड़े हुए"महाराज शांतनु।"माता गंगा, एक के पश्चात् एक संतान को जल में विसर्जित कर जीवन-मुक्ति दे रही थीं" और शांतनु हाथ बाँधे खड़े थे।" उनके धर्म ने उन्हें बाँध रखा था। उन्होंने वचन जो दिया था।"एक के पश्चात् एक पुत्र प्रवाहित होता रहा और शांतनु मौन-मूक खड़े रहे" पिता भी चुप रहा, राजा भी,"और समाज भी"

तो क्या युधिष्ठिर के वचन का कोई मूल्य नहीं ? वचन का पालन ही तो धर्म है" किंतु स्त्री के सम्मान की रक्षा भी तो धर्म है" किस धर्म का पालन होगा ?"

"धर्म का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है पांचाली।" भीष्म के मुख से जैसे उनकी असहायता प्रकट हुई, "इसके विषय में मैं अभी कुछ भी निर्णय नहीं कर पा रहा।"

द्रौपदी के हृदय पर जैसे वज्रपात हुआ। उसकी कल्पना में भी नहीं था कि पितामह इस प्रकार उसकी धर्म की पुकार को टाल जाएँगे, और इन क्रूर धार्तराष्ट्रों की पिशाच-लीला के सम्मुख उसे असुरक्षित छोड़ देंगे।"पितामह ही तो धर्म के स्तंभ हैं। इस कुरुकुल में धर्म तो टिका ही उनके आधार पर है।" और आज वे ही कह रहे हैं कि धर्म का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होता है। क्या वे देख नहीं पा रहे हैं कि उनकी पौत्र-वधू किस प्रकार सार्वजनिक रूप से अपमानित की जा रही है। इस प्रकार तो कोई साधारण क्रीतदासी भी कभी अपमानित नहीं की जाती।"इस समय परिवार के रक्षक पितामह, अपना धर्म नहीं समझ पा रहे"ओह कृष्ण ! सखा कृष्ण ! कहाँ हो तुम ? तुम होते तो बताते कि धर्म का स्वरूप क्या है। तब कोई न कह पाता कि धर्म का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिए निष्क्रियता तथा जड़ता ही काल-धर्म है"

द्रौपदी राजा धृतराष्ट्र के सम्मुख जा खड़ी हो गई, "राजन्। वैसे तो मैं आपकी पुत्र-वधू हूँ, किंतु इस समय प्रजा के रूप में आप से न्याय की याचना कर रही हूँ। कृपया व्यवस्था दें कि क्या कुरुकुल-वधू द्रौपदी, जुए में धर्मपूर्वक जीत ली गई और वह अब दासी हो गई है ?"

धृतराष्ट्र भावना-शून्य-से चुपचाप बैठे रहे। लगा, कदाचित् वे कोई उत्तर नहीं देंगे। राजा के लिए यह आवश्यक भी नहीं कि वह प्रजा की प्रत्येक पुकार की प्रतिध्वनि दे ही।

द्रौपदी ने पुनः पुकारा, "राजन्। मैं दया नहीं माँगती। मैं धर्म माँग रही हूँ।"

"तुमने राजा को पुकारा है पांचाल राजकुमारी।" सहसा धृतराष्ट्र वाचाल हो उठा, "तो मैं राजा का ही न्याय करूँगा। इस राजसभा की साक्षी में दो पक्षों ने द्यूत खेला है। द्यूत बिना दाँव के नहीं होता। युधिष्ठिर ने द्यूत के धन के रूप में तुमको दाँव पर लगाया, और वह हार गया। राज-धर्म यही कहता है कि तुम विजयी पक्ष की दासी हो।" जीती गई वस्तु पर विजयी पक्ष को आधिपत्य दिलाना भी तो राजा का ही धर्म है।""

द्रौपदी के मुख से चीत्कार फूटा, "राजन्।"

धृतराष्ट्र की दृढ़ता में तनिक भी कमी नहीं आई, "या फिर तुम यह कह दो पांचाली कि युधिष्ठिर को कोई अधिकार नहीं था कि वह तुम्हें अपने धन के रूप में द्यूत के दाँव पर लगाता। कह दो कि वह तुम्हारा स्वामी नहीं है।""

"पुत्र, दास तथा सदा आश्रित रहने वाली स्त्री का अपना कोई धन नहीं होता।"

कर्ण ने धृतराष्ट्र की बात पूरी होते-होते कहा, "युधिष्ठिर पांचाली को दाँव पर न भी लगाता, तो भी दास के धन के रूप में पांचाली दुर्योधन की दासी हो ही चुकी थी।"

द्रौपदी ने कर्ण की ओर ध्यान भी नहीं दिया। उसने पुनः धृतराष्ट्र की ओर देखा। धृतराष्ट्र का चेहरा खिल गया था, मानो कर्ण ने वह बात कह दी थी, जो स्वयं धृतराष्ट्र से, इच्छा होने पर भी, अब तक कहीं नहीं जा सकी थी।

"धर्मराज मेरे पति हैं।" द्रौपदी तनिक भी हतप्रभ नहीं हुई, "उन्हें मुझ पर पूर्ण अधिकार है। मैं उनका धन हूँ।··· ऐसी स्थिति में जब वे स्वयं को हार चुके थे, दास हो गए थे, उनके धन के रूप में, मैं बिना दांव पर लगाए ही जीत ली गई थी। ···किंतु यदि ऐसा होता, तो मुझे दाँव पर लगाने को आवश्यकता ही क्या थी ? मुझे दाँव पर लगाकर जीता गया, इसका अर्थ ही यह है कि इस सभा ने द्यूत की मर्यादा के अन्तर्गत यह स्वीकार किया कि दास के धन के रूप में पत्नी को हस्तगत करने का अधिकार विजयी पक्ष को नहीं है।" द्रौपदी का स्वर आत्मबल से परिपूर्ण था।

"हमने तुझे धर्मपूर्वक जीता है।" दुर्योधन जैसे आपे से बाहर होता जा रहा था।

"धर्म का ही निर्णय करने को कह रही हूँ।" द्रौपदी बोली, "एक-एक बात का निर्णय होता चले तो अच्छा है। पहले यह निर्णय कीजिए कि स्वयं को द्यूत में हार गए और दास हो गए व्यक्ति की पत्नी और संतान, क्या विजयी पक्ष का धन हो जाते हैं ? यदि हाँ। तो कृष्ण और बलराम की बहन सुभद्रा भी दुर्योधन की क्रीत दासी हो गई, क्योंकि वह दास अर्जुन की पत्नी है। उसे भी मेरे ही समान केशों से पकड़ कर, घसीट कर, यहाँ लाने का साहस है किसी में ?" द्रौपदी की दृष्टि क्षण भर के लिए भीष्म और धृतराष्ट्र के चेहरों पर टिकी, "और यदि दास पांडवों की पत्नी के रूप में मैं धार्तराष्ट्रों की दासी हो ही गई थी, तो मुझे दाँव पर क्यों लगाया गया ? जीते हुए धन को कोई दुबारा दाँव पर लगाता है क्या ? यदि ऐसा है, तो धर्मराज अपने हारे हुए धन में से प्रत्येक वस्तु को पुनः दाँव पर लगा सकते हैं। तो फिर द्यूत समाप्त क्यों कर दिया गया ?···"

"मैं कहता हूँ, हमने तुझे धर्मपूर्वक जीता है।" दुर्योधन ने किसी मूढ़ के समान अपनी गदा को धरती पर पटका।

"जीता तो तब होता, जब स्वयं को हार जाने के पश्चात भी धर्मराज को मुझे दाँव पर लगाने का अधिकार होता। किसी दास का किसी अदास पर, स्वतंत्र नागरिक पर ऐसा अधिकार हो ही कैसे सकता है ?···"

धृतराष्ट्र के कान जैसे सुन्न हो गए।··· वह आगे और कुछ नहीं सुन सका···

'युधिष्ठिर चालाकी कर गया।' उसका मन चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा था, 'धर्मराज धूर्तता कर गया। शकुनि स्वयं को बहुत चतुर समझता है, किंतु निकला मूर्ख ही। यदि इस मूर्ख शकुनि ने युधिष्ठिर से द्रौपदी को दाँव पर लगवाने की मूर्खता न की होती··· तो बिना दाँव पर लगाए ही, पांचाली ही नहीं, पांडवों की अन्य पत्नियाँ भी, उनकी संतानें भी दुर्योधन का धन होतीं··· किंतु युधिष्ठिर शकुनि को मूर्ख बना गया, यह एक दाँव युधिष्ठिर ही जीता··· और यही सब से बड़ा दाँव था। हाथों में पासे लिए बिना, युधिष्ठिर ने शकुनि को ऐसा मूर्ख बनाया है···'

"राजन्।" द्रौपदी ने पुनः उच्च स्वर में पुकारा, "न्याय कीजिए। बताइए, धर्म क्या है ?"

धृतराष्ट्र को लग रहा था, जीती गई द्रौपदी, दुर्योधन के हाथ से निकली जा रही है।··· दुर्योधन के लिए यह शोक असह्य होगा। वह आत्मघात कर लेगा।···

"राजन्।" द्रौपदी ने पुनः चीत्कार किया, "धर्म क्या है ?"

धृतराष्ट्र खीझ उठा, "धर्म तो इतना ही है कि तुम्हें युधिष्ठिर द्यूत में हार गया है, और किसी भी व्यक्ति को अधिकार है कि वह अपने धन को द्यूत के दाँव पर लगाए···।"

द्रौपदी स्तब्ध खड़ी रह गई।··· उसके सम्मुख जो व्यक्ति राजसिंहासन पर बैठा हुआ था, वह न उसका ससुर था, न कुरुओं का कुल-वृद्ध, न वह राजा था न न्यायकर्ता, न वह अपनी प्रजा को पहचानता था, और न अपने धर्म को। वह तो अंधा शासन था, जो केवल पशुबल को पहचानता था··· और धर्म में बंधे पांडव, पशुबल का सहारा कभी नहीं लेंगे···

"धर्मराज !" द्रौपदी युधिष्ठिर की ओर बढ़ी।

धर्मराज युधिष्ठिर का सिर अपनी असहायता में और भी झुक गया। उनके मुख से एक भी शब्द नहीं निकला। द्रौपदी स्पष्ट देख रही थी कि धर्म-बंधन में बँधे धर्मराज न केवल उसकी रक्षा करने में असमर्थ थे, दास के रूप में कदाचित वे यह कहने को भी तैयार नहीं थे कि यह अधर्म था, और इसका विरोध होना चाहिए। वे यदि इतना भी कह देते, तो शेष उनके भाई देख लेते···किंतु युधिष्ठिर का द्वन्द्व द्रौपदी समझती थी··· न वे यह मान सकते थे कि द्रौपदी उनका धन नहीं थी, और न वे यह मान सकते थे कि स्वयं को हार कर अपने धन का हारना अधर्म था। धर्मराज होकर वे अधर्म कैसे कर सकते थे ?··· किंतु इस अवस्था में भी द्रौपदी के मन का कोई एक अंश, अपने पति की बुद्धिमत्ता पर मुग्ध था··· उसे शेष धन के रूप में बचाकर, स्वयं को दाँव पर लगाया, और फिर उसे भी दाँव पर लगा दिया··· धर्मराज ने यदि उन दोनों में से कोई एक काम न किया होता, तो द्रौपदी के पास अपनी रक्षा के लिए कोई संबल नहीं रह जाता।···

"धनंजय।"

अर्जुन ने अपना सिर उठाया ही नहीं। वह पृथ्वी को अपने अंगूठे से कुरेदता रहा।

"पवन पुत्र भीम।"

भीम ने अपनी आँखें उठाकर, एक क्षण के लिए द्रौपदी को देखा, और फिर क्रुद्ध बैल के समान नथुनों से फूत्कार छोड़ते हुए, युधिष्ठिर की ओर देखा, किंतु बोला वह भी कुछ नहीं।

द्रौपदी फफक कर रो पड़ी। नकुल और सहदेव को उसने पुकारा ही नहीं। जब ये दोनों महावीर ही निष्क्रिय हुए बैठे हैं, तो बेचारे नकुल और सहदेव क्या करेंगे···

"दुहाई है कुरुकुल के सम्मान की।"

दुर्योधन ने मानो हँसी के रूप में विष उगला, "दासी का साहस तो देखो। अपने मान-सम्मान से कुरुकुल के मानापमान को तौलती है।"··· वह ऊपर से हँस रहा था, किंतु भीतर से अपने बुरी तरह भयभीत मन को भी पहचान रहा था··· उन्होंने पांडवों

को भय अथवा शासन के नहीं, धर्म के बंधन में बाँध रखा था, किंतु द्रौपदी के तर्कों ने उन बंधनों को पर्याप्त शिथिल कर दिया था। यदि वह उन्हीं तर्कों पर अड़ी रही, धर्म की दुहाई देती रही, और उसे इस सभा में तनिक भी समर्थन मिल गया, तो वह उसके हाथों से निकल जाएगी।''' संभव है कि भीम ही विद्रोह कर उठे। एक बार उसके मन से धर्म का भय हट गया, तो वह अपनी गदा उठा लेगा''' दुर्योधन को कुछ करना होगा'''अभी। इसी क्षण। कुछ इतना भयानक कि अर्जुन के गांडीव के समान भयंकर, पांचाली की जिह्वा उसके तालू से चिपक जाए''' वह एक शब्द भी न बोल सके''' धर्म की गुहार तक न कर सके'''

दुर्योधन की मुखाकृति असाधारण रूप से क्रूर और कुटिल हो उठी'''"दुःशासन। उठो, दासी को उसके सम्मान का मूल्य समझा दो।" और जैसे उसने सभा के कानों में खौलता हुआ सीसा उंडेला, "केशों से पकड़ो और खींच कर खड़ी कर दो इसे, दासी को इन वस्त्रों में सभा में नहीं आना चाहिए। निर्वस्त्र कर दो इसे'''।"

भीम के मुख से एक फूत्कार निकला, और उसने धधकती हुई आँखों से युधिष्ठिर की ओर देखा। फिर जैसे उसने अपनी असहायता का पुनः अनुभव कर अपनी दोनों मुट्ठियाँ भूमि पर दे मारीं।

दुःशासन अपने स्थान से उठा। सारी सभा स्तब्ध खड़ी देख रही थी : क्या दुःशासन, दुर्योधन का कहा, पूरा करेगा ?

विदुर एकटक उसे देख रहे थे। उनकी दृष्टि से छिपा नहीं था कि दुःशासन सहज नहीं है। वह इतना उत्तेजित क्यों है ? वह इतना भयानक क्यों दिख रहा है ? क्या वह भयभीत है ? क्या वह जानता है कि दुर्योधन के आदेश और अपने मन के कलुष से जो दुष्कर्म वह करने जा रहा है, उससे पांडव कितने क्रुद्ध हो जाएँगे, और उसका मूल्य दुःशासन को ही चुकाना होगा''' क्या वह अपने उस भय को दबाए रखने के लिए इतना भयंकर बनने का प्रयत्न कर रहा है ?'''

दुःशासन ने द्रौपदी के निकट जाकर, जैसे क्षण भर अपने बल को तौला और फिर एक झटके से, उसके केश पकड़ लिए। द्रौपदी ने तमक कर अपना झुका हुआ सिर ऊपर उठाया'''

भीम अपने स्थान पर बैठा नहीं रह सका। वह उठकर खड़ा हो गया और जैसे आकाश को भेद देने के लिए ऊपर आँखें उठाकर बोला, "युद्ध में इस नीच दुःशासन का वक्ष चीर कर, मैंने इसका रक्तपान नहीं किया, तो मैं पांडु-पत्र भीम नहीं'''"

द्रौपदी ने भी न्याय की याचना की मुद्रा एक झटके के साथ त्याग दी। वह भीम के स्वर में अपना तेजस्वी स्वर मिला कर बोली, "राजसूय यज्ञ के पश्चात् अवभृथ स्नान करने वाले ये केश, जो तूने खींचे हैं नीच। ये जब तक तेरे वक्ष के रक्त से नहीं धुलेंगे तब तक इनकी वेणी नहीं बनेगी।"

दुःशासन ठिठक गया। उसके हाथों से द्रौपदी के केश छूट गए। उसकी आँखों में एक भय कौंधा। उसे लगा, वे द्रौपदी के केश नहीं, सहस्रों जिह्वाएँ लपलपाते हुए नाग थे, उसने उन्हें पकड़ा नहीं, और उन्होंने उसे डसा नहीं।

और भीमसेन की प्रतिज्ञा।'''बाल्यावस्था में कितनी ही बार वह भीम से गदा-युद्ध

और मल्ल युद्ध कर चुका है। भीम ने कितनी ही बार उसे अखाड़े में पटक-पटक कर मारा है।"वह सब तो अभ्यास था, क्रीड़ा थी" और इस समय तो भीम क्रोध में है। यदि सचमुच ही इस समय वह अपनी गदा लेकर कूद पड़ा, तो फिर उसकी गदा की चोट से दुःशासन को कोई नहीं बचा सकेगा "; दुर्योधन भी नहीं। सेनाएँ खड़ी की खड़ी रह जाएँगी, और भीम उसका वक्ष फाड़ डालेगा" उसे न पितामह रोकेंगे, न गुरु द्रोण और न कृपाचार्य। जब दुर्योधन को ही कोई नहीं रोक रहा, तो भीम को ही कोई क्यों रोकेगा"

एक सिहरन-सी उसकी रीढ़ की हड्डी में दौड़ गई।

धृतराष्ट्र ने इन प्रतिज्ञाओं को सुना। उसका दृष्टिहीन चेहरा भी इनसे अप्रभावित नहीं रह सका। अनिष्ट की आशंका, उन अंधी आँखों से भी प्रकट हो रही थी।" पर क्या वह दुर्योधन के आनन्दोत्सव में विघ्न डाल सकता है" या" या द्रौपदी के उत्पीड़न के माध्यम से पांडवों का यह अपमान, उसे भी सुख की सिहरन दे रहा है" पांडवों से पराजित, अपमानित और हेठा होकर दुर्योधन बार-बार रोया है। उसकी पीड़ा ने धृतराष्ट्र को भी रुलाया है" आज दुर्योधन का यह महोत्सव चाहे धर्म है या अधर्म, न्याय है या अन्याय" पर इसमें पांडवों की हार हुई है, वे अपमानित हुए हैं"

तभी विदुर का स्वर पुनः गूँजा, "राजन्। अब भी समय है। चाहो तो कुरुकुल को बचा लो। मैं कहता हूँ कि यह अधर्म है। यदि हस्तिनापुर की राज्य-सभा धर्म की रक्षा नहीं करेगी, तो धर्म भी उसकी रक्षा नहीं करेगा।"

"विदुर !" दुर्योधन का स्वर जैसे खड्ग की धार लिए हुए था, "तुम अपनी रक्षा करो। चुपचाप बैठ नहीं सकते, तो सभा से बाहर निकल जाओ।"

विदुर का चेहरा अपमान से लाल हो उठा, किंतु न वे दुर्योधन से संबोधित हुए, न सभा से बाहर गए। सभा से बाहर जाकर, क्या वे इस यातना से मुक्त हो पाएँगे ? क्या वे धर्म, न्याय अथवा पांडवों की रक्षा कर पाएँगे ? आवेश में बाहर निकल गए, तो दुर्योधन का मन-चाहा ही करेंगे। आवेश को दबा कर ही रखना होगा।

इससे पहले कि विदुर दुर्योधन को कोई उत्तर देते या उसकी उपेक्षा कर, धृतराष्ट्र से पुनः धर्म की रक्षा का अनुरोध करते, धृतराष्ट्र पुत्र विकर्ण उठ कर अपने स्थान पर खड़ा हो गया, "मैं विदुर काका का पूर्ण समर्थन करता हूँ। मैं क्षत्रियों की इस सभा से अनुरोध करता हूँ कि वह इस पाप-व्यवहार में हस्तक्षेप करे। इस अधर्म और अन्याय को रोके। हस्तिनापुर की राजसभा में एक सती नारी का अपमान होगा, तो इस पाप के प्रायश्चित्त स्वरूप भार्गव परशुराम को एक बार फिर से पृथ्वी को क्षत्रियों से रिक्त करना पड़ेगा। पांडवों को अपने परिजनों के रूप में इस उत्सव पर आनन्द और मनोरंजन में सम्मिलित होने के लिए बुलाया गया था। उनका अपमान करने के लिए नहीं। द्रौपदी इस कुल की वधू है। उस सती का अपमान""

विकर्ण की बात पूरी भी नहीं हुई थी कि कर्ण जैसे तड़प कर उठा खड़ा हो गया और अपने गंभीर स्वर में बोला, "विकर्ण ! बड़ों के सम्मुख बोलने और उनका विरोध करने से पहले, अपनी बुद्धि और तर्क-क्षमता को भी तौल लेना चाहिए। जिन पांडवों का समर्थन कर रहे हो, उनसे ही यह सीख लो कि अवस्था में स्वयं से बड़े लोगों की

बुद्धि पर अविश्वास नहीं करना चाहिए। तुम ठीक कहते हो कि कुलवधू सभा में नहीं आती, किंतु वेश्याएं तो सदा ही सभाओं में बुलाई ही नहीं, नचाई भी गई हैं।" कर्ण के मन का समस्त कलुष उसके चेहरे पर प्रकट हो गया, "द्रौपदी कुलवधू नहीं है। पाँच पतियों की भार्या, कुलवधू हो ही कैसे सकती है। वह कुलटा है। वह वेश्या है। उसे चाहिए कि अब वह अपने हारे हुए इन दास पतियों को त्याग कर अपने लिए कोई नया पुरुष खोज ले। सर्वश्रेष्ठ तो यह है कि वह युवराज की भोग्या हो जाए।" कर्ण का चेहरा विकृत भावों से काला हो गया था, "दुःशासन। तुम पांडवों के साथ-साथ इस वेश्या के भी वस्त्र उतार, उसे निर्वस्त्र कर दो।"

भीष्म ने जिस दृष्टि से कर्ण को देखा, वह कह रही थी कि 'मुझे पहले ही पता था कि तू निकृष्टतम धातु का बना हुआ पिशाच है। तू कोई अच्छी बात सोच ही कैसे सकता है।' किंतु उन्होंने जिह्वा से कुछ नहीं कहा। उनके मौन ने अवश्य कहा, 'तुम जैसे शोहदों के मुँह कौन लगे।'

दुर्योधन की वासना को कर्ण के वाक्य से बल मिला। अनायास ही उसके दाहिने हाथ ने अपनी दाहिनी जंघा से वस्त्र हटा दिया, और हाथ के संकेत से द्रौपदी को अपनी जंघा पर बैठने का निमंत्रण दिया। मुख से उसने एक शब्द भी नहीं कहा।

भीम ने चिंघाड़ कर, अपनी गदा उठा ली, लगा, वह लपक कर दुर्योधन तक जा पहुँचेगा, और एक ही प्रहार में या तो उसकी जंघा तोड़ देगा, या उसका मस्तक चूर कर देगा।

सभा में सनसनी फैल गई। सबके हाथ अपने शस्त्रों तक जा पहुँचे। भीष्म को लगा कि सर्वनाश का क्षण आ पहुँचा है। जो क्षति दुर्योधन और शकुनि नहीं कर पाए, वह इस कर्ण ने कर दी।

धृतराष्ट्र अपनी अंधी आँखों में उत्सुकता और जिज्ञासा भरे, शून्य में घूर रहा था : जाने क्या हो रहा है, सभा में।

अर्जुन ने भीम का हाथ पकड़ लिया, और दबे हुए स्वर में बोला,"क्या कर रहे हो भाई ?"

"छोड़ दो अर्जुन।" भीम के स्वर में फुफकार थी, "यदि दुर्योधन को नहीं मारा, तो मेरा हाथ धर्मराज पर उठ जाएगा।"

अर्जुन की दृढ़ता में तनिक भी कमी नहीं आई, "स्थिति की गंभीरता को समझो। वे हमें इतना अपमानित करना चाहते हैं कि हमारा धैर्य·चुक जाए और हम धर्म त्याग दें। धर्म-अधर्म को भूलकर, हम या तो उनसे भिड़ जाएँ, या आपस में लड़ मरें। इन दोनों ही परिस्थितियों में हमारा सर्वनाश हो जाएगा भाई।"

भीम की समझ में कुछ आया, और कुछ नहीं भी आया। युधिष्ठिर और अर्जुन का धर्म-बंधन उसे रोक रहा था, और उसका आक्रोश ध्वंस मचा देने के लिए अकुला रहा था।

परिणामतः भीम के हाथ-पैर तो नहीं हिले, किंतु उसकी जिह्वा मुक्त हो गई, मैं पांडु-पुत्र भीमसेन प्रतिज्ञा करता हूँ कि इस दुष्ट युवराज दुर्योधन की जंघा इसी गदा से तोडूँगा। न तोडूँ तो मुझे सद्गति न मिले।"

भीम की प्रतिज्ञा का सबसे अधिक प्रभाव धृतराष्ट्र पर हुआ। उसे अब पता चला कि सभा में उसकी अंधी आँखों के सम्मुख कुछ और अघटनीय घट गया है।

दुर्योधन ने भयंकर अट्टहास किया। अपने उस अट्टहास की अनुरणन ध्वनि उसने अपने हृदय में भी अनुभव की। उसे लगा, यदि उसने कोई भंयकर आघात कर भीम को तत्काल मौन नहीं किया, तो जो भय वह भीम के मन में उत्पन्न करना चाहता है, वह उसके अपने मन में जम जाएगा···

"दास भीम। गदा मेरे पास भी है, और जंघा तुम्हारी भी है।" और सहसा वह दुःशासन की ओर मुड़ा, "दुःशासन। दासी को निर्वस्त्र करो।"

दुःशासन का काँपता हुआ हाथ द्रौपदी के वस्त्र की ओर बढ़ा, और आधी सभा जैसे अपने स्थान पर उठकर खड़ी हो गई।

द्रौपदी ने अपनी प्रज्वलित आँखें आकाश की ओर उठाईं। सभा में उपस्थित किसी व्यक्ति से अब कोई आशा नहीं थी। उसके मुख से आर्त्त स्वर फूटा, "मैं महाराज पांडु की पुत्र-वधू, वीर पांडवों की पत्नी, पंचाल वीर द्रुपद की पुत्री, धृष्टद्युम्न की बहन और वासुदेव कृष्ण की सखी हूँ।···"

दुःशासन का हाथ ठिठक गया। उसके कानों में निरंतर एक ही स्वर गूँज रहा था··· 'मैं वासुदेव कृष्ण की सखी हूँ···'

उसने अपना मस्तक झटका और द्रौपदी की ओर क्रूर दृष्टि से देखा।

"मेरा ऐसा अपमान, जैसा कभी किसी साधारण दासी का भी नहीं हुआ। शत्रुघाती मधुसूदन ! सखा कृष्ण ! कहाँ हो तुम। मेरे पति मेरी रक्षा नहीं कर रहे। समर्थ होकर भी वे धर्म के रूप में अधर्म के बंधन में बँधे हैं। स्वयं अपनी मर्यादा से बँधे वे असमर्थ हैं। तुम समर्थ हो कृष्ण। तुम धर्म के मर्मज्ञ हो। तुम जानते हो, यह धर्म नहीं है। इनका नाश करो कृष्ण। मेरी रक्षा करो।···"

दुःशासन की आँखों के सम्मुख इंद्रप्रस्थ की सभा घूम गई, मधुसूदन, शत्रुघाती कृष्ण। कृष्ण ने अपनी तर्जनी पर सुदर्शन चक्र रखकर फेंका था, और शिशुपाल का मस्तक कट कर भूमि पर जा गिरा था।··· और सहसा दुःशासन को लगा, उसके चारों ओर सुदर्शन चक्र ही सुदर्शन चक्र हैं। वे उसके कंठ के बहुत निकट थे। अभी उसका मुंड भी कट कर धरती पर लुढ़कने लगेगा···

दुःशासन की उठी भुजा लटक गई। उसके पगों के नीचे धरती जैसे डोल रही थी। उसका मस्तक स्थिर नहीं था। वह अपना माथा पकड़ कर बैठ गया···

सभा में भीषण कोलाहल मच गया।

"क्या हुआ ? क्या हुआ ?" धृतराष्ट्र ने पूछा, "क्या हो गया ?"

भीष्म अत्यन्त उद्वेलित हो उठे थे··· उन्होंने शासन में हस्तक्षेप न करने की प्रतिज्ञा कर रखी थी, माता सत्यवती के सम्मुख हस्तिनापुर राज्य और राजपरिवार की रक्षा की प्रतिज्ञा भी तो उन्होंने ही की थी। यदि इस सोपान पर भी वे धृतराष्ट्र को यह घातक और नृशंस क्रीड़ा बंद करने का परामर्श नहीं देते, तो कुरुकुल का नाश होकर रहेगा। ऐसे में वे शासन में हस्तक्षेप न करने का संकल्प चाहे निभा लें, किंतु राजकुल की रक्षा की उनकी प्रतिज्ञा का पालन नहीं हो पाएगा।

"क्या हो गया ?" धृतराष्ट्र ने पुनः पूछा।

"होते-होते रह गया।" भीष्म बोले, "फिर भी बहुत कुछ हो गया। अब भी यदि कुरुकुल की कुशल चाहते हो, इसे यहीं रोक दो। द्रौपदी की रक्षा करो। पांडवों का राज्य उन्हें लौटा कर उन्हें मुक्त कर दो।"

धृतराष्ट्र की अंधी आँखों ने उस दिशा में देखा, जिधर दुर्योधन बैठा था।

तभी अपनी दासियों के साथ गांधारी, सभा के भवन पर प्रकट हुई, "मुझे महाराज के पास ले चलो।"

धृतराष्ट्र चौंका, गांधारी क्या करने आई है इस सभा में ?

दासियों ने लाकर गांधारी को धृतराष्ट्र के निकट बैठा दिया।

"क्या बात है गांधारी ?" धृतराष्ट्र ने धीरे से पूछा।

"मुझे ज्ञात हुआ है कि दुःशासन एकवस्त्रा द्रौपदी को केशों से पकड़ घसीट कर सभा में लाया है।" गांधारी बोली, "वह अपनी रक्षा के लिए मेरे कक्ष की ओर भागी थी, किंतु दुःशासन ने उसे मेरे पास पहुँचने नहीं दिया।" गांधारी ने टटोल कर धृतराष्ट्र की भुजा थाम ली, "मैंने पांचाली को अपने भवन में इसलिए नहीं ठहराया था कि वह वहाँ असुरक्षित रहे और मेरा अपना ही पुत्र उसे इस प्रकार घसीटता ले आए।" गांधारी की पकड़ कुछ दृढ़ हुई और उसका स्वर कठोर हो गया, "गंधार के राजप्रासाद से मैं तो पशुबल से घसीट कर हस्तिनापुर लाई ही गई थी, अब क्या कुरुकल की वधुएँ भी घसीटी जाकर सभाओं में लाई जाएँगी ?"

"क्या चाहती हो ?" धृतराष्ट्र ने पूछा।

"द्रौपदी को मुक्त कीजिए और पांडवों को उनका राज्य लौटा दीजिए।"

"दुर्योधन नहीं मानेगा।"

"आपके पुत्र आपके नियंत्रण में रहने चाहिए।" गांधारी बोली, "दुर्योधन न माने तो उसका त्याग कीजिए। वह अपने शत्रुओं से युद्ध करे, राजनीति के षड्यंत्र रचे, किंतु मुझे ऐसा पुत्र नहीं चाहिए, जो नारी के सम्मान की रक्षा न कर सके।"

"गांधारी।"

"हाँ महाराज। यह मेरा अंतिम निर्णय है...।"

दुर्योधन ने अपने पिता का निष्प्राण सा चेहरा देखा, तो सहम गया। यह क्या हो गया है राजा धृतराष्ट्र को ? वे इतने भयभीत तो कभी दिखाई नहीं दिए। दुःशासन का इस प्रकार भयभीत होकर चकरा कर गिर जाना... माता का इस प्रकार सभा में आना और पिता का इस प्रकार भयभीत हो जाना।... दुर्योधन को लगा, उसकी सारी उपलब्धियों पर उसका यह वृद्ध, अंधा और अदूरदर्शी पिता, पानी फेर देगा। किससे भयभीत हैं ये लोग ? कृष्ण से ? वह कब से अनुभव कर रहा है कि कृष्ण का बढ़ता हुआ प्रभाव उसके लिए बहुत हानिकारक है। कृष्ण जिस प्रकार देवत्व की ओर बढ़ता जा रहा है, उससे अन्य लोग उसके सामने एकदम बौने होते जा रहे हैं। दुःशासन का भय, उसके मन की दुर्बलता न मानकर, कृष्ण की शक्ति का चमत्कार मान लिया जाएगा।... इसी से भयभीत होकर, उसके पिता कहीं कोई अनर्थ न कर बैठें।

वह धृतराष्ट्र कि निकट आया, "पिताजी।"

"हाँ पुत्र।"

"क्या हुआ ?"

"तुम्हारे पितामह और तुम्हारी माता ने कहा है कि यदि मैं कुरुकुल का हित चाहता हूँ, तो पांडवों का धन और राज्य उन्हें लौटा कर, उन्हें दासत्व से मुक्त कर दूँ।"

"आपने क्या सोचा है ?"

"मैं सोचता हूँ कि उन्होंने उचित ही कहा है।"

"पिता जी। यदि आपने ऐसा कुछ कर दिया, तो हमारा सारा प्रयास निष्फल हो जाएगा। पांडवों के मन में आजतक हमारे लिए शत्रुता का भाव नहीं था। आज जो कुछ हुआ है, उसके पश्चात् वे हमारे शत्रु ही हो सकते हैं। यदि आपने उन्हें मुक्त कर दिया, तो वे अपनी सेनाएँ लेकर हस्तिनापुर पर चढ़ दौड़ेंगे।"

"मैं जानता हूँ पुत्र।"

"फिर भी आप उन्हें मुक्त करने की सोच रहे हैं ?"

"तुमने कहा था कि तुम इस द्यूतक्रीड़ा के माध्यम से पांडवों के ऐश्वर्य का हरण करना चाहते हो। वह तुम कर चुके। तुमने उनके राज्य का भी हरण किया।"किंतु तुम अपने मन को संयत नहीं रख पाए। तुम्हारे मन में द्रौपदी की आकांक्षा भी जाग उठी है।"

"ऐसा नहीं है पिताजी ! वह हमारी दासी मात्र है।"

"हस्तिनापुर के राजप्रासाद में और भी तो इतनी दासियाँ हैं, और किसी दासी को तो राजसभा में बुलाकर, निर्वस्त्र करने का प्रयत्न नहीं किया गया।"

"उसने मुझे इंद्रप्रस्थ में अपमानित किया था पिताजी।"

"उसने तुम्हारे प्रति अपनी घृणा प्रकट की थी, तुम उसके प्रति अपनी आसक्ति प्रकट कर रहे हो।"

"कैसे पिताजी ?"

"दासी होने के नाते उसे इतना अपमानित किया जा रहा है कि उसके लिए दासत्व असह्य हो उठे, और अपनी मुक्ति के लिए, कुछ भी करने को तैयार हो जाए। तुम्हारा वह मित्र कर्ण उसे उकसा रहा है कि वह कोई और पति चुन ले, ताकि वह दासत्व से मुक्त हो सके। ऐसे में वह किसे चुनेगी" तुम्हें या कर्ण को ?"

"पिताजी। यह बात नहीं है।"

"यही बात है दुर्योधन !" धृतराष्ट्र ने कहा, "मैं तुम्हें दुखी नहीं देख सकता इसलिए तुम्हारी बात मान जाता हूँ। किंतु पुत्र, मुझे अपने कुल की रक्षा भी करनी है। पांडवों को द्यूत में हरा कर, उनसे धन ले लेने में हस्तिानापुर की समृद्धि थी, कुरुकुल का नाश नहीं। इसलिए मैं सहमत हो गया था, किंतु पांडवों और द्रौपदी को दास बनाकर पीड़ित करने में सारा कौरव-वंश नष्ट हो जाएगा। भीम की प्रतिज्ञाएँ तुमने सुन ही ली हैं।"मैं यह नहीं होने दूँगा दुर्योधन।"

सेनाओं के साथ हम पर टूट पड़ेंगे।"

"वे अपने धर्म से बँधे बैठे हैं," धृतराष्ट्र ने उत्तर दिया, "उनके मित्र और संबंधी नहीं। एक कृष्ण का नाम सुनकर दुःशासन को चक्कर आ गया। जब कृष्ण और धृष्टद्युम्न अपने अन्य मित्रों के साथ अपनी सेनाएँ लेकर आएँगे, तब तुम्हें कौन बचाएगा ? और युद्ध तो होगा ही। भीमसेन की प्रतिज्ञाएँ सुन ली हैं न।"

दुर्योधन स्तब्ध-सा खड़ा अपने पिता को देखता रहा, और फिर चेतावनी भरे स्वर में बोला, "उन्हें मुक्त कर देने से, उनका राज्य उन्हें लौटा देने से युद्ध नहीं होगा ?"

"नहीं। वे कृतज्ञ होकर, अपनी ओर से युद्ध नहीं करेंगे।"

"युद्ध तो अब होगा ही पिताजी। उसे आरंभ चाहे कोई करे।" दुर्योधन दृढ़तापूर्वक बोला, "आप यदि यह समझते हैं कि उन्हें मुक्त कर देने से युद्ध नहीं होगा, तो आप उन्हें मुक्त कर दें, किंतु उनका राज्य और धन-धान्य, मैं उन्हें लौटाने नहीं दूँगा। यदि आपने ऐसा कुछ किया तो फिर या तो मैं आत्मघात कर लूँगा, या हस्तिनापुर छोड़ कर वनों में चला जाऊँगा।"

धृतराष्ट्र के कुछ कहने से पूर्व ही गांधारी ने कठोर स्वर में कहा, "तो तू अपना निर्णय इसी क्षण कर ले। द्रौपदी अब और अपमानित नहीं होगी।"

धृतराष्ट्र की दृढ़ता में दरारें पड़ गईं, "नहीं। पुत्र को इस प्रकार तिरस्कृत मत करो। कोई ऐसा मार्ग निकालो कि साँप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे।"

"पांडवों और द्रौपदी से कहिए कि वे कह दें कि युधिष्ठिर को उन्हें दाँव पर लगाने का कोई अधिकार नहीं था।" दुर्योधन बोला, "वे घोषणा करें कि धर्मराज का यह कृत्य अधर्मयुक्त था।"

"नहीं। वे अपना धर्म नहीं छोड़ेंगे।" धृतराष्ट्र ने पूर्णतः आश्वस्त स्वर में कहा।

धृतराष्ट्र का आत्मविश्वास देखकर दुर्योधन हतप्रभ रह गया। कुछ क्षणों में स्वयं को सँभाल कर बोला, "ठीक है। तो फिर उन्हें प्रतिबंधयुक्त, दासत्वमुक्ति दीजिए।"

"कैसा प्रतिबंध ?"

"उनकी स्वतंत्रता, उनका राज्य और धन-वैभव उन्हें विभिन्न चरणों में लौटाया जाएगा।" दुर्योधन बोला।

"नहीं। उनको अभी दासत्व मुक्ति दो।" गांधारी बोली, "इसी क्षण।"

"माँ !" दुर्योधन हताश होता जा रहा था।

"ठहरो।" धृतराष्ट्र का स्वर पर्याप्त संयत और शांत था, "तुम क्या चाहते हो दुर्योधन ?"

"वे लोग अपनी दासत्व-मुक्ति के प्रतिशोध में बारह वर्षो तक वनवास करेंगे।" दुर्योधन बोला, "उन्हें पूर्णतः मुक्त तभी माना जाएगा, जब वे बारह वर्षो का वनवास सफलतापूर्वक पूर्ण कर एक वर्ष का अज्ञातवास करेंगे। यदि हमने उस एक वर्ष में उन्हें खोज निकाला, तो वे पुनः बारह वर्षो के लिए वनवास करेंगे, और तेरहवाँ वर्ष… अज्ञातवास। यदि अज्ञातवास के उस एक वर्ष में हम उन्हें खोज नहीं पाए, तो हम उनका राज्य और धन-धान्य उन्हें लौटा देंगे।"

धृतराष्ट्र ने कुछ क्षण प्रतीक्षा की कि शायद गांधारी कुछ बोले, किंतु गांधारी कुछ

नहीं बोली तो धृतराष्ट्र ने कहा, "यदि कुरुकुल पर संकट न आए, तो मैं तुम्हारी किसी इच्छा का विरोध कभी न करूँ दुर्योधन। किंतु तुम्हारी इच्छाएँ अपनी सीमा नहीं जानतीं, और सीमा तो सागर की भी होती है, जहाँ उसकी लहरें रेत में अपना अस्तित्व खो देती हैं या चट्टानों से टकरा कर लौटा करती हैं।"

दुर्योधन ने कोई उत्तर नहीं दिया।

धृतराष्ट्र ने अपना राजदंड ऊँचा किया। कोलाहल शांत हो गया।

"पुत्री कृष्णे।" धृतराष्ट्र ने अपने स्वर को साध कर कहा, "तुम्हारे प्रश्न का उत्तर किसी ने भी नहीं दिया। उस प्रश्न का उत्तर मेरे पास भी नहीं है। कई बार ऐसी स्थिति आ जाती है कि धर्म-अधर्म का निर्णय कठिन हो जाता है।"

द्रौपदी समझ नहीं पा रही थी कि पुत्र तथा पत्नी के साथ विचार विनिमय कर, धृतराष्ट्र ने क्या निश्चय किया है…

"यदि हम मान लें कि स्वयं को हार जाने के पश्चात तुम्हें दाँव पर लगाने का अधिकार युधिष्ठिर को नहीं था, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि युधिष्ठिर ने तुम्हें दाँव पर लगा कर अधर्म किया।" धृतराष्ट्र ने कहा, "और यदि हम यह स्वीकार करें कि स्वयं को हार कर भी तुम्हें दाँव पर लगाने का अधिकार युधिष्ठिर को था, तो प्रश्न उठता है कि एक दास को स्वतंत्र नागरिक पर इस प्रकार का अधिकार हो ही कैसे सकता है। इस प्रकार धर्म-अधर्म का निर्णय करना कठिन है पुत्री।" धृतराष्ट्र ने रुक कर कहा, "पर यह धर्म-सभा नहीं, क्रीड़ा-सभा है। इसलिए राजा के रूप में मैं धर्म का नहीं, क्रीड़ा का निर्णय कर रहा हूँ।…"

सारी सभा के कान खड़े हो गए : क्या निर्णय कर रहे हैं धृतराष्ट्र।

"यह क्रीड़ा थी, अतः क्रीड़ा ही रहेगी।" धृतराष्ट्र ने कहा, "यह वास्तविक द्यूत होता, जिसमें वस्तुतः एक दूसरे के धन-हरण का प्रयत्न होता, तो मैं उसे आरंभ में ही रोक देता। मैंने उसे इसलिए नहीं रोका, क्योंकि यह तो अपने बंधु-बांधवों से मिलने का एक अवसर था। अतः क्रीड़ा में विजयी दल वस्तुतः पराजित दल के धन का स्वामी नहीं होता। थोड़ा-सा दंड भुगत कर पराजित दल पुनः अपनी वास्तविक स्थिति को प्राप्त कर लेता है। मैं चाहता हूँ कि इस क्रीड़ा में भी वही हो।"

धृतराष्ट्र ने मौन होकर अपनी अंधी आँखों से सभा की प्रत्येक दिशा में देखा, जैसे जानना चाह रहा हो कि उसकी इस भूमिका का सभा पर कैसा प्रभाव पड़ा है।…उत्तर में जब कोई कुछ नहीं बोला, तो धृतराष्ट्र ने पुनः कहा, "द्रौपदी दासी है या नहीं… इसका निर्णय धर्म करे, पर यदि द्यूत के नियमों के अधीन वह दासी है भी, तो कुलधर्म का निर्वाह करते हुए, मैं उसे दासत्व से मुक्त करता हूँ। कुरुकुल की पुत्र-वधू दासी नहीं हो सकती।" धृतराष्ट्र रुका, "कुरुकुल के पुत्र भी दास नहीं रह सकते। इसलिए पाँचों पांडव दासत्व-मुक्ति के प्रतिशोध में बारह वर्षों तक वनवास करेंगे। वन में वे पूर्णतः अदास होंगे, किंतु न वे किसी राज्य में प्रवेश करेंगे, और न राज्य स्थापित करेंगे, और न सैन्य-संग्रह करेंगे। यदि वे बारह वर्षों का यह प्रतिबंधित वनवास पूरा कर लेंगे, तो तेरहवें वर्ष में अज्ञातवास करेंगे। यदि अज्ञातवास की अवधि में उन्हें खोज निकाला गया, तो उन्हें पुनः बारह वर्षों के लिए वनवास करना होगा।… और यदि उन्हें अज्ञातवास

में कोई खोज नहीं पाया, तो वे इंद्रप्रस्थ के राज्य को अपने धन-धान्य के साथ पुनः प्राप्त करने के अधिकारी होंगे।"

भीष्म को लगा कि धृतराष्ट्र ने इस समय चरम धूर्तता का प्रमाण दिया है। उसने पांडवों से उनका सर्वस्व छीन कर भी एक प्रकार से उन्हें अनुगृहीत ही किया है। उसने अपने पुत्रों को पांडवों और उनके मित्रों के क्रोध से सुरक्षित कर लिया है... और पांडव।... भीष्म ने अनुभव किया, अपने इन पौत्रों के प्रति उनके मन में स्नेह से कहीं अधिक श्रद्धा जन्म ले रही थी... उन्होंने प्रतिकार में समर्थ और सक्षम होते हुए भी, यह सारा अपमान सहा, किंतु अपना धर्म नहीं छोड़ा। कितने उदात्त मानव हैं वे ! तभी तो कृष्ण उनसे इतना प्रेम करते हैं।... और यह दुर्योधन !... दुष्ट...नीच... अत्याचारी और अहंकारी। कैसी बाध्यता है भीष्म की कि इसे भी उन्हें अपना पौत्र स्वीकार करना पड़ता है।

●●●

अंतराल

महासमर-5

"युधिष्ठिर ! मैं तुम्हारे साथ वन नहीं जाऊँगी।"

युधिष्ठिर ने कुंती की ओर देखा : माँ ने उनके मन का द्वंद्व जान लिया था क्या ?…वे मन ही मन कब से अपने इस धर्म-संकट से लड़ रहे थे। माँ की अब वह अवस्था नहीं रही थी कि वे उन लोगों के साथ वन में जातीं।…वे निर्णय नहीं कर पा रहे थे, कि माँ से क्या कहें और कैसे कहें ! यह तो बहुत अच्छा हुआ कि माँ ने स्वयं ही यह निश्चय कर लिया।…

युधिष्ठिर का वश चला होता, तो अपनी पराजय के पश्चात् वे द्यूत-सभा से ही वन की ओर चल पड़े होते।…किंतु विदुर ने उन्हें वैसा करने नहीं दिया था। वे युधिष्ठिर को समझा-बुझाकर अपने घर ले आए थे। यहाँ आने से युधिष्ठिर की प्रतिज्ञा, भंग नहीं होती थी। यह राजप्रासाद नहीं था। विदुर का निवास था। यहाँ हस्तिनापुर के महामंत्री अवश्य रहते थे; किंतु इसका रूप, गंगा-तट के एक आश्रम का-सा ही था।…

ठीक ही हुआ कि वे यहाँ आ गए। जाने से पहले, माँ के साथ शांतिपूर्वक कुछ चर्चा तो कर सकते हैं।…

"मैं भी नहीं चाहता माँ ! कि तुम हमारे साथ तेरह वर्ष वन-वन भटको।…"

"'क्यों ? क्या मैं पहले कभी वन में रही नहीं ?" कुंती दुख की उस घड़ी में भी मुस्करा रही थी।

"रहीं क्यों नहीं ! तुम शतशृंग पर भी रहीं माँ ! हिडिंब वन में भी रहीं।… किंतु तब तुम्हारी यह अवस्था नहीं थी माँ !" युधिष्ठिर बोले, "तो फिर इतने वर्ष कहाँ रहोगी ? अच्छा बताओ, क्या भोजपुर जाओगी ?"

कुंती हँस पड़ी, "कहाँ से स्मरण आ गया, तुझे भोजपुर ?"

"क्यों ? वह तुम्हारा मायका है माँ !"

"है तो मायका ही !…" कुंती के स्वर में प्रच्छन्न रोष था, "किंतु विवाह के पश्चात् स्त्री का मायके से क्या संबंध ? अपने विवाह के पश्चात् मैंने एक वार भी पलटकर भोजपुर की ओर नहीं देखा।" कुंती रुकी, "उन्होंने भी मुझे एक वार विदा क्या किया, मुझसे मुक्ति ही पा ली। मेरे किसी सुख-दुख में, मुझे कभी स्मरण नहीं किया उन्होंने !"

युधिष्ठिर देख रहे थे···माँ के मन में कोई घाव रिस रहा था···टीस भी उठती थी···किंतु माँ न रोती थीं, न कराहती थीं···पीड़ा को अभिव्यक्त करना माँ का स्वभाव नहीं है। माँ हँसती तो सबके साथ हैं, किंतु रोती अकेली ही हैं।···

"तो द्वारका जाओगी माँ ?" युधिष्ठिर ने जैसे माँ की दुखद स्मृतियाँ टालने का प्रयत्न किया।

"नहीं रे ! वह मेरा मायका नहीं रहा··· ।"

पाँचों पुत्र स्तब्ध रह गए। माँ के मन में द्वारका के प्रति भी कोई रोष है ?···होगा ही।···पिता ने अपनी पुत्री किसी और को गोद दे दी···पिता के अधिकार का त्याग कर दिया···तो पुत्री का भी उस पिता पर क्या अधिकार शेष रह गया ?···

"पर मातुल वसुदेव ने तो सदा तुम्हारी चिंता की है माँ ! कृष्ण और बलराम हमारी सहायता को सदा ही दौड़े आए हैं।···" अर्जुन बोला।

"मैंने कब अस्वीकार किया रे ! न भाई से कोई विरोध है मेरा, न भाभी से।···"

"कोई रोष ?"

"रोष भी नहीं, क्षोभ भी नहीं, क्रोध भी नहीं··· ।"

"तो फिर यह क्या है माँ ?" सहदेव पूछ रहा था।

"कुछ भी हो !" भीम कुछ भड़क उठा, "जब माँ नहीं जाना चाहतीं, तो क्यों उन्हें बाध्य कर रहे हो ?···"

"बाध्य नहीं कर रहे; बस जानना चाहते हैं।" युधिष्ठिर शांत स्वर में बोले, "इन तेरह वर्षों में कहीं तो रहना है माँ को।"

"तुम हमारे साथ वन में ही रहो माँ !" भीम बोला, "तुम सोचोगी कि कैसा दुष्ट पुत्र हूँ मैं, कि माँ वन में जाना नहीं चाहती, तो भी साथ ले चलने का आग्रह कर रहा हूँ।···किंतु सच कहता हूँ माँ ! हमसे पृथक् रहकर, तुम सुखी नहीं होगी। हमारे साथ रहोगी, तो तुम्हें वन में भी तनिक-सी असुविधा नहीं होने दूँगा। चल नहीं पाओगी, तो भुजाओं में उठा लूँगा, कंधे पर बैठा लूँगा। तुम्हारा भार ही कितना है माँ ! और भार कितना भी हो, पुत्रों के लिए माँ बोझ नहीं होती।" भीम ने रुककर कुंती को देखा, "अपनी बाँहों के तकिए पर सुलाऊँगा माँ ! तुम्हारे भोजन के लिए पृथ्वी फोड़ दूँगा, आकाश नोच लूँगा। सच कहता हूँ, तुम्हें कष्ट नहीं होने दूँगा।"

"मैंने कब कहा पुत्र ! कि वन में तुम लोगों के होते हुए, मुझे कोई असुविधा होगी··· ।" कुंती बोली।

"तो ?" भीम ने कुछ चकित स्वर में पूछा।

"पहले यह निर्णय तो हो ले कि माँ द्वारका क्यों नहीं जाना चाहतीं।" अर्जुन

ने कुछ अतिरिक्त कोमल स्वर में कहा।

"कहा न, द्वारका अब मेरा मायका नहीं रहा।" कुंती ने कहा।

"पर क्यों ?"

"तेरे और सुभद्रा के विवाह के पश्चात् वह मेरा समधियाना हो गया है।" कुंती बोली, "समधियों के आश्रय में पलना, शिष्ट आचरण नहीं है पुत्र !"

"ओह !" अर्जुन के स्वर में हल्का-सा अवसाद था, "मैंने यह कैसी भूल की कि माँ से उसका मायका ही छीन लिया।"

"नहीं पुत्र ! तुमने कोई भूल नहीं की।" कुंती का स्वर शांत और ममतामय था, "तुमने तो एक नया संबंध जोड़ा है; किंतु जब एक नया संबंध जुड़ता है अर्जुन ! तो पुराने संबंध धुँधले पड़ ही जाते हैं।"

"माँ को न भोजपुर जाना है, न द्वारका, न वन में हमारे साथ रहना है; तो कहाँ रहोगी माँ ? इंद्रप्रस्थ के प्रासाद में ?" भीम हँस पड़ा।

"नहीं ! मैं अपने ससुराल में रहूँगी।" कुंती का स्वर दृढ़ और निश्चित् था, "हस्तिनापुर में रहूँगी।"

"हस्तिनापुर में रहोगी ?" पुत्र चकित थे : माँ शत्रुओं के नगर में कैसे रहेगी !

"तुम हस्तिनापुर में सुरक्षित नहीं हो माँ।" अंततः भीम बोला।

"क्यों सुरक्षित नहीं हूँ ? यहाँ पितामह हैं, द्रोणाचार्य हैं, कृपाचार्य हैं, विदुर हैं···।"

"ये सब लोग तो तब भी थे, जब पांचाली का अपमान हुआ था।" भीम बोला, "कहाँ रहोगी माँ ? पितामह के आश्रय में ?"

"नहीं ! मैं अपनी उपस्थिति से उन्हें निरंतर अपराध-बोध की अग्नि में नहीं झुलसाना चाहती। मेरे लिए पर-पीड़ा में कोई आकर्षण नहीं है पुत्र !"

"महाराज धृतराष्ट्र के आश्रय में ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"नहीं !" कुंती बोली, "वे मुझे आश्रय देकर प्रसन्न नहीं होंगे। संभव है, मुझे आश्रय देने के कारण उन्हें दुर्योधन के कोप का भाजन बनना पड़े।"

सहसा विदुर ने अपना मौन तोड़ा, "यदि हस्तिनापुर में रहने का जोखम झेलना ही है भाभी ! तो मेरा घर प्रस्तुत है। मैं और पारंसवी तुम्हें सिर-आँखों पर रखेंगे !···मैं तो अब तक इसलिए कुछ नहीं बोला, कि तुम अपने पुत्रों से विलग होना नहीं चाहोगी···और हस्तिनापुर में मेरा घर न राजसी सुविधाओं से संपन्न है, न सैनिकों द्वारा संरक्षित है···।"

"अब मेरी अवस्था, पुत्रों के साथ रहने की नहीं है विदुर !" कुंती बोली, "उनका पालन-पोषण, जैसा मुझसे बना, मैंने कर दिया। अब उनके साथ सुख-दुख का निर्वाह करने का दायित्व उनकी पत्नियों का है। वे करें। अब, जब मैं उन्हें कुछ दे नहीं सकती, मेरा प्रेम उन्हें मुक्त कर देना चाहता है। अपनी आसक्ति

को संयत नहीं करूँगी, तो मेरा मोह उन्हें बाँधता रहेगा।…" कुंती ने रुककर सीधे विदुर की आँखों में देखा, "मैं तुम्हारे ही घर रहूँगी विदुर ! सुविधा और सुरक्षा की चिंता छोड़ो। एक बार अपने मन से पूछ लो; और एक बार अपनी पत्नी से। बाद में पश्चात्ताप मत करना। तेरह वर्षों की अवधि, कोई छोटा काल-खंड नहीं है।"

"भाभी !" पारंसवी की आँखें भर आईं, "इतनी कठोर मत बनो। तुम अपने वास के लिए स्वेच्छा से हमारा घर चुनो, यह हमारे लिए, कितना बड़ा गौरव है। जैसे प्रभु ने सारे जीवन की तपस्या का फल दिया हो। यह तो प्रभु की लीला है कि तुम्हारे कष्ट में वह हमें यश दे रहा है। फल शाखा से टूटकर नीचे न गिरे, तो कंगाल की झोली कैसे भरे !"

"पारंसवी !…" कुंती ने पारंसवी को कंधों से पकड़, अपने कंठ से लगा लिया, "पगली है तू ! देवर से परिहास की भी अनुमति नहीं देगी ! तुझ पर विश्वास न होता, तो अपने मुख से कहती कि तेरह वर्ष तेरे घर पर रहूँगी।…"

"काकी ! माँ तुम्हारे घर में रहेंगी, यह सोचकर मन काँपता है।" युधिष्ठिर की मुद्रा में परिहास का स्पर्श भी नहीं था।

"मेरा घर सोचकर भयभीत मत होओ पुत्र ! इस घर पर मुझ से कहीं अधिक अधिकार तुम्हारी माता का है। मैं तो उनकी कृपा से ही इस घर में हूँ !"

"नहीं काकी ! मैं तुम से नहीं डरता।" युधिष्ठिर बोले, "मैं तो यह सोचकर भयभीत हूँ कि माँ हस्तिनापुर में रहने की व्यवस्था कर रही हैं, जैसे उन्हें दुर्योधन की ओर से तनिक भी आशंका न हो।…"

"मैं दुर्योधन से तनिक भी भयभीत नहीं हूँ पुत्र !" कुंती शांत और स्थिर स्वर में बोली, "मैं यदि किसी से भयभीत हूँ, तो वह तुम हो पुत्र ! धर्मराज तुम !"

युधिष्ठिर का मन काँप-काँप गया…उनकी माता, उन्हीं से भयभीत हैं… युधिष्ठिर ने ऐसा क्या कर दिया है ?…

"क्यों माँ ! मुझसे क्यों भयभीत हो ?"

"तुमसे भयभीत हूँ, क्योंकि तुम्हारा स्वभाव बहुत सात्विक है। तुम में तनिक भी क्रूरता नहीं है। तुम शत्रुओं को क्षमा कर देते हो। अपनी क्षति होते देखकर भी, तुम दूसरे की क्षति नहीं करते।"

"तो इसमें भय की क्या बात है माँ ?"

"मुझे भय है कि तुम वन में भी, संतुष्ट ही नहीं, प्रसन्न होकर रह लोगे। तुम भूल जाओगे कि तुम्हारा अपना कोई राज्य भी था, जो तुमसे छीन लिया गया था; और जिसे तुम्हें पुनः प्राप्त करना है।" कुंती बोली, "हाँ पुत्र ! तुम्हारे पिता भी हस्तिनापुर का यह राज्य छोड़कर चले गए थे; और संन्यास ग्रहण करना चाहते थे। उन्हें भी मैंने ही यह करने से रोका था…अब तुम्हें भी उस मार्ग पर

चलने की अनुमति नहीं दूँगी। तुम अपनी राज्य-लक्ष्मी को भूल भी जाओ, तो यह भूलने नहीं दूँगी कि तुम्हारी माँ यहाँ बैठी है, हस्तिनापुर में। जिन लोगों ने तुम्हें, तुम्हारी राज्य-लक्ष्मी से, सत्ता और संपत्ति से, प्रजा और धरती से वंचित किया है, उन्हीं के नगर में बैठी है तुम्हारी माँ ! धरती और माता में बहुत अंतर नहीं है पुत्र ! अपनी धरती जीत कर, उसे स्वाधीन करके आना और अपनी माँ को, हस्तिनापुर से मुक्त कराकर ले जाना...।"

"माँ !"

"हाँ पुत्र ! तुम्हें मेरे बंधन काटने के लिए हस्तिनापुर आना होगा। तुम मुझे मुक्त कराए बिना, आवागमन से मुक्ति के लिए, वनवास से सीधे उन पर्वतों पर नहीं जा सकते, जहाँ से स्वर्ग का मार्ग सीधा दिखाई देता है। मैं तुम्हें अन्याय के विरुद्ध युद्ध किए बिना जन्मांतरों से मोक्ष पाने नहीं दूँगी।" कुंती रुकी, "अब समझे, मैं तुमसे क्यों भयभीत हूँ।"

"मैं तो अब समझा माँ ! तुम हमारे साथ क्यों वन जाना नहीं चाहतीं।" भीम हँसा, "मेरी माँ उतनी भोली नहीं है, जितनी मैं उसे समझता हूँ।"

"उतनी क्या, तुम्हारी माँ, तनिक भी भोली नहीं है पुत्र ! वन जाने का भी एक समय होता है।" कुंती बोली, "भगवान राम के साथ उनकी पत्नी वन में गई थी, माता नहीं। मैं भी अपने पति के साथ शतशृंग पर रही थी। अब तुम्हारे साथ वन वे जाएँ, जिनका धर्म है तुम्हारे साथ जाना।"

"काका !" सहसा युधिष्ठिर बोले, "माँ आपके घर रहेंगी। उन्हें दुर्योधन का भय नहीं है; किंतु क्या आपको भी राजसत्ता से किसी प्रकार का कोई भय नहीं होगा ?"

"मैं राजसत्ता से भयभीत होता, तो दुर्योधन के विरुद्ध तुम्हारा पक्ष कभी भी नहीं ले पाता पुत्र !" विदुर बोले, "मैं तो सदा से इसी स्थिति में रहा हूँ... दुर्योधन के विरुद्ध मुझे सदा महाराज धृतराष्ट्र का सुरक्षा-कवच प्राप्त रहा है।..."

"तो ठीक है काका !" युधिष्ठिर निश्चय कर चुके थे, "जब तक हम वन में हैं, माँ आपके ही पास रहेंगी।"

विदुर ने स्वीकृति में सिर हिला दिया।

"शेष लोगों के विषय में क्या सोचा है धर्मराज ?" भीम पूछ रहा था।

युधिष्ठिर क्षणभर सोचते रहे; फिर बोले, "जो लोग अभी हमारे साथ चल सकते हों, चलें। इंद्रसेन और विशोक को कह दो, वे स्त्रियों और बच्चों के परिवहन की व्यवस्था कर, उन्हें हमारे पास वन में ले आएँ। यदि हमारी रानियों के रथ तथा अश्व, दूर्योधन न ले जाने दे, तो विदुर काका तथा पितामह के रथों का उपयोग किया जा सकता है। हस्तिनापुर में इस समय यह निर्णय नहीं हो सकता

कि परिवार की स्त्रियाँ और बच्चे कहाँ रहेंगे। वन में हम कहीं ठिकाना कर लें, फिर शांति से विचार-विमर्श कर लेंगे कि किसकी व्यवस्था कहाँ करनी है।"

"हमें हस्तिनापुर से तो तत्काल ही निकल पड़ना चाहिए मध्यम !" अर्जुन बोला, "धार्तराष्ट्रों की इस नगरी में हम जितनी देर अधिक ठहरेंगे, उतना ही अधिक संताप झेलेंगे।"

"ठीक है।" युधिष्ठिर बोले, "माता, काका और काकी से विदा लो; और यहाँ से प्रस्थान करो।"

2

अपनी अन्यमनस्कता और आत्मलीनता में भी युधिष्ठिर की चेतना अपने आसपास की गतिविधि से असावधान नहीं थी। उन्होंने अनुभव किया कि वेग थम गया है; और गति, स्थिति में परिणत हो गई है।...कदाचित् भीम ने यहाँ रुकने का निश्चय किया था और वैसा ही संकेत कर दिया था।

उन्होंने दृष्टि उठाई : जिस स्थान पर वे रुके थे, वह गंगा का तट था। चारों ओर सुंदर वृक्ष थे। गंगा की वेला अपने-आप में इतनी मनोरम थी कि यह मानना ही पड़ता था कि भीम ने रुकने के लिए बहुत ही अच्छे स्थान का चुनाव किया था।...

किंतु यह स्थान तो प्रमाणकोटि था।...कौरवों का बहुत प्रिय क्रीड़ास्थल ! बाल्यावस्था में यहीं दुर्योधन ने भीम के प्राण लेने का षड्यंत्र, रचा था।...तो फिर भीम ने यहीं रुकने की व्यवस्था क्यों की है ?...क्या वे लोग कुछ और दूर नहीं चल सकते थे ? वन में कहीं भी जा ठहरते, जहाँ, सुंदर प्रकृति उनके आहत हृदय पर कोई सुखद लेप लगाती।...जब सबका मन क्षोभ से विक्षिप्त हो रहा हो, तब एक दुःखद अनुभव की स्मृति संजोए, इस स्थान पर, दोबारा आ ठहरने का क्या प्रयोजन था ? क्या भीम को कुछ भी स्मरण नहीं रहता ?...या स्मरण तो रहता है, किंतु स्मृतियाँ उसके मन में पीड़ा नहीं जगातीं ? दंश का अनुभव नहीं होता उसे ? क्या हो गया है, भीम की संवेदनशीलता को ?

सहसा युधिष्ठिर का मन कुछ इस प्रकार सहम कर खड़ा हो गया, जैसे कोई धावक, यह अनुभव कर, अचकचाकर खड़ा हो जाए कि वह तो अब तक गंतव्य की विपरीत दिशा में दौड़ता रहा है...भीम ने कदाचित् जान-बूझकर उन्हें प्रमाणकोटि में ला ठहराया था, ताकि वह युधिष्ठिर को स्मरण दिला सके कि उनके शैशव से ही दुर्योधन उनके प्राण-हरण, धन-हरण, राज्य-हरण इत्यादि के षड्यंत्र करता रहा है...द्यूत-क्रीड़ा, राज्य-हरण तथा द्रौपदी के अपमान की घटनाएँ

तो युधिष्ठिर की स्मृति में अभी बहुत जीवन्त थीं।...भीम ने उन्हीं स्मृतियों के समकक्ष लाकर खड़ी कर दी थीं, उनके शैशव की वे स्मृतियाँ, जिन्हें विस्मृत करने का वे अनवरत प्रयत्न कर रहे थे...यह भीम और वह पांचाली !...यह प्रमाणकोटि में ले आया है; और वह वेणी खोले, केश बिखेरे, उन्हें अपना अपमान स्मरण करा रही है...

"महाराज ! हमने निर्णय किया है कि आज की रात, हम यहीं व्यतीत करेंगे।" भीम आकर, उनके समीप बैठ गया था।

"क्यों ? यहीं क्यों ? ?" युधिष्ठिर अपने उसी चिंतन-प्रवाह में कह गए, "यहाँ आकर तुम्हें दुर्योधन की काल-क्रीड़ा स्मरण नहीं आई ?"

"मुझे तो वह स्मरण ही है।" भीम ने क्रीड़ामय अट्टहास किया, "मैं तो आपको स्मरण कराने यहाँ आया था।"

"क्यों ? मुझे क्यों स्मरण कराना चाहते हो तुम ?" युधिष्ठिर बोले, "क्या वर्तमान की ही पीड़ा पर्याप्त नहीं, कि अतीत का योग भी उसके साथ कर देना चाहते हो ?"

"नहीं ! बात वह नहीं है। मैं तो सारा लेखा-जोखा, आपके सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ, ताकि आप स्वयं यह निर्णय कर सकें, कि दुर्योधन को क्षमा करना धर्म नहीं है।" भीम बोला, "ताकि आप दुर्योधन के अपराधों की गंभीरता को आँक सकें।" भीम ने रुककर युधिष्ठिर की ओर देखा, "वैसे यहाँ सामान्य लोगों के लिए ठहरने की सुविधा है। मैं और आप तो कहीं भी रात्रि व्यतीत कर लेंगे; किंतु हमारे साथ सारथि हैं, रथ हैं, रथों के पशु हैं, बच्चे हैं, स्त्रियाँ हैं।...और महाराज ! अनेक ब्राह्मण हमारे साथ चल रहे हैं। उनके शिष्य हैं, भाई-बंधु हैं। इतने मनुष्यों और पशुओं के लिए अन्न, जल और आवास की सुविधा यहीं हो सकती है। वन में कहीं सरोवर होगा, कहीं नहीं होगा। कहीं फल होंगे, कहीं नहीं होंगे।..."

"वह तो ठीक है भीम ! किंतु इतने लोगों का हमारे साथ चलना व्यावहारिक है क्या ? यह न तो व्यापारिक सार्थ है, न सुशिक्षित सेना ! हम वनवास के लिए जा रहे हैं।"

"अब व्यावहारिक-अव्यावहारिक के विषय में मैं क्या कहूँ !" भीम ने उत्तर दिया, "बात तो हमारे प्रति उनके भाव और उनकी इच्छा की है। हस्तिनापुर से निकलते हुए, आपने नगरवासियों और ब्राह्मणों को समझाया तो था; किंतु कितने लोग लौटे ?"

"पर यदि वे लोग नहीं लौटे, तो हम उनका भरण-पोषण कैसे करेंगे ?" युधिष्ठिर कुछ चिंतित थे।

"यही सब सोचकर तो मैंने अभी सघन वन में प्रवेश नहीं किया है।" भीम

ने उत्तर दिया, "पहले यह निश्चय हो जाए कि कितने लोग लौट जाएँगे, और कितने हमारे साथ चलेंगे। जो हमारे साथ चलेंगे, उनकी क्या व्यवस्था करनी है।...अब हम राजा नहीं हैं; इसलिए उन लोगों के भरण-पोषण का दायित्व हमारा नहीं है।...तो फिर यह किसका दायित्व है ? वे हमारे आश्रित हैं अथवा स्वतंत्र तथा स्वावलंबी हैं।..."

"राजा हम नहीं हैं, क्योंकि राज्य से निष्कासित और राजसत्ता से वंचित हैं;" युधिष्ठिर धीरे से बोले, "किंतु अब भी हम क्षत्रिय हैं। अपने आसपास भिक्षोपजीवी विद्वान् और तपस्वी ब्राह्मणों को अन्न के अभाव में भूखे मरते नहीं देख सकेंगे।"

भीम के कुछ और कहने से पहले, युधिष्ठिर उठ खड़े हुए, "मैं एक बार उन लोगों से चर्चा तो कर लूँ। शायद कुछ लोग लौट जाएँ।"

युधिष्ठिर और भीम वहाँ आए, जहाँ अधिकांश ब्राह्मण अपने ठहरने की व्यवस्था में लगे हुए थे।...'हाँ।' युधिष्ठिर ने सोचा, 'वे लोग ठहरने की ही व्यवस्था कर रहे थे। ठहरना चाहे मात्र एक रात्रि के लिए ही हो; किंतु मानव व्यवस्था तो पूरी करता है।...'

"सुनो भूदेवजन !" युधिष्ठिर बोले, "मैंने हस्तिनापुर से चलते हुए भी आप से निवेदन किया था कि अब हमारे पास, न राज्य है, न सत्ता, न संपत्ति ! ऐसे में हम आपका भरण-पोषण नहीं कर पाएँगे। कृपया, आप हमारे साथ चलने की हठ न करें। किसी अन्य राजा के आश्रय में चले जाएँ, जो आपको सुख से रख सके।"

ब्राह्मणों ने एक-दूसरे की ओर देखा : क्या उत्तर दें, वे इस बात का ?

सहसा भृगुवंशी, शुनक-पुत्र शौनक उठ खड़े हुए, "राजन् ! आप किसके सुख की बात कर रहे हैं ?"

"आपके सुख की ऋषिवर !"

"हमारा सुख तो आपके साथ जाने में है; तब आपसे विलग होकर, किसी अन्य राजा के निकट जाने से हम सुखी कैसे हो सकते हैं ?"

"आप ठीक कहते हैं आर्य शौनक !" युधिष्ठिर बोले, "सुविधाओं से सुख प्राप्त नहीं होता, सुख तो मन की अनुकूलता में है।...किंतु मूलभूत सुविधाओं के अभाव में जीवन संभव नहीं है; और उन सुविधाओं के लिए धन की आवश्यकता होती है।"

"राजन् ! हम जानते हैं कि आपके पास धन नहीं है; किंतु योग के आठ अंगों से संपन्न, समस्त अमंगलों का नाश करनेवाली तथा श्रुतियों एवं स्मृतियों के स्वाध्याय से भली-भाँति दृढ़ की हुई, जो उत्तम बुद्धि कही गई है, वह आप में ही स्थित है। आप धन के लिए इतने चिंतित क्यों हैं ? आपको धन का करना

ही क्या है।···वैसे हम जानते हैं कि धन को त्यागने में, व्यक्ति को अत्यधिक कष्ट होता है; किंतु यदि उसकी रक्षा की जाए, तो वह अपने रक्षक के प्रति भी शत्रु का-सा ही व्यवहार करता है···तो फिर आप धन की कामना क्यों करते हैं ?"

"धन की कामना मैं अपने लिए नहीं करता महर्षि !" युधिष्ठिर हँसे, "धन इसीलिए चाहता हूँ कि अपने साथ चलने वाले ब्राह्मणों का पालन कर सकूँ। आप लोगों को इतनी सुविधाएँ तो दे सकूँ कि आप लोग अपने स्वाध्याय, अपनी तपस्या अथवा अपने कर्म-कांड का निर्वाह कर सकें।···"

शौनक युधिष्ठिर से भी कुछ अधिक खुलकर हँसे, "अपने मन में भली-भाँति झाँक कर देखो राजन् ! क्या ब्राह्मणों का पालन तुम करते हो ? तुम स्वयं को ईश्वर के उत्पन्न किए हुए जीवों का पालन-कर्ता मानते हो ?"

युधिष्ठिर क्षणभर को हतप्रभ रह गए···किंतु तत्काल ही मन ने कहा–ऋषि का अभिप्राय समझो ! ऋषि ठीक कह रहे हैं···'

"पालन तो ईश्वर ही करता है महर्षि ! राजा तो निमित्त मात्र है।" युधिष्ठिर बोले, "···किंतु, जैसे पिता यह जानते हुए भी कि उसकी संतान का पालन-कर्ता ईश्वर है, अपने कंधों पर संतान के पालन के दायित्व का अनुभव करता है, वैसे ही क्षत्रिय होने के नाते, मैं अपने साथ चलने वाले लोगों के भरण-पोषण के दायित्व का अनुभव करता हूँ। चाहे उन्हें जीवन की अन्य सारी सुविधाएँ न दे सकूँ; किंतु उनके जीवन-निर्वाह के लिए अन्न जुटाने का दायित्व तो पूरा कर सकूँ।···" युधिष्ठिर रुके, "इस समय मेरी स्थिति पर्याप्त अन्न उपलब्ध कराने की भी नहीं है।···"

"तो इसमें कठिनाई ही क्या है राजन् !" शौनक हँस पड़े, "यह कोई ऐसी बड़ी समस्या तो नहीं है जिसके लिए धर्मराज, महाराज युधिष्ठिर को चिंता करनी पड़े।···"

युधिष्ठिर ने आश्चयपूर्ण दृष्टि से शौनक की ओर देखा : यह तपस्वी उनकी समस्या क्यों नहीं समझता ?

"आप अपने पुरोहित धौम्य से परामर्श करें। वे आपको स्वयं बता देंगे कि आपको, आपकी आवश्यकता भर अन्न, कौन देगा।"

युधिष्ठिर मौन रह गए।···उन्होंने भीम से चर्चा की थी···संभव था कि वे अर्जुन, नकुल, सहदेव और पांचाली से भी चर्चा करते···किंतु धौम्य मुनि से परामर्श करने की बात, उनके मन में आई ही नहीं थी···अपने पुरोहित से वे अपने धार्मिक कर्तव्यों की चर्चा तो करते थे; किंतु अपनी आर्थिक कठिनाइयों की चर्चा उन्होंने कभी धौम्य मुनि से नहीं की। किंतु शौनक ने इस संदर्भ में केवल एक ही नाम लिया था, धौम्य मुनि का।···इस सांसारिक व्यापार की चर्चा मुनि धौम्य से···एक मुनि से घर-गृहस्थी की चिंताओं की चर्चा···कहीं धौम्य मुनि यह न सोचें कि युधिष्ठिर

के लिए अपने पुरोहित का पालन-पोषण भी दुर्वह्य हो रहा है ?···किंतु शौनक का यह परामर्श अकारण नहीं हो सकता··· ।

"ठीक है ऋषिवर ! आपके आदेश का पालन होगा। मैं धौम्य मुनि से इस विषय में चर्चा करूँगा।"

धौम्य मुनि संध्या कर चुके तो युधिष्ठिर उनके सम्मुख उपस्थित हुए।

"आओ धर्मराज ! कुछ चिंतित दिखाई देते हो।"

"मुनिवर ! मैं अपनी ओर से अपनी पूर्ण असमर्थता जता चुका हूँ; किंतु, अनेक साधक, तपस्वी, ऋषि, मुनि तथा भिक्षोपजीवी ब्राह्मण, वनवास की इस लंबी अवधि में हमारे साथ ही रहना चाहते हैं।···मेरे सम्मुख उनके आवास की समस्या है··· ।"

"आवास की समस्या है।" धौम्य शांत भाव से मुस्कराए, "अपने वचन के निर्वाह के लिए तुमको वन में निवास करना है राजन् ! तो वन में भूमि की इतनी कमी तो नहीं कि इतने लोग अपने लिए एक-एक कुटिया न बना सकें।" मुनि हँसे, "अब अपना दृष्टिकोण कुछ संशोधित करो राजन् ! स्थान का अभाव, राजा की नगरी में होता है। माता पृथ्वी की गोद इतनी संकुचित नहीं है।"

"वन में इतने लोग एक साथ निवास करेंगे, तो वह वन क्या रहा ! वह तो ग्राम ही हो जाएगा।"

"यह तो अपनी-अपनी जीवन-पद्धति है।" धौम्य बोले, "चाहो तो उसे ग्राम बना लो; और चाहो तो उसे आश्रम का रूप दे दो।"

"वह ग्राम हो अथवा आश्रम ऋषिवर !" युधिष्ठिर बोले, "भूख तो सबको लगेगी ! अन्न की आवश्यकता तो सबको होगी। इतना अन्न कहाँ से आएगा ? हमें अन्न कौन देगा ?···"

युधिष्ठिर ने अपनी सबसे भयंकर समस्या धौम्य मुनि के सम्मुख रख दी थी; किंतु मुनि तनिक भी विचलित नहीं दिखाई दे रहे थे।···विचलित तो वे नहीं ही थे। युधिष्ठिर को लग रहा था कि उनकी इस समस्या ने धौम्य मुनि पर तनिक-सा प्रभाव भी नहीं डाला था। उनमें कोई प्रतिक्रिया नहीं जागी थी···चिंता की हल्की-सी छाया भी उनके चेहरे पर नहीं उभरी थी···

"राजन् !" मुनि बोले, "नगरवासी यह अनुभव करता है कि उसका पालन-पोषण राजा करता है। उसे भूख लगती है तो व्यापारी की सहायता से राजा अन्न का प्रबंध करता है। अतः अन्न देने वाला राजा है··· ।" वे रुके, "वनवासी जैसे यह जानता है कि उसका पालन-पोषण राजा नहीं, ईश्वर करता है···वैसे ही यह भी जानता है कि उसका अन्नदाता व्यापारी नहीं, सूर्य है।"

"सूर्यदेव !"

"ज्ञान तुम्हें भी है राजन् ! किंतु तुम अपनी धारणा वैसी नहीं बना पाए।" मुनि मुस्कराए, "अन्न वस्तुतः भूमि देती है; किंतु भूमि को अन्न उत्पन्न करने के लिए, आवश्यक ताप कौन देता है ?"

"सूर्य !"

"अन्न के पोषण के लिए जल कौन देता है ?" मुनि ने पूछा।

"इंद्र !"

"जल पृथ्वी पर है, अथवा अंतरिक्ष में ?"

"पृथ्वी पर !"

"उसे वाष्प में परिणत कर, इंद्र के पास कौन ले जाता है ?"

"सूर्य !"

"तो अन्न के पोषण के लिए पृथ्वी को जल कौन देता है ?"

"सूर्य !"

"तो तुम्हें भी अन्न, सूर्य ही देंगे।" धौम्य बोले, "निवास चाहे वन में ही हो, किंतु, सद्गृहस्थ के समान रहोगे, तो जब तक गृह-स्वामिनी भोजन नहीं कर लेगी, तुम्हारा भाजन खाली नहीं होगा। यह तो सूर्यदेव का वरदान है राजन् ! जब वनों और उद्यानों में फल, सूर्यदेव उत्पन्न करते हैं, खेतों में अन्न सूर्यदेव का दिया हुआ है, तो अपने आसन पर बैठकर भोजन करते हुए, व्यक्ति जाने क्यों अपने अन्नदाता का नाम भूल जाता है।...तुम इस मंत्र को स्मरण रखो और सूर्यदेव की उपासना में श्रम-कण बहाओ, तो अन्न का अभाव कभी नहीं होगा, न क्षेत्र में, न भंडार में, और न भांड में... ।"

युधिष्ठिर की आँखों में विस्मय का भाव था...धौम्य मुनि ने उन्हें कुछ भी नया नहीं बताया था। ये सब तो कृषि-विज्ञान के साधारण सिद्धांत थे।...यह सब तो वे कब से जानते थे; किंतु न तो इससे पहले वे सूर्य के इस मंत्र से परिचित थे, न सूर्य के इस वरदान से।...या कदाचित् उन्हें ज्ञात तो सब कुछ था; किंतु उन्होंने इसका श्रेय कभी सूर्य को नहीं दिया था...

मुनि ने ठीक ही बताया था कि अन्न सूर्य ही देंगे...पांडव, राजा हों या न हों, वे अपनी राजधानी में रहें, अथवा वन में...अन्न तो उन्हें सूर्य ही देंगे...धौम्य मुनि ने ठीक ही कहा है...जहाँ धरती है और सूर्य है, वहाँ ताप भी होगा, वर्षा भी होगी...मनुष्य चाहेगा तो अपने श्रम और प्रकृति की कृपा से, उसे अपनी आवश्यकतानुसार अन्न प्राप्त होगा ही...वह उसे व्यर्थ नष्ट न करे, सँभल कर चले, तो न कभी उसका भंडार खाली होगा, न भांड...किंतु यह परामर्श धौम्य मुनि ने पहले क्यों नहीं दिया ? क्यों नहीं बताया उन्होंने...

"आपने मुझे पहले क्यों यह मंत्र नहीं दिया मुनिवर !" युधिष्ठिर बोले, "मेरे

पूछने की प्रतीक्षा क्यों की आपने ?"

"क्योंकि मैं तुम्हारा पुरोहित हूँ राजन् ! मंत्री नहीं।"

युधिष्ठिर ने मुनि की ओर देखा : क्या वे अपनी अवहेलना से रुष्ट थे ?…नहीं ! उनके चेहरे पर परम शांति थी।…नहीं ! यह शांति भी नहीं थी। कदाचित् यह अनासक्ति थी…न आतुरता, न अपेक्षा, न दाता का अहंकार, न अवहेलना का रोष…

ठीक ही तो कहा है मुनि ने।… वे उनके मंत्री नहीं थे कि मंत्रणा करते रहें। पूछे जाने पर ही वे समस्या का समाधान देंगे। स्वयं को किसी पर आरोपित नहीं करेंगे, किंतु पीड़ित की पुकार अवश्य सुनेंगे…

अर्जुन, नकुल और सहदेव लोगों में घूम-घूमकर, उनके ठहरने की व्यवस्था देख आए थे। द्रौपदी, सुभद्रा, करेणुमती, देविका, बलंधरा, काली, विजया इत्यादि पांडव-पत्नियाँ, अपनी और अपने बच्चों की आवश्यकताएँ देख-समझ रही थीं। बालक अपनी-अपनी अवस्था और समझ के अनुसार स्वयं को सार्थक सिद्ध कर रहे थे, अथवा अपना मनोरंजन कर रहे थे...

"मैं अभी तक समझ नहीं पाई हूँ कि हमने माँ को हस्तिनापुर में छोड़ कर उचित किया या नहीं।" द्रौपदी ने देविका को सुनाते हुए, जैसे अपने-आपसे कहा।

"'मैं भी सोचती हूँ कि हमारे साथ रहतीं तो असुविधा तो उन्हें होती; किंतु अपने परिवार में तो रहतीं।" देविका ने उत्तर दिया, "वहाँ पराए लोगों में रहकर तेरह वर्षों तक यही चिंता करते रहने में क्या सुख है कि मेरे बच्चे कहाँ होंगे और किन परिस्थितियों में होंगे।"

"मेरी समझ में तो यही नहीं आता कि माँ को हमने हस्तिनापुर में छोड़ा ही क्यों।" करेणुमती बोली, "वहाँ हमारा है ही कौन ? एक विदुर काका ही तो! उनकी स्थिति क्या है वहाँ, यह हम देख चुके हैं। पितृव्य की दया पर हैं एकदम; और पितृव्य अपने पुत्र दुर्योधन की अंगुलियों पर नाच रहे हैं। ऐसे में मैं तो माँ को वहाँ सुरक्षित नहीं मानती।"

"माँ को तो हम हस्तिनापुर में छोड़ आए हैं, इसलिए सबको चिंता है कि वे हमसे पृथक् कैसे रहेंगी।" सुभद्रा बोली, "किंतु क्या इन तेरह वर्षों में हम सब भी एक साथ रहनेवाले हैं ?"

द्रौपदी ने सुभद्रा की ओर देखा।

"मेरा तात्पर्य है कि क्या धर्मराज, हमें अनुमति देंगे कि वनवास के इन बारह वर्षों तथा अज्ञातवास के तेरहवें वर्ष में, हम सब एक साथ ही रहें ?'अपने पतियों के साथ ? अपने बच्चों के साथ ?"

सुभद्रा के प्रश्न ने सबको जैसे अवाक् कर दिया था। किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया। अपेक्षापूर्ण नेत्रों से सब एक-दूसरे को देख रही थीं; और मन-ही-मन यह टटोल भी रही थीं कि क्या सत्य ही इन तेरह वर्षों में अपने पतियों के साथ रहना संभव नहीं होगा ?...

द्रौपदी को, विदा होने से पहले, हस्तिनापुर में विदुर काका के घर में कही गईं, कुंती की बातें स्मरण हो आईं।...हाँ ! उस समय वहाँ न सुभद्रा उपस्थित थी, न बलंधरा, न देविका, न करेणुमती...माँ ने कितना सत्य कहा था, जिनका धर्म था, अपने पतियों के साथ वन में रहना, वे रहें...यहाँ तो अभी ये सोच ही रही हैं कि धर्मराज उन्हें वन में रहने की अनुमति देंगे, अथवा नहीं !...धर्मराज नहीं चाहेंगे, तो ये अपने पतियों के साथ नहीं रहेंगी ?...

"साथ नहीं रखेंगे, तो कहाँ छोड़ेंगे हमें ?" द्रौपदी कुछ प्रखर रूप में बोली, "हमारे लिए कोई और हस्तिनापुर खोज रखा है क्या ?"

युधिष्ठिर और भीम, उसी ओर आ रहे थे। द्रौपदी ने देखा : अर्जुन, नकुल और सहदेव भी उनके पीछे-पीछे ही आ रहे थे।

निकट आकर युधिष्ठिर चुपचाप वट-वृक्ष के नीचे बैठ गए। वे किसी चिंता में लीन थे, या फिर सारे भाइयों के आ जाने की प्रतीक्षा कर रहे थे।

चारों भाई उनके निकट आ गए, तो युधिष्ठिर ने पूछा, "क्या विचार है भीम ?"

भीम निर्द्वंद्व भाव से हँसा। ऐसा नहीं लग रहा था कि उनका राज्य छिन गया है; और वे राज्य से निष्कासित होने के कारण वन में आए हैं। भीम तो जैसे किसी अभियान का नेतृत्व कर रहा था। वन में वह तनिक भी असहज नहीं था। उसकी स्वाभाविक मस्ती लौट आई थी और वह अपने इस निष्कासन को ही नहीं, उसके कारण को भी जैसे भुला बैठा था।

"मुझे तो लग रहा है कि हम एक नए राज्य की स्थापना करने जा रहे हैं।" भीम ने कहा।

किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया, किंतु सबकी आँखें उसकी ओर उठ गईं।

"यह स्थिति तनिक भी वैसी नहीं है, जैसी वारणावत के लाक्षागृह से निकलने के पश्चात् हमारी थी।" भीम बोला, "इस समय हम पाँचों हैं, हमारा परिवार है। सारथि हैं, कुछ सेवक हैं। अधिक नहीं तो थोड़े बहुत रथ और अश्व हैं, शस्त्रास्त्र हैं। प्रजा-जन हैं।" वह पुनः हँसा, "नहीं हैं, तो बस सैनिक नहीं हैं। पर हम प्रयत्न करें, तो सैनिकों का भी अभाव नहीं रहेगा।"

"सैनिक तो आ जाएँगे मध्यम ! किंतु उनका वेतन कहाँ से दिया जाएगा ?" सहदेव ने मंद स्वर में पूछा।

"नहीं भीम ! नहीं।" युधिष्ठिर ने भीम को न प्रश्न का उत्तर देने दिया,

न सोचने दिया, "हमें राज्य की स्थापना नहीं करनी है। हमने वचन दिया है कि हम बारह वर्षों का वनवास करेंगे; और एक वर्ष का अज्ञातवास ! हमें न सेना का संगठन करना है, न राजधानी और प्रासाद का निर्माण !..."

"जानता हूँ ! जानता हूँ ! !" भीम ने युधिष्ठिर की बात को बड़े मधुर ढंग से, बीच में ही काट दिया, "हमें राज्य की स्थापना नहीं करनी है, किंतु प्रजा-पालन करना है। हमें राजधानी, प्रासाद अथवा दुर्ग का निर्माण नहीं करना है, किंतु अपने साथ चलने वाले इन सारे साधकों, तपस्वियों, विद्वानों और भिक्षोपजीवियों की रक्षा करनी है। हमें सेना का संगठन नहीं करना है, किंतु अपने आसपास के क्षेत्र को सुरक्षित क्षेत्र में परिणत करना है।..."

"ठीक ! एकदम ठीक ! !" युधिष्ठिर भी हँसे, "इस बार तो तुम सब कुछ बिना समझाए ही समझ गए भीम।"

"मैं परिस्थितियों, योजनाओं और आवश्यकताओं को नहीं समझ रहा। मैं तो आपको समझने का प्रयत्न करता रहता हूँ महाराज ! उसी से यह सब कुछ समझ में आ जाता है।" भीम ने तत्काल युधिष्ठिर के विनोद का प्रतिनाद गुँजा दिया।

"इसका अर्थ यह है कि हमें किसी ऐसे वन में निवास करना होगा, जो किसी राज्य के अन्तर्गत न पड़ता हो।"...नकुल ने कुछ कहना चाहा।

"किंतु वन विस्तृत हो, उपजाऊ हो, जहाँ इतने सारे लोगों के लिए वन्य-भोजन उपलब्ध हो, अथवा आश्रम-कृषि द्वारा सूर्यदेव से अन्न प्राप्त किया जा सके।" भीम ने पूर्ण गंभीरता का नाटक करते हुए कहा।

"मैं समझता हूँ कि कृषि की आवश्यकता तब पड़ेगी, जब हम एक ही स्थान पर स्थित हो जाएँगे। जब तक चलते रहेगे, तब तक वन के फल और कंद-मूल इत्यादि पर्याप्त हैं।...और यदि चलना ही है तो हमें यह विचार करना होगा कि किस दिशा में चलें ? किनके निकट हो, और किनसे दूर होते जाएँ। अभी हमें अज्ञातवास नहीं करना है, इसलिए ऐसे स्थान पर रहें, जहाँ हमें सरलता से खोजा जा सके, हम तक पहुँचा जा सके।" अर्जुन ने अपना मत रखा।

"तुम किसकी प्रतीक्षा में हो अर्जुन ?" भीम की वाणी गंभीर और स्थिर थी, किंतु आँखों में अथाह चंचलता थी, "कौन तुम्हें खोजकर, तुमसे मिलने आ रहा है—उलूपी अथवा चित्रांगदा ?"

"शायद हिडिंबा भाभी आ जाएँ।" अर्जुन हँसा; और फिर एकदम गंभीर हो गया, "मुझे कृष्ण की प्रतीक्षा है।"

कृष्ण का नाम सुनते ही जैसे सन्नाटा छा गया। दिशाएँ, कृष्ण की पद्चाप सुनने के लिए स्तब्ध हो गईं।

"हाँ ! सखा अवश्य आएगा।" द्रौपदी ने कहा।

"भैया तो समाचार पाते ही चल पड़ेंगे।" सुभद्रा बोली।

"मेरा विचार है कि कांपिल्य और वाराणसी से भी कोई-न-कोई हमारी खोज-खबर लेने आएगा।" युधिष्ठिर ने जैसे अपने-आपसे कहा।

"शुक्तिमती से भी भैया आएँगे ही।" करेणुमती से भी मौन नहीं रहा गया।

"ठीक है !" युधिष्ठिर ने सूची को लंबे होने से रोक दिया, "हम मानते हैं कि हमारे सारे सुहृद आएँगे।...इसलिए अर्जुन का विचार उचित ही है कि हमें उस दिशा में चलना चाहिए; और किसी ऐसे स्थान पर ठहरना चाहिए, जहाँ वे लोग हमें सरलतापूर्वक खोज सकें।"

"यही कहने का प्रयत्न कर रहा हूँ मैं।" अर्जुन बोला, "निश्चित् है कि सब लोग आएँगे; किंतु हम यहाँ रुककर, किसी की प्रतीक्षा नहीं कर सकते। यहाँ रुकने का अर्थ है, यहीं कृषि का सूत्रपात करना, जो संभव नहीं है। यह भूमि दुर्योधन की है। वैसे भी मुझे लगता है कि हमें कृष्ण से शीघ्रातिशीघ्र मिलना चाहिए। वह तो हमारी ओर बढ़ेगा ही, हमें भी उसकी ओर बढ़ना चाहिए। प्रतीक्षा में व्यर्थ समय खोने का कोई अर्थ नहीं है। हमें प्रभास-क्षेत्र की ओर बढ़ना चाहिए !..."

"हाँ ! वासुदेव से मिलना हमारे लिए बहुत आवश्यक है।" युधिष्ठिर आत्मचिंतन के से भाव में बोले, "वैसे यह समाचार द्वारका पहुँचेगा ही; और मेरा विचार है कि वे दोनों भाई हमसे मिलने के लिए तत्काल चल पड़ेंगे। इसलिए हमें यह ध्यान रखना ही होगा कि हम ऐसे किसी मार्ग पर न चल पड़ें, जो हमें कृष्ण और द्वारका से दूर ले जाए...या ऐसा न हो कि हम किसी और मार्ग से द्वारका की ओर चलें और वासुदेव किसी और मार्ग से हस्तिनापुर आ पहुँचे।..."

"इन सारी बातों को ध्यान में रखें, तो हमें काम्यक वन की ओर ही चलना चाहिए। दिशा, मार्ग, और मार्ग में रुकने के सुविधाजनक विश्रामस्थलों की दृष्टि से वही सर्वोत्तम है।" नकुल ने कहा।

"नकुल का विचार अति उत्तम है। वह इस क्षेत्र का भूगोल भली-भाँति जानता है।" भीम ने समर्थन दिया, "हम प्रमाणकोटि से कुरुक्षेत्र की ओर बढ़ें। फिर यमुना, दृषद्वती और सरस्वती का सेवन करते हुए, मरुभूमि और वन्य-प्रदेश को पार करते हुए, काम्यक वन में चले जाएँ।'

"यही उत्तम है।" युधिष्ठिर ने अनुमोदन कर दिया, "काम्यक वन में हमें किसी प्रकार की असुविधा नहीं होगी।...और हम दुर्योधन से दूर तथा वासुदेव के निकट हो जाएँगे।"

3

पांडवों को निरंतर चलते हुए तीन दिन और तीन रातें होने को आई थीं। नींद पूरी न होने और क्लांति के उद्गार चारों ओर से सुनाई पड़ रहे थे। सार्थ का नेता भीम था और उसने जैसे किसी की भी वात न सुनने का संकल्प कर रखा था। बहुत आवश्यक होने पर ही वह थोड़ी देर के लिए कहीं रुकता था, नहीं तो आगे बढ़ने का आदेश दे देता था। उसकी इच्छा थी, कि वे लोग शीघ्रातिशीघ्र काम्यक वन में पहुँच जाएँ। वे लोग दुर्योधन से जितने दूर हो जाएँगे, उतने ही सुरक्षित भी हो जाएँगे। अन्न की समस्या का समाधान भी वहीं पहुँच कर हो सकता था। भीम यह भी जानता था कि इतनी वड़ी संख्या में लोगों को साथ लेकर, लंवी और कठिन यात्राएँ नहीं हो सकतीं। इसलिए यह आवश्यक था कि वे लोग कहीं अपना एक शिविर स्थापित कर लें, ताकि साथ चलने की हठ पकड़े अनेक लोगों को इस भाव से वहाँ ठहराया जा सके कि वे पांडवों के साथ हैं···

आज, चलते-चलते प्रायः आधी रात होने को आई थी और उन्हें टिकने के लिए कोई सम्यक् रूप से सुरक्षित और सुविधाजनक स्थान नहीं मिला था। भीम को अपने परिवार की स्त्रियों और वच्चों का ध्यान तो था ही; इस तथ्य के प्रति भी पूर्णतः सजग था कि उनके साथ अनेक ब्राहमण परिवार भी चल रहे हैं। उनकी स्त्रियाँ और वच्चे, सारी रात यात्रा नहीं कर सकते थे। रात के अंधकार में इस प्रकार वन में यात्रा करना सुरक्षित भी नहीं था। चारों ओर से हिंस्र पशुओं के स्वर आ रहे थे; किंतु शायद वे लोग मनुष्यों की इतनी वड़ी संख्या देखकर, उन पर आक्रमण करने का साहस नहीं कर रहे थे।···शीघ्र ही यदि कोई उपयुक्त स्थान चुनकर ठहरने की व्यवस्था नहीं की गई, चारों ओर अग्नि प्रज्वलित नहीं हुई और प्रहरी खड़े नहीं किए गए, तो किसी भी कोने से निकलकर कोई पशु, निकटतम व्यक्ति को घसीटकर वन में ले जाएगा; और तव वे लोग उस व्यक्ति का खाया-अधखाया शव ढूँढ़ते रह जाएँगे···कुछ लोगों की वात होती, तो भीम उन्हें किसी ऊँचे वृक्ष पर चढ़ा देता और स्वयं उनकी रक्षा के लिए, उस वृक्ष के तने से लगकर, सो रहता···किंतु उनके साथ जो लोग थे, उनमें स्त्रियाँ और वच्चे तो दूर, अनेक पुरुष भी वृक्ष पर नहीं चढ़ सकते थे, चढ़ गए तो वहाँ टिक नहीं सकते थे, टिक गए तो सो नहीं सकते थे···

इन सबके अतिरिक्त, भीम के मन में एक लोभ यह भी था कि वे लोग अब काम्यक वन के वहुत निकट पहुँच गए थे। संभवतः उसमें प्रवेश भी कर चुके हों।···तो अव रुकना क्या ? वे लोग एक बार ही उचित स्थान पर पड़ाव डालेंगे···

सहसा भीम की दृष्टि सामने से आती प्रज्वलित अग्नि पर पड़ी···अरे ! यह अग्नि कैसी ? पर यह अग्नि तो चल रही है। भीम भली प्रकार जानता था कि अग्नि इस प्रकार चल नहीं सकती। दावाग्नि की बात और है। वह तो वन के वृक्षों को क्षार करती हुई चलती है; और उसका आकार इतना छोटा नहीं होता। वह विराट और भयानक होती है। यह तो कुछ ऐसी है, जैसे कोई व्यक्ति हाथ में लुकाठी लेकर चल रहा हो।···पर इस समय इस गहन वन में, हाथ में लुकाठी लेकर यात्रा करने वाला व्यक्ति कौन हो सकता है ?···कहीं कोई संदेशवाहक तो नहीं, जो उन्हें ही खोजता हुआ, आ रहा हो ?···संभव है कि कृष्ण ने किसी को भेजा हो।···वैसे संदेशवाहक तो पंचाल, काशी, चेदि, मद्र···कहीं से भी आ सकता था···किंतु यह व्यक्ति अश्वारोही नहीं था।···और संदेशवाहक पदाति नहीं होता।···तो यह कौन है ?

भीम ने अपने सार्थ को रुकने का आदेश नहीं दिया।···लुकाठी वाला व्यक्ति कोई भी हो, किंतु, अकेला था···और अकेला व्यक्ति पांडवों का क्या बिगाड़ सकता था–मित्र हो या शत्रु : भीम उससे भयभीत नहीं था।···अच्छा है, दोनों पक्ष आगे बढ़ते रहें···वह व्यक्ति जल्दी उनके सामने आ खड़ा होगा।···

अग्नि का प्रकाश निकट आता जा रहा था···और फिर लुकाठी, उसको पकड़ने वाला हाथ, और उस उठे हुए हाथ के निकट एक चेहरा स्पष्ट होने लगा था। चेहरा भयंकर था.. सिर के केश तथा चेहरे के श्मश्रु अबाध रूप से बढ़े हुए और अव्यवस्थित थे। उसकी आँखों में हिंसा थी। वह किसी हिंस्र पशु के समान ही दिख रहा था···वह भीम और उसके साथ सार्थ को देखकर विकराल प्रसन्नता से हँसा।

भीम के पग थम गए। उसने अपना दायाँ हाथ ऊपर उठाकर, अपने पीछे आनेवालों को रुकने का संकेत किया। सब जहाँ के तहाँ ठहर गए···

अर्जुन का हाथ अपने गांडीव पर चला गया और नकुल तथा सहदेव ने अपने खड्ग खींच लिए।

युधिष्ठिर ने युद्ध की तैयारी देखी, तो अपने भाइयों को रुकने का संकेत करते हुए आगे बढ़ आए।···सामने खड़ा व्यक्ति, हिंस्र और भयानक अवश्य दिखाई दे रहा था, किंतु रक्तपात आवश्यक तो नहीं। संभव है कि समझाने से वह समझ जाए। हिंसा तो आत्म-रक्षा का अंतिम उपाय है।···हमारे अपने मन का भय अनावश्यक हिंसा का सूत्रपात करता है। हमें दूसरे पर प्रहार करने से पहले, अपने मन के भय को जय करने का प्रयत्न करना चाहिए···

"तुम कौन हो ?" युधिष्ठिर ने अपनी वाणी को नम्र तथा निष्कंप रखने का प्रयत्न किया, "क्या चाहते हो ?"

वह हँसा। उसकी हँसी में राक्षसी प्रसन्नता थी···या शायद प्रसन्नता थी ही

नहीं। वह उन्हें भयभीत करने के लिए, अपनी भयंकरता बढ़ाने का प्रयत्न कर रहा था।···

"मैं किर्मीर हूँ! बकासुर का भाई और हिडिंबासुर का मित्र!" वह बोला, "इस वन में न ऋषि-मुनि शेष बचे हैं, न सुस्वादु पशु! अब खाने के लिए स्वादिष्ट मांस नहीं मिलता। फलों और कंदमूल में मुझे रस नहीं आता। भूखा नहीं हूँ; किंतु बहुत दिनों से, अतृप्त हूँ। अब तुम लोग आ गए हो, तो कुछ दिनों तक पेट भरकर सुस्वादु नर-मांस खाऊँगा। तुम्हारे साथ तो स्त्रियाँ और बच्चे भी हैं। उनका मांस कोमल भी होगा और लवणयुक्त भी। चबाने में सुविधा भी रहेगी और आनन्द भी आएगा···।"

"तुम नर-मांस खाते हो?" युधिष्ठिर ने निर्भीक स्वर में पूछा।

"हाँ!"

274066

"क्यों?"

"क्योंकि एक जीव, दूसरे जीव का भोजन है। तुम नहीं खाते?"

"नहीं!" युधिष्ठिर बोले, "हम स्वयं मनुष्य होकर, मनुष्य का मांस कैसे खा सकते हैं?"

"जब मैं मृग को खा सकता हूँ, तो मनुष्य को क्यों नहीं खा सकता? प्रत्येक मनुष्य न तो मेरा भाई है, न मित्र। मेरे लिए जैसा वन का मृग, वैसे ही तुम हो।" वह अट्टहास कर उठा, "अंतर यह है कि तुम बोल सकते हो, तर्क कर सकते हो। इससे तुम्हारा मस्तिष्क अधिक कोमल और अधिक स्वादिष्ट होगा···।"

"नहीं! अंतर यह नहीं है।" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "भगवान ने जितने प्रकार के जीव बनाए हैं, वे अपने समाज के भीतर जितनी मैत्री से रहते हैं, उतनी ही सफलता से समाज के बाहर के शत्रुओं से अपनी रक्षा कर सकते हैं।···"

"मुझे तुम्हारी मानव-जाति और समाज से क्या लेना-देना।" किर्मीर कुछ आगे बढ़ आया, "मुझे तो अपना पेट भरना है। अपने प्राणों की रक्षा करनी है। अपनी जिह्वा को स्वादिष्ट भोजन देना है। जीवन में सुख भोगना है···।"

"यह सब तुम्हें तभी मिल सकता है, जब तुम अपने मित्रों को पहचानो और अपने शत्रुओं से अपनी रक्षा करो। नहीं तो···।"

"नहीं तो क्या?" किर्मीर ने जैसे युधिष्ठिर को डाँटा, "क्या कर लोगे मेरा?"

"नहीं तो तुम मानव-जाति को अपना शत्रु बना लोगे। मनुष्य ही तुम्हारे शत्रु हो गए, तो शक्तिशाली और हिंस्र पशुओं से तुम्हारी रक्षा कौन करेगा?" युधिष्ठिर दृढ़ता से अपने मत का प्रतिपादन कर रहे थे।

"मैं मनुष्य नहीं, राक्षस हूँ।" किर्मीर क्रुद्ध हो गया, "मुझे मनुष्य कहने का तुम्हें साहस कैसे हुआ?"

"हां तो तुम मनुष्य हो।" युधिष्ठिर मुस्कराए, "स्वार्थवश राक्षस बन बैठे हो।"

"प्रत्येक जीव स्वार्थी है।" वह बोला।

"तुच्छता, संकीर्णता और मूर्खता का नाम है स्वार्थ।" युधिष्ठिर बोले, "स्वार्थ अंततः अहितकर ही होता है। तुम दो-चार मनुष्यों को खाओगे, और सारी मानव-जाति तुम्हारी शत्रु हो जाएगी। यदि प्रत्येक मनुष्य तुम्हारे समान स्वयं को नर-भक्षी राक्षस मान ले, तो न मानव-समाज होगा, न मानव ! इसलिए हमारा हित भी इसी में है और स्वार्थ भी कि हम स्वयं को विराट मानव-जाति का अंग मानें। उस संपूर्ण मानव-जाति के हित में सोचें और कर्म करें। प्रत्येक मनुष्य अपने तुच्छ स्वार्थ को छोड़, मानव-जाति के व्यापक हित में काम करेगा, तो प्रत्येक मनुष्य सुखी होगा और यह लोक भी, देव-लोक के समान सुख और आनन्द से भरा-पूरा हो जाएगा।"

"यदि मैं तुम लोगों को न खाऊँ, तो कौन मेरा मित्र हो जाएगा ?" किर्मीर ने जैसे युधिष्ठिर को चिढ़ाने का प्रयत्न किया।

"केवल हमें नहीं, यदि तुम संपूर्ण मानव-जाति का द्रोह त्याग दो, तो मैं तुम्हारा मित्र हो जाऊँगा। मैं, भीम, पांडु-पुत्र भीम—तुम्हारा मित्र हो जाऊँगा।—" भीम ने उनकी चर्चा में हस्तक्षेप किया।

"भीम ! पांडु-पुत्र, भीम ! कुरु राजकुमार भीम !—" किर्मीर की आँखें रक्तिम हो उठीं, "तो तुम हो, जिसने मेरे भाई बक का वध किया। मेरे मित्र हिडिंब की हत्या की। हिडिंब की बहन का अपहरण किया—" वह रुका, "मैं बहुत दिनों से तुम्हें ढूँढ़ रहा था भीम ! कई बार तुम्हारा पीछा भी किया, किंतु तुम सेना लेकर चलते थे, इसलिए तुम तक पहुँच नहीं पाया। वैसे भी मैं सेनाओं से लड़ना नहीं चाहता। मनुष्य लोग मायावी शस्त्र चलाकर, हमारी हत्या करते हैं। हम राक्षस अपने शारीरिक बल से ही लड़ते हैं। आज तुम्हारे साथ सेना नहीं है। आज आए हो, मेरी मुट्ठी में। मुझे बहुत भूख लगी है। आज मैं तुम्हारा और तुम्हारे साथियों का मांस खाकर, अपनी भूख मिटाऊँगा। और तुम्हारे उष्ण रक्त से अपने भाई और मित्र का तर्पण करूँगा।—" वह बड़ी देर तक हँसता रहा, "तेरे मरे बिना, हिडिंबा का मोह-जाल भी नष्ट नहीं होगा। आज उसे भी नष्ट करूँगा।"

"तुम हिडिंबा को जानते हो ?" भीम के मन में उसकी धमकियों से सर्वथा अप्रभावित, जिज्ञासा उठी, "क्या तुमने घटोत्कच को देखा है ?"

"देखा तो सब को है; किंतु तुझे कुछ नहीं बताऊँगा।" किर्मीर बोला, "तेरा तो बस मांस खाऊँगा।" उसने अपने हाथ में पकड़ी लुकाटी, भीम को लक्ष्य कर, फेंक दी।

भीम ने स्वयं को बचाया ही नहीं, अपने दाहिने पैर से उसे ऐसी ठोकर

मारी कि लुकाठी पुनः किर्मीर की ओर लौटी, उससे टकराई और भूमि पर गिर पड़ी।

लुकाठी के बुझते ही अंधकार छा गया। अर्जुन ने धनुष पर बाण चढ़ाया। अंधकार में लक्ष्य-वेध करना, उसके लिए तनिक भी कठिन नहीं था।··· किंतु भीम ने उसका हाथ थाम लिया, "बहुत दिनों से, मेरा ढंग से व्यायाम नहीं हुआ।"

भीम आगे बढ़ आया, "किर्मीर ! मैंने हिडिंबा से विवाह किया है। उसका अपहरण नहीं किया। तुम्हारा यह विरोध मेरी समझ में नहीं आया। यदि हिडिंबा अथवा घटोत्कच को मुझसे कोई असंतोष है, अथवा उनके मन में मेरे विरुद्ध कोई अभियोग है, तो तुम्हारे माध्यम से वे अपना संदेश मुझ तक पहुँचा सकते थे··· ।"

भीम उससे बातें कर रहा था; और युधिष्ठिर, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव ने, एक बड़ा-सा वृत्त बनाकर, किर्मीर को घेर लिया था। शेष लोग उस वृत्त से बाहर थे। अब न तो किर्मीर उनमें से किसी पर झपट सकता था, न भागकर वापस वन में छिप सकता था।

"मैं तेरा मांस खाने आया हूँ, तुझे तेरी पत्नी और पुत्र का समाचार देने नहीं आया।" किर्मीर ने अट्टहास किया, "हाँ ! तुझे खाकर अपने मन में जलती प्रतिशोध की अग्नि बुझा कर, उन्हें तेरी मृत्यु का समाचार अवश्य पहुँचा दूँगा।"

भीम को अब और विलंब सह्य नहीं था। सब लोग थके हुए भी थे, और डरे हुए भी। द्रौपदी की आँखों में भय की झलक, भीम को अनन्त यातना दे रही थी। उसने उच्च स्वर में कहा, "देखता हूँ, तू मेरी मृत्यु का समाचार मेरे पुत्र को पहुँचाता है अथवा अपनी मृत्यु का समाचार, जाकर बक और हिडिंब को देता है।"

किर्मीर, बिना कुछ कहे, भीम पर प्रहार करने के लिए कूदा। भीम असावधान नहीं था। वह एक ओर हट गया। किर्मीर सँभला। वह स्वयं गिरा नहीं, किंतु भीम को भी, आहत नहीं कर पाया।···इससे पहले कि वह भीम पर दुबारा झपटता, भीम ने उसे दबोच लिया और रगेदता हुआ, पीछे तक ले गया। किर्मीर को शायद पहली बार, भीम के शारीरिक बल का अनुभव हुआ था।···अब तक वह जिन भी लोगों से भिड़ा था, वे उसका भयंकर चेहरा देखकर और उसका क्रूर अट्टहास सुनकर, अचेत होकर गिर पड़े थे। शस्त्रास्त्रों के बिना, अपने शारीरिक बल के भरोसे उससे भिड़नेवाला तो यह पहला ही व्यक्ति था।

भीम के चंगुल से छूटकर किर्मीर एक वृक्ष के पीछे जा छिपा। इस अंधकार में भीम उसे ढूँढ़ता, तो वह उसकी असावधानी का लाभ उठाकर, उस पर घातक प्रहार कर सकता था। उसका ध्यान इस ओर नहीं गया था कि पांडवों ने अपने

साथियों को पीछे हटाकर, सायास अपना वृत्त बड़ा कर लिया था। कुछ वृक्ष, उस वृत्त के भीतर आ गए थे; किंतु वे पांडवों की दृष्टि के भीतर थे।···भीम ने देखा, किर्मीर जिस वृक्ष के पीछे छिपा था, उसका तना इतना मोटा भी नहीं था कि किर्मीर के शरीर को भली-भाँति छिपा सके। वह इतना ही मोटा था कि किसी बड़े वृक्ष की किसी शाखा से अपनी तुलना करवा सके।···भीम ने उस वृक्ष के तने पर अपने पैर का प्रबल प्रहार किया। तना कुछ इस रूप में काँपा कि जैसे वह टूटकर गिर पड़ेगा। ···किर्मीर को लगा, शायद भीम उसे उस वृक्ष के नीचे दबाकर कुचल डालना चाहता है। वह घबराकर, वृक्ष की ओट छोड़, बाहर निकल आया। उसे इस बात का ध्यान ही नहीं रहा, कि वह भीम के एकदम सामने पड़ गया है।

भीम की दृष्टि किर्मीर पर थी, किंतु उसका मन भयभीत द्रौपदी को खोज रहा था···क्या वह अब भी भयभीत थी ?···नहीं ! अब वह तनिक भी भयभीत नहीं लग रही थी। उसकी आँखों में भीम के लिए प्रशंसा का भाव था। भीम की शिराओं में जैसे ज्वाला भर गई।···

इस बार भीम, किर्मीर पर कुछ इस प्रकार कूदा कि उसका दाहिना कंधा, किर्मीर के वक्ष पर वज्र के समान लगा। वह अभी डगमगा ही रहा था कि भीम ने अपने घुटने का प्रहार उसके पेट में किया। किर्मीर दोहरा होकर भूमि पर बैठ गया।

इस बार भीम ने अपने पैरों से उसके सिर पर प्रहार किया। किर्मीर सिर पकड़ कर लेट गया। भीम ने अपना घुटना उसके वक्ष पर रखा, "बता ! तू हिडिंबा और घटोत्कच के विषय में क्या जानता है ?"

"कुछ नहीं बताऊँगा।" किर्मीर ने पूरा बल लगाकर, भीम के घुटने को परे धकेल देना चाहा।

भीम ने अपना घुटना उसके वक्ष पर पूरी तरह जमा दिया था, "नहीं बताएगा, तो मुख से रक्त-वमन करता हुआ, किसी पशु के समान मरेगा।" भीम ने कहा, "बता देगा, तो शायद मुझे दया आ जाए; और मैं तुझे कम-से-कम कष्ट देकर मारूँ।"

किर्मीर उसके घुटने के दबाव को नहीं सह सका, "बताता हूँ। बताता हूँ।"

"बोल !"

"घटोत्कच, हमारी परंपरा और हमारी जीवन-पद्धति छोड़ चुका है। वह नर-मांस नहीं खाता। वन में छिपे रहकर, लोगों का आखेट नहीं करता। वह यह नहीं मानता कि हमें अपने शारीरिक बल के आधार पर, अन्य लोगों की धन-संपत्ति, पत्नियों और बच्चों को लूट लेने, उनका भोग करने; और उनका मांस खाने का अधिकार है। वह बहुत कुछ मानवीय हो गया है।"

"तो वह नगर में क्यों नहीं आता ? मानव-समाज को क्यों नहीं अपनाता ?" भीम का घुटना कुछ और दब गया।

"हिडिंबा अपना स्थान नहीं छोड़ना चाहती।"

"तो क्या वह राक्षसी बनी रहना चाहती है ?"

"नहीं ! राक्षसी तो वह नहीं है; किंतु नगर की भीड़-भाड़ की तुलना में, वन का एकांत-जीवन अधिक पसंद करती है।" किर्मीर बोला, "राक्षसी होती, तो अब तक तुम्हारे लिए न बैठी होती। कहीं और विवाह कर चुकी होती। संभव है, उसका नया पति तुम्हारे पुत्र को भूनकर खा गया होता !...अब मुझे छोड़ दो...।"

"कैसे छोड़ दूँ तुझे !" भीम बोला, "तू छूटा तो इस वन में फिर आतंक फैलाएगा। इस वन की शांति के लिए, तुझे तो अपने भाई के पास जाना ही होगा।"

भीम का घुटना कुछ और दबा; और जैसे किर्मीर के वक्ष की कुछ पसलियाँ कड़क उठीं। उसके मुख में रक्त आ गया; और उसकी ग्रीवा लटक गई।

मैत्रेय, एक लंबे अंतराल के पश्चात् इस क्षेत्र में आए थे। काम्यक वन में साधकों की संख्या पर्याप्त रूप से बढ़ी हुई लग रही थी। संभवतः हिंस्र उत्पात् कम हो गया था और सुव्यवस्था ने अपने चरण जमा लिए थे। उनका मन हल्का हो गया; यह पांडवों की उपस्थिति का ही परिणाम होना चाहिए।...

पांडवों ने उन्हें प्रणाम कर, बैठने के लिए आसन दिया।

"यह तुम्हारा आश्रम है, अथवा शिविर ? स्कंधावार तो यह हो नहीं सकता।" मैत्रेय मुस्कराए।

"ऋषिवर इसे तो आप हमारा पड़ाव ही समझें।" युधिष्ठिर बोले, "आश्रम-निर्माण योग्य हमारी तपस्या नहीं है; और शिविर अथवा स्कंधावार बनाने योग्य सेना नहीं है। यह तो निर्धन वनचरों का पड़ाव ही है।"

"तुम्हारे पास सेना तो नहीं है; किंतु तुम्हारी उपस्थिति मात्र से, काम्यक वन में शांति हो गई है।" मैत्रेय प्रफुल्लित मुद्रा में बोले। पांडव, अपेक्षापूर्ण दृष्टि से उनकी ओर देख रहे थे : ऋषि क्या कहना चाहते हैं ?

"मुझे तुम्हारे यहाँ आ पहुँचने की कोई सूचना नहीं थी; किंतु इतना अवश्य जानता था कि तुम लोग वनवास के लिए हस्तिनापुर से चल पड़े हो।" मैत्रेय बोले, "यहाँ आया, तो जिस-जिस क्षेत्र में आगे बढ़ा, तापसों को प्रसन्न और वनचरों को समृद्ध देखा। पता चला कि एक मानव-योद्धा ने किर्मीर को मार गिराया है।"

"तो एक किर्मीर के कारण अशांति थी इस वन में ?" भीम हँसा।

"उत्स तो एक ही होता है।" मैत्रेय बोले, "गंगोत्री को देखकर, तुम यह

कल्पना नहीं कर सकते कि गंगा-सागर में देव-सरिता, गंगा का क्या रूप होगा।
...जो सत्य पुण्य का है, वही पाप का भी है। किर्मीर तो उत्स मात्र था। उसका आश्रय पाकर इस क्षेत्र में स्थान-स्थान पर आततायी और हत्यारे उत्पन्न हो गए थे। परिणामवश यहाँ की शांति भंग हो गई थी। यहाँ कोई योद्धा तो था नहीं कि उससे भिड़ जाता, इसलिए वह स्वयं को सर्वशक्तिमान समझने लग गया था। मध्यम पांडव ! तुम तो इस वन में ऐसे आए, जैसे दंडक वन में भगवान राम आए थे।"

"यह तो आपका ही पुण्य-प्रताप है ऋषिवर ! कि एक किर्मीर के वध से मैं भगवान राम हो गया।" भीम हँसा।

"भीम !" मैत्रेय गंभीर हो गए, "ईश्वर ने तुम लोगों को यह शक्ति और युद्ध-कौशल व्यर्थ ही नहीं दिया है। इसके पीछे प्रकृति की प्रेरणा है, एक योजना है। उस संकेत को समझो। स्वयं को उसका उपकरण मानो। तुम्हारे हाथों शायद सारे आर्यावर्त्त में शांति स्थापित होगी।"

"ऋषिवर !" भीम के कुछ कहने से पहले युधिष्ठिर बोले, "हम निरंतर प्रयत्न कर रहे हैं कि हमारे कारण संसार की शांति भंग न हो। उसके लिए चाहे जो भी मूल्य चुकाना पड़े।...हमने अपना सब कुछ केवल इसलिए त्याग दिया है कि धर्म की रक्षा हो; और शांति बनी रहे।"

"वह ठीक है युधिष्ठिर !" मैत्रेय बोले, "धर्म की रक्षा कभी त्याग से होती है, कभी दुष्ट-दलन से। मैं यह नहीं कहता कि शांति बनाए रखने के लिए, तुम अन्याय और अत्याचार के सम्मुख सिर झुका दो। यदि भीम ने किर्मीर का वध कर शांति स्थापित की है, तो संभव है कि कल तुम्हें दुर्योधन का वध कर, शांति स्थापित करनी पड़े। अन्याय शांति स्थापित नहीं करता, मात्र दमन करता है; इसलिए अनेक बार युद्ध शांति स्थापित करता है।" वे रुके, "राजन ! क्षत्रिय के तेज में ईश्वर का निवास है। तेज अन्याय को सहन नहीं करता। अपने इसी तेज की रक्षा करना। जो अन्यायी, तुम जैसे शक्तिशाली लोगों से उनका अधिकार छीन सकता है, वह सामान्य और दुर्बल जन के स्वत्व की रक्षा कभी नहीं करेगा...।"

"आप हमें दुर्योधन से युद्ध का परामर्श दे रहे हैं ?" अर्जुन कुछ आगे बढ़ आया।

"आर्यावर्त्त में न्याय और शांति स्थापित करने का एक यही मार्ग है।" मैत्रेय बोले, "व्यक्तिगत रूप में तुम्हारे राज्य और संपत्ति की चिंता मैं नहीं करता; किंतु इस भू-खंड के सामान्य जन की चिंता मुझे हैं।" मैत्रेय कुछ रुककर बोले, "धर्म-राज्य स्थापित करने के लिए तुम लोगों ने जिन क्रूर-कर्मा राजाओं का दमन किया था, वे सारे-के-सारे जाकर, दुर्योधन से मिल गए हैं। दुर्योधन उनके शत्रुओं

का शत्रु है, अतः उनका मित्र है। दुर्योधन किसी भी प्रकार के योद्धाओं को बहुत प्रयत्न से पालता है। उन्हें हर प्रकार से प्रसन्न रखता है, जैसे कोई आखेटक, हिंस्र और आक्रामक कुत्ते पालता है। यदि दुर्योधन को अबाध राज्य करने दिया गया, तो प्रजा व्याध के वाड़े में घिरे हुए पशुओं के समान हो जाएगी। उस प्रजा की रक्षा तुम्हें वैसे ही करनी है, जैसे तुमने इस वन के तापसों और वनचरों की, की है।"

"यह तो एक आकस्मिक घटना भर थी।" भीम हँसा।

"किंतु दुर्योधन से तुम्हारा युद्ध आकस्मिक घटना नहीं होगी।" मैत्रेये बोले, "हम तपस्वी लोग हैं। व्यर्थ का रक्तपात नहीं चाहते।...किंतु अत्याचारी के शव से वहा हुआ रक्त, पृथ्वी को पवित्र करता है।" उन्होंने रुककर युधिष्ठिर को देखा, "तुम अत्याचारियों का नाश कर धर्म की रक्षा करोगे; इसलिए तुम्हारी रक्षा के लिए तपस्वी समाज वहुत सजग है।" वे मुस्करा रहे थे, "मैं हस्तिनापुर जा रहा हूँ। जव तक तुम लोग उठकर युद्ध के लिए खड़े नहीं हो जाते, तव तक धृतराष्ट्र को सँभाले रखना वहुत आवश्यक है।"

4

धृतराष्ट्र ने अपने लिए जिस सुख की कल्पना की थी, वह सुख कहीं नहीं था। वह समझ नहीं पा रहा था कि जिन पांडवों के अपने निकट होते हुए, उसे किसी प्रकार का कोई भय नहीं था, उन्हीं पांडवों के दूर वन में चले जाने के कारण वह इतना भयभीत क्यों है। ऐसा क्या था कि जो पांडव सम्मुख उपस्थित होकर, उसे तनिक भी भयभीत नहीं करते थे, वे ही अपनी अनुपस्थिति में उसके लिए, मृत्यु के समान भयंकर हो गए थे। उसे रात को नींद नहीं आती थी। नींद आ जाए तो भयंकर स्वप्न दिखाई पड़ते थे। उसके सम्मुख रक्त-स्नात भीम का विंव प्रकट होता था, जो उसके देखते-देखते दुर्योधन को भूमि पर पटककर, अपनी गदा से उसकी दोनों जंघाएँ तोड़ देता था। चलना-फिरना तो दूर, दुर्योधन खड़ा भी नहीं हो सकता था। वह अपनी पीड़ा में, धरती पर नहीं, धृतराष्ट्र के वक्ष पर रेंगता था। न वह मर सकता था, न जी सकता था...धृतराष्ट्र इस दुःस्वप्न से उवरता तो देखता कि दुःशासन युद्ध-क्षेत्र में धराशायी हो गया है। उसके वक्ष पर घाव नहीं है, वक्ष ही जैसे फट गया है। भीम अपनी अंजुलियाँ भर-भरकर, उसमें से, रक्तपान कर रहा है, जैसे कोई किसी मीठे जल के उत्स में से ठंडा-मीठा जल, पीकर, अपनी प्यास वुझा रहा हो...

धृतराष्ट्र इन विचारों, दृश्यों और आकृतियों को अपने मस्तिष्क से झटक

देना चाहता था; किंतु वह सब जैसे उसके मन से चिपककर रह गया था। वह स्वयं को समझाता था, कि अपनी दृष्टिहीनता के कारण, उसने न कभी दुर्योधन और दुःशासन को देखा है; और न कभी भीम को। फिर वह कैसे पहचान सकता है कि जो मरा, वह कौन था, और जिसने मारा, वह कौन था; जिसने रक्त पीया, वह कौन था; और जिसका रक्त पीया गया, वह कौन था···किंतु यह सारा सोचना-समझना और स्वयं को सांत्वना देना उसे तनिक भी आवश्वस्त नहीं कर पाता था। सारा आत्म-प्रबोधन निष्फल था।···

इन सारे आश्वासनों के मध्य, उसे द्रौपदी का चीत्कार सुनाई पड़ने लगता था, '···पितामह ! धर्म क्या है ?' उसे लगता था कि उसके चारों ओर, उसके अंधत्व का अंधकार नहीं था···ये द्रौपदी के खुले, काले केश थे। वे निर्बंध केश सारी सृष्टि पर छा गए थे···और द्रौपदी की प्रतिज्ञा थी कि ये केश तब तक बंधन में नहीं होंगे, जब तक उन्हें वह दुःशासन के वक्ष के रक्त से धो नहीं लेगी···

बैठे-बैठे, सहसा धृतराष्ट्र को लगने लगता था कि उस दिन सभा में, द्यूत नहीं खेला गया था, उसके पुत्रों का मृत्यु-पत्र लिखा गया था।···वह स्वयं को प्रायः समझाता रहता था कि ऐसा कुछ नहीं होगा।···अब पांडवों के पास कुछ नहीं था···न धन, न संपत्ति, न राज्य, न सेना···क्या कर लेंगे ये पाँच पांडव ? और फिर यह कोई पहली बार तो हुआ नहीं। पांडव भली प्रकार जानते हैं कि उनके वध के प्रयत्न बार-बार हुए हैं···वह सब, उनसे राज्य छीनने के लिए ही तो था; किंतु उन्होंने कभी भी किसी प्रकार के प्रतिशोध का प्रयत्न नहीं किया।···तो इस बार ही ऐसा क्या हो गया है कि वे दुर्योधन और दुःशासन की हत्या का प्रयत्न करेंगे।··· 'नहीं ! इस बार ही तो हुआ है।' उसका एक मन कहता, 'इससे पहले, कभी भीम ने ऐसी प्रतिज्ञाएँ नहीं की थीं। उसके मन में कुछ भी रहा हो; किंतु मुख से उसने, ऐसा कभी नहीं कहा; और सार्वजनिक रूप से तो एकदम नहीं कहा !···उन्होंने पितामह तक को नहीं बताया था कि प्रमाणकोटि और वारणावत में उनके प्राण लेने का षड्यंत्र रचा गया था।···द्रौपदी का ऐसा कराल रूप, पहले तो कभी देखने-सुनने में नहीं आया था। उसने पहले तो कभी अपने केश इस प्रकार खुले नहीं छोड़े थे।···और पांडव स्वयं प्रतिशोध लें या न लें; किंतु वे द्रौपदी से इतना अधिक प्रेम करते हैं, कि उसकी इच्छा पूरी करने के लिए वे उसे दुःशासन के वक्ष का रक्त अवश्य उपलब्ध कराएँगे। भीम तो द्रौपदी की एक इच्छा पूरी करने के लिए सारी सृष्टि को ध्वस्त कर सकता है··· ।'

धृतराष्ट्र का कोई तर्क उसे आश्वस्त नहीं कर रहा था। उसके मस्तिष्क की शिराएँ तनती जा रही थीं। हृदय का स्पंदन अपने चरम पर पहुँच गया था। उसे ऐसा लग रहा था कि या तो उसका मस्तक फट जाएगा अथवा उसका वक्ष ! वह इस प्रकार एक दुःस्वप्न में जीवित नहीं रह सकता था।···

यदि कहीं इस समय युधिष्ठिर उसे यह आश्वासन दे सकता कि वह भीम और अर्जुन को धार्तराष्ट्रों के विरुद्ध बल-प्रयोग करने नहीं देगा···युधिष्ठिर न मिथ्याभाषण करता है, न मिथ्या वचन देता है।···यदि वह वचन दे देगा, तो धृतराष्ट्र की सारी चिंता मिट जाएगी···उसके वचन का उल्लंघन न भीम करेगा, न अर्जुन! ···किंतु युधिष्ठिर हस्तिनापुर में तो है नहीं कि आकर उसे वचन दे देगा···वे पाँचों भाई तो कब से हस्तिनापुर त्यागकर, वनों की ओर चले गए थे···

किंतु कुंती है हस्तिनापुर में! वे लोग उसे विदुर के संरक्षण में छोड़ गए हैं···उन्हें तनिक भी भय नहीं होता कि कुंती का कोई अनिष्ट भी हो सकता है। ···धृतराष्ट्र उनके नाम से भयभीत हो जाता है···और वे अपनी माँ को, उसकी नगरी में छोड़ते हुए, भयभीत नहीं हुए···किस बात का भरोसा है उन्हें ?···कहीं वे लोग कोई षड्यंत्र तो नहीं कर रहे ? वे यह तो नहीं चाहते कि दुर्योधन अपनी उत्तेजना में कुंती को कोई क्षति पहुँचाए; और वे दुर्योधन से प्रतिशोध लेने के लिए उसे आखेटक कुत्तों के समान फाड़ खाएँ ?···पर नहीं···वे अपनी माँ को आखेट का बलि-पशु नहीं बना सकते।···हाँ! वे अपनी माँ को बलि-पशु नहीं बना सकते!··किंतु कुंती का ही क्या भरोसा है ? वह अकेली क्यों बैठी है हस्तिनापुर में ?···

धृतराष्ट्र को लगा, एक नया भय उसके मन में समा रहा है···किसी अवसर पर कुंती कुछ ऐसा अवश्य करने वाली है, जिससे उत्तेजित होकर, दुर्योधन उसकी हत्या कर दे···और उसके प्रतिशोध की आड़ में, पांडव दुर्योधन को भी मार डालेंगे, और उसकी माँ, गांधारी को भी!···

धृतराष्ट्र के मुख से चीत्कार निकल गया!

नहीं! यह षड्यंत्र विदुर का है!··उसने कुंती को अपने घर में ठहराया ही क्यों ?···विदुर ने तो ठहराया, सो ठहराया···कुंती यह साहस कैसे कर सकी ? ···क्या उसे विदुर का भरोसा है ? किंतु विदुर का भरोसा· क्यों ? विदुर के पास न सत्ता है, न प्रशासन!··विदुर के पास बातें ही तो हैं···

सहसा धृतराष्ट्र चौंका·उसे भी तो विदुर का ही भरोसा है! विदुर का चिंतन, विदुर का तर्क··विदुर समझाता है, तो धृतराष्ट्र भी आश्वस्त हो जाता है···जब पांडव अपनी माँ को विदुर के संरक्षण में छोड़कर आश्वस्त हैं, तो धृतराष्ट्र क्यों उसका संरक्षण प्राप्त नहीं कर सकता ? विदुर उसका भाई भी है, और उसका कर्मचारी भी···यदि विदुर, धृतराष्ट्र की ओर से कुंती की सुरक्षा का वचन पांडवों का दे सकता है, तो वह पांडवों की ओर से धार्तराष्ट्रों की सुरक्षा का वचन क्यों नहीं दे सकता ?···

धृतराष्ट्र की चिंतन-प्रक्रिया रुक गई। उसे लगा, कि इस विचार मात्र से ही उसका मन कुछ आवश्स्त होने लगा है··यदि कहीं विदुर सचमुच इस प्रकार

का कोई वचन उसे दे दे···

"दासी !" उसने पुकारा।

"महाराज !"

"किसी को भेजो। जाकर विदुर को बुला लाए।"

विदुर के आने तक धृतराष्ट्र सिर झुकाए, चुपचाप बैठा रहा।···यदि कहीं विदुर न आया, तो ?···यदि कहीं विदुर उसे कोई आश्वासन न दे सका, तो ? यदि कहीं भीम ने विदुर के वचन की रक्षा न की, तो ? यदि···

वह सजग था किन्तु कक्ष में पूर्ण मौन तथा निःस्तब्धता होने पर भी, उसके वक्ष में भयंकर कोलाहल मचा हुआ था। वहाँ केवल अशांति ही नहीं थी, भय का सागर भी गर्जन कर रहा था। उसे लग रहा था कि यह सागर, उसे किसी भी क्षण लील जाएगा। सब कुछ नष्ट हो जाएगा—उसके पुत्र, उसका परिवार, यह राज्य, उसकी सत्ता···किंतु कदाचित् एक उसी का अस्तित्व बना रहेगा। यदि उसे भी मृत्यु लील जाए, तो फिर किसी प्रकार का भय नहीं रहेगा···जब वह स्वयं ही नहीं रहेगा, तो राज्य रहे, न रहे; पुत्र रहें, न रहें—वह कौन-सा, लौटकर देखने आएगा···किंतु वह जानता था, उसके साथ ऐसा नहीं होगा।···वह स्वयं जीवित रहेगा और यह सब घटित होता हुआ, देखेगा···

किंतु अगले ही क्षण उसे लगा कि वह इस बात से ही भयभीत नहीं है कि वह तो जीवित रहेगा, और उससे वह सब छिन जाएगा, जो उसका अपना है···वह अपनी मृत्यु से भी भयभीत है। वह मरना नहीं चाहता। वह मृत्यु से डरता है। कष्ट से डरता है। निर्धनता से डरता है···पराधीनता से डरता है···

विदुर ने आकर प्रणाम किया, "आपने मुझे स्मरण किया महाराज !"

"बैठो विदुर !" धृतराष्ट्र ने अत्यन्त निर्बल स्वर में कहा, "आज मेरा मन अत्यन्त व्याकुल हो रहा है।"

"क्यों महाराज ?"

"मुझे लगता है विदुर ! कि द्यूत-सभा में जो कुछ हुआ, वह अच्छा नहीं हुआ। मैं आशंकित हूँ कि कहीं कुछ अशुभ न हो जाए। पांडव दुखी थे और क्रुद्ध भी। वे अपने क्षोभ में कोई अनर्थ न कर बैठें," सहसा उसका स्वर अत्यन्त स्नेहासिक्त हो गया, "तुम्हें क्या लगता है विदुर ! क्या वे शक्ति-संचय कर, वन से लौट आएँगे ?"

"आप युधिष्ठिर को तनिक-सा भी जानते हों महाराज ! तो यह मान ही सकते हैं कि वह अपने वचन से नहीं टलेगा। वह यदि हस्तिनापुर लौटा तो तेरह वर्षों के पश्चात् ही लौटेगा।"

"किंतु युधिष्ठिर के साथ भीम भी तो है।" धृतराष्ट्र ने कहा, "यदि कहीं, उसने युधिष्ठिर की बात न मानी, युधिष्ठिर के साथ हुई संधि को स्वीकार नहीं किया, तो मेरे पुत्रों का अनिष्ट वह अवश्य करेगा।"

विदुर ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया। वे चुपचाप धृतराष्ट्र के चेहरे पर आए भावों का परीक्षण करते रहे।…कितना स्वार्थी और अन्यायी है, यह व्यक्ति! अपने पुत्रों को होने वाले कष्ट की कल्पना भी सहन नहीं कर सकता, और अपने भाई के पुत्रों की हत्या करवाने में भी तनिक संकोच नहीं है इसे।…इस समय, इस प्रकार व्याकुल है, जैसे संसार में इतना दुखी और पीड़ित और कोई हो ही नहीं…

"यह तो आप जानते ही हैं महाराज ! कि जो कुछ हुआ, वह अच्छा तो नहीं हुआ। वह अन्याय, अत्याचार, क्रूरता और अमानवीयता की पराकाष्ठा थी। वह तो युधिष्ठिर ही था, अथवा उन सबका धर्म, जिसने उन्हें रोके रखा ! मैं तो मानता हूँ कि संभवतः युधिष्ठिर अब भी दुर्योधन और दुश्शासन को अपना भाई मानकर क्षमा कर दे; किंतु न भीम उन्हें क्षमा करेगा, और न द्रौपदी ही उनके आचरण को भुला पाएगी ! अर्जुन ने उस दिन सभा में कुछ नहीं कहा; किंतु उसका मौन, भीम की मुखर प्रतिज्ञाओं से भी अधिक भयंकर था। आप क्या समझते हैं कि वह गांडीवधारी अर्जुन इस सारे अपमान और क्रूरता को भूल जाएगा? वह आपके पुत्रों को क्षमा कर देगा ?"

"यही तो मैं सोचता रहता हूँ विदुर !" धृतराष्ट्र ने इतने मंद स्वर में कहा, जैसे उसके कंठ से वाणी ही न निकल रही हो।

विदुर ने अपनी दृष्टि धृतराष्ट्र के चेहरे पर टिकाई; किंतु उनका मन कहीं और था : अपने शैशव से देखा है उन्होंने, इस धृतराष्ट्र को; किंतु आज तक इसे समझ नहीं पाए। जब कुछ करने पर आता है, तो इतना दुस्साहसी प्रतीत होता है कि जैसे भय नाम की किसी वस्तु को जानता ही न हो।…और बाद में एक भयभीत मूपक के समान, अपने बचाव का कोई मार्ग खोजता रहता है। विदुर भी निश्चय नहीं कर पाते कि वे इस भयभीत मूपक के प्रति करुणा प्रकट करें, या उस क्रूर दुस्साहसी के प्रति अपना विरोध जताएँ। जिस समय पाँचों पांडव अपने शस्त्रों के साथ सभा में वर्तमान थे और भीम एक-से-एक भयंकर प्रतिज्ञा करता जा रहा था, उस समय इस धृतराष्ट्र का एक रोम भी नहीं काँपा; किंतु आज, जब एक भी पांडव यहाँ उपस्थित नहीं है, और उनमें से किसी के आने की कोई संभावना भी नहीं है, तो यह इतना व्याकुल हो गया है कि उसे सांत्वना की आवश्यकता पड़ने लगी है।

"अपने पुत्रों को अनिष्ट से बचाने के लिए मैं कुछ नहीं कर सकता, विदुर?"

विदुर को लगा कि उनके सामने बैठा व्यक्ति कुरु साम्राज्य का स्वामी,

धृतराष्ट्र नहीं था। यह तो चौराहे पर बैठने वाला कोई भिक्षुक था, जो अपने पुत्रों की सुरक्षा की एक-एक कौड़ी पाने के लिए, अपनी झोली फैलाए, दाता को आशीर्वाद दे रहा था···

"यदि कोई कुछ कर सकता है, तो महाराज ! केवल आप ही कर सकते हैं।" विदुर शांत स्वर में बोले, "दुर्योधन संपूर्ण कुरुवंश को नष्ट करवाने पर तुला हुआ है। आप यदि उसे नहीं रोकेंगे, तो वह पांडवों के हस्तिनापुर लौटने से पूर्व ही कोई-न-कोई ऐसा कुचक्र रचेगा कि कुरुवंश की रक्षा की सारी संभावनाएँ समाप्त हो जाएँगी।"

"मुझे क्या करना चाहिए विदुर ?"

"आपको अत्याचार का प्रतिकार करना चाहिए महाराज !" विदुर बोले।

"वह कैसे ?"

"पांडु-पुत्रों की क्षतिपूर्ति करके।"

"मैं समझा नहीं विदुर !"

"आप पांडवों को वापस बुलाकर उनका राज्य, उनका धन, उनकी सत्ता और सपत्ति उन्हें लौटा दें। दुर्योधन, दुश्शासन, कर्ण और शकुनि, राजसभा में सार्वजनिक रूप से पांडवों तथा पांचाली से क्षमा माँगें। दुर्योधन को आप सारे राज्याधिकारों से वंचित कर दें। वह न माने, तो सार्वजनिक रूप से उसका त्याग करें।"

धृतराष्ट्र ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसका उठा हुआ चेहरा कुछ झुक गया। चेहरे पर तमतमाहट आई, जो उसके आक्रोश की अभिव्यक्ति थी। लगा, कि वह अपने उस आक्रोश से निरंतर लड़ रहा है। फिर किसी प्रकार, उसने स्वयं को संयत किया और बोला, "विदुर ! तुम सदा पांडु के पुत्रों का ही पक्ष क्यों लेते हो ?"

"पांडव आपके भाई के पुत्र हैं न महाराज ?"

"हाँ ! क्यों नहीं !"

"तो वे आपके भी पुत्र ही हुए। आप उनके पिता हैं।"

"ऐसा ही है।"

"तो फिर आप उनसे वैसा ही प्रेम क्यों नहीं कर पाते, जैसा दुर्योधन से करते हैं ?"

धृतराष्ट्र क्षणभर मौन रहा, फिर धीरे से बोला, "पांडव भी मेरे पुत्र ही हैं; किंतु दुर्योधन का जन्म मेरे वीर्य से हुआ है। वह मेरे शरीर से जन्मा है।"

विदुर को इस उत्तर की तनिक भी आशा नहीं थी। कारण तो वे भी जानते थे; किंतु सोचा था कि धृतराष्ट्र कुछ तो संकोच करेगा। मन की बात इस प्रकार शब्दों में तो स्वीकार नहीं करेगा।···किंतु धृतराष्ट्र ने जिस निर्लज्जता से यह बात

कह दी, उसने विदुर को भी कुछ अस्थिर कर दिया था !

स्वयं को कुछ सँभालकर विदुर बोले, "मेरे लिए आपके और पांडु के पुत्र एक समान हैं। मैंने उन सबको सदा पिता की दृष्टि से ही देखा है। आप में और मुझ में अंतर यह है, कि आप केवल संबंध देखते हैं; और मेरी दृष्टि उनके आचरण पर भी रहती है। आप युधिष्ठिर और दुर्योधन में से, सदा दुर्योधन को चुनेंगे; और मैं कुरु वंश की रक्षा के लिए, धर्म और न्याय की रक्षा के लिए, सदा युधिष्ठिर को चुनूँगा। दुर्योधन को उसकी क्रूरताओं के लिए या तो दंडित करूँगा अथवा उसका त्याग कर दूँगा। आप शायद देख नहीं पा रहे कि दुर्योधन आपका प्रिय पुत्र नहीं है : वह आपका भयंकर शत्रु है। आप यदि मेरा विश्वास कर सकें, तो मैं कहूँ कि आपको जीवन में सुख के जितने क्षण मिले हैं, वे सब पांडु और उसके पुत्रों के कारण मिले हैं; और दुःख, कष्ट, क्लेश, भय अथवा यातना के जितने प्रसंग आए हैं, वे सब दुर्योधन और उसके सहयोगियों के कारण हैं। यदि आप नीति को समझने का तनिक भी प्रयास करें, तो यह समझ सकते हैं कि भविष्य में, दुर्योधन जितना समर्थ होता जाएगा, आप उतने ही पीड़ित होते जाएँगे। यदि आज आप युधिष्ठिर के पास वन में भी चले जाएँ, तो वह अपने दुःखों की चिंता न करके, आपके लिए हर संभव सुख-सुविधा जुटाने का प्रयत्न करेगा। आज तो आप स्वयं राजा हैं, किंतु यदि आप राजा न भी रहें, तो भी युधिष्ठिर को कोई अंतर नहीं पड़ेगा। वह आपका अपने पिता के रूप में पालन करेगा।...और दुर्योधन !..." विदुर का कंठ, क्षोभ से जैसे भिंच गया, "दुर्योधन अपने हाथों में अधिकार पाते ही आपकी उपेक्षा आरंभ कर देगा...आप उसके आश्रित होते ही, स्वामी के स्थान पर याचक हो जाएँगे। याचक भी कैसे ? जिसे याचना के पश्चात् भिक्षा भी न मिले..."

धृतराष्ट्र ने विदुर को बुलाया था कि वह उसे पांडवों की ओर से कोई आश्वासन देगा। अपने पुत्रों की सुरक्षा की ओर से आश्वस्त होकर, उसका मन कुछ शांत होगा...। किंतु यह विदुर तो जैसे युधिष्ठिर का दूत बनकर आया था; और उससे प्रतिशोध की माँग कर रहा था...क्षतिपूर्ति...दुर्योधन का त्याग...पांडव तो जब आएँगे, तब आएँगे, किंतु विदुर तो अभी से उसके वक्ष पर चढ़ा बैठा था...यह तो अभी ही दुर्योधन की जंघा तोड़ देगा...और दुःशासन का रक्त-पान कर लेगा...

धृतराष्ट्र को लगा कि उसके मस्तक में एक भयंकर विस्फोट हुआ है; और वह अपना सारा नियंत्रण खो चुका है...

"बंद करो, अपना यह प्रलाप !" धृतराष्ट्र के मुख से चीत्कार फूटा।

विदुर ने देखा : अब धृतराष्ट्र के चेहरे पर किसी प्रकार का कोई द्वंद्व नहीं था। संकोच, लज्जा और मर्यादा का कोई लक्षण नहीं था। उसने अपने आक्रोश

को दवाए रखने का प्रयत्न छोड़ दिया था। उसने खुले रूप में अपनी नीति की घोषणा कर दी थी, "तुम्हें बुद्धिमान और व्यवहार-कुशल समझ कर, तुमसे यह अपेक्षा की थी कि तुम पांडवों को यह समझाओगे, कि वे लोग धर्मतः द्यूत में अपना सब कुछ स्वयं हार गए हैं। उनके साथ किसी प्रकार का कोई अधर्म अथवा अन्याय नहीं हुआ है; इसलिए वे प्रतिशोध अथवा प्रतिकार के भाव मन से निकाल कर, अपनी नियति को स्वीकार करें।...किंतु तुम तो उनसे भी आगे बढ़कर, मुझे और मेरे पुत्रों को पापी घोषित कर रहे हो। भूल मेरी ही है, जो मैंने तुमसे मध्यस्थ होने के नाते, न्याय की अपेक्षा की। मैं भूल गया था कि तुमने आज तक केवल पांडवों का पक्ष ग्रहण किया है। तुम तो वह व्यक्ति हो, जिसने कभी नहीं चाहा कि हस्तिनापुर का राज्य मुझे मिले ! तुम आज दुर्योधन को अन्यायी और अत्याचारी बता रहे हो; किंतु मैं यह कैसे भूल सकता हूँ कि दुर्योधन ने जब कुछ भी नहीं किया था, अभी वह निपट बालक ही था, तब ही तुमने उसका विरोध आरंभ कर दिया था। तुम्हारा वश चलता, तो तुम जाने कब से मुझे और मेरे पुत्रों को हस्तिनापुर से निष्कासित कर चुके होते।" धृतराष्ट्र ने रुककर अपनी ज्योतिहीन आँखें, विदुर की ओर उठाई और बोला, "यह बहुत पहले हो जाना चाहिए था; किंतु मैं उसे सदा बचाता आया। अब मैं इसे और सहन नहीं कर सकता। मैं तुम्हें त्यागता हूँ विदुर ! मेरा तुमसे अब कोई संबंध नहीं है। तुम चाहो तो हस्तिनापुर छोड़कर जा सकते हो। अब मुझे अपना मुख कभी मत दिखाना !"

विदुर के लिए यह जितना आकस्मिक था, उतना ही अपमानजनक भी था।...राजा ने मंत्री से परामर्श माँगा था; और परामर्श के उत्तर में, वह उसे अपने राज्य से निष्कासित कर रहा था।...ऐसा तो नहीं कि विदुर ने उसे यह परामर्श पहली बार दिया हो। धृतराष्ट्र ने उसे बुलाकर, जब यह चर्चा आरंभ की थी, तो उसे तभी यह भान होना चाहिए था कि इस विषय में विदुर का क्या मत है। विदुर ने तो मन-ही-मन यह मान लिया था कि यदि धृतराष्ट्र को इस परामर्श की अपेक्षा न होती, तो वह विदुर को बुलाता ही क्यों।...हस्तिनापुर में कौन नहीं जानता था कि द्यूत-सभा के पश्चात् धृतराष्ट्र ही नहीं, सारा कुरुवंश, अनिष्ट की आशंका से काँप रहा था। एक प्रकार के विनाश का भय हस्तिनापुर के आकाश पर काले मेघों के समान घिर आया था। प्रत्येक व्यक्ति किसी समाधान की खोज में था। ऐसी स्थिति में, न तो धृतराष्ट्र को विदुर को बुलाना कुछ असाधारण था; और न विदुर का उसे इस प्रकार का परामर्श देना।

किंतु विदुर का यह अपमान ! धृतराष्ट्र ने विदुर को आज तक जो भी कहा हो; किंतु अपना संबंध तोड़ने की बात कभी नहीं की। न ही कभी उन्हें राज्य छोड़कर चले जाने के लिए कहा था। आदेश तो वह अब भी नहीं था; किंतु उसकी ओर से संबंध-विच्छेद की घोषणा अवश्य थी। आज तक विदुर हस्तिनापुर

में रहे, तो वे जानते थे कि सारे मतभेदों के होते हुए भी, धृतराष्ट्र उनका अनिष्ट नहीं होने देगा; किंतु आज जो कुछ उसने कह दिया था, उसके पश्चात् ऐसी अपेक्षा नहीं की जा सकती थी...

विदुर ने हाथ जोड़े और उठ खड़े हुए। धृतराष्ट्र ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। वह अपने रूठने की मुद्रा बनाए, चुपचाप बैठा रहा।

विदुर के मन में जैसे किसी ने कहा : संभव है, धृतराष्ट्र को यह पता ही न चला हो कि विदुर जाने के लिए उठ खड़े हुए हैं...

"जाता हूँ महाराज !" उन्होंने सशब्द कहा।

धृतराष्ट्र ने उपेक्षा से मुँह फेर लिया। वह शब्दों में तो कह ही चुका था, शायद अपने व्यवहार से भी जता देना चाहता था कि उसे विदुर की उपस्थिति असह्य हो रही थी।...विदुर का मन जैसे चीत्कार कर उठा, 'यही वह धृतराष्ट्र है, जिसके बड़े से बड़े पाप को, विदुर यह मानकर पी गए, कि वह एक अंधा, असहाय, भाग्यहीन राजा है; और जैसा भी है, संबंध में उसका भाई है।...पर इस धृतराष्ट्र में न स्नेह है, न कृतज्ञता। यह घोर स्वार्थी और नीच है। यहाँ असहाय, अंधा बनकर बैठा हुआ है; और अपने पुत्र के माध्यम से संसार भर के षड्यंत्र रच रहा है। अपने हाथ से पांडवों को राज्य दे रहा है; और दुर्योधन, शकुनि, दुःशासन और कर्ण बनकर, उसको छीन रहा है। क्या है दुर्योधन ? यदि धृतराष्ट्र नहीं चाहता, तो क्या दुर्योधन वह सब कर सकता था, जो कुछ वह कर रहा है। ये सब धृतराष्ट्र के ही विभिन्न मुख थे। सब स्थानों पर धृतराष्ट्र ही विद्यमान था। कहीं उसका नाम दुर्योधन था, कहीं दुःशासन, कहीं शकुनि...और कहीं कर्ण।'

सारथि को घर चलने का आदेश देकर, विदुर अनमने-से, रथ में बैठ गए। उनका शरीर जैसे निस्पंद-सा हो रहा था; किंतु मन, रथ के घोड़ों से भी कहीं तीव्र वेग से उड़ा जा रहा था...क्या करना चाहिए विदुर को ? हस्तिनापुर में रहना चाहिए, अथवा उसे छोड़ जाना चाहिए ?...किंतु विदुर अकेले तो नहीं हैं। घर में पत्नी है, पुत्र हैं, पुत्र-वधुएँ हैं, पौत्र-पौत्रियाँ हैं; और सबसे बड़ी बात है, कि कुंती की रक्षा का बोझ उनके कंधों पर है। यदि वे हस्तिनापुर छोड़ देते हैं, तो क्या सारे परिवार को साथ लेकर जाना होगा। कहाँ जाएँगे वे ? और यदि इन सबको छोड़कर, वे अकेले ही चले जाते हैं, तो इनकी रक्षा कौन करेगा ? विदुर यदि दुर्योधन की ओर से आशंकित हैं, तो उन्हें यह भी सोचना चाहिए कि उनकी अनुपस्थिति में, दुर्योधन पांडवों की माता से कैसा व्यवहार करेगा ? पांडवों के वन-गमन के अवसर पर विदुर ने कुंती को, इसलिए तो नहीं रोका था, कि उसे वन के कष्टों से तो बचाएँगे, किंतु दुर्योधन-प्रेरित कष्टों और अपमानों के लिए हस्तिनापुर में असुरक्षित छोड़ जाएँगे ? उन्होंने पांडवों के सम्मुख स्वयं प्रस्ताव रखा था कि वे कुंती को उनके पास छोड़ जाएँ...पांडवों ने तो उनसे इस आश्रय

का कोई आग्रह नहीं किया था।···और विदुर का अपना परिवार !···यदि वे स्वयं हस्तिनापुर में सुरक्षित नहीं हैं, तो उनका परिवार कैसे सुरक्षित हो सकता है ? ठीक है कि धृतराष्ट्र अथवा दुर्योधन की, विदुर के परिवार से कोई शत्रुता नहीं है, किंतु दुर्योधन राक्षस-बुद्धि पर भी तो चल सकता है। वह विकृत-बुद्धि, सत्ता के मद में उन्मत्त, उच्छृंखल राजकुमार क्या नहीं कर सकता। वह विदुर को पीड़ित करने के लिए, उनके परिवार को यातनाएँ दे सकता है। जरासंध ने भी तो कृष्ण को दंडित करने के लिए, मथुरा को जलाकर क्षार कर दिया था। कंस ने कृष्ण की हत्या के प्रयत्न में असंख्य छोटे-छोटे बालकों का वध कर डाला था।··कौन कह सकता है कि दुर्योधन उसी शैली को नहीं अपनाएगा ? और यदि एक बार दुर्योधन के मन में, ऐसी बात आ गई, तो धृतराष्ट्र उसे कभी नहीं रोकेगा।···

रथ रुक गया। विदुर रथ से उतरकर, घर के भीतर जाने के लिए आगे बढ़े !···सहसा वे मुड़कर सारथि से बोले, "अभी अश्वों को खोलना मत ! संभव है कि मुझे रथ की आवश्यकता पड़े।"

विदुर के जाने के पश्चात् धृतराष्ट्र ने स्वयं को संतुलित करने का प्रयास किया। ···वर्षों से स्वयं को साधा है, धृतराष्ट्र ने ! मन में चाहे कुछ भी हो, सामान्यतः वह अपना क्रोध ही नहीं, रोष भी प्रकट होने नहीं देता; किंतु आज उसका संयम स्खलित हो गया था। शैशव से साथ रहे हैं, दोनों; किंतु न धृतराष्ट्र विदुर को बदल पाया, न विदुर ही धृतराष्ट्र में क्षण भर भी परिवर्तन ला सका !

दुर्योधन ने कितनी ही बार कहा था कि विदुर तथा उसके परिवार को राजसभा से ही नहीं; हस्तिनापुर से ही निकाल दिया जाए। क्रोध में आकर, धृतराष्ट्र ने भी, कितनी ही बार सोचा है कि वह दुर्योधन को अपने मन की करने दे।···उसके लिए क्या कठिनाई है। विदुर न योद्धा है, न सैनिक ! उसके प्राण लेने में कठिनाई ही क्या है···किंतु···किंतु धृतराष्ट्र कैसे बताए दुर्योधन को कि विदुर के वध की बात सोचते ही वह कितना डर जाता है।···दुर्योधन की सारी शक्ति, उसकी व्यवस्थाओं, षड्यंत्रों और संपर्कों के होते हुए भी, धृतराष्ट्र के मन से पांडवों का भय नहीं निकला है। उसे आज भी लगता है कि पांडव कितने भी असहाय क्यों न हों, किंतु उनके जीवित रहते, उनकी विजय की संभावना बनी रहेगी !···और यदि एक बार भी ऐसा हो गया, यदि एक बार भी पांडव युद्ध में जीत गए, तो फिर पांडवों के क्रोध से धृतराष्ट्र के प्राणों की रक्षा कौन करेगा ?···दुर्योधन अपना युद्ध लड़ रहा था, और धृतराष्ट्र अपनी व्यूह-रचना कर रहा था। पांडवों से अपने प्राणों की रक्षा के लिए, उसका अंतिम शस्त्र विदुर ही था। धृतराष्ट्र जानता है कि विदुर उसका कितना भी विरोध क्यों न करे, उसकी

कितनी भी भर्त्सना क्यों न करे, किंतु वह उससे घृणा नहीं करता। विदुर के मन में उसके लिए स्नेह है। विदुर उसका हित चाहता है। विदुर उसकी रक्षा अवश्य करेगा…

और विदुर की रक्षा ? विदुर की रक्षा कौन कर रहा है, इस हस्तिनापुर में ? क्या धृतराष्ट्र ?…नहीं। धृतराष्ट्र ने यदि विदुर का वध करने की अनुमति नहीं दी, तो उसकी रक्षा की व्यवस्था भी कभी नहीं की। विदुर की रक्षा कदाचित् धृतराष्ट्र का भय कर रहा है…धृतराष्ट्र का भय !…महर्षि वेदव्यास का प्रिय पुत्र है विदुर ! यदि विदुर को कोई क्षति पहुँचाई गई तो महर्षि कभी क्षमा नहीं करेंगे, क्षति पहुँचानेवाले को ! कौन सँभालेगा महर्षि के रोष को। उनके एक संकेत पर, अनेक-अनेक राजा अपनी सेनाओं के साथ दौड़े चले आएँगे। राजा न भी आएँ तो महर्षि के आह्वान पर, स्वयं सेनाएँ और जन-सामान्य ही दौड़े आएँगे।…वेदव्यास जैसे व्यक्तियों की उपस्थिति में धृतराष्ट्र को लगने लगता है कि न वह राजा है, न उसके हाथ में कोई सत्ता है।…यदि आज कोई उसे सिंहासन से हटाकर, स्वयं सिंहासन पर बैठ जाए, जैसे पांडु को हटाकर वह स्वयं बैठ गया था, तो उसकी एक साधारण दासी भी, उसकी आज्ञा का पालन नहीं करेगी।…किंतु वेदव्यास ! उन्हें न सिंहासन की आवश्यकता थी, न सिंहासन छिनने का भय ! उनकी आज्ञाओं का पालन सर्वत्र होता है। यदि वे सिंहासन पर नहीं बैठे हैं, तो अपनी इच्छा से नहीं बैठे ! अपनी इच्छा से त्याग रखा है उन्होंने सारे संसार का वैभव ! यदि उनके मन में राजा बनने की इच्छा जाग जाए, तो धृतराष्ट्र जैसे लोग राज-सिंहासन के आस-पास भी नहीं फटक पाएँगे!…वेदव्यास की संरक्षा में हैं विदुर…सागर हहराता रहता है, किंतु भूमि पर चढ़ नहीं दौड़ता; विद्युत कड़कती रहती है, किंतु पृथ्वी को क्षार नहीं करती। वैसे ही वेद व्यास जैसे लोग हैं–शक्ति के पुंज; किंतु वे शक्ति का प्रयोग नहीं करते…यदि कहीं विदुर का अहित हुआ, तो सागर अपनी मर्यादा त्यागकर भूमि पर चढ़ दौड़ेगा; विद्युत, आकाश का अपना वास छोड़कर, भूमि पर उतर आएगी…वेदव्यास को क्रोध आ जाएगा।…

धृतराष्ट्र को लगा कि उसका मन जैसे सहम-सहमकर, कभी-कभी आत्मस्वीकृति देता है कि विदुर के अनिष्ट की बात सोचते हुए भी उसे भय लगता है।…उसने कभी किसी से कहा नहीं है। दुर्योधन से कहेगा, तो दुर्योधन हँसेगा : विदुर से भय। उस अधेड़ वय के दुर्बल, शस्त्रहीन, नीतिज्ञ से भय !

सहसा धृतराष्ट्र का कोई एक मन, चिल्ला-चिल्लाकर उस प्रकार विरोध करने लगा, जैसे कोई पिटा हुआ व्यक्ति पीछे की ओर हटते हुए भी प्रतिशोध लेने की अनवरत धमकियाँ देता जाता है…उसका मन कह रहा था, वह भयभीत नहीं था। विदुर से तो वह तनिक भी भयभीत नहीं था।…हाँ ! विदुर से उसे स्नेह था। विदुर उसका भाई है। शैशव से वे दोनों साथ पले हैं। विदुर ने सदा उसकी सेवा की

है। वह जानता है कि धृतराष्ट्र को उसकी आवश्यकता है। इसीलिए तो वह उसे छोड़कर, कभी पांडवों के पास भी नहीं गया।···

और सहसा धृतराष्ट्र को लगने लगा कि उसने विदुर के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। विदुर को बुरा लगा होगा। वह आहत हुआ होगा। वह क्रुद्ध नहीं होगा। अपने अपमान का प्रतिशोध नहीं लेगा···तो क्या धृतराष्ट्र उसकी भावनाओं का किंचित् भी सम्मान नहीं करेगा ?···धृतराष्ट्र को अपने इस छोटे भाई को इस प्रकार पीड़ित नहीं करना चाहिए। उसके घावों पर स्नेह का लेप लगना चाहिए···

वह अपने स्थान से उठ खड़ा हुआ।

"कहाँ जाएँगे महाराज ?" दासी ने पूछा।

अपनी व्याकुलता के मार्ग में आ जानेवाला यह प्रश्न, धृतराष्ट्र को इतना अटपटा लगा कि दासी के प्रति मन में खीझ उठी, "कहीं नहीं जाऊँगा ! यहीं टहलूँगा।"

दासी ने उसकी भुजा थाम ली : यह उसे सहारा देकर चलाने के लिए था। किंतु धृतराष्ट्र को आज न यह सहारा भला लगा, न युवती दासी का उत्तेजक स्पर्श ! उसने अपनी भुजा खींच ली, "मैं स्वतः ही टहलूँगा। तुम, मार्ग में आई बाधाओं को हटा देना।"

"कहीं गिर न पड़ें महाराज !"

धृतराष्ट्र ने अपने कठोर चेहरे को उसकी ओर मोड़ा, "मेरे नेत्रों में ज्योति चाहे न हो; किंतु टाँगों में पर्याप्त बल है।"

"मेरा तात्पर्य यह नहीं था महाराज !" दासी सहम गई।

"अपने तात्पर्य के लिए उचित शब्दों का चयन सीखो।" उसका क्रोध अभी शांत नहीं हुआ था; और सहसा उसका ध्यान अपनी ओर चला गया : वह टहल नहीं रहा था, भूमि पर पैर पटक रहा था। वह ऐसे कब तक पैर पटकता रहेगा : जब तक विदुर आ नहीं जाएगा ?···किंतु विदुर अब कदाचित् अपने-आप न आए ! आज उससे अपना संबंध तोड़ लिया था धृतराष्ट्र ने ! तो वह स्वेच्छा से क्यों आएगा ?···क्या बुलाने पर आ जाएगा ? 'हाँ !' धृतराष्ट्र का मन बोला, 'आ जाएगा। उसके हृदय में स्नेह है। प्रतिहिंसा अथवा प्रतिशोध की भावना, वह अपने मन में नहीं रखता। वह संबंध तोड़ता नहीं, जोड़ता है।···भाई के स्नेह से नहीं आएगा, तो राजाज्ञा से उसे आना ही पड़ेगा।···'

धृतराष्ट्र रुक गया।

दासी उसके साथ ही चल रही थी। बोली, "महाराज !"

"मुझे आसन तक ले चलो।"

दासी ने उसकी हथेली थाम ली और उसे आसन तक ले आई। धृतराष्ट्र

बैठ गया और बोला, "किसी को भेजो। जाकर विदुर को बुला लाए !"

"जो आज्ञा महाराज !" दासी बाहर चली गई।

और सहसा, धृतराष्ट्र का मन पुनः बदल गया—उसका भय उसके दर्प के नीचे दब गया।...क्या आवश्यकता है, उसे विदुर से डरने की ! बड़े भाई के द्वारा छोटे भाई का, अथवा राजा के हाथों अपने मंत्री का अपमान हो भी गया, तो ऐसा कौन-सा अनर्थ हो गया। अब तक तो विदुर को इन सब बातों का अभ्यस्त हो ही जाना चाहिए था। ...क्या आवश्यकता है, धृतराष्ट्र को, उसकी चाटुकारिता करने की।...चला गया है, तो आ भी जाएगा। धृतराष्ट्र के पास नहीं आएगा, तो कहाँ जाएगा...

"दासी !" उसने पुकारा।

"महाराज !"

"विदुर को बुलाने कौन गया है ?"

"पल्लवी गई है महाराज !"

"किसी अश्वारोही को भेजो। पल्लवी को महामंत्री के आवास पर पहुँचने से पहले ही लौटा लाया जाए। महामंत्री को राजकीय आज्ञा सुनाने की आवश्यकता नहीं है। वे स्वेच्छा से जब चाहें, राजप्रासाद में आ सकते हैं।"

5

विदुर को देखते ही पारंसवी समझ गई कि कोई गंभीर घटना घट गई है। इसकी आशंका तो उसे पहले से ही थी। द्यूतसभा में जिस प्रकार खुलकर विदुर ने दुर्योधन और शकुनि का विरोध किया था, उसके पश्चात् यह आशा नहीं की जा सकती थी कि धृतराष्ट्र की राजधानी में विदुर उन्मुक्त और सुखी रह पाएँगे।

"क्या हुआ आर्यपुत्र ?" पारंसवी ने स्वयं को सँभाल, कांताजनोचित, मधुर ढंग से पूछा।

विदुर ने उसे भीतर चलने का संकेत किया। वे स्वयं चुपचाप चलते हुए, उस प्रकोष्ठ में आए, जहाँ आजकल कुंती रह रही थी।

कुंती ने विदुर और पारंसवी को गंभीर मुद्राएँ बनाए आते देखा, तो उसका धैर्यवान मन भी कुछ आशंकित हो उठा !

"सब कुशल तो है न ?"

विदुर आसन पर बैठ गए; और उन्होंने हाथ के संकेत से उन दोनों को बैठने के लिए कहा।

"महाराज धृतराष्ट्र ने आज मुझसे अपना संबंध-विच्छेद करने की घोषणा

की है; और कहा है कि मैं चाहूँ तो हस्तिनापुर छोड़कर जा सकता हूँ। उन्हें अब मेरी आवश्यकता नहीं है।"

"इसका क्या अर्थ ?" पारंसवी ने जैसे अपने-आपसे पूछा।

"इसका अर्थ मात्र इतना नहीं है कि देवर अब महाराज के भाई, मंत्री या राजकर्मचारी नहीं रहे। वे राजा के द्वारा एक प्रकार से राजद्रोही अथवा अपराधी भी घोषित कर दिए गए हैं।" कुंती ने धीरे से कहा, "वे अभी दंडित किए नहीं गए हैं; किंतु वे दंडित किए जाएँगे। इसलिए विदुर ! तुम्हें तत्काल किसी सुरक्षित स्थान पर चले जाना चाहिए।"

"जब हस्तिनापुर ही हमारे लिए सुरक्षित नहीं रहा, तो और कौन-सा स्थान हमें सुरक्षा प्रदान कर सकता है।" पारंसवी असहाय-सी इधर-उधर देख रही थी।

किंतु कुंती ने जैसे इतनी देर में निश्चय भी कर लिया था, "विदुर ! तुम पांडवों के पास वन में चले जाओ !" कुंती का स्वर, पर्याप्त उपदेशात्मक था।

विदुर ने चकित होकर कुंती की ओर देखा : यह कैसा विचित्र आदेश था। जो पांडव, कुंती की सुरक्षा हेतु उसे विदुर के पास छोड़ गए थे; कुंती विदुर को सुरक्षा के लिए, उन्हीं पांडवों के पास भेज रही थी।...

"मैं तो कहीं भी चला जाऊँगा भाभी ! प्रश्न तो तुम लोगों की सुरक्षा का है।" विदुर बोले, "पांडव, जितने प्रिय तुम्हें हैं, उतने ही प्रिय मुझे भी हैं। उनके पास जाकर मुझे भी प्रसन्नता होगी। किंतु वनवासी युधिष्ठिर पर अपने भरण-पोषण का बोझ डालना उचित होगा क्या ?"

"जहाँ तक मैं धृतराष्ट्र को जानती हूँ, तुम्हारा यह निष्कासन दीर्घकालीन नहीं होगा।" कुंती ने पूर्णतः आश्वस्त स्वर में कहा।

"क्यों ? ऐसा सोचने का कारण ?" पारंसवी के स्वर में जिज्ञासा भी थी और असहमति भी।

"धृतराष्ट्र ने पांडवों के साथ जो क्रूर व्यवहार किया है, उसके पश्चात् अब वह संभावित प्रतिशोध की कल्पना से भयभीत रहेगा।" कुंती धीरे से बोली, "वह इस समय तुम्हारे प्रति कठोर हो रहा है; किंतु तुम्हारे जाते ही, वह इस बात से भयभीत हो जाएगा कि उसे पांडवों के क्रोध से बचानेवाला कवच अब नहीं रहा।"

"धृतराष्ट्र क्या इतना भीरु व्यक्ति है ?" पारंसवी ने पूछा।

"जो स्वयं भयभीत होता है, वही दूसरों को आतंकित करता फिरता है।" कुंती शांत स्वर में बोली।

विदुर मन-ही-मन चिंतन-मनन करते रहे; और फिर धीरे से बोले, "कहती तो तुम ठीक ही हो भाभी ! किंतु मेरी अनुपस्थिति में तुम लोगों की सुरक्षा का क्या होगा ?"

"धृतराष्ट्र तथा दुर्योधन कितने भी क्रूर क्यों न हों, वे हमें किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचाएँगे।" कुंती बोली, "वीर क्षत्रियों का स्त्रियों से क्या विरोध !"

"मैं तुमसे सहमत नहीं हूँ भाभी !" पारंसवी ने शालीन स्वर में कहा, "जो दुष्ट द्रौपदी जैसी कुलवधू को इतना अपमानित और पीड़ित कर सकते हैं, वे तुम्हें नहीं तो तुम्हारे पुत्रों को कष्ट देने के लिए, तुम्हें पीड़ित और अपमानित कर सकते हैं।...और फिर वे क्यों चाहेंगे कि निष्कासित महामंत्री के परिवारजन हस्तिनापुर में सुरक्षित बने रहें।"

"तुम ठीक कहती हो पारंसवी !" कुंती ने कहा, "किंतु तुम्हारा ध्यान, गांधारी की ओर नहीं गया। गांधारी अपने पुत्रों का चाहे कितना ही समर्थन क्यों न करे, नारी के अपमान के लिए, वह दुर्योधन को भी क्षमा नहीं करेगी।...और फिर युवती द्रौपदी का अपमान करने का अर्थ कुछ और है। मुझ वृद्धा के साथ वैसा व्यवहार कर, दुर्योधन को भी किसी प्रकार का सुख नहीं मिल सकता।"

"दुर्योधन का सुख तो पांडवों को पीड़ित करने में है भाभी !" विदुर ने धीरे से कहा, "उसे केवल यह विश्वास हो जाए कि उसके किसी कृत्य से पांडवों को पीड़ा होगी, तो वह कुछ भी करने के लिए तत्पर हो जाएगा। उसके जीवन का लक्ष्य, अपना सुख नहीं, पांडवों की पीड़ा है।"

"पांडव तो अपने जन्म से ही कष्ट सहते आए हैं।" कुंती कुछ आत्मलीन स्वर में बोली, "इस समय तो महत्त्वपूर्ण है, तुम्हारी सुरक्षा। तुम यदि हस्तिनापुर में टिके रहे, तो दुर्योधन तुमसे प्रतिशोध अवश्य लेगा। इससे पहले कि उसको सूचना मिले कि धृतराष्ट्र ने तुम्हारे सिर पर से अपना हाथ उठा लिया है, तुम्हें हस्तिनापुर छोड देना चाहिए। तुम किसी भी अन्य राजा के आश्रय में जाओगे, तो वह राजा, दस बार सोचेगा कि तुम्हें शरण देकर, वह दुर्योधन का क्रोध आमंत्रित करे या न करे। पांडवों के पास जाने से, उन्हें एक बार भी इस प्रकार की चिंता करने की आवश्यकता नहीं होगी। उन्हें प्रसन्नता होगी कि उनके विदुर काका, धृतराष्ट्र के चंगुल से निकलकर, उनके पास पहुँच गए हैं।"

"मैं तो सुरक्षित हो जाऊँगा भाभी !" विदुर का स्वर, पहले की अपेक्षा, कहीं अधिक दृढ़ हो गया था, "किंतु तुम्हारे सारे तर्कों के होते हुए भी, मैं तुम्हारी सुरक्षा की ओर से आश्वस्त नहीं हूँ।..."

कुंती ने जैसे खीझकर विदुर की ओर देखा। उसकी आँखों में एक प्रकार की कठोरता पुंजीभूत हुई और वह बोली, "तो एक कटु बात कह रही हूँ विदुर ! उसे सुनो और विचार करो।"

"क्या है भाभी ?" कुंती की दृढ़ता से विदुर का मन कुछ सहम-सा गया था।

"युधिष्ठिर के द्यूत खेलने से मैं तनिक भी प्रसन्न नहीं थी।" कुंती बोली, "उसके पराजित होने से मैं और भी दुखी हुई; और सबसे अधिक, मैं पीड़ित हुई, अपनी पुत्रवधू के अपमान से। युधिष्ठिर ने उस अपमान का विरोध नहीं किया, न अपने भाइयों को करने दिया। उसने उसका प्रतिशोध लेने का प्रयत्न नहीं किया।…और मैं जानती हूँ कि तेरह वर्षों के पश्चात् उसके निष्कासन समाप्त कर लौटने पर, यदि धृतराष्ट्र ने उसका राज्य लौटा दिया, तो वह अपना, अपने भाइयों तथा अपनी पत्नी का अपमान भूल जाएगा।"

"तो ?" पारंसवी चकित थी।

"यह तो मैंने सोचा ही नहीं।" विदुर जैसे अपने-आपसे बोले।

"किंतु मैंने सोचा है।" कुंती बोली, "इसलिए मैं यहाँ बैठी हूँ, हस्तिनापुर में। अपनी माँ को लेने तो वह आएगा। न वह अपनी माँ को त्याग सकता है, न कोई नई माँ खोज सकता है। इसलिए उसे हस्तिनापुर तो आना ही होगा।"

"भाभी !"

"मुझे अपनी सुरक्षा की चिंता नहीं है।" कुंती बोली, "मुझे चिंता उस प्रतिशोध की है, जो पांडवों को लेना है; मुझे चिंता उस राज्य की है, जो पांडवों का है। इसलिए विदुर ! मैं हस्तिनापुर में रुक गई हूँ, ताकि दुर्योधन की दृष्टि के सम्मुख निरंतर बनी रहूँ। उसे याद दिलाती रहूँ कि उसने मेरे पुत्रों का राज्य छीना है। उसकी संपत्ति अधर्म द्वारा अर्जित है। मैं धृतराष्ट्र की चेतना में बनी रहूँ, ताकि वह अपनी अंधी आँखों से मेरे पुत्रों के शस्त्रास्त्रों को देखता रहे और उसका मन भय से निरंतर काँपता रहे।…और मैं हस्तिनापुर में इसलिए रुकी हूँ विदुर ! ताकि क्रोध में आकर, घृणा से भरकर दुर्योधन अथवा उसका कोई सहायक मेरी हत्या कर दे।…"

विदुर और पारंसवी ने स्तब्ध हो, कुंती की ओर देखा।

"हाँ ! दुर्योधन मेरी हत्या कर दे।…यदि दुर्योधन मेरी हत्या कर दे, तो फिर युधिष्ठिर भी उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। वह अपना अपमान विस्मृत कर दे, अपने भाइयों और अपनी पत्नी का अपमान क्षमा कर दे; किंतु अपनी माँ की हत्या की न वह उपेक्षा कर सकता है, न उसे क्षमा कर सकता है।…और यदि युधिष्ठिर इस सीमा तक कायर हो जाए, कि अपनी माँ के हत्यारे को भी क्षमा कर दे, तो महावीर भीम और अर्जुन, दुर्योधन को कभी क्षमा नहीं करेंगे। मेरे नकुल और सहदेव, इतने समर्थ न सही, किंतु अपने प्राण देकर भी, अपनी माँ की हत्या का प्रतिशोध लेंगे।…"

"यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है भाभी !" विदुर बोले, "तो तुम कहती क्यों नहीं, अपने चारों पुत्रों से कि वे धर्मराज की उपेक्षा कर, दुर्योधन को दंडित करें।"

"यह माँ का धर्म नहीं है कि अपने पुत्रों को बड़े भाई की अवमानना सिखाए।

मैं तो उन्हें केवल उनका धर्म सिखा रही हूँ।" और सहसा, कुंती ने जैसे सारा विषय ही बदल दिया, "और यदि तुम्हें अपने परिवार की सुरक्षा की चिंता है तो स्मरण रखो, तुम सशस्त्र योद्धा तो हो नहीं, कि तुम्हारे यहाँ उपस्थित रहने से, तुम्हारा परिवार सुरक्षित रहेगा। संभव है कि तुम्हारा आखेट करने आए, दुर्योधन के अनुचर, तुम्हारे परिवार की भी क्षति करने पर उतारू हो जाएँ; किंतु यदि तुम ही यहाँ नहीं होगे, तो वे यहाँ क्या करने आएँगे।"

"मेरा विचार है, कुंती भाभी ठीक ही कह रही हैं।" पारंसवी बोली, "आप तो इस समय केवल अपनी सुरक्षा की बात सोचिए। यदि आप भी यहीं उपस्थित रहे, तो हम सब ही असुरक्षित हैं। आप यहाँ न हुए, तो एक तो वैसे ही दुर्योधन का क्रोध कुछ क्षीण हो जाएगा; और फिर यह उसे भी सोचना पड़ेगा कि पीछे से यदि उसने कुंती भाभी अथवा आपके परिवार को क्षति पहुँचाई, तो आप अपने भ्रातुष्पुत्रों को साथ लेकर, प्रतिशोध लेने अवश्य आएँगे।"

विदुर मौन बैठे, कुछ सोचते रहे। थोड़ी देर पश्चात् वे उठकर खड़े हो गए और बोले, "मैं अपने कक्ष में जा रहा हूँ। कुछ देर विचार करना चाहता हूँ। यदि जाने का निश्चय हो गया, तो रात्रि में किसी समय, चुपचाप निकल जाऊँगा। यदि गया तो युधिष्ठिर के ही पास जाऊँगा। न गया तो कल प्रातः तुम लोगों से भेंट करूँगा।"

विदुर मंथर गति से अपने कक्ष की ओर चले गए। उनका तन जितना शिथिल दिखाई पड़ रहा था, मन उतने ही वेग से विभिन्न दिशाओं में भाग रहा था। यह शिथिल होने का समय नहीं था। उन्हें तत्काल निर्णय करना होगा; और तुरंत सक्रिय होना होगा...

वे अपने कक्ष में आए और आसन पर बैठकर उन्होंने परिचारक को पुकारा। परिचारक ने आकर प्रणाम किया तो बोले, "बाहर मेरा सारथि होगा। उसे भीतर भेज दो; और अब तुम जाकर विश्राम करो। मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। थक गया हूँ। एकांत चाहता हूँ।"

परिचारक प्रणाम कर बाहर चला गया; और थोड़ी-ही देर में सारथि ने प्रवेश किया।

"घोड़ों को खोल दो अश्वसेन ! और तुम यथाशीघ्र महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास के आश्रम में चले जाओ। उनको मेरी ओर से प्रणाम निवेदित करके कहना कि मुझे धृतराष्ट्र ने हस्तिनापुर से निष्कासित कर दिया है। मैं हस्तिनापुर छोड़ रहा हूँ। मेरा परिवार यहाँ असुरक्षित है। कुंती भाभी यहीं हैं; और उनकी सुरक्षा की ओर से भी मैं चिंतित हूँ। इन सबका दायित्व उन पर ही छोड़कर जा रहा हूँ। यदि वे उचित समझें तो आवश्यकता पड़ने पर, इन सब लोगों को अपने आश्रम में शरण दे सकते हैं।" विदुर क्षण भर रुके, "और अश्वसेन ! यह दायित्व तुम्हारा

है कि किसी को इसका आभास भी न होने पाए कि मैंने महर्षि को इस प्रकार का कोई संदेश भिजवाया है।"

युधिष्ठिर ने दूर से विदुर को आते देखा, तो उनके मन में एक अद्‌भुत उल्लास का स्रोत वह निकला··· विदुर काका ! इस समय, यहाँ वन में ? ये हस्तिनापुर से इतनी दूर कैसे चले आए ?···और अगले ही क्षण उनके मन में एक आशंका जागी ···ये अपनी इच्छा से नहीं आए होंगे। इन्हें अवश्य ही धृतराष्ट्र ने भेजा होगा। पर धृतराष्ट्र ने क्यों भेजा होगा ? क्या फिर उन्होंने द्यूत का आदेश भिजवाया है ? अब क्या है पांडवों के पास हारने को ? कहीं ऐसा न हो कि पांडवों को इस बार अपने शस्त्र ही हारने पड़ें; और उनका राज्य लौटने की सारी संभावना ही समाप्त हो जाए।···

कितना अंतर आ गया है, पांडवों के शैशव से अव तक में ! तव विदुर काका उनकी सुरक्षा की आश्वस्ति थे। विदुर काका ने सहायता न की होती, तो पांडव वारणावत से कभी जीवित न निकलते ! कैसी व्यवस्था की थी विदुर काका ने !···और फिर वे ही विदुर काका उनके लिए द्यूत-क्रीड़ा का निमंत्रण लेकर आए थे···पर नहीं।···युधिष्ठिर के मन ने उन्हें टोक दिया···विदुर काका ने उन्हें चेतावनी भी दे दी थी कि दुर्योधन उन्हें उनके सर्वस्व से वंचित करने की योजना वनाए बैठा है।···वारणावत जाते समय युधिष्ठिर को अपना धर्म आत्म-रक्षा में दिखाई पड़ रहा था···और द्यूत-सभा में जाते हुए धृतराष्ट्र के आदेश को पूर्णतः स्वीकार करने में।···विदुर काका का तो उसमें तनिक भी दोष नहीं था।···अव यदि धृतराष्ट्र ने विदुर काका को किसी संदेश के साथ भेजा भी है, तो यह निर्णय तो युधिष्ठिर को ही करना है कि उनका धर्म क्या है···

विदुर निकट आए तो पांडवों ने देखा, उनके चेहरे पर पांडवों से मिलने का तनिक भी उत्साह नहीं था। ऐसा नहीं लग रहा था कि वे लंवी यात्रा कर, उनसे मिलने के लिए आए हैं; और उन्हें देखकर उनकी यात्रा की थकान मिट गई है। लगता था, जैसे उन्हें अपने निकट पाकर, वे कुछ और भी भयभीत हो गए हैं।

विदुर का रथ रुका और वे श्लथ भाव से नीचे उतरे। पांडवों ने चरण-स्पर्श कर, उन्हें प्रणाम किया और कुछ संकेत तथा कुछ सहारे से, अपनी कुटिया में ले आए।

"काका ! आप वहुत थक गए हैं।" युधिष्ठिर ने कहा, "आप थोड़ा विश्राम कर लें। तव तक पांचाली आपके भोजन की व्यवस्था करती है। उसके पश्चात् हम आपसे हस्तिनापुर के समाचार जानना चाहेंगे।"

विदुर ने हथेली उठाकर युधिष्ठिर को रोका; और बोले, "यात्रा से तो थका ही हूँ; किंतु उससे अधिक मैं धृतराष्ट्र के व्यवहार से हतप्रभ हुआ हूँ। जन्म से आज तक किन्हीं भी परिस्थितियों में मैंने हस्तिनापुर में अपने-आपको तथा अपने परिवार को इतना असुरुक्षित नहीं पाया था। इस वार धृतराष्ट्र के व्यवहार से, सहसा मुझे लगा कि न कुरुवंश से मेरा कोई संबंध है, न मैं हस्तिनापुर का महामंत्री हूँ, और न मैं धृतराष्ट्र का भाई हूँ। मैं तो एक साधारण नागरिक के अधिकारों से भी संपन्न नहीं हूँ। दुर्योधन मेरी हत्या कर सकता है। मेरे परिवार को नष्ट कर सकता है...वह कुंती भाभी को भी क्षति पहुँचा सकता है।"

"क्यों ? हस्तिनापुर में ऐसा क्या हो गया काका कि आप इतने विचलित हो गए ?" सहदेव ने अपने मधुर ढंग से पूछा।

विदुर थोड़ी देर तो शून्य में ताकते रहे, फिर बोले, "महाराज धृतराष्ट्र ने मुझसे अपने सारे संबंध विच्छिन्न कर, मुझे हस्तिनापुर से निष्कासित कर दिया है।"

युधिष्ठिर ने विदुर के कंधे को सस्नेह छूकर, उन्हें सांत्वना देने का प्रयत्न किया, "काका ! आप बहुत थक गए लगते हैं। आपने वे सारी कल्पनाएँ भी कर ली हैं, जो संभव नहीं हैं। दुर्योधन कितना ही आततायी क्यों न हो, वह प्रत्यक्ष रूप से आपके परिवार या हमारी माता को कोई क्षति पहुँचाने का साहस नहीं कर सकता। अभी हस्तिनापुर में पितामह विद्यमान हैं। गुरु द्रोणाचार्य और राजपुरोहित कृपाचार्य उसे यह कभी नहीं करने देंगे। और कोई न ही, तो माता गांधारी तो हैं ही।"

"मैं यह सब नहीं जानता काका !" सहसा भीम बोला, "भैया जिन लोगों पर विश्वास कर रहे हैं, उन पर मेरा अब तनिक भी विश्वास नहीं है। किंतु, मुझे यह भली प्रकार ज्ञात है कि यदि दुर्योधन ने ऐसा कोई काम किया, तो मैं किसी धर्म-बंधन को नहीं मानूँगा। मैं अपनी गदा के साथ, सीधा हस्तिनापुर जाऊँगा और दुर्योधन तथा उसके सहायक प्रत्येक व्यक्ति के मस्तक को चकनाचूर कर दूँगा। दुर्योधन भी इस बात को समझता होगा। मुझे पूरा विश्वास है कि वह ऐसा दुस्साहस कभी नहीं कर सकता।"

विदुर ने भीम की ओर देखा अवश्य; किंतु कुछ कहा नहीं। उनकी मुद्रा स्पष्ट वता रही थी कि वे भीम की इन बातों से तनिक भी आश्वस्त नहीं हुए थे।

"काका ! आप उनके लिए चिंतित हैं, जिन्हें आप हस्तिनापुर में छोड़ आए हैं, या अपने प्राणों के लिए चिंतित हैं ?" अर्जुन ने विदुर के निकट बैठते हुए पूछा, "जिन्हें आप हस्तिनापुर में छोड़ आए हैं, उनमें ऐसा कोई नहीं है, जिसकी हत्या कर दुर्योधन को किसी प्रकार का कोई लाभ हो। उससे न उसकी शक्ति बढ़ेगी, और न उसके शत्रुओं का बल कम होगा। इतनी बुद्धि दुर्योधन और उसके

परामर्शदाताओं में भी है कि यदि वे आपके परिवार की स्त्रियों और वच्चों को अपनी हिंसा और क्रूरता का लक्ष्य वनाते हैं, तो उनका पक्ष दुर्वल ही होगा।··· और अपने लिए तो आपको चिंतित होने की आवश्यकता ही नहीं है। अव आप हमारे पास हैं; और हम आपकी रक्षा में पूर्णतः समर्थ हैं।"

"इसी का तो विश्वास नहीं कर पा रहा।" विदुर धीरे से वोले, "अपने प्राणों का मुझे उतना मोह नहीं है; किंतु मेरे कारण, कहीं तुम लोग भी संकट में न पड़ जाओ। मैं हस्तिनापुर से चला था तो मुझे यही विश्वास था कि मैं तुम लोगों के निकट, तुम्हारे शस्त्रों की छाया में सुरक्षित रहूँगा।···किंतु यहाँ आकर न जाने क्यों मुझे यह लगने लगा है कि यदि कहीं दुर्योधन को यह सूचना मिल गई कि मैं तुम लोगों की शरण में आया हूँ, तो वह मेरे प्रति अपना आक्रोश भी तुम लोगों पर ही निकालेगा। इससे मैंने तुम लोगों का संकट और वढ़ा दिया है।"

भीम ने जोर का अट्टाहास किया, "आप समझते हैं कि हम दुर्योधन से दुर्वल हैं, या उससे भयभीत हैं। वह तो धर्मराज का धर्म-वंधन ही था, जो हमें यहाँ ले आया; अन्यथा वह द्यूत-सभा धार्तराष्ट्रों के रक्त से लाल हो गई होती।···और काका ! यदि दुर्योधन और उसके मित्र, हमसे अधिक शक्तिशाली होते, तो उन्हें द्यूत का षड्यंत्र करने की आवश्यकता नहीं थी। वे सीधे-सीधे आक्रमण कर, शस्त्रों से हमारा वध कर देते।"

"वह सब छोड़िए काका !" युधिष्ठिर ने धीरे से कहा, "आप जैसे नीतिज्ञ पुरुष का न इस प्रकार आशंकित होना उचित है; और न यह मोह ही आपकी प्रकृति का अंग है। मुझे तो लगता है कि महाराज धृतराष्ट्र के इस संवंध-विच्छेद से आपको जो भावनात्मक आघात पहुँचा है, वह आपके लिए अकल्पनीय था। उसी से आपका संतुलन कुछ डगमगा गया है। जव मनुष्य का स्नेह आहत होता है, तो उसका आत्मविश्वास ही डोल जाता है। आपके साथ इस समय वही हुआ है। आपको इससे यह भी समझ आएगा कि यद्यपि आप पितृव्य की नीति से कभी सहमत नहीं हुए; उनके कृत्यों और आचरण का आपने कभी समर्थन नहीं किया; किंतु फिर भी शैशव से आज तक के साहचर्य के कारण, आपको उनसे इतना अधिक स्नेह है, कि उनका आपसे इस प्रकार मुख मोड़ लेना, आपके लिए असह्य हो उठा है। आप अपने-आपको सँभालें। किसी के भी प्राण संकट में नहीं हैं–न आपके, न हमारे, और न उन लोगों के, जिन्हें आप हस्तिनापुर में छोड़कर आए हैं।"

"और काका ! आप यह भी समझते होंगे, कि मनुष्य का जीवन-मरण विधाता के हाथ में होता है, दुर्योधन अथवा हमारे पितृव्य के हाथ में नहीं।" सहदेव बोला, "यदि कहीं यह दुर्योधन अथवा पितृव्य के हाथ में होता, तो हमारा आज तक जीवित रहना, तनिक भी संभव नहीं था।"

"और यदि कहीं यह मध्यम के हाथ में होता, तो आज दुर्योधन इस संसार में नहीं होता।" अर्जुन बोला।

विदुर ने कुछ नहीं कहा। वे चुपचाप बैठे सोचते रहे : ये पांडव, अवस्था में उनके पुत्रों के समान है। उनके मस्तक पर मृत्यु की छाया सदा ही मँडराती रही है। वे साधक अथवा विरक्त भी नहीं हैं; किंतु फिर भी ये कितने आश्वस्त, स्वस्थ और संतुलित हैं। ईश्वर पर उनकी निर्भरता मात्र एक विचार नहीं है। वह उनका व्यवहार है। उनका स्वभाव और उनकी प्रकृति !···विदुर तो एक ही झटके में इतने विचलित हो उठे हैं, जैसे उनके पगों के नीचे से धरती ही खिसक गई हो···

द्रौपदी, सुभद्रा और बलंधरा भोजन-सामग्री लेकर आ गई थीं। उन्होंने प्रणाम कर, सम्मानपूर्वक विदुर के हाथ-पाँव धोने के लिए जल प्रस्तुत किया।

विदुर अब तक पर्याप्त स्वस्थ हो चुके थे। बोले, "पुत्र युधिष्ठिर ! मैंने महाराज धृतराष्ट्र को अपनी ओर से कुरुकुल की रक्षा के लिए सर्वोत्तम मार्ग सुझाया था, किंतु जैसे मृत्यु के निकट पहुँचे रोगी को औषधि अच्छी नहीं लगती अथवा कन्या को वृद्ध वर प्रिय नहीं होता, वैसे ही धृतराष्ट्र को मेरा परामर्श नहीं भाया।···"

"तो आप क्यों चाहते हैं कि वे आपका परामर्श मान लें और सुरक्षित हो जाएँ।" भीम ने प्रफुल्लित मुद्रा में कहा, "आप उन्हें अपनी अनीति पर चलकर मृत्यु का आलिंगन करने की स्वतंत्रता क्यों नहीं देना चाहते ?"

"नहीं पुत्र !" विदुर का स्वर पर्याप्त शांत था, "हम सारे विश्व की मंगल-कामना करते हैं। सबके स्वस्थ, नीरोग और दीर्घ जीवन के लिए प्रार्थना करते हैं। इसलिए किसीको भी ऐसे मार्ग पर चलने का परामर्श नहीं दे सकते, जहाँ उसका क्षय अथवा विनाश होता हो।" विदुर ने रुक कर भीम की ओर देखा, "संभव है कि तुम्हें यह आभास होता हो कि मैं तुम्हारा मित्र और धार्तराष्ट्रों का शत्रु हूँ; किंतु यह वास्तविकता नहीं है। सत्य यह है कि मैं पितृव्य भीष्म के समान, मध्यस्थ हूँ। मुझे धृतराष्ट्र के पुत्र भी उतने ही प्रिय हैं, जितने पांडु के; किंतु मैं अधर्म का साथ नहीं दे सकता, अन्याय का समर्थन नहीं कर सकता; और अत्याचार के सम्मुख मौन नहीं रह सकता। मैंने जब भी दुर्योधन का विरोध किया है, वस्तुतः वह अधर्म, अन्याय और अत्याचार का ही विरोध किया है। यदि वह अपना क्रूर मार्ग छोड़ दे, तो मेरा उससे क्या विरोध हो सकता है।"

"और यदि वह अपना क्रूर मार्ग न छोड़े काका ?" अर्जुन ने पूछा।

"तो पुत्र ! तुम लोग अपनी और धर्म की रक्षा करो।" विदुर शांत स्वर में बोले।

"वह कैसे काका ?" युधिष्ठिर को विदुर के स्वर में आज एक नई ही ध्वनि

सुनाई दी, "हमारे पास न राज्य है, न सेना ! न सत्ता, न संपत्ति ! दुर्योधन को रोकना हमारे वश में है क्या ?"

"जो, शत्रुओं द्वारा दुःसह कष्ट दिए जाने पर भी, क्षमा करते हुए अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करता है; तथा जिस प्रकार थोड़ी-सी आग को भी लोग घास-फूस द्वारा प्रज्वलित करके बढ़ा देते हैं, वैसे ही जो मन को वश में रखकर, अपनी शक्ति और सहायकों को बढ़ाता है, वह अकेला ही सारी पृथ्वी का उपभोग करता है। राजन् ! जो अपने सुख और ऐश्वर्य को अपने सहायकों के साथ बाँटकर, उनका उपभोग करता है, उसके दुख और विपन्नता भी उसके सहायक परस्पर बाँट लेते हैं। अपने लिए सहायकों के संग्रह का एक यही उपाय है। सहायकों की प्राप्ति होने पर, पृथ्वी की प्राप्ति होती है—ऐसा, हमारी नीति कहती है। जो बकवादरहित सत्य बोलता है, अपने सहायकों और भाई-बंधुओं के साथ बैठकर समान अन्न का भोजन करता है; जो अपने मित्रों और सहायकों के सामने अपने सम्मान-बड़प्पन और पूजा की बातें नहीं करता, उसका संगठन, वज्र जैसा शक्तिशाली हो जाता है।..."

युधिष्ठिर ने अपने भाइयों की ओर देखा। लगा, वे सब विदुर काका की बात भली-भाँति समझ रहे हैं।...विदुर काका केवल नीति की ही बात नहीं कर रहे थे, वे उन्हें दुर्योधन से टकराने का मार्ग सुझा रहे थे।...विदुर की सारी हताशा छँट गई थी। उनका आत्मविश्वास लौट आया था। वे उसी प्रकार सूक्तियों में अपनी आकांक्षा प्रकट कर रहे थे, जैसे उन्होंने पांडवों के वारणावत जाने से पहले अपनी बात कही थी।...ओह ! यदि कहीं काका, धृतराष्ट्र के प्रति अपने मोह से मुक्त हो पाते...और सदा के लिए पांडवों के साथ रह सकते...

6

प्रणाम कर, दुर्योधन बैठ गया तो धृतराष्ट्र ने अपनी ज्योतिहीन आँखें उसकी ओर उठाईं, "सुना है कि विदुर, हस्तिनापुर छोड़कर कहीं चला गया है।"

"हाँ पिताजी ! वह अब हस्तिनापुर में नहीं है।"

"उसका परिवार ?"

"परिवार यहीं है। परिवार को लेकर, कहाँ जाता ?"

"स्वयं कहाँ गया है ?"

"उन्हीं कंगले पांडवों के पास !" दुर्योधन हँसा, "मेरे गुप्तचरों ने सूचना दी है कि वह उनके साथ, वन का घास-फूस और कंद-मूल खा रहा है। एक कुटिया बना दी है उन्होंने। उसी में रह रहा है और उस धौम्य से ज्ञान-चर्चा कर रहा है।..."

"पांडव कहाँ हैं ?"

"काम्यक वन में।"

"क्या कर रहे हैं ? क्या, सैन्य-संगह कर रहे हैं ?"

"हाँ !" दुर्योधन हँसा, "किंतु योद्धाओं की सेना का नहीं, भिक्षुओं की सेना का। उनके पास है ही क्या कि सैन्य-संग्रह करेंगे। कंद-मूल खाकर तो कोई सैनिक, युद्ध करता नहीं।"

दुर्योधन ने दृष्टि उठाकर अपने पिता के चेहरे को देखा, तो तत्काल समझ गया कि धृतराष्ट्र यह सब सुनकर प्रसन्न नहीं हो रहा।

"क्या हुआ महाराज ?" दुर्योधन ने पूछा, "विदुर को निष्कासित कर आप प्रसन्न नहीं हैं ?"

धृतराष्ट्र ने थोड़ी देर तक कोई उत्तर नहीं दिया; किंतु जब उसे लगा कि दुर्योधन उसके उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा है, तो धीरे से बोला, "तुम समझते हो कि विदुर वहाँ बैठा, धौम्य से अध्यात्म-चर्चा कर रहा होगा ?"

"मेरे गुप्तचरों ने तो मुझे यही सूचना दी है कि विदुर वहाँ बैठा, उन्हें नीति का उपदेश देता है, जिसे वे पाँचों भाई बहुत चाव से सुनते हैं। धौम्य कभी शास्त्रों की चर्चा करता है, कभी इतिहास की।" दुर्योधन ने पिता की ओर देखा, "क्या आपका विचार है कि ऐसा नहीं है ?"

"नहीं ! ऐसा नहीं है।" धृतराष्ट्र ने दृढ़ता से कहा, "तुम्हारे गुप्तचर मूर्ख हैं, अथवा तुम्हें मूर्ख बना रहे हैं।"

"इतनी सूचना तो मैं निश्चित् रूप से आपको दे सकता हूँ कि वहाँ एक भी सैनिक नहीं है। पांडवों में से कोई भी शस्त्राभ्यास नहीं कर रहा। भीम कभी-कभी आखेट के लिए अवश्य जाता है; किंतु न वह शस्त्रों का अभ्यास करता है, न व्यूह रचना का। न ही उन लोगों ने अभी तक किसी राजा से कोई संपर्क करने का प्रयत्न किया है, न किसी से सैनिक सहायता माँगी है...।"

धृतराष्ट्र ने कुछ नहीं कहा।...इस दुर्योधन से कुछ भी कहने का क्या लाभ, जिसे आज तक यह ही समझ नहीं आया कि नीति में कितना बल होता है।...वह विदुर का महत्त्व नहीं समझना। वह किसी भी मूल्य पर विदुर को हस्तिनापुर से निकाल देना चाहता है, चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो...विदुर कहीं जाए, किसी के पास जाए...वह यह समझ ही नहीं सकता कि एक निःशस्त्र विदुर के कारण किसी का सैन्यवल कैसे बढ़ सकता है।...वह न विदुर का महत्त्व समझता है, न महर्षि व्यास का, और न वासुदेस कृष्ण का।...वह समझ ही नहीं सकता। उसकी स्थूल बुद्धि केवल शारीरिक बल देखती है, शस्त्र-बल !...

"आप कहीं उस विदुर को वापस बुलाने की वात तो नहीं सोच रहे ?" सहसा दुर्योधन ने पूछा, "इतनी कठिनाई से तो हमें उससे मुक्ति मिली है। लौट

आया, तो फिर कभी नहीं जाएगा।...”

“दुर्योधन !” धृतराष्ट्र अपने स्वर के रोष पर स्वयं ही चकित रह गया; किंतु उसने उसे सायास बनाए रखा, “यह मत भूलो कि विदुर मेरा भाई है; और मैं उससे प्रेम करता हूँ।”

दुर्योधन अपने पिता के इस मोह से कई बार पीड़ित हो चुका था...अब फिर वही !...इस वृद्ध को न अपना हित समझ में आता है, न कोई तर्क...वह स्वयं को संयत नहीं रख सका। आक्रोशपूर्वक बोला, “आप यह नहीं भूलते कि वह संबंध से आपका भाई है; किंतु यह क्यों भूल जाते हैं कि व्यवहार और चिंतन से वह आपका शत्रु है ?”

एक क्षण के लिए धृतराष्ट्र के मन में आया कि वह दुर्योधन को समझाए कि विदुर को हस्तिनापुर में बनाए रखकर, वह उसे पांडवों से दूर करना चाहता है, ताकि उसका बल पांडवों को न मिले...किंतु दूसरे ही क्षण उसने इस विचार को त्याग दिया...इससे तो कहीं अच्छा है कि वह विदुर के प्रति अपने भ्रातृ-प्रेम को ही अधिक से अधिक प्रचारित करे।...दुर्योधन मानता रहे कि उसके पिता ने उसकी इच्छा का सम्मान नहीं किया...सारे हस्तिनापुर को पता लग जाए कि धृतराष्ट्र ने दुर्योधन की इच्छा के विरुद्ध, विदुर को हस्तिनापुर वापस बुलाया है...सब ये मानते रहें कि वह अपने पुत्र से भी अधिक अपने भाई से प्रेम करता है...उस दासी-पुत्र से...विदुर भी यह सोच-सोचकर, अपने अहंकार को स्फीत करता रहे कि धृतराष्ट्र उसको दुर्योधन से भी अधिक प्रेम करता है। वह जितना ही, इस बात पर विश्वास करेगा, उतना ही वह मन से पांडवों से दूर होता जाएगा...वह कितनी लाभदायक स्थिति होगी, जब विदुर, दुर्योधन से विकट घृणा करते हुए भी धृतराष्ट्र से प्रेम करेगा, और उसके प्रेम में बँधकर, वह पांडवों से दूर होता जाएगा।...वह दुर्योधन से घृणा करेगा, किंतु धृतराष्ट्र के कारण उसका विरोध नहीं कर पाएगा...विदुर को न निष्कासित करने की आवश्यकता है, न बंदी बनाने की, उसे तो प्रेम के मोह में लपेट लेना ही पर्याप्त है।

किंतु विदुर को बुलाने कौन जाएगा ? कोई ऐसा व्यक्ति, जो विदुर की दृष्टि में भी, दुर्योधन के प्रभाव से मुक्त हो...जो सज्जन माना जाता हो, जिसकी प्रसिद्धि संत की-सी हो।...युधिष्ठिर को फँसाने के लिए जैसे विदुर को चारा बनाया था, वैसे ही विदुर को बुलाने के लिए, उसे चारा बनाया जा सके...

धृतराष्ट्र का ध्यान बार-बार संजय की ओर जा रहा था...गवल्गण सूत का पुत्र, संजय ! लोग गवल्गण को किसी मुनि के समान ज्ञानी और ईश्वर-भक्त मानते हैं। उसी का पुत्र है संजय ! संजय की प्रसिद्धि भी एक अनासक्त, स्वार्थहीन, न्यायप्रिय, सत्यवादी और सात्विक मंत्री की-सी है। अन्य मंत्रियों के समान, न उसकी भोग में वृत्ति थी; न कभी उसने दुर्योधन को प्रसन्न कर किसी प्रकार का

कोई भौतिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न किया था।...संजय का व्यक्तित्व, बहुत कुछ विदुर के समान ही माना जा सकता था।...किंतु विदुर के विषय में यह प्रसिद्ध था कि वह दुर्योधन का विरोधी और पांडवों का मित्र था। संजय के विषय में ऐसी कोई धारणा, धृतराष्ट्र ने किसी से नहीं सुनी थी। उसे और भी तटस्थ माना जा सकता था।...महर्षि व्यास से उसके अच्छे संबंध थे। प्रजा में उसका सम्मान था...धृतराष्ट्र अपने मन में कुछ भी रखे, किंतु उसे अपने आस-पास, ऐसे ही लोगों को रखना चाहिए था, जिनकी गणना सज्जनों में होती थी...दुःशासन, शकुनि तथा कर्ण के कारण, दुर्योधन जिस प्रकार अपयश तथा कुख्याति कमा रहा था, धृतराष्ट्र को उससे सावधान रहना था।...व्यक्ति का मन कैसा भी हो, कृत्य कैसे भी हों, उसकी संगति और उसका वेश तो साधुओं जैसा ही होना चाहिए...

"दासी !"

"जी महाराज !"

"किसी को भेजो, गवल्गण-पुत्र संजय को बुला लाए। संदेश में कहो कि महाराज उनसे मिलने के लिए व्याकुल हैं।"

दुर्योधन चौंका : क्या करने जा रहा है, उसका यह अंधा पिता ? इस समय संजय को बुलाने का कारण ?...

"आप कहीं विदुर को वापस हस्तिनापुर बुलाने के लिए तो संजय को नहीं भेज रहे हैं ?" दुर्योधन ने जैसे अचकचाकर पूछा।

"हाँ !"

दुर्योधन की इच्छा हुई कि अपना सिर भूमि पर दे मारे; किंतु वह कर नहीं सका। बोला, "क्यों बुलाना चाहते हैं, आप उस विदुर को हस्तिनापुर में ?"

"विदुर का बहुत प्रभाव है।" धृतराष्ट्र का स्वर पर्याप्त दृढ़ता लिये हुए था, "वह पांडवों के पक्ष में हो गया, तो भविष्य में पांडवों का महान अभ्युदय होगा।"

"अच्छा तो मैं चलता हूँ।" दुर्योधन, अपना रोष जताता हुआ, उठ खड़ा हुआ।

उसका विचार था कि धृतराष्ट्र उसे रोकने का प्रयत्न करेगा; किंतु धृतराष्ट्र ने एक शब्द भी नहीं कहा।

संजय ने आने में तनिक भी विलंब नहीं किया।

"महाराज !"

धृतराष्ट्र ने अपना मस्तक उठाया। उसने संजय को कभी देखा नहीं था : देख सकता भी नहीं था।...किंतु उसे बताया गया था कि संजय इकहरे बदन का, कोमल-सा दिखनेवाला युवक था। वर्ण गोरा था, आँखें बड़ी और गहरी थीं, अधर

पतले और लाल थे, भुजाएँ लंबी और कोमल थीं।…धृतराष्ट्र ने उसका स्वर ही सुना था। कोमल-सा स्वर था, जिससे लगता था कि ऐसा व्यक्ति न तो किसी को कोई कठोर शब्द कह सकता था, न किसी की प्रार्थना का तिरस्कार कर सकता था।

"बैठो संजय !"

संजय एक आसन पर बैठ गया; और धृतराष्ट्र की ओर अपेक्षापूर्ण दृष्टि से देखने लगा।

"संजय ! मैं जन्म से ही बहुत अभागा हूँ।…"

"ऐसा क्यों कहते हैं महाराज ! आपने आर्यावर्त्त के प्रसिद्ध राजवंश में जन्म लिया है, बलिष्ठ और स्वस्थ देह-यष्टि पाई है, आदर्श पत्नी और बहुसंख्य पुत्र पाए हैं, कौरवों का प्रसिद्ध राज्य पाया है, भोग के सारे उपकरण आपके सामने हाथ जोड़े खड़े हैं। ईश्वर ने आपको क्या नहीं दिया। एक दृष्टि ही तो नहीं दी; किंतु संसार में किसी को भी सब कुछ नहीं मिलता महाराज ! आपको स्वयं को अभागा नहीं कहना चाहिए। कृतघ्नता, अपराध है। हमें ईश्वर का कृतज्ञ होना चाहिए।"

"तुम ठीक कहते हो संजय !…मैं इसीलिए तो अभागा हूँ कि ईश्वर ने मुझे तुम जैसी सद्बुद्धि नहीं दी। जो मेरे पास है, वह मुझे दिखाई नहीं देता, और जिससे वंचित हूँ, वह मन में चुभ गए शूल के समान सदा ही कष्ट देता रहता है।…दृष्टि नहीं है, इसलिए अपूर्ण मनुष्य हूँ। इस अपूर्णता ने ही तो मेरे मस्तिष्क को विकृत कर रखा है। ईश्वर ने जो दिया है, उसकी बात नहीं सोचता, जो नहीं दिया, मन में वही घुमड़ता रहता है।…आज तक मैंने सोचा ही नहीं कि मेरे पास क्या-क्या है; जो नहीं है, उसके चिंतन से ही मुक्ति नहीं मिली… ।"

संजय ने कुछ नहीं कहा। वह उसी प्रकार अपेक्षापूर्ण दृष्टि से धृतराष्ट्र की ओर देखता रहा। महाराज को और क्या कहना है ? निश्चय ही अपने भाग्य की चर्चा के लिए तो उसे बुलाया नहीं होगा।

"देखो !" धृतराष्ट्र ने पुनः कहा, "तुम मेरे निकट हो, मेरे सामने बैठे हो; किंतु मुझे तुम्हारी उपस्थिति का भान कम होता है, विदुर की अनुपस्थिति ही अधिक सालती है। विदुर मेरा एकमात्र जीवित भाई है। मैंने अपनी मूर्खता से उसे रुष्ट कर दिया है।…जाने ऐसा क्यों है, कि जिनसे मैं इतना प्रेम करता हूँ, वे ही मुझसे रुष्ट हो जाते हैं। वे अपने रोष के कारण, मेरा त्याग कर देते हैं और मैं उनके प्रति अपने प्रेम के कारण तड़पता रहता हूँ। आज भी सारी रात, मैं करवटें ही बदलता रहा। थोड़ी भी नींद नहीं आई… ।" धृतराष्ट्र ने रुककर, अपनी ज्योतिहीन आँखों से संजय को देखा, "तुम कहते हो न कि हमें ईश्वर के प्रति कृतघ्न नहीं होना चाहिए; किंतु मैं क्या करूँ ! इस कुरु साम्राज्य का स्वामी सौ-सौ वीर-योद्धा

पुत्रों का पिता, पत्नी, उपपत्नियों तथा दासियों का स्वामी, यह धृतराष्ट्र तड़प-तड़पकर रह जाता है; किंतु सारी रात में एक प्रहर भी सो नहीं पाता।··· क्योंकि जिस ईश्वर ने उसे इतना कुछ दिया है, उसने उसे एक प्रेम भरा हृदय भी दे दिया है, जो अपने प्रियजनों के लिए व्याकुल रहता है।" धृतराष्ट्र के स्वर में अब पीड़ा का चीत्कार भी सम्मिलित हो गया था, "मुझसे तो वह विदुर ही भाग्यशाली है। ईश्वर ने उसे चाहे राजा नहीं बनाया, सौ-सौ पुत्रों का पिता नहीं बनाया, पर उसे अपनी इच्छानुसार अपने प्रियजनों के निकट रहने की स्वतंत्रता तो दी। वह अपना परिवार यहाँ छोड़ गया है; और वहाँ पांडवों के निकट सुख से रह रहा है।···मैं यहाँ अपने परिवार में रहकर भी उसके विरह में रो रहा हूँ।"

"तो महाराज ! महात्मा विदुर को बुला क्यों नहीं लेते ?" संजय ने कुछ चकित होकर पूछा।

"मैं तो उसे हज़ार बार बुला लूँ; किंतु वह आए, तब न !"

"उन्हें ज्ञात होगा कि महाराज ने उन्हें क्षमा कर दिया है, तो वे अवश्य आएँगे।"

"मैं तो उसे कब से क्षमा कर चुका, किंतु वह मुझे क्षमा करे, तब तो।" धृतराष्ट्र की आँखों में अश्रु आ गए।

संजय का मन पूर्णतः विगलित हो उठा था : एक वृद्ध और अंधा राजा अपने भाई के प्रेम में असहाय होकर, अश्रु बहा रहा है, और भाई को उसकी सूचना ही नहीं है।···वैसे विदुर जी, ऐसे व्यक्ति तो हैं नहीं, जो किसी को जान-बूझकर पीड़ा देना चाहें। वे इतने क्रूर तो नहीं हो सकते कि अपने इस विकलांग भाई से रुष्ट होकर, वन में पांडवों के पास बैठे रहें। विदुर जी जैसा सात्विक व्यक्ति किसी की पीड़ा सहन नहीं कर सकता, तो किसी की पीड़ा का कारण कैसे बन सकता है···संजय का मन कहता है कि यदि विदुर जी को धृतराष्ट्र की इस व्याकुलता की सूचना मिल जाए, तो वे तत्काल हस्तिनापुर के लिए चल पड़ेंगे।···

"आपने विदुर जी को बुलाने के लिए किसी को भेजा है महाराज ?"

"नहीं सजय ! अभी तक तो किसी को नहीं भेजा !" धृतराष्ट्र ने धीरे से कहा।

"कोई विशेष कारण महाराज ?"

धृतराष्ट्र ने थोड़ी देर तक कोई उत्तर नहीं दिया। फिर, जैसे बड़ा प्रयत्न कर बोला, "सोचता हूँ कि वह मेरा विश्वास भी करेगा, कि मैं उसे मात्र प्रेमवश बुला रहा हूँ; या···।"

"या क्या महाराज ?"

"या यह सोचेगा कि अपने किसी स्वार्थ के कारण मुझे उसकी आवश्यकता आ पड़ी है, इसलिए मैंने उसके प्रति अपना विरोध भुला दिया है।" धृतराष्ट्र का

स्वर कुछ ऊँचा हो गया, "साक्षात् धर्म के समान मेरा वह भाई ! और मुझ पापी ने क्रोधवश उसे निकाल दिया। यह चांडाल क्रोध जाने मुझसे क्या-क्या करवाएगा ! जाने विदुर कहाँ है, किस स्थिति में है, जीवित भी है या नहीं···।"

लगा, धृतराष्ट्र को जैसे कोई उन्माद हो गया। वह अत्यन्त दीन भाव से, फूट-फूटकर रो रहा था।

संजय के मन में व्याकुलता के असंख्य उत्स फूट आए थे। कैसे वह इस वृद्ध राजा की कोई सहायता करे ? अपने भाई के प्रति इस प्रकार का प्रेम तो अद्‍भुत था···

"आपकी आज्ञा हो, तो मैं विदुर जी को बुलाने के लिए चला जाऊँ महाराज !" संजय ने अपनी वाणी को स्थिर रखने का प्रयत्न करते हुए, कुछ संकोचपूर्वक कहा।

"क्या तुम विदुर को ले आओगे संजय ?" धृतराष्ट्र की वाणी में, किसी असंभव स्वप्न के सत्य हो जाने का उल्लास भी था और विश्वास भी।

"हाँ महाराज ! मैं आपका संदेश उन्हें दे दूँगा।" संजय असमंजस की स्थिति में बोला।

"तुम उसे मेरा संदेश तो दोगे, किंतु उसे इस बात का विश्वास कौन दिलाएगा कि उसके लिए उसके भाई का हृदय फटा जा रहा है।"

"मैं सारी स्थिति का वर्णन करूँगा महाराज !" संजय ने कहा, "क्या उससे उनको विश्वास नहीं हो जाएगा, कि आप उनसे मिलने को इतने उत्कंठित हैं।···"

धृतराष्ट्र ने कुछ नहीं कहा। वह शून्य में दृष्टि गड़ाए बैठा रहा।

"वे विश्वास नहीं करेंगे महाराज ?"

"नहीं !" इस बार धृतराष्ट्र ने स्पष्ट शब्दों में कहा, "वह राजनीति का पंडित है। मेरे इस प्रेम को भी राजनीति की कोई चाल ही समझेगा।"

"नहीं महाराज ! मैं उन्हें आपके प्रेम का पूरा विश्वास दिलाऊँगा।"···संजय बोला, "आप मेरा भरोसा कीजिए। मेरी दृष्टि बड़ा सूक्ष्म निरीक्षण करती है; और मेरी वाणी उस दृश्य को शब्दों में जीवन्त कर प्रस्तुत करती है। ऐसा संभव नहीं है महाराज ! कि मेरे शब्द आपकी पीड़ा को विदुर जी के मन में साक्षात् न उतार दें।···"

"तुम सच कहते हो संजय ?"

"आप इसे मेरी आत्मप्रशंसा अथवा अहंकार न समझें महाराज !" संजय ने उत्तर दिया, "यह तो ईश्वरप्रदत्त वरदान है। प्रभु की अनुकंपा है।···"

धृतराष्ट्र कुछ क्षण मौन रहा, फिर आग्रहपूर्ण स्वर में बोला, "तो तुम ही जाओ संजय ! उसे किसी प्रकार मनाकर ले आओ। यदि कहीं तुम उसे नहीं ला

पाए, तो मैं उसके विरह में अपने प्राण त्याग दूँगा।…"

संजय को लगा, धृतराष्ट्र कुछ मोहित हो गया है…उसके देखते-देखते ही, धृतराष्ट्र अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

संजय को पांडवों का पता लगाने में तनिक भी कठिनाई नहीं हुई। हस्तिनापुर के गूढ़-पुरुष उसे न भी बताते, तो भी सारे मार्ग में किसी गुरुकुल, ऋषि आश्रम, तपस्वियों के किसी स्थान से पूछने पर, तत्काल लोग बता देते थे कि पांडव इस मार्ग से गए हैं। हस्तिनापुर में रहकर, संजय को पांडवों के चरित्र अथवा कृत्यों के विषय में कभी इतनी सूचनाएँ नहीं मिली थीं, जितनी उसे मार्ग में, अपरिचित लोगों से अनायास ही मिलती चली गई…

संजय का ध्यान विदुर से हटकर पांडवों की ओर चला गया…पांडवों को हस्तिनापुर में उनके अपने पितृव्य और भाइयों ने जिस प्रकार अपमानित और वंचित किया था, उससे उनका मानवता, धर्म, नीति और समाज पर से विश्वास उठ जाना बहुत स्वाभाविक था। वे मानव-शत्रु और हिंस्र हो जाते, तो संजय को कोई आश्चर्य नहीं होता।…किंतु, उनमें न विनाश की प्रवृत्ति जागी, न पाप की! वे धर्म का पालन करते हुए, मार्ग में मिले प्रत्येक साधु, संत, तपस्वी, और साधक से ही नहीं, सामान्य-जन से भी जिस प्रकार सज्जनता का मधुर व्यवहार करते हुए, यहाँ से गए थे, उसके प्रमाण सारे मार्ग में बिखरे हुए थे।…यदि कहीं उनके मन में प्रतिहिंसा जागी होती, और वे विनाश करने पर उतर आते, तो जिधर-जिधर उनकी दृष्टि उठती, उधर-उधर आग लग गई होती।…और वैसे भी यदि वे कोई नया साम्राज्य खड़ा करना चाहते, तो वे दिग्विजय करते दिखाई देते। उनके शस्त्रास्त्रों का प्रतिकार कौन कर सकता था…किंतु वे तो जैसे अपना राज्य दुर्योधन को सौंपकर मुक्त हो गए थे। ऋषियों की आराधना करते, साधुओं के चरण पखारते, जन-सामान्य की कठिनाइयाँ दूर करते, प्रसन्नचित्त वे आगे बढ़ गए थे। उन्होंने अब तक हताशा का एक भी प्रमाण नहीं दिया था…

उन पांडवों के प्रति, विदुर का प्रेम उचित ही था।…सात्विक वृत्ति का कौन व्यक्ति, उनसे प्रेम नहीं करेगा?…किंतु धृतराष्ट्र का विदुर के प्रति प्रेम?…धृतराष्ट्र अब तक संजय की समझ में नहीं आया था।…जो व्यक्ति विदुर से प्रेम करता है, वह दुर्योधन का पक्ष कैसे ले सकता है…जो दुर्योधन का पक्ष लेगा, वह विदुर से प्रेम कैसे करेगा?…और धृतराष्ट्र को दुर्योधन के समान कुछ प्रिय नहीं है…न धर्म, न न्याय, न नीति, न कर्तव्य, न भगवान्…और न कोई व्यक्ति!…फिर वह विदुर से इतना प्रेम कैसे कर सका है?…

काम्यक वन के जिस खंड में पांडव रह रहे थे, संजय को वह एक ऋषिकुल जैसा ही लगा। ब्राह्मणों का एक बड़ा समुदाय, उन्हें घेरकर, अपने छोटे-छोटे कुटीर बना, अपनी-अपनी साधनाओं में लगा हुआ था। केन्द्र में धौम्य मुनि का कुटीर था। उनसे कुछ हटकर, किंतु अन्य कुटीरों की अपेक्षा निकटतम कुटीर पांडवों के ही थे, जो किसी भी प्रकार धौम्य मुनि के कुटीर से विशाल और सुविधाजनक नहीं थे। वे कुटीर गृहस्थों जैसे थे। पांडवों की स्त्रियाँ और बच्चे भी वन्य जीवन को अंगीकार कर, सहज रूप से जीवन व्यतीत कर रहे थे। संजय को ज्ञात था कि पांडवों ने अपना आरंभिक शैशव शतशृंग के तपस्वियों के साथ बिताया था। अब वे फिर से वैसा ही तपस्वी जीवन व्यतीत कर रहे थे।...वहीं एक कुटीर विदुर का भी था।

पांडव राजा नहीं थे, उनके पास सैनिक और गुप्तचर नहीं थे।...किंतु एक प्रकार की रक्षात्मक-सूचना-व्यवस्था उन्होंने स्थापित कर रखी थी। संजय को यह पता नहीं लगा कि किसने उसे कब और कहाँ देखा और किसने उन्हें सूचना पहुँचाई; किंतु यह सब हुआ था, क्योंकि नकुल उसके स्वागत के लिए खड़ा था...उसके साथ युधिष्ठिर का सारथी इंद्रसेन भी था। उसने तत्काल संजय का रथ संभाल लिया था। अश्वों की सेवा के लिए, वे उन्हें अश्वशाला की ओर ले गया था।

संजय को प्रसन्नता हुई : पांडव संकट की ओर से असावधान नहीं थे।

"हस्तिनापुर में कुशल तो है ?"

"हाँ ! सब लोग सकुशल हैं।" संजय मधुर स्वर में बोला, "चलने से पूर्व यद्यपि मैं राजमाता कुंती से नहीं मिल सका; किंतु मैंने उनका कुशल-समाचार पुछवा लिया था। वे सकुशल और प्रसन्न हैं।"

"आप राजदूत के रूप में आए हैं अथवा निष्कासित बुद्धिजीवी के रूप में ?" नकुल विनोदपूर्ण मुद्रा में मुस्करा रहा था।

संजय ने विस्मयपूर्वक नकुल की ओर देखा; किंतु कुछ कहा नहीं।

"यदि आप धर्मराज के लिए पितृव्य का कोई संदेश लाए हैं, तो आप राजदूत हैं; और यदि आप विदुर काका के समान महाराज धृतराष्ट्र द्वारा तिरस्कृत हुए हैं, तो आप निष्कासित बुद्धिजीवी हैं।"

संजय हँस पड़ा, "मैं इन दोनों वर्गों में ही नहीं आता, राजकुमार ! मैं महामंत्री विदुर के लिए महाराज धृतराष्ट्र का संदेश लाया हूँ।"

इस बार नकुल भी सहज भाव से मुस्कराया, "आप किसी भी रूप में आए हों, आपका स्वागत है आर्य संजय ! यदि आप बहुत त्वरा में न हों और यात्रा से थके हुए हों, तो आपको विश्राम-कुटीर की ओर ले चलूँ। यदि आप तत्काल विदुर काका अथवा धौम्य मुनि को प्रणाम करना चाहते हों, तो अभी यह संभव नहीं है। वे दोनों ही ध्यान कर रहे हैं। धर्मराज से मिलना चाहें, तो हम उनके

कुटीर की ओर चलें; और यदि भैया भीम से मिलना चाहें, तो वे स्वयं ही आपको खोज लेंगे।"

"ऐसी स्थिति में तो मैं धर्मराज को ही प्रणाम करने का पुण्य अर्जित करना चाहूँगा।"

नकुल उसे युधिष्ठिर के पास ले आया। भीम और अर्जुन भी वहीं उपस्थित थे।

"महाराज युधिष्ठिर की जय हो।" संजय ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

युधिष्ठिर हँस पड़े, "संजय ! जिस युधिष्ठिर के पास न राज्य हो, न कोश, न सेना; जो वन में कुटीर बनाकर वनवासी जीवन व्यतीत करता हो, वह महाराज कहलाने का अधिकारी कैसे है ?"

संजय का स्वर कुछ और विनीत हो गया, "मुझे क्षमा करें धर्मराज ! परिवार के पारस्परिक कारणों से यदि आज आप, परिस्थितिवश वन में रह रहे हैं; और शीघ्र ही पुनः अपना राज्य प्राप्त भी करने वाले हैं, तो कोई यह कैसे भूल सकता है कि आप कुरु-सम्राट् युधिष्ठिर हैं, जिनके राजसूय यज्ञ में आर्यावर्त्त के राजाओं ने अपनी निष्ठा प्रमाणित करने के लिए आपको कर के रूप में उपहार दिए थे।"

274966

"वह सब ठीक है संजय !" युधिष्ठिर ने सहज भाव से कहा, "किंतु हम अपने वर्तमान को नकार नहीं सकते। मनुष्य के जीवन में सबसे महत्वपूर्ण तो उसका वर्तमान ही है।"

"स्नान करने के लिए, कोई राजा अपने आभूषण उतारकर बाहर रख, कुंड में प्रवेश करे, तो वह निर्धन तो नहीं हो जाएगा महाराज !" संजय ने उत्तर दिया, "वैसे ही यदि आप अपने धर्म का निर्वाह करने के लिए वनवास कर रहे हैं, तो आप वनचर तो नहीं हो जाएँगे।"

"साधु संजय ! साधु !" भीम मुक्त कंठ से हँसा, "तुम्हारा दृष्टांत तो अद्भुत है। आओ, तुम्हें गले लगा लूँ।" और भीम ने सचमुच आगे बढ़कर संजय को वक्ष से लगा लिया।

"एक उक्ति के लिए युवराज का आलिंगन रूपी पुरस्कार तो किसी महान् सम्राट् की सभा में ही मिल सकता है महाराज !" संजय पुनः बोला, "यदि महाराज अनुमति दें, तो मैं यह भी कहना चाहूँगा कि यदि महाराज आज सैनिक अभियान करें, तो दुर्योधन से अपना राज्य एक दिन में लौटा ले सकते हैं। फिर आप स्वयं को राज्यविहीन क्यों मानते हैं ?"

संजय की उक्ति का सबसे स्पष्ट प्रभाव भीम पर पड़ा। वह बोला तो कुछ नहीं, किंतु उसने पलटकर युधिष्ठिर की ओर इस प्रकार देखा, जैसे चुनौतीपूर्वक कह रहा हो, 'अब क्या उत्तर देते हैं आप ?'

अर्जुन मौन रहा और उसने अपनी मुद्रा से भी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त होने नहीं दी। वह शांत भाव से दर्शक बना बैठा रहा। नकुल की आँखों में भी संजय के प्रति प्रशंसा का भाव झलक रहा था।

युधिष्ठिर की मुद्रा गंभीर हो गई, "संजय ! मैं दुर्योधन के धर्म के लिए उत्तरदायी नहीं हूँ। प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने धर्म के लिए उत्तरदायी होता है। मैंने अपने धर्म की रक्षा के लिए राज्य का त्याग किया था; और अव राज्य की प्राप्ति के लिए अपने धर्म की रक्षा कर रहा हूँ।"

"मैं समझा नहीं महाराज !"

"मैंने यह वचन दिया था कि हम बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास के पश्चात् लौटेंगे।" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "हमारा धर्म यही है कि हम बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास सफलतापूर्वक पूर्ण करें।"

"यदि महाराज धृतराष्ट्र आपको उससे पूर्व बुलाकर आपका राज्य लौटा दें; तो क्या आप उसे स्वीकार करेंगे ?"

"क्या उन्होंने तुम्हें ऐसा कोई प्रस्ताव देकर भेजा है ?" अर्जुन ने पहली बार वार्तालाप में सहयोग किया।

"नहीं !" संजय तत्काल बोला, "ऐसी कोई बात नहीं है। मैं तो धर्मराज के मुख से धर्म का स्वरूप जानने के लिए ऐसे प्रश्न कर रहा हूँ।"

"तो मेरी धारणा यह है संजय ! कि यदि ऐसा कोई प्रस्ताव आए और मैं उसे स्वीकार कर लूँ, तो उससे मेरे धर्म की रक्षा तो हो जाएगी; किंतु मेरे स्वाभिमान की रक्षा नहीं होगी।" युधिष्ठिर ने गंभीर स्वर में कहा, "भगवान राम को कैकेयी ने सूचना दी थी कि उसने महाराज दशरथ से राम के लिए वनवास माँगा है। राम वन जाने के लिए प्रस्तुत हो गए, तो महाराज दशरथ ने उन्हें वन जाने से मना किया। यह आदेश भी दिया कि वे उन्हें बंदी कर अयोध्या का राज्य हस्तगत कर लें। माता ने भी वन जाने का निषेध किया। मंत्री और प्रजा भी राम के वन-गमन के पक्ष में नहीं थे। फिर भी राम वन गए। यदि बात केवल धर्म की रक्षा की होती, तो वन न जाने से उनके धर्म की हानि नहीं हो सकती थी। पिता और माता, प्रजा और मंत्री—सब ही उन्हें वन जाने से मना कर रहे थे। फिर भी वे वन गए, क्योंकि उन्हें धर्म के साथ-साथ, अपने स्वाभिमान की भी रक्षा करनी थी…।"

"स्वाभिमान क्या धर्म से कुछ भिन्न है महाराज ?" संजय ने पूछा।

कुछ क्षण विचारपूर्ण मुद्रा में मौन रहकर युधिष्ठिर बोले, "वस्तुतः स्वाभिमान, धर्म की भी आत्मा है संजय ! पिता के स्पष्ट रूप से यह कह देने पर कि राम वन न जाएँ और आवश्यक होने पर पिता को बंदी बनाकर भी राज्य को हस्तगत कर लें; रघुनन्दन के सम्मुख दोनों द्वार खुले हुए थे। वे पिता द्वारा कैकेयी को

दिए गए वरदान की रक्षा के लिए, पिता की स्पष्ट आज्ञा न होते हुए भी, वन चले जाएँ, या फिर पिता की दूसरी स्पष्ट आज्ञा मानकर, पिता को बंदी करें या न करें, राज्य हस्तगत करें या न करें; किंतु वन न जाएँ! दोनों ही स्थितियों में उनके धर्म की रक्षा हो सकती थी; किंतु उनके स्वाभिमान की रक्षा तो केवल वनवास से ही हो सकती थी। हमारी स्थिति भी कुछ-कुछ वैसी ही है। धर्म कोई आड़ तो है नहीं संजय ! कि जिस कृत्य में धर्म की आत्मा निवास न करती हो, उसे धर्म का सम्मान देकर, हम अपना स्वार्थ साधें। जिस खंड-धर्म के पालन में आत्मा का पतन होता हो, वह स्वाभिमान की हत्या करता है। इसलिए हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम तेरह वर्षों के पश्चात् ही महाराज धृतराष्ट्र के सम्मुख उपस्थित होकर धर्मपूर्वक अपने राज्य की माँग करें।..."

"तो आप सैन्य-संग्रह कर, दुर्योधन से युद्ध कर, अपना राज्य लौटा लेने की बात तनिक भी नहीं सोच रहे ?" संजय ने अत्यन्त निर्दोष भाव से पूछा।

भीम पुनः ठहाका मारकर हँसा, "तो तुम इसलिए भेजे गए हो संजय ?"

संजय ने चकित दृष्टि से भीम की ओर देखा।

"दुर्योधन अपने गुप्तचरों और गूढ़ पुरुषों के माध्यम से जो खोज नहीं पाया, वह खोज निकालने के लिए, उसने तुम्हें भेजा है ?" भीम अब भी हँस रहा था, "उसके गुप्तचर तो हमारे आश्रम के आस-पास, चारों ओर देख-भाल कर लौट गए, उन्हें कहीं कोई युद्धाभ्यास के लक्षण दिखाई नहीं दिए; तो तुम आए हो धर्मराज के मन में झाँकने के लिए।"

भीम का मंतव्य समझकर संजय भी खुलकर हँसा, "ऐसा कुछ नहीं है युवराज! यह प्रश्न तो मैं धर्म-चर्चा के संदर्भ में ही कर बैठा। वस्तुतः मैं ऐसे किसी अभियान पर नहीं आया हूँ। मैं तो महामंत्री विदुर को हस्तिनापुर के महाराज की भाव-स्थिति बताने आया हूँ !..."

"तो फिर तुमने यह प्रश्न क्यों किया संजय ?"

"मैं तो यह जानने का प्रयत्न कर रहा था कि धर्म की वह कौन-सी स्थिति है, जिसमें क्षत्रिय राजा अपने राज्य को प्राप्त करने के लिए शस्त्र नहीं उठा सकता।"

"क्षत्रिय, धर्म की रक्षा के लिए शस्त्र धारण करता है संजय !" युधिष्ठिर बोले, "लोभ, स्वार्थ, अन्याय तथा अत्याचार के लिए शस्त्र धारण करना राक्षसी कृत्य है।"

"किंतु अपने अधिकारों की रक्षा के लिए शस्त्र धारण करना तो क्षत्रिय-धर्म है !"

"अपने अधिकार हम अपने वचन पर हार आए हैं। अब शस्त्र धारण करना, लोभ और स्वार्थ होगा।" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया।

"तो क्या आप मानते हैं कि दुर्योधन ने आपसे यह राज्य धर्मतः जीता है ?"

"नहीं ! वह धर्म नहीं था।"

"तो आप प्रतिशोध क्यों नहीं लेते ?"

"क्योंकि मुझे दुर्योधन के नहीं, अपने धर्म की रक्षा करनी है। मैंने महाराज धृतराष्ट्र की आज्ञा का पालन कर, उनकी प्रतिज्ञा पर द्यूत खेला है। उन्होंने द्यूत के धर्म का पालन नहीं किया; किंतु मैं अपने धर्म का पालन करूँगा।…" युधिष्ठिर का कथन रुक गया। उनकी आँखें उठीं।

विदुर अपना 'ध्यान' पूरा कर, उठकर आ गए थे।

संजय ने उठकर उन्हें प्रणाम किया।

उसे आशीर्वाद देकर वे युधिष्ठिर की ओर मुड़े, "धर्मराज ! मैं संजय को अपने कुटीर में ले जाऊँ, तो कुछ अनुचित तो नहीं है ?"

"काका ! हम तो उचित-अनुचित का प्रमाण आपका आचरण मानते हैं।" युधिष्ठिर हँसे, "जिसका समर्थन, आपकी धर्म-बुद्धि करे, वह अनुचित कैसे होगा।"

"आओ संजय !"

विदुर चुपचाप चलते रहे। अपनी कुटिया में प्रवेश के पश्चात् ही वे पहला शब्द बोले, "बैठो संजय !"

संजय बैठ गया।

"पांचाली की रसोई का भोजन करने के लिए कुछ प्रतीक्षा करनी होगी।" विदुर बोले, "तब तक तुम ये कुछ फल खा सकते हो।"

"आवश्यकता नहीं है तात् !" संजय ने हाथ जोड़ दिए, "भोजन के समय तक प्रतीक्षा करनी ही उचित है।"

"ठीक है।" विदुर ने भी एक आसन ले लिया, "हस्तिनापुर में क्या हो रहा है ?"

"महामंत्री ! दुर्योधन प्रसन्न है कि आपने हस्तिनापुर का त्याग कर दिया, किंतु महाराज धृतराष्ट्र, आपके इस प्रकार चले आने से अत्यन्त व्यथित हैं।" संजय ने बताया।

"क्यों ?"

"वे पश्चात्ताप की अग्नि में जल रहे हैं। अपने व्यवहार पर बहुत लज्जित हैं।" संजय ने बताया, "आपको स्मरण कर, वे मेरे सामने रो रहे थे। उन्होंने मुझसे कहा कि यदि मैं आपको लौटाकर हस्तिनापुर न ले गया, तो वे आपके विरह में प्राण त्याग देंगे।"

"बस !" विदुर के स्वर में कटाक्ष का भाव था।

"इतना ही नहीं। वे आपके प्रेम में एक प्रकार से उन्मादग्रस्त हो उठे थे, और अंततः अचेत होकर गिर पड़े थे।"

विदुर के अधर व्यंग्य में कुछ वक्र अवश्य हो गए; किंतु वे कुछ बोले नहीं।

"वे सचमुच आपके विना नहीं रह पाएँगे।" संजय ने पुनः कहा, "वे आपको स्मरण कर, इस प्रकार रोते हैं कि देखनेवाले का वक्ष फट जाता है...।"

विदुर के कानों ने जैसे सुनना बंद कर दिया था : उन्होंने अपने शैशव से अब तक धृतराष्ट्र को इस प्रकार के अनेक पाखंड करते देखा था। वह ऐसा ही धूर्त्ततापूर्ण अभिनय कर पांडु के मन में अपने लिए करुणा जगाता था, और पांडु अपना आखेट किया हुआ पशु उसे दे दिया करता था।...इसी प्रकार प्रेम जता-जताकर, उसने पांडु से उसका राज्य छीन लिया था। ऐसा ही स्नेह उसने पांडु-पुत्रों के प्रति जताया था और उन्हें वारणावत भेज दिया था। द्यूत-क्रीड़ा के समय भी तो उसने ऐसा ही प्रेम जताया था।...

और अब विदुर की बारी थी। वह विदुर के प्रति प्रेम प्रदर्शित कर रहा था...क्या चाहता था, वह विदुर से ?...क्या हस्तिनापुर बुलाकर उनकी भी हत्या करवाना चाहता था ? विदुर की हत्या से दुर्योधन सुखी तो होगा, किंतु धृतराष्ट्र को लाभ क्या होगा ?...हानि तो हो सकती है।...इतना तो निश्चित् था कि वह उन्हें वापस हस्तिनापुर बुलाना चाहता था...पर क्यों ?...क्या संजय इस बात का भेद जानता है ?...

"संजय !" विदुर ने धीरे से कहा, "क्या महाराज के सम्मुख कोई गंभीर समस्या उपस्थित है ? क्या महाराज किसी प्रकार के मानसिक संकट में घिरे हैं ?"

"मुझे तो ऐसा नहीं लगता, महामंत्री !"

"क्या उनका दुर्योधन से किसी प्रकार का विकट मतभेद चल रहा है ?"

"नहीं महामंत्री !..." संजय ने तत्काल अपने वक्तव्य को संशोधित किया, "पर नहीं ! शायद आपके विषय में ही नीति को लेकर पिता-पुत्र में कुछ मतभेद उपजा है। दुर्योधन, आपको वापस हस्तिनापुर बुलाने के पक्ष में नहीं है; किंतु महाराज आपके विना नहीं रह सकते।"

"महाराज के पास राज्य, सत्ता, धन, संपत्ति, पत्नियाँ, उप-पत्नियाँ, दासियाँ, सेविकाएँ, पुत्र-पौत्र, मदिराएँ, भोग...क्या नहीं है। ऐसे में उन्हें मेरी स्मृति किस समय और किस संदर्भ में आती है ? मेरे वहाँ न रहने से उनका कौन-सा काम रुका है ?"

संजय ने कुछ चकित भाव से विदुर की ओर देखा और बोला, "महामंत्री ! आप जैसे विद्वान् के सम्मुख मुँह खोलने का साहस नहीं होता; किंतु...।"

"किंतु क्या संजय ?"

"आप जानते होंगे कि ये सारे पदार्थ और संबंध उपभोग के हैं; और आप

से उनका संवंध मात्र भावनात्मक, प्रेम का संवंध है। अपने स्नेह के कारण, मन किसी के नैकट्य के लिए तड़प रहा हो, तो ये सारे भोग-पदार्थ और संवंध किसी को अच्छे लग सकते हैं ?"

"तुम समझते हो कि धृतराष्ट्र को मुझसे किसी प्रकार का सात्विक प्रेम है ?···

"प्रेम क्या असात्विक भी होता है ?" संजय ने चकित भाव से पूछा।

विदुर रुक गए : संजय शायद सच ही बोल रहा है। उसके जैसा सात्विक व्यक्ति, असात्विक प्रेम की कल्पना भी नहीं कर सकता था।

"प्रेम के मूल में स्वार्थ भी तो हो सकता है संजय !"

"जहाँ स्वार्थ है, वहाँ प्रेम कैसा महामंत्री ?"

"तो, यह तुम मुझसे जान लो संजय !" विदुर ने प्रशांत स्वर में कहा, "संसार में कामना को भी प्रेम ही कहा जाता है। वह कामना, उपयोगिता के कारण हो सकती है, आधिपत्य के कारण हो सकती है, और त्याग के लिए भी हो सकती है। तुम केवल उस प्रेम से परिचित हो, जो सात्विक है। कामी पुरुष, वेश्या के प्रति अपने भाव को प्रेम ही मानता है। पुत्र से उसकी उपयोगिता के कारण, माता-पिता प्रेम ही करते हैं।···और अधिकांश राजाओं का प्रजा-प्रेम मात्र आधिपत्य भाव ही होता है।···किंतु वस्तुतः इनमें से कोई भी, प्रेम नहीं है।"

"आप ठीक कहते हैं काका !" इस वार संजय ने अनौपचारिक संवोधन किया, "किंतु भाई का प्रेम भी कहीं, स्वार्थपूर्ण होता है ? आप जिन पांडवों के निकट रह रहे हैं, उनके प्रेम को देखें। युधिष्ठिर के प्रेम में उनका कौन-सा स्वार्थ सिद्ध होता है ?···अत्यन्त पीड़ा के क्षणों में भी वे एक-दूसरे से विलग नहीं हुए। दुर्योधन उन्हें दासत्व से मुक्त करने को प्रस्तुत था, वस वे कह देते कि धर्मराज को, उन्हें दाँव पर लगाने का कोई अधिकार नहीं था··· ।"

विदुर फिर आत्मलीन हो गए। उनका लक्ष्य संजय के मन को उद्घाटित करना था···वे धृतराष्ट्र का लक्ष्य जानना चाहते थे···संजय को प्रेम के स्वरूप का परिचय देना, उनका उद्देश्य नहीं था !···तो इस विवाद का क्या लाभ ?···व्यर्थ का वितंडावाद···

"संजय ! महाराज ने तुम्हें ही क्यों भेजा ? उनके पास तो एक से एक चतुर राजदूत, दक्ष वक्ता और विकट तार्किक लोग हैं।" विदुर मुस्करा रहे थे।

"अपने मन की तो वे ही जानें।" संजय बोला, "आप मुझसे पूछें, कि मैं क्यों आया, तो इतना ही कहूँगा कि एक भाई को दूसरे भाई के प्रेम में इस प्रकार व्यथित होते देख, मेरा अपना ही मन आपके पास आने को आतुर हो उठा था। मैंने उन्हें आश्वासन दिया था कि मैं आपको मनाकर हस्तिनापुर ले आऊँगा।"

"तुम्हें स्वयं पर इतना विश्वास क्यों है संजय ?"

संजय कुछ संकुचित हुआ, "यह मेरा आत्मविश्वास नहीं काका ! भ्रातृत्व की सात्विकता का विश्वास था मुझे।..."

विदुर को लगा, किसी के पगों की आहट हुई है। द्वार की ओर देखा : सहदेव उनकी ओर आ रहा था।

"काका ! यदि संजय विश्राम कर चुके हों, तो उन्हें भोजन के लिए लिवा ले जाऊँ ?"

"हाँ ! ले जाओ। इसने यहाँ भी कुछ नहीं खाया है।"

"और आप ?"

"मैं युधिष्ठिर के पास जा रहा हूँ। संभवतः वहीं खा लूँगा। मेरी चिंता मत करो।" विदुर उठ खड़े हुए।

युधिष्ठिर मन-ही-मन विदुर की प्रतीक्षा कर रहे थे। वे समझ रहे थे कि संजय, इतनी लंबी यात्रा बिना किसी उद्देश्य के नहीं कर सकता।...उसने युधिष्ठिर को धृतराष्ट्र का कोई संदेश नहीं दिया था। इसका अर्थ था कि वह विदुर के लिए ही कोई संदेश लाया था। विदुर काका, उससे चर्चा कर, युधिष्ठिर को आवश्यक सूचना देंगे... वही हुआ था। विदुर, भोजन के पूर्व ही उनके सम्मुख आ खड़े हुए थे।

"युधिष्ठिर ! धृतराष्ट्र ने संजय को यह संदेश देकर भेजा है कि मेरे विरह में वह तड़प रहा है; और यदि संजय मुझे लौटाकर, अपने साथ हस्तिनापुर नहीं ले गया, तो धृतराष्ट्र अपने प्राण दे देगा।" विदुर ने कुछ इस भाव से कहा, जैसे वे किसी दुष्टतापूर्ण षड्यंत्र की कथा सुना रहे हों।

युधिष्ठिर क्षणभर को तो अवाक् रह गए : ऐसा तो उन्होंने सोचा भी नहीं था...

"क्या सचमुच पितृव्य आपसे इतना प्रेम करते हैं ?"

"नहीं !" विदुर दृढ़तापूर्वक बोले, "वह केवल पाखंड कर रहा है।"

"किंतु इसका लाभ ?"

"जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ युधिष्ठिर !" विदुर का स्वर आत्मलीन होता जा रहा था, "जिस समय धृतराष्ट्र ने मुझे हस्तिनापुर से निष्कासित किया था, उसने यह नहीं सोचा था कि मैं तुम्हारे पास आ जाऊँगा। शायद उसने सोचा हो कि मैं असहाय होकर गिड़गिड़ाऊँगा, उससे क्षमा माँगूँगा और पांडवों का पक्ष छोड़कर दुर्योधन के अनुकूल हो जाऊँगा। पहले दिन से उसका यही प्रयत्न रहा है।...किंतु यह हुआ नहीं।" विदुर ने रुककर युधिष्ठिर की ओर देखा. "मैं यहाँ चला आया। मेरा अनुमान है कि अब उसे लग रहा होगा कि उसने भूल की है। मैं हस्तिनापुर में रहता, तो उसकी आँखों के सम्मुख रहता और किसी भी प्रकार

न तुम मेरी सहायता कर सकते थे, न मैं तुम्हारी सहायता कर सकता। हम लोगों के परस्पर मिल जाने से उसके विरुद्ध व्यूह और दृढ़ हो गया है। अब वह मुझे वापस बुलाकर उसी व्यूह में सेंध लगाने का प्रयत्न कर रहा है।…"

"आपको लौटकर हस्तिनापुर नहीं जाना चाहिए।" भीम ने तत्काल अपना मत प्रकट कर दिया, "पितृव्य ने जैसे हमें बुलाकर द्यूत के माध्यम से सब कुछ छीन लिया, वैसे ही संभव है, वे आपके प्राण ले लें।"

"आप स्वयं किस निर्णय पर पहुँचे हैं ?" युधिष्ठिर ने विदुर से पूछा।

"मैं अपनी बात बाद में करूँगा," विदुर गंभीर स्वर में बोले, "पहले हमें भीम के मत पर विचार कर लेना चाहिए। यदि मैं हस्तिनापुर लौट जाऊँ, तो क्या धृतराष्ट्र मेरा वध करवा देगा… !"

"पर आप लौटें ही क्यों ?" भीम ने विदुर की बात पूरी होने से पहले ही टोक दिया, "जब आप जानते हैं कि यह सब षड्यंत्र है और आपके प्राणों पर संकट है, तो आप हस्तिनापुर क्यों लौटना चाहते हैं ?"

"इसी पर तो विचार करना है।" विदुर बोले, "यदि मैं तुम्हारे साथ रहता हूँ, तो मेरे प्राण सुरक्षित हैं; किंतु मेरा परिवार तथा तुम्हारी माता, वहाँ संकट में हैं। मेरे यहाँ रहने के कारण धृतराष्ट्र का आक्रोश मेरे और तुम्हारे विरुद्ध बढ़ेगा। इससे दुर्योधन को यह अवसर मिल जाएगा कि वह उस आक्रोश को उत्तेजित कर, तुम्हारे विरुद्ध कठोर से कठोर अभियान की अनुमति प्राप्त कर ले… !"

"तो हमारी ऐसी कौन-सी हानि कर लेगा वह ?" भीम ने पुनः टोका।

"वह धृतराष्ट्र की अवशिष्ट लोकलाज और धर्म-भीरुता को समाप्त कर, सारी सत्ता स्वयं प्राप्त कर, राक्षसी अत्याचार करेगा।" विदुर बोले, "मेरी इच्छा है कि जब तक तुम लोग वनवास की प्रतिज्ञा में बँधे हो और सैन्य-संगठन नहीं कर सकते, तब तक उसे किसी भी प्रकार धृतराष्ट्र, पितामह और गुरु द्रोण से, तुम लोगों पर आकम्रण करने की अनुमति न मिले। वह सैनिक अभियान करे तो तुम्हारी स्थिति भी उसके सम्मुख सैन्य-बल खड़ा करने की हो।…"

विदुर ने भीम की ओर देखा। भीम ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"अब दूसरी स्थिति पर विचार करो।" विदुर बोले, "मैं जब हस्तिनापुर से चला था, तो अपने प्राणों के लिए भयभीत था। अब मैं सोचता हूँ कि इस प्रकार प्रेम जताकर, हस्तिनापुर में बुलाकर, धृतराष्ट्र मेरी हत्या नहीं करवा सकता। उसमें उसका लाभ कम, हानि ही अधिक है। मेरी हत्या से न उसे सैनिक लाभ होगा, न राजनीतिक। इसके विपरीत, वह अपने मंत्रियों, बुद्धिजीवियों तथा तटस्थ लोगों का समर्थन खो बैठेगा। अतः मेरे प्रति अपना प्रेम-प्रदर्शन करने के लिए, वह मुझ पर और अधिक विश्वास प्रकट करेगा। वहाँ अब मुझे और अधिक सुविधाएँ मिलेंगी। मैं दुर्योधन को कुंठित करता रहूँगा; और पिता-पुत्र को एकजुट नहीं होने दूँगा।…"

"इसका अर्थ यह हुआ कि आपने हस्तिनापुर लौटने का मन वना लिया है।" युधिष्ठिर वोले।

"काका को अपने भाई का प्रेम, हस्तिनापुर खींच रहा है।" भीम निर्द्वंद्व भाव से हँसा।

विदुर मुस्कराए, "धृतराष्ट्र ने प्रेम की आड़ में राजनीतिक चाल चली है। उसके उत्तर में मैं भी प्रेम का प्रदर्शन करने जा रहा हूँ; किंतु वास्तविक कारण तो मेरे भी राजनीतिक ही हैं।···" विदुर ने कहा।

"क्या संजय जानता है कि पितृव्य षड्यंत्र रच रहे हैं ?"

"नहीं ! वह तो अपने निर्दोष मन से, एक भाई को, दूसरे भाई का प्रेम-संदेश सुनाने आया है।"

विदुर अपनी चिंताओं में खो गए।

7

दासी ने भगवान वेदव्यास के आने की सूचना दी, तो धृतराष्ट्र चकित रह गया। ···इस समय व्यासजी !···एक बार तो उसके मन में आया कि वह मना कर दे। इस समय वह किसी से मिलना नहीं चाहता।···पर अगले ही क्षण उसकी अपनी बुद्धि ने उसे धिक्कारा···"द्वार पर आए भगवान व्यास को वह न मिले। वैसे ही लौटा दे।···व्यास हैं, या कोई साधारण भिक्षुक ! वड़े-बड़े सम्राट् उनके चरणों पर सिर पटककर, उन्हें अपने प्रासादों में आमंत्रित करते हैं; और वे कहीं नहीं जाते। यह तो उनकी कृपा है कि वे उससे मिलने के लिए, इस प्रकार चले आते हैं।"

"उन्हें ससम्मान भीतर ले आओ।" धृतराष्ट्र ने दासी से कहा।

दासी को तो उसने आदेश दे दिया; किंतु उसका मन तनिक भी शांत नहीं हुआ। ऊहा-पोह कुछ वढ़ ही गई। महर्षि व्यास उसके पास आते हैं, तो उसे प्रसन्नता होती है। उसे लगता है, उनकी कृपा है तो वह सुरक्षित है। उनका आशीर्वाद उसके अमंगल का नाश कर देगा।···दुर्योधन की विशाल सेना से रक्षित होने पर भी वह स्वयं को इतना सुरक्षित नहीं मानता, जितना अकेले व्यासजी का एक आशीर्वाद उसे आश्वस्त कर जाता है··· । विदुर के विषय में भी, उसका कुछ ऐसा ही भाव है। उनकी सात्विकता, उसे आकृष्ट करती है। उनकी चर्चाएँ, उसे जिन उदात्त लोकों में पहुँचा देती हैं, वे लोक उसे अच्छे लगते हैं।···किंतु इन तपस्वियों के आने से, वह कैसा तो आशंकित भी हो जाता है···उसे लगता है कि वे लोग उससे उसका सारा सुख-भोग छीन लेने के लिए आए हैं। वे चाहते हैं कि वह भी अपना प्रासाद त्यागकर, अपने संसार में आग लगाकर, अपने सुख

और भोगों को छोड़कर, उनके समान वन की किसी कुटिया में जा बैठे ! कहीं आश्रम बना ले अपना।···त्याग का विचार ही धृतराष्ट्र को कँपा जाता है।···वह अपने भोग को छोड़कर, अध्यात्म का सुख नहीं चाहता। वह तो अपने वर्तमान भौतिक सुखों के साथ, अतिरिक्त रूप में अध्यात्म का मानसिक सुख चाहता है। वस्तुतः वह अध्यात्म का सुख भी नहीं चाहता। वह अपने सांसारिक सुखों की वृद्धि और उनकी रक्षा के लिए, आध्यात्मिक शक्तियों की सहायता चाहता है··· या फिर उनकी सहायता से अगले लोकों में भी अपने लिए सुख और भोग आरक्षित कर लेना चाहता है···धृतराष्ट्र को लगता है कि तपस्वियों के आने से वह सुखी भी होता है और दुखी भी !···उसका कष्ट तब और भी बढ़ जाता है, जब वे पांडवों का पक्ष लेकर, दुर्योधन का विरोध करने लगते हैं···

उसका मन जैसे स्तब्ध खड़ा रह गया : क्या महर्षि व्यास कुछ ऐसा ही कहने तो नहीं आए ?···

उसने विदुर का स्वर सुना। वह शायद महर्षि की अगवानी कर रहा था··· "इधर से आएँ तात् !"

तो महर्षि उसके द्वार तक आ गए थे।

धृतराष्ट्र उनके सम्मान में अपने स्थान पर उठकर खड़ा हो गया। अपने अनुमान से उसने द्वार की ओर देखा और महर्षि को प्रणाम किया। महर्षि आशीर्वाद देकर बैठ गए।

"धृतराष्ट्र !" महर्षि ने कहा, "तुमने सुना होगा कि एक बार सुरभि गाय को व्यथित होते देख, देवराज इंद्र ने कारण पूछा था। सुरभि ने बताया था कि एक किसान खेत में हल चलाते हुए, अपने बैल को लगातार पीटता जा रहा था। सुरभि अपने उस पुत्र की पीड़ा से पीड़ित होकर रो रही थी। देवराज ने कहा, इस प्रकार सहस्रों-लाखों बैल पृथ्वी पर अपने स्वामियों के हाथों पीड़ित होते हैं, तो फिर इस एक बैल की पीड़ा से ही सुरभि क्यों रो रही है ? सुरभि ने उत्तर दिया था कि वैसे तो उसे अपने सारे पुत्रों से समान प्रेम है; किंतु सब पुत्रों में जो दीन-हीन हो, अधिक दयनीय दशा में पड़ा हो, उसी पर सबसे अधिक दया करनी चाहिए।"

महर्षि कथा सुना रहे थे और धृतराष्ट्र लगातार सोचता जा रहा था···यह प्राचीन कथा, ऋषि उसे क्यों सुना रहे हैं ?···अवश्य ही वे अंततः किसी ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचना चाहते हैं, जो उसे प्रिय नहीं है। इसीलिए तो वे उससे सीधी बात नहीं कर रहे। वे उसे इधर-उधर की कथाओं में भटकाकर, किसी विशेष सिद्धांत में बाँध लेना चाहते हैं। इसीलिए तो वह डरता है उनसे। उनके शब्द उसे जाने कहाँ से कहाँ ले जाते हैं।

महर्षि चुप हो गए, तो भी धृतराष्ट्र कुछ नहीं बोला।

"धृतराष्ट्र ! पिता और पितृव्य में कोई अंतर होता है ?"

"नहीं महर्षि !"

"पुत्र और भ्रातुष्पुत्र में कोई अंतर होता है ?"

"नहीं महर्षि !"

"युधिष्ठिर तुम्हें अपना पिता मानता है ?"

धृतराष्ट्र ने कोई उत्तर नहीं दिया। जाने महर्षि क्या कहना चाहते हैं।

"यदि न मानता, तो तुम्हारी आज्ञा को पिता की आज्ञा के समान शिरोधार्य कर, द्यूत न खेलता।" महर्षि बोले, "क्या तुम नहीं मानते कि पांडु के पुत्र भी, तुम्हारे पुत्र ही हैं ?"

"मानता हूँ महर्षि !"

"तुम मानते हो कि दुर्योधन तुम्हारे शरीर से जन्मा है, इसलिए वह तुम्हें अधिक प्रिय है !" महर्षि रुके, "किंतु मैं सुरभि गाय के समान ही मानता हूँ कि सारे पुत्रों में जो दीन हो, दयनीय हो, उसी से अधिक प्रेम करना चाहिए।..."

"मेरा आचरण इसके प्रतिकूल तो नहीं है महर्षि !" धृतराष्ट्र किसी प्रकार साहस करके बोला।

"तुम्हारा आचरण !..." महर्षि दो क्षण मौन रहकर बोले, "वस्तुतः मैं तुम्हारे आचरण की चर्चा करना नहीं चाहता। मैं तुमसे यह कहने आया हूँ कि यदि तुम चाहते हो कि सारे कौरव जीवित रहें, तो तुम्हारा पुत्र दुर्योधन, पांडवों से प्रेमपूर्वक मिलकर, शांतिपूर्वक रहे।"

"मैं समझा नहीं महर्षि !"

"दुर्योधन अपने मित्रों—कर्ण, शकुनि और दुःशासन को त्यागे ! अपने शस्त्रों को त्यागे...और दीन, हीन, कंगाल होकर, वन में जाकर पांडवों के साथ रहे। संभव है कि पांडवों के मन में उसके प्रति कुछ स्नेह अंकुरित हो और वे उसे क्षमा कर दें।..."

"पर दुर्योधन ही ऐसा क्यों करे महर्षि !" धृतराष्ट्र के स्वर में आवेश उभरा, "पांडव ही क्यों उसके प्रति अपना दुर्भाव नहीं त्यागते ?"

"दुर्योधन ने पांडवों को अधर्मपूर्वक वंचित किया है। फिर भी वे वन में अपने धर्म का निर्वाह कर रहे हैं।" महर्षि बोले, "किंतु दुर्योधन उनका सर्वस्व हरण करके भी, शांत नहीं है। वह और उपद्रव करना चाहता है। वह अपने मित्रों से दूर बैठे, असहाय पांडवों को घेरकर, मार डालना चाहता है...।"

"आपके मन में यह संशय किसने अंकुरित किया महर्षि ?"

"यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। तुम केवल इतना पूछ सकते हो कि यह सूचना सत्य है, या नहीं ।"

"सूचना का स्रोत भी महत्त्वपूर्ण है महर्षि !" धृतराष्ट्र बोला, "देखना होगा

न कि वह व्यक्ति विश्वसनीय है या नहीं !···और राजा के रूप में मैं यह भी जानना चाहूँगा कि हमारा कौन-सा कर्मचारी, राजप्रासाद के सच्चे-झूठे समाचार बाहर ले जा रहा है।"

"राजा के रूप में तुम्हें यह जानने का अधिकार है; किंतु उसके लिए तुम्हारे पास गुप्तचर हैं। यह कार्य उन्हीं से लो, मुझसे नहीं। मैं तो तुम्हें केवल इतना ही बता रहा हूँ कि ऐसा है !···और साथ ही यह भी बता रहा हूँ राजन् ! कि यदि दुर्योधन पांडवों पर आक्रमण करेगा, तो पांडवों का कोई अनिष्ट हो या न हो, दुर्योधन स्वयं जीवित नहीं बचेगा !···"

धृतराष्ट्र के चेहरे पर त्रास फैल गया, "कौन लेगा उसके प्राण ?"

"पांडव स्वयं भी उसे नष्ट करने में पूर्णतः समर्थ हैं।" व्यास बोले, "यदि पांडव ऐसा न चाहें, या न कर पाएँ, तो श्रीकृष्ण दुर्योधन को जीवित नहीं छोड़ेंगे।" व्यास का स्वर, कुछ असाधारण होता जा रहा था, "श्रीकृष्ण, द्वारका पर आक्रमण करने वाले सौत्र-नरेश शाल्व को पराजित कर चुके हैं। उसे अपने कृत्यों का पूर्ण दंड मिल चुका है। अब यादव अपने राज्य की रक्षा में उलझे हुए नहीं हैं। वे मुक्त हैं और बलशाली हैं।···और राजन् !" व्यास रुक गए, "यदि और कोई नहीं भी आया, तो मैं···स्वयं मैं आह्वान करूँगा; और एक के पश्चात् एक सेना हस्तिनापुर के विरुद्ध खड़ी होती जाएगी··· ।" व्यास पुनः रुके, "तुम विदुर के प्रभाव से भयभीत थे; यदि तुम समय से सावधान नहीं हुए, तो तुम विदुर, वासुदेव और मेरा–संयुक्त प्रभाव देखोगे।"

धृतराष्ट्र का मन किसी पक्षी-शावक के समान काँपकर रह गया···यदि व्यास ही दुर्योधन के विरोधी हो गए···

"पर दुर्योधन ऐसा क्या कर रहा है तात् ?"

"तुम्हें मालूम है कि दुर्योधन क्या कर रहा है !" महर्षि बोले, "यदि नहीं मालूम है, तो मुझसे सुन लो ! दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण और शकुनि ने योजनाबद्ध रूप से पांडवों की हत्या का षड्यंत्र रचा है। शकुनि तो पाडवों के हस्तिनापुर लौटने पर, उन्हें पुनः द्यूत के लिए बाध्य करने की बात कह रहा था; किंतु दुर्योधन को यह प्रस्ताव नहीं रुचा। तब कर्ण ने कहा कि इस समय पांडव वन में हैं, असहाय हैं, मित्रविहीन हैं। इस समय वन में घेरकर, उनका वध कर देना चाहिए। दुर्योधन ने यह योजना स्वीकार कर ली है। उनके शस्त्र रथों पर लादे जा रहे हैं। वे लोग कल प्रातः पांडवों के वध के लिए प्रस्थान करेंगे।···"

"आप यह सब कैसे जानते हैं महर्षि ?" धृतराष्ट्र ने पुनः चकित भाव से पूछा।

"यह बताने को मैं बाध्य नहीं हूँ।" महर्षि बोले, "मैं जानता हूँ, यही तुम्हारे लिए पर्याप्त है; और मैंने तुम्हें बता भी दिया है। अब, उसे रोकना तुम्हारा कार्य है।"

"आप उसे समझाएँ महर्षि ! मेरी बात वह नहीं मानेगा।" धृतराष्ट्र के स्वर में विनय भी थी और असहायता भी।

"उसे तुम स्वयं समझाओ; अन्यथा उसे यमराज समझाएँगे।" व्यास सतेज स्वर में बोले, "मैं तुम्हें समझा रहा हूँ धृतराष्ट्र ! यदि दुर्योधन आज जीवित है, तो युधिष्ठिर के कारण ! युधिष्ठिर ही वह व्यक्ति है, जो अपने भाइयों, यादवों, पांचालों और मत्स्यों को तुम पर आक्रमण करने से रोक रहा है। यदि युधिष्ठिर मध्य में नहीं रहा, तो उसके भाई ही दुर्योधन को जीवित नहीं छोड़ेंगे; और यदि पाँचों पांडव मृत्यु को प्राप्त हो गए, तो यादवों और पांचालों के हाथों, तुम्हारे पुत्र जीवित नहीं बचेंगे। इसलिए कहता हूँ, अपने पुत्रों को समझाओ। पांडवों का अनिष्ट होते ही, तुम्हारे पुत्रों को भी मृत्यु लील जाएगी।"

धृतराष्ट्र कुछ क्षणों तक स्तब्ध बैठा रहा; और फिर अत्यन्त दीन स्वर में बोला, "ऐसा शाप न दें प्रभु !"

"यह शाप नहीं, चेतावनी है।"

"इसीलिए तो कह रहा हूँ कि वह मेरी बात नहीं सुनता, आप ही उसे समझाएँ।"

व्यास कुछ सोचते रहे; फिर बोले, "ऋषि मैत्रेय, काम्यक वन में पांडवों से भेंट कर, तुम्हें समझाने के लिए इधर आ रहे हैं। वे ही दुर्योधन को भी समझाएँगे।"

"क्या वे दुर्योधन के लिए पांडवों का कोई संदेश ला रहे हैं ?" धृतराष्ट्र ने आशंकित मन से पूछा।

"नहीं ! वे पांडवों के दूत नहीं हैं।" व्यास बोले, "वे अपने भ्रमण पर निकले हैं। वन में पांडवों से उनकी भेंट हुई है। मुझसे मिलने, मेरे आश्रम में आए हैं। अब तुम्हें आशीर्वाद देने आ रहे हैं।" वे क्षणभर रुके, "मैं जा रहा हूँ। तुम दुर्योधन को रोक लो, किंतु यदि वह तुमसे नहीं रुका, तो भी उसके रथ हस्तिनापुर से बाहर नहीं जा सकेंगे।"

महर्षि रुके नहीं। विदुर उन्हें पहुँचाने बाहर तक गए; और धृतराष्ट्र सोचता रहा··· महर्षि व्यास को वह सब कुछ कैसे ज्ञात हो जाता है, जो दुर्योधन के मन अथवा उसके कक्ष में घटित होता है ? क्या सचमुच उनके पास कोई दिव्य दृष्टि है ?··· या दुर्योधन के अपने कर्मचारी ही जाकर, महर्षि को सब कुछ बता आते हैं ?··· जिसे भी देखो, वह महर्षि को समाचार देने के लिए इतना उतावला क्यों रहता है ?··· अब मैत्रेय भी उन्हीं के पास गए हैं। वे भी उन्हें पांडवों के सारे समाचार दे आए होंगे··· और व्यास यह कैसी चेतावनी दे गए हैं कि दुर्योधन के रथ, हस्तिनापुर से बाहर नहीं जा सकेंगे ? कौन रोकेगा, दुर्योधन के रथों को ? महर्षि के पास अपनी तो कोई सेना है नहीं··· फिर वे इतने विश्वास से यह सब कैसे कह सकते हैं ?···

विदुर लौट आए थे, "अब मैं भी जाऊँ महाराज ?"

"हाँ जाओ विदुर ! किंतु संजय को सूचना भिजवा दो कि वह महर्षि के आश्रम में जाए और मैत्रेय की अगवानी कर, उन्हें ससम्मान यहाँ ले आए।"

चिंतित धृतराष्ट्र ने मैत्रेय ऋषि के स्वागत की, अपनी ओर से सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था कर रखी थी। दुर्योधन की मैत्रेय से भेंट करने में कोई रुचि नहीं थी; किंतु धृतराष्ट्र की इच्छा को देखते हुए, उसे वहाँ उपस्थित रहना पड़ा था। धृतराष्ट्र ने उसे अपने साथ शकुनि को लाने की भी अनुमति नहीं दी थी।...

प्रासाद के द्वार से धृतराष्ट्र के कक्ष तक मैत्रेय की अगवानी, धृतराष्ट्र की सबसे सुंदर दासियों ने की थी। उनके मार्ग में कुसुम-पंखुड़ियों के ढेर लगा दिए गए थे। धृतराष्ट्र ने अपने कक्ष के द्वार तक आकर उनका स्वागत किया।

ऋषि ने उसे आशीर्वाद दिया, "राजन ! तुम्हारे राज्य में शांति रहे। भगवान् तुम्हारे कुल की रक्षा करें।"

"ऋषिवर ! आपने मुझे समृद्धि का आशीर्वाद नहीं दिया।" धृतराष्ट्र ने कहा, "राज्य में शांति ही तो पर्याप्त नहीं है।"

"समृद्धि की तृष्णा ही तो पतन का मूल है राजन् !" मैत्रेय ने कहा, "तुमने मुझसे धर्म माँगा होता, तो मैं तुम्हारी आकांक्षा की प्रशंसा करता।"

"मैं क्षत्रिय राजा हूँ ऋषिवर ! इसलिए राज्य का विस्तार और प्रजा की समृद्धि की हीं कामना कर सकता हूँ।"

"प्रजा की समृद्धि, राजा के धर्म से होती है राजन्।" मैत्रेय का तेज मुखर होता जा रहा था, "और राजा की धर्म-विहीन समृद्धि प्रजा के रक्त से जन्म लेती है।...मैंने भगवान से तुम्हारे लिए शांति की कामना की है, ताकि जिन मार्गों पर तुमने आज पुष्पों की पंखुड़ियाँ बिछाई हैं, उन पर तुम्हारे कुल की स्त्रियों के अश्रु न गिरें। तुम्हारे कुल की रक्षा की कामना की है मैंने, ताकि तुम वर्तमान समृद्धि का भोग कर सको।"

"क्यों ? हमारे कुल पर कौन-सी विपत्ति आ रही है ?" दुर्योधन ने कुछ अभद्र स्वर में कहा, "हममें इतना सामर्थ्य है कि हम अपने शत्रुओं का सिर कुचल दें।"

"देहधारी की मृत्यु उसके शत्रु के हाथ में नहीं, उसके अपने शरीर में निवास करती है।" मैत्रेय बोले, "तुम्हारे कुल का विनाश भी, तुम्हारे अपने वंश के भीतर स्थित है। यदि तुम अपने कुल की रक्षा करोगे, तो अपने विनाश से भी लड़ सकोगे।"

"क्यों मैं अपने कुल की रक्षा नहीं कर रहा ?" दुर्योधन के स्वर में, जिज्ञासा के स्थान पर घृणा ही अधिक थी।

"नहीं !" मैत्रेय बोले, "तुम केवल अपने अहंकार की रक्षा कर रहे हो। अपने लोभ का विस्तार कर रहे हो।···और भौतिक सुखों के लिए ईश्वर की सृष्टि का विनाश करना चाहते हो !"

"क्या पांडव ही ईश्वर की सृष्टि हैं; और कोई नहीं ?" दुर्योधन का चेहरा क्रोध से तमतमा गया, "आप सब लोग, इतना पक्षपात क्यों कर रहे हैं ? पांडव ही आपको इतने प्रिय क्यों हैं ?"

"हमें पांडव प्रिय नहीं हैं," मैत्रेय भी आवेशपूर्ण स्वर में बोले, "हमें धर्म प्रिय है। पांडव धर्म की रक्षा कर रहे हैं। वे धर्म की साक्षात् मूर्ति हैं।···और तुम यह नहीं जानते कि पांडवों का विनाश तुम सरलता से नहीं कर सकते। तुम उनका वध करना चाहोगे, तो वे अपनी रक्षा करेंगे।···और इस प्रक्रिया में दोनों पक्षों में विशाल सेनाएँ एकत्रित होंगी। परिणामस्वरूप, ईश्वर के रचे, लाखों जीव शस्त्रों से आहत होकर मरेंगे। धरती पर कितना रक्त बहेगा, इसकी तुम्हें कल्पना भी नहीं है।···तुम विध्वंस की यह मुद्रा छोड़ दो तो धरती हरी-भरी रहेगी, जीव संतुष्ट रहेंगे; और धर्म का विकास होगा··· ।"

"धर्म का विकास···ऊँह !" दुर्योधन ने वितृष्णा से मुख फेर लिया।

मैत्रेय को लगा, जैसे किसी ने घृणापूर्वक, उनके मुख पर थूक दिया हो। उनकी शिराओं में बहता रक्त, क्रोध से जल उठा।···उन्होंने धृतराष्ट्र की ओर देखा। वह अपने अँधेरे शून्य में कुछ देखने का प्रयास कर रहा था; किंतु वह देख नहीं सका था कि दुर्योधन ने क्या किया है। दुर्योधन अपनी जंघा पर ताल दे रहा था···किंतु न उसमें संगीत था, न माधुर्य···उसमें उपहास था, वितृष्णा थी,···और अहंकार था।···

मैत्रेय स्वयं को रोक नहीं पाए। तड़पकर बोले, "युद्ध होगा, तो तुम्हारी इसी जंघा को पांडव भीम अपनी प्रतिज्ञा के अनुकूल, अपनी भारी गदा से तोड़ेगा··· । तुम सर्प के समान रेंग भी नहीं पाओगे। अपंग सर्प के समान फुफकारोगे; किंतु किसी को दंश नहीं मार पाओगे। अंततः अपने विष की जलन से स्वयं ही तड़प-तड़पकर मरोगे··· ।"

अब धृतराष्ट्र की समझ में आया कि दुर्योधन कुछ ऐसा कर बैठा है, जिसे वह देख नहीं पाया।···वह सहम गया। वह चाहता था कि मैत्रेय, दुर्योधन को समझाएँ। किंतु यह ?···यह तो समझाना नहीं था।···और दुर्योधन एक शब्द भी नहीं कह रहा था।···

"इस प्रकार शाप न दें ऋषिवर !" धृतराष्ट्र के मुख से निकला।

मैत्रेय उठ खड़े हुए, "युद्ध नहीं होगा, तो भीम इसकी जंघा नहीं तोड़ेगा। इसे कहो, कि युद्ध की स्थिति न आने दे। पांडवों से संधि करे, और उनका मन जीतने का प्रयत्न करे··· ।"

धृतराष्ट्र अभी ऋषि को प्रसन्न करने की युक्ति सोच ही रहा था, कि मैत्रेय कक्ष से निकल गए।···

8

विदुर के हस्तिनापुर लौट आने के पश्चात् से, कुंती को राजसभा की एक-एक गतिविधि की सूचना मिल रही थी। राजसभा ही क्या, राजवंश और राजप्रासाद में क्या हो रहा था, वे सूचनाएँ भी उसके पास पहुँच रही थीं। उसके लिए विदुर को कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। ये समाचार तो राजप्रासाद की किसी दासी से भी प्राप्त किये जा सकते थे। पांडव-विरोधी अपनी गतिविधियों में दुर्योधन कोई गोपनीयता भी नहीं बरतता था। गोपनीयता की आवश्यकता ही नहीं थी। उसे किसी का भय नहीं था। वह तो सार्वजनिक रूप से प्रचार कर रहा था कि पांडव उसके भाई नहीं, शत्रु हैं···और शत्रुओं का नाश करना तो क्षत्रिय राजाओं का धर्म ही था···वीरता उनकी शोभा थी···

"कैसी हो भाभी !" विदुर राजसभा से लौट आए थे।

"कैसी हूँगी, विदुर ! वैसी की वैसी। मेरा जीवन तो जैसे एक स्थान पर आकर रुक गया है।···कोई कर्म नहीं, कोई गति नहीं, कोई लक्ष्य नहीं···रात को सोते हुए, स्वयं से यह नहीं पूछ सकती कि प्रातः जो कर्म सोचा था, वह किया या नहीं ? आज के कर्म-समर में जीती या हारी ?···"

विदुर हँसे, "तुम तो स्वयं को निकम्मी सिद्ध करने पर तुली हुई हो।"

"निकम्मी हूँ नहीं क्या ?"

"मेरी दृष्टि में तो तुम साधिका हो।···"

इस वार कुंती हँसी, "मैं नहीं जानती थी देवर ! कि तुम्हारी दृष्टि में साधक, निकम्मे को कहते हैं।"

"तुम चाहे इसे परिहास में उड़ा दो भाभी ! किंतु सत्य यही है कि तुम साधना कर रही हो।" विदुर बोले, "साधना का रूप भी यही है। साधक, अपने सारे बाहरी कर्मो को रोक देता है और मन में गहरे उतरकर, कोई महत्त्वपूर्ण कर्म करता रहता है। ऊपर से वह सर्वथा निष्क्रिय दिखाई देता है; किंतु तल के नीचे अथाह गतिविधि चल रही होती है। वह बाहरी कार्यों को स्थगित कर, अपनी ऊर्जा का संचय करता है, सारे साधनों को एकाग्र कर, उन्हें सिद्ध करता है।···तपस्वी क्या करता है, आँखें मूँदे पालथी मारे ही तो बैठा होता है। कवि क्या करता है, अपने भावों के लिए शब्दों का चयन ही तो कर रहा होता है। धनुर्धर क्या करता है, एक स्थान पर खड़ा, एक विशिष्ट लक्ष्य पर बाण ही तो चला रहा होता है।···इन सारे कार्यों

में कौन-सी गतिविधि है ?··· किंतु कितने लोगों को प्रभावित करता है उनका कर्म! साधना दिखाई नहीं देती भाभी !···"

"चलो ! तुम मुझे साधिका ही मानते रहो। मुझे क्या आपत्ति हो सकती है !" कुंती हँस पड़ी, "आज क्या हुआ ? राजप्रासाद में मैत्रेय ऋषि पधारे थे क्या ?"

"हाँ भाभी ! वे तो पधारे थे; किंतु धृतराष्ट्र की मनोकामना पूरी नहीं हुई।"

"क्यों ?"

"पिता ने हस्तिनापुर के सुंदरतम और बहुमूल्य पुष्पों की पंखुड़ियाँ, उनके मार्ग में बिछवाई, अपनी सुंदरतम दासियों से उनका स्वागत करवाया; किंतु पुत्र ने अपने अभद्र व्यवहार से उन्हें कुपित कर दिया।" विदुर बोले।

"क्या कह गए वे ?"

"कह गए कि शांति बनाए रखने में ही धृतराष्ट्र और उसके पुत्रों का कल्याण है। युद्ध हुआ तो भीम, अपनी गदा से दुर्योधन की जंघा तोड़ देगा।···"

कुंती कुछ क्षणों तक जैसे इन सूचनाओं को आत्मसात् करती रही। फिर बोली, "तुम्हें क्या लगता है विदुर ! क्या दुर्योधन सचमुच मेरे पुत्रों पर, आक्रमण कर, उनका वध कर देगा ?"

विदुर ने कुंती के चेहरे पर चिंता के कुछ असाधारण भाव देखे। ऐसे में तत्काल कोई भी उत्तर देना उचित नहीं था। अपने शब्दों को तौलना बहुत आवश्यक था।

"भाभी ! इसमें विचार करने के दो पक्ष हैं।" विदुर ने धीरे से कहा।

कुंती ने उनकी ओर देखा।

"पहला प्रश्न यह है कि यदि दुर्योधन पांडवों पर आक्रमण करे, तो क्या वह उनका वध कर सकता है ?"

"मेरे पुत्र वीर हैं। युद्ध-कुशल भी। किंतु प्रश्न साधनों का है। एक ओर एक साम्राज्य की सेना, सेनापति और सैन्य-संचालक हों और दूसरी ओर मात्र पाँच योद्धा।··· और मैं यह नहीं भूल सकती कि पितामह भीष्म, गुरु द्रोण तथा कृपाचार्य, मेरे पुत्रों से हीनतर योद्धा नहीं हैं। दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण और अश्वत्थामा से निबटाना हो तो बात और है··।"

"जहाँ तक मैं समझता हूँ भाभी ! दुर्योधन यदि पांडवों की निरीह हत्या के लिए सैनिक अभियान करेगा, तो पितृव्य भीष्म, गुरु द्रोण और राजगुरु कृपाचार्य उसका साथ नहीं देंगे। युद्ध की बात और है। पांडव यदि सेना लेकर आएँगे और रण-सज्जित होंगे, तो निश्चित रूप से ये लोग अपने राजा के पक्ष से युद्ध करेंगे।··· इसका अर्थ यह हुआ कि युद्ध की स्थिति के बिना, दुर्योधन तुम्हारे पुत्रों की हत्या करने में समर्थ नहीं है। मैंने पांडवों को देखा है, वे कितने समर्थ, सतर्क और आश्वस्त हैं। युधिष्ठिर अवश्य कुछ भीरु है, क्योंकि वह परिवार का मुखिया

है, चिंतनशील है, अपनी सीमाओं को जानता है और शत्रु को कभी कम करके नही आँकता, किंतु तुम्हारे शेष चारों पुत्र सिंह के समान निर्भीक हैं।"

"मेरी आशंकाओं का एक कारण यह भी है कि वे इतने निर्भीक हैं–विशेष रूप से भीम ! संकट को उस तक आने की आवश्यकता नहीं होती; वह स्वयं ही संकट से जा गले मिलता है।"

"अच्छा, अब दूसरा विचारणीय प्रश्न यह है कि यदि दुर्योधन पांडवों का वध करना चाहेगा, तो क्या धृतराष्ट्र उसे अनुमति दे देंगे ?"

"आज तक तो उन्होंने सदा उसका साथ दिया है, अब क्यों अनुमति नहीं देंगे ?" कुंती निश्चयात्मक स्वर में बोली।

"खुले आक्रमण की अनुमति उन्होंने कभी नहीं दी। वे छल-कपट में तो पुत्र के साथ हैं; किंतु वे खुलकर अत्याचार कर उसका दायित्व स्वीकार नहीं करते। तुम भूल जाती हो भाभी ! धृतराष्ट्र मूलतः अक्षम और भीरु पुरुष हैं। छिपकर आघात करना चाहते हैं। सम्मुख-युद्ध का साहस नहीं करते। वे अपनी छवि, एक धर्मात्मा की-सी बनाए रखना चाहते हैं। मुझे हस्तिनापुर बुलाने में उन्होंने जान-बूझकर अपनी दुर्योधन-विरोधी भंगिमा बनाए रखी है, जबकि कौन नहीं जानता कि दुर्योधन में उनके प्राण बसते हैं : संसार में दुर्योधन से अधिक प्रिय उन्हें और कोई नहीं है। इसलिए वे दुर्याधन को खुलकर पांडवों पर आक्रमण करने की अनुमति नहीं देंगे; और दुर्योधन कितना भी उद्दंड क्यों न हो, वह उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करेगा।" विदुर रुके, "हाँ, मेरी कल्पना में एक स्थिति ऐसी आती है, जब दुर्योधन, धृतराष्ट्र की आज्ञा का उल्लंघन कर सकता है, अथवा उनसे छिपाकर, उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई दुष्कृत्य कर सकता है।"

"कौन-सी स्थिति ?"

"उसके मित्र कर्ण में यह सामर्थ्य है कि वह उसे यह समझा दे कि पिता का ऐसा कोई महत्त्व नहीं है कि उसकी प्रत्येक आज्ञा का पालन किया जाए। कर्ण की अधर्म की ओर अद्भुत प्रवृत्ति है। उसमें क्रूरता का तत्त्व दुर्योधन से तनिक भी कम नहीं है। मुझे लगता है भाभी !" विदुर बोले, "कि उसके मन में कहीं बहुत गहरे, यह बात जमी हुई है कि संसार ने उसके साथ अत्याचार किया है, अथवा संसार ने उसे पीड़ा दी है। प्रतिक्रियावश उसमें परपीड़न-रति बहुत अधिक विकसित हो गई है। दूसरों को पीड़ा देकर, उन्हें तड़पते देखकर, उसे बहुत सुख मिलता है।...और दुर्योधन का मित्र होकर अत्यन्त सरलता से पांडवों को पीड़ित कर, अपना सुख भी पाया जा सकता है और दुर्योधन की प्रसन्नता भी...।"

कुंती के मन की विचित्र स्थिति हो रही थी...विदुर नहीं जानते कि कर्ण से उसका क्या संबंध है। वे उसके विषय में कुछ भी कह सकते हैं। उसके मन का विश्लेपण कर सकते हैं। उसके चरित्र का विश्लेषण कर सकते हैं।...उसके

विषय में कुछ ऐसी धारणा भी व्यक्त कर सकते हैं, जो कुंती के लिए पीड़ादायक अथवा असह्य हो।...तो क्या कुंती विदुर को बता दे कि कर्ण उसका पुत्र है। वह उसे न दुष्ट मानना चाहती है, न अपना शत्रु...किंतु विदुर को बताने से क्या होगा ?...जिन कारणों से कुंती ने इतना बड़ा त्याग किया, अब तक इतना कष्ट सहा, कर्ण को इन कठिन परिस्थितियों में डाला–वे कारण अभी समाप्त तो नहीं हुए हैं।...कुंती बता देगी तो, उसके सम्मान में विदुर मौन हो जाएँगे, वे कुछ कहेंगे नहीं...किंतु न विदुर की धारणा बदलेगी, न कर्ण का व्यवहार !...परिस्थितियाँ तो वैसी की वैसी ही रहेंगी...तो विदुर को बताने का लाभ ?...

"किंतु मैंने तो सुना है कि वह बहुत धर्मात्मा है।" कुंती ने प्रयत्नपूर्वक अधिक से अधिक तटस्थ होने का अभिनय किया, "सूर्योपासना करता है। असहाय और पीड़ित लोगों में धन वितरित करता है..."

"हाँ ! वह तो करता है। देव-सरिता गंगा की, माँ के रूप में पूजा करता है; और सूर्यदेव की पिता के रूप में। दान भी बहुत करता है।" विदुर बोले, "किंतु प्रभात की उस वेला के पश्चात् जब घर लौटता है, तो पहले से भी अधिक अहंकार जुटा कर आता है। पहले से अधिक, उग्र अहंकारी बनकर घर में प्रवेश करता है। तुम जानती हो भाभी ! जहाँ अहंकार होता है, वहाँ धर्म नहीं होता। अपने राजा को प्रसन्न करने के लिए, जो कर्ण एक निरीह स्त्री को सार्वजनिक रूप से निर्वस्त्र कर देने का प्रस्ताव करता है, उस स्त्री की पीड़ा देखकर स्वर्गीय सुख का अनुभव करता है, वह कर्ण क्या धर्म और ईश्वर के निकट जा सकता है? जिसके मन में तनिक भी करुणा नहीं, वह धार्मिक तो क्या होगा, वह वीर भी नहीं है। मनुष्य वह होता है, जो किसी अज्ञात स्त्री की लज्जा ढँकने के लिए, आवश्यकता पड़ने पर, अपनी त्वचा उधेड़कर उसे आवरण प्रदान करे, वह नहीं जो इस राक्षसी कृत्य में सुख का अनुभव करे। मेरा मन उसे धर्मात्मा तो क्या, मनुष्य भी नहीं मानता। वह और कुछ नहीं,...लोभी है...स्वार्थी है, क्रूर है...मानसिक रोगी है..."

कुंती के मन में उनचासों पवन एक साथ चल रहे थे। उसे अपने वक्ष पर सागर के झंझावातों के आंदोलन का-सा अनुभव हो रहा था।...किंतु ऊपर से वह पर्याप्त शांत दिखाई पड़ने का प्रयत्न कर रही थी, "किंतु मैंने तो सुना है कि वह नारी का सम्मान करता है। बस ! पांचाली से रुष्ट है...और पांचाली के प्रति उसका यह रोष इसलिए है, क्योंकि अपने स्वयंवर में पांचाली ने उसका अपमान किया था।..."

"क्या क्षत्रिय-कन्या को अपने स्वयंवर में स्वेच्छा से अपने वर के चयन का अधिकार भी नहीं है भाभी ?" विदुर के स्वर में हल्का-सा आवेश था, "पांचाली ने इतना ही तो कहा था कि वह उससे विवाह नहीं करेगी।"

"सूत-पुत्र भी तो कहा था।" कुंती बोली।

"महाराज धृतराष्ट्र, संजय को सूत-पुत्र कहते हैं, तो संजय उनके वक्ष में शूल घुसेड़ दे ?" विदुर बोले, "अधिरथ के पुत्र को सूत-पूत्र ही तो कहा जाएगा। कोई मुझे दासी-पुत्र कहेगा, तो मैं उसके प्राण ले लूँगा क्या ? मैं दासी-पुत्र हूँ–यह यथार्थ है। जब कोई अपनी वास्तविकता को नकारने का प्रयत्न करता है, तो वह अपने लिए इसी प्रकार के संकट उत्पन्न करता है।" विदुर ने कुंती की ओर देखा, "वह सूत-पुत्र न होता और द्रौपदी उसको सूत-पुत्र कहती, तब उसकी पीड़ा मेरी समझ में आ सकती थी।"

"द्रौपदी के 'सूत-पुत्र' कहने में घृणा का भाव रहा होगा।" कुंती बोली।

" 'सूत' के प्रति घृणा का भाव कर्ण के मन में है, पांचाली के मन में नहीं। वह अपनी सेवा में लगे सूत-परिवारों से घृणा करती है क्या ?" विदुर बोले, "वस्तुतः कर्ण, सूत-पुत्र होने को अपना अपमान मानता है। वह इस समय 'अंगराज' कहलाता है, राजसभा में रहता है, युवराज का मित्र है…इसमें कहाँ आड़े आया, उसका सूत-पुत्र होना।…"

"वस्तुतः उसकी पीड़ा कदाचित् यह है विदुर ! कि उसका कुल अज्ञात है।"

"तो उसे प्रभु का आभारी होना चाहिए कि वह सूत के घर में पला और राजसभा तक पहुँचा। गंगा-तट के किसी मंदिर के पुरोहित के घर पहुँच गया होता, तो मंदिर में आने वाली दान-दक्षिणा पर निर्भर रहता, और ब्राह्मण-पुत्र होकर भी, राजसभा का मुख नहीं देख पाता।" विदुर बोले, "और भाभी ! यदि पांचाली का व्यवहार, उसे अपमानजनक लगा भी था, तो शस्त्र निकाल लेता, पांचाली के रक्षकों का वध करता और एक वीर के समान उसका हरण करता।…यह, एक असहाय स्त्री को इस प्रकार अपमानित करना…छिः।"

कुंती कुछ नहीं बोली। क्या कहती ? किसका पक्ष लेती ? विदुर को ज्ञात नहीं है, किंतु वह तो जानती है न, कि एक ओर उसकी पुत्र-वधू है, और दूसरी ओर उसका अपना पुत्र ! किसी एक को अपराधी मान लेने से उसकी समस्या का निराकरण तो नहीं होता…उसे तो दोनों की ही रक्षा करनी है…किंतु विदुर से कुंती असहमत भी नहीं थी…नारी से प्रतिशोध…वह भी इस प्रकार…सारी मातृजाति का अपमान…

विदुर चले गए, किंतु कुंती के मन से वह चर्चा नहीं उतरी।…कर्ण सचमुच इतना नीच हो गया है ?…पर इसमें संदेह के लिए अवकाश ही कहाँ है ! उसके कृत्य तो सबके सामने हैं। विदुर ने कोई नई सूचना तो दी नहीं थी। इसमें से ऐसा क्या था, जो वह पहले से नहीं जानती थी।…शायद उसके मन का प्रश्न यह नहीं था कि क्या वह ऐसा हो गया है ? उसका प्रश्न तो यह था कि वह ऐसा क्यों हो गया है ?…क्या केवल इसलिए कि उसकी माँ ने उसे त्याग दिया

था ? किंतु संसार में अनेक लोगों की माताएँ अथवा उनके पिता, उन्हें त्याग देते हैं, तो वे सब लोग क्या पापी, अधर्मी और अत्याचारी हो जाते हैं ? महर्षि व्यास को उनकी माँ त्याग गई थीं, वे तो वैसे नहीं हुए। पितृव्य भीष्म को उनकी माँ त्याग गई थीं, वे तो ऐसे नहीं हुए।...त्यागने को तो नकुल और सहदेव को भी उनकी माँ त्याग गई थी। वे तो ऐसे नहीं हुए।...कदाचित् इन लोगों का मन इतना दग्ध नहीं हुआ, क्योंकि इनको कुल का नाम तो मिला...कर्ण को कुल का नाम भी नहीं मिला...कुंती का मन सहसा ठिठक गया...वह जावाल को क्यों भूल रही है। उसको पिता का नाम तक ज्ञात नहीं था। सारे समाज में उसका उपहास होता था। उसने अपनी माँ से पूछा था तो माँ ने यही बताया था कि वह जवाला का पुत्र था, अतः जावाल था। उसके पिता के विषय में कोई सूचना नहीं दी जा सकती थी। वह जावाल भी ऋषि हुआ, कर्ण के समान वह, अधर्मी और पापी दुर्योधन की प्रेरणा नहीं बना...उसे अपने कुल का ज्ञान नहीं है, तो वह यह भी तो सोच सकता है कि वह हीन कुल-जन्मा है, और अधिरथ के घर में पलकर गौरवान्वित हुआ है।...और यदि केवल वंश की ही बात है, उसकी यही एक पीड़ा है...तो उसकी समस्या का समाधान है कुंती के पास !...कुंती, उसे अपने आँचल में समेट लेगी...वह उसे उच्चकुल, क्षत्रिय वंश का नाम देगी...बहुत लाज निभा ली कुंती ने अपने पितृ-कुल की, अपने श्वसुर-कुल की !...किसी ने उसकी पीड़ा की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा...तो उनके लिए क्यों वह अपने इस पुत्र को यह नारकीय यातना दे रही है, जिसे वह सहन नहीं कर पा रहा और पशु बनता जा रहा है...

कुंती की कल्पना जैसे नई उड़ानें भरने लगी थी...वह कर्ण के पास जाएगी। वह उसे बताएगी, कि वह उसकी माँ है। वह सूत-पुत्र नहीं, क्षत्रिय-कुल-जन्मा है। वह उसका कानीन पुत्र है, देवप्रदत्त पुत्र है, वह सम्राट् पांडु का क्षेत्रज पुत्र है।...वह कुरुवंशी है।...कर्ण के मन की ज्वाला शांत हो जाएगी। वह पांडवों के प्रति शत्रु-भाव त्याग देगा। वह दुर्योधन से विरक्त हो जाएगा।...संभव है, वह पांडवों से आ मिले...अन्याय को छोड़कर, धर्म का आँचल थाम ले...

और सहसा, कुंती का मन दहल उठा...उसकी अपनी कल्पना ही, किसी और लोक में जा पहुँची थी...सूर्य का आलोक धुँधला ही नहीं, काला पड़ गया था...पवन शीतल होकर शरीर में सुई के समान नहीं शलाका के समान चुभ रहा था...यदि कर्ण को यह बता दिया गया कि वह सम्राट् पांडु का ज्येष्ठ पुत्र है, तो राज्य का उत्तराधिकारी वह होगा...युधिष्ठिर का क्या है, वह तो राज्य त्यागने के लिए कोई-न-कोई बहाना ढूँढ़ता ही रहता है।...वह अपना किरीट कर्ण के चरणों पर रख देगा। इंद्रप्रस्थ के सिंहासन पर उसे बैठा देगा...

पर कर्ण क्या करेगा ?

कुंती नहीं जानती कि कर्ण क्या करेगा ! संभव है, वह दुर्योधन के प्रति अपनी निष्ठा के कारण युधिष्ठिर का मुकुट, दुर्योधन को सौंप दे···बहुत संभव है कि इंद्रप्रस्थ के सिंहासन पर, स्थायी रूप से दुर्योधन स्थापित हो जाए···और पांडव उसके कारागार में पहुँच जाएँ या उनका वध ही करवा दिया जाए···बहुत संभव है कि राज्य तो कर्ण का ही रहे, किंतु पांडवों के लिए, उसमें कोई स्थान न हो··· और पांचाली ?··पांचाली यदि पाँचों पांडवों की पत्नी है, तो छठे पांडव की क्या स्थिति होगी ? छठा क्यों ? वह तो पहला पांडव है··क्या पांचाली को उसे भी पति के रूप में स्वीकार करना होगा ?···पर पांचाली ने तो अपने स्वयंवर में स्पष्ट रूप से उससे विवाह का निषेध कर दिया था···। इन नई परिस्थितियों में पांचाली की क्या स्थिति होगी ? उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी ? उसके प्रति कर्ण का क्या दृष्टिकोण होगा ? पति के रूप में पांचाली पर उसका अबाध अधिकार होगा, ऐसे में यदि वह उसके सम्मान की रक्षा न करे; अथवा उसे पीड़ित करे तो ?···नहीं कुंती ! तुझे कोई अधिकार नहीं है कि तू पांचाली को बाध्य करे कि अपनी इच्छा के विरुद्ध वह कर्ण को पति रूप में स्वीकार करे···। तुझे कोई अधिकार नहीं है, कि तू पांडवों का राज्य उनसे छीनकर, पैरों तले रौंदने के लिए कर्ण को दे दे··· कर्ण शरीर से तेरा पुत्र है; किंतु मन से वह दुर्योधन का मित्र मात्र है। वह कभी पांडवों का मित्र और तेरा पुत्र नहीं हो सकता···

कर्ण तेरा भूतकाल है कुंती ! भूत को वर्तमान बनाने का प्रयत्न मत कर··कोई नहीं जानता कि कर्ण तेरा पुत्र है···किंतु पाँचों पांडव तो तेरे ही पुत्र हैं। पांचाली कृष्णा तेरी पुत्रवधू है।···जो तेरा नहीं है, उसे अपना बनाने के प्रयत्न में, जो तेरे हैं उनका सर्वनाश न कर···एक की उपलब्धि के लिए पाँच को दाँव पर मत लगा। यह द्यूत मत खेल···एक पुत्र के उद्धार के प्रयत्न में तू शेष पाँच पुत्रों की दासता का अनुबंध तैयार मत कर···

कुंती का मन जैसे चेतना-शून्य होता जा रहा था···निरंतर और अनवरत होने वाले इन सूक्ष्म आघातों से उसकी संवेदनशक्ति जैसे समाप्त होती जा रही थी।···वह सोच नहीं पा रही थी कि उसे क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए···किंतु एक बात उसके सामने बहुत स्पष्ट होती जा रही थी···व्यक्ति अपने जीवन के किसी भी काल को, एक ही बार जी सकता है, जिए हुए काल-खंड को, पुनः अपने ढंग से जीना, कभी संभव नहीं होता···जिस कर्ण को उसने एक बार त्याग दिया था, उसे अब एक नवजात शिशु के रूप में अपनी भुजाओं में लेकर वक्ष से लगा लेना कदाचित् संभव नहीं है।···अब वह प्रौढ़ वय का एक पुरुष है। वह, वही रहेगा। उसका अपना जीवन है, अपने संबंध और संपर्क हैं। अपनी पसंद और नापसंद है। कुंती, उससे पांडवों की माता के रूप में तो संबंध बना सकती है, किंतु वह उसकी भी माता बन जाए, यह शायद संभव नहीं है···वह

राधा का पुत्र राधेय है, तो वही रहेगा…

काल कभी लौटकर नहीं आता कुंती !

9

धृष्टद्युम्न प्रभंजन के वेग से चलता हुआ, पांडवों के पास काम्यक वन में पहुँचा था। मार्ग में उसका मन कभी अपने सारथि पर खीझा था, कभी अपने अश्वों पर !…कितनी धीमी गति से चल रहे थे वे…किंतु उसका विवेक उसे बार-बार सावधान कर रहा था कि न तो सारथि अदक्ष अथवा आलसी था, न अश्व दुर्बल अथवा प्रमादग्रस्त थे। यह तो उसके अपने मन की व्याकुलता थी, जो उसे पीड़ित किए हुए थी। वह तत्काल पांडवों के पास पहुँचना चाहता था, जो संभव नहीं था।…जाने किस दशा में होंगे, पांडव ! और किस अवस्था में होगी कृष्णा !…धृष्टद्युम्न का मन विभिन्न रूपों में उनकी कल्पना करता था…वे दुखी होंगे,…वे क्रुद्ध होंगे,…वे असहाय और दीन होंगे,…वे अपने क्षोभ में प्रतिशोध की तैयारी कर रहे होंगे…

किंतु इन सारी कल्पनाओं, जिज्ञासाओं और प्रश्नों के भी ऊपर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न था…द्यूत-सभा में पांडवों ने अपना अपमान किस प्रकार सहा होगा ?…दुःशासन, एकवस्त्रा कृष्णा को, उसके खुले केशों से पकड़, घसीटता हुआ सभा में लाया होगा; और भीम की गदा भूमि पर पड़ी रही होगी ? उसकी भुजाएँ अकर्मण्य होकर, उसके शरीर से लटकी रही होंगी ? उसकी क्रोधाग्नि ने द्यूत-सभा को क्षार कैसे नहीं कर दिया ? अर्जुन का गांडीव शांत रखा रहा होगा ? धनुष की प्रत्यंचा तड़पकर कोदंड से लिपट नहीं गई होगी ? उसके वक्ष में धड़कता हृदय, रक्त के वेग से फट नहीं गया होगा ? कृष्णा ने उन सारी कटूक्तियों, व्यंग्योक्तियों, उन अश्लील और अभद्र संकेतों का सामना कैसे किया होगा ?…हवन-कुंड से जन्मी, इस कृष्णा का तेज किस सीमा तक प्रज्वलित हुआ होगा ?…न वह उन्हें नष्ट कर सकी, न स्वयं मिट सकी…यदि कहीं उस दिन धृष्टद्युम्न वहाँ होता, तो सारा हस्तिनापुर ध्वस्त हो गया होता…

धृष्टद्युम्न के पास जब तक समाचार पहुँचा था, तब तक पांडव हस्तिनापुर से दूर जा चुके थे। उन्होंने अपना कोई दूत भी तो कांपिल्य नहीं भेजा था।…धृष्टद्युम्न का अभिमान आहत हुआ था, उसका प्रेम अपमानित हुआ था, उसे कुछ क्रोध भी आया था; कष्ट की ऐसी घड़ी में भी पांडव न कांपिल्य की ओर मुड़े और न उन्होंने कोई संदेश ही भेजा। जैसे, पांचालों से उनका कोई संबंध ही न हो। उन्हें चाहिए था, वे हस्तिनापुर से सीधे कांपिल्य आते। धृष्टद्युम्न पंचाल का

समस्त सैन्यवल लेकर उनके साथ चलता। वे लोग एक दिन में दुर्योधन और उसके सारे भाइयों के मस्तक, अंधे धृतराष्ट्र को भेंट कर, युधिष्ठिर को इंद्रप्रस्थ ही नहीं, हस्तिनापुर के भी सिंहासन पर बैठा देते !...उसने अपने पिता से कहा भी था कि वह पांडवों के इस उपेक्षापूर्ण व्यवहार को तनिक भी समझ नहीं पा रहा है। कोई ऐसे भी अपना राज्य त्यागता है ? चार पाँसे फेंके, इंद्रप्रस्थ का राज्य उन्हें समर्पित किया, और उठकर गहन वन की ओर चल दिए...किंतु महाराज द्रुपद, युधिष्ठिर को बहुत अच्छी तरह जानते थे। कदाचित् वे उन पाँचों भाइयों को धृष्टद्युम्न की तुलना में कहीं अच्छी तरह समझते थे...इतना ही नहीं, वे उनसे प्रभावित भी थे ...उनके प्रशंसक भी थे...उन्होंने शांत भाव से कहा था कि इन परिस्थितियों में युधिष्ठिर का व्यवहार यही हो सकता था...पांडवों के लिए, उनका स्वाभिमान सवसे अधिक मूल्यवान था। युधिष्ठिर ने यदि वनवास का वचन दिया था, तो वे वन की ओर ही जाएँगे।...

और तब धृष्टद्युम्न ने पांडवों की खोज आरंभ की थी...उसके गूढ़ पुरुष विभिन्न दिशाओं में फैल गए थे, किंतु पांडवों के स्थान का पता, उसके गूढ़ पुरुषों को हस्तिनापुर से ही मिल गया था। दुर्योधन के गूढ़ पुरुष, पांडवों के चारों ओर खुले रूप में इस प्रकार मँडरा रहे थे, कि वे अपनी गोपनीयता की रक्षा भी नहीं कर पा रहे थे...

आरंभ में तो वह अपने गुप्तचरों की सूचनाओं के आधार पर चलता रहा था, किंतु काम्यक वन में पहुँचते ही, उसे पांडवों के निवास के प्रमाण मिलने आरंभ हो गए थे। सारा वन ही जैसे किसी ऋषिकुल अथवा साधना-वन में परिवर्तित हो गया था।...यह सव धृष्टद्युम्न की कल्पना के सर्वथा प्रतिकूल था। वह यह कल्पना तो कर सकता था कि पांडव सैन्य-संगठन कर रहे होंगे, शस्त्रों का अभ्यास कर रहे होंगे, विभिन्न छोटे-वड़े राजाओं से संपर्क स्थापित कर रहे होंगे...किंतु यह सव...उसने तो वन में एक सैनिक स्कंधावार की कल्पना की थी, ऋषिकुल की नहीं...

युधिष्ठिर ने उसका स्वागत अत्यन्त उल्लास से किया था, जैसे कोई गृहस्थ अपने घर आए किसी प्रिय अतिथि का स्वागत करता है...उनके मुख पर रंचमात्र उद्वेग का भी कोई लक्षण नहीं था। धृष्टद्युम्न की समझ में नहीं आया कि ऐसे व्यक्ति से वह क्या वात करे, जो जीवन की इतनी वड़ी दुघर्टना के पश्चात् भी उसका स्वागत इस सहज रूप में कर रहा है, जैसे कोई विशेष घटना, घटी ही न हो।...वह आशंकित था कि कहीं युधिष्ठिर की इस भंगिमा से उसका अपना क्षोभ ही न फूट पड़े और अमर्यादित होकर वह कोई अशोभनीय वात न कह बैठे। ...वह उनसे किसी उत्सव में मिलने नहीं आया था, कि वे लोग उसका इस प्रकार स्वागत करते अथवा सहज रूप में समाचारों का आदान-प्रदान करते। उसकी

कल्पना में या तो क्रोध से फुफकारते पांडव थे, अथवा शोकग्रस्त नत-मस्तक पांडव किंतु वह उनका यह कौन-सा रूप देख रहा था···इससे तो कहीं अच्छा था कि और तनिक भी समय नष्ट किए बिना वह शीघ्रातिशीघ्र कृष्णा के पास पहुँचे और देखे कि उसकी बहन किस स्थिति में है। वह एक प्रकार से पांडवों को झटककर, द्रौपदी के पास चला आया था···

"कृष्णे !" उसने पुकारा तो उसे लगा कि उसका अपना कंठ अवरुद्ध हो रहा है।

द्रौपदी तड़पकर अपने भाई के कंठ से नहीं लगी। उसने सहजतापूर्वक आगे बढ़कर, उसका स्वागत किया, "तुम भले आए भैया ! घर पर सब कुशल तो है ?"

धृष्टद्युम्न अवाक् खड़ा अपनी बहन को देखता रह गया : यह भी उन पांडवों में से ही एक हो गई है ?···अग्नि से उत्पन्न यह कृष्णा, अपना सारा अपमान पीकर, सहज रूप से कांपिल्य का समाचार पूछ रही है···"कृष्णे ! क्या तुम्हारे मन में भी उन दुष्ट धार्तराष्ट्रों के विरुद्ध क्रोध नहीं है ?"

द्रौपदी कुछ मुस्कराई, "यदि व्यक्ति के मन में कुछ लोगों के प्रति आक्रोश हो, तो वह उसे अपनी हथेली पर लिये प्रदर्शित करता रहे ? तुम आए हो भैया ! चाहे वन में आए हो; किंतु मेरे द्वार पर आए हो। मेरे इस निवास में तुम्हारा सत्कार होना चाहिए। अपना दुखड़ा तो मैं रो ही लूँगी। पहले तुम मुझे कांपिल्य का समाचार तो दो। पिताजी कैसे हैं ? भैया शिखंडी नहीं आए ? वे कैसे हैं ?···"

धृष्टद्युम्न ने उसकी बात बीच में ही काट दी, "पिताजी ठीक हैं। इस प्रकार का दुःखद समाचार सुनकर, जो मनःस्थिति उनकी हो सकती है, वह हुई है।··· और शिखंडी की बात पूछ रही हो, उन्होंने कहा है कि वे अपनी बहन अथवा पांडवों से, वन के कुटीरों में मिलकर, उनके साथ बैठकर रोना नहीं चाहते। वे पांडवों का साक्षात्कार, युद्ध के समारोह में ही करेंगे। वे यहाँ नहीं आए। वहाँ आएँगे, जहाँ वह वृद्ध, पाखंडी भीष्म होगा, जिसकी आँखों के सम्मुख, यह सारा अत्याचार हुआ और वह धर्म की सूक्ष्म गति को देखता रहा। इस बार आमना-सामना होने पर या भीष्म नहीं रहेंगे, या शिखंडी ! वे हस्तिनापुर पर सैनिक अभियान के लिए तो तत्पर थे, यहाँ आने के लिए नही !"

धृष्टद्युम्न ने मौन होकर द्रौपदी की ओर देखा : द्रौपदी के चेहरे पर किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं थी। वह अत्यन्त सहज भाव से अपने भाई की ओर देख रही थी।···और सहसा, वह मुस्कराई।

"शिखंडी भैया आरंभ से ही, ऐसे रहे हैं। उनके संकल्प इतने भयानक होते हैं कि सामान्य मन उनका वेग भी झेल नहीं सकता।"

अब धृष्टद्युम्न स्वयं को रोक नहीं पाया। बोला, "कृष्णे ! तुम्हें अपने इन

महावीर पतियों पर तनिक भी क्रोध नहीं आता ? ये अपना इतना अपमान सहकर क्लीवों के समान चुपचाप वहाँ से चले आए और अब तपस्वी-मुनियों के समान यहाँ शांतिपूर्वक बैठे, साधना कर रहे हैं।'"

द्रौपदी के चेहरे पर सहमति नहीं उभरी। बोली, "मैं अपने भाई को यह अधिकार नहीं दे सकती, कि वह मेरे सम्मुख मेरे पतियों की निन्दा करे। वे साधारण जन नहीं हैं। वे अपने धर्म पर अटल हैं; और मैं अपने धर्म पर दृढ़ हूँ। मैं अपने भाई अथवा पिता के द्वारा अपने पतियों को अपमानित होते नहीं देखना चाहती।"

धृष्टद्युम्न सँभल गया···कृष्णा केवल उसकी बहन ही नहीं, पांडवों की पत्नी भी थी। पति से अधिक घनिष्ठ और विश्वसनीय और कोई व्यक्ति नहीं होता, भाई भी नहीं !···

"मैं उनका अपमान करना नहीं चाहता। वे अपने धर्म पर अटल हैं, यह तो उचित ही है; किंतु धर्मराज को द्यूत में अपनी पत्नी को दावें पर लगाने की क्या आवश्यकता थी ?" इच्छा होते हुए भी, धृष्टद्युम्न स्वयं को रोक नहीं पाया, "नारी पर इतना अत्याचार !···और तुम उसे धर्म कह रही हो।"

द्रौपदी की आँखें, अपने भाई की ओर उठीं। उनमें सूक्ष्म कटाक्ष था, "क्या अब परिवार को भी नारी और पुरुष में विभक्त कर देखा जाएगा ? जब महाराज शांतनु की पट्टमहिषी गंगा ने अपने सात-सात पुत्रों को देव-सरिता में प्रवाहित कर जीवन-मुक्त कर दिया था, तब तो किसी ने उनसे नहीं पूछा था कि वे नारी होकर पुरुषों पर इतना अत्याचार क्यों कर रही हैं ? माँ और पुत्र का संबंध भी क्या 'नारी' और 'पुरुष' के रूप में वर्गीकृत हो सकता है ?"

"नहीं !" धृष्टद्युम्न को द्रौपदी की उक्ति में ही अपना समर्थन मिल गया, "किंतु पति और पत्नी का संबंध तो स्त्री और पुरुष का ही है।"

"नहीं ! वह दो समुदायों के प्रतिनिधियों का मिलन नहीं है। वह दो व्यक्तियों का एक हो जाने का प्रयत्न है।" द्रौपदी बोली, "और जहाँ तक धर्मराज के द्यूत का संबंध है, उन्होंने पहले अपने भाइयों को दावँ पर लगाया, जो पुरुष हैं।" द्रौपदी का स्वर कुछ उग्र हो उठा, "वे कभी न चाहते कि उनके भाई और उनकी पत्नी दावँ पर लगें; किंतु वे द्यूत-शास्त्र, द्यूत-परंपरा और धृतराष्ट्र के आदेश का क्या करते ! संपत्ति शेष रहते, कोई पक्ष द्यूत से उठ नहीं सकता। अब बताओ, तुम्हारे अर्थशास्त्र के अनुसार, परिवार के सदस्य, परिवार के मुखिया की संपत्ति हैं या नहीं ? तुम पिताजी की संपत्ति हो या नहीं ? तुम्हारी पत्नी और संतान, तुम्हारी संपत्ति हैं या नहीं ? गंगा के पुत्र उनकी संपत्ति थे या नहीं ?"

"तुम सत्य कह रही हो।" धृष्टद्युम्न का स्वर मंद हो गया।

"मैंने अपने पिता के संकल्प के कारण हवन-कुंड से पुनर्जन्म ग्रहण किया था; और वीर्य-शुल्का बन गई थी," द्रौपदी की आँखों में तेज लहरा रहा था, "अब,

जव मैं अपने पति के धर्म के कारण दावँ पर लगी, तो स्थिति वदल गई ? तव 'पुत्री' थी, तो अब 'पत्नी' क्यों नहीं हूँ ? अव मैं पत्नी न रहकर 'स्त्री' हो गई ? क्या तुम नहीं समझते भैया ! कि मैंने कांपिल्य के धनुर्यज्ञ में कर्ण का जो तिरस्कार किया था, कर्ण उसका प्रतिशोध ले रहा है। जो पीड़ा मैंने उसे दी, वह उससे शतगुणित पीड़ा पांडवों को दे रहा है ? पांडव, महाराज द्रुपद के जामाता हैं, इसलिए वे भीष्म और द्रोण के द्वारा तिरस्कृत हो रहे है ? मैं उनके कारण कष्ट नहीं पा रही; वे मेरे कारण अपमानित और प्रताड़ित हो रहे हैं।"

धृष्टद्युम्न कुछ क्षण मौन खड़ा, द्रौपदी के इस रूप को देखता रहा। पंडिता तो वह पहले भी थी। तर्क भी किया करती थी।...किंतु इतनी सहिष्णु तो वह कभी नहीं थी...

"मैंने कभी इस रूप में नहीं सोचा कृष्णे !" अंततः धृष्टद्युम्न बोला, "तुम जानती हो, मैं योद्धा हूँ, तुम्हारे समान दार्शनिक कभी नहीं रहा। जब चर्चा होती है, विश्लेषण होता है, तो मैं भी कुछ-कुछ समझने लगता हूँ कि युधिष्ठिर, धर्मराज हैं, असाधारण हैं, हमसे, सब सामान्य लोगों से भिन्न हैं, उदात्त हैं, किंतु मेरी प्रकृति इससे विद्रोह करती है। मैं अपने विपक्षी के विरुद्ध, तत्काल शस्त्र उठा लेना चाहता हूँ, धर्मराज के समान, उसे क्षमा नहीं कर देना चाहता।...और तुम जानती हो कृष्णा ! मैं अपनी प्रकृति को वदल नही सकता। मैं हवन-कुंड में से उत्पन्न हुआ हूँ, अग्नि के रथ पर। मैं जिस धर्म को जानता और पहचानता हूँ, वह क्षत्रिय धर्म है...।"

"तुम कहना चाहते हो भैया ! कि धर्मराज, क्षत्रिय धर्म का पालन नहीं कर रहे ? भीम और अर्जुन क्षत्रिय नहीं हैं ?"

धृष्टद्युम्न ने कोई उत्तर नहीं दिया : वह यह कैसे कह सकता था कि भीम और अर्जुन क्षत्रिय नहीं हैं... न वह यह कह सकता था कि वे अपने धर्म का आचरण नहीं कर रहे...

"वस्तुतः मात्र हिंसा करने वाला क्षत्रिय नहीं है।" द्रौपदी का स्वर एक गहरी गूँज लिये हुए था, "कई वार तो धर्म, शस्त्र न उठाने में होता है।..."

धृष्टद्युम्न समझ गया। बहन से तर्क-वितर्क करना व्यर्थ था। अग्नि-कुंड में से, उसके साथ जन्मी, उसकी यह सहोदरा, अब कदाचित् अग्नि-धर्मा नहीं रह गई थी। वह धर्मराज के प्रभाव में शीतलमना हो गई थी...

"तो फिर अव तुम लोगों की क्या योजना है ?" धृष्टद्युम्न का स्वर, कुछ उत्तेजना लिये हुआ था, "क्या तुम लोग मोक्ष-प्राप्ति तक यहीं साधना करना चाहते हो ?..." और सहसा, उसे जैसे कुछ नया सूझ गया, "वैसे तुम्हें यह भी बता दूँ कृष्णे ! यदि धर्मराज शांतिपूर्वक यहाँ, वन में, तपस्वी का जीवन व्यतीत करना चाहें, तो वह दुष्ट दुर्योधन, उन्हें वह भी नहीं करने देगा। तुम लोग यहाँ तनिक भी सुरक्षित नहीं हो।"

"हम सब जानते हैं कि जब तक दुर्योधन जीवित है, हम लोग कहीं भी सुरक्षित नहीं हैं।..."

"तो ?"

"धर्मराज प्रतिशोध के विरुद्ध तो हैं; किंतु प्रतिकार उन्हें अप्रिय नहीं है।" द्रौपदी बोली, "और अभी तो मेरे महावीर पतियों के हाथों में उनके प्रिय शस्त्र विद्यमान हैं।"

"किंतु... मुझे तो वे लोग तनिक भी उत्तेजित और युद्ध-तत्पर नहीं लगते।"

"उत्तेजना, दुर्बलता का लक्षण है।" द्रौपदी ने उत्तर दिया, "उनका आत्मविश्वास उन्हें शांत रखता है। धर्मराज की अनुमति हो, तो पाँचों मिलकर क्या, अकेले भीम अथवा अर्जुन भी हस्तिनापुर पर आक्रमण करने में सक्षम हैं।"

अब तक धृष्टद्युम्न की आक्रामकता भी कुछ मंद पड़ गई थी, "और तुम कृष्णा ? तुम्हारे मन में प्रतिशोध का भाव नहीं है ?"

इस बार द्रौपदी मुस्कराई तो धृष्टद्युम्न को अपनी परिचित बहन दिखाई दी। उसकी मुस्कान में ज्वाला थी, "ये केश मैंने शृंगार अथवा प्रसाधन की दृष्टि से मुक्त नहीं छोड़े। ये दुःशासन के रक्त से स्नान करने की प्रतीक्षा में खुले हैं...।"

"ओह !" धृष्टद्युम्न बोला, "तो फिर पांडवों की क्या योजना है ?"

"वे वासुदेव की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

"कृष्ण को सूचना मिल गई है ?"

"मिल ही गई होगी।" द्रौपदी बोली, "कुछ सूचनाएँ मित्र भिजवाते हैं, तो कुछ शत्रु भी भिजवाते हैं।"

"तो कृष्ण अभी तक आए क्यों नहीं ?"

"कोई विशेष कारण ही रहा होगा कि केशव अभी तक पहुँचे नहीं हैं; नहीं तो, वे तो एक पुकार पर दौड़े आते हैं।"

"मेरा विचार है कि धर्मराज का यह निर्णय उचित ही है।" धृष्टद्युम्न का स्वर सर्वथा उत्तेजना-शून्य तथा गंभीर था, "वासुदेव की प्रतीक्षा करना ही उचित है। अपने उद्यम पर, आक्रोश की स्थिति में, कोई असावधान कर्म करने से अच्छा है कि अपने सुख-दुख कृष्ण को समर्पित कर, उनके निर्णय की प्रतीक्षा की जाए।"

इस बार चौंकने की बारी द्रौपदी की थी। धृष्टद्युम्न आक्रामक योद्धा की भंगिमा त्याग, भक्त की-सी वाणी बोल रहा था !

10

"कृष्णे !"

द्रौपदी का, अव तक का सहेजकर रखा गया संयम टूट गया। इतने दिनों से वह जिसकी प्रतीक्षा कर रही थी, उसका वह सखा आ गया था··पहले उसकी आँखें भर आईं, और फिर टप-टप आँसू गिरने लगे। स्वयं को सँभालने के, उसके सारे प्रयत्न निष्फल हो गए, तो वह सशब्द रो उठी।

"पांचाली !" कृष्ण का स्वर शीतल वयार का-सा प्रभाव लिये हुए था।

"मैं अव और नहीं सह सकती केशव ! असहनीय है, यह सव कुछ मेरे लिए।" द्रौपदी हिचकियों के मध्य बोली, "जिसका कोई न हो, उस अनाथा का भी, इतना अपमान नहीं होता। वह अपमान··· !"

"मैं समझता हूँ कृष्णे !" कृष्ण बोले, "और यह भी कहता हूँ कि निश्चय ही, कौरव इस पाप का भीषण दंड पाएँगे। धर्म उनको कभी क्षमा नहीं करेगा।"

लगा, द्रौपदी के शरीर पर जैसे कशाघात हुआ हो। उसका सारा शरीर झकोला खा गया। भीतरी ताप से उसके अश्रु सूख गए। हिचकियाँ बंद हो गई। आँखों से चिंगारियाँ फूटने लगीं, "नाम मत लो धर्म का ! उसके लिए ये धर्मराज ही बहुत हैं।"

कृष्ण, उस स्थिति में भी मुस्करा पड़े, "धर्मराज !···"

'धार्तराष्ट्रों के विरुद्ध मेरे मन में क्या है, वह कहने की बात नहीं।" द्रौपदी आवेश भरे स्वर में बोली, "मैं तो धिक्कारती हूँ अपने इन पाँच पतियों को, इनके क्षत्रियत्व को, इनके युद्ध-कौशल को, इनके दिव्यास्त्रों को···" द्रौपदी अग्नि-शिखा-सी जल रही थी, "केशों से पकड़, दुश्शासन, मुझे भरी सभा में घसीट लाया; और ये लोग बैठे देखते रहे। वे मुझे निर्वस्त्र करने का प्रयत्न करते रहे, काम-भोग का निमंत्रण देते रहे; और ये सिर झुकाए धर्म-चिंतन करते रहे। क्या करूँ मैं धर्मराज के धर्म का, मध्यम के वल का, धनंजय के गांडीव का, सहदेव की खड्ग का तथा नकुल की अश्व-संचालन क्षमताओं का ? ये सब मिलकर भी अपनी पत्नी के सम्मान की रक्षा नहीं कर सके !···एक साधारण-सा अपंग पुरुष भी, अपनी पत्नी के सम्मान की रक्षा के लिए दहाड़ता और चिंघाड़ता है···और दिव्यास्त्रों से सज्जित ये विश्वविख्यात् क्षत्रिय योद्धा मुँह लटकाए, बैठे, अपने पैरों के अंगूठों से भूमि कुरेदते रहे। धर्म··· !"

"मैं तुम्हारा कष्ट समझता हूँ कृष्णा !" कृष्ण धीरे से बोले, "यदि मैं वहाँ उपस्थित होता, तो निश्चित् रूप से दुर्योधन यह सव नहीं कर पाता।···"

"पर तुम वहाँ उपस्थित नहीं थे केशव !" द्रौपदी का स्वर पुनः आरोह की ओर वढ़ा, "और धर्मराज आज भी क्षमा को प्रतिशोध से अधिक वरेण्य वता रहे

हैं। अव तुम ही कहो, मैं यह सारा अत्याचार कैसे भूल जाऊँ ?"

"तुम भूल भी जाओ, तो मैं नहीं भूलूँगा। धर्म इसे नहीं भूलेगा, प्रकृति इसे नहीं भूलेगी। प्रकृति कुछ नहीं भूलती। धार्तराष्ट्रों को उनके कृत्य का फल अवश्य मिलेगा। कौरव दंडित होंगे।"

"कौन दंड देगा उन्हें ?" द्रौपदी का अविश्वास जैसे मूर्तिमंत हो उठा, "धर्मराज ?"

"हाँ ! धर्मराज उन्हें दंडित करेंगे। पाँचों पांडव मिलकर उन्हें दंडित करेंगे।" कृष्ण की आँखों में एक असाधारण ज्योति थी, "वे नहीं करेंगे, तो मैं कौरवों को दंडित करूँगा। यदि धर्मराज को आपत्ति न हो, तो मैं यहीं से, हस्तिनापुर चलने को प्रस्तुत हूँ। उन सारे पापियों का संहार मैं स्वयं अपने हाथों से, वैसे ही कर दूँगा, जैसे शिशुपाल का किया था।"

द्रौपदी उन आँखों को देख नहीं रही थी, वह तो उनके तेज का पान कर रही थी। उसके चेहरे पर उभर आई उग्र रेखाएँ कुछ शांत हुईं। नयनों में विश्वास जागा, "मैं तुम्हारे वचन पर अविश्वास नहीं करूँगी केशव ! मैं तो मानती हूँ कि कौरवों की उस सभा में, मेरी रक्षा, तुमने ही की है सखे !" द्रौपदी का स्वर शांत था, "तुम वहाँ उपस्थित चाहे नहीं थे, किंतु तुम वहाँ वर्तमान थे। दुःशासन के मन में तुम्हारा ही भय था, जिसने मेरी रक्षा कर ली; नहीं तो उन पिशाचों ने अपनी ओर से कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी थी।"

"बहन !" धृष्टद्युम्न ने पहली बार मुख खोला, "जब वासुदेव ने कह दिया है, तो निश्चित् जानो कि कौरवों को इसका दंड अवश्य दिया जाएगा। इन नीचों को अपने रक्त से, अपने पिशाच-कृत्यों का मूल्य चुकाना होगा। इनमें से एक को भी क्षमा नहीं किया जाएगा।"

द्रौपदी चुप रही, किंतु उसकी आँखों से पुनः अश्रु बह निकले, जैसे उसके भीतर का दुख रह-रहकर, हृदय से उठकर, आँखों में आ जाता था।

"मैं क्या करूँ ! मैं उस दृश्य को भूल नहीं पाती।...और जब-जब मुझे उसकी याद आती है, मैं जैसे फिर से उस सभा में खड़ी कर दी जाती हूँ। मेरे कानों में उन दुष्टों के अट्टहास और अपशब्द गूँजने लगते हैं। उनकी दृष्टियाँ मेरे शरीर को भेदने लगती हैं। कैसे बताऊँ कि मेरे मन में अपने पतियों के लिए, कैसे-कैसे धिक्कार उठने लगते हैं। मेरे मन में इतनी भयंकर प्रतिहिंसा जागती है कि, इच्छा होती है, सारी सृष्टि को जलाकर क्षार कर दूँ।..."

"नहीं द्रौपदी ! यह मानव-धर्म नहीं है।" कृष्ण की वाणी सांत्वना देकर, रक्त के तप्त कणों को शांत ही नहीं करती थी, सारे शरीर में जैसे बल का संचार कर जाती थी।

द्रौपदी की उग्रता, उस वाणी से क्षीण होकर भी, पुनः भड़क उठी, "फिर

वही धर्म ! धर्म की चर्चा मुझसे मत करो। मुझे धर्म से घृणा हो गई है। हस्तिनापुर की राजसभा में जो कुछ घटित हुआ, वह धर्म के नाम पर ही हुआ। अन्य लोगों का धर्म मैं नहीं जानती। मुझे तो अपना ही धर्म दिखाई दे रहा है—विनाश !"

"केशव !" युधिष्ठिर ने आहत स्वर में कहा, "यह वितृष्णा धर्म के प्रति नहीं, वस्तुतः मेरे प्रति है। सच पूछो तो इन दिनों हम सबके मन में या तो विश्लेषण है, या वितृष्णा।" वे कुछ रुके, "मैंने भी बहुत विश्लेषण किया है। अपने-आप को बहुत परखा-तौला और खँगाला है; और हर बार मेरे विवेक ने यही कहा है कि मैंने कोई अधर्म नहीं किया। फिर भी पांचाली मुख से कहे या न कहे, किंतु मन में यही मानती है कि अपने और अपने परिवार के सारे कष्टों का कारण, मैं ही हूँ। संभव है कि मेरे भाइयों के मन में भी यही हो कि मैं एक मूर्ख और अविवेकी जुआरी मात्र हूँ। ये लोग अपने धर्म के कारण न मुझे त्यागते हैं, न मुझे दंडित करते हैं; किंतु भीम मुझे निर्दोष नहीं मानता। जिस प्रकार पांचाली मुझे धिक्कार रही है, ऐसे ही भीम ने भी मुझे अनेक बार धिक्कारा है।…"

कृष्ण ने युधिष्ठिर को सांत्वना नहीं दी, उनके भाइयों की ओर से कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया। वे मात्र विस्मय से युधिष्ठिर की ओर देखते रहे। उनका विस्मय-भाव मुस्कान में बदला और फिर बिना किसी पूर्व-भूमिका के, सहसा खिलखिलाकर हँसे पड़े।

युधिष्ठिर, अवाक्-से उनकी ओर देखते रह गए; इस दुःख, विषाद, करुणा, पीड़ा और आक्रोश के वातावरण में, यह सहज उन्मुक्त हँसी ! ज्वालामुखी की गोद में भी निर्मल जल की स्रोतस्विनी प्रवाहित हो सकती है क्या ? युधिष्ठिर ने कहा अब भी कुछ नहीं; किंतु उनकी मुद्रा परिवर्तित हुई। उनकी आँखें जैसे स्पष्ट प्रतिवाद कर रही थीं : मैं तो तुम्हें अपनी व्यथा सुना रहा हूँ, और तुम हँस रहे हो केशव !…

कृष्ण की हँसी कुछ थमी, "इससे तुम लोग कहीं इस निष्कर्ष पर तो नहीं पहुँचे कि धर्म पर चलना सदा दुःखदायी है। अतः धर्म, दुःख का राजमार्ग है ?"

"पता नहीं धर्मराज क्या सोच रहे हैं; किंतु हम सब इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।" भीम के स्वर में कड़वाहट थी, "न हमारे ज्येष्ठ धर्मराज होते, न हमें यह दिन देखना पड़ता।"

"इसके पश्चात् अगला तर्क होगा कि धर्म पर चलना व्यर्थ है।" कृष्ण बोले, "अतः धर्म को तत्काल तिलांजलि दे दी जानी चाहिए।"

"लगता तो यही है।" भीम का वाक्य छोटा किंतु तीखा था, "मेरा तो मन कहता है कि मुझे धर्म-वर्म के चक्कर में पड़ना ही नहीं चाहिए था। जिस क्षण उन दुष्टों के मुख से पांचाली के लिए पहला शब्द निकला था, उसी क्षण मुझे

चाहिए था कि दुर्योधन को उठाकर, भूमि पर दे मारता अथवा अपनी गदा से उसका मस्तक कुचल देता। मेरा तो यही धर्म था।..."

"क्यों धर्मराज !" कृष्ण बोले, "मध्यम यह कर बैठते, तो वह धर्म होता ?"

"नहीं !" युधिष्ठिर बोले, "वह अधर्म होता ! अपनी इच्छा, सुख और सुविधा का नाम धर्म नहीं है।"

भीम ने जोर से भूमि पर पैर पटका, "फिर वही बात !"

"असफल और निराश व्यक्ति अपनी भूल और सीमा को समझने का प्रयत्न करने के स्थान पर धर्म को दोष देने लगता है।" कृष्ण के स्वर में आकाश की-सी गंभीरता थी।

"आप स्वयं सोचिए मधुसूदन !" नकुल स्वयं को रोक नहीं पाया, "जो कुछ धार्तराष्ट्रों से तय हुआ है, उसका अर्थ क्या है ? वे हमें अज्ञातवास में खोज निकालेंगे और हम बारह वर्षों के लिए पुनः वनों में चले जाएँगे। यदि वे हमें खोज नहीं पाए, तो भी मैं निश्चित् रूप से कह सकता हूँ कि लौटने पर या तो वे हमें इंद्रप्रस्थ लौटाएँगे नहीं, या फिर राजा धृतराष्ट्र पुनः भैया को द्यूत खेलने का आदेश देंगे। भैया फिर अपने धर्म का पालन करेंगे और दावँ हार जाएँगे। पांचाली पुनः अपमानित होगी, हम फिर निर्वासित होंगे।...यह धर्म का कौन-सा रूप है ?"

कृष्ण ने देखा : युधिष्ठिर के चेहरे पर एक प्रकार की स्वीकृति थी; शेष सब लोगों के चेहरों पर इस काल्पनिक भविष्य के सत्य होने की आशंका।

"धर्मराज !" कृष्ण का स्वर असाधारण रूप से मृदु था, "द्यूत आपका व्यसन तो नहीं है न ? आप द्यूत में इतने आसक्त तो नहीं हैं कि निमंत्रित होने पर आप स्वयं को अनुशासित न कर पाएँ; और सत्-असत्, धर्म-अधर्म का विवेक ही आपको न रहे ?"

"वासुदेव ! तुमने मुझे कभी चौपड़ बिछाए, द्यूतकों को आमंत्रित करते देखा है ?" युधिष्ठिर ने कुछ आहत स्वर में पूछा, "मुझे यह व्यसन होता, तो इंद्रप्रस्थ में द्यूत-क्रीड़ा को पल्लवित-पुष्पित होने से कौन रोक सकता था ?" युधिष्ठिर ने रुककर, कृष्ण की ओर देखा, "बात द्यूतासक्ति की नहीं, बात तो धर्म की है। धृतराष्ट्र हमारे पिता हैं; उनके आदेश का उल्लंघन नहीं हो सकता। वह अधर्म होगा।"

कुछ क्षणों तक कृष्ण, चुपचाप युधिष्ठिर की ओर देखते रहे, फिर धीरे से बोले, "मेरे मातुल कंस और आपके पितृव्य धृतराष्ट्र में क्या अंतर है ? कंस ने मेरे पिता के सारे अधिकार और धन-संपत्ति छीनकर, उन्हें कारागार में डाल दिया। धृतराष्ट्र ने युक्तियों से आपके पिता को हस्तिनापुर से बाहर रखा और उनका राज्य हथिया लिया। कंस ने मेरे भाइयों को जन्म लेते ही मार डाला; धृतराष्ट्र ने आप लोगों को मार डालने के सारे प्रयत्न किए। यह आप लोगों का सौभाग्य

था कि आप लोग बार-बार बच निकले।" कृष्ण हँसे, "आपको धृतराष्ट्र ने हस्तिनापुर में बुलाया, आप गए। कंस के निमंत्रण पर मैं भी मथुरा गया था। धृतराष्ट्र के आदेशानुसार आप द्यूत में सम्मिलित हुए और अपना सर्वस्व हार गए। मैं कंस के आदेशानुसार उसके मल्लों से लड़ा और मैंने मल्लों का ही नहीं, कंस का भी संहार कर दिया। क्या यह अधर्म था ?"

"नहीं ! नहीं ! ! तुम अधर्म कैसे कर सकते हो वासुदेव !" युधिष्ठिर बोले, "तुमने आत्मरक्षा की; अपने माता-पिता की रक्षा की; प्रजा को कंस के अत्याचारों से बचाया। अधर्म तुम्हारे निकट फटकने का साहस नहीं कर सकता।"

"और आप क्या कर रहे हैं धर्मराज !" कृष्ण के स्वर में कुछ तेज झलका, "धृतराष्ट्र ने मनमाने नियमों में बाँधकर, आपका सर्वस्व हरण कर लिया और कृष्णा का सार्वजनिक रूप से अपमान किया। आप यह सब देखते रहे और समझते रहे कि आप धर्म की रक्षा कर रहे हैं, अतः धर्म आपकी रक्षा करेगा। नहीं धर्मराज ! यही धर्म नहीं है। मैं वहाँ उपस्थित होता तो द्यूत को रोक देता, चाहे मुझे बल-प्रयोग ही क्यों न करना पड़ता। वे न मानते, तो मैं सारे धार्तराष्ट्रों का वध कर देता। इस प्रकार अपमानित और वंचित होना धर्म नहीं है।"

"तो धर्म क्या है मधुसूदन ?" युधिष्ठिर समझ नहीं पा रहे थे कि वे अपने-आप से पूछ रहे हैं, अथवा कृष्ण से !

"आपने धर्म के स्थूल रूप को ही स्वीकार किया है सम्राट् ! धर्म का मर्म अत्यन्त सूक्ष्म है।" कृष्ण बोले, "आप घट को पकड़े हुए हैं, किंतु उसके भीतर के जल को झाँककर भी नहीं देखते कि वह जल स्वच्छ है या नहीं, वह पीने योग्य है या नहीं।"

"तो धर्म का मर्म क्या है गोविन्द ?" युधिष्ठिर ने अत्यन्त दीन स्वर में कहा, "पांचाली के पूछने पर पितामह ने भी यही कहा था, 'धर्म की गति अत्यन्त सूक्ष्म है।' "

"सत्य कहा था पितामह ने," कृष्ण बोले, "धर्म का मर्म अत्यन्त सूक्ष्म है। किसी विशेष संदर्भ में मानवों के किसी समाज विशेष के द्वारा, अपनी रक्षा और कल्याण के लिए बनाए गए नियम प्रकृति का धर्म नहीं हैं। मानव-निर्मित जड़ नियम सृष्टि का सत्य नहीं हैं; धर्म की गति अत्यन्त सूक्ष्म है। अपने परिवार और उसके हितों की रक्षा, धर्म है या नहीं ?"

"है।" युधिष्ठिर बोले, "किंतु अनेक बार देखा गया है कि हितों की रक्षा से नहीं, त्याग से ही परिवार की रक्षा होती है। क्या तुम्हें नहीं लगता मधुसूदन ! कि यदि मैं पांडवों के हितों की रक्षा करने के विचार से पितृव्य की आज्ञा की अवहेलना करता, तो सारे कौरव-वंश का नाश हो जाता। ऐसे में पांडवों के हितों की रक्षा करना स्वार्थ होता, धर्म नहीं। क्या पारिवारिक शांति, उससे अधिक

मूल्यवान नहीं है ? क्या भगवान राम ने भी परिवार की शांति के लिए, यह जानते हुए भी कि वे अपने राज्य तथा् अन्य अधिकारों से वंचित हो रहे हैं, पिता की आज्ञा का पालन नहीं किया था ?"

"किया था। परिवार की शांति ही नहीं, राक्षसों के विनाश के लिए भी उन्होंने राज्य का त्याग किया था; किंतु चित्रकूट में नौ मास ठहरकर यह भी देखा था कि अयोध्या में किसी के साथ अन्याय तो नहीं हो रहा।" कृष्ण मुस्कराए, "राम जानते थे कि सुग्रीव को बाली के हाथों मरने से बचाना धर्म था, अतः उन्होंने उसकी रक्षा की, चाहे उन्हें बाली और सुग्रीव के द्वन्द्वयुद्ध में हस्तक्षेप ही करना पड़ा। जब दो आत्मविरोधी धर्म आमने-सामने खड़े हो जाएँ, तो उनमें से एक का चुनाव विवेकपूर्वक करना पड़ता है। अपनी पत्नी के सम्मान की रक्षा करना, आपका धर्म था या नहीं ?"

"था !"

"अपनी निर्दोष पौत्र-वधू के सम्मान की रक्षा करना पितामह का धर्म था या नहीं ?"

"था !"

"किंतु आप दोनों ने ही धर्म के मर्म को नहीं पहचाना।" कृष्ण बोले, "धर्म का एक मार्ग तपस्या और त्याग भी है; किंतु तपस्या का परिणाम भी सामाजिक हित ही होना चाहिए। आप अपने धर्म पर टिके रहें और आपके सम्मुख एक स्त्री का अपमान होता रहे–यह समाज-धर्म नहीं हो सकता। आपको अपने धर्म में से व्यक्ति-तत्त्व निकालकर, समष्टि-तत्त्व डालना होगा, उसमें जनहित का योग भी करना होगा; अन्यथा वह धर्म न होकर आत्मदाह हो जाएगा।..."

"केशव !"

"आप और पितामह दोनों ही देखते रहे कि आपके विरुद्ध षड्यंत्र हो रहा है; आपके और समाज के हित और कल्याण का दाह हो रहा है, किंतु आप लोग व्यक्तिगत तपस्या को अपने वक्ष से चिपकाए, अन्याय को खुली आँखों से देखते रहे; और उसे न्याय मानते रहे। नारी के अपमान में धर्म कैसे हो सकता है ? किसी के सर्वस्व के अपहरण में, किसी को वंचित करने में धर्म कैसे हो सकता है ?" कृष्ण रुके, "आप लोग धर्म के बंधन में बँधे रहे, जबकि धर्म बाँधता नहीं, मुक्त करता है। जो बाँधता है, वह मोह है, धर्म नहीं ! धर्म सदा मेरे बंधन काटता रहा और मैं मुक्ति के नये से नये आयामों का अनुभव करता रहा। मैं नये से नया कर्म करने को स्वतंत्रत होता रहा, और आप बँधते चले गए। भीष्म, धर्म को सबसे अधिक जानते हैं; और वे ही सबसे अधिक बद्ध जीव हैं। वे अपनी इसी धर्म-बुद्धि के कारण, सदा पाप और अन्याय के उपकरण बनते चले गए।"

"वासुदेव !"

"हाँ धर्मराज ! यदि आप भी समय से सचेत न हुए, तो आपकी भी वह गति होगी।"

"पितामह भीष्म और पाप के उपकरण।" युधिष्ठिर चकित भाव से कृष्ण को देख रहे थे, "वासुदेव ! इन्हीं पितामह ने तुम्हारी अग्रपूजा के लिए शिशुपाल की कहनी-अनकहनी सुनी थी।"

"वह सत्य है," कृष्ण बोले, "किंतु जिस समय निसर्ग-नियम से उन्हें स्वयं विवाह करना चाहिए था, उस समय उन्होंने युवती स्त्री से अपने वृद्ध पिता का विवाह करवाया। उसी क्षण से कुरुकुल में सब कुछ अस्त-व्यस्त हो गया। उन्होंने पितृभक्ति की तपस्या को, अपने जीवन का लक्ष्य मान लिया। वह एकांगी सत्य था : जीवन का समग्र सत्य नहीं। वह उनके व्यक्तिगत उत्थान के लिए साधना हो सकती है; किंतु समाज का सम्यक् धर्म नहीं। एकांगी धर्म, समग्र धर्म नहीं होता। यदि व्यक्ति सावधान न हो तो, एकांगी धर्म अनेक बार अधर्म और पाप का उत्स बन जाता है। पितामह ने अपनी व्यक्तिगत साधना के सम्मुख लोकधर्म तथा राजधर्म की सर्वथा अवहेलना की। अपने जीवन के आश्रम-धर्म की अवहेलना की। यदि उन्हें आश्रम-धर्म के अनुसार जीवन-यापन नहीं करना था, तो संन्यास ग्रहण कर, वनवास करते—तो भी शायद जन-सामान्य की इतनी क्षति नहीं होती। क्या नीति है उनकी—परिवार में रहेंगे, शासन के केन्द्र में रहेंगे; और शासन-सूत्र अपने हाथ में नहीं लेंगे। शासन-तंत्र अधर्म करेगा, तो उसका प्रतिवाद नहीं करेंगे? क्योंकि शासन में हस्तक्षेप न करने की उन्होंने प्रतिज्ञा की है···उनका सारा प्रयत्न शासन-तंत्र की रक्षा के लिए होगा, उसके लिए अपने प्राण दे देंगे, चाहे शासन-तंत्र कितना ही अत्याचारी क्यों न हो। दुर्योधन के हाथ में शासन है, इसलिए दुर्योधन को भी उनका संरक्षण मिल रहा है। आज, दुर्योधन के सबसे बड़े संरक्षक कर्ण, द्रोण और धृतराष्ट्र नहीं, स्वयं भीष्म हैं। वे सभा में न आते, तो स्थिति कुछ और होती। वे सभा में वर्तमान रहेंगे और देखेंगे कि कौरव, पांचाली का अपमान किस प्रकार करते हैं··।"

युधिष्ठिर ही नहीं, अन्य पांडव और द्रौपदी भी, आज पितामह को एक नई दृष्टि से देख रहे थे। वे जो कुछ सुन रहे थे, यह उनके मन में पहले कभी नहीं आया था। अनुभव उन्होंने भी कई बार किया था कि पांडवों से उत्कट प्रेम करते हुए भी, अनेक अवसरों पर वे उनकी सहायता को नहीं आए थे। और तो और, जिस समय उनकी पौत्र-वधू सार्वजनिक रूप से निर्वस्त्र की जा रही थी, तब भी वे 'धर्म की गति अत्यन्त सूक्ष्म है', कहकर ग्रीवा झुकाए बैठे रहे थे।

"नहीं ! तुम पितामह के प्रति अधिक कठोर हो रहे हो वासुदेव ! धर्मात्मा भीष्म पाप और अधर्म के उपकरण नहीं हो सकते।" अर्जुन का प्रतिवाद पर्याप्त नम्र होते हुए भी प्रभावकारी था, "उनकी मान्यताएँ तुमसे भिन्न हैं। देश और

काल के भेद से मान्यताएँ भिन्न हो जाती हैं। वे अपनी मान्यताओं के प्रति पूर्णतः आस्थावान हैं। उन्हें अपना धर्म मानते हैं; और पूरी निष्ठा से उन पर आचरण करते हैं। हमारे समाज में, हमारे कुल में पुत्रों ने अपने पिता के लिए अपना यौवन दे दिया। पितामह ने अपने पिता की प्रसन्नता के लिए अपने जीवन का भोग त्यागा। धर्मराज, पितृ-तुल्य राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा की अवहेलना नहीं कर सके। इतने भर से ये लोग पापी नहीं हो सकते।"

"पूर्व-मान्यताओं और आस्था से मेरा कोई विरोध नहीं है।" कृष्ण बोले, "किंतु पूर्व-मान्यताओं पर प्रश्न-चिह्न लगाना भी सीखना चाहिए। उन मान्यताओं का परिणाम भी देखना चाहिए। परिणाम तो गला फाड़-फाड़कर कहता है कि क्या अच्छा है और क्या बुरा! क्या शुभ है, क्या अशुभ। कौरवों की राजसभा में जो कुछ हुआ, उसके पश्चात् भी क्या पितामह यह नहीं देख पा रहे कि अपनी जिस मान्यता को वे धर्म माने बैठे हैं, वह धर्म है या अधर्म! व्यवस्था के भीतर रहकर ही नहीं, कभी व्यवस्था का अतिक्रमण करके भी सोचना चाहिए।" कृष्ण क्षणभर रुककर बोले, "मैं पितामह के चरित्र का बहुत सहानुभूतिपूर्वक विश्लेषण करूँगा, तो भी यही कहूँगा कि वे दो पीढ़ी पुराने व्यक्ति हैं–जिन मान्यताओं को उन्होंने एक बार अपने धर्म के रूप में ग्रहण कर लिया है, वे उन्हीं को जीवन का सत्य और धर्म का मर्म मानेंगे। न पितामह को परिवर्तित किया जा सकता है, न उनकी मान्यताओं को। किंतु, उनकी मान्यताओं के परिणामस्वरूप, हो रहे अधर्म को देखते हुए, हम यह तो कहेंगे ही, कि वे स्वयं चाहे कितने ही धर्मात्मा हों; किंतु उनके धर्म के कारण अब पाप का पोषण होने लगा है; और वे स्वयं उसका उपकरण बन रहे हैं।"

"नये युग के साथ मानवता की मान्यताएँ तो बदलती ही हैं।" अर्जुन बोला, "किंतु कुछ संबंध शाश्वत होते हैं। पितामह की अवज्ञा किसी भी युग में संतान का धर्म नहीं है। कल, तुम्हारे पुत्र तुम्हारी अवज्ञा करें तो?"

"मेरे ही सिद्धांतों में मुझे बाँधने का प्रयत्न कर रहे हो।" कृष्ण मुस्कराए, "मतभेद का अर्थ सदा अनादर और अवज्ञा ही नहीं होता। तुम लोग स्वयंवर से लौटे तो अपनी माता की आपत्ति और इच्छा को देखते हुए, धर्मराज ने कृष्णा के–पाँचों पांडवों से विवाह का प्रस्ताव रखा। कृष्णा के प्रति अपने अनुराग तथा उस पर अपने-अपने अधिकार का संयमन कर, तुम लोगों ने अपनी माता की इच्छा पूरी की।...दूसरी ओर मेरे अपने पुत्र प्रद्युम्न ने वय में स्वयं से कहीं बड़ी, माया से विवाह कर लिया। निश्चित् रूप से मैं और रुक्मिणी, अपने पुत्र के लिए, ऐसी वधू नहीं चुनते। फिर भी मैं इसे अपनी अवज्ञा नहीं मानता। मैं तुम लोगों से भी प्रेम करता हूँ और प्रद्युम्न से भी; यद्यपि तुम दोनों का आचरण पर्याप्त भिन्न था। तुम्हारा अपनी माता की इच्छा का सम्मान सद्भावना से परिपूर्ण था; और

उसका परिणाम भी शुभ ही हुआ। तुम सबकी एकता और आत्मीयता सुरक्षित रही। किंतु यदि तुम्हारी माता की इच्छा पांचाली को मान्य न होती; यदि वह उसका विरोध करती; यदि वह उसे अपने साथ अत्याचार मानती और तुम अपनी माता की इच्छा, उस पर बलात् आरोपित करते, तो तुम्हारा धर्म, सद्भावना और सदेच्छापूर्ण होते हुए भी, अधर्म को ही जन्म देता। यदि मैं और रुक्मिणी, अपने पुत्र की विवाहिता पत्नी को एक अनुपयुक्त चुनाव मानकर अस्वीकार कर देते, तो संतान के प्रति वात्सल्य और सदेच्छा होते हुए भी, हमारा कृत्य अधर्मपूर्ण होता।"

"किंतु चर्चा तो भीष्म के, पाप का उपकरण बन जाने की थी।" सहसा धृष्टद्युम्न ने कहा।

"हाँ !" कृष्ण बोले, "सत्यवती, पराशर की अनुरागिनी थी। उसका विवाह, पितामह ने अपने पिता शांतनु से करवा दिया। वृद्धावस्था में जैसी संतानें हो सकती थीं, शांतनु की वैसी ही संतानें हुईं। जो शासन करने योग्य नहीं था, भीष्म ने उसके हाथों में सत्ता सौंपी और स्वयं न्यायान्याय का भेद समझते हुए भी, अधिकार से दूर भागते रहे।···जो विवाह-योग्य नहीं था, उसका विवाह कराने के लिए तीन-तीन कन्याओं का अपहरण किया। नारी का अपमान···।"

"क्यों, तुमने रुक्मिणी का अपहरण नहीं किया ?" भीम ने बड़े सरस भाव से आपत्ति की, जैसे न वह पितामह का पक्ष ले रहा हो, न कृष्ण का विरोध कर रहा हो, बस अखाड़े में दी गई एक पटकनी का आनन्द ले रहा हो।

"अखाड़े में जमकर व्यायाम करने के पश्चात् किसी अच्छे गुरु से थोड़ा-सा व्याकरण भी पढ़ लेना चाहिए मध्यम !" कृष्ण मुस्कराए, "अपहरण और हरण में बहुत अंतर है। रुक्मिणी-हरण का अर्थ था, उसे उसके पिता और भाई के अत्याचार से मुक्ति दिलाना, उसकी इच्छा के विरुद्ध उस पर बलात् आरोपित 'पति' से उसकी रक्षा करना; और उसको, उसके मनोवांछित पति से मिला देना। संसार में हिडिंबा के अतिरिक्त भी ऐसी स्त्रियाँ हैं, जो अपने लिए पति का चयन स्वयं करती हैं।" कृष्ण मुस्कराए, "यदि मैं उस समय रूढ़ धर्म में बँध जाता कि कन्या अपने पिता की संपत्ति है, पिता की इच्छा के विरुद्ध उसकी संपत्ति को हाथ कैसे लगाया जाए, तो जरासंध की इच्छा पूरी हुई होती। रुक्मिणी के पिता उसकी इच्छा के विरुद्ध उसका विवाह शिशुपाल से कर देते।···किंतु मेरा धर्म मुझे बाँधता नहीं है। मैं स्त्री को पुरुष की संपत्ति नहीं मानता—न पिता की, न पति की; और न पुत्र की। वह मनुष्य है, चेतन प्राणी है—तो वह किसी की संपत्ति कैसे हो सकती है। स्त्री और पुरुष में भेद केवल शरीर का है, आत्मा का नहीं। आत्मा तो निर्लिंग होती है। स्त्री अपने-आप में स्वतः संपूर्ण, स्वतंत्र प्राणी है। उसकी इच्छा का भी उतना ही महत्त्व है, जितना किसी पुरुष की इच्छा का।

उसका मनोवांछित पुरुष ही उसका पति हो सकता है। मनोनुकूलता के कारण नारी-पुरुष संबंध अपार्थिव प्रेम को जन्म देता है; और मन की ही प्रतिकूलता से यह संबंध पाप में परिणत हो जाता है।...''

"तो सुभद्रा-हरण के समय तुमने सुभद्रा की इच्छा जाने विना, अर्जुन की सहायता कैसे की ?'' भीम ने पुनः नटखट-सी आपत्ति की।

"उसकी इच्छा जानने के लिए ही तो हरण की योजना बनाई थी।'' कृष्ण बोले, "और एक बार सुभद्रा की इच्छा जान लेने के पश्चात् अर्जुन और सुभद्रा की सहायता करना मेरा धर्म हो गया। ऐसा न होता, तो मैं भी कुल-गौरव के नाम पर, अन्य यादवों के समान, अर्जुन से युद्ध करता। मेरा धर्म कहता है कि दो प्राणियों का प्रेम, अलौकिक सत्य है। उस सत्य के समर्थन में मुझे सक्रिय योगदान देना है : एक मिथ्या कल्पना के मोह में वँधकर सत्य का विरोध नहीं करना है।...''

"माधव ! मैं तो और भी उलझता जा रहा हूँ,'' धृष्टद्युम्न बोला, "आप कह रहे हैं कि रुक्मिणी और सुभद्रा का हरण तो धर्म-सम्मत था, किंतु भीष्म द्वारा काशिराज की कन्याओं का हरण धर्म-सम्मत नहीं था।...''

"हाँ !'' कृष्ण का स्वर अत्यन्त प्रखर हो आया था, "भीष्म अपने क्षात्र-धर्म के उन्माद में, उन तीन कन्याओं का हरण कर लाए। अंवा को उसके प्रेमी शाल्व से छीनकर, उसे तिरस्कृत और अपमानित किया। अंविका और अंवालिका को उस पुरुष को सौंप दिया, जो न पति होने योग्य था, न पिता !...और जब संतान नहीं हुई, तो उन दोनों की इच्छा के विरुद्ध, उन्हें व्यासदेव को सौंप दिया।'' कृष्ण कुछ रुके, "तुम कहोगे मध्यम ! कि नियोग की अनुमति समाज भी देता है, शासन भी और धर्म भी। किंतु नियोग का अर्थ है, जहाँ नारी, संतान की उत्कट आकांक्षा में, अपने पति की असमर्थता तथा इच्छा जानकर किसी सात्विक तथा प्रिय व्यक्ति से संतान की याचना करे। किसी स्त्री को उसकी प्रतिकूल मानसिकता में, किसी भी पुरुष की शैया पर धकेल देना, नियोग नहीं है। पितामह ने अपने एकांगी धर्म का निर्वाह करने के लिए यह भी किया।...''

"वासुदेव !'' युधिष्ठिर ने कृष्ण को टोका, "धर्म है क्या ?''

"एक वात और कह दूँ।'' कृष्ण ने युधिष्ठिर की ओर ध्यान दिए विना, अपने प्रवाह में कहा, "यदि भविष्य में कभी तुम्हारा और धार्तराष्ट्रों का युद्ध हुआ–जिसकी संभावना, वहुत अधिक है–तो तुमसे वहुत अधिक स्नेह करते हुए भी, तुम्हारा पक्ष न्याय का पक्ष मानते हुए भी, वे धार्तराष्ट्रों की ओर से युद्ध करेंगे, क्योंकि वे अपने रूढ़ राजधर्म से मुक्त नहीं हो पाएँगे।''

"मैं पूछ रहा हूँ वासुदेव ! कि धर्म क्या है ?'' युधिष्ठिर ने पुनः कहा।

"भैया के प्रश्न से पहले, एक प्रश्न मेरा भी है।'' अर्जुन ने मुस्कराकर कहा,

"धर्मावतार कर्ण के विषय में तुम्हारा क्या विचार है ? कुछ लोगों की दृष्टि में वह भी धर्म का एक स्तंभ है।"

"कर्ण !" कृष्ण मुस्कराए, "वह गंगा में खड़े होकर, सूर्य की पूजा करने और याचक को दान देने को, संसार का सबसे बड़ा धर्म मानता है; और उसके पश्चात् वह कुल-वधुओं के अपमान का समर्थन करता है। दुर्योधन और शकुनि जैसे पापियों की संगति कर, उन्हें अपना संरक्षक मान, उनकी रक्षा करता है। ऐसा पाप-समर्थक व्यक्ति, धर्म के मर्म को कभी नहीं समझता, केवल धार्मिक होने का स्वांग करता है; और सच्चे मन से विश्वास करता है कि वस्तुतः वही सच्चा धार्मिक है।"

"तो केशव ! हमें धर्म का मर्म समझाओ।" युधिष्ठिर पुनः बोले।

"अनासक्त विवेक है धर्म ! अनासक्ति ! मोह का पूर्ण त्याग !" कृष्ण बोले, "मोह किसी के प्रति नहीं होना चाहिए—न जाति के प्रति, न संबंध के प्रति, न सिद्धांत के प्रति ! धर्म सदेच्छा और सद्परिणाम में है। यदि परिणाम शुभ नहीं है, तो व्यक्ति को अत्यन्त निर्भय होकर अपनी धर्म-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था और शासन-व्यवस्था को परखना चाहिए। अपने धर्म के भयंकर परिणामों को देखकर भी आपने उसकी सत्यता में संदेह नहीं किया। आप देख रहे थे कि कौरव आपका सर्वस्व-हरण करने तथा आपको निरादृत एवं अपमानित करने के लिए षड्यंत्र कर रहे हैं, फिर भी आप उनके साथ द्यूत के लिए बैठ गए। आप जानते हैं कि यदि फिर ऐसी स्थिति आई और धृतराष्ट्र ने पुनः आपको आदेश दिया, तो आप फिर द्यूत खेलेंगे।"

"मैं महाराज के आदेश का तिरस्कार कैसे कर सकता हूँ।" युधिष्ठिर ने कहा, "वे हमारे पिता हैं।"

"नहीं !" भीम ने अपना भारी पैर भूमि पर पटका।

"यदि फिर ऐसा हुआ, तो सर्वनाश हो जाएगा।" कृष्ण बोले, "आपके ये भाई, स्वार्थवश आपके साथ नहीं हैं। वे धर्मतः आपके साथ हैं।...आपका धर्म उनकी रक्षा करना है, उन्हें द्यूत में हारना नहीं; और उनका धर्म स्वयं को आपकी प्रसन्नता के लिए न्यौछावर करना है।...हम सबने मिलकर एक धर्म-साम्राज्य की स्थापना की थी, जो मानव-कल्याण को अपना लक्ष्य मानता था। आपने अपने मोह में उसे अपनी व्यक्तिगत संपत्ति मानकर, द्यूत के दावँ पर लगा दिया। व्यक्तिगत संपत्ति का त्याग कर कष्ट सहना, किसी के लिए व्यक्तिगत साधना हो सकती है; किंतु वह राज्य न आपके भोग के लिए था, न त्याग के लिए। वह जनहित के लिए था और आप उसके रक्षक मात्र थे। मानव-कल्याण के लिए स्थापित वह धर्मराज्य, आपने इतनी सुविधा से उस दुर्योधन को समर्पित कर दिया, जो घोषित पापी है, आततायी है। जरासंध और शिशुपाल का वध इसलिए नहीं किया

गया था कि इंद्रप्रस्थ का राज्य दुर्योधन को प्राप्त हो सके।"

"पर मेरा धर्म !" युधिष्ठिर का स्वर अत्यन्त दीन हो आया था, "मैं महाराज धृतराष्ट्र का कहा नहीं टाल सकता। उनकी इच्छा को जानते हुए, उनका विरोध नहीं कर सकता।"

"विवेकी पुरुष अपने बंधनों को ज्ञान से काटता है।" कृष्ण मुस्कराए, "धर्मराज ! आप जब अपने छोटे भाइयों तथा माता के साथ, अनाथ-से, हिमालय-क्षेत्र से हस्तिनापुर आए थे, तब आप अजाने ही स्वयं को अत्यन्त तुच्छ, अकिंचन, असहाय और असुरक्षित मान बैठे थे। उस समय आपने धृतराष्ट्र को देखा–वे अवस्था में आपसे वड़े थे; संबंध की दृष्टि से आपके पिता थे; समर्थ थे, संपन्न थे, राजसी वैभव और गौरव से मंडित थे। आपके मन में उनके प्रति सम्मान के स्थान पर उनका आतंक समा गया था। आपने मान लिया था कि, उस व्यक्ति की प्रसन्नता से ही आप सुरक्षित रह सकते हैं। उसकी अप्रसन्नता आपके लिए हानिकारक हो सकती है। आपके बाल-मन की ये मोहग्रस्त धारणाएँ, आपके व्यक्तित्व में बद्धमूल हो गई हैं।...आप बड़े हुए, समर्थ हुए, स्वतंत्र राजा हुए, राजसूय यज्ञ कर चक्रवर्ती सम्राट् हुए; किंतु अपने मन के उस बंधन को आप काट नहीं पाए। उसी बंधन को आप, अपना धर्म समझे बैठे हैं।"

कृष्ण रुक गए। अपने आसपास बैठे, उन सब लोगों पर उन्होंने दृष्टि डाली। वे लोग बहुत ध्यान से उनकी बात सुन रहे थे। कृष्ण की दृष्टि, लौटकर पुनः युधिष्ठिर पर जम गई, "धृतराष्ट्र के मन में भी आपके प्रति पुत्र-भाव होता, वे दुर्योधन और आप में थोड़ा-सा न्याय कर सकते; अथवा वे दुर्योधन के प्रति अपने अंध-प्रेम के कारण इतने जड़ न हो चुके होते, जो शायद आपके मन में निहित वह आतंक भी उतना हानिकारक न होता; किंतु ऐसा नहीं है। दुर्योधन के प्रति धृतराष्ट्र का मोह कोई सीमा नहीं जानता। यह जानते हुए भी कि दुर्योधन दुष्ट, पापी, अन्यायी, स्वार्थी और अधर्मी है, वे उसको रोकना तो दूर, उसे अप्रसन्न करने का साहस भी नहीं कर सकते। धृतराष्ट्र न्यायी और स्वतंत्र राजा नहीं हैं, वे अपने पुत्र की इच्छाओं के संकेत पर नृत्य करने वाली काष्ठ-पुत्तलिका हैं। ऐसे में आपका धर्म, उनके स्वार्थपूर्ण, वंचनायुक्त आदेशों का पालन करना है, अथवा उनके षड्यंत्रों से अपनी और अपने पर आश्रित भाइयों, पत्नी, माता और अपनी संतानों की रक्षा करना ?"

"मैं अपना धर्म दोनों ओर देख रहा हूँ।" युधिष्ठिर कोमल स्वर में बोले, "किंतु उन दोनों का पालन एक साथ हो नहीं सकता।"

"एक बात पर आपको और विचार करना चाहिए धर्मराज !" युधिष्ठिर को असमंजस में देखकर, कृष्ण ने पुनः कहा।

युधिष्ठिर ने सिर उठाकर उनकी ओर देखा।

"आप अपने भाइयों में सबसे बड़े हैं।" कृष्ण बोले, "आपके भाइयों ने अपने शैशव से आपको सदा उसी प्रकार स्वयं से बड़ा और समर्थ माना है, जिस प्रकार आप आज तक धृतराष्ट्र को मानते आए हैं। इसलिए वे आपके वैसे ही बद्धजीव हैं, जैसे आप धृतराष्ट्र के हैं। वे यह भी समझते हैं कि पांडवों की एकता ही उनका बल है; इसलिए वे आपकी संपत्ति बने बैठे हैं। कौरवों की राजसभा में, उन्होंने आपके प्रति अपने प्रेम और भक्ति की अग्नि-परीक्षा दी है। मध्यम ने यद्यपि क्रोध में कुछ अपशब्द कहे हैं; किंतु मर्यादा उन्होंने भी नहीं तोड़ी।…किंतु ऐसी परीक्षा बार-बार लेने का संकट मत उठाइएगा। विवेक के विकास से व्यक्ति में अपने बंधन तोड़ने की इच्छा भी जागती है और क्षमता भी। धर्म, अनासक्त विवेक का ही दूसरा नाम है। ऐसा न हो धर्मराज ! कि आपका मोह न टूटे और आपके भाइयों अथवा आपकी पत्नी को अपनी मर्यादा तोड़नी पड़े।…"

युधिष्ठिर स्तब्ध से बैठे, कृष्ण को देखते रहे।

"ये कठोर बातें इसलिए कह रहा हूँ," कृष्ण के अधरों पर अग्नि को शीतल करने वाली मुस्कान आ विराजी, "कि वनवास की इस अवधि में आप अपने मोह को पहचान सकें। पहले हमें अपने मोह से लड़ना पड़ता है, तभी तो हम अधर्म से लड़ सकते हैं।…और धर्मराज ! यह तो आप जानते ही हैं कि तपस्या व्यक्तिगत सत्य है; किंतु धर्म तो सामूहिक सत्य ही होगा।"

"हाँ ! शायद यही भेद मेरे मन में अभी स्पष्ट नहीं हो पाया है।" युधिष्ठिर ने जैसे अपने-आपसे कहा।

पांडवों के चेहरे कुछ उत्फुल्ल हो आए। द्रौपदी के मुख-मंडल से जैसे किसी ने पीड़ा को पोंछ दिया। धृष्टद्युम्न का उल्लास सबसे अधिक मुखर था।

सुभद्रा ने पहली बार मुख खोला, "कहीं आप पहले आ गए होते भैया !" उसके चेहरे पर बहन के लाड़ और बेटी के अधिकार के सारे भाव एक साथ विद्यमान थे।

कृष्ण ने मुस्कराकर उसे देखा, "आ सका होता, तो अवश्य आ गया होता। मेरे सम्मुख भी द्वन्द्व था : शाल्व की हिंसा से द्वारका को बचाऊँ अथवा दुर्योधन की हिंसा से पांडवों को ?…किंतु मैं जानता था, पांडव उस कष्ट को सहकर भी जीवित रहेंगे, दुर्योधन को उसके अत्याचारों के लिए दंडित करेंगे, और अपना राज्य पुनः प्राप्त करेंगे; किंतु यदि द्वारका की रक्षा न की जाती, तो शाल्व द्वारका और यादवों को जलाकर क्षार कर देता। उनका पुनर्जीवन कठिन था।" सहसा कृष्ण रुक गए, "अतीत को छोड़ पगली ! भविष्य की बात कर।" कृष्ण के नयनों से जैसे साक्षात् स्नेह बह रहा था, "मेरे साथ द्वारका चलोगी; अथवा अपने पति के साथ वन में रहोगी ?"

"उसे धर्म-संकट में मत डालो मित्र !" अर्जुन ने सुभद्रा को उत्तर देने का

अवसर नहीं दिया, "वह तुम्हारे साथ द्वारका जाएगी।"

'क्यों ?" सुभद्रा ने जैसे प्रतिवाद किया।

"क्योंकि अभिमन्यु अभी छोटा है।" अर्जुन ने कहा, "उसका वन में रहना अभी उचित नहीं। वन्य-जीवन की कठोरता, उसके विकास को अवरुद्ध करेगी।"

"वन्य-जीवन की कठोरता उसकी क्षमताओं को विकसित करने में सहायक भी हो सकती है।" सुभद्रा के शब्दों में तो असहमति थी; किंतु उसके स्वर में तनिक भी विरोध नहीं था।

"केवल असुविधाओं की वात होती, तो मैं तुमसे सहमत हो जाता।" अर्जुन सहज भाव से बोला, "किंतु इस सारी अवधि में दुर्योधन और उसके दुष्ट मित्र, हमें उद्विग्न करते रहेंगे। ऐसी स्थिति में स्त्रियों और वच्चों का हमारे साथ वन में रहने से अच्छा है कि वे किसी सुरक्षित स्थान पर रहें...और अभिमन्यु को तो वैसे भी कृष्ण से शस्त्रास्त्रों का शिक्षण तथा युद्ध-कौशल प्राप्त करना है। वह द्वारका ही जाएगा; और तुम उसके साथ रहोगी।"

"धनंजय ने ठीक कहा है।" कृष्ण वोले, "अज्ञातवास के एक वर्ष में सबसे अधिक कठिनाई होगी। जितने अधिक लोग साथ रहेंगे, उनके पहचाने जाने की संभावना, उतनी ही बढ़ जाएगी। इसलिए वन में वे ही लोग रहें, जिनका वनवास आवश्यक है।"

"श्रुतकर्मा भी छोटा है धनंजय ! उसे भी शस्त्र-विद्या और युद्ध-कौशल की प्राप्ति करनी है। वह भी धृष्टद्युम्न के साथ कांपिल्य जाएगा।" द्रौपदी ने पूर्णतः निश्चयात्मक स्वर में कहा, "किंतु मैं उसके साथ कांपिल्य नहीं जा रही। इसलिए नहीं कि द्यूत में मैं भी पांडवों के साथ दावँ पर लगाई गई और धर्मतः मुझे भी अपने पतियों के साथ वन में रहना होगा; वरन् इसलिए कि मैं चाहती हूँ कि इन तेरह वर्षों में मेरे वीर पति निरंतर मेरे इन खुले हुए केशों को देखते रहें, जिन्हें अपनी मुट्ठी में जकड़ कर, दुःशासन मुझे घसीटता हुआ द्यूत-सभा में लाया था।"

"कृष्णे !" कृष्ण ने अत्यन्त स्नेहयुक्त स्वर में कहा, "उससे तुम्हारे पतियों के लिए कठिनाई उत्पन्न नहीं होगी ?"

"केशव ! मेरे मन में अपने इन पतियों के लिए, इतनी कटुता है कि यदि मैं तेरह वर्ष इनसे पृथक् रही, तो अपने आक्रोश के कारण इस कटुता को विष में वदल डालूँगी।" द्रौपदी ने कहा, "अच्छा है कि मैं इनके साथ रहूँ और लड़-झगड़कर, खीझकर, रूठकर—जैसे भी हो, इनसे अपना मन-मुटाव दूर कर लूँ।"

"और तुम्हारी सुरक्षा ?" धृष्टद्युम्न ने पूछा।

"मेरे पति असमर्थ नहीं हैं।" द्रौपदी जैसे तड़पकर वोली।

"पर कहीं कोई धर्म-बंधन...?"

"नहीं ! अव कोई धर्म-बंधन, मुझे अपनी पत्नी की रक्षा से नहीं रोक सकता।"

भीम वोला, "विवाद की स्थिति में मैं आपद्धर्म का अवलंव लूँगा।..."

"ठीक है।" अर्जुन बोला, "ज्येष्ठ को आपत्ति न हो तो पांचाली हमारे साथ वन में रहे। वच्चे, धृष्टद्युम्न के साथ कांपिल्य में अपनी शिक्षा पूरी करें। सुभद्रा और अभिमन्यु द्वारका जाएँ। करेणुमती धृष्टकेतु के साथ जाए।...ये सारे वालक भावी युद्ध की तैयारी करें।"...

"आप सहमत हैं धर्मराज ?" कृष्ण ने पूछा।

युधिष्ठिर क्षणभर के लिए शून्य में देखते रहे। फिर बोले, "मैंने द्यूत-सभा में वारह वर्षों के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास का वचन दिया है। मेरी इच्छा है कि मुझे अपने इस धर्म का पालन करने दिया जाए। इस समय हम दुर्योधन से युद्ध की योजना न वनाएँ।"

"और तेरह वर्षों के पश्चात् ?" कृष्ण ने पूछा।

"तेरह वर्ष पश्चात् हम युद्ध का निश्चय भी कर सकते हैं।" युधिष्ठिर वोले, "मैं अपने भाइयों में सवसे वड़ा अवश्य हूँ; किंतु अव वे भी वड़े हो गए हैं। उनकी मानसिक और शारीरिक क्षमताओं का विकास हो चुका है। अव उन्हें मेरी इच्छा को आदेश मानने की आवश्यकता नहीं है। हम सव स्नेह और समानता के आधार पर, परस्पर विचार-विमर्श कर, अपने सामूहिक धर्म का निर्णय करेंगे।"

कृष्ण की मुस्कान वहुत ही मोहक थी, "धर्मराज ! आपने कौरवों के साथ होनेवाले आगामी युद्ध में, आज पांडवों की विजय निश्चित् कर दी है।"

11

कृष्ण और अर्जुन धीरे-धीरे, वन में आगे बढ़ते चले गए। वे दोनों साथ तो थे, किंतु अपनी-अपनी चिंताओं में लीन !

"क्या सोच रहे हो फाल्गुन ?" कृष्ण ने पूछा।

अर्जुन मुस्कराया : बहुत आत्मीयता के क्षणों में कृष्ण उसे इसी नाम से संबोधित करते थे।

"सोचना क्या है !" वह वोला, "पिछली घटनाओं का ही चर्वण कर रहा हूँ। क्या उनके विश्लेषण के मध्य से हमारे भविष्य का कोई मार्ग निकलेगा ?"

"यदि मनुष्य की प्रज्ञा, अपने अनुभवों से प्राप्त पूँजी है, तो हमें समझना चाहिए कि उसका अतीत ही उसकी प्रज्ञा का आधार है।" कृष्ण मुस्कराए, "अपने अतीत की ओर से आँखें बंद कर, अज्ञात भविष्य में पाथेय-शून्य यात्रा तो लाभकारी नहीं हो सकती।"

"किंतु हमारा अपना अनुभव तो यह नहीं कहता कृष्ण !" अर्जुन बोला,

"यदि मैं अपने जीवन से निष्कर्ष निकालने लगूँ, तो कहूँगा कि ईश्वर अत्यन्त क्रूर है। वह लोगों को बिना कोई आरोप लगाए, बिना उन्हें अपनी ओर से स्पष्टीकरण का कोई अवसर दिए, दंडित करता रहता है। यह भी देखा गया है कि अच्छे कर्मों का फल दंड है; और बुरे कर्मों का फल, पुरस्कार। भला व्यक्ति तो इस संसार में सुखी रह ही नहीं सकता; और बुरे व्यक्ति को कभी कोई दुख नहीं होता।..."

कृष्ण अपनी लीलामयी दृष्टि से अर्जुन को देखते रहे। अर्जुन ने जब अपनी दृष्टि उठाकर, कृष्ण की मुद्रा को देखा, तो उसकी जिह्वा कुछ इस प्रकार रुक गई, जैसे अकस्मात् सारथि द्वारा वल्गा खींच लिए जाने पर, रथ में जुते घोड़ों को रुकना पड़ता है।

"क्या बात है ?" कृष्ण ने पूछा, "तुम्हारा यह प्रवाह रुक क्यों गया ?"

"तुम बहुत विचित्र व्यक्ति हो।" अर्जुन कुछ झल्लाया हुआ-सा बोला, "तुम्हें किसी का दुःख, रंचमात्र भी नहीं छूता क्या ? वह ईश्वर भी तुम्हारे ही समान असंवेदनशील होगा।"

"किसी का दुःख मुझसे बाहर है कहाँ ! और ईश्वर हमसे भिन्न अथवा दूर होता है क्या ?" कृष्ण का स्वर गंभीर था, "किंतु धनंजय ! तुम दुःख और सुख के बाहर कुछ नहीं सोच सकते ? अच्छे और बुरे में विभाजित किए बिना, कर्म को केवल कर्म के रूप में नहीं देखा जा सकता क्या ? क्या 'फल' मात्र 'परिणाम' नहीं हो सकता ? उसका 'दंड' अथवा 'पुरस्कार' होना ही क्यों आवश्यक है ?"

अर्जुन पहले तो अवाक् खड़ा कृष्ण को देखता रहा, फिर जैसे सयत्न बोला, "मैं तुम्हारा अभिप्राय नहीं समझा !"

कृष्ण ने अपने दाएँ पैर के अंगूठे से भूमि पर से कुछ मिट्टी खुरच ली और अर्जुन का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट कराते हुए कहा, "मैंने अपने पैर के अंगूठे से मिट्टी कुरेदी। मेरे नख पर कुछ मिट्टी चिपक गई। अब तुम क्या कहोगे, 'मैंने धरती को कष्ट पहुँचाया और उसने प्रतिशोध-स्वरूप मेरा पाँव मलिन कर दिया; अथवा मैंने कुछ श्रम किया और उसके पुरस्कार-स्वरूप पृथ्वी ने मुझे कुछ मिट्टी दे दी।"

"यह तो देखने वाले के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है।" अर्जुन बोला, "यदि तुमने मिट्टी प्राप्त करने के लिए यह कर्म किया था, तो तुम सफल हुए; और यदि तुमने धरती के साथ मात्र क्रूर क्रीड़ा की थी, तो तुम्हें दंड मिला।"

"और यदि मैंने मात्र एक कर्म किया। न कुछ पाना चाहा, न किसी को कष्ट देना चाहा; तो ?"

"...पर हम इस प्रकार निष्प्रयोजन कर्म तो करते ही नहीं।" अर्जुन ने उत्तर दिया।

"तो कर्म को केवल कर्म के रूप में देखना सीखो। प्रत्येक क्रिया को अच्छी और बुरी श्रेणियों में विभाजित करने से ऊपर उठो। प्रत्येक प्रतिक्रिया को 'पुरस्कार' अथवा 'दंड' विशेषण लगाकर मत परखो।"

"उससे क्या होगा ?" अर्जुन ने कुछ धृष्ट होकर पूछा, "उससे हमारे जीवन की समस्याएँ सुलझ जाएँगी क्या ? हमारे कष्ट कम हो जाएँगे ? संसार में न्याय की वृद्धि होगी ? क्या होगा उससे ?"

कृष्ण आगे बढ़ते चले गए और जाकर वृक्ष की छाया में बैठ गए, जैसे अर्जुन ने उनसे कोई प्रश्न ही न पूछा हो, या वे उसका उत्तर न देना चाहते हों।

अर्जुन उनके निकट पहुँचते-पहुँचते अपने भीतर कहीं थोड़ी-सी खीझ का अनुभव करने लगा था। बोला, "क्यों ? कोई उत्तर नहीं है ?"

कृष्ण मुस्कराए, "उससे तुम ईश्वर के कुछ निकट पहुँच जाओगे। उसके स्वरूप का कुछ आभास होगा तुम्हें। उससे कुछ अधिक प्रेम करने लगोगे तुम!"

"कैसे ?"

"एक विधवा के दो पुत्र हैं। एक स्वस्थ, सक्षम, सुंदर और बुद्धिमान है," कृष्ण बोले, "और दूसरा न अधिक सुंदर है, न सक्षम, न बुद्धिमान; वरन् वह थोड़ा मंद-बुद्धि है। यदि उनमें से बुद्धिमान पुत्र की अकस्मात् ही मृत्यु हो जाए और विधवा उस मंद-बुद्धि बालक के साथ अकेली रह जाए, तो तुम क्या कहोगे इसे ? ईश्वर का अन्याय; अथवा तुम यह सोचोगे कि वह विधवा पापिष्ठा है, इसलिए ईश्वर ने उसे दंडित किया। उस दुःख की स्थिति में, तुम्हारे जैसा संवदेनशील व्यक्ति क्या उससे कह सकेगा कि वह पापिष्ठा है, इसलिए प्रभु ने उसे उसके पापों का दंड देकर अच्छा ही किया, अथवा तुम उससे यह कहोगे कि स्रष्टा और नियंता, अन्यायी तथा अत्याचारी है ! स्रष्टा ने उसके साथ अन्याय किया है, इसलिए वह उसकी रची इस सृष्टि को दंडित करे ! क्या इन दोनों से परे कोई तीसरी बात नहीं हो सकती ?" कृष्ण इस प्रकार मुस्करा रहे थे, जैसे कोई वृद्ध, किसी बालक का उसकी मूर्खता से साक्षात्कार कराकर मुस्कराता है।

अर्जुन कुछ क्षणों तक सोचता रहा; और फिर बोला, "तीसरा मार्ग क्या हो सकता है ?"

"वही, जो मैंने तुमसे अभी-अभी कहा है।" कृष्ण बोले, "जो केवल अँधेरे और उजाले में विभाजित करके ही सृष्टि को देख सकता है, उसके पास पूर्ण दृष्टि का अभाव है। वह सृष्टि के सारे रंगों से परिचित नहीं है। वर्णांध है।"

कृष्ण मौन हो गए, किंतु अर्जुन कुछ नहीं बोला। अंततः कृष्ण ही पुनः बोले, "यदि उस विधवा का बुद्धिमान पुत्र अपनी आयु पूरी कर चला गया, तो उसके पास केवल वह मंद-बुद्धि बालक रह जाएगा। वह अपनी पीड़ा से लड़कर, फिर से जीना सीखेगी और उसका वात्सल्य, अंततः उस मंद-बुद्धि बालक में भी, कुछ

गुण देखेगा। वह अपने वात्सल्य के हाथों बाध्य होकर, उस पर भी मुग्ध होगी। परिणामतः वह संसार के प्रत्येक शिशु में कोई-न-कोई गुण देख पाने की उदारता अर्जित करेगी। जो स्त्री एक मंद-बुद्धि बालक की मूर्खताओं पर मुग्ध हो सकती है, वह संसार के किसी भी बालक की क्रीड़ा पर क्यों मुग्ध नहीं होगी। उसके प्रेम का वृत्त व्यापक होगा। वह अक्षम, पीड़ित, असमर्थ मानवता से भी प्रेम करना सीखेगी और क्रमशः ईश्वर के असहाय जीवों से प्रेम के माध्यम से, वह ईश्वर के निकट पहुँचेगी। यह है परिणाम, उस क्रूर ईश्वर के अन्याय का।" कृष्ण ने रुककर अर्जुन की ओर देखा, "क्या तुम चाहोगे कि यदि उस विधवा के एक पुत्र की मृत्यु होनी ही है, तो उसके मंद-बुद्धि पुत्र की मृत्यु हो ?"

अर्जुन सोचने के लिए क्षणभर भी नहीं रुका। बोला, "उसका सुख तो उसी में है। मंद-बुद्धि बालक की मृत्यु पर वह थोड़ा रोए-धोएगी; किंतु बाद में उसके पालन-पोषण के कष्टों से मुक्त हो जाने के कारण सुखी होकर, अपने बुद्धिमान पुत्र के साथ आनन्द का जीवन व्यतीत करेगी।"

"चलो, तुम्हारी बात ही मान लेते हैं।" कृष्ण बोले, "उस विधवा का मंद-बुद्धि बालक आयु पूरी कर चला गया; और वह अपने बुद्धिमान पुत्र के साथ अकेली रह गई। उसके बुद्धिमान पुत्र में अनेक गुण हैं। वह सुंदर है, स्वस्थ है, बुद्धिमान है, समर्थ है। उस विधवा को असामर्थ्य से सहानुभूति नहीं रह जाती, असहायता से प्रेम नहीं रह जाता। वह सामर्थ्य की पूजा करती है। उसे अपना पुत्र प्रिय है, इसलिए उसे अन्य प्रत्येक बालक अथवा युवक हीनतर दिखाई देने लगता है। वह किसी अन्य बालक से प्रेम नहीं कर सकती; इसलिए वह अन्य लोगों के प्रति कठोर होती जाती है। उसकी आत्मा में जो दया, करुणा और सहानुभूति का तत्त्व था, वह नष्ट होता जाता है। अंततः वह एक क्रूर स्त्री बन जाती है, जो लोगों को निर्बलता और असहायता के लिए दोषी मानकर, उनसे घृणा करती है। उसके मन में प्रेम के स्थान पर घृणा का साम्राज्य फैलता जाता है। और, वह घृणामयी, ईश्वर से दूर होती जाती है; क्योंकि घृणा के मार्ग से ईश्वर तक नहीं पहुँचा जा सकता।" कृष्ण ने रुककर अर्जुन की ओर देखा, "तुम कहोगे कि आवश्यक तो नहीं कि इन परिस्थितियों में उस विधवा का विकास इन्हीं रूपों में हो। मैं इसको भी स्वीकार करता हूँ। यदि वह विधवा सात्विक स्वभाव की है, तो ही वह अपने मंद-बुद्धि बालक के माध्यम से संसार से प्रेम करना सीखेगी, अन्यथा नहीं। इसलिए उस सात्विक विधवा को ही पुत्र-शोक से पीड़ित होना होगा।...तो तुम फिर ईश्वर को दोषी ठहराओगे कि वह सात्विक विधवा को ही पुत्र-शोक क्यों देता है और क्रूर-कर्मा सौभाग्यवती को अपने पुत्रों से समृद्ध करता है। क्या वह ईश्वर अन्यायी है ?..."

अवाक् अर्जुन कृष्ण की ओर देखता रहा; फिर धीरे से बोला, "ईश्वर अपनी

माया का प्रपंच इस प्रकार क्यों फैलता है कि जीव सत्य को उसके वास्तविक रूप में देख ही नहीं पाता ?"

कृष्ण ठठाकर हँस पड़े, "वह मायापति है। जिनसे रुष्ट होता है, उन्हें इतना सुख देता है, कि वे अपने स्रष्टा को ही भूल जाएँ; और जिनसे प्यार करता है, उन्हें तिल-तिल आग में जलाकर, उनका मल निष्कासित कर, उन्हें शुद्ध करता चलता है।"

अर्जुन मन-ही-मन सोचता रह गया : कृष्ण के सम्मुख तो कोई उलझन, उलझन ही नहीं रह जाती। वे कैसे तो माया को चीरकर, उसके आर-पार देखते हैं।...

कृष्ण अपने स्थान से उठ खड़े हुए, "आओ चलें।"

अर्जुन उनके पीछे-पीछे चल पड़ा।

चलते-चलते जब काफी समय बीत गया, तो अर्जुन जैसे कृष्ण का मार्ग रोककर खड़ा हो गया।

कृष्ण ने कुछ चकित भाव से उसकी ओर देखा : अर्जुन के मुख पर उत्तेजना के स्पष्ट लक्षण थे। संभवतः वह अब तक मन-ही-मन किसी विचार से आंदोलित होता रहा था; और अब उसने कुछ कहने का मन बना लिया था।

"क्या बात है अर्जुन ?" कृष्ण ने धीरे से पूछा, "तुम्हारे मन में फिर कोई संशय उभरा है ?"

अर्जुन के मन में अनेक प्रश्न एक-दूसरे से होड़ लगाए हुए थे और उसका कंठ था कि उस भीड़ में से किसी एक को भी उच्चरित नहीं कर पा रहा था।

कृष्ण शांत भाव से प्रतीक्षा करते रहे।

अर्जुन ने स्वयं को संतुलित किया, और बोला, "मैं धर्मराज को उनके आचरण के लिए दोषी नहीं मानता; किंतु उस आचरण के परिणामस्वरूप जो कुछ हमें सहन करना पड़ा है, उसे देखते हुए किसी के भी मन में यह संशय उठेगा कि संसार में कोई न्याय नहीं है।...धर्माचरण के फलस्वरूप धर्मराज का राज्य इस प्रकार क्यों छिना ?"

"मुझे बताओ धनंजय ! धर्मराज अपने राज्य की रक्षा कर रहे थे, अथवा अपने धर्म की ?"

"अपने धर्म की।" अर्जुन ने तत्काल उत्तर दिया।

"तो तुम इतने विचलित क्यों हो ?" कृष्ण बोले, "धर्मराज ने जब धर्म की रक्षा की, तो उनके राज्य की रक्षा कैसे होती। वे धर्म देकर राज्य की रक्षा करते, तो राज्य की रक्षा हो जाती; किंतु तब धर्म नहीं रह पाता। तुम्हारी आपत्ति कहाँ है ?"

अर्जुन बौखलाया-सा कृष्ण की ओर देखता रहा : सच ही तो कह रहे हैं

कृष्ण! जो धर्मराज ने चाहा, वह उन्हें मिला; तो फिर प्रकृति से, धर्म से, ईश्वर से शिकायत क्यों ? किंतु तत्काल ही जैसे वह झल्लाकर बोला, "धर्म की रक्षा इसलिए तो नहीं की थी कि राज-पाट, धन-संपत्ति, सब कुछ छिन जाए। यदि धर्माचरण का परिणाम यह होगा, तो लोग धर्मराज के मार्ग पर चलने की अपेक्षा, दुर्योधन के मार्ग पर चलना अधिक श्रेयस्कर समझेंगे। धर्म की रक्षा से व्यक्ति को सुख मिलना चाहिए। यह सारी व्यवस्था तो अनर्गल और तर्कशून्य है। जो धर्म का आचरण करता है, वह कष्ट पाता है; और जो अधर्म पर चलता है, वह सुखी रहता है। यह भी कोई न्याय है क्या ?"

कृष्ण मुस्कराए, "पहली वात तो मन में यह धारण करो धनंजय ! कि इस सृष्टि में जो कुछ भी घटित हो रहा है, उसमें कार्य-कारण संबंध है। यहाँ कुछ भी अनर्गल अथवा नियम-रहित नहीं है। यह पूरी व्यवस्था, अत्यन्त सूक्ष्म धरातल पर कार्य-कारण के नियम में वँधी है। अंतर केवल इतना है कि उसके नियम स्रष्टा के बनाए हुए हैं, जो प्रकृति के आचरण के रूप में हमारे सम्मुख प्रकट होते हैं। क्रिया की प्रतिक्रिया, व्यक्ति की इच्छा के अधीन नहीं, स्रष्टा के नियमों के अधीन होती है। धर्मराज यदि पितृव्य की आज्ञा के अधीन, द्यूत-क्रीड़ा में सव कुछ हार जाते हैं, तो उससे उनके पिता की आज्ञापालन के धर्म की ही रक्षा हो सकती है; उस राज्य की नहीं, जिसकी रक्षा शस्त्र-बल से करनी पड़ती है··· ।"

"किंतु धर्म का परिणाम तो शुभ होना चाहिए।" अर्जुन जैसे तड़पकर बोला।

"धर्म का परिणाम तों शुभ ही होता है।" कृष्ण बोले, "किंतु इस बात का ध्यान रखो कि प्रकृति अत्यन्त विराट् है। वह मानव-बुद्धि के समान सीमित नहीं है। उसकी काल-गणना अपनी ही है। धर्मराज को उनके धर्म का फल, जिस अवधि में तुम चाहते हो, उसमें न मिलकर, उस अवधि में मिलेगा, जो प्रकृति ने निर्धारित कर रखी है। माली यदि यह चाहे कि जो बीज उसने आज बोया है, कल तक वह वृक्ष में परिणत हो जाए, तो यह प्रकृति को स्वीकार नहीं है। चाहे, वह माली उस वृक्ष के फल से कुछ भूखे दीन-दुखियों का पेट भरने जैसा कोई शुभ कार्य ही करना चाहता हो। वृक्ष तो प्रकृति के नियमों के अनुसार अपने समय से ही विकसित होगा।"

"ठीक है।" अर्जुन ने उत्तर दिया, "किंतु इतना तो निश्चित होना चाहिए कि शुभ कर्म का फल, शुभ ही होगा।"

"अर्जुन ! प्रकृति की योजना अत्यन्त विराट् है। कई बार मनुष्य की बुद्धि उसे उसके उचित परिप्रेक्ष्य में देख ही नहीं पाती। प्रकृति, कर्म को उसकी समग्रता में देखती है; और मनुष्य उस कर्म के एक खंड को कार्यान्वित कर, उससे समग्र कार्य का फल चाहता है। तुमने बीज बोया. तो प्रकृति ने उसे अंकुरित कर दिया।

अब यदि तुम उस अंकुर को जल से नहीं सींचोगे, तो वह पल्लवित और पुष्पित नहीं होगा। तुम बीज-वपन के पश्चात् यदि उसका सिंचन न करो, और अंकुर मुरझा जाए, तो तुम्हें यह आपत्ति नहीं करनी चाहिए कि प्रकृति ने तुम्हें उसका फल नहीं दिया। तुम उस अंकुर को सींचो, तो उसमें पत्र और पुष्प आएँगे; किंतु तुम उसकी रक्षा न करो, और कोई पशु उसे खा जाए, तो तुम यह शिकायत नहीं कर सकते कि प्रकृति ने तुम्हें तुम्हारे कर्म का फल नहीं दिया। यदि तुम पशुओं से उस पौधे की रक्षा कर भी लो, वह पौधा, वृक्ष में परिणत हो भी जाए, उसमें फल आ भी जाएँ; और तुम उन फलों की चोरों से रक्षा न कर सको, तो भी तुम प्रकृति को दोष नहीं दे सकते कि उसने तुम्हें, तुम्हारे श्रम का फल नहीं दिया। कर्म तो निरंतर सक्रियता का नाम है। इसीलिए कहता हूँ, कि फल की कामना मत करो; वह तो प्रकृति देगी ही।...किंतु अकर्म मे प्रीति न हो; अन्यथा, उसके लिए प्रकृति तुम्हें दंडित भी करेगी।"

थोड़ी देर तक अर्जुन चुपचाप चलता रहा, जैसे कृष्ण की कही हुई बातों पर मन-ही-मन विचार कर रहा हो।...उन पर विश्वास करना चाहता हो, और कर न पा रहा हो। फिर धीरे से बोला, "धार्तराष्ट्रों के प्रति हमारा व्यवहार सदा ही सौहार्दपूर्ण रहा है, तो वे क्यों हमारे सौहार्द की प्रतिक्रिया-स्वरूप अपना स्नेह हमें नहीं देते ? ऐसा क्यों है कि हमारा प्रेम, हर बार उनके मन में, हमारे प्रति द्वेष ही बढ़ाता है। कार्य-कारण के सिद्धांत के अनुसार तो प्रेम का प्रत्युत्तर प्रेम ही होना चाहिए; और द्वेष का उत्तर द्वेष !"

"ऐसा नहीं है धनंजय !" कृष्ण बोले, "तुम यदि किसी बीज को उपजाऊ भूमि में बोओगे, तो उसका परिणाम भिन्न होगा; और पथरीली भूमि में बोओगे तो भिन्न। एक कंदुक को ठोस दीवार पर मारोगे, तो वह लौटकर तुम्हारे पास आएगा; रेत के ढेर में मारोगे, तो वहीं धँसकर रह जाएगा; और यदि उसे कीचड़ में मारोगे तो वह लौटेगा भी नहीं, और तुम पर कीचड़ के छींटे भी पड़ेंगे।" कृष्ण ने रुककर अर्जुन की ओर देखा, "अब तुम्हें पहचानना होगा कि कौन ठोस दीवार है, कौन रेत का ढेर है; और कौन कीचड़ का तालाब ! तुम्हें धृतराष्ट्र और द्रुपद में अंतर करना होगा; तुम्हें भीष्म तथा विदुर की प्रकृति का भेद मालूम होना चाहिए। तुम अपनी एक क्रिया की, इन सबसे समान प्रतिक्रिया नहीं पा सकोगे। ऐसे में यदि तुम्हारे साथ कोई दुर्घटना होती है, तो उसके लिए तुम्हारा विवेक दोषी है, प्रकृति के नियम नहीं।"

अर्जुन ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह मन-ही-मन कृष्ण की कही हुई बात पर विचार कर रहा था...उसने गुरु द्रोण के कहने पर महाराज द्रुपद को पराजित कर दासों के समान बाँधकर आचार्य द्रोण के चरणों में डाल दिया था; किंतु महाराज द्रुपद ने भूले से भी कभी उस घटना की ओर संकेत तक नहीं किया। उन्होंने

सदा ऐसा व्यवहार किया, जैसे उनके मध्य, पहले कुछ घटित ही न हुआ हो। आचार्य द्रोण भी उस घटना को भूल ही गए हैं।···किंतु, दोनों के भूलने में कितना अंतर है। द्रुपद उसे भूल गए, क्योंकि वे कटुता बढ़ाना नहीं चाहते थे; और आचार्य उसे भूल गए, क्योंकि वे पांडवों को संरक्षण देना नहीं चाहते थे···और एक वे भी हैं–पितामह भीष्म ! उनकी ओर से कभी कोई प्रतिक्रिया ही नहीं होती। वे शायद रेत के ढेर हैं, जिसमें दुर्योधन का प्रत्येक दुष्ट कर्म, जाकर धँस जाता है; और पांडवों का प्रत्येक शुभ कर्म खो जाता है। कहीं कोई प्रतिक्रिया नहीं है : न शुभ की, न अशुभ की !··एक ओर विदुर हैं, जिनके लिए पांडवों ने कभी कुछ नहीं किया, फिर भी वे सदा ही उनके पक्ष में संघर्ष करते रहे हैं; दूसरी ओर धृतराष्ट्र हैं, जिन्हें कभी यह स्मरण ही नहीं रहता कि पांडव उनके भाई के पुत्र हैं, जो उन्हें अपना पिता मानते हैं।···अब यह तो पांडवों के विवेक पर ही निर्भर करता है कि वे किससे कैसा व्यवहार करें। यदि धर्मराज यह सोचते हैं कि उनकी आज्ञाकारिता धृतराष्ट्र और विदुर में समान प्रतिक्रिया उत्पन्न करेगी, तो यह उनके चिंतन का ही दोष है, प्रकृति के नियमों का नहीं। बबूल के काँटों से आहत होकर, कोई बबूल को दोष नहीं देता, अपनी भूल पर ही पश्चात्ताप करता है, कि उसने बबूल से, बरगद की-सी छाया क्यों चाही। पांडव भी वस्तुतः धृतराष्ट्र रूपी बबूल से, बरगद की छाया माँगने की भूल कर रहे हैं। इसमें प्रकृति का क्या दोष ?···

"वासुदेव !" अर्जुन बोला, "वैसे तो तुम्हारी बात पहले भी स्पष्ट थी; किंतु आज की परिस्थितियों में, वह कुछ और भी स्पष्ट होकर आई है।···पर तुम यह क्यों चाहते हो कि हम फल की कामना न करें ? मैं यदि द्रौपदी के स्वयंवर में लक्ष्य-वेध करने गया, तो मैं द्रौपदी की कामना क्यों न करूँ ? मध्यम, जरासंध से लड़ने गए, तो जरासंध की मृत्यु की कामना क्यों न करें ?"

"मैं जब यह कहता हूँ कि कर्म करो और फल की कामना मत करो, तो उसका यह अर्थ नहीं है कि जरासंध से मल्लयुद्ध करो और उसकी मृत्यु की कामना मत करो। मैं तो यह कहता हूँ कि प्रत्येक कर्म में उसका फल निहित है, जैसे प्रत्येक क्रिया में, उसकी प्रतिक्रिया निहित है। जिस दक्षता से वह कार्य किया जाएगा, उसी उत्कृष्टता से उसका फल प्रकृति हमें देगी। वस्तुतः कर्म से वही फल मिलता है, जो उसमें निहित है। हम उससे अपने मनमाने फल की अपेक्षा नहीं कर सकते। त्रुटि वहीं है, जहाँ हम कार्य में ध्यान न लगाकर, उसके फल में ध्यान लगाते हैं; और उस कर्म को पूर्ण दक्षता से नहीं करते।" कृष्ण बोलते गए, "वस्तुतः प्रकृति के नियम निश्चित् भी हैं और सूक्ष्म भी। जब कोई व्यक्ति किसी तालाब के स्थिर जल में एक ढेला फेंकता है, तो उसे यह अनुमान भी नहीं होता कि उसके द्वारा जल में उठाई गई लहर किस सीमा तक जाएगी और पानी

के किस कण पर अथवा जल में रहने वाले किस जीव-जंतु पर कैसा प्रभाव डालेगी। इसलिए उसे अपना ध्यान ढेला फेंकने पर ही लगाना चाहिए। लहर अपना काम स्वयं कर लेगी। राजा के रूप में तुम्हें प्रजा का पालन करना है। इस राजधर्म के फलस्वरूप तुम्हें प्रजा से क्या मिलेगा और किस रूप में मिलेगा, इस पर विचार नहीं करना है। वह तो प्रकृति स्वयं ही तुम्हें देगी। वस्तुतः सकाम कर्म का फल सीमित होता है; और निष्काम कर्म का असीम ! तुम जब आचार्य द्रोण के आश्रम में धनुर्विद्या सीख रहे थे, तो तुम्हारा ध्यान गुरु को प्रसन्न करने में था, उनके परीक्षण में सफल उतरने में था, अथवा धनुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने और उसका दक्षतापूर्वक अभ्यास करने में ?"

अर्जुन ने चकित दृष्टि से कृष्ण की ओर देखा, जैसे उन्होंने कोई अटपटी बात पूछ ली हो। बोला, "निश्चित् रूप से, मैं अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहता था और अधिक से अधिक अभ्यास करना चाहता था।"'

"यदि तुमने धनुर्विद्या का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया, तो तुम्हारे गुरु अपने-आप प्रसन्न हुए। तुम कठोर से कठोर परीक्षा में सफल हुए और जीवन में आने वाले प्रत्येक युद्ध में सफल होओगे। तुमने निष्काम भाव से धनुर्वेद का अध्ययन किया है। यदि तुम धनुर्विद्या सीखते हुए गुरु को प्रसन्न करने अथवा उनकी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने का ही प्रयत्न करते रहते, तो अपने वे लक्ष्य तो तुम प्राप्त कर लेते; किंतु संसार के अद्वितीय धनुर्धारी कदापि न बन पाते। इसलिए कहता हूँ, कि व्यक्ति का लक्ष्य, कर्म होना चाहिए, कामना नहीं।"

12

पांडवों के आश्रम में जैसे प्रयाण का शंख बज उठा था। चारों ओर यात्रा के लिए रथ तैयार हो रहे थे। सारथि, अपने-अपने मार्ग के अनुकूल घोड़ों और पाथेय का चयन कर रहे थे। पांडवों की रानियाँ अपने-अपने बच्चों के साथ, अपने मायके से आए सैनिक गुल्मों की सुरक्षा में यात्रा की तैयारी कर रही थीं।...

करेणुमती को विदा करने के लिए नकुल अपने कुटीर में पहुँचा, तो उसे कुछ आश्चर्य हुआ। करेणुमती अभी इस प्रकार निष्क्रिय और निश्चिंत बैठी थी, जैसे उसे कहीं जाना ही न हो।

"क्या बात है ?" नकुल ने पूछा, "यहाँ तो कोई तत्परता ही दिखाई नहीं देती।"

"क्या मैं बारह वर्षों का वनवास नहीं कर सकती ?" करेणुमती ने याचक दृष्टि से नकुल की ओर देखा, "अज्ञातवास की अवधि में मैं शुक्तिमती चली

जाऊँगी।"

"ओह ! तो यह बात है।" नकुल हँस पड़ा, "वनवास करने का कारण ?"

"तुम्हारा सान्निध्य प्रिय !"

नकुल गंभीर हो गया, "तुम जानती हो करेणु ! हमारा जीवन सुख के लिए नहीं, धर्म के लिए है। वनवास का यह काल हमारे लिए साधना और तीर्थयात्रा का काल होगा। तुम साथ रहीं तो उस समय तुम भी कष्ट पाओगी और निरमित्र भी। फिर निरमित्र के विकास और शिक्षण का भी प्रश्न है। तुम्हारे सामने यह निर्णय हुआ था कि सारे बच्चे अपनी माताओं के साथ सुरक्षित स्थानों में रहेंगे…।"

"पांचाली तो नहीं जा रहीं…" इस बार करेणुमती के शब्द जैसे आक्रोश की घोषणा थे।

"तुम निरमित्र को धृष्टकेतु के साथ भेजकर, तेरह वर्षों तक उससे पृथक् मेरे साथ रह सकोगी ?"

"क्यों ? मैं यहाँ रहूँगी, तो निरमित्र क्यों हमारे साथ नहीं रह सकता ?"

"यही कह रहा था मैं !" नकुल मुस्कराया, "पांचाली अपने पाँचों पुत्रों को, कांपिल्य भेजकर अकेली अपने पतियों के साथ रह रही है। उसने अपने पुत्रों और पतियों में से, पतियों को चुना है, तुम अपनी आसक्ति का निरीक्षण कर लो। पुत्र में अधिक आसक्ति हो, तो निरमित्र को लेकर, धृष्टकेतु के साथ शुक्तिमती चली जाओ।…पति में अधिक आसक्ति हो, तो निरमित्र को भेज दो और स्वयं पीछे रह जाओ। बस यह ध्यान रखो कि निरमित्र यहाँ नहीं रह सकता।"

करेणुमती की आँखों में अश्रु आ गए, "निरमित्र अभी कितना छोटा है। उसे तेरह वर्षों के लिए अकेला कैसे छोड़ दूँ।" उसका स्वर कुछ तीक्ष्ण हो उठा, "कोई माँ, अपने पुत्र के बिना रह कैसे सकती है ?"

नकुल हँस पड़ा, "मैं भी तो यही कह रहा हूँ कि कोई माँ अपने पुत्र के बिना कैसे रह सकती है।…और कोई पांडव-पुत्र इन दिनों वन में नहीं रहेगा। वे सब शिक्षा-दीक्षा और युद्धाभ्यास के लिए अपने-अपने ननिहाल में रहेंगे। तो फिर उनकी माताएँ, उनके बिना वन में कैसे रह सकती हैं ?"

"मैं आपकी सारी चतुराई समझ रही हूँ।" करेणुमती के अश्रु ढुलक पड़े, "मेरी ही दुर्बलता में बाँधकर मुझे दंडित कर रहे हैं आप !…"

•

वलंधरा विदा हुई तो उसके नयन डबडबाए हुए थे, "अपना ध्यान रखना !"

"अपना ध्यान क्यों, तुम्हारा ध्यान किया करूँगा।" भीम उसके अश्रुओं से अप्रभावित, मुस्करा रहा था।

बलंधरा निर्णय नहीं कर पाई कि वह भीम की उस उक्ति पर हँस पड़े, अथवा चिल्लाकर कहे, "मैं जानती हूँ, तुम कितना मेरा ध्यान करोगे।..."

"ध्यान करना पांचाली का।" उसने हँसने का प्रयत्न किया; किंतु उसका आक्रोश छिप नहीं पाया, "जिसके साथ रहोगे।"

"मैं तो हिडिंबा को बुलवा लूँगा।" भीम ने उत्तर दिया, "साथ रहेगी, तो सेवा भी करेगी और राक्षसों से हमारी रक्षा भी करती रहेगी। जानती हो, वह सारी रात वृक्ष की शाखा पर बैठी, अँधेरे में आँखें फाड़-फाड़कर देख सकती है। उसे न नींद आती है, न उबासी।"

"अब मुझे अधिक खिझाओ मत।" बलंधरा हँसने और रोने के मध्य बिंदु पर पहुँच चुकी थी, "नहीं तो कोई अपशब्द कह बैठूँगी, तुम्हारी उस लाड़ली के लिए।"

"अब जाते-जाते क्यों लड़ती हो।" भीम गंभीर हो गया, "सर्वग का पालन-पोषण ध्यान से करना। एक लक्ष्य सामने हो, तो समय कटते देर नहीं लगती।"

"तेरह वर्ष कोई थोड़ा समय होता है ?" बलंधरा रोषपूर्वक बोली।

"हम वन में साधना करेंगे, तुम घर में साधना करना।" बलंधरा ने भीम को इतना गंभीर शायद ही कभी देखा था, "अब यह जीवन भोग के लिए नहीं, धर्म के लिए है। और धर्म के लिए तो तपना ही पड़ेगा।"

भीम ने अपनी भुजाओं में उठाकर, बलंधरा को रथ में बैठा दिया। काशीराज का ध्वज लिये, सैनिक प्रयाण के लिए तैयार थे। भीम ने सारथि को संकेत किया। सारथि ने वल्गा ढीली छोड़ दी।

भीम मुड़ा तो सामने धृष्टद्युम्न खड़ा था।

"तुम भी विदा हो रहे हो ?" भीम ने पूछा।

"हाँ ! कृष्णा से मिल आऊँ।" धृष्टद्युम्न ने उत्तर दिया, "एक बार तो मन में आया था कि वासुदेव रुक रहे हैं, तो मैं भी रुक जाऊँ; किंतु फिर सोचता हूँ, उधर कांपिल्य में पिताजी, यहाँ के समाचारों के लिए व्याकुल होंगे। मैं रुका तो तुम्हारे पुत्रों को भी रुकना पड़ेगा। वन में उन्हें कष्ट होगा।"

"यह क्यों नहीं कहते कि वन में तुम्हें अच्छा भोजन नहीं मिल रहा।" भीम ठहाका मारकर हँस पड़ा, "पुत्रों की ओट में बाण-संधान कर रहे हो।"

धृष्टद्युम्न निमिष भर को तो स्तब्ध खड़ा रह गया : इस मोटे का कुछ पता नहीं, किस क्षण किसको क्या कह दे।...और फिर वह भी हँस पड़ा, "तुम्हारा क्या है मध्यम ! अभी मैं कह भी दूँ कि वनवास में मुझे कोई कष्ट नहीं है, तो तुम हँसकर कह दोगे कि मुझे हो न हो, मेरे यहाँ रुकने से तुम्हें कष्ट होगा।"

"हाँ ! कष्ट तो अंततः मुझे ही होगा," भीम की मुद्रा पर्याप्त गंभीर थी,

"यह सोच-सोचकर, मुझे रात भर नींद नहीं आएगी कि वेचारा पांचाल राजकुमार इस वन में हमारे लिए कष्ट पा रहा है; और तुम यह सोचकर, सुख की नींद सो जाओगे कि तुम वन में रहकर, हमारा कितना उपकार कर रहे हो।"

अब तक धृष्टद्युम्न भी विनोद की मुद्रा में आ चुका था, "इससे तो अच्छा है कि मैं लौटकर कांपिल्य के राजप्रासाद में यह सोचकर सुख-शांति से सोऊँ कि वन में न रुककर मैंने पांडवों को कितने बड़े कष्ट से बचा लिया।"

"तुम्हारे तो दोनों हाथों में लड्डू हैं राजकुमार !" भीम बोला, "जाओ ! अब पांचाली से मिल लो। ऐसा न हो कि बाद में यह पता चले कि तुम भीम से ही उलझे रहे, और तुम्हारी सेना कांपिल्य जा पहुँची।"

भीम हँसता हुआ आगे बढ़ गया।

धृष्टद्युम्न द्रौपदी के कुटीर के द्वार पर पहुँचा। द्रौपदी अपने पुत्रों को विदा कर रही थी, "तुम्हें मन लगाकर शस्त्र-विद्या और युद्ध-कौशल का अभ्यास करना है। तुम्हें महाराज द्रुपद, महावीर धृष्टद्युम्न, वायु-पुत्र भीम तथा गांडीवधारी सव्यसाची के बल, साहस तथा कौशल का समग्र रूप प्राप्त करता है। तुम्हें केवल एक ही लक्ष्य सम्मुख रखना है—अपनी माता के अपमान का प्रतिशोध।...जो माँ के सम्मान की रक्षा नहीं कर सकता, उसका जीवन निष्प्रयोजन है।"

"पर दुर्योधन से युद्ध होगा भी माँ ?" प्रतिविन्ध्य ने पूछा।

"हाँ ! यह युद्ध अवश्य होगा पुत्र !" धृष्टद्युम्न ने प्रवेश करते हुए कहा, "धर्मराज न भी चाहें, तो भी यह युद्ध होकर रहेगा। पांचालों को बहुत सारा ऋणशोधन करना है।" वह मुड़ा, "अव इन्हें विदा करो कृष्णा !"

"युद्ध हो न हो," सहसा सुतसोम बोला, "दुर्योधन को तो मैं उसी प्रकार चीर देना चाहता हूँ, जैसे पिताजी ने जरासंध को चीरा था।"

धृष्टद्युम्न ने सुतसोम पर दृष्टि डाली : यह लड़का पूर्णतः भीम का प्रतिरूप था।

"जाओ पुत्रो ! अब मातुल ही तुम्हारे माता-पिता हैं, और मातुल ही तुम्हारे गुरु।" द्रौपदी ने उनके मस्तक पर हाथ रखकर, उन्हें आशीर्वाद दिया; और सहसा उसकी मुद्रा बदल गई, "तुम्हारे मन में यह प्रश्न नहीं आना चाहिए कि यह युद्ध होगा या नहीं। तुम किसी के वेतन-भोगी सैनिक नहीं हो कि युद्ध होगा तो लड़ोगे, नहीं होगा तो स्कंधावार में पड़े रहोगे। तुम धर्म की रक्षा करने वाले क्षत्रिय राजकुमार हो; अन्याय के विरुद्ध निरंतर संघर्षरत हो। तुम्हें शत्रु के आक्रमण की प्रतीक्षा नहीं करनी है, तुम्हें अपना सामर्थ्य तौलकर स्वयं शत्रु पर आक्रमण करना है।"

"ठीक है माँ ! हम यही करेंगे !" सुतसोम बोला।

प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक तथा श्रुतसेन, माँ को प्रणाम कर कुटीर से बाहर चले गए।

"जा रहे हो भैया !" इस बार द्रौपदी की भी आँखें भर आई थीं।

"हाँ कृष्णे ! कांपिल्य लौटकर, पिताजी को सारा समाचार दूँ और युद्ध की तैयारी आरंभ करूँ। पांडवों के वन से लौटने के पश्चात् यदि तैयारी आरंभ की गई, तो तब तक बहुत विलंब हो चुका होगा।" धृष्टद्युम्न बोला, "पर जाने से पहले तुमसे कुछ पूछना चाहता हूँ।"

द्रौपदी ने स्वयं को सँभाला, "क्या ? श्रुतकर्मा के विषय में कुछ पूछना है? वह छोटा अवश्य है, किंतु माँ की अनुपस्थिति में भी वह तुम्हें दीन दिखाई नहीं देगा। उसके कारण तुम्हारी कठिनाइयाँ बढ़ेंगी नहीं।...और तुम भी उसे छोटा मानकर, उसके लिए अपना अनुशासन शिथिल मत करना।"

"नहीं ! तुम्हारे पुत्रों के विषय में कुछ नहीं पूछना।" धृष्टद्युम्न बोला।

"तो ?"

"जब मैं आया था, तो यह सोचकर आया था कि तुम मेरे कंठ से लगकर रोओगी; अपना दुख कहोगी; अपने पतियों के प्रति अपने आक्रोश को मेरे सम्मुख खुलकर ढालोगी।" धृष्टद्युम्न ने द्रौपदी की ओर देखा, "किंतु मेरे सम्मुख, तुमने अपने पतियों के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा।...और वासुदेव के सम्मुख, तुम जिस प्रकार रोई हो..।"

द्रौपदी ने अपनी आँखें पोंछ लीं। अब वह मुस्करा रही थी, "तुम्हारे सम्मुख अपने पतियों की भर्त्सना कर तुम्हारी दृष्टि में न उन्हें हेय सिद्ध करना चाहती थी, न अपने मायके में अपनी असहायता के कारण अपना सम्मान कम करना चाहती थी..."

"और वासुदेव की दृष्टि में ?"

"केशव की दृष्टि में पांडवों का कभी अवमूल्यन नहीं होगा।" द्रौपदी बोली, "केशव उनके सांसारिक मान-सम्मान को नहीं देखते। वे तो उनके धर्म को देखते हैं...। वैसे भी केशव के मन में दया, करुणा, और प्रेम ही है; वहाँ स्पर्धा नहीं, ईर्ष्या नहीं, तुलना नहीं, मूल्यन-अवमूल्यन नहीं। केशव के सम्मुख नहीं रोऊँगी, तो सारे ब्रह्मांड में ऐसा है कौन, जिसके सम्मुख अपना मन उघाड़ सकूँ ?"

धृष्टद्युम्न के मन में आक्रोश का ज्वार उठा : उसकी यह सहोदरा, उसके सम्मुख ही कृष्ण को अपने भाई से भी बढ़कर बता रही है। वह उसे अपने भाई और अपने पतियों से भी अधिक आत्मीय लगता है...

उसकी बुद्धि ने टोका, 'यही तो कह रही थी कृष्णा ! कृष्ण के मन में न तुलना है, न ईर्ष्या...अब देख ! तू तो एक ही वाक्य में ईर्ष्या से जल गया...'

"कदाचित् तुम ठीक कह रही हो," धृष्टद्युम्न बोला, "किंतु वासुदेव ने धर्मराज के विषय में जो कुछ कहा है, उससे तुम्हें यह नहीं लगता कि वे भी धर्मराज से रुष्ट हैं।"

"पांडवों के प्रति केशव के रोष का कोई अर्थ ही नहीं है।" द्रौपदी बोली, "पांडव, उनका रोष भी उन्हें समर्पित कर देंगे।"

"मैं समझा नहीं।"

"इसमें समझने को क्या है भैया !" द्रौपदी बोली, "पांडवों का सब कुछ धर्म को समर्पित है; और जो धर्म को समर्पित है, वह कृष्ण को समर्पित है। पांडवों का सुख-दुख, संपत्ति-विपत्ति, वीरता-कायरता…सब कुछ कृष्ण को समर्पित है…।"

"तो वासुदेव, धर्मराज से रुष्ट नहीं हैं ?"

"कभी वासुदेव भी किसी से रुष्ट हुए हैं ?"

धृष्टद्युम्न द्रौपदी के कुटीर से निकलकर, कृष्ण से विदाई लेने आया।

कृष्ण का शिविर कुछ विचित्र-सा होता था। धृष्टद्युम्न आज तक समझ नहीं पाया था कि उसे क्या कहे : स्कंधावार अथवा आश्रम !

"आओ युवराज !" कृष्ण ने उसका स्वागत किया, "तुम्हारे सारथि ने तो प्रयाण के लिए रथ भी तैयार कर लिया है।"

"हाँ ! मैं जा रहा हूँ वासुदेव ! आपसे विदा लेने ही आया हूँ।" धृष्टद्युम्न बोला, "किंतु एक जिज्ञासा है मेरी !"

कृष्ण के अधरों पर एक लीलामय मुस्कान प्रकट हुई, "बहुत गंभीर दिखाई दे रहे हो राजकुमार !"

"हाँ वासुदेव ! द्यूत-सभा में धर्मराज का व्यवहार क्या धर्म-संगत था ? यह कहाँ का क्षात्र-धर्म है कि इतना अपमान सहकर, राज-पाट गँवाकर, चुपचाप सिर झुकाए, वन में चले जाओ।" धृष्टद्युम्न अपना रोष छिपा नहीं पा रहा था, "और सबसे बड़ी बात है कि अब भी उन्हें न कोई पश्चात्ताप है, न उद्वेग, न कष्ट, न पीड़ा। इतनी शांति क्या क्षत्रिय को शोभा देती है ?"

"तुमने यह तो देखा कि वंचित होकर भी धर्मराज प्रतिहिंसा के मारे प्रतिशोध के लिए तड़प नहीं रहे," कृष्ण मुस्कराकर बोले, "किंतु यह नहीं देखा कि सर्वस्व से वंचित होकर, जीवन का घोरतम अपमान सहकर भी युधिष्ठिर की ईश्वर के प्रति आस्था तनिक भी कम नहीं हुई। उन्होंने स्वीकार किया कि ईश्वर की इच्छा सर्वोपरि है। भक्त का कार्य तो उस दुःख को ईश्वरीय देन समझकर स्वीकार करना है। यदि मेरा विश्वास करो, तो मैं यही कहूँगा कि यदि आज कोई सर्प आकर धर्मराज को अपना दंश मारे, तो धर्मराज उसे भी ईश्वर की इच्छा मानकर, उसके सम्मुख अपना सिर झुका देंगे। उस सर्प को भी वे ईश्वरीय दूत मानेंगे।"

धृष्टद्युम्न जैसे हतप्रभ खड़ा रह गया : उसने यह तो सोचा ही नहीं था कि कृष्ण, युधिष्ठिर को इस दृष्टि से देखेंगे…

"तो क्या धर्मराज उत्कृष्ट भक्त हैं ?" उसने जैसे कुछ न समझते हुए पूछा।

"जो व्यक्ति सर्वथा स्वार्थरहित और द्वेष-शून्य है; सबसे प्रेम करता है; निस्वार्थ रूप से दयालु है; ममता और अहंकार से रहित है; और सुख-दुख मे समान रूप से शांत रहकर अपना अपराध करने वालों को भी अभय दे सकता है; उससे बड़ा भक्त और कौन होगा ?"

"वह ठीक है, किंतु आपने यह नहीं देखा वासुदेव ! कि उनका सर्वस्व हरण कर दुर्योधन, धर्मराज से तनिक भी भयभीत नहीं है। अपना राज्य गँवाकर, अपने भाइयों, उनकी पत्नियों और अपनी संतानों को इस प्रकार कष्ट की भट्टी में ढकेल कर भी धर्मराज के मन में, तनिक-सा भी उद्वेग नहीं है।"

"जो न उद्विग्न होता है, न किसी को उद्विग्न करता है; जिसने उद्विग्न होना भी छोड़ दिया है, और प्रकृति को उद्वेग देना भी–भक्त तो वही है, जो सृष्टि के साथ सम हो गया है। वह हर्ष से भी रहित है और अमर्ष से भी। उसके स्वभाव में भय नहीं है। वह भय को ग्रहण नहीं करता; न भय को प्रेरित करता है। धर्मराज युधिष्ठिर ऐसे ही भक्त हैं राजकुमार !"

"किंतु मैने तो धर्मराज को कभी वैसी भक्ति करते नही देखा।" धृष्टद्युम्न के स्वर में स्पष्ट आपत्ति थी।

"वे उपासना कम करते हैं; आचरण ही अधिक करते हैं।" कृष्ण निश्चयात्मक स्वर में बोले।

धृष्टद्युम्न के पास कृष्ण के कथन के विरुद्ध न कोई तर्क था, न प्रमाण; किंतु वह उनसे सहमत होना नहीं चाहता था। अपने स्वर को कुछ बदलता हुआ बोला, "मेरा भक्ति से कोई विरोध नहीं है; किंतु मनुष्य में अपने अधिकारों की रक्षा की आकांक्षा तो होनी चाहिए···।"

"और धर्मराज मे वह आकांक्षा नहीं है।" कृष्ण मुस्कराए, "तुम कहोगे, धर्मराज में उद्यम भी नहीं है।"

"यही तो मैं कह रहा हूँ वासुदेव !"

"पर राजकुमार ! जिसने अपना सर्वस्व ईश्वर को सौंप रखा हो, वह किसकी आकांक्षा करे।" कृष्ण बोले, "धर्मराज सांसारिक आकांक्षाओं से मुक्त हैं। उनका अंतःबाह्य सर्वथा शुद्ध और सात्विक है। वे सांसारिक उद्यम ईश्वर को अर्पित कर चुके। उनमें श्रेष्ठ भक्त का आदर्श देखो, किसी हताश तथा पराजित क्षत्रिय का नहीं।"

धृष्टद्युम्न की बुद्धि जितनी मौन होती जा रही थी, उसका अहंकार उतना ही मुखर होता जा रहा था, "वह ठीक है। न करें, वे राज्य की कामना ! किंतु, अपने सम्मान की रक्षा तो सबकी करनी ही होती है।···"

"जिनकी प्रज्ञा स्थिर हो चुकी, वे शत्रु और मित्र में भेद नहीं करते। उनके

लिए मान और अपमान में कोई विशेष अंतर नहीं है। सुख-दुख, हिम-ताप इत्यादि जैसे द्वन्द्व उन्हें पीड़ित नहीं करते। उन्होंने अनुरक्ति को ही त्याग दिया, तो ये प्रकृतिजन्य द्वन्द्व उनके मन में उद्वेग कैसे उत्पन्न कर सकते हैं ?"

"कोई सुविधा-असुविधा···।" धृष्टद्युम्न अपना संघर्ष चलाए चल रहा था।

कृष्ण ने धृष्टद्युम्न की बात बीच में ही काट दी, "धर्मराज जैसे लोग, किसी भी प्रकार के शरीर-निर्वाह से संतुष्ट रहते हैं। वे वन और प्रासाद में एक समान शांत-चित्त होकर रह सकते हैं। उनमें न ममता है, न अनुरक्ति। वे स्थिर-बुद्धि, भक्तिमान पुरुष हैं।"

धृष्टद्युम्न के पास कृष्ण की बातों की कोई काट नहीं थी। वह धर्मराज को स्वयं से भिन्न प्रकार का व्यक्ति तो मान सकता था, किंतु उनसे सहमत नहीं हो सकता था···आज से नहीं, पहले दिन से···। तब भी उसकी समझ में नहीं आया था कि यह कैसा व्यक्ति है, जो कृष्णा का विवाह पाँचों भाइयों से करना चाहता है !···यदि वह अर्जुन से उसके विवाह का प्रस्ताव रखता, तो धृष्टद्युम्न उसे समझ सकता था। वह स्वयं कृष्णा से विवाह करना चाहता, तो धृष्टद्युम्न उसे और भी अधिक समझ सकता था।···किंतु उसने हठपूर्वक कृष्णा का विवाह पाँचों पांडवों से करवाया···वह अपने सुख और भोग का त्याग कर सकता था···सचमुच उसमें ऐसी अनुरक्ति नहीं थी कि कृष्णा जैसी सुंदरी से भी वह अकेला ही विवाह करना चाहता। शायद उसे अपने सुख से अधिक अपने भाइयों की पीड़ा का विचार था। वह अपने परिवार के सुख के लिए, अपने सुख की बलि बहुत सुविधा से दे सकता था···

"मेरी तो समझ में नहीं आता कि कोई व्यक्ति, अपने शत्रुओं के लिए इतना दयावान और अपने भाइयों के लिए इतना कठोर कैसे हो सकता है।···" धृष्टद्युम्न जैसे अपने-आपसे बोला।

कृष्ण हँस पड़े, "यदि तुम अपने और पराए से आगे नहीं बढ़ पाए, तो तुम ईश्वर से भी प्रेम नहीं कर सकते। ईश्वर से प्रेम तो तभी कर सकते हो, जब अपना अहं न रहे, अपने और पराए का भेद न रहे। जब व्यक्ति के मन से अपने और पराए का भेद मिट जाता है, तो व्यक्ति के मन में पदार्थ के प्रति ममत्व भी नहीं रहता। ममत्व नहीं रहेगा, तो हानि तथा लाभ का अंतर भी नहीं रहेगा।···" कृष्ण ने रुककर धृष्टद्युम्न की ओर देखा, "तुम यह समझ लो कि धर्मराज अपने भाइयों से प्रेम तो करते हैं; किंतु उनके ममत्व का इतना विस्तार हो चुका है कि वे अपने शत्रुओं से भी प्रेम कर सकते हैं। वस्तुतः वे उन्हें अपना शत्रु ही नहीं मानते। इसीलिए इतना अपमान सहकर भी उन्हें दुर्योधन पर क्रोध नहीं आता।"

धृष्टद्युम्न को कोई तर्क नहीं सूझा। वह तो युधिष्ठिर के दोष रेखांकित

करने का प्रयत्न कर रहा था, किंतु कृष्ण ने उन्हें गुणों में परिणत कर दिया था। यह कृष्ण की चतुराई नहीं थी। यह उनकी गहरी दूरदृष्टि थी। उन्होंने युधिष्ठिर में वह देखा था, जो धृष्टद्युम्न कभी देख नहीं पाया था। यदि युधिष्ठिर समस्त जीव-जगत् से प्रेम करते हैं, तो उसे दोष कैसे माना जा सकता है ? उन्होंने यदि अपना क्रोध जीत लिया है, तो उसकी निन्दा कैसे की जा सकती है···

सहसा, उसकी आँखों में चमक आई, "वासुदेव ! यदि आप धर्मराज के इतने ही प्रशंसक हैं, तो आपने कंस से प्रेम क्यों नहीं किया ? जरासंध से शत्रुता क्यों पाली ? शिशुपाल पर क्रोध क्यों किया ?"

वह देख रहा था : कृष्ण पर उसकी उक्ति का कोई प्रभाव नहीं हुआ था। वे तनिक भी उत्तेजित नहीं हुए थे। अपने स्थान पर खड़े, वे मंद-मंद मुस्करा रहे थे।

"आप उत्तर क्यों नहीं देते ?"

"उत्तर तो दूँ, यदि तुम प्रश्न करो।" कृष्ण बोले, "तुम तो मुझे उत्तेजित करने का प्रयत्न कर रहे हो !"

"नहीं ! मैं आप पर न तो आरोप लगा रहा हूँ, न आपको उत्तेजित करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।" धृष्टद्युम्न कुछ शांत भी हो गया था और गंभीर भी, "मैं सचमुच यह जानना चाहता हूँ कि आप जिस आचरण की प्रशंसा करते हैं, स्वयं को उससे मुक्त रखते हैं। समय आने पर आपका व्यवहार उसका विरोधी भी हो सकता है। मैं यह नहीं मानना चाहता कि आपकी वाणी और कर्म में विरोध है। तो फिर यह रहस्य क्या है ?"

"मुझमें आसक्ति नहीं है; इसलिए मोह भी नहीं है। मेरे लिए अस्तित्व और अनस्तित्व में कोई भेद नहीं है। अस्ति तथा नास्ति समान स्थितियाँ हैं।" कृष्ण बोले, "मैंने संबंधों के प्रति ममत्व नहीं पाला। कंस मेरे मामा हैं, इसलिए उनके अस्तित्व की रक्षा होनी चाहिए–ऐसा मोह मुझे कभी नहीं रहा। धर्मराज में आसक्ति अभी शेष है। वे दुर्योधन की रक्षा करना चाहते हैं, क्योकि वह उनके अपने वंश का है। उनके मन में वंश के प्रति मोह है। वे अस्ति-नास्ति में भेद करते हैं। वे अभी करुणा तथा क्रूरता के मध्य में खड़े हैं, उनसे ऊपर नहीं उठे; इसलिए आनृशंसता उनके लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है···।"

धृष्टद्युम्न को लगा, वह कृष्ण की बात समझ रहा है···हम कितने भी उदार होते जाएँ, किंतु तब तक किसी से प्रेम नहीं कर सकते, जब तक उससे किसी प्रकार का तादात्म्य स्थापित न कर लें, जब तक उसे किसी भी प्रकार अपने ममत्व के घेरे में न ले आएँ···बद्ध जीव तो ऐसा ही कर सकता है : वह अपने ममत्व का वृत्त विस्तृत करता जा सकता है; किंतु रहेगा, वह घेरे में ही। अपने और पराए की विभाजक रेखा का अस्तित्व अवश्य रहेगा ! कृष्ण ठीक कहते हैं : धर्मराज

के मन में अभी आसक्ति शेष है ! वे पांडवों की रक्षा तो करना चाहते हैं; किंतु धार्तराष्ट्रों का नाश उन्हें अभिप्रेत नहीं है। वे जीवन के साथ खड़े हैं। वे अस्तित्व के पक्ष में हैं···और कृष्ण ? क्या कृष्ण के मन में किसी के प्रति कोई आसक्ति नहीं है ? वे वहाँ स्थित हैं, जहाँ अस्तित्व और अनस्तित्व का भेद मिट जाता है; जहाँ होने, न होने की कोई विभाजक रेखा नहीं है ?···

13

द्रुपद ने बड़ी उत्कंठा से धृष्टद्युम्न के लौटने की प्रतीक्षा की थी। वे जानना चाहते थे कि काम्यक वन में क्या घटित हुआ; और कृष्ण क्या सोच रहे हैं ?···कृष्णा के पुत्र धृष्टद्युम्न के साथ आ रहे थे, इसलिए वे उनको देखने को उत्सुक थे। कृष्णा नहीं आ रही !···इसका एक प्रकार का खेद था;···किंतु ठीक ही किया कृष्णा ने; अपने पतियों के साथ रह गई ! द्रुपद की यह तेजस्विनी पुत्री अग्नि-कुंड से उत्पन्न हुई थी। वह साधारण नारी नहीं थी कि संकट सामने देखते ही, पतियों को वन में छोड़ पिता के प्रासाद में आ जाती !···दुहिता नहीं आ रही, कोई बात नहीं; दौहित्र तो आ रहे हैं।···

और फिर उन्हें सूचना मिली कि वे लोग आ गए हैं। धृष्टद्युम्न सीधा उनके पास आया था। बच्चों को वह परिचारकों को सौंप आया था। वे यात्रा से थके हुए थे। उन्हें स्नान कर भोजन करना था; और भोजन के पश्चात् विश्राम !···द्रुपद ने वह सारा समय एक प्रकार की कष्टकारक प्रतीक्षा में व्यतीत किया था।···

और अब वे पाँचों उनके सामने खड़े थे। द्रुपद की दृष्टि उनके चेहरों को टटोल रही थी···उनके केश, उनके कपाल, उनकी आँखें, उनके कपोल, उनकी चिबुक···इनमें उनकी कृष्णा कहाँ थी ?···सब कुछ कृष्णा से भिन्न था; किंतु कृष्णा सब कहीं विद्यमान थी। कभी वह उनके नयनों से झाँक जाती थी, कभी उनकी भंगिमाओं से ! वे सब कृष्णा के शरीर के अंग थे···

वे उन्हें निरखते और निहारते रहे और उसका आनन्द अपने मन में संचित करते रहे। सहसा स्नेह का प्रतिरूप जागा। वे धृष्टद्युम्न की ओर मुड़े, "ये बालक प्रिय नहीं हैं भीष्म को ! पहले इनके पिताओं को हस्तिनापुर से निकाला; और अब इन्हें इंद्रप्रस्थ से भी निष्कासित कर दिया।" उनके नयन क्षोभ में तप्त भी थे और गीले भी, "उसके अधिकार-क्षेत्र में उस अन्यायी, स्वार्थी और अहंकारी द्रोण के लिए स्थान है, उस पापी और दुराचारी कर्ण के लिए स्थान है, उस प्रवंचक सर्प शकुनि के लिए स्थान है; किंतु इन बच्चों के लिए स्थान नहीं है। कैसे-कैसे

नाग पाल रखे हैं उसने उस हस्तिनापुर में; और इन फूल-से बच्चों को, सब कुछ छीनकर, वन में धकेल दिया।"

"ऐसा क्यों है मातामह ?" सहसा प्रतिविंध ने पूछा, "हमारे प्रतिपितामह ऐसे क्यों हैं ?...मैंने तो सुना था, कि धर्म उन्हें बहुत प्रिय है। वे त्यागी और महात्मा हैं। फिर उनकी छत्रछाया में सदा अन्याय ही क्यों पोषित होता रहता है ?"

द्रुपद ने अपने अश्रु पोंछ लिए : उनके सम्मुख कुरुओं की वह पीढ़ी अव नहीं थी, जो भीष्म को अतिमानव मानकर, उससे केवल प्रेम करती थी, उसकी पूजा करती थी।...कितनी प्रतीक्षा की थी द्रुपद ने, इस पीढ़ी के लिए ! इस समय जो बालक उनके सम्मुख खड़े थे, वे भीष्म की गोद में नहीं पले थे। भीष्म ने कभी उनके सिर पर हाथ नहीं रखा था। अपनी अंगुलियों से उनके बाल नहीं सहलाए थे। यह पीढ़ी भीष्म के विषय में प्रश्न उठाएगी। उसके कृत्यों का विश्लेषण करेगी; और उससे धर्म की नई परिभाषा पूछेगी...

"आप बताते क्यों नहीं, मातामह !" सुतसोम बोला, "भाई आपसे कुछ पूछ रहा है।"

द्रुपद का मन हुआ, हँस पड़ें। यह भीम का पुत्र है...वैसा ही दबंग। कैसे स्पष्टीकरण माँग रहा है, अपने मातामह से।...यदि कभी अवसर आया, तो ऐसे ही यह अपने प्रतिपितामह से भी उत्तर माँगेगा...

"तुमने ठीक सुना है पुत्र !" द्रुपद बोले, "तुम्हारे प्रतिपितामह का चरित्र ऐसा ही है। भीष्म में एक ओर आध्यात्मिक उपलब्धियों का आकर्षण था, आध्यात्मिक विकास की इच्छा थी; और दूसरी ओर, वह मानव-सुलभ दुर्बलताओं को भी नहीं जीत पाया। राज्य का त्याग, नारी-सुख का त्याग, पिता की इच्छा-पूर्ति के प्रति पुत्र का दायित्व, अपने वचन पर अडिग रहने का संकल्प–यह सब कुछ था उसमें। यह सब उसने अपने आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से किया; किंतु न वह अपने अहंकार को जीत पाया, न लोभ को, न भय को !"

"मातामह ! एक ही व्यक्ति में त्याग और अहंकार, दोनों कैसे हो सकते हैं ?" छोटा श्रुतकर्मा बोला, "माँ कहती थीं कि व्यक्ति में अहंकार हो, तो वह कुछ भी त्याग नहीं सकता। त्याग का तो आरंभ ही अहंकार-त्याग से होता है।"

द्रुपद आह्लादित हुए : यह अर्जुन का पुत्र है। कैसा सूक्ष्म प्रश्न कर रहा है। कृष्णा भी कैसी-कैसी बातें सिखाती रही है इसे ! हाँ ! न सिखाए, तो पता कैसे चले कि पंडिता माँ का पुत्र है। कृष्णा यदि महारानी न होती, तो किसी गुरुकुल की आचार्या होती, किसी दार्शनिक-पीठ की अध्यक्षा होती...

"तुम्हारी माता सत्य कहती हैं पुत्र !" द्रुपद वोले, "होना तो ऐसा ही चाहिए कि पहले व्यक्ति अपना अहंकार त्यागे; किंतु भीष्म में अपने त्याग के प्रति ही अहंकार है। वे समझते हैं, समझते क्या हैं, उनके मन में दृढ़ धारणा है कि इतना

बड़ा त्याग, आज तक किसी ने नहीं किया, जितना उन्होंने किया है। इसलिए वे विशिष्ट हैं, महान् हैं। शेष लोग तुच्छ हैं, लोभी हैं, सांसारिकता में आसक्त हैं।...''

"वे अपना लोभ भी कहाँ त्याग पाए मातामह !'' प्रतिविंध्य ने अपनी टिप्पणी की, "कौरवों के राज्य का विस्तार हो। वह बढ़े। शक्तिशाली हो। यह लोभ तो उन्हें सदा ही रहा है।''

द्रुपद ने ध्यान से उसे देखा : यह युधिष्ठिर का पुत्र है। उसी की वाणी बोल रहा है। यह क्षत्रिय राजकुमार राज्य के विस्तार को भी लोभ मानता है। इसमें भी किसी त्यागी जीव की ही आत्मा है क्या ?...कृष्णा ने इसे नहीं समझाया कि राज्य का विस्तार क्षत्रियों के लिए लोभ का नहीं, आत्मविश्वास का विषय है ?...

"और क्या भय का त्याग कर पाए वे ?'' श्रुतसेन ने अपना विचार प्रकट किया, "कौरवों का राज्य नष्ट न हो, क्षीण न हो, वंश की वृद्धि न रुक जाए। इस भय ने भी उन्हें कभी नहीं छोड़ा।''

"यह भय क्यों है, आशंका क्यों नहीं ?'' द्रुपद ने पूछा, "और पुत्र यह आशंका तो सबको होती है।''

"आशंका में मात्र दुख का भाव है।'' श्रुतसेन ने उत्तर दिया, "जब आशंका भय में परिणत हो जाती है, तो भयभीत प्राणी अपने भय के कारण दूसरों को भयभीत करता रहता है।''

द्रुपद मन ही मन हँस दिए, कौन उलझे इन बालकों से। कृष्णा ने तो इन्हें पूर्ण दार्शनिक बना रखा है। बोले, "तुम ठीक कहते हो पुत्रो ! भीष्म में अपनी वचनबद्धता, युद्ध-कौशल तथा शक्ति का अहंकार तो है; किंतु दुष्ट-दलन का क्षत्रिय तेज नहीं है। वे अपने परिवार-मोह में धृतराष्ट्र, दुर्योधन और शकुनि को कुछ नहीं कह सके। हाँ, बहुत हुआ, तो कभी कर्ण को हतोत्साहित कर दिया।'' द्रुपद के स्वर में आक्रोश जागा, "पांडवों से प्रेम भी करते थे; यह भी मानते थे कि वे लोग सत्य और धर्म के मार्ग पर चल रहे हैं; किंतु उन पांडवों की रक्षा के लिए दुर्योधन का दमन कभी नहीं किया। उसके विरुद्ध बल-प्रयोग के विषय में उन्होंने कभी सोचा ही नहीं, और नैतिक दबाव का कोई प्रभाव दुर्योधन जैसे लोगों पर होता नहीं।''

"वे इतने धर्मात्मा बनते हैं, तो न्याय क्यों नहीं कर सकते ?'' सुतसोम ने पुनः एक उद्दंड प्रश्न किया।

"तुम्हारे प्रतिपितामह ने राजसत्ता का त्याग तो किया; किंतु वे उससे अनासक्त नहीं हो पाए पुत्र !'' इस बार धृष्टद्युम्न ने उत्तर दिया, "वे कौरव-राज्य की चिंताएँ कभी नहीं छोड़ सके, इसलिए कभी पूर्ण न्याय नहीं कर सके। अनासक्ति

के बिना भी कहीं पूर्ण न्याय हो सकता है ?"

"हाँ ! अनासक्ति मातुल !" श्रुतकर्मा उत्फुल्ल स्वर में बोला, "मातुल कृष्ण भी, अनासक्ति के बहुत पक्षधर हैं।..."

धृष्टद्युम्न हँसा, "ठीक कहते हो पुत्र ! तुम्हारे मातुल कृष्ण पूर्णतः अनासक्त हैं : स्वयं अपने-आपसे, कुल-परिवार से, राज्य से, जाति और गोत्र से ! इसीलिए तो उन्होंने संपूर्ण जंबूद्वीप में कभी यादवों का राज्य स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया। स्वयं राजा नहीं बने, कभी दिग्विजय के लिए नहीं निकले। इतने युद्ध किए हैं उन्होंने, किंतु व्यक्तिगत लाभ कभी नहीं देखा। देखा तो केवल धर्म देखा। केवल धर्म की जय की आकांक्षा की। धर्म की उस जय में अपने परिवार, जाति, कुल, गोत्र–किसी की चिंता नहीं की। उनके लिए धर्म ही सर्वप्रमुख है।"

"बात तो प्रतिपितामह भी धर्म की ही करते हैं।" शतानीक बोला, "उनका धर्म और मातुल कृष्ण का धर्म, एक नहीं है क्या ?"

"तुम्हारे यहाँ धर्म की चर्चा तो बहुत लोग करते हैं पुत्र !" शिखंडी के भिंचे होंठ, पहली बार कुछ सहज हुए, "द्रोण नहीं करते क्या धर्म की चर्चा, याकि कर्ण नहीं करता ? व्यास, विदुर, और स्वयं तुम्हारे पिता धर्मराज ! धर्म की चर्चा तो सब ही करते हैं...किंतु भीष्म और कृष्ण की धर्म संबंधी धारणाओं में, बहुत अंतर है। भीष्म का धर्म नितांत व्यक्तिगत है। उसका संबंध, बस भीष्म के व्यक्तित्व, उसके कुल-वंश-गोत्र और हस्तिनापुर के राज्य से है। उसके बाहर भी लोगों को धर्म और न्याय चाहिए, ऐसा भीष्म सोच भी नहीं सकता। एक व्यापक मानवीय धर्म अथवा अध्यात्म के क्षेत्र में आने वाले वैराग्यपूर्ण अनासक्त, संपूर्ण, समग्र धर्म की परिकल्पना, उसके मस्तिष्क में कभी नहीं समाई। इसीलिए वह हस्तिनापुर में बैठा धृतराष्ट्र, द्रोणाचार्य, दुर्योधन, शकुनि और कर्ण जैसे पापियों से समझौते करता रहा।"

"मातुल शिखंडी बहुत कटु बोलते हैं।" श्रुतसेन के अधरों पर अबोध और निष्कलुष मुस्कान थी।

"किंतु सत्य बोलता हूँ पुत्र !" शिखंडी की मुस्कान में भी एक प्रकार की उग्रता थी, "अब तुम लोग प्रकृति की द्वन्द्वात्मकता देखना। जिस वंश की रक्षा के लिए, उसे नष्ट होने से बचाने के लिए, वह अधर्म और अन्याय से समझौते करता रहा है; उस वंश का संहार, उन्हीं समझौतों के कारण होगा।" उसने द्रौपदी के पाँचों पुत्रों को दृष्टि भरकर देखा, "तुम लोग मेरी बात सुनो पुत्र ! भीष्म के ये समझौते, उसके द्वारा अधर्म और अन्याय का यह समर्थन, एक बड़े जन-संहार का कारण बनेगा। पांडव तेरह वर्षों का निष्कासन पूरा कर लौटेंगे। दुर्योधन उनका राज्य उनको देगा नहीं; परिणामस्वरूप राज्य के लिए एक भयंकर युद्ध होगा। उस युद्ध के कारण, युधिष्ठिर नहीं होंगे; इसी भीष्म का वह लाड़ला दुर्योधन होगा।

...दुर्योधन ही क्यों, स्वयं भीष्म होगा। जो अपने मोह और स्वार्थवश, छोटी-छोटी दुर्घटनाओं को बचाता रहा, वही इस महानाश का मूल कारण होगा। वह न्याय-पक्ष ग्रहण कर दुर्योधन का दमन करता, धृतराष्ट्र के अंधे, चक्षुहीन राज्य से प्रजा की रक्षा करता, तो कौरव-दाह की परिस्थितियाँ नहीं बनतीं।"

"तो फिर धर्म को कौन अधिक जानता है ?" श्रुतकर्मा जैसे किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न कर रहा था !

"भीष्म स्वयं स्वीकार करते हैं कि धर्म को कृष्ण, उनसे कहीं अधिक जानते हैं।" द्रुपद निश्चयात्मक स्वर में बोले, "तुम्हारे पिता युधिष्ठिर भी भीष्म से कहीं बड़े धर्मज्ञ हैं। युधिष्ठिर ने अपनी मानवीय दुर्बलताओं से युद्ध कर, उन्हें पराजित किया है। उसने आनृशंसता को पहचाना है। उसमें दया और करुणा है। उसके मन में सबके लिए समान प्रेम और समता का भाव है। वह अपने तथा अपने भाइयों के प्रति कठोर होकर भी, किसी पराए को न्याय दे सकता है। भीष्म ने कभी आनृशंसता को नहीं जाना। किसी पर दया नहीं की। वह जीवन भर क्षत्रियत्व की कठोरता और कर्त्तव्यनिष्ठा के नाम पर क्रूरता को धारण किए रहा। उसमें न तेज है, न करुणा। वह श्रेष्ठ योद्धा हो सकता है; किंतु श्रेष्ठ मानव तो युधिष्ठिर ही है। युधिष्ठिर ने आज तक कौरवों के इस महानाश को टाला है। कष्ट सहकर, क्षति उठाकर, कौरवों के नाश को बचाया है।" द्रुपद का स्वर उत्तेजित हो उठा, "भीष्म दर्प की मूर्ति है; और युधिष्ठिर में दर्प नाम को भी नहीं है। दुर्योधन द्वारा उनकी हत्या के कितने प्रयास हुए, किंतु युधिष्ठिर के मन में न द्वेष है, न प्रतिहिंसा। उसमें तो राजसूय यज्ञ कर लेने के पश्चात् भी अहंकार नहीं है। वह विनीत है, शिष्ट है, करुणा से युक्त है तो फिर भीष्म और कर्ण, धर्म को उससे अधिक कैसे जान सकते हैं।"

"तो फिर हमारे पिता, हमारे प्रतिपितामह की इस प्रकार पूजा क्यों करते हैं, जैसे वे कोई देव-पुरुष हों ?" सुतसोम ने अपने उग्र स्वर में पूछा।

"वह तुम्हारे पिता का गुण है पुत्र ! तुम्हारे प्रतिपितामह का नहीं।" धृष्टद्युम्न ने उत्तर दिया, "कोई गंगा को मलिन करता रहे, तो भी गंगाजल उसे स्वच्छ ही करता है।"

"मुझे तो अपने पिता का ही मन समझ में नहीं आता," सुतसोम बोला, 'वे सात्विक हैं, धार्मिक हैं, न्याय उनके पक्ष में है, वे शक्तिशाली भी हैं...फिर भी वे अपने इस शत्रु, दुर्योधन का वध नहीं करेंगे।...हम कब तक उनके अत्याचारों को सहन करें मातामह ?"

"अब और सहन करने की आवश्यकता नहीं है पुत्र !" शिखंडी ओजस्वी स्वर में बोला, "पाप का घट पूर्ण हुआ। अब सारे पापी दंडित होंगे...दुर्योधन और धृतराष्ट्र भी, उनके रक्षक द्रोण और भीष्म भी। इनमें से किसी को भी क्षमा नहीं

किया जाएगा।"

द्रुपद जानते थे, शिखंडी ने सबके मन की बात कही थी; किंतु वह तो भविष्य में होना था। सामने वर्तमान था। कठोर वर्तमान ! तेरह वर्षों तक इन बच्चों को अपने माता-पिता से विलग रहना था। जब तक ये अपने माता-पिता से मिलेंगे, ये इतने बड़े हो चुके होंगे कि माता के आँचल के स्थान पर किशोरियों के कटाक्ष इन्हें अधिक आकर्षक लगेंगे···बेचारी कृष्णा ! वह तो अपने पुत्रों से ऐसी वियुक्त हुई कि··

"पुत्रो ! तुम्हारी माता तुम्हारे साथ नहीं है, किंतु यह उसी का घर है। उसने अपना सारा शैशव और कैशोर्य इसी प्रासाद में व्यतीत किया है। तुम इसे अपना ही घर समझकर यहाँ रहो···।"

"किंतु मातामह !" श्रुतकर्मा ने उन्हें रोक दिया, "माता ने तो कहा था कि हम इसे अपना घर न समझें।"

द्रुपद ही नहीं; धृष्टद्युम्न और शिखंडी भी चौंक उठे। यह कृष्णा ने क्या समझाया है अपने पुत्रों को ?···

"क्या कहा था तुम्हारी माता ने पुत्र ?" द्रुपद ने संयत होकर पूछा।

"माँ ने कहा था, यह वनवास तो एक व्याज मात्र है पुत्र !" श्रुतकर्मा ने अपनी माता के शब्दों को दोहराया, "वैसे भी तुम लोगों की अवस्था गुरुकुल में जाने की है। क्षत्रिय राजकुमार बारह वर्षों तक गुरु-गृह में रहकर तपस्यापूर्वक शिक्षण प्राप्त करते हैं। तुम अपने मातामह के घर जा रहे हो, किंतु उसे अपना घर नहीं, गुरु-गृह ही समझना। तुम्हारे मातामह वहाँ कुलपति हैं। वे तुम्हारे प्रति कठोर नहीं हो सकेंगे।···किंतु तुम्हारे गुरु होंगे तुम्हारे मातुल धृष्टद्युम्न और शिखंडी। वे कठोर अनुशासन को मानने वाले गुरु हैं। उनके प्रशिक्षण-काल में जितना स्वेद बहाओगे, युद्ध-क्षेत्र में उतना रक्त कम बहेगा। यदि स्वेद बचाओगे, तो रक्त बहाना पड़ेगा पुत्र ! इसलिए अपने गुरुओं का कठोर अनुशासन सहन करना, श्रम करना और श्रेष्ठ योद्धा बनकर उस गुरु-कुल से लौटना। न अपने पिता का नाम कलंकित करना, न मेरे पिता को लज्जित करना।"

द्रुपद की आँखें भर आईं···उनकी पुत्री, उनकी अपेक्षा से कहीं अधिक तेजस्विनी थी। वह सचमुच अग्नि-कुंड से उत्पन्न हुई थी···

"तो ठीक है पुत्र ! कल से तुम्हारा शिक्षण आरंभ हो !" द्रुपद बोले, "तुम शस्त्र-शिक्षा अपने मातुल-द्वय से लोगे। तुम्हारे प्रशिक्षक होंगे, पांचालों के श्रेष्ठतम शस्त्र-ज्ञाता; किंतु पुत्र तुम्हें शास्त्र का ज्ञान भी होना चाहिए। श्रेष्ठ और विद्वान् ब्राह्मण तुम्हें शास्त्र का ज्ञान देंगे, ताकि तुम्हारा ज्ञान और चारित्र्य–दोनों विकसित हो सकें।"

14

"माँ गंदी ! माँ गंदी ! ! माँ गंदी ! ! !"

कृष्ण के पग थम गए। अभिमन्यु अपनी माँ से रुष्ट हो गया लगता था। वह अपना क्रोध दिखा रहा था और सुभद्रा खड़ी हँस रही थी।

"क्या बात है अभि ! यह सहसा, संसार की सर्वश्रेष्ठ माता, इस प्रकार गंदी कैसे हो गई ?"

"नहीं बोलूँगा ! माँ से भी नहीं बोलूँगा। मातुल से भी नहीं बोलूँगा।" अभिमन्यु क्रोध में उसी प्रकार बोलता जा रहा था।

कृष्ण ने आगे बढ़कर, उसे गोद में उठा लिया। मुक्त होने के लिए, वह बहुत छटपटाया; किंतु कृष्ण की भुजाओं से मुक्त नहीं हो पाया।

"बिना कारण बताए, मातुल से रुष्ट होना तो कोई अच्छी बात नहीं है।" कृष्ण ने उसे गुदगुदाया, "झगड़ा माँ से हुआ, और क्रोध मातुल पर उतार रहे हो।"

'तो फिर माँ क्यों नहीं बतातीं कि चक्रव्यूह से बाहर कैसे निकला जाता है ?"

"चक्रव्यूह !" कृष्ण कुछ विस्मित होकर बोले, "मैं तो समझ रहा था कि माँ-बेटे का यह झगड़ा, खेलने, खाने या घूमने जाने के संदर्भ में हो रहा होगा; किंतु यहाँ तो कोई महासमर हो रहा है।"

"छोड़िए भैया ! यह तो ऐसे ही करता रहता है।" सुभद्रा ने आगे बढ़कर अभिमन्यु को अपनी भुजाओं में ले लेना चाहा, "इसे दो कौर खिलाने के लिए भी, किसी युद्ध-प्रसंग की चर्चा करनी पड़ती है। या तो किसी शस्त्र का वर्णन करना पड़ता है, अथवा किसी व्यूह का।"

"यह तो बड़े उत्तम शिष्य के लक्षण हैं।" कृष्ण हँसे, "तुम्हारा पुत्र तो अभी से किसी महान् युद्ध-विशारद के लक्षण लिये हुए है। लगता है, इसे विद्या-दान कर इसका गुरु धन्य हो जाएगा।"

"इसके गुरु तो आप ही हैं भैया !"

"तो मुझे धन्य होने में क्या आपत्ति है।" कृष्ण बोले।

"मातुल ! माँ से बातें मत करो।" अभिमन्यु ने कृष्ण के चेहरे को अपनी नन्हीं हथेली से अपनी ओर घुमा लिया, "मुझे बताओ कि चक्रव्यूह से बाहर कैसे निकला जाता है।"

"अभि ! मातुल से ऐसे बातें नहीं करते।" सुभद्रा ने कठोर स्वर में कहा।

"तो कैसे करते हैं ?" अभिमन्यु ने कुछ चकित होकर पूछा।

"कहो 'मुझे बताइए', 'मुझे सिखाइए'। 'मुझे बताओ', क्या होता है। मातुल

तुम्हारे बराबर के मित्र हैं क्या ?"

"भई ! मातुल तुम्हारे मित्र तो हैं; किंतु बराबर के नहीं।" कृष्ण एक आसन पर बैठ गए और उन्होंने अभिमन्यु को अपने सामने बैठा लिया, "यही तो कठिनाई है मित्र अभि ! कि तुम जानना चाहते हो व्यूह के विषय में, और तुम्हारी माता बता रही हैं व्याकरण के विषय में। पहले व्याकरण के व्यूह से निकलो तो चक्रव्यूह की चर्चा हो।...किंतु, तुम चक्रव्यूह के विषय में क्यों जानना चाहते हो ?"

"जब मैं चक्रव्यूह में प्रवेश कर गया हूँ। वहाँ शत्रुओं से युद्ध कर रहा हूँ, तो क्या मुझे बाहर नहीं निकलना है ?" अभिमन्यु ने कुछ क्रोध से पूछा।

"शत्रुओं को मार दो और बाहर निकल आओ।" कृष्ण हँसे।

"बाहर निकलना आएगा, तो ही तो शत्रुओं को मार पाऊँगा।"

कृष्ण क्षण भर रुककर बोले, "तुम्हें व्यूह से बाहर निकलना नहीं आता, तो तुमने व्यूह में प्रवेश ही क्यों किया मित्र ?" वे हँसे, "कुछ धैर्य रखते। पहले माँ से, बाहर निकलने की युक्ति सीख लेते, तब प्रवेश करते।"

अभिमन्यु सकपका गया...उसने ऐसे प्रश्न के विषय में तो सोचा ही नहीं था...किंतु मातुल के प्रश्न के उत्तर में, उसे मौन तो नहीं रह जाना था। बोला, "मैंने सोचा था कि माँ मुझे बाहर निकाल लाएगी।"

"तो तुम माँ के भरोसे चक्रव्यूह में प्रवेश करोगे ?"

"माँ ही तो कहती हैं कि मैं उनके भरोसे वृक्ष पर चढ़ जाऊँ, तैरने के लिए जल में उतर जाऊँ, और अश्वारोहण के लिए, अश्व पर आरूढ़ हो जाऊँ।"

"वह सब तुम्हारी माँ को आता है।" सुभद्रा बोली, "चक्रव्यूह से बाहर निकलना नहीं आता।"

इस बार कृष्ण चकित रह गए, "यह क्या सुभद्रा ! तुम कहो कि तुम अश्वारूढ़ तो हो सकती हो, किंतु नीचे नहीं उतर सकतीं, तो कौन विश्वास करेगा ?"

सुभद्रा हँस पड़ी, "वह ऐसा है भैया ! कि जब मैं गर्भवती थी, और मेरी अधिक गतिविधि नहीं रह गई थी, तो धनंजय मेरे मनोरंजन के लिए, कभी-कभी विभिन्न व्यूहों के विषय में बताया करते थे। आप ऐसे समझ लीजिए कि चौपड़ न खेलकर, हम लोग व्यूह-रचना का खेल खेला करते थे। एक दिन उन्होंने मुझे चक्रव्यूह के विषय में बताया था; किंतु संयोग से बात पूरी नहीं हो सकी। मुझे ऊँघते देखकर, उन्होंने अपनी बात अधूरी छोड़ दी। न भी छोड़ते, तो मैं ग्रहण नहीं कर पाती। मैं तो लगभग सो ही चुकी थी।...फिर कभी चर्चा ही नहीं हुई। ...जाने मैं क्यों अभि को चक्रव्यूह के विषय में बताने बैठ गई...।"

"गुरु को अपने अधूरे ज्ञान से तो शिष्य की शिक्षा आरंभ नहीं कर देनी चाहिए।" कृष्ण मुस्कराए।

"मैं कौन-सा इसे युद्ध-ज्ञान दे रही थी।" सुभद्रा बोली, "मैं तो इसे बहलाने का प्रयत्न कर रही थी। कोई कथा न सुनाई, चक्र-व्यूह का प्रवेश आरंभ कर दिया..."

"अच्छा अभि ! चक्रव्यूह से निकलना, तुम्हें मैं सिखा दूँगा।...किंतु ऐसे नहीं, जैसे तुम्हारी माँ कथा-कहानी के रूप में सिखाती है।" कृष्ण बोले, "हम सैनिकों के स्थान पर श्वेत पत्थर और अश्वों के स्थान पर काले पत्थर नहीं रखेंगे। मैं तुम्हें सिखाऊँगा तो सैनिकों, अश्वों और वास्तविक रथों के साथ ही सिखाऊँगा। इसलिए शीघ्रता मत मचाना।...हम एक-एक कर, सारे व्यूहों का ज्ञान प्राप्त करेंगे। पहले सरल व्यूहों का, फिर जटिल व्यूहों का। इसी क्रम में जब अवसर आएगा, हम चक्रव्यूह भी सीखेंगे।...पर एक बात बताओ, कि चक्रव्यूह से निकलना, तुम्हारे लिए इतना महत्त्वपूर्ण क्यों है ?"

"मुझे युद्ध करना है मातुल !" अभिमन्यु ने कृष्ण के कान में कहा, "वह जो नीच दुर्योधन है न, उसका वध करना है। उसने हमारे साथ जो अत्याचार किया है, उसका प्रतिशोध लेना है।"

अवाक् कृष्ण, अभिमन्यु को देखते रहे : इतना छोटा-सा बालक, कैसी-कैसी बातें करता है, "तुम्हें यह सब किसने सिखाया है अभि ! तुम्हारी माता ने ?"

"नहीं ! भैया सुतसोम कहते थे। वे कहते थे कि वे दुर्योधन को वैसे ही चीर देंगे, जैसे पितृव्य भीम ने पापी जरासंध को चीरा था।"

"और यदि कहीं, कोई युद्ध ही न हुआ तो ?"

"युद्ध हो, न हो। हमें जो काम करना है, वह तो करना ही है।" अभिमन्यु ने उत्तर दिया।

"तुम अपना काम अवश्य करोगे अभि !" कृष्ण का स्वर गंभीर हो गया था।

"चक्रव्यूह मातुल ?"

"अवश्य सिखाऊँगा।" कृष्ण बोले, "किंतु अपनी योजना के अनुसार !"

कृष्ण के आश्वासन से अभिमन्यु पूर्णतः संतुष्ट हो गया, लगता था। उसने और हठ नहीं की।...हठ न करने का एक कारण यह भी था कि उस समय अकस्मात् ही उसे अपने कुछ मित्रों का स्मरण हो आया था। अब माँ और मातुल, उसके लिए अनावश्यक हो गए थे। उनके पास बैठकर, वह क्या करता ? वह बहुत शीघ्रता में, उन्हें वहीं बैठा छोड़, बाहर भाग गया था।

"कभी-कभी मैं सोचती हूँ भैया !" अभिमन्यु के जाने के पश्चात् सुभद्रा बोली, "प्रतिविंध्य से इस नन्हें अभिमन्यु तक–पांडवों के सारे पुत्र, अपने शत्रुओं से प्रतिशोध लेने के लिए व्यग्र हो रहे हैं, और समय आने पर कहीं, धर्मराज ने इन्हें युद्ध की अनुमति ही नहीं दी तो ?"

कृष्ण ने लीलामयी मुस्कान से सुभद्रा की ओर देखा, "तुम तो अभी तक पगली की पगली ही हो, सुभद्रे !"

"क्यों ? इसमें पगली होने की क्या बात है भैया !" सुभद्रा ने सहज भाव से उत्तर दिया, "किसे यह ज्ञात नहीं है कि धर्मराज किसी भी स्थिति में युद्ध करना नहीं चाहते।"

दुर्योधन की मृत्यु धर्मराज की इच्छा के अधीन नहीं है।" कृष्ण बोले, "वह उसके अपने कर्मों के अधीन है। आततायी अपने पाप से मारा जाता है सुभद्रे ! यदि धर्मराज ने युद्ध नहीं भी किया, तो दुर्योधन और उसके मित्रों का वध मेरे हाथों होगा। धरती उनका बोझ, अब बहुत दिनों तक नहीं सह सकती।"

सुभद्रा ने उत्फुल्ल नेत्रों से कृष्ण की ओर देखा, "सच कह रहे हैं भैया ?"

"एकदम सच !" कृष्ण बोले, "मैंने तो काम्यक वन में भी कहा था।"

"मैंने समझा, वह आपने पांचाली को सांत्वना देने मात्र के लिए कहा था।"

"तुम्हारा यह भाई, किसी को झूठी सांत्वना तो नहीं देता।..."

सुभद्रा कुछ क्षणों तक, प्रशंसापूर्ण भाव से कृष्ण को देखती रही; फिर बोली, "ऐसा क्यों नहीं हो सकता कि पांडव अपने धर्म के निर्वाह के लिए वन में ही रहें, और यादव हस्तिनापुर पर आक्रमण कर दुर्योधन का वध कर दें ?"

कृष्ण गंभीर मुद्रा में मौन खड़े रहे। फिर बोले, "आज तक यह योजना किसी ने बनाई नहीं। यादवों के राजा उग्रसेन हैं और उनकी नेता, सुधर्मा सभा। ...किंतु तुम जानती हो, महाराज उग्रसेन के पास अपनी कोई बहुत बलशाली सेना नहीं है; क्योंकि युद्ध उनकी प्रवृत्ति नहीं है। यादव सेना, या तो स्वतंत्र रूप से युद्ध करने वाले अतिरथियों तथा महारथियों का महासंघ है; अथवा द्वारका के प्रधान लोगों की अपनी निजी सेनाओं का संगठित रूप।...इसलिए यादव सेना, सामूहिक रूप से किसी ऐसे युद्ध का आयोजन नहीं कर सकती, जिसमें द्वारका अथवा सारे यादवों का सामूहिक हित न हो।"

"तो क्या कौरवों को दंडित करने में सारे यादवों की सामूहिक रुचि नहीं होगी ?"

"नहीं !"

सुभद्रा चौंक उठी, "यादवों में ऐसा कौन है, जो कौरवों को उनके दुष्कृत्यों का दंड देना नहीं चाहेगा ?"

"इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं सुभद्रे !" कृष्ण शांत भाव से बोले, "यादवों में अब अनेक ऐसे लोग हैं, जो धर्म और न्याय के लिए नहीं लड़ते; स्वार्थ और लोभ के लिए लड़ते हैं। वे मानते हैं कि संसार में अनेक स्थानों पर अधर्म, अन्याय और अत्याचार होता रहता है। उन सबसे लड़ते रहना, हमारा ही दायित्व क्यों है। इसलिए हम अपना रक्त वहीं बहाएँगे, जहाँ हमारा कोई अहित हो रहा हो।

वे यह भूल जाते हैं कि आज तो अन्याय बहुत दूर दिखाई देता है, रोका न जाए, तो कल वह हमारे द्वार पर आ जाएगा। वे कौरवों-पांडवों के पारिवारिक संघर्ष में अपना कोई दायित्व नहीं देखते।…"

"यह तो उचित नहीं है भैया !"

"हाँ ! उचित तो नहीं है।" कृष्ण बोले, "क्योंकि जिस क्षण से उन्होंने धर्म-युद्ध त्याग दिया है, उसी क्षण से अधर्म उनकी जड़ों को खोखला करने में लग गया है। यह अधर्म, उनके अस्तित्व को लील जाएगा। प्रकृति अकर्मण्यता की कभी रक्षा नहीं करती।"

"भैया ! आप अपनी नारायणी सेना के बल पर कौरवों को दंडित नहीं कर सकते ?"

"बहुत आतुर हो, कौरवों को दंडित करने के लिए ?" कृष्ण मधुर भाव से मुस्करा रहे थे, "किंतु मेरे मार्ग में भी कुछ बाधाएँ हैं सुभद्रे !"

"क्या भैया ?"

"सर्वप्रथम धर्मराज युधिष्ठिर का धर्म, मेरा मार्ग रोके खड़ा है। वे नहीं चाहते कि तेरह वर्षों से पूर्व, हम कोई युद्ध करें; और…।" कृष्ण कुछ रुके, "और तुम जानती हो सुभद्रे ! द्वारका में भी प्रत्येक व्यक्ति मेरे साथ ही हो, ऐसा नहीं है। मतभेद तो होते ही रहते हैं। स्यमंतक मणि की घटना को लेकर मतभेद हुए, तुम्हारे हरण और विवाह को लेकर मतभेद हुए।…"

"हाँ ! हुए तो।" सुभद्रा बोली।

"अब यदि कौरवों-पांडवों के संघर्ष में यादव अनुपस्थित रहते हैं, तो सारे यादव संगठित दिखाई देते हैं; किंतु यदि मैं अपनी सेना के साथ, कौरवों के विरुद्ध खड़ा होता हूँ, तो बहुत संभावना है कि अनेक यादव महारथी और उनकी सेनाएँ, दुर्योधन के पक्ष में जा खड़ी हों।…"

"केवल आपका विरोध करने के लिए ?"

"नहीं ! मुझे अपनी मनमानी करने से रोकने के लिए।" कृष्ण हँस रहे थे; किंतु उस हँसी में से उनकी चिंता साफ-साफ सुनाई पड़ रही थी।

"द्वारका में आपके इतने विरोधी उत्पन्न हो गए हैं ?" सुभद्रा के स्वर में आश्चर्य भी था और विषाद भी !

"नहीं ! ऐसा भी नहीं है।" कृष्ण बोले, "द्वारका में मेरे विरोधी नहीं हैं। वे लोग मुझसे प्रेम करते हैं। मेरी रक्षा के लिए, वे अपने प्राण दे देंगे; किंतु मुझे वे अपनी इच्छानुसार चलाना चाहते हैं…।"

"यह उनका प्रेम है या आधिपत्य ?"

कृष्ण हँसे, "मेरे स्वतंत्र निर्णयों को वे मेरी मनमानी मानते हैं…इसलिए मेरा साथ नहीं भी दे सकते। और तो और, स्वयं भैया बलराम भी मुझे ऐसी स्वतंत्रता

नहीं देना चाहते।··इसलिए सोचता हूँ कि कहीं ऐसा न हो कि मैं पांडवों का पक्ष लेकर लड़ने जाऊँ और परिणामस्वरूप, एक ओर यादवों की एकता भंग हो जाए··और दूसरी ओर यादवों में पांडवों के शत्रु उत्पन्न हो जाएँ, जो युद्ध में पांडवों के विरुद्ध जा खड़े हों। उससे दुर्योधन का पक्ष और भी सबल हो सकता है। संसार में ऐसे लोगों की कमी नहीं सुभद्रे ! जो अपने विरोधी के प्रत्येक मित्र को, अपना विरोधी मान, उसके शत्रु हो जाते हैं।"

"तो ?"

"तो क्या !" कृष्ण हँसे, "थोड़ी सावधानी बरतनी होगी।"

"आप तो अपनी नारायणी सेना का उपयोग करने में भी स्वतंत्र नहीं दीखते भैया !" सुभद्रा चिंतित थी, "पांडवों की सहायता कैसे करेंगे ?"

"तू चिंता मत कर पगली !" कृष्ण ने लाड़ से उसके सिर पर हाथ रखा, "धर्म सबल भी है और स्वतंत्र भी। उसका मार्ग कोई नहीं रोक सकता !"

"फिर भी !" सुभद्रा बोली, "धर्म को भी उपकरणों की आवश्यकता तो होती ही होगी। शून्य में विचरण करने वाली वायवीय विचार-तरंगें साकार होकर युद्ध तो नहीं कर सकतीं।"

"तुम ठीक कहती हो सुभद्रा !" कृष्ण, शांत किंतु गंभीर थे, "किंतु हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि जिस समय कंस ने हमें मथुरा बुलाया था, उस समय हमारे पास न कोई राज्य था ! कोई शस्त्र भी नहीं था। एक मैं था और एक भैया बलराम; और दूसरी ओर जरासंध की सारी शक्ति कंस के रूप में सामने विद्यमान थी। फिर भी धर्म का मार्ग, कोई रोक नहीं पाया।"

सुभद्रा को अपने भाई के आत्मबल पर गर्व हुआ, किंतु उसकी चिंता पूर्णतः दूर नहीं हो रही थी, "किंतु अब तो शायद बलराम भैया भी आपके साथ नहीं हैं।..."

"नहीं ! सर्वथा ऐसा नहीं है। वे मेरे साथ तो है; किंतु पूर्णतः मेरे साथ ही नहीं हैं–वे कुछ और लोगों के साथ भी हैं।" कृष्ण बोले, "किंतु तुम यह क्यों भूलती हो कि पांडव मेरे साथ हैं। युयधान सात्यकि मेरे साथ हैं। मेरे पुत्र साथ हैं··· ।"

"आप कितने अकेले हो गए हैं भैया ! और मैं सोचती थी··· ।"

कृष्ण ने सुभद्रा की ओर देखा···उसके चेहरे पर स्पष्ट संकोच था···जो कुछ उसके मन में था, उसका विवेक उसे जिह्वा तक आने से रोक रहा था।

"क्या बात है सुभद्रे ?"

"कह दूँ ?"

"क्यों नहीं कहोगी ?"

"मेरे मन ने भैया ! आपके व्यक्तित्व के साथ एक प्रकार के देवत्व को

जोड़ रखा था।" सुभद्रा धीरे से बोली, "मैं कल्पना भी नहीं कर सकती थी कि उस देवत्व की, उस अलौकिक सत्ता की, कोई अवहेलना भी कर सकता है···।"

"और अब ?"

"अब लगता है कि इतने लोग, उस देवत्व की अवहेलना कर रहे हैं···मेरा अनुमान असत्य था ? वह मेरा भ्रम था ?···"

"जो मानना चाहे, मान ले।" कृष्ण के अधरों पर पुनः वही लीलामयी मुस्कान आ गई थी।

"नहीं ! आप बताएँ भैया ! क्या देवत्व की अवहेलना संभव है ? वह देवत्व ही क्या रहा, जिसकी अवहेलना कोई भी कर सकता है। मनुष्य, ईश्वर की अवहेलना, उपेक्षा तथा विरोध में समर्थ हो जाए, तो ईश्वर का ईश्वरत्व कैसा ?"

कृष्ण गंभीर हो गए, "ईश्वर की अवहेलना कोई नहीं कर सकता। उसकी इच्छा का विरोध नही हो सकता।"

"तो फिर यह सब क्या है भैया ?"

"मनुष्य जब पीड़ित होता है, दुखी होता है, प्रवंचित और प्रताड़ित होता है, तो उसमें न्याय, धर्म, समता, त्याग, बलिदान इत्यादि की आकांक्षा प्रबल रूप से जागती है। यह आकांक्षा उसके मन से अन्याय, अत्याचार, भोग इत्यादि के भावों को निष्कासित कर देती है। उसके रजोगुण और तमोगुण तिरोहित हो जाते हैं; शेष रहता है केवल सतोगुण ! उसका सत्व उसे पवित्र बनाता है। उसके भीतर का सत्व, बाहर के सत्व की ओर आकृष्ट होता है। देवत्व उसे आकर्षित करता है। वह ईश्वर के निकट होता जाता है···किंतु जब वह स्वतंत्र और समर्थ हो जाता है, संसार का भोग उसके पास संचित होता है, धन-संपत्ति आ जाती है; तो उनके साथ-साथ रजोगुण और तमोन्मुखी रजोगुण संचित होने लगते हैं। सत्व बहिष्कृत और निष्कासित होने लगता है। अपने भीतर सत्व न हो तो, मनुष्य सत्व की ओर आकृष्ट भी नहीं होता। ऐसे में त्याग, समता और न्याय के प्रति आकर्षण समाप्त हो जाता है। देवत्व से मनुष्य को भय लगने लगता है, क्योंकि देवत्व भोग, संचय और आधिपत्य का समर्थन नहीं करेगा।···"

"तो यादवों के मन में अब सत्व के प्रति आकर्षण नहीं रहा ?" सुभद्रा ने पूछा।

"धन, शक्ति और सत्ता का मद, व्यक्ति को सात्विक कैसे रहने दे सकता है सुभद्रे !" कृष्ण बोले, "देवत्व उन्हें प्रिय था, क्योंकि वह उनके शत्रुओं का दमन कर, उन्हें त्याग सिखा रहा था। शत्रुओं के दमन और त्याग से यादवों को लाभ हो रहा था, उन्हें सांसारिक उपलब्धियाँ हो रही थीं। अब वही देवत्व, उनसे त्याग और आत्म-दमन की अपेक्षा कर रहा है।···तो उन्हें वह देवत्व कैसे प्रिय हो सकता है ?"

"तो यह ईश्वर की अवहेलना ही तो हुई !" सुभद्रा बोली।

"नहीं ! ये आकर्षण और विकर्षण के प्राकृतिक नियम मात्र हैं, जो स्वयं ईश्वर की इच्छा से परिचालित होते हैं। इस आकर्षण तथा विकर्षण के माध्यम से भी ईश्वर की ही इच्छा का पालन हो रहा है।" कृष्ण बोले, "इसीलिए वंचितों को अधिकार दिलाने वाला 'देवत्व', अपनी विजय-वेला में ही अपने अनुयायियों के लिए अनावश्यक हो जाता है। क्रमशः वह अपने सहयोगियों तथा अनुचरों के मध्य पूर्णतः अकेला हो जाता है।…"

"तो क्या पांडव भी अपनी विजय के पश्चात् आपको छोड़ देंगे ?"

"यह तो इस पर निर्भर करता है कि पांडव अपने स्वार्थ के कारण मेरे साथ हैं, अथवा मेरे प्रेम के कारण !…"

किसी के आने की आहट हुई और कृष्ण ने मुड़कर देखा : द्वार पर खड़ा उद्धव मुस्कराने का प्रयत्न कर रहा था।

"आओ मित्र ! बड़े अवसर से आए। यह सुभद्रा आज बड़े शास्त्रार्थ की मुद्रा में है। इसकी समस्याओं का समाधान करो !" कृष्ण ने उसका स्वागत किया, "क्या बात है, तुम मुस्कराने का प्रयत्न कर रहे हो; किंतु मुस्करा नहीं रहे ?"

"आइए भैया ! पहले बैठिए तो। मैं आपके लिए जल लाती हूँ।" सुभद्रा ने एक आसन प्रस्तुत किया, "संभव है, बैठकर मुस्कराने में कुछ सुविधा हो जाए।"

उद्धव बैठ गया; किंतु उसके चेहरे से विषाद के लक्षण पूर्णतः धुल नहीं पाए।

"बोलो !"

"अभ्यास-क्षेत्र में आज कृतवर्मा और सात्यकि का कुछ अधिक ही झगड़ा हो गया।" उद्धव ने धीरे से कहा, "मेरी समझ में नहीं आता कि इन लोगों को क्या हो गया है। न तो ये लोग एक-दूसरे से दूर रहते हैं, और न निकट आकर शांत रह पाते हैं।"

"झगड़ा किस बात पर हुआ ?" कृष्ण ने पूछा।

"बात तो कोई विशेष नहीं थी।" उद्धव ने उत्तर दिया, "कृतवर्मा ने कहा था कि लोग अपने धर्म का आचरण नहीं कर रहे, और सात्यकि ने कह दिया, 'तुम तो धर्म पर ही चलते हो न। सत्राजित के वध और स्यमंतक मणि को चुराने में शतधन्वा की सहायता करना, तुम्हारा धर्म ही तो था।' कृतवर्मा न तो सात्यकि की बात सहन कर पाया, और न अपना अपराध स्वीकार कर सका। वह क्रोध में आपे से बाहर हो गया, जैसे उसे कोई उन्माद हो गया हो। बोला, 'युयुधान

अपने-आपको बहुत धर्मात्मा समझता है; किंतु उसे उसकी वास्तविकता ज्ञात है। किसी दिन वह उसके पापों का भंडाफोड़, बीच सुधर्मा सभा के करेगा…'।"

"उसने युयुधान पर कोई आरोप भी लगाया ?"

"नहीं ! कोई विशिष्ट आरोप तो नहीं लगाया, बस यही कहता रहा कि सात्यकि अहंकारी है, स्वयं को बहुत धर्मात्मा मानता है, जैसे धर्म उसी के बल पर टिका हो। शेष सबको तो नीच और पापी समझता है। कृष्ण ने उसे सिर पर चढ़ा रखा है। वह भी कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए, उसकी चाटुकारिता करता रहता है। अर्जुन से धनुर्विद्या क्या सीख आया है, स्वयं को द्रोणाचार्य ही समझने लगा है। किसी दिन शस्त्र निकल आए, तो वह सात्यकि को समझा देगा कि योद्धा किसे कहते हैं।…इत्यादि…।"

"वह युयुधान पर कोई आरोप लगा भी नहीं सकता। उसका चरित्र, निर्धूम अग्नि है।" कृष्ण बोले, "किंतु इन दोनों का पारस्परिक विरोध कहीं यादवों के लिए संकट न बन जाए।"

"जब ये एक-दूसरे को सहन नहीं कर पाते, तो एक-दूसरे को मिलते ही क्यों हैं ?" सुभद्रा जल के साथ कुछ भोजन-सामग्री भी ले आई थी, "दूर-दूर रहेंगे, तो न अपनी शांति भंग करेंगे, न दूसरों के लिए संकट खड़ा करेंगे।"

"एक ही समाज के अंग हैं। दोनों के संबंधी, मित्र, सहयोगी–सब इसी समाज में हैं। कहीं-न-कहीं तो साक्षात्कार होता ही रहेगा।" कृष्ण बोले।

"ऐसी ही बात है, तो परस्पर झगड़ा आवश्यक है क्या ?" उद्धव ने कहा, "जितना आवश्यक हो, उतना वार्तालाप करें और अपने-अपने स्थान पर प्रसन्न रहें।"

"यही तो कठिनाई है।" कृष्ण धीरे से बोले, "कृतवर्मा झूठे वाग्जाल में जीता है। वह ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की बातें करेगा, धर्म और अध्यात्म की डींग हाँकेगा, दूसरों के प्रति अपने प्रेम और स्नेह का अतिरंजनापूर्ण बखान करेगा।…और दूसरी ओर सात्यकि है कि मिथ्या वाक्य सुनते ही भड़क उठता है, अपना नियंत्रण खो देता है और कटु सत्य उगलने लगता है। मुझे भय है कि इनका यह वाक्-युद्ध किसी दिन शस्त्र-युद्ध में परिणत न हो जाए।"

"आप इन्हें समझाते क्यों नहीं भैया ?" सुभद्रा बोली, "आपसे तो दोनों ही प्रेम करते हैं।"

"मुझसे प्रेम तो दोनों ही करते हैं; किंतु कृतवर्मा का प्रेम भय पर आधृत है, और सात्यकि का सम्मान तथा श्रद्धा पर।"

"आप कृतवर्मा का भय दूर नहीं कर सकते भैया ?" सुभद्रा ने पूछा, "उसे अभय नहीं दे सकते ?"

"मेरी ओर से प्रयत्न में कोई कमी नहीं है।" कृष्ण ने उत्तर दिया, "स्यमंतक

मणि प्रसंग में, न केवल मैंने उसे क्षमा कर दिया था; उसे पूर्णतः आश्वस्त करने के लिए, चारुमती का विवाह उसके पुत्र से कर दिया। अपने अपराधी को समधी का सम्मान दिया। मैंने तो क्षमा कर दिया; किंतु न तो कृतवर्मा अपने भय को जीत पाया, न सात्यकि ही उसे क्षमा कर सका· कदाचित् वह उसे क्षमा कर भी नहीं पाएगा···।"

"क्यों ? तुमने क्षमा कर दिया, तो सात्यकि क्यों क्षमा नहीं कर सकता ?" उद्धव के स्वर में हल्का-सा विरोध था।

"अपने प्रति किया गया अपराध तो सात्यकि फिर भी क्षमा कर सकता है; किंतु मेरे अपराधी को क्षमा करना उसके वश का नहीं है।" कृष्ण हँसे, "कृतवर्मा, सात्यकि को इस प्रेम के लिए क्षमा नहीं कर सकता।"

"किसी के प्रेम से ईर्ष्या का क्या अर्थ !" सुभद्रा ने आपत्ति की, "वह भी आपसे वैसा ही प्रेम कर सकता है।"

"कृतवर्मा स्वयं अपने-आपको इतना प्रेम करता है, कि वह किसी और से प्रेम कर ही नहीं सकता।" कृष्ण बोले, "बस प्रेम का प्रदर्शन कर सकता है।"

"तो ?" उद्धव कोई आश्वस्ति माँग रहा था।

"किसी की प्रकृति तो बदली नहीं जा सकती।" कृष्ण बोले, "न सात्यकि की, न कृतवर्मा की···किंतु मेरा प्रयत्न है कि उनका यह पारस्परिक विरोध, यादवों के लिए कोई बड़ा संकट न उत्पन्न करे।···द्वारका की भूमि पर, वे एक-दूसरे से लड़ न पाएँ।"

"और युद्ध करने के लिए वे द्वारका की भूमि त्याग कर, कहीं और तो जाएँगे नहीं।" उद्धव निश्चिंत होने का कोई मार्ग खोज रहा था।

"मैं समझती थी कि पारस्परिक वैर-विरोध, कौरवों में ही है; हमारी द्वारका, उससे सर्वथा मुक्त है।" सुभद्रा अपना क्षोभ छिपा नहीं पा रही थी।

15

"क्या बात है युधिष्ठिर ! तुम्हारे आश्रम में सहज सात्विक उल्लास दिखाई नहीं देता ?" महर्षि वेदव्यास, अपने मन का आनन्द, युधिष्ठिर के मन में जगाने का प्रयत्न कर रहे थे।

और युधिष्ठिर सोच रहे थे : पांडव यद्यपि वन में निवास कर रहे थे, वल्कल और मृग-चर्म धारण कर रहे थे; फिर भी उनका जीवन तपस्वियों का-सा तपस्यापूर्ण, शुष्क तथा नीरस नहीं था। धृष्टद्युम्न, धृष्टकेतु तथा कृष्ण के आ जाने से, वन में समारोह-सा हो गया था। वहाँ इतने लोग थे, इतना आवागमन था, निरंतर

विचार-विमर्श चल रहा था, विविध प्रकार की गतिविधियाँ थीं; तथा नित नूतन कार्यक्रम चलते रहते थे···ऐसे में उनका जीवन, तपस्या और साधना का जीवन हो ही कैसे सकता था।···किंतु, अब जैसे उस समारोह का अवसान हो गया था। कृष्ण, धृष्टद्युम्न, धृष्टकेतु तथा अन्य लोग जा चुके थे। पांडव-पत्नियाँ, अपने पुत्रों को लेकर, अपने-अपने मायके चली गई थीं। धौम्य मुनि अपनी तपस्या में रम गए थे; और पांडव अन्तर्मुखी हो, जैसे अपने-अपने भीतर झाँकने, आत्मविश्लेषण करने का प्रयत्न कर रहे थे···

अब वह सन्नाटा टूटा था, महर्षि के आगमन से। वे अपनी नियमित यात्रा पर निकले हुए थे; और अपनी यात्राओं में वे कहीं भी, किसी भी दिशा में जा सकते थे।···पांडवों को स्मरण था कि महर्षि अपनी इसी प्रकार की यात्राओं के कारण, उन्हें हिडिंब वन में भी आ मिले थे।···

"हाँ महर्षि !" युधिष्ठिर, अपने भीतर चल रहे संवाद से उबरे, "वासुदेव के चले जाने के पश्चात् से ही हम सब जैसे निष्प्राण-से हो रहे हैं। जीवन का सहज उल्लास, कृष्ण के साथ ही चला गया है।"

"वासुदेव तो हैं ही, सबके प्राण ! वे तो ऊर्जा के स्रोत और आनन्द के सागर हैं।" व्यास बोले, "किंतु कृष्ण तो वहाँ भी वर्तमान होते हैं, जहाँ वे उपस्थित नहीं होते। पांचाली से अधिक इस बात को और कौन समझेगा। वह जानती है कि द्यूत-सभा में वे वर्तमान थे; उपस्थित चाहे न रहे हों।"

"आपका कथन पूर्णतः सत्य है तात् !" द्रौपदी बोली, "कृष्ण अब भी यहाँ वर्तमान हैं। मुझमें वे आक्रोश के रूप में विद्यमान हैं; मध्यम पांडव के मन में कर्म-तत्परता के रूप में; और धर्मराज में धर्म के रूप में। इसलिए हममें आनन्द नहीं जागता। आशंकाएँ जागती हैं। मध्यम पांडव, दुर्योधन पर तत्काल आक्रमण करना चाहते हैं। मेरे केश, दुःशासन के वक्ष के रक्त की प्रतीक्षा कर रहे हैं; और धर्मराज इस संकल्प पर अडिग हैं, कि वे वन में तेरह वर्ष व्यतीत करने के पश्चात् ही इस विषय में कुछ सोचेंगे।···"

"समतल प्रदेश की धीर-गंभीर नदी तथा पर्वत की कुल्या में यह अंतर तो होता ही है पांचाली ! कि एक में महासागर का संपूर्ण जल प्रवाहित हो जाए, किंतु उसकी गति परिलक्षित नहीं होती; और दूसरी ओर जल की मात्रा चाहे कुछ भी न हो, किंतु उसका निनाद सारे परिवेश को गुँजाता चलता है। युधिष्ठिर को वैसी ही गंभीर नदी समझो।···"

"महर्षि ! भीम और पांचाली के मन में अनेक प्रश्न हैं, अनेक आपत्तियाँ हैं, और शायद असंख्य आरोप हैं। पांचाली को तो ईश्वर के न्याय पर भी संदेह होने लगा है। वह कहती है कि ईश्वर समस्त प्राणियों के प्रति, माता-पिता के समान दया एवं स्नेहयुक्त व्यवहार नहीं कर रहे हैं, वे तो किसी विरोधी की भाँति

मानो रोषपूर्वक क्रूर व्यवहार कर रहे हैं। श्रेष्ठ, शीलवान और संकोची जन जीविका के लिए भी कष्ट पा रहे हैं; दुष्ट और निकृष्ट लोग सुख भोग रहे हैं। अपनी विपत्ति और दुर्योधन की संपत्ति को देख, वह विधाता की निन्दा करती है, जो सज्जन को दुःख और दुर्जन को सुख दे रहा है। वह कहती है महर्षि ! कि यदि कर्म का फल होता है, तो ईश्वर भी अपने इस पाप-कर्म का फल अवश्य पाएँगे। यदि ऐसा नहीं होता, तो यह ईश्वर की नियमविहीनता और परम स्वतंत्रता का मद ही है।··भीम भी मुझसे पूछता है कि यदि हम धर्म का आचरण कर रहे हैं, तो हम वन में क्यों पड़े हैं; और दुर्योधन पापी होकर भी, राजसिंहासन पर क्यों बैठा है ? ईश्वर का न्याय कहाँ है ?"

महर्षि ने एक विचित्र उल्लास से आकाश की ओर देखा, "यह तो उसकी माया की सृष्टि है। यहाँ सब कुछ उलट-पलट दिखाई देता है। सुख का बोध ही बदल गया है। जो भौतिक पदार्थों के लिए दिन-रात जल रहा है, वह सुखी दिखाई देता है; और जिसको माया का यह मल आकृष्ट नहीं करता, वह दुखी माना जाता है। जिन दुर्गुणों से सात्विक मनुष्य घृणा करता है, प्रतिशोध के नाम पर वह उन्हीं दुर्गुणों को स्वयं धारण करता है। क्यों भीम !" महर्षि ने अपनी दृष्टि भीम पर टिकाई, "तुम चाहोगे कि युधिष्ठिर, युधिष्ठिर न रहकर दुर्योधन हो जाए ?"

"नहीं पितामह ! मैं यह नहीं चाहता कि धर्मराज, दुर्योधन बनकर सती नारियों का अपमान करें; किंतु यह अवश्य चाहता हूँ कि वे मुझे अनुमति दें कि नारियों का इस प्रकार अपमान करने वाले दुर्योधन की वह जंघा तोड़ दूँ, जिसे उसने द्यूत-सभा में प्रदर्शित किया था।···"

"तुम यह अनुमति क्यों नहीं देना चाहते युधिष्ठिर ?"

"मुझे उसमें धर्म दिखाई नहीं देता पितामह !" युधिष्ठिर बोले, "धर्म क्षत्रिय को शस्त्र धारण करने की अनुमति देता है; किंतु केवल न्याय के लिए, अपने लाभ, लोभ अथवा स्वार्थ के लिए नहीं। भीम यदि शस्त्रबल से दुर्योधन का राज्य छीन लेता है, तो पांडु-पुत्र भीम और एक साधारण दस्यु में क्या अंतर रह जाएगा ?"

"यदि धर्म से हमें राज्य न मिले, तो हम शस्त्र भी न उठाएँ ?" द्रौपदी के स्वर में स्पष्ट अधैर्य था।

महर्षि ने कुछ कहा नहीं; बस युधिष्ठिर की ओर देखा भर।

"मैं भी प्रायः सोचता रहता हूँ पितामह ! कि धर्म, राज्य के लिए है, या राज्य, धर्म के लिए !" युधिष्ठिर बोले, "वासुदेव धर्म-राज्य की स्थापना कर रहे हैं। उन्हें राज्य नहीं चाहिए, धर्म चाहिए। मुझे भी धर्म ही चाहिए, और धर्म की स्थापना के लिए राज्य। यदि राज्य-प्राप्ति के लिए धर्म त्यागना पड़ता है, तो मुझे राज्य नहीं चाहिए।"

"तो क्या हम राज्य-प्राप्ति के लिए प्रयत्न ही नहीं करेंगे ?" भीम बोला, "राज्य की रक्षा के लिए तो वासुदेव ने भी अनेक बार युद्ध किया है।..."

"हम तेरह वर्ष, प्रतिज्ञा के अनुसार व्यतीत करेंगे।" युधिष्ठिर बोले, "और तब धर्म-मार्ग से अपना राज्य वापस माँगेंगे। तब यदि दुर्योधन हमारा राज्य हमें नहीं लौटाता, तो शस्त्र-प्रयोग हमारा धर्म हो जाएगा।"

"इसमें तुम्हें क्या आपत्ति है भीम ?" व्यास मुस्कराए, "क्या तुम तेरह वर्ष बिना राज्य के नहीं रह सकते ?"

"मध्यम तो आजीवन बिना राज्य के रह सकते हैं।" भीम के स्थान पर द्रौपदी बोली, "उन्हें इंद्रप्रस्थ के राज्य की क्या आवश्यकता है। वे तो जहाँ भी विद्यमान होते हैं, वहीं उनका राज्य होता है। इस काम्यक वन पर किसका राज्य है ? जहाँ तक पांडु-पुत्र भीम की दृष्टि जाती है, वहाँ तक उन्हीं का राज्य है।" द्रौपदी ने महर्षि की ओर देखा, "किंतु मुझे इंद्रप्रस्थ का राज्य चाहिए, क्योंकि मुझे अपनी वेणी बाँधने से पहले इन खुले केशों को धोने के लिए, दुःशासन के वक्ष का रक्त चाहिए..."

"तुम्हें धर्म नहीं चाहिए, प्रतिशोध चाहिए।" व्यास मुस्करा रहे थे, "और प्रतिशोध का समर्थन धर्म नहीं करता।"

"सत्य है महर्षि ! कि मैं प्रतिशोध चाहती हूँ; और धर्मराज इस समय प्रतिशोध नहीं चाहते।" द्रौपदी की वाणी वक्र हो गई थी, "किंतु तेरह वर्षों के पश्चात् जब वे प्रतिशोध अथवा न्याय–कुछ भी–चाहेंगे, तो उस समय भी उन्हें उन्हीं शस्त्रों का प्रयोग करना होगा, जिन्हें उठाने में, आज वे संकोच कर रहे हैं।" द्रौपदी ने कुछ रुककर पाँचों पांडवों को देखा, "किंतु उस समय वे देखेंगे कि धृतराष्ट्र-पुत्रों ने तेरह वर्षों में अपना युद्ध-कौशल कितना बढ़ा लिया है। तेरह वर्षों तक निरंतर युद्ध का अभ्यास किया है। जरासंध के मित्रों और पांडवों के शत्रुओं को अपने साथ मिला लिया है। धर्म-राज्य स्थापित करने के लिए, पांडवों ने जिन क्रूरकर्मा राजाओं का दमन किया था, उन सबको दुर्योधन ने अपने वक्ष से लगा लिया है। आपसे यह छिपा नहीं है पितामह ! कि दुर्योधन किसी भी प्रकार के योद्धाओं को बहुत प्रयत्नपूर्वक पालता है।..."

"पांचाली का वचन सर्वथा उचित है।" महर्षि शांत भाव से बोले।

"पांचाली से सहमत तो मैं भी हूँ; किंतु मैं यह मानता हूँ कि यह स्थिति तेरह वर्षों के पश्चात् ही नहीं, आज भी है।" युधिष्ठिर बोले, "दुर्योधन के पास आज भी राज्य है, सेना है, सत्ता है, धन है। पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कर्ण और कृपाचार्य जैसे योद्धा हैं। जरासंध, कंस तथा शिशुपाल के मित्र, उसके साथ हैं। ऐसे में यदि मैं भीम और पांचाली की बात मानकर दुर्योधन पर आक्रमण करूँ, तो अधर्म भी अर्जित करूँगा और पराजय भी। कौन लड़ेगा हमारी ओर

से ? पांचाल और यादव ? यादव अभी-अभी, शाल्व से एक युद्ध कर चुके हैं। फिर वे अपने व्यवहार और व्यवस्था में स्वतंत्र लोग हैं। उनके अपने आंतरिक विरोध और द्वंद्व हैं। ऐसे में पांचाल प्रायः अकेले ही रह जाते हैं; और हम जानते हैं कि वे अकेले दुर्योधन से निवट नहीं सकते ! वे इतने ही समर्थ होते, तो हस्तिनापुर कव का क्षार हो गया होता···।"

"तो युधिष्ठिर के मन में, धर्म के साथ-साथ भय भी है।" व्यास मुस्करा रहे थे।

"आप चाहें तो इसे मेरा भय भी कह सकते हैं।" युधिष्ठिर ने स्वीकार किया, "डरता हूँ कि अधर्मपूर्वक प्रतिशोध लेने जाऊँ और अपने भाइयों से ही हाथ धो वैठूँ···तो क्या लाभ होगा मुझे ?"

"सावधानी तो उचित है, किंतु भय उचित नहीं है युधिष्ठिर !" व्यास वोले, "युद्ध से पूर्व, तुम्हारे मन का भय अवश्य दूर होना चाहिए।"

युधिष्ठिर ने कोई उत्तर नहीं दिया। वे चकित दृष्टि से वेदव्यास को देख रहे थे।

"क्या वात है धर्मराज ?"

"आप भी चाहते हैं कि यह युद्ध हो ?"

"मैं युद्ध नहीं चाहता।" व्यास मुस्कराए, "किंतु अन्याय और अधर्म भी तो नहीं चाहता। जब तक दुर्योधन को, उससे भी कोई बड़ी शक्ति, वल-प्रयोग अथवा वल-प्रदर्शन से वाध्य नहीं करेगी, तव तक वह तुम्हारा राज्य नहीं लौटाएगा ···इसलिए पुत्र ! तुमको शक्तिशाली तो होना ही होगा···और तुम्हारे मन का यह भय भी दूर होना चाहिए। मन में भय हो, तो व्यक्ति लड़ने का साहस नहीं करता। लड़ेगा, तो अनावश्यक रूप से हिंस्र होगा।···"

"भय अकारण तो नहीं है पितामह ! उसके कारण सामने दिखाई पड़ रहे हैं।" युधिष्ठिर वोले, "आज कौन इसको अस्वीकार कर सकता है कि दुर्योधन का सैन्य-वल, कदाचित् सारे जंवूद्वीप में सवसे प्रवल है।"

"यदि यह शस्त्रों का भय है पुत्र ! तो तुम भी शस्त्र-संग्रह करो। जिन साधनों से तुम्हारे मन का सामर्थ्य जागे, उन साधनों का संचय करो।"

"यहाँ, वन में, कैसा शस्त्र-संग्रह और कैसा सैन्य-संगठन।" युधिष्ठिर वोले, "यहाँ तो धर्म का ही संचय हो सकता है; इसलिए मैं ये तेरह वर्ष धर्म-संग्रह में लगाना चाहता हूँ।"

व्यास मुस्कराए, "धर्म-संचय तो तुम करो ही; किंतु इस तथ्य की भी उपेक्षा मत करो कि तपस्या से शक्ति भी अर्जित की जाती है, और शस्त्र भी प्राप्त किए जाते हैं। तुम धर्म-संचय करो, और अर्जुन को शस्त्र-संग्रह के लिए भेज दो।···"

"अर्जुन को कहाँ भेज दूँ ?" युधिष्ठिर ने कुछ चकित होकर पूछा।

"देवलोक में जाकर अर्जुन, वैजयन्त से कुछ दिव्यास्त्र प्राप्त करे।"

अर्जुन जैसे किसी निद्रा से जागा : खांडव-वन के युद्ध के पश्चात् उसने इंद्र से इंद्रास्त्र माँगा था···इंद्र ने कहा था कि पहले वह महादेव को प्रसन्न कर उनका पशुपतास्त्र प्राप्त करे···क्या महर्षि उसे, उसी घटना का स्मरण करा रहे हैं ?···क्या वे चाहते हैं कि वनवास का यह काल, वह अपने भाइयों के साथ यहाँ, वन में, व्यतीत न कर, इंद्र से अस्त्र प्राप्त करने में व्यय करे ?···

युधिष्ठिर के चेहरे पर भी उल्लास जागा, "यह तो अद्‌भुत प्रस्ताव है महर्षि ! अर्जुन साधना करे···धर्म भी अर्जित करे, आध्यात्मिक उत्कर्ष भी; और शस्त्र-बल भी !···"

"हाँ युधिष्ठिर ! अपने भाइयों के प्रति अपने ममत्व को यदि तुम कुछ संयत कर सको, तो अर्जुन को हिमालय पर तपस्या करने के लिए भेज दो।···" वे मुड़े, "अर्जुन ! तुम्हें कोई आपत्ति तो नहीं पुत्र !"

"अपने अभ्युदय में किसे आपत्ति होगी पितामह !" अर्जुन विनीत ढंग से मुस्कराया।

"वह तो ठीक है," द्रौपदी सहसा बोली, "किंतु यह न हो कि तुम पिछले वनवास के समान, जब अपने भाइयों के पास लौटो, तो पता चले कि न साधना हुई, न शस्त्र-वृद्धि। हाँ ! तुम्हारी पत्नियों के दल में कुछ देवांगनाओं की आकर्षक वृद्धि हुई है।"

अर्जुन न मुस्कराया, न उसने कोई उत्तर दिया।

"पांचाली की आशंका, सत्य भी हो सकती है पुत्र !" व्यास भी मुस्करा रहे थे।

अर्जुन के चेहरे पर इस बार भी विनोद का कोई लक्षण प्रकट नहीं हुआ। वह गंभीर दृष्टि से शून्य में देखता रहा; और फिर जैसे हृदय के पूर्ण सत्य को अपनी वाणी में ढाल कर बोला, "पितामह ! अब न वह वय है, न वह दृष्टि ! जीवन के प्रति, जीवन के भोग के प्रति, दृष्टि बहुत बदल गई है। घोषित रूप में यह तो नहीं कह सकता कि मैंने अपने हृदय के काम-भाव को जय कर लिया है; किंतु उसे संयत तो किया ही है। उसमें स्थिरता और धीरता आई है। चांचल्य, एक सीमा तक विदा हो गया है, नहीं तो मैं सुभद्रा को वासुदेव के साथ द्वारका भेजने की व्यवस्था नहीं करता।"

अर्जुन ने पांचाली पर एक दृष्टि डाली : वह स्तब्ध बैठी थी। उसे अर्जुन का यह वक्तव्य अच्छा नहीं लग रहा था।

"अब काम मेरे लिए सुख का कारण नहीं है।" अर्जुन पुनः बोला, "वह मेरी सीमा हो सकती है, बाध्यता हो सकती है, प्रकृति का बंधन हो सकता है,

इस शरीर की अनिवार्य हीनवृत्ति हो सकती है कुछ भी हो, काम अब काम्य नहीं रहा पितामह !"

वेदव्यास के गंभीर चेहरे पर एक अलौकिक उल्लास जागा, "वहुत शुभ लक्षण हैं पुत्र ! तपस्या की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी है। नये-नये काम-संबंध, अब तुम्हारे मार्ग के आकर्षक अवरोध नहीं होंगे।"

अर्जुन हँस पड़ा, "पितामह ! अब नये काम-संबंध आकर्षण तो क्या होंगे, कलंक हो सकते हैं। अपने कुल के वृद्धों के काम-आकर्षणों का वहुत सुख भोग चुके हम ! हम अपनी अगली पीढ़ी को, वह उत्तराधिकार नहीं देना चाहते, जो हमने पाया था।…"

"उचित ही है पुत्र ! प्रत्येक वय के अपने आकर्षण और अपनी मर्यादाएँ होती हैं। तुम ऐसा सोचते हो, तो यह तुम्हारी प्रौढ़ मानसिकता का ही प्रमाण है। तुम देव-लोक जाने की तैयारी करो। मेरा आशीष तुम्हारे साथ है। तुम अवश्य ही सफलकाम होकर लौटोगे।"

16

अर्जुन को चलते हुए कई दिन हो गए थे। वह पंचनद प्रदेश को पीछे छोड़ आया था; और हिमालय के चरणों और घुटनों पर बसी हुई बस्तियाँ भी नीचे छूट गई थीं। अव वह कुछ-कुछ समझने लगा था कि यात्रा भी एक प्रकार की तपस्या हो सकती है।…यदि एक स्थान पर बैठकर व्यक्ति अपनी आँखें मूँदकर, अपना ध्यान अन्तर्मुखी करने का अभ्यास करता है, तो इस प्रकार चलता-चलता भी वह अपने चारों ओर फैली प्रकृति के नये-नये दृश्यों और हावों-भावों से भी निस्पृह होने का प्रयत्न करता है। दोनों ही स्थितियों में अपने मन को माया के संसार से उदासीन करना होता है; उसमें अपनी रुचि की मर्यादा बाँधनी होती है।…यदि पद्मासन में बैठकर तितिक्षा का अभ्यास करना पड़ता है, तो यात्रा में भी सम्मुख आए, प्रत्येक कष्ट का सहास सत्कार करना पड़ता है।…

अर्जुन जैसे-जैसे हिमालय के उच्चतर शृंगों की ओर बढ़ता जाता था, शीत का प्रकोप कुछ गंभीर होता जाता था। जनसंख्या विरल होती जाती थी और फलों के वृक्ष भी अनुपलब्ध होते जा रहे थे।…किंतु अर्जुन के मन में, उत्साह की कहीं कोई कमी नहीं थी। अभी तो वह हिमालय ही पार नहीं कर पाया था, उसके पश्चात् गंधमादन था और फिर इंद्रकील पर्वत। इंद्रकील पर्वत से पहले, उसके रुकने का कोई कारण नहीं था।…

अर्जुन को अपनी पिछली यात्रा याद आ रही थी, जब वह अपने भाइयों

को इंद्रप्रस्थ में छोड़, प्रायश्चित्त-स्वरूप बारह वर्षों के प्रवास के लिए निकला था···तब भी ऐसा ही हुआ था। मानव-संपर्क से मुक्त हो, जब वह शुद्ध प्रकृति के संपर्क में आता था, तो जाने क्यों अपने-आप उसका मन ईश्वरोन्मुखी होने लगता था। यह सारी प्रकृति, चाहे वह तृण-विहीन हिमाच्छादित पर्वत-शृंग हों, अथवा आकाश की ओर हाथ उठाए हुए ऊँचे-ऊँचे हरे-भरे देवदारु के वृक्ष हों; कलकल ध्वनि करती, इठलाती हुई जलधाराएँ हों अथवा अचल निर्वाक् चट्टानें; कुसुमों से सुगंधित घाटियाँ हों अथवा मेघों का क्रीड़ा-क्षेत्र सुनील स्तब्ध आकाश···यह सब कुछ अर्जुन को स्रष्टा का ही स्मरण कराता है। कभी-कभी तो उसे लगने लगता था कि यह स्रष्टा की सृष्टि मात्र नहीं है, स्रष्टा ने स्वयं ही लीला के उन्माद में ये विभिन्न रूप धारण कर लिए हैं। स्रष्टा कहीं इनके पीछे नहीं छिपा, इन्हीं के माध्यम से प्रकट हुआ है···तो यह प्रकृति, स्वयं ईश्वर है। इसीलिए तो मनुष्य को इस सुंदर और स्वच्छ प्रकृति में अपनी जननी का रूप दिखाई देने लगता है। माता प्रकृति ही मनुष्य को जन्म देती है, वही उसका पालन-पोषण और विकास करती है···और जब मनुष्य अपने शरीर से असमर्थ हो जाता है, तो उसे अपनी गोद में समेटकर, पुनः नया शरीर दे देती है···जब ईश्वर, प्रकृति के रूप में माँ बनकर, जीव के इतना निकट रहता है और विधाता बनकर, अदृश्य डोरों से उसका नियंत्रण करता है, तो मनुष्य व्यर्थ ही मोह में पड़ा, इतने अनर्थ क्यों करता रहता है ?···मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी हैं; किंतु वह संग्रह बहुत अधिक करता है। वह संग्रह उसके किसी काम का नहीं है। कभी तो उसकी आयु पूर्ण हो जाती है; और कभी जीवित रहते हुए भी वह उसका भोग नहीं कर सकता। तब वह सूक्ष्म रूप से उसका भोग करना चाहता है···भावना के रूप में···मनुष्यों में अपने और पराए का विभाजन करता है; और जिन्हें अपना मानता है, उनके लिए भोग का प्रबंध करता है···कहीं वह ममत्व को भोगता है, कहीं अधिकार को; और कहीं अहंकार को। वह मोह में और गहरा धँसता जाता है···

अर्जुन के पग जितनी ऊँचाई नापते थे, उसे लग रहा था, उसका मन भी उतने ही सोपान ऊपर चढ़ता जा रहा था। वह जैसे संसार के मायामय आवरण को चीर कर, यथार्थ के पीछे छिपे सत्य को देख रहा था···नहीं ! सत्य कदाचित् दिखाई नहीं पड़ता था। उसका तो अनुभव ही हो सकता था। जो दिखाई पड़ता था, वह माया का प्रपंच था और जो अनुभव होता था, वह सत्य का सूक्ष्म शरीर था···

गंधमादन पार किए हुए भी अर्जुन को अनेक दिन हो गए थे। फलों के अभाव में, उसने कुछ वृक्षों के पत्ते खाने आरंभ कर दिए थे। शरीर की आवश्यकताओं

को तो पूर्ण करना ही था।···किंतु उन पत्तों में कोई स्वाद नहीं था। रसना, उन्हें खाने की ललक मे तत्परता से आगे नहीं बढ़ती थी।···अर्जुन के ध्यान में आया, रसना की अनिच्छा के पश्चात् न मन में लोभ जागता था, न पेट ही भूख से व्याकुल होकर, उसे कष्ट दे रहा था।···स्वादिष्ट व्यंजन उपलब्ध नहीं थे, इसलिए सारे अंग जैसे संतुष्ट होकर बैठ गए थे।···तो शरीर की आवश्यकता अधिक नहीं थी, मन का लोभ ही अधिक था। लोभ समाप्त हो गया था।··शरीर में न ऊर्जा की कमी थी, न शक्ति की ! चारों ओर की स्वच्छ निर्दोष वायु, अपने-आप में ही पर्याप्त ऊर्जादायिनी थी। जब कभी कंठ कुछ सूखता था, तो किसी उत्स अथवा जलस्रोत से कुछ घूँट जल पी लेना ही पर्याप्त होता था। वह जल नहीं था, जैसे अमृत था। कंठ के नीचे उतरते ही, सारे शरीर में ऊर्जा प्रवाहित कर देता था। प्राणों में ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न होती थी कि अर्जुन को लगने लगता था कि उसके शरीर में पंख उग आए हैं। उसका मन होता कि आकाश में उड़ने लगे।···

"ठहरो !"

अर्जुन के पग भी रुक गए और विचार-यात्रा भी थम गई···यह आकाशवाणी थी क्या ? स्वर तो ऐसा ही था, जैसे मेघ स्वयं, मनुष्य के समान शब्दों का उच्चारण कर रहे हों।···

उसने सिर उठाकर देखा···नहीं ! यह आकाशवाणी नहीं थी। न ही मेघ मनुष्य बनकर, उससे वार्तालाप कर रहे थे।···सामने के एक विशाल वृक्ष के नीचे एक वृद्ध तपस्वी बैठे थे।

अर्जुन उनके निकट आया। हाथ जोड़कर प्रणाम किया और बोला, "आपने मुझे कोई आदेश दिया, तपस्वी-श्रेष्ठ ?"

तपस्वी मुस्कराए, "वेश से तो तुम उद्दंड प्रतीत हुए थे युवक ! किंतु व्यवहार से विनीत हो !"

अर्जुन ने अपना निरीक्षण किया···वेश से वह उद्दंड कैसे था ?···वह तो वनवासियों के साधारण वेश में था; और उसके पास न्यूनतम शस्त्र थे।

"मैं समझा नहीं महाराज ! मैं वेश से उद्दंड क्यों हूँ ?"

तपस्वी ने उसके प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। पूछा, "कहीं दूर से आ रहे हो ?"

"हाँ आर्य ! मेरा निवास आर्यावर्त्त के इंद्रप्रस्थ नामक नगर में है।"

"जानते हो, इस समय कहाँ हो ?"

"नहीं महाराज ! बस इतना जानता हूँ कि गंधमादन पार कर आया हूँ··· और आगे कहीं इंद्रकील पर्वत है।"

"कहाँ जाना चाहते हो ?" तपस्वी ने पूछा।

"इंद्रकील पर्वत पर ही जाना है।" अर्जुन ने उत्तर दिया।

"तुम इंद्रकील पर्वत पर पहुँच चुके हो।" तपस्वी ने कहा, "किंतु शायद तुम नहीं जानते कि यह उन तपस्वियों का प्रदेश है, जिन्होंने अपने मन के भय, लोभ तथा अहंकार को जीत लिया है।"

अर्जुन ने तपस्वी को ऐसे देखा, जैसे उनका आशय न समझ पाया हो।

"यहां किसी को अपनी रक्षा के लिए शस्त्र लेकर चलने की आवश्यकता नहीं होती।" तपस्वी ने बताया।

"ओह !" अर्जुन मुस्कराया, "सब लोग अहिंसक हैं ? कोई किसी पर आक्रमण नहीं करता ?…"

"नहीं !" तपस्वी भी मुस्कराए, "हमारा बल इस बात पर नहीं है कि अन्य लोगों के मन में हिंसा नहीं है, हमारा बल इस बात पर है कि हमारे मन में भय नहीं है। यदि मैंने अपने मन के भय को जीत लिया है, तो मैं अपनी रक्षा का कोई प्रयत्न नहीं करूँगा। मेरे मन में भय नहीं है, इसीलिए मेरे मन में हिंसा भी नहीं है।"

"आप चाहते हैं कि मैं अपने शस्त्रों का त्याग कर दूँ ?" अर्जुन ने उसका अभिप्राय भाँपते हुए कहा, "शस्त्रों का त्याग कर आगे बढ़ूँ ?"

"'हाँ !" तपस्वी बोले, "यदि तुम स्वेच्छा से शस्त्र-त्याग नहीं करोगे, तो तुम इंद्रकील पर्वत पर आगे बढ़ भी नहीं पाओगे। उसके लिए इंद्र का निषेध है।"

अर्जुन के मन में भयंकर द्वंद्व चल रहा था…वह शस्त्र-त्याग नहीं कर सकता था। वह दिव्यास्त्रों की प्राप्ति के लिए ही तो इंद्र के पास आया था।…पर यदि वह अपना हठ त्याग नहीं सकता था, तो इंद्र से मिल भी नहीं सकता था।…उसे इंद्र भी चाहिए था, और शस्त्र भी…

"क्या सोच रहे हो ?" तपस्वी ने पूछा।

"मैं शस्त्र-त्याग नहीं कर सकता।"

"क्या इतने भयभीत हो ?"

"नहीं ! ऐसी बात नहीं है।" अर्जुन ने उत्तर दिया, "किंतु मेरा लक्ष्य, अपने मनोविकारों को जीतना नहीं, शत्रु को जीतना है।"

"हमारे सबसे घोर शत्रु तो हमारे अपने मनोविकार ही हैं।" तपस्वी ने कहा।

"नहीं ! मैं बाहरी शत्रु की बात कर रहा हूँ। मैं क्षत्रिय-धर्म का आचरण कर रहा हूँ तपस्विवर ! यदि मैंने अपने भय को जीत लिया, अपने मन की हिंसा को जीत लिया, तो मैं शत्रु से प्रतिशोध नहीं ले सकूँगा, उसे क्षमा कर दूँगा।"

"'ठीक कहते हो, किंतु क्या तुम यह नहीं जानते कि क्षमा, प्रतिशोध से श्रेष्ठतर नीति है ?"

"मेरे बड़े भाई, धर्मराज युधिष्ठिर भी यही कहते हैं।" अर्जुन ने स्वीकार

किया, "किंतु इस समय उन्होंने ही मुझे दिव्यास्त्रों की प्राप्ति के लिए भेजा है। यदि मैं दिव्यास्त्रों की प्राप्ति का विचार छोड़, आत्मजय के लिए तपस्या करने बैठ गया, तो अपने ज्येष्ठ भाई की आज्ञा के उल्लंघन का दोषी हूँगा।"

"मनुष्य का धर्म आत्मजय है, या बड़े भाई की उचित-अनुचित आज्ञाओं के पालन में जीवन का अपव्यय करना ?" तपस्वी का स्वर कुछ कठोर हो गया, "शस्त्र और हिंसा विनाश के लिए हैं। उन्हें धारण करने का आदेश देने वाला, तुम्हारा भाई, धर्म का ज्ञाता नहीं हो सकता। तुम्हें उसकी अवज्ञा कर, शस्त्र-त्याग कर देना चाहिए।"

"इंद्र से कहिए, वे वज्र का त्याग कर दें। महादेव शिव से कहिए, वे त्रिशूल धारण न करें।" अर्जुन ने कहा, "कुछ लोग अपने शस्त्रों से ही धर्म की रक्षा कर रहे होते हैं तपस्वि ! मैं भी उनमें से ही एक हूँ। इसलिए न शस्त्र का त्याग कर सकता हूँ, न भाई की आज्ञा का उल्लंघन कर सकता हूँ।"

"तो तुम्हें वैजयन्त इंद्र के दर्शन नही हो सकते।" तपस्वी ने बल देकर कहा, "सृष्टि ईश्वर के बनाए विधान के अनुसार चलती है, तुम्हारी इच्छाओं के अनुसार नहीं।"

"किंतु उस विधान के मूल में न्यायजन्य तर्क है; किसी सामर्थ्यवान व्यक्ति की स्वेच्छाचारिता नहीं।" अर्जुन ने दृढ़ स्वर में कहा, "वैजयन्त स्वयं वज्र धारण करें और मुझे गांडीव-त्याग के लिए कहें, यह धर्म नहीं है।"

"क्यों ?" तपस्वी मुस्कराए, "राजा स्वयं अपने मस्तक पर किरीट धारण करता है; किंतु प्रजा को उसकी अनुमति नहीं देता। क्या यह अधर्म है ?"

"किंतु मैं वैजयन्त से, उसकी प्रजा के रूप में मिलने नहीं आया हूँ," अर्जुन ने कहा, "मैं धर्मराज युधिष्ठिर के प्रतिनिधि के रूप में, उनसे भेंट करना चाहता हूँ—एक राजा से, दूसरे प्रभुसत्तासंपन्न स्वतंत्र राजा के समान।"

तपस्वी थोड़ी देर तक मौन बैठे रहे; फिर बोले, "धनंजय ! इंद्र के प्रति तुम्हारा क्या भाव है ?"

"एक इंद्र के प्रति मेरा पुत्र-भाव था। मेरी माता ने मुझे इंद्र के प्रसाद के रूप में ग्रहण किया था।" अर्जुन ने कहा, "दूसरे इंद्र से हमने मैत्री चाही थी, किंतु उन्होंने अपनी शत्रुता नहीं त्यागी। हमारे राज्य के अन्तर्गत खांडव-वन में हमारे शत्रु तक्षक और उसके सहयोगियों को शरण दी; और खांडव-दाह के समय उनसे मेरा और कृष्ण का युद्ध हुआ। वर्तमान इंद्र मेरे प्रति क्या भाव रखते हैं, कह नहीं सकता; किंतु मैं उनके प्रति पूज्य भाव लेकर आया हूँ।..."

"तुम इंद्र को पहचानते हो ?"

"नहीं ! वर्तमान इंद्र से मेरा साक्षात्कार नहीं हुआ।" अर्जुन ने कहा।

"तो पार्थ ! तुम्हारी इच्छा पूरी हुई।" तपस्वी ने कहा, "मैं ही वैजयन्त इंद्र

हूँ। मुझे तुम्हारे आने की सूचना लगातार मिल रही थी। मैं तुमसे भेंट करने के लिए ही, यहाँ बैठा हुआ था।"

अर्जुन ने वैजयन्त को प्रणाम किया, "मैं धन्य हुआ !"

"माँगो अर्जुन ! क्या चाहिए तुम्हें ?"

"मुझे संपूर्ण शस्त्रास्त्रों का ज्ञान तथा दिव्यास्त्रों एवं देवास्त्रों की आवश्यकता है।" अर्जुन ने हाथ जोड़कर कहा, "हम पृथ्वी पर से अधर्म को नष्ट कर देना चाहते हैं; किंतु अधर्म भयंकर रूप से संगठित और अत्यन्त शक्तिशाली है। मेरे पास जो शस्त्रास्त्र हैं, उनसे कदाचित् मैं अधर्म को नष्ट न कर पाऊँ। धर्मराज भी आशंकित हैं, कि कदाचित् हम धार्तराष्ट्रों को पराजित न कर पाएँ, और हमारा राज्य, हमसे सदा के लिए छिन जाए। हम सब जानते हैं कि दुर्योधन से हमारा एक युद्ध अवश्य होगा। हमें भय है कि दुर्योधन अपने छल-बल से पृथ्वी के सारे महान् योद्धाओं को अपने पक्ष में कर लेगा। संभव है कि हमारे आचार्य और पितामह भी उसके पक्ष से ही युद्ध करें। अतः हमें इतना बल एकत्र करना है कि हम उन सबके संगठित सैन्य-बल को अपनी ही शक्ति से पराजित कर सकें।"

"तुमने कभी देवलोक देखा है अर्जुन ?" वैजयन्त ने सर्वथा अप्रत्याशित प्रश्न किया।

"नहीं वैजयन्त ! क्यों ?"

"तुम नहीं जानते कि देवलोक कितना सुंदर है। वहाँ की युवतियाँ कितनी मोहक हैं। वहाँ की सुरा में कैसा मद है।" वैजयन्त बोले, "यदि तुम चाहो तो मैं तुम्हें वहाँ का स्थायी निवास दे सकता हूँ। धन, संपदा, भोग-विलास, अधिकार और सत्ता—जो चाहो, मुझसे ले लो। मेरा विश्वास करो, तुम्हें आर्यावर्त्त की एक हल्की-सी स्मृति भी नहीं आएगी। तुम्हें युद्ध की आवश्यकता ही नहीं होगी। फिर क्या करोगे, दिव्यास्त्रों और देवास्त्रों का ?..."

"किंतु मुझे देवलोक का वास नहीं चाहिए।" अर्जुन ने दृढ़ स्वर में कहा, "मैं अपने भाइयों को वहाँ वन में असुरक्षित छोड़कर आया हूँ। वे मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। वहाँ अधर्मी और पापी दुर्योधन मेरे भाइयों को तिल-तिल जलाए और मैं देवलोक के भोगों का उपभोग करूँ, यह मुझसे नहीं हो सकता ! नहीं वैजयन्त ! आप मुझे वही दें, जिसकी कामना से मैंने यहाँ तक की यात्रा की है।"

"कुछ और माँग लो !" वैजयन्त मुस्कराए, "जो जीवन में तुम्हारे लिए सर्वाधिक मूल्यवान हो, अमूल्य हो, जो कभी किसी मानव को न मिला हो।"

"नहीं ! मुझे केवल दिव्यास्त्रों तथा देवास्त्रों का ज्ञान और वे अस्त्र चाहिए।" अर्जुन के अधरों पर निश्चित दृढ़ता की मुस्कान थी, "मुझे और कुछ नहीं चाहिए।"

वैजयन्त की मुद्रा उत्फुल्ल किंतु गंभीर थी, "देव-शक्तियाँ अपने शस्त्रास्त्रों का कभी दुरुपयोग नहीं करतीं, ऐसा मैं नहीं कहता; किंतु अब हम पर्याप्त सावधान

हो गए हैं। हम चाहते हैं कि शस्त्रों का प्रयोग, केवल अधर्म के नाश के लिए ही हो। किसी के द्वारा उसका दुरुपयोग न हो। इसलिए बहुत आवश्यक है कि दिव्यास्त्र और देवास्त्र देने से पूर्व, हमें इस बात का पूर्ण विश्वास हो जाए कि वह मानव लोभ, स्वार्थ अथवा भय की चरम स्थिति में भी धर्म से नहीं डिगेगा।…" वैजयन्त ने रुककर अर्जुन की ओर देखा, "देवास्त्रों की प्राप्ति से पूर्व, यह आवश्यक है कि तुम महादेव शिव के दर्शन करो। उन्हें प्रसन्न करो।"

"वह कैसे होगा, वैजयन्त ?"

"यहीं, इसी स्थान पर तुम तपस्या करो। तपस्या से अशिव का नाश होता है और शिव के दर्शन होते हैं।" वैजयन्त ने कहा, "तुम्हें शिव के दर्शन होंगे, तो महादेव तुम्हें अपना पाशुपतास्त्र देंगे। जब तुम पाशुपतास्त्र से सज्जित हो जाओ, तो अमरावती में मेरे पास चले आना। वहाँ तुम मेरे अतिथि होगे। वहीं तुम्हे अपनी इच्छानुसार दिव्यास्त्रों तथा देवास्त्रों की प्राप्ति होगी।…"

अर्जुन को, इंद्रकील पर्वत पर, तपस्या करते हुए कई मास बीत गए थे। आरंभ में वहाँ के शीत में उसे असुविधा का अनुभव हुआ; किंतु उसने संकल्पपूर्वक उसका सामना किया। उसी अवधि में उसने पहचाना कि मनुष्य के मन और शरीर में अनुकूलन तथा कष्ट-सहन की अनन्त शक्ति है। शरीर को कठोर बनाने का सतत् प्रयत्न, मन का संकल्प और भोग-विधियाँ, उसके शरीर को ऐसा बना दे रही थीं, जिस पर शीत का कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।

'स्वाद' को जीतने का कुछ-कुछ अभ्यास, उसे यात्रा में ही हो गया था, शेष उसने अब स्वयं को साध लिया था। चारों ओर हिम का साम्राज्य था। संभव है कि वसंत में स्थिति बदल जाए, किंतु इस समय तो हिमाच्छादित वनस्पति उसे अधिक भोजन-सामग्री उपलब्ध नहीं करा सकती थी।…अर्जुन को कभी-कभी अपने शैशव का वह काल स्मरण हो आता था, जो शत-शृंग पर व्यतीत हुआ था। वह भी तो ऐसा ही प्रदेश था। वह जनावास था और आश्रमों के साथ-साथ कुछ गुरुकुल और ग्राम भी थे। खाद्य-सामग्री भी यहाँ की तुलना में कुछ अधिक मात्रा में ही उपलब्ध थी…

यहाँ खाद्य-सामग्री प्रायः नहीं थी। कुछ वृक्षों पर पत्ते विद्यमान थे; किंतु वे भी सारे के सारे खाद्य नहीं थे।…यात्रा में भी उसका यही अनुभव रहा था और वह यही सोचता रहा था…अपने नगरों की तुलना में, इन सारे प्रदेशों के लोग, कहीं अधिक निःरोग दिखाई देते थे। कम खाते थे और स्वस्थ रहते थे।…जहाँ खाने को छत्तीसों व्यंजन उपलब्ध थे, वहीं रोगों की बहुलता भी थी। इसका अर्थ यह हुआ कि जो कुछ हम शक्ति प्राप्त करने के लिए खाते हैं, वही भोजन हमारे

शरीर में रोग भी उत्पन्न करता है।...उसने साक्षात् अनुभव किया था कि देहधारी की मृत्यु, सदा उसके शरीर में ही निवास करती है।...मृत्यु को जीतना हो तो शरीर की तृष्णा को जीतना होगा, मन की वासना को जीतना होगा...

अर्जुन अपने शरीर ही नहीं, मन के प्रति भी बहुत कठोर हो गया। उसे लगने लगा था कि यदि मन को नियंत्रित किया जा सके, तो शरीर की आवश्यकताएँ, इतनी कम रह जाती हैं कि शायद प्रकृति स्वयं ही उन्हें पूर्ण कर देने के लिए सक्रिय हो उठती है। वायु, जल, आतप और मिट्टी—क्या वे स्वयं ही मनुष्य की आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर देते ? शरीर और प्राण की रक्षा तो वे कर लेंगे; किंतु लोभ, तृष्णा और वासना का पोषण वे नहीं करेंगे।...और इनकी कोई सीमा नहीं है। वे अनन्त हैं। तभी तो हस्तिनापुर की सारी संपत्ति का स्वामी होकर भी दुर्योधन को संतोष नहीं हुआ। लोभ, तृष्णा, और वासना ही तो मनुष्य को पाप की ओर धकेलते हैं। इन्हीं का नाश करना होगा। नाश नहीं कर सकते, तो इन्हें नियंत्रित तो करना ही होगा।

अपने खान-पान को न्यूनतम करने के पश्चात् अर्जुन ने शरीर को और भी तपाना आरंभ किया। उसने कुछ दिनों तक सीधे खड़े हो, दोनों हाथों को आकाश की ओर उठाकर, सूर्य की ओर ताकने का अभ्यास किया। धीरे-धीरे अपनी एड़ियों को भूमि से ऊपर उठा, शरीर का सारा बोझ पैरों के पंजों पर डाल दिया। उसका अभ्यास हो जाने पर, अंगुलियों को उठा, शरीर को पैरों के अंगूठों पर साधा !...

उसे लग रहा था, यह शरीर का ही नहीं, मन का भी आरोहण था। मन जैसे संसार के भोगों से असंपृक्त-सा हो गया था। आत्मा उदात्त और उन्मुक्त हो गई थी। प्रकृति के प्रति एक सहज प्रेम, मन में इस प्रकार संचित हो आया था कि उसके साथ, पूर्ण तादात्म्य-सा होता जा रहा था। ऐसा लगता था कि पृथ्वी का कण-कण जीवन्त हो उठा है और अर्जुन का मन उसके साथ एक हो जाने को व्याकुल हो उठा है...कुछ भी उससे पृथक् नहीं है, कुछ भी भिन्न और पराया नहीं है...यह मन की कैसी स्थिति थी ?...किसी-किसी क्षण तो वह स्वयं ही अपने मन की इस स्थिति को देखकर भयभीत हो जाता था।...यदि वह इसी प्रकार अनुभव करता रहा, तो उसे दुर्योधन और कर्ण भी पराए नही लगेंगे। इंद्रप्रस्थ का राज्य इतना नगण्य लगने लगेगा कि उसे पुनः प्राप्त करने का कोई लोभ भी नहीं रहेगा।...कभी-कभी तो मन में ऐसा भाव उठता था कि साम्राज्य मिट्टी का ढेर-सा लगने लगता था, मणि-माणिक्य बच्चों के खेलने के कंचों-से दिखाई देने लगते थे।...क्यों मनुष्य उन्हें प्राप्त करना चाहता है ? क्यों वह उनके लिए एक-दूसरे का रक्त बहाता है। मृत्यु से अपनी रक्षा तो कर नहीं सकता, क्यों वह अपने धन-धान्य और राजपाट की रक्षा की चिंता करता है ?...

किसी आहट से अर्जुन का ध्यान भंग हो गया···उसने अपने नयन खोले।··कहीं कुछ नहीं था। आसपास वैसी ही निःस्तब्धता थी, जैसी प्रायः होती थी। इस समय तो पवन का भी ऐसा कोई वेग नहीं था, जिससे वृक्षों के पत्ते हिलकर किसी प्रकार की कोई ध्वनि उत्पन्न करते।···तो फिर वह आहट कैसी थी ?···

अर्जुन की पैनी दृष्टि घूमती रही··और सहसा वह थम गई। घने वृक्षों के एक झुंड के बीच, एक शूकर खड़ा था–श्वेत, जैसे हिम से ही बना हो। अब तक अर्जुन की दृष्टि ने उसे हिम-खंड समझ कर ही, उसकी अवहेलना कर दी होगी।···किंतु, वह हिम-खंड नहीं था। वह जीता-जागता वन्य-शूकर था। उसके नथुने क्रोध की मुद्रा में फड़क रहे थे। संभव था कि वह अर्जुन का आखेट करने की सोच रहा हो··

अर्जुन के अधरों पर मुस्कान प्रकट हुई : प्रकृति की कैसी माया है। कोई जीव, समय से पहले यह समझ नहीं पाता कि वह आखेट करने जा रहा है, या आखेट होने ! सबको अपनी शक्ति का ज्ञान तो होता है, किंतु सामने खड़े दूसरे अस्तित्व की क्षमता का पता नहीं होता !

उसने गांडीव उठा लिया। तूणीर में से बाण निकाला और लक्ष्य साधकर, शूकर की ओर छोड़ दिया।···किंतु बाण से भी तीव्र गति से जैसे दसों दिशाओं में उसके विचार चल पड़े···क्यों मारा उसने बाण ? क्या यह जीव-हत्या नहीं है ?··नहीं ! वह क्षत्रिय है। क्षत्रियों का तो प्रिय व्यसन है–आखेट ! यदि वे ऐसी जीव-हत्या से डरने लगें, तो वे धर्म की रक्षा कैसे करेंगे ? युद्ध-क्षेत्र में कैसे खड़े हो पाएँगे ?···यदि अर्जुन अपनी रक्षा के लिए शस्त्र धारण नहीं करेगा, तो जीवित कैसे रह पाएगा ? यदि हत्या नहीं करेगा, तो आत्महत्या करेगा वह ?

अकस्मात् ही अर्जुन के विचार स्तब्ध खड़े रह गए··प्रायः एक ही क्षण में शूकर को एक नहीं, दो बाण लगे थे। एक बाण उसने चलाया था···और दूसरा ? दूसरा बाण किसने चलाया था ? यहाँ आसपास तो कोई दूसरा मनुष्य था ही नहीं। तो बाण किसने चलाया ? न पर्वत बाण चलाते हैं, न वृक्ष, और न वन के जीव-जंतु ! तो बाण किसने चलाया ?···और क्या कौशल था बाण चलाने का ! शूकर को बाण प्रायः उसी समय लगा था, जिस क्षण अर्जुन के बाण ने उसे बेधा था। अर्जुन निकट था, शूकर के ठीक सामने ! इसका अर्थ था कि उस अदृश्य धनुर्धारी ने, अर्जुन की अपेक्षा, कुछ अधिक दूरी से बाण चलाया था। तो इसका अर्थ यह भी था कि उसने बाण पहले चलाया था। तभी तो वह अधिक दूरी तय करके, उसके बाण के साथ ही शूकर को आ लगा था।···पर उसने अर्जुन को बाण चलाते देखा नहीं था, या अर्जुन को धनुष-संधान करते देखकर भी उसने बाण चला दिया था ?···

तभी वह धनुर्धारी सामने आ गया···उसके वेश से स्पष्ट था कि वह किरात

था और मृगया ही उसका व्यवसाय था। किंतु उसके साथ इतनी सारी स्त्रियाँ क्यों थीं, जैसे वह इंद्रकील पर्वत के किसी एकांत वन में न हो, अपने अंतःपुर के उद्यान में हो...वह मृगया जैसे संकटपूर्ण अभियान पर नहीं निकला था। वह तो जैसे काम-क्रीड़ा के उद्देश्य से अपनी पत्नियों-उपपत्नियों के साथ विहार तथा आमोद-प्रमोद की मुद्रा में था...

उसकी दृष्टि मृत शूकर पर पड़ी और उसने उसके शरीर में विंधे हुए दो बाण भी देखे। उसने जैसे अन्य बाण चलाने वाले की खोज में चारों ओर देखा और उसकी दृष्टि आकर अर्जुन पर ठहर गई।

इतनी दूरी से भी अर्जुन स्पष्ट देख रहा था कि किरात क्रोध में तमतमा गया था। क्षणभर में वह अर्जुन के सम्मुख आ खड़ा हुआ।

"तुमने मेरे आखेट पर बाण क्यों चलाया ? अपने प्राण प्यारे हैं या नहीं ?"

अर्जुन जानता था कि पहला बाण किरात ने ही चलाया था। निश्चय ही शूकर को उसी ने पहले देखा होगा। अर्जुन तो आँखें मूँदकर ध्यान कर रहा था। वह शूकर को पहले देख ही कैसे सकता था।...वह यह भी समझता था कि मृगया का प्रायः यह सर्वमान्य नियम था कि जो पहले देखे, अथवा बाण चलाए, आखेट उसी का होता है। इस दृष्टि से, यह आखेट किरात का ही था। उसका क्रोध भी स्वाभाविक ही था।...किंतु एक आखेट-व्यवसायी साधारण वनचर किरात का यह साहस कि वह संसार के श्रेष्ठतम धनुर्धारी से इस प्रकार संबोधित हो ?...

अर्जुन को लगा कि उसका मन जैसे क्षुब्ध होकर, तमतमा आया है। उसका तर्क कुंठित हो गया है। मृगया के नियमानुसार बाण-संधान की चर्चा से हटकर, उसका ध्यान, किरात के व्यवहार के औचित्य-अनौचित्य पर अटक गया है। वह स्वयं को आहत और अपमानित अनुभव कर रहा है। उसका अहंकार स्फीत होता जा रहा था और इस किरात को उसकी उद्दंडता का दंड देने के लिए उसका मन ही नहीं, उसकी भुजाएँ भी मचलने लगी थीं।...

"तुम्हारा आखेट ?" अर्जुन के नथुने मुखर क्रोध से फड़क उठे, "आखेट तुम्हारा कहाँ से हो गया ? तुम्हारा साहस ही कैसे हुआ कि जिस पशु पर मेरी दृष्टि पड़ चुकी थी, तुम उस पर बाण-संधान करो ?"

"अच्छा जी ! अब बात अधिकार की नहीं, साहस की हो गई।" किरात कुछ वक्र होकर बोला, "मेरे साहस की बात पूछते हो।" उसका स्वर कुछ ऊँचा हो गया, "मुझे तो लगता है कि तुम्हें ही किसी जीवित और समर्थ पशु पर बाण चलाने का साहस नहीं हुआ होगा। तुमने सोचा होगा कि यह पशु तो मेरे बाण के घाव से असमर्थ हो ही चुका है, तुम्हें किसी प्रकार की क्षति पहुँचा नहीं पाएगा; अतः इसे मारकर, तुम अपनी वीरता प्रदर्शित कर सकते हो !"

अर्जुन का मन क्रोध के हाथों, पूर्णतः अनियंत्रित हो चुका था।...यह

वनचर···यह किरात···जिसने शायद कभी धनुर्विद्या का आरंभिक प्रशिक्षण भी नहीं लिया होगा, जिसने न कभी कोई प्रशिक्षित सेना देखी होगी और न कभी जाना होगा कि वीर क्षत्रियों का युद्ध क्या होता है···जो इन किरात स्त्रियों को प्रभावित करने के लिए अपने इन बाँस के बाणों से ठढ से सिकुड़े, दुम दबाकर भागते सियारों को आहत करता होगा···वह किरात वीरवर अर्जुन से कह रहा है कि अर्जुन एक वन्य शूकर को मारने का श्रेय लूटने के लिए, इस किरात के बाण की ओट ले रहा है···

अर्जुन का हाथ अपने गांडीव पर कस गया, "वहुत वीर समझते हो अपने-आपको ! अभी शायद तुम्हारा किसी वीर से साक्षात्कार नहीं हुआ। साहस है तो अपनी इस स्त्री-सेना से पृथक् हो, सामने आ जाओ।"

"लो, हो गया !" किरात सचमुच उसके सामने आ खड़ा हुआ, "पाखंडी आखेटक ! क्या करोगे तुम ?"

अर्जुन ने बाण साधा, "बताओ, तुम्हारा मस्तक काटकर भूमि पर लुढ़का दूँ, अथवा तुम्हें इस शूकर के साथ सुला दूँ !"

किरात ने उसका उपहास-सा करते हुए ताली बजाई और अपनी स्त्रियों की ओर देखकर, नयनों का संकेत दिया, मानो कह रहा हो, 'इसे देखो तो ! अपने-आपको समझता क्या है।' किंतु उसने भयभीत होना तो दूर, तनिक-सा सावधान होने का भी प्रयत्न नहीं किया।

अर्जुन का मन क्रोध की पराकाष्ठा को छू रहा था···एक वनचर आखेटक किरात ! और उसका यह साहस !···दाहिना हाथ प्रत्यंचा को खींचता जा रहा था··· और उसका विवेक कहीं उससे असहमत हो, दूर जा खड़ा हुआ था···'क्या कर रहे हो सव्यसाची ! वह एक अबोध वनचर है। नहीं जानता कि कितनी संकटपूर्ण क्रीड़ा कर रहा है।···वह क्या जानता है कि जिसे वह एक असहाय तपस्वी समझ रहा है, वह आर्यावर्त्त का सर्वश्रेष्ठ वीर है।···वह तो उस अबोध बालक के समान है, जो ज्योत्स्ना और अग्नि में भेद नहीं कर सकता। वह रज्जु के भ्रम में सर्प को पकड़ रहा है। उसे क्षमा करो···'

किंतु उन्मत्त क्रोध ने विवेक की एक नहीं सुनी !···भरतकुलभूषण अर्जुन का इस प्रकार अपमान करने वाला व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता, चाहे वह अबोध हो अथवा अज्ञानी !···

अर्जुन ने बाण छोड़ दिया !

किरात, अर्जुन के बहुत निकट था। बाण छूटने के, अगले ही क्षण, उसे मृत होकर भूमि पर गिर पड़ना चाहिए था···किंतु ऐसा हुआ नहीं !···अर्जुन ने स्वयं अपनी आँखों से देखा कि किरात छिटककर एक ओर हट गया और अर्जुन का बाण, वन में कहीं वृक्षों के पीछे जाकर अदृश्य हो गया···अर्जुन का क्रोध जैसे उसके

सारे रक्त को खौलाए दे रहा था। उसने दूसरा वाण धनुष पर रखा…शाखा-मृग के समान कूदते इस किरात को वह अभी यमपाश में वाँध देगा…

किंतु इस वार किरात ने उसे बाण छोड़ने का अवसर नहीं दिया। उसने किसी असाधारण, अलौकिक स्फूर्ति से झपटकर, गांडीव की प्रत्यंचा से वह वाण उठा लिया।…अर्जुन चकित, असहाय-दृष्टि से उसे देखता रहा। उसके अंग जैसे शिथिल हो रहे थे। मन और शरीर में न ऊर्जा का आभास हो रहा था, न शक्ति का !…क्या यह सब उसकी दीर्घकालीन तपस्या का परिणाम था ? क्या वह दुर्वल होता जा रहा था ?…

किरात ने आगे बढ़कर, अपने वाएँ हाथ से गांडीव थाम लिया और दाएँ हाथ से अपने धनुष को अर्जुन की ग्रीवा से फँसाकर झटका दिया। अर्जुन अपने शरीर को स्थिर नहीं रख पाया और सीधा धरती पर जा गिरा। चेतना के लुप्त होते-होते उसने देखा कि किरात ने हँसते हुए, क्रीड़ायुक्त भाव से उसके दोनों तूणीर उठा लिए…

17

द्रुपद ने समाचार सुना और चिंता ने उनके मन को घेरना आरंभ कर दिया।…पांडवों ने यह कैसा निर्णय कर लिया !…

धृष्टद्युम्न और शिखंडी–दोनों ही कांपिल्य में नहीं थे। संध्या से पहले वे लौटेंगे भी नहीं। तो द्रुपद किसी से चर्चा कर, अपना मन भी हल्का नहीं कर सकते थे…

एकांत कक्ष में बैठे-बैठे मन ऊब गया तो बाहर निकल, प्रासाद के खुले चौवारे पर टहलने लगे…यह क्या कर दिया युधिष्ठिर ने ?…पर युधिष्ठिर से और अपेक्षा भी क्या की जा सकती थी…द्रुपद को कई बार लगा था कि युधिष्ठिर की प्रवृत्ति निरंतर अपने परिवेश से युद्ध करती रहती है।…गृहस्थों में वह संन्यासी था, क्षत्रियों में ब्राह्मण था, राजाओं में वीतराग तपस्वी था…सब लोग उसे घेरकर, उससे वह सव करवाना चाहते थे, जिसके लिए, उसके मन में कोई उत्साह नहीं था।…द्रुपद को तो यह सब उसी दिन समझ लेना चाहिए था, जिस दिन कृष्णा का स्वयंवर हुआ था। हारे हुए पराजित्त राजा भी कृष्णा को अर्जुन से छीन लेना चाहते थे; और युधिष्ठिर था कि स्वयंवर की प्रतिज्ञा सुनते ही, उठकर चला गया था…जिसके वह योग्य नहीं है, उसकी आकांक्षा ही क्यों करे।…जिस कृष्णा को पाने के लिए संसार भर के राजा लालायित थे, उसका विवाह युधिष्ठिर से हो रहा था; और युधिष्ठिर कह रहा था कि कृष्णा का विवाह केवल उसके साथ

नहीं, पाँचों भाइयो के साथ कर दिया जाए…युधिष्ठिर ने देने के लिए सदा अपनी हथेली खुली रखी है, आधिपत्य जमाए रखने के लिए उसने कभी अपनी मुट्ठी वंद नहीं की…फिर उससे द्रुपद क्या अपेक्षा कर सकते हैं ?…

अपने ऊहापोह में सारा दिन द्रुपद व्याकुलता से पीड़ित रहे। संध्या समय धृष्टद्युम्न प्रासाद में लौटा, तो द्रुपद ने तत्काल उसे अपने पास वुला लिया, "शिखंडी नहीं आया अभी ?"

"आते ही होंगे !" धृष्टद्युम्न वोला, "वे नये वन रहे बाणों का निरीक्षण करने गए थे।"

"तुमने समाचार सुना, धृष्टद्युम्न ?" द्रुपद अव स्वयं को रोक नहीं पाए।

"क्या ?"

"युधिष्ठिर ने अर्जुन को तपस्या करने के लिए इंद्रकील पर्वत पर भेज दिया है।"

"अर्जुन अव काम्यक वन में नहीं है ?" धृष्टद्युम्न ने पूछा।

"नहीं ! वहाँ से तो वह कव का चला गया। अब तक तो वह इंद्रकील पर्वत पर पहुँच भी चुका होगा !"

"तो काम्यक वन में दुर्योधन से उनकी रक्षा कौन करेगा ?" धृष्टद्युम्न जैसे अपने-आपसे पूछ रहा था, "यह धर्मराज ने क्या किया ?"

"यह तो वही जाने !" द्रुपद का आक्रोश तरल होकर अव उनके मन के वाहर निकलने लगा था, "इसकी तो सदा की नीति रही है कि जिससे उसको लाभ हो सकता हो, उसी को त्याग दो।"

"पर अर्जुन को इस समय तपस्या की क्या आवश्यकता थी ?" धृष्टद्युम्न खीझ कर बोला, "यह समय युद्ध के अभ्यास का है या तपस्या का ! शत्रुओं को तपाने के स्थान पर, यह स्वयं ही तपने चल दिया !"

"महर्षि वेदव्यास के कहने पर, उसने अर्जुन को दिव्यास्त्रों की प्राप्ति के लिए इंद्रकील पर्वत पर भेजा है।…" द्रुपद ने जैसे उसकी क्रोधाग्नि को उकसाया।

"महर्षि वेदव्यास कोई युद्ध-विशारद हैं, अथवा कोई महान् अनुभवी महासेनापति, जिनके कहने पर अर्जुन को इंद्रकील पर्वत के उस शीत में असहाय मृत्यु की उपलब्धि के लिए भेज दिया ?" धृष्टद्युम्न का स्वर कटु होता जा रहा था, "कहीं यह भी दुर्योधन की ही कोई चाल तो नहीं ?"

"दुर्योधन की चाल हो या न हो, जो कुछ हुआ है, वह शुभ नहीं है।" द्रुपद बोले, "अर्जुन तो वहाँ उस शीत में अप्राकृतिक मृत्यु को प्राप्त होगा और दूसरी ओर चारों पांडव तथा कृष्णा, काम्यक वन में सदा असुरक्षित रहेंगे। कर्ण के बाणों से उनकी रक्षा कौन करेगा ?"

द्रुपद पूछ नहीं रहे थे। वे केवल अपने मन की आशंकाओं को प्रकट कर

रहे थे। धृष्टद्युम्न भी इस बात को समझता था और वह उनके प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न भी नहीं कर रहा था···किंतु उसके लिए भी चिंता का विषय तो यह था ही !

उसी समय शिखंडी ने कक्ष में प्रवेश किया, "गुप्तचर सूचना लाए हैं पिताजी ! कि हस्तिनापुर में दुर्योधन और उसके मित्र बहुत प्रसन्न हैं कि उन्हें कुछ करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी और युधिष्ठिर ने अर्जुन जैसे धनुर्धर को उनके मार्ग से हटाकर, गलने के लिए इंद्रकील पर्वत पर भेज दिया है।"

"दुर्योधन के प्रसन्न होने का तो यह विषय ही है।" द्रुपद बोले, "जो वह चाहता था, युधिष्ठिर ने कर दिया।"

"मुझे यह तो नहीं लगता कि इंद्रकील पर्वत पर तपस्या करने से धनंजय की मृत्यु हो जाएगी," शिखंडी बोला, "किंतु यह अवश्य लगता है कि आध्यात्मिक साधनाओं से अर्जुन की वृत्तियाँ बदल जाएँगी। उसका मन भीरु भी हो सकता है और कोमल भी। मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया, तो स्थिति और भी जटिल हो जाएगी। वह युद्ध से विरत हो जाएगा। शस्त्रों का अभ्यास करने के स्थान पर, शास्त्रों का पारायण करने लगेगा। युद्ध-क्षेत्र में खड़े होने के स्थान पर किसी कुटिया में आँखें बंद कर बैठ जाएगा। युधिष्ठिर की आनृशंसता ही हमारे लिए कम कष्टदायक नहीं है, अब यदि अर्जुन भी वैसी ही करुणा अपने मन में संचित कर वहाँ से लौटा, तो स्वयं तो वह युद्ध करेगा ही नहीं, हमें भी लड़ने नहीं देगा।"

सहसा ही, बाहर अनेक पगों की आहट हुई और द्रौपदी के पाँचों पुत्रों ने कक्ष में प्रवेश कर, द्रुपद, धृष्टद्युम्न तथा शिखंडी को प्रणाम किया।

सहसा धृष्टद्युम्न, प्रतिविंध्य की ओर मुड़ा, "युधिष्ठिर-कुमार ! मुझे बताओ कि जब तुम अपना बल बढ़ाना चाहोगे, युद्ध-कौशल को समृद्ध करना चाहोगे, तो तुम नये-से-नये शस्त्रों का निर्माण करवाओगे, उनका अभ्यास करोगे; अथवा किसी पर्वत की गुफा में बैठकर आध्यात्मिक साधना करोगे, ताकि तुम्हें कुछ दिव्यास्त्रों और देवास्त्रों की प्राप्ति हो ?"

द्रुपद समझ रहे थे कि युधिष्ठिर के प्रति अपनी खीझ, धृष्टद्युम्न युधिष्ठिर के पुत्र पर उगल रहा था..किंतु, वह यह क्यों भूल रहा था कि प्रतिविंध्य युधिष्ठिर का ही नहीं, कृष्णा का भी पुत्र था।···वैसे भी इन कोमल बालकों के प्रति इतनी कठोरता शोभनीय नहीं है···

प्रतिविंध्य की समझ में धृष्टद्युम्न का प्रश्न तो आ गया था, किंतु वह यह नहीं समझ पा रहा था कि उससे यह प्रश्न पूछा क्यों जा रहा है।

"मातुल ! पहले आप प्रजा-पालन का सामर्थ्य प्राप्त करना चाहेंगे अथवा पहले प्रजा एकत्रित कर तब राज्य स्थापित करेंगे ?" उसने उत्तर देने के स्थान पर प्रतिप्रश्न किया।

धृष्टद्युम्न ने चकित दृष्टि से उसकी ओर देखा : कैसा विचित्र वालक है यह ! एक सीधे से प्रश्न का सीधा उत्तर न देकर, एक अनावश्यक-सा प्रश्न पूछ रहा है।

"यह क्या मेरे प्रश्न का उत्तर है प्रतिविंध्य ?" धृष्टद्युम्न ने हल्के-से रोष के साथ पूछा।

"नहीं !" उत्तर श्रुतकर्मा ने दिया, "आप भाई के प्रश्न का उत्तर देंगे, उसमें से आपके प्रश्न का उत्तर प्राप्त होगा।"

धृष्टद्युम्न के उत्तेजित मन में, दोनों ही बालकों के कथन के तल तक जाने का धैर्य नहीं था। जाने ये दोनों क्या कह रहे थे।

"मैं पहले राज्य स्थापित करूँगा, तो ही प्रजा की कामना करूँगा।" धृष्टद्युम्न वोला, "राज्य ही नहीं होगा, तो प्रजा की कामना का लाभ ?"

"तो मेरे पिता भी पहले अपने मन की हिंस्र वृत्तियों को नियंत्रित करेंगे और फिर महादेव से दिव्यास्त्रों की कामना करेंगे।" श्रुतकर्मा बोला, "मन पर नियंत्रण न हो और मनुष्य को असाधारण बल प्राप्त हो जाए, तो वह अमर्यादित रूप से हिंस्र होकर, ईश्वर की सृष्टि का अनावश्यक विनाश करता है।"

धृष्टद्युम्न का आक्रोश तो शांत नहीं हुआ; किंतु उसका विवेक श्रुतकर्मा के तर्क में बँधकर, विवश हो गया···धृष्टद्युम्न ने स्पष्ट रूप से अर्जुन की तपस्या के विषय में कुछ भी तो नहीं कहा था, किंतु प्रतिविंध्य भी समझ गया था और श्रुतकर्मा भी कि वह क्या कह रहा था···अद्‌भुत हैं ये वालक ! निश्चित् रूप से पांडवों की चिंतन-प्रक्रिया पांचालों से भिन्न है।···वे लोग अपने लिए न्याय तो चाहते हैं, किंतु किसी का अहित करना नहीं चाहते···

द्रुपद के मन को भी कुछ शांति मिली···युधिष्ठिर दूरदर्शी है···उसने कुछ सोचकर ही, अर्जुन को तपस्या के लिए भेजा है। महर्षि वेदव्यास का परामर्श, उनके लिए घातक नहीं हो सकता···दुर्योधन तो मूर्ख है, जो उनकी नीति नहीं समझता···स्वयं द्रुपद और उनके पुत्र भी जव युधिष्ठिर की नीति समझ नहीं पाए, तो बेचारा दुर्योधन उसे क्या समझेगा, जिसकी बुद्धि, देह-बुद्धि, आसक्ति और भोग से ऊपर उठ ही नहीं सकती···

"वह तो ठीक है प्रतिविंध्य और श्रुतकर्मा !" सहसा शिखंडी वोला, "पहले भुजा में शक्ति संचित की जाती है और फिर गदा उठाई जाती है। पहले मन को संयत किया जाता है, और तब शस्त्र अर्जित किए जाते हैं। किंतु···" उसने रुककर द्रौपदी के पाँचों पुत्रों पर दृष्टि डाली, "किंतु जब तक अंडे में से शावक बाहर नहीं निकलता, तब तक उस पर अंड-कवच ही नहीं, स्वयं शावक की माता का भी पूर्ण संरक्षण रहता है।···धनंजय की तपस्या पूर्ण होने तक उसके लिए किसी सुरक्षा-कवच की व्यवस्था नहीं की गई है। धनंजय आँखें मूँदकर बैठा तपस्या

करता रहे और दुर्योधन अथवा कोई अन्य शत्रु, उसका वध कर जाए, तो ?··· दूसरी ओर धर्मराज और उनके भाई अपने लिए अर्जुन रूपी सुरक्षा-कवच के लौट आने की प्रतीक्षा करते रहें और उस कवचहीनता की स्थिति में कोई उन पर घातक प्रहार कर जाए तो ?" शिखंडी रुका, "पाँचों पांडव इकट्ठे रहते, तो अर्जुन तपस्या करते हुए भी, अपने भाइयों द्वारा रक्षित रहता और शेप भाइयों को भी अर्जुन का युद्ध-कौशल निरंतर उपलब्ध रहता।···"

"आप एकदम ठीक कहते हैं मातुल !" सुतसोम कुछ अटपटे-से स्वर में बोला, "किंतु यह भी तो संभव है कि काम्यक वन धनंजय की तपस्या के लिए उपयुक्त न हो और धर्मराज ने अपनी सुरक्षा का कोई और उपाय सोच रखा हो।" सुतसोम ने वक्र दृष्टि से शिखंडी की ओर देखा, "आप यह भूल रहे हैं कि पांडवों की सुरक्षा के लिए उनके महासेनापति, मध्यम पांडव, महावीर भीमसेन भी पर्याप्त हैं।"

द्रुपद को लगा, भीम की इस उपेक्षा से सुतसोम आहत हुआ है। वैसे उसका कथन सत्य है। दैनन्दिन के साधारण संकटों से तो पांडवों की रक्षा भीम ही करता रहा है। सेनाओं के युद्ध की स्थिति हो, तो बात और है।···वैसे ये वालक ठीक ही तो कह रहे हैं।···कांपिल्य में तो इतनी ही सूचना आई है कि अर्जुन तपस्या के लिए इंद्रकील पर्वत की ओर चला गया है; किंतु युधिष्ठिर की वास्तविक योजना क्या है, यह तो द्रुपद जानते ही नहीं···

"और मातुल !" सुतसोम पुनः वोला, "जव तक पांडव स्वयं अपनी रक्षा के लिए सन्नद्ध नहीं हो जाते, क्या यह उनके मित्रों का दायित्व नहीं है, कि वे उनकी रक्षा करें ?"

धृष्टद्युम्न का मन कुछ सहम गया···उसने यह तो सोचा कि युधिष्ठिर को क्या करना चाहिए···यह नहीं सोचा कि स्वयं उसे क्या करना चाहिए···सुतसोम अपने पिता के समान उसके सम्मुख कटु ही नहीं, एक वीभत्स सत्य को उसके नग्न रूप में प्रस्तुत कर रहा था···क्या यह धृष्टद्युम्न का कर्तव्य नहीं था कि वह देखे कि जव तक पांडव अपनी व्यवस्था नहीं कर लेते, वह अपने सैन्य-वल के माध्यम से उनकी रक्षा करे···कृष्ण तो प्रतीक्षा नहीं करते कि कोई उनकी सहायता के लिए निवेदन करे···तो धृष्टद्युम्न किसकी प्रतीक्षा कर रहा है ?···

"तुम ठीक कह रहे हो पुत्र ! हमें ही अपना दृष्टिकोण कुछ वदलना पड़ेगा।" द्रुपद सस्नेह बोले, "अच्छा ! अब तुम लोग जाकर विश्राम करो। तुम लोग दिन भर के शस्त्राभ्यास से थके हुए होगे ! प्रातः फिर जल्दी उठना है। कल के शस्त्राभ्यास के लिए, तुम्हारे प्रशिक्षकों के साथ, तुम्हारे मातुल धृष्टद्युम्न तथा शिखंडी भी होंगे। इसका अर्थ समझते हो ?"

"हाँ ! हम कल कुछ और नया सीखेंगे, केवल पुरातन का पुनरावर्तन ही

नहीं करेंगे।" शतानीक बोला।

"नहीं बुद्धू !" श्रुतसेन ने उसे टोका, "कल कठोर अभ्यास होगा; संकटपूर्ण प्रशिक्षण होगा।"

"दोनों बातें ठीक हैं।" धृष्टद्युम्न ने कहा, "नया भी सीखोगे और कठिन भी ! तुम क्षत्रिय हो। सत्य और न्याय के लिए शस्त्र धारण करने वाले हो। इसलिए तुम्हें न स्वेद गिराने से पीछे हटना होगा, न रक्त बहाने से !"

"हम तैयार हैं।" पाँचों भाइयों ने अपनी भुजाएँ उठाकर कहा।

"पर मातामह ! आप हमारे साथ कब चलेंगे ?" प्रतिविंध्य के प्रश्न में प्रेमपूर्ण अनुरोध था।

"मातामह अब वृद्ध हो गए हैं, उन्हें विश्राम चाहिए।" सुतसोम ने उसे टोक दिया।

"तुम्हारे प्रतिपितामह से तो अधिक वृद्ध नहीं हूँ।" द्रुपद हँसे, "कौरवों के महासेनानायक आचार्य द्रोण, मेरी ही अवस्था के हैं। क्या उन्होंने युद्ध-कर्म छोड़ दिया कि मैं शस्त्राभ्यास से विरत हो जाऊँ। अभी तो मुझे द्रोण और उसके स्वामियों के नाश के लिए एक महासमर लड़ना है।"

प्रतिविंध्य ने गर्वपूर्वक, सुतसोम की ओर देखा; और नयन मटकाकर बोला, "तुम मेरे मातामह को वृद्ध नहीं कह सकते।"

18

अर्जुन की चेतना लौटी !

उसने धीरे से आँखें खोलीं और अनुभव किया कि उसके शरीर में तनिक भी ऊर्जा नहीं थी। अंगों की दुर्बलता इतनी स्पष्ट थी कि झपटकर एक वार में ही उठकर खड़ा भी नहीं हो सकता था।...

उसने अपने माथे पर हाथ रखा। हाथ गीला हो गया। वह आर्द्रता न जल की थी, न हिम की...यह उसका अपना रक्त था, जो उसके माथे से बहा था।...हाँ ! जब किरात ने अपने धनुष में फँसाकर उसकी ग्रीवा को खींचा था, तो वह गिर पड़ा था। उसका माथा हिम-शिला से टकराया था। उसी समय यह रक्त बहा होगा...

किरात वहाँ नहीं था। वह अपनी स्त्रियों के साथ, वहाँ से जा चुका था। वह शूकर भी अनुपस्थित था। संभवतः किरात ही उसे वहाँ से उठा ले गया होगा...किंतु गांडीव और अर्जुन के दोनों तूणीर वहीं पड़े थे, जैसे किरात के लिए अर्जुन के शस्त्र तनिक भी उपयोगी न हों। वह उन्हें व्यर्थ और अनावश्यक मानकर वहीं

छोड़ गया था। उसके लिए एक वन्य-शूकर अधिक उपयोगी था, अर्जुन के विख्यात् धनुष और वाण नहीं···

अर्जुन के मन में असाधारण दीनता भर आई··वह क्या समझ रहा था स्वयं को···और वह क्या निकला। बहुत संभव है कि इतने दिनों की इस कठोर तपस्या से, उसके अंग कुछ शिथिल हो गए हों। यदि भोजन ही शरीर को शक्ति देता है, तो एक लंबे समय तक, भोजन तो उसने प्रायः किया ही नहीं है। शरीर को तो दुर्बल होना ही था।···क्या यह शरीर और स्नायुओं की दुर्वलता ही थी, जिसने उसे इतना क्रुद्ध कर दिया था ?··हस्तिनापुर में द्यूत-क्रीड़ा के अवसर पर, जव दुर्योधन ने भयंकर दुर्व्यवहार किया था, उन्हें अपशब्द कहे थे, पांचाली को अपमानित किया था··क्रोध तो उसे तव भी आया था, किंतु इतना नहीं कि वह अपने विवेक की वात ही न सुनता !···तव भी तो उसने अपने क्रोध का दमन किया था, मन को संयत रखा था; और धर्म-विरुद्ध आचरण कर, मर्यादा को भंग नहीं किया था।···आज क्या हो गया था अर्जुन को ?···यदि एक वनचर किरात ने अपने अज्ञान में उसे आहत करने वाली कुछ वातें कह दी थीं, तो उसे इस प्रकार क्रोध के वशीभूत होकर, उस किरात की निरीह हत्या के लिए तत्पर तो नहीं हो जाना चाहिए था··वह क्रोध वस्तुतः उसके अहंकार से उपजा था। अहंकार भी कितना तुच्छ था कि अवोध किरात की वातों से आहत हो गया··· उसके अहंकार ने फूत्कार भी किया, तो किसी वीर योद्धा के सामने नहीं, एक वनवासी के सामने !···

अर्जुन का मन असहाय होकर रो पड़ा···उसके अहंकार को कैसे खंडित किया है महादेव ने ! यदि कहीं उसे इस प्रकार दंडित न किया गया होता, तो उस किरात का वध कर, इस समय वह स्वयं को असाधारण वीर मानकर अहंकार में फूला बैठा होता।···अर्जुन को लगा कि इस एक पराजय ने उसके मन को प्रभु के प्रति अथाह प्रेम से भर दिया है। उसका मन प्रेम से विह्वल होकर रोना चाहता था। प्रभु के चरणों में अपना सिर पटक-पटककर अपने अहंकार के लिए क्षमा माँगना चाहता था; और उसकी कृपा के लिए अपना आभार निवेदित करना चाहता था···कितना कृपालु है प्रभु···

वह अपने स्थान से उठा और धीरे-धीरे चलता हुआ, निकट के जल-स्रोत तक गया। कृतज्ञता-भाव से दवे मन और प्रेमाश्रुओं से भरी आँखों के साथ उसने स्नान किया।···जलधारा के तट पर मिट्टी की वेदी बनाकर, उस पर पार्थिव शिव की स्थापना की। निकट की झाड़ियों से लेकर कुछ पुष्प अर्पित किए···

पद्मासन में बैठकर, उसने हाथ जोड़े, तो उसके नयन पुनः अश्रुओं से भर आए। हृदय कैसा तो विह्वल हो उठा, जैसे फूट-फूटकर रोना चाहता हो और उसी में भक्ति का, समर्पण का, अहंकारशून्यता का, दीनता और अकिंचनता का सुख

अनुभव करना चाहता हो…"कितने दयालु हो प्रभु तुम ! अपने दास को तनिक भी भ्रमित नहीं होने देते ! उसे अहंकार के मार्ग पर बढ़ने नहीं देते। जब वह अहंकार में फूला, तो तुमने एक ही क्षण में, उसे अकिंचन बनाकर खड़ा कर दिया। …मैं समझ गया हूँ प्रभु ! अपने पुरुषार्थ से हम, तुम्हारा प्रेम नहीं पा सकते। जब तुम्हारी कृपा होगी, जब तुम्हारी दया-दृष्टि हम पर पड़ेगी, तभी तुम्हारा प्रेम भी मिलेगा। तुम मुझसे रुष्ट होते, तो मेरे अहंकार को पुष्ट करते, जैसे तुम दुर्योधन के अहंकार को कर रहे हो…तुम मुझ पर प्रसन्न हो, इसलिए तुमने मुझे अपनी अकिंचनता का बोध करा दिया…"

अर्जुन की आँखें मुँद गईं। उसका मन अन्तर्मुखी होता चला गया। यह कैसी विचित्र यात्रा थी मन की ?…दृश्य जगत् अदृश्य हो गया और एक नयी सृष्टि उसके सामने थी।…उसकी आँखें बंद थीं, किंतु वह सब कुछ देख रहा था। वह आँखों से नहीं देख रहा था, जिस प्रभु से आँखों को देखने की शक्ति मिलती है, उसी प्रभु की शक्ति से देख रहा था…वहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं था; किंतु कहीं अंधकार नहीं था। यह स्वतः प्रकाशित जगत्, यह कौन-सा दिव्य लोक था ?…

सहसा, उसके सम्मुख वही वनचर किरात आकर खड़ा हो गया। वह न तो क्रुद्ध था, न रुष्ट ! वह मैत्री-भाव से मुस्करा रहा था। अर्जुन ने जो पुष्प पार्थिव शिव को समर्पित किए थे, वे उस किरात के चरणों में सुशोभित थे…तो क्या महादेव शिव को समर्पित किया गया प्रत्येक भाव, उस वनचर किरात को प्राप्त हो रहा था ? क्या महादेव शिव ही किरात के रूप में उसके सम्मुख आए थे, उसके अहंकार-भंजन के लिए ?…

किरात ने कुछ नहीं कहा। उसके होंठ नहीं हिले। कोई शब्द उत्पन्न नहीं हुआ।…किंतु अर्जुन का मन बहुत स्पष्ट रूप से सुन रहा था। किरात कह रहा था, "कुंतीपुत्र अर्जुन ! मैं तेरी तपस्या से प्रसन्न हूँ। इसलिए तेरी कामना पूर्ण करना चाहता हूँ।…किंतु अहंकारी पर मेरी कृपा नहीं हो सकती; इसलिए तेरा अहंकार नष्ट करना आवश्यक हो गया था। तेरा उससे कोई अनिष्ट नहीं हुआ…अभ्युदय ही हुआ…। बोल, क्या चाहिए तुझे ? किस कामना को लेकर तप रहा है तू ?"

अर्जुन के भी अधर नहीं हिले। उसने भी शब्दों का उच्चारण नहीं किया; किंतु वह अपनी कामना को सुन रहा था, "प्रभु ! मुझे अपना पाशुपतास्त्र दें। मैं युद्ध में अपने शत्रुओं को पराजित कर सकूँ।"

"जिन शत्रुओं की तू चर्चा कर रहा है, उनके वध के लिए, दिव्यास्त्र, तुझे अमरावती में वैजयन्त से मिलेंगे।" उसने किरात की शिव-वाणी सुनी, "मैं तुम्हें अपना पाशुपतास्त्र दे रहा हूँ; किंतु यह बाहरी शत्रुओं से नहीं, अपने आंतरिक

विकारों से युद्ध करने के लिए है। इसे ले जा और अपने मन के विकारों से लड़। तुझे पशु होकर नहीं, पशुपति होकर जीना है। इसलिए अपने क्रोध से लड़, अपने अहंकार से लड़, अपने काम से लड़, अपने राग-द्वेष से लड़। अपने मन के पशु को पराजित कर, उसे नाथकर जब तू पशुपति बन जाएगा, तो तुझे दिव्य जीवन का अनुभव होगा। वह जीवन भोग का नहीं है, इसलिए आनन्द का जीवन है। ...तेरे भीतर विकार नहीं होंगे, तो बाहर तेरे शत्रु भी नहीं होंगे।"

किरात जैसे स्वयं महादेव शिव में परिणत हो गया। अर्जुन उनकी ओर बढ़ना चाहता था; किंतु उससे पहले ही महादेव अदृश्य हो गए।...अर्जुन को लगा, उसके वक्ष से कोई अंग निकलकर बाहर चला गया है; और वहाँ एक शून्य रह गया है...उसका मन चीत्कार कर रहा है, 'कहाँ हो प्रभु ? कहाँ हो महादेव ? मैं तुम्हें कहाँ खोजूँ ?'...महादेव वहाँ नहीं थे; किंतु उनका निःशब्द संदेश उसके मन में निरंतर गूँज रहा था, 'मैं कहाँ नहीं हूँ। शुद्ध बुद्धि को शुद्ध आत्मा से संयुक्त कर; और मुझे देख ! मैं प्रत्येक कण में हूँ।'

अर्जुन को लगा, वह किसी असाधारण यात्रा पर चल पड़ा है। वह था, किंतु उसका शरीर नहीं था। कोई वाहन नहीं था, किंतु गमन था। न वह चल रहा था, न उसे पवन उड़ा रहा था; किंतु वह एक असाधारण यात्रा का अनुभव कर रहा था। उसके पैरों के नीचे पृथ्वी नहीं थी।...पृथ्वी बहुत दूर, नीचे छूट गई थी। आस-पास कहीं आकाश भी नहीं था। अंतरिक्ष भी कहीं पीछे छूट गया था।...अब वह जहाँ पहुँच गया था, वहाँ न सूर्य का प्रकाश था, न चंद्रमा का। वहाँ अग्नि का ताप भी नहीं था। जो कुछ भी था, वह अपने प्रकाश से स्वतः प्रकाशित था। जो कुछ दिखाई देता था, सब ज्योति-शरीरी था। ग्रह-नक्षत्रों के अधिष्ठाता, अपने प्रकाश से आलोकित, अपने लोकों में निवास कर रहे थे...

अब वह स्पष्ट देख रहा था, जिस शरीर को वह अपना अस्तित्व मानता था, वह शरीर, वह स्वयं नहीं था; वह शरीर उसका कोई उपकरण भी नहीं था; वह उसका बंधन था, जिससे वह इस समय मुक्त हो गया था।...जिन नयनों को वह दृश्य का साधन मानता था, वह उसकी दृष्टि का सीमांकन था। जिन्हें वह अपने स्रोत मानता था, वे वाणी को रुद्ध कर, उसकी श्रवण-शक्ति को प्रतिबंधित कर रहे थे। उसके पग उसकी गति के अवरोधक थे। वे उसकी तीव्रगामिता के बंधन थे। शरीर के दो ही हाथ नियत थे, किंतु शरीर के अभाव में वह सहस्रों हाथों वाला था।...शरीर ने उसके अस्तित्व को कीलित कर रखा था। अब वह मुक्त था, परम स्वतंत्र...यह उसका वास्तविक स्वरूप था...

सहसा अनेक जल-जंतुओं से घिरे, जल के देवता वरुण आकर उसके निकट ठहर गए।...उनकी अंग-कांति वैदूर्य मणि के समान थी। एक अन्य दिशा से अनेक यक्षों के साथ कुबेर आए। उनका शरीर स्वर्ण के समान था। उनके पश्चात् सूर्यपुत्र

यमराज आए। उनके साथ अनेक पितृगण थे। उनके हाथ में 'दंड' था; और वे दूसरे सूर्य के समान प्रकाशमान थे। सबके अंत में ऐरावत की पीठ पर बैठे हुए देवराज आए।

यमराज ने अत्यन्त स्नेह से कहा, "फाल्गुन ! हम सब लोकपाल आए हैं। तुम आज हमारे दर्शनों के अधिकारी हो गए हो। मेरा वचन है कि संसार में तुम्हारी अक्षय कीर्ति स्थापित होगी। मैं तुम्हें अपना दंडास्त्र देता हूँ। लो, तुम इसे ग्रहण करो।"

अर्जुन के हाथ नहीं उठे। न ही यमराज ने कोई अस्त्र बढ़ाया; किंतु अर्जुन को लगा कि उसका शस्त्र-ज्ञान कुछ बढ़ गया है। उसने कुछ ग्रहण किया है। वह पहले से कुछ अधिक समृद्ध हुआ है।...

वरुण ने भी उसी प्रकार कहा, "मैं तुम्हें अपना वरुण-पाश दे रहा हूँ।" कुवेर ने उसे अपना 'अन्तर्धान' नामक अस्त्र दिया। अंत में देवराज बोले, "तुम इंद्रकील पर्वत से चलकर, उत्तर दिशा में अमरावती नगर में जाओ अर्जुन ! वहाँ तुम्हें वैजयन्त इंद्र से अनेक दिव्यास्त्र और उन शस्त्रास्त्रों का प्रशिक्षण प्राप्त होगा। उसे मेरा ही प्रसाद समझना... ।"

चारों लोकपाल अपनी-अपनी दिशाओं में लौट गए; और अर्जुन को लगा कि वह नीचे की ओर यात्रा कर रहा है...स्थूल जगत् की ओर !...

उसकी बाह्य चेतना लौटी। उसने आँखें खोलकर देखा। वह पार्थिव शिव के सम्मुख पद्मासन लगाए बैठा था...क्या था, यह सब ? क्या यही समाधि थी ? निर्विकल्प समाधि ? क्या उसने सचमुच उन दिव्य लोकों की यात्रा की थी; अथवा अपने चंचल मन की किन्हीं कल्पनाओं के भ्रमजाल में फँस गया था ?...क्या उसने सत्य ही, महादेव शिव के साक्षात् दर्शन किए थे ? क्या वस्तुतः लोकपाल उसके पास आए थे ? क्या उसने सचमुच ही उन लोकपालों के शस्त्रास्त्रों को आत्मसात् किया है ? भौतिक रूप में तो उन्होंने वे शस्त्रास्त्र उसे दिए नहीं थे। उन्होंने जो कुछ भी दिया था, वह उसकी आत्मा ने ही ग्रहण किया था। शरीर तो उस लोक में जैसे कोई था ही नहीं। न उन लोकपालों का, न अर्जुन का, न उन शस्त्रों का !...उसे लग रहा था कि आज उसके लिए भौतिक शस्त्रों का कोई महत्त्व रह भी नहीं गया था। यमराज ने उसे अपना दंड दिया था। कदाचित् उससे मृत्यु को नहीं जीता जा सकता। कोई जीव कभी 'मृत्यु' को नहीं जीत सकता। वह अमर नहीं हो सकता !...किंतु मृत्यु का भय तो जीता ही जा सकता है। मृत्यु को मित्र तो बनाया जा सकता है। यदि देह के प्रति यह मोह न रहे, तो मृत्यु से हमारा विरोध ही कैसा ?...और यह देह तो मैं नहीं हूँ। मृत्यु मेरा तो कुछ बिगाड़

ही नहीं सकती ! यह देह जिन पंचभूतों से बनी है, प्रकृति के नियमों के अधीन, इसे उन्हीं में जा मिलना है...तो मृत्यु की चिंता ही क्या ?...और वरुणदेव ने उसे वरुण-पाश दिया था।...सत्य और ऋत के देवता हैं वरुण ! उनका पाश 'मिथ्या' को बाँधेगा, 'स्वेच्छाचार' को बाँधेगा।...अर्जुन अपने 'अहंकार' को बाँधेगा, क्योंकि वह मिथ्या है; काम और क्रोध को बाँधेगा, क्योंकि उनका कोई अस्तित्व नहीं है, वे मात्र शरीर के विकार हैं। वह अपनी कामनाओं को धर्म-बंधन में बाँधेगा, क्योंकि कामना और तृष्णा किसी अनुशासन को नहीं मानतीं।...कुबेर ने उसे 'अन्तर्धान' नामक शस्त्र दिया है। धन के संरक्षक हैं कुबेर ! धन का स्वामी नहीं मानते स्वयं को ! धन तो लक्ष्मी का है। कुबेर तो उसके संरक्षक मात्र हैं। उसके प्रति लोभ नहीं है उनको, लालसा और तृष्णा नहीं है, भोग की कामना नहीं है...अर्जुन भी उनकी कृपा से लोभ, लालसा और तृष्णा को अन्तर्धान कर देगा...

हाँ ! देवराज ने कुछ नहीं दिया। उन्होंने कहा, अमरावती में वैजयन्त इंद्र से मुझे शस्त्रास्त्र मिलेंगे।...वे वस्तुतः भौतिक शस्त्र होंगे। दिव्यास्त्र और देवास्त्र ! वैजयन्त ने भी तो यही कहा था कि जब मेरी तपस्या, मेरे भीतर के अशिव का नाश कर देगी, शिव अपना पाशुपतास्त्र दे देंगे, तब ही वे मुझे दिव्यास्त्र और देवास्त्र दे सकेंगे।...तो क्या, वे प्रतिज्ञाएँ पूरी हो नहीं गईं ? अर्जुन की आत्मा ने शिव के दर्शन किए हैं। पाशुपतास्त्र को समझा है...तो क्या अमरावती की यात्रा का समय आ गया ?...यदि ऐसा है, तो अर्जुन को अपने धर्म-सम्मत विवेक से, मन रूपी अश्व को पूर्णतः नियंत्रित कर, पुण्य के सत्य मार्ग पर चल पड़ना...चाहिए।... अमरावती में भोग की प्रचुर सामग्री है। उन सबका प्रलोभन वैजयन्त इंद्र ने आरंभ में ही दिया था।...किंतु अर्जुन को इंद्रियों का भोग नहीं चाहिए।...उसे अपने लिए जो कुछ चाहिए था, वह सब तो जैसे महादेव शिव के दर्शन से ही उसे प्राप्त हो गया है। कैसा तो पूर्ण काम हो गया है वह !...अब तो उसे कृष्ण के धर्मराज्य की स्थापना के लिए युद्ध का सामर्थ्य चाहिए, शस्त्रास्त्र...उनकी परिचालन-विधि, युद्ध का अभ्यास, व्यूह-रचना, सैन्य-संचालन की नयी विधियाँ...

पर यह सब क्या कृष्ण के धर्मराज्य के लिए ही चाहिए। अपने लिए कुछ नहीं चाहिए ?...अपने लिए ? अपने भाइयों के लिए ? माता के लिए ? अपनी पत्नियों और संतानों के लिए ? उसे पांडवों का राज्य वापस नहीं चाहिए क्या ?...'क्यों नहीं चाहिए।' उसके मन के किसी कोने से स्वर आया, 'पांडवों का राज्य उनको मिले ! यह भी तो धर्म-स्थापना का ही अंग है। कृष्ण ने पांडवों से राजसूय यज्ञ इसीलिए तो करवाया था कि धर्मराज्य की स्थापना हो। उसकी स्थापना भी सैन्य-बल के आधार पर ही हुई थी; और उसकी पुनः प्राप्ति भी युद्ध से ही होगी।...यह बात धर्मराज भी समझते हैं, तभी तो उन्होंने उसे वैजयन्त से दिव्यास्त्र, प्राप्त करने के लिए भेजा है...धर्मराज ने बहुत प्रतीक्षा की है। धृतराष्ट्र

और दुर्योधन को अनेक अवसर दिए हैं कि वे लोग यदि पूर्ण न्याय न कर सकें, तो अंश-न्याय तो करें ही। महाराज पांडु का पूरा राज्य उनके पुत्रों को न दें, तो उसका कोई खंड ही दे दें। पांडव तो खांडवप्रस्थ को लेकर ही संतुष्ट हो गए थे।...सर्वत्र धर्म का राज्य न हो, तो अधर्म के साम्राज्य में धर्म को जीवित रहने के लिए कोई सीमित क्षेत्र तो मिले। दोनों का सह-अस्तित्व ही सही !...किंतु दुर्योधन तो धर्म को श्वास भी नहीं लेने देना चाहता। वह चाहता है कि केवल अधर्म जिए...इसका अर्थ हुआ कि सह-अस्तित्व संभव नहीं है। एक के होते, दूसरा जीवित नहीं रह पाएगा। अधर्म रहेगा, तो धर्म का कोई अस्तित्व नहीं होगा।...और धर्म को तो जीवित रहना ही है। संसार टिका ही धर्म के आधार पर है। अतः धर्म को लड़ना होगा और अधर्म का पूर्ण नाश करना होगा। धर्मराज तो चाहेंगे कि पांडवो के साथ-साथ धार्तराष्ट्र भी न केवल जीवित रहें, वरन् सुखी भी रहें, किंतु दुर्योधन अपने जीते-जी, पांडवों को जीवित नहीं रहने देगा। इसलिए पांडवों को जीवित रखने के निमित्त, अब दुर्योधन को मरना ही होगा।...अब दुर्योधन से जो युद्ध होगा, उसमें दुर्योधन को पराजित ही नहीं होना होगा, प्राण-त्याग करना होगा। भीम उसे जीवित नहीं छोड़ेगा।...पता नहीं अधर्म यह क्यों नहीं समझता कि उसके अपने अस्तित्व के लिए आवश्यक है कि धर्म को भी जीवित रहने के लिए कहीं-न-कहीं स्थान मिले। अधर्म ने जब-जब धर्म को पूर्णतः नष्ट कर देना चाहा है, तब-तब अधर्म को स्वतः नष्ट होना पड़ा है।...दुर्योधन के साथ, यह अंतिम युद्ध होगा। ...धर्मराज कितनी भी दया दिखाएँ, इस युद्ध में से दुर्योधन जीवित बच कर नहीं निकल सकता...

19

"युधिष्ठिर ! तुमने धर्म के लिए राज्य का त्याग किया। अपना, अपने भाइयों का तथा अपनी पत्नी का अपमान सहन किया।...किंतु मुझे अब भी लगता है कि तुम्हारा मन शांत नहीं है।" महर्षि बृहदश्व बोले, "त्याग से यदि मन को शांति न मिले, तो वह त्याग तामसिक है धर्मराज ! सात्विक त्याग से तो आत्मा को मुक्ति का अनुभव होना चाहिए।"

ऋषि प्रातः ही पांडवों के आश्रम में पहुँचे थे; और भोजन के पश्चात् युधिष्ठिर चर्चा-हेतु ऋषि के पास आए थे।

युधिष्ठिर ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया; किंतु उनकी मुद्रा से स्पष्ट था कि मन-ही-मन वे अपने उत्तर को निरख-परख रहे हैं। अंततः जब वे बोले, तो वह ऋषि बृहदश्व के प्रश्न का उत्तर नहीं था। वह उनका अपना प्रश्न था, "महर्षि !

इस भौतिक शरीर के रहते, कभी चिंताओं का अंत हो सकता है ?"

ऋषि हँस पड़े, "चिंता तो एक मानसिक स्थिति है युधिष्ठिर ! मेरा प्रश्न यह है कि तुम्हारा मन यह क्यों नहीं मानता कि शरीर में प्राण हैं, तो शरीर की कुछ आवश्यकताएँ होंगी ही। यह शरीर जिस परिवेश में रहेगा, उसमें किसी-न-किसी प्रकार का संघर्ष चलेगा ही। फिर उन आवश्यकताओं और उन संघर्षों से चिंतित क्यों होना ? चिंता तो एक प्रकार के भय का बाह्य रूप है। और भय, व्यक्ति के शरीर का अनवरत रक्तपान करता है। यदि तुम चिंतित हो, तो तुम भयभीत भी हो। निरंतर भयभीत रहकर क्या जीवन चल सकता है पुत्र ?" ऋषि ने स्नेहपूर्वक युधिष्ठिर की ओर देखा, "सूर्यास्त होने पर यदि जीव यह सोचकर भयभीत होता रहे, कि जाने कल सूर्योदय होगा या नहीं, तो वह जीवित रह सकता है क्या ? मनुष्य तो तभी जीवित रह सकता है, जब वह यह मान ले कि सूर्योदय और सूर्यास्त, प्रकृति का नियम है। वह ईश्वर के निर्देश पर होता है। उसका दायित्व मनुष्य पर नहीं है, जो उसकी चिंता करे। इसी प्रकार वह प्रकृति के नियमों को जितना स्वीकार करता चलेगा, उतना ही ईश्वर को स्वीकार करता चलेगा। जितना वह ईश्वर को स्वीकार करेगा, उतना ही उसका भय कम होगा। भय कम होगा, तो चिंता भी कम होगी ! तुम्हारे, इतने योग्य और समर्थ भाई हैं। ऐसी पतिव्रता, सती नारी, तुम्हारी पत्नी है। वासुदेव कृष्ण तुम पर इतने कृपालु हैं। तो फिर तुम्हें चिंता किस बात की है ?"

"ये अपने लिए चिंतित नहीं हैं महर्षि !" भीम बोला, "भैया को हमारी चिंता है।"

"इतने सामर्थ्यवान भीम के लिए चिंता ?" ऋषि चकित थे।

"हाँ महर्षि !" भीम ने उत्तर दिया, "भैया अपने लिए कुछ नहीं चाहते; किंतु वे अपने कारण से हम लोगों को जीवन के सुख-भोगों से वंचित नहीं देखना चाहते। द्यूत में राज्य हारने के पश्चात्…।"

"ठहरो मध्यम पांडव !" महर्षि ने भीम को टोक दिया, "मैं समझता हूँ कि यह कहना उचित नहीं है कि युधिष्ठिर अपना राज्य द्यूत में हारे। वे अपना राज्य, धर्म-साधना में हारे। मैं नहीं जानता कि तुम लोग, मुझसे सहमत हो पाओगे या नहीं; किंतु मेरे जीवन का अनुभव है कि जीव और माया का खेल, इसी प्रकार चलता है। प्रभु प्रलोभन के रूप में पहले अनंत सुख-सुविधाएँ, जीव के सामने फैला देते हैं। जीव यदि अधर्मपूर्वक उनमें आसक्त हो जाता है, तो वे उसे माया के प्रपंच में खेलने के लिए खुला छोड़ देते हैं।…किंतु यदि जीव, भोग के लोभ में भी अधर्म की ओर नहीं बढ़ता, तो वे उसकी सारी सुख-सुविधाओं का हरण कर लेते हैं। यह जीव की परीक्षा का क्षण है। अपनी उस दीन-हीनता में वह घोर अधर्मी हो, पाप के सागर में भी कूद सकता है; और निपट आस्तिक होकर

स्वयं को प्रभु के हाथों में छोड़कर पूर्णतः निश्चिंत भी हो सकता है।" वृहदश्व ने भीम की ओर देखा, "वासुदेव कृष्ण तुमसे मिलने, वन में आए थे। क्या उन्होंने तुमसे यह नहीं कहा कि वे दुर्योधन का वध कर, इंद्रप्रस्थ तथा हस्तिनापुर का राज्य तुम्हारी झोली में डाल देंगे ?"

"कहा था।" भीम ने उत्तर दिया, "वे उसके लिए पूर्णतः तत्पर थे।"

"क्या वह तुम्हारी परीक्षा नहीं थी ? तुम लोगों के लिए धर्म-अधर्म के निर्णय की घड़ी नहीं थी ? क्या तुम लोग उस समय तामसिक ग्रहण और सात्विक त्याग के द्वंद्व में नहीं झूले थे ?"

"कुछ ऐसी ही वात थी महर्षि ! यद्यपि हम उस समय, इस वात को समझ नहीं पाए थे।" द्रौपदी ने उत्तर दिया, "हम चाहते थे कि धर्मराज, वासुदेव की वात मान लें। वे हस्तिनापुर पर आक्रमण करें और राज्य पर अपना आधिपत्य स्थापित करें।...किंतु धर्मराज ने यह स्वीकार नहीं किया। हमारे लिए आश्चर्य की बात यह नहीं थी कि धर्मराज ने उसे अस्वीकार कर दिया। हमें आश्चर्य तो इस वात का था कि धर्मराज की अस्वीकृति से वासुदेव असंतुष्ट नहीं हुए। उनके व्यवहार से यही आयास हुआ कि जैसे उनकी अपनी अपेक्षा ही पूरी हुई हो !"

"प्रभु अपनी लीला से नहीं चूकते।" वृहदश्व हँस पड़े, "युधिष्ठिर ! जो व्यक्ति धर्म के लिए राज्य छोड़ सकता है, उसे चिंता किस वात की ? किस वात का भय ? क्या तुम दुर्योधन की शक्ति से भयभीत हो ?"

"हाँ ! मेरे मन में उसके लिए भय था महर्षि ! किंतु उस शस्त्रवल का प्रतिकार करने के लिए हमने भगवान वेदव्यास के निर्देश पर अर्जुन को, दिव्यास्त्र प्राप्त करने के लिए इंद्रकील पर्वत पर भेज दिया है। अव शस्त्र का भय मुझे नहीं है; किंतु धर्म का भय मुझे अब भी है।"

"धर्म का भय ?"

"महर्षि ! एक आशंका हम सवके मन में है।" द्रौपदी ने सहज भाव से कहा, "यदि तेरह वर्ष व्यतीत होने पर महाराज धृतराष्ट्र ने पुनः धर्मराज को बुलाकर कहा, 'पुत्र ! द्यूत खेलो।' तो धर्मराज न पिता की आज्ञा का उल्लंघन कर पाएँगे, न द्यूत में शकुनि से जीत पाएँगे। ऐसी स्थिति में वे पुनः द्यूत में हारेंगे और हम पुनः राज्य से वंचित होंगे।"

महर्षि कुछ देर मौन चिंतन करते रहे; फिर वोले, "मैं यह तो नहीं कहूँगा कि युधिष्ठिर पिता की आज्ञा का उल्लंघन करे अथवा पिता की आज्ञा का उल्लंघन करना सीखे।... ऐसे में तुम लोगों के सम्मुख एक ही मार्ग रह जाता है कि युधिष्ठिर द्यूत में न हारे। उसे द्यूत-विद्या का इतना ज्ञान हो कि शकुनि जैसा द्यूतकर्मी भी युधिष्ठिर का पार न पा सके।"

"यह कैसे संभव है ऋषिवर !" युधिष्ठिर बोले।

"यदि कहीं ऐसा हो सकता !" भीम ने कामना की।

"यदि यह आशंका केवल इसलिए है, कि युधिष्ठिर को द्यूत विद्या का ज्ञान नहीं है, तो तुम्हारी इस समस्या का समाधान मैं कर सकता हूँ।" ऋषि मुस्कराए।

"कैसे ?" युधिष्ठिर ने कुछ चकित होकर पूछा।

"यदि इसे मेरा अहंकार न समझो, तो कहना चाहूँगा कि द्यूत-विद्या और अश्व-विद्या का मेरा ज्ञान संसार में अद्वितीय है। तुम चाहो तो इन दोनों विद्याओं का संपूर्ण रहस्य मैं तुम्हें समझा दूँगा। फिर तुम्हें द्यूत में किसी शकुनि का भय नहीं रह जाएगा।"

"यदि ऐसा संभव है, तो मुझ पर यह कृपा अवश्य करें ऋषिवर !" युधिष्ठिर प्रसन्न दिखाई दे रहे थे।

"तो पुत्र ! तुम प्रसन्नतापूर्वक मेरी इन विद्याओं को ग्रहण करो।" ऋषि बोले, "वैसे तो मुझे तुम पर पूर्ण विश्वास है; फिर भी यह चेतावनी अवश्य दूँगा कि न तो इसे अपना व्यसन बनने देना और न ही इससे लाभ पाने के लिए किसी को पीड़ित करना।"

"आप आश्वस्त रहें ऋषिवर !"

"क्षमा करें तात् !" सहसा सहदेव बोला, "मेरी एक जिज्ञासा है।"

"बोलो पुत्र !'

"आपका द्यूत से क्या संबंध ?" सहदेव ने पूछा, "क्या आप भी कभी द्यूतकर्मी रहे हैं ?"

ऋषि हँसे, एक उन्मुक्त, उज्ज्वल और निश्छल हास !

"पुत्र ! कुछ लोगों का ज्ञान, किसी लाभ अथवा स्वार्थ हेतु होता है।" ऋषि बोले, "और कुछ लोग, ज्ञान को मात्र ज्ञान के लिए प्राप्त करते हैं। इसे इस प्रकार समझो कि एक व्यक्ति शारीरिक व्यायाम इसलिए करता है कि वह अपनी शक्ति बढ़ाकर किसी को पीट सके; और दूसरा व्यक्ति व्यायाम इसलिए करता है कि वह अपने शरीर को सिद्ध कर सके। वह उसकी साधना होती है। यही बात ज्ञान के क्षेत्र में है। किसी के लिए ज्ञान, साधन मात्र है; और किसी के लिए स्वयं ज्ञान ही साध्य है। संन्यासी को जब यात्रा का आदेश दिया जाता है, तो इसलिए नहीं कि उसे कहीं पहुँचना है; वरन् इसलिए कि यह उसकी साधना है। तुम उसे एक प्रकार का निष्काम कर्म समझ सकते हो।" ऋषि रुके, "द्यूत-विद्या मेरा मानसिक व्यायाम है। उसका अन्य कोई उपयोग मेरे लिए नहीं है।...अब यदि वह धर्मराज का रक्षा-कवच बन जाए, तो इससे अधिक प्रसन्नता का विषय और क्या हो सकता है !" बृहदश्व ऋषि ने युधिष्ठिर की ओर देखा, "वैसे, क्या तुम्हें कोई सूचना है कि हस्तिनापुर में धृतराष्ट्र तुम्हारे विषय में क्या सोच रहा है ?"

"हम वनवासी हैं महर्षि ! हमारे पास न संदेश-वाहक हैं, न दूत, न गुप्तचर !"

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "हम तो इतना भी नहीं कर सकते कि अर्जुन का समाचार हमें निरंतर मिलता रहे। हमें अपने बच्चों के विषय में भी कोई सूचना नहीं है। हिडिंबवन, मणिपुर तथा गंगाद्वार तो दूर, कांपिल्य, द्वारका, शुक्तिमती तथा काशी में हमारे बच्चों की शिक्षा-दीक्षा कैसी हो रही है···हम तो यह भी नहीं जानते। ···हम तो अपनी आस्था के भरोसे बैठे हैं, कि प्रभु हमारे रक्षक हैं। वे ही हमारे सारे कार्य सिद्ध करेंगे।···"

ऋषि के अधरों पर एक वक्र मुस्कान उभरी, "प्रभु तुम्हारे कार्य क्यों करेंगे ? वे तुम्हारे सेवक हैं, दास हैं, अथवा कर्मचारी हैं ?"

युधिष्ठिर ने असमंजसपूर्ण आँखों से ऋषि की ओर देखा : जाने वे उनकी किस बात से रुष्ट होकर वक्र हो उठे थे···

"यह सारा कार्य-व्यापार प्रभु का है : इसलिए वे अपने कार्य तुम्हारे माध्यम से करेंगे।" ऋषि सहज भाव से बोले।

भीम का अट्टहास दूर तक वृक्षों से टकराता चला गया, "महर्षि ! आपने धर्मराज को उन्हीं के बंधनों में बाँध दिया।" उसकी हँसी रुकी नहीं, "कोई आस्थावान व्यक्ति यह कैसे कह सकता है कि यह मेरा कार्य है, प्रभु का नहीं।"

"तो युधिष्ठिर यह प्रभु का कार्य-व्यापार है। तुम निमित्त मात्र हो। जो कुछ करो, उन्हीं का कार्य मान कर करो। तुम न किसी कार्य के कर्ता हो, न कारण ! वह ईश्वर ही कारण है, और वही कर्ता है।" वे क्षण भर रुके, "तुम्हारे पास सेवक, दूत और गुप्तचर नहीं हैं; किंतु प्रभु के अकिंचन सेवक सारी पृथ्वी पर विचरण करते हैं। तुम्हें आवश्यक समाचार मिलते रहेंगे। जो न मिलें, उन्हें अनावश्यक ही मानना। मेरी सूचनाओं के अनुसार अमरावती से लोमश ऋषि इधर ही आ रहे हैं। वे अवश्य ही अर्जुन का समाचार लाएँगे।"

"पर वे इधर आएँगे तो ?" सहदेव ने पुष्टि करनी चाही।

"अवश्य आएँगे।" बृहदश्व पूर्णतः आश्वस्त थे, "वे देवलोक की यात्रा करके आएँ और महर्षि वेदव्यास के दर्शन और महामुनि धौम्य से भेंट न करें, यह संभव नहीं है।" वे रुके, "अच्छा युधिष्ठिर ! अब हम द्यूत-विद्या की चर्चा कर लें। आओ··· !"

महर्षि बृहदश्व अपनी द्यूत-विद्या युधिष्ठिर को देने के पश्चात् वहाँ नहीं टिके। द्यूत-विद्या का रहस्य पाकर युधिष्ठिर में एक नया आत्मविश्वास जागा था। अब वे स्वयं को शकुनि से पूर्णतः सुरक्षित मानने लगे थे। इस ओर से तो मन शांत था, किंतु लोमश ऋषि का कोई समाचार नहीं मिल रहा था। वे आ जाते तो अर्जुन के कुशल-क्षेम की सूचना मिल जाती।··· किंतु युधिष्ठिर यह भी जानते थे कि लोमश

ऋषि उनके राजदूत नहीं थे, जो मार्ग में विश्राम किए विना, अश्व परिवर्तित करते हुए यात्रा करते और शीघ्रातिशीघ्र उनके पास आ पहुँचते। वे ऋषि थे। अपनी गतिविधि की आवश्यकता के अनुसार यात्रा करते थे। मार्ग में विभिन्न तीर्थों तथा आश्रमों में ठहरते, सवसे चर्चा करते, क्रमशः आगे वढ़ते थे।...पांडवों का लोमश ऋषि की यात्रा पर वश नहीं था तो अपनी व्याकुलता पर भी नियंत्रण नहीं था। उनमें प्रायः ऋषि के माध्यम से अर्जुन की, और अर्जुन के माध्यम से ऋषि की चर्चा होती रहती थी।...

"मुझे तो यह लग रहा है कि लोमश ऋषि नहीं आ रहे, स्वयं धनंजय ही आ रहे हैं।" नकुल ने कहा, "उनके आने की चर्चा से ही हमारे आश्रम में उत्साह आ गया है।"

"मैं सहमत नहीं हूँ।" द्रौपदी का स्वर वैराग्यपूर्ण था, "धनजंय की अनुपस्थिति से हमारे हृदयों में जो एक शून्य बन गया था, इस चर्चा से वह कुछ और सघन हो उठा है।"

"मैं तुम्हारे मन का शून्य भरने का इतना प्रयत्न करता रहता हूँ, उसका कोई फल नहीं है ?" भीम उसे विनोदपूर्ण दृष्टि से देख रहा था।

"नहीं ! कोई फल नहीं है।" द्रौपदी ने सर्वथा भावशून्य स्वर में कहा।

"पता नहीं, फिर कृष्ण क्यों कहता है कि कर्म का फल अवश्य मिलता है।" भीम के स्वर में हताशा थी, किंतु नयन चंचल ऊर्जा से आंदोलित थे।

"मध्यम ! तुम गंभीर वातों को परिहास में मत उड़ाओ।" द्रौपदी बोली, "तुम्हें नहीं लगता कि धनंजय केवल शस्त्रास्त्रों की दृष्टि से हीं हमारे लिए महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। उनके व्यक्तित्व में जो समारोह है, वह किसी के भी हृदय का शून्य भर देता है। मैं तो यह भी सोचती हूँ कि हम लोग यहाँ किसी भी स्थिति में हों, किंतु एक साथ तो हैं। एक-दूसरे से अपने मन की वात कह तो लेते हैं। एक-दूसरे की सहायता तो कर लेते हैं। धनंजय वहाँ निपट अकेले हैं...।"

"पांचाली !" भीम ने कुछ इस प्रकार उत्तेजित होने का अभिनय किया, जैसे द्रौपदी ने कोई वहुत अनुचित वात कह दी हो, "तुम जिसे अकेला समझती हो, वह अप्सराओं से घिरा, उनके रूप और यौवन का रस-पान कर रहा होगा, ऐसे में वह क्यों चाहेगा कि उसके भाई उसके साथ हों, अथवा उसकी पत्नी उसकी इन गतिविधियों की साक्षी हो ?"

"मध्यम ! तुमने तो मेरी पीड़ा और भी वढ़ा दी।" द्रौपदी ने भी दुःखी होने का अभिनय किया, "अव तक तो मैं धनंजय के विरह से ही पीड़ित थी, अव ईर्ष्या-भाव भी साथ में जुड़ गया है।..."

"यदि मध्यम को स्वयं अपनी बात पर विश्वास होता, तो वे स्वयं देवलोक में तपस्या करने चले जाते," नकुल मुस्कराया, "और धनंजय को हमारे पास भेज

देते !"

"तुम मुझे इतना स्वार्थी समझते हो ?" भीम ने उसे कृत्रिम क्रोध से भरी आँखें दिखाईं।

"नहीं ! इसमें स्वार्थ की क्या बात है।" नकुल ने अपना तर्क आगे बढ़ाया, "आप तो धनंजय को तपस्या के कष्ट से बचाने के लिए ऐसा करते।"

"मध्यम देवलोक में पहुँच जाते तो उन्हें तपस्या की आवश्यकता ही नहीं थी, वे देवताओं के सारे शस्त्रास्त्र, वैसे ही छीन लाते और देवगण अपने शस्त्रों की पुनः प्राप्ति के लिए तपस्या करते दिखाई देते।" सहदेव बोला।

भीम को इस विनोद में कुछ अधिक ही रस आने लगा था। बोला, "शस्त्रास्त्र ही क्यों, सौ-पचास अप्सराएँ भी तुम लोगों के लिए उठा लाता। कहता, मेरे छोटे भाई तनिक संकोची हैं, इसलिए धर्मराज के भय से कुछ कहते नहीं; किंतु मन-ही-मन, तुम्हारी कामना तो करते ही हैं।"

"मध्यम ! कुछ तो विचार करो। पांचाली हमें कामुक और लंपट मानने लगेगी।" नकुल ने भयभीत होने का अभिनय किया।

"पांचाली इस समय कुछ भी सोचने-समझने की स्थिति में नहीं है।" भीम ने हथेली की ओट में कहा, जैसे अपनी वाणी को द्रौपदी के लिए अश्रव्य बना रहा हो, "वह बेचारी तो धनंजय के विरह की मारी, इस समय संज्ञा-शून्य, अचेत-सी पड़ी है।"

"आपको ईर्ष्या हो रही है भैया !" सहदेव मुस्कराया, "कि आपकी उपस्थिति में भी पांचाली को विरह का अनुभव हो रहा है ?"

भीम की विनोदी मुद्रा लुप्त हो गई, "हाँ ! ईर्ष्या तो हो ही रही है। पांचाली खुलकर कह तो सकती है कि उसे अर्जुन की अनुपस्थिति खल रही है। मैं तो कह भी नहीं सकता।"

"क्यों ? आप क्यों नहीं कह सकते मध्यम !" सहदेव भी गंभीर हो गया था।

"क्योंकि, यदि मैंने ऐसा कुछ कह दिया, तो तुम लोग तो रोने ही लगोगे भाई !" भीम अपनी पीड़ा छुपाने के लिए सायास हँस पड़ा।

"मुझे तो लगता है कि हम सब ही अर्जुन की अनुपस्थिति से उदास हैं। सबको ही किसी-न-किसी रूप में नीरसता का अनुभव हो रहा है।" युधिष्ठिर बोले, "इसीलिए तो सबको लोमश ऋषि की प्रतीक्षा है।"

युधिष्ठिर ने अपने मुख से उदासी को स्वीकार किया, किंतु मन-ही-मन, वे एक प्रकार की प्रसन्नता का अनुभव कर रहे थे···द्रौपदी ने सबके सम्मुख अर्जुन के विरह की पीड़ा को स्वीकार किया, और उनके किसी भाई के मन में ईर्ष्या का उदय नहीं हुआ।···न द्रौपदी के मन में कोई दुराव था और न उनके भाइयों

में प्रतिस्पर्धा··· यह प्रेम, शृंगार से उद्भूत नहीं था। यह सान्निध्य का प्रेम था। यह द्रौपदी का अर्जुन के प्रति कामाकर्षण नहीं, उन सबका पारिवारिक प्रेम का आकर्षण था।··· यदि यह कामाकर्षण होता तो भी उनके भाइयों के मन में इस प्रकार की ईर्ष्या के लिए स्थान नहीं होता। काम-सुख, उनके लिए जीवन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं है···

लोमश ऋषि को पांडवों के पास पहुँचने में बहुत समय नहीं लगा। पांडवों ने उनका हार्दिक स्वागत किया; और धौम्य मुनि ने उन्हें उचित सम्मान दिया।

आरंभिक औपचारिकताओं के पश्चात् जब वे सब, कथा-मंडप में एकत्रित हुए, तो युधिष्ठिर से रहा नही गया। बोले, "अर्जुन कैसा है महर्षि ! क्या आप स्वयं उससे मिले हैं ?"

युधिष्ठिर की व्याकुलता देख, ऋषि मुस्कराए, "तुम्हें मेरा कुशलक्षेम जानने की कोई आतुरता नहीं है ? केवल अर्जुन का ही समाचार जानना चाहते हो ?"

युधिष्ठिर कुछ संकुचित हुए, "अर्जुन के प्रति हमारे प्रेम का अर्थ आपकी अवमानना नहीं है ऋषिवर !"

"मैं समझता हूँ।" ऋषि मुस्कराए, "मैं भी परिहास ही कर रहा था। वैसे भी मेरे पास अपना समाचार कहने को है ही क्या ! अर्जुन ने बहुत साधना की है, तपस्या की है। और फलस्वरूप, बहुत कुछ उपलब्ध किया है।···"

"क्या उपलब्ध किया है ऋषिवर ?" भीम ने पूछा।

ऋषि मौन रहे। बोलने से पहले कदाचित् वे अपने विचारों में कोई निश्चित् क्रम स्थापित कर लेना चाहते थे।

"अर्जुन ने अपने संकल्प और तपस्या से बहुत कुछ पाया है।" अंततः ऋषि बोले, "उस 'बहुत कुछ' का कोई निश्चित् नामकरण नहीं हो सकता, उसे कोई सरल-सी संज्ञा नहीं दी जा सकती।···"

"मैं कुछ समझा नहीं।" युधिष्ठिर ने धीरे से कहा।

"तुमने अर्जुन को दिव्यास्त्रों और देवास्त्रों की प्राप्ति के लिए भेजा था। यह एक लौकिक कामना थी–भौतिक शक्ति की प्राप्ति, प्रहारक ऊर्जा की प्राप्ति, शत्रुओं के नाश का सामर्थ्य।···"

"हाँ ऋषिवर !"

"अर्जुन ने यह सब प्राप्त कर लिया है धर्मराज ! किंतु इस लौकिक उपलब्धि के साथ-साथ, उसकी आध्यात्मिक प्रगति भी हुई है।" ऋषि बोले, "यदि प्रहारक शक्ति की प्राप्ति के साथ उसका आत्मिक विकास न होता, तो शक्ति के साथ-साथ, उसमें अहंकार की वृद्धि होती ! अहंकारी के पास शक्ति हो, तो वह राक्षस हो जाता

है।...किंतु अर्जुन के साथ वह नहीं हुआ। उसने लौकिक उपलब्धियों के साथ-साथ उसकी निरर्थकता का भाव भी पाया है। उसने पाशुपतास्त्र तो पाया है, किंतु पशु से पशुपति बनने का मंत्र भी पाया है। इसलिए उसकी लौकिक शक्ति से ईश्वर की सृष्टि को कोई भय नहीं है। हां ! तुम्हें उससे भय हो सकता है।..."

"हमें ?" चारों पांडव और द्रौपदी चौंक पड़े, "हमें अपने भाई की शक्ति से क्या भय हो सकता है ?"

"जिसके लिए भोग-सामग्री एकत्रित की जाए, उसकी भोग में से आसक्ति उठ जाए, तो वह भोग-सामग्री व्यर्थ हो जाती है।" ऋषि बोले।

सबने प्रश्नवाचक दृष्टि से ऋषि की ओर देखा।

"आनृशंसता का भाव युधिष्ठिर में भी बहुत है," ऋषि बोले, "वैसी ही करुणा अर्जुन में भी है। यदि अपनी तपस्या के कारण उसका सर्व-जीव-दया का भाव और विकसित हो जाए; और वह अपने शस्त्रों से ईश्वर के बनाए जीवों का नाश करना अस्वीकार कर दे, तो तुम लोगों को उसके दिव्यास्त्रों का क्या लाभ होगा ?"

"क्या ऐसी भी कोई संभावना है ?" भीम ने प्रायः निषेधात्मक स्वर में पूछा।

"तुम्हारे प्रश्न का निश्चित् उत्तर मैं नहीं दे सकता, मध्यम पांडव !" ऋषि बोले, "किंतु एक सूचना अवश्य देना चाहता हूँ।..."

"क्या ?" द्रौपदी ने पूछा।

"ईश्वर की विचित्र लीला है। वह मनुष्य के विकास के साथ-साथ, उसे मोहग्रस्त करने के लिए, उसके सम्मुख ढेर सारी भोग-सामग्री भी उपलब्ध करा देता है।" ऋषि बोले, "यदि व्यक्ति मोहग्रस्त हो जाता है, तो उस भोग-सामग्री को ही अपनी उपलब्धि समझ, उसका भोग करने लगता है, और क्रमशः पतन की ओर अग्रसर होता है।"

"तो ?"

"इस समय अपनी तपस्या की उपलब्धि के फलस्वरूप अर्जुन देवलोक में वैजयन्त का अतिथि है। वहाँ भोग-सामग्री का तनिक भी अभाव नहीं है। मेरा विचार है कि वैजयन्त न केवल उसके सम्मुख प्रलोभनों का प्रदर्शन करेंगे, वे उसे भोग की दिशा में प्रेरित भी करेंगे। अब यह अर्जुन के अपने विवेक और संयम पर निर्भर करता है कि वह अपनी तपस्या के फलस्वरूप, चरम भोग को अपना लक्ष्य मानता है, अथवा उस भोग का तिरस्कार कर, उसके मायावरण को पार कर, स्वयं मायापति की ओर बढ़ता है।"

"आपका गणित क्या कहता है ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"अधिक संभावना तो इसी बात की है कि अर्जुन अपने उच्च लक्ष्यों से स्खलित नहीं होगा।" ऋषि बोले, "शेष तो ईश्वर की लीला है।"

"धर्मराज ! अब आपको अपने भाई का समाचार मिल गया है," धौम्य मुनि

सारी चर्चा में पहली बार बोले, "मेरा विचार है कि अब आपका काम्यक वन में रुके रहने का कोई विशेष कारण नहीं है…।"

"धौम्य ठीक कह रहे हैं युधिष्ठिर ! एक ही स्थान पर इतने लोगों को साथ लेकर रहना, वस्तुतः न तो वनवास है, न साधना, न तपस्या। ऐसे तो व्यक्ति वन में ही एक नया संसार बसा लेता है।" लोमश बोले, "तुम लोगों को अब तीर्थों का भ्रमण करना चाहिए।"

पांडवों ने एक दूसरे की ओर देखा।

"मेरी बात ध्यान से सुनो धर्मराज !" धौम्य का स्वर अपेक्षाकृत निश्चित और दृढ़ था, "तेरह वर्षों के पश्चात् जब तुम लोग हस्तिनापुर लौटोगे, तो उस समय संभावित युद्ध अथवा द्यूत के लिए तुम अब सक्षम हो…किंतु वह तैयारी तेरह वर्षों के पश्चात् आने वाली परिस्थितियों के लिए है।…अब तुम्हें वर्तमान के लिए भी कुछ सोचना चाहिए।"

"मैं समझा नहीं मुनिवर !"

"इस समय इस वन में तुम लोग पूर्णतः असुरक्षित हो।" धौम्य बोले, "यदि दुर्योधन तुम लोगों का वध करने के लिए यहाँ आक्रमण करता है, तो सहायक तो दूर, तुम पाँचों भाई भी एक साथ उपस्थित नहीं हो। मैं भीमसेन के सामर्थ्य की उपेक्षा नहीं कर रहा, किंतु भीम, अर्जुन जैसा धनुर्धारी नहीं है। अर्जुन की अनुपस्थिति में दुर्योधन के सहायक कर्ण, द्रोण, भीष्म जैसे धनुर्धारियों का प्रतिकार तुम कैसे करोगे। इसलिए या तो यहाँ अपनी सुरक्षा का प्रबंध करो, अथवा स्वयं ही किसी सुरक्षित स्थान के लिए चल पड़ो।" धौम्य ने रुककर युधिष्ठिर की ओर देखा, "वनवास में तुम सैन्य-संगठन नहीं कर सकते, इसलिए तुम्हें स्वयं ही किसी सुरक्षित स्थान पर जाना होगा।"

"कहाँ ?" युधिष्ठिर कुछ चकित थे।

"धर्मराज ! यह समझ लो कि लोमश ऋषि तुम्हारे लिए सुरक्षा-कवच बनकर आए हैं। वे तुम लोगों को तीर्थ-यात्रा के लिए जहाँ ले जाएँगे, वहाँ तुम लोग दुर्योधन के सैन्य-बल से सुरक्षित रहोगे।…"

युधिष्ठिर ने मन-ही-मन विचार किया : मुनि ठीक ही कह रहे थे।

"ऐसा कौन-सा पवित्र स्थान है महर्षि ! जहाँ जाकर हमें रहना चाहिए।" सहदेव ने पूछा।

"जिस स्थान को देखकर ईश्वर का स्मरण हो, वह तीर्थ है सहदेव !" लोमश ऋषि ने उत्तर दिया, "किंतु जिस किसी स्थान पर, पवित्र से पवित्र स्थान पर, तुम निरंतर रहते चलोगे, उससे परिचित होते चलोगे। वह तुम्हारे लिए सामान्य होता जाएगा; और तीर्थ-स्थान के बदले, निवास-स्थान बन जाएगा। उसकी पवित्रता का कोई भान तुम्हें नहीं रहेगा। इसलिए अनेक बार तीर्थों के निवासियों में उसके

प्रति तनिक भी श्रद्धा नहीं रह जाती। अतः तुम्हें चलते रहना चाहिए। नए-से-नए स्थान पर जाना चाहिए। ईश्वर के ऐश्वर्य का शोध करते जाना चाहिए। नित नया और नित्य पवित्र देखते जाना चाहिए।"

"हमें किस दिशा में जाना चाहिए महर्षि ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"जिस दिशा से अर्जुन को लौटना है, उसी दिशा में बढ़ो। उत्तर दिशा की ओर। पवित्र हिमाचल की ओर। गंगा के उद्‌गम की ओर !" महर्षि बोले, "इससे एक ओर तुम संसार के सुंदरतम और पवित्रतम स्थान देखोगे; और दूसरी ओर अपने भाई के निकटतर होते जाओगे। वह जैसे ही देवलोक से नीचे उतरेगा, तुम उसके सम्मुख होगे…।"

"बहुत ही सुंदर विचार है।" धौम्य मुनि ने तत्काल समर्थन कर दिया, "बहुत दिनों से मेरे मन में भी कुछ ऐसे ही विचार थे; किंतु अर्जुन के विषय में कोई समाचार पाए बिना यहाँ से आगे बढ़ना उचित नहीं था। अब इस प्रकार का कोई बंधन नहीं रहा धर्मराज !"

"वह तो ठीक है तात् !" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "किंतु हमारे साथ अनेक साधक और तपस्वी हैं, अनेक भिक्षोपजीवी ब्राह्मण हैं, अनेक ऐसे लोग भी है, जिनके पास कोई आजीविका नहीं है…।"

"धर्मराज ! आपकी चिंता बहुत सात्विक है; किंतु तीर्थ-यात्री अपने सिर पर इतना बोझ लेकर नहीं चल सकता।" धौम्य बोले, "साधकों और तपस्वियों के लिए ईश्वर की बनाई हुई वन-संपत्ति है। वे जहाँ भी जाएँगे, उन्हें उदर-पोषण के लिए फल-फूल मिल जाएँगे। भिक्षोपजीवी, कहीं भी भिक्षा माँग सकते हैं…और आजीविका के इच्छुक लोग आपके साथ रहकर तो भिक्षुक में परिणत हो जाएँगे। उन्हें अन्य राजाओं के पास भेज दें। वे वहाँ अपना और आपका परिचय देकर, आजीविका प्राप्त करने का प्रयत्न करें। मुझे विश्वास है कि आपका नाम सुनकर ही अनेक राजा उन्हें आजीविका दे देंगे। वे समझ जाएँगे कि आपके साथ रहा हुआ व्यक्ति सात्विक और परिश्रमी ही होगा।…"

"वैसे भी युधिष्ठिर ! जिन क्षेत्रों की यात्रा तुम्हें करनी है, वे इतने सुविधाजनक नहीं हैं कि इतने सारे नागरिक, जो संकटपूर्ण तथा कठिन जीवन से परिचित नहीं हैं, उनकी यात्रा कर सकें। वह यात्रा अपने-आपमें कठोर तथा संकल्पमयी तपस्या है।"

"अपने सेवकों, सारथियों तथा अन्य अनुचरों को आप यहीं छोड़ दें धर्मराज।" धौम्य बोले, "हम तीर्थ-यात्रा से लौटकर, यहीं उनसे भेंट कर सकते हैं।"

"नहीं ! सबको यहीं से विदा न करें। जिन्हें राज-सभाओं में जाना है, वे यहीं से अपने गंतव्य की ओर चलें, किंतु शेष लोगों को मार्ग में अनेक स्थानों

पर उचित दूरी पर छोड़ते चलें।" भीम ने धीरे से कहा, "इंद्रसेन और विशोक पर पीछे की व्यवस्था छोड़ी जा सकती है।"

"हाँ ! वे लोग सावधानीपूर्वक उपयुक्त स्थान पर रहें। समाचार एकत्रित करें तथा संपर्क बनाए रखें।" द्रौपदी बोली, "जब हम लौटें, तो हमें यह सूचना भी मिलनी चाहिए कि आपके द्वारा भेजे गए लोगों का किस राजा ने अधिक सम्मान किया। इन सूचनाओं के आधार पर हमारी भविष्य की सूचनाएँ बन सकती हैं।"

"तुम ठीक कहती हो कृष्णा !" युधिष्ठिर गंभीर स्वर में बोले, "तो हम आज से ही तीर्थ-यात्रा की तैयारी करें। लोगों को विदा करें और इंद्रसेन इत्यादि के पीछे रहने की व्यवस्था करें।" वे रुके, "और आप ! आप महर्षि ! आप हमारे साथ चलेंगे न ?"

"मैं तुम्हारे साथ नहीं चलूँगा, तो उन कठिन क्षेत्रों में तुम्हारा मार्ग-दर्शन कौन करेगा ?" लोमश मुस्कराए, "समझ लो कि मैं तुम्हारे साथ नहीं चल रहा, तुम ही मेरे साथ चल रहे हो।"

"ऐसा ही हो महर्षि !"

"मेरा अज्ञान क्षमा हो मुनिवर !" सहदेव धीरे से बोला, "क्या सत्य ही हम ऐसे अलंघ्य स्थानों पर जा रहे हैं, जहाँ इच्छा होने पर भी दुर्योधन हमारे पीछे नहीं आ सकता ? दुर्योधन का दुस्साहस कुछ कम तो नहीं, न ही सहन-शक्ति की दृष्टि से वह इतना दुर्बल है।..."

"तुम ठीक कह रहे हो सहदेव !" धौम्य बोले, "मेरा तात्पर्य इतना ही था कि वहाँ हमारे पीछे आने के लिए दुर्योधन को अपनी आधी सेना खड्डों और खाइयों में गिरानी पड़ेगी। उस जलवायु में उसका सामान्य सैनिक जी नहीं सकेगा। बड़ी सेनाओं की यात्रा की सुविधा नहीं होगी और अनेक पार्वत्य राजाओं की सीमाओं का अतिक्रमण करने के कारण उनका विरोध सहन करना पड़ेगा। तुम तक पहुँचने के लिए उसे प्रकृति और मनुष्य द्वारा निर्मित अनेक बाधाएँ पार करनी होंगी।..."

युधिष्ठिर कुछ नहीं बोले। मन-ही-मन चकित भाव से सोचते रहे : पांडवों की प्रहारक शक्ति बढ़ाने के लिए महर्षि वेदव्यास ने अर्जुन को इंद्रकील पर्वत पर भेज दिया; द्यूत से रक्षा करने के लिए बृहदश्व उन्हें द्यूत-रहस्य दे गए; अब असुरक्षित पांडवों की दुर्योधन के सैन्य-बल से रक्षा करने के लिए लोमश ऋषि उन्हें अलंघ्य स्थानों पर ले जा रहे हैं...क्या है यह ? यह पितामह वेदव्यास की योजना है ? जम्बू-द्वीप के ऋषियों की कोई सम्मिलित व्यवस्था है ?...अथवा यह मात्र ईश्वर की लीला है ?...

20

धृतराष्ट्र को सहसा ही लगने लगा था कि अपने ही घर में उसका महत्त्व बहुत कम हो गया था। पांडवों के वन चले जाने से दुर्योधन की जैसे सारी चिंताएँ ही दूर हो गई थीं। वह जानता था कि अब सारी सत्ता और संपत्ति उसके पिता के हाथ में थी…और जो कुछ उसके पिता का था, वह उसका भी था। इसलिए अब उसे अपने पिता की भी कोई चिंता नहीं रह गई थी।…राजप्रासाद के सेवकों और परिचारकों तक को ज्ञात था कि महाराज धृतराष्ट्र, दुर्योधन की किसी इच्छा की उपेक्षा नहीं कर सकते, जबकि दुर्योधन, हस्तिनापुर के महाराज की प्रत्येक बात की अवहेलना कर सकता है।…लगता था, सत्ता धृतराष्ट्र के हाथ में नहीं, दुर्योधन के हाथ में थी।…मन में यह विचार आते ही धृतराष्ट्र का मानों संपूर्ण अस्तित्त्व ही काँप उठता था…उसके पास सत्ता के सिवाय, और था ही क्या ? सत्ता ही नहीं रही, तो उसका सारा सुख-भोग, महत्त्व-अधिकार… सब कुछ समाप्त हो जाएगा…

उसकी इच्छा हुई, इस संदर्भ में वह किसी से कोई चर्चा करे।…किससे चर्चा करे ?… विदुर को बुलाना, उसे अब अच्छा नहीं लगता था। विदुर का परामर्श क्या होगा, वह जानता था। उस परामर्श को सुनना उसे तनिक भी प्रिय नहीं था। अब उसे, उससे किसी प्रकार का संतोष भी नहीं होता था।…तो क्या वह संजय को बुलाए ? संजय, विदुर के समान कठोर नहीं था। वह पांडवों का वैसा पक्षधर भी नहीं था।…किंतु नीति की बात तो वह भी करता ही था।…तो क्या कणिक को बुलाए ? किसी और मंत्री अथवा किसी परिजन को बुलाए ?…पर किसी को भी बुलाने का क्या लाभ ? ये सब एक जैसे ही हैं। वे उचित परामर्श नहीं देते। बस ! राजा की चाटूकारिता मात्र करते हैं…किंतु धृतराष्ट्र को सत्य परामर्श की आवश्यकता है भी क्या ?…वह भी अपने मनोनुकूल परामर्श ही चाहता है, जो उसके कृत्यों का समर्थन करे, जिससे बिना कोई त्याग किए, उसके मन को पूर्ण संतोष हो…

"दासी !"

"जी महाराज !"

"जाओ ! संजय को बुला लाओ। कहना, आवश्यक कार्य है, शीघ्र आए।"

दासी को भेजकर भी धृतराष्ट्र को संतोष नहीं हुआ : जाने क्या हो गया है, इस हस्तिनापुर को। प्रत्येक व्यक्ति को बुलाना पड़ता है। अपने-आप कोई नहीं आता।

धृतराष्ट्र को अच्छी तरह याद है कि जब पांडु-पुत्र हस्तिनापुर में रहते थे, तो

वे अपने पितृव्य को प्रणाम करने प्रतिदिन आते थे···और यह दुर्योधन तो जैसे भूल ही गया है, कि उसका एक वृद्ध पिता भी है, जिसका मन कुछ सोचता है, माँगता है, घबराता है, भयभीत होता है···और सांत्वना पाने के लिए, किसी से वार्तालाप करना चाहता है।··दुर्योधन समझता है कि अपने पिता को प्रासाद की कुछ दासियों के भरोसे छोड़ा जा सकता है···इस अंधे वृद्ध को चाहिए ही क्या ? ···स्वादिष्ट भोजन, अच्छी मदिरा···और कुछ युवती दासियाँ···पर इतना तो धृतराष्ट्र के अनेक सेवकों को भी उपलब्ध था; किसी मंत्री, सेना-नायक, किसी अच्छे व्यापारी, किसी बड़े कृषक को भी उपलब्ध था। तो फिर सम्राट् की विशिष्टता ही क्या हुई ?···मात्र इतना ही पाने के लिए तो धृतराष्ट्र ने इतने षड्यंत्र नहीं किए थे। इससे कहीं अधिक तो स्वयं पांडु उसे दे दिया करता था; युधिष्ठिर भी इससे अधिक दे सकता था···आज भी दे सकता है···तो धृतराष्ट्र के कुरु-सम्राट् होने का क्या अर्थ ? नहीं ! सम्राट् धृतराष्ट्र का अधिकार मात्र स्वादिष्ट भोजन, मदिरा और कुछ दासियों तक सीमित नहीं किया जा सकता···

सहसा उसका मन दूसरी दिशा में चल पड़ा···सम्राट् बनकर वह और क्या सुख पा सकता है ?···थाली भर भोजन, मदिरा के कुछ पात्र और दासियाँ···जो सुंदर भी हैं या नहीं, वह नहीं जानता···शरीर पर कुछ आभूषणों का स्पर्श, जिनके रूपाकार से उसका कोई परिचय नहीं है, प्रासाद के कुछ कक्ष···क्या उसके पास बस इतना कुछ ही है ? नहीं। होने को तो बहुत कुछ है। पर उस होने का क्या अर्थ, यदि वह उनका भोग नहीं कर सकता···ये शरीर की सीमाएँ हैं।··तभी तो दुर्योधन उसकी अवहेलना कर रहा है। वह जानता है कि प्रकृति की इन सीमाओं में बँधा सम्राट् भी, किसी साधारण मनुष्य से अधिक भोग नहीं कर सकता···वह केवल संचय कर सकता है।···किंतु यदि भोग नहीं कर सकता, तो संचय का क्या अर्थ ? संचय कर, दूसरों को वंचित तो किया जा सकता है; किंतु स्वयं उसका भोग नहीं किया जा सकता···

पगों की आहट हुई और संजय निकट आ गया, "प्रणाम महाराज !"

"बैठो संजय !" धृतराष्ट्र बोला, "मेरा मन कुछ अशांत था। सोचा, तुम्हें बुलवा लूँ।"

"यह तो महाराज की कृपा है।" संजय विनीत स्वर में बोला, "मेरा तो धर्म ही महाराज की सेवा है।"

"वेतन-भोगी सेवक के समान मत बोलो संजय !" धृतराष्ट्र ने कुछ खीझ कर कहा, "धन देकर तो किसी से भी अपने मनोनुकूल कुछ भी कहलवाया जा सकता है; किंतु सद्भावना को कभी क्रीत दासी नहीं बनाया जा सकता।"

"महाराज सत्य कहते हैं।" संजय बोला, "आदेश करें महाराज ! मुझे किसलिए स्मरण किया।"

"मैं सोच रहा था संजय ! कि दुर्योधन और उसके मित्रों ने अपने व्यवहार से पांडवों को जितना रुष्ट किया है, उससे वे लोग तो प्रतिशोध के लिए युद्ध की तैयारी कर रहे होंगे; और ये मूर्ख, सब कुछ भूलकर, यहाँ भोग-विलास में मग्न हैं। उन्हें जब मेरी ही चिंता नहीं है, तो वे पांडवों की चिंता क्या करेंगे···।"

संजय का ध्यान ही इस ओर नहीं गया कि धृतराष्ट्र ने अपने विषय में भी कुछ कहा है। वह तो इतना ही समझ पाया कि धृतराष्ट्र पांडवों की ओर से व्यर्थ ही आशंकित था···

"जहाँ तक मुझे सूचना है महाराज ! पांडवों के मन में प्रतिशोध की भावना नहीं है।" संजय ने विनीत भाव से कहा, "इसलिए वे युद्ध का कोई विशेष आयोजन भी नहीं कर रहे। वे चारों भाई प्रातः उठकर, अग्निहोत्र कर, अपने शस्त्र ले वन में चारों दिशाओं में निकल जाते हैं। अपने तथा अपने आश्रितों के लिए भोजन एकत्रित करते हैं, और तापसों की रक्षा के लिए, हिंस्र पशुओं को मारते हैं···।"

धृतराष्ट्र की विषाक्त हँसी ने संजय की बात बीच में ही काट दी, "और फिर भी तुम कहते हो, वे युद्ध की तैयारी नहीं कर रहे ?"

संजय कुछ समझ नहीं पाया। वह अपनी आँखों में एक शून्य लिए, धृतराष्ट्र की ओर देखता रहा।

"आखेट युद्ध का ही एक रूप है।" धृतराष्ट्र बोला, "हिंस्र पशुओं से लड़ना, नए से नए व्यूह की रचना के समान है। वैसे भी उससे जितना व्यायाम होता है, वह युद्ध में सहायक होता है।" उसने रुककर, अनुमान से संजय के चेहरे पर अपनी ज्योतिहीन आँखें टिका दीं, "और अर्जुन क्या कर रहा है ?"

"वह हिमालय पर तपस्या कर रहा है।" संजय ने बताया।

"नहीं ! वह तपस्या नहीं कर रहा। वह दिव्यास्त्रों की प्राप्ति का उद्यम कर रहा है।" धृतराष्ट्र ने एक-एक शब्द पर बल देते हुए कहा, "इससे अधिक और क्या तैयारी हो सकती है ? उसका एक-एक दिव्यास्त्र, दुर्योधन की एक-एक सेना पर भारी पड़ेगा।···और दुर्योधन क्या कर रहा है ? समारोहों और उत्सवों का आयोजन कर रहा है। सुरा और सुंदरियों का सम्मेलन हो रहा है। वह समझता है कि उसके पास भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा तथा कृप जैसे योद्धा हैं, तो उसे भय किस बात का है ?···किंतु वह, यह भूल जाता है कि भीष्म, द्रोण और कृप अत्यन्त वृद्ध हो चुके हैं। अर्जुन और भीम अभी युवा हैं···और उनके साथ हैं श्रीकृष्ण।···"

"और श्रीकृष्ण तो बहुत क्रुद्ध भी हैं।" संजय बोला, "वह तो युधिष्ठिर

ने अपने धर्म की दुहाई देकर उन्हें रोक लिया, नहीं तो वे तत्काल हस्तिनापुर पर आक्रमण करने के पक्ष में थे।···"

धृतराष्ट्र के चेहरे का रंग भय से काला पड़ गया, "दुर्योधन कहाँ है ? वह क्या कर रहा है ?"

"युवराज कदाचित् अपनी पुत्री, राजकुमारी लक्ष्मणा के स्वयंवर की तैयारी देखने गए हैं।" संजय बोला।

धृतराष्ट्र के मन की पीड़ा, उसके चेहरे पर प्रकट हो गई, "मूर्ख है वह ! जो समय सेनाएँ सज्जित कर, अपनी सुरक्षा का प्रबंध करने का है, उसे वह गुड्डे-गुड़िया के विवाहों में व्यतीत कर रहा है।···राज्य रहा तो उसकी सारी संतानों का असाधारण समारोहों के साथ विवाह होगा; और राज्य ही न रहा तो वह किसी और के स्वयंवर के लिए पुष्प-मालाएँ गूँथता रहेगा···जाओ ! किसी दासी को भेजो, जाकर उस मूर्ख को बुला लाए। उससे कहो, अभी आए, तत्काल। किसी आवश्यक कार्य के व्याज से, मुझे टालने का प्रयत्न न करे।"

संजय ने उठकर द्वार पर खड़ी दासी को धृतराष्ट्र का आदेश सुना दिया। दासी दौड़ती हुई, आदेश-पालन के लिए चली गई।

"महाराज कुछ अधिक ही चिंतित हैं।" संजय लौट आया, "युवराज युद्धाभ्यास और सैनिक-संगठन की गतिविधि बढ़ा देंगे, तो क्या हस्तिनापुर सुरक्षित हो जाएगा ? कुरुकुल विनष्ट होने से बच जाएगा ?"

धृतराष्ट्र ने असमंजस में संजय की ओर चेहरा घुमाया, "क्या कहना चाहते हो ? क्या दुर्योधन किसी भी स्थिति में पांडवों को पराजित नहीं कर सकता ?"

"नहीं ! मैं यह नही कह रहा महाराज ! जय-पराजय तो सेनापति और राजा जानें।" संजय बोला, "मेरे मन में तो यह आता है कि युवराज की सेना कितनी भी शक्तिशालिनी हो, वे पांडवों को पूर्णतः पराजित कर दें—तो भी क्या ! युद्ध में से कौन जीवित बचकर निकलेगा, यह तो कोई कह ही नहीं सकता। जो जीवित बचेगा, वह भी अपने परिजनों के शवों पर अश्रु बहाएगा। सुरक्षा युद्ध में नहीं है महाराज ! शांति में है। पांडव भी तो कुरुवंश का ही अंग हैं। वे नष्ट होंगे, तो भी कुरुवंश ही नष्ट होगा··।"

धृतराष्ट्र का हाँफता हुआ मन ठिठककर खड़ा हो गया : यह संजय भी विदुर की-सी भाषा बोलने लगा···

"ईश्वर की सृष्टि को नष्ट करना तो मनुष्य का लक्ष्य नहीं है।" संजय मंद स्वर में विनीत भाव से कह रहा था, "यदि सारा कुरुवंश मिलकर रहे तो उसके पास न धन का अभाव होगा, न साधनों का। यदि युवराज अपना व्यवहार बदल लें, तो धर्मराज उन्हें तत्काल क्षमा कर देंगे।"

धृतराष्ट्र ने बड़ी कठिनाई से अपने चीत्कार को कंठ में ही रोका।···उसे लगा,

कहीं वह संजय से भी वही सब न कह बैठे, जो उसने विदुर को कह दिया था

दुर्योधन आ गया था। उसने धृतराष्ट्र के चरण स्पर्श कर प्रणाम किया, "आपने मुझे बुलाया पिताजी ?"

"हाँ पुत्र ! बैठो और मेरी बात ध्यान से सुनो।"

दुर्योधन बैठ गया।

"अर्जुन दिव्यास्त्रों के लिए हिमालय पर तपस्या कर रहा है। उसके भाई वन में हिंस्र पशुओं से युद्ध कर, अपनी क्षमता बढ़ा रहे हैं; और तुम राग-रंग में डूबे, अपनी ऊर्जा का अपव्यय कर रहे हो ?"

दुर्योधन सर्वथा निश्चिंत होकर हँसा, "नहीं पिताजी ! आपको किसी ने भ्रमित किया है। वस्तुस्थिति यह नहीं है।"

"तो क्या है वस्तुस्थिति ?"

"अर्जुन तपस्या कर अपनी शक्ति का ह्रास कर रहा है। इस तपस्या से उसका शरीर क्षीण हो जाएगा और मन दुर्बल ! बहुत संभव है, लौट कर युद्ध करने के स्थान पर, वह हिमालय के किसी तुंग शिखर पर कुटिया बनाकर, अपने पिता पांडु के समान वहीं रम जाए। शेष चारों पांडव बुद्धिविहीन पशुओं से युद्ध कर, अपने युद्ध-कौशल का विनाश कर रहे हैं और अपने भ्रम तथा अहंकार को स्फीत कर रहे हैं। सत्य यह है महाराज ! कि वे संपूर्ण राज-समाज से कटकर, वन में पड़े तापसों के भ्रम-चक्र में फँस गए हैं।" वह बोला, "यदि अपने अज्ञातवास में वे पहचाने नहीं गए, तो वे तेरह वर्षों के पश्चात् वन से लौटेंगे। उस समय तक वे अपनी क्षमता और शक्ति क्षीण कर चुके होंगे और राज-समाज में कोई उन्हें पहचानेगा भी नहीं।...इधर मैं लक्ष्मणा का स्वयंवर आयोजित कर रहा हूँ। उसमें दूर-दूर की सारी राज-शक्तियों को आमंत्रित किया जाएगा। स्वयंवर तो मात्र एक ओट है पिताजी ! मूल लक्ष्य है, राजाओं को अपने आसपास संगठित करना। मेरा प्रयत्न यह है कि हस्तिनापुर का प्रभा-मंडल, मगध के जरासंध से भी अधिक शक्तिशाली और विराट् हो।" दुर्योधन क्षणभर के लिए रुका, "एक तो पांडवों तक यह समाचार ही नहीं पहुँचेगा कि मैं क्या कर रहा हूँ।...और यदि पहुँचेगा, तो वे यह ही समझेंगे कि मैं अपने पुत्र और पुत्रियों के विवाहों में व्यस्त हूँ। वे यह कैसे समझ पाएँगे कि एक-एक राजा की मैत्री का अर्थ है, सहस्रों सैनिकों का बल...।"

धृतराष्ट्र के चेहरे पर सुखद आश्चर्य का भाव आया : उसने अपने इस दुर्योधन को इतना बुद्धिमान कभी नहीं समझा था। यह तो कूटनीति में अपने पिता के भी कान काट रहा है।...धृतराष्ट्र स्वयं को ही भूल गया था...कैसे उसने अपने भाई को हस्तिनापुर की राजसत्ता से दूर-दूर रखा था, कभी सैनिक अभियान के नाम पर, कभी धर्म के नाम पर... ! दुर्योधन भी कुछ-कुछ वैसा ही कर रहा

था।...यह तो आज तक धृतराष्ट्र को सूझा ही नहीं था कि उसे विभिन्न प्रकार के साधु-संतों को पांडवों के पास भेजना चाहिए; और उन्हें अधिक से अधिक तपस्या के लिए प्रेरित करना चाहिए। उन्हें यह समझाना चाहिए कि मोक्ष-प्राप्ति, राज्य-प्राप्ति से बड़ी उपलब्धि है...।

"तुमने लक्ष्मणा के स्वयंवर में यादवों को भी आमंत्रित किया है क्या ?" धृतराष्ट्र ने पूछा।

"नहीं पिताजी ! मैंने तो केवल राज-समाज को आमंत्रित किया है—मात्र किरीटधारी राजाओं और उनके राजकुमारों को। यादवों में कोई राजा है ही कहाँ ? उग्रसेन को मैंने कभी राजा नहीं माना। वह अधिक से अधिक वृष्णियों, अंधकों और भोजों का मुखिया हो सकता है।...और यदि उग्रसेन ही राजा नहीं है, तो वहाँ और कौन राजा है ?"

"कृष्ण के पुत्र ?"

"कृष्ण न राजा है, न उसके राजा बनने की संभावना है। तो उसके पुत्र कैसे राजा वन सकते हैं ?"

"किंतु वासुदेव के पास शक्ति तो राजाओं से भी अधिक है।"

"छीन ली जाएगी।" दुर्योधन बोला, "उसका भी प्रबंध कर रहा हूँ। आप किसी भी दिन यह सुन लेंगे कि मैंने कृष्ण को बंदी कर लिया है।..."

"दुर्योधन !"

"आप तनिक भी चिंतित न हों महाराज !" दुर्योधन बोला, "कृष्ण की शक्ति को समाप्त करना बहुत आवश्यक है। जब तक कृष्ण की नारायणी सेना वर्तमान है, तब तक पांडवों की शक्ति कम नहीं हो सकती। कृष्ण के पास जो कुछ भी है, वह सब पांडवों के अधिकार में जा सकता है; इसलिए कृष्ण का तो कोई-न-कोई प्रबंध करना ही होगा।"

"किंतु कृष्ण बहुत शक्तिशाली है पुत्र ! उसने शाल्व को भी पराजित कर दिया है। मैंने सुना है, उसने सौभ को तो प्रायः नष्ट ही कर दिया है।..."

"वह ठीक है महाराज ! शाल्व मूर्ख है, जो उसने द्वारका पर सैनिक अभियान किया। मैं कृष्ण से युद्ध-क्षेत्र में नहीं टकराना चाहता। मेरा प्रयत्न है कि द्वारका में कृष्ण के विरोधियों को बल प्रदान किया जाए।"

"द्वारका में कृष्ण का विरोधी कौन हो सकता है पुत्र ?" धृतराष्ट्र ने पूछा, "कोई यादव कृष्ण का विरोध क्यों करेगा ?"

"होने को तो कृष्ण के विरोधी भी हैं। ईश्वर के विरोधी हो सकते हैं, तो कृष्ण ऐसी क्या बड़ी चीज़ है।" दुर्योधन धीरे से मुस्कराया, "ईर्ष्या बड़ी शक्तिशालिनी होती है; और महत्त्वाकांक्षा सदा ईर्ष्या को जन्म देती है। कृष्ण से तो मैं बलराम को ही भिड़ा देना चाहता हूँ। बलराम मेरे गुरु हैं। मुझे पूर्ण विश्वास

है कि यदि उन पर कृष्ण का दबाव न रहे, तो भीम तथा मुझमें से, वे मुझे ही अपना प्रिय शिष्य मानेंगे।" दुर्योधन पुनः मुस्कराया, "यह तो बहुत अच्छा है कि बलराम का कोई पुत्र नहीं है, नहीं तो उसे स्वयंवर में बुलाना पड़ता। मैं उन्हें रुष्ट नहीं करना चाहता। मेरा प्रयत्न है कि जब कभी पांडवों से हमारा युद्ध हो, बलराम हमारी ओर से युद्ध करें।..."

धृतराष्ट्र का उत्साह, अब तक पर्याप्त मंद हो चुका था : उसका यह पुत्र, आकाश के तारे तोड़ने की योजना बना रहा था। यह कृष्ण से बलराम को पृथक् करने की बात कह रहा था।...असंभव भी कभी संभव हुआ है ?...

"और महाराज ! कृष्ण के कुछ अतिप्रिय लोग हैं द्वारका में।...कृष्ण के विरोधी नहीं हैं, किंतु कृष्ण के उन प्रियजनों के विरोधी तो हैं। जो कृष्ण के प्रियजनों का विरोध करते हैं, वे कृष्ण का विरोध भी कर सकते हैं। मेरी दृष्टि में कुछ ऐसे यादव महारथी भी हैं।" दुर्योधन बोला, "मैं इस प्रयत्न में हूँ कि यदि कभी पांडवों से हमारा युद्ध हो, तो उसमें कृष्ण पांडवों की कोई सहायता न कर सके...न उन्हें अपनी सेना दे सके, न स्वयं उनकी ओर से युद्ध कर सके...।"

धृतराष्ट्र चुप ही रहा। उसने कुछ नहीं कहा।

दुर्योधन का मन आज कुछ अधिक ही उत्फुल्ल था। पिता के मौन को उसने वार्तालाप की समाप्ति का संकेत नहीं माना। न वह वहाँ से उठकर ही गया। उसने घूमकर एक दृष्टि संजय पर डाली; और फिर बोला, "आजकल आपके निकट आपके महामंत्री विदुर दिखाई नहीं देते। मुझे लगता है कि आपको संजय का सान्निध्य अधिक भाने लगा है।"

धृतराष्ट्र की इच्छा हुई कि वह दुर्योधन को बताए कि विदुर को उसने पांडवों के पास से इसलिए वापस नहीं बुलाया था कि उसे विदुर से प्रेम था। विदुर को उसने उसी कारण से बुलाया था, जिस कारण से वह कृष्ण को बंदी बनाना चाहता है...पांडवों की शक्ति क्षीण करने के लिए...किंतु क्या लाभ ?...दुर्योधन कभी यह स्वीकार नहीं करेगा कि विदुर की भी कोई शक्ति है; और उसके किसी पक्ष में रहने, न रहने से उस पक्ष की शक्ति बढ़ती या घटती है...

"नहीं ! विदुर से मेरा कोई विरोध तो नहीं है; किंतु संजय मुझे कुछ अधिक प्रिय हो गया है।" धृतराष्ट्र ने कहा, "तुम्हें विदुर से कोई भय तो नहीं है न ?"

"नहीं ! महामंत्री से क्या भय ? वह तो मंत्र ही देगा। प्रशासन तो उसके हाथ में नहीं है न !" दुर्योधन बोला, "आपका विदुर और वह पांडवों की माता कुंती, हस्तिनापुर में रहकर भी क्या कर सकते हैं ? अधिक से अधिक, यहाँ की सूचनाएँ ही तो भेज सकते हैं।...तो मेरे इतने गुप्तचर पांडवों के चारों ओर फैले हुए हैं कि उन तक पहुँचनेवाली सूचनाएँ, पहले मेरे पास आ जाएँगी।"

"तो फिर कुंती हस्तिनापुर में क्यों रह रही है ?" धृतराष्ट्र रोषपूर्ण स्वर

में बोला, "वह कहीं और क्यों नहीं चली जाती ?"

"कहाँ जाएगी अभागन। कोई सहारा भी तो नहीं उसका।" दुर्योधन बोला, "फिर भी यदि आवश्यकता पड़ी, रथ में बैठाकर भिजवा दूँगा धर्मराज के राज्य में।" उसने आत्म-मुग्धता में जोर का अट्टहास किया।

"क्या आवश्यकता है।" धृतराष्ट्र बोला, "पड़ी है विदुर के घर में, तो पड़ी रहे। हमारे लिए उसका हस्तिनापुर में होना, न होना, क्या अर्थ रखता है। वह हमारे सामने आती नहीं, हममें से कोई विदुर के घर जाता नहीं। पारिवारिक उत्सवों और राजनीतिक समारोहों में हम उसे आमंत्रित करते नहीं। हमारे लिए तो वह हस्तिनापुर में है ही नहीं।"

"मैं भी यही सोचता हूँ पिताजी ! इसीलिए मैंने आज तक, उसके हस्तिनापुर में रहने का विरोध नहीं किया।" दुर्योधन ने धीरे से उत्तर दिया।

तभी दासी ने कक्ष में प्रवेश किया, "महाराज की जय हो।"

"क्या है ?" धृतराष्ट्र ने पूछा।

"गुप्तचर-प्रमुख, युवराज से भेंट करना चाहते हैं।"

"यहाँ क्यों ?" धृतराष्ट्र के स्वर में आपत्ति थी, "युवराज के प्रासाद में प्रतीक्षा क्यों नहीं की ?"

"सूचना अत्यन्त आवश्यक है। युवराज तक उसका तत्काल पहुँचना आवश्यक है।" दासी ने पुनः हाथ जोड़कर सिर झुका दिया, "अतः वे युवराज की खोज करते हुए यहीं आ गए हैं।"

धृतराष्ट्र ने निश्चय करने में कई क्षण लगा दिए; फिर धीरे से बोला, "ले आओ।"

दासी लौट गई।

गुप्तचर-प्रमुख ने प्रवेश कर प्रणाम किया।

"बोलो !" धृतराष्ट्र के कुछ कहने से पहले ही दुर्योधन ने उसे आदेश दिया।

"धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ, काम्यक वन छोड़कर, तीर्थ-यात्रा के लिए हिमालय की ओर चले गए हैं।"

"बस ?"

"जी महाराज !"

"अच्छा जाओ।"

दुर्योधन ने गुप्तचर-प्रमुख के विदा होने तक स्वयं को बड़ी कठिनाई से रोका।

"देख लिया आपने ?" वह ठहाका मारकर हँसा, "ये ऋषि-मुनि पांडवों की आत्महत्या का प्रबंध कर रहे हैं। आप देखेंगे कि किसी दिन ये पांडव हिमालय के हिम में जम जाएँगे; अथवा किसी खाई में गिरकर नरक में पहुँच जाएँगे।"

दुर्योधन का उल्लास अपनी सारी मर्यादाएँ तोड़ देना चाहता था।

21

स्वयंवर आरंभ होने में अभी कुछ समय शेष था।

दुर्योधन ने अपनी ओर से स्वयंवर की सारी व्यवस्था पूरी कर ली थी। उसका मन कुछ अतिरिक्त रूप से उल्लसित भी था। वह एक प्रकार से कार्य-संपन्नता की तृप्ति का अनुभव कर रहा था।...

"युवराज ! तुमने अपने मन में किसी 'वर' का चयन कर रखा है, या उसे पूर्णतः लक्ष्मणा पर ही छोड़ दिया है ?" कर्ण आकर दुर्योधन के पास बैठ गया था।

"यदि वर का चयन युवराज कर लेंगे, तो फिर लक्ष्मणा के लिए स्वयंवर ही क्या रहा ?" दुःशासन को कर्ण की यह जिज्ञासा अनावश्यक लग रही थी।

"वह तो ठीक है राजकुमार ! किंतु सर्वथा अनियंत्रित, स्वयंवर में कठिनाइयाँ भी हो सकती हैं।" कर्ण ने उत्तर दिया, "लक्ष्मणा की अवस्था ही क्या है। उसकी बुद्धि का विकास ही कितना हुआ है। यदि वह किसी साधारण राजकुमार पर रीझ गई, तो तुम्हारे लिए कुछ जटिलताएँ भी उत्पन्न हो सकती हैं।"

"मित्र कर्ण की बात में बल है।" दुर्योधन गंभीर स्वर में बोला, "इसलिए मेरी योजना यह है कि इससे पहले कि लक्ष्मणा किसी राजकुमार के कंठ में माला डाले, उससे थोड़ा विचार-विनिमय हो जाना चाहिए। यह समझ लो कि मेरी और लक्ष्मणा की आँखें, प्रत्येक राजकुमार को साथ-साथ देखेंगी; और मेरे संकेत के बिना वह किसी के कंठ में वरमाला नहीं डालेगी।"

"यदि ऐसी ही बात है भैया ! तो इतना सब जंजाल करने की क्या आवश्यकता थी ! आप सीधे-सीधे अपने मनोनीत वर से लक्ष्मणा का विवाह कर देते।" दुःशासन बोला।

"नहीं !" दुर्योधन शांत मन से मुस्कराया, "विवाह तो एक राजकुमार से होता और अनेक राजा तथा राजकुमार हमसे रुष्ट हो जाते कि हमने अपने जामाता के रूप में उनका चयन क्यों नहीं किया। यह स्वयंवर नए मित्र बनाने के लिए है, राज-समाज रुष्ट करने के लिए नहीं। स्वयंवर के माध्यम से हमने उन्हें जता दिया है कि हम उन्हें इस योग्य तो समझते ही हैं कि वे हमारे संबंधी हो सकें; अब यदि राजकुमारी किसी और पर रीझ गई, तो इसमें बेचारा दुर्योधन क्या कर सकता है।..."

"वाह मित्र !" कर्ण हँसा, "यह तो द्यूत से भी बड़ा जाल है।"

"पर यदि किसी राजकुमार ने उत्पात् किया तो ?"

दुर्योधन की भृकुटी तन गई, "हस्तिनापुर में उत्पात् करने का परिणाम..." उसने स्वर को संयत किया, "उसकी आशंका नहीं है। लक्ष्मणा की

रक्षा के लिए वैसे तो हम सब हैं ही; किंतु विशेष रूप से उसका दायित्व भूरिश्रवा तथा शल जैसे वीरों को सौंपा गया है।"

लगा, सारी शंकाओं का समाधान हो गया; सारे प्रश्नों का उत्तर मिल गया; और सब लोग संतुष्ट हो, युवराज को प्रणाम कर, अपने-अपने दायित्वों का निर्वाह करने के लिए चले गए।

दुर्योधन के अपने मन में न कोई आशंका थी, न कोई प्रश्न ! वहाँ तो कुछ स्वप्न थे, कुछ योजनाएँ थीं और कुछ लक्ष्य थे। वह शांत मन से इस स्थिति का आनन्द लेना चाहता था।...लक्ष्मणा का विवाह, उसे किस संबंध-सूत्र में बाँधेगा, कौन-सी नई मैत्री जन्म लेगी...अथवा कौन-सा पुराना संबंध दृढ़ होगा...

दुर्योधन को वहाँ बैठे-बैठे एक लंबा समय हो गया था। कई बार उसने सोचा भी कि उठे और कोई काम देखे...किंतु उद्यान में इस प्रकार बैठने और आह्लादित होने का अपना एक मद था। उस रंग को वह भंग नहीं करना चाहता था...

सहसा, भागते हुए अनेक पगों से उसकी एकाग्रता भंग हो गई...उसकी पलकें ऊपर उठीं : कुछ सैनिक और कुछ दासियाँ मर्यादाहीन ढंग से दौड़ती हुई उसकी ओर आ रही थीं...

निश्चित रूप से कुछ-न-कुछ अघटनीय घट गया था, नहीं तो ये दासियाँ और ये सैनिक, इस प्रकार मर्यादा भंग करने का साहस नहीं करते...

सैनिक निकट आए, तो दुर्योधन ने देखा : वे लोग अत्यन्त भयभीत दिखाई दे रहे थे... "महाराज ! क्षमा महाराज ! क्षमा !" प्रायः वे सब ही अपने घुटनों के बल भूमि पर बैठ, हाथ जोड़, उससे क्षमा माँग रहे थे।

"क्या हुआ ?" दुर्योधन ने पूछा।

"महाराज ! राजकुमारी लक्ष्मणा का अपहरण हो गया।"

दुर्योधन की इच्छा हुई कि ठहाका मारकर हँस पड़े : ऐसी मिथ्या सूचना प्रचारित कर कोई दुर्योधन से परिहास कर रहा है, अथवा उसे भयभीत करने का बौना प्रयत्न कर रहा है...हस्तिनापुर के भीतर कुरु-योद्धाओं से घिरे इस क्षेत्र में से, समारोह के दिन, विशेष रूप से की गई, इस सुरक्षा-व्यवस्था में से कौन राजकुमारी का अपहरण कर ले जाएगा...पर इस प्रकार की सूचना भेजनेवाला व्यक्ति शायद यह नहीं जानता कि दुर्योधन को इस प्रकार का परिहास प्रिय नहीं है; और भयभीत तो वह होता ही नहीं...

"तुम्हें किसने यह सूचना दी है ?" दुर्योधन की आँखों में क्रोध प्रकट होने लगा था।

"किसी ने नहीं महाराज। सब कुछ हमारे नयनों के सम्मुख ही घटित हो

गया। हम राजकुमारी के अंगरक्षक हैं महाराज !…"

दुर्योधन की समझ में आ गया कि न यह परिहास था, न मिथ्या सूचना !…सचमुच असंभव घटित हो गया था…

उसके नयन क्रोध से लाल हो उठे, "तुम लक्ष्मणा के अंगरक्षक हो, तो तुम्हारे जीवित रहते, उसका अपहरण कैसे हो गया ?" वह उठकर खड़ा हो गया था। उसकी मुट्ठियाँ भिंच गईं, "अंगरक्षक के अस्तित्त्व का अर्थ ही क्या है ? तुमने वहीं अपने प्राण क्यों नहीं त्यागे ? कर्तव्य-पालन करते हुए शत्रु के हाथों मरना अधिक गौरवपूर्ण है अथवा अपने स्वामी से प्राण-दंड पाना ?"

प्रमुख दासी हाथ जोड़े उसके सम्मुख आ खड़ी हुई, "महाराज ! हमारे प्राण लेने को भी तो वह नहीं रुका।…मैं तो स्वयं विक्षिप्त हो गई हूँ। समझ ही नहीं आता कि वह कहाँ से प्रकट हो गया और किस प्रकार झपट कर, राजकुमारी को उठा ले गया, जैसे मेघों में से प्रकट होकर कोई श्येन, अपनी माँ के पंखों में छिपकर दाना चुगते कुक्कुट-शावक को उठाकर, आकाश में लुप्त हो जाए।…"

दुर्योधन ने पहचाना : यह लक्ष्मणा की अत्यन्त मुँह-लगी दासी, मुखरा थी। जैसा नाम, वैसा काम। शब्दों की यातुधानी। इस समय भी शब्दों का माया-जाल ही बुन रही थी…वह दुर्योधन को अपने शब्दों से बहला रही थी।…मूर्खा यह भी नहीं जानती कि कब बोलना चाहिए और कब चुप हो जाना चाहिए।…

दुर्योधन का हाथ उठा और दासी भूमि पर लोट गई। दुर्योधन ने उसकी ओर देखा तक नहीं। वह अंगरक्षकों के नायक से संबोधित हुआ, "कौन था ?"

"ज्ञात नहीं हो सका महाराज !"

"तुम लोग, उसके पीछे क्यों नहीं गए ? यहाँ क्यों चले आए ?"

"महारथी कर्ण, राजबंधु भूरिश्रवा तथा राजकुमार शल उसके पीछे गए हैं महाराज ! उन्होंने ही हमें निर्देश दिया कि हम आपको तत्काल सूचित करें।"

"वे लोग किधर गए हैं ?"

"वर्द्धमान द्वार की ओर महाराज !"

"आक्रमणकारी कितने लोग थे ?"

"दिखाई तो केवल एक किशोर ही दिया था महाराज ! उसके अदृश्य सहायकों के विषय में हमें कोई सूचना नहीं है।"

दुर्योधन ने उसकी ओर देखा, "नगर-द्वार की रक्षक-वाहिनियों के नायक को सूचित करो कि वे लोग अपने-अपने द्वार पर तत्काल पहुँच जाएँ। द्वार बंद कर दिए जाएँ। किसी भी व्यक्ति को, चाहे वह कितना ही महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली क्यों न हो, नगर से बाहर जाने की अनुमति नहीं होगी—स्वयंवर में आए, हमारे अतिथियों को भी नहीं। यदि वह अपहरणकर्ता नगर-प्राचीर से बाहर

निकल जाए, तो सारी वाहिनियाँ, सारे नायक, उसका पीछा करें। उसे रोकें और बंदी करने का प्रयत्न करें। यदि वह हाथ न आए, तो उसका वध कर दें; किंतु उसे निकल भागने का अवसर नहीं दें। जाओ।"

स्वयं दुर्योधन ने सैनिकों के जाने की प्रतीक्षा नहीं की। वह वेग से चलता हुआ, अपने रथ के निकट आया, "सारथि ! वर्द्धमान द्वार की ओर चलो। शीघ्र ! अधिकतम वेग से।"

उसने रथ में रखा हुआ अपना धनुष उठाया, उसकी प्रत्यंचा चढ़ाई; और रथ के शस्त्र-खंड में से तूणीर उठाकर सर्वाधिक मारक वाण छाँटने लगा।

दुर्योधन की सेना लौट रही थी।

सेना के आगे-आगे दुर्योधन का अपना रथ था। लक्ष्मणा अपने पिता के साथ बैठी थी। उसकी वेणी बिखर गई थी, पुष्प-सज्जा मलिन हो गई थी; और वस्त्रों पर धूल की परत स्पष्ट देखी जा सकती थी। उसे देखकर लगता था कि किसी खुले रथ में, उसने लंबी यात्रा की है।...वह अपने पिता से कोई बात नहीं कर रही थी। दुर्योधन ने भी उससे कोई चर्चा करने में किसी प्रकार की रुचि नहीं दिखाई थी।...किंतु लक्ष्मणा का व्याकुल होकर, बार-बार पीछे की ओर, उस रथ पर दृष्टिपात करना, जिसमें वह किशोर बाँध कर डाल दिया गया था, दुर्योधन को अच्छा नहीं लग रहा था।...

कर्ण, शल, भूरिश्रवा इत्यादि के रथ दुर्योधन के पीछे-पीछे आ रहे थे। वंदी के रथ के पीछे, विभिन्न वाहिनियाँ अपनी विजय-गाथा, गाती चली आ रही थीं...

दुर्योधन प्रसन्न नहीं था। एक अकेले किशोर को इतनी वाहिनियों की सहायता से चार-चार महारथियों का एक साथ मिलकर पकड़ना, कोई गौरवशाली विजय नहीं थी।...यह कोई उपलब्धि नहीं थी। ऐसा कृत्य नहीं था, जिसका यशोगान किया जा सके।...उलटे, यह तो चिंता का विषय था कि पराजित होकर भी वह किशोर आकर्षण का केन्द्र हो गया था। जो किशोर, निपट अकेला हस्तिनापुर में घुस आए, सारी वाहिनियों और उनके महारथियों को चुनौती देता हुआ, राजकुमारी का अपहरण कर ले जाए; और राजकुमारी को मुक्त कराने आई कुरुसेना और उसका नेतृत्व करनेवाले चार महारथियों का वीरतापूर्वक सामना करे, वह निश्चित् रूप से असाधारण वीर है। लक्ष्मणा, यदि पिता की इच्छा के विरुद्ध ऐसे वीर की ओर आकृष्ट हो जाए, तो क्या आश्चर्य !...

मन-ही-मन, दुर्योधन एक प्रकार की हताशा का अनुभव कर रहा था...उसने इस स्वयंवर के माध्यम से, जिस राजनीतिक विजय की कल्पना की थी, वह इस

किशोर ने ध्वस्त कर डाली थी।···उसके मन में बार-बार कुंडिनपुर की कल्पना जागती थी। जरासंध ने कुंडिनपुर में रुक्मिणी के विवाह के माध्यम से एक साम्राज्य की नींव रखने का स्वप्न देखा था; और कृष्ण ने रुक्मिणी का अपहरण कर, उस स्वप्न को ध्वस्त कर डाला था।··आज कुछ वैसा ही, इस किशोर ने दुर्योधन के साथ किया था।···

पर यह किशोर अकेला कैसे हो सकता है ? यदि यह बिना किसी सहायक के, अकेला ही यह सब कुछ कर पाया, तो अद्भुत है यह किशोर; और हस्तिनापुर की रक्षा-व्यवस्था का कोई महत्त्व नहीं है। व्यर्थ हैं, ये समस्त वाहिनियाँ और उनका संचालन करने वाले नायक। ये सब शोभा की वस्तुएँ हैं : राजसी ऐश्वर्य के प्रदर्शन के साधन !···कुंडिनपुर में ऐसे ही भीष्मक और रुक्मी, जरासंध और शिशुपाल···सब खड़े रह गए थे···और कृष्ण, रुक्मिणी का हरण कर, ले गया था···

दुर्योधन ने अपना सिर झटका !···यह बार-बार, बीच में कृष्ण कहाँ से आ जाता है ?···और सहसा उसका ध्यान इस ओर गया, कि जब से उसने इस अपहरणकर्ता किशोर को देखा है, उसके मन में बार-बार कृष्ण का बिंब प्रकट हो रहा है, उसे बार-बार ऐसा लग रहा है कि कृष्ण उसके सम्मुख खड़ा मुस्करा रहा है·भला, लक्ष्मणा के हरण से रुक्मिणी-हरण का क्या संबंध ? तो उसे बार-बार कृष्ण का स्मरण क्यों आ रहा है ?···

रथ, प्रासाद-क्षेत्र में प्रवेश कर चुका था। वाहिनियाँ, बाहर से ही विदा हो गई थीं। उसके साथ ही, शल, यज्ञकेतु और भूरिश्रवा भी अपने-अपने स्थान को चले गए थे। कर्ण, दुर्योधन के साथ ही भीतर चला आया।

दुर्योधन रथ से नीचे उतर आया। सारथि, रथ लौटा ले गया और सेवकों ने आसन उपस्थित कर दिए। लक्ष्मणा को प्रासाद के भीतर भेज दिया गया; और उस किशोर को अंगरक्षकों ने लाकर, दुर्योधन के सम्मुख खड़ा कर दिया।

"महाराज ! क्या इस उद्धत का वध कर दिया जाए ?" अंगरक्षकों के नायक ने पूछा।

"नहीं !" दुर्योधन बोला, "इसका वध तो स्वयंवर-मंडप में सबके सम्मुख होना चाहिए, ताकि सारे जंबू-द्वीप के क्षत्रिय देखें कि कुरु-राजकुमारी के अपहरण का दंड क्या होता है।"

दुर्योधन ने दृष्टि उठाकर उसे देखा : किशोर के हाथ-पाँव बँधे हुए थे, किंतु वह तनिक भी भयभीत नहीं था।

"तुम्हारे सहायक कहाँ हैं ?"

"द्वारका में।"

दुर्योधन तमककर उठ खड़ा हुआ, "क्या अभिप्राय है तुम्हारा ?"

"आपने पूछा कि मेरे सहायक कहाँ हैं, तो मैंने बता दिया।" वह निर्भीकता से बोला।

"मैं पूछ रहा हूँ कि हस्तिनापुर में तुम्हारे सहायक कहाँ हैं ?"

"हस्तिनापुर में मेरा कोई सहायक नहीं है।"

"तुम अकेले आए थे ?"

"नहीं। जो सहायक साथ आए थे, उन्हें मैंने द्वारका भेज दिया है, ताकि वे लोग वहाँ जाकर बताएँ कि पाँच-पाँच महारथियों ने मुझ अकेले से युद्ध कर, मुझे अन्यायपूर्वक बंदी बना लिया है। वे द्वारकावासियों को बताएँ कि हस्तिनापुर में न वीरता है, न न्याय, न स्वाभिमान।"

"पर द्वारका ही क्यों ?" दुर्योधन झपटकर, उसके सम्मुख पहुँच गया, "द्वारका में कौन है तुम्हारा ?"

"मेरे पिता, मेरे भाई, मेरा कुटुंब।"

"कौन हैं तुम्हारे पिता ?"

"वासुदेव श्रीकृष्ण ! मैं जांववती-नन्दन सांव हूँ।"

दुर्योधन जैसे आकाश से गिर पड़ा : इसीलिए इस किशोर को देखकर वार-बार उसके मन में कृष्ण की मूर्ति उभर रही थी, उसे कृष्ण का स्मरण हो रहा था…

"तुम लोगों को कन्याओं के अपहरण का रोग है क्या ?" दुर्योधन का स्वर, क्रोध से फटता-सा जा रहा था, "तुम्हारे पिता ने अपहरण किया, तुम्हारे भाई प्रद्युम्न ने अपहरण किया : और अव तुम आए हो। कोई क्षत्रिय संस्कार नहीं है, तुम लोगों में। तुम लोग प्रत्येक अवसर पर क्षत्रिय-मर्यादा का उल्लंघन करते हो…।"

"हम अपहरण नहीं, हरण करते हैं।" सांव पूर्णतः विश्वस्त स्वर में बोला, "और हरण, सामर्थ्य का प्रमाण है। आपके पितामह भीष्म भी, आपकी पितामही का काशी से हरण करके ही लाए थे। कुरुओं के गौरव कौन्तेय अर्जुन भी द्वारका से मेरी बुआ का हरण कर लाए थे…।"

"अर्जुन कुरुओं का गौरव तो क्या, कुरु भी नहीं है। वह पांडु का नहीं, इंद्र का पुत्र है।" दुर्योधन के स्वर में घृणा थी।

"वैसे तो आपके पिता भी सम्राट् विचित्रवीर्य के नहीं, महर्षि व्यास के पुत्र हैं। यदि अर्जुन कुरुवंशी नहीं हैं, तो यहाँ कुरुवंशी है ही कौन ?" सांब मुस्करा रहा था।

"तुम्हें मृत्यु का भय नहीं है लड़के ?"

"नहीं। यदि मेरा वध हुआ, तो मेरे पिता और मेरे भाई हस्तिनापुर के राजवंश के एक पुरुष को भी जीवित नहीं छोड़ेंगे। मेरा वध आपको बहुत महंगा पड़ेगा।…"

दुर्योधन का मन हुआ कि वह चिल्लाकर कहे कि वह संसार में किसी से नहीं डरता; किंतु यह लड़का कह रहा था कि वह कृष्ण का पुत्र है;…और कृष्ण वही था, जिसने युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर, भरी सभा में शिशुपाल का मस्तक काट दिया था। दुर्योधन किसी और को भ्रम में रख सकता है; किंतु अपने-आपको धोखे में नहीं रख सकता। वह यह कहने का भी साहस नहीं कर सका कि वह कृष्ण से नहीं डरता…

"तुम लक्ष्मणा को जानते हो ?"

"नहीं।"

"तो तुमने उसका अपहरण क्यों किया ?"

"अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए।"

"कैसा अपमान ?"

"इस स्वयंवर में यादवों को आमंत्रित क्यों नहीं किया गया ?"

दुर्योधन सजग हो गया : यह लड़का, न केवल स्वयं को अपराधी नहीं मान रहा था, वह दुर्योधन से उसके कर्मों और निर्णयों का स्पष्टीकरण माँग रहा था…किंतु वह दुर्योधन को वाध्य नहीं कर सकता। वह दुर्योधन का बंदी है, दुर्योधन उसका बंदी नहीं…किंतु यदि दुर्योधन ने उत्तर नहीं दिया, तो उसका अपना मन भी यही मानेगा कि वह अपराधी था…उसके पास अपने कृत्यों का कोई सार्थक आधार नहीं था…

"यदि आप भी शिशुपाल के समान यही मानते हैं कि यादव राज-समाज के अंग नहीं हैं, तो आप भी उसी मार्ग से यम-लोक जाएँगे, जिस मार्ग से शिशुपाल गया था…।" सांव ने चिल्लाकर कहा।

दुर्योधन का मुख क्रोध से लाल हो गया : यह लड़का दुर्योधन का अपराधी होकर, उसका वंदी होकर भी, उसके प्रासाद में उसके सम्मुख खड़ा हो, उसे धमका रहा था…

दुर्योधन ने अपना खड्ग खींच लिया।

"साहस है तो मेरे हाथ खोल दीजिए, और एक खड्ग मुझे भी दीजिए। फिर देखिए, यादव इन खिलौनों से कैसे खेलते हैं…।" भयभीत होना तो दूर, सांव तनिक-सा हतप्रभ भी नहीं हुआ था।

दुर्योधन नग्न खड्ग लेकर आगे बढ़ा। सांव वंधनों से मुक्त होने के लिए कसमसाया। उसके अंगों पर सैनिकों की जकड़, और भी कस गई…

दुर्योधन, सांब के ठीक सम्मुख जा खड़ा हुआ। उसने क्रोध से जलती आँखों से, सांव की ओर देखा। सांब की आँखों में भय नहीं था, घबराहट नहीं थी; वहाँ एक मोहिनी थी : कृष्ण की मोहिनी ! उन आँखों में झाँकना, जैसे कृष्ण की आँखों में ही झाँकना था…कृष्ण…कृष्ण…कृष्ण…

दुर्योधन के मन में एक योजना जन्म लेने लगी थी...

यदि उसने सांब की हत्या कर दी, तो यादवों से युद्ध होगा। कृष्ण, अपने पुत्र के वध को न क्षमा कर पाएगा, न भूल पाएगा। कृष्ण हस्तिनापुर आएगा तो; किंतु वह दुर्योधन से चर्चा करने, अकेला उसके प्रासाद में नहीं आएगा।... वह सेना के साथ आएगा, बाण बरसाता आएगा...और उससे युद्ध-क्षेत्र में ही भेंट होगी।...किंतु यदि सांब का वध न किया जाए, उसे कारागार में रखा जाए, तो कृष्ण को दुर्योधन के पास, दुर्योधन की इच्छानुसार आना होगा; उससे संधि करनी होगी...पर दुर्योधन को, कृष्ण से कोई संधि नहीं करनी है। वह तो चाहता है कि उसके हाथों कृष्ण का वध हो जाए...कृष्ण को संधि-वार्ता के लिए प्रासाद में बुलाया जाए, और उसे वंदी बना लिया जाए...फिर कृष्ण को, सांब के ही समान बाँध कर दुर्योधन के सामने लाया जाए। वह दुर्योधन के सम्मुख, इसी प्रकार खड़ा हो, जैसे अभी सांब खड़ा है...और दुर्योधन, कृष्ण का वध करे, सांब का नहीं।...कृष्ण की मृत्यु के पश्चात्, दुर्योधन बलराम के पैरों में गिरकर उनसे क्षमा माँगेगा। उन्हें मना लेगा। बलराम को मनाना क्या कठिन है...उसके पश्चात् यादवों में क्या शक्ति रह जाएगी।...दुर्योधन के मन में व्यर्थ ही भीम और अर्जुन की ओर से आशंका है। उनका मेरुदंड तो कृष्ण है। कृष्ण का वध हो जाए, तो अर्जुन और भीम के प्राण अपने-आप निकल जाएँगे।...बहुत संभव है, कृष्ण की मृत्यु का समाचार पाकर वे हिमालय से नीचे ही न उतरें, उलटे ऊपर ही चढ़ते जाएँ...

दुर्योधन का उठा हुआ हाथ झुक गया...सांब को जीवित रहना चाहिए...कृष्ण के हस्तिनापुर आने तक, दुर्योधन के जाल में फँसने तक...दुर्योधन के हाथों, कृष्ण के वध तक !...

दुर्योधन ने खड्ग अपने कोश में डाल लिया, "नायक ! इसे मेरे निजी कारागार में वंद कर दो। पहरे पर अपने सैनिक लगा दो। देखना यह भागने न पाए। यदि यह भाग गया तो तुम्हारा और तुम्हारे सैनिकों का वध मेरे हाथों होगा... जाओ। ले जाओ।"

'कायर !' सांब के अधरों पर असीम घृणा थी।

सैनिक सांव को लेकर चले गए।

कर्ण ने चकित होकर, कुछ आपत्तिपूर्ण दृष्टि से दुर्योधन की ओर देखा, "यह तुमने क्या किया मित्र ? कृष्ण के पुत्र को, अपनी पुत्री के अपहर्ता को, जीवित छोड़ दिया ?"

"इसका शव किस काम आएगा," दुर्योधन की आँखें, अपने स्वप्नों में उलझी हुई थीं, "यह तो साधारण चारा है, जो एक महामत्स्य को हमारे जाल में फँसाने का कारण वनेगा।"

दुर्योधन ने अपने कक्ष में पहुँच कर लक्ष्मणा को बुलवाया, "तुम इस लड़के को कब से जानती हो ? हमारे किसी पारिवारिक उत्सव में तो यह कभी सम्मिलित हुआ नहीं।"

"किस लड़के को ?" लक्ष्मणा ने बड़े अबोध ढंग से पूछा।

"सांब को।"

"कौन सांब ?"

"अपने अपहरणकर्ता, कृष्ण-पुत्र, सांब को।"

"ओह ! वे वासुदेव-पुत्र सांब हैं।"

लक्ष्मणा के शब्दों में सांब के लिए जो सम्मान था, वह दुर्योधन के हृदय में बाण के समान चुभा : और इस सूचना से जितना आनन्द लक्ष्मणा को मिला, उसने तो जैसे दुर्योधन के हृदय को चीर कर ही रख दिया।

दुर्योधन की आँखें कठोर हो गईं, "मैं तुमसे कुछ पूछ रहा हूँ, लक्ष्मणा !"

"क्या ?" लक्ष्मणा, जैसे किसी स्वप्न से जगाई गई थी।

"तुम सांब को कब से जानती हो ?"

"मैंने उन्हें पहली बार तब ही देखा था, जब मंदिर-क्षेत्र में उन्होंने मुझे उठाकर, अपने रथ में बैठा लिया था…और…"

"इससे पहले तुम्हारा उससे परिचय नहीं था ?"

"उनका परिचय तो आपने अभी दिया है पिताजी !" लक्ष्मणा का उल्लास छिपाए नहीं छिप रहा था।

"तो तुमने उसे अपने हरण के लिए नहीं बुलाया था ?" दुर्योधन की आँखें, जैसे लक्ष्मणा के मन के आर-पार देख लेना चाहती थीं।

"स्वयंवर के लिए सर्वत्र निमंत्रण तो आपने भेजे थे, तो मैं किसी को क्यों बुलाती ?" लक्ष्मणा बोली, "किंतु, उन्होंने स्वयंवर में सम्मिलित होने के स्थान पर, मेरा हरण करना क्यों उचित समझा ?"

दुर्योधन के मन में संदेह के अनेक अंकुर फूट आए थे।

"यदि वह स्वयंवर में सम्मिलित होता, तो तुम उसका वरण कर लेतीं ?" दुर्योधन टकटकी लगाकर, उसकी ओर देख रहा था।

"तब मैं उनकी वीरता से थोड़ी परिचित होती।" लक्ष्मणा ने अल्हड़ उल्लास के साथ कहा।

दुर्योधन पुनः ठिठका : यह लड़की सर्वथा मूर्ख है या जान-बूझकर इस प्रकार के संकेत दे रही है ?…तब वह उसकी वीरता से परिचित नहीं होती, इसलिए कदाचित् उसका वरण नहीं करती; किंतु उसने हरण किया…दुर्योधन ने अपने महारथियों और वाहिनियों के साथ, उससे युद्ध किया। उसे पराजित कर बंदी किया।…और वह लड़का चोर के स्थान पर महावीर हो गया।…

"अब तो तुम उसकी वीरता से परिचित हो गई हो।" दुर्योधन ने बड़ी कठिनाई से स्वयं को संयत किया, "अब यदि वह स्वयंवर में सम्मिलित होता है तो··· ?"

"अब, जव उन्होंने मेरा हरण कर ही लिया है, तो स्वयंवर का क्या अर्थ है ?" लक्ष्मणा ने दुर्योधन की वात बीच में ही काट दी। उसका स्वर प्रखर था और उसमें अवसाद का लेशमात्र भी नहीं था।

दुर्योधन के मन में जैसे कोई विस्फोट हो गया। उसने लक्ष्मणा की ओर देखा : उसकी यह पुत्री, जिसे वह अव तक एक बालिका मात्र समझता था, तरुणाई को प्राप्त हो गई थी। चेहरे से वह कैसी अवोध, स्वच्छ और कामना-शून्य लगती थी; किंतु उसके भीतर कामनाओं से भरपूर एक स्त्री अंगड़ाइयाँ ले रही थी : प्रकृति का साक्षात् विग्रह–स्त्री !···और पिता को अपनी पुत्री अबोध बालिका के रूप में ही अच्छी लगती है, वह उसे स्त्री के रूप में देखना नहीं चाहता।···किंतु लक्ष्मणा चाहे स्वयं न जानती हो, किंतु उसके भीतर प्रकृति, एक स्त्री के रूप में आ बैठी थी और अपने मनभावन प्रेमी की आकांक्षा कर रही थी।···सांव बंदी है, वह इसका अपहरण नहीं कर सकता; किंतु यदि यह स्वतंत्र रही, तो उसका अपहरण कर, उसे द्वारका ले जाएगी।···

"काशिका !" दुर्योधन ने अनायास ही, अपनी पत्नी को पुकार लिया।

काशिका, दुर्योधन की दृष्टि बचाकर निकट ही मंडरा रही थी।···जाने वह लक्ष्मणा के साथ कैसा व्यवहार करे। यदि लक्ष्मणा रोती हुई पिता के कंठ से लग जाती, तो वात कुछ और ही होती; किंतु इस समय लक्ष्मणा ऐसी रूपगर्विता और प्रेमगर्विता नारी थी, जिसके अपहरण ने उसे बताया था कि 'पुरुष' उसकी कामना में कितना दुस्साहसी हो सकता है···

वह दुर्योधन के सम्मुख चली आई। उसके चेहरे पर स्पष्ट भय था···संभव था कि दुर्योधन इस सारे कांड के लिए कहीं उसे ही दोषी ठहराए !···न भी ठहराए, किंतु पुत्री के प्रति अपने क्रोध को पत्नी पर निकाले, तो···

"आर्यपुत्र !"

"लक्ष्मणा का ध्यान रखना। ऐसा न हो कि इसे भी बंदी बनाकर, कारागार में रखना पड़े।"

काशिका का यह पूछने का साहस ही नहीं हुआ कि 'ध्यान रखने' का क्या अर्थ था; और लक्ष्मणा ने ऐसा कौन-सा अपराध किया था कि उसे वंदी वनाकर कारागार में रखने की आवश्यकता आ पड़ी थी।···

"अच्छा आर्यपुत्र !"

किंतु दुर्योधन इतनी शांति से सब कुछ समाप्त कर देने को तैयार नहीं था, "मैंने स्वयं इसके स्वयंवर की व्यवस्था की है; किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि

इसका मन हमारे घोरतम शत्रु पर आ जाए। पिता के सम्मान की कोई चिंता नहीं। हमारी भावनाओं के प्रति कोई सम्मान नहीं। क्या समझती है वह, कि मैं उसे इस प्रकार चली जाने दूँगा।"

"आप लक्ष्मणा से रुष्ट हैं कि सांब ने उसका अपहरण क्यों किया ?" काशिका साहस कर बोली, "अपहरण का दोषी अपहरणकर्ता होता है आर्यपुत्र ! अपहृत कन्या नहीं। आप सांब को जो दंड देना चाहें दें।··लक्ष्मणा के प्रति आपका यह रोष मेरी समझ में नहीं आ रहा।···"

दुर्योधन क्या बताता काशिका को, कि उसे संदेह है कि इस अपहरण के पश्चात् लक्ष्मणा, सांब से प्रेम करने लगी है; अथवा उसको अपना पति ही मानने लगी है। उसकी सारी सहानुभूति सांब के साथ है।···सांब को दिया गया प्रत्येक दंड, लक्ष्मणा को तड़पाएगा और वह मन-ही-मन सांब के और निकट होती जाएगी।··अवसर मिलते ही सांब को कारागार से मुक्त कराने का प्रयत्न करेगी और यदि संभव हुआ, तो उसे लेकर द्वारका पहुँच जाएगी···

"मेरा रोष तुम्हारी समझ में नहीं आ रहा, तो उसे समझने का प्रयत्न करो। यदि तुम और वह–दोनों सावधान रहतीं, तो उसका अपहरण संभव न हो पाता और इस समय लक्ष्मणा, स्वयंवर-मंडप में खड़ी होती···"

"चलिए, हमारी असावधानी से अपहरण हुआ; और आपकी सावधानी और वीरता से वह लड़का पकड़ा गया। अब, आपकी पुत्री, आपके पास है और वह लड़का कारागार में। तो फिर स्वयंवर में बाधा क्या है ? लक्ष्मणा के हाथ में जयमाल देकर, उसे स्वयंवर-मंडप में खड़ा कर दीजिए।"

दुर्योधन का धैर्य जैसे चुक गया था, "बात तो समझती हो नहीं और तर्क करती चलती हो। तुम भूलती हो कि जब पितामह काशिराज की कन्या अंबा का हरण कर लाए थे; और उसे उसकी इच्छानुसार शाल्व के पास पहुँचा भी दिया गया था, तो भी शाल्व ने उसे यह कहकर स्वीकार नहीं किया था कि हरण के क्षण से ही, वह भीष्म की पत्नी हो चुकी।···"

"जो ऐसा मानता हो, वह मंडप से उठकर चला जाए।" काशिका बोली, "हमारी पुत्री उन राजकुमारों में से किसी एक का चयन कर लेगी, जो ऐसा नहीं मानते।"

"यदि तुम्हारी ही पुत्री होती, तो ऐसा कर लेती।" दुर्योधन का स्वर ऊँचा हो गया, "किंतु वह मेरी भी पुत्री है। इसलिए वह जन-शून्य मंडप में जाकर, अपना अपमान नहीं करवाएगी।" दुर्योधन रुका, "इसलिए अब तुम सावधान रहो। लक्ष्मणा कहीं नहीं जाएगी–न अकेली, न अपनी सखियों के साथ। और यदि कहीं जाना ही हुआ, तो वह तुम्हारे साथ जाएगी।"

दुर्योधन कक्ष से बाहर चला आया !··अपनी इस पत्नी से वितंडावाद करने

का कोई लाभ नहीं था; किंतु वह, यह भूल नहीं सकता था कि उसके निमंत्रण पर संपूर्ण जंबू-द्वीप के सम्मानित राजा और राजकुमार हस्तिनापुर में आए हुए थे। वे लोग लक्ष्मणा के स्वयंवर के लिए आए थे। स्वयंवर-मंडप तैयार खड़ा था; और लक्ष्मणा भी अपने प्रासाद में उपस्थित थी।…किंतु क्या अब स्वयंवर संभव था ?…यदि उसने अब भी, अपनी योजना के अनुसार स्वयंवर का आयोजन किया, तो अनेक राजकुमार स्वयंवर का बहिष्कार करेंगे। अपहरण के पश्चात् स्वयंवर नहीं हुआ करते।…और यदि कुछ राजकुमार किसी कामना, लोभ अथवा भयवश मंडप में बैठे रहे; और लक्ष्मणा ने ही जयमाला तोड़कर फेंक दी, कि अब वह सांब की वाग्दत्ता है, तो ?…क्या उत्तर देगा, दुर्योधन उन लोगों को ?…कन्या का पिता होना भी, कितने संकट का विषय है… और विशेषकर उस कन्या का, जिसके हृदय और मस्तिष्क, पिता से स्वतंत्र होकर काम करते हों…

"दुर्योधन !"

दुर्योधन ने सिर उठाकर देखा : सामने शकुनि खड़ा था।

"हाँ मातुल !"

"स्वयंवर का क्या होगा ?"

"क्या कहूँ मातुल ! इन परिस्थितियों में लक्ष्मणा को स्वयंवर की अनुमति नहीं दे सकता।"

"तो आमंत्रित अभ्यागतों को क्या कह दिया जाए ?"

"घोषणा करवा दें कि स्वयंवर नहीं होगा। राज-समाज अपनी सुविधानुसार, अपने राज्य को लौट सकता है।"

"ठीक है पुत्र ! किंतु हमने जंबूद्वीप के सारे राज-समाज को इसलिए आमंत्रित किया था कि हमारे मित्रों की संख्या में वृद्धि हो। यह आयोजन इसलिए तो नहीं किया था कि वे स्वयं को अपमानित अनुभव करते हुए लौटें और हमारे शत्रु हो जाएँ।"

दुर्योधन का मन, वेग से दौड़ते हुए पशु के समान भाग रहा था…कृष्ण चाहे लक्ष्मणा का अपहरण नहीं करवा सका; किंतु उसने अपना लक्ष्य तो प्राप्त कर ही लिया। जंबू-द्वीप के राज-समाज में, दुर्योधन के लिए दुर्भावना का बीज-वपन तो उसने कर ही दिया। अपहरण की योजना असफल हो गई, सांब का प्रयत्न निष्फल रहा…किंतु कृष्ण की इच्छा पूरी हुई।…

"तो स्वयंवर के विषय में यह तुम्हारा अंतिम निर्णय है ?"

दुर्योधन मौन ही रहा।

"स्वयंवर स्थगित करने की घोषणा कर भी दें, तो भी राज-समाज को कोई कारण तो बताना होगा। उन्हें कोई उत्तर तो देना होगा।" शकुनि बोला।

"हाँ। कोई उत्तर तो देना ही होगा मातुल।" अपनी व्याकुलता में दुर्योधन

उठ खड़ा हुआ, "किंतु, उन्हें मैं तब तक कोई निश्चित् उत्तर नहीं दे सकता, जब तक सांब के विषय में कोई अंतिम निश्चय न कर लिया जाए।"

"मैं समझता हूँ पुत्र !" शकुनि चला गया।

दुर्योधन समझ नहीं पाया कि शकुनि क्या समझ गया···किंतु कुछ समय तक के लिए तो वह टल ही गया था। उत्तर पाने के लिए अब वह दुर्योधन के वक्ष पर खड़ा नहीं था···

दुर्योधन की आँखों के सम्मुख, फिर सांब का बिंब आ खड़ा हुआ···और सांब का विचार आते ही, दुर्योधन के विचारों में कृष्ण आ खड़े हुए···

'कृष्ण !' दुर्योधन मन ही मन बोला, 'तूने मेरी जो हानि की, सो की; किंतु यदि तू सांब को छुड़ाने यहाँ आया; और मैं तुम्हारा वध करने में सफल हो गया, तो फिर राज-समाज में मेरे मित्र-ही-मित्र होंगे।···'

दुर्योधन का मन हुआ कि वह ठहाका मारकर हँस पड़े।

22

हस्तिनापुर में घटित सारी घटनाओं की सूचना, सांब के मित्रों ने कृष्ण तक पहुँचा दी थी।

कृष्ण को पहले तो आश्चर्य हुआ।···सांब ने लक्ष्मणा के हरण की योजना बनाई ही क्यों ? कृष्ण ने तो कभी दुर्योधन के परिवार से अपने परिवार के किसी व्यक्ति के वैवाहिक संबंध की कल्पना भी नहीं की थी।···सांब ने लक्ष्मणा के रूप की बहुत प्रशंसा सुन ली थी क्या ? उसे लक्ष्मणा प्रिय थी ?···प्रिय रही हो, या न रही हो; किसी-न-किसी कारण से लक्ष्मणा ने उसे आकृष्ट तो किया ही था, अन्यथा वह यह दुस्साहस क्यों करता !···और यदि लक्ष्मणा ने उसे किन्हीं भी कारणों से आकृष्ट किया ही था, तो फिर सांब, स्वयंवर की प्रतिज्ञाओं को कैसे स्वीकार कर सकता था।···कृष्ण अपने इस पुत्र को भली प्रकार जानते हैं। पर्याप्त उद्यत था वह। उसकी इच्छा पूरी होनी चाहिए। उसे लक्ष्मणा चाहिए, तो चाहिए ही। वह स्वयंवर की नियमितताओं, औपचारिकताओं तथा मर्यादाओं की चिंता नहीं कर सकता था। न उनके लिए रुक सकता था, न उनका पालन कर सकता था···और वैसे भी तो हस्तिनापुर से इस स्वयंवर का कोई निमंत्रण नहीं आया था। सांब को यदि लक्ष्मणा चाहिए ही थी, तो उसके सम्मुख सिवाय हरण के और कोई मार्ग नहीं था।···

किंतु, यदि उसने लक्ष्मणा के हरण की योजना बनाई ही थी, तो लक्ष्य-प्राप्ति के लिए, योजना-बद्ध ढंग से उसकी पूरी तैयारी क्यों नहीं थी ?···पर उसका सारा

ध्यान तो लक्ष्मणा में लगा होगा, ऐसे में वह हरण की योजना पर ध्यान कैसे देता। जिनका मन, फल में अनुरक्त होता है, वे कर्म के विषय में कुछ नहीं सोचते।··· अपूर्ण कर्म का फल तो अपूर्ण ही होगा।···इसी असावधानी के कारण, उसे लक्ष्मणा नहीं मिली, कारागार मिला।···अब उसे मुक्त तो कराना ही होगा···

सांब, दुर्योधन के कारागार में था, इसकी चिंता कृष्ण को थी; किंतु वे जानते थे कि दुर्योधन कितना भी मूर्ख और दंभी क्यों न हो, वह सांब का वध करने की मूर्खता नहीं कर सकता था। इतना तो वह समझता ही होगा कि यदि उसने कृष्ण के पुत्र की हत्या केवल इसलिए कर दी कि उसने लक्ष्मणा के हरण का प्रयत्न किया था, तो उसकी आँखों के सम्मुख, उसे पुत्रों तथा उसके भाइयों के सिर, सुदर्शन-चक्र से कट-कटकर भूमि पर गिरेंगे; और अंततः वह स्वयं भी जीवित नहीं बचेगा।···उसका सिर तो वैसे भी कब का कटकर भूमि पर गिर चुका होता, किंतु स्वयं युधिष्ठिर ही उसके रक्षा-कवच बन गए थे। पांडवों के साथ किए गए व्यवहार का दंड सिवाय प्राण-दंड के और क्या हो सकता था···किंतु युधिष्ठिर का धर्म आड़े आ रहा था। धर्मराज ने कहा था कि तेरह वर्षों तक वे अपने धर्म का पालन करना चाहते थे···और इसलिए दुर्योधन की मृत्यु तेरह वर्षों के लिए टल गई थी। कृष्ण को अपने रोष का दमन करना पड़ा था। यदि वे अपनी ओर से भी दुर्योधन को दंडित करना चाहते, तो युधिष्ठिर का धर्म खंडित होता था···धर्म युधिष्ठिर का था, और हाथ कृष्ण के बँध गए थे···पर अब स्थिति बदल गई थी। सांब की मूर्खता, और दुर्योधन के दंभ ने कृष्ण के हाथ बंधन-मुक्त कर दिए थे। उन्हें हस्तिनापुर पर आक्रमण करने का पूरा अधिकार था। वे अपने पुत्र को कारागार से मुक्त कराने के लिए सैनिक अभियान कर सकते थे। इसमें युधिष्ठिर के धर्म के लिए कोई बाधा नहीं थी।···दुर्योधन को तो अपने पापों के कारण मरना ही था, उसकी मृत्यु के निमित होने का यश चाहे पांडवों की यातनाओं को मिले, अथवा सांब के कारागार को···

सहसा, किसी झंझावात के समान जांबवती, उनके सम्मुख प्रकट हो गई, "आपने सुना, सांब दुर्योधन के कारागार में है ?"

"तो और कहाँ होना चाहिए उसे ?" कृष्ण मुस्करा रहे थे।

जांबवती ने फटी-फटी आँखों से उन्हें देखा और फिर आँखों से अश्रु और मुख से शब्द एक साथ बह निकले, "किसी की भी माया-ममता आपको है या नहीं ? पुत्र शत्रुओं के कारागार में है और आप मुस्करा रहे हैं।···"

"मेरा तो भाग्य ही यही है सुनयने !" कृष्ण बोले, "कंस की मृत्यु का आह्वान करने के लिए मेरे माता-पिता को उसके कारागार में रहना पड़ा था; और मेरे छह भाइयों को प्राण देने पड़े थे। अब कदाचित् दुर्योधन की मृत्यु को निमंत्रित करने के लिए, मेरे पुत्र को उसके कारागार में जाना पड़ा है।"

जांववती के अश्रु सूख गए, "कव प्रयाण करेंगे आप ?"

"नारायणी सेना को सज्जित होने का आदेश दे दिया है। महारथियों को निमंत्रण भेज रहा हूँ।" कृष्ण उल्लसित स्वर में बोले, "कहो, तो मैं सेना के बिना ही चला जाता हूँ, तुम पीछे से सेना लेकर आ जाना।..."

"अच्छा ! अब अपनी सेना के नियंत्रण का भार भी मुझ पर डालना चाहते हैं।" जांबवती ने कुछ इतराकर कहा, "स्वयं खड़े वंशी बजाएँगे क्या ?"

"ठीक कहा तुमने ! अब तो यह नारायणी सेना भी भार ही है।" कृष्ण गंभीर थे, "न उसमें सामरस्य है, न अनासक्ति...इसलिए उसमें संगीत भी नहीं है।"

जांववती ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। थोड़ी देर तक मौन खड़ी रही, फिर जैसे जाने से पहले चेतावनी-सी देती हुई बोली, "जल्दी से सांव को लौटा कर लाओ, नहीं तो तुम्हारा सारा यश हस्तिनापुर की गलियों में लोगों के पैरों तले रौंदा जाएगा।..."

"ऐसा ही होगा चारुनयने ! ऐसा ही होगा।" कृष्ण पुनः मुस्करा रहे थे, किंतु इस वार वक्रतापूर्वक !

बलराम ने सुना तो जैसे उनका रस-भंग हो गया : यह क्या मूर्खता की सांब ने। अपने मित्रों के साथ मिलकर लक्ष्मणा के हरण की योजना बनाई। सांव ने उन्हें वताया होता, तो वे स्वयं सांव के साथ जाते; और सांव अन्य राजकुमारों के समान, स्वयंवर में सम्मिलित होता। हस्तिनापुर से औपचारिक निमंत्रण नहीं आया था, तो क्या हुआ। यह दुर्योधन की पुत्री का स्वयंवर था; और दुर्योधन उनका शिष्य था। आवश्यक तो नहीं कि शिष्य के घर जाने के लिए, वे निमंत्रण की प्रतीक्षा करें। किसी कारण से निमंत्रण नहीं आ पाया होगा...किंतु वे सांव को लेकर हस्तिनापुर जा पहुँचते, तो सांव के स्वयंवर में सम्मिलित न हो पाने का, कोई कारण ही नहीं था...फिर भी सांब उनसे चर्चा किए बिना चला गया।...और दुर्योधन ने यह क्या मूर्खता की, कि उसे बंदी बनाकर, कारागार में डाल दिया !...ऐसा तो तभी होता है, जव कन्या-पक्ष वाले, वर को अपने योग्य नहीं मानते; अन्यथा हरण हो जाने के पश्चात् तो विवाह कर ही दिया जाता है। कोई वर को वंदी कर, कारागार में तो नहीं डाल देता...

बलराम ने कृतवर्मा की ओर देखा।

"कृष्ण को यह सूचना मिल गई क्या ?"

"हाँ ! मिल ही गई है।" कृतवर्मा ने कहा, "तभी तो सात्यकि अपना रथ, शस्त्रों से भर रहा है।"

बलराम का विचलित मन एक क्षण के लिए अपने प्रश्न और कृतवर्मा के

उत्तर में कोई संबंध नहीं जोड़ पाया, "सात्यकि कहाँ जाने की तैयारी कर रहा है ?"

"कृष्ण जा रहे हैं, दुर्योधन को दंडित करने। सात्यकि उनके साथ जाएगा।" कृतवर्मा बोला, "मैं आपको सूचित करने आया हूँ, कि मैं भी कृष्ण के साथ जाऊँगा। यद्यपि मैं सात्यकि से किसी प्रकार का सहयोग करना नहीं चाहता; किंतु मैं कृष्ण को इस संकट में अकेला नहीं जाने दूँगा।"

"किंतु कृष्ण ने मुझे तो कोई सूचना भिजवाई ही नहीं।" बलराम बोले, "क्या वह अकेला ही हस्तिनापुर पर आक्रमण करेगा ?"

"क्यों ? कृष्ण अकेले नहीं जा सकते क्या ?" कृतवर्मा हँसा, "कितने ही अभियानों में वे आपके बिना अकेले ही गए हैं।…"

बलराम ने शायद कृतवर्मा की बात नहीं सुनी। उनका मन अपनी ही तरंग में किसी और दिशा में चल पड़ा था…कृष्ण तो वैसे ही बहुत रुष्ट था दुर्योधन से। पांडवों के साथ हुए व्यवहार ने उसे बहुत उत्तेजित कर रखा था।…सांब के बंदी होने से तो कृष्ण को एक बहाना मिल गया था। वह सांब वाली घटना के व्याज से, दुर्योधन को अगले-पिछले सारे अपराधों के लिए दंडित करेगा…कृष्ण सेना लेकर हस्तिनापुर पहुँचा तो हस्तिनापुर का कोई योद्धा जीवित नहीं बचेगा। बहुत संभव है कि कृष्ण दुर्योधन का वध कर दे…

बलराम अपने मन की प्रतिक्रियाओं को देखकर चकित थे…उन्हें सांब की कोई चिंता नहीं हो रही थी, वे दुर्योधन के लिए चिंतित हो रहे थे। कृष्ण दुर्योधन को जीवित नहीं छोड़ेगा।…और सांब !…नहीं ! दुर्योधन सांब को कोई क्षति नहीं पहुँचा सकता। वह, यह कैसे भूल सकता है कि सांब, बलराम का भ्रातष्पुत्र है…किंतु कृष्ण अवश्य ही उसकी हत्या कर देगा…संसार का एक श्रेष्ठ गदाधारी व्यर्थ ही मारा जाएगा…बलराम के मन में हूक उठी…उनका अपना सर्वश्रेष्ठ शिष्य, उनके अपने भाई के हाथों मारा जाएगा…सर्वश्रेष्ठ ? हाँ, सर्वश्रेष्ठ !…भीम उसके जोड़ का योद्धा अवश्य था…किंतु भीम में बल अधिक था…युद्ध-कौशल में तो दुर्योधन ही श्रेष्ठतर था।…बलराम अपने इस शिष्य को इस प्रकार तो मरने नहीं देंगे…

वे उठकर खड़े हो गए।

"कहाँ जा रहे हैं बल भैया !" कृतवर्मा ने पूछा।

"कृष्ण के पास ! चलो, तुम भी चलो।" बलराम बोले, "इतनी बड़ी बात हो गई और कृष्ण ने मुझे सूचना भी नहीं दी !…"

कृष्ण ने बलराम को आदरपूर्वक बैठाया ! रुक्मिणी, सत्यभामा और जांबवती उन्हें प्रणाम कर, भीतर चली गईं।

"तुम सेना सजा रहे हो कृष्ण ?" बलराम ने पूछा।

"हाँ भैया ! सूचना तो आपको भी मिल ही गई होगी।"

कृष्ण की इस सहजता से, बलराम कुछ विचलित हुए; किंतु अगले ही क्षण सँभलकर बोले, "सेना की क्या आवश्यकता है ?"

"वहाँ भयंकर युद्ध होगा भैया !" कृष्ण बोले, "आप जानते हैं, दुर्योधन अन्यायव्रती भी है और दंभी भी ! बल-प्रयोग तो करना ही पड़ेगा।"

"अरे कृष्ण !" बलराम कुछ अतिरिक्त गंभीर स्वर में बोले, "तुम सेना लेकर जाओगे। कौरवों को मारोगे। वे सबल हुए तो यादवों को मारेंगे; दुर्बल पड़े तो प्रतिशोध के लिए सांब के प्राणों का सौदा करेंगे। यदि सांब जीवित न रहा, तो तुम सारे कौरवों को मार डालोगे··· ।"

"तो ?"

"क्या आवश्यकता है, इस विनाश की !" बलराम का स्वर शांत था, "मैं स्वयं जाऊँगा हस्तिनापुर। दुर्योधन से सीधे-सीधे सांब को लौटा लाऊँगा। सांब की इच्छा होगी, तो लक्ष्मणा को भी ले आऊँगा।···"

"दुर्योधन आपकी बात मान जाएगा ?"

"शिष्य है मेरा। मेरे आदेश का उल्लंघन नहीं कर सकता।" बलराम का स्वर कोमल हो गया, "जो कार्य शांति से हो सकता है, उसके लिए रक्तपात क्यों ?"

कृष्ण समझ गए कि बलराम क्या चाहते हैं।

"भैया ! वैसे तो दुर्योधन इतने पाप कर चुका है कि उसका वध ही, एक मात्र उचित कर्तव्य है।" कृष्ण बोले, "फिर भी मैं नहीं चाहता कि व्यर्थ ही यादवों और कौरवों का रक्त बहे···किंतु यदि सांब सुरक्षित नहीं लौटा··· ।"

"तो मैं दुर्योधन को बाँधकर, तुम्हारे चरणों में डाल दूँगा।"

"ठीक है।" कृष्ण बोले, "मैं आपकी बात नहीं टालूँगा। आप हस्तिनापुर हो आएँ। मैं आपकी प्रतीक्षा करूँगा।"

बलराम उठ खड़े हुए। वे प्रसन्न थे : उन्होंने अपने शिष्य को निश्चित् मृत्यु से बचा लिया था।

कृष्ण की मुद्रा गंभीर थी। वे सोच रहे थे : आज उनको अपना ही भाई, इतना पराया क्यों लग रहा था ?···

बलराम के साथ अधिक सैनिक नहीं थे। वस्तुतः उन्हें अपने लिए, सैनिकों की कभी कोई उपयोगिता अनुभव ही नहीं हुई थी।···जाने क्यों कृष्ण अड़ गए थे कि वे अपने साथ कुछ वाहिनियाँ और कुछ सेनापति अवश्य लेकर जाएँ। कृष्ण ने उद्धव को भी साथ भेज दिया था।···बलराम जानते थे कि कृष्ण उनके साथ उद्धव को तभी भेजते थे, जब उन्हें यह आशंका होती थी कि वे अपने क्रोध को नियंत्रित नहीं कर पाएँगे और असाधारण विनाश कर बैठेंगे। उद्धव की वाणी बहुत मधुर

थी और उसे क्रोध भी कम आता था। वह शांत मन और वाणी से, तर्क के रूप में अत्यन्त कटु बातें भी कह जाता था; किंतु कोई यह अनुभव नहीं करता था कि उद्धव ने झगड़ा किया है अथवा कोई अभद्रता की है।...जाने ऐसा क्यों था कि वे ही बातें जब बलराम कहते थे, तो उनका स्वर ऊँचा हो जाता था, उनकी वाणी में आवेश आ जाता था और उनके चेहरे पर भी मधुर भाव नहीं रह जाते थे...अन्य लोगों को तो जो अनुभव होता था, वह होता ही था, स्वयं उन्हें लगता था कि उनका झगड़ा हो गया है और अब, कभी, उस व्यक्ति से मधुर वार्तालाप नहीं हो सकता।

किंतु इस बार तो कृष्ण के आशंकित होने का कोई कारण नहीं था। बलराम ने तो स्वयं ही कृष्ण के क्रोध को शांत करने के लिए हस्तिनापुर जाना स्वीकार किया था...फिर जाने क्यों आशंकित था कृष्ण !...

बलराम ने हस्तिनापुर के वर्द्धमान द्वार के बाहर गंगा-तट पर अपना शिविर स्थापित किया।

"आप दुर्योधन के प्रासाद में नहीं जाएँगे भैया ?" उद्धव को कुछ आश्चर्य हो रहा था। बलराम न तो अधिक औपचारिकता में पड़ते थे और न ही उन्हें दुर्योधन इतना पराया लगता था कि वे उसके निमंत्रण की प्रतीक्षा करते।

"अपनी बात होती, तो मैं सीधा वहीं गया होता।" बलराम बोले, "किंतु इस समय मैं यादवों का, महाराज उग्रसेन का प्रतिनिधि हूँ। उनके सम्मान की रक्षा के लिए आवश्यक है कि मैं कौरवों से, उचित अगवानी और सम्मान की अपेक्षा करूँ।..." उन्होंने उद्धव के कंधों पर हाथ रखा, "तुम मेरे प्रतिनिधि के रूप में कुरुओं की राजसभा में जाओ। उन्हें सूचना दो कि मैं आया हूँ; और नगर के बाहर उनकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

राजसभा के द्वारपाल ने द्वारका से उद्धव के आने की घोषणा की और बताया कि वे महाराज धृतराष्ट्र के दर्शन करना चाहते हैं; तो प्रत्येक सभासद चौंका।...लक्ष्मणा के हरण की घटना को बहुत समय नहीं बीता था। वे सब सावधान थे कि उन्होंने कृष्ण के पुत्र को बंदी बनाकर हस्तिनापुर के कारावास में रखा हुआ है। ऐसे में कृष्ण का ससैन्य आगमन कुछ अधिक स्वाभाविक होता; किंतु यह उद्धव ?...

धृतराष्ट्र और दुर्योधन को अपने गुप्तचरों से, बलराम के आने और गंगा-तट पर ठहरने की सूचना पहले ही मिल चुकी थी; किंतु उन्होंने पूर्ण अज्ञान का ही अभिनय किया।

"बुलाओ ! बुलाओ उद्धव को।" धृतराष्ट्र ने आदेश दिया, "उसे ससम्मान

भीतर लिवा लाओ।"

उद्धव ने सभा में आकर धृतराष्ट्र को प्रणाम किया ! भीष्म, वाह्लीक, सोमदत्त इत्यादि की अभ्यर्थना की। शेप सभासदों का अभिवादन किया; और आसन ग्रहण किया।

"कहो उद्धव ! द्वारका में सब कुशल तो है न ?" धृतराष्ट्र ने पूछा।

"आपकी कृपा है महाराज।" उद्धव ने अपनी संगीतमयी वाणी में कहा, "महाराज उग्रसेन के प्रतिनिधि के रूप में वासुदेव वलराम, आपकी नगरी में पधारे हैं। उन्होंने अपना शिविर नगर-द्वार के वाहर, गंगा-तट पर स्थापित किया है।"

दुर्योधन का मन वलराम के आगमन की सूचना मिलने के क्षण से ही एक विचित्र प्रकार की स्तब्धता का अनुभव कर रहा था : कृष्ण के स्थान पर वलराम आए थे, जो उसके प्रतिद्वन्द्वी नहीं, उसके गुरु थे। यादवों की सेना नहीं आई थी, वलराम के साथ, उनकी कुछ अंगरक्षक वाहिनियाँ ही थीं। उनकी भंगिमा भी युद्ध की नहीं थी, वे मैत्रीपूर्ण ढंग से भेंट करने आए थे।…दुर्योधन की प्रतीक्षा व्यर्थ हुई। कृष्ण ने उसकी चाल को भाँप लिया था ?…या वह डर गया था ?…वलराम भी यदि आक्रामक मुद्रा में आए होते, तो उनसे युद्ध किया जा सकता था। वे पराजित होकर लौटते, तो कृष्ण स्वयं आता।…किंतु वलराम युद्ध की मुद्रा में नहीं आए थे…वे प्रेम जताएँगे और अपने भतीजे को माँगेंगे।…दुर्योधन के लिए उनका तिरस्कार करना कठिन होगा…वस्तुतः वह उनका तिरस्कार करना भी नहीं चाहता था। उसकी रणनीति में वलराम का बहुत महत्त्व था। कृष्ण का बल क्षीण करने के लिए, वलराम का प्रयोग किया जा सकता था…पर यदि बलराम की वात मानकर सांव उन्हें लौटा दिया, तो न तो कृष्ण के वध की, उसकी कामना पूर्ण हो पाएगी, न स्वयंवर न होने पाने से हुई हानि की क्षतिपूर्ति हो पाएगी, न यादवों के सम्मुख कौरवों की नाक ऊँची रह पाएगी।…

यह किसकी चतुराई थी ? दुर्योधन सोच रहा था–क्या कृष्ण ने इतनी दूर तक पहले ही भाँप लिया था, इसलिए वलराम को भेज दिया ? बलराम का तिरस्कार वह नहीं कर सकता। यादवों के घर में उसका पक्ष लेने वाले बलराम ही थे…या फिर कृष्ण के परम मित्र और शिष्य सात्यकि का परम शत्रु कृतवर्मा।…इन दोनों को ही न वह रुष्ट कर सकता है, न उनकी उपेक्षा कर सकता है…

"मेरे गुरुदेव पधारे हैं।" वह अकस्मात् बोला, "हमें उनका स्वागत करने के लिए नगर-द्वार से वाहर जाना चाहिए।"

धृतराष्ट्र को लगा कि दुर्योधन भी कदाचित् वही सोच रहा था, जो उसके अपने मन में था, तभी तो वह ऐसी वाणी बोल रहा था।

"संजय ! राजकीय रथ तैयार किए जाएँ।" धृतराष्ट्र ने आदेश दिया, "हम

वासुदेव बलराम का स्वागत करने, नगर-द्वार पर जाएँगे; और उन्हें अपने साथ अपने प्रासाद में लाएँगे।"

भीष्म और विदुर की मुद्रा खिल उठी। द्रोण कुछ संकुचित हो उठे...उन्हें लगता था कि यादवों का सम्मान किसी-न-किसी गणित से, अंततः पांचालों के सम्मान में परिणत हो जाता था, जो द्रोण को किसी भी रूप में प्रिय नहीं था।...सांव का कुरुओं के हाथों बंदी होना, एक ऐसी घटना थी, जिसमें यादव और कुरु सदा के लिए, एक-दूसरे के शत्रु हो सकते थे...किंतु लक्षण ऐसे नहीं हैं...

कौरवों ने गंगा-तट पर जाने की तैयारी की, किंतु द्रोण उनके साथ नहीं गए। अनेक उपहारों के साथ स्वयं धृतराष्ट्र, भीष्म, वाह्लीक, सोमदत्त, भूरिश्रवा, दुर्योधन और उसके अनेक भाई, राजकीय समारोह के साथ गंगा-तट पर बलराम के शिविर में पहुँचे।

दुर्योधन को अपने सामने देखकर, बलराम के मन में ममत्व जागा। वे भूल गए कि इस दुर्योधन ने पांडवों के साथ क्या व्यवहार किया था...उसने सदा कृष्ण के शत्रुओं का पक्ष लिया था। इस समय भी उसने सांव को बंदी बनाकर, कारागार में डाल रखा था...उन्हें स्मरण रहा तो केवल इतना कि वह उनका सर्वश्रेष्ठ शिष्य था। उनकी इच्छा हुई कि दुर्योधन को कंठ से लगा लें। उसके कंधे पर प्रेम से हाथ रख पूछें, "तू कैसा है दुर्योधन ?"

पर तभी उन्हें कुछ स्मरण हो आया।...वे यादवों के प्रतिनिधि के रूप में कौरवों की राजधानी में आए थे; और उन्हें न केवल सांब और लक्ष्मणा को प्राप्त करना था, उन्हें यादवों के सम्मान की भी रक्षा करनी थी।...उन्हें कुछ कठोर भी होना पड़े, तो कोई बात नहीं। उन्हें कोमलता से बचना होगा, क्योंकि उनकी कोमलता दुर्योधन के लिए घातक होगी...

"महाराज धृतराष्ट्र !" बलराम बोले, "मैं आपके लिए सर्वसमर्थ सम्राट् उग्रसेन का आदेश लाया हूँ। आप कृष्ण के पुत्र सांब को न केवल तत्काल मुक्त कर दें, वरन् दुर्योधन-पुत्री लक्ष्मणा भी, सम्मान सहित उसे प्रदान करें।"

धृतराष्ट्र अभी अपने भीतर ऐंठ ही रहा था कि सोमदत्त उबल पड़ा, "उग्रसेन सर्वसमर्थ सम्राट् कब से हो गए। जो वृष्णी, भोज तथा अंधक यादवों का मुखिया मात्र है, वह सर्वसमर्थ सम्राट् हो गया ? कितने युद्धों में भाग लिया है उग्रसेन ने ? कितने राजाओं का दमन किया है उसने ?..."

शायद सोमदत्त अभी और भी बहुत कुछ कहता, किंतु बलराम ने बीच में ही टोक दिया, "आज यादवों से अधिक शक्तिशाली कोई नहीं है। ऐसा कोई युद्ध नहीं है, जो हमने जय न किया हो। यह दूसरी बात है कि युद्ध में महाराज उग्रसेन अपनी वृद्धावस्था के कारण स्वयं सम्मिलित न हुए हों; किंतु हम उन्हीं के प्रतिनिधि

हैं, सेनापति हैं—मैं, कृष्ण, युयुधान सात्यकि, कृतवर्मा···कोई भी हो, हमारे राजा, महाराज उग्रसेन ही हैं।"

बाह्लीक चिढ़ गए, "तुम लोग उसे राजा मानते रहो, हम नहीं मानते। यह हमारी कृपा ही समझो कि हम उग्रसेन द्वारा राजचिह्नों के प्रयोग पर आपत्ति नहीं करते; अन्यथा कब से सब कुछ छीन लिया होता···"

बलराम को इस तकरार में तनिक भी आनन्द नहीं आ रहा था। ऊवकर बोले, "मैं तुम लोगों से महाराज उग्रसेन के लिए राज-मान्यता प्राप्त करने नहीं आया। मैं तो सांब और लक्ष्मणा को लेने आया हूँ।···"

"बलराम ! तुम यह तो सोचो कि जिनकी कन्या का अपहरण होगा, क्या वे उसका प्रतिरोध भी नहीं करेंगे··· ।" धृतराष्ट्र ने अपने स्वर को कुछ मधुर बनाने का प्रयत्न किया।

किंतु बलराम अब तर्क सुनने से परे जा चुके थे। उन्हें सोमदत्त और बाह्लीक की बातें, पहले क्षण से ही कष्टकर लगी थीं। क्रमशः एक ओर बातों के प्रभाव की तिक्तता बढ़ती ही जा रही थी और दूसरी ओर बलराम के क्रोध की मात्रा।

"मुझे वह सब कुछ नहीं सुनना।" उनका आक्रोश प्रकट रूप से सामने आ गया, "हमारा पुत्र तत्काल हमें लौटाओ—अभी ! इसी क्षण ! नहीं तो, रण-सज्जित हो जाओ। मैं अपने साथ यादवों की सेना नहीं लाया। किंतु, तुम कायरों की वीरता की गहराई को जानता हूँ; इसलिए अकेला ही युद्ध के लिए उपस्थित हूँ।"

धृतराष्ट्र अवाक् रह गया। वह तो बलराम को पांडवों से छीनकर, अपना बनाने आया था; किंतु वैसा कुछ संभव नहीं हो रहा था···वह यह भी समझ रहा था कि यदि वे लोग वहाँ और ठहरे, तो दुर्योधन चाहे कुछ कहे, न कहे; अन्य कौरव योद्धा मौन नहीं रहेंगे और बात बहुत बढ़ जाएगी। बलराम के क्रोध को भड़काने का, कौरवों को बहुत भारी मूल्य चुकाना पड़ेगा। यादवों में परस्पर फूट डालकर, उनको दुर्बल करने का जो स्वप्न वह अपनी अंधी आँखों से देख रहा था, वह कभी पूरा नहीं हो पाएगा। इस झगड़े को यादव अपना सामूहिक अपमान मानेंगे। वे लोग और भी एकजुट हो जाएँगे। सांब, कृष्ण का पुत्र है; और बलराम उसे लेने आए हैं।···कौरवों के विरोध के कारण, दोनों भाइयों के मध्य पड़ी दरार पट जाएगी और वे दोनों पहले के समान सर्वथा एक हो जाएँगे।···और यदि कृष्ण और बलराम—दोनों एक हो जाएँगे, तो वे कृष्ण के प्रभाव के कारण, पांडवों के पक्ष में चले जाएँगे; और पांडव अजेय हो जाएँगे···

घटनाओं की दिशा देखते हुए दुर्योधन कुछ दुःखी हुआ था कि कुरु-वंश के ये दो वृद्ध जाने क्यों यादवों को अपना शत्रु बनाने के लिए कटि बाँधे हुए हैं···उसकी इच्छा हुई कि वह आगे बढ़कर बलराम के चरण पकड़ ले। उन्हें मनाकर, अपने साथ अपने प्रासाद में ले जाए !···किंतु अगले ही क्षण, उसकी बुद्धि चेत

गई।···बलराम को प्रसन्न करके, यदि उन्हें वह अपने साथ ले गया, तो उनकी इच्छापूर्ति भी करनी होगी। वे सांब को माँगेंगे। दुर्योधन को लक्ष्मणा और सांब–दोनों ही उन्हें सौंपने पड़ेंगे। कौरवों और यादवों में समझौता हो जाएगा···ऐसी स्थिति में न कृष्ण हस्तिनापुर आएँगे, न वे दुर्योधन के जाल में फँसेंगे।···उलटे वे बलराम को और प्रिय हो जाएँगे और बलराम उन्हें···इससे तो अच्छा है कि यह झगड़ा बढ़ जाए। बलराम रुष्ट होकर लौट जाएँ। कृष्ण, सेना लेकर हस्तिनापुर पर आक्रमण करें; और दुर्योधन उन्हें घेरकर बंदी बना ले···बाह्लीक और सोमदत्त ने बहुत अच्छा किया···दुर्योधन का मनचाहा किया। दुर्योधन चाहकर भी अपना इतना हित नहीं साध सकता था, जितना बाह्लीक और सोमदत्त ने अनायास ही साध दिया। यह झगड़ा जितना बढ़े, उतना ही अच्छा···

धृतराष्ट्र के पहले संकेत पर दुर्योधन का रथ हस्तिनापुर की ओर मुड़ गया।···व्यक्तिगत रूप से बलराम, दुर्योधन से रुष्ट नहीं हो सकते। दुर्योधन तो अपने पिता की आज्ञा का पालन कर रहा था···और पिता ही नहीं, कुल-वृद्धों की आज्ञा का पालन भी धर्म था···

बलराम ने देखा, सारे कौरव, जैसे एक मूक-संधि के अंतर्गत, अपना-अपना रथ मोड़कर नगर को लौट गए। उनमें से किसी ने न बलराम को नगर में आने के लिए आमंत्रित किया, न किसी ने उन्हें विदा करने की आवश्यकता समझी, और न ही किसी ने उनसे अनुमति ली···क्षुब्ध बलराम, खड़े, कौरवों को जाते हुए देखते रहे···

यदि कौरवों ने उनपर शस्त्रों से प्रहार किया होता, तो भी शायद बलराम को इतना कष्ट न होता; किंतु इतनी उपेक्षा···जैसे वे बलराम न हों, मार्ग की कोई शिला हों···बलराम की इच्छा हुई कि इन अहंकारी कौरवों को इनकी नगरी समेत इसी गंगा में डुबो दें···

अपने भवन में लौटकर दुर्योधन ने पाया कि काशिका उसकी प्रतीक्षा कर रही थी।

"क्या बात है ?" दुर्योधन ने पूछा।

"बलरामजी से संधि हुई ?"

"नहीं !"

"क्यों ?" काशिका के स्वर में भय था।

"क्योंकि तुम कुरुओं की संधि-विग्रहक नहीं हो।" दुर्योधन खीझकर बोला, "तुम्हें उससे क्या लेना-देना। तुम केवल यह देखो कि लक्ष्मणा कोई उत्पात् न करे।"

"वह उत्पात् नहीं कर रही, केवल पूछ रही थी।"

"क्या ?"

"वही, जो मैंने आपसे पूछा।"

"ओह !" दुर्योधन ने और कुछ नहीं कहा; किंतु उसका मन बहुत दूर तक, बहुत कुछ सोच गया···तो लक्ष्मणा, इस प्रतीक्षा में बैठी है कि बलराम से कोई संधि हो जाए और उसका हाथ, सांब के हाथ में दे दिया जाए···यह कैसा उन्माद हो गया है इस लड़की को ? जिन माता-पिता ने उसे अब तक इतने प्रेम और यत्न से पाला-पोसा है, उनकी चिंता उसे नहीं है।···और जो, उन माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध, कुरु-राज्य और कुरु-कुल के नियमों के विरुद्ध, उनके सम्मान की अवहेलना कर, उसका अपहरण कर, उसे लिए जा रहा था–उसकी चिंता है उसे। वह उसे आकृष्ट कर रहा है। विरोध में भी एक प्रकार का आकर्षण होता है क्या ?···

"यादवों से हमारी कोई संधि नहीं हो सकती।" दुर्योधन बोला, "कह दो लक्ष्मणा से। किसी संधि की प्रतीक्षा न करे।"

"तो क्या सांब को उसके अपराध के लिए मृत्यु-दंड दिया जाएगा ?" काशिका ने चिंतित स्वर में पूछा।

"नहीं। जिसका युद्ध में वध नहीं किया गया, उसे मृत्यु-दंड क्यों दिया जाएगा ?" दुर्योधन पुनः खीझ कर बोला, "उसे इतने प्रयत्न से इसलिए बंदी किया गया था कि युद्ध-क्षेत्र में उसका वध न कर, कारावास में किया जाए ?"

"मैं क्या जानूं !" काशिका कुछ उपेक्षा से बोली, "उसे मृत्यु-दंड भी नहीं दिया जाएगा। संधि भी नहीं की जाएगी।···तो क्या उसे कारागार में रखकर, प्रतीक्षा की जाएगी कि कब वह स्वयं कारागार तोड़कर भाग जाता है, अथवा कब कोई उसे मुक्त कराकर ले जाता है।"

दुर्योधन की सारी खीझ समाप्त हो गई। उसे इस चर्चा में विनोद का-सा रस आने लगा··जो कुछ काशिका कह रही है, प्रत्येक व्यक्ति यही सोचेगा। कोई नहीं जानता कि दुर्योधन की क्या योजना है। वह किसकी प्रतीक्षा कर रहा है···

सहसा दासी ने कक्ष में प्रवेश कर, प्रणाम किया, "महाराज के विशेष दूत संजय, युवराज से भेंट की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

दुर्योधन को कुछ आश्चर्य हुआ···सहसा यह क्या हो गया कि महाराज ने उसके पीछे-पीछे संजय को भेज दिया···

"उपस्थित करो !"

संजय ने आकर प्रणाम किया, "युवराज ! एक आवश्यक सूचना है।"

"बोलो !"

"वासुदेव बलराम ने हस्तिनापुर की गंगा से लगती प्राचीर को अपने आयुध

से क्षतिग्रस्त कर दिया है। गंगा का जल नगर में धीरे-धीरे प्रवेश कर रहा है। उन्हें रोकने के लिए गए सैनिक हताहत होकर लौटे हैं। वलराम प्राचीर को निरंतर तोड़ रहे हैं। लगता है कि वे नगर को गंगा में वहा देंगे।"

दुर्योधन चकित रह गया : यह वलराम ने क्या किया !...यह आशंका तो हो सकती थी कि वलराम से युद्ध होगा, किंतु नगर को गंगा में डुवो देने की यह योजना...

"नगर-रक्षक-वाहिनियों के सेनापति क्या कर रहे हैं ?" दुर्योधन कुछ अटपटा गया था।

"वे सव व्यूह-वद्ध खड़े हैं। वलरामजी की वाहिनियाँ भी आत्म-रक्षा के लिए सन्नद्ध खड़ी हैं।"

"तो हमारे सैनिक प्रहार क्यों नहीं करते ?" दुर्योधन वोला, "यादवों की संख्या ही कितनी है।"

"उनके निकट जाकर उनसे युद्ध करने का साहस हमारे महारथी भी नहीं कर रहे।" संजय वोला, "धनुर्धर दूर से ही उन पर कुछ वाण छोड़ रहे हैं। उन वाणों को झेलने के लिए उद्धव और उसके सैनिक हैं। वड़ी वात यह है युवराज कि वलराम जी ने अपना आयुध हल, प्राचीर में कुछ इस प्रकार फँसा दिया है कि उनके संकेत भर से प्राचीर का एक वड़ा खंड, अपने स्थान से धसक जाएगा और गंगा का जल वेग से नगर में प्रवेश करने लगेगा। ऐसी स्थिति में नगर को वचाना कठिन हो जाएगा।"

"तो महाराज क्या चाहते हैं ?" दुर्योधन बोला, "व्यूह-वद्ध एक वड़ा और भयंकर सैनिक आक्रमण ?"

"महाराज की इच्छा है कि आप सांव को तत्काल मुक्त कर, राजकुमारी लक्ष्मणा को साथ ले जाकर, वलरामजी को समर्पित कर उनसे संधि कर लें।" संजय ने उत्तर दिया।

दुर्योधन को लगा, हस्तिनापुर की प्राचीर की रक्षा तो हो जाएगी, किंतु उसके मन में वनी योजना के प्रासाद की सारी प्राचीरें ढह जाएँगी।...वलराम विजयी होकर द्वारका लौटेंगे। कृष्ण को अपना पुत्र मिल जाएगा, तो वह क्यों हस्तिनापुर आएगा, दुर्योधन के जाल में फँसने ?...

किंतु इस समय और कोई विकल्प नहीं था। हस्तिनापुर को बचाना आवश्यक था।...सांव और लक्ष्मणा को, बलराम को समर्पित करना ही होगा...

कारागार की ओर जाते हुए, दुर्योधन के मन में एक और योजना जन्म ले रही थी...कृष्ण हस्तिनापुर आकर दुर्योधन के जाल में नहीं फँसा, तो क्या हुआ ! दुर्योधन का जाल तो द्वारका ही जा रहा है न ! लक्ष्मणा द्वारका में होगी, कृष्ण के अपने परिवार में। इस संबंध से कृष्ण और दुर्योधन समधी हो जाएँगे।...यह

तो पांडवों से भी निकट का संबंध होगा। दुर्योधन का कृष्ण पर अधिकार होगा, समधी का अधिकार।···आवश्यकता होने पर दुर्योधन भी पांडवों के समान, कृष्ण से सहायता की माँग कर सकेगा···तब कृष्ण उसका तिरस्कार नहीं कर पाएगा···

बलराम का पूरे राजकीय सम्मान से स्वागत कर, दुर्योधन उन्हें अपने प्रासाद के निजी कक्ष में ले आया।···

बलराम ने किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं किया था, और न ही उनके मन में किसी प्रकार का संशय अथवा संदेह ही था। उन्होंने दुर्योधन का सारा सत्कार निश्छल भाव से गुरुवत् ग्रहण किया।···और जब उनका धैर्य चुक गया, तो बोले, "दुर्योधन ! मुझे अभी तक सांब और लक्ष्मणा दिखाई नहीं दिए।"

"वे आ रहे हैं गुरुदेव ! उनका विदाई-योग्य शृंगार हो रहा है।" और सहसा दुर्योधन का स्वर अत्यन्त करुण हो गया, "अब आप मुझे एक बात बताएँ गुरुवर कि यदि यादव हमसे पारिवारिक संबंध जोड़ना ही चाहते हैं, तो फिर हमसे घृणा क्यों करते हैं ? पारिवारिक संबंध प्रेम के भरोसे चलते हैं, विरोध और घृणा से तो नहीं।"

"कौन तुमसे घृणा करता है दुर्योधन ?" बलराम ने सस्नेह उसके कंधे पर हाथ रखा, "यदि ऐसी कोई बात होती, तो मैं तुम्हें अपने शिष्य के रूप में क्यों स्वीकार करता।···और देखो, अब भी, जब तुमने सांब को बंदी बना लिया था, मैंने कृष्ण को रोक दिया, और स्वयं हस्तिनापुर आया। क्यों ? इसलिए कि मैंने मान लिया था कि तुम मेरी इच्छा का सम्मान करोगे। तुमसे घृणा होती, तो मैं इस विश्वास के साथ आता ?" बलराम रुके, "और जब तुम लोगों ने नगर-द्वार पर यादवों को अपशब्द कहे और मेरा तिरस्कार किया, तो भी मैंने उसके लिए तुम्हें दोषी नहीं माना··· ।"

"अब कुल-वृद्धों की जिह्वा तो मैं नहीं पकड़ सकता गुरुवर !" दुर्योधन बोला, "और न ही अपने पिता की अवज्ञा कर सकता हूँ।"

"जानता हूँ।" बलराम बोले, "इसीलिए मेरे मन में तुम्हारे प्रति तनिक भी असंतोष नहीं है।"

"आपके वात्सल्य को तो मैं जानता हूँ गुरुदेव !" दुर्योधन ने अपनी आँखों में कृतज्ञता उंडेली, "किंतु पांडवों की तुलना में तो आप हमें अपना शत्रु ही मानते हैं न ?"

"नहीं तो। मैंने ऐसा तो कभी नहीं माना।" बलराम कुछ अटपटे स्वर में बोले, "तुमसे किसने कहा ?"

दुर्योधन आग्रह-बोझिल नेत्रों से बलराम की ओर देखता रहा; और फिर किसी आग्रही शिशु के समान बोला, "तो फिर आप वचन दें कि हमारे और पांडवों के किसी भी संघर्ष में आप मध्यस्थ के समान रहेंगे; कभी किसी एक का पक्ष ग्रहण नहीं करेंगे।"

"मैं तो अभी भी यही मानता हूँ।" बलराम हँसे, "हम तो तुम दोनों को एक ही वंश के रूप में, एक ही आँख से देखते हैं।"

"ऐसा ही है, तो आप मुझे वचन दें कि हमारे और पांडवों के किसी संघर्ष में कोई यादव किसी भी एक पक्ष की ओर से शस्त्र नहीं उठाएगा।"

बलराम कुछ सँभले : यह कैसा वचन माँग रहा है।

"तुम दोनों में कोई संघर्प होने नहीं जा रहा।" बलराम बोले, "पांडव वनवास कर रहे हैं, सैन्य-संगठन नहीं।"

"पर यदि कभी संघर्ष हो तो आप यादवों की ओर से···।"

"दुर्योधन !" बलराम ने उसकी बात बीच में ही काट दी, "यादवों में जितनी स्वतंत्रता और जनतांत्रिकता है, उसे ध्यान में रखकर सोचो, ऐसा कोई वचन, मैं सारे यादवों की ओर से कैसे दे सकता हूँ।"

"ठीक है। तो अपने कुल की ओर से ही आप ऐसा वचन दीजिए।" दुर्योधन बोला, "यदि आपकी भगिनी सुभद्रा, पांडवों के परिवार में ब्याही है, तो अब मैं लक्ष्मणा का विवाह सांब से कर रहा हूँ। आपके परिवार से हमारा और पांडवों का समान संबंध है।···तो फिर किसी एक की पक्षधरता क्यों ?"

"हम किसी एक का पक्ष नहीं लेंगे। मध्यस्थ रहेंगे।" बलराम बोले।

"यदि हमारा और पांडवों का सशस्त्र संघर्ष हुआ, तो आपके कुल का कोई व्यक्ति शस्त्र नहीं उठाएगा; न हमारी ओर से, न पांडवों की ओर से।"

"ऐसा कोई संघर्ष नहीं होगा।" बलराम हँसे, "फिर भी, यदि हुआ, तो हमारे कुल का कोई व्यक्ति शस्त्र नहीं उठाएगा।"

"वचन देते हैं ?"

"हाँ ! वचन देता हूँ।"

"हमें कभी आपसे राजनीतिक अथवा सैनिक सहायता की आवश्यकता होगी, तो आपका कुल हमें भी उसी प्रकार सहायता देगा, जैसी सहायता आप पांडवों को देते आए हैं।" दुर्योधन बोला।

"हाँ ! हाँ ! ! देगा।" बलराम कुछ खीझकर बोले, "कह तो दिया, तुम्हारा और पांडवों का अधिकार एक समान होगा।"

"अपना वचन स्मरण रखिएगा।"

"स्मरण रहेगा।"

"और यदि कृष्ण नहीं माने तो ?" दुर्योधन ने अपना अंतिम अस्त्र चलाया।

"क्यों नहीं मानेगा। मैं उसका बड़ा भाई हूँ।" बलराम बोले, "मैं उसकी ओर से भी वचन दे रहा हूँ।"

दुर्योधन कुछ आश्वस्त दिखाई दिया। उसने संकेत किया।

सैनिकों में घिरे सांब और लक्ष्मणा भीतर आए।

"मैं इन दोनों बच्चों को आपको सौंप रहा हूँ।" दुर्योधन ने करुण चेहरा बनाया, "अब हमारी लाज आपके हाथ में है। ऐसा न हो कि कोई आपका वचन न माने, अथवा लक्ष्मणा को•आपके परिवर में इस कारण से सम्मान न मिले, कि वह दुर्योधन की पुत्री है।"

"पागल मत बनो।" बलराम ने उसका कंधा थपथपाया, "लक्ष्मणा हमारी पुत्र-वधू है। उसका असम्मान...वह स्वयं हमारे कुल का सम्मान है।"

दुर्योधन ने आगे बढ़कर गुरु के चरण छूने चाहे। बलराम अपनी सफलता से गद्गद् और दुर्योधन की अकिंचनता से परम आह्लादित थे। उन्होंने दुर्योधन को उसकी भुजाओं से पकड़कर उठाया और अपने वक्ष से लगा लिया, "चरण क्यों छूते हो। तुम अब हमारे समधी हो। आओ, गले मिलो।"

23

अर्जुन ने आज दिनभर चित्रसेन के साथ, नृत्य का अभ्यास किया था। उसका शरीर चित्रसेन के निर्देशों पर चल रहा था; किंतु उसका मन उसमें तनिक भी रम नहीं पाया था। एक समय था, जब नृत्य और संगीत में उसकी असाधारण रुचि थी; किंतु उस समय वह धनुर्विद्या का अभ्यास करता रहा था। उसने मान लिया था कि क्षत्रिय का कार्य तो राजनीति, दंड-नीति, युद्धाभ्यास तथा युद्ध ही था। नृत्य और संगीत तो उसके मनोरंजन के विषय थे। उनका दर्शक तथा श्रोता मात्र बने रहना ही पर्याप्त था। गायक अथवा नर्तक बनना आवश्यक नहीं था। हाँ ! उन शास्त्रों का इतना ज्ञान तो होना ही चाहिए था कि उनका आनन्द लिया जा सके।...

अमरावती में वह शस्त्राभ्यास के लिए ही आया था; और जब तक उसने अपना शस्त्राभ्यास पूरा नहीं कर लिया था; किसी अन्य दिशा में उसने झाँककर भी नहीं देखा था। तब तक उसे कभी अपनी माता, भाइयों अथवा पत्नियों का स्मरण भी नहीं आया था।...किंतु शस्त्राभ्यास हो जाने के पश्चात् वैजयन्त के आग्रह पर, अमरावती में रुके रहने का निश्चय उसे कभी भी बहुत आश्वस्त नहीं कर पाया था।...इन तेरह वर्षों के निष्कासन के पश्चात् दुर्योधन से उनका युद्ध अनिवार्य ही था। अधिक संभावना यही थी कि भीष्म पितामह तथा आचार्य द्रोण, दुर्योधन

के पक्ष से ही युद्ध करेंगे। ऐसे में पांडवों को शस्त्रों तथा शस्त्राभ्यास की अत्यधिक आवश्यकता थी। उन शस्त्रों के लिए वह ब्रह्मांड के किसी भी कोने में जा सकता था। भाइयों से दूर रह सकता था। माँ को विस्मृत कर सकता था। पत्नी और बच्चों की उपेक्षा कर सकता था। निराहार रहकर तपस्या कर सकता था।...किंतु शस्त्राभ्यास के पश्चात् इस प्रकार उनसे दूर रहने का क्या औचित्य था?...वे लोग वहाँ वनों में मारे-मारे फिर रहे होंगे। अन्य कठिनाइयाँ तो होंगी ही—दुर्योधन भी उन्हें पग-पग पर पीड़ित कर रहा होगा। उसके गुप्तचर पांडवों के पीछे लगे होंगे और क्षण-क्षण का समाचार दे रहे होंगे। बहुत संभव है कि वह सायास उन्हें आहत और अपमानित करने के लिए, भिन्न-भिन्न प्रकार के षड्यंत्र रच रहा होगा...और ऐसे में अर्जुन यहाँ अमरावती में वैजयन्त इंद्र के राजप्रासाद में सुरक्षित, सम्मानित और सुखपूर्ण जीवन ही नहीं बिता रहा, नृत्य और संगीत में मग्न है।...उसका मन इन सारी गतिविधियों में कैसे रम सकता था।

अमरावती के लोगों के तो जैसे प्राण ही भोग और विलास में बसते थे। उन्हें न दुःख की कोई आशंका थी, न भविष्य की कोई चिंता। उन्हें लगता था कि ईश्वर ने जो जीवन दिया है, वह क्षण-क्षण के भोग के लिए ही है। तभी तो सुख, भोग और विलास को न हेय दृष्टि से देखा जाता था, न उससे बचने का कोई प्रयत्न किया जाता था। काम और भोग सहज स्वीकृत थे, अतः उन्हें पूर्णता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता था। उसे और आकर्षक, और उत्तेजक बनाने का अनवरत प्रयास चल रहा था। तभी तो संगीत और नृत्य में उनके प्राण बसते थे और अप्सराएँ उनके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का अनिवार्य अंग थीं। युवा तो युवा, प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों को भी, उसमें तनिक संकोच नहीं था। वे यह मानते थे कि आरंभिक यौवन का भोग तो नासमझी का भोग था। उस काल में मनुष्य प्रकृति के आवेगों के सम्मुख इतना अवश होता है कि वह उनका अनुचर मात्र हो सकता है, उनका स्वामी नहीं। यह तो कुछ प्रौढ़ होने पर ही समझ में आता है कि प्रकृति के सृजन-धर्मा खिलौने के रूप में नहीं, स्वतंत्र स्वामी के रूप में स्वेच्छा से किए गए विलास और काम-क्रीड़ा के सुख का रस क्या होता है...

किंतु अर्जुन का चित्त कैसा तो हो गया था। उसे अपनी वृत्ति कुछ परिवर्तित हुई-सी लग रही थी।...इंद्रप्रस्थ से जब वह पहली बार बारह वर्षों के वनवास के लिए निकला था, तो प्रकृति के सान्निध्य में जब वह साधना के लिए बैठता था, तो वह अपने मन में भक्ति के उद्वेग का अनुभव करता था; किंतु प्रकृति से पृथक् हो, नारी के संपर्क में आते ही, वह कुछ और हो जाता था। उसे लगता था कि उसका दमित काम दोगुने वेग से प्रकट हो जाता था। तब वह भक्ति और भोग के इस असंतुलित संतुलन से चकित भी रह जाता था।...किंतु इस बार महादेव

शिव की जब से कृपा हुई है, वह पहले जैसा अर्जुन ही नहीं रहा था। जाने क्यों काम-प्रसंग उसके मन में एक कुत्सा-सी उत्पन्न कर देते थे। इंद्र-सभा में इतने दिनों तक सम्मिलित होते रहकर भी, उसका मन न काम की ओर आकृष्ट हो पाया, न अप्सराओं का सौंदर्य उसे मुग्ध कर पाया, न नृत्य और संगीत ही उसे आत्म-विस्मृति का सुख दे पाए…

अर्जुन, वैजयन्त के आग्रह को टाल नहीं सका था। वह उनसे कैसे कह देता कि उसका अमरावती आने का लक्ष्य पूरा हो गया है; इसलिए, अब वह उनके स्नेह तथा सत्कार का तिरस्कार कर, वापस अपने परिवार में लौट जाना चाहता है।…उन्होंने उसका असाधारण स्वागत किया था। स्वयं वैजयन्त प्रासाद में उसके ठहरने की व्यवस्था की थी। उसे पुत्र का-सा स्नेह और सम्मान दिया था।…वह इतना स्वार्थी नहीं हो सकता था कि इन सबकी अवहेलना कर, उनकी कोमल भावनाओं को रौदता हुआ लौट जाए। अपने सुख के लिए न सही, किंतु उनके आग्रह का सम्मान रखने के लिए तो उसे कुछ समय अमरावती में व्यतीत करना ही होगा।…

जाने क्यों वैजयन्त का प्रबल आग्रह था कि अर्जुन नृत्य और संगीत का अभ्यास करे।…तुंबरू से अर्जुन परिचित ही था। वही उसका संगीत-शिक्षक और संगीत-सहयोगी नियुक्त हुआ था।…अर्जुन यदि वैजयन्त के इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करता, तो उसके पास स्वयं को व्यस्त रखने के लिए कोई विशेष गतिविधि भी नहीं थी। वह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि अमरावती में रहकर वह आध्यात्मिक साधना और तपस्या करेगा।…ऐसा कोई प्रयत्न, वैजयन्त के वैभव के लिए अपमानजनक होता।…तो फिर संगीत का अभ्यास ही क्या बुरा था। उसे कौन-सा वैजयन्त की राज-सभा में गायन करना था। वह अपने सुख के लिए वेदों की ऋचाएँ गा सकता था, साम-गान कर सकता था। संगीत के माध्यम से ब्रह्म की आराधना कर सकता था, समाधि में प्रवेश कर सकता था…

किंतु यह नृत्य, किसी भी प्रकार, उसके मनोनुकूल नहीं पड़ रहा था। जिस प्रकार का कोमल और लचीला शरीर, नृत्य के लिए अपेक्षित था, वह अर्जुन के पास नहीं था। नृत्य में एकाग्रता की भी वह सुविधा उसे नहीं थी कि तन्मय होकर कुछ काल के लिए, अपने-आपको भूल जाता।…फिर भी चित्रसेन का उत्साह देखकर उसे कुछ-न-कुछ करते ही रहना पड़ता था…

दिनभर नृत्य का अभ्यास कर, संध्या ढलने पर ही वह अपने आवास पर लौटा था। शरीर थका हुआ था, और मन भी कुछ अवसन्न ही था। वन में रह रहे अपने भाइयों तथा पांचाली; हस्तिनापुर में निवास कर रही माता; कांपिल्य तथा

द्वारका में निवास कर रहे पुत्रों···के विपय में अनेक वार, अनेक कोणों से उसने सोचा था। कई वार यह विचार भी मन में आया कि वैजयन्त से कहकर, अब लौटने की योजना वना ही लेनी चाहिए। वन में अपने भाइयों के साथ रहेगा तो उनकी सुरक्षा तथा अन्य कार्यों में किसी प्रकार से सहायक हो सकेगा···नहीं तो ऋषियों की संगति में ब्रह्म-चर्चा तो होगी ही। संभव है कि वह साधना का ही कोई अवसर पा जाए···कैसी थी वह समाधि, जो इंद्रकील पर्वत पर लग गई थी। वैसा आनन्द तो अपनी स्मृति मात्र से तड़पा जाता था। क्या उसे पुनः उसी समाधि का सुख नहीं मिल सकता ? वह कई-कई दिवसों अथवा पक्षों तक उसी समाधि में निमज्जित बैठा नहीं रह सकता ?···

दासी ने भिड़े कपाट खोले और निकट आ, हाथ जोड़ धीरे से कहा, "आर्य ! द्वार पर अमरावती की शोभा, देवी उर्वशी खड़ी हैं। वे आपके साक्षात्कार का आग्रह कर रही हैं। क्या देव उनपर अनुग्रह करेंगे ?"

अपनी विचार-शृंखला की अन्विति में यह व्यवधान, अर्जुन को अच्छा नहीं लगा। उर्वशी को भी इस समय ही आना था। उसके विचार से काफी रात हो गई थी और भले लोगों को इस समय तक अपने-अपने विश्रामकक्ष में पहुँच जाना चाहिए था। अमरावती के वासियों को रात-रात भर समारोहों में उपस्थित रहने का अभ्यास अवश्य था, किंतु किसी के घर, उससे भेंट करने के लिए जाने का तो अब समय नहीं था···

किंतु उर्वशी का अमरावती में अपना महत्त्व था। वह वैजयन्त की सभा की श्रेष्ठ अप्सराओं में थी। स्वयं वैजयन्त उसकी कृपा के आकांक्षी रहा करते थे। संगीत और नृत्य—दोनों में ही वह असाधारण थी।···और अमरावती में महत्त्वपूर्ण होने के लिए, किसी स्त्री को इससे अधिक और कुछ नहीं चाहिए था···

"ससम्मान लिवा लाओ।" अर्जुन ने सायास कहा; और अपना उत्तरीय धारण कर लिया।

कपाट पुनः खुले और उर्वशी स्वयं प्रकट हुई। आज उसका रूप अद्‌भुत था। लगता था कि किसी विशेष अभियान के लिए, उसने असाधारण शृंगार किया था।··प्रकृति की ओर से उसे समृद्ध सौन्दर्य और शरीर सौष्ठव मिला था। नारी शरीर का कदाचित् वह सुंदरतम प्रारूप थी। शृंगार से वह और भी सान पर चढ़ आया था···यद्यपि अर्जुन की दृष्टि से यह छिपा नहीं था कि शृंगार और प्रसाधनों के सारे प्रयत्न के वाद भी उसके विदा होते हुए यौवन पर प्रौढ़ावस्था की छाया दिखाई पड़ रही थी···

अर्जुन ने उर्वशी को वैजयन्त की सभा में भी देखा था···जब पहली वार देखा था, तो उसके मुख-मंडल पर एक दिव्य-सी आभा दिखाई पड़ी थी···उसके हाव-भाव, नृत्य की कलात्मकता से आच्छादित, पवित्रता का एक दिव्य वायवीय

आलोक लिए हुए थे।···आज वह कलात्मकता, पवित्रता और दिव्यता के भाव या तो थे ही नहीं, अथवा अत्यन्त क्षीण थे। उनके स्थान पर मादकता और उत्तेजकता थी। देह का सौन्दर्य नहीं, स्वयं देह ही अनावृत्त होकर उसके सम्मुख थी। वस्त्र या तो बहुत कम थे, अथवा इतने झीने थे कि शरीर की स्थूलता को छिपाने के स्थान पर उसे रेखांकित कर रहे थे···

"पधारें देवि !" अर्जुन ने हाथ जोड़कर उर्वशी का स्वागत किया, "इतनी रात गए, इस प्रकार पधारने का कष्ट करने का कोई विशेष प्रयोजन तो होगा !···"

"ओ' फाल्गुन !" उर्वशी के नयनों से जैसे कटाक्ष बरस रहे थे, "बैठने को भी नहीं कहा और आने का प्रयोजन पूछने लगे।" उर्वशी ने स्वयं ही चुनकर आसन ग्रहण कर लिया, "तुम्हारे पास निष्प्रयोजन आने का निषेध है अथवा प्रयोजन पूछकर तत्काल विदा कर देना चाहते हो ?"

"नहीं ! न इतना अभद्र हूँ, न इतना अभागा।" अर्जुन ने स्वयं को कुछ संयत किया, "आपका शुभागमन मेरे लिए सम्मान का विषय है।···किंतु यह समय··· ।"

"तुम्हें यह समय बहुत विकट लग रहा है प्रिय ! किंतु अप्सराओं के लिए तो यही विहार का समय है।" उर्वशी हँसी, "आई तो मैं तुम्हारे ही पास हूँ; किंतु यह वैजयन्त का प्रासाद है। तुम मुझसे सुरा के लिए भी नहीं पूछोगे ?"

"सुरा !" अर्जुन को लगा, कि उर्वशी पहले से ही सुरा के कुछ अतिरिक्त प्रभाव में है। अब और सुरा···

"हाँ ! प्रासाद तो वैजयन्त का ही है।" अर्जुन हँसा, "किंतु उस प्रासाद का यह खंड, अपने आवास के रूप में मेरे पास है। यहाँ मेरी व्यवस्था है; और उसमें सुरा के लिए कोई स्थान नहीं है।···वैसे भी यह मेरे सोने का समय है, विहार का नहीं।"

"बड़े निष्ठुर हो फाल्गुन !" उर्वशी के अधर, शब्दों के अर्थ की ठीक विपरीत मुद्रा में मुस्करा रहे थे, "रात्रि के इस एकांत में मुझे अपने द्वार पर आया देख, वैजयन्त भी हर्ष से उन्मत्त हो जाते; और तुम हो कि तनिक-सा उत्साह भी नहीं दिखा रहे।"

अर्जुन को अपने चेहरे पर प्रसन्नता लाने के लिए कुछ प्रयास करना पड़ा।

"नहीं ! ऐसी तो कोई बात नहीं है। मैं आपके आने से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। मेरे लिए यह सम्मान का विषय है कि आप आईं।···मैं तो केवल समय की दृष्टि··· ।"

उर्वशी के कटाक्ष कुछ और प्रखर हो गए। वह इठलाकर बोली, "तुम भी फाल्गुन ! क्या समय की चर्चा कर रहे हो। कामदेव की प्रेरणा से आई हूँ। रतिदान

की भावना दिन के भोजन के समय तो नहीं हो सकती न।"

अर्जुन स्तब्ध खड़ा रह गया : कितना स्पष्ट था उर्वशी का आग्रह और कितना स्थूल···स्थूल ही क्यों बीभत्स···बीभत्स···उस पर न लज्जा का आवरण था, न मर्यादा के बंदनवार···यह देवत्व का धरातल नहीं था···न मनुष्यत्व का···यह तो पशुवत् व्यवहार था···अर्जुन का सौन्दर्य-बोध जैसे किसी भयंकर आघात से अचेत हो गया था। वह समझ नहीं पा रहा था कि उसे उर्वशी को क्या उत्तर देना चाहिए।···अब इस विश्लेषण की आवश्यकता भी नहीं रह गई थी कि उर्वशी इस समय क्यों आई थी। इस वेश-भूषा और प्रसाधन का अर्थ क्या था। उसका रूप इतना उत्तेजक और शरीर इतना निर्वस्त्र क्यों था···

उर्वशी मुस्कराती हुई अपने स्थान से उठी, और अपने शरीर की अनेक आकर्षक मुद्राओं का प्रदर्शन करती हुई, अर्जुन के सम्मुख आ खड़ी हुई, "क्यों ? अवाक् रह गए ? सोचते होगे कि जिस उर्वशी से सारी अमरावती के पुरुष काम-भिक्षा माँगते हैं, वह स्वेच्छा से तुम्हारे द्वार पर क्यों आ गई ?" उर्वशी ने अपनी भुजाएँ, अर्जुन के कंठ में डाल दीं, "क्या तुम्हें आज तक किसी मानुषी ने नहीं बताया कि तुम इतने सुंदर हो कि अप्सराएँ भी तुम्हें पाकर स्वयं को धन्य मानेंगी ?"

अर्जुन का मन अब तक पर्याप्त संयत हो चुका था···उसकी दृष्टि अपने श्वासों से छूते हुए उर्वशी के मुख-मंडल पर टिक गई। यह चेहरा उस दिन कितना दिव्य और महिमा-मंडित लग रहा था; और आज वह कैसा बीभत्स लग रहा है। मन की सारी विकृतियाँ जैसे साकार होकर, उस सौम्य चेहरे को मलिन ही नहीं, मलपूर्ण बना रही थीं···वह अप्सरा तो क्या, साधारण मानुषी जैसी आकर्षक भी नहीं लग रही थी। वासना में, प्रेम की आँच न हो, तो काम-याचना भी पाशविक लगने लगती है···घृणित और अपकर्षणमयी···

अर्जुन ने उसकी भुजाओं को अपने कठोर हाथों में थाम, यथासंभव कोमलता से परे हटा दिया···वे मृणाल नहीं थीं, न चंदन की सुगंध दे रही थीं···वे लिजलिजी नागिनें थीं, "न तुम मेरी प्रणयिनी हो, न मैं तुम्हारा प्रेमी !···तुमने मुझसे काम-याचना कर, मर्यादा का उल्लंघन किया है। इस प्रकार के संबंध के विषय में सोचना भी मेरे लिए पाप है।···"

उर्वशी के वक्ष पर जैसे भीषण आघात हुआ। आज तक किसी रूक्ष से रूक्ष, शुष्क से शुष्क तपस्वी ने भी, उसके साथ यह व्यवहार नहीं किया था···उसके भ्रू वक्र हो उठे। आहत-काम तिरस्कृत होकर क्रोध में परिणत हो गया था, "इतना दुस्साहस, किसके बल पर कर रहे हो अर्जुन ?"

"इसमें दुस्साहस की क्या बात है देव सुंदरि !" अर्जुन का स्वर कुछ कठोरता लिए हुए था, "अपने स्वाभिमान की रक्षा का अधिकार किसी भी मनुष्य को है।

में कोई सार्वजनिक संपत्ति नहीं हूँ कि कोई भी स्त्री मेरे कंठ में भुजाएँ डाल दे और घसीट कर अपनी शैया पर ले जाए।"

"जानती हूँ कि सार्वजनिक संपत्ति नहीं हो। द्रौपदी और सुभद्रा की निजी संपत्ति हो···।" नियंत्रण में दवा उर्वशी का क्रोध अब भी अमर्यादित होने के लिए मचल रहा था।

"ज्ञानी होते हुए भी अज्ञानी का-सा व्यवहार क्यों कर रही हो फिर ?"

"मैंने स्वीकार किया है कि मेरे मन में तुम्हारे प्रति काम-भाव था," उर्वशी आक्रोशपूर्वक बोली, "किंतु वही पूर्ण सत्य नहीं है।"

"तो पूर्ण सत्य क्या है मंगलमुखी ?"

"चित्रसेन ने वैजयन्त का संदेश दिया था कि तुम मुझमें आसक्त हो, अतः मैं तुम्हारी सेवा में उपस्थित होऊँ।"

अर्जुन चकित रह गया· वैजयन्त ने कैसे कह दिया कि वह उर्वशी में आसक्त है ?···

"किंतु यह असत्य है।" अर्जुन अपनी ओर से स्पष्टीकरण अवश्य दे रहा था; किंतु उसका मन स्वयं इस शोध में उलझ गया था कि वैजयन्त के ऐसा कहने का अर्थ क्या है ?··यह उनका भ्रम मात्र था ?···वे अर्जुन के सत्कर्म के लिए यह अनुग्रह आवश्यक समझते थे ?···अथवा यह भी अमरावती के शासक का किसी प्रकार का कोई षड्यंत्र था ?···

"सत्य क्या है, यह तो ईश्वर ही जानता है कुंतीपुत्र !" उर्वशी के स्वर की वक्रता और भी प्रखर हो उठी थी, "किंतु वैजयन्त का कहना है कि राजसभा में जब मैं नृत्य कर रही थी, तुम मुग्ध दृष्टि से निर्निमेष मुझे देख रहे थे।···और मैं जानती हूँ कि वैजयन्त के कथन में कुछ भी मिथ्या नहीं है। तुम्हारी वह लुब्ध दृष्टि मैंने भी देखी थी···और सत्य तो यह है कि मैं उसी क्षण तुममें आसक्त भी हुई थी।"

अर्जुन को राजसभा में नृत्य करती उर्वशी का वह दिव्य मुख-मंडल स्मरण हो आया।···हाँ ! वह एकटक निहार रहा था उस कमनीय तथा पवित्र मुख-मंडल को।···न वैजयन्त ने मिथ्या कहा था और न ही वह उर्वशी का भ्रम था।···किंतु अर्जुन के भाव को कितना दूषित कर दिया था, उन दोनों ने···

"देवि ! आप आसन ग्रहण करें, और मेरी बात सुनें।" अर्जुन ने आदरपूर्वक दोनों हाथ जोड़ दिए, "मैं इस भ्रम के निवारण का प्रयत्न करता हूँ।"

किंतु उर्वशी बैठी नहीं। वह अपनी तेजस्विनी दृष्टि से अर्जुन की ओर देखती रही।

"मैंने आपमें उस उर्वशी को देखा था, जो हमारे पूर्वज पुरुरवा की प्रेयसी थी, जिससे हमारे वंश की वृद्धि हुई थी।" अर्जुन बोला, "मेरी दृष्टि में तो पूज्य-भाव

था, मातृ-भाव ! उसमें वात्सल्य न देख, आपने काम-भाव देखा !…"

"अप्सराओं को भी कभी किसी ने मातृ-भाव से देखा है ?" उर्वशी की विपाक्त हँसी किसी का भी वक्ष छेद सकती थी, "तुम्हारे जैसा तो मैंने कोई पुरुप नहीं देखा, जो अप्सरा को काम-दृष्टि से नहीं, मातृ-दृष्टि से देखता है। अप्सरा का नृत्यलीन शरीर, उसके कंपित उरोज और उद्वेलित नितंब, तुम्हारे पौरुष को नहीं ललकारते, तुम्हारे मन में वात्सल्य जगाते हैं। तुम पुरुष नहीं हो, नपुंसक हो, पुंसत्वहीन क्लीव… । छोड़ दो यह धनुष-बाण। पैरों में नूपुर बाँधो और नपुंसकों के समान नाचो। नारी तुम बन नहीं सकते; पुरुष तुम हो नहीं। धिक्कार है तुम पर।…"

उर्वशी एक क्षण भी नहीं रुकी। वह पैर पटकती हुई, तत्काल द्वार से बाहर निकल गई…

अर्जुन अपने स्थान पर स्तंभित खड़ा था…क्या कह गई उर्वशी ! आज वह उसके कक्ष के एकांत में कह गई है, कल वह वैजयन्त की राजसभा में कहेगी।…किस-किसको स्पष्टीकरण देता रहेगा अर्जुन ! किस-किसको बताएगा वह कि उसे उर्वशी में भी कुंती और शची ही दिखाई पड़ी थीं। अमरावती में कौन स्वीकार करेगा इस बात को ? जहाँ पौरुष का अर्थ केवल संभोग-सामर्थ्य है, नारी केवल अप्सरा है, प्रेम केवल वासना है—उस अमरावती में अप्सरा को माता के समान पूज्य-दृष्टि से कौन देख सकता है, और कौन उसको समझ सकता है ?… पितामह भीष्म को भी तो पांडवों की सभा में शिशुपाल ने सार्वजनिक रूप से नपुंसक कहा था। भोगी पुरुष, ब्रह्मचर्य को नपुंसकता ही तो मानेगा। साहसिक की दृष्टि में वीरता का अर्थ क्रूर हत्याएँ करना है; किंतु वीर क्षत्रिय तो निर्बलों की रक्षा में प्राण देने को वीर-गति मानता है।…यह तो दृष्टिकोण का भेद है। अमरावती में केवल अर्जन है, विसर्जन नहीं; ग्रहण है, त्याग नहीं; भोग है, तपस्या नहीं।…इसलिए यहाँ अर्जुन के लिए कोई स्थान नहीं है। उसके लिए यहाँ और ठहरने का कोई प्रयोजन नहीं है।…

प्रातः जब अर्जुन, वैजयन्त से भेंट करने गया तो समझ गया, उन्हें रात की घटना का सारा समाचार मिल चुका था।

"तुमने उर्वशी को रुष्ट कर दिया फाल्गुन !" वे मुस्करा रहे थे।

"मैंने तो उसे रुष्ट नहीं किया वैजयन्त !" अर्जुन का स्वर उत्तेजनारहित था, "उसे रुष्ट किया है, उसके अपूर्ण काम ने। मैं कल रात ही पहली बार समझ पाया कि काम का क्रोध से क्या संबंध है। रुद्ध काम की परिणति, सिवाय क्रोध के और क्या हो सकती है।"

"ठीक कहते हो फाल्गुन !" वैजयन्त वोले, "वह भी अमरावती में, जहाँ काम कभी रुद्ध हुआ ही न हो।"

"मैं रात्रि भर सोचता रहा हूँ," अर्जुन धीरे से वोला, "कि अभी तो मुझ से केवल एक देवी उर्वशी ही रुष्ट हुई हैं··· किंतु अमरावती में केवल एक अप्सरा ही तो नहीं है। जब अप्सराएँ पुरुष को 'भोग्य' के रूप में ही देखती हैं, तो अन्य किसी अप्सरा को भी मेरा व्यवहार तिरस्कारपूर्ण लग सकता है।···हमारे संस्कार में प्रेम-विहीन संभोग का कोई अस्तित्त्व ही नहीं है।" अर्जुन रुका, "और बात इतनी-सी ही नहीं है··· ।"

"क्या बात है अर्जुन ?" वैजयन्त के स्वर में पहली वार गंभीरता परिलक्षित हुई।

"मुझे लगता है कि पिछले दिनों मेरे भीतर वहुत कुछ परिवर्तित हो गया है।"

"मैं समझा नहीं।"

"जव मैं इंद्रकील पर्वत पर तपस्या-हेतु आया था, तव मैं कोई अन्य ही व्यक्ति था। तव मैं अमरावती आया होता, तो मेरा व्यवहार कुछ और ही होता···किंतु··· ।"

वैजयन्त ने उसकी ओर देखा।

"जिस दिन महादेव शिव ने मुझ पर कृपा की। लगता है, उन्होंने मेरे भीतर निवास करने वाले अपने शत्रु अनंग का सर्वथा नाश कर दिया है। अब मुझे काम-प्रसंग में तनिक भी आकर्षण प्रतीत नहीं होता। कदाचित् मेरे लिए स्त्री-पुरुष में अभेद हो गया है। रति-प्रसंग मुझे गर्हित और घृणित लगता है। मुझे लगता है कि अव मैं किसी स्त्री को काम-प्रेरित दृष्टि से नहीं देख सकता; और यदि कोई स्त्री मुझे कामयुक्त दृष्टि से देखेगी, तो मेरे लिए अपनी सारी कमनीयता खो वैठेगी···कह नहीं सकता कि इस सवका अर्थ क्या है; किंतु मेरे साथ कुछ ऐसा ही हो गया है··· ।"

वैजयन्त मौन रहे। वे गंभीर भाव से अर्जुन की ओर देखते रहे। फिर धीरे से बोले, "लगता है कि महादेव ने तुम्हें भी अनंग-जय बना दिया है। यह तो वे ही जानें कि उनकी इच्छा क्या है; किंतु मुझे लगता है कि अब मैं तुम्हारी दृष्टि से सर्वथा कंगाल हो गया हूँ। मैं, अमरावती का स्वामी वैजयन्त, जिस विपुल ऐश्वर्य का स्वामी हूँ, वह ऐश्वर्य तुम्हारे लिए निरर्थक हो गया है। तुम्हारी पिपासा, खारा सागर शांत नहीं कर सकता, चाहे उसमें कितना ही जल क्यों न हो। तुम्हें अव अमरावती में रोके रखना व्यर्थ है। तुम यहाँ रहोगे, तो तुम्हें यह सारा विलास-व्यवहार अत्यन्त गर्हित लगेगा···और तुम विलास के विरोधी के रूप में अमरावती के निवासियों को अपने शत्रु लगने लगोगे।···अच्छा है कि अव तुम अपने

भाइयों के पास लौट जाओ।"

"यही उचित होगा।" अर्जुन बोला, "किंतु क्या आपने उर्वशी को मेरी सेवा में जाने का निर्देश भिजवाया था ?"

"हाँ !" वैजयन्त हँसे, "मैंने सोचा था कि तुमने तपस्या कर ली, शस्त्रास्त्र भी प्राप्त कर लिए, उन शस्त्रों के परिचालन में पर्याप्त दक्षता भी प्राप्त कर चुके···तो अब तुम थोड़ा विलास का सुख क्यों न भोगो।··किंतु मेरी धारणा कुछ उचित नहीं रही। तपस्वी को शारीरिक भोग का लोभ नहीं देना चाहिए।···"

अर्जुन अपने कक्ष में लौट आया।···उसका मन तनिक भी शांत नहीं हो पाया था···क्या सचमुच वैजयन्त के मन में वही था, जो वे कह रहे थे ?···या वह सब एक छली शासक का पाखंड मात्र था ?···क्या उन्हें मन-ही-मन अर्जुन के शक्तिशाली हो जाने का भय था ? क्या वे खांडव वन के युद्ध को नहीं भूल पाए थे ?···वे चाहते थे कि अर्जुन विलास में डूबकर, अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाए ?···जाने क्या था वैजयन्त के मन में···

24

कुलिंदराज सुबाहु के राज्य की सीमा छोड़े हुए, पांडवों को दो दिन हो चुके थे। हिमालय के निचले क्षेत्र भी पीछे छूट गए थे; और अब हिमालय अपना वास्तविक प्रभुत्व दिखा रहा था।

सहदेव ने दृष्टि उठाकर दूर तक देखा : हिमालय का मनोरम दृश्य अपने पूर्ण विस्तार के साथ उसके सम्मुख था। दृश्य विराट एवं नयनाभिराम था, किंतु एक-सार था। कहीं कुछ भी, एक दूसरे से भिन्न नहीं था, जिसमें दृष्टि अटक सकती। उसकी दृष्टि भटकती हुई लौट आई और मन अतीत की ओर मुड़ गया···

काम्यक वन में निवास के अंतिम दिनों में लोमश ऋषि ने धर्मराज को लोक-समूह से हल्के होने का परामर्श बार-बार दिया था। धर्मराज उनके परामर्श के औचित्य को भली प्रकार समझते थे; किंतु अपने साथ रह रहे लोगों के अपने प्रति मोह को वे कैसे तोड़ते ? वे धर्मराज को छोड़कर, लौटना नहीं चाहते थे; और धर्मराज उनके स्नेह के प्रति कठोर नहीं हो सकते थे···अंततः स्थिति कुछ ऐसी आ गई थी कि यदि अपने आस-पास घिर आए हुए लोगों को विदा कर, पांडव लोमश ऋषि के साथ नहीं चलते, तो लोमश ऋषि अकेले ही अपनी यात्रा पर निकल जाते।···और यदि ऐसा होता तो फिर उचित पथ-प्रदर्शक के अभाव में पांडवों की तीर्थ-यात्रा स्थगित हो सकती थी।

बाध्य होकर धर्मराज को कुछ निर्मोही होना पड़ा। काम्यक वन छोड़ने के तीन दिन पहले, धर्मराज ने उन सब लोगों के मध्य घोषणा कर दी कि वे तीन दिनों के पश्चात् निश्चित् रूप से, काम्यक वन छोड़, हिमालय की ओर प्रस्थान करेंगे। यात्रा कठिन होगी, और मार्ग में किसी प्रकार की कोई सहायता अथवा सुविधा उपलब्ध नहीं होगी। सुरक्षा की दृष्टि से भी वह यात्रा बहुत हितकर नहीं थी। इसलिए सारे भिक्षोपजीवी लौट जाएँ। संन्यासी, किन्हीं आश्रमों में चले जाएँ। जो लोग भूख-प्यास तथा परिश्रम एवं क्लांति सहन नहीं कर सकते, वे भी अन्यत्र चले जाएँ, क्योंकि कठिन यात्रा में अन्न तथा जल की उपलब्धि निश्चित् नहीं होती। जिनसे शीत सहन न हो सके, वे भी लौट जाएँ, क्योंकि हिमालय के हिमाच्छादित प्रदेश में असहनीय शीत होगा। मिष्टान्न भोजी, पकवान्न भोजी, मांसाहारी तथा मदिरा इत्यादि के इच्छुक भी लौट जाएँ, क्योंकि इनमें से कोई भी पदार्थ मार्ग में उपलब्ध नहीं होगा। जो लोग यह अपेक्षा करते हैं कि भोजन किसी दक्ष रसोइए द्वारा पकाया जाए, वे भी लौट जाएँ, क्योंकि अब पांडवों के साथ न कोई रसोइया होगा, न वे खाद्यान्न, जिन्हें पकाया जा सके। जिनकी आजीविका की किसी भी प्रकार की कोई व्यवस्था, कहीं भी हो सकती है, वे भी चले जाएँ…

लोग जाना नहीं चाहते थे; किंतु पांडवों की तीर्थ-यात्रा की योजना निश्चित् थी, अतः अनिच्छा से ही सही, एक-एक कर, उन्हें विदा होना ही पड़ा।…सबसे अधिक कठिनाई, उन राजभक्तों की थी, जो राजा को छोड़ना नहीं चाहते थे। उनकी आजीविका की व्यवस्था कहीं भी हो सकती थी, किंतु वे कहीं और क्यों जाएँ। वे अपने राजा के साथ ही रहेंगे।…और उनके राजा तो युधिष्ठिर ही थे…

धर्मराज ने उन्हें समझाया कि वे उनकी राज-भक्ति का सम्मान करते हैं; किंतु अब उनके पास राज्य नहीं था। इंद्रप्रस्थ की राजसभा अब दुर्योधन के अधीन थी। वे उस सभा से संबद्ध थे, इसलिए उन्हें अपनी आजीविका के लिए तो दुर्योधन के पास ही जाना चाहिए; और यदि किसी कारण से वे दुर्योधन के पास नहीं जाना चाहते, तो महाराज धृतराष्ट्र के पास चले जाएँ। युधिष्ठिर वहाँ नहीं हैं तो क्या हुआ, इंद्रप्रस्थ तो वहीं है, उसकी राजसभा भी वर्तमान है…और उसके राजा धृतराष्ट्र हैं…

यह तर्क उन राजभक्तों को ग्राह्य नहीं था…किन्तु आजीविका का कोई साधन तो खोजना ही पड़ेगा…स्वयं पांडवों में कुछ मतभेद था कि युधिष्ठिर के अनुचरों को अब हस्तिनापुर की राजसभा में कोई मान मिलेगा या नहीं। युधिष्ठिर का विचार था कि उनके विश्वस्त अनुचरों के लिए, धृतराष्ट्र अवश्य ही आजीविका का प्रबंध कर देंगे…किंतु भीम उनसे सहमत नहीं था। उसका विचार था कि युधिष्ठिर

अथवा पांडवों से संबंधित किसी भी व्यक्ति को दुर्योधन अथवा धृतराष्ट्र तनिक भी सहन नहीं करेंगे।...अंततः धौम्य मुनि ने अपना विचार बड़े विस्तार से प्रकट किया था। उन्होंने कहा कि दुर्योधन और धृतराष्ट्र, दोनों ही पांडवों की इस असहायता का राजनीतिक लाभ उठाना चाहेंगे। वे युधिष्ठिर को सर्वथा मित्र-विहीन कर देने के लिए, चुन-चुनकर, उसके मित्रों और अनुचरों को अपने राज्य में आजीविका देंगे।...

फिर भी उन अनुचरों से कहा गया कि यदि धृतराष्ट्र उन्हें आजीविका न दें, तो वे लोग पंचाल नरेश द्रुपद के पास चले जाएँ। किसी कारण से वहाँ न जाना चाहें, तो मत्स्यराज अथवा अन्य राजाओं के पास चले जाएँ।...

क्रमशः लोग इच्छा और अनिच्छा के द्वंद्व में झूलते हुए, धीरे-धीरे विभिन्न दिशाओं में चले गए।...अब चारों पांडवों, द्रौपदी, धौम्य तथा लोमश मुनि के अतिरिक्त उनके साथ इंद्रसेन, विशोक, रसोइए तथा अन्य सेवकों सहित चौदह व्यक्ति थे। कुछ रथ और अश्व थे।...कृष्ण, धृष्टद्युम्न तथा धृष्टकेतु, युधिष्ठिर के निषेध करने पर भी, उनके उपयोग के लिए रथ और अश्व छोड़ गए थे।...सारथि, पांडवों के पीछे-पीछे चलने को प्रस्तुत थे ताकि आवश्यकता होने पर वे उनकी सहायता कर सकें।...युधिष्ठिर चाहते थे कि वे लोग भी विदा हो जाएँ; किंतु भीम ने उन्हें रोक लिया था, "इन्हें चलने दें धर्मराज ! इनकी राजभक्ति तथा कष्ट सहन करने की क्षमता की परीक्षा हो जाए।"

"यदि वे परीक्षा में पूरे उतरे, तो भी लाभ क्या होगा ?" युधिष्ठिर ने पूछा था।

"पीछे के बहुत सारे कार्य हम इन्हें सौंप सकते हैं।"

धर्मराज सहमत हुए या नहीं, यह किसी को ज्ञात नहीं हुआ; किंतु उन्होंने कुछ कहा नहीं।

मार्गशीर्ष की पूर्णिमा व्यतीत होने पर, पुष्य नक्षत्र के आरंभ होते ही, उनकी यात्रा आरंभ हुई। यथासंभव सुरक्षा की पूरी व्यवस्था की गई थी। पांडवों के अंग अभेद्य कवचों से ढके हुए थे। ऊपर पुराने वस्त्र अथवा मृगचर्म थे। मस्तक पर जटाएँ थीं। हाथों में विभिन्न शस्त्रास्त्र थे। इंद्रसेन, विशोक तथा अन्य सेवक, अश्वों और रथों के साथ, उनके पीछे-पीछे चल रहे थे।

इस बार यात्रा का नेतृत्व लोमश ऋषि कर रहे थे। इस क्षेत्र और उसकी कठिनाइयों को वे ही जानते थे। मार्गों तथा स्थानों का महत्त्व भी उन्हें ही ज्ञात था। वे लोग तीर्थ-यात्रा पर जा रहे थे, तो नेतृत्व ऋषि ही कर सकते थे...किंतु भीम भी अपना दायित्व समझता था। ऋषि मार्ग-निर्देशन कर सकते थे, रक्षण नहीं। रक्षा का दायित्व तो भीम का ही था।

ऋषि ने युधिष्ठिर की ओर देखा : काफी समय से, वे आत्मलीन ही नहीं,

कुछ खिन्न भी लग रहे थे।

"क्या बात है धर्मराज ! आप प्रसन्न नहीं हैं ?"

युधिष्ठिर ने ऋषि की ओर देखा। मुस्कराने का प्रयत्न किया; किंतु मुस्करा नहीं पाए।

"पांचाली को इस स्थिति में देखता हूँ, तो कष्ट होता है ऋषिवर !" युधिष्ठिर धीरे से बोले, "क्षणिक रूप से ही सही, किंतु कभी-कभी मेरी आस्था खंडित हो जाती है और मेरे मन में विरोध जागता है। यह ईश्वर का कैसा न्याय है ? धर्म का पालन करते हुए, मेरी पत्नी और मेरे भाई वल्कल पहन, नंगे पाँव वन-वन भटक रहे हैं; और अधर्म का अधिष्ठाता दुर्योधन सुख, वैभव, अधिकार, सत्ता...सबका भोग कर रहा है।"

ऋषि खिलखिलाकर हँस पड़े, "यह एक तुम्हारा ही तो प्रश्न नहीं है। युग-युगों से लोग यही प्रश्न पूछते आ रहे हैं। युधिष्ठिर ! जब मनुष्य अधर्म-मार्ग से वृद्धि की ओर बढ़ता है, तो सुख-समृद्धि की अपार उपलब्धि होती है। उस सुख-संपत्ति के मोह में न केवल मनुष्य अपने अधर्म को देख नहीं पाता, वरन् उसकी ओर और भी अधिक आकृष्ट होता है। अधर्म उसकी संपदा में वृद्धि करता है। संपदा उसके मोह और अहंकार को बढ़ाती चलती है। अहंकार उसकी बुद्धि का नाश करता है...और अंततः वह जड़-मूल सहित नष्ट हो जाता है।"

"आपको नहीं लगता ऋषिवर कि यह सब मात्र पराजय का दर्शन है ?" युधिष्ठिर ने कुछ संकोच से पूछा, "मात्र मन बहलाने का साधन ?"

"ऐसा लगता, यदि मैंने यह सब होते हुए न देखा होता।" ऋषि हँसे, "मेरे सामने यह सारी प्रक्रिया अत्यन्त स्पष्ट है। मैं इसके आर-पार देखता हूँ। दुर्योधन को अपने भाइयों, मित्रों तथा पुत्रों सहित नष्ट होते हुए, मैं प्रत्यक्ष रूप से देख रहा हूँ।" ऋषि ने रुककर युधिष्ठिर की ओर देखा, "सुनो धर्मराज ! जब किसी का अधर्म फले, तो ईश्वर को उससे रुष्ट जानो। किसी का अधर्म न फले तो समझो, ईश्वर उससे प्रसन्न हैं। धर्म फले तो समझो, ईश्वर उससे अत्यन्त प्रसन्न हैं; और यदि किसी का धर्म न फले तो समझ लो कि ईश्वर उससे परम संतुष्ट हैं और इसलिए उसे वरदान देने से पहले उसकी परीक्षा ले रहे हैं...।"

"पता नहीं क्या माया है उसकी।" युधिष्ठिर मंद स्वर में बोले, "सामान्यतः तो मेरा मन क्षुब्ध नहीं होता। फिर भी कभी-कभी धैर्य छूट ही जाता है। कष्ट होता है कि संसार में ऐसा सब क्यों होता है।..."

"तुम्हारा मन यह भी सोचता होगा कि क्यों वैसा नहीं होता, जैसा तुम चाहते हो।" ऋषि कुछ विनोदी मुद्रा में बोले, "क्यों सृष्टि तुम्हारी इच्छा से नहीं चलती ! क्यों सृष्टि का कार्य-व्यापार तुम्हारे बनाए नियमों के अनुसार संपादित नहीं होता।..."

"हाँ ऋषिवर ! ऐसा ही है।"

"तो स्वयं को स्मरण करा लिया करो कि सृष्टि का निर्माण ईश्वर ने किया है, तुमने नहीं। सृष्टि उसी के बनाए नियमों पर चलेगी, तुम्हारी कामनाओं पर नहीं। तुम न नियम-निर्माण कर सकते हो, न उनमें परिवर्तन कर सकते हो। तुम उन नियमों को समझ कर केवल उनके अनुकूल आचरण कर सकते हो। जब तक कार्य-कारण-स्वरूपा इस प्रकृति में बँधे हो, नियम तो ये ही रहेंगे। फिर अहंकार के हाथों का खिलौना बन, दुखी क्यों होते हो ?..."

सहदेव समझ नहीं पाया कि ऋषि की इस व्याख्या से युधिष्ठिर संतुष्ट हुए या नहीं; इस चर्चा को धर्मराज ने आगे नहीं बढ़ाया।...वैसे इतना तो सहदेव समझता ही था कि धर्मराज की यह विचलित मनःस्थिति अस्वाभाविक और अस्थायी थी !...थोड़े से चिंतन और मनन के पश्चात् वे स्वयं भी कुछ इसी प्रकार के निष्कर्षों तक पहुँच जाते।...

उनकी यात्रा कुलिंदराज सुबाहु के राज्य की सीमा तक, बिना किसी विशेष घटना के निर्विघ्न चलती रही थी।...सुबाहु के राज्य की सीमा के आ जाने का पता भी उन्हें अकस्मात् ही लगा था...

दूर, प्रायः उनकी दृष्टि की सीमा पर उन्हें कुछ युद्धक गज और सुसज्जित अश्व दिखाई दिए थे। तब उन्होंने देखा था कि उन पशुओं के साथ कुछ सैनिक भी थे, जिनके शस्त्र दूर से ही चमक रहे थे।

सबसे पहले भीम ही सतर्क हुआ था।

"हम कहाँ आ गए हैं महर्षि ?" उसने पूछा था।

"मध्यम पांड ! हम लोग कुलिंदराज की सीमा के अत्यन्त निकट हैं।..." और तब तक ऋषि की दृष्टि उन सैनिकों और उनके नायक पर पड़ गई थी, "कुलिंदराज सुबाहु का तुम्हारे प्रति शत्रु-भाव तो नहीं है ?"

"राजसूय यज्ञ के अवसर पर इस क्षेत्र में अर्जुन आया था। जहाँ तक मेरा ज्ञान है, सुबाहु ने बिना विरोध अथवा शत्रुता का भाव प्रदर्शित किए, धर्मराज को अपना सम्राट् मान लिया था। उपहार भी दिए थे... ।"

"तो कोई भय नहीं।" ऋषि ने आगे बढ़ने का संकेत किया था।

"भय !" भीम हँसा था, "शत्रुता का भाव हो, तो भी भय किस बात का है ऋषिवर ! मेरा धनुष मेरे कंधे पर हो, तूणीर पीठ पर, खड्ग कटि में हो और गदा हाथ में; तो भय किस बात का है ऋषिवर ?"

"भय है मध्यम पांडव !" लोमश हँसकर बोले, "भय है कि कहीं रक्तपात न हो। कहीं भीम के हाथों से, बेचारा सुबाहु व्यर्थ ही मारा न जाए।"

"ओह !" भीम ने अट्टहास किया, "आपका भय तो मेरे भय से कुछ बहुत ही भिन्न कोटि का है ऋषिवर ! किंतु भय तो भय ही होता है।"

कुलिंदराज सुबाहु आगे बढ़ आया था। अब स्पष्ट हुआ कि उसके सैनिक, अश्व तथा गज, सब मांगलिक वेश में थे। वे पांडवों का स्वागत करने आए थे।

सुबाहु ने धर्मराज को प्रणाम किया, "मेरा सौभाग्य धर्मराज ! जो आप मेरे क्षेत्र में आए।··किंतु मित्र अर्जुन आपके साथ नहीं हैं, यह कष्ट का विषय है।"

उसे कुछ अधिक बताने की आवश्यकता नहीं पड़ी थी। पांडवों के साथ घटित घटनाओं की सूचना, उसे पहले से ही थी। उनकी गतिविधि से भी वह कुछ-कुछ अवगत रहा था।···

वह उन्हें अपने प्रासाद में ले आया था। स्नान, भोजन और विश्राम हो चुकने के पश्चात् वह युधिष्ठिर से भेंट करने आया था।

"धर्मराज ! आप अपने रहने की कैसी व्यवस्था पसंद करेंगे?" उसने पूछा।

धर्मराज शब्द 'रहने' पर चौंके थे। उन्होंने सस्नेह उसकी ओर देखा, "तुम जानते हो सुबाहु ! हम वनवास कर रहे हैं और इस समय तीर्थ-यात्रा पर निकले हैं। हमारे रहने की कैसी व्यवस्था ?" धर्मराज मुस्कराए, "हम आज विश्राम कर, कल प्रातः यहाँ से प्रस्थान करेंगे।"

"आप दुर्योधन पर सचमुच आक्रमण नहीं करेंगे ?" उसने आश्चर्य से पूछा।

"दुर्योधन से हम कैसे लड़ेंगे मित्र सुबाहु !" युधिष्ठिर के कुछ कहने से पहले ही भीम ने कहा, "हमारे पास न सेना है, न युद्धक गज, न अश्व, न रथ, न शस्त्र, न धन··· ।"

सुबाहु ने जैसे पहले से भी कुछ अधिक चकित होकर पूछा, "और जो कुछ मेरे पास है, वह किसका है ? हम तो यही समझते आए हैं कि यह राज्य, यह सेना, धन-संपत्ति···सब कुछ सम्राट् का ही है। हमारे प्राण भी सम्राट् की ही धरोहर हैं··· ।"

"बस सुबाहु ! बस !" भीम बोला, "यह सूचना दुर्योधन तक पहुँच गई, तो वह यह सब कुछ तुमसे छीन लेगा, क्योंकि उसने द्यूत में सम्राट् का सर्वस्व जीत लिया है।"

सुबाहु पहले तो जैसे स्तंभित ही रह गया; किंतु फिर कुछ संभलकर बोला, "ऐसा नहीं हो सकता महावीर भीम ! और ऐसा अवसर आए ही क्यों ! हम उन पर आक्रमण करने की घोषणा इसी क्षण करते हैं।"

"तुम्हारे पास कितनी बड़ी सेना है सुबाहु ?" युधिष्ठिर बोले, "तुम समझते हो कि इतनी-सी सेना से तुम दुर्योधन को जय कर लोगे ?"

"हमारी युद्ध-पद्धति भिन्न है धर्मराज !" सुबाहु बोला, "हमारी नियमित सेना छोटी है। वेतन-भोगी शस्त्र-व्यवसायी सैनिक कम हैं।···किंतु जब युद्ध-काल आता है, तो सारे सामर्थ्यवान कुलिंद, किरात और तंगण हमारे सैनिक होते हैं। फिर हमारे मित्र, शुभचिंतक और संबंधी भी हैं। आप युद्ध का आदेश दें। सेना अपर्याप्त

नहीं रहेंगी।"

"ठहरो कुलिंदराज !" सहसा धौम्य बोले, "एक प्रश्न मेरा भी है।"

"पूछें मुनिवर !"

"मैं राजसभाओं की, कृत्रिम शिष्टता से युक्त भाषा नहीं बोल सकता; इसलिए मेरी स्पष्टवादिता और रूक्षता से रुष्ट मत होना।" धौम्य बोले, "मेरे मन में सहज जिज्ञासा है कि अब, जब पांडवों के पास न धन है, न बल, न सत्ता, तुम उनके लिए अपने राज्य को दाँव पर लगाने को क्यों इतने तत्पर हो ? क्यों अपने सगे-संबंधियों सहित उनके लिए प्राण विसर्जित करने को व्याकुल हो ? इससे क्या लाभ होगा तुमको ?"

सुबाहु कुछ क्षणों तक मौन रहा, फिर बोला, "इसमें मेरा ऋण-शोधन भी है; और भविष्य-चिंतन भी। यदि धर्मराज का संरक्षण न होता तो हमारा राज्य हमसे कबसे छिन चुका होता। उसे चाहे दुर्योधन छीनता, चाहे शिशुपाल; चाहे शाल्व अथवा शल्य···या कोई और। जब बड़ी सेनाएँ दिग्विजय पर निकलती हैं, तो हमारे जैसे छोटे राज्यों का रक्षक कोई नहीं होता। यह तो पांडवों का ही हृदय था कि वे नाम-मात्र का कर लेकर हमारे प्राणों, धन-संपत्ति तथा राजसत्ता की रक्षा करते रहे; और उनके भय से किसी ने आँख उठाकर भी हमारी ओर नहीं देखा। जब किसी सम्राट् द्वारा सचमुच धर्म-राज्य स्थापित किया जाता है, तो देश का प्रत्येक नागरिक और उसके धन-प्राण सुरक्षित होते हैं।···आप देखेंगे कि युद्ध की स्थिति में जंबू-द्वीप के छोटे-छोटे राजा, धर्मराज के पक्ष में होंगे और बड़े तथा शक्तिशाली राजा उनके विरुद्ध !···क्योंकि धर्मराज के कारण बड़े राजा, छोटे राजाओं पर अपना मनमाना अत्याचार नहीं कर पाए; और छोटे राजा सुरक्षित रहे···। हम सब आपकी आज्ञा के अधीन हैं धर्मराज !···कुलिंद, किरात, तंगण, गंधर्व, किन्नर···हम चाहते हैं कि सारे जंबू-द्वीप में धर्मराज की सत्ता पुनः स्थापित हो, ताकि हमारा भविष्य सुरक्षित रहे···।"

"बात ऐसी है मित्र सुबाहु !" भीम ने, युधिष्ठिर को युद्ध का निर्णय लेने न लेने की संकटपूर्ण स्थिति से, उबार लिया, "कि अभी हम तीर्थ-यात्रा पर जा रहे हैं। बारह वर्षों का वनवास पूरा कर लेने के पश्चात् हमें एक वर्ष का अज्ञातवास भी करना है। इसलिए अभी युद्ध की चर्चा नहीं हो सकती।···किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि हमें तुम्हारी सहायता की आवश्यकता नहीं है···।"

"आदेश करें मध्यम पांडव !"

"हम अपने कुछ सेवक और साथी, तुम्हारे पास छोड़ जाएँगे। ये रथ और अश्व भी तुम्हारे ही पास रहेंगे।···"

"यह तो ऐसा कोई बड़ा दायित्व नहीं है।" सुबाहु बोला।

"बड़ा तो नहीं है, किंतु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है।" भीम ने उत्तर दिया,

"तुम्हें इन सबकी रक्षा करनी होगी। इनकी गोपनीयता की रक्षा करनी होगी। इन्हें यात्राओं इत्यादि की सुविधा देनी होगी। संभव है इन्हें कुछ संदेश-वाहकों और गुप्तचरों की आवश्यकता पड़े। उनका प्रबंध भी तुम ही करोगे।···" भीम रुका, "संभव है, इनकी गतिविधियों के कारण तुम्हें कुछ असुविधा हो, कुछ संकटों का सामना करना पड़े; क्योंकि तुम्हारे राज्य के अन्तर्गत होते हुए भी, ये तुम्हारे अधीन नहीं होंगे। तुम इनका भरण-पोषण करोगे, इनकी रक्षा करोगे, किंतु तुम इनके स्वामी नहीं होगे।"

"इसमें मुझे कोई असुविधा नहीं है। ये सब तो राजकाज और प्रशासन के बहुत साधारण कार्य हैं।" सुबाहु बोला, "इनकी ओर से तो आप निश्चिंत ही रहें। कोई बड़ा दायित्व हो तो कहें।"

"ये लोग हमारे लौटने तक यहीं रहेंगे और हमारे मित्रों तथा संबंधियों से संपर्क बनाए रखेंगे। तुम इन्हें अपने गुप्तचर विभाग की एक शाखा के कर्मचारी मानना और उसी रूप में इन्हें कार्य करने की स्वतंत्रता देते हुए, इनकी सहायता करना।"

"इसमें मुझे तनिक भी कठिनाई नहीं है।" सुबाहु मुस्कराकर बोला, "जैसा आप चाहते हैं, वैसा ही होगा। ये चाहें तो यहाँ से सारे आर्यावर्त्त पर दृष्टि रखें, इन पर कोई दृष्टि नहीं डाल सकेगा।"

सहदेव समझ रहा था कि भीम के मन में क्या है।···वह शायद मान बैठा था कि धर्मराज पूर्णतः संन्यास की मनःस्थिति में हैं, इसलिए राजनीतिक प्रबंध उसने अपने हाथ में ले लिया था।···कदाचित् यह सारा प्रबंध उचित ही था। संभव है कि इस योजना के लिए ही, उसने काम्यक वन से चलते हुए, इंद्रसेन आदि को लौटाने से धर्मराज को रोक दिया था।···उचित ही है, वे लोग पीछे यहीं रहें और अपने मित्रों से आवश्यक संपर्क बनाए रखें···अन्यथा, लौटने के पश्चात् सारे सूत्रों को जोड़ने में ही बहुत सारा समय लग जाएगा···

क्रमशः पर्वत की चढ़ाई कठिन ही नहीं, संकटपूर्ण भी होती जा रही थी। सबसे अधिक कठिनाई, द्रौपदी के लिए ही थी। उसे लगने लगा था कि यह यात्रा, उसके सामर्थ्य से बाहर है। पार्वत्य प्रदेश का कुछ पता ही नहीं लगता था कि कहाँ किस प्रकार की विकट स्थिति खड़ी कर दे।···अपनी किशोरावस्था में द्रौपदी, पर्वतों पर दौड़ती फिरती थी; किंतु वे पर्वत न तो इतने ऊँचे थे, न इतने कठिन···और अब द्रौपदी का मन कम से कम अपने सम्मुख स्वीकार कर लेना चाहता था कि उसकी वह अवस्था नहीं रही। शरीर में वह क्षमता नहीं रही।···यह उसका मन ही जानता था कि स्वयं को अक्षम होते देखने और उसे स्वीकार करने में कितनी पीड़ा थी।

…मन न माने तो क्या, शरीर तो बता ही रहा था कि यौवनावस्था, अब विदा हो रही थी…किंतु यह उसी के साथ क्यों हो रहा था ?…भीम असमर्थ नहीं हो रहा था…धर्मराज तो अक्षम दिखाई नहीं देते थे…

भीम रुक गया।

वह सबसे आगे था। यात्रा के आरंभ से ही, लोमश ऋषि से मार्ग जानकर, वह सबके आगे-आगे चल रहा था। वह सामने आने वाली कठिनाइयों का निरीक्षण करता था। उनका नियंत्रण और दमन करता था। मार्ग को सुरक्षित कर, वह अपने भाइयों को आगे बढ़ने का संकेत करता था। भीम के चलते जाने का अर्थ था कि मार्ग में कोई असुविधा, संकट अथवा कठिनाई नहीं है।

सबकी प्रश्नवाचक दृष्टि उठी : भीम रुक क्यों गया ?

भीम ने उन्हें चलते रहने का संकेत किया।

वे लोग आगे बढ़ते गए। सबके पीछे द्रौपदी थी। द्रौपदी भी भीम के पास पहुँचकर रुक गई।

"बहुत थक गई हूँ।"

"देख रहा हूँ।" भीम ने उत्तर दिया, "चाहो तो रुक जाओ। थोड़ा विश्राम कर लो।"

"मेरे कारण सबको रुकना पड़ेगा।" द्रौपदी लगभग लड़खड़ा रही थी।

"तुम चलती रहोगी पांचाली ! तो भी सबको रुकना पड़ेगा।" भीम मुस्करा रहा था।

"क्यों ? तब क्यों रुकना पड़ेगा ?"

"क्योंकि तुम किसी भी क्षण लड़खड़ाकर गिर पड़ोगी।" भीम बोला, "तब भी क्या हम लोग चलते रहेंगे ?"

"सत्य कहते हो मध्यम !" द्रौपदी के अधरों पर एक उदास मुस्कान थी, "मैं और चली तो सचमुच गिर पड़ूँगी। कहीं पैर फिसल गया और किसी खाई में जा गिरी, तो न मेरा शव निकाल पाओगे, न अंत्येष्टि कर पाओगे।…" द्रौपदी अपने स्थान पर बैठ गई।

"बैठ जाओ। विश्राम कर लो।" भीम के स्वर में अत्यन्त आसक्त प्रेमी का अनुरोध था, "नहीं चल पाओगी, तो कंधे पर उठाकर ले चलूँगा।"

"किस-किसको कंधे पर उठाओगे मध्यम ! मुझे तो यहाँ सभी गिरते-पड़ते दिखाई दे रहे हैं।…" प्रयत्न करने पर भी द्रौपदी का स्वर उल्लासपूर्ण नहीं हो पा रहा था।

तभी सबसे आगे चलने वाला नकुल भी रुक गया।

"लो ! मेरे कारण सब लोग रुक गए।" द्रौपदी बोली।

भीम ने उस ओर देखा और धीरे से बोला, "नहीं ! वे लोग तुम्हारे कारण

नहीं रुके हैं। उनके रुकने का कारण कुछ और ही है। देखो ! नकुल मुझे आने का संकेत कर रहा है।"

भीम ने झुककर, द्रौपदी को अपनी भुजाओं में उठा लिया। वह तीव्र गति से चलता हुआ, नकुल के पास पहुँचा, "क्या है ?"

नकुल ने विना एक भी शब्द कहे, अपनी तर्जनी से एक ओर संकेत कर दिया। भीम ने उस दिशा में देखा, बीस-पच्चीस लोगों का एक झुंड उनकी ही ओर आ रहा था। वे तपस्वी अथवा वनचर नहीं थे। अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट और दीर्घाकार लोग थे वे। उनके हाथों में शस्त्र इत्यादि तो दिखाई नहीं पड़ रहे थे, किंतु अपनी गतिविधि तथा शरीर की आकृति-प्रकृति से वे व्यायाम-धर्मी लोग दिखाई देते थे।...ये लोग यहाँ क्या कर रहे हैं ? और, वे अपने मार्ग पर चलते दिखाई नहीं देते, उनकी ओर आते-से लगते हैं, किंतु, वे उनकी ओर क्यों आ रहे हैं ?...

भीम ने सब लोगों को अपने निकट आने का संकेत किया।

"आप लोग पांचाली के पास ठहरें," उसने कहा, "मैं देखता हूँ कि वे कौन लोग हैं और क्या चाहते हैं !"

भीम उनकी ओर बढ़ा। उन लोगों की चाल और अधिक वेगवान हो गई; और कुछ ही समय पश्चात् वे उसके सामने खड़े थे। भीम की दृष्टि उनका निरीक्षण कर रही थी...निश्चय ही वे लोग योद्धा थे और पर्याप्त सक्षम दिखाई पड़ते थे। इतने वेग से, यह कठिन चढ़ाई चढ़ने पर भी वे न हाँफ रहे थे, न थके दिखाई देते थे। जैसे इतनी चढ़ाई उनकी सामान्य दिनचर्या का ही एक अंग हो।...किंतु सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उनके आगे-आगे चलनेवाला युवक, अपने साथियों से पर्याप्त भिन्न था। उसके सिर पर एक भी केश नहीं था। किसी घट के समान चिकना था उसका मुंड !...और भीम के मन में एक नाम गूँजता चला गया... घटोत्कच !...घटोत्कच !...क्या यह संभव है ?...

"आर्य ! क्या आप मध्यम पांडव भीमसेन हैं ?" उस युवक ने अत्यन्त आदरपूर्वक पूछा।

तो वे लोग आक्रामक नहीं थे।...फिर वह भीम से अपना मार्ग अथवा स्थान-विशेष का पता नहीं पूछ रहा था। वह पूछ रहा था कि क्या वह भीमसेन है ! तो क्या वे लोग भीम को ही खोज रहे थे ?...पर क्यों ?...कहीं वे दुर्योधन के भेजे हुए वेतन-भोगी हत्यारे तो नहीं ?...

"हाँ ! मैं भीमसेन ही हूँ।" भीम ने कहा।

युवक ने झुककर उसके चरण छुए और हाथ जोड़कर उसके सम्मुख खड़ा हो गया, "तात् ! मैं आपका ज्येष्ठपुत्र, घटोत्कच हूँ।"

भीम के हृदय में जैसे किसी असाधारण उल्लास का निर्झर फूट पड़ा, "यह

तो मुझे, तुम्हें देखते ही समझ जाना चाहिए था पुत्र !"

उसने अपनी भुजाएँ फैला दीं और घटोत्कच उनमें समा गया।

कुछ क्षणों तक वे लोग उसी प्रकार एक-दूसरे की भुजाओं में बँधे, स्तब्ध खड़े रहे। क्रमशः भीम ने स्वयं को सँभाला।

"ये सब तुम्हारे संगी हैं पुत्र !"

"हाँ पिताजी ! ये मेरे मित्र हैं, जो मेरे प्रेम के कारण मेरे साथ आए हैं।"

"और तुम यहाँ कैसे आ गए पुत्र ?"

घटोत्कच की दृष्टि अब युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, धौम्य, लोमश तथा द्रौपदी का निरीक्षण कर रही थी।

"वे माता पांचाली हैं ?"

"हाँ पुत्र ! वह पांचाली है। बड़े कष्ट में है। उससे अब और चला नहीं जाता। ऐसी थक गई है कि...।"

"उसकी अब आप चिंता न करें पिताजी ! किंतु पहले मैं सबको प्रणाम कर लूँ।"

भीम चौंका।...वह अपने पुत्र को मिलकर शेष सब कुछ विस्मृत कर चुका था। उसे, घटोत्कच और उसके मित्रों को अपने भाइयों और द्रौपदी से मिलवाना चाहिए था...

"आओ पुत्र !"

भीम ने घटोत्कच का परिचय दिया। उसने चरण स्पर्श कर प्रणाम किया और आशीष पाई।

"किंतु तुम यहाँ कैसे चले आए पुत्र ?" द्रौपदी ने कुछ आश्चर्य से पूछा, "यह स्थान तो तुम्हारे निवास से बहुत दूर है।"

"हाँ ! यह स्थान हमारे निवास से दूर है और हमारा निवास हस्तिनापुर से दूर है। इसलिए द्यूतक्रीड़ा और उसके परिणामों का समाचार बहुत देर से मिला मुझे। जब समाचार मिला, तो आप लोग, वनवास के लिए नहीं, तीर्थ-यात्रा के लिए निकल चुके थे।...वैसे तो माँ मुझे एक क्षण के लिए भी अपनी आँखों से ओझल करना नहीं चाहतीं; किंतु यह समाचार सुनकर वे स्वयं को रोक नहीं सकीं। मुझे आदेश दिया कि आप लोग जहाँ कहीं भी हों, मैं आपके पीछे जाऊँ ! आपके सारे समाचार जानूँ। माँ को सूचित करूँ। आप लोगों को अपने साथ वृकोदर-प्रदेश में ले चलूँ।" वह रुका, "वे आजकल हिडिंब-वन को इसी नाम से पुकारती हैं।"

"ओह !" भीम बहुत कुछ कहना चाहकर भी कुछ कह नहीं पाया।...हिडिंबा ने मात्र 'वृकोदर' शब्द के इस प्रयोग से अपना मन खोलकर, उसके सामने रख दिया था।...कदाचित् वह स्वयं को भी विश्वास दिलाना चाहती थी कि यद्यपि वह वृकोदर के निकट नहीं है; किंतु उसी के प्रदेश में है। वह उससे नैकट्य का अनुभव

करती है···उसे स्मरण करती है···पर इसे क्या केवल स्मरण ही कहा जाएगा ? ···द्रौपदी, भीम के सम्मुख बैठी थी; और स्त्री के रूप में भीम ने द्रौपदी से अधिक प्रेम और किसी से नहीं किया···किंतु हिडिंबा का प्रसंग उसके मन में टीस तो उठाता ही है। उसका इस प्रकार का निरीह और संपूर्ण समर्पण, भीम के मन को विह्वल तो करता ही है···किंतु वह अपने इस पुत्र के सम्मुख अपने प्रेम-प्रसंग की चर्चा तो लेकर नहीं बैठ सकता···मर्यादा रोकती है उसे, नहीं तो वह बताना चाहता था कि उसका प्रौढ़ मन भी प्रेम करता है; और उसमें कुछ भी अस्वाभाविक और असहज नहीं है···

"किंतु तुम यहाँ तक कैसे आ पहुँचे पुत्र ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"एक प्रकार से आपका पीछा करता हुआ आ रहा हूँ।" घटोत्कच बोला, "पहले काम्यक वन में पहुँचा और फिर जहाँ-जहाँ आप गए, वहीं से आपका पीछा करता हुआ, अब जाकर आपके पास पहुँचा हूँ।"

"तुम्हारी माता कैसी हैं ?"

"माँ ! माँ ने अपनी गतिविधि और अपनी इच्छाओं को बहुत सीमित कर लिया है।" घटोत्कच बोला, "एक प्रकार से वैराग्य ले लिया है··· ।"

"वैराग्य ?" भीम के स्वर में आश्चर्य था।

"वैराग्य, उस अर्थ में नहीं।" घटोत्कच मुस्कराया, "वस्तुतः माँ अपने उसी संसार में रहना चाहती है, जो उसने पिताजी के साथ बसाया था। उसके बाहर के संसार से, उसने वैराग्य ले लिया है। वह वर्तमान में नहीं, अपने अतीत में जी रही है। उसका जीवन एक अत्यन्त निष्ठावान भक्त का जीवन है। अंतर यही है कि वह ईश्वर की नहीं, पिताजी की भक्त है।···"

"हम लोग किसी सुविधाजनक स्थान पर बैठ जाएँ।" सहदेव ने प्रस्ताव रखा, "विश्राम भी हो जाएगा और चर्चा भी।"

"सहदेव ठीक कह रहा है।" युधिष्ठिर ने उसका समर्थन किया।

द्रौपदी प्रयत्नपूर्वक उठी। उसे देखकर यह समझना तनिक भी कठिन नहीं था कि उसे खड़े होने तक में कठिनाई हो रही है, चलने की तो बात ही क्या···

घटोत्कच ने आगे बढ़कर, उसे, अपनी बाँहों में सँभाल लिया, "मेरी सुकुमार माँ !"

द्रौपदी समझ नहीं पाई कि उसकी प्रतिक्रिया क्या थी ! यह दैत्याकार पुरुष उसे 'माँ' कह रहा है, 'सुकुमार माँ' ! वह पांडव-पुत्र है, तो द्रौपदी उसकी माँ ही है; किंतु उसकी अपरिचित सपत्नी का यह पुत्र अपने रूप-रंग, वेश-भूषा, हाव-भाव से अपना पुत्र तनिक भी नहीं लगता।···पर उसकी खुरदुरी अनघड़ वाणी में जो स्नेह है, उसकी उपेक्षा कोई नहीं कर सकता।···और उसके सम्मुख तो द्रौपदी

'सुकुमार' है ही...

घटोत्कच ने द्रौपदी को अपनी भुजाओं में कुछ इस प्रकार उठा लिया था, जैसे उसने कोई अत्यन्त कोमल वस्तु सँभाल रखी हो, जिसके, दृढ़ पकड़ से भी आहत होने अथवा भंग होने का भय हो...

वे लोग एक वृक्ष के नीचे बैठ गए, तो युधिष्ठिर ने पूछा, "तुम्हारी माता क्या कभी आकर, हमारे साथ इंद्रप्रस्थ में रहने की इच्छा प्रकट नहीं करतीं ?"

"नहीं !" घटोत्कच अत्यन्त निश्चित् स्वर में बोला, "उनके मन में जैसा अनुराग पिताजी के लिए है, कुछ वैसा ही वृकोदर प्रदेश के प्रति भी है। न वे पिताजी को विस्मृत कर सकती हैं, न वृकोदर प्रदेश को छोड़ सकती हैं। वे यह तो सोच सकती हैं कि पिताजी हमारे पास आकर हमारी शैली में रहें; किंतु यह उन्होंने कभी नहीं सोचा कि वे इंद्रप्रस्थ जाकर, राजरानियों के समान रहें।"

"उसे मुझ पर क्रोध नहीं आता ?" साहस कर भीम ने पूछ ही लिया, "क्या वह मुझसे रुष्ट नहीं है ?..."

"नहीं तो ! आपसे रुष्ट क्यों होंगी ?...और आपसे रुष्ट होतीं तो मुझे आपके पास क्यों भेजतीं ?" घटोत्कच ने कुछ स्मरण करने की मुद्रा में कहा, "मुझे ऐसा कोई अवसर स्मरण नहीं आता, जब माँ ने आपकी शिकायत की हो।...हाँ ! ग्लानि के ऐसे शब्द उनके मुख से अनेक बार उच्चरित हुए हैं, जिसमें उन्होंने स्वयं को इसलिए कोसा है कि उन्हें अपने उस परिवेश और अपनी उस जीवन-शैली के प्रति इतना मोह क्यों है। यदि वे यह मोह छोड़ पातीं, तो कदाचित् अपने वृकोदर के पास जा पातीं !..."

"और तुम्हारी जीवन-शैली ?" सहसा भीम ने पूछा, "तुम्हें क्या सिखाया है, तुम्हारी माँ ने ?"

"मैं एकांत वन में रह, भूले-भटके, सामने आ जानेवाले मनुष्य का मांस खाने वाला राक्षस नहीं हूँ पिताजी !" घटोत्कच हँसा, "माँ ने अपनी बुद्धि और क्षमता-भर मुझे अच्छे संस्कार दिए हैं। आप मेरे इन मित्रों को देखकर समझ गए होंगे कि हम शेष मानवों से पृथक् वन में एकांतवास करने वाले प्राणी नहीं हैं। हम स्वयं बृहत् मानवसमाज का अंग बनने का ही प्रयत्न नहीं कर रहे, वरन् अन्य वनवासियों को भी उनकी एकांत गुफाओं से निकालने का प्रयत्न कर रहे हैं।" घटोत्कच ने रुककर, उन सब लोगों पर एक दृष्टि डाली, "हम यह मानते हैं कि जीवन अखंड और समग्र है। उसमें खंड अथवा वर्ग नहीं हैं। ग्राम अथवा नगर में रहने से, लोगों की आजीविकाएँ पृथक् होती हैं। व्यावसायिक कारणों से, दिनचर्या भिन्न होती है...किंतु उनके समाज पृथक् नहीं होते। वैसा ही वनचरों के साथ भी है; तो फिर वनचर, वन के बाहर से आने वाले ग्रामीण अथवा नागरिक मानव का वध कर, उसे अपना आहार क्यों बनाएँ ?...और वनचर के ग्राम अथवा नगर

के निकट आ जाने पर ग्रामीण अथवा नागरिक, अपने शस्त्रों से उसका पशुवत् आखेट क्यों करें ?..."

"तुम ठीक कहते हो पुत्र !" युधिष्ठिर के स्वर में प्रशंसा का भाव था, "क्या यह सब तुम्हें तुम्हारी माता ने सिखाया है ?"

"कुछ माता ने सिखाया, कुछ माता के हृदय में बसी पिता की स्मृतियों ने; और कुछ जीवन ने।" घटोत्कच ने उत्तर दिया।

"यदि सब लोग तुम्हारे ही समान सोचने लगें, तो वनचरों की अपनी पृथक् अस्मिता कैसे रह पाएगी। ऐसे में तो वे नागरिकों तथा ग्रामीणों के अपार सागर में खो जाएँगे।" नकुल ने संशय व्यक्त किया।

"वनचरों की पृथक् अस्मिता क्या है काका ?...उनका अज्ञान, उनका असंपर्क और उनकी साधनहीनता ?" घटोत्कच की दृष्टि नकुल पर ठहर गई, "वन में आतप अथवा हिंस्र पशुओं से अपनी रक्षा के लिए यदि एक वनचर अपने शरीर को पादप के पल्लवों से ढँक लेता है, तो क्या वह इंद्रप्रस्थ की राजसभा में भी उन पल्लवों को अपने माथे से बाँधे रखे ? उसकी पहचान उसकी क्षमताएँ, उसका चरित्र तथा उसका चिंतन है, अथवा पादप के वे पल्लव ?"

नकुल ने कुछ नहीं कहा !

घटोत्कच पुनः बोला, "वनचर नारियाँ अपना शृंगार करने के लिए सोने-चाँदी के आभूषण नहीं जुटा पातीं, तो वन में उपलब्ध विभिन्न रंगीन पदार्थों से अपना शृंगार करती हैं। तो क्या सुरुचिपूर्ण आभूषण पा जाने पर भी, वे उन स्थूल पदार्थों को इसलिए धारण किए रहें, कि वे उनकी पहचान हैं ?" उसके स्वर में कुछ आवेश उभर आया, "उन्हें इस प्रकार की पहचान बनाए रखने के लिए प्रेरित करने वाले लोग, एक प्रकार से, उन्हें सामान्य जीवन के निकट आने से रोक रहे हैं। उनकी प्रगति में बाधक हो रहे हैं।"

"तुम सत्य कह रहे हो पुत्र !" भीम ने प्रशंसा-भाव से उसके कंधे पर हाथ रखा, "अलगाव और विभाजन की प्रेरणा कभी भी मानव के लिए हितकर नहीं है, चाहे वह कितने ही सुंदर और आकर्षक शब्दों में क्यों न प्रस्तुत की जाए।"

"मुझे बताओ घटोत्कच !" सहसा द्रौपदी ने उसे पुकारा, "तुम्हारी माता मेरे विषय में कैसी धारणा रखती हैं ?"

"कैसी धारणा रखेंगी...।"

"मुझसे घृणा करती हैं ? ईर्ष्या करती हैं ?" द्रौपदी ने पूछा।

"क्यों ? पर क्यों ? ?" घटोत्कच चकित दृष्टि से उसकी ओर देख रहा था, "वे ऐसा क्यों करेंगी ?"

"क्योंकि वे अपने पति से दूर हैं, और मैं उसके साथ रहती हूँ ! क्या वे यह नहीं मानतीं कि मैंने उनसे उनका पति छीन लिया है ?"

"नहीं ! नहीं ! ! एकदम नहीं ! ! ! भला, वे इस प्रकार क्यों सोचेंगी ?" घटोत्कच गंभीर हो गया, "वे आपकी चर्चा बड़े सम्मान से करती हैं। वे कहती हैं कि उन्होंने अपने क्षेत्र और जीवन-शैली के मोह में अपने पति को छोड़ दिया; और आप वे नारी हैं, जिन्होंने राजकुमारी होते हुए, भिक्षोपजीवी पांडवों से विवाह किया और पंचाल का राजप्रासाद त्याग दिया। वे कहती हैं पांचाली माता !" घटोत्कच द्रौपदी की ओर झुककर बोला, "कि पांडवों की पत्नियों में एक आप ही 'सती' हैं, जिन्होंने पुत्र-मोह पर विजय पाई है और उन्हें त्याग, पतियों के साथ वन में आ गई हैं। मेरी माता स्वयं को कोसती हैं कि वे इतनी हीन-बुद्धि क्यों हैं कि स्वयं को परिवर्तित नहीं कर पातीं। आप तो सब स्थानों पर अपने पतियों के साथ हैं—नगर में, ग्राम में, वन में, प्रासाद में···और तो और द्यूत में भी ! मेरी माता कहती हैं कि उन्होंने आप जैसी सती नारी कोई दूसरी नहीं देखी।···"

"बस, पुत्र बस !" द्रौपदी का मन भर आया। उसने अपनी आँखें पोछीं, "तुम्हारी माता जैसा उदार हृदय, यदि कहीं मैंने भी पाया होता··· !"

"सुनो घटोत्कच !" युधिष्ठिर ने उसे पुकार लिया, "तुम इतनी लंबी और कठिन यात्रा कर, क्या बस हमारा समाचार जानने के लिए ही आए हो ?"

"नहीं महाराज !" घटोत्कच भाव-विह्वल स्वर में बोला, "मैं तो आप लोगों को साथ ले चलूँगा। आप वृकोदर-प्रदेश में रहें। वहाँ दुर्योधन का कोई भय नहीं है। फिर हम सब मिलकर, वनचरों की सेना संगठित करेंगे। अपना राज्य स्थापित करेंगे। समय आने पर, हस्तिनापुर पर आक्रमण करेंगे··· !"

"नहीं पुत्र ! उसकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी।" युधिष्ठिर मुस्कराए, "हम तुम्हारे साथ जाकर राज्य-स्थापना नहीं कर सकते। हमने वनवास का वचन दिया है। हमारा, अपने ही कुल की राजधानी हस्तिनापुर पर आक्रमण करने का भी कोई विचार नहीं है··· !"

"हम तुम्हारे साथ नहीं जाएँगे, किंतु तुम हमारे साथ रह सकते हो, घटोत्कच !" भीम ने बीच में ही कहा, "हमारी इस कठिन यात्रा में साथ रहोगे, तो हमें तुम्हारी सहायता रहेगी। पांचाली के लिए यह यात्रा अत्यन्त कठिन है··· !"

"मैं समझता हूँ पिताजी !" घटोत्कच बहुत मधुर ढंग से बोला, "वैसे तो मैं आपके साथ अज्ञातवास के अंत तक रह सकता हूँ; किंतु माँ वहाँ अकेली हैं। फिर, वे आपके समाचार की प्रतीक्षा कर रही हैं··· !"

"तुम शीघ्र लौटना चाहते हो ?" भीम ने पूछा।

"इतनी शीघ्रता भी नहीं है।" घटोत्कच मुस्कराया।

द्रौपदी ने देखा : इस बड़े-से भयंकर लगनेवाले चेहरे पर जब स्नेहपूर्ण मुस्कान प्रकट होती है, तो उसमें से भी कमनीयता झाँकने लगती है !···

"तो ?"

"यदि आप मेरे साथ नहीं चलते, तो मैं आपकी यात्रा के कठिन खंडों में आपके साथ रहूँगा।" वह वोला, "आपको किसी सुरक्षित भूमि पर पहुँचाकर, माँ के पास लौट जाऊँगा।"

"ठीक है ! ऐसे ही करो पुत्र !" भीम ने कहा, "किंतु स्मरण रखना, पांचाली के ये जो केश खुले हैं, उनका एक विशेष प्रयोजन है।"

"जानता हूँ पिताजी ! युद्ध होगा।" वह मुस्करा रहा था।

"हमें तुम्हारी सहायता की आवश्यकता होगी।" भीम मुस्कराया।

"आप, युद्ध-भूमि में, मुझे किसी से पीछे नहीं पाएँगे।"

"तुमसे यही आशा थी पुत्र !"

25

दुर्योधन का गुप्तचर-प्रमुख, सत्यशोधन, वहुत प्रसन्न-मुद्रा में उसके सम्मुख खड़ा था।

दुर्योधन ने एक खोजपूर्ण दृष्टि उसके चेहरे पर डाली।···पहले तो उसका मन हुआ कि वह उसे डाँट दे। उसका इस प्रकार उल्लसित होकर, राजा के सम्मुख आना और फिर विना कोई सूचना दिए, दाँत निकाले खड़े रहना, राजमर्यादा का उल्लंघन था। उसका काम तो मात्र इतना था कि वह राजा को सूचना दे। यह राजा का कार्य था कि वह निश्चय करे कि वह सूचना उल्लास-योग्य थी, अथवा विलाप-योग्य !··फिर भी उसने सूचना प्राप्त होने तक गुप्तचर-प्रमुख को डाँटने का कार्यक्रम स्थगित रखा और भाव-शून्य, कठोर स्वर में पूछा, "क्या सूचना लाए हो ?"

सत्यशोधन का आत्म-नियंत्रण कुछ और शिथिल हो गया। वह स्पष्ट रूप से मुस्कराया और वोला, "युवराज ! बहुत आनन्द की सूचना लाया हूँ।"

"बोलो !"

"कुलिंदराज का राज्य छोड़कर, पांडव, उसके पार ऊँचे पर्वतों की ओर चले गए हैं। जहाँ तक मेरा विचार है, उस क्षेत्र में जाकर समतल-क्षेत्र का कोई साधनहीन निवासी जीवित भी नहीं बचता। पांडवों के पास शीत से अपनी रक्षा करने का कोई प्रबंध भी नहीं है। न वस्त्र, न कोई और उपकरण ! मृगों का आखेट करेंगे और उनका चर्म पहनेंगे। हमारी सूचनाओं के अनुसार, उनके पास खाद्यान्न भी नहीं है। वे लोग निश्चित् मृत्यु की ओर गए हैं। उनके जीवित लौटने की आशा अब प्रायः नहीं है।" वह रुका, "क्या युवराज अब भी चाहेंगे, कि हमारे गुप्तचर,

उनके पीछे चलते जाएँ और हमें सूचनाएँ भेजते रहें ?...अथवा आप चाहेंगे कि हमारे गुप्तचर कुलिंदराज की सीमाओं पर बने रहें और पांडवों के लौटने की प्रतीक्षा करें ?"

दुर्योधन ने उसके प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। उसने अपनी ओर से नई सूचना माँगी, "तुमने पिछली बार कहा था कि पांडवों के साथ कुछ रथ, कुछ अश्व और कुछ सेवक भी थे। उनका क्या हुआ ?"

लगा कि सत्यशोधन परम आनंदित होकर एक उन्मुक्त अट्टहास कर बैठेगा; किंतु राजमर्यादा के उल्लंघन के भय से उसने स्वयं को संतुलित किया और बोला, "उन्होंने वे रथ, अश्व और सेवक कुलिंदराज की ही शरण में छोड़ दिए थे...।"

"तो उन पर दृष्टि रखो।" दुर्योधन बोला, "पांडव, निश्चित् रूप से उनसे अपना संपर्क बनाए रखेंगे। उनसे ही तुमको पांडवों के संबंध में निश्चित् सूचनाएँ प्राप्त होंगी।"

इस बार सत्यशोधन स्वयं को रोक नहीं पाया। वह हल्के से हँसा और बोला, "युवराज ! पांडवों के विदा होने के अगले ही दिन कुलिंदराज ने पांडवों के सेवकों को मार-पीट कर, अत्यन्त अपमानजनक स्थिति में अपने राज्य से निष्कासित कर दिया है..."

दुर्योधन, प्रयत्न करने पर भी न अपना आश्चर्य छिपा पाया, न प्रसन्नता। उसके चेहरे पर मुखर उल्लास था, "उन रथों और अश्वों का क्या हुआ ?"

"लगता है कुलिंदराज ने उनसे वे रथ और अश्व छीन लिए हैं; क्योंकि जब वे रोते हुए नगर से विदा हो रहे थे, तो उनके साथ रथ और अश्व नहीं थे।"

"कुलिंदराज ने यह बहुत अच्छा किया।" दुर्योधन चुप हो गया; किंतु उसके मन में कहने के लिए बहुत कुछ था। वह कहना चाहता था कि कुलिंदराज के पास दूत भेजो। उसे उपहार दो, उसे सम्मान दो, और उसे बताओ कि कुरुराज दुर्योधन, उससे बहुत प्रसन्न हैं और अपनी राजसभा में उसे महत्त्वपूर्ण स्थान देना चाहते हैं...किंतु ये सारी बातें, वह इस गुप्तचर-प्रमुख के सम्मुख नहीं कहना चाहता था। अपनी मुद्रा कुछ बदलकर, मंद स्वर में बोला, "यदि वह उनको आश्रय नहीं देना चाहता था, तो उसने पांडवों को स्पष्ट ही क्यों नहीं कह दिया ?"

"यही तो राजनीति है युवराज ! वह उस मोटे भीम की उपस्थिति में, अपना विरोध जताने का साहस नहीं कर पाया होगा; इसलिए उसने उन्हें आश्रय देने का आश्वासन दिया होगा।...किंतु वह जानता है कि युवराज दुर्योधन के शत्रुओं को आश्रय देने का अर्थ क्या है...।"

"युवराज दुर्योधन के शत्रुओं को आश्रय...क्या अर्थ है उसका ?..." दुर्योधन जैसे अपने-आपसे बोला, "दुर्योधन के शत्रुओं को तो उसकी अपनी राजधानी हस्तिनापुर में ही आश्रय मिला हुआ है। युधिष्ठिर ने काम्यक वन से प्रस्थान करते

हुए, अपनी असहायता से वाध्य होकर, अपने जिन राजभक्त कर्मचारियों को विदा किया था, तुम जानते हो, उन सबको महाराज धृतराष्ट्र ने स्वयं आश्रय दिया है। ···युधिष्ठिर के राजभक्त कर्मचारियों को महाराज धृतराष्ट्र का आश्रय··· ।"

"जानता तो हूँ युवराज !" सत्यशोधन बोला, "किंतु आज तक यह पूछने का साहस नहीं कर पाया कि ऐसा संभव कैसे हुआ ? महाराज धृतराष्ट्र ने आपके शत्रुओं को शरण क्यों दी ?"

"उनका विचार है कि हम युधिष्ठिर के जिन मित्रों और भक्तों को अपने यहाँ आश्रय देंगे, वे सब हमारे अपने हो जाएँगे। उन लोगों की युधिष्ठिर-भक्ति क्षीण होती जाएगी। क्रमशः वे हमारे मित्र होते जाएँगे; और अंततः युधिष्ठिर सर्वथा मित्रविहीन हो जाएगा।"

"किंतु मैंने तो सुना है युवराज ! कि महाराज धृतराष्ट्र ने अश्रु बहाते हुए, उन लोगों को अपने कंठ से लगाया है और कहा है कि वे युधिष्ठिर का पालन तो नहीं कर सके, किंतु अपने उस पुत्र के प्रेम के कारण उसके भेजे हुए अनुचरों का पालन वे अवश्य करेंगे।"

"वह उनका राजनीतिक पाखंड है; अन्यथा उनके पांडव-प्रेम के स्वरूप को कौन नहीं जानता ?" दुर्योधन ने उसकी ओर देखा, "कोई और सूचना ?"

"हाँ युवराज !"

"क्या है ?"

"द्रौपदी के पाँचों पुत्र पांचालों को छोड़, यादवों की राजधानी द्वारका में पहुँच गए हैं।"

"क्यों ?" दुर्योधन ने आश्चर्य से पूछा, "क्या वे भी अपने पिताओं के समान तीर्थ-यात्रा करने गए हैं; पवित्र प्रभास-क्षेत्र के दर्शन करने ?"

"नहीं महाराज !" सत्यशोधन हँसा, "यह भी विधि की विचित्र विडंवना है कि अपने जिन भागिनेयों को धृष्टद्युम्न अपना रक्त पिलाकर योद्धा वना रहा था, वे उससे रुष्ट होकर कृष्ण के पास चले गए हैं। उनका कहना है कि यदि वे धृष्टद्युम्न के पास ही रहे, तो अभिमन्यु उनसे कहीं श्रेष्ठतर योद्धा बन जाएगा।"

दुर्योधन कुछ क्षणों तक मौन चिंतन करता रहा···इसका अर्थ क्या है ?···इसका परिणाम क्या होगा ?···

"बस ?"

"हाँ युवराज !"

"तो, अव तुम जाओ और दुःशासन को यहाँ भेज दो।" वह रुका और पुनः बोला, "अंगराज कर्ण को भी सूचना भिजवा दो, कि मैं उनकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

सत्यशोधन प्रणाम कर चला गया।

दुर्योधन अपने कक्ष में एक सिरे से दूसरे सिरे तक टहलता रहा...वह चिंतित नहीं था। आज तीनों ही सूचनाएँ बहुत अच्छी आई थीं...पांडव अपनी निश्चित् मृत्यु की ओर अपने पैरों पर चलकर चले गए थे। जिस छोटे से राजा कुलिंदराज सुवाहु को उन्होंने अपना मित्र समझकर, उसके पास अपने सेवक छोड़े थे, वह भी उनका शत्रु ही निकला...इससे तो कहीं अच्छा था कि वे अपने इन सेवकों को भी हस्तिनापुर ही भेज देते। महाराज धृतराष्ट्र अपने स्वार्थवश ही सही, किंतु उन्हें आजीविका तो देते। कुलिंदराज ने तो उन्हें मार-पीट कर, अपने राज्य से ही निकाल दिया...सहसा, दुर्योधन की चिंतन-प्रक्रिया थम गई...उसे अपने गुप्तचरों को पांडवों के उन सेवकों के पीछे भेजना चाहिए था...किंतु फिर उसके अपने ही मन में कोई हँसा...गुप्तचर उन सेवकों के पीछे जाकर क्या करते...क्या देखते कि उनमें से कौन किस नदी में डूबकर मर गया और कौन किस सरोवर में...व्यर्थ है उनके पीछे जान खपाना ! यदि वे अपनी मृत्यु स्वयं ही न मर गए, तो बहुत संभव है कि वे लोग भी अपने पैर घसीटते, आजीविका माँगते हस्तिनापुर ही आ पहुँचें...किंतु ये, द्रौपदी के पुत्र द्वारका क्यों चले गए ?...दुर्योधन पुनः रुका...उसके मन में एक नया विचार सिर उठा रहा था...पांडवों ने अपने सेवकों को कुलिंदराज के पास क्यों छोड़ा ? क्या युधिष्ठिर को द्रुपद और कृष्ण पर भी भरोसा नहीं है ?...कृष्ण अर्जुन का मित्र है, युधिष्ठिर का नहीं !...संबंधी भी वह अर्जुन का ही है।...युधिष्ठिर को उससे क्या लगाव हो सकता है ?...किंतु द्रुपद पर उसे क्यों विश्वास नहीं है ? उसने द्रुपद के स्थान पर सुवाहु को क्यों चुना ?...क्या सचमुच धृष्टद्युम्न और पांडवों में कोई अनवन हो गई है ? उन्होंने अपने अनुचर कांपिल्य नहीं भेजे, उनके सेवक भी द्रुपद के आश्रय में नहीं गए, और अब द्रौपदी के पुत्र भी द्वारका चले गए...

दुःशासन ने आकर उसे प्रणाम किया, "आपने मुझे स्मरण किया भैया ?"

"हाँ ! तुम लोगों के साथ कुछ चर्चा करना चाहता हूँ।" दुर्योधन अपनी उत्तेजना को दबाए हुए था, "कर्ण को भी बुलवाया है।"

दुःशासन, एक आसन पर बैठ गया। वह जानता था कि जब तक कर्ण आ नहीं जाएगा, तब तक दुर्योधन कुछ नहीं बोलेगा। दुःशासन उसका भाई ही नहीं है, उसका सबसे अधिक निष्ठावान अनुचर है; फिर भी जाने क्यों दुर्योधन, कर्ण पर इतना भरोसा करता है। कर्ण की उपस्थिति में तो अनेक बार दुःशासन को लगने लगता है कि दुर्योधन का सहोदर, वह नहीं, कर्ण है।

उसका अनुमान पूर्णतः सत्य निकला। कर्ण के आ जाने के पश्चात् ही दुर्योधन ने अपना मुख खोला, "सूचना मिली है कि द्रौपदी के पाँचों पुत्र कांपिल्य छोड़कर

द्वारका चले गए हैं।"

"तो चले जाएँ।" दुःशासन ने कुछ ऊवे हुए स्वर में कहा, "एक मातुल को छोड़, दूसरे के पास चले गए। हमारे लिए तो दोनों एक जैसे हैं।"

"तुमने ध्यान नहीं दिया राजकुमार !" कर्ण की मुद्रा पर्याप्त गंभीर थी, "धृष्टद्युम्न पांचाली का सगा भाई है–सहोदर ! उसे त्याग कर, पांचाली के पुत्र, सुभद्रा के भाई कृष्ण के पास चले गए हैं···पांचाली और सुभद्रा सपत्नियाँ हैं···।"

"तो क्या हो गया ?" दुःशासन वोला, "सुभद्रा का भाई हो अथवा द्रौपदी का ! क्या अंतर है ? हैं तो दोनों मातुल ही। और फिर धृष्टद्युम्न जो सिखा सकता था, सिखा चुका होगा। उससे उच्चतर शस्त्र-प्रशिक्षण के लिए, वे कृष्ण के पास चले गए हैं। उन्हें जाना ही चाहिए था। कौन नहीं जानता कि कृष्ण, धृष्टद्युम्न से श्रेष्ठतर योद्धा और महानतर शस्त्रविद् है। इसका अर्थ यह हुआ कि द्रौपदी के पुत्र अव उच्चतर शस्त्र-शिक्षा के लिए गए हैं, जैसे अंगराज कर्ण, ऋषि परशुराम के पास गए थे।···पहले सूचना मिल गई होती, तो द्वारका के मार्ग में ही, उन पाँचों के वध की व्यवस्था कर दी जाती और प्रचारित कर दिया जाता कि वनचरों ने उन्हें मार डाला।···हमारे गुप्तचर समाचार भी लाएँगे, तो तव, जव सव कुछ समाप्त हो चुका होगा।···"

कर्ण को अपने परशुराम के पास जाने और द्रौपदी-पुत्रों के कृष्ण के पास जाने की तुलना तनिक भी नहीं भायी थी। उसे लगा कि दुःशासन ने उसे जैसे गाली देने का प्रयत्न किया है···किंतु कर्ण उसे क्या कहता ! दुःशासन तो उन लोगों में से था, जिसे अपने ही शब्दों का अर्थ ज्ञात नहीं होता···जो मुँह में आया, कह देगा और फिर तुरंत स्वीकार कर लेगा कि वह यह कहना नहीं चाहता था।···

"दुःशासन !" दुर्योधन का स्वर कुछ कठोर था, "तुम्हें यहाँ विलाप करने के लिए नहीं बुलाया है। हम गंभीर चर्चा के लिए यहाँ उपस्थित हुए हैं। अपना अनर्गल विलाप करने से पहले, कर्ण की वात सुनो···।"

"वह ठीक है।" दुःशासन का स्वर भी कुछ प्रखर था, "किंतु इस पर भी विचार होना चाहिए कि ऐसा क्यों है कि हमारे गुप्तचर समाचार तव लाते हैं, जव साँप निकल गया होता है, और हम सिवाय लकीर पीटने के और कुछ भी नहीं कर सकते।"

"अच्छा ! इस पर भी विचार कर लेंगे।" दुर्योधन वोला, "किंतु पहले तुम कर्ण की वात सुनो।"

"यदि धृष्टद्युम्न यह मानता हो कि कृष्ण उससे श्रेष्ठतर योद्धा है, और इसलिए उसने स्वेच्छा से अपने भागिनेयों को द्वारका भेज दिया है, तो निश्चित् रूप से वही वात है, जो राजकुमार दुःशासन ने कही है; किंतु ऐसा संभव है क्या ?"

कर्ण मुस्करा रहा था।

कर्ण की इस रहस्यमयी मुस्कान ने दुर्योधन को कुछ अधिक ही आंदोलित कर दिया था : क्या सचमुच कर्ण के मन में भी वही बात है, जो दुर्योधन सोच रहा है ?...

"तुम्हें क्या लगता है मित्र ?" दुर्योधन ने पूछा, "क्या ऐसा संभव नहीं है ?"

"जहाँ तक मैं धृष्टद्युम्न और उसके पिता को समझता हूँ, ऐसा कदापि संभव नहीं है...।"

तभी दासी ने कक्ष में प्रवेश कर, हाथ जोड़ प्रणाम किया, "महाराज ! गुरु-पुत्र अश्वत्थामा पधारे हैं।"

"लिवा लाओ।" दुर्योधन ने आदेश दिया।

अश्वत्थामा भीतर आया तो चिहुँककर खड़ा का खड़ा रह गया, "महाराज अंगेश ! लगता है आपके दुर्योधन-प्रेम के कारण, युवराज से एकांत में मिलना कभी संभव नहीं होगा। जब आता हूँ, आप पहले से उपस्थित ही नहीं, आसनस्थ भी होते हैं।"

कर्ण हँसा, "सूर्योदय से पूर्व प्रकाश नहीं हो सकता। किसी दिन, तुम मुझ से पूर्व आकर दिखाओ, तो युवराज से एकांत में मिल सकोगे।"

"तो तुम सूर्योदय हो और मैं प्रकाश ?"

"नहीं ! मैं सूर्य हूँ और तुम प्रकाश।" कर्ण बोला।

"बैठो गुरु-पुत्र !" दुर्योधन हँसकर बोला, "अंगराज से रुष्ट होने का कोई कारण नहीं है। मैंने ही उन्हें एक गंभीर चर्चा के लिए बुलाया है।"

अश्वत्थामा दुःशासन के साथ बैठ गया, "ऐसी कौन-सी गंभीर समस्या है, जिस पर चर्चा करने के लिए हस्तिनापुर के सबसे अगंभीर व्यक्ति को बुलाया गया है।"

दुःशासन ने अट्टहास किया, "मित्र अश्वत्थामा ! जो व्यक्ति तुम्हारी इस वार्ता-शैली से परिचित न हो, वह तो पहली भेंट में ही तुमसे भिड़ जाएगा।"

"जो मेरी वार्ता-शैली से परिचित न हो, उससे मैं कभी पहली भेंट करता ही नहीं।" अश्वत्थामा मुस्करा रहा था।

"अपनी वाक्‌चातुरी छोड़कर, मेरी यह राजनीतिक समस्या सुलझाओ।" दुर्योधन ने अश्वत्थामा के आने से पूर्व हुई, सारी चर्चा दोहरा दी।

अश्वत्थामा ध्यान से सुनता रहा। दुर्योधन कह चुका, तो वह बोला, "जहाँ तक मैं समझता हूँ, धृष्टद्युम्न संसार में किसी का श्रेष्ठत्व तथा वर्चस्व स्वीकार नहीं कर सकता। यही दोष उसके पिता में भी है; अन्यथा वह पिताजी का इस प्रकार अपमान न करता।"

"यही बात मैं सोच रहा था।" कर्ण ने कहा, "किंतु मेरे मन में अभी यह

स्पष्ट नहीं है कि द्रौपदी-पुत्रों द्वारा इस प्रकार निरादृत होने पर, धृष्टद्युम्न के क्रोध का लक्ष्य कौन होगा–द्रौपदी के पुत्र, अथवा उन्हें इस प्रकार उसका अनादर करने की प्रेरणा देनेवाला, कृष्ण ! यदि वह अपने भागिनेयों से रुष्ट हुआ, तो समझ लो कि भविष्य में होने वाले किसी भी युद्ध में, पांडवों को धृष्टद्युम्न से कोई सहायता नहीं मिल पाएगी।···क्योंकि पांडव अपने पुत्रों और धृष्टद्युम्न में से, धृष्टद्युम्न का चयन नहीं करेंगे। वे अपने पुत्रों का त्याग नहीं कर सकते···किसी के लिए भी ! और यदि धृष्टद्युम्न का क्रोध कृष्ण के विरुद्ध भड़का, तो उसे शांत करने के लिए पांडवों को कृष्ण का त्याग करना पड़ेगा, जो उनके लिए उतना ही असंभव है।"

"इसका अर्थ हुआ कि पांडवों को कृष्ण और धृष्टद्युम्न–दोनों की सहायता, एक साथ नहीं मिल सकती।" दुःशासन अपनी प्रसन्नता में जोर से हँसा, "क्या ऐसा नहीं हो सकता कि पांडवों के प्रति अधिक सौहार्द जताने के लिए, कृष्ण और धृष्टद्युम्न ही परस्पर लड़ मरें ?"

उनके मध्य एक मौन छा गया।

यह एक ऐसा प्रश्न था, जिसका उत्तर किसी के पास नहीं था; किंतु उन सबकी कामना थी कि यह कल्पना साकार हो···यथार्थ में परिणत हो···

"यदि बात केवल धृष्टद्युम्न की होती, तो ऐसा भी संभव हो सकता था," अश्वत्थामा बोला, "किंतु वह कृष्ण, ऐसा कभी नहीं होने देगा। वह पांडवों का अहित कभी नहीं होने देगा। पांडव उसका तिरस्कार करें, उसे त्याग दें–तब भी नहीं। उसके राग-द्वेष में, मैत्री और शत्रुता में, व्यक्ति-तत्त्व होता ही नहीं। वह तो केवल लक्ष्य देखता है। उसकी अवहेलना हो, तिरस्कार हो, अनादर हो–कुछ हो, किंतु यदि उसका लक्ष्य पूर्ण होता है, तो वह सब कुछ सहन कर लेगा। तुमने देखा नहीं, पांडवों के राजसूय में उसने संन्यासियों के चरण धोना स्वीकार कर लिया था, ताकि राजसूय निर्विघ्न पूर्ण हो। उसके लिए अपना आदर-अनादर, मान-अपमान, कोई अर्थ नहीं रखता।···और इस समय, जो लक्ष्य उसके सामने है, उसके वर्तमान रहते, वह धृष्टद्युम्न का विरोध, कभी आमंत्रित नहीं करेगा।"

"और यह द्रौपदी ?" सहसा दुर्योधन ने पूछा, "यदि धृष्टद्युम्न और कृष्ण के मध्य, कोई तनाव उत्पन्न हो जाए, तो द्रौपदी की क्या स्थिति होगी ? वह किसका पक्ष लेगी ?"

"इस द्रौपदी का चरित्र तो मेरी समझ में ही नहीं आता।" कर्ण बोला, "तिलोत्तमा के कारण, सुंद और उपसुंद तक लड़ मरे थे; किंतु इन पांडवों में द्रौपदी को लेकर एक बार झगड़ा तक नहीं हुआ। यदि द्रौपदी में पुरुष को लुभाने की इतनी ही क्षमता है कि वह कुछ भी करती रहे, कितने ही पुरुषों से संबंध रखे, उसके पति न उससे रुष्ट होते हैं, न उन पुरुषों से, जिनसे उसके संबंध हैं; तो उसके विषय में क्या कहा जा सकता है।···और ये पांडव तो पुरुषत्व का कोई

प्रमाण ही नहीं दे रहे। पता नहीं ये लोग मंद-बुद्धि हैं, या उनमें पुंसत्व का अभाव है, कि अपनी ही पत्नी पर भी उन्हें पूर्णाधिकार की इच्छा नहीं होती, पर-स्त्री की तो क्या कहें।...उन्हें किसी प्रकार के सहभोग में भी आपत्ति नहीं होती।..."

"और उस अर्जुन को देखो।" दुर्योधन बोला, "उसी ने द्रौपदी का स्वयंवर जय किया, और उसी को उसके भाइयों ने पहले भी बारह वर्षों के लिए द्रौपदी से दूर भेज दिया था; और अब फिर उसे ही तपस्या के लिए इंद्रकील पर्वत पर भेज दिया। जाओ, तुम तपस्या करो; और हम तुम्हारी पत्नी के साथ काम-सुख प्राप्त करें...यह युधिष्ठिर भी एक ही धूर्त है।..."

"और वह मूर्ख उनकी बात मानकर चला भी गया।" दुःशासन ने अट्टहास किया।

अश्वत्थामा को अर्जुन के विषय में ऐसी चर्चा अच्छी नहीं लगी। वह उसके पिता का बहुत प्रिय शिष्य था। वे आज भी उससे प्रेम करते थे; और अर्जुन आज भी उनका उतना ही आज्ञाकारी शिष्य था।

"पुंसत्वहीन नहीं हैं पांडव !" अश्वत्थामा कुछ उग्र स्वर में बोला, "वे तपस्वियों के समान संयमी हैं। उनके जीवन में काम-भोग का केवल आंशिक महत्त्व है। जीवन की उपलब्धि नहीं है काम-सुख। वे पाँचों भाई, अपनी मूल्यवान से मूल्यवान वस्तु को भी मात्र व्यक्तिगत नहीं समझते। स्वार्थी नहीं हैं वे। वे सब कुछ परस्पर बाँट सकते हैं। उनका प्रेम देखो। ईर्ष्या का अभाव देखो। स्त्री-प्रसंग में भी, उनमें परस्पर ईर्ष्या नहीं है।" सहसा वह कर्ण की ओर पलटा, "और अंगराज ! तुम तो सदा द्रौपदी के चरित्र को लांछित करने का प्रयत्न करते रहते हो, वह मात्र अपनी पराजय का प्रतिशोध लेने के लिए। उसे देखते ही तुम्हारी कामना जाग उठती है। तुम तृष्णा से जलने लगते हो। तुम्हारी हताशा, प्रतिहिंसा में परिणत हो जाती है। तुम पांडवों का तो कुछ विगाड़ नहीं सकते, उन्हें पीड़ित करने के लिए, उनकी पत्नी को—उस अवला स्त्री को, अपमानित करने का प्रयत्न करने लगते हो। द्यूत-क्रीड़ा के अवसर पर भी, तुमने यही किया था। तुम्हारा वासना-पीड़ित मन किसी स्त्री का सम्मान नहीं कर सकता...।"

दुर्योधन को लगा, अश्वत्थामा के चिंतन ने प्रतिकूल दिशा ग्रहण कर ली है। यदि वह इसी ओर बढ़ता गया, तो विचार-विमर्श क्या होना है, उसका और कर्ण का झगड़ा हो जाएगा...

"गुरु पुत्र !" दुर्योधन का स्वर अनुरोधपूर्ण था, "हम कर्ण और द्रौपदी के संबंधों पर नहीं, द्रौपदी के धृष्टद्युम्न और कृष्ण के प्रति दृष्टिकोण की बात कर रहे थे।"

"वह ठीक है युवराज !" अश्वत्थामा अपने आवेश के प्रति सजग हो गया था, "किंतु गंभीर चर्चा और ठीक-ठाक निष्कर्षों के लिए, व्यक्ति की दृष्टि निष्पक्ष

और यथार्थदर्शी होनी चाहिए। उसमें वासना, ईर्ष्या और संकीर्णता होगी, तो उचित निष्कर्ष कहाँ से प्राप्त होंगे। द्रौपदी अपने संयमित और न्यायोचित व्यवहार से यदि अपने पाँच पतियों में संतुलन बनाए रख सकती है, तो क्या वह अपने सहोदर और परमप्रिय सखा मे एक सौहार्दपूर्ण, स्नेहयुक्त संवंध नहीं वनाए रख सकती ?"

"मैं भी तो यही कह रहा था कि कृष्ण और धृष्टद्युम्न में झगड़ा होने की संभावना नहीं है।" कर्ण ने अपना वचाव प्रस्तुत किया।

"किंतु उसका कारण, जो कुछ तुम बता रहे हो, वह उचित नहीं है।" अश्वत्थामा पुनः उग्र होता जा रहा था, "तुम उसका कारण द्रौपदी की चरित्रहीनता वता रहे हो, जवकि मैं उसका श्रेय, द्रौपदी की सात्विकता को दे रहा हूँ।"

"गुरुपुत्र ! तुम कर्ण-विरोध के आवेश में यह भूल गए कि द्रौपदी तुम्हारे पिता के उसी परमप्रिय मित्र द्रुपद की पुत्री है, जिसने उनका अपमान किया था।" दुःशासन ने उसे उत्तेजित करने का प्रयत्न किया।

"नहीं ! वह सब स्मरण है मुझे !" अश्वत्थामा वोला, "किंतु किसी भी शत्रुता में मैं नारीत्व का अपमान नहीं करता। मैं अपने शत्रु की पुत्री का वध तो कर सकता हूँ; किंतु न उसे निर्वस्त्र कर सकता हूँ, न व्यभिचार का निमंत्रण दे सकता हूँ।"

वह उठकर खड़ा हो गया, "अच्छा ! अव चलता हूँ। इस सारी चर्चा के पश्चात् अव मुझसे कोई शांत और गंभीर वार्ता नहीं हो सकेगी।"

अश्वत्थामा चला गया ! वे लोग उसे जाते हुए देखते रहे। किसी ने भी उसे रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया।

"इस क्रुद्ध ब्राह्मण को आप कैसे सँभालेंगे युवराज !" अश्वत्थामा के जाने के पश्चात् कर्ण वोला, "इसका तो कोई पता ही नहीं चलता कि कब किस ओर मुड़ जाएगा। कहाँ तो पिता-पुत्र, दोनों, को द्रुपद से इतना वैर था, और कहाँ द्रौपदी का पक्ष लेकर, हमसे ही भिड़ गया।..."

"तुम उसकी चिंता मत करो मित्र !" दुर्योधन पर्याप्त शांत स्वर में बोला, "इन पिता-पुत्र की हमको वहुत आवश्यकता है। इसका यह असंतुलित क्रोध ही हमारा संवल है। युद्ध में इसी क्रोध को भड़का कर, इसे पांडवों के विरुद्ध खड़ा कर देना है। यह हिंस्र पशु के समान उनसे लड़ता रहेगा।...और...।"

"और क्या ?" दुःशासन ने उत्सुकता से पूछा।

"और जिस दिन मैं पांडवों और कृष्ण से मुक्ति पा जाऊँगा; मैं भी द्रुपद के समान इसे समझा दूँगा कि मैत्री केवल समान-धर्मा लोगों में समता के आधार पर होती है।" दुर्योधन बोला, "अभी तो मेरा सारा ध्यान, इस वात पर केन्द्रित है कि किस प्रकार पांडवों के विरुद्ध स्वयं को सैनिक दृष्टि से अधिक से अधिक शक्तिशाली वनाया जाए और किस प्रकार उन्हें दुर्वल से दुर्वल किया जाए।"

"तो युवराज ! एक काम करो।" कर्ण बोला, "यदि संभव हो तो गुप्तचरों, मिथ्यावादियों और दुष्प्रचारकों के माध्यम से धृष्टद्युम्न को यह समझाओ कि कृष्ण, उसके परिवार में सेंध लगा रहा है। अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए, द्रौपदी ने धृष्टद्युम्न को कभी नहीं पुकारा, न सभा में, न वन में। उसने जब पुकारा, कृष्ण को पुकारा। अब उसके पुत्र भी धृष्टद्युम्न को छोड़कर, कृष्ण के पास चले गए हैं। उसके मन में कृष्ण के विरुद्ध जितना विष भर सको, भरो !"

"और भैया !" सहसा दुःशासन बोला, "लक्ष्मणा, द्वारका में बैठी क्या कर रही है ? वह यादवों को तनिक भी पांडव-विरोधी नहीं बना सकी।"

"हाँ ! नहीं बना सकी।" दुर्योधन ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा, "उसकी पहुँच, बस सांव तक ही है, कृष्ण तक नहीं; और यादवों की नीतियाँ अभी तक कृष्ण ही निर्धारित करता है, सांब नहीं।"

"फिर भी ! सांव, कृष्ण का पुत्र है...।"

"प्रत्येक पुत्र क्षमताओं में पिता के समकक्ष होता, तो फिर बात ही क्या थी।" दुर्योधन ने निःश्वास छोड़ा।

"युवराज ! अभी तो एक कृष्ण ही इतना भारी पड़ रहा है।" कर्ण बोला, "यदि उसके सारे पुत्र, क्षमताओं में उसके समतुल्य हो जाते, तो हमारे लिए बहुत कठिनाई होती।"

दुर्योधन ने मानों अपनी चिंतन-प्रक्रिया को रोककर, कर्ण की ओर देखा, "कहते तो ठीक हो !..पर अभी एक मार्ग शेष है।"

"क्या ?"

"लक्ष्मणा ने हमारे लिए द्वारका तक का मार्ग वना दिया है।" दुर्योधन ने उत्तर दिया, "अव यह हमारी चतुराई पर निर्भर करता है कि हम कृष्ण से क्या-क्या छीन सकते हैं।..."

विदुर, संध्या से काफी पहले ही घर आ गए थे।

"कुंती भाभी कहाँ हैं पारंसवी ?"

"बाहर, उद्यान की ओर गई थीं। गंगा-तट पर बैठी होंगी।"

विदुर अपने निवास के उद्यान-खंड की ओर चले आए। कुंती, गंगा-तट पर बैठी, जैसे लहरों में कुछ खोजने का प्रयत्न कर रही थी।

"भाभी !"

कुंती की आत्मलीनता भंग हुई, "आओ विदुर !" उसने दृष्टि उठाकर सूर्य की ओर देखा, "आज तुम जल्दी घर आ गए ?"

"हाँ भाभी !"

"कुशल तो है ?"

"कुशल ही है।" विदुर भी निकट की एक शिला पर बैठ गए, "समाचार आया है, तुम्हारे पुत्र कुलिंदों का राज्य पारकर, प्रायः कुबेर के राज्य में प्रवेश कर गए हैं।"

"कौन लाया है यह समाचार ?" कुंती ने पूछा, "दुर्योधन के गुप्तचर ?"

विदुर हँसे, "समाचार तो दुर्योधन के गुप्तचर ही लाए हैं; किंतु वे यह समाचार लाए हैं कि पांडव हिमालय के ऐसे, अत्यधिक शीतल तथा दुरूह प्रदेश में चले गए हैं, जहाँ से कोई जीवित नहीं लौटता !"

"क्या यह समाचार सत्य नहीं है ?"

"दुर्योधन के लिए सत्य है, क्योंकि यह उसकी कामना के अनुकूल है। उसकी इच्छा का फलीभूत रूप है।" विदुर बोले, "हमारे लिए यह सत्य नहीं है, क्योंकि हम जानते हैं कि उसके गुप्तचर, उसे ऐसा समाचार क्यों दे रहे हैं।"

"क्यों दे रहे हैं ?"

"इसलिए कि उसके वेतन-भोगी गुप्तचर, दुर्योधन की दुर्भावनाओं की पूर्ति के लिए, पांडवों के पीछे, उन प्रदेशों में नहीं जाना चाहते, जहाँ पांडव कठिन श्रम, तपस्या, आत्मबल और साहस कर पहुँचेंगे।..." विदुर बोले, "उस प्रदेश में पांडव तो अपने मित्र बना लेंगे। दुर्योधन के गुप्तचरों को न कोई स्थानीय सहायता मिल सकेगी, न हस्तिनापुर से कोई उनका कुशल-मंगल पूछने जाएगा।..."

"स्पष्ट कहो विदुर !"

"भाभी ! सत्य तो यह है कि लोमश पांडवों को उन प्रदेशों में ले गए हैं, जहाँ दुर्योधन की सेना तो क्या, गुप्तचर भी नहीं पहुँच सकते। इसलिए पांडव अब दुर्योधन के आक्रमणों से पूर्णतः सुरक्षित हैं।"

कुंती ने कोई विशेष प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। मौन बैठी कुछ सोचती रही। फिर सहसा बोली, "और एक समाचार तुम्हें मैं दूँ विदुर !"

"क्या भाभी !"

"पांडवों ने जिस कुलिंदराज पर विश्वास कर, उसे अपना मित्र मान, अपने सेवक उसके आश्रय में छोड़े थे, वह इतना नीच निकला कि उसने उनका सर्वस्व छीन, उन्हें मार-पीटकर, अपने राज्य से निष्कासित कर दिया।"

"तुम्हें यह समाचार किसने दिया है भाभी ?"

"यही तुम्हारी गुप्तचर व्यवस्था है कि हस्तिनापुर की वीथियों में भिक्षा माँगने वाला भिक्षुक भी जानता है कि ऐसा हुआ है...।"

विदुर हँसे, "बड़ी भोली हो भाभी ! यह हस्तिनापुर की गुप्तचर-व्यवस्था नहीं है। यह दुर्योधन की दुष्प्रचार व्यवस्था है। वह चाहता है कि हस्तिनापुर का कण-कण, जान जाए कि पांडवों के मित्रों के साथ क्या घटित हो रहा है। वह

प्रचारित करना चाहता है कि संसार में पांडवों का कोई मित्र नहीं है।"

"पर क्यों ?"

"ताकि पांडवों के मित्र तथा हितैषी उन्हें दीन, दुर्बल और असहाय जान कर त्याग दें। उन्हें पूर्णतः विस्मृत कर दें।" विदुर बोले, "तुम भूल गईं भाभी कि दुर्योधन के पिता ने भी तुम्हारे पति के विषय में, बहुत कुछ ऐसा ही दुष्प्रचार किया था।"

"लगता है कि मैं भूल ही गई हूँ।" कुंती अत्यन्त मंद स्वर में जैसे अपने-आप से बोली। और सहसा उसने सिर उठाकर विदुर की ओर देखा, "तो फिर सत्य क्या है ?"

विदुर ने इधर-उधर देखा : आसपास कोई नहीं था। वे कुछ और निकट खिसक आए, "बहुत गोपनीय सूचना है; यदि गुप्त रख सको तो बताऊँ।...कहते हैं न स्त्रियाँ रहस्य को अपने पेट में पचा नहीं सकतीं।"

कुंती निर्णय नहीं कर पाई कि वह इस जन-मान्यता का विरोध करे या न करे : स्त्री-जाति की इस प्रशस्ति को निर्विघ्न प्रचारित होने दे, अथवा उसे कुछ वाधित करे...कितना अच्छा होता कि स्त्री होने के नाते, वह अपना रहस्य छुपा न पाती। यदि अपनी दुर्बलतावश ही, वह कह सकती कि कर्ण उसी का पुत्र है, वह पांडवों का भाई है...तो क्यों वह दुर्योधन की, इस प्रकार पांडवों के विरुद्ध सहायता करता ? क्यों वह द्रौपदी के अपमान को अपना सुख मानता...

"लोग ठीक ही कहते होंगे विदुर !" कुंती धीरे-से बोली, "मुझे ऐसे रहस्य मत बताओ, जिनका बोझ मेरा दुर्बल व्यक्तित्व सहन न कर सके।..."

"अरे नहीं भाभी। वह तो विनोद मात्र था।" विदुर हँसे, "सुनो ! सुबाहु ने जो कुछ किया, वह एक नाटक मात्र था, ताकि दुर्योधन के गुप्तचर उसका राज्य छोड़कर लौट जाएँ, और इंद्रसेन इत्यादि स्वतंत्रतापूर्वक अपना कार्य कर सकें।"

कुंती ने विस्मयपूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देखा, "तुम यह कैसे जानते हो ? क्या तुम्हारी कोई स्वतंत्र गुप्तचर व्यवस्था है ?"

"वैसे तो दुर्योधन के गुप्तचरों द्वारा लाई गई प्रत्येक सूचना मुझे बहुत सुविधा से मिल सकती है; किंतु उसके अतिरिक्त भी भाभी ! मेरी स्थिति यहाँ कुछ भी क्यों न हो, मैं हस्तिनापुर का महामंत्री हूँ और महर्षि वेदव्यास का प्रिय पुत्र हूँ। संसार-भर के यायावर संन्यासी महर्षि के आश्रम में आते हैं। उनकी इच्छा हो तो उन प्रदेशों की सूचनाएँ भी उन तक पहुँच जाती हैं, जहाँ जाने की कल्पना तक दुर्योधन के गुप्तचर नहीं कर सकते।"

कुंती ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह मौन बैठी, गंगा के जल-प्रवाह को देखती रही।

"क्या वात है भाभी ! तुम इन सूचनाओं से प्रसन्न नहीं हो ?"

"नहीं ! ऐसी तो कोई वात नहीं।" कुंती सायास हँसी, "किंतु मैं कभी-कभी सोचती हूँ विदुर ! कि मेरे पुत्र, पांचाली के साथ एक ऐसे लोक में पहुँच गए हैं, जहाँ मैं चाहूँ भी तो जा नहीं सकती। वे चाहें भी तो मुझ तक आ नहीं सकते··· ।"

"नहीं ! ऐसी वात तो नहीं है भाभी ! लोग वहाँ से आते-जाते हैं। वर्ष भर में कितने ही ऋषि उस ओर से इधर आते हैं, और कितने ही इधर से उधर जाते हैं··· ।"

"मैं तुम्हारी वात का विरोध नहीं कर रही।" कुंती ने विदुर की ओर नहीं देखा। उसकी दृष्टि जल में उठी उर्मियों को ही देखती रही, "मैं अपनी भावना की वात कर रही हूँ।···आज मैं उनसे भेंट करना चाहूँ, तो उन तक समाचार पहुँचने में कितना समय लगेगा ? और वे मेरे पास आना चाहें तो उन्हें कितनी लंवी यात्रा करनी पड़ेगी ?···इसलिए कहती हूँ कि मेरे मन में एक विंव उभरता है कि वे किसी और लोक में चले गए हैं, जहाँ से समाचार तो आते हैं; किंतु लोग नहीं आते। कई वार तो मेरा मन इसकी तुलना यमलोक से करने लगता है। मनुष्य की मृत्यु हो जाती है, तो जीव, आत्मा अथवा सूक्ष्म शरीर के रूप में वर्तमान रहता ही है। वस ! वह प्रकट नहीं होता। हम उसे देख नहीं सकते; छू नहीं सकते; उससे वार्तालाप नहीं कर सकते। पर हम जानते हैं कि उसका अस्तित्त्व है; इस लोक में नहीं, किसी और लोक में है।···मैं अपने पुत्रों को मृत नहीं मानती विदुर ! मैं उनके प्राणों के लिए चिंतित भी नहीं हूँ। मैं जानती हूँ कि वे जीवित हैं; वे जीवित रहेंगे; वे लौटकर आएँगे भी।···किंतु इस समय तो स्थिति वही है···वे हैं; किसी और लोक में ! जहाँ से मात्र, समाचार आते हैं··· ।"

कुंती उठकर खड़ी हो गई।

विदुर भी उठ खड़े हुए, "भीतर जाना चाहती हो भाभी।"

"हाँ विदुर ! शीत वढ़ रहा है। पारंसवी तुम्हारी प्रतीक्षा में वैठी होगी।" कुंती भवन की ओर चल पड़ी।

विदुर पीछे-पीछे भवन तक आए। इस बीच, उन्होंने वार्तालाप का कोई प्रयत्न नहीं किया। ऐसे समय में वे क्या कहते, कुंती से ? ऐसी धैर्यशीला स्त्री, इस समय जैसे कुछ विचलित हो उठी थी···विदुर सांत्वना भी देते, तो क्या कहकर देते···

पारंसवी भवन के मुख्य कक्ष में वैठी थी। कुंती आकर उसके साथ ही बैठ गई। विदुर असमंजसपूर्ण अनिर्णय में कुछ देर तो खड़े रहे; किंतु फिर उन दोनों के सम्मुख रखे मंच पर वैठ गए।

वात कुंती ने ही आरंभ की, "पारंसवी ! विदुर यह सूचना लाए हैं कि मेरे पुत्र हिमालय के उच्च क्षेत्रों में, प्रायः कुवेर के राज्य में पहुँच गए हैं। सहज तो

यही है कि मेरा मन उनमें लगा रहे। मैं प्रतीक्षा करती रहूँ कि कब कोई वहाँ से आएगा। उनका समाचार लाएगा। उन समाचारों को मैं सहेजती रहूँगी। जब समाचार आएगा, तो उसकी प्रसन्नता में उनकी चर्चा करती रहूँगी। रहूँगी हस्तिनापुर में; किंतु मेरे प्राण उच्चतम शृंगों पर बसा करेंगे। मैं यहाँ रहूँगी, किंतु यहाँ हूँगी नहीं; और जहाँ हूँगी, वहाँ रहूँगी नहीं···तो फिर यह उपस्थिति में अनुपस्थिति का, और अनुपस्थिति में उपस्थिति का जीवन कैसा होगा ? रहूँगी तुम्हारे साथ, किंतु तुम्हारे सुख-दुख मुझे स्पर्श भी नहीं करेंगे। तुम्हारा मेरे लिए कोई महत्त्व नहीं होगा। महत्त्व उनका होगा, जो यहाँ हैं ही नहीं। मैं तुम्हारे सुख-दुख बाँटूँगी नहीं; और मेरे सुख-दुख में वे आएँगे नहीं। इस अयथार्थ जीवन के जीने का क्या सुख ?···"

"क्या कह रही हो भाभी !" पारंसवी ने कुंती के कंधे पर हाथ रखा, जैसे उसे कल्पना-लोक से यथार्थ में लौटा लाना चाहती हो, "कैसी बहकी-बहकी बातें कर रही हो। कोई चिंताजनक समाचार आया है क्या ?" पारंसवी ने विदुर की ओर देखा।

"नहीं ! ऐसा तो कुछ नहीं है।" विदुर ने पूर्ण आश्वस्त स्वर में कहा।

"अरे नहीं पगली ! मैं किसी अशुभ सूचना के आघात से विक्षिप्त नहीं हो गई हूँ।" कुंती कुछ मुस्कराकर बोली, "मैं तो केवल यथार्थ को स्वीकार करने का प्रयत्न कर रही हूँ।"

"तुम यहाँ एक यथार्थ जीवन ही जी रही हो भाभी !" विदुर बोले, "तुम कदाचित् भूल गई कि हस्तिनापुर में रह जाने के पीछे एक विशेष प्रयोजन था तुम्हारा।"

"भूली नहीं हूँ। अब भी स्मरण है मुझे।" कुंती बोली, "मैं अपने पुत्रों का विकास, उन्नयन और उत्थान चाहती हूँ। उनको उनका न्यायपूर्ण, धर्म-संगत अधिकार दिलाना चाहती हूँ। इसलिए हस्तिनापुर में बैठी हूँ, ताकि यह तथ्य सबकी स्मृति में बना रहे कि पांडवों का सर्वस्व दुर्योधन ने अन्यायपूर्वक छीना है। युधिष्ठिर लौटेगा, तो इस अन्याय का विरोध करने के लिए उसे प्रेरित करना मेरा धर्म है। ···किंतु मैं अपना शेष जीवन केवल प्रतीक्षा में नहीं जीना चाहती। प्रतिशोध और प्रतिहिंसा की मूर्ति बन, एक प्रतीक्षापूर्ण पैशाचिक जीवन नहीं जीना चाहती। मेरे पुत्रों का विकास हो; किंतु मेरा विकास क्यों पूर्णतः थम जाए ? मैं ऐसा जीवन क्यों जीऊँ कि जैसे मेरे जीवन में अब कुछ शेष ही न हो ! मैं उस राक्षस के समान नहीं जीना चाहती, जिसके प्राण किसी शुक में हों, और वह शुक किसी दूरस्थ टापू में बसता हो। मैं अपना जीवन वर्तमान में, यहीं जीना चाहती हूँ विदुर !"

विदुर शून्यदृष्टि से कुंती की ओर देखता रहा, और अंततः धीरे से बोला, "मैं तुम्हारी बात समझा नहीं भाभी !"

"वही समझाने का प्रयत्न कर रही हूँ विदुर !" कुंती बोली, "मेरे पुत्र वनवास

और अज्ञातवास से लौटकर आएँ। अपने अपमान का प्रतिशोध लें। अपना अधिकार और राज्य प्राप्त करें—यह सब उनके जीवन का सहज विकास है; किंतु मेरी अवस्था, अब न भोग के लिए है, और न भोग अथवा संघर्ष में मेरा विकास हो सकता है। मैं वर्षों तक प्रतीक्षा के शून्य में जीना नहीं चाहती। मुझे एक मनोवांछित फल की प्रतीक्षा में यहाँ निष्क्रिय होकर, बैठी नहीं रहना है···"

"तुम क्या करना चाहती हो भाभी ?" पारंसवी कुछ अधैर्य में बोली, "कुछ स्पष्ट कहो। मेरा मन तो तुम्हारी बातें सुनकर घबराने लगा है।"

कुंती हँसी, "घबराने की कोई बात नहीं बहना ! मैं कुछ भी अस्वाभाविक और अप्रत्याशित नहीं करना चाहती। मैंने तो केवल इतना ही कहा है कि मैं अपना जीवन स्वतंत्र रूप से जीना चाहती हूँ। उसे अधिक उपयोगी बनाना चाहती हूँ। परावलंबी होकर अपने पुत्रों के जीवन की छाया मात्र बनकर नहीं जीना चाहती··· ।"

इस बार न पारंसवी ने कुछ कहा, न विदुर ने। वे दोनों कुंती की ओर देखते मात्र रहे।

"मैं अब तपस्या करना चाहती हूँ।"

"तपस्या !" पारंसवी अत्यन्त विचलित स्वर में बोली, "क्या तुम भी वनवास करना चाहती हो ? तुम्हें वन में ही रहना था, तो पुत्रों के ही साथ क्यों न चली गईं भाभी ! अब, जब वे लोग यहाँ नहीं हैं, हम तुम्हें वन जाने देंगे, तो वे हमारे विषय में क्या सोचेंगे··· ।"

"घबरा मत पारंसवी !" कुंती बोली, "न मैं वनवास के लिए जा रही हूँ, न पर्वतारोहण के लिए। मैं यहीं रहूँगी : तुम्हारे घर में, तुम्हारे साथ ! तपस्या से मेरा तात्पर्य, एकांतवास का नहीं है। तपस्या तो कहीं भी हो सकती है; जहाँ भी हम तप सकें। मैं अब तपूँगी। जिनसे आज तक बचती आई, दूर रहती आई, उपेक्षा करती आई, उनके सम्मुख जाऊँगी। जिनसे घृणा करती आई, उनके निकट रहूँगी। अपने मन की घृणा को जीतने का प्रयत्न करूँगी। नहीं जानती कि उनका प्रेम अर्जित कर पाऊँगी या नहीं; किंतु अपने मन में उनके लिए प्रेम उत्पन्न करने का प्रयत्न करूँगी। मेरे जीवन की उपलब्धि, उनका प्रेम पाना नहीं, अपने मन का द्वेष मिटाना है। दया से भी तो प्रेम उत्पन्न होता है। क्या मैं इतनी ही गई-बीती हूँ कि उन अभागों पर दया भी नहीं कर सकती ?"

पारंसवी ने उसे फटी-फटी आँखों से देखा, "क्या तुम दुर्योधन, शकुनि, धृतराष्ट्र और गांधारी के प्रति अपना विरोध मिटाने की बात कर रही हो ? उनसे प्रेम करने की इच्छा है तुम्हारी ?"

"कुछ ऐसा ही सोच रही हूँ।" कुंती मुस्कराकर बोली, "इसलिए नहीं कि मुझे वे लोग अच्छे लगने लगे हैं, वरन् इसलिए कि मुझे अपने मन का यह विष

अव अच्छा नहीं लगता। उनके मन में घृणा है, इसलिए मैं अपने मन को घृणा से भर लूँ, यह तो कोई सुनीति नहीं है। कोई मेरे घर में फेंकने के लिए, अपने घर में कूड़ा संचित कर रहा है, तो मैं भी अपने घर में कूड़ा एकत्रित करने लगूँ ?" कुंती कुछ रुककर बोली, "मैं जानती हूँ कि यह सब करना सरल नहीं है। इसलिए मैंने इसे तपस्या कहा है। जब-जब उनसे मेरा साक्षात्कार होगा, तब-तब मेरे मन में विरोध जागेगा, क्रोध जागेगा, घृणा और द्वेष जागेगा...पर मन तो मेरा अपना है पारंसवी ! यदि वे नीच हैं, तो उनके अनुकरण में मैं अपने मन को क्यों नीच बन जाने दूँ।...यह बात बहुत देर से मेरी समझ में आई है कि मैं उनके कृत्यों के लिए उत्तरदायी नहीं हूँ। उन्हें सुधारना मेरा कार्य नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने लिए उत्तरदायी है। मुझे अपनी आत्मा को विकृतियों और दूषणों से बचाना है। उनकी आत्मा को स्वच्छ नहीं कर सकती, इसलिए अपनी आत्मा को मलिन नहीं करूँगी। इसलिए सोचा है कि मैं दोषों से घृणा करूँगी, दूषितों से नहीं। इसे तुम मेरा वाक्‌जाल मत समझना विदुर ! मुझे सचमुच धृतराष्ट्र पर दया आने लगी है। वह व्यक्ति थोड़े से शारीरिक भोग के लिए, अपने तुच्छ अहंकार की तृप्ति के लिए, अपनी आत्मा को पाप के समुद्र में डुबो रहा है। उसकी आत्मा को मलहीन होने में जाने कितने जन्म लगेंगे। इसलिए मेरी परीक्षा इसी में है कि जिन्होंने जीवनभर मुझे सताया है, पीड़ित और अपमानित किया है, मैं उन लोगों के प्रति, अपने मन में किसी प्रकार की दुर्भावना न आने दूँ। आए, तो उसका दमन करूँ। मन को संयत करूँ...।"

"तो तुम करना क्या चाहती हो भाभी ?"

"यह सब तुम्हें इसलिए बता रही हूँ विदुर ! कि कल यदि मैं तुम्हें कहूँ कि मेरे लिए, गांधारी से मिलने जाने की कोई व्यवस्था कर दो, तो न चकित होना, न व्यथित।" कुंती बोली, "मेरी इच्छा है कि अब मैं दुर्योधन के सुख-दुख में भी, बिना किसी उद्वेग के, सम्मिलित होऊँ। मेरा मन कष्ट पाता है तो पाए; क्योंकि यह कष्ट उसके मल के कारण है और मैं अब अपने मन और आत्मा में किसी प्रकार की कोई मलिनता स्वीकार नहीं करूँगी।"

विदुर और पारंसवी, कुंती को देखते रह गए। वे कोई निर्णय नहीं कर पाए कि वे कुंती का समर्थन करें अथवा विरोध।

26

द्रौपदी, एक वृक्ष के नीचे, अकेली बैठी, बड़ी देर से अपने विचारों में लीन थी...पिछले दिनों, उन लोगों ने परस्पर बहुत चर्चा की थी। चर्चा ही क्यों, उसे

वाद-विवाद कहना चाहिए।···कितनी कटुता थी द्रौपदी के मन में युधिष्ठिर के लिए, और उसके पश्चात् भीम, अर्जुन तथा नकुल-सहदेव के लिए।··कभी-कभी तो उसे लगने लगता था कि जिन धार्तराष्ट्रों ने उसका अपमान किया था, उनके प्रति भी उसके मन में उतनी कटुता नहीं थी, जितनी अपने पतियों के प्रति थी···पर यह तो मन का छल मात्र था। ऊपरी काई हटाकर देखने पर, उसकी समझ में आ गया था कि धार्तराष्ट्रों के प्रति उसके मन में घृणा थी, शत्रुता थी···वह उनका नाश चाहती थी, सर्वनाश ! सबकी मृत्यु··· ! मृत्यु से कम कुछ नहीं। उनके साथ, उसके मन के माधुर्य का कोई एक सूत्र, कभी एक क्षण के लिए भी नहीं जुड़ा था। उनसे उसे कोई अपेक्षा नहीं थी।···कटुता तो उनके प्रति थी, जिनसे उसे प्रेम था, जिनसे उसे अपेक्षाएँ थीं, जिन्हें वह अपने रक्षक मानती थी·उन लोगों की ओर से उसके प्रेम की प्रतिध्वनि नहीं हुई। उन्होंने उसके प्रेम में बहकर अपने धर्म को तिलांजलि नहीं दी। उन्होंने अपने धर्म की रक्षा की; और उसे असुरक्षित छोड़ दिया···

द्रौपदी सोचती जाती थी और उसके अपने ही मन की अनेक परतें उघड़ती जाती थीं···उसके मन में, यह बहुत बाद में स्पष्ट हुआ था कि पांडवों के व्यवहार से जो आहत हुई, वह द्रौपदी के भीतर की रूपगर्विता नारी थी। वह रूपगर्विता नारी, जो मानती थी कि पुरुष की दृष्टि उस पर पड़ी नहीं कि वह मदांध हुआ नहीं ! उसने चाहा तो यही चाहा कि जिस पुरुष की ओर, वह एक अपांग से देख ले, वह घुटनों के बल, उसके सम्मुख आ गिरे। फिर उसका आचार-व्यवहार, धर्म-नीति, कुछ न हो, बस उसका रूप ही हो।···पांडवों ने सदा उसे अपनी प्रिय पत्नी माना था। उसकी हल्की-सी कसक से भी वे तड़प उठते थे; किंतु परीक्षा की इस घड़ी में उन्होंने सिद्ध कर दिया था कि वह उन्हें कितनी भी प्रिय क्यों न हो, उनके लिए धर्म से बढ़कर नहीं थी।··

द्रौपदी अपने-आपको भी धीरे-धीरे पहचान रही थी···वह केवल एक रूपगर्विता नारी ही नहीं थी। नारी तो वह थी ही, और उसका रूप भी ऐसा था, जिस पर कोई भी गर्व कर सकता था···किंतु यह तो उसके व्यक्तित्त्व का एक अंश मात्र था।···उसके संपूर्ण व्यक्तित्त्व में तो और भी बहुत कुछ था···वह धर्म को जानती थी, धर्मशास्त्र की पंडिता थी, चरित्र और संकल्प से परिचय था उसका···अब यह उसकी बारी थी कि वह पांडवों के चरित्र पर मुग्ध हो। युधिष्ठिर को ठीक ही कहा जाता था 'धर्मराज !' और कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो पितृ-आज्ञा को, अपना धर्म मानकर, अपना साम्राज्य इस प्रकार त्याग दे···त्रेता में भगवान राम ने ऐसा किया था और द्वापर में धर्मराज युधिष्ठिर ने।···ठीक है कि यह वैसा त्याग नहीं था, जैसा भगवान राम ने किया था··किंतु इसका मूल स्वरूप तो वही था। धृतराष्ट्र पांडवों का राज्य छीन लेना चाहता था, जैसे कैकेयी राम का राज्य छीनना चाहती

थी। धृतराष्ट्र जानता था कि युधिष्ठिर उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करेंगे और वह यह भी जानता था कि द्यूत में शकुनि उनके हाथों में पासे आने ही नही देगा ...यह सब, युधिष्ठिर भी जानते थे।...वे द्यूत का विरोध करते रहे, किंतु धृतराष्ट्र की इच्छा का विरोध नहीं किया उन्होंने। खेलने बैठ ही गए थे, तो किसी भी दॉव के पश्चात् वे उठ भी सकते थे।...किंतु धृतराष्ट्र की आज्ञा की अपेक्षा में, वे बैठे, हारते रहे। पासों में हार चुकने के पश्चात् वे राज्य देना अस्वीकार कर सकते थे, इतना सैन्य-बल था उनके पास।...किंतु अपने वचन के विरुद्ध नहीं जा सकते थे। उनकी पत्नी को सभा में लाकर, उनके सम्मुख निर्वस्त्र करने का प्रयत्न किया गया; किंतु धर्मराज तनिक भी नहीं डोले। वे जानते थे कि द्रौपदी दासी नहीं है; किंतु वे स्वयं तो दास हो चुके थे। वे, स्वामी के विरुद्ध शस्त्र कैसे उठाते। पत्नी की रक्षा उन्होंने कुलवृद्धों, धर्म और ईश्वर पर छोड़ दी...

कैसी परीक्षा ली थी धार्तराष्ट्रों ने पांडवों की !...पर क्या दुर्योधन, पांडवों का राज्य ही छीनना चाहता था ?...यदि केवल इतनी ही बात होती, तो पांडवों से राज्य लेना क्या कठिन था ? युधिष्ठिर तो किसी भी बात पर राज्य त्याग देते !...और द्यूत के पश्चात् तो वह उनका राज्य ले ही चुका था। फिर उन्हें इस प्रकार अपमानित करने की क्या आवश्यकता थी ? क्या वह मात्र पर-पीड़न का सुख लेना चाहता था ?...पर नहीं। इस सुख के साथ कितना जोखिम था। वह पांडवों के बल को भी जानता था और उनके क्रोध को भी। यदि पांडवों में से कोई एक भी अपनी मर्यादा तोड़ बैठता, तो कुछ ही क्षणों में धार्तराष्ट्रों की अपरिहार्य क्षति हो जाती...उसके पश्चात् पांडवों का जो भी होता। पांडव यदि मार भी डाले जाते, तो वे धृतराष्ट्र की इतनी हानि कर चुके होते, जो उसके जीवन का रोग बन गई होती।...और बात पांडवों की मृत्यु के साथ ही तो समाप्त नहीं हो जाती ...पांडवों के मित्र प्रतिशोध लेकर छोड़ते।...और मित्र भी कैसे...कृष्ण और धृष्टद्युम्न ! ...नहीं ! दुर्योधन पांडवों को मात्र अपमानित ही नहीं कर रहा था।...वह उनकी परीक्षा भी नहीं ले रहा था। किसी की परीक्षा लेने के लिए, कोई अपने लिए इतना संकट आमंत्रित नहीं करता...कदाचित् दुर्योधन एक ओर पांडवों का धर्म खंडित करना चाह रहा था और दूसरी ओर उनकी एकता ! वह युधिष्ठिर को इंद्रप्रस्थ का राजा नहीं रहने देना चाहता, तो वह उन्हें धर्मराज भी नहीं रहने देना चाहता। वह चाहता है कि पांडव, धर्म के लिए न लड़ें, अपने राज्य के लिए लड़ें, अपने स्वार्थ के लिए लड़ें। वह चाहता है कि युधिष्ठिर भी उसी के समान मात्र एक भोगी, लोलुप और अत्याचारी क्षत्रिय बनें, ताकि धर्म का बल पांडवों की ओर न रहे। कोई राजा इसलिए पांडवों की ओर से न लड़े, क्योंकि वे धर्म के लिए लड़ रहे हैं; वह उनके पक्ष से इसलिए युद्ध करे, क्योंकि युद्ध जीतने से भोग-सामग्री उपलब्ध होती है। अहंकार स्फीत होता है। दूसरों का दमन करने का अधिकार

मिलता है।...और उस दिन धर्मराज तनिक भी दुर्बल पड़ते, तो ऐसा हो गया होता।...

इतना ही नहीं, वह तो पांडवों की एकता समाप्त करने का भी भरपूर प्रयत्न कर रहा था। उसने तो कह दिया था कि जो पांडव यह कह देगा कि युधिष्ठिर को उसे दाँव पर लगाने का अधिकार नहीं है, वह उसे दास से अदास कर देगा, मुक्त कर देगा।...किंतु एक भी पांडव ने इन परिस्थितियों में मुक्त होने की इच्छा प्रकट नहीं की।...

द्रौपदी के मन में कितना क्रोध था, अपने पतियों के विरुद्ध। किंतु धीरे-धीरे वह समझ गई है कि वे उसकी उपेक्षा नहीं कर रहे थे; वे तो धर्म-युद्ध लड़ रहे थे, अपनी अग्नि-परीक्षा दे रहे थे। वे हारे नहीं, वे विजयी हुए थे। वे कटुता के नहीं, आराधना के पात्र थे। उन्होंने अपनी धातु प्रमाणित की है, वह धातु, जो किसी भी ताप से पिघलकर विकृत नहीं होती। उन्होंने बता दिया है कि वे धर्म के लिए कितना कष्ट सह सकते हैं। एक-दूसरे के लिए कितनी यातना सह सकते हैं। कितना प्रेम करते हैं, वे एक-दूसरे से। उनकी एकता अविभाज्य है...

पहले द्रौपदी को लगा था कि उनके मन में उसका इतना महत्त्व नहीं था। उसके अपमान से वे जैसे व्यथित नहीं थे...किंतु क्रमशः उसके मन से ये भाव भी जाते रहे थे। नारी के रूप में उसका अपमान, पांडवों ने नहीं, दुर्योधन ने किया था। युधिष्ठिर ने स्वयं अपने-आपको तथा अपने भाइयों को तो दाँव पर लगाया था, द्रौपदी को अथवा किसी भी पांडव की किसी पत्नी को दाँव पर नहीं लगाया था—जबकि सामाजिक विधान से वे सब उनकी संपत्ति की परिधि में ही थीं। द्रौपदी को दाँव पर लगवाया शकुनि ने। बाध्य होकर धर्मराज ने उसे दाँव पर लगाया तो, किंतु इस चतुराई से कि वह न केवल पांडवों की समस्त स्त्रियों के लिए कवच बन जाए, वरन् अपने-आपको भी बचा सके।...

द्रौपदी जितना सोचती है, वह धर्मराज पर रीझती जाती है : कौन होगा ऐसा मनुष्य, ऐसा पुरुष, ऐसा योद्धा, ऐसा राजा, जो इतना अपमान और इतना कष्ट सहकर, तनिक भी प्रतिवाद नहीं करता। प्रतिकार की चर्चा तो करता है; प्रतिशोध की बात भी अपने मन में नहीं लाता। अपने शत्रुओं को भी क्षमा कर देता है और सर्वनियन्ता के न्याय के प्रति भ्रू तक नहीं उठाता। अन्य पांडवों ने बार-बार ईश्वरीय न्याय के प्रति अपना रोष प्रकट किया है, कृष्ण से भी पूछा है कि धर्म-प्राण पांडव कष्ट में क्यों हैं और दुष्ट धृतराष्ट्र और दुर्योधन ऐश्वर्य का भोग क्यों कर रहे हैं ? वन में भटकते हुए द्रौपदी ने जब धर्मराज से पूछा था, 'मनुष्यों में सर्वोपरि पुण्यवान होते हुए भी, आपको इतना दुख क्यों सहन करना पड़ता है ?' तो उन्होंने उत्तर दिया था, 'राजपुत्रि ! देखो, यह हिमालय कैसा

भव्य और सुंदर है। यह मुझे कुछ नहीं देता; पर मेरा स्वभाव ही ऐसा है कि मैं भव्य और सुंदर से प्रेम करता हूँ। ईश्वर अखिल सौंदर्य, समस्त सुषमा का मूल है। वही एक ऐसा पात्र है, जिससे प्रेम करना चाहिए। उससे प्रेम करना मेरा स्वभाव है; इसलिए मैं उससे प्रेम करता हूँ। मैं किसी बात के लिए उससे प्रार्थना नहीं करता, मैं उससे कोई वस्तु नहीं माँगता। उसकी जहाँ इच्छा हो, मुझे रखे। मैं तो सब अवस्थाओं में केवल प्रेम के लिए ही, उससे प्रेम करना चाहता हूँ, मैं प्रेम में सौदा नहीं कर सकता।…"

द्रौपदी के मन में ईश्वर के प्रति की गई ऋषियों की प्रार्थना गूँजने लगी, "हे भगवान् ! मुझे न तो संपत्ति चाहिए, न संतति, न विद्या ! यदि तेरी इच्छा है, तो सहस्रों बार जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़ूँगा; पर हे प्रभु ! केवल इतना ही दे कि मैं फल की आशा छोड़कर, तेरी भक्ति करूँ; केवल प्रेम के लिए ही, तुझपर मेरा निःस्वार्थ प्रेम हो।"

द्रौपदी को लगा कि युधिष्ठिर को जानना सचमुच बहुत कठिन है। वस्तुतः हम किसी पदार्थ अथवा भाव को जानते तो तब ही हैं, जब उसकी अवधारणा हमारे मन में पहले से हो। यदि हमारा मन भयंकरता की अवधारणा से परिचित न हो, तो वन में घूमते उन्मुक्त सिंह के भयंकर स्वरूप को हम हृदयस्थ कैसे कर सकते हैं। यदि हम मन की निष्कामता, उसकी पवित्रता और सात्विकता से परिचित न हों, तो हम धर्मराज को कैसे समझ सकते हैं ?…धर्मराज कभी बैठे, साधना करते दिखाई नहीं देते। उन्होंने मोक्ष-प्राप्ति हेतु तपस्या करने के लिए कभी राज्य छोड़कर, वन जाने का संकल्प नहीं किया।…किंतु वे जैसे प्रतिक्षण एक तपस्या में लीन हैं। निरंतर अपने मन और जीवन में से मैल को काट रहे हैं; विकारों को त्याग रहे हैं; लोभ, कामना और अधिकार से स्वयं को मुक्त कर रहे हैं… जिसे स्वच्छता से प्रेम होता है, वह मल को अपनी हथेली में उठाकर गर्व का अनुभव कैसे करेगा, चाहे उसमें अकूत संपत्ति ही क्यों न छिपी हो।… लोग तो बैठकर, संकल्पपूर्वक तपस्या करते हैं, धर्मराज का तो सारा जीवन ही तपस्या है, तभी तो वे इतने क्षमाशील हैं, इतने शांत हैं, इतने निस्पृह हैं…अब द्रौपदी सोचती है तो अतीत की कितनी ही बातें, उसके मन में स्पष्ट होती जाती हैं…कांपिल्य में उसके स्वयंवर में अर्जुन ने जब प्रतिज्ञा पूरी कर उसे प्राप्त कर लिया था और लाकर धर्मराज को समर्पित करते हुए कहा था, 'आप भाइयों में सबसे बड़े हैं। आपका विवाह सबसे पहले होना चाहिए। आप इस राजकन्या को ग्रहण करें। इससे विवाह करें…,' तो युधिष्ठिर उसे पाकर उत्फुल्ल क्यों नहीं हुए थे ? क्यों वे चिंता में लीन रहे थे ? क्यों धर्म के नाम पर, द्रौपदी का विवाह उन्होंने पाँचों भाइयों से करवाया था ?…इस मनुष्य में काम-जनित ईर्ष्या भी नहीं है, जो किसी साधारण से साधारण, रोगी और असमर्थ जीव में भी होगी…परिस्थितियों का लाभ

उठाकर, वे अर्जुन द्वारा जय की गई राजकन्या याज्ञसेनी पर पूर्ण अधिकार जमाना नहीं चाहते थे⋯धर्मराज ही यह कर सकते थे और उनके भाई पांडव ही ऐसे पुरुष थे, जो द्रौपदी जैसी पत्नी के लिए भी, किसी प्रकार के मतभेद से आशंकित नहीं थे⋯जाने, माता कुंती ने उन्हें कैसे-कैसे संस्कार दिए थे।

द्रौपदी का मन होता है, वह धर्मराज के चरणों में लोट जाए⋯कैसा पवित्र हृदय है उनका⋯ईश्वर का वास ऐसे ही पवित्र हृदय में होता है।⋯मुंडकोपनिषद् कहता है, '⋯वह पवित्र हृदय में स्वयं को प्रकाशित करता है। पवित्र और निर्मल मनुष्य इसी जीवन में ईश्वर-दर्शन प्राप्त कर, कृतार्थ हो जाता है।'⋯जिसके हृदय में स्वयं ईश्वर प्रकाशित होता हो, उसे तपस्या, साधना और योगाभ्यास की क्या आवश्यकता है ?⋯और ऐसे हृदय में सामान्य जन के समान काम, क्रोध, लोभ-मोह, घृणा-द्वेष, मद-मात्सर्य, अहंकार और हिंसा, कैसे ठहर सकते हैं ?⋯

पवन का एक वेगवान झोंका आया और द्रौपदी को उसके चिंतन-जगत् से बाहर निकाल लाया⋯उसका ध्यान-आकाश की ओर गया !⋯नहीं ! आकाश पर कोई ऐसे मेघ तो दिखाई नहीं दे रहे थे; किंतु पवन-झकोरा संकेत दे रहा था कि प्रकृति कोई और सुंदर रूप धारण करने वाली है। इस प्रदेश में वैसे तो प्रकृति सदा प्रसन्न रहती थी। देखनेवाले के नयनों में तनिक भी प्रकाश हो और मन में थोड़ी-सी भी सात्विकता, तो वह प्रकृति के दर्शन में ही परम पुरुष को पा जाता था।⋯किंतु यहाँ प्रकृति क्रीड़ामयी भी बहुत थी।⋯अभी यह पवन-झकोरा आया था। संभवतः थोड़ी देर में यहाँ झंझावात उपस्थित हो जाए⋯और द्रौपदी के मन में एक कोमल-सी कल्पना जागी : एक बच्चा अपनी क्रीड़ा-प्रियता में भागता हुआ, अपने घर से निकलकर, किसी नए-से स्थान पर आ जाए; और फिर उसे ढूँढती हुई उसकी माँ वहाँ पहुँच जाए⋯ऐसे ही हैं, ये पवन-झकोरा और झंझावात।

द्रौपदी के एक मन ने उसे चेतावनी दी कि अब वह यहाँ से उठ जाए। क्या पता है, थोड़ी देर में यहाँ अंधड़ आए, उनचासों पवन उद्वेलित होने लगें। मेघों को घिर आने में, समय ही कितना लगता है।⋯फिर वर्षा हो सकती है, हिमपात हो सकता है, उपल-वृष्टि हो सकती है⋯खोज में निकले हुए माता-पिता को अपना शिशु न मिले, तो माता-पिता उद्विग्न भी तो हो सकते हैं।⋯पता नहीं, वह पवन-झकोरा, लौटकर, माता-पिता के पास अपने घर चला गया अथवा किसी अन्य गली-वीथि में उतर गया। यदि ऐसा हुआ, तो उसकी खोज और भी धूम-धड़ाके से होगी⋯

द्रौपदी को अपने पुत्रों का स्मरण हो आया⋯वे निश्चित् रूप से कांपिल्य में सुरक्षित और सुखी होंगे। धृष्टद्युम्न उनका बहुत ध्यान रखता है। वे उससे हिले-मिले भी खूब हैं⋯किंतु वहाँ उनकी माँ नहीं होगी, उनके पास। पिता भी नहीं होंगे।⋯किंतु पिता को तो संतान तभी खोजती है, जब माँ की असमर्थता उसे निराश

करती है : जब संतान की अपेक्षाएँ, माता के सामर्थ्य से ऊँची उठ जाती हैं। ...अन्यथा माँ के वक्ष से लगकर, संतान कब सुखी नहीं होती। माँ का हृदय तो शांति का अनुभव ही तभी करता है, जब वह संतान को अपने वक्ष से लगा लेती है...

किंतु द्रौपदी ने सदा स्वयं को समझाया है...वह केवल माँ ही नहीं है, वह पत्नी भी है; और पत्नी वह पहले है, माँ बाद में। स्त्री, यदि माँ बनने के लिए ही पत्नी बनती है, तो अस्थायी पत्नीत्व ही उसके लिए पर्याप्त है।...किंतु संतान पाने के पश्चात्, पति का महत्त्व गौण हो जाना तो स्त्री को साधना, तपस्या और विकास की ओर नहीं ले जाता। वह उसका स्वार्थ तथा अहंकार ही बढ़ाता है। पत्नी का धर्म तो पति के साथ विकसित होता है। वही उसका भोग भी है, वही त्याग भी। वही उसका काम भी है, वही उसका वैराग्य भी।...इसलिए द्रौपदी अपने पुत्रों के साथ नहीं गई थी। वह अपने पतियों के साथ, उन्हें सँभालने, उनकी सेवा करने, उन्हें स्मरण कराते रहने, कि उन्हें दुःशासन के वक्ष का रक्त पीना है, और दुर्योधन की जंघा तोड़नी है...उनके साथ वनवास के कष्ट उठाने और तपस्या करने आई थी।...अब उसके मन में कितनी ही आँधियाँ उठें, झंझावात उठें, अंधड़ आएँ, वह अपने पुत्रों को खोजने के लिए, कांपिल्य नहीं जा सकती...

वायु का एक और वेगवान झोंका आया।...पर यह झोंका, पहले झोंके से कुछ भिन्न था...कुछ अधिक शीतल, कुछ अधिक सुगंधित...पर यह सुगंध कैसी थी ? किसी पुष्प-वृक्ष के निकट जाने से पुष्प-गंध आती है, किंतु वायु में सुगंध ! कहते हैं कि मलय-गिरि से आनेवाले पवन में सुगंध होती है...होती भी है; किंतु ऐसे नहीं कि जैसे किसी ने कोई सुगंधित पुष्प-गुच्छ लाकर नाक के निकट रख दिया हो। द्रौपदी ने दृष्टि चारों ओर घुमाई...यह कैसा मायाजाल था ?...सुगंध आ रही थी; किंतु पुष्प कहीं दिखाई नहीं पड़ रहा था...यदि यह पुष्प की सुगंध नहीं थी, तो फिर यह किस पदार्थ की गंध थी ?...कहते हैं, इन पार्वत्य प्रदेशों में कोसों तक ऐसे वन हैं, जिनके पौधों में छोटे-छोटे फूल होते हैं। वे फूल अपने-आप में तीव्र गंध नहीं देते; किंतु उनकी सामूहिक सुगंध बहुत दूर से भी सूँघी जा सकती है। और कभी-कभी तो बयार के कंधों पर आरूढ़ हो, वह कोसों तक की यात्रा करती है...

सहसा द्रौपदी का मन सावधान हो गया। जिन पौधों और सुगंध की बात वह सोच रही थी, वे पथिकों के सहायक नहीं होते। अनेक बार तो वह गंध, मनुष्य की चेतना को मंद ही नहीं करती, सुला भी देती है। मनुष्य अचेत हो जाता है। द्रौपदी ने सुना था कि अनेक क्षत्रिय राजाओं ने, उस गंध को प्राप्त करने का प्रयत्न किया था, ताकि वे उसका प्रयोग, शत्रु सेना पर कर, उसे अचेत कर सकें; किंतु अभी तक किसी को इसमें सफलता प्राप्त नहीं हुई थी।...

तो यह गंध कैसी थी ?

द्रौपदी ने कुछ वृक्षों के आस-पास देखा, झाड़ियों में झाँका, दो-एक पगडंडियों पर मुड़कर, कुछ दूर तक जाकर देखा, किंतु न तो कहीं कोई पुष्प दिखाई दिया, न ही सुगंध का कोई और स्रोत।...

निराश, वह अपने आश्रम की ओर मुड़ी : आश्रम में मध्यम पांडव भीम से कहेगी कि जाए और इस सुगंध का स्रोत ढूँढ कर लाए...बहुत दिनों से उसे कोई जोखम-भरा, साहसपूर्ण कार्य करने का अवसर भी नहीं मिला है। यद्यपि इस कार्य में कोई संकट नहीं है, किंतु अनुसंधान तो है...सक्रियता तो है...और भीम जिस मार्ग पर चलता है, उस पर संकट अपने-आप ही उग आते हैं...

सहसा, द्रौपदी को लगा कि वह गंध कुछ अधिक तीव्र हो गई है, जैसे या तो वह गंध-स्रोत के निकट पहुँच रही है, अथवा गंध-स्रोत उसके निकट खिसकता आ रहा है। कुछ ही पग चलने पर स्थिति स्पष्ट हो गई। वह ही सुगंध-स्रोत के निकट पहुँच रही थी।...उसके सम्मुख एक झाड़ी पर एक सहस्रदल कमल अटका हुआ था। निश्चित् रूप से वह उस झाड़ी पर उत्पन्न नहीं हुआ था। वह पवन के झोंके के साथ, कहीं से उड़ता हुआ आया था, और आकर झाड़ी पर अटक गया था..

द्रौपदी ने निकट जाकर पूरी सावधानी से पुष्प को अपनी तर्जनी और अंगूठे की सहायता से उठा लिया : पुष्प अपने भरे यौवन पर था, पुष्पित, पूर्ण और जीवन्त–जैसे अभी थोड़ी देर पहले तक अपनी टहनी से लगा, जल, भूमि और सूर्य की ऊर्जा का पूर्ण पान करता रहा हो। अभी उसकी एक भी पंखुड़ी क्षत-विक्षत नहीं हुई थी...

और सहसा द्रौपदी का मन दूसरी ओर भटक गया : कांपिल्य में न कमल-बावड़ियों की कमी थी, न कमल-पुष्पों की। इंद्रप्रस्थ में भी पांडवों ने बड़े प्रयत्नपूर्वक कमल-सरोवर बनवाए थे। इंद्रप्रस्थ के आस-पास का क्षेत्र, जलवायु की दृष्टि से कमल के उत्पादन के लिए बहुत अनुकूल था। पुष्पों में रुचि तो सारे भाइयों की थी; किंतु अर्जुन को शायद, कृष्ण के सान्निध्य के कारण, पुष्प-सज्जा से अधिक अनुराग था। उसी के प्रयत्नों से कुछ पुष्प-सरोवर और कुछ पुष्प-उद्यान, विशेप रूप से विकसित किए गए थे।...किंतु ऐसा सहस्रदल कमल तो अर्जुन अथवा किसी दूसरे पांडव ने कभी लाकर नहीं दिया द्रौपदी को। द्रौपदी का विश्वास था कि कांपिल्य तथा इंद्रप्रस्थ में, जब कभी कुछ बड़े आकार के पुष्प उसके सम्मुख प्रस्तुत किए गए–उनमें अधिकांशतः सुगंध नहीं होती थी।... प्रकृति, आकार के साथ गुण देती है। हम कृत्रिम साधनों से आकार तो बढ़ा लेते हैं, गुणों की मात्रा नहीं बढ़ा सकते। पाटल में गंध है, कमल में गंध है, मोंगरे, रजनी-गंधा, रात की रानी और हरसिंगार में गंध है; किंतु जब-जब उद्यानाध्यक्षों

तथा मालियों ने अपनी चतुराई से उन पुष्पों का आकार बड़ा करने में सफलता पाई है, उनकी सुगंध सदा ही क्षीण अथवा विलीन हुई। यह तो वैसा ही है, जैसे किसी नारी को प्रसाधनों की सहायता से अत्यन्त आकर्षक बना दिया जाए; किंतु इस प्रक्रिया में उसका प्रेमपूर्ण, सरस हृदय कहीं खो जाए।...पर यह सहस्रदल कमल, उतना ही सुगंधित था, जितना बीस दलों के पचास कमलों के गुच्छ को होना चाहिए।...इसका अर्थ था कि इस जाति का कमल, द्रौपदी ने पहले कभी देखा ही नहीं था।...यह कमल उद्यानाध्यक्षों और मालियों के प्रयत्न का फल नहीं था, यह तो प्रकृति का ही चमत्कार था। प्रकृति द्वारा निर्मित नहीं, सृजित...प्रसूत...। यह कमलों का राजा है। कमलराज ! इसे तो धर्मराज को समर्पित किया जाना चाहिए।...

जाने क्यों द्रौपदी को लगा कि अभी थोड़ी देर पहले तक बैठी, वह जो कुछ धर्मराज के विषय में सोच रही थी, उसमें और इस प्रकार इस सहस्रदल कमल के उसके सामने आ प्रस्तुत होने में कोई-न-कोई संबंध था। क्या इसमें प्रकृति का कोई इंगित था ?...कुछ हो न हो, धर्मराज के प्रति अपनी गर्वगर्भित स्नेह-भावनाओं के प्रतीक के रूप में वह, यह सहस्रदल कमल उन्हें भेंट करेगी...

द्रौपदी का मन उत्फुल्ल हो उठा। सहस्रदल कमल के साथ, उसे अपनी सार्थकता भी प्रमुदित किए हुए थी : वह धर्मराज को वह भेंट करने जा रही है, जो उन्हें उनके किसी भाई, किसी पत्नी, किसी मित्र अथवा किसी उपराज ने कभी नहीं दिया...

द्रौपदी के पग जितनी आतुरता से आगे बढ़ रहे थे, उसका मन क्रमशः कहीं बुझता भी जा रहा था...वह, यह सहस्रदल कमल युधिष्ठिर को दे देगी। वे इसे कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करेंगे। इसका आदर करेंगे। अपने पास, शिला पर रख लेंगे...द्रौपदी के मन में धर्मराज के प्रति जो आदर, श्रद्धा और भक्ति-भाव है--वह संतुष्ट होगा !...किंतु द्रौपदी का एक मन नारी-रूपा भी तो है, जो इस प्रकार के सहस्रदल कमल को अपने इन निर्बन्ध केशों में गूंथना चाहेगा, जो इनकी माला बनाकर, अपनी ग्रीवा में धारण करना चाहेगा, जो उसे अपनी अंगुलियों में पकड़, सदा उसकी सुगंध का पान करना चाहेगा...

द्रौपदी के पग रुक गए। अपनी भावना में वह कमल धर्मराज को समर्पित कर चुकी। अब यह उसका नहीं है।...इसे तो वह धर्मराज को दे ही देगी।...किंतु, उसे अपने लिए भी ऐसे ही सहस्रदल कमल चाहिएँ। अपने उपयोग के लिए, अपने धारण के लिए, स्वामित्व-तृष्णा को तृप्त करने के लिए। उसे ऐसे ही कमल, इंद्रप्रस्थ के उद्यानों और सरोवरों में उगाने हैं...और जब पांडव, युद्ध जीत जाएँगे और हस्तिनापुर पर भी उन्हीं का राज्य होगा, वह राजप्रासादों की बावड़ियों और सरोवरों

में भी ऐसे ही कमल लगवाएगी, ताकि वहाँ से धार्तराष्ट्रों के दृष्कृत्यों की दुर्गंध नष्ट हो सके।···कैसे होगा, यह सब ?

अनिर्णय की स्थिति अधिक देर तक नहीं टिकी। क्षणभर में ही द्रौपदी अपनी इच्छा और उसकी पूर्ति के माध्यम के विषय में निर्णय कर चुकी थी। उसके पग, युधिष्ठिर की कुटिया की ओर न बढ़कर, उस शिला की ओर बढ़ गए, जहाँ भीम अपने पैरों को पानी में डुबोए बैठा, धारा में बहती आती मछलियों से अठखेलियाँ कर रहा था···

द्रौपदी मन-ही-मन मुस्कराई। यह पांडव अपनी प्रकृति से आज भी एक सरल हृदय, अबोध, निश्छल और क्रीड़ाशील शिशु ही था। वह तो जीवन को भी जैसे क्रीड़ा ही समझता था। उसके भीतर की ऊर्जा सदा ही, उसे कहीं-न-कहीं व्यस्त रखती थी। राज-काज न हो, युद्ध-संचालन न हो, कोई संकटपूर्ण चुनौती न हो···तो वह जल-धाराओं से ही खेल लेगा। शिलाओं से ही मैत्री कर लेगा। पुष्पों और चित्र-पतंगों से ही क्रीड़ा कर लेगा। वृक्षों और पवनों के साथ आँख-मिचौनी करता रहेगा। वह अर्जुन के समान न मनन करता है, न आजकल शस्त्राभ्यास करता दिखाई देता है, न तपस्या और साधना की बात सोचता है। वह जैसे कुछ बनना नहीं चाहता, कुछ बनने का प्रयत्न नहीं करता। उसे तो जो प्रकृति ने बना दिया है, वह, वह है और वही बना रहना चाहता है। अधर्म की ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं है, किंतु जीवन के भोग से, उसे बहुत-बहुत प्यार है।···

"पार्थ ! इसे देखो !"

भीम ने पलटकर उसकी ओर देखा, "कृष्णे ! सामने तुम खड़ी हो, तो और किसे देखूँ ?"

"मुझे तो प्रतिदिन देखते हो, किंतु इसे भी कभी देखा है ?" द्रौपदी ने लीलापूर्वक वह सहस्रदल भीम की आँखों के सम्मुख रख दिया।

भीम ने एक उड़ती हुई दृष्टि उस पर डाली और बोला, "पद्म है। क्या मैंने कभी पद्म नहीं देखा ?" वह पुनः द्रौपदी के चेहरे की ओर निहार रहा था, "तुम भी विचित्र हो कृष्णे ! जो दर्शनीय है, उसकी ओर ध्यान नहीं दे रहीं, और एक वन्य-कुसुम की ओर इतनी आकृष्ट हो कि··· !"

"कौन्तेय ! परिहास छोड़ो और देखो इसकी ओर।" द्रौपदी ने कृत्रिम क्रोध दिखाया, "यह साधारण पद्म है क्या ? क्या इससे पूर्व तुमने कभी इस वर्ण का, इस प्रकार की सुगंध से भरपूर, सहस्रदल कमल देखा है ?"

भीम के मानों नेत्र खुल गए, "तुम सामने होती हो तो मेरा ध्यान ही अन्यत्र कहीं नहीं जाता। लाओ, देखूँ तो ! हाँ ! हल्का नीला सहस्रदल ! सुगंध। अरे यह कहीं सहस्रदल सौगंधिक पद्म तो नहीं, जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि वह

कुवेर के उद्यान में ही खिलता है।"

"अब यह क्या है और कहाँ मिलता है, इसका शोध तो आप ही करें आर्यपुत्र !" द्रौपदी बोली, "मैं तो एक प्रार्थना करने आई हूँ।"

भीम के मन में जैसे अमृत के असंख्य कलश ढुलक गए। द्रौपदी कोई प्रार्थना लेकर आई है। इसका कोई प्रिय कार्य, उसके सम्मुख उपस्थित होने जा रहा है। उसे द्रौपदी का कोई मनचाहा करने का अवसर मिलनेवाला है। इस कल्पना मात्र से भीम का मन पुलकित हो उठा।

"बोलो !"

"मुझे ऐसे ही ढेर सारे सौगंधिक पद्म ला दो। मैं उनकी माला बनाकर पहनना चाहती हूँ। मैं उनसे अपने बिखरे केशों का शृंगार करना चाहती हूँ। मैं उनसे अपने कर्णों के कुंडल और कलाइयों के वलय बनाना चाहती हूँ··· ।" द्रौपदी रुक गई।

"और क्या करना चाहती हो देवि ?"

"आप हँसेंगे तो नहीं ?"

"मन प्रफुल्लित होगा, तो हँसूँगा ही। उपहास नहीं करूँगा तुम्हारा।" भीम ने गंभीरतापूर्वक कहा।

"मेरी इच्छा है कि जब हम वापस लौटें, तो इंद्रप्रस्थ ही नहीं, हस्तिनापुर के सरोवरों में भी ऐसे ही सौगंधिक कमल खिलाए जाएँ।"

"हस्तिनापुर में क्यों ?" भीम ने चकित होकर पूछा, "तुम पर भी धर्मराज का धृतराष्ट्र-प्रेम प्रभाव कर रहा है क्या ?"

"नहीं। क्योंकि जब हम लौटेंगे," द्रौपदी के नयन फैलकर विशाल हो गए थे और उनमें तेजस्विनी रक्तिम आभा कौंधने लगी थी, "हमारे साथ धार्तराष्ट्रों की मृत्यु भी चलेगी। आप दुर्योधन की जंघा तोड़ देंगे। आप दुःशासन का वक्ष फाड़कर, उसमें से तप्त लहू का पान करेंगे और मैं उस रक्त से अपने इन निर्बन्ध केशों को धोकर, इन पर लगा, दुःशासन के मलिन हाथों के स्पर्श का, मल धोऊँगी। तब हस्तिनापुर का राजा कौन होगा ? उसके सरोवर भी तो हमारे ही होंगे। उनमें सौगंधिक पद्म भी हम ही खिलाएँगे··· ।"

भीम चकित नेत्रों से द्रौपदी को देखता रह गया : कैसी है यह नारी ? एक ही श्वास में यह शृंगार और विनाश की चर्चा करती है; एक क्षण में ही यह कितनी कमनीय और कितनी भयंकर हो उठती है; यह आह्लादकारिणी भी है और विनाशकारिणी भी। यह पूर्णतः प्रकृति-रूपा है···माता प्रकृति, जो सृष्टि का प्रसव भी करती है, उसका पालन-पोषण भी करती है और फिर उसका भक्षण भी कर डालती है।

पांडव तो कदाचित् भूल ही गए हैं कि वे वन में क्यों आए हैं ? भीम

भी तो स्वयं को तीर्थ-यात्री मान, भूला बैठा था, कि उन्हें दुर्योधन ने इंद्रप्रस्थ से निष्कासित कर रखा है…वे सब तो जैसे ऋषियों की ज्ञान-वार्ताओं, प्रकृति के सौंदर्य और तीर्थों के पुण्य में सब कुछ विस्मृत कर चुके थे…किंतु नहीं भूलेगी, तो द्रौपदी नहीं भूलेगी, एक क्षण के लिए भी नहीं भूलेगी; अपने रूप पर मुग्ध होकर, अपने शृंगार की कामना करेगी…यह उनके रक्त से अपना शृंगार कर, उनके शवों पर नृत्य करनेवाली रणचंडिका है…

भीम का मन द्रौपदी के रूप पर मुग्ध था, अब उसके गुणों से अभिभूत हो गया।

"अवश्य लाऊँगा। जितने कहोगी, उतने सौगंधिक पद्‌म लाऊँगा।" भीम ने कहा, "किंतु, पहले इसे तो केशों में लगा लो। लाओ ! मैं लगा दूँ।" वह आगे बढ़ आया।

"नहीं ! इसे तो मैं धर्मराज को दूँगी।"

"जो उपलब्ध है, उसे धर्मराज को दे दोगी; और रिक्त होकर मुझसे और पद्‌म लाने को कहोगी ?" भीम चकित दृष्टि से द्रौपदी को देख रहा था, "इसे ही क्यों अपने पास नहीं रख लेतीं ?"

"यह पवनदेव ने मुझे प्रदान किया है। यह मेरी श्रद्धा का प्रतीक है। इसे धर्मराज को अर्पित करूँगी।" द्रौपदी ने हेलापूर्वक भीम की ओर देखा, "और जो सौगंधिक पद्‌म अपने प्रेमवश पवन-पुत्र मुझे लाकर देंगे; उन्हें अपने प्रिय के उपहार के रूप में, स्वयं धारण करूँगी। यदि मुझ पर तुम्हारा विशेष प्रेम है, तो ढेर सारे सहस्रदल सौगंधिक पद्‌म लाओ और मेरा शृंगार करो।…"

द्रौपदी आगे बढ़ गई और भीम की दृष्टि उसके साथ चलती चली गई। …कृष्णा के लिए धर्मराज श्रद्धा और भक्ति के प्रतीक थे। वह उन्हें भेंट चढ़ाती थी। भीम उसका प्रिय था, जिसके सम्मुख वह अपनी आवश्यकताएँ, अपेक्षाएँ और माँगें रखती थी। कैसा संतुलन था, द्रौपदी के व्यवहार में, अपने पतियों के प्रति अपनी भावनाओं और संबंधों को लेकर।…पर भीम के मन में कण मात्र भी ईर्ष्या या स्पर्धा नहीं थी। उसे भी एक सौगंधिक पद्‌म मिला होता, तो वह भी उसे धर्मराज को उपहारस्वरूप देने की बात सोचता…धर्मराज उनके राजा थे, बड़े भाई थे…भीम समय-समय पर चाहे उनसे कितना भी रुष्ट क्यों न हुआ हो, किंतु वह जानता था कि जितना पवित्र चरित्र धर्मराज का था, जैसा स्वच्छ मन उनका था …और किसी का नहीं था। जिस प्रकार अपने काम-क्रोध, लोभ-मोह, स्वार्थ और संकीर्णता को उन्होंने जीता था, और किसी ने नहीं जीता…

भीम उठ खड़ा हुआ। उसे विलंब नहीं करना चाहिए। शीघ्र जाकर, द्रौपदी के लिए सौगंधिक पद्‌म लाने चाहिएँ।…जाने ये पद्‌म उनके काम्यक वन वाले आश्रम तक जा भी सकते हैं, या नहीं।...जाने ये इंद्रप्रस्थ और हस्तिनापुर की जलवायु

में वहाँ के सरोवरों में खिल सकते हैं या नहीं···किंतु, ये द्रौपदी के शरीर पर तो सुशोभित हो ही सकते हैं···भीम ने कटि में खड्ग बाँधा, कंधे पर तूणीर; दूसरे कंधे पर धनुष साधा और गदा उठाकर चल पड़ा।

किसी से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं थी। धर्मराज पूछेंगे तो कृष्णा बता ही देगी।···समय नष्ट करने का क्या लाभ ?···

द्रौपदी ने बताया था कि सौगंधिक पद्म ईशान् कोण से आया था। उसी दिशा के किसी सरोवर में खिलते होंगे सौगंधिक···पवन का वेग भी कुछ अधिक ही था।···द्रौपदी ने ठीक ही कहा था, पहला सौगंधिक तो पवनदेव ने अयाचित् ही लाकर उसके सम्मुख डाल दिया था···उसकी प्रार्थना पर अब और सौगंधिक पवन-पुत्र भीम ही लाकर दे सकता था।···

भीम को ग्लानि, विकलता, भय अथवा घबराहट का अनुभव वैसे भी कभी नहीं होता था···इस समय तो उसके मन में प्रिया के अनुरोध को पूर्ण करने की उत्फुल्लता-जनित, इतनी ऊर्जा भरी थी, कि सामने कोई पर्वत भी आ जाता, तो वह अपनी गदा के प्रहार से उसका चूर्ण बना देता।···भीम जानता है, यह सुख क्या होता है। अपने प्रिय को समर्थ मानकर, प्रिया जब अनुरोध करती है, तो प्रिय का मन मानों पिपासित पृथ्वी को तृप्त करने के लिए, आकाश पर मंडराते मेघों के समान आकुल-व्याकुल हो, घुमड़ने लग जाता है। कितना गर्व होता है, उसे अपने सामर्थ्य पर···प्रेम का मद् भीम की शिराओं में शक्ति की लहरें बनकर पछाड़ें खा रहा था···

गंधमादन क्षेत्र की पवित्र वायु शरीर को छूती तो लगता, जैसे कोई मयूर-पंखी से व्यजन कर रहा है। भीम का उन्मत्त मन इस समय किसी और ही संसार में था।···द्रौपदी ने उसे स्मरण करा दिया था कि वह पवन-पुत्र था। तभी तो पवन का यह स्पर्श उसे पिता के शीतल और सुखद स्पर्श जैसा लग रहा था···पिता ने एक ही सौगंधिक पद्म लाकर दिया था, पुत्र को न केवल अनेक सौगंधिक सहस्रदल लाने थे, उनके स्रोत का भी पता लगाना था।···ठीक है, वे अभी वनवास कर रहे हैं, तीर्थ-यात्रा पर हैं; किंतु दुर्योधन से युद्ध की तैयारी तो उन्हें करनी ही थी···उसे यमलोक भेजकर हस्तिनापुर पर आधिपत्य जमाना ही था।···तो क्यों न वह भी, द्रौपदी के समान, हस्तिनापुर के शृंगार की विधियाँ सोचे ? क्यों न योजनाएँ, अभी से तैयार हों···

भीम के बढ़ते चरण लताओं और पौधों को कुचलकर, अपना मार्ग बना रहे थे। अनेक बार, मार्ग में आई शाखाओं को वह हाथों से झटक देता था। आवश्यक होने पर उन्हें झंझोड़कर, तोड़ भी देता था। हाथ से शाखाओं को मोड़ने का मन न होता, तो वक्ष को ही उनसे भिड़ा देता···देखता हूँ, कौन आहत होता है–वृक्ष या भीम का वक्ष !···

भीम को स्मरण हो आया, वह उस पवनदेव का पुत्र था, जो वेग से चलें तो वृक्ष क्या, वनों-के-वन उखड़ते चले जाएँ, समुद्र के वक्ष पर लहरों के पर्वत परस्पर टकरा जाएँ···पवन-पुत्र भीम का मार्ग कौन रोक सकता था···

भीम का मार्ग तो कोई नहीं रोक सकता था; किंतु आसपास वैसा कोई सरोवर भी दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था, जहाँ सौगंधिक सहस्रदल की तो बात ही क्या, साधारण कमल भी दिखाई पड़ सकें···भीम का धैर्य चुकने लगा···ऐसे वह कब तक लक्ष्यहीन चलता जाएगा ?···द्रौपदी बैठी, प्रतीक्षा कर रही होगी···धर्मराज को कोई आवश्यक कार्य आ पड़ेगा, तो किसे आदेश देंगे ? अर्जुन देवलोक में है, वह स्वयं इधर चला आया है, नकुल-सहदेव अभी स्वतंत्र रूप से जोखिमों से जूझना नहीं सीख पाए हैं···कोई आसपास है भी तो नहीं, जिससे पूछा जा सके···यात्रा के आरंभ में तो कुछ किन्नर और गंधर्व जोड़े दिखाई दिए भी थे···इधर तो कोई है भी नहीं···

भीम के जबड़े अधैर्य और क्रोध से भिंच गए। दोनों हाथ, सामने आए वृक्ष को थामकर कस गए। उसने वृक्ष को जोर से झंझोड़ा। वृक्ष जैसे थरथराया। कुछ पत्ते टूटकर गिरे और उसकी शाखाओं पर शांतिपूर्वक बैठे, अनेक पक्षी घबराकर उड़ गए; और भयभीत स्वर में चिल्लाने लगे। एक भयंकर उन्माद भीम को लीलता जा रहा था।···उसने कटि से पौंड्र शंख खोला और पूरे वेग से फूँक दिया···लगा, सोए हुए वन को किसी ने झंझोड़कर, जगा दिया हो···परम निःस्तब्धता में किसी ने भैरवनाद सुना दिया हो···वन के जीव-जंतु अपनी गुफाएँ छोड़कर बाहर निकल आए, कोटरों में और शाखाओं पर बैठे पक्षी पंख फड़फड़ाते और चीत्कार करते हुए आकाश में उड़ चले···

भीम ने प्रसन्न-मन से आकाश की ओर देखा : आकाश में कोलाहल करते हुए, वृत्ताकार उड़ते हुए पक्षियों में अनेक जल-पक्षी थे, जिनकी पाँखें, स्पष्ट रूप से भीगी हुई थीं···भीम के अधरों पर मुस्कान आ गई···तो कहीं पास ही, कोई बड़ा सरोवर है, जिसमें ये बड़े-बड़े जल-पक्षी क्रीड़ा कर रहे थे···निश्चित् रूप से वहाँ सौगंधिक पद्म होने की संभावना है।···

भीम के पग वेग से उसी दिशा में उठ चले।

वहाँ सरोवर था। उसमें असंख्य कमल भी खिले हुए थे। भीम प्रसन्नतापूर्वक सरोवर में कूद पड़ा।···किंतु नहीं ! ये सौगंधिक सहस्रदल पद्म नहीं थे। न उनका आकार उतना बड़ा था, न उनका वह वर्ण था, और न ही उनमें वैसी सुगंध थी। ···यह पद्म नहीं था, छद्म था···उस सौगंधिक सहस्रदल का !···एक ओर भीम की इच्छा हो रही थी कि इस शीतल जल में देर तक क्रीड़ा कर, वह अपनी क्लांति मिटा ले; और दूसरी ओर उसका मन हो रहा था कि इस सरोवर से इस छद्म का प्रतिशोध ले।···इतने थपेड़े लगाए इस जल को, जितने कोई मथनी, दही को

मारती है, और उसमें से नवनीत निकालती है।··इतना हिल्लोलित करे इस जल को कि इसमें खड़ा, प्रत्येक मृणाल टूटकर गिर जाए···प्रत्येक कमल-दल चिंदी-चिंदी होकर बिखर जाए···भीम के अपने मन में स्पष्ट नहीं था कि वह किसे दंडित करना चाहता है–जल को ? सरोवर को ? कमल-पुष्पों को ?···या वह मात्र अपनी खीझ निकालने का कोई मार्ग खोज रहा था···

क्रोध में आरंभ की गई यह क्रिया, क्रमशः उसकी क्रीड़ा बन गई। नटखट और क्रीड़ाशील शिशु के समान, वह भूल गया कि जल से उसने यह युद्ध क्यों आरंभ किया था। वह उसी में रम गया था और उसमें उसे आनन्द की अनुभूति होने लगी थी। मृणाल और कमलदल उसके खिलौने हो गए थे। वह स्वयं को भूलकर, उनके साथ क्रीड़ा करता रहा था···

सहसा उसे ध्यान आया कि वह एक विशेष उद्देश्य लेकर निकला था; और यहाँ व्यर्थ ही समय नष्ट कर रहा था। आरंभ में, जल-क्रीड़ा से, जो एक प्रकार की स्फूर्ति उसके शरीर में आई थी, वह लुप्त हो रही थी और बहुत देर तक तैरने का श्रम शरीर को शिथिल कर रहा था। उसे भूख और थकान, दोनों का अनुभव हो रहा था।

भीम सरोवर से बाहर निकल आया···शस्त्र धारण किए और चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। कदाचित् मध्याह्न के आसपास का समय था। भूख तो लगनी ही थी, इसमें आश्चर्य की बात ही क्या थी।···बहुत हरा-भरा वन था। असंख्य वृक्ष थे, किंतु उतने फल नहीं थे। ऐसे में तो भीम को किसी कदली-वन में होना चाहिए था ··पेट भरकर केले खाता और वृक्षों को तोड़ता, जैसे हनुमानजी ने अशोक वाटिका में किया था···

भीम का मन एक दिशा में दौड़ पड़ा। पवन-पुत्र होने के नाते, हनुमान उसके भाई थे। वे सीता को खोजने निकले थे, और भीम द्रौपदी के लिए सौगंधिक सहस्रदल पद्म खोजने निकला था। वे थक गए थे और उन्हें भूख लग आई थी। भीम भी थक गया था, और उसे भूख लग आई थी। उन्हें भी अशोक-वाटिका उजाड़ने से कोई रोक नहीं पाया था, और भीम को भी इस वन को तहस-नहस करने से कोई रोक नहीं पाएगा···भीम को जैसे कोई आवेश हो आया था।···वह फल तोड़ने के व्याज से, वृक्षों की शाखाएँ तोड़ने लगा। हाथ में एक फल आता और एक शाखा टूट जाती। टूटती हुई शाखा की कड़कड़ाहट-ध्वनि, जैसे उसे कोई आनन्द दे जाती···मानों उसने अपने किसी शत्रु को धराशायी कर दिया हो !

जैसे-जैसे उसका पेट भरता गया, उसकी गतिविधि में शिथिलता आती गई। यह शिथिलता नहीं, एक प्रकार की तंद्रा थी···उसे थोड़ा विश्राम कर लेना चाहिए था। संभव हो, तो थोड़ा सो लेना चाहिए था···

वह, एक विशाल वृक्ष के तने से लगकर बैठ गया !

भीम चल तो भूमि पर ही रहा था, किंतु उसके पग जैसे मेघों पर पड़ रहे थे। उसे लग रहा था कि पवन-पुत्र होने के नाते, उसमें भी पवनदेव के अनेक गुण आ गए थे। वह जहाँ चाहे जा सकता था; उसका मार्ग कोई नहीं रोक सकता था।···उसका वेग भी कुछ इतना अधिक हो गया था कि वृक्षों की तो बात ही क्या, वह पर्वतों को भी उखाड़ फेंकता।···उसे लग रहा था कि उसके सम्मुख जो कुछ भी है, सब कुछ जैसे चित्र मात्र है, उसका वास्तविक अस्तित्त्व नहीं है।···जैसे शून्य में कोई माया-जाल हो। वह जिस वस्तु को हाथ लगाता है, वहाँ कुछ नहीं होता, बस शून्य होता है। जिधर पग बढ़ाता है, वहाँ जो कुछ होता है, उसके पगों के नीचे दबकर नष्ट हो जाता है···वह सर्वशक्तिमान था, जिसे चाहे फूँककर उड़ा दे, और जिसे चाहे अपने चरणों के नीचे दबाकर, उसका चूर्ण बना दे। उसे देखते ही दिग्गज भयभीत होकर मार्ग दे देते थे। यदि वह आकाश की ओर हाथ बढ़ाता, तो आकाश भी कदाचित् फट जाता। वह बलपूर्वक पृथ्वी पर पैर पटकता, तो पृथ्वी पाताल तक विदीर्ण हो जाती···वन के वृक्ष तो उसके श्वासों के वेग से ही टूट-टूटकर गिरते जा रहे थे। उन्हें मार्ग से हटाने के लिए, उन्हें छूना भी नहीं पड़ता था···

सहसा भीम एक दोराहे पर पहुँच गया। एक मार्ग मुड़कर नीचे की ओर चला जाता था और दूसरा पर्वत के ऊपर चढ़ जाता था। चढ़ाई वाले मार्ग को रोके कोई जीव लेटा हुआ था, जैसे चलते-चलते थककर गिर गया हो; अथवा उसमें प्राण ही न हों···

भीम निकट पहुँचा। उसने देखा : वह कोई वानर था। आकार में साधारण वानरों से कुछ बड़ा ही था, किंतु शरीर से हृष्ट-पुष्ट नहीं लग रहा था। अत्यन्त कृश-काय था बेचारा !···किंतु वह मार्ग रोके क्यों पड़ा है ? थक गया था तो किसी वृक्ष की छाया में चैन से सोता ! वैसे वानर तो वृक्षों की शाखाओं पर ही सोते हैं, नहीं तो शाखा-मृग क्यों कहलाते !···इसे देखो, बीच मार्ग में पड़ा है, जैसे यह सारा इसी का साम्राज्य हो।···और रोके हुए भी उस मार्ग को है, जिस पर भीम को जाना है··

"ऐ यहाँ क्यों पड़ा है ?" भीम का स्वर केवल कुछ ऊँचा ही नहीं था, कुछ अभद्र भी हो आया था।

वानर ने बड़ी अलस मुद्रा में आँखें खोलीं, जैसे उसे उतने-से प्रयत्न में भी कष्ट हो रहा हो। उसकी आँखों में प्रश्न था।

"यहाँ मार्ग रोके क्यों पड़ा है ?" भीम पुनः उसी अविनीत भाव से बोला, "तुझे किसी का भय नहीं है ?"

वानर ने किसी प्रकार की कोई उत्तेजना नहीं दिखाई। वैसे ही शांत और मंद स्वर में बोला, "मैं अस्वस्थ हूँ। चलना-फिरना तो दूर, हिल-डुल भी नहीं

सकता।"

"तो यहीं गिरना था तुझे, ठीक मार्ग के बीच।" भीम का स्वर उच्छृंखल होता जा रहा था, "उठता है या लगाऊँ एक ठोकर !"

"हम लोग तो पशु-योनि के प्राणी हैं, अतः धर्म की बात नहीं जानते," वानर ने अत्यन्त निर्जीव स्वर में कहा, "किंतु मनुष्य बुद्धिमान होते हैं, अतः वे सब जीवों पर दया करते हैं।"

"उपदेश दे रहा है मुझे। मुझे जानता नहीं तू ? अभी गदा का एक प्रहार करूँगा, तो प्राण निकल जाएँगे तेरे !"

वानर चुपचाप भीम की ओर देखता रहा। फिर धीरे से बोला, "पता नहीं, तुम्हारे जैसे बुद्धिमान लोग, धर्म का नाश करनेवाले तथा मन, वाणी और शरीर को दूषित करनेवाले क्रूर कर्मों में कैसे प्रवृत्त होते हैं।"

"तुम्हें मृत्यु का भय नहीं है ?" भीम की आँखें लाल हो गईं।

"तुम्हें धर्म का ज्ञान नहीं है।" वानर बोला, "मालूम होता है, तुमने विद्वानों की सेवा कभी नहीं की।"

"तूने बहुत की है विद्वानों की सेवा।" भीम की भुजाएँ फड़क रही थीं, "लोगों के लिए असुविधा उत्पन्न करने के लिए, यहाँ बीच मार्ग में पड़ा है।"

वानर ने किसी प्रकार की कोई घबराहट नहीं दिखाई। उसने भारी पलकों को धीरे-धीरे उठाकर भीम की ओर देखा, "अस्वस्थ हूँ तो क्या, अपने कर्तव्य का तो निर्वाह करना ही है। इसीलिए यहाँ पड़ा हूँ।"

"यहाँ मार्ग में इस प्रकार पसरकर किस कर्तव्य का निर्वाह कर रहा है ?" भीम मानो उसका अपमान करने के लिए हँसा।

"यह मार्ग स्वर्ग की ओर जाता है।" वानर ने धीरे से, रहस्यपूर्ण ढंग से कहा, "मैं यह मार्ग रोके पड़ा हूँ, ताकि कोई अनधिकारी स्वर्ग में न चला जाए।"

भीम पहली बार हतप्रभ हुआ : यह वानर तो कुछ समझदारी की बातें कर रहा है, और स्वयं को अत्यन्त कर्तव्यनिष्ठ बता रहा है।

"यह मार्ग कहाँ जाता है ?" भीम ने पुनः पूछा।

"स्वर्ग-लोक को।"

"स्वर्ग-लोक या देव-लोक ?" भीम ने बलपूर्वक पूछा।

"स्वर्ग-लोक।" वानर अत्यंत निश्चिंत् और निर्द्वन्द्व स्वर में बोला।

"ठीक से जानते हो या वानर-बुद्धि दिखा रहे हो ?" भीम पुनः अवज्ञापूर्वक हँसा।

"स्वर्ग-लोक।"

"स्वर्ग-लोक !" भीम बोला, "जहाँ कोई मनुष्य इस देह में नहीं जा सकता ? जहाँ सदेह जाना संभव नहीं ?"

"हाँ ! उसी स्वर्ग-लोक को।"

"उसके लिए, यहाँ पृथ्वी से मार्ग जाता है ?" भीम चकित था।

"हाँ। यही मार्ग है न।" वानर के स्वर में दृढ़ता का पुट आ मिला था।

"तो तुम उसे रोके क्यों पड़े हो ?" इस नए आविष्कार से भीम कुछ उत्तेजित हो उठा था।

"कहा न ! ताकि कोई अनधिकारी मनुष्य स्वर्ग की ओर न जा सके।"

"कौन अनधिकारी है ?" भीम भन्नाया, "मैं ? मैं चंद्रवंशी क्षत्रिय। कुरुकुल में जन्मा, कौंतेय, पांडव, पवन-पुत्र, भीम, सदेह स्वर्ग जाने के अयोग्य है; क्योंकि एक रोगी, वृद्ध, जीर्ण-क्षीण, मंदबुद्धि वानर ऐसा समझता है।"

"नहीं ! इसलिए कि तुम अनधिकारी हो। तुममें अहंकार है। अहंकार-विसर्जन के बिना, कोई व्यक्ति इस मार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकता।..." वानर का स्वर इस बार पर्याप्त दृढ़ था।

'गुण होंगे तो अहंकार भी होगा ही।' भीम ने मन-ही-मन सोचा, और बोला, "अच्छा ! तू हट मार्ग से।"

"इस मार्ग से मत जाओ।" वानर पुनः दीन हो गया था, "यह तुम्हारे हित में नहीं है। मत जाओ। अभी तुम अपने अहंकार को जीत नहीं पाए हो।"

"इस संसार में अहंकार-शून्य कोई नहीं है।" भीम बोला, "तू हट मार्ग से। नहीं तो उठाकर फेंक दूँगा। सारी अस्थियों का चूर्ण बन जाएगा।"

इस बार वानर कुछ नहीं बोला।

"हटते हो या नहीं ?" भीम ने अपनी गदा उठाई।

वानर ने उसकी ओर देखा और निरीह भाव से बोला, "यदि इतने ही दृढ़ संकल्पी हो, इस मार्ग से जाने के लिए, तो मेरी पूँछ उठाकर, एक ओर कर दो और निकल जाओ।"

भीम के मन में आया कि पूँछ क्यों, मैं इसकी गर्दन से पकड़कर, इसे ही उठाकर एक ओर फेंक देता हूँ।.. किंतु फिर उसके वृद्ध और रोगी शरीर को देखकर दया आ गई।...

उसने वानर की पूँछ पकड़ी...किंतु भीम से पूँछ उठी नहीं !...भीम ने चकित होकर वानर की ओर देखा...ऐसा संभव नहीं है कि पर्वत-शिलाओं को उठा लेने वाला भीम एक साधारण, वृद्ध और रोगी वानर की पूँछ को न उठा सके। यह वानर कोई-न-कोई चतुराई कर रहा है।..भीम ने गदा भूमि पर रखी। दृढ़तापूर्वक, उसकी पूँछ दोनों हाथों में पकड़ी और सोचा, इसे दो-चार बार घुमाकर इस प्रकार आकाश की ओर उछाल दूँगा, कि अपने-आप स्वर्ग पहुँच जाएगा...

किंतु भीम की इच्छा तनिक भी पूरी होती दिखाई नहीं दी। उठना तो दूर, पूँछ तो जैसे उससे हिल ही नहीं रही थी।

भीम का अहंकार पानी-पानी होता जा रहा था।...संसार में स्वयं को सर्वाधिक शक्तिशाली समझनेवाले पवन-पुत्र भीम से, एक साधारण वृद्ध और रोगी वानर की पूँछ नहीं उठाई जा रही थी...

"कौन हैं आप ?" सहसा भीम का मन भी बदल गया और स्वर भी, "कौन हैं आप ? यहाँ धूल में मृत-प्राय अनाथ पशु के समान पड़े हैं...कौन हैं आप ?"

वानर की उनींदी आँखों में पहली बार मंद हास झलका, "मैं हनुमान हूँ। पवन-पुत्र हनुमान ! पवन-पुत्र होने के नाते, तुम्हारा भाई हूँ।..."

भीम के हाथ जुड़ गए...मस्तक झुक गया, "मैं आपको प्रणाम करता हूँ महावीर ! आपके दर्शन कर, मैं धन्य हुआ।..."

"मेरे दर्शन तुमने कहाँ किए हैं भीम !" हनुमान हँसे।

"तो अपने दर्शन दें बजरंग बली !"

हनुमान हँसे...और उनका शरीर बढ़ने लगा...वह एक अत्यन्त तेजस्वी, शक्तिशाली और बृहदाकार शरीर था...तो ये थे हनुमान...और कैसे बनकर पड़े थे, जैसे शरीर में प्राण ही न हों...

"मुझे क्षमा करें महावीर !" भीम का स्वर असाधारण रूप से दीन हो गया था, "मैं समझ गया कि अहंकार क्या होता है और अहंकार-शून्यता क्या होती है...मैं समझ गया कि इस मार्ग से कौन सदेह स्वर्ग जा सकता है..."

हनुमान खिलखिलाकर हँस पड़े। सारे वन में उनके हास की प्रतिध्वनि गूँज रही थी, जैसे दसों दिशाएँ हँस रही हों...

एक झटके से भीम की आँखें खुल गईं...वह एक विशाल वृक्ष की छाया में, उसके तने के साथ लगकर शायद सो गया था...आस-पास कोई नहीं था। हनुमान भी नहीं...भीम के भाई हनुमान...कहाँ गए हनुमान ?...तो क्या वह भीम का स्वप्न था ? पर यह स्वप्न कैसे हो सकता है ? वह तो इतना जीवन्त अनुभव था।...अपने सामर्थ्य को छिपाकर कोई कैसे रहे ?...कैसे साधारण बनकर रहे ?...दूसरों से क्यों स्वयं को श्रेष्ठ समझे ?...भीम को अहंकार के विगलन का उपदेश देने स्वयं हनुमान आए थे...वे उसे दिखा रहे थे, कि वस्तुतः वे क्या हैं, और अपनी क्षमताओं को छिपाकर कैसे साधारण से बनकर रहते हैं...किंतु इस समय इस प्रकार का उपदेश देने के लिए आने की क्या आवश्यकता थी उन्हें ?...नहीं ! वह स्वप्न ही रहा होगा...पर स्वप्न ? भीम को ऐसे स्वप्न तो नहीं आया करते...

"होगा !"...भीम ने अपने मस्तिष्क से सब कुछ झटक दिया...उसने काफी समय इधर-उधर बिता दिया था। ऐसे तो रात हो जाएगी। धर्मराज वहाँ चिंतित होंगे। पांचाली व्याकुल होगी। संभव है, नकुल और सहदेव उसे खोजने के लिए

चल पड़ें···और अभी तो वह सौगंधिक पद्म खोज ही नहीं पाया है···

भीम के पग चलते रहे; और मन तथा नेत्र, पुष्प-किरीट धारण किए हुए पर्वत-शृंगों पर लगे रहे। कहाँ होगा, वह सरोवर, जिसमें सौगंधिक सहस्रदल खिलते हैं ?· संभव है सरोवर न हो सरिता हो···धत्त !···भीम ने स्वयं को झिड़क दिया। कभी सरिताओं में भी कमल खिले हैं। कमल खिलाने हों, तो जल को सरोवर ही बनना पड़ता है। सरिता को कहाँ अवकाश है, कि वह रुक जाए; अपने स्वच्छ जल को कुछ गंदला करे, कुछ थोड़ा कीच धारण करे और सौगंधिक सहस्रदल पद्म खिलाए। सरिता के जीवन में ठहराव नहीं होता, मात्र गति होती है। जो अपनी गति पर मुग्ध हो, वह न स्वयं को संयत कर सकता है, न अपने वक्ष पर कमल खिला सकता है···

भीम का ध्यान द्रौपदी की ओर चला गया···वह प्रतीक्षा में बैठी होगी। मन-ही-मन व्याकुल हो रही होगी।···लौटकर भीम जब असंख्य सौगंधिक पद्म उसके आँचल में डालेगा, तो वह कितनी प्रसन्न होगी···भीम की आँखों के सम्मुख द्रौपदी का प्रफुल्लित चेहरा तैर गया···विशालाक्षी द्रौपदी के वे सस्मित अधर···चेहरे पर वैसा संतोष !···उस स्थिति और उस संतोष के लिए भीम क्या नहीं कर सकता ?···

भीम के तन और मन में नई और असाधारण ऊर्जा का संचार हुआ···भीम इस समय पर्वतों को फलांग सकता था, आकाश के नक्षत्र तोड़कर ला सकता था, सागर के गर्भ में से सारे रत्न बटोर सकता था···

सूर्य अपराह्न से संध्या की ओर चल पड़ा था।···सहसा भीम को एक स्वच्छ और पारदर्शी नदी दिखाई दी। नदी नहीं, यह जलधारा ही थी। नहीं, जल-धारा भी नहीं थी। यह तो बस जल-समूह था···वर्षा का जल यहाँ जमा हो गया था, या हिम तथा उपल विगलित होकर, यहाँ संचित हो गए थे···अथवा भूमि के जल-उत्सों ने, एक नदी के आकार का सरोवर बनाया था ?···जो कुछ भी था, किंतु था सुंदर। हंस, कारंडव तथा अनेक अन्य जल-पक्षी दिखाई दे रहे थे···कमल भी थे, जैसे पर्वत को किसी ने कमलों की माला पहना दी हो···

भीम के पगों में वेग आ गया। वह जैसे पवन-वेग से उड़ रहा था···किंतु ये तो स्वर्ण-कमल थे, न उनका रंग वैसा नीला था, न वे सहस्रदलों वाले थे, और न उनमें वैसी सुगंध थी···

भीम के पग कुछ शिथिल हुए और आँखों के सम्मुख वनवास के क्लेशों से पीड़ित प्रियतमा द्रौपदी का बिंब आ गया···'ओह भीम ! तुम भी मेरी इच्छा-पूर्ति नहीं कर सके ?···' भीम की पीठ पर नहीं, मन पर कशाघात हुआ···'मध्यम ! तुम भी मेरी इच्छा-पूर्ति नहीं कर पाए !···मध्यम ! तुम भी !'···थोड़ी देर पहले भीम को जो कमल-वन, पर्वत के कंठ में पड़ा हुआ हार लग रहा था, वही कमल-वन,

जैसे पर्वत के वक्ष पर उग आए फफोलों के समान लगने लगा···इन कमलों के सौन्दर्य का कोई क्या करे, जो उसकी प्रिया के मन को प्रसन्नता नहीं दे सकते।

अब भीम कुछ और ऊँचाई पर आ गया था। वन कुछ क्षीण हो गए थे और स्थान-स्थान पर जल-स्रोत और स्वच्छ जल के सरोवर दिखाई दे रहे थे। यह क्षेत्र उतना निर्जन भी नहीं था। पास ही किन्नरों, गंधर्वों और यक्षों के कुछ ग्राम होने चाहिएँ। वनों तथा सरोवरों के आस-पास कुछ ऐसी गतिविधियाँ परिलक्षित हो रही थीं···

भीम ने लकड़ी का बोझ ले जाते, एक ग्रामीण यक्ष को रोक लिया, "यह किसका क्षेत्र है ?"

"कुबेर का आर्य !"

"यहाँ आसपास कोई सरोवर है, जहाँ परम रमणीय सहस्रदल सौगंधिक कमल खिलते हों ?"

ग्रामीण ने कुछ भयभीत दृष्टि से भीम की ओर देखा, "मैंने तो नहीं देखा आर्य ! किंतु सुना है कि कैलास पर्वत के निकट, कुबेर के भवन के मार्ग में, एक सौगंधिक क्षेत्र है।"

"वहाँ कोई सरोवर है ? वहाँ सहस्रदल सौगंधिक पद्म खिलते हैं क्या ?"

"यह मैं नहीं जानता आर्य ! पर उसे सौगंधिक क्षेत्र कहा जाता है।"

भीम के लिए इतना ही पर्याप्त था···यदि वह सौगंधिक क्षेत्र था, तो सौगंधिक पद्म भी वहीं खिलते होंगे।···ठीक कहता है ग्रामीण। उसने नहीं देखा होगा। यदि साधारण लोग उसे देख पाते, तो उसे प्राप्त करने का भी प्रयत्न करते··· अपने घरों में, अपने खेतों में, अपनी बावड़ियों और तड़ागों में, उसकी खेती करना चाहते···

"आभार !" भीम ने कहा; और आगे चल पड़ा।

कुछ दूर चलकर, सीधी चढ़ाई थी। थोड़ी-सी चढ़ाई के पश्चात् ही हरीतिमा कुछ अधिक दिखाई देने लगी थी। वृक्षों की संख्या बढ़ गई थी। वे अधिक ऊँचे भी थे और सघन भी !···किंतु आगे बढ़ने के लिए कोई विशेष मार्ग नहीं था। कोई छोटी-सी पगडंडी भी कहीं दिखाई नहीं दे रही थी। '···क्या इधर से कोई आता-जाता ही नहीं ?' भीम ने मन-ही-मन सोचा। उसे अपने प्रश्न का उत्तर पाने के लिए अधिक देर नहीं रुकना पड़ा।···उसने कुछ लताओं को हटाकर, एक ओट कर, आगे बढ़ने का मार्ग बनाया ही था कि एक सशस्त्र सैनिक उसके सामने पड़ गया···

"ऐ कौन हो तुम ? इधर कहाँ जा रहे हो ?"

"क्यों ?" भीम ने उसे कुछ आश्चर्य से देखा, "यह वन तुम्हारी संपत्ति है ?"

"नहीं ! यह यक्षराज कुबेर का निजी क्षेत्र है।" वह बोला।

"यहाँ सर्व-साधारण का आना-जाना मना है ?" भीम ने पूछा।

"हाँ ! यह निषिद्ध क्षेत्र है।" सैनिक ने उत्तर दिया, "यह यक्षराज की प्रिय रमण-स्थली है।"

"अच्छा-अच्छा !" भीम हँसा, "यहाँ यक्षराज इन वृक्षों पर झूले डालकर अप्सराओं के साथ क्रीड़ा करते हैं।"

"नहीं।" सैनिक कुछ रुष्ट होकर बोला, "यह सौगंधिक क्षेत्र है। यहाँ सौगंधिक सरोवर है। उसमें जल-क्रीड़ा के लिए आते हैं, धनाध्यक्ष कुबेर।"

भीम प्रसन्न हो गया, "बस ! आपसे यही सूचना चाहिए थी मान्यवर !"

"मैं तुम्हारा अभिप्राय नहीं समझा।" सैनिक बोला।

"उसकी आवश्यकता नहीं है।" भीम ने उत्तर दिया, "तुम मुझे अपने नायक के पास ले चलो।"

"उसकी अनुमति नहीं है।" सैनिक बोला, "इधर से कोई मार्ग नहीं है। नायक के पास जाना है, तो नीचे उतर जाओ। घूमकर पर्वत की दूसरी ओर पहुँचो; और उचित मार्ग से नायक के पास जाने की प्रार्थना करो।"

"मेरे पास इतना समय नहीं है।" भीम ने कहा, "मुझे इसी मार्ग से जाना है; और तुम मुझे मार्ग दिखाओगे।"

इससे पहले कि सैनिक कुछ कहता अथवा समझता, भीम ने झपटकर, उसकी ग्रीवा पकड़ ली और अपनी अंगुलियों को कसता चला गया।...सैनिक का मुख लाल हो आया। श्वास रुक रहा था और ग्रीवा में असह्य पीड़ा थी...

"मुझे छोड़ो।" वह छटपटाया।

"चुपचाप अपने नायक तक ले चलोगे ?" भीम ने पूछा।

सहमत हो जाने के अतिरिक्त, सैनिक के पास कोई मार्ग नहीं था। उसने सिर हिला दिया।

भीम ने उसे छोड़ दिया, "चलो। चुपचाप आगे बढ़ते चलो।"

"मैं तो बढ़ता चलूँगा।" वह बोला, "किंतु मार्ग में अनेक सैनिक हैं। वे सब हमें रोकेंगे। वे मेरे आदेश का तो पालन नहीं करेंगे न।"

"ठीक है।" भीम बोला, "मैं अपना खड्ग तुम्हारी पीठ से लगाए चलता हूँ। वे समझ जाएँगे कि तुम बाध्य होकर मुझे ले जा रहे हो। तुम उन्हें कहना कि वे लोग मुझे घेरकर चलें। शेष, नायक के पास पहुँचने के पश्चात्..."

सौगंधिक सरोवर के रक्षकों के नायक ने एक विचित्र दृश्य देखा : उसके वन-रक्षक, असाधारण रूप से हृष्ट-पुष्ट एक व्यक्ति को घेरकर, ला रहे थे। उनके शस्त्र उसकी ओर लक्षित थे, और उस व्यक्ति ने अपना नग्न-खड्ग एक वन-रक्षक की पीठ

में चुभो रखा था···

नायक ने वन-रक्षकों को पीछे हट जाने का संकेत किया और भीम से बोला, "अपना खड्ग हटाओ।"

भीम ने अपना खड्ग चुपचाप कोष में रख लिया। खड्ग हटते ही उसका बंदी भागकर अपने साथियों से जा मिला।

"कौन हो तुम ?" नायक ने पूछा।

"मैं पांडु-पुत्र भीम हूँ। धर्मराज का छोटा भाई। हम लोग तीर्थ-यात्रा पर निकले हैं; और लोमश ऋषि के साथ बद्रिकाश्रम क्षेत्र में ठहरे हुए हैं।"

"तो यह सब क्या है ?" नायक ने रोषपूर्वक पूछा, "यह तीर्थयात्रियों का व्यवहार है ? वेश वनवासियों का और कृत्य साहसिकों का ?

भीम ने उसकी बात का उत्तर नहीं दिया। उसने घूमकर सामने फैले विशाल सरोवर को देखा : सचमुच अद्भुत था यह सरोवर। विशाल और रमणीक। चारों ओर असाधारण सुगंध छाई हुई थी। सरोवर में सहस्रों की संख्या में सौगंधिक पद्म खिले हुए थे···

"मेरी बात सुन रहे हो ?" नायक ने कुछ डाँटकर पूछा।

"बधिर नहीं हूँ।" भीम ने उत्तर दिया, "ऐसा ही एक सौगंधिक सहस्रदल देखकर, मेरी प्रिया ने बहुत सारे पद्मों की कामना की है। मैं उसकी इच्छापूर्ति के लिए, ये पुष्प लेने आया हूँ।"

"सौगंधिक पद्म !" नायक हँसा, "इस सरोवर की रक्षा हम इसीलिए तो कर रहे हैं कि आप जैसे महानुभाव आएँ और हम सहस्रदल सौगंधिक पद्म उन्हें सादर समर्पित करें।" नायक ने उसे तिरस्कारपूर्वक देखा।

भीम ने उसके उपहास की चिंता नहीं की, "मैं सज्जनतापूर्वक तुम्हें सूचित कर रहा हूँ कि मुझे ढेर सारे सौगंधिक पद्म चाहिएँ।"

"ओह ! यह बात है।" नायक की मुद्रा तनिक भी नहीं बदली, "मैं भी उतनी ही सज्जनतापूर्वक, तुम्हें सूचित कर रहा हूँ कि यह सरोवर, धनाध्यक्ष यक्षराज कुबेर की निजी संपत्ति है। मैं उनकी ओर से, इसकी रक्षा के लिए यहाँ नियुक्त हूँ। उनकी अनुमति के अभाव में कोई भी प्राणी, पुष्प लेना तो दूर, इस जल को भी नहीं छू पाएगा।···पुष्प लेने की बहुत इच्छा हो, तो हमारे स्वामी से आज्ञा ले आओ।"

भीम ने क्षणभर विचार किया, "अच्छा ! ले चलो, कुबेर के पास ! पहले उन्हीं से बात कर लूँ।"

"तुम उनसे इस प्रकार नहीं मिल सकते।" नायक बोला।

"तो कैसे मिल सकता हूँ ?"

"जिस मार्ग से आए हो, उसी मार्ग से विशालाबद्री नामक भगवान्

नर-नारायण के स्थान को लौट जाओ। वहाँ से वृषपर्वा के रमणीक आश्रम पर जाओ, जहाँ सिद्ध और चारण निवास करते हैं। उस आश्रम को लाँघकर आर्ष्टिषेण के आश्रम पर जाओ। वहाँ से तुम्हें धनदाता कुवेर के निवास का मार्ग मिलेगा।"

भीम ने नायक को इस प्रकार देखा, जैसे वह मार्ग न बता रहा हो, उन्मत्त के समान प्रलाप कर रहा हो, "तुमने अनुमतिपत्र प्राप्त करने के कार्यालय का मार्ग तो बहुत संक्षिप्त बताया है।"

"यही मार्ग है।" नायक ऐंठकर बोला।

"देखो !" भीम ने अपनी तर्जनी उसकी ओर उठाई, "यदि अनुमति प्राप्त करने का नियम बनाया गया है, तो अनुमति देने की व्यवस्था भी होनी चाहिए। अन्यथा मैं यही मानूँगा कि अनुमति-प्राप्ति का कोई नियम नहीं है; और मुझे अनुमति प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है।"

"यहाँ तो यही व्यवस्था है।" नायक बोला, "राजा की इच्छा है, जैसी व्यवस्था वे करना चाहें, करें।"

"राजा का अर्थ स्वेच्छाचारी, निरंकुश, अत्याचारी राक्षस नहीं होता।" भीम ने कुछ क्रुद्ध स्वर में कहा, "नियम, प्रजा की सुविधा के लिए होते हैं, उसके उत्पीड़न के लिए नहीं।"

"मेरा धर्म यहाँ नियमों, व्यवस्था और विधान पर शास्त्रार्थ करना नहीं है।" नायक ने कहा, "वह सभासदों का दायित्व है। मेरी नियुक्ति तो तुम जैसे अतिक्रमणकारियों से इस संपत्ति की रक्षा के लिए ही हुई है।"

"यह अच्छा विधान है तुम्हारा।" भीम का धैर्य, उसका साथ छोड़ता जा रहा था, "बिना अनुमति के सरोवर में उतर नहीं सकते; और अनुमति की कोई व्यवस्था ही नहीं है।"

"यही समझ लो।" नायक दंभपूर्वक बोला।

भीम ने उसे रुष्ट दृष्टि से देखा, और सरोवर की ओर मुड़ गया।

"कहाँ जा रहे हो ?" नायक ने चेतावनीपूर्ण स्वर में पूछा।

"मैं अपनी प्रिया के लिए सौगंधिक पद्म लेने जा रहा हूँ।" भीम ने दृढ़ स्वर में कहा, "तुमसे जो वन पड़े, कर लो।"

"सरोवर में उतर कर तो देखो।" नायक ने भी उतनी ही दृढ़ता से कहा।

भीम ने जैसे उसकी चेतावनी सुनी ही नहीं। वह सरोवर तक गया और निर्द्वन्द्व भाव से जल में पैठ गया। जल की शीतलता ने उसे अनुभव कराया कि यद्यपि वसंत ऋतु का आगमन हो चुका था, किंतु इस पार्वत्य प्रदेश में, अभी ऊष्मा का वैसा संचार नहीं हुआ था, जैसा भीम ने मान लिया था।

रक्षकों का नायक आँखें फाड़े, भीम की ओर देख रहा था : उसने कल्पना भी नहीं की थी, कि उसकी वैसी गंभीर चेतावनी के पश्चात् भी कोई व्यक्ति सरोवर

में उतरने का साहस कर सकता है, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो! ...किंतु यह व्यक्ति जाने किस धातु का बना हुआ था कि न उसे धनाध्यक्ष कुबेर का नाम आतंकित करता था, न रक्षकों की सशस्त्र वाहिनी की उपस्थिति, न नियम-विधान का भय !...

नायक की दृष्टि भीम की गतिविधियों का निरीक्षण करती रही। उसने उसे सरोवर तक जाते देखा, जल में प्रवेश करते देखा; और फिर देखा कि वह सौगंधिक पद्मों का अपहरण कर रहा था...

"उसका वध कर दो।" नायक ने अपने सैनिकों को आदेश दिया।

भीम असावधान नहीं था। प्रकटतः तो उसने पलटकर यह भी नहीं देखा था कि कितने सैनिक उपस्थित हैं; किंतु उसके भीतर का योद्धा पूर्णतः सजग और सन्नद्ध था। वह जानता था कि ऐसी परिस्थितियों में बिना किसी चेतावनी के भी, उस पर घातक आक्रमण किया जा सकता था।

यक्ष सैनिकों की स्थिति, इसके ठीक विपरीत थी। वे ऊपर से जितने सावधान और आक्रामक दिखाई दे रहे थे, भीम के बल और कौशल से वे उतने ही असावधान थे। उनका पहला आक्रमण सर्वथा योजना-विहीन और युद्ध-कौशल से शून्य था। पहले ही धावे में जब उनके अनेक सैनिक धरती पर लोटने लगे, तो उनके नायक को स्थिति की गंभीरता का आभास हुआ।...उसने अपने सैनिकों को सँभलने और आक्रमण को योजनाबद्ध बनाने के लिए कुछ निर्देश दिए और दो सैनिकों को, शीघ्रतापूर्वक सेनापति के पास जाने का आदेश दिया, ताकि या तो सेनापति स्वयं आकर स्थिति सँभालें अथवा सहायता के लिए और वाहिनियाँ भेजें।...इतना कुछ कर लेने पर भी, उसको साहस नहीं हुआ कि वह स्वयं खड्ग लेकर, भीम के सम्मुख जा खड़ा होता...

युधिष्ठिर ने भोजन के समय भी भीम को नहीं देखा, तो उन्होंने द्रौपदी की ओर देखा, "मध्यम कहाँ है ?"

द्रौपदी पहले से ही कुछ असहज लग रही थी; इस प्रश्न से उसका शांत बने रहने का छद्म पूर्णतः भंग हो गया। उसकी व्याकुलता खुलकर सामने आ गई, "वे मेरे लिए वैसे ही अनेक सौगंधिक पद्म लेने गए हैं, जैसा एक, प्रातः मैंने आपको दिया था।"

युधिष्ठिर को और कुछ पूछना नहीं पड़ा। सारी स्थिति समझने में उन्हें अधिक समय भी नहीं लगा। मन में एक आवेश-सा उठा। उन्हें लगा, उनके मन में द्रौपदी के प्रति विरोध, और कुछ कठोरता का भाव उदित हुआ है...इतनी समझदार और पंडिता होकर भी यह स्थितियों को क्यों नहीं समझती...क्यों वह अति साधारण

नारियों के समान, साधारण से साधारण शृंगार-सामग्री के लिए भी, इस प्रकार लालायित हो उठती है ? वह क्यों समझ नहीं पाती कि उसकी इच्छा-पूर्ति के लिए, भीम भयंकर जोखम भी उठा सकता है।...वह सौगंधिक पद्म साधारण पुष्प नहीं था...जाने वह किस पर्वत के किस क्षेत्र में हो...द्रौपदी यह क्यों नहीं सोचती कि यहाँ की प्रकृति जितनी सुंदर और लुभावनी है, वह उतनी ही कठोर और भयंकर भी हो सकती है। यह पवन अभी वेग पकड़ ले, हिम-झंझावात आरंभ हो जाए, मेघ आतंक मचाने लगें...तो वे लोग भीम को खोजने कहाँ जाएँगे...पर यह सब कहने का क्या लाभ था ! भीम जा चुका था...और द्रौपदी अपनी नारी-सुलभ प्रकृति त्याग नहीं सकती थी...उनके विवाह के ठीक पश्चात् माँ ने इसी विषय में उन्हें विशेष रूप से सावधान किया था।...स्त्री, प्रकृति-रूपा है। वह अपने रूप और अलंकरण का प्रदर्शन भी करेगी, और उस पर मुग्ध भी होगी...उसके पास स्वर्ण के सहस्रों आभूषण होंगे, तो भी वह एक पुष्प का मोह त्याग नहीं पाएगी...और यह सहस्रदल सौगंधिक पद्म तो साधारण पुष्प नहीं था...

"पर मध्यम को गए, तो बहुत विलंब हो चुका।" सहदेव ने कहा, "अब तक तो उन्हें लौट आना चाहिए था।"

"मैंने सौगंधिक पद्म लाने का अनुरोध करते हुए, यह नहीं सोचा था कि उसके लिए कहीं दूर जाना होगा।" द्रौपदी ने धीरे से कहा, "मैंने तो यही समझा था कि वह यहीं कहीं, निकट ही उपलब्ध होगा, जो पवन के उड़ाए, स्वयं उड़कर यहाँ चला आया है।"

"निकट कहीं उपलब्ध होता, तो आज तक हमारी दृष्टि में न पड़ा होता क्या ?" नकुल ने कहा, "अवश्य ही उसके लिए मध्यम को कहीं दूर जाना पड़ गया है।"

"सहदेव ! मेरा विचार है कि तुम तपोवन में जाकर, तपस्वियों से पूछो। शायद कोई जानता हो कि ऐसा सौगंधिक पद्म कहाँ मिलता है।" युधिष्ठिर बोले, "यदि पता चल जाए तो वहाँ पहुँचने का मार्ग जान लो; और यदि कोई पथ-प्रदर्शक मिल जाए, तो उसे साथ ले आओ।" वे रुककर जैसे अपने-आपसे बोले, "लोमश ऋषि यदि कहीं समाधि में न बैठ गए होते, तो यह कठिनाई न होती।"

सहदेव चला गया।

नकुल ने सारे शस्त्रास्त्र सहेज लिए, जैसे भावी युद्ध के लिए सन्नद्ध हो रहा हो।

द्रौपदी को भी चिंता होने लगी थी : कहीं उसके कारण मध्यम किसी संकट में तो नहीं जा फँसे ? किसी मनुष्य अथवा मनुष्यों के समूह से भीम को कोई संकट नहीं हो सकता...उसके शस्त्रास्त्र उसके पास थे। ऐसी स्थिति में वह अकेला ही, एक पूरी सेना के लिए पर्याप्त था।...वन्य पशुओं की भी कोई चिंता नहीं

थी। भीम, सिंहों और गजों से भी भिड़ सकता था···किंतु सरिताओं और पर्वतों से तो मनुष्य नहीं लड़ सकता···यह सारा क्षेत्र भीम के लिए सुपरिचित नहीं था। यदि वह अपने अज्ञानवश, किसी वेगवती सरिता में वह जाए, अथवा किसी ऊँचे हिमशृंग से उसका पैर फिसल जाए···तो उसका वल-विक्रम क्या कर सकता है?

···ऐसे अवसरों पर धर्मराज भी स्थिर नहीं रहते। अपने भाइयों के प्रति उनका मोह इतना अधिक है कि वे स्वयं को संयत नहीं रख पाते।···उनका सारा ज्ञान, मोह की धारा में वह निकलता है और वे असंतुलित रूप से व्याकुल हो जाते हैं···

सहदेव लौट आया। उसके साथ एक युवा व्रह्मचारी भी आया था।

"धर्मराज !" वह वोला, "सहस्रदल सौगंधिक पद्म, सौगंधिक क्षेत्र में, एक रमणीय सरोवर में पुष्पित होते हैं। वह सरोवर धनाध्यक्ष कुवेर के अधिकार में है; किंतु सर्वसाधारण को वहाँ जाने की अनुमति नहीं है। इसलिए आपके भाई वहाँ तो नहीं ही पहुँचे होंगे··· ।"

"नहीं व्रह्मचारी !" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "यदि सर्वसाधारण को वहाँ जाने की अनुमति नहीं है, तो भीम अवश्य ही वहाँ पहुँचा होगा। तुम हमें यह वताओ कि वह यहाँ से कितनी दूर है।"

"वह स्थान तो यहाँ से निकट ही है।" व्रह्मचारी वोला, "किंतु मार्ग अत्यंत दुर्गम है। पार्वत्य उतार-चढ़ाव है और सघन वन है। यह सव भी इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। सवसे वड़ी कठिनाई कुवेर के वन-रक्षक हैं। वे किसी भी स्थिति में, आपको इस मार्ग से जाने नहीं देंगे।···दूसरे मार्ग से जाने पर डेढ़-दो प्रहर लग सकते हैं; किंतु, सरोवर तक तव भी नहीं पहुँचा जा सकता, क्योंकि तव सरोवर-रक्षक आपको रोकेंगे।"

युधिष्ठिर को निश्चय करने में दो क्षण भी नहीं लगे, "व्रह्मचारी ! हमें निकटतम मार्ग से ले चलो। कुवेर के सैनिकों की तुम चिंता मत करो। उन्हें हम समझा लेंगे। विलंव, हमारे लिए भी घातक है और कुवेर के लिए भी। वे लोग भीम को रोकेंगे, और भीम उनके रोके रुकेगा नहीं। परिणामतः संघर्ष होगा। उस संघर्ष में व्यर्थ का रक्तपात होगा; और ईश्वर के वनाए प्राणियों का संहार होगा। ···तुम हमें शीघ्र ले चलो।"

"आइए।"

व्रह्मचारी चल पड़ा और वे लोग उसके पीछे-पीछे चले ! युधिष्ठिर आगे थे। उनके पीछे द्रौपदी चल रही थी; और नकुल एवं सहदेव, पीछे से उनकी रक्षा करते हुए आगे वढ़ रहे थे। कोई संदेह नहीं कि वन सघन था; किंतु व्रह्मचारी जैसे एक-एक वृक्ष और एक-एक लता से परिचित था। वह निरंतर उन्हें सचेत करता चल रहा था···उसे कंटकपूर्ण झाड़ियों तथा लताओं के नीचे छिपे गढ़ों तक

का ज्ञान था...

"इस क्षेत्र में वन्य-पशु नहीं हैं ?" सहदेव ने पूछा।

"नहीं ! प्रायः वे लोग इधर नहीं आते। यहाँ उनके लिए जल-स्रोत नहीं हैं। वे दूसरी ओर हैं। इस मार्ग से जाने पर सौगंधिक क्षेत्र तक एक भी सरिता अथवा सरोवर नहीं है। हाँ ! पक्षी अवश्य दिखाई दे जाते हैं।...किंतु आश्चर्य है... !"

"कैसा आश्चर्य ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"अभी तक हमें कुवेर का एक भी वन-रक्षक नहीं मिला है।" ब्रह्मचारी वोला, "लगता है, कहीं कुछ अघटनीय अवश्य घटा है; अन्यथा, यहाँ तो पग-पग पर यक्ष-सैनिक अपने शस्त्रों के साथ नियुक्त हुआ करते थे।"

"क्या ऐसा नहीं हो सकता कि मध्यम के कारण ही कुवेर के सैनिकों की यह सारी व्यवस्था, नष्ट-भ्रष्ट हो गई हो ?" द्रौपदी ने पूछा।

"व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हुई नहीं लगती।" ब्रह्मचारी जल्दी से बोला, "एक भी सैनिक के उपस्थित न होने का तो अर्थ है कि या तो सैन्यबल, यहाँ से हटा लिया गया है, अथवा वे लोग किसी असाधारण भय के कारण अपना स्थान छोड़कर भाग गए हैं।"

"दूसरी वात की ही संभावना अधिक है।" युधिष्ठिर वोले, "संभव है कि भीम इसी मार्ग से गया हो।"

"किंतु यहाँ किसी संघर्ष के तो लक्षण ही नहीं हैं।" ब्रह्मचारी बोला।

"संघर्ष के विना ही सैनिक भाग गए होंगे।" सहदेव ने कहा।

"नहीं ! शायद भीम इस मार्ग से न गया हो।" युधिष्ठिर वोले, "इधर न तो वृक्षों की शाखाएँ टूटी हुई हैं, न लताओं को उखाड़ा गया है। भीम इधर से गया होता, तो अपनी यात्रा के स्पष्ट प्रमाण छोड़ गया होता।"

वे लोग वन से बाहर निकल आए थे। सामने, एक लंवी हिमानी ढलान थी, जैसे कोई जल से भरी सरिता, जमकर हिम में परिणत हो गई हो।

"आप लोग सावधानी से मेरे पीछे आएँ।" ब्रह्मचारी वोला, "यहाँ और कोई संकट नहीं है। वस एक ही वात का ध्यान रखें कि कहीं हिम-भ्रम न हो।"

"हिम-भ्रम क्या ?" द्रौपदी ने पूछा।

"हिम का भ्रम !" ब्रह्मचारी वोला, "कई बार लगता तो यही है कि यह हिम-खंड, भूमि के ही समान सशक्त और कठोर है, किंतु वैसा होता नहीं है। हिम की एक कोमल-सी पतली परत के नीचे जल-धारा होती है। उस स्थान पर मनुष्य का पैर पड़ जाए, तो हिम का वह आच्छादन टूट जाता है। और मनुष्य उस हिमानी जल-धारा में डूबकर स्वयं हिम हो जाता है।"

"और कितनी दूर है वह स्थान, ब्रह्मचारी ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"बस धर्मराज ! सामने की चढ़ाई चढ़ते ही हम सौगंधिक क्षेत्र में होंगे।"

फिर कोई चर्चा नहीं हुई। सबकी दृष्टि सामने की चढ़ाई पर ही टिकी हुई थी···जाने भीम वहाँ होगा भी या नहीं ! जाने उन्हें वहाँ तक पहुँचने में कितना समय लगेगा···अभी तक तो उनके मन में आशा थी कि भीम उन्हें वहाँ मिल जाएगा; किंतु यदि भीम वहाँ न हुआ तो ?···यहाँ तक आने का सारा श्रम व्यर्थ जाएगा ···और जो श्रम इसमें लगाया, वह अलग···पर किया भी क्या जा सकता है ! आखिर, कहीं से तो संधान आरंभ करना ही था···

चढ़ाई आरंभ होते ही ब्रह्मचारी ने सबसे आगे चलकर, नेतृत्व करने के स्थान पर, सबसे पीछे रहना उचित समझा ! यदि किसी का भी पैर फिसला, अथवा किसी को सहारे की आवश्यकता हुई तो, पीछे रहकर ही ब्रह्मचारी उनकी सहायता कर सकता था।

युधिष्ठिर के मन में एक बार आया भी कि वे ब्रह्मचारी को आगे-आगे चलने को कहें। यदि अकस्मात् ही पीछे से किसी ने आक्रमण कर दिया, तो ब्रह्मचारी अपनी रक्षा कैसे कर पाएगा।···किंतु सारे मार्ग में वैसी कोई दुर्घटना नहीं हुई थी। कुबेर के जिन सैनिकों का मिलना निश्चित् था, जब वे ही नहीं मिले, तो किसी दुष्ट, आतताई की कल्पना से आशंकित रहने का क्या लाभ ?···यह शांत क्षेत्र था। सामान्यतः यहाँ कुबेर के सैनिक व्यवस्था बनाए रखते होंगे···

चढ़ाई समाप्त होने से कुछ पहले ही, वे लोग रुक गए।

सामने के वृक्षों के झुरमुट में कुछ सैनिक अपने शस्त्रों सहित, छुपने का प्रयत्न कर रहे थे।

"कौन हो, तुम लोग ?" युधिष्ठिर ने उच्च स्वर में पूछा।

सैनिक चौंककर उनकी ओर मुड़े। उनकी मुद्रा तनिक भी आक्रामक नहीं थी। वे लोग भयभीत मूषिक के समान, अपने भीतर ही छुप जाने का प्रयत्न कर रहे थे।

"कौन हो तुम लोग ?" युधिष्ठिर ने पुनः पूछा।

"तुम लोग कौन हो ?" सैनिकों के नायक ने कुछ साहस कर प्रतिप्रश्न किया।

सहदेव आगे बढ़ा···

सैनिकों ने अपने धनुष उनकी ओर तान दिए, "आगे मत बढ़ना।"

ब्रह्मचारी उनसे पृथक् हो, आगे बढ़ आया, "भय त्याग दो। ये तुम्हारे शत्रु नहीं हैं। ये ज्येष्ठ पांडव धर्मराज युधिष्ठिर···।"

उसका वाक्य पूरा भी नहीं हुआ था कि नायक चिल्लाया, "ये भी पांडव हैं।"

"हाँ। ये पांडव हैं, और तुम्हारे शत्रु नहीं हैं।"

"वह पांडव भी हमारा शत्रु नहीं है; किंतु उसने हमारे आधे से अधिक सैनिकों

की हत्या कर दी है।" नायक पर्याप्त विरोधपूर्ण स्वर में बोला।

"किसने ?" युधिष्ठिर उनके निकट चले आए।

"मध्यम पांडव भीम ने।" नायक के स्वर में जैसे चीत्कार था, "और अब तुम लोग उसकी सहायता करने आए हो।"

"नहीं ! हम तुम्हारी सहायता करने आए हैं।" युधिष्ठिर का स्वर स्नेहयुक्त था, "हमें बताओ, कहाँ है वह ?"

"ऊपर ! सौगंधिक सरोवर के तट पर।" नायक बोला, "उसकी भुजाएँ थम ही नहीं रहीं। जिसे सम्मुख पाता है, उसकी हत्या कर देता है। मैंने भी सेनापति से सहायतार्थ नई वाहिनी भेजने का आग्रह किया था। हमारा तो कोई सैनिक आया नहीं, और तुम लोग आ गए उसकी सहायतार्थ···।"

"भय त्यागो।" युधिष्ठिर मुस्कराए, "अपने सैनिकों को रोको। युद्ध बंद करो। अब हम आ गए हैं। भीम किसी पर प्रहार नहीं करेगा। आओ, मेरे साथ !"

युधिष्ठिर आगे-आगे चल रहे थे। अब उनकी समझ में आ गया था कि मार्ग में उन्हें कुबेर का कोई भी सैनिक क्यों नहीं मिला। भीम के साथ हुए इस युद्ध में, वे सब लोग अपना स्थान छोड़, अपने साथियों की सहायता के लिए, यहाँ आ गए होंगे।

चढ़ाई समाप्त होते ही, उन्होंने देखा, ऊपर सपाट मैदान था। व्यक्ति दूर तक देख सकता था।···भीम सौगंधिक सरोवर के मध्य खड़ा, सौगंधिक पद्मों को मृणाल सहित तोड़-तोड़कर, एकत्रित कर रहा था। उस समय उसके हाथ में कोई शस्त्र भी नहीं था, न ही उसकी मुद्रा तनिक भी आक्रामक थी। यह लगता ही नहीं था कि थोड़ी देर पहले, उसने यहाँ कोई भयंकर युद्ध किया है, जिसमें अनेक सैनिक हताहत हुए हैं···वह तो किसी क्रीड़ा-मग्न बालक के समान लपक-लपककर, अपनी रुचि के अनुसार सौगंधिक पुष्प एकत्रित कर रहा था···

द्रौपदी देख रही थी, उसके एक अनुरोध की पूर्ति के लिए, भीम ने क्या कर दिया था···सरोवर के तट पर अनेक सैनिक हताहत पड़े थे। लगता था, वाहिनी की वाहिनी ही, जैसे धराशायी हो गई थी···द्रौपदी के मन में, उन सैनिकों के लिए करुणा जागी; किंतु यह अनुभूति भी छिपी नहीं रही कि भीम के प्रति उसके मन में आह्लादक प्रेम जागा था; और अपने प्रति कहीं, गर्व का भाव···

अब तक भीम ने भी उन्हें देख लिया था। वह सरोवर से बाहर निकल आया। उसने अपनी दोनों भुजाओं में बाँधे हुए सौगंधिक पद्म, द्रौपदी की ओर बढ़ा दिए···द्रौपदी के अधरों पर एक असाधारण मुस्कान जागी···उसके नयनों में वह मोहिनी साकार हो आई, जो प्रीति को पिघलाकर ही बनाई जा सकती है···

भीम को लगा कि उसकी आत्मा तक द्रौपदी की दासी हो गई है।···वह कृतकृत्य हो गया था। उसने वे सारे सौगंधिक पद्म द्रौपदी के आँचल में डाल

दिए, जैसे किसी देवी के चरणों में पुष्पांजलि भेंट कर रहा हो…

"मध्यम !" युधिष्ठिर ने हल्के-से स्वर में पुकारा ! वे समझ नहीं पा रहे थे कि भीम के मन को जानते हुए भी, इस समय उसके शौर्य को अनुचित ठहराना चाहिए अथवा नहीं।

"मुझे क्षमा करें ज्येष्ठ !" भीम ने सहज भाव से कहा, "मैं आपको सूचित करके नहीं आया था। वस्तुतः मैंने सोचा ही नहीं था कि इसमें इतना समय लग जाएगा। मैंने तो यही मान लिया था कि जो पुष्प वायु के साथ उड़कर आया है, वह क़हीं बहुत दूर से नहीं आया होगा… !"

"तुम भी यदि वायु के मार्ग से आए होते, तो बहुत कम समय में यहाँ पहुँच गए होते।" युधिष्ठिर धीरे से बोले, "किंतु मार्ग जाने बिना तुम चल पड़े, अतः बहुत लंबे मार्ग से आए।…"

"चाहे विलंब हुआ, चाहे लंबे मार्ग से आया; किंतु पांचाली की इच्छा मैंने पूर्ण कर दी।" भीम का उल्लास सर्वथा मुखर था।

"पांचाली की इच्छा तो तुमने पूर्ण कर दी," युधिष्ठिर बोले, "किंतु उसके लिए मूल्य किसने चुकाया ? इन सैनिकों ने ? तुम पांचाली की कामना पूर्ण कर सको, इसके लिए इतने लोगों को अपने प्राण देने पड़ेंगे क्या ?"

"ओह ! ये लोग… !" भीम के स्वर में कहीं कोई पीड़ा नहीं थी, "पता नहीं, कैसे अबोध सैनिक हैं ये ! सीधे ही मेरी हत्या करने आ गए और उनका वह नायक…" भीम की दृष्टि, नायक पर जाकर ठहर गई, "हाँ वह नायक ! इसने इन्हें मेरे वध का आदेश दिया।…मुझे अपनी रक्षा तो करनी ही थी।…"

नायक सहम कर पीछे हट गया…उसे अब भी भय था कि कहीं भीम उसपर आक्रमण न कर दे।

"डरो नहीं नायक !" युधिष्ठिर ने कहा, "किंतु तुमने अपने सैनिकों को मध्यम पांडव के वध का आदेश क्यों दिया ?"

"प्रथम तो इन्हें यहाँ आने की ही अनुमति नहीं थी; किंतु इन्होंने बलात् अपने खड्ग के बल पर, हमारी सीमाओं का अतिक्रमण किया।" नायक बोला, "और जब मैंने इन्हें बताया कि यह सरोवर धनाध्यक्ष कुबेर की संरक्षित संपत्ति है; और इन्हें सरोवर में जाने का कोई अधिकार नहीं है, तो इन्होंने राजा के आदेश की चिंता किए बिना, पुष्पों का अपहरण आरंभ कर दिया। ऐसे में बल-प्रयोग तो करना ही पड़ता है।…"

"यह सार्वजनिक स्थान है।" भीम ने बलपूर्वक कहा, "कुबेर को किसी को रोकने का कोई अधिकार नहीं है। और यदि वह चाहता है कि पुष्प लेने से पहले प्रत्येक व्यक्ति उसकी अनुमति ले, तो ऐसी व्यवस्था तो होनी ही चाहिए कि अनुमति प्राप्त की जा सके। यह क्या नियम हुआ कि अनुमति के अभाव में पुष्प नहीं

ले सकते; और अनुमति देनेवाला कोई हो ही नहीं।..."

युधिष्ठिर ने मन-ही-मन कुछ क्षण विचार किया और बोले, "नायक ! तुम चाहो तो धनाध्यक्ष को यह सूचना भेज सकते हो कि हम चार पांडव और हमारी पत्नी पांचाली—कुछ दिनों तक इस सौगंधिक सरोवर के तट पर निवास करना चाहते हैं। यदि वे अनुमति नहीं देंगे, तो हम यहाँ से चले जाएँगे; किंतु उनका उत्तर आने तक हमें यहाँ ठहरने की अनुमति दो। मैं यह वचन देता हूँ कि धनाध्यक्ष की यह संपत्ति सुरक्षित रहेगी। हममें से कोई अब इसका एक सौगंधिक पद्म भी नहीं तोड़ेगा। हमें इस सौगंधिक क्षेत्र में श्वास लेने का और इस सरोवर एवं सहस्रदलों के दर्शन का सुख लेने दो। हमारी उपस्थिति मात्र से किसी की संपत्ति की कोई क्षति नहीं होगी।"

नायक ने भीम की ओर अर्थ भरी दृष्टि से देखा।

"नहीं। भीम की ओर से निश्चित् रहो। तुम बल-प्रयोग नहीं करोगे, तो यहाँ कोई उपद्रव नहीं होगा।"

नायक ने अपने सैनिकों को एक मूक संकेत किया; और वहाँ से हट गया।

"मध्यम !" युधिष्ठिर बोले, "तुम इसे सार्वजनिक संपत्ति मानते हो; किंतु यहाँ का राजा, इसे अपनी संपत्ति मानता है। क्या उसे इसका अधिकार नहीं है? यदि इंद्रप्रस्थ में यमुना-तट पर के हमारे क्रीड़ा-क्षेत्र को कोई सार्वजनिक संपत्ति माने तो ?"

"मैंने तो पुष्प लेने की अनुमति माँगी थी।" भीम ने सहज भाव से कहा।

"तुमने अनुमति माँगी थी, किंतु अपनी व्यवस्था के अनुसार। उनकी व्यवस्था के अनुसार नहीं।"

"हाँ। अव्यवस्था अथवा अनर्गल व्यवस्था का विरोध करने का हमें पूरा-पूरा अधिकार है।" भीम ने उत्तर दिया, "यह व्यवस्था नहीं, अन्याय है। क्षत्रिय ऐसे अन्याय को सहन कर जाए, तो अपने तेज की रक्षा कैसे करेगा।"

"अन्याय का विरोध करना धर्म है और अपनी इच्छा को व्यवस्था पर आरोपित करना, अधर्म !" धर्मराज ने उसकी ओर देखा, "पहले अपने शुद्ध मन से पूछकर अपने विवेक के सम्मुख यह निर्णय करो कि तुम्हारे मन में काम था या न्याय ! तुम अपनी प्रिया की कामना-पूर्ति का प्रयत्न कर रहे थे अथवा न्याय की स्थापना का प्रयत्न ! तुम्हें अपनी प्रिया की कामना-पूर्ति का सुख मिलता है; किंतु उस सुख को प्राप्त करने के लिए, इस प्रकार नर-संहार करने का तुम्हें क्या अधिकार है।"

"तो क्या मैं कुबेर की ऐसी अनर्गल और तर्क-शून्य व्यवस्था भी मान लेता ?" भीम चकित था।

"हमें चाहे आत्मदमन करना पड़े; किंतु नृशंस होने का अधिकार हमें नहीं

है, मध्यम !" युधिष्ठिर बोले, "तुम अपनी तेजस्विता में भूल गए कि ये सैनिक भी अपने धर्म का ही निर्वाह कर रहे थे, जिनका वध तुम्हारे हाथों हो गया ! ...यदि पांचाली को सौगंधिक पुष्पों के लिए कुछ प्रतीक्षा करनी ,पड़ती अथवा उसे वे पद्म न ही मिलते, तो उतनी बड़ी हानि नहीं होती, जो इस नर-संहार से हुई।"

"किंतु, ये सैनिक मेरी हत्या करने आए थे।" भीम ने कुछ उत्तेजित स्वर में कहा।

"हाँ ! विवाद को इस स्थिति तक लाने का कुछ दायित्व इन सैनिकों के नायक का भी है, जिसने बिना यह समझे हुए कि जिस पर वह आक्रमण कर रहा है, वह कैसा योद्धा है, अपने सैनिकों को आक्रमण करने का आदेश दे दिया। ...किंतु उनके अधिकारों का अतिक्रमण, तुम्हारी ओर से हुआ है। तुम्हें इस सरोवर पर कुबेर का अधिकार मानना चाहिए था; और उनकी अनुमति के बिना, वे सौगंधिक पुष्प नहीं लेने चाहिए थे। तुम समर्थ हो, इसका अर्थ यह नहीं है कि तुम दूसरों के अधिकारों का सम्मान नहीं करोगे। यदि सामर्थ्यवान लोग नियमों का सम्मान नहीं करेंगे, तो संसार में व्यवस्था कैसे चलेगी। असाधारण को भी संसार में साधारण के समान जीना सीखना चाहिए...।"

भीम ने कोई उत्तर नहीं दिया। उत्तर देना चाहिए, यह बात उसे सूझी ही नहीं। उसके मन में तो उसका अपराह्न की निद्रा में देखा गया स्वप्न चल रहा था...पवन-पुत्र हनुमान जैसा असाधारण वीर कैसा साधारण-सा, निरीह वानर बना, बीच मार्ग में धरती पर लेटा था...

27

सौगंधिक क्षेत्र में ठहरे हुए पांडवों को एक सप्ताह बीत गया। युधिष्ठिर के मन में कहीं यह धारणा थी कि इन सारी घटनाओं को सुनकर और यह जानकर कि चक्रवर्ती सम्राट् युधिष्ठिर उनके सौगंधिक सरोवर के तट पर ठहरे हुए हैं, कदाचित् कुबेर अतिथि-सत्कार अथवा सभ्य-जनोचित व्यवहार की दृष्टि से एक बार अवश्य उनसे भेंट करने आएँगे।...किंतु न कुबेर स्वयं आए, न उनका कोई समाचार ही आया।

"मेरा विचार है कि अब हमें लौट चलना चाहिए।" युधिष्ठिर ने अपने भाइयों और द्रौपदी के सम्मुख प्रस्ताव रखा।

"कुबेर से भेंट किए बिना ?" द्रौपदी ने कुछ आश्चर्य से पूछा, "हम उनके क्षेत्र में आए। उनके सौगंधिक सरोवर के तट पर रहे। और अव उनसे मिले बिना, उनकी प्रतीक्षा किए विना, लौट चलें ?"

"हमने एक सप्ताह, उनकी प्रतीक्षा ही तो की है।" युधिष्ठिर बोले, "हम अनिश्चित् प्रतीक्षा तो नहीं कर सकते। उधर अर्जुन के देवलोक से लौटने का भी समय निकट आता जा रहा है। मैं चाहता हूँ कि हम लोग गंधमादन पर्वत पर ही, अर्जुन की प्रतीक्षा करें। यदि हमें गंधमादन पर्वत तक जाना ही है, तो धनाध्यक्ष की प्रतीक्षा यहाँ क्यों करें ? गंधमादन के निचले क्षेत्र में ही तो राजर्षि आर्ष्टिषेण का आश्रम है। उसी के आगे कुबेर-भवन है। हम उनसे वहीं भेंट कर लेंगे।"

"मैं कुवेर के साक्षात्कार के लिए बहुत आतुर नहीं हूँ।" द्रौपदी बोली, "किंतु, यह जो व्यवहार उन्होंने हमारे साथ किया है...यह क्या सम्मानजनक है ? धर्मराज उनके द्वार पर आए हुए हैं, यह जानकर भी अगवानी-हेतु आना तो दूर, अपने प्रासाद में बैठे-बैठे एक निमंत्रण तक भी नहीं भिजवाया कि हम ही उन तक जा सकें।"

"आतिथ्य करना, न करना तो आतिथेय की अपनी इच्छा पर होता है।" युधिष्ठिर बोले, "उसके लिए हम किसी को बाध्य तो नहीं कर सकते पांचाली !"

"बाध्य करने की क्या बात है," नकुल धीरे से बोला, "आपने मध्यम को न रोका होता, अपनी ओर से अभय देकर शांति स्थापित न करवा दी होती, तो धनाध्यक्ष अपने दर्शन देने अवश्य आते।"

"माद्रेय ठीक कह रहे हैं। वह तो हो ही गया होता।" द्रौपदी ने कहा, "किंतु मैं एक अन्य बात कह रही हूँ। हम उनके दर्शनों से कृतकृत्य हो गए होते—ऐसा भी नहीं है; किंतु क्या वे अपने व्यवहार से हमारा अपमान करने का प्रयत्न नहीं कर रहे ? वे हमारी उपेक्षा नहीं कर रहे ? हमें उनका आतिथ्य नहीं चाहिए, किंतु हमें अपना सम्मान तो चाहिए।"

"मैं पांचाली से सहमत हूँ।" भीम ने कहा, "यदि धर्मराज यहाँ से चलना ही चाहते हैं, तो चलें; किंतु नर-नारायण आश्रम में लौटने के स्थान पर, हम यहीं से गंधमादन पर्वत की ओर क्यों नहीं चलते ? कुबेर हम तक नहीं पहुँच पा रहे, तो हम ही उन तक जा पहुँचेंगे। उनके दर्शन कर लेंगे, उनका सम्मान भी हो जाएगा; और हम अपने सम्मान की रक्षा भी कर लेंगे।"

"नहीं मध्यम !" युधिष्ठिर भीम की चंचलता और चातुरी पर मुस्कराए बिना नहीं रह सके, "यह संघर्ष का मार्ग है। हमें अपने सम्मान की रक्षा करनी है; किंतु हमें धनाध्यक्ष की मर्यादा की भी रक्षा करनी है।" वे कुछ रुककर बोले, "मेरी भी इच्छा थी कि वे यहाँ आते और हमसे भेंट करते।...किंतु मैं इस तथ्य की अवहेलना नहीं कर सकता कि हमने उनके क्षेत्र का अतिक्रमण किया है; और हमारे हाथों उनके अनेक सैनिक मारे गए हैं। ऐसे में आवश्यक नहीं कि वे आकर हमारा सत्कार करें या हमें अपने प्रासाद में निमंत्रित करें। उन्होंने हमारे यहाँ रहने में आपत्ति नहीं की, क्या यही पर्याप्त नहीं है।...हमें किसी के उपकार को कभी

नहीं भूलना चाहिए; और अपने प्रति किए गए अपकार की सदा उपेक्षा करनी चाहिए; अन्यथा हमारे मन में सात्विक भावों के स्थान पर रजोगुण की वृद्धि होती रहेगी।"

"धर्मराज ठीक कह रहे हैं।" धौम्य मुनि पहली बार बोले, "अन्य व्यक्ति के आचरण की अधिक समीक्षा न कर, हमें अपने आचरण को धर्म-संगत बनाने का ही अधिक प्रयत्न करना चाहिए।"

"ठीक है। मेरा धर्म से कोई विरोध नहीं है।" भीम ने कहा, "किंतु यदि हम धनाध्यक्ष की मर्यादाओं का पालन करते रहे, तो हम अर्जुन से मिलने के लिए गंधमादन पर्वत पर नहीं जा सकेंगे।"

"क्यों ?" सहदेव ने जिज्ञासा की।

"क्योंकि गंधमादन पर्वत पर कुवेर-भवन है।"

"यदि ऐसा हुआ, तो हम गंधमादन क्षेत्र में रुककर अर्जुन की प्रतीक्षा करेंगे।" युधिष्ठिर बोले, "उससे कोई ऐसा विशेष अंतर नहीं पड़ेगा। हम गंधमादन के ऊपर नहीं जा सकेंगे, तो अर्जुन, नीचे आकर हमसे मिल लेगा। इतनी-सी बात के लिए हमें न मन में रोष पालने की आवश्यकता है, न धनाध्यक्ष की मर्यादा नष्ट करने की।"

यह एक प्रकार का आदेश ही था।...युधिष्ठिर के आदेश का उल्लंघन करने की हठ, कोई नहीं कर सकता था। चेहरों के भावों से स्पष्ट था कि युधिष्ठिर का यह निर्णय न भीम को प्रिय था, न द्रौपदी को; किंतु वे युधिष्ठिर का और विरोध करना नहीं चाहते थे।...

वे लोग नर-नारायण आश्रम में लौट आए।...प्रकृति पुनः कुछ कुपित हो गई थी, इसलिए तत्काल आगे बढ़ना संभव नहीं था। इस सारे क्षेत्र में उग्र प्रकृति से भिड़ना समझदारी की बात नहीं थी, यह सबको ही ज्ञात था। बद्री विशाल, सुरक्षित स्थान था। वहाँ अनेक आश्रम थे और तपस्वियों का एक समुदाय, वहाँ उपस्थित रहता ही था। वर्षा, उपल, हिमपात तथा हिम-झंझावातों से रक्षा की व्यवस्था थी। भू-स्खलन और शृंग-पात इत्यादि की घटनाएँ, यहाँ प्रायः नहीं होती थीं।...भीम और द्रौपदी, सौगंधिक-क्षेत्र से नीचे उतर, यहाँ आ जाने से प्रसन्न नहीं थे...यह तो एकदम वैसा ही था कि एक व्यक्ति किसी पर्वत पर चढ़े; और शृंग दो पगों की दूरी पर रह जाए, तो उससे कहा जाए कि नीचे उतरकर, पुनः ऊपर चढ़ेगा, तो उसे शृंग पर पग रखने दिया जाएगा।...सौगंधिक क्षेत्र से गंधमादन की ओर न बढ़कर, बद्री विशाल के मार्ग से वृषपर्वा तथा आर्ष्टिषेण आश्रमों से होकर गंधमादन...

भीम वाहर से लौटा, तो कुटीर में कोई नहीं था। कहाँ गए सब लोग ? आज कहीं जाने की योजना तो थी नहीं···संभव है कि धौम्य मुनि की कुटिया में हों···

भीम धौम्य मुनि की कुटिया में पहुँचा। मुनि वैठे किसी जिज्ञासु ब्राह्मण से चर्चा कर रहे थे···

"आओ मध्यम !" मुनि ने स्वागत किया।

"कुटिया में कोई नहीं था। मैं पूछने चला आया कि सब लोग कहाँ गए हैं ?"

"कुलपति से मिलने गए हैं।" मुनि ने वताया, "उन्हें सूचना दे दें न कि अव ऋतु बदल रही है। प्रकृति अव उतनी क्रूर नहीं रही है। इसलिए हम प्रस्थान करना चाहेंगे···।"

"अच्छा मुनिवर ! मुझे अनुमति दें।"

जिज्ञासु ब्राह्मण उठ खड़ा हुआ। उसने हाथ जोड़े और धौम्य ने आशीर्वाद की मुद्रा में अपना दाहिना हाथ उठा दिया···

भीम ने अव ब्राह्मण को ध्यान से देखा : वह शरीर की आकृति से असाधारण रूप से वलशाली लग रहा था। उसकी मांस-पेशियाँ, उसकी तपस्या की नहीं, व्यायाम अथवा शारीरिक श्रम की कथा कह रही थीं। शरीर इतना सुगठित था कि किसी तपस्वी का हो ही नहीं सकता था। उसने जाते हुए दृष्टि उठाकर, सीधे भीम की ओर देखा भी नहीं था। भीम को लगा कि वह आँखें चुराकर, कतरा कर, निकल गया है···

"यह कौन था ?" भीम पूछे विना नहीं रह सका।

"ब्रह्मचारी है।" धौम्य वोले, "यहीं रहता है।"

"आपके पास ब्रह्म-चर्चा के लिए आया था ?"

"नहीं ! तुम लोगों के विषय में जिज्ञासा कर रहा था। धर्मराज के चरित्र से बहुत प्रभावित है। इसलिए उनका शरणागत होना चाहता है। उनके साथ यात्रा करना चाहता है।"

"धर्मराज तो स्वयं लोमश ऋषि के साथ यात्रा कर रहे हैं।" भीम हँसा, किंतु तत्काल गंभीर होकर, उसने पूछा, "आपने अनुमति दे दी ?"

"नहीं ! अनुमति तो उसने अभी माँगी ही नहीं है। अपनी इच्छा ही प्रकट की है।" धौम्य हँसे, "विचित्र ब्रह्मचारी है।···असुरक्षा के भाव से ग्रस्त है और अपने लिए वैसी सुरक्षा-व्यवस्था चाहता है, जैसी सार्थवह, किसी सार्थ के लिए करता है। पूछ रहा था, तुम लोगों के पास कौन-कौन से शस्त्र हैं; और तुम लोग किस प्रकार का युद्ध कर सकते हो···।"

भीम चौंका···ब्रह्मचारी और शस्त्रास्त्रों की चर्चा···भीम के मन में फिर से उसकी

आकृति घूम गई। वह शरीर किसी तपस्वी का हो ही नहीं सकता। वह तो किसी योद्धा का बलिष्ठ शरीर है। कौन है वह ?...क्या, दुर्योधन का भेजा हुआ, कोई गुप्तचर ? गूढ़-पुरुष ? ?...पर क्या आवश्यकता है दुर्योधन को, गूढ़-पुरुष भेजने की ? वह उनके विषय में सब कुछ तो जानता है; और अभी पांडवों का अज्ञातवास तो आरंभ भी नहीं हुआ है...

भीम अपनी कुटिया में लौट आया; किंतु उस बलिष्ठ तपस्वी को वह भूल नहीं पाया...वह पांडवों के शस्त्रों और उनकी शस्त्र-क्षमता के विषय में जानना चाहता था...दुर्योधन को इसकी आवश्यकता नहीं है। वह पांडवों के शस्त्रों और उनकी शस्त्र-क्षमता के विषय में जानता है...पर और ऐसा कौन है, जिसे पांडवों की शस्त्र-शक्ति के विषय में सूचना चाहिए; और वह उन्हें गुप्त रूप से प्राप्त करना चाहता है...शरणागत बनकर, आश्रित बनकर, निकट रहकर...क्या वह कुबेर का कोई चर है ?...पर कुबेर को भी, इसकी क्या आवश्यकता है ?...

थोड़ी देर में युधिष्ठिर, द्रौपदी और नकुल-सहदेव लौट आए। वे लोग एक प्रकार से, कुलपति से विदा ले आए थे। किंतु अपने साथ चलने वाले ब्राह्मणों को सूचना देने से पूर्व, उन्हें परस्पर बहुत कुछ परामर्श भी करना था। लोमश ऋषि से भी चर्चा करनी थी। आगे की यात्रा और कठिन थी। मार्ग में फलों इत्यादि की बहुत सुविधा भी नहीं थी। ऐसे में साथ चलने वाले जितने अधिक लोग होंगे, उतनी ही कठिनाई होगी।...किंतु साथ चलने के इच्छुक तपस्वियों और ब्राह्मणों को धर्मराज यह कहने में संकोच कर रहे थे कि वे लोग उन्हें साथ ले चलने के लिए उत्साहित नहीं हैं...उनका विचार था कि उन्हें यह संदेश दिया जाए कि वे लोग गंधमादन की यात्रा में उनके साथ न जाएँ। जब वे लोग अर्जुन के साथ गंधमादन से लौट आएँ, तब जो तपस्वी वनवास की अवधि में उनके साथ रहना चाहें—रह सकते हैं।...

भीम का मन अभी धौम्य मुनि की कुटिया में देखे हुए हृष्ट-पुष्ट ब्रह्मचारी की समस्या से मुक्त नहीं हो पाया था...अन्य तपस्वियों को न तो साथ ले चलने में उसकी रुचि थी, और न उनके साथ चलने की कोई चिंता...किंतु वह ब्रह्मचारी...

"ज्येष्ठ !" सहसा उसने युधिष्ठिर को संबोधित किया, "आप कुछ नए और अपरिचित ब्रह्मचारियों को तो साथ लेकर नहीं चल रहे न ?"

"नए ? नए ब्रह्मचारी कहाँ हैं ? तुम किसकी बात कर रहे हो मध्यम ?" युधिष्ठिर ने कुछ आश्चर्य से पूछा।

"मुझे उसका नाम तो ज्ञात नहीं है।" भीम बोला, "किंतु वह असाधारण रूप से हृष्ट-पुष्ट है। उसकी मांस-पेशियाँ, किसी योद्धा के साँचे में ढले हुए शरीर का स्मरण करा देती हैं। वह तपस्वी कम, मल्ल अधिक दिखाई देता है...।"

"तुम जटानन्द की तो बात नहीं कर रहे ? उसका शरीर कुछ ऐसा ही है।" युधिष्ठिर बोले, "यदि तुम उसी की चर्चा कर रहे हो, तो वह मेरे लिए तनिक भी अपरिचित नहीं रह गया है। वह अत्यन्त निष्ठावान तपस्वी है और कठोर तपस्या में विश्वास करता है। जितना कष्ट वह अपने शरीर को देता है, उतना कष्ट कोई विरला ही देगा।"

भीम का मन कह रहा था कि यह वही व्यक्ति है–जटानन्द या जो कुछ भी उसका नाम हो।···वह धर्मराज से पहले ही संपर्क कर चुका है; और उनका विश्वास भी प्राप्त कर चुका है। अब यदि इस समय भीम उसके विषय में किसी प्रकार का संशय प्रकट करेगा, तो धर्मराज उससे यही कहेंगे कि वह व्यर्थ ही एक निर्दोष तपस्वी पर संदेह कर रहा है।···वे इतने सहज भाव से किसी भी व्यक्ति का विश्वास कर लेते हैं कि उनके विश्वासपात्र पर संदेह करने वाला व्यक्ति, स्वयं ही संदेहास्पद हो जाता है। ऐसे समय में वे तनिक भी कूटनीतिज्ञ नहीं हो सकते। बहुत संभव है कि वे जटानन्द को बुलाकर, यही कह दें कि भीम को उस पर संदेह है, इसलिए वह भीम के निकट जाकर, उसका विश्वास प्राप्त करे···

नहीं ! धर्मराज को कुछ भी बताने की आवश्यकता नहीं है। भीम स्वयं ही उस पर दृष्टि रखेगा; और उचित अवसर आने पर स्वयं ही उससे निबटेगा···

•

द्रौपदी अपने कुटीर के समीप की कुसुम क्यारियों के निकट पहुँची ही थी कि किसी बलिष्ठ हाथ ने उसकी कलाई पकड़कर, बाँह मोड़ दी। उसके मुख से अनायास ही एक चीत्कार फूटा···किंतु तब तक कटार जैसा कोई तीक्ष्ण शस्त्र उसकी पीठ में चुभने लगा···

उस व्यक्ति ने फुसफुसाकर कहा, "किसी को सहायतार्थ पुकारोगी, तो कटार को तुम्हारे शरीर के आर-पार कर दूँगा।"

अब तक सारी स्थिति द्रौपदी की समझ में आ चुकी थी। यह व्यक्ति जो भी था, असाधारण रूप से बलिष्ठ था। द्रौपदी के लिए यह संभव नहीं था कि वह अपने बल पर उससे छूट जाती। उसने एक कटार द्रौपदी के शरीर में चुभा रखी थी, और अपने शरीर पर एक प्रकार से भरा-पूरा शस्त्र-भंडार समेट रखा था। यदि द्रौपदी ठीक-ठीक पहचान रही थी, तो ये सारे शस्त्र पांडवों के ही थे। ···यह दुष्ट न जाने क्या चाहता था !···यह कब से उन लोगों पर दृष्टि रख रहा था। कैसा समय चुना था उसने। भीम इस समय स्नान करने गया था। शेष तीनों पांडव धौम्य मुनि की कुटिया में ध्यान कर रहे थे।···वह कुटिया से बाहर निकली ही होगी, कि वह भीतर घुस गया होगा। उसने पांडवों के सारे शस्त्रास्त्रों पर भी

अधिकार कर लिया था। इस समय धर्मराज, नकुल और सहदेव आ भी जाएँ तो उससे युद्ध नहीं कर पाएँगे। फिर उसने द्रौपदी को बाँध रखा था। वे बल-प्रयोग का प्रयत्न करेंगे, तो वह उन्हें धमकी देगा कि वह द्रौपदी को मार डालेगा···किंतु अपनी मृत्यु के भय से द्रौपदी उसके साथ चली तो नहीं जाएगी···

द्रौपदी ने पुनः चीत्कार किया, "मेरी रक्षा करो। देखो, यह दुष्ट मुझे बलात् घसीटे लिए जाता है···।"

"मैं कह रहा हूँ, चुप हो जा।" वह बोला, "नहीं तो यहीं तेरी हत्या कर दूँगा।"

"कर दे हत्या !" द्रौपदी बोली, "मैं मृत्यु के भय से तेरे साथ नहीं चली जाऊँगी।"

"तुझे अपने प्राण प्रिय नहीं हैं ?"

"इतने प्रिय नहीं हैं कि उनकी रक्षा के लिए चुपचाप तेरे साथ चली जाऊँ।"

"मुझे जानती भी है, मैं कौन हूँ।"

"मैं नहीं जानती। जानना चाहती भी नहीं। मेरे लिए इतना ही पर्याप्त है कि तू एक दुष्ट है और मृत्यु का प्रार्थी है।" द्रौपदी ने कहा, "जो अपराध तूने किया है, उसका दंड मिलेगा तुझे ! तू बहुत शीघ्र काल के गाल में समा जाएगा।"

"मैं जटासुर हूँ।" वह अपने स्वर को दबाकर बोला, "कुबेर का अनुगामी हूँ; और कुबेर-भवन की रक्षक वाहिनियों का सेनापति मणिमान मेरा परम मित्र है। एक बार मैं यहाँ से निकलकर उसके पास पहुँच गया, तो कोई मुझे हाथ नहीं लगा सकेगा।···कुबेर-भवन में पहुँचने का अर्थ समझती है तू ?"

"मैं तो एक ही बात समझती हूँ कि तू किसी भवन में जा छिपे, तेरे प्राण नहीं बचेंगे।" द्रौपदी बोली, "मैं वह अग्नि हूँ, जिसका स्पर्श कर, तुझे जलकर क्षार होना ही होगा।"

"नहीं ! वहाँ पांडवों की छाया भी नहीं पहुँच सकती। वहाँ सुरक्षा है, धन और सम्मान है। भोग और विलास है।" वह बोला, "तुझे रानी बनाकर रखूँगा। इन भिक्षुकों के साथ वन-वन भटककर, तुझे क्या सुख मिलेगा ?"

'वे ही सारी दुष्टता भरी बातें," द्रौपदी ने सोचा, "भोग का लोभ और मृत्यु का भय। यह मूर्ख जानता ही नहीं कि यह किसे लोभ दिखा रहा है और किसे भयभीत करने का प्रयत्न कर रहा है।···'

"आर्यपुत्र ! तत्काल आइए।" द्रौपदी पूरे बल से चिल्लाई, "देखिए यह दुष्ट···।"

जटासुर ने कटार की नोक, कुछ और चुभो दी···

किंतु द्रौपदी को और पुकारने की आवश्यकता नहीं थी। अनेक तपस्वी अपने स्थानों से उठकर, उनके आस-पास घिर आए थे। वे लोग जटासुर से भिड़ने का

साहस नहीं कर रहे थे; परंतु पर्याप्त कोलाहल मचा रहे थे। संभवतः उनमें से कुछ तो पांडवों की खोज में इधर-उधर निकल भी गए थे।...ऐसे में यह कैसे संभव है कि धौम्य मुनि की कुटिया तक समाचार नहीं पहुँचता।...उस शारीरिक पीड़ा और मानसिक यातना के होते हुए भी, द्रौपदी के मन में एक प्रकार का विजयोल्लास था।...किंतु उसका अन्तर्मन कहीं यह भी जानता था कि भीम वहाँ नहीं है। वह स्नान करने गया है। पता नहीं किस ओर निकल गया होगा। कहीं किसी रमणीय स्थल पर जल-क्रीड़ा में मग्न हो जाए, तो प्रहर भर वहाँ से हिलेगा ही नहीं। ऐसे में उसे सूचना कैसे मिलेगी...

लगता था, धौम्य मुनि की कुटिया तक सूचना पहुँच गई थी। इधर-उधर भागते हुए लोगों में द्रौपदी ने युधिष्ठिर, नकुल तथा सहदेव को अपनी ओर आते हुए देखा। उनके पीछे-पीछे ही धौम्य मुनि भी भागे चले आ रहे थे...

"रुक जाओ !" उन्हें अपनी ओर आते देख, जटासुर चिल्लाया, "एक डग भी और बढ़े, तो मैं यह कटार इसके शरीर के आर-पार कर दूँगा।"

युधिष्ठिर न केवल स्वयं रुक गये, उन्होंने अपनी भुजाएँ फैलाकर, नकुल और सहदेव को भी रोक लिया।

द्रौपदी का उल्लास खंडित हो गया। स्थिति इतनी अनुकूल नहीं थी, जितनी वह समझ बैठी थी। सर्वप्रथम तो पांडवों के पास एक भी शस्त्र नहीं था, और जटासुर इतने सारे शस्त्र लिए हुए था। शारीरिक शक्ति में भी युधिष्ठिर, नकुल या सहदेव, उसके समतुल्य नहीं थे, कि वे लोग शस्त्रों के बिना ही, उससे भिड़ जाते...और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उसने द्रौपदी को बाँध रखा था। ऐसी स्थिति में पांडव यह साहस नहीं कर सकते थे कि वे उस पर आक्रमण करें और यह अपनी कटार की नोक, द्रौपदी के शरीर में चुभो दे।...

"आर्यपुत्र ! आप इसकी धमकियों से न डरें। आप मुझे मुक्त कराएँ।" द्रौपदी चिल्लाकर बोली, "यह मेरी हत्या नहीं कर सकता।"

"सावधान !" जटासुर चिल्लाया, "कोई दुस्साहस मत करना, नहीं तो यह तो मरेगी ही, तुम सब भी जीवित नहीं बचोगे।"

"यह मेरी हत्या नहीं करेगा।" द्रौपदी पुनः बोली, "पुरुष जिस स्त्री का हरण करता है, उसकी हत्या नहीं कर सकता; और फिर मैं ही तो इसका रक्षा-कवच हूँ। मेरी हत्या कर देगा, तो फिर यह मेरे पतियों के हाथों से बचकर कहाँ जाएगा।"

सहदेव संन्यासियों की भीड़ में से होता हुआ, जटासुर के निकट आ गया था। उसने जटासुर पर छलाँग लगाई और उसके शरीर पर बँधे शस्त्रों में से एक खड्ग खींच ले जाने में सफल हो गया...जटासुर के शरीर पर उस खड्ग का कोश ही रह गया था...जटासुर कुछ चौंका, किंतु इतना सावधान वह तब भी था कि उसने द्रौपदी को अपनी पकड़ से निकलने नहीं दिया...

"देखो वनवासी !" जटासुर की आँखें क्रोध से लाल हो आई थीं, "यदि तुमने मुझ पर आक्रमण किया, तो मैं इस सुंदरी का तो वध कर ही दूँगा।...और फिर मैं तुम में से एक-एक को मार डालूँगा। ऐसी कमनीय स्त्री मेरे हाथ से निकल गई, तो मैं, तुम्हें कभी क्षमा नहीं करूँगा...।"

"ठहरो सहदेव !" युधिष्ठिर बोले, "हम पांचाली के रक्षक हैं। हमें उसके हत्यारे नहीं बनना है। समझ से काम लो। हमें जटासुर से लड़ना नहीं है, उसे समझाना है।" और वे जटासुर से संबोधित हो गए, "देखो जटासुर ! यह अधर्म है। इतना ज्ञान तो तुम्हें भी होगा कि परनारी का इस प्रकार हरण पाप है। यह स्थान तपस्वियों, ऋषियों और मुनियों की भूमि है। यहाँ रहकर तो कोई अपनी पत्नी के प्रति भी काम-भाव को मन में नहीं आने देता...तुम तपस्वियों को क्यों कलंकित कर रहे हो ?..."

युधिष्ठिर की चिरौरी से जटासुर की मुद्रा तनिक भी नहीं बदली; किंतु सहसा युधिष्ठिर की ही सारी उद्विग्नता शांत हो गई...सामने से भीम चला आ रहा था। उसके पीछे-पीछे सहदेव भी था...संभवतः अपनी अवशता को समझकर, सहदेव भीम को ढूँढ़ने चला गया था।

भीम की दृष्टि जटासुर पर पड़ी; और वह सब कुछ समझ गया।...यह वही व्यक्ति था, जो धौम्य मुनि से उन लोगों के विषय में सूचनाएँ एकत्रित कर रहा था। उसे जब पता चला होगा कि पांडव यहाँ से प्रस्थान करने वाले हैं, तो वह और प्रतीक्षा नहीं कर सका और यह दुस्साहस कर बैठा।...मूर्ख कहीं का। यदि यही प्रयत्न वह गंधमादन पर्वत पर करता, तो शायद वहाँ पांडवों को अपना एक भी सहायक न मिलता।...वैसे भीम को सहायकों का करना भी क्या था...वह अकेला ही इससे निबट लेगा...किंतु भीम यह भी तो नहीं कर सकता कि जटासुर पर झपट पड़े।...यदि उसने ऐसा कुछ किया, तो यह दुष्ट पांचाली की हत्या चाहे न करे, उसे पीड़ा अवश्य पहुँचाएगा...और भीम पांचाली को कष्ट में नहीं देख सकता ...बल-प्रयोग से पहले भीम को अपनी योजना पर गंभीरतापर्वूक विचार कर लेना चाहिए...

"जटासुर !" भीम ने बहुत शांत स्वर में कहा, "द्रौपदी संसार का अनमोल नारी-रत्न है। उस पर किसी भी पुरुष का मुग्ध हो उठना स्वाभाविक ही है। इसलिए तुम्हारे इस कृत्य पर मुझे तनिक भी आश्चर्य नहीं हुआ है। पर तुम भी सोचो कि तुम पराई स्त्री पर मुग्ध होकर उसका अपहरण करना चाहते हो, तो मैं पति होकर, अपनी पत्नी का इस प्रकार हरण कैसे देख सकता हूँ।"

"तो क्या चाहते हो ?" जटासुर ने जैसे किसी संधि की अपेक्षा की।

"चाहता क्या हूँ। वही चाहता हूँ, जो प्रत्येक पति चाहता है। संसार की अन्यतम सुंदरी नारी–जो मेरी पत्नी भी है–को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ। उसके मन को जीतना चाहता हूँ। उसे स्वयं में अनुरक्त करना चाहता हूँ। उसे बताना चाहता हूँ कि मैं वीर हूँ, योद्धा हूँ, मुझ में जग-जयी पौरुष है; और तू चोर है, कायर है, अपने प्रतिद्वन्द्वी से लड़ने तक का साहस नहीं है तुझमें। जो वीर नहीं, वह नारी के मन को क्या जय कर पाएगा।"

"पांडव !" जटासुर चिल्लाया। उसका स्वर पीड़ा से उत्पन्न हुआ-सा प्रतीत हो रहा था।

"चिल्लाने की आवश्यकता नहीं।" भीम ने शांत स्वर में उत्तर दिया, "तू चाहे तो तू भी सिद्ध कर। मुझ से युद्ध कर। बाहु-युद्ध। शस्त्रों को त्याग और मेरे साथ द्वन्द्व-युद्ध कर। मुझे मार दे और द्रौपदी को ले जा। वह तेरी हो जाएगी। ऐसे चोरों के समान भागेगा, तो एक तो मैं तेरे प्राणों का ग्राहक बना, तेरे पीछे घूमता रहूँगा; और दूसरे, तेरे आधिपत्य में होते हुए भी, द्रौपदी तेरी नहीं होगी। वह कभी तुझे स्वीकार नहीं करेगी। पौरुष है तो युद्ध कर, नहीं तो चोरों के समान भाग जा। हम सब एक कायर चोर को खदेड़ कर, एक घृणित पशु के समान, उसका आखेट करेंगे।..."

जटासुर स्तब्ध खड़ा सोचता रहा...क्या वह भीम की चुनौती स्वीकार करे ?...

"नारी के शरीर पर आधिपत्य का क्या सुख, यदि उसका मन ही तेरे अधिकार में नहीं है।..." भीम पुनः बोला।

"तुम मेरे साथ पाखंड कर रहे हो।" अंततः जटासुर बोला, "मैं शस्त्र त्याग दूँगा, और तुम अपने भाइयों के साथ मिलकर, मुझ पर शस्त्रों से आक्रमण करोगे।"

"अपने समान चोर और कायर समझ रखा है हमें ? ऐसा कायरतापूर्ण कृत्य करूँगा, तो द्रौपदी जैसी नारी मुझसे प्रेम करेगी ? उसका मन जीत पाऊँगा मैं ?" भीम ने क्रोधित होने का नाटक किया, "यह भीम का वचन है, धर्मराज के छोटे भाई, मध्यम पांडव का ! कोई शस्त्रों को हाथ नहीं लगाएगा। कोई तीसरा हम दोनों के मध्य नहीं आएगा। मरना तो तुझे है है। साहस है तो वीर के समान मर; नहीं तो पूँछ दबाकर भाग जा। देखता हूँ, तू कितनी दूर तक जीवित भागता है।"

जटासुर विचित्र-से द्वन्द्व में फँस गया था। भीम की बातें सुनकर न उससे भागते बन रहा था, न रुकते। वह द्रौपदी पर मात्र आधिपत्य ही नहीं चाहता था, वह उस पर अधिकार भी चाहता था। उसके शरीर पर अधिकार, उसके मन पर अधिकार...यदि वह भीम की चुनौती को स्वीकार कर उसका वध कर दे, तो द्रौपदी उसकी होगी...भीम के वचनानुसार भी और परिस्थितियों के अनुसार भी।

भीम की मृत्यु हो गई, तो उससे द्रौपदी को कौन छीन सकेगा।...और सत्य कहता है भीम ! उसने हिडिंब का वध किया था...हिडिंबा ने अपनी आँखों के सम्मुख अपने भाई का वध देखा था और वधकर्ता की वीरता पर मुग्ध होकर, उसके सम्मुख आत्म-समर्पण कर बैठी थी।...शायद ऐसा ही होता है स्त्री का मन। वह बल और साहस पर मुग्ध होती है...और स्त्री उसी की होती है, जिस पर उसका मन मुग्ध हो—पत्नी वह किसी की भी क्यों न हो। परकीया के प्रेम की तीव्रता को कौन नहीं जानता।...उसमें बल भी है और साहस भी...द्रौपदी इस समय उसके आधिपत्य में है; किंतु वह उसकी नहीं है। वह उसकी भुजाओं से मुक्त होने के लिए तड़प रही है...भीम की इस चुनौती को स्वीकार कर, उसे अपने बल और साहस के प्रदर्शन का अवसर मिलेगा।...द्रौपदी देखेगी कि संसार में भीम से भी अधिक बलशाली और साहसी ही नहीं, युद्ध-कुशल पुरुष भी हैं।...वह अपने इन पतियों को त्याग, स्वेच्छा से उसका वरण करेगी...उसके पति कहलाने वाले ये पुरुष उसे पुकारते रह जाएँगे और वह अपने अनुराग में बँधी जटासुर के पीछे-पीछे चली जाएगी...

जटासुर का मन जैसे कल्पनाओं का नन्दन-कानन हो गया...द्रौपदी उसकी हो ही नहीं जाएगी, उसके प्रेम में उन्मादिनी-सी, वह उसे पुकारेगी...याचक बन, उसके प्रेम की भिक्षा माँगेगी, स्वेच्छा से आत्म-समर्पण कर स्वयं को कृतकृत्य मानेगी...

जटासुर की पकड़ ढीली पड़ गई।...उसने द्रौपदी को मुक्त कर दिया। शस्त्र भूमि पर डाल दिए और बोला, "आओ !"

द्रौपदी भागकर युधिष्ठिर के निकट आ गई; और भीम कूदकर जटासुर और शस्त्रों के मध्य पहुँच गया।...सहदेव अपना खड्ग खींचकर सावधान हो गया था। यदि जटासुर द्रौपदी की ओर बढ़ा, तो सहदेव, द्रौपदी की रक्षा के लिए कूद पड़ेगा; और यदि वह असुर भीम की ओर बढ़ा, तो वह भीम के साथ जा खड़ा होगा।...

सारा तपस्वी समाज धीरे-धीरे इस प्रकार आगे बढ़ आया था, कि युधिष्ठिर और द्रौपदी, उनके मध्य में आ गए थे। उनके चारों ओर तपस्वियों की प्राचीर-सी बन गई थी।...नकुल ने इस बीच सारे शस्त्रों को अपने अधिकार में ले लिया था...

जटासुर भीम की ओर बढ़ा, और भीम ने अट्टाहस किया, "तूने सोचा था मूर्ख ! कि तू द्रौपदी का हरण कर, कुबेर-भवन में अपने मित्र मणिमान की गोद में जा छिपेगा। वहाँ कोई तुझे हाथ नहीं लगा सकेगा और तू इस पांचाल राज-पुत्री का स्वामी बन जाएगा...अब देख, तुझे मैं यम के भवन में, काल की गोद में सुलाता हूँ ! दुष्ट ! मैंने तुझे धौम्य मुनि से पांडवों के रहस्यों को जानने का प्रयत्न करते

हुए, देख लिया था। मुझे ज्ञात हो गया था कि तू हमारे शस्त्रों में रुचि ले रहा है।·· और तब से मैं जान गया था कि तेरी मृत्यु, मेरे हाथों होनी निश्चित् है··· ।"

नकुल ने युधिष्ठिर को भी उनके शस्त्र पकड़ा दिए थे और अब तीनों भाई, भीम की सहायता के लिए सन्नद्ध खड़े थे···

"नहीं धर्मराज ! उसकी आवश्यकता नहीं है।" भीम तनिक भी चिंतित दिखाई नहीं पड़ रहा था, "एक चोर के वध के लिए आपको कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। आप तो राजा के समान उसके लिए मृत्यु-दंड की घोषणा करें। मैं आपके सेनापति के रूप में उसे कार्यान्वित करूँगा।"

"ठीक है भीम ! तुम इस दुष्ट को इसके अपराध के लिए दंडित करो। मैं इसके लिए, मृत्यु-दंड की घोषणा करता हूँ।"

"देखता हूँ, कौन किसको मृत्यु-दंड देता है।"

तीनों भाइयों को शस्त्र-बद्ध हो, भीम की सहायता के लिए आते देख, जटासुर कुछ भयभीत हो गया था; किंतु अब उसे विश्वास हो गया था कि भीम अकेला ही उससे युद्ध करेगा, वह भी शस्त्रों के बिना। उसका साहस कुछ-कुछ जाग उठा था; और न केवल जीवित रहने की, वरन् द्रौपदी को प्राप्त कर लेने की आशा भी बँधने लगी थी।···

पहला आक्रमण जटासुर ने ही किया; किंतु वह आक्रमण मात्र आवेश में ही किया गया था, उसके पीछे कोई सुनिश्चित योजना नहीं थी। भीम ने उसे रोकने अथवा झेलने का प्रयत्न नहीं किया। वह एक ओर हट गया। जटासुर गिरा तो नहीं; किंतु स्वयं को सँभालने के लिए उसे प्रयत्न करना पड़ा।···भीम जानता था कि यदि जटासुर ने ऐसे ही दो-चार आक्रमण और किए, तो उसकी शक्ति का पर्याप्त क्षय हो जाएगा।···किंतु जटासुर इस समय क्रोध के आवेश में था। वह न कुछ सोच-समझ पा रहा था, और न कोई रणनीति बना पा रहा था। वह तो क्रुद्ध वन्य-शूकर के समान अपने वेग में अपने प्रतिद्वन्द्वी को धकेल कर भूमि पर गिरा देना चाहता था।···दूसरी ओर भीम ने क्रोध का लेश मात्र प्रभाव भी प्रकट नहीं होने दिया था। वह तो जैसे अपने अखाड़े में सुशिक्षित मल्ल के समान क्रीड़ा कर रहा था, जिसे गुरु से सीखी गई, प्रत्येक युक्ति स्मरण थी। वह अपने प्रतिद्वन्द्वी से भयभीत नहीं था; न ही वह तत्काल कुछ कर अपने प्रतिद्वन्द्वी पर त्वरित विजय प्राप्त करने के लिए व्याकुल दिखाई पड़ रहा था। उसका आत्म-विश्वास जटासुर को भयभीत किए हुए था।···

इस बार जब जटासुर दाँत पीसता हुआ, भीम पर चढ़ दौड़ा, तो भीम ने एक ओर हटकर, पार्श्व से उसे धक्का दिया। जटासुर अपने ही वेग में भूमि पर औंधे मुँह गिरा। उसके गिरते ही भीम ने उस पर स्फूर्तिपूर्ण आक्रमण किया। भीम

की ठोकरों से पिटा जटासुर भूमि से उठने का प्रयत्न ही करता रहा; और भीम उसे बार-बार धराशायी करता रहा।

जटासुर ने उठने का प्रयत्न छोड़ दिया और चित् लेटकर, उसने भीम के पैरों को अपने हाथों में थाम लिया। भीम को गिरा लेने के लिए उसे अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ा···किंतु यह तो भीम के गिरने के पश्चात् ही, उसकी समझ में आया कि भीम सोच-समझ कर, योजना के अधीन गिरा था। वह उस पर कुछ इस प्रकार से गिरा था कि जटासुर की दो-एक पार्श्वास्थियाँ तो अवश्य ही चटख जाएँ। अव भीम उसके साथ इस प्रकार गुँथ गया था कि जटासुर के लिए उस पर आघात करना संभव नहीं रह गया था।···और जव उस पर आघत करना संभव नहीं था, तो उससे गुँथे रहने का क्या लाभ ? यह उनका मृत्यु-पर्यत मल्ल-युद्ध था, प्रेमालिंगन तो था नहीं कि वह उससे चिपका ही रहता···

जटासुर उससे पृथक् होने का प्रयत्न कर रहा था और भीम उसे जकड़े हुए था। जटासुर समझ नहीं पा रहा था, कि भीम को इससे क्या लाभ था। इस प्रकार गुँथे रहकर, भीम भी उसकी किसी प्रकार की कोई क्षति नहीं कर सकता था, तो इस प्रकार पड़े रहने का लाभ ?···पर भीम था कि उसे छोड़ ही नहीं रहा था···

किंतु भीम जानता था कि वह क्या कर रहा था। वह दम साधे हुए, जटासुर को जकड़े हुए था; और जटासुर विभिन्न प्रकार से छूटने के प्रयत्न में अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहा था। वह थक रहा था, शिथिल हो रहा था, उसके प्रयत्न क्षीण हो रहे थे।···और अकस्मात् ही भीम उसे छोड़कर उठ खड़ा हुआ। जव तक कि जटासुर को समझ में आता कि वह भीम की भुजाओं से मुक्त हो चुका है, और उठकर खड़ा हो सकता है, भीम ने उछलकर उसके वक्ष पर दोलत्ती दे मारी !

जटासुर के लिए उठना तो दूर, वैठना भी संभव नहीं रहा। वह अनायास ही लेट गया; और भीम कूदकर उसके वक्ष पर खड़ा हो गया··जटासुर को लगा कि उसके वक्ष की कोई अस्थि टूट गई है और वह पीड़ा के कारण युद्ध में एकाग्र नहीं हो पा रहा है।

···भीम के लिए अंतिम निर्णय का क्षण आ गया था। जटासुर की स्थिति अथवा प्रतिक्रिया को देखने का अवकाश नहीं था, भीम के पास ! वह तो जैसे मुष्टिकाओं, कोहनियों, पैरों और घुटनों के प्रवल आघातों के मध्य जटासुर को श्वास लेने का भी समय नहीं दे रहा था।

जटासुर के सारे प्रयत्न शिथिल हो गए थे। उसका अंग-अंग टूट रहा था। उसकी दृष्टि भी कदाचित् ठीक से कार्य नहीं कर पा रही थी। वह समझ नहीं पा रहा था कि भीम कहाँ खड़ा है और कहाँ से आघात कर रहा है।···

सहसा उसने मुख से रक्त वमन किया; और निष्क्रिय होकर लेट गया···

भीम ने जैसे अंतिम प्रहार के रूप में युद्ध-चीत्कार किया और उछलकर, अपने दोनों पैरों से जटासुर के वक्ष पर भीषण ठोकर मारी···

जटासुर का सिर एक ओर लटक गया था। उसके शरीर में प्राणों का कोई लक्षण नहीं था।

बद्रिका आश्रम में पांडव अधिक दिन नहीं टिके। जटासुर वाली घटना के पश्चात् स्वयं युधिष्ठिर का मन वहाँ से उखड़ गया था। वे अब तक यह स्वीकार नहीं कर पा रहे थे कि इतने पवित्र तीर्थ में, तपस्वी समाज में भी ऐसी घटना हो सकती है···वे किस पर विश्वास करें, किस पर न करें। जो व्यक्ति, सबसे अधिक निष्ठावान तपस्वी लगता था, वही सबसे अधिक दुष्ट निकला।···उन्हें मनुष्य की पहचान नहीं है क्या ? या फिर वह व्यक्ति सचमुच निष्ठावान तपस्वी ही था, किंतु द्रौपदी का रूप देखकर उसकी हीन वृत्तियाँ जाग्रत हो उठीं और वह तपस्या-भ्रष्ट हो गया।···क्या यह भी युधिष्ठिर की ही भूल थी कि वे द्रौपदी जैसी असाधारण सुंदरी नारी को तपस्वियों की भूमि में ले आए ? यदि एक जटानन्द, जटासुर बन सकता है, तो अन्य अनेक लोग भी इसी प्रकार वासना का ग्रास बन सकते हैं।···युधिष्ठिर को उनके सम्मुख इतना आकर्षक प्रलोभन रख, उनकी तपस्या की परीक्षा नहीं करनी चाहिए थी।···पर उनका एक दूसरा ही मन यह मानता था कि यह तीर्थ-भूमि है। यहाँ जो लोग आए हैं, वे अपनी कामनाओं और वासनाओं को त्याग कर आए हैं; और सांसारिकता को जीतने का प्रयत्न कर रहे हैं। उनके लिए स्त्री और पुरुष शरीर का कोई भेद नहीं होना चाहिए। सत्य तो यह है कि उनका ध्यान शरीर पर होना ही नहीं चाहिए। वे इतना तो जान ही चुके हैं, कि इस शरीर का निर्माण, उनकी आत्मा ने नहीं, उनकी कामनाओं और वासनाओं ने किया है···वे अपनी कामनाएँ और वासनाएँ त्याग देंगे, तो उनकी आत्मा शरीर धारण नहीं करेगी···और आत्मा तो निर्लिंग है, वह स्त्री और पुरुष का भेद नहीं रखती···

वे लोग राजर्षि वृषपर्वा के आश्रम से होते हुए श्वेत पर्वत तथा माल्यवान पर्वत को लाँघते हुए, गंधमादन क्षेत्र में राजर्षि आर्ष्टिषेण के आश्रम में आ पहुँचे थे। ऋषि-शिष्यों ने उनका पर्याप्त सत्कार किया था, उनके लिए सुविधाजनक कुटीरों का प्रबंध कर दिया था, उन्हें भोजन करवा दिया था; किंतु राजर्षि के दर्शन वे अभी तक नहीं कर पाए थे।···

संध्या समय ऋषि ने उन्हें बुलवा भेजा। युधिष्ठिर, अपने भाइयों तथा द्रौपदी के साथ उनके कुटीर में पहुँचे तो आर्ष्टिषेण अपने आसन पर प्रसन्नमुख विश्राम

करते दिखाई दिए।

"आओ धर्मराज !"

पांडवों ने उन्हें प्रणाम किया।

"कैसे हो युधिष्ठिर ?" ऋषि ने पूछा, "इस ओर कैसे आना हुआ ?"

"लोमश ऋषि हमें अपने साथ ले आए।" युधिष्ठिर बोले।

"वे तो ले आए; किंतु तुम्हारे मन में भी तो कोई प्रयोजन रहा होगा।"

"वनवास के समय में मन को विक्षिप्त होने से बचाने के लिए, तथा सुख-शांति से समय व्यतीत करने के लिए, हमें तीर्थ-यात्रा ही सबसे उत्तम साधन प्रतीत हुआ ऋषिवर !" युधिष्ठिर ने कहा, "इस दिशा में आने का एक और विशेष प्रयोजन भी है।"

"क्या ?"

"हमारा भाई अर्जुन, वर्षों के पश्चात् देव-लोक से लौट रहा है। हम उसकी अगवानी करने आए हैं।" युधिष्ठिर बोले, "हम इंद्रप्रस्थ में होते, तो बात और थी। इस समय हमारा कोई स्थायी निवास-स्थान तो है नहीं। ऐसे में किसी भी वन में उसके आने की प्रतीक्षा करने से, हमें यही उत्तम लगा कि उसके देव-लोक से उतरते ही, हम उससे भेंट करें।..."

"यह तो बहुत उत्तम विचार है युधिष्ठिर !" ऋषि बोले, "भाइयों में ऐसा प्रेम तो होना ही चाहिए।"

"एक और प्रयोजन भी है महर्षि !"

"वह क्या है पुत्र ?"

"जब गंधमादन क्षेत्र में आ ही गए हैं, तो गंधमादन पर्वत के कुबेर-भवन तक जाकर धनाध्यक्ष कुबेर के दर्शन भी कर लिए जाएँ।" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "हम लोग उनके सौगंधिक सरोवर पर भी गए थे; किंतु वहाँ उनसे भेंट न हो सकी। उनके चरों ने हमें वहीं से आगे, गंधमादन पर नहीं जाने दिया। कहा कि उधर से मार्ग नहीं है। इसलिए हमें बद्रिकाश्रम लौटकर, राजर्षि वृषपर्वा के आश्रम से होते हुए, यहाँ आना पड़ा। अब आगे...।"

ऋषि ने युधिष्ठिर को आगे नहीं बोलने दिया। उन्होंने मध्य में ही कहा, "तुम ठीक स्थान पर आ गए हो पुत्र ! कुबेर के दर्शनार्थ, मानवों के लिए यही स्थान सर्वोत्तम है। यह गंधमादन क्षेत्र है। इसके आगे गंधमादन पर्वत है। गंधमादन पर्वत पर जाने की हमें अनुमति नहीं है। किसी मानव को नहीं है। वहीं से होकर मार्ग आगे देवलोक तक जाता है। मुझे तो आश्चर्य है कि अर्जुन देव-लोक तक कैसे पहुँच गया। यहाँ से आगे तो कोई मानव जाता ही नहीं।"

" 'कोई मानव नहीं जाता' से क्या अभिप्राय है ऋषिवर !" भीम सहसा ला, "अर्जुन गया है। हम भी जाएँगे। आप अनुमति दें तो कल प्रातः ही हम

प्रयाण करें। संध्या तक आपके चरणों में लौट आएँगे।"

"नहीं, मध्यम पांडव !" ऋषि मुस्कराए, "क्या नाम है तुम्हारा–भीमसेन ?"

"हाँ महर्षि !"

"तो पुत्र ! तुम ऐसा दुस्साहस मत करना। इस क्षेत्र में आकर इस प्रकार की उच्छृंखलता की बात कोई नहीं सोचता। मन की चंचलता को शांत करो : और धर्म का पालन करो। तुम्हारा धर्म इसी में है कि कुबेर की मर्यादा की रक्षा करो।"

"यदि हम धनाध्यक्ष कुबेर के दर्शन करना चाहें, तो उससे धनाध्यक्ष की मर्यादा भंग हो जाएगी ?" भीम हँसा, "महर्षि ! हम आपके दर्शन करने आए, तो आपकी मर्यादा भंग हो गई क्या ?"

"मेरी बात और है पुत्र ! मैं एक वनवासी तपस्वी हूँ। मेरे पास न अपना कोई काम है, न मिलनेवालों की भीड़। वे धनाध्यक्ष हैं, इसलिए उनके पास सहस्रों कार्य हैं। दर्शनार्थी भी बहुत आते हैं। स्मरण रखो कि वे धनाध्यक्ष ही नहीं, धनदाता भी हैं।" वे रुके, "और फिर पुत्र ! तुम पूर्वाह्न में ही यहाँ पहुँच गए थे; किंतु मुझसे भेंट करने के लिए, संध्या तक तुमने प्रतीक्षा की ! तुमने मेरी मर्यादा की रक्षा की।...वैसे ही धनाध्यक्ष की मर्यादा की भी रक्षा करनी पड़ती है।"

"तो हम धनाध्यक्ष के दर्शन नहीं कर सकते ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"क्यों नहीं कर सकते।" ऋषि मुस्कराए, "पर्व-संधियों पर धनाध्यक्ष यही अपने दर्शन देते हैं। तुम लोग सुखपूर्वक यहीं रहो। धर्म का पालन करते हुए, साधना में मन लगाओ। उचित अवसर पर धनाध्यक्ष स्वयं ही तुम्हें दर्शन देंगे।"

युधिष्ठिर कुछ देर तक मौन रहे। फिर धीरे से बोले, "जैसी आपकी आज्ञा ऋषिवर ! हम यहीं प्रतीक्षा करेंगे।"

"यहाँ तुम्हें -कोई कष्ट नहीं होगा। प्रकृति ने सारी सुख-सुविधाएँ दे रखी हैं। मनुष्य के शरीर के पोषण तथा मन की शांति के लिए पर्याप्त साधन हैं यहाँ। जितने दिन रहना चाहो, रहो। सतत् अध्यवसाय कर, अपना विकास करते रहो।" ऋषि बोले, "वैसे भी पुत्र ! गंधमादन अनेक अर्थो में योग-भूमि है। कुबेर-भवन तपस्या का क्षेत्र नहीं हैं। किन्नर तथा गंधर्व, साधना तो करते हैं, तपस्या नहीं करते। उनकी साधना का पुरस्कार भोग है। वैसे भी धनाध्यक्ष, भोग ही देंगे। धनाध्यक्ष होकर, वे त्याग कैसे दे सकते हैं।..."

"मैं आपकी बात समझ गया ऋषिवर !" युधिष्ठिर ने हाथ जोड़ दिए, "हम वैसा ही करेंगे, जैसा आपने कहा है। हम धनाध्यक्ष की मर्यादा भंग नहीं करेंगे।"

"अच्छा ! जाओ पुत्र ! विश्राम करो !" ऋषि बोले, "मेरा भी, समाधि का समय हो गया है।"

पांडव अपने कुटीर में लौट आए।

युधिष्ठिर सदा के समान शांत थे; किंतु नकुल किसी प्रकार भी स्वयं को रोक नहीं पा रहा था। बोला, "ज्येष्ठ ! आप धर्मराज हैं। धर्म को, आपसे अधिक कौन जानता है; किंतु मैं ऋषि के परामर्श से सहमत नहीं हूँ।"

"क्यों ? क्या हुआ ?" युधिष्ठिर मुस्करा रहे थे।

"ठीक है कि धनाध्यक्ष के पास अकूत धन है। यह भी ठीक है कि उनसे भेंट करने के लिए बहुत लोग आते होंगे।…किंतु जिनसे भेंट करने बहुत लोग आते हैं, वे क्या इस प्रकार व्यवहार करते हैं ?"

"क्या कहना चाहते हो नकुल ?" धर्मराज ने पूछा, "किस बात पर आपत्ति है तुम्हें ?"

"द्वार पर आए, भिक्षुक और सम्राट् में अंतर होता है।" नकुल बोला, "सौगंधिक क्षेत्र से भी कुबेर के साधारण सैनिकों ने आपको लौटा दिया, जैसे आप अति साधारण यात्री हों।…और अब भी सम्राट् युधिष्ठिर को किसी अकिंचन वनवासी के समान कहा जा रहा है कि वह गंधमादन क्षेत्र में रहकर, कुबेर के दर्शनों के लिए साधना करे।…"

"तुम जो कुछ कह रहे हो, मैं उससे बहुत असहमत नहीं हूँ।" युधिष्ठिर मुस्करा रहे थे, "तुम ऐसा सोचते हो, क्योंकि तुम्हें अपने भाई से प्रेम है–तुम मेरा सम्मान करते हो। मेरी अवमानना होते देख, तुम्हें कष्ट होता है।"

"आपको कष्ट नहीं होता ?" सहदेव ने पूछा।

"पहली बात तो यह है कि इस समय मैं सम्राट् हूँ ही नहीं।" युधिष्ठिर बोले, "दूसरी बात, मैं यहाँ विस्थापित सम्राट् के रूप में नहीं, एक साधारण तीर्थ-यात्री के रूप में आया हूँ। सम्राट् की स्थिति न हो, तो मन में सम्राट् का अहंकार रखना अनुचित है। जब मैं सम्राट् के रूप में किसी को कुछ दे नहीं सकता, तो उनसे सम्राट् का-सा सम्मानपूर्वक व्यवहार माँगने का मुझे क्या अधिकार है ?"

"प्रश्न आपके अधिकार का नहीं, उनके व्यवहार का है।" सहदेव ने उत्तर दिया, "महत्व पद का ही नहीं, व्यक्ति का भी होता है। यदि दुष्ट दुर्योधन को कुबेर, सम्राट् के रूप में सम्मानित करें, और आपका साधारण वनवासी के रूप में तिरस्कार करें, तो क्या वे अपनी मर्यादा की रक्षा कर रहे हैं ? कल, जब आप इंद्रप्रस्थ के सिंहासन पर आसीन होंगे और मैं आपके प्रतिनिधि के रूप में आपकी सेना का नेतृत्व करता हुआ यहाँ आऊँगा, तो क्या मैं भूल जाऊँगा कि कुबेर ने हमारे साथ ऐसा व्यवहार किया था !"

युधिष्ठिर मुक्त मन से हँसे। इस प्रकार वे कम ही हँसा करते थे।

"क्या बात है धर्मराज ?" उन्हें इस प्रकार हल्के मन की स्थिति में देख, द्रौपदी को सुखद आश्चर्य हुआ।

"हर समय अपनी महत्ता का इतना बोझ ढोना, वहुत भारी पड़ता है पांचाली !" युधिष्ठिर बोले, "व्यक्ति को कभी सब कुछ भूल कर, साधारण जन भी हो जाना चाहिए। कभी महत्त्वहीन होकर, सृष्टि का एक साधारण अंग होकर भी जीना चाहिए। उससे भार-वहन से थके मन तथा शरीर को विश्रांति मिल जाएगी।"

भीम ने धर्मराज की बात सुनी तो उसका मन भटककर हनुमान की ओर चला गया।…क्या वे भी उसे यही संदेश नहीं दे रहे थे…जो महत्त्वपूर्ण होता नहीं, वह स्वयं को इतना महत्वपूर्ण मानता है; और जो सचमुच महिमावान् है, उसे इसकी तनिक भी चिंता नहीं…

किंतु भीम अधिक देर उस मानसिकता में नहीं रहा।…कुछ ही क्षणों में उसके भीतर का तेजस्वी क्षत्रिय जाग उठा…धनाध्यक्ष ने स्थान-स्थान पर ये क्या प्राचीरें बना रखी हैं, सीमाएँ बना रखी हैं…राज्य तो भीम ने बहुत देखे हैं और राज्यों की सीमाएँ भी होती हैं, किंतु इस प्रकार की बाधाएँ नहीं होतीं, वर्जनाएँ नहीं होतीं…ठीक कह रहा था नकुल…भीम तो भीम ही रहेगा, इंद्रप्रस्थ का राज्य रहे या न रहे…भीम अपनी सेना के साथ दिग्विजय की इच्छा से आया होता, तो कुवेर उसके साथ इस प्रकार का व्यवहार कर पाता ?… और सेना नहीं है तो क्या, भीम तो अब भी वही है। वह अकेला ही अपनी गदा लेकर इस गंधमादन पर्वत पर चढ़ जाए, तो कुवेर भी देख ले कि जिन क्षत्रियों को वह पर्वत के नीचे अनन्त काल तक रोके रखना चाहता है, उनमें कितना बल है ?…

किंतु धर्मराज का कहना है कि यह तपस्या का काल है। वे लोग अपनी आत्मा के विकास के लिए यह तपस्या कर रहे हैं। वे लोग 'आनृशंसता' तथा 'तितिक्षा' का अभ्यास कर रहे हैं। वे अपने अहंकार के विगलन की प्रक्रिया में से गुज़र रहे हैं…ऐसे में बात-बात पर शस्त्र नहीं उठाए जा सकते।…उनका वश चलता, तो शायद जटासुर का वध भी न करने देते…किंतु पांचाली के अपहरण-जैसे अपराध के पश्चात् उसे जीवित छोड़ देना भी उनके वश में नहीं था।…ठीक है, भीम भी थोड़ा अभ्यास कर ले कि चींटियों के काटने को हाथी कैसे सहन कर लेता है; और उस चींटी के प्रति तनिक-सा भी क्रोध मन में नहीं लाता।

प्रातः भीम नहाने के लिए सरोवर-तट पर पहुँचा, तो देखा पांचाली वहाँ पहले से ही वर्तमान थी।

"पांचाली !"

"आओ, मध्यम पांडव !" वह मुस्कराई, "मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रही थी।"

"यहाँ ? यहाँ क्यों ? ?"

"क्योंकि मैं एकांत में तुमसे अपने मन की कुछ बातें कहना चाहती थी।"

"क्या बात है पांचाली ?"

"तुमने सुना था भीमसेन ! उस जटासुर ने क्या कहा था।" द्रौपदी आवेशपूर्ण स्वर में बोली, "उसने कहा था कि एक बार वह गंधमादन पर्वत पर कुबेर-भवन में पहुँच जाए, तो वहाँ उसका मित्र मणिमान है। फिर उसे किसी का भय नहीं रहेगा।"

"हाँ ! कहा तो था उसने !"

"इसका अर्थ यह हुआ कि गंधमादन पर्वत के उस कुबेर-भवन में वे लोग रहते हैं, जो जटासुर जैसे अत्याचारियों को आश्रय देते हैं।" द्रौपदी बोली, "यह तो प्रभु की कृपा हुई कि तुम्हारे हाथों वह मारा गया, नहीं तो मैं इस समय कुबेर-भवन में बंदिनी होती···।"

भीम ने बिना कुछ कहे, सहमति में सिर हिला दिया।

"जटासुर ने मेरा अपहरण किया, उसका दंड तुमने उसे दे दिया," द्रौपदी बोली, "किंतु वह दंड पूरा नहीं हुआ।"

"कैसे ? वह मृत्यु को प्राप्त हुआ। अब मृत्यु से बड़ा दंड और क्या होगा ?" भीम कुछ चकित था।

"जो लोग उस अत्याचारी को संरक्षण देते थे; और यदि वह सफल होकर वहाँ पहुँच जाता, तो उसे पुनः शरण देते, वे लोग तो अभी भी अपने प्रासादों में सुरक्षित बैठे हैं।" द्रौपदी का आवेश बढ़ता जा रहा था, "क्या उनको दंड केवल इसलिए नहीं दिया जाएगा, क्योंकि हमारे वहाँ जाने से धनाध्यक्ष कुबेर की मर्यादा नष्ट होती है ? उसकी क्या मर्यादा है, जिसके संरक्षण में पापी और अत्याचारी पलते हैं ?"

भीम ने एक प्रगाढ़ दृष्टि द्रौपदी पर डाली···वह उसका मंतव्य समझ रहा था···किंतु ऋषि आर्ष्टिषेण ने उन्हें आगे बढ़ने का निषेध किया था। धर्मराज युधिष्ठिर धनाध्यक्ष की मर्यादा भंग नहीं करना चाहते थे; किंतु पांचाली का कथन सत्य था···उस मणिमान के भरोसे ही तो जटासुर ने पांचाली के अपहरण का दुस्साहस किया था···तो मणिमान को दंड क्यों न मिले ?···

"मध्यम !" द्रौपदी पुनः बोली, "खांडव वन में तुम्हारे भाई सत्यप्रतिज्ञ अर्जुन ने गंधर्वों, नागों, राक्षसों तथा देवराज इंद्र को भी युद्ध में आगे बढ़ने से रोक दिया था। बहुत से भयंकर मायावी राक्षस, उनके हाथों मारे गए थे और उन्होंने गांडीव नामक धनुष भी प्राप्त कर लिया था। आर्यपुत्र ! तुम्हारा पराक्रम भी इंद्र के ही समान है। तुम्हारा तेज और बाहुबल भी महान् है। वह दूसरों के लिए दुःसह और दुर्धर्ष है।···"

अपने बल और पराक्रम के विषय में भीम को तनिक भी संदेह नहीं था। द्रौपदी उसे उसके पराक्रम का स्मरण क्यों करा रही थी, यह भी स्पष्ट ही था। अपनी इच्छा के विषय में भी उसे किसी प्रकार का कोई भ्रम नहीं था···किंतु उसकी इच्छा के मार्ग में धर्मराज की अप्रसन्नता खड़ी थी, ऋषि आर्ष्टिषेण का निषेध खड़ा था, कुबेर की मर्यादा खड़ी थी···

"भीमसेन !" द्रौपदी ने अपनी बात आगे बढ़ाई, "मैं चाहती हूँ कि तुम्हारे बाहुबल के वेग से थर्राकर, संपूर्ण राक्षस इस पर्वत को छोड़ दें; और दसों दिशाओं की शरण लें। तत्पश्चात् शिव-स्वरूप इस उत्तम शैल-शिखर को, तुम्हारे सारे सुहृद, भय और मोह से रहित होकर देखें।" द्रौपदी की आमंत्रणमयी दृष्टि उसके हृदय में उतरती जा रही थी, "भीमसेन ! दीर्घकाल से मैं अपने मन में यही इच्छा पाल रही हूँ कि तुम्हारे बाहुबल से सुरक्षित हो, मैं इस शैल-शिखर के दर्शन करूँ।"

भीम के मन के सारे धुँधलके छँट गए थे। द्रौपदी की इच्छा के ताप में ऋषि का निषेध, धनाध्यक्ष की मर्यादा और धर्मराज की अप्रसन्नता–सब धुंध के समान गल गए थे। भीम के मन में प्रकाश ही प्रकाश था। वह जानता था कि उसे क्या करना है···

"ठीक है देवि !" भीम की वाणी, जैसे प्रेम का मूर्तिमान रूप थी, "तुम आश्रम में जाओ। तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी।"

द्रौपदी की दृष्टि में केवल स्नेह और कृतज्ञता ही नहीं, और भी बहुत कुछ था, जिसे भीम ही समझ सकता था।···भीम ही जानता था कि जब द्रौपदी की आँखें कहती हैं कि मैं इस कार्य के लिए संसारभर में केवल तुम्हें ही समर्थ मानती हूँ, केवल तुम पर ही निर्भर हूँ मैं···तो भीम के मन में क्या-क्या घटित हो जाता था।···पति होकर भी उसके भीतर का प्रेमी विलीन नहीं हुआ था। द्रौपदी, पत्नी होकर भी सदा उसकी प्रिया ही रही थी, कांता···यह भीम का ही मन जानता था कि प्रिया का एक अनुरोध, उसे कौन-सा सुख दे जाता था।···उस अनुरोध को पूर्ण करने के लिए, वह क्या नहीं कर सकता था···द्रौपदी की एक दृष्टि, उसमें पर्वतों को उखाड़ फेंकने का सामर्थ्य ही नहीं, उन्माद भी जगा जाती थी।···

भीम ने घट उठाकर द्रौपदी के सिर पर रख दिया। द्रौपदी के हाथों ने उसे सँभाल लिया। उसने नयनों ही नयनों में, निःशब्द कहा, 'चलती हूँ।' भीम की भी आँखें ही बोलीं, 'निश्चिंत होकर जाओ।'

द्रौपदी सहज गति से अपने मार्ग पर चली गई। भीम की दृष्टि दूर तक उसका पीछा करती रही···कितने कष्ट दिए हैं, पांडवों ने पांचाली को ! नहीं तो यह राजकन्या और राजरानी, क्या इस योग्य थी कि इस प्रकार पैदल चलकर सरोवर में नहाने आए, और फिर अपने हाथों मिट्टी के कुंभ में पानी भरकर, अपने हाथों उठा, अपने सिर पर वहन कर, कुटीर तक ले जाए···द्यूत के पश्चात् द्रौपदी

अपने मायके नहीं गई। वह पांडवों से पृथक् रहकर किसी सुख-सुविधा की कामना नहीं करती। वह अपने पतियों के साथ है–सदा-सर्वदा !···और उसके खुले केश उसके साथ हैं···वे खुले केश, भीम को सदा स्मरण कराते रहते हैं कि वे दुःशासन के वक्ष के रक्त की प्रतीक्षा में हैं···क्यों रक्त चाहते हैं द्रौपदी के खुले केश ? क्यों द्रौपदी का अपमान हुआ था। उस अपमान का प्रतिशोध पांडवों ने नहीं लिया, क्योंकि वे धर्म में बँधे थे···किंतु वे उसका प्रतिशोध लेंगे, वे वचनबद्ध हैं···द्रौपदी का अपमान जटासुर ने भी किया और उसे मणिमान का समर्थन उसी प्रकार प्राप्त था, जैसा कर्ण का समर्थन दुर्योधन और दुःशासन को प्राप्त था···तो क्या जटासुर के साथ मणिमान भी दंडित न हो ?···ठीक कहती है पांचाली ! यदि मणिमान न होता, तो कोई जटानन्द, जटासुर न बनता। जटासुर को तो अपना दंड भुगतना ही था; किंतु जटासुरों के निर्माण के लिए उत्तरदायी आततायी मणिमान क्यों सुरक्षित बैठे रहें ? वे क्यों न द्रौपदी के अपमान का मूल्य चुकाएँ ? केवल इसलिए कि वे ऊँचे और महत्त्वपूर्ण पद पर आसीन हैं ? कुबेर के भवन का रक्षक होने के कारण, उसकी कोई मर्यादा नहीं है ?···पांडव तो कुबेर की मर्यादा की रक्षा करें, किंतु कुबेर, पांडवों की मर्यादा की रक्षा क्यों न करे ? वह मणिमान को दंडित करने के स्थान पर, उसे अपनी मर्यादा के कवच-तले, सुरक्षित रखता है···इंद्र, तक्षक नाग की रक्षा करता है; और कुबेर, जटासुर की !···क्या अंतर है दोनों में ?···

भीम के मन में एक उन्माद जागा···वह दुःशासन की भुजा नहीं उखाड़ सका, उसका वक्ष नहीं फाड़ सका···क्योंकि वह धर्म-बंधन में बँधा था।···किंतु मणिमान को वह नहीं छोड़ेगा···और उसकी रक्षा के लिए, कवच-रूप में प्रकट हुई धनाध्यक्ष की इस मर्यादा की भी चिंता नहीं करेगा···

धर्मराज ने भी आगे न जाने का मन बनाया है, क्योंकि ऋषि आर्ष्टिषेण ने ऐसा परामर्श दिया है।···ऋषि तो यह भी मानते हैं कि आगे का मार्ग मनुष्यों के लिए अगम्य है। क्यों अगम्य है ? क्या शीत के कारण ? ऊँचाई के कारण ? वायु की विरलता के कारण ? मनुष्य शीत से अकड़कर मर जाता है ? उस ऊँचाई पर मानव-शरीर में किसी प्रकार का कोई विकार आ जाता है ? अथवा उस वायु में मनुष्य श्वास नहीं ले पाता ?···पर यदि सचमुच वह मार्ग अगम्य होगा, तो भीम उस पर चल नहीं पाएगा···और यदि वह उस मार्ग पर यात्रा कर पाया, तो वह मानवों के लिए अगम्य कैसे हुआ ?···इसलिए, उससे न तो ऋषि के निषेध की अवमानना होगी, न उस पर आधृत धर्मराज के निर्णय की···अर्जुन भी तो उसी मार्ग से गया होगा···और इसी मार्ग से लौटेगा भी। वह भी तो मानव ही है। उसके लिए क्यों यह मार्ग न अगम्य था, न निषिद्ध ?···उसके धनुष के सम्मुख, सारे निषेध विलीन हो गए होंगे···और यदि अर्जुन का गांडीव सारे निषेधों को जय कर सकता है, तो भीम की गदा क्यों नहीं कर सकती ?···

भीम के मन में आनन्द का सहस्रदल खिल आया।…उसकी सारी समस्याओं का समाधान हो गया था। उसकी योजना बन गई थी…

उसका स्नान, जल-क्रीड़ा में परिणत हो गया…वह सरोवर में लहरें उठा रहा था; और उन लहरों को अपने संगी-साथी मानकर, उनके साथ खेल रहा था…

भीम के पग भूमि पर नहीं, वृक्षों पर पड़ रहे थे।

गंधमादन का परीक्षण कर, वह तत्काल समझ गया था कि यक्षों की ऐसी व्यवस्था थी कि पर्वत पर चढ़ने का केवल एक ही मार्ग उपलब्ध हो। शेष सारे पर्वत पर जोखमपूर्ण चढ़ाइयाँ और सघन वन थे। कहीं यम-द्वार के समान भयंकर प्रपात थे।…उस मार्ग पर निश्चित् रूप से उनकी कठोर सैनिक सुरक्षा होगी। यही कारण था कि वह मार्ग मानवों के लिए अगम्य माना जाता था। उस मार्ग से पर्वत पर चढ़ने का अर्थ था, अपने अभियान के आरंभ में ही कुवेर के सैनिकों से भयंकर युद्ध। उनकी संख्या भीम को ज्ञात नहीं थी। वैसे भी वे ऊँचाई पर थे। वे ऊपर से शस्त्रास्त्रों का प्रहार तो अधिक प्रभावी रूप से कर ही सकते थे; इच्छा होने पर वे पाषाण और शिलाएँ भी लुढ़का सकते थे।…इस पर भी यदि भीम उनपर भारी पड़ा, तो वे अपनी सहायता के लिए पीछे से और सैनिक मँगवा सकते थे। …वह मार्ग भीम के लिए यदि अगम्य नहीं भी था, तो भी अत्यन्त संकटपूर्ण था। …यदि हठपूर्वक भीम उनसे जूझ ही पड़ता, तो वे लोग उसे एक लंबे समय तक अटकाए रख सकते थे…तब तक युद्ध का समाचार धर्मराज तथा ऋषि आर्ष्टिषेण तक पहुँचाया जा सकता था।…और यदि वे लोग युद्ध के मध्य में ही आ गए, तो युद्ध को पूर्णता तक पहुँचाना, भीम के लिए भी संभव नहीं होगा…

अंततः भीम ने उस मार्ग से न जाने का निश्चय किया था। उसने अपना अभियान सघन वन में से आरंभ किया था। वन में हिंस्र पशुओं का साक्षात्कार तो हो सकता था, किंतु वहाँ सैनिक नहीं थे। यक्षों ने मान लिया था कि इन वनों में से होकर कोई आ ही नहीं सकता, अतः वहाँ चौकियाँ स्थापित करने की आवश्यकता ही क्या थी ?… और फिर यदि अपने सैनिकों के लिए मार्गों का निर्माण किया जाता, तो उन्हीं का लाभ, उनके शत्रु भी उठा सकते थे।…

भीम ने मुड़कर देखा : वह प्रायः आधी चढ़ाई चढ़ आया था। अब यदि वह वन से निकलकर मुख्य मार्ग पर आ जाता है, और वहाँ सैनिकों से संघर्ष करना पड़ता है, तो उस युद्ध की सूचना, नीचे गंधमादन क्षेत्र के आश्रमों तक नहीं पहुँचेगी।…यक्ष उसकी सूचना अपने नगर तथा अपने राजा को तो देंगे… युद्ध के उस संकट-काल में, वे ऋषि-समाज में यह सूचना प्रसारित करने क्यों

जाएँगे ?...

भीम, प्राचीर के निकट के एक वृक्ष पर चढ़, प्राचीर फॉद कर मुख्य मार्ग पर आ गया...किंतु यह देखकर चकित रह गया कि मार्ग पर कहीं कोई सैनिक तो नहीं ही था, वहाँ कोई साधारण जन भी दिखाई नहीं दे रहा था।...संभवतः कुबेर ने मार्ग के दोनों छोरों पर सुरक्षा की व्यवस्था की होगी और यह मान लिया होगा कि यदि दोनों छोर सुरक्षित हैं, तो उनके मध्य का मार्ग भी सुरक्षित है। निश्चय ही वे इतने युद्ध-नीति-कुशल नहीं थे कि मान सकते थे कि कोई छोरों की अवज्ञा कर, उनके मध्य भी प्रकट हो सकता है...धनाध्यक्ष, सचमुच कुशल सेनाध्यक्ष नहीं हो सकते।

कुबेर-भवन के सम्मुख पहुँचकर भीम को ज्ञात हुआ कि अभी तक जिसे वह एक भवन समझता रहा था, वह पूरा एक नगर था; पर्वत-शिखर के ऊपर बसा हुआ एक नगर। बाहरी भाग में अनेक उद्यान थे। उनके पश्चात् नगर-प्राचीर आरंभ होती थी। प्राचीर में अनेक साधारण द्वार और तोरण बने हुए थे; किंतु आश्चर्य...उनमें कहीं भी रक्षक नियुक्त नहीं थे। अधिकांश स्थानों पर विलास और मनोरंजन का वातावरण था...साधारण यक्षों का मनोरंजन करने के लिए अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं...

सारी स्थिति भीम की समझ में आ रही थी...इस पर्वत-नगर की सुरक्षा का प्रबंध, नीचे गंधमादन क्षेत्र में किया गया था। वहाँ इसे बाहर से आने वाले किसी भी व्यक्ति के लिए भरसक अगम्य बना दिया गया था। जब नीचे से कोई ऊपर आएगा ही नहीं, तो रक्षकों और सैनिकों की आवश्यकता ही क्या है ...

भीम ने घूमकर अनेक भवनों को देखा। मूल्यवान पदार्थों से बने ये भवन आकर्षक थे। दूर, कुछ भवन स्फटिक-शिला के बने हुए थे, जिनके कंगूरों पर सुवर्ण का कुछ काम किया गया था...संभवतः वह धनाध्यक्ष कुबेर का निजी आवास रहा होगा...किंतु भीम को कुबेर से नहीं, मणिमान से भेंट करनी थी।...हाँ ! यदि कुबेर ने उसके और मणिमान के मध्य आने का प्रयत्न किया, तो फिर धनाध्यक्ष से भी निबट लिया जाएगा...

किंतु मणिमान कहाँ होगा ?...

भीम ने एक चतुष्पथ पर खड़े होकर अपना शंख फूँका।

लोगों ने आश्चर्य से देखा...असाधारण रूप से बलिष्ट दिखने वाला एक दीर्घाकार और अपरिचित व्यक्ति नगर के प्रमुख चतुष्पथ पर खड़ा होकर भीषण निनाद करता हुआ शंख फूँक रहा था। वह शस्त्रास्त्रों से सज्जित था; और युद्ध की मुद्रा धारण किए हुए था।...किसी ने जानने का प्रयत्न नहीं किया कि वह कौन था

और क्या करने आया था···जिसके जिधर सींग समाए, अपनी सुरक्षा के लिए वह उधर ही भाग गया ! वह चतुष्पथ, जहाँ अप्सराएँ नृत्य कर ही थीं, कलाकार अपनी कलाओं का प्रदर्शन कर रहे थे, तथा व्यापारी हाट लगाए विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ वेच रहे थे···थोड़ी ही देर में पूर्णतः जन-शून्य हो गया। अव निर्जन चतुष्पथ के ठीक मध्य में, जीवित स्तंभ के समान भीम खड़ा था···

किंतु यह स्थिति अधिक देर तक नहीं रही···कुछ ही क्षणों में किसी अज्ञात योजना के अधीन विभिन्न दिशाओं से अनेक यक्ष सैनिक प्रकट होने लगे। वे सव-के-सव सशस्त्र थे और व्यक्तिगत रूप से न आकर किसी सुगठित तथा संगठित वाहिनी के अंग के रूप में प्रकट हुए थे। उनके पास गदा, परिध, खड्ग, शूल, शक्ति तथा परशु इत्यादि अनेक प्रकार के शस्त्र थे।···उन्होंने एक उचित दूरी वनाए हुए, भीम को चारों ओर से घेर लिया था। उस घेरे के पीछे, एक दीर्घाकार सशस्त्र पुरुष खड़ा था, जो कदाचित् उनका सेनापति था···

"कौन हो तुम ?" उस पुरुष ने पूछा।

"मैं भीम हूँ।"

"भीम कौन ?" उसने पूछा।

"संसार में जितने भीम हैं, क्या तुम उन सबको जानते हो ?" भीम ने प्रश्न किया।

"मेरे प्रश्न का उत्तर दो।" उस व्यक्ति ने क्रुद्ध स्वर में कहा, "अधिक दुष्टता करोगे, तो इसी क्षण तुम्हारा मस्तक धरती पर लुढ़कता दिखाई देगा।"

"और तुम अधिक बकवाद करोगे, तो तुम्हारा मस्तक हवा में उड़ता दिखाई देगा।"

उस व्यक्ति का क्रोध उसके स्वर में प्रकट हो आया, "सैनिको ! इस दुष्ट का वध कर दो।"

सैनिकों ने उसके आदेश का पालन किया। पहला आक्रमण अस्त्रों का हुआ। चारों ओर से शूल और शक्तियाँ उड़ती हुई इस प्रकार भीम तक आईं, जैसे आकाश से पक्षियों का झुंड किसी एक स्थान पर उतर रहा हो। भीम ने अपने धनुष पर मल्ल चढ़ाए हुए थे···उसकी अंगुलियाँ हिलीं और धनुष से छूटकर मल्ल इस प्रकार उन अस्त्रों को नष्ट करने लगे, जैसे कोई सर्प शलभों को खा जाए।···

दूसरे प्रहार के लिए शस्त्रों वाले सैनिक आगे आए। गदा, खड्ग, शूल तथा परशु लिए हुए, उन सैनिकों ने वड़ा सुनियोजित आक्रमण किया था; किंतु इस वार भीम ने अपनी गदा उठा ली थी। वृत्ताकार घूमती गदा, जैसे प्रत्येक क्षण, प्रत्येक सैनिक के सिर पर वर्तमान थी। सैनिकों को लग रहा था कि वे लोग अपने शस्त्रों से जैसे किसी पर्वत पर प्रहार कर रहे हैं, और पर्वत की कठोरता के कारण उनके अपने शस्त्र छिटक-छिटक कर, उनके हाथों से छूटते जा रहे हैं।···और जो

सैनिक स्वयं उस गदा के सामने पड़ गया, वह मात्र अस्थियों और मांस-मज्जा का ढेर हो गया···उसके शरीर के आकार को पहचानना ही कठिन था···

इससे पहले कि उनका सेनापित कोई और आदेश देता अथवा वे लोग कोई नया व्यूह रचते, सैनिकों के पैर उखड़ गए।···वे अपने शस्त्रों के साथ भागे। अनेक ने तो भागने की सुविधा के लिए अपने शस्त्र भी पटक दिए···

उनके सेनापति का मुख क्रोध से विकृत हो उठा। क्रुद्ध तो वह था ही; इस बार उसकी पीड़ा उसकी वाणी में फूटी, "मणिमान् के सैनिको ! अकेले मनुष्य से पराजित होकर पलायन कर रहे हो। अपनी माताओं के दूध को लज्जित करने वालो ! जाओ, भाग जाओ। भागकर कहाँ जाओगे ? अपनी रक्षा की पुकार करने, अपने स्वामी धनाध्यक्ष कुबेर के प्रासाद में ? उन्हें अपना मुख कैसे दिखाओगे ? कदाचित् दिखा लोगे ! निर्लज्ज जो ठहरे।···किंतु क्या कहोगे, एक अकेले साधारण मनुष्य के भय से अपने शस्त्रास्त्र फेंक, मल-मूत्र त्यागते हुए भाग आए हो ?···"

उसके आह्वान पर सैनिक ठहर गए।

"लौट आओ !" वह पुनः बोला, "इस बार तुम युद्ध मत करो। बस खड़े होकर देखो कि मणिमान् को युद्ध करने के लिए तुम्हारी कोई आवश्यकता नहीं है। वह अकेला ही, बड़ी-बड़ी सेनाओं को खदेड़ सकता है। वह बापुरा तो एक साधारण मनुष्य है, जो किसी भ्रमवश धनाध्यक्ष की नगरी में घुस आया है।···"

···तो यह मणिमान् है···भीम सोच रहा था···भाग्य बहुत अनुकूल था भीम का। सीधा मणिमान् ही आन भिड़ा। कदाचित् यह यहाँ की द्वार-रक्षक वाहिनी का सेनापति होगा। तभी तो जटासुर ने कहा होगा कि यदि वह मणिमान् के पास पहुँच जाता, तो सुरक्षित हो जाता···

मणिमान् ने एक शूल उठाया। अपनी भुजा को उसकी पूरी ऊँचाई तक ताना और फिर शूल को भीम की ओर उछाल दिया। भीम की इच्छा हुई कि वह कूद कर परे हो जाए और इस वार को व्यर्थ कर दे···किंतु जाने क्यों, उसने स्वयं ही उछल-कूद का विचार छोड़ दिया और अपने धनुष पर वत्सदंत बाण चढ़ा कर छोड़ दिया।

शूल, बाण सहित धरती पर गिरा, तो क्रोध के मारे मणिमान् के मुख में झाग आ गया···उसके शूल का यह अपमान ! किंतु कोई बात नहीं···शूल हल्का था।···उसने अपनी गदा उठाई और भीम के वक्ष को लक्ष्य कर, पूर्ण वेग से फेंक दी···

भीम ने दूसरा बाण छोड़ा···गदा की दिशा बदल गई और उसका वेग समाप्त हो गया। वह किसी हाँफते हुए असहाय वृद्ध के समान बलात् दो-चार पग चल कर भूमि पर गिर पड़ी।

मणिमान् की आँखें रक्तिम हो उठीं। अपने सैनिकों के सम्मुख उसका यह

अपमान !··उसने एक तीखी और भारी शक्ति उठाई और पूरे बल से फेंक दी, जैसे वह पर्वत को भी छेद देगा··इस बार भीम बच नहीं पाया··शक्ति उसकी दाहिनी भुजा में लगी और रक्त की धारा फूट निकली···

भीम को लगा। जैसे साधारण-सी क्रीड़ा, सहसा गंभीर हो उठी थी।·उसने अभी तक मणिमान् पर कोई गंभीर प्रहार नहीं किया था, किंतु·अब विलंब का कोई कारण नहीं था··भीम, इस मणिमान् को युद्ध में किसी भी प्रकार का कोई यश नहीं लेने देना चाहता था। यह उस पापी जटासुर का सहयोगी था। यह भी पांचाली के अपहरण का अपराधी था। यह दुष्ट कलंकित हो सकता है, गौरवान्वित नहीं हो सकता···

भीम ने खींच कर अपनी गदा दे मारी। जब तक मणिमान् सँभलता, गदा उसके वक्ष पर जा लगी और वह मुख से रक्त वमन करता हुआ, वहीं ढेर हो गया···

अब उसके सैनिकों का रुकना कठिन था। उन्हें अपनी रक्षा की ही चिंता नहीं थी; जाकर राजा को मणिमान् की मृत्यु की सूचना भी देनी थी, तथा इस आक्रमणकारी से कुबेर-भवन की रक्षा की व्यवस्था करने का निवेदन भी करना था।···

मणिमान् और उसके सैनिकों के शवों के मध्य, भीम अकेला खड़ा था। उसकी आँखों में विजय की आभा थी, अधरों पर तृप्ति की मुस्कान, और मन पूर्णतः शांत !··उसने अपनी प्रिया के अपमान का ही प्रतिशोध नहीं लिया था, अपराधियों को आश्रय देनेवाले इस राक्षस को भी दंडित किया था। यह, उन सारे लोगों के लिए चेतावनी थी, जो अपने पद और स्थिति का लाभ उठाकर दुष्ट-दलन के स्थान पर, दुष्ट-पालन करते हैं··शासक ही आततायी पापियों का समर्थन और संरक्षण करने लगेगा, तो प्रजा की रक्षा कौन करेगा ?··इस मणिमान् को बहुत पहले ही मर जाना चाहिए था।···

किंतु यह इस युद्ध का अंत नहीं था !··भीम जानता था कि ये सैनिक अपने अधिकारियों को सूचना देंगे। बात कुबेर तक पहुँचेगी। यह कुबेर का अपना नगर है··अनेक वाहिनियाँ आएँगी और भयंकर युद्ध होगा। अब तो यह समाचार धर्मराज तक भी पहुँचेगा··और पांचाली तक भी !··किंतु भीम को कोई चिंता नहीं थी। उसकी कल्पना में यदि धर्मराज का खिन्न चेहरा उभरा था, तो साथ-ही-साथ पांचाली की प्रसन्न मुद्रा भी··पांचाली की मनोकामना पूरी हुई थी···

युधिष्ठिर ने अपने कुटीर के द्वार पर धौम्य मुनि को खड़े देखा, तो चकित रह गए : थोड़ी देर पहले ही तो वे मुनि की कुटिया से लौटे थे।

"धर्मराज ! मध्यम पांडव इस समय कहाँ है ?" मुनि ने धीरे से पूछा; और उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही बोले, "मुझे कुछ ऐसी सूचनाएँ मिली हैं कि गंधमादन पर्वत पर भयंकर युद्ध चल रहा है। कुवेर के अनेक नगर-रक्षक सैनिक हताहत हुए हैं। यह युद्ध एक असाधारण रूप से दीर्घाकार तथा हृष्ट-पुष्ट मनुष्य के साथ हो रहा है। वह मनुष्य कहीं भीम तो नहीं ?"

युधिष्ठिर की दृष्टि द्रौपदी की ओर घूम गई : भीम पांचाली को बताकर ही गया होगा...

द्रौपदी उस दृष्टि का अर्थ समझती थी। बोली, "हाँ ! मध्यम पांडव, गंधमादन पर्वत की ओर गए तो थे।"

"अपने शस्त्र लो और तत्काल मेरे साथ चलो।" युधिष्ठिर ने खड्ग बाँधते हुए, नकुल और सहदेव से कहा, और द्रौपदी की ओर घूमे, "पांचाली ! तुम यहीं ऋषि आर्ष्टिषेण की कुटिया में ठहरो ! वहाँ तुम्हें कोई भय नहीं होगा। ऋषि लोमश भी थोड़ी देर में आ ही जाएँगे।"

पीछे रुकने की द्रौपदी की तनिक भी इच्छा नहीं थी; किंतु वह साथ चलने का आग्रह नहीं कर सकी...वह धर्मराज के मन को समझती थी...धर्मराज जान गए थे कि भीम ने द्रौपदी की कामना-पूर्ति के लिए ही यह दुस्साहस किया था।... वहाँ युद्ध हुआ था, और कदाचित् अब भी हो रहा था। बहुत संभव है कि यह युद्ध कुछ लंबा खिंचे।...वहाँ द्रौपदी की उपस्थिति, संकट का कारण भी हो सकती है।...और द्रौपदी को युद्ध-क्षेत्र में अपने सम्मुख देखकर भीम कोई असाधारण दुस्साहस भी कर सकता है। द्रौपदी भीम और धर्मराज की प्रकृति का अंतर भी जानती है...भीम की दृष्टि केवल यह देखती है कि द्रौपदी की कामना क्या है; और वह उसे पूर्ण करने में जुट जाता है...धर्मराज देखते हैं कि श्रेय क्या है, धर्म क्या है...उनके लिए कामनाओं का वैसा महत्त्व नहीं है...उनकी उपस्थिति का प्रभाव ही ऐसा है कि उनके सम्मुख विवेक-विरोधी कोई अनुरोध संभव नहीं हो पाता ... ! द्रौपदी को प्रायः लगता है कि भीम उसकी कामनाओं का दास है; किंतु वह स्वयं धर्मराज की इच्छाओं की दासी है। भीम के सम्मुख अपनी कामनाओं, अपने आग्रहों और अनुरोधों को प्रकट करके भी वह उसपर अनुकंपा करती है; किंतु धर्मराज उसकी कामनाओं को धर्मपूर्वक संयत करने में सहायक हो, उस पर कृपा करते थे...

उन्होंने द्रौपदी को ऋषि के कुटीर में छोड़ा और धौम्य मुनि को साथ लेकर, पर्वत पर चढ़ गए।

धर्मराज को मार्ग में किसी प्रकार का कोई अवरोध नहीं मिला। न आरंभ में, न मध्य में, न अंत में। सारी सुरक्षा-व्यवस्था जैसे छिन्न-भिन्न हो चुकी थी।

"सब लोग तो कहते हैं कि इसके आगे का मार्ग मानवों के लिए अगम्य

है।" नकुल ने जैसे सशब्द चिंतन किया, "मुझे तो कहीं कोई अगम्यता दिखाई नहीं दे रही !..."

"इसे अगम्य बनाने वाले यक्ष सैनिक, मध्यम पांडव के हाथ लग गए होंगे।" युधिष्ठिर बोले, "वे सैनिक या तो पलायन कर गए हैं, या ऊपर युद्ध करते अपने सैनिकों की सहायता करने चले गए हैं।"

"मुझे भीम के लिए चिंता हो रही है।" धौम्य बोले।

"आपकी चिंता अपने स्थान पर बहुत उचित है।" युधिष्ठिर ने कहा, "मुझे भी भीम की चिंता है। वह बिना कुछ सोचे-समझे, बिना किसी से चर्चा अथवा परामर्श किए, उठकर शत्रु-सेनाओं में जा घुसता है। शत्रु-नगर, शत्रु-सेनाएँ और अकेला भीम ! यदि अपनी चिंता नहीं है, तो उसे हमारी चिंता तो होनी चाहिए। वह यह भी नहीं सोचता कि उसे कुछ हो गया, तो उसके भाई क्या करेंगे।" युधिष्ठिर क्षण-भर रुके, "दूसरी ओर मुझे चिंता उन गंधर्व और यक्ष सैनिकों की भी है, जो भीम के हत्थे चढ़ेंगे।...उसने सौगंधिक क्षेत्र में भी यही किया था। वह यह सोचता ही नहीं कि एक छोटी-सी बात के लिए वह कितना नर-संहार कर रहा है... ।"

धौम्य कुछ नहीं बोले : ठीक ही तो कह रहे थे धर्मराज ! एक चिंता भाई की थी, एक धर्म और मानवता की। धर्मराज को दोनों से प्रेम था...उन्हें दोनों की रक्षा करनी थी...

गंधमादन पर्वत पर पहुँचकर मुख्य चतुष्पथ तक पहुँचने में युधिष्ठिर को तनिक भी कठिनाई नहीं हुई। ऐसा लग रहा था कि वहाँ दिखाई पड़ने वाला प्रत्येक व्यक्ति मुख्य चतुष्पथ की ओर ही जा रहा था, ताकि दूर से उस मनुष्य को देख सके, जिसने उनके सैनिकों और मणिमान् की हत्या कर दी थी...

चतुष्पथ पर पहुँचकर युधिष्ठिर ने देखा कि श्मशान बने उस चतुष्पथ में भीम अब भी अकेला खड़ा था। उसका शरीर अपने घावो से रिसते रक्त से अनेक स्थानों पर लाल हो रहा था। उसे वह स्थान त्यागने की कोई जल्दी नहीं थी। वह तो कदाचित् स्वयं कुबेर के आने की प्रतीक्षा कर रहा था। वह भयभीत तो नहीं ही था, तनिक-सा सावधान भी नहीं था...

"भीम !"

भीम ने अपने भाइयों और धौम्य मुनि को देखा।

"यह क्या किया तुमने भीम !" युधिष्ठिर खेदपूर्ण स्वर में बोले, "अपने दुस्साहस अथवा मोह में पड़कर, नर-संहार जैसा यह पाप-कर्म, दूसरी बार कर डाला। व्यर्थ इतना रक्त बहाया। हम मुनि-वृत्ति से रह रहे हैं। धर्म के मार्ग पर चल, अपनी आत्मा के विकास का प्रयत्न कर रहे हैं। ऐसे में यह कृत्य हमारे तनिक भी अनुकूल नहीं है। यदि तुम मुझे प्रसन्न रखना चाहते हो, तो भविष्य

में ऐसा नृशंस कार्य कभी मत करना !"

युधिष्ठिर के स्वर की पीड़ा छिपी नहीं थी।

"मैंने जो कुछ किया, वह क्यों किया, यह आपको मैं विस्तार से बताऊँगा। हम मुनि-वृत्ति से रहना चाहते हैं, किंतु कोई रहने दे, तब न ! भगवान परशुराम के शस्त्र धारण करने के भी कुछ कारण थे—वह सब चर्चा, बाद में होगी !..." भीम ने उत्तर दिया, "पहले यह बताइए कि आप लोग पांचाली को अकेली कहाँ छोड़ आए हैं ?"

"उसे ऋषि आर्ष्टिषेण के आश्रम में छोड़, तुम्हारी सहायता के लिए आए हैं।" युधिष्ठिर बोले।

"वहाँ वह सुरक्षित है ?"

"क्यों ? वहाँ वह सुरक्षित क्यों नहीं है ?" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "वह ऋषि आश्रम है; वह तपस्या-भूमि है।"

"ऐसा तो बद्रिकाश्रम में भी था; किंतु वहाँ भी एक जटासुर था।" भीम ने उत्तर दिया, "वैसे गंधमादन क्षेत्र, चाहे ऋषि-भूमि हो, गंधमादन पर्वत पर तो तपस्या का कोई लक्षण नहीं है।"

"हम तुम्हारे लिए चिंतित थे, इसलिए भागते चले आए। तुम्हें पांचाली की सुरक्षा में संदेह है, तो अब शीघ्र यहाँ से चलो।"

भीम के चेहरे पर एक विचित्र मुस्कान आई, "पांचाली की सुरक्षा के विचार से तो मुझे तत्काल यहाँ से चल पड़ना चाहिए; किंतु एक बार युद्ध का आह्वान कर, मैं कायर के समान यहाँ से पलायन नहीं कर सकता। मैं नहीं चाहता कि मुझे खोजते हुए कुबेर, अपने सैनिकों के साथ ऋषि आश्रम में आएँ !...जो होना है, यहीं हो ले !"

"तो तुम कुबेर की प्रतीक्षा कर रहे हो ?" युधिष्ठिर ने चकित होकर पूछा।

"हाँ ज्येष्ठ !"

"तुमने राज-द्रोह तो किया ही है, अब तुम देव-द्रोह भी करोगे ?"

भीम के उत्तर देने से पहले ही उनका ध्यान, दूर से आते हुए वेगवान रथों की ओर चला गया...भीम ने देखा, आगे-आगे आनेवाले अनेक रथ, पीछे से आने वाले एक रथ के लिए मार्ग बनाते हुए, एक ओर हटकर, खड़े हो गए थे। किंतु, वे व्यूह-बद्ध नहीं हो रहे थे, और न ही वे आक्रामक मुद्रा में दिखाई दे रहे थे।

उन सबसे भिन्न एक दीर्घाकार और सुसज्जित रथ आया और रुक गया। उसके सारे प्रतीक राजसी थे। उसमें से, राजसी वेश-भूषा में एक सुंदर और बलिष्ठ पुरुष नीचे उतरा। सैनिकों ने उसका अभिवादन किया, "धनाध्यक्ष कुबेर की

जय हो।"

'तो ये कुबेर हैं...' युधिष्ठिर ने सोचा... 'ये युद्ध-वेश में नहीं हैं। न ही उन्होंने शस्त्रास्त्र धारण कर रखे थे...'

युधिष्ठिर, नकुल तथा सहदेव ने आगे बढ़कर उन्हें प्रणाम किया और धौम्य मुनि ने आशीर्वाद की मुद्रा में हाथ ऊपर उठा दिया।

"धर्मराज युधिष्ठिर !" कुबेर ने कुछ इस प्रकार कहा, जैसे वे युधिष्ठिर को पहचानते ही न हों, उनसे भली प्रकार परिचित भी हों, "यह भीमसेन धर्म को नहीं जानता। इसे अपने बल का बड़ा अभिमान है। इसकी बुद्धि अभी बालकों की-सी है, तथा यह अत्यन्त क्रोधी और निर्भीक है। तुम इसे समझाकर अपने शासन में रखो। इसने मेरा यह दूसरा अपराध किया है। यह यहाँ दुस्साहसपूर्वक आया है। इसे समझाकर, इसका निषेध कर दो, ताकि यह इस अपराध की पुनरावृत्ति न करे... ।"

भीम अब भी दूर ही खड़ा था। उसने अपने शस्त्र भी अभी तक नहीं त्यागे थे।...किंतु क्रमशः उसकी मुद्रा भी बदली। वह धीरे-धीरे कुबेर के निकट आया और उसने भी अपने भाइयों के ही समान उन्हें प्रणाम किया।

"शत्रुओं का मान-मर्दन और सुहृदों का आनन्दवर्धन करने वाले बनो !" कुबेर ने आशीर्वाद की मुद्रा में कहा, "किंतु तुम अधार्मिक न होते हुए भी, बार-बार ऐसी उच्छृंखलताएँ क्यों करते हो ? तुम मेरे रक्षणीय न होते, तो जानते हो परिणाम क्या होता ?"

"मैं आपके द्वारा रक्षणीय क्यों हूँ ?" भीम ने कुबेर द्वारा संकेतित परिणाम जानने में तनिक भी रुचि नहीं दिखाई।

"तुम मुझे नष्ट करने के लिए आक्रमण नहीं कर रहे। तुम इस भूमि पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए युद्ध नहीं कर रहे। तुम मेरे धन तथा मेरे अधिकार का अपहरण नहीं कर रहे। तुम मेरे प्रति पूज्यबुद्धि रखते हो। इसलिए तुम मेरे द्वारा रक्षणीय हो।" कुबेर बोले, "तुम्हारी क्षमताओं का लाभ हम किन्हीं और संदर्भों में प्राप्त करना चाहते हैं; इसलिए न तुमसे संघर्ष करना चाहते हैं, न तुम्हें नष्ट करना चाहते हैं। यक्ष तुम्हें अपना शत्रु नहीं मानते; यद्यपि तुम बार-बार उनका अपराध कर रहे हो।"

भीम ने पुनः हाथ जोड़ दिए, "जब धनाध्यक्ष इतना कुछ जानते हैं, तो उन्हें यह भी जानना चाहिए कि मैंने ऐसा क्यों किया।"

"बताओ ! क्यों किया ?"

"पहली बार लगभग एक पूरे दिन की यात्रा कर मैं आपके सौगंधिक सरोवर पर पहुँचा था। मैं पांचाली की कामना-पूर्ति के लिए कुछ सौगंधिक सहस्रदल चाहता था। आपकी अनुमति-प्राप्त करने के लिए, आपके रक्षक-दल के नायक के सम्मुख

प्रार्थना भी की थी, किंतु उसने अनुमति प्राप्त करने का कोई प्रबंध करने से स्पष्ट मना ही नहीं किया, अपने सैनिकों को मेरा वध करने का आदेश भी दिया। तो फिर आत्म-रक्षा तो मुझे करनी ही थी।"

"और मणिमान् के वध का कारण ?" कुबेर ने शांतिपूर्वक पूछा।

"बद्रिकाश्रम में जटासुर ने पांचाली का अपहरण किया। वह उसे यहीं लाना चाहता था, मणिमान् के आश्रय में।..."

"लाया तो नहीं।" कुबेर ने कहा।

"मैंने लाने नहीं दिया।" भीम ने बलपूर्वक कहा, "किंतु संसार में न तो जटासुर अकेला है, न प्रत्येक पत्नी का पति भीम के समान समर्थ होता है। मणिमान् के न जाने कितने मित्र जटासुर के समान हैं। पाप को प्रश्रय देने के अपराध में मणिमान् का वध आवश्यक था।"

"तो तुम मेरे पास क्यों नहीं आए ?" कुबेर ने कहा, "उसके अपराधों के लिए मैं उसे दंडित करता।"

"आपके पास पहुँचने का प्रयत्न तो हम कब से कर रहे हैं।" भीम ने उत्तर दिया, "किंतु प्रत्येक पग पर निषेध है। आप तक आनेवाला प्रत्येक मार्ग, मानवों के लिए अगम्य घोषित कर दिया गया है। कैसे आते हम आपके पास ?"

"युधिष्ठिर !" कुबेर ने इस बार धर्मराज को संबोधित किया, "तुम्हारा अनुज ठीक कहता है। समर्थ पति अपनी पत्नी और उसके सम्मान की रक्षा के लिए इतना तो करेगा ही। शायद कहीं मेरी व्यवस्था में ही त्रुटि रह गई है।" वे रुके, "अच्छा भीम ! अब तुम्हें मेरी ओर से यह अधिकार है कि मेरे क्षेत्र में तुम जहां भी रहना चाहो, सुख-सुविधापूर्वक रह सकते हो। यक्ष और गंधर्व तुम्हारी सहायता भी करेंगे और सेवा भी ! क्या तुम गंधमादन पर्वत अथवा मेरे प्रासाद में रहना चाहोगे ?"

"नहीं धनाध्यक्ष !" उत्तर युधिष्ठिर ने दिया, "हम वनवास कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में हम किसी नगर अथवा प्रासाद में नहीं रह सकते। हमें तो गंधमादन क्षेत्र में संयमपूर्वक रहकर अर्जुन के लौटने की प्रतीक्षा करने की अनुमति दी जाए।"

"जैसी तुम्हारी इच्छा !" कुबेर बोले, "तुम लोग आर्ष्टिषेण आश्रम में ही सुखपूर्वक रहो ! यक्ष और गंधर्व, वहीं तुम्हारी सेवा करेंगे।"

28

अर्जुन को पहुँचाने के लिए वैजयन्त का रथ आया था।

गंधमादन पर्वत पर वैजयन्त का रथ आए और कुबेर को उसकी सूचना

न मिले, यह संभव नहीं था। कुबेर स्वयं, अर्जुन से मिलने नहीं आए थे; किंतु उसकी यात्रा के लिए आवश्यक सुविधाएँ, उन्होंने उपलब्ध करा दी थीं और यह सूचना भी दे दी थी कि उसके भाई गंधमादन पर्वत के नीचे, आर्ष्टिषेण के आश्रम में उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। ऐसी ही सूचना उन्होंने आश्रम में भी भिजवा दी थी।

पर्वत के नीचे, पांडव, अर्जुन के रथ के अगम्य मार्ग से नीचे उतरने की प्रतीक्षा कर रहे थे। पर्वत-शिखरों पर मेघ घिरे हुए थे और मानवों के लिए अगम्य कहा जानेवाला यह मार्ग, नीचे से दिखाई भी नहीं दे रहा था। ऐसे में जब रथ उन मेघों के मध्य से प्रकट हुआ, तो देखने वालों को यही आभास हुआ कि अर्जुन सचमुच ही आकाश से धरती पर उतर रहा है; और उसके रथ के घोड़े, पृथ्वी पर नहीं दौड़ रहे, मेघों पर पग रखते हुए, अंतरिक्ष में उड़ते हुए आ रहे हैं।...

अपने भाइयों को पहचानकर, अर्जुन ने सारथि को रथ रोकने का संकेत किया। रथ के रुकते ही, वह लपककर रथ से उतरा और उसने युधिष्ठिर के चरण स्पर्श कर, उन्हें प्रणाम किया। वह भीम को प्रणाम कर, उठ ही रहा था और भीम की भुजाएँ उसे वक्ष से लगाने के लिए फैली ही थीं, कि नकुल, अर्जुन को प्रणाम करने के लिए झुक गया। नकुल के पश्चात् सहदेव आया...

"कैसे हो अर्जुन ?"

"आपका आशीर्वाद और प्रभु की कृपा है।" अर्जुन ने उत्तर दिया, "आपको लोमश ऋषि से मेरे विषय में समाचार तो मिल ही गए होंगे।"

"लोमश ऋषि हमारे साथ ही हैं।" युधिष्ठिर ने बताया, "सारे समाचार मिल गए थे कि तुम अपने प्रयत्न में पूर्णतः सफल रहे हो। किंतु हमें मात्र समाचार सुनने की नहीं, तुम्हें साक्षात् अपने सम्मुख देखने की, तुम्हें अपने कंठ से लगाने की उत्सुकता थी। तुम्हारी सफलता को मूर्तिमंत रूप में देखने की तृष्णा थी। ऋषि के शब्दों से सांत्वना तो मिली; किंतु तृप्ति नहीं हुई।"

युधिष्ठिर ने अर्जुन को उसके कंधों से थाम, उसे अपनी भुजाओं की दूरी पर खड़ा कर, जैसे भली-भांति निरखा-परखा : अर्जुन स्वस्थ और प्रसन्न लग रहा था। उसके चेहरे पर भाइयों से मिलने का हर्ष भी था; और सफलता की कांति भी। उसके मस्तक पर बहुमूल्य रत्नों का जाज्वल्यमान किरीट था। शरीर पर वैसे ही आभूषण थे।...किंतु उस किरीट के पीछे जटाएँ थीं, तपस्वी का रूप था...

सहसा सहदेव ने पूछा, "रथ में क्या है भैया ?"

सबकी दृष्टि रथ की ओर चली गई...

"शस्त्रास्त्र हैं।" अर्जुन ने मुस्कराकर कहा, "बहुत सारा भार ले आया हूँ अपने साथ। अब हम जहाँ-जहाँ जाएँगे, इन्हें भी अपने साथ ढोना पड़ेगा।..." उसने

सारथि की ओर देखा, "रथ को आश्रम तक ले चलो। हम आ रहे हैं।..."

"अर्जुन !" युधिष्ठिर ने उसे रोक दिया, "तुम सहदेव को साथ लेकर, रथ में जाओ। पांचाली तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही होगी। हम पीछे-पीछे आ रहे हैं। तब ऋषि को प्रणाम करने के लिए चलेंगे।"

"आइए भैया !" सहदेव ने आग्रहपूर्वक उसकी भुजा थाम ली।

रथ से शस्त्रास्त्र उतरवाने में सारथि की सहायता करने के लिए सहदेव, रथ के निकट ही रुक गया; और अर्जुन ने कुटीर में प्रवेश किया।

द्रौपदी उठकर खड़ी हो गई, "धनंजय !"

"कैसी हो कृष्णा ?" वह उसके निकट आ गया।

द्रौपदी ने अर्जुन का रूप देखा : वह पहले से कुछ क्षीण, किंतु अधिक ऊर्जा संपन्न दिखाई दे रहा था। उसका वर्ण कुछ निखरा हुआ था और चेहरे की आभा निश्चित् रूप से अधिक आकर्षक हो गई थी। माथे पर किरीट था, कंठ में द्युतिमान हीरक-हार ! भुजाओं में केयूर...

सहसा अर्जुन ने अपना किरीट उतारकर द्रौपदी के मस्तक पर रख दिया, "तपस्या में लगा रहा, इस कारण से तुम्हारे लिए कुछ विशेष नहीं ला सका पांचाली !" उसने अपने आभूषण उतारकर द्रौपदी की ओर बढ़ा दिए।

द्रौपदी को रोमांच हो आया। नयनों में हर्ष के प्रतीक, अश्रु आ गए। कंठ रुँध गया। उसने अपना आँचल फैलाकर, वे आभूषण कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किए; और किसी प्रकार स्वयं को संतुलित करती हुई बोली, "अच्छा है, तपस्या में लगे रहे और कुछ नहीं लाए; अन्यथा मेरे लिए दो-चार सपत्नियों का उपहार तो ले ही आते...।"

अर्जुन को, सुभद्रा से विवाह के पश्चात् द्रौपदी से भेंट स्मरण हो आई। ...उसकी इच्छा हुई कि एक अट्टहास उसके कंठ से फूटे और आकाश तक गूँजता चला जाए...नारी की प्रकृति ! इन पाँच वर्षों में पांचाली इस आतंक से त्रस्त बैठी, उसकी प्रतीक्षा करती रही होगी, कि वह उसके लिए और कितनी सपत्नियाँ ला रहा है...

किंतु उसके अधरों से हास नहीं फूटा। वह पहले से भी अधिक गंभीर हो गया, "इस भय को अब सदा के लिए त्याग दो पांचाली ! अब ऐसा कभी नहीं होगा...।"

द्रौपदी, गंभीर बनकर, वर्षों बाद मिला यह अवसर चूकना नहीं चाहती थी, "क्यों, क्या धनंजय वृद्ध हो गए हैं ?" वह रुकी, "हो भी गए हैं तो क्या ? कुरुकुल में ययाति भी हुए हैं और शांतनु भी। वृद्धावस्था उन्हें जीवन के भोग

से तो रोक नहीं सकी।...''

अर्जुन मुस्कराया, "पंचाल राजकुमारी ठीक कहती है। कुरुकुल में ऐसा भी हुआ है, और उसके विपरीत भी कुछ हुआ है। पिता ने जीवन का भोग किया है, तो पुत्रों ने उस भोग का त्याग भी किया है।"

"क्या बात है फाल्गुन !" इस बार द्रौपदी भी गंभीर हो गई, "तुम तनिक भी परिहास-मुद्रा में नहीं हो।"

"विशेष कुछ नहीं कृष्णे !" अर्जुन सहज भाव से बोला, "मैंने कई वर्ष तपस्या की है। उसने जीवन के अनेक नए सत्यों से साक्षात्कार कराया है।..." वह कुछ रुककर बोला, "मुझे लगता है कि किरात के साथ युद्ध के पश्चात् मैंने जब भगवान महादेव का ध्यान किया, तो संभवतः मुझे निर्विकल्प समाधि का अनुभव हुआ, जिसमें महादेव के साक्षात् दर्शन हुए।...यह उनके दर्शनों का अमोघ प्रभाव है, या कुछ और...कह नहीं सकता; किंतु यह सत्य है कि शरीर का आकर्षण ही नहीं, उसका बोध ही जैसे व्यर्थ लगने लगा है।..."

"क्या ?"

"इसकी अनुभूति मुझे तब हुई, जब उर्वशी ने आकर आत्मनिवेदन किया।" अर्जुन बोला, "मुझे लगा, मनुष्य का यह जीवन, भोग के इस निम्न स्तर पर, व्यय करने के लिए नहीं है। उसका उद्देश्य शरीर का यह वीभत्स भोग नहीं है...। उसका निर्माण कुछ उच्चतर लक्ष्यों के लिए हुआ है...।"

"तो तुम्हें अब मैं प्रिय नहीं हूँ ?" द्रौपदी के कंठ से हताश स्वर निकला, "तुम्हें मेरी आवश्यकता नहीं ? मैं जो इतने वर्षों से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ।...मैं क्या तुम्हारे लिए विगत-यौवना हो गई ?"

"किसने कहा कि तुम मुझे प्रिय नहीं ! तुम्हारा अभाव कितना खला, तुम्हारी अनुपस्थिति ने कितना तड़पाया, तुम्हें कितना स्मरण किया, यह तो मैं ही जानता हूँ। तुम्हारे निकट आने के लिए मन कितना तड़पा है, यह बताना कठिन है कृष्णे !" अर्जुन ने उसकी ओर देखा, "किंतु अब, तुम्हारा स्नेह प्रिय है मुझे। तुम्हारे शरीर का लोभ नहीं, तुम सखी हो मेरी ! प्रेम को शरीर की आवश्यकता नहीं होती। प्रेम का मल छन गया है सखि ! वह निर्मल हो गया है...। अब मैं केवल तुम्हारा हूँ...तुम्हारा यौवन रहे या जाए, रूप आकर्षक रहे या अनाकर्षक हो जाए। अप्सराओं के यौवन और रूप का सौन्दर्य भी मुझे तुमसे विलग नहीं कर पाएगा; क्योंकि वह सब; अब मेरे लिए महत्वपूर्ण ही नहीं रहा।"

द्रौपदी तत्काल निर्णय नहीं कर पाई कि यह उसकी प्रसन्नता का विषय था या विषाद का। अर्जुन उसके निकट आया था अथवा दूर चला गया था...सचमुच उसे अब किसी के रूप-सौन्दर्य का भय नहीं रहा था ?... "ये आभूषण तुम सुभद्रा को नहीं दोगे ?"

अर्जुन हँसा, मुझे तुमसे प्रिय और कोई नहीं है, इसलिए तुम्हारे आँचल में डाल दिए हैं, जो मन में आए करो···अपना शृंगार करो, उपहार दो, दान करो अथवा किसी सरिता में बहा दो। तुम्हारी प्रसन्नता से अधिक प्रिय मुझे कुछ नहीं है।"

अर्जुन के व्यक्तित्व में, वस्तुतः कोई मौलिक परिवर्तन आ गया था।···द्रौपदी सोच रही थी···उसकी स्वच्छता और सात्विकता, उसे किसी उच्च धरातल पर आसीन कर रही थी···द्रौपदी को वह सखी कहता है, प्रिया नहीं कहता, कांता नहीं कहता ···क्या द्रौपदी स्वयं को उसके समकक्ष मान पाएगी ?···

"ये आभूषण कहाँ से प्राप्त हुए ?" उसने पूछा।

"यह वैजयन्त का उपहार है ! विदाई के अवसर पर दिया गया उपहार !"

अर्जुन, कुटीर से बाहर निकल आया। युधिष्ठिर, भीम तथा नकुल लौट आए थे।

भीम ने देखा, अर्जुन के मस्तक पर न किरीट था, न शरीर पर आभूषण। ···निश्चित् रूप से वह द्रौपदी को दे आया होगा···भीम का मन कुछ उत्फुल्ल हुआ ···बहुत दिनों के पश्चात् द्रौपदी को कोई आभूषण प्राप्त हुआ है, अन्यथा वह तो पुष्पों से ही अपना शृंगार कर मन को समझा लेती थी···

सारथि, शस्त्रास्त्रों को रथ से उतार, व्यवस्थित कर रहा था।

"भीम !" युधिष्ठिर ने कहा, "नकुल और सहदेव को साथ ले लो और इन दिव्य शस्त्रास्त्रों को कुटीर के अंदर सुरक्षित रखवाओ। मैं अर्जुन को धौम्य मुनि तथा ऋषि-श्रेष्ठ आर्ष्टिषेण तथा लोमश से मिलवा लाता हूँ।"

अर्जुन को देख धौम्य जैसे अपना सहज नियंत्रण भूल गए और प्रफुल्लित होकर बोले, "अर्जुन ! तुम्हारे बिना, तुम्हारे भाई बड़े व्याकुल थे। इनका उल्लास, जैसे तुम्हारे साथ ही चला गया था।"

"मुझे भी लगा मुनिवर ! कि मैं भी अपना मन और उल्लास इन्हीं के पास छोड़ गया था।" अर्जुन ने धीरे से कहा, "आप कैसे हैं ?"

"स्वस्थ हूँ ! अपनी साधना में लगा हूँ।" धौम्य बोले, "धर्मराज इस वनवास में भी एक कर्तव्यपरायण प्रजापालक राजा के समान मेरा भरण-पोषण कर रहे हैं।" सहसा वे रुके, "अर्जुन ! तुम्हारे नयनों में योद्धा का वेग कम, तपस्वी का वैराग्य अधिक दिखाई दे रहा है। तुम शस्त्राभ्यास कर लौटे हो, अथवा तपस्या करके ?"

अर्जुन हँसा, "तपस्वी भी तो योद्धा ही होता है मुनिवर ! और योद्धा भी तपस्या ही करता है। अब आपको क्या बताऊँ, किसमें मन अधिक रमा और किसमें कम !···आपके आशीर्वाद से पहले से अधिक समर्थ होकर लौटा हूँ।"

"प्रभु की कृपा है।" धौम्य बोले, "तुम्हारी शस्त्र-शक्ति और तपस्या, दोनों से ही धर्म को बल मिलेगा।...आओ ! आश्रम के कुलपति को भी प्रणाम कर आएँ।"

धौम्य आगे-आगे चल रहे थे। उन्होने न अधिक कुछ पूछा था, न कहा था; किंतु कोई भी स्पष्ट देख सकता था, कि भीतर से वे पर्याप्त आंदोलित थे। ...कदाचित् स्वयं को संतुलित करने के लिए ही, वे आगे-आगे चल रहे थे...

"लोमश ऋषि कहाँ हैं मुनिवर ?" अर्जुन ने पूछा।

धौम्य मंद मुस्कान के साथ बोले, "तुम्हारे प्रवास के परिचित हैं, इसलिए उनके प्रति कुछ अधिक सौहार्द्र दिखा रहे हो।"

अर्जुन ने कोई उत्तर नहीं दिया। मात्र एक मुस्कान से अपनी सहमति जता दी।

"वे किसी दूरस्थ एकांत स्थान में तपस्या के लिए गए हैं।" धौम्य बोले, "वे बीच-बीच में ऐसा करते रहते हैं। हमें अपने साथ लाए थे; किंतु यहाँ ऋषि आर्ष्टिषेण के भरोसे पूर्णतः निश्चिंत हो गए हैं।"

कुलपति ने उनका इस प्रकार स्वागत किया, जैसे उन्हें अर्जुन के आने का समाचार पहले से मिल चुका हो।

अर्जुन के प्रणाम को स्वीकार कर, आशीर्वाद देते हुए बोले, "अब तुम्हारी क्या योजना है युधिष्ठिर ! तुम लोग अर्जुन की प्रतीक्षा में यहाँ रुके हुए थे। अब अर्जुन आ गया है।..."

"हमारे कारण आपको कोई असुविधा है ऋषिवर ?" युधिष्ठिर पूर्णतः गंभीर थे।

"ऐसा कुछ तो मैंने नहीं कहा। वह तो मेरी सहज जिज्ञासा मात्र थी पुत्र !" ऋषि हँसे, "यह तपस्या क्षेत्र है। यहाँ लोग तपस्या करते हैं। तुम लोग भी अब तक तपस्या की दिनचर्या में ही संलग्न थे; किंतु वस्तुतः तुम लोग अर्जुन की प्रतीक्षा कर रहे थे। अब प्रतीक्षा समाप्त हो गई है। अर्जुन लौटा है और शस्त्रास्त्रों के साथ लौटा है। क्या अब तुम लोग शस्त्रास्त्रों का अभ्यास और युद्ध की तैयारी नहीं करोगे ?"

युधिष्ठिर हँसे, "मुझे अपने वनवास के पहले दिन से लग रहा है कि मेरे चारों ओर युद्ध की तैयारियाँ हो रही हैं।...किंतु मुझे सदा लगा रहता है, हमें युद्ध न होने की संभावना को भी दृष्टि में रखना चाहिए। युद्ध करने की तैयारी ठीक है, किंतु शांति स्थापना का भी प्रयत्न होना चाहिए। संभव है कि हम किसी संधि पर पहुँच जाएँ; और युद्ध की आवश्यकता ही न रहे।"

"ऐसा हो जाए तो किसे अप्रिय होगा पुत्र !" ऋषि बोले, "किंतु उसका

प्रयत्न तुम कैसे करोगे ?"

"मैं वस्तुतः आरंभ से उसी का प्रयत्न कर रहा हूँ आर्य कुलपति !" युधिष्ठिर बोले, "यदि हमारा आध्यात्मिक विकास, राज्य, अधिकार, भोग तथा धन-संपत्ति इत्यादि की निरर्थकता सिद्ध कर देता है, तो हम युद्ध के लिए इतने आतुर ही नहीं रहेंगे।"

"तुम एक संन्यासी की भाषा बोल रहे हो युधिष्ठिर ! कहीं तुम्हारी कायरता ने तो यह रूप धारण नहीं कर लिया ?" ऋषि बोले, "तामसिक त्याग से, सात्विक ग्रहण श्रेष्ठतर है धर्मराज !"

"यदि हम पाँच भाइयों की कायरता से, लाखों लोगों के प्राणों की रक्षा होती है; और हम एक भयंकर और नृशंस युद्ध से मानवता को बचा लेते हैं, तो क्या वह श्रेष्ठतर स्थिति नहीं है ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

ऋषि हँसे, "शांति, युद्ध से सदा श्रेष्ठतर है; किंतु यदि शांतिप्रियता की ओट में अन्याय को बल मिले, तो वह अधर्म है।"

"इसीलिए मैंने अर्जुन को दिव्यास्त्रों की प्राप्ति के लिए भेजा था," युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "कि हमें दुर्बल पाकर, दुर्योधन को अधिक अन्याय का लोभ न हो। हमें शक्तिशाली पाकर कदाचित् वह कोई न्यायपूर्ण संधि कर ले; और मानवता एक भयंकर युद्ध के अपराध से बच जाए।"

ऋषि कुछ क्षण मौन रहे; फिर बोले, "नीति की दृष्टि से मुझे तुम्हारी बात धर्म-संगत लगती है; किंतु तुम्हें आत्म-निरीक्षण कर लेना चाहिए कि कहीं जिसे तुम धर्म समझ रहे हो, वह तुम्हारी कायरता तो नहीं। तुम्हारे भाई तुम पर निर्भर हैं। तुम्हारी कोई प्रवृत्ति उनका अनुचित दमन न करे।" वे रुके, "वैसे यदि अभी तुम्हें युद्धाभ्यास की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती और तुम लोग साधना के लिए यहाँ और समय व्यतीत करना चाहते हो, तो तुम्हारे यहाँ ठहरने से मुझे प्रसन्नता ही होगी।"

अपने कुटीर की ओर लौटते हुए युधिष्ठिर ने देखा कि सारे शस्त्रास्त्र रथ से उतारकर सहेज लिए गए थे; और सारथि, लौट जाने के लिए, अर्जुन की अनुमति की प्रतीक्षा में खड़ा था।

अर्जुन ने उसकी सेवा और सहायता के लिए, मधुर शब्दों में प्रशंसा कर, वैजयन्त के लिए संदेश देकर, उसे विदा कर दिया।

"ये थोड़े-से वे दिव्यास्त्र हैं ज्येष्ठ ! जो मैं अपने साथ ला सका।" अर्जुन ने बताया, "वस्तुतः वहाँ से शस्त्रास्त्रों को साथ लाने से पहले, यह सब सोचना पड़ा कि वहाँ से तो मैं वैजयन्त के रथों में दिव्यास्त्र ले आऊँ, और यहाँ हमारे

पास उन्हें सुरक्षित रखने का कोई स्थान ही न हो; अथवा यहाँ से लौटते हुए उन्हें अपने कंधों पर उठाकर साथ ले जाने में असुविधा हो; वनवास के काल तथा अज्ञातवास में उनके परिवहन में कठिनाई हो, तो फिर क्या लाभ ! इसलिए अनेक शस्त्रास्त्रों के निर्माण और परिचालन की विधि सीख आया हूँ। वे सारे शस्त्रास्त्र मेरे मन में हैं। जब चाहूँगा, उन्हें प्रकट कर लूँगा।···"

"तुमने ठीक किया अर्जुन !' युधिष्ठिर बोले, "वस्तुतः इन शस्त्रों का परिवहन भी सरल नहीं होगा। यहाँ तक आते हुए मार्ग में हम लोगों को स्वयं चलने में कम कठिनाई नहीं हुई। पांचाली तो प्रायः निराश ही हो गई थी। वह तो भीम की ही क्षमता थी···और फिर घटोत्कच हमारी सहायता के लिए आ गया था।"

"घटोत्कच ! वह तो अब बड़ा हो गया होगा।" अर्जुन बोला।

"हाँ ! भीम का-सा ही डील-डौल पाया है उसने।" युधिष्ठिर ने बताया, "संभव है, लौटते हुए भी उससे भेंट हो जाए।"

"मेरे मन में बड़ी उत्सुकता है उसे देखने की।" अर्जुन बोला।

"उत्सुकता तो सारे पुत्रों को देखने की है। अब तो सब ही बड़े हो गए होंगे।" युधिष्ठिर बोले, "किंतु इस समय तो मैं व्यग्र हूँ, तुम्हारे इन दिव्यास्त्रों का प्रभाव देखने के लिए। क्या तुम इनका प्रयोग कर, हमें दिखा सकते हो ?"

"हाँ ! क्यों नहीं !" अर्जुन ने कहा, "कल प्रातः मैं आपको कुछ दिव्यास्त्रों का प्रभाव दिखाऊँगा। इनमें वे अस्त्र हैं, जो पर्वत-शृंगों का चूर्ण बना सकते हैं। पूरे के पूरे वन को अग्निसात् कर सकते हैं···।"

"ठीक है। कल प्रातः इनका परीक्षण कर लेते हैं।"

धौम्य मुनि रात को ध्यान करने बैठे, तो मन को तनिक भी एकाग्र नहीं कर पाए। मन विक्षिप्त होकर, जैसे सारे अंतरिक्ष में भटक रहा था। न व्याकुलता कम हो रही थी, न कोई उपाय सूझ रहा था।···इस समय कुलपति को कष्ट देना भी उचित नहीं था। उनकी समाधि का समय था···और वैसे भी यह समस्या उनके और पांडवों के मध्य थी–एक पुरोहित और यजमान के मध्य ! यह उनका पारिवारिक प्रसंग था। इसमें कुलपति को लाना उचित था क्या ?···

वे किसी भी प्रकार स्वयं को सँभाल नहीं पाए, तो उठ खड़े हुए।···और समय नष्ट करने का कोई लाभ नहीं था···

कुलपति के कुटीर के बाहर बैठे-बैठे, सो गए ब्रह्मचारी को उन्होंने कंधे से थाम, झकझोर कर जगाया, "ब्रह्मचारी !"

ब्रह्मचारी ने आँखें तो तत्काल खोल दीं, किंतु सजग होने में उसे कुछ समय लगा।

"क्या बात है मुनिवर ?"

"कुलपति यदि समाधि में भी हों, तो किसी प्रकार उन्हें सूचित करो।" धौम्य बोले, "मेरा उनसे इसी समय मिलना अत्यन्त आवश्यक है।"

"इस समय कुटीर में प्रवेश का निषेध है महामुनि !" वह बोला, "मेरा दायित्व तो इस समय बाहर से आनेवालों को कुलपति के पास जाने से रोकना है, मिलने के लिए आए लोगों की सूचना देना नहीं।"

"वह सब मैं जानता हूँ।" धौम्य बोले, "मैं असाधारण परिस्थितियों में एक असाधारण माँग कर रहा हूँ।"

"पर ऐसी क्या बात है ?" ब्रह्मचारी बोला।

"वह सब तुम्हें नहीं बता सकता।" धौम्य बोले, "उन्हें सूचित नहीं करोगे, तो मैं स्वयं भीतर घुस जाऊँगा। बलपूर्वक रोकने का प्रयत्न करोगे, तो मैं बलात् भीतर जाऊँगा।...और यह तुम्हें बता दूँ कि यदि इस समय, तुमने मुझे उनके पास जाने नहीं दिया, तो इसके लिए, कुलपति तुम्हें कभी क्षमा नहीं करेंगे।"

ब्रह्मचारी धर्म-संकट में पड़ गया था। गुरु का आदेश कुछ और था; और धौम्य मुनि की आज्ञा कुछ और। किसे स्वीकार करे, किसे न करे।...किंतु इतनी बात तो उसकी समझ में आ गई थी कि किसी गंभीर आवश्यकता के कारण ही धौम्य मुनि ऐसी माँग कर रहे हैं। उनकी चेतावनी भी किसी संकट की ओर संकेत कर रही थी...

"अच्छा ! आप ठहरिए ! मैं देखता हूँ।..." वह भीतर चला गया।

धौम्य की इच्छा हो रही थी कि वे भी ब्रह्मचारी के पीछे-पीछे भीतर चले जाएँ। बहुत संभव है कि गुरु को गंभीर ध्यान अथवा समाधि में देखकर ब्रह्मचारी संकोच कर जाए। वे स्वयं वहाँ होंगे, तो कुछ तो करेंगे।...किंतु इस प्रकार की उद्विग्नता, एक मुनि के लिए उचित नहीं थी, और कुलपति के अनुशासन की अवहेलना कर, इस प्रकार की उच्छृंखलता तो सर्वथा अशोभनीय थी...

तभी वह ब्रह्मचारी बाहर आ गया, "जाइए ! कुलपति आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

धौम्य ने कुटीर में प्रवेश कर, हाथ जोड़े और घुटनों के बल बैठ गए, "मुझे क्षमा करें, आर्य कुलपति ! मैंने इस समय आपको कष्ट देने की अभद्रता ही नहीं की, आश्रम की मर्यादा भी भंग की है।"

"ग्लानि त्यागो धौम्य !" कुलपति मुस्कराए, "बालक को कष्ट होता है, तो सबसे पहले वह अपनी माता को ही जगाता है। बोलो ! किस कारण इतने व्याकुल हो ?"

"आप जानते हैं ऋषिवर ! कि अर्जुन लौट आया है। वह अपने साथ, रथ भर कर दिव्यास्त्र लाया है। वे दिव्यास्त्र वैजयन्त इंद्र ने दिए हैं; और उनका

परिवहन भी वैजयन्त के रथ में ही हुआ है। मेरा विचार है कि कुबेर अपने क्षेत्र में इस संख्या और इतनी मात्रा में, दिव्यास्त्रों की उपस्थिति पसंद नहीं करेंगे; जबकि अर्जुन और उसके दिव्यास्त्रों की अनुपस्थिति में ही, भीम दो बार धनाध्यक्ष के सैनिकों पर आक्रमण कर चुका है⋯।"

"राजनीति की दृष्टि से तुम ठीक कह रहे हो; किंतु हमें इसमें चिंतित होने की क्या आवश्यकता है। वैजयन्त का रथ, कुबेर की जानकारी में गंधमादन पर्वत से होकर आया है। धनाध्यक्ष जानते हैं कि उस रथ में, अर्जुन के साथ, वे सारे दिव्यास्त्र भी थे⋯।"

"अवश्य जानते होंगे।" धौम्य बोले, "वह मेरी चिंता का विषय नहीं है।"

"तो क्या है, तुम्हारी चिंता ?"

"होने को तो यह चिंता भी हो सकती है कि इस क्षेत्र में यदि इतने दिव्यास्त्र होंगे, तो उन पर अनेक देव-शक्तियों, मानवों, राक्षसों इत्यादि की दृष्टि होगी। उन्हें प्राप्त करने के प्रयत्न होंगे। उनके लिए युद्ध हो सकते हैं, और युद्धों में उनका प्रयोग भी हो सकता है। कुबेर तो कुबेर, क्या स्वयं आप चाहेंगे कि इस तीर्थ-क्षेत्र में, प्रकृति के इस प्रशांत और परम सुरम्य क्षेत्र में ऐसा उत्पात् हो ?"

"तुम्हारी चिंता विचारणीय है।" ऋषि अपनी गंभीरता से चिंता की ओर बढ़ रहे थे, "इन बातों को ध्यान में रखकर, आश्रम की अपेक्षित सुरक्षा का प्रबंध होना चाहिए।⋯किंतु कुबेर को यह कदापि प्रिय नहीं होगा, कि उनके अधिकार-क्षेत्र में, उनके अपने आवास के, इतने निकट, एक स्वतंत्र सैनिक-स्कंधावार का निर्माण हो, जिस पर उनका अपना कोई नियंत्रण न हो।⋯"

"मेरी चिंता यह भी नहीं है ऋषिवर !"

ऋषि ने चकित होकर धौम्य की ओर देखा, "तो तुम्हारी चिंता क्या है धौम्य ?"

"धर्मराज ने यह जानने की उत्सुकता प्रकट की है कि उन दिव्यास्त्रों का वास्तविक प्रभाव क्या है।" धौम्य बोले, "वह तो शायद अर्जुन थका हुआ था, अथवा कोई और बात थी⋯उसने धर्मराज का अनुरोध, कल प्रातः तक के लिए टाल दिया। कल प्रातः अर्जुन धर्मराज और अपने अन्य भाइयों को, उन दिव्यास्त्रों का परीक्षण करके दिखाएगा⋯।"

"यहाँ ? गंधमादन क्षेत्र में ?" कुलपति के मुख से अनायास ही निकल गया।

"हाँ आर्य ! यहाँ ! कल प्रातः।"

"तुमने उन्हें रोका नहीं ?"

"मैं उनका पुरोहित हूँ।" धौम्य बोले, "अपने यजमान क्षत्रिय राजा को शस्त्र-परीक्षण से रोकना मेरा धर्म नहीं है।"

"तो फिर मुझे क्यों सूचना दी ?"

"यह मेरा समाज-चिंतन है।" धौम्य बोले, "मैंने अपने दोनों धर्मों के निर्वाह का प्रयत्न किया है।"

"क्या तुम चाहोगे कि इस सूचना को पांडवों से गुप्त रखा जाए कि यह समाचार तुम्हारे माध्यम से हम तक आया है ?" कुलपति की दृष्टि बहुत प्रखर हो आई थी।

"नहीं !" धौम्य हँस पड़े, "ऐसी कोई बात नहीं है। यह गोपनीय नहीं है। न ही मैं पांडवों की पीठ-पीछे उनका कोई रहस्य यहाँ उद्‌घाटित कर रहा हूँ। आप इस समय भी उन्हें बुलाकर यह बता सकते हैं कि मेरे माध्यम से आपको यह सूचना मिली है कि वे लोग प्रातः यहाँ अपने दिव्यास्त्रों का परीक्षण कर रहे हैं।..."

"यदि ऐसी बात थी धौम्य ! तो जब उनमें यह चर्चा हो रही थी, उसी समय तुमने उन्हें रोक क्यों नहीं दिया ?" कुलपति कुछ समझ नहीं पा रहे थे।

धौम्य कुछ क्षण मौन रहे, फिर बोले, "पहला कारण तो यह है कि जिस समय उनमें यह निर्दोष चर्चा हो रही थी, मैं इस क्रिया की गंभीरता को हृदयंगम नहीं कर सका था। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, और मैं इस विषय में मनन करता गया, इसकी भयंकरता मेरे सामने स्पष्ट होती चली गई।...दूसरा कारण वह था, जो मैंने पहले निवेदित किया है कि यह पुरोहित धर्म नहीं, कि मैं अपने यजमानों को हतोत्साहित करूँ। तीसरा कारण यह है कि उन्हें इस कृत्य की भयंकरता समझाने के लिए, मैं उपयुक्त पात्र नहीं हूँ।..."

कुलपति का मस्तिष्क तीव्र गति से कार्य कर रहा था। धौम्य के बताए हुए कारणों पर विवाद करने का यह कोई उपयुक्त समय नहीं था। इस समय तो शीघ्रातिशीघ्र यह समाचार कुबेर तक पहुँचना चाहिए। यह उनका क्षेत्र है। वे देखें कि उन्हें कैसी सुरक्षात्मक कार्यवाही करनी है...किंतु कुबेर अपने प्रासाद में हों, न हों...हों भी, तो इस समय विश्राम कर रहे होंगे...पर नहीं ! यह विश्राम उन्हें बहुत महंगा पड़ेगा...

"अच्छा ! तुम जाओ धौम्य ! विश्राम करो।" कुलपति बोले, "इस सूचना के लिए मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ। मैं प्रयत्न करता हूँ कि उचित समय पर इसका प्रतिकार हो जाए; किंतु यदि मैं इसमें सफल न हुआ। कोई प्रबंध न हो सका, तो एक वचन तुम मुझे दो।"

"आदेश करें कुलपति।"

"यदि मैं प्रातः तक कोई प्रबंध नहीं कर पाया, तो तुम परीक्षण के समय, किसी प्रकार, किसी व्याज से, कोई व्यवधान उपस्थित कर, परीक्षण को अधिक से अधिक समय तक टालने का प्रयत्न करोगे। और कोई बंधन न लगा सको, तो इतना तो कह ही सकते हो कि पांडवों का धर्म है कि दिव्यास्त्रों के ऐसे परीक्षण

से पूर्व वे क्षेत्रपति कुबेर को इसकी सूचना दे दें···।" कुलपति ने धौम्य की ओर देखा।

"वचन देता हूँ कुलपति। कि इतना तो करूँगा ही !"

"अच्छा। जाओ।"

धौम्य प्रणाम कर चले गए।

कुलपति अपनी व्याकुलता में तत्काल उठ खड़े हुए, "दृढ़कीर्ति !"

"गुरुदेव !" ब्रह्मचारी भीतर आ गया।

"दृढ़कीर्ति ! अपने साथ दो ब्रह्मचारी और ले लो और इसी क्षण, आश्रम के सबसे सक्षम अश्वों पर जाओ। गंधमादन पर्वत के अगम्य मार्ग के रक्षकों से कहो, वे इसी क्षण धनाध्यक्ष कुबेर को सूचित करें कि पांडव कल प्रातः अपने दिव्यास्त्रों का परीक्षण करेंगे।" कुलपति बोले, "देखो ! समय बहुत कम है। प्रमाद एकदम न हो। न तुमसे, न उन यक्ष सैनिकों से। यदि वे तुम्हें अनुमति दें, तो तुम उनके साथ धनाध्यक्ष के प्रासाद तक जाओ, और स्वयं उन्हें यह सूचना दो।"

"जो आज्ञा आर्य कुलपति !"

दृढ़कीर्ति चला गया; किंतु कुलपति न ध्यान करने के लिए बैठ सके, न उन्होंने सोने का प्रयत्न किया। वे जानते थे कि उन्हें इन परिस्थितियों में नींद नहीं आएगी।

प्रातः उठ पांडवों ने स्नान किया। महादेव शिव का ध्यान कर, उन्हें प्रणाम किया। इंद्र को नमस्कार किया और अपने दिव्यास्त्रों के साथ, वे आश्रम के बाहर, अपेक्षाकृत एक खुले स्थान पर पहुँचे।

अर्जुन ने वैजयन्त-प्रदत्त अपना कवच पहना और दिव्यास्त्रों का उनकी विभिन्न विशेषताओं के अनुसार वर्ग-विभाजन किया···

तभी युधिष्ठिर ने देखा, ऋषि आर्ष्टिषेण अपने अनेक शिष्यों के साथ उनकी ओर ही आ रहे हैं।···यह समय, उनके आश्रम से बाहर निकलने का नहीं था। तो आज यह कैसा व्यतिक्रम ?···ऋषि अभी उनके निकट पहुँचे भी नहीं थे कि दूसरी ओर से अनेक रथों के आने का शब्द हुआ। रथों के ध्वज बता रहे थे कि वे धनाध्यक्ष कुबेर के राजकीय रथ थे; और उन सबके आगे-आगे आनेवाला स्वर्ण-मंडित रथ, स्वयं धनाध्यक्ष का था।···रथ निकट आया, तो युधिष्ठिर चकित रह गए···रथ में धनाध्यक्ष के साथ, स्वयं ब्रह्मर्षि नारद विद्यमान थे···

युधिष्ठिर ने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया, "ब्रह्मर्षि आप !"

पांचों पांडव प्रणाम कर चुके, तो नारद बोले, "धनंजय ! पुत्र, मैं तुमसे ही मिलने आया हूँ।"

अर्जुन हाथ जोड़े हुए, उनके सम्मुख चला आया !

"ज्ञात हुआ पुत्र ! कि तुमने बहुत तपस्या की है। कुछ लोगों का मानना है कि तुम्हें निर्विकल्प समाधि ही प्राप्त नहीं हुई, स्वयं महादेव शिव के दर्शन भी हुए हैं। उन्होंने तुम्हें अपना पाशुपतास्त्र भी दिया है।…" नारद रुके, "ठीक कह रहा हूँ न पुत्र ?"

"प्रभु की कृपा है ब्रह्मर्षि !"

"पुत्र ! जिसके पास जितनी क्षमता होती है, उसके पास उतना ही संयम भी होना चाहिए।" नारद बोले, "वैजयन्त तथा अन्य देवों से तुम्हें दिव्यास्त्र प्राप्त हों, उससे पूर्व ही महादेव ने तुम्हें पशु से पशुपति बनने का मंत्र दिया। अपने भीतर के पशु का स्वामी बनना सिखाया !…और तुम यह क्या कर रहे हो पुत्र ?"

"मैं समझा नहीं ब्रह्मर्षि !"

"तुम इन दिव्यास्त्रों का परीक्षण करने जा रहे हो, ताकि तुम्हारे भाइयों के सम्मुख, इनकी क्षमता का प्रदर्शन हो सके ! किंतु तुमने यह नहीं सोचा पुत्र ! कि इनके परीक्षण से यहाँ की प्रकृति नष्ट होगी। प्राकृतिक संतुलन बिगड़ेगा। असंख्य जीव-जंतु व्यर्थ ही मारे जाएँगे। तुम्हारा ध्यान इस ओर नहीं गया कि ये दिव्यास्त्र बिना किसी विशिष्ट लक्ष्य के, मात्र परीक्षण के लिए नहीं चलाए जाते। इनके प्रयोग का अधिकार तुम्हें केवल उन परिस्थितियों में है; जब तुम अपने शत्रुओं में इस प्रकार घिर जाओ कि अपने प्राण बचाने के लिए, तुम्हारे पास और कोई मार्ग न हो और उनका प्रयोग आवश्यक हो जाए।" नारद ने क्षणभर रुककर उसकी ओर देखा, "इस समय तुम्हें किसी भी ओर से अपने प्राणों का भय है ?"

"नहीं ब्रह्मर्षि !"

"तो अन्य जीव-जंतुओं के प्राणों के लिए तुम क्यों भय बन जाना चाहते हो ? क्यों प्रभु की बनाई सृष्टि को अकारण नष्ट करना चाहते हो ?"

"नहीं ! हमारी ऐसी कोई इच्छा नहीं है ब्रह्मर्षि !" युधिष्ठिर बोले, "यह हमारा प्रमाद ही था। हमारा ध्यान इस ओर नहीं गया।" उन्होंने अर्जुन की ओर देखो, "अर्जुन ! यह परीक्षण रोक दो।"

अर्जुन ने तत्काल आज्ञा का पालन किया।

युधिष्ठिर हाथ जोड़कर नारद के सम्मुख खड़े हो गए, "मेरी एक समस्या का समाधान करें ब्रह्मर्षि !"

"बोलो वत्स !"

"प्रमादवश हमारा ध्यान इस ओर नहीं गया; किंतु मुनि धौम्य, ऋषि आर्ष्टिषेण, धनाध्यक्ष कुबेर…इनमें से कोई भी हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट कर सकते थे। फिर इन्होंने आपको यहाँ तक आने का कष्ट क्यों दिया ?"

नारद ने एक दृष्टि उन सब लोगों पर डाली और मुस्कराए, "अपने-अपने

कारण तो वे ही जानें वत्स ! किंतु यह सत्य है कि शस्त्रबद्ध क्षत्रिय को शस्त्र-परिचालन से विरत करना कठिन होता है; और जिसके पास असाधारण शक्ति हो, जो दिव्यास्त्रों से संपन्न हो, वह कहाँ किसी की सुनता है। वह मान लेता है कि श्रेष्ठ जीव तो केवल एक वही है, शेष जीव तो कीड़े-मकोड़े हैं।...यदि इनमें से कोई यह दायित्व अपने कंधों पर लेता और अपने प्रयास में सफल नहीं होता, तो वह इस संहार के लिए स्वयं को दोषी मानता; इसलिए इन्होंने मुझे बुलाया, क्योंकि इन्हें विश्वास था कि तुम लोग मेरे कथन की उपेक्षा नहीं करोगे।..."

कुबेर कुछ आगे बढ़ आए, "कहने को तो मैं भी कह सकता था, किंतु भय था कि उसे एक शासक का आदेश मानकर कहीं तुम राजनीतिक टकराव का कारण न बनाओ। और भीम का व्यवहार तो मैं देख ही चुका था। उसने दो-दो बार मेरे निषेधों को मानना अस्वीकार किया है। इसलिए ब्रह्मर्षि को यह कष्ट देना पड़ा।...किंतु तुम लोगों ने अपने व्यवहार से यह सिद्ध कर दिया है कि तुम्हें अपनी शक्ति का अहंकार कभी नहीं हो सकता। तुम्हारे हाथों में कितनी भी प्रहारक अथवा विनाशक शक्ति आ जाए, तुम उसके कारण मत्त होकर अपना विवेक कभी नहीं खोओगे।" कुबेर ने अपना स्नेहयुक्त हाथ, युधिष्ठिर के कंधे पर रखा, "अब मुझे तुम पर विश्वास हो गया है कि तुम्हारे पास कितने भी शक्तिशाली दिव्यास्त्र क्यों न आ जाएँ, न तुम धर्म का त्याग करोगे, न विवेक का। देव-शक्तियों ने अर्जुन को दिव्यास्त्र देकर कोई भूल नहीं की है।"

नारद और कुबेर, पांडवों को आशीर्वाद देकर विदा हो गए। ऋषि आर्ष्टिषेण भी अपनी कुटिया में लौट गए।

"ज्येष्ठ ! मेरा विचार है कि हमें यह स्थान अब छोड़ देना चाहिए।"

"क्यों ?" युधिष्ठिर के स्वर में कुछ आश्चर्य था।

"हम यहाँ अर्जुन के लौट आने की प्रतीक्षा ही तो कर रहे थे।" भीम ने उत्तर दिया, "अब वह आ गया है; तो हमें यहाँ रुककर, करना ही क्या है ?"

"हम अर्जुन की प्रतीक्षा में थे। उसकी कुशलता और सफलता के लिए चिंतित थे। इसलिए साधना में हमारा ध्यान नहीं लग रहा था। हम प्रकृति के सौन्दर्य का आनन्द नहीं ले रहे थे।" युधिष्ठिर बोले, "अब अर्जुन हमारे साथ है। अब हम यहाँ निश्चिंत होकर साधना कर सकते हैं। प्रकृति के अनुकूल होकर जी सकते हैं।..."

भीम के चेहरे पर थोड़ी देर के लिए अधैर्य प्रकट हुआ, "धर्मराज ! वनवास के पश्चात् हमें एक बड़े युद्ध का सामना करना है। हमें उसके लिए तैयारी करनी है। हम अपने सारे दायित्व पूरे कर, वानप्रस्थ की स्थिति में यहाँ नहीं आए हैं,

कि निश्चित होकर धर्म अर्जित करते रहें। हमें लौटकर, अपने शत्रुओं का वध करना है : अपने अपराधियों को दंडित करना है। उसके लिए हमे शस्त्राभ्यास करना चाहिए। शस्त्रों का निर्माण करना चाहिए और नए-नए शस्त्रास्त्र अर्जित करने चाहिएँ।...यहाँ रहने का अर्थ है कि हम उनमें से कुछ भी नहीं कर सकते। दिव्यास्त्रों का परीक्षण भी नहीं कर सकते। यह कुबेर का क्षेत्र है न ! कोई पूछे इस धनाध्यक्ष से, यदि उसे अपने लिए किसी नए दिव्यास्त्र का परीक्षण करना हो, तो वह करेगा या, नहीं करेगा ? सारे निषेध हमारे लिए ही हैं ?..."

"तुम्हारी कुछ बातों से मैं सहमत हूँ।" युधिष्ठिर धैर्यपूर्वक बोले, "किंतु अभी हमारे पास बहुत समय है। यह न हो कि पराई धरती पर शस्त्राभ्यास और शस्त्र-परीक्षण करते-करते, हम अपने लिए, दुर्योधन के साथ होने वाले युद्ध से पहले ही एक और युद्ध की सृष्टि कर लें।..."

"तो उससे क्या क्षति होगी हमारी ?" भीम ने आवेशपूर्ण स्वर में पूछा, "यदि वह युद्ध हुआ तो हम विजयी होंगे। हमारी क्षमता बढ़ेगी। हमारी वीरता प्रतिष्ठित होगी।"

"नहीं !" युधिष्ठिर बोले, "पहले हमारे धर्म का नाश होगा, फिर हम अपने मित्र खोएँगे।"

"ज्येष्ठ ठीक कह रहे हैं।" अर्जुन ने युधिष्ठिर का समर्थन किया, "दुर्योधन से जो युद्ध होगा, उसमें दोनों ओर से मित्र योद्धा जुटाए जाएँगे। ऐसे में यदि हम अभी से देव-शक्तियों को रुष्ट कर दुर्योधन की ओर धकेलना आरंभ कर दें, तो हम अपने लिएं कठिनाइयों का ही सृजन करेंगे।...और यदि इस युद्ध में हम विजयी हो भी गए, तो अपने सारे शस्त्रास्त्र इसी युद्ध में झोंक देंगे। इस युद्ध से हम विजयी, किंतु दुर्बल होकर निकलेंगे।"

"दुर्योधन से लड़ने के पूर्व हमें किसी भी और युद्ध से बचना चाहिए।" सहदेव बोला, "किंतु युद्धाभ्यास के विषय में मध्यम ठीक कह रहे हैं। हमें उसकी आवश्यकता है। हम जितना अभ्यास कर सकें, उतना ही अच्छा।"

किंतु युधिष्ठिर ने तत्काल सहमति प्रकट नहीं की।

"क्या हुआ ज्येष्ठ ? आप सहमत नहीं हैं ?" अर्जुन ने पूछा।

"मुझे इस सारे युद्धोन्माद से भय लगता है।" युधिष्ठिर बोले, "यदि हम वर्षों तक इस उन्माद को पालेंगे और शस्त्राभ्यास करते रहेंगे, तो हम युद्ध से बचने का तनिक भी प्रयत्न नहीं करेंगे; वरन् हम साग्रह उसकी ओर बढ़ेंगे।..." युधिष्ठिर ने उन लोगों की ओर देखा, "हम धर्म के लिए युद्ध करेंगे, इसलिए युद्धाभ्यास के साथ हमें धर्माभ्यास भी करना होगा। युद्ध तो अंतिम विकल्प है। हमें अपने धर्म पर अड़े रहना है, इसलिए हम क्यों न वनवास के शेष वर्ष, साधनापूर्वक यहीं व्यतीत करें; और यहीं से अज्ञातवास के लिए चले जाएँ...।"

"इसका तो अर्थ हुआ कि हम एक दिन भी युद्धाभ्यास न करें; क्योंकि अज्ञातवास में तो वह संभव ही नहीं होगा।" नकुल बोला।

"और यहीं से अज्ञातवास में जाना क्या दुर्योधन स्वीकार कर लेगा ?" अर्जुन ने पूछा, "वह यह तो नहीं कहेगा कि तुम लोगों को बारह वर्षों तक प्रत्यक्ष वनवास करना था··· ।"

"नहीं ! हमें उसके सम्मुख प्रत्यक्ष हो, उसके निकट रह, फिर अज्ञातवास में जाना चाहिए।" सहदेव ने कहा।

"और धर्मराज ! आप युद्ध को टालने का भरसक प्रयत्न कर लें; किंतु मेरी प्रतिज्ञाएँ युद्ध के बिना पूरी नहीं हो सकतीं।" भीम ने कहा, "युद्ध नहीं होगा, तो द्रौपदी को अपने केश धोने के लिए दुःशासन का रक्त नहीं मिलेगा और बिना युद्ध के मैं उसका वक्ष फाड़कर रक्तपान कैसे करूँगा···दुर्योधन की जंघा कैसे तोड़ूँगा ?"

युधिष्ठिर क्या उत्तर देते ?···वे जानते थे कि भीम तथा द्रौपदी ने ऐसी प्रतिज्ञाएँ की हैं। वे उनसे यह आग्रह तो नहीं कर सकते थे कि वे अपनी प्रतिज्ञाओं का पालन न करें। प्रतिज्ञा-भंग करने का आदेश, वे किसी को कैसे दे सकते थे। ···उन्हें वे प्रतिज्ञाएँ करने का अधिकार नहीं था···यह कहना भी उचित नहीं था। जितना अपमान द्रौपदी का हुआ था, उसके प्रतिशोध के लिए कोई भी मनुष्य, कुछ भी कर सकता था···किंतु युधिष्ठिर का मन आज भी यही चाहता है कि किसी प्रकार भीम और द्रौपदी, धार्तराष्ट्रों को क्षमा कर दें···दुर्योधन तो पापी है, भीम क्यों पापी बने,···पांचाली पाप में क्यों लिप्त हो···दुर्योधन की जंघा तोड़ने तथा दुःशासन के वक्ष का रक्त पीने से पांचाली का अपमान, अघटित तो नहीं हो जाएगा। संभावित अशुभ घटना का प्रतिकार कर, उसे घटित होने से रोक देना तो युधिष्ठिर की समझ में आता है; किंतु अपने अहंकार की तुष्टि के लिए एक और अशुभ कृत्य कर, दुष्कर्मों की एक शृंखला की सृष्टि कर देना, उनकी समझ में नहीं आता। ···यदि पांडवों को अपना राज्य मिल जाता है, तो दुर्योधन और दुःशासन, हस्तिनापुर में जीवित हैं या नहीं–इससे क्या अंतर पड़ेगा भीम को ! दुःशासन का वक्ष फाड़कर भी, भीम को वही राज्य मिलना है, जो वह बिना उस दुष्कृत्य के भी प्राप्त कर सकता है···पर युधिष्ठिर यह भी जानते हैं कि न भीम किसी भी दशा में दुर्योधन और दुःशासन को क्षमा करेगा, न द्रौपदी···न उनके मन को बदला जा सकता है, न उन्हें किसी धर्म-बंधन में बाँधा जा सकता है।···हाँ ! उनके उन्माद को कुछ मंद करने का प्रयत्न अवश्य किया जा सकता है···

"तो ठीक है !" धर्मराज बोले, "हम समय की कोई ऐसी सीमा निश्चित् कर लें, जितना हमारा युद्धाभ्यास आवश्यक है, जितना हमारा प्रत्यक्ष वनवास तथा धार्तराष्ट्रों की दृष्टि में रहना आवश्यक है···शेष समय हम यहीं व्यतीत करें, इस

शांत परिवेश में, तपस्या के वातावरण में, संयमपूर्वक साधना करते हुए। लंबे युद्ध-ज्वर में तपना भी कोई सुखद स्थिति नहीं है। मैं, तुम लोगों को हतोत्साहित करने के लिए नहीं कह रहा; कभी-कभी वस्तुतः ऐसा होता है कि लंबे युद्ध-ज्वर से व्यक्ति इतना निढाल हो जाता है कि वास्तविक युद्ध के समय, उसमें अपेक्षित वेग नहीं आ पाता।···" युधिष्ठिर रुककर सायास मुस्कराए, "या केवल इतना ही मान लो कि मैं इतनी दीर्घ अवधि तक युद्ध-ज्वर का ताप सहना नहीं चाहता, या सह नहीं सकता।"

"धर्मराज !" भीम का स्वर एक विचित्र प्रकार की आक्रामकता लिए हुए था, "कहीं आप हमें युद्ध से विरत करने की तो कोई योजना नहीं बना रहे ? इतना तो मैं आपसे स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि हमारे राजा के रूप में ऐसा करना, आपके लिए धर्म-संगत नहीं होगा।"

"मैं जानता हूँ भीम !" युधिष्ठिर मुस्कराए, "राजा के रूप में मुझे युद्ध करना होगा। अपने अधिकारों के लिए, अपने भाइयों के अधिकारों की रक्षा के लिए, अपनी प्रजा के पालन के लिए, दुष्टों के दमन के लिए, एक सुशासन के लिए, वासुदेव का धर्म-राज्य स्थापित करने के लिए, मुझे युद्ध करना ही होगा।" वे रुके, "किंतु तुम जानते हो न कि यह मेरा कर्त्तव्य है, व्यसन नहीं। युद्ध की स्थिति मेरे लिए न सहज है, न सुखद। जबकि साधना और तपस्या की स्थिति मेरे लिए सहज है। ऋषियों, मुनियों और तपस्वियों के साथ रहना मेरे लिए परम सुखदायक है।"

"जानता हूँ।" भीम ने कहा।

"तो कुछ समय और मुझे अपने सुख में रहने दो। जब अनिवार्य हो जाएगा, तब तो युद्ध-ज्वर को अंगीकार करूँगा ही।" युधिष्ठिर मानों अनुरोध कर रहे थे।

"महाराज ठीक ही कह रहे हैं मध्यम !" अर्जुन ने कोमल स्वर में कहा, "युद्ध की स्थिति किसी के लिए भी सहज स्थिति तो है नहीं। वह तो जीवन की आपात्स्थिति है। हम आपात्स्थिति को ही अपना जीवन बनाने का आग्रह क्यों करें। वैसे मुझे धार्तराष्ट्रों का तनिक-सा भी भय नहीं है। मेरा विश्वास है कि आपको भी नहीं है। हमारे पास अब पर्याप्त दिव्यास्त्र हैं, और आपके नेतृत्व में हमारी पदाति सेना को किसी प्रकार की कठिनाई हो नहीं सकती। तो फिर क्यों न ज्येष्ठ की योजना के अनुसार हम कुछ समय इस एकांत में अपने पारिवारिक सुख में व्यतीत करें···।"

"यदि हमें इस प्रकार शांति से पारिवारिक सुख का उपभोग करना है, तो···" सहदेव कुछ कहता-कहता रुक गया।

"तो क्या ?" युधिष्ठिर ने उसकी ओर देखा।

"क्या ही अच्छा होता कि हम माँ को भी साथ ले आए होते।" उसने अपनी

इच्छा चाहे व्यक्त कर दी थी, किंतु अपने वक्तव्य का स्वरूप बदल दिया था, "ऐसे शांत वातावरण में, वे भी सुखी होतीं।"

"विचार तो तुम्हारा बहुत श्रेष्ठ है सहदेव ! किंतु माँ को अब यहाँ तक लाना सरल नहीं है।" युधिष्ठिर बोले, "आते समय पांचाली को भी बहुत कठिनाई हुई थी। माँ को वार्धक्य और भी कष्ट देगा।...और फिर लौटना भी तो है। उन्हीं कठिन मार्गों पर चलना होगा, जिनसे होकर हम आए हैं।"

"मैं समझता हूँ।" सहदेव बोला, "मैंने कोई प्रस्ताव नहीं रखा, मात्र अपनी कामना व्यक्त की है।"

"उस कामना में हम सब तुम्हारे साथ हैं।" अर्जुन ने सहदेव की पीठ थपथपाई, "पर जानते हैं कि वह कामना पूर्ण नहीं हो पाएगी।"

अर्जुन ने संध्योपासना कर, आँखें खोलीं तो देखा, द्रौपदी उसके ठीक सामने बैठी थी।

"कृष्णे ! तुम ?"

"चकित हो गए ?" द्रौपदी बोली, "सामान्यतः साधना पूरी कर, साधक नयन खोलता है, तो सामने उसके इष्टदेव उसे वरदान देने की मुद्रा में खड़े होते हैं; किंतु यह असाधारण स्थिति है पार्थ ! इसमें तुमने नयन खोले हैं और मैं वरदान माँगने की मुद्रा में तुम्हारे सामने बैठी हूँ।"

"तुम्हें क्या चाहिए देवि ?" अर्जुन मुस्कराया, "मेरे पास जो कुछ है, सब तुम्हारा है।"

"मुझे वरदान दो कि तुम धर्मराज के उन शांति-प्रयत्नों में सहभागी नहीं होगे, जो स्वाभिमान और स्वाधिकार खोकर, वे करना चाहेंगे।" द्रौपदी बोली, "युद्ध न हुआ तो मेरी कोई प्रतिज्ञा पूरी नहीं होगी।"

"हम युद्धोन्मादी नहीं हैं पांचाली !" अर्जुन ने कहा, "किंतु मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि यह युद्ध होगा।"

"इतने निश्चित होने का कारण ?"

"दुर्योधन का शांति-विरोध, धर्मराज के सारे शांति-प्रयत्नों पर भारी पड़ेगा। हस्तिनापुर के राज्य से दुर्योधन की तृप्ति नहीं होगी। वह पांडवों का राज्य लौटाने पर तो सहमत होगा ही नहीं, यादवों का राज्य भी हड़पना चाहेगा। वह पांचालों और मत्स्यों का राज्य भी छीनने का प्रयत्न करेगा। दुर्योधन के जीवित रहते, यह युद्ध रुक ही नहीं सकता।"

"तुम्हारी वाणी सत्य हो पार्थ !" द्रौपदी बोली, "तुमने मुझे मेरा मनोवांछित वरदान दे दिया है।"

29

द्रौपदी ने वृक्षों की छोटी-मोटी सूखी टहनियों से अग्नि उकसा दी, तो भीम ने काठ का एक बड़ा कुंदा भी उसमें लगा दिया। अब यह व्यवस्था रात भर के लिए पर्याप्त थी।…आज प्रातः कुछ देर के लिए धूप निकली थी। पांडवों ने सुहावने दिन को उल्लासमयी दृष्टि से देखा था, किंतु उसके पश्चात् पवन ने वेग पकड़ लिया था और शीत, शरीर को काटने-सा लगा था। दिन भर की व्यस्तता में किसी ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया था; किंतु रात का वह काला अंधकारमय शीत किसी को भी सहन नहीं था। अग्नि का आश्रय तो लेना ही था। रात भर की नींद की आवश्यकता सबको ही थी।

धौम्य मुनि और महर्षि लोमश अपने कुटीर में जा चुके थे।

शीत की कारा से मुक्त हो, युधिष्ठिर ने शरीर को कुछ ढीला छोड़ा, तो उनके चेहरे पर भी कुछ उत्फुल्लता प्रकट हुई। भीम के लिए अपनी बात आरंभ करने का यही उपयुक्त अवसर था…संभव है उनके वार्तालाप में कुछ ऐसी चर्चा भी आ जाए, जो वह धौम्य मुनि और महर्षि लोमश की उपस्थिति में न करना चाहे…

भीम आकर युधिष्ठिर के निकट बैठ गया, "धर्मराज ! यह क्षेत्र प्राकृतिक सौंदर्य की दृष्टि से बहुत समृद्ध है; किंतु कर्म की दृष्टि से यह पर्याप्त दरिद्र है।"

युधिष्ठिर ने अपनी दृष्टि अग्नि की लपटों पर से हटाकर, भीम की ओर देखा, "प्राकृतिक सौंदर्य का अर्थ है, ईश्वर का प्रकट रूप ! ईश्वर के निकट रहने से बढ़कर, जीवन की सार्थकता और क्या हो सकती है ?"

भीम की आँखों में एक व्यग्र खीज झलकी; किंतु उसने तत्काल उसे संयत किया और बोला, "जहाँ तक मैं समझता हूँ, हम ईश्वर के निकट रहने के लिए यहाँ नहीं आए थे, हम दुर्योधन से दूर रहकर स्वयं को सुरक्षित रखने के लिए यहाँ आए थे।"

"क्या हम दुर्योधन से डरकर यहाँ भाग आए थे ?" सहदेव के स्वर में आहत होने का भाव था, "महावीर भीम और संसार के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुन के होते हुए हम दुर्योधन से डरकर यहाँ आए थे ?"

"नहीं ! एकदम ऐसा तो नहीं है।" युधिष्ठिर बोले, "क्या ऐसा नहीं है कि अर्जुन की अनुपस्थिति में काम्यक वन हमें असुरक्षित और अवसादपूर्ण लगने लगा था ? क्या यह सत्य नहीं है कि अर्जुन से शीघ्रातिशीघ्र मिलने की उत्कंठा में हम उसी दिशा में बढ़ना चाहते थे, जिससे अर्जुन को लौटना था ? क्या यह भी सत्य नहीं है कि महर्षि लोमश ने हमें तीर्थ-यात्रा का परामर्श दिया था और स्वयं साथ चलकर इन अगम्य तीर्थों के दर्शन कराने का प्रस्ताव रखा था ? क्या यह भी

सत्य नहीं है, कि हमें बारह वर्षों के वनवास का सदुपयोग करना था, और तीर्थ-यात्रा तथा साधना से श्रेष्ठतर उपयोग उसका हो नहीं सकता था ?"

"यह सब कुछ सत्य है धर्मराज !" भीम पर्याप्त प्रखर स्वर में बोला, "किंतु यह भी सत्य है कि मेरे और अर्जुन के होते हुए भी हम दुर्योधन की शस्त्र-शक्ति और सैन्य-बल से यदि भयभीत नहीं, तो आशंकित अवश्य थे। दूसरी ओर यह भी सत्य है महाराज ! कि हमें भय था कि धृतराष्ट्र आपको बुलाकर फिर से द्यूत खेलने का आदेश न दे दें; और आप आज्ञा-पालन करते हुए, द्यूत में अपने शस्त्र भी न हार जाएँ।" भीम रुका, "इन दोनों आशंकाओं के कारण हम हस्तिनापुर से अधिकतम दूरी पर दुर्योधन तथा उसके अनुचरों के लिए अगम्य स्थानों पर रहना चाहते थे। दिव्यास्त्र प्राप्त करने के लिए अर्जुन को देवलोक भेजना भी आवश्यक था; और उसकी अनुपस्थिति में हम और भी असुरक्षित हो गए थे। ऐसे समय में लोमश ऋषि के परामर्श और प्रस्ताव हमारे मन के अत्यंत अनुकूल थे। इसलिए हमने तीर्थ-यात्रा की योजना बनाई।"

"यही सत्य है।" द्रौपदी ने सतेज वाणी में भीम का समर्थन किया, "और यह भी सत्य है कि हम संसार त्यागकर, वैराग्य ग्रहण कर अथवा संन्यास अंगीकार कर जीवन-पर्यन्त यहाँ रहने के लिए नहीं आए थे।"

"उसका तो कोई प्रयोजन ही नहीं है।" सहदेव ने कहा, "पांचाली के केश अभी खुले हैं, मध्यम की गदा अभी पिपासिता है; और हमारी माता, अपना राज्य न होने के कारण हस्तिनापुर में काका विदुर की शरणार्थिनी होकर रह रही हैं।..."

"तो अब हमें क्या करना है ?" युधिष्ठिर ने पूछा, "क्या चाहते हैं सब लोग ?"

"मैं यह कह रहा था," भीम ने चर्चा का सूत्र पुनः अपने हाथ में ले लिया, "कि बृहदश्व मुनि से द्यूत-विद्या का रहस्य जान लेने के पश्चात् अब धर्मराज को शकुनि की, द्यूत-विद्या अथवा धृतराष्ट्र के आदेश से आशंकित रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रथमतः तो उन्हें द्यूत में सम्मिलित ही नहीं होना चाहिए; और यदि किसी कारणवश सम्मिलित होना भी पड़े, तो उन्हें शकुनि अथवा किसी भी धूर्त्त द्यूतकर्मी से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है।" भीम ने रुककर उन सबको देखा, "दूसरी ओर धनंजय द्वारा दिव्यास्त्र प्राप्त कर लेने के पश्चात् अब हमारे लिए दुर्योधन के शस्त्र-बल से भयभीत होने का भी कोई कारण नहीं रह गया है। इसलिए अब गंधमादन पर अपना समय व्यतीत करने, तथा सबकी दृष्टि से छिपकर यहाँ रहने की आवश्यकता भी नहीं है।" भीम ने युधिष्ठिर की ओर देखा, "अब हमें लौट चलना चाहिए।"

"अर्जुन ! तुम क्या कहते हो ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"मध्यम ठीक ही कह रहे हैं।" अर्जुन ने अपनी सहमति प्रकट कर दी, "यहाँ रहते हमें पर्याप्त समय हो गया है। यहाँ रहकर हम दुर्योधन से दूर अवश्य हैं; किंतु इसे हमारा अज्ञातवास नहीं माना जा सकता। दुर्योधन को ज्ञात है कि हम कहाँ हैं, किस रूप में रह रहे हैं; और क्या कर रहे हैं। यहाँ से हम अज्ञातवास में चले जाएँ तो कदाचित् दुर्योधन उसे हमारा अज्ञातवास ही नहीं मानेगा। इस पर हम पहले भी विचार कर चुके हैं। हमें प्रकट होकर, उसकी आँखों के सम्मुख रहकर, फिर अज्ञातवास में जाना है।" अर्जुन ने रुककर युधिष्ठिर की ओर देखा, "फिर हमारे सारथि, हमारे परिचारक, सेवक, रसोइए इत्यादि लोग हमारी प्रतीक्षा कर रहे होंगे···हम उनका इस प्रकार सदा के लिए त्याग तो नहीं कर सकते···।"

"एक बात और भी है," सहदेव का स्वर बहुत सावधान और धीमा था, "उनके पास हमारे लिए अनेक महत्त्वपूर्ण समाचार होंगे।···"

"कैसे समाचार ?" द्रौपदी ने कुछ आश्चर्य से पूछा।

"हमने तीर्थ-यात्रा के लिए चलने से पहले, इतने सारे ब्राह्मणों तथा अन्य नागरिकों को विभिन्न राजाओं की राजधानियों के लिए विदा किया था। उन सबके साथ क्या हुआ, किसे आजीविका मिली, किसे नहीं मिली, किसका सत्कार हुआ; किसका तिरस्कार–ये सारे समाचार भी तो इंद्रसेन और विशोक के पास ही होंगे···"

"तो उन समाचारों का क्या करना है हमको ?" युधिष्ठिर ने कुछ विरोधपूर्ण स्वर में कहा।

सहदेव मुस्कराया, "महाराज ! आपने इस ओर ध्यान नहीं दिया। हमारे लिए ये बहुत महत्त्व के समाचार हैं। इन्हीं समाचारों से हमें ज्ञात होगा कि किस राजसभा में हमारा कितना सम्मान है। वहाँ हमारा कितना सत्कार होगा···"

"पर क्या सहदेव ! हम पहले से ही नहीं जानते हैं कि किस राज सभा में हमारा कितना सम्मान है ?" नकुल बोला, "और क्या दुर्योधन को भी यह ज्ञात नहीं है, कि कौन हमारा मित्र है और कौन शत्रु। उदाहरण के रूप में, यदि मैं कहूँ कि हमारा सब से अधिक स्वागत द्वारका अथवा कांपिल्य में होगा, तो क्या कोई नई बात होगी ?"

"यही तो कह रहा हूँ," सहदेव बोला, "इन स्थानों के विषय में हमें भी सब कुछ ज्ञात है और दुर्योधन को भी। अब हमें उन राजसभाओं को खोजना है, जिनका पता न हमें है, और न दुर्योधन को। और उसका ज्ञान हमें उन सूचनाओं के आधार पर ही हो सकता है, जो विशोक और इंद्रसेन इत्यादि के पास होंगी···।"

"सहदेव ठीक कह रहा है।" युधिष्ठिर ने कुछ आत्मलीन स्वर में कहा, "मैंने जिस समय उन लोगों को विभिन्न राजसभाओं में भेजा था, तो मेरे मन में यह

बात नहीं आई थी कि वे लोग हमारे गुप्तचर प्रमाणित होंगे।"

"गुप्तचर तो नहीं, किंतु वे हमारे लिए सूचना-संग्राहक तो हो ही सकते हैं।" अर्जुन ने कहा।

युधिष्ठिर ने कोई उत्तर नहीं दिया। वे कुछ सोच रहे थे। अन्य लोग प्रतीक्षा करते रहे। अंततः युधिष्ठिर बोले, "तुम लोगों का मत ठीक ही है कि अब हमें वापस लौट चलना चाहिए...किंतु मेरा मन उत्साहपूर्वक, सहर्ष आगे नहीं बढ़ता।..."

"क्यों ?" द्रौपदी के स्वर में जिज्ञासा से अधिक आपत्ति और आपत्ति से भी अधिक रोष था।

"ईश्वर के इस स्वच्छ, पवित्र और सात्विक ऐश्वर्य को त्यागकर, हिंसा और क्रूरता से भरे उन स्थानों को लौट जाना किसे अच्छा लगेगा।" युधिष्ठिर बोले, "यहाँ दिन भर ऋषियों, मुनियों, साधकों और तपस्वियों से ब्रह्मचर्चा होती है, वहाँ दस्युओं, लुटेरों, हत्यारों और हिंसा-जीवी लोगों से संपर्क होगा। ब्रह्म-चर्चा के स्थान पर षड्‌यंत्रों और सांसारिक योजनाओं की चर्चाएँ होंगी। सात्विक लोक से रजोगुणी संसार में लौटना पड़ेगा...।"

भीम के जबड़े भिंच गए। उसे लगा कि वह कोई कठोर बात कह बैठेगा। ...द्रौपदी के चेहरे पर भी कोई बहुत प्रिय भाव नहीं थे। नकुल-सहदेव स्तब्ध-से युधिष्ठिर की ओर देख रहे थे।

"हम आपकी बात समझते हैं महाराज !" अर्जुन ने मधुर स्वर में कहा, "हम अपनी प्रकृति और आपकी इच्छा को देखते हुए आजीवन यहीं वास कर सकते हैं। पांचाली के खुले केशों की भी हम उपेक्षा कर देंगे। हम भूल जाएँगे कि मध्यम ने कोई प्रतिज्ञा की थी। अपनी माता को हम सदा के लिए काका विदुर की शरण में ही छोड़ देंगे। इंद्रसेन तथा विशोक इत्यादि कर्मचारी हमारी प्रतीक्षा से ऊबकर स्वयं ही कहीं और चले जाएँगे..."

भीम का मुख आश्चर्य से खुल गया : यह अर्जुन क्या कह रहा है।...

यदि उसने इस प्रकार का कोई वचन दे दिया, तो धर्मराज को सहमत करना और भी कठिन हो जाएगा।...

"किंतु धर्मराज ! हमारे क्षत्रिय-धर्म का क्या होगा ? दुष्ट-दलन का कार्य यदि महाराज युधिष्ठिर नहीं करेंगे, तो और कौन करेगा ? कृष्ण के धर्म-राज्य के स्वप्न का क्या होगा ?" अर्जुन बोला, "क्या अपनी प्रजा को, जंबूद्वीप के उन असमर्थ, अशक्त तथा कम शक्तिवाले राजाओं को, जिन्होंने आपको सम्राट् मान स्वयं को सुरक्षित अनुभव किया था...उन सब लोगों को, जो सत्य, न्याय और धर्म में आस्था रखते हैं, आप दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण और शकुनि की दया पर छोड़ देना चाहते हैं ?" अर्जुन ने रुककर युधिष्ठिर की ओर देखा, "आप एक क्षण

के लिए भी अपने मन में यह न लाएँ कि मुझे राज्य, भोग, सत्ता अथवा धन-संपत्ति की लालसा है। मुझे यह सब कुछ नहीं चाहिए। मैं धर्म की उपलब्धि में ही सर्वस्व-प्राप्ति का अनुभव करता हूँ।...किंतु महाराज ! भगवान राम ने अपने वनवास-काल में इतने युद्ध किए, इतने अत्याचारियों का वध किया, वह राज्य-प्राप्ति के लिए तो नहीं था। उन्होंने तो अयोध्या का राज्य ही त्याग दिया था, तो किसी अन्य के राज्य के लिए युद्ध क्यों करते। वे तो अत्याचारियों को दंडित कर रहे थे और निरीह प्रजा को आततायियों से बचा रहे थे। आप अपने इस धर्म का भी पालन नहीं करेंगे ? न्याय और धर्म का युद्ध निरीह विदुर काका पर छोड़ देंगे ?..."

"नहीं ! विदुर काका सशस्त्र युद्ध नहीं कर सकते।" युधिष्ठिर जैसे अपने आपसे बोले, "वे राजसभा में नीति-निर्धारण तक ही समर्थ हैं।..."

"तो फिर महाराज ! हम यहाँ बैठे रहेंगे, तो वहाँ दुष्टों को दंड कौन देगा ?" भीम बोला।

युधिष्ठिर चिंतनशील मुद्रा में मौन बैठे रहे। फिर जैसे किसी निर्णय के अंतर्गत वे उठकर खड़े हो गए और आकाश की ओर देखते रहे। अंततः उन्होंने गंधमादन के ऊँचे शिखरों की ओर देखा और हाथ जोड़कर बोले, "शैलेन्द्र ! अपने मन और बुद्धि को संयम में रखनेवाला मैं, अब शत्रुओं को जय कर, अपना अपहृत राज्य पुनः प्राप्त कर, अपने सब कार्य सम्पन्न कर, अपने सहृदयों के साथ पुनः तपस्या के लिए लौटने पर आपके दर्शन करूँगा।..."

30

सुबाहु ने पांडवों का अपनी नगरी की सीमा पर स्वागत किया। उसके साथ उसके मंत्री और सभासद ही नहीं, पांडवों के सारथि और परिचारक इंद्रसेन और विशोक भी आए थे। वे लोग स्वस्थ और प्रसन्न लग रहे थे।

"कैसे हो इंद्रसेन ?"

इंद्रसेन ने युधिष्ठिर के चरण छूकर प्रणाम किया, "आपकी कृपा है महाराज ! किरात नरेश ने हमें बहुत सुविधा और मान के साथ रखा है। आपके ऐसे मित्रों और शुभचिंतकों के होते हुए, आपके सेवकों को किस बात की चिंता।"

"आप बहुत सौभाग्यशाली हैं धर्मराज ! जो आपको ऐसे सेवक और सहायक मिले हैं।" सुबाहु ने कहा, "मेरे पास इंद्रसेन जैसा एक भी सारथि और विशोक जैसा एक भी व्यवस्थापक नहीं है।"

"अब तुम समझ गए होगे मित्र ! कि मैं अपने-आपमें बहुत साधारण व्यक्ति

हूँ; किंतु मेरे इन सहायकों ने मुझे असाधारण वना दिया है।" युधिष्ठिर वोले, "धरती के ऊपर दिखाई देनेवाला वृक्ष का सवल तना तभी तक सवल होता है, जव तक धरती के नीचे छिपी हुई उसकी जड़ें उसका पोषण करती रहती हैं।"

"ठीक कहते हैं महाराज ! सवल जड़ों के विना सवल तना नहीं हो सकता।" सुवाहु ने उत्तर दिया, "इन सवल जड़ों का काफी समय तक निरीक्षण करता रहा हूँ; तभी तो आपकी शक्ति का कुछ आभास पा सका हूँ।"

वे लोग नगर में चले आए। सुवाहु ने उन्हें पृथक् प्रासाद में ठहराया और आवश्यक देखभाल के लिए स्वयं उपस्थित रहा। व्यवस्था हो गई तो वह भी आकर पांडवों के पास वैठ गया।

"मैंने सारी व्यवस्था कर दी है महाराज !" वह धीरे से वोला, "आप दीर्घकाल के लिए सुविधापूर्वक यहाँ रह सकते हैं। मैंने वे सारे स्थान भी सोच लिए हैं, जहाँ आप अज्ञातवास का एक वर्ष व्यतीत करेंगे। अव आप निश्चिंत होकर वनवास का अपना शेष समय यहाँ व्यतीत करें, और फिर यहीं से हस्तिनापुर के लिए जय-यात्रा आरंभ करें।"

"तुम्हारे स्नेह से मैं अभिभूत हूँ मित्र !" युधिष्ठिर वोले, "किंतु हमारा यहाँ रहना संभव नहीं हो पाएगा।"

"क्यों ?" सुवाहु चकित था, "मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यहाँ आपको किसी प्रकार की असुविधा नहीं होगी···।"

"इसीलिए तो हम यहाँ रह नहीं सकते मित्र !" भीम ने हँसकर उसकी वात काट दी, "हमें तो असुविधाओं में ही रहना है।···"

"भीम ठीक कह रहा है किरात नरेश !" युधिष्ठिर वोले, "द्यूत के संदर्भ में हमारी यही प्रतिज्ञा है कि हम वारह वर्षों का वनवास करेंगे। यदि हम इस प्रतिज्ञा को भंग करते हैं, तो धर्मतः हमें पुनः वारह वर्षों का वनवास करना पड़ेगा।···"

"कोई बात नहीं है।" सुबाहु तनिक भी हतप्रभ नहीं हुआ, "मैं आपके रहने की व्यवस्था वन में ही करवा दूँगा।"

"ऐसी किसी भी व्यवस्था पर दुर्योधन आपत्ति कर सकता है।" युधिष्ठिर बोले।

"हम दुर्योधन की ऐसी किसी आपत्ति को स्वीकार नही करेंगे।" सुबाहु आवेश में बोला, "आवश्यकता हुई तो हम वलपूर्वक आपका राज्य दुर्योधन से छीन लेंगे···।"

युधिष्ठिर मुस्कराए, "तुम्हारा सौहार्द मैं समझता हूँ सुबाहु ! किंतु इस समय

मेरा प्रयत्न शांति की रक्षा करने का है। तुम यह समझ लो कि मुझे अपने राज्य से भी अधिक प्रिय शांति है। यदि पाँच पांडवों को आजीवन वन में रहना पड़े और संसार की शांति की रक्षा हो सके, तो भी हम लाभ में ही रहेंगे।…इसलिए इस समय बल-प्रयोग और युद्ध की बात मत करो। हम ये सारे कष्ट इसलिए सहन कर रहे हैं, ताकि संसार की शांति की रक्षा हो सके।…"

"तो आप वनवास का समय अपनी इच्छानुसार व्यतीत कर लें।" सुबाहु ने अपना प्रयत्न नहीं छोड़ा, "उसके पश्चात् अज्ञातवास के लिए आप हमारी नगरी में आ जाएं। मैं वन के अत्यंत सघन भाग में आपके रहने की व्यवस्था कर दूँगा, जहाँ कोई बाहरी व्यक्ति पहुँच ही न पाए। चारों ओर प्रहरियों का ऐसा जाल बिछाऊँगा कि यदि कोई आपके शोध के लिए उधर जाए, तो कभी जीवित न बच पाए।"

युधिष्ठिर जानते थे कि वे सुबाहु का यह आमंत्रण भी स्वीकार नहीं कर सकते; किंतु उनके निषेध से कहीं वह स्वयं को तिरस्कृत अनुभव न करे…स्नेहपूर्ण स्वर में बोले, "मित्र ! मैं हृदय से तुम्हारा कृतज्ञ हूँ कि तुम हमारी सुरक्षा के लिए इतना प्रयत्न कर रहे हो…किंतु कोई भी निश्चय कर लेने से पहले हमें प्रत्येक कोण से विचार कर लेना चाहिए।"

"मैं समझा नहीं।" सुबाहु बोला।

"दुर्योधन के गुप्तचर आरंभ से ही हमारी गतिविधि पर दृष्टि रखे हुए हैं। उनका जाल इतना सघन है कि गंधमादन के एकांत शृंगों पर भी हमें यदि कोई अपरिचित संन्यासी मिल जाता था तो हमारा पहला संदेह यही होता था कि कहीं वह दुर्योधन का कोई गुप्तचर तो नहीं।" युधिष्ठिर बोले, "ऐसे में वे गुप्तचर बहुत भली प्रकार यह जानते हैं कि किस-किस राजसभा और राजा ने हमें प्रेमपूर्वक अपने कंठ से लगाया है। वे हमारे मित्रों से पूर्णतः परिचित हैं। दुर्योधन की गृद्ध-दृष्टि वहाँ लगी हुई है। ऐसे में अपने मित्रों के निकट रहना हमारे लिए सुरक्षित नहीं है। अज्ञातवास के लिए तो हमें वहाँ जाना होगा, जहाँ दुर्योधन की कल्पना भी न जा सके।"

"मैं आपको वचन देता हूँ कि जहाँ मैं आपको रखूँगा, वहाँ दुर्योधन की कल्पना चाहे जाए, उसका कोई गुप्तचर नहीं जा सकेगा।" सुबाहु बोला, "और जब उसका कोई गुप्तचर वहाँ जा ही नहीं सकेगा, तो उसे यह प्रमाण कैसे मिलेगा, कि आप वहाँ हैं।"

"मुझे क्षमा करें किरात नरेश !" अर्जुन बोला, "मेरा विचार है कि दुर्योधन के गुप्तचरों को जहाँ बलपूर्वक जाने से रोका जाएगा, उसका संदेह उसी स्थान पर अधिक संचित होगा…।"

"तो संदेह से क्या हो जाएगा, जब कोई वहाँ पहुँच ही नहीं पाएगा… ?"

सुबाहु अधीरतापूर्वक बोला।

"होगा यह कि दुर्योधन भी वहाँ पहुँचने के लिए बल-प्रयोग करेगा।" अर्जुन बोला।

"तो यहाँ कौन उसके बल से भयभीत बैठा है।" सुबाहु तेजपूर्ण मुद्रा में बोला, "हम उसकी सेना का एक भी सैनिक जीवित नहीं छोड़ेंगे।"

युधिष्ठिर हँस पड़े, "हम तुम्हारी वीरता से पूर्णतः अवगत हैं मित्र ! जानते हैं कि तुम प्राण रहते हम पर आँच नहीं आने दोगे। फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि दुर्योधन का सैन्य-बल इस समय इतना प्रचंड है कि यदि वह सारी सेना ले आए तो उनके खड़े होने मात्र से तुम्हारी संपूर्ण भूमि उनके पैरों तले कुचली जाएगी।…"

"मैं··।" सुबाहु ने कुछ कहना चाहा।

युधिष्ठिर ने अपने हाथ के संकेत से उसे रोक दिया, "मेरी बात सुनो ! यदि तुम यह कहना चाहते हो कि एक-एक किरात, तंगण और कुलिंद अपने प्राण दे देगा; किंतु दुर्योधन को हम तक नहीं पहुँचने देगा, तो भी मैं तुम्हारी बात का विश्वास करूँगा…किंतु यह तो हमारी नीति ही नहीं है। न हम इतनी हिंसा चाहते हैं, न इतना बलिदान। युद्ध ही करना होगा, तो इन बेचारे साधारण सैनिकों के माध्यम से क्यों ? हम पाँचों भाई युद्ध करेंगे।…किंतु अभी हम युद्ध को टालना चाहते हैं…हम शांति चाहते हैं। युद्ध तो अंतिम मार्ग है मित्र ! जब कोई मार्ग नहीं रह जाएगा, तब युद्ध की बात सोचेंगे। तुम्हें रण-निमंत्रण भेजेंगे और अपेक्षा करेंगे, कि तुम हमारी सहायता को आओ।"

"अवसर आने दीजिए धर्मराज !" सुबाहु ने उत्साहपूर्वक कहा, "आप देखेंगे कि हम पीछे हटनेवाले नहीं हैं।…किंतु एक शंका अभी भी मेरे मन में है…।"

"बोलो मित्र ! कैसी शंका है ?" युधिष्ठिर पूर्ण शांति से मुस्करा रहे थे।

"आप वनवास के बारह वर्ष पूरे कर लें; अज्ञातवास का एक वर्ष भी सफलतापूर्वक पूर्ण कर लें," सुबाहु बोला, "तब भी यदि दुर्योधन ने आपका राज्य नहीं लौटाया, तो क्या युद्ध की बात सोचेंगे अथवा तब भी शांति की रक्षा करेंगे…।"

युधिष्ठिर के उत्तर देने से पहले ही भीम बोला, "शांति की रक्षा तो हम तब भी करेंगे।…"

सुबाहु ने चकित होकर उसकी ओर देखा।

"किंतु तब शांति की रक्षा, मेरी इस गदा से होगी।" भीम बोला, "यदि तब भी हम रण-सज्जित नहीं हुए, तो दुर्योधन सारे संसार में अशांति मचा देगा।…"

सुबाहु प्रसन्न हो गया, "यही भाव मेरे मन में भी है। आपने मेरे मन की

बात कह दी।" वह रुका, "धर्मराज ! आपने कदाचित् इस ओर ध्यान नहीं दिया कि सत्ता के केन्द्र में यदि कोई क्रूर और अन्यायी व्यक्ति बैठा हो, तो सारी सृष्टि भय और अशांति से काँपती रहती है। यदि आपके अधिकारों की रक्षा नहीं होगी, तो धर्म और न्याय की रक्षा नहीं हो पाएगी। हम अपने सिंहासनों पर बैठे भी पीड़ित रहेंगे और प्रजा उत्पीड़ित रहेगी। इसलिए हमारा अपना स्वार्थ इसमें है कि आपके अधिकारों की रक्षा हो, ताकि धर्म की रक्षा हो और प्रजा शांति से रह सके।..."

"हम भी प्रजा की शांति की रक्षा का ही प्रयत्न कर रहे हैं मित्र !" युधिष्ठिर ने स्नेहपूर्वक उसके कंधे पर अपना हाथ रखा।

"अच्छा ! एक बात और !" सुबाहु धीरे से बोला, "यद्यपि यक्षराज कुबेर, महावीर भीम से कुछ प्रसन्न नहीं हैं; किंतु गंधर्वराज चित्रसेन, मैं तथा पार्वत्य प्रदेश के कुछ अन्य राजा सहमत हैं कि आपकी और आपके अधिकारों की रक्षा बहुत आवश्यक है। हम यह भी मानते हैं कि अब तक आप लोग हमारे क्षेत्रों में विचर रहे थे, इसलिए दुर्योधन के सैनिक-आक्रमण का भय आपको नहीं था। अब समतल क्षेत्रों के जिन वन्य-प्रदेशों में आप यह शेष समय व्यतीत करेंगे, वे दुर्योधन की प्रहारक शक्ति के भीतर हैं। इसलिए अपनी मैत्री के आग्रह-स्वरूप हम प्रकट अथवा प्रच्छन्न रूप से आप लोगों के निकट बने रहेंगे और दुर्योधन की ओर से किसी प्रकार का आक्रमण होने पर, आपकी सुरक्षा के लिए हम बल-प्रयोग भी कर सकते हैं।..."

"यह तुम्हारा सौहार्द है मित्र !" युधिष्ठिर बोले, "किंतु उसकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। तुम समझते हो कि मेरे इन चारों भाइयों के होते हुए हमें शत्रुओं से किसी प्रकार का भय है ?"

सुबाहु हँस पड़ा, "मैं आपके महावीर भाइयों की अवमानना कैसे कर सकता हूँ। आपको अपने शत्रुओं से सचमुच कोई भय नहीं है; किंतु कुछ ऐसे लोग हैं, जो आपके शत्रु हैं; और आप उन्हें अपना शत्रु नहीं मानते। उनसे आप अपनी रक्षा नहीं करेंगे। संभव है, वहाँ हमें हस्तक्षेप करने की आवश्यकता पड़े। आपको आपके अपने ही संबंधियों से बचने की आवश्यकता है। द्यूत-सभा में भी सब आपके अपने ही थे; किंतु कितना अपमान हुआ आपका। यदि वहाँ हम जैसा कोई पराया होता, तो कदाचित् आपका इतना अपमान न होता।..."

"तो तुम हमारे अदृश्य अंगरक्षक हो।" युधिष्ठिर हँस पड़े।

सुबाहु और उसके मंत्री लौट गए।

अब पांडव और उनके कर्मचारी पूर्णतः एकांत में थे।

"इंद्रसेन ! क्या समाचार है ?" द्रौपदी ने पूछा, "मेरे पुत्र कैसे हैं–कांपिल्य में ? द्वारका में ? शुक्तिमती में ? काशी में ? बच्चों का क्या समाचार है ?"

"महारानी ! राजकुमार स्वस्थ हैं, सानन्द हैं।" इंद्रसेन बोला, "किंतु पाँचो राजकुमार कांपिल्य से द्वारका चले गए हैं। अब आपका कोई पुत्र कांपिल्य में नहीं है।"

"क्यों ?" द्रौपदी के चेहरे पर अनेक आशंकाएँ प्रकट हुईं, "ऐसा क्या हो गया कि राजकुमार कांपिल्य छोड़ गए ? क्या अपने मातुल अथवा मातामह से उनका मतभेद हो गया ?..."

"नहीं ! ऐसा कुछ नहीं हुआ महारानी। सब ओर कुशल है।" इंद्रसेन बोला, "राजकुमार द्वारका गए हैं शस्त्र-प्रशिक्षण के लिए। वे लोग वासुदेव कृष्ण से, महावीर सात्यकि से, महावीर प्रद्युम्न और सांब से शस्त्र-शिक्षा ग्रहण करेंगे..।"

"तुमने द्वारका के महावीर प्रशिक्षकों में मेरे गुरु वासुदेव बलराम का नाम नहीं लिया।" भीम ने कहा, "कोई विशेष कारण ?"

"कारण तो मैं नही जानता।" इंद्रसेन बोला, "बस वार्तालाप में कभी उनकी चर्चा नहीं हुई।"

"राजकुमार किसकी इच्छा से द्वारका गए हैं–अपनी, धृष्टद्युम्न की अथवा केशव की ?" द्रौपदी ने पूछा।

"यह तो मुझे ज्ञात नहीं है महारानी ! किंतु इतना आश्वासन अवश्य दे सकता हूँ कि कहीं कोई मतभेद नहीं है। राजकुमारों ने रुष्ट होकर कांपिल्य नहीं छोड़ा है। जो भी हुआ है, सबकी सहमति से ही हुआ है।"

"सब ठीक है पांचाली ! तुम चिंता मत करो।" युधिष्ठिर बोले, "द्वारका भी तो उनका ननिहाल है। वहाँ स्वयं सुभद्रा वर्तमान है।"

"नहीं ! मैं ऐसा कुछ नहीं सोच रही।" द्रौपदी बोली, "सुभद्रा उनकी देखभाल मुझसे अच्छी ही करेगी।"

"और क्या समाचार है ?" अर्जुन ने पूछा।

"वासुदेव कृष्ण और दुर्योधन एक-दूसरे के समधी हो गए हैं ?" विशोक बोला।

"क्या ?" भीम का स्वर सबसे ऊँचा था।

"कुमार सांब ने लक्ष्मणा का हरण कर लिया था। दुर्योधन ने सांब को बंदी बना लिया था। महावीर बलराम आकर सांब और लक्ष्मणा को अपने साथ ले गए थे।..."

"युद्ध नहीं हुआ ?" भीम ने पूछा।

"बलरामजी ने होने नहीं दिया। उन्होंने वासुदेव कृष्ण को आश्वासन दिया कि वे सांब को सुरक्षित लौटा लाएँगे, इसलिए व्यर्थ के रक्तपात का क्या लाभ ?"

"बलरामजी को दुर्योधन से बहुत प्रेम हो गया लगता है।" भीम ने वितृष्णा के स्वर में कहा, "यदि कृष्ण ने सुभद्रा-हरण के प्रसंग में उन्हें अर्जुन पर आक्रमण करने नहीं दिया, तो उन्होंने लक्ष्मणा-हरण के अवसर पर कृष्ण को दुर्योधन पर आक्रमण करने से रोक दिया। बलरामजी समीकरण तो अच्छा बना रहे हैं।..."

"भीम ! तुम व्यर्थ के संदेहों और आशंकाओं को मन में पोषित मत करो।" युधिष्ठिर बोले, "यदि बलरामजी ने दुर्योधन को अपना समधी मानते हुए, उस पर कृष्ण को आक्रमण नहीं करने दिया, व्यर्थ का रक्तपात नहीं होने दिया, शांति की रक्षा की तथा सांब और लक्ष्मणा को सुरक्षित वापस ले गए तो तुम्हें क्या आपत्ति है।..."

"महाराज क्षमा करें।" विशोक अत्यंत विनीत भाव से बोला, "राजकुमार का संदेह कुछ-कुछ सत्य भी है। यादवों में अपने मतभेद कुछ अधिक ही बढ़ते हुए दिखाई देते हैं। मनोमालिन्य का प्रसार ही हो रहा है। बलरामजी, वासुदेव कृष्ण का विरोध चाहे न करते हों, किंतु उनके उस प्रकार के समर्थक वे नहीं रहे हैं, जैसे पहले थे। सात्यकि ययुधान और कृतवर्मा का विरोध कुछ अधिक ही बढ़ गया है। कृष्ण से दोनों ही प्रेम करते हैं; किंतु एक-दूसरे को वे एक आँख नहीं भाते।..."

"कारण ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"उन लोगों में मतभेद तो स्यमंतक मणि की चोरी की घटना से ही आरंभ हो गए थे; अब समृद्धि और सत्ता के कारण ईर्ष्या और अहंकार भी आ मिले हैं। श्रीकृष्ण ने कृतवर्मा को चाहे क्षमा कर दिया हो; किंतु ययुधान सात्यकि अब भी कृतवर्मा को सत्राजित का हत्यारा मानते हैं; और उसे जताने से नहीं चूकते। शतधन्वा के वध के पश्चात् बलराम जी ने श्रीकृष्ण पर संदेह किया था और उन से छिटक कर उनके शत्रुओं के निकट क्या गए; तब से वे दुर्योधन के निकटतर होते जा रहे हैं। मुझे यह नहीं लगता कि युद्ध की स्थिति में श्रीकृष्ण से प्रेम करते हुए भी, वे दुर्योधन के विरुद्ध लड़ पाएँगे...।"

"बलराम तो बलराम !" भीम बोला, "मुझे तो संदेह है कि कृष्ण भी अपने समधी के विरुद्ध लड़ पाएगा या नहीं..."

"ऐसी बात मत कहो मध्यम !" अर्जुन ने तत्काल विरोध किया, "कृष्ण सदा धर्म के पक्ष में हैं। वे गुण देखते हैं, गोत्र नहीं। यदि धर्म हमारी ओर है तो कृष्ण भी हमारी ओर हैं, निश्चिंत रहो।...और सात्यकि मेरा प्रिय शिष्य रहा है। वह भी हमारे ही पक्ष में रहेगा।"

"धनंजय ठीक कह रहे हैं," इंद्रसेन बोला, "और सात्यकि के विरोध के कारण कृतवर्मा हमारे पक्ष में नहीं होगा।"

"अरे, तुम लोग तो इस प्रकार बातें कर रहे हो, जैसे हम युद्ध-क्षेत्र में जा

रहे हैं।" युधिष्ठिर बोले, "अभी तो हमारा वनवास का काल है, अज्ञातवास का एक वर्ष है।...उसके पश्चात् यदि दुर्योधन हमारा राज्य न लौटाए, तब हमें सैन्य-बल के प्रयोग की चर्चा करनी चाहिए।"

"महाराज ठीक कह रहे हैं।" अर्जुन बोला, "किंतु यादवों की अंतर्कलह हमारे लिए चिंताजनक विषय है। उनकी एकता, उनकी शक्ति के लिए ही नहीं, हमारी शक्ति के लिए भी आवश्यक है।..."

"एक और सूचना है महाराज !" विशोक बोला, "कृतवर्मा और कुछ अन्य लोगों के कारण यादवों में एक और विभाजन भी दिखाई देने लगा है। उनका बल वृष्णि, अंधक और भोज होने पर अधिक है यादव होने पर कम। आप जानते हैं कृतवर्मा भोजकुल से संबंधित है और सात्यकि वृष्णि वंश से।..."

"यह कैसी बात !" युधिष्ठिर के मुख से जैसे अनायास निकला, "इस प्रकार के विभाजनों और उपविभाजनों से किसको लाभ होगा।"

"वे लोग व्यक्तिगत राग-द्वेष को जातीय राग-द्वेष बनाने पर तुले हुए हैं महाराज ! यदि सारे यादव कृष्ण के नेतृत्व में एक साथ रहें तो कृष्ण के प्रिय शिष्य के रूप में सात्यकि अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। कृतवर्मा को वह महत्त्व नहीं मिल सकता। यदि यादव लोग वृष्णि, भोज और अंधक कुलों में बँट जाते हैं, तो कृष्ण और सात्यकि केवल वृष्णि वंश का नेतृत्व कर सकते हैं और भोज कुल का नेतृत्व कृतवर्मा के हाथ में आ जाएगा।..."

पाँचों पांडव जैसे स्तब्ध रह गए। क्या यह भी संभव है...

"जो कृष्ण सारी मानवता के नेता ही नहीं उद्धारक हैं, वे केवल वृष्णि वंश के अगुवा होकर रह जाएँगे !" द्रौपदी जैसे कोई दुःस्वप्न देख रही थी, "क्या भोज कुल को यह समझ में नहीं आएगा कि यह उनके अपने हित में नहीं है।"

"घृणा का विष सरलता और वेग से प्रसारित-प्रचारित होता है; प्रेम का संदेश मंथर-गति से चलता है।" अर्जुन बोला, "समझ लो भोज भी जागेंगे और वृष्णि भी, किंतु तब तक शायद बहुत विलंब हो चुका होगा। यदि इस पर तत्काल नियंत्रण न किया गया तो यादवों की सारी सत्ता और समृद्धि धूल में मिल जाएगी।"

"मुझे तो लगता है तुम व्यर्थ चिंतित हो रहे हो," युधिष्ठिर ने अपने भाइयों की ओर देखा, "तुम लोग कृष्ण को इतना असमर्थ मानते हो कि वे यादवों को एक साथ बाँधकर भी नहीं रख सकेंगे।"

"मुझे संदेह कृष्ण के सामर्थ्य में नहीं है।" अर्जुन धीरे से बोला, "किंतु मैं मनुष्य की ईर्ष्या और लोभ के सामर्थ्य को भी जानता हूँ। लोभी व्यक्ति अपनी मूर्खता में अपने संपूर्ण समाज को नष्ट कर देता है..."

युधिष्ठिर के चेहरे से स्पष्ट था कि वे इन सूचनाओं के आधार पर यादव समाज के भविष्य की चर्चा करना नहीं चाहते थे। उन्होंने इंद्रसेन की ओर देखा,

"हमारे भेजे हुए लोगों को किस राजसभा में सबसे अधिक सत्कार मिला ?"

"वह तो आप समझ ही सकते हैं महाराज !" इंद्रसेन ने उत्तर दिया, "कांपिल्य और द्वारिका में किसी को कोई कठिनाई नहीं हुई। अन्य स्थानों पर भी प्रायः जीविका मिल ही गई किंतु सबसे विचित्र घटना विराट् नगर में हुई है महाराज !"

"क्या हुआ ?" द्रौपदी ने पूछा।

"महारानी ! विराट् नगर में राजा ने प्रायः सारे ही लोगों को नियुक्ति का आश्वासन दे दिया था। जब प्रत्येक व्यक्ति मन में आश्वस्त हो चुका था, उस समय उन्हें सूचना दी गई कि उनके लिए विराट् नगर में कोई स्थान नहीं है। लोग चकित भी हुए और दुःखी भी; किंतु क्या कर सकते थे। कोई राजा अपना वचन इस प्रकार तोड़ देगा, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। लोग राजा को बुरा-भला कहते हुए चले गए। किंतु, बाद में मिली सूचनाओं के आधार पर, मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि राजा विराट् ने अपना वचन भंग नहीं किया। वे तो अपने वचन पर अडिग थे; किंतु अपने सेनापति के सम्मुख उनकी एक नहीं चलती और उनका सेनापति यह नहीं चाहता था कि धर्मराज की सभा से आया कोई व्यक्ति विराट् नगर में आश्रय पाए। बड़ी विचित्र स्थिति है महाराज ! कि राजा होकर भी सत्ता उनके पास नहीं, उनके सेनापति के पास है, और वह दुष्ट, अपने राजा का मान रखना भी आवश्यक नहीं समझता।"

युधिष्ठिर गंभीर हो गए थे जैसे मन-ही-मन कोई योजना बना रहे हों। कुछ क्षणों के पश्चात् उन्होंने इंद्रसेन की ओर देखा, "इंद्रसेन अब तुम लोग जाकर विश्राम करो। कल यहाँ से प्रस्थान की तैयारी करनी है। सबको सूचना दे दो और पशुओं की भी आवश्यकताओं और अपेक्षाओं की व्यवस्था कर लो।"

"यह मत्स्यराज का क्या रहस्य है भीम ?"

भीम जैसे मन-ही-मन कुछ देर तक रस लेता रहा और फिर कुछ इस प्रकार धीरे से बोला जैसे कोई रहस्यपूर्ण सूचना दे रहा हो, "मत्स्यराज विराट् का सेनापति उनकी पटरानी का भाई कीचक है महाराज ! जब मत्स्यराज समर्थ रहे होंगे, तब उन्होंने अपने साले को आश्रय दिया होगा। अब मत्स्यराज की अवस्था अधिक हो चुकी है। वे पहले के समान दुर्धर्ष योद्धा नहीं रहे हैं। उनकी संतान, वृद्धावस्था की संतान है। युवराज उत्तम अभी छोटा है। बहुत होगा, तो हमारे अभिमन्यु की अवस्था का होगा। उससे छोटी एक कन्या भी है। सैन्य-संचालन के लिए उन्हें कीचक पर ही निर्भर रहना है। संयोग से कीचक ने कुछ युद्ध जीत लिए हैं, इसलिए वह स्वयं को योद्धा और वीर भी मानने लगा है। उसकी महत्वाकांक्षाएँ भी जाग उठी हैं। वह वृद्ध राजा और किशोर राजकुमार का दमन कर राज्य का सर्वेसर्वा

बन गया है।..."

"महारानी की अवस्था क्या है ?" द्रौपदी ने पूछा।

"अपने पति की तुलना में वे अभी युवती ही हैं।" भीम ने बताया।

"तो मत्स्यराज, महाराज शांतनु के समकक्ष हो गए।" नकुल ने कहा।

"प्रायः वैसी ही स्थिति है।" भीम ने उत्तर दिया।

"वह सब ठीक है।" युधिष्ठिर को अपने भाइयों द्वारा महाराज शांतनु की इस रूप में चर्चा, सुखद नहीं लग रहीं थी, "किंतु राजा द्वारा नियुक्त व्यक्तियों के इस प्रकार तिरस्कार का औचित्य क्या है ?"

"मैं यह समझता हूँ कि अपने इस व्यवहार से वह मत्स्यराज पर मानसिक दबाव बनाए रखना चाहता होगा।" अर्जुन ने कहा, "उसके अपने अहं की तुष्टि के लिए भी यह आवश्यक है।"

"वह तो है ही।" सहदेव बोला, "प्रशासन की दृष्टि से भी, वह नहीं चाहता होगा कि राजा द्वारा नियुक्त कोई व्यक्ति राजसभा में ठहरे, क्योंकि राजा द्वारा नियुक्त किया गया व्यक्ति, राजा के प्रति ही निष्ठावान होगा। उससे राजा का बल बढ़ेगा और सेनापति दुर्वल होता जाएगा..."

"यह कीचक तो बकासुर का ही भाई हुआ।" नकुल बोला, "वरन् उससे भी कहीं बढ़कर ! वह प्रजा को खा रहा था; यह तो प्रजा, राजा और राज्य–सबको खा रहा है।"

"क्या हम मत्स्यराज की कोई सहायता नहीं कर सकते ?" द्रौपदी की मनोकामना अनायास ही उसके अधरों पर आ गई।

"अभी तो शायद स्थिति बहुत अनुकूल नहीं है।" युधिष्ठिर किसी गंभीर चिंता में थे, "किंतु अवसर आने पर देखा जाएगा कि कितनी सहायता हम कर सकते हैं और कितनी सहायता वे हमारी कर सकते हैं।"

31

"भाभी ! तुम्हारे पुत्रों का समाचार आया है।" विदुर ने कुंती के सामने पड़ते ही कहा, "वे लोग हिमालय-क्षेत्र से नीचे उतरकर, सकुशल विशाखयूप वन में आ गए हैं।"

कुंती चुपचाप विदुर के मुख की ओर देखती रही : विदुर को जो कुछ भी कहना है, कह ले। किंतु, जव विदुर ने कुछ नहीं कहा, तो वह धीरे से वोली, "वस ?"

" 'वस' का अर्थ ?" विदुर ने कुछ चकित होकर पूछा।

"बस, इतना ही समाचार आया है, या कुछ और भी ?" कुंती ने पूछा।

"समाचार तो एक प्रकार से इतना ही आया है, किंतु कुरुओं की राजधानी में उसके साथ बहुत कुछ जुड़ गया है।"

"क्या जुड़ गया है, उसके साथ ?" कुंती की उत्सुकता कुछ अधिक ही प्रबल हो उठी थी।

"वह 'बहुत कुछ' जो जुड़ गया है, उसी को तो राजसभा कहते हैं।" विदुर धीरे से बोले और पारंसवी की ओर मुड़े, "कहाँ बैठने की व्यवस्था कर रही हो पारंसवी ? एक बार बैठकर, विस्तार से भाभी को सब कुछ सुना दूँ।...और हाँ ! तुम भी सुन लो। अपनी प्रबंध-पटुता प्रमाणित करने के लिए, बीच में इधर-उधर मत आती-जाती रहना। मैं दुबारा कुछ नहीं सुनाऊँगा।"

"उद्यान में व्यवस्था कर रखी है।" पारंसवी बोली, "भाभी को जो स्थान प्रिय है, वहीं बैठें।...और मैं तो आपकी सेवा के लिए ही भागती-दौड़ती हूँ, अन्यथा इस वृद्धावस्था में मुझे क्या पड़ी है कि क्लांत शरीर को इतना कष्ट दूँ।"

विदुर कुछ नहीं बोले। वे जैसे मन-ही-मन उन सूचनाओं का रस-पान कर रहे थे, जो वे सुनकर आए थे; और जो वे कुंती और पारंसवी को सुनाने जा रहे थे।

उद्यान में रखे गए आसनों पर बैठकर विदुर ने उन दोनों की ओर देखा।

"हाँ विदुर !" कुंती बोली।

"भाभी, राज्य के गुप्तचरों ने राजसभा में सार्वजनिक रूप से यह सूचना दी है कि पांडव किरातराज सुबाहु के राज्य से होते हुए, विशाखयूप वन में आ गए हैं।" विदुर ने कहना आरंभ किया, "इतना सुनना था कि महाराज धृतराष्ट्र के मुख से अनायास ही उच्छ्वास निकल गया, 'क्या पांडव हिमालय के उन शीत प्रदेशों से जीवित और सकुशल लौट आए ?' उनके स्वर में उनकी हताशा को कोई भी भाँप सकता था। पितृव्य भीष्म के भ्रू कुछ तन गए। उनकी वाणी में प्रतिवाद आ गया, 'क्या महाराज इस बात से अप्रसन्न हैं कि उनके पुत्र उन कठिन प्रदेशों से सकुशल लौट आए हैं।' धृतराष्ट्र ने तत्काल रंग बदला और बोले, 'नहीं ! नहीं !! मैं तो अत्यन्त प्रसन्न हूँ कि वे सकुशल लौट आए हैं। मेरे वक्ष पर से तो जैसे पर्वत जैसा बोझ हट गया है। मेरे ईश्वर ही जानते हैं कि मैं उनके हिमालय-यात्रा के निर्णय से कितना चिंतित और कितना आशंकित था। मैंने कभी नहीं चाहा कि वे उन संकटपूर्ण स्थानों पर जाएँ। वहाँ सूर्यदेव का ताप नहीं होता, अग्निदेव की प्रचंडता क्षीण हो जाती है, पवनदेव की गति दुर्गम हो जाती है, हिमशृंग टूट-टूटकर गिरते हैं और धरती फट जाती है। पांडवों को किसने यह परामर्श दिया था कि वे वहाँ जाएँ।...मैं ही जानता हूँ कि ये दिन मैंने कैसे काटे हैं। जब कभी पांडवों का ध्यान आता था, मेरा हृदय धक्-सा रह जाता था'...?"

"कैसा निर्लज्ज और झूठा है यह व्यक्ति !" पारंसवी स्वयं को रोक नहीं पाई।

विदुर हँसे, "कितना बदल गया है युग ! इसी हस्तिनापुर का राजा धर्म का साक्षात् रूप होता था और अब उसके स्थान पर उसी राजसिंहासन पर वह व्यक्ति बैठा है, जो यह मानता है कि राजनीति का अर्थ ही है मिथ्या, झूठ, पाखंड, अधर्म ! जिस निर्लज्जता से राजा झूठ बोलता है, उसी निर्लज्जता से सभासद् उसे धर्मावतार मानकर उसकी करुणा की प्रशंसा करते हैं। सत्ता का केन्द्र ही असत्य पर खड़ा है...।"

"फिर क्या हुआ विदुर ?" कुंती ने विदुर को बीच में ही टोक दिया।

विदुर ने जैसे स्वयं को पुनः व्यवस्थित कर, कहना आरंभ किया, "तब तक महाराज को एक और मार्ग सूझ गया। बोले, 'मैं तो जन्म से ही दृष्टिहीन हूँ। हस्तिनापुर से बाहर कहीं गया नहीं। मेरा सारा ज्ञान तो सुनी-सुनाई बातों पर ही आधृत है। इसी से धोखा खा गया। मेरे पुत्र न मूर्ख हैं, न आत्मघाती। वे निश्चित् रूप से ऐसे स्थानों को नहीं चुनेंगे, जहाँ इस प्रकार का जोखिम हो। तो फिर उनके विरुद्ध मेरे कान क्यों भरे गए ? क्यों मेरा मन उनकी ओर से कटुता से भरा गया ? क्यों मुझे यह बताया गया कि वे स्थान इतने जोखिम भरे हैं ?' कोई नहीं जानता था कि यह सारा रोष किसके विरुद्ध था। यह भी संभव है कि यह सब मात्र लीपा-पोती थी। जो कुछ आरंभ में उनके मुख से सहज रूप से निकल गया था; यह सब उसकी क्षतिपूर्ति थी। किंतु तब शकुनि ने अपनी बुद्धिमत्ता जताई। उसने महाराज की जय पुकारकर कहा, 'महाराज ! वे स्थान मानवों के लिए तो दुर्गम क्या अगम्य ही हैं। वहाँ तो गंधर्व, किन्नर, यक्ष और राक्षस ही जा सकते हैं।' तो धृतराष्ट्र ने जैसे उसे ललकार कर पूछा, 'तो क्या मेरे पुत्र राक्षस हैं, जो वहाँ गए भी और सकुशल लौट भी आए ?' शकुनि उससे तनिक भी हतप्रभ नहीं हुआ। पूर्ण आत्मविश्वास के साथ बोला, 'वे स्वयं राक्षस नहीं हैं महाराज ! किंतु उन्होंने इस यात्रा में राक्षसों की सहायता तो ली ही है।' 'वह कैसे ?' धृतराष्ट्र ने पूछा। 'घटोत्कच के माध्यम से महाराज !' शकुनि ने कहा, 'घटोत्कच और उसके मित्र राक्षस, आकाश-मार्ग से यात्रा करते हैं महाराज ! वे आकाश पर ऐसे उड़ते हैं, जैसे कोई गरुड़ उड़ता है। उन्होंने पांडवों और पांचाली को अपनी पीठ पर बैठा लिया था। वे लोग इस यात्रा की अवधि में उनके साथ रहे और जहाँ-जहाँ पांडव चाहते रहे, वे उन्हें ले जाते रहे यही कारण है कि पांडव, यह सारी यात्रा कर, सकुशल लौट आए, अन्यथा यह यात्रा किसी मानव के वश की बात नहीं है महाराज।' "

"विदुर ! क्या सचमुच घटोत्कच अपने साथियों के साथ मेरे पुत्रों की सहायता के लिए हिमालय-क्षेत्र में गया था ?" कुंती ने पूछा।

"हाँ भाभी। वह अपने मित्रों के साथ उनसे मिलने और उनका कुशल-समाचार लाने गया था।" विदुर बोले।

"तुम्हें यह सूचना कहाँ से मिली ?" कुंती ने पूछा।

"जहाँ से दुर्योधन को मिली।" विदुर हँसे, "वृकोदर-क्षेत्र से, दुर्योधन के गुप्तचर यह सूचना लाए हैं। वहाँ सब लोग इस बात को जानते हैं कि घटोत्कच अपनी माता हिडिंबा की आज्ञा से अपने पिता का कुशल-समाचार जानने के लिए हिमालय के दुर्गम क्षेत्रों तक हो आया है। उनके लिए इसमें कुछ भी गोपनीय नहीं है।"

"तो इन लोगों ने हिडिंबा के चारों ओर भी अपने गुप्तचर फैला रखे हैं ?" कुंती मानों स्वयं अपने-आपसे कह रही थी।

"दुर्योधन का विचार है भाभी ! कि पांडव अपने अज्ञातवास के लिए घटोत्कच की शरण में ही जाएँगे। इसलिए वह अभी से उन पर दृष्टि रखे हुए है।" विदुर ने बताया।

"तो क्या घटोत्कच सचमुच गरुड़ के समान आकाश पर उड़ता है ?" सहसा पारंसवी ने पूछा।

विदुर ने ठहाका लगाया, "कैसी मूर्खता की बातें कर रही हो पारंसवी ! कहीं मनुष्य भी आकाश पर पक्षी के समान उड़ सकता है ?"

"पर वह तो राक्षस है न !" पारंसवी बोली।

"राक्षस है का क्या अर्थ ? उसकी भुजाओं के स्थान पर पंख हैं क्या ? सिर पर सींग हैं ? या मुख से भयानक दाँत बाहर निकले हुए हैं ?" विदुर हँस रहे थे, "है तो वह मनुष्य ही। विभिन्न प्रदेशों में रहने से, विभिन्न मानव-जातियों में जन्म लेने से तथा विभिन्न प्रकार के जीवन-दर्शन अपना लेने से, मनुष्य-समूहों के नाम तो भिन्न हो सकते हैं, उनकी क्षमताओं में भेद नहीं होता। घटोत्कच भीम का पुत्र है; यदि भीम आकाश पर नहीं उड़ सकता, तो घटोत्कच कैसे उड़ सकता है ?"

"तो फिर ये लोग ऐसी कपोल कल्पित कथाएँ क्यों सुनाते हैं ?" पारंसवी ने अपना बचाव किया।

"यह तो वे लोग ही जानें, जो ऐसी कथाएँ सुनाते हैं;" विदुर बोले, "किंतु मेरा अनुमान है कि दुर्योधन के पक्ष के कुछ लोग पांडवों के विषय में ऐसा मिथ्या-प्रचार कर रहे हैं। कदाचित् उनका लक्ष्य यह सिद्ध करना है कि पांडव स्वयं तो सर्वथा सामर्थ्यहीन और अशक्त हैं; किंतु उन्हें विभिन्न प्रकार की अतिप्राकृतिक सहायता मिल जाती है, इसी कारण से वे कुछ साहसपूर्ण तथा असाधारण कार्य करने में समर्थ हो जाते हैं।"

"किंतु उनके इस मिथ्या-प्रचार का प्रभाव उनके लक्ष्य के विपरीत भी तो

हो सकता है।" पारंसवी बोली, "इन कपोल कल्पित कथाओं को सुनकर मेरा मन तो यही प्रभाव ग्रहण करता है कि पांडव इतने धर्मनिष्ठ, इतने महान्, इतने सामर्थ्यवान और शक्तिशाली हैं कि अतिप्राकृतिक शक्तियाँ उनकी मित्र बन जाती हैं। ऐसे में बेचारे धर्तराष्ट्र क्या खाकर उन पांडवों से युद्ध करेंगे।..."

विदुर उच्च स्वर में हँसे और हँसते चले गए। जब स्वयं को कुछ सँभाल पाए तो बोले, "लो देखो भाभी ! तुम्हारी इस देवरानी ने तो अपनी सरलता में उस कपटी शकुनि को ऐसी पटकनी दी है कि वह बापुरा पूर्णतः धराशायी हो गया। वह चला था पांडवों को असमर्थ बनाने और तुम्हारी देवरानी ने उन्हें अतिसामर्थ्यवान् बना दिया।..."

"यही तो प्रकृति की लीला है विदुर !" कुंती सहास बोली, "अपनी अति धूर्तता में चतुर लोग जिस सामान्य जन को मूर्ख बनाने का प्रयत्न करते हैं, वे ही सामान्य जन अपनी सरलता की कसौटी पर कस, धूर्तता को लौटाकर चतुरों को झोली में डाल देते हैं।"

"भाभी तुम्हें एक और रोचक प्रसंग सुनाऊँ।" विदुर बोले, "पहले सोचा था उसकी चर्चा तुमसे नहीं करूँगा कि कहीं तुम भयभीत न हो जाओ; किंतु अब मैंने अपना विचार बदल दिया है।"

"क्या तुमने मुझे भयभीत करने का निश्चय किया है विदुर ?" कुंती तनिक भी आशंकित दिखाई नहीं पड़ रही थी।

"नहीं ! अब मैं समझ गया हूँ कि तुम उससे भयभीत नहीं होगी।" विदुर बोले।

"वह कौन-सी कथा है ?" पारंसवी, कुंती से भी कुछ अधिक उत्सुक दिखाई पड़ रही थी।

"इधर एक कथा और भी प्रचारित की गई है।" विदुर बोले, "गुप्तचर यह सूचना लाए थे कि विशाखयूप वन में पहुँचने पर पांडवों ने यह पाया कि वन में हिंस्र जंतु कुछ अधिक ही संख्या में थे। परिणामतः न तो वनचर लोग सुखी थे, न तपस्वियों को तपस्या करने की सुविधा थी। निरीह जीव-जंतु भी निर्भय विचरण नहीं कर पाते थे...और तो और वृक्षों पर लगे फलों को प्राप्त करना भी वनचरों के लिए कठिन हो गया था, क्योंकि वृक्ष पर सर्प टँगे दिखाई देते थे..." विदुर रुके, "पांडवों ने निश्चय किया कि द्वैतवन में जाने से पहले वे लोग कुछ समय तक इसी वन में रहें और इन हिंस्र पशुओं तथा जीव-जंतुओं का नाश करें, ताकि वनचर, तपस्वी और निरीह पशु-पक्षी सुख और शांति से अपना-अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकें। इसी निश्चय के अनुकूल पांडवों ने उस वन में आखेट आरंभ किया। भीम को तो तुम जानती ही हो भाभी।" विदुर ने कुंती के चेहरे पर एक दृष्टि डाली, "वह सबसे अधिक निर्भय होकर वन में विचरने लगा और आखेट

करने लगा। उसकी तो स्थिति यह थी कि मानव-निवास के निकट के क्षेत्र को हिंस्र पशुओं से शून्य करने के स्थान पर, वह हिंस्र पशुओं में घुसकर उन्हें मारने लगा। उसकी निर्भीकता कहो, दुस्साहस कहो, अथवा उसका अहंकार कि वह सर्पो की बांबियों को फोड़कर सर्प बाहर निकालकर उन्हें मारने लगा। इसी संदर्भ में वह कथा है। सुनाऊँ ?" विदुर रुक गए।

"सुनाइए न !" पारंसवी बोली।

"मैं भाभी से पूछ रहा हूँ।"

"हाँ ! हाँ ! ! सुनाओ।"

"एक दिन भीम इसी प्रकार आखेट कर रहा था कि मध्याह्न हो गया। ताप और श्रम से वह कुछ शिथिल हो गया था, इसलिए एक गह्वर में घुसकर बैठ गया। सोचा था, थोड़ा विश्राम करके उठ जाएगा; किंतु उसे नींद आ गई और वह सो गया। अपनी उस क्लांति में उसने यह विचार नहीं किया था कि वह कोई सामान्य प्राकृतिक गह्वर नहीं था। वह एक बड़े दीर्घाकार अजगर का विश्राम-स्थल था, जहाँ वह वर्षों से रह रहा था। अजगर लौटा तो उसने अपने आवास में भीम को सोया हुआ पाया। उसे आज कोई आहार भी नहीं मिला था। भूखा भी था और क्षुब्ध भी ! भीम को अपने गह्वर में सोया हुआ देखकर वह प्रसन्न हो गया। उसने तत्काल भीम को अपने गुंजलक में लपेट लिया जैसे किसी ने बहुत मोटी रस्सियों से उसके हाथ-पैर ही नहीं, सारा शरीर बाँध लिया हो।...भीम की निद्रा टूटी। उसने देखा कि उसे एक भयंकर अजगर ने पूर्णतः लपेट रखा है। इतना बड़ा अजगर जितना उसने जीवन में कभी नहीं देखा था, उसका अपने बल का अहंकार जागा। उसने बहुत प्रयत्न किया। हाथ-पैर मारे। विभिन्न युक्तियों का प्रयोग किया; किंतु अजगर की उस जकड़न को तनिक भी शिथिल नहीं कर पाया। स्थिति यहाँ तक आ गई कि वह अपने हाथ-पैर हिलाने में भी अक्षम हो गया। अंततः उसने अपनी पराजय स्वीकार कर हाथ जोड़ दिए, 'मुझे क्षमा करो, सर्प महाराज ! मेरे भाई मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। मैं न गया, तो वे चिंतित होंगे।' अजगर हँसा, 'जब तू सर्पो की बांबियाँ फोड़-फोड़कर उनके प्राण ले रहा था, तब तूने नहीं सोचा था कि तू क्या कर रहा है ? तू अपने कुल का कलंक है, वीर क्षत्रियों से तो लड़ नहीं पाता। यहाँ वन में निरीह पशुओं की हत्याएँ कर अपने क्षत्रित्व को कलंकित कर रहा है...'।"

विदुर चुप हो गए। कुंती और पारंसवी दोनों ने ही आश्चर्य से उनकी ओर देखा, "बस कथा समाप्त हो गई ?"

"हाँ !" विदुर बोले, "इस कथा को बुनने वाले ने इसे इतना ही बुना था। उसने सोच लिया कि इतना भर कह देने से, इसका स्वाभाविक परिणाम यह माना जाएगा कि अजगर ने भीम को मसलकर उसकी हड्डियाँ तोड़ डाली होंगी और

वह उसे निगल गया होगा। भीम की मृत्यु हो गई होगी !..."

"किसने बुनी यह कथा ?" कुंती के स्वर में कुछ आवेश था, "कौन मेरे पुत्रों की मृत्यु की कामना कर, उस संदर्भ में कथाओं का प्रचार कर रहा है ? वह उन्हें अपयश भी दे रहा है, उनकी वीरता को कलंकित भी कर रहा है; और उनकी मृत्यु की घोषणा भी कर रहा है।"

"यह कथा किसने बुनी, यह तो मुझे ज्ञात नहीं भाभी !" विदुर बोले, "किंतु इसका लक्ष्य स्पष्ट है। ऐसी कथाओं के माध्यम से यह प्रचारित करने का प्रयत्न किया जा रहा है कि पांडव हिंस्र पशुओं के चंगुल में फँस रहे हैं और एक-एक कर मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं। परिणामतः तेरह वर्षों की समाप्ति तक उनमें से एक भी जीवित नहीं बचेगा। इसलिए जो लोग मन से पांडवों के मित्र हैं और उनके लौट आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं, वे यह आशा छोड़ दें, और दुर्योधन के मित्र हो जाएँ।" विदुर क्षणभर के लिए रुके, "किंतु इस कथा के प्रचारकों से एक भूल यह हो गई कि वे इसे अनुपयुक्त स्थान पर सुना बैठे।..."

"कहाँ ?" कुंती ने व्यग्रतापूर्वक पूछा।

"महर्षि व्यास के आश्रम में।" विदुर बोले, "उन्होंने इसे महर्षि व्यास को सुनाया। सोचा था कि व्यास-आश्रम से यह कथा समाज में प्रचारित होगी, तो हस्तिनापुर का जन-समाज इसे सत्य और प्रामाणिक मानकर सहज ही ग्रहण करेगा। ..किंतु ऐसा हुआ नहीं।"

कुंती और पारंसवी कुछ बोलीं नहीं, चुपचाप विदुर की ओर देखती रहीं।

"महर्षि ने कहा," विदुर बोले, " 'कुछ और लोगों ने भी इस घटना का साक्षात्कार किया है। उन्होंने जो सूचनाएँ दी हैं, उन्हें भी इसके साथ ही सुनाया जाना चाहिए।' 'वे सूचनाएँ क्या हैं ऋषिवर !' श्रोताओं ने पूछा, तो ऋषि ने सुनाया, 'मैंने कोई पाप नहीं किया है।' भीम ने कहा, 'मैं निरीह मृगों और मनुष्यों की हत्याएँ करनेवाले, पक्षियों के घोंसलों से चुराकर उनके अंडे और पक्षी-शावक खा जानेवाले दुष्ट सर्पों को मार रहा था।' 'तो ठीक है।' अजगर बोला, 'यदि सर्प इतने ही दुष्ट होते हैं, तो मुझे भी चाहिए कि मैं तुम्हें मारकर खा जाऊँ। किंतु मैं उतना नीच नहीं हूँ। मैं तुम्हें खाऊँगा नहीं। मैं तुम्हें जीवित रहने का एक अवसर दूँगा।' भीम प्रसन्न हो गया। उसने पूछा, 'उसके लिए उसे क्या करना होगा।' अजगर ने कहा, 'मेरे कुछ प्रश्न हैं। यदि तुम्हारा कोई भाई आकर मेरे उन प्रश्नों का उत्तर दे दे, तो मैं तुम्हें छोड़ दूँगा।' 'मैं ही आपके प्रश्नों का उत्तर दे देता हूँ सर्पराज !' भीम ने कहा; किंतु अजगर ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया। भीम ने बहुत प्रार्थना की। उसने कहा, 'उसके भाई राज्य से वंचित होकर वन में पड़े हैं। उसके बिना वे क्या करेंगे।' उसने यह भी कहा कि उसकी मृत्यु का समाचार पाकर वे लोग राज्य-प्राप्ति का सारा उद्योग छोड़ देंगे। उसने

स्वीकार किया कि उसके सभी भाई स्वभावतः धर्मात्मा हैं। एक वह ही है, जो राज्य-प्राप्ति की इच्छा से उन्हें युद्ध के लिए बाध्य करता रहता है।···उसने अपनी, पुत्रों के प्रति स्नेह रखनेवाली उस दीन माता को भी स्मरण किया, जो सदा यह आशा रखती है कि उसके पुत्रों का महत्त्व शत्रुओं से बढ़कर हो।··किंतु अजगर टस से मस नहीं हुआ···' ।"

"फिर ?" पारंसवी ने पूछा।

" 'इधर युधिष्ठिर चिंतित हुए कि भीम अभी तक लौटकर क्यों नहीं आया। वे अर्जुन, नकुल और सहदेव को द्रौपदी तथा अन्य लोगों की रक्षा का भार सौंप, धौम्य मुनि को साथ ले, भीम को खोजते हुए उस स्थान पर आए, जहाँ वह सर्प, भीम को दबोचे हुए बैठा था। अजगर को देखकर युधिष्ठिर ने प्रार्थना की कि यदि उसे अपनी भूख मिटाने के लिए आहार की आवश्यकता है, तो पांडव उसे उसका पूर्ण आहार देंगे। यदि उसे मनुष्य के मांस की भूख है, तो वह भीम को छोड़ दे और स्वयं युधिष्ठिर को अपना भोजन समझ कर खा ले।'

"किंतु अजगर ने युधिष्ठिर की कोई बात स्वीकार नहीं की। वह बोला, 'यदि तुम मेरे पूछे हुए कुछ प्रश्नों का अभी उत्तर दे दोगे, तो उसके बाद मैं तुम्हारे इस भाई को मुक्त कर दूँगा।'

"युधिष्ठिर को बहुत आश्चर्य हुआ, यह कैसा सर्प है, जो आहार नहीं चाहता केवल अपने प्रश्नों का उत्तर चाहता है। किंतु उसे प्रसन्नता भी हुई कि वह भीम को जीवित छुड़वा लेने में समर्थ भी हो सकेगा। उसने प्रश्नों के उत्तर देने की स्वीकृति दी। तो सर्प ने पूछा, 'युधिष्ठिर ! ब्राह्मण कौन है, और उसके जानने योग्य तत्त्व क्या है ?' युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, 'सर्पराज ! जिसमें सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता, क्रूरता का अभाव, आनृशंसता, तपस्या और दया–ये सद्‌गुण दिखाई देते हों, वही ब्राह्मण कहा गया है। और जानने योग्य तत्त्व तो परमब्रह्म ही है, जो दुख और सुख से परे है तथा जहाँ पहुँचकर अथवा जिसे जानकर मनुष्य शोक से पार हो जाता है।'

"सर्प ने आपत्ति की, 'सत्य, दान, अक्रोध, क्रूरता का अभाव, अहिंसा और दया आदि सद्‌गुण तो शूद्रों में भी होते हैं।'

"युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, 'यदि शूद्र में सत्य आदि ये गुण हैं और ब्राह्मण में नहीं हैं, तो वह शूद्र, शूद्र नहीं है; और वह ब्राह्मण, ब्राह्मण नहीं है। जिसमें ये गुण हैं, वह ब्राह्मण है, जिसमें नहीं है, वह शूद्र है।'

"सर्प बोला, 'आयुष्मन् ! यदि आचरण से ही ब्राह्मण की परीक्षा की जाए, तब तो जाति व्यर्थ है।' युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, 'जो तत्वदर्शी विद्वान् हैं, वे शील को ही प्रधानता देते हैं और उसे ही अभीष्ट मानते हैं। इसलिए सर्पराज ! जिसमें संस्कार के साथ-साथ सदाचार की उपलब्धि हो, वही ब्राह्मण है। जन्म और जाति

से कोई ब्राह्मण नहीं हो सकता।'

"युधिष्ठिर का उत्तर सुनकर सर्प प्रसन्न हो गया और बोला, 'राजन ! सत्य, इंद्रिय-संयम, तपस्या, दान, अहिंसा और धर्मपरायणता–ये सद्गुण ही सदा मनुष्यों को सिद्धि की प्राप्ति कराने वाले हैं, जाति और कुल नहीं।'

"उसने भीम को मुक्त कर दिया और अकस्मात् ही वह सर्प मनुष्य में परिवर्तित हो गया। युधिष्ठिर ने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया और कहा, 'मेरा अज्ञान क्षमा करें और अपना परिचय दें।'

"वह बोला, 'मैं तुम्हारे पूर्वजों का भी पूर्वज नहुष हूँ। मैंने ब्राह्मणों का अपमान किया था और अगस्त्य ऋषि के शाप से मैं सर्प होकर यहाँ पड़ा था। उन्हीं के कथनानुसार, मेरे कुल में उत्पन्न परम धार्मिक तुम आए, तुमने मेरे प्रश्नों का उत्तर दिया और मुझे इस शाप से मुक्त किया। मैं तुम्हें आशीष देता हूँ कि तुम सदा धर्म पर स्थिर रहकर अपने शत्रुओं पर विजय पाओगे और इस पृथ्वी पर अखंड राज्य करोगे।' "

"मैं विश्वास नहीं करती कि कोई मनुष्य किसी ऋषि के शाप से सर्प में परिणत हो सकता है; और प्रश्नों के उत्तर पाकर वह सर्प से मनुष्य बन सकता है।" पारंसवी बोली।

"तो कोई सर्प बोल ही कहाँ सकता है।" विदुर हँसे।

"तो फिर महर्षि ने ऐसा क्यों कहा ?"

"एक कथाकार ने कल्पना की कि एक सर्प बोल सकता है, तो दूसरे ने उसके उत्तर में यह कल्पना की, कि वह बोल इसलिए सकता है, क्योंकि पहले वह मनुष्य था और शाप के कारण सर्प हो गया था। यदि शाप के कारण एक मनुष्य सर्प हो सकता है, तो शाप-मुक्ति के कारण वह सर्प से मनुष्य भी हो सकता है।" विदुर ने विषय बदला, "किंतु इन कथाओं के शिल्प-संबंधी पक्षों पर मत अटको। इन्हें ध्यान से देखो और इनके मंतव्य तक जाओ।"

"वह क्या है ?" पारंसवी ने पूछा।

"जिसने इस कथा की रचना की थी, उसने बताया कि पांडव भीम नीच-कर्म करता फिर रहा है और अपने कुल को कलंकित कर रहा है। इस कथा में पांडवों का अंत भी अत्यंत अशोभनीय है। दूसरी ओर महर्षि ने बताया कि अपने कुल के पूर्वजों को उनके बंधनों से मुक्त करनेवाले पांडव हैं। पहले ने भीम की शक्ति को क्षीण किया था, दूसरे ने युधिष्ठिर के धर्म को स्फीत किया। महर्षि ने जो प्रश्नोत्तर रखे हैं, उन पर ध्यान दो। वे कुल और जाति के गर्व और श्रेष्ठता को नष्ट कर आचरण पर बल दे रहे हैं। इससे कुरुकुल में जन्म लेकर भी दुर्योधन और उसके भाई गौरव के अधिकारी नहीं रह जाते; और पांडव क्षत्रिय कुल में जन्म लेकर भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त होते हैं।"

"शस्त्रों से युद्ध करने से पहले यह कथाओं का महायुद्ध है क्या ?" कुंती हँस रही थी।

"पहले तो विचार ही युद्धरत होते हैं भाभी !" विदुर बोले, "शस्त्र तो अंत में उन विचारों के समर्थन में खड़े होते हैं। विचारों का युद्ध न हो, तो शस्त्रों के युद्ध का अवसर ही नहीं आएगा।"

विदुर चुप हो गए। उन्हें लगा कि कुंती कुछ अन्यमनस्क हो गई है, "क्या हुआ भाभी ! तुम कुछ और सोचने लगीं।"

कुंती मुस्कराई, "हाँ ! तुम्हारी इन सूचनाओं पर ही विचार कर रही थी।"

"किन सूचनाओं पर ?"

"तुमने बताया था कि इंद्रसेन इत्यादि अपने सेवकों को पांडव सुबाहु के पास छोड़ गए थे। इनके जाने के पश्चात् सुबाहु ने पांडवों के सेवकों को मार भगाने का नाटक किया था...।"

"हाँ ! भाभी ! ऐसा ही बताया था मैंने !"

"तो अब, जब पांडव लौटकर उसी सुबाहु के नगर में आए हैं। उनका सत्कार हुआ है और उन्हें अपने सेवक भी वहीं मिले हैं, तो दुर्योधन को यह संदेह तो नहीं हुआ कि सुबाहु पांडवों का मित्र ही है; और उनके सेवकों के साथ वह दुर्व्यवहार एक नाटक मात्र था। यदि उसे ऐसा कोई संदेह हुआ, तो उसके मन में यह प्रश्न भी उठेगा, कि ऐसा क्यों हुआ ? और पांडवों के सेवकों ने उनकी अनुपस्थिति में क्या किया ?"

"तुम्हारी दृष्टि बहुत प्रखर है भाभी ! तुम्हें तो किसी बड़े राज्य के गुप्तचर विभाग का प्रमुख होना चाहिए।" विदुर हँसे, "दुर्योधन तक यह सूचना पहुँची थी। उसके अंतरंग-मित्रों में यह प्रश्न उठा भी था; किंतु इसका विश्लेषण कुछ इस विधि से किया गया, जिससे पांडवों की क्षमताएँ कम आँकी जाएँ और दुर्योधन का अहंकार स्फीत हो सके।..."

"मैं समझी नहीं।" कुंती बोली, "मुझे स्पष्ट बताओ।"

"भाभी ! दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन, शकुनि और अश्वत्थामा की एक अंतरंग गोष्ठी हुई।" विदुर बोले, "उसमें यही प्रश्न उठा कि यदि सुबाहु पांडवों का शत्रु है, तो पांडव फिर से उसी के पास क्यों गए ? इस प्रश्न को सुनकर दुर्योधन बहुत जोर से हँसा और बोला, 'क्योंकि पांडव मूर्ख हैं। उनका स्वभाव है कि जिससे पिटते हैं, उसी को अपना मित्र मानते हैं।' अश्वत्थामा ने दुर्योधन की इस धारणा का कारण जानना चाहा, तो दुर्योधन बोला, 'मैंने भीम को विष दिया। वारणावत में उन सारे भाइयों को उनकी माता सहित जीवित जला देने का प्रयत्न किया। पिताजी ने उन्हें आधा राज्य देने के स्थान पर ऐसा वन दिया, जिसमें उनकी मृत्यु उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। कांपिल्य में स्वयंवर के समय भी हमने भीम और

अर्जुन के वध का पूरा प्रयत्न किया। अपने राजसूय यज्ञ में उन्होंने माना कि हस्तिनापुर और इंद्रप्रस्थ एक ही राज्य की दो राजधानियाँ हैं। हमें अपना परिवार माना; और मुझे अपने परिवार की ओर से विभिन्न राजाओं द्वारा भेंट की गई सामग्री को ग्रहण करने के लिए नियुक्त किया।'

"दुर्योधन की बात सुनकर दुःशासन ने अट्टहास किया, 'इस बार हमने द्यूत में उनका सब कुछ छीन लिया है। उनकी पत्नी को अपमानित किया है। किंतु जब वे लौटकर आएँगे, तो भी हमें अपने परम भाई ही मानेंगे। यह भी संभव है कि वे पिताजी से इस बात के लिए भी क्षमा माँगें कि वे तेरह वर्ष तक अपने धर्म-बंधन के कारण उनके दर्शन करने नहीं आ सके।'

"अश्वत्थामा ने जैसे गंभीरतापूर्वक कहा, 'मेरी समझ में नहीं आया कि पांडव इतने मूर्ख क्यों हैं। द्रुपद ने पिताजी का एक बार अपमान किया था और पिताजी ने उसका आधा राज्य छीन लिया था...'

"कर्ण उससे सहमत नहीं हो पाया। बोला, 'तुम्हारे पिताजी ने क्या समझदारी की ? द्रुपद को बँधवाकर मँगवाया और आधा राज्य छीनकर मुक्त कर दिया। यदि उसी समय उसका वध करवा दिया होता, तो न अर्जुन से द्रौपदी का विवाह होता, न पांडवों को उनकी सहायता मिलती, और न वे कभी मित्र दुर्योधन के लिए चुनौती बन पाते।'

"अश्वत्थामा को अपने पिता के विषय में इस प्रकार के विचार तनिक भी अच्छे नहीं लगे। वह बोला, 'मेरे पिता निरीह हत्याएँ नहीं करवाते।'

"फिर तो युवराज को भी पांडवों के विरुद्ध ये सारे प्रयत्न त्याग देने चाहिएँ; क्योंकि ये भी तो निरीह हत्याएँ ही होंगी। वह मोटा भीम मारा गया, तो भी निरीह हत्या होगी। कहीं अर्जुन मेरे हाथों मारा गया, तो वह भी निरीह हत्या होगी। पर हम क्या करें ब्राह्मणपुत्र !' कर्ण का स्वर व्यंग्यपूर्ण हो गया, 'यह निरीह हत्याओं की यात्रा बहुत लंबी हो गई है। यदि हमने कुछ नहीं किया, तो भीम की गदा से राजकुमार दुःशासन की निरीह हत्या हो जाएगी और यदि वह मोटा अपने लक्ष्य में सफल हुआ, तो स्वयं युवराज दुर्योधन की भी निरीह हत्या हो सकती है।...इसलिए हमें कुछ-न-कुछ तो करना ही होगा, चाहे एक के स्थान पर अनेक निरीह हत्याएँ करनी पड़ें। हमारी स्थिति तुम्हारे और तुम्हारे पिताजी के समान तो है नहीं कि कौरव जीतें अथवा पांडव, तुम्हें कोई अंतर नहीं पड़ेगा।...'

" 'क्यों ? हमें क्यों अंतर नहीं पड़ेगा ?' अश्वत्थामा ने कुछ तमककर पूछा।

" 'अरे भाई ! तुम्हारे पिता युवराज दुर्योधन के भी गुरु हैं और युधिष्ठिर के भी, राजा कोई भी हो, वे राजगुरु रहेंगे ही और तुम गुरु-पुत्र !'

"अश्वत्थामा का मुख जैसे कड़वा हो गया। बोला, 'तो जाओ ! तुम भी पांडवों से कोई संबंध निकाल लो, ताकि यदि किसी प्रकार उनकी विजय हो

गई, तो तुम्हारा अंगदेश का राज्य भी सुरक्षित रहे और राज-चाटूकार की पदवी भी।...'

"कर्ण की आँखें क्रोध से लाल हो गई; किंतु इससे पहले कि वह कोई अत्यंत कठोर शब्द कहता, दुर्योधन ने उसके हाथ पर अपना हाथ रख दिया। अश्वत्थामा का ध्यान इस ओर नहीं था। वह अपने प्रवाह में बहता जा रहा था, 'या फिर तुम हम पिता-पुत्र की ही निरीह हत्या कर डालो, ताकि कोई ऐसा व्यक्ति जीवित ही न रहे, जिसका कौरवों और पांडवों दोनों से संबंध हो।' "

कुंती का ध्यान अश्वत्थामा की उक्ति पर अटक गया था, 'तुम भी पांडवों से कोई संबंध निकाल लो...!'...वह निरंतर सोचती रहती है कि किसी उपयुक्त अवसर पर वह कर्ण को उससे अपने संबंध की सूचना दे दे।...जब कभी उनका यह संबंध प्रकट होगा, तो लोग यही मानेंगे...कि कर्ण ने, पांडवों से कोई संबंध निकाल लिया है...अपने स्वार्थवश, अपने लाभ के लिए...

"कैसे बुद्धिहीन हैं ये लोग !" पारंसवी बोली, "धर्मराज के धर्म की ओर नहीं देखते, उल्टे उन्हें मूर्ख ठहराते हैं।"

विदुर गंभीर हो गए, "जिनके अपने मन में धर्म, उदात्तता, सात्विकता, और स्वच्छता की कोई अवधारणा नहीं होती, वह दूसरे व्यक्ति के इन गुणों की प्रशंसा नहीं कर सकते। कीचड़ में बिलबिलाता कीड़ा, स्नान का महत्त्व कैसे समझ सकता है पारंसवी ! ये लोग तो मानवता के प्रत्येक आदर्श को मूर्खता ही मानेंगे; क्योंकि इनका लक्ष्य है, केवल अपना स्वार्थ, लोभ, तृष्णा, संचय...।"

"विदुर !" सहसा कुंती बोली, "तुम्हें ये सारी सूचनाएँ कहाँ से मिल जाती हैं ? वे लोग इस प्रकार की चर्चा केवल अपने अंतरंग लोगों के मध्य ही करते होंगे, तो फिर तुम्हें कौन बता जाता है, कि उनमें ऐसी चर्चा हुई ?"

"तुम तो मेरा अत्यंत गोपनीय राजकीय रहस्य जानना चाहती हो भाभी !" विदुर बोले, "गुप्तचरी का तो नियम ही यही है कि तुम्हारा एक गुप्तचर तुम्हारे ही दूसरे गुप्तचर को न जाने ! वैसे तुम्हें इतना ही बता सकता हूँ कि राजप्रासाद की दासियाँ कभी-कभी राजाओं के विषय में, उनकी रानियों से भी कुछ अधिक सूचनाएँ रखती हैं।" वे रुके, "अब इससे और अधिक मत पूछना, नहीं तो न मैं बता पाऊँगा, न तुम्हारी अवज्ञा कर पाऊँगा।"

"ठीक है।" कुंती बोली, "तो फिर उनकी चर्चा कहाँ जाकर समाप्त हुई।"

"इतना जान लो कि उनका झगड़ा बहुत आगे नहीं बढ़ा," विदुर बोले, "इधर मुझे ऐसा आभास हो रहा है कि सामान्यतः बहुत असहिष्णु, क्रोधी और भयंकर अहंकारी दुर्योधन, अपने इन मित्रों के मध्य अच्छे संबंध बनाए रखने के अपने प्रयत्न में बहुत धैर्यवान हो गया है, उन सबकी तुलना में वह प्रायः इतना शांत रहता है कि आश्चर्य होता है। किंतु अश्वत्थामा और कर्ण में किसी प्रकार सौहार्द

स्थापित नहीं हो सकता। कर्ण, एक क्षण के लिए भी भूल नहीं सकता कि आचार्य द्रोण ने उसे धनुर्विद्या का दान नहीं दिया था। कभी-कभी तो मुझे यह लगने लगता है कि जितना वह अर्जुन से रुष्ट रहता है कि उसे धनुर्विद्या का इतना ज्ञान है क्यों, उतना ही वह आचार्य द्रोण से रुष्ट रहता है कि उन्होंने अर्जुन को धनुर्विद्या सिखाई क्यों !"

"फिर तो ये किसी दिन परस्पर ही लड़ पड़ेंगे।" पारंसवी बोली।

"यदि दुर्योधन इनके मध्य से हट जाए, तो ही यह संभव हो सकता है; किंतु दुर्योधन के रहते यह संभव नहीं है।" विदुर बोले, "वह अपना स्वार्थ ही पहचानता है। अन्य किसी संबंध का उसके लिए कोई महत्व नहीं है। इसलिए जिन लोगों को उसने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए संगठित किया है; अपने प्राण रहते, वह उनको बिखरने नहीं देगा।"

32

पांडवों को बहुत पहले ही पता लग गया था कि कृष्ण उनसे मिलने आ रहे हैं। प्रतिदिन अनेक मुनि, तपस्वी अथवा नैष्ठिक विद्वान् ब्राह्मण, अकेले अथवा अपने परिवार सहित उनके पास पहुँच रहे थे। वे पांडवों से मिलना चाहते थे, उनसे चर्चा करना चाहते थे, उनके निकट रहना चाहते थे…और इस चर्चा के मध्य वे यह भी बताते थे कि उन्हें सूचना मिली है कि वासुदेव श्रीकृष्ण इसी ओर आ रहे हैं। वे यहाँ कुछ दिन निवास करेंगे। ऐसे में उनके सानिध्य का सुख वे सब लोग प्राप्त करना चाहते थे।

युधिष्ठिर ने सहदेव को बुलाया, "ये सब लोग हमारे पास आए हैं; किंतु वस्तुतः ये वासुदेव कृष्ण के अतिथि हैं। इनका सम्मान वैसा ही होना चाहिए, जैसा स्वयं कृष्ण यहाँ उपस्थित होने पर करते।"

"महाराज ! हमारे सौभाग्य से शरद् ऋतु आ गई है, इसलिए इनके आवास की व्यवस्था में कोई विशेष कठिनाई नहीं होगी। यदि हम कुछ लंबे, वातास-सुलभ कुटीर बना लेंगे, तो सामूहिक आवास की व्यवस्था सुविधा से हो सकती है। और जहाँ तक उनके भोजन का प्रश्न है, उस विषय में भी मुझे कोई विशेष कठिनाई दिखाई नहीं देती।…"

"क्या द्रौपदी के भंडार में इतना सुरक्षित अन्न है कि इतने लोगों के भोजन का प्रबंध हो सके ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"नहीं ! पांचाली के भंडार में तो कदाचित् इतना अन्न नहीं है, किंतु आगंतुकों में से अधिकांश लोग अपनी आवश्यकतानुसार पर्याप्त अन्न अपने साथ लाए हैं।

जहाँ कहीं भी वे लोग रह रहे थे, वहाँ उन्होंने अपने लिए अन्न की व्यवस्था कर रखी होगी। उसे ही वे अपने साथ लेते आए हैं।" सहदेव बोला, "वैसे इन दिनों आस पास के वनों में फलों की कमी नहीं है। वृक्ष फलों के बोझ से लदे पड़े हैं। हमारा प्रयत्न है कि अन्न को अभी सुरक्षित रखा जाए और जब तक फल उपलब्ध हैं, फलाहार ही किया जाए। जो लोग मांसाहारी हैं, उनके लिए वन में अहेर का अभाव नहीं है।"

युधिष्ठिर संतुष्ट हो गए। भोजन और आवास की समस्या का समाधान हो जाने पर एक ही चिंता रह जाती है—सुरक्षा की! हिंस्र पशुओं का आखेट दिन-रात होता ही रहता है। अर्जुन और भीम के नेतृत्व में, यहाँ के वनचर भी निर्भय होकर आखेट करना सीख गए हैं। वैसे भी मानवों की संख्या बढ़ जाने से हिंस्र पशु पीछे हटकर वन के अधिक सघन भागों में चले गए थे। राजाओं की सेनाएँ इधर से आती-जाती नहीं थीं, कि उच्छृंखल राजाओं की अनुशासनहीन सेनाओं का सामना करना पड़े।...संयोग से यदि ऐसा कुछ हो गया, तो उनके नियंत्रण की व्यवस्था भीम और अर्जुन कर सकते थे।

जल की सुविधा के लिए कूप नहीं थे, न ही यहाँ कूपों की खुदाई का प्रबंध किया जा सकता था। वैसे जल का अभाव नहीं था। द्वैतवन के साथ-साथ सरस्वती नदी बहती थी। द्वैत-सरोवर में भी जल किनारों तक भरा हुआ था। किंतु जब इतने लोग एक स्थान पर एकत्रित हो जाएँ, और सब जल के साथ मनमानी करने लगें तो वह दूषित भी हो सकता है और भ्रष्ट भी। प्रभु ने मनुष्य ही नहीं, इतर जीव-जंतुओं के लिए भी, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पुष्कल मात्रा में पदार्थ उत्पन्न किए हैं। सब लोग ठीक से व्यवहार करें, तो किसी को किसी वस्तु का अभाव नहीं हो सकता। किंतु कुछ लोगों में बुद्धि का अभाव होता है और किसी में स्वार्थ का बाहुल्य! स्वार्थ का बाहुल्य भी तो बुद्धि का ही अभाव है। वे यह नहीं समझते कि इस सरोवर का जल, उस तक आने वाले प्रत्येक जीव-जंतु की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए है। वे मान लेते हैं कि यह सारा जल प्रभु ने केवल उन्हीं के लिए आरक्षित कर रखा है। इसलिए यदि उन्होंने अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर ली हैं, तो शेष जल में वे मल-त्याग भी कर सकते हैं। उन्होंने वायुमंडल में श्वास ले लिया, तो शेष वायु, मनुष्य के श्वास लेने योग्य न भी रहे, तो उन्हें क्या। वे यह नहीं समझते कि प्रकृति ने हमारे उपयोग के लिए जो शुद्ध तत्त्व बनाए हैं, यदि हम स्वयं उन्हें दूषित करते रहेंगे, तो यह प्रकृति मानव-मात्र के जीने के अयोग्य हो जाएगी...इसलिए जल की स्वच्छता की रक्षा तो करनी ही पड़ेगी।...

युधिष्ठिर ने नकुल को बुलाया, "नकुल! द्वैत-सरोवर के जल की स्वच्छता की रक्षा का प्रबंध करो। उसके चारों ओर किसी भी प्रकार का घेरा तैयार करवाओ।

पर्याप्त सख्या में घाट बनवाओ; और यह व्यवस्था करो कि कोई भी व्यक्ति सरोवर के जल के भीतर जाकर उसे दूषित न करे। अपनी आवश्यकतानुसार लोग जल ले लें और उसका जो भी उपयोग करना हो कर लें। जिन्हें जल के भीतर घुस कर नहाने में रुचि हो, वे सरस्वती नदी तक जाने का कष्ट करें।"

नकुल, आदेश का तत्काल पालन करने के लिए चला गया और युधिष्ठिर सारी व्यवस्था का निरीक्षण करने के लिए उठ खड़े हुए।

कृष्ण के आने का समाचार जैसे रथ के आगे-आगे ही चल रहा था। वनचरों ने जहाँ-जहाँ रथ को देखा, सुग्रीव और शैव्य को पहचाना, कृष्ण के रूप की झलक देखी कि उन्होंने वन की अति संकीर्ण पगडंडियों से किसी को पांडवों के आश्रम की ओर दौड़ा दिया। बाहुक चाहे कितना भी चतुर सारथि क्यों न हो; किंतु उसे रथ दौड़ाने के लिए मार्ग की आवश्यकता पड़ती थी। वनचरों को तो अपने शरीर के समकक्ष भी मार्ग नहीं मिलता, तो वे वृक्ष पर चढ़कर दूसरी ओर उतर जाते।...

कृष्ण के रथ के आने की सूचना मिलते ही भीम सतर्क हो गया था। कृष्ण आएँगे तो अनेक प्रकार की पारिवारिक, राजनीतिक तथा सामरिक चर्चाएँ होंगी। उनकी सूचना दुर्योधन तक नहीं पहुँचनी चाहिए। उन्हें दुर्योधन के गुप्तचरों से सावधान रहना होगा।...

"नकुल !" उसने कहा, "ध्यान रहे कि कृष्ण से हमारी भेंट सर्वथा एकांत में होनी चाहिए। परिवार के बाहर का कोई व्यक्ति वहाँ उपस्थित नहीं होगा।..."

"और जो इतने ब्राह्मण वासुदेव से मिलने आए हैं ?" नकुल ने पूछा।

"उनसे कृष्ण बाद में किसी समय भेंट करेंगे।" भीम ने उत्तर दिया।

"ऐसा ही होगा मध्यम !" नकुल चला गया।

कृष्ण का रथ उनके कुटीरों के सम्मुख आकर रुका। रथ में कृष्ण के साथ सत्यभामा थी।

अर्जुन को सामने पाते ही बोली, "फाल्गुन ! तुम सोच रहे होगे कि वासुदेव को अपने साथ किसी को लाना ही था, तो सुभद्रा को ही ले आए होते। ये सत्यभामा को क्यों ले आए ?"

"सत्या !" कृष्ण ने उसे टोका, "यह विनोद का समय नहीं है।"

"विनोद तो मैं कर भी नहीं रही।" सत्यभामा बोली, "मैं तो एक गंभीर प्राकृतिक सत्य की स्थापना कर रही हूँ।"

"रहने दो वासुदेव !" अर्जुन ने कहा, "ये कहाँ मानेंगी।"

"हाँ ! क्यों मानूँगी ! मैं अपने पति का अनुकरण करूँगी। वे किसी की मानते हैं क्या ?" सत्यभामा बोली, "मैं तो केवल इतना ही कह रही थी कि जब कोई भला आदमी घर से यात्रा पर निकलता है; तो साथ अपनी पत्नी को लेकर चलता है, दूसरों को पत्नी को नहीं। इसलिए वासुदेव मुझे अपने साथ लेकर चले, तुम्हारी पत्नी को साथ नहीं लाए।"

"जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि आप वासुदेव की पत्नी भी हैं," अर्जुन भी सत्यभामा की शैली में ही बोला, "मैं तो आपको सत्राजित्-पुत्री ही समझता रहा ! किंतु इस गंभीर प्राकृतिक तथ्य के ही समान एक गंभीर और महत्त्वपूर्ण प्रश्न मेरे मन में यह आया है कि कृष्ण की क्या बाध्यता थी कि इस महत्त्वपूर्ण यात्रा पर वे आपको साथ लेकर चले ? वे पट्टमहिषी रुक्मिणी के साथ भी तो यात्रा कर सकते थे, जांबवती भाभी को भी साथ ला सकते थे—वे दोनों भी तो उनकी पत्नियाँ ही हैं।..."

"मुझे नहीं मालूम था कि यह सपत्नियों की-सी ईर्ष्या पुरुषों में भी होती है। जिस ईर्ष्या-भाव से बचने के लिए द्वारका से निकली, वह यहाँ भी विद्यमान है।" सत्यभामा ने वेदना का अभिनय किया, "अब वासुदेव जैसे सुदर्शन पुरुष से विवाह कर इस ईर्ष्या से तो बचा नहीं जा सकता।..."

"देवि ! यदि तुम्हारा यह नाटक पूरा हो गया हो..."

कृष्ण का वाक्य अभी पूरा नहीं हुआ था कि द्रौपदी कुटीर से निकल आई। सत्यभामा तत्काल आगे बढ़, उसके कंठ से लग गई, "कैसी हो कृष्णा ?"

द्रौपदी के अधरों पर एक अद्भुत गरिमा से युक्त मुस्कान आई, "जिस स्थिति में प्रभु ने रखा है, उसी में हूँ।"

सत्यभामा की आँखों में अश्रु आ गए, "तुम लोगों को इस स्थिति में देख कर वज्र का हृदय भी फट जाएगा। मेरी आँखों में अश्रु न आ जाएँ, इसी प्रयत्न में तब से फाल्गुन से परिहास कर रही थी..."

"वह तुम्हारा अधिकार है सखि ! फाल्गुन तुम्हारे नन्दोई ठहरे।"

अपने आँसुओं को पोंछ सत्यभामा ने मुस्कराने का प्रयत्न किया। वह कुछ कहती, उससे पहले ही द्रौपदी, कृष्ण की ओर बढ़ गई, "सुभद्रा कैसी है केशव ? और अभिमन्यु ? अब तो बड़ा हो गया होगा।..."

कृष्ण, द्रौपदी के हृदय का मौन हाहाकार सुन रहे थे। उसने स्वयं को बहुत साध रखा था...किंतु थी तो मानवी ही...

"तुम्हारे पुत्र स्वस्थ और प्रसन्न हैं कृष्णे !" कृष्ण बोले, "प्रतिविंध्य, सुतसोम, शतानीक, श्रुतसेन, यहाँ तक कि श्रुतकर्मा भी—सब बड़े हो गए हैं। तुम तो अब भी उनकी कल्पना छोटे बालकों के रूप में करती होगी, किंतु अब वे तरुण हो गए हैं। साधारण क्रीड़ाशील बालक नहीं हैं वे। आर्यावर्त्त के सर्वश्रेष्ठ योद्धाओं

में प्रमुख हैं। उनके धनुषों की टंकार से अतिरथियों के हृदय काँप जाते हैं। उनके रथ चलते हैं तो पर्वतों के पग डोलने लगते हैं।"

"तुमने मुझे बताया नहीं केशव ! सुभद्रा कैसी है ? मेरा अभिमन्यु कैसा है।" द्रौपदी ने कुछ इस प्रकार कहा, जैसे कृष्ण उसके अपने पुत्रों की नहीं, किन्हीं महत्त्वहीन अपरिचितों की बात कर रहे हों।

कृष्ण ने रुककर एक गंभीर दृष्टि से द्रौपदी को देखा, और उसके शील पर मुग्ध होकर मुस्करा दिए : द्रौपदी, भावना के धरातल पर भी स्वार्थी नहीं हो सकती। वह अपने पुत्रों और सुभद्रा के पुत्र में भेद करना नहीं चाहती। उसने यह नहीं पूछा कि मेरा नन्हा श्रुतकर्मा कैसा है ? वह पूछ रही है, मेरा अभिमन्यु कैसा है ? सपत्नी की ईर्ष्या के स्थान पर उसने बड़ी बहन का स्नेह दिखाया है। यह उसका संयम है। उसकी मर्यादा है !

"सुभद्रा सुखी है, मैं ऐसा नहीं कह सकता।" कृष्ण बोले, "किंतु स्वस्थ है, व्यस्त है।"

"वह सुखी क्यों नहीं है वासुदेव ?" युधिष्ठिर ने कुछ चौंककर पूछा, "तुम्हारे सान्निध्य में भी वह सुखी नहीं है ? तुम्हारे आश्रय में भी।"

"मैं उसका भाई हूँ धर्मराज ! वह अपने पति के विरह से दुखी है। उसके पति और पति के भाई वन में तपस्वियों का जीवन व्यतीत कर रहे है। उसकी भगिनी जैसी कृष्णा के प्रति अक्षम्य अपराध हुआ है और अभी उसका प्रतिशोध भी नहीं लिया जा सका है। उसका सारा परिवार कष्ट झेल रहा है। ऐसे में कोई कैसे सुखी हो सकता है।" कृष्ण ने अपनी मुस्कान से उनके अवसाद को परे धकेल दिया, "किंतु वह स्वस्थ है। बड़े होते हुए छह पुत्रों का पालन-पोषण कर रही है। उन्हें एक विशेष लक्ष्य के लिए तैयार कर रही है।"

"वह भी तुम्हारे साथ आ जाती केशव ! तो हमसे भेंट हो जाती।" द्रौपदी बोली, "अपने पति से मिल लेती। मन वदल जाता···।"

"वह अपने पुत्रों के कारण बहुत व्यस्त है।" सत्यभामा ने उत्तर दिया, "एक क्षण को भी कहीं इधर-उधर हो जाती है, तो वे लोग त्राहि-त्राहि मचा देते हैं। उन्हें अपनी माँ की अनुपस्थिति में भोजन अच्छा नहीं लगता, क्रीड़ा अच्छी नहीं लगती। माँ अपने हाथों से शस्त्र देकर विदा न करे, तो उनसे शस्त्राभ्यास नहीं होता।"

"और केशव ! तुम कह रहे थे कि वे बड़े हो गए हैं।" द्रौपदी मुस्करा रही थी।

"पुत्र इतना वड़ा तो कभी नहीं होता सखि ! कि माँ सम्मुख उपस्थिति हो, और उसे उसकी आवश्यकता न हो।" कृष्ण बोले।

"ये लोग कहीं सुभद्रा के कारण ही तो कांपिल्य नहीं छोड़ आए ?" युधिष्ठिर

ने पूछा।

"यह कहना तो कठिन है। उन्होंने कभी ऐसा कहा तो नहीं है।" कृष्ण बोले, "किंतु इसकी संभावना तो है।"

"महाराज द्रुपद ने उन्हें कई बार कांपिल्य आने का निमंत्रण भेजा है। धृष्टद्युम्न ने स्वयं आकर ले जाने का प्रस्ताव भिजवाया है। किंतु वे नहीं गए।" सत्यभामा बोली, "निश्चित् रूप से कांपिल्य में सुख-सुविधाएँ अधिक हैं। धन-वैभव का कोई अभाव नहीं है; किंतु वहाँ सुभद्रा तो नहीं है न !"

"क्या वे लोग, पिताजी की इच्छा के विरुद्ध, कांपिल्य से विदा हो गए हैं ?" द्रौपदी सशंक हो उठी।

"नहीं ! ऐसा कुछ नहीं है कृष्णे !" कृष्ण बोले, "मूल बात तो लक्ष्य की है। महाराज द्रुपद और धृष्टद्युम्न भी जानते हैं कि इन बालकों को पापियों का नाश कर, एक धर्म-राज्य की स्थापना करनी है। धार्तराष्ट्रों को उनके अपराधों का दंड देना है...और सबसे बड़ी बात है कि उन्हें उन पापियों से अपनी रक्षा करनी है, जिन्होंने दो पीढ़ियों से उनको वंचित कर रखा है। इन सबके लिए उन्हें शक्ति की आवश्यकता है, बल की, संगठन की, शस्त्राभ्यास की। कांपिल्य में अच्छे युद्ध-प्रशिक्षक नहीं हैं, ऐसी बात तो नहीं है; किंतु द्वारका में रुक्मिणी-पुत्र प्रद्युम्न उन्हें धनुर्विद्या सिखा रहे हैं। धनंजय-शिष्य सात्यकि, अपना सारा सामर्थ्य जैसे उनमें ढाल देना चाहते हैं। अभिमन्यु यद्यपि अभी छोटा है, किंतु खड्ग-कला और गदा-युद्ध में वह अद्वितीय है। उसने गदा-युद्ध स्वयं वासुदेव बलराम से सीखा है। वह अपने बड़े भाइयों को ये दोनों कलाएँ सिखाता है। रथ-परिचालन और अश्वारोहण तो वे लोग स्वयं सुभद्रा के नियंत्रण में सीखते हैं।"

"इसीलिए सुभद्रा तुम्हारे साथ नहीं आई ?" द्रौपदी ने पूछा।

"कारण यह भी हो सकता है।" कृष्ण बोले, "किंतु मैं एक और बात भी सोचता हूँ।"

"क्या ?"

"उसका राजसी वेश में तुम लोगों से मिलने आना उचित होता क्या ? ...वह अपने पति, ज्येष्ठों; देवरों और तुम्हें इस वेश में देखकर सुख पाती क्या ? और यदि वह तपस्वियों का वेश धारण करती, तो तुम्हें सुख दे पाती क्या ? अपने मन की बात तो वह ही जाने। मेरे पास तो मात्र अपने अनुमान ही हैं।" कृष्ण बोले, "उसने आने की इच्छा प्रकट नहीं की और मैंने उसके लिए आग्रह नहीं किया।"

"अच्छा ! एक बात बताओ वासुदेव !" सहसा भीम के चेहरे पर एक चंचल मुस्कान उभरी, "आजकल दुर्योधन से कैसी छन रही है ?"

कृष्ण ने कुछ चकित होकर भीम की ओर देखा, "मैं समझा नहीं।"

"अरे भई ! अब तुम लोग समधी हो गए हो न !" भीम हँसा, "तुम्हारे प्रासाद में उसकी पुत्री का आधिपत्य होगा। वह प्रतिदिन चरण छूकर श्वसुर को प्रणाम करती होगी और कहती होगी, 'श्वसुरजी ! मेरे पिताजी की रक्षा कीजिए।' "

"मध्यम !" कृष्ण मुस्कराए, "आप कह तो विनोद में ही रहे हैं; किंतु इस विनोद के पीछे आपका संशय भी बोल रहा है।"

"संशय अस्वाभाविक तो नहीं कृष्ण !" इस बार भीम भी पूर्णतः गंभीर था।

"नहीं ! अस्वाभाविक नहीं है।" कृष्ण बोले, "किंतु मेरे संबंध तो धर्म से निर्धारित होते हैं मध्यम ! विवाहों से नहीं। दुर्योधन मेरे लिए तब भी वही था, जब लक्ष्मणा मेरी पुत्र-वधू नहीं थी; और आज भी वही है, जब वह मेरे परिवार का अंग है और मेरे घर में रह रही है। उसका दबाव अपने पति पर हो सकता है, मुझ पर नहीं।··मैं तो अब भी यही मानता हूँ कि धर्मराज ने अपने धर्म के नाम पर मुझे बाँध रखा है, अन्यथा मैं आज ही दुर्योधन से युद्ध के लिए तत्पर हूँ।" कृष्ण कुछ क्षणों के लिए सर्वथा आत्मलीन हो गए, जैसे वे पांडवों के मध्य उपस्थित ही न हों, "मैं धर्मराज के हाथों बाध्य हूँ, यद्यपि मुझे यह आभास होता जा रहा है कि इस युद्ध में जितना विलंब होगा, हमारी कठिनाइयाँ उतनी ही बढ़ती जाएँगी।···"

"क्यों केशव ! हमारी कठिनाइयाँ क्यों बढ़ेंगी ?" अर्जुन ने जिज्ञासा के वेश में आपत्ति की, "जितना समय व्यतीत होगा, हमारे मित्र बढ़ेंगे, हम और अधिक संगठित होंगे, हमारा युद्धाभ्यास अधिक प्रौढ़ होगा, हमारे पुत्र बड़े हो रहे हैं··।"

"यह सब सत्य है धनंजय ! प्रत्येक नेतृत्व का एक अनुशासन होता है, जो स्वैरिता को मर्यादित करता है, एक युग के पश्चात् अनुचरों को अपना नेता एक बोझ लगने लगता है, और वे उससे मुक्ति पाने के लिए छटपटाने लगते हैं, जब संयमन के लिए बाहरी संकट और आवश्यकताएँ नहीं रहतीं, तो लोगों का रजोगुण और भोग का लोभ प्रबल होने लगता है। ऐसे में धर्म का आग्रह क्रमशः अकेला और असंग होता चलता है···।"

"मैं समझा नहीं कृष्ण ! तुम इतने आशंकित किसलिए हो ?" अर्जुन बोला।

"मैं आशंकित नहीं हूँ।" कृष्ण बोले, "मैं तो केवल प्रकृति का यथार्थ तुम्हारे सामने रख रहा हूँ।···आज वृष्णि, भोज और अंधक वंशों के योद्धा, जहाँ धर्मराज चाहें, वहीं उनकी आज्ञा का पालन करते हुए खड़े रह सकते हैं। जिसके धनुष का वेग, वायु-वेग के समान है, हल धारण करनेवाले वासुदेव बलराम जिसके सेनापति हैं, मथुरा प्रांतवासी गोपों की वह चतुरंगिणी सेना, सदा युद्ध के लिए सन्नद्ध हो, आपकी अभीष्ट-सिद्धि के लिए निरंतर तत्पर रहती है·किंतु मैं काल की गति देख रहा हूँ धर्मराज ! यहाँ कुछ भी स्थायी नहीं है। सब कुछ परिवर्तनशील है। यह सब कुछ ऐसा ही तो नहीं रहेगा। काल-गति के थपेड़े, जाने भविष्य का

कौन-सा रूप हमारे सामने प्रस्तुत करेंगे।…" कृष्ण ने रुककर उन सबको देखा, "आज बलराम मेरे साथ हैं, प्रद्युम्न, सांब, सात्यकि और कृतवर्मा मेरी इच्छा और आज्ञा का पालन करने को तत्पर हैं…किंतु इससे पहले कि ये लोग मेरा साथ छोड़ जाएँ, मैं चाहता हूँ कि उनके सारे गुण, उनका सामर्थ्य, उनकी क्षमताएँ पांडव-पुत्रों में संचित हो जाएँ; क्योंकि और कोई धर्म-युद्ध लड़े, न लड़े, पांडव-पुत्रों को तो यह युद्ध करना ही है।…"

"पर तुम ऐसा क्यों सोचते हो कृष्ण ?" अर्जुन ने चिंतित स्वर में पूछा।

"क्योंकि धर्म के नाम पर चलनेवाला क्रमशः असंग होता जाता है और अंततः सर्वथा अकेला हो जाता है… ।"

"उसके साथ कोई नहीं रहता ?"

"भाई-बंधु, पति-पत्नी, मित्र-संबंधी, पुत्र-शिष्य…कोई नहीं ?"

कृष्ण सशब्द हँसे, "कोई नहीं ! अंततः अकेला ही चलना है उसे।"

"तुम कहना चाहते हो कि क्रमशः बलदेव, सात्यकि और प्रद्युम्न भी तुम्हारा साथ छोड़ देंगे ?" अर्जुन विश्वास नहीं कर पा रहा था।

"मैं यह कह रहा हूँ कि पांचाली तुम्हारी साथ छोड़ देगी और तुम धर्मराज का साथ छोड़ दोगे।" कृष्ण और भी उच्च स्वर में हँसे, "अच्छा है कि साथ छूटता जाए; अन्यथा पुत्र-मित्र और सगे-संबंधी यदि अपना मार्ग पृथक् न कर लें तो तुम्हारा ही मार्ग बदल देंगे। वे अपनी इच्छाओं और कामनाओं की कर्तरी से तुम्हारे पंख काट देंगे, तुम्हें असहाय कर देंगे, तुम्हें अपने ही आदर्शों के विरुद्ध कार्य करने को बाध्य कर देंगे…"

अर्जुन समझ नहीं पा रहा था, कृष्ण की यह हँसी मोहक थी अथवा भयानक ! …वे गंभीरता से कह रहे थे अथवा मात्र विनोद कर रहे थे…यह कोई चेतावनी थी, अथवा मात्र लीला।…

द्रौपदी, सत्यभामा को अपने कुटीर में ले आई।

"कहो सत्या ! तुम हमसे मिलने के लिए द्वारका से यहाँ तक की यात्रा करके आई हो, अथवा यह मुक्त-भ्रमण और देशाटन है ?"

सत्यभामा मुक्त-कंठ से हँसी, "श्यामसुंदर के पास न भ्रमण का अवकाश है, न देशाटन का। यदि उनकी पत्नियाँ इस प्रतीक्षा में रहें कि कब उन्हें अवकाश होगा और कब वे उन्हें भ्रमण कराने ले जाएँगे, तो सारी आयु ब्रजबालाओं के समान प्रतीक्षा में ही कट जाएगी। यहाँ तो स्थिति यह है कि जब वे द्वारका से चलने का संकल्प करें, तो जिसे अवसर मिले, वह उनके रथ में बैठ जाए। मैं साथ न आती तो जांबवती आती, रुक्मिणी आती। कोई तो आती ही। तो फिर

मै ही क्यों नहीं ?"

"कोई अपने स्थान पर बैठकर साधना कर रहा है, कोई अपने स्थान पर न बैठकर।" द्रौपदी बोली, "केशव को तो जैसे सारी सृष्टि का ध्यान रखना पड़ता है। कब किसको उनकी कहाँ आवश्यकता है। किसे समाचार पहुँचाने हैं, किसके सुख में सम्मिलित होना है, कब किसे सांत्वना देनी है, किसे शस्त्रों की आवश्यकता है, किसे सेना की, किसकी रक्षा करनी है, किसका मनोबल बढ़ाना है, किस पर प्रहार करना है, किसे फटकारना है···जाने कहाँ-कहाँ दौड़ते फिरते हैं केशव ! तो उन्हें मनोरंजन का अवकाश ही कहाँ मिलेगा।"

इस बार सत्यभामा भी कुछ गंभीर थी, "मैं उनसे इतना प्रेम करती हूँ। उनके इतने निकट रहती हूँ। उनको जानने का प्रयत्न करती हूँ; किंतु यह व्यक्ति मेरी समझ में नहीं आता। इन्हें कभी विश्राम की आवश्यकता नहीं है। इन्हें कभी मनोरंजन की आवश्यकता नहीं है। इन्हें कभी कुछ अपने लिए नहीं चाहिए···और फिर भी ये सदा परम आनंद में हैं।···कभी दुःख नहीं, विषाद नहीं, अभाव नहीं, अवसाद नहीं··· ।"

"दुःख को जितना उन्होंने जाना है, उसकी क्या तुम कल्पना भी कर सकती हो सत्या ?" द्रौपदी बोली, "जिसके निर्दोष माता-पिता को अत्याचारी राजा ने बंदी बनाकर कारागार में डाल दिया हो, जिसके छह सद्यःजात भाइयों का वध कर दिया गया हो, जिसका अपना जन्म कारावास में हुआ हो, जिसके प्राण लेने के इतने प्रयत्न किए गए हों, जिसने अपनी, अपने समाज की, और धर्म की रक्षा के लिए इतने युद्ध किए हों—वह मेरे और तुम्हारे समान मात्र एक व्यक्ति का जीवन तो नहीं जीता। जिसने अपने जीवन, अपने सुख-दुख और अपनी संपूर्ण क्षमताओं को मानव-मात्र के सुख के लिए नियोजित कर दिया हो, जिसका अपना व्यक्तिगत् और निजी कुछ हो ही नहीं··उसके पास दुःख, विषाद और अवसाद का अवकाश ही कहाँ है।···जिसने अपने 'स्व' का इतना विस्तार कर लिया हो, उसके पास न संकीर्ण अहं है, न अभाव !···सबका आनन्द, कृष्ण का आनन्द है। *किसी भी सात्विक व्यक्ति का सुख कृष्ण का सुख है; किसी भी दीन, हीन, पीड़ित* की पीड़ा, कृष्ण की पीड़ा है। धर्मराज को सिंहासन पर बैठाकर, वे सुखी होते हैं। केशव ने कभी नहीं सोचा, कि इस सिंहासन पर वे स्वयं भी बैठ सकते हैं। वे ऋषियों के चरण धोकर आनन्दित होते हैं, कभी कामना नहीं करते कि वे ऋषि उनके चरण धोएँ··· ।"

"वह सब ठीक है कृष्णे !" सत्यभामा की मुद्रा द्रौपदी से सहमत होने की नहीं थी, "वे यह तो देखते हैं कि संसार के किस कोने में कोई दुखी व्यक्ति है; किंतु यह नहीं देखते कि उनकी अपनी पत्नियाँ भी उनकी अनुपस्थिति में दुखी हैं। उन्हें भी श्यामसुंदर का सान्निध्य चाहिए।···"

"सत्या ! तुम चाहो तो उनके साथ तुम भी उन दीन-दुखियों के पास जा सकती हो, जिनकी केशव को चिंता है। दूसरी ओर उन्हें अपने पास अटकाकर तुम उनके मार्ग की बाधा भी बन सकती हो। उनकी प्रियतमा बनना है तो उनकी संगिनी बनोगी, या उनके मार्ग की बाधा ?"

सत्यभामा कुछ क्षणों के लिए मौन रह गई, फिर जैसे मन में एक प्रश्न भली प्रकार सोच-विचार कर बोली, "तुम अपने पतियों को कैसे रिझाती हो ? हमारी समस्या तुमसे कुछ भिन्न है। श्यामसुंदर किसी एक के अनुकूल होते हैं, तो दूसरी को ईर्ष्या होने लगती है। तुम एक पति के अनुकूल होती होगी, तो दूसरा तुमसे रुष्ट हो जाता होगा, उधर तुम्हारी सपत्नियाँ तुम्हारे विरुद्ध प्रयत्न आरंभ कर देती होंगी।"

"तुम बड़ी चंचल हो सत्या !" द्रौपदी हँस पड़ी, "वैसे यह समस्या मेरे साथ नहीं है। मुझे लगता है कि इस परिवार में अपने लिए कोई कुछ माँगता ही नहीं। समझ लो इन लोगों की व्यक्तिगत् अपेक्षाएँ कुछ हैं ही नहीं। जो कामना की जाती है, वह सबके लिए—सामूहिक ! अपने लिए केवल त्याग की बात सोची जाती है। धर्मराज को अपने लिए राज्य नहीं चाहिए। उन्हें राज्य चाहिए ताकि वे अपनी माता, अपने भाइयों, अपनी पत्नियों तथा संतानों को सुख दे सकें। उनके भाइयों को राज्य चाहिए, ताकि वे धर्मराज को सिंहासन पर बैठा सकें। तुम जानती हो सत्या !" द्रौपदी ने उसकी ओर देखा, "हमारे विवाह से पूर्व धनंजय ने यह नहीं कहा कि वह मुझसे विवाह करना चाहता है। उसने धर्मराज से कहा, कि वे बड़े हैं। वे मुझसे विवाह कर लें।...मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि इनमें से एक भी भाई, किसी एक वस्तु की कामना व्यक्त कर दे, अन्य चारों भाई तत्काल वे वस्तु उसे ही दे देंगे।..."

"वह तो ठीक है।" सत्यभामा ने कहा, "किंतु तुम उन पाँचों को अपने अनुकूल कैसे रखती हो ?"

द्रौपदी हँसी, "प्रेम देकर, सेवा करके, उन पाँचों के साथ छठी बनकर ! मैं उनसे पृथक् नहीं हूँ कि उनसे कुछ माँगूँ। जो कुछ उनका है, वह सब मेरा है। जो मेरा है, वह सब उनका है। सुख-दुख, भाव-अभाव, संपत्ति-विपत्ति...सब कुछ। वे सम्राट् थे, मैं साम्राज्ञी थी। वे द्यूत में दावँ पर लगे, मैं भी लगी। वे अपमानित हुए, मैं भी हुई। वे प्रतिशोध लेंगे, मैं भी लूँगी। वे वन में रह रहे हैं, मैं भी रह रही हूँ। वे राजप्रासाद में रहेंगे, मैं भी रहूँगी।"

"यदि धनंजय सुभद्रा से अधिक प्रेम करेंगे, तो तुम्हें ईर्ष्या नहीं होगी ?"

"मैंने जिन्हें अपना प्रेम अर्पित किया है, अपनी ईर्ष्या भी उन्हें ही समर्पित कर दी है।" द्रौपदी परम संतुष्ट दिखाई पड़ रही थी।

"तो आपने क्या योजना बनाई है धर्मराज ?" कृष्ण ने पूछा, "क्या अपने वनवास का शेष समय यहीं व्यतीत करने का निश्चय किया है ?...और अज्ञातवास...उसका भी कुछ प्रबंध होना चाहिए।"

"निश्चय तो अभी नहीं किया है," धर्मराज बोले, "किंतु सोचता हूँ कि हम कोई ऐसा स्थान चुनें, जो शांतिपूर्ण जीवन के लिए सुविधाजनक हो। प्रकृति सुरम्य हो। अधिक आवागमन न हो। हिंस्र पशु न हों और राजाओं की सैन्य यात्राओं के मार्ग में न पड़ता हो...। हस्तिनापुर से बहुत दूर भी न हो, ताकि माता तथा विदुर काका का समाचार हमें यदा-कदा मिलता रहे।"

"आप शांति की चर्चा तो कर रहे हैं, किंतु सुरक्षा की नहीं।" कृष्ण बोले, "आप हस्तिनापुर के निकट कोई शांत वन खोज रहे हैं; किंतु दुर्योधन आपको कहीं शांति से रहने भी देगा ?"

"यदि हम उससे कुछ माँगें नहीं, उसे कुछ कहें नहीं, उसके मार्ग में न आएँ, तो वह हमें शांति से क्यों नहीं रहने देगा।" युधिष्ठिर कह तो रहे थे, किंतु उनके अपने मन का संशय भी उनकी आशावादिता का साथ नहीं दे रहा था।

"आपकी शांति ही दुर्योधन की अशांति है।" कृष्ण बोले, "वह मानसिक रोगी है, जो आपकी पीड़ा में अपना सुख खोजता है। वह यह मानता है कि आप शांति से रहने में सफल हो गए, तो उसकी पराजय हो गई। उसकी विजय तो आपको पीड़ित करने में है।"

"कह तो तुम ठीक ही रहे हो वासुदेव ! किंतु मेरे भाइयों को न तो अब हस्तिनापुर से बहुत दूर रहना नीतिपूर्ण लग रहा है, और न अभी हम युद्ध ही कर सकते हैं। इसलिए हमारा प्रयत्न रहेगा कि हम अपने अस्तित्व को जितना नगण्य बनाकर शांत भाव से कहीं रह सकें, उतना नगण्य उसे बना लें। शेष ईश्वर की इच्छा।..."

सहदेव ने आकर सूचना दी, "वासुदेव ! मार्कडेय ऋषि अपने अनेक शिष्यों तथा एक बृहद्-ब्राह्मण समाज के साथ आपके दर्शनों की प्रतीक्षा में बैठे हैं।"

"उन्हें सूचित करो सहदेव ! मैं अभी आ रहा हूँ।" कृष्ण पुनः धर्मराज से संबोधित हुए, "और अज्ञातवास ?"

"उसके विषय में अभी सोचा तो नहीं है।" युधिष्ठिर बोले, "तुम्हारा परामर्श क्या है ?"

"मैं सोचता हूँ कि आप अज्ञातवास के लिए कहीं बहुत दूर न जाएँ।" कृष्ण बोले, "जितना निकट रह सकें, रहें। मुझे पूर्ण विश्वास है कि दुर्योधन के गुप्तचर आपको खोजने दूर-दूर तक जाएँगे।...आप उस राजा के आश्रय में रहें, जो सरल, सात्विक और निर्बल हो। उसे सदा ही आपकी सहायता की आवश्यकता रहेगी।"

"द्वारका और कांपिल्य के विषय में आप क्या सोचते हैं ?" नकुल ने पूछा।

"वहाँ दुर्योधन के गुप्तचरों की सबसे अधिक चौकसी रहेगी।" कृष्ण बोले, "और आप लोगों को वहाँ इतने लोग पहचानते हैं कि आपका कोई भी छद्म रूप और नाम पकड़ा जाएगा।"

"वासुदेव ठीक कह रहे हैं।" अर्जुन बोला, "हमें उस राजा के आश्रय में जाना चाहिए, जो हमसे सर्वथा अपरिचित हो।"

"यही उचित है। मेरा अनुमान है कि अब आप लोगों से मेरी भेंट आपके अज्ञातवास के पश्चात् ही होगी।" कृष्ण उठते हुए बोले, "आइए ! मार्कंडेय ऋषि से भेंट कर ली जाए।"

परस्पर अभिवादन के पश्चात् मार्कंडेय ऋषि अपने शिष्यों के साथ बैठ गए। ब्राह्मण समाज को सुविधापूर्ण व्यवस्थित ढंग से बैठाने का समुचित प्रबंध कर पांडव भी बैठ गए।

"कृष्ण !" ऋषि बोले, "अभी तुम्हारे यहाँ आने से पूर्व, इस बुद्धिसेवी ब्राह्मण-समाज में एक चर्चा चल रही थी कि मनुष्य को ईश्वर की क्या आवश्यकता है ? क्या करना है हमें उस ईश्वर का, जो संसार और समाज के सारे सुख त्याग कर मिलता है ?"

"क्या आपने उन्हें इस विषय में संतोषजनक उत्तर नहीं दिया ऋषिवर ? आपसे अधिक उपयुक्त उत्तर और कौन दे सकता है।" कृष्ण बोले, "आपकी उपस्थिति में आध्यात्मिक प्रश्नों के समाधान का उपयुक्त अधिकारी मैं कैसे हो सकता हूँ ?"

"मैंने अपनी ओर से उनका समाधान किया है," ऋषि बोले, "किंतु वे तुम्हारा उत्तर सुनना चाहते हैं। सत्य तो यह है कि मैं भी तुम्हारे विचारों से लाभान्वित होना चाहता हूँ।"

कृष्ण मुस्कराए, "तो यह आपकी ही स्नेहपूर्ण योजना है ऋषिवर !"

मार्कंडेय सहज भाव से मुस्कराए, "मेरा षड्यंत्र !"

कृष्ण गंभीर ही नहीं आत्मलीन-से भी हो गए थे, "मैं समझता हूँ कि ईश्वर की आवश्यकता केवल उन्हें ही है, जो उसके अभाव से सुखी नहीं है। यदि कोई व्यक्ति संसार में रहकर, संसार को पाकर, संसार में लिप्त होकर सुखी है, तो उसे सचमुच ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर की आवश्यकता तो उसी व्यक्ति को है, जो सारा संसार पाकर भी सुखी नहीं है।"

"इसका क्या अर्थ हुआ ?" एक ब्राह्मण उठकर आवेश में बोला, "आवश्यक वस्तु तो सबके लिए आवश्यक है। ऐसा कोई कैसे कह सकता है कि वायु किसी

के लिए आवश्यक है, किसी के लिए नहीं।"

"आप ठीक कह रहे हैं महाशय !" कृष्ण बोले, "आवश्यक होना एक बात है, और उस आवश्यकता का अनुभव होना दूसरी। वायु की आवश्यकता हमें हर क्षण रहती है, और वह हर क्षण हमें उपलब्ध भी है; किंतु उसकी आवश्यकता का अनुभव हमें नहीं होता, अतः हम उसे प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करते। जल उपलब्ध होता है, किंतु उसकी आवश्यकता का अनुभव होने पर ही हम सरिता के तट पर जाते हैं।"

"तो आप यह कहना चाहते हैं श्रीमन् ! कि ईश्वर हमें हर क्षण उपलब्ध तो है; किंतु हम संसार में सुखपूर्वक उलझे होने के कारण, उसकी आवश्यकता का अनुभव नहीं करते, इसलिए हम उसे प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करते।" उसी ब्राह्मण ने पूछा।

"आप एकदम ठीक समझे ब्राह्मण !"

"पर ईश्वर है, इसका क्या प्रमाण है ?" एक अन्य ब्राह्मण ने कहा, "मैं नास्तिक हूँ। मैं ईश्वर को नहीं मानता। मैं केवल एक स्वचालित व्यवस्था की सत्ता को मानता हूँ।"

"उसी स्वचालित शाश्वत व्यवस्था को ही भक्त-जन ईश्वर कहते हैं।" कृष्ण बोले, "आप नास्तिक नहीं हैं, आपने केवल ईश्वर को एक भिन्न नाम दे दिया है। आप नास्तिक तब होते, जब आप अपने से बड़ी और शक्तिशाली किसी व्यवस्था के अस्तित्व को स्वीकार न करते। ऐसी स्थिति में आप हिरण्यकशिपु के समान कहते कि आप ईश्वर हैं। आप जीव को प्राण देते हैं, आप उसका पालन-पोषण करते हैं, और आप ही उसके प्राणों का हरण करते हैं।"

"नहीं ! मैं ऐसा नहीं कहता।" उस ब्राह्मण ने कहा, "किंतु मैं प्रकृति और उसकी व्यवस्था में ही विश्वास करता हूँ।"

"उसी में विश्वास करते रहिए। प्रकृति ही ईश्वर का प्रकट रूप है।" कृष्ण बोले, "अप्रकट के भी कुछ प्रकट लक्षण होते हैं, जैसे वायु में वेग है।"

"यदि ईश्वर है, तो वह कहाँ रहता है ?" एक अन्य ब्राह्मण ने प्रश्न किया।

"प्रत्येक अस्तित्व में ! उसके केंद्र में। उसके मूल में।"

"मनुष्य में वह कहाँ रहता है ?"

"उसके हृदय में !" कृष्ण बोले।

"तो वह दिखाई क्यों नहीं देता ?"

"दिखाई देता है।" कृष्ण बोले, "पदार्थ पर से अन्य आवरण हटा दिए जाएँ और व्यक्ति की दृष्टि में दोष न हो, तो वह पदार्थ को देख सकता है।"

"क्या ईश्वर को देखना संभव है ?" स्वयं को नास्तिक कहनेवाले ब्राह्मण ने पूछा।

"संभव है।"

"वासुदेव ! क्या तुमने ईश्वर को देखा है ?" मार्कंडेय स्वयं को रोक नहीं पाए।

"ईश्वर को जानना, उसका साक्षात्कार करना, उसके निकट जाना, उसके अनुरूप बनना और अंततः वही हो जाना। यह सब कुछ संभव है।" कृष्ण की मुस्कान असाधारण रूप से मोहक थी।

"वासुदेव ! क्या तुमने उसे देखा है ?" ऋषि ने आग्रहपूर्वक पुनः पूछा।

कृष्ण ने ऋषि की ओर देखा। उनके आग्रह को पहचाना। और वे धीरे से बोले, "वे मेरे भीतर हैं; मैं उनके भीतर हूँ।"

ऋषि समझ गए कि कृष्ण इससे अधिक और कुछ नहीं कहेंगे; किंतु वे कृष्ण के मुख से अधिकाधिक सुनने के लोभ का संवरण नहीं कर पा रहे थे। बोले, "वासुदेव ! हमें बताया जाता है कि ईश्वर का वास हमारे हृदय में है; किंतु हम उसे देख नहीं सकते, क्योंकि उस पर काम, क्रोध, लोभ, मोह, घृणा, द्वेष, मद, मात्सर्य, भय, त्रास, अहंकार इत्यादि अनेक आवरण पड़े हुए हैं। मेरा प्रश्न यह है मधुसूदन ! कि ईश्वर की कृपा होने पर ये आवरण हटते हैं, अथवा मनुष्य स्वयं अपने प्रयत्न से इन आवरणों को हटाता है, और ईश्वर की कृपा होती है ? ईश्वर प्रकट हो जाता है तो ये विकृतियाँ हट जाती हैं, अथवा इनके हट जाने से ईश्वर उद्भासित होने लगता है ?"

"ईश्वर तो दया का पुंज है महर्षि ! वह करुणा का सागर है।" कृष्ण बोले, "मनुष्य उससे जो भी माँगता है, ईश्वर उसे वही देता है। उससे संसार माँगा जाएगा, तो वह संसार देगा; उससे स्वर्ग माँगा जाएगा, तो वह स्वर्ग देगा, उससे मोक्ष माँगा जाएगा, तो वह मोक्ष देगा !"

"क्या शब्दों में माँगने भर से सब कुछ मिल जाता है ?" एक ब्राह्मण ने पूछा, "प्रार्थना करने मात्र से ?"

"कामना, कर्म का पूर्व-रूप है।" कृष्ण बोले, "आपने अपने हाथों में एक पक्षी पकड़ रखा हो, और आपको यह भय निरंतर पीड़ित कर रहा हो कि आपके हथेलियाँ पसारते ही पक्षी उड़ जाएगा, तो आप ईश्वर से माँग तो सकते हैं, उसकी कृपा प्राप्त नहीं कर सकते ! जब आप अपनी मुट्ठी खोल देंगे, सांसारिकता का पक्षी उड़ जाएगा, हथेलियाँ पसार देंगे, तो ईश्वर की अनुकंपा विभूति बन आपकी हथेलियों पर प्रकट हो जाएगी।"

"हमारी मुट्ठियों में तो कुछ है ही नहीं।" एक ब्राह्मण उठ खड़ा हुआ, "हम जन्म से कंगाल हैं। धन-संपत्ति कुछ नहीं है। तो ईश्वर हमारे सामने प्रकट क्यों नहीं हुआ ?"

"आपके शरीर की मुट्ठियाँ खुली हैं, मन की नहीं।" कृष्ण बोले, "आपको

धन नहीं छोड़ना है, धन की आसक्ति छोड़नी है। संसार नहीं छोड़ना है, संसार की आसक्ति को त्यागना है। जिस क्षण आपके मन ने काम, क्रोध, लोभ, मोह को छोड़ दिया, उसी क्षण ईश्वर वहाँ प्रकट हो जाएँगे।"

"तो उसकी दया से नहीं, हम अपने कर्म से ही उसे प्राप्त करेंगे ?" मार्कंडेय बोले।

"हमारे कर्म से ही उसकी दया प्रेरित होती है।" कृष्ण बोले, "भक्ति, ज्ञान, कर्म, सबमें योग है, सबमें आसक्ति रहित उद्यम है। अकर्म से ईश्वर कभी प्रसन्न नहीं होता।"

कृष्ण की बातें, युधिष्ठिर के मन में कहीं गहरे उतरती जा रही थीं···ईश्वर तो जीव को मिलने का अनवरत प्रयत्न कर रहा है, जीव ही अपने विभिन्न प्रयत्नों से ईश्वर को स्वयं से दूर किए हुए है।···उसने पांडवों की सांसारिक समृद्धि का हरण कर लिया है, क्या इसलिए कि पांडवों और ईश्वर के मध्य के ये आवरण दूर हो सकें ? ये यवनिकाएँ हट सकें ? ?··· पर कृष्ण तो ईश्वर के इतने निकट हैं, जैसे उनका उससे तादातम्य ही हो गया है। फिर वे ईश्वर के बनाए जीवों की रक्षा के लिए, युद्ध-विरत क्यों नहीं होते ? युधिष्ठिर शांति की रक्षा के लिए इतना कष्ट उठा रहे हैं; और कृष्ण ?···किंतु कृष्ण कर्मशील हैं; उनके मन में किसी प्रकार की आसक्ति नहीं है। युधिष्ठिर के मन में आसक्ति है, मोह है। वे अनासक्त होकर युद्ध में कूद नहीं सकते। शायद अपने इस मोह के कारण ही ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर पाए। मोह ही तो अज्ञान है। उसी से अहंकार उत्पन्न होता है। कृष्ण में न अहंकार है, न मोह, न आसक्ति···ठीक कहा कृष्ण ने···हमारा धर्म है ईश्वर को जानना, उसका साक्षात्कार करना, उसके निकट जाना, उसके अनुरूप बनना और अंततः वही हो जाना।···युधिष्ठिर ने ईश्वर को अभी तक शायद नहीं जाना है; किंतु कृष्ण को जाना है। उन्हें कृष्ण के अनुरूप बनना होगा; और अंततः वही हो जाना होगा···

● ● ●

वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली-110002

प्रच्छन्न

महासमर-6

नरेन्द्र कोहली

वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली-110002

प्रच्छन्न

महासमर-6

नरेन्द्र कोहली

ISBN 81-7055-512-4

वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : 1997
द्वितीय संस्करण : 1998
तृतीय संस्करण : 2000
© लेखकाधीन
मूल्य : 350.00 रुपये

शब्द-संयोजक
विनायक कम्प्यूटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032

मेहरा ऑफसेट प्रेस, नयी दिल्ली-110002
द्वारा मुद्रित

PRACHCHHANNA
(Mahasamar-6)
by Narendra Kohli

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

सृष्टि में प्रच्छन्न श्री कृष्ण को।

गांधारी ने स्वयं आग्रहपूर्वक अपने प्रासाद में निमंत्रित कर, शकुनि का ऐसा सत्कार किया था, जैसा राजप्रासादों में भी बहुत आत्मीय और सम्माननीय अभ्यागतों का, अत्यंत असाधारण अवसरों पर ही किया जा सकता है। शकुनि को आदरपूर्वक मंच पर बैठाने के पश्चात् उसने दो ही काम किए थे : विभिन्न प्रकार के उत्कृष्ट व्यंजन परोसने के लिए दासियों को आदेश दिए थे; तथा शकुनि से और भोजन करने का अनुरोधपूर्वक आग्रह किया था। शकुनि की समझ में नहीं आ रहा था कि आज गांधारी के मन में क्या था। किस प्रेरणा से आज उसके प्रासाद में, शकुनि का यह सम्मान सत्कार हो रहा था। गांधारी का व्यवहार सहज तो था; किंतु सामान्य नहीं था। शकुनि उसका सगा भाई था। उन्होंने सारा शैशव एक साथ व्यतीत किया था। उनका वंश एक था, उनका लक्ष्य एक था ...फिर इस प्रकार आमंत्रित कर, साग्रह सत्कार करना ...कोई तो प्रयोजन होना ही चाहिए। ... और गांधारी थी कि कुछ बोल ही नहीं रही थी।

शकुनि ने भोजन समाप्त कर हाथ धोए। वह सोच ही रहा था कि क्या अब उसे, गांधारी से सहज भाव से विदा माँग चुपचाप चला जाना चाहिए ?

तभी गांधारी ने अपना मुख खोला, "भैया ! यहाँ आकर बैठो, मेरे पास। तुमसे एक बात कहनी है।"

शकुनि मन ही मन मुस्कराया : यह तो होना ही था। ऐसा भोजन कराकर, गांधारी उसे यूँ ही चुपचाप कैसे विदा कर देती। वह तब से उसकी इसी बात की ही तो प्रतीक्षा कर रहा था। वह अपनी बहन को ठीक ही जानता था।

"भैया !" गांधारी बोली, "दुर्योधन मेरा पुत्र है।"

शकुनि ने चकित दृष्टि से गांधारी की ओर देखा : क्या कहना चाहती है वह ? क्या शकुनि नहीं जानता कि दुर्योधन गांधारी का पुत्र है ? वह उसे

इस प्रकार सूचना दे रही है, जैसे वह आज तक इस तथ्य से अनभिज्ञ रहा हो।

गांधारी की पट्टी बँधी आँखें नहीं देख सकती थीं कि शकुनि उसके चेहरे को ही एकटक देख रहा था; और उसकी आँखो में तनिक भी मधुर भाव नहीं था।

"समझ रहे हो मेरी बात ? वह महाराज धृतराष्ट्र का ही पुत्र नहीं है। वह मेरा भी पुत्र है; और उससे मैं उतना ही प्रेम करती हूँ, जितना कोई भी माँ अपने पुत्र से कर सकती है।" गांधारी ने अपनी बात आगे बढ़ाई, "अतः उसे अपना जीवनाश्व, विनाश के मार्ग पर सरपट दौडाए लिए जाने की अनुमति नहीं दे सकती।"

शकुनि कुछ नहीं बोला।

"मैने उसे समझाने का बहुत प्रयत्न किया," गांधारी पुनः बोली, "किंतु पता चला कि जब तक तुम उसे समझा रहे हो, तब तक वह किसी और के समझाने से कुछ नहीं समझेगा।"

"क्या समझाना चाहती हो उसे ?" शकुनि का मन जैसे स्तब्ध ही नहीं निस्पंद भी हो गया था। उसने गांधारी के मुख से, इस प्रकार की बात सुनने की कभी कल्पना भी नहीं की थी।

"वह आत्म-विकास और आत्म-विनाश का अंतर पहचाने। वह विनाश के मार्ग पर आगे न बढे।" गांधारी बोली।

"तो इसमें समझाने को क्या रखा है ?" शकुनि बोला, "वह अपने शत्रुओं को उनकी धन संपत्ति, सेना सत्ता सबसे वंचित कर चुका है। बहुत संभव है, कि निकट भविष्य में वह उनका वध करने मे भी सफल हो जाए। विनाश तो शत्रुओं का होगा गांधारी ! और शत्रुओं का संहार ही अपना उत्थान होता है। इसमें तुम्हें दुर्योधन का विनाश कहाँ से दिखाई पड रहा है ?"

"मैं तुमसे तर्क करना नहीं चाहती।" गांधारी ने कुछ कठोर स्वर में कहा, "केवल इतना कहना चाहती हूँ कि तुम दुर्योधन को उपलब्धियों की मृगतृष्णा में उलझाकर मृत्यु की ओर मत धकेलो। विकास के छद्‌म मार्ग से उसे विनाश के मार्ग पर मत ले जाओ।"

"क्यो ? उपलब्धियों में क्या दोष है ?" शकुनि का स्वर भी कुछ कठोर हो गया, "दुर्योधन के पास आज जो कुछ भी है, वह सब मेरे ही कारण है। यदि मैंने उसे अपने अधिकार के लिए लड़ना सिखाया, तो क्या अनुचित किया ? शत्रुओं का सर्वस्व हरण करने में यदि मैंने उसकी सहायता की, तो उसका क्या अहित किया ? यदि मैने उसे एक शक्तिशाली सम्राट् के रूप में हस्तिनापुर के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया, तो क्या मैंने उसका अकल्याण किया ?"

"नहीं ! इनसे विरोध नहीं है मेरा।" गांधारी बोली, "किंतु तुमने उसके

मन में ईर्ष्या की अग्नि जलाई, तुमने उसे धर्म के मार्ग से विरत किया, तुमने उसे नारी का अपमान करना सिखाया। ... ये सारे मार्ग विनाश के द्वार तक ही जाते हैं। तुमने उसकी हीनतर वृत्तियों को प्रोत्साहित किया। उसे पशु बनाया। उसे उदात्ततर जीवन जीना नहीं सिखाया, वरन् उससे उसे पूर्णतः विरत कर दिया।"

शकुनि स्तब्ध रह गया। उसके मुख से जैसे अनायास ही निकल गया, "तो तुम मुझसे और क्या अपेक्षा करती हो ?" और सहसा वह सँभल गया, "मै कोई ऋषि नहीं हूँ। व्यास नहीं हूँ मैं ! मैं शकुनि हूँ। शकुनि कूटनीतिज्ञ है। कूटनीति सांसारिकता ही सिखाती है। अपने भागिनेय को त्याग नहीं सिखा सकता मैं। कायरों के समान, अपना अधिकार शत्रुओं को सौंप, पलायन की शिक्षा नहीं दे सकता, मैं उसे।" वह कुछ रुककर पुनः बोला, "द्यूत में पांचाली को दाँव पर लगाने का प्रस्ताव अवश्य रखा था मैंने; किंतु उसका अपमान करने जैसी कोई बात नहीं कही थी। उसे वेश्या कहनेवाला वह धर्मात्मा कर्ण था, और पांचाली को निर्वस्त्र करने का आदेश देने का महाकार्य भी उसी ने किया था। उसे बुला कर समझा चुकीं क्या ?"

गांधारी ने उसकी बात का उत्तर नहीं दिया। उसने जैसे अपनी ही बात आगे बढ़ाई, "मुझे लगता है भैया ! तुम्हारा सान्निध्य मेरे पुत्रों के लिए हितकर नहीं है। तुम उन्हें इतना महत्त्वाकांक्षी बना रहे हो कि वे धर्म-अधर्म को ही नहीं भूले, अपनी सुरक्षा-असुरक्षा को भी भूल गए हैं। तुमने उन्हें एक अंतहीन, अंधी, भयंकर और वेगवती दौड़ में जोत दिया है, जो उनके वश की नहीं है। तुम देख रहे हो कि वे हाँफ रहे हैं, उनकी क्षमताएँ क्षीण हो चुकी हैं। तुम जानते हो कि वे अधिक नहीं दौड़ पाएँगे; फिर भी तुम उन्हें दौडाते जा रहे हो। तुम चाहते हो कि वे दौड़ते-दौड़ते गिर पड़ें ? हाँफते-हाँफते अपने प्राण दे दें ?"

शकुनि ने कुछ इस दृष्टि से गांधारी को देखा, जैसे उसे संदेह हो रहा हो कि सामने बैठी यह स्त्री उसकी अपनी बहन ही थी, अथवा गांधारी के वेश में वहाँ कोई और आ बैठा था।

और सहसा उसका आक्रोश जागा, "जहाँ तक मैं समझता हूँ महारानी ! मैं अपने लक्ष्य से कण भर भी विचलित नहीं हुआ हूँ।"

गांधारी मौन रही। उसकी आँखों पर पट्टी बँधी थी। शकुनि उसके आँखों के भाव नहीं देख सकता था; किंतु इतना तो वह समझ ही सकता था कि गांधारी का यह मौन, उसके लिए शुभ नहीं था।

अंततः गांधारी की आँखों में बंद भाव उसके चेहरे पर प्रकट हुआ। उसका चेहरा क्रोध से तमतमा गया था। उसके शब्द अत्यंत कठोर थे, "तुम्हें मैं भली प्रकार जानती हूँ भैया ! तुम्हारी ही बहन हूँ। ... किंतु अब हस्तिनापुर की महारानी

के रूप में तुम्हे आदेश दे रही हूँ। दुर्योधन को कामनाओं की सूली पर मत टाँगो; अन्यथा हस्तिनापुर में तुम्हारे लिए कोई स्थान नहीं होगा। जाओ। विवाद अथवा प्रतिवाद की अनुमति नहीं है तुम्हें। जाओ।"

स्वयं को संयत रखने के लिए शकुनि को बहुत प्रयत्न करना पड़ा।...गंधार में वह युवराज था। वह बड़ा भाई था, गांधारी उसकी छोटी बहन थी। उसकी आँखों में सीधे देख कर बात करने का साहस भी नहीं कर सकती थी वह। और आज वह उसे आदेश दे रही थी। हस्तिनापुर से निष्कासन की धमकी दे रही थी। ... किंतु क्या कर सकता था शकुनि ! सत्य यही था कि हस्तिनापुर में शकुनि कुरुओ का आश्रित था, और गांधारी हस्तिनापुर की महारानी थी। इच्छा होने पर वह उसे वस्तुतः दंडित कर सकती थी। उसके आदेश से शकुनि हस्तिनापुर से निष्कासित भी हो सकता था, बंदी भी हो सकता था; और वधिकों को समर्पित भी किया जा सकता था।...

शकुनि बिना एक भी शब्द कहे, उठ खड़ा हुआ। उसने एक दृष्टि गांधारी पर भी डाली; किंतु उसका लाभ क्या था। गांधारी देख तो सकती नहीं थी कि शकुनि ने उसे किस दृष्टि से देखा था। ... पहले सोचा कि इतना तो कह ही दे कि वह जा रहा है। फिर वह कहना भी आवश्यक नहीं लगा। उसकी पगध्वनि से वह समझ ही जाएगी कि वह जा रहा है, अथवा उसके जाने के पश्चात् महारानी की दासी उसे बता ही देगी कि शकुनि चला गया है।...

अपने भवन के निजी कक्ष में पहुँचकर शकुनि ने कपाट भीतर से बंद कर लिए।

उसे लग रहा था कि वह अपने कक्ष में ही नहीं, अपने मन में भी नितांत अकेला है ...आज तक वह यही समझता रहा कि इस पराए राज्य में कोई और उसके साथ हो या न हो, उसकी बहन उसके साथ थी। वे दोनों—बहन और भाई—एक ही लक्ष्य के लिए, संकल्पबद्ध होकर कार्य कर रहे थे। उनका जीवन समान ध्येय को समर्पित था। उनमें कहीं कोई मत-भेद नहीं था।... किंतु आज पता लगा था कि वह सब तो शकुनि का भ्रम ही था...

एक लंबे समय तक उसे अपने इस एकाकीपन का कोई बोध नहीं था। कहाँ था यह एकाकीपन ? उसके अपने भीतर ही रहा होगा; किंतु कुंडली मारे दम साधे पड़ा होगा। यहाँ तक कि जिस शकुनि के भीतर यह छिपा बैठा था, उस शकुनि को ही उसके अस्तित्व का बोध नहीं था। आज ऐसा क्या हो गया था कि वह अपनी कुंडली त्याग, फन काढ कर खड़ा हो गया था, आकर उसे ही डराने लगा था...

वर्षों पहले, जब उसकी युवावस्था अपनी आँखें खोल ही रही थी, इसी

हस्तिनापुर के एक दूत के संदेश ने, गंधार के राजप्रासाद तथा राजवंश को हिला कर रख दिया था। कुरुकुल का भीष्म अपने नेत्रहीन भ्रातुष्पुत्र धृतराष्ट्र के लिए गांधार राजकुमारी का दान मॉग रहा था। गांधार इतने शक्तिशाली नहीं थे कि हस्तिनापुर के दूत के शरीर के टुकड़े कर उसे बोरी में डाल, अश्व की पीठ से बाँध हस्तिनापुर लौटा देते; किंतु वे कुरुओं के इस आदेश को चुपचाप स्वीकार भी तो नहीं कर सकते थे।... तब गांधारों ने ऐसे अवसरों के लिए, अपना परंपरागत मार्ग अपनाया था—धीरता का और धूर्तता का। शकुनि ने अपने जीवन के सारे स्वप्नों को छिन्न-भिन्न कर दिया था और कुरुओं द्वारा किए गए गांधारों के इस अपमान के प्रतिशोध को अपने जीवन का एक मात्र लक्ष्य मान, वह अपनी बहन के साथ हस्तिनापुर चला आया था।... उसे यहीं रहना था। इन्हीं लोगों के मध्य। उनका अपना बन कर। उसे उनकी महत्त्वाकांक्षाओं को जगाना था, उकसाना था। महत्त्वपूर्ण आकांक्षाओं को नहीं, अपने व्यक्तिगत महत्त्व की आकांक्षाओं को जगाना था। ... कितना सुविधापूर्ण था नेत्रहीन धृतराष्ट्र को समझाना कि राज्य तो वस्तुतः उसी का था किंतु उसे उससे वंचित कर दिया गया था; इसलिए उसे किसी भी प्रकार उसे प्राप्त करके ही दम लेना चाहिए। ... शकुनि को सीधे धृतराष्ट्र को भी कुछ कहने की आवश्यकता नहीं थी। वह तो गांधारी को ही स्मरण कराता रहता था। गांधारी का एक स्पर्श, धृतराष्ट्र को मंत्रमुग्ध करने के लिए पर्याप्त था। ... और फिर यह भी लगा कि धृतराष्ट्र को कुछ सिखाने पढ़ाने की आवश्यकता ही नहीं थी। उसके अपने ही भीतर इतना लोभ, मोह और स्वार्थ भरा हुआ था कि पूरे कुरुकुल को नष्ट करने के लिए, वह अकेला ही पर्याप्त था। ... वह तो कहो कि भीष्म और विदुर उसके मन में जलनेवाली ज्वाला पर शीतल जल के छींटे डालते रहते थे, अन्यथा वह अग्नि कब की, भरत वंश को जला कर क्षार कर चुकी होती।... शकुनि और गांधारी को इतना ही करना था कि वे धृतराष्ट्र को भीष्म और विदुर के धर्म से प्रभावित न होने देते।...

आज शकुनि स्मरण करने का प्रयत्न करता है, तो वह याद नहीं कर पाता कि उसका और गांधारी का मार्ग कब से पृथक् हो गया; और उसे उसका आभास भी नहीं हुआ। यह आभास तो आज ही हुआ, जब गांधारी ने उसे अपने कक्ष में बुलाकर कहा, "दुर्योधन मेरा पुत्र है भैया! और मैं उससे प्रेम करती हूँ।"...तो दुर्योधन अब उस भरतकुल का वंशज नहीं रहा, जिसे नष्ट करने के लिए, शकुनि अपना प्रत्येक सुख छोड़ कर यहाँ आया था। वह गांधारी का पुत्र हो गया था। अब धृतराष्ट्र वह अत्याचारी राजा नहीं था, जिसने नेत्रहीन होते हुए भी, मात्र अपनी सैनिक शक्ति के बल पर, सुनयना गांधार राजकुमारी का अपहरण कर लिया था; और गांधारी ने उसका मुख देखना भी स्वीकार नहीं किया था। उसने अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली थी। आज धृतराष्ट्र गांधारी का मनभावन पति

था। ... तो शकुनि ही मूर्ख था, जिसने अपना राज्य, राजधानी, कुल परिवार त्याग कर अपना सारा जीवन अपने कुल और अपनी बहन के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए खपा डाला था। ... आज गांधारी उसी वंश की रक्षा के लिए, अपने भाई को चेतावनी दे रही थी, जिसे नष्ट करने के लिए वे दोनों यहाँ आए थे।...

शकुनि यह क्यों नहीं समझ सका कि भाई बहन का एक परिवार तभी तक होता है, जब तक अपनी संतान नहीं हो जाती। वह तो आज तक यही मानता रहा कि उसका और गांधारी का एक ही परिवार है। उसने क्यों नहीं जाना कि इन सबंधों की प्रकृति बडी विचित्र है। मनुष्य की ममता अपने दाएँ–बाएँ खडे बहन–भाइयों से तब तक ही होती है, जब तक उसको अपने सम्मुख खड़ी अपनी संतान दिखाई नहीं पड़ती। एक बार संतान हो जाए, तो बहन भाई साधन और माध्यम हो सकते हैं, ममता के पात्र नहीं रहते।

यदि गांधारी ने धृतराष्ट्र को अपना पति, कुरुकुल को अपना श्वसुर कुल तथा धृतराष्ट के पुत्रों को अपने पुत्र स्वीकार कर लिया था, तो उसने उसी दिन शकुनि से क्यो नहीं कह दिया, "भैया ! तुम अब अपने परिवार और राज्य में लौट जाओ। जब मैंने इन परिस्थितियों को स्वीकार कर ही लिया है, तो तुम भी उन्हें स्वीकार कर लो।"

आज जैसे शकुनि की आँखें खुल रही थीं। ... क्यों कहती गांधारी यह सब उससे। अब वह कुरुकुल के विनाश की नहीं, धार्तराष्ट्रों के विकास की इच्छुक थी। वह अपने पति को भी राजा बनाना चाहती थी और अपने पुत्र को भी। ... शकुनि ही मूर्ख था कि वह समझ नहीं सका कि वह कैसे अपने शत्रुओं के लिए उपयोगी हो गया था ... आज गांधारी उसकी भर्त्सना कर रही है कि वह दुर्योधन को अधर्म के मार्ग पर ले जा रहा है। ... अधर्म का मार्ग विनाश का मार्ग है; तो उस दिन क्यो नहीं बोली, जब पांडवों को वारणावत भेजा गया था; उस दिन क्यों नहीं बोली, जब पांडवों को खांडव वन दिया गया था; उस दिन क्यों नहीं बोली, जब युधिष्ठिर को द्यूत के लिए हस्तिनापुर आने का आदेश दिया गया था ?

क्यों बोलती तब ? तब तो उसके पति और पुत्रों का अभ्युत्थान हो रहा था...अब, जब पांडवों का सर्वस्व हरण कर लिया गया था; दुर्योधन सारे वैभव का स्वामी हो चुका था; और उसकी स्थिति एक शक्तिशाली सम्राट् की सी हो गई थी ...अब यदि शकुनि को बीच से, दूध की मक्खी के समान निकालकर फेंक दिया जाए, तो दुर्योधन का क्या बिगड़ेगा ?... अब गांधारी को अपने पुत्रों की सुरक्षा का ध्यान आ रहा था। अब उनके लिए शकुनि का सान्निध्य हानिकारक हो गया था। ...

क्या गांधारी सचमुच इतनी चतुर राजनीतिज्ञ थी कि उसने शकुनि और

अपने पुत्रों को तव तक तनिक भी नहीं टोका था, जव तक शकुनि उन्हें उन्नति के मार्ग पर ले चल रहा था; और अव वह समझ गई थी कि आरोह का समय समाप्त हो चुका था और अवरोह का क्षण आ गया था, इसलिए शकुनि को वीच में से हटा दिया जाना चाहिए ? क्या वह जान गई थी कि उसके पुत्रों को अव शकुनि के माध्यम से कोई उपलव्धि नहीं होनेवाली ! अव शकुनि उन्हें उस मार्ग पर ले चलेगा, जिस पर चलने की तैयारी में, उसने अपना सारा जीवन हस्तिनापुर में व्यतीत किया था ?

तो शकुनि अव धार्तराष्ट्रों के लिए अनावश्यक हो गया था ?....सच भी तो है, दुर्योधन, पांडवों से कुछ और छीनना चाहे, तो पांडवों के पास अव और है ही क्या ?...तो गांधारी ने ठीक ही पहचाना था कि पांडव अव और वंचित नहीं हो सकते थे। ऐसे में अव हस्तिनापुर मे शकुनि की क्या आवश्यकता थी।...

शकुनि ने अपने मस्तक को एक झटका दिया : वह स्वयं को इस प्रकार प्रवंचित नहीं होने देगा। हस्तिनापुर में वह असहाय अवश्य है, किंतु इतना असहाय भी नहीं है कि अपना सारा यौवन नष्ट कर, मस्तक लटकाए चुपचाप गंधार लौट जाए। ... गांधारी समझती है कि अव शकुनि की आवश्यकता नहीं है; किंतु दुर्योधन तो अभी ऐसा नहीं सोचता। ... इससे पहले कि दुर्योधन भी कुछ ऐसा ही सोचने लगे, शकुनि को कुछ करना होगा। क्या कर सकता है, शकुनि ? दुर्योधन के सम्मुख अव वह कौन–सा ऐसा प्रलोभन रख सकता है, जिससे शकुनि दुर्योधन के लिए परम आवश्यक वना रहे ?... और यदि शकुनि दुर्योधन के लिए आवश्यक वना रहेगा, तो उस पर गांधारी का आदेश नहीं चल सकता। शायद गांधारी यह नहीं जानती है कि हस्तिनापुर में आज्ञा ही नहीं, इच्छा भी दुर्योधन की ही चलती है : राजा चाहे कोई भी हो, और महारानी चाहे गांधारी ही क्यों न हो।

और शकुनि के मन में एक योजना आकार ग्रहण करने लगी ... विषधर का सा एक विचार उसके मन में निःशव्द रेंगा, और फिर क्रमशः उसके अंग-प्रत्यंग स्पष्ट होने लगे। उस जीव की आँखें खुल कर चारों ओर देखने लगीं। फन तन कर सीधा हो गया और उसकी जिह्वा लपलपाने लगी।... लोभ का अस्तित्व वाहर किसी भौतिक पदार्थ में होता है, अथवा मनुष्य के अपने मन में ?... मनुष्य का अहंकार अपनी उपलव्धियों से अधिक तृप्त होता है, अथवा अपने शत्रुओं की वंचना से ? ... दुर्योधन के-लिए अपना वैभव अधिक सुखद है अथवा युधिष्ठिर की अकिंचनता ? शत्रु को अभावों के कष्ट में तड़पते देखने में जो सुख है, वह अपनी वड़ी से वड़ी उपलव्धि में भी नहीं है। ... ठीक है कि शकुनि अव दुर्योधन को और कुछ भी उपलव्ध नहीं करवा सकता; किंतु वह उसे पांडवों की पीड़ा का सुख तो प्राप्त करवा ही सकता है.।...

शकुनि की दृष्टि में एक दृश्य जन्म ले रहा था ... एक वालक एक सर्प

को ढेला मारता है। सर्प अपने घाव की पीड़ा से तड़पता है। बालक उसकी पीड़ा देख-देखकर प्रसन्न होता है। थोड़ी देर में सर्प अपनी पीडा से निढाल हो कर अपना सिर टेक देता है। बालक की क्रीडा समाप्त हो जाती है। उसका सुख जैसे तिरोहित हो जाता है। उसे अच्छा नहीं लगता। वह एक छड़ी ले कर सर्प को उकसाता है, उसे कोंचता है, उसके घावों को अपनी छड़ी से कुरेदता है, छीलता है ... और सर्प अपनी असह्य पीडा में भी अपना सिर उठा लेता है। बालक को फिर से क्रीड़ा का-सा सुख मिलने लगता है। वह सर्प को छड़ी से नहीं अपनी अंगुली से छेडना चाहता है। वह अपना हाथ उसके निकट ले जाता है। सर्प क्रोध में उसे दंश मारता है। अब तडपने की बारी बालक की है ... बालक सर्प विष से तडप-तड़पकर मर जाता है; और सर्प, सिर में लगे अपने घाव से।...

शकुनि मन ही मन मुस्कराया ... गांधारी कुरुओं की रक्षा करना चाहती है। उन कुरुओं की, जिन्होंने गांधारों का अपमान किया था। उस अपमान के प्रतिशोध का अवसर पाने के लिए शकुनि ने जीवन भर उनकी सेवा की। अब, जब वह अवसर इतना निकट है, उसके सामने खड़ा है, तो गांधारी चाहती है कि वह चुपचाप गंधार लौट जाए। ...वह भूल गई है कि वह गांधारी है, गांधार राजकन्या। शायद अपने आपको कौरवी समझने लगी है।...

शकुनि की ऑखों में एक कठोर भाव जन्मा। ... यदि उसकी अपनी बहन गांधारी से कौरवी हो गई है, तो उसे भी शकुनि की क्रोधाग्नि में जलना होगा ... शकुनि के लिए तो बस एक ही काम शेष रह गया है ... दुर्योधन के हाथ मे एक छडी पकडा देने भर का। वह स्वयं ही पांडवों को कोंचने के लिए द्वैत वन जा पहुँचेगा ... और पांडवों को कोंचने का परिणाम ...

शकुनि की इच्छा हुई कि वह जोर का एक अट्टहास करे। इतने जोर का कि वह गांधारी के कानों में ही नहीं, उसके मन में भी देर तक गूँजता रहे........

2

शकुनि आज दुर्योधन के भवन में आया, तो अपने साथ अपना एक सेवक भी लाया था। यह सेवक स्थानीय नहीं था। उसे देख कर उसकी आकृति से ही पहचाना जा सकता था कि वह गंधार प्रदेश का ही निवासी है। हस्तिनापुर में भी शकुनि के पास स्थाई रूप से अनेक गांधार सेवक थे; और प्राय: वहाँ से अनेक राजकर्मचारी उसके पास आया-जाया करते थे। आज जो सेवक उसके

साथ था, उसने अपनी पीठ पर एक गठरी लाद रखी थी।

दुर्योधन घर पर नहीं था, इसलिए सूचना मिलने पर दुर्योधन की बडी रानी काशिका ने बाहर निकलकर उसका स्वागत किया, "पधारें मातुल ! आर्यपुत्र तो इस समय घर पर नहीं हैं।"

"मैं जानता हूँ पुत्रि !" शकुनि बहुत मधुर भाव से बोला, "वस्तुतः आज मैं तुमसे ही भेंट करने आया हूँ।"

काशिका का मन उद्विग्न हो उठा : यह धूर्त मातुल, आज उससे भेट करने क्यों आया है, वह भी उसके पति की अनुपस्थिति में ? ... जाने क्यों शकुनि के निकट आते ही उसके मन में आशंका के घंटे इतनी जोर से बजने लगते थे कि उसकी कनपटियो में पीडा होने लगती थी।... किंतु वह उसका तिरस्कार नही कर सकती थी। वह दुर्योधन का निकटतम संबंधी तथा प्रियतम सभासदो में से एक था। हस्तिनापुर में कौन नही जानता कि दुर्योधन पर धृतराष्ट्र से भी अधिक अधिकार और प्रभाव शकुनि का था।...

काशिका का मन हो रहा था कि शकुनि को बैठने का निवेदन करने से भी पहले पूछे कि वह उससे भेंट करने क्यों आया है। काशिका की तो कभी ऐसी कोई इच्छा रही नहीं ।... तभी उसकी दृष्टि शकुनि के सेवक पर पडी। उस सेवक में जैसे उसे अपने लिए एक ढाल दिखाई दी। वह शकुनि के सम्मुख उपस्थित होते हुए भी, उसे कुछ देर के लिए चर्चा में अनुपस्थित कर सकती थी।

"आज इसे कहाँ ले आए मातुल ?" उसने सयत्न हॅसकर पूछा, "लगता है, सीधा ही गंधार से चला आ रहा है। अभी उसी वेशभूषा में है। हस्तिनापुर की उष्ण जलवायु मे यह इतने वस्त्रो को कैसे लादे हुए है ?"

शकुनि प्रसन्न हो गया : काशिका ने वार्तालाप, ठीक उसी की वांछित दिशा मे मोड़ दिया था। अब उसे अपना मनोवांछित कहने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

उसने आसन ग्रहण करने के लिए काशिका के अनुरोध की कोई प्रतीक्षा नहीं की। न वह इस भवन में पहली बार आया था, न इस परिवार में। तो इतनी औपचारिकता की क्या आवश्यकता थी। इस कक्ष में उसका आना-जाना लगा ही रहता था। जब आता था, द्वार के दाहिनी ओर के आसन पर बैठता था।

दह अपने उसी आसन पर बैठ गया, और उसने अपने सेवक को आदेश दिया, "गठरी उतार और सुखपूर्वक बैठ जा।"

उसने अपनी अंगुली से भूमि की ओर संकेत किया :

"नही ! नहीं !! वहाँ क्यो बैठाते है।" काशिका शीघ्रतापूर्वक बोली, "उस आस्तरण पर बैठ जाओ।"

सेवक ने उसकी आज्ञा का पालन किया।

"यह कल ही पहुँचा है।" शकुनि ने बताया, "अपने साथ कुछ गांधार वस्त्र लाया है। महाराज ने भिजवाए हैं। मैने सोचा कदाचित् वे तुम्हारी रुचि के हो। इसलिए बँधी गठरी ही यहाँ ले आया।" उसने काशिका की प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा नहीं की, सीधे अपने सेवक से बोला, "खोल गठरी। बिज्जू के समान मेरा मुख क्या ताक रहा है।"

"पर ये वस्त्र तो महारानी ने अपनी पुत्रवधू के लिए भेजे हैं युवराज !" सेवक कुछ संकुचित भाव से बोला, "साधारण उत्तरीय नहीं है। ऊनी स्कंधावरण हैं, रुरु मृगों के कोमल रोमों से बुने हुए।"

"जानता हूँ।" शकुनि ने कुछ उत्तेजना दिखाई, "साधारण उत्तरीय होते, तो मैं उन्हें हस्तिनापुर की युवराज्ञी को भेंट करता ? मूर्ख ! युवराज्ञी के वस्त्र सदा ही असाधारण होते है। प्रत्येक असाधारण वस्त्र पर युवराज्ञी का ही प्रथम अधिकार है।"

"पर महारानी ने तो ये स्कधावरण अपनी पुत्रवधू के लिए भेजे हैं।" सेवक पुन: बोला।

शकुनि ने अट्टहास किया, "उन्होंने अपनी पुत्रवधू के लिए भेजे है, तो मैं भी तो अपनी पुत्रवधू को ही दे रहा हूँ।"

शकुनि ने जैसे झपटकर, उसके हाथ से वह गठरी ले ली; और उसे खोल कर सारे वस्त्र फैला दिए। वह जैसे एक-एक वस्त्र को उलटता-पलटता रहा। फिर उसने काशिका की ओर देखा, "तुम्हें इसमें जो भी प्रिय लगे, उठा लो पुत्रि !" वह क्षण भर रुका और पुनः बोला, "प्रिय लगने का क्या है। लो, तुम ये सारे वस्त्र ही रख लो।"

उसने गठरी को पुनः लपेटना आरभ कर दिया था।

"नहीं ! नहीं !! मातुल, यह आप क्या कर रहे है।" काशिका न केवल आगे बढ आई, वरन् उसने अपने हाथ फैलाकर शकुनि को गठरी बाँधने से रोक दिया, "मातामही ने अपने जिस स्नेह के साथ ये वस्त्र मातुला के लिए भेजे है, उसे देखते हुए तो मुझे इनमे से एक भी वस्त्र स्वीकार नहीं करना चाहिए।..."

"नहीं पुत्रि ! ऐसी बात ..."

"पर मै आपके आग्रह को अस्वीकार नहीं कर सकती।" काशिका ने शकुनि को वाक्य के मध्य में ही रोक दिया, "आप स्वेच्छा से इसमे से एक स्कधावरण मुझे दे दे। मै उसे आपके प्रेम का प्रसाद समझकर अपने सिर माथे पर ग्रहण करूँगी।"

शकुनि की ऑखो में जैसे कृतज्ञता के अश्रु आ गए, "तुम धन्य हो पुत्रि !"

उसने बारी-बारी सारे वस्त्रों को पुनः उलटा-पलटा, और एक स्कंधावरण उठा लिया, "यह लो। इसे ग्रहण करो। यह गंधार की शीत ऋतु मे भी व्यक्ति

को पूर्णतः सुरक्षित रखता है, हस्तिनापुर की तो बात ही क्या। रुरु मृगों के कोमल रोमों से बुना हुआ, यह स्कंधावरण, कोमल से कोमल तथा मृदुल से मृदुल त्वचा को भी सुखद लगेगा। इसका वर्ण भी मनोहर है।"

"अरे मातुल ! आप तो बहुत अच्छे व्यवसायी भी हो सकते है।" काशिका हँस पड़ी, "किसी ग्राहक के सम्मुख वस्त्रों का बखान करें, तो वह सारे ही क्रय कर लेगा। मुझे यह सब क्या देखना है। मैं तो आपके उपहार को आपके स्नेह का प्रसाद समझकर ग्रहण कर रही हूँ।"

शकुनि अपने चेहरे पर एक मूर्ख सी हॅसी ले आया, "पुत्रि ! अपने उपहार की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए; किंतु जहॉ इतना कहा है, वहॉ यह भी कह दूँ... ।" और वह रुक गया।

"कहिए।"

"इंद्रप्रस्थ में, राजसूय यज्ञ के समय, पांचाली जिस स्कंधावरण को धारण किए हुए थी, उसकी लोग आज भी प्रशंसा करते हैं।"

काशिका की ऑखों के सामने भी वह दृश्य जैसे जीवंत हो उठा ... पांचाली धर्मराज युधिष्ठिर के साथ, राजसिंहासन पर आसीन थी। उसका वह रूप, केश सज्जा, आभूषण और वह स्कंधावरण ... अब स्मरण नहीं है काशिका को कि वह किस पार्वत्य राजा का उपहार था ... किंतु उस पर दृष्टि पड़ते ही, जैसे स्तब्ध रह जाती थी। ऐसा स्कंधावरण !... बाद में काशिका ने उसका स्पर्श किया था, उसे अपने हाथों में ले कर भी देखा था। पांचाली ने तो उसे एक बार अपने कंधों से उता कर, उसे ओढ़ा भी दिया था, "जाओ, दर्पण में देखो। कैसी मनोहरा लग रही हो।"

"यह उससे भी श्रेष्ठ स्कंधावरण है पुत्रि।" शकुनि कह रहा था, "गंधार से श्रेष्ठतर सूचीशिल्प और कहीं नहीं मिलेगा; और सूचीशिल्पी तो फिर बाहर से ला कर, अपने राज्य में बसाए भी जा सकते हैं, किंतु इस जाति के रुरु मृग तो अन्य किसी प्रदेश में जीवित ही नहीं रह सकते। ये गंधार की ही विशेषता हैं।"

काशिका का ध्यान शकुनि तथा गंधार की ओर नहीं था। वह तो मन ही मन पांचाली को खोज रही थी, ताकि उसे अपना स्कंधावरण दिखा सके, "देखो !..."

"पांचाली कहॉ है आज कल ?" सहसा उसके मुख से निकला, किंतु तत्काल ही उसने स्वयं को सँभाला, "मेरा तात्पर्य है, पांडव आज कल कहॉ निवास कर रहे हैं ?"

शकुनि की आत्मा में जैसे अमृत के झरने झरने लगे... यही तो चाहता था वह। ...यही...एकदम यही...

"वे लोग द्वैतवन में द्वैत सरोवर के निकट, कहीं अपने दिन व्यतीत कर रहे हैं।" उसने अत्यत तटस्थ भाव से कहा, "क्यों ? क्या तुम उनसे मिलना चाहती हो, काशिका ?"

"नहीं ! नहीं !! ऐसी तो कोई बात नहीं है।" काशिका शीघ्रता से बोली, "आपने उनकी चर्चा की तो ध्यान आ गया ...।"

"हाँ। वैसे भी आजकल उनसे मिलने कौन जाता है।" शकुनि बोला, "बेचारों के पास अपने खाने के लिए तो अन्न तक नहीं है, अतिथियों का सत्कार कैसे करेंगे।"

काशिका के मन में सागर के प्रबलतम ज्वार के समान, एक तीव्र आकांक्षा उठी कि वह अपनी उस जेठानी की दुर्दशा के विषय मे कुछ और सुने, जो इंद्रप्रस्थ के राजसूय यज्ञ में महारानी थी, और द्यूत क्रीडा के समय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अतिथि।...

उसने अपने चेहरे पर अवसाद का आवरण डाल लिया और सहानुभूति प्रकट करती हुई बोली, "अच्छा, ऐसी दुर्दशा है उनकी ? क्या सचमुच उनके पास भोजन और वस्त्र भी नहीं हैं ? एक भी दासी नहीं है, महारानी के पास ?"

"नहीं । दासी तो कदाचित् कोई नहीं है; किंतु उनके कुछ स्वामिभक्त,पूर्व सेवक, सपरिवार उनके निकट रहते हैं; और उनकी सेवा करते हैं।" शकुनि बोला, "वैसे पांडव वन में कुटिया बनाकर रहते हैं; वल्कल पहनते हैं; और वन के कंद मूल, अथवा आखेट से प्राप्त भोजन करते हैं। बस, जैसे साधारण अरण्यवासी वनों में रहते हैं।"

काशिका के लिए अपनी प्रसन्नता को अव्यक्त रखना जैसे संसार की कठोरतम तपस्या थी। अपने उल्लास को किसी प्रकार अपने भीतर भींच कर बोली, "क्या पांचाली अब कौशेय साड़ियाँ नहीं पहनती ? अपनी केश सज्जा नहीं करती ? उसके पतियों को असमर्थ देखकर उसके पिता उसका भरण-पोषण नहीं करते ?"

"तुम बहुत भोली हो काशिका !" शकुनि बोला, "अपनी प्रतिज्ञा के अधान, उन्हें वल्कल धारण कर वनवास करना है। यदि द्रुपद अथवा कृष्ण, उन्हें धन संपत्ति देंगे, और वे लोग उसका भोग करेंगे, तो उनकी प्रतिज्ञा भंग होगी; और उन्हें पुनः बारह वर्षों का वनवास करना पडेगा। ... और जहाँ तक पांचाली की केश सज्जा का प्रश्न है, उसने तो कभी वेणी भी नहीं बाँधी। तुम शायद भूल गई कि पांचाली ने तब तक अपने केश खुले रखने की प्रतिज्ञा की है, जब तक वह दुःशासन के रक्त से उनको स्नान नहीं करवा लेती।"

"ओह। हाँ।"

"कोई बात नहीं पुत्रि ! तुम अपना यह स्कंधावरण सँभालो।" शकुनि ने

अपने सेवक को शेष वस्त्र गठरी में बाँधने का संकेत किया, "कभी तो उनका वनवास समाप्त होगा; और पांचाली अपने सर्वोत्तम वस्त्रों में तुमसे भेंट करने आएगी। तब तुम भी उसे दिखा सकती हो कि तुम्हारा स्कंधावरण, उसके स्कंधावरण से भी श्रेष्ठतर है। ..." शकुनि उठ खडा हुआ, "चलता हूँ।"

"अरे मातुल !" काशिका चौकी, "आप ऐसे ही कैसे चले जाएँगे। मैंने आपका कोई सत्कार तो किया ही नहीं है।"

अब काशिका के मन में शकुनि के लिए कोई वितृष्णा शेष नहीं थी। वह उसे अपना कोई अत्यंत आत्मीय परिजन लग रहा था...

"नहीं पुत्रि ! उसके लिए फिर आऊँगा।" शकुनि बोला, "जब दुर्योधन भी उपस्थित होगा; और तब सत्कार क्या, पान गोष्ठी का आनंद उठाऊँगा।"

शकुनि ने काशिका को और कुछ कहने का अवसर ही नहीं दिया। काशिका खड़ी देखती रह गई; और वह अपने सेवक को खदेडता-सा बाहर निकल गया।

तब काशिका ने जैसे पहली बार उन्मुक्त मन से उस स्कंधावरण को देखा, उसकी कोमल ऊष्मा का स्पर्श किया; और उसे अपने वक्ष के साथ भींच लिया, ताकि शरीर ही नहीं, उसका हृदय भी उसके सुख का अनुभव कर सके।... काश ! वह इसे आज ही द्रौपदी को दिखा सकती ! ...

दिन भर काशिका की भेंट दुर्योधन से नहीं हुई। रात को वह बडी अधीरता से उसकी प्रतीक्षा अपने कक्ष में करती रही। अंततः जब दुर्योधन आया तो काशिका का धैर्य पूर्णतः समाप्त हो चुका था। दुर्योधन को देखते ही उसने कहा, "सुना है, पांडव हिमालय से नीचे उतर, हमारे निकट ही कहीं निवास कर रहे हैं।"

दुर्योधन के चेहरे पर वितृष्णा के भाव प्रकट हुए, "सारे दिन के पश्चात् इस समय मिली हो; और तुम्हारे पास चर्चा का कोई सुखद विषय नहीं है ?"

"विषय तो बहुत सारे हैं।" काशिका अपने आनंद में जैसे इठलाई, "प्रेम प्रसंग, सुरा प्रसंग, युवराज की वीरता और उनके वैभव का प्रसंग—एक से एक आकर्षक विषय हैं; किंतु मैंने सोचा कि यह तो जान लूँ कि आपके जो भाई संकटों को झेल कर आपके निकट आ गए है, उनकी सूचना आपको है या नहीं।"

दुर्योधन के मन में आक्रोश का ज्वार उठा, यह मूर्खा इतना भी नहीं जानती कि पति दिन भर के श्रम से थक कर आए तो उससे रति प्रसंग की चर्चा करनी चाहिए, न कि शत्रु प्रसंग की। उसने एक उदासीन-सी दृष्टि काशिका पर डाली, "हाँ। द्वैत वन में द्वैत सरोवर के निकट उन्होंने अपने कुटीर बनाए हैं।" उसने उस पर एक वक्र दृष्टि डाली, "तुम्हें उनसे भेंट करने जाना है क्या ?"

"हैं तो आपके भाई ही।" काशिका भी उतने ही वक्र स्वर में बोली, "इस समय संकट में हैं, तो कोई और तो नहीं हो जाएँगे। क्या हमें यह देखने नहीं जाना चाहिए कि सम्राट् और साम्राज्ञी, जब वनवास करते हैं, तो कैसे प्रासादों मे रहते हैं, कैसे वस्त्राभूषणों से अपना शृंगार करते हैं, और कितना स्वादिष्ट भोजन करते हैं।"

"मूर्ख हो तुम !" दुर्योधन ने उसे झिड़क दिया, "लोग देखना चाहते हैं कि सम्राट् कैसे रहते हैं; और ये देखेंगी कि अरण्यवासी कैसे रहते हैं। चली जाना आखेटकों के किसी दल के साथ, और देख आना कि अरण्यवासियों की जीवन पद्धति क्या है।" उसने एक उपेक्षापूर्ण दृष्टि काशिका पर डाली, "इतनी कठिनाई से तो उनसे पिंड छुड़ाया है, और अब इसे स्मरण हो आया है कि वे हमारे भाई हैं। ..."

काशिका जानती थी कि दुर्योधन की संभाषण शैली यही रहेगी। उससे रुष्ट हो कर काशिका की मनोकामना पूर्ण नहीं हो सकती थी।... स्वयं को साध कर बोली, "आपकी रानियाँ कुछ ऐसी चर्चा कर रही थीं कि बहुत दिनों से आर्यपुत्र ने राज-काज से अवकाश ले कर विश्राम नहीं किया है। भ्रमण के लिए भी कहीं नहीं गए हैं। न वनविहार किया है, न जलविहार। रानियों को भी अवसर नहीं मिला कि वे किसी के सम्मुख अपने-अपने वस्त्राभूषणों की प्रदर्शनी लगा सकें।"

"रानियाँ हैं कि कोई हाट-आपण कि आभूषणों की प्रदर्शनी लगाना चाहती हैं।" दुर्योधन ने वितृष्णा से मुँह फेर लिया, "उहँ ! ये स्त्रियाँ ..."

"आभूषण तो आप भी पहनते हैं।" काशिका तत्काल बोली, "आप समझते हैं कि आभूषण कोई अपने लिए पहनता है ?"

"नहीं स्वर्णकारों के लिए पहनता है।" दुर्योधन बोला।

काशिका तनिक भी हतोत्साहित नहीं हुई, "अपने कानों और नासिका में छिद्र करा, उनमें भार लटकाने का कष्ट कोई इसलिए तो सहन नहीं करता कि वह अपने आप में कोई बहुत सुखदाई अनुभूति है।"

"तो ?"

"आप नहीं जानते ?"

"नहीं ! तुम बताओ।"

"अन्य लोगों के सम्मुख अपने वैभव का प्रदर्शन कर, उन्हें हीन और तुच्छ सिद्ध करने के लिए। स्वयं को उनसे धनी और संपन्न सिद्ध करने के लिए। अपने अहंकार की तुष्टि के लिए ...।" काशिका बोली, "सारा शृंगार, वेशभूषा, अलंकरण—क्या है, यह सब। आत्म-प्रदर्शन ही तो है। देखनेवाला कोई न हो, तो व्यक्ति क्यों आत्मालंकरण में इतना समय, धन, और श्रम लगाए ?"

"तो तुम लोग वहाँ उन कंगले पांडवों को रिझाने के लिए जाना चाहती

हो ?" दुर्योधन का स्वर कुछ और तीखा हो आया।

"कंगले पांडवों को क्यों, उन अरण्यवासी भिक्षुक तपस्वियों को कहिए।" काशिका ने कटाक्ष किया, "पांडवों को यह तो ज्ञात है, कि कौन-सा आभूषण क्या है, और किस आभूषण का क्या नाम है। हम उन तपस्वियों के पास जाएँगी और पहले उन्हें पीतल और स्वर्ण का अंतर समझाएँगी; और फिर उनके सामने कंगन और भुजबंद का भेद स्पष्ट करेंगी।"

दुर्योधन ने स्वयं को नियंत्रित करने का प्रयत्न त्याग दिया। उसने एक क्रुद्ध दृष्टि काशिका पर डाली और बोला, "सर्वथा अनर्गल हो रही है, तुम्हारी जिह्वा। सामान्य शिष्टाचार का भी ध्यान नहीं है, तुम्हें। तुम अपने पति से बात कर रही हो, जो हस्तिनापुर का युवराज है।"

काशिका सँभली। बात बनने के स्थान पर बिगड़ती जा रही थी। दुर्योधन का क्या पता था, कब पल्ला झाड़ कर उठ खड़ा हो। कब उसका अहंकार फूत्कार करने लगे, और कब उसका मस्तिष्क तर्क सुनना अस्वीकार कर, जड़ हो बैठ जाए।

वह एक सायास मुस्कान अपने अधरो पर लाई, नयनों में मद उँड़ेला; और बोली, "अब आपको यह भी समझाना पड़ेगा कि नारी अपने पति को क्यों अपना शृंगार दिखाना चाहती है।"

"अपने पति को अपना शृंगार दिखाना !" दुर्योधन ने जैसे काशिका के हाव-भाव को झटक दिया, "पति यहाँ बैठा है और पत्नियाँ अपना शृंगार प्रदर्शित करने के लिए द्वैतवन में जाना चाहती हैं।"

"प्रकृति के सुंदर परिवेश में ही नारी का सुंदर शृंगार, पुरुष के मन में काम उद्दीप्त करता है; अन्यथा लोग वनविहार और जलविहार को क्यों जाते।" काशिका बोली, "यहाँ आप राज-काज में लगे रहते हैं। प्रजा की समस्याओं का समाधान करते रहते हैं। युद्धों के अभ्यास और योजनाओं में लगे रहते हैं। इस राजकीय नागरिक परिवेश में, कब आपको अवकाश मिला है, अपनी पत्नियों के यौवन और नारीत्व को देखने का।"

रानियों के यौवन और नारीत्व को निरखने की चर्चा से दुर्योधन के मन की क्लांति कुछ छँटी। उत्साह जागा। कुछ मुस्कराकर बोला, "ओह ! तो यह सारा आयोजन, इस उपालंभ के लिए था।" वह हल्के से हँसा, "तुम सरल स्पष्ट शब्दों में यह ही कह देतीं कि मेरी व्यस्तता तुम्हें अपनी उपेक्षा लगने लगी है और तुम स्वयं को तिरस्कृत अनुभव करने लगी हो। व्यर्थ ही इतना दर्शनशास्त्र और कामशास्त्र पढ़ाया।" दुर्योधन ने अपनी बाँहें उसकी ओर बढ़ा दीं, "आओ ! आज तुम्हारा पूर्ण निरीक्षण कर लूं।"

काशिका ने एक उन्माद की सी स्थिति में अपना शरीर दुर्योधन के उन्मत्त

शरीर को सौप दिया। वह जानती थी कि कामलिप्त पुरुष से कोई भी वरदान पाना नारी के लिए तनिक भी कठिन नहीं होता।

"मै आपका आशय पूर्णत. समझ गया मातुल !" कर्ण ने आह्लाद से छलछलाती ऑखो से शकुनि की ओर देखा, "मैं आपको कैसे बताऊॅ कि आपकी योजना मेरे लिए कितनी बहुमूल्य है। वैसे तो मेरा विचार है कि काशिका ही दुर्योधन को मना लेगी, किंतु किसी कारण से यदि वह उसे सहमत नहीं कर सकी, तो यह दायित्व मैं पूर्ण करूॅगा।"

"तुम्हारे जैसा सहयोगी, हस्तिनापुर में और कहॉ मिलेगा।" शकुनि का स्वर मद्य के प्रभाव में कुछ लड़खड़ा रहा था, "तुम्हे कम बताओ, तो भी तुम अधिक समझ लेते हो। दुर्योधन पर तुम्हारा प्रभाव भी बहुत है। युधिष्ठिर को अपने भाइयों, भीम और अर्जुन पर जितना विश्वास है, उससे भी कहीं अधिक, दुर्योधन तुम पर विश्वास करता है।"

"मैं जानता हूँ कि दुर्योधन मेरी बात नहीं टालेगा।" कर्ण बोला, "किंतु आप स्वयं यह बात, उससे क्यों नहीं कहते ?"

शकुनि के कंठ से एक विचित्र प्रकार की हँसी फूटी; और उसने अपने हाथ में पकडा चषक अपने कंठ में उॅडेल लिया, "तुम नहीं समझ पाओगे अंगराज ! तुम नहीं समझ पाओगे।"

"क्या नहीं समझ पाऊॅगा मातुल !" कर्ण ने उसकी आँखों में देखा, "कोई बहुत जटिल सिद्धांत है अथवा मैं ही मंदबुद्धि हूॅ ?"

शकुनि ने उसे देखा, "नहीं। ये दोनों बातें नहीं हैं। बस यह मान लो कि शकुनि ही अभागा है। ऐसा भाग्य लेकर आया हूॅ मैं कि किसी के लिए अपने प्राण भी दे दूॅ, तो वह यही कहेगा कि तुमने अपने प्राण दे कर मुझे कलंकित कर दिया है।"

"मैं समझा नहीं मातुल !" कर्ण सचमुच बड़े असमंजस में था। शकुनि ने मदिरा अवश्य पी रखी थी, किंतु इतनी नहीं कि उसकी चेतना सुषुप्त हो जाती और वह अनर्गल बकने लगता। हाँ ! मदिरा से इतना अवश्य हुआ था कि शकुनि का सतर्क और सजग बौद्धिक भाव कदाचित् मदिरा में घुल गया था; और उसके मन में कहीं नीचे दबा कर रखे गए भाव, उठ कर उसकी जिह्वा पर आने लगे थे।... इस समय उसकी ऑखों में जो आहत भाव था, वह किसी पीडा की ओर स्पष्ट संकेत कर रहा था।

"यही तो कह रहा हूॅ अंगराज ! तुम समझोगे नहीं ।" शकुनि पुनः बोला, "किसी के दुर्भाग्य को समझना कठिन होता है। बहुत कठिन होता है। कुछ लोग

जन्म से ही ऐसे अभागे होते हैं। उन्हें बहुत चतुर माना जाता है और उनकी यह ख्याति ही उनकी शत्रु हो जाती है। अपने जिस आत्मीय के लिए, वे अपने प्राण दे देते हैं, वह आत्मीय भी समझता है कि वे उसके साथ चतुराई कर रहे हैं। ..." शकुनि ने कर्ण की भुजा थाम ली, "प्राण देना कठिन नहीं है। क्या कठिनाई है, प्राण देने में ? बस क्षण भर की ही तो बात है। दे दिए प्राण। जब तक किसी को पता लगता है कि प्राण देने हैं, तब तक प्राण दिए भी जा चुकते हैं। सब कुछ समाप्त। उसमें पीडा सहन करने की अवधि ही कितनी है। कठिन होता है, किसी के लिए अपना सारा जीवन समर्पित करना। आप एक-एक क्षण कर, तिल-तिल जल कर, अपना जीवन किसी को समर्पित करते चलते हैं ; और जब आप समझते है कि आपको अपने त्याग का पुरस्कार मिलना चाहिए, वह आपको बताता है कि आप उसके लिए अपना जीवन नहीं दे रहे थे, चतुराई कर रहे थे। वह न आप का पिछला जीवन लौटा सकता है; न आप अपना शेष जीवन उसके लिए समर्पित करना चाहते हैं।... किंतु क्या करेंगे आप, अपने उस थोड़े से बचे हुए जीवन का ? न चाहते हुए भी, उसी को तो समर्पित कर देंगे न ! नहीं करेंगे, तो वह आपको और भी चतुर प्रमाणित कर देगा।" शकुनि ने कर्ण का हाथ छोड़कर, सीधे उसकी आँखों में देखा, "चतुराई का अर्थ समझते हो अंगराज ! चतुराई का अर्थ बुद्धिमत्ता नहीं है। चतुराई का अर्थ है, धूर्तता। उसमें विश्वसनीयता का कोई भाव नहीं होता। उसमें संदेह है, संशय है, स्वार्थ का आरोप है।..."

कर्ण ने शकुनि के दोनों कंधे पकड़ लिए, "आप यह सब क्या कह रहे हैं मातुल ! क्या राजा दुर्योधन ने आपसे कुछ कहा है ?"

"दुर्योधन मुझसे क्या कहेगा।" शकुनि ने उत्तर दिया, "मुझसे तो मेरे भाग्य ने कहा है। चुपके से कहा है, मेरे इस कान में।" शकुनि ने अपना दाहिना कान पकड़कर हिलाया, "किंतु तुम्हें उससे क्या लेना देना। तुम तो कल्पना करो उस दृश्य की, जहाँ पांचाली वल्कल वस्त्रों में खड़ी होगी और दुर्योधन की रानियाँ अपने वस्त्राभूषणों की प्रदर्शनी लगाती-सी उसके सामने से निकलेंगी। तुम उसे द्यूत सभा में भी जितना क्लेश नहीं दे पाए, उससे अधिक कष्ट होगा उसे, अपनी देवरानियों के वैभव को देख कर। उसका हृदय लपटों में जलेगा, उसका शरीर अंगारों पर लोटेगा; उसकी जिह्वा अपने पतियों पर रौरव नरक की अग्नि की वर्षा करेगी। तुम नारी के मन की ईर्ष्या को नहीं जानते, तो जान जाओगे। वह एक बार दुर्योधन की रानियों का हार शृंगार देख ले, तो अपने पतियों को एक रात्रि में इतना पीड़ित कर देगी, जितना तुम लोग, उन्हें जीवन भर में नहीं कर पाए। ..."

शकुनि मौन हो गया। वह उसके आगे बोलना नहीं चाहता था। कहीं

ऐसा न हो कि वह यह भी कह जाए कि इस प्रकार पाचाली की वह प्रताड़ना, पाडवों को युद्ध के लिए कितना प्रेरित करेगी ...और कुरुकुल का विनाश कैसे और कितना निकट आ जाएगा ...

3

कर्ण ने सभा भवन में दुर्योधन के एकांत कक्ष में प्रवेश किया तो शकुनि और दु:शासन वहाँ पहले से ही उपस्थित थे। उसके लिए इसमें कुछ भी अनपेक्षित नहीं था। रात्रि को शकुनि से जो चर्चा हुई थी, उससे ही स्पष्ट था कि शकुनि यहाँ अवश्य उपस्थित होगा। प्रातः ही दुर्योधन का संदेश भी मिल गया था कि वह अपने एकांत कक्ष में उसकी प्रतीक्षा करेगा।

"आओ मित्र !" दुर्योधन ने उसका स्वागत किया, "क्या बात है, इतना विलंब कर दिया ? क्या रात भर पांडवों के विषय में कोई स्वप्न देखते रहे ?"

कर्ण हँसा, "लगता है, युवराज ने पांडवों के विषय में अपना कोई स्वप्न सुनाने के लिए ही सबको एकत्रित किया है।"

"देखो मातुल !" दुर्योधन ने शकुनि की ओर देखा, "मैं न कहता था, हम सब लोग रात भर पांडवों के ही विषय में स्वप्न देखते रहे हैं।" उसने क्षण भर रुक कर जैसे देखे गए अपने स्वप्न का मन ही मन रस लिया, "मैंने देखा कि वन में भोजन न मिलने के कारण, पांडव अत्यंत दुर्बल और क्षीण हो गए हैं; और वह पांचाली, उनकी ताड़ना करती हुई कह रही है कि इससे अधिक सुखी तो वह दुर्योधन की दासी बन कर ही रहती।"

"अरे यह पांचाली तो स्वप्न में भी सत्य ही बोलती है।" शकुनि अपनी पूर्ण आनंदावस्था में हँसा, "वह तो रहती ही।"

"देखो राजेन्द्र !" कर्ण गंभीर स्वर में बोला, "चारो ओर पांडवों की यह चर्चा अकारण ही नहीं है। जब तक वे लोग हिमालय के उच्च क्षेत्रों मे विचरण कर रहे थे, हमसे दूर थे। तब न उनकी चर्चा होती थी और न कोई उनके विषय में स्वप्न ही देखता था। अब जैसी कि सूचनाएँ मिल रही है, वे लोग हस्तिनापुर के पर्याप्त निकट आ गए है। परिणाम यह है कि वे लोग हमे अपना समाचार भेजें न भेजें, कोई न कोई व्यक्ति उनके विषय में कोई न कोई सूचना ले ही आता है। इन सूचनाओं ने उनका अस्तित्व जैसे ला कर हस्तिनापुर के वक्ष पर खडा कर दिया है। परिणाम यह है कि हस्तिनापुर पर उनकी एक प्रकार की बृहदाकार भयावह छाया पड रही है। ... और यह उचित नहीं है।"

कर्ण ने रुक कर दुर्योधन की ओर देखा। दुर्योधन उसकी बात बहुत ध्यान से सुन रहा था ...

"होना यह चाहिए कि उनकी दृष्टि हस्तिनापुर की दिशा में उठे तो उनके नयनों में अश्रु आ जाएँ; उनके पग इस दिशा में उठें तो वे भय से लड़खडा कर गिर पड़ें; उन पर हस्तिनापुर की ऐसी छाया पडे कि उनके चेहरे पीले पड़ जाएँ।"

दुर्योधन की ऑखों में सहमति थी, "पर यह कैसे होगा मित्र ?"

"आपने चाहे स्वप्न ही देखा हो, किंतु संभावना यही है ... और संभावना क्या, सत्य यही है कि वनवास करते-करते, पांडव मन और शरीर से अत्यंत दुर्बल हो चुके होंगे। अपने आपको तो वे प्रतिदिन देखते ही हैं, एक बार वे आप का वैभव भी देखें। इस समय आप इतने विस्तृत और समृद्ध राज्य के स्वामी हैं, और वे राज्यभ्रष्ट वनवासी। मैं उनको आरण्यक भी नहीं मानता। आरण्यक तो वे होते है, जो अपनी इच्छा से किसी कारणवश अरण्य में अपनी गृहस्थी स्थापित करते हैं। ... किंतु ये तो वे लोग हैं, जिनसे उनका सर्वस्व छीन कर उन्हें वन में रहने को बाध्य किया गया है, इसलिए वे लोग वनवासी भी नहीं हैं, वे तो वनचर हैं।" कर्ण जैसे सॉस लेने के लिए रुका, "आप संसार की सर्वोत्कृष्ट श्री से संपन्न हैं और वे सर्वथा श्रीहीन। आप विपुल समृद्धिशाली हैं और वे सर्वथा निर्धन। इस समय आप राज्यलक्ष्मी से सुशोभित हो कर, वहॉ चलें; और जिस प्रकार भुवन भास्कर भगवान दिवाकर, तपन बन कर संसार को तपाते हैं, उसी प्रकार आप पांडवों को संताप दें। वे एक बार आपका वैभव देख लेंगे तो कदाचित् ही कभी इस दिशा में दृष्टि उठाकर देखने का साहस कर सकेंगे।"

शकुनि मुग्ध भाव से कर्ण को देख रहा था। उसे विश्वास नहीं था कि रात को जो चर्चा वह कर्ण से करके आया था, उसे कर्ण इस गंभीरता से ग्रहण करेगा; और उसे पूर्णकाम करना अपना लक्ष्य ही बना लेगा।... वह उसे एक मद्यप वृद्ध का प्रलाप मान कर विस्मृत भी तो कर सकता था। पर नहीं ! वह तो उसे अपनी पूरी क्षमता से दुर्योधन के सम्मुख इस प्रकार प्रस्तुत कर रहा था, जिससे वह दुर्योधन का अपना स्वप्न ही बन जाए।... अब इस चर्चा को आगे बढ़ाने में, शकुनि को असावधान नहीं रहना चाहिए था...।

"पर्वत शिखर पर खड़ा व्यक्ति, जब भूतल की ओर देखता है, तो उसे सब कुछ आकार में भी बहुत छोटा दिखाई देता है, और महत्त्व और स्वभाव में बहुत हीन और तुच्छ। स्वयं को उन सबसे बहुत ऊँचा पा कर, उसे जो सुख मिलता है, उसकी संसार में कोई तुलना नहीं है। वैसे ही राजन् ! जो मनुष्य सुख-सुविधा, सत्ता अधिकार के पर्वतशृंग पर खड़ा हो कर, अपने शत्रुओं को

संकट और विपन्नता की स्थिति में देखता है—उसके लिए इससे बढ़कर अन्य किसी सुख की कल्पना नहीं की जा सकती।" शकुनि बोला, "पांडव जब तुम्हें समृद्धि और सुख के इस शिखर पर देखेंगे, तो कदाचित् ही कभी हस्तिनापुर की ओर दृष्टि उठाकर देख पाएँगे।"

"अपने शत्रुओं की दुर्दशा देख कर मनुष्य को जो प्रसन्नता होती है, वह धन, पुत्र तथा राज्य मिलने से भी नहीं होती।" कर्ण पुनः बोला, "हम लोगों में से जो भी सिद्ध मनोरथ होकर वन में अर्जुन को मृगछाल पहने देखेगा, उसे कौन-सा सुख प्राप्त नहीं हो जाएगा। अपने स्वर्ण आभूषणों को स्वयं दर्पण में देख-देखकर अब कोई रोमांच नहीं होता। उन्हें कोई और देखे, कष्ट पाए, कराहे, तो हमे किसी प्रकार के रोमांच का अनुभव हो।"

दुर्योधन चुपचाप उन दोनों को देखता रहा : कैसा विचित्र संयोग है कि ये सब लोग एक ही स्वर में बोल रहे हैं।

"कल रात काशिका भी यही कह रही थी कि मेरी रानियों की हार्दिक इच्छा है कि वे लोग अपने वस्त्राभूषणो से सज्जित हो कर, अपने वैभव का प्रदर्शन उस पांचाली के सम्मुख करें।" दुर्योधन बोला, "किंतु मुझे लगा कि राजनीति मे स्त्रियों की यह ईर्ष्या, उनका यह कलह क्लेश ... हमारे लिए कोई संकट ही उत्पन्न न कर दे। ..."

"यह स्त्रियों की ईर्ष्या का प्रश्न नहीं है मित्र !" कर्ण ने उसे मध्य में ही टोक दिया—"तुम सोचो, वे तुम्हारी रानियॉ हैं। उनका वैभव प्रदर्शन, तुम्हारे वैभव का ही प्रदर्शन है। उस सुख की कल्पना तो करो, कि तुम्हारी रानियाँ स्वर्ण और रजत की तारो से बुनी साड़ियॉ पहनकर चलें, उनके शरीर पर स्वर्ण में जडे अमूल्य रत्नों के आभूषण जगमगा रहे हों,... और वल्कल तथा मृगचर्म लपेट कर दु:ख मे डूबी, वह अहंकारिणी द्रुपदपुत्री, कृष्णा अपनी कुटिया के द्वार पर खडी हो कर उन्हे देखे और देख-देख कर संताप करे। वह अनुभव करे कि इतनी अपमानित तो वह सर्वथा नग्न हो कर भी नहीं होती। पांडव, अपनी और अपनी पत्नी की वह दुर्दशा देखें और अपने नखों से अपना वक्ष छील लें।"

दुर्योधन को लगा, रात को वह काशिका का मंतव्य समझ नहीं पाया था: वह तो उसी के वैभव के प्रदर्शन और उससे प्राप्त सुख की बात कह रही थी। ... कंगले पांडवों के सम्मुख महाराज दुर्योधन का वैभव प्रदर्शन। उस वैभव की सार्थकता ही क्या थी, यदि उसे देखकर पांडवों के वक्ष पर सॉप न लोटें।...

दुर्योधन को लगा कि उसकी शिराओं में रक्त नहीं कोई मदिरा प्रवाहित हो रही थी। अपने इस मद को वह कैसे सँभाल पाएगा ?...

किंतु अगले ही क्षण, उसका मद, पानी के झाग के समान बैठ गया। शिराओं में दौडनेवाली ऊष्मा जैसे शीतल हो गई। मन अवसाद से घिर गया,

"पिताजी हमें उस वन में जाने की अनुमति नहीं देंगे, जहाँ पाडव निवास करते हैं।"

"क्यों ?" कर्ण कुछ अधिक ही उग्रता से बोला, "क्या द्वैतवन पांडवों के बाप का है ?"

दुर्योधन ने एक उदासीन-सी दृष्टि, कर्ण पर डाली, "नहीं, किंतु पिताजी का मत है कि पांडवों को असहाय दशा में अपने सम्मुख पाकर, हम अपनी मर्यादा भूल जाते हैं, और उन्हें इतना अपमानित करते हैं, जितना हमारी अपनी सुरक्षा के लिए संकटपूर्ण है।"

"क्यों, महाराज धृतराष्ट्र नहीं चाहते कि पांडवों का राज्य और उनकी धन संपदा, तुम्हें मिल जाए ?" शकुनि की भृकुटि वक्र हो गई, "क्या वे पांडवों को तुमसे अधिक समृद्ध, सुखी और शक्तिशाली देखना चाहते हैं ?"

"नहीं । ऐसा तो नहीं है।" दुर्योधन बोला, "वे चाहते हैं कि पांडवों से सब कुछ छीन तो लिया जाए, किंतु उन्हें पीड़ा का अनुभव न होने दिया जाए। उनसे ऐसा व्यवहार किया जाए कि वे अपने हाथों अपना राज्य हमें सौंप कर स्वयं वन में जाकर निवास करें; और इस विश्वास के साथ जीवित रहें कि वे अपने धर्म का निर्वाह कर रहे हैं, और उस धर्म का परिणाम अत्यंत शुभ होनेवाला है। ... महाराज चाहते हैं कि यदि पांडवों को पीडा का अनुभव हो ही, तो उन्हें समझाया जाए, कि उस पीड़ा के लिए कोई अन्य व्यक्ति दोषी नहीं है। उसके लिए वे लोग स्वयं ही उत्तरदायी हैं।"

"पर इतना श्रम करने की आवश्यकता ही क्या है ?" दुःशासन ने सारे वार्तालाप में पहली बार अपना मुँह खोला।

"ताकि सब कुछ छिन जाने पर भी पांडव हमसे रुष्ट न हों। वे हमें अपना शत्रु न मानें; वे हमें अपना भाई ही न मानते रहें, संकट आने पर हमारी सहायता भी करें।"

"मेरी तो समझ में यह नहीं आता कि महाराज इन पांडवों के रोष से इतने चिंतित क्यों रहते हैं।" कर्ण ने अपनी वितृष्णा प्रकट की।

"वे चिंतित नहीं, भयभीत हैं।" दुर्योधन बोला, "मैं उन्हें आज तक यह नहीं समझा पाया कि हम पांडवों से दुर्बल नहीं हैं। वे आज भी यही मानते हैं कि भीम मुझसे कहीं अधिक शक्तिशाली है। वे समझते हैं कि अर्जुन संसार का सर्वाधिक दक्ष धनुर्धर है। उसके पास गांडीव धनुष है, जो स्वयं देव अग्नि ने उसे दिया है।... और अब तो वह देवलोक से दिव्यास्त्र भी ले आया है। ..."

"तो क्या हो गया ?" कर्ण बोला, "हमारे पास भी बहुत कुछ है। फिर पितामह भीष्म तथा गुरु द्रोण हमारे साथ हैं; और उनके पास भी दिव्यास्त्रों का अभाव नहीं है।"

"पिताजी को आज तक यह विश्वास ही नहीं हो पाया कि वास्तविक युद्ध की स्थिति में, पितामह और आचार्य हमारे ही पक्ष से युद्ध करेंगे।" दुर्योधन बोला, "वस्तुतः वे नहीं चाहते कि जिन्हें वे मन ही मन अपना परम शत्रु मानते हैं, उन लोगों को भी यह भनक पडे कि वे उनके शत्रु हैं। उनके लिए कूटनीति तथा गोपनीयता का बहुत महत्त्व है। उन्होंने अपना सारा जीवन इसी नीति के अनुसार व्यतीत किया है। उनके भाई पांडु तक को ज्ञात नहीं था कि उनके मन में क्या है। वे घोषित रूप से किसी का भी विरोध नहीं करते। उनका विचार है कि हमारे सबंध प्रकटतः सबसे ही अत्यंत मधुर होने चाहिए। किसी के प्राण भी लिए जाएँ, तो इस माधुर्य से कि वह समझे कि हम उसके परम मित्र हैं।"

"पिताजी का विश्वास किसी से छीनने में नहीं, मात्र ठगने मे है।" दुःशासन जोर से हँसा, "वे युद्ध में नहीं, मात्र अपहरण में विश्वास करते हैं। वह भी अत्यंत गोपनीय ढंग से, चतुराई से। उनका क्षत्रियत्व सारे संसार से निराला है।"

"मेरी तो समझ में ही नहीं आता कि यह सब क्या है।" कर्ण बोला, "हम पांडवों से इतने शक्तिशाली हैं कि जब चाहें, उन्हें मसल डालें। फिर महाराज उनसे इतने भयभीत क्यों रहते हैं।"

"महाराज हस्तिनापुर के गुप्तचरों से सीधा संपर्क रखते हैं; और कभी-कभी उन्हें बुलवाकर उनसे चर्चा भी करते हैं।" दुर्योधन ने बताया, "पिछले दिनो द्वैतवन से एक गुप्तचर आया था, जो पर्याप्त समय से एक साधारण ब्राह्मण के वेश मे पांडवों के निकट रह रहा था।"

"वह कोई नई सूचना लाया था क्या ?" शकुनि ने कुछ उत्कंठा से पूछा।

"सूचना तो कोई ऐसी नहीं लाया।" दुर्योधन ने उत्तर दिया, "बस यह बता गया कि पांडव लोग बहुत कष्ट में हैं। उन्हें सम्यक् आहार नहीं मिलता। हिम आतप सह कर वे लोग बहुत क्षीण हो गए हैं।"

"तो ?" कर्ण ने हुंकार किया।

"यह तो बहुत शुभ समाचार है।" शकुनि बोला, "वे क्षीण हो गए हैं, तो अज्ञातवास के अंत तक रोग-शोक से गल कर, स्वयं ही मर जाएँगे।"

"ऐसा तो आप सोचते हैं न मातुल !" दुर्योधन बोला, "महाराज तो यह मानते हैं कि सिंह भूखा रह कर, कष्ट पा कर और भी हिस्र हो जाता है।..."

"तो क्या पांडव सिंह हैं।" दुःशासन ने अट्टहास किया, "वह मोटा भैंसा भीम क्या सिंह हो सकता है।"

"पिताजी तो यही मानते है न !" दुर्योधन बोला, "मैंने उन्हें समझाने का बहुत प्रयत्न किया है; किंतु वे सहमत ही नहीं होते। इस समय वे पाडवो से भयभीत ही नहीं पूर्णतः त्रस्त हैं। वे मानते हैं कि द्यूत सभा में, उनके साथ हुए व्यवहार से पांडव वहुत क्रुद्ध है। उस समय तो युधिष्ठिर ने उन्हे किसी प्रकार

धर्म की दुहाई दे कर रोक लिया था, किंतु अब, जब भी हम पांडवों के निकट जाएँगे, युधिष्ठिर अपने भाइयों को रोक नहीं पाएगा। उसने यदि अर्जुन को किसी प्रकार रोक भी लिया तो वह भीम को नियंत्रित नहीं कर पाएगा। और क्रुद्ध तथा अनियंत्रित भीम, हमारा काल ही सिद्ध होगा। वह अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अवश्य ही दुःशासन के वक्ष का रक्त पी जाएगा, और मेरी जंघा भी तोड़ देगा। उसकी सफलता में उन्हें तनिक भी संदेह नहीं है।"

शकुनि का मन भीतर ही भीतर बुझता जा रहा था ...यदि दुर्योधन इसी प्रकार सोचता रहा, तो उसके सारे किए धरे पर पानी फिर जाएगा। दुर्योधन को अपने अंधे पिता से इस प्रकार सहमत नहीं होना चाहिए। उसकी इच्छा-अनिच्छा की इस प्रकार चिंता नहीं करनी चाहिए; किंतु शकुनि उसे यह तो नहीं कह सकता था कि वह अपने पिता की आज्ञाओं का पालन न करे।... गांधारी पहले ही कह चुकी है कि उसका सान्निध्य दुर्योधन के लिए अच्छा नहीं है। ... अब यदि कहीं उसने दुर्योधन से कह दिया कि वह अपने पिता की आज्ञा का पालन न करे... तो...

सहसा दुःशासन ने कर्ण की ओर देखा, "अंगराज ! तुम इतने बड़े–बड़े युद्धों की योजनाएँ बना सकते हो, एक से एक जटिल व्यूहों की रचना कर सकते हो, क्या तुम ऐसी कोई युक्ति नहीं सोच सकते, जिससे युवराज अपनी रानियों के साथ, द्वैतवन की यात्रा कर सकें ?"

कर्ण की दृष्टि भी दुःशासन की ओर उठी : दुःशासन के नयनों में एक चुनौती थी; और कर्ण, चुनौती की उपेक्षा नहीं कर सकता था।

"तत्काल कुछ कहना कठिन है, राजकुमार।" कर्ण बोला, "किंतु युक्ति की क्या बात है, कल तक कोई ऐसी व्यवस्था कर दूँगा कि युवराज अपने दल बल सहित द्वैतवन की यात्रा करें।"

"वचन देते हो ?" दुर्योधन ने पूछा।

"हाँ। वचन देता हूँ। आप अपनी रानियों सहित, अपने संपूर्ण वैभव से युक्त हो कर द्वैतवन की यात्रा करेंगे; और हम सब आपके साथ होंगे।"

दुर्योधन प्रसन्नता से उछल कर खड़ा हो गया। उसने अपनी दोनों भुजाएँ, कर्ण की ओर फैला दीं। कर्ण ने उसकी भुजाएँ थामीं और उसके कंठ से आ लगा।

शकुनि के अधरों पर एक हल्की-सी मुस्कान थी। कल रात्रि कर्ण के आवास पर हुई पानगोष्ठी सार्थक हुई थी।... उसे कर्ण को कुछ और अधिक महत्त्व देना चाहिए। वह, उसके लिए दुर्योधन से कम उपयोगी नहीं था।...

4

राजसभा मे प्रथम आगंतुक के रूप में समंग ग्वाले का नाम सुन कर, धृतराष्ट्र का मन आशंकित हो उठाः यह सुबह ही सुबह कहाँ से आ गया ?...हस्तिनापुर के राजवंश का जो गोधन वनों में विचरता था, उनकी देख-भाल करनेवाले ग्वालों का मुखिया था समंग। इससे पहले भी वह दो बार धृतराष्ट्र के लिए चिंता का विषय बन चुका था—अपनी उपस्थिति से भी और अपनी अनुपस्थिति से भी। एक बार तो वह, वन में गोधन के साथ विचरनेवाले अनेक ग्वालों के साथ, यह मॉग ले कर उपस्थित हो गया था कि उन्हें वन में निवास करते हुए, बहुत समय हो गया था, अब उन्हें नगर में निवास करने का अवसर दिया जाए।

"किंतु गोधन नगर में कैसे रहेगा ? यहाँ इतना स्थान ही कहॉ है ?" धृतराष्ट्र ने चकित होकर पूछा था।

"महाराज !" उसने उत्तर दिया था, "गोधन तो वहीं वन में ही रहेगा। मैंने तो केवल अपने और अपने अधीन काम करनेवाले इन गोपालों के लिए हस्तिनापुर में निवास करने की सुविधा की याचना की है।"

"तो गोधन को वन में हिंस्र पशुओं और चोरों के भरोसे छोड़ दिया जाए ?" धृतराष्ट्र ने पूछा था।

"नहीं महाराज ! ऐसी अनुचित बात तो मैं कभी सोच भी नहीं सकता," उसने उत्तर दिया था, "राजप्रासाद की गोशाला में नियुक्त लोगों को कुछ वर्षो के लिए वन में भेज दिया जाए।"

उसकी बात धृतराष्ट्र की समझ में आ गई थी। वह एक प्रकार से अपने साथियो और राजप्रासाद की गोशालाओं में कार्यरत गोपालों के लिए स्थानांतरण की मॉग कर रहा था। किंतु हस्तिनापुर की गोशालाओ के कर्मचारियों को वन में कैसे भेजा जा सकता था ? पहले तो ऐसा कभी नहीं हुआ ...

"जब तुम्हें यह कार्य सौंपा गया था, और तुमने राजकोष से वृत्ति स्वीकार की थी, तो क्या इस प्रकार का कोई आश्वासन तुम्हें दिया गया था कि तुम्हें हस्तिनापुर की गोशालाओं में स्थानांतरित भी किया जाएगा ?" धृतराष्ट्र ने पूछा था।

"नहीं महाराज !"

"तो फिर इस मॉंग का क्या अर्थ है ?" धृतराष्ट्र ने कुछ क्रुद्ध हो कर पूछा था, "तुमने वृत्ति स्वीकार करते समय यह मॉग क्यों नहीं रखी थी ?"

समंग राजा के क्रोध से तनिक भी भयभीत नहीं हुआ था। वह तो इस प्रकार निर्भीक तथा आश्वस्त खड़ा था, जैसे अपनी मित्र मंडली मे खडा कोई

साधारण-सी चर्चा कर रहा हो।

"महाराज ! परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं।" उसने उत्तर दिया था, "तब मेरे पास आजीविका नहीं थी। मैं केवल आजीविका से ही संतुष्ट हो गया था। अब मेरे पास आजीविका है; और मैं वर्तमान से श्रेष्ठतर परिस्थितियों में जीना चाहता हूँ।"

धृतराष्ट्र सोच ही रहा था कि वह उससे कहे कि उसकी आजीविका फिर से छीनी भी जा सकती है, ताकि वह पुनः जीविका मात्र से ही संतुष्ट हो सके कि विदुर ने उनके संवाद में हस्तक्षेप कर दिया था।

"तुम अपने लिए तो श्रेष्ठतर जीवन के लिए महाराज से याचना कर भी सकते हो, किंतु तुम राजप्रासाद की गोशालाओं के गोपालों के लिए वनवास की माँग कैसे कर सकते हो ? उन्हें भी तो अपने लिए श्रेष्ठतर परिस्थितियों की कामना करने का अधिकार है।"

"तो उन्हें वन में मत भेजिए," उसने पूर्णतः आश्वस्त स्वर में उत्तर दिया था, "हमें ही हस्तिनापुर में बुला लीजिए।"

"और वन में गोधन की रक्षा और देखभाल कौन करेगा ?"

"वन में नए कर्मचारियों को नियुक्त कर लीजिए।" समंग ने कहा था।

"ठीक है।" महामंत्री विदुर ने सहमति जताई थी, "आज से हम वन में नए कर्मचारी नियुक्त करते हैं और तुम्हें सेवा मुक्त करते हैं।"

"तो मैं हस्तिनापुर की किस गोशाला में जाऊँ ?" समंग ने सहज भाव से पूछा था, जैसे विदुर ने सेवामुक्ति की बात कही ही न हो।

"तुम्हारी ही सहमति के अनुसार, हस्तिनापुर की गोशाला के कर्मचारी स्थानांतरित नहीं किए गए हैं, इसलिए वहाँ तो किसी नए कर्मचारी के लिए स्थान है नहीं ।" विदुर ने उत्तर दिया था।

"लो !" अब चकित होने की बारी समंग की थी, "वन से मैं कार्यमुक्त कर दिया गया, और हस्तिनापुर में मेरे लिए स्थान नहीं है।"

"ठीक समझे।" विदुर ने कहा था, "तुम वन में नहीं रहना चाहते, इसलिए तुम्हारी इच्छा के अनुसार वहाँ से तुम्हें कार्यमुक्त किया गया। जिस दिन हस्तिनापुर के किसी कर्मचारी की इच्छा होगी कि उसे हस्तिनापुर की गोशाला से कार्यमुक्त कर वन में भेज दिया जाए, उस दिन तुम्हें हस्तिनापुर बुला लिया जाएगा।"

"मुझे मेरी वृत्ति कहाँ से मिलेगी ?"

"वृत्ति उसको मिलती है, जो कार्य करता है।" विदुर ने कहा था, "तुम्हें कार्यमुक्त कर दिया गया है।"

"इससे तो कहीं अच्छा है कि आप मुझे वन में गोधन के निकट ही भेज

दे। मेरी आजीविका तो बनी रहेगी।" समंग का स्वर पहली बार कुछ दीन हुआ था।

"तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध तुम्हें वन में रखा जाएगा, तो तुम नित्य कोई गाय बेच दोगे अथवा किसी को उपहार मे दे दोगे; और हमें यह सूचना भिजवा दोगे कि उसे कोई हिस्र पशु उठा कर ले गया है। मैं गोधन की उस क्षति का कारण नहीं बनना चाहता। अनिच्छुक कर्मचारी अपने स्वामी के लिए कभी हितकर नहीं होता।"

समंग ने आगे बढ कर धृतराष्ट्र के चरण पकड़ लिए थे, "स्वामी ! मैं अपनी मूर्खता को समझ गया हूँ। मुझे क्षमा करें।"

वही समंग, फिर से सभा में उपस्थित हुआ था। ... अब क्या चाहता था वह ?

समंग ने राजा के सम्मुख उपस्थित हो कर प्रणाम किया, "महाराज की जय हो। महाराज ! हमारे गोवृंद, आजकल द्वैतवन में आए हुए हैं। यह स्थान राजधानी के पर्याप्त निकट है। और महाराज ! ऋतु भी अनुकूल है। यही समय है, जब गो-गणना होती है, नवजात गोवत्सों को देखा-परखा जाता है, उनका नामकरण किया जाता है, उनके गोत्र बनाए जाते हैं और उनको चिन्हित किया जाता है; और गोधन संबंधी आंकड़ों को राजकीय अभिलेखों में अंकित किया जाता है। निवेदन है कि युवराज स्वयं अपनी उपस्थिति में यह सारा कार्य करवाएँ, ताकि कोई अन्य कर्मचारी संख्याओं में फेरबदल न कर सके, किसी भी ओर से किसी प्रकार की अनियमितता न हो।" समंग कुछ रुक कर बोला, "मैं पहले ही बहुत लांछित और कलंकित हो चुका हूँ महाराज ! पिछली बार महामंत्री महात्मा विदुर ने इसी राजसभा में कहा था कि मुझे मेरी इच्छा के विरुद्ध वन में रखेंगे तो मैं गोवत्स बेच दूँगा और कह दूँगा कि वन में कोई हिंस्र पशु उन्हें खा गया है। ... मैं नहीं चाहता महाराज ! कि उनकी आशंका को किसी प्रकार का कोई बल मिले। आप या स्वयं युवराज मेरे साथ घोषयात्रा पर चले और यह आवश्यक कार्य निपटा दें।..."

दुर्योधन ने प्रायः मुग्धावस्था में कर्ण की ओर देखा : द्वैतवन जाने के लिए महाराज की स्वैच्छिक आज्ञा प्राप्त करने के लिए, ऐसी निर्दोष युक्ति की तो उसने कल्पना भी नहीं की थी। यह कर्ण तो विधाता की अद्‌भुत देन है। मातुल शकुनि भी पीछे छूट गए चतुराई में। ...

"तुम ठीक कहते हो समंग !" दुर्योधन तत्काल बोला, "तुम गोवृंदों के पास लौट जाओ और हमारी प्रतीक्षा करो। हम यथाशीघ्र यहाँ से चल देंगे।"

"दुर्योधन !" धृतराष्ट्र के मुख से अनायास ही निकल गया। उसने और कुछ नहीं कहा, किंतु कोई भी समझ सकता था कि उस क्षुब्ध स्वर में निषेध

का ही भाव था।

"क्या बात है महाराज !"

धृतराष्ट्र ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया। उसने अपना दाहिना हाथ कुछ इस मुद्रा में उठा दिया, जिससे प्रतीक्षा अथवा निषेध, कुछ भी ध्वनित हो सकता था।

धृतराष्ट्र का मस्तिष्क बहुत वेग से दौड़ रहा था, यह सब क्या था ? ...यह समंग जब भी आता है, कोई न कोई बखेड़ा अपने साथ लाता है। पहली बार वह राजा को यह बताने आया था कि प्रशासन को अपने कर्मचारियों का स्थानांतरण करना चाहिए; और आज यह बताने आया है कि गोधन की गणना, वर्ग विभाजन, चयन तथा अभिलेखांकन इत्यादि का काम कब करना चाहिए। यह राज्य का एक साधारण कर्मचारी है, अथवा राज्य का नीति निर्धारक धर्माधिकारी ?...और इस उच्छृंखलता के लिए उसकी प्रताड़ना करने के स्थान पर, उससे तत्काल सहमत हो कर, दुर्योधन ने उसे वन में आने का वचन दे दिया है।... ऐसे तो कोई भी सेना नायक किसी भी समय आकर राजा से अनुरोध करेगा कि तत्काल सेना का निरीक्षण कर लिया जाए, क्योंकि उसके पश्चात् सैनिक विश्राम करना चाहते हैं।...

पिछली बार विदुर ने इस समंग की उच्छृंखलता को उसी के तर्क में बाँध दिया था। इस बार दुर्योधन ने उसका अवसर ही नहीं आने दिया। अब सभा का कोई सभासद समंग का विरोध कैसे कर सकता है, जब स्वयं युवराज ने उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है। ... पर दुर्योधन ने ऐसा क्यों किया ?

"युवराज चाहेंगे तो हिंस्र पशुओं का आखेट भी कर सकेंगे।..." समंग ने परम आह्लाद की स्थिति में पुनः कहा।

"चुप रहो समंग !" धृतराष्ट्र ने कठोर स्वर में कहा, "तुम अपना निवेदन कर चुके, अब हमें विचार करने दो।"

"मैंने कुछ अनुचित कहा महाराज !" समंग का स्वर पर्याप्त धृष्ट था। निश्चित रूप से उसे युवराज की सहमति का बल प्राप्त था, अन्यथा वह इतना दुस्साहस नहीं कर सकता था।

शकुनि बहुत प्रसन्न था। उसे लग रहा था, यह ग्वाला समंग, उसके किसी अज्ञात वरदान का साक्षात् रूप था। इतनी चतुराई से तो राजा के मंत्री भी, राजा को अपनी इच्छा के विरुद्ध निर्णय करने को बाध्य नहीं कर सकते। ...

विदुर, समंग के इस आकस्मिक आगमन के पीछे, दुर्योधन की इच्छा को स्पष्ट देख रहे थे। निश्चित रूप से दुर्योधन द्वैतवन में जाने का कोई व्याज ढूँढ

रहा था। उसी ने यह योजना बनाई होगी।... वे जानते थे कि दुर्योधन की राज्य के गोधन में कोई रुचि नहीं है। वह तो पांडवों की स्थिति को अपनी आँखों से देखना चाहता होगा। संभवतः उन्हें चिढ़ाना चाहता हो। उन्हें पीड़ित कर सुखी होना चाहता हो।...

"क्या बात है महाराज !" दुर्योधन ने पूछा।

धृतराष्ट्र अब तक स्वयं को पूर्णतः नियंत्रित कर चुका था। बहुत आश्वस्त स्वर में बोला, "युवराज ! तुम इस समय द्वैतवन में नहीं जाओगे।"

"क्यों महाराज ?" दुर्योधन अनायास ही कह गया; किंतु तत्काल स्वयं को संयत कर वह बोला, "मेरा तात्पर्य है कि मेरा द्वैतवन में जाना, कुछ अनुचित है क्या ?"

"इस समय पांडव द्वैतवन मे निवास कर रहे हैं।" धृतराष्ट्र ने स्पष्ट शब्दो में कह दिया, "इस समय तुम्हारा वहाँ जाना सर्वथा अनुचित है। उनकी भावनाओं का विचार करो पुत्र !" धृतराष्ट्र का स्वर अत्यंत कोमल और स्नेहयुक्त हो गया था, जिसका अर्थ था कि वह अपना मार्ग खोज चुका था, नीति निर्धारित कर चुका था, "यद्यपि शकुनि ने पांडवों को द्यूत में धर्मपूर्वक हराया है; और उनके साथ किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार नहीं किया गया है; किंतु वे दुखी हैं और कष्ट में हैं। वे अपने उस सारे कष्ट का कारण तुम्हें मानते हैं। ऐसे में तुम्हारा उनके निकट जाना, उन्हें उत्तेजित कर सकता है, उनके मन में उनके कष्ट को रेखांकित कर सकता है। तुम क्यों उनकी पीड़ा बढाना चाहते हो ?"

"मैं किसी की पीडा बढ़ाना नहीं चाहता महाराज !" दुर्योधन बोला, "किंतु किसी से भयभीत होना भी मेरी प्रकृति में नहीं है। यदि वे द्वैतवन में निवास कर रहे हैं, तो द्वैतवन उनकी संपत्ति तो नहीं हो जाएगा। यदि हम मान लें कि पांडव जहाँ-जहाँ निवास करेंगे, वह स्थान उनका होगा; और अन्य कोई राजा उनके निकट भी नहीं जाएगा, तो पांडवों के लिए एक साम्राज्य का निर्माण करना क्या कठिन रह जाएगा। अन्य किसी राजा को तो राज्य जीतने के लिए सेना-की आवश्यकता होती है, युद्ध करना पड़ता है। पांडवो के तो वहाँ उपस्थित होने भर से, वह भूमि उनकी हो जाएगी।" दुर्योधन के स्वर की सारी शालीनता समाप्त हो चुकी थी; और वह क्रमशः धृष्टता की ओर बढ़ रहा था।

"मैं उनका आधिपत्य स्वीकार करने के लिए नहीं कह रहा हूँ।" धृतराष्ट्र का स्वर अपना तेज खो चुका था, "मैं तो केवल इतना कह रहा हूँ कि मैं नहीं चाहता कि तुम उनके निकट जाओ। तुमसे कुछ न कुछ ऐसा हो ही जाएगा, जिससे उनको पीडा होगी। तुम कुछ नहीं भी करोगे, तो तुम्हारा कोई सैनिक, कोई सेना नायक, अपने व्यवहार से उन्हें असंतुष्ट कर देगा।" धृतराष्ट्र

के स्वर में अतिरिक्त माधुर्य आ मिला था, "वे भी तो मेरे पुत्र हैं युवराज। मैं नहीं चाहता कि उन्हें किसी भी प्रकार का कोई मानसिक अथवा शारीरिक कष्ट हो।"

"तो गो-गणना न की जाए ? राज्य के सामान्य कार्यों का निषेध कर दिया जाए, क्योंकि उससे पांडवों को मानसिक संताप होता है ?" दुर्योधन का स्वर अशालीनता की सीमा तक पहुँच चुका था।

"नहीं ! बस तुम स्वयं मत जाओ।" धृतराष्ट्र ने कुछ मंद स्वर में कहा, "अपने किसी राजपुरुष को भेज दो। आवश्यक कार्य भी हो जाएगा और किसी प्रकार की कोई कटुता भी उत्पन्न नहीं होगी।"

"इसका अर्थ तो यह हुआ कि पांडव द्यूत में हारे थे, इसलिए वे सारी पृथ्वी पर कहीं भी जाने को स्वतंत्र हैं। वे हिमालय के श्रृंगों पर भी जा सकते हैं, और सागर के तल में भी; किंतु द्यूत जीत कर भी, दुर्योधन हस्तिनापुर का बंदी हो गया। वह गोगणना के लिए नहीं जा सकता, वह मृगया के लिए नहीं जा सकता, वह अपनी रानियों के साथ वनविहार के लिए नहीं जा सकता ...।"

"ऐसा तो मैंने नहीं कहा।" अब तक धृतराष्ट्र की सारी आक्रामकता समाप्त हो चुकी थी।

"तो और क्या कह रहे हैं महाराज ! कि मेरी उपस्थिति मात्र से आपके वे भ्रातुष्पुत्र सुरक्षित नहीं हैं; इसलिए मुझे उनके निकट नहीं जाना चाहिए।"

"नहीं ! मैं तो इसके विपरीत यह कह रहा था कि उनके निकट जाकर तुम सुरक्षित नहीं हो।" धृतराष्ट्र बोला, "भीम और अर्जुन विरोध का भाव लिए, युद्ध की तैयारी कर रहे हैं। कहीं तुम उनके सामने पड़ गए और युधिष्ठिर उन्हें रोक नहीं पाया, तो वे तुम्हारा वध कर देंगे।"

दुर्योधन ने आहत सर्प का सा फूत्कार किया, "बच्चों का खेल नहीं है, दुर्योधन का वध।" और सहसा उसने अपने स्वर को कोमल बना लिया, "महाराज ! आप मेरी ओर से निश्चिंत रहें। मैं ऐसा कुछ नहीं करूँगा, जिससे पांडवों का उत्पीड़न हो। आप कहें तो मैं अपनी रानियों को भी साथ ले जाऊँ। एक ओर उनका वनविहार हो जाएगा; और दूसरी ओर युद्ध का वातावरण ही नहीं बन पाएगा।..."

"किंतु तुम्हारी सुरक्षा ?" धृतराष्ट्र बोला ।

"तो फिर रक्षा के लिए थोड़ी सेना भी ले जाता हूँ।" दुर्योधन बोला, "आवश्यकता हुई तो रानियों की सुरक्षा के लिए सैनिक नियुक्त किए जा सकेंगे।..."

धृतराष्ट्र ने कुछ नहीं कहा । सबकी दृष्टि उसी पर टिकी हुई थी।

शकुनि मुस्करा रहा था। वह जानता था कि सारे निषेधों और प्रतिवंधों के पश्चात् भी धृतराष्ट्र उन सारी वातों की अनुमति दे देगा, जो दुर्योधन चाहता है। कर्ण और दुर्योधन—दोनों ने ही अपने-अपने दाँव वहुत कौशल से जीत लिए थे।

5

कुंती को अपने घर आया देखकर काशिका चकित रह गई। उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि इन शत्रुतापूर्ण परिस्थितियों में किसी निमंत्रण के अभाव में, विना किसी प्रकार की कोई विशेष औपचारिकता किए, विना कोई सूचना भिजवाए, कुंती इस प्रकार सहज भाव से उसके घर भी आ सकती है; जैसे उन दोनों परिवारों के वीच किसी प्रकार का कोई वैमनस्य ही न हो।... कहीं वह किसी प्रकार का झगड़ा करने तो नहीं आई ?... नहीं ! यदि कुंती को किसी प्रकार का कोई झगडा करना होता, विरोध जताना होता, अथवा किसी प्रकार की कोई याचना ही करनी होती, तो वह गांधारी के पास जाती...यहाँ काशिका के घर ?...

काशिका कुछ निश्चय नहीं कर पा रही थी कि वह कुंती का किस प्रकार स्वागत करे ... एक ओर जहाँ वह द्यूत सभा और पांडवों के वनवास की घटनाओं को नहीं भूल पा रही थी, वहाँ वह इस बात की भी उपेक्षा नहीं कर पा रही थी कि कुंती उसके पति की चाची तथा उसकी पुत्री लक्ष्मणा के ससुर की बूआ थी।

उसने आगे बढ़कर कुंती के चरणों को स्पर्श किया और धीरे से बोली, "आपको काकी माँ कहूँ कि राजमाता ?"

कुंती सहज मधुर ढंग से हँसी, "उसका निर्णय बाद में कर लेंगे, पहले बैठने को तो कहो।"

काशिका की दृष्टि से चूका नहीं कि कुंती के मन में किसी प्रकार की कोई उद्विग्नता नहीं थी। इसका अर्थ है कि वह किसी प्रकार का मनोमालिन्य ले कर नहीं आई है। मन वैमनस्य से आंदोलित होता, तो उसका व्यवहार ऐसा नहीं हो सकता था। वह पूर्णतया सामान्य भाव से, आत्मीयतापूर्वक बातें कर रही थी। काशिका ही थी कि अटपटाई हुई थी; और अपनी भूमिका के विषय में निश्चित नहीं थी। ...न पिछली घटनाओं को भूल पा रही थी, न सामान्य व्यवहार कर पा रही थी। वह हस्तिनापुर की युवराज्ञी थी, उसके तो तेज से ही कुंती जैसे

साधारण लोगों को भस्म हो जाना चाहिए था।

कुंती बैठ गई, और मुस्कराकर बोली, "मैं राजकुमारी भी रही हूँ, महारानी भी और राजमाता भी; किंतु अब उनमें से कुछ भी नहीं हूँ। दूसरी ओर तुम्हारी काकी मैं थी; और अब भी हूँ। पद तो कभी होता है और कभी नहीं होता, किंतु पुत्रि ! संबंध तो ईश्वर के बनाए हुए हैं, वे नष्ट नहीं हो सकते। कल यदि दुर्योधन मेरे पुत्रों का वध भी कर दे, अथवा वह मेरे पुत्रों के हाथों वीर गति को प्राप्त हो, तो भी संसार मे यही कहा जाएगा कि एक भाई ने दूसरे भाई का वध किया। इन नैसर्गिक संबंधों को तो अस्वीकार नहीं किया जा सकता।"

काशिका को लगा कि कुंती के विषय में उसके मन की जिज्ञासा को उत्तर मिल गया है। शायद कुंती सदा इसीलिए इतनी सहज रह पाती थी।... न उसका महत्त्व किसी पद के कारण था, न उसके संबंध पद के कारण थे। यह तो उसका अपना नैसर्गिक व्यक्तित्व ही था, जो सामने खड़े व्यक्ति को प्रभावित करता था।

"कहिए, आज इधर आने का कष्ट कैसे किया ?" काशिका को अपने मन की कटुता अपनी वाणी में भी सुनाई पड़ रही थी।

"सोचा, हस्तिनापुर में रहते हुए भी यदि मेरी पुत्रवधुएँ मुझसे मिलने नहीं आ सकतीं, तो मैं ही उनसे मिल आऊँ।" कुंती ने रुककर उसकी ओर देखा, "यदि बहुत असुविधा न हो तो दुःशासन और विकर्ण की पत्नियों को भी यहीं बुला लो। उनके भवन तो निकट ही हैं न ? ... और भानुमती कहाँ है ?"

काशिका की दृष्टि सहज भाव से निकट खड़ी दासी की ओर उठ गई। दासी ने अभ्यस्त रूप में मुस्कराकर 'सब ठीक है' का संकेत कर दिया।

"किसी को बुलाने की आवश्यकता नहीं है काकी !" काशिका बोली, "आपको आते देख कर दासियाँ अपने आप भाग-भाग कर सबको सूचनाएँ दे आई होंगी और थोड़ी देर में वे सब यहीं आपके सम्मुख होंगी।" इस बार काशिका का स्वर कुछ सहज रूप लिए हुए था।

"मैं समझी नहीं," कुंती ने कहा, "क्या तुम्हारी ऐसी कोई व्यवस्था है ?"

"व्यवस्था क्या काकी ! यह तो दासियों की सहज चंचलता है। उन्हें कोई भी नई-सी बात लगती है, तो वे अपनी व्यग्रता छिपा नहीं पातीं और इसी प्रकार बालकों के समान भाग-भाग कर सब ओर सूचना प्रसारित कर आती हैं।"

"तो मेरा तुम्हारे पास आना कोई अद्भुत बात है क्या ?" कुंती ने पूछा।

"नहीं । ऐसा तो कुछ नहीं है।" काशिका ने उत्तर दिया, "किंतु आपका इधर आना होता नहीं न।"

तभी भानुमती ने आकर कुंती का अभिवादन किया; और दुःशासन की पत्नी, ज्योत्स्ना भी आकर सामने खड़ी हो गई। उसने न कुंती को प्रणाम किया,

न उससे संबोधित हुई। उसने कुंती पर एक वितृष्णा भरी दृष्टि डाली और काशिका की ओर उन्मुख होकर बोली, "यह वृद्धा कौन है ?"

कुंती समझ गई, ज्योत्स्ना उसे अपमानित और उत्तेजित करने का प्रयत्न कर रही थी। बोली, "यहाँ बैठ जाओ वधू ! तो तुम्हें बताऊँ कि यह वृद्धा कौन है।"

ज्योत्स्ना ने उपेक्षापूर्वक अपने सिर को एक झटका दिया और एक ओर बेठ गई।

"जिस व्यक्ति में दूसरों की तुलना में किसी प्रकार की वृद्धि होती है, वही वृद्ध होता है, जानती हो न !" कुंती ने उसकी ओर देखा, "मै वृद्धा हूँ, अवस्था में, अनुभव में, लोकाचार में ... और भी बहुत सारे क्षेत्रों में। मैं स्मरण शक्ति में भी वृद्धा हूँ, क्योंकि तुम्हे स्मरण नहीं है कि मैं कौन हूँ, और मुझे स्मरण है कि तुम उस दु:शासन की पत्नी ज्योत्स्ना हो, जिसके रक्त की प्रतीक्षा में द्रुपदपुत्री कृष्णा के केश वेणीबद्ध नहीं होते। अब तुम्हें स्मरण आया कि मैं कौन हूँ, अथवा यह भी बताऊँ कि मैं उस महावीर भीम की माता हूँ, जिसने तुम्हारे पति का वक्ष फाड कर उसका रक्त पीने की प्रतिज्ञा की है ?"

"उन प्रसंगों को न ही छेड़ें काकी !" भानुमती अपेक्षाकृत कोमल स्वर में बोली।

"ठीक कहती हो पुत्री !" कुंती धीरे से बोली, "वे प्रसंग किसी के लिए भी मधुर नहीं हैं; पर अपने सम्मान की रक्षा तो करनी ही पड़ती है।"

ज्योत्स्ना के मुख का स्वाद जैसे कड़वा हो गया था; किंतु वह कुंती की बात को पी जाने के लिए प्रस्तुत नहीं थी। बोली, "हाँ। स्मरण आ गया। तो आप हैं, इद्रप्रस्थ की विगत राजमाता, महामहिमामयी कुंती।"

"ठीक पहचाना।" कुंती ने उत्तर दिया, "संबंध में तुम्हारे पति की काकी हूँ। यदि तुम तनिक भी सुसंस्कृत परिवार में जन्मी हो और तुम्हें शिष्टाचार का किंचित भी ज्ञान है, तो तुम मुझे काकी माँ कह कर संबोधित कर सकती हो।"

"मैंने तो समझा था विगत राजमाता ! कि आप अपने शूरवीर पुत्रों के साथ वनवास कर रही होंगी। आप अभी तक यहीं हैं, हस्तिनापुर में ही।"

"क्या कर रही हो ज्योत्स्ना !" काशिका ने उसे टोका।

"रहने दो वधू !" कुंती ने कहा, "उसको भी अपने पति के समान अन्य नारियों की मर्यादा का उल्लंघन करने का अवसर दो। यह सब नहीं करेगी, तो पति के गुण उसमें प्रतिबिंबित कैसे होंगे।"

ज्योत्स्ना ने तमककर कुंती की ओर देखा। वह कुछ कहने ही जा रही थी, पर भानुमती ने उसे बोलने का अवसर नहीं दिया। वह बोली, "वैसे काकी माँ ! यह जिज्ञासा तो मेरे मन मे भी है कि आप अपने पुत्रों के साथ न जाकर

यहाँ हस्तिनापुर में कैसे रह गई ? ऐसी स्थिति में तो कोई भी माता अपने पुत्रों के साथ रहना ही अधिक श्रेयस्कर मानती।"

कुंती ने पहचाना कि भानुमती का प्रश्न, एक सहज प्रश्न मात्र था, उसके पीछे किसी प्रकार की कोई दुर्भावना नहीं थी।

"सुख किसको अच्छा नहीं लगता !" कुंती के कुछ कहने से पहले ही ज्योत्स्ना बोली, "वन में यह सब कहाँ मिलता, जो कुछ यहाँ उपलब्ध है।"

"तुम्हारा तात्पर्य यदि सुविधाओं से है, तो काकी द्वारका जा सकती थीं। अपनी किसी भी पुत्रवधू के साथ उसके मायके जा सकती थीं। हस्तिनापुर में ही रहना था तो स्वयं महाराज से किसी भी प्रकार की सुख–सुविधा से संपन्न कोई प्रासाद ले कर रह सकती थीं।" भानुमती ने कहा, "महामंत्री विदुर के घर में क्या है।"

विकर्ण की पत्नी मृदुला ने आकर कुंती के चरण स्पर्श कर प्रणाम किया, "सूचना मिली कि आप यहाँ आई हुई हैं तो मैंने सोचा, मैं भी आपके दर्शन कर आऊँ।"

"तुम चाहो तो तुम्हें दर्शन देने ये तुम्हारे घर भी आ जाएँगी। बस जरा अच्छा सा भोजन करवा देना।" ज्योत्स्ना बोली।

"तुमने कभी काकी के घर का भोजन किया होता, तो तुम्हें ज्ञात होता कि स्वादिष्ट भोजन क्या होता है।" मृदुला ने कहा, "काकी तो काकी, मैं तो अपने महावीर जेठ भीमसेन के हाथ के पकाए भोजन का स्वाद भी नहीं भूलती।"

"भीम ने भी तो भोजन पकाना काकी से ही सीखा है।" भानुमति ने हस्तक्षेप किया।

"उसे रहने दो मृदुला।" कुंती ने मुस्कराकर कहा, "उसके मुख में इस समय जले हुए करेलों का स्वाद है। वह अन्य किसी भी स्वाद का अनुभव नहीं कर पाएगी—न वात्सल्य का, न सौहार्द का, और न शांति का। ..." कुंती ने कुछ रुक कर ज्योत्स्ना की ओर देखा; किंतु जब ज्योत्स्ना कुछ नहीं बोली, तो कुंती ने पुनः कहा, "हममें चर्चा चल रही थी कि मैं यदि वनवास की असुविधाओं से बचने के लिए अपने पुत्रों के साथ नहीं गई तो मुझे हस्तिनापुर में उस घर में रहना चाहिए था जहाँ सबसे अधिक सुख उपलब्ध था।"

"हाँ काकी ! विदुर काका के ही घर क्यों रहीं ?"

"पुत्रि ! यदि यह निर्णय मैंने किया तो अपने सुख के लिए ही किया। अब पहले हम यह निश्चय कर लें कि सुख क्या है, तब मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दे पाऊँगी।" कुंती ने कहा, "अब मुझे तुम बताओ कि सुख है क्या ?"

"सुख वही है, जो आपके पुत्रों से छिन गया है और हमारे पास है।" ज्योत्स्ना ने सबसे पहले उत्तर दिया।

"मेरे पुत्रों से जो छिना, वह उनका सुख नहीं था।" कुंती ने कहा, "वे उनकी सुविधाएँ थीं। उनका सुख उनके धर्म में था, इसलिए उन्होंने अपने धर्म का पालन किया। फिर भी हम मान लेते हैं कि कुछ लोगों के अनुसार सुविधा ही सुख है। जिसके पास जितनी सुविधाएँ हैं, वह उतना ही सुखी है।"

"हॉ। यही मान लेते हैं।" मृदुला ने कहा।

"तो मुझे बताओ कि महाराज धृतराष्ट्र के पास अधिक सुविधाएँ हैं अथवा महात्मा विदुर के पास ?" कुंती ने पूछा।

"महाराज के पास।" काशिका ने कहा।

"पर ऐसा कितनी बार हुआ कि उद्विग्न हो कर महाराज ने विदुर को उसके घर से बुलाया कि वह आकर उनके मन को किसी प्रकार शात करे ?"

"अनेक बार हुआ है। प्रायः हुआ है।" भानुमती ने कहा।

"और ऐसा कितनी बार हुआ कि दुखी हो कर, विदुर शांति अथवा सुख की याचना करने महाराज के पास पहुँचा हो ?" कुंती ने पुनः पूछा।

"ऐसा तो कदाचित् कभी नहीं हुआ।" मृदुला ने कहा।

"आपका तात्पर्य है कि अपने पास कोई धन संपत्ति ही न रखे, क्योंकि उसमे कोई सुख नहीं है।" ज्योत्स्ना बोली, "तो फिर आपके पुत्र अपना राज्य त्याग वन जाने के नाम पर इतने दुखी क्यों थे ?"

"वे अपने अपमान के कारण दुखी थे। अपनी पत्नी के अपमान के कारण दुखी थे। अपनी सुविधाओ और अधिकारों के छिन जाने के कारण दुखी थे।" कुंती ने कहा, "अभी थोडी देर के लिए मेरे पुत्रों को भूल जाओ। उन्हीं को ध्यान में रखो, जिनके पास सारी सुविधाएँ हैं। हम इस पर विचार करें कि जिसे सामान्यतः सुख मान लिया जाता है, वह पदार्थ में है अथवा अपने मन में ?"

"मैं समझी नहीं काकी !" काशिका बोली।

"तुम्हारे पास असाधारण मणियों का एक हार हो, तो तुम उसे अपनी पेटिका में रख कर अधिक सुखी होंगी, अथवा उसे धारण कर सभा में सम्मिलित हो ?" कुंती ने पुनः पूछा, "तुम्हारे सुख के लिए, वह मणियो का हार ही अपने आप में पर्याप्त होगा, अथवा उसे तुम्हारी संपत्ति के रूप में देख कर स्वयं को हीन समझ, अपमानित होनेवाला व्यक्ति भी आवश्यक है ?"

"उसे पेटिका में बंद कर रखने का क्या सुख है काकी ?" काशिका बोली, "हम सब, आभूषण क्यों पहनती हैं। एक तो इसलिए कि हमारा रूप निखरे, दूसरे इसलिए कि लोग देखें कि हमारे पास क्या-क्या है।...प्रदर्शन ही न कर पाएँ, तो उस पदार्थ का क्या सुख ?"

"प्रदर्शन का तात्पर्य है कि देखो, यह हमारे पास है, और तुम्हारे पास नहीं है।" कुती बोली, "तो सुख न पदार्थ में है, न पदार्थ के स्वामित्व में। सुख

न उसको धारण करने में है, न अपने रूप सौंदर्य में। सुख तो अहंकार की वृद्धि में है। वह तो हमारा अहंकार ही है, जो अपने वैभव के प्रदर्शन से तृप्त होता है, और हम सुखी होते हैं।"

"कैसे काकी ?" मृदुला ने पूछा।

"आभूषण के प्रदर्शन से क्या होता है ? दूसरे को हीन सिद्ध कर अपने अहंकार की तुष्टि।" कुंती बोली, "किंतु वस्तुतः वह सुख नहीं है। वह तो सुख का भ्रम मात्र है। वह स्वतःपूर्ण नहीं है, स्वतंत्र नहीं है, वह किसी अन्य पर निर्भर है। उसके लिए किसी अन्य का अस्तित्व भी अनिवार्य है।" उसने रुक कर उनकी ओर देखा, "मेरी एक बात सुनो पुत्रियो ! सागर की लहरें बहुत सुंदर और बलशाली होती हैं। वे सुखी हैं, अतः वे अपने स्थान पर रह कर, आत्ममग्न हो कर ही सुखी हैं। उन्हें सुखी होने के लिए, किसी अन्य को हीन भाव में ग्रस्त करने की आवश्यकता नहीं है। ... यदि वे अपना सौंदर्य दिखाने के लिए, धरती की यात्रा आरंभ कर दें, तो सारी सृष्टि नष्ट हो जाएगी। हिमालय के हिम ढके शृंग बहुत सुंदर हैं; किंतु वे अपने स्थान पर शांत खड़े हैं। वे अपने सौंदर्य का वैभव दिखाने, और जलहीन मरुभूमि को अपमानित करने के लिए यदि मरुभूमि के पास चले जाएँ, तो सारा हिम गल कर बह जाएगा, और उन शृंगों का सारा सौंदर्य नष्ट हो जाएगा। सरोवर में खड़ा सौगंधिक पद्म बहुत सुंदर है; किंतु उसके पास संतोष है। उसके सौंदर्य को देखने के लिए कोई उस दुर्गम सरोवर के तट पर स्वयं आए, वह चल कर कहीं नहीं जाता। यदि वह कमल अपना सौदर्य प्रदर्शित करने के लिए सरोवर से बाहर आ जाए, तो उसका सौंदर्य ही नहीं उसका अस्तित्व भी नष्ट हो जाएगा।"

"आपके उदाहरण तो पूर्णतः सटीक है, किंतु आप कहना क्या चाहती हैं काकी ?" मृदुला ने सहज भाव से पूछा।

"मैं तो मात्र इतना कहना चाहती हूँ पुत्रि ! कि यदि तुम्हारे पास कोई विभूति है, तो उसके लिए ईश्वर की कृतज्ञ हो कर सात्विक भाव से उस विभूति का सुख उठाओ। मन में सात्विकता न हो, तो संपत्ति, सुविधाएँ तथा अधिकार, किसी को कोई सुख नहीं दे सकते।" कुंती ने उनकी ओर देखा, "अब मैं तुम्हें बताना चाहती हूँ कि हस्तिनापुर में रहने के लिए मैने विदुर का घर और परिवार ही क्यों चुना।"

"क्यों चुना काकी ?" भानुमती ने पूछा।

"विदुर की जीवन-शैली देखी है कभी तुमने !" कुंती ने कहा, "वे हस्तिनापुर जैसे विराट् राज्य के महामंत्री होते हुए भी, वैभव का नहीं साधना का जीवन व्यतीत कर रहे है। उनका घर प्रासाद न हो कर एक तपस्वी के आश्रम जैसा है। गंगा के तट पर एक आरण्यक रहता है वहाँ, जो साम्राज्य की नीतियाँ भी

निर्धारित करता है, किंतु उससे अधिक वह विदुर-नीति का निर्माण कर रहा है, ताकि उसके माध्यम से एक सात्विक और सुखी जीवन जीना संभव हो, राज्य संपन्न हो; और साधारण नागरिक समृद्ध हो। समृद्धि ईर्ष्या का कारण न बने, ईश्वर को प्राप्त करने का साधन बने।" कुंती फिर ठहरी, "विदुर के परिवार के विषय में क्या जानती हो तुम लोग ? उसकी संतानों के विषय में क्या ज्ञात है तुम्हे ?"

"मेरी तो कुछ समझ मे नहीं आता काकी !" भानुमती बोली, "कोई तो कह देता है कि उनका कोई पुत्र ही नहीं है, और दूसरी ओर उनके परिवार की भी चर्चा होती रहती है। ठीक-ठीक पता ही नहीं चलता कि उनकी कोई संतान है भी कि नहीं । मैं कभी उनके घर गई नहीं । उनके परिवार से कभी कोई हमारे घर आया नहीं ।"

"विदुर की कोई औरस संतान नहीं है; किंतु नगर के कितने ही अक्षम पुरुष, असहाय स्त्रियाँ तथा अनाथ बच्चे, विदुर के परिवार जन के रूप में पल रहे हैं। उस दंपती के मन मे कहीं अपने और पराये का कोई भाव नहीं है। उनको देख कर कोई नहीं कह सकता कि वह विदुर का परिवार नहीं है। इसलिए विदुर को स्नेह सबसे है, मोह किसी से नहीं है। उस परिवार में सात्विकता का जो परिवेश है, उसमें रह कर कोई भी व्यक्ति सुखी हो जाता है, क्योंकि मन शांत रहता है। रजोगुणी अशांति वहाँ नहीं है। वहाँ महाराज धृतराष्ट्र के प्रासाद की-सी सुविधाएँ चाहे नहीं हैं, किंतु सुख की अनुभूति तो है। और फिर भौतिक दृष्टि से भी मैं कहीं भी रहती, अपनी हो कर भी पराई ही रहती। विदुर के घर में जब पराए भी पराए नहीं हैं, तो मैं पराई कहाँ से होती। मैं वहाँ सुख ही प्राप्त नहीं करती, आत्मीयता की भी कोई कमी नहीं है मुझे। वहाँ कोई नहीं पूछता कि यह वृद्धा कौन है। विदुर के घर में पराए लोगों को भी आत्मीय बना लिया जाता है, क्योंकि उससे एक सात्विक सुख की प्राप्ति होती है; और तुम्हारे राजप्रासादों में आत्मीय जनों को भी पराया माना जाता है और उन्हें पराया बनाने का उपक्रम किया जाता है।" कुंती ने ज्योत्स्ना की ओर देखा; और उठ खडी हुई, "अब मैं चलूँगी पुत्रि।"

"अरे, ऐसे ही कैसे चली जाएँगी काकी माँ !" काशिका बोली, "अभी तो मैंने आपका कोई सत्कार ही नहीं किया, बातों में ही बैठी रह गई।"

"मैं कुछ बातें करने ही आई थी युवराज्ञी !" कुंती ने उत्तर दिया, "बातें हो गईं। अब देखना है कि उन बातों का तुम्हें कितना लाभ होता है।"

कुंती चली गई।

"पता नहीं काकी क्या कह रही थीं।" भानुमती ने कहा, "वे कैसे सुख की चर्चा कर रही थीं, जिसमें व्यक्ति सर्वथा आत्मनिर्भर होता है, उसे और किसी

की आवश्यकता ही नहीं होती।"

"कह क्या रही थीं।" ज्योत्स्ना ने तुनककर कहा, "कह रही थीं कि उनकी बहू को अपने वस्त्रालंकार दिखाने हम लोग द्वैतवन न जाएँ।"

"ओह ! तो मूल बात यह थी। मैं भी कहूँ कि आज काकी इधर कैसे भूल पडीं।" काशिका बोली, "पांचाली को तो कभी नहीं कहा था कि अपने वस्त्राभूषण पेटिका में छिपा कर रखे। हमें ही समझाने आ गईं।"

"हमें समझाने नहीं धमकाने आई थीं।" ज्योत्स्ना बोली, "आपने ध्यान नहीं दिया युवराज्ञी ! कह रही थीं न कि सौगंधिक पद्म यदि अपना सौंदर्य दिखाने सरोवर से बाहर आ जाएगा तो उसका सौंदर्य ही संकट में नहीं पड़ेगा, उसका जीवन भी नष्ट हो जाएगा।"

"अब हमारे संबंध जो भी हों; किंतु उनकी बात में सत्य का अंश तो था।" मृदुला ने कहा।

"तो तुम भी आज से महात्मा विदुर के आश्रम में भरती हो जाओ।" ज्योत्स्ना ने एक ग्राम्य अट्टहास किया।

6

वृषाली ने हाथ जोड कर प्रणाम किया तो काशिका ने अपने स्थान से उठ कर, स्वयं वृषाली के निकट जाकर, उसका स्वागत किया। उसकी भुजा पकड़कर आग्रहपूर्वक अपने साथ ला, सबसे अधिक सुखद मंच पर बैठाया, और स्वयं भी उसके निकट ही बैठ गई।

"कहो सखि ! कैसी हो ?"

वृषाली अपनी उत्फुल्ल मुद्रा में थी, "क्या कहूँ महारानी ! आर्यपुत्र ने तो केवल यह सूचना दी कि हमें द्वैतवन चलना है। और कुछ बताया ही नहीं। वे तो चले गए हैं, सैन्य संगठन करने। अब मेरे लिए तो समस्या हो गई कि ...।"

"अरे तो समस्या क्या है ?" काशिका हँसकर बोली, "वेशभूषा की ? वस्त्राभूषण की ? शृंगार और प्रसाधन की ?"

"हाँ महारानी !" वृषाली हँसी, "कहने को तो वन में जा रही हैं; किंतु किरात कन्याओं के समान तो नहीं जा सकतीं न ! वहाँ बैठी है, पांचाली कृष्णा। वस्त्राभूषणों की विशेषज्ञा। आपको तो स्मरण ही होगा महारानी ! जब राजसूय यज्ञ के अवसर पर हम इंद्रप्रस्थ गई थीं, तो उसने अपने वैभव का कैसा प्रदर्शन

किया था।... और जब हस्तिनापुर आई थी, तो अपने साथ वस्त्राभूषणों का कैसा भंडार लाई थी, जैसे सारा पण्य ही उठा लाई हो। स्मरण है न आपको उसका वह सारा वैभव और उस वैभव का प्रदर्शन।"

"स्मरण है।" काशिका तिक्ततापूर्वक हँसी, "उसका वह वैभव भी स्मरण है, जो उसने द्यूत सभा मे प्रदर्शित किया था।"

काशिका के सकेत को समझकर वृषाली जैसे क्षण भर को अवाक् रह गई। फिर वह भी हॅसी, "बेचारी क्या जानती थी कि द्यूत के पांसे, किस प्रकार भाग्य के साथ खिलवाड करते हैं। ...जो कुछ दिखाने लाई थी, वह सारा का सारा यहीं हस्तिनापुर में रह गया, और सभा में वह किसी और ही वेश में जा पहुँची। ...अब द्वैतवन मे वह अकेली वहॉ देखनेवाली, और हम सब इतनी सारी प्रदर्शन करनेवाली। ... मेरी तो कुछ समझ में ही नहीं आ रहा। मेरी सपत्नियाँ, मेरी देवरानियॉ, मेरी सखियॉ—शक़ट के शकट भर कर वैभव सामग्री ले जा रही हैं। कोई साडी पीछे छूटने नहीं देंगी शायद। कुछ के विषय में तो मैंने सुना है कि जाने से पहले वे हस्तिनापुर के पण्यों को ही बटोरने में लग गई हैं। पांचाली के पास तो वहॉ प्रदर्शित करने के लिए कुछ होगा नहीं । हम आपस में ही स्पर्धा करने जा रही हैं क्या ?"

काशिका हॅसी, "बहुत दया आ रही है, तुम्हें उस बेचारी पर। यह न हो कि अपने भंडार में से चुन-चुन कर श्रेष्ठ साड़ियाँ उसी को भेंट कर आओ। वर्तमान कुछ भी हो, किंतु अतीत में वह इंद्रप्रस्थ की साम्राज्ञी रही है और भविष्य में पुनः साम्राज्ञी बनने के स्वप्न देख रही है।"

द्रौपदी के पुनः साम्राज्ञी बनने की चर्चा मात्र से वृषाली सहम गई, "मैं कभी-कभी सोचती हूॅ कि उसका यह स्वप्न सत्य हो गया, यदि उन्होंने अपना राज्य लौटा लिया, तो हस्तिनापुर का क्या होगा ? जो व्यवहार उसके साथ किया गया है, उसे वह न तो कभी विस्मृत कर सकती है, न क्षमा।"

"महावीर कर्ण की पत्नी इस प्रकार सोचती है।" काशिका हँसी; किंतु वह अगले ही क्षण गंभीर हो गई, "वैसे मुझे पूर्ण विश्वास है कि महाराज धृतराष्ट्र पांडवों का राज्य उन्हें कभी नहीं लौटाऍगे। और धर्मराज राज्य के लिए या तो युद्ध करेंगे नहीं, करेंगे तो पराजित होंगे। इसलिए इन दुश्चिंताओं में मत पड़ो; और द्वैतवन जाने की तैयारी करो।"

"आप क्या ले कर जा रही हैं महारानी !" वृषाली ने पूछ तो लिया; किंतु पूछ कर सहम गई, "क्षमा कीजिएगा।..."

"भय त्यागो।" काशिका ने मुस्कराकर उसकी ओर देखा, "हर समय इस प्रकार भयभीत मत रहा करो। हमारे पति परस्पर मित्र हैं, घनिष्ठ मित्र। उसी प्रकार हम भी सखियाँ हैं। तुम पूछ सकती हो; कुछ भी पूछ सकती हो।"

वृषाली कुछ आश्वस्त हुई, "मैं पूछ रही थी कि हमें कितने दिन वहाँ ठहरना होगा ? कितनी संख्या में और कैसे वस्त्र ले जाएँ ?"

"यह तो मैं भी नहीं जानती सखि !" काशिका बोली, "आर्यपुत्र से इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर पाना बहुत कठिन है। पूछूँगी तो कह देंगे, जितने दिनों का कार्य है, उतने दिन रुकेंगे। ... और इस बार जा तो कार्य के बहाने से रहे हैं; किंतु मैं जानती हूँ कि होगा आखेट और वनविहार ही।... इसलिए यह सब क्या पूछना। जो मन में आए, ले चलो। मन ऊब गया अथवा कुछ नया पहनने की इच्छा हुई तो, पण्य साथ होगा ही; वहीं से क्रय कर लेंगे...।"

"सेना के साथ पण्य भी जाएगा ?" वृषाली ने पूछा।

"पण्य तो सेना के साथ सदा ही होता है; किंतु वह सैनिकों की आवश्यकता के लिए होता है।" काशिका बोली, "इस बार तो युवराज के साथ कामदेव की सेना भी जा रही है न !"

"फिर तो मुझे चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं है।" वृषाली बोली, "वहीं क्रय करेंगे, वहीं पहनेंगे। ...और पण्याटन में समय भी अच्छा बीतेगा।"

"बस अंगराज को कहना, अपना स्वर्ण भंडार साथ ले चलें।"

"तो क्या हुंडी नहीं चलेगी ?" वृषाली ने कुछ चकित भाव से पूछा, "हस्तिनापुर लौटकर मूल्य चुका देंगे।"

"पता नहीं मूल्य कौन चुकाता है और कैसे चुकाता है।" काशिका अबोध भाव से बोली, "वणिक और श्रेष्ठी यहाँ आते हैं। वस्तुएँ दिखते हैं। मैं इंगित कर देती हूँ और वे उन वस्तुओं को छोड़ जाते हैं। मूल्य चुकाने की पद्धति क्या है, यह तो मैंने पूछा ही नहीं ।"

वृषाली कुछ नहीं बोली। उसका मन किसी धृष्ट कौवे के समान बार बार एक ही बात कह रहा था... मूल्य कभी चुकाया हो, तब न ! श्रेष्ठी बेचारे भय के मारे, मूल्य माँगते ही नहीं होंगे। पर सब लोग राजा दुर्योधन और उसकी रानी जैसे तो नहीं हो सकते न ! ...जिसके पति स्वयं इतना दान करते हों, वे वणिकों और श्रेष्ठियों को इस प्रकार लूट नहीं सकते। राजा ही वणिक को लूटने लगेगा तो वणिक प्रजा को क्यों नहीं लूटेगा। उसे तो अपना मूल्य किसी न किसी से वसूलना ही है।

"सुना है पांडवों की माता यहाँ आई थीं।"

"हाँ ! आई तो थी।"

"क्या करने आई थी ?"

"यह शास्त्रार्थ करने कि सुख क्या होता है।"

"निष्कर्ष क्या निकला ?"

"यह कि यदि हम द्वैतवन गई तो हमारा ऐश्वर्य देखकर पांडवों को कष्ट

होगा। इसलिए हमे द्वैतवन नहीं जाना चाहिए।"

"यह निष्कर्ष तो दुख का स्वरूप स्पष्ट करता है, सुख का नहीं ।"

"सुख और दुख तो सापेक्ष हैं न। एक का सुख दूसरे का दुख ही होता है।" काशिका बोली, "मुझे तो ऐसा कोई सुख दिखता नहीं, जो सबके लिए हो।"

"सुना है, कुती माता गांधारी के पास भी गई थी।"

"पता नहीं ।" काशिका कुछ उदासीन से स्वर में बोली, "मुझे सूचना नहीं है। गई होगी तो यही कहने गई होगी। तब माता गांधारी ने कहा होगा कि यदि मेरे पुत्रों का वैभव देख कर तेरे पुत्रों को दुख होता है, तो मेरे पुत्रों के कारण नहीं, तुम्हारे पुत्रो के मन में बैठी ईर्ष्या के कारण है। तो अपने पुत्रो को समझा कि वे अपने मन से ईर्ष्या निकाल दें। अपने मन के दुर्भावों के लिए किसी दूसरे को दोषी न ठहराएँ।"

वृषाली कुछ क्षण मौन बैठी रही, फिर बोली, "अच्छा ! अनुमति दें महारानी !"

वृषाली उठ खडी हुई।

काशिका ने भी उसे और रुकने का अनुरोध नहीं किया।

"जाओ प्रवीरा !" काशिका ने दासी को आदेश दिया, "देवी को रथ तक पहुँचा आओ।"

प्रवीरा मार्ग दिखाती हुई चल पडी थी; और दो दासियॉ मार्ग में पुष्प पंखुड़ियॉ बिखेर रही थीं। यह वह असाधारण सम्मान था, जो राजप्रासाद के अत्यंत विशिष्ट अतिथियों को दिया जाता था ... किंतु वृषाली का मन प्रसन्न नहीं था। काशिका ने उसे अंगदेश की महारानी के स्थान पर केवल देवी कहा था।...

प्रवीरा को राजप्रासाद से अवकाश मिला, तो वह अपने भवन में न लौट कर, सीधे जगत् श्रेष्ठी की अट्टालिका की ओर चल पड़ी। वह पर्याप्त सावधान थी कि किसी परिचित की दृष्टि उस पर न पडे। ... किंतु अपरिचित लोगों के विषय में वह कैसे कह सकती थी, कि उनमें से कोई किसी का गुप्तचर नहीं होगा। ... किंतु राजप्रासाद की एक साधारण दासी के पीछे कोई गुप्तचर क्यों लगेगा ? ... फिर भी उसे पूर्णतः गुप्त रूप से ही जगत् श्रेष्ठी तक पहुँचना था ...

वह सीधी मुख्य अट्टालिका तक न जाकर, घेर के भीतर बने भृत्यों के आवास-समूह मे गई। सारी सावधानी के बाद भी यदि कोई उसे यहॉ आते देख ले, तो वह कह सकती थी कि वह अपने किसी परिचित से मिलने आई है। एक

दासी का जगत्श्रेष्ठी की अट्टालिका में जाना संदेहास्पद हो सकता है, किंतु किसी भृत्य के साथ मिलने जाना कोई असाधारण बात नहीं थी। ... यदि बात बढ ही गई, और उसे कहना ही पड़ा, तो कह देगी कि वह अपने प्रेमी से मिलने आई है।...

अनंतसुख ने गवाक्ष में से उसे अपने द्वार की ओर आते देख लिया था। उसने चुपके से कपाट खोल दिए और प्रवीरा भीतर आ गई।

"कोई समाचार लाई हो ?" अनंतसुख ने पूछा।

"हॉ ! समाचार तो लाई हूँ; किंतु कह नहीं सकती कि वह कितने महत्त्व का है।"

"कोई बात नहीं ।" अनंतसुख बोला, "यह देखना श्रेष्ठी का काम है, हमारा नहीं । ... आओ।"

वह अपने आवास के पिछले द्वार से निकला, जो अट्टालिका के भृत्यों के आने-जाने का निजी मार्ग था। यहॉ किसी गुप्तचर अथवा भेदिए का कोई भय नहीं था।

अनंतसुख ने भीतर सूचना भिजवाई और वे तत्काल भीतर बुलवा लिए गए।

"बोलो प्रवीरा ! क्या समाचार लाई हो।" जगत्श्रेष्ठी ने उसके अभिवादन का उत्तर देते हुए कहा।

"श्रेष्ठि ! राजा दुर्योधन अपनी सेना सहित द्वैतवन में जा रहे हैं। जा तो वे घोषयात्रा के लिए रहे हैं; किंतु उनकी रानियॉ उनके साथ जा रही हैं। आज अंगराज कर्ण की रानी हमारी महारानी से मिलने आई थीं। उनके संवाद में ऐसी चर्चा थी कि वे लोग द्वैतवन में लगे पण्य में से वस्त्राभूषण क्रय करेंगी। ... मैंने सोचा, यह सूचना आप तक पहुँचनी चाहिए। ऐसा न हो कि आपकी योजना में घोषयात्रा के संग जाने का विचार ही न हो।..."

"यह तो तुम बहुत ही अर्थवान समाचार लाई हो प्रवीरा !" श्रेष्ठी के मुख पर प्रसन्नता के चिह्न प्रकट हुए, "घोषयात्रा। द्वैतवन। राजा, उनके मित्र, सामंत, धनी मानी और सैनिक अधिकारी—सब एक साथ और वह भी अपनी पत्नियों, प्रियाओं; और अपनी रक्षिताओं के संग। जब प्रिया मचलकर एक रत्नजटित मुद्रिका की मॉंग करेगी, तो संसार का कौन-सा प्रेमी उसका तिरस्कार कर पाएगा। ... फिर प्रेमिकाओं और प्रियाओं में होड़ भी तो लगेगी कि किस प्रेमी ने अपनी किस प्रिया को कितना बड़ा उपहार दिया।... तुम चिरायु होओ प्रवीरा; और सदा सुखी भी रहो। अनंतसुख !" श्रेष्ठी ने अनंतसुख की ओर देखा, "आज के समाचार

के लिए प्रवीरा को एक के स्थान पर पाँच स्वर्णमुद्राएँ दिलवाओ। इसे भी तो महारानी के साथ, द्वैतवन जाना होगा। यह भी तो वहाँ कुछ न कुछ क्रय करेगी ही। ..."

जगत्श्रेष्ठी भानुमल अपने वणिक समाज के साथ दुर्योधन के सम्मुख उपस्थित हुआ।

"हमने सुना है महाराज ! कि स्वामी वनविहार और आखेट के लिए द्वैतवन जा रहे हैं।"

दुर्योधन ने उसे तीखी दृष्टि से देखा, "श्रेष्ठी को ज्ञात होना चाहिए कि अभी तक हस्तिनापुर के महाराज कुरु सम्राट् धृतराष्ट्र ही हैं। मैं तो मात्र युवराज हूँ और महाराज धृतराष्ट्र की ओर से उनके आदेशानुसार ही कार्य करता हूँ।"

भानुमल बहुत शालीनता से अतिरिक्त माधुर्यलिप्त चाटूकारितापूर्वक हँसा, "हमारे युवराज हों, महाराज हों, सम्राट् हों—सब कुछ आप ही हैं। हम तो आपकी सभा को ही जानते हैं। ... और युवराज।" भानुमल ने रुककर प्रतिक्रिया देखी : दुर्योधन ने उसके कथन का बुरा नहीं माना था, "राजनीति की बात करनी हो तो महाराज धृतराष्ट्र को कष्ट देने का कोई कारण भी बनता है; किंतु मुझे तो बहुत ही पारिवारिक सी चर्चा करनी है !"

"पारिवारिक ...?" दुर्योधन चौंका... यह श्रेष्ठी जाने उसे कहाँ घेरना चाहता है ...

"हाँ महाराज ! अब आप वनविहार के लिए जाएँगे तो अकेले तो नहीं जाएँगे न ! साथ में महारानी जी भी होंगी। उनकी सखियाँ भी होंगी। ..."

"होंगी तो।" दुर्योधन बोला।

"ऐसे मे उस वन में यदि उन्हें कोई मुक्ताहार क्रय करने का मन हो आया, किसी रत्न का स्मरण हो आया। किसी विशेष देश के विशेष प्रकार के वस्त्र पहनने की इच्छा जाग गई ...।" भानुमल ने रुक कर दुर्योधन की ओर देखा, "तो वहाँ उनकी सुविधा और सहायता के लिए कोई पण्य तो होना चाहिए। वनविहार को भी जाएँ और महारानी जी का मन भी प्रसन्न न रहे, तो आपको क्या आनन्द आएगा।"

दुर्योधन की समझ में उसकी बात आ गई, "तो तुम लोग चाहते हो कि तुम्हारा सार्थ भी साथ चले ?"

"सार्थ की क्या बात है महाराज ! समझिए कि हस्तिनापुर की सारी पण्यवीथिकाएँ, आपके साथ होंगी।" भानुमल बोला, "बस आपकी अनुमति ..।"

"तुम्हें राजकीय सुरक्षा का आश्वासन चाहिए ?" दुर्योधन ने पूछा।

"आप वहाँ होगे अन्नदाता ! तो हमारी ओर ऑख उठाकर कौन देखेगा।"

"तो क्या चाहते हो ?"

"बस ! यह आश्वासन मिल जाए कि सैनिक लोग, बिना मूल्य चुकाए. किसी हट्ट से कोई द्रव्य नहीं लेंगे। ..."

"वे अवश्य मूल्य चुकाएँगे।" दुर्योधन बोला, "किंतु एक बात मेरे मन मे आ रही है भानुमल ! रानियॉ तो बहुमूल्य वस्त्राभूषण क्रय करेंगी ... संभव है, वहॉ रत्नों तथा मुक्ताओं का भी व्यापार हो; किंतु साधारण सैनिक तो इतनी बहुमूल्य वस्तुएँ क्रय नहीं कर पाऍगे। सेना में सबसे अधिक संख्या तो साधारण सैनिकों की ही होगी; और उनके क्रय के लिए ही कुछ न हो। तुम्हारी पण्य वीथिकाओं में, प्रत्येक व्यक्ति की क्रय क्षमता के भीतर कुछ न कुछ होना ही चाहिए। अन्यथा उन्हे वहॉ कोई आनन्द नहीं आएगा, और वे कुछ न कुछ उच्छृंखलता कर ही बैठेंगे।..."

"आप आदेश करें महाराज ! सब कुछ उपलब्ध हो सकता है।" भानुमल प्रसन्न हो गया था ...।

"कुछ साधारण वस्त्रों के भी हट्ट हों...कुछ खान-पान की व्यवस्था...।"

"वस्त्रों के लिए तो कोई कठिनाई ही नहीं है महाराज !" भानुमल तत्काल सहमत हो गया, "मद्य, मदिरा, सुरा, कादंब, मैरेय ...इनकी भी कोई कठिनाई नहीं है। ... किंतु खाद्य सामग्री का वहन कर वहॉ ले जाना तथा वहाँ पकवान्न तथा मिष्टान्न तैयार करना बडा महँगा काम है महाराज ! वन में वे पदार्थ उसी मूल्य पर उपलब्ध नहीं हो सकेगे, जिस मूल्य पर वे हस्तिनापुर में उपलब्ध हैं। तनिक सी असावधानी से वे अखाद्य हो जाते है। हम अखाद्य पदार्थो का विक्रय कर महाराज के सैनिकों को रुग्ण तो नहीं कर सकते।"

"ठीक है। मैं समझ गया।" दुर्योधन बोला, "जो मूल्य तुम निश्चित् कर दोगे, उसमें कोई आपत्ति नहीं करेगा।"

भानुमल की बाछें खिल गई : यह तो बहुत बड़ा आश्वासन था। इस एक यात्रा में ही, उनकी आय, अनेक यात्राओं के बराबर हो जाएगी। ... वह दुर्योधन को और अधिक सोचने अथवा अपने निर्णय पर पुनः विचार करने का अवसर नहीं देना चाहता था। वह तत्काल उठ खड़ा हुआ, "तो महाराज ! हमें प्रस्थान की अनुमति का दान मिले।"

भानुमल के साथ आए सारे वणिक उठ कर हाथ जोड, पंक्ति बॉध कर खड़े हो गए।

दुर्योधन ने हाथ के एक संकेत से उन्हे अनुमति दी, और उसकी ऑखें अपने निकट बैठे कर्ण पर टिक गई ... उसकी कल्पना अनेक सुनहरे स्वप्न बुन रही थी।

कर्ण भी समझ गया था कि दुर्योधन के मन में कोई नई बात आई है। ...वह चुपचाप नगर श्रेष्ठियो के द्वार से बाहर निकलने की प्रतीक्षा करता रहा। उधर वे कक्ष से बाहर निकले और कर्ण की प्रश्नमयी आँखें, घूम कर दुर्योधन के चेहरे पर टिक गई।

"अगराज !" दुर्योधन बोला, "यह स्थिति तो वैसे ही बहुत अनुकूल बनती जा रही है।"

कर्ण कुछ बोला नहीं । प्रतीक्षा करता रहा कि दुर्योधन अपनी बात पूरी कर ले।

"मैंने सोचा था कि वन में जाकर पांडवों को थोड़ा अपना ऐश्वर्य दिखा आऊँ। उनकी दरिद्रावस्था को अपनी आँखों से निहार, अपने मन को कुछ शीतलता प्रदान कर लूँ। पर यह नहीं सोचा था कि मैं वन में वल्कलधारिणी द्रौपदी के सम्मुख जगत् श्रेष्ठी का रत्नों तथा मणियों से भरा हाट लगाकर, उसमे से मणियाँ क्रय कर अपनी संरक्षिताओं को भेंट करने का सुख प्राप्त कर सकूँगा।" दुर्योधन का आह्लाद अपनी चरम सीमा पर था, "तुम भी अपनी पत्नियों से कह देना। यहाँ से कम ले जाएँ। अधिक क्रय वहीं करें—उस पांचाली के सम्मुख। उसके सम्मुख इतना क्रय विक्रय व्यापार हो कि वह स्वयं को विस्मृत कर किसी मूल्यवान पदार्थ के लिए अपने पतियों से अनुरोध कर बैठे। यदि मैं द्रौपदी का ऐसा असफल अनुरोध और उस धर्मराज का असामर्थ्य में लटका हुआ चेहरा देख पाया, तो समझ लो मित्र ! कि मुझे एक राजसूय यज्ञ की पूर्णता का सा सुख मिल गया। मैंने जगत् जीत लिया ...। और कहीं पांचाली ने उस मोटे भीम से अनुरोध कर दिया, तो वह असामर्थ्य में चेहरा नहीं लटकाएगा। वह उन श्रेष्ठियों से वह उपहार छीनने का प्रयत्न करेगा। और तब हम श्रेष्ठियों की रक्षा के नाम पर उस मोटे को मार गिराएँगे।" दुर्योधन क्षण भर रुका, "अभी-अभी मेरे मन में आया है कि क्यों न हम अपने साथ नर्तकियाँ और गणिकाएँ भी ले जाएँ। संगीतज्ञ और गायक भी ले जाएँ। युधिष्ठिर यज्ञ कर रहा हो; और हम उसके सम्मुख अप्सराओं की प्रदर्शनी लगा दें ... वहाँ वैभव, भोग, मनोरंजन, विलास, सत्ता तथा अधिकार का ऐसा प्रदर्शन करें कि युधिष्ठिर ईर्ष्या से स्वयं ही हवनकुंड बन जाए, अपनी ईर्ष्याग्नि में ही जल कर क्षार हो जाए।"

कर्ण के मन में भी जैसे अनेक इंद्रधनुष अवतरित हो गए थे। उसने भी तो यह सब नहीं सोचा था ... यह तो अयाचित ही आकाश से किसी असाधारण सुख की वर्षा होने लगी थी ...

7

प्रातः ही दो गंधर्व अश्वारोही युधिष्ठिर के सम्मुख उपस्थित हुए। लगता था कि वे रात्रि भर, अश्व की पीठ पर ही यात्रा करते रहे हैं; और बिना किसी विश्राम के यहाँ तक पहुँचे हैं।

"हम गंधर्वराज चित्रसेन के संदेशवाहक हैं महाराज !" उन्होंने प्रणाम कर कहा, "हम आपकी सेवा में यह निवेदन करने के लिए, प्रस्तुत हुए है कि महाराज चित्रसेन आपके दर्शन करने के लिए, इस ओर आ रहे हैं। वे द्वैतवन के पर्याप्त निकट आ चुके हैं; और आज दिन के किसी भी समय, आपके आश्रम में उपस्थित हो सकते हैं। उन्होंने पूछा है कि क्या उन्हें आपके दर्शनों की अनुमति है ?"

युधिष्ठिर हँसे, "तुम्हारे महाराज चित्रसेन हमारे मित्र हैं; और मित्रों को न अनुमति लेने की आवश्यकता होती है, न देने की। वे परायों के समान इस प्रकार अनुमति क्यों माँग रहे हैं। वे ऐसा क्यों नहीं सोचते कि यदि इस वन में हमें अपना कोई सुहृद मिल जाता है, तो वह हमारे लिए आह्लाद का ही विषय होता है।"

"सम्राट् ! वे आपको अपना मित्र ही नहीं परिजन भी मानते हैं। आपके लिए उनके मन में पूजा का सा भाव है। वे नहीं चाहते कि उनके कारण, आपको तनिक भी असुविधा हो अथवा आपके किसी आयोजन में उनके कारण किसी प्रकार की कोई बाधा पड़े।" एक दूत ने कहा, "उन्हें सूचना मिली है कि आप यहाँ कठोर तपस्या कर रहे हैं; अत्यन्त नैष्ठिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। आप का दैनिक क्रम पूर्वनिश्चित होता है। ऐसे में बिना किसी पूर्व सूचना के अकस्मात् आपके सम्मुख उपस्थित हो कर, वे आपके लिए किसी प्रकार का कोई धर्म संकट उत्पन्न न कर दें।"

"नहीं दूत ! ऐसी कोई बात नहीं है।" युधिष्ठिर बोले, "ठीक है कि हमारा एक नित्यक्रम है। मेरे भाई आश्रम की व्यवस्था देखते हैं। भोजन के लिए वे वन द्वारा प्रस्तुत खाद्य पदार्थों का संग्रह करते हैं; और अपने आश्रमवासियों के भोजन और रक्षा के लिए आखेट भी करते हैं। कुछ समय साधना में भी व्यतीत होता है। मेरा क्रम उनसे कुछ थोड़ा-सा ही भिन्न है। मैं आजकल एकदिवसीय साद्यस्क राजर्षि यज्ञ करने में संलग्न हूँ। यज्ञवेदी पर बैठ जाऊँ, तो यज्ञ को पूर्ण किए बिना, आसन से उठ नहीं सकता। और किसी प्रकार का कोई बंधन नहीं है। तुम गंधर्वराज से कहो कि उनका आगमन, हमारे इस नीरस जीवन में सुखद परिवर्तन ही होगा।"

दूतों ने प्रणाम किया, "तो महाराज ! हमें अनुमति मिले। हम अपने स्वामी

के पास शीघ्र लौट जाएँ। वे इस ओर आ ही रहे हैं। हम मार्ग मे ही, आपके इन उदार भावों को उन तक संप्रेषित कर देंगे।"

दूत अपने अश्व दौडाते हुए लौट गए।

युधिष्ठिर ने अर्जुन की ओर देखा, "तुम्हारे मित्र और गुरु आ रहे हैं। उनके स्वागत की उचित व्यवस्था करो। यदि उस समय तक मैं यज्ञवेदी पर बैठ चुका हुआ, तो उनके सत्कार के लिए मेरा उठना कठिन होगा। देखना उनके सत्कार में किसी प्रकार की कमी न हो।"

पांडवों को बहुत प्रतीक्षा नहीं करनी पडी। चित्रसेन का रथ संध्या से पूर्व ही, उनके आश्रम के द्वार पर आ रुका।

अर्जुन को, वैजयंत की सभा में व्यतीत किए हुए, अपने दिन स्मरण हो आए। नृत्य और संगीत तो उसने सीखा ही चित्रसेन से था। इसलिए चित्रसेन उसका मित्र होने के साथ-साथ उसका गुरु भी था।

अर्जुन ने आगे बढ़कर उसका स्वागत किया; और उसे सीधा, युधिष्ठिर के निकट ले आया।

"कैसे हो मित्र !" युधिष्ठिर ने उसके अभिवादन का उत्तर देते हुए पूछा, "इन दिनों यहाँ आना कैसे हुआ ? किसी विशेष अभियान पर निकले हो क्या ?"

एक बार तो चित्रसेन के मन में आया कि कह दे कि उन्होंने सुबाहु की बात न मान कर अच्छा नहीं किया था। उन्हें या तो अपनी रक्षा का प्रबंध स्वयं करना चाहिए था, या फिर सुबाहु का प्रस्ताव मान कर उसे पार्वत्य राजाओ पर छोड़ देना चाहिए था। उन्होंने दोनों में से कुछ भी नहीं किया था; और अपने परिवार सहित, साधारण आरण्यकों के समान यहाँ रह रहे थे। अब भी समय था, उन्हें चेत जाना चाहिए। दुर्योधन अपनी सेना सहित आ रहा था ...

किंतु चित्रसेन ने स्वयं को रोक लिया।... कहीं ऐसा न हो कि धर्मराज उसका कोई प्रस्ताव स्वीकार न करें और उनकी सुरक्षा के लिए किए जानेवाले उसके प्रयत्नों का भी निषेध कर दें। जो कुछ गुप्त रूप से हो सकता था, उसे प्रकट कर उसकी सफलता को संदिग्ध क्यों बनाया जाए।

"हम तो गंधर्व हैं महाराज !" चित्रसेन सहज भाव से बोला, "भ्रमण और विहार हमारी प्रकृति में है। मैं अपनी रानियों के साथ भ्रमण के लिए निकला हूँ। हमारी इच्छा है कि हम द्वैत सरोवर के तट पर कुछ समय व्यतीत करें। सोचा था कि आप लोगों की संगति का लाभ भी प्राप्त होगा। ... किंतु देख रहा हूँ कि आप लोग तो तपस्या कर रहे हैं। ऐसे में हमारे साथ विहार मे कैसे सम्मिलित होंगे। हमारा राग रंग, नृत्य संगीत इत्यादि आपकी जीवन पद्धति के बहुत अनुकूल

नहीं बैठेगा।"

"तुमने उचित ही कहा है।" युधिष्ठिर बोले, "हम तुम्हारे विहार में सम्मिलित नहीं हो पाएँगे। कदाचित् तुम भी हमारे यज्ञ कार्य में हमारे साथ सम्मिलित नहीं हो सकोगे। जिस राजा की रानियाँ विहार के लिए सरोवर तट पर उसकी प्रतीक्षा कर रही हों, वह यज्ञवेदी पर कैसे बैठ सकता है।"

"मैं तो बैठ भी जाऊँ; किंतु भोग और तपस्या, परस्पर बहुत अनुकूल नहीं हैं।" चित्रसेन शालीन ढंग से हँसा, "ऐसा न हो कि मेरी रानियाँ मुझे खोजती यहाँ आ जाएँ; और उनके नूपुरों की ध्वनि आपके मंत्रोच्चारण में बाधा बने। हमारा आपके बहुत निकट रहना उचित नहीं है।"

"अरे नहीं !" धर्मराज ने चित्रसेन की भुजा पकड़कर आग्रहपूर्वक कहा, "हमारे कारण तुम्हारी रानियाँ द्वैत सरोवर का आनन्द न उठा सकें, यह धर्म-संगत नहीं है। अपनी शांति के लिए किसी अन्य को उसके सुख से वंचित करना धर्म नहीं है। हम इतनी नृशंसता नहीं कर सकते। तुम लोग अपने मनोनुकूल स्थान पर रहो और अपना मनभावन विहार करो। मुझे कोई आपत्ति नहीं है। द्वैत सरोवर बहुत विशाल है गंधर्वराज ! अनेक लोग बिना एक-दूसरे के लिए बाधक हुए, उसके तट पर निवास कर सकते हैं; और प्रकृति के सौंदर्य का आनन्द उठा सकते हैं। हम इस सरोवर के स्वामी नहीं हैं कि हमारे कारण तुम यहाँ प्रवास न कर सको ...। "

"हम स्वामी होते और तुम हमारे अतिथि होते तो हम तुम्हारे ठहरने की व्यवस्था उसके तट के सबसे मनोरम भाग में ही करते।" अर्जुन ने कहा।

"हाँ। अर्जुन ने ठीक ही कहा।" धर्मराज बोले, "हम सरोवर के स्वामी नहीं हैं, इसलिए तुम स्वतंत्र रूप से अधिकारपूर्वक उसके तट पर प्रवास करो। ... और यदि हम स्वामी होते, तो तुम हमारे अनुरोध पर हमारे अतिथि हो कर, यहाँ निवास करते।"

"वह तो जब करते, तब करते। अब इस समय तो हमारे आश्रम के अतिथि हो कर कुछ वन्य भोजन कर लो।" भीम ने कहा, "पांचाली इस बात को प्रमाणित करने पर तुली हुई है कि अरण्य में भी स्वादिष्ट भोजन की व्यवस्था हो सकती है। अब गंधर्वराज यह आपको निर्णय करना है कि ऐसा संभव है अथवा नहीं।"

भीम उन्हें साथ बने हुए कुटीर में ले गया, जहाँ द्रौपदी ने अपनी सहायिकाओं की सहायता से भोजन की व्यवस्था कर रखी थी।

वे लोग बैठ गए तो चित्रसेन ने अपनी ओर से बात आरंभ की, "धर्मराज ! आप जानते ही हैं कि हम गंधर्व रत्नों के पारखी भी होते हैं और उनके लोभी भी। भगवान ने जितने रत्न हमारी भूमि में संजो रखे हैं, उतने कदाचित् और कहीं भी उपलब्ध न हों। हमारी भूमि के कारण ही इस पृथ्वी का रत्नगर्भा नाम

सार्थक होता है।"

"अच्छा !" भीम ने हँस कर कहा, "और मैं समझता रहा कि चित्रसेन जैसे रत्नों के कारण तुम्हारी भूमि रत्नगर्भा है।"

"वह भी असत्य नहीं है मध्यम !" अर्जुन ने गंभीर स्वर में कहा, "गंधर्वराज जैसा रत्न और कहाँ मिलेगा। ये धनुष को ले कर युद्ध क्षेत्र में खड़े हो जाएँ, तो कोई कल्पना नहीं कर सकेगा कि ये मृदंग भी इतना ही अच्छा बजाते हैं। इनको नृत्य करते देख लो तो कोई विश्वास नहीं करेगा कि यह व्यक्ति योद्धा भी हो सकता है।"

"आप लोग मेरी चर्चा को किधर ले गए।" चित्रसेन हँसा, "मैं तो केवल इतना कह रहा था कि आज कल हस्तिनापुर के व्यापारी, रत्नों को खोजने और खरीदने में गंधर्व रत्न-व्यवसायियों को भी पीछे छोड रहे हैं। उनमें जैसे एक से बढ कर एक मूल्यवान रत्न खरीदने की होड़ लगी हुई है। इसी संदर्भ मे हस्तिनापुर के श्रेष्ठियों के प्रतिनिधि हमारे प्रदेश में भी घूम रहे हैं। सुना है कि उनके यहाँ कोई बहुत बडा मेला लगनेवाला है, जिसमें उनके युवराज, राजकुमार, उपराज, उनके मंत्री और सेनानायक अपने परिवारों और बंधु-बांधवों के साथ सम्मिलित होंगे और उनकी पत्नियाँ, प्रेमिकाएँ और रक्षिताएँ, मन भर कर अपनी रुचि की वस्तुएँ खरीदेंगी।"

"क्या स्वयं महाराज और महारानी उसमें सम्मिलित नहीं होंगे ?" भीम ने पूछा।

"नहीं । वह मेला वन में होगा। उसे वनविहार का रूप दिया जा रहा है।" चित्रसेन ने कहा, "महाराज और महारानी वन तक की यह यात्रा नहीं कर पाएँगे।"

"तो कुरुवंश किस वन को सुशोभित करने जा रहा है ?" द्रौपदी ने पूछा।

"बस ! आपके ही निकट आ रहे हैं, वे लोग। द्वैतवन में ही विहार होगा।" चित्रसेन बोला।

"वे लोग हमें हमारी निर्धनता के लिए अपमानित करने आ रहे हैं।" सहसा सहदेव बोला।

"किसी की धर्मसंगत निर्धनता उसके अपमान का कारण तो नहीं हो सकती।" धर्मराज बोले, "अधर्म के बल पर एकत्रित किया गया वैभव लज्जा का विषय हो सकता है। उनके वनविहार और क्रीडा से हम कैसे अपमानित हो सकते हैं।"

चित्रसेन ने द्रौपदी की ओर देखा : उसका चेहरा क्रोध और विवशता से जैसे तमतमा आया था। द्रौपदी स्वयं को सँभाल नहीं पाई और उठ कर कुटीर से बाहर चली गई।

"धर्मराज! मेरा निश्चित मत है कि दुर्योधन और उसके मित्र आपको पीडित करने के विचार से ही आ रहे हैं।" चित्रसेन ने अत्यंत विनीत भाव से कहा।

युधिष्ठिर भी मधुर ढंग से हँसे, "यदि दुर्योधन अपने वैभव के प्रदर्शन से सुख प्राप्त करता है, तो वह मेरे कारण सुख प्राप्त नहीं कर रहा, वह अपनी मानसिक विकृति को अपना सुख मान कर प्रसन्न हो रहा है। ...और यदि मैं उसके वैभव को देख कर पीड़ित हो रहा हूँ, तो मेरी पीड़ा का कारण उसका वैभव नहीं मेरे मन में स्थित ईर्ष्या का भाव है। मैं अपनी ईर्ष्या से पीडित होता हूँ, तो उसके लिए दोषी दुर्योधन कैसे हो सकता है। उस पीडा से बचने के लिए, मुझे दुर्योधन को द्वैतवन में आने से रोकने की आवश्यकता नहीं, अपने मन में स्थित ईर्ष्या को जीतने की आवश्यकता है।"

चित्रसेन समझ गया कि वह युधिष्ठिर को कुछ भी नया नहीं समझा सकता था। वह न उनके चिंतन को बदल सकता था, न उनके निर्णयों को।

प्रहर भर का समय पांडवों के साथ व्यतीत कर, चित्रसेन विदा हो गया। थोड़ी ही देर में उसका रथ अपनी प्रतीक्षारत वाहिनियों के निकट पहुँच गया। उसके सेनानायक उसके आदेश की प्रतीक्षा में वहाँ ठहरे हुए थे।

"मेरा विचार सत्य ही है। पांडवों को दुर्योधन के अभियान की कोई सूचना नहीं थी।" चित्रसेन बोला, "मैंने धर्मराज को सारी स्थिति से अवगत करा दिया है; किंतु न तो वे दुर्योधन के वैभव-प्रदर्शन से आतंकित हैं, न वे उसे किसी प्रकार का सैनिक आक्रमण मानने को प्रस्तुत हैं। अतः वे शायद ही प्रतिरोध की कोई व्यवस्था करें। इसलिए हमें गुप्त रूप से ही उनकी रक्षा करनी होगी । हमारे किसी प्रकट प्रयत्न का वे विरोध भी कर सकते हैं। इसलिए हमें उनसे किसी प्रकार के सहयोग की अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए।"

कुछ समय तक चित्रसेन मन ही मन, अपनी योजना बनाता रहा, और फिर बोला, "सबसे पहले तो तीव्रगामी संदेशवाहकों को सुबाहु के पास भेजो। उन्हें यहाँ की परिस्थितियों की सूचना दो उन्हें मेरी ओर से आश्वस्त करो कि उन्हें चिंता करने की आवश्यकता नहीं है। हम दुर्योधन से पहले यहाँ पहुँच चुके हैं। पांडवों तक पहुँचनेवाले सारे मार्गों को हम अपने अधिकार में कर रहे हैं। दुर्योधन द्वैतवन में प्रवेश ही नहीं कर पाएगा। न वह पांडवों तक पहुँच पाएगा, और न द्वैत सरोवर तक। पांडव पूर्णतः सुरक्षित रहेंगे; और वह दुष्ट दुर्योधन यदि अपनी हठ नहीं छोड़ेगा, तो हमारे हाथों भीषण दुर्गति को प्राप्त होगा।" चित्रसेन ने रुक कर अपने सेनानायकों की ओर देखा, "तुम लोग अपनी-अपनी वाहिनियों को द्वैतवन में प्रवेश करनेवाले मार्गों के निकट वन के भीतर की ओर रखोगे। पांडवों से अपनी इतनी दूरी बनाए रखोगे कि उन्हें हमारी गति-विधि का कोई आभास न हो। दुर्योधन के सैनिकों के साथ संघर्ष हो, तो उसका

कोलाहल भी पांडवो तक न ही पहुँचे तो अच्छा है।"

"यदि उन्हें उसकी सूचना हो ही जाए कि उनकी रक्षा के लिए हम युद्ध कर रहे हैं, तो इसमें हानि ही क्या है ?" एक नायक ने पूछा।

"मुझे शंका है कि ऐसी स्थिति में धर्मराज हमें युद्ध करने नहीं देगे। वे स्वयं को अपनी रक्षा में समर्थ मानते हैं। ..."

"यदि वे समर्थ हैं, तो हम उन्हें अपनी रक्षा कर ही क्यों नहीं लेने देते ?" एक अन्य नायक ने पूछा।

"वे अपने स्वाभिमान की रक्षा कर रहे है और हम अपने धर्म की।" चित्रसेन ने कहा, "हमें अपने मित्रो की रक्षा करनी ही है, वे चाहे इसकी आवश्यकता माने या न मानें।"

"यदि वे इसकी आवश्यकता नहीं समझते, तो हम युद्ध की तैयारी क्यो कर रहे है ?" पहले सेनानायक ने पुनः पूछा।

"किसी मित्र की आवश्यकता देखकर हम अपनी ओर से ही कार्य करते है।" चित्रसेन ने उत्तर दिया, "मैत्री मे इस बात की प्रतीक्षा नहीं की जाती कि आपका मित्र आपसे प्रार्थना करे, याचना करे ... ।" चित्रसेन का स्वर आदेशात्मक हो गया, "अब न कोई प्रश्न, न कोई आपत्ति। हम दुर्योधन से पहले पहुँच गए हैं, अतः हमें समय का लाभ उठाना है। अपनी सुविधा के सारे स्थानों पर व्यूह रचना कर लो। सैनिक दृष्टि से लाभकारी कोई स्थान दुर्योधन को उपलब्ध ही न हो सके। द्वैतवन के बाहर मत जाना, किंतु इसका पक्का प्रबंध कर लो कि दुर्योधन का एक भी रथ अथवा अश्व, द्वैतवन मे प्रवेश न कर पाए। उनके द्वैतसरोवर के निकट पहुँचने का तो प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए। पांडवों के अति निकट का क्षेत्र छोड़ कर इस समय सारा द्वैतवन तुम्हारा है। अपनी सुविधा से अपने शिविर खड़े कर लो। तुम्हे अपने आमोद-प्रमोद की पूरी स्वतंत्रता है; बस दुर्योधन के सैनिकों के निकट आते ही, सावधान हो जाना। युद्ध में किसी प्रकार का कोई प्रमाद नहीं होना चाहिए। ..."

नायक अपनी-अपनी विधि से आदेश देने के लिए अपनी-अपनी वाहिनियों को हटा ले गए। चित्रसेन उन्हे जाते हुए देखता रहा और सोचता रहा, वह उन्हें कैसे समझा सकता था कि संसार में युधिष्ठिर जैसे लोग भी थे, जिन्हें मानव के मूलभूत गुणों पर इतना अधिक विश्वास था कि वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि दुर्योधन अथवा कोई भी मनुष्य इतनी नीचता भी कर सकता था। दुर्योधन इतनी बार पांडवो के प्राण लेने के षड्यंत्र कर चुका है, फिर भी धर्मराज अभी तक उससे अपनी रक्षा के लिए कोई प्रबंध करने को उद्यत नहीं है।...और चित्रसेन अपने सेनानायकों को कैसे समझाता कि मानवता के लिए, नैतिकता के लिए और धर्म के लिए पांडवों का जीवन कितना आवश्यक था। निकट भविष्य में

जब ये सारे अधर्मी राजा सारी पृथ्वी पर रक्त का तांडव करेगे, तो गधर्वो को भी अपनी रक्षा के लिए, युधिष्ठिर और उसके भाइयों की आवश्यकता पडेगी। ...कोई अपने रक्षकों की रक्षा नहीं करेगा, तो समय पर उसकी अपनी रक्षा कैसे होगी।

और सहसा ही चित्रसेन का अपना मन ही बदल गया। उसे लगा कि न केवल उसके सेनानायक युधिष्ठिर के मन को नहीं समझ पा रहे हैं, वह स्वयं भी शायद युधिष्ठिर को समझ नहीं पा रहा है। धर्मराज कदाचित् यह तो समझते हैं कि कोई सेना उन पर आक्रमण तो कर सकती है, किंतु शायद यह नहीं समझते कि कोई व्यक्ति अपने वैभव का प्रदर्शन कर उनको पीडित करने की योजना भी बना सकता है। ... जिस व्यक्ति के अपने मन में ईर्ष्या का कण भी न हो, वह दुर्योधन के मन की ईर्ष्या को कैसे समझ सकता है। संसार भर का वैभव देख कर जिसके मन में लोभ का कण नहीं जागता, तृष्णा का अंकुर नहीं फूटता, वह यह कल्पना कैसे कर सकता है कि दुर्योधन उसे अपना वैभव दिखाकर पीडित और अपमानित करने आ रहा है। धर्मराज तो सहज भाव से कह सकते हैं कि उन्हें इससे तनिक भी पीडा नहीं होगी। ... यदि कहीं वे इस भाव से परिचित होते, तो वे अपने राजसूय यज्ञ के अवसर पर उपहारों को स्वीकार करने और सँभालने का दायित्व दुर्योधन को क्यो देते। ...तो फिर उन्हें कोई कैसे समझाए कि ईर्ष्या, तृष्णा, तुलना, स्पर्धा और लोभ में भी पीडा होती है। धर्मराज युधिष्ठिर का तो इन भावों से परिचय ही नहीं है। ...

समंग अपने कुटीर में क्लांत-सा बैठा था। उसके निकट ही उसकी पत्नी, चपला, अपना सिर पकडे बैठी थी। पिछले तीन-चार दिनों के तीव्र घटनाक्रम से, जैसे दोनों ही तन मन से बुरी तरह थक गए थे ...और फिर ऊपर से यह हताशा...

"तुम्हें किस मूर्ख ने कहा था कि तुम बैठे बैठाए, अपना घर परिवार उजाड़ लो ?" चपला ने धिक्कार बरसाती एक दृष्टि उस पर डाली, "वैसे तो तुम अपने को बहुत बुद्धिमान गिनते हो। गए थे कि राजा को मूर्ख बना कर बहुत सारा धन कमा कर लाऊँगा। कमा लाए धन की गठरी। हो गया कलेजा ठंडा। ...मैं कहती हूँ,इस प्रकार अपना घर उजाड़ना तो कोई बुद्धिमत्ता नहीं है।"

"क्या बताऊँ, लोभ ने मेरी मति भ्रष्ट कर दी थी; और क्या।" समंग निर्जीव से स्वर में बोला, "पत्थर पड़ गए थे, मेरी बुद्धि पर। राजकुमार के उस मित्र अंगराज कर्ण की बातों में आ गया। बहुत जीवन देखा था, किंतु यह नहीं देखा था कि किसी हरे-भरे शांत वन में राजा का पड़ाव पडता है, तो उसका परिणाम क्या होता है।..."

"लोभ होता है कुछ पाने का, गँवाने का नहीं ।" चपला ने अपने कपाल पर हाथ मारा, "किंतु तुम्हारी तो बुद्धि ही निराली है। शांति तो जैसे तुम्हें भाती ही नहीं । बैठे बैठाए, आ बैल मुझे मार। पहली बार गए तो चाकरी जाते-जाते बची। इस बार उठे तो हस्तिनापुर जाकर बुला लाए, उस विनाश-लीला को। घर में से बेटा-बहू गए। फूल-सी कोमल बच्ची गई। अपनी गौओं की गणना भी राजा की गौओं मे करवा दी। ... तनिक बाहर निकलकर देखो, लगता है, आधा वन ही कट गया है ...। राजा का पड़ाव तो उठ गया, पर अब हमारे घर और इस वन का रूप-रंग कभी लौट भी पाएगा ?"

"तो भलीमानस ! इस वन को उजाडने का अपराधी भी मैं ही हूँ ?" समंग कुछ क्षुब्ध स्वर में बोला, "राजा क्या मेरे आदेश से चलता है ? मैं राजा और उसकी सेना को वन में आने से रोक सकता था क्या ?"

"गए तो तुम यही सोच कर थे कि राजा की बुद्धि को घास चरा आओगे। तब नहीं सोचा कि बुद्धि तो तुम्हारी गई हुई है घास चरने।" चपला तमककर बोली।

"तो अब बता न, मैं क्या करूँ ?" समंग ने घुटने पूर्णतः टेक दिए।

पर चपला अपने आवेश में जैसे उसकी बात ही नहीं सुन रही थी।

"मैं यह नहीं कहती कि सेना को वन में आने से रोक देते; किंतु सेना को न्यौतने तो न जाते।" वह बोली, "अब मेरी फूल-सी बच्ची उस मुच्छड़ अधेड़ के साथ चली गई। बताओ तो क्या होगा अब उसका जीवन। जाने वह मुच्छड़ है कौन। संभव है विवाहित हो, बाल बच्चोंवाला हो। ...और यह उठ कर उसके साथ चल दी, 'वे मेरे बिना जी नहीं सकेंगे।' जैसे आज तक तो वह जी ही न रहा हो। वह उसका शव ही था, जो उठ कर यहाँ तक चला आया। जाने कौन है वह मुआ। हमारी भोली-भाली बच्ची को बहकाकर ले गया ..."

"देखो ! अपनी बच्ची से मुझे भी बहुत प्रेम है।" समंग बोला, "किंतु सारा दोष उस मुच्छड का ही तो नहीं है। उसके प्रेम-व्रेम का तो मुझे पता नहीं किंतु उसके स्वर्णाभूषण बहुत आकर्षक थे। तुम्हारी बच्ची उन आभूषणों की चमक में ही भुला गई।"

"तो तुम्हीं ने तो अपने बच्चों के मन में सदा लोभ का विष-वृक्ष रोपा। कभी कहा तुमने उनसे कि हम यहाँ सुखी हैं। सदा एक ही रट कि हस्तिनापुर बहुत सुंदर नगर है। वहाँ के लोग बहुत धनी हैं, बहुत सुखी हैं। वह स्वर्ग है। हमें भी प्रयत्न करना चाहिए कि किसी प्रकार हस्तिनापुर में जा बसें। लो अब जा बसो हस्तिनापुर में। वहीं मिल जाएगी तुम्हें, तुम्हारी बेटी भी।"

"अब मेरा पीछा छोडो मेरी अम्मा। मै स्वयं ही बहुत दुखी हूँ।" समंग ने अपने हाथ जोड कर उन पर अपना माथा टिका दिया।

"वह तो ठीक है।" चपला का स्वर कुछ शांत हुआ, "किंतु उस मुच्छड़ ने हस्तिनापुर पहुँचकर उसे अपने साथ न रखा तो उसके पास, सिवाय किसी धनी-मानी की दासी हो जाने, अथवा किसी की भोग्या बन कर जीवन काटने के और कोई मार्ग नहीं रहेगा।"

समंग को अपनी पुत्री का यह भविष्य तनिक भी नहीं सुहाया। रुष्ट हो कर बोला, "उसके लिए ऐसी अशुभ बातों की कल्पना क्यों कर रही हो तुम! कोई भली बात नहीं सोची जाती तुमसे ?"

"अरे तो मैं कोई इसकी कामना कर रही हूँ।" चपला भी तुनककर बोली, "स्वयं तो जाकर उन्हें हस्तिनापुर से बुला लाए। अब सारा दोष मेरे सिर मढ रहे हैं।"

"मैं जाकर बुला लाया।" समंग का स्वर भी ऊँचा हो गया, "वह दिन भूल गई, जब हस्तिनापुर से बुलाए जाने की बात सुन कर, तुम ही झाडू ले कर मेरे पीछे पड़ गई थीं कि मुझे राजा की बात मान लेनी चाहिए। राजा को रुष्ट नहीं करना चाहिए। तब तो राजा की प्रसन्नता में तुम्हें स्वर्ग का आकर्षण दिखाई पड़ रहा था।"

"राजा की आज्ञा सुन आने के लिए कहा था, उसे सेना सहित बुला लाने को तो नहीं कहा था।"

"मैं भी तो राजा को बुला कर ही लाया था, तुम्हारी पुत्री को उस मुच्छड़ के संग भाग जाने के लिए तो नहीं कहा था।"

"ऐ। मेरी बेटी ने एक सैनिक के साथ गांधर्व विवाह किया है।... उसके संग भाग जाने से क्या अभिप्राय है तुम्हारा ?" वह रुकी, "और जब मैं कहती थी कि नगर जाते हो तो कभी-कभार उसके लिए भी कोई स्वर्णाभूषण ले आया करो, तो हर बार टाल गए तुम। तुम चाहते थे कि वनस्पतियों के पुष्पों और पत्रों से वह अपना शृंगार करे। अब ऐसे में वह उस सैनिक के स्वर्णाभूषणों पर रीझ गई, तो उसमें उसका क्या दोष ? किसी का भी मन द्रवित हो सकता था।..."

समंग ने एक तीखी दृष्टि उस पर फेंकी, "तो क्या मैं मान लूँ कि तुम्हारा मन भी द्रवित हो गया था; किंतु तुम्हें भगा ले जाने को कोई सैनिक तैयार ही नहीं हुआ ?"

"धत्त।" चपला ने अपनी लज्जा प्रकट करने-करने में समंग को एक धौल जमा दी।

कुछ क्षणों के लिए वे दोनों ही मौन रहे। लगा कि दोनों का क्षोभ कुछ मंद पड़ा है और विरोध विरल हो गया है। एक-दूसरे को दोष देने का कोई लाभ नहीं था। दोनों ही समान रूप से छले गए थे। ...

"चलो ! पुत्री को तो एक दिन ससुराल जाना ही था।" कुछ देर के पश्चात् समंग बोला, "उसका विवाह तो करना ही था। सैनिक से न करते, किसी ग्वाले से करते, किसी राजकर्मचारी से करते। हमारे साथ तो वह नहीं ही रहती... किंतु पुत्र और पुत्रवधू को तो हमारे साथ ही रहना था। वे क्यों चले गए, उस वणिक के साथ ?"

"तुम चाहते थे कि पुत्र और पुत्रवधू हमारे साथ रहें; किंतु पुत्रवधू तो कब से चाह रही थी कि या तो हम यमपुर चले जाएँ अथवा वह हमारे पुत्र को भगा कर हमसे कहीं दूर ले जाए।" चपला बोली, "उसे तो अपनी कामनापूर्ति के लिए सुनहला अवसर दिखाई दिया होगा। मेरा पुत्र तो है ही अबोध। पत्नी ने उकसा दिया तो उठ कर चल दिया उसके साथ। मैंने तुमसे पहले भी कहा था, उस घर में नाता मत करो। उसकी माँ भी ऐसी ही थी ...।"

"लो !" समंग ने उसे टोक दिया, "फिर पड़ गई अपनी समधन के पीछे। यह क्यो नहीं मान लेतीं कि खोट तो अपने ही पुत्र में है। वह स्वयं न जाता तो बहू उसे गोद में उठा कर तो नहीं ले जाती। तुम्हारे पुत्र की आँखें ही उस वैभव को देख कर फट पडी थीं। उसे ही लगा था कि उस श्रेष्ठी के साथ चला जाएगा, तो वह भी वैसा ही श्रेष्ठी बन जाएगा। यह नहीं सोचा उस मूर्ख ने कि वणिक का शकट खींचनेवाला गधा कभी वणिक नहीं बनता। वह गधे का गधा ही रहता है।"

274967

"चलो ! ठीक है !" चपला बोली, "उस वैभव को देख कर वह आकृष्ट हो गया उस ओर। लोभ में चला गया वणिक के साथ। श्रेष्ठी नहीं बन पाएगा, तो भी अपना पेट पालने भर को तो कमा ही लेगा। यहाँ रह कर भी गौओं का गोबर ही उठाता जीवन भर। मैं तो कहती हूँ, जहाँ भी रहे, सुखी रहे। तुम तो अब अपनी चिंता करो। गोशाला की देखभाल के लिए किसी की सहायता तो लेनी ही पड़ेगी। घर के तीन प्राणी कम हो गए हैं।"

"हाँ ! ठीक कह रही हो। किसी न किसी की सहायता तो लेनी ही पडेगी।..." समंग कुछ देर तक मौन रह कर बोला, "मुझे तो दूसरी चिंता भी है। ... उन सैनिको ने तो वन को जैसे नगा ही कर दिया है। इतने वृक्ष काटे है कि उनकी गणना ही न हो सके। अब गौओं को खिलाने के लिए यहाँ तो जैसे कुछ बचा ही नहीं है। ... लगता है कि अपना अन्न-जल भी यहाँ से उठ ही गया है।"

"मैं तो सोच रही हूँ कि जहाँ-जहाँ यह राजा जाता होगा, ऐसे ही लोगों के घर उजड़ते होंगे।" चपला बोली, "राजा को तो अपना ही सुख प्यारा है, लोगों के घर उजडते हों तो उजडें।"

"वह दूसरों के घर न उजाड़े तो उसके पास इतना वैभव कहाँ से आए।"

समंग जैसे अपने आपसे बोला, "यह तो अच्छा है कि हम वन में पडे हैं। कहीं हस्तिनापुर में होते, तो लोभ और ईर्ष्या से जल-जल कर ही मर गए होते।..."

"क्या सारे राजा ही ऐसे होते हैं ?"

"मैं क्या जानूँ। मैं कोई किसी राजपरिवार में रहा हूँ।" समंग झल्लाकर बोला, पर तत्काल ही उसका स्वर कुछ कोमल हो गया, "पर नहीं । वे इनके ही तो भाई हैं—पांडव। सुना है, इसी वन में आरण्यकों के समान रहते हैं। लोग उनके कारण उजड़ते नहीं, उनकी छत्रछाया में सुरक्षित बसते हैं।"

8

काशिका की मुँह लगी दासी, प्रवीरा अपनी स्वामिनी को बहुत देर से खोज रही थी। वह सारा पण्य मंडप घूम गई थी; और जो-जो सामने पड़ा, उन सबसे पूछ चुकी थी। अंततः जब वह काशिका तक पहुँची तो काशिका जगत्श्रेष्ठी भानुमल के आपण के विशेष प्रकोष्ठ में बैठी बहुमूल्य रत्नजटित, कुछ आभूषण देख रही थी।

प्रवीरा को अपने सम्मुख देखकर उसका ध्यान इस ओर नहीं गया कि वह हाँफ रही थी। वह भागती हुई आई थी, और स्वेद से नहा चुकी थी। उसने केवल यह देखा कि प्रवीरा उसके सम्मुख खड़ी थी और काशिका उससे इस आभूषण के विषय में परामर्श कर सकती थी, जो इस समय उसके हाथ में पकड़ा हुआ था।

"देख तो प्रवीरा ! यह कर्णफूल कैसा लगेगा इस केश-विन्यास के साथ ?"

प्रवीरा की स्थिति ऐसी हो गई, जैसे बहुत वेग से आती धारा के सम्मुख अकस्मात् ही कोई ऐसी बाधा आ जाए, जिससे वह टकराना न चाहती हो; और उसको बचाने के लिए, अपने प्रवाह के वेग में ही उसे सौ-सौ बल खाकर स्वयं को नियंत्रित करना पड़ा हो।

"कर्णफूल तो बहुत सुंदर हैं महारानी !" प्रवीरा जल्दी से बोली, "किंतु महारानी ! शिविर में आपकी ढूँढ़ मची हुई है। प्रस्थान के लिए युवराज तैयार खड़े हैं। मुझे तो भय है कि कहीं वे आपको छोड़ कर ही न चल दें।"

काशिका ने जैसे उसकी बात सुनी ही नहीं । उसने उसकी बाँह पकड़ कर खींचा, "बैठ यहाँ, और बता कि ये कर्णफूल अच्छे लगते हैं अथवा वे कुंडल।" और वह श्रेष्ठी की ओर घूम गई, "श्रेष्ठि ! वे कुंडल कहीं सँभाल दिए क्या ?

मै तो आरभ से ही समझ रही हूँ कि आप वे कुंडल किसी और के लिए बचा कर रखना चाहते हैं।..."

"महारानी ! प्रस्थान मे विलंब हो रहा है।" प्रवीरा ने धीरे से उसके कान के पास मुँह ले जाकर कहा, "युवराज रुष्ट होंगे। ..."

"चुप।" काशिका ने उसे डपट दिया, "यह कोई सैनिक अभियान है क्या कि प्रस्थान में विलंब होगा तो हमारी पराजय हो जाएगी। मूर्खे ! यह तो प्रदर्शनी अभियान है। मै भी तो किसी अभियान के लिए ही तत्पर हो रही हूँ। आर्यपुत्र रुष्ट नहीं होंगे। यदि होंगे तो मुझसे होंगे, तुझे किस बात की इतनी चिंता है।"

"मैं किसी और के लिए कोई आभूषण क्यों बचाकर रखना चाहूँगा।" श्रेष्ठी ने विछिन्न वार्तालाप का सूत्र पुनः जोडते हुए बहुत मधुर ढंग से कहा, "मेरे लिए आपसे महत्त्वपूर्ण और कौन हो सकता है।"

"मुझसे यह सारा वाग्छल मत करो।" काशिका बोली, "राजा दुर्योधन की पत्नी मैं अकेली ही तो नहीं हूँ। और भी हैं। ..." वह बहुत रहस्यमय ढंग से मुस्करा रही थी, जैसे उसने श्रेष्ठी का कोई बहुत गोपनीय रहस्य जान लिया हो।

श्रेष्ठी भी बहुत आत्मीय और शिष्ट ढंग से मुस्कराया, जैसे काशिका ने उसके किसी अद्भुत गुण की प्रशंसा की हो; और उसने सम्मुख रखे हुए आभूषणों के ढेर में से वे कुंडल निकाल कर उसके सम्मुख रख दिए।

काशिका ने इठला कर वे कुंडल उठा लिए; और प्रवीरा से बोली, "दोनों पहनाकर, ध्यान से देख; और बता कि कौन से अच्छे लगते हैं। जहाँ तक मैं जानती हूँ, ये दोनो ही न भानुमती के पास हैं और न वृषाली के पास।"

प्रवीरा ने उसकी आज्ञा का पालन किया। दोनों को बारी-बारी पहनाया और ध्यान से देख कर निर्णय दिया, "देवि ! दोनों में से अधिक सुंदर तो कर्णफूल ही हैं; किंतु आपके मुख चंद्र पर तो ये कुंडल ही अधिक सुशोभित होते हैं। फिर यह इस पर भी निर्भर करता है कि उस दिन आपके केश-विन्यास का स्वरूप क्या है।"

"चल गई न तू फिर वही अपनी दोहरी चाल।" काशिका ने उसे स्नेह छलकाती वाणी में डाँटा, "अब मैं किसी एक को तो नहीं खरीद सकती न !"

"तो आप दोनों ही स्वीकार करे महारानी।" श्रेष्ठी ने मुस्कराकर कहा।

"मै तुम्हारा सारा आपण ही न उठा कर ले जाऊँ, ताकि पुनः आना ही न पडे।"

"महारानी की कृपा बनी रहे।" श्रेष्ठी मुस्कराया, "आपण तो है ही आप का। हम तो केवल आपकी सुविधा के लिए उसे उठाए-उठाए आपके साथ चलते हैं।"

"बातों के धनी हो श्रेष्ठी।" काशिका बोली, "वैसे अब इस दुष्टा ने मुझे ऐसी द्विविधा में डाल दिया है कि मुझे दोनों ही क्रय करने पड़ेंगे। मैंने न लिए, तो श्रेष्ठी, उसे यह कह कर किसी रानी के सम्मुख बेच देंगे कि युवराज्ञी आई तो थीं लेने। लेना भी चाहती थीं; किंतु उनके पास इसका मूल्य चुकाने के लिए धन नहीं था। यह सुनते ही दूसरी रानी इसे तत्काल क्रय कर लेगी, ताकि सिद्ध कर सके कि वह काशिका से अधिक साधन संपन्न है। और उसके पश्चात् मैं अपना प्रिय आभूषण दूसरी रानी को धारण करते देखूँगी और आजीवन ईर्ष्या से दग्ध होती रहूँगी।"

"स्वामिनी ! विलंब हो रहा है।" प्रवीरा ने उसे पुनः चेताया।

"चल ! चल !! अब हो गया।" काशिका बोली, "तुम्हें तो विलंब नहीं हो रहा श्रेष्ठी ?"

"नहीं महारानी ! महाराज के आदेश के अनुसार हमारे कुछ लोग तो पहले ही आगे जा चुके हैं, ताकि जब आप अगले पड़ाव पर पहुँचें तो आपको वहाँ भी पण्य मंडप तैयार मिले।"

श्रेष्ठी ने दोनों आभूषण एक मंजूषा में सहेजकर प्रवीरा को थमा दिए। प्रवीरा बहुत शीघ्रता में थी। वह तत्काल उठी और लपककर प्रकोष्ठ से बाहर निकल गई।... तभी उसे स्मरण हो आया कि राजा का सार्थ उसके लिए नहीं, रानी के लिए रुका हुआ है। वह जल्दी पहुँच भी गई तो उसका किसी को कोई लाभ नहीं होगा। वह रुक गई। उसने देखा कि काशिका ने भी शीघ्रतापूर्वक कुछ डग भरे; किंतु उसके पश्चात् वह पुनः रुक गई।

"क्या बात है महारानी ! कुछ और स्मरण हो आया ?" वह पूछे बिना नहीं रह सकी।

"हाँ प्रवीरा ! यह तो मैंने सोचा ही नहीं कि ये आभूषण आर्यपुत्र को भी प्रीतिकर लगेंगे या नहीं ।"

प्रवीरा जैसे अपना नियंत्रण खो बैठी थी। बोली, "महारानी ये आभूषण आप धारण करेंगी। महाराज को इनका क्या करना है।"

"मूर्ख है तू !" काशिका के स्वर में क्रोध तनिक भी नहीं था, "धारण तो मैं ही करूँगी; किंतु किस के लिए धारण करूँगी ? आर्यपुत्र के लिए ही न। उन्हें लुभाने के लिए ही तो। उन्हें ही न भाए, और इनके कारण मैं ही उन्हें अप्रिय लगने लगी तो फिर इनका क्या लाभ ?"

"तो आप इन्हें सँभालकर अपनी किसी पेटिका में रख दीजिएगा। मत पहनिएगा।"

"ये मेरे पास होंगे, तो मैं इन्हें धारण किए बिना रह पाऊँगी क्या ?"

"तो मुझे दान कर दीजिएगा। मेरा प्रेमी मेरे वश में रहेगा और मै आपके

गुण गाऊँगी।"

"अच्छा।" काशिका कुछ झपटकर बोली, "अपनी किसी सपत्नी को तो इन्हें धारण किए मैं देख नहीं सकती, और तू इन्हें धारण किए मेरे निकट रहेगी ? क्यों अपने ही प्राणों की ग्राहक बनी है।"

काशिका आपण में वापस लौट गई।

"श्रेष्ठी ! इन आभूषणों को तुम वापस स्वीकार करो।"

"क्या हो गया महारानी ! इतनी ही देर में मन से उतर गए ?"

"नहीं श्रेष्ठि ! मन से तो नहीं उतरे; किंतु मैं चाहती हूँ कि तुम इन्हें अपने पास ही रखो। इन्हें किसी को बेचना मत। मैं आर्यपुत्र को साथ ले कर आऊँगी। उन्हे दिखा लूँगी। उन्हें भा गए तो ले जाऊँगी; अन्यथा इनका मोह छोड़ दूँगी।"

पीछे से आकर साथ खडी हो गई प्रवीरा को यह सब बहुत विचित्र लगा। बोली, "आप आभूषण ले चलें स्वामिनी ! स्वामी को रुचिकर नहीं होंगे तो मैं आकर लौटा जाऊँगी।"

"दासी का कथन उचित ही है देवि !" श्रेष्ठी बोला, "आभूषणों का क्या है, आप जब चाहें, लौटा दें।"

"चुप मूर्खे !" काशिका ने दासी को डपट दिया, "मैं चाहती हूँ, युवराज स्वयं मेरे साथ आएँ और अपनी रुचि से ये ही आभूषण स्वयं क्रय कर मुझे भेंट करें। तू समझती भी है कि तू क्या कह रही है ?"

प्रवीरा को रानी के स्वर में वास्तविक रोष की ध्वनि मिली। उसने अत्यंत विनीत हो कर पूछा, "मुझसे कोई भूल हो गई स्वामिनी ?"

"भूल तो तुझसे होती ही रहती है। मूर्ख जो ठहरी।" काशिका ने कहा, "समझती भी है कि कह क्या रही है। एक बार मैं आभूषण ले जाकर लौटाऊँ तो सारे हस्तिनापुर को यह ज्ञात होगा कि युवराज्ञी ने आभूषण खरीदे और युवराज ने उनकी स्वीकृति नहीं दी। बाध्य हो कर युवराज्ञी को वे आभूषण लौटाने पडे। क्या सम्मान रह जाएगा मेरा, राजप्रासाद में ?"

"पर महारानी यह बात किसी तक जाएगी ही कैसे ? इसे जानता ही कौन है। मेरे अधर तो सिले हुए ही समझिए और यह तो आपकी प्रिय दासी है।" श्रेष्ठी ने अपना बचाव किया।

"इसे तो तुम रहने ही दो।" काशिका ने कहा, "वहाँ बहुत लोग हैं, प्रचार-प्रसार के लिए। तुम तो बस इतना करो कि जब तक मैं आर्यपुत्र के साथ आकर इन आभूषणों को पुनः न देख लूँ, तुम इन्हें बेचना नहीं ।"

श्रेष्ठी के चेहरे पर सहज स्वीकृति नहीं उभरी। स्वयं को संयत कर बोला, "युवराज को प्रिय लगे, तो आप ये दोनों ही स्वीकार कर लेंगी ?"

"हाँ।" काशिका बोली।

"उन्हें रुचिकर न लगने की भी कोई संभावना है ?" उसने भीत स्वर में पूछा।

"क्यों नहीं ।"

"यदि आप आग्रह करेंगी, तो भी ?"

"पर मैं आग्रह करूँगी ही क्यों ?" काशिका बोली, "मैं चाहती हूँ कि युवराज स्वेच्छा से ये आभूषण मुझे भेंट करें। तुम्हें अपनी वाग्चातुरी पर विश्वास नहीं है क्या ?"

श्रेष्ठी समझ रहा था कि वह घिर गया है। यदि वह यह कह दे कि उसे अपने वाग्चातुर्य पर विश्वास है तो उस पर यह आरोप लगाया जा सकता है कि वह युवराज का निष्ठापूर्ण सेवक न हो कर, अपनी वाग्चातुरी से उन्हे प्रवंचित करने की बात कह रहा है। और यदि वह कह दे कि उसे अपनी वाग्चातुरी पर विश्वास नहीं है, तो उस पर दोनों प्रकार के आरोप लग सकते हैं : वह चातुरी करता तो है, किंतु उसको उस पर विश्वास नहीं है, तथा इस वक्तव्य के माध्यम से वह युवराज्ञी की इच्छा का एक प्रकार से अपमान कर रहा है। ...

"जैसी युवराज्ञी की इच्छा।" अंततः वह बोला, "किंतु इस बीच यदि किसी अन्य रानी ने इन आभूषणों को पसंद कर लिया तो ?"

"तुम ये आभूषण तब तक किसी को दिखाओगे ही क्यों ?"

पहले तो श्रेष्ठी स्तब्ध-सा ही खड़ा रह गया। वह युवराज्ञी से कैसे कहे कि वह तो व्यापारी है। घर से ये आभूषण बेचने के लिए ही निकला है। किसी को दिखाएगा नहीं, तो इन्हें बेचेगा कैसे। स्वयं वे ले नहीं रही हैं, तथा दूसरों को देने से मना कर रही हैं। यह तो अपने अधिकारों का दुरुपयोग है। ...

उसने स्वयं को सँभाला और बोला, "युवराज्ञी ! मुझे आपकी आज्ञा मानने में क्या आपत्ति हो सकती है; किंतु ..."

"किंतु क्या ?" काशिका ने उसे कुछ कठोर दृष्टि से देखा।

"अन्य अधिकार संपन्न लोग हमें बाध्य करें और कहें कि मैंने अपने पास श्रेष्ठ आभूषण होते हुए भी उन्हें वे नहीं दिखाए, तो मैं कठिनाई में पड़ जाऊँगा। हम पर तो सब ओर से ही दबाव रहता है न देवि ! हम तो आपके ही संरक्षण में जीवन व्यतीत कर रहे हैं। अब आप जैसा आदेश करें।"

"कोई कुछ नहीं कहेगा तुम्हें। न तुम्हें बाध्य करेगा।" काशिका ने कहा और वहाँ से चल पड़ी।

दुर्योधन अपने इच्छित सैन्य वेग से आगे नहीं बढ़ पा रहा था। उसके साथ उसकी अपनी रानियो के अतिरिक्त, अपने भाइयों तथा मित्रों के रनिवास भी

चल रहे थे। यह संभव ही नहीं था कि सैनिक आदेश के समान, प्रस्थान का समय घोषित कर दिया जाए और सचमुच उसी समय के अनुसार प्रस्थान भी हो जाए। जब प्रस्थान का समय हो जाता था तो पता चलता था कि अनेक रानियाँ अभी हाट मंडप से ही नहीं लौटी हैं। उन्हीं के कारण श्रेष्ठीगण भी, अपना सामान बटोर कर, समय से शकट नहीं लाद सकते थे।...और सब कुछ हो भी जाए तो व्यापारियों के शकट, राजा के रथों की गति से तो नहीं चल सकते थे। ...

दुर्योधन को अपने लिए कोई त्वरा नहीं थी। वह तो वनविहार के लिए ही निकला था। न वह अपनी रानियों को रुष्ट करना चाहता था, न अपनी अनुज-वधुओं तथा मित्र-पत्नियों को। ... किंतु पांडवों के सम्मुख पहुँचकर, अपना वैभव प्रदर्शित कर, उन्हें पीड़ित और अपमानित करने की शीघ्रता में वह अवश्य था। यह कल्पना करते ही कि उसके वहाँ शीघ्र न पहुँच पाने के कारण पांडव द्वैतवन मे सुख-चैन से अपना समय व्यतीत कर पा रहे हैं, उसका मन जैसे रौरव की अग्नि में जलने लगता था। ... ऐसे में अनेक बार वह विलंब करनेवालों के प्रति अपना रोष भी प्रकट कर चुका था ...

संध्या हो गई थी और द्वैत सरोवर अभी दूर था। ... रात्रि से पहले न वहाँ पहुँचा जा सकता था, और न ही मंडपो की व्यवस्था हो सकती थी। ... आज भी पांडवों के सम्मुख जा पहुँचने की दुर्योधन की इच्छा पूरी नहीं हुई थी।

उपयुक्त स्थान देखकर सार्थ रुक गया। रथो से अश्व खोल दिए गए। अस्थायी मंडपों की व्यवस्था कर दी गई। अपने मंडप में अपने आसन पर बैठते ही, दुर्योधन का मन विचलित को उठा। ... आज की रात्रि भी व्यर्थ ही जाएगी।...

उसने कादंब के तीन-चार चषक अपने भीतर उँड़ेल लिए, तो मन कुछ स्थिर हुआ।

"दासी !" सहसा उसने कहा, "किसी को दुःशासन के पास भेजो और कहो कि वह तत्काल यह आदेश प्रचारित करे कि हमारी कोई वाहिनी यहाँ विश्राम नहीं करेगी। सैनिक पूर्णतः सन्नद्ध रहें, और वाहिनियों के नायक, इसी समय हमारे मंडप में एकत्रित हों।"

दासी आज्ञा का पालन करने चली गई और दुर्योधन ने दो पात्र और पी लिए। ... अब वह और प्रतीक्षा नहीं कर सकता था। ... उन्हें शीघ्रातिशीघ्र पांडवों के निकट पहुँचना था ... पांडवों की शांति दुर्योधन के लिए विष के समान थी; और दुर्योधन अधिक देर तक विषपान नहीं कर सकता।... वह स्वयं यदि तत्काल पांडवों के सम्मुख प्रस्तुत नहीं हो सकता, तो उसका वैभव ही वहाँ पहुँचे।...

उसका आदेश बहुत त्वरित ढंग से प्रचारित हुआ था। सेनानायकों को

वहाँ एकत्रित होने में अधिक समय नहीं लगा।

"युवराज !"

"हमारी वाहिनियाँ यहाँ विश्राम नहीं करेंगी।" दुर्योधन आदेशात्मक स्वर में बोला, "तुम लोग अपनी यात्रा जारी रखोगे। आज रात को ही यथाशीघ्र द्वैत सरोवर के तट पर पहुँचो और रात्रि का जो समय शेष बचे, उसमें विश्राम करो। कल प्रातः से द्वैत सरोवर के तट पर क्रीड़ा मंडपों का निर्माण कार्य आरंभ हो जाना चाहिए। ... हम रात्रि को यहाँ विश्राम करेंगे। प्रातः प्रस्थान करेंगे। हम दिन के जिस किसी प्रहर में भी वहाँ पहुँचे, हमें अपने मंडप तैयार मिलने चाहिए।" दुर्योधन रुका, "एक भी काष्ठकार पीछे छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। सबको ले जाओ। ... किंतु पांडवों के आश्रम के ठीक सामने हमारे क्रीडा-मंडप यथाशीघ्र तैयार होने चाहिए।"

दुर्योधन ने अपना पात्र उठा लिया। यह संकेत था कि उसकी बात समाप्त हुई। सेनानायक अपनी-अपनी वाहिनियों में लौट गए।

सहसा दुर्योधन को स्मरण हो आया ...सार्थ के साथ अनेक नर्तकियाँ और गणिकाएँ भी चल रही थीं। क्या किया है उन्होंने इस सारी यात्रा में। खाती रही हैं और सोती रही हैं।

"दासी !" उसने पुकारा।

"जी महाराज !"

"अंगराज से कहो कि हमने उन्हें स्मरण किया है। दुःशासन, गंधारराज शकुनि तथा अन्य मित्रों को भी पानगोष्ठी के लिए आमंत्रित करो।" उसने रुक कर दासी की ओर देखा, "नर्तकियों और गणिकाओं से कहो कि रात्रि सोने के लिए नहीं होती। वे अपने उत्तेजक रूप और मादक नृत्य के साथ तत्काल उपस्थित हों।"

"जो आज्ञा महाराज !"

"और सुनो।" दुर्योधन पुनः बोला, "हमारे राज्य के प्रमुख श्रेष्ठियों को भी आमंत्रित करो। बेचारे यात्रा का इतना कष्ट उठा रहे हैं, राजा के प्रसाद के रूप में थोड़ा सुख भी तो पाएँ।"

वृषाली ने काशिका के मंडप में प्रवेश किया, तो पाया कि काशिका किसी उत्तेजना से विक्षिप्त हो रही थी।

"बैठो सखि !"

यद्यपि काशिका का स्वर पर्याप्त संयत था; किंतु उसके नेपथ्य का हाहाकार वृषाली से छुपा नहीं रह सका। निश्चित रूप से इस समय काशिका के मन

में कोई महासमर चल रहा था। वह अपने आक्रोश से लड़ रही थी। उसका सारा धैर्य और संयम भी उसकी उत्तेजित मनःस्थिति को संयत करने में सक्षम नहीं था।

"क्या बात है महारानी ! ! मुझसे कोई अपराध हुआ ?" वृषाली ने विनीत किंतु आशंकित स्वर में पूछा।

"प्रश्न मत पूछो। केवल मेरे प्रश्नों का उत्तर दो।" काशिका संयत किंतु क्षुब्ध स्वर में बोली, "मुझे बताओ ! क्या करने आई थीं, तुम इस वन में ? अंगराज तुम्हें क्या कह कर अपने साथ लाए थे ?"

"विहार के लिए।" वृषाली बहुत सँभलकर उत्तर दे रही थी—जाने महारानी के मन में क्या है; जाने वे कैसा उत्तर चाहती हैं।

"विहार से क्या तात्पर्य था उनका ?" काशिका ने पुनः पूछा, "विहार का स्वरूप क्या है ? तुम्हें किस सुख का प्रलोभन दिया था उन्होंने ?"

"उन्होंने कहा था, हम नगर की इस कृत्रिमता से दूर, प्रकृति के क्रोड में विहार करेंगे। संगीत, नृत्य, खान-पान, भ्रमण और काम सुख ... सब प्रभूत मात्रा में भोगेंगे ...सार्थ के साथ जगत्‌श्रेष्ठियों के आपण होंगे। मैं अपनी इच्छानुसार अपने मन-भावन वस्त्राभूषण क्रय कर सकूँगी...।"

"और हो क्या रहा है ?" काशिका उत्तेजना से विक्षिप्त स्वर में बोली, "दिन भर हम इस ऊबड़-खाबड़, असम और विषम मार्ग पर यात्रा करती रही हैं। संध्या से अपना शृंगार कर अपने मंडप में प्रतीक्षारत बैठी हैं। विहार के लिए हमें लाए थे अथवा उन गणिकाओं को ? वहाँ तो कहा, तुम अपने वस्त्राभूषणों की प्रदर्शिनी से पांचाली को ईर्ष्या से दग्ध कर क्षार कर देना; और यहाँ गणिकाओं का शृंगार और वैभव देख कर मैं क्षार होती जा रही हूँ।"

काशिका मौन तो हो गई किंतु शांत नहीं हुई थी। न ही यह लग रहा था कि वह अपना कथ्य पूरा कर चुकी।...या तो उसके मन में अभी उपयुक्त शब्द नहीं उभर रहे थे, या फिर उसकी मर्यादा उसको आगे बोलने से रोक रही थी।

"हमारे वश में है ही क्या महारानी !" वृषाली का स्वर अब भी दुर्बल और विनीत था।

"हमारे वश में सचमुच कुछ नहीं है; क्योंकि हमारे पति हमारे वश में नहीं हैं।" काशिका बोली, "वे गणिकाएँ तुमसे अधिक सुंदर हैं या मुझसे ? वे अधिक बुद्धिमती हैं अथवा हम ? वे हमसे अधिक सुशिक्षित हैं क्या ?"

"नहीं । न वे स्त्री के रूप में हमसे अधिक आकर्षक हैं, न मनुष्य के रूप में हमसे श्रेष्ठ।"

"वे अधिक निष्ठावान हैं या हम ?" काशिका ने पूछा।

"उनमें निष्ठा तो नाम मात्र की भी नहीं है।"

"फिर भी वे वहाँ विहार कर रही हैं और हम यहाँ मंडप में प्रतीक्षारत बैठी हैं।" काशिका बोली, "और अब वे जब हमारे पास आएँगे, आकंठ मदिरापूरित होंगे, नयनों की पलकें तक उठाने का सामर्थ्य नहीं होगा उनमें ... और रात्रि भी विदाई के कगार पर पहुँच चुकी होगी।"

वृषाली कुछ नहीं बोली।

"जानती हो, हमारी ऐसी दुर्दशा क्यों है ?"

"क्यों देवि ?"

"क्योंकि हमने अपने नारीत्व का उच्छृंखल और आक्रामक प्रयोग कभी नहीं किया।" काशिका बोली, "उनके इस सारे रात्रिविहार के पश्चात् यदि मैं विवाद करूँगी, तो वे यही मानेंगे कि मैं एक फूहड़ पत्नी हूँ, जो हस्तिनापुर के युवराज को अपने पल्लू से बाँध कर रखना चाहती है।..."

"तो ?"

"तो क्या ! उन्हें आकृष्ट करने के लिए, मुग्ध करने के लिए, आसक्त करने के लिए, अपना और अधिक शृंगार करूँगी। अपने रूप वैभव को उनके सम्मुख और उद्घाटित करूँगी। निष्क्रियता प्रकृति की शक्ति को जड़ कर देती है; और वही जब सक्रिय हो उठती है, तो उसकी मादकता की कोई सीमा नहीं रहती। प्रकृति के वे सारे गुण मुझमें भी हैं, तुम में भी हैं।"

"तो क्या हम भी गणिकाओं से स्पर्धा करें ?" वृषाली कुछ संकुचित हो कर बोली।

"गणिकाओं से स्पर्धा क्यों ?" काशिका बोली, "गणिकाएँ वह सारा व्यापार केवल धन के लिए करती हैं। हम अपने प्रेम को प्राप्त करने के लिए करेंगी। गणिकाओं में निष्ठा नहीं होती; हम पूर्णतः निष्ठावान रहेंगी। ...किंतु हम मात्र पत्नियाँ बन जाएँ, नारियाँ न रहें—तो वे हमारी ओर आकृष्ट क्यों होंगे।"

"ठीक कहती हैं महारानी !"

"किंतु वह सब बाद में होगा। आज के कृत्य के लिए तो उन्हें किसी न किसी सीमा तक दंडित करना ही पड़ेगा।"

वृषाली कुछ नहीं बोली : जाने काशिका के मन में क्या योजना थी। वह किस प्रकार की उच्छृंखलता करने पर उतारू थी। ... वह अपने पति से रुष्ट थी, तो ठीक ही था; किंतु वृषाली अपने पति से क्यों रुष्ट होती। उसके पति तो बेचारे राजा की आज्ञा से उस नृत्योत्सव में बैठने को बाध्य थे। राजा की आज्ञा का उल्लंघन तो वे नहीं कर सकते थे।...

"यदि तुम साथ दो तो हम लोग, इस समय उनके रंग में भंग डाल दें। उनके उस नृत्योत्सव में से सारे श्रेष्ठियों को बुलवा लें। ऐंठ कर रह जाएँगे

युवराज भी।"

"कैसे युवराज्ञी ?"

"हम लोग इस समय पण्यशाला मे चलें ?"

"रात्रि के इस समय पण्यशाला में कौन होगा महारानी ?" वृषाली बोली, "और अभी तो स्कंधावार भी ठीक से स्थापित नहीं हुआ। सार्थ व्यवस्थित नहीं हुआ। या तो पण्यशाला ही नहीं होगी, होगी तो कोई आपण खुला नहीं होगा।"

"तुम चलो तो।" काशिका बोली, "पण्यशाला तो मैं अभी व्यवस्थित करवा देती हूँ। आपण भी खुलवा देती हूँ।"

वृषाली ने चकित हो कर पूछा, "वह कैसे महारानी ?"

"दासी !" काशिका ने पुकारा।

दासी प्रकट हुई, "महारानी !"

"जगत्श्रेष्ठी भानुमल को सूचित करो कि मैंने उन्हें तत्काल बुलाया है। इसी समय। एक क्षण का भी विलंब नहीं होना चाहिए।"

"क्षमा करें महारानी ! यदि वे इस समय युवराज के मंडप में हों तो ?"

"उन्हें वहीं सूचित किया जाए।" काशिका ने कुछ इस प्रकार कहा कि दासी का और कुछ पूछने का साहस नहीं हुआ।

काशिका ने पाँसा तो फेंका था किंतु वह नहीं जानती थी कि परिणाम क्या होगा। इसलिए जब भानुमल तत्काल उसके सम्मुख उपस्थित हो गया तो उसे आश्चर्य भी हुआ।

"क्या आदेश है महारानी का ?" उसने पूछा।

"आदेश नहीं है जगत्श्रेष्ठी ! मात्र एक सूचना है।" काशिका बोली, "आप जानते ही हैं कि कल प्रातः के प्रस्थान के पश्चात् हम द्वैतवन में पहुँच जाएँगे।"

"जानता हूँ महारानी ! और यह भी समझता हूँ कि मात्र इतनी सूचना देने के लिए ही महारानी ने मुझे युवराज के मंडप से उठवाने का कष्ट नहीं किया होगा।"

"श्रेष्ठी ठीक कह रहे हैं।" काशिका ने उत्तर दिया, "आप यह भी जानते हैं कि वहाँ इंद्रप्रस्थ की भूतपूर्व साम्राज्ञी द्रुपदपुत्री पांचाली कृष्णा विद्यमान है। उनके सम्मुख जाने से पहले हमें यह देख लेना है कि हम हस्तिनापुर के राजकुल के सम्मान और वैभव के अनुकूल वस्त्राभूषणों से सज्जित हैं अथवा नहीं। यहाँ बात केवल युवराज्ञी के सम्मान की नहीं है। हस्तिनापुर का समस्त गौरव दाँव पर लगा है। इसलिए श्रेष्ठि ! मैंने इसी समय, द्वैतवन में पहुँचने से पहले ही, सबसे मूल्यवान रत्नों से जटित आभूषणों का क्रय करने का मन बनाया

है। सोचा, यदि इसकी सूचना आंपको नहीं होगी, तो संभवतः आपको बुरा लगे। आपने हमारे साथ आने का इतना कष्ट उठाया है; इसलिए मैं नहीं चाहती कि इस समय आपको व्यापार के लाभ से केवल इसलिए वंचित कर दिया जाए क्योंकि आप युवराज के आदेश से बाध्य हो कर उनके मंडप में साधारण गणिकाओं का उच्छृंखल नृत्य देख रहे हैं।" काशिका ने रुक कर श्रेष्ठी की ओर देखा, "मेरी बात समझ रहे हैं न ! यह संदर्भ केवल मेरी रुचि का नहीं है। हस्तिनापुर की नाक नीची नहीं होनी चाहिए। प्रश्न किसी एक रानी का नही, हस्तिनापुर के राजपरिवार और उसके वैभव का है। अब अपना हानि-लाभ आप देख लें।"

"आप चिंता न करें महारानी !" श्रेष्ठी पूर्ण सम्मान के साथ बोला, "मैं आपकी बात समझ गया हूँ। हस्तिनापुर के गौरव की रक्षा न कर पाए तो हम जगत् श्रेष्ठी कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। न हम हस्तिनापुर की नाक नीची होने देंगे, न हम अपने व्यापार की क्षति होने देंगे। आपको इसी समय पण्य मंडप में सब कुछ उपलब्ध होगा। सारे आपण तत्काल खुल जाएँगे और जब आप वहाँ पहुँचेंगी तो पण्यवीथि अपने पूरे यौवन पर होगी।"

"आपसे यही अपेक्षा थी जगत् श्रेष्ठि !" काशिका ने मुस्कराकर वृषाली की ओर देखा।

वृषाली भी मुस्कराई। मन ही मन सोचा, 'यह है उस युवराज की सम्यक् युवराज्ञी !'

प्रातः दुर्योधन की नींद कुछ विलंब से टूटी; पर नींद खुल जाने पर भी, उसकी इच्छा अभी उठने की नहीं हो रही थी। सिर भारी था। रात्रि को मदिरा और मैरेय की मात्रा कुछ अधिक ही हो गई थी।... फिर नृत्य के बीच ही अनेक श्रेष्ठी उसके मंडप से उठकर चले गए थे। दुर्योधन को उनका इस प्रकार उठना, तनिक भी अच्छा नहीं लगा था। किंतु उस समय तक मदिरा इतनी नहीं चढ़ पाई थी कि वह उनसे कह सकता कि महारानी जाए भाड़ में, नृत्य के मध्य से उठ कर कोई नहीं जाएगा। श्रेष्ठी उठ गए थे और सभा का उत्साह भंग हो गया था... वह कोई कला-पारखी तो था नहीं कि नर्तकियों के नृत्य का सूक्ष्म अध्ययन करता रहता। वह तो एक आवेश के रूप में उस सुख के लिए वहाँ बैठा था, जो आरोह में ही सुख देता है। आवेश भंग हो जाए, अथवा अवरोह पर आ जाए तो बहुत कष्ट देता है। और मदिरा उस कष्ट को और भी बढ़ा देती है।

दासी ने दुर्योधन की पलकें खुलती देखीं तो उसने प्रणाम किया, "महाराज की जय हो। अंगराज महाराज के दर्शनों की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उनके लिए

क्या आज्ञा है ?"

"कर्ण ! क्यों क्या हुआ ? कर्ण को नींद नहीं आई ?" वह बोला, "मैं देखता हूँ कि क्या बात है ?"

उत्तरीय सँभालता हुआ, दुर्योधन अपने शयन-मंडप से बाहर निकला।...

द्वार के सम्मुख ही कर्ण के साथ-साथ अनेक वाहिनियों के नायक भी खड़े थे।... पर उन्हें तो वह रात को ही द्वैतवन भेज चुका था...

"क्या बात है ?" दुर्योधन ने कुछ चकित स्वर में पूछा, "तुम लोगों ने अभी द्वैतवन के लिए प्रस्थान नहीं किया अथवा वहाँ से लौट भी आए हो ?"

"महाराज ! हम वहाँ से लौट आए हैं।" दुर्योधन का प्रमुख सेनानायक हकलाया, "हमें लौटना पड़ा महाराज !"

"क्यो ?"

"द्वैतवन के प्रत्येक संभावित प्रवेश मार्ग पर गंधर्व सैनिक विद्यमान हैं। वे सशस्त्र भी हैं और व्यूहबद्ध भी।" प्रमुख सेनानायक बोला, "उनका कहना है कि उनके महाराज चित्रसेन द्वैत सरोवर में अपनी रानियों के साथ विहार कर रहे हैं। इसलिए किसी को भी द्वैतवन में प्रवेश की अनुमति नहीं है। ..."

"द्वैतवन चित्रसेन के बाप का है क्या ?" दुर्योधन पर्याप्त अभद्र ढंग से बोला, "उन्होने कहा और तुम लौट आए। तुम्हारे पास शस्त्र नहीं थे अथवा तुम योद्धा नहीं हो ?" दुर्योधन का स्वर क्रोध से विकृत हो गया था।

"वह ऐसा है महाराज !" नायक का सारा आत्मविश्वास ध्वस्त हो गया था, "हम लोग युद्ध की तैयारी से तो गए नहीं थे। वैसे भी महाराज की आज्ञा के अभाव में युद्ध का निर्णय हम नहीं ले सकते थे। आपके मन में उनके प्रति मित्र अथवा अमित्र भाव के विषय में हमें कोई ज्ञान नहीं था महाराज !"

"मित्र भाव !" दुर्योधन ने क्रोध से अपना पॉव पटका, "जो व्यक्ति मेरी आज्ञाओं का मार्ग रोक कर खड़ा हो, उसके प्रति मित्र भाव।" दुर्योधन ने कुछ क्षण रुक कर उसकी ओर देखा, "उल्टे पॉव लौट जाओ। उनसे कहो कि यह मेरा आदेश है—दुर्योधन का, हस्तिनापुर के युवराज का।"

"हमने कहा था महाराज !" नायक बोला, "किंतु ...।"

"किंतु क्या ?"

"उन्होंने आपके लिए अपशब्द कहे; और कहा कि हम भी अपने राजा के समान मूर्ख हैं। हमारी बुद्धि मारी गई है कि हम मरने के लिए द्वैतवन में घुसने का प्रयत्न कर रहे हैं।" सेनानायक मंद स्वर में बोला।

"इतना सब सुनकर भी कह रहे हो कि कहीं मेरे मन में चित्रसेन के लिए मित्र भाव न हो।" दुर्योधन बोला, "जाओ। तुम लोग इसी क्षण लौट जाओ। उन सारे गंधर्वो को मारकर भगा दो। चित्रसेन लड़ने आए, तो उसका वध मत

करना। उसे बाँध कर मेरे पास लाना। गंधर्व सैनिकों ने कहा है कि उनका राजा चित्रसेन वहाँ अपनी रानियों के साथ जलविहार कर रहा है ?"

"हाँ महाराज !"

"तो उसकी उन सारी रानियों को भी पकड़ लो। सबको बाँध कर रखो। द्वैत सरोवर के तट पर ही, उनसे अपनी नर्तकियों के स्थान पर नृत्य करवाऊँगा। गंधर्व लोग नृत्य और संगीत में बहुत निपुण होते हैं, तो चित्रसेन की रानियां भी कूल्हे तो मटका ही लेती होंगी।"

"युवराज !" कर्ण ने धीरे से दुर्योधन के कान में कहा, "युवराज ! तनिक सावधानी से। ये गंधर्व जाने क्या करते हैं। इसी क्षेत्र के आसपास गंधर्व राजा चित्रांगद ने आपके पितामह चित्रांगद का वध किया था।"

क्षण भर के लिए दुर्योधन निःशब्द रह गया; किंतु फिर जैसे उसका क्रोध गंधर्वो पर ही केन्द्रित हो गया, "जाओ सेनानायक ! मार कर भगा दो, उन गंधर्वो को। जो न भागे, उसका वध कर दो। चित्रसेन और उसकी रानियों को बंदी कर लो। सिवाय रानियों के अन्य गंधर्व स्त्रियाँ दासियों के रूप में अपने सैनिकों में बाँट दो। तुम्हारे सैनिक भी प्रसन्न हो जाएँगे।" दुर्योधन ने उसकी ओर देखा, "हम भी प्रहर भर में यहाँ से प्रस्थान करेंगे। समझो कि हम भी आए ही खड़े हैं।..."

9

पांडवों के आश्रम के दैनिक क्रम में कोई व्यतिक्रम नहीं हुआ था। वे लोग ब्रह्ममुहूर्त में उठे थे। शौच तथा स्नान इत्यादि से निवृत्त होकर, वे ध्यान के लिए बैठ गए थे। उन्होंने आश्रमवासियों और कुछ आरण्यकों के साथ प्रातः हवन किया था। उस दिन की आवश्यकता के अनुसार पीने के लिए जल भर कर रखा था। वन से फल एकत्रित किए थे।

प्रायः अपराह्न का समय था। युधिष्ठिर यज्ञवेदी पर बैठे हुए थे। उनके साथ अनेक आरण्यक ब्राह्मण भी थे। धौम्य पौरोहित्य कर रहे थे। ... भीम अपने शस्त्र ले कर आखेट के लिए जाने की तैयारी में ही था कि उसने दूर से आते किसी मंद कोलाहल का शब्द सुना। लगता था कि मनुष्यों का कोई विशाल समूह अनियंत्रित कोलाहल कर रहा था। उनके साथ बहुत से शकट अथवा पशु भी थे। अश्वों के हिनहिनाने का स्वर भी हो रहा था।

भीम सावधान हो गया। ... वन की सामान्य गतिविधि से इस प्रकार का

कोलाहल संभव नहीं था। यह कोलाहल पूर्णतः भिन्न था। उनके आश्रम के निकट ही कहीं कुछ असाधारण घटित हो रहा था। ... उसने अर्जुन की ओर देखाः अर्जुन ही नहीं नकुल और सहदेव भी शस्त्र बाँध रहे थे। द्रौपदी आकर कुटीर के द्वार पर खड़ी हो गई थी। इंद्रसेन तथा विशोक के परिवार भी, अपने कुटीरों से बाहर निकल आए थे। यज्ञवेदी के निकट बैठे अनेक साधकों के चेहरों पर उत्कंठा और भय के लक्षण प्रकट हो गए थे। ... एक युधिष्ठिर ही थे, जो शांत मन से अपना कर्म करते जा रहे थे।

कोलाहल कुछ निकट आ गया और यज्ञ करनेवालों का भय पूर्णतः स्पष्ट हो गया, तो युधिष्ठिर बोले, "आप लोग तनिक भी विचलित न हों। आवश्यक नहीं कि यह कोलाहल आपके लिए किसी संकट का कारण हो। मुझे तो कोलाहल करनेवाले लोग ही कुछ भयभीत लग रहे है। संभव है कि व्यापारियों के किसी सार्थ पर किसी सिंह अथवा गज-समूह ने आक्रमण कर दिया हो।... किंतु यदि किसी कारण से यह कोलाहल आपके लिए, किसी प्रकार के भय का कारण बना, तो भी मेरे भाई किसी भी संकट से आपकी रक्षा करने का सामर्थ्य रखते हैं। ..."

"यदि यह कोई सैनिक अभियान हुआ तो ?" एक आरण्यक ने पूछा।

युधिष्ठिर हँसे, "वे किसी भी बड़े से बडे सैनिक अभियान से आपकी रक्षा कर सकते हैं। आप निश्चिंत होकर अपना ध्यान यज्ञ की ओर लगाएँ।"

यज्ञ कर्म चलता रहा; किंतु एक आशंका-सी जैसे सारे परिवेश में व्याप्त हो गई थी। कोलाहल न केवल निरंतर बढता जा रहा था, स्पष्टतः वह निकट भी आता जा रहा था।

कोलाहल एकदम निकट आ गया था और जब वे अपेक्षा कर रहे थे कि उसका कारण प्रकट हो कर सामने आ जाएगा। सहसा वह एकदम शांत हो गया। लगा कि आश्रम के द्वार पर आकर कोलाहल जैसे थम गया था। तव तक चारों पांडव आश्रम के द्वार की ओर बढ गए थे।

भीम ने उस अनियंत्रित जनसमूह में हस्तिनापुर के जगत्श्रेष्ठी भानुमल को पहचाना : इस व्यक्ति का इस समय यहाँ क्या काम ? और उसके साथ यह अपार जनसमूह एकत्रित हो कर यहॉं क्यो आ गया था ? उसमें सुखद तत्त्व एक ही था कि वे लोग तनिक भी आक्रामक नहीं लग रहे थे। ... अब तक तो उनका कोलाहल भी जैसे थम गया था। ...धीरे-धीरे चेहरे कुछ स्पष्ट होते गए। उनमें से अनेक व्यवसायियो तथा व्यापारियो को भीम पहचान रहा था। एक क्षण को तो उसे लगा कि कहीं वह हस्तिनापुर की किसी पण्यवीथि में तो नहीं पहुॅंच गया है !... उसी भीड में दुर्योधन के दो मंत्री कुवलय और महापद्म भी दिखाई दे रहे थे। ...

भीम ने जोर का अट्टहास किया, "हस्तिनापुर का कोई सार्थ द्वैतवन में आया है क्या ? आरण्यक लोगों से भी अब व्यापार किया जाएगा ? अथवा तुम लोग ये वृक्ष और सारे वन भी खरीद लेना चाहते हो, ताकि हमें प्रकृति से भोजन भी न मिले।"

अर्जुन ने भीड़ की ओर देखा। उनमें से किसी चेहरे पर रंच मात्र भी उल्लास नहीं था। मध्यम तो अपनी मस्ती में देखते ही नहीं कि किसी के मन में क्या बीत रहा है। वे सार्थ की बात सोच रहे हैं; और उन सबकी तो ऐसी रुदन मुद्रा बनी हुई थी कि अब रोए कि अब रोए।...

"मध्यम ! ये लोग किसी संकट में फँस जाने के कारण यहाँ आए लगते हैं।"

"जानता हूँ।" भीम ने पुनः अट्टहास किया, "जब हम अपनी विपत्ति में हस्तिनापुर छोड़ रहे थे, तो इन लोगों ने भी तो इसी प्रकार अपनी प्रसन्नता प्रकट की थी। क्या उस समय तुम्हारी आँखों में अश्रु नहीं थे अथवा कृष्णा दुखी नहीं थी ?"

"युवराज ! हमारी रक्षा करें युवराज !" भानुमल ने अत्यंत दीन स्वर में कहा, "गंधर्वो ने बहुत उत्पात मचा रखा है। राजा दुर्योधन बंदी हो गए हैं। सेना नष्ट हो चुकी है। अंगराज कर्ण युद्ध छोड़ कर भाग गए हैं। गंधर्व लोग कुरु राजकुमारों और उनकी रानियों को बंदी बना चुके हैं। यदि उन्हें रोका न गया युवराज ! तो वे हमारी सारी धन संपत्ति भी छीन लेंगे। हम हस्तिनापुर के सब से मूल्यवान रत्नाभूषण ले कर आए हैं। वे सब गंधर्वो के हाथ पड़ जाएँगे।"

भीम ने प्रसन्नतापूर्वक आकाश की ओर देखा, "मेरा मन ईश्वर के प्रति कभी इतना कृतज्ञ नहीं हुआ, जितना आज है। ईश्वर ने आज ही तो पूर्ण न्याय किया है। हम यहाँ वन में कंदमूल खाकर तपस्या कर रहे हैं; और दुर्योधन वहाँ हमारे धन का भोग कर रहा है। हम अपना प्रतिशोध नहीं ले सके तो क्या हुआ, हमारे किसी मित्र ने हमारा प्रतिशोध ले लिया है। ईश्वर बड़ा ही न्यायी है।"

भानुमल का मुख खुला का खुला रह गया। उसने कल्पना भी नहीं की थी कि भीम के सम्मुख उसे इस प्रकार मुँह की खानी पड़ेगी। वह उसे कुरुकुल की दुर्दशा की सूचना दे रहा था; और भीम था कि परम सुख की स्थिति में अट्टहास कर रहा था। पता नहीं उसने कैसे सुन लिया था कि युद्ध का नाम सुन कर ही भीम अपनी गदा उठा कर चल पडता है। ...

भानुमल को स्तब्ध देख कर महापद्म आगे बढ़ आया, "युवराज ! हमें धर्मराज से मिलने की अनुमति दीजिए। कुरुकुल इस समय अत्यंत संकट की स्थिति में है। अंगराज कर्ण तो भाग गए हैं, किंतु राजा दुर्योधन, उनके भाई राजकुमार दुःशासन, दुर्विषय, दुर्मुख, दुर्जय, विविंशति, विंद्य तथा अविंद्य—सब

बंदी हो चुके हैं। राजकुमार विकर्ण भी गंधर्वों के बंदी हो गए होते; किंतु अंगराज कर्ण उनके रथ पर कूद आए थे और रथ समेत उनको भगा कर ले गए थे। यदि धर्मराज ने सहायता न की तो कुरुकुल को तो सदा के लिए नष्ट हुआ ही समझिए।"

भीम की इच्छा हुई कि इस दुष्ट महापद्म को उठा कर कहीं दूर फेंक आए। यह आज सहायता की बात कर रहा है। जब पांडवों पर संकट आया था, तब तो इसे कुछ दिखाई ही नहीं दिया था। पांडवों का संकट कुरुकुल का संकट नहीं था ? दुर्योधन पर आया संकट ही कुरुकुल का संकट है ? जिसे यह कुरुकुल का संकट बता रहा है, वह तो पांडवों के लिए अत्यंत प्रसन्नता का विषय है। उनके लिए तो यह एक वरदान है। ...

उसकी तनिक भी इच्छा नहीं थी कि इनमें से कोई एक भी व्यक्ति आश्रम के भीतर जाकर धर्मराज के सम्मुख सहायता की गुहार करे... किंतु यह आश्रम धर्मराज का था । वे आश्रम के कुलपति थे। आश्रम के द्वार पर आए किसी व्यक्ति को धर्मराज से मिलने से रोका नहीं जा सकता था। भीम की इच्छा-अनिच्छा प्रजा और धर्मराज के मध्य खडी हो कर किसी को रोक नहीं सकती थी।

"हम आपकी शरण में आए हैं, युवराज !" भानुमल बोला, "यदि क्षत्रिय भी शरणागत की रक्षा नहीं करेंगे, तो संसार किसके भरोसे टिकेगा युवराज !"

भीम जोर से हँसा, "तुम्हारे मूल्यवान रत्नाभूषणों के भरोसे भानुमल !" और फिर उसकी मुद्रा कठोर हो गई, "तुम व्यापार करने आए थे। धन अर्जित करने। तब तो तुमने धर्मसंगत ढंग से महाराज युधिष्ठिर को कोई कर देने की बात नहीं सोची थी। अब लुट जाने की आशंका सामने खड़ी दिखाई दे रही है, तो तुम्हें क्षत्रिय धर्म और क्षत्रियों की शरणागत-वत्सलता स्मरण हो आई है ?" भीम ने एक ओर हट कर उन्हें मार्ग दे दिया, "जाओ। धर्मराज से मिल लो; किंतु मुझसे किसी प्रकार की कोई आशा मत रखना। मैं तुम्हारी रक्षा के लिए कुछ नहीं करूँगा।"

अर्जुन और भीम के पीछे-पीछे वे लोग आश्रम के भीतर चले आए।

भानुमल को पूर्ण विश्वास था कि भीम का यह सारा आक्रोश और विरोध, युधिष्ठिर के एक आदेश से धोया जा सकता है। उनका संकट देखकर युधिष्ठिर स्वयं युद्ध के लिए उठ खड़े होंगे, तो भीम युद्ध से विमुख नहीं रह सकेगा। ... किंतु जो दृश्य उसके सामने था, उसे देख कर वह स्तब्ध रह गया था : धर्मराज युधिष्ठिर धौम्य तथा अन्य ब्राह्मणों के साथ बैठे, यज्ञ कर रहे थे।... ऐसे में उन्हें युद्ध करने के लिए कैसे कहा जा सकता था ?

महापद्म अपनी तथा अपने राजा की दुर्दशा से व्याकुल तो था; किंतु युधिष्ठिर को इस प्रकार बैठे यज्ञ करते देख उसकी इच्छा हुई कि जोर से हँस

पड़े ... सिर पर युद्ध मँडरा रहा था। उनके निवास से कुछ ही दूरी पर गंधर्व सेना अपना तांडव कर रही थी। दुर्योधन को वे पराजित कर ही चुके थे। यहाँ तक आने में उन्हे समय ही कितना लग सकता था ... और इंद्रप्रस्थ का यह सम्राट् जाने कैसा राजनीतिज्ञ था, और कैसा यह युद्धविद्या विशारद था कि ब्राह्मणों के साथ बैठा यज्ञ कर रहा था। अभी कोई योद्धा यहाँ पहुँच इसका मस्तक काट कर हवनकुंड में डाल देगा, तो सारा यज्ञ एक साथ ही हो जाएगा। ... यह इतना मूर्ख न होता तो दुर्योधन इतनी सुविधा से इसका सारा साम्राज्य कैसे हथिया लेता ?...

युधिष्ठिर ने एक बार सिर उठा कर देखा तो कि लोगों का एक विशाल समूह, अर्जुन और भीम के साथ आया है; किंतु वे धैर्यपूर्वक अपने अनुष्ठान में लगे रहे।

अर्जुन धीरे से आगे बढ़ा और उसने युधिष्ठिर के निकट जाकर, उन्हें सारी स्थिति समझाई; और तब युधिष्ठिर ने ध्यान से उस भीड़ को देखा। सचमुच वे लोग बहुत घबराए हुए लग रहे थे। व्यापारियों की उस भीड़ में अनेक भगोड़े सैनिक भी दिखाई पड़ रहे थे। उन सारे चेहरों पर इस समय केवल याचना का भाव दिखाई पड़ रहा था।

"महापद्म ! हमें विस्तार से बताओ कि यह सब क्या है ? हुआ क्या है ?"

महापद्म के मन में कोई भी भाव युधिष्ठिर के अनुकूल नहीं था; किंतु इस समय और कोई संबल भी तो नहीं था। युधिष्ठिर अपने आप में कैसा भी हो, किंतु उसके ये दोनों भाई, भीम और अर्जुन पूर्णतः समर्थ थे। अभी यह अर्जुन अपना गांडीव उठा ले, अथवा भीम अपनी गदा उठा कर उनके आगे-आगे चल पड़े तो कौरव सैनिकों में भी फिर से प्राण आ जाएँगे।

महापद्म अपने स्थान से आगे बढ़ आया और बोला, "महाराज ! राजा दुर्योधन अपने भाइयों, मित्रों, पत्नियों तथा सखियों के साथ वनविहार करने आए थे। उनके साथ नर्तकियाँ और गणिकाएँ भी थीं। ये श्रेष्ठी लोग व्यापार की संभावना देख कर, साथ आए थे। ... किंतु जाने कहाँ से गंधर्व सैनिक पहले ही आकर मार्ग रोक कर, खड़े हो गए ।..."

युधिष्ठिर को स्मरण हो आया कि विदा होते हुए सुबाहु ने कहा था कि वे आज्ञा नहीं भी देंगे तो तो भी पार्वत्य राजा उनकी रक्षा के प्रति सजग रहेंगे। ... और आज प्रातः ही चित्रसेन भी उनसे भेंट करने आया था; किंतु उसके साथ सेना तो नहीं थी।...कहीं यह सब उसी योजना का अंग तो नहीं, जिसकी ओर सुबाहु ने संकेत किया था ? ... किंतु दुर्योधन यहाँ युद्ध करने तो आया ही नहीं था। वह तो वनविहार के लिए आ रहा था, नहीं तो वह अपने साथ अपनी और

अपने भाइयों की रानियों को क्यों लाता ? गणिकाओं और नर्तकियों को साथ ले कर कोई युद्ध अभियान पर नहीं निकलता।...

"महाराज ! गंधर्व सैनिकों से झडप हो गई। राजा दुर्योधन ने अपने सैनिको को, गंधर्वो को मार भगाने का आदेश दे दिया; किंतु जब वास्तविक युद्ध हुआ तो गंधर्वो ने ही कुरुओं को मार भगाया। कौरव सेना पराजित ही नहीं, सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गई। अधिकांश राजकुमार युद्ध से पलायन कर गए। अंगराज कर्ण ने वैसे तो बडी वीरता से युद्ध किया; किंतु गंधर्वो ने उन्हें क्षत-विक्षत ही नहीं कर दिया, उनके रथ को भी खंड-खंड कर दिया। कर्ण बहुत डर गए थे। अपने प्राण बचाने के लिए वे भाग कर राजकुमार विकर्ण के रथ में जा चढे। किंतु वे पुनः युद्ध करने का साहस नहीं कर सके। स्वयं तो उन्होंने युद्ध किया ही नहीं, उस रथ को राजकुमार विकर्ण सहित भगा कर युद्ध क्षेत्र से कहीं दूर ले गए। इसी कारण से राजकुमार विकर्ण भी युद्ध नहीं कर सके।"

"उस समय तुम्हारा राजा दुर्योधन क्या कर रहा था ?" भीम ने वक्र वाणी में पूछा।

"राजा दुर्योधन ने उनके साथ बड़ी वीरतापूर्वक युद्ध किया युवराज ! किंतु गंधर्वो ने उनका रथ भी भंग कर दिया और उनको इतना आहत किया कि वे अचेत हो कर भूमि पर गिर पड़े ...।"

"और तुम सब उसके इतने निष्ठावान सैनिक हो कि उसे वहाँ धरती पर पडा छोड कर अपने प्राण बचाने के लिए यहाँ चले आए।"

"हम लोग और कर भी क्या सकते थे महाराज !" दुर्योधन का दूसरा मंत्री, कुवलय युधिष्ठिर से संबोधित हुआ, "सारी वाहिनियाँ ध्वस्त हो चुकी हैं। राजकुमार बंदी हो चुके हैं। राजा दुर्योधन की मित्रता का ध्वजवाहक, और उनके लिए अपने प्राण दे देने की घोषणा करनेवाला कर्ण युद्धक्षेत्र से भाग गया है। गंधर्वो ने कुरुकुल की सारी स्त्रियों को बंदी कर लिया है। हम अपने प्राणों के लिए उतने भयभीत नहीं हैं। हमारी गंधर्वो से कोई शत्रुता नहीं है। हम योद्धा भी नहीं हैं, और युद्धक्षेत्र में उनके सम्मुख खड़े भी नहीं हैं। किंतु यदि आपने रक्षा नहीं की तो राजा दुर्योधन के प्राण नहीं बचेंगे,... और महाराज ! कुरुकुल की रानियाँ, गंधर्वो के प्रासादों में दासियाँ बनकर जीवन व्यतीत करेंगी। "

"दुर्योधन ने भी तो कृष्णा को दासी बनाना चाहा था। आज यदि उसकी रानी, गंधर्वो की दासी बनती है, तो हमें उसका कोई दुख नहीं है। दुर्योधन की ये ही रानियाँ थीं, जो हमारी दुर्दशा और कृष्णा के अपमान पर, बहुत उल्लसित हुई थीं। और मैं तो यह समझता हूँ महाराज !" भीम ने मुड़कर युधिष्ठिर की ओर देखा, "कि वनविहार का तो बहाना मात्र था। वस्तुतः दुर्योधन हमारी इस निर्धनता को अपने वैभव के प्रदर्शन से और अधिक पीडादायक बनाने आया था।

वह हमारा उपहास करने आया था। अच्छा हुआ, उसे उसका दंड मिल गया।"

युधिष्ठिर मौन असहमति में भीम की ओर देखते रहे। उसके पश्चात् उन्होंने एक-एक कर अर्जुन, नकुल और सहदेव की ओर भी देखा। अंततः उनकी दृष्टि आकर महापद्म पर ठहर गई, "गंधर्वों का नायक कौन है ?"

महापद्म अभी कोई उत्तर भी नहीं दे पाया था कि आश्रम के निकट ही कहीं वन में एक नया कोलाहल सुनाई देने लगा, जैसे कोई सेना प्रयाण कर रही हो; और अनेक रथ, एक-दूसरे से आगे बढ़ जाने की होड़ में लगे हों। ...

"धर्मराज ! मुझे लगता है कि गंधर्व लोग बंदियों को ले कर अपने राज्य की ओर जा रहे हैं।" महापद्म ने घबराकर कहा, "यदि वे लोग राजा दुर्योधन को अपने राज्य में ले गए तो अनर्थ हो जाएगा।"

कोलाहल बढ़ता जा रहा था। वे लोग आश्रम की ओर नहीं आ रहे थे, निकट ही कहीं वृक्षों के पीछे वह मार्ग था, जिस पर उनके रथ दौड रहे थे।

सहसा उस सारे कोलाहल के ऊपर एक और स्वर सुनाई दिया, "धर्मराज ! सम्राट् युधिष्ठिर ! भीम, मेरे भाई ! मेरी रक्षा करो।..."

"यह स्वर राजा दुर्योधन का है धर्मराज !" भानुमल बोला, "देखिए, वे आपको पुकार रहे हैं।"

"हम भी पहचानते हैं इस दुष्ट स्वर को।" भीम कुछ झपटकर बोला, "इस स्वर में बहुत सारी कठोर बातें सुनी हैं हमने, अब उसकी याचना भी सुन लेने दो।"

"सम्राट् !" कुवलय घबरा कर बोला, "वे राजा दुर्योधन को कहीं दूर ले जाएँगे, तो फिर उनको छुड़ाना बहुत कठिन हो जाएगा। विलंब हमारे लिए घातक भी हो सकता है सम्राट्।"

"शरणागत की रक्षा अवश्य की जाएगी, तुम चिंता मत करो।" युधिष्ठिर बोले, "और फिर, ये तो हमारे भाई भी हैं। परस्पर विरोध में हम पाँच और सौ हो सकते हैं; किंतु गंधर्वों के लिए तो हम एक सौ पॉच कौरव ही हैं।" वे रुके, "गंधर्वों का नेतृत्व कौन कर रहा है ? चित्रसेन तो नहीं ?"

"हाँ महाराज ! स्वयं राजा चित्रसेन अपने गंधर्वों का नेतृत्व कर रहे हैं।" महापद्म ने उत्तर दिया।

"ओह !" युधिष्ठिर के मुख से निकला; और उन्होंने अर्जुन की ओर देखा, "अर्जुन तुम्हारा मित्र चित्रसेन। मेरा विचार है कि कुरुकुल की स्त्रियों को मुक्त कराने में, हमें कोई विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिए। जाने किस भ्रम में चित्रसेन ने यह क्रूर कर्म किया है।"

अर्जुन ने भीम की ओर देखा : भीम के मुख का स्वाद जैसे कसैला हो

गया था। अर्जुन समझ रहा था कि भीम के लिए, यह समाचार अत्यंत सुखद था; क्योंकि यह उसके परम शत्रु दुर्योधन के कष्ट का समाचार था।... किंतु धर्मराज का कभी भी यह दृष्टिकोण नहीं रहा। वे किसी के भी दुख से सुखी नहीं हो सकते; चाहे वह उनका कोई परम शत्रु ही क्यों न हो। ...और फिर दुर्योधन को वे आज भी अपना भाई ही मानते हैं। उसे अपना शत्रु तो वे कभी मान ही नहीं पाए। ...

धर्मराज क्या मानते थे और क्या चाहते थे, वह पृथक् बात थी। अर्जुन का अपना मन भी इस बात से प्रसन्न नहीं था कि चित्रसेन कुरुकुल की रानियों को इस प्रकार बंदी कर ले जाए। वे स्त्रियाँ युद्ध करने नहीं आई थीं, इसलिए युद्धबंदियों के रूप में उन्हें दंडित करना न्याय नहीं था। ...

"वे बंदिनी स्त्रियाँ, साधारण स्त्रियाँ हैं; योद्धा नहीं । उनकी रक्षा तो मानवीय दृष्टि से ही होनी चाहिए। यह दंड उनके व्यक्तिगत व्यवहार के लिए नहीं, उनके स्त्री होने मात्र के लिए है। यह नारीत्व का अपमान है।" अर्जुन ने कहा, "इसलिए ..."

"दुर्योधन ने जो कुछ मेरे साथ द्यूतसभा में किया था, वह भी मेरे व्यक्तिगत व्यवहार के कारण नहीं था।" द्रौपदी अपने कुटीर से बाहर निकल आई थी, "वह भी तो नारीत्व का ही अपमान था। दुर्योधन को दंडित करने के लिए आवश्यक है कि उसकी पत्नियों के साथ भी वही व्यवहार किया जाए, जो उसने मेरे साथ किया। तभी तो वह समझ पाएगा कि नारी का अपमान करने का अर्थ क्या होता है ?"

धर्मराज हँस पड़े, "तुम्हारी पीड़ा मैं समझता हूँ पांचाली ! किंतु गंधर्वो द्वारा किए गए नारीत्व के अपमान से दुर्योधन द्वारा किए हुए नारीत्व के अपमान का प्रतिकार कैसे हो जाएगा ? दंडित दुर्योधन को होना चाहिए कि उसकी रानियो को ?"

युधिष्ठिर ने द्रौपदी की ओर देखा, "पांचाली ! हमारा व्यवहार, धर्म से परिचालित होना चाहिए, दुर्योधन जैसे लोगों के अधर्म कृत्यों से उपजी प्रतिक्रियाओं से नहीं । अन्यथा दुर्योधन जो कुछ आज करेगा, वही हम कल करेंगे। उसमें और हममें कोई भी अंतर नहीं रह जाएगा।"

"तो क्या अपने विरुद्ध किए गए अपराधों का प्रतिशोध लेना क्षत्रिय का धर्म नहीं है ?" भीम ने तड़पकर पूछा।

"नहीं। प्रतिशोध तो अपरिपक्व मन की क्रूर हिसा है।" धर्मराज बोले, "धर्म तो संकट में पड़े मनुष्य की रक्षा करना है; और इस समय संकट में दुर्योधन की रानियाँ हैं। उनकी रक्षा क्षत्रिय का प्रथम कर्तव्य है।"

"जिस समय द्यूत सभा में मेरा अपमान हो रहा था, तब क्यों आपको अपना

यह क्षत्रिय धर्म स्मरण नहीं हो आया। तब आप क्षत्रिय नहीं थे अथवा मैं असहाय अबला नहीं थी।"

"उस समय हम असहाय दास थे। अपने धर्म में बँधे थे।" धर्मराज बोले, "और उसकी पीड़ा हमें आज भी है। तुम समझती हो कि दुर्योधन की रानियों के अपमान से हमारी वह पीड़ा धुल जाएगी ? नहीं पांचाली ! यह दूसरी पीड़ा होगी कि समर्थ होते हुए भी हमने अधर्मियों द्वारा पीडित होती हुई स्त्रियों की रक्षा नहीं की।"

द्रौपदी ने कुछ नहीं कहा। वह जानती थी कि धर्मराज का मत क्या है। वन में आने के पश्चात् से अनेक बार इन सब विषयों पर उनके विवाद हुए हैं। धर्मराज ने कभी क्षमा का त्याग नहीं किया था, और द्रौपदी अपने मन में जलती उस ज्वाला को तनिक सा भी शांत नहीं कर पाई थी। वह जानती थी कि वे लोग इस विषय में कभी भी सहमत नहीं हो सकते। न विवाद का कोई लाभ था, न संवाद का। न वह अपने मन को बदल सकती थी, न धर्मराज की प्रकृति को।...और कहीं मन ही मन वह यह भी जानती थी कि मानव मन की उत्कृष्टता की दृष्टि से धर्मराज का चिंतन ही श्रेष्ठ था।

अब तक युधिष्ठिर जैसे पूर्ण निर्णय कर चुके थे। उन्होंने अर्जुन की ओर देखा और बोले, "मैं समझ रहा हूँ कि युवराज भीम की इच्छा क्या है। वह उनके स्वधर्म के अनुकूल ही है। पर अर्जुन ! क्या तुम भी यही समझते हो कि कुलवधुओं का यह अपमान हमें किसी प्रकार का कोई सुख दे गा ? क्षत्रिय का धर्म यह तो नहीं है कि अबला स्त्रियों का अपमान होता रहे; और वह अपने शस्त्र थामे निष्क्रिय बैठा रहे ? क्या तुम्हारी भी यही धारणा है कि हमें कुरुकुल की इस दुर्गति से प्रसन्न होना चाहिए ? दुर्योधन और उसके मित्रों का ही व्यवहार कुरुकुल को कलंकित करने के लिए पर्याप्त नहीं है क्या कि हम भी उसी प्रकार का अशोभनीय व्यवहार करने लगें ? भीम स्वयं को दुर्योधन से पृथक् मान कर, इस सारी घटना को, देख रहा है; किंतु सारा संसार तो इस प्रसंग को इस रूप में नहीं देखेगा। लोग तो यही कहेंगे कि कुरुकुल पराजित हुआ और कुरुकुल की रानियों को गंधर्व बंदी बना कर ले गए। कोई इस बात की चर्चा नहीं करेगा कि गंधर्व पांडवों के मित्र थे। क्या हमारे लिए यह स्थिति अपमानजनक नहीं होगी ?"

युधिष्ठिर ने अर्जुन के चेहरे को देखा : वह कदाचित् उनके कथन पर विचार कर रहा था।

"तुम लोगो से इतनी चर्चा करने के स्थान पर मै स्वयं ही चित्रसेन से युद्ध कर कुरुकुल की रानियो को छुड़ा लाता; किंतु मैं इस समय यज्ञ की दीक्षा ले कर यहाँ बैठा हूँ। अपना आसन त्याग नहीं सकता। अब यह तुम लोगों पर

निर्भर है कि तुम लोग अपने बड़े भाई की मर्यादा की रक्षा करोगे या नहीं ।"

"आप अपनी मर्यादा की नहीं, अपने शत्रुओं की रक्षा करना चाहते है।" द्रौपदी ने कहा।

"नहीं । ये जो लोग हमारी शरण में आए हैं, मैं इनकी रक्षा करना चाहता हूँ। मैं कुरुवंश की उन स्त्रियों की रक्षा करना चाहता हूँ, जिन्हें क्रूर गंधर्वो ने बॉध लिया है।" धर्मराज की दृष्टि अर्जुन की ओर घूम गई, "जाओ अर्जुन ! अपनी शरण मे आए इन लोगों की रक्षा करो और उन स्त्रियों को गंधर्वो के बंधनों से मुक्त कराकर कुरुकुल को कलंकित होने से बचाओ।"

भीम ने अपना मुख दूसरी ओर मोड लिया। धर्मराज ने उसे कोई प्रत्यक्ष आदेश नहीं दिया था। उसके द्वारा धर्मराज की अवज्ञा का कोई प्रश्न ही नहीं था। अपना विरोध और अप्रसन्नता तो वह जता ही सकता था; और वही वह कर भी रहा था।

अर्जुन स्वयं को एक विचित्र स्थिति में पा रहा था। ... एक सात्विक पुरुष का वही चिंतन होगा, जो इस समय धर्मराज का था। अपने वंश के प्रति तो स्वयं अर्जुन भी, अभी इतना निर्मोही नहीं हुआ था कि कुरुओं को अपमानित होते देख उसे कोई कष्ट ही न होता। भीम और पांचाली की भावनाएँ भी अपने स्थान पर बहुत स्वाभाविक थीं। मनुष्य अपने अपमान से पीड़ित होता है। उसे स्मरण रखता है। उसका प्रतिशोध लेना चाहता है।...किंतु यह भी सत्य है कि यह मनुष्य का कोई उदात्त रूप नहीं है। यह मान-अपमान, यह प्रतिशोध और क्रूरता ...मनुष्य की दुर्वलताएँ ही तो हैं। धर्मराज यदि स्वयं को उनसे मुक्त कर पाए हैं, उन पर जय पा ली है उन्होंने, तो यह उनका सामर्थ्य ही है, उनकी दुर्बलता नहीं । वह तो वैसे भी अपने बडे भाई और अपने राजा के आदेश का पालन करने जा रहा था। स्वतंत्र रूप से तो उसे कोई कर्म करना ही नहीं था। हॉ ! यदि धर्मराज के आदेश के पश्चात् भी वह नहीं जाता तो अपने बडे भाई तथा अपने राजा की अवज्ञा का दोषी वह हो सकता था। ... उसे और सोचने की आवश्यकता नहीं थी। ... सभव है, युद्ध का अवसर ही न आए। चित्रसेन अपने मित्र की इच्छा का सम्मान करते हुए, बिना किसी युद्ध के ही अपने बंदियों को मुक्त कर दे। ...

अर्जुन ने गांडीव उठा लिया।

"मैं जा रहा हूँ महाराज !" उसने कहा।

उसने अपनी दृष्टि धर्मराज पर ही टिकाए रखी। वह समझ रहा था कि उसके इस निर्णय से न भीम प्रसन्न होगा, न द्रौपदी। वे सब लोग किसी न किसी प्रकार के ऊहापोह में फॅसे हुए थे। उनके आदर्श, संस्कार, उनका चिंतन, उनका धर्म-बोध—सब कुछ धर्मराज के आदेश के साथ था; किंतु मन

में बैठे कुछ सहज नैसर्गिक भाव, मनुष्य की प्रवृत्तियाँ, उनका अहंकार, उनका मान-अपमान बोध, उनका प्रतिशोध भाव,उनका प्रेय, उनका अपना शरीर बोध ...ऐसा बहुत कुछ था, जो उनको धर्मराज के आदर्शों पर नहीं चलने देता था। वे अभी धर्मराज के समान, अपने इन प्राकृतिक बंधनों से मुक्त नहीं हो पाए थे। ...

"यदि चित्रसेन ने तुम्हारा परामर्श स्वीकार न किया तो ?" धर्मराज ने पूछा।

"मै आपको वचन देता हूँ कि कुरुओं को अपयश का भागी नहीं बनना पड़ेगा।" अर्जुन ने कहा, "यदि चित्रसेन ने मेरी बात नहीं सुनी, तो आज धरती गंधर्वो का रक्त पिएगी।"

युधिष्ठिर मुस्कराए, "मुझे तुमसे यही आशा थी सव्यसाची !"

भीम की तनिक भी इच्छा नहीं थी कि उनके कारण दुर्योधन अथवा उसके परिवार को किसी भी प्रकार का कोई लाभ हो; किंतु हर बार वही होता था। धर्मराज की प्रकृति ही ऐसी थी कि वे किसी व्यक्ति के दोष स्मरण नहीं रखते थे। इसलिए अपने शैशव से ले कर आज तक पांडवों का अपमान करते रहने के बाद भी दुर्योधन को पांडवों से जो लाभ उठाना होता था, वह उठा लेता था। भीम ने कभी नहीं चाहा था कि राजसूय यज्ञ में दुर्योधन को उपहार स्वीकार करने का महत्त्वपूर्ण तथा सम्मानजनक दायित्व दिया जाए; किंतु धर्मराज ने कहा कि कौरवों का विभाजन नहीं होना चाहिए। और सारे कौरवों में युधिष्ठिर के बाद दुर्योधन ही सबसे बड़ा था। अतः यह उसी का अधिकार बनता था कि वह अतिथियों से उपहार ग्रहण करे। ... आज फिर वही स्थिति थी। भीम यहाँ खड़ा रह जाएगा और अर्जुन जाकर दुर्योधन को छुड़ा लाएगा। ... छुड़ा लाएगा ? ... वहाँ विजयिनी गंधर्व सेना खड़ी है। अर्जुन अकेला उनका सामना करेगा। उसका मन अर्जुन के लिए आशंकित हो उठा ...। धर्मराज और अर्जुन समझ रहे थे कि अर्जुन के जाने मात्र से गंधर्व दुर्योधन, उसकी संपत्ति तथा उसकी रानियों को मुक्त कर देंगे। ... पता नहीं ये लोग मानव प्रकृति को क्यों नहीं समझते। ...भीम को पूर्ण विश्वास था कि ऐसा नहीं होगा। चित्रसेन चाहे अर्जुन का मित्र हो; किंतु वह धर्मराज नहीं है कि हाथ आया विजय का ऐसा अवसर व्यर्थ ही गँवा दे। वहाँ उनसे संघर्ष भी हो सकता है। उस सारे रक्तपात में एक पूरी सेना और उसके नायकों से युद्ध करने के लिए अकेले अर्जुन को कैसे जाने दिया जा सकता है। उसकी अपनी इच्छा चाहे कुछ भी हो किंतु वह धर्मराज की मर्यादा को ठेस लगने देने के पक्ष में भी नहीं था।....उसने नकुल और सहदेव की ओर देखा : सारे निर्णय आँखों ही आँखों में हो गए। अगले ही क्षण वे चारों कवच

धारण कर, दुर्योधन के मंत्रियों के साथ आए हुए शस्त्रपूरित रथों पर आरूढ़ हो गए।

अर्जुन ने महापद्म तथा कुवलय की ओर देखा, "युद्धस्थल तक यदि हमारा मार्ग-दर्शन कर सको तो कुरुओं की यातना का अंत शीघ्र ही हो जाएगा।"

"आइए राजकुमार !" महापद्म और कुवलय ने अपने रथ बढ़ा कर अर्जुन के रथ के आगे लगा लिए।

अर्जुन को चित्रसेन के समीप पहुँचने में अधिक समय नहीं लगा। गंधर्व सैनिकों ने किसी एक स्थान पर भी उसका मार्ग नहीं रोका। अर्जुन के रथ के आगे-आगे यह सूचना यात्रा करती जा रही थी कि गंधर्वराज चित्रसेन के मित्र कौंतेय अर्जुन उनसे मिलने आ रहे हैं।

अर्जुन को देखते ही चित्रसेन ने आलिंगनबद्ध होने के लिए अपनी भुजाएँ आगे बढ़ा दीं। वह परम प्रसन्न दिखाई दे रहा था। ... . और तभी उसकी दृष्टि महापद्म और कुवलय पर जा पड़ी, "तुम लोग फिर लौट आए ?"

"इन्हें कुछ न कहो मित्र !" अर्जुन ने मुस्कराकर कहा, "इस समय ये लोग मेरे मार्गदर्शक का कार्य कर रहे हैं।"

प्रगाढ़ आलिंगन के पश्चात् अर्जुन और चित्रसेन पृथक् हुए, तो अर्जुन ने कहा, "हम तो यही मान रहे थे कि तुम यहाँ वनविहार के लिए आए हो; किंतु यह युद्ध कैसे आरंभ हो गया ?"

चित्रसेन हँसा, "धर्मराज को युद्ध की कोई संभावना ही नहीं दीख रही थी; किंतु हम तो युद्ध की प्रेरणा से ही यहाँ आए थे।"

अर्जुन प्रश्नवाचक दृष्टि से उसे देखता ही रहा, कुछ बोला नहीं ।

"हमें यह सूचना थी कि दुर्योधन अपने परिवार, अपने भाइयों, अपने मित्रों तथा उन सबकी रानियों और कौरव सेना की अनेक विकट जुझारू वाहिनियों के साथ इस ओर आ रहा है। हमें यह भी ज्ञात हुआ था कि वह पांडवों की इस विपदा मे उनके सम्मुख अपना वैभव, अपनी सत्ता और अपना बल प्रदर्शित कर, उन्हें अपमानित और मानसिक रूप से त्रस्त करना चाहता है। हमारी सूचनाओं के अनुसार उसकी योजना आक्रमण अथवा युद्ध की नहीं थी। फिर भी वह इतनी वाहिनियाँ ले कर आ रहा था कि यदि पांडवों की ओर से तनिक भी उत्तेजना हो, तो वह युद्ध में उन्हें पराजित कर सके; और यदि पांडवों का वध ही हो जाए, तो उसकी मनोकामना पूर्ण हो जाए। युद्ध न भी होता, तो भी वह तथा उसके सैनिक, इतनी उद्दंडता तो करते ही, जिससे पांडव, स्वयं को और अधिक पीडित और अपमानित अनुभव करते।"

"तो तुमने हमें यह सब बताया क्यों नहीं ?" अर्जुन ने कुछ चकित हो कर पूछा।

"यदि मैं यह सब बता देता, तो क्या धर्मराज मुझे यह अनुमति देते कि मैं द्वैतवन में अपनी सेना के साथ निवास करूँ और पांडवों की उनके शत्रुओं से रक्षा करूँ ?" चित्रसेन हँसा, "पांडव स्वीकार कर लेते कि उनकी रक्षा के लिए कोई और युद्ध करे ?"

"मैं तो कर लेता।" भीम धीरे से बोला, "यदि कोई मेरे लिए युद्ध करे और मैं उसको देखने का आनन्द ले सकूँ तो मुझे क्या आपत्ति हो सकती है।"

"हाँ युवराज ! किंतु धर्मराज और आप में बहुत अंतर है। अंततः तो आप भी उनके ही आदेश का पालन करते न !"

"तुम ठीक कहते हो मित्र।" अर्जुन बोला, "तुम्हारे व्यवहार से हमें तुम्हारे प्रगाढ़ प्रेम का प्रमाण मिल गया है। तुम्हारे इस युद्ध का एक लाभ तो हुआ कि दुर्योधन का अहंकार खंडित हुआ। उसके मद का भांड फूटा। उसे ज्ञात हो गया होगा कि वह स्वयं कितना शक्तिशाली है; उसके भाइयों की वीरता किस कोटि की है; और उसकी सेना और नायकों की रण-क्षमता कितनी है। और सबसे बडी बात, अपने जिस मित्र—कर्ण—पर उसे इतना भरोसा है, वह कैसा योद्धा है। कर्ण ने अपने मित्र को संकट में छोड़ कर, रणक्षेत्र से पलायन किया, अपने मित्र के लिए प्राण नहीं दिए। अपने राजा को शत्रुओं के घेरे में छोड़ कर, वह अपने प्राण बचाने के लिए भाग गया। महावीर अंगेश कर्ण ने अपने राजा के प्रति निष्ठा का निर्वाह तो खूब किया।"

"अच्छा धनंजय ! मैं अपने सैनिकों की व्यवस्था देख लूँ; और युद्धबंदियों के विषय में अपने मंत्रियों से परामर्श कर लूँ।" चित्रसेन बोला, "फिर आश्रम पर आकर धर्मराज के दर्शन करूँगा।"

"अपने सैनिकों की व्यवस्था तो ठीक है।" अर्जुन बोला, "किंतु अपने युद्धबंदियों के विषय में क्या परामर्श करना है तुम्हे ?"

"क्यों ! उन्होंने हम पर आक्रमण किया है। हमारे सैनिकों को हताहत किया है। इन सब कृत्यों का दंड नहीं पाएँगे वे ?" चित्रसेन बोला, "हमें देखना होगा कि हमारी क्षतिपूर्ति के लिए क्या करने, और हमें कितना धन देने के लिए प्रस्तुत है दुर्योधन। अपनी स्त्रियों को वे लौटा ले जाना चाहते हैं, अथवा वे हमारी ही संपत्ति हुई ? ले जाना चाहते हैं, तो वे उनका कितना मूल्य देने को प्रस्तुत हैं ?..."

अर्जुन आश्चर्यचकित खड़ा, चित्रसेन के मुख की ओर देखता रहा : उसका यह मित्र क्या कह रहा था।

"धर्मराज का विचार है कि दुर्योधन को उसकी करनी का पर्याप्त दंड मिल

गया है। उनकी इच्छा है कि तुम अपने इन सारे युद्धबंदियों को मुक्त कर दो।" अर्जुन बोला, "और तुम उनके माध्यम से कोई बड़ा लाभ उठाने की सोच रहे हो।"

चित्रसेन हँसा, "तुम सारे ही भाई बडे विचित्र हो। तुम्हारी कोई भी नीति मेरी समझ में नहीं आती। तुम्हारे सामने लाभ का कोई अवसर आता है तो तुम लोग सोचने लगते हो कि उससे कैसे पीछा छुडाया जा सकता है। उर्वशी स्वयं चल कर आई तुम्हारे पास, और तुमने अवसर का आनन्द उठाने के स्थान पर उसका तिरस्कार किया। उसे संयम का पाठ पढ़ाना आरंभ कर दिया और अपनी सखी बनाने के स्थान पर उसे अपना शत्रु बना लिया। ... यहाँ भी देख रहा हूँ, तुम लोगों में न तो आत्मरक्षा का उद्यम है, न प्रतिशोध का उपक्रम। किंतु हम तो इसे स्वीकार नहीं कर सकते कि कोई भी सेना, हम पर आक्रमण करे, हमारे जितने सैनिकों का वध कर सके कर जाए; और हम समर्थ होते हुए भी उनकी कोई क्षति न करें और अपने शेष बचे सैनिकों को ले कर शांतिपूर्वक लौट जाएँ।"

"इसका अर्थ इतना ही है कि तुम हम जैसे मूर्ख नहीं हो।" भीम ने मुस्कराकर कहा।

चित्रसेन समझ नहीं पाया कि भीम उसका समर्थन कर रहा था अथवा विरोध।

"मैं समझा नहीं युवराज !" उसने कहा।

"अरे आज तक हम ही नहीं समझे, तो तुम इतनी जल्दी कैसे समझ जाओगे भाई।" भीम ने कहा।

अर्जुन समझ रहा था कि भीम कुछ तो दुर्योधन के अपमान से प्रसन्न था, कुछ धर्मराज के व्यवहार से खिन्न, इसलिए वह स्वयं भी नहीं जानता था कि उसे क्या कहना है, क्या नहीं कहना है।

"तो क्या स्वीकार्य है तुम्हें ?" अर्जुन ने पूछा।

"हमारी नीति है कि यदि कोई हम पर आक्रमण करता है और हम पराजित होते हैं, तो प्रयत्न करते हैं कि हमारी कम से कम हानि हो। अपना जितना बचाव कर सकते हैं करें। ... किंतु यदि हम आक्रांता को पराजित करने में सफल हो जाते हैं, तो उससे भरपूर क्षतिपूर्त्ति करवाते हैं। उस पर दंड लगाते हैं। प्रयत्न करते हैं कि यथासंभव उसे इतना अपमानित करें कि उसका मनोबल सर्वथा टूट जाए। उसे साधनों की दृष्टि से इतना दुर्बल कर देते हैं कि वह पुनः सिर न उठा सके। न युद्ध-क्षेत्र में ठहर सके, न पुनः आक्रमण कर सके।"

"किंतु हमारी नीति यह नहीं है।" अर्जुन बोला, "हम युद्ध केवल उनसे करते हैं, जो हमारे सम्मुख सशस्त्र खडे हों और युद्ध के लिए तत्पर हों। बंदियो

के साथ न तो हम दुर्व्यवहार करने की सोचते हैं, न उनसे क्षतिपूर्ति की संभावना पर विचार करते हैं; और न उनके वध की कल्पना करते हैं। इसलिए मित्र ! धर्मराज की इच्छा के अनुसार तुम अपने बंदियों को मुक्त कर दो।"

भीम अपने भाई के मोह में अर्जुन के साथ चला तो आया था; किंतु उसे अर्जुन की यह नीति न तो समझ में आ रही थी और न वह उससे सहमत हो पा रहा था। वह तो यह मान कर आया था कि अर्जुन कुरुकुल की स्त्रियों की स्वतंत्रता की माँग करेगा; किंतु वह तो सारे कौरवों की मुक्ति की माँग कर रहा है।

वह कुछ कहने की सोच ही रहा था कि उसे लगा कि अर्जुन की बात से चित्रसेन सहसा ही खीझ उठा है। वह अपनी मर्यादित खीझ के साथ बोला, "मेरी बात समझने का प्रयत्न करो धनंजय ! दुर्योधन ने तुम लोगों का सर्वस्व हरण किया है। उसने तुम लोगों को सार्वजनिक रूप से अपमानित किया है। उसने तुम्हारी पत्नी को जितना अपमानित और पीड़ित किया है, उतना तो कदाचित् आज तक किसी भी राजरानी को नहीं किया गया होगा। आज दुर्योधन और उसके भाई हमारे बंदी हैं। उनकी रानियाँ हमारे अधिकार में हैं। तुम चाहो तो दुर्योधन की रानियों को दुर्योधन और उसके भाइयों के सम्मुख उसी प्रकार नग्न कर सकते हो, जैसे उसने तुम्हारी पत्नी को निर्वस्त्र करने का प्रयत्न किया था।"

भीम को लगा जैसे किसी अत्यंत भद्र समाज के सात्विक परिवेश में किसी असभ्य व्यक्ति ने उच्च स्वर में किसी अश्लील गाली का उच्चारण कर दिया हो; और उपस्थित लोगों की गर्दनें लज्जा से झुक गई हों।... यह चित्रसेन ऐसी अश्लील कल्पना भी कैसे कर सकता है कि पांडव किसी स्त्री से इस प्रकार का अभद्र और क्रूर व्यवहार करेंगे। पांडवों के विषय में ऐसी धारणा है उसकी ? कैसा मित्र है यह अर्जुन का ?

"चित्रसेन !" अर्जुन ने क्षुब्ध स्वर में कहा, "मैं समझ रहा हूँ कि तुम हमारे मित्र हो; और मित्र के रूप में ही हमारे अपमान से पीड़ित हो कर, मुझसे सहानुभूति के कारण मेरे अपमान का प्रतिशोध लेना चाहते हो, अथवा मुझे उस प्रतिशोध का अवसर उपलब्ध करा रहे हो। ... किंतु मित्र ! हम यह मानते हैं कि न तो प्रतिहिंसा मनुष्य का श्रेय है, न प्रतिशोध। यदि धर्मराज किसी प्रकार दुर्योधन से उसके दुष्कृत्यों का प्रतिशोध लेने को सहमत हो भी जाएँ; उसने हमारा अपमान किया था इसलिए वे उसे अपमानित करने का आदेश दे भी दें, तो वे चाहेंगे कि हम दुर्योधन को अपमानित करें। तुम जो मार्ग सुझा रहे हो, उसमें दुर्योधन का अपमान हो या न हो, काशिका और भानुमती का अपमान होगा। अपमान दुर्योधन का नहीं होगा, वह तो मात्र उन स्त्रियों से अपने संबंध के कारण, अपनी

पत्नियों के अपमान से पीडित होगा। सोचो, काशिका और भानुमती ने तो हमारा कोई अपमान नहीं किया है। पांचाली के अपमान में उनका तो कोई सहयोग नहीं था। फिर उनके साथ इस दुर्व्यवहार का क्या औचित्य है ?"

"अरे भाई !" चित्रसेन शांत स्वर में बोला, "कहीं ऐसा भी हुआ है कि पत्नी का अपमान हो तो पति का अपमान न हो। वस्तुतः पत्नी का अपमान है ही उसके पति का अपमान।"

"हम परिवार तथा दांपत्य जीवन में पार्थक्य तथा विभाजन को श्रेयस्कर नहीं मानते," सहदेव ने कहा, "किंतु इस बात से सहमत नहीं हो सकते कि पति से पृथक् पत्नी का कोई व्यक्तित्व ही नहीं है, उसका अपना कोई सुख-दुख नहीं है।"

अर्जुन ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया। वह चुपचाप चित्रसेन की ओर देखता रहा, और जब वह बोला तो उसका स्वर चिंतन की गरिमा लिए हुए था, "यदि पत्नी का अपमान हुए बिना, पति का अपमान होता हो, तो किसी सीमा तक मैं तुम्हारी बात स्वीकार कर सकता था।...किंतु यदि पत्नी के अपमान के माध्यम से पति का अपमान होता है, तो जैसे कि सहदेव ने कहा है कि एक निरपराध स्त्री का ही अपमान होता है; और पति अपनी संवेदना के कारण, उसकी पीडा का अनुभव करता है। अपने संबंधो के कारण सारा परिवार उस पीड़ा को झेलता है। पर ऐसा नहीं होता कि पति को पीडा होती है और पत्नी को पीडा नहीं होती; वंश कलंकित होता है और वह स्त्री कलंकित नहीं होती। हमारी आपत्ति यही है कि उन्होंने हमें अपमानित करने के लिए कृष्णा का अपमान किया। अब तुम भी हमें वही अपराध करने का परामर्श दे रहे हो। ... और अपमान भी कैसा ? व्यक्ति का अपमान पृथक् बात है; किंतु नारीत्व का अपमान भयंकरतम अपराध है, पाप है। दुर्योधन ने वही किया है; और तुम हमसे भी वही करवाना चाहते हो। तुम चाहते हो कि दुर्योधन के द्वारा किए गए सारे घृणित कार्यो को धर्मराज भी करें। वे भी एक और दुर्योधन बन जाएँ। विरोध हमारा हो और अपमानित नारीत्व हो, उस पक्ष से भी और इस पक्ष से भी। नहीं चित्रसेन ! यह नहीं हो सकता। तुम्हें शायद ज्ञात नहीं है कि नारीत्व का अपमान करने पर माता गांधारी ने महाराज धृतराष्ट्र को परामर्श दिया था कि वे अपने परमप्रिय पुत्र दुर्योधन का त्याग कर दें। तुम हमसे वही जघन्य अपराध करवाना चाहते हो ?"

चित्रसेन ने अर्जुन की बात पूरे ध्यान से शांतिपूर्वक सुनी थी; किंतु वह उससे तनिक भी सहमत अथवा प्रभावित प्रतीत नहीं हो रहा था। उसे लग रहा था जैसे अर्जुन किसी अन्य लोक की वायवीय बातें कर रहा था। हाड़ मॉस का बना कोई प्राणी इस प्रकार नहीं सोचता।...

"हमारे इस प्रकार के व्यवहार से दुर्योधन अपमानित हो न हो, हम स्वयं अवश्य अपमानित हो जाएँगे।" सहदेव ने कहा।

"अच्छा ! इस सारी स्थिति को एक अन्य कोण से देखें।" सहदेव की बात की पूर्ण उपेक्षा कर चित्रसेन बोला, "यदि दुर्योधन और उसकी रानियों को मुक्त करने का हम कोई शुल्क माँगें तो ?"

"कैसा शुल्क ?"

"वे पांडवो को उनका राज्य लौटा दें।" चित्रसेन बोला, "धर्मराज इन बंदियों के प्रत्यार्पण के रूप में, वह सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं, जो उन्होंने द्यूतसभा में खोया है। अपने प्राणों और अपनी रानियों के सम्मान के बदले में दुर्योधन कुछ भी देने को तत्पर हो जाएगा।"

अर्जुन ने आश्चर्य से चित्रसेन की ओर देखा : इस व्यक्ति ने धर्मराज को इतना ही समझा था ?

"तुम क्या समझते हो गंधर्वराज ! कि यदि धर्मराज युधिष्ठिर किसी भी प्रकार अपना राज्य प्राप्त करना चाहते, तो अब तक प्राप्त कर न चुके होते ?" नकुल कुछ आवेश में बोला।

"धर्मराज चाहते तो द्यूतसभा में अपना राज्य त्यागते ही नहीं । वे चाहते तो सम्मुख युद्ध में अपना राज्य धार्तराष्ट्रों से लौटा लेते। कृष्ण ने कहा था कि यादव सेनाएँ कौरवों से युद्ध कर, पांडवों का राज्य दुर्योधन से छीन कर धर्मराज की गोद में डाल देंगी। ... किंतु धर्मराज ने सबको एक ही उत्तर दिया था कि वे अपना वचन भंग नहीं करेंगे, अपना धर्म नहीं छोड़ेंगे। तुम इन दोनों स्थितियों का अंतर समझते हो ? उन दो व्यक्तियों में भेद कर सकते हो, जिन मे से एक भोग और सत्ता के लिए जीवन धारण करता है, और दूसरा अपने वचन के निर्वाह के लिए; एक अत्यंत स्थूल धरातल पर जीता है, दूसरा अत्यंत सूक्ष्म पर। एक सांसारिक भोग के लिए शरीर धारण करता है, दूसरा धर्म का आचरण करने के लिए।"

चित्रसेन ने कुछ नहीं कहा।

"हम पाँचों भाइयों का जीवन, धर्म के लिए है। हम अधर्मपूर्वक ग्रहण के स्थान पर धर्मपूर्वक त्याग करेंगे।" अर्जुन बोला, "इसलिए वनवास के बारह वर्ष तथा अज्ञातवास का एक वर्ष पूरा किए बिना, न हम अपना राज्य माँगेंगे, न किसी के द्वारा प्रदान किए जाने पर ग्रहण करेंगे।"

चित्रसेन के मुख का स्वाद कसैला हो गया : कैसे लोग हैं ये, जो न तो स्वयं अपने अधिकारों की रक्षा करते हैं, न अपने मित्रों को करने देते हैं। शत्रुओं से तो लड़ते नहीं, मित्रों का विरोध करने को तत्पर रहते हैं। ये तो जैसे अपने शत्रुओं को प्रेरित करते रहते हैं कि वे लोग इन्हें वंचित और त्रस्त करते

रहें। ऐसे लोगों की रक्षा तो भगवान भी नहीं कर सकता ...

"इन तेरह वर्षो के पश्चात् अपना राज्य माँगोगे ?" चित्रसेन ने किसी प्रकार स्वयं को नियंत्रित करके कहा।

"हाँ। क्यों नहीं माँगेंगे ?" अर्जुन ने उत्तर दिया, "वह तो धर्मानुकूल ही है।"

"और तुम्हें अनुमान तो होगा मित्र ! कि दुर्योधन तुम्हारा राज्य तब भी नहीं लौटाएगा।" चित्रसेन बोला, "और तब ?"

"मुझे अनुमान है कि वह कुछ ऐसा ही करना चाहेगा; किंतु कर नहीं पाएगा।"

"क्यों नही कर पाएगा ? कौन रोकेगा उसे ?"

"भीष्म पितामह तथा कुरुकुल के अन्य वृद्ध उसे ऐसा नहीं करने देगे।" अर्जुन ने उत्तर दिया।

"नहीं ।" चित्रसेन ने दृढ़ स्वर में कहा, "उसकी उद्‌दंडताओं को कोई रोक नहीं पाएगा। वह परम स्वतंत्र तथा अत्यंत उच्छृंखल हो चुका है।"

"तो हम अपने शस्त्रो के बल पर उससे अपना राज्य छीन लेंगे।" भीम ने सतेज स्वर में कहा।

"मैं यही तो बता रहा हूँ तुम्हें।" चित्रसेन बोला, "तुम धर्म पर टिके रहोगे, अपने वचन का निर्वाह करोगे; किंतु दुर्योधन अपने वचन का निर्वाह नहीं करेगा। वह अधर्म का सहारा लेगा। फिर युद्ध की स्थिति आएगी। तुम्हें वह युद्ध जीतना होगा, क्योंकि तुम्हें अपना राज्य लौटाना है। उसे भी यह युद्ध जीतना है, क्योंकि उसे वह राज्य किसी भी प्रकार अपने आधिपत्य में रखना है। तुम समझते हो कि तुम अपने शस्त्र बल के आधार पर उसे जीतने में समर्थ हो। कदाचित् वह भी यही समझता है। इसलिए वह अपने पक्षधर एकत्रित करेगा, सैन्य संगठन करेगा। तब तुमसे अधिक शक्तिशाली हो जाएगा। तुम उससे भी समर्थ होने के लिए अपने मित्रों से सहायता माँगोगे। इस प्रकार दोनों ओर सेनाओं का जमावडा होगा। एक अति भयंकर युद्ध होगा। जाने उस युद्ध में ईश्वर के बनाए कितने जीव मारे जाएँगे। तब भी तुम्हें राज्य मिल पाएगा या नहीं, कहा नहीं जा सकता।"

अर्जुन ने यद्यपि कोई उत्तर नहीं दिया, किंतु वह चित्रसेन से असहमत नहीं था।

"मैं तुम्हें एक इतना भयंकर युद्ध टालने का अवसर दे रहा हूँ।" चित्रसेन ने कहा, "आज, इसी क्षण, दुर्योधन से वह सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है, जो तुम्हें उस भयंकर युद्ध के पश्चात् प्राप्त होगा।"

"नहीं ! वह अधर्म होगा।" अर्जुन बोला, "हम अपना वचन पूरा किए बिना,

वह राज्य ग्रहण नहीं करेंगे।"

"विचित्र जीव हो तुम !" चित्रसेन ने स्नेहपूर्वक उसके कंधे पर हाथ रखा, "बात को समझने का प्रयत्न करो। युद्ध होगा तो कितना रक्तपात होगा, कितनी हिंसा होगी। तुम धर्मराज से पूछ कर तो देखो। क्या वे उस युद्ध में संभावित हिंसा को बचाना नहीं चाहेंगे ?"

"हम उस नृशंसता को अवश्य रोकना चाहेंगे। जब युद्ध का क्षण आ ही जाएगा, तो उस नृशंसता को रोकने का प्रयत्न भी किया जाएगा। अन्यथा क्षात्र धर्म के अनुसार युद्ध किया जाएगा।" अर्जुन बोला, "उस संभावित नृशंसता से बचने के लिए, आज तुम्हारा यह क्षात्रधर्म विरोधी प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस समय तो महाराज युधिष्ठिर की यही इच्छा है कि तुम कुरुकुल के बंदियों को स्वतंत्र कर दो।"

चित्रसेन ने पहली बार अपना रोष प्रकट किया, "आज तुम्हारे मन में कुरुकुल का स्नेह क्यों इतना जाग्रत हो रहा है कि अपनी मैत्री को सर्वथा तिलांजलि दे कर, मुझसे वह सब करने को कह रहे हो, जो करने की मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है।"

"क्या तुम कौरवों को मुक्त करना नहीं चाहते ?" अर्जुन ने भी कुछ चकित भाव से पूछा।

"पूछना तो मुझे चाहिए था," चित्रसेन बोला, "कि तुम अपने उन शत्रुओं को दंडित करना क्यों नहीं चाहते ? तुम क्यों नहीं चाहते कि उन्हें उनके किए का ऐसा कठोर दंड दिया जाए कि भविष्य में उसकी कभी पुनरावृत्ति न हो सके ?"

अर्जुन ने चित्रसेन की आँखों में देखा : उसके व्यवहार से स्पष्टतः चित्रसेन प्रसन्न नहीं था। युद्ध को जय करने के पश्चात् उसकी उपलब्धि से कौन वंचित होना चाहेगा। ...

"हम दुर्योधन को उसके पापों का दंड देंगे; किंतु इस प्रकार नहीं...इस समय तो तुम उनको मुक्त कर दो।"

"यदि मैं यह कहूँ कि मैंने तुम्हारे प्रति किए गए अपराधों के लिए नहीं, स्वयं अपने ऊपर किए गए सैनिक आक्रमण के प्रतिशोध के लिए उन सब लोगों को बंदी किया है, तो ?" चित्रसेन बोला, "दुर्योधन ने अपनी सेना सहित मुझ पर आक्रमण किया था। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि कहीं वह युद्ध में विजयी हो गया होता, तो वह मुझे और मेरी रानियों को बाँध कर अपने साथ ले गया होता। वैसी स्थिति में हमें मुक्त कराने के लिए न तुम इस प्रकार आग्रह करते, न धर्मराज। न तुम लोग बल प्रयोग की धमकी देते, न बल प्रयोग करते।"

"क्यो नहीं करते।" भीम का स्वर कुछ अधिक ही मुखर था, "तुम एक बार किसी के बंदी हो कर धर्मराज की शरण में आकर तो देखो कि हम तुम्हारे लिए क्या करते हैं।"

अर्जुन हँसा, "तुमने एक स्थिति की कल्पना कर ली कि यदि वैसा होता, तो हम लोग कैसा व्यवहार करते। और उस कल्पना को अपना तर्क बना कर तुम कह रहे हो कि हम तुमसे कुरुकुल की स्त्रियों को मुक्त करने का आग्रह न करें।"

चित्रसेन का ध्यान इस ओर गया : अर्जुन ने कुरुकुल की स्त्रियों को कुरुकुल के पुरुषों से पृथक् किया था ...

"यदि मैं दुर्योधन और उसके भाइयों को मुक्त कर दूँ ?..." उसने पूछा।

"उन्हें मुक्त किया तो क्या ?" अर्जुन बोला, "जिनकी स्त्रियाँ तुम्हारे पास बंदिनी होंगी, वे पुरुष स्वयं को मुक्त कैसे मान सकते हैं।"

"ठीक कहते हो तुम।" चित्रसेन हँसा, "इसीलिए तो मैं उनको मुक्त करना नहीं चाहता। दुर्योधन की सुंदर पत्नियों को अपने अधिकार में पा कर कौन पुरुष उन्हें मुक्त करना चाहेगा। चाहो तो गणिकाओं और नर्तकियों को अपने साथ ले जाओ।"

अर्जुन चौंका : चित्रसेन दुर्योधन को तो मुक्त कर देने का संकेत कर रहा था; किंतु उसकी रानियों को नहीं । यह व्यक्ति तो पूर्ण रूप से लंपटता पर उतरा हुआ था।

"तो स्पष्ट रूप से सुनो मित्र !" अर्जुन बोला, "धर्मराज का आदेश है कि उन स्त्रियों को मुक्त करो; और इस आदेश का तुम्हें पालन करना होगा।"

चित्रसेन क्षुब्ध हो उठा, "हम तुम्हारी रक्षा के लिए, तुम्हारे शत्रुओ से लडते है, अपने प्राणों को संकट में डालते हैं; और तुम अपने उन्हीं शत्रुओं का पक्ष ले कर हमसे, अपने मित्रों से, लड़ने आ जाते हो।"

"आज की स्थिति को तो कुछ इसी प्रकार के शब्दों में कहा जा सकता है।" अर्जुन स्थिर भाव से बोला, "किंतु यदि हम यह न करें तो हमारे ही मित्र अपनी मैत्री के आवरण अथवा भ्रम में, हमारे नाम पर, कुछ भी मनमाना करते रहेंगे। हम तो अपने शत्रुओं से भी अपेक्षा करते हैं कि वे धर्म पर चलें; तो फिर अपने मित्रों से ऐसा आग्रह क्यों न करें। वनविहार के लिए आई स्त्रियों को कोई सेना अपने शस्त्र बल के आधार पर बाँध कर ले जाए—यह धर्म नहीं है। और किसी स्त्री को इस आधार पर बंदी बनाना कि वह हमारे शत्रु की पत्नी है, सर्वथा धर्मविरुद्ध अशोभनीय कृत्य है। इसलिए हम नहीं चाहते कि हमारे मित्र इस प्रकार का कार्य करें और फिर उसके लिए हमारा

समर्थन भी चाहें।"

"तो फिर मैं भी तुम्हें स्पष्ट रूप से बता दूँ मित्र !" चित्रसेन शुष्क स्वर मे बोला, "इतने श्रमपूर्वक लड़े गए युद्ध के परिणामस्वरूप हाथ में आई राजवंश की सुंदर नारियों को मैं धर्म के नाम पर यों ही त्याग नहीं सकता। हम गंधर्वो में ऐसी कोई परंपरा नहीं है। सुंदर स्त्री तो वह सर्वाधिक मूल्यवान धन है, जो हम अपने शत्रुओं से छीन सकते हैं।"

अर्जुन के मन में बहुत कुछ स्पष्ट हो रहा था : निश्चित रूप से चित्रसेन का यह रूप उसके लिए नया था। इस चित्रसेन में उसके मित्र की छवि कम, एक नारी लोलुप, युद्ध-विजेता का ही स्वरूप अधिक प्रकट हो रहा था।...

"हम ऐसा नहीं मानते।" सहदेव ने कहा, "हमारी दृष्टि में नारी सदा ही रक्षणीया है।"

"अब मैं तुमसे स्पष्ट रूप से कह रहा हूँ धनंजय !" चित्रसेन बोला, "यदि मैं तुम्हारा आग्रह मानकर, धर्मराज की प्रसन्नता के लिए, अपने सैनिकों को आदेश दूँ कि वे उन स्त्रियों को स्वतंत्र कर दें, तो वे मेरा आदेश नहीं मानेंगे। वे विद्रोह कर सकते हैं।... और इतना तो तुम समझ ही सकते हो कि मैं दुर्योधन जैसे राजा के लाभ के लिए, अपने सैनिकों को न रुष्ट करना चाहूँगा, न उनके दमन के लिए सहमत होऊँगा।"

अर्जुन के लिए जैसे सब कुछ बदल गया था... थोड़ी देर पूर्व तक जो उसका मित्र था, जो उनके हित के लिए उनके शत्रुओं से युद्ध कर रहा था, वही इस समय एक स्त्री अपहरणकर्ता आततायी बन कर उसके सम्मुख खड़ा था। गंधर्वो की यह सेना, उसे अपने मित्रों की सेना नहीं लग रही थी। यह तो धर्मविरोधिनी, दुर्बल, पीड़क, उच्छृंखल सेना थी, जिस पर उसके अपने स्वामी का भी नियंत्रण नहीं था।...

"तुम उन्हें आदेश तो दो।" अर्जुन ने कुछ कठोर स्वर में कहा, "यदि वे तुम्हारी आज्ञा का उल्लंघन करेंगे, तो मेरा गांडीव इसी क्षण उन्हें तुम्हारे अनुकूल कर देगा।"

चित्रसेन हँसा, "नहीं ! उसकी आवश्यकता नहीं है। मुझे स्वयं ही अपने सैनिकों का दमन प्रिय नहीं है। ..."

"तो इस पाप के संरक्षक तो स्वयं तुम हो।" अर्जुन ने कहा, "तुमने कदाचित् कल्पना भी नहीं की होगी, कि तुम लंपटों की एक सेना का नेतृत्व कर रहे हो। वैसे तो क्रूरता सदा ही पाप है, किंतु असहाय स्त्रियों के प्रति क्रूरता जघन्यतम पाप है। हम इसके प्रबल विरोधी हैं। द्यूतसभा में हम पांचाली की रक्षा नहीं कर पाए, क्योंकि हम धर्म बंधन में बँधे थे। इस समय हम स्वतंत्र हैं, और हमारा

धर्म ही हमें प्रेरित कर रहा है कि हम तुमसे और तुम्हारे सैनिकों से, उन स्त्रियों की रक्षा करें ...।"

"तुम जानते हो न धनंजय ! कि यदि दुर्योधन और उसके मित्रों की स्त्रियों की रक्षा करोगे, तो भी दुर्योधन तुम्हारा कोई उपकार नहीं मानेगा।" चित्रसेन बोला, "किंतु गंधर्वों के मन में तुम्हारे विरुद्ध एक रोष व्याप्त हो जाएगा। संभव है कि भविष्य में तुम्हें हमारी सहायता न मिल सके। तुम उससे वंचित भी हो सकते हो।"

अर्जुन हँसा, "धर्म का आचरण करनेवाले, केवल धर्म को देखते हैं; अपना हानि-लाभ नहीं । उनका सबसे बड़ा लाभ उनका धर्म ही है। यदि हम अधर्म के मार्ग से मित्र एकत्रित करेंगे, तो हममें और दुर्योधन में, अंतर ही क्या रह जाएगा।" अर्जुन ने उसकी ओर देखा, "अंतिम बार पूछ रहा हूँ, तुम अपने बंदियों को मुक्त करोगे या नहीं ?"

"नहीं !" चित्रसेन सहज रूप से हँस रहा था।

"इसे परिहास मत समझना।" अर्जुन ने गंभीर स्वर में कहा, "मैं उन्हें मुक्त कराने के लिए बल का प्रयोग करूँगा।"

चित्रसेन थोड़ी देर तक मौन खडा उसे देखता रहा और फिर बिना कुछ कहे, उसके एकदम निकट आ गया जैसे कोई अत्यंत गोपनीय बात कहना चाहता हो। वह धीमे स्वर में बोला, "धनंजय मेरी रंच मात्र भी इच्छा नहीं है कि मैं अपने इन बंदियों को मुक्त करूँ; किंतु यह भी जानता हूँ कि धर्मराज के आदेश के बाद मैं इन्हें ले कर जा भी नहीं सकता।" वह रुका, "मेरा कोई सैनिक यह जान कर प्रसन्न नहीं होगा कि हाथ आए बंदियों को हम बिना किसी शुल्क के मुक्त कर रहे हैं। इसलिए युद्ध का कुछ नाटक तो करना ही होगा, जिससे मेरे सैनिक यह मानें कि हमने तुमसे पराजित होकर, बंदियों को मुक्त किया है। क्या तुम्हें यह स्वीकार्य होगा कि मेरे सैनिक अपने बंदियों को साथ ले कर निकल भागने का एक प्रयास करें, यदि तुम उन्हें रोक सको तो बंदियों को छुड़ा लो, न रोक सको तो फिर अन्यथा न मानना। रानियाँ न सही, पर मेरे सेनानायक अपने हाथ आई गणिकाएँ और नर्तकियाँ तो अपने साथ निकाल ले जाने का प्रयत्न करेंगे ही। तुम अपने बंदी छुड़ा लो; किंतु मेरे सैनिकों का संहार मत करना। ..."

अर्जुन को स्पष्ट दीख रहा था कि चित्रसेन उसके साथ चतुराई कर रहा है; किंतु उसकी उसे चिंता नहीं थी। वह यहाँ कुरुकुल की स्त्रियों को छुड़ाने आया था, गंधर्वों का संहार करने नहीं ।...

"स्वीकार है।" अर्जुन ने अपनी सहमति दे दी, "तुम अपने सैनिकों को आगे बढने का आदेश दो।"

अर्जुन अपने भाइयों के निकट आ गया; और चित्रसेन अपनी सेना में लौट गया।

चित्रसेन ने अपने सारे सेनानायकों को संकेत से निकट बुलाया, "पांडव चाहते हैं कि हम अपने बंदी उनको सौंप दें। वे कुरुकुल के लोगों को हमारे बंदियों के रूप में नहीं देख सकते। अब हमें यह निर्णय करना है कि हम क्या करें—पांडवों से युद्ध करें, उनका व्यूह तोड कर निकल भागने का प्रयत्न करें; ... अथवा समर्पण कर दें ?"

चित्रसेन के चारों ओर एक मौन छा गया : अधिकांश सेनानायक तो चकित भाव से उसकी ओर देख रहे थे। पांडव तो उनके राजा के मित्र थे, फिर इस विरोध का क्या अर्थ ?

अंततः प्रमुख सेनानायक बोला, "हम एक युद्ध जीत चुके हैं। पराजित पक्ष की संपत्ति, स्त्रियाँ तथा स्वामी, हमारे आधिपत्य में है। हम जीत के अधिकतम लाभ प्राप्त कर चुके हैं। अब हमें और कुछ प्राप्त होने की कोई संभावना नहीं है। युद्ध में हमसे कुछ छिनेगा ही। युद्ध से हमें कोई लाभ नहीं होगा, हानि ही हो सकती है। ऐसे में न तो हमारे सैनिको में युद्ध का उत्साह होगा, न कोई उद्देश्य। अतः युद्ध का कोई लाभ नहीं है; और समर्पण की हमें क्या आवश्यकता है। समर्पण तो निश्चित हार है। युद्ध हम करना नहीं चाहते, समर्पण हम करेंगे नहीं। ऐसे में हमारे सामने एक ही मार्ग है—सुरक्षित पलायन। जो कुछ बचा कर निकल सकते हैं, निकल जाएँ। दुर्योधन को छोड़ना पड़े तो छोड़ दीजिए, किंतु रानियों को क्यों छोडा जाए; और हाथ आया कंचन भी क्यों गँवाया जाए। सबसे व्यर्थ पदार्थ तो दुर्योधन ही है।" उसने रुक कर अपना निश्चित मत दिया, "हमने एक बार अपने अश्व दौड़ा दिए, तो पांडव हमारा क्या कर लेंगे।"

"ठीक है।" चित्रसेन बोला, "गुप्त आदेश प्रसारित कर दो कि युद्ध की मुद्रा बनाए हुए, प्रयाण की तैयारी करो। लगना यह चाहिए कि हम व्यूह रचना में व्यस्त हैं; किंतु जैसे ही संकेत मिले, एक साथ वेगपूर्वक प्रस्थान कर दो। हमारी गति इतनी अधिक होनी चाहिए कि जब तक पांडव यह समझ पाएँ कि हमारा लक्ष्य क्या है, तब तक हम उनसे बहुत दूर निकल चुके हों। इस समय वेग ही हमारा एक मात्र शस्त्र हो सकता है।..."

अर्जुन देख रहा था कि चित्रसेन अपने नायकों के साथ कोई योजना बना रहा है। योजना युद्ध की भी हो सकती है और पलायन की भी। अर्जुन को दोनों

के लिए ही तैयार रहना चाहिए। चित्रसेन तथा उसके सैनिकों की कल्पना में भी नहीं होगा कि जिन पांडवों की रक्षा के लिए वे बिना बुलाए भी युद्ध करने आए हैं, वे पांडव शस्त्र सज्जित हो कर उनके सम्मुख युद्ध की चुनौती बन कर खडे हो जाएँगे। ... इसलिए चित्रसेन सहज ही तो उसकी बात नहीं मान जाएगा। संभव है कि वह उससे कोई छल करने का प्रयत्न करे। ... उसने यह तो कहा ही है अर्जुन से कि वह उसके सैनिकों का संहार न करे ... उसने नाटक की बात कही है। अब पता नहीं कि नाटक किसके साथ होगा। कहीं अर्जुन ही नाटक का दर्शक न बना रह जाए।... सचमुच चित्रसेन को बुरा लगा होगा कि उसका मित्र ही, अपनी रक्षा के लिए उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के स्थान पर, अपने आयुद्ध ले कर शत्रुओं के समान उनके सामने युद्ध के लिए प्रस्तुत हो गया है।... किंतु अर्जुन भी यह कैसे सहन कर सकता था कि उनके मित्र हो कर उनकी सहायता के नाम पर, कुरुकुल की स्त्रियों को कोई दासियाँ बना कर अपने साथ ले जाए। यह तो कुछ वैसा ही है कि यदि कोई गाय अर्जुन को सींग मार दे तो अर्जुन का कोई मित्र, प्रतिशोध के नाम पर गाय की हत्या ही कर दे।...ऐसी विकृत सहायता का क्या करना है पांडवों को ?

सहसा अर्जुन ने देखा कि चित्रसेन ने अपनी भुजा उठा कर अपने सेना नायकों को कोई संकेत किया। सेनानायकों द्वारा वही संकेत अपने अधीनस्थ अधिकारियों को दिया गया। गंधर्वो के सारथि सन्नद्ध हुए; और उनके रथ वेग से चल पड़े। रथों के साथ ही अश्वों ने भी पग उठाए और सपाटे से दौड चले।...

भीम, नकुल और सहदेव ने अपने रथ आगे बढ़ा कर जैसे अर्जुन के बचाव के लिए एक व्यूह-सा रच दिया। अर्जुन उनके पीछे रह गया था। उसने अपना गांडीव उठाया और बाणों की वर्षा होने लगी। पहली बौछार से अर्जुन ने अपने भाइयों के लिए एक कवच का सा निर्माण कर दिया था। दूसरी बौछार हुई तो गंधर्वो के भागते हुए अश्वारोहियों तथा सारथियों ने वल्गाएँ खींच लीं। उनके सामने अर्जुन ने अपने बाणों का एक जाल-सा बुन दिया था।...

चित्रसेन स्पष्ट देख रहा था कि अर्जुन ने अपने वचन की रक्षा की थी। वह न गंधर्वो पर आक्रमण कर रहा था, न उनका संहार कर रहा था; किंतु उसने उनके निकल भागने के लिए भी कोई अवकाश नहीं छोडा था। वह गंधर्वो का संहार नहीं कर रहा था; किंतु यदि गंधर्व उससे चतुराई करने का प्रयत्न करेंगे, यदि अपने बंदी, पांडवों को समर्पित किए बिना निकल भागने का प्रयत्न करेंगे, तो उन सबके वक्ष में अर्जुन के बाण बिंधे हुए दिखाई पडेंगे। ...यह मात्र चेतावनी थी कि यदि वे आगे बढे तो अर्जुन के बाण, उनके कवचों को फाड़ कर, उनके शरीर में प्रवेश भी कर सकते हैं।

चित्रसेन ने अपनी भुजा उठा कर सेना को रुकने का संकेत किया। उसके सेनानायक उसके निकट आए, तो वह बोला, "हम पांडवों से पार नहीं पा सकेंगे। व्यर्थ ही अपनी सेना कटवाने का कोई लाभ नहीं है।...यदि हममें से कुछ लोग इन बाणों से बच निकलने में सफल हो भी गए, तो वे भीम की गदा और नकुल सहदेव के खड्गों से सुरक्षित निकल नहीं पाएँगे। ... मेरा विचार है कि हम पांडवों की इच्छानुसार अपने बंदी उन्हें समर्पित कर दें और मैत्री के वातावरण में चुपचाप यहाँ से सुरक्षित निकल जाएँ।"

"स्वामी का विचार ही उचित है।" उसके सेनानायक तत्काल सहमत हो गए।

10

कुंती के रथ ने दुर्योधन के भवन में प्रवेश किया तो कुंती ने देखा, कर्ण अपने रथ में चढ़, तल्प पर बैठ रहा था, और दुर्योधन उसे विदा करने के लिए उसके निकट ही खड़ा था।

कुंती का मन अजाने ही विह्वल हो आया... हस्तिनापुर में निवास करते हुए एक अनाम-सी अनुभूति, उसके मन में बनी ही रहती थी।...उसके पाँच पुत्र वन में थे; किंतु उसका एक पुत्र, यहीं उसके आस-पास हस्तिनापुर में भी था। वह दृष्टि उठाए तो उसे देख सकती थी। अपनी भुजा बढ़ाए तो उसे छू सकती थी।... आवश्यक तो नहीं कि वह उसकी माता बन कर ही उसे मिले। वह एक सामान्य परिचिता के रूप में भी तो उसे मिल सकती थी। राजपरिवार की एक सामान्य सदस्या के रूप में...। किंतु जब कभी उनका आमना-सामना होता था,कर्ण को शायद यह स्मरण हो आता था कि वह पांडवों की माता है, उसके शत्रुओं की माता।...और कुंती भी कभी यह विस्मृत नहीं कर पाती कि यह वही कर्ण है, जिसने द्यूतसभा में पांचाली को वेश्या कहा था। इसी ने उसे निर्वस्त्र करने का प्रस्ताव रखा था ...उसके मन में अपने इस पुत्र के लिए, वितृष्णा जाग उठती है। कर्ण के मन में भी, अपने शत्रुओं की माता के प्रति कोई ऐसा ही भाव जन्मता होगा।

कुंती अपने रथ पर बैठी रही और उसके देखते-देखते ही कर्ण का रथ चला गया। दुर्योधन कुंती को देख लेने पर भी उसकी अगवानी के लिए नहीं रुका। न ही उसने कोई अभिवादन किया। वह इस प्रकार भवन के भीतर चला गया, जैसे या तो कुंती वहाँ थी ही नहीं, या फिर उसने उसे देखा नहीं था।

सारथि ने रथ को, भवन के मुख्य द्वार के सम्मुख की सीढियों से लगा कर रोक दिया। कुंती तल्प से उठ खड़ी हुई।

"तुम कितनी देर में मुझे लेने आओगे ?" कुंती ने सारथि से पूछा।

"मैं आपकी प्रतीक्षा करूँगा राजमाता !"

कुंती मन ही मन हँसी : यह भला आदमी आज तक उसे राजमाता ही कहता है। ... वैसे कोई और नया और उपयुक्त संबोधन खोजने से तो सरल यही है कि वह उसे 'राजमाता' ही कहता चला जाए। इसमें न तो किसी का कुछ व्यय होता है, और न किसी की कोई हानि होती है।

"विदुर को रथ की आवश्यकता होगी।" कुंती ने कहा।

"अब तक तो महामंत्री दूसरा रथ ले कर चले भी गए होंगे।" सारथि बोला, उन्होंने मुझे आदेश दिया था कि मैं आपके लिए यहाँ प्रतीक्षा करूँ; और आपको ले कर ही लौटूँ।"

"अच्छा ! ठीक है। कहीं वृक्षों की शीतल छाया देख कर रथ को खड़ा कर लो। न स्वयं धूप में जलना, न अश्वों को ही तपाना।"

"बहुत अच्छा राजमाता !"

दासियों ने बाहर निकलकर कुंती की अगवानी की। अंतःपुर में पहुँचकर उसने देखा, काशिका उसकी प्रतीक्षा ही कर रही थी। कुंती ने मुस्कराकर उसकी ओर देखा; किंतु काशिका ने सहज शिष्ट मुस्कान के साथ प्रणाम करने के स्थान पर अश्रुपूर्ण आँखों से उसकी ओर देखा, दौड़ती हुई आई और कुंती के चरण पकड़कर जैसे बैठ ही गई।

कुंती चकित दृष्टि से उसकी ओर देखती रह गई। फिर कुछ सँभलकर बोली, "तुम्हारा कल्याण हो बहू ! उठो ! यह क्या कर रही हो।"

काशिका ने अपना चेहरा ऊपर उठाया। उसकी आँखों से दो अश्रु ढलके; किंतु मुख से वह कुछ बोली नहीं।

कुंती ने उसकी भुजा पकड़कर उसे बलपूर्वक उठाया, "उठो बहू।"

काशिका खड़ी हुई तो कुंती के कंठ से लग गई और फिर उसके कंधे पर अपना सिर टेक कर सशब्द रो पड़ी।...

अपनी भुजाओं में भर कर कुंती उसे कक्ष के भीतर ले आई। दासियो ने सहायता की। कुंती ने उसे एक मंच पर बैठाया, और स्वयं उसके साथ बैठ गई। उसकी पीठ को सस्नेह थपका और बोली, "धैर्य धारण करो बहू ! बताओ, क्या हुआ।"

"काकी !" काशिका ने बिना कोई औपचारिक संबोधन जोड़े, आत्मीयतापूर्वक कहा, "अब मैं अनुभव कर पाई हूँ कि कृष्णा को इन लोगों ने द्यूतसभा मे निर्वस्त्र करने का प्रयत्न किया था, तो उसके मन को क्या सहना

पडा होगा।"

कुंती चुपचाप उसे देखती रही।

"काकी !..." काशिका पुनः रो पडी।

कुंती ने भुजा बढा कर उसे अपने कंधे से लगा लिया।

तभी भानुमती ने कक्ष में प्रवेश कर कुंती के चरण छुए।

"कल्याण हो बहू !"

"अटल सौभाग्य की आशीष नहीं देंगी काकी महाराज !"

"क्या अटल सौभाग्य तुम्हारे कल्याण से बाहर है बहू ?"

"नहीं ।" दासियों द्वारा रखे गए आसन पर बैठ कर, भानुमती ने कहा, "किंतु जिन घटनाओं मे से हो कर हम घर लौटी हैं, उसके पश्चात् बुद्धि शायद निर्णय नहीं कर पा रही कि क्या कल्याणकारी है और क्या नहीं ।"

"काकी !" काशिका स्वयं को संयत कर बोली, "हमारे पति राजा दुर्योधन, हस्तिनापुर के महाबली युवराज दुर्योधन, रस्सियों में बँधे हुए बिलख-बिलख कर रो रहे थे, चिल्ला रहे थे कि धर्मराज मुझे बचाओ, मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारा भाई हूँ। कुरुकुल की लाज रखो। ... और गंधर्व चित्रसेन, धनंजय तथा मध्यम पांडव भीमसेन को स्मरण करा रहा था कि दुर्योधन ने कैसे द्रौपदी को बीच सभा में निर्वस्त्र करने का प्रयत्न किया था।... सोचिए काकी ! हमारी क्या स्थिति थी। यदि आपके पुत्रों के मन में, एक क्षण के लिए भी द्वेष की भावना जाग उठती। वे कुछ न भी करते, बस मौन खड़े रहते, तो गंधर्व हमारी स्थिति, द्रौपदी कृष्णा की उस स्थिति से भी अधम कर देते।" काशिका ने पुनः कुंती के चरण पकड़ लिए, "आप हमें क्षमा कर सकेंगी काकी ! हम लोग वहाँ द्रौपदी के सम्मुख अपने वस्त्राभूषणों की प्रदर्शनी लगा कर, अपना वैभव प्रदर्शित कर, उसे लज्जित और पीड़ित करने के लक्ष्य से गई थीं।"

"शांत हो जाओ बहू !" कुंती ने स्थिर वाणी से कहा, "मेरे पुत्रों ने मात्र अपने धर्म का निर्वाह किया है। कोई भला मानस तो किसी वेश्या को भी, इस प्रकार अपमानित नहीं करेगा। नारी की लज्जा की रक्षा करना तो धर्म है—चाहे वह नारी स्वयं में कितनी ही पतित क्यों न हो।" ...और सहसा कुंती का मन कर्ण की ओर भटक गया।... यदि कहीं वह उसे भी, नारीत्व का सम्मान करना सिखा पाती।

"महावीर कर्ण के होते हुए, महाराज दुर्योधन की यह दुर्दशा कैसे हुई ?"

"मैं समझ नहीं पा रही काकी ! कि इसे इन लोगों की मूर्खता कहूँ अथवा कायरता।" भानुमती बोली, "पहले तो बिना सोचे समझे, बिना शत्रु की शक्ति आँके, बिना शस्त्रों और व्यूह की क्षमता की परीक्षा किए, अहंकारवश अपने सेनानायकों को आदेश दे दिया कि गंधर्वों को मार कर भगा दो। और जब गंधर्वों

ने आक्रमण किया, तो कौरव राजकुमार, साधारण सैनिकों से भी पहले, शत्रु को पीठ दिखाकर भाग गए। अपनी पत्नियों और रक्षिताओं के सम्मुख उन्होंने ऐसी वीरता का प्रदर्शन किया कि हम सब उनकी बलिहारी ही जा सकती हैं। ... उसके पश्चात् जब गंधर्वों ने कर्ण का रथ तोड दिया, तो कर्ण कूद कर विकर्ण के रथ पर जा चढ़ा; और स्वयं तो रण छोड़ कर भागा ही, विकर्ण को भी अपने साथ भगा ले गया, जो तब तक पूर्ण निष्ठा से युद्ध कर रहा था।"

"तो कर्ण लौट कर रण में नहीं आया ?" कुंती ने पूछा।

"कहाँ !" काशिका बोली, "वह तो जब चारों पांडवों ने हमारी रक्षा कर ली, गंधर्व हमें मुक्त करके चले गए... राजा दुर्योधन रोते-झींकते, सिर पीटते लौट रहे थे, तो महावीर कर्ण 'मैं तो बस लौट ही रहा था। इस बार तो मैं गंधर्वों के टुकडे ही कर देता।... ' इत्यादि, आत्मप्रशस्ति करता हुआ मार्ग में आ मिला।"

"दुर्योधन ने उससे यह नहीं पूछा कि कोई भला आदमी अपने मित्र और स्वामी को शत्रुओं के सम्मुख इस प्रकार असहाय छोड कर भाग जाता है क्या ?" कुंती ने पूछा।

"उस समय तो काकी ! हमारे आर्यपुत्र किसी से कुछ पूछने की स्थिति में नहीं थे। वे तो पूर्णतः विक्षिप्त हो रहे थे।" भानुमती बोली, "विचार कीजिए, जिस एक धनंजय के भय से गंधर्व हमें मुक्त कर चुपचाप चले गए, उसके साथ उसके चारो भाई तथा अन्य सहायक होंगे, तो क्या करेंगे राजा दुर्योधन; और क्या कर लेंगे उनके भाई और मित्र। आर्यपुत्र अपनी भर्त्सना कर रहे थे। स्वयं को अभागा बता रहे थे। हस्तिनापुर लौटते हुए मार्ग में वे तो प्रायोपवेशन के लिए बैठ गए थे। वे अपने प्राण त्याग देना चाहते थे। जिन पांडवों की कृपा से उन्हें अपना जीवन, राज्य और सम्मान वापस मिला, उन्हीं पांडवों की शक्ति से क्षुब्ध हो कर, उन्हें नष्ट न कर पाने की हताशा में अपने प्राण त्याग देना चाहते थे। एक बार भी उनके मन में धर्मराज और उनके भाइयो के प्रति कृतज्ञता का भाव नहीं जागा। स्नेह का उदय नहीं हुआ, सम्मान उत्पन्न नहीं हुआ। नीचता की भी कोई सीमा होती है काकी ! इन लोगों में मनुष्यता नाम का तो कोई तत्त्व ही नहीं है। जिनकी कृपा से जीवित बचे थे, जिनकी शक्ति से इनकी पत्नियों के सम्मान की रक्षा हुई थी, उन्हीं को नष्ट करने के उपाय सोचते रहे, उन्हीं की भर्त्सना करते रहे, उन्हीं को कोसते रहे। ... और यह महावीर कर्ण ! इसने एक बार भी यह संकल्प नहीं किया कि वह उन गंधर्वों से इस अपमान का प्रतिशोध लेगा। वह बार-बार पांडवों को नष्ट करने की ही प्रतिज्ञा करता रहा। बलिहारी इनकी बुद्धि की ! ..."

कुंती मौन रह कर भानुमती की बात सुनती रही ... ठीक ही तो कह रही

है भानुमती। ये मूर्ख अपने भाइयों, अपने शुभचिंतकों, अपने रक्षकों के ही शत्रु बने बैठे हैं। इनकी रक्षा कौन कर सकता है।

कुंती घर लौटी तो विदुर सम्मुख पड़ गए, "भाभी ! सुन आई व्यथा-कथा अपनी बहुओं की ?"

कुंती मुस्कराई, किंतु उसके चेहरे का अवसाद धुल नहीं सका, "हाँ ! दुखी हैं बेचारियाँ। अपने अपमान का कष्ट तो है ही; कुछ अंतरात्मा का दंश भी है कि किसे पीडित करने गई थीं। उधर पति की कृतघ्नता की असीमता देख कर भी ग्लानि से मरी जा रही हैं।"

"पता नहीं, उन्होंने तुम्हें बताया या नहीं, "विदुर बोले, "कि जब गंधर्व उन्हें मुक्त कर चले गए, तो युधिष्ठिर ने तो स्नेह जताया और कहा कि जाओ, अब निर्भय हो कर घर जाओ। द्वेष, ईर्ष्या तथा मात्सर्य को मन से निकालो और ईश्वर ने जो दिया है, उसका सुख से भोग करो; किंतु दुर्योधन ने पांडवों के प्रति कृतज्ञता का एक शब्द भी नहीं कहा। उसकी इंद्रियाँ जैसे शिथिल हो गई थीं। मस्तिष्क काम नहीं कर रहा था। वह द्वेष में ग्रस्त, वहाँ से चुपचाप चला आया। मार्ग में एक स्थान पर, जहाँ प्रकृति सुंदर थी तथा घास, जल और वृक्षों की छाया उपलब्ध थी, वह ठहर गया।

"वहीं कर्ण उससे आकर मिला। कर्ण ने दुर्योधन को उसकी वीरता और विजय पर बधाई दी कि उसने इतनी प्रचंड गंधर्व वाहिनी पर विजय पाई थी। अपने विषय में उसने कहा कि उसे गंधर्वो की कई वाहिनियों ने घेर लिया था। वह गंभीर रूप से घायल हो गया था। सारे शरीर से रक्त वह रहा था। रथ खंड-खंड हो चुका था। सारथि मारा जा चुका था। अश्वों ने घुटने टेक दिए थे। ऐसे में यदि वह पलायन न करता, तो व्यर्थ ही मारा जाता। अपने पलायन का उसे दुख तो था; किंतु इस बात की उसे प्रसन्नता थी कि दुर्योधन और उसके भाइयों ने अपनी वीरता के बल पर, शक्तिशाली गंधर्व राजा चित्रसेन पर विजय पाई थी।"

"कर्ण को दुर्योधन तथा अन्य लोगों की स्थिति देख कर समझ नहीं आ रहा था कि वह विजयिनी सेना का रूप नहीं था ?" कुंती ने पूछा।

"मुझे लगता है कि अपने कायरतापूर्ण पलायन को ढाँपने के लिए, वह दुर्योधन की वीरता की अधिक से अधिक प्रशंसा कर देना चाहता था।" विदुर बोले।

पारंसवी भी अपना काम निबटाकर उनकी चर्चा में सम्मिलित हो गई, "दुर्योधन ने उसे बताया नहीं ?"

"जो सूचनाएँ मुझे भानुमल और महापद्म से मिली हैं, उनके अनुसार दुर्योधन ने सब कुछ बहुत स्पष्ट रूप से कह सुनाया।" विदुर बोले, "अपनी पराजय की चर्चा तो उसने की; किंतु यह कहा कि उसके शत्रुओं के हाथों उसकी रक्षा हुई है—यह उसके लिए बहुत लज्जा की बात है। इससे तो अच्छा था कि वह युद्ध में ही गंधर्वों के हाथों वीरगति प्राप्त करता।"

"लो।" कुंती हँसी, "काशिका और भानुमती बता रही थीं कि बंदी हो जाने पर, पांडवों को सहायता के लिए पुकार-पुकारकर, दुर्योधन ने आकाश सिर पर उठा लिया था। वीरगति का इतना ही इच्छुक था तो पांडवों को पुकारने की क्या आवश्यकता थी। उसके स्थान पर गंधर्वों को ललकारता, तो वीरगति मिली ही मिली थी।"

"इतना ही नहीं, उसने इस पराजय के पश्चात् हस्तिनापुर जाने से इंकार कर दिया।" विदुर बोले, "उसने कहा कि इस लज्जाजनक पराजय के पश्चात् वह हस्तिनापुर में किसी को मुख भी नहीं दिखा सकता। इसलिए वह वहीं बैठ कर अन्न-जल त्याग प्राण दे देगा। उसने दुःशासन के सिर पर हाथ रख कर कहा कि वह हस्तिनापुर का राज्य उसे दे रहा है।"

पारंसवी उच्च स्वर में हँसी, "हस्तिनापुर का राज्य। अरे, अभी तो सिंहासन पर महाराज धृतराष्ट्र बैठे हैं। उन्होंने राज्य तो अभी दुर्योधन को भी नहीं दिया, और वह उस अनपाए राज्य को दुःशासन को दे रहा है।"

"उसने ऐसे ही तो कर्ण को अंगदेश का राज्य दे दिया था।" विदुर बोले, "जो भी हो। दुःशासन ने उसका दिया हुआ राज्य स्वीकार नहीं किया। उसने उससे प्रायोपवेशन का विचार त्याग देने का बहुत आग्रह किया। दुर्योधन ने संकल्प से टलने का कोई लक्षण नहीं दिखाया तो कर्ण ने एक अद्भुत तर्क दे कर, उसकी ग्लानि दूर करने का प्रयत्न किया।..."

"कैसा तर्क ?" कुंती ने पूछा।

"उसने कहा कि यदि गंधर्वों के वश हो जाने पर पांडवों ने उसे मुक्त कराया है, तो उस पर कोई कृपा नहीं की है।" विदुर ने बताया, "उसका कहना था कि पांडव उसके राज्य में सुरक्षित रह रहे हैं। अतः अपने राजा की रक्षा उनका धर्म था। कई बार राजा अथवा सेनापति बंदी अथवा हताहत हो जाते हैं; किंतु साधारण सैनिक युद्ध करते रहते हैं, और अंततः उन साधारण सैनिकों के कारण राजा युद्ध जीत जाता है...।"

"अर्थात् पांडव साधारण सैनिक हैं और दुर्योधन उनका राजा है। पांडव साधारण सैनिकों के रूप में लड़े, और उन्होंने अपने राजा को मुक्त कराया ?" कुंती ने पूछा।

"निर्लज्ज ही नहीं, नीच भी है यह कर्ण।" पारंसवी जैसे अपने आपसे बोली।

कुंती को कुछ बुरा लगा; किंतु वह पी गई। पारंसवी क्या जानती थी कि कर्ण भी उसी का पुत्र था।...और फिर काम तो कर्ण ने नीचता का ही किया था।...कुंती को भी अपने मन में यह स्पष्ट कर लेना चाहिए था कि या तो कोई पांडवों का पक्ष ले सकता था, या फिर कर्ण का।...कोई दोनों का पक्ष कैसे ले सकता था ? अवसर आने पर कुंती भी दोनों का पक्ष कैसे लेगी ?...

"फिर उसने यह तर्क भी दिया कि जितना अपमान पांडवों का हुआ था, उतना दुर्योधन का नहीं हुआ। पांडवों ने तो आत्महत्या नहीं की। तो फिर दुर्योधन ही क्यों, आत्महत्या करने पर तुला हुआ है।"

"कर्ण ने यह नहीं कहा कि यदि दुर्योधन प्रायोपवेशन का विचार त्याग दे तो कर्ण चित्रसेन को बाँध कर, उसके चरणों में डाल देगा ?" पारंसवी हँस रही थी।

"नहीं । उस दिन उसने अपनी वीरता की डींग नहीं मारी।" विदुर ने बताया, "हाँ। उसने अपनी दीनता प्रदर्शित की और कहा कि यदि दुर्योधन अपनी हठ नहीं छोड़ेगा, तो वह भी उसकी सेवा में वहीं रह जाएगा और उसके साथ ही अपने प्राण त्याग देगा।" विदुर रुके, "किंतु सबसे विचित्र बात तो शकुनि ने कही।"

"उसने क्या कहा ?" कुंती ने पूछा।

"विचित्र नहीं कहना चाहिए; किंतु जो कुछ उसने कहा, वह उससे किंचित भी अपेक्षित नहीं था।" विदुर बोले, "उसने कहा कि पांडवों ने तुम्हारा सत्कार किया, तो तुम इतने दुखी हो। यदि कहीं वे तुम्हारा तिरस्कार करते, तो तुम क्या करते ? पांडवों ने सद्व्यवहार किया है, तो तुम उनसे संतुष्ट हो कर, उनका राज्य उन्हें लौटा दो। इससे तुम कृतज्ञ माने जाओगे। उनसे तुम्हारे संबंध मधुर हो जाएँगे; और तुम सुखी रहोगे।"

"यह सब उस धूर्त्त शकुनि ने कहा ?" पारंसवी ने आश्चर्य से पूछा।

"नहीं । मैं नहीं मानती।" कुंती बोली, "शकुनि ऐसी बात कह ही नहीं सकता।"

"मैं तुम दोनों से सहमत हूँ कि यह शकुनि की नीति नहीं है। वह ऐसा कह ही नहीं सकता।" विदुर बोले, "किंतु सत्य यही है कि उसने यह सब कहा। अब प्रश्न यह है कि उसने ऐसा क्यों कहा ? क्या सत्य ही वह यह चाहता है कि दुर्योधन पांडवों का राज्य उन्हें लौटा दे ? पांडवों और दुर्योधन में सौहार्द उपजे, और कौरवों में शांति स्थापित हो जाए ? या ..."

"ऐसा तो संभव ही नहीं है।" कुंती बोली।

"मेरा विचार है कि उसने दुर्योधन की मनःस्थिति देखते हुए, उसे उत्तेजित करने के लिए ही ऐसा प्रस्ताव रखा होगा।" विदुर बोले, "दुर्योधन, पांडवों की

श्रेष्ठता, उत्कृष्टता, उनका वैभव, उनका सुख—कुछ भी सहन नहीं कर सकता। उनके सम्मुख याचक बनने की बाध्यता से पीड़ित हो कर प्राण त्यागना चाहता था; किंतु गहन हताशा की स्थिति में भी, वह सारा राज्य दुःशासन को देना चाहता था। वरन् अपने प्राण त्यागने से पहले वह सारा राज्य दुःशासन के हाथों में सुरक्षित कर जाना चाहता था। ऐसी स्थिति में शकुनि ने उसके सामने प्रस्ताव रखा कि राज्य पांडवो को दे दिया जाए। शकुनि जानता था कि इस पराजय के पश्चात् भी दुर्योधन का मन परिवर्तित नहीं हुआ था। वह द्वेष की पराकाष्ठा मे जल रहा था। शकुनि जानता था कि ऐसे में पांडवों के तनिक से उत्कर्ष की चर्चा भी दुर्योधन की पीडा को दोगुना कर देगी। वह इस कल्पना को भी सहन नहीं कर पाएगा कि उसकी मृत्यु के पश्चात् इंद्रप्रस्थ का राज्य पांडवों को मिल जाए। इसलिए दुर्योधन, अपने सुख के लिए जीवन धारण करे न करे; किंतु पांडवों को पीड़ित करने के लिए वह जीवित रहेगा। ..."

"हॉं ! यह संभव है।" कुंती बोली।

"तो क्या दुर्योधन शकुनि की बात मान गया ?" पारंसवी ने पूछा।

"नहीं ।" विदुर बोले, "वह अपने संकल्प पर टिका रहा। उसने स्वच्छ जल से आचमन कर, स्वयं को पवित्र किया और प्रायोपवेशन का संकल्प कर, आसन पर बैठ गया। वह रात भर आसन पर बैठा रहा और प्रातः उठ कर हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान के लिए तैयार हो गया।"

"अरे !" पारंसवी चकित थी, "रात को प्राण देने के लिए आसन पर बैठा और प्रातः उठ कर हस्तिनापुर की ओर चल दिया। ... किसी ने उसका कारण नहीं पूछा ?"

"कारण। हॉं, कारण तो बताया गया।" विदुर मुस्करा रहे थे, "हुआ यह कि जब दुर्योधन अपने प्राण देने को तत्पर हो गया, तो पाताल के दानवों मे खलबली मच गई। वे देवताओं के विरोधी हैं। वे लोग यह मान रहे थे कि दुर्योधन की वृत्तियॉं उन्हीं के समान हैं। इसलिए वे दुर्योधन के माध्यम से देव शक्तियो को जय कर लेंगे। अब, जब यह निश्चित् हो गया कि दुर्योधन ही जीवित नहीं रहेगा, तो उनका चिंतित होना स्वाभाविक ही था। ... उन्होंने भयंकर मंत्रो से एक भयंकर यज्ञ किया और उसमें से एक कृत्या उत्पन्न की। उस कृत्या को दुर्योधन के पास भेजा गया। कृत्या दुर्योधन को उठा कर पाताल लोक ले गई। उन दानवों ने दुर्योधन को समझाया कि सृष्टि में सद् और असद् शक्तियों के इस संघर्ष में दुर्योधन असद् शक्तियों का सेनापति है। वह स्वयं को असहाय क्यों मान रहा है। वे सब लोग उसकी सहायता करेंगे। वस्तुतः दुर्योधन का युद्ध वे लड़ेंगें। सबसे बडी बात तो यह है कि श्रीकृष्ण के द्वारा वध किए जाने के पश्चात् से भौमासुर की प्रेतात्मा अपने प्रतिशोध के लिए व्याकुल होकर भटक

रही थी। उसने अब अपने वाहन के रूप में कर्ण का चयन किया था। कर्ण अब भौमासुर का प्रतिरूप होगा और पांडवों के विरुद्ध दुर्योधन की ओर से युद्ध करेगा। शेष दैत्य विभिन्न प्रकार से संसार के अन्य योद्धाओं को अपने प्रभाव में लेंगे, उनकी आत्माओं, उनकी बुद्धि तथा मन पर अधिकार प्राप्त करेंगे और उन सबको पांडवों के विरुद्ध लडने के लिए, दुर्योधन की सहायता करने के लिए प्रेरित करेंगे। इसलिए पांडवों के विरुद्ध होनेवाले आगामी युद्ध में, दुर्योधन की पराजय की कोई संभावना नहीं है। दैत्यों ने उसे यह भी बताया कि वे लोग भीष्म, द्रोण तथा कृपाचार्य की आत्मा पर पहले ही आंशिक रूप में अधिकार कर चुके हैं और वे लोग अब पांडवों से पहले जैसा प्रेम नहीं करते।... इस प्रकार सृष्टि की समस्त शक्तियों का यह आश्वासन प्राप्त कर, कि सम्मुख युद्ध में दुर्योधन की ही विजय होगी—दुर्योधन ने प्रायोपवेशन का संकल्प छोड़ दिया और हस्तिनापुर आ गया।..."

कुंती की दृष्टि जैसे सत्य के शोधन के लिए, विदुर के चेहरे को टटोलती रही; और पारंसवी उन्हें मात्र आश्चर्य से देखती रही, जैसे उसने कोई अद्भुत कथा सुनी हो...

"इस सबका क्या अर्थ है विदुर ?" अंततः कुंती ने पूछा।

"भाभी ! यह वह कथा है, जो दुर्योधन के प्रायोपवेशन त्यागने और हस्तिनापुर लौटने के कारण स्वरूप सुनाई गई।" विदुर बोले, "अब हमारी जिज्ञासा है कि यह कथा किसने कही; और कहनेवाले का अभिप्राय क्या है ?" विदुर ने रुककर उन दोनों को बोलने का अवसर दिया; किंतु उन दोनों ने ही, कोई उत्तर नहीं दिया। तब विदुर ही बोले, "इसमें पहली संभावना तो यह है कि दुर्योधन ने जब कुछ समय के लिए कुछ भी नहीं खाया पिया, तो शरीर में जल तत्त्व के कम होने से उसे जो कष्ट हुआ होगा, उसे उसने शरीर त्यागने के कष्ट का प्रथम चरण समझा होगा। उसी के आधार पर उसने मृत्यु के विकराल रूप की कल्पना की होगी। वह भयभीत हो गया होगा। उसमें जीवन के सुखों तथा भोगों के प्रति लालसा जगी होगी; और उसने मन ही मन, इस कथा का निर्माण कर, स्वयं को अपनी विजय का विश्वास दिला, प्रायोपवेशन का संकल्प त्याग दिया।..."

"इस प्रकार तो यह भी हो सकता है विदुर ! कि अपनी उस अर्द्धचेतना की अवस्था में दुर्योधन के मन ने सचमुच ही कोई माया रची हो, और उसे इस प्रकार का कोई भ्रम हुआ हो।" कुंती बोली, "जब इंद्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, तो मनुष्य को इस संसार के यथार्थ का भान नहीं रहता, उसकी मरणासन्न चेतना जाने किन-किन काल्पनिक लोकों की यात्रा करती रहती है।..."

"मुझे तो लगता है कि उसने निद्रा में कोई स्वप्न देखा होगा।" पारंसवी

वोली, "मनुष्य प्रायः अपनी सुषुप्त इच्छाओं को अपने स्वप्नों में सजीव रूप में देखता है।"

"तो क्या निद्रा भंग होने पर दुर्योधन स्वप्न और यथार्थ में भेद नहीं कर सका ?" विदुर मुस्करा रहे थे।

"इश्वर जाने, यह भेद वह कर नहीं सका अथवा करना नहीं चाहता था।" पारसवी ने उत्तर दिया, "जब प्रायोपवेशन छोड़ने के लिए उसे कोई बहाना चाहिए ही था, तो वह यह भेद क्यों करता।"

विदुर ने कोई उत्तर नहीं दिया, वे आत्मलीन से बैठे सोचते रहे।

"क्या सोच रहे हो विदुर ?" कुंती ने पूछा।

"मैं यह सोच रहा हूँ कि यदि यह कथा दुर्योधन की नहीं, किसी और की गढी हुई है, तो उसका अर्थ क्या है ?"

"इसका अर्थ वही है, जो दुर्योधन प्रचारित करना चाहता है।" पारसवी ने तत्काल कहा, "कोई अन्य अर्थ होता, तो दुर्योधन उसे प्रचारित ही क्यों करता।"

"ठीक है।" विदुर बोले, "किंतु यह भी तो संभव है कि दुर्योधन जो अर्थ समझ कर उस कथा को प्रचारित कर रहा है, कथाकार का वास्तविक अर्थ वह न हो।" विदुर जैसे नए उत्साह से बोले, "अब देखो ! इस कथा में कहा जा रहा है कि दुर्योधन का पक्ष सृष्टि की सात्विक शक्तियों का नहीं, तामसिक शक्तियों का है। उसकी सहायता करनेवालों को आसुरी और दैत्य शक्तियों से प्रभावित बताया जा रहा है। सबसे बड़ी बात यह है कि कहा जा रहा है कि अपने व्यक्तित्व के तामसिक अंशों के कारण पितृव्य भीष्म, आचार्य द्रोण तथा कृपाचार्य, पांडवों से प्रेम नहीं करते... और कर्ण के विषय में क्या कहा जा रहा है ? कर्ण में भौमासुर की आत्मा है और वह इस समय संसार में वर्तमान, सबसे उत्कृष्ट सात्विक शक्ति—श्रीकृष्ण—के घोरतम शत्रुओ में से एक की प्रेतात्मा के प्रभाव में है। वह धर्म का शत्रु है, अधर्म का सहायक है। ... क्या तुम्हें नहीं लगता भाभी ! कि कथाकार ने अपने मन में उपस्थित कर्ण के प्रति घोरतम घृणा को शब्दो में प्रकट कर दिया है ? यह कथा कर्ण के प्रति धिक्कार और तिरस्कार है। यह कर्ण के चरित्र तथा कृत्यों का जन सामान्य द्वारा किया गया मूल्यांकन है ... दुर्योधन से मिल कर जो कुछ वह कर रहा है, उसके प्रति अपनी वितृष्णा प्रकट करने के लिए लोक मानस ने इस रूप में कर्ण के चरित्र को यह दर्पण दिखाया है।..."

कुंती के मन पर एक अनाम-सा अवसाद घिर आया, "शायद तुम ठीक कह रहे हो विदुर !"

इस चर्चा में कुंती का और मन नहीं लगा।... ऐसा क्यों है कि कर्ण अपनी भूल समझ नहीं पा रहा ? क्यों वह पतन के गर्त में गिरता जा रहा है ? क्यों

वह पांडवों से घृणा करता है ? क्यों वह कृष्ण का विरोधी है ? वह उस दुर्योधन से कैसे प्रेम कर सकता है, जिसमें प्रेम करने योग्य कुछ भी नहीं है ?

कुंती को जैसे रात भर नींद नहीं आई। जो थोड़ी देर वह सोई भी, उसे लगता रहा कि वह सो नहीं रही, कठिन श्रम का कोई बहुत जटिल काम कर रही है। एक अनन्त यात्रा, अनवरत यात्रा ...। वह यात्रा भी बडी विचित्र थी। उसके पास न कोई अश्व था, न कोई रथ; किंतु वह निरंतर गतिशील थी। वह समझ नहीं पाई कि जब न उसके पास कोई वाहन था और न ही वह चल रही थी, तो वह गतिशील कैसे थी। उसे जैसे इच्छागति का कोई वरदान मिल गया था। उसका मन जहाँ, जिस ओर जाना चाहता था, वह उसी ओर प्रवाहित हो जाती थी, जैसे मनुष्य का शरीर न हो, पवन का कोई झकोरा हो।... वह उन स्थानों पर घूम रही थी, जिन्हें वह पहचानती भी नहीं थी। वहाँ वह पहले कभी नहीं गई थी। फिर भी वह वहाँ इस प्रकार आ-जा रही थी, जैसे उस सारे क्षेत्र का उसे पूरा ज्ञान हो। उसके साथ मार्गदर्शक कोई नहीं था; किंतु फिर भी वह बिना किसी असुविधा के अपना मार्ग खोज लेती थी।

और फिर कुंती ने देखा कि वह हिमालय के किसी बहुत ऊँचे शृंग पर पहुँच गई है। स्थान बहुत ही पवित्र है, बहुत सात्विक। वहाँ पहुँचकर जैसे मनुष्य के मन का सारा मल कहीं तिरोहित हो जाता है। उसके मन में कोई कलुष रह ही नहीं पाता। कोई कामना नहीं, कोई वासना नहीं । मन भी जैसे पारदर्शी धवल हिम का ही एक अंग हो जाता है। ... उसी स्थान का एक हिमखंड सहसा पिघलने लगा। वह जल पहले तो कुछ दूर तक एक ही धारा के रूप में बहता रहा; किंतु फिर एक शिलाखंड से टकराकर वह अनेक धाराओं में बँट गया।... कुंती ने उन्हें गिना। वह धारा अब छह खंडों में बँट गई थी, फिर भी बड़ी शांति से प्रसन्नतापूर्वक बहती जा रही थी।... और फिर वह हिमालय क्षेत्र समाप्त हो गया। अब समतल भूमि आ गई थी। सामने मिट्टी भी थी, मल भी था। अब मन में उस पवित्रता का भान नहीं होता था। जल की धारा के वहाँ पहुँचते ही जैसे वह मिट्टी उसमें घुलने को तत्पर हो उठी। ... जल में से चीत्कार उठा, '...माँ! हमें बचाओ। हमारी रक्षा करो माँ। हमें मलिन होने से बचाओ।... '

कुंती को बहुत आश्चर्य हुआ ... वे धाराएँ उसे माँ कह कर पुकार रही थीं। वह उनकी माँ कैसे थी ? ... पर नहीं ! वह शायद उनकी माँ ही थी। ... उसके मन में उन धाराओं के लिए वात्सल्य का ही भाव उपजा था... वह उन धाराओं के मध्य चली गई। उसने उन्हें दुलराया और कहा, 'डरो मत मेरे पुत्रो ! जो मिट्टी पर चला ही नहीं, उसकी सात्विकता कोई अर्थ नहीं रखती। तुम लोग

निःशंक हो कर इस धूल-धूसरित धरती पर अपनी यात्रा करो, फिर भी स्वयं को मलिन होने से बचाए रहो, तो ही तुम्हारी सात्विकता और पवित्रता का कोई महत्त्व होगा।...'

धाराएँ शांत हो गईं। वे अपने मार्ग पर चलती रहीं; और कुंती ने देखा कि उनका जल वैसा का वैसा ही स्वच्छ है। गंगा जल जैसा। मिट्टी उनमें घुल नहीं रही है। धाराओं के नीचे ही बैठी हुई है। जल अलिप्त भाव से बहता जा रहा है और मिट्टी उसमे घुलने का साहस ही नहीं कर पा रही है।

...और सहसा उनमें से एक धारा ने अपना मार्ग बदल लिया। वह किसी और ही दिशा में बहने लगी। कुंती के मुख से चीख निकल गई। किंतु उस धारा ने पलटकर भी उसकी ओर नहीं देखा। कुंती उसके पीछे भागी; किंतु धारा का वेग, उसकी गति से कहीं अधिक था। वह दौड कर उसके मार्ग में खडी न हो सकी। धारा उससे बहुत दूर निकल गई थी।...कुंती रुक गई... मनुष्य जल के समान नहीं बह सकता। ... उसने पुकारकर कहा, 'तुम कहीं भी, किसी भी दिशा में प्रवाहित हो पुत्र; किंतु स्वयं को मलिन मत करना। '

धारा ने एक प्रबल अट्टहास किया, और कुंती ने देखा कि उस धारा का जल गंदला होने लगा था। उसमें गंदे पानी के कई नाले आकर मिल गए थे। उस जल में से दुर्गंध उठने लगी थी।...

कुंती ने दुख भरे स्वर में उसे पुकारा, "यह तुमने क्या किया पुत्र ?"

"मैं ऐसे ही प्रसन्न हूँ माँ ! तुम मेरी चिंता मत करो।"

"कोई इस मलिनता में प्रसन्न कैसे रह सकता है ?" कुंती ने दुखी हो कर पूछा।

"मैं ऐसे ही प्रसन्न रह सकता हूँ माँ !" धारा ने अट्टहास किया...और कुंती ने देखा कि उस धारा ने कर्ण का रूप ग्रहण कर लिया है।...

कुंती का स्वप्न ही नहीं टूटा, उसकी नींद भी टूट गई थी ... वह उठ कर बैठ गई...यह तुमने क्या किया कर्ण ?...

कुंती अपने पर्यक पर अँधेरे में चुपचाप बैठी रही। वह जैसे अवसाद के सागर में डूबी जा रही थी। वह समझ रही थी कि यह उचित नहीं हो रहा है। किंतु उपाय ही क्या था ? वह कर्ण को समझा ही तो सकती थी। पर जिन गुरुओं के पास उसने शिक्षा पाई है, क्या उन्होंने उसे उचित-अनुचित का बोध नहीं दिया ?... अवश्य दिया होगा। वह तो परशुराम सरीखे गुरु के पास भी रह आया है। तो वह गंगा जल और गंदे नाले के जल का अंतर क्यों नहीं समझता। लोग अपने उस कुटीर को भी स्वच्छ रखना चाहते हैं, जिसमें वे रहते हैं; और यह अपने सारे जीवन को ही मलिन करता जा रहा है।...कुंती को लग रहा था कि जैसे उसके अपने मन का कोई अंश मलिन और तन का कोई अंग गलित हो

गया है।...

कुंती उठ खड़ी हुई।...अभी ब्रह्म मुहूर्त में विलंब था। उसने अँधेरे में ही मुँह हाथ धो कर स्वयं को स्वच्छ किया और आकर मंदिर में बैठ गई। उसने आँखे मूँद लीं। किसी मंत्र का उच्चारण नहीं किया, कोई प्रार्थना नहीं की। ध्यान करने का भी कोई प्रयत्न नहीं किया। फिर भी उसे लगा कि उसका एक-एक रोम प्रार्थना कर रहा है, "हे प्रभु ! उसे धर्म के मार्ग पर लाओ। हे प्रभु ! मेरे पुत्र की रक्षा करो ...।"

सहसा वह स्तब्ध-सी रह गई। ... उसके मन में कोई कह रहा था, "कुंती ! क्या वह तेरा ही पुत्र है, मेरा नहीं है। तू तो इस प्रकार प्रार्थना कर रही है, जैसे तेरा सृजन तो प्रभु ने किया है, और उसका सृजन तूने किया है। मेरे और उसके मध्य, तू कैसे आ गई कुंती ? उसका भी मुझसे वही संबंध है, जो तेरा मुझसे है।"

कुंती की समझ में नहीं आया कि यह क्या हो गया। क्या उसे अपने पुत्रों की रक्षा की प्रार्थना भी प्रभु से नहीं करनी चाहिए ?

उसके मन में फिर उसके प्रश्न का उत्तर जन्मा ..."सारी सृष्टि का सृजन मैंने ही किया है। उन सबका संबंध मुझसे एक-सा ही है। तुझे क्या अधिकार है कि तू कुछ लोगों को अपना समझे और कुछ को पराया ? तू तो सर्वहित की प्रार्थना कर। धर्म की जय की कामना कर। सबके लिए सुख और शांति माँग। ... शरीर संबंधों से कोई अपना और कोई पराया नहीं हो जाता। सब में समान दृष्टि का विकास कर। तेरा कुछ नहीं है। तेरा कोई नहीं है। जो कुछ है, मेरा है। जो कोई है, मेरा है। उन सबके सुख-दुख के लिए मैं उत्तरदायी हूँ। आत्मा ने वासनावश शरीर धारण किया है। वासनाओं को भोग कर, उनसे मुक्त हो, वह पुनः अपना स्वरूप ग्रहण करेगी। उस आत्मा को तू पहचान लेगी कुंती ! कि उनमें कौन तेरा पुत्र है और कौन तेरा नहीं है ?"

"पर प्रभु !" कुंती के मन ने तर्क किया, "कैसा स्वच्छ रूप था उसका और कैसा मलिन हो गया है।"

"सागर में भी वही जल है, कुंती ! जो हिमालय के पवित्र शृंगों पर आकाश से बरसता है। वह सरिताओं के रूप में बहुत आतुर हो कर सागर से मिलने के लिए दौड़ता है। जब सागर में पहुँचता है, तो पाता है कि वह अमृत-सा मीठा न हो कर क्षार से ओतप्रोत हो चुका है। इतना खारा हो चुका है कि मनुष्य उसे पी भी नहीं सकता। ..."

"उसका तो अस्तित्व ही व्यर्थ हो गया प्रभु ! जीवन नष्ट हो गया।"

"क्यों सागर का जल क्या व्यर्थ हो गया ? यहाँ कुछ भी नष्ट नहीं होता।" कुंती के कानों में जैसे कोई मधुर संगीत गूँजा, "सूर्य उस जल को तपाएगा।

उस ताप से खौल-खौल कर जल, उस मल का त्याग कर, वाष्प बन जाएगा। वह पुनः उतना ही मीठा और उतना ही पवित्र हो जाएगा, जितना वह आरंभ में था। ..."

"उसे तपना तो पडेगा प्रभु ! उतना ताप अंगीकार करना होगा, जितना अग्नि करती है। जल को खौल-खौल कर वाष्प बनना पड़ेगा।"

"तपस्या से मन के विकार छूटते हैं, ताप से जल के।"

"पर वह किसके पापो का दंड भोग रहा है ? वह ऐसा क्यों है ? उसे धर्म का मार्ग क्यों दिखाई नहीं पड़ता ?"

"कोई किसी के पापों का फल नहीं भुगतता। प्रत्येक जन अपने लिए उत्तरदायी है। वासना मल संचित करती है, और तपस्या उसे धो कर कलुषमुक्त करती है।..."

सहसा पारंसवी की पग ध्वनि सुनाई दी, "अरे आज तो अँधेरे में ही ध्यान करने बैठ गई भाभी !"

"हाँ ! आज नींद जल्दी ही टूट गई।" कुंती ने कहा।

वह उठ कर अपने कक्ष में आ गई; किंतु खौल-खौल कर वाष्प बनते सागर के जल में उसे कर्ण का चीत्कार सुनाई देता ही रहा।...

11

शकुनि के आने का समाचार सुनकर दुर्योधन को तनिक भी प्रसन्नता नहीं हुई। एक बार तो उसके मन मे आया कि वह उससे मिलने से ही मना कर दे। पर फिर उसने अपना विचार बदल दिया। अपमान की तुलना में, मातुल के लिए उपेक्षा ही अधिक कष्टदायी होगी। मना करने के स्थान पर मातुल को प्रतीक्षा कराना ही उपयुक्त होगा। ... पर पता नहीं कि प्रतीक्षा से मातुल को कोई कष्ट होगा भी या नहीं । संभव है कि मातुल मदिरा का चषक ले कर अपने आनन्द लोक में डूब जाएँ; और यदि किसी दासी को बुलाकर अपने पास बैठा लिया तो उनका तो दिन ही सार्थक हो जाएगा। उन्हें न उपेक्षा का पता लगेगा, न प्रतीक्षा का। दुर्योधन उनको जो यातना देना चाहता है, उसका तो उनको आभास भी नहीं हो पाएगा।

"उनको मेरे एकांत कक्ष मे बैठाओ।" उसने सूचना लानेवाली दासी को आदेश दिया, "किंतु इस समय न तो उनको मदिरा देना; और न ही कोई दासी

उनके एकांत को बाधित करने वहाँ जाए। उन्हें वहाँ एकांत में बैठ कर विचार करने की सुविधा दो।"

"जो आज्ञा महाराज !"

दासी चली गई; किंतु दुर्योधन भी पहले के समान सहज नहीं रह सका। शकुनि के आने मात्र से उसकी सारी विचार तरंगें, अव्यवस्थित हो गई थीं। ... जब से वह द्वैतवन से लौट कर आया था, उसकी सारी प्रसन्नता उसका साथ छोड़ गई थी। उसे अपनी पत्नियों की ओर देखते हुए भी डर लगता था। उनके मन में उसके प्रति क्या सम्मान रह गया होगा। सारा हस्तिनापुर जानता था कि चित्रसेन ने उसे पराजित कर, रस्सियों से बाँध लिया था; और तब पांडवों ने उसकी रक्षा की थी। उसके शत्रुओं ने उसकी रक्षा की थी। वह जिन्हें अपमानित करने गया था, उन्होंने उसके सम्मान की रक्षा की थी। वह जिन्हें पीड़ित करने गया था, उन्हें ही मन भर कर आनन्दित कर आया था। ... अब तो, उसकी उपस्थिति में कोई दासी मुस्कराती भी थी, तो उसे लगता था कि वह उसका उपहास कर रही है। कह रही है, ये वही हैं, जो द्वैतवन से पिट कर आए हैं।...इसी मातुल ने उसे इस प्रकार उपहास का पात्र बना दिया था।...इस प्रकार का कोई परामर्श देने से पहले मातुल को इतनी जानकारी तो प्राप्त कर ही लेनी चाहिए थी कि पांडवों ने अपने लिए किस प्रकार की सुरक्षा व्यवस्था कर रखी है। ...

पर तत्काल ही उसका चिंतन दूसरी दिशा में चल पड़ा ...मातुल न तो हस्तिनापुर के राजा थे, न युवराज। वे तो मात्र एक जुआरी थे, जो द्यूत की गोटियाँ बैठाया करते थे। वे तो कोई बड़े योद्धा, सेनापति अथवा युद्धविद्या विशारद भी नहीं थे कि उनका ध्यान इन बातों की ओर जाता कि पांडवों की अपनी सेना के अभाव में गंधर्वो की सेना उनकी रक्षा कर रही होगी। ... यह सब सोचना तो राजा दुर्योधन का ही काम था। ... यह तो अच्छा हुआ कि इसी व्याज से उसे मालूम हो गया कि पांडवों की क्षमता क्या है और उनके मित्र कहाँ-कहाँ हैं। ...

वह उठकर शकुनि के पास चला आया।

उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि कर्ण और दुःशासन भी वहाँ आए बैठे थे। उनके आने की सूचना किसी ने उसे नहीं दी थी। उसने अपनी ओर से शकुनि को एकांत कारावास का दंड दिया था और यहाँ जैसे आत्मीय मित्रों की आनन्द गोष्ठी जमी हुई थी। उसके अपने ही प्रासाद में उसकी इच्छा का इस प्रकार उपहास होगा, इसकी उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी। क्या उसका आदेश होता है और कैसा उसका पालन होता है ...पर वह किसी से कहता भी तो क्या, उसने स्वयं ही तो दुःशासन, कर्ण और शकुनि

को इतने अधिकार दे रखे थे कि वे भी इस भवन में स्वामी का सा ही व्यवहार करते थे।...

दुर्योधन आकर बैठा तो उसे देखते ही सबकी समझ में आ गया कि वह अभी तक अपनी खिन्नता से नहीं उबरा था।

"अंगराज ! मुझे लगता है कि युवराज की प्रसन्नता अभी लौटी नहीं है।" शकुनि ने कहा, "क्यों न इन्हें प्रमाणकोटि के क्रीड़ा भवन में ले जाया जाए।"

"हाँ ! ले चलो प्रमाणकोटि में और वहाँ मुझे गंगा पर रहनेवाले, पांडवो के संबधी उन नागों को समर्पित कर लौट आना।" दुर्योधन का रोष उसके एक-एक शब्द मे अपनी पूर्ण कटुता के साथ विद्यमान था।

दुर्योधन का यह एक ही वाक्य उन्हें स्तब्ध कर देने के लिए पर्याप्त था। किसी ने आशा नहीं की थी कि अपनी खिन्नता में भी, वह उनसे इस प्रकार का व्यवहार करेगा; उनके साथ, जो उसके परम मित्र और हितैषी थे।

"समंग ग्वाले का प्रबंध करने से पहले उससे यह भी तो पूछ लेना चाहिए था, अंगराज ! कि द्वैतवन में गोधन तो हमारा है; किंतु सैन्यबल किसका है।" उसने कटु स्वर में कहा।

कर्ण को स्वयं परं किया गया यह प्रहार अत्यधिक आकस्मिक और अप्रत्याशित लग रहा था। घोषयात्रा से लौट कर वह दुर्योधन से मिल चुका था। उनमें ढेर सारी बातें हो चुकी थीं। वह अपनी ओर से सारा स्पष्टीकरण दे चुका था। वह मान चुका था कि अब उस विषय में दुर्योधन के मन में उसके प्रति कोई मैल नहीं है। पर ...

"मै समझता हूँ युवराज ! कि यह प्रमाद हम लोगों से हुआ।" कर्ण ने ग्रीवा झुकाकर कहा, "युवराज को वहाँ ले जाने से पूर्व, हमें विस्तृत सूचनाएँ प्राप्त कर लेनी चाहिए थीं। इस असावधानी के कारण युवराज की घोषयात्रा आनन्ददायक नहीं रही।"

"आनन्ददायक !" दुर्योधन निर्णय नहीं कर पाया कि इस शब्द के प्रयोग के लिए, वह कर्ण के साथ कैसा व्यवहार करे।

"आनन्द न मिलता तो कोई बात नहीं थी।" दुर्योधन स्वयं को कुछ संयत कर बोला, "इस प्रकार अपमानित तो न होना पडता। यहाँ हस्तिनापुर में बैठे क्या बुरे थे कि अपनी रानियो और रक्षिताओं के सम्मुख, उन गणिकाओ और नर्तकियो की उपस्थिति में, अपने सैनिकों और परिचारकों के मनोरंजन के लिए अपमानित होने के लिए, हम वहाँ चले गए।"

उन तीनों ने दुर्योधन की ओर देखा अवश्य; किंतु किसी ने कुछ कहा नहीं । दुर्योधन की मानसिकता देखते हुए, कुछ भी कहने का कोई लाभ नहीं था।

"हम वहाँ पांडवों को पीड़ित करने गए थे या उन्हें आनन्दित करने। उस मोटे भीम को जीवन का अन्यतम सुख देने ?" दुर्योधन बोला, "पांडवों का सर्वस्व हरण कर भी मुझे उतना सुख नहीं मिला होगा, जितना आनन्द हम उन्हें वन में जाकर दे आए। उन्होंने तो नहीं कहा था कि वे हमारे बिना बहुत उदास हैं। यह तुम ही लोगों का परामर्श था कि इस प्रकार हम उनको पीड़ित कर पाएँगे और उनको अपमानित और पीड़ित कर सुखी होंगे। हो गए हम सुखी ? भीम की गर्व भरी दृष्टि अभी भी मेरे वक्ष में शूल के समान चुभ रही है। उस धर्मराज को अवसर मिल गया, मुझे उपदेश देने का। अपना उपकार जताने का।"

"वह सब तो ठीक है युवराज !" अंततः शकुनि ने साहस कर कहा, "पर तुम्हारा ध्यान इस ओर भी जाना चाहिए कि हमने बहुत सारी पीड़ा और अपमान सहन कर कुछ बहुत लाभकारी सूचनाएँ और निष्कर्ष भी प्राप्त किए हैं।"

दुर्योधन ने उसकी ओर देखा अवश्य, किंतु मुख से कुछ नहीं कहा।

"हमने जाना कि पांडव अपनी सुरक्षा की ओर से असावधान नहीं हैं।" शकुनि बोला, "ऐसा संभव नहीं है कि हम सैनिक अभियान करें और उनका वध कर सकें। उनकी चतुराई तो देखो। हम तो समझते रहे कि वे वन में आरण्यक लोगों के समान अपने दिन व्यतीत कर रहे हैं; और उन्होंने अपनी रक्षा के लिए सेनाएँ नियुक्त कर रखी हैं। हम यदि यह कल्पना भी करते कि कोई सेना उनकी सहायता को आएगी, तो हम यादवों की सेना की बात सोचते ! बहुत होता तो पांचालों की सेना की बात सोचते।... गंधर्व उनकी रक्षा कर रहे होंगे, इसकी तो हम कल्पना भी नहीं कर सकते थे। ..."

"तो इसका लाभ क्या हुआ ? हमें मालूम हो गया कि हमारा चिंतन बहुत सीमित और संकीर्ण है ? हम कूप मंडूक के समान सोचते हैं और अपने कुएँ को ही सागर मान लेते हैं।" दुर्योधन झल्लाकर बोला।

"नहीं !" शकुनि ने अपना धैर्य नहीं छोड़ा, "हमें ज्ञात हुआ कि हमें पांडवों के उन अज्ञात मित्रों के विषय में भी सूचनाएँ एकत्रित करनी हैं, जिन का आज तक हमारे लिए कोई अस्तित्व ही नहीं था। उनके मित्र केवल वे ही नहीं हैं, जो उनके संबंधी हैं अथवा उनके विभिन्न आयोजनों में आमंत्रित पाहुने रहे हैं। ..."

"तो इसमें ऐसी कौन-सी असाधारण बात है, जिसके लिए हमारा इस प्रकार अपमानित होना भी महत्त्वपूर्ण नहीं है ?"

"दुर्योधन ! अपने वर्तमान बल से संतुष्ट मत रहो। अपने और भी मित्र बनाओ। पांडवों के मित्रों को तोड़ो।" शकुनि बोला, "जो उनके बहुत प्रिय

है, उनसे भी अच्छे संबध बनाओ, ताकि समय आने पर हम उन्हें अपनी ओर से युद्ध करने के लिए आमंत्रित कर सकें अथवा उनसे सैनिक सहायता माँग सकें।"

"आपकी इच्छा है कि हम यह मान ले कि युद्ध का अवसर आने पर पांचाल हमारे पक्ष से पांडवो के विरुद्ध शस्त्र उठाएँगे ?" दुर्योधन की वाणी अभी भी उतनी ही कटु थी।

"मैं विश्वासपूर्वक यह नहीं कह सकता, किंतु इतना तो कह ही सकता हूँ कि अपनी ओर से किसी को भी अमित्र मत मानो, जब तक कि वह स्वय ही वैसा सिद्ध न कर दे। यदि पांडव गधर्वो को अपना मित्र बना सकते है, ऐसे मित्र, जो उनके लिए अपने प्राणों का पण लगा सकते है, तो हम क्यो अपने अज्ञात मित्रों को खोज नहीं निकाल सकते। तुमने यादवों को अपना विरोधी मान लिया है, कितु यह मत भूलो कि कृष्ण की एक पुत्रवधू है लक्ष्मणा। वह तुम्हारी पुत्री है। तुम क्यों कृष्ण के मित्र नहीं हो सकते ? तुम क्यों उससे सहायता नहीं ले सकते ? बलराम तुम्हे अपना शिष्य मानते है। तुम उन पर निर्भर क्यो नहीं रह सकते ? यादवों में भी अनेक लोग परस्पर विरोधी है। मैं स्वयं जानता हूँ कि सात्यकि और कृतवर्मा मे तनिक भी सौहार्द नहीं है। यादवों में हमें कृष्ण के विरोधी भी मिल जाएँगे। ... सहायता तो कही से भी आ सकती है, बस बात तो प्रयत्न करने की है।..."

लगा, दुर्योधन का मन कुछ शांत हुआ है और वह कुछ सोचने लगा है।

"इस घोषयात्रा से यह भी ज्ञात हुआ कि युधिष्ठिर किन्हीं भी परिस्थितियो में न तुम्हारा वध करेगा, न होने देगा। तुम उसे कौरव मानो या न मानो किंतु उसके मन मे कुरुकुल का मोह पूर्ण रूप से विद्यमान है। वह किसी भी प्रकार कुरुकुल की कोई क्षति नहीं होने देगा। इसलिए उसके हाथों में तुम पूर्णतः सुरक्षित हो।" शकुनि ने कहा, "हमे यह भी ज्ञात हुआ कि यदि तुम सेना ले कर उसकी ओर बढोगे, तो उसके मित्र तुम्हें मार्ग में ही रोक लेंगे। इसलिए स्वयं तुम्हे पांडवों की ओर उसी समय बढना चाहिए, जब सैनिक दृष्टि से तुम पूर्णतः समर्थ हो। तुम यह भी स्मरण रखो कि जिस सेना ने हम सबको निस्तेज कर दिया था, उसे उन चार पांडवों ने पराजित किया..। और चार भी क्यों, उसे तो अकेले अर्जुन ने पराभूत कर दिया था।"

"मिथ्या है यह।" कर्ण आक्रोशपूर्ण स्वर में बोला, "अर्जुन तो गंधर्वो से लडा ही नहीं । चित्रसेन ने उसकी बात मान ली और युवराज को मुक्त कर दिया। मै अर्जुन को इतना समर्थ नहीं मानता कि उस गंधर्व सेना को वह अकेला ही पराजित कर लेगा, जिसने हमारे युवराज को भी असहाय कर दिया था...।"

दुर्योधन बैठा कुछ सोचता रहा।

"इसका अर्थ तो यह है कि पांडव हमसे इतने अधिक शक्तिशाली हैं कि हमें पांडवों से कभी लड़ना ही नहीं चाहिए।" दुःशासन ने कहा।

"नहीं ।" कर्ण जैसे तड़पकर बोला, "उस अर्जुन के लिए तो अकेला मैं ही पर्याप्त हूँ।"

शकुनि मन ही मन हँसा : कैसा तड़प रहा था यह कर्ण। शायद वह जान गया था कि उसका महत्त्व क्या था। वह अर्जुन-विरोध की भूमि पर ही दुर्योधन को प्रिय हो सकता था। इसलिए अपना महत्त्व बनाए रखने के लिए, वह न तो दुर्योधन के मन में अर्जुन का भय कम होने देगा, न अपनी शक्ति को उससे कम आँकने देगा।... कुछ लोगों का अस्तित्व अपनी उपयोगिता पर नहीं, दूसरों के विरोध पर ही आधृत होता है...

"इसका अर्थ यह है कि तुम्हें भीष्म और आचार्य द्रोण को प्रयत्नपूर्वक सदा अपने पक्ष में रखना चाहिए।" शकुनि ने कहा, "पांडव उनसे या तो युद्ध करेंगे नहीं, करेंगे तो उन्हें पराजित नहीं कर पाएँगे।"

" अर्जुन को तो मैं अकेला ही सँभाल लूँगा।" कर्ण ने तड़पकर पुनः कहा।

"ठीक है।" शकुनि उपेक्षापूर्वक हँसा, "हमें यह भी तो देखना है कि कहीं अर्जुन ही तुम्हें न सँभाल ले।"

शकुनि को कोई बहुत कठोर उत्तर देने से पहले कर्ण ने दुर्योधन की प्रतिक्रिया जान लेना आवश्यक समझा। दुर्योधन इस बार भी कुछ नहीं बोला था। वह जैसे वहाँ उपस्थित ही नहीं था।

"क्या सोच रहे हैं भैया ?" दुःशासन ने उसे टोका।

"सोच रहा हूँ ! मातुल के निष्कर्षो का परीक्षण भी कर लिया जाए।"

"कैसे ?" कर्ण ने पूछा।

"फिर किसी को उन्हें अपमानित करने के लिए भेजा जाए।" दुर्योधन बोला।

"मैं जाऊँ युवराज !" कर्ण ने न केवल आतुरता से कहा, वरन् वह उठ कर खडा भी हो गया।

"नहीं ।" शकुनि बलपूर्वक बोला, "तुम नहीं ।"

"मैं क्यों नहीं ।" कर्ण के स्वर में उग्र विरोध था, "मैं इस बार यह सिद्ध कर दूँगा कि अर्जुन उतना महान् धनुर्धारी नहीं है, जितनी कि उसे मान्यता प्राप्त हो गई है। मैं उसे पराजित करके ही आऊँगा।"

शकुनि मन ही मन मुस्करा रहा था ... कैसे तड़प रहा है यह कर्ण। इसके जीवन का एक मात्र लक्ष्य, अर्जुन को पराजित करना है, और अवसर आते ही यह उसके सामने से भाग भी खड़ा होता है।...

"मातुल को मेरे सामर्थ्य का विश्वास नहीं है।" कर्ण का आक्रोश उसके चेहरे पर प्रकट होने लगा था।

"मैंने कहा था कि युधिष्ठिर के अधिकार क्षेत्र में दुर्योधन सुरक्षित है। यह नहीं कहा था कि तुम भी सुरक्षित हो।" शकुनि ने कहा, "तुम कौरव नहीं हो, कि वे तुम्हारी रक्षा करेंगे।"

"मैं युधिष्ठिर के हाथों अपनी सुरक्षा नहीं चाहता।" कर्ण बोला, "मैं युवराज के अपमान का प्रतिशोध चाहता हूँ। युवराज की सुरक्षा चाहता हूँ। मैं उस अर्जुन से सम्मुख-युद्ध का एक अवसर चाहता हूँ। मैं आपको वचन देता हूँ युवराज! कि मैं उसका वध करूँगा। यह मेरी प्रतिज्ञा है। आप मेरा विश्वास कीजिए, मैं उसका वध करके लौटूँगा और आपको उन लोगो की ओर से पूर्णतः निर्भय कर दूँगा।"

उन्होंने देखा कि दुर्योधन का अवसाद जैसे छँटता जा रहा था। वह अब न तो पहले के समान अन्यमनस्क लग रहा था और न ही उसके चेहरे पर हताशा का भाव था।

"तुम्हें भी अवसर मिलेगा अंगराज ! किंतु उससे पूर्व मैं एक और प्रयोग करना चाहता हूँ।" शकुनि बोला, "मैं चाहता हूँ कि इस बार हस्तिनापुर से कोई न जाए। जो योद्धा जाए, वह किसी और दिशा से चले और पांडवों तक जा पहुँचे, ताकि एक तो उसे पांडवों के मित्रों के क्षेत्र और दिशा से हो कर यात्रा न करनी पड़े; और दूसरे, उनको किसी प्रकार का कोई संदेह भी न हो। जो जाए, वह सेना सजाकर न जाए। वह किसी और प्रयोजन से जाता हुआ मालूम पडे। ... और फिर वह व्यक्ति ऐसा हो, जो दुर्योधन की तुलना में भी, युधिष्ठिर के हाथों और अधिक सुरक्षित हो।..."

"कौन हो वह ?" दुर्योधन और दुःशासन ने लगभग एक ही समय में पूछा।

"मेरे मन में कुछ लोग हैं तो अवश्य, किंतु अभी कुछ विचार करना शेष है।" शकुनि बोला, "मैं चाहता हूँ कि तुम लोग भी इस विषय में विचार करो और ऐसे संभावित लोगों के विषय में सोचो।"

सहसा द्वार पर एक दासी प्रकट हुई।

"क्या है ?" दुर्योधन ने कठोर स्वर में पूछा, "मैंने तुमसे कहा नहीं था कि हम एकांत वार्ता में हैं।"

"क्षमा करें अन्नदाता !" दासी लगभग धरती तक ही झुक गई, "कुरुकुल गौरव पितामह भीष्म आपसे भेंट करने के लिए आए हैं।"

दुर्योधन को लगा कि बाहर ही नहीं, उसके अपने भीतर भी जैसे एक सन्नाटा छा गया था। वह चिंतित मुद्रा में उठ खड़ा हुआ, "आओ मित्रो ! अब यह भी सुन लें कि पितामह क्या संदेश लाए हैं।" उसने रुक कर उन लोगो

की ओर देखा, "ध्यान रहे, पितामह ने मुझे अपने भवन में नहीं बुलाया है, और न ही राजसभा में मिलने तक की प्रतीक्षा की है। वे स्वयं चल कर मेरे भवन में आए हैं।"

पितामह को भवन के सबसे बड़े और सुसज्जित कक्ष में बैठाया गया था। चारों ओर दासियाँ विभिन्न प्रकार के व्यंजनों के थाल लिए खड़ी थीं। काशिका और भानुमती, उनके आतिथ्य के लिए आतुरता दिखा रही थीं; किंतु पितामह उन सबसे उदासीन, आत्मलीन से बैठे थे।

उन चारों ने जाकर पितामह को प्रणाम किया तो पितामह जैसे अपनी समाधि से बाहर आए। दुर्योधन के साथ उन तीनों को भी देख कर उनके मुख पर एक मुस्कान उभरी, किंतु उस मुस्कान में प्रसन्नता का लेश भी नहीं था।

"तो पूरी चांडाल चौकड़ी यहीं विद्यमान है।..." किंतु पितामह के चेहरे पर विनोद का भाव नहीं था।

"आपने मुझे ही बुला लिया होता पितामह !" दुर्योधन उनके कथन की पूरी तरह उपेक्षा कर गया।

"इच्छा तो मेरी भी वही थी," पितामह के स्वर की कटुता छिपी नहीं रही, "किंतु मैं जानता था कि युवराज को इतना अवकाश ही नहीं होगा कि वे मेरे पास आ सकें। इसलिए स्वयं ही चला आया। स्वयं चले आने का एक कारण और भी था।"

दुर्योधन ने पितामह की ओर देखा।

"कुछ लोगों ने यह मान लिया है कि भीष्म इतना वृद्ध हो गया है कि उसके जीवित रहने और न रहने में कोई अंतर नहीं है।" पितामह बोले, "मैं चाहता हूँ कि लोग मुझे चलते-फिरते देख लें, ताकि उन्हें यह ज्ञात हो जाए कि भीष्म अभी जीवित है और समर्थ है। युवराज ! मैं अभी रथारूढ़ हो सकता हूँ। धनुष धारण कर सकता हूँ। इतना अभ्यास आज भी करता हूँ कि पूरी की पूरी सेनाओं का मुँह मोड़ सकूँ। मेरा आयुद्ध ज्ञान भी अभी समयातीत नहीं हुआ है। जिन आयुद्धों को पा कर आज के महान योद्धा स्वयं को अजेय समझने लगते हैं, वे अभी भी मेरे लिए खिलौने हैं।..."

"मैं आपका प्रयोजन नहीं समझा पितामह !"

"वही समझाने आया हूँ।" पितामह बोले, "हमारे कुल की कुछ परंपराएँ हैं। तुम उनमें से एक का साक्षात्कार करके अभी लौटे हो।..."

"कौन-सी परंपरा पितामह !"

"तुम जब द्वैतवन जा रहे थे, मुझे तब भी कुछ अनुमान था कि तुम किसी

शोभनीय अभियान पर नहीं जा रहे हो। जो कुछ तुमने वहाँ किया, वह तो लज्जाजनक था ही। फिर भी युधिष्ठिर ने तुम्हारी रक्षा की। क्यों की ? क्योंकि कुरुकुल के गौरव के लिए वह आवश्यक था। यही हमारी परंपरा है कि अपने निजी सुख-दुख की चिंता न कर हम अपने कुल की दृष्टि से सोचे। हम अपने वंश के लोगों को अपना मित्र मानें, अपना बंधु। वे तुम्हारे भाई हैं और तुम उनके शत्रु बने हुए हो। अब किसी को भी भ्रम नहीं है कि तुम क्या करना चाहते हो। तुम्हारे वश में होता तो तुम कब से उनका वध कर चुके होते। किंतु तुम इतने शक्तिशाली नहीं हो। क्षत्रिय का गौरव इसमें नहीं है कि वह स्वयं से निर्बल लोगो का वध करे और स्वयं से शक्तिशाली की चाकरी करे। उसका धर्म है कि धर्म की रक्षा करे। निर्बल को अत्याचारी से बचाए। तुम ऐसा करोगे, ऐसी आशा मुझे नहीं है। किंतु मैं इतना अवश्य चाहता हूँ कि तुम अपनी रक्षा करो। तुम पांडवो का वध नहीं कर सकते। इसलिए, अपनी रक्षा के लिए ही सही, उनसे संधि करो और इस आत्मघाती, परिवार घाती, वंशघाती अभियान को त्याग दो।..."

पितामह ने रुक कर दुर्योधन की ओर देखा। दुर्योधन के मुख पर कहीं लज्जा नहीं थी, केवल विरोध था।

"मैं जानता हूँ कि कौन तुम्हें यह मंत्र देता रहता है। किसके बल पर तुम इतने निर्भीक बने हुए हो। तुम्हारा यह मित्र ..." पितामह ने सीधे कर्ण की ओर देखा, "यह सूतपुत्र कर्ण कितना बडा वीर है, तुम देख ही चुके हो। डींग हॉकने की प्रतियोगिता में यह सदा प्रथम है, किंतु युद्ध का अवसर आने पर यह सबसे पहले अपने प्राण ले कर भागता है। इसके भरोसे लडना चाहते हो तुम, अर्जुन से ? भीम से ? धनुर्वेद हो, शौर्य हो अथवा धर्माचरण—किसी भी क्षेत्र में यह उन पांडवों का एक चौथाई भी नहीं है। तुम देखोगे, और बार-बार देखोगे कि इससे बड़ा कायर संसार में कोई नहीं है।..."

"आप यहाँ क्या कर्ण की निन्दा करने आए हैं पितामह ?" दुर्योधन का चेहरा तमतमाया हुआ था।

"नहीं । मैं तो केवल यह कहने आया हूँ कि यदि अपना और अपने कुल का अभ्युदय चाहते हो तो उन महात्मा पांडवों से संधि कर लो।...यही हम सबके लिए सर्वश्रेष्ठ मार्ग है ..."

सहसा दुर्योधन उठा और कक्ष के बाहर चला गया। उसे जाता देख, शकुनि, दुःशासन और कर्ण भी उसके पीछे-पीछे चले गए।

भीष्म हतप्रभ से बैठे रह गए। ... ठीक है कि दुर्योधन ने उनके प्रति कोई अपमानजनक शब्द नहीं कहा था। किंतु, उनकी अवज्ञा कर इस प्रकार चले जाना ... इससे बढ कर भी कोई अपमान हो सकता है ?... क्या करें वे अपने

इस उद्‌दंड पौत्र का ? ... कितनी बार लज्जित होंगे वे उसके व्यवहार से ?...

काशिका और भानुमती उनसे रुकने का आग्रह करती रहीं, किंतु उसका क्या लाभ था ? जिसे समझाने के लिए वे आए थे, वह तो सुनने को भी प्रस्तुत नहीं था, तो वे और रुक कर अपना कौन-सा सत्कार करवाना चाहते थे ?...

भीष्म अपने भवन की ओर चले, तो उनके मन में अनेक प्रश्न थे। ...उनकी अनुभवी ऑखें देख रही थीं कि जिस कुरुकुल के हित के लिए उन्होंने अपने सारे सांसारिक अधिकार त्याग दिए थे, उसका अहित उनकी ऑखों के सामने उस कुल के लोग ही कर देंगे। दुर्योधन न अपना हित समझता है, न अपने कुल और राज्य का। उपदेश, तर्क, परामर्श, आदेश—कुछ भी तो उस पर कोई प्रभाव नहीं छोडता। वह केवल अपना स्वार्थ जानता है। पर क्या स्वार्थ भी जानता है ? अपना स्वार्थ तो अपने हित में ही होना चाहिए; किंतु दुर्योधन के संदर्भ में स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि वह केवल अपने स्वार्थ को जानता है, अपने हित को नहीं । शायद यही बात धृतराष्ट्र के लिए भी सत्य थी। उसने भी सदा अपना स्वार्थ ही साधा, अपना हित नहीं देखा। स्वार्थ तो मूर्ख होता ही है। ...वही मूर्खता यह दुर्योधन कर रहा है। वह कोई और भाषा नहीं समझता; केवल बल की भाषा समझता है। यदि उसे विश्वास हो जाए कि वह पांडवों से जीत नहीं सकेगा, तो ही वह उनसे संधि करेगा। किंतु नहीं ! जब उसे विश्वास हो गया था कि वह युद्धक्षेत्र में उनसे जीत नहीं पाए गा, तो उसने द्यूत का जाल रचा था। ... और अब तो पांडवों का सारा धन उसी के पास था, तो क्या करने गया था वह द्वैतवन में ? रोगी मन है एक दम। न तो दूसरों को सुख दे कर सुखी होना जानता है, न दूसरों के साथ सुखी होना। सुखी होना चाहता है, दूसरों को दुख दे कर। ...शकुनि तो आरंभ से ही ऐसा है। जाने सृष्टि वृश्चिक का सृजन क्यों करती है, कि वह अपने मार्ग पर चलते व्यक्ति को दंश मारे और प्रसन्न हो। वैसा ही वृश्चिक है, यह शकुनि ! और ऊपर से यह कर्ण आकर मिल गया है इससे, जिसका परम पुरुषार्थ दुर्योधन को पांडवों के विरुद्ध भड़काने में है।...

पर भीष्म क्या कर सकते हैं ? कोई भी कुलवृद्ध ऐसे समय में क्या कर सकता है ? क्या वे बलप्रयोग कर सकते हैं ? बलप्रयोग का अर्थ क्या ? वे दुर्योधन से राज्य छीन कर युधिष्ठिर को दे दें ? पर उससे तो समस्या का समाधान नहीं हो पाएगा। दोनों के पास अपना-अपना राज्य था, तो भी दुर्योधन शांत नहीं बैठा था। सारा राज्य दुर्योधन के पास है, तो वह शांत नहीं है। ऐसे में उससे राज्य छीन लिया जाएगा, तो क्या वह शांत हो कर,

निष्क्रिय बैठ जाएगा ? पांडवों को पीड़ित करना बंद कर देगा ? क्यों पांडवो के पीछे पड़ा है वह ? क्या उसे राज्य की भूख है ? पर राज्य तो उसके पास है। तो क्या उसको राज्य का मद है ? मद ही होता, तो वह स्वयं से शक्तिशाली पांडवों से वैर न बढाता। वह तो मात्र ईर्ष्या का रोगी है। जिससे ईर्ष्या करता है, उसको किसी प्रकार शांत नहीं रहने देगा। वह उनका वध किए बिना किसी प्रकार शांत नहीं हो सकता। उनका वध कर पाया, तब भी शांत होगा अथवा नहीं, कहना कठिन है। कौन जाने, तब वह किसी और को अपना आखेट चुन ले।

संभवतः पांडवों से उसकी शत्रुता का कारण, उसके मन में जमा पांडवों का भय है। क्या उसे लगता है कि यदि पांडव जीवित रहेंगे, तो उसका राज्य जीत लेगे। किंतु यह तो सत्य नहीं है। ... यद्यपि भीष्म आज भी मानते हैं कि हस्तिनापुर का सारा राज्य युधिष्ठिर का है; फिर भी पांडव मात्र खांडवप्रस्थ ले कर ही शांत हो गए थे। तब भी तो दुर्योधन के मन से पांडवों का भय समाप्त नहीं हुआ था। ... तो भय तो उसके अपने मन का है। ईर्ष्या है तो वह भी उसके अपने मन की है। पर-पीड़न का सुख है, तो वह भी उसके अपने मन का है। ... और इन रोगों के रहते, वह तब तक शांत नहीं हो सकता, जब तक वह पांडवों को समाप्त न कर ले।...पर उसे यह स्वतंत्रता कैसे दी जा सकती है कि वह अपनी रुग्ण मानसिकता के कारण, जिसका जो अहित करना चाहे, कर ले ? निर्दोष पांडवों को भी तो अपनी रक्षा करने का अधिकार है। अपने सुख को मॉगने और पाने का अधिकार है। तो क्या भीष्म उन दोनों को मुक्त छोड़ दें कि वे आपस में ही शस्त्रों के आधार पर निर्णय कर लें ? वे सब कुछ सोचते-समझते हुए भी कौरवों का यह आत्मघाती युद्ध होने दें ? तटस्थ भाव से देखते रहें कि यह मूर्ख दुर्योधन, पांडवों को नष्ट कर दे, अथवा स्वयं नष्ट हो जाए ? वर्षो से वे देखते ही तो आ रहे हैं ? उससे तो अच्छा है कि वे ही दुर्योधन के हाथ बाँध दें। किंतु दुर्योधन कोई बालक तो है नहीं कि वे उसे डपट देंगे और वह मान जाएगा। उसे बॉधने का अर्थ है, उसे उसके सारे अधिकारों से वंचित करना, उसे कारागार में डालना; अथवा उसका वध करना। कर पाएँगे वे यह सब ? राजा धृतराष्ट्र के होते हुए, क्या यह सब संभव हो पाएगा ? यदि वे दुर्योधन के साथ तनिक भी कठोर होना चाहते हैं, तो उन्हें पहले धृतराष्ट्र को उसके सारे अधिकारो से वंचित करना होगा। राज-काज में हस्तक्षेप। सारे अधिकारों को अपने हाथ में लेना होगा। तो उनकी प्रतिज्ञा का क्या होगा ? वे अपनी प्रतिज्ञा से स्खलित होना चाहते हैं ? यही करना होता, तो वे इसे वर्षो पहले भी कर सकते थे।...नहीं राज-काज में वे हस्तक्षेप नहीं करेंगे। तो ?...

एक पितामह को अपने पौत्र को शिक्षा देने के लिए राज-काज में हस्तक्षेप क्यों करना पड़ेगा ? एक कुलवृद्ध को अपने वंश की रक्षा करने के लिए राजकीय अधिकारों की क्या आवश्यकता है ? पर पितामह के रूप में, वे दुर्योधन को क्या दंड दे सकते हैं ? वे उससे चर्चा करना चाहेंगे, तो वह आज के ही समान उठ कर चला जाएगा। ... वे वर्षों से देख रहे हैं कि उस पर किसी उपदेश का कोई प्रभाव नहीं होता। अब वे कौन-सा नया तर्क प्रस्तुत कर उसे समझाना चाहते हैं। ... उनकी समझ मे कुछ नहीं आ रहा। वे तो स्वयं को इतना समर्थ मानते हैं, और अपने परिवार को ही सँभाल नहीं पा रहे। ... ऐसा क्या हो जाता है कि पिछली पीढ़ी अपनी ही अगली पीढ़ी के सम्मुख इतनी असमर्थ हो जाती है ? यह उनका ही मोह है कि सबके ही साथ ऐसा होता है ?

तो क्या वे दुर्योधन का त्याग कर दें ? दुर्योधन का त्याग ? क्या वे उसे हस्तिनापुर से निष्कासित कर सकते हैं ? नही ! वे उसे निष्कासित नहीं कर सकते, किंतु स्वयं तो हस्तिनापुर से निष्कासित हो सकते हैं। वे तो हस्तिनापुर को त्याग, कहीं और जा सकते हैं। कहीं भी। किसी वन में। किसी आश्रम में। ... किंतु वह दुर्योधन का त्याग नहीं हुआ। वह तो समस्त कुरुकुल का त्याग हुआ। समस्त कुरुकुल का त्याग, अर्थात् सब कुछ दुर्योधन की इच्छा पर छोड़ देना। ... वे यदि आज हस्तिनापुर छोड़ दें, तो वे सुनेंगे कि अगले ही दिन विदुर को हस्तिनापुर से निष्कासित कर दिया गया है। फिर कुंती को भी या तो अपने पुत्रों के पास जाना होगा अथवा किसी वन में अपना कुटीर बनाना होगा। ... सारी राजसत्ता—सारी सेना, सारा कोष सब कुछ दुर्योधन के अधिकार में होगा। और वह उनका प्रयोग पांडवों को नष्ट करने में करेगा। पांडवों को ही क्यों, वह तो सारी सद्वृत्तियों को नष्ट करेगा। तो वे दुर्योधन का त्याग कर रहे हैं, अथवा उसे संसार से सद्वृत्तियों का नाश करने का मनमाना अधिकार दे रहे हैं ?

नहीं । भीष्म इतना भाग्यशाली नहीं है कि वह अपनी इच्छा से वन की किसी एकांत कुटिया में जा बैठे। वह व्यास नहीं हो सकता कि अपनी इच्छानुसार वनों और पर्वतों पर भ्रमण कर सके। वह जीवन का मर्म पाने के लिए साधना नहीं कर सकता। वह सृष्टि के सत्य का अनुसंधान करने के लिए कुरुकुल की राजनीति से मुक्त नहीं हो सकता।... उसे तो हस्तिनापुर में ही रहना होगा, राजयंत्र पर अधिकार किए बिना, उसे जितना संभव हो सके, नियंत्रित करना होगा। यदि कभी ऐसा अवसर आया कि कुरुकुल के उत्तराधिकारी शस्त्र ले कर आमने-सामने डट जाएँ, तो बहुत संभव है कि भीष्म को उनके शस्त्रों को रोकने के लिए, जा, उनके मध्य खड़ा होना होगा।

दुर्योधन अपने एकांत कक्ष में आकर बैठ गया। शकुनि और दु:शासन भी चुपचाप उसके साथ चले आए थे, किंतु कर्ण के लिए अब शांत रहना संभव नहीं रह गया था। उसने किसी प्रकार उस कक्ष तक आने भर तक तो स्वयं को नियंत्रण में रखा; किंतु उसके पश्चात् वह स्वयं को रोक नहीं पाया।

"युवराज ! इस कुरुकुलाधम दुर्बुद्धि भीष्म द्वारा अपना अपमान मैं और नहीं सह सकता।" कर्ण साक्षात् आक्रोश का रूप धारण कर चुका था, "वह सदा मेरी निन्दा करता है। मुझे अपमानित करता है। वह अप्रशंसनीय की प्रशंसा करने तथा अनिन्दनीय की निन्दा करने का अपराधी है। जाने मुझसे उसे क्या शत्रुता है कि सदा ही मेरा निषेधात्मक आकलन करता है। वह तुमसे द्वेष करता है, अतः तुम्हारा मित्र मान कर मुझसे भी द्वेष करता है। समझता है कि अर्जुन बहुत वीर है और मैं कायर हूँ, तो अब मैं सिद्ध कर ही देता हूँ कि मैं किस योग्य हूँ।"

दुर्योधन ने उसकी ओर देखा : क्या करना चाहता है कर्ण !

"मुझे सेना दो, वाहन दो, धन दो। जिस पृथ्वी को चार वीर पांडवों ने मिल कर जीता था, उस सारी पृथ्वी को मैं अकेला ही तुम्हारे लिए जय करके आऊँगा।" कर्ण बोला, "मैं इस वसुधा का सारा धन-धान्य ला कर तुम्हारे चरणो में डाल दूँगा युवराज ! वह दुर्बुद्धि भीष्म अपनी आँखों से मेरा पराक्रम देखे और अपने आपको धिक्कारे।" कर्ण निमिष भर को रुका, "मै प्रतिज्ञापूर्वक सत्य कहता हूँ, और अपने शस्त्रों का स्पर्श कर शपथ लेता हूँ कि बिना दिग्विजय किए मैं तुम्हारे सम्मुख नहीं आऊँगा।"

कर्ण ने अपना धनुष दाई भुजा में पकडकर उसे अपनी भुजा की पूरी ऊँचाई तक ऊपर उठा दिया।

दुर्योधन के मन में अकस्मात् ही बहुत कुछ घटित हो गया। उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि पितामह के आगमन मात्र से सहसा एक ऐसा महान् अवसर स्वयं आकर उसके सम्मुख प्रस्तुत हो जाएगा। दिग्विजय की योजना तो उसके मन में अनेक बार जन्मी थी, किंतु उसे अपने पास कभी पर्याप्त साधन दिखाई नहीं दिए थे। युधिष्ठिर के भाइयों को उसके लिए दिग्विजय करने के लिए जाते देख, उसके मन में भी यह कल्पना बार-बार जागी थी। उसने परीक्षक दृष्टि से अपने भाइयों को देखा भी था; किंतु वहाँ ऐसा कोई नहीं था, जिसको वह इतने संकट के कार्य पर भेज देता। भेजने को वह आचार्य द्रोण को भी भेज सकता था ... किंतु उसमें कई बाधाएँ थीं। आचार्य उसके सेनापति नहीं, गुरु थे। अपनी गुरु दक्षिणा माँगने के समय, वे युद्ध के लिए स्वयं सामने नहीं आए थे। उन्होंने चाहा था कि युद्ध करने का काम उनके शिष्य करें। ऐसे में उनको दिग्विजय का काम कैसे सौंपा

जा सकता था। जब पांडवो ने द्रुपद को पराजित कर उनके चरणों मे डाल दिया था, तो उस विजय के पुरस्कार स्वरूप आचार्य ने द्रुपद का आधा राज्य स्वयं हस्तगत कर लिया था। ऐसे में यदि उसके कहने से आचार्य दिग्विजय के लिए जाते तो जो भूमि वे जीतते, उसमें से कितनी दुर्योधन की होती और कितनी वे स्वयं रखना चाहते, इसके विषय में कुछ कहना कठिन था। ... कर्ण के विषय में उसने कभी बहुत गंभीरता से सोचा नहीं था। द्रुपद के साथ हुए उस युद्ध में भी कर्ण पराजित ही हुआ था। पांचाली के स्वयवर में भी कर्ण ने अर्जुन और भीम का सामना पूरी गंभीरता से नहीं किया था। गंधर्वो के साथ युद्ध में भी वह आहत हो कर युद्धक्षेत्र छोड भागा था। ऐसे में उसे दिग्विजय के लिए भेजने की बात वह कैसे सोच सकता था। ... किंतु आज वह स्वयं ही यह प्रतिज्ञा कर बैठा है। उसकी क्षमता का परीक्षण करने में कोई हानि नहीं है। वह विजयी रहा तो गंधर्वो से पराजित होने का कलंक कुछ धुलेगा। थोड़ी सफलता भी कम लाभदायक नहीं होती। और कुछ नहीं तो कर्ण और कौरव सेना का युद्ध का अनुभव ही बढेगा। युद्धाभ्यास ही होगा...

"वीर ! मैं धन्य हुआ।" दुर्योधन बोला, "तुम मेरे लिए दिग्विजय की बात सोचते हो, इससे मेरे प्रति तुम्हारा स्नेह ही झलकता है। मेरी ओर से दिग्विजय पर जाने की तुम्हें पूरी स्वतंत्रता है। सेना, सेवक और वाहन, सब तुम्हारे ही हैं। उन्हें अपनी आवश्यकता की दृष्टि से संगठित करो। उन्हें अभ्यास करवाओ; और अपनी इच्छानुसार प्रयाण करो।"

दुर्योधन के मन से सारी हताशा पूर्णतः धुल चुकी थी।

12

आचार्य द्रोण ने आज बहुत दिनों के पश्चात् अपने अतीत को पलटा था; अंतर्मुखी हो कर अपने भीतर झॉक कर देखा था। ... वे तो जैसे उस सारे काल को ही भूल गए थे। पर उनके भूलने से ही तो किसी काल-खंड का अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। उसमें उत्पन्न हुई परिस्थितियाँ नष्ट नहीं हो जातीं। वे परिस्थितियाँ ही उन्हें स्मरण कराती रहेंगी कि वे कौन हैं; और किन परिस्थितियों में वे किन लोगों के मध्य रह रहे हैं...

हस्तिनापुर में वे आजीविका के लिए आए थे; किंतु हस्तिनापुर ही क्यों ? क्योंकि जीविका उपार्जित करने के साथ-साथ द्रुपद से प्रतिशोध भी

लेना था उनको।... तब भीष्म ने उन्हे कुरु राजकुमारों का गुरु नियुक्त किया था। उन राजकुमारों की प्रतिभा, उनकी भक्ति और शक्ति देख कर वे प्रसन्न हो गए थे। उन्होंने स्वयं युद्ध नहीं किया था, द्रुपद से; किंतु जब अर्जुन और उसके भाई, द्रुपद को बाँध कर ले आए थे, तो द्रोण को पहली बार अपनी शक्ति का अनुभव हुआ था। उस बोध से ही जैसे उनको मद चढ़ आया था। उन्होंने द्रुपद जैसे शक्तिशाली राजा का आधा राज्य छीन लेने का साहस किया था।

तब से अब तक हस्तिनापुर की राजनीति ने कई करवटें ली थीं। और आचार्य ने हर बार सावधान हो कर उस सत्ता समीकरण को साधा था। युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक हुआ था, तो भी उन्हें बहुत संकट का अनुभव नहीं हुआ था। यद्यपि युधिष्ठिर का चिंतन उनके बहुत अनुकूल नहीं था; किंतु युधिष्ठिर उनका शिष्य था। और फिर अर्जुन था वहाँ। अर्जुन के बिना युधिष्ठिर हस्तिनापुर पर शासन नहीं कर सकता था; और अर्जुन किन्हीं भी परिस्थितियों में द्रोण का विरोध नहीं कर सकता था। अर्जुन के रहते उन्हें युधिष्ठिर से किसी प्रकार की कोई आशंका नहीं हो सकती थी।...किंतु जब उनकी समझ में आ गया कि धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर को हस्तिनापुर में टिकने नहीं दे गा, तो उनके लिए दुर्योधन के निकट हो कर उसे अपने अनुकूल रखना ही, अधिक लाभकारी था। वे भली प्रकार समझते थे कि डूबती नाव में बैठे रहनेवाले लोग नदी के पार नहीं उतरा करते।

दुर्योधन भी अपने सहायकों को ढूँढ़ रहा था। अश्वत्थामा से उसकी मित्रता थी ही। उसे आचार्य द्रोण अपना संबल लगने लगे थे...

वारणावत प्रसंग के पश्चात् जब पांडव हस्तिनापुर लौटे थे, तो वे द्रोण के परम शत्रु द्रुपद के जामाता बन चुके थे। द्रोण ने अपने भाग्य को सराहा था कि उन्होंने समय रहते, दुर्योधन का समर्थन आरंभ कर दिया था, अन्यथा वे कहीं के भी न रहते। पांडव, द्रुपद और द्रोण दोनों का एक साथ न तो समर्थन कर सकते थे, न दोनों से एक साथ सहायता पा सकते थे। और अपने ससुर का पक्ष छोड कर पांडव अपने आचार्य का समर्थन कैसे कर सकते थे। दूसरी ओर दुर्योधन, पांडवों के किसी समर्थक को हस्तिनापुर में टिकने नहीं देता। यदि उन्होंने पांडवों का मोह न छोड़ा होता, तो द्रौपदी के राज्य में द्रोण रह नहीं सकते थे, और दुर्योधन उन्हें अपने राज्य में रहने नहीं देता। अच्छा ही हुआ कि उन्होंने वारणावत की घटना से पहले ही अपनी पाली बदल ली थी।...

किंतु न तो वे अपने मन में दुर्योधन को अर्जुन का स्थान दे पाए, न दुर्योधन ही उन्हें अर्जुन की सी भक्ति दे पाया। अर्जुन उनसे प्यार करता था, और दुर्योधन उनको अपने लिए उपयोगी मानता था। अश्वत्थामा भी, दुर्योधन का वैसा मित्र

नहीं हो पाया, जैसा कि उसे हो जाना चाहिए था। दुर्योधन अपने लाभ की दृष्टि से सारी घटनाओं को देख रहा था।... अश्वत्थामा और अर्जुन में न कोई प्रतिस्पर्धा थी, न ईर्ष्या। तो दुर्योधन अर्जुन के वध के लिए, अश्वत्थामा पर कैसे निर्भर रह सकता था। उसे उस कार्य के लिए कर्ण ही अधिक उपयोगी लगता था। कर्ण की क्षमता किसी भी रूप में अश्वत्थामा से अधिक नहीं थी, किंतु कर्ण के मन में अर्जुन के प्रति जैसी घृणा थी, वैसी अश्वत्थामा के मन में कैसे हो सकती थी। और दुर्योधन के लिए पांडवों के प्रति कर्ण की घृणा, अधिक मूल्यवान थी, कर्ण का धनुष नहीं ।

हस्तिनापुर के सत्ता समीकरण में अन्य लोगों के उतार-चढ़ाव से द्रोण को उतना अंतर नहीं पड़ता था, जितना कर्ण के अभ्युदय से। कर्ण वह व्यक्ति था, जिसे द्रोण ने धनुर्वेद का ज्ञान देना अस्वीकार किया था। उन्होंने कर्ण का तिरस्कार किया था। अब यदि कर्ण दुर्योधन पर अपना प्रभाव जमा लेता है, तो उसका अर्थ है कि सत्ता पर द्रोण के एक विरोधी का प्रभाव। और यह स्थिति हस्तिनापुर में द्रोण के महत्त्व के लिए कभी भी संकटपूर्ण हो सकती थी।...

अश्वत्थामा ने कक्ष में प्रवेश कर पिता को प्रणाम किया।

"क्या समाचार है ?"

"यह सत्य है पिताजी ! हस्तिनापुर की अधिकांश वाहिनियाँ युद्धाभ्यास कर रही हैं।"

"तुमने सेनापति से पूछा कि यह सब किसकी आज्ञा से हो रहा है ?" द्रोण ने प्रश्न किया।

"युवराज की आज्ञा से।"

"कारण ?"

"अंगराज महावीर कर्ण दिग्विजय के लिए प्रस्थान करनेवाले हैं।" अश्वत्थामा ने बताया।

द्रोण ने लक्ष्य किया कि अश्वत्थामा ने कर्ण के नाम से पूर्व ये सारे विशेषण सम्मान के कारण नहीं जोड़े थे। वह उसका उपहास कर रहा था।

"हाँ। पांडवों ने दिग्विजय की थी तो दुर्योधन उसके बिना कैसे रह सकता था। अब यह राजसूय यज्ञ भी करना चाहेगा।" द्रोण जैसे सशब्द चिंतन कर रहे थे।

अश्वत्थामा अपने पिता की गंभीर मुद्रा देखता रहा। कुछ बोला नहीं । वह समझ रहा था कि इन शब्दों में दुर्योधन का समर्थन नहीं था।

"अश्वत्थामा ! तुम भी तो दुर्योधन के मित्र हो; किंतु उसके साथ अधिक समय व्यतीत नहीं करते। उसके मनोरंजन इत्यादि में तुम उसके साथ सम्मिलित

नहीं होते। तुम उसके साथ घोषयात्रा पर भी नहीं गए।" द्रोण ने ध्यानपूर्वक अपने पुत्र की ओर देखा, "ऐसे तुम युवराज के प्रिय कैसे हो सकते हो ?"

अश्वत्थामा ने अपने पिता की ओर देखा : क्या था यह—मात्र एक जिज्ञासा अथवा कोई लक्ष्य प्रेरित निर्देश ? पर द्रोण कदाचित् अधिक खुलना नहीं चाह रहे थे। वह उनकी प्रवृत्ति नहीं थी।

"आरंभ में तो मैं दुर्योधन की ओर बहुत आकृष्ट हुआ था; किंतु एक ऐसा समय आया जब न केवल उस आकर्षण का विकास रुक गया, वरन् कुछ ह्रास भी हुआ। ..." अश्वत्थामा बोला।

"वही तो जानना चाहता हूँ कि ऐसा क्यों हुआ ?" द्रोण बोले, "कर्ण के ही समान तुम्हारी मैत्री भी दिन प्रतिदिन प्रगाढ क्यों नहीं होती गई ?"

"तब शायद नहीं जानता था; किंतु आज जानता हूँ। वह मेरी बाल्यावस्था थी। मैं युवराज के वैभव और उसकी सत्ता से प्रभावित हो कर उसकी ओर आकृष्ट हुआ था, उसके व्यक्तित्व के गुणों के कारण नहीं ।" अश्वत्थामा बोला, "मस्तिष्क के परिपक्व होने पर वैभव मेरे लिए आकर्षण का कारण नहीं रहा; और युवराज तथा उनके मित्रों की गोष्ठियो में कोई ऐसा उदात्त तत्त्व नहीं था, जो मुझे आकृष्ट करता। उनके निकट रह कर कोई अपनी आत्मा का विकास नहीं कर सकता, उसका हनन अवश्य कर सकता है।... और विशेष रूप से उनका यह परमप्रिय मित्र, कर्ण। उसकी उपस्थिति में मुझे एक ऐसी मलिनता की अनुभूति होने लगती है, कि मेरा मन विद्रोह कर उठता है और किसी न किसी बात पर हमारा विवाद हो उठता है। मेरे लिए कर्ण और दु:शासन—दोनों ही विस्फोटक का कार्य करते हैं।"

अश्वत्थामा ने हँस कर बात को कुछ हल्का करने का प्रयत्न किया।

"तुम ठीक ही कहते हो पुत्र !"

द्रोण ने और अधिक कुछ नहीं कहा। वे फिर से अपने भीतर डूब गए। ... ठीक ही कह रहा था अश्वत्थामा, वे भी तो हस्तिनापुर का वैभव देख कर ही यहाँ आए थे। अपनी दरिद्रता से इतने घबराए हुए थे कि और कुछ देख ही नहीं पाए। अश्वत्थामा बालक था उस समय; किंतु द्रोण तो बालक नहीं थे। अश्वत्थामा को आज उस मलिनता का आभास हो रहा है, किंतु द्रोण तो अब तक उस मलिनता के अभ्यस्त हो चुके हैं। उन्हें तो अब वह आभास भी नहीं होता।... किंतु कर्ण का इस प्रकार दिग्विजय पर जाना ... । द्रोण अब मात्र राजगुरु नहीं थे। वे सैनिक प्रशिक्षण तथा सैनिक अभियानों के नियंत्रक परामर्शदाता थे। उनसे पूछे बिना कर्ण को इतना बडा अभियान सौंप देने के पीछे दुर्योधन का अभिप्राय क्या है ? क्या अब सारी सैनिक मंत्रणा दुर्योधन और कर्ण के मध्य ही होगी; और जो कुछ वे दोनों निर्णय कर देंगे, वही राजाज्ञा होगी ? ... द्रोण

के चरणों के नीचे की स्थिर धरती अब उतनी स्थिर नहीं रह गई थी ...

"पुत्र ! किसी को भेजो। जाकर रथ तैयार करवाए। मुझे भीष्म से मिलने जाना है।"

भीष्म ने आचार्य का स्वागत बहुत तत्परता से किया था और समारोहपूर्वक उनको ला कर बैठाया था। किंतु जब दोनों बैठ गए, तो द्रोण को लगा कि इन दो दिनों में ही, भीष्म बहुत वृद्ध हो गए हैं।

"क्या बात है गांगेय ! आप कुछ शिथिल दिखाई पड़ रहे हैं।"

"अपनी अवस्था के लिए क्या मैं पर्याप्त स्वस्थ नहीं हूँ।" भीष्म ने हँस कर चर्चा को विनोदपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया, "इस अवस्था में, जब कि अधिकांश लोग परलोक गमन करते हैं, मैं रथसंचालन करता हूँ। युद्धाभ्यास करता हूँ। अधुनातम शस्त्रास्त्रों का परिचालन करता हूँ। लोग तो आश्चर्य करते हैं कि इस अवस्था में भी मेरी शारीरिक क्षमताएँ अक्षुण्ण कैसे है; और आप मुझे शिथिल बता रहे हैं आचार्य।"

द्रोण भी हँसे, "मैंने यह तो नहीं कहा कि आप किसी और से शिथिल है, मैंने तो केवल इतना कहा कि आप अपने आपसे कुछ शिथिल हो गए लगते हैं।"

इस बार भीष्म हँसे नहीं । जैसे उनकी कोई व्यथा उभर आई थी, "सत्य कहते हैं आचार्य ! व्यक्ति शिथिल भी अपने आपसे ही होता है, वृद्ध भी अपने आपसे ही होता है, और पराजित भी होता है तो अपने आपसे ही।"

आचार्य ने देखा : भीष्म निश्चित रूप से व्यथित थे। पर यह वह व्यक्ति था, जो अपनी व्यथा किसी से नहीं कहेगा। आश्चर्य की बात तो यह थी कि उन्होंने स्वयं अपने आपसे शिथिल होने की बात ही कैसे मान ली थी। अन्यथा भीष्म का मन तो जैसे लौह कवच में बंदी था। वहाँ का कोई श्वास निकलकर बाहर नहीं आता था।

"कोई विशेष बात है गंगापुत्र !"

"विशेष तो कुछ भी नहीं है आचार्य ! प्रकृति का नियम है कि व्यक्ति अपनी संतान से ही हारता है।" भीष्म बोले, "सारा प्रयत्न कर चुका, किंतु न धृतराष्ट्र को रंच मात्र समझा सका, न दुर्योधन को। अब इन्होंने कुरुकुल के सम्राट् युधिष्ठिर के जीवित होते, सूतपुत्र कर्ण को दिग्विजय के लिए जाने का आदेश दिया है। एक कुल में दो सम्राट् होते हैं क्या ?"

तो भीष्म भी कर्ण की दिग्विजय के पक्ष में नहीं हैं ... द्रोण ने सोचा।

"मैं तो हस्तिनापुर में सैनिक गतिविधियाँ देख कर कुछ चकित था कि

यह क्या हो रहा है।" द्रोण धीरे से बोले, "यदि हस्तिनापुर से दिग्विजय जैसा कोई महत्त्वपूर्ण अभियान हो रहा है, तो उसके मार्ग में कहीं मेरा भी घर होना चाहिए। मेरी तो आज तक यही मान्यता रही है कि मैं हस्तिनापुर के सैनिक प्रशिक्षण तथा सैनिक अभियानों का नियंत्रक हूँ।"

भीष्म वेदना से हँसे, "हमारी मान्यताएँ कुछ पुरानी हो गई हैं आचार्य! मैं भी आज तक यही समझता रहा हूँ कि मैं दुर्योधन का पितामह हूँ।"

"तो इसमें मिथ्या क्या है ?" द्रोण ने कुछ आश्चर्य से पूछा।

"मेरी दृष्टि से तो इसमें कुछ भी मिथ्या नहीं है।" भीष्म ने उत्तर दिया, "किंतु यदि दुर्योधन से पूछेंगे तो वह बताएगा कि मैं उसका पितामह नहीं हूँ, वह मेरा पितामह है।" भीष्म रुके, "जब दुर्योधन के साथ घोषयात्रा के लिए वाहिनियाँ गई थीं, तो किसी ने आपसे परामर्श किया था क्या ?"

"किंतु वह तो सैनिक अभियान नहीं था। राजपरिवार की सुरक्षा के लिए कुछ वाहिनियाँ अवश्य साथ गई थीं।" आचार्य ने कहा, "राजा को अधिकार है कि वह किसी की रक्षा के लिए कुछ सैनिक नियुक्त क्रर दे।"

"वह सैनिक अभियान नहीं था, तो गंधर्वो से युद्ध कैसे हो गया ? दुर्योधन बंदी कैसे हो गया ?" भीष्म बोले, "वैसे यदि आप दुर्योधन अथवा धृतराष्ट्र से इस विषय में प्रश्न करेंगे, तो उनका उत्तर होगा कि राजा और युवराज को किसी से पूछने की क्या आवश्यकता है। मंत्री को मंत्रणा का अधिकार तभी है, जब राजा उसकी आवश्यकता समझे।"

"तो फिर मैं किसलिए हूँ ?"

"आज्ञाओं का पालन करने के लिए।"

आचार्य स्तब्ध रह गए।

भीष्म हँसे, "आश्चर्य हुआ ? पर सत्य यही है आचार्य। मुझ जैसे वृद्ध के मन में आपका सम्मान है कि आप मेरे पौत्रों के आचार्य हैं, किंतु मेरा पौत्र तो आपको अपना वेतन-भोगी कर्मचारी ही मानता है।" भीष्म ने रुककर आचार्य को देखा, "वह आपको ही नहीं, मुझे भी अपनी उपयोगिता की कसौटी पर तौलता है। यदि मैं उसके लिए उपयोगी हूँ तो उसका पितामह हूँ, अन्यथा एक अनावश्यक प्राचीन पदार्थ, जो अपनी काल-सीमा का अतिक्रमण करने का अपराध कर रहा है।..."

द्रोण के मन में बडी प्रबल प्रतिक्रिया हो रही थी; किंतु उन्होंने स्वयं को साध रखा था।

"यदि यह सत्य है तो दुर्योधन मुझे कार्यभार से मुक्त ही क्यों नहीं कर देता ?"

भीष्म ने उनकी ओर देखा, और बोले, "बडे भोले हो आचार्य। इतना भी

नहीं समझते। कार्यमुक्त तो वह आपको तब करे, जब उसने आपको सचमुच उस कार्य के लिए नियुक्त किया हो। उसने आपको परामर्श लेने के लिए नियुक्त ही नहीं किया। वह तो बस आपकी क्षमताओं का मूल्य चुका रहा है, ताकि जब आवश्यकता हो, अपने पक्ष में आपका उपयोग कर सके। वस्तुतः उसे परामर्श देनेवाले और लोग हैं—शकुनि और कर्ण। आप और मैं तो उसके उपकरण हैं। वह हमसे परामर्श नहीं माँगता। वह हमे मात्र आदेश देना चाहता है।"

द्रोण को स्वयं अपने आप पर आश्चर्य हो रहा था। उनको भी भीष्म के ही समान विश्लेषण करना चाहिए था; किंतु जाने क्यों वे इतने दिनों तक यही भ्रम पालते रहे कि वे हस्तिनापुर में राजगुरु के आसन पर विराजमान हैं।...

"आप भी अपने आपको हस्तिनापुर में असहाय पाते हैं कुरुश्रेष्ठ ?" एक लंबे मौन के पश्चात् उन्होंने भीष्म से पूछा।

भीष्म ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया, जैसे वे अपना उत्तर निश्चित न कर पा रहे हों; और फिर बोले, "मैं भी असहाय हूँ; किंतु दुर्योधन की सत्ता के सम्मुख नहीं, मैं अपने-आपसे विवश हूँ।"

द्रोण का समाधान नहीं हुआ था। वे प्रश्नवाचक दृष्टि से भीष्म की ओर देखते रहे।

"दुर्योधन ने अपनी ओर से पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है कि वह स्वयं पर मेरा कोई नियंत्रण अथवा अधिकार नहीं मानता है। उसे न मेरी भावनाओं की चिंता है, न मेरे आहत मन की। न मेरे मान की, न मेरे अपमान की। वह तो बस अपने ही मार्ग पर ही चलेगा। मैं उसके साथ चलना चाहूँ तो चलूँ। न चलना चाहूँ तो उसका साथ छोड़ दूँ।"

"तो आपने क्या सोचा है ?" आचार्य ने पूछा।

"मैंने कहा न ! कि मैं अपने मोह के हाथों विवश हूँ।" भीष्म बोले, "छोड़ सकता, तो कब से छोड़ गया होता; किंतु शायद मैं अब किसी वन में कुटिया बना कर रह सकने के योग्य नहीं रहा।" भीष्म ने रुक कर उनकी ओर देखा, "यह नहीं कि मेरा शरीर कष्ट नहीं सह सकता, अथवा मैं तपस्या नहीं कर सकता। तपस्या तो मैं अब भी कर ही रहा हूँ। दुर्योधन से भी बहुत प्रेम नहीं है मुझे।...किंतु आचार्य ! कुरुकुल के प्रति मेरा मोह नहीं छूटता। मैं इस वंश को इसके भाग्य पर छोड़ कर, तटस्थ और निष्क्रिय नहीं हो सकता। राज्य दुर्योधन का है, किंतु वंश तो यह मेरा ही है।"

"वंश ही नहीं, राज्य भी आपका ही है कुरुश्रेष्ठ !" आचार्य ने कुछ भावुक हो कर कहा, "आप राजतंत्र को अपने हाथ में लें। दुर्योधन को दंडित करें।"

भीष्म मुस्कराए, "इसीलिए तो कह रहा हूँ कि अपने मोह के हाथों विवश हूँ। मैं न उन्हें त्याग सकता हूँ, न दंडित कर सकता हूँ। मैं तो केवल उनकी

रक्षा कर सकता हूँ।"

द्रोण चकित भाव से भीष्म की ओर देखते रहे : यह कैसा समर्थ पुरुष है, जो कर सकता है, करना चाहता है; और फिर भी कुछ करता नहीं।...

"आप सौभाग्यशाली हैं आचार्य ! कि आपको अपने भीतर इस संघर्ष का सामना नहीं करना पड रहा।" भीष्म बोले, "न तो अपनी संतान की उपेक्षा सहना सरल है; न किनारे खड़े हो कर देखना कि वे अपने ही वंश का गौरव कैसे ध्वस्त करते हैं। आत्महंता संतानों के साथ जीवित रहना बड़ा कठिन होता है आचार्य !"

द्रोण के मन में झंझावात के समान एक प्रश्न उमड़ रहा था, "तो मैं क्या करूँ ?" किंतु उन्होंने उस प्रश्न को अपने अधरों पर आने नहीं दिया। जाने भीष्म उनके प्रश्न का कितना भयानक उत्तर दें। फिर उनके लिए कोई विकल्प रहे न रहे।

"अच्छा ! चलता हूँ गांगेय।" द्रोण उठ खड़े हुए।

"आप किसी विशेष कार्य से आए थे आचार्य ?"

द्रोण मुस्कराए, "अपना घाव दिखाने आया था; किंतु जान गया कि हस्तिनापुर में एक अकेला मैं ही तो आहत नहीं हूँ। कुछ लोग मुझसे भी कहीं अधिक भयंकर रूप में क्षत-विक्षत हैं। और आप तो शायद शूल-शैया पर ही सो रहे हैं।..."

भीष्म के अधरों पर शब्द नहीं आए, उनकी आँखों में जल आ गया।

वे दोनों साथ-साथ बाहर आए। द्रोण अपने रथ में बैठे और चले गए। भीष्म खडे, उन्हें जाते हुए देखते रहे। वे समझ रहे थे कि द्रोण क्यों आए थे। किस बात से आहत थे वे। अपने अधिकारों का हनन किसे अच्छा लगता है। कर्ण को दिए गए इस महत्त्व से आहत थे द्रोण। कर्ण उनका शिष्य नहीं था। बनना चाहता था, किंतु द्रोण ने उसे अपना शिष्य नहीं बनाया था। उन्होंने एकलव्य को भी शिक्षा देने से इंकार किया था। लोग कहते हैं कि उन्होंने एक निषाद को अपनी विद्या देनी नहीं चाही थी। पर उन्होंने उसका अंगूठा क्यो ले लिया था ? लोग कहते हैं कि उन्हें भय था कि वह उनके प्रिय शिष्य अर्जुन से भी अधिक समर्थ धनुर्धर बन जाएगा। उसकी प्रतिभा को पहचान लिया था आचार्य ने। पर कर्ण को क्यों शिक्षा नहीं दी थी आचार्य ने ? वह राजकुमार नहीं था, किंतु राजकुल के संरक्षण में तो था। सूतपुत्र भी तो क्षत्रिय राजकुमारों के साथ ही शस्त्र शिक्षा पाते हैं। क्या आचार्य ने उसकी भी प्रतिभा पहचान ली थी अथवा उसके शील से परिचित हो चुके थे वे ? वे समझ गए थे कि वह गुरु के प्रति समर्पित शिष्य कभी नहीं हो सकता। वह गुरु से झूठ बोल सकता है। गुरु को प्रवंचित कर सकता है। ... और आज वही कर्ण दुर्योधन को अपने गुरु से अधिक

महत्त्वपूर्ण लग रहा है। शायद दुर्योधन भी समझता है कि आचार्य उसके प्रति प्रेम के कारण नहीं, द्रुपद के विरोध के कारण हस्तिनापुर में टिके हुए है।... आचार्य को इससे बहुत पीड़ा हुई है, किंतु आचार्य यह नहीं जानते कि दुर्योधन ने भीष्म के साथ कैसा व्यवहार किया है। उन्होंने कर्ण का विरोध किया, इसलिए दुर्योधन ने कर्ण को दिग्विजय का सम्मान दिया।...पता नहीं दुर्योधन ने कर्ण को सम्मान दिया अथवा मात्र भीष्म का अपमान किया।...

13

घर लौटते हुए, मार्ग में आचार्य के मन में केवल एक ही विचार घुमड़ रहा था, क्या भीष्म ने प्रकारांतर से उन्हें यह संकेत दिया है कि अब हस्तिनापुर में किसी को उनकी आवश्यकता नहीं है ? अब यहाँ उनका पहले जैसा सम्मान नहीं होगा ? उन्होंने कहा कि वे स्वयं कुरुकुल का मोह नहीं छोड़ सकते, इसलिए बाध्य हैं, अन्यथा शायद वे हस्तिनापुर छोड़ जाते। पर क्या इसका यह अर्थ भी है कि द्रोण के साथ वैसा कोई बंधन नहीं है, इसलिए द्रोण हस्तिनापुर का त्याग कर, यहॉ से जा सकते हैं ? यदि हस्तिनापुर में उनका सम्मान नहीं है, तो वे अब यहाँ क्यों रहें ?...

सहसा आचार्य का मन भीष्म से कृपाचार्य तक की दूरी पार कर गया। इन परिस्थितियों में कृप का क्या निर्णय होगा। कृप, भीष्म के मन को बहुत निकटता से जानता है। और उन्होंने सारथि को संकेत किया, "कृप के पास चलो।"

सारथि ने रथ मोड़ा और गुरुकुल के उस क्षेत्र की ओर चल पड़ा, जहॉ कृपाचार्य का आवास था।... द्रोण देख रहे थे कि कृप अब भी एक आरण्यक के ही समान जीवन व्यतीत कर रहे थे। उन्होंने अपनी जीवन-पद्धति को तनिक भी परिवर्तित नहीं किया था। जाने क्यों उन्होंने अपने जीवन में, वैभव का स्पर्श ही नहीं होने दिया था।

कृपाचार्य ने द्रोण को इस प्रकार अचानक अपने द्वार पर देखा तो चकित रह गए, "आचार्य आप !"

द्रोण मुस्कराए, जैसे वे जानते ही थे कि कृपाचार्य की ऐसी ही प्रतिक्रिया होगी। उन्होंने आसन ग्रहण कर जल पिया और तब बोले, "कृप! तुम्हें हस्तिनापुर

में रहते कितने वर्ष हो गए ?"

कृपाचार्य हँस पडे, "मैंने तो अपनी आँखे ही हस्तिनापुर में खोली हैं आचार्य ! मुझे तो स्मरण भी नहीं कि महाराज शांतनु कब और कहाँ से मुझे और कृपी को लाए थे। हमारे जनक शरद्वान ऋषि बाद में आकर मिले थे। उन्होंने मुझे धनुर्वेद की शिक्षा भी दी थी। किंतु पालन-पोषण का सारा काम तो महाराज शांतनु ने ही किया; और उनके पश्चात् गंगा-पुत्र भीष्म ने।"

"ओह ! हाँ ! इस ओर मेरा ध्यान ही नहीं गया। तुम्हारी स्थिति मुझसे कुछ भिन्न है।" आचार्य बोले, "तुम तो हस्तिनापुर के राजपरिवार के ही अंग हो।"

"आप नहीं हैं ?" कृपाचार्य ने सहज भाव से पूछा।

"नहीं । मैं राजतंत्र का अंग हूँ। राजपरिवार का नहीं ।"

"दोनों में व्यावहारिक अंतर क्या है आचार्य !"

"परिवार में सबके संबंध स्थिर रहते हैं, जबकि राजतंत्र में समीकरण बदलते रहते हैं।" द्रोण बोले, "मुझे देखना होगा कि किस समय हस्तिनापुर के राजतंत्र का मेरे प्रति क्या दृष्टिकोण है।"

"आप ठीक ही कह रहे हैं; किंतु माता-पिता और गुरु अपनी संतान तथा अपने शिष्यो के प्रति अपने कर्तव्य का पालन कर चुकने के पश्चात् शासन की चाकरी के समान अवकाश तो ग्रहण नहीं कर लेते। उनका सम्मान चंद्रमा की कलाओं के समान घट-बढ कैसे सकता है। हमने जब आवश्यक था, राजकुमारों को शिक्षा दी और अब भी कुलवृद्धों के समान अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इसमें शासन तंत्र को क्या करना है। आज यदि दुर्योधन अपने पुत्र-पौत्रों के लिए किसी नए गुरु की नियुक्ति करना चाहता है, तो मुझे क्या आपत्ति हो सकती है। मैंने दुर्योधन को शिक्षा दी है। आवश्यक तो नहीं कि मैं उसकी संतान को भी शिक्षा दूँ। मैं उसकी संतान को शिक्षा देने का कार्य नहीं करूँगा, तो भी मैं राजगुरु ही रहूँगा, क्योंकि मैंने दुर्योधन को शिक्षा दी है।"

द्रोण ने उनकी ओर इस प्रकार देखा, जैसे कृप ने कोई घोर मूर्खता की बात कही हो, "तुम समझते हो कि तुम अब भी राजगुरु हो ?"

"और मैं हो ही क्या सकता हूँ।" कृपाचार्य हँस रहे थे।

"तो तुम्हें आग्रह करना चाहिए कि गुरुकुल में तुम्हारा पहले के समान महत्त्व भी रहे। दुर्योधन और उसके भाइयों के पुत्र तुमसे उसी प्रकार शिक्षा ग्रहण करें, जैसे स्वयं दुर्योधन और उसके भाइयों ने ग्रहण की थी।"

कृपाचार्य उन्मुक्त कंठ से हँसे, "क्यों ? क्या मुझे उससे अवकाश नहीं चाहिए ? क्या जीवन में मुझे और कुछ नहीं करना है ? मेरा जन्म क्या कुरुकुल के राजकुमारों को शस्त्र-शिक्षा देने के लिए ही हुआ है ?"

"और क्या करना चाहते हो तुम ?" द्रोण कुछ चकित थे।

"कुछ अपना विकास भी करना है आचार्य।" कृप बोले, "आजीवन कुरु राजकुमारों को शस्त्रविद्या ही देता रहूँगा, तो अपना जीवन कब जिऊँगा ? अपने आपसे कब मिलूँगा ? अपने आपको कब पहचानूँगा ?"

द्रोण उन्हें ऐसी दृष्टि से देख रहे थे, जैसे सोच रहे हों कि इस मूर्ख को कुछ समझाएँ या न ही समझाएँ। अंततः उन्होंने उसे समझाने का ही निर्णय किया, "तुम समझते भी हो कि क्या कह रहे हो ?"

कृपाचार्य ने उनकी बात को बहुत गंभीरता से नहीं लिया। बोले, "अपने आपको समझने का ही तो प्रयत्न कर रहा हूँ।"

"अपने आपको समझने के लिए बहुत समय पडा है। अभी तो तुम दुर्योधन को समझने का प्रयत्न करो।" द्रोण बोले, "कभी तुमने ध्यान भी दिया है कि हस्तिनापुर में क्या हो रहा है ?"

"हस्तिनापुर में कुछ विशेष घटित हो रहा है क्या ?" कृप बोले, "वैसे सत्य तो यह है आचार्य ! कि मेरी इस बात में भी कोई विशेष रुचि नहीं है कि हस्तिनापुर में क्या हो रहा है।"

"क्यों ? तुम्हारी इसमें भी रुचि नहीं है कि दुर्योधन किन लोगों को महत्त्व दे रहा है और किन लोगों का अवमूल्यन कर रहा है ?"

"यदि मेरा ध्यान दुर्योधन की ओर लगा रहेगा आचार्य ! तो फिर मैं अपनी ओर कब देख पाऊँगा।" कृपाचार्य बोले, "सत्य तो यह है कि मेरी समझ में आ गया है कि जो महत्त्व दुर्योधन किसी को देता है, अथवा दे सकता है; उस महत्त्व का कोई वास्तविक महत्त्व ही नहीं है। वास्तविक महत्त्व तो कुछ और है, जिसकी उपलब्धि के लिए हमें यह जीवन मिला है।"

"तुम साधना की चर्चा कर रहे हो कृप ! किंतु साधना करने से कोई तुम्हें रोक तो नहीं रहा। गुरुकुल में काम ही कितना होता है। उसमें समय ही कितना लगता है। चाहो तो वह काम भी अपने किसी अधीनस्थ कर्मचारी को सौंप दो; और उन्मुक्त हो कर अपनी साधना करते रहो।..."

कृपाचार्य को लगा कि उनके मन में आचार्य द्रोण के विरुद्ध एक गंभीर असंतोष उठ रहा है। आचार्य से उन्हें ऐसी आशा नहीं थी। वे तो इस प्रकार कह रहे थे, जैसे कृप वर्तमान से कुछ अधिक सांसारिक वैभव और महत्त्व प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हों। व्यक्ति अपना सारा समय और ध्यान संसार की ओर लगाए रहेगा, तो आत्म को कब देख पाएगा। कृप क्या कहना चाह रहे हैं और आचार्य उन्हें क्या समझाना चाह रहे हैं। जिस महत्त्व को कृप निःसार मान कर छोड़ रहे हैं, द्रोण उन्हें उसी के पीछे भागने का परामर्श दे रहे हैं।

"आचार्य साधना का तो प्रथम चरण ही है, इस सारे मायाचक्र की नश्वरता

को समझकर उससे मुक्त होने का प्रयत्न करना, तो फिर उन महत्त्वो से चिपके रहकर साधना कैसे होगी ?"

द्रोण के लिए अब स्वयं को शांत रखना असंभव हो गया। कुछ आवेश मे बोले, "तुम तो मुझे कुछ इस प्रकार समझा रहे हो, जैसे मैंने कभी साधना ही न की हो। बहुत तपस्या की है मैंने भी। तुमने तो अपनी ऑखें ही राजाश्रय में खोली हैं; पर मैंने निर्धनता में जन्म लिया है। अभावों में पला हूँ मै। मैं जानता हूँ कि अपरिग्रह का जीवन क्या होता है। भिक्षा पर जीने का अर्थ क्या होता है। मेरी उस साधना का ही परिणाम था कि अश्वत्थामा को कृपी ने दूध के स्थान पर आटा घोल कर पिलाया था।... तुम मुझे समझाना चाह रहे हो कि साधना क्या होती है और तपस्या किसे कहते है।"

द्रोण के दर्प से परिचित थे कृपाचार्य। बात बढ़ाने का कोई लाभ भी नहीं था। द्रोण को अपने जीवन का जो मार्ग चुनना था, वे चुन चुके थे। जीवन के संबंध में वे अपनी धारणाएँ बना चुके थे। और द्रोणाचार्य से शास्त्रार्थ कर कृप को करना भी क्या था। वे अपना मार्ग टटोल रहे थे; दूसरों को अपने मार्ग पर ले चलने का प्रयत्न नहीं कर रहे थे ... वैसे कहने को उनके मन में बहुत कुछ था। वे कहना चाहते थे कि जब अर्जित करने का समय था, तब तो आचार्य समाधि लगा कर बैठ गए थे, इसलिए उनकी पत्नी को पुत्र के लिए आटा घोल कर दूध बनाना पडा था, और अब, जब उनके पास वह सारा कुछ था, जो आवश्यक था तो वे वैभव और महत्त्व की मृगमरीचिका के पीछे भाग रहे थे।...पर यह सब उन्होंने कहा नहीं ।

"नहीं ! मैं ऐसा कोई प्रयत्न नहीं कर रहा।" कृपाचार्य बोले, "शायद मेरी भौतिक महत्त्वाकांक्षाऍ ही नहीं, भौतिक आवश्यकताऍ भी बहुत कम हैं। ..."

"कम ही सही, पर हैं तो।" द्रोण ने कृप की बात मध्य में ही काट दी, "कल जब दुर्योधन तुम्हें इस गुरुकुल से बाहर निकाल देगा। तुम्हारे पास न यह स्थान रहेगा, न यह गोधन होगा, न सेवा के लिए ब्रह्मचारी और गुरुकुल के सेवक, तब क्या करोगे तुम ?"

"वैसे तो ऐसे समय के लिए ईश्वर के बनाए हुए इतने वन हैं कि मैं कहीं भी कुटिया बना सकता हूँ, वृक्षों के फल खा सकता हूँ, सरिता का जल पी सकता हूँ; किंतु दुर्योधन मुझे यहॉ से निकालेगा ही क्यों ?" कृपाचार्य ने सहज भाव से पूछा।

"दुर्योधन स्वयं चाहे न भी निकाले; किंतु उसके ऐसे परामर्शदाता हैं, जो उससे ऐसे काम करवा सकते हैं।" द्रोण बोले, "इसलिए हमें ध्यान रखना होगा कि हस्तिनापुर में ऐसे लोग महत्त्वपूर्ण न हों, जो हमारे विरोधी हैं।"

कृपाचार्य की इच्छा हुई कि वे सशब्द हँस पडें, किंतु वे जानते थे कि

द्रोण उससे रुष्ट हो सकते हैं।

"क्यों ! तुम मुझसे सहमत नहीं हो कृपाचार्य ?"

"मैं नहीं जानता कि आपके मन में क्या है।" कृप बोले, "किंतु मुझे लगता है कि मैंने, आपने तथा कुरुश्रेष्ठ भीष्म ने उस समय सक्रियता नहीं दिखाई, जब हमारे वास्तविक शुभचिंतक हस्तिनापुर से निष्कासित किए जा रहे थे। यदि हमने युधिष्ठिर के साथ हुए व्यवहार का विरोध किया होता, और उन्हें हस्तिनापुर में उनका वास्तविक अधिकार दिलाया होता, तो आज हमें किसी भी प्रकार की चिंता करने की आवश्यकता नहीं होती।"

"जो कुछ हमने किया, उसके भी कुछ कारण थे कृपाचार्य !" द्रोण का स्वर उत्तेजित था।

"कारण तो थे ही।" कृप बोले, "अब मुझे कोई कारण नहीं दिखता, जिसके लिए मैं इन चिंताओं को पालूँ। मुझे लगता है आचार्य ! मैं कुरुकुल की पर्याप्त चाकरी कर चुका। अब मुझे उसकी आवश्यकता नहीं है। यदि वे मुझे शांति से यहाँ रहने देंगे, तो ठीक है, अन्यथा मैं कहीं और चला जाऊँगा। अब मेरी अवस्था ग्रहण की नहीं, त्याग की है। व्यक्ति यह तो जानता है कि उसे कब क्या चाहिए, उसे यह भी ज्ञात होना चाहिए कि कब उसके लिए क्या अनावश्यक हो गया है। उसे आवश्यक का ग्रहण आता है, तो उसे अनावश्यक का त्याग भी आना चाहिए। ... तेन त्यक्तेन भुंजीथा : ..."

"मुझे शास्त्र मत पढ़ाओ।" द्रोण का स्वर कुछ अशिष्ट को चला था, "त्यागोगे क्या, यदि कुछ ग्रहण ही नहीं करोगे।" सहसा उन्होंने अपने स्वर की कठोरता को पहचाना और जैसे स्वयं को बलात् शांत किया, "त्याग तो किसी भी क्षण किया जा सकता है, स्वेच्छा से किया जा सकता है; किंतु उपलब्धि सदा अपनी इच्छा के क्षण में नहीं होती। इसलिए कह रहा हूँ कि हस्तिनापुर में प्रतिकूल होती हुई परिस्थितियों को पहचानो। इससे पहले कि सब कुछ हमारे विरुद्ध हो जाए, हमें इतना तो संचित कर ही लेना चाहिए कि बाद में पश्चात्ताप न करना पड़े। जिस वृक्ष के नीचे तुम बैठे हो, वह फलों से लदा हुआ है। उसकी छाया को छोड़ने से पहले, उससे प्राप्त हो सकनेवाले फलों की एक गठरी तो बाँध लो।"

कृपाचार्य का मन हुआ कि वे भी अपना पक्ष आचार्य के सम्मुख रख ही दें, "संसार में सब ही किसी न किसी प्रकार के फल के वृक्ष के नीचे बैठे हैं। और सब ही जानते हैं कि उन्हें उसके नीचे से उठना ही है। स्वयं नहीं भी उठना चाहेंगे, तो उठा दिए जाएँगे। मुझे लगता है आचार्य ! कि संसार में दो प्रकार के जीव होते हैं। पहली प्रकार के वे, जो उस वृक्ष के नीचे से उठने के पूर्व उसके सारे फल झाड़ कर अपनी गठरी में बाँध लेना चाहते हैं। दूसरे वर्ग के

वे लोग हैं, जो अपनी आवश्यकता भर ही लेते हैं और उठ जाते हैं, चाहे उस समय वृक्ष फलों से लदा हुआ ही क्यों न हो और पवन उसको पूरे वेग से झकझोर ही क्यों न रहा हो। ... मुझे अब यह अनुभूति होने लगी है कि मेरी आवश्यकता भर का मेरे पास हो गया है, तो मैं व्यर्थ ही उस वृक्ष के नीचे बैठे रहना और झंझावात की धूल से मलिन होना अथवा वर्षा की बौछार से भीग कर अस्वस्थ होना पसंद नहीं करता। मुझे न तो औरों की तुलना में अधिक चाहिए, न अधिकतम चाहिए। मुझे तो अपनी आवश्यकता भर चाहिए।"

द्रोणाचार्य ने कृप पर एक हताश दृष्टि डाली, "तुम्हें कुछ समझाने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। अपनी बहन के ही समान हठी हो। जो व्यक्ति अपना लाभ ही नहीं समझता ..."

कृपाचार्य ने पहली बार द्रोण की बात बीच में ही काट दी, "अपनी बहन के समान नहीं हूँगा तो किसके समान हूँगा। उसका भाई जो ठहरा। और आचार्य! अंतर तो लाभ की अवधारणा का है। हम अपना लाभ किसे मानें ? जब आप हस्तिनापुर आए थे, तो मैं अपना लाभ किसे मानता ? यदि मैं यह मानता कि कुरुकुल के राजाओं से मुझे अधिकतम धन, मान और अधिकार प्राप्त करना है, तो मेरा प्रयत्न होता कि आप हस्तिनापुर में टिक भी न पाएँ; क्योंकि आपको जो कुछ भी मिलेगा, वह मेरे अंश में से ही तो मिलेगा; किंतु मैं समझता था कि मेरी आवश्यकतानुसार मुझे मिलता ही रहेगा। आप यहाँ नहीं भी रहेंगे, तो भी मैं उतना ही ग्रहण कर पाऊँगा, जितनी मेरी क्षमता है। अधिक से तो मुझे अजीर्ण ही होगा। ... और यदि आप यहीं रहते हैं, तो मेरे शिष्यों को आपके ज्ञान का लाभ होगा। कुरुओं को एक योग्य आचार्य और गुरु मिलेंगे। मेरी बहन मेरे पास रहेगी। अश्वत्थामा सदा मेरी आँखों के सामने रहेगा। और वह अवस्था, तो मेरे ग्रहण की अवस्था थी। आज तो मैं उस अवस्था में पहुँच गया हूँ, जब त्याग की तैयारी करनी है। अब तो समय आ गया है कि अपना सब कुछ किसी को दे डालूँ। अपना धन दे दूँ, अपना ज्ञान दे दूँ, अपना पद दे दूँ, आवश्यकता हो तो अपने प्राण दे दूँ।"

"अपने प्राण दे सकते हो ?" द्रोणाचार्य ने कठोर दृष्टि से कृप की ओर देखा।

कृपाचार्य को द्रोण की वह मुद्रा स्मरण हो आई, जब उन्होंने एकलव्य से उसका अंगूठा माँग लिया था। कृप का मन क्षण भर के लिए अस्थिर हो उठा; किंतु उन्होंने स्वयं को नियंत्रित किया, "हाँ। किसी का कोई काम मेरे प्राणों से ही बनता हो, तो अपने प्राण भी दे सकता हूँ। आपको चाहिए ?"

द्रोण का मन हिल गया। कृपाचार्य का यह रूप तो उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था। बोले, "नहीं ! अभी नहीं चाहिएँ। किंतु ध्यान रहे कि तुम्हारे प्राण

अब मेरी धरोहर हैं। मैंने तुमसे माँग लिए हैं। मुझे अपने लिए नहीं चाहिए तुम्हारे प्राण; किंतु मेरे न रहने पर अश्वत्थामा को तुम्हारे प्राणों की आवश्यकता पड़ सकती है। ध्यान रहे कि तुम्हें सदा अश्वत्थामा का ध्यान रखना है। तुम्हें और कुछ न मिलने का भय नहीं है कृप ! किंतु मेरे मन में मेरा सब कुछ छिन जाने का भय भी समाया हुआ है। इसलिए ध्यान आता है कि कहीं फिर से अश्वत्थामा को किसी दिन गोरस के स्थान पर आटा घोल कर न पीना पड़े। मैंने जब कर्ण का तिरस्कार किया था, तब हस्तिनापुर में राज्य चाहे धृतराष्ट्र का था, किंतु सत्ता भीष्म के हाथों में थी। आज भी राज्य चाहे धृतराष्ट्र का ही है, किंतु सत्ता दुर्योधन के हाथों में है।"

"तो क्या हुआ आचार्य ! दुर्योधन आपका शिष्य है। वह आपका सम्मान करता है। प्रेम करता हो न करता हो; किंतु वह आपका महत्त्व समझता है। वह आप का अनादर नहीं करेगा।..."

"मैं दुर्योधन से भयभीत नहीं हूँ कृप ! मैं आशंकित हूँ, दुर्योधन पर पड़नेवाली कर्ण की छाया से।" द्रोण बोले, "और तुम जानते ही हो कि कर्ण न तो मेरा शिष्य है, न वह मेरा सम्मान करता है। अवसर मिलते ही वह मेरा और अश्वत्थामा का अहित कर सकता है। प्रतिशोध उसके जीवन का मूल मंत्र है। उसमें उदारता नाम मात्र को भी नहीं है। ऐसे समय के लिए मैं चाहता हूँ कि हमें समर्थ बने रहना है और आत्मरक्षा के लिए सन्नद्ध भी।"

"आप उसकी दिग्विजय के समाचार से तो आशंकित नहीं हो उठे हैं आचार्य ?"

"तुम्हें उसकी सूचना है ?" द्रोण चकित थे।

"हाँ ! आज हस्तिनापुर में कौन नहीं जानता कि दुर्योधन अपनी दिग्विजय के लिएं कर्ण को भेज रहा है।" कृपाचार्य शांत मन से बोले, "पर दुर्योधन को ऐसी भूल करनी नहीं चाहिए थी।"

द्रोण ने प्रश्नवाचक दृष्टि से उनकी ओर देखा।

कृपाचार्य के मुख पर कुछ विनोदी भाव उभरा, "युद्ध की स्थिति में कहीं वह अपनी सेना को छोड़ कर भाग गया तो ?"

आचार्य द्रोण की इच्छा हुई कि वे भी कृपाचार्य के साथ अट्टहास करें; किंतु वे अपनी उत्तेजित मानसिकता में, बस मुस्करा भर ही सके।

"उसके युद्धों के इतिहास में पलायन का अंश बहुत अधिक है।" कृपाचार्य बोले, "किंतु वह जय प्राप्त करे न करे, उसके दूत दुर्योधन के पास आ-आकर नित नई विजयों की सूचना देते रहेंगे।"

"तुम समझते हो कि ऐसा भी संभव है ?"

"संभव ! मुझे इसी की अधिक अपेक्षा है।" कृपाचार्य बोले।

आचार्य द्रोण थोड़ी देर तक मौन बैठे रहे और फिर जैसे किसी निश्चय पर पहुँचकर उन्होंने पूछा, "यदि ऐसी ही बात है कृप ! तो दुर्योधन ने कर्ण को ही क्यो भेजा, दिग्विजय के लिए ? वह किसी और को भी तो भेज सकता था। इसका अर्थ तो यह हुआ कि दुर्योधन को कर्ण के सामर्थ्य पर पूर्ण विश्वास है।"

"इस बात पर मुझे भी कुछ आश्चर्य है।" कृपाचार्य ने कहा, "किंतु एक बात और भी मेरे ध्यान में आती है।... आपने दुर्योधन के प्रायोपवेशन की कथा सुनी होगी। आज कल वह हस्तिनापुर की प्रत्येक वीथि में दुहराई जा रही है।"

"सुनी है, मैंने भी।" द्रोण बोले।

"शायद उस कथा ने ही दुर्योधन को यह विश्वास दिलाया है कि केवल कर्ण ही उसका मित्र हो सकता है, क्योंकि दुर्योधन असद् शक्तियों का सेनापति है और कर्ण मे भौमासुर की प्रेतात्मा है।" कृपाचार्य बोले, "और कर्ण के सामर्थ्य पर उसके विश्वास का भी यही कारण है। वस्तुतः वह कर्ण पर नहीं, भौमासुर पर विश्वास करता है।"

"कैसा मूर्ख है यह दुर्योधन, कथाओं पर विश्वास करके भी कभी कोई युद्ध जीता है।"

कृपाचार्य कुछ नहीं बोले।

"इतना कुछ जानते बूझते भी तुम हस्तिनापुर की परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाना नहीं चाहते ?"

कृपाचार्य हँस पड़े, "इन परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने का अर्थ है, दुर्योधन का सेनापति बनना। वह मेरी महत्त्वाकांक्षा नहीं है आचार्य ! मैं अब कोई पद नहीं लेना चाहता। मैं तो बस अपना शेष जीवन केवल कृप हो कर जी लेना चाहता हूँ।"

द्रोण कुछ झल्ला गए, "केवल कृप हो कर जीने का क्या अर्थ है ?"

"जिस समय जो मेरा धर्म होगा, वह कर्म तो करूँगा। उससे अधिक कुछ पाने की कोई कामना नहीं है। न कुछ खो जाने का भय है।" कृपाचार्य ने कहा, "मैं तो चाहूँगा कि मैं अंतर्मुखी हो कर अपनी आत्मा के आदेश पर चलूँ। किसी राजा के आदेशों का पालन कर अपना महत्त्व बढ़ाने की कामना नहीं है मुझको।"

द्रोण न केवल कृपाचार्य से सहमत नहीं हो पा रहे थे, उन्हें क्रोध भी आ रहा था; किंतु कृप उनके शिष्य नहीं थे कि दोण उनको किसी प्रकार का आदेश दे सकते। वे उठ खडे हुए।

"मुझे मालूम नहीं है कृप। कि तुम किस लोभ में इस प्रकार का व्यवहार कर रहे हो।" द्रोण बोले, "किंतु मैं समझता हूँ कि यह चिंतन तुम्हारा कोई हित

नहीं साधेगा। आज तुम मेरी बात नहीं मान रहे हो, किंतु मुझे पूरा विश्वास है कि तुम इसके लिए पछताओगे।"

कृपाचार्य ने कोई उत्तर नहीं दिया। किंतु एक प्रश्न उनके मन में देर तक गूँजता रहा : पता नहीं लोग क्यों यह मान लेते हैं, कि उनकी जीवन-शैली ही संसार की एक मात्र जीवन-शैली है। क्या कोई किसी से भिन्न हो ही नहीं सकता ?

14

दुर्योधन ने, कर्ण को एक चक्रवर्ती सम्राट् का सा सम्मान देते हुए, दिग्विजय के लिए विदा किया था। इतनी धूमधाम से कदाचित् ही कभी किसी सेना ने हस्तिनापुर से विजय के लिए प्रयाण किया हो। जाते-जाते दुर्योधन ने कर्ण को अपने वक्ष में भींचते हुए कहा, "युधिष्ठिर के लिए, जो कुछ उसके चारों भाई और कृष्ण मिल कर हैं, मेरे लिए वह अकेले तुम हो।"

कर्ण का मन उस समय किसी ऐसे बालक के समान प्रफुल्लित था, जिसे अपने मुहल्ले में सदा धिक्कार मिलता रहा हो, और आज उसे अपने विद्यालय के उत्सव में कोई महत्त्वपूर्ण पुरस्कार मिल रहा हो। उसकी ऑखें पूरी व्याकुलता से उस सारे उपस्थित समुदाय में चारों ओर ढूँढती हैं कि उसके मुहल्लेवालों में से वहॉ कोई उपस्थित है अथवा नहीं । कोई देखनेवाला है कि नहीं कि जिसे आज तक उन्होंने दुत्कारा है, वह कितना महिमावान व्यक्ति है। ...कर्ण की इच्छा हो रही थी कि कहीं इस समय पांडव यहाँ उपस्थित होते। वह अहंकारिणी द्रुपदपुत्री कृष्णा यहॉ होती और अपने उन बडे-बड़े नेत्रों से स्वयं देखती कि कर्ण क्या है। पांडवों के मित्र कृष्ण देखते कि कर्ण किस शोभा और सम्मान के साथ, किस गौरव और अधिकार के साथ, दिग्विजय के लिए, अपनी इस यात्रा पर जा रहा है। ... वे यहाँ नहीं थे, तो आचार्य द्रोण ही यहॉ आ जाते। कुरुवृद्ध भीष्म ही देखते कि कर्ण का महत्त्व क्या है। ... किंतु उनमें से कोई भी नहीं था वहॉ। केवल दुर्योधन ही था, उसे विदा करने के लिए; या फिर दुर्योधन के मित्र और कर्मचारी थे। कोई राजकीय तंत्र किसी को जितना सम्मान दे सकता था, उतना कर्ण को प्राप्त हो रहा था।

कर्ण सोच रहा था ...दुर्योधन ने उसके लिए बहुत कुछ किया था; किंतु उसके लिए एक रंगभूमि का निर्माण वह भी कभी नहीं करवा पाया।

रंगभूमि तो शायद बन भी जाती, किंतु वह परिवेश कहाँ से आता ... सारा कुरुकुल, सारे कुरुवृद्ध, उल्लसित प्रजा, सेनाएँ और मंत्रिमंडल ... लगता था सारा ब्रह्मांड वहाँ एकत्रित था।...सबने कुरु राजकुमारों का शस्त्र-कौशल देखा था और उन्हें भूरि-भूरि सराहा था। एक अभागा कर्ण ही था, जिसे अपनी विद्या का प्रदर्शन करने का अवसर नहीं मिला।...उससे भूल इतनी ही हुई थी कि उसने यह नहीं कहा था कि वह भी अपना शस्त्र-कौशल दिखाना चाहता है। जाने कैसा मद चढ गया था उसके मस्तक पर कि वह ललकार कर एक ही बात कह रहा था कि अर्जुन ने ऐसा क्या महत्त्वपूर्ण कर दिखाया था, जो वह नहीं कर सकता था; और फिर उसने अर्जुन से द्वन्द्व युद्ध की इच्छा ही प्रकट नहीं की, उसकी माँग रखी थी। रंगभूमि में उस दिन किसी ने किसी से द्वन्द्व युद्ध नहीं किया था, तो उसे ही द्वन्द्व युद्ध का अवसर कैसे दे दिया जाता। ... यह बात तो बहुत बाद में उसकी समझ में आई थी कि वहाँ अर्जुन का शस्त्र-कौशल प्रदर्शित नहीं हो रहा था। वहाँ तो गुरु द्रोण का शस्त्र-ज्ञान प्रदर्शित हो रहा था। वहाँ सारे हस्तिनापुर को एकत्रित कर यह दिखाया जा रहा था, कि आचार्य ने कुरु राजकुमारों को क्या-क्या सिखा दिया है। आचार्य ने कर्ण को कुछ नहीं सिखाया था, तो उसका शस्त्र-कौशल, आचार्य के यश का प्रसार नहीं कर सकता था। तो फिर उसे क्यों अवसर दिया जाता, अपनी योग्यता प्रदर्शित करने का। वह समझ रहा था कि वह अर्जुन से स्पर्धा का अवसर माँग रहा है, किंतु वह स्पर्धा कर रहा था, आचार्य द्रोण से। वह समझ रहा था कि वह अपनी योग्यता के प्रदर्शन का अवसर माँग रहा था, और माँग रहा था वह, अर्जुन से द्वन्द्व युद्ध का अवसर। द्वन्द्व युद्ध, जिसमें दो योद्धाओं में से एक की मृत्यु निश्चित् होती है। कैसी विरोधी बातें थीं। शायद उसकी माँगने की शैली ही ऐसी थी जो उसका आशय कभी भी ठीक-ठीक प्रकट नहीं कर पाती थी।

उसके मन में एक अन्य दृश्य भी उभर रहा था... यह गंगा तट पर कांपिल्य नगर था। द्रौपदी के स्वयंवर का अवसर था। कर्ण ने अपने जीवन में तब तक शायद वैसा कोई समारोह नहीं देखा था।... जैसे सारा संसार उमड आया था वहाँ। पूर्व से जरासंध भी आया था वहाँ; और पश्चिम से यादव भी। ...कर्ण चाहता था कि उस समारोह में वह भी अपना कौशल दिखाए। ईश्वर की बनाई हुई यह सारी सृष्टि देखे कि कर्ण क्या कर सकता है। ... पर पांचाली ने पुकार कर कह दिया कि वह सूतपुत्र से विवाह नहीं करेगी। वह वीर्यशुल्का का स्वयंवर था। अपनी वीरता प्रमाणित करने के लिए प्रत्याशियों को एक अद्‌भुत प्रतिज्ञा पूरी करनी थी; और स्वयंवर होने के कारण सब कुछ पांचाली की इच्छा पर निर्भर भी था।... पांचाली ने उसे शक्ति-परीक्षण

की अनुमति ही नहीं दी थी। ...उस दिन भी उसका मन हुआ था कि वह पुकार कर कहे, "मत करना मुझसे विवाह राजकुमारी ! किंतु मुझे अपने कौशल का प्रदर्शन तो कर लेने दो। मैं प्रतियोगी नहीं हूँ। प्रतिद्वंद्वी भी नहीं हूँ किसी का। यदि मैंने प्रतिज्ञा पूरी कर ली, तो भी तुम्हारा विवाह मुझसे नहीं, युवराज दुर्योधन से ही होगा। मैं उसे ही समर्पित कर दूँगा तुम्हें।... किंतु मुझे अपनी धनुर्विद्या का प्रदर्शन कर लेने दो। मेरे लिए एक कृपाचार्य ही पर्याप्त हैं। तुम दूसरी कृपाचार्य मत बनो।"

...पर यह सब कह नहीं पाया था वह। चुपचाप धनुष रख कर लौट आया था।...मुख से कुछ बोला ही नहीं । बोलता तो जाने क्या-क्या कह जाता। उसकी जिह्वा चलती है, तो उस पर उसका कोई नियंत्रण ही नहीं रह जाता। उसका मन भी आवेश के सोपान चढ़ता ही चला जाता है। उसका अहंकार स्फीत होता जाता है। फिर वह कहनी और अनकहनी मे अंतर नहीं कर पाता। ...

उसे रोक दिया था, पांचाली ने। कर्ण ने स्वयंवर का धनुष वापस रख दिया था। किंतु दुर्योधन ने न अपनी कामना छोड़ी थी, न अपना प्रयत्न। ...यही तो विशेषता थी दुर्योधन की। जब सारा संसार मान लेता था कि निर्णय हो चुका है, तो भी दुर्योधन नहीं मानता था। दुर्योधन तो तब ही मानता था, जब परिणाम उसके मन के अनुकूल हो जाए, अन्यथा वह किसी निर्णय अथवा परिणाम को स्वीकार नहीं करता था। ... तभी तो दुर्योधन यह चाहता था कि पांचाली को प्राप्त करने का प्रयत्न न छोड़ा जाए। उसके लिए धर्म वही था, जो उसके पक्ष में जाए। उसकी इच्छा के विरुद्ध कुछ घट जाए तो दुर्योधन को धर्म स्मरण ही नहीं रहता था। दुर्योधन चाहता था कि विजयी ब्राह्मण से पांचाली छीन ली जाए। ...कर्ण तब तक नहीं जानता था कि दुर्योधन बहुत दूर तक की सोच कर आया था। उसे पांचाली का भी मोह था; और वह द्रुपद का जामाता बन कर, द्रुपद की शक्ति पर आधिपत्य जमा कर, स्वयं शक्तिशाली हो, हस्तिनापुर में भी भीष्म तथा आचार्य द्रोण को दुर्बल करना चाहता था। ... पर कर्ण स्वयं भी समझ नहीं पा रहा था कि वह स्वयं क्या चाहता था। इतना निश्चित् था कि वह अपनी धनुर्विद्या के प्रदर्शन का अवसर चाहता था। जीवन में फिर कभी ऐसा अवसर आए न आए। इतने लोग कहीं एकत्रित हों, न हों। ... दुर्योधन की इच्छा पूरी करने के बहाने उसे एक ऐसा ही अवसर मिल रहा था। स्वयंवर विजेता उस ब्राह्मण को जय कर लेना; स्वयंवर को जय कर लेने से भी बडी विजय थी। सर्वश्रेष्ठ वीर को पराजित करने का अर्थ था, स्वयं को सहज ही संसार का सबसे महान् धनुर्धारी प्रमाणित कर देना।...किंतु यह बहुत शीघ्र ही स्पष्ट हो गया था कि वह एक असफल प्रयत्न कर रहा था–धर्माचरण की दृष्टि से भी और सफलता की दृष्टि से

भी। इस अधर्म के लिए कृष्ण उसे क्षमा करनेवाले नहीं थे। यादव वहाँ अपनी पूरी शक्ति के साथ विद्यमान थे। वे कौरवों से ही नहीं जरासंध से भी टकरा सकते थे। ...और उस धनुर्धारी ब्राह्मण से कुछ सीखा ही जा सकता था, उसे जीता नहीं जा सकता था।... उससे टकराकर कर्ण की शक्ति कम, उसकी दुर्बलता ही अधिक प्रमाणित होने जा रही थी ... तो फिर क्या लाभ था उस युद्ध का ?... उससे तो न वह दुर्योधन के लिए ही कुछ प्राप्त कर सकता था, न अपने लिए।

उन घटनाओं के वर्षो बाद आज दुर्योधन ने उसके लिए एक रंगशाला बनवा दी थी। ठीक है कि इस समय उसका महत्त्व देखनेवाला उनमें से कोई नहीं था, जिन्हे वह दिखाना चाहता था। और यहाँ कर्ण से अधिक तो दुर्योधन का ही महत्त्व था, जो उसे दिग्विजय पर भेज रहा था। ... पर दुर्योधन ने उसके लिए एक रंगशाला का निर्माण तो कर दिया था, जिस पर कर्ण अपना शौर्य, अपना रणकौशल और धनुर्विद्या प्रदर्शित कर सकेगा। उसके इन सारे प्रतिद्वन्द्वियों में से, युद्धक्षेत्र में, उसका कौशल देखने को तो कोई उपस्थित नहीं होगा; किंतु कर्ण की यशोगाथा तो उन लोगों के कानों में पड़ेगी ही। वे स्वय नहीं भी सुनेंगे, तो भी दुर्योधन उन्हें सुनाएगा। वे उसका महत्त्व तो जानेगे।...

दुर्योधन के प्रति कृतज्ञता के भाव से कर्ण का मन विह्वल हो रहा था। एक ओर उसकी इच्छा हो रही थी कि वह दुर्योधन के चरणों में गिर पडे, और दूसरी ओर उसका विवेक उसे निरंतर रोक रहा था; अन्यथा अब तक वह उसके चरण छू ही चुका होता। यह किसी दिग्विजयी सेनापति के लिए उपयुक्त आचरण नहीं होता। ऐसे अवसरों पर चरण तो अपने माता-पिता के छुए जाते हैं, अथवा फिर अपने गुरु के। न कोई मित्रों के चरण छूता है, न राजाओ और युवराजों के। ...पर कर्ण को लग रहा था कि आज दुर्योधन ने उसके लिए वह सब कर दिया है, जो उसके माता-पिता और गुरु मिल कर भी नहीं कर पाए ...इसके प्रतिदान में वह दुर्योधन के लिए कुछ भी कर सकता था।... और वह यह भी जानता था कि दुर्योधन उससे क्या चाहता था... अर्जुन का वध। वह भी करेगा कर्ण। दुर्योधन की प्रसन्नता के लिए वह अर्जुन का वध भी करेगा ...

कर्ण को हस्तिनापुर से विदा हुए कई दिन व्यतीत हो चुके थे; किंतु हस्तिनापुर का कोई भी गुप्तचर द्रोण के लिए कोई समाचार नहीं लाया था। कर्ण के जो भी दूत आ रहे थे, वे सीधे दुर्योधन के पास ही जा रहे थे; दुर्योधन ही सारे समाचार

सुन रहा था। वह ही आदेश दे रहा था; और वह ही कर्ण को और सैनिक सहायता भेज रहा था। अपनी सेनाओं की प्रगति के विषय में दुर्योधन जो सूचनाएँ प्रचारित कर रहा था, वे अत्यंत उत्साहवर्धक थीं। कर्ण एक राज्य के पश्चात् दूसरे राज्य को ध्वस्त कर आगे बढ़ रहा था। मार्ग में आए सारे राजाओं को पराजित कर, वह उनसे कर ग्रहण कर रहा था। एक दिशा को पूर्णतः जय कर वह दूसरी दिशा की ओर बढ़ रहा था।...

द्रोण व्याकुल मनःस्थिति में अपने कक्ष में टहल रहे थे और दुर्योधन द्वारा प्रचारित सूचनाओं पर विचार कर रहे थे। ... सहसा ऐसा क्या हो गया कि युवराज को यह दायित्व भी अपने कंधों पर लेना पड़ा ? युवराज यह काम किसी और पर क्यों छोड नहीं सकते ? ...कर्ण जिन लोगों को पराजित कर आगे बढ़ रहा था, उनमें कोई बड़ा नाम नहीं आ रहा था। यदि वह शक्तिशाली लोगों से लड ही नहीं रहा था तो दिग्विजय कैसे होगी ?

अश्वत्थामा कक्ष में आया तो आचार्य का ध्यान भंग हुआ।

"क्या समाचार है पुत्र ?"

"किसका समाचार जानना चाहते हैं पिताजी ?"

"हस्तिनापुर की सेनाओं का, जिन का उत्तरदायित्व मुझ पर है, किंतु जिनकी सूचनाएँ तक सीधी मुझ तक नहीं पहुँच रही हैं।"

"वे सेनाएँ झंझावात से भी अधिक वेग से आगे बढ़ रही हैं—दुर्योधन ऐसी घोषणाएँ कर रहा है।" अश्वत्थामा मुस्करा रहा था।

द्रोण की दृष्टि अपने पुत्र पर ठहर गई, "क्या बात है पुत्र ! तुम गंभीर नहीं हो। सेना की सूचना देते हुए मुस्करा रहे हो।"

"बात तो मुस्कराने की ही है पिताजी !" अश्वत्थामा बोला, "दुर्योधन जो सूचनाएँ प्रचारित कर रहा है, वे सब केवल प्रजा को प्रसन्न कर सकती हैं कि उनके राजा की सेना, संसार की सब से वीर सेना है, जो निरंतर आगे बढ़ रही है और अन्य राजाओं पर विजय प्राप्त कर रही है। किसी सैनिक को तो उससे संतोष होगा नहीं । वह कह रहा है कि कर्ण ने आज पूर्व दिशा को जीत लिया। वह अपनी विजय की घोषणा करने को इतना आतुर है कि यह भी सोच नहीं रहा है कि इतनी शीघ्रता से तो सेना के अश्व निर्विघ्न दौड भी नहीं सकते, जितनी शीघ्रता से वह कर्ण की विजयों की घोषणा कर रहा है।"

"बिना विजय पाए हुए तो वह विजय की घोषणा नहीं कर सकता।" द्रोण बोले।

"करने को तो वह कुछ भी कर सकता है।" अश्वत्थामा बोला, "आप उसके जीते हुए राज्यों के नामों पर विचार करें। उनमें अग और अहिछत्र

का भी नाम है।...'

"अहिछत्र और अंग देश।" द्रोण चकित हो कर बोले, "अंग उसका अपना राज्य है; और अहिछत्र तो हमारा है। वहाँ वह किसके विरुद्ध लड़ा ? हम तो यहाँ बैठे हैं; और अहिछत्र को द्रुपद से बचाने का दायित्व तो हस्तिनापुर का ही है।"

"इसीलिए तो मैं हँस रहा हूँ।" अश्वत्थामा बोला, "मुझे तो लगता है कि दुर्योधन अपनी प्रजा के मनोरंजन के लिए ऐसी घोषणाएँ कर रहा है। पर उसे अपनी घोषणाओं में कुछ सावधानी बरतनी चाहिए।"

द्रोण अश्वत्थामा के समान हँस नहीं पाए। उनका मन सशंक हो उठा था।

"दुर्योधन इतना मूर्ख नहीं हो सकता।" वे बोले, "इन घोषणाओं के पीछे कोई और प्रयोजन भी तो हो सकता है। कौरवों का मन पांचालों के राज्य पर कई पीढ़ियों से लुब्ध है। यह संयोग ही था कि अहिछत्र को द्रुपद से मैंने छीन लिया। अहिछत्र द्रोण का था और द्रोण कौरवों के थे। दुर्योधन द्रुपद से कांपिल्य तो छीन नहीं सकता था; किंतु वह अहिछत्र पर तो अपना आधिपत्य जमा ही सकता था। ... बात मात्र घोषणा तक ही रहे तो मुझे भी ऐसी कोई विशेष असुविधा नहीं है; किंतु यदि दुर्योधन इसी बहाने अहिछत्र को अपने राज्य में मिलाना चाहे तो मैं उसे इसकी अनुमति नहीं दूँगा।"

"आपको इन घोषणाओं में कोई गंभीरता दिखाई देती है पिताजी !" अश्वत्थामा बोला, "मैं तो यही मानता हूँ कि राजा लोग अनेक घोषणाएँ मात्र अपनी प्रजा को भ्रमित करने के लिए करते हैं।"

"मैं तुमसे सहमत हो जाता, यदि दुर्योधन की घोषणा में द्वारका, विराटनगर, मद्र, सिंधु सौवीर अथवा कांपिल्य को अपने राज्य में सम्मिलित करने की चर्चा होती।" द्रोण बोले, "तुम ध्यान दो कि उसकी घोषणाओं मे उन सारे राजाओं तथा राज्यों का नाम भी नहीं लिया गया है, जो उस पर भारी पड सकते हैं।"

"आप जो कह रहे हैं, उसका तर्क मेरी समझ में आता है, किंतु इस बात का मुझे विश्वास नहीं होता कि वह आपसे, आपका नगर छीनने की कल्पना भी कर सकता है।" अश्वत्थामा ने उत्तर दिया, "यदि वह उसकी कल्पना भी करता है, तो उसके समान महामूर्ख और कौन होगा।"

द्रोण न तो अश्वत्थामा से सहमत हो पा रहे थे, न अपने मन की व्याकुलता को शांत ही कर पा रहे थे। ... वे टहलते रहे और अपने मन ही मन विचार करते रहे। अंततः वे अपने पुत्र की ओर मुड़े, "मेरा विचार है कि हमें इस संदर्भ में भीष्म से चर्चा कर लेनी चाहिए।"

"भीष्म क्या करेंगे ?" अश्वत्थामा चकित भाव से बोला, "आप जानते ही हैं कि भीष्म का न तो दुर्योधन पर कोई नियंत्रण है और न ही उनके पास कोई अधिकार है। उनसे चर्चा का लाभ ?"

"मैं जानना चाहता हूँ कि भीष्म इस विषय में क्या जानते हैं और क्या सोचते हैं।" द्रोण बोले, "आओ ! तुम भी मेरे साथ आ जाओ।"

आचार्य कुछ इतने व्याकुल हो उठे थे कि उन्होंने सारथि की भी प्रतीक्षा नहीं की। उन्होंने अश्वत्थामा को भी रथ संचालन के लिए नहीं कहा। घोड़ों की वल्गा हाथ में ली और बोले, "आओ। बैठो।"

अश्वत्थामा रथ में बैठ गया।

"मैं आपकी इस व्याकुलता का कारण नहीं समझ पा रहा हूँ।" अश्वत्थामा पुनः बोला, "मुझे पूर्ण विश्वास है कि दुर्योधन हमसे अहिछत्र छीनने की मूर्खता नहीं कर सकता। वह तो इन दिनों पांडवों से युद्ध की तैयारी के संदर्भ में अपने शत्रुओं से भी मैत्री कर रहा है। ऐसे में वह अपने मित्रों को अपना शत्रु बनाने का साहस कैसे कर सकता है ?"

"मैं तुम्हारे समान संतुष्ट नहीं रह सकता।" द्रोण बोले, "दुर्योधन का स्वार्थ उससे कुछ भी करवा सकता है। जो व्यक्ति पांडवों जैसे भाइयों के साथ ऐसा व्यवहार कर सकता है, उससे कुछ भी अनपेक्षित नहीं है। वह लोभ और दंभ का साक्षात् रूप है। उसके लोभ का कहीं कोई अंत नहीं है।" उन्होंने रुक कर पुत्र पर एक दृष्टि डाली, "तुम्हारी और मेरी अवस्था में भी बहुत अंतर है। तुम अभी तक मनुष्य की मूलभूत आदर्शवादिता में विश्वास करते हो; किंतु मेरा अनुभव मुझे बताता है कि मनुष्य की मूल प्रकृति स्वार्थी और आत्मकेंद्रित होने की है। वह किसी दबाव के कारण ही आदर्शवादी बना रह सकता है।"

अश्वत्थामा जानता था कि ऐसे समय में पिता से विवाद करने का कोई लाभ नहीं था। उनके मन में यदि किसी आशंका का अंकुर फूटा था तो उस आशंका को निर्मूल करने के लिए मात्र तर्क पर्याप्त नहीं था। वे अपनी ओर से जितनी भी सावधानी बरत सकते है, वे बरतेंगे ही। वे दूसरे की सदाशयता से अधिक अपनी युक्ति पर ही विश्वास करेगे। इसलिए उन्हें अपना व्यूह रच लेने दिया जाना चाहिए।

मार्ग में दोनों ही मौन रहे। अश्वत्थामा के मन में तो कोई समस्या थी ही नहीं । इस सारी स्थिति को वह अपने पिता का एक भ्रम मात्र मान सकता था। वह यह मानता था कि दुर्योधन अपना कोई लक्ष्य पूर्ण करने के लिए हत्या भी कर सकता था, मिथ्या भाषण तो कोई बड़ी बात ही नहीं थी। प्रजा के सम्मुख झूठी घोषणाओ को वह अपनी राजनीति मानता था। प्रजा

के मन में राजा की छवि बनाए रखने के लिए मिथ्या घोषणएँ, कभी पूरे न किए जानेवाले वरदान तथा अपनी सच्चरित्रता का प्रचार तो उसकी राजनीति के अनिवार्य तत्त्व थे। उसे लगा होगा कि अहिछत्र को अपने राज्य मे मिला लेने की घोषणा अत्यंत सुरक्षित घोषणा है। पूछे जाने पर वह हँस कर कह देगा, "आचार्य ! जो कुछ मेरा है, वह सब भी तो आपका ही है। ऐसे में जो कुछ आप का है, क्या वह मेरा नहीं है। आप चिंतित क्यों होते हैं? अश्वत्थामा और मुझमें अंतर ही क्या है। हम मित्र हैं। भाई हैं। उसके और मेरे राज्य में कोई भेद है क्या। दोनो राज्यों के रक्षक समान रूप से आप ही तो हैं। बाहर से आक्रमण हो तो हम ही तो युद्ध करेंगे। आक्रमण चाहे हस्तिनापुर पर हो, अथवा अहिछत्र पर।..."

ऐसे ही सहस्रों तर्क होंगे उसके पास। किंतु पिताजी के आशंकित मन का क्या किया जा सकता है। वे भीष्म के पास जा रहे हैं, संभव है कि भीष्म के पास उनकी समस्या का कोई समाधान हो।...

"यह सब क्या है कुरुश्रेष्ठ !" द्रोण ने कहा, "हस्तिनापुर में कर्ण की विजय के नगाड़े बज रहे हैं और मेरी समझ में नहीं आ रहा, कि हस्तिनापुर की सेनाओ का प्रयोग अपने ही मित्रों के विरुद्ध क्यों किया जा रहा है ?"

भीष्म ने प्रतिरोध के से भाव से आचार्य की ओर देखा, "किस मित्र के विरुद्ध हस्तिनापुर की सेना का प्रयोग हो रहा है ? मैं तो समझता हूँ कि उसका प्रयोग किसी शत्रु के विरुद्ध भी नहीं हो रहा।"

द्रोण को कुछ आश्चर्य हुआ : इस वृद्ध को अब कोई हस्तिनापुर के समाचार नहीं देता अथवा ये भी किसी भ्रष्ट राजनीतिज्ञ के समान सत्य न बोलने की शपथ ले चुके है।

"हस्तिनापुर मे प्रतिदिन कर्ण की दिग्विजय के नगाडे गूँज रहे हैं। समाचार आए हैं कि उसने कांपिल्य को घेर कर द्रुपद से कर ग्रहण किया है। उसने अहिछत्र को अपने राज्य में मिला लिया है। उससे पिताजी कुछ चिंतित हो उठे हैं। क्या कर्ण की दिग्विजय का कोई समाचार आप तक नहीं पहुँचा ?" अश्वत्थामा ने पूछा।

भीष्म की मुद्रा में कोई परिवर्तन नहीं आया। वे उसी प्रकार आश्वस्त रूप से बोले, "पाखंड को सत्य मत समझो आचार्य !"

"तो यह सब क्या है ? जो नहीं हो रहा, उसका प्रचार क्यों हो रहा है ? क्या, यह सब दुर्योधन का मिथ्या प्रचार है ?" द्रोण ने पूछा।

भीष्म कुछ देर मौन रहे। फिर बोले, "प्रचार तो प्रचार ही है। वह सत्य

है भी और नहीं भी। यह मिथ्या का वह रूप है, आचार्य ! जिसे सत्य प्रमाणित करने में दुर्योधन को कोई कठिनाई नहीं होगी।"

"जो सत्य प्रमाणित हो सके, वह मिथ्या कैसे हो सकता है ?"

इस बार भीष्म हँस पड़े, "आप अपने शिष्य को भी नहीं पहचानते। उसकी घोषणाओं के शब्दों पर ध्यान दीजिए। वह कह रहा है कि कर्ण ने द्रुपद का सुंदर नगर चारों ओर से घेर लिया।..."

द्रोण और अश्वत्थामा चुपचाप भीष्म के आगे बोलने की प्रतीक्षा करते रहे।

"इसमें कहीं नगर का नाम है ?"

"नहीं ।"

"तो आपने कैसे समझ लिया कि कर्ण ने कांपिल्य को घेर लिया अथवा उसे जय कर लिया ?" भीष्म नटखट दृष्टि से आचार्य की ओर देख रहे थे।

आचार्य ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"इसमें कहीं भी तो यह नहीं कहा गया कि कर्ण ने कांपिल्य नगर को घेरा। जाने उसने द्रुपद का कौन-सा सुंदर नगर घेरा। फिर दुर्योधन कहता है कि कर्ण ने महान् युद्ध करके वीर द्रुपद को अपने वश में कर लिया। प्रश्न यह है कि महान् युद्ध किससे हुआ ? द्रुपद से ? धृष्टद्युम्न से ? शिखंडी से ?? ... पर इसमें किसी का भी नाम नहीं लिया गया है। इसका अर्थ क्या यह नहीं हो सकता कि कर्ण का इनमें से किसी से भी युद्ध नहीं हुआ। पांचालों के किसी छोटे सामान्य सुंदर नगर को, जहाँ उनकी सैनिक शक्ति अधिक न हो, घेर कर, वहाँ की प्रजा को बाँध कर, अथवा उन्हें लूट कर, अथवा उन्हें किसी प्रकार का कष्ट देकर भी तो प्रजावत्सल राजा को अपने वश में किया जा सकता है। तो कर्ण ने द्रुपद को अपने वश में कर लिया; और द्रुपद को बाध्य किया कि अपने उन प्रजाजनों को कष्ट से मुक्त करवाने के लिए वह उसे कुछ धन दे, जो द्रुपद ने दे दिया होगा।"

आचार्य ने कुछ चकित हो कर अपने पुत्र की ओर देखा : यह क्या था–अश्वत्थामा और भीष्म दोनों एक ही भाषा बोल रहे थे।

"किंतु धन की माँग पर, द्रुपद युद्ध भी तो कर सकता था," आचार्य बोले, "यदि वह पराजित नहीं हुआ था तो उसने धन क्यों दिया ?"

"आपका प्रश्न उचित ही है आचार्य ! किंतु किसी प्रजावत्सल राजा को यह कहा जाए कि तुम्हारी प्रजा हमारे वश में है; और यदि तुम सेना ले कर युद्ध करने आए तो हम तुम्हारी प्रजा का वध कर देंगे, अथवा नगर को अग्निसात् कर देंगे, तो वह राजा अपनी प्रजा को मुक्त कराने के लिए क्या आक्रांता सेनापति की बात नहीं मान लेगा ?"

आचार्य को लगा कि भीष्म का तर्क ठीक हो सकता है। दुर्योधन की घोषणा की जो भाषा है, उसका यह अर्थ भी तो हो ही सकता है। और जिस त्वरा से कर्ण की दिग्विजय ने प्रगति की है, उससे तो इसी व्याख्या की संभावना अधिक लगती है। द्रुपद, धृष्टद्युम्न तथा शिखंडी से युद्ध करके तो कर्ण इस प्रकार उनसे धन प्राप्त नहीं कर सकता था। पर आचार्य इस तथ्य को कैसे भूल जाते कि कर्ण के विषय में भीष्म की धारणा कभी अच्छी नहीं रही। उनकी दृष्टि मे कर्ण कोई महान् योद्धा नहीं है। बहुत संभव है कि वे अपने पूर्वाग्रहो के कारण कर्ण की इन विजयों को स्वीकार करना ही न चाहते हों।

"किंतु दुर्योधन ने यह भी तो कहा है कि कर्ण ने द्रुपद के अनुयायी राजाओं को अपने अधीन कर, उनसे कर ग्रहण किया है।"

"क्या उसने कहा कि कर्ण ने द्रुपद के अनुयायी राजाओं से युद्ध कर उन्हें पराजित किया और उनसे कर ग्रहण किया ?" भीष्म ने पूछा।

"नहीं ।" द्रोण बोले।

"वह कहता है कि उसने द्रुपद को जीत कर उसके अनुयायी राजाओं को अपने अधीन किया। यह तो वही मान्यता है कि यदि सम्राट् ने किसी कारण कर दे दिया तो उसके करद राजा स्वतः ही कर दे देंगे।" भीष्म बोले, "दुर्योधन की घोषणाएँ कहती हैं कि कर्ण ने उत्तर दिशा में जाकर वहाँ के सब राजाओं को जय किया। उसने हिमालय क्षेत्र के राजाओ को जीता। उसने हिमालय से सब दिशाओं में जाकर सारे राजाओं को जीता।... आपको इसमें कोई सार दिखाई देता है ?"

"हाँ ! इसमें एक बात तो खटकती ही है कि कर्ण ने जिन राज्यों और राजाओं को जीता है, उनके स्पष्ट नाम क्यों नही बताए जा रहे।" आचार्य ने उत्तर दिया।

"मै भी यही कहना चाहता हूँ।" भीष्म उनसे सहमत हो गए, "विजेता उन सारे राजाओं के नाम इतनी बार घोषित करता है, जो उससे पराजित हुए हैं कि सुननेवालों को वे सदा के लिए हृदयस्थ हो जाते हैं; और यहाँ दुर्योधन केवल दिशाओं की चर्चा कर रहा है।" वे कुछ रुक कर बोले, "जो थोड़े से नाम उसने लिए हैं, वे या तो अपने मित्र राज्यों के हैं, जहाँ युद्ध हुआ ही नहीं होगा, अथवा उन अकिंचन राजाओं के हैं जिन्हें जीतना किसी भी शक्तिशाली राजा के लिए कोई महत्त्व ही नहीं-रखता।"

"पर उसकी घोषणाओं में रुक्मी का नाम भी है।" अश्वत्थामा ने आपत्ति की।

भीष्म हँस पडे, "पर उसने यह घोषणा नहीं की है कि कर्ण ने रुक्मी को पराजित किया। युद्ध आरंभ हुआ और फिर मित्रता हो गई। वैसे ही यादवों

से भी युद्ध नहीं किया गया। उनसे कर्ण हिलमिल गया और पश्चिम दिशा को विजय कर लिया। मैं पूछता हूँ कि जब यादवों को ही जय नहीं किया तो पश्चिम दिशा कैसे जीत ली। वह तो है ही यादवों की भूमि। वैसे ही रुक्मी को जीते बिना दक्षिण दिशा में आगे नहीं बढ़ा जा सकता। ..."

"किंतु यादवों से दुर्योधन की सेना की मित्रता कैसे हो सकती है ?" द्रोण बोले, "कृष्ण तो स्पष्टतः पांडवों के पक्ष में हैं।"

"कृष्ण की पुत्रवधू लक्ष्मणा, दुर्योधन की पुत्री है, और फिर द्वारका मे कृष्ण ही नहीं बलराम भी है। वह दुर्योधन का गुरु है; और कौन-सा गुरु अपने शिष्य की विनती पर पिघल नहीं जाता ?"

"कुरुश्रेष्ठ ! कर्ण ने किसी राजा को तो पराजित किया ही होगा।" अश्वत्थामा ने कहा।

"हाँ ! शिशुपाल के पुत्र का नाम आया है। उसे हराया होगा। भगदत्त को हराया होगा। अंग, बंग, कलिंग इत्यादि राज्यों में सेना घुमा ली होगी।" भीष्म बोले, "मैं नहीं समझता कि वस्तुतः उसने शक्तिशाली और प्रबल राजाओं को पराजित कर कोई बडी विजय प्राप्त की होगी। वास्तविक दिग्विजय की होती तो यादवों से लड़ना पडता, पांचालों से लड़ना पड़ता, मत्स्यों से लडना पडता, उन गंधर्वो से भी लड़ना पडता, जिनके सम्मुख पड़ते ही वह भाग आया था। उसकी इस दिग्विजय में, इनमें से किसी का नाम नहीं है।"

"तो मैं इसे क्या समझूँ ?" आचार्य जैसे कुछ कहने के लिए कह गए।

"आपकी जो इच्छा हो, समझ सकते हैं।" भीष्म ने उत्तर दिया, "मैं तो इतना ही जानता हूँ कि दुर्योधन पांडवों के प्रति अपनी ईर्ष्या से विक्षिप्त हो रहा है; और कर्ण अपनी जयजयकार सुनने का अनन्त काल से भूखा है। इसलिए वे दोनों मिल कर कुछ स्वयं को भ्रमित कर रहे हैं, कुछ अपनी प्रजा को।"

"और कहीं सत्य ही दुर्योधन ने अहिछत्र को अपने राज्य में मिलाने का प्रयत्न किया तो ?" द्रोण जाने के लिए उठ खड़े हो गए।

भीष्म असाधारण रूप से गंभीर दिखाई पड़े, "यदि दुर्योधन ने अहिछत्र पर अपनी कुदृष्टि डाली, तो आप उसकी रक्षा के लिए बलप्रयोग करने को स्वतंत्र हैं। भीष्म भी अपने मन से ही असमर्थ है आचार्य ! उसके शस्त्र अभी असमर्थ नहीं हुए हैं। अहिछत्र आपका है। यह मेरा वचन है।"

15

दुर्योधन ने बहुत सम्मानपूर्वक धृतराष्ट्र को प्रणाम किया और उसके बाद भी वह खड़ा ही रहा।

"बैठो पुत्र !" धृतराष्ट्र ने कहा, "आज तुम्हारा स्वर कुछ सहज नहीं है।"

"मैं बहुत प्रसन्न हूँ महाराज ! दिग्विजय के पश्चात् कर्ण आज हस्तिनापुर लौट रहा है।"

"तुम प्रसन्न हो युवराज ! इसका मुझे हर्ष है; किंतु, दिग्विजय कर जब कोई हस्तिनापुर लौटता है, तो मैं उससे आशंकित ही होता हूँ। प्रसन्न नहीं हो पाता।"

दुर्योधन कई बार मन ही मन सोच चुका था कि यह वृद्ध व्यक्ति जाने क्यों सदा उसकी अपेक्षा के विरुद्ध ही चलता है। जब दुर्योधन उपलब्धि के आकाश को छू रहा होता है तो महाराज को लगने लगता है कि सब कुछ सर्वनाश की ओर जा रहा है। और जब दुर्योधन को लगता है कि सब कुछ नष्ट हो रहा है, तो उसके पिता को कहीं आशा की कोई किरण अवश्य दिखाई दे रही होती है। उन दोनों की प्रतिक्रियाओं में ही इतना अंतर है या उसके पिता को सामने खड़े व्यक्ति को अपनी प्रतिक्रिया से हतप्रभ करना अच्छा लगता है।

"क्या आप कर्ण से भी आशंकित हैं महाराज !"

"इसमें प्रश्न कर्ण अथवा विकर्ण का नहीं है। बात तो केवल इतनी है कि जो दिग्विजय कर लौटता है, उसे न केवल अपनी शक्ति का ज्ञान हो जाता है, वरन् उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ भी जाग उठती हैं। सत्ता की पीठ के आस-पास महत्त्वाकांक्षी लोगों का होना, राजा के लिए बहुत सुरक्षित नहीं है पुत्र !" धृतराष्ट्र ने उत्तर दिया।

दुर्योधन, अपने पिता के कथन के सत्य को समझता था; किंतु वह यह भी कहना चाहता था कि इस सिद्धांत को आँखें बंद कर प्रत्येक व्यक्ति पर लागू नहीं करना चाहिए। कुछ व्यक्ति कर्ण जैसे भी होते है, जो जिसे अपना स्वामी मान लेते हैं, उसके लिए अपने प्राण दे देते हैं। उसके लिए उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ आड़े नहीं आती। कर्ण की महत्त्वाकांक्षाओं को जानता है, दुर्योधन ! इसीलिए तो वह कर्ण को समझाता रहता है कि कर्ण की महत्त्वाकांक्षा अर्जुन के वध में है।...

"कर्ण से इस प्रकार आशंकित होने की आवश्यकता नहीं है, पिताजी !" दुर्योधन ने विवाद करना उचित नहीं समझा, "वह तो मेरे लिए दिग्विजय करके आया है ..."

धृतराष्ट्र के कान मानों यह वाक्य सुनने के पश्चात् बंद हो गए। आगे के वाक्य उसे सुनाई ही नहीं पड़े।...दुर्योधन कह रहा था कि कर्ण उसके लिए दिग्विजय करके लौटा है। उसने यह नहीं कहा कि वह महाराज के लिए दिग्विजय करके लौटा है; अथवा वह कुरुओं के लिए दिग्विजय करके लौटा है।...

"तो क्या चाहते हो पुत्र ! उसे कोई बड़ा पुरस्कार दिया जाए ?"

"नहीं महाराज ! मैं तो केवल इतना ही चाहता हूँ कि आप चल कर नगर द्वार पर उसका स्वागत करें। हमें गुणी व्यक्ति के गुण का सम्मान करना चाहिए।"

धृतराष्ट्र ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"क्या बात है पिताजी ! कोई द्विविधा है ?"

"तुमने शायद अपने कुल और इस सिंहासन की मर्यादा का विचार नहीं किया।" धृतराष्ट्र ने उत्तर दिया, "सम्राट् अपने सेनापतियों का स्वागत करने के लिए नगरद्वार पर नहीं जाया करते।"

"आप का विचार बहुत उचित है पिताजी ! किंतु कर्ण हमारा साधारण सेनापति नहीं है। वह मेरा मित्र है—भाइयों जैसा मित्र। वह मेरे लिए दिग्विजय करके आ रहा है। मैं चाहता हूँ कि उसका ऐसा स्वागत किया जाए, जैसा आज तक किसी का नहीं हुआ। उसे वह सम्मान दिया जाए, जैसा आज तक किसी को नहीं दिया गया।"

धृतराष्ट्र के मन में आया कि अपने पुत्र से पूछे कि वह चाहता है कि उसका पिता और हस्तिनापुर का सम्राट् अपनी इच्छा पर न चल कर दुर्योधन की इच्छाओं पर चले और अपनी मर्यादाएँ भंग करता रहे। ... किंतु उसने यह पूछा नहीं। जिह्वा से दुर्योधन अब जो भी कहे, किंतु उसके मन की भावना तो बहुत स्पष्ट हो कर उसके सामने आ ही गई थी। वह कर्ण को कृतार्थ करने के लिए अपने पिता और कुरुओं के सम्राट् को भी उसकी मर्यादा से च्युत करना चाहता है।...लोग कहते हैं कि कर्ण बहुत कृतज्ञ है दुर्योधन का; और धृतराष्ट्र के सामने स्पष्ट है कि दुर्योधन कितना कृतज्ञ है, कर्ण का।...

"तो तुम्हारी इच्छा पूरी हो पुत्र ! तुम कर्ण को अंतःपुर में ले आओ।" धृतराष्ट्र ने कहा, "हम उसका स्वागत सभा में नहीं अपने अंतःपुर में करेंगे। वह अंतःपुर में आकर हमारे और महारानी गांधारी के चरण छुए, जैसे वह हमारा सेनापति न हो, हमारा पुत्र हो।"

दुर्योधन की समझ में नहीं आया कि वह क्या कहे। उसकी इच्छा पूरी नहीं हुई थी; किंतु धृतराष्ट्र ने कर्ण को असाधारण सम्मान दे दिया था। उसे अपना पुत्र कह दिया था। यदि दुर्योधन उसे अपना भाइयों जैसा मित्र मानता था तो क्या कारण था कि धृतराष्ट्र उसे अपना पुत्र न मानें। वे उसकी ही इच्छा

पूरी कर रहे थे। ... किंतु वे नगरद्वार पर जाने के लिए सहमत नहीं थे। इस से उसका महत्त्व तो बढेगा किंतु उसका सार्वजनिक सम्मान नहीं होगा।

दुर्योधन ने बहुत आग्रह नहीं किया। वह अपने भाइयों तथा अन्य मित्रो को ले कर हस्तिनापुर के प्रमुख द्वार वर्द्धमान पर जा पहुँचा। मंत्रिगण तथा सैनिक अधिकारी वहाँ पहले से ही वर्तमान थे। नगरद्वार को ही नहीं, सारे नगर को ऐसे सजाया गया था, जैसे हस्तिनापुर के सम्राट् राजधानी में लौट रहे हो।

कर्ण के आने से पूर्व उसके अश्वारोही उसके आने का समाचार ले कर आए; उनके पश्चात् ध्वजारोहियों की जैसे पूरी वाहिनी ही प्रकट हुई; और तब स्वयं कर्ण का रथ आता दिखाई दिया।

नगरद्वार पर आकर रथ रुक गया। कर्ण के उतरने की देर थी कि दुर्योधन ने उसे अपनी भुजाओ में भर लिया और बोला, "तुम सा नाथ पा कर मैं सनाथ हुआ मित्र।"

कर्ण का मन जैसे कातर हो कर दुर्योधन के चरणों में लोट जाना चाहता था ... उसका राजा उसको अपना नाथ कह रहा था। इससे बड़ा पुरस्कार उसके लिए क्या हो सकता था। वह अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए अभी शब्द ही खोज रहा था कि दुर्योधन पुनः बोला, "आज मुझे विश्वास हो गया कि आगामी युद्ध में पांडव अवश्य पराजित होंगे। अर्जुन का तुम्हारे हाथों यमलोक की यात्रा करना निश्चित है।"

कर्ण को लगा कि उसका सारा श्रम सार्थक हो गया। उसे अपने किए का भरपूर पारिश्रमिक मिल गया। जीवन में उसको इससे अधिक और कुछ चाहिए ही कहाँ था।

"तुम्हारी कृपा बनी रहे युवराज ! तो यह तनिक भी कठिन नहीं है।" कर्ण बोला।

"यह होगा मित्र !" दुर्योधन बोला, "और मेरी कृपा से नहीं, तुम्हारी शक्ति से होगा। तुम्हारे बाहुबल से। तुम्हारी धनुर्विद्या से।"

दुःशासन, शकुनि, कणिक तथा ब्राह्मणों ने कर्ण की आरती उतारी।

"अश्वत्थामा नहीं आया।" कर्ण ने पूछा।

"पूछना ही था, तो पूछते कि कृपाचार्य नहीं आए।" शकुनि ने कहा, "राजपुरोहित हैं वे, तुम्हारी आरती उतारने के लिए उन्हें आना चाहिए था।"

"कृपाचार्य ने न आने की कृपा की।" दुःशासन बोला।

"बहुत सारे लोग नगरद्वार पर नहीं पहुँच सके; और अन्य बहुत सारे लोगो का देर से पहुँचने का स्वभाव है।" दुर्योधन ने उत्तर दिया, "अब तुम न आचार्य द्रोण की प्रतीक्षा करो, न कृपाचार्य की। मेरे साथ आओ। पिताजी अपने अंतःपुर में आतुरतापूर्वक तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

द्रोणाचार्य का नाम सुन कर, कर्ण का मन कुछ खट्टा हो गया। युवराज ने चुन कर दोणाचार्य का ही नाम क्यों लिया, जिन्होंने उसकी बाल्यावस्था से उसका तिरस्कार किया है। वह दिग्विजय से लौट कर नगरद्वार पर उनकी प्रतीक्षा क्यों करेगा ? कदाचित् इसलिए कि उसने अश्वत्थामा के विषय में पूछ लिया था। ...पर दुर्योधन के वाक्य का अंतिम खंड उसे प्रसन्न करने के लिए पर्याप्त था। स्वयं महाराज धृतराष्ट्र अपने अंतःपुर में उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

दुर्योधन ने उसकी भुजा पकड़कर उसे अपने रथ में चढ़ा लिया था, और सारथि को हटाकर, स्वयं वल्गा पकड़ ली थी।... कर्ण का हृदय चरम विह्लता की स्थिति में था।

नगर के मार्गो को जिस ढंग से सजाया गया था, उसे देख-देखकर कर्ण जैसे दिग्विजय का पुरस्कार पाता जा रहा था। दुर्योधन की आतुरता भी देखनेवाली थी। मार्ग में आनेवाली नगण्य-सी बाधा भी उसे व्याकुल कर देती थी, चाहे वह किसी उत्साही प्रशंसक की फेंकी हुई पुष्पमाला ही क्यों न हो। वह कदाचित् कर्ण को शीघ्रातिशीघ्र सम्राट् के सम्मुख पहुँचा देना चाहता था।

धृतराष्ट्र के प्रासाद के द्वार पर ही उसकी अगवानी के लिए अप्सराओं-सी सजी, सुंदर दासियाँ खड़ी थीं। वे उसके मार्ग में पुष्पों की सुगंधित पंखुड़ियाँ बिखेरती हुई आगे-आगे चलीं। कक्ष के कपाट खोल कर वे मार्ग से हट गईं; और दुर्योधन तथा कर्ण ने कक्ष में प्रवेश किया। कर्ण ने देखा, गांधारी तथा धृतराष्ट्र जैसे उसकी प्रतीक्षा में ही बैठे थे।

"पिताजी ! मैं महावीर कर्ण को ले कर आया हूँ।" दुर्योधन ने कहा।

"आओ पुत्र !"

कर्ण समझ नहीं पाया कि ये शब्द किसके लिए थे। संभवतः ये युवराज के लिए ही थे; किंतु तब तक दुर्योधन ने उसे आगे बढ़ने का संकेत कर दिया। ... सम्राट् उसे ही अपना पुत्र कह रहे थे।

कर्ण जैसे आज तक इसी क्षण के लिए प्राण धारण कर रहा था। वह धृतराष्ट्र के एक वाक्य से ही पूर्णकाम हो गया था। उसके भीतर की किसी शक्ति ने जैसे उसे धकेल कर धृतराष्ट्र के चरणों में डाल दिया। उसने पुत्र के समान सम्राट् के चरण छुए और धृतराष्ट्र ने अपने हाथों में थाम कर उसका माथा सूँघा।

"वैसे तो शैशव से आप ही मेरे पालक रहे हैं। मैं आपके अन्न से ही पला हूँ। किंतु यह तो आज ही मेरी समझ में आया है कि आप मेरे स्वामी नहीं, पिता हैं।" कर्ण का स्वर आर्द्र हो उठा था।

"मुझे सूचना मिली है कर्ण ! कि हस्तिनापुर का गौरव बढाने के लिए, तुमने बहुत कष्ट सहा है।" गांधारी ने कहा।

दुर्योधन कुछ चौंका। माता ने दुर्योधन, धृतराष्ट्र अथवा कुरुकुल का गौरव

बढ़ाने की बात नहीं कही थी। उन्होंने हस्तिनापुर के गौरव की बात कही थी। माता कदाचित् बहुत आत्मीय नहीं होना चाहती थीं। वे औपचारिक ही बनी रहना चाहती थीं। पर क्यो ? उन्हें कर्ण से दुर्योधन की घनिष्ठता प्रिय नहीं थी क्या?

"आपके दर्शन मात्र से सारे कष्ट समाप्त हो गए माता !" कर्ण ने भक्ति भाव से गांधारी के चरण छुए, "शरीर पर जो घाव हैं, वे कुछ दिनो के विश्राम से अपने आप भर जाएँगे।"

दुर्योधन को संतोष हुआ। कर्ण का ध्यान महारानी के शब्दों पर नहीं अटका था।

"राधा बहुत सौभाग्यशालिनी है कर्ण ! जो उसे तुम जैसा पुत्र मिला।" गांधारी ने कहा, "दुर्योधन ! कर्ण का उचित सत्कार करो और उसे विश्राम का भी अवसर दो पुत्र।"

दुर्योधन भीतर ही भीतर जैसे स्तब्ध रह गया। माता ने एक बार भी कर्ण को पुत्र नहीं कहा था, वरन् उसे स्मरण भी करा दिया था कि वह राधा का पुत्र था। ... और फिर एक प्रकार से उसे हटा ले जाने का संकेत भी कर दिया था।

दुर्योधन और कर्ण प्रणाम कर चले गए और गांधारी भी दासी का सहारा ले कर अपने कक्ष में चली आई। धृतराष्ट्र ने वहीं रहना उचित समझा। दासी ने पूछा भी कि महाराज कहीं जाना चाहेंगे; तो उसने उत्तर देने के स्थान पर उसे संकेत से चुप करवा दिया, जैसे उसके चिंतन में दासी के बोलने से किसी प्रकार की बाधा पड़ती हो।

धृतराष्ट्र देख रहा था कि उसका मन आशंकित भी था और उल्लसित भी। कर्ण के वर्द्धमान महत्त्व और शक्ति को देख कर वह आशंकित था। आज वह हस्तिनापुर के लिए दिग्विजय करके आया है, कल वह अंगराज न रह कर मगधराज होना चाहे; और फिर उसके मन में जरासंध बनने की कल्पनाएँ हिलोरें लेने लगें, तो कोई उसको कैसे रोक लेगा।... किंतु अभी हस्तिनापुर के पास भीष्म तथा द्रोण जैसे योद्धा थे। इतना तो विश्वास के साथ कहा जा सकता था कि भीष्म राज्य को हस्तगत करने के लोभ से मुक्त थे, अन्यथा हस्तिनापुर के सिंहासन पर वे ही विराजमान होते।... और द्रोण, द्रुपद और धृष्टद्युम्न के भय से हस्तिनापुर से बाहर निकलने का साहस नहीं कर सकते थे।... वे दोनों, कर्ण की उच्छृंखलताओं को रोकने में समर्थ थे। इसलिए कर्ण से भयभीत होने का कोई कारण नहीं था।... हाँ ! चिंता का विषय यह अवश्य हो सकता है कि वह दुर्योधन का मित्र है। उस पर धृतराष्ट्र का कोई नियंत्रण नहीं है। उसे धृतराष्ट्र के अधीन होना चाहिए। ... वह तो शायद राजा का पुत्र होने को अधीर है। किंतु यह गांधारी क्यों उससे इस प्रकार परायों का सा व्यवहार कर रही थी।

यह समझती क्यों नहीं कि कर्ण यदि राधा के स्थान पर गांधारी का पुत्र हो जाएगा, तो वे लोग लाभ में ही रहेंगे।...

हाँ ! एक बात से धृतराष्ट्र को बहुत संतोष हुआ था। अब दुर्योधन के पास एक ऐसा योद्धा अवश्य था, जो अर्जुन का वध करने को व्याकुल था--दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए भी और अपनी ईर्ष्या के कारण भी। बहुत संभव है कि किसी समय उसके लिए दुर्योधन की प्रसन्नता उतनी महत्त्वपूर्ण न रहे; किंतु वह अपनी ईर्ष्या और घृणा से कभी छुटकारा नहीं पा सकेगा। पांडवों के वध के लिए, धृतराष्ट्र, भीष्म और द्रोण पर कभी विश्वास नहीं कर सकता। उनका धनुष अर्जुन पर बाण बरसाने से पहले ही झुक जाएगा।...किंतु कर्ण के साथ ऐसा नहीं होगा। कर्ण के हाथों दुर्योधन, अर्जुन से सुरक्षित हो गया था; किंतु धृतराष्ट्र स्वयं को दुर्योधन के हाथों तभी सुरक्षित मानेगा, जब कर्ण दुर्योधन का मित्र ही नहीं, धृतराष्ट्र का सेवक भी बन जाए।...

अपने कक्ष में आकर गांधारी, पर्यक पर लेट गई। दासी ने पूछा भी कि महारानी कहीं चलना चाहेंगी, अथवा किसी को बुलाना चाहेंगी, तो उसने उसे मना कर दिया।...

इस घर में युद्ध और हत्या की चर्चा कोई नई नहीं थी। हस्तिनापुर में योद्धाओं का भी कोई अभाव नहीं था। यहाँ भीष्म और द्रोण जैसे योद्धा थे। कृपाचार्य और अश्वत्थामा भी कुछ कम नहीं थे। ... पर ये सारे लोग दुर्योधन को युद्ध से दूर रहने का परामर्श देते थे। ऐसा न होता, तो हस्तिनापुर की सेनाएँ सदा युद्ध ही करती रहतीं। शकुनि ही कम भड़कानेवाला नहीं है। उसे वह चेतावनी भी दे चुकी है। पर गांधारी जानती है कि शकुनि के भरोसे दुर्योधन कोई युद्ध नहीं कर सकता। शकुनि ने कदाचित् युद्ध का परामर्श कभी दिया भी नहीं है। वह तो द्यूत के भरोसे संसार को जीत लेना चाहता है।...

गांधारी का मन कैसी तो व्याकुलता का अनुभव कर रहा था। कर्ण के सान्निध्य में उसे केवल मृत्यु की गंध आ रही थी। उसे लग रहा था कि वह उसके पुत्रों के लिए विजय का उपहार नहीं लाया था, मृत्यु का संदेश लाया था। दुर्योधन के पास इस प्रकार के योद्धा एकत्रित होते जाएँगे, तो वे दुर्योधन की महत्त्वाकांक्षाओं को और भड़काएँगे। उन्हें दुर्योधन के महत्त्व से अधिक अपने महत्त्व की चिंता होगी। योद्धाओ का महत्त्व युद्ध से ही बनता है। वे निरंतर युद्ध करना चाहेंगे। युद्ध होगा तो उनके राजा को उनकी आवश्यकता होगी।... और गांधारी यह अच्छी प्रकार जानती है कि पांडवों से युद्ध दुर्योधन के लिए हितकारी

नहीं है। कर्ण वैसे तो सदा अपनी वीरता बखानता है, किंतु गांधारी जानती है कि दुर्योधन उसका उपयोग कर पाए न कर पाए, वह अपने लक्ष्य के लिए दुर्योधन का उपयोग कर डालेगा।...

गांधारी के मन में एक बड़ा स्पष्ट-सा दृश्य उभरता है।... युद्धक्षेत्र है। दुर्योधन और पांडव आमने-सामने खड़े हैं। युधिष्ठिर कह रहा है कि वह युद्ध नहीं चाहता—उसे उसका राज्य दे दिया जाए। दुर्योधन कर्ण की ओर देखता है और कर्ण कहता है, "किसी को कुछ देने की आवश्यकता नहीं युवराज। इनसे कहो, जिसमें साहस हो, वह हमसे लड़ कर राज्य ले ले।" दुर्योधन वही बात दोहराता है और गदा उठा कर भीम को लडने के लिए ललकारता है। भीम आगे बढता है, किंतु युधिष्ठिर अपने संकेत से उसे पीछे हटाकर अर्जुन को सामने भेज देता है। दुर्योधन भी पीछे हट जाता है और कर्ण को आगे आने का आदेश देता है। कर्ण आगे आता है और धनुष तान कर बाण संधान करता है। अर्जुन के बाणों की एक झडी आती है। कर्ण के धनुष की प्रत्यंचा कट जाती है। उसका सारथि मारा जाता है। कर्ण एक बार दुर्योधन की ओर देखता है और टूटा हुआ धनुष फेककर भाग जाता है। दुर्योधन उसे पुकारता ही रह जाता है और कर्ण कही दिखाई ही नहीं देता।... तब अर्जुन एक बाण दुर्योधन के वक्ष में मारता है और भीम आगे बढ़कर अपनी गदा के प्रहार से उसका सिर कुचल देता है...

गांधारी के मुख से चीख निकल गई।

दासी दौडी हुई आई, "क्या हुआ महारानी ?"

"कुछ नहीं । तू जा।" गांधारी अनुभव कर रही थी कि उसकी सारी देह स्वेद से भीग गई थी।

दुर्योधन, कर्ण को अपने कोषागार में ले आया था। वहीं उसके अन्य मित्र भी आ गए थे। दुःशासन ने सारा प्रबंध कर रखा था। विजयिनी सेना के साथ आनेवाले छकडे अपना सामान यहीं उतार रहे थे। कोषागार के विभिन्न अधिकारी और दुर्योधन के भाई बहुत सावधानी से उन वस्तुओं को विभिन्न वर्गों में विभाजित कर रहे थे और उनको सँजो कर उचित स्थानों पर रख रहे थे।

"तुम यहाँ बैठो मित्र !" कर्ण ने दुर्योधन को एक आसन पर बैठा दिया, "मैं तुम्हें दिखाता हूँ कि मैं अपने बाहुबल से विभिन्न राजाओं को पराजित कर, उनसे, तुम्हारे लिए क्या-क्या छीन लाया हूँ।"

दुर्योधन की ऑखों के सामने जैसे एक पण्यशाला ही खुली हुई थी। उसमें न स्वर्ण की कमी थी, न बहुमूल्य मणि-माणिक्यों की। कर्ण ने अनेक बहुमूल्य

रत्नों को स्वयं अपने हाथों में उठा-उठा कर उसे दिखाया। उनके गुण बताए। उनका मूल्य ऑका। विभिन्न देशों के विभिन्न प्रकार के वस्त्र दिखाए। स्वर्ण मुद्राओं के तो जैसे ढेर ही लग गए थे। कर्ण ने अटूट धनराशि ला कर उसके चरणों में डाल दी थी। ...

दुर्योधन का मन बहुत प्रसन्न था। जैसे-जैसे वह उस धन को निहारता था और उसका मूल्य ऑकता जाता था, वैसे-वैसे उसके मन में कर्ण का महत्त्व बढ़ता जाता था। कर्ण ने उसके लिए वह कर दिखाया था, जो भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा तथा उसके अपने भाइयों ने भी कभी नहीं किया।...

"तुमने मेरे लिए एक ऐसा महान् कार्य कर दिखाया है कर्ण ! कि मेरी समझ में नहीं आ रहा कि मैं तुम्हारे लिए इसके समकक्ष क्या कर सकता हूँ।"

कर्ण जैसे साकार अकिंचनता बन गया, "तुम्हारे बिना मै हूँ ही क्या मित्र ! तुमने मुझे अपनी मैत्री न दी होती, यह महत्त्व न दिया होता, तो क्या मैं यह सब कर पाता। समझो कि यह सब मैंने नहीं किया। यह सब तुमने ही किया है।"

"ठीक है।" दुर्योधन मुस्कराया, "फिर भी इस घटना की स्मृति में तुम मुझसे कुछ तो मॉग लो।"

"मुझे नया तो कुछ भी नहीं मॉगना है।" कर्ण बोला, "एक ही वरदान माँगता हूँ कि मुझे इसी प्रकार अपना स्नेह देते रहना। तुम्हारी मैत्री ही मेरे जीवन की सबसे बडी उपलब्धि है।"

दुर्योधन को समझ नहीं आया कि कर्ण उससे क्या माँग रहा है। यह तो दुर्योधन को उससे मॉगना था।

"लगता है कि तुम्हें मुझसे कुछ नहीं चाहिए।" दुर्योधन हॅसा, "किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि मुझे भी तुमसे कुछ नहीं चाहिए।"

"यदि तुम्हारा कोई कार्य मै कर सकता हूँ, तो तुम्हें वचन देता हूँ कि अपने प्राण दे कर भी उसे करूँगा।"

दुर्योधन को कहने के लिए कोई शब्द नहीं मिले। उसने आगे बढ कर कर्ण को अपने वक्ष से लगा लिया।

16

काशिका प्रायः सो ही चुकी थी, जब दुर्योधन उसके कक्ष में आया। उसने दुर्योधन को देखा तो लगा, जैसे वह मदमत्त हो।...उसके पग तो भूमि पर ठीक ही पड

रहे थे। उसके नयन भी मदिरा का प्रभाव परिलक्षित नहीं कर रहे थे। ...किंतु वह वहाँ होते हुए भी जैसे वहाँ नहीं था। नहीं ! यह अन्यमनस्कता भी नहीं थी। वह चिंतित तो था ही नहीं । बस, शायद अत्यधिक प्रसन्नता के कारण, अपने आपे में नहीं था। आज हस्तिनापुर की विजयिनी सेना नगर में लौटी थी। सुना था कि कर्ण अपने साथ अटूट धन लाया था; और दुर्योधन ने सारी संध्या कर्ण तथा उसके लाए हुए धन के साथ व्यतीत की थी। तो राजा को मद तो चढ़ना ही था।

"मुझे लगता है रानी ! कि इस समय संसार मे सबसे अधिक धनी राजा मैं ही हूँ। कर्ण मेरे लिए जो संपत्ति लाया है, वह कदाचित् कुबेर के पास भी न हो।" दुर्योधन बोला, "मेरा धन किसी को भी अपना क्रीतदास बना सकता है। सोचो, इतना सारा धन केवल कर्ण के कारण मेरा हो गया है।"

काशिका को न तो दुर्योधन की यह स्थिति अच्छी लग रही थी और न कर्ण की प्रशंसा। बोली, "धन कब किसका हुआ है ?"

दुर्योधन को काशिका के ये तेवर अच्छे नहीं लगे; किंतु अपनी प्रसन्नता की इस घडी में वह उससे किसी प्रकार का झगड़ा नहीं चाहता था। उसने काशिका की उक्ति को गंभीर विवेचन के योग्य नहीं माना। बोला, "धन कब किसका हुआ, इस पर शोध करने की आवश्यकता नहीं है मुझे। मैं तो केवल यह जानता हूँ कि इस समय वह मेरा है।"

"तो फिर किस-किसको क्रीतदास बनाने का निश्चय किया है आपने कर्ण के लाए अपने धन से ?"

"बोलो !" दुर्योधन कुछ मचलकर बोला, "किसे क्रय करूँ ?"

"यदि क्रय कर सकें तो अपने उस धन से अंगराज महावीर कर्ण के लिए कहीं से थोडा-सा साहस क्रय कर लें, ताकि वह अगले युद्ध में आपको असहाय छोड कर भाग न जाए, किसी और का क्रीतदास बनने के लिए।"

दुर्योधन का सारा मद हरण हो गया। क्या कह रही है यह काशिका। इसको दुर्योधन की कोई उपलब्धि सुहाती नहीं । सत्य ही पत्नी, पति के लिए वामा ही होती है।

दुर्योधन कुछ नहीं बोला तो काशिका को भी लगा कि शायद उसने दुर्योधन को उसके अपराध से भी अधिक दंड दे दिया है। फिर अब उसका उन्माद भी विलीन हो गया था। अब कदाचित् वह उसकी बात सुन पाएगा।

"धन किसी को क्रीतदास नहीं बना सकता, युवराज !" काशिका का स्वर भीग आया था, "हम लोग अपना धन ही तो दिखाने गए थे धर्मराज को; और बंदी बन गए, चित्रसेन के। उसको तो क्रय कर नहीं पाए हम ! ..."

दुर्योधन के मन मे कटुता भरती जा रही थी ...कैसी स्त्री है यह ! पति

की इस असाधारण उपलब्धि के अवसर पर भी, ऐसी जली-कटी सुना रही है।

"चित्रसेन हमें मुक्त तो करना ही नहीं चाहता था; उल्टे वह अर्जुन को परामर्श दे रहा था कि पांडव हमसे वही व्यवहार करें, जो द्यूतसभा में आप लोगों ने पांचाली के साथ किया था..."

"ज्ञात है मुझे वह सब कुछ।" दुर्योधन चिल्लाया, "आज वही कथा ले कर क्यों बैठ गईं तुम ?"

"आपको स्मरण कराने के लिए कि धन किसी का नहीं होता। धन से कुछ नहीं होता।" काशिका बोली, "धन तो हमारे पास ही था, किंतु हमारे सम्मान और प्राणों की रक्षा, निर्धन पांडवों ने की। और जिस कर्ण के गुण गाते आप थकते नहीं हैं, वही कारण बना था आपकी पराजय और हमारे अपमान का।"

"तुम उसे व्यर्थ ही दोष दे रही हो।" दुर्योधन कुछ ढीला पडा, "जितना धन वह लाया है, उसे देखोगी तो पता चलेगा कि कितना विराट् हृदय है उसका। नहीं तो इतना धन ला कर कौन अपने राजा को दे देता है। आधा तो मार्ग में ही इधर-उधर हो गया होता। यह सब उसके कारण ही तो है। पांडवों को राजसूय के समय भी इतना धन नहीं मिला होगा।"

काशिका जैसे तड़पकर उठ बैठी। वह इतनी उत्तेजित हो चुकी थी कि भूल ही गई कि वह किस से बात कर रही है; और दुर्योधन को रुष्ट करने का परिणाम क्या हो सकता है। बोली, "पांडवों के धन की बात कर रहे हैं आप। देखा था, धर्मराज के द्वार पर कैसे पृथ्वी भर के राजा करबद्ध, पंक्ति में खड़े अपनी बारी की प्रतीक्षा कर रहे थे। कुछ पाने के लिए नहीं । देने के लिए। वे चाहते थे कि धर्मराज उनकी भेंट स्वीकार करें। धर्मराज उस धन को ग्रहण कर लेते तो वे राजा स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करते। वह धन किसी से छीना नहीं गया था। स्वतः बह कर आया था धर्मराज के पास। और जो धन आया था—कर अथवा उपहार के रूप में, वह अपने स्वामी को प्रसन्न करने अथवा किसी को क्रीतदास बनाने के लिए नहीं था। वह सारा धन पांडवों ने प्रजा के हित में लगा दिया था। राजसूय के बहाने आने-जाने के लिए मार्ग बने थे। सरिताओ पर सेतु बॉधे गए थे। निर्धनों के लिए आवास बनाए गए थे। विद्वानों को दान दिया गया था। उस सारे प्राप्त धन में से पांडवों ने शायद कुछ भी नहीं रखा था अपने लिए। है ऐसी महिमा कर्ण के लाए हुए इस धन की ?"

दुर्योधन को धरती डोलती-सी लगी ... यह स्त्री थी अथवा कृत्या ? बोलती है तो व्यक्ति का वक्ष जैसे चीर कर रख देती है। वह इसी प्रकार बोलती रही तो, जिस धन को वह अपने वक्ष से लगाए हुए था, वह उसे सर्प के समान विषैला लगने लगेगा।... युधिष्ठिर का राजसूय उसे भी स्मरण था। उसने ही तो पांडवों की ओर से ग्रहण किए थे वे सारे उपहार, जिनका बखान यह स्त्री कर रही

है। उस रात्रि को भी दुर्योधन को नींद नहीं आई थी। ... और लगता था कि आज भी नहीं आएगी। वह कर्ण की इस विजय यात्रा और धन प्राप्ति मे अपने उस अपमान को भूलने का प्रयत्न कर रहा था और यह थी कि घोष-यात्रा ही नहीं पांडवों के राजसूय तक को स्मरण करा रही थी।...

"तुम चाहती क्या हो ?" उसके स्वर में वितृष्णा थी।

"मैं तो कुछ भी नहीं चाहती। आप ही मुझे बताने आए थे कि कर्ण बहुत सारा धन लाया है और उसे अपनी पत्नियों को देने के स्थान पर वह आपको दे गया है। मैंने तो आपको धन का महत्त्व भर स्मरण करा दिया।" काशिका बोली, "आपको पांडवों का महत्त्व सहन नहीं होता ..."

"अब इसमें पांडव कहाँ से आ गए।" दुर्योधन का रोष भरा स्वर गूँजा।

"वह पांडवों का ही महत्त्व तो था, जिसने आपको अथवा कर्ण को इस दिग्विजय के लिए प्रेरित किया था। उन्होंने दिग्विजय की थी तो आपको भी करनी थी।" काशिका बोली, "अन्यथा आपको कमी किस बात की थी।"

दुर्योधन का मस्तक भन्ना गया ... जिसे देखो वह उसे यही उपदेश दे रहा है कि उसे कमी किस बात की है। उसने तो कभी नहीं कहा कि उसे किसी पदार्थ की कमी है, इसलिए वह पीड़ित है। उसे तो शीर्ष पर बैठने की कामना है। वह किसी से कम नहीं रह सकता। किसी से पीछे नहीं रह सकता। वह चाहता है कि धन, सत्ता, शक्ति, धर्म, जो कुछ भी है, वह उसके मित्रों के पास रहे, उसके शत्रुओं के पास नहीं । उसे किसी पदार्थ की कमी कहाँ है; किंतु वह पांडवों को सुखी नहीं देख सकता। उसके पास कुछ हो, न हो; किंतु पांडवों के पास क्यों हो ?.... और आज उसकी अपनी पत्नी, उपलब्धि के इस महान् अवसर पर, उसके उन्हीं शत्रुओं का बखान कर रही है। यह उसकी किस जन्म की वैरिन है, जो इस जन्म में उसकी पत्नी बन, उसके जीवन के केन्द्र मे आ गई।...

"किंतु आप यह भूल गए महाराज !" काशिका अपनी बात कहती चली गई, "कि युधिष्ठिर अन्य राजाओं से धन छीनने के कारण चक्रवर्ती सम्राट् नहीं कहलाते हैं ...।"

दुर्योधन का मन हुआ कि वह उठ कर अपने पैर की एक ऐसी ठोकर इस स्त्री को लगाए कि जीवन भर इसके मुख से कोई शब्द न फूट पाए ...किंतु अपनी इच्छा के ठीक विपरीत, वह उठा और उसके कक्ष से निकल गया।

वह इस समय अपनी पत्नी अथवा किसी और से झगड़ना नहीं चाहता था। झगड कर, विवाद कर, मार पीट कर वह अपनी पीडा से मुक्त नहीं हो सकेगा। वह उसके भीतर और गहरी धँसती जाएगी। ... युधिष्ठिर इंद्रप्रस्थ में था, तो भी चक्रवर्ती सम्राट् था; और आज द्वैतवन में बैठा है, तो भी चक्रवर्ती

सम्राट् है।... उसके पास कुछ नहीं है, तो भी उसका राजसूय यज्ञ स्मरण किया जाता है।...

अपने कक्ष में प्रवेश करते ही उसने पुकारा, "दासी !"

दासी ने प्रकट हो हाथ जोड़े, "युवराज !"

"नगर की सबसे सुंदर गणिका को बुलाओ; और यहाँ आपानक का प्रबंध करो।"

"इस समय ?" दासी ने कुछ आश्चर्य से पूछा।

"इस समय नहीं तो क्या मेरे राज्याभिषेक पर ?" दुर्योधन झल्लाकर बोला।

दासी सँभल गई, "क्षमा मिले महाराज ! मेरा तात्पर्य वह नहीं था। मेरी जिज्ञासा तो मात्र इतनी थी कि क्या कोई अतिथि भी आएँगे।"

"नहीं ! जाओ।"

प्रातः दुर्योधन ने सबसे पहले कर्ण को बुला भेजा।

कर्ण किसी अत्यंत आनन्दमयी स्थिति की कल्पना करके आया था, किंतु दुर्योधन को देख कर वह स्तब्ध रह गया, "क्या बात है मित्र ! रात्रि को सो नहीं पाए अथवा सुरापान का अतिरेक हो गया ? सब कुछ ठीक तो है ?"

"रात्रि को जब अपने भवन में पहुँचा तो बहुत सुखी था मैं।" दुर्योधन बोला, "इसलिए अपनी पत्नी के कक्ष में गया। सोचा था, उसके साथ एक अत्यंत आह्लादकारी रात्रि व्यतीत करूँगा, किंतु ..."

कर्ण शेष वाक्य की प्रतीक्षा में उसकी ओर देखता रहा।

"किंतु पाया कि मेरे ही भवन में, मेरी पत्नी के कक्ष में मेरा नहीं, सम्राट् युधिष्ठिर का आधिपत्य था। काशिका के मन में मुझसे अधिक धर्मराज का सम्मान है।"

"क्या !"

"हाँ। मैं क्रोध में वहाँ से उठ आया; किंतु वह मुझे मनाने, मेरा मनुहार करने भी नहीं आई। जिसके प्रति थोडा प्यार जता दो, वही सिर पर चढने का प्रयत्न करती है।" दुर्योधन बोला, "मैंने गणिका देवसुंदरी को अपने कक्ष में बुला लिया; और आपानक का प्रबंध भी किया। सोचा, न सही अपनी पत्नी, इस गणिका के साथ ही अपनी आह्लादपूर्ण रात्रि व्यतीत की जाए।... पर वह भी न हो सका।"

"क्यों ? उसके हृदय में भी युधिष्ठिर का सम्मान था क्या ?"

"नहीं । इस बार स्वयं मेरे मन में युधिष्ठिर आ बैठा था, और वह गणिका उसे वहाँ से निकाल पाने में असफल रही।" दुर्योधन बोला, "यह प्रयत्न भी किया कि युधिष्ठिर को लिए दिए ही मैं स्वयं को मदिरा मे डुबा दूँ। युधिष्ठिर स्वयं

ही घबराकर भाग जाएगा। ... वह भी नहीं हुआ। परिणामतः मैं देवसुंदरी को भी अधिक देर तक सहन नहीं कर सका। वह अपने हाव-भाव दिखाने लगी तो मैंने रुष्ट होकर उसे भी कक्ष से निकाल दिया और सारी मदिरा भूमि पर उँडेल दी।"

"तो सारी रात तुम यातना ही भोगते रहे युवराज !"

"हाँ।" दुर्योधन बोला, "बस ! यह समझ लो कि सारी रात मैं युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में खडा रहा। उसकी स्तुति सुनता रहा। भीम की दर्पपूर्ण उक्तियाँ सहता रहा। अर्जुन को स्वयं अपने पर मुग्ध होता देखता रहा।... शत्रुओं की प्रशंसा सुनने और उनके अभ्युत्थान को देखते रहने को बाध्य होने की यातना की कल्पना कर सकते हो तुम !"

"पर मित्र ! वे तो वन में अपने कुटीरों मे पडे निर्धनता की यातना सह रहे हैं, और तुम दिग्विजय कर, हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बैठे हो।" कर्ण बोला, "ऐसे में उन्हें स्मरण करने की आवश्यकता ही क्या है ?"

"मुझे कोई आवश्यकता हो और मैं उन्हें स्मरण करूँ, तो तुम मुझसे यह प्रश्न पूछ सकते हो; किंतु यहाँ प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न यह है कि वे मुझे अपना सुख क्यों भोगने नहीं देते। वे अपनी कुटिया में जैसे मन हो, रहें; वे मेरे प्रासाद में क्यों आ जाते हैं। मेरे और मेरी पत्नी के मध्य उनकी उपस्थिति का क्या अर्थ है।"

"क्या तुम स्वप्न देखते रहे हो ?"

"नहीं । स्वप्न तो तब देखता, जब सो पाता।" दुर्योधन बोला, "उन्होंने तो मुझे सोने ही नहीं दिया।... और एक ओर से सोचता हूँ कि अच्छा ही हुआ कि मैं रातभर सो नहीं पाया। अब तक सोता ही तो रहा हूँ मैं। इतना सोना भी अच्छा नहीं है। अब मुझे जाग जाना चाहिए। ... और तुम्हें भी जगा देना चाहिए।"

"मुझे ?" कर्ण ने चकित भाव से पूछा।

"हाँ। मेरा प्रश्न यह है कि क्या तुम मुझे इस यातना से बाहर निकालना चाहते हो ? क्या तुम चाहते हो कि मेरा सुख मेरे पास लौट आए ? मेरी पत्नी के मन में से यदि युधिष्ठिर का सम्मान कम नहीं हो सकता, तो मेरा सम्मान कुछ बढ जाए ?"

कर्ण ने उसे पुनः आश्चर्य से देखा, "ऐसा प्रश्न ही क्यों ? मेरे वश में हो तो मै अभी, इसी क्षण तुम्हारे लिए अमृत का कलश ले आऊँ, मेरे प्राण देने से भी संभव हो तो मै तुम्हारा कष्ट दूर कर दूँ।"

"तो मेरा एक काम करो मित्र !"

"आदेश करो युवराज !"

"मैं जानता हूँ कि तुम्हारे जैसा सहायक पा कर मेरे लिए कुछ भी असंभव नहीं है। फिर भी कह रहा हूँ कि मेरा एक मनोरथ पूर्ण करो। मेरे लिए राजसूय यज्ञ की व्यवस्था कर दो।" दुर्योधन वोला, "मैंने देखा है कि क्रतुश्रेष्ठ राजसूय करने के पश्चात् चाहे युधिष्ठिर इस समय द्वैतवन में बैठा है, किंतु तव भी उसका सम्मान मुझसे अधिक है। मेरी पत्नी तक मानती है कि दिग्विजय करने मात्र से, मैं उस महत्त्व का भागी नहीं हो सकता। अव मेरे लिए एक ही मार्ग है, कि मैं भी राजसूय यज्ञ करूँ।"

कर्ण हँस पड़ा, "तो उसमे कठिनाई ही क्या है। ये सारे राजा तुम्हारे वश में है, उन्हें आदेश दो कि वे तुम्हारे लिए धन प्रस्तुत करें। कृपाचार्य को कहो कि वे विधिपूर्वक यज्ञ की सामग्री और उपकरणो की व्यवस्था करे और तुम्हारे लिए विशाल दक्षिणाओवाले राजसूय यज्ञ का आयोजन करे।"

"कृपाचार्य !" दुर्योधन का मन इस नाम पर अटक गया। जाने क्यों उसको लग रहा था कि यह नाम बहुत छोटा है। ... युधिष्ठिर के राजसूय में तो नारद, कृष्ण द्वैपायन व्यास, अंगिरस, याज्ञवल्क्य, सुमंतु, कठ, महातेजस्वी कलाप, जैमिनी, पैल, वैशम्पायन और धौम्य जैसे ऋषिगण उपस्थित थे; और दुर्योधन के राजसूय में कृपाचार्य... राजा के वेतन-भोगी कृपाचार्य ! उसके अपने अन्न से पल रहे कृपाचार्य। नहीं । यदि उसे अपने राजसूय की कुछ भी गरिमा वनानी है, तो कृपाचार्य से काम नहीं चलेगा।...

"कृपाचार्य कुरुकुल के राजपुरोहित अवश्य हैं, वे विद्वान् भी हैं और आचरण से शुद्ध भी; किंतु वे तपस्वी नहीं माने जाते। वे शस्त्र-व्यवसायी हैं। ऋषि समाज में उनका कोई महत्त्व नहीं है। राजसूग में उनका पौरोहित्य मेरे लिए वहुत गौरव का विषय नहीं होगा।" दुर्योधन बोला, "कोई और वडा नाम चाहिए।"

कर्ण समझ नहीं पा रहा था कि इसमें इतने सोच-विचार की क्या आवश्यकता है। मंत्र ही तो पढ़वाने थे। जो पढ सकता हो, उससे पढवा लो। फिर भी वह दुर्योधन का मन नहीं दुखाना चाहता था। पिछली सारी रात तो वह वैसे ही दुखी रहा था।

"यदि हम दूर न भी जाएँ. तो व्यास तक तो जा ही सकते हैं।" दुर्योधन वोला।

"तो संदेशवाहक भेज कर उनको आज ही बुलवा लो।"

"नहीं मित्र ! उन्हें निमंत्रित करना है, तो स्वयं ही जाना पडेगा।" दुर्योधन बोला, "संदेशवाहक से निमंत्रण पा कर तो वे अपनी समाधि टूटने पर ही आएँगे। और उनकी समाधि जाने कितनी लंबी हो।"

"समाधि क्या लंबी होगी।" कर्ण वोला, "सव टाल-मटोल का वहाना होता है।"

"मेरा भी अभिप्राय वही है।" दुर्योधन बोला, "यदि तुम सहमत हो तो हम आज पहले यही काम निपटा लें।"

कर्ण को क्या आपत्ति हो सकती थी। वह तो दुर्योधन की प्रत्येक इच्छा से सहमत था।

वेदव्यास ध्यान पूरा कर, उठ कर अपने कुटीर से बाहर आए तो उन्हे सूचना मिली कि दुर्योधन और कर्ण उनकी प्रतीक्षा में बैठे है।

"कहो राजकुमार कैसे आए ?"

दुर्योधन ने उनके चरणो का स्पर्श कर प्रणाम किया और मान सा करता हुआ बोला, "आप मुझे पुत्र न कह कर राजकुमार क्यों कहते हैं महर्षि !"

महर्षि मुस्कराए, "पुत्र भाव से आओगे तो पुत्र ही कहूँगा। इस समय तो तुम राजकुमार भी नहीं राजा के रूप में आए हो। बोलो मैं तुम्हारा क्या प्रिय कर सकता हूँ।"

दुर्योधन ने कोई विवाद खड़ा करना उचित नहीं समझा। विनयपूर्वक बोला, "पितामह ! आप जानते ही होंगे कि कर्ण मेरे लिए दिग्विजय करके लौटा है।"

"मुझ तक तो किसी ने ऐसी कोई सूचना नहीं पहुँचाई; किंतु यदि वह सचमुच दिग्विजय कर आया है तो वह बधाई का पात्र है। भगवान् उसे सद्‌बुद्धि दे।"

"आप भी तो राजधानी की सूचनाएँ प्राप्त करने का कोई प्रयत्न नहीं करते।" कर्ण बोला, "नहीं तो कोई भी आपको बता देता।"

"ठीक कहा तुमने राधेय ! मेरी रुचि धर्म में है, राजधानी में नहीं ।" महर्षि ने उसे सहास देखा, "इस समय मेरी रुचि यह जानने में है कि तुम्हारा यहाँ आना क्या उस दिग्विजय का ही अंग है।"

दुर्योधन सायास हँसा, "नहीं पितामह ! आपका आश्रम जीतने मे कर्ण को कोई रुचि नहीं हो सकती। इस समय हम लोग दूसरे ही कारण से आए हैं।..." वह रुका, "मैं राजसूय यज्ञ करना चाहता हूँ।"

"तुमने युवराज को कैसी कठिनाई में डाल दिया है अंगराज !" महर्षि के स्वर में विनोद था।

उन दोनों ने चकित हो कर महर्षि की ओर देखा।

"पति स्वर्ण ला दे, तो पत्नी को अपने कान छिदवाने पड़ते है।" महर्षि हँस रहे थे, "तुम दिग्विजय कर आए तो अब दुर्योधन को राजसूय यज्ञ भी करना पड़ेगा।"

"नहीं ऐसी बात तो नहीं है।" दुर्योधन ने तत्काल प्रतिकार किया, "मैं तो वैसे ही सोच रहा था।"

"हाँ तुम वैसे ही सोच रहे थे।" व्यास मंद-मंद मुस्कराते जा रहे थे, "गंगा पुत्र ने कर्ण का तिरस्कार किया, तो कर्ण आवेश में भीष्म को नीचा दिखाने के लिए दिग्विजय के लिए चल पडा।" व्यास ने रुक कर कर्ण की ओर देखा, "क्षत्रिय राजा किसी का अपमान करने के लिए दिग्विजय नहीं करते अंगराज !"

"किसी को नीचा दिखाए बिना दिग्विजय हो कैसे सकती है महर्षि !" कर्ण के स्वर में भयंकर तिरस्कार था।

"दिग्विजय धर्मस्थापना के लिए होती है, लूटपाट करने अथवा अपने अहंकार को स्थापित करने के लिए नहीं ।" महर्षि बोले, "दिग्विजय के माध्यम से सम्राट् उस सारे क्षेत्र के शासकों की उच्छृंखलता का दमन करता है। प्रजा को अभय देता है। जन सामान्य के आवागमन के लिए मार्ग बनवाता है। तीर्थयात्रा, देश भ्रमण तथा व्यापार इत्यादि की सुविधाएँ उपलब्ध कराता है। सब ओर शांति की स्थापना करता है।... उस धर्मस्थापना की घोषणा करने के लिए वह राजसूय यज्ञ करता है। तुम धर्मबुद्धि से नहीं, अपने आहत अहंकार के दंश से दिग्विजय करने गए थे, और धर्मस्थापना के स्थान पर विनाश करके लौटे हो।"

"वह जो हुआ, सो हुआ।" दुर्योधन बोला, "मैं तो अब धर्मस्थापना के लिए राजसूय यज्ञ करना चाहता हूँ। आप हमारा वह यज्ञ करवा दें।"

वेदव्यास खिलखिलाकर हँसे, "तुम्हारे मन में धर्म है दुर्योधन ?"

"हॉं आर्य !"

"कोई कामना तो नहीं है ?"

"नहीं आर्य !"

"पांडवों को नीचा दिखाने के लिए अहंकार की भावना तो नहीं है ?"

"नहीं महर्षि !"

"युधिष्ठिर ने राजसूय किया, इसलिए तुम भी राजसूय करो, ऐसी ईर्ष्या तो नहीं है ?"

"नहीं आर्य !"

"मैं फिर पूछता हूँ, दुर्योधन ! क्या तुम धर्म-प्रेरणा से राजसूय करना चाहते हो ?"

"हाँ पितामह ! पर आप यह सब क्यों पूछ रहे हैं ? आपको मुझ पर विश्वास नहीं है ?"

"विश्वास है, इसीलिए पूछ रहा हूँ।" महर्षि बोले, "राजसूय करते हुए राजा के मन में धर्म होता है। वह समझ रहा होता है कि इस नामरूपात्मक जगत् में जो कुछ भी है, वह सब उस परम ब्रह्म का ही आधान है। मूल तत्त्व तो एक

ही है, भेद केवल भासमान है। इसलिए वह उन बाह्य रूपाकारो का त्याग कर, अपने मूल स्वरूप में स्थित हो, स्वयं को उस परम ब्रह्म का ही अंश जान, उसी के समान व्यवहार करता है। वह आदरणीय का आदर करता है। पूज्यपूजन के कर्तव्य का निर्वाह करता है। अपना अहंकार स्थापित नहीं करता। ईश्वर के समान भर्ता का रूप धारण कर अपना सब कुछ विद्वानों और अकिंचनो को दान कर देता है। वह भर्ता-स्वरूप होता है, हर्ता-स्वरूप नहीं ।..."

"जानता हूँ पितामह !"

"जानते तो हो, किंतु मानते भी हो ?"

"मानता भी हूँ पितामह !"

"तो फिर धर्म के मार्ग पर चलो दुर्योधन !" महर्षि बोले, "अधर्म का त्याग करो। जो जिसका देय है, उसे दे दो।"

"दे दूँगा पितामह !" दुर्योधन बोला, "दान के भाव से ही तो यज्ञ करना चाहता हूँ।"

"तो फिर सबसे पहले युधिष्ठिर का राज्य उसे दे दो। लोभ मत करो।"

दुर्योधन ने चौंक कर महर्षि की ओर देखा : उसने कल्पना भी नहीं की थी कि व्यास इस सारी चर्चा को यह मोड दे देंगे।

"मैं यज्ञ अपने लिए कर रहा हूँ, युधिष्ठिर के लिए नहीं ।" उसके मुख से अनायास ही निकल गया।

"नहीं । तुम यज्ञ युधिष्ठिर के लिए कर रहे हो।" महर्षि हँस रहे थे।

"आपको किसने कहा ?"

"कहने की क्या बात है।" व्यास बोले, "यह दूसरी बात है कि तुम यज्ञ युधिष्ठिर के प्रेम के कारण नहीं, उससे ईर्ष्या के कारण कर रहे हो। यदि तुम उसके प्रति ईर्ष्या से न जल रहे होते, तो तुम्हारे मन मे राजसूय यज्ञ करने की इच्छा कभी न जागती।"

"चलिए युधिष्ठिर के प्रति स्पर्धा के भाव से ही सही, किंतु मै एक धर्म कार्य करना चाहता हूँ, तो उसमे क्या दोष है ?"

"होनी तो स्पर्धा भी नहीं चाहिए; किंतु स्पर्धा भी होती तो कदाचित् उतना दोष न होता।"

"आप इसे स्पर्धा क्यो नहीं मान सकते ?"

"यदि अपने आचरण के कारण युधिष्ठिर तुम्हारा आदर्श होता, यदि तुम उसका अनुकरण करने का प्रयत्न कर रहे होते, तो मै इसे तुम्हारी स्पर्धा मान लेता," व्यास बोले, "किंतु, तुम उसे अपना आदर्श नहीं मानते। तुम इस यज्ञ के माध्यम से पांडवों को अपनी क्षमता दिखाना चाहते हो। उन्हें नीचा दिखाना चाहते हो। यह तो मात्र अहंकार की परछाई है। मन मे अहंकार हो तो धर्म का

स्वरूप कभी प्रकट नही होता। ऐसे में तुम राजसूय यज्ञ जैसा धार्मिक अनुष्ठान कैसे कर सकते हो। मेरी बात मानो दुर्योधन ! पहले अपने मन का कलुष दूर करो। स्वच्छ मन ले कर आओ, सात्विक संकल्प ले कर आओ, निरहंकार हो कर आओ, तो तुम्हारा साधारण यज्ञ भी तुमको राजसूय यज्ञ का फल देगा। राजा लोग राजसूय और अश्वमेध यज्ञ तो स्वयं को अकिंचन बना कर ही कर सकते हैं। तुमने कदाचित् ध्यान नहीं दिया कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे अग्र पूजा के रूप में श्रीकृष्ण के चरण धोए गए थे। राजसूय यज्ञ करनेवाला सम्राट् अथवा उसका प्रतिनिधि उस व्यक्ति के चरण धो रहा था, जिसने सारे यज्ञ में ऋषियो के चरण धोए थे।" उन्होने रुक कर दुर्योधन को देखा, "ऋषियो के चरण धो कर अपनी अकिंचनता सिद्ध करनेवाले के चरण धोता है सम्राट्, तब कहीं वह राजसूय यज्ञ करने की योग्यता प्राप्त करता है।"

"पर उस सबकी क्या आवश्यकता है।" दुर्योधन खीझ कर बोला, "आप जिसको जितना दान कहेंगे, मैं दे दूँगा।"

"दान दे दोगे, और अहंकार से फूल जाओगे।" व्यास हँसे, "मनुष्य को धन नहीं त्यागना है, त्यागना तो अहंकार है। अहंकार गल गया तो धन का मोह तो अपने आप छूट जाएगा। तुम अपने राजसूय में युधिष्ठिर के चरण धो सकोगे ? उसकी अग्रपूजा कर सकोगे ?"

"यह असंभव है।" दुर्योधन बोला, "पर आप क्यों चाहते हैं कि मैं युधिष्ठिर की अग्रपूजा करूँ ? इसलिए कि कोई भी उसे मूर्ख बना सकता है ?"

"इसलिए कि उसकी अधर्म की ओर प्रवृत्ति नहीं है, इसलिए कि उसके मन में हिसा नहीं है, लोभ नहीं है, काम नहीं है, क्रोध नहीं है, अहंकार नहीं है।" व्यास बोले, "उसके मन मे उस राज्य के लिए भी आसक्ति नहीं है, जिसके लिए तुम प्राण लेने और देने पर तुले हुए हो।..."

"यह तो क्षात्र धर्म है।" दुर्योधन उद्दंड भाव से बोला।

"यह भ्रम है। क्षात्र धर्म की भ्रमित व्याख्या है यह।" व्यास बोले, "क्षात्र धर्म का मूल तत्त्व, त्याग है, लोभ नहीं । क्षत्रिय अपने प्राणों पर खेल कर समाज में न्याय स्थापित करता है। अपने शस्त्रबल से लोगों का स्वत्व नहीं छीनता। छीनना दस्यु का काम है। जिस दिन तुम वास्तविक क्षत्रिय हो जाओगे, उस दिन चले आना, मैं तुम्हारा राजसूय यज्ञ करवा दूँगा।"

कर्ण ने संकेत किया और दुर्योधन उठ खड़ा हुआ, "तो मै चलता हूँ पितामह !"

"जाओ राजन् ! प्रभु तुम्हारा कल्याण करें।"

बहुत दूर तक दुर्योधन और कर्ण ने विना किसी संवाद के मौन भाव से यात्रा की। दोनों के मन में आवेश उमड रहा था; किंतु एक तो वे पहले आश्रम की सीमाओं से दूर निकल जाना चाहते थे, और फिर कुछ सोच-विचार कर ही मुख खोलना चाहते थे।

"देख लिया इनका पाखंड।" अंततः कर्ण बोला, "तुम्हारे राज्य मे रहेंगे। तुमसे सहायता, दान और अनुदान पाएँगे; और एक छोटा-सा काम करने का अवसर आएगा, तो ससार भर के सिद्धांत झाड़ने लगेंगे।"

"जिस थाली में खाते हैं, उसी में छिद्र करते हैं।" दुर्योधन बोला, "मेरा सकट यह है कि इनसे मेरा संबंध ही कुछ ऐसा है कि मै अधिक कुछ कह नहीं सकता। एक ये और एक वे मेरे पितामह भीष्म ! इन लोगों के विषय में कुछ निर्णय करना ही कठिन है। कब ये निस्पृह, अनासक्त तपस्वी हो जाएँगे, कब राजनीतिज्ञ, कब राजपुरुष और कब मेरे पितामह, कुछ पता ही नहीं चलता। ये लोग हमारे अन्न पर पलेंगे भी और हमें उपदेश भी देते रहेगे।"

"तो अब क्या करना है ?" कर्ण ने पूछा।

"कुछ भी करना हो, उनकी बात नहीं माननी है। वे चाहते हैं कि मैं युधिष्ठिर बन जाऊँ, ताकि कोई भी मुझे मूर्ख बना सके। मै तो उनके पास इसलिए गया था कि वे आएँगे तो अपने साथ सौ पचास और संन्यासियों को भी ले आएँगे। कुछ मेरे यज्ञ की शोभा रहेगी और कुछ उन निर्धनों को थोड़ा धन मिल जाएगा। अब नहीं है उनके भाग्य में, तो मैं क्या कर सकता हूँ।"

"ठीक है। पर प्रश्न यह है कि अब करना क्या है ?"

"करना क्या है," दुर्योधन कुछ ऊब के साथ बोला, "मैं ही कुछ ऊँचा उड़ना चाह रहा था। यह तो मुझे पहले ही सोच लेना चाहिए था कि व्यास न मेरे नियंत्रण में हैं, न वे मेरा अनुशासन मानेंगे। और अपनी इच्छा से तो वे मेरे लिए कुछ करना ही क्यों चाहेंगे।"

दुर्योधन मौन हो गया और कर्ण चुपचाप उसके पुनः बोलने की प्रतीक्षा करता रहा।

"यह काम तो कृपाचार्य ही करेंगे, जो हमारे राजपुरोहित हैं; और फिर उन्हें कोई आपत्ति हो भी तो अश्वत्थामा के माध्यम से उनसे आग्रह किया जा सकता है। ये व्यास तो वही बोली बोलेंगे, जो युधिष्ठिर और कृष्ण बोलते हैं।" दुर्योधन बोला।

"पता नहीं, ये सारे ऋषि-मुनि, पांडवों का ही पक्ष क्यों लेते हैं। दान-दक्षिणा तो उन्हें हस्तिनापुर से ही अधिक मिलती है।" कर्ण बोला।

"पांडवों का पक्ष लेते है, इसीलिए तो वनों में बैठे हैं।" दुर्योधन हँस पडा, "जो लोग हमारा पक्ष लेते हैं, वे हस्तिनापुर की राजसभा में विराजते हैं।"

दुर्योधन ने सारथि को संकेत किया, "गुरुकुल में चलो। कृपाचार्य के आवास पर।" और फिर उसने मुड कर कर्ण की ओर देखा, "तुम्हें कृपाचार्य के निवास पर जाने में कोई आपत्ति तो नहीं है ?"

"क्यों ? आपत्ति क्यों होगी ?" कर्ण ने पूछा, "वर्षों पहले उन्होंने रंगशाला में अर्जुन का पक्ष लेते हुए मेरा विरोध किया था; किंतु वह तो बहुत पुरानी बात है।"

"हाँ। बात तो पुरानी ही है, पर तुम अपने प्रति किया गया किसी का विरोध भूलते तो हो नहीं ! इसलिए पूछ लिया।" दुर्योधन बोला, "वैसे तुम जाना नहीं चाहते तो भी मैं तुमसे चलने का आग्रह करता। तुम्हारे जाने से उन्हें यह लगेगा कि तुमने उनका विरोध त्याग दिया है। सौहार्द की स्थापना करने के लिए आवश्यक है कि हम अपनी सहिष्णुता और उदारता के प्रमाण देते रहें। व्यास के मना करने पर यह भावना मेरे मन में और प्रबल हो गई है कि हमें इन साधकों, संन्यासियों, तपस्वियों को भी प्रसन्न कर अपने पक्ष में करते रहना चाहिए। समय-समय पर इनकी आवश्यकता भी पड़ेगी। और कुछ नहीं तो पांडवों का समाचार ही इन लोगों से मिलता रहेगा।"

कर्ण को यह सारी चर्चा तनिक भी रुचिकर नहीं लग रही थी। बोला, "मेरा विचार है कि अश्वत्थामा को भी साथ ले लें। वार्तालाप में सुविधा रहेगी।"

"क्यों उसे इतना महत्त्व देते हो। वह समझेगा कि उसके बिना हमारा कोई काम ही नहीं होता।" दुर्योधन अपनी खिन्नता से मुक्त होने का प्रयत्न कर रहा था, "राजसूय यज्ञ मै करूँगा, और उसका सारा श्रेय वह स्वयं ले लेगा।"

"जैसी तुम्हारी इच्छा। मुझसे तो वैसे ही उसका झगड़ा हो जाता है।" कर्ण ने उत्तर दिया।

वे लोग कृपाचार्य के आवास पर पहुँचे तो वे अध्ययनरत थे; किंतु उन्होंने दुर्योधन को प्रतीक्षा नहीं करवाई। तत्काल भीतर बुलवा लिया।

"आप इस अवस्था में भी इतना श्रम करते हैं आचार्य !" दुर्योधन ने कहा।

"आचार्य भी कहते हो और इस अवस्था में अध्ययन पर आश्चर्य भी प्रकट करते हो।" कृपाचार्य बोले, "अध्ययन न करनेवाला भी कभी आचार्य होता है क्या ?"

"मेरा तात्पर्य था कि आपको ज्ञान की क्या कमी है और अव यह श्रम आपको ऊबा भी देता होगा।"

"तुम्हारा तात्पर्य भी समझ रहा हूँ और तुम्हारा प्रयोजन भी।" कृपाचार्य बोले, "तुम मुझे प्रसन्न करने का प्रयत्न कर रहे हो। किंतु उसकी आवश्यकता नहीं है। तुम अपना कार्य कहो। आचार्य का धर्म है कि वह अपने शिष्यों को

उनके विकास में सहायता दे, चाहे उसकी और उसके शिष्यों की अवस्था कुछ भी क्यों न हो।"

दुर्योधन को कृपाचार्य की वाणी में स्निग्ध अनौपचारिकता के स्थान पर रूक्षता ही अधिक दिखाई पडी। पर हतोत्साहित होना तो उसका स्वभाव नहीं था। बोला, "आचार्य ! मैं राजसूय यज्ञ करना चाहता हूँ।"

"क्योंकि कर्ण दिग्विजय कर आया है ?"

"इसलिए नहीं कि कर्ण दिग्विजय कर आया है, वरन् इसलिए कि राजसूय के लिए दिग्विजय अनिवार्य है। अब जब हम पहला सोपान चढ़ चुके हैं, तो दूसरे की ओर पग बढाने मे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।" दुर्योधन ने उत्तर दिया।

"तुम्हें किसी ओर भी पग बढाने से कोई नहीं रोक सकता युवराज !" कृपाचार्य बोले, "किंतु तुम मुझे निमंत्रित कर रहे हो, सूचना दे रहे हो, अथवा कोई और प्रयोजन है ?"

"मैं चाहता हूँ कि आप यह यज्ञ करवाने का दायित्व स्वीकार करें।"

"यज्ञ करवाने में मुझे प्रसन्नता होती युवराज ! किंतु शास्त्रों के अनुसार राजसूय यज्ञ करने का अधिकार तुमको नहीं है।"

"क्यो ?" दुर्योधन का धैर्य चुकता जा रहा था।

कृपाचार्य ने उसे अनुशासित करने के लिए उस पर एक कठोर दृष्टि डाली, "इसलिए कि तुम्हारे ही कुल में धर्मराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया है; और युधिष्ठिर के जीवित रहते तुम्हें यह यज्ञ करने का कोई अधिकार नहीं है।"

दुर्योधन के मन में आया कि वह चीख कर कहे, "तो युधिष्ठिर को मर जाना चाहिए।" किंतु यह सब कहने का कोई अर्थ नहीं था। पता नहीं कृपाचार्य समझ रहे थे या नहीं कि वे दुर्योधन को, युधिष्ठिर का वध करने के लिए प्रेरित कर रहे थे।

"पर मै वह यज्ञ करना चाहता हूँ आचार्य !"

"बिना उसकी पात्रता प्राप्त किए ?" कृपाचार्य की दृष्टि में भयंकर तिरस्कार था।

"कौन निश्चित करता है, यह पात्रता ?" दुर्योधन ने पूछा।

"क्यों ? उसकी हत्या कर दोगे ?"

और सहसा दुर्योधन हँस पड़ा, "नहीं आचार्य ! केवल अपना ज्ञानवर्धन कर रहा हूँ। ऐसा क्यों होता है कि मेरी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति के मार्ग मे कोई न कोई ऐसा शास्त्र आ ही खड़ा होता है, जो मुझे उसका पात्र नहीं रहने देता।"

"कोई भी तुम्हारे मार्ग में नहीं खड़ा है राजकुमार ! किंतु यह संसार मात्र

तुम्हारी इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही नहीं बना है। यहाँ ईश्वर के उत्पन्न किए हुए असंख्य जीव हैं; और उनके मन में भी कुछ इच्छाएँ जन्म लेती है। शास्त्र सबको समान रूप से मान्यता देता है; और तुम अपनी इच्छा के सिवाय और किसी की इच्छा का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते। शास्त्र के मार्ग में तुम खडे हो। तुम्हारे मार्ग में कोई नहीं खड़ा है।"

दुर्योधन ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह प्रणाम कर उठ आया।

रथ में बैठते ही उसने कर्ण की ओर देखा, "जब तक यह युधिष्ठिर मरेगा नही, तब तक मेरी कोई इच्छा पूरी नहीं होगी।"

"मै तो कब से कह रहा हूँ कि यदि स्वतंत्र और सुखी रहना चाहते हो तो पहले इन पांडवो का नाश करो।" कर्ण ने निदर्द्वद्व भाव से कहा।

"मेरे हाथ में होता, तो मैं कब से उन्हें यमपुर पहुँचा चुका होता।" दुर्योधन बोला, "किंतु इन कुलवृद्धों ने मुझे ऐसे बॉध रखा है कि मैं अपने मन का कुछ भी कर नहीं पाता। एक ओर से देखो तो सारे अधिकार मेरे हाथ में है, और दूसरा पक्ष यह है कि मैं कुछ भी नहीं कर पाता।"

"तुम इतने असहाय भी तो नहीं हो युवराज !" कर्ण बोला, "जब करने पर आते हो, तो महाराज से कुछ भी करवा लेते हो।"

"ठीक कहते हो।" दुर्योधन बोला, "किंतु युद्ध के संदर्भ में महाराज के किए तो कुछ नहीं होगा। उसके लिए हमें आवश्यकता पड़ेगी, पितामह की, आचार्य द्रोण की, कृपाचार्य की।... और उनमें से कोई भी नहीं चाहता कि मैं सेना ले कर पांडवों पर आक्रमण करूँ।"

"तो क्या हम उनकी सहायता के बिना पांडवो से युद्ध नहीं कर सकते ?" कर्ण का दंभ अत्यंत मुखर हो आया था, "यदि मैं अपने बल पर दिग्विजय कर सकता हूँ तो मैं पांडवो से युद्ध भी कर सकता हूँ।"

"कहते तो ठीक हो मित्र !" दुर्योधन बोला, "किंतु तुम्हारी दिग्विजय के मार्ग में भीष्म और द्रोण नहीं खड़े थे। यदि तुम पांडवों के विरुद्ध सेना ले कर जाओगे, तो अधिक संभावना इस बात की है कि पहले तुम्हें हमारे पितामह से ही, युद्ध करना पडेगा।"

कर्ण ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह दुर्योधन की बात पर विचार कर रहा था। घोषयात्रा के लिए भी बहाना बनाना पड़ा था और तब भी उनकी इच्छा पूरी नहीं हो पाई थी। वे लोग पांडवों तक तो पहुँच ही नहीं पाए थे। उसी प्रकार यदि वे फिर पांडवों पर आक्रमण करते हैं और उन्हें पांडवों से पहले भीष्म, द्रोण तथा कृपाचार्य से युद्ध करना पड़ता है, तो एक प्रकार से उन्हें हस्तिनापुर की सेना के ही विरुद्ध पहले लड़ना पड़ेगा।... यह तो सचमुच न संभव था, न श्रेयस्कर। यदि दुर्योधन और उसके मित्रों की वाहिनियॉ, भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य

तथा अश्वत्थामा के विरुद्ध लड़ कर उन्हें नष्ट करती हैं, तो वे स्वयं ही हस्तिनापुर की सेना को इतना दुर्बल कर देंगी कि पांडवों से लड़ने का न उसमें उत्साह रहेगा, न सामर्थ्य ... दुर्योधन ठीक ही कहता है, वे लोग इन वृद्धों की सहमति के बिना पांडवों से नहीं लड़ पाएँगे।...

"हम भीष्म, द्रोण तथा कृपाचार्य के विरुद्ध तो नहीं लड सकते, किंतु हम व्यास और कृपाचार्य के विरुद्ध तो लड ही सकते हैं।" कर्ण बोला, "हम वही क्यों नहीं करते ?"

"व्यास और कृपाचार्य के विरुद्ध लड़ने का क्या अर्थ है ? व्यास कोई योद्धा है क्या ?" दुर्योधन हँसा, "अच्छा किया कि तुमने इनमें विदुर का नाम नहीं जोडा।"

"अपने ढग से तो व्यास भी योद्धा ही हैं। उन्होंने भी तो तुम्हें बॉध ही दिया है, न तुम्हे राजसूय करने की अनुमति दी, न तुम्हारे लिए यज्ञ करने को प्रस्तुत हुए।" कर्ण बोला, "हम उनके इस व्यूह को तोड़ सकते हैं। उनका यह व्यूह तोडना ही चाहिए। हमें उनकी सहायता के बिना ही राजसूय यज्ञ कर दिखाना चाहिए।"

दुर्योधन ने एक गभीर दृष्टि कर्ण पर डाली : कर्ण के मन में कोई योजना है क्या ?

"इन राजगुरुओं और राजपुरोहितों का विचार छोड़ो और अपनी सेवा करनेवाले, सेवा का अवसर ढूँढ़नेवाले साधारण ब्राह्मणों को बुलाओ।" कर्ण बोला, "उन्हें आदेश दो कि वे तुम्हारे लिए क्रतुश्रेष्ठ राजसूय का आयोजन करें। मुझे विश्वास है कि बडी-बडी दक्षिणाओं का ऐसा अवसर वे कभी हाथ से नहीं जाने देंगे।"

दुर्योधन को कर्ण की बात में सार दिखाई दिया : ठीक कह रहा है कर्ण। कृपाचार्य और द्रोण जैसे लोग वृत्ति लेते हुए तो राजा की कृपा का आह्वान करेंगे, और राजा की इच्छापूर्ति का समय आते ही शास्त्र की चाकरी करने लगेंगे। साधारण ब्राह्मण यह नहीं करेगा। वह तो कब से बैठा प्रतीक्षा कर रहा है कि वह किसी प्रकार राजा को प्रसन्न कर द्रोण और कृपाचार्य का स्थान ले सके।

अपने भवन में पहुँचकर दुर्योधन ने ब्राह्मण-पल्ली के मुखिया को बुलाया। मुखिया ने आने में तनिक भी विलंब नहीं किया।

"महाराज पर प्रभु की कृपा हो।"

"यह सब मत बोला करो।" दुर्योधन ने उसे डॉटा, "मुझे विजयी होने का आशीर्वाद दिया करो। अपने शत्रुओं का नाश करने में सफल होने का आशीर्वाद

दिया करो।"

"वह भी तो भगवान् की कृपा से ही होगा महाराज !"

"वह सब मैं नहीं जानता; और न इस विषय मे तुमसे शास्त्रार्थ करना चाहता हूँ।" दुर्योधन बोला, "मैं तो केवल इतना जानता हूँ, कि जो लक्ष्य प्राप्त करना हो, उसके लिए किसी शक्ति को प्रसन्न करना पडता है, जैसे तुम्हें दक्षिणा लेनी हो तो मेरी जय बोलते हो, भगवान की नहीं । मैं भी इस समय अपनी इच्छापूर्ति के लिए तुम्हें प्रसन्न करने को प्रस्तुत हूँ। इसका अर्थ यह भी है कि दक्षिणा में यदि बडी राशि चाहिए तो पहले मेरी इच्छापूर्ति करो।"

"महाराज का क्या आदेश है ?" ब्राह्मण ने पूछा।

"मै राजसूय यज्ञ करना चाहता हूँ।"

"क्रतुश्रेष्ठ राजसूय !" ब्राह्मण जैसे स्तब्ध रह गया।

"हाँ।"

"पर युवराज ! राजसिंहासन पर तो अभी महाराज धृतराष्ट्र आसीन हैं। उनके वर्तमान रहते, आप राजसूय कैसे कर सकते हैं ?"

अब स्तम्भित होने की बारी दुर्योधन की थी। धृतराष्ट्र के जीवित रहते भी वह कुछ नहीं कर सकता ? युधिष्ठिर के लिए तो वह मृत्यु की कामना कर सकता था, अपने पिता के लिए तो वह भी नहीं कर सकता। अपने पिता से न वह स्पर्धा कर सकता था, न ईर्ष्या, न उनसे कुछ छीन सकता था, न उनके अहित की कामना कर सकता था। तो ? कैसी स्थिति थी उसकी। उसकी इस दिग्विजय का भी क्या अर्थ ? पता नहीं उसके पिता भी राजसूय कर सकते थे अथवा नहीं । और कर भी लेते तो दुर्योधन, युधिष्ठिर की समता कैसे कर सकता था ? युधिष्ठिर के समकक्ष तो वह तब ही हो सकता था, जब वह स्वयं राजसूय यज्ञ करता। वह स्वयं सम्राट् बनता।...

"मैं राजसूय यज्ञ नहीं कर सकता ?" उसने ब्राह्मण की ओर देखा।

"कैसे कर सकते हैं युवराज ! सिंहासन पर अभिषिक्त हुए बिना आप सम्राट् कैसे बन सकते हैं।"

दुर्योधन को युवराज शब्द कभी इतना नहीं चुभा था। रुष्ट स्वर में बोला, "तो मैं तुम्हें दक्षिणा कैसे दे सकता हूँ ? मुझसे तुम वृत्ति कैसे पा सकते हो ?"

दुर्योधन को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि ब्राह्मण उसकी बात से तनिक भी विचलित नहीं हुआ। वह मुस्कराकर बोला, "युवराज आप वैष्णवी यज्ञ करें। आप अपनी वर्तमान स्थिति में भी वैष्णवी यज्ञ कर सकते हैं; और मैं अपनी दक्षिणा पा सकता हूँ।"

दुर्योधन ने क़र्ण की ओर देखा, कर्ण ने मुस्कराकर स्वीकृति मे सिर हिला दिया।

उसका क्या महत्त्व है ?" दुर्योधन ने पूछा।

"युवराज ! उसे राजसूय की भूमिका ही समझे।" ब्राह्मण बोला, "यह उससे कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आप अपने अधीनस्थ सारे भूपालों को आदेश दीजिए, वे आपको स्वर्ण अथवा स्वर्ण के बने आभूषण कर के रूप में दें। उन आभूषणो तथा स्वर्ण से आप सोने का एक हल बनवाएँ। उस हल से यज्ञ के लिए भूमि जोते। उसी पवित्र भूमि पर उत्तम संस्कारों से संपन्न, प्रचुर अन्न पान से युक्त तथा सर्वसाधारण के लिए अबाध प्रवेशवाला अनवरत यज्ञ कीजिए।"

"यह कौन-सा यज्ञ है ब्राह्मण ?" कर्ण ने पूछा।

"इसका नाम वैष्णवीयज्ञ है अंगराज !" ब्राह्मण ने बताया।

"आज तक किन-किन राजाओं ने इस यज्ञ का आयोजन किया है ?" दुर्योधन ने पूछा।

"भगवान् विष्णु के अतिरिक्त आज तक और किसी ने भी इस यज्ञ को नही किया है।" ब्राह्मण बोला, "इससे इसका महत्त्व अपने आप में ही सिद्ध है।"

"तो ठीक है अंगराज ! हम वह यज्ञ करेंगे, जो आज तक किसी राजा ने नही किया है।" दुर्योधन बोला, "तत्काल इस यज्ञ की तैयारी आरंभ कर दी जाए।"

17

इस दूत को युधिष्ठिर ही नहीं, सारे पांडव पहचानते थे। दुःशासन का बहुत मुँहलगा दूत था, प्रभुदत्त। वह प्रणाम कर शांत भाव से खडा हो गया था।

भीम को तो हस्तिनापुर से किसी दूत का आना ही अच्छा नहीं लगता था। वहाँ से उसके मन के अनुकूल तो कोई समाचार आता ही नहीं था। जब भी कोई समाचार आया, कष्टकारक ही आया। इससे तो अच्छा था कि कोई समाचार ही न आए। वह जानता था कि यदि अभी इसी दूत से वह पूछेगा कि माँ कैसी हैं, तो वह यही उत्तर देगा कि महारानी कुंती से उसकी बहुत दिनो से भेट नहीं हुई है। वह तो वही बोलेगा, जो उससे कहने को कहा गया है। और पांडवों की दृष्टि से कोई सुखद समाचार देने के लिए तो दुःशासन ने उसे भेजा नहीं होगा, तो भीम के मन के अनुकूल कोई बात वह कहेगा ही कैसे।

"कहो प्रभुदत्त ! क्या समाचार लाए हो।" युधिष्ठिर ने मधुर भाव से पूछा।

"धर्मराज !" प्रभुदत्त बोला, "अंगराज कर्ण के नेतृत्व में हस्तिनापुर की सेना दिग्विजय करके लौटी है। संसार के सारे राजाओं से कर के रूप में जो

स्वर्ण प्राप्त हुआ है, उससे महाराज दुर्योधन ने एक हल तैयार करवाया है। हस्तिनापुर नगर के बाहर गंगा तट पर उसी हल से महाराज ने भूमि जोती है। वहाँ एक महान् यज्ञ के लिए वेदी तैयार की गई है और महाराज दुर्योधन यज्ञ की दीक्षा ले कर वहाँ बैठ गए हैं। देश-विदेश के राजा-महाराजाओ, विद्वानों तथा महाजनों को आमंत्रित करने के लिए चारों दिशाओं में दूत भेज दिए गए है। आशा है कि असंख्य लोग उसमें सम्मिलित होंगे। महाराज दुर्योधन ने आपको भी, अपने भाइयों तथा पत्नी सहित उस यज्ञ में सम्मिलित होने का निमत्रण भेजा है। राजकुमार दुःशासन ने विशेष रूप से कहलवाया है कि महारानी द्रौपदी के बिना इस यज्ञ की कोई शोभा नहीं होगी। अतः वे अवश्य आएँ।"

पांडवों ने एक-दूसरे की ओर देखा : इस निमत्रण की ध्वनि स्पष्ट थी। दुःशासन उन्हें द्यूतसभा में हुए द्रौपदी के अपमान का स्मरण करा रहा था।

"सेना ले कर दिग्विजय करने क्या दुःशासन गया था ?" भीम ने युधिष्ठिर के कुछ कहने से पूर्व ही पूछ लिया।

"नहीं आर्य ! अंगराज कर्ण गए थे !"

"हाँ ! दुर्योधन और दुःशासन इतना साहस कैसे करते। उनका सारा साहस तो घोष-यात्राओं तक ही सीमित है। वैसे दूत ! आजकल हस्तिनापुर का राजा कौन है ?" भीम ने पुनः पूछा।

प्रभुदत्त ने आश्चर्य से भीम की ओर देखा : क्यो पूछ रहा है भीम, यह सब ? पर फिर भी उत्तर तो उसको देना ही था।

"महाराज धृतराष्ट्र आर्य !"

"और यज्ञ कर रहा है दुर्योधन।" भीम जोर से हँसा, "राजा धृतराष्ट्र हैं, दिग्विजय हस्तिनापुर की सेना ने की है, और माना यह जा रहा है कि दिग्विजय दुर्योधन ने की है।"

"कौन-सा यज्ञ कर रहा है, दुर्योधन ?" अर्जुन ने प्रश्न किया।

"वैष्णवी यज्ञ।"

"इससे पहले भी किसी राजा ने यह वैष्णवी यज्ञ किया है क्या ?" अर्जुन ने पुनः पूछा।

"ब्राह्मणों का कहना है कि भगवान् विष्णु के पश्चात् यह यज्ञ किसी ने भी नहीं किया है।" प्रभुदत्त ने बताया।

"अर्थात् हस्तिनापुर के ब्राह्मणों ने इस यज्ञ का आविष्कार दुर्योधन की सुविधा के लिए किया है।" सहदेव ने कहा, "शास्त्रों मे तो ऐसे किसी क्षत्रियोचित यज्ञ की चर्चा है नहीं, जो बिना सिंहासनाभिषिक्त हुए,दिग्विजय कर, किया जा सके।"

"करना तो वे राजसूय यज्ञ ही चाहते थे राजकुमार ! किंतु शास्त्र उसकी

अनुमति नहीं देता।" दूत ने उत्तर दिया, "ब्राह्मणों का कहना है कि वैष्णवी यज्ञ भी क्रतुश्रेष्ठ राजसूय के ही समान महान् है।"

"यज्ञ कोई भी हो," युधिष्ठिर ने विवाद को आगे बढ़ने से रोका, "हर्ष का विषय यह है कि दुर्योधन इस व्याज से प्रभु का भजन करेगा। शास्त्र किसी को प्रभुस्मरण से तो रोकता नहीं है। कोई किसी भी प्रकार से अपना उत्थान कर सकता है।"

शेष पांडवों के प्रश्नो के व्यूह में घिर गए दूत ने चैन की साँस ली, "तो उक्त अवसर पर महाराज हस्तिनापुर में पधारेगे न ?"

"प्रभुदत्त !" युधिष्ठिर बोले, "महाराज धृतराष्ट्र तथा माता गांधारी को हमारी ओर से बधाई देना और कहना कि हमें इस यज्ञ में सम्मिलित होने मे बहुत प्रसन्नता होती, किंतु हम अपने धर्म से बँधे हैं। हमे बारह वर्षो का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास करना है। इस समय हम वनवासवाली अवधि में चल रहे है। हमारा हस्तिनापुर नगर में आना और वास करना धर्मविरुद्ध होगा। इसलिए हम यज्ञ में तो सम्मिलित हो नहीं पाएँगे; किंतु हमें इस बात का अथाह संतोष है कि दुर्योधन धर्म की ओर प्रवृत्त हो रहा है। भगवान उस पर अपनी कृपा बनाए रखें।"

दूत ने हाथ जोड़ कर प्रणाम किया और वह जाने के लिए मुड़ा, तो भीम ने उसे रोक कर कहा, "एक बात मेरी ओर से भी कह देना दूत !"

"जी राजकुमार !"

"दूत !" भीम ने कहा, "दुर्योधन को कहना कि वह निराश न हो। हम उसका निमंत्रण अस्वीकार नहीं कर रहे है। उपयुक्त समय पर पांडव हस्तिनापुर अवश्य आएँगे। यज्ञ के अवसर पर ही आएँगे। किंतु वह राजसूय अथवा वैष्णवी यज्ञ नहीं होगा। वह रणयज्ञ होगा। उस समय पांडव अपने शस्त्रास्त्रों से प्रज्वलित रोषाग्नि में दुर्योधन की आहुति देंगे। उस अग्नि में जलते दुर्योधन, उसके मित्रों, भाइयों तथा पुत्रों पर हम अपने क्रोध के घी की आहुति डालने को उद्यत हो कर आएँगे।"

दूत स्तब्ध खड़ा भीम की बात सुनता रहा।

"जाओ दूत !" युधिष्ठिर ने कहा, "राजकुमार का संदेश यदि दुर्योधन से कहोगे, तो मेरी ओर से यह भी जोड देना कि व्यक्ति का धर्मपूर्ण आचरण, उसके प्रति अन्य लोगों के रोष और विरोध का नाश कर देता है। न्यायपूर्ण व्यवहार विरोधियों के मन की युद्ध भावना को ही समाप्त कर देता है। इसलिए दुर्योधन को पांडवों से भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसे अन्याय, अधर्म तथा अत्याचार से भयभीत होना चाहिए।"

"जैसी महाराज की आज्ञा।"

दूत चला गया।

"यह दुर्योधन कब से धर्म की ओर प्रवृत्त हो गया ?" प्रभुदत्त के जाने के पश्चात् द्रौपदी ने जैसे चर्चा आरंभ करने के लिए कहा।

"मैं नहीं समझता कि वह धर्म की ओर प्रवृत्त हुआ है।" अर्जुन बोला, "यज्ञों का मूल आशय तो धर्मप्रधान ही है; किंतु उसका एक सामाजिक पक्ष भी है। सामाजिक सम्मान के लिए भी तो लोग बडे-बडे समारोह करते हैं। लोगों को बुलाते हैं। निर्धनो को भोजन कराते हैं। विद्वान् ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देते हैं। किंतु उसका कोई आध्यात्मिक आधार नहीं होता। वे वह सारा प्रपंच सामाजिक मान-प्रतिष्ठा की कामना से कर रहे होते हैं।"

"कोई किसी कामना से यज्ञ करे अथवा कराए।" युधिष्ठिर बोले, "किंतु इतना जन-कल्याण तो उससे होता ही है न कि भगवान् की चर्चा होती है, सत्संग होता है, निर्धनों को अन्न मिलता है। विद्वानों का ज्ञान जन सामान्य के सम्मुख उद्घाटित होता है, विद्वानों का सम्मान होता है। प्रजा का हित होता है।"

"यह सब होता तो है," द्रौपदी बोली, "किंतु यदि यज्ञ करनेवाला राजा सात्विक वृत्ति से, निष्काम हो कर यह सब नहीं कर रहा, तो आपने ध्यान दिया है कि उसके द्वारा कौन लोग आमंत्रित होते हैं, कौन लोग सम्मानित होते हैं। ... सबसे बड़ी बात तो यह है कि ऋषियों द्वारा रची गई पवित्र ऋचाएँ किस प्रकार उस कलुषित वातावरण में मलिन होती हैं। अहंकार का प्रचार-प्रसार होता है। जिन लोगों को किसी भी प्रकार सामाजिक मान्यता नहीं मिलनी चाहिए, उन्हें सामाजिक मान्यता मिलने लगती है और सामाजिक अहित वहीं से आरंभ हो जाता है।"

"ठीक कहती हो प्रिये ! धार्मिक अनुष्ठानों से ही क्या, तपस्या से भी वही मिलता है, जिसकी मनुष्य कामना करता है।" युधिष्ठिर बोले, "जो कुछ वह चाहता ही नहीं, वह उसे कैसे मिल सकता है ?"

"इसीलिए तो मैं कह रहा हूँ कि इस यज्ञ से दुर्योधन न प्रजा का हित चाहता है, न अपना कल्याण। वह तो अपने वैभव का प्रदर्शन कर अपना अहंकार पुष्ट करना चाहता है।" अर्जुन ने कहा।

"तो उसको वही मिलेगा।" युधिष्ठिर बोले, "रावण भी तो अपनी तपस्या के पश्चात् अपने अहंकार के कारण राक्षस ही हो गया था।"

"यदि दुर्योधन का लक्ष्य इतना ही है, तो हमें आपत्ति नहीं होनी चाहिए।" सहदेव बोला, "किंतु वह तो इसके माध्यम से राजाओं को एकत्रित कर, उन्हें अपना मित्र नहीं, हमारा शत्रु बनाने का प्रयत्न करेगा।"

"तो तुम क्या कर सकते हो।" युधिष्ठिर हँसे, "कोई संसार में अपने लिए

अमृत खोजता है, कोई दूसरों के लिए विष। जिसकी जो प्रकृति है, वह वही करेगा।"

"जब हम जानते हैं कि वह हमारे लिए विष एकत्रित कर रहा है, तो हमे सावधान तो रहना ही होगा।" द्रौपदी बोली।

"हम असावधान हैं ही कहाँ पांचाली !" भीम बोला, "हम सावधान ही हैं, इसलिए हम जानते हैं कि हस्तिनापुर में जो कुछ भी हो रहा है वह सब पाखंड है। सूतपुत्र की दिग्विजय कोई वास्तविक दिग्विजय नहीं है। जितने समय में वह दिग्विजय कर आया है, उतने समय में तो कोई चारों दिशाओं की यात्रा भी नहीं कर सकता। ..."

"मेरे मन मे एक दूसरा ही प्रश्न है।" अर्जुन ने कहा।

"क्या ?" द्रौपदी ने उसकी ओर देखा।

"यदि महाराज धृतराष्ट्र वास्तविक दिग्विजय चाहते थे तो, हस्तिनापुर के सारे योद्धा योजनाबद्ध रूप से सारी दिशाओं में क्यों नहीं गए ? क्यों अकेले कर्ण पर यह सारा भार डाल दिया गया ? हस्तिनापुर की सेना में पितामह भीष्म तथा आचार्य द्रोण का कोई स्थान नहीं है ? और फिर यदि हस्तिनापुर की सेना वस्तुतः दिग्विजय करके लौटी है तो दिग्विजय का श्रेय सिंहासनस्थ महाराज धृतराष्ट्र को न दे कर दुर्योधन को क्यों दिया जा रहा है ?"

"इसलिए कि यह न तो धृतराष्ट्र की योजना है।" भीम बोला, "न यह वास्तविक दिग्विजय है। किसी महत्त्वपूर्ण राजा को कर्ण ने पराजित किया हो, ऐसी कोई सूचना किसी दिशा से नहीं आई है। और न ही यह वास्तविक यज्ञ है। शास्त्र के अनुसार अभी दुर्योधन राजाओं के करने योग्य कोई भी महत्त्वपूर्ण यज्ञ कर नहीं सकता, इसलिए इस वैष्णवी यज्ञ को कर रहा है, जिसे आज तक पृथ्वी के किसी राजा ने नहीं किया है। उसके मन की ईर्ष्या उसे शांत बैठने नहीं देती, इसलिए कुछ न कुछ ऐसा करता रहता है, जिससे वह पांडवों के समकक्ष होने का दर्प कर सके। वही कर रहा है वह।"

"यह तो निश्चित ही है कि जो कुछ वह कर रहा है, वह धर्म नहीं उसकी राजनीति है।" युधिष्ठिर बोले, "इसीलिए पितामह तथा आचार्य उससे सहमत नहीं होंगे।"

"तो फिर हमें कुछ करना चाहिए न !" द्रौपदी ने कहा।

"हमें इसमें क्या करना है पांचाली।" अर्जुन ने कहा, "हम तो राजनीति मे भी धर्म खोज रहे है, और वह धर्म के माध्यम से भी राजनीति कर रहा है।"

"वस्तुतः वह राजनीति भी नहीं कर रहा, वह अपनी महत्त्वाकांक्षा की उस मृगतृष्णा के पीछे दौड रहा है, जिसकी परिणति केवल थक कर गिर जाने मे होती है।" युधिष्ठिर बोले, "वह इतना भी समझ नहीं पा रहा है कि उसके शत्रु

पांडव नहीं, उसके अपने मन में स्थित पांडवों के प्रति ईर्ष्या का भाव है। वह पांडवों का सब कुछ छीन ले, झूठी नहीं वास्तविक दिग्विजय कर ले, किंतु सुख तो उसे अपने मन को इस रोग से स्वच्छ करके ही मिलेगा। धर्म से ही मिलेगा। और धर्म लोभ में नहीं, अस्तेय और अपरिग्रह में है। यदि सुख राज्य में होता, तो उग्रसेन को कृष्ण से अधिक सुखी होना चाहिए था। ..."

"मैंने कृष्ण को कभी दुखी अथवा हताश नहीं देखा।" नकुल बोला, "तो उनसे अधिक सुखी कोई हो कैसे सकता है ?"

"मेरा विचार है कि कृष्ण ने अपने जीवन में इतने कष्ट देखे हैं कि अब वे किसी कष्ट से विचलित नहीं होता।" भीम ने कहा।

"मध्यम कदाचित् ठीक ही कह रहे हैं।" द्रौपदी ने भीम का समर्थन किया, "गोविन्द का जन्म मृत्यु की छाया में, कारागार के भीतर हुआ। सारा शैशव हत्या करने आए राक्षसों से लडते हुए व्यतीत हुआ। किशोरावस्था में ही मृत्यु का सामना करने के लिए मथुरा जाना पड़ा। कंस का वध कर देने पर भी मथुरा में रहना संभव नहीं हुआ। द्वारका में भी निरंतर एक से बढ़ कर एक, शक्तिशाली शत्रुओं से लड़ना पड़ा। कौन-सा संकट है, जो उन्होंने नहीं झेला। जिन यादवों की रक्षा की, उन्होंने भी लांछन लगाए और शत्रुतापूर्ण व्यवहार किया। फिर भी केशव ने किसी से शत्रुता नहीं पाली। किसी को अपना विरोधी नहीं माना। किसी से कुछ माँगा नहीं, और जिसने जो माँगा, उसे वह देने को तैयार रहे।"

"बस यही कारण है, जिससे वे कभी हताश नहीं होते ? कभी उदास नहीं होते ?" नकुल ने पुनः पूछा।

"कृष्ण के मन में कोई कामना नहीं है; फिर भी वे सदा क्रियाशील हैं।" युधिष्ठिर बोले, "अपने लिए द्वारका का राज्य भी नहीं चाहिए; किंतु सारे जंबुद्वीप के राज्यों की चिंता में सदा सक्रिय रहते हैं। कामना नहीं होगी, तो दुःख निकट भी नहीं आएगा।"

"मुझको तो लगता है कि कृष्ण का मन है ही नहीं । वह उनकी बुद्धि में ही समा गया है।" अर्जुन बोला, "बुद्धि ऐसी है, जो तनिक भी संशयशील नहीं है। स्थिर बुद्धि है उनकी, निष्कंप दीपशिखा-सी। निर्द्वन्द्व, सरल और निश्छल। उसे साधारण बुद्धि नहीं, प्रज्ञा कहना चाहिए।"

"पर बुद्धि में द्वंद्व क्यों नहीं है ? संशय क्यों नहीं है ? केशव क्या तर्क-वितर्क नहीं करते ? पक्ष-विपक्ष नहीं देखते ? उनकी बुद्धि कैसे कभी भ्रम में नहीं पड़ती ?" द्रौपदी बोली।

"क्योंकि उसमें आसक्ति नहीं है। किसी के प्रति मोह नहीं है।" युधिष्ठिर बोले, "जिस प्रकार उन्होंने अपने मातुल का वध किया, अपने मौसेरे भाई शिशुपाल के पापों का दंड देने के लिए उसका वध किया, उससे स्पष्ट है कि कृष्ण की

बुद्धि न्याय को देखती है, संबंधों को नहीं ।"

"तो क्या किसी से प्रेम नहीं है उनको ? माया-ममता नहीं है उनके मन में ?" नकुल जैसे अपने आपसे पूछ रहा था, "हृदयहीन, शुष्क व्यक्ति हैं वे ? भावना की स्निग्धता नहीं है उनमें ?"

"जितना प्रेम कृष्ण के मन में है, उतना किसी और के मन में संभव ही नहीं है।" अर्जुन बोला, "सारी सृष्टि से एक साथ प्रेम कर सकते हैं कृष्ण। हाँ। मोह नहीं है उनको। उनके मन में विभाजन नहीं है; और न ही किसी अपने का अन्याय स्वीकार्य है उनको। कृष्ण न्याय रूप भी हैं, और प्रेम रूप भी। तो फिर उनकी प्रज्ञा क्यों भ्रमित होगी, वे हताश क्यों होंगे।"

"हाँ ! प्रेम जताने में तो दक्ष है कृष्ण।" भीम हँसा, "कहीं भी लोगों को एकत्रित कर उन पर प्रेम लुटाने लगता है। कहीं बाँसुरी बजाकर वृद्धाओ को लुभाने लगता है ..."

द्रौपदी ने भीम को कुछ कठोर दृष्टि से देखा, "मध्यम ! किसी के गुणों का उपहास करना कोई अच्छी बात नहीं है। मुझे तो लगता है कि कृष्ण हमारे समान साधारण मनुष्य हैं ही नहीं । वे नारायण की विशिष्ट विभूतियों को ले कर उत्पन्न हुए हैं। वे बहुत विकसित पुरुष हैं। बहुत उन्नत।"

"हाँ ! तुम्हारे तो सखा हैं। क्यों नहीं कहोगी यह सब। हमारे क्या लगते हैं कि हम उनका इस प्रकार गुणगान करें।" भीम अब भी हँस रहा था।

"पांचाली ! तुम भी मध्यम के परिहास को नहीं समझ पा रहीं।" अर्जुन बोला, "मध्यम क्या कम प्रेम करते हैं, केशव से ?"

"जानती हूँ, फिर भी उनको केशव का उपहास तो नहीं करना चाहिए। कौन है केशव के समान, जो दरिद्र, वृद्ध, रोगी ... किसी से भी इतना प्रेम कर सके। सबसे प्रेम कर सके। निःस्वार्थ प्रेम कर सके। जो उनसे प्रेम करे, उन सबको उनके प्रेम की शतगुणित प्रतिध्वनि दे सके ?"

"हम सब तुमसे सहमत हैं पांचाली ! कृष्ण की असाधारणता और महानता की कौन उपेक्षा कर सकता है।" युधिष्ठिर बोले, "और फिर हमसे अधिक कौन इस तथ्य को जानता है। हम जब-जब कठिनाई में घिरे हैं, कृष्ण दौड़े हुए आए हैं। बिना किसी लोभ के, बिना किसी अपेक्षा के।"

धर्मराज के कथन ने द्रौपदी को मौन कर दिया था, किंतु उसका आवेश अभी जैसे चुका नहीं था। धीरे से बोली, "कोई माने या न माने, मैं तो यह भी मानने लगी हूँ कि स्वयं नारायण ही आए हैं, केशव के रूप में जन्म ले कर, संसार के पाप से लड़ने के लिए।"

भीम की इच्छा थी कि वह द्रौपदी को अभी कुछ और खिझाए, किंतु उसका सात्विक आवेश और समर्पण भाव देख कर वह जैसे स्तंभित हो कर रह गया

था। उसे लगा, अब वह परिहास नहीं कर सकेगा। उसका अपना मन भी कृष्ण से अभिभूत हो कर उसके विषय में कुछ सोचना चाहता था। ...

18

यज्ञ पूर्ण कर दुर्योधन वेदी से उठा तो उसके मुख पर सात्विकता के स्थान पर भयंकर रजोगुण था। उसके मन में आत्मसमर्पण अथवा आत्मविस्मृति के भाव नहीं थे। वह तो दर्प से इस प्रकार मत्त हो रहा था, जैसे यज्ञ वेदी से न उठा हो, कोई असाधारण युद्ध जय कर, युद्धक्षेत्र से लौटा हो।

याचकों ने उसकी जयजयकार की और ब्राह्मणों ने उसे आशीर्वाद दिया। किंतु अब उसमें और धैर्य नहीं था कि वहाँ रुकता और किसी की बात सुनता। उसने यज्ञ, दान के लिए नहीं, प्राप्ति के लिए किया था।

दुर्योधन ने ब्राह्मणों के मुखिया जिज्ञासु की ओर देखा, "मेरे साथ आओ।"

"भैया ! याचकों को क्या देना है ?" दुःशासन ने पूछा।

"उन्हें संतुष्ट कर दो।" दुर्योधन बोला, "धन का अभाव नहीं है हमारे पास। वे लोग असंतुष्ट न जाएँ।" उसने रुक कर इधर-उधर देखा, "विदुर का ध्यान रखना। वह स्थिति का लाभ उठा कर सब कुछ अपने ही लोगों में न बाँटता रहे।"

"मैं भी अपनी दक्षिणा ले लूँ युवराज !" जिज्ञासु के पग थम गए।

"तुम मेरे साथ चलो ब्राह्मण देवता ! तुमसे कुछ बातें करनी हैं।" दुर्योधन बोला, "तुम्हारी दक्षिणा कहीं भाग नहीं जाएगी। ज़ब साधारण याचकों को संतुष्ट करने के लिए कह रहा हूँ तो इसका यह अर्थ तो नहीं है कि तुम्हें संतुष्ट नहीं किया जाएगा।"

जिज्ञासु मन मार कर उसके साथ चल पड़ा।

दुर्योधन के आगे-आगे उसके भाई चल रहे थे। उसके साथ कर्ण और शकुनि थे। दुःशासन पीछे रह गया था, व्यवस्था के लिए। चारों ओर लोगों की भीड़ थी। कुछ लोग दूर से ही युवराज पर पुष्प उछाल कर उसकी जयजयकार कर रहे थे और कुछ की इच्छा थी कि वे निकट आकर अपने हाथों से युवराज को पुष्पहार समर्पित करें, ताकि यदि कोई संभाषण न भी हो सके तो भी वे युवराज के आमने-सामने तो हो ही जाएँ। युवराज भी देख लें कि उनके यज्ञ की पूर्णता पर किन लोगों ने गला फाड़ कर उनका जयकार किया था और उनको पुष्पों का भारी-भरकम हार पहनाया था।

"युवराज की जय हो।" एक व्यक्ति ने चिल्लाकर कहा, "ऐसा भव्य यज्ञ आज तक हस्तिनापुर के किसी राजा ने नहीं किया।"

दुर्योधन ने उसकी ओर देखा भी नहीं। उसे अपने रथ तक पहुँचने की जल्दी थी।

जिज्ञासु मन ही मन झुँझला रहा था। वह इतने दिनों तक किसी प्रकार स्वयं और अपने साथी ब्राह्मणों को सँभाले यज्ञ कराता रहा था और अब जब दक्षिणा प्राप्त करने का समय आया था तो युवराज में इतना भी धैर्य नहीं था कि वे यज्ञस्थान पर थोड़ी देर और रुक जाते और अपनी देख-रेख में निर्धन ब्राह्मणों को दक्षिणा भी दिलवा देते। इतनी भी श्रद्धा नहीं थी, तो यज्ञ ही क्यों करवाया था।... और भीड में खडा वह व्यक्ति चिल्ला रहा था कि हस्तिनापुर के किसी राजा ने आज तक इतना भव्य यज्ञ नहीं किया था, जैसे वह हस्तिनापुर की स्थापना के दिन से बैठा सारे राजाओं और उनके यज्ञों को देखता रहा हो।... लोग समझते हैं कि वे इतनी-सी चाटूकारिता से राजा को मूर्ख बना कर उससे ढेर सारी दक्षिणा प्राप्त कर लेंगे। ...मूर्ख लोग यह नहीं समझते कि ये तथाकथित बड़े लोग माँगते अधिक हैं, देते कम हैं। ... युवराज को तो उस जिज्ञासु की भी कोई चिंता नहीं है, जिसने यह सारा यज्ञ करवाया है।...

"धर्मराज के यज्ञ की सी गरिमा नहीं थी, इस यज्ञ में।" जिज्ञासु के कानों में एक और स्वर आया।

जिज्ञासु ने दुर्योधन की ओर देखा, पर उसका ध्यान इस ओर नहीं था। जिज्ञासु को कुछ संतोष हुआ। जाने कौन अभागा था, जो भीड़ में खडा ऐसी बात कह रहा था। युवराज सुन लेते, तो उसके प्राण चाहे बच भी जाते, किंतु हस्तिनापुर में उसका रहना संभव नहीं रह जाता। ... अरे, नहीं है युधिष्ठिर का सा यज्ञ, तो तुम क्यों अपने प्राणों के ग्राहक हो रहे हो। अवश्य ही यह व्यक्ति बात रोग से पीडित रहा होगा, जो यह भी नहीं समझता कि कहाँ क्या कहना चाहिए और क्या नहीं कहना चाहिए। ...

वे लोग युवराज के रथ के निकट आ गए थे। दुर्योधन ने रथ में चढ कर जिज्ञासु को अपने साथ आने का संकेत किया।

जिज्ञासु को रथारूढ़ होने के लिए कुछ प्रयत्न करना पडा। वह पहले कभी इतने विराट् रथ में नहीं बैठा था। वह अभी मुँह खोले, रथ को निहार ही रहा था कि दुर्योधन ने कहा, "आओ।"

जिज्ञासु तल्प पर बैठ गया। उसने नहीं देखा कि कब दुर्योधन ने सारथि को चलने का संकेत किया और रथ चल पडा।

"सुनो ब्राह्मण।" दुर्योधन बोला, "तुमने मेरा यह यज्ञ करवाया, यह एक बडा काम किया। उसके लिए तुम्हें उचित पुरस्कार मिलेगा। अब तुम्हें मेरा एक

और काम करना है।"

"आदेश दें महाराज !" जिज्ञासु बोला।

"तुम्हारी इच्छा के अनुसार तुम्हें धन दे दिया जाए तो क्या तुम मेरे कहने के अनुसार एक कार्य कर सकते हो ?"

"काम क्या है महाराज ?"

"उससे तुमको क्या ?" दुर्योधन बोला, "तुम अपनी दक्षिणा लो और मेरा काम करो।"

"धर्म यदि आड़े न आए और काम मेरे सामर्थ्य के भीतर हो तो अवश्य कर दूँगा।"

दुर्योधन रुक गया ... यह भी धर्म की बात कह रहा था। यदि इसे भी धर्म ने रोक लिया तो ?

"क्या कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो मुझ पर प्रसन्न हो जाए तो फिर धर्म-अधर्म की चिंता न करे और मेरी इच्छा पूरी कर दे ?"

"ऐसा ब्राह्मण खोजना तो कठिन है महाराज ! ब्राह्मण धर्म छोड़ देगा तो फिर जिएगा किस आधार पर ?"

दुर्योधन क्रुद्ध नहीं हुआ, चिंतित हो गया। सहसा उसने जिज्ञासु की ओर देखा, "क्यों, जब भगवान आशुतोष किसी पर प्रसन्न हो कर उसे वर देते हैं, तो क्या वे धर्म-अधर्म का बहाना करते हैं ?"

"वे सर्वशक्तिमान महादेव हैं महाराज ! फिर भी वे अधर्मसंगत कोई कार्य नहीं करते।" जिज्ञासु बोला, "हम लोग तो साधारण जीव हैं।..."

"क्या धर्मशास्त्र तुम्हें धन कमाने का आदेश नहीं देता ?" दुर्योधन ने पूछा।

"धन तो मनुष्य के जीवन के चार पुरुषार्थों में से एक है। उसका विरोध कोई शास्त्र कैसे कर सकता है। दरिद्रता वरेण्य नहीं है, वह तो जीवन का अभिशाप है।" जिज्ञासु बोला, "किंतु महाराज ! धनोपार्जन के साधन तो धर्म संगत ही होने चाहिए। अधर्म से धन कमाने की अनुमति तो नहीं है शास्त्र में। वैसे भी मात्र धन के हेतु कार्य करना तो अधम व्यक्ति का काम है महाराज।"

"क्यों कार्य करने की कोई प्रेरणा तो होनी ही चाहिए।" दुर्योधन बोला।

"जब तक धन प्रयोजन है, तब तक तो मनुष्य का पतन नहीं होता महाराज ! किंतु उसकी प्रेरणा ही धन हो जाए, तो फिर वह धर्म के मार्ग पर नहीं चल सकता। और मनुष्य को तो धर्म के मार्ग पर ही चलना चाहिए महाराज !"

दुर्योधन ने जिज्ञासु की बात का कोई उत्तर नहीं दिया। उसे अभी तक तो यह ब्राह्मण शुद्ध रूप से धन के लिए काम करता दिखाई दे रहा था और अब यह भी धर्म की हॉकने लगा था।

"मेरा कार्य कुछ अधिक ही महत्त्वपूर्ण है," दुर्योधन बोला, "इसलिए उसकी

दक्षिणा की राशि भी तुम्हारी कल्पना से कुछ अधिक ही होगी। इतनी कि जिसे भी दी जाएगी, वह धर्म-अधर्म को भूल जाएगा। बोलो, प्रस्तुत हो।"

जिज्ञासु कुछ देर तक सोचता रहा। उसके मन मे बार-बार आ रहा था कि उसे अभी पिछली दक्षिणा भी नहीं मिली है। ऐसा न हो कि वह लोभ में दुर्योधन के काम तो करता जाए और अंत में वह उसे अंगूठा ही दिखा दे। तब हस्तिनापुर के युवराज का क्या बिगाड़ सकता है जिज्ञासु।...पर दूसरी ओर, युवराज स्पष्ट रूप से उसे धन का लोभ दिखा रहा था। यह अवसर था कि युवराज की बात मान ली जाए और एक बार में ही इतना धन प्राप्त कर लिया जाए कि जीवन में फिर किसी के सम्मुख हाथ फैलाने की आवश्यकता ही न रहे।

"कार्य क्या है युवराज ?" अंततः उसने पूछा।

"जिसके घर भेजूँ, वहाँ उसका अपमान करके आओ। उसे धर्म से भ्रष्ट करो। उसे धर्मभ्रष्ट घोषित करो। कुछ ऐसा करो कि वह अपने धर्म पर न चल पाए।"

जिज्ञासु ने चौंक कर दुर्योधन की ओर देखा : यह भी कोई काम था। किंतु वह दुर्योधन को मना नहीं कर सकता था। उसे तो अभी पिछली दक्षिणा भी नहीं मिली थी।

"पर यदि आपको वैसा ही कोई ब्राह्मण चाहिए, जो जहाँ चाहे, जा सके। जिसके घर जाए, आतिथेय उसका अनादर भी न कर सके। वह अपने आतिथेय के घर में रहे, उसका दिया खाए, और उसका अपमान भी कर सके।..."

"हाँ ! ऐसा ही।" दुर्योधन बोला।

"तो फिर आपको कोई विकट ब्राह्मण चाहिए महाराज ! साधारण ब्राह्मण से तो यह काम होगा भी नहीं । ऐसा कार्य तो दुर्वासा जैसा ही कोई कर सकता है। वे वर भी दे सकते है और शाप भी। प्रसन्न हो कर आपका प्रिय भी कर सकते हैं और क्रुद्ध हो कर, आपको पीडा भी दे सकते हैं।..." जिज्ञासु बोला, "किंतु महाराज ! वे आपके धन के लोभ से कुछ नहीं करेंगे। करेंगे तो अपने मन से ही करेंगे।"

"अपने मन से करेंगे तो मेरे मन का तो नहीं होगा न !"

"आपसे प्रसन्न हो जाएँगे, तो अपने मन से, आपके मन का करेंगे।"

"दुर्वासा।" दुर्योधन ने मन ही मन दोहराया। ... उसे यह नाम पहले क्यों नहीं सूझा। जिज्ञासु तो साधारण-सा ब्राह्मण था। दुर्वासा ! दुर्वासा ही ठीक हैं, जिनका न कोई आतिथ्य करना चाहे और न उनका तिरस्कार करने का साहस करे। ...

अब उसे जिज्ञासु की तनिक भी आवश्यकता नहीं रह गई थी। उसकी

इच्छा हुई कि वह जिज्ञासु को रथ से यहीं उतार दे। पर फिर कुछ सोच कर रुक गया। भविष्य में भी उसकी आवश्यकता हो सकती है। वह उसके काम का व्यक्ति है ...

दुर्योधन सभा से कुछ दूर ही रथ से उतर गया था। उसके भाई और मित्र उसका जयजयकार करते हुए उसे सभा तक लाए थे। मार्ग के दोनों ओर खड़ी दासियाँ, पुष्पों की पंखुड़ियाँ बिखेर रही थीं। असंख्य जोड़ी आँखें उस पर लगी हुई थीं।

दुर्योधन ने दर्पपूर्वक ऑखें उठा कर देखा : आज सभा में वस्तुतः बहुत भीड़ थी। अतिथि राजा तो आए ही हुए थे, राजपरिवार तथा प्रजा के प्रतिनिधि भी अधिकतम संख्या में उपस्थित थे।

धृतराष्ट्र के सिंहासन के निकट एक विशाल सिंहासन दुर्योधन के लिए रखा गया था। दुर्योधन ने एक दृष्टि सभा पर डाली। सबसे पहले उसने धृतराष्ट्र और गांधारी के चरण छू, उन्हें प्रणाम किया। फिर बारी-बारी भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य को प्रणाम किया। अपने भाइयों में घिरा वह बैठने के लिए अपने सिंहासन की ओर बढ़ा। सहसा उसने रुक कर एक दृष्टि विदुर पर डाली; और फिर कुछ सोच कर उसने सिर झुका कर, उनका भी अभिवादन किया।

किसी ने धृतराष्ट्र की ओर नहीं देखा। आज सभा का संचालन जैसे दुर्योधन के मित्रों के हाथों में आ गया था।

सबसे पहले कर्ण आगे बढा। आज वैसे भी उसका विशेष महत्त्व था। दिग्विजय का सूत्रधार वही था। दुर्योधन के इस सारे गौरव का आधार वही था। कर्ण के हाथों में एक दीर्घाकार माला थी, जो कृष्ण की वैजयंती माला का स्मरण करा देती थी। कर्ण ने माला दुर्योधन के कंठ में डाली और बोला, "भरतश्रेष्ठ ! सौभाग्य की बात है कि तुम्हारा वैष्णवी यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो गया है, और उस उपलक्ष्य में मैं तुम्हारा अभिनन्दन कर रहा हूँ।" उसका स्वर सहसा ऊँचा हो गया, "नरश्रेष्ठ ! यद्यपि तुमने यह यज्ञ भी दिग्विजय करने के पश्चात् ही किया है; फिर भी अभी हमारे शत्रु निःशेष नहीं हुए हैं। जब सम्मुख युद्ध में सारे पांडव मारे जाएँगे, उस समय तुम क्रतुश्रेष्ठ राजसूय का अनुष्ठान करोगे; और उस यज्ञ की सफल संपन्नता पर मैं पुनः इसी प्रकार तुम्हारा अभिनन्दन करूँगा।"

विदुर ने धृतराष्ट्र को देखा : वह अपनी प्रसन्नता छिपा नहीं पा रहा था। उसके मुख पर जैसे अलौकिक आनन्द की अनुभूति अंकित थी। गांधारी अवश्य कुछ चिंतित दिखाई पड़ रही थी। कदाचित् उसे कर्ण का यह उद्‌घोष प्रिय नहीं लगा था।

भीष्म के मुख का स्वाद जैसे कड़वा हो गया।... यह सूतपुत्र कर्ण ! क्यो यह हस्तिनापुर के प्रत्येक मांगलिक उत्सव को ध्वंस यज्ञ बना देता है। यह प्रत्येक आयोजन में इसी प्रकार का कोई न कोई अमानवीय व्यवहार करेगा ही। अशुभ ग्रह है यह कुरुकुल का। धूमकेतु। द्यूतसभा में भी इसी ने द्रौपदी को वेश्या कहा था, और उसे निर्वस्त्र कर देने का प्रस्ताव रखा था। उस दिन इसने धार्तराष्ट्रों और पांडवों में युद्ध की भूमिका बनाई थी, और आज फिर यह दुर्योधन का अभिनन्दन करने के नाम पर पांडवों के वध की घोषणा कर इस वंश को गृहयुद्ध की ओर धकेल रहा है। दुर्योधन यदि पांडवों से न भी लड़ना चाहे, तो भी यह उन्हें लडवाए बिना नहीं मानेगा। ... सब जानते हैं कि युधिष्ठिर के जीवन काल में दुर्योधन राजसूय नहीं कर सकता। फिर भी यह कर्ण उसे राजसूय करने को उकसाता रहेगा, युधिष्ठिर के वध के लिए प्रेरित करता रहेगा। यह पांडवो का ही वैरी नहीं है, यह तो सारे कुरुकुल का काल है ...यदि कभी कुरुकुल मे गृहयुद्ध हुआ तो इसी के कारण होगा। ... और यह धृतराष्ट्र कितना प्रसन्न है, पांडवो की मृत्यु की चर्चा पर। जिस युधिष्ठिर ने इसे सदा अपना पिता ही माना। इसके किसी आदेश का उल्लंघन नहीं किया। केवल इसकी बात मान कर द्यूत के लिए बैठ गया और अपना सर्वस्व इसको सौंप गया, यह नीच उसकी मृत्यु का प्रस्ताव सुन कर इतना प्रसन्न हो रहा है। प्रसन्नता छिपाए नहीं छिपती इससे। बाछें खिली जा रही हैं।... अभी कोई इसे भीम की प्रतिज्ञा का स्मरण करा दे तो इसके प्राण छूटने लगेंगे। इसकी शारीरिक विकृति, क्या मानसिक विकृति मे बदल गई है ? क्यो चाहता है यह कि पांडव जीवित न रहें। अपने पुत्रों का कितना मोह है, और अपने भाई के पुत्रों का।... क्या यह इतनी सी बात भी नहीं समझता कि पांडवों के वध के प्रयत्न में इसके अपने पुत्र भी मारे जा सकते हैं।...

दुर्योधन अपने सिंहासन से उठ कर खडा हो गया और उल्लसित स्वर में बोला, "तुम्हारा कथन सत्य है मित्र अंगराज ! जब पापात्मा पांडव मारे जाएँगे, तो मैं प्रचुर धन से संपन्न होनेवाले राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान करूँगा। उसकी सफल संपन्नता पर तुम फिर इसी प्रकार मेरा अभिनन्दन करोगे।..." दुर्योधन ने आगे बढ कर कर्ण को अपने कंठ से लगा लिया, जैसे वह कर्ण न हो, दुर्योधन की विजयश्री हो।

और फिर दुर्योधन ने सभा में चारों ओर खड़े अपने भाइयों पर दृष्टि डाली, "कुरुकुल के राजकुमारो ! कब तक हम अपने शत्रुओं की कीर्ति सुन-सुन कर पीडित होते रहेंगे। कब तक हम उन्हें फलते-फूलते देख कर अपना ही रक्त पीते रहेंगे ? कब आएगा वह समय, जब हम पांडवों का वध कर, उनके शवों को अपने पैरों से रौदते हुए,महान् राजसूय का अनुष्ठान करेंगे।"

इससे पहले कि कोई कौरव कुछ कहता, कर्ण पुनः आगे बढ़ आया, "राजन् ! वह समय अब अधिक दूर नहीं है। पांडवों की सारी शक्ति अर्जुन की धनुर्विद्या में है। अर्जुन न हो तो पांडवों को तो तुम मृत ही समझो। वह मोटा भीम अपनी उस गदा से मेरे धनुष का सामना कैसे करेगा। युधिष्ठिर का शूल किसी का कुछ नहीं बिगाड सकता। नकुल, सहदेव तनिक सा कष्ट पा कर रो देनेवाले बालक हैं। मैं आज इस सभा में तुम्हारी जय की घोषणा करता हूँ। मै तुम्हारी जय के लिए उस अर्जुन का वध करूँगा। उसके प्रमाण स्वरूप मेरी यह प्रतिज्ञा सुनो। मैं कौरवों की इस राजसभा में सबके सम्मुख यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तक अर्जुन मेरे हाथों से मारा नहीं जाता, तब तक मै किसी से अपने ये चरण नहीं धुलवाऊँगा। तब तक जल में उत्पन्न किसी पदार्थ का सेवन नहीं करूँगा। तब तक आसुरव्रत धारण नहीं करूँगा। तब तक मैं किसी भी याचक को कुछ देने से मना नहीं करूँगा। ..."

लगा कि दुर्योधन के भाई मिल कर विक्षिप्त हो गए। वे सब उन्मादियों के समान चीत्कार कर रहे थे, जैसे उन्होंने वस्तुतः अपने सारे शत्रुओं को नष्ट कर डाला हो। सभाभवन युद्धक्षेत्र में परिणत हो गया लगता था।

भीष्म की इच्छा हुई कि वे अपना सिर पीट लें। यह कर्ण युद्ध का उन्माद फैला रहा था। युद्ध का कोई कारण हो या न हो, कोई लड़ना चाहे, न चाहे, यह युद्ध करवा कर रहेगा। क्यों ? क्योंकि वह दुर्योधन को प्रसन्न करना चाहता है। दुर्योधन, राजसूय करना चाहता है; और दुर्योधन की इच्छा संसार में सर्वोपरि है। उसके लिए युधिष्ठिर को मरना होगा। बिना उसके भाइयों का वध किए, ये युधिष्ठिर का वध नहीं कर सकते, इसलिए ये अन्य पांडवों का भी वध करेंगे। ... राजसूय ! राजसूय नाश का झंझावात है क्या, जिसके लिए कुरुकुल को अपनी बलि देनी ही होगी ... और यह बात न धृतराष्ट्र समझ रहा है, न दुर्योधन कि यह सूतपुत्र, पांडवो की नहीं, इनकी अपनी मृत्यु का प्रबध कर रहा है।...

सभा के पश्चात् दुर्योधन अपने भवन की ओर चला, तो उसने जयद्रथ को अपने रथ में अपने साथ बैठा लिया। उसके भाई तथा मित्र भी उसके ही भवन में चल रहे थे। वहॉं आपानक और भोज की व्यवस्था थी। ... वैष्णवी यज्ञ की समाप्ति पर सारे हस्तिनापुर में एक प्रर्व का सा वातावरण बन गया था। राजभवनों में तो उत्सव था ही, साधारण जन भी उस परिवेश का लाभ उठा रहे थे।... किंतु दुर्योधन को तो कर्ण की प्रतिज्ञा सुनने के पश्चात् से एक प्रकार का उन्माद हो गया था। ... वह राजसूय यज्ञ करना चाहता था, स्वयं को युधिष्ठिर के समकक्ष स्थापित करने के लिए। वह नहीं कर सका तो वैष्णवी यज्ञ किया। उसके मन

के किसी कोने में यह विचार नहीं था कि यज्ञों के करने से कर्ता को किसी प्रकार की कोई दैविक सहायता प्राप्त होती है।... किंतु कर्ण की प्रतिज्ञा तथा उससे उत्पन्न उन्माद से न जाने क्यों उसे लगने लगा था कि यह एक प्रकार की दैवी सहायता है, जो उसे इस यज्ञ के फलस्वरूप प्राप्त हुई है; और इसी सहायता से कर्ण की प्रतिज्ञा भी अवश्य ही सफलकाम होगी।...

दुर्योधन को यह भी लग रहा था कि आज जितनी योजनाएँ वह बना लेगा, उन सबको दैवी शक्तियों का बल मिलेगा।... किंतु बीच-बीच में उसके मन में इस विश्वास का विरोधी स्वर भी उठ रहा था। युधिष्ठिर ने भी तो राजसूय पूर्ण किया था, उसे क्यों नहीं मिली वह सहायता ? वह क्यों अपना राज्य गँवा कर अपने भाइयों सहित वन में बैठा है ? ... पर इस आपत्ति का समाधान उसके मन ने सहज ही खोज लिया था।... दैवी सहायता मिली तो थी उसको। उसके राजसूय के अवसर पर, भरी सभा में शिशुपाल जैसा योद्धा मारा गया था। किसी यज्ञ का फल आजीवन तो नहीं रह सकता न। अंततः तो उसके प्रभाव को नष्ट होना ही था... और कोई युधिष्ठिर के समान मूर्ख ही बना रहना चाहे, तो किसी भी यज्ञ का फल क्या कर सकता है। अपने राजसूय के अनुष्ठान में ही युधिष्ठिर ने जरासंध तथा शिशुपाल जैसे दो योद्धाओं को मार गिराया था। यदि दुर्योधन एक अर्जुन पर विजय पा लेगा, तो क्या असंभव घट जाएगा।...

"सुना है घोषयात्रा के अवसर पर तुम्हें बहुत अपमानित होना पड़ा दुर्योधन !" जयद्रथ ने उसकी ओर अन्वेषक दृष्टि से देखा।

"हाँ ! कुछ ऐसा ही हो गया।" दुर्योधन को आज के दिन यह प्रसंग प्रिय नहीं लगा; किंतु उसे एक प्रकार से संतोष भी हुआ कि जयद्रथ ने अपनी ओर से यह चर्चा आरंभ कर उसको अपने मनभावन विषय तक पहुँचने का मार्ग दे दिया था, "वस्तुतः हम पांडवों की चतुराई को समझ नहीं पाए थे।"

"पांडवो की चतुराई ?" जयद्रथ को कुछ आश्चर्य हुआ, "पांडव तो अपनी चतुराई के लिए कभी प्रसिद्ध नहीं रहे। वे लोग तो अपनी मूर्खताओं के लिए ही जाने जाते हैं।"

"कह तो ठीक ही रहे हो सिंधुराज ! किंतु इस बार उन्होंने चतुराई ही की थी। हम तो यह समझते रहे कि वे लोग वन में आरण्यकों के समान रह रहे हैं, साधना और तपस्या कर रहे हैं; और वे लोग अपने मित्रों के माध्यम से अपनी सुरक्षा का ही नहीं, उधर से आनेवाले लोगों पर आक्रमण करने का भी प्रबंध किए बैठे थे। हम तो अपनी सरलता में सीधे-सीधे विहार के लिए वहाँ जा पहुँचे; और उनके मित्र गंधर्व, अपनी पूरी सैनिक तैयारी के साथ वहाँ बैठे थे। हम वहाँ पहुँचे और उन्होंने हमें दबोच लिया।"

"तो तुम्हें चाहिए था कि हस्तिनापुर से सैनिक सहायता मँगाते, अथवा हस्तिनापुर लौट कर पूरी तैयारी से पांडवों पर आक्रमण करते।" जयद्रथ बोला, "हमें संदेश भिजवाते। हम अपनी सेना ले कर आते। हम भी देखते कि पांडवों के ऐसे कौन से मित्र हैं, जो सम्मुख युद्ध में हमारा सामना कर सकते हैं।"

"मैं तो कब से कह रहा हूँ कि हमें पांडवों पर आक्रमण कर उन्हें मृत्यु के घाट उतार देना चाहिए; किंतु वह सब संभव नहीं है।" दुर्योधन ने कहा।

"क्यों ? संभव क्यों नहीं है ?" जयद्रथ ने कुछ उत्तेजित स्वर में पूछा, "क्या उन्हें स्वयं से अधिक वीर अथवा शक्तिशाली मानते हो ?"

"नहीं ! वह सब नहीं है।" दुर्योधन धीरे से बोला, "हस्तिनापुर में ही सारे कुलवृद्ध नहीं चाहते कि हम पांडवों को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाएँ। वे लोग तो हमें पांडवों के निकट भी नहीं जाने देते। वह तो हमने ही घोषयात्रा का बहाना बनाया और द्वैतवन पहुँच गए। यदि प्रकट रूप से मैं पांडवों के विरुद्ध सैनिक अभियान करना चाहूँ, तो महाराज ही मुझे उसकी अनुमति नहीं देंगे। उनसे अनुमति ले लूँगा तो मुझे भय है कि पितामह, आचार्य द्रोण तथा कृपाचार्य अपने शस्त्र ले कर मेरे विरुद्ध खड़े हो जाएँगे।"

"हुं !" जयद्रथ बोला, "पर क्या यह संभव नहीं कि कुलवृद्धों को बिना बताए, सेना इस अभियान पर जाए ?"

"पहली बात तो यह है कि हस्तिनापुर में सैनिक अधिकार मेरे पास नहीं हैं। मैं जो कुछ भी कर पाता हूँ, वह कोष के बल पर ही करता हूँ। सेनाएँ आचार्य द्रोण की आज्ञा से चलती हैं, या फिर राजा के रूप में पिताजी यह आदेश दे सकते है।" दुर्योधन बोला, "और यह कैसे संभव है कि हस्तिनापुर से सेना प्रयाण करे और हस्तिनापुर के ही लोगों को उसकी सूचना न हो ?" दुर्योधन ने रुक कर जयद्रथ की ओर देखा, "एक यही समस्या नहीं है। यदि हम हस्तिनापुर से निकलें तो हम नहीं जानते हैं कि पांडवों के किस मित्र की सेना कहाँ खडी है। उनके गुप्तचर कहाँ-कहाँ हैं। घोषयात्रा के समय क्या हम जानते थे कि गंधर्वो की सेना वहाँ खड़ी है।"

"तो तुम्हारे गुप्तचर क्या कर रहे हैं ?" जयद्रथ का स्वर कुछ कठोर हो गया था।

"वैसे तो मुझे कभी भी नहीं लगा कि मेरी गुप्तचर व्यवस्था बहुत उत्तम है; फिर भी मुझे सदा ही लगता रहा है कि हमें पांडवों की कोई सूचना मिले या न मिले, पांडवों को किसी भी प्रकार से हमारी सारी सूचनाएँ मिल जाती हैं।" दुर्योधन ने उत्तर दिया।

"तो क्या तुम्हारा विचार है कि पांडवों को पाठ पढ़ाने के लिए हम कुछ भी नहीं कर सकते ?"

"नहीं ! ऐसा तो नहीं है।" दुर्योधन बोला, "किंतु जो कुछ भी करना होगा, अत्यंत सावधानी से करना होगा।"

"क्या ?"

"सेना हस्तिनापुर से न जाए; क्योंकि यहाँ से सेना के निकलते ही, पांडव और उनके मित्र चौकन्ने हो जाएँगे।" दुर्योधन बोला, "सेना किसी और राज्य से, किसी और दिशा से चले। जहाँ से भी चले, उसका प्रयोजन युद्ध से कुछ इतर दिखाई पड़े। वह किसी अन्य प्रयोजन से किसी अन्य दिशा में जाती हुई प्रतीत हो, ताकि पांडवों और उनके मित्रों को यह आभास भी न हो पाए कि वह सेना किस प्रयोजन से किस ओर जा रही है।" दुर्योधन ने जयद्रथ की ओर देखा, "मेरी बात समझ रहे हो सिंधुराज !"

जयद्रथ के अधरों पर एक कूट मुस्कान जागी, "सब समझता हूँ मैं युवराज। निश्चिंत रहो। तुम्हारी यह योजना अवश्य ही सफल हो कर रहेगी।"

19

सभा से बाहर आते हुए, सीढ़ियों पर भीष्म को विदुर मिल गए। भीष्म ने उनकी ओर भुजा बढाई तो विदुर निकट आ गए। भीष्म ने अपनी भुजा उनके कंधे पर रख दी।

विदुर सावधान हो गए। पितृव्य को सीढ़ियाँ उतरने के लिए भी सहारे की आवश्यकता पडने लगी क्या ?

"कोई कष्ट है पितृव्य ?" उन्होंने भीष्म को सहारा दिया।

"कष्ट तो बहुत है।" भीष्म के अधरों पर पीड़ा भी थी और मुस्कान भी, "कितु शारीरिक कष्ट नहीं, जो तुम समझ रहे हो।"

"तो ?" विदुर सीढियाँ उतरते रहे।

"क्या हो रहा है कुरुकुल में ?" भीष्म बोले, "राजसभा है अथवा अपराधकर्मियो का अड्डा ?"

विदुर ने अपने आस-पास देखा,कदाचित् पितृव्य कोई विशेष बात करना चाहते थे।

पर भीष्म ने अपनी बात आगे नहीं चलाई। बोले, "विदुर तुम बहुत दिनों से मेरे घर नहीं आए। आज चलो। थोडी चर्चा करेंगे। देखता हूँ कि कुरु साम्राज्य का महामंत्री क्या सोचता है।"

"जैसी आपकी इच्छा।"

वे लोग सीढियों के नीचे पहुँचे तो दोनो के सारथि उनके रथ ले आए।

"तुम जाओ आयुष्मान !" विदुर ने अपने सारथि से कहा, "मै पितृव्य के साथ उनके निवास पर जा रहा हूँ। थोड़ी देर में लौट आऊँगा। तुम्हें वहाँ आने की आवश्यकता नहीं है।"

वे दोनों भीष्म के रथ में बैठ गए। रथ चल पडा।

"आज जैसे तुमने समझा विदुर ! कि मैं दुर्बल हो गया हूँ और मुझे सहारे की आवश्यकता है, वैसे ही दुर्योधन भी समझता है। अंतर केवल यह है कि तुम मुझे सहारा देने आए और दुर्योधन मेरे गिरने की प्रतीक्षा कर रहा है।" भीष्म बोले, "किंतु प्रभु की कृपा है कि मैं शारीरिक रूप से पूर्णतः समर्थ हूँ; किंतु लगता है कि मानसिक पीड़ा से मैं विक्षिप्त हो जाऊँगा।" भीष्म ने रुक कर विदुर की ओर देखा, "आज सभा में जो कुछ हुआ, उसका क्या अर्थ है ?"

"जहाँ तक मैं समझता हूँ पितृव्य ! दुर्योधन बहुत स्पष्ट रूप से अपनी नीति की घोषणा कर रहा है कि बारह वर्षो के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास के पश्चात् जब पांडव लौटेंगें तो दुर्योधन उनको उनका राज्य नहीं लौटाएगा।"

"पर क्या किसी ने पूछा कि वह क्यों नहीं लौटाएगा ?" भीष्म बोले, "कुरुओं की जिस सभा में सदा धर्म की चर्चा होती थी, उस सभा में आज किसी ने नहीं पूछा कि द्यूत की प्रतिज्ञा के अनुसार पांडव जब तेरह वर्षो का निष्कासन पूरा करके लौटेंगे, तो दुर्योधन अपने वचन का पालन क्यों नहीं करेगा। उनका राज्य उन्हें क्यों नहीं लौटाएगा ? कर्ण ने अर्जुन के वध की प्रतिज्ञा क्यों की ? क्या औचित्य है अर्जुन के वध का ? उसने कौन-सा अपराध किया है कुरु साम्राज्य का, दुर्योधन का अथवा कर्ण का ? ये लोग योद्धा हैं अथवा हत्यारे ? केवल अपनी ईर्ष्या के कारण एक व्यक्ति राजसभा में दूसरे के वध की प्रतिज्ञा करता है और कोई उससे यह नहीं पूछता कि उसे किसी के वध का क्या अधिकार है, क्योंकि राजा की रुचि इसमें है कि वह हत्यारा अपनी प्रतिज्ञा पूरी करे।"

विदुर के मन में भी तब से यही प्रश्न उमड़-घुमड़ रहा था। बोले, "मैं भी यही सोच रहा था पितृव्य ! कि यह राजसभा है अथवा दस्युओं की बैठक ? युवराज यह घोषणा कर रहा है कि वह संधि की प्रतिज्ञा पूरी नहीं करेगा, और उसके मित्र तथा भाई प्रसन्नता से इतना कोलाहल करते हैं कि और कोई बोल ही नहीं पाता। राजा प्रसन्नतापूर्वक युवराज का समर्थन करता है, तो ऐसे में कोई सभासद बोलेगा भी क्या। यह तो साम्राज्य की नीति हो गई। जो राजा स्वयं दूसरों का स्वत्व छीन रहा हो, वह किसी और को न्याय के नाम पर उसका स्वत्व कैसे दिला सकता है ?"

"मैं कई बार सोचता हूँ विदुर !..."

रथ रुक गया। वे लोग अपने गंतव्य पर पहुँच चुके थे।

भवन के भीतर आकर भीष्म जब अपने आसन पर बैठ गए तो विदुर ने पूछा, "आप कई बार क्या सोचते हैं पितृव्य ?"

"कई बार सोचता हूँ कि जिन लोगों को अपने अपराधों के लिए या तो राज्य से निष्कासित होना चाहिए था अथवा कारागार में बंदी का जीवन व्यतीत करना चाहिए था, वे लोग राजसभा और राजसिंहासन पर आधिपत्य जमाए कैसे बैठे हैं ?"

विदुर के मन में जैसे स्फूर्ति जागी : भीष्म ने यह वाक्य अकस्मात् ही नहीं कह दिया था। यह तो बहुत सुचिंतित तथा सुविचारित वाक्य लगता था।

"पर धृतराष्ट्र को राज्य तो आपने ही दिया है।" विदुर ने कहा।

"ऊपर से देखने पर तो यही लगता है।" भीष्म बोले, "किंतु मैंने न कभी धृतराष्ट्र को राजा बनने के योग्य समझा और न कभी राजा बनाया। धृतराष्ट्र ने अपने षड्यंत्रों से इस राज्य पर अपना आधिपत्य जमाया है। जिस प्रकार षड्यंत्र कर उसने पांडु को हस्तिनापुर से दूर रख कर सिंहासन पाया था, वैसे ही उसने पांडु के पुत्रों को भी वन भेज दिया है और अब धृतराष्ट्र का पुत्र यह घोषणा कर रहा कि वह न केवल उनका राज्य लौटाएगा नहीं, वरन् उनका वध भी करेगा। यह विचित्र लीला है कि पांडव तो धर्म पर चलें और दंडित हों; किंतु धार्तराष्ट्र सदा ही अधर्म करें और भोग सुख पाएँ।"

"आप इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकते पितृव्य ?"

भीष्म चिंतामग्न मौन बैठे रहे।

"आप इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकते पितृव्य ?" विदुर ने पुनः पूछा।

"कई बार सोचा है मैंने।" भीष्म बोले, "पर कैसा हस्तक्षेप ? पितृव्य अथवा पितामह के रूप में ? कुरुवृद्ध के रूप में ? राज सभासद के रूप में ? जब कभी मैंने दुर्योधन को परामर्श दिया है, उसने न केवल उसको अस्वीकार किया है, वरन् मेरा अनादर और अपमान भी किया है। वे पिता पुत्र, मुझसे केवल समर्थन चाहते हैं। अपने मत के विरुद्ध दिए गए किसी परामर्श को मानने को वे प्रस्तुत नहीं हैं, और न ही हम उन्हें उसके लिए बाध्य कर सकते हैं। द्यूतसभा मे तुमने दोनों हाथ उठा-उठा कर दुहाई दी, धृतराष्ट्र से बार-बार द्यूत रुकवाने के लिए कहा। एक भी मानी उसने तुम्हारी ?"

"नहीं पितृव्य।"

"जिस प्रकार तुम असहाय हो, उसी प्रकार मैं भी असहाय हो चुका हूँ।" भीष्म बोले, "अब, यदि मैं राजा की नीति से सहमत नहीं हूँ तो क्या विकल्प है मेरे पास ? हस्तिनापुर छोड कर चला जाऊँ ?"

"नहीं । उससे क्या लाभ होगा ?" विदुर बोले, "उस दृष्टि से तो मुझे आपसे भी पहले हस्तिनापुर ही नहीं धृतराष्ट्र का राज्य छोड़ कर कहीं चले जाना

चाहिए। मैं इस राज्य का महामंत्री होते हुए भी, राजा से असहमत हो कर, पद छोड़ कर जाना नहीं चाहता, क्योंकि उससे तो राजसभा में विरोधी स्वर पूर्णतः मौन हो जाएगा। तब तो यह कहनेवाला भी कोई नहीं रह जाएगा कि वे लोग अन्याय कर रहे हैं।"

"तुममें और मुझमें एक ही अंतर है विदुर ! कि तुम शस्त्र नहीं उठा सकते और मैं बलप्रयोग भी कर सकता हूँ। वृद्ध अवश्य हो गया हूँ; किंतु जहॉ तक युद्ध करने का प्रश्न है, अपने सारे दिव्य शस्त्रास्त्रों के होते हुए भी युधिष्ठिर और दुर्योधन के पक्ष के सारे योद्धा मुझे परास्त करने में असफल रहेंगे। हाँ! श्रीकृष्ण अपवाद हैं।" भीष्म बोले, "मैं जानता हूँ कि बहुत सारे लोग यह मानते हैं कि दुर्योधन मेरी शक्ति पर आश्रित हो कर अन्याय कर रहा है, पर यह सत्य नहीं है। मेरी प्रतिज्ञा सारे कुरुवंश की रक्षा की है। दुर्योधन की रक्षा मैं कर सकता हूँ; किंतु उसकी इच्छा से मैं किसी प्रकार का अन्याय करने नहीं चल पड़ूँगा। उसकी दुष्टता में मैं उसका सहायक नहीं हूँ। यह सब कुछ वह कर्ण के बल पर कर रहा है।"

"यदि आप आज भी इतने समर्थ हैं तो आप दुर्योधन को रोकते क्यों नहीं हैं ?" विदुर के वचन में जिज्ञासा नहीं प्रस्ताव का सा भाव था।

"बलपूर्वक ?"

"न सही बलपूर्वक।" विदुर बोले, "असहयोगपूर्वक।"

भीष्म हँसे, "उसके कामों में कहीं तुम्हें मेरा सहयोग दिखाई पड़ता है ? असहयोग ही तो कर रहा हूँ। बस हस्तिनापुर छोड कर नहीं गया। छोड जाऊँ, तो वह और भी स्वतंत्र हो जाएगा।"

"तो बलपूर्वक ही सही।" विदुर ने कहा।

"बलपूर्वक का अर्थ यह नहीं है कि मैं दुर्योधन की भुजा पकड़कर मरोड़ दूँ।" भीष्म हँसे, "उसका अर्थ है शस्त्रप्रयोग। तुम समझते हो कि यदि मैं शस्त्र उठाऊँगा तो दुर्योधन और उसके संगी-साथी, उसके ये सहयोगी, शस्त्र नहीं उठाएँगे ? कर्ण चुपचाप बैठा रहेगा ? दुर्योधन और दुःशासन कुछ नहीं करेंगे। शकुनि और जयद्रथ निष्क्रिय रहेंगे ? किस-किसका नाम गिनाऊँ विदुर ! शस्त्र उठाने का अर्थ है, सारी राजसत्ता को चुनौती। सेना में विभाजन होगा। निष्ठाओं का परीक्षण होगा। हस्तिनापुर युद्धक्षेत्र बन जाएगा। संभव है कि मैं अपने लक्ष्य में सफल हो जाऊँ, किंतु किस मूल्य पर ? कुरुवंश को नष्ट करके। और मैं तो कुरुकुल का रक्षक हूँ। मैं उसको नष्ट कैसे कर सकता हूँ।"

"तो फिर क्या करेंगे आप ? मौन बैठे दुर्योधन का सारा अत्याचार देखते रहेंगे ?" विदुर के स्वर में आवेश था, "पांडवों को दुर्योधन के हाथों मर जाने देंगे ? द्यूतसभा की घटनाओं की पुनरावृत्ति देखेंगे। पांडवों को दास बनते और

पांचाली को निर्वस्त्र होते देखेंगे ?"

"विदुर !" भीष्म उठ कर खड़े हो गए, "यदि मेरे जीवित रहते, दुर्योधन जैसे अधर्मी को प्राणों का कोई भय नहीं है, तो धर्म के स्तंभ पांडवो को कोई भय कैसे हो सकता है ?"

"क्या ?" विदुर कुछ चौंक गए।

"हाँ !" भीष्म बोले, "मैं धृतराष्ट्र के ही नहीं पांडु के पुत्रों का भी रक्षक हूँ। मेरे जीते जी दुर्योधन पांडवों का वध नहीं कर सकता। मेरे अज्ञान में उसने पांडवों के वध के प्रयत्न किए हैं। वह सब मुझे ज्ञात नहीं था। मैं उन्हें छोटे बालक समझता रहा और कभी कल्पना भी नहीं कर सका कि वह सब संभव था; किंतु युद्ध की स्थिति मे वह सब संभव नहीं है। पांडवों के वध के प्रयत्न के लिए यदि मैं दुर्योधन को मृत्यु दंड नहीं दे सका, क्योंकि वह मेरा रक्षणीय है, तो मैं उसके हाथों पांडवों को भी मरने नहीं दूँगा, क्योंकि वे भी मेरे रक्षणीय हैं।"

भीष्म मौन हो कर अपने आसन पर बैठ गए।

"मेरी विडंबना आज तक यही है कि मैं मध्यस्थ हूँ। इन दोनों पक्षो के बीच में स्थित हूँ। किसी एक का पक्ष ले कर दूसरे का शत्रु नहीं हो सकता। न मैं स्वयं उनमें से किसी का वध कर सकता हूँ, न उनमें से किसी एक को दूसरे का वध करते देख सकता हूँ।" भीष्म बोले, "भय केवल यही है कि कहीं इस द्वंद्व में मैं दोनों को ही नष्ट होता न देखूँ।..."

विदुर के पास भी भीष्म के इस द्वंद्व का कोई समाधान नहीं था। वे क्या कहते, मौन बैठे रहे।

"कुंती कैसी है ?" सहसा भीष्म ने पूछा, "वह बेचारी जाने कैसे अपने पुत्रों के शत्रुओं के नगर में अपने दिन काट रही है।"

"वे ठीक ही हैं।" विदुर बोले, "मैंने कुंती भाभी को शायद ही कभी हताश होते देखा हो, और अब तो बारह वर्ष पूरे होने जा रहे हैं।"

"बहुत धैर्य है कुंती में। धैर्य ही क्यों, साहस भी है और सहिष्णुता भी।" भीष्म बोले, "नहीं तो कोई अन्य स्त्री इस प्रकार सब कुछ जानते-बूझते, दुर्योधन और उसके परिवार से मिलना-जुलना रख सकती थी।"

"अब तो मुझे लगने लगा है पितृव्य !" विदुर बोले, "कि दुर्योधन के अंतःपुर में कुंती भाभी का पर्याप्त सम्मान है।"

"किसके मन में ? दुर्योधन की पत्नियों के मन में ?"

"हाँ आर्य !"

"आश्चर्य है।" सहसा भीष्म ने विषय बदला, "तुम्हें क्या लगता है विदुर ! पांडव जब अज्ञातवास से लौट कर आएँगे, और दुर्योधन उनको उनका राज्य

नहीं लौटाएगा, तो क्या उन दोनों में युद्ध होगा ?"

"क्या कहा जा सकता है पितृव्य ! अभी तो उनका अज्ञातवास शेष है। मुझे तो भय यह है कि कहीं अज्ञातवास में दुर्योधन ने पांडवों को खोज निकाला तो उन बेचारों को पुनः तेरह वर्षो का निष्कासन हो जाएगा। दुर्योधन कितना भी अधर्म पर चले, युधिष्ठिर अपना धर्म नहीं छोड़ेगा। वह अपनी प्रतिज्ञा भंग नहीं करेगा।"

"यह भी संभव है, किंतु यदि पांडव सारी प्रतिज्ञाओं को पूर्ण कर लौट आए तो क्या होगा?" भीष्म बोले।

"यदि वे अपनी प्रतिज्ञा सफलतापूर्वक पूर्ण कर लौट आए तो अपना राज्य तो वे वापस माँगेंगे ही; और यह भी निश्चित है कि दुर्योधन उनका राज्य नहीं लौटाएगा।" विदुर बोले, "तो फिर युधिष्ठिर के पास सिवाय युद्ध के और मार्ग ही कौन-सा बच जाएगा।"

"किसी प्रकार की कोई संधि।" भीष्म बोले, "पहले भी तो एक बार युधिष्ठिर खांडवप्रस्थ ले कर शांत हो गया था।"

विदुर ने कुछ आश्चर्य से भीष्म की ओर देखा, "आप चाहते हैं कि शांति बनाए रखने के लिए युधिष्ठिर अपना अधिकार छोड़ दे ?"

"मैं ऐसी कामना नहीं करता," भीष्म बोले, "किंतु कई बार सोचता हूँ कि मानवता को एक भयंकर युद्ध से बचाने के लिए क्या ऐसा संभव नहीं है कि पांडव थोड़ा कष्ट और सह लें।"

विदुर को इस संभावना के विषय में सोचने में भी कष्ट हो रहा था, फिर भी बोले, "जितना मैं युधिष्ठिर को जानता हूँ, वह इस बात के लिए भी तैयार हो सकता है। शांति बनाए रखने के लिए वह अपना राज्य छोड कर सदा के लिए भी वनवास कर सकता है; किंतु भीम यह कदापि स्वीकार नहीं करेगा। ऐसी स्थिति में भीम, युधिष्ठिर से विद्रोह भी कर सकता है। और पितृव्य ! यदि कहीं भीम युधिष्ठिर के अनुशासन से मुक्त हो गया, तो वह दुर्योधन के लिए और भी भयंकर होगा। उसकी प्रतिज्ञाएँ स्मरण हैं न आपको ?" विदुर ने रुक कर भीष्म की ओर देखा, "आप एक बात की ओर और ध्यान दें पितृव्य !"

"क्या ?"

"यदि युधिष्ठिर सब कुछ त्याग कर वनवास करने भी चला जाए, तो दुर्योधन उसे वहाँ भी जीवित रहने नहीं देगा। वह तब तक उनका पीछा नहीं छोड़ेगा, जब तक उनके प्राण ही नहीं ले लेगा।"

"मैं कदापि नहीं चाहता कि पांडवों को उनका अधिकार न मिले, अथवा दुर्योधन उनकी हत्या करने में सफल हो जाए; किंतु मैं यह अवश्य चाहता हूँ कि कुरुकुल किसी भी प्रकार इस गृह युद्ध से बचा रहे।" भीष्म बोले।

"एक प्रश्न मेरे मन में भी है पितृव्य !"

"पूछो विदुर !"

"यह निश्चित है कि अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर पांडव हस्तिनापुर मे आकर अपना राज्य माँगेंगे।" विदुर बोले, "यह भी निश्चित है कि दुर्योधन उनको उनका राज्य नहीं लौटाएगा। ऐसे में युद्ध अनिवार्य हो जाएगा।"

"संभवतः यही होना है।" भीष्म प्रसन्न नहीं थे।

"आज दुर्योधन आपका अनादर और अपमान कर रहा है; किंतु युद्ध की स्थिति में, वह आपके चरण पकड़ेगा। वह चाहेगा कि आप उसकी सेना मे सम्मिलित हों। संभव है कि युधिष्ठिर भी आपके पास सहायता के लिए आए। ऐसी स्थिति में आपका क्या निर्णय होगा ?"

"मेरा मन टटोल रहे हो ?" भीष्म ने हँसने का प्रयत्न किया।

"यही समझ लीजिए।" विदुर बोले, "यह स्थिति न आकस्मिक है, न अस्वाभाविक।"

"मैंने कहा न, कि मैं मध्यस्थ हूँ। इसलिए ऐसी स्थिति से डरता हूँ, जिस में मुझे अपनी समग्रता को खंडित कर किसी एक पक्ष में सीमित करना पडे।"

"पितृव्य ! मैं भी नहीं चाहता कि ऐसी स्थिति आए; किंतु आज राजसभा में जो कुछ हुआ है, उससे इस प्रश्न की संभावना बढ़ गई है।" विदुर बोले, "आप हस्तिनापुर के राजतंत्र के अंग हैं। इसलिए राजा की ओर से तो आपसे यही अपेक्षा होगी कि आप हस्तिनापुर की सेना के ही अंग हों। यदि आप मध्यस्थ होने के नाते किसी एक पक्ष से न लड़ना चाहें और मध्यस्थ के स्थान पर तटस्थ हो जाएँ, तो इसे राजद्रोह भी माना जा सकता है। प्रश्न यह भी है कि आप स्वयं को इस राजतंत्र से कितना स्वतंत्र मानते हैं ?"

"यह सब कुछ संभव है विदुर !" भीष्म बोले, "किंतु फिर भी अभी वह स्थिति आई नहीं है। इसलिए इन सारे प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर देना संभव नहीं है। हाँ ! मेरे मन में इतना तो स्पष्ट है कि मैं हस्तिनापुर के राजपरिवार का अंग हूँ। राज्य मेरा भरण-पोषण करता है, इसमें भी कोई संदेह नहीं है; किंतु मैं राजा का कर्मचारी हूँ, इस स्थिति को मैं स्वीकार नहीं करूँगा। मैं हस्तिनापुर के राजतंत्र का अंग हूँ, अतः हस्तिनापुर और उसके राजपरिवार की रक्षा मेरा दायित्व है, किंतु मैं यह स्वीकार नहीं करूँगा कि हस्तिनापुर का राजा, मुझे मेरी इच्छा के विरुद्ध युद्ध करने को बाध्य कर सकता है। ... और तुम्हारा अंतिम प्रश्न !... इस विषय में मैं सबसे अधिक स्पष्ट हूँ कि मैं मध्यस्थ हूँ, मध्यस्थ ही रहूँगा। मैं उन दोनों को परस्पर युद्ध करने को उन्मुक्त छोड़ कर तटस्थ नहीं हो सकता।" भीष्म ने रुक कर विदुर की ओर देखा, "मुझे यह निश्चय नहीं करना है कि युद्ध की स्थिति में मुझे किसका पक्ष लेना है, मुझे यह प्रयत्न करना

है कि युद्ध की स्थिति ही न आए।"

"निश्चित रूप से हम सबका वही प्रयत्न है।" विदुर उठ खडे हुए, "अच्छा मै चलता हूँ पितृव्य !"

"जाओ।" और भीष्म की मुद्रा कुछ बदल गई, "किसी भी प्रकार, युधिष्ठिर के पास कर्ण की प्रतिज्ञा का समाचार भिजवा दो। उन्हें सावधान रहना चाहिए और अर्जुन की रक्षा का विशेष ध्यान रखना चाहिए।"

विदुर अपने घर पहुँचे, तो पारंसवी ही सबसे पहले सामने पड गई, "पितृव्य के साथ चले गए थे ? कोई विशेष बात ?"

"पितृव्य के घर जाने में क्या विशेष बात हो सकती है। राज-काज की सहस्रों बातें होती ही रहती हैं।" विदुर बोले, "भाभी कहाँ हैं ?"

"उस ओर पीछे गंगा तट पर बैठी है। बुलाऊँ क्या ?"

"नहीं बुलाना क्या है। थोडा विश्राम कर लूँ, तब तक तो वे स्वयं ही आ जाएँगी।"

"विश्राम तो नहीं कर पाएँगे आप।" पारंसवी हँसी, "प्रातः ही आपका एक पाहुना आ गया है। वह पर्याप्त विश्राम कर चुका है अब तक। पहले उससे चर्चा कर लें; और तब तक यदि भाभी गंगा तट से न लौटें, तो विश्राम कर लीजिएगा।"

"कौन है ?"

"कहता है कि आपका कोई पुराना परिचित है। अपना नाम समंग बताता है।"

"समंग !" विदुर को वह ग्वाला स्मरण हो आया, जो दो बार राजसभा में आ चुका था, "वह यहाँ क्या करने आया है। वह तो दुर्योधन और कर्ण का प्रिय व्यक्ति है।"

"यह सब तो आप ही जानें।" पारंसवी बोली, "संभव है, अब उसने दल बदल लिया हो; और आपका प्रिय व्यक्ति बनना चाहता हो। राजनीति में तो कुछ भी संभव है।"

विदुर समझ गए कि पारंसवी उसको झेलते-झेलते अब तक काफी खीझ चुकी होगी। है भी तो वह भयंकर दुष्ट। चिपक जाता है तो चिपक ही जाता है। उससे तो उनको ही निबटना पड़ेगा।

वे वहाँ आए, जहाँ पारंसवी ने समंग को बैठा रखा था। ... हाँ ! यह वही व्यक्ति था।

उसे पहचानने में वे भूल नहीं कर सकते थे। किंतु अब वह पहले जैसा नहीं लग रहा था। थोड़े से ही समय में बहुत बदल गया लगता था। पहले से

बहुत दुर्बल प्रतीत हो रहा था। अस्वस्थ हो गया था क्या ?

विदुर को आते देख कर समंग अपने स्थान से उठ बैठा और दौड़कर सीधे उनके चरणों में लोट ही गया।

"अरे, अरे, क्या कर रहे हो !" विदुर बोले, "उठो। अपनी बात कहो।"

समंग उठा, तो विदुर ने देखा कि उसकी आँखों में अश्रु थे। नहीं ! वह चाहे कितना भी पाखंडी क्यों न हो, किंतु ये अश्रु झूठे नहीं हो सकते। वह इतना नाटक नहीं कर सकता। वह अवश्य ही बहुत दुखी होगा।

"क्या बात है समंग !"

"आर्य मैं अपना दुखड़ा रोने आया हूँ।" उसने स्वयं को सँभालने का प्रयत्न किया।

"बोलो ! विदुर आज तक यहाँ इसीलिए बैठा है कि यदि किसी दुखी व्यक्ति की वह कोई सहायता कर सके तो अवश्य करे।"

"आपको ज्ञात ही है महामंत्री ! कि मैं युवराज को आमंत्रित कर द्वैतवन ले गया था।"

"ज्ञात है।"

"पर आपको यह ज्ञात नहीं है कि उसके पश्चात् क्या हुआ।" उसने अपनी कथा आरंभ की, "युवराज अपने दलबल के साथ द्वैतवन में आए और सब कुछ उजाड़ कर चले गए।"

"अर्थात् ?"

"युवराज के सार्थ के पास इतना वैभव था, जिसकी कल्पना भी कभी मेरे बच्चों ने नहीं की थी। परिणाम यह हुआ कि मेरी पुत्री को एक अधेड़ मुच्छड सैनिक से प्रेम हो गया और वह उससे विवाह करने के लिए उसके साथ चली गई।" समंग ने बताया, "कहती तो वह यही रही कि उसे उससे प्रेम हो गया है; किंतु मैं जानता हूँ कि उसे उस सैनिक ने कुछ आभूषण इत्यादि दिखाकर लुभा लिया था..."

"तुम यह कैसे कह सकते हो ?" विदुर ने पूछा, "संभव है कि उन दोनों को वस्तुतः प्रेम हो गया हो।"

"मान लेता हूँ कि उनको वस्तुतः इतना प्रेम हो गया था कि वे दो दिन भी प्रतीक्षा नहीं कर पाए और मेरी पुत्री बिना विवाह कराए ही उसके साथ चली गई। कह गई कि उसने उसके साथ गांधर्व विवाह कर लिया है।" समंग बोला, "तब से अब तक वह कभी लौट कर हमसे मिलने नहीं आई, न ही उसका कभी कोई संदेश अथवा कोई पत्र ही आया। प्रेम ही हुआ था। बहुतों को होता है। पर... कोई अपने माता-पिता के साथ ऐसा व्यवहार तो नहीं करता।"

वह विदुर की प्रतिक्रिया जानने के लिए रुका, किंतु विदुर कुछ नहीं बोले।

"दूसरी ओर मेरे पुत्र को एक वणिक की समृद्धि ने लुब्ध कर लिया और वह अपनी पत्नी को साथ ले कर, यह कह कर चला गया कि वह उस वणिक के आपण में चाकरी करेगा, वन में ऐसा क्या रखा था, जिसके लिए वह वहाँ पड़ा रहे।" समंग बोला, "वह भी चला गया। बहू भी चली गई। और पीछे रह गया मैं, अपनी पत्नी के साथ। कुछ दिन तो वह मुझसे लड़ती-झगड़ती रही, बकती-झकती रही; और फिर एकदम विक्षिप्त हो गई। मुझे घर में टिकने ही नहीं देती, हर समय धकियाती रहती, 'जाओ, मेरे बच्चों को लाओ। तुमने ही राजा को बुला कर मेरे बच्चे उन्हें सौंप दिए हैं।' मेरे पास अब कोई विकल्प नहीं था कि मैं उन्हें खोजने के लिए हस्तिनापुर आता। मेरा अपना मन भी उनके बिना बहुत दुखी है, और फिर संभव है कि अपने बच्चों को देख कर मेरी बुढ़िया का मन कुछ संतुलित हो जाता।"

"तो तुम अपने बच्चों को खोजने हस्तिनापुर आए हो ?"

"हाँ। आर्य !"

"पत्नी को कहाँ छोड़ आए ?"

"वह भी साथ आई है।" समंग बोला।

"कोई मिला ?"

"पुत्री का तो कोई पता नहीं मिला। वह सैनिक भी जाने कहाँ चला गया। उसके कुछ संगी मिले थे, उन्होंने बताया कि वह तो सेना की चाकरी छोड गया है और हस्तिनापुर में नहीं है।" समंग बोला, "हाँ। पुत्र और पुत्रवधू का पता मिल गया है।"

"कहाँ हैं वे लोग ?"

"यहीं हैं, हस्तिनापुर में। पुत्र एक श्रेष्ठी के पास उसके आपण में चाकरी करता है और पुत्रवधू, दासीवत् जिसका जो काम कर सकती है, कर देती है। कुछ धन पा जाती है। एक कोठरी में रहते हैं, घोर दरिद्रता की स्थिति में। मैंने कहा कि घर लौट चलो। उनकी माँ भी बहुत रोई, गिड़गिड़ाई। पर वे कुछ सुनते ही नहीं हैं। उन्हें अपनी माँ की स्थिति पर भी दया नहीं आती। कहते हैं, वहाँ वन में जाकर वे अपना जीवन नष्ट करना नहीं चाहते। मैंने धमकाया कि मैं राजा के पास गुहार करूँगा और उन्हें दंडधरों की सहायता से बँधवा कर अपने साथ ले जाऊँगा। वे मेरी संतान हैं, मेरी इच्छा के विरुद्ध नहीं चल सकते। पुत्र तो मौन रहा; किंतु पुत्रवधू ने कहा कि यदि मैंने ऐसा कुछ किया तो वह वन के किसी वृक्ष से लटककर आत्महत्या कर लेगी। न तो हस्तिनापुर का वैभव छोड़ कर वन में रहेगी, न अपनी इस विक्षिप्त वृद्धा सास के साथ हस्तिनापुर में रहेगी। ... पता नहीं हस्तिनापुर में उसका कौन-सा वैभव है।"

"तो तुम मेरे पास क्या करने आए हो ?" विदुर ने पूछा।

"मेरी सहायता करे महामंत्री।

"बोलो, क्या सहायता करूँ।" विदुर बोले, "अपनी इच्छा से वे तुम्हारे साथ जाएँगे नहीं और राजशक्ति की सहायता तुम लेना नहीं चाहते।"

"मेरे लिए हस्तिनापुर में रहने की कोई व्यवस्था कर दें। यहाँ रह कर हम कभी-कभी अपने बच्चों को देख सकेंगे और संभव है कि मेरी पत्नी का कोई उपचार हो सके।"

"तुम अपनी पुरानी माँग ले कर आए हो।" विदुर मुस्कराए, "तुम बहुत हठी हो समंग।"

"नहीं आर्य ! वह बात तनिक भी नहीं है। मै तो आपका आश्रय चाहता हूँ।"

"अपने पुत्र के साथ नहीं रह सकते ?"

"उसके पास न स्थान है, न धन। और फिर साथ रहने पर उसकी पत्नी आत्महत्या तो यहाँ भी कर सकती है। न हस्तिनापुर में वृक्षो की कमी है, न गगा में जल की।"

"तुमने कर्ण और दुर्योधन के कहने पर वह सब नाटक किया था—गो-गणना का। तो उनके पास ही क्यों नहीं जाते ?" विदुर बोले, "क्या वे तुम्हारी कोई सहायता नहीं करेंगे ?"

"युवराज के दर्शन करने गया था। उनके सैनिकों ने पीट-पीट कर मुझे मार्ग पर फेक दिया।" उसने बताया, "फिर अंगराज के पास भी गया था। वे नहीं चाहते कि मैं हस्तिनापुर में कहीं दिखाई भी पड़ूँ। बोले कि मैं युवराज के एक भेद को प्रकट करने की धमकी दे रहा हूँ। ऐसे में यदि युवराज को क्रोध आ गया, तो मेरे प्राण ही चले जाएँगे।"

"यह उन्होंने तुम्हें तुम्हारी सहायता और राजभक्ति का पुरस्कार दिया है ?"

"नहीं आर्य ! यह भगवान ने मुझे मेरे लोभ और दुष्टता का दंड दिया है।" समंग की आँखों में अश्रु थे, "मैं पांडवों को पीडित कर सुखी होने चला था न ! यह उसी का दंड है।"

"समग ! आज राजसभा में कर्ण ने एक प्रतिज्ञा की है कि वह माँगे जाने पर याचक को कुछ भी मना नहीं करेगा। तुम चाहो तो उससे अब कोई भी सहायता माँग सकते हो।"

"संभव है, अब वे मना न करें, किंतु अब मैं उनसे कोई सहायता नहीं लूँगा। आप न कर देंगे, तो लौट जाऊँगा, उसके पश्चात् चाहे मेरी पत्नी उन्मादिनी ही हो जाए और मुझे कहीं डूब मरना पडे। अब और कहीं नहीं जाऊँगा।"

"यदि मैं तुम्हारे यहाँ रहने का प्रबंध कर दूँ, तो वन में दुर्योधन के गोधन

की रक्षा कौन करेगा ?"

"वह दायित्व तो मैंने छोड़ दिया है।" समंग ने बताया, "मुझसे स्वतंत्र हो कर शेष गोपवृंद प्रसन्न ही हैं।"

विदुर कुछ चिंतन करते रहे। फिर बोले, "अच्छा, जब तक तुम्हारी कोई और व्यवस्था नहीं हो जाती, मैं अपने आवास पर ही तुम्हारे रहने की व्यवस्था कर देता हूँ। देखो, अधिक उत्पात् मत करना, नहीं तो मेरी पत्नी भी अपने स्वामिनी के अधिकार का भरपूर प्रयोग करेगी।"

"नहीं आर्य ! मैं कुछ नहीं करूँगा। आपको कष्ट दूँ तो मुझ जैसा पापी और कौन होगा। आप तो देवता हैं आर्य। जो कुछ सुना था, आपको उससे भी बढ कर पाया।" वह विदुर के चरणों से लिपट गया।

विदुर ने समंग को एक सेवक को सौंपा और स्वयं आकर अपने कक्ष में बैठ गए। उनको आया देख, उनका निजी परिचारक आकर खड़ा हो गया।

"कोई अश्वारोही विश्वसनीय दूत उपस्थित है ?"

"द्वैतवन जाना है स्वामी ?"

"हॉ !"

"अभी तो स्वयं विशोक यहीं है।"

"तो उसी को बुलाओ।"

वह चला गया और थोड़ी ही देर में विशोक हाथ बॉधे उनके सम्मुख उपस्थित हो गया, "आज्ञा महामंत्री !"

"द्वैतवन लौट रहे हो ?"

"हॉ आर्य।"

"तो युधिष्ठिर को बताना कि आज राजसभा में कर्ण ने सार्वजनिक रूप में, अर्जुन के वध की प्रतिज्ञा की है। वे लोग सावधान रहें और अर्जुन की रक्षा करें।"

"जो आज्ञा आर्य !" विशोक प्रणाम कर चला गया।

20

सभा में कर्ण द्वारा की गई प्रतिज्ञा के विषय में विदुर ने कुंती को बता दिया था। कुंती ने सुना और सुन कर चुप रह गई। विदुर को कुछ आश्चर्य भी हुआ कि भाभी ने कर्ण की भर्त्सना में एक शब्द भी नहीं कहा। क्या भाभी को बुरा नहीं लगा ? कर्ण पर क्रोध नहीं आया ?

"भगवान् जाने, दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए, इस कर्ण का किस सीमा तक पतन होगा ?" विदुर ने कहा।

"जब एक बार पतन आरंभ हो जाता है, तो फिर उसका कोई अंत नहीं होता विदुर !" कुंती ने कठोर मुद्रा और स्थिर, निष्कंप वाणी में एक वाक्य कहा और अपने कक्ष में चली गई।

विदुर ने मान लिया कि कुंती अपने मन की इस विह्वल स्थिति को किसी के सम्मुख प्रकट नहीं करना चाहती।

कुंती का मन, आज सचमुच रोने को हो रहा था। दुर्योधन ऐसी सहस्र प्रतिज्ञाएँ करता, उसे तनिक भी कष्ट नहीं होता।... पर, कर्ण। उसका अपना पुत्र, अपने ही भाई की हत्या की प्रतिज्ञा कर रहा है। ... पर वह तो नहीं जानता कि वह अपने भाई की हत्या की प्रतिज्ञा कर रहा है। जानती तो केवल कुंती ही है। कुंती ने उसे बताया ही नहीं तो, उसका क्या दोष।

...पर क्या बात इतनी ही है कि वह अपने अज्ञान में अपने भाई को अपना शत्रु मान रहा है ? यदि इतना ही होता, तो वह उसे इसी क्षण जाकर यह सूचना दे देती। ... वह क्यों यह देख नहीं पा रहा कि अर्जुन उसका शत्रु नहीं है। अर्जुन अथवा किसी भी पांडव ने उसे अपना शत्रु न कहा, न माना। कर्ण ने रंगशाला में अर्जुन को द्वन्द्व युद्ध की चुनौती दी; वह द्रौपदी के स्वयंवर मे उनसे लड़ा, उसने द्यूत सभा में पांचाली के अपमान का भयंकर प्रस्ताव रखा। तब भी पांडवों ने उसके वध की प्रतिज्ञा नहीं की। वन जाने से पूर्व जिस समय पांडवो ने वल्कल वस्त्र पहने, और दुःशासन ने पुनः उनका अपमान किया, तब कहीं भीम ने अपने क्रोध में दुःशासन तथा दुर्योधन के विषय में अपनी प्रतिज्ञा और अर्जुन द्वारा कर्ण, तथा सहदेव द्वारा शकुनि के वध की प्रतिज्ञा की। उस पर भी अर्जुन ने स्पष्ट किया कि वह भीम को प्रसन्न करने के लिए, उसकी प्रतिज्ञा को सत्य करके दिखाएगा, किंतु यह भी कह दिया कि चौदहवें वर्ष में, यदि दुर्योधन ने सत्कारपूर्वक उनका राज्य वापस न किया तो वह युद्ध में कर्ण का वध अवश्य करेगा। उसने उसके वध की प्रतिज्ञा नहीं की, युद्ध में उसके वध की प्रतिज्ञा की, वह भी कब ? यदि दुर्योधन ने चौदहवें वर्ष में उनका राज्य उनको लौटा न दिया तो।... तो आज ऐसा क्या हो गया है कि कर्ण ने अर्जुन के वध की प्रतिज्ञा कर ली है ? युद्ध में अर्जुन से आत्मरक्षा की प्रतिज्ञा उसने नहीं की है। युद्ध में उसने अर्जुन को पराजित करने की प्रतिज्ञा नहीं की है। उसने तो अर्जुन के वध की प्रतिज्ञा की है।...युधिष्ठिर के जीवन-काल में दुर्योधन राजसूय नहीं कर सकता, इसलिए युधिष्ठिर को मर जाना चाहिए ? अर्जुन के जीते जी, दुर्योधन युधिष्ठिर को हानि नहीं पहुँचा सकता, इसलिए अर्जुन को मर जाना चाहिए ? कर्ण दुर्योधन को प्रसन्न करना चाहता है ? ... वह सूतपुत्र कहलाने का प्रतिशोध

लेना चाहता है ? पर इसमें अर्जुन का क्या दोष ? दोष यदि किसी का है, तो केवल कुंती का है। कर्ण उसका दंड अर्जुन को क्यों देना चाहता है ? ... नहीं ! ये सब केवल ऊपरी बातें हैं। मूल तो है उसके अपने मन में बैठी, ईर्ष्या। उसका लोभ—चाहे यश का हो, चाहे धन का, चाहे सत्ता का। क्यों नहीं कर्ण समझता कि उसे अपनी इस ईर्ष्या का वध करना चाहिए, अर्जुन का नहीं । उसे अपने इस लोभ को पहचानना है, अपने वंश को नहीं । उसकी अपराधिनी न कुंती है, न राधा। अपराधिनी है उसकी अपनी वासना। उसका दोषी न युधिष्ठिर है, न दुर्योधन; उसका दोषी उसका अपना मोह है। वह न न्याय चाहता है, न धर्म। वह न दुर्योधन का मित्र है, न कुरुकुल का। वह तो बस अपनी जयजयकार सुनना चाहता है। अंगराज की जय सुनना चाहता है। जय सुनने की यह भूख इतनी प्रबल है कि उसके लिए वह किसी का भी वध कर देगा। किसी का भी राज्य छीन लेगा। किसी भी स्त्री का अपमान कर देगा। किसी के भी वस्त्र उतरवा देगा। ... वह नहीं जानता कि उसके अपने मन में कितने शत्रु बैठे हैं उसके। उन सर्पो को वह दूध नहीं, अपने हृदय का रक्त पिला-पिला कर पाल रहा है; और उन पांडवों को अपना शत्रु समझ रहा है, जिन्होंने उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ा। ... जाने प्रभु यह कैसी लीला रच रहे हैं।...

तभी पारंसवी अपने साथ चपला को ले कर आई। पीछे-पीछे समंग भी आ रहा था।

"भाभी ! यह चपला आपसे मिलना चाहती है।"

कुंती को अपने मन के गह्वर से निकलने में थोडा समय लगा।

"आओ बहन !" कुंती ने उसे देखा। इस समय उसमें उन्माद का कोई लक्षण नहीं था। वह थकी-सी एक साधारण वृद्धा लग रही थी।

कुंती के निकट आ, प्रणाम कर, चपला भूमि पर ही बैठ गई।

"अरे, यहाँ मंच पर बैठो।" कुंती ने एक मंच की ओर संकेत किया, "भूमि पर बैठोगी तो हस्तिनापुर के महामंत्री विदुर मुझसे रुष्ट हो जाएँगे। वे मुझ पर समाज में विभाजन और वैषम्य को प्रोत्साहित करने का आरोप लगाएँगे।"

"नहीं देवि ! हमारी स्थिति तो आपके निकट बैठने की ही नहीं है। भूमि पर भी बैठ गए, तो समझो कि सिंहासन पर बैठ गए।" चपला बोली, "मेरी किसी बात का बुरा न मानना। मेरा जी आज कल मेरे वश मे नहीं है।"

समंग आकर, प्रणाम कर, चौखट के बाहर ही बैठ गया था। वह यह देख कर संतुष्ट था कि चपला इस समय एक भली स्त्री के समान वार्तालाप कर रही थी। नहीं तो उसके साथ जब अकेली होती थी, तो कितना उत्पात् करती थी।

"विदुर कह रहे थे कि तुम कुछ अस्वस्थ हो।" कुंती ने कहा।

"अस्वस्थ क्या हूँ, माँ का हृदय है देवि ! वही कष्ट दे रहा है।" चपला बोली, "कभी किसी ने सोचा था कि भगवान ऐसी भी संतान को जन्म देंगे, जो वृद्ध माता-पिता को असहाय छोड कर चली जाएगी। क्या होगा इस संसार का। सृष्टि बचेगी या नष्ट हो जाएगी। मेरे मन में तो ईश्वर के लिए भी शाप उठता है। संतान दी थी तो उसका विरह क्यों दिया। विरह दिया था, तो ऐसा मन क्यों दिया। रात-रात भर उनको स्मरण कर रोती हूँ। सो नहीं पाती तो विक्षिप्त हो जाती हूँ। इच्छा होती है कि उन सबकी हत्या कर दूँ, जिनके बच्चे उनके साथ रहते हैं। इस संसार को ही आग लगा दूँ, तब भगवान को भी पता चले कि जिसे जनम दिया है, वह आँखों के सामने न रहे तो कितना कष्ट होता है। कभी-कभी सोचती हूँ कि अपनी बहू का ही झोंटा पकडकर उसे घसीट लाऊँ। वही कुलच्छनी है, जो मेरे पुत्र को अपने मोह जाल में बाँध कर यहाँ ले आई है, और अब न तो लौटने को राजी होती है, और न हमें ही अपने साथ रखती है।... फिर सोचती हूँ कि इसमें बहू का भी क्या दोष ! पुत्र ऐसा कपूत न होता, तो बहू का साहस ही कैसे होता कि वह ऐसा सोचती।..."

"अब बस भी करेगी कि बोलती ही जाएगी।" चौखट के बाहर से ही समंग ने कहा, "राजमाता का भी भेजा चाट खाएगी क्या ?"

"कोई बात नहीं समंग ! बोलने दो।" कुंती ने बहुत धैर्यपूर्वक कहा, "उसे अपना दुखड़ा कह लेने दो। मन हल्का हो जाएगा। मैं समझती हूँ, उसका दुख।"

"इसी कारण तो आपके पास आई हूँ देवि !" चपला श्रद्धा भाव से बोली, "सोचा, उस देवि के दर्शन करके आऊँ, जो बारह वर्षो से अपने पाँच-पाँच पुत्रो का विरह सह रही है। आपका हृदय फट नहीं गया देवि ! इतने दिनों में। मैं तो इतने थोडे से ही समय में उन्मादिनी हो गई हूँ।"

"तुम्हें यह तो नहीं लगता चपला कि मैं बड़ी हृदयहीन माता हूँ, जो पाँच पाँच पुत्रों को ही नहीं, सारी पुत्रवधुओं और अपने पौत्रों को त्याग कर बारह वर्षो से यहाँ निश्चिंत बैठी हूँ ?"

"नहीं ! नहीं !! मैं ऐसा क्यो सोचूँगी देवि !" चपला ने अपनी हथेलियों से अपने दोनों गाल पीट डाले।

"सोच सकती हो, क्योंकि मुझे, मेरे पुत्रों ने न तो अपने साथ ले जाना अस्वीकार किया था और न मेरी पुत्रवधुओं को मेरे साथ रहने अथवा मुझे अपने साथ रखने में कोई आपत्ति है।" कुंती बोली, "माँ का हृदय तो मेरे भी वक्ष में है। पर मैंने इस प्रकार उनसे पृथक् रहने के लिए न अपने आपको अभागिनी माना है, और न इसके लिए कभी उनको दोष दिया है।"

"शायद मैं भी न देती, यदि मेरा पुत्र भी आपके पुत्रों के समान धर्म कमाने

गया होता।" चपला बोली, "वह तो थोड़ा-सा धन कमाने के लिए अपने वृद्ध माता-पिता को इस प्रकार अकेला और असहाय छोड कर हस्तिनापुर में डेरा डाले बैठा है। धन उसे माँ से भी अधिक प्यारा है। है कोई और ऐसी अभागिनी माता, जिस-का पुत्र उससे भी अधिक धन से प्यार करे।"

कुंती का ध्यान कर्ण की ओर चला गया।... यह स्त्री इतनी दुखी है कि उसका पुत्र मॉ से अधिक धन से प्रेम करता है। वह स्वयं को संसार की सब से अधिक अभागिनी माता समझती है। ... पर क्या वह जानती है कि कर्ण जैसा पुत्र भी होता है, जो सारे धन-वैभव के होते हुए भी, केवल ईर्ष्यावश वध कर सकता है। अपने राजा को प्रसन्न मात्र करने के लिए, धर्म पर चलनेवाले चरित्रवान लोगों की हत्या कर सकता है। अपनी जयजयकार सुनने के लिए निर्दोष लोगों के प्राण ले सकता है।

"धन का लोभ किसे नहीं होता चपला ?" कुंती बोली, "किंतु तुम्हारा दुख क्या यह है कि तुम्हारा पुत्र धन अर्जित करना चाहता है ? क्या तुमने अपने पति से कभी यह मॉग नहीं की थी कि वह और अधिक धन कमाए। तुम्हें और अधिक सुख से रखे ?"

"नहीं ! इस कारण से मैं क्यों दुखी हूँगी ? किसको अपने पुत्र का वैभव बुरा लगता है।"

"तो क्या तुम दुखी इसलिए हो कि तुम्हारा पुत्र अपनी पत्नी से प्रेम करता है ?"

"नहीं ! यह मुझे क्यों बुरा लगेगा। बेटा-बहू परस्पर प्रेम से रहें, यह तो अच्छी बात है।"

"तो फिर तुम दुखी क्यों हो ? तुम्हारे दुख का कारण क्या है ?"

"वह हमारे साथ क्यों नहीं रहता ? मैं चाहती हूॅ कि वह सदा मेरी आँखों के सामने रहे। मैं उससे इतना प्रेम करती हूॅ कि उसको देखे बिना जी नहीं सकती, तो वह मेरी इतनी उपेक्षा क्यों कर रहा है ?"

"मेरी बात पर ध्यान दो चपला !" कुंती ने मंद स्वर में कहा, "जरा गंभीर हो कर सोचो। जहॉ दुख होता है, वहॉ कोई दोष भी होता है। हम लोग प्रायः अपने दुख को देखते हैं, किंतु उस दोष को देखने का प्रयत्न नहीं करते। सब ही। यह मनुष्य का स्वभाव है। मैं भी ऐसा ही करती हूँ। तुम भी सोचो। तुम्हारा यह जो दुख है, उसका कारण तुम्हारा ही कोई दोष है। तुम दुखी इसलिए हो कि तुम्हारा पुत्र तुम्हारी उपेक्षा कर रहा है; अथवा तुमको तुम्हारी अपनी कोई वासना कष्ट दे रही है।"

"लो। अब पुत्र के निकट रहने की इच्छा भी वासना हो गई।"

"इच्छा मात्र को ही वासना कहते हैं, चपला। मेरे पुत्र वन में रह रहे हैं,

किंतु द्वैतवन में रहते हुए भी तुम्हारी कभी यह इच्छा नहीं हुई कि तुम उनको देख आओ, उनको मिल आओ, उनके निकट रहो। क्यों ? क्योंकि तुम्हारे मन में उनके प्रति कोई मोह नहीं है। अपने पुत्र के प्रति तुम्हारे मन में मोह है। वह मोह ही तुमको कष्ट दे रहा है। तुम्हारे दुख का कारण तुम्हारे पुत्र का धन के प्रति लोभ, अपनी पत्नी के प्रति प्रेम, तुम्हारे प्रति उपेक्षा का भाव—कुछ भी नहीं है। तुम्हारे दुख का कारण तो तुम्हारा पुत्र-मोह है। तुम्हारा अपराधी तुम्हारा पुत्र नहीं, तुम्हारा अपना मोह है।"

"लो !" चपला ने जैसे कोई तर्क-विरोधी बात सुन ली थी, "अब अपने पुत्र के प्रति प्रेम भी, मोह हो गया। संसार में किस माता को अपने पुत्र से प्रेम नहीं होता।"

"चुप कर। अब तू राजमाता से भी कलह करेगी दुष्टे !"

"नहीं । रहने दो समंग। तर्क नहीं करेगी, तो बात स्पष्ट कैसे होगी।" कुंती ने कहा, "हाँ चपला। संसार में प्रत्येक माता अपने पुत्र से प्रेम करती है।"

"हॉ ! भगवान ने माता का हृदय ही ऐसा बनाया है। उसका दुख कोई और कैसे समझ सकता है।" चपला बोली, "तो फिर वह मोह कैसे हो सकता है। पुत्र के प्रति इतना प्रेम न होता, तो माता उसका पालन-पोषण ही कभी न कर पाती।"

"ठीक कहती हो चपला ! सत्य ही ईश्वर ने माँ के मन में संतान के प्रति इतना प्रेम संचित न किया होता, तो न तो वह संतान को जन्म देने का कष्ट उठाती और न ही उसका पालन-पोषण कर पाती।" कुंती मुस्कराई, "इतना प्रेम दिया है ईश्वर ने कि मॉ का हृदय अपनी संतान को देखते ही पिघल कर, दूध मे परिणत हो, उसके स्तनों में उतर आता है। इतना प्रेम दिया है विधाता ने कि उसे अपनी संतान का मल, मल ही नहीं लगता। संतान को स्वच्छ रखने के लिए, वह उसका मल-मूत्र भी साफ करती है। ... किंतु माँ के स्तनों में दूध इसलिए आता है चपला ! क्योंकि सद्यःजात शिशु और कुछ भी खा-पी नहीं सकता। मॉ का स्तन्य ही उसका प्राण है। किंतु, अब यदि अपने पुत्र प्रेम के कारण तुम्हारे स्तनों में दूध उतरेगा तो क्या तुम्हारा पुत्र उसका पान करेगा ? तुम स्तनपान कराओगी उसको ? इस अवस्था में अपने पुत्र का मलमूत्र साफ करोगी ?"

"नहीं !" चपला ने बिना सोचे समझे, तत्काल उत्तर दिया, "वयस्क पुत्र के लिए उसकी आवश्यकता नहीं है।"

"तो फिर तुम्हारे उस मोह की भी, जिसे तुम प्रेम कह रही हो, अब कहाँ आवश्यकता है ?" कुंती ने कहा, "जो प्रेम स्तन्य के लिए आवश्यक था, तुम चाहती हो कि तुम्हारा वह प्रेम तो बना रहे, किंतु स्तन्य सूख जाए। जो प्रेम

तुम्हारा पुत्र तुमसे उस समय करता था, जब वह स्तनपान करता था, वह प्रेम तो बना रहे, किंतु वह स्तनपान न करे।"

"मोह है तो मोह ही सही।" चपला कुछ उग्र हो कर बोली, "ईश्वर ने वह मोह बनाया ही क्यों ?"

कुंती हँस पड़ीं, "ईश्वर ने इस परिवर्तनशील संसार में बहुत सारे भाव और बहुत सारे पदार्थ बनाए हैं, और उन सबकी आवश्यकता भी है; किंतु इतनी बुद्धि भी मनुष्य को दी है कि वह निर्णय कर सके कि उसे किसका उपयोग कब करना है; और कब तक करना है। उसने स्त्री-पुरुष को काम भाव दिया है। कौन नहीं जानता कि यह काम भाव न होता, नारी-पुरुष एक-दूसरे की ओर आकृष्ट न होते, तो संतान का जन्म न होता; और संसार आगे न चलता। सत्य है न !"

"सत्य है राजमाता।" चपला तत्काल सहमत हो गई।

"किंतु उस काम को संयत और परिमित करना कल्याणकारी है अथवा नहीं ?" कुंती ने पूछा।

"है।"

"यदि कोई पुरुष यह कह कर किसी स्त्री के साथ व्यभिचार करना चाहे कि ईश्वर ने काम भाव बनाया है, इसलिए उसे यह अधिकार है कि वह किसी भी स्त्री को काम-निमंत्रण दे, तो क्या यह उचित होगा ?"

"नहीं राजमाता !"

"तुम्हारी इस अवस्था में, तुम्हारा अपना पति ही यदि तुमसे तुम्हारी युवावस्था के काम-व्यवहार की अपेक्षा करे, तो क्या यह उचित होगा ?"

"नहीं।" चपला के चेहरे पर लज्जा की लाली आ गई।

"तो फिर पुत्र प्रेम के लिए ही, तुम वही स्थिति क्यों बनाए रखना चाहती हो ? केवल वह स्थिति ही बनाए रखना नहीं चाहतीं, उसे माँ का हृदय कह कर गौरवान्वित भी करना चाहती हो ?"

चपला ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह किसी गहरी सोच में डूब गई थी।

"सुनो चपला !" कुंती ने पुनः कहा, "हमारा जीवन एक धारा के समान है। अपने उद्‌गम से ले कर अपने संगम तक की यात्रा की परिस्थितियाँ एक-सी नहीं होतीं। यात्रा का प्रत्येक पड़ाव एक नई चुनौती ले कर आता है, और हमारे कर्तव्य परिवर्तित होते रहते हैं। संबंध बदलते रहते हैं। जीवन का रूप बदलता रहता है। हमें इस परिवर्तन को स्वीकार करना चाहिए और स्वयं को उसके अनुरूप ढालना चाहिए, न स्वयं विक्षिप्त होना चाहिए और न किसी और को विक्षिप्त करना चाहिए।"

"आप ठीक कहती हैं, राजमाता !" चपला रो पड़ी, "पर मैं क्या करूँ ?

मेरा तो समय ही नहीं कटता। मेरी आँखों के सामने पुत्र का मुखड़ा घूमता रहता है।"

"तुम्हारा समय नहीं कटता, तुम्हारी एक इच्छा पूरी नहीं होती, इसलिए तुम अपने पुत्र को बाँध कर अपने साथ रखना चाहती हो ?" कुंती बोली, "तुम्हारा पुत्र तुम्हारा खिलौना है क्या ?"

"तो क्या संतान का धर्म नहीं है कि जिस माता-पिता ने उनको जन्म दिया, उनका पालन-पोषण किया, उनका ध्यान रखें, उनकी सेवा करें ?"

कुंती हँस पड़ी, "पहले तुम यह निश्चय कर लो कि तुम अपने पुत्र से रुष्ट क्यों हो, तुम्हारा कष्ट क्या है ? तुम चाहती हो कि वह तुम्हारे पास रहे, क्योंकि तुम्हारा समय नहीं कटता, अथवा तुम अपनी देखभाल करने में असमर्थ हो, और तुम्हारा पुत्र तुम्हारी सेवा नहीं कर रहा।"

"नहीं राजमाता !" समंग बोला, "इसकी मैं भरपूर सेवा कर रहा हूँ। जब असमर्थ हो जाऊँगा, तब की नहीं कह सकता।"

"नहीं । सेवा की कोई बात नहीं है।" चपला बोली, "उसके बिना मेरा जीवन इतना खाली-खाली हो गया है कि मेरी समझ में ही नहीं आता कि मैं क्या करूँ। मेरा मन किसी काम में लगता ही नहीं ।"

"तुम अपना स्वतंत्र और आत्मनिर्भर जीवन जीओ चपला ! पराश्रित जीवन क्यों जीना चाहती हो। लोगों को उनके बंधनों से मुक्त करने का काम करो, उन्हें बाँधने का संकल्प क्यों कर रही हो ?" कुंती बोलीं, "तुमने अपनी संतान के प्रति अपना कर्तव्य पूर्ण किया। अब अपना विकास करो, समाज का विकास करो। अपना वह जीवन जीओ, जो तुम बच्चों के पालन-पोषण के दायित्व के कारण अब तक जी नहीं सकी थीं। हम अपनी संतान को समर्थ इसलिए नहीं बनाते कि अपने मोह के बंधनों में उनको बाँधकर उनके सामर्थ्य को कुंठित करेंगे।"

चपला ने एक असहाय-सी दृष्टि कुंती पर डाली और धीरे से बोली, "मैं समझती तो सब कुछ हूँ राजमाता ! किंतु मेरा मन है कि मानता ही नहीं । उसे कितना समझाती हूँ, दोनों भुजाओं में पकड-पकड़ कर उसे नीचे उतारती हूँ, किंतु वह है कि फिर से बलात् मोह के वृक्ष पर जा चढ़ता है, और मैं उसके सम्मुख असहाय हो जाती हूँ।"

इस बार समग आगे बढ़ आया, "आपकी बड़ी कृपा है राजमाता ! आपकी बाते सुन कर मुझे लगता है कि यह आज नहीं तो कल, समझ ही जाएगी और इसका उन्माद उतर जाएगा।"

"भगवान तुम्हारा कल्याण करें।" कुंती का स्वर एक प्रकार का अलौकिक आह्लाद लिए हुए था।

21

विशोक हस्तिनापुर से लौट आया था। युधिष्ठिर को सारे समाचार दे कर वह विश्राम के लिए चला गया था; किंतु पांडव विश्राम करने नहीं जा सके। युधिष्ठिर गहरी चिंता में डूबे वहीं बैठे रह गए।

"क्या बात है भैया ! चिंता किस बात की कर रहे हैं ?" भीम ने कहा, "अथवा मॉ की स्मृति आपको व्याकुल कर रही है ?"

"यह कर्ण क्यों अर्जुन के पीछे पड़ा है ?" युधिष्ठिर बोले, "अब तो उसने अर्जुन के वध की प्रतिज्ञा भी कर ली है।"

"तो क्या हो गया।" भीम अविचलित ही रहा, "प्रतिज्ञा तो आज की है, वह अर्जुन की हत्या तो उस दिन से ही करना चाहता था, जब से उसने आचार्य द्रोण को अर्जुन की ओर अधिक आकृष्ट पाया। दुर्योधन भी मुझे अपनी बाल्यावस्था से ही मार डालना चाहता था। तो क्या हो गया ? मार दिया क्या उसने मुझे, अथवा हम सबको ?"

"वह तो ठीक है, मध्यम !" युधिष्ठिर बोले, "किंतु हमें अर्जुन की रक्षा की विशेष चिंता करनी चाहिए। चिंता ही नहीं प्रबंध भी करना चाहिए।"

"मैं तो आज तक यही मानती आई हूँ कि हमारी रक्षा अर्जुन करेंगे।" द्रौपदी बोली।

"युद्ध में अर्जुन हमारी रक्षा करेंगे, यह तो सत्य ही है; किंतु यह आवश्यक नहीं कि दुर्योधन और कर्ण, युद्ध में ही अर्जुन पर आक्रमण करें। वे छुप कर भी घात कर सकते हैं। वे वन में अकेले अर्जुन को घेर कर भी प्रहार कर सकते हैं।" युधिष्ठिर बोले, "अब तो मुझे यह भी लगने लगा है कि घोषयात्रा के व्याज से भी वे हमें किसी प्रकार की क्षति पहुँचाने ही आए थे।"

"और विशोक हस्तिनापुर में यह कैसी चर्चा सुन कर आया है कि कर्ण के शरीर पर एक अभेद्य, दिव्य कवच है, जो जन्म से ही उसके शरीर पर था।" द्रौपदी बोली, "आज तक तो मैंने इसकी चर्चा नहीं सुनी। यदि ऐसा कोई कवच उसके शरीर पर था तो उसे मेरे स्वयंवर के अवसर पर कांपिल्य में धनंजय से युद्ध करते हुए, पीछे हट जाने की क्या आवश्यकता थी ?"

"चर्चा तो तब सुनतीं, जब ऐसा कोई कवच होता।" भीम ने हँस कर कहा, "तुम नहीं जानतीं कि हस्तिनापुर में अधम कोटि के मिथ्याभाषी निवास करते हैं।"

"किंतु इस मिथ्या प्रचार से उनको लाभ क्या होगा ?" नकुल ने पूछा।

"लाभ तो होना आरंभ भी हो गया। देखो, पॉचाली भयभीत भी हो गई।"

भीम ने उत्तर दिया, "वैसे, ऐसा कोई कवच होने की स्थिति में उसे गंधर्वों के हाथों घायल नहीं होना चाहिए था ? बताया तो यही गया है कि गंधर्वों से युद्ध करते हुए, उसके अंग-प्रत्यंग क्षत-विक्षत हो गए थे। और यदि कवच के कारण वह घायल होने से बच गया था, तो युद्धक्षेत्र छोड़ भाग जाने की क्या आवश्यकता थी ?"

"कवच तो केवल वक्ष पर ही होता है," नकुल ने कहा, "संभव है कि उसकी भुजाएँ, टाँगें, मस्तक और ग्रीवा इत्यादि क्षत-विक्षत हो गए हों।"

"आपत्ति तो नकुल की भी ठीक है, किंतु मुझे मध्यमका पक्ष अधिक तर्कसंगत लग रहा है।" अर्जुन ने कहा, "यदि मानव निर्मित कवच हो तो वह वक्ष पर ही होता है, किंतु मनुष्य उसी के अनुरूप अन्य अंगों के लिए भी तो कवच बनाता है। भुजाओं के लिए, जंघाओं के लिए। शिरस्त्राण भी होता है। मनुष्य पूर्ण शरीर के लिए कवच नहीं बना सकता, यह उसकी सीमा अथवा बाध्यता है। अब यदि ईश्वर ने वह कवच जन्म के समय ही कर्ण को दिया हो, तो वह केवल वक्ष पर ही क्यों होगा। जिन पशुओं को ईश्वर ने मोटी और कठोर खाल दी है, वह उनके सारे शरीर पर है, केवल वक्ष अथवा पीठ पर नहीं ।... हाँ! इतना मैं मान लेता हूँ कि कर्ण की त्वचा का वर्ण कुछ इतना सुनहला है कि उसको कोई व्यक्ति अपने किसी भ्रम के कारण किसी पीली धातु का बना हुआ कवच मान सकता है।..."

"किंतु उसके तो चेहरे का भी वही वर्ण है।" सहदेव बोला, "ऐसे में उसे कोई किसी पीली धातु की बनी हुई मूर्ति क्यों नहीं मान लेता ?"

"शायद उसका कोई लाभ दिखाई नहीं दिया होगा दुर्योधन को।" अर्जुन ने उत्तर दिया।

"तो इसका ही क्या लाभ है ? भ्रम से क्या लाभ होगा। भ्रम भी कैसा, जो अधिक समय टिकनेवाला नहीं है।"

"साधारण जन के लिए तो इस प्रकार के मिथ्या प्रचार का स्थायी महत्त्व है।" युधिष्ठिर बोले, "सोचो, जिस समाज में से तुम्हें सैनिक चाहिए, जब उस समाज में यह भ्रम प्रचारित होगा, तो कितने सैनिक कर्ण और दुर्योधन की सेना में जाना चाहेंगे, जिनका नेतृत्व एक देवपुरुष कर रहा है, जिसे ईश्वर ने एक अलौकिक कवच दे रखा है; और कितने सैनिक तुम्हारी सेना में आएँगे, जिन्हें उस देवपुरुष से लड़ना है ?"

"धर्मराज का कथन सत्य है।" द्रौपदी बोली, "जन सामान्य तो ऐसी बातों को तत्काल सत्य मान लेगा और उसके विरुद्ध किसी तर्क को स्वीकार नहीं करेगा।"

"अरे तो साधारण सैनिकों से डरता ही कौन है।" भीम ने कहा, "यह अकेला

भीमसेन कर्ण के सारे सैनिको को सँभाल लेगा, और अर्जुन ! तुम कर्ण को सँभाल लेना।" भीम के मुख पर किसी भी प्रकार की चिंता का कोई भाव नहीं था, "अर्जुन के तर्क से मेरे मन में एक बड़ी रोचक कल्पना जागी है—यदि कर्ण के शरीर पर वस्तुतः कोई प्राकृतिक कवच होता तो वह कैसा होता ?"

"कैसा होता," द्रौपदी ने पूछा।

"अर्जुन ने कठोर खालवाले पशुओं का उदाहरण दिया है।" भीम हँसा, "तो गैंडे के अनुरूप खाल कैसी रहेगी ? अथवा कच्छप के समान ?"

"मध्यम ! किसी भले मानस की अनुपस्थिति में उसका उपहास करना कोई अच्छी बात नहीं है।" युधिष्ठिर ने उसे टोका।

"लो !" भीम हँसा, "धर्मराज कर्ण को भला मानस कह रहे हैं।"

"अब तुम मेरा भी उपहास करने का प्रयत्न कर रहे हो।"

भीम ने अपनी जिह्वा अपने दाँतों में दबा ली और दोनों हाथों से अपने कान पकड़ लिये, "अब आप इतना भी पाप मुझ पर न चढाएँ। कर्ण का उपहास तो क्या, मैं उसका अपमान भी सहस्र बार कर सकता हूँ, किंतु आपका उपहास तो मेरे लिए अकल्पनीय है।" भीम पुनः अपनी विनोदी मुद्रा में आ गया, "चलो। छोड़ो कर्ण को। हम एक सामान्य कल्पना करते हैं कि यदि ईश्वर मनुष्य को मोटी खाल देते, तो उसका रूप कैसा होता।"

"ऐसे में उसके शरीर के आकार में क्या-क्या परिवर्तन होते, और उसकी गतिविधि पर उसका क्या प्रभाव होता। युद्ध में आक्रमण की स्थिति में वह गैंडे के समान बिफर जाता, अथवा कछुए के समान सिकुड़ जाता। ..." सहदेव सहसा चुप हो गया। उसकी दृष्टि युधिष्ठिर पर टिकी हुई थी, "आपको कुछ अनुचित लग रहा है ?"

"मैं यह सोच रहा हूँ कि तुम लोग आनेवाले संकट के विषय में कुछ नहीं सोच रहे हो। कल्पना लोक में विचरण कर अपना मनोरंजन कर रहे हो।" युधिष्ठिर बोले, "जबकि दुर्योधन ने कदाचित् अपना सैनिक अभियान आरंभ कर दिया है।"

"सैनिक अभियान कैसे ?" द्रौपदी ने पूछा।

"जब कोई राजा अपने अद्‌भुत शस्त्रों अथवा अपनी शक्ति का प्रचार करता है, तो उसके पीछे उसका लक्ष्य अपने शत्रुओं को भयभीत करना ही होता है।" युधिष्ठिर बोले, "यह सत्य है कि मैंने दुर्योधन और उसके भाइयों को कभी अपना शत्रु नहीं माना; किंतु इसमें कुछ भी असत्य नहीं है कि वे हमें अपना शत्रु ही मानते हैं। ऐसे में हमको अपनी रक्षा का प्रबंध तो करना ही चाहिए। प्रतिशोध और प्रतिहिंसा में हमारी आस्था नहीं है, किंतु प्रतिकार तो हमें करना ही चाहिए।"

"महाराज ! जहाँ तक मेरा चिंतन है, मै तो यह कहता हूँ कि आप प्रतिकार

ही क्यों प्रतिशोध की बात कीजिए," भीम बोला, "किंतु इस समय तो मैं यह नहीं समझ रहा हूँ कि कर्ण द्वारा की गई अर्जुन को मारने की प्रतिज्ञा से आप इतने व्याकुल क्यो हो गए हैं ? आप उसके उस नैसर्गिक कवच को भी सत्य मान बैठे हैं, जिसका कोई अस्तित्व नहीं है। वैसे जो प्रतिभा अर्जुन में है, वह भी तो ईश्वर की ही दी हुई है। जो शक्ति मुझमें है, वह भी तो ईश्वर की ही दी हुई है। हमें भय किस बात का है।"

"मै तुम्हारे तर्कों से असहमत नहीं हूँ, न ही तुम लोगों के बल, कौशल और वीरता से मेरी कोई असहमति है।" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "किंतु तुम लोग मेरी आज्ञा के अधीन हो, अतः तुम्हारा दायित्व मुझ पर है। वह दायित्व और अपने भाइयों के प्रति मेरा प्रेम अथवा मोह मुझे दुर्बल बना देता है। मुझे सोचना पड़ता है कि हम जान-बूझ कर तो संकट के मुख में नहीं जा रहे हैं।..." युधिष्ठिर कुछ रुक कर बोले, "एक बात और। दुर्योधन की प्रतिज्ञाओं से मैं इतना विचलित नहीं होता; किंतु कर्ण के मन का विष कहीं अधिक भयंकर लगता है मुझे। वह जाने हमारे प्रति अपने किस जन्म का वैर ले कर आया है इस संसार में।"

"तो हम युद्धाभ्यास आरंभ कर दें ? अथवा सैन्य संचय करें ? अथवा अपने मित्रों को संदेश भिजवाएँ कि वे लोग हमारी रक्षा करें ?" भीम बोला।

"नहीं !" युधिष्ठिर बोले, "सबसे पहले तो हम अपने रहने के लिए द्वैत वन से अधिक सुरक्षित कोई और स्थान खोजें। यह स्थान हस्तिनापुर के बहुत निकट पड़ता है। उनके और हमारे बीच कोई अन्य राज्य नहीं पड़ता, जो हस्तिनापुर से आनेवाली सेना का प्रतिरोध करे, अथवा उसके अभियान पर आपत्ति करे। ऐसा लगता है कि वहाँ से यहाँ तक सीधा और खुला मार्ग है।..."

"वह तो अब तक भी था ही; किंतु न कभी आप ने आपत्ति की और न कभी उससे आशंकित हुए, तो अब ऐसा क्या हो गया है ?" भीम ने पूछा।

"अब तक मैंने इस रूप में कभी नहीं सोचा था कि वे अकस्मात् ही आक्रमण कर मेरे किसी भाई को एकांत में घेर कर उसका वध कर सकते हैं; किंतु अब कर्ण की इस प्रतिज्ञा से मुझे इस प्रकार का भय भी होने लगा है।" युधिष्ठिर-बोले, "अतः हमें उस प्रकार की किसी दुर्घटना से पहले ही अपनी सुरक्षा की व्यवस्था कर लेनी चाहिए।"

"कहाँ जाना चाहते हैं आप ?"

"वैसे तो अभी कुछ निश्चित नहीं किया है," युधिष्ठिर बोले, "किंतु सोचता हूँ कि हम उनसे कुछ दूर तो हो ही जाएँ; और मार्ग में यदि सेना न खड़ी कर सकें तो ईश्वर की बनाई कोई सीमा तो रखें ही। यदि हम मरुभूमि के शीर्ष पर काम्यकवन में तृणबिंदु सरोवर के तट पर चले जाते हैं, तो दुर्योधन के लिए

कुछ कठिनाई तो उत्पन्न कर ही सकते हैं। मार्ग में जल की इतनी सुविधा नहीं होगी, इसलिए एक बड़ी सेना सहित उस सारे क्षेत्र को पार करना भी इतना सरल नहीं होगा।"

किसी ने कोई आपत्ति नहीं की।

सबसे पहले भीम ही बोला, "सामरिक दृष्टि से तो वह स्थान बहुत ही उपयोगी है। पीठ पीछे मरुभूमि है, इसलिए उधर से आनेवाला कदाचित् ही कोई हो। इस ओर से भी वही जाएगा, जिसे मरुभूमि पार कर उस ओर जाना हो। ऐसे कितने लोग हैं, जिन्हें मरुभूमि पार करनी है ? शायद ही कोई हो। इसलिए इधर से भी कोई आएगा, तो उसकी सूचना हमें पहले ही हो जाएगी। जल का बाहुल्य नहीं है, इसलिए उधर अधिक लोगों का निवास भी नहीं होगा कि उनमे मिल कर दुर्योधन के गुप्तचर छिप सके। जो कोई भी होगा, वह हमारी दृष्टि मे रहेगा।"

"यह तो बहुत अच्छा हुआ मध्यम ! कि तुमको मेरा प्रस्ताव भा गया, नहीं तो तुम इसका यह कह कर ही विरोध करने लगते कि हम कोई दुर्योधन अथवा कर्ण से डरते हैं कि यह स्थान छोड कर कायरों के समान भाग जाएँ।" युधिष्ठिर मुस्करा रहे थे।

"मध्यम का क्या है। इनकी जाने की इच्छा होगी तो कह देंगे कि काम्यकवन क्या दुर्योधन के बाप का है कि हम वहाँ न जाएँ। न जाने की इच्छा होगी तो कह देंगे, हम दुर्योधन से डरते हैं कि द्वैतवन छोड़ कर चले जाएँ।" द्रौपदी बोली।

"देखा ! यह है चतुराई।" भीम बोला, "मध्यम कुछ बोले न बोले, आपके मन में जो आए, चिपका दीजिए मध्यम के नाम पर कि मध्यम ऐसा कहेगा।"

"पांचाली आपकी प्रशंसा ही तो कर रही है मध्यम ! आप इतने बुद्धिमान हैं कि अपनी प्रत्येक इच्छा के समर्थन में कोई न कोई तर्क खोज ही निकालते हैं।" सहदेव ने कहा।

"तो आप भी !" भीम ने मुस्कराकर उसे मुष्टिका दिखाई।

पांडवों को काम्यक वन में तृणाबिंदु सरोवर के तट पर अपना आश्रम स्थापित किए हुए सप्ताह भर ही हुआ होगा कि अकस्मात् ही उन्होंने महर्षि वेदव्यास को अपने आश्रम के द्वार पर खड़े देखा।

"पितामह आप !" उनको प्रणाम करते हुए युधिष्ठिर को अपने भाव व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं मिल रहे थे।

"क्यों ? मुझे देख कर आश्चर्य हुआ ?"

"नहीं पितामह ! आपको देख कर ही आश्चर्य नहीं हुआ। कोई और होता तो अवश्य ही आश्चर्य होता।" द्रौपदी बोली, "यह स्थान एक प्रकार से ऐसा दुर्गम है कि जहाँ हमसे मिलने के लिए, हमारा कुशल-क्षेम जानने के लिए कोई बहुत अपना ही आने का कष्ट कर सकता है। आपके सिवाय और कौन है, जो यहाँ तक आकर भी हमारी खोज खबर लेगा।"

"देखा युधिष्ठिर ! यह है पंडिता कृष्णा। तुम्हें जब कहने के लिए उपयुक्त शब्द नहीं मिले, तो इसने कितने सुंदर शब्दों में मेरा स्वागत किया है। मेरे स्नेह के विषय में वह कुछ मिथ्या भी नहीं कह रही। पर उसका शब्द और भाव चयन देखो।" व्यास ने अपना दायाँ हाथ उठा कर द्रौपदी को आशीष दी।

"आप ठीक कहते हैं पितामह ! कृष्णा वस्तुतः पंडिता है।" युधिष्ठिर बोले, "मुझे स्मरण है कि अगम्य से अगम्य स्थान पर भी आप हमारे पास पहुँचे हैं। यह स्थान तो उस दृष्टि से उतना बीहड़ भी नहीं है, जितने बीहड़ यात्री आप हैं।"

व्यास हँस पड़े, "वस्तुतः यह जीवन ही एक बीहड़ यात्रा है पुत्र ! कैसे-कैसे उतार-चढाव आते हैं। यात्री तो वही है, जो निरंतर ऊपर चढता जाए। कहीं पतित न हो। कहीं स्खलित न हो। स्वयं ऊपर चढ़ने के लिए किसी और को धक्का न दे। स्वयं आगे बढ़े और ऐसा मार्ग बनाए, जिससे अन्य लोग भी अपनी चढ़ाई चढ़ सकें।"

तब तक धौम्य मुनि तथा अन्य चारों पांडव भी आ गए थे। इंद्रसेन और विशोक ने भी सपरिवार आकर महर्षि को प्रणाम किया। द्रौपदी, धात्रेयिका को ले कर महर्षि के सत्कार की व्यवस्था करने चली गई और शेष लोग उन्हें घेर कर बैठ गए।

"हस्तिनापुर का क्या समाचार है पितामह !"

"युधिष्ठिर ! तुम प्रतीक्षा कर रहे हो कि वनवास के बारह वर्ष समाप्त हो जाएँ, तो तुम एक वर्ष का अज्ञातवास करो। जब वह भी धर्मपूर्वक पूर्ण हो जाए, तो तुम हस्तिनापुर जाकर अपना राज्य दुर्योधन से वापस लो और अपने भाइयों के साथ इंद्रप्रस्थ में सुखपूर्वक रहो।"

"हाँ महर्षि ! यही इच्छा है मेरी कि मैं अपने भाइयों सहित धर्मपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करूँ।"

"पर क्या तुम जानते हो धर्मराज ! कि वह तुम्हें तुम्हारा राज्य वापस नहीं देगा ?" महर्षि बोले।

युधिष्ठिर कुछ देर के लिए जैसे स्तब्ध रह गए। इस पर तो उन्होंने कभी विचार ही नहीं किया था। जब कभी भीम अथवा किसी और ने उनका ध्यान इस ओर दिलाना चाहा, उन्होंने सहमत होना स्वीकार नहीं किया और उनको

चुप करा दिया। आज वही बात वेदव्यास कह रहे हैं। युधिष्ठिर उनको अपने भाइयों के समान चुप नहीं करा सकते।

"आपको ऐसा क्यों लगता है पितामह ? क्या उसने आपसे ऐसा कुछ कहा है ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"नहीं । उसने मुझसे नहीं कहा है। शायद कहेगा भी नहीं । कोई नहीं कहता। कहने की आवश्यकता ही क्या है।" व्यास बोले, "किंतु लक्षण यही हैं। कोई भी व्यक्ति इन दिनों हस्तिनापुर का कुछ सूक्ष्म निरीक्षण करे तो कुछ बातें उसकी समझ में आ जाती हैं। कर्ण ने दुर्योधन के लिए एक प्रकार की दिग्विजय की है। दिग्विजय अपना सैनिक तथा राजनीतिक वर्चस्व स्थापित करने के लिए ही की जाती है। कर्ण की दिग्विजय से धर्म की स्थापना हुई अथवा नहीं, कहना कठिन है, किंतु यह तो स्पष्टतः दिखाई दे रहा है कि उसका राजनीतिक लाभ दुर्योधन को मिला ही है। वह कर्ण को एक असाधारण महावीर के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता है। उसे एक दिव्य पुरुष बनाना चाहता है। मुझे लगता है कि वह कर्ण को कुरुश्रेष्ठ भीष्म का विकल्प बनाना चाहता है। शायद इसलिए कि भीष्म उसके अधीन होते हुए भी, उसके नियंत्रण में नहीं है। कर्ण उसके नियंत्रण में तो है ही, वह उसकी प्रसन्नता के लिए कुछ भी कर सकता है। अपना चर्म भी उधेड़ कर दे सकता है।" व्यास रुककर मुस्कराए, "इतना ही नहीं, दुर्योधन भीष्म और द्रोण को भी प्रसन्न करने के लिए सब कुछ कर रहा है। अब वह उनकी उपेक्षा नहीं करता, उनके प्रति आदर का प्रदर्शन करता है। ... मुझे उसमें एक और भारी परिवर्तन दिखाई दे रहा है।"

"क्या ?"

"उसने वैष्णवी यज्ञ तो किया ही है। अब वह ब्राह्मणों का मन जीतने का भी प्रयत्न कर रहा है। कुछ ऋषियों-मुनियों की ओर भी उसने मित्रता का हाथ बढ़ाया है।" व्यास बोले, "इन दिनों वह बहुत धर्मपरायण हो गया लगता है। धर्मपरायण से मेरा तात्पर्य उसकी आत्मा से नहीं, मात्र कर्मकांड से ही है। दान की मात्रा में वृद्धि हुई है। ब्राह्मणों का आवागमन भी बढ़ गया है।"

"मैंने तो समझा था कि वह अपनी सैनिक शक्ति बढ़ा रहा होगा, पर ..." युधिष्ठिर ने कहा।

"सैनिक शक्ति तो वह बढ़ा ही रहा है।" महर्षि ने उत्तर दिया, "किंतु वह कर्मकांड तथा तपस्वियों की सद्भावना से भी कुछ पाना चाहता है। क्या पाना चाहता है, यह अभी स्पष्ट नहीं है। पर तुम्हें सावधान रहने की आवश्यकता है।"

"यदि दुर्योधन धर्म की ओर बढ़ रहा है, तो उसमें मुझे सावधान रहने की क्या आवश्यकता है ?"

"वह जो कुछ भी कर रहा है, वह तुम्हारे लिए शुभ नहीं है।" व्यास बोले,

"वह तुम्हें क्षति पहुँचाने का प्रयत्न अवश्य करेगा।"

"अब क्या क्षति पहुँचाएगा।" युधिष्ठिर मुस्करा रहे थे, "मेरा सर्वस्व तो उसने छीन ही लिया है।"

व्यास जैसे अपने भीतर कहीं डूब गए। थोडी देर में उबरे तो बोले, "प्रथम स्थिति यह थी कि दुर्योधन तुम्हें कुछ देना नहीं चाहता था। वह तुमसे कोई संबध नहीं रखना चाहता था, क्योंकि तुम्हें अपना भाई मानते ही उसके हाथ से हस्तिनापुर का राज्य चला जाता। उसने तुम लोगो की हत्या करने का प्रयत्न किया, क्योकि वह राज्य चाहता था। फिर जब तुम्हें खांडवप्रस्थ देकर एक किनारे कर दिया गया और हस्तिनापुर उसके लिए आरक्षित हो गया, तो उसकी चिंता दूर हो गई। यह द्वितीय स्थिति थी। तुम्हारे राजसूय में उसने देखा कि तुम्हारे पास कितना धन है, तो वह अपना राज्य पा कर ही संतुष्ट नहीं रह पाया। उसने तुम्हारा धन छीनने का षड्यंत्र रचा। यह तीसरी स्थिति थी। तुम्हें वंचित कर उसका लोभ एक दूसरी ओर बढा। वह तुम्हे अपमानित करना चाहता था। उसके लिए उसे तुम्हारे प्राण लेने की आवश्यकता नहीं थी। तुम लोगों के जीवित न रहने से उसे कोई लाभ नहीं था। वह चाहता था कि तुम लोग जीवित रहो और उसका वैभव देख कर कष्ट पाओ। तुम्हें तडपाने के लिए भी आवश्यक था कि तुम जीवित रहो। यह चौथी स्थिति थी। ... किंतु जब से उसके मन में राजसूय करने की इच्छा जागी है और उसे ज्ञात हुआ है कि तुम्हारे जीवित रहते वह राजसूय नहीं कर सकता, तब से वह तुम्हारे प्राणों का ग्राहक हो गया है। उसके राजसूय के लिए आवश्यक है कि युधिष्ठिर जीवित न रहे। इसलिए अब बात न तुम्हे कुछ देने की है, न तुमसे कुछ छीनने की, न तुम्हें तुम्हारी निर्धनता में अपमानित करने की, अब तो वह किसी भी प्रकार तुम्हारा अस्तित्व ही समाप्त करना चाहेगा।"

पॉचो पांडव और द्रौपदी ही नहीं, धौम्य मुनि के साथ विशोक तथा इंद्रसेन और उनके परिवार भी जैसे निस्पंद हो गए थे।

"किंतु चिंतित होने की बात नहीं है युधिष्ठिर ! मै तुम्हें चेतावनी देने तो आया हूँ, परंतु हताश करने नहीं आया।" महर्षि मुस्कराए, "हस्तिनापुर मे रह कर कोई देखे तो लगता है कि सारा जंबुद्वीप जैसे दुर्योधन की मुट्ठी में है। सारे राजा उसके साथ, सारे योद्धा उसके साथ, सारी सेनाएँ उसके साथ; किंतु यदि हस्तिनापुर से बाहर निकल आया जाए, सारे महाद्वीप का भ्रमण किया जाए, तो ज्ञात होता है कि इन अधर्मपरायण शक्तियों से जूझने के लिए, धर्मपरायण शक्तियॉ भी अपने पर तौल रही है। वे सब दुर्योधन को, उसके संगी- साथियों को पराजित देखना चाहती हैं। अभी यह कहना कठिन है, कि यदि युद्ध हुआ तो कौन किस ओर होगा; किंतु इतना आश्वासन मै तुम्हें देता हूँ कि तुम्हें मित्रों

का अभाव नहीं होगा। वासुदेव कृष्ण तुम्हारे साथ हैं, तो धर्म तुम्हारे साथ है। और जहाँ धर्म होता है, वहीं जय भी होती है धर्मराज ! यदि तुम्हारा पक्ष पराजित हो गया तो संसार से धर्म मिट जाएगा, जो संभव नहीं है। इसलिए विजय तुम्हारी ही होगी। मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि तुम सावधान रहो और युद्ध की तैयारी की दृष्टि से भी कुछ विचार कर लो।"

"जैसी आपकी आज्ञा पितामह !" युधिष्ठिर ने हाथ जोड दिए।

22

दुर्योधन ने अति विनीत भाव से दुर्वासा के चरणों को स्पर्श ही नहीं किया, उन्हें जैसे थाम ही लिया। लगा, वह उनके चरणों को कभी छोड़ेगा ही नहीं।

"उठो वत्स !" दुर्वासा बोले, "आज तक तो मैंने यही सुना था कि तुम्हें तपस्या और तपस्वियों में कोई रुचि ही नहीं है। सामान्य जन न तुम्हें आस्तिक मानता है,न भक्त। फिर मुझमें तुम्हारी इतनी भक्ति कैसे जाग्रत हो गई ?"

दुर्योधन ने उनके चरण तो छोड दिए, किंतु उठ कर खड़ा नहीं हुआ। हाथ जोड़े, घुटनों के बल, उनके सम्मुख बैठा रहा, "भक्ति का क्या कारण हो सकता है ऋषिवर ! ये तो आपके ही गुण हैं कि मुझ जैसा अकिंचन भी भक्त बन गया। मैंने उस अदृश्य ईश्वर के विषय में चिंतन किया हो या न किया हो; किंतु देहधारी ईश्वर के गुणों का तो सदा ही प्रशंसक रहा हूँ।"

"मुझे मूर्ख मत समझो दुर्योधन !" दुर्वासा बोले, "मुझे ज्ञात है कि आज तक किसी भी तपस्वी के प्रति तुम्हारा व्यवहार सम्मानजनक नहीं रहा। तुमने हृदय से कभी किसी साधक का आदर सत्कार नहीं किया; किसी को आमंत्रित करना तो बहुत दूर की बात है। फिर भी इतने आग्रहपूर्वक तुमने मुझे बार-बार आमंत्रित किया है। मैं इसे क्या समझूँ ? मेरे प्रति तुम्हारा ऐसा भाव क्यों है ?"

"आप कुछ दिन यहाँ निवास कर देखें महाराज !" दुर्योधन, उनका प्रश्न एक प्रकार से टाल गया, "आप देखेंगे कि मैं आपका कितना निष्ठावान भक्त हूँ।"

दुर्वासा ने अपनी आँखें ऊपर उठाई, तो उनमें तनिक भी कोमलता नहीं थी।

"मेरी बात ध्यान से सुनो, राजा दुर्योधन !" दुर्वासा बोले, "न तो मै अपने विषय में किसी भ्रम में हूँ, न तुम्हारे विषय में। मैं जानता हूँ कि जो लोग, मेरे प्रति श्रद्धा और भक्ति दर्शाते हैं, उनके मन में या तो भय होता है, अथवा लोभ।

उन्हें भय होता है कि अप्रसन्न हो कर कहीं मैं उनका कोई अहित न कर बैठूँ। या फिर वे अपने मन में कोई कामना ले कर मेरे प्रति भक्ति प्रकट करते हैं।" दुर्वासा ने रुक कर दुर्योधन को देखा, "भयभीत तो वे होते हैं, जिनके द्वार पर मैं स्वयं प्रकट हो जाता हूँ। तुम्हारे द्वार पर मैं स्वयं नहीं आया हूँ। तुमने बार-बार मुझे निमंत्रण भेजा है। सेवा का अवसर देने का आग्रह किया है। इसलिए तुम मुझसे भयभीत नहीं हो। भयभीत होते तो मुझे दूर रखना चाहते, इस प्रकार बार-बार आमंत्रित न करते। इसका अर्थ है कि तुम्हारे मन में कोई कामना है। तुम्हारे एक-एक स्पर्श मे सौ-सौ वासनाएँ हैं, याचनाएँ हैं।..."

दुर्योधन का चेहरा विवर्ण हो गया। उसने दुर्वासा को बुला तो लिया था ... किंतु जो कुछ भी वे कह रहे थे, उसमें से पहले ही अप्रसन्नता झलक रही थी ...

"किंतु तुम्हें भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं ।" दुर्वासा ने जैसे आश्वासन दिया, "मैं सकाम भक्ति को भी बुरा नहीं मानता। यदि मन में कोई कामना ले कर तुम मेरे सम्मुख आए हो, तो इसका अर्थ है कि तुम मेरे सामर्थ्य को स्वीकार करते हो, उसे सम्मान दे रहे हो। ... किंतु यह तो देखना ही पडेगा कि तुम अपनी कामना सिद्धि का कितना मूल्य चुका सकते हो। ..."

दुर्योधन समझ नहीं पाया कि दुर्वासा का संकेत किस मूल्य की ओर था। ... ऋषि को धन की कामना नहीं हो सकती। ... तो और क्या मूल्य हो सकता है ?

"चिंता मत करो।" दुर्वासा स्वयं ही बोले, "मुझे न धन चाहिए, न राज्य, न सत्ता। इसलिए मैं ऐसा कुछ नहीं माँगूँगा, जिससे तुम स्वयं को वंचित अनुभव करो। मुझे भी अपने निकट आए याचक के प्रति कोई आशंका नहीं होती, क्योंकि मेरे पास ऐसी कोई सांसारिक संपदा नहीं है, जिससे मैं वंचित किया जा सकूँ। हम तो केवल यह देखते हैं कि किसने हमारा कितना आदर और कितना अनादर किया।..." दुर्वासा ने रुक कर दुर्योधन की ओर देखा, "इसलिए सोच-विचार कर लो राजन् ! अभी मैं तुम्हारे द्वार पर आया ही हूँ। तुम्हारा आतिथ्य अभी मैंने स्वीकार नहीं किया है। अभी मैं लौट भी सकता हूँ; किंतु टिक गया तो अपनी घोरतम उच्छृंखल इच्छाओं का अनादर भी मुझे सहन नहीं होगा।"

दुर्योधन को क्या सोचना था। वह तो पहले ही सब कुछ निश्चित कर चुका था। बोला, "अहो भाग्य। आपने मेरा निमंत्रण स्वीकार किया। अब मुझे क्या सोचना-विचारना है ऋषिवर ! अब तो बस आप मुझे अपनी सेवा करने की अनुमति दे।"

"मेरे सहस्रों शिष्य भी मेरे साथ यहीं निवास करेंगे।" दुर्वासा बोले, "चाहो तो अब भी अस्वीकार कर सकते हो, क्योंकि तुमने निमंत्रित तो केवल मुझे ही

किया था। तुम नहीं जानते थे कि मेरे इतने सारे शिष्य मेरे साथ यात्रा कर रहे हैं।"

"आप तनिक भी चिंता न करें तपस्विश्रेष्ठ !" दुर्योधन अत्यंत मधुर ढंग से बोला, "हस्तिनापुर राज्य में इतना सामर्थ्य तो है ही कि वह ऋषियों तथा उनके प्रिय शिष्यों की सेवा कर सके।... सचमुच मैं नहीं जानता था कि आपके साथ आपके इतने शिष्य यात्रा कर रहे हैं। यह तो मेरा सौभाग्य है कि आपके निकट रहनेवाले, आपके कृपापात्र इतने शिष्यों की चरण-धूलि मेरे घर में पड़ी।..."

दुर्योधन की मुस्कान उसके अधरों पर ही जम गई : दुर्वासा के चेहरे से वितृष्णा टपक रही थी। उसकी किस बात से ऋषि का मुख कसैला हो गया ?

"मुझे इस प्रकार की शब्दावली से बहुत घृणा है।" दुर्वासा बोले, "न तो हम इतने गंदे हैं कि अपने पैरों के साथ धूल मिट्टी लाकर तुम्हारे प्रासाद का प्रांगण गंदा करें; और न तुमको धूल इतनी प्रिय है कि हमारे चरणों के साथ आई जान कर, तुम अपने प्रासाद की सफाई नहीं करवाओगे और उस धूलि को उठवाकर बाहर नहीं फिंकवाओगे।" दुर्वासा ने रुक कर उसकी ओर देखा, "अब तत्काल हमारे ठहरने की व्यवस्था करो; और भोजन भी तत्काल। मैं और मेरे शिष्य बहुत भूखे हैं।..."

"आपके लिए तो मैंने अपने प्रासाद में ही व्यवस्था कर दी है।" दुर्योधन बोला, "आपके शिष्यों के लिए नगरद्वार के बाहर गंगा तट पर ..."

"नहीं !" दुर्वासा बोले, "मेरे शिष्य मेरे साथ ही रहेंगे। वैसे तो उचित था कि तुम हमें अपने प्रासाद में, अपने निकट ही ठहराते, किंतु लगता है कि तुम्हारे पास कोई इतना बड़ा प्रासाद ही नहीं है, जिस में सहस्रों व्यक्ति ठहर सकें। तो तुम नगर द्वार के बाहर गंगा तट पर ही हमारे ठहरने की व्यवस्था करो। ... किंतु व्यवस्था के लिए जिस व्यक्ति को भी नियुक्त करो, वह तुम्हारा प्रिय हो, विश्वसनीय हो, अधिकारयुक्त हो; और प्रबंधपटु हो। हम कुछ माँग बैठे और वह यही कहता रहा कि मैं युवराज से पूछ आऊँ, तो मुझे तनिक भी अच्छा नहीं लगेगा।"

दुर्योधन के प्राण उसके नखों में समा रहे थे : कहीं यह औघड़ ऋषि अपने शिष्यों सहित, राजप्रासाद में ही ठहरने की हठ न ठान ले। उसे आज तक किसी ने नहीं बताया था कि दुर्वासा के संग उनके शिष्यों की इतनी बड़ी सेना चलती है। यदि पहले से ही प्रबंध न कर लिया गया हो, तो किसी भी राजप्रासाद में अकस्मात् ही सहस्रों संन्यासी नहीं ठहराए जा सकते।... किंतु गंगा तट पर इसका प्रबंध हो सकता है। उसमें कोई कठिनाई नहीं है।

"आप चिंता न करें ऋषिवर !" दुर्योधन ने अपने स्वर में असाधारण माधुर्य मिश्रित किया, "मैं स्वयं आपके निकट रहूँगा। संचित कर्मो के पुण्यस्वरूप हाथ मे आया, आपकी सेवा का यह सौभाग्य नहीं छोड़ूँगा।"

"तुम अपना राजप्रासाद छोड़ कर हमारे साथ रहोगे ?" दुर्वासा के स्वर में पूर्ण अविश्वास ही नहीं, वितृष्णा का भाव भी था, "अपना राजप्रासाद त्याग कर, अपनी रानियों का सुख छोड कर, हमारे निकट रहोगे?"

"हॉ ऋषिवर ! आपके चरण धोने का सुख मैं किसी और को नहीं दे सकता।" दुर्योधन बोला, "आपकी सेवा के सुख के सम्मुख राजप्रासाद का सुख अत्यत तुच्छ है महाराज !"

"वैसे तो तुम सर्वथा मिथ्या-भाषण कर रहे हो दुर्योधन !" दुर्वासा सहज भाव से बोले, "जिन्हें ऋषियो के चरण धोने में, राजप्रासादों के भोग भोगने से अधिक सुख अनुभव होता है, वे द्यूतसभाओं में अपने ही भाइयों के राज्य का अपहरण नहीं करते ... पर मुझे तुम्हारी व्यक्तिगत नीतियों से क्या लेना-देना।" वे रुके, "तुम यह तो नहीं समझ रहे कि हम दो-तीन दिनों में चले जाएँगे ?"

"नहीं महाराज ! दो-तीन दिनों में मेरी तृप्ति कैसे होगी।"

"मेरे वास की कोई सीमा नहीं होती।" दुर्वासा बोले, "मैं लंबे समय के लिए भी ठहर सकता हूँ; और एक आध प्रहर में भी प्रस्थान कर सकता हूँ।"

"मैं हस्तिनापुर में आपके दीर्घकालीन आवास का इच्छुक हूँ महाराज !"

दुर्वासा चुपचाप उसे देखते रहे, फिर बोले, "तुम्हारी कामना तुम्हारे प्रासाद से भी बडी लगती है।"

कुंती ने सुना कि दुर्योधन ने अपने प्रासाद में, दुर्वासा को आमंत्रित किया है; और दुर्वासा अपने सहस्रों शिष्यों के साथ हस्तिनापुर पधारे हैं। ... उसका हृदय किसी बड़े अनिष्ट की आशंका से कराह उठा। दुर्वासा को कभी कोई अपने घर पर आमंत्रित नहीं करता ... जिसके द्वार पर वे पहुँच जाते हैं, वह मान लेता है कि ग्रहों की कुदृष्टि के कारण, उस पर कोई महान् संकट आया है, जिसे उसे धैर्यपूर्वक सहन करना है।... जिस दिन दुर्वासा किसी के घर से विदा होते हैं, उस दिन लोग हाथ जोड़ कर प्रभु का धन्यवाद करते हैं कि एक दुष्ट ग्रह टल गया।... उस दुर्वासा को दुर्योधन ने स्वयं अपने घर पर आमंत्रित किया था।...

दुर्योधन के मन में न तप-त्याग के लिए कोई सम्मान है, न सात्विकता के लिए। वह आज तक अपने घर में बैठे भीष्म, व्यास और विदुर का सम्मान नहीं कर पाया। घर आए तपस्वियों का उसने अपमान किया। कृष्ण से समधी

का नाता तो जोड़ लिया, किंतु उससे प्रेम नहीं कर पाया। ... वही दुर्योधन दुर्वासा को आमंत्रित कर, उनकी सेवा करना चाहता है ?

हस्तिनापुर के आसपास, तपस्वियों की कमी नहीं थी। महर्षि वेदव्यास का आश्रम कौन-सा दूर था। अन्य किसी सात्विक ऋषि को आमंत्रित नहीं किया दुर्योधन ने। दुर्वासा को ही क्यों चुना ? इसलिए कि उनकी ख्याति एक अत्यंत क्रुद्ध तपस्वी की है ? ... स्मरण है कुंती को, जब वे कुंतिभोज के प्रासाद में आए थे।...कुंती को बार-बार कहा था कुंतिभोज ने, "पुत्रि ! स्मरण रहे, कुछ हो जाए, किंतु दुर्वासा अप्रसन्न न हों। उनकी अप्रसन्नता से बचने के लिए कोई मूल्य अधिक नहीं है।..." कुंती जानती है, दुर्वासा के प्रति किसी के मन में श्रद्धा नहीं है। लोग उनसे भयभीत रहते हैं। ऋषि अप्रसन्न न हों, ऋषि शाप न दे दें। ... कुंती ही जानती है कि ऋषि को प्रसन्न रखने के लिए, उसे क्या-क्या प्रयत्न करना पड़ा था... .कितना और कैसा मूल्य चुकाया था उसने ...

पर उस तपस्या का भी क्या लाभ, जिससे तपस्वी अपना क्रोध ही न जीत पाए। तितिक्षा तो तपस्या का पहला लक्षण है... और दुर्वासा में वही नहीं है। ... वे तो कुछ भी सहन नहीं कर सकते। अपने आदेश की अवज्ञा और असम्मान तो बहुत दूर की बात है, वे तो अपनी इच्छा के विरोध की संभावना मात्र की आशंका से ही, क्रोध से जल उठते हैं। उनसे किसी प्रकार की सज्जनता की अपेक्षा नहीं की जा सकती। कैसी तपस्या है उनकी, जिसने न क्रोध को जीता, न अहंकार को।... लोग साधना तो करते हैं, किंतु यह नहीं जानते कि साधना का लक्ष्य क्या है। मार्ग अवरोधकों को ही वे अपनी उपलब्धि मान कर, उन्हीं पर मुग्ध हो जाते हैं।... कुछ ऐसा ही हुआ है, दुर्वासा के साथ भी। साधक तो वे हैं, उग्र तपस्वी भी हैं। कदाचित् उन्होंने प्रकृति से कुछ असाधारण शक्तियाँ भी प्राप्त कर ली हैं... किंतु उनके व्यक्तित्व का विकास नहीं हुआ।... प्रभु की लीला तो अद्भुत है ... प्रभु धन देते हैं, तो एक व्यक्ति दान करता है और दूसरा व्यक्ति उसी धन को पा कर भोग में आकंठ लिप्त हो जाता है। सत्ता मिलती है, तो एक न्याय करता है, अत्याचार का दमन करता है; और दूसरा उसी सत्ता का दुरुपयोग कर, अन्याय को बल प्रदान करता है, स्वयं अत्याचारी हो जाता है। शारीरिक बल मिलता है तो एक दुर्बलों की रक्षा करता है, और दूसरा उसी बल से दुर्बलों का दमन करता है। ज्ञान मिलता है तो एक में विनय प्रस्फुटित होती है, वह अपने ज्ञान से अपने और दूसरों के बंधन काटता है; और दूसरा उसी ज्ञान से अहंकारी हो कर, अबोध लोगों का शोषण करता है, उन्हें भ्रम मे डालता है। ... कितने ही उदाहरण हैं, इतिहास में कि एक व्यक्ति ने उग्र साधना की, स्वयं को तपाया, ईश्वर को प्रसन्न किया, कितु उससे उसकी भक्ति न माँग, अपने लिए कोई शक्ति माँग ली ... और फिर उसी शक्ति के अहंकार मे वह

राक्षस हो गया।... तपस्या कर, साधना कर, भक्ति कर, अंत में व्यक्ति राक्षस हो जाए—इससे बडा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है। हे प्रभु ! ... तू और कुछ दे, न दे, मनुष्य को सात्विक बुद्धि अवश्य दे, ताकि वह अपनी क्षमताओं का उचित उपयोग कर सके।...

प्रात. दुर्योधन की आँखें खुलीं, तो वह एक असाधारण प्रकाश देख कर चौंक उठा। वह अपने मडप से बाहर निकला, तो देखा कि महर्षि दुर्वासा और उनके शिष्यों के लिए निर्मित सारे कुटीर, धू धू जल रहे थे।... उसकी समझ में नहीं आया कि वह क्या देख रहा था। ... किसी की असावधानी से एक आध कुटीर का जल जाना एक बात थी, किंतु यह ... सहस्रों कुटीरों का इस प्रकार एक साथ जल जाना ... सर्वथा असंभव। किंतु असंभव क्यों ? वह अपनी ऑखों के सम्मुख, वह सब कुछ घटित होते देख रहा था। सहस्रों कुटीर उसके सम्मुख जल रहे थे...

दुर्योधन के मेरुदंड पर जैसे एक साथ ही सहस्रों ततैये काटने लगे... जाने ऋषि कहॉ हैं, और क्या कर रहे हैं। संभव है, निकट के घाट पर स्नान करने गए हों। अभी उनकी दृष्टि इस अग्निकांड पर पड़ेगी और वे स्वयं भी इन्हीं कुटीरों के समान ही धधक उठेंगे।.... तब दुर्योधन का क्या होगा ? और यदि उनका कोई एक आध शिष्य भी इसी अग्नि में स्वाहा हो गया, तो ???

अकस्मात् ही उसके मन ने एक युक्ति सोच ली ... संभव है कि यह अग्निकांड पांडवों ने किया हो। ... किंतु पांडव तो यहॉ हैं नहीं । वे रातों-रात काम्यक वन से आकर यहाँ ऐसा कांड कर जाऍ—ऐसा तो संभव नहीं है। संभवतः यह उनके किसी मित्र ने किया हो। ... विदुर अथवा किसी और ने ... कुंती भी तो यहीं है, हस्तिनापुर में। ... उन्होंने खांडववन में ऐसा ही अग्निकांड किया था। जो लोग एक पूरा वन जला सकते हैं, वे क्या कुछ सहस्र कुटीर नहीं जला सकते ?...

पांडवों ने किया हो या न किया हो, यह आरोप तो उन पर मढ़ा ही जा सकता है। फिर यदि दुर्वासा पांडवों से क्रुद्ध हो कर उनका कुछ अनिष्ट कर बैठें ...

दुर्योधन को लगा कि इस अग्निकांड में भी उसके लिए एक वरदान छिपा हुआ है।

अपने शिष्यों में घिरे दुर्वासा उसे अपनी ओर आते दिखाई दिए। वे लोग आग

में जलते उन कुटीरों के मध्य मे से आ रहे थे; किंतु न वे क्षुब्ध थे, न रुष्ट। वे तो परम संतुष्ट दिखाई दे रहे थे।

दुर्योधन ने प्रणाम किया तो दुर्वासा ने हाथ उठा कर उसे आशीर्वाद दिया, "तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हो पुत्र !"

"गुरुदेव ! यह अग्नि।" दुर्योधन ने अपनी ओर से आश्चर्य प्रकट किया।

"हाँ। आज अपने शिष्यों को पंचाग्नि ताप का अभ्यास कराने की प्रेरणा हुई, इसलिए इन कुटीरों को अग्निदेव को समर्पित कर दिया। तुम जानते ही हो दुर्योधन ! कि पंचाग्नि ताप में अग्नि की आवश्यकता होती है। तो इसी से कार्य हो जाएगा। वैसे भी यदि यहाँ कुटीर खडे रहते, तो कोई साधक अपनी कुटिया में आश्रय ले सकता था। कुटीरों के कारण इस क्षेत्र में छाया रहती। छाया में बैठ कर पंचाग्नि साधना का क्या अर्थ। इसलिए मैंने इन सारे कुटीरों को अग्निदेव को समर्पित कर दिया।" वे रुके, "अब जो दो-तीन काम तुम्हें करने हैं, उन्हें सुनो।"

"आदेश करें महाराज !"

"संध्या समय तक मेरे शिष्यों का पंचाग्नि-ताप चलेगा; किंतु रात को तो उनको विश्राम करने के लिए कुटीरों की आवश्यकता होगी। तुम ऐसी व्यवस्था करो कि रात्रि तक उनके लिए कुटीर बन कर तैयार हो जाएँ।"

दुर्योधन को लगा कि यदि उसने स्वयं को संयत नहीं रखा तो उसके हाथ इस वृद्ध तपस्वी का कंठ मरोड़ देंगे। ... क्या अर्थ है इस सबका। कल संध्या को कुटीर बने और आज प्रातः वे अग्निसात कर दिए गए, क्योंकि उनको अपने शिष्यों को पंचाग्नि ताप का अभ्यास कराना था।... और अब रात्रि तक उनको फिर सहस्रों कुटीर चाहिए। यदि कहीं दुर्योधन ने उन्हें अपने प्रासाद में ठहरा लिया होता, अथवा उनके लिए एक नया प्रासाद बनवा दिया होता, तो वे उसे भी इसी प्रकार अग्निसात् कर बडे अबोध और निर्मल भाव से कह देते कि संध्या समय तक उनके लिए नए प्रासाद का निर्माण करवा दिया जाए। ...

"पुत्र ! एक बात और।" दुर्वासा बोले, "संध्या समय हमें पाँच सहस्र लोगों के लिए भोजन चाहिए।"

"क्यों ?" अनायास ही दुर्योधन के मुख से निकल गया; किंतु उसने तत्काल ही स्वयं को सँभाला, "मेरा अभिप्राय है कि क्या आपके पास इतने अतिथि आ रहे हैं ? यदि इतने अतिथि आ रहे हैं, तो केवल भोजन से ही तो काम नहीं चलेगा। उनके आवास की भी तो व्यवस्था करनी होगी।"

दुर्योधन का मन थर-थर काँप रहा था... कहीं इस हठी संन्यासी ने कह दिया कि हाँ ! मेरे अतिथियों के लिए पाँच सहस्र कुटीरों का निर्माण और करवा दो ... तो वह दुर्योधन के लिए भी संभव नहीं हो पाएगा।

"नहीं। अतिथि नहीं आ रहे है।" दुर्वासा ने कहा, "हठयोग के अंतर्गत मैं अपने शिष्यो को अति भोजन का अभ्यास कराना चाहता हूँ। उस अभ्यास में एक व्यक्ति अपने नियमित भोजन से पाँच गुना अधिक खाता है।" दुर्वासा ने रुक कर उसकी ओर देखा, "किंतु यह भी सोचता हूँ कि पंचाग्नि ताप के पश्चात् यदि अति भोजन के लिए उनमें क्षमता ही न बची, तो वे उस भोजन को खा नहीं पाएँगे। ऐसे में पाँच सहस्र व्यक्तियों का वह अतिरिक्त भोजन कहाँ जाएगा ?"

अवाक् दुर्योधन, दुर्वासा की ओर देखता रहा ... क्या कहे वह इस उग्र तपस्वी को--पाँच सहस्र व्यक्तियों का वह भोजन क्या फेंक दिया जाएगा ?

"वह साधकों के लिए पकाया गया भोजन होगा। उसे गंगा की मछलियों को नहीं खिलाया जा सकता। उसे तो नैष्ठिक ब्राह्मणों के ही उदर मे जाना चाहिए। इसलिए तुम पाँच सहस्र नैष्ठिक ब्राह्मण भी तैयार रखना, ताकि यदि मेरे शिष्य वह भोजन न करें, तो वे नैष्ठिक ब्राह्मण, उस भोजन को सम्मानपूर्वक खा सकें। ..."

दुर्वासा आदेश दे कर चले गए और दुर्योधन मन ही मन ऐंठता खडा रह गया ... यह क्या किया दुर्योधन तू ने ? यह तपस्वी नहीं, कोई भयंकर कृत्या है। यह तो तेरा सारा रक्त पी कर टलेगा, यहाँ से।

संध्या समय तक एक सहस्र कुटीरों का निर्माण होना है। जहाँ वर्तमान कुटीर थे, वहाँ ऋषि के शिष्य संध्या तक पंचाग्नि ताप का अभ्यास कर रहे होंगे। इसलिए यहाँ तो कुटीर सूर्यास्त के पश्चात् ही बनाए जा सकते हैं।... तो इसका अर्थ है कि कुटीर कहीं और बनाने पडेंगे। अर्थात् कुटीर-निर्माण के साथ-साथ भूमि को समतल करने के लिए, वृक्ष काटने के लिए, व्यर्थ सामग्री को हटाने के लिए, भी समय और श्रमिकों की आवश्यकता है। और वह भोजन ! पाँच सहस्र लोगों का भोजन। यदि ऋषि के शिष्यों ने खा लिया तो ठीक यदि ऋषि ने यह निर्णय कर लिया कि उनके शिष्यों को अति भोजन अभ्यास की आवश्यकता नहीं है, तो पाँच सहस्र नैष्ठिक ब्राह्मण पहले से ही आमंत्रित होने चाहिए। ... और यदि दुर्योधन ने पाँच सहस्र नैष्ठिक ब्राह्मण आमंत्रित कर लिए, और ऋषि के शिष्यों ने अति भोजन अभ्यास कर लिया, तो उन पाँच सहस्र आमंत्रित ब्राह्मणों को, उस समय भोजन कहाँ से दिया जा सकेगा। ...'ओह दुर्वासा ! '... दुर्योधन का मन हुआ कि वह उस उग्र तपस्वी को, उसके जटाजूट से पकड़, घसीटता हुआ ले जाए और गंगा में डुबो आए।

अब दुर्योधन की समझ में आ रहा था कि दुर्वासा को औघड़ ऋषि क्यो कहा जाता है। क्यों अपने द्वार पर दुर्वासा को देख कर गृहस्थ घबरा जाता है। ... पर दुर्योधन की भी तो यह तपस्या ही थी--उसका हठयोग। यदि कहीं

वह सफल हो जाता है, तो अपने शत्रुओ को नष्ट करने का उसे एक अमोघ अस्त्र हाथ लग जाएगा। ... इस सारे कष्ट को भी युद्धाभ्यास के कष्ट के रूप में ही सहन करना पड़ेगा।...

किंतु पाँच सहस्र व्यक्तियों का अतिरिक्त भोजन ? ... दुर्योधन की उत्तेजना कुछ शांत होने लगी थी ... वह केवल भोजन की व्यवस्था करेगा ... पाँच सहस्र नैष्ठिक ब्राह्मणों को आमंत्रित नहीं करेगा ... यदि ऋषि के शिष्यों ने उस भोजन को उदरस्थ नहीं किया, तो वह कल प्रातः उस भोजन को हस्तिनापुर के निकट के गुरुकुलों में भिजवा देगा। वहाँ आचार्य भी होगे और उपाध्याय भी; गुरुकुल के कर्मचारी भी होंगे और ब्रह्मचारी भी। उनमें से किसी का भी स्थान नैष्ठिक ब्राह्मणों से हीन नहीं है।...दुर्वासा के सारे आदेश यथातथ्य रूप में स्वीकार करते जाने का कोई अर्थ नहीं है। उनसे भी कुछ न कुछ चतुराई करनी ही होगी। ... गुरुकुल में वह भोजन स्वीकार कर लिया गया, तो ठीक, अन्यथा गंगा मे विचरण करनेवाली मछलियों तक उसे पहुँचाने का कर्म अथवा दायित्व उन गुरुकुलों का ही होगा। ...

दुर्योधन को लगा कि अब वह दुर्वासा से उतना भयभीत भी नहीं है।... वस्तुतः दुर्वासा से भयभीत होने का कोई कारण भी नहीं था। वह दुर्वासा के शाप से भयभीत नहीं था। वह इन तपस्वियों के शाप और वरदान की शक्तियों में विश्वास ही नहीं करता। ... यदि इनमें ऐसी कोई शक्ति होती, तो ये कब से सब राजाओं को शाप दे कर, उन्हें मृग बना कर, किसी वन में छोड़ आए होते और स्वयं उनके सिंहासनों पर बैठे जीवन का सुख भोग रहे होते। ... वह तो मात्र इतना चाहता था कि दुर्वासा का उपयोग युधिष्ठिर के विरुद्ध कर सके। यदि वह दुर्वासा को प्रसन्न करने में सफल हो गया, तो वह उन्हें युधिष्ठिर के पीछे लगा देगा। युधिष्ठिर मानता है इन तपस्वियों को ईश्वर का अवतार। वह प्रसन्न करता रहे उन्हें। दुर्वासा उसे उसके अपने धर्म की कसौटी पर असफल सिद्ध करेंगे। उसके पश्चात् युधिष्ठिर अपने प्रायश्चित् के लिए चाहे तपस्या करे अथवा आत्महत्या।

... और यदि दुर्योधन, दुर्वासा को प्रसन्न करने में असफल रहा, तो वह कोई और माध्यम खोजने का प्रयत्न करेगा।...

संध्या समय विदुर घर लौटे तो पारंसवी ने पूछा, "आर्यपुत्र ! आज दिन भर गंगा तट पर क्या होता रहा है ?"

"क्या होता रहा है ?" विदुर मुस्कराए, "तुम बताओ।"

"मैं क्या जानूँ क्या होता रहा है।" विदुर की मुस्कान से आश्वस्त हो कर

पारंसवी बोली, "बाहर से आनेवालों से जो सूचनाएँ मुझे मिलती रही हैं, वे कहती हैं कि गंगा तट पर दिन भर अग्निदाह होता रहा है। कुछ लोग अग्नि पर उल्टे भी लटकाए गए।..."

"चीत्कारों से तो ऐसा लगता था कि कुछ लोगों को जीवित ही अग्निसात् किया जा रहा था।" कुंती बोली।

विदुर ने उन्हें दुर्वासा के दिन भर के कार्यक्रम के विषय मे बताया।

"ओह यह दुर्वासा !" कुंती जैसे अपने आपसे बोली, "मेरी तो समझ में नहीं आता कि लोग इस ऋषि से इतने भयभीत क्यों रहते हैं। क्या प्राप्त करना चाहते हैं वे इस औघड़ से ?"

"क्यों तुम्हारे विवाह से पूर्व, उन्होंने तुम्हें भी तो एक मंत्र दिया था।" विदुर बोले, "तुम्हारे पाँचों पुत्र उसी मंत्र का प्रसाद नहीं हैं ?"

कुंती की आँखों के सम्मुख वे दिन घूम गए : कितने त्रस्त थे पिता कुंतिभोज। और कितनी पीड़ित थी स्वयं कुंती।...

"मेरे पुत्र देवप्रदत्त हैं। वह ईश्वर की अनुकंपा है। दुर्वासा का मंत्र होता या न होता, इन पुत्रों का जन्म तो होना ही था। ईश्वर के मन में अपनी सृष्टि के संदर्भ में अपनी योजना होती है। वह जीवों को विशेष प्रयोजन से जन्म देता है। जो कार्य उसको जिसके माध्यम से करना होता है, उसे वह करता ही है। वे सब उसके उपकरण मात्र हैं।... यदि इन उपकरणों की उसे आवश्यकता थी, तो उसने इनका निर्माण किया। इस सारी प्रक्रिया के बीच, दुर्वासा का क्या महत्त्व है ? या मेरा ही क्या अधिकार है ?" कुंती ने कहा, "मेरे मन में आता है विदुर ! कि मनुष्य व्यर्थ ही अपने अहंकार में, स्वयं को कर्ता समझता है। अपने मोह में देह संबंधों को इतना महत्त्वपूर्ण मान लेता है। मैं मान लेती हूँ कि ये मेरे पुत्र हैं। उन्हें मैंने जन्म दिया है। उनका पालन-पोषण मैंने किया है। मैं उनके कल्याण के लिए चिंतित रहती हूँ। अशुभ से उनकी रक्षा करना चाहती हूँ। ईश्वर से उनकी संस्तुति करती हूँ कि वह उनकी रक्षा करे ..."

"तो इसमें अनुचित क्या है भाभी !" पारंसवी बोली, "अपनी संतान के लिए कौन नहीं करता।"

"इसमें सबसे पहले तो अनुचित यह है कि मैं ईश्वर के जीव को अपनी संतान समझे बैठी हूँ। जीव उसका है और मैं समझती हूँ कि वह मेरा है। जिसे उस जीव की सबसे अधिक चिंता है, उस ईश्वर के सम्मुख मैं उस जीव के कल्याण की कामना करती हूँ।" कुंती रुकी, "वह ईश्वर हम पर हँसता होगा। और हमसे भी अधिक उन पर हँसता होगा,जो किसी का अहित करने का प्रयत्न कर रहे है, योजनाएँ बना रहे हैं, संकल्प कर रहे हैं, सहायता जुटा रहे हैं।..."

"ऐसा क्यो सोचती हो भाभी !" पारंसवी ने शिशुवत् अबोध भाव से पूछा।

"मुझे पूरा विश्वास है कि दुर्योधन इस ऋषि दुर्वासा के हाथों, ये सारी यातनाएँ केवल इसलिए सहन कर रहा है कि वह ऋषि को प्रसन्न कर, उनके माध्यम से पांडवों का कोई अहित साध सके। साधारण राग-द्वेष तो ईश्वर ने प्रत्येक जीव के मन में उत्पन्न किया है; किंतु जब उनके अतिरेक से कोई, दुर्योधन के समान मनोरोगी हो जाता है, तो उसके सारे प्रयत्न किसी एक बिंदु पर आकर अटक जाते हैं। उसके विचारो की गतिशीलता समाप्त हो जाती है। दुर्योधन आठों प्रहर, जागते-सोते केवल पांडवों के अहित की बात सोचता है... दुर्वासा के हस्तिनापुर आगमन का संबंध भी उसी प्रयोजन से है।..."

"कहीं ऐसा तो नहीं भाभी ! कि तुम्हारे विचारों की गतिशीलता भी समाप्त हो चुकी है और वे भी आकर एक बिंदु पर अटक गए हैं।" विदुर बोले, "तुम्हारी इस आशंका का भी कोई कारण होना चाहिए।"

"कारण तो है मेरा मन। हाँ, मेरे पास इसका कोई भौतिक प्रमाण नहीं है।" कुंती ने उत्तर दिया, "किंतु इस प्रकार का कोई प्रमाण तो ईश्वर के अस्तित्व का भी नहीं है।"

विदुर मौन हो गए। वे मन ही मन कुंती की आशंका से सहमत तो हो चुके थे, फिर भी यह जानने का प्रयत्न कर रहे थे कि क्या कुंती के पास इसका कोई छोटा-मोटा प्रमाण भी था ?

"अब दुर्योधन के मन की तो वही जाने।" पारंसवी ने कहा।

"नहीं । ऐसी बात नहीं है।" कुंती ने धीरे से प्रतिवाद किया, "यदि विदुर दुर्योधन के मित्रों पर दृष्टि रखें, तो उन लोगों के पारस्परिक वार्तालाप में कोई न कोई प्रमाण अवश्य मिल जाएगा।"

"तुम ठीक कहती हो भाभी।" विदुर बोले, "कठिनाई केवल यह है कि दुर्योधन आजकल अधिकांशतः दुर्वासा की सेवा में ही रहता है। इसलिए वह अपने मित्रों के साथ आपानकों में सम्मिलित नहीं होता; अन्यथा आपानकों में उपस्थित दासियों के माध्यम से अब तक सब कुछ ज्ञात हो गया होता।"

"फिर भी विदुर ! प्रयत्न तो करना ही चाहिए।" कुंती ने कहा, "आपानक न भी हों, दुर्योधन के मित्रों के प्रासादों में उनकी निजी दासियाँ है। उनसे कुछ भी गोपनीय नहीं है। तुम यदि कहो कि दुःशासन के मन की बात उसकी रानी नहीं जानती, तो मैं तुम्हारा विश्वास कर लूँगी, किंतु यदि तुम यह कहो कि उसके मन की बात कामवल्लरी नहीं जानती, तो मैं तुम्हारा विश्वास नहीं करूँगी।..."

विदुर स्तब्ध से खड़े कुंती की ओर देखते रह गए। कुछ क्षणों में उनमें सक्रियता जागी। उनके नयनों में कुंती के प्रति प्रशंसा का भाव था और अधरों पर मुस्कान, "भाभी ! तुम्हें तो किसी बड़े साम्राज्य की गुप्तचर विभाग की

अधिनायक होना चाहिए था। ... तुम तो यह तक जानती हो कि राजकुमार के मन में कौन-सी दासी कहाँ तक धँसी हुई है।..."

"मैं तुमसे अत्यंत प्रसन्न हूँ दुर्योधन ! तुमने मेरी अद्‌भुत सेवा की है।" दुर्वासा ने प्रसन्नता प्रकट करने के लिए, अपने दोनों हाथ ऊपर उठा दिए, "मेरी प्रसन्नता व्यर्थ नहीं जा सकती। वह अमोघ है। इसलिए तुम मुझसे एक वरदान माँग लो।"

"वरदान !" दुर्योधन अत्यधिक प्रसन्न था।... उसका लक्ष्य आज पूर्ण हुआ था। उसने इस औघड ऋषि के विक्षिप्त मन के सारे उतार-चढ़ावों के पश्चात् भी दुर्वासा को अप्रसन्न होने नहीं दिया था।... और आज विदा होते हुए, वे उसे एक वरदान देने को तत्पर थे।

'क्या वह ऋषि से वरदान के रूप में पांडवों की मृत्यु माँग ले ?' उसने सोचा, 'शायद नहीं । संभव है कि ऋषि को यह अच्छा न लगे।... राज-समाज भी इसको नहीं सराहेगा। ... इसमें योद्धा के रूप में दुर्योधन को यश भी क्या मिलेगा ?... और फिर दुर्वासा तो वही वरदान दे सकते हैं, जो उनके सामर्थ्य में हो।... किसी का जीवन और मृत्यु उनके वश में नहीं है। यदि वे अपने मुख से ऐसी बात कहें भी, तो वह उनका विश्वास नहीं करेगा ...

"यदि आप मुझ पर सचमुच प्रसन्न हैं महाराज ! दुर्योधन अपने चेहरे पर एक छद्‌म विनय ले आया, "तो हमारे समग्र कुटुंब पर अपनी दया-दृष्टि रखें। हमारे परिवार में धर्मराज युधिष्ठिर सबसे ज्येष्ठ हैं। वे मेरे अग्रज हैं। इस समय वे अपना राज्य त्याग कर वन में साधना कर रहे हैं। वे धर्म के मर्मज्ञ हैं। भक्ति भावना से पूर्ण हैं। वे ईश्वर के बहुत निकट है। उन पर महात्माओं की दया दृष्टि होनी ही चाहिए। आपने जिस प्रकार मुझ पर दया कर, मेरे घर पधारने की कृपा की है, उसी प्रकार उन पर भी कृपा करें। उनके आश्रम पर पधार कर, उन्हें अपने दर्शन दें। उनका आतिथ्य ग्रहण करें। अपने सहस्र शिष्यों के साथ, उनके पास कुछ दिन निवास करें।"

दुर्वासा इतने अबोध नहीं थे कि दुर्योधन की पांडवों के प्रति शत्रुता को-न जानते हों। न ही वे राज-समाज से इतने कटे हुए थे कि हस्तिनापुर की द्यूतसभा की घटनाओं से अनभिज्ञ रहे हों। उन्हें आश्चर्य हुआ कि दुर्योधन युधिष्ठिर के प्रति इतना सौहार्द दिखा रहा है। दुर्वासा जैसे ऋषि को प्रसन्न करके भी, वह उनसे अपने लिए कुछ नहीं माँग रहा था। वह युधिष्ठिर के लिए याचना कर रहा था। उस पर कृपा करने के लिए कह रहा था।...

पिछले कुछ दिनों के साहचर्य में दुर्वासा ने दुर्योधन को कुछ-कुछ पहचाना था। वह न सरल था, न ऋजु। भयंकर कुटिल था वह। मन में कालकूट विष

को संजोए हुए भी वह अपने अधरों से मधु की वर्षा कर सकता था। यह संस्कार कदाचित् उसने अपने पिता से पाया था। वह किसी अन्य के विकास के लिए चाहे एक दमड़ी न दे सके, किंतु किसी के विनाश के लिए अपना साम्राज्य भी दॉव पर लगा सकता था। वह अपने लिए वरदान मॉग रहा था कि दुर्वासा अपने सहस्र शिष्यों के साथ युधिष्ठिर के पास वन में जाएँ और उसका आतिथ्य ग्रहण करें।...

"युधिष्ठिर वन में साधना कर रहा है ?" दुर्वासा ने पूछा।

"हाँ महाराज !" दुर्योधन बोला, "उनके निकट निवास करने में आपको कोई असुविधा नहीं होगी। वन में कुटीर निर्माण के लिए बहुत भूमि होती है।"

"और भोजन के लिए फलों का भी अभाव नहीं होता।" दुर्वासा बोले।

"हाँ महाराज !" दुर्योधन बोला, "पांडवों का क्या है। वृक्षों से फल तोड लेंगे, मृगों का आखेट कर लेंगे। वन में रहते हैं किंतु राजाओं के समान रहते है। आरण्यक ब्राह्मण उनके साथ हैं, जो प्रतिदिन उनकी स्तुति करते हैं। पांडव राजाओं के समान उन ब्राह्मणों को दान देते हैं। उनके सेवक और सेवकों के परिवार उनके साथ रहते हैं। उनके पास रथ और अश्व हैं। अस्त्र और शस्त्र हैं। ठीक है कि वन में रहते हैं, इसलिए राज्य नहीं है, सेना नहीं है, कोष नहीं है; किंतु न भिक्षुकों के समान रहते हैं, न तपस्वियों के समान। राजाओं के समान नहीं तो राजर्षियों के समान तो रहते ही हैं। उनका धर्म है आप जैसे ऋषियों की सेवा करना। उनका आतिथ्य ग्रहण करने में आपको क्या असुविधा है महाराज !"

"वे तो द्यूत में अपना सर्वस्व हार गए थे, तो फिर ...।" दुर्वासा ने कुछ और कुरेदा।

"वे अपना सर्वस्व हार गए थे," दुर्योधन बोला, "किंतु कृष्ण और धृष्टद्युम्न तो अपना सर्वस्व नहीं हारे थे। हमने द्रौपदी को तो अपनी दासी बनाया था, किंतु सुभद्रा, करेणुमती तथा पांडवों की अन्य रानियाँ तो हमारी दासियॉ नहीं बनी थीं। उनके पास अपने सेवक थे, रथ थे, अश्व थे।...युधिष्ठिर ने अपने दास तो दाँव पर लगाए थे; किंतु उनके वेतन-भोगी कर्मचारी तो हमने द्यूत में नहीं जीते थे। अब वे लोग वन में उनके निकट जाकर रहें, उनकी सेवा करे, तो हम क्या कर सकते हैं।"

दुर्वासा शांत भाव से मौन खड़े रहे, जैसे परिस्थितियों का विश्लेषण कर रहे हों, अथवा दुर्योधन के मन का अध्ययन कर रहे हों। अंततः वे बोले, "दुर्योधन ! मैंने तुम्हें वरदान दिया है, इसलिए तुम्हारी इच्छा तो पूरी करूँगा ही। तुम्हें न नहीं कहूँगा।...किंतु जानना चाहता हूँ कि तुम्हारा प्रयोजन क्या है ? मिथ्याभाषण की आवश्यकता नहीं है। अपने मन की बात कहो। भयभीत मत हो। मैं तुमसे

प्रसन्न हूँ, तो मेरे द्वारा तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं होगा।"

दुर्वासा के आश्वासन के बाद भी, दुर्योधन के मन में संशय शेष था। ... उसका मंतव्य सुन कर, यदि दुर्वासा बिदक गए ? इतने दिनों का श्रम व्यर्थ नष्ट हो जाएगा। ... किंतु वे दुर्वासा थे। उनके लिए धर्म का वह अर्थ नहीं था, जिसे सामान्य जन स्वीकार करता था। न ही सात्विकता पर उनका इतना बल था। तभी तो वे किसी को भी किसी भी समय धर्म-संकट में डाल सकते थे, उसे शाप से भयभीत कर सकते थे, सहयोग करनेवाले का ही रक्तपान कर सकते थे। ..

"जिन्हें मैंने भिक्षुको से भी हीनतर स्थिति में हस्तिनापुर से निकाला था, वे वन में भी राजर्षियों के समान रह रहे हैं—यह क्या मेरे लिए कम कष्ट का कारण है ?" अंततः दुर्योधन बोला, "मेरी इच्छा है कि आप उनका आतिथ्य ग्रहण करें, ताकि उन्हें अपने असामर्थ्य की अनुभूति हो। वे आपका आतिथ्य करने मे असफल रहें। आपसे क्षमा माँगें। अपनी निर्धनता पर रोएँ, झींकें; और समझ सकें कि राजा दुर्योधन के सम्मुख उनकी क्या स्थिति है।"

"बस इतनी ही कामना है तुम्हारी ?" दुर्वासा ने पूछा।

"हाँ महाराज ! इतना ही चाहता हूँ कि युधिष्ठिर अपने आतिथ्य धर्म से स्खलित हो। अपमानित हो।" दुर्योधन बोला, "वह अपनी निर्धनता पर रोए। उसकी दरिद्रता उसकी अंतड़ियाँ काटे और उसके हृदय से पीड़ा का हाहाकार उठे। मैं एक बार उसे रोते हुए देखना चाहता हूँ।" दुर्योधन ने रुक कर दुर्वासा की ओर देखा, "मैंने युधिष्ठिर को द्यूत में पराजित किया, उसको अपमानित किया, उसकी पत्नी का सार्वजनिक अपमान किया, किंतु युधिष्ठिर की आँखों में न तो अश्रु आए, न वह मेरे सम्मुख घुटनो पर गिर कर गिडगिड़ाया। ... यहाँ तक कि वह पांचाली भी धर्म की गुहार करती रही, दया की भीख उसने भी नहीं माँगी। ... मैं एक बार युधिष्ठिर को कष्ट के मारे सिर पटक-पटक कर रोते हुए देखना चाहता हूँ ऋषिवर !"

दुर्वासा की गंभीर दृष्टि दुर्योधन की ओर उठी, "मैंने तुम्हें वरदान दिया है कि मैं अपने शिष्यों के साथ, युधिष्ठिर के आश्रम पर जाऊँगा। यह वचन मैं नहीं दे सकता कि तुम युधिष्ठिर को पीडा से कराहते हुए उस प्रकार देख सकोगे, जिस प्रकार तुम देखना चाहते हो।..."

"क्यों ऋषिवर ?"

"वह कदाचित् मेरे सामर्थ्य में नहीं है। वह शायद तुम्हारे सामर्थ्य में भी नहीं है।" दुर्वासा का स्वर कुछ पारदर्शी होता जा रहा था, "मुझे लगता है दुर्योधन कि न तो किसी को बाहर से सुख दिया जा सकता है, न दुख। ये दोनों ही भाव हमारे अपने हृदय में विद्यमान रहते हैं। युधिष्ठिर के हृदय में संतोष और

शांति विराजमान है, इसलिए वह सब कुछ खो कर भी सुखी है। तुम्हारे हृदय में ईर्ष्या और द्वेष का नाग कुंडली मार कर बैठा है, इसलिए सब कुछ पा कर भी तुम दुखी हो। तुम्हारे हृदय में संचित विष तुम्हें सुख कैसे दे सकता है। युधिष्ठिर को सुखी होने के लिए बाहर से कुछ नहीं चाहिए। तुम उसकी हथेलियाँ तो खाली कर सकते हो, किंतु उसके हृदय को संतोष से रिक्त करना, तुम्हारे वश में नहीं है।"

"आप प्रयत्न करके तो देखें।" दुर्योधन जैसे तड़पकर बोला। ... इस दुर्वासा ने तो अंत में उसकी सारी सफलता को असफलता में परिणत कर दिया था ...

"आप जाएँगे तो, अपने सहस्र शिष्यों के साथ ?" दुर्योधन ने आतुरता से पूछा।

दुर्वासा ने उस पर एक प्रतिरोधात्मक दृष्टि डाली, "तुम जानते हो कि मेरे साथ एक सहस्र शिष्य हैं। सहस्र शिष्यों का पालन-पोषण कठिन होता है... ।" वे रुके, "और फिर काम्यकवन में तृणबिंदु सरोवर तक पहुँचने का मार्ग सरल नहीं है। मार्ग में मरुभूमि का सा भूगोल है। जल का अभाव है। जल के अभाव के कारण वृक्षों और विशेषकर फलदायक वृक्षों का भी अभाव है।..."

"जहाँ पांडव रह रहे हैं, वहाँ तृणबिंदु सरोवर भी है और देव नदी भी। आप वहाँ जल का अभाव बता रहे है ?"

"मैं मार्ग की बात कर रहा हूँ दुर्योधन !" दुर्वासा बोले, "इतनी बड़ी संख्या में साधारण तपस्वी वहाँ नहीं पहुँच सकते।"

दुर्योधन तनिक भी विचलित नहीं हुआ, "आप जाने का वचन दें और शेष दायित्व मुझ पर छोड़ दें।..."

"मैंने तुम्हें वचन दिया है कि मैं युधिष्ठिर के आश्रम में जाऊँगा," दुर्वासा उसका मन पढ़ कर बोले, "इसलिए जाऊँगा ही। किंतु तुम्हारा ध्येय भी पूरा होगा, यह वरदान तुम्हें नहीं दे सकता। मैं तुम्हें तुम्हारे कर्म का वरदान दे सकता हूँ, किंतु उसका फल तो युधिष्ठिर की प्रकृति के अनुकूल ही होगा।"

दुर्वासा ने आशीष की मुद्रा में हाथ उठा दिया। दुर्योधन के लिए अब कुछ कहने का कोई अवकाश नहीं रह गया था। ...

23

युधिष्ठिर को निरंतर सूचना मिल रही थी कि बहुत बड़ी संख्या में एक जनसमूह, वन में उनके आश्रम की दिशा में बढ़ रहा था। वन में सब ओर उथल-पुथल

का वातावरण था। पशु-पक्षी अपने स्थान छोड़ कर इधर-उधर भाग रहे थे। ऐसे में वन में रह रहे तपस्वी और साधक भी अपने आपको सुरक्षित नहीं पा रहे थे। पशुओं के वे झुंड अपनी घबराहट में न जाने किस ओर चल पड़ें और उन्हें तथा उनके कुटीरों को रौंदते हुए निकल जाएँ। उनमें हिंस्र पशु भी हो सकते हैं और विषैले जंतु भी। ...कुछ समय के पश्चात् यह सूचना भी मिली कि आनेवाले लोग तपस्वी वेश में हैं। उनके पास शस्त्रास्त्र नहीं हैं। वे छद्म सैनिक भी नहीं हो सकते, क्योंकि उनका नेतृत्व दुर्वासा ऋषि कर रहे हैं। दुर्वासा क्रोधी हों, या कुटिल, किंतु दुर्योधन की सेना को पांडवों पर आक्रमण की योजना से, छद्म तपस्वियों के रूप में इस प्रकार लाना, उनके वश का नहीं था। ऐसा वे कभी नहीं करेंगे। ...

आगंतुकों का इतना परिचय पा लेने के पश्चात् पांडव कुछ निश्चिंत हो गए थे। सैनिक दृष्टि से यह विपत्ति का काल नहीं था; किंतु यह जिज्ञासा युधिष्ठिर के मन मे अवश्य थी कि इतनी बड़ी संख्या में अपने शिष्यों को साथ ले कर, दुर्वासा कहाँ जा रहे हैं ? कहीं उन्हीं के आश्रम की ओर तो नहीं आ रहे ? ... युधिष्ठिर का मन आशंकित था।... कहीं दुर्वासा उनके ही द्वार पर आ गए तो इतने सारे लोगों के आवास और भोजन की व्यवस्था कैसे होगी ?... आशंका के साथ-साथ, वे एक प्रकार की ग्लानि का भी अनुभव कर रहे थे। यदि कुछ तपस्वी उनके पास आ रहे हैं, तो वे इतने आशंकित क्यों हैं ? किसी ऋषि का अपने शिष्यों के साथ उनके द्वार पर आना,गौरव की बात थी; किंतु जिन परिस्थितियों में युधिष्ठिर रह रहे थे, उनमें इतनी बडी संख्या में आए, अतिथियों का सत्कार नहीं हो सकता था...

संध्या समय तक दुर्वासा उनके द्वार पर नहीं आए तो, तो युधिष्ठिर ने मान लिया कि ऋषि अब आज रात्रि तो नहीं आएँगे। वे मार्ग मे कोई उपयुक्त स्थान देख कर, विश्राम के लिए रुक गए होंगे। अब कदाचित् कल प्रातः चलेंगे और कल पूर्वाह्न में उनके पास पहुँचेंगे।

रात्रि को भोजन के पश्चात् द्रौपदी और पाँचों पांडव एक साथ बैठे, तो भीम ने बात आरंभ की, "ज्येष्ठ ! मेरा विचार है कि हमें अपनी ओर से दुर्वासा ऋषि को अपने आश्रम में आमंत्रित करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।"

"क्यों, अपने आवास के निकट आए ऋषि की उपेक्षा उचित है क्या ? और हम आमंत्रित नहीं करेंगे तो वे कहाँ जाएँगे।" युधिष्ठिर बोले, "हमें अपनी मर्यादा की रक्षा तो करनी होगी।"

"मर्यादा की रक्षा करने से कौन रोक रहा है आपको।" भीम ने उत्तर दिया, "किंतु स्वयं आगे बढ़ कर विपत्ति को आमंत्रित करना, तो बुद्धिमत्ता नहीं है न।"

युधिष्ठिर, थोड़ी देर मौन बैठे सोचते रहे, फिर धीरे से बोले, "मैं तुम्हारी

बात समझ रहा हूँ भीम ! किंतु मेरे मन में जो द्वन्द्व है, उसे भी समझने का प्रयत्न करो। घर पर आए ऋषि का सत्कार न करना, हमारी मर्यादा नहीं है। दूसरी ओर मैं यह भी जानता हूँ कि ऋषि के साथ जिस प्रकार शिष्यों की सेना आ रही है, उन सबका उचित सत्कार करना तो दूर, वर्तमान परिस्थितियों में हम कदाचित् उनके भोजन के लिए मात्र अन्न भी उपलब्ध नहीं करा सकते।"

"इसीलिए तो कह रहा हूँ कि स्वयं आगे बढ़ कर संकट आमंत्रित करने की क्या आवश्यकता है ?" भीम ने कहा, "मैं तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि हमारे शत्रुओं में से ही किसी ने ऋषि को इतने शिष्यों के साथ हमारे स्थान पर आने के लिए प्रेरित किया है।"

"हमारे शत्रु कौन ?" द्रौपदी ने पूछा।

"संभव है कि दुर्योधन ने ही यह षड्यंत्र रचा हो।" सहदेव मंद स्वर में बोला।

"यदि ऐसा हो तो मुझे कोई आश्चर्य नहीं होगा।" अर्जुन ने टिप्पणी की।

युधिष्ठिर ने उन सबकी ओर एक बार देखा और धीरे से बोले, "मेरे मन में अब कुछ बातें स्पष्ट हो रही हैं। महर्षि व्यास विशेष रूप से यह चेतावनी दे कर गए थे कि हम दुर्योधन से सावधान रहें। वह इन दिनों ऋषि मुनियों में अपना प्रभाव बढ़ा रहा है। अब दुर्वासा के आने के समाचार से यह स्पष्ट हो रहा है कि वे कदाचित् दुर्योधन की इसी योजना की सूचना देने आए थे।"

"मेरा तो विचार है कि दुर्वासा हमारे आश्रम के निकट आएँ भी, तो हम स्वयं उन्हें आमंत्रित न करें। यही मान लें कि हमें उनके आने की कोई सूचना नहीं है। उन्होंने स्वयं तो अपने आने की कोई सूचना भिजवाई नहीं है। वन में अनेक लोग आते-जाते रहते हैं। सबको सबकी सूचना नहीं होती।" भीम ने कहा, "यदि वे हमारे द्वार पर आ ही जाएँ, तो हम केवल उनके भोजन की व्यवस्था करें और स्पष्ट रूप से कह दें कि उनके सहस्रों शिष्यों के भोजन की व्यवस्था करना हमारी क्षमता से बाहर है। हम इस समय इंद्रप्रस्थ के राजा तो हैं नहीं, वनवासी हैं। सहस्रों लोगों का आतिथ्य करना वनवासियों के वश का काम नहीं है।"

"मेरा विचार है कि मध्यम ठीक कह रहे हैं।" नकुल ने टिप्पणी की, "और यदि महाराज को यह उचित नहीं जँचता, तो हम प्रातः ही यहाँ से प्रस्थान करने की व्यवस्था करें। न हम यहाँ होंगे, न ऋषि के सत्कार का धर्म हमारे कंधों पर पड़ेगा।"

सब लोग मौन रह कर युधिष्ठिर की ओर देख रहे थे : क्या वे नकुल का प्रस्ताव स्वीकार करेंगे ?

युधिष्ठिर के मन का द्वन्द्व उनके चेहरे पर भी परिलक्षित होने लगा था।

वे न भीम से असहमत थे, न नकुल से; किंतु यह सब उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं था।

"इन युक्तियो से हम व्यवहार-क्षेत्र में तो सफल हो सकते हैं। समाज को तो हम उत्तर दे सकते हैं कि हमने ऋषि का सत्कार क्यों नहीं किया; किंतु हम धर्म से ऑखें नहीं मिला सकते, अपनी अंतरात्मा को उत्तर नहीं दे सकते। धर्म मे छल कपट का अवलंब नहीं लिया जा सकता। यह किसी राज्य अथवा सविधान का नियम तो है नहीं, जिसकी कोई काट ढूँढी जाए। यह तो स्वच्छ मन से धर्म के सम्मुख खडे हो कर, आत्मपरीक्षण करना है। ऐसे में युक्तियों से काम नहीं चलेगा।..."

"ठीक है, धर्म में चतुराई और युक्तियों से काम नहीं चलता," द्रौपदी बोली, "किंतु हम व्यावहारिक कठिनाइयों से मुख कैसे मोड़ सकते हैं ? हमारे पास अन्न का कितना भंडार है। यहॉं कितने प्राणी अपने भोजन के लिए हम पर निर्भर हैं। हमें अपने संचित अन्न को कितने दिनो तक चलाना है। हम आखेट और फलों के माध्यम से, कितनी खाद्य सामग्री उपलब्ध कर सकते हैं।.. अर्थात् अपना सामर्थ्य ऑक कर ही तो हम अतिथि सत्कार का दायित्व ग्रहण कर सकते हैं। मान लीजिए कि पांडव अपने संपूर्ण सामर्थ्य को संचित कर, दुर्वासा को एक समय का भोजन करा भी देते हैं; किंतु फिर और खाद्य सामग्री का प्रबंध होने तक क्या इस आश्रम के अंतेवासी निरन्न रहेंगे ? भूखे रहेंगे ? ऋषि का सत्कार हमारा धर्म है, तो आश्रमवासियों को अन्न उपलब्ध कराना भी तो हमारा ही धर्म है। दुर्वासा को अन्न दे और धौम्य तथा अन्य नैष्ठिक आरण्यक ब्राह्मणों को भूखा रखें ?" द्रौपदी क्षण भर के लिए रुकी, "इतना ही नहीं । एक समय के भोजन के पश्चात् यदि ऋषि हमारे आश्रम में एक सप्ताह रुकने का प्रस्ताव करते हैं, तो ? तो क्या करेंगे हम ? दूसरे समय का भोजन कहॉं से जुटाएँगे ?"

"पांचाली ठीक कह रही है।" भीम ने कहा, "हमें अपने धर्म का आचरण करना है—इस बात से किसी को विरोध नहीं है; किंतु हम इन सब व्यावहारिक कठिनाइयों की उपेक्षा नहीं कर सकते।"

तभी इंद्रसेन ने आकर हाथ जोड़, प्रणाम किया, "महाराज की जय हो। एक अत्यावश्यक सूचना के लिए, विघ्नस्वरूप उपस्थित हुआ हूँ महाराज ! अनुमति मिले तो निवेदन करूँ।"

"कहो इंद्रसेन !" युधिष्ठिर बोले।

"हमारे मित्रों के गुप्तचरों ने यह संदेश भेजा है कि ऋषि दुर्वासा, इस दिशा में प्रयाण करने से पूर्व, हस्तिनापुर में कई दिनों तक दुर्योधन के अतिथि थे। जब वे दुर्योधन के पास पहुँचे थे, तो उनके साथ प्रायः एक सहस्र शिष्य थे। वहॉं से विदा होते हुए, उनकी संख्या कई गुना बढ़ गई थी।" इंद्रसेन बोला,

"उन लोगों का अनुमान है कि दुर्योधन की ही किसी योजना के अंतर्गत ऋषि अपने शिष्यों सहित हमारे आश्रम की ओर आ रहे हैं।"

"इसका क्या अर्थ हुआ ?" युधिष्ठिर जैसे अपने आपसे पूछ रहे थे।

आत्मलीन और उनीन्दा-सा बैठा अर्जुन सहसा पूर्णतः सजग हो गया, "इसका अर्थ वही है, जो कुछ समय पूर्व महर्षि वेदव्यास आपको सूचित करने आए थे। जब दुर्योधन अपनी राजकीय सेना लाकर हमें अपमानित नहीं कर सका तो अब वह संन्यासियों की सेना भेज रहा है। प्रत्यक्ष युद्ध मे असफल रहा तो परोक्ष युद्ध कर रहा है। अपने वैभव के प्रदर्शन से हमे पीडित नहीं कर सका तो हमारी निर्धनता और अकिंचनता को प्रदर्शित ही नहीं रेखांकित कर, हमे मानसिक यातना देना चाहता है।"

"धनंजय ठीक कह रहे है," द्रौपदी बोली, "दुर्वासा ऋषि और उनके शिष्य नहीं आ रहे, दुर्योधन की सेना आ रही है। प्रश्न है कि क्या हम दुर्योधन की सेना का सत्कार करेंगे और अपने मित्रों तथा आश्रितों को भूखे रख कर स्वयं भी भूखे रहेंगे ?"

"यह युद्ध है धर्मराज ! इसलिए हमे आत्मरक्षा के लिए तत्पर होना ही होगा।" अर्जुन पुनः बोला, "संन्यासियों को भोजन कराने के लिए नहीं, युद्ध करने के लिए तत्पर हो जाइए।"

युधिष्ठिर तत्काल तो कुछ नहीं बोले, किंतु अपना मत प्रकट करने मे, उन्हें अधिक समय नहीं लगा, "इतना तो मै भी मानता हूँ कि ऋषि यदि दुर्योधन द्वारा प्रेरित हो कर इधर आ रहे हैं, तो उसका प्रयोजन पूर्णतः स्पष्ट है। दुर्योधन हमारा उपहास करना चाहता है कि हम संन्यासियों को भोजन कराने की भी स्थिति में नहीं हैं। ... यदि हम ऋषि और उनके शिष्यो को भोजन नहीं कराते तो हम दुर्योधन की इच्छा की ही पूर्ति करते हैं। वह यही तो चाहता है कि हम ऋषि को भोजन न करवाएँ। और यदि उसकी चुनौती को स्वीकार कर हम अपने सारे साधनों को एकत्रित कर, काठ की हंडिया को एक बार चूल्हे पर चढ़ा देते हैं, तो भी हम उसी के षड्यंत्र को सफल करने में उसकी सहायता करेंगे।... हम दोनों प्रकार से ही उसकी चाल में आ रहे हैं। अब प्रश्न अपनी आत्मा, अपने धर्म और अपने व्यवहार का है : क्या अपने द्वार पर आए भोजनकामी संन्यासियों के संग, युद्धरत शत्रु सैनिक का सा व्यवहार करना उचित होगा ? जब वह हम पर शस्त्र से प्रहार नहीं कर रहा, तो हम उस पर शस्त्र से प्रहार कैसे कर सकते हैं।"

"उन पर शस्त्र से प्रहार करने की आवश्यकता ही नहीं है," भीम ने कहा, "हमें तो केवल अपनी खाद्य सामग्री की रक्षा करनी है। जो कुछ हमारे पास है, उसे हम शत्रु भाव से आए हुए तपस्वियों को खिला भी दें, अपने स्वजनों

और मित्रो को भूखा भी रखें, और अपमानित भी हों। इसका क्या लाभ ? दुर्वासा तो हमारे अन्न भंडार को समाप्त करनेवाला, दुर्योधन का भेजा हुआ एक टिड्डी दल है। हम टिड्डी दल को अपना अन्न भंडार नहीं सौंप सकते। यदि अपनी रक्षा के लिए हम उस टिड्डी दल का वध नहीं करना चाहते तो उन्हें भोजन न दे कर, प्रत्यावर्तित करना तो हमारा धर्म है ही।"

"तुम्हारा कथन अपने स्थान पर उचित ही है भीम !" युधिष्ठिर बोले, "किंतु धर्मशास्त्र के अनुसार दान वह नहीं होता, जो सुविधापूर्वक दिया जा सके, जिसे दे कर स्वयं को कष्ट न हो, असुविधा न हो, ... तुम्हें पता है न कि रोगी और दूध न देनेवाली गो का दान करने पर नचिकेता ने अपने पिता से क्या कहा था। उसने कहा था कि ऐसा व्यर्थ का दान करनेवाला व्यक्ति निरानंद लोकों में जाता है। वस्तुतः दान तो उसी वस्तु का करना चाहिए, जो स्वयं को सुख देनेवाली हो, प्रिय हो और उपयोगी हो। जिसे वह दी जाए, उसे भी सुख और लाभ पहुँचानेवाली हो। ...जो अन्न अपने उपयोग के अतिरिक्त हो उसका दान करना तो कोई साधना नहीं है।..."

"नचिकेता ने कुछ अनुचित नहीं कहा था।" द्रौपदी बोली, "किंतु उसके पिता ने अपनी इच्छा से दान करने के लिए, यज्ञ किया था। यहाँ हमारे शत्रुओं से प्रेरित हो कर एक ऐसा टिड्डी दल आ रहा है, जो हमारी इच्छा के विरुद्ध हमारा सारा अन्न भंडार खाकर हमें पीड़ित और अपमानित करना चाह रहा है। मैं जानती हूँ कि पांडव फिर भी भूखे नहीं मरेंगे। अपने उद्यम और उद्योग से वे अपने लिए भोजन जुटा ही लेंगे, किंतु उनके आश्रित तो निराश्रित हो ही जाएँगे। हम अपने शत्रु की इच्छा तो पूर्ण कर ही देंगे।"

"ठीक है पांचाली ! तुम ठीक ही कह रही हो।" युधिष्ठिर बोले, "किंतु वास्तविक दान वही है, जहाँ आप स्वयं भूखे रह कर याचक को अपना भोजन दे देते हैं। वस्तुतः यह हमारे धर्म की ही परीक्षा है। ..." उन्होंने रुक कर इंद्रसेन की ओर देखा, "जाकर धौम्य मुनि से पूछो, क्या वे इस समय यहाँ आ सकते हैं ? यदि आ सकते हों, तो तुम उन्हें अपने साथ लिवा लाओ।"

"जो आज्ञा महाराज !" इंद्रसेन चला गया।

"अब इस समय धौम्य मुनि क्या हमें युद्ध के लिए व्यूहबद्ध होना सिखाएँगे ?" भीम ने कुछ चिढ़ कर कहा।

"नहीं ।" युधिष्ठिर शांत स्वर में बोले, "वे केवल यह बताएँगे कि इस समय हमारा धर्म क्या है।"

स्पष्टतः भीम को युधिष्ठिर का यह निर्णय अच्छा नहीं लग रहा था। शत्रुओं से निबटने के लिए धौम्य मुनि, उनकी क्या सहायता कर सकते हैं ?...

"यदि धौम्य मुनि कह देते हैं कि हमारा धर्म यही है कि द्वार पर आए

दुर्वासा और उनके शिष्यों को हम भोजन करवाएँ ही—चाहे उनके आने का लक्ष्य कुछ भी हो; तो क्या हम उनकी बात मान लेंगे ?" द्रौपदी ने कुछ प्रखर स्वर में पूछा।

युधिष्ठिर हँसे, "यदि हमने पहले से ही यह निश्चय कर लिया कि मुनि का कौन-सा परामर्श हम स्वीकार करेंगे और कौन-सा नहीं; तो फिर उनसे परामर्श करने का लाभ ही क्या है।"

धौम्य मुनि इंद्रसेन के साथ आ गए। लगता था, उनके लिए युधिष्ठिर द्वारा इस प्रकार बुलाया जाना कुछ भी अप्रत्याशित नहीं था। संभवतः वे स्वयं भी इस स्थिति पर विचार कर रहे थे।

"आइए मुनिवर !" वे सब लोग उनके सम्मान में उठ कर खड़े हो गए।

मुनि जब आसन पर बैठ गए तो युधिष्ठिर ने उनके सामने अपनी समस्या रखी।

"इस संदर्भ में दो टूक यह कह देना कि धर्म क्या है, मेरे लिए संभव नहीं है।" मुनि मुस्कराए, "वस्तुतः धर्म विचार में कुछ और तथ्यों पर भी ध्यान देना होगा।"

"वे क्या हैं मुनिवर !" युधिष्ठिर ने पूछा।

"ब्राह्मण के लिए दान का अर्थ है, जो कुछ भी उसके अपने पास है, वह याचक को दे दे, उसके पश्चात् चाहे अपने परिवार के साथ भूखा मर जाए।" मुनि ने उत्तर दिया, "वस्तुतः उसके लिए यह शरीर धर्म-निर्वाह का साधन मात्र है। इसलिए यदि धर्म की पूर्ति होती हो, और शरीर नष्ट होता हो, तो वह धर्म की रक्षा करेगा, शरीर की नहीं । दूसरी ओर क्षत्रिय का धर्म दुष्ट-दलन के लिए अपने शरीर का उपयोग करने में है। इसलिए शरीर की रक्षा भी आवश्यक है। यदि वह अपने शरीर की रक्षा नहीं करेगा, तो दुष्ट-दलन का धर्म कैसे पूर्ण होगा। ..."

"हमें क्या करना चाहिए मुनिवर !" भीम ने उन्हें टोक दिया, "हम तो क्षत्रिय है।"

"तुम क्षत्रिय हो—वंश से, व्यवसाय से, प्रवृत्ति और स्वधर्म से।" मुनि मुस्कराए, "किंतु महाराज युधिष्ठिर स्वधर्म से क्षत्रिय नहीं हैं। उनकी धातु ब्राह्मण की है। वे मात्र आत्मरक्षा और दुष्ट-दलन से प्रसन्न हो पाएँगे क्या ? जब वे वारणावत जा रहे थे, तब भी वे जानते थे कि वहाँ उनको उनके भाइयों के साथ जलाने का पूरा प्रबंध किया गया है। जब द्यूत के लिए आमंत्रित हो कर वे हस्तिनापुर आए, तो भी वे जानते थे कि वहाँ क्या होनेवाला है, फिर भी उन्होंने

धृतराष्ट्र की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया। आत्मविसर्जन की यह प्रवृत्ति उनकी ब्राह्मण वृत्ति का ही परिणाम है...।" मुनि ने युधिष्ठिर की ओर देखा, "इस समय भी महाराज के मन मे आत्मविसर्जन और आत्मरक्षा की प्रवृत्तियों में ही संघर्ष चल रहा है। अव निर्णय तो महाराज को ही करना है। ..."

"ठीक है मुनिवर ! आपने धर्म की स्थिति स्पष्ट कर दी। अव निश्चय तो हमें ही करना है।" युधिष्ठिर वोले, "जाओ इंद्रसेन ! मुनिवर को उनके कुटीर तक पहुँचा दो, और अव तुम भी विश्राम करो।"

धौम्य मुनि उठ कर इंद्रसेन के साथ चले गए।

"अव ?" सहदेव ने पूछा।

"मैं अब भी कहता हूँ कि यह युद्ध की स्थिति है और हमें इसे युद्ध ही मान कर व्यूह-रचना करनी चाहिए।" अर्जुन वोला।

"कैसी व्यूह-रचना ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"हम भीतर से क्षत्रिय धर्म के लिए तत्पर रहें और ऊपर से ब्राह्मण धर्म के अनुरूप कर्म करते चले जाएँ।" अर्जुन ने कहा, "यदि दुर्वासा और उनके शिष्य, हमारे आश्रम के द्वार पर आ ही जाएँ, तो हम उन्हें भोजन के लिए आमंत्रित करें, क्योंकि यह हमारा धर्म है। यदि वे हमारा निमंत्रण स्वीकार कर लें और हमारे भोजन करने से पूर्व पंक्तिवद्ध हो कर वैठ जाएँ, तो हम अपने लिए पकाया गया सारा भोजन उन्हें परोस दें, कि हमारे आश्रम में एक दिन के लिए इतना ही भोजन उपलब्ध है। हमने अपना दान-धर्म पहचान कर, अपना सारा भोजन उन्हें अर्पण किया। हम एक दिन का उपवास करेंगे। अब वे लोग अपने गुरुकुल के नियमों के अनुसार, उस भोजन को परस्पर बॉट लें। जितना गुरु को देना चाहें, गुरु को दे दें और जितना शिष्यों में वितरित करना चाहे, उनमें वितरित कर लें।"

"और यदि वे हमारे भोजन कर लेने के पश्चात् आश्रम में आए ?" नकुल ने पूछा।

"तो हम, आश्रम में एक दिन में पकाया जानेवाला अन्न उन्हें समर्पित कर दें। वे लोग स्वयंपाकी ब्राह्मणों के समान, पकाएँ और खाएँ।" अर्जुन ने उत्तर दिया, "इस रूप में हमने अपना अन्न भंडार लुट जाने से बचा कर, क्षत्रिय धर्म का पालन किया; और अपना सारा भोजन उन्हें दान कर, स्वयं निराहार रह, धर्मराज के ब्राह्मण धर्म का निर्वाह किया।"

"अर्थात् ज्येष्ठ और मध्यम, दोनो के ही धर्मो का निर्वाह हो गया।" नकुल ने कहा।

किंतु युधिष्ठिर निश्चिंत दिखाई नहीं दे रहे थे, "प्रकटतः यह योजना चाहे किसी व्यूह के समान स्वतःसंपूर्ण तथा सर्वथा निर्दोष दिखाई दे, किंतु इसमें धर्म

की दृष्टि से छद्म है, अतः यह छल है। हम जानते हैं कि हमारे घर में अतिथि आ रहे हैं, और फिर भी हम उनके भोजन की व्यवस्था नहीं कर रहे; वरन् भोजन की व्यवस्था का छल कर रहे हैं।"

"वैसे महाराज ! यदि आप यह छल न भी करें, तो क्या कर सकते हैं ?" सहदेव कुछ तेजस्वी स्वर में बोला, "आप अपने सच्चे मन से अपना संपूर्ण अन्न भंडार तथा अन्य भोजन सामग्री, उनको समर्पित कर दें, तो भी क्या हो जाएगा। जितनी बड़ी संख्या उनकी बताई जा रही है,उसके लिए तो आपका सारा अन्न भंडार एक समय के भोजन के लिए भी पर्याप्त नहीं होगा। तब भी आपके धर्म का निर्वाह नहीं होगा; और आश्रम में भीषण अकाल पड़ जाएगा। पाँच पांडव और पांचाली तो वृक्षों तथा पशुओं के सहारे, अपना पेट भर भी लेंगे, किंतु आपके आश्रित आश्रमवासियों का क्या होगा ?"

"यही तो धर्म संकट है।" युधिष्ठिर बोले।

"आपके लिए व्यक्तिगत रूप से कोई संकट नहीं है।" अर्जुन ने कहा, "आप परिवार के मुखिया के रूप में उन्हें भोजन के लिए आमंत्रित करेंगे; और पांचाली को भोजन परोसने का आदेश देंगे। हम चारों भाई पांचाली की रसोई से अन्न ले जाकर ऋषि और उनके शिष्यों को समर्पित करेंगे।"

युधिष्ठिर हँस पडे, "परिवार का जो मुखिया जानता है कि रसोई में अन्न नहीं है और फिर भी वह अपनी पत्नी को, सहस्रों ब्राह्मणों के लिए अन्न परोसने का आदेश दे रहा है, वह यह भी जानता है कि वह पाखंड कर रहा है।"

"तो फिर और विकल्प ही क्या है ?" भीम ने कुछ तीखे स्वर में पूछा, "हम पाँचों भाई और पांचाली अपने भाग का सारा अन्न उन्हें समर्पित कर सकते हैं। हम लोग, जैसा कि धनंजय ने कहा है, वृक्षों के फलों और मृगों के आखेट पर, जीवित रह सकते हैं; किंतु अन्य आश्रमवासियों का क्या होगा ? और आप एक आध दिन के लिए यह व्यवस्था चला भी लें; किंतु दुर्वासा को उनकी इच्छा के विरुद्ध, एक ही दिन में आप लौटा देंगे क्या ?"

"नहीं ।" युधिष्ठिर बोले, "किंतु इस प्रकार का छल।"

"यह छल नहीं, युद्ध है महाराज।" अर्जुन ने कहा।

"यदि आप यह भी नहीं करना चाहते तो प्रातः जाइए और दुर्वासा को खोज कर कह आइए कि वे हमारे आश्रम में न आएँ, क्योंकि हमारे पास उन्हें खिलाने के लिए अन्न नहीं है। यह न हो कि वे अपने शिष्यो के साथ यहाँ आ जाएँ और हम उनको भोजन भी न दे पाएँ और उनको तथा उनके शिष्यों को भूख का कष्ट सहना पडे।" भीम ने कहा।

"नहीं । यह संभव नहीं है।" युधिष्ठिर निश्चित स्वर मे बोले।

"तो क्या करेंगे आप ?" द्रौपदी ने अधैर्यपूर्वक पूछा।

युधिष्ठिर मन ही मन विचार करते रहे, जैसे किसी अंतिम निर्णय पर पहुँचने का प्रयत्न कर रहे हों। अंततः बोले, "मैं अपने धर्म का निर्वाह करूँगा और शेष अपने भगवान पर छोड दूँगा।"

"अर्थात् ?" सहदेव साक्षात् प्रश्न बन गया था।

"मैं अपनी ओर से उन्हें आमंत्रित करने, कहीं नहीं जाऊँगा। यदि वे आश्रम के द्वार पर आ गए, तो भोजन का प्रस्ताव अवश्य करूँगा," युधिष्ठिर बोले, "और शेष सारा कुछ आश्रम के भंडारी भीम तथा अन्नपूर्णा पांचाली पर छोड़ दूँगा। प्रभु की इच्छा पूर्ण हो। जाने उसने क्या नियत कर रखा है।"

युधिष्ठिर उठ खडे हुए, "जाओ, अब तुम लोग भी विश्राम करो।"

सब लोग अपने-अपने कुटीरों की ओर बढ़ रहे थे कि भीम ने अर्जुन से पूछा, "यदि दुर्वासा अपने शिष्यों के साथ यहाँ टिक गए तो हम कितने दिनो तक अपने भाग का अन्न उन्हें दे कर स्वयं निराहार रहेंगे ?"

"हम निराहार क्यों रहेंगे ?" अर्जुन हँसा, "दुर्वासा के शिष्यों को दो दिन पर्याप्त और स्वादिष्ट भोजन न मिला, तो वे स्वयं ही यहाँ से भाग जाएँगे। वे लोग कोई वास्तविक तपस्वी तो हैं नहीं। मालपूए खाने के चक्कर में दुर्वासा जैसे ऋषि के साथ भटक रहे हैं। देखते हैं कि उपवास करने की क्षमता किस मे अधिक है—हममें अथवा उनमें ?"

"अच्छी युक्ति सोची है तुमने।" भीम ने अर्जुन की पीठ पर एक धौल जमाई।

युधिष्ठिर ने बहुत प्रयत्न किया कि वे दुर्वासा को भूल कर अपनी दिनचर्या में अपना मन लगाएँ; किंतु मन था कि दौड़-दौड़ कर वापस अपने खूँटे पर चला जाता था और दुर्वासा के आगमन को ले कर कुछ न कुछ बुनने लगता था। ... यद्यपि कल रात उन लोगों ने एक प्रकार से अपनी नीति तय कर ली थी; और अब यदि दुर्वासा आ भी जाएँ, तो युधिष्ठिर को विशेष कुछ नहीं करना था। उन्हे तो उनके भाइयों ने सबसे सरल और सम्मानजनक कार्य दिया था। उन्हें तो ऋषि को पूरे सम्मान से भोजन के लिए आमंत्रित करना था। बस ! ... उससे अधिक कुछ भी नहीं। फिर जो कुछ भी करना था, वह भीम, अर्जुन और द्रौपदी को करना था।...किंतु युधिष्ठिर यह सोच कर भी संतुष्ट नहीं हो पा रहे थे कि परीक्षा उनकी नहीं, भीम, अर्जुन और पांचाली की होगी। ... परीक्षा उनकी हो, उनके भाइयो की हो, अथवा उनकी पत्नी की। बात तो एक ही थी। वे एक-दूसरे से पृथक् नहीं थे। पांचाली को परीक्षा में डालकर वे संतुष्ट कैसे हो सकते थे। ... पांचाली ने उनके कारण अनेक असहनीय कठिनाइयाँ झेली थीं, उनके लिए अनेक अमानवीय परीक्षाएँ दी थीं ... वह सब युधिष्ठिर की बाध्यता

थी; किंतु अब युधिष्ठिर जानबूझकर उसको ऐसी कठिन परीक्षा में डालकर एक ओर हो जाएँ ? ...

द्वार पर आए ऋषि और उनके शिष्यों का उचित सत्कार कर पाने के असामर्थ्य की पीड़ा क्या युधिष्ठिर, पांचाली अथवा भीम की अलग-अलग पीड़ा है ? अपमान की बात तो सोचनी ही नहीं चाहिए। पांचाली का सम्मान अथवा युधिष्ठिर का सम्मान पृथक्-पृथक् नहीं है। पांचाली को अपमानित करने का सारा प्रयत्न युधिष्ठिर को अपमानित करने के लिए ही तो है। वे परिवार के मुखिया है और यह उनका धर्म है कि वे परिवार के प्रत्येक व्यक्ति के धर्म की रक्षा करें। उनके लिए क्या यह धर्म संकट ही कम था कि उनकी पत्नी और उनके भाई, उनके धर्म की रक्षा के लिए, स्वयं को धर्म संकट में डाल रहे हैं ? ...

ओह ! दुर्योधन ने यह कैसा वार किया है। वह अपनी सेना भेजता, तो पांडव अपने शस्त्रों से उसका प्रतिकार तो करते।... पांडव अपने शस्त्रों और अपनी वीरता के सहारे निःशस्त्र तापसों का सामना कैसे करेंगे। तो फिर युधिष्ठिर कर ही क्या सकते हैं। पता नहीं, ईश्वर की क्या इच्छा है। कैसी परीक्षा लेना चाहता है वह। और यदि वह परीक्षा लेना ही चाहता है, तो पांडवों को परीक्षा देनी होगी। उत्तीर्ण अथवा अनुत्तीर्ण करना तो ईश्वर के अपने हाथ में है। उसकी अपनी इच्छा पर है ... तो फिर युधिष्ठिर किस बात की चिंता कर रहे हैं ? स्वयं को प्रभु के हाथों में सौंप कर निश्चिंत क्यों नहीं हो जाते ? ईश्वर के प्रति उनका प्रेम और विश्वास इतना कच्चा है क्या ? वे उस पर विश्वास नहीं करते क्या?...

और सहसा युधिष्ठिर का मन शांत हो गया। उनका सबसे बडा सुख तो ईश्वर की इच्छा से तादात्म्य करना था। तो फिर वे वही करें ...

प्रातः भी दुर्वासा उनके आश्रम के निकट प्रकट नहीं हुए। पांडवों के सहचर सूचनाएँ ला रहे थे कि दुर्वासा पांडवों से बहुत दूर नहीं हैं। यदि वे सामान्य गति से भी चलें तो वे प्रहर भर में उनके आश्रम तक पहुँच सकते थे। ... किंतु यह कोई नहीं जानता था कि वहाँ से वे कब चलेंगे। वे ध्यान में बैठे हुए थे। समाधि लग गई तो वे कई दिनों तक इसी प्रकार बैठे रह सकते हैं। ... और न लगी तो वे निमिष भर में उठ कर खड़े भी हो सकते हैं। उनके शिष्यों में ऐसा कोई नहीं था, जो इतना भी कह सकता कि वे चलने से पहले, कुछ समय पूर्व, उन्हें चेतावनी तो दें, ताकि वे लोग चलने के लिए अपने मन को तैयार कर सकें ...

पांडव मन ही मन प्रतीक्षा करते रहे; किंतु बाहर से उनकी दिनचर्या सर्वथा सामान्य थी। दुर्योधन के गुप्तचर यदि उन्हें देखते, तो यही सूचना देते कि उन्हें अपने आसन्न संकट का पता ही नहीं था। वे कदाचित् जानते ही नहीं थे कि दुर्वासा ऋषि एक महान् संकट के रूप में, उनके सम्मुख शून्य से प्रकट होनेवाले

थे...

पांडवो के आश्रम में समय से भोजन तैयार हुआ और खाया गया; किंतु दुर्वासा कहीं प्रकट नहीं हुए। ... और जब सारे आश्रमवासियों को भोजन कराकर द्रौपदी भी भोजन कर चुकी, तो इंद्रसेन सूचना लाया कि दुर्वासा अपने स्थान से चल चुके हैं। सूचना लानेवाला धावक, दुर्वासा और उनके शिष्यों के साथ ही चला था; किंतु भागता हुआ आया था, इसलिए उनसे कुछ पहले यहाँ पहुँच गया था। अब दुर्वासा और उनके शिष्य किसी भी क्षण उनके आश्रम के सम्मुख प्रकट हो सकते थे ...

युधिष्ठिर के मन में कण भर भी जो विश्वास था कि दुर्वासा, ऋषि हो कर, पांडवों के साथ किसी प्रकार का छल-छद्म नहीं कर सकते—समाप्त हो गया। ... निश्चित रूप से वे दुर्योधन की इच्छा के अनुसार, कार्य कर रहे थे; वरन् इस समय तो वे उसके उपकरण ही बने हुए थे। वे दुर्योधन की गदा के रूप में, पांडवों पर प्रहार करने आ रहे थे। वे जान बूझ कर उस समय आ रहे थे, जब उनकी रसोई, भोजन के पश्चात् लीप-पोत कर स्वच्छ कर दी गई थी। वे इतने लोगों को अपने साथ ला रहे थे कि अकेली द्रौपदी ही क्यों, आश्रम का प्रत्येक अंतेवासी भी यदि भोजन तैयार करने में लग जाए, तो दिन भर लगा कर भी, उतने लोगों का भोजन तैयार न किया जा सके। ... ठीक कहते हैं, अर्जुन और भीम। यह एक ऋषि का किसी सद्गृहस्थ के द्वार पर जाना नहीं है, यह तो पांडवों पर दुर्योधन का प्रच्छन्न आक्रमण ही है। इसके विरुद्ध तो पांडवों की ओर से भी, सैनिक अभियान ही होना चाहिए ... किंतु क्रोध युधिष्ठिर के स्वभाव मे नहीं था। वे तो अब तक सब कुछ ईश्वर पर ही छोड़ चुके थे। ईश्वर की इच्छा पूरी हो। ...

पांडवों की अपेक्षा के अनुसार ही, दुर्वासा अपराह्न में उनके आश्रम के निकट उपस्थित हुए। वे सीधे उनके आश्रम में नहीं आए। आश्रम से कुछ दूरी पर वन में ही टिक गए। संभवतः वे वहाँ टिक कर देखना चाहते थे कि युधिष्ठिर कैसा व्यवहार करते हैं। युधिष्ठिर कुछ समय तक तो अपने कुटीर में शांत भाव से बैठे रहे कि यदि दुर्वासा उनके द्वार पर आए ही नहीं, तो उनका सत्कार भी युधिष्ठिर के दायित्व क्षेत्र में नहीं आता। ... किंतु वे यह भी जानते थे कि इस तर्क से कोई और बहल भी जाए, उनका अपना मन ही नहीं बहलेगा। जब वे जानते हैं कि एक ऋषि अपने सहस्रों शिष्यों के साथ उनके आश्रम के निकट भूखा-प्यासा बैठा है, तो उसकी उपेक्षा उनका धर्म नहीं है। यह नृशंसता है। उनकी अंतरात्मा इतनी व्याकुल क्यों है, क्योंकि वे उचित व्यवहार नहीं कर रहे हैं ...। ऋषि चाहे अपने मन में कोई दुर्भावना ले कर ही आए हों, युधिष्ठिर को तो अपना मन स्वच्छ रखना होगा। वे आज तक दुर्योधन के प्रति ही कभी

दुर्भावनापूर्ण व्यवहार नहीं कर सके, तो दुर्वासा तो फिर एक ऋषि हैं।...

युधिष्ठिर अपने भाइयों को साथ ले कर, ऋषि की अगवानी के लिए पहुँचे। ऋषि के चरण स्पर्श कर उन्हें प्रणाम किया। आसन बिछा कर उनके बैठने का प्रबंध किया; और फिर हाथ जोड़ कर उनके सम्मुख स्वयं भी बैठ गए।

"ऋषिश्रेष्ठ ! कहाँ से आगमन हुआ है ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

दुर्वासा स्वयं को बहुत निर्भीक बनाए हुए थे; किंतु अपनी सारी उद्दंडता का आह्वान करके भी नहीं कह सके कि वे हस्तिनापुर से आए है, जहाँ वे दुर्योधन के अतिथि थे। वे सीधे युधिष्ठिर की आँखों में भी नहीं देख पाए। शून्य में ताकते हुए बोले, "अपने पावसपूर्व भ्रमण पर निकला हूँ। वर्षा तक भ्रमण करना मेरा नियम है।"

"आपका शिष्य समुदाय तो बहुत विशाल है ऋषिवर !" युधिष्ठिर ने बात आगे बढ़ाई, "क्या सदा ही इतने शिष्यों के साथ भ्रमण करते हैं ?"

युधिष्ठिर के साथ ही उनके भाइयों ने दृष्टि उठा कर देखा...जहाँ तक दृष्टि जाती थी, दुर्वासा के शिष्य सुखासन लगा कर बैठे हुए दिखाई पड रहे थे। ... भोजन तो भोजन, इतने लोगों के ठहराने की भी व्यवस्था करनी पडे, तो पांडवों को कई मास लग जाएँगे। इतने सारे कुटीर बनाने में वन के सारे वृक्ष कट जाएँगे।

दुर्वासा की भृकुटि तन गई, "तुम्हारे इस प्रश्न का अर्थ ? क्या इन बातो के लिए मुझे तुम्हारी अनुमति लेनी पड़े गी ?"

युधिष्ठिर जानते थे कि दुर्वासा अपनी उद्दंडता के लिए प्रसिद्ध हैं। इस समय भी वे युधिष्ठिर के प्रश्न को टालने के लिए, उसी उद्दंडता का सहारा ले रहे थे; किंतु उस वाणी में तुच्छता का फूत्कार चाहे हो, उसमें सत्य का बल नहीं था।

"नहीं !" युधिष्ठिर मुस्कराए, "ऋषि को तो राजा की भी अनुमति नहीं लेनी पडती; और मैं तो इस समय राजा भी नहीं हूँ।"

"तुम क्या मेरे इन शिष्यों के लिए आवास की व्यवस्था करोगे ? इन्हें भोजन दोगे ? क्या अधिकार है, तुम्हे यह सब पूछने का ?" दुर्वासा अपने क्रोध का सायास प्रदर्शन कर रहे थे।

"प्रजा के आवास तथा भोजन की व्यवस्था राजा करता है, ब्रह्मचारियों के लिए कुलपति, परिवार के लिए परिवार प्रमुख तथा अतिथि के लिए गृह स्वामी।" युधिष्ठिर शांत स्वर में बोले, "ऋषिवर ! आप इन रूपों में जिसे आदेश देंगे, वह आपके लिए व्यवस्था कर देगा। मुझे तो यह आभास ही नही था कि आवास तथा भोजन की व्यवस्था के अभाव में, ऋषि का मन व्याकुल है।"

युधिष्ठिर के कथन से ऋषि का क्रोध कुछ और मुखर हो गया, "तो मैं

अतिथि के रूप में तेरे द्वार पर आया हूँ। तू हमारे लिए एक समय के ही भोजन की व्यवस्था कर।"

अर्जुन के अधरों पर मुस्कान आ गई : दुर्वासा से अपना कपटजाल बुनने में चूक हो गई थी। उन्होंने केवल एक समय के भोजन की व्यवस्था के लिए कहा था। यदि कहीं वे कुछ अधिक माँग बैठते ... निश्चित् रूप से दुर्वासा अपने इस कृत्रिम क्रोध में भी, स्वयं को संतुलित नहीं रख पाए थे...

दुर्वासा ने कहा और अपने कहे का प्रभाव देखने के लिए रुक गए : युधिष्ठिर का चेहरा पर्याप्त शांत और संतुलित लग रहा था। उस पर वह घबराहट, खीझ अथवा विरोध का भाव कहीं नहीं था, जो वे देखना चाहते थे।

"आप अपने नित्य कर्मो से निवृत्त हो कर भोजन के लिए पधारें ऋषिवर !" युधिष्ठिर ने पर्याप्त मधुर स्वर में कहा, "हम आपकी सेवा कर कृतकृत्य हो जाएँगे।"

दुर्वासा को इस बार सचमुच आश्चर्य हुआ : युधिष्ठिर के चेहरे पर असुविधा की एक रेखा भी प्रकट नहीं हुई। यह कैसे संभव है ? युधिष्ठिर के पास इतने लोगों को भोजन कराने की व्यवस्था है क्या ? ... दुर्वासा का मन भीतर ही भीतर कुछ डर गया...वे तो युधिष्ठिर को त्रस्त करने आए थे, कहीं ऐसा न हो कि युधिष्ठिर ही उन्हें त्रस्त कर दे। ... यदि ऐसा हुआ, तो न दुर्योधन ही प्रसन्न हो पाएगा, न दुर्वासा और उनके शिष्यों का इतना श्रम सार्थक हो पाएगा।

"निमंत्रित तो कर रहा है," दुर्वासा कुछ कठोर स्वर में बोले, "किंतु मेरे शिष्यों की संख्या देख ले। फिर कहीं अन्न का टोटा पड़ गया, तो हमें भूखे मत उठा देना।"

युधिष्ठिर ने एक दृष्टि अपने भाइयों पर डाली : वे लोग न केवल आश्वस्त बैठे थे, वरन् अपने नयनों की द्युति और अधरों की मुस्कान से उन्हें बल भी प्रदान कर रहे थे।

"जो कुछ हमारा है, वह सब आपका है ऋषिवर !" युधिष्ठिर बोले, "हम आपको पूरा अन्न दे देंगे, सारा का सारा।"

युधिष्ठिर के आत्मबल ने दुर्वासा को कँपा दिया। उन्हें पुनः लगा कि उन्होंने यहाँ आ भूल की है। वे युधिष्ठिर को धर्म संकट में डालने आए थे। कहीं ऐसा न हो कि वे स्वयं ही किसी संकट में फँस जाएँ। धर्मराज युधिष्ठिर के प्रति यह विरोध उन्हें बहुत महँगा पड़ सकता है।... दुर्योधन यहाँ से बहुत दूर बैठा है। वे यहाँ पूर्णतः पांडवों की दया पर हैं।... यह भीम, जो इस समय एक आनंदित बालक के समान बैठा है—वही योद्धा है, जिसने दुर्योधन की जंघा तोड़ने और दुःशासन का वक्ष फाड कर, उसका रक्त पीने की प्रतिज्ञा की है। ... और इनके आश्रम मे, अपनी कुटिया में वह पांचाली बैठी होगी, जिसने दुःशासन के वक्ष

के रक्त से अपने केशों को धो कर, वेणी करने की प्रतिज्ञा कर रखी है। वह अपने केश बिखेरे, अपनी रसोई में बैठी होगी। युधिष्ठिर समझे या न समझे, पांचाली को यह समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं होगी, कि दुर्योधन की ही प्रेरणा से दुर्वासा पांडवों को धर्म संकट में डालने आए हैं।...दुर्वासा के शाप से यहाँ कौन भयभीत होगा ... युधिष्ठिर स्वयं धर्मराज हैं, अर्जुन निर्विकल्प समाधि प्राप्त साधक है, और इनके साथ कृष्ण हैं ... दुर्वासा ! तू ने किस बुरी घड़ी में दुर्योधन का आतिथ्य स्वीकार किया ...

"ठीक है। हम लोग स्नान तथा मंत्र जाप कर, अभी आते हैं।" दुर्वासा ने जैसे युधिष्ठिर को डराने का पुनः प्रयत्न किया, "किंतु स्मरण रखना धर्मराज ! यदि तुमने मुझे संतुष्ट नहीं किया, तो मेरा क्रोध फिर मर्यादाओं को नहीं पहचानता।"

"हम आपको भोजन के लिए आमंत्रित कर रहे हैं," सहसा भीम बीच में बोला, "और आप हमें धमका रहे हैं, जैसे कोई कोटपाल किसी अपराधी को धमकाता है।..."

दुर्वासा की दृष्टि भीम की ओर घूमी : वह सहज भाव से मुस्करा रहा था। उसके चेहरे पर न क्रोध था, न उत्तेजना। ... किंतु दुर्वासा का मन कल्पना कर रहा था कि यही भीम जब क्रुद्ध होता होगा, तो कैसा लगता होगा। उसने जब दुःशासन का वक्ष फाड़ कर उसका रक्त पीने की प्रतिज्ञा की थी, तो उस समय वह कैसा भयंकर दिखाई दे रहा होगा ...

दुर्वासा के मुख से एक भी शब्द नहीं निकला। वे उठ खड़े हुए और उन्होंने अपने शिष्यों को अपने पीछे आने का संकेत किया। उन्हें लगा कि उनके अपने पाँव भी धरती पर सीधे नहीं पड़ रहे हैं। ...

धात्रेयिका निरंतर द्रौपदी को समाचार पहुँचा रही थी।... दुर्वासा के आश्रम के निकट आने की, पांडवों का उन्हें निमंत्रित करने जाने की, दुर्वासा का अपने शिष्यों सहित देव नदी में स्नान करने जाने की; और पांडवों के आश्रम में लौट आने की सूचना उसे मिल चुकी थी।... द्रौपदी को लग रहा था कि युद्ध में जैसे सबने अपने-अपने व्यूह की रक्षा कर ली थी, और अब युद्ध उसके द्वार की ओर मुड़ रहा था। अब उसे अपना रण कौशल दिखाना था। ... दुर्वासा अपने शिष्यों के साथ नदी से लौटेंगे, उसकी रसोई के सामनेवाले इस खुले मैदान में बैठेंगे।... पांडवों के पास तो सहस्रों लोगों को बैठाने के लिए भूमि पर बिछाने के लिए उतने आसन भी नहीं थे। ... यदि उन ब्रह्मचारियों के पास अपने-अपने आसन होंगे, तो वे उन्हें बिछा कर बैठ जाएँगे, अन्यथा चाहे वे वृक्षों के पत्ते तोड़ कर

बिछाएँ, अथवा धरती की मिट्टी पर ही बैठ जाएँ– पांडव कुछ नहीं कर सकते।

द्रौपदी का मन कल्पना कर रहा था वे लोग किसी प्रकार बाहर बैठ गए थे। रसोई का यह तथाकथित आँगन उनकी संख्या के लिए पर्याप्त नहीं था। अतः वे एक के पीछे एक पंक्तियाँ बनाते हुए, वन के वृक्षों के मध्य इतनी दूर तक बैठते चले गए थे, जहाँ तक द्रौपदी की दृष्टि भी नहीं जाती थी। ... उन्होने अपने गुरु के स्वर में स्वर मिलाकर कुछ मंत्र पढ़े। प्रभु को स्मरण किया। अन्न देने के लिए उसका धन्यवाद किया; और फिर अपनी दृष्टि उठा कर, भोजन की ओर देखा... किंतु भीम और अर्जुन ने उनके सम्मुख पत्तल बिछा कर भोजन परोसने के स्थान पर, कुछ बडे टोकरों में, सूखा अन्न दुर्वासा के सम्मुख रख दिया ...

दुर्वासा कुछ समझ नहीं पाए, "यह क्या है ?" उन्होंने कडककर पूछा।

"आश्रम में उपलब्ध एक दिन का सारा का सारा अन्न।" भीम ने कहा, "हमने इसे पकाया नहीं है, क्योंकि जाने, आप में से कितने स्वयंपाकी ब्राह्मण हैं...और फिर हमारे पास इतना ईधन भी नहीं है।..."

"इतने सारे ब्रह्मचारियों के लिए बस इतना सा अन्न ?" दुर्वासा ने क्रुद्ध स्वर में पूछा।

"ब्राह्मण को अति भोजन से बचना चाहिए।" भीम ने उत्तर दिया, "उसे बौद्धिक कर्म करना होता है। अधिक खाने से व्यक्ति सोता अधिक है, चिंतन कम करता है।"

दुर्वासा की ऑखो से जैसे अग्नि स्फुलिंग छूटने लगे, "तुम हमें अपने द्वार पर आमंत्रित कर हमारा अपमान कर रहे हो।"

सामने से युधिष्ठिर आ रहे थे। द्रौपदी अपनी कल्पनाओं से मुक्त हुई। युधिष्ठिर तो सर्वथा शांत लग रहे थे। कल कितने व्याकुल थे, किंतु आज तो तनिक से उद्विग्न भी दिखाई नहीं पड़ रहे थे।

"नकुल कहाँ है ? उसे भेजो। नदी तट पर जाकर देख आए कि ऋषि-अभी तक क्यों नहीं आए।"

"आप तनिक भी विचलित नहीं हैं ?" द्रौपदी ने चकित स्वर में पूछा, "आप उन्हें बुलाने के लिए इतने आतुर क्यों हैं ? ऋषि का आना सुखद तो नहीं होगा। आपको उनसे भय नहीं लगता ?"

युधिष्ठिर मुस्कराए, "मुझे केवल अधर्म से भय लगता है। आज भी मैं भयभीत हूँ, इसलिए नहीं कि ऋषि मुझे शाप दे देंगे, वरन् इसलिए कि मैं अपने आतिथेय धर्म की रक्षा नहीं कर पाऊँगा।..." युधिष्ठिर रुके, "और अब तो मैं

उस भय से भी मुक्त हो गया हूँ। मैंने अपना धर्म और अपना भय—दोनों ही ईश्वर को सौंप दिए हैं। जो उसकी इच्छा होगी, वह हो जाएगा। यदि वह यही चाहता है कि मेरा धर्म भंग हो, मैं धर्म से स्खलित होऊँ—तो भी उसकी इच्छा पूर्ण हो।"

युधिष्ठिर नकुल को खोजते हुए आगे बढ गए।

द्रौपदी को लगा कि युधिष्ठिर, नकुल को खोजने नहीं आए थे, वे उसे मार्ग दिखाने आए थे। सचमुच किसी भौतिक क्षति का भय तो कोई भय ही नहीं है। पांडवों ने अपना इंद्रप्रस्थ का साम्राज्य खो दिया, अपना सारा स्वर्ण, धन-वैभव खो दिया—तो क्या हो गया ? आज भी वे लोग एक सुखी परिवार के समान, इस वन में जीवनयापन कर रहे हैं। वे लोग यदि अपने अपमान को भुला सकें, तो उन्हें क्या कष्ट है, इस वन में ? स्वच्छ सात्विक और उल्लसित जीवन। एक-दूसरे का प्रेम कितना बडा संबल है।... भगवान राम ने भी तो सीता अपहरण से पहले तक, वन में अपनी पत्नी, भाई तथा वनवासी संगी-साथियों के साथ आनन्दमय जीवन ही व्यतीत किया था। ... जीवन की आवश्यकताऍं तो बहुत थोडी सी ही हैं। प्रकृति उन सबकी पूर्ति कर देती है। ... किंतु यदि अपने धर्म से स्खलित होना पड़े, अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन करना पड़े, व्यक्ति अपने सत्य का पालन न कर सके, तो वस्तुतः जीवन एक यातना हो जाए। ... ठीक कहते हैं धर्मराज ! प्रभु जिस स्थिति में रखना चाहता है, उसे तो स्वीकार करना ही पडता है... तो फिर हम अपनी चिंताएँ, अपने दुख, अपनी समस्याएँ, उसी को सौंप कर, क्यों निश्चिंत नहीं हो जाते ? ... कृष्ण ने कितनी बार कहा है उन लोगों से कि अपने कर्म कर, निश्चिंत हो जाओ, परिणाम की चिंता मत करो ... धर्मराज कदाचित् वही कर रहे हैं।... वैसे भी मनुष्य जब सर्वथा असहाय हो जाता है, तभी तो ईश्वर को पुकारता है। अपनी अक्षमता की घड़ी में ही तो ईश्वर के सामर्थ्य के दर्शन होते हैं। जब तक मनुष्य का अपने सामर्थ्य का भ्रम नहीं टूटता, तब तक उसे ईश्वर की शक्ति के दर्शन कहाँ होते हैं...

द्रौपदी की दृष्टि अपनी रसोई का सर्वेक्षण कर गई ... दुर्वासा पूर्वाह्न में आ गए होते, तो दस-बीस लोगों को वह फिर भी भोजन करवा देती; किंतु इस समय तो वह एक व्यक्ति को भी भोजन नहीं करवा सकती। स्वयं कृष्ण आ जाएँ, तो भी द्रौपदी के पास कुछ नहीं है, उन्हें खिलाने के लिए। ... और युधिष्ठिर द्रौपदी को अन्नपूर्णा कहते हैं। यह रसोई द्रौपदी की रसोई कहलाती है... इस संकट से कौन उबारेगा उसको ? ईश्वर ? ... किंतु वह तो किसी ईश्वर को नहीं जानती। ... वह जानती है तो बस अपने सखा कृष्ण को। कुछ लोग कहते हैं कि अर्जुन और कृष्ण, नर और नारायण के अवतार हैं। ... हैं या नहीं, द्रौपदी नहीं जानती। वह तो बस इतना ही जानती है कि उसे प्रत्येक

संकट में कृष्ण का ही स्मरण आता है, वही उसकी अक्षुण्ण शक्ति का स्रोत है, वह उसका सहारा और संबल है, वही उसकी श्रद्धा और भक्ति है, वही उसका बल और ईश्वर है, कृष्ण कहाँ हो तुम ? कृष्ण !... कृष्ण !!

24

"विदुर !" कुंती का स्वर पर्याप्त चिंतित था।

"हाँ भाभी !"

"काम्यकवन से कोई समाचार आया है क्या ?"

"मेरे अपने दूतों में से तो कोई नहीं लौटा भाभी !" विदुर बोले, "किंतु दुर्योधन के मित्रों में काम्यकवन की बहुत चर्चा है।"

"कैसी चर्चा ?" कुंती के नेत्र पूरी तरह खुल गए, "कैसी चर्चा है, उन लोगों में ?"

"दुर्वासा को पांडवों के आश्रम की ओर प्रेरित कर, दुर्योधन बहुत प्रसन्न था। उसने तो यहाँ तक घोषणा कर दी थी कि अब कोई पांडवों की रक्षा नहीं कर सकता। वे अन्न के अभाव में भूखे तो मरेंगे ही, दुर्वासा के क्रोध के भाजन भी बनेंगे। अपने धर्म से स्खलित होंगे। जिस तपस्वी समाज का उन्हें बहुत समर्थन प्राप्त है, उसी तपस्वी समाज में वे घृण्य माने जाएँगे।... और सारा आरण्यक तथा तापस समाज, अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र में पांडवों के विरुद्ध कार्य करेगा।"

"उसकी तो सदा से यही इच्छा रही है।" कुंती बोली, "किंतु आज क्या चर्चा होती रही, दुर्योधन के मित्रों में?"

"काम्यकवन के समाचारों को ले कर।"

"क्या समाचार है, यही तो पूछ रही हूँ।" कुंती के स्वर में उद्वेग का समावेश भी हो गया था।

विदुर मौन रहे, जैसे बोलने से पहले शब्दों का चयन कर रहे हों।...

"बोलते क्यों नहीं विदुर ?"

"वस्तुतः वह समाचार नहीं हैं भाभी ! सूचनाओं में स्पष्टता नहीं है। इस लिए वह एक प्रकार की कथा है।" विदुर बोले, "दुर्योधन के दूत सीधे पांडवों तक तो पहुँचे नहीं, वे उनके निकट के आरण्यकों से कुछ कथाएँ सुन कर लौट आए हैं, और उन्हीं की चर्चा हो रही है, दुर्योधन की चांडाल चौकडी में।"

"क्या चर्चा है, यही तो पूछ रही हूँ।"

"वे सुन कर आए हैं कि जब पांडव ऋषि की प्रतीक्षा कर रहे थे और

द्रौपदी अपनी रसोई में अत्यंत व्याकुल बैठी थी, तब उसने अत्यधिक विह्वल हो कर कृष्ण को पुकारा और कृष्ण वहाँ प्रकट हो गए।"

"कृष्ण प्रकट हो गए ?" पारंसवी चकित थी।

"चलो यह कह लो कि कृष्ण वहाँ आ गए।" विदुर बोले, "कृष्ण को अपने सम्मुख देख कर द्रौपदी ने यह नहीं सोचा कि कृष्ण सहसा आ कैसे गए, अथवा प्रकट कैसे हो गए ? वह तो बस प्रसन्न हो गई कि उसके सखा आ गए हैं, तो उसका संकट कट जाएगा। न उनका सारा अन्न भंडार समाप्त होगा, न उनका आतिथेय धर्म स्खलित होगा, न दुर्वासा की अप्रसन्नता का भय रहेगा।" विदुर ने कहा, "पांचाली ने कृष्ण को बताया कि दुर्वासा अपने दस सहस्र शिष्यों के संग, उनके आश्रम पर पधारे हैं। पता नहीं सचमुच दस सहस्र हैं, अथवा यह संख्या कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण है; किंतु यह सत्य है कि एक बहुत बड़ी संख्या में उनके शिष्य उनके साथ हैं। वे लोग स्नान करने गए हैं। अभी लौट कर आएँगे। उन सबको भोजन कराना है। इस समय द्रौपदी की रसोई में एक व्यक्ति के लिए भी भोजन नहीं था और भीम के भंडार में इतना अन्न नहीं था। उसके प्राण सूख रहे थे कि वह उनको भोजन कैसे कराएगी।... द्रौपदी अपनी उलझन की बात कह रही थी, और कृष्ण थे कि कुछ सुन ही नहीं रहे थे। वे अपनी प्रकार का उधम मचाए हुए थे कि वे बहुत दूर से आए हैं। उन्होंने प्रातः से ही कुछ नहीं खाया है। उन्हें बहुत भूख लगी है। वे कृष्णा के लिए तब तक कुछ नहीं कर सकते, जब तक कृष्णा पहले उन्हें भोजन न करा दे। द्रौपदी ने उन्हें बहुत समझाया कि इस समय उसके पास कुछ भी तैयार नहीं है। ... किंतु कृष्ण कुछ सुन ही नहीं रहे थे। जब यह बवंडर कुछ देर चल लिया, तो द्रौपदी रो पड़ी, 'तुम मेरी बात समझते क्यों नहीं हो सखा ! कि मैं इसी कारण से इस उलझन में हूँ कि मेरे पास किसी को खिलाने के लिए कुछ नहीं है। तुम्हें खिलाने के लिए भी नहीं।' द्रौपदी के नयनों में अश्रु देख कर भी कृष्ण नहीं पसीजे, तनिक भी नहीं । उसी प्रकार निष्ठुर भाव से बोले, 'तुम मुझे खिलाना नहीं चाहती हो कृष्णे ! इसलिए झूठ बोल रही हो।' द्रौपदी के लिए यह आरोप किसी निष्ठुर और नृशंस आघात के समान था। आँखों में अश्रु, अधरों पर पीड़ा, और वाणी में क्रोध भर कर बोली, 'तुम कितने निर्दयी हो केशव ! मैं तुमसे झूठ बोलूँगी ? तुमसे, जो मेरे सबसे बड़े हितैषी हो, जो मेरे सखा हो, मेरे ईश्वर हो। तुम्हें खिलाना नहीं चाहूँगी, जिसके मुख में एक ग्रास डालकर, मेरे जन्म-जन्मांतर तृप्त हो जाते हैं। तुम्हारा सत्कार नहीं करूँगी, जिसके चरणों को अपनी बरौनियों से स्वच्छ करूँ, तो मेरी आत्मा अपनी सार्थकता पा जाए। ... ' किंतु कृष्ण कहाँ माननेवाले थे। उन्होंने जैसे द्रौपदी की वह करुण वाणी सुनी ही नहीं थी। बोले, 'जब तक तुम मुझे रसोई का खाली भांड नहीं दिखाओगी, तब तक मैं तुम्हारी बात का

विश्वास कैसे करूँगा।' 'मत करो मेरा विश्वास।' द्रौपदी ने भी अपना रोष दिखाया, 'मै भी अब तुमसे तुम्हारे प्रत्येक कथन का प्रमाण माँगा करूँगी। मैं भी तुम्हारे वचन का विश्वास नहीं करूँगी। ... ' "

"कैसे कह सकती है, पांचाली यह सब।" पारंसवी बोली, "मैं तो कृष्ण को अपने सामने पाती हूँ, तो बस निहारती ही रह जाती हूँ। मुख से एक शब्द भी नहीं निकलता।"

"यही तो भक्ति का महात्म्य है। भक्त अपने भगवान से लड़ भी लेता है।" विदुर बोले।

"तो पांचाली ने वह भांड कृष्ण को दिखाया ?" कुंती ने पूछा।

"हॉ। पाचाली बहुत क्षुब्ध थी। अपने सम्मान की चिंता। दुर्वासा के माध्यम से संभावित अनिष्ट की आशंका। धर्मच्युत होने का भय। ... और फिर कृष्ण का यह व्यवहार।" विदुर बोले, "वह धुला धुलाया भांड उठा लाई। 'यह देखो। अब भी विश्वास करना है, करो; न करना हो, मत करो।' पांचाली बोली, 'किंतु मुझे बताओ, मैं ऋषि और उनके दस सहस्र शिष्यों के लिए भोजन कहॉ से लाऊॅ ?' कृष्ण द्रौपदी की चिंता से तनिक भी चिंतित नहीं दीखे। उन्होंने ध्यान से उस भाड का निरीक्षण किया; और उसके एक किनारे पर, असावधानीवश लगा रह गया, शाक का एक पत्ता ढूँढ निकाला।'मैं न कहता था, तुम झूठ बोल रही हो।' कृष्ण बोले। उन्होंने शाक के उस पत्ते को अपने मुख में डाल लिया। उसे चबाया, जैसे भोजन कर रहे हो। और फिर तृप्ति की एक डकार ली, जैसे उनका उदर भर गया हो। वे मुस्कराकर बोले, "तुम्हारे परोसे हुए भोजन से संपूर्ण सृष्टि का उदर भर गया है कृष्णे। अब यदि दुर्वासा और उनके शिष्य यहॉ आएँ। भोजन मॉगे। तुम उनको छत्तीस व्यंजन भी परोसोगी, तो वे एक ग्रास भी नहीं खा सकेंगे।' "

"क्या ऐसा संभव है ?" कुंती ने क्षण भर भी रुके बिना पूछा, "कृष्ण ने यदि शाक का एक पत्ता खा लिया, तो सारी सृष्टि की भूख शांत हो गई ?"

विदुर कुछ उत्तर देते, उससे पहले ही पारंसवी अधीरता से बोली, "दुर्वासा और उसके शिष्यों का क्या हुआ ? वे लोग पांडवों के आश्रम पर भोजन करने आए, तो उन्हें क्या कहा गया ?"

"कथा तो यही है कि स्नान करते-करते ही, दुर्वासा और उनके शिष्यो को अपने-अपने उदर के अफरने की अनुभूति हुई, जैसे वे भोजन से आकंठ पूरित हों।" विदुर ने कहा, "दुर्वासा ने अपने शिष्यों की भी अपने जैसी ही स्थिति देखी, तो बोले, 'अब यदि हम पांडवों के आश्रम पर गए और उनके द्वारा परोसा हुआ भोजन खा नहीं पाए, तो पांडव हमसे अवश्य ही रुष्ट होंगे। युधिष्ठिर धर्मराज हैं। उनका मन दुखाना उचित नहीं । ऐसा न हो कि हम वहॉ जाएँ, भोजन न

कर पाएँ, और अनादर और अपमान के साथ, हमारा कोई अनिष्ट भी हो जाए।' दुर्वासा और उनके शिष्य, पांडवों के आश्रम में गए ही नहीं । शायद उस आश्रम की विपरीत दिशा में ही कहीं विलुप्त हो गए। जब नकुल उन्हें बुलाने गया, तो वे नदी के तट पर अथवा उसके आस-पास कहीं दिखाई ही नहीं दिए। पांडवों ने उनकी बहुत प्रतीक्षा की कि शायद दुर्वासा अपनी प्रकृति के अनुसार, असमय में आकर उन्हें धर्म संकट में डालें; किंतु दुर्वासा और उनके शिष्य, पांडवों के आश्रम के निकट कहीं दिखाई ही नहीं दिए।"

विदुर मौन हो गए। कुंती और पारंसवी भी कुछ आत्मलीना सी ही थीं। कोई भी कुछ नहीं बोला।

अंत में कुंती ही बोली, "क्या तुम इस कथा को सत्य मानते हो विदुर ! क्या ऐसा होना संभव है ? कृष्ण शाक का एक पत्ता खा ले तो दुर्वासा और उसके दस सहस्र शिष्यों का पेट अफर जाए ?"

"इतना तो यथार्थ है भाभी ! दुर्योधन की प्रेरणा से दुर्वासा, अपने दस सहस्र, अथवा ऐसी ही किसी बड़ी संख्या में, अपने शिष्यों के साथ, पांडवों के आश्रम में पहुँचे थे। यह भी यथार्थ है कि उनके भोजन के लिए युधिष्ठिर का निमंत्रण था और पांडवों ने दुर्वासा की प्रतीक्षा भी की थी। यह भी यथार्थ है कि किसी भी प्रकार कृष्ण वहाँ पहुँच गए थे; और यह भी यथार्थ है कि दुर्वासा भोजन के लिए पांडवों के आश्रम पर नहीं पहुँचे थे।... सारा रहस्य यह है कि कृष्ण के पहुँच जाने पर उन लोगों के मध्य ऐसा क्या हुआ कि दुर्वासा पांडवों से मुँह छिपा कर, वहाँ से भाग निकले और लौट कर कभी उनके आश्रम पर नहीं गए ?"

"हाँ। रहस्य तो इतना ही है।" कुंती बोली, "मेरी जिज्ञासा है कि क्या तुम मानते हो कि कृष्ण में ऐसी अलौकिक शक्ति है, कि काम्यकवन में अपनी कुटिया में रोती हुई द्रौपदी उसे पुकारे और कृष्ण उसे द्वारका में अपने भवन में बैठा सुन ही नहीं ले, कुछ क्षणों में द्वारका से, काम्यकवन में पांडवों के आश्रम में प्रकट हो जाए ?... और फिर उसके द्वारा शाक का एक पत्ता खाने भर से सारे विश्व का उदर भर जाए ?"

विदुर ने अपनी आँखें बंद कर लीं, जैसे ध्यानलीन होने लगे हों। कुंती और पारंसवी उनकी ओर देखती रहीं ... क्या कर रहे हैं वे ?

और तब विदुर ने अपनी आँखें खोलीं।

"कृष्ण चमत्कारी पुरुष हैं, यह तो मैं आरंभ से ही मानता आया हूँ।" विदुर बोले, "कुछ लोग उन्हें योगीराज और योगेश्वर भी मानते हैं। योगशास्त्र कहता है कि योग की सिद्धि से मनुष्य, मानव शरीर की सीमाओं का अतिक्रमण कर, अपने मूल स्वरूप, अर्थात् ईश्वर के निकट पहुँच जाता है। कार्य-कारण संबंध और प्रकृति के सामान्य नियम, उस पर लागू नहीं होते। ... उससे व्यक्ति की

क्षमताएँ असीम हो जाती हैं। वह ईश्वर के समान ही सर्वव्यापक हो जाता है। वह सहस्रों योजन दूर का शब्द सुन सकता है। एक ही समय में एक से अधिक स्थानों पर प्रकट हो सकता है।... संभव है, कृष्ण ने यह सब अपने योगबल से किया हो।"

"योगीराज ही क्यों, हमारे हस्तिनापुर में तो कुछ लोग श्रीकृष्ण को ईश्वर का अवतार ही नहीं, स्वयं साक्षात् नारायण का रूप भी मानते हैं।" पारंसवी बोली।

"मानने को तो अनेक लोग बहुत कुछ मानते हैं। कुछ वनवासी तपस्वियों ने मुझसे यह भी कहा था कि अर्जुन और कृष्ण नर तथा नारायण के अवतार हैं।" विदुर बोले, "व्यक्तिगत रूप में मुझे उन्हें इनमें से कुछ भी मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है।"

"आपत्ति न होना एक बात है।" कुंती बोली, "और किसी बात का दृढ़ विश्वास होना, दूसरी बात ! वैसे तो मुझे ही क्या आपत्ति है--कृष्ण मेरा भ्रातुष्पुत्र है।"

"मैं यह मानता हूँ भाभी ! कि वैसे तो सारी प्रकृति, ईश्वर का ही रूप है।... फिर भी ईश्वर को पृथ्वी पर प्रकट होना होता है, तो वह कोई न कोई रूप तो धारण करता ही होगा। वह अपने लिए तो पृथ्वी पर आता नहीं । आता तो वह हम जैसे मनुष्यों के लिए ही है। ... तो उसे उसी रूप में आना होगा, जिसे हम जैसे मनुष्य समझ सकें, पहचान सकें। ... कृष्ण, ईश्वर के अवतार हैं अथवा नहीं, वे स्वयं ईश्वर हैं अथवा नहीं--यह तो मैं नहीं जानता; किंतु इतना तो मैं पूरी निष्ठा से मानता हूँ कि संसार में यदि धर्म कहीं है, तो वह कृष्ण के रूप में ही है। इसलिए अधर्म उनके निकट नहीं फटक सकता। यदि कृष्ण पांडवों के आश्रम में उपस्थित थे, तो दुर्वासा जैसा अधर्म वहाँ फटक ही नहीं सकता था।"

"तुम कहना चाहते हो विदुर ! कि पांडवों के आश्रम में कृष्ण की उपस्थिति की सूचना पा कर, दुर्वासा का कुटिल मन डर गया ? उसका साहस नहीं हुआ कि कृष्ण की उपस्थिति में वह पांडवों को वंचित करने के लिए वहाँ आ सके ?"

"बहुत संभव है कि ऐसा ही कुछ हुआ हो भाभी !" विदुर बोले, "द्यूतसभा में भी तो पांचाली के मुख से कृष्ण का नाम सुन कर ही दुःशासन को चक्कर आ गया था। दुर्वासा, दुःशासन से अधिक दुःसाहसी तो नहीं हो सकते।"

"हाँ ! हठी और कुटिल होते हुए भी, हैं तो वे एक तपस्वी ही।" कुंती बोली, "सात्विक शक्तियों के अस्तित्व को तो स्वीकार करते ही होंगे।"

"चलो, यही स्वीकार किया कि कृष्ण द्वारा शाक का पत्ता खा लेने पर, दुर्वासा और उनके शिष्यों का उदर पूरित हुआ हो या न हुआ हो, वे कृष्ण की उपस्थिति से भयभीत हो कर, भोजन के लिए आने का साहस नहीं कर पाए;

और वहाँ से उल्टे पाँव भाग गए।" पारंसवी बोली, " किंतु प्रश्न यह है कि द्रौपदी का आह्वान कृष्ण तक कैसे पहुँचा ? क्या उनमें सचमुच कोई ऐसी शक्ति है कि वे सहस्रों योजन दूर से, किसी की करुण पुकार सुन सकते हैं... क्या वे योग शक्ति से, एक ही समय में एक से अधिक स्थानों पर प्रकट हो सकते हैं ?"

"मैं इस घटना को द्रौपदी के चीरहरणवाली घटना से जोड़ कर देखना चाहती हूँ।" कुंती ने कहा, "वहाँ भी द्रौपदी की करुण पुकार थी, यहाँ भी। वहाँ भी कुछ लोगों को लगा था कि कृष्ण सभा में वर्तमान था, यहाँ भी कृष्ण के उपस्थित होने की बात कही जा रही है।"

"हाँ ! दोनों स्थितियों में पर्याप्त समानता है।" विदुर बोले।

"किंतु तुमने ही बताया था विदुर ! कि द्यूत की घटना के पश्चात् वन में कृष्ण जब मेरे पुत्रों से मिला तो उसने कहा कि वह शाल्व से युद्ध में व्यस्त था। इसलिए वह हस्तिनापुर नहीं आ सका, अन्यथा वह घटनाओं को इस प्रकार घटित नहीं होने देता।" कुंती ने विदुर की ओर देखा।

"हाँ ! कृष्ण ने ऐसा ही कहा था।" विदुर ने स्वीकार किया।

"तो स्पष्ट है कि कृष्ण द्यूतसभा में उपस्थित नहीं था।" कुंती बोली, "उसका आभास वहाँ चाहे वर्तमान रहा हो।"

"आप ठीक कह रही हैं भाभी ! हम कृष्ण के कथन की अवमानना नहीं कर सकते।" विदुर बोले, "किंतु दुर्वासावाली इस घटना में कृष्ण पांडवों के आश्रम में उपस्थित थे। मैं इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं दे सकता कि ऐसा कैसे हुआ। यह मेरे लिए भी एक रहस्य ही है। बस इतना मान लो कि कृष्ण कुछ न कुछ तो मायावी हैं ही। कोई न कोई माया तो वे रचते ही रहते हैं।"

"यदि ऐसा भी है तो कृष्ण के इतने प्रिय हो कर भी, मेरे पुत्र इतना कष्ट क्यों पा रहे हैं ?" कुंती बोली।

"यह सृष्टि तो माया की सृष्टि है भाभी ! और ईश्वर भयंकर-मायावी है।" विदुर हँसे, "तुम यह भी पूछ सकती थीं कि यदि कृष्ण ईश्वर हैं अथवा ईश्वर की शक्ति ले कर उत्पन्न हुए हैं, तो उनका जन्म कारागार में क्यों हुआ था ? जिसके गर्भ से स्वयं ईश्वर जन्म लेनेवाला था, उस माता को इतना कष्ट क्यों सहना पड़ा ? उसकी इतनी संतानों का वध क्यों हुआ ? पर भाभी ! मूल प्रश्न तो यह है कि ईश्वर क्या सुख़ में ही बसता है ?"

"नहीं ! यह तो मैं नहीं कह सकती।" कुंती बोली, "धन में संपत्ति में, सत्ता में, शक्ति में, इंद्रिय सुख में ... अधिकांशतः पाप बसता है। धृतराष्ट्र को ही देखो।"

"तो भाभी ! ईश्वर अपने प्रिय जनों को तो इस मल से दूर ही रखेगा।" विदुर बोले, "वह उन्हें धर्म देगा, सात्विकता देगा, दिव्यता और उदात्तता देगा। स्थूल सांसारिक सुख तो मनुष्य को ईश्वर से दूर ही करते हैं ... तो वह अपने

प्रिय जनों को वह पदार्थ क्यों दे, जिससे वे उससे दूर चले जाएँ ?"

"ठीक कहते हो विदुर ! मन में संसार हो तो ईश्वर नहीं मिलता।" कुंती बोली, "पर वह मेरे पुत्रों की इतनी कठोर परीक्षा क्यों ले रहा है ?"

"उसने ईश्वर होते हुए भी, क्या कम कठोर परीक्षा दी है ?" विदुर बोले, "भाभी ! मुझे तो ऐसा लगता है कि जब तक मनुष्य कहता है कि यह काम मेरा है, उसे मैं स्वयं अपनी शक्ति से कर लूँगा, प्रभु खड़ा मुस्कराता रहता है; और जब मनुष्य स्वयं को पूर्णतः असहाय पा कर, सब कुछ उसी पर छोड़ देता है, तो ईश्वर स्वयं प्रकट हो कर उसका काम कर देता है ...।"

"तुम कहना चाहते हो कि स्वयं प्रकट होने से पहले, प्रभु अपने भक्त को सर्वथा असहाय, अकिंचन तथा सर्वस्व वंचित कर देता है ?" कुंती ने पूछा।

"कुछ ऐसा ही लगता है भाभी ! मुझे।" विदुर बोले, "ईश्वर को पाने के लिए भक्त अपना सर्वस्व अर्पण करता है। अपना संसार, अपने प्राण ! जब उसके और ईश्वर के मध्य कोई व्यवधान नहीं रह जाता, जब उसके प्रत्येक श्वास में वही होता है, तभी तो ईश्वर प्रकट होते है।" विदुर ने रुक कर कुंती की ओर देखा, "तुम तो वहाँ नहीं थीं..."

"कहाँ ?"

"द्यूतसभा में।" विदुर ने उत्तर दिया, "मैने स्वयं अपनी आँखों से देखा था। द्रौपदी को अपनी विद्वत्ता का अवलंब त्यागना पडा। पिता द्रुपद तथा भाई धृष्टद्युम्न उसके लिए कुछ नहीं कर सकते थे। पितृव्य भीष्म ने अपना सिर एक ओर डाल दिया था। महावीर भीमसेन एडियॉ रगड़कर रह गया। अर्जुन का गांडीव कुंठित हो गया। धर्मराज का धर्म असहाय हो गया। द्रौपदी भरी सभा में निर्वस्त्र हो रही थी। यह स्थिति आ गई कि उसे अपनी भुजाएँ उठा कर कहना पडा कि सिवाय ईश्वर के उसका कोई नहीं है। उस समय कोई नहीं था, उसके और प्रभु के मध्य—शासन, समाज, संबंधी, पति, पद, सत्ता, संपत्ति, सहायक... कोई नहीं । द्रौपदी तो क्या, हम सबके प्रत्येक श्वास का यही स्वर था, 'हे प्रभु ! तू ही है।' और वह प्रकट हुआ। उसने द्रौपदी की ही नहीं, पांडवों की, धर्म की, सबकी लाज की रक्षा की ...।"

"किंतु मुझे तो बताया गया था कि कृष्ण के नाम से दुःशासन घबरा उठा था।" पारंसवी बोली।

"कृष्ण के नाम से दुःशासन घबरा गया था," विदुर बोले, "दुर्योधन तो नहीं घबरा गया था। शकुनि, कर्ण और धृतराष्ट्र तो नहीं घबरा गए थे। ... पर ऐसा क्या हो गया कि फिर किसी का साहस ही नहीं हुआ कि द्रौपदी को हाथ लगाए। सब उससे क्षमा मॉगते रहे। धृतराष्ट्र तक उसकी प्रशंसा कर, उसको वरदान देने को आतुर हो उठे।"

"कुछ ऐसा ही तो इस बार भी हुआ है कि जब पांडव असहाय हो गए," कुंती बोली, "और द्रौपदी को लगा कि वह गृहस्वामिनी की मर्यादा की रक्षा नहीं कर पाएगी, तो उसने कृष्ण को पुकारा... ।"

"मुझे तो यह, भक्त की ईश्वर के निकट जाने की प्रक्रिया को, स्पष्ट करनेवाली कोई कथा-सी लगती है।" पारंसवी बोली, "भक्त का भगवान के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण, एकाग्रता, भावना की उत्कटता, ईश्वर निर्भरता ...। कौन मानेगा कि मनुष्य के हाड मांस में खडे, हमारे संबंधी कृष्ण, ईश्वर हैं अथवा ईश्वर के अवतार हैं। वे भी तो हम जैसे एक मनुष्य ही तो दीखते हैं।"

"देखने के लिए ही तो ऑखें चाहिए पारंसवी !" विदुर बोले, "मनुष्य के शरीर में आया प्रत्येक जीव, ऊपर से देखने में एक जैसा ही लगता है; किंतु उसकी प्रकृति, प्रवृत्तियों और आकांक्षाओं का अंतर देखो। कोई कहता है कि ईश्वर मुझे धन दे।' और कोई कहता है कि ईश्वर मुझे धन से मुक्ति दे।' दुर्योधन अधर्मपूर्वक पांडवों का राज्य पाने के लिए कितनी बार उनकी हत्या का प्रयत्न कर चुका; और युधिष्ठिर ने अनायास चित्रसेन के बंदी हो गए दुर्योधन को सायास मुक्त कराया। कोई अपने विलास के लिए दूसरे के मुख का कौर छीन लेता है, और कोई दूसरे का पेट भरने के लिए, अपना अन्न उसे दे देता है। दृष्टि हो तो ईश्वर दिखाई देने लगता है, पारंसवी ! ... कृष्ण हमारे प्रिय हैं, हमारे संबंधी है, हम जैसे मनुष्य ही हैं ... किंतु कृष्ण का एक-एक काम कहता है कि वे मानवता के उद्धारक हैं, स्वयं ईश्वर हैं। यदि कृष्ण ईश्वर नहीं हैं, तो ईश्वर और कैसा होगा भाभी ?"

"आप का अभिप्राय है कि कृष्ण ईश्वर हैं। तो क्या उनकी यह देह अक्षय है ? उन्हें कभी कोई दुख नहीं होगा ? उनकी कभी पराजय नहीं होगी ?" पारंसवी ने पूछा।

"यह सब मैंने कब कहा ?" विदुर हँसे, "यह तो तुम्हारी बुद्धि में आई ईश्वरत्व की अवधारणा है, ईश्वरत्व के लक्षण नहीं ।"

"तो ?"

"तो यह कि दुख उसके लिए होता है, जिसके लिए सुख भी होता है। कृष्ण तो परम आनंदमय हैं। उनके लिए सुख और दुख का भेद नहीं है।" विदुर बोले, "ईश्वर जब अपनी माया के माध्यम से प्रकट होता है, तो प्रकृति के नियमों के अधीन ही शरीर धारण करता है; और उन्हीं नियमों के अधीन देह का त्याग भी करता है। कृष्ण ने शरीर धारण किया है, तो वे उसका त्याग भी करेंगे। ... और जय पराजय तो उसकी अपनी लीला है। लीला और आकांक्षा में बहुत भेद होता है। जो मार्ग उसने नियत किया है, वह उस पर चलाएगा ही। वह पांडवों के लिए वे सारे द्वार बंद कर देगा, जो उनके लिए अहितकर हैं। केवल

वही एक द्वार खुला रखेगा, जो उनके लिए कल्याणकारी है। इस कठोर और यातनामयी यात्रा में, वह उनकी आत्मा का मल, धो धो कर स्वच्छ करता रहेगा। और तुम पाओगी भाभी ! कि तुम्हारे पुत्र मानवों से कुछ अधिक बड़े हो गए हैं। मानवता से ऊँचे उठ गए हैं। वे दिव्य कर्म करेंगे, और दिव्य यश के भागी होंगे।"

"शायद तुम ही ठीक कहते हो विदुर !" कुंती बोली, "मेरे पास न तो तुम्हारे जैसी दृष्टि है, न बुद्धि। इसलिए यह सब पहले न सोच सकी, न देख सकी।"

"पर इस कथा में ..." सहसा पारंसवी बोली, "आप ने ही इसे कथा कहा है। ... लगता है कि पांडवों ने, घर में एक भी व्यक्ति का भोजन न होते हुए दुर्वासा को उसके शिष्यों के साथ आमंत्रित कर लिया; और उनके आतिथ्य का सारा दायित्व अकेली पांचाली पर डाल दिया। वह असहाय अपनी रसोई में रोती रही और कृष्ण को पुकारती रही। वे लोग उसके पति हैं कि शत्रु ?"

"तुमने ठीक कहा पारंसवी !" विदुर मुस्कराए, "इसीलिए इस सारे प्रसंग को मैंने सूचना न कह कर कथा कहा है। लगता है कि इस कथा के माध्यम से सायास, द्रौपदी की भक्ति और कृष्ण की लीला को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।" विदुर रुके, "और सूचना यह है कि वहाँ पाँच पांडव और पांचाली, तो एक प्राण हो कर रह रहे हैं। उनके आश्रम में रहनेवाला कोई मनुष्य तो दूर, कोई पशु भी अपने दुख में अकेला नहीं है। इसलिए यह तो हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि युधिष्ठिर ने दुर्वासा जैसे ऋषि को उनके दस सहस्र शिष्यों के साथ आमंत्रित कर लिया होगा और उनके भोजन का सारा दायित्व पांचाली पर डाल, स्वयं तटस्थ हो, निश्चिंत हो कर बैठ गया होगा।"

"इस कथा में, द्रौपदी के प्रति उसके पतियों की संवेदनशून्यता नहीं, गृहस्थी में स्त्री के अपने अन्नपूर्णा रूप की चिंता ही प्रकट हो रही है।" कुंती बोली, "वह यह मानती है कि उसका पति, उसके विश्वास पर, कितने भी लोगों को भोजन के लिए आमंत्रित कर सकता है। वह अन्नपूर्णा है, इसलिए अन्न की चिंता वह ही करेगी।"

"जाने वास्तविकता क्या है। हम सब तो इस कथा में से अपने अनुमानों के सहारे, अपने-अपने स्पष्टीकरण ढूँढ़ रहे हैं।" विदुर बोले।

"अच्छा ! अब मैं चलती हूँ। थोड़ा विश्राम करूँगी।" कुंती उठ खड़ी हुई। वह अपने कक्ष में आ गई। लेटने लगी थी कि कुछ सोच कर आसन पर बैठ गई। उसने अपनी आँखें बंद कर लीं, जैसे ध्यान करना चाहती हो।

... उसे लगा कि उसकी पलकों के भीतर, पलकों के ऊपर, उसके मस्तक पर, उसके हृदय में, उसके आसपास बस कृष्ण ही कृष्ण थे, और कुछ भी नहीं।...

25

दुर्योधन से अपनी व्याकुलता सँभाली नहीं जा रही थी। वह न केवल कक्ष के एक कोने से दूसरे कोने तक अधैर्यपूर्वक चक्कर लगा रहा था, वरन् अपनी भिंची मुट्ठियों का भी इधर-उधर प्रहार करता जा रहा था। उसे देख कर भय होता था कि कहीं वह अपना मस्तक ही भित्ति पर न दे मारे।

"इतनी व्याकुलता का कारण क्या है युवराज ?" अंततः शकुनि ने कुछ साहस कर पूछा।

"मातुल, अभी तक आपको मेरी व्याकुलता का कारण ही समझ में नहीं आया ?" दुर्योधन झपट कर बोला, "वह दुर्वासा !..."

"हाँ ! हाँ ! मुझे ज्ञात है कि दुर्वासा पांडवों को किसी प्रकार की कोई क्षति नहीं पहुँचा सका, किंतु उसके कारण अब अपना सिर फोड़ने से क्या लाभ ? तुम स्वयं घोषयात्रा के लिए गए थे, तो उनकी कोई क्षति नहीं कर सके। तो क्या हो गया ? वही बात दुर्वासा के साथ भी है।" शकुनि बोला, "उसने तुम्हें वचन दिया था कि वह दस सहस्र शिष्यों के साथ युधिष्ठिर के आश्रम पर जाएगा। उसने अपना वचन निभाया। वह उनके आश्रम पर गया था। यह सूचना तो तुम्हारे अपने गुप्तचर लाए हैं।"

दुर्योधन ने रोषपूर्ण दृष्टि से शकुनि की ओर देखा, "अब आप अपनी बातों से मुझे उन्मत्त ही बना देंगे। मैंने क्या उसकी इतनी सेवा इसलिए की थी कि वह काम्यकवन तक की यात्रा कर पांडवों के दर्शन करे ? तीर्थयात्रा पर भेजा था क्या मैंने उसे ?"

"अब वह उनके यहाँ भोजन करने की स्थिति में नहीं था, तो ..." दुःशासन ने कुछ कहना चाहा।

"चुप ! एक दम चुप !!" दुर्योधन और भी भड़ककर बोला, "उन लोगों को अपना पेट भरा-भरा लगने लगा था। ... सुन चुका मैं सौ बार ! यह भी सुन लिया कि कृष्ण ने वहाँ पहुँच कर द्रौपदी के हाथों शाक का एक पत्ता खा लिया था। तुम लोग चाहते हो कि मैं इन मूर्खतापूर्ण बातों पर विश्वास कर लूँ। सीधी-सी बात है कि लंबी यात्रा करके गए थे दुर्वासा ! मार्ग में जल का बाहुल्य नहीं है। पीने को पानी नहीं मिला होगा। प्यासे होंगे। नदी में नहाने उतरे तो इतना पानी पी लिया कि पेट ही अफर गया। पेट अफर गया था, तो सो जाते। बुद्धि तो नहीं अफरी थी। उठ कर पांडवों के आश्रम पर पहुँचते और भोजन माँगते। उस समय नहीं खा सकते थे, तो संध्या समय खाते। अगले दिन खाते। नहीं खा सकते थे, तो उनका भोजन ले कर फेंक देते, नदी में बहा देते। यहाँ

क्या नहीं किया उस दुर्वासा ने। कुटीर बनवाए और जलाए। भोजन बनवाया और नहीं खाया। बिना पूर्व सूचना दिए, सहस्रों लोगों के लिए भोजन माँगा। मुझे इतना व्याकुल कर सकता था, तो उनके पास ठहर कर एक अथवा दो समय का भोजन भी नहीं माँग सकता था ?"

"युवराज ठीक कह रहे हैं।" कर्ण बोला, "वहाँ से भाग जाने की क्या आवश्यकता थी ?"

"भाग जाने की ?" दुर्योधन कुछ और क्षुब्ध हो कर बोला, "विलुप्त हो जाने की। कहाँ है दुर्वासा और कहाँ हैं उसके शिष्य ? लौट कर क्यों नहीं आए वे लोग ?"

"क्या दुर्वासा ने तुम्हे वचन दिया था कि वे लोग लौट कर हस्तिनापुर आएँगे ?" शकुनि ने पूछा।

"नहीं ऐसा कोई वचन तो नहीं दिया था" दुर्योधन बोला, "किंतु जो वरदान दिया था, जब वह पूरा नहीं किया, तो स्वयं आता न आता, कोई सूचना तो भिजवाता। और फिर उसके वे शिष्य ..."

"शिष्य भी तो वहीं होंगे भैया ! जहाँ उनके गुरु जी है।" दुःशासन बोला, "गुरु ही नहीं लौटे, तो शिष्य क्या लौटते।"

"गुरु जाएँ भाड में और उनके शिष्य जाएँ भट्ठी में।" दुर्योधन का स्वर और ऊँचा हो गया, "मेरे सैनिकों को तो लौटना चाहिए था।"

कक्ष में पूर्ण सन्नाटा हो गया। वे तीनों स्तब्ध से दुर्योधन की ओर देख रहे थे।

दुर्योधन का ध्यान उनकी ओर गया। उसने स्वयं को सँभाला और बोला, "इस प्रकार क्या देख रहे हो मुझे, जैसे मैं विक्षिप्त हो गया हूँ। अरे इतनी-सी बात नहीं समझते कि कोई ऋषि दस सहस्र शिष्यों का पालन कर सकता है क्या ? उन्हें अपने साथ यात्रा पर ले जा सकता है ? उनकी रक्षा कर सकता है ? उनका भरण-पोषण कर सकता है ? उनको आच्छादन दे सकता है ? जब दुर्वासा हस्तिनापुर आए थे, तो उनके साथ केवल एक सहस्र शिष्य थे, जब उन्होंने यहाँ से प्रस्थान किया, तो उनके साथ दस सहस्र शिष्य थे। वे शेष नौ सहस्र कहाँ से आए ?" दुर्योधन ने रुक कर उन लोगों की ओर देखा, " वे मेरे सैनिक थे, जो मैंने तपस्वियो के वेश में उनके साथ कर दिए थे, ताकि वे भोजनभट्ट सैनिक वहाँ जाकर उन पांडवों का सारा अन्न भंडार चट कर जाएँ; और पांडव अन्न के अभाव में भूखे मर जाएँ। जिस स्थान को वे अपने लिए बहुत सुरक्षित समझ कर वहाँ जाकर छिप गए हैं, वह स्थान खाद्य सामग्री के अभाव में उनका काल बन जाए। ..."

"यह बात आपने हमें तो बताई ही नहीं युवराज !" कर्ण की वाणी तथा

मुद्रा में दुर्योधन के लिए प्रशंसा ही प्रशंसा थी ...।

"सोचा था कि भूख से बिलबिलाते हुए पांडव यह सब बताएँगे; किंतु देख रहा हूँ कि यहाँ तो मैं ही बिलबिला रहा हूँ।"

"है तो यह रहस्य की ही बात !" शकुनि बोला, "वे सैनिक कहाँ चले गए ? और क्यों चले गए ?"

"मेरे लिए तो यह सारा प्रसंग ही रहस्य हो गया है।" दुर्योधन कुछ शांत स्वर में बोला, "मेरे अपने गुप्तचर जो कथा मुझे सुना रहे हैं, मुझे उस पर तनिक भी विश्वास नहीं है।"

"किस बात का विश्वास नहीं है, तुम्हें ?" शकुनि ने पूछा।

"किसी बात का भी नहीं ।" दुर्योधन बोला, "मेरी तो समझ में यह ही नहीं आता कि युधिष्ठिर अपनी उस स्थिति में, जब उसके पास सौ लोगों के लिए भी भोजन न हो, दुर्वासा को उसके दस सहस्र शिष्यों के साथ भोजन के लिए आमंत्रित करने का साहस ही कैसे कर सकता है ?"

"पांडवों के पास सूर्य का दिया हुआ अक्षयपात्र है न !" दुःशासन बोला।

"फिर वही बात !" दुर्योधन ने उसे घुड़का, "सूर्य ने तो सारे संसार को अक्षयपात्र दे रखा है। अक्षयपात्र की कथा, पांडवों के समर्थकों द्वारा गढ़ी गई, वैसी ही कथा है, जैसी मैंने कर्ण के स्वर्ण कवच-कुंडल की गढ़ी है।"

"उस अक्षयपात्र के अभाव में वे ऐसा दुस्साहस तो नहीं कर सकते।" कर्ण उससे सहमत हो गया।

"देखो ! न तो मैं उस अक्षयपात्र को मानता हूँ, न दुर्वासा के वरदान और शाप को। न यह मानता हूँ कि कृष्ण के द्वारा शाक का एक पत्ता खा लेने के पश्चात् अब दुर्वासा को आजीवन भोजन करने की आवश्यकता नहीं होगी।" दुर्योधन बोला, "इस सारी कथा में रहस्य यह है कि कृष्ण वहाँ कैसे पहुँच गया और उसने ऐसा क्या किया कि दुर्वासा उन दस सहस्र लोगों के साथ किसी अंधे कुएँ में जा गिरा।"

"यह कृष्ण कोई न कोई जादू जानता है।..." दुःशासन बोला।

दुर्योधन ने उसे घूर कर देखा और दुःशासन की शेष बात उसके मुख में ही रह गई।

"युवराज की जय हो।"

दुर्योधन ने दृष्टि उठा कर देखा : द्वार पर उसकी प्रिय दासी वर्तिका खड़ी थी।

"युवराज ! गुरुपुत्र अश्वत्थामा पधारे हैं।"

"लिवा लाओ।" शकुनि ने कहा और दुर्योधन की ओर देखा।

दुर्योधन ने कुछ नहीं कहा। वर्तिका लौट गई।

अश्वत्थामा के आने तक वे लोग मौन ही रहे।

दुर्योधन ने अश्वत्थामा को बैठने भर का समय दिया और पूछा, "गुरुपुत्र ! क्या तुम संसार में चमत्कारों का अस्तित्व मानते हो ?"

"मैं चमत्कारों को नहीं मानता; किंतु सृष्टि के नियमों का ज्ञान न होने के कारण लोग ऐसी अनेक घटनाओं को चमत्कार मान लेते हैं, जो प्रकृति के नियमों के अधीन अवश्यंभावी रूप में घटित हो सकती हैं।" अश्वत्थामा बोला, "तुम लोग इस समय क्या चमत्कारों पर विवाद कर रहे हो ?"

"हाँ।" दुर्योधन बोला, "हम लोग यह जानना चाहते हैं कि संसार में चमत्कार संभव है क्या ? एक व्यक्ति जो काम नहीं कर सकता, क्या दूसरा व्यक्ति वह कर सकता है ?"

"हाँ ! क्यों नहीं !" अश्वत्थामा मुस्कराकर बोला, "तुम्हारी दासी भोजन पका सकती है, तुम नहीं पका सकते, या कोई भी साधारण स्त्री गर्भ धारण कर सकती है, किंतु हस्तिनापुर के युवराज वह नहीं कर सकते।"

"मै गंभीरता से पूछ रहा हूँ।" दुर्योधन बोला, "तुम इसे परिहास समझ रहे हो ?"

"नहीं ! इसमें परिहास की क्या बात है। मैं भी पूरी गंभीरता से ही कह रहा हूँ।" अश्वत्थामा ने कहा।

"मैं पूछ रहा हूँ कि कृष्ण क्या कुछ ऐसा असाधारण प्राणी है कि वह मनुष्य न हो कर भगवान् हो गया है ?" दुर्योधन बोला, "वह साधारण मनुष्य नहीं है क्या ?"

"जहॉं तक मानव रूप में जन्म लेने की बात है, कृष्ण भी साधारण मनुष्य ही हैं। उनका भी हमारे जैसा ही शरीर है। वैसी ही आवश्यकताऍं और सीमाऍं हैं, जैसी अन्य मनुष्यों की है।" अश्वत्थामा बोला, "किंतु यदि उनकी आत्मा के विकास की बात कहो, तो वे असाधारण हैं। महामानव हैं। उनके सारे कर्म कहते हैं कि वे किसी सामान्य मनुष्य के समान लोभ, मोह, काम, क्रोध इत्यादि का जीवन नहीं जी रहे। वे एक दिव्य जीवन जी रहे हैं। इस दृष्टि से वे असाधारण हैं। महामानव हैं। उनमें इतनी ईश्वरीय विभूतियॉं हैं कि वे स्वयं ईश्वर हो गए लगते है। हम जिस प्रकार बंधनों में बॅंधे हैं, वैसे बद्ध जीव नहीं है कृष्ण। वे मुक्त हैं, सारे प्राकृतिक बंधनों से मुक्त हैं।..."

"लो ! यह भाई तो युधिष्ठिर का भी गुरु निकला।" दुर्योधन बोला, "जितना मुक्त है कृष्ण, वह उस दिन पता चलेगा, जिस दिन वह मेरे हत्थे चढ़ गया। न मैंने उसे बंदी किया, न रस्सियों में बॉंध कर उसे घसीटा, तो कहना मुझे। उस दिन पूछूॅंगा कि वह ईश्वर है अथवा ईश्वर का अवतार।"

"मेरी एक बात सुनो दुर्योधन !" अश्वत्थामा ने एक प्रकार से उसे डॉंट

दिया, "तुम्हें जो करना हो, करते रहना। पर यह समझ लो कि जो पदार्थ स्थूल हो कर मिट्टी के रूप में वर्तमान है, वही जल, वायु तथा सूर्य की रश्मियों की सहायता से, वृक्ष के माध्यम से स्वादिष्ट से स्वादिष्ट फल के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यह वही अन्न है, जो तुम खाते हो और तुम्हारे शरीर में वह रक्त भी बनता है, और मल भी। वही अन्न है जो गो के शरीर में जाकर स्वादिष्ट दूध बनता है, जिससे तुम्हारे शरीर का पोषण होता है। वैसे ही इस मानव शरीर में जो आत्मा है, वह उसे घृणित भी बना देती है और दिव्य भी। मनुष्य अपना विकास कर ईश्वर के समान दिव्य हो सकता है। वह मनुष्य की ही विकसित स्थिति है। इसमें कोई चमत्कार नहीं है। यह तो प्रकृति का नियम मात्र है।"

"मेरा युद्ध पांडवों से ही नहीं है," दुर्योधन बोला, "मुझे तुम्हारे उस लाडले कृष्ण से भी निबटना है। उसका सारा ईश्वरत्व झाड़ कर रख दूँगा। मेरी ही मूर्खता थी कि मैने दुर्वासा जैसे व्यक्ति पर भरोसा किया। इस बार एक ऐसे व्यक्ति को भेजूँगा, जो दुर्वासा जैसा मूर्ख न हो। जिसका पेट कृष्ण का नाम सुन कर ही न अफर जाए। देखता हूँ, कृष्ण कैसे बचाता है पांडवों को।"

सबके मन में प्रश्न था कि दुर्योधन क्या सोच रहा है, किंतु किसी ने भी पूछा नहीं । अश्वत्थामा को विश्वास नहीं था कि दुर्योधन उसे कुछ बताएगा और शेष लोग अश्वत्थामा की उपस्थिति में दुर्योधन से इस विषय में कुछ पूछना नहीं चाहते थे।

एक संक्षिप्त मौन के पश्चात् अश्वत्थामा ने ही पूछा, "तो तुम क्या समझते हो, युवराज ! दुर्वासा भोजन के लिए पांडवों के आश्रम में क्यों नहीं लौटे ?"

"यह तो स्पष्ट ही है कि वह कृष्ण से डर गया।" दुर्योधन ने कहा, "मुझे जानना यह है कि कृष्ण वहाँ पहुँच कैसे गया और उसने ऐसा क्या किया, क्या कहा कि दुर्वासा भयभीत मूषक के समान काँपते-काँपते भाग गया।"

"यह तो तुम्हें कृष्ण ही बता सकेंगे या फिर दुर्वासा।" अश्वत्थामा बोला, "मैं तो तुम्हें पिता जी का यह संदेश देने आया था कि अपनी सेना के लिए उन्होंने कुछ नवीन व्यूहों के प्रशिक्षण की योजना तैयार की है। वे चाहते हैं कि तुम किसी समय उनके साथ बैठ कर उनको समझ लो और विचार-विमर्श कर लो।"

अश्वत्थामा उठ खड़ा हुआ, "अच्छा चलता हूँ।"

दुर्योधन ने उसे रोकने का प्रयत्न नहीं किया। वह चुपचाप उसे जाते हुए देखता रहा।

"इन पिता पुत्र का पांडवों के प्रति मोह, तथा कृष्ण के प्रति भक्ति देख कर मन होता है कि इन्हें इसी क्षण हस्तिनापुर से निष्कासित कर दूँ, किंतु फिर स्मरण हो आता है कि युद्ध हुआ तो इन दोनों की हमें बहुत आवश्यकता होगी।"

"तुम्हें यह नहीं लगता दुर्योधन ! कि युद्ध का अवसर उपस्थित होते ही, ये पिता पुत्र तुम्हें त्याग कर पांडवों के पक्ष में जा सकते हैं ?" शकुनि ने पूछा।

"वही उनके लिए अधिक स्वाभाविक है; किंतु पांडवों का पक्ष द्रुपद का पक्ष है।" दुर्योधन बोला, "पांडव द्रुपद का त्याग नहीं कर सकते और द्रुपद, आचार्य द्रोण को क्षमा नहीं कर सकता। यह आचार्य भी जानते हैं कि यदि वे पांडवों की सेना में जा भी मिलें, तो भी द्रुपद तथा धृष्टद्युम्न, सबसे पहले, उनका ही वध करेंगे।"

"युवराज ! तुम किसी और को पांडवों की सेवा में भेजने की चर्चा कर रहे थे।" कर्ण बडे मधुर ढंग से मुस्करा रहा था।

"हाँ। इस बार किसी ऐसे व्यक्ति को भेजना चाहता हूँ, जो मरुभूमि से कुछ परिचित हो। उससे घबराए नहीं । कुछ समय तक प्यासा रह सकता हो, ताकि नदी में नहाने उतरे, तो भोजन करने से पहले ही पानी पी-पी कर अफर न जाए।"

26

स्नान के लिए सरिता तट पर जाने के लिए द्रौपदी ने धात्रेयिका को पुकारा। धात्रेयिका आ तो गई, किंतु वह एकदम सहज नहीं थी। उसकी ऑखों में जैसे भय समाया हुआ था, और चेहरे का वर्ण उड़ा-उड़ा सा प्रतीत हो रहा था।

"क्या बात है धात्रेयिका ! स्वस्थ तो हो ?"

"स्वस्थ तो हूँ देवि !"धात्रेयिका अत्यंत दुर्बल स्वर में बोली, "किंतु मैं सत्य कह रही हूँ।"

"क्या सत्य कह रही हो !" द्रौपदी हॅसी, "अभी तो तुमने कुछ कहा ही नहीं है।"

"आपसे नहीं कहा, किंतु अपने पति से कहा था।" वह बोली, "वे मेरा विश्वास ही नहीं करते। कहते हैं कि मैंने कोई सपना देखा होगा।"

"किंतु वह स्वप्न नहीं था ?"

"नहीं स्वामिनी !"

"अच्छा क्या देखा था तुमने ?" द्रौपदी ने सरिता की दिशा में पग बढ़ाते हुए पूछा, "जो तुम्हारे अनुसार सत्य है, और इंद्रसेन के अनुसार स्वप्न है ?"

धात्रेयिका ने एक संकोचपूर्ण दृष्टि उस पर डाली और फिर साहस कर बोली, "आज प्रातः, समय से कुछ पूर्व ही मेरी निद्रा उचट गई थी। मैं कुटीर

से बाहर निकली, तो मुझे ऐसा आभास हुआ कि हमारे द्वार पर, कोई पशु खडा था, जो मेरे कपाट खोलने के कारण वहाँ से हट गया था। ... अभी कुछ अंधकार था, इसलिए मन में यह भी आया कि संभवतः मुझे भ्रम ही हुआ होगा। किसी वृक्ष की छाया को मैंने बड़ा पशु मान लिया होगा। हमारे आश्रम क्षेत्र में कोई पशु आ कैसे सकता है ? फिर भी मैंने इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई। मैंने देखा कि एक सिंह और सिंहनी हमारे आश्रम क्षेत्र से निकल कर, सघन वन की ओर जा रहे थे। वे न ही आक्रमण की मुद्रा में थे और न ही भयभीत लग रहे थे। उनकी गति बहुत वेगवान भी नहीं थी, जैसी कि किसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए होती है। वे तो जैसे अपने लिए कोई ठौर-ठिकाना ढूँढ रहे थे।"

वे दोनों देव नदी के तट पर पहुँच गई थीं। नदी में इन दिनों जल अधिक नहीं था। उसका पाट भी संकीर्ण हो गया था और वह कुछ उथली भी हो गई थी। पर वन में अभी जल का इतना संकट भी नहीं हुआ था कि वन में से निकल कर हिंस्र पशु जल की खोज में नदी के उन तटों पर भी आने लगें, जहाँ मनुष्यों का आवागमन था।

जल में प्रवेश करने से पहले, द्रौपदी ने रुक कर धात्रेयिका की ओर देखा, "तो उस सिंह युगल को देख कर, तुमने क्या किया ?"

"मैं स्तंभित खड़ी रह गई स्वामिनी !" धात्रेयिका बोली, "कितने ही समय तक न मेरे पग उठे, न मेरी जिह्वा हिली। मैं सोचती ही रही कि ये सिंह हमारे आश्रम के किसी भी कुटीर में प्रवेश पा गए होते, तो अब तक क्या घटित हो गया होता ! ... जब कुछ सँभली तो मैं कुटीर में लौट आई। मैंने अपने पति को बताया। उनकी नींद अभी पूरी नहीं हुई थी, इसलिए उन्होंने इसे मेरा स्वप्न कह कर टाल दिया और सो गए।"

"तेरा अब भी विचार है कि वे सिंह ही थे ?"

"हाँ स्वामिनी !"

"अच्छा अब तू निर्भय हो कर स्नान कर।" द्रौपदी ने जल में प्रवेश किया, "लौट कर मैं धर्मराज से कह दूँगी। वे कोई व्यवस्था कर देंगे, जिससे देखा जा सके कि आश्रम के आसपास कहीं कोई हिंस्र पशु तो नहीं है। मध्यम पांडव का तो मनोरंजन यही है कि वे ऐसे हिंस्र पशुओं का संधान कर उनका आखेट करें।"

धात्रेयिका का भय कुछ कम हुआ। देवी पांचाली ने उसका अविश्वास नहीं किया था। उनके कहने पर धर्मराज कुछ करें अथवा न करें, किंतु मध्यम पांडव अवश्य ही सिंह की खोज में निकल पड़ेंगे।

और सहसा द्रौपदी ही चौंक पड़ी : दो अश्वारोही वन में से कहीं से अपने अश्व दौड़ाते हुए आए; और अश्वों को जल पिलाने के लिए नदी की धारा तक

पहुँच गए।

उनकी दृष्टि भी वहाँ स्नान करती द्रौपदी और धात्रेयिका पर पड़ी। वे लोग क्षण भर को तो स्तब्ध खड़े रह गए, किंतु अगले ही क्षण अपने अश्वों के मुँह मोड कर उन्हें सरपट दौड़ाते हुए लौट गए।

द्रौपदी और धात्रेयिका ने आश्चर्य से एक-दूसरे की ओर देखा : कौन हो सकते थे वे ? ये अश्व तथा अश्वारोही उनके आश्रम के तो थे ही नहीं। उनके आश्रम का कोई पुरुष इस ओर नहीं आता। और आया होता तो उन्हें देख कर इस प्रकार भाग क्यो जाता ? अपने रथो के अश्वों को द्रौपदी भली प्रकार पहचानती थी। ये अश्व उनके नहीं थे। और फिर अपने अश्वो की देख-भाल तो पांडव स्वयं करते थे। नकुल तो अपना प्रमुख कार्य यही मानते थे। या फिर इंद्रसेन और विशोक उनकी सेवा टहल करते थे। तो फिर ...

उनका मन न स्नान में लगा और न ही जलक्रीड़ा में। वे यथाशीघ्र जल से निकल आईं और आश्रम की ओर लौट पडीं। मार्ग में उन्हें कुछ भी असाधारण दिखाई नहीं दिया। न कोई अपरिचित व्यक्ति दिखाई दिया; न कोई वन्य पशु; और न ही अश्वो के सुमों के चिह्न।...

भीम ने द्रौपदी को आश्रम में लौट आई देख कर कुछ आश्चर्य से कहा, "बहुत जल्दी लौट आई आज ! क्या नदी का जल एकदम सूख गया है, अथवा देव नदी के प्रवाह ने अपना स्थान बदल लिया है ?"

द्रौपदी ने उसे सारी घटना बताई। वह धात्रेयिका वाली घटना बतानी भी नहीं भूली।

भीम गंभीर हो गया, "दोनों घटनाएँ, एक-दूसरे की पूरक हैं। इसका अर्थ इतना ही है कि हमारे आश्रम के आसपास मनुष्यों का कोई बड़ा समूह आया है। उन्हीं के कारण ये वन्य पशु अपने स्थानों से विस्थापित हुए हैं और अपने लिए नए स्थान खोजने के लिए अनजानी दिशाओं में घूम रहे हैं। ... किंतु वे अश्वारोही इस प्रकार भागे क्यों, जैसे उनका यहाँ आना गोपनीय हो और वे किसी के सामने प्रकट न होना चाहते हों।" उसने द्रौपदी को आश्वस्त करती दृष्टि से देखा, "तुम चिंता मत करो देवि ! हम अभी जाएँगे और उन मनुष्यों को भी खोजेंगे तथा उन वन्य पशुओं को भी। हमारा आश्रम सुरक्षित रहना चाहिए।"

धर्मराज यज्ञ में पूर्णाहुति दे कर उठ खड़े हुए। अर्जुन भी अपना ध्यान पूर्ण करके आ गया था। थोड़ी ही देर में पाँचो पांडवों में परामर्श हो गया। रथ प्रस्तुत हो गए। उनमें शस्त्रास्त्र रख दिए गए। उनकी जाने की दिशाएँ निश्चित् हो गईं।

जाने से पूर्व युधिष्ठिर ने धौम्य से पूछा, "मुनिवर ! आप आशंकित तो नहीं

हैं ? वैसे हम लोग दूर तो जा ही नहीं रहे। चारों दिशाओं में देखेंगे कि सचमुच कुछ असाधारण है, अथवा वह सब पांचाली के भीरु मन की कल्पना ही थी।"

"नहीं । आश्रम की ओर से आप निश्चिंत रहें।" धौम्य बाले, "पीछे मैं हूँ। मुनि तृणबिंदु हैं। कुछ और साधक भी अपने कुटीरों तथा आसपास के क्षेत्र में होंगे। वैसे भी आश्रम के निकट यदि कोई संकट होगा, तो वह आप लोगों की दृष्टि से छिपा नहीं रहेगा। अभी तक कोई आरण्यक भी हमें यह सूचना देने नहीं आया है कि मनुष्यों का कोई समूह, इस ओर आया है, अथवा आ रहा है।..."

पांडव निश्चिंत हो कर चले गए।

काम्यकवन के दूसरे कोने मे वृक्षों के पीछे अतिगोपनीय रूप से जयद्रथ के रथ तैयार खड़े थे। उसके गुप्तचर उसे लगातार सूचनाएँ पहुँचा रहे थे।

"पाँचों पांडव तथा उनके विश्वस्त सेवक, आश्रम से निकल चुके हैं महाराज !"

जयद्रथ ने अपने गुप्तचर की ओर देखा, "किस दिशा में गए हैं ?"

"वे लोग चारों दिशाओं में गए हैं।" गुप्तचर ने बताया।

"यदि वे चारों ही दिशाओं में गए हैं, तो हमारे लिए तुमने कौन-सी दिशा निश्चित की है ?"

"वे चारों दिशाओं में गए हैं महाराज ! इसलिए दिशासंधियाँ तो निर्विघ्न है। आपकी यात्रा प्रचलित मार्गो से नहीं है। आप हमारे अश्वारोहियों द्वारा निर्मित नए मार्गो से जाएँगे। उस मार्ग का तो पांडवों को अभी ज्ञान ही नहीं है।"

"तो यह ध्यान रहे कि उन सब लोगों को कोई न कोई ऐसा प्रमाण मिलता रहे, जिससे वे हमारी खोज में आगे से आगे बढ़ते जाएँ और कम से कम आधे दिन तक आश्रम में न लौट सकें।" जयद्रथ ने रुक कर उसे देखा, "अब आश्रम में कौन है ?"

"आश्रम के भीतर तो हमारे किसी गुप्तचर ने प्रवेश नहीं किया है महाराज ! किंतु पाँचों पांडवों को बाहर जाते देखा गया है। इसका अर्थ है कि आश्रम में कोई पुरुष होगा भी तो योद्धा नहीं होगा।" गुप्तचर ने बताया।

"ठीक है। तुम अब जाओ।" जयद्रथ बोला।

गुप्तचर प्रणाम कर चला गया। जयद्रथ वहीं खड़ा उसे जाते देखता रहा। फिर उसने पलट कर अपने रथ की ओर देखा। सारथि तैयार था। शिविनरेश सुरथ का पुत्र कोटिकास्य उसके रथ के निकट खड़ा प्रश्नवाचक दृष्टि से उसकी ओर देख रहा था।

"आओ कोटिक !" जयद्रथ ने उसे पुकारा, "चलने का समय हो गया।"

"और शेष लोग ?"

"अब शेष लोगो की वहाँ क्या आवश्यकता है ?" जयद्रथ बोला, "आश्रम में पांडव हैं नहीं । वहाँ कोई योद्धा नहीं है। बस जाकर पांचाली को उठा ही तो लाना है। तो फिर उसके लिए इतने लोगों का क्या काम ? हम दो व्यक्ति ही चलते हैं। शेष लोग यहॉ प्रस्तुत रहें। यदि पांडव इधर से अपने आश्रम की ओर लौटते दिखाई पड़ें, तो वे उन्हें रोकें। अन्यथा हमारे लौटते ही, हमारे साथ प्रयाण करें। हम एक बार काम्यक पार कर अपने मरुप्रदेश में प्रवेश कर जाएँ, तो फिर पांडवों का कोई भय नहीं है।"

"यह तो कोई बात न हुई सिंधुराज !" त्रिगर्त का राजा क्षेमंकर आगे बढ आया, "हम भी तो तुम्हारी वरयात्रा में आए हैं। अब हम ही उस सुंदरी का अपहरण न देखें, तो क्या आनन्द ! हम तो साथ ही चलेंगे मित्र ! युद्ध करना पड़ेगा तो युद्ध कर लेंगे, अन्यथा उस सुंदरी के साथ तुम्हारी खींचतान ही देख लेंगे। हम कांपिल्य में हुआ पांचाली का स्वयंवर तो देख नहीं पाए, अब वन में हुआ उसका अपहरण तो देखे।"

"इसे अपहरण क्यों कहते हो ?" जयद्रथ के भाई बलाहक ने कहा, "यह भी तो एक प्रकार का स्वयंवर ही है।"

"स्वयंवर कैसे है यह ?" कोटिकास्य ने पूछा, "इसमें अन्य प्रतिस्पर्धी कहॉ हैं ? और पांचाली को चयन की सुविधा भी नहीं है।"

"देखो भाई ! यदि तुम समझ सको, तो यह स्वयंवर ही है। और स्वयंवर भी कैसा ? वीर्यशुल्का का।"

"कैसे ?" क्षेमंकर ने पूछा।

"सिंधुराज ने संसार की अन्य सारी अविवाहिता राजकुमारियों को छोड़, इस विवाहिता का वरण स्वयं ही तो किया है। तो स्वयंवर हुआ न !" बलाहक बोला, "और फिर देखो कैसे वीरतापूर्वक उसका हरण होगा। जिसका अपहरण किया जाए, वह तो होती ही वीर्यशुल्का है। वीरता का शुल्क चुकाए बिना आज तक किसी का अपहरण हुआ है।" बलाहक ने अट्टहास किया।

"तुमने तो एक नए शास्त्र का ही प्रणयन कर दिया ऋषिवर !" कोटिकास्य हाथ जोड़ कर उसके सम्मुख धरती पर बैठ गया, "हम तो आज तक अपने अज्ञानवश कुछ और ही समझे बैठे थे।"

"यह चयन मेरा नहीं, युवराज दुर्योधन का है मित्रो ! मैं तो बस अपने श्यालक की इच्छा पूर्ण कर रहा हूँ।"

"चयन किसी का भी हो। स्वयंवर की इस परिभाषा से तो विवाहिताओं की माँग बहुत बढ जाएगी।" क्षेमंकर बोला, "कन्या अपने स्वयंवर मे जिस राजा

का वरण नहीं करेगी, राजा बाद में इस नई परिभाषा के अनुसार अपना स्वयंवर कर उसका अपहरण कर लिया करेगा।"

"यह एक प्रकार से अबला-उद्धार भी है।" बलाहक बोला, "देखो तो कितना अत्याचार है कि एक राजकुमारी से विवाह कर उसे वनवासिनी बना दिया जाए। बेचारी पांचाली कितनी दुखी होगी। सिंधुराज उसका उद्धार करेंगे और उसे फिर से सौभाग्यशाली जीवन व्यतीत करने का अवसर देंगे।"

इस बार जयद्रथ का अट्टहास सबसे ऊँचा था, "मैं तो समझ रहा था कि मैं दुर्योधन की इच्छा पूर्ति मात्र कर रहा हूँ। यह तो मुझे आज ही ज्ञात हुआ कि मैं एक अबला का उद्धार भी कर रहा हूँ।"

"देखो मित्र ! अब इतना बनो भी मत।" अनीक ने कहा।

"अपना अभिप्राय स्पष्ट करो।" जयद्रथ मुस्कराकर बोला।

"यह अपहरण-प्रस्ताव युवराज दुर्योधन का रहा हो सकता है; किंतु हमें पूरी सूचना है कि कांपिल्य में पांचाली के स्वयंवर के अवसर पर ही उसके एक अपांग मात्र से तुम ऐसे आहत हुए थे कि आज तक वह घाव भरा ही नहीं । ... पर बंधु ! अब पांचाली वह पांचाली तो हो नहीं सकती। कहाँ अविवाहित किशोरी पांचाली और कहाँ पाँच पतियों की भार्या, पाँच किशोर पुत्रों की माता पांचाली। दोनों में बहुत अंतर है।" अनीक बोला।

"लगता है तुमने कभी पांचाली के दर्शन नहीं किए।" क्षेमंकर उससे असहमत हो गया, "एक बार उसे देख लो तो अपनी नई-नवेली को भी भूल जाओगे।"

"चलो भाई चलो। तुम लोग भी किस विवाद में पड़ गए।" जयद्रथ को सहसा जल्दी मच गई थी, "शेष लोगों से भी पूछ लो। जिस-जिस को चलना हो, साथ चलो। जो न चलना चाहे, वह यहीं से आगे चलने को प्रस्तुत मिले।"

वे सब ही तैयार थे। कोई भी पीछे रुकना नहीं चाहता था। कुलिंद राजकुमार, इक्ष्वाकुवंशी सौबल, सौवीर के बारहों राजकुमार, ... कोई भी तो पीछे रहना नहीं चाहता था। ...

जयद्रथ ने गुप्तचर से दिशा और स्थान ठीक-ठीक समझ लिया था; किंतु यह वन था, नगर तो था नहीं कि नाक की सीध चलता और ठीक-ठीक स्थान पर जा पहुँचता। सावधान रहना आवश्यक था। संभव है कि पांडवों ने अपनी सुरक्षा के कुछ गुप्त प्रबंध भी कर रखे हों, जिसका उसके गुप्तचरों को पता न चला हो। समय भी व्यर्थ नहीं खोना था। ठीक है कि उसने पांडवों को दूर ले जाने

की व्यवस्था कर रखी थी; किंतु किसी भी कारण से वह व्यवस्था पूर्णतः सफल न हो पाई और पांडव लौट आए तो उसकी योजना असफल भी हो सकती थी।...

... ठीक है। यह आश्रम जैसा ही कोई स्थान था, जिसके मध्य में यह कुटीर था।

जयद्रथ ने सारथि को संकेत किया और रथ रुक गया। उसने स्वयं रथ से उतर कर दो एक चक्कर लगा निरीक्षण किया। चलता-चलता वह कुटीर के पर्याप्त निकट चला गया। यह कैसे निश्चित हो कि यह पांडवो की ही कुटिया है। यह किसी साधारण वनवासी की कुटिया भी तो हो सकती थी। या फिर पाडवो के किसी सहयोगी की। ...

तभी उसे कुटिया के द्वार पर एक स्त्री दिखाई दी।... कौन है यह ? इतनी दूर से वह उसे वहुत स्पष्टता से नहीं देख सकता था। जहाँ तक वह उसे देख पा रहा था,उसकी वेशभूषा साधारण आरण्यकों की सी ही थी। ... किंतु उसका रूप साधारण आरण्यकों का सा नहीं था। ... वह असाधारण सुंदरी थी। इस वन में ऐसा रूप ! अवश्य ही वह पांचाली ही थी। जयद्रथ सर्वथा उपयुक्त स्थान पर पहुँचा था। ... कांपिल्य में उसके स्वयंवर के समय उसे देखा था। राजसूय यज्ञ के अवसर पर भी वह उसके रूप को देख-देख कर पीड़ित हुआ था। द्यूतसभा मे उसके रूप को ही नहीं, उसके आकार को देखने का भी अवसर मिला था। किंतु उस वात को भी अव वारह वर्ष होने को आए। इतने समय में कुछ परिवर्तन तो होना ही था। ... किंतु यह स्त्री तो सर्वथा युवती लग रही है। यह पांचाली की अवस्था की तो लग ही नहीं रही है।...

जयद्रथ ने अपने होंठ काटे ... यदि यह पांचाली नहीं है, तो भी वह इसको छोडेगा नहीं । पांचाली मिले न मिले। वह इसे तो अपने साथ ले ही जाएगा। ऐसी स्त्री मिल जाए, तो फिर पांचाली के लिए भी भटकने की क्या आवश्यकता थी ?...पर यह है कौन ? यह कोई मुनि कन्या नहीं हो सकती। कन्या तो यह है ही नहीं । कोई ऋषिपत्नी, इतनी सुंदर नहीं हो सकती। ... है भी तो क्या ? जयद्रथ को उसकी आवश्यकता है। ऐसी देव सुंदरियाँ आरण्यकों के कुटीरों में रहेंगी, तो राजमहलों के लिए राजरानियाँ कहाँ से आएँगी ? ...

जयद्रथ मन ही मन सहस्रो प्रश्नों से जूझता हुआ, अपने रथ के पास लौट आया।

"तुमने कुछ देखा कोटिक ?" उसने कोटिकास्य से पूछा।

"हाँ। एक अप्सरा देखी तो है।" कोटिकास्य वोला, "पर क्या वह पांचाली है ?"

"कोटिक ! तुम उसके पास जाओ। उससे पूछो, वह कौन है। उसके पति और पिता का नाम पूछो।" जयद्रथ अधीरता से बोला।

"उसने अपने पति का नाम बता दिया, तो प्रेम निवेदन कैसे करोगे उस विवाहिता से ?" कोटिकास्य हँस रहा था।

"वह सब मैं कर लूँगा। कह दूँगा कि वह विवाहिता है; किंतु अपने पति के साथ प्रसन्न नहीं है। महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि वह विवाहिता है अथवा नहीं । महत्त्वपूर्ण यह है कि वह प्रसन्न है या नहीं । जाओ, तुम केवल पता लगा कर आओ कि वह है कौन।" जयद्रथ बोला, "वह पांचाली है तो ठीक है। नहीं है, तो भी मुझे यह स्त्री चाहिए ही। विवाहिता है, तो; अविवहिता है तो। मेरे जीते जी, अब वह यहाँ नहीं रह सकती। जाओ। उसका परिचय प्राप्त कर, शीघ्र लौटो।"

कोटिकास्य रथ से उतर आया। उसने घूम कर कुटीर का परिदृश्य देखा। चारों ओर एक प्रकार की बाड़ लगा कर कुटीर का घेर बनाया गया था। घेर के भीतर प्रवेश के लिए द्वार भी बनाया गया था। भीतर पहुँचने के मार्ग में बाधा कोई नहीं थी, किंतु मार्ग संकेतित अवश्य था। वह उचित मार्ग से चलता हुआ, प्रवेशद्वार पर आया। द्रौपदी कुटिया के द्वार के निकट खड़ी थी। घेर के प्रवेशद्वार तथा उसमें बीस-पच्चीस हाथ की दूरी रही होगी। कोटिकास्य ने पुकार कर द्रौपदी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। वह स्पष्ट कर देना चाहता था कि वह चोरी छिपे नहीं आया है और उसका कोई अन्यथा उद्देश्य भी नहीं है।

द्रौपदी ने उसकी ओर देखा : वह चौंकी। आज प्रातः से ही वह अपरिचित लोगों को देख रही थी। इस समय उसके पति भी आश्रम में नहीं थे। यह व्यक्ति राजसी वेशभूषा में था। कौन था वह ? यात्री था ? आखेटक था ? राजा था ? राजपुरुष था ? व्यापारी तो वह नहीं हो सकता। राजकर्मचारी जैसा भी नहीं लग रहा था कि वह मान लेती कि वह हस्तिनापुर से कोई संदेश लाया है ...

वह सहज रूप से चलता हुआ द्रौपदी के पर्याप्त निकट आ गया था।

"मैं शिवि नरेश सुरथ का पुत्र कोटिकास्य हूँ। अपने मित्रों के साथ आया हूँ।" उसने दौपदी के सम्मुख खड़े हो कर कहा, "हम लोग अपने एक मित्र के काम से आए हैं। वह मित्र भी हमारे साथ ही है। वस्तुतः हम लोग एक आश्रम खोज रहे हैं। हमें बताया गया था कि वह आश्रम यहीं कहीं है। पर..."

द्रौपदी ने कोटिकास्य को पहचाना : हाँ ! वह शैब्य सुरथ का पुत्र कोटिकास्य ही था। किंतु...

"आप किसका आश्रम खोज रहे हैं आर्य ?" द्रौपदी ने पूछा, "यहाँ अनेक आरण्यक लोग रहते हैं।"

"हमें बताया गया था कि वह यहीं कहीं है।" कोटिकास्य ने कहा।

द्रौपदी को हँसी आ गई : यह मूर्ख आश्रम के विषय में पूछ रहा है और आश्रमवालों का नाम तक नहीं ले रहा है।

"आप जिनका आश्रम खोज रहे हैं, उनका कोई नाम भी तो होगा।"

"वस्तुतः हम लोग धर्मराज युधिष्ठिर का आश्रम खोज रहे हैं।" उसने कहा और अत्यंत त्वरित ढंग से जोड़ दिया, "किंतु लगता नहीं कि वह यहाँ कहीं होगा।"

"आपको ऐसा क्यों लगता है कि धर्मराज का आश्रम यहाँ नहीं होगा ?" द्रौपदी कुछ परिहासपूर्ण स्वर में बोली, "यहाँ आपको कहीं अधर्म दिखाई दे रहा है क्या ?"

"नहीं ! ऐसी तो कोई बात नहीं है देवि !" वह बोला, "किंतु पांडवों का आश्रम हो और उसमें कहीं कोई शस्त्रधारी न दिखाई पड़े, कोई प्रहरी न हो, आगामी सूचना देनेवाला कोई धावक न हो—ऐसा विश्वास नहीं होता।"

"यह पांडवों का आश्रम है शैव्य ! उनका राजप्रासाद नहीं ।" द्रौपदी ने कहा, "शस्त्र तो शस्त्रधारियों के पास हैं, वे आश्रम में टँगे नहीं रहते।"

"तो क्या उनका आश्रम यही है ?" कोटिकास्य ने इस प्रकार उल्लसित स्वर में कहा, जैसे बहुत लंबे संधान के पश्चात् उसको अपना गंतव्य मिल गया हो।

"आश्रम तो यह पांडवों का ही है," द्रौपदी ने कहा, "किंतु आप उन लोगों को क्यों खोज रहे हैं ?"

"तो आप देवि पांचाली हैं क्या ?" उसने आतुरता से पूछा, "धर्मराज कहाँ हैं ?"

"हाँ ! मैं महाराज द्रुपद की पुत्री कृष्णा हूँ।" वह बोली, "मेरे पति इस समय आखेट के लिए गए हैं। वे लोग आते ही होंगे। पर आप बताएँ कि आपके मित्र कौन हैं और वे पांडवों से क्यों मिलना चाहते हैं ?"

"ओह मेरे मित्र ! वे पांडवों के निकट संबंधी हैं।" वह बोला, "आप सिंधुराज जयद्रथ को तो जानती ही होंगी। वे सम्राट् धृतराष्ट्र के जामाता हैं।"

"हाँ ! वे मेरी ननद दुःशला के पति हैं।" द्रौपदी ने उत्तर दिया, "क्या वे धर्मराज से मिलने आए हैं?"

"हाँ !" कोटिकास्य ने कहा, "किंतु आपने बताया नहीं कि आपके पति कहाँ हैं ? वे लोग आश्रम में तो दिखाई नहीं देते। यदि वे लोग बाहर कहीं गए हैं, तो आश्रम में कब तक लौटेंगे ?"

द्रौपदी को लगा कि वह एक विकट संकट में फँस गई है। जयद्रथ और उसके मित्र ऐसे लोग नहीं हो सकते, जिनका पांडवों की अनुपस्थिति में इस

आश्रम में ठहरना स्वागत योग्य हो... किंतु जयद्रथ उसका नंदोई था। वह उनके द्वार पर आया था। वह उसकी उपेक्षा नहीं कर सकती थी। पांडवों को, और विशेष रूप से धर्मराज को यह तनिक भी अच्छा नहीं लगेगा।

"वे लोग आखेट के लिए गए है। शीघ्र ही लौटेंगे।" द्रौपदी नहीं चाहती थी कि जयद्रथ को यह आभास भी मिले कि पांडव आश्रम से लंबे समय के लिए अनुपस्थित भी रह सकते हैं।

"यदि वे लोग शीघ्र ही लौटनेवाले हैं, तो सिंधुराज यहीं प्रतीक्षा कर लेंगे। पांडव दो-चार दिनों के लिए बाहर गए होते, तो कदाचित् उनकी अनुपस्थिति में, आप अकेली महिला के निकट हम लोगों का इस प्रकार ठहरना उचित न होता।" कोटिकास्य मुस्कराया।

द्रौपदी की इच्छा हुई कि वह अपना सिर पीट ले। उसके उत्तर ने तो उसके लिए सर्वथा अवांछित परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी थीं।

"तो मैं सिंधुराज को सूचना दे दूँ कि यह पांडवों का ही आश्रम है।" कोटिकास्य ने द्रौपदी के उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की। उसकी मुस्कान, द्रौपदी को किसी राक्षस के अट्टहास के समान लग रही थी।

कोटिकास्य बाहर निकला और द्रौपदी ने धात्रेयिका को पुकारा। उसका निकट रहना आवश्यक था। वह निकट रहेगी तो द्रौपदी का आत्मबल भी बना रहेगा और आवश्यकता होने पर वह धौम्य मुनि को बुलाने भी जा सकती है।

धात्रेयिका भागती हुई आई, "क्या बात है स्वामिनी ! आप इतनी घबराई हुई क्यों लग रही हैं ?"

"वह जो बड़ा-सा हिंस्र पशु तुमने प्रातः देखा था न ! वह हमारे आश्रम में आ गया है।" द्रौपदी ने उत्तर दिया।

"क्या ?"

"चिल्ला मत और मेरी बात ध्यान से सुन। है तो वह हिंस्र पशु ही, किंतु इस समय वह मित्र के रूप में आया है। बाहर रथ में बैठा है। दो-चार क्षणों में यहीं होगा। तुम मेरे निकट ही रहना। मैं जाने को कहूँ भी तो कहीं मत जाना। हाँ ! संकट देख कर भाग कर धौम्य मुनि को बुला लाना।"

"मैं समझ गई स्वामिनी !" धात्रेयिका ने उत्तर दिया।

द्रौपदी उसकी स्थिति समझ रही थी। वह ऊपर से चाहे कितना भी साहस दिखा रही हो; किंतु मन ही मन बहुत डर गई थी।

जयद्रथ ने आने में तनिक भी देर नहीं लगाई। उसके साथ उसके सारे मित्र भी कुटीर के घेर के भीतर आ गए थे।

"वरारोहे !" उसने मुग्ध दृष्टि से द्रौपदी की ओर देखा, "तुम सकुशल तो हो ? तुम्हारे पति, पिता और भ्राता सब सकुशल तो हैं न ?"

"हम सब लोग ईश्वर की कृपा से सकुशल हैं सिंधुराज ! आशा है, आप भी ईश्वर की कृपा से धर्म के मार्ग पर चल रहे होंगे।"

जयद्रथ को द्रौपदी का मंतव्य समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं हुई। जानता था कि उसके अस्तित्व को घेर कर चलनेवाले अधर्म को रोकने का द्रौपदी के पास और कोई उपाय नहीं था, इसलिए वह धर्म की चर्चा कर रही थी।

"मेरे मित्रों से मिलो कमलनयने !" जयद्रथ ने अपने साथियों पर एक दृष्टि डाली, "कोटिकास्य से तो तुम मिल ही चुकी हो। मुझे विश्वास है कि उसने अपना परिचय तुम्हें अवश्य ही दे दिया होगा। सुंदरियों को अपना परिचय देने में वह तनिक भी नहीं चूकता।" द्रौपदी को अपने मुखमंडल पर उसकी मलिन दृष्टि के स्पर्श का सा आभास हुआ, "ये त्रिगर्त के राजा वीर क्षेमंकर हैं, जो अपने स्वर्ण के रथ पर विराजमान होते हैं तो वेदी में घी की आहुति पड़ने से प्रज्वलित अग्नि के समान प्रकाशित होते हैं। ये जो एक विराट् धनुष तथा अमूल्य पुष्पों की अनेक मालाएँ धारण किए हुए हैं, ये कुलिंदराज के ज्येष्ठ पुत्र हैं। कुलिंदराज तो पाडवों के बहुत बडे सहायक हैं, किंतु ये हमारे मित्र हैं; क्योंकि इन्हें साधारण लोगों की मैत्री रुचिकर नहीं लगती। और सुंदरांगि ! ये श्याम वर्ण के अत्यंत दर्शनीय युवक है, ये इक्ष्वाकुवंशी राजा सुबल के पुत्र हैं। ये अकेले ही अपने समस्त शत्रुओं का संहार करने में समर्थ हैं ..."

द्रौपदी समझ रही थी कि जयद्रथ अपने मित्रों का ऐसा परिचय क्यो दे रहा है। वह उनके रूप का बखान कर रहा है। वह उनके धन और पद की चर्चा कर रहा है। वह उनकी वीरता की प्रशंसा कर रहा है। ... दुर्योधन भी तो घोषयात्रा के बहाने आकर यही सब दर्शाना चाहता था। ... स्वयं नहीं कर पाया तो अब इस धूर्त्त को भेज दिया।

"और लाल रंग के घोड़ों से जुते रथों पर बैठ कर तेजस्विनी अग्नि के समान सुशोभित होनेवाले सौवीर देश के ये बारह राजकुमार हाथों में ध्वज ले कर मेरे रथ के आगे चलते हैं और इनकी सहायता के लिए बारह सहस्र योद्धा मेरे रथ के पीछे चलते हैं।" जयद्रथ ने मुस्कराने का प्रयत्न किया, "तुम पूछोगी कि वे सब इस समय कहाँ है। वे सब यहीं हैं। इसी वन में हैं। हम उन्हे अपने साथ नहीं लाए कि पांडवों की कुटिया में इतना स्थान तो होगा नहीं कि मेरी अंगरक्षक वाहिनियॉ वहॉ ठहर सकें। दुर्वासा के साथ तो दस सहस्र शिष्य आए थे तो पांडवों को संकट का अनुभव होने लगा था। ..."

'मुझ पर अपनी शक्ति का प्रभाव डाल रहा है।' द्रौपदी ने सोचा, 'नहीं जानता कि मेरे एक वीर पति ने अपने शस्त्र उठा लिए तो इसके बारह सहस्र योद्धा अपने प्राण बचाने के लिए दूर मरुभूमि में लोटते दिखाई देंगे।' ... उसके मन में एक और विचार शृंखला समानांतर चल रही थी...'तो वे दो अश्वारोही

जो प्रातः सरिता तट पर मिले थे, इसी के सैनिक थे। वन में इन्हीं लोगों की उपस्थिति से वन्य जीव विस्थापित हुए होंगे और अपने लिए स्थान खोजने निकले होंगे। प्रातः से इस आश्रम के आसपास जो कुछ भी विचित्र घटित हो रहा था, सब इन लोगों के कारण ही था।... तो क्या ये लोग किसी पूर्व निर्धारित षड्यंत्र के अनुसार यहाँ वन में आकर छिप गए हैं ? इन्होंने कहीं जान बूझ कर तो उसके पतियों को बहका कर दूर नहीं भेज दिया, जैसे रावण ने श्रीराम को भेज दिया था और फिर मारीच ने लक्ष्मण को भी पुकार लिया था ? जाने पांडव इन लोगों की खोज में कहाँ भटक रहे होंगे और ये लोग यहाँ उनके आश्रम में आ घुसे हैं। ... पर पांडव चारों दिशाओं में इन्हें खोजने निकले हैं, तो ये लोग उनकी दृष्टि से बच कैसे गए ? और सहसा द्रौपदी की समझ मे आ गया।... पांडवों ने काम्यकवन के इस भाग को अपना निवास बनाने के लिए इस कारण से चुना था कि इसकी पीठ पर मरुभूमि का आरंभ है। उस मार्ग से कोई यात्रा नहीं करता। पांडव उस ओर से अवश्य असावधान रहे होंगे और ये दुष्ट उसी दिशा से आकर मरुभूमि के निकट ही कहीं गोपनीय रूप से ठहर गए होंगे। इस समय भी पांडवों ने उस क्षेत्र की उपेक्षा की होगी। ...उस मार्ग से आने के कारण पांडवों के किसी मित्र राजा की भी उन पर दृष्टि नहीं पड़ी होगी। यह तो किसी ने सोचा ही नहीं कि कोई इस मार्ग से भी आ सकता है।... जिस मरुभूमि को उन्होंने अपनी रक्षिका माना था, उसी ने उन्हें इस समय प्रवंचित किया था। इस से पूर्व उसके अपने ध्यान में भी कभी नहीं आया था कि दुर्योधन का मित्र तथा बहनोई यह जयद्रथ सिंधुप्रदेश का निवासी होने के कारण मरुभूमि से परिचित ही नहीं होगा, उसे मरुभूमि में यात्रा का अभ्यास भी होगा। उसका आवागमन उस ओर से भी संभव था।... '

सहसा जयद्रथ अपने साथियों की ओर मुडा, "तुम लोग अपने रथों में बैठ कर प्रतीक्षा करो। मै अभी अपना संदेश दे कर आता हूँ।"

द्रौपदी चौंकी ... यह किसका संदेश लाया है? और किसके लिए लाया है ? यदि वह पांडवों अथवा धर्मराज के लिए कोई संदेश लाया है, तो उसे पांडवों की प्रतीक्षा करनी चाहिए। पांचाली को संदेश दे कर चले जाने का तो कोई अर्थ ही नहीं है। उसे ऐसी क्या जल्दी है कि वह पांडवों की अनुपस्थिति में आकर उनके लौटने की प्रतीक्षा भी नहीं कर सकता ? ... और संदेश ही देने आया था, तो इतनी सारी सेना और इतने मित्रों को साथ लाने की क्या आवश्यकता थी ? नहीं ! यह व्यक्ति इतना सरल नहीं है। उस पर किसी भी रूप में विश्वास नहीं किया जा सकता।

"नहीं रथों में बैठ कर प्रतीक्षा करने का तो कोई कारण नहीं है।" द्रौपदी ने कहा, "आप लोग आश्रम में वृक्षों की छाया में थोडा विश्राम करें। मेरे पति

अभी आते ही होगे। वे आप का यथायोग्य सत्कार करेंगे। धर्मराज युधिष्ठिर तो अतिथि को देव के समान पूजते हैं। मध्यम पांडव तो आप लोगों के दर्शन कर मानों अपना मनभावन ही पा जाएँगे। मेरा विचार है कि आप लोगों को तनिक भी कष्ट नहीं होगा।"

भीम का नाम जयद्रथ को कुछ डोला गया। वह समझ रहा था कि द्रौपदी उसे एक प्रकार की चेतावनी दे रही थी। किंतु भीम इस समय आश्रम में नहीं था और उसके लौटने की प्रतीक्षा वह नहीं करेगा। न ही यहाँ इतना विलंब करेगा कि पांडवों के लौटने का समय हो जाए।

धात्रेयिका जल का घट ले आई थी।

"यह जल है। आप अपने हाथ-पैर धो लें और आसन ग्रहण करें।" द्रौपदी ने कहा।

जयद्रथ के सारे मित्र कुटीर के घेर से निकल कर, चुपचाप अपने रथों की ओर लौट गए थे और जयद्रथ अकेला द्रौपदी के सम्मुख खड़ा था। उसकी धृष्ट दृष्टि से घबराकर द्रौपदी बोली, "आपके मित्र चले गए; किंतु आप तो आसन ग्रहण करें।"

जयद्रथ तब भी आसन की ओर नहीं बढ़ा। वह द्रौपदी के कुछ और निकट आ गया था।

"तुम्हें इस अवस्था में देख कर मुझे बहुत कष्ट हो रहा है कृष्णे।" वह बोला, "तुम्हारी यह कंचन की-सी काया इस प्रकार कष्ट सहने के लिए नहीं बनी थी। तुम्हारी यह दुर्दशा देख कर मुझे पांडवों पर भी बहुत क्रोध आता है ..."

उसकी मुद्रा का कलुष द्रौपदी को सावधान कर रहा था। उसकी दृष्टि का मल और वाणी का छल द्रौपदी को चेतावनी दे रहा था। वह झपटकर बोली, "मेरी इस दुर्दशा के लिए पांडव नहीं, दुर्योधन उत्तरदायी है, तुम्हें उस पर क्यों क्रोध नहीं आता ?"

"उस पर भी थोड़ा-सा क्रोध आता है, किंतु उसने तो तुम्हें वन जाने और आरण्यकों के समान रहने को बाध्य नहीं किया था सुंदरी ! उसने तो तुम्हें दूसरा पति चुन कर सुख संपत्ति से युक्त जीवन व्यतीत करने के लिए कहा ही था..."

द्रौपदी के मन का सारा आक्रोश उमड़कर उसके कंठ में आ समाया। किंतु उसके कुछ कहने से पूर्व ही जयद्रथ बोला, "अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है सुनयने ! आओ, मेरे साथ आओ। मेरा रथ बाहर खड़ा है। हम अभी इसी क्षण यहाँ से अपने राज्य में जा सकते है। तुम्हे मैं संसार का सारा सुख दूँगा। उन कंगले पांडवो के साथ अपना जीवन नष्ट करने का क्या लाभ है ? तुम्हारे समान विदुषी नारियाँ निर्धन पतियों की उपासना नहीं करतीं। स्त्री को पुरुष

के साथ, तभी तक रहना चाहिए, जब तक उसके पास धन हो।..."

"जयद्रथ !" द्रौपदी का आक्रोशपूर्ण स्वर फूटा, "तुम दुःशला के पति हो। इस संबंध से तुम मेरे भाई हो। तुम्हें तो मेरी रक्षा करनी चाहिए और तुम इस प्रकार का निन्दनीय प्रस्ताव कर रहे हो। यह तो तुम्हारे कुलशील के अनुकूल व्यवहार नहीं है।"

"ऐसी बात है तो मैं दुःशला को त्याग दूँगा।" जयद्रथ उसके कुछ और निकट आ गया था, "मेरी भार्या बन जाओ। तुम्हारी रक्षा का दायित्व मुझ पर होगा। मैं इन दुष्ट पांडवों के समान तुम्हें वन में इस प्रकार अकेली छोड कर कहीं नहीं जाऊँगा। दुर्योधन भी तुम्हे कोई कष्ट नहीं दे पाएगा। मेरी प्रिया हो कर रहोगी तो संपूर्ण सिंधु और सौवीर का राज्य तुम्हारा होगा। ये सारे वीर जो बाहर खड़े हैं, तुम्हारी सेवा करने में अपना सौभाग्य मानेंगे।"

"बहुत देखा है मैंने राज्य और राज्यबल।" द्रौपदी कड़ककर बोली, "मैं उन महावीर पांडवों की पत्नी हूँ, जिनके राजसूय यज्ञ में तुम्हारे जैसे सैकड़ों राजाओं ने मेरे इन चरणों पर अपने मणि जड़ित मुकुट झुकाए थे।"

"ठीक कहती हो वरारोहे !" जयद्रथ बोला, "तुम्हें फिर से वही सम्मान प्राप्त होगा। आओ मेरी अंकशायिनी हो कर जीवन का सारा सुख भोगो। संसार के मनीषियों का कहना है कि रत्न तथा स्त्री, अमूल्य वस्तुएँ हैं, अतः उन पर बलशाली पुरुषों का अधिकार है। पांडवों में बल था, तो वे तुम्हें कांपिल्य से ले आए। आज मेरे पास बल है, मैं तुम्हें ले जा रहा हूँ।"

द्रौपदी ने धात्रेयिका की ओर देखा और धात्रेयिका उसका संकेत समझ कर तत्काल धौम्य मुनि को बुला लाने के लिए कुटिया से निकल गई।

"बहुत अहंकार है तुम्हें अपने बल का तो पांडवों की प्रतीक्षा करो।" द्रौपदी बोली, "जब महावीर भीमसेन अपना चरण तुम्हारे कंठ पर रख कर तुम्हारी वीरता का प्रमाण माँगेंगे, तो उन्हें बताना कि तुम कितने वीर हो। अब धनंजय का बाण तुम्हारे कंठ को विदीर्ण करेगा तो उन्हें बताना कि तुम कितने वीर हो। पांडवों द्वारा सुरक्षित मुझ द्रौपदी के सम्मुख अपनी वीरता का बखान कर रहे हो। चोरों के समान एकांत घर में घुस कर एक अबला स्त्री को अपनी वीरता बता रहे हो। वीर हो तो ठहरो और पांडवों का सामना करो।"

"मैं वीर हूँ किंतु मूर्ख नहीं ।" जयद्रथ हँसा, "हाथ आए अमूल्य पदार्थों को त्याग, किसी की प्रतीक्षा में बैठा नहीं रह सकता। पांडव आएँगे तो उनसे भी निबट लिया जाएगा। पांडवों के पराजित होने पर मुझसे दया की भीख माँगती घिसटती मेरे साथ चलोगी। उससे तो कहीं अधिक सम्मानजनक है कि अपनी इच्छा से चल कर मेरे रथ पर बैठ जाओ। अब यह निर्णय तुमको करना है कि अपने चरणों पर चल कर रथ में बैठोगी अथवा मेरे कंधे पर झूलती हुई, हाथ-पैर

पटकती तथा चीत्कार करती हुई रथ तक पहुँचोगी। जो भी निर्णय तुम करोगी, मुझे स्वीकार होगा।"

क्षण भर को तो द्रौपदी स्तब्ध रह गई। वह समझ सकती थी कि जयद्रथ जो कुछ भी कह रहा था, वह करने में वह समर्थ था। इस समय आश्रम में ऐसा कोई नहीं था, जो जयद्रथ से उसकी रक्षा कर सके। धौम्य मुनि आ भी जाएँगे तो जयद्रथ, उसके मित्रों तथा उसकी सेना से युद्ध तो नहीं कर सकेंगे। अधिक से अधिक वे उसे धिक्कार भर पाएँगे। यदि अधिक कुछ करने का प्रयत्न करेंगे, तो यह जयद्रथ उनका वध भी कर सकता है।... उससे क्या लाभ होगा। लौट कर आए उसके पतियों को सूचना देनेवाला भी कोई नहीं होगा। ... तो क्या करे द्रौपदी ? ... अधिक से अधिक वह जयद्रथ को थोडी देर और बातों में उलझाए रख सकती है। उसे प्रयत्न तो करना ही चाहिए कि वह अधिक से अधिक समय तक उसे बातों में उलझाए रखे, कदाचित् उसके पति लौट ही आएँ। जब उन्हें उनमें से कोई नहीं मिलेगा, जिनकी खोज में वे गए थे, तो वे आश्रम की ओर लौटेंगे ही।...

"जयद्रथ ! मुझे भगवान पर पूर्ण विश्वास है। उनकी शरण में जाने से कोई मेरा तनिक सा भी अहित नहीं कर सकता।" उसका स्वर तेजस्वी हो उठा, "यदि मैंने अपने पतियों के प्रति पूर्ण निष्ठा निभाई है तो मैं बहुत शीघ्र अपनी इन्हीं आँखो से देखूँगी कि पांडव तुम्हें परास्त कर रस्सियों में बाँध कर भूमि पर घसीट रहे हैं।"

"वे तो जब घसीटेंगे, तब देखा जाएगा।" जयद्रथ बोला और उसने आगे बढ कर द्रौपदी के उत्तरीय का एक सिरा पकड़ लिया।

स्वयं को छुड़ाने के प्रयत्न में द्रौपदी ने उसे बलपूर्वक धक्का दिया और असावधान जयद्रथ भूमि पर गिर पड़ा।

द्रौपदी कुटीर से बाहर निकल आना चाहती थी; किंतु जयद्रथ द्वार के ठीक मध्य में गिरा हुआ था। गिर कर उसने द्रौपदी का मार्ग तो रोक ही लिया था। द्रौपदी की दृष्टि बाहर की ओर उठी।... उसने देखा कि धौम्य मुनि धात्रेयिका के साथ-साथ वेग से उसके कुटीर की ओर आ रहे हैं; किंतु तब तक जयद्रथ के सारे साथी भी अपने रथों को त्याग, कुटीर के घेर में प्रवेश कर चुके थे। उन्होंने एक प्रकार से कुटीर को चारों ओर से घेर लिया था। ... द्रौपदी भाग कर कहीं नहीं जा सकती थी।

जयद्रथ उठ खड़ा हुआ। उसकी आँखों में सर्वथा राक्षसी भाव था। वह पहले से कहीं अधिक सावधान भी हो गया था। अब द्रौपदी शायद उसे धक्का भी नहीं मार सकती थी। ...

जयद्रथ ने आगे बढ कर द्रौपदी की भुजा पकड़ ली और उसे अपनी ओर

घसीटा। द्रौपदी ने एक अंतिम प्रयास किया और पूरे बल से झटका दे कर स्वयं को जयद्रथ की पकड़ से मुक्त कर लिया; किंतु वह बाहर नहीं जा सकती थी। ... उसने धौम्य के चरण पकड़ लिए...

"सिंधुराज !" धौम्य कठोर स्वर में बोले, "तुम क्षत्रिय धर्म को कलंकित कर रहे हो ? न तुम्हें धर्म का भय है, न अपने प्राणों का।"

जयद्रथ ने झुक कर द्रौपदी की कलाई थाम कर उसे अपनी ओर खींचा। उसके मित्रों में से प्रायः आधे लोग कोशों से अपने खड्ग निकाल चुके थे। ऐसा नहीं लगता था कि वे ब्रह्म-हत्या से भयभीत थे। स्पष्ट ही अपने मार्ग में आनेवाली प्रत्येक बाधा को हटाने के लिए, वे किसी का भी वध कर सकते थे।...

"जीवन का प्रत्यक्ष सुख छोड़ कर किसी काल्पनिक धर्म का महत्त्व मुझे नहीं चाहिए। उसे तुम अपने लिए संचित करते रहो।" जयद्रथ बोला, "और जहाँ तक प्राणों के भय का प्रश्न है, मेरे शस्त्र मेरे हाथ में हैं और मेरे मित्र मेरे साथ हैं, ऐसे में कौन ऐसा क्षत्रिय है, जो युद्ध में मुझे पराजित कर सके।"

"तो फिर ठहरो, पांडवों को आ जाने दो।" धौम्य बोले, "उनको चुनौती देना। उनसे युद्ध करना। उनको पराजित कर, पांचाली को ले जाना। कम से कम चोरी के कलंक से तो बच ही सकते हो, पापी तो तब भी कहलाओगे ही तुम।"

"युद्ध तो मुझे पांडवों से करना ही है।" जयद्रथ ने द्रौपदी को घसीटा, "किंतु उसके लिए मैं क्यों उनकी प्रतीक्षा करूँ। पांडव मुझे ढूँढ़ें और युद्ध करें।"

द्रौपदी घिसटती जा रही थी और धौम्य अपने स्थान पर स्तब्ध खड़े थे। जयद्रथ के साथियों ने अपने शस्त्रों को हाथों में ले लिया था और उन्होंने द्रौपदी को घसीटते हुए जयद्रथ को घेर लिया था। वे सब उस जयद्रथ की रक्षा कर रहे थे, जिसके हाथ में शस्त्र था, और जो एक निःशस्त्र अबला को घसीट रहा था ...

वे लोग कुछ दूर निकल गए, तो धौम्य धात्रेयिका की ओर मुड़े, "तुम यहीं ठहरो धात्रेयिका ! पांडव लौट कर आएँ, तो उन्हें यह सारा समाचार देना। मैं जयद्रथ के पीछे जा रहा हूँ।"

धात्रेयिका ने दृष्टि उठा कर उस ओर देखा, जिधर जयद्रथ के रथ खड़े थे। ... जयद्रथ ने घसीट कर द्रौपदी को रथ मे चढ़ा लिया था। उसके मित्र अपने-अपने रथों में आरूढ़ हो गए थे। और वे लोग किसी विजयी राजा का गौरव ओढ़े, अपने नेता को घेरे हुए, अपने रथ हाँक कर ले गए।

"आप कहाँ जाएँगे महामुनि ! उनके रथ तो गए।" धात्रेयिका हताश भाव से बोली।

"मुझे पूर्ण विश्वास है कि उसकी पदाति सेना भी यहीं कहीं आस-पास

ही होगी। मैं उनके पीछे चलूँगा। मार्ग देखता रहूँगा और पांचाली को सांत्वना देता रहूँगा।"

"किंतु कहीं उन्होंने आपका वध कर दिया तो ?"

"डरो मत धात्रेयिका !" धौम्य बोले, "महर्षि वेदव्यास के शिष्य का वध करने का साहस, दुर्योधन के इस मित्र में भी नहीं है, अन्यथा वह मेरी हत्या यहाँ भी कर सकता था।"

धात्रेयिका खडी की खड़ी रह गई और धौम्य प्रायः भागते हुए से आश्रम से निकल गए।

27

वन में कुछ दूर तक जाते ही युधिष्ठिर समझ गए कि द्रौपदी तथा धात्रेयिका की आशंकाएँ, भ्रम मात्र नहीं थीं। वन में आज बहुत कुछ असाधारण था। वन्य पशुओ के जीवन में तो अवश्य ही कुछ बहुत भयंकर घटित हुआ था। किसी न किसी कारण से एक बड़ी संख्या में वे अपने स्थान से विस्थापित हुए थे। किंतु उसका कारण ? अभी तक कोई कारण दिखाई नहीं पड़ रहा था। इस क्षेत्र में कोई अपरिचित मनुष्य दिखाई नहीं दिया था; किंतु इतना तो स्पष्ट ही था कि वन में सब कुछ सामान्य नहीं था।

युधिष्ठिर सावधान हो गए। वन में बाहर से मनुष्यों का आना तनिक भी अस्वाभाविक नहीं था। वन तो ईश्वर की संपत्ति थे, जिसका लाभ कोई भी व्यक्ति उठा सकता था। अभी तक तो राजाओं ने भी इतनी सद्बुद्धि दिखाई ही थी कि वे वनों पर निजी अधिकारों का न समर्थन कर रहे थे, और न उस पर किसी प्रकार का आधिपत्य जमाने का प्रयत्न कर रहे थे। इसलिए इन वनों में आरण्यक जन अपनी सुविधा से तपस्या और साधना का स्वच्छंद जीवन व्यतीत कर सकते थे। व्यापारी, तीर्थयात्री तथा अन्य प्रकार के लोग अपनी यात्राओं का मार्ग वन में से भी बना लेते थे। अपनी यात्राओं तथा सैनिक अभियानों के लिए राजा लोग भी इन वनों में से आया-जाया करते थे। अनेक लोगों की आजीविका वनों पर ही निर्भर थी। यहाँ इतनी प्रकार की प्राकृतिक संपदा थी कि जो चाहता था, माँ प्रकृति से याचना कर अपनी झोली भर कर ले जाता था। ... इसलिए वनों में किसी का आना अस्वाभाविक नहीं था। अस्वाभाविक था, छुप कर आना और गोपनीय ढंग से निवास करना। ...

अभी तक क़ोई अपरिचित मनुष्य दिखाई नहीं दिया था, किंतु मनुष्य की

गतिविधि के प्रमाण निरंतर मिल रहे थे। अनेक स्थानों पर लताऍं अपने स्वाभाविक स्थानों से हटी हुई थीं। पशु यहाँ से हो कर गए होते, तो लताएँ छिन्न-भिन्न हुई होतीं। पशु लताओं अथवा शाखाओं को हटाए बिना अपना मार्ग बनाता है, जिससे उसके शरीर की रगड से लताऍं और वृक्षों की टहनियाँ टूटती हैं। मनुष्य अपना मार्ग बनाने के लिए अपने हाथों से लताओं और टहनियों को हटाता है। परिणामतः लताऍं अपने स्वाभाविक स्थान से हट जाती हैं, छिन्न-भिन्न नहीं होतीं। टहनियाँ या तो किसी एक स्थान से प्रयत्नपूर्वक तोड़ी हुई दिखाई पड़ती हैं अथवा मनुष्य के आगे बढ जाने पर पुनः वहीं लौट आती हैं, जहॉं वे पहले थीं।

युधिष्ठिर देख रहे थे कि वृक्षों की शाखाऍं, मनुष्य के हाथों तोडी गई दिखाई पड़ रही थीं। भूमि पर अश्वों के सुमों के स्पष्ट चिह्न थे। मार्ग के साथ-साथ अग्नि प्रज्वलित करने के भी प्रमाण विद्यमान थे, जैसे वहाँ रुक कर किसी ने भोजन पकाया हो। ... किंतु सारे मार्ग में कहीं कोई मनुष्य दिखाई नहीं दिया था। ... युधिष्ठिर निरंतर अपने आस-पास किसी अज्ञात अस्तित्व का अनुभव कर रहे थे, जैसे कोई छुप कर उनका पीछा कर रहा हो, अथवा स्वयं अदृश्य रह कर उनका निरीक्षण कर रहा हो। कोई न भी हो, किंतु यहॉं अपरिचित मनुष्यों के आने और अपनी उपस्थिति को गुप्त रखने के प्रयत्न के अनेक प्रमाण उनके सम्मुख थे। ...

युधिष्ठिर का मन कुछ उद्विग्न होने लगा था। ... यहॉं किसी प्रकार का कोई षड्यंत्र चल रहा था। अपने आस-पास मनुष्यों की उपस्थिति से कोई विचलित नहीं होता; किंतु जब किसी को मनुष्य की छाया तो दिखाई पडे, पर जिसकी वह छाया है, वह मनुष्य दिखाई न पड़े, तो उसका व्याकुल होना स्वाभाविक ही था। ... युधिष्ठिर चकित थे कि उनके किसी मित्र राजा अथवा उनके अपने गुप्तचरों ने भी उन्हें इस वन की ओर आते हुए किसी बड़े जन समूह की सूचना नहीं दी थी। जो लोग आए हैं, उन्होंने स्वयं को गुप्त रखा, किंतु अन्य लोगों ने कैसे ऑंखें खुली रखते हुए भी उन्हें नहीं देखा ?

पांडवों ने भी तो उन्हें नहीं देखा। वे लोग किस मार्ग से आए होंगे ? क्यों आए होंगे ? अपने आपको गुप्त क्यों रखे हुए हैं ? क्या वे छिप कर घात करना चाहते हैं ? क्या वे दुर्योधन के लोग हैं ? ... युधिष्ठिर के मन में अनेक प्रश्न झनझनाने लगे। यदि उनके चारों ओर उनके अज्ञात शत्रु हैं, जो न उनके सम्मुख प्रकट हो रहे हैं और न पांडव उनको खोज पा रहे हैं, तो पांडवों को अधिक सावधान रहने की आवश्यकता है।... युधिष्ठिर उन्हें नहीं देख रहे हैं; किंतु वे युधिष्ठिर को देख रहे हैं। यदि वे लोग केवल निरीक्षण कर रहे हैं, तो एक बात है; किंतु यदि वे किसी विशेष प्रयोजन से आए हैं और युधिष्ठिर तथा पांडवों के मार्ग में किसी प्रकार का व्यवधान खड़ा नहीं कर रहे हैं, तो इसका

अर्थ हुआ कि वे वही चाहते हैं, जो पांडव कर रहे हैं। क्या वे चाहते हैं कि पांडव अपना आश्रम छोड कर उन्हे वन में इधर-उधर ढूँढ़ते फिरें ?...

"ओह ! मेरे ईश्वर !" सहसा उनके मुख से निकला, "मैं यह समझ क्यों नहीं पाया कि वे हमें आश्रम से दूर रखना चाहते हैं। और आश्रम से दूर क्यों रखना चाहते हैं ?... ताकि आश्रम में पांचाली अकेली रह जाए ? वे पॉचों भाई बाहर हैं और प्रहरो तक आश्रम से बाहर ही नहीं रहेंगे, उससे निरंतर दूर भी होते जाएँगे। इद्रसेन भी उनके ही साथ हैं। विशोक आश्रम में है नहीं । आज तो उनके गुप्तचर भी द्वारका और कांपिल्य गए हुए हैं। उन्हें लौटने में कई दिन लग सकते हैं। ... आश्रम में धौम्य मुनि हैं, अथवा मुनि तृणबिंदु। एक भी सशस्त्र आक्रांता आश्रम में आ जाए तो उसका प्रतिकार करनेवाला वहॉ कोई नहीं है। और पाचाली वहॉ अकेली है। ... जो लोग यह सारा खेल खेल रहे हैं, वे वन के हिंस्र पशुओ से भी अधिक भयंकर हो सकते हैं।...

"इद्रसेन !" सहसा युधिष्ठिर ने कहा, "आश्रम की ओर लौटो; और आरण्यको को संदेश दो कि वे जिस पांडव को देखें, उसे सूचित करें कि मैंने यह आदेश दिया है कि वे सब लोग तत्काल आश्रम में लौट आएँ।"

इंद्रसेन ने चकित भाव से युधिष्ठिर की ओर देखा, "महाराज स्वस्थ तो हैं ?"

"हॉ ! मैं पूर्णतः स्वस्थ हूँ।" युधिष्ठिर बोले, "वस्तुतः मुझे उन हिंस्र पशुओं की परछाइयॉ दिखाई दे गई हैं, जिन्हें हम वन में खोज रहे हैं। संभवतः वे लोग हमारे आश्रम के निकट अथवा आश्रम में ही हों।"

इंद्रसेन कुछ समझा, कुछ नहीं समझा। किंतु यह तो समझ ही गया कि धर्मराज को अपने आश्रम में किसी अनिष्ट का आभास हुआ है। उसने अश्वों को संकेत किया। अश्व रुके। उनकी दिशा बदली और गति तीव्र कर दी। मार्ग मे कहीं अपनी गति धीमी कर और कहीं थोड़ा रुक कर आरण्यकों को शेष पांडवों के लिए संदेश दिया और आश्रम की ओर बढ़ता चला गया।

आरण्यकों को दिया गया संदेश जैसे थोड़ी ही देर में वन में गूँजने लगा। कई बार स्वयं युधिष्ठिर को आश्चर्य होता था कि वन में भी, जहॉ माना जाता है कि कोई रहता ही नहीं, संदेश संचार कितनी शीघ्रता से हो जाता है। ... पर तभी उनको अपने मन का वही पुराना प्रश्न व्याकुल करने लगा, तो फिर वन में आए इन अपरिचित व्यक्तियों के विषय में उन्हे कोई सूचना क्यों नहीं मिली ?... क्या ये आगंतुक निशाचर हैं ? क्या उन आगंतुकों की गतिविधि केवल रात्रि के समय होती है, जब प्रत्येक आरण्यक अपने कुटीर के कपाट बंद कर सो रहा होता है ? अथवा उनकी गतिविधि का क्षेत्र ही ऐसा है, जहाँ उनका किसी आरण्यक से साक्षात्कार नहीं होता ? ...

और सहसा धर्मराज के मन में एक और आशंका ने सिर उठाया : उनके वे शत्रु, जो कोई भी हैं ... शत्रु ? उन्होंने यह कैसे मान लिया कि वे उनके शत्रु ही हैं ? ... जो स्वयं गुप्त रह कर वन में उनके आस-पास षड्यंत्र कर रहे हैं, वे उनके शत्रु ही हो सकते हैं। मित्र तो नहीं हो सकते। ... तो उनके वे शत्रु, जो यह प्रयत्न कर रहे हैं कि वे लोग अपना आश्रम छोड़ कर वन में दूर चले जाएँ, उनके आश्रम में ही तो घात लगाए नहीं बैठे कि एक-एक कर पांडव अपने आश्रम में लौटें और वे लोग असावधान पांडवों पर घातक प्रहार कर सकें ? ... नहीं ! ऐसा हो या न हो किंतु पांडवों का एक-एक कर आश्रम में पहुंचना उचित नहीं है। उन्हें एक साथ आश्रम में पहुँचना चाहिए। पृथक्-पृथक् नहीं ।

"इंद्रसेन !" उन्होंने पुनः कहा, "मेरे भाइयों को संदेश दो कि जो भी पहले पहुँचे, वह आश्रम के बाहर रुक कर मेरी प्रतीक्षा करे। आश्रम में अकेला प्रवेश न करे।"

"जो आज्ञा महाराज !"

भीम को धर्मराज का आदेश प्राप्त हुआ तो उसकी पहली प्रतिक्रिया खीझ की हुई। क्या करते हैं, धर्मराज ! जब कोई कार्य सुचारु रूप से चल रहा हो और ठीक मझधार में हो, तो उसे समेटने का आदेश दे देंगे। यह नहीं सोचते कि अपनी ऊर्जा लगा कर जिस कार्य को गति प्रदान की गई, उसके वेग को रोकने के लिए और भी अधिक ऊर्जा का व्यय करना पड़ता है। ...

भीम को अपने आस-पास कुछ मानवी गतिविधि का भी प्रमाण मिला था, किंतु उससे कहीं अधिक उसे हिंस्र पशुओं के आस-पास होने का आभास हुआ था। कुछ की तो त्वरित झलक भी दिखाई पड़ गई थी। अब, जबकि किसी भी क्षण उन पशुओं से उसका आमना-सामना हो सकता था, धर्मराज आश्रम में लौटने का आदेश दे रहे थे। पता नहीं उन्हें किस बात की इतनी जल्दी मच गई थी।

भीम ने अपना रथ मोड़ लिया।

उसने प्रायः अनुभव किया था कि धर्मराज के ऐसे आदेशों पर वह खीझता अवश्य था; किंतु आदेश का उल्लंघन करने की बात उसके मन में कभी नहीं आई। प्रायः अपनी तात्कालिक खीझ से उबरकर उसे धर्मराज के आदेश का महत्त्व दिखाई देने लगता था।... किंतु इस समय वन में सिंह को अपने सम्मुख पा कर उससे आमने-सामने युद्ध कर उसका आखेट करने का रोमांच छिन जाने के कारण, उसमें आश्रम की ओर लौटने का तनिक भी उत्साह नहीं था।

"भद्र ! तनिक रुको।"

भीम ने सिर उठा कर देखा : सामने एक तपस्वी अपना हाथ उठाए खडा उसे रुकने का संकेत कर रहा था। भीम ने उसे पहचाना। वह सोमप्रभ था, जो कभी-कभी आश्रम में धौम्य मुनि और धर्मराज के पास धर्म-चर्चा करने के लिए आया करता था।

भीम ने रथ रोक लिया, "क्या बात है तपस्वी ?"

"धर्मराज का आदेश है कि जो पांडव पहले पहुँचे, वह आश्रम के बाहर उनकी प्रतीक्षा करे। आश्रम में कोई अकेला प्रवेश न करे।"

भीम ने और कुछ नहीं सुना। उसने अश्व हॉक दिए।

... धर्मराज समझते हैं कि आश्रम पर कोई संकट आया है। क्या हो गया है वहाँ ? क्या किसी शत्रु ने उस पर आक्रमण कर वहॉ अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है ? वह वन में बने कुटीरों का समूह नहीं है, किसी राजा की राजधानी है कि उस पर आधिपत्य स्थापित कर किसी को अकूत संपदा प्राप्त हो जाएगी ?... और सहसा वह चौंका ... अकूत संपदा ही तो है, उनके आश्रम में। वहाँ पांचाली है।... पांचाली से अधिक मूल्यवान भी कुछ है क्या संसार में। उसे प्राप्त करने के लिए संसार भर के राजा एक-दूसरे का रक्त बहा सकते हैं।... क्या धर्मराज को ऐसी कोई सूचना मिली है ? और यदि ऐसा कुछ है अथवा ऐसा कुछ हो गया है तो आश्रम के बाहर रुकने का क्या अर्थ ? ऐसे में तो यह होना चाहिए कि जो जितनी जल्दी हो सके, आश्रम में पहुॅचे।...देखे कि पांचाली सुरक्षित है अथवा नहीं ? यदि उस पर कोई संकट आया है तो उसकी रक्षा करे।...

भीम ने अपने वक्ष पर अपनी ही मुष्टिका का प्रहार किया।... वह हिंस्र पशुओं को मारने के उत्साह में इस गति से रथ दौड़ाता वन में इतनी दूर क्यों निकल आया ? अब यह इंद्रप्रस्थ का राजमार्ग तो है नहीं कि रथ सरपट भागता जाए। वन में बने इन कच्चे मार्गो पर, अन्य सारी विघ्न-बाधाओं के साथ किस गति से चल पाएगा वह ?

आश्रम के निकट पहुॅचते ही भीम ने प्रवेशद्वार पर अर्जुन का रथ खड़ा पाया। वह स्वयं रथ के पास खड़ा जैसे अन्य लोगो की प्रतीक्षा कर रहा था। ..'हाँ ! क्यों करेगा यह भीतर प्रवेश। उसे बड़े भाई की अनुमति जो नहीं है। इस जैसा भाई का आज्ञाकारी और कर ही क्या सकता है ?' भीम ने सोचा।

"और लोग अभी नहीं आए क्या ?" भीम ने पूछा।

"नहीं ! अभी-अभी सब आ पहुँचे हैं। आपकी ही प्रतीक्षा थी मध्यम !" अर्जुन बोला, "लगता है कि आश्रम में कुछ उत्पात् हुआ है।"

आश्रम के पीछे से घूम कर दो रथ सामने आते दिखे। वे धर्मराज और नकुल-सहदेव के रथ थे। धर्मराज ने अपना रथ रुकवाया नहीं । उन्होंने अपनी

भुजा लहराकर उन लोगों को साथ आने का संकेत किया और आश्रम में प्रवेश कर गए।

इंद्रसेन ने द्रौपदी के कुटीर के सामने रथ रोका।

कुटीर के सामने ही भूमि पर धात्रेयिका अस्त-व्यस्त बैठी थी। उसकी ऑखों से अश्रु बह रहे थे। उसने पांडवों के रथों को आते देखा तो उसका भयभीत रुद्ध कंठ फूट पड़ा। वह उच्च स्वर में रो पड़ी।

रथ में से सबसे पहले इंद्रसेन कूद कर नीचे आया। उसने धात्रेयिका को सँभाला, "क्या हुआ ? देवी पांचाली कहॉ हैं ?"

"सिंधुराज जयद्रथ अपने अनेक मित्रों के साथ आया था। वह बलात् देवी का अपहरण कर उन्हें अपने रथ पर बैठा कर भगा ले गया है।" वह बोली, "धौम्य मुनि भी उनके पीछे ही गए हैं। आप लोग जल्दी जाइए। ऐसा न हो कि देवी के साथ कोई अनहोनी घट जाए।"

"वे लोग रथों पर हैं, तो धौम्य मुनि न उनके साथ चल पाऍगे, न उनका पीछा कर पाएँगे।" भीम बोला।

"उनके साथ पैदल सेना भी होगी—ऐसा धौम्य मुनि ने कहा था।" धात्रेयिका बोली।

"किधर गए हैं वे लोग ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"वे कह रहे थे कि अपने देश लौट जाने के लिए वे लोग शीघ्र ही मरुभूमि में प्रवेश करेंगे।" धात्रेयिका ने उत्तर दिया।

युधिष्ठिर के मन में बहुत कुछ स्पष्ट हो गया।

"हमने सदा उस दिशा की यह मान कर उपेक्षा की कि उस ओर मरुभूमि है, उधर से न कोई आएगा, न कोई उस ओर जाएगा। इस दुष्ट जयद्रथ ने उसी मार्ग का प्रयोग किया।" युधिष्ठिर बोले, "इसीलिए वह हमसे तथा सारे आरण्यकों से छुपा रहने में सफल भी हो गया।"

भीम सब से पहले अपने रथ में आरूढ़ हुआ। तत्काल ही अन्य भाई भी अपने-अपने रथों में पहुँच गए। भीम का रथ सबसे आगे निकल गया। आरंभ में तो उसे उस दिशा में जाता कोई मार्ग दिखाई नहीं दिया; किंतु कुछ ही दूर चल कर कहीं कुचली हुई लताओं तथा घास इत्यादि से वहाँ से गए रथों की यात्रा का मार्ग ज्ञात होने लगा। यह भी लगा कि इस मार्ग पर रथ पहली बार नहीं दौड़े थे। इससे पहले भी यहाँ किसी न किसी प्रकार का आवागमन होता रहा है। अश्वों के सुमों तथा रथचक्रों के चिह्नों के साथ, पदाति सैनिकों के पद-चिह्न भी मिलने लगे थे। लग रहा था कि आरंभ से उनके साथ पदाति सैनिक नहीं थे; किंतु कुछ दूर से वे भी उनके साथ आ मिले थे। थोड़ी-थोड़ी दूरी के पश्चात् से उन पद-चिह्नों की संख्या बढ़ती जा रही थी। संभवतः उन्होंने

आश्रम की ओर आते हुए अपने पदाति सैनिक थोड़ी-थोडी दूर पर खड़े कर दिए थे, जिन्हें लौटते हुए वे अपने साथ लेते गए थे।

थोडी देर मे धर्मराज की दृष्टि भूमि अथवा लताओं में खोंसी गई वृक्षों की टहनियों पर पडी।... यह क्या ? पाँचों पांडव अपने अथवा अपने भाइयो के लिए मार्ग की पहचान हेतु वृक्षों की टहनियाँ तोड़ कर इसी प्रकार खोंसते चलते थे। ... तो क्या धौम्य मुनि ने भी यह मान कर कि पांडव द्रौपदी की खोज मे आएँगे ही, मार्ग की पहचान के लिए ये टहनियाँ इस प्रकार खोस दी हैं।

"यह तो मुनि ने सामरिक नीति से काम लिया है।" वे इंद्रसेन से बोले, "यदि किसी कारण से धरती के चिह्न मिट जाएँ, स्पष्ट न रहें; अथवा कुछ और हो जाए, तो भी धौम्य मुनि द्वारा छोड़े गए ये चिह्न हमारा लिए मार्ग का निर्देश करेंगे।"

"मैं तो मुनि को मात्र ध्यान लगानेवाला तपस्वी ही समझता था।" इंद्रसेन बोला, "किंतु मुनि तो युद्ध में भी हमारे सहायक हो सकते हैं।"

थोडी ही देर में पांडवों को, आगे जाती सेना के स्पष्ट प्रमाण मिलने लगे। घोडों की टापों के स्वर और उनके पगों से उड़ी हुई धूल बता रही थी कि जयद्रथ की सेना अब बहुत दूर नहीं थी। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह था कि उस सेना के साथ युद्धक गज होने के भी प्रमाण मिल रहे थे।

"जयद्रथ हाथी भी ले कर आया है ?" युधिष्ठिर ने जैसे इंद्रसेन से कहा।

"हाँ महाराज ! लगता तो है। गज की चिंघाड सुनाई पड़ रही है।" इंद्रसेन बोला, "पदाति सैनिको और गजों के कारण ही कदाचित् वह अधिक दूर नहीं जा पाया।"

"वह पापी ही नहीं मूर्ख भी है।" युधिष्ठिर बोले।

भीमसेन का रथ सबसे आगे चल रहा था। उसने ही सबसे पहले धौम्य मुनि का स्वर सुना, "भीमसेन दौड़ो। पांचाली को बचाओ।"

तो भीम को आते हुए मुनि ने देख लिया था। भीम के मन में उत्साह भर आया।

पदाति सैनिकों की भीड में से उसे मुनि का स्वर तो सुनाई पड रहा था, किंतु वे स्वयं दिखाई नहीं पड़ रहे थे। उन्हें देखने का प्रयत्न करने पर उसे जयद्रथ का रथ दिखाई पड गया था। उसमें द्रौपदी कैसी अपमानित और असहाय-सी बैठी थी। द्रौपदी की उस पीड़ित मुद्रा को देखते ही, भीम का मन जैसे सारी सीमाओं का अतिक्रमण कर गया। उसकी शिराओं में अग्नि प्रवाहित होने लगी थी।

उसके सम्मुख सबसे पहले पदाति सैनिक ही पड़ रहे थे। वे सेना के अंतिम छोर पर थे। पहले उन्हें मारने में भीम की कोई रुचि नहीं थी। वह तो पहले जयद्रथ से ही निबटना चाहता था। उसका रथ जैसे ही आगे बढा, पदाति सैनिक दो भागों में विभाजित हो गए, जैसे धरती फट कर दो भागों में बँट गई हो।

युधिष्ठिर ने यह देखा, तो चिंतित हो उठे। ये पदाति सैनिक दो भागो में बंट कर क्या भीम को घेरने का प्रयत्न कर रहे हैं ? और भीम का तो उस ओर ध्यान ही नहीं था। वह तो जयद्रथ की ओर बढ़ता ही जा रहा था। उसके हाथ में शैक्य नामक लोहे से बनाई गई उसकी भारी गदा थी और मार्ग मे आया प्रत्येक विघ्न उससे कुचला जा रहा था। ... किंतु तभी युधिष्ठिर ने यह भी देखा कि वे पदाति सैनिक न तो व्यूह बद्ध हो रहे थे और न ही वे लोग भीम को घेर रहे थे। उनमें से आधे तो जैसे धौम्य मुनि को भीम को पुकारते सुन कर ही युद्ध से पलायन कर गए थे। शेष जो कुछ धैर्य कर खड़े भी थे, उन्होंने भीम की गदा के प्रहार देखे तो युद्धक्षेत्र छोड़ गए।

कोटिकास्य ने भीम को इस तीव्रता से जयद्रथ पर झपटता देखा तो उसने अपने मित्रों को संकेत किया। उन्होंने अपने सारे रथ लाकर जयद्रथ की ओर बढ़ते भीम के सामने अड़ा दिए। उनके रथों के उस पार जयद्रथ जैसे कुछ सुरक्षित हो गया था। अब भीम को न जयद्रथ दिखाई पड रहा था और न ही वह द्रौपदी को देख पा रहा था; किंतु जयद्रथ के रथ में बैठी असहाय द्रौपदी की जो एक झलक उसने देखी थी, उसका रक्त खौला देने के लिए वही पर्याप्त था। अब उसकी गदा के प्रहारों को रोकना कठिन ही था। उसका आवेश दुर्दमनीय था। कोटिकास्य का अस्थाई व्यूह बहुत सफल होता नहीं लग रहा था। उसके मित्रों के रथ एक-एक कर टूटते जा रहे थे।

दूसरी ओर से आकर कुलिंद राजकुमार ने अपने सारे सैनिक, पांडवों की गति अवरुद्ध करने के लिए झोंक दिए थे।

अर्जुन का गांडीव तन गया और बाणों की वर्षा होने लगी। कुलिंद राजकुमार बहुत शीघ्र ही समझ गया कि वह अर्जुन के बाणों का प्रतिकार नहीं कर सकता। उसने सौवीर के राजकुमारों की ओर देखा। वे बारहों तत्काल उसकी सहायता को आ गए थे; किंतु उनकी सहायता भी अर्जुन के बाणों के सामने कुछ नहीं कर सकी।

क्षेमंकर ने अपने रथ से उतर कर युधिष्ठिर के चारों घोड़ों पर प्रहार कर उनको मार डाला, किंतु युधिष्ठिर के अर्द्धचंद्राकार बाण ने तत्काल उसके वक्ष को फाड़ दिया। युधिष्ठिर और इंद्रसेन उस रथ से उतर कर सहदेव के विशाल रथ पर चढ़ गए।...

नकुल के एक ही विपाठ ने महामुख के प्राण हर लिए थे। गज पर बैठ

कर अपनी ओर बढते त्रिगर्त राजकुमार को देख, उसने अपना खड्ग खींच लिया। त्रिगर्त राजकुमार तक पहुँचना कठिन था, इसलिए उसने उसके गज के सूँड को ही काट डाला ...

अर्जुन ने सौवीर के बारहों राजकुमार धराशायी कर दिए थे और अपने सारथि के मारे जाने से कोटिकास्य अपने घोडों का नियंत्रण खो चुका था। उसे युद्ध से भागते देख भीम ने एक प्राश से उसको मार डाला ...

जयद्रथ का रथ एक प्रकार से कोटिकास्य तथा अन्य लोगों के टूटे रथो की ओट मे था। उसने अपनी ऑखों से इस थोड़े से समय में अपने प्रायः मित्रों को धराशायी होते देख लिया था। अब जो लोग बचे थे, वे भी भागने के प्रयत्न को युद्ध का रूप दिए हुए थे। कोई अवसर अथवा ओट मिलते ही वे भी युद्धक्षेत्र छोड कर भाग जाऍगे। जयद्रथ का स्वयं युद्ध करने का सारा उत्साह समाप्त हो गया था। वह स्पष्ट देख रहा था कि वह न भीम से पार पा सकेगा, न अर्जुन से। अभी तक तो उन दोनों को उसके मित्रों ने रोक रखा था, किंतु यह स्थिति अधिक देर तक नहीं चल सकती। और यदि वह एक बार भीम के हाथों में पड गया तो वह उसे मृत्यु से भी भयंकर यातना देगा। किस मोहजाल में फँस गया वह भी। ...जब दुर्योधन ने उसके सामने यह प्रस्ताव रखा था, तो उसे लगा था कि जिस द्रौपदी की अभिलाषा वह वर्षो से अपने वक्ष में पाल रहा था, वह सहज ही उसके हाथ लग जाएगी। ... किसी युक्ति से एक बार उसके सूने आश्रम से उसे उठा कर अपने रथ में डालना भर ही तो था। उसके पश्चात् तो दुर्योधन निबटता रहेगा उन लोगों से। वह क्या जानता था कि वह मार्ग में ही पकडा जाएगा और उसके सारे मित्र और सहायक उसकी ऑखों के सामने इस प्रकार कट-कट कर गिरेंगे। ... यह तो कोई युद्ध न हुआ। वह जिस सरलता से पांचाली को उठा लाया था, उसी सरलता से पांडवों ने उसके सारे मित्रों को समाप्त कर दिया था। ...

उसने पांचाली की ओर देखा ... उसका ध्यान जयद्रथ की ओर नहीं था। वह तो जैसे भूल ही गई थी कि जयद्रथ उसका अपहरण कर लाया था और वह अभी उसके रथ में ही नहीं बैठी थी, जयद्रथ अभी जीवित था और उसी रथ में वर्तमान था। वह तो बालकों के समान जैसे कोई क्रीड़ा देख रही थी, जिसमें उसके पक्ष की विजय हो रही थी; और विरोधी धड़ाधड़ हारते जा रहे थे। जयद्रथ उसके चेहरे पर खेलते विजय के उल्लास को देख कर कॉप उठा। ... अभी थोडी ही देर मे पांडव उसके शेष साथियों तथा सैनिकों को समाप्त कर देंगे और तब द्रौपदी का ध्यान उसकी ओर जाएगा। एक ओर असहाय जयद्रथ होगा और दूसरी ओर पॉचों पांडव। वे पांचाली से पूछेंगे कि जयद्रथ को क्या दंड दिया जाए ? और पांचाली कहेगी कि पॉचों पांडव जयद्रथ के शरीर

का एक-एक अंग काट कर उसे उपहार स्वरूप ला दें। अथवा उनमें से कोई उसके हाथ-पैर बाँध कर अपने रथ से बाँध ले और उसे तब तक घसीटता चले, जब तक कि उसका शरीर भूमि की घर्षण से बोटी-बोटी हो कर धरती में ही न मिल जाए। ...

और जयद्रथ जानता है कि भीमसेन वही कर दिखाएगा। वह द्रौपदी की कोई बात नहीं टालता। द्रौपदी ने उससे एक सौगंधिक पद्म माँगा था तो वह कुबेर के सरोवर के सारे रक्षकों को मार, मानों वह सरोवर ही जीत लाया था। ... जयद्रथ के जीवित रहने की अब कोई संभावना नहीं थी।

उसकी इच्छा हुई कि वह द्रौपदी को लिए-दिए अपना रथ इस वेग से दौड़ाए कि पांडव उसकी धूल भी न पा सकें। ... पर उसका विक्षिप्त मन भी जानता था कि यह संभव नहीं है। वे लोग उसे एक योजन भी नहीं जाने देंगे और जा लेंगे। ...सिंधुदेश तो अभी बहुत दूर है। किसी प्रकार वह अपने देश पहुँच भी गया तो क्या पांडव वहाँ तक नहीं पहुँचेंगे ? वहाँ भी इसी प्रकार का घमासान होगा और उसके सैनिक, उसके परिजन, सब इसी प्रकार कट-कट कर गिरेंगे। ... उसकी दृष्टि पुनः द्रौपदी पर पड़ी ... कितने भयंकर थे उसके नयन। रक्त देख कर कैसी प्रसन्न थी वह। यह तो जैसे साधारण भीरु नारी नहीं थी, रक्त की प्यासी देवी चामुंडा थी। इसका तो मानों जन्म ही इसलिए हुआ था कि धरती की रक्त पिपासा शांत हो। वह रक्त की नदी में तैरती हुई कितनी सहज थी। कैसा मूर्ख था जयद्रथ कि दुर्योधन का प्रस्ताव सुन कर इस स्त्री की कामना कर बैठा। यह स्त्री नहीं थी, यह तो चारा था, जिसकी ओर आकृष्ट हो कर क्षत्रिय एक-दूसरे से युद्ध करते-करते कट मरेंगे। जिसे भीम की गदा के आघात से पिसना होगा, वह इस पांचाली की कामना करेगा। जिसे अर्जुन के बाणों से कटना होगा, वह इस स्त्री की कामना करेगा। ...

उसने एक अनियंत्रित आवेश में द्रौपदी को अपने रथ से धकेला और अपने अश्वों पर उन्मत्त के समान कशा बरसा दिए। अश्व मानों अपने प्राण ले कर भागे। रथ आकस्मिक वेग से चला। जयद्रथ ने मुड़ कर यह भी नहीं देखा कि द्रौपदी कहाँ गिरी है ? कैसे गिरी है ? जीवित बची है अथवा किसी के रथ अथवा किसी पशु के पैरों तले कुचली गई है ? कोई उसकी सहायता को आया भी है या नहीं ?...

द्रौपदी के कंठ से एक प्रबल चीत्कार फूटा और युद्ध जैसे थम गया।

"मध्यम !" अर्जुन ने कहा, "जयद्रथ भाग गया है, अब इन निरीह सैनिकों का वध करने का क्या लाभ ?"

भीम का हाथ भी रुक गया। युधिष्ठिर और नकुल-सहदेव भी जहाँ के तहाँ थम गए। जयद्रथ की सेना के जीवित लोग भी अपने प्राणों को लिए-दिए

पृथक्-पृथक् दिशाओं में निकल भागे।

पाँचों पांडव, धौम्य मुनि तथा इंद्रसेन, द्रौपदी के चारों ओर घिर आए।

भीम ने द्रौपदी को अपनी भुजाओं में उठा कर सहदेव के रथ में बैठा दिया।

"सहदेव ! पांचाली के बंधन खोलो।" वह युधिष्ठिर की ओर मुड़ा, "आप पांचाली तथा मुनिवर को ले कर आश्रम में लौटें। मैं और अर्जुन जयद्रथ के पीछे जाते हैं। आप चिंता न करें, हम संध्या से पूर्व ही उसको इसी प्रकार रस्सियों में बाँध लाकर आपके चरणो में डाल देंगे, जैसे उसने पांचाली को रस्सियो से बाँध रखा था।"

सहदेव ने पांचाली के बंधन खोल दिए थे। वह अपने मुक्त हुए अंगों को अपने हाथों से बडे कोमल भाव से सहला रही थी; किंतु उसके नयनों मे जैसे विनाशानल धधक रहा था।

"उसे जीवित लाने की कोई आवश्यकता नहीं है। और धर्मराज के चरणों मे डालने से तो वह एक क्षमा माँग कर स्वतंत्र हो जाएगा।" वह बोली, "उसका वहीं वध कर देना।"

"नहीं !" युधिष्ठिर तत्काल बोले, "वह जो भी है, जैसा भी है, दुःशला का पति है। माता गांधारी का विचार करो। उसे दंडित करना, किंतु उसके प्राण मत लेना।"

"मैंने कहा था उससे कि वह दुःशला का पति होने के नाते मेरा भाई है, और इस नाते से उसे मेरी रक्षा करनी चाहिए।" द्रौपदी बोली, "उत्तर मे वह हँसा पिशाच के समान। उसने मुझे परामर्श दिया कि मैं उसकी अंकशायिनी हो जाऊँ और संसार का सारा वैभव भोगूँ, क्योंकि विदुषी स्त्रियाँ, पुरुष के साथ तब तक ही रहती हैं, जब तक कि पुरुष के पास संपत्ति होती है। उसे तो एक बार भी स्मरण नहीं आया कि मै उसकी पत्नी दुःशला के भाइयों की पत्नी हूँ। उसे तो माता कुंती का स्मरण नहीं हुआ, आपको ही क्यों प्रत्येक अवसर पर माता गांधारी स्मरण हो आती हैं ?"

"क्योंकि मैं जयद्रथ नहीं हूँ।" युधिष्ठिर बोले, "मैं मनुष्य हूँ, इसलिए मानवीय संबंध मेरे लिए महत्त्वपूर्ण हैं। मै अपने शत्रुओं को भी कष्ट दे कर कोई सुख नहीं पाता। क्रूरता मेरे मन को आह्लादित नहीं करती। न्याय तथा अपनी रक्षा के लिए हम क्षत्रिय धर्म का अवलंब ग्रहण करते हैं, किंतु हाथ में शस्त्र आ जाने पर और अपने सम्मुख एक अक्षम मनुष्य को देख कर हमें राक्षस नहीं बन जाना है।"

"तो सारा दया धर्म हमारे ही भाग में क्यों है ?" द्रौपदी तड़पकर बोली, "लोग हम पर अत्याचार करते जाएँ और हम उन्हें क्षमा करते जाएँ ?"

"और नहीं तो क्या, उन दुष्टों का अनुकरण कर हम भी राक्षस हो जाएँ ?"

युधिष्ठिर बोले, "सारे विरोधी परिवेश में भी हम अपने धर्म पर टिके रहें, इसी में हमारा श्रेय है पांचाली ! हमें अपना धर्म नहीं छोड़ना है।"

"आप लोग आश्रम में चलें। हम अभी आते हैं।" भीम ने कुछ उतावली में कहा, "आओ अर्जुन !"

भीम अपने रथ की ओर मुड़ चुका था कि द्रौपदी ने चिल्लाकर कहा, "उस नराधम का वहीं वध कर देना मध्यम पांडव ! वह जीवित रहने योग्य नहीं है। वह जीवित रहा तो जाने कितनी असहाय नारियों का अपमान और अपहरण करेगा। सारी स्त्रियों के पति इतने वीर और समर्थ नहीं होते कि अपनी पत्नी के सम्मान की रक्षा कर सके। उस नराधम का वध कर देना।"

नकुल,सहदेव, द्रौपदी तथा धौम्य के साथ युधिष्ठिर अपने आश्रम में प्रविष्ट हुए तो देखा कि अनेक आरण्यक उनके आश्रम में एकत्रित थे, और कदाचित् उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रहे थे। लगता था कि द्रौपदी के अपहरण की बात दूर-दूर तक फैल गई थी और आरण्यक समाज सहानुभूतिवश, सहायता के भाव से उनके आश्रम में एकत्रित हो गया था। युधिष्ठिर को सबसे अधिक आश्चर्य ऋषि मार्कण्डेय को देख कर हुआ।

वे लोग स्वाध्याय के लिए बनाए गए पर्णकुटीर को घेर कर बैठे थे। जयद्रथ ने यहीं से द्रौपदी का अपहरण किया था। कुटीर में भयंकर अव्यवस्था थी। कोई भी वस्तु ठीक ठिकाने नहीं थी। स्पष्ट ही द्रौपदी ने आत्मरक्षा के लिए जितना संघर्ष किया था, जयद्रथ ने उतना ही उत्पात् मचाया था।

मार्कण्डेय ने द्रौपदी को सकुशल लौटी देख अपना संतोष प्रकट किया। उन्होंने धौम्य की भी प्रशंसा की, जिन्होंने समय के अनुकूल आचरण किया और योद्धा न होते हुए भी अपने संरक्षण में छोडी गई द्रौपदी की सुरक्षा की दृष्टि से उसका साथ नहीं छोडा।

"ऋषिवर !" धर्मराज बोले, "मेरे मन में बार-बार एक प्रश्न उठता है कि द्रुपदपुत्री कृष्णा जैसी धर्म की ज्ञाता, धर्म का आचरण करनेवाली तथा पवित्र स्त्री को, अपहरण का अपमान और कलंक क्यों सहना पडा ? मैंने और मेरे भाइयों ने ऐसा क्या किया कि हमें अपने ही बंधुओं के हाथों अपने राज्य से निष्कासित होना पड़ा ? विधाता क्यों हमें इतना तपा रहा है ? कभी-कभी तो मैं अपने आपसे पूछता हूँ कि क्या संसार में मुझसे भी अधिक दुखी कोई व्यक्ति है ? कोई मुझसे भी अधिक अभागा कभी उत्पन्न हुआ है, इस धरती पर ?"

मार्कण्डेय हँसे, "क्या तुम श्रीराम से अधिक धर्माचरण करते हो ? अपने राज्य से तो वे भी निष्कासित हुए थे। तुम्हारे साथ तो तुम्हारे ये चार-चार वीर

भाई है, और यदि आज दुर्योधन से तुम्हारा युद्ध हो तो तुम्हें असंख्य सहायक भी मिलेगे, किंतु रावण से युद्ध करने के लिए, देखो राम को अपने सहायक कहाँ खोजने पडे। द्रौपदी, जनकसुता सीता से अधिक पवित्र है क्या ? अपहरण का अपमान और कष्ट तो सीता को भी सहना पडा था। सावित्री के विषय में सोचो। वह तो वैधव्य के द्वार तक जाकर लौटी।..." उन्होंने रुक कर धर्मराज की ओर देखा, "युधिष्ठिर हमें अपने दुर्भाग्य के विषय में नहीं, अपने सौभाग्य के विषय मे सोचना चाहिए। यह मत सोचो कि तुम्हें क्या नहीं मिला, तुम्हे यह सोचना चाहिए कि प्रभु ने तुम्हे क्या-क्या दिया है। हमें प्रभु के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए धर्मराज !" मार्कण्डेय ने युधिष्ठिर पर एक ठहरी सी दृष्टि डाली, "तुमने यह तो सोचा कि द्रौपदी इतनी पवित्र है, फिर भी उसे अपहरण का अपमान सहना पडा, किंतु यह सोच कर प्रभु के प्रति कृतज्ञता का अनुभव नहीं किया कि उसने द्रौपदी को इतना पवित्र बनाया। तुमने यह क्यों नहीं सोचा कि वे तुम पर कितने कृपालु हैं कि उन्होंने तुम्हारा मन दुर्योधन जैसा नहीं बनाया; अन्यथा तुम भी अपने भाइयों की संपत्ति छीनने के लिए षड्यंत्र रच रहे होते।"

युधिष्ठिर के नेत्रों में जल छलक आया, "कभी-कभी सोचता तो हूँ ऋषिवर ! किंतु क्या करूँ, यह मन बार-बार संसार की ओर देखता है और उससे प्रभावित हो जाता है। अपने कर्मो का नहीं ईश्वर के कर्मो का विश्लेषण करने लगता है। अपने दोष नहीं देखता, उसके दोष ढूँढने लगता है। पर उस विराट् की लीला को समझ नहीं पाता, और उसके प्रति कोई न कोई विरोध पाल लेता है।"

"कठिनाई तो यही है धर्मराज !" मार्कण्डेय बोले, "कि हम अपनी उस बुद्धि से ईश्वर को समझने का प्रयत्न करते हैं, जो अपनी क्षमता में, उस विराट् की तुलना में बहुत ही छोटी है। हम यह अहंकार क्यों पालते हैं कि हमारी बुद्धि उस चैतन्य को भी उसी प्रकार देख और समझ सकती है, जैसे हम सांसारिक व्यापारों को देख और समझ सकते है। वस्तुत: जैसे एक चींटी अपनी बुद्धि से मनुष्य के मन और मनुष्यों के संसार के कार्यव्यापार को नहीं समझ सकती, वैसे ही मनुष्य की बुद्धि भी उस सृष्टिकर्ता चैतन्य को नहीं समझ सकती। उस चैतन्य के एक कण को जानने और समझने के लिए भी हमें उसी की शरण में जाना पड़ता है।" वे तनिक रुके, "मनुष्य अपनी बुद्धि से जो देखता, सोचता और समझता है, उसी के आधार पर उस प्रभु का एक चित्र अपने मन में बना लेता है और उस पर सारे मानवीय गुण और दोष आरोपित करने लगता है। वह प्रभु में भी सारे मानवीय तर्क-वितर्कों की कल्पना करता है, और उससे वैसे ही व्यवहार की अपेक्षा करता है। उसकी बाध्यता यह है कि उसके पास सोचने समझने के जो उपकरण है, वे इतने सीमित और संकुचित हैं कि उनसे ईश्वर

को, उस सृष्टिकर्ता चैतन्य को, समझा नहीं जा सकता; और उस उपकरण को त्याग कर अपने अंतःकरण से वह ईश्वर को जानना नहीं चाहता। मनुष्यों में सब के अपने-अपने आकाश होते हैं और उनकी अपनी-अपनी ऊँचाई होती है। दुर्योधन की तुच्छ बुद्धि यह कभी समझ नहीं पाएगी कि तुम हस्तिनापुर इसलिए आए, क्योंकि धृतराष्ट्र का निमंत्रण अस्वीकार करना तुम्हारे लिए अधर्म था। दुर्योधन मानता है कि तुम मूर्ख हो, इसलिए उनके निमंत्रण में छिपे षड्यंत्र को भाँप नहीं पाए। तुम द्यूत खेलने इसलिए नहीं बैठे कि अपने पितृव्य की आज्ञा का पालन करना तुम्हारा धर्म था, वह मानता है कि तुम द्यूत खेलने इसलिए बैठे, क्योंकि तुम्हें द्यूत का व्यसन है। वह मानता है कि तुम वन इसलिए नहीं चले आए क्योंकि यह तुम्हारा धर्म था, तुम वन इसलिए चले आए, क्योंकि तुम दुर्बल और भीरु हो। तुममें क्षत्रियों के समान लड मरनेवाला तत्त्व ही नहीं है। वह यह नहीं मानता कि तुम युद्ध से इसलिए बचना चाहते हो क्योंकि तुम नृशंस नहीं हो और शांति से प्रेम करते हो। वह मानता है कि तुम युद्ध से इसलिए बचना चाहते हो, क्योंकि तुम दुर्बल और कायर हो।" मार्कण्डेय रुके, "इसलिए धर्मराज ! मनुष्य को पहले अपना आकाश ऊँचा करना होगा, फिर सात्विकता का मूल्यांकन करना होगा। ईश्वर को समझने के लिए तो उसी की शरण में जाना होगा ..."

आश्रम के निकट ही कहीं अश्वों की टापों की ध्वनि सुनाई पड़ रही थी। युधिष्ठिर ने देखा, वहाँ एकत्रित हुए लोगों में एक प्रकार की सतर्कता आ गई थी। उसमें घबराहट भी थी और सावधानी भी। कदाचित् वे आशंकित थे कि कहीं जयद्रथ अथवा उसके मित्र फिर से तो नहीं आ गए थे।...

"आप लोग चिंतित न हों" युधिष्ठिर बोले, "संभवतः भीम और अर्जुन लौट आए हैं।"

युधिष्ठिर का अनुमान ठीक था। वे भीम तथा अर्जुन के ही रथ थे। सबकी प्रश्नवाचक दृष्टि उस ओर उठ गई थी।

भीम ने रथ रोका और घसीट कर जयद्रथ को बाहर निकाला, जैसे कोई भारी वस्तु उतारी जाती है। उसने उसे धक्का दिया और वह युधिष्ठिर के चरणों में आ गिरा।

युधिष्ठिर ने देखा : जयद्रथ का सारा शरीर धूलि-धूसरित था, जैसे वह बार-बार भूमि पर गिरा हो। मिट्टी में बार-बार लोटा हो या घसीटा गया हो। उसके वस्त्र अस्तव्यस्त और मलिन हो चुके थे। उसके सिर के केश मूँड दिए गए थे और बीच-बीच में शिखाएँ छोड दी गई थीं। उसका स्थान-स्थान से रक्त में भीगा शरीर रस्सियों से बँधा हुआ था। उसने हाथ जोड रखे थे, और भय से काँप रहा था।

"यह क्या भीमसेन !" युधिष्ठिर विस्मय से बोले, "तुमने इसकी यह क्या गति कर दी।"

"मैंने आपकी आज्ञा का पूरा-पूरा पालन किया है। मैंने इस नीच के अधम प्राण नहीं लिए। न ही इसकी वह भुजा भंग की, जिसने द्रौपदी का स्पर्श किया था। मैंने इसकी वह जिह्वा भी यथास्थान छोड दी है, जिससे इसने पांचाली को अपशब्द कहे थे।" भीम ने कहा, "अब आप पांचाली को सूचना दे सकते हैं कि जयद्रथ पांडवों का दास है। यह जहॉ भी जाएगा, अपना परिचय इसी रूप में देगा कि यह महाराज युधिष्ठिर का दास है।"

"इसे मुक्त कर दो भीम !" युधिष्ठिर बोले, "मुझे तो इस पर दया आ रही है।"

"यही तो कठिनाई है कि जब मैं किसी दुष्ट को पकड कर उसे दंडित करने लगता हूँ, आपको उस पर दया आने लगती है।" भीम रोषपूर्ण स्वर मे बोला, "हमने श्रमपूर्वक युद्ध कर जब इस भगोड़े को पकडा और दंड देने का समय आया तो अर्जुन को स्मरण हो आया कि आप ने इसका वध न करने का आदेश दिया है। मैं तो इसका वध कर देना चाहता था; किंतु आपकी दया और अर्जुन की बाल-बुद्धि द्वारा उत्पन्न बाधाओं के कारण अपनी इच्छा भर इसको पीट भी नहीं सका।"

"वह तो स्पष्ट ही है," धर्मराज हॅसे, "यदि तुमने अपनी इच्छा भर इसे पीटा होता, तो इसके प्राण ही निकल गए होते। अच्छा, अब इसे मुक्त कर दो।"

भीम की तनिक भी इच्छा नहीं थी; किंतु वह जानता था कि युधिष्ठिर इसे मुक्त कर ही देंगे। उसने नकुल की ओर देखा, "पांचाली को सूचित करो कि हम जयद्रथ को बाँध कर लाए हैं; और वह पांडवो का दास हो गया है।"

द्रौपदी अब तक कुटीर से बाहर आ चुकी थी। उसने जयद्रथ को देखा।

"यह आपने बहुत अच्छा किया कि इस नराधम का सिर मूँड कर पॉच चोटियॉ बना दीं। यही इसका वास्तविक रूप है—पाप और वासनाओं के इस दास का।" द्रौपदी बोली, "अब आप इसे मुक्त कर दें, ताकि यह भी देख ले कि यह नीच मेरे जिन पतियों को कंगले, निर्धन तथा लक्ष्मीहीन कह कर त्याग-देने का उपदेश दे रहा था, उनका सामर्थ्य क्या है। यह मुझे कह रहा था कि जब यह अपने बाहुबल से पांडवों को पराजित कर देगा तो मैं अनुनय विनय करती हुई, घिसटती हुई इसके रथ के पीछे चलूँगी। ... देखे यह मेरी अनुनय विनय कि मैं स्वामिनी के रूप में इसे क्षमा किए बिना भी इसको मुक्त कर रही हूँ, क्योकि यह पापाचारी तथा नीच दु:शला का पति है। यह देखे कि मेरे पति कितने वीर हैं। वे इसको पराजित कर सकते हैं। इसका वध भी कर सकते हैं, किंतु करते नहीं । वे सारा जीवन इसे अपना दास बना कर रख सकते हैं,

किंतु वे कितने महान् हैं कि इसे मुक्त भी कर सकते हैं। इस अपवित्र मांस पिंड को जितनी जल्दी संभव हो अपने इस पवित्र आश्रम से बाहर निकाल दीजिए मध्यम पांडव।"

भीम को बहुत कष्ट हुआ कि धर्मराज की क्षमा का यह रोग द्रौपदी को भी क्यों लग गया। वह एक बार उसे दंडित करने को कहती तो वह इन सारे उपस्थित लोगों के सम्मुख इस जयद्रथ को अपनी भुजाओं की ऊँचाई से एक बार धरती पर ऐसा पटकता कि उसके प्राण ही निकल जाते। पर अब क्या हो सकता था। उसने आगे बढ़ कर उसके बंधन खोल, उसे मुक्त कर दिया और कहा, "फिर कभी तू मुझे अपने आश्रम के आस-पास दिखाई भी दे गया तो धर्मराज के सम्मुख भी नहीं लाऊँगा तुझे। वहीं मार कर पशुओं के खाने के लिए छोड दूँगा।"

जयद्रथ ने एक अत्यंत भीत दृष्टि भीम पर डाली। उसे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि कभी भीम अपने ही हाथों से उसके बंधन खोल सकता है; किंतु वह देख रहा था कि भीम ने उसके बंधन खोल दिए थे और वह मुक्त था। ...पांडवों के प्रति अब भी उसके मन मे कृतज्ञता का भाव नहीं था। वहाँ तो मात्र भय था। कहीं वे उसे पुनः बंदी न बना लें। युधिष्ठिर की ओर मुख कर, हाथ जोड़, उसने उन्हें प्रणाम किया। सामने बैठे तपस्वियों को प्रणाम किया और सिर झुकाए खड़ा हो गया।

"जाओ सिंधुराज ! हमारी ओर से तुम मुक्त हो। पर पापाचारी राजन् ! यह स्मरण रखो कि प्रभु ने किसी को शक्ति इसलिए नहीं दी है कि वह पर-स्त्रियो का अपहरण करे। उसे शक्ति इसलिए मिली है कि वह दुर्बलों की रक्षा करे। मैं जानता हूँ कि तुम्हारे व्यसन क्या हैं, तुम्हारे संगी साथी कैसे हैं। भीम ने ठीक ही कहा है। यदि तुमने फिर ऐसा कोई प्रयत्न किया, अपने मन से अथवा दुर्योधन की इच्छा से हमें कष्ट देने का प्रयत्न किया, तो वह तुम्हारा अंत ही होगा। तब मैं भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकूँगा। जाओ। भगवान तुम्हें सद्बुद्धि दें।"

जयद्रथ सिर झुकाए हुए, जितनी जल्दी संभव था, वहाँ से बाहर निकल गया।

28

विशोक कई दिनों के पश्चात् हस्तिनापुर से आश्रम में वापस लौटा था, किंतु वह अपने परिवार के पास अपने कुटीर में न जाकर सीधे धर्मराज के पास जा

पहुँचा।

वह प्रणाम कर उनके सम्मुख बैठ गया तो युधिष्ठिर ने ध्यान से उसकी ओर देखा। उसके वस्त्र तथा केश बता रहे थे कि वह लंबी यात्रा से लौटा है। उसके चेहरे की क्लांति स्पष्ट कह रही थी कि उसे विश्राम की वहुत आवश्यकता थी।

"सीधे मेरे पास ही आ रहे हो ?"

"हाँ महाराज !"

"अपनी पत्नी और बच्चों से भी मिलने नहीं गए ? स्नान इत्यादि भी नहीं किया ?"

"नहीं महाराज ! इतना ही नहीं, मार्ग में भी बहुत कम विश्राम किया है मैने।"

"कारण ? कोई चिंताजनक समाचार है ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"चिंताजनक तो नहीं, किंतु कुछ महत्त्वपूर्ण समाचार हैं।" विशोक ने कहा, "सोचा, पहले आपको सूचित कर दूँ, फिर एक ही बार स्नान, ध्यान कर भोजन कर विश्राम करूँगा।"

युधिष्ठिर ने ध्यान से उसकी ओर देखा, "चिंताजनक नहीं है, किंतु महत्त्वपूर्ण समाचार हैं ?"

"हाँ महाराज !"

"बोलो।"

"महाराज ! यहाँ से जाने के पश्चात् सिंधुराज जयद्रथ आज तक हस्तिनापुर नहीं पहुँचे।"

"संभवतः अपने राज्य में लौट गए होंगे—सिंधुदेश।"

"हस्तिनापुर में जो समाचार सुनने को मिले हैं, उनके अनुसार वे वहाँ भी नहीं पहुँचे।" विशोक बोला, "कुछ लोगों का विचार है कि वे यहाँ से सीधे हरिद्वार अथवा ऐसे ही किसी स्थल पर चले गए हैं।"

"संभव है कि मन की ग्लानि दूर करने के लिए, उसको उसकी आवश्यकता हो।" युधिष्ठिर बोले।

"कुछ लोगों का कहना है कि उन्होंने ग्लानि के मारे, कहीं गंगा में कूद कर, अपने प्राण दे दिए हैं।"

"नहीं ! ऐसा संभव नहीं है।" युधिष्ठिर ने बीच में ही उसकी बात काट दी, "जयद्रथ में न इतना आत्मसम्मान है और न इतनी धर्मबुद्धि कि वह ग्लानि के मारे अपने प्राण दे दे। ऐसा ही लज्जाशील होता तो वह पांचाली के अपहरण जैसा नीच कर्म कभी न करता। करता तो उसे छोड़ कर इस प्रकार भागता नहीं । युद्ध में अपने प्राण दे देता।"

"कुछ लोगों की यह भी मान्यता है कि वे किसी दुर्गम स्थान पर एकांत में तपस्या कर रहे हैं, ताकि उनका मन शुद्ध हो सके।" विशोक ने एक और सूचना दी।

युधिष्ठिर कुछ देर तक मौन बैठे कुछ सोचते रहे फिर बोले, "मेरा मन यह स्वीकार नहीं कर पा रहा है कि जयद्रथ अपने मन की शुद्धि के लिए तपस्या कर रहा है। मुझे तो उसमें पश्चात्ताप का कोई लक्षण दिखाई नहीं पड़ा था। यदि उसे स्वयं को शुद्ध करने के लिए तपस्या ही करनी थी, तो यहीं हमारे आस-पास आरण्यकों के मध्य अथवा सब से पृथक् रह कर तपस्या करता। पश्चात्ताप था, तो अपनी शत्रुता को धोने के लिए, उनकी ही सेवा करता, जिनका वह अपराधी था।"

"वे यहाँ कैसे रह सकते थे महाराज !" विशोक बोला, "युवराज भीम ने कहा था कि यदि सिंधुराज यहाँ दिखाई भी पड़ेंगे, तो वे उनका वध कर देंगे।"

"भीम ने यह कहा अवश्य था; किंतु वह ऐसा करता नहीं । पश्चात्ताप तो ऐसा भाव है, जिसके सम्मुख पत्थर पिघल जाता है।" युधिष्ठिर कुछ रुक कर बोले, "कहीं ऐसा तो नहीं कि वह मूर्ख तपस्या कर कुछ अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त करना चाहता हो, ताकि हमें किसी प्रकार की क्षति पहुँचा सके।"

विशोक ने युधिष्ठिर को ऐसी दृष्टि से देखा, जैसे वे अकस्मात् ही सत्य तक पहुँच गए हों, "संभवतः ऐसा ही हो महाराज !"

युधिष्ठिर के मस्तक से चिंता की रेखाएँ बहुत शीघ्र मिट गई, "कैसे-कैसे मूर्ख होते हैं, इस संसार मे। जिस तपस्या से ईश्वर मिल सकता है, उस तपस्या को वे मात्र अपनी शत्रुता का विस्तार करने का माध्यम बनाते हैं।"

"क्या सिंधुराज इसमें सफल हो पाएँगे महाराज ?" विशोक चिंतित था।

"चिंता की कोई बात नहीं विशोक ! उस सर्वमंगलकर्ता से किसी का अनिष्ट माँगने से वह नहीं मिलता, क्योंकि वह किसी का अनिष्ट करता ही नहीं।" युधिष्ठिर मुस्कराए, "उसे भूल जाओ विशोक ! मुझे बताओ कि तुम हस्तिनापुर से क्या विशेष समाचार लाए हो। निश्चित् रूप से तुम यह बताने के लिए हस्तिनापुर से बिना विश्राम किए हुए भागते दौड़ते नहीं आ रहे हो कि जयद्रथ वहाँ नहीं पहुँचा है।"

"महाराज ! सत्य कह रहे हैं।"

युधिष्ठिर ने निकट खडे इंद्रसेन की ओर देखा, "जाओ। द्रौपदी और अन्य पांडवों को बुला लाओ। उन्हें कहना कि विशोक हस्तिनापुर से लौट आया है।"

चारों पांडवो और द्रौपदी के साथ धौम्य भी आ गए।

"हाँ विशोक !" युधिष्ठिर ने कहा।

"हस्तिनापुर में राजमाता तथा महामंत्री सकुशल हैं। पितामह भीष्म भी स्वस्थ और प्रसन्न हैं। आचार्य द्रोण तथा गुरुपुत्र अश्वत्थामा से भी मैंने भेंट की थी। उन्होंने आपके लिए अपना आशीर्वाद भेजा है।"

"महाराज धृतराष्ट्र स्वस्थ हैं ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"मैने उनसे व्यक्तिगत रूप से भेंट नहीं की है; किंतु महात्मा विदुर ने मुझे बताया था कि वे स्वस्थ और प्रसन्न हैं।"

"अब तुम वह समाचार भी कह डालो, जिसके कारण तुम व्याकुल हो।" युधिष्ठिर बोले।

"महाराज ! महात्मा विदुर ने मुझे विशेष रूप से यह समाचार निवेदित करने के लिए कहा है।"

"कहो।"

"आज कल हस्तिनापुर की वीथियों, पण्यशालाओं तथा क्रीडास्थलियों में एक कथा बहुत प्रचारित हो रही है।"

"क्या ? एक कथा ?" भीम का कौतूहल जाग उठा था।

"अंगराज कर्ण को स्वप्न में सूर्यदेव ने दर्शन दिए है।"

भीम ने जोर का अट्टहास किया, "अच्छा ! हमें तो वे प्रतिदिन साक्षात् दर्शन देते हैं। कर्ण ने अब पहली बार सूर्य के दर्शन किए हैं, वह भी स्वप्न में। मनुष्य को इतने भी अंधकार मे नहीं रहना चाहिए।"

"नहीं युवराज ! मेरा तात्पर्य यह नहीं था।" विशोक बोला, "भगवान भास्कर ने मनुष्य के रूप मे, ब्राह्मण वेश मे उसे दर्शन दिए।"

"क्या चाहते थे वे कि कर्ण उनकी इंद्र से रक्षा करे ?" भीम ने पुनः पूछा।

"नहीं । वे चाहते थे कि कर्ण इंद्र से अपनी रक्षा करे।"

"क्या ?" द्रौपदी ने आश्चर्य से पूछा, "क्या कर्ण देवराज से द्वन्द्व युद्ध करने जा रहा है ?"

"भगवान भास्कर ने उससे कहा कि इंद्र पांडवों की रक्षा करना चाहते हैं, इसलिए वे कर्ण को दुर्बल करना चाहते है। अतः निकट भविष्य में किसी समय देवराज इंद्र, ब्राह्मण का वेश बना कर कर्ण के पास आएँगे और उससे दान में उसके कवच और कुंडल मांग लेंगे। ..."

"तो उससे कर्ण दुर्बल कैसे हो जाएगा ?" अर्जुन ने पूछा, "क्या उसके पास दूसरा कवच नहीं है ? अथवा वह नए कवच का निर्माण नहीं कर सकता ? अथवा अब नए कवच बनते नहीं ? और कुंडलों का क्या है; प्रत्येक संपन्न व्यक्ति के पास कई-कई कुंडल होते हैं। फिर कुंडल न होने से कोई व्यक्ति दुर्बल

कैसे हो सकता है। युद्ध के अवसर पर तो वैसे भी योद्धा लोग अपने आभूषण उतार ही देते हैं।"

"मेरे मन में भी कुछ ऐसे ही प्रश्न आए थे राजकुमार ! किंतु वहाँ प्रचारित कथा में यह उस कवच-कुंडल की चर्चा है, जो जन्म के समय उसके शरीर पर थे।"

"ओह ! यह कथा तो हम पहले भी सुन चुके हैं कि कर्ण के शरीर पर एक अलौकिक कवच है ..."

"जो आज तक हमें दिखाई नहीं दिया और जिस को धारण कर कर्ण अनेक युद्धों में पराजित होता रहा, अनेक युद्धों से भागता रहा।" भीम ने सहदेव की बात बीच में ही काट दी।

"हाँ ! यह उसी कवच कुंडल की चर्चा है।" विशोक बोला, "कथा के अनुसार वे कुंडल स्वर्ण के नहीं, अमृत के बने हुए हैं और उनको धारण करनेवाला व्यक्ति अवध्य होता है।"

"यदि ऐसा ही होता, तो कर्ण कब से उन्हें दुर्योधन को दे चुका होता, ताकि वह अवध्य हो सके।" नकुल ने टिप्पणी की।

"कथा कहती है कि वे कवच और कुंडल कर्ण के शरीर का अंग हैं, अतः उन्हें शरीर से पृथक् करने के लिए मांस काटने जैसा काम करना होगा। शरीर को छीलना पड़ेगा। ..."

"अच्छा तो सूर्यदेव ने कर्ण को बताया कि इंद्र ब्राह्मण का वेश धारण करके आएँगे और कर्ण से उसके कवच कुंडल माँग लेंगे ?" युधिष्ठिर बोले।

"हाँ महाराज !" विशोक ने कहा।

"तो इतना सारा नाटक करने की क्या आवश्यकता है," सहदेव ने कहा, "इंद्र जब चाहें, कर्ण को युद्ध में पराजित कर उसके कवच-कुंडल छील कर ले जाएँ। धर्मराज ने बीच में पड़ कर धनंजय को न भेजा होता तो यह काम गंधर्वराज चित्रसेन ही कर डालता। इंद्र कर्ण से दुर्बल हैं, अथवा उससे भयभीत हैं?"

"पर हमने तो इंद्र से कोई सहायता माँगी ही नहीं है।" भीम ने कहा।

"मुझे तो आश्चर्य इस बात का है कि जिस पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं है, उसके विषय में इस प्रकार की कथाओं के प्रचार का क्या अर्थ।" अर्जुन ने अपनी टिप्पणी दी।

"तुम पूरी कथा सुनाओ विशोक !" युधिष्ठिर बोले, "उसके पश्चात् देखा जाएगा कि यह क्या है और इसका अर्थ क्या है।"

"सूर्यदेव ने कर्ण को यह चेतावनी दी; किंतु कर्ण ने उसे स्वीकार नहीं किया। वह बोला कि उसने यह प्रण किया है कि जब तक वह अर्जुन का वध

नहीं कर लेता, तब तक उसका कुछ भी ब्राह्मणों को अदेय नहीं है। यदि इंद्र उसके पास ब्राह्मण का रूप धारण करके आएँगे, तो वह उनका तिरस्कार नहीं कर सकता। तब सूर्यदेव ने कहा कि यदि ऐसा ही है तो वह इंद्र को अपना कवच-कुंडल देते हुए, उसके विपर्यय में इंद्र से उनकी अमोघ शक्ति माँग ले। कर्ण ने कहा कि उसका प्रण है कि वह अपनी दी हुई वस्तु के बदले कुछ भी स्वीकार नहीं करेगा। सूर्यदेव ने उसे बहुत समझाया कि वह ऐसी भूल न करे, अन्यथा उसके प्राण संकट में पड जाएँगे। अंततः वह उनकी बात मान गया।..."

"कर्ण ने यह नहीं पूछा कि सूर्यदेव उसके लिए इतने चिंतित क्यों है ? और तो किसी की रक्षा के लिए वे आज तक आकाश से उतर कर नहीं आए। हस्तिनापुर की द्यूतसभा में जब कर्ण मुझे निर्वस्त्र कर देने का प्रस्ताव कर रहा था, तब भी वे उसे समझाने नहीं आए कि यह अधर्म है। उसका पतन क्या उसकी मृत्यु से कम भयंकर था। तो अब ऐसा क्या हो गया कि वे उसे चेतावनी देने आ गए ?"

"कर्ण ने पूछा था, उनसे।" विशोक ने बताया, "तो भगवान भास्कर ने बताया कि वह उनका भक्त है इसलिए वे उसकी रक्षा करना चाहते हैं।"

"हाँ ! भक्त तो वह है ही।" भीम ने कहा, "जिसके मन में इतनी ईर्ष्या और इतनी नीचता है, उसके मन में भक्ति के तो खेत के खेत लहरा रहे होंगे। जहाँ कण भर सात्विकता नहीं है, वहीं तो भक्ति की निर्मल धारा बहती होगी। सूर्यदेव आए थे, तो इतना तो उसे समझा ही जाते कि सात्विकता के बिना भक्ति का बीज भी प्रस्फुटित नहीं हो सकता।"

"तो कर्ण सूर्यदेव के कहने पर अपना संकल्प तोड़ने पर सहमत हो गया ?" अर्जुन ने पूछा।

"हाँ। कर्ण सहमत हो गया और देवराज के आने की प्रतीक्षा करने लगा।" विशोक ने बताया, "एक दिन जब वह गंगा स्नान कर सूर्य को अर्घ्य दे रहा था, तो देवराज एक ब्राह्मण का वेश धारण कर आ गए। ... कर्ण ने उन्हें एक साधारण ब्राह्मण मान कर पूछा कि उन्हें क्या चाहिए। देवराज ने उससे उसके कवच और कुंडल माँगे, तो वह समझ गया कि वे ही देवराज हैं। उसने उन्हें टालने का बहुत प्रयत्न किया ..."

"ब्राह्मणों के लिए कुछ भी अदेय नहीं है, इस घोषणा के बाद भी ?" भीम ने पूछा।

"हाँ ! किंतु देवराज नहीं माने। उसने कहा कि वे उससे सारी पृथ्वी का राज्य ले लें ..."

नकुल जोर से हँसा, "सारी पृथ्वी कर्ण की संपत्ति है कि वह उसका दान कर देगा। ऐसे तो वह सारा ब्रह्माण्ड ही किसी दिन किसी ब्राह्मण को दान कर

देगा; और ब्राह्मण बेचारा ब्रह्मांड पर आधिपत्य जमाने के लिए टापता ही रह जाएगा। जो अपना है नहीं, उसका दान करने से तो दान की महिमा अनन्त हो जाती है।"

"देवराज नहीं माने, तो कर्ण बोला, 'मैं जानता था कि आप मुझसे मेरे कवच-कुंडल माँगने आएँगे। मेरे लिए यह कितने गर्व का विषय है कि देवराज इंद्र को याचक के रूप में मेरे पास आना पड़ा। मैं आपको न नहीं कहूँगा; किंतु आप जानते हैं कि मैं इस कवच के कारण अवध्य हूँ। आपको यह कवच दे देने के पश्चात् मैं अवध्य नहीं रह जाऊँगा। इसलिए मैं आपको निष्फल दान नहीं दूँगा। उससे आपकी महिमा घट जाएगी। मैं आपको अपने कवच- कुंडल दे दूँगा किंतु उसके बदले में आप मुझे अपनी अमोघ शक्ति दें।' इंद्र सहमत हो गए और उन्होंने उसे अपनी अमोघ शक्ति देते हुए कहा, 'मैं युद्ध में इसका उपयोग करता हूँ तो शत्रु सेना के सहस्रों योद्धा मारे जाते हैं और यह शक्ति लौट कर मेरे पास आ जाती है। जब तुम इसका प्रयोग करोगे तो यह केवल एक योद्धा का संहार कर लौट आएगी; किंतु तुम्हारे पास नहीं, मेरे पास। इसलिए इसका प्रयोग तब तक मत करना, जब तक कि तुम पूर्णतः असहाय न हो जाओ तथा तुम्हारे प्राणों पर वास्तविक संकट ही न आ गया हो।' कर्ण ने देवराज के नियम मान लिए और उनकी वह अमोघ शक्ति स्वीकार कर ली। तब उसने एक प्रखर कृपाण ले कर, अपने शरीर को छील-छील कर उस पर से वह कवच उतारा। अपने कानों को काट कर, वे कुंडल पृथक् किए। रक्त से सने हुए वे कवच और कुंडल देवराज को दे दिए। ..."

"इस घटना का कोई साक्षी है ? किसी ने देखा है, कर्ण को यह सब करते हुए ?" सहदेव ने पूछा।

"नहीं । सूर्यदेव तो कर्ण के स्वप्न में आए थे, अतः उस समय वहाँ किसी के उपस्थित होने का कोई प्रश्न ही नहीं था; और देवराज ने भी कर्ण का यह दान एकांत में लिया था।" विशोक ने उत्तर दिया।

"यह सब करने में कर्ण का सारा शरीर घायल हो गया होगा।" सहदेव ने पुनः कहा, "उसके शरीर का बहुत सारा रक्त बह गया होगा। वह अत्यन्त दुर्बल हो गया होगा। वह हस्तिनापुर के राजवैद्य से महीनो उपचार करवाता रहा होगा। उसका शरीर और मुख मंडल—दोनों ही अब बहुत कुरूप हो गए होंगे ?"

"नहीं । ऐसा कुछ नहीं हुआ राजकुमार !" विशोक बोला, "कवच छीलने से पहले, उसने देवराज से यह वरदान माँग लिया था कि कवच देने के कारण वह कुरूप न हो।' उसका शारीरिक सौन्दर्य वैसा का वैसा ही बना रहे।"

"विशोक ! तुम हस्तिनापुर से यह जो कथा सुन कर आए हो, मैं उसको

तनिक भी विश्वसनीय नहीं मानता।" सहदेव तेजस्वी वाणी में बोला, "हम वर्षों से कर्ण को देख रहे हैं। हमें उसके शरीर पर इस प्रकार का कोई अलौकिक कवच दिखाई नहीं दिया। इस प्रकार के कवच का जैसा प्रभाव होना चाहिए था, वैसा किसी युद्ध में भी दिखाई नहीं दिया। अब सूर्यदेव के समझाने तथा देवराज द्वार: उसका कवच ले लेने की घटनाओं का न कोई साक्षी है और न ही उसका कोई प्रमाण कहीं दिखाई दे रहा है। फिर उसका विश्वास कैसे किया जाए ?"

"राजकुमार ! मैं भी तो यही कह रहा हूँ कि यह कथा हस्तिनापुर मे बहुत प्रचारित है, और महात्मा विदुर ने विशेष रूप से कहा है कि यह कथा मैं आपको सुना दूँ।"

"ठीक है विशोक ! तुमने अपना दायित्व पूर्ण किया।" युधिष्ठिर बोले, "अब तुम अपने परिवार के पास जाओ। अपनी पत्नी और बच्चों से भेंट करो। स्नान ध्यान करो। कुछ खाओ पियो; और विश्राम करो।"

विशोक ने युधिष्ठिर की आज्ञा का पालन किया। वह प्रणाम कर अपने कुटीर की ओर चला गया।

"इस कथा का क्या अर्थ हुआ ? व्यर्थ ही तो कोई कथा प्रचारित नहीं की जाती।" द्रौपदी ने सबसे पहले कहा।

"मैं तो इसे एक काल्पनिक कथा मात्र कह सकता हूँ ।" सहदेव बोला, "संभवत. कर्ण को कुछ गौरवान्वित करने के लिए इस कथा को गढ़ा गया है।"

"हमारा सहदेव अत्यंत प्रतिभाशाली है।" भीम ने कहा, "मै सहदेव से सहमत हूँ। वह कथा कर्ण का महत्त्व बढ़ाने के लिए है। संभवतः हमें डराने के लिए भी है। कर्ण के पास कोई दिव्यास्त्र नहीं था। इस बात से वह पीड़ित भी था। उसने आचार्य द्रोण से ब्रह्मास्त्र के लिए प्रार्थना की थी। वे नहीं माने। वह गुरु परशुराम के पास गया। वहाँ भी उसे ब्रह्मास्त्र नहीं मिला। अब उसने सोचा होगा, दिव्यास्त्र नहीं है तो क्या हुआ। ऐसी कथा से यह ख्याति तो प्राप्त कर ही लेनी चाहिए कि उसके पास दिव्यास्त्र है। एक अमोघ शक्ति है, देवराज इंद्र की दी हुई। पाडवों को उससे डर कर रहना चाहिए।"

"सहदेव और मध्यम का निश्चित मत है कि इस कथा में सत्य का कोई अंश नहीं है। संभव है कि इनका निष्कर्ष सत्य ही हो। मेरे मन में एक बात आती है कि कर्ण के पास दिव्यास्त्र हों न हों, किंतु उसका ध्यान नित्य ही दिव्यास्त्रों की ओर लगा रहता है। वह उनका महत्त्व समझता है।" अर्जुन ने कहा, "उसके पास दिव्यास्त्र नहीं है, तो वह कहीं न कहीं से प्राप्त कर ही लेगा। उचित-अनुचित किसी न किसी मार्ग से ले ही आएगा।..."

"कर ही नहीं लेगा मेरा विचार है कि उसने सचमुच इंद्र से वह शक्ति

प्राप्त कर ली है।" युधिष्ठिर बोले।

"यदि आप यह मान लेंगे कि उसके पास सत्य ही वह शक्ति है, तो आपको यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि वह उसने देवराज से ही प्राप्त की है।" भीम ने कहा, "यदि उसने वह शक्ति इंद्र से प्राप्त की है, तो उसका अर्थ है कि उसके शरीर पर कोई दिव्य कवच था। तब आप यह भी स्वीकार करेंगे कि उसने ब्राह्मणवेशी देवराज को अपने शरीर से छील कर वह कवच दिया। आप उसकी दान-वीरता भी स्वीकार करेगे, उसके व्रत को भी स्वीकार करेंगे, जबकि वह कथा स्वयं स्वीकार करती है कि कर्ण ने उस कवच-कुडल का दान नहीं किया, उसका इंद्र के साथ व्यापार किया। उसे दे कर उसके स्थान पर अमोघ शक्ति प्राप्त की। इसका अर्थ हुआ कि जिस व्रत का वह व्रती था, उस व्रत को भी उसने तोडा। करेंगे आप यह सब स्वीकार ?" भीम ने एक विजयिनी दृष्टि युधिष्ठिर पर डाली।

"मै इसके एकदम विपरीत बात कह रहा हूँ।" धर्मराज ने कहा, "मुझे लगता है कि अब कर्ण के पास एक ऐसा अमोघ अस्त्र आ गया है। वह कहॉ से आया है, किस प्रकार प्राप्त किया गया है, इस विवाद में मैं नहीं पडता। पर पहले यह प्रचारित किया गया कि कर्ण के शरीर पर एक दिव्य कवच है और उसके कानों में दिव्य कुंडल हैं। अब यह प्रचारित किया जा रहा है कि उसके पास एक दिव्यास्त्र है, एक अमोघ शक्ति है। अब यदि तुम पूछोगे कि वे कवच-कुंडल कहाँ है, तो उत्तर मिलेगा कि वे देवराज इंद्र ले गए। तुम दूसरा प्रश्न पूछोगे कि यह दिव्य शक्ति कहॉ से आई, तो तुम्हें उत्तर मिलेगा कि यह देवराज से मिली। देवराज कर्ण को ऐसा शस्त्र क्यों देंगे ? उत्तर है कि पांडवों की रक्षा करने के लिए वे कर्ण का कवच-कुंडल लेना चाहते थे, इसलिए उन्हें यह अमोघ शक्ति देनी पडी।" धर्मराज ने उन लोगों की ओर देखा, "समझ रहे हो मेरी बात ! इस कथा से जनमत कर्ण के पक्ष में होगा कि उस बेचारे को वंचित किया गया। यह बताया जाएगा कि देवराज इंद्र तक पांडवों की सहायता कर रहे हैं। जब कि हम जानते हैं कि खांडव वन में इंद्र हमारे विरुद्ध तक्षक की रक्षा कर रहे थे। अर्जुन जब उनका अतिथि था तो उर्वशी के माध्यम से उसे भी प्रवंचित करने का प्रयत्न देवराज ने ही तो किया था। अब तुम यह भी नहीं कह सकते कि कर्ण के दिव्य कवच की-बात मिथ्या थी, क्योंकि अब तो उसे देवराज ले गए। अब वह कर्ण के शरीर पर है ही नहीं, तो तुम्हें दिखाई कैसे पड़े। तुम यह भी नहीं कह सकते कि कर्ण किसी अनुचित पद्धति से कहीं से यह शक्ति प्राप्त कर लाया है, क्योंकि वह तो उसे देवराज ने दी है। जो नहीं है, उसकी भी व्याख्या हो गई और जो है, उसका भी स्पष्टीकरण हो गया।"

"अब मेरी समझ में आया कि महात्मा विदुर ने क्यों विशोक से कहा कि

वह यह कथा हमे अवश्य सुनाए।" द्रौपदी ने कहा, "इसका अर्थ यह भी है कि यदि वह शक्ति एक ही व्यक्ति के प्राण ले सकती है, तो कर्ण उसे धनंजय के लिए सँभाल कर रखेगा। अतः हमें धनंजय की रक्षा की चिंता करनी चाहिए। ऐसा अवसर कभी न आए कि धनंजय कर्ण के प्राणों के लिए संकट हो जाएँ, नहीं तो कर्ण उसी अमोघ शक्ति का प्रयोग कर धनंजय के प्राण ले लेगा।"

"तुम्हारी आशंका सत्य है देवि !" युधिष्ठिर ने कहा।

"पर तब मेरे मन में एक प्रश्न उठता है कि यदि कर्ण के पास वे कवच-कुंडल थे ही नहीं, तो देवराज उसे वह शक्ति क्यों देंगे ?"

"तुम कर्ण को नहीं जानतीं पांचाली !" भीम ने कहा, "जब वह किसी चीज के पीछे पड जाता है तो उसे प्राप्त करके ही छोडता है, चाहे उसके लिए उसे अपनी खाल ही क्यों न बेचनी पड़े। ... और इस कथा में भी तो उसने अपनी खाल ही वेची है।" भीम ने अट्टहास किया।

"मेरे मन में एक और प्रश्न है।" द्रौपदी ने कहा।

सबने उसकी ओर देखा।

"कर्ण देवराज तक कैसे पहुँचा होगा ?"

"इसका उत्तर तो तब मिले, जब यह कहा जाए कि कर्ण देवराज तक पहुँचा। जब कहा ही यह जा रहा है कि देवराज कर्ण के पास आए, तो स्पष्ट है कि वे उसके कवच-कुंडल के लिए आए।" सहदेव ने कहा, "हम जब उन दिव्य कवच-कुंडलों का ही अस्तित्व स्वीकार नहीं कर रहे हैं, तो हमारे लिए इस कथा की व्याख्या करना बडा कठिन है। वैसे इन महाशक्तियों के विषय में भी जानना बडा कठिन है कि वे किस को कौन सा शस्त्र किस उद्देश्य से दे रहे हैं। कहा तो यह जा रहा है कि देवराज इंद्र पांडवों की सहायता करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने कर्ण को दुर्वल करने का प्रयत्न किया; किंतु सत्य यह भी हो सकता है कि श्रीकृष्ण से अपने विरोध के कारण इंद्र ने कृष्ण के मित्रों को दुर्बल करने के लिए, कर्ण को अपनी अमोघ शक्ति दे दी।"

"हाँ ! संभावनाएँ तो अनन्त हैं; किंतु यथार्थ मात्र इतना ही है कि हमें युद्ध में यह ध्यान रखना होगा कि उस दिव्यास्त्र के कारण कहीं धनंजय के प्राणों पर संकट न आए।" युधिष्ठिर ने कहा।

29

ऋतु मे कुछ परिवर्तन हो गया था। चैत्र समाप्त हो गया था और वैशाख के भी कुछ दिन व्यतीत हो चुके थे। देव नदी अब कुछ तन्वंगी हो चली थी, और

तृणविंदु सरोवर में भी जल का स्तर नीचे चला गया था। ग्रीष्म के प्रकोप के साथ-साथ निकट भविष्य में उसमे जल की मात्रा और कम हो जाने की संभावना थी। ज्येष्ठ के आरंभ होने तक उसके जल के स्वच्छ रहने की आशा नहीं थी। सघन वन में जल के अन्य स्रोतो के सूख जाने से वन के पशु जल की खोज में वन से बाहर भी आ सकते थे। तब आश्रम की सुरक्षा की ओर से भी इतने निश्चिंत नहीं रहा जा सकता था।

युधिष्ठिर के मन मे निरंतर ऊहापोह की प्रक्रिया चल रही थी।

घोषयात्रावाली घटना के पश्चात्, द्वैतवन उन्हें सुरक्षित नहीं लगा था, इसलिए वे काम्यकवन में आ गए थे। काम्यक हस्तिनापुर से दूर था और मार्ग भी उतना सरल तथा सुविधापूर्ण नहीं था। उसके पृष्ठ पर मरुभूमि का आरंभ था। सोचा था कि उधर से आश्रम सुरक्षित रहेगा, किंतु जयद्रथ उधर से ही आ गया था। काम्यक की वह सुविधा उन्हें नहीं मिली थी; और अब इस ऋतु में जल के अभाव की असुविधा भी सामने थी। ... तो क्या वे पुनः द्वैतवन की ओर लौट जाएँ ?

जाने को तो पृथ्वी पर न स्थान की कमी थी, न दिशाओ की, किंतु बारहवॉ वर्ष समाप्त हो रहा था। द्यूत की प्रतिज्ञा के अनुसार तेरहवॉ वर्ष उन्हें मानव समाज के मध्य अज्ञात रह कर व्यतीत करना था। वे नहीं चाहते थे कि वे किसी अज्ञात दिशा में किसी ऐसे स्थान पर जा पहुँचें, जहॉ अज्ञातवास असुविधाजनक हो। तो क्या वे द्वैतवन में ही लौट जाएँ ? ...किंतु हस्तिनापुर ?...

वैसे तो हस्तिनापुर में दुर्योधन जमा बैठा था, किंतु युधिष्ठिर को उससे भी अधिक चिंता कर्ण की थी। कर्ण ने अर्जुन के वध की प्रतिज्ञा की थी; और अब उसने इंद्र से एक अमोघ शक्ति भी प्राप्त कर ली थी। ठीक है कि वह शक्ति केवल एक ही व्यक्ति का वध कर, इंद्र के पास लौट जाएगी; किंतु अर्जुन भी तो एक ही है। ... इस संकट को न अर्जुन समझ रहा था, न भीम। बहुत संभव है कि नकुल और सहदेव भी इस संकट की गंभीरता को समझने से इंकार कर दें। उन्होंने तो अभी यह भी स्वीकार नहीं किया था कि कर्ण के पास ऐसी कोई शक्ति है, तो फिर वे यह कैसे स्वीकार कर लेते कि अर्जुन के प्राणों को कर्ण की ओर से गंभीर संकट था।...

युधिष्ठिर को लगा कि अकस्मात् ही उनके मन की चिंता कहीं विलुप्त हो गई, और उसके स्थान पर उनका अपना ही कोई विचित्र सा प्रतिरूप आ बैठा। वह शांत नहीं था। चंचलतापूर्वक मुस्करा रहा था। उन्होंने उसकी ओर देखा तो वह जैसे चुनौती देता हुआ बोला, "क्यों बहुत भयभीत हो ?"

युधिष्ठिर ने स्वीकार किया, "हॉ ! मेरे भाई के प्राणों पर ऐसा संकट हो, जिसका कोई प्रतिकार न सूझ रहा हो, तो भय तो लगेगा ही।"

प्रतिरूप की मुद्रा गंभीर हो गई, "अर्जुन के प्राणों के लिए क्यों चिंतित हो ?"

"अर्जुन मेरा भाई है। मैं उससे प्रेम करता हूँ। वह मेरे संरक्षण में है। उसकी रक्षा की चिंता मै नहीं करूँगा, तो कौन करेगा।"

प्रतिरूप हँस पड़ा, "भाई के प्रेम के कारण चिंतित हो या अपनी मृत्यु की संभावना से डर गए हो ?"

युधिष्ठिर कुछ समझ नहीं पाए। उसकी ओर देखते रह गए।

"नहीं समझे ?" प्रतिरूप ने पूछा।

"नहीं !" युधिष्ठिर ने स्वीकार किया।

"तुम्हे भय है कि यदि अर्जुन ही जीवित न रहा तो तुम्हारी रक्षा कौन करेगा। तुम अर्जुन के लिए नही, अपने प्राणो के लिए चिंतित हो।"

युधिष्ठिर के मन में विरोध जागा। उनका प्रतिरूप उन पर मिथ्या लांछन लगा रहा था। वे अपने प्राणों के लिए चिंतित नहीं थे। अपने प्राणों की क्या चिता। जिसने भी इस संसार मे जन्म लिया है, वह मृत्यु को भी प्राप्त होगा ही। जिसने शरीर धारण किया है, वह शरीर का त्याग करेगा ही। तो फिर चिंता क्या ?

और युधिष्ठिर स्वयं ही हँस पड़े। ... कौन नहीं जानता कि जो जन्म लेता है, वह मृत्यु को भी प्राप्त होता ही है; किंतु कितने आश्चर्य की बात है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मन में यही धारणा बनाए बैठा है कि उसकी मृत्यु कभी नहीं होगी। कभी किसी को स्मरण आती है अपनी मृत्यु ? ... कैसा मोह है कि जिस मृत्यु को हम ससार में नित्य ही देखते हैं, उसे अपने संदर्भ में सदा ही भुलाए बैठे रहते हैं। जो दुर्योधन, कर्ण और शकुनि नित्य सोते-जागते, पांडवों की मृत्यु की कामना करते रहते हैं, क्या उन्होंने कभी अपनी मृत्यु के विषय में भी सोचा है ? क्या है यह ? अज्ञान ? नहीं ! अज्ञान तो तब हो, जब वे इसे जानते न हों। क्या वे नहीं जानते कि प्राणी के जन्म में ही उसकी मृत्यु भी निहित है, शरीर के निर्माण में ही उसका क्षय भी सम्मिलित है। ... जानते तो वे हैं, किंतु इसे भूले बैठे हैं। मोह है यह। मोह आँखें तो खुली रखता है; किंतु उन्हें सत्य का साक्षात्कार नहीं करने देता। ... मोह ही क्यों ? अहंकार भी तो है। मोह के कारण अहंकार है, अथवा अहंकार के कारण मोह है ? ... पर अहंकार दुर्योधन में ही तो नहीं है। अहंकार तो भीम में भी है, अपने बल का। दुर्योधन दंभी भी है। भीम में दभ नहीं है, किंतु अहंकार तो है ही।... अहंकार, व्यक्ति के चैतन्य का हरण कर लेता है। व्यक्ति एक प्रकार से अचेत हो जाता है। सामने उपस्थित सत्य दिखाई नहीं देता। कई बार युधिष्ठिर को भीम के विषय में भी यही लगता है। उसका चैतन्य नष्ट हो जाता है। शारीरिक रूप से वह अचेत

नहीं होता, किंतु उसका चैतन्य लुप्त हो जाता है। ऐसा व्यक्ति मृत तो नहीं होता, किंतु उसे जीवित भी कैसे कहा जाए।...

चैतन्य शून्यता रूपी इस मृत्यु मे जीवन लौटा लाने के लिए, ज्ञान की आवश्यकता है। शास्त्र ज्ञान की !... युधिष्ठिर का चिंतन जैसे स्तब्ध हो कर खड़ा रह गया। ... भीम को क्या शास्त्र का ज्ञान नहीं है ? शास्त्रों का अध्ययन तो उसने भी किया है। उसने ही क्या सहस्रों लोगों ने शास्त्रो को पूरी तरह चाट रखा है। शास्त्र घोंट कर भी वे मूर्ख के मूर्ख ही रह गए हैं। उनके आचरण पर उस ज्ञान का कोई प्रभाव दिखाई नही पडता। वे शास्त्र से कुछ भी ग्रहण नहीं करते, केवल अपना व्यसन पूरा करते हैं। व्यसन किसी का विकास नही करता। विकास करता है आचरण। जब तक आचरण में सात्विकता नहीं आएगी, जब तक आचरण में से अहंकार लुप्त नहीं होगा, तब तक शास्त्रों का ज्ञान किस काम का। ...जिसने अपने मानसिक मलों का त्याग करने जैसा महास्नान नहीं किया, जिसने सबके सुख की कामना करने जैसी दया अपने मन में विकसित नहीं की, जो सारे द्वंद्वों के मध्य रह कर अपने मन की दया के बनाए रखने का साहस नहीं कर पाया, जो अपने धर्म में तत्पर रहने का तप नहीं करता, उसके शास्त्राभ्यास का क्या लाभ ...

युधिष्ठिर का प्रतिरूप पुनः हँस पड़ा, "धर्म पर विचार कर रहे हो ?"

"बस ऐसे ही।" युधिष्ठिर ने अनायास ही उत्तर दे दिया।

"धर्म क्या है ? चार पुरुषार्थो में से एक। काम भी पुरुषार्थ और धर्म भी पुरुषार्थ ! अर्थ भी पुरुषार्थ ! काम-सुख प्राप्त करना हो तो धर्म की रक्षा होगी तुमसे ?" प्रतिरूप जैसे उनका उपहास कर रहा था, "पत्नी की इच्छा को धर्मविरोधी कह कर टाल दोगे, तो काम-सुख कैसे पाओगे ?... वह कहेगी या तो धर्म के साथ ही रह लो, या फिर मेरा संग कर लो। वह माँगेगी धन। उस धन को व्यय करना चाहेगी। धन भी कभी धर्म से कमाया जाता है ? धर्म पर टिके रहे, तो अर्जित कर लिया तुमने धन। ब्राह्मण को धर्म चाहिए, इसलिए वह भिक्षा पर जीवित रहता है। धर्म न धन के साथ रहता है, न काम के साथ; और तुम हो कि तीनों को एक साथ रखना चाहते हो। ..."

युधिष्ठिर को खीझ का सा अनुभव हुआ। आज उनके अपने भीतर ये कैसे प्रश्न उठ रहे हैं। यह तो ऐसा लगता है कि उनके भीतर कहीं से कोई दुर्योधन आ बैठा है। ...

किंतु फिर वे अपने प्रतिरूप के समान ही हँस दिए। रोचक प्रश्न है। ...जैसे भर्ता धर्म से च्युत हो जाए तो भार्या को कष्ट होता है, वैसे ही भार्या धर्म की विरोधिनी हो जाए, तो भर्ता को कष्ट होगा। ... मूल प्रश्न तो यह है कि भर्ता और भार्या एक-दूसरे के विरोधी है अथवा अविरोधी। युधिष्ठिर को तो

आज तक नहीं लगा कि उनका और पांचाली का पक्ष एक दूसरे का विरोधी है। देविका ने कभी उन्हे धर्म के विरुद्ध चलने को नहीं कहा। ... पत्नी ऐसा कैसे कर सकती है। पत्नी तो, पति की दैवकृत सहचरी है। गृहवासी की सबसे घनिष्ठ मित्र है, उसकी पत्नी। तो भार्या अपने भर्ता की विरोधिनी कैसे हो सकती है। जब भार्या और धर्म एक-दूसरे के अविरोधी हो जाते हैं, तो भर्ता को कामसुख भी मिलता है, अर्थ का उपार्जन भी होता है और उसका सुख भी मिलता है। पत्नी ही तो है, जो काम को आंदोलित भी करती है और मर्यादित भी। पत्नी ही तो है, जो अर्थोपार्जन मे नियोजित भी करती है, और लोभ का निराकरण कर संतोष का आह्वान भी। ...वास्तविक रोग तो लोभ है। धर्म का विरोधी लोभ है, पत्नी नहीं । अनन्त रोग है लोभ; लोभ चाहे किसी भी क्षेत्र का क्यों न हो...

"महाराज ! धर्मराज !!"

युधिष्ठिर ने अपना सिर उठा कर देखा : एक बहुत घबराया हुआ ब्राह्मण उनको बडी व्याकुलता से पुकार रहा था।

"क्या बात है ब्राह्मण ! इतने व्याकुल क्यों हो ?"

"महाराज ! एक महामृग मेरी अरणि ले कर भाग गया है।" उसने कहा।

भीम ने अट्टहास किया, "वह महामृग नहीं, दुर्योधन होगा। वही है, जो दूसरों की संपत्ति ले कर भाग जाता है।"

युधिष्ठिर को भीम का यह परिहास अच्छा नहीं लगा। किसी के दुख का उपहास करना तो अच्छा नहीं, किंतु धर्मराज ने अनुभव किया कि उन्होंने भीम को वर्जित करने के लिए जो कुछ कहा, वह उनके अपने मन के भीतर ही रह गया। कंठ से स्वर फूटा ही नहीं ।

"नहीं युवराज ! वह महामृग ही था।" ब्राह्मण बोला, "मैंने उसे अपनी इन्हीं ऑखों से देखा है।"

युधिष्ठिर को वे ऑखें भी बडी विचित्र लगीं। वे जैसे किसी विराट् यक्ष की ऑखें थीं...जटासुर की ऑखें भी वैसी ही थीं।

"तो क्या हो गया," इस बार अर्जुन बोला। उसके स्वर मे तनिक भी गंभीरता नहीं थी, "वह जयद्रथ होगा। वह पांचाली का अपहरण कर सकता है तो क्या तुम्हारी अरणि का हरण नहीं कर सकता ? तुम्हारी अरणि पांचाली से तो भारी नही हो सकती।"

"अर्जुन !" युधिष्ठिर ने उसे डॉट कर चुप करा दिया। उन्हें अपने भाइयो का यह अहंकारी रूप तनिक भी अच्छा नहीं लग रहा था। उन्होंने ब्राह्मण से पूछा, "अरणि कहॉ रखी थी ब्राह्मण ?"

"मैंने अपनी अरणि एक वृक्ष पर टॉग रखी थी।"

"तो क्या मृग उस वृक्ष पर चढ गया ?" भीम पुनः हँस पडा, "और अरणि ले कर भाग गया। उसके हाथ क्या मनुष्य के समान थे ?"

"नहीं युवराज ! उसने वृक्ष से अपने शरीर को रगडा तो ऊपर रखी अरणि गिर पड़ी; और उसके सींगों में फँस गई।"

"तुमको कुछ भ्रम हुआ है ब्राह्मण !" नकुल बोला, "मृग के सिर पर सींग थे अथवा झाड़, जिससे बच्चे पतंग लूटते है।"

युधिष्ठिर को फिर खीझ चढी। जाने क्या हो गया है उनके भाइयों को आज। ऐसा व्यवहार तो वे कभी नहीं करते। उन्हे डॉटने का मन हुआ, किंतु डॉटा नहीं । बोले, "अपना मनोविनोद बाद मे करना। अभी चलो, हम लोग ब्राह्मण की अरणि खोज कर लाएँ।"

युधिष्ठिर स्वयं भी उठ खड़े हुए। ब्राह्मण वहीं बैठा रह गया और वे पॉचों भाई उसकी बताई हुई दिशा में वेगपूर्वक चल दिए।

वे पाँचों आगे-पीछे भागते जा रहे थे और युधिष्ठिर सोचते जा रहे थे, यह वे लोग अच्छा नहीं कर रहे हैं। अभी कुछ दिन पहले ही तो पांचाली को आश्रम में अकेली छोड़ कर वे पॉचों एक साथ वन में चले गए थे और पीछे से जयद्रथ ने पांचाली का अपहरण कर लिया था। आज फिर वे लोग वही भूल कर रहे हैं। उनमें से एक न एक भाई को पांचाली की रक्षा के लिए आश्रम में रहना चाहिए था। यदि वह ब्राह्मण ही कोई धूर्तता कर रहा हो, तो आज फिर पांचाली का अपहरण हो जाएगा। ...

पर न तो युधिष्ठिर स्वयं आश्रम की ओर मुड़े और न ही उन्होंने किसी और भाई को पांचाली की रक्षा के लिए लौटाया। उनका मन पीछे की ओर भागता रहा और पग आगे की ओर। वे समझ ही नहीं पा रहे थे कि आज वे इतने असहाय क्यों थे। उनका अपना ही मन, मस्तिष्क और शरीर एक-दूसरे से इस प्रकार विद्रोह क्यों कर रहा था।

जिस दिन जयद्रथ ने द्रौपदी का अपहरण किया था, उस दिन तो वे लोग अपने-अपने रथ पर वन में गए थे। बाद में जयद्रथ को खदेड़ने के लिए भी वे रथों पर ही गए थे। आज उनके रथ भी न जाने कहॉ चले गए थे। इंद्रसेन भी साथ नहीं था। धौम्य कहॉ थे आज। ...किंतु उनका मस्तिष्क किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं दे रहा था। सब कुछ अव्यवस्थित था। ऐसे में वे न तो उस महामृग को पकड पाएँगे, न पांचाली की रक्षा कर पाएँगे। ...पता नहीं वह ब्राह्मण भी कौन था। ठीक कह रहा था भीम, क्या आवश्यकता थी अरणि को वृक्ष पर टाँगने की। अरणि ही तो थी, कोई सारिका तो थी नहीं कि उसे वृक्ष पर अपना घोसला बनाना था। ... पर यह तो भीम ने नहीं कहा था। किसी और ने कहा होगा।

किसने कहा था ? किसी ने भी कहा हो। उन्हें इस बात से क्या लेना-देना। बात तो इतनी ही थी कि वह महामृग, उस ब्राह्मण की अरणि ले कर भाग गया था। अब पता नहीं वह ब्राह्मण उसी अरणि के पीछे क्यों पडा था। दूसरी क्रय कर लेता। शायद दूसरी क्रय नहीं कर सकता था। या तो यहाँ अरणि पण्य में कहीं बिकती नहीं होगी, या फिर उसके पास इतना धन नहीं होगा। देखने से ही निर्धन लग रहा था।...

पर वे लोग कहाँ भागते जा रहे हैं। वे तो ऐसे भाग रहे है, जैसे किसी महामृग को न खोज रहे हो, भागने की किसी स्पर्धा में भाग ले रहे हो। यह क्षेत्र तो उनका पहचाना हुआ नहीं था। पता नहीं वे लोग अपने आश्रम तक लौटने का मार्ग भी खोज पाएँगे या नही । यदि उन्हें मार्ग ही न मिला तो ? मार्ग मिल भी गया और अरणि न मिली तो ? और अरणि भी मिल गई, ब्राह्मण ही न मिला तो ?

युधिष्ठिर बहुत थक गए थे। वे रुक गए।

"भीम थोडा विश्राम कर लिया जाए ?"

"हाँ ! कर ही लें, ताकि वह महामृग भी थोड़ा विश्राम कर सके।" भीम बोला, "किसी असहाय मूक पशु को इस प्रकार निरंतर खदेड़ते जाना नृशंसता है। हमें थोडी जीव-दया भी दिखानी चाहिए। यह क्या कि प्रातः से ही उस बेचारे महामृग के पीछे भागते जा रहे हैं।"

युधिष्ठिर समझ रहे थे कि भीम उनका उपहास कर रहा था; किंतु वे कुछ बोले नहीं । उन्हें बहुत प्यास लग रही थी। इस समय वे अपने भाइयों से उलझना नहीं चाहते थे।

"मैं भी यही सोच रहा था कि वह ब्राह्मण भी कहीं विश्राम कर रहा होगा, और वह महामृग भी अपने डेरे पर अपनी मृगी के पास पहुँच गया होगा। उसने वह अरणि अपनी प्रिया को भेट भी कर दी होगी। एक हम ही है कि इस वन में दौडने की स्पर्धा करते जा रहे हैं।" सहदेव बोला।

"ठीक है। ठीक है।" युधिष्ठिर ने क्लांत और चिड़चिडाए हुए स्वर में कहा, "पहले यह सोचो कि हम कहाँ हैं। यहाँ आस-पास कोई सरोवर इत्यादि है अथवा नहीं । मुझे प्यास लगी है।"

तब सबने पहली बार ध्यान दिया कि वे लोग एकदम अपरिचित स्थान पर पहुँच गए है। वे यहाँ इससे पूर्व कभी नहीं आए। इसलिए यहाँ के जल स्रोतो के विषय में भी उन्हें कुछ ज्ञात नहीं है। पर कैसी विचित्र बात थी कि वन के कण-कण को पहचाननेवाले पांडव इस स्थान से सर्वथा अनभिज्ञ थे। ...और इस समय तो वे पाँचों ही थक गए थे और विकट प्यास उन्हे सता रही थी। जल की आवश्यकता उन सबको ही थी।

सहदेव निकट के एक ऊँचे वृक्ष पर चढ़ गया। उसने चारों ओर देखा। उसे लगा कि सामने जो वृक्ष हैं, वे जल के निकट ही पाए जाते हैं। और ये कुछ पक्षी भी तो थे, जो सरोवर के निकट ही रहते थे। उनके पंख भी भीगे हुए थे। लगता था कि वे अभी-अभी किसी सरोवर में जल क्रीड़ा करके लौटे हैं। ... पर वे कौन से पक्षी थे ? उन्हें उसने कहाँ देखा था ? उसे कैसे मालूम था कि ये पक्षी जल के निकट ही रहते है ? उन वृक्षों के नाम भी वह नहीं जानता था। पर वह यह जानता था कि ये वृक्ष और ये पक्षी जल की निकटता के प्रतीक थे। शायद भीषण प्यास के कारण उसे कुछ भी स्मरण नहीं आ रहा था।

वह वृक्ष से उतर आया। उसने अपनी खोज के विषय में युधिष्ठिर को बताया और वह जल लेने के लिए चल पडा।

चारों भाई प्रतीक्षा करते रहे, किंतु सहदेव नहीं लौटा। युधिष्ठिर प्यास के मारे व्याकुल हो रहे थे। उन्होंने नकुल की ओर देखा, "जाओ। देखो, सहदेव कहाँ रह गया। कहीं ऐसा न हो कि मार्ग भटक गया हो। कितना भी बड़ा हो जाए; किंतु है तो अभी बच्चा ही न।"

नकुल ने अपना तूणीर उठाया, ताकि उसमें जल भर कर ला सके; और जल्दी से उसी दिशा में चल पड़ा, जिधर सहदेव गया था।

युधिष्ठिर की व्याकुलता बढ़ती जा रही थी। नकुल भी लौट कर नहीं आया था। युधिष्ठिर ने इस बार अर्जुन को भेजा, "देखो। ये दोनों छोटे कहाँ सो गए हैं।"

अर्जुन को गए भी बहुत देर हो गई तो युधिष्ठिर ने भीम को कहा।

"मैं उन सबको अभी उनकी गर्दन से पकड़ कर लाता हूँ।" भीम उठा और झूमता-झामता उसी दिशा में चला गया।

बहुत देर हो गई तो युधिष्ठिर स्वयं उठे। उनके भाई ऐसा तो कभी नहीं करते थे। आज जाने क्या हो गया था। चारो ही कुछ विचित्र व्यवहार कर रहे थे।

अब तक युधिष्ठिर को यह सारा क्षेत्र अपरिचित लग रहा था; किंतु जब चले तो जैसे अपने-आप ही मार्ग का ज्ञान होता गया। वे थोडी ही देर में सरोवर के तट पर पहुँच गए।

सरोवर का जल स्वच्छ और पारदर्शी था... उनके चारों भाई सरोवर के तट पर ऐसे लेटे हुए थे, जैसे इच्छा भर जल पी कर, तृषा मिट जाने के पश्चात् विश्राम कर रहे हों। युधिष्ठिर भागते हुए उनके पास पहुँचे। उन्हें ध्यान से देखा। नहीं ! वे विश्राम नहीं कर रहे थे। वे लोग तो अचेत थे।

कहीं दुर्योधन ने ही तो कोई प्रपंच नहीं रचा ?... युधिष्ठिर का मन पीड़ा से फटने लगा।... उनके चारों के चारों वीर भाई इस प्रकार बिना किसी युद्ध

के अकस्मात् धराशायी हो गए थे। ... क्या शकुनि अथवा कर्ण उनसे पहले यहाँ आ पहुँचे थे ? वह ब्राह्मण, जो उनके पास सहायता के लिए आया था, कहीं दुर्योधन का ही भेजा हुआ तो नहीं था ?

युधिष्ठिर ने एक-एक कर सारे भाइयों की नाड़ी का परीक्षण किया। ... बड़ी विचित्र स्थिति थी। वे जीवित तो थे, किंतु न तो उनकी नाड़ी सक्रिय थी और न ही उनका श्वास चल रहा था। युधिष्ठिर की समझ में नहीं आ रहा था कि वे कैसे कह सकते थे कि वे जीवित थे। क्या प्रमाण था युधिष्ठिर के पास उनके जीवित होने का ? ...किंतु वे जानते थे कि उनके भाई अभी तक जीवित हैं। ... भाइयों का जीवित होना निश्चित हो गया तो उन्हें अपनी प्यास स्मरण हो आई। वे आगे बढ़े। पहले पानी पी लें। फिर तूणीर में जल लाकर अपने भाइयो को पिलाने का प्रयत्न करेंगे। संभव है कि वे लोग प्यास से ही अचेत हो गए हों ...यद्यपि यह बात भी युधिष्ठिर के मन में निरंतर बनी हुई थी कि उनके भाई इतने सुकुमार तो थे नहीं कि इतनी-सी देर में प्यास के कारण अचेत हो कर भूमि पर गिर पड़ें।

युधिष्ठिर जल की ओर बढे।

"ठहरो।"

युधिष्ठिर ने अपना सिर उठा कर ऊपर देखा : कहीं कोई नहीं था, किंतु उन्होंने स्पष्ट सुना था कि कोई उन्हें ठहरने को कह रहा था।

"कौन हो भाई ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"मैं एक यक्ष हूँ।" और यक्ष उनके सम्मुख प्रकट हो गया। वह ताड के वृक्ष के बराबर ऊँचा, अमावस्या के समान काला और किसी भयंकर शस्त्र के समान क्रूर लग रहा था। उसकी ऑखें बड़ी-बडी और भयंकर थीं, "और यह सरोवर मेरा है। मेरी अनुमति के बिना तुम इसका जल नहीं पी सकोगे।"

युधिष्ठिर ने एक विचित्र प्रकार की व्याकुलता का अनुभव किया। आज तक तो जल और वायु जैसे पदार्थ ईश्वर की संपत्ति थे। अब यदि उन पर भी यक्षों और मनुष्यों का आधिपत्य हो जाएगा, वे उसके स्वामी हो जाएँगे; तो साधारण व्यक्ति जल और वायु कैसे प्राप्त करेगा ? वह उनके बिना जीवित कैसे रहेगा ? जल और वायु तो ऐसे पदार्थ नहीं, जिनके बिना मनुष्य का जीवन चल सके। तो यह सृष्टि कैसे चलेगी ?

"तुम्हारे इन भाइयों को मैंने जल पीने से रोका था; किंतु अपने बल के अहंकार में वे रुके ही नहीं, इसलिए मैंने उनकी यह स्थिति कर दी है।" यक्ष ने कहा, "यदि तुमने भी मेरी अनुमति के बिना जल पीने का प्रयत्न किया तो तुम्हारी भी वही स्थिति हो जाएगी।"

हाँ ! अहंकार ! ...युधिष्ठिर स्वयं सोच रहे थे कि भीम को अपने वल

का बहुत अहंकार हो गया था। उसने कुबेर के सरोवर में से सौगंधिक पद्म लाते हुए भी, किसी की अनुमति नहीं ली थी और रक्षकों को मार कर फेंक दिया था। तो उस अहंकार का यह फल मिला उसे... धनंजय को भी...नकुल, सहदेव को भी। ...

"नहीं । मैं आपकी अनुमति के बिना जल नहीं पियूँगा।" युधिष्ठिर ने कहा, "अब बताइए कि आपकी अनुमति प्राप्त करने के लिए क्या करना पडेगा।"

"मेरे कुछ प्रश्नों का उत्तर देना होगा। यदि मेरे प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर दे दोगे, तो तुम इस सरोवर का जल पी सकोगे।"

युधिष्ठिर को यह सब कुछ बडा विचित्र लग रहा था। जल पीने के लिए अपने ज्ञान की परीक्षा देनी होगी। ... नहीं ! अपने ज्ञान की परीक्षा नहीं । संभव है, यक्ष को कुछ सूचनाओं की आवश्यकता हो, जिनके अभाव में उसका कोई काम रुका हुआ हो। तो क्या जल पीने का भी मूल्य देना पडेगा ?

"पूछो।" युधिष्ठिर ने कहा।

"पृथ्वी से भारी क्या है ?"

ओह ! भूगोल का प्रश्न। इस यक्ष को जल के मूल्य के रूप में भूगोल की जानकारी क्यों चाहिए ? उसे कहीं भूगोल की परीक्षा देनी थी क्या ?...

सारी पृथ्वी से युधिष्ठिर का परिचय नहीं है। वे तो अपनी उसी धरती को जानते हैं, जिसके अन्न से उनके इस शरीर का पोषण हुआ है। युधिष्ठिर के मन में धरती के प्रति कृतज्ञता का भाव उदित हुआ। मनुष्य धरती पर जन्म लेता है, उस पर विचरण करता है। उसमें से अन्न उगाता है और अपना उदर भरता है। धरती हमारी माता है। ... पर वास्तविक माता तो कुंती है। यदि माँ ने युधिष्ठिर को जन्म न दिया होता, तो धरती किसका भरण-पोषण करती ? धरती वनस्पति को जन्म दे सकती है, मनुष्य को नहीं ...

"माता का गौरव पृथ्वी से भी अधिक गरिमापूर्ण है।" युधिष्ठिर उसे भूगोल क्षेत्र से बहकाकर भावना के क्षेत्र में ले आए। देखें यक्ष क्या कहता है।

यक्ष ने उनके उत्तर से न सहमति जताई, न असहमति। बोला, "आकाश से ऊँचा क्या है ?"

आकाश से ? ... युधिष्ठिर ने सोचा ... क्या था, जिसकी ऊँचाई तक उनकी दृष्टि उठती नहीं थी ? कौन था, जिस की ऊँचाई तक उठना उनका आदर्श था ? कौन था, जिसको पार कर जाना जीवन का सपना था। कौन था, जिसकी ऊँचाई उनके लिए चुनौती थी ? कौन था, जिसकी ऊँचाई उनका आदर्श थी ?....

"पिता आकाश से भी ऊँचा है।" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया।

"वायु से भी अधिक गति से कौन चलता है ?" लगता था, यक्ष की रुचि

प्रश्न पूछने में अधिक थी, उत्तर सुनने में कम।

अभी-अभी युधिष्ठिर का मन माता कुंती के पास हस्तिनापुर में जा पहुँचा था। वायु तो अभी तक इस सरोवर के उस पार ही पहुँची होगी।

"मन वायु से भी तीव्रगामी है।" वे बोले।

"तिनकों से भी अधिक संख्या किस की है ?"

ओह ! यह यक्ष तो लगता है, घर से ही सारे प्रश्न सोच कर आया है। ... युधिष्ठिर सोच रहे थे... तिनको से अधिक संख्या तो उसकी ही होगी, जो अनन्त है, असंख्य है...ब्रह्म अनन्त तो है, किंतु असंख्य नहीं है। ... तो क्या है वह, जिसकी संख्या तो हो, कितु उसकी गणना कभी समाप्त ही न हो। ... कैसी चिंता मे डाल दिया, इस यक्ष ने उनको। ... हॉ ! चिंता ! चिंता अनन्त है। किस-किस प्रकार की चिंता है। उनके जीवन में चिंताएँ कभी समाप्त ही नहीं हुई। और वे तो केवल अपने जीवन की बात सोच रहे हैं। सारी सृष्टि की चिंताएँ ली जाएँ, तो ?

"चिताओं की संख्या तिनकों से भी अधिक है।"

यक्ष ने उन्हें घूर कर देखा, "प्रवासी का मित्र कौन है ?"

कौन हो सकता है प्रवासी का मित्र ? ... कौन था उनका मित्र, जब वे यात्राओं पर गए थे ? कौन था उनका मित्र, जब वे वनों में रहे थे ? ... निश्चित रूप से, वे लोग, जो उनके साथ यात्रा कर रहे थे। मित्र तो वे ही हैं, जो साथ थे। ...

"प्रवासी का मित्र उसका सहयात्री ही होता है।" युधिष्ठिर बोले, "हम अर्जुन के भाई हैं, किंतु जब वह प्रवास कर रहा था, तो हम तो उसके किसी काम नहीं आ सकते थे। तब तो उसके सहयात्री ही उसके मित्र हो सकते थे।"

"और गृहवासी का मित्र कौन है ?"

गृहवासी का ? ...युधिष्ठिर ने स्वयं को परीक्षक दृष्टि से देखा ... जब वे घर में हैं, तो कौन मित्र है उनका ? उनके भाई ? उनकी पत्नी ? उनके पुत्र ? माता ? मंत्री ? सहपाठी ?... नहीं ! जब किसी का विवाह हो जाता है तो सब से अधिक निकट और सबसे अधिक समय तक साथ तो पत्नी ही रहती है। पत्नी भाई से भी अधिक निकट होती है। मूर्ख से मूर्ख पत्नी भी अपने पति को परामर्श देती है। उसके तर्कों को काटने का साहस करती है। उसे अपना समझती है। उसके अधिकारों को अपना अधिकार मानती है। उसके धर्म और पुण्य तक में उसकी भागीदार है। उससे लड़ सकती है। उससे मॉग सकती है। उसके कष्टो को सुन सकती है। पति असमर्थ दिखाई दे तो स्वयं समर्थ बन उसका अवलंब बन सकती है। संतान की दृष्टि से उन दोनों से अधिक निकट कोई नहीं होता।... अन्य लोग भी इनमे से कुछ न कुछ कर सकते हैं,

किंतु इतने सारे क्षेत्रों का सहभागी और कोई नहीं हो सकता। उनके भाई, उनके अधीन हैं। वे उनसे समानता का अधिकार नहीं माँग सकते।...

"गृहवासी की मित्र उसकी पत्नी है।" युधिष्ठिर बोले।

पहली बार यक्ष ने आपत्ति की, "पत्नी मित्र कैसे हो सकती है ?"

"क्यों नहीं हो सकती ?" उनके मन में क्षण भर मे ही द्रौपदी और देविका के संदर्भ में अनेक घटनाएँ जीवंत हो उठी थीं। अनेक भावनाएँ उभर आई थीं।..."

"भार्या तो अपने कामाकर्षण से पति को धर्म से विचलित करती है।" यक्ष ने कहा, "पति धर्म की ओर चलना चाहे, तो वह उससे अर्थ की माँग करती है। पति की धन सबंधी आवश्यकता ही कितनी होती है ? वह उसी के अनुसार अपनी आकांक्षा को भी सीमित कर लेता है। उसके आगे वह धर्म और मोक्ष को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।... पत्नी इन सारे कामों में उसके मार्ग की बाधा है।... वह पति की मित्र कैसे हो सकती है ?"

युधिष्ठिर कुछ उत्साह में बोले, "आप मात्र स्त्री की बात कर रहे हैं, मैं पत्नी की बात कर रहा हूँ। जो पुरुष, पुरुष के रूप में कठोर होता है, वह प्रेमी के रूप में कितना कोमल होता है। जो पुरुष के रूप में वंचक हो सकता है, वही पुरुष पति के रूप में संरक्षक हो जाता है। स्त्री माँ के रूप में स्त्री ही रह जाती है क्या ? स्त्री पत्नी बन जाए तो मित्र हो जाती है। पत्नी तो पति की दैवकृत सहचरी है। पत्नी ही काम को आंदोलित करती है, और पत्नी ही उसे मर्यादित करती है। पत्नी ही अर्थोपार्जन में नियोजित करती है और पत्नी ही लोभ का निराकरण कर संतोष करना सिखाती है। ... जिस पुरुष की पत्नी उसकी मित्र नहीं है, उसका कोई मित्र नहीं हो सकता। भार्या और धर्म अविरोधी हो जाते हैं, तो गृहवासी को धर्म, अर्थ और काम—तीनों, एक ही स्थान पर मिल जाते हैं। उसका जीवन सुखी हो जाता है।"

पता नहीं, यक्ष इस उत्तर से संतुष्ट हुआ या नहीं, अथवा उसने युधिष्ठिर को पत्नी का दास मान लिया; किंतु उसने इस विषय में विवाद नहीं किया।

"संसार का सबसे बडा आश्चर्य क्या है ?" उसने पूछा।

युधिष्ठिर की दृष्टि भूमि पर अचेत लेटे अपने भाइयों की ओर चली गई। ... लगता है कि उनकी मृत्यु हो गई है ...किंतु युधिष्ठिर का मन तो इसको स्वीकार नहीं कर रहा है। उन्होंने कभी कल्पना भी नहीं की कि उनके भाइयों की कभी मृत्यु भी हो सकती है। अपनी मृत्यु के विषय में तो उन्होंने कभी कुछ सोचा ही नहीं । ... वे तो फिर भी कभी सोचते है, पर क्या धृतराष्ट्र ने कभी सोचा है कि जिस राज्य के लिए वह ये सारे षड्यंत्र कर रहा है, वह यहीं रह जाएगा और उसे संसार छोड़ कर जाना होगा ...

"संसार में प्रत्येक जीव को मरते देख कर भी व्यक्ति इस भ्रम में जीता

है कि उसकी मृत्यु कभी नहीं होगी।"

यक्ष कुछ संतुष्ट दिखाई दिया। बोला, "समाज की रक्षा कौन करता है ?"

"राज्य की रक्षा राजा करता है," युधिष्ठिर बोले, "किंतु राष्ट्र और समाज की रक्षा ब्राह्मण करता है।"

"ब्राह्मण कौन है ?" यक्ष ने पूछा, "जिसने ब्राह्मण पिता के घर जन्म लिया है ? जो व्यवसाय से ब्राह्मण है ? जिसकी प्रकृति ब्राह्मण की है ?"

युधिष्ठिर को आश्चर्य हुआ, यक्ष को यह कैसे ज्ञात हुआ कि युधिष्ठिर के मन में भी इस प्रकार का कुछ मंथन चल रहा है ? बोले, "जो व्यक्ति जन्म, स्वधर्म तथा व्यवसाय—तीनों से ब्राह्मण हो, सर्वश्रेष्ठ तो वह ही है। किंतु ऐसा होता नहीं है। इसलिए न तो ब्राह्मणत्व कुल में है, न स्वाध्याय मे, न शास्त्र श्रवण में। ब्राह्मणत्व का हेतु आचरण है, इसमे कोई संशय नही । इसलिए प्रयत्नपूर्वक सदाचार की रक्षा करनी चाहिए। जिसका आचरण नष्ट हो गया, वह तो स्वयं ही नष्ट हो गया। वह ब्राह्मण कैसे हो सकता है ? रावण जैसा आचरण हो तो कोई ब्राह्मण कैसे हो सकता है, और दूसरी ओर विदुर हैं, जिनको ब्राह्मण के सिवाय और कुछ माना ही नही जा सकता। ...तो वंश क्या करेगा। व्यक्ति ब्राह्मण तो अपने आचरण से ही कहला सकता है।..."

"तुम्हारा अभिप्राय है कि शास्त्रों का अभ्यास अथवा वेदों का स्वाध्याय ब्राह्मण होने के लिए पर्याप्त नहीं है ?" यक्ष ने पूछा।

"पढनेवाले, पढानेवाले तथा शास्त्र का विचार करनेवाले—ये सब तो व्यसनी और मूर्ख ही हैं। पंडित तो वही है, जो अपने कर्तव्य का पालन करता है। चारों वेद पढ कर भी जो दुराचारी है, वह अधम शूद्र है। जो अग्निहोत्र में तत्पर और जितेन्द्रिय है, वही ब्राह्मण कहा जाता है।"

"तुम कहते हो कि शास्त्र पढ कर भी व्यक्ति ब्राह्मण नहीं कहला सकता, तो फिर जीवन का उत्तम मार्ग कौन-सा है ?" यक्ष ने पूछा।

युधिष्ठिर बोले, "संसार में सब लोग अपनी बुद्धि से चलते हैं। किंतु बुद्धि हो तो व्यक्ति प्रत्येक तर्क को अपनी इच्छानुसार तोड-मोड लेता है। इसलिए तर्क की कहीं स्थिति नहीं है। शास्त्र एक नहीं है। शास्त्र अनेक हैं और नए भी रचे जा सकते हैं। ऋषि कोई एक ही नहीं है, जिसके मत को प्रमाण माना जाए। इसलिए मार्ग वही है, जिससे महापुरुष जाते हैं।"

यक्ष कुछ देर मौन रहा, फिर बोला, "मै तुम्हारे उत्तरों से संतुष्ट हूँ। तुम चाहो तो सरोवर में से अपनी इच्छानुसार जल पी सकते हो।"

"और मेरे भाई ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"ओह हाँ !" यक्ष बोला, "तुम इनमें से जिस एक भाई को जीवित करना चाहो, मैं उसको जीवित कर दूँगा।"

"केवल एक को ?"

"हाँ ! केवल एक को।"

"तो फिर आप इस श्यामवर्ण, अरुणनयन, सुविशाल शाल वृक्ष के समान ऊँचे कदवाले, पृथुल वक्षवाले महाबाहु नकुल को जीवित कर दें।" युधिष्ठिर ने कहा।

यक्ष ने चकित हो कर युधिष्ठिर की ओर देखा, "भीम और अर्जुन तुम्हारे सहोदर भ्राता हैं युधिष्ठिर !"

इसे मेरा नाम कहाँ से मालूम हो गया ? युधिष्ठिर चौंके ... अभी-अभी तो उन्होंने स्वयं ही नकुल का नाम लिया था। संभव है, युधिष्ठिर के सरोवर तट पर आने से पहले उनके भाइयों के साथ वार्तालाप में उन लोगो के नामों और संबंधों की चर्चा हो गई हो।...पर वह तो यह भी जानता है कि कौन किसका सहोदर है।

"जानता हूँ।" युधिष्ठिर बोले।

"अर्जुन संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी है। भीम असाधारण योद्धा है। नकुल में क्या रखा है ? वह तुम्हारी क्या सहायता कर पाएगा ?" यक्ष ने पूछा।

"मेरी दो माताएँ हैं।" युधिष्ठिर बोले, "कुंती का एक पुत्र मेरे रूप में जीवित है। यदि मैं कुंती के ही दूसरे पुत्र को जीवित करने का आग्रह करूँगा, तो माता माद्री के प्रति यह क्रूरता होगी। मैं अनृशंसता का व्रती हूँ यक्ष ! किसी के प्रति नृशंस होना नहीं चाहता।"

यक्ष प्रसन्न हो कर हँसा, "तुमने अर्थ और काम से भी अधिक, दया और समता का आदर किया। तुमने सिद्ध किया है कि तुम्हें शास्त्र का ज्ञान ही नहीं है, तुम उस पर आचरण भी कर रहे हो। इसलिए तुम्हारे सभी भाई जीवित हो जाएँगे।"

यक्ष की बात सुन कर युधिष्ठिर की जान में जान आई। उनकी स्फूर्ति लौटी ...चारों ओर से जैसे कोई माया का आवरण उठ गया। वे यथार्थ के संसार में लौट आए थे।...

ओह ! तो यह उनकी मध्याह्न की तंद्रा थी, जो निद्रा में परिवर्तित हो गई थी, अथवा मन के ऊहापोह ने ही इतना जीवंत रूप ले कर उनकी चेतना को आच्छादित कर लिया था ? ... उनके मन में कहीं अपने भाइयो के अहंकार के प्रति आक्रोश था। वे पत्नी के महत्त्व के विषय में सोचते रहे थे। ... ब्राह्मण के स्वरूप के विषय में भी उनका मन कुछ बुनता ही रहता था। तो उसने यह रूप ग्रहण कर लिया ... हाँ ! वे काम्यक वन में इस ऋतु में जल के अभाव

को ले कर भी चिंतित थे ... तो ऐसे सरोवर पर जा पहुँचे, जहाँ का पानी वे पी नहीं सकते थे... मन भी कैसा मायावी होता है...किन विचारों को ले कर क्या का क्या बुन दिया उसने ...

पर जैसे अपने ही मन् के भीतर झाँक कर वे स्तब्ध रह गए। ... उन्हें अपने भाइयों के संभावित अहंकार से विरोध था; और वे स्वयं अपने मन में यह कैसा अहकार पाल रहे थे ... वे शास्त्र के ज्ञाता ही नहीं हैं, उस पर आचरण भी कर रहे हैं ?... उन्हें अपने इस अहंकार से मुक्ति कैसे मिलेगी ? कब मिलेगी ? ... उनकी अंतरात्मा जैसे पुकार-पुकार कर उनसे कह रही थी ... अहंकार तो सात्विकता का भी हो सकता है युधिष्ठिर ! सदाचार तुम्हें तुम्हारे अहंकार से मुक्त नही कर सकता, उससे तो तुम्हें भक्ति ही बचा सकती है। ...भक्ति ... भक्ति

30

युधिष्ठिर के मन में बहुत देर से तर्क-वितर्क चल रहा था।... वे लोग हिमालय के उच्च शिखरो से नीचे उतरे थे, तो इंद्रसेन तथा विशोक से जो सूचनाएँ मिली थीं, वे अत्यंत महत्त्व की थीं। ... कहॉ-कहॉ तिरस्कार हुआ था, उनके भेजे हुए लोगो का, और कहाँ-कहॉ सत्कार हुआ था। ...सबसे विचित्र स्थिति तो विराट्नगर की थी। राजा विराट् ने उनके लोगों को अपनी सेवा में नियुक्त कर लिया, और सेनापति कीचक ने उन सबकी नियुक्तियॉ निरस्त कर दीं। ...क्या समझे युधिष्ठिर ? वहॉ उनके अनुचरों का स्वागत हुआ अथवा तिरस्कार ? मत्स्यराज को वे अपना मित्र मानें या शत्रु ? पर शायद इस समय उनके लिए यह तथ्य इतना महत्त्वपूर्ण नहीं था कि वे मत्स्यराज को अपना मित्र मानें अथवा शत्रु। अधिक महत्त्वपूर्ण तो यह था कि दुर्योधन का इस विषय में क्या दृष्टिकोण था। यदि वह यह मानेगा कि मत्स्यराज पांडवों के मित्र हैं, तो वह पांडवों की खोज वहाँ करवाएगा, और यदि वह उन्हें पांडवों का शत्रु मानेगा, तो उसे उनके वहॉ होने का संदेह नहीं होगा...

मत्स्यराज ! ... जहॉ तक युधिष्ठिर को ज्ञात था, मत्स्यराज धर्मपरायण और प्रजापालक राजा थे। ...कायर नहीं थे; किंतु असमर्थ अवश्य थे। उनके पुत्र शंख तथा उत्तरकुमार भी कोई वीर योद्धा नहीं बन पाए थे। उनकी पहली पत्नी सुरथा के पुत्र श्वेत का कोई महत्त्व ही नहीं था।...किंतु इन सब परिस्थितियों के लिए उत्तरदायी कौन था। संभवतः राजा विराट का अपनी पत्नी के प्रति

अतिरिक्त मोह ! और महारानी सुदेष्णा की अपने पितृगृह के प्रति असाधारण आसक्ति। ...नहीं तो, राजा विराट को कोई आवश्यकता नहीं थी कि अपने श्यालक, रानी सुदेष्णा के भाई, कीचक को सेनापति बनाते; तथा उसे अपनी सभा में इतना महत्त्व देते। विराट इतने असमर्थ तो नही थे कि अन्य राजाओ के समान, विभिन्न शक्तियों से संधि कर अपनी प्रजा की रक्षा न कर पाते, अथवा प्रजा-पालन के धर्म का संगत ढंग से निर्वाह न कर सकते।... या फिर क्या विराट को राजधर्म का उचित ज्ञान नही था ?... राजा की शक्ति या तो उसके धर्म में होती है, या फिर उसकी सेना में। विराट ने जब धर्म अपनी पत्नी को समर्पित कर दिया; और सैन्य शक्ति कीचक को सौंप दी, तो कीचक को सेवाधर्म से मुक्त हो कर उच्छृंखल होना ही था। सेनापति, राजा के बंधन से मुक्त हो, परम स्वतंत्र हो जाए, तो राज्य, राजा की आज्ञा से नहीं, सेनापति की आज्ञा से ही चलता है।

...युधिष्ठिर विराटनगर को अपने लिए सुरक्षित मानें या न मानें ? विराटराज धर्मपरायण तो हैं; किंतु दुर्बल हैं। इच्छा होने पर भी वे युधिष्ठिर और उनके भाइयों तथा द्रौपदी की रक्षा कर पाएँगे ?...

सहसा युधिष्ठिर का मन एक नई दिशा में चल पडा। ... उन्हें विराटराज से अपने प्राणों की रक्षा की अपेक्षा नहीं है। उन्हें यह भय नहीं है कि वहाॅ कोई उन पर आक्रमण कर, उन्हें शारीरिक क्षति पहुॅचाएगा। अपनी रक्षा के लिए तो वे स्वयं ही पर्याप्त समर्थ थे, और फिर भीम और अर्जुन जैसे भाई उनके साथ थे। ... उन्हें तो केवल अपनी पहचान को गुप्त रखना था। विराट उन्हे पहचान न पाएॅ। विराटनगर की राजसभा में किसी को उनके पांडव होने का संदेह न हो, तो वे सुरक्षित ही थे। ... फिर राजा जैसा चाहे, उनके साथ व्यवहार करे ...किंतु वे पॉचों भाई एक साथ नहीं रह सकते थे। उन पॉचों को एक साथ देख कर किसी को भी संदेह हो सकता था कि वे पांडव ही हैं। और पांचाली ? पांचाली उनमें से किसी के साथ रहे, अथवा अकेली ? पॉच पतियों के होते हुए भी वह अकेली क्यों रहे ? उसकी अपनी सुरक्षा के लिएं तो सर्वोत्तम मार्ग यही था कि वह अकेली रहे। ... किंतु पति की अनुपस्थिति में पत्नी सुरक्षित नहीं रहती। किसी भी पुरुष की दृष्टि उस पर पड कर लुब्ध हो सकती है। द्रौपदी का रूप है भी तो ऐसा। यदि किसी प्रकार वह राजा के अंतःपुर में प्रवेश पा जाए, और केवल स्त्रियों में रहे, तो कदाचित् वह पुरुष की रूप-लोभी दृष्टि से सुरक्षित रह सकती है। ... किंतु वह अंतःपुर में पहुँचेगी कैसे ? किस रूप में रहेगी ? किस प्रकार रहेगी ?

"क्या बात है धर्मराज ?" द्रौपदी ने उन्हें टोका, "देख रही हूॅ, बहुत देर से आप किसी चिंता में लीन हैं।"

"हॉ पांचाली ! सोच रहा था कि अब अज्ञातवास का भी प्रबंध कर लिया जाए। बारह वर्ष पूरे होने को हैं। यदि तेरहवॉ वर्ष यहीं आरंभ हो गया तो दुर्योधन यह घोषणा कर देगा कि उसने अज्ञातवास के काल में, हमें पहचान लिया है।"

"तो हम तेरहवें वर्ष में यहॉ रहेंगे ही क्यों महाराज !" द्रौपदी बोली, "सोच-विचार कर अब यह निर्णय कर लेना चाहिए कि हमें किस रूप और वेश मे कहॉ रहना है।"

"ठीक कहती हो पांचाली ! कुछ ऐसी ही प्रक्रिया मेरे मन में भी चल रही थी। पहला प्रश्न तो यही है कि हम वन में रहें या नगर में ?" युधिष्ठिर बोले, "अज्ञात रहने के लिए वन ही उत्तम स्थान है, जहॉ सामान्य जन का आवागमन होता ही नहीं ।... किंतु जिस प्रतिज्ञा के अंतर्गत हमें अज्ञातवास करना है, उसमे स्पष्ट है कि हम जन-समाज में रह कर ही अज्ञातवास करेंगे। अतः हम वन मे नहीं रह सकते। हमें किसी नगर का ही चयन करना पड़ेगा; अन्यथा दुर्योधन हमारे अज्ञातवास को स्वीकार नहीं करेगा।" युधिष्ठिर क्षण भर रुक कर बोले, "हम अपने स्नेह तथा अपनी सुरक्षा के विचार से एक साथ रहना चाहेगे, किंतु हमारी सबसे बडी पहचान भी यही है : एक साथ पॉच पुरुष और एक स्त्री। जहाँ कहीं पॉच पुरुषों और एक स्त्री को एक साथ देखा जाएगा, तत्काल उन पर संदेह किया जाएगा कि कहीं वे पॉचों पांडव और पांचाली तो नहीं । इसलिए हमें एक-दूसरे से विलग होना होगा। हमारा दूसरा परिचय है भीम के शरीर का आकार और पांचाली का रूप। ये दोनों लाखों मनुष्यों में भी पहचाने जा सकते है।"

"इसका अर्थ है कि यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि हम कहॉ रहते हैं। महत्त्वपूर्ण यह है कि हम कैसे रहते है।" सहदेव ने कहा।

"कैसे रहते है से क्या तात्पर्य है तुम्हारा ?" भीम के स्वर मे एक अस्पष्ट-सी आपत्ति थी।

"हम किस रूप मे रहते हैं।" सहदेव ने उत्तर दिया, "हमारा वह रूप हमारी पहचान को छिपा सकता है या नहीं । सामने बैठा व्यक्ति हमारी आकृति-प्रकृति, वेश-भूषा, कार्य-कलाप इत्यादि को देख कर हम पर संदेह तो नहीं करता। यदि वह जान जाता है कि हम पांडव हैं, तो भी हम पहचाने गए, और यदि वह इतना संदेह भी करने लगता है कि हम वह नहीं हैं, जो बन कर बैठे हैं, तो भी हमारे पहचाने जाने की संभावना है। तीसरी बात यह कि आवश्यक नहीं है कि दुर्योधन के गुप्तचर ही हमें पहचानें। समाज का एक साधारण-सा अज्ञात व्यक्ति भी यदि हमारी पहचान पर संदेह करता है, तो हमारी चर्चा कहीं न कहीं तो होगी ही। वह सूचना राजपुरुषो तक जाएगी। राजपुरुषों से वह राजसभा में पहुँचेगी; और उस सूचना का लाभ दुर्योधन के गुप्तचरों को भी होगा।"

"मैं सहदेव से पूर्णतः सहमत हूँ।" युधिष्ठिर बोले, "किंतु उसके अतिरिक्त भी एक बात मेरे मन में है।"

"क्या ?" अर्जुन ने पहली बार प्रश्न किया।

"हम अपनी प्रकृति और स्थिति से तो सोचें ही; किंतु हमें इस बात का भी ध्यान रखना है कि दुर्योधन अपने स्थान पर बैठा हुआ क्या सोच सकता है। मेरे मन में यह बात बार-बार आती है कि वह हमें खोजने का प्रयत्न तो करेगा ही; साथ ही वह कुछ ऐसे तर्क भी खोज निकालेगा, जिनके आधार पर वह हमें पुनः बारह वर्षो के लिए वनवास दे सके।..."

"जैसे ?" द्रौपदी ने पूछा।

"उदाहरण के रूप मे, हमें काल-गणना का भी ध्यान रखना होगा। हम अपनी दृष्टि से, अज्ञातवास की समय सीमा निश्चित करेंगे, किंतु वह किसी भी प्रकार उस गणना को अपने अनुरूप बनाना चाहेगा। इसलिए लुप्त होने और प्रकट होने की तिथियों की गणना हमे सावधानी से करनी पडेगी।"

"यह कार्य तो धौम्य मुनि पर छोड़ देना चाहिए।" सहदेव बोला, "और समय से पूर्व लुप्त हो कर समय के पश्चात् ही प्रकट होना चाहिए, ताकि दुर्योधन किसी भी प्रकार की चतुराई न कर सके।"

"हम पहचान लिए जाने के भय से एक साथ नहीं रह सकते।" युधिष्ठिर बोले, "किंतु मैं यह भी नहीं चाहता कि हम पृथक्-पृथक् राज्यों अथवा नगरो में रहें। मेरी इच्छा है कि हम एक ही नगर में इस प्रकार पृथक्-पृथक् रहें कि इच्छा होने पर परस्पर भेंट भी कर सके और सहायता भी।"

"किंतु यह आवश्यक तो नहीं कि हममें से किसी एक को जिस राजसभा मे स्थान मिलेगा, शेष को भी उसी राजा के यहाँ नियुक्ति मिल जाए।" द्रौपदी ने शंका प्रकट की, "ऐसे में हम क्या करेंगे ?"

"किसी मित्र राजा की सभा में जाएँगे, तो सबको स्थान मिल जाएगा।" अर्जुन ने कहा, "किंतु वह मैत्री ही हमें अज्ञात नहीं रहने देगी।"

"क्यों ?" भीम ने आपत्ति की, "हम उसे बता देंगे कि हम अज्ञातवास कर रहे हैं।..."

"ठीक है मध्यम !" अर्जुन ने उत्तर दिया, "मान लो कि तुम कांपिल्य में द्वारपाल अथवा राजा के अंगरक्षक के रूप में नियुक्त हुए, तो क्या महाराज द्रुपद तथा धृष्टद्युम्न तुमसे अपने साधारण कर्मचारी के समान व्यवहार कर पाएँगे ? वे तुम्हारी किसी भूल पर तुम्हारी ताड़ना कर पाएँगे ?" वह रुका, "वे एक क्षण के लिए भी भूल नहीं पाएँगे कि तुम महावीर भीमसेन हो। वे तुम्हारी सुविधाओं का ध्यान रखेंगे; और तुम्हारी तनिक भी उपेक्षा नहीं कर पाएँगे। उनके इस विशिष्ट व्यवहार से ही, अन्य कर्मचारियों को संदेह हो जाएगा कि तुम द्वारपाल अथवा

अंगरक्षक नहीं हो। वे लोग बिना किसी प्रयोजन के भी, मात्र अपनी जिज्ञासा की शाति के लिए, तुम्हारी वास्तविकता खोज निकालने के पीछे पड जाएँगे। ... और हम सबके लिए संकट खडा हो जाएगा।"

"नहीं ! हम कांपिल्य अथवा द्वारका तो जाएँगे ही नहीं ।" द्रौपदी बोली, "हमे उसी राजा की सभा में जाना चाहिए, जो हमें पहचानता भी न हो। जो हमसे अपने वास्तविक कर्मचारियों के समान ही व्यवहार कर सके। राजा दुष्ट न हो, धर्मपरायण हो, और दुर्योधन का मित्र न हो।"

"एक प्रश्न मेरे मन मे भी है।" नकुल बोला, "हम जिस राजा की सभा मे हों, वह तो हमें न जानता हो; किंतु क्या हमारे सुहृदों को ज्ञात हो कि हम कहाँ है ?"

"यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।" युधिष्ठिर तत्काल बोले, "यदि हमारे पुत्रों को हमारे सखाओं को और हमारे बंधुओं को यह ज्ञात होगा कि हम कहाँ है, तो वे भी हमारा कुशल-क्षेम जानने के प्रयत्न करते रहेंगे। ... ऐसे में अन्य लोगों को भी संदेह होने लगेगा कि कोई तो बात है कि हममें ऐसी रुचि ली जा रही है। दुर्योधन की दृष्टि हमारे परिवार के प्रत्येक व्यक्ति पर होगी कि वह हमसे कहाँ सम्पर्क साध रहा है। ऐसे में हमारे परिवार का कोई व्यक्ति हम तक पहुँचे या न पहुँचे, दुर्योधन के गुप्तचर अवश्य पहुँच जाएँगे। इसलिए, हम कहाँ हैं और किस रूप में रह रहे हैं, इसका ज्ञान केवल हम छह लोगों को ही हो। यहाँ तक कि धौम्य मुनि और इंद्रसेन भी इससे अवगत न हों।"

"मेरे मन में जो बडी समस्या है, वह यह है कि हम किस रूप मे किसी राजसभा मे सहज स्वाभाविक समय व्यतीत कर सकते हैं। आज तक हम, या तो क्षत्रिय कर्म करते आए हैं, अथवा तपस्या।" अर्जुन बोला, "इन दोनों रूपो में हमारे पहचाने जाने की पूरी संभावना है। हमारा नया रूप ऐसा होना चाहिए, जो राजा के लिए उपयोगी हो, हम उस कार्य में दक्ष भी हो; और कम से कम दुर्योधन को यह अपेक्षा न हो हम वह कार्य कर भी सकते हैं।"

"मैंने भी इस विषय में पर्याप्त चिंतन किया है।" युधिष्ठिर बोले, "मुझे सबसे अधिक चिंता पांचाली की है। पांचाली ने कभी सेवा-कर्म नहीं किया; और हम चाहते भी नहीं हैं कि उसे कभी दासी बन कर रहना पडे। तो ऐसा कौन-सा काम हो सकता है, जो उसे राजा और राजपरिवार के लिए उपयोगी भी सिद्ध करे, और उसकी स्थिति भी दासी की सी न हो।" युधिष्ठिर मौन हो गए। उनकी दृष्टि अपने सम्मुख बैठे अपने भाइयों और अपनी पत्नी के नयनों में कोई समाधान खोज रही थी।

सबसे पहले द्रौपदी ही बोली, "मैं अभी यह तो नहीं जानती कि हम किस राजा की सभा अथवा परिवार में जा रहे हैं; और वहाँ किस काम का सम्मान

अधिक है, किंतु, इतना तो स्पष्ट ही है कि अंतःपुर में प्रवेश का सरलतम मार्ग, राजमहिषियों के प्रसाधनव्यापार में से हो कर जाता है। यदि मैं यह सिद्ध कर पाई कि श्रृंगार कर्म की मेरी दक्षता, उनके रूप और सौंदर्य को और अधिक आकर्षक बना सकती है, तो मुझे वहाँ स्थान पाने में तनिक भी कठिनाई नहीं होगी।"

उन पाँचों में से किसी ने भी, द्रौपदी की बात पर टिप्पणी नहीं की। सब ही जैसे अपने आप में डूब गए थे। ...महारानी द्रौपदी, देवी पांचाली, साम्राज्ञी कृष्णा क्या अब अन्य राजपरिवारों की स्त्रियों का केशविन्यास करेगी ? उनकी त्वचा को और सुंदर तथा आकर्षक बनाने के लिए, अपने हाथों से उनकी त्वचा पर लेप करेगी ? उनके नखों को रूपाकार तथा सुंदर, आकर्षक वर्ण देने के लिए, उनके चरणों को अपने हाथों में लेकर नखकर्तन करेगी ? ...

किसी ने कुछ कहा नहीं, किंतु सबके मन की आपत्ति उनके चेहरों पर लिखी हुई थी। द्रौपदी ने उन सबको इस प्रकार भौचक देखा, तो हँस कर बोली, "आप लोग चाहते हैं कि मैं चाकरी भी करूँ और दासी भी न कहलाऊँ। ये दोनों बातें तो एक साथ हो नहीं सकतीं। या तो मैं रानी ही हो सकती हूँ, या फिर दासी ही। मेरे मन में तो एक दूसरी ही शंका है कि यदि मुझे इस प्रकार का कोई काम मिल ही गया, तो मुझसे यह पूछा जाएगा कि मैं दूसरों के केशों का तो इतना आकर्षक श्रृंगार करती हूँ; किंतु अपनी वेणी का संहार भी नहीं करती। कहीं मेरे खुले केश मेरी प्रतिज्ञा की कथा न कह दें। ऐसे में हमारा रहस्य उद्घाटित हो जाएगा।" वह जैसे सायास हँसी, "मैं अपनी चिंता बाद में कर लूँगी। इस समय तो यह जानना चाहती हूँ कि धर्मराज के मन में क्या है ? वे जहाँ भी जाएँगे, किस रूप में राजा की सेवा करना चाहेंगे।" अर्जुन अपनी तल्लीनता से बाहर आया और बोला, "यदि हम सचमुच सफल अज्ञातवास करना चाहते हैं तो हमें अपने प्रियजनों को अपमानजनक स्थिति में, निकृष्ट कार्य करते हुए भी देखना ही पड़ेगा। जैसे यह संभव नहीं है कि महारानी द्रौपदी, सैरंध्री कर्म करते हुए भी, महारानी बनी रहे, वैसे ही यह भी संभव नहीं है कि किसी राजसभा में राजकर्मचारी के रूप में काम करते हुए, धर्मराज युधिष्ठिर की सम्राट् की मर्यादा बनी रहे। मेरे मन में यह बात आती है कि हम उस रूप में अज्ञातवास करें, जिसकी हमारे शत्रु कल्पना भी न कर सकें। जो हमारी प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल हो।"

"आप कोई उदाहरण दे सकते हैं ?" नकुल ने पूछा।

अर्जुन थोड़ी देर मौन ही रहा, फिर बोला, "मैं अपने विषय में सोचता हूँ कि दुर्योधन धनुर्धर अर्जुन की किस रूप में कल्पना नहीं कर सकता। सहज तो यह होता कि मैं किसी राजकुल के राजकुमारों को धनुर्विद्या की शिक्षा देता

और उन्हें व्यूह रचना में प्रशिक्षित कर रहा होता; किंतु इस रूप में तत्काल पहचान लिया जाऊँगा। इसलिए मैंने अपनी कल्पना अंतःपुर की बालाओं को नृत्य और संगीत सिखानेवाले एक नपुंसक के रूप में की है। मैं बृहन्नला बन कर उन्हे नृत्य की मुद्राएँ सिखाऊँगा। नपुंसक वेश बनाने के लिए अपनी कलाइयों में ढेर सारी चूड़ियॉं पहनूँगा ताकि मेरी कलाइयों पर धनुष की प्रत्यंचा द्वारा बनाए गए, ये सारे चिह्न छिप जाएँ; और मेरी कठोर मांस पेशियों पर किसी की दृष्टि न पड सके।"

भीम अट्टहास कर उठा, "क्या अपरूप होगा हमारे धनंजय का। तुम्हें यह विचार ही कैसे आया ?"

"इंद्रकील पर्वत पर तपस्या करने और निर्विकल्प समाधि का अनुभव करने के पश्चात् मैंने स्वयं को पूर्णतः परिवर्तित पुरुष रूप में देखा है।" अर्जुन ने पूरी गभीरता से उत्तर दिया, "शायद मै स्वयं इस विषय में कभी सजग न हुआ होता; यदि वैजयंत इंद्र के प्रसाद में स्वयं उर्वशी ने आकर, आत्मनिवेदन न किया होता। उसके काम-आह्वान और समर्पण के प्रयत्न के पश्चात् मैंने पाया कि उस असाधारण सुंदरी और दिव्य रूपवती नारी के शरीर के प्रति मेरे मन में तनिक भी आकर्षण नहीं जागा। जिस आनन्द का आस्वादन मैं निर्विकल्प समाधि में कर चुका था, उसके पश्चात् नारी-संग एक जुगुप्सापूर्ण कृत्य ही रह गया था। मेरे मन में उस मांसल स्थूलता के प्रति कोई रुचि नहीं थी। उर्वशी ने मुझे धिक्कार के रूप में नपुंसक कहा था; किंतु मेरे लिए उस पौरुष के लिए तनिक भी गर्व शेष नहीं रह गया था, जिसे वह धिक्कार रही थी।" अर्जुन ने उन सबकी ओर देखा, "जब अज्ञातवास के लिए छद्म वेश की बात उठी, तो मुझे लगा कि मुझे उर्वशी के कथन को स्मरण रखना चाहिए। यदि उर्वशी का मादक शरीर मेरे मन में कोई आकर्षण नहीं जगा पाया, तो अन्य साधारण स्त्रियों के संदर्भ में भी, मैं पुंसत्वहीन ही रहूँगा। ऐसी स्थिति में यदि मैं नपुंसक वेश का अपमान पी जाऊँ, तो कोई मुझे पहचान नहीं सकेगा।"

द्रौपदी के मुख पर परस्पर विरोधी भावनाएँ खेल रही थीं... उसके नयनों में एक ललित चंचलता जागी थी, कदाचित् अर्जुन के बृहन्नला वेश की कल्पना करके... और मुख पर एक प्रकार का संतोष था अर्जुन की सुरक्षा की भावना से; किंतु साथ ही एक गहरे विषाद की परछाई भी उभर आई थी। ...अब किसी भी नारी का सौन्दर्य अर्जुन के मन में कामना नहीं जगा सकता ... क्या स्वयं द्रौपदी का सौंदर्य भी ?...

"हाँ ! तो मेरा प्रश्न यह था कि धर्मराज वहॉं किस रूप में स्वयं को प्रस्तुत करेंगे; क्योंकि भैया यदि अपनी अपमानजनक स्थिति झेल भी जाऍं, तो हमारे लिए भी वह सहनीय होगी क्या ?" अर्जुन ने अपने भाइयो की ओर देखा।

"तुम ठीक कह रहे हो अर्जुन !" भीम ने सबसे पहले उसका समर्थन किया।

"देखो ! अपने प्रति तुम्हारे स्नेह को मैं जानता हूँ; किंतु ये असाधारण स्थितियाँ हैं। जो सबके साथ होगा, वही मेरे साथ भी होगा।" युधिष्ठिर बोले, "तुम सब अपमान झेलोगे, पांचाली भी दासी के रूप में रहेगी, तो अकेला मैं ही कैसे गरिमापूर्ण जीवन जी सकता हूँ। जो सबके साथ होगा, वही मेरे साथ भी होगा। तुम सब अपमान झेलोगे, तो मैं भी झेलूँगा और तुम सबको एक बात का विशेष ध्यान रखना होगा।"

सबने प्रश्नवाचक दृष्टि से उनकी ओर देखा।

"कहीं ऐसा न हो कि मेरी अवज्ञा या उपेक्षा देख कर, तुम लोग अपनी उत्तेजना और आक्रोश में कोई ऐसा कार्य कर बैठो, जो हमारे लिए हानिकारक सिद्ध हो। हमें सब कुछ सहन करने का अभ्यास होना चाहिए। साधना के लिए तितिक्षा का बहुत महत्त्व है। यदि ईश्वर की यही इच्छा है कि हम किसी साधारण राजा की सभा में चाकर बन कर रहें, तो हमें उसकी इच्छा के सम्मुख सहर्ष सिर झुका देना चाहिए। हमें अभिनय ही तो करना है, कभी राजा का कभी चाकर का। वस्तुतः न हम राजा हैं, न चाकर। अभिनय तो तभी सजीव होता है, जब उस पात्र के जीवन को हम सहज रूप में जी सकें। यदि अपमान, चाकरी का अनिवार्य अंग है, तो हमें यह भुलाकर कि हम कौन है, क्या हैं, उस अपमान को अंगीकार करना होगा।"

"वह ठीक है धर्मराज !" द्रौपदी ने उन्हें टोक दिया, "प्रश्न यह है कि आप किस प्रकार की चाकरी करेंगे ?"

"यदि भगवान सफल कर दें तो एक सुविधाजनक चाकरी की बात सोच रहा हूँ।" युधिष्ठिर बोले, "मेरे विषय में सारे जंबुद्वीप को ज्ञात है कि मुझे द्यूत विद्या का ज्ञान नहीं है। इसीलिए शकुनि मुझे इतने अपमानजनक ढंग से पराजित कर पाया।"

"किंतु अब तो आप बृहदश्व ऋषि की कृपा से द्यूतविद्या में निष्णात हो चुके हैं।" नकुल ने कहा।

"हाँ ! यह घटना तो वनवास की अवधि में हमारे आश्रम में घटित हुई है। उसकी सूचना अभी जंबुद्वीप के राजसमाज में प्रचारित तो नहीं हुई है। इसलिए किसी सफल द्यूतकर्मी पर युधिष्ठिर होने का संदेह कोई नहीं करेगा।"

"तो आप द्यूतकर्मी हो कर रहना चाहते हैं ?" द्रौपदी ने सहज रूप से जिज्ञासा की; किंतु यह किसी से भी छिपा नहीं रह सका कि उसके स्वर में अनिष्ट की आशंका थी।

"भय त्यागो पांचाली !" युधिष्ठिर मुस्कराकर बोले, "पहली बात तो यह है कि द्यूत में न तब मेरी कोई रुचि थी, न अब है। तब भी मैं महाराज धृतराष्ट्र

की आज्ञा में बँध कर खेला था, अब भी विपत्तिवश अज्ञातवास करने के लिए राजा के द्यूत-सहचर की चाकरी पाने का इच्छुक हूँ। मैं राजा के मनोरंजनार्थ, उनका द्यूत-सहचर बन कर रहूँगा, द्यूतकर्मी बन कर नहीं । वैसे भी अब मेरे पास ऐसा है ही क्या, जिसे दाँव पर लगाऊँगा।"

"मैं जानती हूँ, द्यूतक्रीड़ा आपका व्यसन नहीं है, न ही आपको उसमें तनिक सी भी आसक्ति है। अपनी इच्छा से आप कभी द्यूत की ओर अग्रसर नहीं होंगे।" द्रौपदी बोली, "किंतु आपको धर्म-बंधन में बाँधा जा सकता है। आपको आपकी इच्छा के विरुद्ध दॉव लगाने को बाध्य किया जा सकता है। ... और संपत्ति के रूप में आपके पास आपके भाई और आपकी पत्नी तो हैं ही।"

धर्मराज हँस पड़े, "ठीक कहती हो भद्रे ! किंतु जहॉ कहीं भी हम जाएँगे, वहॉ न मैं युधिष्ठिर हूँगा, न मेरे साथ मेरे चार भाई होंगे, न वहाँ मेरी पत्नी द्रौपदी होगी। हम सबके छद्म नाम होंगे। परस्पर हमारा कोई संबंध नहीं होगा। हमारा एक-दूसरे से कोई परिचय भी नहीं होगा। तो फिर वहाँ मेरे भाई और मेरी पत्नी, मेरी संपत्ति कैसे होंगे। यदि यह सब प्रकट हो ही गया, तो फिर हमारा अज्ञातवास अज्ञात कैसे रहेगा।"

सब लोगों ने एक जोरदार ठहाका लगाया और द्रौपदी का स्वर उन सबमें से ऊँचा था।

"मैं समझता हूँ कि हम सबको अपने लिए दो-दो नाम चुन लेने चाहिए।" युधिष्ठिर पुनः बोले, "एक तो वह नाम, जो हम सार्वजनिक रूप से सबको बताएँगे; और दूसरा वह, जिससे हम एक-दूसरे को जानेंगे। वहाँ हम भूल कर भी अपने अथवा एक-दूसरे के वास्तविक नामों का प्रयोग नहीं करेंगे। मेरी इच्छा है कि अपने निजी प्रयोग के लिए, हमारे नाम जय, जयंत, विजय, जयत्सेन तथा जयद्वल हों।" युधिष्ठिर रुके, "और सार्वजनिक रूप से मैं अपना नाम कंक घोषित करूँगा।"

द्रौपदी पुनः उच्च स्वर में हॅसी, "आप अपना रहस्य स्वयं ही उद्घाटित कर देंगे ?"

"अरे हॉ !" सहदेव बोला, "यदि 'कंक' का अर्थ 'धर्म' अथवा 'यम' के रूप में लें तो आप धर्मराज हो गए। यदि 'क्षत्रिय' अथवा 'छद्मवेशी ब्राह्मण' लें, तो भी वह आपका परिचय हो गया। 'बक' के रूप में भी वह शब्द कृत्रिमता और छद्म का आभास देता है।"

"इसीलिए तो मैंने यह नाम चुना है अपने लिए।" युधिष्ठिर मुस्कराए, "अज्ञातवास की भी रक्षा हो, और मिथ्याभाषण का पाप भी न हो।"

"मैंने भी कुछ सोच कर ही अपने नपुंसक रूप को 'बृहन्नला' नाम दिया है।" अर्जुन बोला, "इस नाम में 'ल' और 'र' अक्षरों का अभेद मान लो, तो 'बृहत्

नला' का रूप भी बृहत् नरा अर्थात् बृहत् नर हो जाएगा।"

"ठीक सोचा है अर्जुन ने।" युधिष्ठिर बोले, "अर्जुन वस्तुतः बृहत् नर ही है। है न विरोधाभास। कहाँ नरत्त्व-शून्य षण्ढक और कहाँ बृहत् नर।" युधिष्ठिर ने रुक कर भीम की ओर देखा, "और तुम मध्यम ?"

"मैं ! मैं !!" भीम ने दुहराया, "मैं 'पुरोगु' का पुत्र 'पैरोगव'।"

"साधु !" युधिष्ठिर बोले, "वायुपुत्र।"

"मैं कितनी ही बार सोचती हूँ कि पुरोगु का पुत्र पैरोगव तो ठीक है; किंतु पुरोगु का अर्थ वायु है, तो पैरोगव का अर्थ वायुपुत्र न हो कर, रसोइया क्यों हो जाता है ?" द्रौपदी हँसी, "आज समझ में आया कि यह इसलिए होता है कि वायुपुत्र हो कर भी मध्यम पांडव, राजा की रसोई के अधीक्षक बन सकें। सुंदर प्रयोग है, पैरोगव शब्द का।"

"पर मेरा नाम पैरोगव नहीं होगा। यह मेरा पद होगा।" भीम ने जोडा, "मेरा नाम होगा 'बल्लव'। मैं इस नाम के अर्थ के ही अनुसार राजा की रसोई में रसोइए का काम करूँगा।"

"हाँ ! आज तक तो हमारे मध्यम भोजन करने के लिए ही प्रसिद्ध थे," नकुल बोला, "अब वे भोजन पकाने में भी ख्याति पाएँगे।"

"ख्याति ही तो नहीं चाहिए।" युधिष्ठिर बोले, "ख्याति अज्ञातवास के लिए अत्यंत घातक है।"

"मैंने भी कुछ ऐसा ही सोचा है।" भीम ने कहा, "करने को तो मैं मल्ल अथवा बैल नाथनेवाले का काम भी कर सकता हूँ; किंतु वे सारे काम, खुले क्षेत्र में सार्वजनिक रूप से किए जाते हैं। उसमें जनसमुदाय आपको देखता है। शक्ति और कौशल पर मुग्ध होता है। आपके निकट आना चाहता है, आपके विषय में अधिक जानना चाहता है। ऐसे में अपना परिचय छिपाना और भी कठिन हो जाता है। रसोई में छिपे हुए व्यक्ति को क्या तो कोई जानेगा और क्या कोई जानना चाहेगा।"

"मध्यम ने बहुत ठीक सोचा है।" अर्जुन ने उसका समर्थन किया।

"और नकुल तुम ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"मैं अश्वों के पालन-पोषण का काम प्रसन्नतापूर्वक कर सकता हूँ।" नकुल बोला, "यदि यह काम मिल जाए, तो मुझे कोई कठिनाई नहीं है। अश्वों के साथ अश्वशाला में रहूँगा, तो लोकसंपर्क का संकट ही नहीं रहेगा। राजा मेरी अश्वपालन-दक्षता से प्रसन्न हो जाएगा—यह मैं जानता हूँ।"

"तुम अपना नाम ग्रंथिक रख लेना नकुल !" अर्जुन ने कहा, "क्यों पांचाली !"

"हाँ ! आयुर्वेद तथा अध्वर्युविद्या का जाननेवाला ग्रंथिक ही हो सकता है।"

द्रौपदी ने पुष्टि कर दी।

"और मैं 'तंतिपाल'।" सहदेव ने कहा, "राजा की गोशाला में काम करने का इच्छुक हूँ।"

" 'तंति' के किस अर्थ को तुम ग्रहण कर रहे हो ?" द्रौपदी ने हँस कर पूछा, " 'वाणी' अथवा 'बैलों को बाँधनेवाली रस्सी' ?"

"दोनों ही अर्थो को ग्रहण करो देवि !" सहदेव ने मुस्कराकर, सहज रूप मे उत्तर दिया, "वाणी के अर्थ में मैं आज्ञापालक हूँ और दूसरे अर्थ में बैलों की रस्सी को सुरक्षित रखनेवाला हूँ। राजा को किसी भी रूप में मुझसे कोई असंतोष नहीं होगा।"

"ठीक है।" युधिष्ठिर बोले, "ये सारे नाम सार्वजनिक रूप से व्यवहार के लिए है। अब यदि नकुल के विषय में तुममें से किसी से कोई जिज्ञासा करनी होगी और मैं पूछूँगा कि ग्रंथिक का क्या समाचार है, तो कोई भी पूछ सकता है कि मेरा ग्रंथिक से क्या संबंध है। ... कोई न भी पूछे, तो संदेह तो कर ही सकता है। इसलिए अपने संबंध को गोपनीय रखने के लिए, हम परस्पर अपने वार्तालाप में इन नामों का व्यवहार नहीं करेंगे। अपने गुप्त प्रयोग के लिए मेरा नाम जय होगा, भीम का जयंत, अर्जुन का विजय, नकुल का जयत्सेन, तथा सहदेव का जयद्बल।"

"और पांचाली का ?" भीम ने पूछा।

"पांचाली का नाम सैरंध्री ही ठीक रहेगा।" युधिष्ठिर ने द्रौपदी की ओर देखा।

"ठीक है।" द्रौपदी ने अपना सिर हिलाकर अपनी सहमति दे दी।

कुछ समय के लिए, उनके मध्य मौन छा गया, जैसे सब कुछ निश्चित हो गया हो और अब कुछ भी कहने को शेष न हो।

"पर हमें जाना किस राजा की सभा में है ?" सहदेव ने पूछा।

"हम कहॉ-कहाँ जा सकते हैं ?" युधिष्ठिर ने अर्जुन की ओर देखा।

"भौगोलिक रूप से हमारे निकट के राज्यों में पांचाल, चेदि, मत्स्य, शूरसेन, पटच्चर, दशार्ण, नवराष्ट्र, मल्ल, शाल्व, युगंध, विशाल, कुंतिराष्ट्र, सौराष्ट्र तथा अवंती हैं।" अर्जुन बोला, "अब हमें निर्णय यह करना है कि कहाँ जाना, हमारे लिए सर्वाधिक हितकर और सुरक्षित होगा।"

"जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इनमें से सबसे अच्छी स्थिति पंचाल की है, किंतु पंचाल में हमें जाना नहीं है।" भीम ने कहा, "उसके पश्चात् मत्स्य देश है; जहाँ का राजा हमारा शत्रु नहीं है। राजा विराट स्वभाव से दयालु और धार्मिक हैं।"

"मेरे मन में भी बार-बार विराटनगर का ही ध्यान आता है।" युधिष्ठिर

बोले, "राजा के व्यक्तिगत गुण तो जो हैं, वे हैं ही; विचारणीय तथ्य तो यह है कि पिछली बार जब हमारे लोग वहाँ गए थे, तो राजा विराट ने उन सबको अपने यहाँ कोई न कोई काम दे दिया था।"

"राजा तो हमारे अनुकूल ही लगते हैं।" द्रौपदी बोली, "किंतु उनका वह सेनापति भी तो है, जिसने उन सब लोगों को अपने राज्य से निष्कासित कर दिया था। उस घटना की पुनरावृत्ति भी तो हो सकती है।"

"हाँ ! हो तो सकती है; किंतु इस समय तो हम संभावनाओं की बात कर रहे हैं।" अर्जुन बोला, "विचारणीय यह है कि राजा विराट, उनके परिवारजन तथा उनकी सभा के सदस्य हमें नहीं पहचानते। दूसरी बात, पांडवों के प्रति उनकी सहानुभूति असंदिग्ध है। किंतु उनका सेनापति कीचक नहीं चाहेगा कि राजा को कोई समर्थ सहायक मिले। इसलिए प्रथम तो वह हमारी नियुक्ति नहीं होने देगा; और यदि नियुक्ति हो गई, तो वह उसे निरस्त करने का प्रयत्न करेगा।"

"किंतु यह स्थिति तो किसी भी राजसभा में हो सकती है।" सहदेव बोला, "यदि हम पांचालों अथवा यादवों की सभा में भी रहना चाहें, तो क्या वहाँ हमारे विरोधी नहीं होंगे ? सुभद्रा के विवाह के समय ही यह निश्चित् हो गया था कि पांडवों का विरोध कर, दुर्योधन का समर्थन करनेवाले लोग वहाँ भी वर्तमान हैं।"

"ठीक कहते हो सहदेव !" युधिष्ठिर बोले, "जब हमारे अपने संबंधियों की राजसभाओं में हमारा विरोध हो सकता है, तो अपरिचित राजाओं की सभाओं में क्यों नहीं हो सकता। विराट के संबंध में महत्त्वपूर्ण यह है कि वे हमसे अपरिचित हैं और फिर भी उनके मन में हमारे प्रति सहानुभूति है। इन दो बातों के आधार पर, हमें सबसे पहले वहीं चलना चाहिए। यदि वहाँ कोई ऐसी कठिनाई आ गई कि हमारा वहाँ रहना कठिन लगने लगे, अथवा हमारे पहचान लिए जाने का कोई संकट उठ खड़ा हो, तो हमें अपने इस निर्णय पर पुनर्विचार करना पड़ सकता है।"

"धर्मराज ठीक कह रहे हैं।" अर्जुन ने समर्थन किया, "हमें कहीं से तो आरंभ करना ही है।"

"क्या कहती हो भद्रे ?" युधिष्ठिर ने द्रौपदी की ओर देखा।

"मैं सहमत हूँ।" द्रौपदी ने उत्तर दिया, "हमें कहीं से तो आरंभ करना ही है। यहाँ बैठे हुए, न हम सब कुछ जान सकते हैं, न पा सकते हैं। हमें कहीं न कहीं तो जाना ही होगा। कुछ न कुछ अनिश्चितता और किसी न किसी संकट का सामना तो करना ही होगा।"

"तो ठीक है। हमारा निर्णय यही है कि पहले हम राजा विराट की सभा मे जाएँ। यदि विकट प्रतिकूलता दिखाई पड़े तो कहीं और जाएँ; अन्यथा वहीं अपने अज्ञातवास का समय व्यतीत कर दें।" युधिष्ठिर बोले।

"यही ठीक है।" भीम भी सहमत हो गया, "किंतु यहाँ से वहाँ तक की यात्रा को गुप्त रखने के लिए भी हमें कोई युक्ति करनी होगी। यदि हमारी यात्रा और गंतव्य संबंधी सूचनाएँ यहाँ गुप्त न रहीं, तो वहाँ भी गुप्त नहीं रहेंगी।"

"मध्यम का विचार सर्वथा उपयुक्त है।" सहदेव बोला, "यहाँ की गतिविधि सामान्य रूप से चलती रहनी चाहिए। दुर्योधन के गुप्तचरों को ही नहीं, आस-पास के किसी भी व्यक्ति को यही आभास होना चाहिए कि पांडव यात्रा पर निकलने वाले हैं। मैं तो यही उचित समझता हूँ कि हमारे चले जाने के लगभग एक सप्ताह बाद तक, यहाँ हमारी यात्रा की तैयारियाँ होती रहें। उसके पश्चात् यहाँ से दो दल, पृथक्-पृथक् द्वारका और कांपिल्य की ओर, कुछ इस प्रकार प्रस्थान करे, जैसे हम भी उनके साथ ही चल रहे हों। यह सारा अभिनय इस दक्षता से हो कि दुर्योधन के गुप्तचर, यह तो जान ही न पाएँ कि हम यहाँ से जा चुके हैं, वे यह भी न जान पाएँ कि हम उन दोनों में से किसी सार्थ के साथ नहीं हैं; ताकि यदि वे दोनों सार्थो का पीछा करना चाहें, तो उन्हें भी स्वयं को दो दलो में विभाजित करना पड़े।"

"हमारा सहदेव तो चमत्कारी योजनाकार है।" भीम ने अपने स्थान से उठ कर, सहदेव को प्रोत्साहन की थपकी के रूप में, जोर का एक धौल जमा दिया।

31

पांडवों के आश्रम में बहुत सारी गतिविधियाँ एक साथ चल रही थीं, जैसे किसी विराट् आयोजन की तैयारी हो।

इंद्रसेन और विशोक अपने सहयोगियों की सहायता से, पांडवों के रथों को किसी लंबी यात्रा के लिए तैयार कर रहे थे। वे दोनों ही कुछ इतने आतुर और घबराए हुए थे कि समय-समय पर अपनी मर्यादा भूल कर, अपने सहयोगियों को इस प्रकार डाँट देते थे, जैसे सामान्यतः इस आश्रम में किसी को नहीं डाँटा जाता था। दूसरी ओर अश्वों को नहला-धुलाकर तैयार किया जा रहा था। रथ तैयार हो जाएँगे, तो उनमें अश्व जोत दिए जाएँगे। चारों ओर शीघ्र प्रयाण का सा वातावरण था; और किसी को किसी से बात तक करने का अवकाश नहीं था।

एक अपरिचित संन्यासी ने आकर इंद्रसेन के सम्मुख खड़े हो कर, आशीर्वाद की मुद्रा में हाथ उठाया, "कल्याण हो आयुष्मान ! कोई इस संन्यासी की बात सुनेगा ?"

इंद्रसेन ने एक उचटती-सी दृष्टि उस पर डाली, जैसे उसे उसकी ओर देखने तथा उसकी बात सुनने का भी अवकाश न हो, "आप अपनी बात कहते रहिए, तपस्वीप्रवर ! जिसे सुनना होगा, वह सुन लेगा। आपकी बात सुनने के लिए न तो आपके इस सुदर्शन रूप को देखना अनिवार्य है और न अपने हाथ के काम को रोकना।"

"जिसे सुनाना है, उसका पता पूछना है वत्स !" संन्यासी बोला, "तुम्हें सुना कर मुझे कोई लाभ होनेवाला नहीं है।"

"किसे सुनाना चाहते हैं ?"

"मैं धर्मराज युधिष्ठिर से कुछ धर्म-चर्चा करने के लिए बहुत दूर से उपस्थित हुआ हूँ। ईश्वर के स्वरूप से संबंधित कुछ सूक्ष्म गुत्थियाँ सुलझानी हैं। संभव है, इसमें धर्मराज मेरी कोई सहायता कर सकें।... और यदि हम दोनों मिल कर ये गुत्थियाँ सुलझा पाए, तो उससे धर्मराज को भी वहुत लाभ होगा। बहुत संभव है कि वे मोक्ष के कुछ और निकट हो जाएँ, अथवा उनके हृदय-दर्पण में ईश्वर का रूप आभासित होने लगे।" संन्यासी बोला, "वे कहाँ मिलेंगे ?"

इंद्रसेन समझ रहा था कि न तो यह व्यक्ति संन्यासी था; और न वह संन्यासियों के विधि-विधान को जानता था। वह संन्यासी होता तो आश्रम तथा उसके आस-पास निवास करनेवाले संन्यासियों का सत्संग करता और कुछ दिनों तक यहाँ की दिनचर्या देख कर उपयुक्त अवसर पर धर्मराज से चर्चा करता। यह तो इस आतुरता से धर्मराज की शरण में आया है, जैसे धर्म-चर्चा न करना चाहता हो, किसी राक्षस से अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए धर्मराज की सहायता लेने आया हो। ...

"महाराज के हृदय में कोई दर्पण नहीं है," इंद्रसेन बोला, "जहाँ आप ईश्वर को आभासित करना चाहते हैं संन्यासीप्रवर !"

"सबके हृदय में होता है। तू क्या मुझसे अधिक जानता है ?" संन्यासी ने अपना तेज दिखाया।

"अधिक न जानता तो आप मुझसे क्यों पूछ रहे होते महाराज ! दर्पण वह होता है, जो दर्प बढ़ाता है। महाराज में दर्प है ही नहीं, तो दर्पण भी नहीं होगा।" इंद्रसेन बोला, "वैसे उनकी रुचि ईश्वर का स्वरूप निर्धारित करने में नहीं है। उनका बल तो आचरण की शुद्धता पर है। धर्माचरण करने पर है। आचरण शुद्ध होगा तो ईश्वर स्वयं ही दर्शन देंगे। ..."

"तू मुझे ज्ञान दे रहा है।" संन्यासी क्रोध से बोला।

"नहीं महाराज ! मैं ऐसी मूर्खता क्यों करूँगा।"

"तो शीघ्र बता कि धर्मराज कहाँ हैं ?"

"इस समय महाराज या तो अपने भाइयों के साथ सरिता तट पर स्नान

करने गए होंगे या फिर धौम्य मुनि अपनी कुटिया के अवरोध में; उनसे यात्रा संबंधी कोई कर्मकांड करवा रहे होंगे।" इंद्रसेन बोला, "यदि उनसे स्नान करते हुए मिलना हो, तो आप भी घाट पर चले जाएँ। और यदि वे लोग स्नान कर चुके हों, तो आप भी धौम्य मुनि के कर्मकांड में सम्मिलित हो जाएँ।"

"अरे भाई, क्यों संन्यासी को बहका रहे हो।" विशोक बोला, "धौम्य मुनि पांडवों की यात्रा संबंधी किसी कर्मकांड में व्यस्त हैं। वे इस समय न इन्हें धर्मराज से मिलने देंगे, और न कर्मकांड में ही बैठने देंगे। ये वहाँ बैठ गए तो यात्रा संबंधी सारी गोपनीय सूचनाएँ इन्हें नहीं मिल जाएँगी ? पांडव इतने असावधान तो नहीं हो सकते। आज तपस्या कर रहे हैं, तो क्या हुआ, हैं तो क्षत्रिय राजा ही।"

दोनों ने एक संक्षिप्त सी दृष्टि संन्यासी पर डाली। बहुत तटस्थ रहने का प्रयत्न करते हुए भी संन्यासी अपनी प्रसन्नता नहीं छिपा पा रहा था। कुछ आतुर हो कर उसने पूछा, "धर्मराज यात्रा पर जा रहे हैं क्या ?"

"हाँ ! जा तो यात्रा पर ही रहे हैं, परंतु यह मत पूछना कि कहाँ जा रहे हैं।" विशोक ने कहा, "हमें तो इतना ही आदेश हुआ है कि उनके रथों को, यात्रा के लिए प्रस्तुत कर दें। अब जब वे आकर रथ में बैठ जाएँगे, तो ही बताएँगे कि रथों को किस ओर जाना है।"

"यदि अज्ञातवास की दृष्टि से उन्हें अपनी यात्रा को गुप्त ही रखना है, तो रथ में बैठते ही, यह घोषणा करने की उन्हें क्या आवश्यकता है कि उन्हे किस नगरी मे जाना है।" इंद्रसन ने उसे टोका, "यह भी तो संभव है कि रथ में बैठ कर सारथि से मात्र इतना ही कहें, 'चलो !'। वे मार्ग में भी तो सारथि को बता सकते हैं कि कहाँ जाना है; और यह भी संभव है कि वे सारथि को कुछ बताएँ ही नहीं। मार्ग भर उसे यही कहते रहें कि दाएँ चलो, बाएँ चलो अथवा सीधे चलो। ... और यह भी हो सकता है कि यहाँ से तो रथ में बैठ कर चलें, और मार्ग में पडनेवाली पहली नदी के घाट पर उतर जाएँ। वहाँ से नाव मे बैठ जाएँ और सारथि को आदेश दें कि रथों को लौटा कर आश्रम में ले जाए, ताकि धौम्य मुनि को अपनी यात्रा में कोई कष्ट न हो। ..."

"तुम उनको इतना ही असावधान समझते हो कि वे इन बंद रथों में बैठ कर, गुप्त रूप से यात्रा करने के स्थान पर, खुली नौकाओं में यात्रा करेंगे, ताकि कोई भी उन्हें देख कर जान सके कि वे लोग कहाँ जा रहे हैं।"

"अरे भाई !..." संन्यासी ने कुछ कहना चाहा।

"अभी शांत रहिए।" इंद्रसेन ने उसे डाँट दिया, "पहले हम यह निर्णय कर लें कि उन्हें रथों में यात्रा करनी है अथवा नौकाओं में।"

"पर जाना तो निश्चित है न ?" संन्यासी ने पूछा।

"देखो संन्यासी !" इस बार इंद्रसेन अपना हाथ रोक कर उसकी ओर

मुड़ा, "तुम जो कुछ पूछ रहे हो, उसका कोई अर्थ भी है ? यदि यात्रा न करनी होती तो हमें इन रथों और अश्वों की इतनी सेवा करने की क्या आवश्यकता थी। अब यदि तुम पूछोगे कि वे कहाँ जाएँगे, तो वह हमें ज्ञात नहीं है। यदि यह जानना चाहोगे कि कब जाना है, तो हमारे पास एक ही उत्तर है कि जब पाँचों पांडव तथा महारानी पांचाली स्नान इत्यादि कर, यात्रा संबंधी कर्मकांड इत्यादि संपन्न कर लेंगे; और आकर रथ में बैठ जाएँगे, तो ही यात्रा आरंभ होगी।" उसने एक कठोर दृष्टि संन्यासी पर टिकाई, "तुम्हें और कुछ पूछना है ? यह भी इसलिए बता दिया कि तुम संन्यासी हो। यदि दुर्योधन के गुप्तचर होते तो हम तुम्हें इतना भी नहीं बताते।"

निमिष भर के लिए संन्यासी हतप्रभ रह गया; किंतु उसने तत्काल स्वयं को सँभाल लिया, "मुझे धर्मराज के दर्शन कर उनसे कुछ याचना भी करनी है। क्या मैं तुम्हारे पास बैठ कर, उनकी प्रतीक्षा कर सकता हूँ ? संभवतः उनके प्रस्थान से पहले उनसे भेंट हो जाए।"

"तुम हमारे पास बैठ कर भी उनकी प्रतीक्षा कर सकते हो और हमसे दूर रह कर भी।" इंद्रसेन बोला, "किंतु मेरी एक चेतावनी सुन लो। पांडवों में से जो मध्यम कहलाते हैं, वे युवराज भीमसेन, कुछ अधिक ही क्रोधी हैं। आज कल तो उनका धैर्य और संयम एकदम ही समाप्त हो गया है। दुर्योधन से कुछ इतने डरे हुए हैं कि किसी भी नए अथवा अपरिचित व्यक्ति को देखते हैं, तो उसे दुर्योधन का गुप्तचर मान लेते हैं।" इंद्रसेन ने रुक कर, एक अर्थपूर्ण दृष्टि संन्यासी पर डाली, "और यदि यह संदेह पुष्ट हो जाए, तो फिर वे उस व्यक्ति को जीवित नहीं छोड़ते। ... और वैसे भी तुम हमारे काम में व्यवधान बने हुए हो। वे लोग अपनी पूजा-उपासना पूरी कर यदि आ गए और रथ उन्हें तैयार न मिला, तो हमारी कुशल भी सुनिश्चित नहीं है; तुम्हारा तो कहना ही क्या।"

इंद्रसेन की दृष्टि से छुपा नहीं रहा कि संन्यासी के भयभीत होने के अभिनय के पीछे, कहीं उल्लास की मुस्कान भी छिपी थी।

"भीमसेन तो क्रोधी हैं; किंतु मैंने सुना है कि धर्मराज बहुत दयालु हैं। क्या वे अपने युवराज को यह अन्याय करने की अनुमति देंगे ?" वह बोला।

"कौन-सा अन्याय ?" विशोक ने पूछा।

"यही। एक अपरिचित व्यक्ति को केवल संदेह के आधार पर कठोरतापूर्वक दंडित करना।" संन्यासी कुछ सावधान हो गया, "किंतु मुझे क्या ! मुझे तो कुछ दार्शनिक गुत्थियाँ सुलझानी हैं, भीमसेन के चरित्र का विश्लेषण नहीं करना है।"

"तो फिर ठीक है।" इंद्रसेन ने कहा, "वहाँ जाकर उस वृक्ष की छाया में सुख से बैठो।"

संन्यासी कुछ नहीं बोला। कुछ पग चल कर, एक वृक्ष की छाया में बैठ गया और वहीं से उच्च स्वर में बोला, "मैं यहीं उनकी प्रतीक्षा करूँगा; क्योंकि मुझे धर्मराज से जो याचना करनी है, वह मैं किसी और से नहीं कर सकता।"

इंद्रसेन और विशोक की दृष्टि एक-दूसरे से मिली; और एक अत्यंत सूक्ष्म मुस्कान उनके अधरों पर फैल गई।

संन्यासी अपने स्थान पर बैठा देखता रहा कि रथों को धोया गया, पोंछा गया। उनका पूर्ण निरीक्षण हुआ। उनके तल्पों पर वस्त्र बिछाए गए और फिर सहसा उन पर यवनिकाओं के रूप में तृणों के आवरण डाल दिए गए। ...

संन्यासी अपने स्थान पर टिक नहीं पाया। वह उठ कर पुनः उनके पास चला आया और बोला, "ये आवरण क्यों डाले जा रहे हैं ? क्या वीर पांडव अवगुंठनवती स्त्रियों के समान यात्रा करेंगे ?"

इंद्रसेन उसकी ओर देख कर मुस्कराया, "मुझे अशिष्टता के लिए क्षमा करना संन्यासी ! किंतु मैं कहे बिना नहीं रह सकता कि तुम कुछ मूर्ख हो। अरे, तुम इतनी-सी बात नहीं समझते कि पांडव अज्ञातवास के लिए जानेवाले हैं। यदि वे प्रत्यक्ष रूप से यात्रा करेंगे, तो क्या पहचान नहीं लिए जाएँगे। उनका प्रयत्न तो यही है कि इन प्रच्छन्न रथों में यात्रा करें, ताकि अपने परिचित नगरों में से भी हो कर निकलें, तो किसी को आभास भी न हो सके कि इन रथों में पांडव जा रहे है।"

सन्यासी ने पर्याप्त तटस्थ दिखने का प्रयत्न किया, "हम वनवासी तपस्वी, इन राजनीतिक पाखंडो को क्या जानें। हम ठहरे सीधे-सादे लोग। न किसी से कोई दुराव, न छिपाव। न रहस्य न अलगाव।"

"तो इतना अलगाव तो रखो संन्यासी ! कि वहीं वृक्ष के नीचे धैर्यपूर्वक बैठे रहो।" विशोक बोला, "बार-बार यहाँ आकर यह मत पूछो कि रथ में भोजन क्यों रखा जा रहा है। शस्त्र क्यों रखे जा रहे हैं ? बैठने के साथ-साथ किसी के सोने की व्यवस्था क्यों की जा रही है ? क्या कोई रोगी भी यात्रा करेगा ?" वह रुका, "अरे भाई यदि कोई लंबी यात्रा होगी, तो साथ में भोजन इत्यादि की व्यवस्था भी करनी ही पड़ेगी। सब स्थानों पर भोजन उपलब्ध भी तो नहीं होता; और वे तुम्हारे समान संन्यासी तो हैं नहीं कि भिक्षा पर निर्भर रहें। और देवी पांचाली सारी यात्रा बैठ कर तो नहीं करेंगी। उनके विश्राम की व्यवस्था भी तो करनी ही पड़ेगी।"

संन्यासी पर्याप्त संतुष्ट दिखाई दे रहा था। वह पुनः जाकर वृक्ष के नीचे बैठ गया। ... किंतु बैठते ही, उसके मुख पर एक प्रकार की व्यग्रता प्रकट हो

गई। लगा कि अब वह वहाँ बैठना नहीं चाहता; किंतु बाध्य हो कर बैठा हुआ है। उसकी बाध्यता भी उसे अधिक देर तक बाँध नहीं पाई। वह पुनः उठ खडा हुआ।

"कहीं जा रहे हो संन्यासी ?" इंद्रसेन ने पूछा।

"हाँ ! सोचता हूँ, कहीं से थोडा भोजन कर आऊँ।"

"पांडवों को आ लेने दो, भोजन तो तुम्हें हम यहीं करवा देंगे।" इंद्रसेन बोला।

"नहीं ! यात्रा के समय, उन पर क्या बोझ डालना।" संन्यासी रुका नहीं।

"और तुम्हारे पीछे से पांडव अपनी यात्रा पर निकल गए तो अपनी दार्शनिक गुत्थियाँ किसके सामने खोलोगे ?" विशोक ने पूछा।

"नहीं ! मैं शीघ्र ही आ जाऊँगा।" संन्यासी रुका नहीं। वह जाने के लिए अत्यंत आतुर हो उठा था।

संन्यासी बड़े वेग से चला; और पांडवों के आश्रम के संन्यासियों के कुटीरों की ओर जाने के स्थान पर, वह सघन वन की ओर मुड गया। कुछ देर तक तो वह शीघ्रतापूर्वक चलता रहा, और फिर जैसे अपनी गति से संतोष न होने के कारण भागने लगा। ... वह अब और विलंब नहीं कर सकता था। कुछ दूर जाकर वह रुका। सावधानी से चारों ओर देखा और फिर एक कुंज में घुस गया। भीतर उसके तीन सहयोगी बैठे थे।

"क्या हुआ ?" एक ने पूछा।

"हम बहुत समय से पहुँचे हैं।" संन्यासी वेशधारी ने हाँफते हुए कहा, "वे लोग प्रस्थान की तैयारी में हैं। हमें एक भी दिन का विलंब हो जाता, तो वे लोग निकल गए होते।"

वह चुप हो गया।

"अब क्या स्थिति है ?" उसके सहयोगियों में से एक ने पूछा।

"रथ कसे जा रहे हैं। अश्वों को तैयार किया जा रहा है। वे लोग स्नान करने गए हुए हैं; अथवा कुटीर के भीतर धौम्य उनके लिए कर्मकांड करवा रहे हैं।" संन्यासी वेशधारी बोला, "अपनी ओर से वे बहुत सावधानी बरत रहे हैं; पर हम कौन से मूर्ख हैं।"

"क्या सावधानी ?" दूसरे सहयोगी ने पूछा।

"प्रच्छन्न रथों में यवनिकाएँ लगा कर, गुप्त रूप से यात्रा करेंगे; जैसे रथ में बैठा व्यक्ति दिखाई न दे तो उसका पीछा ही न किया जा सकता हो।"

उन्होंने एक सम्मिलित अट्टहास किया और सहसा किसी की पदचाप सुन

कर चुप हो गए। आनेवाला भी उन्हीं का सहयोगी था।

"क्या सूचना लाए हो ?"

"वे लोग जाने की तैयारी में हैं। सारे तपस्वी अपना बोरिया बिस्तर बॉध रहे हैं।" आगंतुक बोला, "हम सावधान रहें, तो उनके साथ ही उनके अगले ठिकाने पर पहुँच सकते हैं।"

"कैसे ?"

"अरे, हम भी उन्हीं तपस्वियों में मिल जाएँ। उनके सार्थ में ही यात्रा करें। जहाँ वे ठहरे, हम भी वहीं ठहरें; और जहॉ वे जाएँ, वहीं हम भी जाएँ। प्रत्येक पड़ाव से. हस्तिनापुर सूचनाएँ भेजते जाएँ। फिर युवराज जो चाहें, करें। जहॉ और जब उचित समझें, पांडवों को पकड़ लें; और फिर भेज दें, बारह वर्षो के वनवास को।" उसने एक वज्र अट्टहास किया।

"चुप !" दूसरे ने उसकी बॉह पकड़ ली, "क्या कर रहे हो। हम मूषक के समान बिल में छुपे बैठे हैं और तुम अट्टहास कर, उन्हें बता रहे हो कि हम यहाँ हैं।"

"अरे तो यह वन ही तो है।" पहला बोला।

"इसीलिए तो अधिक सावधानी बरतनी है मूर्ख !" दूसरे ने डॉटा, "नगर में सहस्रों लोग होते हैं, कोई किसी की ओर ध्यान नहीं देता। यहाँ तो पक्षी भी चौंक कर देखेंगे कि इस कुंज में कौन छिपा बैठा है।"

"ठीक है। मुझसे भूल हो गई। आओ, अब चलने की तैयारी करें।"

32

कृतवर्मा ने बलराम के घर में प्रवेश किया तो देखा वहाँ उद्धव पहले से ही बैठा था। उसका मन कुछ बुझ-सा गया। उद्धव के सामने वह खुल कर बात नहीं कर पाएगा। यद्यपि उसका न उद्धव से कोई विरोध था, न कृष्ण से, किंतु उद्धव हो या सात्यकि, ये लोग न तो उसकी बात ठीक से समझ पाते थे और न ही वह उनके सामने अपनी बात कह पाता था। जाने क्यों वे लोग उसे कृष्ण-विरोधी सिद्ध करने पर तुले रहते थे; और यह उसे एकदम अच्छा नहीं लगता था। जाने वे क्यों यह मानते थे कि कृष्ण के प्रति सारी सद्भावना उन्हीं तक सीमित है। इतना ही नहीं, वे तो यह भी मानते थे कि कृष्ण से तनिक सा मतभेद प्रकट करना भी जैसे कोई अपराध था।... पता नहीं कि वे ऐसा मानते थे या नहीं मानते थे, किंतु कृतवर्मा को तो ऐसा ही लगता था।...

"आओ कृतवर्मा !" बलराम ने उल्लसित मन और वाणी से उसका स्वागत किया। कृतवर्मा ने, जितना उसके लिए संभव था, उतना विनीत हो कर बलराम का अभिवादन किया और आसन पर बैठ गया। उसने प्रयत्नपूर्वक मुस्कराकर उद्धव की ओर भी देखा, "कैसे हो उद्धव ?"

उद्धव ने भी मुस्कराकर सिर हिला दिया, विशेष कुछ कहा नहीं।

उसके आने से पहले, वे लोग शायद किसी गंभीर विषय पर चर्चा कर रहे थे और कृतवर्मा के आ जाने पर न उस विषय से मुक्त हो पा रहे थे और न ही उसके सामने उस विषय की चर्चा करना चाह रहे थे।

"सुना है कि अपना अज्ञातवास का समय व्यतीत करने के लिए पांडव यहाँ, द्वारका में आ रहे हैं।"कृतवर्मा से और चुप नहीं रहा गया।

"तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? यहाँ नहीं आएँगे तो कहाँ जाएँगे ?" बलराम सहज भाव से बोले, "यहाँ जैसी सुरक्षा उन्हें और कहाँ मिलेगी। न यहाँ दुर्योधन के गुप्तचर झाँक सकते हैं, न यहाँ उन्हें किसी प्रकार का शारीरिक आघात पहुँचाया जा सकता है। कृष्ण के होते कोई उनकी ओर आँख उठा कर नहीं देख सकता। और सुभद्रा तथा पांडवों के पुत्र तो पहले ही यहाँ हैं। सारे परिवार का मिलन यहीं तो हो सकता है।"

"द्यूत प्रसंग के पश्चात् जब सुभद्रा द्वारका आ गई थी, तो मैं तब ही समझ गया था कि पांडवों की द्वारका में अज्ञातवास की योजना बन गई है।" कृतवर्मा बोला, "और क्यों न हो। उनका ससुराल द्वारका में। उनके पिता का ससुराल द्वारका में। तो फिर और कहीं जाने की आवश्यकता ही कहाँ है।"

"ऐसा लगता है कृतवर्मा ! कि तुम पांडवों के द्वारका आने से प्रसन्न नहीं हो।" उद्धव ने अपनी चिरपरिचित मुस्कान के साथ कहा, "तुम्हारी वाणी में उल्लास के स्थान पर परिहास है।"

"क्यों ? इसमें मेरी प्रसन्नता और अप्रसन्नता का प्रश्न कहाँ से आ गया।" कृतवर्मा अपने चेहरे पर सायास एक आक्रामक मुस्कान ले आया, "न वे मेरे घर आ रहे हैं, न उनकी रक्षा का दायित्व मुझ पर है।"

"क्यों, ऐसा कैसे कह सकते हो तुम ?"बलराम बोले, "क्या द्वारका के अतिथि तुम्हारे अतिथि नहीं हैं ? यदि वे तुम्हारे घर न आकर कृष्ण के घर आ रहे हैं, तो इसका अर्थ यह है कि उनकी रक्षा का दायित्व तुम्हारा नहीं है ? तुम जाकर दुर्योधन को सूचना दे दोगे कि पांडव किसी छद्म वेश में यहाँ अज्ञातवास कर रहे हैं ?"

कृतवर्मा को लगा कि अपने कुछ असावधान शब्दों के कारण वह व्यर्थ ही फँसता जा रहा है। उद्धव और सात्यकि के विरोध की उसे कोई चिंता नहीं है; किंतु न वह बलराम को रुष्ट करना चाहता है, न उनका विरोध मोल लेना

चाहता है।

"नहीं ऐसी तो कोई बात नहीं है, किंतु मैं अब तक यही मानता आया हूँ कि दुर्योधन और युधिष्ठिर के संदर्भ में हमारी स्थिति मध्यस्थ की सी है। कौरवों का झगड़ा कौरवों का ही रहे। उसमें यादवों को टॉग अडाने की क्या आवश्यकता है। यादवों के अपने ही झगड़े कम हैं क्या।"

"यही तो अंतर है हममें और कृष्ण में, "उद्धव कृतवर्मा का सीधा विरोध टाल गया, "कृष्ण के लिए कोई झगडा किसी कुल, समाज अथवा राज्य का नहीं होता। वे तो प्रत्येक विवाद को, प्रत्येक मतभेद को, प्रत्येक संघर्ष को मात्र धर्म और अधर्म की दृष्टि से देखते हैं। वे कहीं भी मध्यस्थ नहीं हैं। वे सदा धर्म के साथ हैं।"

"उद्धव हो या सात्यकि, इनके सम्मुख कुछ भी ऐसा नहीं बोलना चाहिए, जो कृष्ण से कुछ भिन्न होने का आभास भी देता हो।" बलराम हॅसे, किंतु स्पष्ट था कि उस हँसी में परिहास की नहीं उपहास की ही ध्वनि अधिक थी, "तुम निश्चिंत रहो उद्धव ! कृतवर्मा ऐसा कुछ नहीं करने जा रहा है जिसमें पांडवों अथवा कृष्ण की कोई हानि होती हो।"

"मै फिर वही कहूँगा बलराम भैया !" उद्धव अपनी मधुर मुस्कान के साथ बोला, "प्रश्न कृष्ण अथवा पांडवों की हानि का नहीं है, प्रश्न है धर्म की हानि का। हमारा आरंभ से यही दृष्टिकोण रहा है कि किसी की हानि हो जाए क़िंतु धर्म की रक्षा होनी चाहिए।"

"अच्छा उठो ! चल कर देखते हैं कि पांडवों के रथ आ पहॅुचे हैं या नहीं।" बलराम उठ खड़े हुए। निश्चित रूप से उनकी इस वाग्युद्ध में कोई रुचि नहीं थी।

कृष्ण के प्रासाद के बाहरी भाग में खड़े वे लोग पांडवों के रथों को आते हुए देखते रहे। रथ इस समय भी बड़ी अच्छी स्थिति में थे। अश्व भी हृष्टपुष्ट और प्रसन्न थे। पांडवों के वनवास तथा उनकी निर्धनता का उन पर कहीं कोई प्रभाव दिखाई नहीं पड़ रहा था। लगता था कि उनकी वैसी ही देख भाल हो रही थी, जैसी उनके अच्छे दिनों में हुआ करती होगी।

रथों में से उतर-उतर कर बहुत सारे लोग आए...दास-दासियॉ, रसोइये, सारथि, अनुचर, वन के साथी... किंतु उनमें से एक भी वह व्यक्ति नहीं उतरा, जिसकी बलराम प्रतीक्षा कर रहे थे। अंत मे जब इंद्रसेन ने आकर उन्हें प्रणाम किया तो बलराम ने कुछ चकित स्वर में पूछा, "जिनको आना था, वे सब आ गए क्या ? या अभी कुछ लोग पीछे आ रहे हैं ?"

"नहीं महाराज ! बस इतने ही लोग मेरे साथ थे।"

"तो क्या पांडव कांपिल्य चले गए ?" कृतवर्मा कुछ कुटिल स्वर में बोला, "उन्हें यादवों पर चाहे विश्वास न हो; किंतु उन्हें श्रीकृष्ण तथा बलराम भैया पर तो विश्वास करना ही चाहिए, या उन्हें वासुदेव बलराम पर भी विश्वास नहीं है। पर चलो कोई बात नहीं। वहाँ भी तो उनका ससुराल है। इस दृष्टि से वह स्थान भी पर्याप्त सुरक्षित है।" वह कुछ रुका, "पर इस व्यवहार से सुभद्रा को यह नहीं लगने लगेगा कि पांडवों के लिए उसके मायके से अधिक द्रौपदी का मायका विश्वसनीय है !"

"धर्मराज अपने भाइयों तथा महारानी द्रौपदी के साथ अज्ञातवास के लिए गए हैं आर्य !" इंद्रसेन आदरपूर्वक बोला।

"हाँ ! हाँ ! गए तो अज्ञातवास के लिए ही है, किंतु तुम्हें तो बता कर ही गए होंगे कि कहाँ जा रहे हैं।" कृतवर्मा बोला।

इंद्रसेन हँस पड़ा, "मुझे बता कर गए होते तो अज्ञातवास ही क्या होता आर्य !"

"ओह ! बहुत अच्छी प्रकार पढ़ा कर गए हैं।" कृतवर्मा की हँसी में कुछ-कुछ खिसियाहट का भाव था।

"नहीं आर्य ! आप मेरा विश्वास करें। हममें से कोई भी नहीं जानता कि वे लोग कहाँ गए हैं।' 'इंद्रसेन पूरी निष्ठा से उन्हें विश्वास दिला रहा था।

"तुम व्यर्थ ही इंद्रसेन को उलझाने का प्रयत्न कर रहे हो कृतवर्मा।" उद्धव इंद्रसेन की सहायता के लिए आगे बढ़ आया, "वे लोग सचमुच किसी को कुछ बता कर नहीं गए होंगे।"

बलराम ने कृतवर्मा को संकेत से मौन रह जाने का आदेश दिया। उन्होंने इंद्रसेन की पीठ पर हाथ रख उसकी सराहना की, "ठीक है। जाओ। बहुत दूर से यात्रा करके आए हो। जाओ विश्राम करो।"

वे कृतवर्मा को एक ओर ले गए, "तुम भी क्या मूर्खता का काम कर रहे हो। यदि वह इस प्रकार जिज्ञासा का उत्तर देने लगा तो कैसे तो पांडव अज्ञातवास करेंगे और कैसा वह आज्ञाकारी सेवक होगा।..."

"नहीं। मैंने सोचा कि हमसे क्या दुराव। वैसे वे नहीं बताना चाहते तो उनकी इच्छा। जिसे ज्ञात होगा कि वे कहाँ हैं, वही तो उनकी रक्षा का दायित्व भी पूरा कर सकता है।"

"उसकी चिंता तुम्हें नहीं करनी है। तुम जाओ अब।"

कृतवर्मा समझ नहीं पाया कि बलराम उसे जाने के लिए क्यो कह रहे हैं। पर जब उनकी रुचि उसे वहाँ और ठहराने में नहीं है तो उसे भी वहाँ रुक कर क्या करना है। वह सबको अभिवादन कर चुपचाप चला गया।

बलराम ने दृष्टि उठा कर देखा : वे जब कृतवर्मा को एक ओर ले गए थे, शायद उसी समय कृष्ण आ गए थे और उद्धव उन्हीं के पास चला गया था।

कृष्ण बहुत ध्यान से पांडवों के रथों और अश्वों को देख रहे थे, जैसे उनमें से कोई गोपनीय संदेश पढ़ रहे हों। फिर उन्होंने आए हुए प्रत्येक व्यक्ति से उसका समाचार पूछा।

बलराम आज तक समझ नहीं पाए थे कि कृष्ण यह क्या करते हैं। किसी सम्राट् की वे उपेक्षा कर जाएँ तो कर जाएँ; किंतु कर्मकरों, सारथियों, सेवकों से उनका समाचार अवश्य पूछेंगे, जैसे वे लोग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हों...और उस जिज्ञासा में कहीं कोई कृत्रिमता नहीं होती, कोई औपचारिकता नहीं होती। कैसा स्नेह होता है, जैसे वे ही उनके सबसे प्रिय लोग हों... पता नहीं कृष्ण प्यार जताता भर है या प्यार लुटाता भी है। बलराम को तो आश्चर्य यही है कि कृष्ण एक साथ इतने लागों से प्यार कैसे कर पाता है, इतने लोगों की चिंता कैसे कर लेता है ... पर कृष्ण के लिए यह कोई नई बात तो नहीं। वह तो अपने शैशव से यही करता आया है।

कुछ एकांत देख कर बलराम कृष्ण के पास पहुँच गए, "पांडव नहीं आए ?"

कृष्ण ने कुछ चकित दृष्टि से उनकी ओर देखा, "क्या-आप यह अपेक्षा कर रहे थे कि पांडव अपने अज्ञातवास का समय व्यतीत करने के लिए यहाँ आएँगे ! यहाँ तो एक-एक बच्चा उन्हें पहचानता है। यहाँ वे अज्ञातवास कैसे कर सकते थे।" कृष्ण कुछ रुके, "वे यहाँ आए होते तो वह उनके जीवन की सबसे बडी भूल होती।"

"तो वे कहाँ गए हैं ?"

"यह तो वे ही लोग जानें।" कृष्ण पूर्णतः आश्वस्त थे।

बलराम देख रहे थे कि पांडवों का जो निर्णय उनके लिए सर्वथा अनपेक्षित और अप्रत्याशित था, कृष्ण के लिए सहज और स्वाभाविक था। पता नहीं उनके और कृष्ण की चिंतन-पद्धति में इतना अंतर क्यों था ...

"जब हमें यह ज्ञात ही नहीं होगा कि वे लोग कहाँ है, तो उनकी रक्षा हम कैसे कर पाएँगे ?"

"अज्ञातवास में उन्हें अपनी रक्षा स्वयं ही करनी है।" कृष्ण मुस्कराकर बोले, "एक बार अज्ञातवास से वे सुरक्षित लौट आएँ तो फिर उनकी रक्षा का दायित्व आपका ही है।"

बलराम को लगा कि जिस कृतवर्मा को उन्होंने अभी-अभी यहाँ से भेजा है, वह कहीं गया नहीं, उनके अपने ही मन में आ बैठा है। वे यह नहीं मानते कि पाडवों को उन पर विश्वास नहीं है, किंतु कृतवर्मा कह रहा था कि अपने

इस संकट-काल में पांडव, सुभद्रा के मायके न आकर, द्रौपदी के मायके गए हैं। कृतवर्मा कहता है कि पांडव यदि यादवों पर विश्वास नहीं करते तो उन्हे कृष्ण और बलराम पर तो विश्वास करना चाहिए। तो क्या पांडव सचमुच उन पर विश्वास नहीं करते ?... नहीं वे ऐसा नहीं मान सकते, किंतु कृतवर्मा ऐसा मानता है। वे उस पर विश्वास करें न करें, किंतु वह ऐसा कहता है। और उसके ऐसा कहने का कोई आधार तो होगा। अभी कृतवर्मा यहाँ होता तो कहता कि वे व्यर्थ ही अपना सिर मार रहे हैं। कृष्ण उन्हें कुछ नहीं बताएँगे। वे नहीं मानते किंतु कृतवर्मा तो यही मानता है कि कृष्ण उन्हे सब कुछ बताते ही कहाँ हैं। अपना काम निकलवाने के लिए जितना आवश्यक होता है, उतना भर बता देते हैं। आज बताना नहीं चाहते हैं इसलिए कह दिया कि अज्ञातवास में पांडवों को अपनी रक्षा स्वयं करनी है, और कल जब युद्ध की स्थिति आएगी तो कृष्ण कह देगा, आप नहीं लडेगे तो कौन लडेगा। पांडवों की रक्षा कौन करेगा। ऐसा क्यों है कि पांडवों की रक्षा भी वे अपने मन से नहीं कर सकते, पाडवों की इच्छा से ही कर सकते हैं। जब कृष्ण कहेगा कि आओ हम पांडवो की रक्षा करें, तब वे भी कह देंगे कि अब पांडव अपनी रक्षा में समर्थ हो गए है, तो कर लें अपनी रक्षा। जब वे अज्ञातवास में अपनी रक्षा स्वयं कर सकते हैं तो साधारण वास में क्यों नहीं कर सकते। पता नहीं, वे लोग उनको इतना पराया क्यों समझते हैं।...

बलराम चौंके ... क्या सोचते जा रहे हैं वे ? कौन पराया समझता है उन्हें। सब उनके अपने हैं। क्या कृष्ण कभी उनके लिए पराया हो सकता है ? नहीं कोई उन्हें पराया नहीं समझता; किंतु यदि कृतवर्मा यहाँ होता तो कहता।

... ठीक है, वे लोग उन्हें पराया न भी समझते हों, तो भी पांडवों की इस नीति से कभी सहमत नहीं हुआ जा सकता। उन्हे चाहिए था कि वे अपने मित्रो एवं शुभचिंतकों को अपने पते-ठिकाने से अवगत रखते। अब अपने इस अज्ञातवास में उनका कोई अनिष्ट हो जाए तो कोई क्या कर सकता है। जब कोई अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारना चाहे तो हर क्षण उसकी बाँह तो नहीं पकड़ी जा सकती ...। और पांडव तो हर क्षण कुएँ में कूदने जैसा कुछ न कुछ करते ही रहते हैं। इस समय यदि बलराम को पता होता कि पांडव कहाँ हैं तो वे चुपचाप थोड़े बैठे रहते। उनकी खोज-खबर रखते। उनकी सुरक्षा का प्रबंध करते। पांडव निश्चिंत हो कर एक वर्ष भर का अज्ञातवास कर सकते थे, पर किसी के भाग्य में ही सुख न हो तो कोई क्या कर सकता है।...

बलराम फिर एक बार चौंके... वे यह सब क्या सोच रहे हैं। वे पांडवो के प्रति ही नहीं कृष्ण के प्रति भी अपने मन मे रोष पाल रहे है। ...'नहीं !'

उन्होंने अपने मन को समझाया, वे स्वयं यह सब कहाँ सोच रहे थे। वे तो मात्र इतना सोच रहे थे कि यदि कृतवर्मा यहाँ होता तो यह सब कहता।...उन्हें यह सब नहीं सोचना है। उन्हें कृष्ण पर भी पूरा विश्वास है और पांडवों पर भी। कोई उन पर अविश्वास नहीं कर रहा और न ही उनसे कुछ छिपाया जा रहा है।...

"अच्छा केशव ! मैं चलता हूँ।" वे बोले।

"क्यों कुछ देर रुकेंगे नहीं ?" कृष्ण ने बड़े स्नेह से पूछा।

"नहीं ! वह तो मैं अर्जुन से मिलने के मोह में चला आया था।"

"कोई बात नहीं। अब आए हैं तो रुक्मिणी से भी मिलते ही जाइए। बच्चे भी प्रायः स्मरण करते हैं कि आज कल ताया जी इधर आते ही नहीं।"

"नहीं ! इस समय चलूँगा। फिर किसी समय आ जाऊँगा। मेरा मन भी बच्चो से मिलने का करता रहता है।"

बलराम वहाँ से तो चले आए, किंतु अपने भवन में जाने का उनका मन नहीं हुआ। एक बार मन में आया कि कृतवर्मा के घर ही चले। वह तो उनके पास ही आया था। जाना भी नहीं चाहता था। उन्होंने स्वयं ही उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध विदा कर दिया था। ...

पर अगले ही क्षण उनका मन फिर बदल गया। नहीं ! वे कृतवर्मा के घर भी नहीं जाएँगे। कई बार उन्हें लगता है कि कृतवर्मा उनके मन को बहुत विषाक्त कर देता है। नहीं उन्हें उसके घर नहीं जाना है। उन्हें कहीं भी नहीं जाना है।

और सहसा उन्होंने पाया कि वे कृष्ण के भवन के उस खंड में प्रवेश कर रहे हैं, जिसमें इन दिनों सुभद्रा निवास कर रही थी।

उनके मन में जैसे एक लंबा एकालाप चल रहा था ... कोई और करे तो करे, सुभद्रा उन पर अविश्वास नहीं कर सकती, और ऐसा हो नहीं सकता कि अर्जुन ने सुभद्रा को भी अपने अज्ञातवास के विषय में अँधेरे में रखा हो। पति के तो श्वास भी उसी ओर चलने लगते हैं, जिस ओर उसकी पत्नी हो। और सुभद्रा तो अपने ही नहीं पांडवों के सारे ही पुत्रों का पालन-पोषण कर रही है। क्या अपने पुत्रों को भी नहीं बताएँगे कि वे कहाँ हैं। न बताएँ किंतु यह तो जानना चाहेंगे न कि उनके पुत्र कैसे हैं। और यदि जानना चाहेंगे तो उन्हे यह समाचार कहाँ भेजा जाएगा ? किसी के पास तो उन्होंने अपना कोई सूत्र छोड़ा होगा।...

सुभद्रा ने इस प्रकार अकस्मात् बलराम को आया देखा तो कुछ अटपटा गई. "अरे भैया आप ?"

"क्यों ? क्या इस समय मुझे नहीं आना चाहिए था ?" बलराम ने अपना असंतोष व्यक्त किया।

"नहीं। ऐसी तो कोई बात नहीं है। आप सामान्यतः इस प्रकार आया नहीं करते न। यह तो कृष्ण भैया की शैली है कि किसी भी समय कहीं भी प्रकट हो गए।"

"ठीक है मैं कृष्ण जैसा मायावी तो नहीं हूँ किंतु ऐसे छोटे-मोटे चमत्कार तो मैं भी कर ही सकता हूँ।"

"कर तो सकते है, पर करते नहीं हैं।" सुभद्रा हँसी, "यह समय आपकी मित्र-मंडली के जुटने का है। आज यह व्यतिक्रम कैसे हो गया ?"

"व्यतिक्रम होना तो नहीं चाहिए था, किंतु सुना कि तुम्हारे पति आ रहे हैं तो उनसे मिलने चला आया।" बलराम आसन पर बैठ कर मुस्करा रहे थे।

"मेरे पति !" सुभद्रा चकित स्वर में बोली, "यहाँ ? पर उन्हें तो अज्ञातवास के लिए किसी अज्ञात स्थान पर जाना था।"

"कहाँ जाना था ?"

"यह तो धर्मराज और उनके भाई ही जानते हैं या फिर कृष्णा दीदी जानती हैं, जो उनके संग हैं।" सुभद्रा सहज भाव से कह रही थी, "वे लोग द्वारका में आकर अज्ञातवास कैसे करेंगे, यहाँ का तो बच्चा-बच्चा उन्हें जानता है।"

बलराम का मुँह जैसे कड़वा हो गया : ठीक कृष्ण की शैली में कह रही है ...'यहाँ का तो बच्चा-बच्चा उन्हें जानता है। सब एक ही उत्तर दे रहे हैं। ... पर उनका मन था कि यह मानने को तैयार ही नहीं हो रहा था। ... यह उनका अपना मन ही था कि यह उनके मन में बैठा कृतवर्मा था, जो यह मानना नहीं चाहता था ?... शायद था तो यह कृतवर्मा ही, किंतु वह इस समय आकर उनके मन में बैठ गया था ...

"बात यह है सुभद्रे !" वे बोले, "कि जब मैंने सुना कि पांडवों के रथ द्वारका आ रहे हैं, तो यह कल्पना भी नहीं कर सका कि पांडवों के रथों में उनके सारथि और सेवक होंगे।" वे रुके, "अच्छा बताओ क्या पांडवों ने उचित किया कि किसी को भी नहीं बताया के वे कहाँ हैं। ऐसे में अब यदि शत्रु उनका कुछ अहित करते हैं तो उनके मित्र उनकी रक्षा कैसे कर पाएँगे ?"

सुभद्रा मुस्कराई, "पांडव यदि मात्र एक वर्ष के लिए भी अपनी रक्षा नहीं कर सकते तो वे अपना राज्य कैसे वापस लेंगे।"

बलराम को झटका-सा लगा, ... कृष्ण ने कम से कम यह तो कहा था

कि अज्ञातवास के पश्चात् पांडवों की रक्षा आप करेंगे। सुभद्रा को तो उसकी भी आवश्यकता नहीं लगी।

"और अपना राज्य भी वे अपने बल पर प्राप्त कर लेगे ?" वे समझ नहीं पाए कि यह उनका अपना आहत अपमान बोल रहा था अथवा यह भी उनके मन में बैठा कृतवर्मा ही सोच रहा था।

बलराम का यह प्रश्न सुभद्रा को आहत कर गया, "मैं आपको वचन देती हूँ भैया! कि यदि दुर्योधन अपने ही बल पर लड़ेगा तो पांडव भी किसी से सहायता माँगने नहीं जाएँगे। और फिर मेरे ये पुत्र किस दिन की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

सामने से अभिमन्यु आ रहा था।

"प्रणाम मातुल !" उसने बलराम के चरण स्पर्श किए।

बलराम ने अभिमन्यु को आशीर्वाद तो दिया, किंतु उनके अपने मन का धुंधलका छँट नहीं पाया ... सुभद्रा तो आरंभ से कुछ चतुर और चंचल थी। वह सदा आत्मनिर्भर और स्वाधीन रही है। कभी-कभी तो वह उन्हें परम स्वतंत्र भी लगी है,... किंतु वह उन्हें उद्दंड कभी नहीं लगी थी। वे अपने स्नेह में उसकी उच्छृंखलता की उपेक्षा कर जाते थे अथवा तब वह उच्छृंखल थी ही नहीं ? आज कल उसकी वाणी में बलराम को कभी अपनी उपेक्षा, कभी उद्दंडता, और कभी अहकार क्यों सुनाई पडने लगा है ? उनके मन में ही उसके प्रति अब वह बालकोवाला स्नेह भाव नहीं रहा अथवा पांडवों के संपर्क में आकर वह ही बदल गई है ?...

"कैसे हो अभिमन्यु !" बलराम ने उस पर एक परीक्षक दृष्टि डाली, "कैसी चल रही है तुम्हारी शस्त्र-शिक्षा ?"

"आपकी कृपा है मातुल !" अभिमन्यु बोला, "आज कल व्यूह-रचना सीख रहा हूँ। लगता है कि व्यूह रचने की तुलना मे व्यूह तोड़ना कुछ अधिक कठिन है।"

"ऐसा क्यों सोचते हो पुत्र ?" बलराम ने पूछा, "जरासंध से हुए अपने युद्धों में हम व्यूह रचते भी रहे हैं और तोडते भी। ऐसा कौन-सा व्यूह है, जो कृष्ण ने न तोडा हो।"

"आप ठीक कहते है मातुल !" अभिमन्यु बोला, "किंतु मैं तो इसलिए कह रहा था कि व्यूह रचने से आपको कोई रोकता नहीं है; किंतु व्यूह तोडने से आपको रोकने के लिए सेनाएँ की सेनाएँ सामने खडी होती हैं। और जहाँ तक मातुल कृष्ण का संबंध है, वे अपनी योजना के अनुसार चल रहे हैं। मैं चक्रव्यूह की रचना पहले सीखना चाहता हूँ और वे हैं कि उसे टालते जा रहे हैं। उसमें प्रवेश करना तो लगभग मुझे आता ही है, किंतु उसमें से निकल आना अभी मेरे लिए कुछ कठिन है।"

"तुम चक्रव्यूह में प्रवेश कर सकते हो ?" बलराम ने कुछ आश्चर्य से पूछा।

"हॉ मातुल। साथ कोई अच्छा सहायक हो, पीछे से आनेवाले प्रहारों को कोई किसी सीमा तक झेलता चले तो मैं भीतर प्रवेश कर सकता हूँ।"

"किसने सिखाया ? तुम्हारे पिता ने ?"

"नहीं ! पिता जी से जब मैं पृथक् हुआ था, तब तो मैं मात्र तीन ही वर्षों का था। तब वे कैसे सिखाते, किंतु उन्होंने कभी मॉ से इस व्यूह की चर्चा की थी। वह चर्चा किन्हीं कारणों से पूरी नहीं हो पाई थी, तो माँ ने भी केवल प्रवेश ही सीखा था। माँ ने वही मुझे सिखा दिया है। अब मातुल कृष्ण उसको तोड़ कर बाहर आना सिखाएँ तो मेरा प्रशिक्षण पूरा हो।"

बलराम ने कुछ आश्चर्य से सुभद्रा की ओर देखा : उसकी क्षमताओं को वे जानते थे; किंतु यह नहीं जानते थे कि वह चक्रव्यूह जैसे जटिल व्यूहों को वेधना भी जानती है और अपने इस बालक पुत्र को भी सिखा सकती है। उनकी इच्छा हुई कि वे पुराने समय के ही समान सुभद्रा के सिर पर अपनी हथेली रख कर उसकी सराहना करें ... किंतु जाने वह क्या था, जो उनकी भुजा और जिह्वा दोनों को ही थामे हुए था। सुभद्रा के मुख की उस मुस्कान में उन्हें पांडवों का अहंकार और अपनी अवगुंठित उपेक्षा दिखाई पड़ रही थी।

"तुम सीखने को इतने आतुर हो तो कृष्ण तुम्हें पहले चक्रव्यूह के विषय में ही शिक्षा क्यों नहीं देता ?"

बलराम मुस्करा रहे थे। वे अपने प्रश्न का उत्तर जानते थे। वे जानते थे कि अभिमन्यु अभी छोटा था। वह चक्रव्यूह के वेग को झेल नहीं सकता था।

"मातुल कहते हैं कि मॉ ने मुझे यह तब सिखाया था, जब मैं यहॉ अकेला था। मेरे शेष भाई कांपिल्य में थे। अब, जब वे सब लोग यहीं हैं, मुझ अकेले को अलग से कुछ नहीं सिखाया जा सकता।"

"तो उन सबको भी सिखा दें।" बलराम बोले, "वास्तविक बात यह है कि या तो वह तुम्हें सिखाना नहीं चाहता, या फिर तुममें अभी उसे सीखने की क्षमता विकसित नहीं हुई है।"

बलराम की यह बात न सुभद्रा को अच्छी लगी, न अभिमन्यु को ही। वे दोनों ही समझ रहे थे कि यह बलराम का विनोद नहीं था। वे सचमुच ही अभिमन्यु की क्षमता को कम ऑक रहे थे। सुभद्रा चुप रहीः जाने क्यों इस समय बलराम अभिमन्यु की प्रशंसा करना नहीं चाहते थे। ... किंतु अभिमन्यु मौन नहीं रहा।

"नहीं मातुल ! मातुल कृष्ण कहते हैं कि मेरे अन्य भाई पहले ही प्रशिक्षण में मुझसे पीछे चल रहे हैं। ऐसे में मुझ अकेले को और आगे का पाठ पढ़ाना उचित नहीं है। मेरे लिए भी इतना स्वार्थी होना शोभनीय नहीं है। जब वे लोग मेरे समकक्ष आ जाएँगे और मेरे साथ-साथ सीख सकेंगे तो मातुल मुझे चक्रव्यूह संबधी सारा ज्ञान दे देंगे। अभी तो बस मै भीतर प्रवेश ही कर सकता हूँ।"

बलराम को अभिमन्यु का उत्तर अपनी धारणा के सर्वथा विरुद्ध लगा। निश्चित् रूप से सदा अपनी प्रशंसा सुनने का अभ्यस्त अभिमन्यु यथार्थ को स्वीकार नहीं कर पा रहा था। उचित था कि बलराम उसे उसकी वास्तविकता बता ही दें।

"तुम ऐसा समझते हो कि चक्रव्यूह को वेध कर भीतर प्रवेश करने की क्षमता तुम में है; किंतु वस्तुतः प्रवेश करके तुमने देखा तो नहीं है न ! बहुत संभव है कि वास्तविक युद्ध में तुम्हारी यह विद्या सफल न हो पाए। तुमने न अभी किसी युद्ध मे इसका प्रयोग करके देखा है, और न तुमने उसे किसी विश्वसनीय युद्धाचार्य से सीखा है।"

"भैया ! आशीर्वाद न देना चाहें तो न दें; किंतु ऐसा शाप तो न दें।" बहुत चाहने पर भी सुभद्रा अपने मन की कटुता छुपा न सकी।

"इसमें शाप की क्या बात है सुभद्रे ! योद्धाओं को अपने विषय में भ्रम में नहीं रहना चाहिए। ऐसे भ्रम कभी-कभी बहुत घातक प्रमाणित होते हैं।" बलराम अपनी बात पर टिके रहे, "तुमने भी अर्जुन से इसकी चर्चा ही सुनी है। न अर्जुन ने युद्ध में इसका प्रयोग कर तुम्हें दिखाया, न तुमने किसी युद्ध में इसका प्रयोग करके देखा, तो फिर यह कैसे मान लिया जाए कि सिखानेवाले ने उसे त्रुटिहीन ढंग से सिखाया और सीखनेवाले ने उसे पूर्णता से सीखा।"

सहसा सुभद्रा हँस पडी। समझ गई कि इस समय बलराम अपनी बात पर अडने की मुद्रा में हैं।

"अब तो एक ही विधि है भैया ! अभिमन्यु की क्षमता प्रमाणित करने की।"

"क्या विधि हो सकती है ?" बलराम अपनी सफलता पर प्रसन्न थे।

"आप चक्रव्यूह रचें और अभिमन्यु उसमें प्रवेश करके दिखाए।"

"ओह !" बलराम अट्टहास कर उठे, "तुम बहुत चतुर हो सुभद्रा ! तुम चाहती हो कि इस विधि से अभिमन्यु चक्रव्यूह में प्रवेश करने का अभ्यास कर ले। फिर वह हठ कर, मुझसे चक्रव्यूह की शेष विधियाँ सीख ले। कृष्ण सिखाना नहीं चाहता, इसलिए उसकी इच्छा के विरुद्ध यह मुझसे सीख ले और कृष्ण को अंगूठा दिखा दे।"

"आपकी कल्पना तो इस समय असाधारण रूप से उर्वर हो रही है भैया!" सुभद्रा ने बलराम की बात में से कोई गंभीर अर्थ ग्रहण नहीं किया, "जो कुछ कहनेवाले के भी मन में न हो, आप उसकी भी कल्पना कर सकते हैं।"

"हाँ ! मैं तो यह भी कल्पना कर रहा हूँ कि पांडवों के अज्ञातवास संबंधी सूचनाओं के चारों ओर तुमने चक्रव्यूह रच लिया है और मैं अपने सारे प्रयत्नों के पश्चात् भी उसे वेध नहीं पाया हूँ। किसी के रचे हुए चक्रव्यूह में अभिमन्यु प्रवेश कर सकता है; किंतु तुम्हारे रचे हुए चक्रव्यूह का वेधन मुझसे नहीं हो सका।"

बलराम हँस रहे थे और हँसते-हँसते उठ कर वे चले गए। सुभद्रा और अभिमन्यु चुपचाप खड़े उन्हें जाते हुए देखते रहे।

"आज मातुल का मन किस ओर चल पड़ा है ?" अभिमन्यु बोला।

"कभी-कभी इनके साथ ऐसा भी होता है।" सुभद्रा ने उत्तर दिया, "मन हठ पकड़ लेता है तो हिलता ही नहीं। ऐसी दशा में इन्हें केशव ही सँभाल सकते हैं। सोचती हूँ तो डर जाती हूँ कि जिस दिन इन्होंने केशव की भी न मानी, उस दिन द्वारका का क्या होगा।"

अभिमन्यु ने माँ की ओर कुछ ऐसी दृष्टि से देखा, जो कह रही थी, कि न वह मातुल की बात समझ पाया था, और न वह अब अपनी माँ की बात समझ रहा था। उसने अपने कंधे उचकाए और निश्चिंत भाव से आगे बढ़ गया।

किंतु सुभद्रा की चिंता दूर नहीं हुई। बलराम निश्चित् रूप से अपने मन में एक गाँठ लेकर गए थे; और बलराम के मन की यह गाँठ उनमें से किसी के लिए भी हितकर नहीं हो सकती थी।

आत्मलीन से बलराम चलते हुए कब सांब के भवन में प्रवेश कर गए, उन्हें पता ही नहीं चला। उन्होंने अपने आपसे पूछा भी कि वे सांब के भवन में क्या करने जा रहे हैं; किंतु न ही उनके प्रश्न का कोई उत्तर मिला, और न ही उनके पग थमे। पग तब रुके, जब सांब की पत्नी, दुर्योधन-पुत्री लक्ष्मणा ने आकर उनके चरण स्पर्श कर उन्हें प्रणाम किया।

"कैसी हो बहू ?"

"आपका आशीर्वाद है ताया जी।"

उसने आसन रख दिया और दासी के हाथ से लेकर, स्वयं जल का चषक उनकी ओर बढ़ाया।

"सांब कहाँ है ?" बलरामं ने जल का चषक थाम लिया।

"बता कर नहीं गए।" लक्ष्मणा बोली, "बस यही कह गए हैं कि संध्या

तक ही लौट पाएँगे।"

"ऐसा कौन-सा स्थान है, जहाँ वह जाता है और तुम्हें बताना नहीं चाहता। तुम्हें ध्यान रखना चाहिए कि किसी अनुचित स्थान पर तो नहीं जाता।"

"ध्यान रखती हूँ ताया जी ! और यह भी ध्यान रखती हूँ कि इस प्रकार पति-पत्नी में झगडा करवाना आपकी क्रीडा है।" लक्ष्मणा हँस कर बोली।

"इसका अर्थ है कि उस दुष्ट ने तुम्हें मेरे विषय में वह सब भी बता दिया, जो मात्र उसके और मेरे बीच का रहस्य था।"

"नहीं ताया जी ! अब यह उनके और आपके बीच का ही रहस्य नहीं है। अब तो इस रहस्य को सारी द्वारका जानती है।" लक्ष्मणा बोली।

"अच्छा ! और मुझे पता भी नहीं चला कि द्वारकावासी मेरी क्रीड़ाओं मे भी इतनी रुचि रखते हैं।" बलराम फिर से कुछ आत्मलीन हो गए, "हाँ ! मैं भी तो दूसरों में इतनी रुचि रखता हूँ। अब प्रातः से इसी व्यसन में घूम रहा हूँ कि पांडव द्वारका आए या नहीं आए।"

"तो क्या पता लगा, ताया जी ! पांडव द्वारका आए या नहीं आए ?"

"पांडवों के रथ और सारथि तो द्वारका में आए हैं; किंतु अभी पांडवों के दर्शन किसी को नहीं हुए हैं।"

"इसका क्या अर्थ है ताया जी !" लक्ष्मणा ने पूछा।

बलराम ने उसके प्रश्न की ओर ध्यान नहीं दिया। वे जैसे शून्य में कुछ खोजते रहे और फिर सहसा लक्ष्मणा की ओर घूमे, "लक्ष्मणा क्या तुम जानती हो कि अज्ञातवास के लिए पांडव कहाँ गए हैं ?"

"नहीं ताया जी ! मैं कैसे जानूँगी।" लक्ष्मणा सकपका गई, "मेरा तात्पर्य है कि यह तो गोपनीय सूचना है। यह किसी को भी ज्ञात नहीं होनी चाहिए। यदि यह सूचना भी प्रचारित हो गई तो फिर अज्ञातवास ही क्या रहेगा।"

"हाँ है तो गोपनीय ही।" बलराम से कहे बिना नहीं रहा गया, "और तुम जानोगी भी कैसे। तुम तो दुर्योधन की पुत्री हो।"

अकबकाई सी लक्ष्मणा, फटी-फटी आँखों से बलराम की ओर देखती रही... क्या कह रहे है वे। वे उसे सांब की पत्नी अथवा कृष्ण की पुत्रवधू न कह कर, दुर्योधन की पुत्री कह रहे हैं।... उसके मन मे तो यह पूर्णतः स्पष्ट है कि अज्ञातवास संबंधी सूचना, पांडवों की अत्यंत गोपनीय निधि है। उस गोपनीयता से उनका सारा राज्य और धन संपत्ति ही नहीं, मान-सम्मान और कदाचित् उनके प्राण भी अनुबंधित हैं। ...ऐसे में वे सूचनाएँ, द्वारका में सार्वजनिक रूप से प्रचारित कैसे हो सकती हैं।...जहाँ तक लक्ष्मणा समझती थी, स्वयं बूआ सुभद्रा भी नहीं जानती थीं कि इस समय पांडव कहाँ हैं; तो लक्ष्मणा यह कैसे जान सकती थी। ... तो फिर ताया जी यह सब क्यों कह

रहे हैं ?...

जब तक कि वह संभलती, बलराम का दूसरा प्रश्न किसी तीक्ष्ण बाण के समान उसके वक्ष में आ लगा, "द्वारका में तो तुम्हें किसी ने कुछ नहीं बताया, तो क्या दुर्योधन ने भी तुम्हें कोई सूचना नहीं दी ?"

लक्ष्मणा के मन और मस्तिष्क जैसे स्तब्ध खडे कुछ समझने का प्रयत्न कर रहे थे। ...यह भी ताया जी का कोई परिहास ही था ? कोई क्रीड़ा थी, अथवा वे सचमुच विश्वास करते थे कि उसमें और उसके पिता में कोई ऐसा संपर्क था, जिसके माध्यम से उसे हस्तिनापुर से सूचनाएँ भिजवाई जाती थीं, अथवा भिजवाई जा सकती थीं ? ... यह संदेह था ? आरोप था ?? अथवा मात्र क्रीड़ा थी ???

बलराम ने और कुछ नहीं कहा। बिना किसी पूर्व संकेत अथवा चेतावनी के वे अकस्मात् ही उठ खड़े हुए। जब तक कि लक्ष्मणा उनसे कुछ पूछने की बात सोच पाती, वे बाहर की ओर चल पडे थे। वह चुपचाप खड़ी उन्हें जाते हुए देखती रही। वे द्वार से बाहर निकल गए और उनका अनुसरण करती हुई दासी ने, उनके पीछे कपाट भिड़ा दिए।

बाहर खुले में ठंडी बयार बह रही थी। बलराम को लगा कि भवन के बाहर आकर, वे कुछ अधिक सुखद स्थिति का अनुभव कर रहे हैं। उनका मन भी कुछ अधिक सजग हो उठा था ..."यह वे क्या कह आए लक्ष्मणा को ? ... कहीं लक्ष्मणा के मन में यह बात जम गई कि यादव उस पर विश्वास नहीं करते, क्योंकि वह दुर्योधन की पुत्री है—तो क्या परिवार में कलह नहीं होगी ? ... वे अपने ही परिवार में ऐसा विभाजन क्यों कर रहे हैं ?...

किंतु अगले ही क्षण, मन का कोई अन्य अंश अधिक सबल हो उठा ... वे विभाजन कर रहे हैं ? वे कहाँ चाहते है कोई विभाजन ?...पर कोई उन्हें क्यों नहीं बताता कि पांडव कहाँ हैं ? क्या किसी ने उन्हें परिवार का अंग माना ?

उन्होंने चकित होकर अपने मन मे झाँका : यह क्या हो रहा है उन्हें ? पांडवों के सबसे बड़े शत्रु दुर्योधन की पुत्री भी समझती है कि यह सारा प्रसंग गोपनीय है ...तो उनका ही मन क्यों नहीं मान रहा कि यह पांडवों का अपना रहस्य है, जिसे और कोई नहीं जानता। अपनी रक्षा के लिए ही पांडव इस रहस्य की रक्षा कर रहे हैं। कोई बलराम से कुछ नहीं छुपा रहा। कोई उन्हें पराया नहीं समझ रहा। कोई उनकी उपेक्षा नहीं कर रहा ?...

बलराम सोचते रहे और चलते रहे। कभी बाहर दृष्टि डाल लेते थे और कभी मन के भीतर झाँक लेते थे ... वहाँ उन्हें कभी लक्ष्मणा बैठी दिखाई दे जाती थी और कभी कृतवर्मा।... बलराम निर्णय नहीं कर पा रहे थे कि दोनों

में से कौन सत्य के अधिक निकट था...लक्ष्मणा या कृतवर्मा ... या फिर उनका अपना मन ही किसको अपने अधिक निकट पा रहा था ....

33

बलराम चले गए तो उद्धव ने कृष्ण की ओर देखा, "लगता है भैया को पांडवों का द्वारका न आना अच्छा नहीं लगा।"

"प्रश्न यह है कि क्या उन्हें पांडवों का यहाँ आना अच्छा लगता ?" कृष्ण के अधरों पर उनकी मायावी हँसी थी, जो उनके मंतव्य को अभिव्यक्त भी कर रही थी और रहस्यमय भी बना रही थी।

"मैं समझा नहीं।" उद्धव बोला, "भैया क्या चाहते हैं, पांडव यहाँ आएँ या न आएँ।"

"भैया के मन की तो भैया ही जानें।" कृष्ण बोले, "मैं तो अपने मन से पूछ रहा हूँ कि यदि पांडव यहाँ आ जाते और हमसे अज्ञातवास के उपयुक्त सुविधाओं की अपेक्षा करते, तो क्या हम उन्हें वे सुविधाएँ दे पाते; और उस स्थिति में भैया प्रसन्न रहते ?"

"तुम क्या समझते हो कि भैया उससे प्रसन्न नहीं होते ?"

"नहीं। मैं ऐसा नहीं समझता।" कृष्ण बोले, "किंतु मुझे यह लगता है कि कई बार भैया दो ऐसी बातों की कामना कर रहे होते हैं, जो एक साथ संभव नहीं होतीं।"

उद्धव कुछ देर तक चुपचाप कृष्ण को देखता रहा, फिर धीरे से बोला, "तुम अपनी इस बात को कुछ और स्पष्ट करोगे ?"

"इसमें स्पष्ट करने को क्या है भाई !" कृष्ण बोले, "भैया ने अपने मुख से कभी कहा नहीं; किंतु मेरा अनुमान है कि वे पांडवों का कोई अनिष्ट नहीं चाहते, पर वे यह भी नहीं चाहते कि अज्ञातवास के इस खेल में दुर्योधन पांडवों से पराजित हो। ये दोनों बातें एक साथ संभव नहीं हैं। यथार्थ यह है कि इंद्रप्रस्थ का राज्य या तो दुर्योधन के पास रह सकता है या युधिष्ठिर के पास। यह तो संभव नहीं है कि दुर्योधन से कुछ छिने नहीं और पांडवों का राज्य उन्हें मिल जाए। वे अपने न्याय से पांडवों के पक्ष में हैं और अपने मोह से दुर्योधन के साथ।"

उद्धव ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह कृष्ण की बात पर विचार कर रहा था। उसे लग रहा था कि कृष्ण ने शायद बलराम के चरित्र के मूल तत्त्व को

रेखांकित कर दिया है। जो लोग न्याय के साथ होते है और अपने मार्ग में मोह को नहीं आने देते, उनके मार्ग में ऐसी कोई कठिनाई नहीं आती। जो मोह के पाश में बँध कर न्याय को भूल जाते हैं, वे भी अपने इस द्वंद्व से मुक्त हो जाते हैं, किंतु बलराम उन दोनों के ही साथ चल रहे हैं।

"क्या भैया इस बात को जानते हैं ?"

"कह नहीं सकता कि जानते नहीं हैं या मानते नहीं हैं।" कृष्ण पुनः उसी मोहक ढंग से हँसे।

उद्धव को इस बार पूछने की आवश्यकता नहीं पड़ी। वह कृष्ण का तात्पर्य समझ रहा था। बलराम शायद अपने मन की इस स्थिति को जानते नहीं थे और यदि उन्हें बताया जाएगा तो संभवतः वे इसे स्वीकार नहीं करेंगे। यदि समझाना संभव होता तो कृष्ण से अधिक उपयुक्त समझानेवाला और कौन हो सकता था।

"अच्छा भैया की बात छोड़ भी दें तो क्या हमें पांडवो की रक्षा की दृष्टि से उनकी खोज नहीं करनी चाहिए, ताकि वे जहाँ भी हों, आवश्यकता होने पर हम उनकी रक्षा कर सकें।"

"दुर्योधन पांडवों को खोज ही रहा होगा।" कृष्ण बोले, "अब यदि मैं पांडवों को खोजने निकलूँ तो दुर्योधन को कुछ भी नहीं करना है, बस मेरे पीछे अथवा मेरे गुप्तचरों के पीछे अपने गुप्तचरों को लगा देना है। क्या स्वयं पांडवों की खोज में जाकर अथवा अपने गुप्तचरों को पांडवों की खोज में भेज कर हम दुर्योधन की ही सहायता नहीं करेंगे ? एक मृग वन के एकांत में कहीं छुपने का प्रयत्न कर रहा हो और उसका आखेट करने के लिए जितनी अधिक दिशाओं से अहेरी उसके पीछे जाएँगे, वह उतनी ही जल्दी अपना साहस खो देगा और पकड़ा जाएगा।" कृष्ण ने रुक कर उद्धव की ओर देखा, "मुझे यह जान कर तनिक भी आश्चर्य नहीं होगा कि दुर्योधन ने अपने गुप्तचर पांडवों के पीछे भेजने के स्थान पर द्वारका में फैला रखे हों।"

"हाँ ! बात तो कुछ ऐसी ही है।" उद्धव ने कहा, "अब मेरी समझ में आया कि तुम इतनी शांति से द्वारका में क्यों बैठे हो।"

"मुझे तो यह भी लगता है उद्धव ! कि मैं स्वयं जाऊँ अथवा अपने गुप्तचरों को भेजूँ; पांडवों को खोजने में हम दुर्योधन की तुलना में किसी भी स्थिति में अधिक सफल होंगे। क्योकि हम उनकी तुलना में पांडवों को कहीं अधिक जानते और समझते हैं। इसलिए हमें सावधान रहना है कि कहीं अनायास ही हमारी अंगुली उस दिशा में न उठ जाए, जिधर पांडवों के होने की संभावना है।"

"अच्छा ! चलता हूँ। मुझे सात्यकि के पास भी जाना है।" उद्धव उठ खड़ा

हुआ।

"ठीक है। सात्यकि से कहना मैं भी उसे स्मरण कर रहा था।"

उद्धव को एक अनाम-से विषाद ने घेर लिया था। जाने क्यों वह एक भीषण असंतोष का अनुभव कर रहा था। वह अपने मन में किसी प्रत्यक्ष कारण को खोज नहीं पाया तो मान लिया कि संभव है कि यह भी बलराम की मानसिकता के ही कारण हो। किंतु उससे उद्धव क्यों इतना प्रभावित है। निश्चित रूप से इससे पांडवों का कोई अहित नहीं होने जा रहा है। कृष्ण के होते हुए पांडवों का कोई अहित नहीं कर सकता, चाहे वे स्वयं बलराम ही क्यों न हों। और फिर बलराम पांडवों का अहित क्यों करेंगे ?

सात्यकि के भवन में पहुँच कर उद्धव ने देखा कि वह कहीं जाने की तैयारी में था; किंतु उद्धव को देखते ही उसने अपनी योजना बदल दी। उद्धव ने कहा भी कि वे किसी विशेष प्रयोजन से नहीं आया है, इसलिए सात्यकि अपने आवश्यक कार्यों की हानि न करे; किंतु अब सात्यकि कहीं जाना नहीं चाहता था। उद्धव जैसे व्यक्ति जो कभी-कभी ही किसी के घर जाते हैं। वह सात्यकि के घर आए और सात्यकि गोशाला जाने जैसा अपना साधारण काम भी न छोड़े— यह कैसे संभव था।

सात्यकि ने उत्साहपूर्वक उद्धव की भुजा पकड ली और उसे परिवार की साधारण बैठक में न बैठा कर अपने निजी कक्ष में ले आया।

"आज तो मेरा कोई महान् पुण्य फलीभूत हुआ है।" सात्यकि का आंदोलित उत्साह प्रकट रूप से उमडता हुआ दिखाई पड रहा था, "आज श्रीमान उद्धव हमारे घर पधारे हैं।"

"अब अधिक लज्जित मत करो युयुधान !" उद्धव ने भी उतने ही स्नेह से कहा, "अब मैं अपनी प्रकृति का क्या करूँ। तुम जानते ही हो कि मैं घर से अधिक नहीं निकलता हूँ।"

"नहीं ! वह तो मैं जानता हूँ कि आपको मुझसे कोई वितृष्णा नहीं है। आप यदि मेरे घर नहीं आते तो उसे मैं आपके स्नेह का अभाव नहीं मानता; पर आप मेरे घर आए हैं, इसे मैं आपका अनुग्रह तो मान ही सकता हूँ।"

"जो तुम्हारी इच्छा हो, मानो बंधु ! पर अब तुम मुझे अधिक लज्जित मत करो।" उद्धव ने धीरे से कहा, "मैं बलराम भैया से मिलने गया था। वहाँ संयोग से कृतवर्मा भी आ गया और तब हम लोग कृष्ण की ओर चले गए। आज पांडवों के सारथि उनके रथ इत्यादि लेकर द्वारका पहुँचे है। बलराम भैया का व्यवहार मेरी कुछ समझ में नहीं आया। मन कुछ खिन्न-सा हो गया है। ऐसे में मुझे

तुम्हारी याद आई। खिन्नता दूर कर मन को स्वस्थ करने के लिए तुमसे बढ़ कर अच्छा वैद्य और कौन हो सकता है।"

"साधु ! साधु ! मैं कृतार्थ हो गया।" सात्यकि प्रकट उत्फुल्लता से बोला, "किंतु भैया ! क्या मैं पूछ सकता हूँ कि स्वयं योगीराज कृष्ण के साक्षात् उपस्थित होते हुए आपको अपना मन स्वस्थ करने के लिए मेरी ही सार्थकता क्यों अनुभव हुई ?"

उद्धव ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया। थोड़ी देर विचार करके बोला, "यह प्रश्न मुझे स्वयं अपने आपसे पूछना चाहिए था। जाने क्यों, सूझा ही नहीं। अब तुम्हारे पूछने पर ध्यान आया।"

"तो कोई उत्तर मिला ?"

"कोई उत्तर नहीं है, सिवाय इसके कि कृष्ण से भैया के व्यवहार के विषय में चर्चा करने में मैं स्वयं संकोच कर गया। चर्चा आरंभ तो हुई थी; किंतु मैंने अधिक चलाई नहीं। भय था कि मेरे मुख से निन्दा के कुछ शब्द न निकल जाएँ। मुझे उसमें औचित्य की कुछ कमी दिखाई दी।"

"मेरा विचार है कि आप चर्चा करते तो केशव खुले मन से उस पर प्रकाश डालते।"

"संभव है कि ऐसा ही होता।" उद्धव ने कहा, "किंतु मैं साहस नहीं कर सका। अब तुम्हारे पास आया हूँ, बताओ तुम क्या कहते हो।"

"मेरा विचार है कि बलराम भैया के मन को समझने के लिए हमें कृतवर्मा के मन को समझना पड़ेगा।"

"कारण ?"

"मेरा अनुमान है कि वासुदेव बलराम किन्हीं कारणों से पांडवों से अप्रसन्न हैं। उसका कारण कुछ भी हो सकता है। अर्जुन के द्वारा किया गया सुभद्रा का हरण भी..."

"नहीं !" उद्धव ने उसे टोक दिया, "सुभद्रा का तो हरण ही इसलिए हुआ था क्योंकि भैया उसका विवाह दुर्योधन से करने का मन बना चुके थे। इसलिए भैया का यह तथाकथित पांडव-विरोध उससे भी पहले का होना चाहिए।"

"किंतु उससे पहले तो पांडवों ने ऐसा कुछ किया ही नहीं था कि बलराम जी उनसे रुष्ट होते।" सात्यकि बोला, "पर हाँ ! मेरे मन में यह बात भी आती है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि केशव के प्रति अपना विरोध जताने के लिए वे पांडवों का विरोध करने लगते हों।"

"पहली बात तो यही है कि उनके मन में केशव का ही विरोध क्यों होगा और यदि होगा तो वे केशव के प्रति अपना विरोध न जता कर, पांडवों के प्रति

अपना विरोध क्यों जताएँगे ?"

"मानव मन को क्या कहा जाए।" सात्यकि बोला, "स्यमंतक मणि की चोरी के पश्चात् जब दोनों भाइयों ने शतधन्वा का पीछा किया था और शतधन्वा के वध के पश्चात् भी उसके पास से स्यमंतक मणि नहीं निकली थी तो बलराम भैया ने केशव पर भी चोरी का संदेह किया था।"

"मैं जानता हूँ कि सत्य यही है; किंतु यह मानने के लिए मन सहमत नहीं हो पाता कि भैया, स्वयं कृष्ण पर भी चोरी का संदेह कर सकते हैं।" उद्धव का मन कुछ क्षुब्ध हो उठा था।

"मैं यह भी अच्छी प्रकार जानता हूँ कि बलराम केशव से असीम प्रेम करते हैं।" सात्यकि बोला, "यही कारण है कि वे कभी केशव के विरोध में खड़े नहीं हुए। उनके मन में केशव का प्रेम सदा ही केशव के विरोध से संघर्ष करता है, और केशव के विरोध को धराशायी कर देता है; किंतु ऐसा नहीं होता कि उनके मन में केशव का विरोध जन्म ही नहीं लेता। और जब तक उनका प्रेम उनके विरोध से लड़ता है, वे सीधे केशव पर कोई आघात नहीं कर सकते, तो केशव के किसी प्रिय पर आघात कर बैठते हैं। उसके पीछे भी प्रयोजन तो केशव को ही कष्ट देना होता है। परिणाम यह होता है कि केशव के प्रति उनके आक्रोश को केशव के किसी प्रिय को झेलना पड़ता है।"

"इसका कोई प्रमाण भी है तुम्हारे पास अथवा अनुमान का तुरंग ही हाँकते चल रहे हो ?" उद्धव ने पूछा।

"प्रमाण तो कोई तब ही दे सकता है, जब वह बलराम के मन में प्रवेश कर सके; वह कोई कर नहीं सकता। पता नहीं रेवती भाभी भी कर पाई हैं अथवा नहीं।" सात्यकि हँसा, "अनुमान ही है मेरा; किंतु निराधार नहीं है।"

"क्या है आधार ?"

"जहाँ तक मैं समझता हूँ," सात्यकि बोला, "शतधन्वावाले ही प्रसंग में बलराम भैया केशव से रुष्ट हुए, तो उनको छोड़ कर दूर चले गए। कहाँ गए और क्या किया ?" सात्यकि ने रुक कर उद्धव की ओर देखा, "केशव को कष्ट पहुँचाने के लिए उनके प्रिय पांडवों के परम शत्रु दुर्योधन को अपना शिष्य बनाया, उसे अपनी गदा-विद्या दी और उसके प्रति अपना मोह बढ़ाया। मेरा विचार है कि अपनी उसी मानसिकता में उन्होंने सुभद्रा का विवाह दुर्योधन से करने की योजना बनाई होगी।"

"किंतु केशव ने स्यमंतक मणि के विषय में उनके संदेह को निराधार सिद्ध कर दिया तो फिर पांडवों के प्रति विरोध का कारण ही कहाँ रह जाता है ?" उद्धव ने पूछा।

"पांडवों अथवा केशव के विरोध का कारण तो कोई नहीं रह जाता, इसलिए

उनका केशव-विरोध तो समाप्त हो गया, किंतु दुर्योधन के प्रति जो मोह उन्होंने विकसित कर लिया था, उसे तो समाप्त नहीं किया न!" सात्यकि बोला, "परिणाम यह है कि जैसे ही केशव अथवा पांडवों के प्रति उनके मन में कोई असुविधा सिर उठाती है, उनका मन बडी ललक से किसी आकर्षक खिलौने के समान दुर्योधन की ओर लपक चलता है।... और इधर तो एक और नई प्रक्रिया आरंभ हो गई है।"

"वह क्या ?" उद्धव का मन स्वयं को एक और अप्रिय बात सुनने के लिए तैयार कर रहा था।

"कृतवर्मा के विषय में सबको ही ज्ञात है कि स्यमंतक मणि के प्रसंग में वह भी कम दोषी नहीं है; किंतु केशव ने यादवो की परस्पर कलह टालने के विचार से उसे क्षमा कर दिया था। कृतवर्मा में परिवर्तन भी बहुत आया है। वह श्रीकृष्ण से प्रेम भी करता है। किंतु यह तो सभी जानते हैं कि मैंने उस सारे प्रसंग के लिए कृतवर्मा को क्षमा नहीं किया है। केशव के ही नहीं सव्यसाची धनंजय के प्रति भी मेरी निष्ठा किसी से छिपी हुई नहीं है। ऐसे में बलराम जब केशव का विरोध करना चाहते हैं तो उनका प्रत्यक्ष विरोध न कर, मेरा विरोध करते हैं; और मेरा विरोध करने की उनकी पद्धति यह है कि वे कृतवर्मा का समर्थन आरंभ कर देते हैं। इसलिए आजकल उन्हें कृतवर्मा भी बहुत प्रिय है। कृतवर्मा की प्रत्येक बात वे न केवल बड़े ध्यान से सुनते हैं, वरन् उससे तत्काल प्रभावित भी होते हैं।"

उद्धव को लगा कि अब उसके मन में, सात्यकि से पूछने के लिए कोई प्रश्न नहीं है; किंतु उसका पूर्ण समाधान हो गया हो, ऐसा भी नहीं लग रहा था। पता नहीं मन में कोई जिज्ञासा थी अथवा मात्र असंतोष था। थोड़ी देर मौन रह कर वह बोला, "सोचता हूँ कि यदि भैया को पांडवों से कोई शिकायत है तो वे पांडवों का पीछा छोड़ क्यों नहीं देते। पांडव तो द्वारका में आए नहीं हैं। तो यह खोजते रहने की क्या आवश्यकता है कि वे लोग कहाँ गए हैं।"

"इस विषय में मैं ठीक-ठीक क्या कह सकता हूँ; किंतु सोचता हूँ कि कदाचित् कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपने आपको भी ठीक-ठीक नहीं समझ पाते हैं। वे नहीं जानते कि वे लोग स्वयं क्या चाहते हैं। यदि उनके पास कोई सहायता माँगने जाए तो उन्हें लगने लगता है कि उनसे अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न किया जा रहा है, और यदि उनसे सहायता न माँगी जाए तो उन्हें लगने लगता है कि उनकी उपेक्षा की जा रही है। मेरा अनुमान है कि बलराम भैया भी कुछ इसी प्रकार के द्वंद्व से पीड़ित है। जब पांडवों की सहायता करने का अवसर आता है तो उन्हें लगने लगता है कि पांडव यादवों

पर अनावश्यक भार डाल रहे हैं; और जब पांडव उनसे कुछ नहीं माँगते तो उन्हें लगता है कि पांडव उनकी उपेक्षा कर रहे हैं। मेरा मन कहता है कि आजकल की उनकी मानसिकता के पीछे तो निश्चित रूप से कृतवर्मा का ही हाथ है। वह बड़ी सुविधा से उन्हें विश्वास दिला सकता है कि पांडव द्वारका में सबसे अधिक सुरक्षित रह सकते थे; किंतु वे द्वारका नहीं आए क्योंकि वे यादवों पर विश्वास नहीं करते। ऐसे में बलराम भैया एक बार भी नहीं सोचेंगे कि यादव तो केशव भी हैं। उनकी उपेक्षा पांडव कैसे कर सकते हैं। और यदि वे यादवों पर अविश्वास कर भी रहे हैं तो किस यादव पर अविश्वास कर रहे हैं। वे तो तत्काल मान लेंगे कि यादवों पर अविश्वास का अर्थ है, उन पर अविश्वास। और यह उन्हें कभी भी अच्छा नहीं लगेगा। इसलिए बहुत संभव है कि उनके मन का संचित पांडव-विरोध उनके हाथों कोई अनिष्ट ही करवा दे।"

उद्धव के मन में एक विचार आया और उसने कुछ कहने की मुद्रा में सात्यकि की ओर देखा; किंतु फिर कुछ सोच कर चुप ही रह गया : पूछे या न पूछे, कहे या न कहे ?...

"क्या बात है ?" सात्यकि ने पूछा।

"सोच रहा हूँ कि तुम भैया के मन का विश्लेषण तो बहुत सटीक कर रहे हो; किंतु कहीं ऐसा तो नहीं कि तुम्हारा कृतवर्मा के प्रति विरोध ही बलराम-विरोध में परिणत हो रहा हो ? तुम बलराम भैया के प्रति बहुत कठोर हो रहे हो। ऐसे में तुम्हारे मन का विश्लेषण भी आवश्यक है।"

"मैंने तो एक दृष्टिकोण ही प्रस्तुत किया है। मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि मेरा अनुमान सत्य न हो।" सात्यकि हँस पड़ा, "किंतु यदि भविष्य में किसी अवसर पर बलराम ने दुर्योधन को केशव के हाथों से बचाने का प्रयत्न किया तो कम से कम मै तो यही मानूँगा कि मेरा अनुमान ही सत्य है।"

उद्धव ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह बैठा मन ही मन कुछ सोचता रहा।

34

दुर्योधन का गुप्तचर-प्रमुख, शर्वनाग उसके सम्मुख हाथ बाँधे खड़ा था, "युवराज! आप मेरा विश्वास करें। हमारे गुप्तचर उस समय वहीं थे, जब पांडव यात्रा की तैयारी कर रहे थे।"

"तो फिर पांडव लुप्त कैसे हो गए ?" दुर्योधन क्रोधपूर्वक बोला, "वे उनके

पीछे क्यों नहीं गए ?"

"उनके पीछे क्या महाराज ! वे तो उनके सार्थ के अंग रूप में उनके साथ ही यात्रा करते रहे। स्थान-स्थान से सूचनाएँ भिजवाते रहे कि वे लोग कहाँ पहुँच गए हैं और क्या क्या कर रहे हैं। किंतु..."

"किंतु क्या ?" दुर्योधन अपना धैर्य खोता जा रहा था, "जब हमारे गुप्तचर उसी सार्थ में यात्रा कर रहे तो पांडव कहाँ विलुप्त हो गए ?"

"महाराज ! यही तो समझ में नहीं आ रहा।"

"तुम्हारी समझ में इतनी-सी बात क्यों नहीं आ रही कि वे तुम्हारे गुप्तचरो को मूर्ख बना कर निकल गए; और तुम्हारे दक्ष गुप्तचर सोते रह गए।" दुर्योधन का चेहरा क्रोध से तप रहा था।

"महाराज ! हमारे गुप्तचर मार्ग में बहुत कम सोए हैं, और यदि सोए भी हैं तो बारी-बारी सोए हैं।" गुप्तचर प्रमुख बोला।

"सोए नहीं तो क्या अप्सराओं का नृत्य देखते रहे ?"

"पांडवों के सार्थ में अप्सराएँ कहाँ हैं महाराज !" शर्वनाग ने हँस कर वातावरण को हल्का करना चाहा।

दुर्योधन और भी भड़क उठा, "जब प्रमाद का कोई कारण ही नहीं था तो वे इनकी आँखों से ओझल कैसे हो गए ?"

"कुछ समझ ही नहीं आ रहा महाराज ! हमने तो कहीं कोई भूल की ही नहीं ...।"

"भूल तुमने नहीं, मैंने की है।" दुर्योधन बोला, "जिस व्यक्ति को अब तक काल कोठरी तक पहुँच जाना चाहिए था, उसे अबतक मैंने गुप्तचर-प्रमुख बना रखा है।"

शर्वनाग काँप कर रह गया। राजा के लिए क्या कठिन था। अभी पुकार कर कह देंगे, इसे काल कोठरी में डाल दो, तो वह काल कोठरी में डाल दिया जाएगा। फिर कोई देखने भी नहीं आएगा कि उसके प्राणपखेरू हैं या उड़ गए ...

"नहीं अन्नदाता ! आपने कोई भूल नहीं की है। मैं और मेरे अनुचर पूर्ण निष्ठा से आपकी सेवा कर रहे हैं। हम आपके आज्ञाकारी और निष्ठावान सेवक हैं। यह तो हमारे भाग्य का ही प्रपंच है कि आपके शत्रु इस प्रकार हमारे हाथ में आकर निकल गए हैं।"

"हाथ में आकर निकल गए।" दुर्योधन ने उसके शब्दों को दोहराया, "तुम्हारे हाथ में वे आए ही कब थे मूर्ख ! तुम मुझे बताओ कि तुम्हारे उन मूर्ख अनुचरों ने उनका पीछा करना कहाँ से आरंभ किया।"

"हमारे गुप्तचर तो उस समय ही पांडवों के आश्रम में पहुँच गए थे, जब

पाडव यात्रा की तैयारी कर रहे थे। हमारे गुप्तचरों ने प्रायः सारा वन ही घेर लिया था कि पांडव किसी भी दिशा से वन से बाहर निकलें, उन पर दृष्टि रखी जा सके। जब पांडवो का सार्थ चला तो सारे तपस्वी और मुनि धौम्य भी उनके साथ ही थे। किंतु पैदल चलनेवाले लोग मार्ग में पिछड़ते जा रहे थे, इसलिए पांडवों ने अपने सार्थ के दो दल कर दिए। रथोंवाला दल उनके सारथि इंद्रसेन के नेतृत्व में चलता रहा, और पैदल चलनेवाले लोगों का नेतृत्व स्वयं धौम्य मुनि कर रहे थे।..."

"तो तुम्हारे वे मूर्ख अनुचर किसके साथ चल पडे ?" दुर्योधन ने उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की, "उन्हे पदाति चलना अच्छा नहीं लगा होगा। सोचा होगा, अश्व बहुत मूल्यवान है, उन्हें कैसे त्याग दें। महाराज को अश्वों से बहुत प्रेम है। अश्वो की अवज्ञा न हो जाएगी। यह सब सोच कर वे पांडवों के रथों के पीछे-पीछे चलते गए होगे और पांडव अपने रथ दौड़ाते सुरक्षित अपने गंतव्य पर पहुँच गए होंगे।"

" नहीं ! ऐसा नहीं हुआ महाराज !" शर्वनाग बडी ललक से बोला, "आप के गुप्तचरो ने बडी सावधानी से स्वयं को दो दलों में बॉटा और पांडवों के दोनों ही दलो के साथ अंत तक यात्रा करते रहे। मार्ग में एक स्थान पर दोनों दलों ने अपनी-अपनी दिशाएँ भी बदल लीं।"

"और तुम्हारे गुप्तचर दोनों के ही साथ गए।" दुर्योधन के स्वर में जिज्ञासा नहीं, प्रताडना थी।

शर्वनाग तनिक भी हतप्रभ नहीं हुआ। कुछ अधिक ही उत्साह से बोला, "हॉ महाराज ! हमारे गुप्तचरों ने दोनों ही दलों के साथ अंत तक यात्रा की, किंतु जब वे अपने-अपने गंतव्य पर पहुँचे तो उन्हें पांडवों में से कोई भी कहीं दिखाई नहीं दिया।"

"गंतव्य से क्या अभिप्राय है तुम्हारा ? कहॉ गए वे दोनों दल ? एक ही स्थान पर गए, अथवा पृथक्-पृथक् स्थानों पर पहुँचे ?" दुर्योधन ने पूछा।

"इंद्रसेन रथों को द्वारका ले गया महाराज ! और धौम्य मुनि अपने साथियों को कांपिल्य ले गए।" शर्वनाग ने बताया।

"इस लंबी यात्रा में तुम्हारे इन योग्य गुप्तचरों ने कहीं भी पांडवों में से किसी को अपनी ऑखों से देखा ? किसी ने उनमें से किसी से बात की ?" दुर्योधन ने पूछा।

"नहीं महाराज ! मार्ग में तो कहीं कोई पांडव दिखाई नहीं दिया। वे सब लोग यवनिकाओं से ढंके आवरणयुक्त रथों में यात्रा कर रहे थे।..."

दुर्योधन जैसे अपना समस्त नियंत्रण खो बैठा, "मैंने आज तक तुम जैसा

गधा नहीं देखा। इतनी लंबी यात्रा में, सारे मार्ग में तुम्हारे उन मूर्ख अनुचरों को एक बार भी पांडव दिखाई नहीं दिए, तो वे लोग पीछा किसका करते रहे ? अपनी मूर्खता का ?"

"महाराज ! पांडव तो रथों के भीतर थे।" शर्वनाग बोला, "आपके अनुचर उन रथों का पीछा करते रहे। यही कर सकते थे वे लोग। हम तो संदेह मात्र पर पीछा करते है। अब पता नहीं, पांडव उन रथों से कब और कहाँ उतर गए।"

"तुम्हारे पास क्या प्रमाण है कि उन रथों में पांडव यात्रा कर रहे थे ?" दुर्योधन ने पूछा।

"महाराज ! प्रत्येक पड़ाव पर धात्रेयिका उन रथों में भोजन पहुँचाती रही। पांचाली से आदेश लेती रही।"

लगा, दुर्योधन या तो शर्वनाग का कंठ दबा कर उसकी हत्या कर देगा, अथवा अपने खड्ग से उसका वध कर देगा। शर्वनाग के प्राण सूख रहे थे। वह उस दुर्भाग्यपूर्ण घड़ी को कोस रहा था, जब उसने यह पद स्वीकार किया था। उसे यह देख कर कुछ धैर्य हुआ कि दुर्योधन अपने क्रोध को पी कर किसी चिंता में डूब गया था।

"तुम्हारे गुप्तचरों में से किसी ने पांडवों में से किसी को रथ में बैठते हुए भी देखा था ?"

"हाँ महाराज ! धौम्य मुनि ने अपने कुटीर के एकांत में पांडवों की यात्रा के लिए कुछ कर्मकांड किया था। वहीं से वे लोग यवनिकाओं की ओट में रथों में प्रवेश कर गए थे और वहीं से हमारे गुप्तचर उनके पीछे लगे हुए थे। उन्होंने उन्हें निमिष मात्र के लिए भी अपनी आँखों से ओझल नहीं होने दिया।"

दुर्योधन ने एक गंभीर दृष्टि अपने गुप्तचर-प्रमुख पर डाली। शर्वनाग को संतोष हुआ कि इस बार युवराज आपे से बाहर नहीं हुए थे। संभवतः उन्हें अपने गुप्तचरों की क्षमता और उनके प्रयत्नों से उतना असंतोष नहीं रह गया था।

"धौम्य मुनि के साथ तो रथ नहीं थे न ?" दुर्योधन ने पूछा।

"नहीं महाराज !"

"तो गुप्तचरों का जो दल उनके साथ गया, क्या उनमें से किसी ने पांडवों की झलक पाई ? वे तो खुले वन में चल रहे थे ?" दुर्योधन ने पूछा।

"वे सब बड़ी-बड़ी घनी श्मश्रुवाले साधु संन्यासी थे महाराज ! उनमें तो किसी पर भी कोई एक पांडव होने का संदेह हो सकता था और किसी को भी पहचानना संभव नहीं था।" शर्वनाग बोला।

दुर्योधन का अधैर्य अब एक साथ ही प्रकट हुआ, "यदि मुझे तनिक भी

अनुमान होता कि मेरा गुप्तचर-प्रमुख संसार का सबसे बड़ा मूढ है, तो मैं अपना कोई और प्रबंध कर लेता"

शर्वनाग मुँह बाए खड़ा अपने युवराज को देखता रहा, उसकी समझ में ही नहीं आ रहा था कि उससे भूल कहाँ हुई।

"तुम अब भी नहीं समझ पा रहे हो महामूर्ख कि पांडव न उन रथों में थे, न उन तपस्वियों की टोली में। संभवतः वे लोग तुम्हारे चरों के वहाँ पहुँचने से पहले ही अपने आश्रम से विदा हो चुके थे। उनकी यात्रा के लिए किया जानेवाला वह कर्मकांड तथा रथों आदि की वह सारी तैयारी तुम्हारे उन मूर्ख चरों को वहाँ अटकाए रखने का नाटक मात्र था। तुम अपने उन चरों पर विश्वास कर प्रवंचित होते रहे और मैं तुम पर निर्भर रह कर हर प्रकार से वंचित होता रहा।" दुर्योधन ने उसकी ओर देखा, "मेरे हाथ में आया इद्रप्रस्थ का राज्य तुम्हारी इस वज्र मूर्खता के कारण मेरे हाथ से निकल गया है। तुम यदि शीघ्र ही पांडवों के विषय में कोई निश्चित सूचना नहीं लाए, तो तुम जानते ही हो, तुम्हारा अंत क्या होगा।"

35

पांडव सारी रात चलते रहे थे; और अब ब्रह्ममुहूर्त में एक स्थान पर बैठ कर विश्राम कर रहे थे।

वन में उन्हें कोई भी परिचित-अपरिचित व्यक्ति नहीं मिला था। जिस ओर से कोई स्वर आया अथवा जिस दिशा में अग्नि के होने का कोई आभास हुआ, उस ओर वे लोग गए ही नहीं। वैसे रात्रि के समय वनों में सिवाय निशाचरों के और कोई निकलता भी नहीं है। आरण्यक लोग तो अंधकार होते ही अपनी कुटिया में बंद हो जाते हैं। इस क्षेत्र में कोई ऐसा बडा आश्रम भी नहीं था, जिसके अंतेवासी मिल कर रात्रि को भी साधना करते हों, अथवा एक साथ बैठ कर कोई चर्चा ही चलाते हों।

"हमें तो मार्ग में कोई निशाचर भी नहीं मिला।" नकुल ने कहा।

"यह हमारा नहीं, उनका सौभाग्य था; अन्यथा वे मध्यम पांडव के हाथों मारे जाते।" द्रौपदी बोली, "अच्छा अब क्या विचार है ?"

युधिष्ठिर ने मुड कर द्रौपदी की ओर देखा और भीम से बोले, "क्या तुम्हें लगता नहीं भीम ! कि बिना तनिक भी विश्राम किए, सारी रात निरंतर चलते रहना, पांचाली के लिए पर्याप्त क्लांतिकारक हो चुका है। अब हमें नहीं तो उसे

तो थोड़ा विश्राम कर लेने दो।"

"बस थोड़ी दूर और चले चलिए भैया !" भीम बोला, "सूर्योदय से पूर्व ही हम लोग वन में खंडहर हो गए एक मंदिर के निकट पहुँच जाएँगे। वहाँ एक कुआँ और पोखर भी है। इस ऋतु में वहाँ कितना जल होगा कह नहीं सकता; किंतु वहाँ जल के होने की संभावना है। दिन भर वहाँ गुप्त रूप से विश्राम कर लेंगे और अंधकार होते ही फिर निकल पड़ेंगे।... क्यों पांचाली ! चल सकोगी या मैं अपने कंधे पर बैठा लूँ ?"

"नहीं ! ऐसी तो कोई बात नहीं है। अभी तो मैं चल सकती हूँ।" द्रौपदी बोली, "किंतु इस यात्रा में पुत्र घटोत्कच का स्मरण निरंतर बना रहा है।"

"हाँ ! वह साथ होता तो सुविधा होती।" भीम बोला, "किंतु अज्ञातवास में उसका साथ रहना तो कठिन है। मेरा ही आकार-प्रकार हमारे अज्ञात रहने में कठिनाई उत्पन्न कर रहा है, वह भी साथ हो, तो समस्या और बढ़ जाएगी।"

भीम के मन की स्थिति सब लोग समझ रहे थे। द्रौपदी को भी लगा कि उसने व्यर्थ ही एक वाक्य कह दिया और भीम के मन में जाने कितनी स्मृतियों और भावनाओं की एक लहर उत्पन्न कर दी। जब तक कुछ ऐसा घटित ही नहीं हो जाता तब तक किसी का ध्यान ही इस ओर नहीं जाता कि ऊपर से अत्यंत शुष्क और कठोर दिखाई देनेवाला यह व्यक्ति अपने संबंधों को लेकर भीतर से असाधारण रूप से संवेदनशील भी है।

"हम लोग अपना वेश अब परिवर्तित न कर लें ?" सहसा सहदेव ने जैसे उन सबका ध्यान दूसरी समस्याओं की ओर मोडने के लिए कहा, "कब तक हम अपने वास्तविक रूप में ही चलते रहेंगे। एक बार किसी ने भी पहचान लिया तो आश्रम से इतनी गोपनीयता बरत कर इस प्रकार रात को भागने का सारा श्रम व्यर्थ हो जाएगा।"

"कोई लाभ नहीं है।" अर्जुन ने कहा, "जब तक हम लोग इन शस्त्रास्त्रों से लदे हुए हैं, तब तक हमें देख कर कोई भी पहचान सकता है। जब तक मेरे हाथ में यह गांडीव है, मैं बृहन्नला नहीं बन सकता, न ही मध्यम इस गदा, धनुष और खड्ग के साथ पैरोगव लग सकते हैं। तुम लोग अपने हाथों में खड्ग तथा धनुष थामे हुए ग्रंथिक अथवा तंतिपाल लग सकते हो ?"

"और अभी शस्त्र-त्याग हम कर नहीं सकते।" भीम ने कहा।

"क्यों ?" नकुल ने सहज भाव से पूछा।

"बुद्धू ! हम सदा के लिए तो शस्त्र-त्याग नहीं कर रहे कि उन्हें कहीं भी फेंक कर उनसे मुक्त हो जाएँ।" भीम ने कहा, "हम नहीं जानते कि कब हमें उनकी पुनः आवश्यकता पड़ जाएगी। इसलिए वे जहाँ कहीं भी हों, हमारे इतने निकट होने चाहिए कि संकट के समय हम तत्काल उन्हें प्राप्त कर सकें।

यदि हमने अपने शस्त्र यहाँ कहीं छिपा दिए और स्वयं हम विराटनगर में निवास करते रहे तो शस्त्र हमसे कम से कम एक दिन की यात्रा की दूरी पर होंगे।"

"मै तो अभी तक यही सोच नहीं पाया हूँ कि ऐसा कौन-सा सुरक्षित स्थान हो सकता है, जहाँ हमारे शस्त्र गुप्त भी रहें, सुरक्षित भी हों और हमारी पहुँच भी उन तक बनी रहे।" युधिष्ठिर ने जैसे अपने आपसे कहा।

"मेरे मन मे एक योजना है।" भीम ने उनकी ओर देखा, "हमें अपने शस्त्र उस स्थान पर रखने चाहिए, जो नगर से निकट तो हो, किंतु जहाँ सामान्यतः लोग जाते न हों।"

"ऐसा कौन-सा स्थान हो सकता है मध्यम ?" द्रौपदी ने पूछा।

"मध्यम का संकेत कदाचित् श्मशान की ओर है।" अर्जुन ने कहा, "वह नगर से बहुत दूर नहीं होता; किंतु सामान्यतः लोग वहाँ जाते नहीं हैं और जो लोग वहाँ जाते हैं, वे न्यूनतम समय में अपना कार्य संपन्न कर वहाँ से चले जाते हैं। वहाँ कोई टहलता नहीं। कोई निरीक्षण नहीं करता कि कहाँ क्या है। वहाँ जानेवाला व्यक्ति ऐसी मानसिकता में ही नहीं होता।"

"विचार तो उत्तम है।" युधिष्ठिर ने समर्थन किया, "किंतु क्या श्मशान होने मात्र से वहाँ हमारे शस्त्र सुरक्षित हो जाएँगे ?"

"नहीं मात्र इतना तो पर्याप्त नहीं है।" सहदेव ने कहा।

"शेष वहीं चल कर सोच लेंगे।" भीम उठ कर खडा हो गया, "अब चलो, नहीं तो भगवान भास्कर यहीं प्रकट हो जाएँगे।"

दूसरी रात चलने के पश्चात् वे लोग वन से निकलकर मत्स्यों के जनपद में प्रवेश कर गए थे। अब मार्ग मे जो भी मिला, उसने उनकी ओर कुछ आश्चर्य से देखा। उनका वेश मलिन हो गया था; श्मश्रु बढ़ गए थे; और वे लोग थक भी गए थे।

"नगर अभी दूर दिखाई देता है।" द्रौपदी ने कहा, "क्या ऐसा नहीं हो सकता कि हम एक दिन वन में अथवा किसी ग्राम में विश्राम कर लें और कल मत्स्यों की राजधानी में प्रवेश करें ?"

युधिष्ठिर ने भीम की ओर देखा : वह रुकने की मुद्रा में नहीं था। द्रौपदी निश्चित रूप से और चल नहीं सकती थी, अन्यथा वह विश्राम की चर्चा ही न करती।

"धनंजय !" युधिष्ठिर बोले, "तुम पांचाली को कंधे पर उठा कर वहाँ तक तो ले चलो, जहाँ मध्यम आज विश्राम करना चाहता है।"

"मैं अब विश्राम तो करना चाहता हूँ; किंतु इस समय हम निर्जन अथवा

एकांत प्रदेश में नहीं हैं। यहाँ हम अपने शस्त्रों को अधिक देर तक छिपा नहीं पाएँगे। इसलिए आवश्यक है कि हम सबसे पहले इन्हें कहीं विश्राम करा दें और फिर स्वयं भी विश्राम करने की सोचें।" भीम ने कहा।

अर्जुन ने अपने शस्त्र नकुल को पकड़ाए और बिना कुछ कहे ही क्लांत द्रौपदी को अपनी भुजाओं में उठा लिया। द्रौपदी को कुछ विचित्र लग रहा था कि थके तो वे सब लोग ही थे, फिर वह अर्जुन का बोझ क्यों बन गई थी। ... किंतु सुहाग का सौभाग्य यही तो था। उसका प्रिय उसे अपनी भुजाओं में उठा कर चल रहा था। अपने प्रेम के गर्व के साथ प्रिय के बल और क्षमता का भी गर्व आ मिला था। वह असहाय नहीं थी। अर्जुन उसे उठा कर इस प्रकार चल रहा था, जैसे उसने कोई हल्का-सा पदार्थ उठा रखा हो।

"प्रिय ! बहुत भारी बोझ तो नहीं लग रहा ?" द्रौपदी ने धीरे से पूछा।

"एक पुष्पमाला से अधिक बोझ नहीं है तुम्हारा।" अर्जुन ने मधुर ढंग से मुस्कराकर कहा, "तुम्हें उठा कर इतना-सा चलने से यदि थक जाऊँगा तो युद्ध में इतना भारी गांडीव सारा दिन मुझसे कैसे सँभाला जाएगा।"

सहसा द्रौपदी ने अपनी नाक बंद कर ली, "कैसी दुर्गंध है यह ?"

सब जानते थे कि गंध को अनुभव करने की क्षमता द्रौपदी में ही सबसे अधिक थी।

"हाँ ! कुछ है तो !" अर्जुन ने समर्थन किया।

"मेरा तो विचार है कि यह किसी शव के सड़ने की गंध है।" सहदेव ने कहा।

"जाकर देखो तो कि वस्तुतः यह है क्या।" भीम ने कहा।

वे लोग रुक गए।

सहदेव थोड़ी ही देर में लौट आया।

"वन के भीतर यह एक प्रकार का श्मशान ही है।" उसने बताया, "वहाँ कोई है तो नहीं, पर लगता है कि कभी-कभी लोग आते होंगे और अभिचार करते होंगे। वहाँ कुछ अपवित्र साधनाओं के प्रमाण हैं।"

"क्या प्रमाण हैं ?" अर्जुन ने पूछा।

"एक भयंकर शमी वृक्ष के नीचे अस्थियाँ इत्यादि हैं और सिंदूरपुता एक शव लटक रहा है। कुछ अधगले और अधजले शव भी हैं।" सहदेव बोला, "किसी ने किसी प्रकार की कोई शव-साधना की है। भयंकर दुर्गंध है।"

"मेरा विचार है कि अपने शस्त्र छुपाने का यही उचित स्थान है।" अर्जुन ने भीम की ओर देखा।

"ठीक है।" भीम ने उत्तर दिया, "साधारण जन तो इधर आएँगे ही नहीं। एक तो वन है। दूसरे श्मशान का सामीप्य है। इतनी दुर्गंध है और अभिचार का भय। इतने सारे कारण एक साथ और कहाँ मिलेंगे।"

वे लोग शमी वृक्ष की ओर चल पड़े। युधिष्ठिर और द्रौपदी दूर ही बैठ गए। सब ने अपने-अपने धनुष की प्रत्यंचा उतार ली। सारे धनुष एक श्वेत धोती में लपेट दिए गए। खड्गों को और भी सावधानी से लपेटा गया।

नकुल उस शमी वृक्ष पर चढ गया। उसने धोती में लिपटे धनुषों का बोझ, शमी की शाखाओं में कुछ इस प्रकार फँसा कर टाँग दिया कि दूर से तो वह दिखाई ही न पड़े किंतु कोई निकट आकर बहुत ध्यान से देखे तो उसे लगे कि जैसे कोई लंबा-सा शव सीधा लेटा दिया गया हो। उसके निकट के कुछ कोटरो में विपाठ बाण छिपा दिए और खड्गों को कुछ पतली शाखाओं के साथ इस प्रकार बॉध दिया कि वृक्ष के पत्ते उन्हें भली प्रकार ढॅक लें।

सबने देखा और संतुष्ट हो कर नकुल के कौशल को सराहा।

"अब हम भी अपना वेश बदल लें।" अर्जुन ने कहा।

"तुम बदलो, जिसे साड़ी धारण करनी है।" भीम ने जैसे उसे चिढ़ाया, "किसकी साड़ी लाए हो—पांचाली की, अथवा धात्रेयिका की ?"

"मेरे पास साडी कहाँ है। मैं तो स्वयं धात्रेयिका की साडी धारण कर रही हूँ।" द्रौपदी बोली, "धनंजय तो सुभद्रा की साड़ी लाए हैं।"

"मैं तो बना बनाया पैरोगव बल्लव हूँ।" भीम बोला, "लग ही रहा होगा कि अभी भाड के सामने से उठ कर आया हूँ। पांचाली ! तुम्हें कुछ शृंगार तो करना होगा। सैरंध्री बन कर जा रही हो।"

"बन कर तो सैरंध्री ही जा रही हूँ; किंतु संकट में हूँ। पति पराए देश गए हैं। श्वसुर ने घर से निकाल दिया है। ऐसे में शृंगार करके कैसे जाऊँगी।" द्रौपदी ने उत्तर दिया।

"मुझे तो भद्र पुरुष बनना है।" युधिष्ठिर बोले, "नकुल और सहदेव को यद्यपि कोई विशेष प्रसाधन नहीं करना है; किंतु साफ-सुथरे तो उन्हें भी बनना ही है। चलो, सरिता में स्नान तो कर लें। क्लांति भी मिटेगी और वेश भी कुछ स्वच्छ होगा।"

"चलो।" भीम सबसे आगे-आगे चल पडा।

36

युधिष्ठिर ने अपनी दृष्टि दौड़ाई : कुछ कहने अथवा करने से पहले उन्हें अच्छी प्रकार इस सभा को जान लेना चाहिए था। यह न हो कि अपने अज्ञान में कुछ ऐसा कह अथवा कर बैठें, जिसके लिए बाद में पछताना पड़े।...सभा का कार्य-व्यापार आरंभ हो गया था। विराट अपने सिंहासन पर विराजमान थे। मंत्री तथा अन्य अधिकारी अपने-अपने स्थानों पर सन्नद्ध बैठे थे। राजा अथवा मंत्रियों के व्यवहार और सभा के कार्य-व्यापार से कहीं यह आभास नहीं हो रहा था कि इस राज्य में राजा पूर्णतः स्वतंत्र नहीं था, राजा के अधिकारों पर किसी प्रकार का कोई अंकुश था, अथवा राजा को अपने निर्णय करने में पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त नहीं थी। ... और तब युधिष्ठिर की दृष्टि सेनापति के आसन पर पड़ी। सेनापति का आसन रिक्त था। तो क्या राजा इसलिए इतने निश्चिंत और स्वाधीन थे ? क्या सेनापति की उपस्थिति में भी वे इतने ही स्वतंत्र और आत्मनिर्भर थे ? ...अथवा युधिष्ठिर को मिली सूचना ही भ्रामक थी ?...पर इंद्रसेन बिना समुचित प्रमाण के उन्हें इस प्रकार की सूचना नहीं दे सकता था।...

राजा उस समय आगंतुकों से भेंट कर रहे थे। उनकी बातें सुन रहे थे और उन्हें समुचित आश्वासन दे रहे थे, तभी तो वे लोग संतुष्ट हो कर लौट रहे थे। ... किंतु राजा का सिंहासन, अपने मंत्रियों, राज-कर्मचारियों तथा आगंतुकों के आसनों से इतनी दूर था कि किसी भी अन्य व्यक्ति के लिए राजा तथा आगंतुक में हुई चर्चा को सुन पाना संभव नहीं था।

"यह कैसी राज-सभा है, जहाँ कुछ सुनाई ही नहीं देता।" युधिष्ठिर ने जैसे अपने आपसे कहा। किंतु इतने ऊँचे स्वर में तो कहा ही कि उनके आस-पास खड़े दो-चार लोग उसे सुन सकें, और अपनी टिप्पणी कर सकें।

परिणाम उनकी इच्छा के अनुकूल ही हुआ। उनके साथ ही खडा व्यक्ति धीरे से बोला, "क्यों कोलाहल कर रहे हो। राजा इस समय लोगों के कष्ट सुन रहे हैं, ऐसे में यदि सारी सभा उनकी बात सुन लेगी तो जिन अधिकारियों के विरुद्ध अभियोग है, वे भी तो सुन लेंगे। कीचक के समर्थक भी सुन लेंगे। तो फिर राजा ही क्या कर पाएँगे और अभियोक्ता ही क्या पालेगा। उल्टे कीचक उसका चाम उधेड़ कर नगरद्वार पर टाँग देगा।"

बात युधिष्ठिर की समझ में आ गई : प्रजा अपने राजा को अपने कष्ट सुनाने आई थी। राजा यह जानता था कि उसके सभासदों और अधिकारियों के हाथों में ही उसकी प्रजा सुरक्षित नहीं थी। राजा स्वयं कीचक के हाथों प्रताड़ित था... और आज कीचक सभा में उपस्थित नहीं था।

"कीचक कौन है ?" युधिष्ठिर ने अबोध बन कर पूछा।

"किसी अन्य राज्य से आए हो।" वह व्यक्ति अपना स्वर दबा कर बोला, "नहीं तो यह संभव नहीं है कि विराटनगर में रहो भी और कीचक को न जानो।"

"हाँ ! मैं विराटनगर का निवासी नहीं हूँ।" युधिष्ठिर ने कहा।

"महाराज का श्यालक है कीचक, महारानी सुदेष्णा का भाई... और विराटनगर का सेनापति भी। यहाँ उसकी इच्छा के बिना कुछ नहीं हो सकता। आज वह दुष्ट, सभा मे उपस्थित नहीं है, इसलिए महाराज निश्चिंत हो कर अपना राज-काज चला रहे है।"

"क्या वह महाराज के अधीन नहीं है ?" युधिष्ठिर बोले, "महाराज उसे उसके पद से मुक्त भी तो कर सकते हैं।"

"वह ही न महाराज को उनके पद से मुक्त कर देगा।" वह व्यक्ति बहुत धीरे से हँसा; और सहसा ही वह सजग हो गया, "अच्छा भैया ! तुम अपने काम से काम रखो और मुझे भी अपना काम करने दो। ऐसा न हो कि तुम्हें विराटनगर का परिचय देता-देता मैं ही किसी कठिनाई में फँस जाऊँ।"

वह व्यक्ति फिर से युधिष्ठिर के लिए अपरिचित हो गया और युधिष्ठिर भी आत्मलीन हो गए।

अपनी बारी आने पर युधिष्ठिर भी राजा के सम्मुख जा खडे हुए, "महाराज ! मेरा नाम कंक है। मै इंद्रप्रस्थ के सम्राट् युधिष्ठिर की सभा में था ...।"

विराट ने सावधानी से उनकी ओर देखा, और धीरे से कहा, "उतनी दूर खडे मत रहो। निकट आओ और जो कुछ कहना है, धीरे से कहो।"

युधिष्ठिर देख रहे थे कि विराट सावधान हो गए है। उनकी रुचि भी युधिष्ठिर में बढ गई है, वे उनकी बात सुनना भी चाहते हैं और यह भी नहीं चाहते कि उनका वार्तालाप कोई और व्यक्ति सुने।

"जी महाराज !" युधिष्ठिर, विराट के और निकट आकर खडे हो गए ।

"और निकट आओ कंक !"

"महाराज ! प्रजा को राजा के इतने निकट भी नहीं जाना चाहिए कि राजा के सम्मान की क्षति हो।" युधिष्ठिर बोले, "सम्मान के लिए दूरी आवश्यक है महाराज !"

विराट ने युधिष्ठिर को कुछ चकित भाव से देखा और फिर अपने स्वर को कुछ अतिरिक्त मधुर बनाते हुए बोले, "मेरी आज्ञा है कि कुछ और निकट आओ। राजा की आज्ञा मानी जाए तो राजा का सम्मान कम नहीं होता।"

युधिष्ठिर संकोच प्रदर्शित करते हुए कुछ और आगे बढ आए।

"धर्मराज की सभा में तुम क्या करते थे कंक ?" राजा ने पूछा।

"महाराज ! मैं धर्मराज के द्यूत-सहयोगी के रूप में काम करता था।"

"किंतु धर्मराज तो द्यूत में ही पराजित हुए।"

"सत्य है महाराज ! उससे मेरी अयोग्यता सिद्ध नहीं होती, उससे तो शकुनि की धूर्तता ही सिद्ध होती है। पांसा एक बार भी धर्मराज के हाथ में नहीं आया तो धर्मराज जीत भी कैसे पाते। ... और मैं तो सहयोगी मात्र था, महाराज ! मैं उनका शिक्षक तो नहीं था।"

"पर मुझे तो शिक्षक की ही आवश्यकता है।" विराट ने कहा, "एक दक्ष शिक्षक की, ताकि समय आने पर शकुनि भी मुझसे न जीत सके।"

"महाराज मेरी परीक्षा कर लें।"

"शिक्षक के रूप में ?"

"महाराज मुझे जो दायित्व देंगे, मुझे स्वीकार होगा।"

"अपनी योग्यता प्रमाणित कर पाओगे ?"

"अवश्य महाराज !"

"न कर पाए तो ?"

"महाराज मुझे मिथ्या-भाषण के अपराध में दंडित कर सकते हैं।"

विराट मौन हो गए। उनके मन में विचारों के झंझावात चल रहे थे।... कुछ वर्ष पूर्व भी उन्होंने युधिष्ठिर के कुछ कर्मचारियों को अपने यहाँ नियुक्ति दी थी। उस समय भी कीचक राजधानी में नहीं था। नगर में लौटते ही उसने वे सारी नियुक्तियाँ निरस्त कर दी थीं और उन लोगों को अपने नगर से प्रायः निकाल ही दिया था। उस समय तो विराट समझ नहीं पाए थे कि कीचक ने ऐसा क्यो किया था; किंतु बाद में सारी बात उनकी समझ में आ गई थी। कीचक यह मानता था कि उसकी अनुपस्थिति में राजा ने अपने विश्‍वसनीय और अपने प्रति निष्ठावान लोगों को राजसभा में नियुक्ति दे दी थी और वह एकदम नही चाहता था कि विराटनगर की राजसभा में राजा के प्रति निष्ठावान लोगों की संख्या बढ़े; और फिर युधिष्ठिर के कर्मचारी तो अपने स्वामी के प्रति निष्ठा के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध थे। ऐसे में वह नहीं चाहता था कि युधिष्ठिर के पूर्व कर्मचारियों की विराटनगर मे नियुक्ति हो और वह भी स्वयं राजा के द्वारा।...एक बार फिर वैसा ही अवसर आ उपस्थित हुआ था। यदि वे ऐसी कोई नियुक्ति करते हैं, तो वह न केवल उन नियुक्तियों को निरस्त करेगा, वरन् राजा के प्रति अपना रोष भी प्रकट करेगा। तो राजा उसके रोष के भागी क्यों होना चाहते है ? उन्हें क्या लेना-देना है, इस कंक से और क्या लाभ है युधिष्ठिर के प्रति उनकी सहानुभूति का ?...कीचक के मन में अपने प्रति विरोध बढ़ा कर उन्हें क्या मिलेगा।... और तभी उनके मन में एक दूसरा ही विचार आया ... कीचक

और उनका विरोध अब मात्र मतभेद नहीं है। यह तो सत्ता-प्राप्ति का खेल है। कीचक क्यों सत्ता अपने हाथ मे रखना चाहता है ? वह राजसभा में अपने समर्थकों की संख्या क्यों बढ़ाना चाहता है ? क्यों मनमानी करता रहता है वह ? क्यों राजा को समझाना चाहता है कि उसकी इच्छा के बिना, राजा राज्य नहीं कर सकता ? इस प्रकार निरीह बन कर कब तक शासन कर पाएँगे विराट ? एकचक्रा नगरी में राजा की सहायता के नाम पर जो कुछ बकासुर कर रहा था, क्या वही विराटनगर में कीचक नहीं कर रहा ? बकासुर तो प्रजा को ही खा रहा था, यह कीचक तो राजा और प्रजा दोनों को ही खा रहा था। ... आज वे अपने मन में एक आकांक्षा पाल रहे हैं कि कुछ समय में उनके पुत्र शंख और उत्तर इस योग्य हो जाएँगे कि वे विराटनगर को कीचक से मुक्त करा सकें; किंतु उनके समर्थ होने से पहले ही यदि कीचक ने सब कुछ अपने अधिकार में कर लिया तो ? विराट राजा तो है, संभवत: उनके पुत्र राजा भी नहीं रह पाएँगे। विराटनगर पर कीचक और उसके भाई राज्य करेंगे। शंख तथा उत्तर का भाग्य ?...जरासंध से डरते रहे विराट; और जरासंध को शायद उनकी ओर देखने का भी अवकाश नहीं था।... किंतु यहाँ तो उनके अपने ही घर में एक जरासंध उत्पन्न हो गया है। ...

आज सौभाग्य से उनके हाथ एक अवसर लगा है। यदि वे अपने पक्ष के नहीं तो अपने मन के कुछ लोगों को अपने आस-पास नियुक्त कर सकते हैं। उन्हें यह अवसर छोड़ना नहीं चाहिए।... कदापि नहीं ...

"तुम्हारी नियुक्ति राजा के द्यूत-सहचर और द्यूत-शिक्षक के रूप में हुई।" विराट अत्यंत आकस्मिक रूप से बोले, जैसे उन्हें भय हो कि उनका यह साहस कहीं क्षीण ही न हो जाए, "जाओ ! अपने स्थान पर बैठो। सभा उठ जाए तो मुझसे एकांत में मिलना।"

युधिष्ठिर ने राजा को प्रणाम किया और लौट कर सभा के पीछे की ओर लगे आसनों में से एक पर आकर बैठ गए। राजा ने उन्हें सभा उठ जाने के पश्चात् एकांत में मिलने के लिए कहा था। क्या सभा के पश्चात् राजा द्यूत खेलना चाहते थे ? ... या युधिष्ठिर की द्यूत संबंधी योग्यता को परखना चाहते थे ? ... जो भी हो, युधिष्ठिर को तो अब राजा की आज्ञा का पालन करना ही था।

अपने स्थान पर बैठे युधिष्ठिर, सभा की कार्यवाही देखते रहे। यहाँ बैठ कर कुछ भी सुन पाना सर्वथा असंभव था। सुनना उनके लिए आवश्यक भी नहीं था। ...वे विराट की सभा में बैठे अवश्य थे; किंतु उनका मन भटक कर अपने भाइयों के पास चला गया था। वे लोग उनकी प्रतीक्षा में होंगे।...

सभा की कार्यवाही पूरी हुई और राजा उठ कर सभा कक्ष के साथ बने अपने एकांत कक्ष में चले गए। युधिष्ठिर सोच ही रहे थे कि अब उन्हें राजा से भेंट कर लेनी चाहिए कि एक द्वारपाल आकर उनके सम्मुख हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया, "आइए आर्य ! महाराज आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

युधिष्ठिर उठ कर उसके पीछे चल पड़े। द्वारपाल द्वार पर रुक गया और युधिष्ठिर ने भीतर प्रवेश किया। उनके प्रणाम के उत्तर में राजा ने उनके बैठने के लिए एक आसन की ओर संकेत किया।

युधिष्ठिर बैठ गए।

"तुम्हारे साथ कोई और भी आया है ?" राजा ने बिना तनिक भी विलंब किए पूछा।

युधिष्ठिर सावधान हो गए ... क्यों पूछ रहे हैं, विराटराज यह प्रश्न ? कहीं युधिष्ठिर पहचाने तो नहीं गए ?

"महाराज ! राजा युधिष्ठिर के अपने भाइयों के साथ अज्ञातवास के लिए चले जाने के कारण अनेक लोग निराश्रित हुए हैं। वे सब कहीं न कहीं तो अपनी आजीविका की खोज में जाएँगे ही। संभव है कि कुछ लोग मेरे ही समान आपकी शरण में आ जाएँ।"

"युधिष्ठिर को वनवास करते हुए बारह वर्ष हो चुके हैं कंक। उनके कर्मचारी इन बारह वर्षो में कहीं न कहीं अपनी आजीविका खोज चुके होंगे। वे अब तक भटक तो रहे नहीं होंगे।"

"महाराज का कथन उचित ही है। जो लोग महाराज को बारह वर्ष पूर्व छोड़ गए थे, वे तो अपनी आजीविका के लिए किसी न किसी अन्य राजा की सेवा में नियुक्त हो ही चुके होंगे; किंतु जो लोग वन में भी राजा युधिष्ठिर के साथ थे, वे तो अभी विचार ही कर रहे होंगे कि वे किस राजा को अपनी सेवाएँ अर्पित करें।"

विराट के मुख पर विस्मय का भाव जागा। मुझे बताओ कंक ! कि युधिष्ठिर के कर्मचारी वन में भी उनके साथ क्यों थे ?"

"निष्ठावान कर्मचारी तो सदा राजा के साथ ही रहते हैं महाराज ! राजा वन में हो या राजसभा में। राजा तो राजा ही रहता है।"

"तो इसमें युधिष्ठिर का कोई गुण नहीं है ? कर्मचारी ही अपनी निष्ठा के कारण उनके साथ थे ?"

युधिष्ठिर को लगा, वे घिर रहे हैं। यदि वे युधिष्ठिर की प्रशंसा करते हैं तो आत्मप्रशंसा के पाप के भागी होते हैं और यदि नहीं करते हैं तो विराट को किसी प्रकार का संदेह हो सकता है।

"महाराज युधिष्ठिर का तो सबसे बड़ा गुण यह था कि वे स्वयं भी धर्म

के मार्ग पर चलते थे और अपने सहयोगियो को धर्म के मार्ग पर चलने की पूरी छूट देते थे।" युधिष्ठिर ने धीरे से कहा, "धर्म पर चलनेवाले किसी कर्मचारी को उनसे तनिक भी भय नहीं था।"

विराट कुछ देर तक मौन चिंतन करते रहे और फिर धीरे से बोले, "मैं भी एक द्यूत खेलना चाहता हूँ कंक ! मैं चाहता हूँ कि धर्मराज युधिष्ठिर के जितने कर्मचारी उपलब्ध हो सकें, मैं उन्हें अपने राज्य में नियुक्त कर लूँ। मेरी सूचना के अनुसार युधिष्ठिर के सारे ही सेवक अत्यंत स्वामीभक्त हैं।"

युधिष्ठिर इस प्रकार की किसी स्थिति के लिए तैयार नहीं थे। इस आकस्मिकता को झेल कर प्रकृतस्थ होने में उन्हें कुछ समय लगा। वे राजा की सज्जनता से जैसे अभिभूत हो गए थे। फिर भी सावधान रहे और बोले, "मैं महाराज का तात्पर्य नहीं समझा।"

"मै चाहता हूँ, कंक ! कि धर्मराज के साथ काम करनवाले न्यायप्रिय और धर्मभीरु किंतु साहसी लोग मेरे राज्य में आ बसें ताकि यहाँ कुछ अच्छे लोगों का वास हो और यह राज्य कीचक की राजनीति का प्रतिरोध करने की स्थिति मे आ सके।" विराट बोले, "इसे मेरा द्यूत समझो। तुम्हें नियुक्त कर दिया है, यदि धर्मराज के कुछ और कर्मचारी आए तो उन्हे भी रख लूँगा; किंतु प्रतिज्ञा करो कि तुम इस तथ्य को गुप्त ही रखोगे कि तुम यहॉ आने से पूर्व धर्मराज युधिष्ठिर की सभा में थे ?"

" इसका क्या लाभ होगा महाराज !"

"यह जानना तुम्हारे लिए आवश्यक नहीं है।"

"मै प्रतिज्ञा करता हूँ महाराज !" युधिष्ठिर बोले।

"मैं यह मानता हूँ कंक ! कि युधिष्ठिर अपने धर्म में बँधे चाहे आज कहीं अज्ञातवास कर रहे हों, किंतु वे कोई राजनीतिक तथा सैनिक युद्ध कभी नहीं हारे। अपने परिवार के लोगों की मानवीय दुर्बलताओं के कारण उन्हें कभी किसी कठिनाई मे नहीं पडना पड़ा।..."

"क्यों महाराज ! दुर्योधन उनका भाई ही तो है, जिसके कारण उन्हें ये सारे कष्ट उठाने पड़ रहे हैं।" युधिष्ठिर बोले।

विराट ने विस्फारित आँखों से युधिष्ठिर की ओर देखा, "यह देखो ! यह देखो ! धर्मराज की सभा का एक साधारण कर्मचारी आज भी दुर्योधन को उनका भाई कह रहा है तो धर्मराज तो निश्चित रूप से उसे अपना भाई मानते ही होंगे। यह उनकी उदारता ही तो है। किंतु मेरा संकेत उस ओर नहीं था। सोचो तो वे पॉच भाई हैं और उनकी एक पत्नी है। उन भाइयों में उस पत्नी के कारण भी कभी मन-मुटाव नहीं हुआ। धर्मराज ने अपना राज्य हार दिया और किसी भाई ने उनका साथ नहीं छोड़ा। ये साधारण बातें नहीं हैं।" ...विराट ने रुक

कर उनकी ओर देखा, "तुम यहाँ रहोगे तो देख ही लोगे, कि क्या अंतर है, मेरे और युधिष्ठिर के भाग्य में।" विराट ने युधिष्ठिर की ओर देखा, "पांडवों में योद्धा कौन है—युधिष्ठिर अथवा उनके भाई ?"

"वैसे तो वे पाँचों ही शस्त्र-संचालन कर लेते है, किंतु वास्तविक योद्धा तो भीम और अर्जुन ही हैं।"

"सैन्य बल किसके नियंत्रण में था ?"

"सेनाओं के महानायक तो मध्यम पांडव भीम ही थे।"

"यही तो कह रहा हूँ मैं।" विराट बोले, "योद्धा भीम और अर्जुन हैं। सेनाओं का महानायक भीम है और युधिष्ठिर को तनिक भी भय नहीं है कि उनका राज्य छिन सकता है और सिंहासन पर बैठ कर भी वे सत्ताविहीन हो सकते हैं। और यहाँ एक अभागा विराट है कि राजा होते हुए भी वह अपनी इच्छा से अपनी सभा में एक नियुक्ति तक नहीं कर सकता।"

"क्या आपको अपने सेनापति से कोई भय है महाराज ?"

"अभी तक ऐसा तो कोई प्रमाण नहीं है कि उसने मेरा राज्य छीनने का कोई प्रयत्न किया हो; किंतु मेरी सत्ता का हरण उसने अवश्य कर लिया है। तुम्हें यह बताने में मुझे संकोच हो रहा है कंक ! कि मेरे अनेक आदेशों को वह निरस्त कर देता है और मेरी सभा में विरोध अथवा प्रतिरोध का एक स्वर भी नहीं उठता। मैं स्वयं साहस नहीं कर पाता हूँ कि उसका विरोध कर सकूँ।"

"तो ऐसे व्यक्ति को आपने सेनापति नियुक्त ही क्यों किया महाराज !"

"अपनी पत्नी की इच्छा का सम्मान किया। तब क्या जानता था कि यह स्थिति भी आ सकती है कि सेवक ही स्वामी बन जाएगा।"

"क्या अब आप उसे पद-मुक्त नहीं कर सकते ?"

"सेना उसके अधिकार में है। वह स्वयं योद्धा है और मेरे पास और कोई ऐसा योद्धा नहीं है, जो उससे लोहा ले सके। और अब उसके अनेक भाई विराटनगर में अपने पग जमा चुके हैं। यदि सेना मेरे साथ हो भी जाए तो वह अपने भाइयों के साथ मिल कर मेरी सेना को पराजित कर सकता है।"

"तो आप के अधिकार में क्या है महाराज ?"

"ऊपर से देखने पर तो सब कुछ मेरे ही अधिकार में है, किंतु वास्तविकता यह है कि मेरा अंतःपुर भी मेरे अधिकार में नहीं है। वहाँ महारानी सुदेष्णा का शासन है; और वह कीचक की बहन है। वह मेरी प्रत्येक इच्छा का विरोध कर सकती है, किंतु कीचक की किसी इच्छा का विरोध नहीं कर सकती।" महाराज विराट का मुख क्षोभ से ताम्रवर्णी हो रहा था।

"यह भी तो संभव है महाराज ! कि महारानी का व्यवहार भी अपने भाई

के प्रेम से नहीं, उसके भय से ही संचालित होता हो।" युधिष्ठिर ने कहा।

विराट के चेहरे पर कुछ ऐसे भाव थे, जैसे इस पक्ष पर उन्होंने कभी विचार ही न किया हो।

"संभव है कि ऐसा ही कुछ हो, किंतु जब तक यह स्थिति है, मैं किसी पर भी विश्वास नहीं कर सकता।"

"आप ठीक कहते हैं महाराज !" युधिष्ठिर बोले, "ऐसी स्थिति में आप द्यूत की पहली चाल के रूप में राजसत्ता के स्थान पर अपनी गृह-सत्ता पर अपना पूर्ण और दृढ नियंत्रण स्थापित करने का प्रयत्न करें महाराज ! पहले उन स्थानो और विभागों पर अपनी पकड कसें, जिन पर कीचक अपने नियंत्रण की आवश्यकता ही न समझता हो।"

"ऐसा कौन-सा स्थान अथवा विभाग हो सकता है कंक ?"

"यदि आपको अपने प्राणों का भी भय है तो सबसे पहले तो आपको यह प्रबंध करना चाहिए कि आपका भोजन सुरक्षित हो। आपको भोजन में विष न दिया जा सके। अतः पाकशाला में आपके विश्वसनीय लोग होने चाहिए।..." युधिष्ठिर ने विराट पर एक दृष्टि डाली। विराट कुछ ऐसे भाव से उनकी ओर देख रहे थे, जैसे कोई किसी बहुत बड़े संकट की सूचना देनेवाले की ओर देखता है। युधिष्ठिर अपनी बात कहते गए, "पाकशाला कीचक की महत्त्वाकांक्षा का क्षेत्र नहीं हो सकती। फिर यदि सेना आपके नियंत्रण में नहीं है, तो आप अश्वशाला पर अपना अधिकार स्थापित कीजिए। अश्वों के बिना न रथ चल पाएँगे, न अश्वारोही। समझिए कि आधी सेना आपके अधिकार में हो गई। ऐसे ही ... ।" युधिष्ठिर मौन हो गए।

विराट ने उन्हें भरपूर प्रशंसा की दृष्टि से देखा, "तुम तो बहुत ही काम के व्यक्ति हो कंक ! द्यूतक्रीड़ा के विषय में तो मैं अभी कुछ नहीं कह सकता; किंतु राजनीतिक द्यूत में तो तुम बहुत दक्ष प्रतीत होते हो। ये सारी बातें तो मैंने कभी सोची भी नहीं थीं।" वे कुछ रुके और पुनः बोले, "अभी थोड़ी देर पहले जब मैं तुमसे उन सब बातों की चर्चा कर रहा था, जो एक प्रकार से गोपनीय थीं, तो मेरा अपना ही मन मुझसे प्रश्न कर रहा था कि मैंने तुममें ऐसा क्या पाया है कि मैं तुम पर इतना विश्वास कर रहा हूँ कि तुम्हें अपनी वे योजनाएँ बता रहा हूँ, जो खुल जाएँ तो मेरी हानि अवश्यंभावी थी।..."

"हाँ ! यह बात तो मेरे भी मन में आई थी महाराज ! कि किस कारण से आप मुझपर इतना विश्वास कर रहे हैं।" युधिष्ठिर ने धीरे से कहा।

विराट हँस पड़े, "पहली बात तो यह थी कि किसी पर तो मुझे भरोसा करना ही था। इसीलिए मैंने आरंभ में ही कहा था कि मैं एक जूआ खेल रहा

हूँ। यदि मेरी कही हुई बातें तुम तक ही सीमित रहतीं, तो मैं मान लेता कि तुम एक विश्वसनीय व्यक्ति हो; और यदि वे बातें कहीं कीचक तक जा पहुँचतीं, तो भी मुझे तुम्हारी प्रकृति का ज्ञान हो जाता।... किंतु अब मुझे यह नहीं लग रहा कि में द्यूत खेल रहा हूँ, मुझे लग रहा है कि मैंने अपनी विजयक्रीड़ा आरंभ कर दी है।" विराट सचमुच बहुत प्रसन्न दिखाई पड़ रहे थे।

37

पिछले कुछ दिनों से अपनी पाकशाला को लेकर विराट की चिंता बढ़ती जा रही थी। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि जब राज-परिवार के सदस्यों की संख्या में कोई वृद्धि नहीं हो रही; जब उनके सेवकों और कर्मचारियों की संख्या भी स्थिर है, तो भोजन सामग्री का व्यय क्यों बढ़ता जा रहा है। क्या उनके राज्य में महँगाई बढ़ रही थी ? क्या वस्तुओं के मूल्य स्थिर नहीं हो पा रहे थे ?... किंतु हाट से तो ऐसा कोई समाचार नहीं आ रहा था। राज-कर्मचारियों ने भी अपना वेतन अपर्याप्त होने की चर्चा उनके सम्मुख कभी नहीं की... तो फिर पाकशाला का ही व्यय क्यों बढ़ता जा रहा है ?

क्या उनका पाकशालाध्यक्ष निष्ठाविहीन हो गया है ? संभव है कि वह व्यय के लिए ली गई राशि का कोई अंश अपने पास ही रख लेता हो। किंतु वह तो अत्यंत सरल और ऋजु व्यक्ति है। धार्मिक है, स्वभाव से साधु है; वह इस प्रकार की दुष्टता नहीं कर सकता। किंतु राजा ने उससे इस विषय में जब भी जानना चाहा, उसने प्रत्येक बार यही कहा कि महाराज स्वयं पाकशाला में आकर देख लें कि वह उनके प्रति पूर्णतः निष्ठावान है और उसके मन में अधर्म के लिए तनिक भी स्थान नहीं है। वह तो यहाँ तक कहता था कि राजा उसके स्थान पर किसी और को पाकशाला का अध्यक्ष बना दें, वह एक साधारण सेवक के रूप में ही राजा की सेवा करके प्रसन्न रहेगा।... किंतु राजा ऐसा कर नहीं सकते थे। जब तक किसी व्यक्ति का दोष प्रमाणित ही न हो जाए, वे उसे उसके पद से कैसे हटा सकते हैं ?...

विराट ने इस विषय में कंक से चर्चा की, "अब तुम ही बताओ कंक ! क्या किसी राजा को यह शोभा देता है कि वह अपनी पाकशाला का भी निरीक्षण करता फिरे।"

"इसमें हानि ही क्या है महाराज !" कंक ने कहा, "मैं तो समझता हूँ कि राजा को अपने प्रासाद के ही नहीं अपने राज्य के भी साधारण से साधारण स्थान

का निरीक्षण करते रहना चाहिए, ताकि कर्मचारी उसे उपेक्षित स्थान मान कर उसके क्षय का कारण न बने। महाराज यदि अपनी पाकशाला का निरीक्षण करेंगे, तो कर्मचारियों को ध्यान रहेगा कि महाराज यहॉ भी आ सकते हैं, अतः वह स्थान स्वच्छ रहेगा। भोजन और भी अधिक शुचिता से पकाया जाएगा।"

राजा, कंक की बात पर विचार कर ही रहे थे कि कंक पुनः बोले, "महाराज आपको देखना चाहिए कि आपका वह निष्ठावान सेवक आपको बार-बार पाकशाला के निरीक्षण के लिए क्यो आमंत्रित करता रहता है। संभव है कि वहॉ कुछ ऐसा घटित हो रहा हो, जिसे अपनी जिह्वा से बताना उसके लिए संभव न हो और वह चाहता हो कि आप स्वयं अपने नेत्रो से उसे घटित होते हुए देखे।"

विराट को लगा, कक ठीक ही तो कह रहा है। यह विचार उनके मन मे कभी नहीं आया कि उनका कोई राजभक्त कर्मचारी उनके राज्य में इतना अवश भी हो सकता है कि अपना कष्ट अपने राजा के सम्मुख भी न कह सके।

"ठीक है कंक !" विराट ने कहा, "तुम पाकशाला के अध्यक्ष को सूचना भिजवा दो कि आज हम अपराह्न में पाकशाला का निरीक्षण करने आएँगे।"

"जैसी महाराज की इच्छा।" कंक ने पूरे सम्मान से कहा, "किंतु महाराज घोषित रूप से जाऍगे तो वे लोग भी तो सावधान हो जाऍगे, जो लोग पाकशाला की अनियमितताओं के लिए उत्तरदायी हैं।"

विराट हॅसे, "तुम तो यह मान कर ही चल रहे हो कक ! कि पाकशाला मे कुछ अनियमितताऍ है।"

"मुझे तो पूर्ण विश्वास है महाराज !" कक ने कहा, "यदि ऐसा न होता तो आपका वह निष्ठावान पाकशालाध्यक्ष आपको न तो यह कहता कि आप उसे उसके पद से मुक्त कर दे और न ही निरीक्षणार्थ आने के लिए वह बार बार आपसे आग्रह करता।"

"वस्तुतः किसी प्रकार का संदेह करना मेरी प्रकृति में ही नही है।" विराट बोले, "अब तुम कह रहे हो तो चल कर देख लेते है।"

"महाराज अन्यथा न मानें तो एक बात कहूँ।"

"कहो कंक !"

"महाराज ! संदेह करना तो राजा का धर्म है।" कक ने कहा, "राजधर्म के अनुसार तो राजा का भाई और राजा का पुत्र भी राजा के संदेह के वृत्त से बाहर नहीं होना चाहिए। हॉ ! प्रमाण के अभाव मे राजा को उन संदेहो को सत्य नही मान लेना चाहिए।"

विराट ने चकित हो कर कक की ओर देखा, "तुम धर्मराज के द्यूत सचिव थे अथवा उनके राजधर्म परामर्शदाता।"

कंक ने संकुचित होने का अभिनय किया, "महाराज मुझे अकारण ही इतना महत्त्व दे रहे हैं। जो व्यक्ति राजा का द्यूत-सहचर होगा, वह राजा के मनोरंजन के क्षणों का सहचर होगा। ऐसे में खुले मन से चर्चाएँ होती रहती हैं। उन्हीं क्षणों में धर्मराज से बहुत कुछ सीखने को मिला है। उसी अभ्यासवश महाराज के सम्मुख भी यह कहने का दुस्साहस कर बैठा। महाराज मेरी बात को किसी भी अन्य रूप में ग्रहण न करें।"

"नहीं ऐसी कोई बात नहीं है कंक ! तुमने तो बहुत ही उत्तम परामर्श दिया है। मुझे लगता है कि तुम्हारी सगति से मैं द्यूत सीखूँ न सीखूँ, धर्मराज का राजधर्म अवश्य सीख जाऊँगा।" विराट ने रुक कर कंक की ओर देखा, "ठीक है। कल प्रातः हम अपनी पाकशाला का निरीक्षण करने जाएँगे। तुम भी हमारे साथ चलना।"

प्रातः विराट अपनी पाकशाला में पहुँचे। कंक और राजकुमार उत्तर उनके साथ थे।

पाकशालाध्यक्ष चतुरसेन, राजा को देखते ही जैसे अपना मनभावन पा गया। उनका स्वागत कर बोला, "महाराज आज मेरी मनोकामना पूर्ण हुई। आप पाकशाला में पधारे, यह मेरे लिए एक वरदान हो गया। महाराज ! आप एक भी दिन पहले आए होते, तो यहाँ स्थिति कुछ और पाते। तब मैं आपसे यही कहता कि मुझे इस पाकशाला से मुक्त कर दीजिए। आज स्थिति कुछ परिवर्तित हो गई है अन्नदाता ! आज मैं आपसे प्रार्थना कर रहा हूँ कि मुझे अपनी सेवा से मुक्त न करे, किंतु मुझे मेरे पद से अवश्य मुक्त कर दें। उस पद के लिए मैंने एक उपयुक्त पात्र भी खोज लिया है अन्नदाता ! उसे पाकशालाध्यक्ष नियुक्त कर दें। मैं उसके अधीन रह कर आपकी सेवा करता रहूँगा।"

विराट चकित थे। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि चतुरसेन क्या चाहता था। यह तो संभव है कि कोई कर्मचारी यह कहे कि उसके लिए एक योग्य सहकर्मी नियुक्त कर दिया जाए। किंतु यह तो स्वयं किसी और का अधीनस्थ कर्मचारी बन कर काम करने की इच्छा प्रकट कर रहा था।

"तुम किसी और को पाकशालाध्यक्ष बना कर स्वयं अपनी अवनति क्यों चाहते हो चतुरसेन ! तुमने वर्षों तक इस पाकशाला का स्वतंत्र संचालन किया है। अब ऐसा क्या हो गया है कि तुम स्वतंत्रता छोड़ कर किसी के अधीन हो जाना चाहते हो ?"

"मेरे लिए अपनी उन्नति अथवा अवनति, स्वतंत्रता अथवा अधीनता महत्त्वपूर्ण नहीं है महाराज ! मेरे लिए महत्त्वपूर्ण है अपने स्वामी का हित। आपका

सम्मान महाराज ! मैं जो कुछ भी कह रहा हूँ, उसका तात्पर्य मुझसे न पूछें। यदि आपको अपने इस सेवक पर भरोसा हो तो मेरी प्रार्थना स्वीकार कर लें।"

"विचित्र प्राणी हो तुम। भला कोई व्यक्ति अपने मुख से स्वयं अपनी अवनति की प्रार्थना करता है ?" राजकुमार उत्तर से रहा नहीं गया।

"मैंने निवेदन किया न राजकुमार ! कि अभी आप मुझसे इस विषय में कुछ न पूछे।"

"चलो हम तुमसे कुछ भी नहीं पूछते।" विराट वोले, "किंतु तुमसे यह तो पूछ ही सकते हैं न ! कि तुम पाकशाला का निरीक्षण क्यो करवाना चाहते थे ?"

"महाराज ! आज आप आ गए। अव आप देखेंगे कि पाकशाला का व्यय कम हो जाएगा। भोजन और अधिक स्वादिष्ट तथा पौष्टिक हो जाएगा; और सवसे वडी वात तो यह है महाराज ! कि पाकशाला अव एकदम सुरक्षित स्थान है। अव हमें यहॉ न तो दंडधर ही चाहिए और न ही यहॉ किसी सैनिक की आवश्यकता है।..."

कंक ने चौंक कर चतुरसेन की ओर देखा; किंतु तत्काल ही स्वयं को सॅभाल लिया। कहीं ऐसा न हो कि कोई भेद प्रकट हो जाए।... किंतु उन्हे विश्वास था कि इस सारी स्थिति के पीछे कहीं न कहीं भीम का हाथ अवश्य है।

विराट जैसे कोई कौतुक देख कर हँस रहे थे। उन्हे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि वास्तविक जीवन मे भी ऐसा कुछ हो सकता है। वोले, "अच्छा वताओ चतुरसेन ! तुम किसको पाकशाला के अध्यक्ष के रूप में नियुक्त करवाना चाहते हो।"

"पाकशाला में प्रवेश करे महाराज !"

उन लोगो ने पाकशाला में प्रवेश किया और जिस व्यक्ति ने सवसे पहले सम्मुख आकर उन्हे प्रणाम किया, वह भीम था, वल्लव के वेश में।

"यह कौन है ?" राजकुमार उत्तर ने पूछा, "मैंने इसे कभी नहीं देखा।"

"यह वल्लव है राजकुमार !" चतुरसेन ने वताया, "इसके समान दक्ष रसोइया मैंने आज तक नहीं देखा। "इसके हाथ का पकाया खाऍगे तो अपने इस पुराने सेवक को भी भूल जाऍगे। महाराज ! मैं इन्हें ही पाकशालाध्यक्ष वनाने की प्रार्थना कर रहा हूँ।"

"मुझे तो यह रसोइया नहीं किसी अखाडे का मल्ल दिखाई पड़ता है।"

"राजकुमार ने ठीक पहचाना।" वल्लव ने स्वीकार किया, "मुझे मल्लविद्या मे रुचि भी है और उसका अभ्यास भी है।"

कंक की दृष्टि विराट के चेहरे पर टिकी हुई थी : वे स्पष्ट रूप से देख रहे थे कि राजा इस सारी रहस्यमयता को समझ रहे थे, किंतु उन्होंने कदाचित्

कुछ भी न पूछने का निर्णय किया था। बोले, "बल्लव ! आज से तुम हमारे पाकशालाध्यक्ष हुए। चतुरसेन अपनी इच्छा से तुम्हारा सहयोगी बन कर कार्य करेगा।" वे रुके, "संध्या समय आकर हमारे कक्ष में हमसे मिलो।"

"जैसी महाराज की आज्ञा।" बल्लव ने कुछ इतनी शालीनता से कहा कि कंक का मन चकित रह गया।

बल्लव ने महाराज विराट के एकांत कक्ष में प्रवेश किया और प्रणाम कर शांत भाव से एक ओर खड़ा हो गया।

विराट की दृष्टि से यह बात छुपी नहीं रह सकी कि राजा के कक्ष में राजा के सम्मुख पहली बार इस प्रकार उपस्थित होने पर भी वह तनिक भी आतंकित नहीं लग रहा था। वह तो इस प्रकार सहज भाव से खड़ा था, जैसे राजा का सान्निध्य उसके लिए तनिक भी असाधारण बात न हो।

"क्या तुमने चतुरसेन को अपने शारीरिक बल से भयभीत कर दिया है ?" विराट ने बिना किसी भूमिका के पूछा; और बल्लव को उत्तर देने का समय दिए बिना पुनः कहा, "क्या तुमने उसे किसी अनिष्ट की धमकी दी है ?"

बल्लव तनिक भी चिंतित नहीं हुआ, "महाराज ! इतना तो मेरे जैसा अल्पज्ञ भी जानता है कि विराटराज जैसे न्यायप्रिय राजा के राज्य में किसी दुर्बल व्यक्ति को डरा-धमका कर कोई निश्चिंत नहीं रह सकता।"

"चाटूकारिता से काम नहीं चलेगा बल्लव !" विराट का स्वर कुछ कठोर हो गया, "क्या तुम स्पष्ट कर सकते हो कि चतुरसेन क्यों चाहता है कि उसे पाकशालाध्यक्ष के पद से हटा कर वह पद तुमको दे दिया जाए ?"

"अच्छा तो यही था कि इसका कारण चतुरसेन ही आपको बताता, किंतु शायद वह यह साहस कर नहीं पा रहा है।" बल्लव हँसा, "महाराज ! मैं व्यवसाय से पाचक हूँ, रसोइया। मुझे खाने में भी बहुत रस आता है और पकाने में भी। इसलिए मैंने जीवन भर किसी और व्यवसाय के विषय में सोचा ही नहीं। आप के नगर में आकर भी आजीविका के लिए मैं पाकशाला में ही गया।"

"आजीविका के लिए तुम मेरे पास क्यों नहीं आए ? चतुरसेन के पास क्यों गए ?"

"महाराज ! मुझे आपकी राजसभा में तो स्थान चाहिए नहीं था। न मुझे मंत्री बनना था, न सभासद। ऐसे में राजा के पास क्या करने जाता।"

"पाकशाला तो राजा की ही है न !" विराट बोले, "वहाँ की नियुक्तियाँ भी राजा ही करते हैं।"

"जानता हूँ महाराज !" बल्लव बोला, "वस्तुतः मैं पाकशालाध्यक्ष के पद

की तो आशा ही नहीं कर रहा था। उसके लिए आया होता तो आपके पास ही आता। मैं तो एक साधारण रसोइए की चाकरी की आकांक्षा लेकर आया था, इसलिए पाकशालाध्यक्ष के पास ही चला गया।"

"तो वहाँ ऐसा क्या हो गया कि तुम्हारी पाकशालाध्यक्ष बनने की इच्छा जाग उठी ?" विराट का स्वर पर्याप्त व्यंग्यात्मक हो उठा था।

बल्लव के ललाट पर बल पड गए, "महाराज मेरे प्रति किसी आशंका से ग्रसित हैं ?"

"मुझे आशंका नहीं संदेह है कि तुमने उस भीरु चतुरसेन को डराया-धमकाया है और वह तुम्हारे शरीर के इस रूपाकार को देख कर तुमसे त्रस्त हो गया है। अपनी रक्षा के लिए ही उसने तुम्हें पाकशालाध्यक्ष का पद दिलवाने का यह सारा प्रयत्न किया है। पर तुम शायद यह नहीं जानते कि यह भय तब तक ही है, जब तक सेनापति कीचक राजधानी में नहीं है। उसके आते ही विराटनगर का प्रत्येक प्राणी निर्भय को जाएगा। तब चतुरसेन जैसे लोगों को इस प्रकार स्वेच्छा से अपना पद नहीं छोडना पड़ेगा।"

बल्लव इस बार खुल कर हँसा, "तो महाराज ! मैं आपको वह सब कुछ बता देता हूँ, जो बताने का साहस चतुरसेन जाने कब से नहीं कर सका है।"

राजा कुछ नहीं बोले। चुपचाप उसकी ओर देखते रहे।

"जब मैं पाकशाला में पहुँचा तो भोजन तैयार हो चुका था। चतुरसेन आप के लिए भोजन ले जाने की तैयारी में था।" बल्लव बोला, "पाकशाला और चतुरसेन की रक्षा के लिए नियुक्त किए गए सैनिक न केवल उसके साथ झगड रहे थे, वरन् उसका अपमान भी कर रहे थे। चतुरसेन उनसे कह रहा था कि पहले राजपरिवार का भोजन चला जाए, फिर वह उन लोगों को भी भोजन दे देगा।"

"पर वे तो कीचक की वाहिनी के सैनिक हैं, उन्हें तो भोजन, सेना की पाकशाला से मिलता है, वे राजपरिवार की पाकशाला से भोजन क्यों माँग रहे थे ?"

"यह तो वे ही जाने महाराज !" बल्लव बोला, "किंतु ऐसी ही कुछ बात चतुरसेन ने भी कही थी। उसके उत्तर में सैनिकों ने कहा कि उसे राजा का इतना निष्ठावान बनने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसकी रक्षा सैनिक करते हैं, राजा नहीं। चतुरसेन ने कहा, कोई किसी की रक्षा नहीं कर रहा। सब अपना-अपना काम कर रहे है, इसलिए राजा सबको उनकी आजीविका देते है। उन लोगों को भी उनकी वृत्ति मिलती है, तो फिर वे लोग प्रतिदिन पाकशाला में इतना ऊधम क्यो मचाते है। पर सैनिक उसकी बात नहीं मान रहे थे। वे लोग प्रायः छीना-झपटी पर आ गए थे। चतुरसेन और उसके

सहयोगियों ने उन्हें रोकने का प्रयत्न किया तो सैनिकों ने उन्हें धक्के मार कर भूमि पर गिरा दिया। मुझसे और देखा नहीं गया। मैंने चतुरसेन को थाम लिया और सैनिकों को कहा कि अब यदि उन लोगों ने चतुरसेन को हाथ भी लगाया तो मैं उनको बाँध कर राजा के सम्मुख उपस्थित कर दूँगा। सैनिकों ने मेरा उपहास करते हुए कहा, 'देखो तो सही इस महावीर को, यह सेनापति कीचक के सैनिकों को मार कर धराशायी कर देगा। ' मुझे उत्तेजित करने के लिए उन्होंने चतुरसेन के एक सहयोगी के हाथ से भोजन का थाल छीन लिया। क्रोध तो मुझे पहले ही आ रहा था, अब मुझसे सहन नहीं हुआ और मैंने उन सैनिकों के शस्त्रों की चिंता न करते हुए, उन पर अपनी मुष्टिकाओं से प्रहार किया। आवेश में मुझसे यह अपराध तो अवश्य हुआ महाराज ! किंतु मुझसे उस दुर्बल से चतुरसेन के साथ सैनिको का वह व्यवहार देखा नही गया। आप चाहें तो मुझे उसका उचित दंड दे सकते हैं; किंतु आप चतुरसेन से पूछ सकते हैं कि मैंने जो कुछ भी किया उसकी रक्षा के लिए ही किया। यदि मैं उन्हें बलपूर्वक नहीं रोकता तो वे लोग अवश्य ही चतुरसेन को शारीरिक क्षति पहुँचाते और राजपरिवार की वह पाकशाला उस दिन अवश्य ही लूट ली जाती। आप चाहें तो चतुरसेन से पूछ लें महाराज..."

"मुझे जो कुछ पूछना होगा, वह मैं पूछ लूँगा।" विराट बोले, "पहले तुम बताओ कि फिर क्या हुआ।"

"होना क्या था महाराज !" बल्लव निश्चिंत भाव से बोला, "सैनिकों ने ढेर सारी धमकियाँ दीं। यह भी कहा कि सेनापति के लौट आने पर मुझे और चतुरसेन को अपने प्राणों से हाथ धोने पडेंगे। और उन्होंने यह भी कहा महाराज !..." बल्लव कुछ कहता-कहता रुक गया।

"क्या कहा उन्होंने बल्लव !" विराट ने बहुत आतुर हो कर पूछा।

"उन्होंने यह भी कहा कि जिस राजा के बल पर हम लोग कूद रहे है। वे लोग उन्हें भी देख लेंगे। एक बार सेनापति नगर में लौट आएँ, फिर हमे भी पता चलेगा कि हमने किस पर हाथ उठाया है।..."

"तुम भयभीत तो नहीं हो बल्लव ?" राजा ने पूछा।

"किस बात के लिए महाराज ?"

"कि वे सैनिक इस घटना का तुमसे प्रतिशोध लेंगे।"

"नहीं महाराज ! मुझे इस प्रकार का कोई भय नहीं है।" बल्लव बोला, "यहाँ आने से पहले मैं जहाँ था, वहाँ भी मैंने यही सीखा था कि राजा न्यायी हों तो किसी आततायी से भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ ! यदि मैंने कुछ अनुचित किया हो तो आप जो दंड मुझे देंगे, वह मुझे स्वीकार है।"

"नहीं तुमने कुछ भी अनुचित नहीं किया।" राजा बोले, "किंतु तुम जानते हो कि कीचक कौन है ?"

"नहीं महाराज ! मैं उसे नहीं जानता और महाराज ! उसे जान कर मुझे करना भी क्या है। वे सैनिक जो कुछ उसकी प्रशंसा में कह रहे थे, उससे तो लगता है कि वह व्यक्ति जो कोई भी है, दुष्ट है; और इस योग्य है कि महाराज उसे दंडित करें। जिसके सैनिक राजा की ही पाकशाला में लूटपाट करें और राजा के लिए अपमानजनक शब्दों का व्यवहार करें, उसे तो तत्काल राज्य से निष्कासित कर देना चाहिए, वह सेनापति या कुछ भी हो। जो राजा के सम्मान और उनकी पाकशाला की रक्षा नहीं कर सकता, वह राजा की रक्षा क्या करेगा।" बल्लव ने रुक कर राजा की ओर देखा, "मैं शायद कुछ अधिक ही कह गया महाराज ! क्षमा करें। मेरी प्रकृति ही कुछ ऐसी है। बोलने लगता हूँ तो जो मन में आता है, बोल जाता हूँ।"

"नहीं ऐसी कोई बात नहीं है बल्लव !" विराट बोले, "मुझे बताओ, यहाँ आने से पहले तुम कहाँ थे ?"

"मैं धर्मराज महाराज युधिष्ठिर की पाकशाला का अध्यक्ष था महाराज !" बल्लव बोला, "उन्हें मेरे हाथ का भोजन बहुत प्रिय था। वे मेरे हाथ का बना भोजन रस लेकर खाते थे और चटखारे लेकर मेरी बातें सुना करते थे।"

विराट कुछ बोले नहीं और गंभीरतापूर्वक कुछ सोचते हुए, बल्लव की ओर देखते रहे। अंततः बोले, "इस सारी घटना के पश्चात् चतुरसेन ने क्या कहा ?"

"ओह ! उसने महाराज ! वह पहले तो बहुत प्रसन्न हुआ। मेरी बहुत प्रशंसा की। आपसे पुरस्कार दिलाने की बात भी कही, किंतु फिर कुछ खिन्न हो गया। बोला, आज जो भी हुआ, बहुत अच्छा हुआ, किंतु ये दुष्ट कदाचित् तुम्हें तो कुछ न कहें, किंतु ये लोग मुझसे प्रतिशोध लेने के लिए अवश्य आएँगे। मैंने कहा, 'काका चिंता न करो, मेरे होते ये लोग तुम्हारे निकट आने का भी साहस नहीं कर सकते। आज तो मैंने उन्हें एक प्रकार से धमकाया ही है। अगली बार उनके सिर फोड दूँगा।' पर चतुरसेन का भय दूर नहीं हुआ। बोला, 'वे लोग तुम्हारी हत्या कर देंगे, तो ? ''क्यों ? मेरे क्या हाथ-पैर नहीं हैं।' मैंने कहा। उसने पूछा, 'क्या तुम उनकी हत्या कर सकते हो ?' मैंने कहा, 'मैं हत्या व्यवसायी तो नहीं हूँ, किंतु झगड़ा हुआ तो मैं तुम्हारी रक्षा के लिए उनकी हड्डियाँ तो तोड़ ही सकता हूँ।' 'पर तुम सदा मेरे पास ही तो नहीं रहोगे।' उसने कहा। मैंने उत्तर दिया, 'काका ! मै तो तुम्हारे पास आजीविका के लिए ही आया हूँ। तुम मुझे आजीविका दे दो। बस तुम्हारे ही चरणों में पडा रहूँगा।' उसने उसी दिन कहा था कि वह महाराज से निवेदन करेगा कि महाराज उसका पद मुझे दे दें, ताकि जब कीचक के वे लुटेरे सैनिक लूटपाट करने आएँ तो पाकशालाध्यक्ष के रूप में उन्हें मेरा

सामना करना पड़े; और चतुरसेन उन लुटेरों के रोष से बच कर महाराज की सेवा करता रहे।"

विराट जितना सोचते जाते थे, उनके सम्मुख उतनी ही गुत्थियाँ खुलती जा रही थीं ...आज स्पष्ट हो रहा था कि पाकशाला का व्यय बढ़ता क्यों जा रहा था। आज स्पष्ट हुआ कि उनका प्रिय चतुरसेन अपना पद क्यों छोड़ना चाहता था। आज स्पष्ट हुआ कि वे ही अपने सेनापति से त्रस्त नहीं हैं, उनकी प्रजा भी प्रत्येक स्तर पर कीचक से त्रस्त है। प्रजा में इतना साहस भी नहीं रह गया है कि मुँह खोल कर राजा के सम्मुख अपना अभियोग ही प्रस्तुत कर सके। महाराज विराट अपने ही घर में कितने असहाय हुए बैठे हैं। वे राजा हैं, किंतु उनके पास सत्ता नहीं है। सत्ता है उस दुष्ट कीचक के पास। कीचक तो अकेला ही है, किंतु उसके ये कितने ही रूप, रावण के सिरों के समान राज्य के विभिन्न भागों में छाए हुए हैं।...

"अच्छा तुम जाओ बल्लव !" वे बोले, "पाकशाला की रक्षा के लिए, अब सैनिक नियुक्त नहीं किए जाएँगे। आवश्यकता होने पर तुम पाकशाला की रक्षा कर लोगे, ऐसा मेरा विश्वास है। पर यदि किन्हीं स्थितियों में तुम्हें लगे कि तुम पाकशाला की रक्षा नहीं कर सकते तो मुझे सूचित करने का साहस कर सकोगे ? तुम चतुरसेन के ही समान कीचक अथवा उसके सैनिकों के भय से मौन तो नहीं रह जाओगे ?"

"नहीं महाराज ! हम तो धर्मराज के सेवक रहे हैं। वे कहा करते थे, मनुष्य को केवल धर्म से डरना चाहिए। अधर्म से तो टकराना चाहिए।"

"तुम्हारे राजा बहुत महान् पुरुष हैं बल्लव ! जाने वे इस समय कहाँ होंगे।"

विराट कंक के आने की बड़ी व्यग्रता से प्रतीक्षा कर रहे थे। बीच-बीच में उन्हें झुंझलाहट भी होने लगती थी कि यह कंक इतना शिथिल क्यों है। उसे कब का आ जाना चाहिए था।

"द्वारपाल।" राजा ने पुकारा, और उसके प्रकट होते ही उसके प्रणाम की भी प्रतीक्षा किए बिना अधैर्य से कहा, "कंक को बुलाने कौन गया है ? कोई गया भी है या नहीं। अब तक तो उनको आ भी जाना चाहिए था।"

द्वारपाल कुछ सहम गया; किंतु यदि वह उत्तर न देता तो राजा का क्रोध कुछ और उद्दीप्त हो उठता। अत्यंत भीरु स्वर में बोला, "अश्वारोही गया है महाराज ! बस आर्य कंक के निवास पर पहुँचने ही वाला होगा।"

विराट कुछ सँभले : द्वारपाल कह रहा है कि अश्वारोही गया है और वह अभी कंक के घर तक पहुँचा भी नहीं होगा। ऐसे में विराट यह अपेक्षा कैसे कर

सकते हैं कि कंक को अब तक उनके पास पहुँच जाना चाहिए। सूचना मिलने से पहले ही कोई कहीं कैसे पहुँच सकता है। वे स्वयं ही कुछ अधिक अधीर हो रहे है। ... वे अधीर ही तो हो सकते थे, और कर ही क्या सकते थे। वे जानते थे कि राजा होते हुए भी सत्ता उनके हाथ में नहीं थी; किंतु वे तो इतना ही जानते थे न, कि केवल कीचक उनकी सत्ता का हरण और अतिक्रमण कर रहा है। वे यह तो नहीं जानते थे कि उनकी सेना का प्रत्येक सैनिक ही उनकी सत्ता को अस्वीकार कर रहा है और उनके अपने स्वामी-भक्त और निष्ठावान सेवक दंडित और अपमानित हो रहे हैं। चतुरसेन न उनके धन की रक्षा कर पा रहा था, न उनके अधिकार की; और उनको सूचित करने तक का साहस नहीं था उसमे। कहाँ से आता यह साहस ? कर्मचारियों का साहस तो राजा की सत्ता और उसके अधिकार से ही उत्पन्न होता है। यदि उनके निष्ठावान कर्मचारियों में ही यह साहस नहीं है, तो इसका अर्थ तो एक ही है कि उनके राजा के पास न सत्ता है, न शक्ति...कैसे राजा हैं विराट ? ... पर क्या उन्हें इस बल्लव के कथन का इस प्रकार विश्वास कर लेना चाहिए ? उन्होंने क्यों मान लिया कि वह जो कुछ कह रहा है वह सब सत्य ही है ? ... सत्य तो मानना ही पड़ेगा, सारे तथ्य उसके कथन के अनुकूल पड़ रहे हैं। जो गुत्थियाँ अब तक सुलझ नहीं रही थीं, वे उसकी सूचनाओं के आधार पर ही तो स्पष्ट हो रही हैं ... चतुरसेन यह तो बताता रहा कि पाकशाला का व्यय बढ रहा है, किंतु वह यह तो कभी नहीं बता पाया कि वह खर्च क्यों बढ़ रहा है। ... किंतु बल्लव यह बता रहा है कि अकारण ही पाकशाला का व्यय क्यों बढ़ रहा था।...चतुरसेन यह तो कह रहा था कि उसे उसके पद से हटा दिया जाए, किंतु यह नहीं बता रहा था कि ऐसा क्यो किया जाए। ... बल्लव बता रहा है कि चतुरसेन ऐसा क्यो चाहता था।...बल्लव बता रहा था कि चतुरसेन को उन आततायी सैनिकों से जो रक्षा चाहिए थी, वह राजा नहीं दे पा रहा थाँ, बल्लव उसे वह सुरक्षा दे रहा था...

द्वारपाल ने प्रवेश किया, "महाराज ! आर्य कंक पधारे हैं।"

"भीतर आने दो।" विराट बोले।

कंक ने आकर प्रणाम किया तो विराट को लगा कि कंक न केवल बहुत शीघ्रता में आए हैं, वरन् वे बहुत शीघ्र आ भी पहुँचे हैं।

"बैठो कंक ! आसन ग्रहण करो।"

कंक बैठ तो गए, किंतु बैठते ही बोले "अश्वारोही ने बताया कि महाराज बहुत अधीरता से मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। कोई बहुत आवश्यक कार्य आ पडा है महाराज !"

"हाँ कंक !" राजा बोले, "तुमने मेरे साथ पाकशाला में बल्लव नाम के उस व्यक्ति को देखा था।"

"हॉ महाराज ! देखा था।"

"क्या तुम उसे पहचानते हो ? उसका कहना है कि यहाँ आने से पूर्व वह धर्मराज युधिष्ठिर की पाकशाला में रसोइया था। यदि वह वहाँ था तो तुम्हारी दृष्टि उस पर पडी ही होगी।"

"हॉ महाराज ! मैंने उसे वहॉ देखा तो है। यह संभव नहीं है कि कोई धर्मराज की सभा अथवा प्रासाद में रहा हो और मैंने उसे देखा भी न हो।" कंक बोले, "किंतु कंक का उससे विशेष परिचय नहीं है।"

विराट चौंके, यह कंक बोल किस प्रकार रहा है, जैसे अपने विषय में नहीं किसी और के विषय में बात कर रहा हो। पर कुछ लोगों की शैली होती है, वे अपने विषय में भी अन्य पुरुष के समान बोलते हैं।

"नहीं तुम्हारा उससे परिचित होना तो आवश्यक नहीं है। इतना ही पर्याप्त है कि वह धर्मराज की पाकशाला में रसोइया था। वह यदि वहाँ था, तो निश्चित रूप से अच्छा रसोइया होगा और उनका निष्ठावान सेवक तो होगा ही। नहीं तो वहाँ टिक कैसे पाता। प्रत्येक राजा, विराट तो नहीं होता न। वहॉ तो भीम था, अर्जुन था, यदि कोई सेवक निष्ठावान न होता तो उसे तत्काल राज्य से निष्कासित किया जा सकता था, दंडित किया जा सकता था।"

"आपने उसे पाकशाला में नियुक्त कर दिया है ?"

"हॉ कंक !" राजा बोले, "यह तो मुझे बल्लव से ही ज्ञात हुआ कि जिस प्रकार मैं कीचक से पीड़ित हूँ, वैसे ही मेरा पाकशालाध्यक्ष कीचक के सैनिकों से पीड़ित था। बल्लव ने ही उसे उन सैनिकों के आतंक से मुक्ति दिलाई है।"

कंक देख रहे थे कि राजा प्रसन्न थे, जैसे कीचक के आतंक से मुक्त हो गए हों। वे धीरे से बोले, "महाराज अन्यथा न मानें तो एक बात कहूँ।"

"कहो कंक !"

"महाराज ! बल्लव ने चतुरसेन को उन सैनिकों के आतंक से तब तक के लिए ही मुक्त किया है, जब तक कि स्वयं कीचक राजधानी में लौट कर नहीं आता। कीचक के आते ही ये सैनिक उसके पास जाकर दुहाई देंगे। कीचक बल्लव को दंडित करना चाहेगा। ऐसी स्थिति में बल्लव क्या करेगा और महाराज क्या करेंगे।"

विराट चिंतित हो उठे : क्या कहें वे ? क्या वे कीचक को ऐसा करने से रोक पाएँगे ? शायद नहीं। वे कीचक की इच्छा का विरोध नहीं कर पाएँगे। तो ?...उन्होंने समाधान पाने के लिए याचक दृष्टि से कंक की ओर ही देखा ।

"आप ऐसा करें महाराज ! आप बल्लव से कहे कि वह आवश्यकतानुसार

पाकशाला तथा वहाँ काम करनेवाले लोगो की, उन सैनिकों से रक्षा तो करे, किंतु व्यर्थ ही सैनिको अथवा कीचक से उलझने का प्रयत्न न करे।"

विराट को लगा कि किसी और समाधान के अभाव में एक यही उत्तम विधि हो सकती है। रक्षा भी होती रहे और कीचक से उलझना भी न पड़े ..."ठीक है, मैं कह दूँगा।" विराट ने रुक कर उसकी ओर देखा, "तुमने देखा कंक ! मेरी अपेक्षा के ही अनुसार धर्मराज युधिष्ठिर के कर्मचारी हमारे राज्य की ओर आ रहे हैं। कल हमारे पास एक नपुंसक भी आया था। उसका नाम बृहन्नला है। उसका कहना है कि वह धर्मराज युधिष्ठिर के अंतःपुर में था और उनके परिवार की स्त्रियों को संगीत और नृत्य की शिक्षा दिया करता था।"

कक समझ रहे थे कि राजा का अगला प्रश्न क्या होगा : क्या तुम उसे पहचानते हो कंक ? किंतु राजा के कुछ पूछने से पहले ही कंक ने पूछा, "वह आपके ही पास आया था महाराज ?"

"हाँ। आया तो मेरे ही पास था, किंतु मैंने उसे अंतःपुर में भेज दिया था, ताकि दासियाँ उसकी परीक्षा कर लें कि वह वस्तुतः नपुंसक ही था अथवा कोई पुरुष ही नपुंसक का छद्म वेश धर कर आया था।"

कंक का मन जैसे स्तब्ध रह गया : कहीं अर्जुन का भेद प्रकट तो नहीं हो गया ?

"विभिन्न परीक्षणों और परीक्षाओं के पश्चात् दासियों ने बताया कि वह वस्तुतः पुंसत्वहीन ही है।" विराट बोले, "मैंने उसे राजकुमारी उत्तरा के नृत्य और संगीत-शिक्षक के रूप मे नियुक्त कर दिया है।"

कंक कुछ आश्वस्त हुए। उन्हे बृहन्नला का काम ही सबसे कठिन लग रहा था। अर्जुन की अभिनय क्षमता में उन्हे संदेह नहीं था, किंतु दासियों द्वारा ये पुंसत्व के परीक्षण ! अर्जुन स्वयं को कितना भी संयत रखता, किंतु सुंदर नारी शरीर के मोहक आकर्षणो के सम्मुख किसी भी प्रकार के काम-विकार को उत्पन्न भी न होने देना, साधारण कार्य नहीं था। पर, विराट बता रहे हैं कि उनकी दासियों का कहना है कि वह वस्तुतः पुंसत्वहीन ही है। अर्जुन अपनी इस अग्नि परीक्षा में सफल हुआ था। ... अब कंक समझ सकते थे कि वैजयंत के प्रासाद में अर्जुन ने किस प्रकार उर्वशी के काम निमंत्रण के प्रलोभन को निरस्त कर दिया होगा। ...

"बृहन्नला को नृत्य और संगीत का सम्यक ज्ञान है राजन् ?" कंक ने पूछा, "अथवा साधारण हिजड़ो के समान उछल-कूद भर कर लेता है ?"

विराट ने कुछ चकित हो कर कंक की ओर देखा, "जिसे मैंने राजकुमारी के गुरु के रूप में नियुक्त किया है, उसके विषय में पूछ रहे हो कि वह उस विषय का ज्ञान भी रखता है या नहीं।"

"मेरा अभिप्राय है महाराज ! कि आपने राजकुमारी से पूछ लिया है कि उसके गुरु को अपने विषय का कितना ज्ञान है ?"

"उत्तरा अत्यंत प्रसन्न है।" विराट बोले, "मुझे तो लग रहा है कि अंतःपुर की लड़कियों में संगीत और नृत्य को लेकर एक नया उत्साह उत्पन्न हो गया है। उन्हें इस प्रकार का जीवंत शिक्षक पहले कभी नहीं मिला। उनका कहना है कि बृहन्नला का कंठ किन्नर कंठ है। उससे संगीत की जो धारा बहती है, वह दिव्य है। मैं तो सोचता हूँ कंक ! कि महाराज युधिष्ठिर की सभा मे कैसे-कैसे दिव्य रत्न थे। मैं तो उनका थोड़ा-सा उच्छिष्ट पा कर ही धन्य हुआ जा रहा हूँ। वह व्यक्ति कितना महान् था जिसे इन सबके मध्य रह कर भी तनिक-सा अहंकार तक नहीं हुआ। और उस महान् पुरुष को दुष्ट दुर्योधन ने नष्ट कर दिया।"

कंक को यह निर्णय करने में कुछ समय लगा कि इस अवसर पर उन्हें क्या कहना चाहिए। फिर कुछ संकुचित स्वर में बोले, "मैं उनके विषय में क्या कह सकता हूँ राजन् ! सेवक को तो अपने स्वामी के गुणों का ही स्मरण करना चाहिए; और इस समय तो मेरे स्वामी आप हैं महाराज !"

विराट उन्मुक्त मन से हँसे, "यदि तुम धर्मराज की प्रशंसा में संकोच करोगे, तो मैं समझूँगा कंक ! कि यदि कभी विधि के विधान से तुम मुझसे वियुक्त हो गए, तो तुम मेरी प्रशंसा भी नहीं करोगे; तब तुम अपने तत्कालीन स्वामी की ही प्रशंसा में मग्न रहोगे।"

कंक ने अपनी जिह्वा को दाँतों तले दबा लिया, "ऐसा शाप न दें महाराज ! मेरी तो भगवान से प्रार्थना है कि आपकी सेवा से वंचित हो जाऊँ, तो ईश्वर किसी और स्वामी की सेवा न करवाए।"

विराट मन ही मन प्रसन्न हुए : उन्होंने जिस अपेक्षा से युधिष्ठिर के सेवकों को बटोरने का संकल्प किया था, वह पूरी होती दिखाई दे रही थी। कंक जैसा बुद्धिमान सभासद उनके पश्चात् और किसी राजा की सेवा करना नहीं चाहता था।...

"ठीक है कंक ! तुम कुछ मत कहो, यह भी तो धर्मराज के सेवकों का ही गुण है।" वे कुछ रुके, "अच्छा बताओ। बल्लव विश्वसनीय व्यक्ति तो है न !"

"मैंने इंद्रप्रस्थ में उसके विषय में ऐसी कोई बात नहीं सुनी महाराज ! जिसके आधार पर कह सकूँ कि वह विश्वसनीय नहीं है।" कंक ने कहा, "यह अवश्य सुना है कि जिससे स्नेह करता है अथवा जिसका सम्मान करता है, उसके प्रति उसका पूर्ण समर्पण होता है।"

"तो इससे अधिक और कोई सेवक कर ही क्या सकता है कंक ?" विराट

बोले, "तुमने मेरे मन पर से एक बहुत बडा बोझ उतार दिया। मेरे मन के किसी निभृत कोने मे एक आशका थी कि इतने बलिष्ठ दिखनेवाले व्यक्ति को, जो मल्ल अथवा योद्धा हो सकता है, मैंने अपनी पाकशाला में स्थान देकर कोई भूल तो नहीं की।"

कंक कुछ नहीं बोले। अब कुछ भी और कहना घातक हो सकता था। अधिक प्रशसा से भी विराट को किसी प्रकार का संदेह हो सकता था और प्रशंसा न करते तो भी विराट आशंकित हो सकते थे।...

"अच्छा कक! अब तुम चलो। तुम्हें इस प्रकार शीघ्रता में बुलाने का प्रयोजन पूर्ण हुआ। मै पूर्णत. संतुष्ट हूँ। मुझे तो लग रहा है कि अब किसी ने आकर मुझसे कहा कि वह धर्मराज की सेवा में रह चुका है तो कदाचित् मैं तुमसे भी पूछने की आवश्यकता नहीं समझूँगा। उसे अपनी सभा में स्थान दे दूंगा।"

"महाराज अत्यंत दयालु है।"

कंक ने उठ कर प्रणाम किया; और बाहर चले आए। वे भीम और अर्जुन की ओर से पूर्णतः सतुष्ट थे। उन्हें विराटनगर में कोई कठिनाई नहीं होगी। नकुल और सहदेव भी कदाचित् सुविधापूर्वक अपने लिए स्थान बना लेंगे। ... किंतु पाचाली ?... पाचाली के लिए यह सब कितना कठिन होगा। हे ईश्वर उसकी लाज रखना...

38

रानी सुदेष्णा ने ध्यान से अपने सामने खड़ी उस स्त्री को देखा, जिसे अभी-अभी राजप्रासाद की रक्षिकाएँ पकड कर लाई थीं। उन्हें यह स्त्री प्रासाद की रक्षा करनेवाले सैनिकों ने सौंपी थी। उसे प्रासाद के सम्मुख निष्प्रयोजन डोलते फिरने तथा भीड इकट्टी कर यातायात के आवागमन में विघ्न उपस्थित करने के अपराध में पकडा गया था। प्रहरी समझ नहीं पाए थे कि यह स्त्री लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना चाहती थी, अथवा सैनिकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर, उनको किसी अन्य दिशा से असावधान कर देना चाहती थी। आजकल सेनापति कीचक नगर में नहीं थे, सेना का एक बडा भाग भी सेनापति के साथ ही बाहर गया हुआ था। ऐसे में अनेक शत्रुओं द्वारा नगर में उत्पात् रचे जा सकने की संभावना हो सकती थी। और फिर एक इतनी असाधारण रूपवती स्त्री, स्वय को जन साधारण की दृष्टि से छिपाने के स्थान पर, बीच राजमार्ग में खडी हो कर, लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करे, तो सैनिकों को किसी

षड्यंत्र की आशंका का होना स्वाभाविक ही था।

रानी की दृष्टि कह रही थी कि यह कोई साधारण नारी नही थी। उसका रूप असाधारण था। ऐसी स्त्रियाँ मार्गो में व्यर्थ ही मॅडराती नहीं फिरतीं। उसके वस्त्र इस समय अवश्य मलिन थे। केश भी वेणी बद्ध नहीं थे। ... किंतु कैसे केश थे वे। किसी भी स्त्री को सहज ही ईर्ष्या होगी उसके इन केशों से। घुटनों तक लंबे और लहराते हुए ऐसे सुंदर केश, कि कोई भी स्त्री उसे देखती ही रह जाए, और पुरुष का मन उसमें बॅध-बॅध जाए। कौन उनका स्पर्श नहीं चाहेगा। अमावस्या से घने काले केश। रानी का अपना मन ही मुग्ध होता जा रहा था ... अभी तो इस स्त्री ने अपना सारा वेश मलिन बना रखा था।... किंतु कौन नहीं देख सकता था कि नील कमल सा उसका वर्ण था। लगता था, यात्रा अथवा किसी अन्य कारण से, वह इस समय मलिन तथा रेणु आच्छादित सी दिख रही है। लगता नहीं था कि कई दिनों से मुख भी धोया हो...

"कौन हो तुम ?" रानी ने पूछा।

"कोई भी होऊँ, पहले तो मुझे तुमसे यह पूछना है कि मुझे इस प्रकार पकड़ कर क्यों लाया गया है, जैसे मैं कोई अपराधिनी हूँ ?" उस स्त्री ने सतेज स्वर में पूछा।

"ऐ।" एक रक्षिका ने आगे बढ कर उसे, एक झटका दिया, "महारानी को 'तुम' कह कर संबोधित कर रही हो। सामान्य शिष्टाचार भी नहीं जानतीं।"

सुदेष्णा ने अपने हाथ के संकेत से रक्षिका को रोक दिया, "क्या आरोप है इस पर ?"

"महारानी ! यह स्त्री मुख्य मार्ग पर डोलती फिर रही थी। इसने अपने आस-पास भीड एकत्रित कर रखी थी, और सैनिको के अनेक बार कहने पर भी न यह मार्ग से हट रही थी और न ही मार्ग पर इस प्रकार डोलने और भीड एकत्रित करने का कोई कारण बता रही थी। सैनिकों की पूछताछ के उत्तर में इसने न केवल उन्हें कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया, उलटे उनसे झगडा किया। एक आध का तो मुँह ही नोच लिया।"

"मैंने तो मुँह ही नोचा है, यदि मेरे पति आस-पास होते तो उन सैनिकों में से अनेक की हत्या अवश्यंभावी थी।" वह स्त्री बोली, "क्या मत्स्यराज इसी प्रकार का शासन करते हैं, जिसमे संकट में पडी किसी अकेली स्त्री को देख कर राज्य के सैनिक उसे गणिका मान कर उसका अपमान करने लगते है, और यदि वह स्त्री आत्मरक्षा में उनका प्रतिरोध करे तो वह बंदी कर ली जाती है। संसार के किसी सभ्य समाज में ऐसा नहीं होता। यहाँ धर्मात्मा राजा मत्स्यराज का शासन है अथवा किसी राक्षस का ?"

"शांत हो जाओ।" सुदेष्णा ने कहा, "यहाँ कोई तुम्हारे साथ अन्याय नहीं

करेगा।"

"अन्याय नहीं करेगा, किंतु दुर्व्यवहार तो करेगा ही।" वह स्त्री बोली, "जब से आपके राज्य में आई हूँ, मेरे साथ यही हो रहा है।"

"नहीं! अब तुम्हारे साथ कोई दुर्व्यवहार भी नहीं करेगा।" रानी ने कहा, "मुझे बताओ कि तुम कौन हो।"

"कौन हूँ ? सैरंध्री हूँ। महारानी द्रौपदी मुझे मालिनी कह कर पुकारा करती थीं।" स्त्री ने कहा।

"महारानी द्रौपदी !" रानी सुदेष्णा ने कुछ आश्चर्य से पूछा, "उनसे तुम्हारा क्या संबंध है ?"

"संबंध क्या होना है। मैं उनकी सेवा में थी।" स्त्री ने कुछ उद्दंडता से कहा; और फिर धीरे से जोड दिया, "मैं कुछ समय तक श्रीकृष्णप्रिया सत्यभामा की सेवा में भी रही हूँ।"

"तो फिर अब यहाँ क्या करती डोल रही हो ?" रानी ने कुछ ऊँचे स्वर में कहा, "नाम तो इतने बड़े-बडे ले रही हो, और यहाँ राजमार्ग पर तमाशा कर रही हो।"

"महाभाग पांडवो का राज्य छिन गया। वे लोग अज्ञातवास के लिए चले गए। महारानी द्रौपदी उनके साथ अज्ञात स्थान को चली गई, तो मैं अब क्या करूँ ? आप ही बता दें कि वे लोग कहाँ हैं तो मैं उन्हीं के पास चली जाऊँ। सेवक की यही तो कठिनाई है। स्वामी पर संकट आए, तो सेवक अपने आप ही मारा जाता है।"

"भौंकती बहुत हो।" एक रक्षिका उसकी ओर बढ़ी।

"पर तुम्हारे समान सबको काटती तो नहीं।"

"बहुत ठीक कहा।" सुदेष्णा हँस पडीं। अपने संकेत से आगे बढ़ती रक्षिकाओं को वहीं रोक दिया और कोमल स्वर में सैरंध्री से पूछा, "घर कहाँ है तुम्हारा ? यहाँ किसी संबंधी के पास आई हो ?"

मालिनी उदास हो गई। कुछ देर के पश्चात् उसने अपने नयन उठा कर रानी की ओर कुछ इस प्रकार देखा, जैसे कहना चाह रही हो कि मुझसे यह सब मत पूछो। फिर स्वयं ही धीरे से बोली, "नहीं ! यहाँ मेरा कोई संबंधी नहीं है। महारानी ! मुझसे मेरे घर-द्वार का पता और मेरे पति का नाम इत्यादि न पूछें ।"

रानी की उत्सुकता जाग उठी थी ... जिनकी सेवा की, उनका नाम-पता तो बिना पूछे बता दिया और अपने विषय में कुछ बताना ही नहीं चाहती ...

"विवाहिता हो अथवा अपने वियुक्त प्रेमी की खोज में यहाँ-वहाँ भटक रही हो ?" रानी ने पूछा।

सैरंध्री ने पूरी खुली आँखों से रानी की ओर देखा, "विवाहिता हूँ। मेरे पति किसी विपत्ति में फँस कर विदेश गए हैं; और उनकी अनुपस्थिति का लाभ उठा कर मेरे श्वसुर ने मुझे घर से निकाल दिया है। अपने पति के लौटने तक मैं सर्वथा निराश्रित हूँ। उनके आने तक कहीं आश्रय खोज रही हूँ। ..."

"कौन हैं तुम्हारे पति ?"

"किसी सैरंध्री के पति इतने प्रसिद्ध व्यक्ति तो नहीं हो सकते कि उनका नाम सुनते ही आप उन्हें पहचान जाएँगी, फिर भी मैं उनका नाम पता नहीं बताना चाहती।" सैरंध्री बोली।

"क्यों ?" रानी ने कुछ चकित भाव से पूछा, "इसमें इतना गोपनीय क्या है ? क्या गांधर्व विवाह किया है ?"

"नहीं।" सैरंध्री पहली बार तनिक मुस्कराई।

रानी स्तब्ध रह गई : यह सैरंध्री तो जैसे कोई उल्का थी। उसकी दंत-पंक्ति देख कर किसी का भी हृदय पिघल कर बूँद-बूँद बह जाएगा; और यदि कहीं वह पुरुष हृदय हुआ तो उसका स्पंदित होना ही कठिन था। सैरंध्री की मुस्कान थी या शरद पूर्णिमा की उजास।... रानी ने पहली बार उसके अधरों को ध्यान से देखा था ...कामदेव का पुष्पधनुष ही साक्षात प्रकट हो गया था... प्रकट क्या हो गया था, सामने खड़े व्यक्ति के हृदय को अपनी प्रत्यंचा में फँसा कर अपनी ओर खींचने लगता था। न खड़ा रहने देता था न गिरने देता था। न मुक्त करता था, न मुक्त होने की कामना जगने देता था। ...

"तो पति का नाम क्यों नहीं बताना चाहती ?"

"उससे मेरे श्वसुरकुल का अपयश फैलेगा।"

"जिस श्वसुर ने तुम्हें घर से निकाल दिया, उसके कुल के यश की चिंता क्यों है तुम्हें ?" रानी ने जैसे प्रश्न नहीं पूछा था, सैरंध्री के व्यवहार के प्रति अपनी आपत्ति प्रकट की थी।

"मुझे चिंता अपने श्वसुर के कुल की नहीं महारानी ! अपने पति के कुल की है।" सैरंध्री बोली, "मुझे श्वसुर ने घर से निष्कासित किया है, पति ने नहीं। मेरे पति के लौटते ही मुझे सब कुछ मिल जाएगा, चाहे मेरे श्वसुर को ही घर से क्यों न निकलना पड़े।"

"बहुत विचित्र है तेरा श्वसुरकुल।" सुदेष्णा ने कहा, "जहाँ पिता और पुत्र में इतना भेद है कि पुत्र के उपस्थित न होने पर श्वसुर अपनी पुत्रवधू को घर से निकाल देता है; और पुत्र लौटता है तो अपनी पत्नी को घर में प्रतिष्ठित करता है और अपने पिता को निष्कासित कर देता है।"

"कुछ ऐसा ही है महारानी।" सैरंध्री बोली।

"और यदि तेरे पति ने लौट कर भी अपने पिता का विरोध न किया तो ?"

रानी मुस्करा रही थी।

"तो मैं आपको उनका नाम-गाम, सब कुछ बता दूँगी।" सैरंध्री का आत्मविश्वास उसके शब्द-शब्द से टपक रहा था।

"क्या तुम प्रमाणित कर सकती हो कि तुम सचमुच वैसी अच्छी सैरंध्री हो, जो सत्यभामा और द्रौपदी की सेवा में रह सके ?" सुदेष्णा ने कहा, "अपने बालों की तो तुमने वेणी तक नहीं कर रखी। कौन मानेगा कि तुम्हें केश शृंगार की कला का कोई ज्ञान है।"

"मैं अपना केश विन्यास केवल अपने पति के लिए करती हूँ महारानी !" सैरंध्री बोली, "वे लौट आएँगे और मुझसे प्रसन्न होंगे, तो उनको रिझाने के लिए वेणी भी करूँगी और अपना शृंगार भी।" वह रानी के निकट चली आई, "महारानी ! वैसे तो सैरंध्री का कार्य एक साधारण दासी भी कर लेती है, किंतु वास्तविक कला का पता तो तब लगता है, जब सैरंध्री का हाथ लगते ही आपका रूप दोगुना हो उठता है। आप स्वयं को दर्पण में निहार-निहार कर अपने ही रूप पर मुग्ध होने लगती हैं और सोचती हैं कि इतनी सुंदर तो मैं पहले कभी नहीं थी।.."

"बाते तो बहुत लुभावनी कर लेती हो।" रानी भी मुस्कराई, "कितु अपनी बात का प्रमाण दो तो जानूँ।"

सैरंध्री ने जैसे चुनौती स्वीकार की, "अनुमति हो तो अपनी कला का चमत्कार प्रस्तुत करूँ।"

"चल धानुके !" रानी ने अपनी एक दासी को संबोधित किया, "बैठ जा सैरंध्री के सम्मुख। यह तुम्हारा केश शृंगार करेगी।"

"क्षमा हो महारानी !" सैरंध्री तत्काल बोली, "मालिनी की कला दासियो के भाग्य में नही है। यदि मेरी कला का चमत्कार देखना हो तो या तो आप ही यह कष्ट करें; अथवा राजकुमारी को अनुमति दे।"

रानी के मन मे रोष जागा, यह सैरंध्री अपने आपको समझती क्या है ... इसका अहंकार क्या रानी सुदेष्णा की आज्ञा का तिरस्कार करेगा ? ...किंतु रानी ने स्वय को सयत किया : किसी की कला को परखे बिना, उसके विषय में अपनी धारणाएँ नहीं बना लेनी चाहिए। कलाकार अत्यंत संवेदनशील होता है। उसकी कला का अपमान हो तो वह राजाओं और राजाज्ञाओं तक का तिरस्कार कर सकता है।...

"अच्छा धानुके ! मेरी ही प्रसाधन सामग्री ले आ। मैं अपने ही केशों पर इसकी कला का चमत्कार देखूँगी।"

दासियाँ दौड पडी और तत्काल सामग्री और उपकरण प्रस्तुत कर दिए गए।

रानी ने दर्पण अपने हाथ से नहीं छोड़ा और उनकी दृष्टि दर्पण से हट नहीं पाई।...एक क्षण में लग रहा होता था कि सैरंध्री इस कला में निपट अनाड़ी है, उसे इस कर्म का तनिक भी अभ्यास नहीं है; और अगले ही क्षण उसका हाथ रानी के केशों को कुछ इस प्रकार व्यवस्थित कर देता था कि लगता था, इस सैरंध्री से श्रेष्ठ सज्जाकर्मी इस संसार में नहीं है।... जैसे-जैसे सैरंध्री अपने काम में तल्लीन होती जाती थी, रानी सुदेष्णा उसकी कला पर मुग्ध होती जाती थीं। ... और जब सैरंध्री ने अपना काम समाप्त कर एक निरीक्षक दृष्टि उनके केशों पर डाली तो स्वयं रानी को लगा कि दर्पण में वे स्वयं नहीं कोई और ही रूपसी बैठी हुई थी। रानी चमत्कृत हो अपने दर्पण से पूछ रही थीं कि यदि यह उनका ही रूप था तो उस धृष्ट दर्पण ने उसे अब तक कहाँ छिपा रखा था ? यदि कहीं यह सैरंध्री उनके यौवन में उनके पास आई होती तो कदाचित् रानी सुदेष्णा संसार की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी के रूप में प्रसिद्ध हुई होतीं, किंतु अब इस ढलते वयस में वे उसका क्या लाभ उठा पाएँगी ? ... और सहसा रानी का मन बदल गया ... यौवन में उन्हें किसी सैरंध्री की क्या आवश्यकता थी ? उनका अपना रूप ही पर्याप्त था, विराट के मन में झंझावात उठा देने के लिए।... सैरंध्री की आवश्यकता तो वस्तुतः अब ही थी, जब उनके ढलते रूप को किसी बैसाखी की आवश्यकता थी।... ठीक ही समय पर आई थी यह सैरंध्री। आज उन्हें उसकी सबसे अधिक आवश्यकता थी, जब उनका रूप विराट को आकृष्ट करने में असफल होता प्रतीत हो रहा था। ... वे कीचक से रुष्ट थे, और सुदेष्णा का रूप उन्हें यह भुला देने को बाध्य नहीं कर पा रहा था कि कीचक सुदेष्णा का भाई था। यह सुदेष्णा के रूप की असफलता ही तो थी। ... और अब उन्हें मिल गई है यह सैरंध्री ! इस रूप में तो वे कदाचित उत्तरा से भी अधिक आकर्षक दीख रही हैं।... उत्तरा में उसके वयस का आकर्षण तो है; किंतु इस समय कोई उन्हें देखे तो वह मानने को प्रस्तुत नहीं होगा कि वे उत्तरा की जननी हैं। अधिक से अधिक तो कोई यही कह सकता है कि वे उसकी भगिनी हैं।...

"महारानी यदि आप इस केश-सज्जा के साथ अपने कानों में कर्णफूलों के स्थान पर कर्णवलय धारण कर लें तो आपका वयस कम से कम पाँच वर्ष और भी कम हो जाएगा।"

सुदेष्णा ने सैरंध्री की बात सुनी, उस पर विचार भी किया, किंतु उससे सहमत नहीं हो सकीं। वे रानी हैं, सैरंध्री नहीं; किंतु प्रसाधन विद्या का कुछ ज्ञान उनको भी है। सैरंध्री की यह बात उनको उचित प्रतीत नहीं हो रही थी; परंतु प्रयोग करने में हानि ही क्या थी ? यदि सैरंध्री का कथन असत्य प्रमाणित हो गया, तो उसका अहंकार खंडित होगा और सत्य निकला तो रानी का रूप और निखर आएगा।...

रानी ने अपनी प्रसाधिका की ओर देखा, "कर्णवलय लाओ।"

"महारानी ! जब मँगवाने ही लगी हैं तो एक पद्मवर्णा साड़ी भी मँगवा लें और उन्हे धारण कर अपने रूप का परीक्षण महाराज पर करके देखें।" सैरंध्री बोली।

रानी ने उसकी ओर जो दृष्टि डाली उसमें हल्की-सी वर्जना थी कि वह कहीं मर्यादा का अतिक्रमण कर रही है; किंतु प्रसाधिका को मना नहीं किया। कहा, "ले आओ।"

सैरंध्री ने इस बार रानी के हाथ में दर्पण नहीं रहने दिया। दर्पण देखने का अवकाश रानी को तब ही दिया, जब सैरंध्री अपना पूर्ण संतोष कर चुकी।

दर्पण देख कर सुदेष्णा चकित रह गई : वस्तुतः यह थी रानी सुदेष्णा; और आज तक उनकी प्रसाधिकाओं ने उन्हें क्या बना रखा था। क्या रानी अपनी उन प्रसाधिकाओं को अपना रूप विकृत करने का ही पारिश्रमिक देती रही है ? वे प्रसाधिकाएँ उनके सौंदर्य को विकसित और अनावृत करने के स्थान पर तिरस्कृत और आवृत करती रहीं और रानी से प्रशंसा भी पाती रहीं तथा पुरस्कार भी। किंतु अब और नहीं। रानी ने अपना वास्तविक रूप देख लिया था। आज रानी की इच्छा हो रही थी कि वे अपनी उन पुरानी प्रसाधिकाओं को इतने दिनों तक सुदेष्णा को कुरूप बनाए रखने के अपराध में आजीवन कारावास दे दें। पता नहीं किस माया से वे आज तक उस कला की विशेषज्ञ मानी जाती रहीं, जिसका उनको कण मात्र भी ज्ञान नहीं है। आज भी यदि यह सैरध्री न आई होती तो न वे अपने रूप को ही देख पातीं, न प्रसाधन कला के चमत्कार को।...

रानी अपने मन के द्वंद्व को समझ नहीं पा रही थीं : इस समय उनकी उत्कट इच्छा क्या थी—अपनी पुरानी प्रसाधिकाओं को कारागार में डालना, अथवा इस नई सैरंध्री को अपने शृंगार के लिए, अपनी बंदिनी बना लेना ? यदि कहीं यह सैरंध्री उनके पास न टिकी और अन्यत्र चली गई तो रानी सुदेष्णा तो फिर से उन पुरानी प्रसाधिकाओं के कुरुचिपूर्ण शृंगार की ही आश्रित रहने को बाध्य हो जाएँगी। इसलिए इस सैरंध्री को किसी प्रकार आजीवन यहीं रोक रखने की कोई व्यवस्था अधिक आवश्यक थी ...किंतु यदि वह सहमत न हुई तो ? क्या रानी उसे सहज ही छोड देंगी ? नहीं ! शायद यह उनके लिए संभव नहीं होगा। वे इस सैरंध्री को नहीं छोड़ सकतीं। किसी भी प्रकार नहीं। सैरंध्री को यहाँ रहना ही होगा। अपनी इच्छा से रहे तो, रानी की आज्ञा से रहे तो। रहना तो उसे पडेगा ही। सैरध्री यहॉ रहेगी तो उसकी उपस्थिति मात्र से ही सुदेष्णा की ये अज्ञानी और फूहड प्रसाधिकाएँ भी बहुत कुछ सीख जाएँगी।...

"पर यदि सैरंध्री यहॉ न रुकी, उसने जाने की हठ की ?" सुदेष्णा के

हृदय से एक आशंकित स्वर उठा।

...और तभी रानी की बुद्धि ने उस आशंका को सुला दिया, "तो उसे बता देना पड़ेगा कि सुदेष्णा भी कोई साधारण स्त्री नहीं है, वह भी कीचक की बहन है।..."

"अच्छा ! अब तुम लोग जाओ।" रानी ने अपनी दासियों से कहा, "तुम यहीं ठहरो सैरंध्री ! मुझे तुमसे कुछ कहना है।"

सैरंध्री मन ही मन मुस्कराई : मैं जानती थी सुदेष्णा ! कि यही होगा; किंतु प्रकटतः भय प्रदर्शित करती हुई बोली, "मुझसे कोई अपराध हो गया, महारानी ?"

दासियों के जाने तक रानी ने कुछ नहीं कहा, किंतु उनके जाने के पश्चात् धीरे से बोलीं, "तुमने ऐसा क्यों समझा सैरंध्री ?"

सैरंध्री ने कोई उत्तर नहीं दिया, बस सिर झुकाए, चुपचाप खडी रही।

"नहीं बताना चाहतीं ?"

सैरंध्री ने अस्वीकृति में अपना सिर हिला दिया।

"अच्छा मत बताओ।" रानी हँस पड़ीं, "यह तो बताओ कि तुम अपने पति के लौटने तक किस प्रकार का आश्रय ढूँढ़ रही हो ?"

"आश्रय किस प्रकार का हो सकता है महारानी !" सैरंध्री बोली, "मैं पापपूर्ण जीवन व्यतीत करना नहीं चाहती। मैं भिक्षा पर निर्भर रहना नहीं चाहती। प्रभु ने मुझे सक्षम शरीर दिया है और मेरे हाथों में कला दी है। सैरंध्री का कार्य करूँगी और उसके प्रतिदान में आश्रय चाहूँगी।"

"जो भी आश्रय दे ?"

"जो भी धर्मपूर्वक आश्रय दे।"

"क्या मेरे पास रहना तुम्हें प्रियकर होगा ?" रानी ने आतुरतापूर्वक पूछा ।

रानी ने पूछ तो लिया, किंतु तत्काल ही उनके मन में जैसे उनचासों पवन हरहरा उठे। धरती के नीचे मानों शेषनाग का फन डोलने लगा।...वे क्या कर रही हैं ? इस स्त्री को अपने घर में आश्रय देना चाहती हैं, जिसे देखते ही राजा विराट अपने संपूर्ण चित्त से उसमें आसक्त हो जाएँगे। इस दिव्य रूप को एक बार देख लेने के पश्चात् वे पलट कर सुदेष्णा की ओर देखेंगे भी ?...वे ऊपर उठने के लिए वृक्ष पर चढ़ना चाहती हैं अथवा गिर कर आत्महत्या करने के लिए ? वे क्या मादा केकड़े के समान गर्भ धारण करना चाहती हैं कि प्रसव के होते ही उनकी मृत्यु हो जाए। वे इस रूप की ज्वाला को अपने घर में रखना चाहती हैं, जिसकी उपस्थिति मात्र से उनके घर में आग लग सकती है ?...

किंतु अपने जिस दैवी रूप को वे आज अपने दर्पण में देख रही थीं, वे उसे खोना नहीं चाहती थीं। उस रूप के रहते राजा विराट को मुग्ध करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।... और फिर कीचक था वहाँ। राजा विराट

कीचक की इच्छा के विरुद्ध तो जा ही नहीं सकते थे। ...

"सोच कर तो मैं यही आई थी महारानी ! किंतु यहाँ के लोगों का विचित्र व्यवहार और सैनिकों का दुर्व्यवहार देख कर मेरा मन कुछ डर सा गया है। जिस राज्य में अकेली नारी की रक्षा नहीं होती, मानना चाहिए कि वहाँ धर्म नहीं है। वहाँ मैं कैसे रह सकती हूँ।"

सुदेष्णा ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया : क्या उत्तर देतीं। क्या वे नहीं जानतीं कि विराटनगर के सैनिक कितने उत्पाती हो गए थे। उन्हे अपने बल और अधिकार का अहकार हो गया था; और राजा थे कि इच्छा होने पर भी उनको अनुशासित नहीं कर पा रहे थे। कीचक पर उनका कोई वश नहीं था और सारी सेना कीचक के अधीन थी। सैनिक कीचक का ही भय मानते थे और उसी की आज्ञा के अनुचर थे।...कीचक ने, सेना को, राजा की इच्छा के विरुद्ध अपने वश मे रखने की यही युक्ति अपनाई थी। वह सैनिकों के विरुद्ध कुछ नहीं सुनता था और न ही स्वयं उनको किसी प्रकार का कोई दंड देता था। अब तो सैनिकों को मनमानी करने का अभ्यास ही हो गया था। पिछली बार राजा ने कीचक के एक सैनिक को अपने अंगरक्षकों के द्वारा बंदी बनाया था तो सैनिको ने सामूहिक रूप से राजप्रासाद को ही घेर लिया था। सब जानते थे कि सेना के बिना शासन नहीं हो सकता और सेना कीचक की आज्ञा में थी। कौन नहीं जानता कि बकासुर के समान ही राजा की सहायता के नाम पर कीचक विराटनगर की प्रजा को खा रहा था।... कई बार सोचा था राजा ने कि सैनिकों को अपने पक्ष में करने के लिए, वे भी सैनिकों को वैसी छूट दे दें, जैसी कीचक देता है, किंतु वे वैसा कर नहीं सकते थे। वे देश के राजा थे, मात्र सेनापति नहीं। उन्हे अपनी संपूर्ण प्रजा का पालन करना था, केवल सेना का नहीं। वे अपनी प्रजा को पीड़ित कर अपनी सेना को प्रसन्न नहीं कर सकते थे। कीचक मात्र सेनापति था, वह केवल युद्धों और सेनाओं के विषय मे सोचता था। उसके लिए प्रजा का कोई अस्तित्व नहीं था। यद्यपि सेना प्रजा के लिए ही होती है, किंतु वह प्रजा के प्रति अपना कोई दायित्व नहीं मानता था। उसके लिए सेना ही सब कुछ थी। इसलिए वह जिस प्रकार सेना को प्रसन्न कर सकता था, राजा नहीं कर सकते थे।

"पुरुषों के राज्य में स्त्री सदा इसी प्रकार असुरक्षित रहती है सैरंध्री !" अंततः रानी धीरे से बोलीं, "इसके लिए हम क्या कर सकती हैं। पर, तुम यहाँ मेरे पास रहोगी, तो तुम्हें कोई कुछ नहीं कहेगा।"

सैरंध्री एक बार फिर मन ही मन मुस्कराई : रानी ने बहुत सोच-विचार कर न्याय और अन्याय का नहीं, पुरुषो और स्त्रियों का विषय आरंभ कर दिया था। रानी चतुर राजनीतिज्ञ थीं।

"पुरुषों के राज्य में स्त्रियाँ सुरक्षित नहीं हैं; किंतु यहाँ, आपके पास रह कर मैं सुरक्षित हो जाऊँगी। आपके पास रहने से क्या राज्य स्त्रियों का हो जाएगा ?" सैरंध्री ने अबोध भाव से पूछा।

रानी क्षण भर के लिए हतप्रभ रह गई। उन्हें सैरंध्री से इस प्रकार के प्रश्न की तनिक भी अपेक्षा नहीं थी। उसने इतना उद्दंड प्रश्न इतने अबोध भाव से किया था कि रानी न उसे दंडित कर सकती थीं और न ही वे उसे इस अपराध के लिए क्षमा करना चाहती थीं ...दंडित करतीं तो उनका शृंगार कौन करता, और क्षमा कर देतीं तो सैरंध्री और भी ऐसे प्रश्न कर उनका वक्ष छलनी न करती रहती।... एक ही मार्ग था कि वे मान लेतीं कि वह एक अबोध प्रश्न था, जिस का पूछनेवाला भी नहीं समझ रहा था कि वह क्या पूछ रहा है ...

"नहीं ! राज्य तो स्त्रियों का नहीं हो जाएगा, किंतु यहाँ मैं तुम्हारी रक्षा कर सकती हूँ।"

"जब यहाँ कर सकती हैं, तो बाहर, वहाँ मार्ग पर, पथ पर क्यो नहीं ? सारे राज्य में क्यों नहीं ? मेरी ही क्यों, किसी भी स्त्री की रक्षा आप क्यों नहीं कर सकतीं ? रानी तो पूरे राज्य की रानी होती है, केवल अपने प्रासाद की नहीं। और फिर स्त्रियों की ही क्यों, पुरुषों की रक्षा क्यों नहीं ? रक्षा की अधिकारिणी तो सारी प्रजा है।"

"पुरुष समर्थ है, इसलिए वह अपनी रक्षा स्वयं कर सकता है।" रानी बोलीं।

"हाँ। वह पुरुष समर्थ ही तो होता है, जिसकी हत्या हो जाती है।" सैरंध्री बोली, "और वह अपने हत्यारे का कुछ नहीं कर सकता।"

सुदेष्णा ने सैरंध्री को इस प्रकार देखा, जैसे उसे पहली बार देख रही हों। वे शायद उसे पहली बार ही देख रही थीं। इससे पहले उन्होने जिस सैरंध्री को देखा था, उसमें केवल रूप ही था। यह सैरंध्री, जिसे वे इस समय देख रही थीं, उसमें बुद्धि भी थी। वह तर्क कर सकती थी, निष्कर्ष निकाल सकती थी, तुलना कर सकती थी। प्रतिभायुक्त होने से उसके सौन्दर्य में जैसे और भी निखार आ गया था।... पर वे इस सैरंध्री की कला को तो अपने निकट रखना चाहती थीं, जो उनके रूप का शृंगार कर सके, उसके उस रूप को अपने निकट नहीं देखना चाहती थीं, जो प्रत्येक पुरुष की दृष्टि को रानी सुदेष्णा के मुख मंडल से हटा कर अपनी ओर खींच ले। वे उसकी उस बुद्धि को तो अपनी सेवा में देखना चाहती थीं जो उनके सौन्दर्यवर्द्धन के लिए युक्तियाँ सोच सके; उसकी उस तर्क शक्ति को अपने निकट देखना नहीं चाहती थीं, जो उनकी अपनी उक्तियों के आत्मविरोधी तत्त्वों को रेखांकित कर उनकी दृष्टि के सम्मुख रख दे। ... पर वे क्या कर सकती थीं, इस सैरंध्री की कला इन अंगुलियों के

बिना उन्हें नहीं मिल सकती थी; और ये अंगुलियाँ इस सुंदर और आकर्षक शरीर के विना उपलब्ध नहीं हो सकती थीं। और यह शरीर यहाँ रहेगा तो उसमें निवास करनेवाली बुद्धि भी यहीं रहेगी ...

"ठीक कहती हो सैरंध्री !" सुदेष्णा ने उत्तर दिया, "रानी तो पूरे राज्य की ही होती है; और वह मैं हूँ। स्थिति में अंतर केवल इतना है कि प्रासाद मे हमारे वे अंगरक्षक हैं, जो महाराज के प्रति निष्ठावान हैं, और मार्गों और पथों पर वे सैनिक हैं, जो सेनापति की वाहिनियों के अंग हैं और वे केवल सेनापति का भय मानते हैं। जब वे राजा का ही भय नहीं मानते, तो रानी की आज्ञा क्या मानेंगे।"

इस बार सैरंध्री चल कर रानी के निकट आ गई। उनके पास भूमि पर बैठ गई और धीरे से बोली, "महारानी ! राज्य तो यहाँ भी महाराज का है, और पूरे मत्स्यदेश मे भी। यहाँ भी उनके ही सैनिक हैं और पूरे देश में भी। फिर भी आप यहीं मेरी रक्षा कर सकती हैं, अन्यत्र नहीं। क्यों ? सैनिक यहाँ भी राजा के हैं और पूरे मत्स्यदेश में भी। राजा भी पुरुष हैं, आपके सेनापति भी और सैनिक भी। फिर भी आप यहीं मेरी रक्षा कर सकती हैं, विराटनगर के मार्गों पर नहीं, पथ-वीथियों में नहीं। क्यों ?"

"कहा न ! यहाँ हमारे निष्ठावान सैनिक हैं।"

"यदि ये सैनिक भी सेनापति के प्रति निष्ठावान होते तो ?"

"तो कदाचित् मैं यहाँ भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर पाती।" रानी ने स्वीकार किया।

"रहते तो तब भी पुरुष ही, और आज भी वे पुरुष ही हैं।" सैरंध्री बोली ।

"पुरुष नहीं रहते तो क्या बृहन्नला हो जाते।" रानी को जैसे अपने ही वाक्य में रस मिला।

सैरंध्री को रानी का यह परिहास अच्छा नहीं लगा। बोली, "यह कौन है महारानी ?"

"दो तीन दिन पूर्व ही हमारे यहाँ एक नपुंसक आया है।"

"महारानी मेरे कहे से रुष्ट न हों तो कहूँ, कि आप उन पर तो कटाक्ष करतीं नहीं जो पुरुष हो कर भी क्लीव बने हुए हैं। बृहन्नला तो ईश्वर के आदेश का पालन कर रहा है।"

सैरंध्री का तेज रानी पर भारी पड रहा था, किंतु कह तो वह ठीक ही रही थी।

सैरंध्री ने भी रानी की अप्रसन्नता भाँप ली। बोली, "महारानी मैं तो केवल एक बात कहना चाह रही हूँ कि समाज इस प्रकार बँट कर नहीं चल सकता कि पुरुषों का राज्य है तो स्त्री असुरक्षित रहे और स्त्रियों का राज्य आए तो

पुरुष स्वयं को असुरक्षित पाए। प्रश्न पुरुषों और स्त्रियों का नहीं है। न ही प्रकृति की ओर से उनमें परस्पर किसी प्रकार का विरोध है। प्रकृति ने तो उन्हें एक प्रकार से एक-दूसरे का पूरक बनाया है। यदि वे एक-दूसरे को अपना शत्रु मानने लगें, तो कोई पत्नी अपने पति, और कोई पति अपनी पत्नी की निकटता में सुरक्षित नहीं रहेगा।"

"तो तुम समझती हो कि स्त्री अपने पति की ओर से सुरक्षित है ?"

"न होती तो उसका भोजन पकाते हुए उसमें विष डाल कर उसकी हत्या कर डालती।"

"चलो मान लेती हूँ कि स्त्री अपने पति के साथ अथवा उसके अधीन तो सुरक्षित है; किंतु वह पर-पुरुष से तो सुरक्षित नहीं है।"

"प्रश्न स्त्री और पुरुष का तो है ही नहीं महारानी ! प्रश्न तो न्यायी और अन्यायी का है। जिसके निकट पर-स्त्री सुरक्षित नहीं है, उसकी रक्षा में तो अपनी पत्नी भी सुरक्षित नहीं है। जो स्त्री, पर-पुरुष को लूट सकती है, उसकी निकटता में उसके अपने पति का धन भी सुरक्षित नहीं है। मैं तो सैनिकों को भी अच्छा और बुरा नहीं कहना चाहती। वे ही सैनिक किसी न्यायी व्यक्ति के अधीन कार्य करते हैं तो प्रजा के रक्षक बन जाते हैं और जब वे ही किसी दुष्ट की आज्ञा के अधीन होते हैं तो राक्षस हो जाते है।"

"कहती तो तुम ठीक हो सैरंध्री।" रानी ने कहा, "मुझे लगता है कि हमारे सेनापति ने ही अपना धर्म त्याग दिया है।"

रानी कह तो गई, किंतु शब्दों के मुख से निकलते ही, वे सजग हो गईं। वे अपने भाई के विषय में क्या कह गई। उसी के कारण तो वे राजा के सम्मुख भी झुकने को बाध्य नहीं हैं। उसी के कारण तो उनका यह वर्चस्व बना हुआ है, और वे उसी के विषय में कह रही है कि वह धर्म को त्याग चुका है।...

पर अपने मन में कहीं वे यह भी मानती ही थीं कि कीचक अपनी मर्यादा का अतिक्रमण कर रहा है। ...किंतु एक सैरंध्री के सम्मुख यह स्वीकार करना ?... यह तो रानी को शोभा नहीं देता ...

"जिस राज्य का सेनापति धर्म त्याग दे और राजा उसके सम्मुख असहाय हो जाए, वहाँ तो न राजा सुरक्षित है, न रानी ! प्रजा का तो कहना ही क्या।"

सुदेष्णा सैरंध्री से तनिक भी सहमत नहीं थीं। वे यह कैसे मान लेतीं कि वे अपने भाई के अधिकार-क्षेत्र मे सुरक्षित नहीं हैं। हाँ ! वे उसके सैनिकों से किसी की रक्षा नहीं कर पातीं, यह बात और है। पर ये सब उनकी अपनी पारिवारिक बातें थीं। इनके विषय में वे एक साधारण सैरंध्री से चर्चा करना नहीं चाहती थीं।

"तो फिर मेरी रक्षा कौन करेगा महारानी ?" सैरंध्री पूछ रही थी।

"मेरे अंगरक्षक तुम्हारी रक्षा करेंगे।" रानी ने उत्तर दिया।

"नहीं रानी ! रक्षा तो अंग-रक्षक भी नहीं करते। स्त्री हो या पुरुष, व्यक्ति हो या समाज। रक्षा तो बस धर्म ही करता है। इसीलिए कहा जाता है कि धर्म का तिरस्कार नहीं होना चाहिए, न राजा के द्वारा, न सेनापति के द्वारा। मेरी रक्षा भी मेरा धर्म ही करेगा; इसलिए आपसे मुझे यह वरदान चाहिए कि मुझे अपने धर्म पर चलने की पूर्ण स्वतंत्रता होगी।"

"अवश्य।" रानी उत्साहपूर्वक बोलीं।

"उसके लिए मुझे आपका आश्वासन चाहिए।"

"कैसा आश्वासन सैरंध्री ?"

"आप मुझे अपने सिवाय और किसी की सेवा में नहीं भेजेंगी; और मैं अपनी इच्छानुसार अवगुंठनवती रह सकूँगी।" सैरंध्री बोली, "मेरी कला का सम्मान होगा, अतः मुझे एक कलाकार की प्रतिष्ठा मिलेगी, दासी का स्थान नहीं। न मुझे किसी का उच्छिष्ट भोजन छूना पड़ेगा, न किसी के चरण।"

रानी को लगा, सैरंध्री की इन दो बातों में कुछ भी अनुचित नहीं है। यदि वह यह आश्वासन स्वयं ही न माँगती तो भी रानी उसे अपनी निजी सैरंध्री ही नियुक्त करना चाहती थीं। वे नहीं चाहती थीं कि किसी और का भी उतना सुंदर शृंगार हो, जितना रानी सुदेष्णा का। अवगुठनवाला वचन भी ठीक ही तो है कि उसका अद्‌भुत रूप सबके सामने नहीं आना चाहिए। ...इस रूप को देख कर तो किसी भी पुरुष का मन अनियंत्रित हो सकता है। सैरंध्री तो सैरंध्री, स्वयं रानी भी किसी का विश्वास नहीं कर सकतीं। उन्हें तो सबसे अधिक आशंका स्वयं मत्स्यराज की ओर से ही थी। यदि राजा को ही सैरंध्री भा गई तो सुदेष्णा का आश्वासन क्या कर लेगा और सैरंध्री का धर्म ही क्या कर लेगा। ...

रानी ने अपने सिर को एक झटका दिया। वे एक साधारण स्त्री के समान क्या सोचने लगीं। क्या विराट ने आज तक कभी पर-स्त्री के प्रति इस प्रकार की लिप्सा प्रकट की है ?...

किंतु रानी का मन जैसे अपने ही तर्कों के विरुद्ध व्यूहबद्ध हो रहा था. "नहीं ! महाराज ने आज तक तो इस प्रकार की प्रवृत्ति नहीं दिखाई; किंतु आज तक उनके सामने इतनी रूपवती स्त्री भी तो नहीं आई। यह सैरंध्री क्या कोई साधारण स्त्री है ?"

यदि सैरंध्री को अपने प्रासाद में अपने निकट रखने में इतना ही संकट था तो सुदेष्णा इस प्रकार का संकट मोल ही क्यों ले रही थीं? उन्हें इसी क्षण सैरंध्री को यहाँ से विदा कर देना चाहिए था...

पर नहीं ! सुदेष्णा के मन में एक रूपगर्विता नारी भी बैठी थी। वह यह विचार भी कैसे सहन कर सकती थी कि उस सैरंध्री को यहाँ से चुपचाप विदा

कर दिया जाए, जो उनके रूप को आज भी नवयौवनाओं के रूप से अधिक आकषर्क बना सकती थी। उसे विदा करने का अर्थ था, रानी सुदेष्णा के सौन्दर्य को विदा कर देना। सुदेष्णा के नारीसुलभ आकर्षण को समाप्त कर देना ... सुदेष्णा अपने प्राण दे सकती थी; किंतु अपने रूप के प्रति यह मोह नहीं छोड़ सकती थी ...

"ठीक है सैरंध्री! मुझे तुम्हारी दोनों बातें स्वीकार हैं। तुम केवल मेरी सेवा में रहोगी, और जिस स्त्री अथवा पुरुष के सम्मुख तुम नहीं आना चाहोगी, उसके लिए तुम्हें कोई भी बाध्य नहीं करेगा। तुम न किसी के चरण छूओगी, न किसी का उच्छिष्ट भोजन !"

39

समंग का पुत्र, अपनी पत्नी और बच्चों के साथ, उनसे मिलने के लिए द्वैतवन में आया था।

समंग चकित था कि जिस पुत्र ने कभी उनका समाचार भी जानना नहीं चाहा, जो सदा इस बात से भयभीत रहा कि कहीं वे लोग उससे चिपक ही न जाएँ, वे लोग हस्तिनापुर गए तो उसने माता-पिता को अपने घर में ठहराना तक स्वीकार नहीं किया; वह पुत्र अपनी पत्नी के साथ, हस्तिनापुर से यहाँ तक की यात्रा कर, उनसे भेंट करने अब स्वयं आया है। इतने लंबे समय के पश्चात् अब ऐसा क्या हो गया कि उसे माता-पिता के प्रति अपना कर्तव्य स्मरण हो आया ?

चपला पिछला सब कुछ भूल चुकी थी। वह तो बस इतना ही देख रही थी कि एक लंबे अंतराल के पश्चात् उसका पुत्र अपनी पत्नी और बच्चों को लेकर उनके द्वार पर आया था। अब वह उनसे मन भर कर बातें कर सकती थी। अपनी इच्छा के अनुसार, अपना मनभावन पका कर उनको खिला सकती थी। बच्चों के साथ खेल सकती थी। उन्हें गोद में खेला सकती थी। बच्चे उसके कुटीर के आस-पास खेल रहे थे। किलकारियाँ मार रहे थे। उन्हें हस्तिनापुर में शायद पैर फैलाने का भी स्थान नहीं मिलता था और यहाँ वे लोग मन भर कर जहाँ तक चाहें दौड़ सकते थे। वृक्षों पर चढ़ सकते थे। उनकी शाखाओं पर झूल सकते थे। कितने प्रसन्न थे वे लोग। लगता था कि पिंजरे में बंद पक्षियों को जैसे पहली बार खुला आकाश मिला था। वे अपने पंख फैलाकर उड़ सकते थे; और उड़ना तो उन्हें अच्छा लग ही रहा था।

चपला बच्चों के साथ खेल रही थी। बहू कुछ पकाने के लिए चूल्हे के पास चली गई थी, तब पुत्र समंग के पास आ बैठा।

"बाबा ! आप प्रसन्न तो हैं ?"

समंग की इच्छा हुई कि पूछे कि आज पुत्र को उसकी प्रसन्नता की चिंता क्यों हो रही है; किंतु उसने पूछा नहीं। बोला, "पुत्र ! इस अवस्था में, इन परिस्थितियों में, जितना प्रसन्न कोई हो सकता है, उतने प्रसन्न हम हैं।" उसने जानबूझ कर 'मैं' के स्थान पर 'हम' का प्रयोग किया था।

"अब आपका मन नहीं होता कि आप हस्तिनापुर में आकर रहें ? आपको हस्तिनापुर की राजकीय गोशाला में काम करने का अवसर मिले ?"

पहले समंग को लगा था कि शायद पुत्र यह कहनेवाला है कि वे हस्तिनापुर में आकर उसके साथ रहें, अपनी पुत्रवधू और बच्चों के साथ रहें। उन्हें सेवा का अवसर दें। ...किंतु नहीं। उसने तो बड़ी चतुराई से स्पष्ट कर दिया था कि वह ऐसा कोई सपना न पाले। वह हस्तिनापुर में आए तो राजकीय गोशाला में काम करने का विचार लेकर आए।

"नहीं। क्या करना है वहाँ आकर। बहुत देख लिया मैंने हस्तिनापुर। वहॉ मेरा दम घुटता है।" समंग बोला, "तुम्हें अच्छा लगता है, तुम लोग वहॉ रहो।"

"अंगराज कर्ण आपको बहुत स्मरण करते हैं।" पुत्र ने धीरे से कहा, "उन्होंने आपको प्रणाम कहा है।"

समंग कुछ नहीं बोला।

"आपको प्रसन्नता नहीं हुई बाबा ?"

"नहीं। किंचित् आश्चर्य अवश्य हुआ।" समंग कुछ रुका, "और मुझे लगता है कि यह मेरे भय का कारण अवश्य हो सकता है।"

"क्यों ?" पुत्र ने कुछ इस प्रकार पूछा, जिससे स्पष्ट था कि उसे समंग का यह भाव अच्छा नहीं लगा।

"प्रसन्नता इसलिए नहीं हुई कि दुष्ट व्यक्ति जब किसी को स्मरण करता है, तो किसी दुर्गुण के कारण ही करता है। मेरे किसी गुण का तो उसने स्मरण किया नहीं होगा।" समंग बोला, "आश्चर्य इसलिए हुआ कि जब मैं हस्तिनापुर गया था और रहने के लिए कोई ठिकाना ढूँढ रहा था, तो न कर्ण को मुझपर दया आई, न दुर्योधन को; और न तुझको। तब मुझे अपनी विक्षिप्त पत्नी को लेकर, महामंत्री विदुर की शरण में जाना पड़ा था। और अब, जब मैं तुम सबको भूल कर, शांत, आश्वस्त, और संतुष्ट हो कर यहॉ जी रहा हूँ, तो अंगराज कर्ण को मेरा स्मरण क्यों हो आया ?"

"और यह आपके भय का कारण क्यों होगा ?"

"पहले भी जब कभी कर्ण ने मुझे स्मरण किया है, किसी शुभ काम के

लिए नहीं किया। सदा मुझसे कोई न कोई पाप ही करवाया है। अब वह फिर मुझे स्मरण कर रहा है, तो उसके मन में फिर कोई दूषित योजना ही होगी।"

"नहीं। ऐसी कोई बात नहीं है। वे कह रहे थे कि आप बहुत भले आदमी हैं, चतुर भी हैं, और कार्यकुशल भी। युवराज सोच रहे हैं कि ऐसे व्यक्ति को राजधानी में बुला लिया जाए।"

समंग ने दृष्टि उठा कर पुत्र की ओर कुछ इस प्रकार देखा कि पुत्र को पूछना पड़ा, "इस प्रकार क्यों देख रहे हैं ?"

"तुम कर्ण से मिलने गए थे ?"

"नहीं। उन्होंने ही मुझे बुलवाया था।"

समंग हँसा, "लगता है, उन लोगों को फिर से मेरी आवश्यकता है। पर पुत्र ! मुझे अब उनकी आवश्यकता नहीं। अब तुम यह मत कहना कि वे यदि मुझसे रुष्ट हो गए, तो मेरी चाकरी चली जाएगी।"

"वह तो जाएगी ही।" पुत्र बोला।

"मैं स्वयं भी उससे मुक्त होने की सोच रहा हूँ। बहुत कर ली चाकरी। अब जीवन के शेष समय में थोड़ा काम भी कर लेना चाहिए।"

"स्पष्ट कहिए बाबा।"

"इसमें स्पष्ट कहने को क्या है पुत्र ! चाकरी किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा दिया हुआ काम होता है, जो हम आजीविका के लिए करते हैं; किंतु अपना काम तो अपने मन की मौज का होता है।"

"चाकरी चली गई तो आपकी आजीविका कैसे चलेगी ?" पुत्र के स्वर में जिज्ञासा से कहीं अधिक घबराहट थी, "कहीं आप मुझसे तो कोई अपेक्षा नहीं कर रहे हैं ? मैं तो स्वयं ही बडी कठिनाई से..."

"नहीं ! तुम चिंता मत करो। मेरे पास भगवान का दिया बहुत है। जिन लोगों के लिए धन की आवश्यकता थी, वे अब आत्मनिर्भर हो गए है। मेरा तात्पर्य है, तुम और तुम्हारी बहन। अब बचे, मैं और तुम्हारी माँ। हमारी आवश्यकताएँ ही कितनी है। चाहें तो उन्हें और भी कम कर सकते हैं। उन्हें पूरा करने के लिए तो यह वन ही बहुत है। उसके लिए दुर्योधन की चाकरी करने की क्या आवश्यकता है ? हस्तिनापुर जाने की आवश्यकता तो एकदम ही नहीं है।"

चपला बच्चों को उनकी माँ के पास छोड़ आई थी, ताकि वे भोजन कर लें। पिता और पुत्र में कोई गंभीर चर्चा छिड़ी देख चुपचाप उनके निकट बैठ गई।

"अंगराज पूछ रहे थे कि आपको कोई आभास है कि पांडव लोग अपने अज्ञातवास के लिए किस ओर गए होंगे ?" वह रुका, "वे लोग निश्चित रूप से अब वन में नहीं हैं, क्योंकि द्यूत की प्रतिज्ञा के अनुसार उन्हें एक वर्ष के

लिए मानव समाज में अज्ञात हो कर रहना है। पर यदि आपको किसी प्रकार की कोई सूचना हो कि वे लोग किस दिशा में गए हैं ... ?"

चपला ने अकबका कर अपने पुत्र की ओर देखा और फिर एक भीत दृष्टि अपने पति पर भी डाली। समंग शांत था। उसके मुख पर तनिक भी उत्तेजना नहीं थी। न ही वह कुछ बोला और न बोलने को तत्पर ही लगा।

"तो तू इस कुकर्म के लिए आया है हमारे पास।" चपला रोषपूर्वक बोली, "मैं भी कहूँ कि बेटे-बहू को इस प्रकार अकस्मात् ही माता-पिता कैसे स्मरण हो आए।"

"नहीं अम्मा ! ऐसी तो कोई बात नहीं है। वह तो मैंने ऐसे ही..."

"क्यो रुष्ट होती हो चपला।" समंग हँसा, "यह तो ऐसे ही।" उसने पुत्र की ओर देखा, "कोई भी काम ऐसे ही नहीं होता। तुम जिस लोभ में यहाँ तक आए हो, वह मेरी समझ में आ गया है; किंतु मैं तुम्हारी कोई सहायता नहीं कर सकता। और तुमको भी मेरा परामर्श यही है कि इस प्रकार के लोभ में मत पडो। इससे तुम्हारा कुछ भला नहीं होगा। निरीह मृगशावक को बाँध कर आखेटक के सम्मुख डाल देने से जो पुरस्कार मिलता है, वह रक्त से सना होता है और रक्त से सनी रोटी खाकर, किसी व्यक्ति की आत्मा स्वच्छ नहीं होती।"

"आप यहाँ वन में बैठे ऐसी बातें कर सकते हैं।" पुत्र का रोष कुछ मुखर हो गया, "किंतु मुझे तो अपने बच्चो का पालन-पोषण करना है।"

'अपने बच्चों का पालन-पोषण तो सबको ही करना होता है।" चपला बोली, "हमने भी किया था; किंतु उसके लिए ऐसे दूषित कृत्य करने की कोई आवश्यकता नहीं होती।"

"अच्छा, अब रहने भी दो अम्मा। नहीं तो मेरे मुँह से कुछ निकल जाएगा।"

समंग बडे मधुर ढंग से हँसा, "जो कहने आए हो पुत्र ! कह लो। मुँह से निकल क्यों जाएगा, उसे सहज भाव से कहो। हम भी तो जानें कि तुम्हारे मन में क्या है।"

"मन में क्या होगा।" पुत्र बोला, "अम्मा कह रही है कि इन्होंने भी बच्चे पाले हैं। पर बच्चों को पालने, पालने में भी अंतर होता है। बच्चे पैदा कर वन में छोड दिए कि जाओ, वृक्षों से जूझो, गौवों से खेलो और वन में जो मिले, वह खा लो। घर आए तो गाय के दूध के साथ सूखी रोटी थमा दी। हमने तो कभी जाना ही नहीं कि अच्छा खाना क्या होता है। अच्छा घर क्या होता है। अच्छा कपडा क्या होता है। बच्चे कैसे पाले जाते हैं, यह देखना हो तो, आकर हस्तिनापुर में देखो। माता-पिता क्या-क्या देते हैं अपने बच्चों को।"

"हमने तुम्हें वन के शुद्ध और पवित्र फल खिलाए हैं पुत्र !" समंग बोला,

"अपने श्रम से कमाई रोटी खिलाई। अमृत सरीखा गाय का दूध पिलाया। इसलिए निर्धन होते हुए भी अभी तक तुम मनुष्य के समान काम कर अपने बच्चों का पोषण करने का प्रयत्न कर रहे हो। हस्तिनापुर के सम्राट् धृतराष्ट्र ने अपने पुत्र को पाप की रोटी खिलाई, इसलिए सब कुछ होते हुए भी वह अपने भाइयों की हत्या का प्रयत्न कर रहा है। तुम चाहते हो कि तुम भी धृतराष्ट्र के समान अपने पुत्रों को पाप की रोटी खिलाओ और वे बडे हो कर दुर्योधन तथा उसके भाइयों के समान अपने ही कुल की वधू को सार्वजनिक रूप से निर्वस्त्र कर अपना मनोरंजन करें। अपने भाइयों के वध के षड्यंत्र रचें। जिन माता-पिता की प्रशंसा कर रहे हो कि उन्होंने अपने बच्चों का पालन-पोषण बहुत समृद्ध ढंग से किया, वे ही उत्तरदायी हैं अपने उन बच्चों को, व्यसनी, कामुक, लोभी, और विकृत मस्तिष्क लुटेरे बनाने के। मैं प्रभु का कृतज्ञ हूँ कि मेरी इच्छा होते हुए भी उसने मुझे अपने बच्चे हत्यारे नहीं बनाने दिए। तुम्हारे लिए भी मैं उससे यही प्रार्थना करता हूँ कि वह तुम्हें इतनी समृद्धि कभी न दे कि तुम अपने बच्चों के अपराधी और पापी बनने में सहायक हो सको।"

"निराश और आलसी लोगों का चिंतन है यह सब।" पुत्र बोला, "असफलता को गौरवान्वित करने का प्रयत्न है।"

"मैंने वह सफलता कभी नहीं चाही, जो मुझे ईश्वर विरोधी और पापी बनाती हो।" समंग शांत स्वर में बोला, "मेरी कामना है कि भगवान तुम्हें भी ऐसी सफलता कभी न दे।"

पुत्र का चेहरा क्रोध से रक्तिम हो उठा। लगा कि वह अपनी क्षमता से भी अधिक आत्मदमन कर रहा है; किंतु वह उसके लिए संभव नहीं हुआ। बोला, "आप मुझे बता सकते हैं कि आपको ऐसा सात्विक जीवन व्यतीत करने पर भी भगवान ने कंगाल क्यों बनाए रखा और उस दुर्योधन को अपार धन संपत्ति क्यों दी?"

"भगवान के मन की तो भगवान ही जानें।" समंग बोला, "जो मेरी समझ में आता है, वह यह है कि स्वच्छ और सात्विक जीवनयापन के लिए जो कुछ आवश्यक था, वह सब ईश्वर ने मुझे दिया। वह इससे अधिक देता, तो मेरी समझ में नहीं आता कि मैं उसका क्या करूँ। वह मेरे लिए रोग हो जाता।"

"तो दुर्योधन को इतना क्यों दिया?"

"उसको उसकी आवश्यकता थी।" समंग बोला, "मदिरा पीने के लिए, वेश्याओं पर लुटाने के लिए, लोगों की हत्याएँ करवाने के लिए, लाक्षागृह बनवाने के लिए, कौरव कुलवधू को निर्वस्त्र करवाने के लिए, अपने वैभव का प्रदर्शन कर अपने भाइयों को ईर्ष्या पीड़ित करने के लिए, उसे धन की आवश्यकता थी। ये सब तो वे कारण हैं पुत्र, जो हम साधारण लोगों तक को ज्ञात हो चुके है।

कौन जाने, और किन-किन कारणों से उसे धन की आवश्यकता थी। यह सब नहीं करना था, इसलिए ईश्वर ने मुझे धन नहीं दिया। अपनी नासमझी मे मैंने बहुत बार चाहा भी; किंतु उसने मुझे धन नहीं दिया, कृपा कर जीवन पर पड़ा हुआ माया का आवरण थोडा सा हटा दिया। मेरे मन में उसके प्रति तनिक भी विरोध नहीं है। मैं उसका कृतज्ञ हूँ कि उसने मुझे वही दिया, जो मेरे हित में था। हठ करने पर भी वह नहीं दिया, जो मेरे हित में नहीं था। एक वत्सल पिता अपनी संतान को वह सब क्यों उपलब्ध कराएगा जो संतान के हित में नहीं है।"

चपला अत्यंत मुग्ध भाव से अपने पति को देख रही थी, जैसे वह उसकी अपेक्षा से भी कुछ सिद्ध हुआ हो।

"अब मेरी समझ में आया कि हस्तिनापुर के युवराज के संपर्क में रहते हुए भी, जीवन में भरपूर अवसर होते हुए भी, आप कभी भी उन्नति क्यों नहीं कर पाए।" पुत्र उठ कर खडा हो गया।

वे दोनों बैठे, पुत्र को कुटीर में अपनी पत्नी के पास जाते हुए देखते रहे। जब विश्वास हो गया कि वह इतनी दूर निकल गया है कि उनकी बात उस तक नहीं पहुँचेगी तो चपला बोली, "मैं तो डर रही थी कि कहीं तुम उन पाँच पुरुषों तथा एक स्त्री की चर्चा न कर बैठो, जो एक रात हमारे अतिथि रहे थे।"

"तुम मुझे एकदम ही मूर्ख समझती हो क्या।" समंग बोला, "वैसे मेरा मन अब भी यही कहता है कि वे पांडव नहीं थे। फिर भी इन हत्यारों की सहायता करने की हमें क्या पडी है।"

"आओ। अब भोजन कर लो।" चपला उठ खड़ी हुई, "बहू, बच्चों को खिला चुकी होगी।"

40

विराट बहुत देर तक सोने का प्रयत्न करते रहे; किंतु क्लांति का अनुभव होते हुए भी उनको नींद नहीं आ रही थी। मन में बार-बार प्रात: देखी हुई सैरंध्री की छवि साकार हो उठती थी। बहुत निकट से अथवा बहुत ध्यान से तो वे उसे देख भी नहीं पाए थे। रानी के पुकारने पर उसने एक बार आँखें उठा कर उस ओर देखा भर था; और विराट को लगा था कि वैसे नयन तो उन्होंने आज तक देखे ही नहीं थे, काव्य में पढ़े और कवियों के मुख से सुने अवश्य थे। आज तक तो वे यही समझते आए थे कि यह कवियों की कल्पना मात्र ही थी; किंतु

आज उन्होंने जाना था कि कवियों के उस वर्णन का आधार क्या था। वे नयन उनके वक्ष में जैसे गड़ से गए थे; और उनकी चुभन थी कि तीव्र से तीव्रतर होती जा रही थी। वे अपनी आँखें मूँद लेते, तो भी वे नयन, अदृश्य नहीं होते थे ...उनकी वे अधखुली पलकें, उनकी वे लंबी बरौनियाँ, जैसे किसी छायादार वृक्ष की कोई इंद्रधनुषी टहनी...

विराट ने करवट बदली, "सुदेष्णे ! तुम्हारी वह नई सैरंध्री कौन है ?"

सुदेष्णा ने कोई उत्तर नहीं दिया। विराट को लगा कि रानी सो गई हैं। तो ठीक है। सोई रानी को जगा कर एक दासी के विषय में जिज्ञासा प्रकट करने में कोई औचित्य भी नहीं था।...

सुदेष्णा ने राजा का प्रश्न सुना तो उन्हें लगा कि उनकी सारी आशंकाएँ सत्य सिद्ध होने जा रही थीं। पहली बार इस प्रकार की आशंका मन में उठी थी तो यही सोचा था कि यह साधारण प्राकृत नारी की आशंका मात्र थी। राजा विराट कोई परस्त्रीगामी लम्पट तो थे नहीं कि एक साधारण-सी दासी पर भी कुदृष्टि डालें। दासी भी वह नहीं, जो नृत्य कर अपने हाव-भाव से उनका मन मोहती हो, अपने गायन से उनके मन में रस की धार बहाती हो; अथवा मद्यपान कराकर उनके विवेक का हरण करती हो। यह तो सैरंध्री थी। केश-सज्जा का कार्य करती थी। जिस प्रसाधन सामग्री से दूसरों का रूप सँवारती थी, स्वयं उसी सामग्री की गंध में बसी, दूसरों के मन में अपने लिए, विकर्षण उत्पन्न करती थी। ...किंतु अब रानी की वही आशंका सत्य होने जा रही थी। अपनी शैया पर लेटे राजा अपनी रानी के विषय में नहीं सोच रहे थे, सैरंध्री का ध्यान कर रहे थे, तभी तो उसके विषय में पूछ रहे थे।

रानी ने आँखें खोल दी थीं, "क्यों ? क्या उसके बिना नींद नहीं आ रही ? बुलवाऊँ उसको कि महाराज आधी रात को अपनी शैया पर उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।..."

राजा स्तब्ध रह गए ! जान गए कि उनके प्रश्न ने रानी की ईर्ष्या को असमय झँझोड़ दिया था। मन का वह स्वप्निल लोक कहीं तिरोहित हो गया। मुख का स्वाद कसैला हो गया।

"व्यर्थ बात का बतंगड़ मत बनाओ सुदेष्णे !" उन्होंने अपने स्वर को यथासंभव नियंत्रित रखा, "स्वामी को अधिकार है कि वह जानना चाहे कि उसके घर के भीतर काम करनेवाले लोग कौन हैं, और उनका आचरण कैसा है।"

रानी उठ कर बैठ गई, "अच्छा ! मुझे नहीं मालूम था कि दास-दासियों के आचरण तथा उनके चरित्र के विषय में राजा के गुप्तचर शोध नहीं करते, स्वयं राजा आधी रात के समय, अपने शयनकक्ष में अपनी रानी को निद्रा से जगा कर दासियों के विषय में चर्चा करते हैं ? किस दासी के अधरों में कितना

रस है और किसकी जंघाएँ कितनी मृदुल हैं ?..."

"रानी ! कुछ तो अपनी मर्यादा का ध्यान करो। एक साधारण से प्रश्न को यह रूप दे रही हो तुम ! यह सब कुछ कहा है मैंने तुमसे ?"

"मूर्ख नहीं हूँ मै।" रानी का स्वर और भी कठोर हो गया, "कहा नहीं है, किंतु मन में तो तुम्हारे यही सब है। मैं जानती नहीं हूँ, पुरुषों को क्या ? जहाँ कोई सुंदर नारी मुख देखा, उसके शरीर के सपने देखने लगे।"

राजा स्वयं को नियंत्रित नहीं कर पाए, मन में सोई, सारी कटुता न केवल जाग उठी, वरन् जिह्वा पर भी आ गई, "कितने पुरुषों को जानती हो तुम ? और कैसे जानती हो ? मैंने तो एक दासी के विषय में मात्र जानना चाहा कि वह कौन है। रूप-रंग से वह दासी-कर्म करनेवाली लगती नहीं। उसका परिवार कहाँ है ? वह दासी-कर्म के लिए बाध्य क्यों है ?... इन जिज्ञासाओं के शमन के लिए तुमसे सहज भाव से पूछ लिया तो तुम नागिन के समान फुफकारने लगीं; और स्वयं अपने ही मुख से स्वीकार कर रही हो कि तुम पुरुषों को अच्छी तरह जानती हो। कितने पुरुषों को जानती हो तुम ?"

"पुरुषों को नहीं जानती तो क्या, पुरुष मन को तो जानती हूँ।" रानी बोली।

"तन को तो दूर से भी जाना जा सकता है, मन को जानने के लिए तो बहुत निकट जाना पडता है।" राजा का स्वर और भी कटु हो गया, "तुम तो सारे ही पुरुषों के मन को भी जान गई। कितने पुरुषों के निकट रही हो तुम ?"

"अपने चरित्र की रक्षा नहीं कर पाए तो अब अपनी ही पत्नी के चरित्र पर लांछन लगाने लगे। लज्जा नहीं आती तुम्हें ?" रानी की आँखों में क्षोभ से अश्रु आ गए थे।

"हॉं ! मैं ही अपनी पत्नी के चरित्र का हनन कर रहा था; तुम तो अपने पति के चरित्र का बहुत बखान कर रही थीं।" राजा बोले, "एक दासी में आसक्ति बता रही थीं। संसार के सारे पुरुषों को अपने भाई के समान परस्त्रीगामी और लंपट समझती हो ?"

सुदेष्णा जैसे विक्षिप्त हो उठी, "भाई पर वश नहीं चलता तो उसकी बहन को उपालंभ दे रहे हो। इतना ही पौरुष है तो मेरे भाई को, अपने राज्य से निष्कासित क्यों नहीं कर देते ? क्यों उसे सेनापति बना रखा है ? क्यों उसकी हर बात को चुपचाप मान लेते हो ? उसके सामने तो मस्तक तक ऊपर नहीं उठता और मुझे ऐसी कडवी बातें सुना रहे हो। मैंने उसे एक बार बता दिया कि तुम मुझसे ऐसी बातें कहते हो; अथवा उसे पता चल गया कि मैं तुम्हारे हाथों दुखी हूँ, तो कर लेना मत्स्यदेश पर राज्य और बैठ लेना विराटनगर के

सिंहासन पर।"

राजा को लगा कि उनका मस्तक जैसे अपने स्थान पर नहीं है। अब वे स्वयं को और रोक नहीं पाएँगे। यह स्त्री तो उनको विक्षिप्त कर देगी।

"तो जाओ। बुला लाओ उसको। ले आए अपना खड्ग वह और कर दे मेरा वध। उसके पश्चात् चाहे तुम सिंहासन पर बैठ जाना अथवा उसी को बैठा देना, ताकि इस मत्स्यदेश में न किसी का धन सुरक्षित रह पाए, न किसी की स्त्री; न किसी का मान, न मर्यादा। पाप के पारावार में डुबो देना इस सारे राज्य को।"

सुदेष्णा की ऑखों से जैसे चिंगारियॉ फूटीं, "इस भ्रम में मत रहना कि मैं तुम्हारी ऐसी बातों से डर जाऊँगी। मत्स्यों का राज्य रहे न रहे, मैं इस घर में अपनी सपत्नी का स्वागत नहीं करूँगी। अपनी पहली पत्नी की मृत्यु के पश्चात् जब तुमने मुझसे विवाह करने की इच्छा प्रकट की थी तो मेरे पिता को वचन दिया था कि यदि मैं तुम्हें एक भी संतान दे पाई तो तुम दूसरा विवाह नहीं करोगे।"

"तो राजप्रासाद में कार्य करनेवाली दासी के विषय में जिज्ञासा मात्र का अर्थ होता है, उससे विवाह करना ?" राजा ने पूछा।

"और यदि बिना विवाह के ही उसे प्राप्त करना चाहोगे तो मैं वह भी नहीं होने दूँगी।" रानी बोली, "और यह भी बता दूँ तुम्हें। वह विवाहिता है, और अपने पति की अनुरागिनी है। उसका पति यहाँ नहीं है। इस समय वह कष्ट में है, इसलिए उसने इस रूप में यहॉ आश्रय लिया है। वह इस समय अकेली अवश्य है; किंतु असहाय नहीं है। अपने आप में ही बहुत दुर्धर्ष स्त्री है। कोई पुरुष उसे बलात् प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा, तो उसका पति तो कुछ करे न करे,सैरंध्री की कृपा के आकांक्षी अनेक अन्य पुरुष ही ईर्ष्यावश उसकी हत्या कर देंगे। उसकी रूप-ज्वाला से झुलसनेवाले तुम अकेले ही नहीं हो।"

"हॉ ! समझ गया तुम्हारी धमकी। यदि उसकी ओर हाथ बढ़ाऊँगा तो अपने भाई से मेरी हत्या करवा देना, और कह देना कि सैरंध्री के किसी प्रेमी ने मेरी हत्या कर दी है। वह यदि नहीं भी कहती, तो तुम ही प्रचारित कर दो कि अज्ञात गंधर्व अथवा यक्ष लोग उसकी रक्षा करते हैं। यदि कोई पुरुष उस पर कुदृष्टि डालेगा, तो उसकी उसी रात को हत्या हो जाएगी। ..."

रानी ने कुछ नहीं कहा। वह मन ही मन सोचती रही। राजा का क्रोध में दिया गया यह सुझाव पर्याप्त उपयोगी हो सकता था। सैरंध्री ऐसी स्त्री नहीं थी, जिसे पुरुष की दृष्टि से बचा कर रखा जा सके। ऐसे में उसकी रक्षा भी आवश्यक है और अन्य स्त्रियों के सौभाग्य की भी। राजा के प्रस्ताव के ही अनुसार यदि यह प्रचारित कर दिया जाए कि उसके पति की अनुपस्थिति में, उसके अनेक मित्र जो बहुत बलवान गंधर्व और यक्ष हैं, सैरंध्री की रक्षा करते हैं, तो स्थिति

नियंत्रण में रहेगी। यक्ष-रक्षिता की ओर हाथ बढाने का साहस कौन करेगा।... अन्यथा जिस प्रकार की कलह आज उनमें हुई है, वैसी ही कलह विराटनगर के घर-घर मे हो सकती है।...

विराट ने देखा रानी शायद शांत हो गई थी। संधि की संभावना देख कर बोले, "तुम्हे इस प्रकार का तनिक भी संदेह है, तो कल ही उस सैरंध्री को यहाँ से विदा कर दो। ऐसी स्त्री का परिवार में रहना उचित नहीं है, जिसके कारण पति और पत्नी में कलह होती हो।"

रानी अपने मन मे बहुत अच्छी तरह जानती थी कि यह संभव नहीं था। सैरंध्री को विदा करने का अर्थ था, स्वयं सुदेष्णा के यौवन, रूप तथा सौन्दर्य को विदा कर देना। और यह सुदेष्णा कभी नहीं होने देगी। यौवन और सौन्दर्य का महत्त्व वह पहले भी जानती थी; किंतु अब सैरंध्री को देख कर वह उसका महत्त्व और भी अच्छी तरह जान गई थी। यदि विधाता ने उसे नारी का जन्म दिया है, तो वह इस संसार में सौन्दर्य-विहीन हो कर नहीं रहेगी। राजा से संधि हो अथवा कलह, प्रेम हो अथवा द्वेष, वह सैरंध्री को नहीं छोड सकती।

"तुमने मेरी बात सुनी या नहीं ?" राजा ने पूछा।

"सुन भी ली और समझ भी ली, किंतु मैं उसे मानने को बाध्य नहीं हूँ।" सुदेष्णा ने कठोर स्वर मे कहा, "अब तुम भी मेरी बात सुन लो। यदि मैं यहाँ रहूँगी तो सैरंध्री भी यहीं रहेगी। सैरंध्री को निकालना चाहते हो तो मुझे भी निकालना होगा।" रानी ने विराट की ऑखो में देखा, "और मुझे निकालने का साहस हो तो आदेश देकर देखो।"

इस बार राजा ने क्रोध नहीं किया। शात स्वर में बोले, "क्यों एक दासी से इतनी ममता क्यों है तुम्हें ?"

"प्रश्न ममता का नहीं है। प्रश्न है अधिकार का। यदि मैं अपनी इच्छा से एक दासी को भी अपने पास नहीं रख सकती तो रानी होने का पाखंड क्यों पालूँ। इतना अधिकार तो साधारण घर की स्त्रियो को भी होता है कि वे अपनी सहायता के लिए अपनी इच्छा से दासियॉ रख सकें।" रानी का स्वर तनिक भी कोमल नहीं हुआ था।

"तुम्हें कौन-सा अधिकार प्राप्त नहीं है यहाँ ?" राजा ने धीर स्वर में कहा, "तुम चाहो तो अपने लिए दासियों की सेना रख सकती हो, किंतु इस सैरंध्री के कारण ...।"

"सैरंध्री कहीं नहीं जाएगी। वह यहीं रहेगी। तुम्हें ही अपने आपको संयत रखना पडेगा। नहीं तो स्मरण रहे, उसके पति के कुछ गंधर्व और यक्ष मित्र उसकी रक्षा करते है, और वे सैरंध्री की ओर ताकनेवाले पुरुष की हत्या भी कर सकते है।"

"समझ गया मैं।" राजा बोले।

राजा को नींद फिर भी नहीं आई।... किंतु इस बार उनके ध्यान में सैरंध्री अथवा उसके सुंदर कजरारे नयन नहीं थे; इस बार स्वयं रानी सुदेष्णा उनको आक्रांत किए हुए थी। ... यह उनकी पत्नी थी। उनके बच्चों की माता। और वह उनको हत्या की धमकी दे रही थी। वह उनकी हत्या करवा भी सकती थी। वे कीचक को तो पहले से ही जानते थे, आज उसकी बहन को भी जान गए थे। अपने स्वार्थ के लिए ये भाई-बहन किसी भी मनुष्य अथवा मर्यादा की हत्या कर सकते थे।

"इसी दांपत्य जीवन की कामना करता है मनुष्य ? इस सुख के लिए तडपता है ? यह घर है ? परिवार है ?..." राजा उठ बैठे ।

"क्यों, काम बाधित हुआ तो वैराग्य जाग उठा ?" रानी की वाणी मे भी व्यंग्य था और दृष्टि में भी।

वहाँ ठहरना राजा के लिए संभव नहीं रहा। वे उठ कर बाहर चले आए।

रानी ने उनको उठ कर बाहर जाते देखा और एक 'उंह' के साथ करवट बदल ली।

विराट बारजे के एक सिरे से दूसरे सिरे तक अपने आपको ठेलते रहे और सोचते रहे ...सैरंध्री से भी वे और किस सुख की कामना कर सकते है। वह तो पर-स्त्री है, और अब सुदेष्णा ने यह भी बता दिया है कि वह विवाहिता है। ... यह तो उन्हें पहले ही सोचना चाहिए था, उसकी अवस्था ऐसी नहीं है कि इस वय तक वह अविवाहिता रहे। उसे अकेली जान कर ही उन्होंने मान लिया कि वह अविवाहिता होगी। उनका वह मानना ही भूल थी।... और यह सुदेष्णा... पति को हत्या की धमकी दे रही है। मनुष्य अपनी रक्षा का प्रबंध करता है। सैनिक रखता है। अंगरक्षक रखता है। दंडधर रखता है। बाहर से संभावित सारे आक्रमणों से अपनी रक्षा के लिए, घर के सारे कपाट बंद कर देता है ...किस लिए ? जबकि उन कपाटों के भीतर उसके साथ रहनेवाले लोग ही उसके हितैषी नहीं हैं। उसकी अपनी पत्नी ही उसकी हत्या कर सकती है। ... किस माया मोह में भ्रमित घूम रहा है मनुष्य ?

सहसा विराट का मन एक नई ही दिशा में चल पड़ा ... क्या सत्य ही इस सैरंध्री की ओर हाथ बढ़ानेवाला पुरुष उसके अज्ञात ईर्ष्यालु प्रेमियों के हाथों मारा जाएगा ? सैरंध्री इतनी सुंदर है कि वह बिना रक्षकों के सुरक्षित रह ही नहीं सकती। विराट जैसे प्रौढ़ तथा संतुलित व्यक्ति का मन भी यदि उसकी ओर आकृष्ट ही नहीं हुआ, उसमें आसक्त भी हो गया, तो साधारण जन की बात ही क्या है। अवश्य ही उसके रक्षक होंगे। किंतु वे अदृश्य क्यों है ? उसका पति कहाँ है ? ... और फिर सुदेष्णा उस पर इतनी मुग्ध क्यों है कि अपने पति

को त्याग सकती है, सैरंध्री को त्याग नहीं सकती ? ... सैरंध्री का रहस्य उनकी समझ में नहीं आ रहा था।...

41

सैरंध्री राजप्रासाद के मुख्य भवन से बाहर निकल कर राजा के निजी उद्यान क्षेत्र मे आई ही थी कि किसी पुरुष स्वर ने पुकारा, "कहाँ जा रही हो हला ! हमारी ओर देखती भी नहीं हो।"

सैरंध्री ने ठिठककर उधर देखा : किसने ऐसा साहस किया है ? वह अभी पहले दिन के सैनिकों के उच्छृंखल व्यवहार को ही नहीं भूल पाई थी।...वह तो फिर नगर का सार्वजनिक पथ था, यह तो स्वयं राजा का आवास था, अंतःपुर का ही अंग माना जानेवाला उद्यान ... तो यहाँ कौन ऐसा दुस्साहस कर सकता है ?

सामने से पुरुषों के समान असाधारण रूप से लंबी और बलिष्ठ एक स्त्री आ रही थी।...किंतु पुकारनेवाला तो कोई पुरुष स्वर था, और यहाँ कोई पुरुष दिखाई नहीं दे रहा था। किसी ने ठिठोली तो की थी, किंतु वह सामने आने का साहस नहीं कर रहा था।...

सैरंध्री जाने के लिए मुड़ी।

"एक क्षण भी नहीं रुकोगी ?" उसी पुरुष स्वर ने पुनः पुकारा।

इस बार उसे कोई भ्रम नहीं हुआ। सैरंध्री ने स्पष्ट पहचाना : यह पुरुष कंठ उसी असाधारण रूप से लंबी स्त्री का ही था। उसने ध्यान से देखा... यह और कोई नहीं, स्वयं बृहन्नला था।

सैरंध्री की विचित्र स्थिति थी। उसे लग रहा था कि उसके मन में एक क्षण के लिए जो उल्लास कौंधा था, वह अगले ही क्षण अवसाद का रूप धारण कर चुका था। अपने प्रिय को सम्मुख देख, जो प्रसन्नता का अनुभव हुआ था, वह उसका वेश देख कर विलीन हो गया था। वीरवर अर्जुन और नपुंसक के वेश में ! वेश में ? नहीं यह मात्र वेश नहीं था। रूप ही नपुंसक का था। ... अर्जुन ने यदि नपुंसक का वेश मात्र धारण किया होता, तो संभवतः सैरंध्री का उससे कुछ मनोरंजन ही होता, किंतु यह रूप तो उसके मन में पीडा जगा रहा था। ...

"कैसी हो सखि !" बृहन्नला ने निकट आकर पूछा।

सैरंध्री के मुख से शब्द नहीं फूटा : वह जैसे अपने कंठ में सिसकी दबाए,

बृहन्नला की ओर देखती रही। उसकी आँखों में अश्रु उमड़ आए थे।

बृहन्नला ने मुस्कराकर उसकी ओर देखा, "इस रूप को देख कर दुखी हो रही हो सखि ! बाह्य रूप तो सब माया है, वह सत्य नहीं है। कृष्ण कहते हैं न कि असत् की सत्ता नहीं है, और सत् का अभाव नहीं है।"

"कृष्ण की बात तो वे ही जानें।" सैरंध्री धीरे से बोली, "मैं तो एक ही बात जानती हूँ कि असाधारण पौरुष से युक्त मेरा प्रिय इस समय एक नपुंसक के रूप में मेरे सम्मुख खड़ा है।"

"जो वैजयंत की राजसभा की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी पर न रीझे, वह नपुंसक ही तो है।" बृहन्नला हँसा और फिर उसने सावधान हो कर इधर-उधर देखा।

"वही तो सर्वश्रेष्ठ पौरुष है; और नहीं तो लंपटता का नाम पौरुष है क्या ?"

"उसे छोड़ो देवि ! ग्रंथिक और तंतिपाल का कोई समाचार है क्या ?"

"नहीं। अभी तक तो कोई समाचार नहीं है।" सैरंध्री बोली, "रानी को मेरी कला कुछ इतनी भा गई है कि मुझे तनिक भी अवकाश नहीं देतीं। कहीं आ जा ही नहीं पाई।"

"तुमने उनका रूप निखार भी तो ऐसा दिया है कि तुम्हारे बिना अब वे रह ही नहीं पाएँगी। नारी को भगवान ने बनाया ही कुछ ऐसा है कि वह प्राण चाहे त्याग दे, अपना रूप त्यागना नहीं चाहेगी।"

"मुझे पुरुष और नारी के इस झगडे में मत उलझाओ।" सैरंध्री बोली, "मुझे यह बताओ कि अंतःपुर में तुम्हारा निर्वाह कैसा हो रहा है ? वहाँ तुम्हें नपुंसक मान कर कोई तुम्हारा अपमान तो नहीं करता ?"

"वहाँ कोई मैं ही तो अकेला नपुंसक नहीं हूँ।" बृहन्नला ने कहा, "राजपरिवार तो भरा पड़ा है नपुंसकों से।"

"मैं इस शब्द के आलंकारिक प्रयोग की बात नहीं कर रही।" सैरंध्री बोली, "मैं शरीर के रूपाकार की बात कर रही हूँ।"

"हाँ ! कुछ लोगों ने आरंभ में कुछ वितृष्णा दिखाई थी।" बृहन्नला ने कहा, "किंतु उनमें राजपरिवार के लोग कम थे, सेवक लोग ही अधिक थे। बाद में तो वह भी नहीं रहा।"

"राजकुमारी तुम्हारा सम्मान करती है ?"

"राजकुमारी ! वह तो बेचारी कुछ अधिक ही सम्मान करती है, अपने इस कलाकार गुरु का।" बृहन्नला ने कहा, "वह कुछ इतना आत्मीय व्यवहार करती है कि मुझे भय है कि जिस दिन उसे यह पता चलेगा कि मैं वह नहीं हूँ, जो वह मुझे समझती है, तो उसे बहुत कष्ट होगा।"

बहुत ध्यान है उसके कष्ट का ?"

"क्यों नहीं होगा।"

सैरंध्री चुपचाप उसे निरखती रही। फिर धीरे से बोली, "कहीं वह मन को भा तो नहीं गई रसिकराज ! उत्तरा सुंदर है, सुशील है। अब तुम कह रहे हो कि तुम्हारा सम्मान भी बहुत करती है।"

"सम्मान ही नहीं करती, बहुत स्नेह भी करती है।" बृहन्नला ने कहा, "तुम तो यह समझो सैरंध्री ! कि भगवान मुझे बता रहे हैं कि पुत्री का स्नेह क्या होता है, और सम्मान क्या होता है। हमारी कोई पुत्री है नहीं न, इसलिए ...।"

"सखि बृहन्नले ! नपुंसकों की संतान नहीं होती।" सैरंध्री ने बहुत सावधानी से कहा, "पुत्र क्या और पुत्री क्या।"

उसने बृहन्नला को ही सावधान नहीं कर दिया था, वह स्वयं भी सावधान हो गई थी। वह तो उत्तरा को लेकर बृहन्नला से विनोद करने जा रही थी; किंतु उसने उसके प्रति पुत्री का भाव जता दिया था। पता नहीं, पुत्री का स्नेह, प्रत्येक पिता को विह्वल करता था, अथवा केवल उनको जिनकी अपनी पुत्रियाँ नहीं होतीं। ...

"यह मैने क्या सुना है, तुम्हारे विषय में ?" बृहन्नला ने अपने स्वर को बहुत ही दबा कर पूछा।

"क्या सुना है ?"

"कि तुम्हारा पति कहीं परदेस गया है। तुम्हें तुम्हारे श्वसुर ने घर से निकाल दिया है ..."

"तो इसमें मिथ्या क्या है ?" सैरंध्री बोली, "तुम पाँचों भाई परदेस में नहीं हो क्या ? और धृतराष्ट्र ने मुझे अपने नगर से निष्कासित नहीं किया है क्या ? अब तुम लोग परदेस से लौटोगे, तो ही यह निश्चय होगा कि मैं अपने नगर में, अपने घर में रह सकती हूँ या नहीं।..."

"वह सब तो सत्य ही है।" बृहन्नला ने कहा, "किंतु उसके साथ-साथ यह भी प्रचारित हो रहा है कि तुम्हारे पति के पान्च गंधर्व मित्र अदृश्य रह कर तुम्हारी रक्षा कर रहे हैं ..."

"यह सब तो मैंने कहा नहीं।" सैरंध्री बोली, "कहने को तो मैं यह भी कह सकती थी कि मेरे पाँच गंधर्व पति अदृश्य रह कर मेरी रक्षा कर रहे हैं। ..."

"अच्छा हुआ, तुमने यह नहीं कहा।" बृहन्नला ने उत्तर दिया, "नहीं तो कोई भी तुमसे पूछ सकता था कि तुम्हारे पति अदृश्य रह कर तुम्हारी रक्षा क्यों कर रहे हैं, वे प्रकट क्यों नहीं होते ? तुम्हारे पाँच पति क्यों हैं ? क्या तुम पांचाली हो ? तुम्हारे पाँच पति हैं, और वे तुम्हारे समीप हैं, चाहे अदृश्य रूप से ही सही,

तो वे तुम्हारा भरण-पोषण क्यों नहीं करते ? तुम दासी कर्म करने को क्यों बाध्य हो ?..."

"हाँ ! यह तो बहुत अच्छा हुआ कि मैंने अपने पाँच पतियों की चर्चा नहीं की।" सैरंध्री बोली, "किंतु मैने तो यह सब भी नहीं कहा, जो प्रचारित हो रहा है। वस्तुतः मैं तो चाहती ही नहीं कि मेरे विषय में किसी प्रकार का प्रचार हो। मैं तो चाहती हूँ कि अज्ञात ही नहीं अदृश्य हो कर रहूँ, किसी को मेरे अस्तित्व तक का पता न चले। हमारे अज्ञातवास के लिए किसी भी प्रकार का प्रचार हानिकारक हो सकता है।"

"तो यह सारा प्रचार किसने किया है ? मैंने तो समझा कि तुमने अपनी रक्षा के लिए इस प्रकार का प्रवाद फैलाया है।" बृहन्नला ने कहा।

"मुझे रानी सुदेष्णा की एक प्रचारिका ने बताया है कि राजा ने मेरे विषय में रानी से कोई जिज्ञासा की थी; और रानी ने राजा पर यह आरोप लगाया था कि राजा मुझमें आसक्त हो गए हैं। दोनों में बहुत झगड़ा हुआ। रानी ने कहा कि मैं इतनी सुंदर हूँ कि जो भी पुरुष मुझे देखता है, वह मुझमें आसक्त हो जाता है। इसलिए राजा यदि मेरी ओर पग बढाएँगे, तो मेरा कोई दूसरा प्रशंसक अथवा प्रेमी उनकी हत्या कर देगा। तब राजा ने कहा कि रानी उनकी हत्या करवा दे और यह प्रचारित करवा दे कि मेरे पति के अज्ञात गंधर्व मित्रों ने राजा का वध करवा दिया है। लगता है, रानी ने उसी बात को यह रूप दे दिया है। उन्होंने ही यह प्रचार किया होगा कि मेरे पति के पाँच गंधर्व मित्र, अदृश्य रह कर मेरी रक्षा कर रहे हैं।"

"वह परिचारिका है अथवा प्रचारिका ? उस परिचारिका को यह सब कहाँ से ज्ञात हुआ, जिसने तुम्हें यह सूचना दी है ?"

"जिस रात राजा और रानी में यह झगड़ा हुआ है, उस रात वह उनके शयन-कक्ष की प्रहरी थी।" सैरंध्री बोली, "उसने उन दोनों को झगडते हुए स्वयं सुना था।"

"वैसे रसिक पुरुषों को तुमसे दूर रखने के लिए युक्ति तो अच्छी है यह।" बृहन्नला ने कहा, "किंतु जब कभी उन अदृश्य गंधर्वो की आवश्यकता होगी, तब उन्हें प्रमाणित करने में कठिनाई हो सकती है। उपयुक्त अवसर पर वे प्रकट न हो पाए तो ? ..."

"पॉच अज्ञात गंधर्व तो हैं, मेरी रक्षा के लिए," सैरंध्री के अधरों पर एक उदास मुस्कान थी, "अब वे समय पर प्रकट ही न हों तो मैं क्या कर सकती हूँ।"

"पॉच अज्ञात गंधर्व भी हैं। उन्हें तुम अपने प्राणों से अधिक प्रिय भी हो। तुम्हारा सम्मान, तुमसे अधिक उनका अपना सम्मान है। किंतु ..."

"किंतु क्या ?" सैरंध्री ने पूछा।

"किंतु वे गंधर्व तो धर्म के मंत्रों से बँधे हुए हैं। यह तो समय ही बताएगा कि उस समय वे मंत्र उन्हें प्रकट होने देते हैं अथवा नहीं।" बृहन्नला ने कहा, "किंतु तुम चिंता मत करो सैरंध्री ! मुझे सदा लगा है कि उन पाँच गंधर्वों से कहीं अधिक समर्थ तो वह सर्वनियंता प्रभु है,जो तुम्हारी रक्षा कर रहा है।"

सैरंध्री कुछ नहीं बोली।

"पर रानी तुम्हारी सुरक्षा के लिए इतनी चिंतित क्यों हैं ? क्या वे अपनी सारी परिचारिकाओं की इतनी ही चिंता करती है ?"

"सबके विषय में मै नहीं जानती, किंतु मैंने तो उनकी सेवा स्वीकार करते हुए ही अपनी सुरक्षा की विस्तृत चर्चा की थी। वे जानती हैं कि यदि मेरे मन मे असुरक्षा की भावना जागी तो मै यहाॅ रह नहीं पाऊॅगी, यहाॅ से चली जाऊँगी।"

"तुम्हारा सैरंध्री कर्म उनके लिए क्या इतना आवश्यक है कि उसके लिए वे अपने पति तक से झगडा मोल लेगी ?"

"अभी तक तो कुछ ऐसा ही दिखाई पड रहा है।"

"क्यों ?"

"कह नहीं सकती।" सैरंध्री बोली, "संभवतः मेरी कला के माध्यम से वे अपने यौवन और सौन्दर्य को अधिक मादक और आकर्षक बनाए रखना चाहती हैं। यह भी संभव है कि न वे मेरी रक्षा के लिए चिंतित हों, न राजा के चरित्र के लिए। वे राजा से उस कष्ट का प्रतिशोध लेना चाहती हों, जो उन्हें अवस्था में स्वयं से इतने बडे राजा से विवाह करते हुए हुआ था। वे मुझे सम्मुख रख राजा के मन में कामना तो जगाना चाहती हों, कितु राजा को मेरी ओर बढने की अनुमति न देना चाहती हों।"

"कदाचित् तुम ठीक ही कह रही हो सैरंध्री।" बृहन्नला ने कहा, "सत्यवती ने भी महाराज शांतनु से प्रतिशोध लिया था। कैकेयी ने भी राजा दशरथ से इसी प्रकार का प्रतिशोध लिया था। मुझे तो लगता है कि माता गांधारी ने भी अब तक महाराज धृतराष्ट्र से अपना प्रतिशोध ही लिया है, अन्यथा हस्तिनापुर में शकुनि को इतना महत्त्व प्राप्त न होता। ..."

"कोई आ रहा है।" सैरंध्री धीरे से बोली, "अब मैं जो परिहास करूॅ, उसका बुरा न मानना।"

एक परिचारिका उनके निकट पहुॅच रही थी।

"क्यों सखि ! प्रेमलीला हो रही है ?" वह हॅसी, "सुंदरी सहमत नहीं हो रही, अथवा बृहन्नला ही अपने सतीत्व की रक्षा के लिए चिंतित है ?"

सैरंध्री भी हॅस पडी, "मैं बृहन्नला से कह रही हूॅ, कि यदि यह स्त्री है तो इसे मुझसे ईर्ष्या होनी चाहिए और यदि पुरुष है, तो इसे मुझपर मुग्ध होना

चाहिए; किंतु यह तो कुछ भी करना नहीं चाहता।"

"देखो सखि ! यह फिर मेरे लिए पुल्लिंग शब्दों का प्रयोग कर रही है। पता नहीं, यह मेरे स्त्रीत्व को क्यों अपमानित करना चाहती है।"

"यदि कोई निर्णय हो जाए तो मुझे भी सूचित कर देना।" परिचारिका हँसती हुई आगे बढ़ गई।

सैरंध्री ने देखा, आस-पास कोई नहीं था, तो पुनः बोली, "मैं आज भोजन में कोई दोष निकाल कर झगड़ने के व्याज से बल्लव से भी भेंट करने की सोच रही हूँ। उनके पास अवश्य ही ग्रंथिक तथा तंतिपाल का कोई न कोई समाचार होगा।"

"हाँ ! यह विधि उत्तम है। भोजन में दोष भी निकाला जा सकता है और किसी विशेष प्रकार के भोजन का अनुरोध लेकर भी बल्लव के पास जाया जा सकता है।" बृहन्नला ने उत्तर दिया, "किंतु कंक महाराज का समाचार पाने में कठिनाई होगी। उनके पास अंतःपुर में आने का कोई कारण नहीं है और हम दोनों एक प्रकार से अंतःपुर में बंदी हैं।"

"बल्लव कोई न कोई मार्ग निकाल ही लेगा।" सैरंध्री ने जैसे अपने आपसे कहा।

"मेरा विचार है कि केवल तुम्हें ही नहीं, हम सबको ही भोजन में दोष बताने के बहाने, अथवा भोजन संबंधी किसी न किसी बात को लेकर बल्लव से मिलते रहना चाहिए। हम लोग बल्लव के माध्यम से एक-दूसरे के संपर्क में रह सकते हैं।" बृहन्नला ने कहा।

"हाँ ! यह व्यवस्था लाभदायक हो सकती है।" सैरंध्री बोली, "अब चलती हूँ। ऐसा न हो कि रानी मेरी ढूँढ़ मचा दें।"

"मिलती रहना हला।" बृहन्नला ने कहा, "तुम्हारे बिना तो जीवन बोझ हो जाएगा।"

"रानी ठीक कहती हैं कि जो भी पुरुष सैरंध्री को देख लेता है, वह उस पर आसक्त हो जाता है।" सैरंध्री मुस्कराई।

"पर मैं तो पुरुष ही नहीं हूँ सुंदरी !" बृहन्नला ने चलते-चलते उदास स्वर में कहा।

सैरंध्री ने उसकी ओर पीठ होते ही, अपनी सिसकी को कंठ से मुक्त कर दिया और कपोलो पर बह आए अपने अश्रुओं को पोंछ लिया।

बल्लव, पाकशाला से अपने आवास की ओर जाने की सोच ही रहा था कि एक अवगुंठनवती स्त्री आकर उसके सम्मुख खड़ी हो गई।

"कौन हो देवि ?" बल्लव ने पूछा, "और किस प्रयोजन से यहाँ आई हो ?"

"मैं राजपरिवार की सैरंध्री हूँ।"

बल्लव हँसा, "नहीं ! मैं अपनी केशसज्जा स्वयं ही कर लेता हूँ।"

"मैं महारानी सुदेष्णा की सैरंध्री हूँ पैरोगव ! आपकी केशसज्जा के लिए नहीं आई हूँ।"

"पर मैं महारानी का भोजन तो भिजवा चुका हूँ। क्या तुम्हें तुम्हारा भोजन नहीं मिला देवि ?"

"मिला। और उस भोजन में एक कंकड़ भी मिला है।" सैरंध्री बोली, "मैं पूछने आई हूँ कि रसोई में आप स्वच्छता का ध्यान क्यों नहीं रखते।" सैरंध्री ने अपना अवगुंठन हटा दिया।

"क्या वह कंकड स्वच्छ नहीं था देवि ?" बल्लव हँस पडा। वह निकट आकर मंद स्वर में बोला, "कल जब गोशाला से दूध आया तो मैंने भी दूध लानेवाले उस गोपाल के साथ जम कर झगडा किया और कहा कि दूध में जल मिला हुआ है। यह भ्रष्टाचार यहाँ नहीं चलेगा। यह साधारण गृहस्थ की रसोई नहीं है कि जितना चाहोगे, उसे ठग लोगे। यह राजा की पाकशाला है, यहाँ तो शुद्ध दूध ही देना पडेगा। उसने मेरी बात का विरोध किया तो मैंने उसके दूध के दो-एक भांड लुढका दिए, और दक्षिणा स्वरूप एक चाँटा भी प्रदान कर दिया। वैसे अधिक बलपूर्वक नहीं मारा था। बस हल्का-सा। उसने अपने अध्यक्ष के पास जाने की धमकी दी तो मैंने कहा, कल स्वयं मत आना, उसी को भेजना, नहीं तो तुम्हारा सिर फोड दूँगा।"

"तो ?" सैरंध्री ने पूछा।

"तो आज प्रातः सहदेव ..." बल्लव ने दाँतों तले अपनी जिह्वा दबाई और चोर दृष्टि से इधर-उधर देखा, "... अभी अभ्यास ही नहीं हुआ है।"

"तो आज तंतिपाल आया ?"

"हाँ ! प्रातः वह स्वयं आया।" बल्लव ने बताया, "उसने भी झगडा किया कि मैंने उसे अधर्मी समझ रखा है क्या ? मैंने उसे समझाया कि मूर्ख ! यदि मैं यह नाटक न करता, तो तुमसे भेट कैसे होती। अब वह राजा की पाकशाला में दूध देने स्वयं आया करेगा; और प्रतिदिन आया करेगा।"

"और ग्रंथिक ?"

"वह आर्य कंक से प्रतिदिन उनकी अश्वों तथा रथ संबंधी आवश्यकता पूछने आता है।" बल्लव ने बताया, "वे दोनों स्वस्थ और प्रसन्न हैं।"

"यदि इसी प्रकार शांति से एक वर्ष शांति से व्यतीत हो जाए, तो कितना अच्छा हो।" सैरंध्री चलने को उद्यत हुई, "चलती हूँ। बृहन्नला को सारा समाचार दे दूँगी।"

"आती रहना सखि !" बल्लव हँसा, "भोजन में कोई दोष हो तो विरोध प्रकट करने अवश्य आना। संकोच मत करना। बल्लव तुम्हारी बात से तनिक भी रुष्ट नहीं होगा।"

"और अपने मनभावन भोजन संबंधी कोई अनुरोध करना हो, तो ?" सैरंध्री ने अपने नयन नचाए।

"तो यह दास यहाँ किसके लिए विद्यमान है।" बल्लव हाथ जोड़ कर उसके सम्मुख नत हो गया।

42

द्वारपाल ने हाथ जोड़ कर निवेदन किया, "महाराज ! सेनापति कीचक आप के दर्शनों के लिए द्वार पर उपस्थित हैं।"

विराट, सभा में जाने के लिए प्रस्तुत थे। ... अब यह कीचक आ गया था।...

उन्हें कल ही सूचना मिल गई थी कि कीचक, सेना के साथ नगर में लौट आया है; किंतु वह राजा से मिलने नहीं आया। सैनिक अपने घरों अथवा स्कंधावार में चले गए और कीचक अपने प्रासाद में अपनी रानियों के पास। न राजा को कोई सूचना दी गई, और न कोई राजा को प्रणाम करने आया। राजा विराट को सूचनाएँ मिलती रहीं कि विराटनगर के मार्गों एवं पथों पर नागरिकों से अधिक संख्या सैनिकों की हो गई है। हाटों में, पण्यों में, आपणों में सैनिक विभिन्न प्रकार का क्रय-विक्रय कर रहे हैं, जैसे वे किसी सैनिक अभियान से न लौटे हों, कहीं से लूटपाट करके आए हों। उनके पास बहुमूल्य रत्न थे, जिन्हें वे बेच रहे थे, और उनके पास स्वर्ण मुद्राओं का तो जैसे भंडार ही था। वे महँगी से महँगी वस्तु क्रय कर रहे थे। साधारण सैनिकों के पास भी इतना धन था कि उन्हें किसी भी पदार्थ का मूल्य अधिक नहीं लग रहा था।...

राजा समझते थे कि यह सब क्या है। ... कीचक कितने ही राज्यों में से हो कर आ रहा था। जाने कहाँ-कहाँ उसने अपने सैनिकों को लूटपाट के लिए उन्मुक्त छोड़ दिया होगा। किसी को न भी लूटा हो तो किसी राजा से महाराज विराट के नाम पर, कर प्राप्त किया होगा; और उसे राजकोष में जमा कराने के स्थान पर अपने सैनिकों को प्रसन्न करने के लिए, उनमें बाँट दिया होगा।...उसके लिए राजा की प्रसन्नता महत्त्वपूर्ण नहीं थी। उसे सैनिकों की प्रसन्नता चाहिए थी, चाहे वह किसी भी मूल्य पर क्यों न मिले।

विराट जानते थे कि यह सब कीचक का ही दंभ था। अपने इस प्रकार के व्यवहार से वह उन्हें स्मरण कराता रहता था कि वह उनका वर्चस्व स्वीकार नहीं करता। वह सैनिकों के मन में भी यही बात अंकित कर देना चाहता था कि उनके स्वामी, महाराज विराट नहीं, उनका सेनापति ही है। इसीलिए तो सैनिक राजा का भय नहीं मानते थे। ... कल की सूचनाओं के आधार पर राजा ने मान लिया था कि कीचक आज प्रातः उन्हें राजसभा में ही मिलेगा और वहीं उन्हे अपने सैनिक अभियान का अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण देगा। उसे विवरण क्या देना होता था ... अपने अहंकार का प्रदर्शन मात्र करना होता था। ... किंतु वह तो उनके अपने प्रासाद में भेंट करने आ गया था।...

"आने दो।" राजा बोले।

कीचक ने द्वारपाल के लौटने की प्रतीक्षा नहीं की थी। वह भीतर प्रवेश कर चुका था।

"महाराज की जय हो।" वह बोला, "महाराज का यह सेनापति विराटनगर के सारे पडोसी राज्यों को एक बार फिर यह स्मरण करा आया है कि उसकी भुजाओ में कितना बल है। ..."

विराट के मन में निरतर विचार प्रवाह चल रहा था ...यह कहीं दूर नहीं जाता ... बस विराटनगर के निकटतम पड़ोसियों को पीडित करता रहता है। जिन राज्यों के विषय में उसे निश्चित सूचना है कि उनकी सैनिक क्षमता उसका सामना नहीं कर सकती, उनका कंठ पकड़ने के लिए वह हर समय तत्पर रहता है।... और उन लोगों को वह यह स्मरण नहीं कराता कि विराटनगर में कितना बल है, उन्हें यह स्मरण कराता रहता है कि कीचक कितना शक्तिशाली है।...

"सेनापति! तुम्हें राजसभा में आना चाहिए था। सभासदों के सम्मुख सैनिक अभियान का सारा विवरण प्रस्तुत किया जाए, यह हमारे राज्य की मर्यादा है। राज्य के मंत्रियों की उपेक्षा कर राजा और सेनापति परस्पर चर्चा से राजकार्य चलाएँ, यह राज्य के हित में नहीं है।"

कीचक का गर्व में फूला चेहरा क्षोभ से जैसे काला पड़ गया। लगा, वह आक्रोश मे कोई बहुत कठोर बात कहनेवाला है, किंतु जब बोला तो उसके भाव चाहे कठोर थे, किंतु उसके शब्द कठोर नहीं थे, "मैं यहाँ राजा से मिलने नहीं आया हूँ। मैं अपनी बहन सुदेष्णा से भेंट करने आया हूँ।"

राजा समझ गए कि कीचक ने अपने इस विशेषाधिकार से न केवल उनकी सारी आपत्तियाँ निरस्त कर दी है, वरन् राजा के रूप में उनके अधिकारों को मानना भी अस्वीकार कर दिया है।

विराट वहीं खड़े रह गए और कीचक आगे बढ़ गया। उसने जाते हुए

उनका अभिवादन भी नहीं किया था। वह राज-मर्यादा का उल्लंघन तो था; किंतु परिवार के सदस्य के रूप में इतनी छूट वह ले ही सकता था।

रानी सुदेष्णा को भी कीचक के नगर में लौट आने की सूचना थी; किंतु वह इस प्रकार से अकस्मात् ही आकर उनके सामने खड़ा हो जाएगा, इसकी उन्होंने कल्पना भी नहीं की थी। रानी की दृष्टि अनायास ही अपने निकट खड़ी सैरंध्री की ओर उठ गई, "तुम जाओ सैरंध्री ! आवश्यकता होने पर मैं फिर बुलवा लूँगी।"

सैरंध्री ने एक अपरिचित पुरुष को इस प्रकार निस्संकोच तथा अनौपचारिक विधि से आते देख कर पहले ही अवगुंठन कर लिया था। रानी की अनुमति तो जैसे उसके अपने मन की उत्कट कामना थी।

सैरंध्री चली गई और कीचक उसे जाते हुए देखता रहा। उसकी दृष्टि में जो अभद्रता थी, वह सुदेष्णा से छिपी नहीं रह सकी। वह उसे छिपाना भी नहीं चाहता था। सुदेष्णा उस दृष्टि को बहुत अच्छी तरह पढ़ सकती थीं; और जो कुछ वे पढ़ रही थीं, उससे उनकी अंतरात्मा जैसे काँप उठी थी। ... वे अपने भाई से सैरंध्री की रक्षा कर पाएँगी क्या ?

"कैसे हैं भैया ?" सुदेष्णा ने कीचक का ध्यान सैरंध्री की ओर से हटाने का प्रयत्न किया।

"मैं प्रसन्न हूँ, सुखी हूँ, आनन्दित हूँ; किंतु देख रहा हूँ, कि तुम तो मुझसे भी बहुत अधिक सुख की स्थिति में हो।"

सुदेष्णा की सहज प्रतिक्रिया थी कि वह पूछे कि ऐसी क्या बात है कि जिसके कारण वह उन्हें परम सुख की स्थिति में पा रहा है। किंतु पूछने की कोई आवश्यकता थी नहीं। वे समझ रही थीं कि उनके भाई का संकेत किस ओर था।

"हाँ ! मै तो परम सुख की स्थिति में हूँ ही।" सुदेष्णा ने कहा, "जिस बहन के वीर भैया उसे सारी सुख-सुविधाएँ उपलब्ध कराने को तत्पर बैठे हों, वह बहन तो परम सुख की स्थिति में होगी ही।"

"अरे छोड़ो बहना ! तुम भी क्या बातें ले बैठीं।" कीचक ने कुछ ऊबे हुए स्वर में कहा, "मुझे बताओ कि मेरी अनुपस्थिति में पीछे क्या-क्या होता रहा है यहाँ ?"

"क्या होना था भैया !" सुदेष्णा बोलीं, "आप नहीं होते तो विराटनगर का जीवन जैसे थम ही जाता है। कोई गति-विधि ही नहीं रहती।"

"सुदेष्णे ! मैं कल संध्या समय ही विराटनगर में आ गया था।" कीचक

बोला।

"जानती हूँ।"

"और यह भी जानती होगी कि जब मैं विराटनगर में उपस्थित नहीं भी होता, तो नगर में पीछे मेरी रानियाँ और मेरे भाई होते हैं। उनके अतिरिक्त मेरे कुछ आज्ञाकारी तथा निष्ठावान सेवक भी यहीं रहते हैं।" कीचक सीधे उसकी ऑखों में देख रहा था, जैसे वह विराटनगर की रानी न हो, उसकी कोई दासी हो, "और तुम यह भी जानती होंगी सुदेष्णे ! कि उनमें कोई भी बहरा, गूँगा अथवा अंधा नहीं है।"

"तो ?" सुदेष्णा ने कुछ साहस करके पूछा।

"तो मुझे पीछे के सारे समाचार मिलते रहते हैं। मैं विराटनगर से बाहर जाता हूँ तो भी अपने अनेक नेत्र यहाँ छोड़ जाता हूँ।"

सुदेष्णा अनुभव कर रही थीं कि वे मन ही मन कीचक से आतंकित होती जा रही हैं। इस प्रकार तो वे कभी अपने पति से भी आतंकित नहीं हुईं, जो राजा हैं, और जिनसे कोई न कोई मतभेद होता ही रहता है।... और यह भाई, जिसके भरोसे वे अपने पति और इस राज्य के राजा से टकरा जाने में भी कोई संकोच नहीं करतीं, वह ही उन्हें आतंकित कर रहा है। ... सुदेष्णा ने जैसे अपना सारा आत्मबल बटोरा, "ऐसा कौन-सा समाचार आपको मिल गया, जिसके कारण आप मुझे इस प्रकार ऑखें दिखा रहे हैं ?"

"मुझसे पूछे बिना कंक की नियुक्ति किसने की?"

"यह तो आपको महाराज से पूछना चाहिए।" सुदेष्णा कुछ आश्वस्त हुई, "राजसभा की नियुक्तियाँ मेरे अधीन नहीं हैं।"

"वह तो मैं राजा से पूछूँगा ही।" कीचक बोला, "मैं तो केवल इतना बता रहा था कि विराटनगर में पीछे और भी बहुत कुछ हुआ है।"

रानी को अपने भाई का यह सारा व्यवहार तनिक भी अच्छा नहीं लग रहा था; किंतु वह कीचक का स्वभाव जानती थी। इस समय उसे कुछ भी कहना व्यर्थ था। बात टाल कर बोली, "मैं नहीं जानती थी कि राजसभा में राजा के एक द्यूत-सहचर की नियुक्ति इतनी बडी घटना थी कि भाई के नगर में लौटते ही बहन का दायित्व था कि वह उसका कुशल समाचार भी न पूछे और उसे उसकी सूचना दे।"

"क्यों एक द्यूत-सहचर ही क्यों ?" कीचक बोला, "पाकशाला का नया अध्यक्ष भी नियुक्त किया है, राजा ने।"

"हाँ ! नियुक्त किया है।" सुदेष्णा ने पहली बार सीधे कीचक की आँखों में देखने का दुस्साहस किया, "राजा हो कर भी उन्होंने कभी आपसे नहीं पूछा कि आपका कौन-सा काम कौन-सा सेवक करता है, और आपने कौन-सा सेवक

क्यों नियुक्त किया है; और आप सेनापति होकर भी राजा से पूछने का साहस कर रहे है कि उसने अपनी रसोई में नया रसोइया क्यों रखा ?" सुदेष्णा ने कीचक को कुछ कहने का अवसर नहीं दिया, "और इसको नया रसोइया रखना कहते हैं ? पाकशाला का पुराना अध्यक्ष तुम्हारे सैनिकों के दुर्व्यवहार से दुखी हो चुका था। वह अपना पद स्वयं ही छोड़ जाना चाहता था।..."

"रहने दो सुदेष्णे !" कीचक ने रानी की बात बीच में ही काट दी, "मैंने तो आज तक ऐसा व्यक्ति नहीं देखा, जो अपना अध्यक्ष पद स्वयं छोड़ना चाहे। उसमें कोई न कोई रहस्य है।"

"नहीं देखा, तो जाओ चतुरसेन को देख आओ। वह अब भी पाकशाला में ही है। कहीं गया नहीं है।"

सहसा कीचक का स्वर कोमल हो गया, "क्या बात है सुदेष्णे ! आज अपने पति का बहुत पक्ष ले रही हो ? आज तक तो तुमने राजा का इस प्रकार बचाव नहीं किया।"

"आप उनको इस प्रकार पीड़ित करेंगे, तो उनकी रक्षा तो करनी ही पड़ेगी। वे मेरे पति हैं।"

"नहीं !" कीचक के अधरों पर एक दुष्ट मुस्कान थी, "नहीं ! वास्तविकता यह नहीं है।"

"तो क्या है वास्तविकता। आप ही बता दें।"

"वास्तविकता यह है कि इस बार मेरी अनुपस्थिति का तुम सबने ही बहुत लाभ उठाया है।" कीचक बोला, "सुना है कि उत्तरा ने भी एक नपुंसक को अपना नृत्य शिक्षक नियुक्त कर लिया है।"

"तुम्हें उसमें भी आपत्ति है ?" सुदेष्णा ने कुछ प्रखर स्वर में पूछा।

"यदि वह सचमुच ही नपुंसक है, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है।" कीचक बोला, "किंतु मुझे संदेह है कि वस्तुतः वह नपुंसक नहीं है। और यदि वह कोई पुरुष हुआ, जो छद्म नपुंसक बन कर राजप्रासाद में ही नहीं, राजकुमारी के अंतःपुर तक में जा पहुँचा है, तो ?"

"आप हमें इतना मूर्ख समझते हैं ? पूर्ण परीक्षण के पश्चात् ही हमने उसे राजकुमारी का शिक्षक नियुक्त किया है।" सुदेष्णा ने क्रुद्ध दृष्टि से कीचक को देखा, "यदि आपको इससे संतोष न होता हो, तो अपनी किसी पत्नी अथवा प्रेमिका को उसकी शैया पर भेज कर उसकी परीक्षा कर लीजिए।"

"रुष्ट हो गई।" कीचक हँसा, "भला इसमें रुष्ट होने की क्या बात है ?"

"रुष्ट होने की बात नहीं है ? आप मेरी पुत्री के विषय में इस प्रकार की बात कह रहे हैं।"

"तुम्हारी पुत्री के लिए नहीं कह रहा हूँ।" कीचक बोला. "मेरी पुत्री भी

तो उत्तरा के साथ ही संगीत और नृत्य की शिक्षा ले रही है।"

"ठीक है। आप अपनी पुत्री के लिए किसी और शिक्षक का प्रबंध कर लें।"

कीचक ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया। सुदेष्णा को स्पष्ट अनुभव हो रहा था कि कीचक की बात समाप्त नहीं हुई है। वह कुछ और भी कहना चाहता है। ... वह अपनी भंगिमा बदल रहा था, जैसे कहने से पहले अपने कथन का मन ही मन रस ले रहा हो।...

उसकी मुद्रा सचमुच बदली। वह मुस्कराने का प्रयत्न कर रहा था, जैसे कोई अत्यत दुर्ललित बात कहने जा रहा हो।

"मैने सुना है कि तुमने भी अपने शृंगार के लिए किसी असाधारण सुदरी सैरध्री को नियुक्त किया है।"

सुदेष्णा ने तमककर कीचक को देखा : वे तब से इसी बात से डर रही थीं।... पर किसने सूचना दी होगी कीचक को ? जहाँ तक रानी जानती थीं, सैरंध्री किसी बाहरी पुरुष के सम्मुख आई ही नहीं थी। और ऐसी दृष्टि तो पुरुष की ही हो सकती है।...

"तो ?" सुदेष्णा ने कहा, "विराटनगर की रानी को अपने लिए एक सैरंध्री नियुक्त करने के लिए भी अनुमति की आवश्यकता होगी ?... अथवा एक बहन को एक दासी नियुक्त करने के लिए पहले भाई से सहमति लेनी होगी ?"

कीचक ने रानी की बात का कोई उत्तर नहीं दिया। वह धीरे-धीरे चलता हुआ, सुदेष्णा के निकट आया और अत्यंत आत्मीयता के भाव से उसके निकट बैठ गया। इस समय वह विराटनगर का प्रचड सेनापति नहीं था। उसकी मुखमुद्रा आतंकित नहीं करती थी। ... सुदेष्णा को अपना शैशव स्मरण हो आया, जब वह कीचक की लाडली बहन हुआ करती थी और उसने अपने इस भाई के दुलार के सिवाय और कुछ नहीं देखा था।

"तुम्हे स्मरण है सुदेष्णे !" वह एक प्रकार की सावधान कोमलता के साथ बोला, "तुम्हें जो खिलौना प्रिय होता था, वह मैं तुम्हें ला देता था, चाहे वह किसी का भी क्यों न हो ?"

सुदेष्णा को स्मरण था, कीचक सचमुच ऐसा ही किया करता था। उसने कभी यह चिंता नहीं की थी कि वह खिलौना किसका था। यदि वह सुदेष्णा को चाहिए था, तो वह सुदेष्णा का ही था। किंतु इस समय उस स्मृति से सुदेष्णा को तनिक भी सुख की अनुभूति नही हुई। क्यों स्मरण करा रहा था, कीचक उसको ऐसी बातें ...

"तुम्हें यह भी स्मरण होगा कि अनेक बार तुम्हारा मन उन उपयोगी वस्तुओ को खिलौना बना कर खेलने को मचल उठता था, जो खिलोने नहीं थे, और मैं किसी भी प्रकार उन वस्तुओ को तुम्हारे लिए उठा लाता था।"

सुदेष्णा का मन भय से काँप उठा : क्या कहना चाहता है कीचक ? उसका संकेत सैरंध्री की ओर ही तो नहीं ?

"सैरंध्री को तुमने अपने श्रृंगार के लिए रखा है; किंतु इतना तो तुम भी समझती ही हो कि वह तुम्हारी अपेक्षा मेरे लिए कहीं अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है। सिद्ध क्या हो सकती है, वह मेरे लिए अधिक काम की चीज है ... तुम्हारा श्रृंगार तो कोई भी सैरंध्री कर देगी, किंतु मेरे जीवन को तो मालिनी ही धन्य कर सकती है।..."

इसी क्षण का सामना करने से रानी डर रही थीं तब से !..

उनके मन में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प जैसे एक साथ ही आकार ग्रहण कर रहे थे।... क्या कीचक को इस प्रकार की माँग करने का कोई नैतिक आधार है ? क्या उन्हें कीचक की बात मान लेनी चाहिए ? उन्होंने सैरंध्री को वचन दिया था कि वे उसे और किसी की सेवा में नहीं भेजेंगी। क्या वे कीचक को मना कर पाएँगी ? यदि वे मना कर भी दे तो कीचक मान जाएगा क्या ? ... यदि सैरंध्री को अपनी इच्छा के विरुद्ध कीचक के पास जाना पड़ा तो वह सुदेष्णा की सेवा के लिए विराटनगर में रुकी रहेगी क्या ?

कीचक का तर्क समझने में रानी को कोई कठिनाई नहीं थी, किंतु इतना तो स्पष्ट था कि कीचक के इस सुख का मूल्य सुदेष्णा को ही देना पड़ेगा। सैरंध्री यहाँ से चली गई, तो सुदेष्णा का यौवन भी उसके साथ ही विदा हो जाएगा।...

"भैया ! आप शायद नहीं जानते कि सैरंध्री विवाहिता है।" सुदेष्णा ने कहा।

कीचक हँसा, "क्या इससे पूर्व संसार में कभी किसी विवाहिता स्त्री का संबंध अपने प्रेमी से नहीं हुआ ?"

"पर यह वैसी स्त्री नहीं है।" सुदेष्णा ने कहा।

"लगता है, तुम पहले ही उससे मेरे विषय में पूछ चुकी हो।"

"नहीं ! मैंने तो नहीं पूछा; किंतु उसने आरंभ में ही अपने विषय में जो कुछ बताया था, यह सब तो उसी से स्पष्ट हो गया था। आपने देखा ही है कि वह अवगुंठनवती है। किसी पुरुष के सम्मुख खुले मुँह नहीं जाना चाहती। बहुत पतिव्रता स्त्री है।"

"वह तो पतिव्रता है; किंतु उसका पति कहाँ है ? कहीं दूर देश में अपनी सखियों के साथ विहार कर रहा है।" कीचक बोला, "मैं ऐसी स्त्रियों को अच्छी तरह जानता हूँ। पति है नहीं और अपना भाव बढ़ाने के लिए सतीत्व का पाखंड कर रही है।"

"और यदि सचमुच उसका पति प्रकट हो गया तो ?"

"तो या तो थोडा धन लेकर विधिवत् उसे मुझे सौंप जाएगा, अथवा मेरे खड्ग की बलि चढ़ जाएगा।"

सहसा सुदेष्णा को महाराज विराट से हुआ अपना वार्तालाप स्मरण हो आया। कीचक को रोकने की यह एक विधि हो सकती थी। संभव है कि वह उसके 'गंधर्वरक्षिता' होने की बात सुन कर डर जाए, अथवा न भी डरे, तो टल जाए। पर...

"आपने तो उसे अभी देखा भी नहीं है भैया !"

"हॉं ! देखने को ही तो तरस रहा हूँ।" कीचक बोला।

"जिसे देखा ही नहीं उसके लिए इतने आतुर क्यो है ?"

"क्योंकि उसके रूप का वर्णन सुन चुका हूँ।" कीचक बोला, "और प्रेम तो गुणश्रवण से भी आरंभ हो जाता है।"

"आपको उससे प्रेम हो गया है ?" सुदेष्णा के स्वर में हल्का-सा कटाक्ष था।

"प्रत्येक व्यक्ति की प्रेम की अपनी अवधारणा होती है।" कीचक हँसा, "कोई अपने स्थान पर बैठ कर किसी को स्मरण कर रोने को प्रेम कहता है; और हम जैसे क्षत्रिय वीर अपने बाहुबल से किसी को प्राप्त कर लेने की इच्छा को प्रेम कहते हैं। अब तुम ही बताओ सुदेष्णे ! किसी स्त्री के लिए अश्रु बहाने की तत्परता प्रेम हो सकती है, तो उसके लिए रक्त बहाने की तत्परता प्रेम क्यों नहीं हो सकती ?"

"वैसे तो त्याग का भाव ही प्रेम है, पर आप जैसे कुछ लोग आधिपत्य के भाव को भी प्रेम कहते हैं।" सुदेष्णा ने कुछ सतर्कता से कहा। वह जानती थी कि कीचक उसकी किसी भी बात से रुष्ट हो कर, अपना संतुलन खो सकता है।

"त्याग तो करूँगा ही।" वह बोला, "जो मॉंगेगी, दूँगा। वह मॉंग कर तो देखे। मैं उसके सम्मुख अपना त्याग-सामर्थ्य प्रमाणित करूँगा।"

सुदेष्णा का भाव कुछ बदल गया, "आप जानते हैं, वह असाधारण सुंदरी है ?"

"जानता न होता, तो इतना आग्रह क्यो करता ?"

"किसने बताया है आपको ?"

सुदेष्णा ने स्पष्ट देखा कि कीचक के अधरों पर किसी का नाम आता-आता रुक गया था। यदि वह समय से ही सावधान न हो गया होता, तो अवश्य ही उस व्यक्ति का नाम उसकी जिह्वा पर आ जाता।

और सहसा ही वह कुछ क्रुद्ध हो उठा, "क्या जानना चाहती हो तुम मुझसे ? जानना चाहती हो कि मैंने तुम्हारे प्रासाद में अपने गूढ पुरुष तो नियुक्त

नहीं कर रखे ?" उसने जैसे सायास स्वयं को संयत किया, "वह भी कर सकता हूँ मैं। सेनापति हूँ इस राज्य का। इसलिए यह मेरा दायित्व है कि राजा और रानी की सुरक्षा का निरीक्षण करता रहूँ। राजप्रासादों में रचे जानेवाले षड्यंत्रों का पता लगाना भी मेरे दायित्वों में सम्मिलित है।"

सुदेष्णा के अधरों पर एक कटु मुस्कान उभरी, किंतु वे कुछ बोलीं नहीं।

"मैं उस सैरंध्री को देखना चाहता हूँ।" कीचक बोला, "उससे बात करना चाहता हूँ।"

"भैया ! आप उस सैरंध्री को क्यों देखना चाहते हैं, क्यों उससे मिलना चाहते हैं—यह, मेरे मन में अभी स्पष्ट नहीं है। कभी आप उससे प्रेम निवेदन करना चाहते हैं, और कभी अपने राजा और रानी की सुरक्षा मे चिंतित हो कर उसकी जन्मकुंडली ही बांचना चाहते हैं ...।"

"दोनों ही बातें हैं।" कीचक निर्लज्जता से बोला।

"मेरी रक्षा की चिंता करते हैं या नहीं, यह मैं नहीं जानती, किंतु मेरा एक अनुरोध है।"

"क्या ?"

"मैंने उसको वचन दिया है कि उसकी इच्छा के विरुद्ध मैं उसे अनावृत मुखमंडल के साथ किसी पुरुष के सम्मुख उपस्थित होने को बाध्य नहीं करूँगी।" सुदेष्णा बोलीं, "क्या आप मुझे अपने वचन की रक्षा भी नहीं करने देंगे ?"

"तुम अपने वचन की रक्षा करो।" कीचक बोला, "किंतु एक वचन मुझे भी दो कि यदि वह स्वेच्छा से मेरे पास आने को सहमत न हुई, तो तुम मुझे उसके पास जाने की अनुमति दे दोगी।"

सुदेष्णा के मन में तत्काल प्रश्न उठा कि यदि वे अनुमति न दें तो क्या कीचक सैरंध्री का पीछा छोड़ देगा ? ... किंतु उन्होंने पूछा नहीं। वे जानती थीं, कि कीचक का उत्तर क्या होगा। ... इस समय वह अनुमति माँग रहा था, किंतु अगले ही क्षण वह आदेश देने पर भी उतर सकता है।...

"ठीक है।" सुदेष्णा ने धीरे से कहा, "एक बार मुझे उससे पूछ कर देख तो लेने दो।"

43

सैरंध्री उद्यान में पुष्प चुन रही थी। रानी की वेणी के लिए वे विशेष आकार और वर्ण के पुष्प चाहती थी। मालिन से कह देती तो पुष्प तो आ जाते; किंतु वे सैरंध्री

की रुचि के नहीं होते। तब मालिन को समझाने के लिए जो श्रम करना पड़ता, वह तो था ही, साथ ही मालिन का रोष भी झेलना पड़ता। उससे तो सरल यही था कि वह अपनी रुचि के पुष्प स्वयं ही चुन लेती।

उसे लगा कि किसी की पद-चाप उसकी दिशा में बढ़ रही थी। किंतु वे पग सहज नहीं थे। बहुत सावधानी से पैरों को दबा कर इस प्रकार चला जा रहा था कि ध्वनि उत्पन्न ही न हो। ऐसे तो चोर ही चलता है, अथवा छिप कर किसी का पीछा करता हुआ, कोई गूढ पुरुष। दिन के इस समय, राजा के उद्यान में, न तो कोई चोर हो सकता है और न ही कोई गूढ पुरुष। तो यह कौन है ?

सैरंध्री ने मुड कर देखा और पहचाना : यह तो राजा का श्यालक कीचक था। उसने तत्काल अपने मुख पर अवगुंठन डाल लिया और कीचक को मार्ग देते हुए, उससे बच कर एक ओर से निकल जाने का प्रयत्न करने लगी।

"ठहरो सुंदरी !" कीचक उसके मार्ग में खडा हो गया था, "इस समय मैं इस उद्यान मे भ्रमण की इच्छा से नहीं आया हूँ। उसके लिए मेरे अपने प्रासाद में उद्यान है, जो राजा के उद्यान से अधिक विशाल तथा अधिक आकर्षक है।"

सैरंध्री कुछ नहीं बोली।

"यह भी नहीं पूछोगी कि तब मैं क्यों आया हूँ ?"

"मेरे पूछने का कोई प्रयोजन नहीं है।" सैरंध्री धीरे से बोली, "न ही उसमें मेरी कोई रुचि है। यह उद्यान मेरा नहीं है कि मैं किसी के प्रवेश का कारण जानना चाहूँ। आपसे मेरा कोई परिचय ही नहीं है कि मैं यह जानना चाहूँ कि आप इस समय यहाँ क्यों आए हैं।"

कीचक प्रयत्नपूर्वक शालीनता से हँसा, "पर तुमको मुझमें रुचि होनी चाहिए; क्योंकि मुझे तुममें बहुत रुचि है। कृपा कर अपना यह अवगुंठन उठा दो। तुम्हें ईश्वर ने इतना सुंदर इसलिए नहीं बनाया है कि तुम अवगुंठन मे छुपी रहो। सौन्दर्य, दर्शन-सुख के लिए होता है सुनयने ! मुझे उस सुख से वंचित मत करो।"

सैरंध्री ने कीचक की बात का कोई उत्तर नहीं दिया; पर सोचती रही कि उससे पूछे कि क्या वह ईश्वर से पूछ कर आया है कि सैरंध्री को इतना सुंदर क्यों बनाया गया है। ...

"मैंने तुम्हारे विषय में बहुत कुछ सुना है।" कीचक बोला, "मैंने सुना है कि तुम दस मास पूर्व यहाँ आई थीं। कहाँ से आई थीं, यह कोई नहीं जानता।... नहीं ! कदाचित् मैं कहना कुछ और चाहता था; किंतु कह कुछ और गया। तुम्हें सामने देख कर शायद मेरा मन और मस्तिष्क सहज नहीं रहते। अपनी

उल्लासमयी उत्तेजना में वे कुछ बौरा से जाते हैं। तो कहना मै यह चाहता था कि जो यह जानता है कि रानी सुदेष्णा के पास एक सैरंध्री रहती है, वह तो यह भी जानता है कि तुम पांडवों की रानी पांचाली की सेवा मे थीं। वे लोग तो अज्ञातवास करने चले गए, किंतु तुम्हारा पति कहॉ चला गया, यह कोई नहीं जानता। तुमने सुदेष्णा को यह बताया है कि तुम्हारा पति किसी संकट के कारण नगर से बाहर गया है और तुम्हारे श्वसुर ने तुम्हें घर से निकाल दिया है। किंतु मेरा इन सारी कथा-कहानियों में कोई विश्वास नहीं है। मैं यह मानता हूॅ कि या तो तुम अपने पति से रुष्ट हो कर चली आई हो या फिर वह ही तुम्हे त्याग गया है।"

सैरंध्री ने अपने पक्ष में कुछ नहीं कहा।

"तुमने कोई उत्तर नहीं दिया सैरंध्री !" कीचक बोला।

"उसकी कोई आवश्यकता नहीं है।" वह बोली, "आप क्या मानते है और क्या नहीं मानते हैं, उसमें मेरी कोई रुचि नहीं है।"

"तुम्हारी रुचि हो या न हो, मुझे तुममें बहुत रुचि है।" कीचक बोला, "मैं मानता हूॅ कि यदि तुम्हारे पति ने किसी कारण से रुष्ट हो कर तुम्हें त्याग दिया है अथवा वह किसी अन्य नारी में आसक्त हो गया है, तो वह जन्म का अभागा है। उसे जाने दो। ऐसा पुरुष इस योग्य नहीं है कि तुम उसकी प्रतीक्षा करो। और यदि तुमने ही उसे त्याग दिया है तो ठीक किया है। वह इसी योग्य था। तुम जैसी सुंदरी से जो सैरंध्री का कार्य करवाता था, वह तो इस योग्य है कि उसे नगरद्वार पर खड़ा कर कशा से मार-मार कर उसकी त्वचा उतार ली जाए। तुम जैसे नारी-रत्न का इतना अपमान !"

सैरंध्री भॉप रही थी कि कीचक अपनी बात को किस दिशा मे ले जाना चाहता है। उसका लक्ष्य भी बहुत स्पष्ट था। किंतु वह उसके मार्ग में अड कर इस प्रकार खड़ा था कि उसकी इच्छा के बिना, वह रानी के मंडप की ओर नहीं बढ़ सकती थी; और विपरीत दिशा में चल कर रानी के मंडप से और भी दूर हो जाना, उसके हित में नहीं था।

"तुम जानती भी हो कि तुम्हारा रूप कैसा है, कितना अनमोल है।"

"हॉ ! प्रतिदिन दर्पण देखती हूॅ।" सैरंध्री की बहुत इच्छा थी कि वह कीचक से पूछे कि क्या उसने भी कभी दर्पण देखा है ? देखा होता, तो उसे ज्ञात होता, कि वह कैसा है। किंतु ऐसा परिहास कर वह कीचक को और अधिक छूट नहीं देना चाहती थी।

"यदि मुझे ज्ञात नहीं होता कि तुम सुदेष्णा की सैरंध्री हो तो मै तो यही मानता कि तुम कोई देवसुंदरी हो और आकाश से उतरकर अभी-अभी आई हो। ऐसा रूप इस पृथ्वी पर तो हो ही नहीं सकता। ..."

सैरध्री ने बडी कठिनाई से अपने मुँह में आया हुआ वाक्य रोका, नहीं तो वह कह देना चाहती थी कि वह भी नहीं जानती थी कि कीचक जैसा गधा भी इस पृथ्वी पर हो सकता है।... पर सत्य यही है कि वह इसी पृथ्वी का जीव है। पाताल में से तो आया नहीं है।

"आप यहाँ बैठ कर शोध करें कि पृथ्वी पर कैसा सौन्दर्य हो सकता है," अततः वह बोली, "और मुझे जाने के लिए थोड़ा मार्ग दे दें, ताकि मैं मंडप में जाकर महारानी की वेणी गूँथ सकूँ।"

"अपना महत्त्व समझो सुंदरी ! कहाँ सैरंध्री बन कर अपना जीवन नष्ट कर रही हो।" कीचक बोला, "तुम जैसी सुंदरी किसी की सैरंध्री बन कर रहे, यह तो सौन्दर्य के प्रति अपराध है। तुम्हें तो राजरानियों के समान रहना चाहिए था। यह निर्धनता, ये कष्ट, यह श्रम—यह सब तुम्हारे लिए नहीं है। मुझे जानती हो ?" सहसा वह रुक गया।

सैरंध्री का मन हुआ कि कहे, हाँ ! वह जानती है कि वह विराटनगर का सबसे बडा बौड़म है। ... किंतु उसने कुछ कहा नहीं।

"मै हूँ कीचक ! संबंध में रानी सुदेष्णा का भाई हूँ, राजा का श्यालक। पद की दृष्टि से विराटनगर का सेनापति हूँ; किंतु सत्य यह है कि इस राज्य का स्वामी मैं ही हूँ। सिंहासन पर राजा बैठते हैं, किंतु वास्तविक सत्ता मेरे हाथों में है। मेरी इच्छा के बिना राजा कुछ भी नहीं कर सकते। मेरा प्रासाद राजा के प्रासाद से बडा है। मेरा उद्यान राजा के उद्यान से बड़ा है। मेरे प्रासाद में राजा के प्रसाद से अधिक सेवक हैं। मैं राजा से अधिक शक्तिशाली और भाग्यशाली हूँ। तुम मुझको स्वीकार कर लो, तो मैं तुम्हें राजरानी बना सकता हूँ।"

सैरंध्री ने तमककर उसकी ओर देखा जैसे कोई बहुत कठोर बात कहनेवाली हो; किंतु उसने स्वयं को सँभाल लिया। बोली, "सेनापति ! मैं बहुत साधारण और बहुत ही हीन प्राणी हूँ। मैं एक सैरंध्री हूँ, जो दूसरों का तो शृंगार करती है, किंतु स्वयं कभी स्वच्छ भी नहीं रह पाती। आप सूतों के उच्च कुल में जन्मे है और मैं साधारण सेवकों के कुल में। आपका मुझमें इस प्रकार रुचि लेना उचित नहीं है।"

"इसीलिए तो कह रहा हूँ कि मुझे स्वीकार कर लो देवि। तुम्हारा पति यदि कोई है, तो वह मेरा पासंग भी नहीं होगा—न रूप में, न यौवन में, न धन में, न बल में, न सत्ता में।"

सैरंध्री ने पहली बार अपना अवगुंठन हटाया और बोली, "संसार में ऐसे अनेक पुरुष हैं, जो धन, रूप और गुण में तुमसे बढ कर हैं। क्या कोई नहीं है ?"

"होंगे !" कीचक अपनी इच्छा के विरुद्ध बोला।

"क्या तुम्हारी पत्नियाँ, तुम्हे त्याग कर उनके पास चली गई ? तुम मात्र सेनापति हो, और विराट राजा हैं, क्या इसलिए तुम्हारी सारी पत्नियों को तुम्हें त्याग कर राजा की शैया पर आरूढ़ नहीं हो जाना चाहिए ?"

"यह कैसा प्रश्न है ?" कीचक बोला, "मुझे छोड़ कर मेरी पत्नी किसी अन्य पुरुष की शैया पर क्यों जाएगी ?"

"तो तुम किसी और की पत्नी को कैसे यह उपदेश दे रहे हो कि वह अपने पति को त्याग तुम्हें स्वीकार कर ले, क्योंकि तुम उसे कुछ अधिक सांसारिक सुख देने में समर्थ हो। आर्य सेनापति ! संसार बल अथवा सत्ता से नहीं चलता है। यह धर्म से चलता है और नारी का नहीं पुरुष का भी धर्म यही है कि वह अपनी ही स्त्री के प्रति निष्ठवान रहे। मेरे पति जैसे भी हैं, मैं उनके प्रति निष्ठावान हूँ। तुम भी अपनी ही पत्नियों में मन लगाओ। परस्त्रीगामी लंपट पुरुष स्वयं को बहुत बुद्धिमान समझता है, किंतु उतना ही बुद्धिमान वह दस्यु भी स्वयं को समझता है, जो दूसरों का धन लूटता है।..."

"तुम मुझे जानती नहीं हो सैरंध्री ! विराटनगर में ऐसी कोई स्त्री नहीं है, जिसे मैं बुलाऊँ और वह जीवन का भोग भोगने के लिए मेरी शैया पर आ न जाए।"

"इसका अर्थ यह नहीं है कि तुममें कोई ऐसी मोहिनी है," सैरंध्री बोली, "इसका अर्थ मात्र इतना है कि विराटनगर में कोई सती नारी नहीं है।"

"नहीं !" कीचक का स्वर ऊँचा हो गया, "इसका अर्थ यह है कि मेरी इच्छा के विरुद्ध विराटनगर में कोई रह नहीं सकता। मुझे रुष्ट कर तुम भी विराटनगर में रह नहीं पाओगी।"

"और तुम्हें प्रसन्न कर मुझे विराटनगर में रहना भी नहीं है। यदि राजा मेरी रक्षा नहीं कर सकते, तो मैं उनकी प्रजा बनना भी नहीं चाहती। मैं कल ही यहाँ से चली जाऊँगी।"

"ऐसे जा भी नहीं पाओगी।" कीचक हँसा, "यदि स्वेच्छा से मुझे स्वीकार नहीं करोगी, तो मैं बलप्रयोग भी कर सकता हूँ। और शायद तुम जानती नहीं हो, कि कीचक के बल का प्रतिकार जो कर पाए, ऐसा पुरुष इस धरती पर जन्मा नहीं है।"

सैरंध्री का मन हुआ कि खिलखिलाकर हँस पड़े। यह मूढ़ टीलों को ही पर्वत समझे बैठा है। वास्तविक पर्वत तो उसने कोई देखा ही नहीं है।

"मेरे पति यहाँ नहीं हैं।" वह बोली, "किंतु उनके पाँच-पाँच बलिष्ठ गंधर्व मित्र, अदृश्य रह कर, हर क्षण मेरी रक्षा करते रहते हैं। यदि तुम मुझे बलात् प्राप्त करना चाहोगे, तो उसी रात्रि को तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी।"

कीचक हँस पडा, "पाँच नहीं, पाँच सहस्र गंधर्वों को मैं अकेला ही चीर कर चील कौओं को खिला दूँगा। ये कपोल कल्पित कथाएँ मुझे मूर्ख नहीं बना सकतीं सैरंध्री ! कीचक की कोई भी कामना आज तक अफलित नहीं रही। ... बोलो ! कब आओगी मेरे पास ? मैं तुम्हे स्वर्ण के आभूषणों से लाद दूँगा। ऐसे मूल्यवान वस्त्र दूँगा, जो सुदेष्णा तो क्या द्रौपदी और सत्यभामा ने भी कभी नहीं पहने होगे। कहो तो यह सारा राज्य तुम्हारे चरणों पर डाल दूं। यहाँ ऐसा कुछ नहीं है, जो कीचक तुमको न दे सकता हो। तुम तो बस मुझे स्वीकार कर लो और सिंहासन पर बैठ कर मुझे आदेश देती चलो... ।"

सैरंध्री समझ रही थी कि कीचक ऐसा व्यक्ति नहीं था, जिसे-समझाया अथवा भयभीत किया जा सके। वह तो अपनी बात मनवाए बिना टलेगा नहीं; और सैरंध्री अनन्तकाल तक उससे विवाद करती अथवा उसकी युक्तियों का निराकरण करती यहाँ खडी नहीं रह सकती। उसे उससे मुक्ति पाने की कोई युक्ति तो निकालनी ही पडेगी। ...

सैरंध्री ने पुष्प तोड़ने के लिए, उस दिशा में हाथ बढ़ाया, जिधर कीचक खडा था, किंतु कीचक अपने स्थान से तिल भर भी नहीं हटा।

सैरंध्री मुस्कराई, "एक पुष्प तक तो लेने नहीं दे रहे, सारा राज्य कहाँ से लेने दोगे सेनापति महोदय !"

कीचक खिसिया कर एक ओर हट गया।

"तुम सारा उद्यान लो देवि ! किंतु साथ में कीचक के रूप में उसके उद्यानपाल को भी तो स्वीकार करो।"

"यह निर्णय कौन करेगा कि कीचक उद्यान का माली है अथवा इन पुष्पों को प्राप्त करनेवाली अंगुलियों में चुभ जानेवाला काँटा ?" सैरंध्री बोली।

"ऐसे तर्क देती हो, जिनके सम्मुख न्यायशास्त्र के पंडित हार जाएँ, ऐसी उपमाएँ देती हो जिनके सामने महान् से महान् कवि पानी भरें; और फिर हठ पकड कर बैठी हो कि यह अनमोल जीवन एक सैरंध्री के रूप में ही व्यतीत करोगी। सैरंध्री ! तुम इससे बहुत अधिक की अधिकारिणी हो। प्रभु ने मुझे तुम्हारा सौभाग्य बना कर भेजा है, मुझे अस्वीकार कर प्रभु की इच्छा का विरोध मत करो।"

सैरंध्री एक-एक पुष्प तोड़ती, पग-पग करती, मंडप के निकट पहुँच चुकी थी। यहाँ से रानी का कक्ष भी दूर नहीं था।

"ईश्वर ने एक व्यभिचारी लंपट को यदि मेरा सौभाग्य बनाया है तो मैं प्रभु की इच्छा का भी विरोध करती हूँ।"

जब तक कीचक कुछ समझता और सँभलता, सैरंध्री त्वरित वेग से मंडप में प्रवेश कर चुकी थी।

पुष्पों को एक अन्य परिचारिका को सौंप कर सैरंध्री तत्काल वहाँ से निकल गई। वह जानती थी कि कीचक उसके पीछे-पीछे आएगा और संभव है कि वह मर्यादा का उल्लंघन करने का भी प्रयत्न करे। यह तो स्पष्ट ही था कि उसे किसी का भी कोई भय नहीं था। ऐसे में कोई अनहोनी भी घट सकती थी। अच्छा था कि सैरंध्री इस समय सबकी दृष्टि से ओझल हो कर कहीं किसी एकांत कोने मे छिप कर बैठी रहे। संभव है कि कीचक से निबटने का कोई सुरक्षित मार्ग सूझ जाए।

उसके पगों की गति जैसे-जैसे बढ़ती जा रही थी, वैसे ही उसका मस्तिष्क भी दौड़ता जा रहा था। अंततः उसके पग भवन के उस खंड की ओर मुड़ गए, जहाँ उत्तरा संगीत और नृत्य की शिक्षा ग्रहण करती थी और अभ्यास किया करती थी। बृहन्नला भी वहीं होगा। किसी आततायी पुरुष से बचने का सबसे सुरक्षित स्थान वैसे तो बल्लव के निकट ही हो सकता है; किंतु बल्लव के पास तो तभी जाना चाहिए, जब बल प्रयोग की आवश्यकता आ पड़े। वैसे भी संभव है, बल्लव पाकशाला की सामग्री एकत्रित करने जैसे किसी कार्य में लगा हो और अपने स्थान पर उपस्थित न मिले। बृहन्नला अपने स्थान पर होगा और कीचक के वहाँ आने की संभावना भी कम.है। बल्लव का स्थान तो अनेक कारणों से सार्वजनिक स्थान बन जाता है। बृहन्नला का स्थान एकांत साधना का स्थान है।

"कहाँ जा रही हो सखि !"

सैरंध्री ने देखा : धानुका कदाचित् उत्तरा के मंडप से ही लौट रही थी।

"राजकुमारी से कुछ काम है।"

"राजकुमारी से क्या काम होगा तुमको ?" धानुका बोली, "उनका केशविन्यास तो तुम करतीं नहीं। वस्तुतः तुम्हें बृहन्नला से काम होगा।" वह हँसी और फिर अपना स्वर दबा कर धीरे से बोली, "देख रही हूँ, तुम्हें कोई पुरुष तो भाता नहीं, पर वह नपुंसक भा गया है। हाँ। ठीक भी है। पुरुष का क्या भरोसा। बृहन्नला से किसी प्रकार का कोई संकट तो नहीं है न, तुम्हारे नारीत्व को। कोई लांछन नहीं। कोई अपवाद नहीं। ..."

"अब बोलती ही जाएगी कि किसी की सुनेगी भी।" सैरंध्री ने उसे डाँटा।

"बोल ! क्या कहती है। तुझे बृहन्नला से प्रेम हो गया है।"

"उससे ही प्रेम करना होगा, तो तुझसे न कर लूँगी।" सैरंध्री बोली, "कला पारखी है बृहन्नला ! कुछ नृत्य मुद्राओं में विशेष प्रकार का केशश्रृंगार किया जाता है, उनका ज्ञान तो बृहन्नला को ही है, तुझे होता तो तेरे पास पूछने आती।"

"जा-जा ! जानती हूँ मैं कि कौन-सा केशविन्यास सीखने जा रही है।

अपने निकट बैठा कर तेरे केश सँवारेगी बृहन्नला।" धानुका हँसती हुई चली गई।

उत्तरा के मंडप के निकट आते ही सैरंध्री के श्रवणों से संगीत लहरियाँ टकराने लगीं। कैसा शांतिदायक स्वर था। यह स्वर उत्तरा का नहीं था। इस समय तो स्वयं बृहन्नला ही गा रही थी। उत्तरा तथा उसकी सखियाँ शांति से बैठी सुन रही थीं। सैरंध्री ने बृहन्नला को गाते हुए पहले भी सुना था, जब वह द्रौपदी थी और वह अर्जुन था। उसे वह किन्नर कंठ कहा करती थी; किंतु अर्जुन का स्वर उसे इतना मनोहारी तो कभी नहीं लगा था। न ही पहले कभी वह इतना तन्मय हो कर गाया करता था। कितना भी मग्न हो कर गाए, ध्यान तो बहिर्मुखी ही रहता था। सामने बैठे व्यक्ति की ओर देखता तो था कि वह उसकी कला पर रीझ रहा है अथवा नहीं। अब तो जैसे वह किसी और के लिए गाता ही नहीं था। बस वह था और उसका संगीत। अपनी आत्मा में बैठे परमात्मा को रिझाता था और उसी के लिए गाता था। उसका इतना अंतर्मुखी होना कभी-कभी द्रौपदी को डरा जाता था। आज उसके स्वर में सात्विकता भी कुछ अधिक ही थी। ... लगता था, इधर अर्जुन का गायन का अभ्यास बहुत बढ़ गया था। उसने इन दस महीनों में संसार से किनारा कर, केवल संगीत की ही साधना की थी। सांसारिक गीत कभी नहीं गाता था वह। अधिकांशतः वह सारा भक्ति संगीत ही होता था। कदाचित् वह संगीत के मार्ग से भक्ति की चढ़ाई ही चढ़ रहा था। मानों संगीत के माध्यम से समाधि मे चला जाता हो। ऐसे वातावरण में कोई उच्छृंखल विचार भी उसके पास नहीं फटक सकता था।

सैरंध्री एक कोने में चुपचाप बैठ गई। उसने देखा, सारी लड़कियों के नेत्र मुँदे हुए थे। किसी ने शायद उसे आते हुए भी नहीं देखा था।...कैसी शांति थी यहाँ। उसने सोचा। कैसे सुख में था अर्जुन। द्रौपदी ने भी अपने लिए ऐसा ही कोई कार्य क्यों नही ढूँढ़ा। गुरु के सम्मान और मर्यादा से सुरक्षित कहीं बैठी होती। ... पर अर्जुन ने नपुंसक का रूप धारण किया है। वह अंगीकार कर सकती नपुंसक का रूप? बृहन्नला के आस-पास का प्रत्येक बालक भी उसे पहली बार देख कर व्यंग्य से मुस्कराता है। इस नपुंसकत्व के कारण वह प्रत्येक व्यक्ति के उपहास का पात्र है। उसका आहत पौरुष क्या कभी फुफकारता नहीं होगा ? वह स्वयं को अपमानित अनुभव नहीं करता होगा ? कदाचित् अर्जुन ने अपने अहंकार को ही जीत लिया है। मान और अपमान उसके लिए कुछ अर्थ नहीं रखता। महावीर, महान् धनुर्धर महारथी अर्जुन यहाँ बैठा इन राजकुमारियों को संगीत सिखा रहा है। ... उसने इस स्थिति को भी कैसी शांति से स्वीकार कर लिया है। इसे वह एक अवसर मान कर, साधना कर रहा है। अपने चरित्र को और अधिक सात्विक बना

रहा है। इतना संयम कि सुंदरी युवतियों द्वारा कामपरीक्षण करने पर भी उसमें काम उद्दीप्त नहीं हुआ। उन्होंने प्रमाणित किया कि वह षंड है, उसमें पुंसत्व है ही नहीं। ...अर्जुन ने एक कला सीखी थी, और द्रौपदी ने दूसरी। कलाएँ तो दोनों ही हैं; किंतु एक का संबंध शरीर से है और दूसरी का आत्मा से। इसलिए असाधारण सुंदरी नारी हो कर भी वह रानी के केशों को सँवारती है। प्रसाधन सामग्री की गंध में डूबी रहती है; और दूसरी ओर अपनी कला से अर्जुन सांसारिक रूप में गुरु का सम्मान पा रहा है और आध्यात्मिक दृष्टि से साधना के सोपान चढ़ रहा है। अभागी द्रौपदी ! तू ने शरीर का सौन्दर्य क्यों देखा ? आत्मा के सौन्दर्य की ओर तेरा ध्यान क्यों नहीं गया ?

शनैः-शनैः द्रौपदी स्वयं को भूलती चली गई। उसे यह भी ध्यान नहीं रहा कि वह कहाँ है। वह यहाँ क्यों आई है। उसे तो यही लगा कि किसी ने उसके मन को पहले अपने कोमल स्पर्श से शांत किया। उसका सारा ताप हरण किया। फिर जैसे उसके मल को मल-मल कर निकाल दिया। कैसा निर्दोष और सात्विक हो गया था उसका मन, जो सबकी पीड़ा हर लेना चाहता था। सबको क्षमा कर देना चाहता था। सांसारिक कार्य-व्यापार, सांसारिक उपलब्धियाँ, सांसारिक सुख, कैसे तो मलिन से लगने लगे थे। वह कैसे स्वच्छ संसार में पहुँच गई थी, जहाँ कोई कामना नहीं थी, कोई इच्छा नहीं थी। कैसी शांति और कैसा संतोष था। ...

बृहन्नला ने अपना गायन पूर्ण किया। उसका स्वर थम गया और उसने वीणा एक ओर रख दी।

सामूहिक रूप से जैसे सबका ध्यान भंग हो गया। आँखें खुलीं। अधरों पर मुस्कान थी। नेत्रों में प्रशंसा का भाव था। एक बहुत ही कलात्मक, सात्विक तथा अलौकिक अनुभव में सम्मिलित होने का भाव था।

उत्तरा ने अपने स्थान से उठ कर बृहन्नला के चरण छू उसे प्रणाम किया, "आप धन्य हैं गुरुदेवी ! आपका संगीत क्या है, योग है, भक्ति है। आप अपनी कला से सारे श्रोताओं को सदेह स्वर्ग में पहुँचा देती हैं। ... और मैं धन्य हूँ गुरुदेवी कि मैंने अनायास ही आप जैसी गुरु पाई। ... मैं कामना करती हूँ कि ईश्वर मेरा सब कुछ ले ले और आपकी इस कला का एक अंश मुझे भी दे दे।"

बृहन्नला हँसी, "धैर्य रखो राजकुमारी ! साधना से सब कुछ मिलता है। प्रभु बहुत ही दयालु हैं, उससे भी अधिक, जितने की कि हम कल्पना कर सकते हैं। वे मनुष्य को वह सब कुछ देते हैं—जिसकी वह कामना करता है, जिसके लिए वह श्रम करता है, जिसको पाने की उसमें योग्यता होती है।"

"गुरुदेवी ! आपने तो कुछ विरोधी बातें एक साथ कह दीं।" कीचक की पुत्री सुचरिता ने कहा, "आप कहते हैं कि प्रभु वह सब देते हैं, जिसकी कि हम

कामना करते हैं। मैं आपके समान संगीत विद्या की कामना करती हूँ। फिर आप कहते है कि ईश्वर वह सब कुछ देता है, जिसकी हममें योग्यता होती है। मुझमें आपके समान योग्यता नहीं है। तो फिर मेरी कामना पूर्ण कैसे होगी। प्रभु हमको वह देंगे, जिसकी हम कामना कर रहे है, अथवा वह देंगे, जिसकी हममें योग्यता है।"

बृहन्नला बहुत मधुर ढंग से हँसी, "तुम्हारी कामना के कारण वे तुम्हें योग्यता देगे, और फिर उस योग्यता के कारण क्षमता देंगे।"

"केवल कामना करने मात्र से हममें वह योग्यता उत्पन्न हो जाएगी ?" उत्तरा ने पूछा।

"नही पुत्री !" बृहन्नला के स्वर में अद्‌भुत वात्सल्य था, "भाव अथवा विचार को कर्म में परिणत करना पड़ता है। मन और शरीर को एकतान करना पड़ता है। तुम कामना करती हो, अतः वैसे कर्म भी करती हो, जिससे वह कामना पूर्ण हो सके। तुम संगीत का धन पाना चाहती हो, इसलिए वीणा लेकर माँ सरस्वती के सम्मुख बैठ प्रहर, दो प्रहर साधना भी तो करती हो। मुझमें ऐसा कुछ नहीं है, जो तुम प्राप्त न कर सको। अथवा इच्छा होने पर कोई और न कर सके; किंतु उसके लिए कुछ बातें मन में पहले स्पष्ट कर लेनी चाहिए।"

"क्या बातें गुरुदेवी !"

"किसकी कामना करती हो उत्तरे ! संगीत की अथवा शांति की ? गायन की अथवा समाधि की ? राजसभा में प्रशंसा की अथवा एकांत में शांति की ? उत्कृष्ट स्वर की अथवा धन की ? संगीत की अथवा जो कुछ संगीत से उपलब्ध होता है, उसकी ?"

"इसमें अंतर क्या है गुरुदेवी ? यदि संगीत होगा तो प्रशंसा भी मिलेगी, यश भी मिलेगा।"

"नहीं पुत्री ! यह बात आरंभ में ही स्पष्ट हो जानी चाहिए कि तुम्हारा लक्ष्य संगीत है अथवा संगीत से प्राप्त होनेवाले पदार्थ अथवा उपलब्धियाँ।" बृहन्नला ने कहा, "इसी स्थल से मार्ग पृथक् हो जाते हैं। कलाओं से सब कुछ प्राप्त हो सकता है। यश भी, धन भी, काम भी। अब यदि किसी को काम मिले और वह काम को पकड़ कर बैठ जाए, कला को त्याग दे, तो उसकी कला की यात्रा वहीं समाप्त हो जाती है। यही बात यश और धन को लेकर भी है। यदि साधक मार्ग में मिला सब कुछ ईश्वर को समर्पित कर आगे बढ़ता चले तो अंत में वह कला उसे अपने शुद्ध रूप में प्राप्त हो जाती है, जो ईश्वर का ही एक रूप है। नृत्य से महादेव शिव स्वयं मिल जाते हैं। संगीत से माँ वीणापाणि स्वयं साक्षात् प्रकट हो जाती हैं, किंतु उसके लिए आवश्यक है कि साधक मार्ग की बाधाओं पर ही मुग्ध हो कर मार्ग में न बैठ जाए।"

"कौन-सी बाधाएँ गुरुदेव !" सुचरिता ने पूछा।

"जिन्हें हम सामान्यतः उनकी उपलब्धियाँ मानते हैं।" बृहन्नला ने उत्तर दिया, "अध्यात्म साधना में थोड़ी दूर चलने पर साधक को कुछ सिद्धियाँ प्राप्त होने लगती हैं। यदि साधक उनसे ही संतुष्ट हो कर उनमें रम जाए, तो उसका विकास नहीं होता। किंतु यदि वह उन सिद्धियों का तिरस्कार कर आगे बढ़ता चले तो अंत में उसे ईश्वर की प्राप्ति होती है। वैसे ही कला की साधना में भी कुछ चमत्कार, कुछ उपलब्धियाँ, कुछ पुरस्कार, प्राप्त होने लगते है। ये कला की सिद्धियाँ हैं, अतः विकास के मार्ग की बाधाएँ हैं। हमें उनको पार करना होता है। यदि हम उन्हें पार करते चलते हैं तो अंततः हमें ईश्वर की प्राप्ति होती है। ईश्वर कला रूप भी है पुत्री ! वह रस रूप भी है।"

"मैं आपकी बात समझ रही हूँ गुरुवर ! किंतु मेरे लिए यह सब बहुत अमूर्त है। बहुत स्पष्ट नहीं है।"

"स्पष्ट भी हो जाएगा पुत्री ! और मूर्त भी।" बृहन्नला ने कहा, "एक बात और समझ लो। किसी भी गंतव्य तक पहुँचने के अनेक मार्ग होते हैं; किंतु प्रत्येक मार्ग स्वच्छ और पवित्र नहीं होता। सात्विक, स्वच्छ तथा पवित्र मार्ग कष्टसाध्य भी होता है और सुदीर्घ भी; किंतु यात्रा सदा उसी मार्ग से करनी चाहिए। कला की साधना करनी है, तो अपनी आत्मा को कलुषित मत होने दो। मन को सदा स्वच्छ करते रहो। मन सात्विक नहीं होगा, तो कला से भी सांसारिक भोग ही मिलेगा; ईश्वर कदापि नहीं मिलेगा। अतः कला की साधना अपने चरित्र की भी साधना है। इसे कभी मत भूलना।" स्वर को शुद्ध करो, तो मन को भी शुद्ध करो, तन को भी शुद्ध करो, आत्मा को भी शुद्ध करो, चरित्र को भी शुद्ध करो।"

बृहन्नला ने स्वयं को झटक कर जैसे आत्मलीनता से मुक्त किया और वह कुछ बहिर्मुखी हुई, "अब तुम लोग अपने-अपने वाद्ययंत्र लो और मंडप में उपयुक्त स्थान खोज कर बैठ, अपना अभ्यास करो। हमारे सौभाग्य से सखी मालिनी यहाँ आई है। मैं थोडी देर अपनी इस सखी से कुछ चर्चा कर लूं।"

लडकियाँ उठ कर अलग-अलग स्थानों पर जा बैठीं। बृहन्नला तथा सैरंध्री उन सारी राजकुमारियों को देख सकते थे। वे भी उनको देख सकती थीं। किंतु इतनी दूरी तो उनमें थी ही कि वे उनका वार्तालाप न सुन सकें।

"हाँ सखि ! बोलो, इस समय कैसे आना हुआ ? कुछ व्याकुल सी लग रही हो।"

"पहले बताओ कि यदि कीचक यहाँ आ जाए, और बल प्रयोग करना चाहे, तो क्या तुम मेरी रक्षा कर सकते हो ?"

"कर सकती हूँ।" बृहन्नला ने कहा।

सैरंध्री को झटका लगा : यह सहसा स्त्रीलिंग शब्द रूपों का प्रयोग ?

किंतु तत्काल ही वह समझ भी गई, यदि यह मजबूरी न होती तो बृहन्नला ने स्त्रियों के समान साड़ी धारण न कर रखी होती। स्त्रियों के समान वेणी न बनाई होती। ...

"कैसे ?"

"तुम रंच मात्र भी चिंता मत करो।" बृहन्नला ने सर्वथा शांत स्वर में कहा, "तुम जानती हो कि यह सुचरिता, कीचक की पुत्री है। पति अपनी पत्नी के सम्मुख भी अपनी लंपटता प्रकट कर सकता है; किंतु अपनी पुत्री के सम्मुख वह अपना यह रूप नहीं आने देगा। इसलिए वह यहाँ नहीं आएगा। और यदि आ ही गया, तो तुम्हारी यह बृहन्नला, उस क्लीव कीचक से दुर्बल नहीं है। मैं किसी भी स्त्री के सम्मान की रक्षा के लिए आततायी पुरुष के विरुद्ध बल प्रयोग कर सकती हूँ। यह मेरा गुरुकुल है। पवित्र स्थान है। यहाँ व्यभिचारी लंपटो की वासनापूर्ति का कोई अवकाश नहीं है। ..."

"पर अर्जुन ! तुम्हारे पास तुम्हारा गांडीव नहीं है।" सैरंध्री ने कहा।

बृहन्नला ने इधर-उधर देखा : किसी ने सैरंध्री के मुख से निकला वह संबोधन तो नहीं सुना ? ... नहीं आस-पास कोई नहीं था। वैसे भी वहाँ वाद्ययंत्रों के स्वर इस प्रकार गूँज रहे थे कि किसी का उनके मध्य होनेवाली चर्चा को सुन पाना संभव नहीं था।

"गांडीव नहीं है तो क्या हुआ। भुजाएँ तो हैं। मैं इन्हीं हाथों से उस कीचक के हाथों से शस्त्र छीन ही नहीं सकती, उसकी भुजाएँ मरोड़ भी सकती हूँ।" बृहन्नला ने कहा, "तुम बताओ कि हुआ क्या है ?"

सैरंध्री ने कीचक से हुआ सारा वार्तालाप दोहरा दिया।

"वह तुमसे याचना ही तो कर रहा है।" बृहन्नला ने कहा, "इसमें बल-प्रयोग की बात कहाँ से आ गई ?"

"किंतु वह बलप्रयोग कर तो सकता है। उसने धमकी तो दी ही है।" सैरंध्री बोली, "वह मेरे पति के अज्ञात गंधर्व मित्रों से नहीं डरता। वह राजा के न्याय और राजशक्ति से नहीं डरता। यह सब बलप्रयोग की धमकी ही तो है।"

"धमकी ही है। धमकी देने के लिए साहस की आवश्यकता नहीं होती; किंतु बलप्रयोग के लिए साहस और सामर्थ्य की भी आवश्यकता होती है। कीचक में वे दोनों ही नहीं हैं।" बृहन्नला बोली, "कभी ऐसा अवसर आने की संभावना दीखे, तो भाग कर मेरे पास आ जाना। कंक के पास राजसभा अथवा ऐसे किसी स्थान पर चली जाना। बल्लव के पास पाकशाला में चली जाना। यदि वह तुम्हारे पीछे आया और बलप्रयोग करने का इच्छुक दिखाई दिया तो हममें से कोई भी उसकी भुजा थाम कर उसे दो-चार लातें जमा देगा।"

"तब तुम लोगों के पहचाने जाने तथा मुझसे संबंध का भेद खुल जाने का भय नहीं होगा ?" सैरंध्री बोली।

"क्यों किसी के सम्मुख एक अबला असहाय स्त्री पर अत्याचार हो रहा हो, तो किसी भी भले मानस का काम है कि वह उस स्त्री की रक्षा करे, चाहे वह स्त्री और वह पुरुष कोई भी हों।" बृहन्नला ने कहा, "हॉं ! ऐसा कुछ न हो कि हमारा संबंध उजागर हो जाए, नहीं तो यह प्रश्न उठेगा कि हम इस प्रकार छुप कर क्यों रह रहे हैं और तब हमारे पहचान लिए जाने का संकट उठ खड़ा होगा। जब तक कीचक यहाँ नहीं था, तब तक तो मैं यह भी सोचती थी कि भेद खुलने की संभावना देख, हम विराटराज को अपना रहस्य बता भी सकते हैं और उनसे अनुमति लेकर अन्यत्र जा भी सकते हैं। वे हमारे शत्रु नहीं हैं कि दुर्योधन को बुलाकर हमें उसे समर्पित कर दें। किंतु इस कीचक के आ जाने से तो यह संकट भी खड़ा हो गया है। उसे संदेह हुआ कि उसने दुर्योधन को सूचना भिजवाई।"

"ठीक कह रही हो हले !" सैरंध्री ने कहा, "किंतु अब मैं क्या करूँ। मुझे तो अकेले रहने में भी संकट दिखाई दे रहा है।"

"यह तुम कह रही हो सखि मालिनी !" बृहन्नला ने जैसे उसे सांत्वना दी, "एक साधारण लंपट की गीदड़ भभकियों से ऐसी घबरा गई। यदि वह तुम्हारे डेरे में घुसने का प्रयत्न करे, तो जो कुछ हाथ में आए, उससे उसका सिर फोड़ देना। उस पर घातक प्रहार करना। भयभीत होने का कोई कारण नहीं है। एक स्त्री को अपने सतीत्व की रक्षा के लिए हिंस्र होने का पूरा अधिकार है। उसके पश्चात् हम उसे देख लेंगे। यदि उसका भी अवसर न मिले, तो उसे प्रेमशास्त्र पढ़ाने लगना कि स्त्री जब स्वेच्छा से आत्मसमर्पण करती है, तो उस संभोग का सुख अलौकिक होता है। और उसे किसी समय किसी स्थान विशेष पर बुला लेना। वह अवश्य ही मान जाएगा। तुम्हारा रूप क्या किसी मदांध लंपट को इतनी देर भी बहका नहीं सकेगा ? अवश्य कर पाएगा। फिर हम उससे निबट लेंगे।"

सैरंध्री को लगा, सचमुच विचलित होने का कोई कारण नहीं है। बृहन्नला ने प्रायः सब प्रकार की परिस्थितियों का कोई न कोई समाधान उसे बता ही दिया है। ...

"अच्छा चलती हूँ। ऐसा न हो कि उधर रानी मेरी ढूँढ़ मचा दें।"

"जाओ ! भगवान तुम्हारी रक्षा करेंगे।" बृहन्नला ने कहा, "ऐसा हो नहीं सकता कि तुम जैसी सती के तेज का उल्लंघन कर कोई लंपट तुम्हारा अपमान कर जाए। दुर्योधन, दुःशासन और कर्ण नहीं कर पाए, तो कीचक में ही ऐसी क्या विशेषता है। यदि सचमुच ऐसा संकट आ गया तो स्वयं भगवान को तुम्हारी

रक्षा के लिए वहाँ प्रकट होना पड़ेगा।"

सैरंध्री को लगा, बृहन्नला के स्वर में कोई दिव्य तत्त्व भासमान हो रहा है।

44

कीचक ने सैरंध्री का पीछा करने की आवश्यकता नहीं समझी। उसने अपना मंतव्य तो उस तक पहुँचा ही दिया था। अब शेष काम के लिए कुछ समय तो लगेगा ही। इस समय सैरंध्री को खोजने का कोई लाभ नहीं था। उचित था कि सुदेष्णा को भी तो उसका दायित्व समझा दिया जाए।

सुदेष्णा जानती थी कि कीचक कहाँ गया था और क्या करने गया था। उसने उसकी ओर देखा। कहा कुछ भी नहीं।

"अभी तो वह कुछ सुन ही नहीं रही।"

"मैंने आपको पहले ही कहा था कि वह वैसी स्त्री नहीं है।" सुदेष्णा ने उत्तर दिया।

"ऐसी स्त्री और वैसी स्त्री क्या होती है।" कीचक सुदेष्णा की नासमझी का उपहास करता सा बोला, "मैं तो एक ही बात जानता हूँ कि मुझे वह स्त्री चाहिए, चाहे वह जैसी भी हो। और तुम जानती हो कि जो कुछ मुझे चाहिए, उसे मैं देर-सवेर से प्राप्त कर ही लेता हूँ।"

"तो क्या करेंगे—उसे उठा कर ले जाएँगे ?" सुदेष्णा भी कुछ तीखी पड़ी।

"आवश्यकता हुई, तो वह भी करूँगा। उसमें ऐसी कौन-सी अनहोनी है। क्षत्रियो में कन्या-हरण नहीं होता क्या ?" कीचक बोला, "बात तो उसे मेरी माननी ही पड़ेगी।"

"क्षत्रियों में कन्या-हरण होता है, किसी अन्य की भार्या का हरण नहीं होता। विवाहिता का हरण किया था रावण ने और उसके लिए उसे अपने प्राण देने पड़े। इधर प्रयत्न किया था उस मूर्ख जयद्रथ ने। उसे भी उसका फल भोगना पडा। अब आप भी प्रयत्न करके देख लें। अदृश्य रह कर उसकी रक्षा करनेवाले उन गंधर्वो के विषय में भी थोड़ा सोच लें।"

"ऐसी कपोल-कल्पनाओं से कीचक भयभीत होने लगा, तो कर ली उसने अपने मन की। एक तो उन गंधर्वो का कोई अस्तित्व नहीं है; और यदि सत्य ही वे सैरंध्री के रक्षक हैं, तो उन्हें भी अपने प्राण देने पडेंगे। मणि की रक्षा करनेवाले सर्प को मार कर ही तो मणि प्राप्त की जाती है। तुम चाहे उसे साधारण सैरंध्री

समझती रहो सुदेष्णे ! किंतु मेरी दृष्टि में सैरंध्री एक अमूल्य मणि है। मैं उसका त्याग इसलिए तो नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी रक्षा एक सर्प कर रहा है।"

"मैंने भी उसकी रक्षा का वचन दे रखा है। और मैं सर्प नहीं हूँ। ..."

कीचक ठठा कर हँस पड़ा, "मेरी नन्हीं-सी बहन भी उसकी रक्षा करना चाहती है; किंतु किससे रक्षा करोगी उसकी और किसके बल पर करोगी ?" उसने रुक कर सुदेष्णा की ओर देखा, "तुम्हारी रक्षा तो मैं करता हूँ सुदेष्णे ! और तुमने उसे रक्षा का वचन दिया है, तो मेरे ही बल पर दिया होगा। अब कहीं तुम यह तो नहीं सोच रहीं कि अपने अंगरक्षकों को आदेश दोगी कि वे मेरे सैनिकों को मार कर मत्स्यभूमि से बाहर निकाल दें, अथवा उन्हें बंदी कर लें, अथवा उनका वध कर दें ?"

सुदेष्णा समझ रही थी कि कीचक के सम्मुख वह कितनी असहाय थी। अब तक तो वह भाई के रूप में, बहन से अपने स्नेह के आधार पर, बात मनवाने के लिए मनुहार कर रहा था; किंतु सुदेष्णा के व्यवहार में विरोध का हल्का-सा अंकुर देखते ही, उसकी बातों में धमकी की नागफनी उग आई थी।

सुदेष्णा के स्वर में न अधिकार रहा, न वह तेज। बोली, "मैं जानती हूँ कि उसकी इच्छा के विरुद्ध कुछ हुआ, तो वह विराटनगर छोड़ कर चली जाएगी।"

अब कीचक का क्रोध प्रच्छन्न नहीं रहा। वह पर्याप्त मुखर हो उठा था, "इतना सरल नहीं है, कीचक की इच्छा का विरोध। ऐसे ही कैसे विराटनगर छोड़ कर चली जाएगी।"

"तो क्या उसे बंदी बना कर रखेंगे ?"

"क्यों ? बंदी बना कर क्यों नहीं रखा जा सकता। विराटनगर में आज तक क्या किसी को बंदी बना कर नहीं रखा गया ? जहाँ अन्य इतने बंदी हैं, वहीं एक साधारण सैरंध्री क्यों बंदिनी हो कर नहीं रह सकती।" कीचक बोला।

"आरोप क्या लगाएँगे ?"

"आरोप की आवश्यकता तो कारागार में रखने के लिए होती है। मैं उसे अपने प्रासाद में रखूँगा। रानी बना कर रखूँगा। यदि जानने की हठ करेगी तो उस पर आरोप होगा कि उसने कीचक पर मोहिनी डालने का अपराध किया है। उसने कीचक को अपना बंदी बनाया, इसलिए कीचक ने उसे अपनी बंदिनी बना लिया है।" कीचक बोला, "किंतु अभी इस सबका समय नहीं आया है। अभी तो उसे वैसे ही मनाने का प्रयत्न करो।"

"यह सब मेरा काम नहीं है।" सुदेष्णा कुछ रोषपूर्वक बोली, "आप जानते हैं कि मैं आपकी इस जीवन-शैली का समर्थन नहीं करती। राजा ने एक बार सैरंध्री की ओर मुँह किया था तो मैंने बता दिया कि वह विवाहिता है, तो उन्होंने

उसका विचार ही छोड दिया; और एक आप हैं कि कुछ मानते ही नहीं। जिस पुरुष की कामना स्त्री का अपना मन न करे, उस पुरुष को वह क्या सुख देगी।"

"उसका अपना मन भी मेरी कामना करने लगेगा; किंतु पहले वह मेरे विषय में जान तो ले।" कीचक बोला, "तुम जानती नहीं हो कि कुछ स्त्रियाँ मानने में कितना विलंब करती हैं। उन्हें मनाने के लिए श्रम करना पड़ता है। मन में हाँ हाँ का हाहाकार उठता रहेगा तो भी ऊपर से वे न में सिर हिलाती रहेंगी।"

"आपके विषय में क्या जानना शेष रह गया है, उसके लिए? आपने अपने विषय में उसे सब कुछ बता तो दिया ही होगा ?"

"बताया तो है, किंतु अभी उसे मेरा विश्वास नहीं हुआ है।" सहसा कीचक का स्वर मनुहार भरा हो गया, "तुम जानती तो हो मेरी बहना ! वह मुझे नहीं मिली, तो मैं प्राण दे दूँगा। उसके बिना मैं जीवित नहीं रह सकता। केवल तुम्हें डराने के लिए नहीं कह रहा हूँ। सत्य बता रहा हूँ। उसके पश्चात् कर लें विराट राज मत्स्यदेश पर शासन।"

"आप नहीं होंगे, तो राजा शासन नहीं कर पाएँगे ?"

"शासन के लिए आवश्यक है, बल। कहाँ से लाएँगे राजा यह बल !" कीचक,सुदेष्णा के एकदम निकट आकर भेद भरे स्वर में बोला, "नियंत्रित करने के लिए मैं न होऊँ तो ये सारे उपकीचक, राजा के शत्रु हो जाएँगे। राजा के अपने भाई, केवल मेरे भय से चुपचाप बैठे हैं। नहीं तो वे लोग ही राजा से उसका राज्य छीन सकते हैं। ये सब तो भीतरी शत्रु हैं। यदि बाहरी आक्रमणों को रोकने के लिए मैं यहाँ उपस्थित न होऊँ तो मत्स्यदेश पर त्रिगर्त से भी आक्रमण हो सकता है, शाल्व से भी, हस्तिनापुर से भी, और चेदि से भी। कौन बचा लेगा राजा विराट को। एक मैं उपस्थित नहीं होता विराटनगर में, तो राजा को साधारण सैनिकों से भी भय लगने लगता है। ऐसे में वे सेनाओं का सामना कैसे करेंगे ?"

सुदेष्णा स्तब्ध खडी रह गई। कीचक सत्य ही कह रहा था। वह रुष्ट हो गया, तो स्थिति वह नहीं रहेगी, जो कि आज है। अपने सामने खड़ा अपना भाई, आज उसे बकासुर के समान दिखाई देने लगा था। अब तक तो वह समझती थी कि कीचक राजा के विरुद्ध उसका सहायक था; किंतु अब वह स्पष्ट देख सकती थी कि वह किसी का भी सहायक नहीं था। वह केवल अपना सहायक था। समय-समय पर वह बहन के प्रति जो स्नेह प्रदर्शित करता था; वह भी प्रदर्शन मात्र ही था। वास्तविक तो उसका स्वार्थ ही था। वह अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए कठोर भी हो सकता था और क्रूर भी। उसका मार्ग न स्नेह रोक सकता था, न आदर्श; न धर्म, न मर्यादा।

"तो क्या चाहते हैं आप ?"

कीचक मुस्कराया, "अब तुमने समझदारी की बात की है।" वह रुका,

"करने पर आऊँ, तो मैं अभी उसे अपने कंधे पर उठा कर ले जाऊँ; किंतु मैं वह करना नहीं चाहता। उससे धर्मप्राण राजा विराट का शासन कलंकित होगा। इसलिए मैं नहीं चाहता कि मैं सार्वजनिक रूप से ऐसा कोई काम करूँ।"

"तो ?"

"किसी पर्व-त्यौहार के दिन, किसी उत्सव के अवसर पर, किसी बहाने से उसे मेरे प्रासाद में भेज देना। वह वहाँ आएगी, तो मेरा वैभव देखेगी। मेरी क्षमता और शक्ति को पहचानेगी। तब उस एकांत में मैं उसे मना लूँगा। सबके सम्मुख मानने में उसे भी संकोच होगा। एकांत में हम दोनों को ही सुविधा रहेगी।"

"वह न जाना चाहे तो ?"

"यहीं तो तुम्हारी सहायता की आवश्यकता है।" कीचक हँसा, "बस एक बार तुम उसे बाध्य कर दो कि वह मेरे प्रासाद में प्रवेश कर जाए। उसे देहली टपा दो मेरे प्रासाद की। शेष सब मैं कर लूँगा।"

"मैंने उसे, उसकी इच्छा के विरुद्ध भेज दिया और उसने उसके लिए मुझे लांछित किया तो ? यह रानियों का नहीं,कुट्टनियों का काम है।"

"उसके लांछन के उत्तर में तुम कह देना कि तुमने उसे नहीं भेजा। वह स्वयं अपनी इच्छा से ही कीचक के पौरुष की ओर आकृष्ट हो कर उसके प्रासाद में गई थी।"

"ठीक है किसी अवसर पर उसे भेज दूँगी।" सुदेष्णा बोली, "आप अपने प्रासाद में कुछ ऐसा खाद्य अथवा पेय तैयार करवाएँ, जो हमारे यहाँ न बनता हो। मैं उसे वे मँगवाने के बहाने भेज दूंगी।"

"ठीक है। इतना ही पर्याप्त है।"

कीचक चला गया और सुदेष्णा अपने स्थान पर बैठी रह गई। ... कीचक ने धमकी दी थी कि वह सैरंध्री को बंदिनी बना कर रखेगा; किंतु क्या सुदेष्णा भी उसकी बंदिनी नहीं थी ? स्थान की दृष्टि से वह बंदिनी न भी हो तो क्या, वह उसकी इच्छा की बंदिनी तो थी ही। ...

सैरंध्री को सुदेष्णा ने सुरक्षा का वचन दिया था और अब कीचक चाहता था कि वह उसे न केवल असुरक्षित छोड़ दे, वरन् उसे संकट में फँसाने में उसकी सहायता करे। एक व्यभिचारी की सहायता करे, जो एक सरल और सती नारी को किसी भी छल बल से भ्रष्ट करना चाहता था। ...

यदि सुदेष्णा उसकी सहायता न करे ? सैरंध्री को बुलाकर उसे सब कुछ बता दे कि कीचक उसके लिए कैसा जाल बुन रहा है ? वह सावधान

हो जाए। ...

किंतु सैरंध्री के लिए, सुदेष्णा इतनी व्याकुल क्यों है ? यदि सैरंध्री, कीचक के प्रासाद में जाएगी और कीचक उसे विभिन्न प्रकार के प्रलोभन देगा, तो यह तो सैरंध्री के अपने विवेक पर निर्भर करता है कि वह कीचक की इच्छा का पालन करती है अथवा नहीं। सुदेष्णा उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध वाध्य तो नहीं कर रही। ... हॉ ! सुदेष्णा उसे वाध्य नहीं कर रही; किंतु कीचक तो उसे बाध्य करेगा ही। सुदेष्णा यह कैसे स्वीकार कर ले कि यदि सैरंध्री उसका तिरस्कार करेगी तो कीचक उसे चुपचाप लौट आने देगा। वह निश्चित रूप से बल प्रयोग करेगा। अन्यथा अपने प्रासाद में बुलाने का अर्थ ही क्या है। किन्हीं भी कारणों से हो, वह अन्यत्र कहीं भी सैरंध्री को वाध्य नहीं कर पा रहा है, तो अब सुदेष्णा, उसकी इच्छापूर्ति का माध्यम बने। सैरंध्री को वाध्य करे कि वह अपनी स्वामिनी के आदेश में बॅधी हुई, एक बलात्कारी के जाल में फंस जाए। ...धन के बदले वह परपुरुष को अपनी इच्छा के विरुद्ध आत्मसमर्पण कर दे। यह तो व्यभिचार भी नहीं है। शुद्ध रूप से वेश्यावृत्ति है। और सुदेष्णा इसमें सहायक होगी ? वह एक अपराधी को सहायता देगी, ताकि वह एक कुलवधू को वेश्या बना सके, उसे अपने शरीर का व्यवसाय करने को बाध्य कर सके ? सुदेष्णा कैसे कर पाएगी, यह सब ? ... और यदि सुदेष्णा यह नहीं करती है ?... तो उसका वह भाई, जो आज तक उसकी रक्षा करता आ रहा है, उसके पति की भी रक्षा कर रहा है, और पति से सुदेष्णा की भी रक्षा कर रहा है, जो अब तक उस पर भाई का प्रेम बरसा रहा है, वही उसका शत्रु हो जाएगा। सैरंध्री को संरक्षण देती-देती, सुदेष्णा स्वयं असुरक्षित हो जाएगी। ...

क्या ऐसा नहीं हो सकता कि सैरंध्री की रक्षा करनेवाले गंधर्व, उसे कीचक से बचा लें ? ... और सुदेष्णा अपने ऊपर ही हॅस पड़ी... अपनी ही कल्पना को सत्य मान बैठी वह ! सैरंध्री के अज्ञात रक्षक, इन गंधर्वो, की कल्पना उसी ने तो की थी; और अब उसकी इच्छा थी कि वह कल्पना सजीव हो उठे। वे गंधर्व सचमुच शरीर धारण कर लें और सैरंध्री के साथ-साथ रहें। ... पर कहीं सचमुच ऐसा हो गया तो क्या वे गंधर्व ही सैरंध्री के सौन्दर्य पर रीझ कर, उससे वे ही अपेक्षाऍ नहीं करने लगेंगे, जो कीचक कर रहा है ? ... प्रत्येक स्त्री चाहती है कि वह संसार की सबसे सुंदर नारी हो; किंतु सौन्दर्य कितना बड़ा संकट है, इसकी ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। उसका रूप ही उसका सबसे बड़ा शत्रु हो गया है। यही सैरंध्री यदि कुरूप होती, कुरूप न भी होती, साधारण से रूप-रंग की होती, तो न उसे किसी प्रकार की चिंता होती और न सुदेष्णा ही इस प्रकार के संकट में पड़ती। ...

सुदेष्णा उसे बुलाकर, सब कुछ समझा कर, रात के ॲधेरे में विदा

ही क्यों नहीं कर देती ? न कीचक को सूचना होगी, न वह किसी प्रकार का संकट खड़ा कर पाएगा। प्रातः जब तक उसे सूचना होगी, सैरंध्री कहीं दूर निकल गई होगी। ... और सहसा सुदेष्णा का मन दूसरी ओर चल पडा ... जो सैरंध्री रानी के प्रासाद में, रानी के संरक्षण में सुरक्षित नहीं है, उसे वह रात्रि के समय अकेली चुपचाप विदा कर देना चाहती है ? जो सैरंध्री, कीचक के हाथों सुरक्षित नहीं है, उसे वह साधारण सैनिकों के हाथों में सौंप देना चाहती है। ... उससे तो कहीं अच्छा है कि वह सैरंध्री को यही समझाए कि वह हठ छोड़ कर परिस्थितियों से समझौता कर ले। उसका पति उसके पास है नहीं। श्वसुर ने उसे घर से निकाल दिया है। इस हिंस्र समाज में उसे किसी का सहारा, किसी का संरक्षण तो चाहिए ही होगा, तो फिर कीचक ही क्या बुरा है। वह उसे सुखी रखेगा। ...

और सहसा सुदेष्णा के मन में एक प्रतिसुदेष्णा आ बैठी, "क्यो सखि ! सैरंध्री की चिंता है या अपने उस रूप की, जो सैरंध्री के भरोसे जीवित है। जीवित क्या है, अब तो उसके इस रूप, इस यौवन का बिरवा लगाया ही सैरंध्री के हाथों ने है। सुदेष्णा तो स्वयं कल्पना नहीं कर सकती थी कि अपनी इस अवस्था में उसका ऐसा रूप निखर आएगा कि वह अपनी तरुणाई से भी अधिक आकर्षक हो जाएगी। ... सैरंध्री के विराटनगर से जाने का अर्थ है, सुदेष्णा की इस तरुणाई जैसे रूप-रंग का भी विदा हो जाना। यह नहीं हो सकता, सैरंध्री का चाहे कुछ भी हो। ...

सुदेष्णा को लगा कि उसका मन भी बहुत कठोर हो गया है। अपने भाई कीचक के ही समान !

45

पिछले दो दिनों से लगातार वर्षा हो रही थी। लगता था, पृथ्वी पर जो कुछ भी था, सब कुछ गीला और ठंढा हो चुका था।

विराट प्रातः ध्यान करके उठे ही थे और यज्ञशाला की ओर जा रहे थे कि परिचारिका ने मार्ग में सूचना दी कि सेनापति कीचक आए हैं।

विराट को आश्चर्य हुआ। इस ऋतु में इस समय कीचक। जो व्यक्ति इस समय तक सो कर भी न उठता हो, वह उनसे भेंट करने आ गया। यह कैसे संभव है ? ... और सहसा उन्हें कुछ ध्यान आ गया।

"तुमने सेनापति से पूछा कि वे किससे मिलना चाहते हैं ?"

"नहीं महाराज ! उन्होंने कहा कि जाकर सूचना दो कि सेनापति आए हैं। इससे आगे उनसे कुछ पूछने का दुस्साहस कैसे किया जा सकता था।" परिचारिका बोली, "अपराध क्षमा हो देव ! सेनापति तो महाराज से ही भेंट करते हैं। महारानी से मिलने तो उनके भाई ही आया करते हैं।"

राजा हँस पड़े, "तुम बहुत चतुर हो परिचारिके ! किंतु अभी नई हो। आज या तो उन्होंने बताने में भूल की है अथवा तुम्हारे अनुमान में कहीं कोई त्रुटि हो गई है।" राजा ने रुक कर परिचारिका को देखा, "वे युद्ध-वेश में हैं अथवा सभा की वेशभूषा में ?"

"नहीं महाराज ! मुझे तो वे किसी विलास समारोह में जाने को उद्यत दिखाई पड़ते हैं।"

"तो ऐसा करो परिचारिके ! एक बार पुनः उनसे पूछो कि उनके आने की सूचना किसे दी जाए।" राजा ने कहा, "यदि वे कहें कि उन्हें महाराज से मिलना है, तो उन्हें ससम्मान मेरे मंडप में बैठाओ। पीने के लिए उत्तम सुरा दो। जो सत्कार संभव हो करो। और यदि वे महारानी को सूचना देने के लिए कहें, तो उन्हें सुदेष्णा के मंडप में पहुँचा दो।"

"महारानी अभी अपने शृंगार-कक्ष में सैरंध्री के साथ हैं महाराज !"

"उन्हें वहीं कीचक के आने की सूचना दो। कहीं ऐसा न हो कि तुम अपनी सद्भावनावश उनकी शृंगार प्रक्रिया में व्यवधान न बनना चाहो और वे सूचना मिलने में विलंब को अपनी तथा अपने भाई की अवमानना मानें। तुम्हें ज्ञात ही होगा कि स्त्रियाँ अपने मायके के संबंधों के संदर्भ में असाधारण रूप से संवेदनशील होती हैं।"

"जो आज्ञा महाराज !"

परिचारिका लौट कर आई तो स्वागत मंडप में कीचक नहीं था।

"कहाँ गए ?" उसने द्वारपाल से पूछा।

"वे यहाँ बैठ कर प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे। आज तक कभी नहीं की। इसलिए स्वयं ही सूचना देने चले गए कि वे आए हैं।" द्वारपाल मुस्करा रहा था।

"किंतु महाराज के पास तो वे पहुँचे ही नहीं।" परिचारिका बोली, "मैं वहीं से आ रही हूँ।"

"महाराज से तो उन्हें मिलना ही नहीं था।" द्वारपाल धीरे से बोला, "वे तो सैरंध्री से मिलने आए हैं, इसलिए महारानी के शृंगार कक्ष की ओर गए हैं।"

"क्या कह रहे हो। कोई सुन ले तो ?" परिचारिका ने भयभीत दृष्टि इधर-उधर डाली।

"सुन लेगा तो उसे आश्चर्य नहीं होगा। कौन नहीं जानता कि सेनापति

अपनी सेना को युद्ध के लिए नहीं साध रहे, जब से नगर में लौटे हैं, रति-युद्ध के लिए सैरंध्री को साध रहे हैं। वह तो हमारी सैरंध्री ही इतनी चरित्रवती है कि उस पर न सेनापति के धन, मान मर्यादा का प्रभाव पडता है, न उनके पद तथा रानी के भाई होने का। सेनापति तो उसके चरण धो कर पीने के लिए प्रस्तुत हैं, वह ही उन्हें घास नहीं डाल रही है।"

"तुम बहुत दुस्साहसी हो द्वारपाल।" परिचारिका बोली और वहाँ से हट गई।

कीचक सीधा सुदेष्णा के शृंगारकक्ष की ओर चल पडा। किसी परिचारिका ने न उससे कुछ पूछना उचित समझा और न किसी प्रकार की सहायता करना। वह माधवी के मद में था और गगन में बहुत ऊँचे विहार कर रहा था। उसे वहाँ से धरती पर लाना संकट का काम था। आनन्दिका को राजप्रासाद का पर्याप्त अनुभव था। वह सूचना देने के जोखम को समझती थी, तो सूचना न देने के संकट का अनुमान भी उसको था। अंततः उसने यही उचित समझा कि महारानी को तो इसकी अग्रिम सूचना दे ही दी जाए।

अपने शृंगार के मध्य आनन्दिका को कक्ष में प्रवेश करते देख, सुदेष्णा की भृकुटी में बल पड़ गए।

"क्षमा करें महारानी !" वह बोली, "महारानी को असुविधा हुई, किंतु सेनापति कीचक इधर आ रहे हैं। अब जैसी आपकी इच्छा हो।"

सुदेष्णा के मन में स्थिति स्पष्ट हो गई। अच्छा किया, आनन्दिका ने उसे बता दिया। यदि इस स्थिति में कीचक वहाँ पहुँच जाता तो उसे इससे भी अधिक असुविधा होती।

"अच्छा तुम जाओ।" उसने कहा और सैरंध्री की ओर देखा, "तुम जाकर अंगराग तैयार करो और मेरे संदेश की प्रतीक्षा करो। जब तक मैं न बुलाऊँ, यहाँ मत आना।"

एकांत हो गया तो सुदेष्णा कुछ निश्चिंत हुई। कीचक भी कभी-कभी जान का रोग ही हो जाता है। उसके कारण अपनी सेवा में किसी सुंदरी दासी को रखना सदा ही संकटपूर्ण काम रहा है।

कीचक के कक्ष में प्रवेश करते ही सुदेष्णा समझ गई कि उसने माधवी पी रखी थी।

"सुदेष्णे ! देखो कैसी ऋतु है। दो दिनों से वर्षा हो रही है और मैं दो दिनों से सैरंध्री की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। तुमने उसे भेजा ही नहीं। इस ऋतु में जब कामदेव किसी के हृदय को मथता है, तो उसका कष्ट समझती हो तुम ?

कैसी बहन हो ? देख रही हो कि भाई पीडा से तडप रहा है और उसकी ओषधि को अपने पास सहेज कर रखे हुए हो। उसे भेजती क्यों नहीं ?"

पहले तो सुदेष्णा का तेज जागा। उसकी इच्छा हुई कि वह कीचक की न केवल कठोर ताड़ना करे, वरन् अपने अंगरक्षकों को बुलाकर उसे प्रासाद के बाहर फिंकवा दे। ... कैसा भाई है कीचक ! कैसा सेनापति और कैसा मनुष्य ! सूर्योदय हुआ नहीं और यह माधवी लेकर बैठ गया। लोग प्रातः उठ कर स्नान-ध्यान करते हैं। हवन-यज्ञ करते है। प्रभु को स्मरण करते हैं। अपने दिन भर के कार्यो के लिए स्वयं को प्रस्तुत करते हैं। और यह है कि ऑखें खोलते ही माधवी में डूब जाता है, और फिर उसे सैरंध्री भी चाहिए। प्रातः ! इस समय ! रात भर उसी के साथ मानसिक विलास करता रहा होगा, तभी तो आँखें खुलते ही इधर चला आया। अपने श्रृंगार के मध्य ही वह सैरंध्री को उसके साथ भेज दे और स्वय अपने खुले केश लिए यहॉ बैठी प्रतीक्षा करती रहे ? किंतु कीचक इस समय कोई तर्क सुनने की स्थिति में नहीं था।

"आपको कहा था न भैया कि किसी पर्व-त्यौहार के दिन आप अपने घर में कोई ऐसा पकवान पकवाएँ, अथवा कोई ऐसा पेय तैयार करवाऍ, जिसे लाने के बहाने मैं उसे भेज सकूँ।" सुदेष्णा ने अपना रोष प्रकट किया, "और आप प्रातः इस समय माधवी पी कर चले आए हैं। महाराज अभी यज्ञशाला में होंगे। उन्हें सभा में तो जा लेने दिया होता। समय और स्थान का तो कोई विचार किया कीजिए।"

"तो आज पर्व नहीं है क्या छोटी बहना ?" कीचक ने चहककर कहा, "दो दिन से वर्षा हो रही है। आकाश पर मेघो का अभिसार हो रहा है। रात को जब भी चपला चमकी, मुझे लगा कि सैरध्री का मुखड़ा दमका है। ..." वह रुक गया, "लगता है, मै कुछ बहक गया। मैं तो तुम्हें सूचना देने आया था कि केकय से माधवी आई है। वह अपना शांगलू है न ! वह अपने घर गया था। वह जब भी केकय जाता है, तो और कुछ लाए न लाए, मेरे लिए माधवी अवश्य लाता है। जब वर्षा का यह असामयिक समारोह आरंभ हुआ तो वह मार्ग में ही था। वर्षा में इन मार्गो से यात्रा और भी संकटपूर्ण हो जाती है। उसे मार्ग में रुक जाना चाहिए था; किंतु वह रुका नहीं। उसने सोचा कि इसी ऋतु में तो स्वामी को केकय देश की माधवी मिलनी चाहिए। अब न मिली तो क्या लाभ। वह अपने अश्वों को दौड़ाता, विराटनगर आ पहुँचा और सीधा मेरे प्रासाद में उपस्थित हुआ। मैं भी समझ गया कि यही तो ऋतु है माधवी की; और वह भी केकय की माधवी की। तब से माधवी पी रहा हूँ और सैरंध्री की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। पर तुम उसे भेज ही नहीं रही हो। तुम समझती हो कि तुम्हारे जीवन की सार्थकता, सैरंध्री से अपने केश रंगवाने तथा वेणी बनवाने में है; और सैरंध्री के

जीवन की सार्थकता, तुम्हारी रंगाई-पुताई करने में। पर सैरंध्री का मोल तो मैं समझता हूँ। सैरंध्री नारियों में रत्न है। रत्न ! मेरे अंतःपुर में स्त्रियों का अभाव नहीं है। भरी पडी हैं। पर उनमें सैरंध्री एक भी नहीं है। ..."

"भैया !" सुदेष्णा अपने स्थान से उठ खड़ी हुई, "शांत होइए। बंद कीजिए अपना यह प्रलाप। यह सब आप नहीं बोल रहे, आपकी माधवी बोल रही है।"

"हाँ ! माधवी बोलती है। माधवी नाचती भी है। गाती भी है।" कीचक बोला, "मैं चाहता हूँ कि माधवी गाए तो मेरे भीतर की माधवी रोने लगती है।"

"आप घर जाएँ। नहीं रोएगी।"

"मैं घर तो चला जाऊँगा किंतु यदि तुमने सैरंध्री को नहीं भेजा, तो मेरे भीतर की माधवी फिर से रोने लगेगी।"

सुदेष्णा को लगा कि यदि कीचक यहाँ से नहीं उठा तो सुदेष्णा ही रो देगी; और उसे तनिक भी आश्चर्य नहीं होगा, यदि कीचक यहाँ बैठ कर, रोना और गाना एक साथ आरंभ कर दे।

"आप जाइए। मैं सैरंध्री को केकय की माधवी लाने के व्याज से अभी भेजती हूँ।" सुदेष्णा ने कीचक को बलात् उठाया।

"अभी भेज देना। तुरंत। मेरी अच्छी बहना ! नहीं तो तुम्हारा यह भाई अपने प्राण त्याग देगा। मैंने भगवान शंकर से प्रार्थना की है कि वे या तो मुझे सैरंध्री से मिला दें, नहीं तो मेरे प्राण ले लें। मैंने शपथ ...।"

"उस सबकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। आप घर जाइए। मैं उसे अभी भेज दूँगी।"

"शपथ लेती हो ?"

"हाँ शपथ लेती हूँ।"

"वचन देती हो ?"

"हाँ भैया ! वचन देती हूँ।"

कीचक चल पड़ा, किंतु उसकी जिह्वा मौन नहीं हुई, "सब वचन देते हैं, किंतु पूरा कोई नहीं करता। कोई सैरंध्री को मेरे पास नहीं भेजता। सब शपथ लेते हैं, किंतु प्राण कोई नहीं देता। मैं भी अभी तक जीवित हूँ। क्यों प्राण नहीं दिए मैंने ? सैरंध्री अभी तक मुझे मिली नहीं, तो फिर मैं जीवित क्यों हूँ। क्यों जीवित हूँ मैं।" वह सुदेष्णा की ओर मुड़ा।

"आप जीवित हैं, क्योंकि सैरंध्री आपको मिलनेवाली है।" सुदेष्णा ने उसे धकिया कर कुछ आगे चलाया, "आप नहीं रहेंगे, तो सैरंध्री किसे मिलेगी ?"

"देखो ! सैरंध्री को भेजना मात्र पर्याप्त नहीं है।" वह फिर रुक गया, "उसे समझा कर भेजना कि वह मेरे साथ बैठ कर माधवी पिए। मुझे अंगीकार करे। मेरे साथ समागम करे। केवल आ जाने से क्या होगा। ..."

"अपने घर के एकांत में उसे इतना भी समझा नहीं पाएँगे क्या आप ! जाइए वहाँ समझाते रहिएगा।"

कीचक की समझ में आ गया कि वह अपने घर के एकांत में सैरंध्री को अच्छी तरह समझा सकता है। और यह समझ में आते ही उसे अपने घर पहुँचने की जल्दी मच गई। ...

कीचक को विदा कर सुदेष्णा ने सैरंध्री को बुला लिया। उसका शृंगार अभी पूरा नहीं हुआ था। उससे पूर्व वह सैरंध्री को भेजनेवाली भी नहीं थी। किंतु यह सारा समय सुदेष्णा के विचार-मंथन का था। ...

यह जो चरित्रवती युवती उसकी सेवा कर रही थी, यदि यह अपने देह का ही व्यापार करना चाहती तो उसके पास आकर सैरंध्री का कार्य क्यों करती ? क्या वह स्वयं नहीं जानती कि वह असाधारण रूपवती है। जिस पुरुष को संकेत करेगी, वही आतुर होकर उसके चरणों में आ गिरेगा। राजा क्या, मंत्री क्या और सेनापति क्या ... जितना धन चाहेगी, उनसे रखवा लेगी। ... फिर भी वह यहाँ सैरंध्री के रूप में चाकरी कर रही है। इसीलिए तो कि वह अपने पति के प्रवास से लौटने तक किसी भले घर का आश्रय चाहती थी। सुदेष्णा ने उसे कुछ वचन दिए थे। ... तो अब सुदेष्णा क्या करना चाहती है ?

सुदेष्णा तो अपने वचन की रक्षा ही करना चाहती है; किंतु कीचक करने दे, तब ना ! वचन तो उसने कीचक को भी दिया है, चाहे टालने के लिए ही दिया हो। यदि उसने कीचक को दिया हुआ वचन पूरा न किया तो इस बार तो कीचक उसके कहने पर चला भी गया है, अगली बार वह ऐसे ही नहीं जाएगा। वह यहीं उपद्रव कर देगा। यहीं से सैरंध्री को घसीटता हुआ अपने भवन तक ले जाएगा। तब कौन रोकेगा उसे ? राजा उसे रोक नहीं पाएँगे। सेना उसके कहने में है। सैनिकों को वह आदेश देगा तो सैनिक स्वयं ही सैरंध्री को उसके प्रासाद तक पहुँचा आएँगे। ... सैरंध्री को दिया गया वचन सुदेष्णा पूरा नहीं कर सकती। असमर्थ व्यक्ति के वचन का मूल्य ही क्या है ?... सुदेष्णा जानती है कि यह न्याय नहीं है। किंतु न्याय तो वही कर सकता है, जो समर्थ हो। ... तो सुदेष्णा जब कुछ कर नहीं सकती तो वह सब कुछ सैरंध्री के भाग्य पर ही क्यों नहीं छोड़ देती ? उसके साथ जो होना होगा, होगा। भगवान उसकी रक्षा करना चाहेंगे, तो स्वयं ही कोई न कोई प्रबंध कर लेंगे ...

पर क्यों है सैरंध्री इतनी पतिव्रता ? क्या आवश्यकता है उसे इस अवगुंठन की ? सैरंध्री का काम करती हुई भी, क्यो वह सती बनी रहने का स्वप्न देख रही है। वह नहीं जानती कि राजा और राजपरिवार के लोग समय आने पर

स्वेच्छाचारी भी हो जाते हैं। दासियाँ, परिचारिकाएँ, चेटियाँ और सैरंध्रियाँ भी राजपरिवार के पुरुषों की इच्छाओं का विरोध करने लगेंगी, तो यह संसार कैसे चलेगा। कीचक ने किसी और दासी को बुलाया होता तो वह उल्लासपूर्वक गई होती और ढेर सारा पुरस्कार पा कर प्रसन्न हुई होती। तो फिर यह सैरंध्री ही इतनी हठ क्यों कर रही है ?... इसलिए कि उसका पति प्रवास से लौटे तो वह चली जाए और सुख से अपने पति के साथ रहे। तब सुदेष्णा का शृंगार करनेवाला कोई न हो, और जिसकी इच्छा हो, वही कहने लगे, "महारानी ! आप अकस्मात् ही बहुत ढल गई हैं।" सुदेष्णा अपनी क्षमता भर वह दिन नहीं आने देगी। ... यदि कीचक सैरंध्री को अपने वश में करने में सफल हो जाए, तो सैरंध्री अपने पति के लौट आने पर भी उसके पास नहीं जा सकेगी। विलास की अभ्यस्त हो जाने पर वह स्वयं ही जाना नहीं चाहेगी; और यदि जाना चाहेगी भी, तो उसका पति उसे स्वीकार नहीं करेगा। ... तो ? तो सैरंध्री आजीवन सुदेष्णा की परिचारिका बन कर रहेगी। सुदेष्णा का यौवन कभी नहीं ढलेगा। कोई नहीं कहेगा, "महारानी ! आप अकस्मात् ही बहुत ढल गई हैं। ..."

"लीजिए महारानी !" सैरंध्री ने सुदेष्णा के हाथ में दर्पण पकड़ाया, "देख लीजिए। जैसा कहा था, वैसा कर दिखाया। ग्रीष्म समाप्ति पर है। अब केशों को सिर के ऊपर बाँध कर रखना, एकदम आवश्यक नहीं है। आकाश पर जैसे घटाएँ स्वेच्छा से उन्मुक्त भाव से मँडरा रही हैं, वैसे ही आपकी अलकें भी हैं। आषाढ़ के शुक्ल पक्ष के आकाश का सा प्रभाव दे दिया है आपकी केश-राशि को मैंने। महाराज देखेंगे, तो आकाश की घटाओं और आपकी अलकों की घटाओं में कोई अंतर नहीं कर पाएँगे। संयोग से पिछले दो दिनों से यहाँ भी मेघ गर्जन कर रहे हैं। वैसे आषाढ़ के इन दिनों में ऐसी वर्षा होती तो नहीं, जो इस बार हो रही है। लगता है जैसे श्रावण की वर्षा आषाढ़ में ही हो रही है।... आपको रुचिकर लगा, यह केशविन्यास ?"

सुदेष्णा ने दर्पण पर एक भरपूर दृष्टि डाली : सैरंध्री सत्य कह रही थी, उसने जो कहा था कर दिखाया था। अपनी कला में वह अद्वितीय थी। लगता था, वह मात्र सैरंध्री ही नहीं है, एक अत्यंत संवेदनशील कवयित्री भी है। प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करती है। ऋतुओं के साथ वेश-परिवर्तन तो सब ही करते हैं, किंतु केश-परिवर्तन की चर्चा सुदेष्णा ने सैरंध्री से ही सुनी थी। ...

किंतु अब परीक्षा सैरंध्री की नहीं, सुदेष्णा की थी। उन्हें अपने भाई कीचक को शांत और संतुष्ट रखना होगा। उन्होंने कीचक को कैसी सरलता से वचन दे दिया था; किंतु कहने और करने में कितना अंतर होता है। कहने भर से किसी का क्या बनना या बिगड़ना है; किंतु उस वचन के कर्म में परिणत होते ही स्थितियाँ एक दम बदल जाती हैं। ... कहीं सुदेष्णा का यह कर्म किसी बड़ी दुर्घटना का

कारण न बन जाए ...

"सैरंध्री ! यह तो हो गया। अब इन घटाओं के अनुकूल माधवी भी तो चाहिए, जो मेरी और महाराज की प्यास मिटा सके। जानती है, वह कौन-सी माधवी है ?"

"नहीं महारानी ! मैं तो सैरंध्री हूँ। मेरा माधवी से क्या संबंध। वह कार्य तो मधुबालाओं का है।"

"वह है, सारी माधवियों में सबसे मादक—केकय माधवी।" सुदेष्णा ने कहा, "जा ले आ। जानती है, कहाँ से मिलेगी ?"

"नहीं महारानी ! किंतु अनुमान कर सकती हूँ कि केकय माधवी है, तो केकय प्रदेश में ही मिलती होगी।"

"तुम बडी ही समझदार हो सैरंध्री। बात को तत्काल समझ लेती हो। भैया ने केकय प्रदेश से वह माधवी मँगवाई है। प्रतिवर्ष मँगवाते हैं। इस वर्ष कल ही उनके प्रासाद में पहुँची है। अभी बची हुई है। देर हो गई तो सारी की सारी समाप्त हो जाएगी और फिर अगले वर्ष की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।" सुदेष्णा ने कहा, "भाग कर जा और जाकर तत्काल ले आ।"

सैरंध्री स्तब्ध रह गई। वह तो अपेक्षा कर रही थी कि उसकी कला से प्रसन्न हो कर रानी उसकी प्रशंसा करेंगी और उसे कोई पुरस्कार देंगी।... किंतु यह तो कोई पुरस्कार नहीं है। दंड ... और वह भी ऐसा दंड...

"आपकी सेवा में जब मैं आई थी महारानी ! तब आपने मुझे वचन दिया था कि आप मुझे किसी और की सेवा में नहीं भेजेंगी।" सैरंध्री बोली, "आप अपना वह वचन भूल रही है देवि !"

"नहीं ! मैं कुछ भी भूल नहीं रही हूँ।" सुदेष्णा बोली, "मैं तुम्हें भैया की सेवा में नहीं भेज रही हूँ। तुम मेरी ही सेवा में हो। पिपासिता मैं हूँ। कंठ मेरा सूख रहा है। माधवी की आवश्यकता मुझे है। तो फिर यह मेरी सेवा क्यों नहीं है ?"

सैरंध्री समझ रही थी कि रानी को यह अधिकार था कि वह उसे इस प्रकार के कार्यो के लिए भेज सकें। यह तो सैरंध्री का अपना ही आशंकित मन था, जो अपने लिए विभिन्न प्रकार के संकटों का पूर्वाभास पा रहा था। संभवतः रानी को तो यह भी ज्ञात न हो कि कीचक ने सैरंध्री से क्या-क्या कहा था। तो फिर उचित यही है कि वह रानी को स्पष्ट बता दे ...

"महारानी ! मैं सेनापति कीचक के प्रासाद में नहीं जा सकती। आप तो जानती ही होंगी कि वह कैसा निर्लज्ज है। मैं अपने पति की दृष्टि में व्यभिचारिणी और स्वेच्छाचारिणी हो कर आपके प्रासाद में, नहीं रहूँगी।"

सुदेष्णा ने कृत्रिम क्रोध दिखाया, "भैया के प्रासाद से माधवी लाने से तुम

व्यभिचारिणी कैसे हो जाओगी ?"

"देवि ! आप जानती तो हैं कि कीचक काम-मद से उन्मत्त हो रहा है। वह मुझे देखते ही अपमानित कर बैठेगा।" सैरंध्री के स्वर में उसकी आशका जैसे साक्षात् आ बैठी थी।

एक बार तो सुदेष्णा ने सोचा कि वह पूरे प्रसंग से अनभिज्ञ होने का अभिनय करे और कुछ कठोर हो कर सैरंध्री को जाने का आदेश दे; किंतु अगले ही क्षण उसे लगा कि उसका कोई विशेष लाभ नहीं होगा। उसमे और भी विलंब होगा। सैरंध्री सारी घटनाएँ सुनाएगी। अनेक नई बाते निकलेंगी। अनेक तर्क प्रस्तुत होंगे। ...वह सैरंध्री से इस संदर्भ में कोई वादविवाद नहीं करना चाहती थी।

"जो कोई भी जानता है कि तुम्हें मैंने भेजा है, वह तुम्हारा अपमान नहीं कर सकता। भैया कैसे तुम्हारा अपमान करेंगे।" सुदेष्णा ने आग्रह किया, "व्यर्थ आशंकित मत हो सैरंध्री ! जाओ और भाग कर माधवी ले आओ।"

"पर आपके अधीन अनेक दासियाँ हैं। मेरा ही जाना क्यों आवश्यक है। आप किसी और को भेज दीजिए। इसके बदले में मैं आपके और अनेक कार्य कर दूँगी।"

"मेरे साथ विवाद मत करो सैरंध्री !" रानी ने रोष जताया, "तुम नहीं जानतीं कि केकय की माधवी क्या है। इसलिए तुम्हें भेज रही हूँ। और जिस को भी भेजूँगी, वह आधी तो मार्ग में ही पी आएगी अथवा अपने प्रेमी को पिला आएगी। विलंब से सारी बात बिगड़ जाएगी। तत्काल जाओ और माधवी लेकर लौटो।"

रानी का तर्क सार्थक हो या न हो, सैरंध्री समझ गई थी कि रानी हठ पकड़ चुकी थी। अब बात अपने-अपने सम्मान की हो चुकी थी। और रानी के सम्मान के सम्मुख तो सैरंध्री को झुकना ही पडेगा।

सैरंध्री कुछ और कहती, इससे पूर्व ही रानी ने ढक्कन सहित एक स्वर्ण पात्र उसके हाथ में पकड़ा दिया, "इसे भर कर लाना। चाहे आग्रह करना पडे, चाहे झगड़ा, किंतु इससे कम मत लाना।"

सैरंध्री ने पात्र पकड़ लिया और बाहर की ओर चल पड़ी। वह समझ रही थी कि कीचक के सम्मुख वह पूर्णतः असुरक्षित और असहाय थी। पता नहीं रानी इस बात को समझ नहीं रही हैं अथवा समझना चाहती नहीं हैं। ... कहीं वे अपने भाई की इच्छापूर्ति मे उसकी सहायक तो नहीं हो रहीं ?

सैरंध्री को जैसे काठ मार गया। वस्तुतः यही बात है। अन्यथा, न तो किसी से कीचक की लंपटता छिपी है, और न ही यह कोई रहस्य की बात है कि सैरंध्री के प्रति कीचक का आग्रह निरंतर बढ रहा है। ... सैरंध्री ने अब तक तो यही माना था कि रानी उसकी रक्षा करेंगी, किंतु लगता है, कि रानी भी इस

षड्यंत्र मे कीचक की सहायिका हो गई हैं। ... तो सैरंध्री की रक्षा कौन करेगा? ... क्या वह इसी समय सीधी बल्लव के पास चली जाए और जाकर सारी बात कह दे? ... पर नहीं। कीचक के प्रासाद में गए विना, कीचक के किसी दुष्प्रयत्न का प्रमाण पाए विना, बल्लव से कैसे कह सकती है कि कीचक ने उसे अपमानित किया है? ... वह तो फिर अभी विचार ही कर रही है; किंतु बात बल्लव के पास पहुँच गई तो वह कुछ सोचेगा भी नहीं। अपने क्रोध में वह अभी ही कोई अनर्थ कर बैठेगा। परिणामस्वरूप कीचक के हाथों उनका कोई अहित हो या न हो, सैरंध्री और बल्लव ही, इस अज्ञातवास के सारे श्रम और कष्टों पर पानी फेर देंगे। अब जब अज्ञातवास का वर्ष पूरा होने को आया है, तो उसकी तनिक सी आशंका से सब नष्ट हो सकता है। ... तो क्या वह बृहन्नला के पास चली जाए? उसे बताए? वह तो आवेश में कोई काम नहीं करता है। और कुछ नहीं तो वह उत्तरा के माध्यम से रानी पर दवाव डलवाए कि वे सैरंध्री को कीचक के प्रासाद में न भेजें? किंतु यदि रानी और बुरा मान गईं? उत्तरा उनकी पुत्री ही तो है। यदि वे उसका आग्रह न मानें तो? और फिर रानी तो केकय प्रदेश की माधवी की प्रतीक्षा कर रही होंगी। सैरंध्री का अपनी आशंका मात्र के आधार पर रानी की आज्ञा का पालन न करना और इधर-उधर भटकना, रानी को रुष्ट ही करेगा। ...

अभी कुछ भी ऐसा नहीं हुआ है, जिसके आधार पर वह किसी से अपने लिए न्याय अथवा रक्षा की माँग कर सके। ... बहुत संभव है कि ऐसा कुछ न ही हो। यह सब उसके भयभीत मन की दुष्कल्पनाएँ मात्र ही हों।... इससे तो अच्छा है कि वह सावधानी से जाए। कीचक को किसी प्रकार का कोई अवसर ही न दे और रानी के लिए माधवी लेकर तत्काल लौट आए। ... और फिर बृहन्नला ने भी तो कहा था कि संकट की स्थिति में वह कीचक को लुभाने का अभिनय कर, कुछ हाव-भाव दिखा उसे बहका भी तो सकती है। ...

सैरंध्री का विचलित मन अपने सखा कृष्ण को स्मरण कर रहा था। यदि कहीं कृष्ण तुम यहाँ आस-पास होते! किंतु इस बार तो तुम यह भी नहीं जानते कि तुम्हारी सखी कहाँ है। तुम्हारे मित्र और भाई कहाँ है। तुम उन्हें स्वयं खोज कर उनकी सहायता भी करना चाहोगे, तो कैसे करोगे? तुम जानते ही नहीं कि वे लोग कहाँ हैं।...

सहसा सैरंध्री को लगा कि उसके भीतर एक आश्वासन जन्म ले रहा है।...कृष्ण क्या नहीं जानता? कृष्ण क्या जान नहीं सकता? कृष्ण के लिए क्या अज्ञात है? क्यो भयभीत हो कृष्णे! अर्जुन ने कहा था न कि तुम्हारे जैसी सती नारी के तेज के सम्मुख कौन-सा आततायी ठहर सकता है? कौन-सा परस्त्रीगामी लंपट तुम्हारी दृष्टि की अग्नि को सहन कर सकता है। तुम निर्भय

हो कर जाओ सैरंध्री। तुम्हारा वेश बदला है, किंतु तुम अब भी द्रुपदपुत्री कृष्णा ही हो, जो अग्निकुंड में से जन्मी थी। तुम्हारा तेज अद्वितीय है। तुम कृष्ण की सखी हो कृष्णे। तुम निर्भय हो कर जाओ। ...

सैरंध्री कीचक के प्रासाद के द्वार पर ही रुक गई। ... उसे भीतर जाने की आवश्यकता ही क्या थी। वह द्वारपाल के निकट जाकर खडी हो गई। उसने वह पात्र उसकी ओर बढा दिया, "महारानी ने मुझे भेजा है। यह पात्र लो और किसी को भेज कर महारानी के लिए केकय की माधवी मँगा दो।"

"आओ।" द्वारपाल उसे मार्ग दिखाता हुआ चल पडा।

अब सैरंध्री के पास कोई विकल्प नहीं था।

द्वारपाल उसे जिस कक्ष में लाया, वहॉ सामने ही कीचक बैठा था। इसी बात से तो सैरंध्री डर रही थी। अब यह संभव नहीं था कि वह किसी दासी अथवा परिचारिका से माधवी लेकर लौट जाती।

"आओ सैरंध्री !" कीचक लहराता-सा अपने स्थान से उठा, "तुमने बहुत अच्छा किया कि तुम आ गई। बडी समझदार है सुदेष्णा, कि उसने तुम्हें भेज दिया।"

सैरंध्री के सम्मुख, अब सब कुछ स्पष्ट था... क्यों सुदेष्णा ने उसे भेजने की हठ की। क्यों उसे किसी परिचारिका अथवा रसोइए के पास न भेज कर, सीधे उस कक्ष में पहुँचाया गया, जहॉ कीचक बैठा उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचा है, सुदेष्णा और कीचक ने ...

"आओ, यहॉ मेरे साथ बैठो। माधवी का पान करो। आओ, मेरी स्वामिनी बन कर मेरा प्रिय कार्य करो।" उसने सैरंध्री के उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की, स्वयं ही बोला, "मैं अभी दासियों को आज्ञा देता हूॅ। वे तुम्हारे लिए सोने का हार लाएँ, शंख की चूड़ियॉ लाएँ, स्वर्णमय कर्णफूलों के जोडे लाएँ, मणि, रत्नों के आभूषण लाऍ, रेशमी साड़ियॉ लाएँ ..."

"सेनापति ! मुझे महारानी सुदेष्णा ने भेजा है। उन्हे प्यास लगी है। मैं उनके लिए केकय प्रदेश की माधवी लेने के लिए आई हूॅ।" सैरंध्री बोली, "वे मेरी प्रतीक्षा कर रही होंगी। मैं शीघ्र न पहुँची तो वे क्रुद्ध होंगी। ..."

"तो ठीक है। किसी दासी को भेज देता हूँ, वह सुदेष्णा को माधवी पहुँचा देगी। लाओ, यह पात्र मुझे दो।" वह सैरंध्री के एकदम निकट आ गया था।

सैरंध्री का मस्तिष्क बडे वेग से दौड रहा था। यदि वह स्वर्णपात्र उसको पकड़ा देती है और कीचक वह किसी दासी को देने के लिए इधर-उधर होता है, तो वही समय होगा, जब उसे यहॉ से निकल भागना चाहिए। ... यह तो

निश्चित ही है कि वह उसे माधवी नहीं देगा। उसे तो अंततः खाली हाथ ही जाना है। तो वह अपने अपमान की प्रतीक्षा क्यों करे ? शीघ्रातिशीघ्र यहाँ से निकल जाए और रानी को स्पष्ट कह दे कि वह उनकी इस प्रकार की आज्ञाओं का पालन नहीं कर सकती। वे प्रसन्न हों अथवा अप्रसन्न। वह व्यभिचारिणी हो कर उनकी चाकरी नहीं करेगी।

सैरंध्री ने पात्र, कीचक की ओर बढ़ा दिया। कीचक ने अपना हाथ बढाया और पात्र के स्थान पर सैरंध्री की भुजा थाम ली, "मैंने यह दिव्य शैया पहले से ही बिछा रखी है। मै सोच रहा था कि जिस प्रकार तुम मेरे मन मे बैठी हो, वैसे ही मेरी शैया पर क्यों नहीं आती हो। आज मेरी मनोकामना पूर्ण करो सुंदरी !"

सैरंध्री ने झटके से स्वयं को छुड़ाया, "नीच ! सत्ता का दुरुपयोग मत कर; और स्वयं को इतना शक्तिशाली भी मत समझ। मुझे हाथ लगाएगा तो मेरे रक्षक गंधर्वों द्वारा आज रात्रि को ही मारा जाएगा।"

कीचक कुछ लडखड़ाया और फिर उसने सैरंध्री का उत्तरीय पकड़ लिया, "गंधर्व जब आएँगे तो उनको भी देख लूँगा। इस समय तो तुम आई हो, तुम्हें देख लूँ।"

सैरंध्री समझ रही थी कि इस समय कहने-सुनने का कोई लाभ नहीं था। कीचक इस स्थिति में ही नहीं था कि उसे कुछ समझाया जा सकता। इस समय तो उसे अपने ही भरोसे अपनी रक्षा करनी थी।

कीचक ने उसे पकड लिया था और वह उसकी पकड़ से छूटने के लिए सामर्थ्य भर प्रयत्न कर रही थी। उसके मन में यह पूर्णतः स्पष्ट था कि सैरंध्री के किसी सहायक के इस समय यहाँ आने की कोई संभावना नहीं थी। पर यह भी उतना ही स्पष्ट था कि कीचक अपनी सहायता के लिए भी किसी को नहीं बुलाएगा। शारीरिक बल में सैरंध्री कीचक के समकक्ष नहीं हो सकती थी; किंतु वह इस समय माधवी के प्रभाव में था। अतः असावधान था। यदि सैरंध्री अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करती रहेगी, तो कुछ भी नहीं हो पाएगा; किंतु यदि वह आक्रामक हो जाए, तो संभव है कि वह उसकी पकड से छूट जाए। यदि प्रभु की इच्छा होगी, तो वे इसी रूप में उसकी रक्षा कर लेंगे।

सैरंध्री ने अपना सारा बल एकत्रित करके कीचक को एक जोर का धक्का दिया। कीचक न केवल लडखडा कर पीछे हट गया, वरन् सँभलने के प्रयत्न में उसने जिस आसन का सहारा लेना चाहा था, उसको लिए दिए ही गिर पड़ा। सैरंध्री के लिए यही एक अवसर था कि वह बच कर भाग सकती थी। यदि वह क्षण भर भी रुकी और कीचक उठ कर खडा हो गया, तो दूसरी बार ऐसा अवसर सैरंध्री को नहीं मिलेगा।

उसने भूमि पर गिरा हुआ स्वर्णपात्र उठाया और बाहर की ओर भागी। अब यदि कीचक उसके निकट आया तो वह यही स्वर्णपात्र उसके सिर पर दे मारेगी, फिर जो होना हो, हो ले।

वह अपनी पूरी क्षमता से भाग रही थी। दो एक दासियों-परिचारिकाओं ने उसे आश्चर्य से देखा भी; किंतु कुछ कहा नहीं। द्वारपाल ने अवश्य पूछा, "अरे भाग क्यों रही हो सैरंध्री !"

"महारानी माधवी की प्रतीक्षा में हैं। विलंब से उन्हें असुविधा होगी।"

द्वारपाल अपने स्थान पर बैठा रहा और सैरंध्री भागती चली गई। कहाँ जाए ? इस समय कहाँ जाए कि वह कीचक से बच जाए ? स्पष्ट था कि सुदेष्णा के निकट वह सुरक्षित नहीं थी। कीचक वहाँ पहुँच जाएगा और सुदेष्णा उसे रोकना भी चाहेंगी, तो रोक नहीं पाएँगी; और पता नहीं वे उसे रोकना भी चाहेंगी अथवा नहीं। उन्होंने उसे ही हठपूर्वक कीचक के घर माधवी लाने के लिए भेजा, इसी से स्पष्ट था कि वे कीचक की सहायता कर रही थीं। तो फिर सैरंध्री कहाँ जाए ? बल्लव के पास ? बृहन्नला के पास ? कंक के पास ? ग्रंथिक और तंतिपाल, दोनों ही यहाँ से दूर थे। उनके पास पहुँचना संभव नहीं था।

सहसा उसकी दृष्टि पीछे की ओर गई.... अपने वस्त्र सँभालता हुआ कीचक उसके पीछे दौड़ा आ रहा था।

तो कीचक ने उसका पीछा करने का विचार नहीं छोड़ा था। उसे न किसी से भय था, न किसी से लज्जा। उसने अपने सैनिकों से नहीं कहा था कि वे उसका पीछा कर उसे पकड़ लाएँ। वह स्वयं ही भागा आ रहा था। संभवतः यह माधवी के प्रभाव के ही कारण होगा; अन्यथा उसके पास सैरंध्री को पकड मँगवाने के लिए साधनों की कमी तो नहीं हो सकती।

अधिक विचार करने का समय नहीं था। ... इस समय सबसे निकट तो राजा की सभा ही थी। वहाँ इस समय राजा भी होंगे और कंक भी। संभव है, अन्य सभासद भी हों। कीचक निरंतर उसके निकट आता जा रहा था। सैरंध्री का राजसभा तक पहुँच पाना भी कठिन ही था। यदि कीचक ने उससे पहले ही उसे पकड़ लिया, तो भारी दुर्दशा होगी।

सैरंध्री प्राणपण से दौड़ती जा रही थी।

सभा के द्वार पर से ही सैरंध्री उच्च स्वर में बोली, "दुहाई महाराज ! अपनी प्रजा की रक्षा कीजिए।"

द्वारपाल ने असाधारण-सी स्थिति देख कर सैरंध्री को नहीं रोका। वह उसे पहचानता था। इस समय उसके हाथ में स्वर्णपात्र भी था। संभव था कि वह महाराज के ही लिए कोई पेय पदार्थ लेकर आई हो। वह दौड़ती हुई आई थी, उससे तो यही माना जा सकता था कि वह शीघ्रता मे थी। संभवतः द्वारपाल

उसे टोकता कि वह राजसभा में शालीनता से जाए, किंतु उसके ठीक पीछे कीचक को आते देख, वह कुछ-कुछ अनुमान लगा सकता था। सैरंध्री ने महाराज को पुकारा भी था। ऐसे में द्वारपाल तटस्थ हो गया। वह सैरंध्री और कीचक के मध्य क्यों आए। राजा स्वयं ही न्याय करें।

सैरंध्री ने निमिष भर में ही देख लिया कि राजा के साथ कंक बैठे थे और उनसे कुछ ही पीछे बल्लव भी बैठा था। संभवतः वह किसी प्रकार का कोई आदेश लेने के लिए राजा के पास आया हो। यहाँ वह पूर्णतः सुरक्षित थी। राजा, कंक तथा बल्लव—इन तीनों की उपस्थिति में कीचक उसका क्या बिगाड़ सकता था।

राजा के साथ-साथ कंक तथा बल्लव ने ही नहीं, सारी सभा ने देखा कि पूर्णतः अव्यवस्थित, स्वेद से नहाई तथा हॉफती हुई सैरंध्री राजसभा के सारे शिष्टाचारों का उल्लंघन करती हुई सभा में आई है और महाराज की दुहाई दे रही है। इससे पहले कि कोई कुछ समझता, कीचक भी लगभग उसी स्थिति मे सभा के भीतर घुस आया।

कीचक को और कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। उसे तो बस यही ज्ञान था कि वह पिछले कई दिनों से सैरंध्री को अपनी शैया पर लाने के सपने देख रहा था। कितने प्रयत्न के पश्चात् आज सैरंध्री उसके प्रासाद में ही नहीं, उसके कक्ष में आई थी। उसने उसे थाम भी लिया था। वह उसे धन, सपत्ति, पद, मान मर्यादा—सब कुछ देने को तैयार था, और तब भी यह सैरंध्री, उसे धक्का दे, भूमि पर गिरा कर भाग आई थी। उसका काम बाधित हुआ था; उसका अहंकार आहत हुआ था; और उसका क्रोध चांडाल का रूप धारण कर जाग्रत हुआ था। उसे और कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। उसे तो बस अपने सामने खडी सैरंध्री दिखाई दे रही थी, जिसने उसके उद्दीप्त काम को इस प्रकार बाधित किया था कि उसका हृदय अपनी पीड़ा सहन करने में असमर्थ हो रहा था। ऐसे में वह केवल विनाश कर सकता था। जो कुछ उसके सम्मुख आएगा, उसके क्रोध की ज्वाला में जल कर क्षार हो जाएगा। आज यहाँ कुछ भी सुरक्षित नहीं रहेगा। ....

उसने अपनी ओर पीठ किए खड़ी सैरंध्री के खुले केश अपनी मुट्ठी में भींच कर, उसे अपनी ओर खींचा और जोर का एक धक्का दिया। पीछे की ओर से असावधान खडी सैरंध्री लड़खडाई और औंधे मुँह गिर पडी।

कंक और बल्लव अकस्मात् उठ खडे हुए। कंक अभी अपने स्थान पर ही थे कि बल्लव सैरध्री की ओर दो पग आगे बढ़ गया।

कीचक ने देखा कि सैरध्री भूमि पर गिर पड़ी है। वह उसके सम्मुख पडी थी; और उसका सारा काम अब क्रोध में परिवर्तित हो उसे सुख देने के स्थान पर कष्ट देने के लिए मचल रहा था। उसने खींच कर एक लात उसे दे मारी।

तब तक बल्लव उसके निकट पहुँच चुका था। उसने कीचक को अपनी भुजाओं में उठाया और दूर फेंक दिया। कंक ने देखा सैरंध्री का अपमान हुआ है; किंतु वह अब सुरक्षित है। बल्लव ने कीचक को उठा कर दूर फेंक दिया है। कीचक अपने स्थान पर सिर टेके पडा था। उसकी उठने और पुनः सैरंध्री पर प्रहार करने की इच्छा का कोई लक्षण दिखाई नहीं दे रहा था। ... उनकी दृष्टि बल्लव की ओर गई : वह अब भी वहीं खड़ा था। उसकी मुट्ठियां भिंची हुई थीं, वह क्रोध से दॉत पीस रहा था। उसके नेत्र क्रोध से रक्तिम हो रहे थे। उनमें धुऑ सा आ गया था। वह अपने माथे का पसीना पोछ रहा था। उन्हे लगा कि बल्लव को तत्काल न रोका गया तो संभवतः वह अगले ही क्षण कीचक की हत्या कर डालेगा।

कंक ने बल्लव के पैर का अंगूठा दबाया, "बल्लव ! तुम क्या पाकशाला के ईंधन के लिए उस वृक्ष को देख रहे हो ? बाहर जाकर उस सूखे वृक्ष को देखो। जिस वृक्ष से छाया मिल सकती है, उसके एक पत्ते को भी नष्ट नहीं किया जाता। उससे वृक्ष की ही नहीं, अपनी भी हानि होती है।"

बल्लव समझ गया कि कंक का संकेत किस ओर है। यदि वह कीचक की यहीं हत्या कर देगा, तो अवश्य ही यह प्रश्न उठेगा कि मत्स्यदेश के बलवान सेनापति का वध कर देनेवाला व्यक्ति कौन है ? वह साधारण रसोइया नहीं हो सकता। जब चारों ओर यह प्रश्न गूँजेगा, तो उनका अज्ञात रहना संभव नहीं होगा। यहॉ किसी को संदेह हो या न हो, हस्तिनापुर में यह समाचार अवश्य पहुँचेगा; और तब दुर्योधन निष्क्रिय नहीं बैठेगा।... तो क्या अपने को छुपाए रखने का मूल्य यह चुकाना पड़ेगा कि सैरंध्री को उसकी आँखों के सम्मुख कोई इस सीमा तक अपमानित करे और वह खड़ा देखता रहे ? पांडव के रूप में उसका एक धर्म है, तो मानव के रूप में भी उसका एक धर्म है। पुरुष के रूप में भी एक धर्म है; और पति के रूप में भी उसका एक धर्म है।... नहीं ! वह यह सब मौन मूक रह कर नहीं देख सकता। वह तो शायद कंक भी न करें। पर सैरंध्री अब सुरक्षित थी। कीचक ने तो तब से सिर भी नहीं उठाया था। संभवतः वह अचेत हो गया था। अब जो कुछ भी करना था, वह सैरंध्री की रक्षा के लिए नहीं, उसके अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए करना था। ... उसकी कोई तात्कालिक आवश्यकता तो थी नहीं। तो राजा की सभा में इतने सारे लोगों के सम्मुख कीचक का वध कर, अपने पहचाने जाने का संकट क्यों उठाया जाए।...

उसने कंक की ओर देखा : कंक जाकर राजा के निकट अपने स्थान पर बैठ गए थे। बल्लव भी मन मार कर जाकर कंक के निकट ही बैठ गया। शायद कंक चाहते थे कि वह पाकशाला में चला जाए; किंतु वह कीचक के रहते,

यहाँ से हटना नहीं चाहता था।

राजा ने सब कुछ देखा। निश्चित रूप से सभा के सम्मुख राजा की उपस्थिति में, बिना कोई कारण बताए हुए, एक स्त्री को इस प्रकार अपमानित करना, उद्दंडता की पराकाष्ठा थी। राजा के मन मे भी आक्रोश जागा था। वह कितना सैरंध्री के अपमान के कारण था, कितना अपने अपमान के कारण—वे समझ नहीं पा रहे थे।...उनका मन आक्रोश से जल रहा था; किंतु न तो तब से शरीर हिला था और न ही उनकी जिह्वा से कुछ उच्चरित हुआ था। ... वे देख रहे थे कि इस समय कीचक माधवी के प्रभाव में था। उन्होंने उसे कई बार केकय की माधवी के प्रभाव मे देखा था। और उसके प्रभाव में वह कुछ भी कर सकता था। यदि इस समय राजा चाहें तो उसे कशा से पीट सकते थे। चाहें तो उसे बंदी बना सकते थे। चाहें तो उसे उसकी सारी संपत्ति से वंचित कर सकते थे। किंतु वह सदा ही तो माधवी के प्रभाव में नहीं रहेगा। जिस समय वह प्रकृतस्थ होगा, उस समय वह इतना निरीह नहीं होगा। तब वह खड्ग खींच कर राजा को चुनौती देगा; और राजा उसकी उस चुनौती का सामना नहीं कर पाएँगे। ...पर यदि वे उसे इसी अवस्था में कारागार मे डाल देते हैं, तो वह खड्ग कैसे खींचेगा ? पर उस अकेले को कारागार में डाल देने से तो काम नहीं चलेगा। उनके अपने प्रासाद में उसकी बहन बैठी है। वे प्रासाद मे पहुँचेंगे तो वह प्रश्न करेगी। नगर में उसके भाई और अनुयायी उपकीचक हैं। वे लोग विराटनगर की सेना की रीढ की हड्डी हैं। सारी की सारी सेना उसके प्रभाव में है। सेना विद्रोह कर सकती है। ...

राजा को लगा, उनके मन के किसी कोने में,चाहे कितने भी छद्म रूप मे क्यो न हो, और कितनी भी न्यून मात्रा में क्यो न हो, सैरंध्री को इस प्रकार अपमानित देख कर प्रसन्नता जन्मी है। उसने उनके प्रेम निवेदन की ओर ध्यान नहीं दिया था। ... पर तत्काल ही उनके मन में आया कि उन्होंने उससे तो प्रेम निवेदन किया ही नहीं था। वह तो रानी ने ही भूचाल मचा दिया था। रानी ने कहा था कि सैरंध्री से इतने लोग प्रेम करते हैं कि राजा ने उस पर दृष्टि डाली तो सैरंध्री का कोई न कोई प्रेमी उनकी हत्या कर देगा। राजा ने तो अपने मन को उस ओर से हटा लिया था। यह भी सत्य है कि उसने कीचक का प्रेम भी स्वीकार नहीं किया था। इसीलिए तो वह भागती हुई शरण पाने के लिए यहाँ आई थी; और कीचक उसके पीछे-पीछे आ गया था। अब उन्हें देखना था कि सैरंध्री का कौन-सा प्रेमी, कीचक से इसका प्रतिशोध लेता है। ... यहाँ तो बल्लव ने ही उसे उठा कर फेंक दिया था। ... किंतु बल्लव सैरंध्री का प्रेमी नहीं हो सकता। राजा को इस प्रकार की कोई सूचना नहीं मिली थी। उसने तो अपने सामने अपमानित होती हुई एक नारी की रक्षा मात्र की थी। उसकी

स्थिति में कोई भी पुरुष यही करेगा।

राजा को लगा कि उनके मन में एक प्रकार की गुदगुदी-सी हो रही थी ... तो क्या बल्लव कीचक से भी बलशाली था ? इतना बलशाली कि वह कीचक को अपनी भुजाओं में उठा कर दूर फेंक दे, जैसे कोई हल्के से खिलौने को फेंकता है ?... नहीं ! शायद ऐसा नहीं है। कीचक इस समय माधवी के प्रभाव में था। ... पर यदि बल्लव, कीचक से अधिक शक्तिशाली है, तो क्या वह कीचक से उनकी रक्षा भी कर सकता है ? किंतु वह अधिक से अधिक एक मल्ल हो सकता है। वह सेनापति तो नहीं है। वह न सेना का सामना कर सकता है, न सैन्य-संचालन ! संभवतः वह शस्त्रों के विषय में कुछ भी न जानता हो। तो वह कीचक से उनकी रक्षा कैसे कर सकता है ? ...

राजा की समझ में नहीं आ रहा था कि वे क्या चाहते हैं। सैरंध्री के अज्ञात प्रेमी यदि कीचक का वध कर दें और विराट को उसके आतंक से मुक्त कर दें, तो ? पर तब विराटनगर की सेनाओं का संचालन कौन करेगा ? ... वे कीचक से तो मुक्त होना चाहते हैं, किंतु कीचक के समान एक सेनापति की आवश्यकता तो उन्हें रहेगी ही। तो वे कीचक का वध चाहते हैं अथवा नहीं ? ...राजा के मन में कुछ भी स्पष्ट नहीं था।

सभासदों ने देखा : सैरंध्री का अपमान हुआ है। बल्लव ने बलवान कीचक को उठा कर दूर फेंक दिया है। राजा ने बल्लव का विरोध नहीं किया है और कीचक का उठने का साहस ही नहीं हो रहा है।

उनमें से कई समवेत स्वर में चिल्लाए, "यह अन्याय है महाराज ! यह भारी अन्याय है। दुष्ट कीचक को इसका दंड मिलना चाहिए।"

सैरंध्री कीचक के धक्के और पाद-प्रहार से जैसे स्तंभित हो गई थी। उसकी आँखों के सम्मुख जो कुछ भी घटा, उसे जैसे उसने संवेदनाशून्य दृष्टि से देखा। ... किंतु क्रमशः जैसे उसकी भी संज्ञा जागी। संवेदना लौटी। उसने देखा कि कंक तथा बल्लव उसकी सहायता को आए हैं, बल्लव ने कीचक को उठा कर दूर फेंक दिया है, किंतु उसके पश्चात् कंक ने बल्लव को जैसे सावधान ही नहीं किया, कर्म से निरत कर दिया है। राजा ने भी सब कुछ देखा है; किंतु वह अब तक किंकर्तव्यविमूढ़ सा बैठा है। बल्लव के बल को देख कर सभासदों ने भी एक प्रकार का शाब्दिक विरोध प्रकट करने का साहस किया है, किंतु ऐसा कुछ नहीं हुआ, अथवा हो रहा, जिसे कीचक को उसके अपराध का दंड देने का उपक्रम जैसा कुछ कहा जाए।

सैरंध्री का अपमान-पीड़ित मन चीत्कार कर उठा, "राजन् ! धर्मप्राण राजा अपनी प्रजा का उसी प्रकार पालन करता है, जैसे कोई ममतामयी माँ अपने अबोध शिशु की रक्षा करती है। मैं आपकी प्रजा हूँ। अबला स्त्री हूँ। मेरे पति

यहाँ नहीं हैं, इसलिए वर्तमान के लिए अनाथ हूँ। आपके सम्मुख इस पापी कीचक ने मेरे केश खींचे हैं। मुझे धक्का दिया है। लात मारी है। क्या उसे दंडित करना आपका धर्म नहीं है ?"

राजा अब तक मौन थे, किंतु सैरंध्री द्वारा इस प्रकार सीधे संबोधित किए जाने पर उन्हें कुछ तो कहना था। उनकी दृष्टि कीचक पर पड़ी। कीचक अपने स्थान पर उठ कर खडा हो गया था और उनकी ओर देख रहा था। उसके मस्तिष्क पर से माधवी का प्रभाव पूर्णतः समाप्त हो चुका था। उसकी आँखों के भाव को देख कर मत्स्यराज को अपनी रीढ की हड्डी में एक कँपकँपी का सा अनुभव हुआ।

"सैरंध्री !" राजा बोले, "तुम दोनो में जो कलह हुई है, वह हमारे सामने नही हुई है। उस सारी बात को जाने बिना कोई राजा न्याय नहीं कर सकता। इसके लिए आवश्यक है कि पहले हम उस सारी बात का पता करें कि तुमने सेनापति कीचक को अपने किस कृत्य से क्रोधित कर दिया था। सेनापति का अपराध तो सब ने देखा है, किंतु हमे तुम्हारे अपराध को भी तो जानना होगा। हम उसका शोध करेगे; और उसी के अनुसार उपयुक्त समय पर तुम्हारा न्याय करेंगे।" राजा ने रुक कर कीचक को देखा, "सेनापति कीचक ! तुम्हें स्मरण रखना चाहिए कि राजसभा की अपनी मर्यादा होती है। माधवी के प्रभाव मे राजसभा में प्रवेश कर उत्पात् करना तनिक भी शोभनीय नहीं है। जाओ, और स्मरण रहे कि भविष्य मे इस प्रकार का व्यवहार न हो।"

कीचक ने एक क्रुद्ध दृष्टि सैरंध्री पर डाली और सभा से बाहर चला गया।

सैरंध्री के लिए यह सब असह्य था। वह जैसे भूल गई कि वे अपने पतियो के साथ विराटनगर में अज्ञातवास कर रही है। वह भूल गई कि वह राजसभा में स्वयं राजा के सम्मुख खडी है। उसे स्मरण केवल इतना रहा कि रानी की आज्ञा पर माधवी लेने गई सैरंध्री का कीचक ने अपमान करने का प्रयत्न किया। वह स्वयं को वचा कर भागी तो राजसभा में सबके सामने कीचक ने उसके केश खींचे, उसे धक्का दिया और लात मारी। उसके केश अभी भी बिखरे हुए थे। उसके वस्त्र धूलधूसरित थे। आघात के कारण उसके मुख से जो रक्त निकला था, वह अब भी पोंछा नहीं गया था। उसका अपमानित हृदय प्रतिशोध के लिए चीत्कार कर रहा था।

"राजन् !" वह बोली, "जो राजा अपने और पराए में भेद करता है, वह न धर्मप्राण है न न्यायी। मैं आप पर अभियोग लगाती हूँ कि अपना परिजन होने के कारण आपने कीचक का अपराध अनदेखा किया।"

"यह तुम्हारी भूल है सैरंध्री !" राजा ने उत्तर दिया, "केवल तुम्हारे आरोप लगाने मात्र से मैं मत्स्यदेश के सेनापति को कारावास में तो नहीं डाल सकता,

न ही उसे कशाघात का दंड दे सकता हूँ। उसे चेतावनी दे दी गई है। अब इस समय इससे अधिक क्या हो सकता है। तुम अधिक हठ करोगी तो हम कोटपाल को आदेश दे देंगे कि वह शोध करे कि तुम्हारे किन कृत्यो के कारण सेनापति को इतना क्रोध आया कि वे आपे से बाहर हो गए और उन्होने सभा में अभद्र व्यवहार किया।"

सैरंध्री की आँखों में क्रोध उतर आया, "न्याय के सम्मुख छोटे और बडे सब बराबर हैं। उसमें यह नहीं देखा जा सकता कि मालिनी एक सैरध्री है, और कीचक मत्स्यदेश का सेनापति। जो लोग ऊँचे पदों पर बैठे हैं, वे धर्म और न्याय के विधान से मुक्त हैं क्या ? पद उन्हें प्रजा की रक्षा का दायित्व देता है अथवा प्रजा पर अत्याचार करने का अधिकार ? इस पर विचार किया जाना चाहिए महाराज ! नहीं तो मत्स्यदेश की सारी दासियॉ और निर्धन स्त्रियॉ मत्स्यदेश के राजपुरुषों के बलात्कार की पात्राएँ बन कर रह जाएँगी।"

"सैरंध्री ठीक कह रही है महाराज !" सहसा सभासद चतुरानन बोला, "उच्च पद, धन अथवा बल के कारण किसी व्यक्ति को यह अधिकार तो नहीं है कि धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करे। राजा के विधान को भंग करे।"

राजा के उत्तर से पहले ही सैरंध्री बोली, "आप कोटपाल को कहें अथवा अपने किसी सभासद को कि वह यह शोध करे कि सैरंध्री का दोष क्या था, जिसके कारण कीचक ने उसके साथ यह व्यवहार किया। किंतु कीचक ने जो कुछ किया, वह आपके सम्मुख किया। उसके लिए आपको किस प्रमाण की आवश्यकता है ?" उसने रुक कर सारे सभासदों को देखा, "आपका सकट यह है कि जो अपराधी है, वह राज्य का सेनापति और राजा का श्यालक है, और जो पीड़ित है, वह प्रासाद में कार्य करनेवाली एक साधारण सैरंध्री है। सेनापति तो सैरंध्री को लात मार सकता है; किंतु सैरंध्री को कैसे अनुमति दी जा सकती है कि वह सेनापति को अपने पादप्रहार से भूमि पर इस प्रकार गिरा दे कि सेनापति मुख से रक्तवमन करने लगे।"

राजा समझ रहे थे कि सैरंध्री सत्य कह रही थी; सत्य ही वे सेनापति को कोई कठोर दंड नहीं दे सकते थे। वे सिर नीचा किए चुपचाप बैठे रहे।

"कीचक को धर्म का ज्ञान नहीं है।" सैरंध्री पुनः बोली, "मत्स्यराज भी किसी प्रकार धर्मज्ञ नहीं हैं। जो अधर्मी राजा के पास बैठते हैं, वे सभासद भी धर्म के ज्ञाता नहीं हैं।"

कंक को लग रहा था कि स्थिति बिगड़ती जा रही है। राजा कीचक को दंडित करने में असमर्थ थे, यह सत्य था। ऐसे में यदि सैरंध्री हठपूर्वक बोलती जाएगी, तो वह राजा का अपमान भी कर सकती है। राजा को यह जानने को भी प्रेरित कर सकती है कि ऐसी तेजस्विनी नारी कौन है। एक साधारण सैरंध्री

का तो ऐसा साहस हो नहीं सकता कि वह राजा से इस प्रकार की बातें कहे।

"सैरंध्री ! कीचक ने धर्म की मर्यादा का उल्लंघन किया है, यह हम सब ने देखा है।" कंक ने कहा, "महाराज ने उसे चेतावनी दे दी है। सारे सभासद समझ रहे हैं कि दंड का जो एक लक्ष्य, पीड़ित की पीड़ा का शमन है, वह पूरा नहीं हुआ है। पर अब तुम भी धर्म की मर्यादा का उल्लंघन मत करो। राजा, प्रजा का पिता होता है, किंतु पिता भी तो अपनी संतान की सारी इच्छाएँ तत्काल पूरी नहीं कर सकता। तुम ही धर्म का विचार करो। क्षमाशीले ! क्षमा मनुष्य का सबसे उत्तम धर्म है। क्षमा सत्य है, क्षमा दान है, क्षमा धर्म है। क्षमा के बारह अग हैं और तीन सौ साठ अरे है। उस काल चक्र के पूरा होने में, तीस अरो की ही तो कमी है। कालचक्र पूरा होते ही सबको उनका मनभावन मिल जाएगा। कालचक्र पूर्ण होने तक तुम भी क्षमा का दान करो।"

सैरंध्री समझ रही थी कि कंक का संदेश क्या था। उनके अज्ञातवास को पूर्ण होने मे केवल एक मास शेष था। एक मास पूरा होते ही, उनकी प्रतिज्ञा पूरी हो जाएगी। उन्हें अज्ञात रहने की कोई बाध्यता नहीं रहेगी, और उसे उसका मन भावन मिल जाएगा। ... किंतु इस अपमान को पूरा एक महीना सहते रहना...

"जाओ सैरंध्री ! रानी सुदेष्णा के महल में जाओ। तुम वहाँ सुरक्षित हो। वहाँ कोई तुम्हारा अपमान भी नहीं करेगा।" कंक बोले, "मन न माने तो कुछ समय बृहन्नला के साथ नृत्य संगीत का आनन्द उठाने में व्यतीत कर लो। महाराज की द्यूतक्रीडा में क्यों व्यवधान उपस्थित कर रही हो।"

सैरंध्री, कंक के सारे संकेत समझ रही थी; किंतु उसका क्षोभ तनिक भी कम नहीं हो रहा था। वह जानती थी कि क्षमा उत्तम धर्म है; किंतु वह कंक के समान क्षमाशीला नहीं हो सकती थी। जब तक वह अपने इन्हीं पैरों से कीचक के शव को न ठुकरा ले, तब तक उसके हृदय की ज्वाला शांत नहीं हो सकती थी, उसका क्षोभ कम नहीं हो सकता था।

वह उठी। उसने कंक को कुछ इस प्रकार प्रणाम किया, जैसे वह राजा को प्रणाम कर रही हो। धीरे-धीरे वह राजसभा से बाहर निकल गई।

कंक अपने स्थान पर बैठे तो राजा ने बहुत धीरे से कहा, "कंक आज तुमने कीचक से मेरी रक्षा कर ली। सैरंध्री कीचक को दंड दिलवाए बिना मानती नहीं, और मै कीचक को दंड देने का साहस कर नहीं सकता। सैरंध्री को समझा कर तुमने मेरा बड़ा उपकार किया है कंक।"

46

कीचक सभा से बाहर निकला तो उसे लगा, जैसे वह किसी स्वप्न से जागा हो। इस समय वह पूर्णतः सजग था, किंतु इससे पूर्व जो कुछ उसने देखा और समझा था, वह सब बहुत धुँधला सा था। ... जैसे जो कुछ घटित हो रहा था, उस पर धुँध छाई हो अथवा उन घटनाओं तथा दृश्यों को देखने वाले उसके नेत्रों पर किसी प्रकार का कोई झीना-सा आवरण डाल दिया गया हो। उसने वह सब देखा तो था; किंतु वह सब स्पष्ट नहीं था, प्रच्छन्न-सा था।...

... उसे स्मरण आ रहा था कि प्रातः वह भारी मन और अलस शरीर से अपने प्रासाद के संगीत-मंडप में जा बैठा था। यह संगीत-मंडप उसने पर्याप्त खुले स्थान में बनवाया था। उस पर छत तो थी; किंतु उसके चारों ओर दीवारें नहीं थीं। वृक्ष थे किंतु मंडप से दूर थे। मंडप में बैठने से उनकी हरीतिमा का सुख तो आँखों को मिलता था; किंतु वे प्रकाश तथा पवन के मार्ग की बाधा नहीं थे। उसी मंडप में बैठे-बैठे उसने देखा था कि बाहर वर्षा हो रही थी। पवन-झकोरे वृक्षों से जैसे लिपट-लिपट जा रहे थे। कितने प्रसन्न थे वे वृक्ष और उन से बरजोरी करता वह पवन। ... कीचक का मन जैसे ऐंठने लगा था। ...इतना प्रसन्न था सारा वातावरण और वह कैसा उदास-सा बैठा था। वह क्या करता, सुदेष्णा ने सैरंध्री को उसके पास भेजा ही नहीं था। क्यों भेज देगी वह उसे। उसने सैरंध्री को कोई मूर्खतापूर्ण वचन जो दे रखा था। सेनापति कीचक की इच्छा कोई महत्त्व नहीं रखती सुदेष्णा के लिए। उस सैरंध्री की इच्छा अधिक महत्त्वपूर्ण थी।...

इस समय वह सुदेष्णा और सैरंध्री—दोनों को ही भूल जाना चाहता था। इस सुंदर प्रकृति में खो जाना चाहता था। जब आकाश से ऐसी वर्षा होती थी, पवन मस्ती से चलता था, वृक्ष झूमते थे, लताएँ इठलाती थीं, तो कीचक इसी मंडप में बैठ कर उनके साथ झूमना चाहता था। सैरंध्री को स्मरण कर तड़पते रहने से तो वह सुख संभव नहीं था। ... उसको भूल कर ही संभव था। सैरंध्री को भूलना तो तभी संभव था, जब कुछ ऐसा कीचक के हाथ लग जाए, जो सैरंध्री से भी अधिक आकर्षक और मादक हो। और सैरंध्री से अधिक मादक तो माधवी ही हो सकती थी। ... सैरंध्री ने उसे सारा संसार भुला रखा था। माधवी, सैरंध्री को भी भुला सकती है। केकय से शांगलू उसकी प्रिय माधवी लाया था। तो इस समय माधवी के सेवन से अधिक आनन्ददायक और क्या हो सकता था ? ...

उसने मंडप में ही माधवी मँगवा ली थी। ... एक बार उसके मन में आया

भी कि इस समय राजसभा में जाने की तैयारी भी करनी है; किंतु वह विचार अधिक देर तक टिका नहीं। चला जाएगा राजसभा में। अभी बहुत समय था। और एक दिन सभा मे नहीं जाएगा, तो कौन-सा आकाश गिर पड़ेगा। वह दस मास विराटनगर से बाहर था, तो भी तो राजसभा चलती ही रही थी। बंद तो नहीं हो गई थी। ...अब इस समय, मंडप में बैठ माधवी का सेवन करने के स्थान पर सभा में राजा तथा सभासदों के कुतर्क सुनना किसको प्रिय लग सकता है। जब से यह कंक आया है, तब से तो सभा में धर्म-चर्चा कुछ अधिक ही होने लगी है। राजा द्यूत मे मन लगाना चाहते हैं और वह धर्मशास्त्र की कोई समस्या ले कर बैठ जाता है, जैसे वही धर्मराज युधिष्ठिर हो। ...

और सहसा कीचक का मन ठिठक गया। कहीं युधिष्ठिर ही तो यहाँ कंक के रूप में अज्ञातवास नहीं कर रहा ?...पर नहीं। युधिष्ठिर को द्यूत का ज्ञान नहीं है, और कंक द्यूत में ही दक्ष है। ...

कीचक को अपने ही ऊपर क्रोध आने लगा। ... इतनी सुंदर और मादक प्रकृति के बीच बैठ वह सैरंध्री को भुलाने के लिए कंक को स्मरण कर रहा है ? मूर्ख ! महा मूर्ख !! सैरंध्री को भुलाने की क्या आवश्यकता है ? उसे तो बुलाने की आवश्यकता है। नहीं आती तो मँगवाने की आवश्यकता है। तब भी नहीं मानती, तो उसे पकड़ मँगवाने की आवश्यकता है।

अब तक इतनी माधवी उसके कंठ के नीचे जा चुकी थी कि उसके स्थान पर स्वयं माधवी सोचने लगी थी। ... वह उठ खड़ा हुआ। ... यहाँ बैठे रहने से काम नहीं चलेगा। वह स्वयं जाएगा और सुदेष्णा के प्रासाद से सैरंध्री को पकड लाएगा।...वह सुदेष्णा के पास गया था और सुदेष्णा ने यह कह कर उसे लौटा दिया था कि वह सैरंध्री को केकय की माधवी लाने के बहाने उसके प्रासाद में भेज रही है। सैरंध्री आई भी थी। पर जाने यह सैरंध्री कैसी दासी थी ? न उसे सेनापति का भय था, न राजा के श्यालक का। न उसे स्वर्ण लुभाता था, न कीचक का यौवन। वह उसे धक्का मार कर चली गई। ...

.पर क्या यह सब संभव था ? या यह भी माधवी का ही छल था ? ऐसा तो नहीं कि सैरंध्री आई ही न हो और वह माधवी की माया में किसी और ही दासी को सैरंध्री समझता रहा हो ? ... पर नहीं। उसे स्मरण है कि वह सैरंध्री के पीछे-पीछे भागता हुआ राजसभा में जा पहुँचा था। उसने क्रोध में सैरंध्री के केश खींचे थे, उसे धक्का दिया था, और लात से उसे मारा था। ...पर क्या यह सब कुछ सचमुच घटित हुआ था ? जो सैरंध्री उसे इतनी कमनीय लगती थी, उसे उसने अपने पैर से मारा था ? हाँ ! शायद ऐसा ही हुआ था। वह तो उसे अपनी अवज्ञा का और भी कठोर दंड देना चाहता था; पर तब किसी ने उसे अपनी भुजाओं में उठा कर, बहुत दूर फेंक दिया था। ...

कीचक उन क्षणों को स्मरण करने का प्रयत्न करता है, तो उसे यही लगता है कि उसका मस्तिष्क कुछ इतना धुँधला गया था कि उसे कुछ भी वास्तविक नहीं लग रहा था। क्रोध का ऐसा झंझावात था उसके मस्तिष्क में कि उसे अपना परिवेश जैसे दिखाई ही नहीं दे रहा था। माधवी अपना बल दिखा रही थी और उसकी आँखें बंद होती जा रही थीं। फिर सहसा ही किसी ने उसे उठा कर बहुत दूर फेंक दिया था और उसकी आँखों के समक्ष अंधकार छा गया था। .... कभी उसे लगता था कि उसके क्रोध ने ही उसे उठा कर दूर फेंक दिया था। कभी लगता था कि सामने खड़े उस रसोइए बल्लव ने ही उसे उठा कर फेंक दिया था। पर बल्लव ऐसा साहस कैसे कर सकता था ?... यह तो कदाचित् सैरंध्री के उन अज्ञात रक्षक गंधर्वो का ही काम था। पर उसे वहाँ और कोई दिखाई तो दिया ही नहीं था। संभवतः वे लोग अदृश्य रह कर ही सैरंध्री की रक्षा कर रहे थे। ... यह भी तो संभव है कि उन्होंने बल्लव का रूप धारण कर लिया हो। कामरूप गंधर्वो के लिए क्या संभव नहीं था।

... वैसे भी कीचक इस स्थिति में ही कहाँ था कि वह देख सकता कि वहाँ कौन था, कौन नहीं था। यह तो अच्छा ही है कि उसे लगा कि बल्लव ने उसे उठा कर फेंका है, कहीं उसे लगता कि राजा ने उसे उठा कर फेंका है, अथवा ... स्वयं सैरंध्री ने ही उसे उठा कर फेंक दिया है, तो वह अपनी माधवी का क्या कर सकता था। केकय की माधवी में यह गुण न होता तो वह इतनी दूर से यह माधवी मँगवाता ही क्यों ?...

सहसा कीचक कुछ चिंतित हो गया।... उस समय वह माधवी के मद में था, इसलिए वह ठीक से देख नहीं पाया कि वहाँ क्या हुआ था, अथवा वह अपने बाधित काम, आहत अहंकार तथा अनियंत्रित क्रोध के साथ-साथ माधवी के मद के प्रभाव के कारण इस समय उसका चिंतन इतना अस्पष्ट और भ्रमित हो गया है कि वह सोच ही नहीं पा रहा कि उसके साथ क्या हुआ था ? ... और यदि कहीं सैरंध्री के उन अदृश्य रक्षक गंधर्वो की बात सत्य है और उनमें से ही किसी ने उसे उठा कर फेंका है, तो उसे बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। क्या वे आज रात को उसकी हत्या का प्रयत्न भी कर सकते हैं ?...

कीचक स्वयं चकित था कि उसका मन अपनी हत्या की बात सोच कर ही कैसा भयभीत-सा हो गया था। ... उसने अपना आत्मबल जगाने के लिए अपनी वीरता को स्मरण किया। उन युद्धों को याद किया, जो उसने अपने भुजबल से जीते थे। ... किंतु उसके मन के किसी कोने में दुबका भय था कि हिलने का नाम ही नहीं ले रहा था। ... युद्ध तो वह उससे कर सकता था, जो उसके सामने आए। वह अपनी शैया पर सोया हो और अदृश्य गंधर्व उसके कक्ष में घुस आएँ। ... क्यों ? उसके द्वारपाल उन्हें रोकेंगे नही ? ... द्वारपाल तो उसे

रोकेंगे, जो दिखाई दे। अदृश्य गंधर्वो को उसके द्वारपाल कैसे रोक सकते हैं।... वह शैया पर सोया रहे और वे आकर उसका वध कर जाएँ तो वीर सेनापति कीचक क्या कर सकता है, और उसकी सेनाएँ क्या कर सकती हैं ?...

कीचक को लगा कि उसके मन में, एक प्रकार से रात का भय समा गया है। उसे सचमुच रात को बहुत सावधान रहना पड़ेगा। ...

रात को कक्ष में बहुत उमस थी। आषाढ़ का शुक्ल पक्ष चल रहा था। आकाश पर मेघ-संभार था; किंतु पवन-संचार बंद हो गया था। ... कक्ष में सोना कठिन था; किंतु कीचक का कक्ष के बाहर, खुले में, अथवा किसी खुले मंडप में सोने का साहस नहीं हो रहा था। जान-बूझ कर असुरक्षित स्थान पर सोने से क्या लाभ ? गधर्व लोग उसे चेतावनी दे कर अथवा नींद से उठा कर तो उसका वध करेगे नहीं। सोए का ही मस्तक काट कर वे अपने साथ ले जाएँगे... तो क्या वह प्रासाद के दूसरे तल के वरांडे में सो जाए ?... पर नहीं ! आवश्यक तो नहीं कि ये अदृश्य गंधर्व भूमि पर चल कर ऊपर आएँ। वे तो आकाश से भी उतर सकते हैं। ऊपर वरांडे में सोने से तो उन्हें और भी सुविधा हो जाएगी। ...

सोने से पहले उसने सारे प्रासाद में घूम कर रक्षा-व्यवस्था देखी और स्थान-स्थान पर अंग-रक्षक बढ़ा दिए। प्रहरियों की संख्या में भी वृद्धि कर दी गई। नायकों को कठोर आदेश दिए गए कि कोई अनधिकृत व्यक्ति भीतर प्रवेश न कर पाए। इतने पर भी उसे संतोष नहीं हुआ तो उसने अपने कक्ष के द्वार पर भी रात को सशस्त्र प्रहरी नियुक्त करने का आदेश दिया; और स्वयं भी अपने निकट, शैया पर अपना खड्ग रख लिया। ...पर नींद तब भी नहीं आई। एक विचित्र प्रकार की व्याकुलता उसे घेरे हुए थी। वह स्वयं ही नहीं समझ पा रहा था कि वह भयभीत था अथवा उत्तेजित; अथवा मस्तिष्क में विचारों का जो उफान था, वही उसे सोने नहीं दे रहा था। उसे लग रहा था कि अनेक बार रजोगुण का आधिक्य भी उसकी निद्रा का वैरी हो जाता था। संभव था कि यह उसके मन का भय न हो, उसकी विचारशीलता ही हो, जो उसे सोने न दे रही हो। ... वह एक से एक नई स्थिति की कल्पना कर रहा था, जिस में वे अज्ञात और अदृश्य गंधर्व उसकी हत्या कर सकते थे। ... और जैसे ही उसके मन में एक कल्पना आती, वैसे ही वह उसका प्रतिकार सोचने लगता था। उसने उन गंधर्वो से अपनी रक्षा के लिए इतने व्यूह सोच कर अपनी कल्पना में ही रच डाले थे, जितने एक बड़े युद्ध में भी नहीं रचे जाते।...

प्रहरियों द्वारा अर्द्धरात्रि की घोषणा उसने सुनी थी। उसके पश्चात् ही

किसी समय वह सोया था। कितनी देर सोया, यह भी वह नहीं जान पाया। हाँ! प्रातः ब्रह्ममुहूर्त से भी पूर्व जब उसकी आँख खुली तो पहला विचार उसके मन में यही आया कि वह किसी समय सो गया था। यद्यपि अभी उसकी नींद पूरी नहीं हुई थी; किंतु उसे लग रहा था कि अब वह और सो नहीं पाएगा। ... उसी क्षण उसके मन में दूसरा विचार आया कि रात्रि प्रायः व्यतीत हो चुकी थी, और जिन गंधर्वो के आने की संभावनाओं से वह इतना व्याकुल और विचलित हो गया था, वे नहीं आए थे। किसी ने उसके वध का प्रयत्न नहीं किया था और वह पूर्णतः सुरक्षित था ... इसका क्या अर्थ है ?

क्या उन गंधर्वो को सैरंध्री से उसके झगड़े की सूचना नहीं मिली ? ... पर ऐसा कैसे संभव है। जो गंधर्व सदा अदृश्य रह कर सैरंध्री की रक्षा करते हैं उन्हें सूचना न मिलने का क्या अर्थ ? सूचना तो मिली ही होगी। सदा साथ रहते हैं, तो सूचना मिलने न मिलने का क्या प्रश्न। उन्होंने सब कुछ अपनी आँखों से देखा होगा। ... और फिर जब वे अदृश्य ही रहते हैं, तो उनके लिए दिन और रात का क्या अंतर ? वे तो वहाँ, उस राजसभा में ही कीचक का वध कर सकते थे। ...यदि यह मान भी लिया जाए कि वे ऐसा काम सार्वजनिक रूप से नहीं करना चाहते, तो रात को उन्हें कीचक के वध का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए था। यदि वे रात को भी उसका वध करने नहीं आए, अथवा वध करने का साहस नहीं कर पाए, तो इसका क्या अर्थ ? क्या वे कीचक से डरते हैं? या उनका कोई अस्तित्व ही नहीं है ? कहीं ऐसा तो नहीं कि गंधर्वो की यह कथा सैरंध्री का पाखंड मात्र हो ? वह अपना महत्त्व बढाने के लिए अथवा अपनी रक्षा के लिए, ऐसी कथाएँ गढ कर उन्हें प्रचारित करती रहती हो ?

और सहसा कीचक को विश्वास हो गया कि यह कथा मात्र ही है। ... उसे स्वयं पर आश्चर्य हुआ कि वह किस बात से इतना भयभीत हो गया था। यदि कोई व्यक्ति होगा, तो वह दिखाई कैसे नहीं पड़ेगा ? हिमालय के कुछ उत्तरी क्षेत्रों में गंधर्व जातियाँ निवास करती हैं। कीचक ने उन्हें देखा है। साधारण मनुष्य हैं वे भी विराटनगर की साधारण प्रजा के समान। तो फिर उन लोगों में ऐसी शक्तियाँ कैसे हो सकती हैं, जो साधारण लोगों में नहीं हैं ? जाने वह माधवी के अतिरिक्त मद के उतार का प्रभाव था, अथवा काम के उद्वेग की असफलता की हताशा का कि वह उन गंधर्वो की कथा पर विश्वास कर बैठा और उन से डर गया। ... विराटनगर के वीर सेनापति को इस प्रकार भयभीत होने की क्या आवश्यकता है। उसे मत्स्यराज विराट स्वयं कुछ कहने का साहस नहीं कर सकते तो फिर इस सैरंध्री से संबद्ध कोई व्यक्ति क्या कर सकता है?

... पर राजसभा में किसी ने तो उसे शारीरिक रूप से उठा कर कुछ

दूर फेक ही दिया था। क्या वह भी माधवी के मद का भ्रम ही था ? यदि ऐसा था, तो वह भूमि पर गिर कैसे पड़ा था ? कुछ क्षणों के लिए अचेत जैसा कैसे हो गया था ? ... बहुत स्पष्ट तो स्मरण नहीं है उसे, किंतु उसे लगा था कि वह मोटा बल्लव उसकी ओर बढ़ा था और उसने उसे छुआ भी था। तो क्या बल्लव ने ही उसे उठा कर फेंक दिया था ? क्या बल्लव उसे उठा कर फेंक सकता है ? ...

कीचक को पहले दिन से ही बल्लव एक आपत्तिजनक व्यक्ति लगा था। राजा ने उसकी नियुक्ति ही क्यों की थी। उनकी पाकशाला का काम चतुरसेन की अध्यक्षता में सुचारु रूप से चल रहा था, तो फिर इस हाथी को पालने की क्या आवश्यकता थी ? कीचक के सैनिक भी उससे प्रसन्न नहीं थे। वह किसी की बात नहीं सुनता था और अपनी मनमानी करता था। इस हाथी को तो पाकशाला के खूँटे से खोल कर वन में छोड़ आना ही होगा; और यदि नहीं जाएगा तो इसका आखेट करना होगा। ... मनमानी करने वाला हाथी, महावत का अंकुश न मानने वाला हाथी, नगर मे कैसे रह सकता है ? राजा को अधिकार ही क्या था कि वे कीचक से पूछे बिना इस प्रकार के व्यक्ति की नियुक्ति करें। कल को उसके कारण नगर और प्रजा की शांति भंग होगी, तो उसे सँभालने का दायित्व तो कीचक का ही होगा। राजा को तब क्या करना है ? दायित्व कीचक के और अधिकार राजा के। कैसा विचित्र विभाजन है।...

कीचक हँस पड़ा। ...बल्लव उसकी ओर बढ़ा अथवा नहीं बढ़ा। बल्लव ने उसे उठा कर फेंका अथवा नहीं फेंका। अब बल्लव विराटनगर में नहीं रह सकता। उसे जाना ही होगा। राजा सुविधा से नहीं मानेंगे। न मानें। राजा का सहमत होना कोई आवश्यक नहीं है। कीचक की इच्छा पूर्ण होगी। राजा को अच्छा न लगे तो सिंहासन छोड़ दें। होगा तो वही, जो कीचक चाहेगा। ... बल्लव ही क्यों, कीचक को वह कंक भी एक आँख नहीं भाता। सदा ही राजा से चिपका रहता है। राजा को देखो, तो वे भी हर समय 'कंक यह कहता है, कंक वह कहता है' की रट लगाए रहते हैं। कंक को भी विदा करना होगा। पर ...

पर सबसे पहले तो सैरंध्री को प्राप्त करना है। बल्लव और कंक से कीचक बाद में निबटता रहेगा। ...कल जो हुआ, सो हुआ, आज सैरंध्री को उसकी आज्ञा का पालन करना ही होगा।...कौन है इस विराटनगर में, जो उसकी आज्ञा का पालन न करे। सैरंध्री ने अपनी आँखों से देख लिया है कि कीचक यदि राजा के सम्मुख उस पर पादप्रहार करता है, तो भी राजा में कीचक को दंडित करने का साहस नहीं है। विराटनगर में कीचक की प्रभुसत्ता को कोई चुनौती नहीं दे सकता, तो सैरंध्री कैसे अपनी मनमानी कर सकती है।

वह उठ बैठा, जैसे किसी अभियान के लिए जाने के लिए उठा हो।

"शोभने ! मेरे स्नान का प्रबंध करो।"

द्वार पर बैठी शोभना उनींदी-सी भीतर आई, "स्वामी ! अभी तो रात्रि का अंतिम प्रहर है। अभी स्नान का समय नहीं हुआ है।"

कीचक के शरीर का सारा रक्त उसके मस्तिष्क की ओर दौड पड़ा। उसका सारा आत्मनियंत्रण समाप्त हो गया। उसने आगे बढ़ कर परिचारिका को एक लात जमाई, "दुष्टे ! स्वामी मैं हूँ अथवा तू ?"

शोभना उसके व्यवहार से ठगी-सी रह गई। वह जानती थी कि कीचक भयंकर क्रोधी था। वह कभी भी किसी बात पर रुष्ट हो कर किसी को भी पीट सकता था, किंतु शोभना के साथ ऐसा व्यवहार उसने कभी नहीं किया था। रात्रि को कीचक के द्वार पर शोभना उसकी इच्छा से ही उपस्थित रहती थी, ताकि आवश्यकता होने पर रात को किसी भी समय, अथवा प्रातः किसी के भी जागने से पहले, वह द्वार से उसकी शैया तक की यात्रा निर्विघ्न कर सके। उसने आज तक शोभना से प्रेम जताने और शरीर सुख प्राप्त करने के और कोई विशेष कार्य नहीं करवाया था। और आज ... चांडाल का प्रेम भी तो चांडाल सरीखा ही होगा। ... शोभना ने सोचा ... वह उससे साधु का-सा व्यवहार कैसे पा सकती है।...

"स्वामी आप हैं सेनापति !"

"तो फिर इसका निर्णय करने वाली तू कौन होती है कि स्नान का समय अभी नहीं हुआ है ?" उसने उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की, "स्मरण रख। विराटनगर में राजा भी कीचक की इच्छा का उल्लंघन नहीं कर सकता, तो फिर एक परिचारिका, इस प्रकार का वाक्य कैसे बोल सकती है। जा ! जाकर मेरे स्नान का प्रबंध कर।"

शोभना एक भी शब्द कहे बिना, स्नान का प्रबंध करने चली गई।

47

कंक की आज्ञा का पालन सा करती हुई सैरंध्री राजसभा से बाहर निकल आई; किंतु उसका मन तनिक भी शांत नहीं था। वह जानती थी कि कंक ने जो कुछ कहा था, वह सब सत्य था। उचित भी यही था। किंतु वह अपने उस मन का क्या करती, जो निरंतर झुलस रहा था। आँच थी कि धीमी ही नहीं हो रही थी और ताप था कि घट ही नहीं रहा था। उसकी आँखों में अश्रु थे, वक्ष में रह-रह कर आवेश का आवेग एक सिरे से दूसरे सिरे तक दौड़ जाता था। उसके दाँत

जैसे निरंतर एक-दूसरे को पीसने का प्रयत्न कर रहे थे।...ठीक है कि वह कीचक के हाथो और अपमानित होने से बच गई। उसकी रक्षा हो गई। किंतु क्या इतना पर्याप्त था ? उस दुष्ट कीचक को तो कोई दंड नहीं मिला न !...उसने सैरंध्री का इतना अपमान किया, उसे इतनी पीडा दी, और उसे किसी ने कोई दंड नहीं दिया। वह अहंकार से अपना सिर उठाए निश्चिंत भाव से चला गया। ऐसी स्थिति मे सैरध्री का मन शांत कैसे हो सकता है। ...पर वह राजसभा में अपनी रक्षा के लिए ही तो गई थी, कीचक को दंडित करवाने के लिए नहीं। क्या वह पहले नहीं जानती थी कि प्रत्येक राजसभा धर्मराज युधिष्ठिर की राजसभा नहीं होती, जहॉ धर्म और न्याय के लिए व्यक्ति का पद, बल, धन और संबंधों पर कोई ध्यान नही दिया जाता। उसने कौरवों की वह सभा नहीं देखी, जिसमें उसे सार्वजनिक रूप से निर्वस्त्र करने का प्रयत्न किया गया और कहीं से विरोध का एक स्वर नहीं उठा, क्योंकि अपराध करने वाला स्वयं राजा का पुत्र था, युवराज था ? न्याय तो तब होता, जब राजा उसी समय उसकी त्वचा खिचवा लेते। पर नहीं ! शासक का न्याय तो साधारण जन के लिए होता है, अपने संबंधियों तथा समर्थ लोगों को दंडित करने के लिए नही। तो वह यह अपेक्षा कैसे कर रही है कि राजा विराट अपने श्यालक को उसके अपराध का दंड देगा। उस सभा मे सैरंध्री की रक्षा हो गई, यही बडी बात है। वहॉ कीचक को दंड देने वाला कोई नहीं था।... तो क्या आवश्यकता थी सैरध्री को वहॉ जाने की। वस्तुतः उसे तो कीचक के कक्ष से भागना ही नहीं चाहिए था। उसे वहीं रहना चाहिए था। अपनी रक्षा के लिए नहीं, कीचक को दंडित करने के लिए लड़ना चाहिए था। उसे भागना नहीं चाहिए था, कीचक पर प्रहार करना चाहिए था। जो कुछ मिलता, उससे उसका सिर फोड देना चाहिए था। माधवी पी कर जिस प्रकार वह लडखडा रहा था, उसमे सैरंध्री के लिए यह तनिक भी कठिन नहीं होता। इतना शस्त्र परिचालन तो उसे भी आता है कि वह उस मद्यप से अपनी रक्षा कर सकती। वह भागी ही क्यों ? क्यो गई वह राजा के पास ? ... उसने सोचा था कि वहाँ कंक होंगे। तो वह यह भी जानती है कि कंक कभी भी प्रतिशोध और प्रतिहिसा के समर्थक नहीं रहे। वे अपनी रक्षा के लिए प्रतिकार को तो उचित ठहराते है, प्रतिशोध को नहीं। प्रतिशोध तो उसके लिए है, जो क्षमा न कर सके। और कंक किसी का भी अपने प्रति किया गया बडे से बड़ा अपराध क्षमा कर सकते हैं। वैसी ही क्षमा की अपेक्षा वे अपनी पत्नी और अपने भाइयो से करते है। इसीलिए उन्होंने उसे भी क्षमा का ही उपदेश दिया था ... "क्षमा दान है, क्षमा सत्य है, क्षमा धर्म है।" किंतु सैरंध्री कीचक को कभी क्षमा नहीं कर सकती। उसे दंड मिलना ही चाहिए। पर राजा उसे दंड नहीं देंगे, तो ?... उसके पति ? कंक ने कहा है कि एक मास शेष है। एक मास में उनके अज्ञातवास

का काल पूर्ण हो जाएगा। तब उन्हें किसी प्रकार की चिंता नही होगी। तब वे कीचक से प्रतिशोध ले सकेंगे। ... किंतु सैरंध्री का मन बार-बार पूछता है कि क्या कंक कभी भी कीचक को दंडित करेंगे ?... सैरंध्री को अपना प्रतिशोध चाहिए। वह कंक के समान उदार नहीं हो सकती। कीचक ने जिस प्रकार उसे पीड़ित और अपमानित किया है, उसका प्रतिशोध तो कीचक की मृत्यु से ही पूरा हो सकता है। किंतु राजा विराट एक सैरंध्री के अपमान के लिए अपने सेनापति को मृत्युदंड देने का सामर्थ्य नहीं रखते।...

सैरंध्री के मन में आया कि वह अपने कक्ष में चली जाए और एक बार एकांत मे मन भर कर रोए। ... पर अगले ही क्षण एक आशंका उसके मन मे जागी। ... यदि कीचक उसके कक्ष में आ गया, तो ? वह तो काम के मद मे उन्मत्त है। वह कहीं भी जा सकता है। कौन रोक सकता है, उसे सैरध्री के कक्ष में आने से ? ...आशंका के साथ ही उसका आक्रोश भी जागा। ... आए कीचक। अब की बार आए कीचक। अब वह उसके सामने से भागेगी नहीं। अब की बार, वह उसके वक्ष पर चढ़ जाएगी। भीम ने तो युद्ध में दुःशासन के वक्ष का रक्त पान करने की प्रतिज्ञा ही की है। वह सचमुच ही कीचक का रक्त पी जाएगी। ... उसे कीचक का भय नहीं है। वह जान गई है कि उसके रक्षक तो हैं, किंतु उसका प्रतिशोध लेने वाला कोई नहीं है। अपना प्रतिशोध तो उसे स्वयं अपने बल पर ही लेना होगा। अच्छा है कि कीचक से उसका सामना हो जाए। उसने सैरंध्री के केश पकड़ कर उसे धक्का दिया था। वह उसके केश नोच लेगी। उसका मस्तक भूमि पर पटक कर उसका रक्त न बहाए, तो उसके इस क्रोध का क्या लाभ ?

तो फिर वह अपना मुँह छिपा कर अपने कक्ष में क्यों चली जाए ? वह सुदेष्णा के मंडप में ही क्यों न जाए, जिसने उसे कीचक के प्रासाद मे भेजा था। उसे भी तो पता चले कि नारी अपमानित होती है, तो उसे कैसी पीडा होती है। सैरंध्री ने तो सुदेष्णा से अपेक्षा की थी कि वह उसकी रक्षा करेगी। सुदेष्णा ने क्या किया। स्वयं ही उसे अपमान और पाप के घृणित जीवन की ओर धकेल दिया।

जड़ और संवेदनशून्य-सी सैरंध्री जैसे अपने पैर घसीटती हुई सुदेष्णा के मंडप में आई। जिसकी भी दृष्टि उस पर पड़ी, उसका मुख आश्चर्य से खुल गया। सैरंध्री के केश बिखरे हुए थे; नयनों से निरंतर अश्रु बह रहे थे; वस्त्र मलिन हो गए थे और उसके मुख से बहा हुआ रक्त भी पोछा नहीं गया था।

"यह क्या सैरंध्री ! कहाँ गई थीं तुम ? यह क्या हुआ है तुम्हें ?" सुदेष्णा ने उससे पूछा। सुदेष्णा के स्वर में जिज्ञासा भी थी; किंतु उसके साथ ही एक प्रकार का भय भी था। सैरंध्री को भेजते समय ही वह जानती थी, कि वह सुरक्षित

नहीं लौटेगी। किंतु लौटती हुई सैरंध्री का यह रूप होगा, यह भी उसने नहीं सोचा था। ... सामान्यतया जो दासियाँ इस प्रकार कीचक के पास जाती थीं, वे लौटती थीं, तो कुछ पीडित अवश्य होती थीं, किंतु उनके अश्रु स्वर्णाभूषणों से पोंछ दिए गए होते थे। वे कुछ लजाई शरमाई भी होती थीं। कुछ तो ऐसा अवसर पा कर प्रसन्न भी होती थीं। ... किंतु यह सैरंध्री ...

सुदेष्णा के प्रश्नों के उत्तर में सैरंध्री की जो दृष्टि सुदेष्णा की ओर उठी, उसे सह पाना सुदेष्णा के लिए भी भारी था। उसमे कहीं यह भाव नहीं था कि वह एक सैरंध्री की दृष्टि थी, जो रानी की ओर उठी थी। उसमें जितना धिक्कार और भर्त्सना का भाव था, उससे सुदेष्णा बहुत छोटी हो गई लगती थी।

"आप नहीं जानतीं कि मैं कहाँ गई थी ?" सैरंध्री बोली, "मैं आपके लिए कीचक के प्रासाद से केकय प्रदेश की माधवी लेने गई थी। आपका स्वर्णपात्र इस समय राजसभा में पडा है। ..."

"राजसभा में क्यो ?" सुदेष्णा ने कुछ चकित हो कर पूछा।

"क्योंकि कीचक द्वारा अपमानित होने से बचने के लिए मैं राजसभा मे राजा से न्याय माँगने चली गई थी।" सैरंध्री बोली, "वहाँ कीचक ने मुझे दंडित करने के लिए मेरे केश खींचे। मुझे लात से मारा।"

"ओह !" रानी मौन रह गई। उसने तो यह समझा था कि यह प्रसंग उसके और कीचक के प्रासाद के मध्य ही रहेगा, किंतु यह सैरंध्री तो उसे सीधे राजसभा मे ही ले गई।

"राजा ने सेनापति को दंडित नहीं किया ?" सुदेष्णा ने पूछा।

"हाँ। दंडित किया। राजा ने कहा कि भविष्य में ऐसा नहीं होना चाहिए।"

"अच्छा मै उनसे कहूँगी कि वे सेनापति को दंडित करें।" रानी ने अभिनय किया।

"आप रहने ही दें।" सैरंध्री का स्वर भयंकर कटुता और घृणा लिए हुए था, "दंड देनेवाला एक राजा ही तो नहीं है। सृष्टि में मूल दंडविधान तो ईश्वर का बनाया हुआ है, व्यक्ति के लिए भी, समाज के लिए भी, और देश के लिए भी। कीचक को दंडित करने वाले का क्या रूप होगा, यह कौन जानता है। उसे दंडित करने के लिए, ईश्वर अपनी इच्छा से, अपनी माया की सहायता से, जाने किस रूप में प्रकट हो जाएँ।" सैरंध्री का स्वर बहुत रहस्यमय हो गया था, जैसे वह सैरंध्री के कंठ से नहीं, प्रकृति के हृदय से उद्‌भूत हो रहा हो।

सैरंध्री की बात को सुदेष्णा हँस कर उड़ा नहीं सकी। उसे लगा कि सैरंध्री की बात से वह अपने भीतर, कहीं बहुत गहरे तक थरथरा गई है, पर उसने अपना भय प्रकट नहीं होने दिया, "फिर तो ठीक ही है। उसे अपने किए का दंड मिल ही जाएगा। तुम अब उठो। स्नान कर वस्त्र बदलो।"

सैरंध्री कुछ नहीं बोली। वह वहीं बैठी पथराई आँखों से रानी को देखती रही। रानी के लिए वे आँखें, बड़ी भयंकर थीं। अपनी जिह्वा से तो सैरंध्री ने बहुत कम कहा था, उसके नयन उससे कहीं अधिक कह रहे थे और उनका धिक्कार, रानी के लिए कहीं अधिक मर्मांतक था। उसने वहाँ से हट जाना ही उचित समझा।

सैरंध्री वहीं बैठी रही। वह जैसे जड़ हो गई थी। न हिलती थी, न डुलती थी। उसने न मुँह धोया, न स्नान किया, न कुछ खाया।

रानी वहाँ से हट गई थी, किंतु उसे निरंतर सूचना मिल रही थी कि सैरंध्री क्या कर रही है। और सैरंध्री थी कि अपनी आँखों से बहने वाले अश्रु भी नहीं पोंछ रही थी। ... रानी को उससे सचमुच भय लगने लगा था। वह कहीं सचमुच ही प्रायोपवेशन कर अपने प्राण त्यागने पर तुली हुई तो नहीं है ? उसने दंड देने वाले ईश्वरीय विधान की बात कही थी। कहीं वह अपने प्राण त्याग, प्रेत बन कर तो कीचक के प्राण लेना नहीं चाहती। ... सुदेष्णा को लग रहा था कि कीचक ने कदाचित् इस बार अपना आखेट चुनने में भूल कर दी है। सैरंध्री का यह अपमान उसे कहीं बहुत महँगा ही न पडे।...उसके मन मे अनेक बार आया कि वह सैरंध्री के पास जाकर उससे बात करे। उसे समझाए। थोड़ी मनुहार करे। उसे किसी प्रकार मना कर कुछ खिला-पिला दे। किसी प्रकार उसके अपने मन पर से सैरंध्री के इस अनशन का आतंक कम हो।... किंतु प्रायोपवेशन करती सी बैठी सैरंध्री के निकट जाने का उसका साहस ही नहीं हुआ।

देर तक सैरंध्री पत्थर-सी बनी बैठी रही। उसके मन में चलते झंझावात थम ही नहीं रहे थे कि वह कुछ और सोचती, अथवा कुछ और करती। उसकी इच्छा हो रही थी कि अभी वह उठ कर खड़ी हो जाए और चिल्ला-चिल्लाकर अपना और अपने पतियों का परिचय दे दे। फिर वह देखे कि उसके पति उसके अपमान का प्रतिशोध लेते है या नहीं। तब भी कीचक उसके चरणों में गिर कर उससे क्षमा माँगता है या नहीं। तब भी विराट उसकी इसी प्रकार उपेक्षा करने का साहस करता है क्या ? ... किंतु आहत अभिमान और क्रोध की उस चरम स्थिति में भी उसका विवेक उसे बार-बार सावधान कर रहा था कि वह ऐसी कोई मूर्खता न कर बैठे, जिससे उन सबको पुनः बारह वर्षो के लिए वनवास करना पड़े और इंद्रप्रस्थ लौटना एक स्वप्न बन कर ही रह जाए। उन्हें कभी अपना राज्य न मिले और उसके पति तथा पुत्र कभी उस राज्य का भोग न कर सकें ...

सैरंध्री का मन जैसे कोई युद्ध-क्षेत्र बन गया था और उसके अपने ही विचार कई-कई दलों में बँट कर एक-दूसरे के विरुद्ध व्यूहबद्ध हो रहे थे। ...

उसका एक मन कह रहा था, यह सब कुछ करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उसे चाहिए कि वह उठ कर जाए और अभी इस सुदेष्णा का कंठ दबा कर उसके प्राण ले ले। सैरंध्री के रूप में उसके पास सहस्रों बहाने हैं, रानी के साथ एकांत में रहने के, जब उसके पास न कोई परिचारिका होगी और न कोई अंगरक्षक। ...कीचक से भी बडी अपराधी तो सुदेष्णा है, जिसने उसे कीचक के प्रासाद मे भेजने का षड्यंत्र किया। यदि वह उससे माधवी मँगवाने की योजना बना कर उसे कीचक के प्रासाद में न भेजती, तो कीचक उसका अपमान कैसे कर सकता था ?...

दूसरे ही क्षण सैरंध्री को लगता कि सुदेष्णा ने कीचक की सहायता तो की है, किंतु वास्तविक अपराधी कीचक ही है। उसका ऐसा अपमान करके भी कीचक जीवित बच गया, तो द्रौपदी के अग्निकुंड में से जन्म लेने का क्या लाभ हुआ ? आज वह सैरंध्री है तो क्या, है तो वह द्रुपदकुमारी कृष्णा, जिसका जन्म अग्निकुड में से हुआ था। ...

सहसा, उसे लगा कि वह भूखी--प्यासी यहाँ बैठी रहेगी, अपने आपको तपाती रहेगी, तो क्या कीचक उसके तप से मर जाएगा ? सूक्ष्म शक्तियाँ, इतने स्थूल रूप में काम नहीं करती हैं। उसके लिए तो कोई भौतिक सहारा ही लेना पडेगा। ... उसने सुदेष्णा से कहा था कि ईश्वर जाने किस रूप में प्रकट हो कर कीचक का वध करेंगे। ... तो अब उसे उस रूप को भी खोजना होगा, जो ईश्वर का प्रतिनिधि बन कर कीचक का वध करे।... उसका ध्यान बार-बार बृहन्नला और बल्लव की ओर जा रहा था। कंक से ऐसी अपेक्षा नहीं की जा सकती। वे पहले ही उसे क्षमा करने के लिए कह चुके हैं। और यदि कीचक को दंड देना ही है, तो उसके लिए एक मास तक रुकने का संकेत भी दे चुके है। उन्हे क्रोध नहीं आता, वे कभी आवेश में नहीं आते। उन्हें धर्म का त्याग करने के लिए सहमत नहीं किया जा सकता। तो फिर उन से यह अपेक्षा कैसे की जा सकती है कि वे कीचक का वध कर देगे, अथवा अपने किसी भाई को इस कार्य के लिए नियुक्त कर देंगे। ...बल्लव ने भी प्रातः कंक की बात मान कर कीचक को जीवित छोड दिया था, किंतु सैरंध्री उसके क्रोध को भडका सकती है। वह उसे प्रतिशोध के लिए उद्यत कर सकती है। प्रत्यक्ष नहीं, तो अप्रत्यक्ष रूप से सही, किंतु बल्लव कीचक का वध करने को प्रस्तुत हो सकता है। ... कीचक का वध तो बृहन्नला भी कर सकता है; किंतु वह धर्मराज की आज्ञा के विरुद्ध नहीं जाएगा। उसके पास जाने में तो स्वयं सैरंध्री को भी भय लगता है। ऐसा न हो कि वह सैरध्री को ही समझा दे कि उसे प्रतिशोध की भावना अपने मन से निकाल देनी चाहिए। ...ग्रंथिक और तंतिपाल के साथ तो इन परिस्थितियों में संपर्क करना ही कठिन है।....

संध्या के समय सैरंध्री अपने स्थान से उठी और किसी से बिना कुछ कहे सुने अपने कक्ष में आ गई। उसने भीतर से कपाट लगा लिए, ताकि न कोई आए जाए, न किसी से कोई बात करनी पडे। न किसी को पता चले कि वह अपने कक्ष में क्या कर रही है। सब लोग अपने आप ही मान लें कि वह अपनी शैया पर पड़ी अश्रु बहा रही है।...

अंधकार हो गया। प्रासाद की सारी गतिविधि शिथिल हो गई। सब ओर से निश्चिंत हो कर सैरंध्री उठी। उसने स्वयं को एक बार दर्पण में देखा। उसके अधरों पर एक क्रूर मुस्कान उभरी; और वह अपनी योजना को सफल बनाने में लग गई।

बहुत दिनों के पश्चात् आज उसने मन लगा कर स्नान किया। शरीर को इस प्रकार मल-मल कर धोया, जैसे उस पर से वह सैरंध्री की केचुल उतार रही हो और उस शरीर मे सोई हुई द्रौपदी को जाग्रत कर रही हो। नहाने के पश्चात् बिखरे केशों को ऐसा रूप दिया जो किसी भी केश-विन्यास से अधिक आकर्षक हो। उपलब्ध वस्त्रों में सबसे आकर्षक साडी धारण की। मुखमंडल पर अंगराग लगाया। चंदन की गंध से महकती हुई वह उठी। कक्ष के कपाट धीरे से खोले और सावधानी से निरीक्षण किया। कहीं कोई नहीं था। दूर से बाहरी प्रहरियों का स्वर आ रहा था।

उसने मुख पर अवगुंठन डाल लिया था। यदि मार्ग में कोई मिल गया और उसने जिज्ञासा कर ही ली, तो उसे उत्तर देने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। अवगुंठनवती सैरंध्री से सब ही परिचित थे। उसका सारा शृंगार अवगुठन की ओट में था। ... यदि किसी ने पूछ लिया कि वह इस समय कहाँ जा रही है, तो ?... वह कह तो सकती है कि वह रानी के खाने के लिए कुछ लेने के लिए बल्लव के पास जा रही है। ... किंतु कदाचित् यह बहुत उपयुक्त उत्तर न हो। रात अधिक हो गई थी। वह इस समय बल्लव के पास जा रही है अथवा गई है—यह सूचना संदेह उत्पन्न कर सकती है, विशेषकर जबकि प्रातः सभासदो ने उसकी रक्षा के लिए, बल्लव द्वारा कीचक को उठा कर परे फेंके जाते हुए देखा था। वैसे भी पाकशाला में इस समय तक कोई खाद्य पदार्थ नहीं बचता, और इस समय वह बल्लव से फिर से कुछ पकाने के लिए तो कह नहीं सकती। रानी तक बात जा सकती है। सैरंध्री की बात के सत्यापन के लिए रानी से पूछा जा सकता है कि क्या उन्होंने सैरंध्री को भेजा था ? ... उससे तो अच्छा है कि वह कोई ऐसा बहाना बनाए, जिसका सत्यापन सिवाय उसके और कोई भी न कर सके।... वह कह सकती है कि वह कोई ऐसी वनस्पति खोज रही है जो केवल पूर्णिमा की अर्द्धरात्रि को ही प्रकट होती है और उसके चूर्ण को लगाने से कोई भी स्त्री अपनी अवस्था से कई वर्ष छोटी दिखने लगती है। ... इस

बहाने का तो कोई प्रतिकार नहीं है। ... यह तो उसी का क्षेत्र था। सैरंध्री के रूप में उसे ही इस प्रकार की वनस्पतियों का ज्ञान था। इस तथ्य का सत्यापन न तो रानी कर सकती है, न कोई और। ...

पर बल्लव के कक्ष तक आने के लिए सैरंध्री ने जो मार्ग चुना था, उसमें उसे कोई नहीं मिला। किसी ने जिज्ञासा नहीं की। वह बिना किसी विशेष कठिनाई के बल्लव के द्वार पर पहुँच गई थी।

बल्लव के कक्ष के कपाट खुले हुए थे। वह उनके मध्य अपनी शैया बिछाए हुए गहरी नींद में सो रहा था। सैरंध्री चाहती थी कि वह कक्ष में प्रवेश कर जाए और ये कपाट किसी प्रकार बंद हो जाएँ।... किंतु बल्लव को जगाए बिना वह कक्ष में प्रवेश नहीं कर सकती थी और खुले कपाटों के सम्मुख सोए बल्लव को जगाने का प्रयत्न सकटपूर्ण हो सकता था।

उसने घूम कर उस सारे स्थान को देखा। बल्लव के कक्ष का वातायन खुला हुआ था। वह थोड़ा साहस करे तो वातायन मे से कक्ष में प्रवेश कर सकती है। साहस तो उसे वैसे भी करना ही पड़ेगा; अन्यथा यहाँ खड़ी-खड़ी भी किसी के द्वारा देख ली गई तो सारा श्रम तो व्यर्थ जाएगा ही, साथ ही उनके संबंध का रहस्य भी खुल जाएगा।

वह उचककर वातायन की चौखट में बैठ गई और फिर पैर लटकाकर भीतर कूद गई। बल्लव अब भी उसी प्रकार सोया हुआ था। वह जानती थी बल्लव गहरी नींद सोता था, और सुविधा से जगाया नहीं जा सकता।

उसने बल्लव को हिलाया; किंतु बल्लव पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। दो-तीन बार झकझोरने पर उसकी नींद कुछ टूटी।

"कौन है ?" उसने अलसाए से स्वर में पूछा।

"मैं हूँ सैरंध्री ! बल्लव उठो। आँखें खोलो।"

बल्लव की आँखे खुल गई। वह उठ कर बैठ गया।

"कुशल तो है ?" उसने पूछा।

"पहले द्वार और वातायन के कपाट बंद करो।" सैरंध्री बोली, "फिर बताती हूँ।"

बल्लव ने वैसा ही किया।

वह आकर शैया पर बैठा, तो सैरंध्री उससे लिपट गई। बल्लव ने उसे अपनी भुजाओं में भर लिया, "बहुत दुखी हो ?"

सैरंध्री ने उसके वक्ष पर अपना सिर रख दिया, "तुम्हारा सहारा न होता, तो अब तक प्राण दे चुकी होती।"

बल्लव ने उसके मुखमंडल को अपनी हथेलियों में ले लिया, "ऐसा मत कहो। अब मात्र एक मास रह गया है, इस अज्ञातवास का। उसके पश्चात् मैं

कीचक क्या दुर्योधन को भी उसके कृत्यों के लिए दंडित करूँगा। तुम्हारे ये केश इस प्रकार बिखरे नहीं रहेंगे। तुम्हें दुःशासन के वक्ष का रक्त लाकर दूँगा, इनको धोने के लिए। तुम साम्राज्ञी हो, साम्राज्ञी बन कर रहोगी।"

"वह सब ठीक है प्रिय ! किंतु राज्य से भी बढ़ कर सम्मान है। मै कब तक इस प्रकार अपमानित होती रहूँगी; और वह भी तुम्हारी उपस्थिति में, तुम्हारी आँखों के सम्मुख ?" सैरंध्री के नयनों में अश्रु भर आए, "जिसकी इच्छा हो वह तुम्हारी प्रिया के केश पकड़कर उसे घसीटता रहे ? जिसकी इच्छा हो वह उसे अपशब्द कहे ? जिसकी इच्छा हो उसे घसीट कर अपने रथ में डाल ले, और जिसकी इच्छा हो उसे लात जमा दे ?"

बल्लव का हृदय एक ऐसी पीडा का अनुभव कर रहा था, जिसे सहना उसके वश का नहीं था। उसे लग रहा था कि यदि वह इस समय अपनी प्रिया के अश्रु नहीं पोंछ सका तो उसका वक्ष फट जाएगा। वह सैरंध्री को इस प्रकार दुखी नहीं देख सकता था। वह उसका दुख दूर करने के लिए कुछ भी कर सकता था।

"नहीं ! ऐसा नहीं हो सकता।" उसने सैरंध्री को अपने वक्ष से लगा लिया, "मैं ऐसा होने नहीं दूँगा।"

"तो क्या करोगे तुम ?" सैरंध्री तड़पकर उससे पृथक् हो गई, "जब कोई मेरे केश खींचेगा, तुम पाकशाला के ईंधन के लिए सूखे वृक्ष खोजने लगोगे ?"

"नहीं प्रिये नहीं। ऐसा नहीं होगा।" वह बोला, 'मैं तो आज प्रातः ही उस कीचक का वक्ष फाड़कर उसे चील कौवों को खिला देता, किंतु मुझे कंक ने रोक दिया।"

"कंक को तुम नहीं जानते क्या ?" सैरंध्री आवेश में बोली, "उन्होंने क्रोध को जीत लिया है। उन्हें क्रोध नहीं आता। इसलिए उन्हें कोई भी घटना विचलित नहीं करती। वे आवेश में नहीं आते। वे धर्म को कभी नहीं भूलते। इतना ही नहीं, वे तो किसी को भी क्षमा कर सकते हैं। और मुझे जानते हो तुम ! मैं किसी को क्षमा नहीं कर सकती। यदि तुमने इस कीचक से आज रात ही मेरे इस अपमान का प्रतिशोध नहीं लिया तो मैं तुम्हें भी कभी क्षमा नहीं करूँगी।"

"मैं तुम्हारी क्षमा नहीं चाहता, तुम्हारा प्रेम चाहता हूँ, और उससे भी अधिक मैं तुम्हारी प्रसन्नता चाहता हूँ।" बल्लव बोला, "तुम्हारी प्रसन्नता से अधिक तुम्हारा सुख चाहता हूँ। तुम्हें कष्ट में देख कर मैं स्वयं सुखी नहीं रह सकता। मेरा सारा सुख तुम्हारे सुख का आश्रित है।"

"तो फिर मेरे सुख के लिए, अपने सुख के लिए, आज रात उस दुष्ट कीचक की हत्या कर दो। मैं चाहती हूँ कि रानी ने मेरे विषय में जो यह प्रचार किया है कि मेरे पति के पाँच गंधर्व मित्र अदृश्य रह कर मेरी रक्षा कर रहे हैं,

सत्य प्रमाणित हो जाए। कल प्रातः लोग कीचक का शव देखें और अपने आप ही कहे कि यह सैरंध्री के अपमान का प्रतिशोध है।"

बल्लव ने कुछ नहीं कहा। चुपचाप उसकी ओर देखता रहा।

"तुमने कोई उत्तर नहीं दिया।" सैरंध्री बोली, "तुम भी कंक के समान कहना चाहते हो कि तुम्हारे हाथ धर्म की रज्जू से बँधे हैं ?"

"वे तो बँधे ही है ...।"

"तो उसी रज्जू से मेरा कंठ बाँध कर मुझे किसी वृक्ष की ऊँची शाखा से लटका दो, ताकि मै इस बार-बार के अपमान से मुक्त हो जाऊँ। जिसके पति युद्धवीर न होकर धर्मवीर हो गए हों, उस पत्नी का जीवित रहना, बस अपमान सहना ही है।" सैरंध्री की ऑखों से निरंतर अश्रु बह रहे थे।

"नहीं। नहीं। यह सब मत कहो।" बल्लव का स्वर रुदन के बहुत निकट पहुँच गया था, "मै कंक नहीं हूँ। मुझे धर्म और तुम्हारी प्रसन्नता में से केवल एक का चयन ही करना होगा, तो मैं तुम्हारी प्रसन्नता को ही चुनूँगा। तुम्हें दुखी कर मुझे धर्म को जय नहीं करना है। पर ..."

"पर क्या ?" सैरंध्री प्रखर स्वर में बोली।

"कीचक के प्रासाद में घुस कर आज रात उसका वध करने का अर्थ है कि प्रकट और प्रत्यक्ष युद्ध। उसमें अज्ञातवास की प्रतिज्ञा का पालन नहीं हो सकता।"

"तो न हो अज्ञातवास की प्रतिज्ञा का पालन।" सैरंध्री तड़पकर बोली, "मुझे अपना अपमान करवाकर किसी प्रतिज्ञा का पालन नहीं करना है। क्या होगा, यदि हम पहचाने गए। दुर्योधन इंद्रप्रस्थ का राज्य नहीं देगा ? वह तो सारी प्रतिज्ञाओं को पूर्ण करने पर भी नहीं देगा। मैं पूणर्तः आश्वस्त हूँ कि सफल अज्ञातवास करने के पश्चात् भी यदि तुम लोगों को राज्य चाहिए तो उसके लिए दुर्योधन से युद्ध करना ही पड़ेगा।" सहसा सैरंध्री का स्वर और कटु हो गया, "मेरी समझ में तो तुम पाँचों भाइयो की बुद्धि नहीं आती। तुम लोग राज्य भी करना चाहते हो और युद्ध भी नहीं करना चाहते। अरे युद्ध के बिना भी कभी राज्य हुआ है। मैं तुम्हारे स्थान पर होती तो कीचक को मार कर दुर्योधन को मारने के लिए चल पडती।"

"शांत हो जाओ सैरंध्री ! तुम इस समय अपनी पीडा के कारण आवेश में हो, नहीं तो ऐसी बात नहीं कहतीं।" बल्लव ने धैर्यपूर्वक कहा, "यह सत्य है कि मेरे भाइयो को राज्य नहीं चाहिए, धर्म चाहिए। वे राज्य अर्जित करने के लिए नहीं, धर्म अर्जित करने के लिए जन्मे है। वे राज्य के माध्यम से भी धर्म ही अर्जित करना चाहते हैं। किंतु मैं उनसे थोडा भिन्न हूँ। मैं भी धर्म पर ही चलना चाहता हूँ, किंतु उन सबकी तुलना मे मुझमे रजोगुण कुछ अधिक ही

है। मैं अपने विपक्षी को अधर्म करते देख, धर्म पर टिका नहीं रह सकता। इसलिए मैं तो प्रस्तुत हूँ। चलो मेरे साथ। मैं अभी कीचक के कक्ष में घुस कर उसका वध कर दूँगा। उसके जितने भी सैनिक और अंगरक्षक आएँगे, उन सबका वध कर दूँगा। कहो तो राजा को उसके अन्याय का दंड भी आज की रात ही दे दूँ।..."

सैरंध्री मौन रह कर उसकी ओर देखती रही।

"किंतु उसका परिणाम होगा कि मेरे भाइयों को पुन: बारह वर्षों के लिए वनवास करना पड़ेगा। मैं भी उनके साथ ही जाऊँगा। उनको छोड कर, उन से पृथक् रह कर राज्य नहीं कर सकूँगा मैं। मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारा मन शांत होगा तो तुम भी कंक के धर्म से सहमत हो जाओगी। उनको वन भेज कर स्वयं सिंहासन पर नहीं बैठ सकोगी। ऐसा कर सकतीं तो तुम हमे वनवास के लिए भेज कर स्वयं कांपिल्य चली गई होतीं।"

"मुझे अपने वाग्जाल में बाँध रहे हो ?" सैरंध्री ने कठोर स्वर में निर्मोही हो कर पूछा, "क्षत्रिय धर्म भुलाकर मुझे संन्यासी का धर्म सिखा रहे हो ?"

"नहीं ! उसके विपरीत मैं कूटनीति की बात कह रहा हूँ।" बल्लव हँस कर बोला, "जो योद्धा आवेश में युद्ध करता है, उसके पराजित होने की संभावना अधिक रहती है। जीतता वही है, जो योजना बना कर शात मन से लड़ता है।"

सैरंध्री ने उसकी ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा।

"कीचक का वध उसके प्रासाद में न हो। उसे किसी ऐसे स्थल पर बुलाया जाए, जहॉं मैं अज्ञात रूप से जा सकूँ और उससे युद्ध कर उसका वध कर सकूँ। कोई हमें युद्ध करता न देखे। और दूसरे दिन अपने आप प्रचारित हो जाए कि किसी शक्तिशाली गंधर्व ने उसका वध कर दिया है।"

"यह कैसे संभव है ?" सैरंध्री ने पूछा।

"क्या यह संभव है कि तुम उसे कल रात को किसी ऐसे स्थान पर अभिसार के लिए आमंत्रित करो, जहॉं रात को पूर्ण एकांत और गोपनीयता हो। वह वहॉं आएगा और तुम्हारे स्थान पर मैं वहॉं चला जाऊँगा। शेष मै देख लूँगा।"

"तुम चाहते हो कि आज का सारा अपमान और पीडा भूल कर मैं स्वयं उसके पास जाऊँ, उससे प्रेम जताऊँ, उसे अभिसार के लिए बुलाऊँ ? और इस सारी प्रक्रिया में वह मेरा जो अपमान करना चाहे, करे।" सैरंध्री अब भी उतने ही क्रोध मे थी।

"अपने मन को तनिक शांत करो प्रिये !" बल्लव ने मुस्कराकर उसकी

ओर देखा, "कल के व्यवहार के कारण कीचक को कोई दंड तो मिला नहीं है। ऐसे में वह तुम्हारा पीछा नहीं छोडेगा। वह फिर तुम्हारे पास आएगा। इस बार वह अधिक आश्वस्त होगा। वह अपना अधिकार मान कर तुम्हारे पास आएगा और संभवतः बल प्रयोग का प्रयत्न भी करेगा। तुम प्रयास यह करना कि उस स्थिति से पहले ही तुम उसको अपनी मोहिनी में बाँध लो। उसे समझाओ कि तुम उससे गुप्त प्रेम तो कर सकती हो, किंतु प्रकट प्रेम तुम्हारे लिए न संभव है, न हितकर। तब वह पूछेगा कि तुम कहाँ मिलना चाहती हो। तुम उसे रात्रि को एक दीपक भर तेल जलने के पश्चात् बृहन्नला की नृत्यशाला में बुला लो। वहाँ रात को कोई नहीं होता। कोई दीपक जलाकर प्रकाश भी नहीं करता। वहाँ एक पर्यक है। मै उसी पर उत्तरीय तान कर लेटा रहूँगा। वह वहाँ आ जाए, तो मै उसे मार डालूँगा। दोनों में मुष्टिका युद्ध होगा, मल्ल युद्ध होगा, कोलाहल भी होगा। कितु मै जानता हूँ कि रात्रि को वहाँ कोई नहीं आता। यदि संयोग से कोई उधर आ भी गया और उसने वह कोलाहल सुना भी तो वह उसे प्रेत बाधा मान कर भाग जाएगा। मैं कीचक का वध कर दूँगा और किसी को तनिक सा संदेह भी नहीं होगा।" बल्लव ने रुक कर उसकी ओर देखा, "बस अंतर इतना ही है कि वह आज रात्रि को नहीं मरेगा, कल रात्रि को मरेगा। किसी कारण से वह कल तुम्हारे पास नहीं आया और कल रात का अभिसार निश्चित न हो सका, तो परसों मरेगा। और परिणाम यह होगा कि कोई न हमें पहचानेगा, न अज्ञातवास की प्रतिज्ञा भंग होगी और न मेरे भाइयों को, मुझे और तुम्हें पुनः बारह वर्षो के लिए वनवास करना पडेगा।"

सैरंध्री ने मन ही मन विचार किया : बल्लव ठीक ही तो कह रहा था। वह उससे कीचक के लिए क्षमा तो नहीं माँग रहा था, और न वह प्रतिशोध का विरोध कर रहा था।

"मैं जानता हूँ कि आज का सारा दिन तुम्हारे लिए असह्य यातना का दिन रहा है। संभव है कि तुम्हारा आहत अपमान तुम्हें आज रात्रि को भी सोने न दे। कल का सारा दिन भी तुम्हारे लिए कष्ट का दिन ही होगा। पर प्राणवल्लभे! सोचो यदि तुम इतना कष्ट और सहन कर लोगी तो मैं तुम्हारी इच्छा पूरी कर दूँगा। तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो जाएगी और हम न अधर्म के भागी होंगे, न अपने आत्मीय जनो को कष्ट देंगे। तुम्हारा यह त्याग तुम्हें और तुम्हारे पतियों को एक दीर्घकालीन यातना से बचा लेगा और तुम्हारा आखेट कल गिद्धों द्वारा खाया जाएगा।" बल्लव ने रुक कर उसकी ओर देखा, "क्या कहती हो शुभानने ?"

सैरंध्री के अधरों पर एक हल्की-सी मुस्कान उभरी और उसने जैसे विह्लता की सी स्थिति में बल्लव का आवेगपूर्ण प्रगाढ़ आलिंगन किया, "तुम तो अंतर्यामी

हो। मेरे मन की प्रत्येक बात ठीक उसी रूप में समझते हो, जैसी वह मेरे मन में है। मेरे प्रियतम !"

48

प्रतिदिन के समान सहज भाव से प्रातः ही सैरंध्री रानी के मंडप में उपस्थित हो गई, तो रानी को कुछ आश्चर्य हुआ। कल तो उसे देख कर लग रहा था कि वह या तो स्वयं नहीं रहेगी अथवा अपने अपराधियो को जीवित नहीं रहने देगी। ... पर आज तो वह पूर्णतः सहज लग रही थी, जैसे कुछ हुआ ही न हो। रानी के मन में आया कि कल की घटना की कुछ चर्चा चलाएँ, और अपना पक्ष स्पष्ट करें।... पर तभी मन ने कहा, कहीं ऐसा न हो कि जो सैरंध्री सहज भाव से काम पर आ गई है, वह उस प्रसंग को सुन कर बिदक जाए। ... इससे अच्छा है कि यह मान कर चलें कि कल कुछ असाधारण घटित ही नहीं हुआ।

वे बिना एक भी शब्द कहे, सहज भाव से शृंगार करवाने के लिए बैठ गईं।... सैरंध्री की भी जिह्वा नहीं हिली और अंगुलियॉं चलने लगीं। ...

सैरंध्री ने अभी रानी सुदेष्णा की केश-सज्जा ही निपटाई थी कि उसने कीचक का स्वर सुना। वह बाहर द्वार पर खडी परिचारिका को आदेश दे रहा था कि वह रानी को उसके आने की सूचना दे।

सैरंध्री जानती थी कि कीचक, रानी की अनुमति की प्रतीक्षा नहीं करेगा। वह भीतर आ जाएगा और उसकी खोज आरंभ कर देगा। रानी भी किसी बहाने से इधर-उधर खिसक जाएँगी। तब वह होगी और कीचक होगा। उसे उसकी बातें सुननी पड़ेंगी। क्या भरोसा, वह फिर कल के समान बल-प्रयोग करे। आज सैरंध्री को वह स्थिति नहीं आने देनी थी। आज वह उससे भागेगी भी नहीं और वार्तालाप को उस दिशा में भटकने भी नहीं देगी कि कीचक अपना हाथ उसकी ओर बढ़ा सके। ...

सब कुछ प्रायः उसकी अपेक्षा के ही अनुकूल हुआ। परिचारिका ने रानी को कीचक के आने की सूचना दी। रानी ने एक दृष्टि अपने निकट खड़ी सैरंध्री पर डाली और कीचक को लिवा लाने की अनुमति दे दी।

सैरंध्री ने भी ऐसा कुछ नहीं किया, जिससे यह लगे कि वह असहज हो गई है, अथवा उसके आस-पास कुछ असाधारण घटित होने वाला है। वह सहज भाव से उस मंडप से लगे उद्यान की ओर चल पडी। कोई भी देख सकता

था कि न तो उसने छुपने का प्रयत्न किया था, और न भागने का। सबके देखते देखते वह उद्यान की ओर गई थी। ...

कीचक आकर रानी सुदेष्णा के सम्मुख खड़ा हो गया। उसने अपनी दृष्टि इधर-उधर घुमाई और नेत्रों तथा हाथो के संकेत से पूछा, "वह कहाँ है ?"

"लगता है, आपको उसके विरह में रात भर नींद नहीं आई भैया।"

"अब नींद कहाँ सुदेष्णे !" कीचक बोला, "उसका मुखमंडल मेरे नेत्रो के सम्मुख घूमता रहता है। निद्रा आ जाए तो स्वप्नों में भी वही होती है। जब तक उससे समागम नहीं हो पाएगा, मेरे जीवन में कोई रस नहीं रहेगा। ... वह है कहाँ ?"

सुदेष्णा ने उद्यान की ओर संकेत कर दिया। कीचक की दृष्टि उस ओर उठी : सैरध्री मथर गति से चली जा रही थी।

"'यह मुझसे भागने का तो प्रयत्न नहीं कर रही।" कीचक ने मन ही मन सोचा, "यह तो जैसे अपनी मयूरी की-सी चाल से मुझे मुग्ध करती हुई अपने पीछे आने का निमत्रण दे रही है।"

"जाओ, एकात मे लुभा लो उसे।"

कीचक की समझ में नहीं आया कि यह सुदेष्णा का प्रोत्साहन था अथवा उपालंभ। किंतु यह सब समझने की उसने प्रतीक्षा नहीं की। वह वेगपूर्वक उसी ओर चल पडा।

सैरंध्री की उसकी ओर पीठ थी, फिर भी ध्वनियों तथा अपने अनुमान से वह समझ रही थी कि वह उसके पीछे आ रहा है। किंतु इससे पहले कि वह आकर पीछे से उसे पकडने का प्रयत्न करे, वह पलटकर खडी हो गई। अब वे दोनों आमने-सामने थे।

सैरंध्री ने उसे देखा और इस प्रकार अपना मार्ग बदल लिया, जैसे वह उससे बच कर निकल जाना चाहती हो।

कीचक लपक कर उसके सम्मुख खडा हो गया।

सैरंध्री ने उसकी ओर देखा।

"तुम भाग कर राजा के पास जाकर भी गुहार कर आई, किंतु कुछ नहीं हुआ।" कीचक बोला, "इसका अर्थ समझती हो ?"

सैरंध्री ने पुनः उस पर एक दृष्टिपात किया, किंतु न वह मुख से कुछ बोली और न ही उसने वहाँ से भागने का प्रयत्न किया।

"समझने का प्रयत्न करो सैरंध्री !" कीचक आदेशात्मक स्वर में बोला, "मेरा बल और रण-कौशल ऐसा है कि यहाँ कोई मेरा विरोध कर जीवित नहीं रह सकता। राजा भी।" वह हँसा, "तुम राजा के पास गई थीं। क्या हुआ। मैं विराटनगर का सेनापति हूँ। सारा सैनिक बल मेरे अधीन है। राजा मुझसे विरोध

पालना नहीं चाहेगा। वह तो नाम मात्र का राजा है। सत्ता तो सारी मेरे पास है। तुम अब मेरा भाग्य हो। मैं तुम्हें प्राप्त किए बिना मानूँगा नहीं, और मुझसे तुम्हें कोई बचा नहीं सकता। अच्छा है कि तुम मेरा अनुरोध स्वीकार कर लो। सुखी रहोगी।"

सैरंध्री कुछ नहीं बोली।

"तुम मेरा महत्त्व समझतीं क्यों नहीं ?" कीचक ने कुछ खीझ कर कहा।

"तुम मेरा महत्त्व समझते हो ?" सैरंध्री ने पहला वाक्य कहा। उसके स्वर में आक्रोश था। न भय था, न समर्पण।

पहले तो कीचक उस विस्फोट को सुन कर जैसे भौचक रह गया, किंतु इतनी बात तो उसकी भी समझ में आ गई कि सैरंध्री का रूप कुछ बदला हुआ है। आज उसमें विरोध नहीं था, उपालंभ था। ... और उपालंभ तो किसी न किसी संबंध के आधार पर ही होता है। उसके मन में बैठा हिंस्र पशु कुछ शांत हुआ।

"क्यों नहीं समझता तुम्हारा महत्त्व ! दासों के समान तुम्हारे पीछे-पीछे घूम रहा हूँ। तुम्हारी चाटूकारिता में लगा हूँ। तुम्हें लुभा रहा हूँ। तुम्हें मना रहा हूँ। वचन दे रहा हूँ कि जो आदेश दोगी, उसे मानूँगा। जो कामना प्रकट करोगी, उसे पूर्ण करूँगा। तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। तुम्हारे लिए मारा-मारा ही नहीं फिर रहा हूँ, तुम्हारे लिए मर रहा हूँ। तुम्हारे लिए अपनी पत्नियों को छोड़ने को तैयार हूँ। उन्हें तुम्हारी दासियाँ बनाने को प्रस्तुत हूँ। और अब भी तुम कहती हो कि मैं तुम्हारा महत्त्व नहीं समझता।"

"मेरा महत्त्व यह है कि मुझे तुम्हारी आज्ञाओं का पालन करना होगा, क्योंकि मैं रानी की सैरंध्री हूँ और तुम राजा के श्यालक हो, सेनापति हो, सत्तावान हो, शक्तिशाली हो, धनवान हो। मेरा महत्त्व यह है कि मैं यहाँ दासी-कर्म करती हूँ, इसलिए तुम्हारी वासनापूर्ति का साधन बनना होगा मुझे, और वह भी अपनी इच्छा से नहीं, तुम्हारे आदेश से ? क्रीतदासी से बढ़ कर कभी कुछ समझा है तुमने मुझे ? यही है मेरा महत्त्व तुम्हारी दृष्टि में ?"

"नहीं !" सैरंध्री के इस आकस्मिक आक्रमण से कीचक जैसे हतप्रभ रह गया था। कुछ सँभल कर बोला, "तुम मेरे हृदय की स्वामिनी हो। हृदयेश्वरी हो, मेरी प्रेयसी हो। तुम मेरी प्राणेश्वरी हो। ..."

"तभी तो तुम दिन-दहाड़े मेरा पीछा करते हो। राजा की सभा में घुस कर, मुझे धक्का मारकर, मेरे केश खींचकर, मुझे पैरों से ठुकराकर, तुम मेरा सम्मान करते हो। प्रेयसी से ऐसा व्यवहार करते हो, तो दासी से कैसा व्यवहार करोगे ? ऐसा तो कोई क्रीतदासी से भी नहीं करता। गणिका भी ऐसे व्यवहार से स्वयं को अपमानित अनुभव करेगी। परकीया को प्राप्त करना चाहते हो, प्रेमी

बन कर नहीं, चांडाल बन कर।"

कीचक ने सैरंध्री को देखा। उसके क्रोध को समझा। उसकी पीडा का अनुभव किया। और उसे लगा कि सैरंध्री उसका प्रेम-निवेदन स्वीकार तो कर सकती है किंतु उसका व्यवहार उसे अपमानजनक लगा है। वह तो कदाचित् प्रेम पाना ही नहीं! चाहती, प्रेम करना भी चाहती है; किंतु प्रेम की तो सबकी अपनी-अपनी विधि होती है, अपनी-अपनी शैली होती है। ... उसे दिन के उजाले में, सार्वजनिक मार्गो पर सैरंध्री के पीछे इस प्रकार भागना नहीं चाहिए था। निश्चित रूप से उससे वह कलंकित और अपमानित होती है। उसे क्रीड़ा करनी चाहिए थी, किंतु कीचक की क्रीडा तो जैसे सैनिक आक्रमण बन गई थी।... कोई अपनी प्रिया का, अपनी अनुरागिनी का इस प्रकार पीछा नहीं कर सकता, उसे इस प्रकार अपमानित नहीं कर सकता। कोई पत्नी भी इस प्रकार अपने पति की कामेच्छा पूरी नहीं करेगी। ... कीचक से निश्चय ही भूल हुई है। उसने तो सैरंध्री का इस प्रकार अपमान किया है, जैसे कोई अपनी क्रीतदासी को उसके किसी अपराध का दंड देता है। वह प्रेम का निवेदन नहीं था। प्रेम की याचना भी वैसे नहीं होती। वह प्रेम प्रदर्शन भी नहीं था। वह तो निश्चित् रूप से मात्र दंडविधान था। अपमानजनक दंडविधान। राजा की सभा मे घुस कर किसी को सार्वजनिक रूप से पदप्रहार कर अपमानित करना, न्याय नहीं था, वह उसका क्रोध मात्र था। उसका चांडाल क्रोध ...ठीक कह रही है सैरंध्री ... वह चांडाल ही तो बन गया था।

"मुझे क्षमा करना सैरंध्री ! ..." कीचक ने कहा।

"मेरा नाम मालिनी है।" सैरंध्री पहली बार बहुत हल्के से मुस्कराई, "अपने हृदय की स्वामिनी भी कहोगे और यह भी स्मरण कराते रहोगे कि मैं एक सैरंध्री मात्र हूँ। कोई दासी प्रेमिका नहीं हो सकती महावीर कीचक ! और जो प्रेमिका हो जाती है, वह फिर दासी नहीं रह जाती, चाहे वह दासी कर्म ही क्यों न करती हो। तुम पहले अपने हृदय में यह तो निश्चित कर लो कि मैं तुम्हारी हूँ कौन।"

"नहीं मालिनी ! तुम मेरी सर्वस्व हो। मैं जानता हूँ कि मनुष्य के जीवन में प्रिया का क्या स्थान होता है। पर तुम्हारे प्रति मेरी आकांक्षा इतनी प्रबल है कि मेरा विवेक जाने क्यों बौरा जाता है। तुम्हें पाने के मार्ग में जब भी कोई बाधा आती है, मैं उन्मत्त हो उठता हूँ। पूर्णतः विक्षिप्त। तब मेरी बुद्धि कुछ भी काम नहीं करती। तुम भी समझ लो मालिनी ! उस दिन मैंने जो कुछ भी किया, वह एक उन्मादी के विक्षिप्त मन का ही कृत्य था। ..."

"नहीं ! वह तुम्हारा अहंकार था सेनापति ! .... और यह स्मरण रखो कि प्रेम में अहंकार के लिए कोई स्थान नहीं होता। या तो प्रेम ही कर लो, या फिर अपने अहंकार की ही तुष्टि कर लो।"

"समझ गया मेरी सर्वस्वामिनी ! मुझे बताओ कि मेरी कामना कब पूर्ण होगी।"

"जब तक मैं तुम पर पूर्ण अधिकार न पा लूँ, तब तक तुम मुझ पर अधिकार कैसे पा सकते हो।" सैरंध्री मुस्करा रही थी, "जब तक मैं तुम्हें जय न कर लूँ, तब तक तुम मुझ पर आधिपत्य कैसे पा सकते हो। नारी तो आत्मसमर्पण उसी के सम्मुख करती है, जिस पर वह अपना आधिपत्य पूर्णतः स्थापित कर चुकी होती है।"

"इसका क्या अर्थ हुआ ?"

"इसका अर्थ अपनी उस बुद्धि से पूछो, जिसने अभी थोड़ी ही देर पहले मुझे अपनी सर्वस्वामिनी कहा है। जब मैं तुम्हारी सर्वस्वामिनी हूँ, तो तुम पर मेरा पूर्ण आधिपत्य हुआ या नहीं ?"

"हाँ हुआ।" कीचक कुछ अकबका कर बोला, "तो बताओ, मेरी कामना कब पूरी होगी ?"

"प्रेमी को धैर्य छोड़ने का अधिकार नहीं है।" सैरंध्री बोली, "प्रिया प्रेमी को तौलती है। उसे अपनी कल्पना के अनुकूल ढालती है। समर्पण से पूर्व अपना मूल्य आँकती है। ..."

"यही तो एक गणिका भी करती है।" कीचक के क्षोभ ने पुनः सिर उठाया।

"गणिका भी तो प्रेमिका ही बनने का प्रयत्न कर रही होती है। वह प्रेम को उद्दीप्त करती है। प्रेम को पुष्ट करती है।" सैरंध्री बोली, "प्रत्येक क्रीडा के कुछ नियम होते हैं सेनापति ! उस क्रीडा का सुख पाना हो तो, उसके नियमो को भी मानना पड़ता है।"

"मानूँगा।" कीचक बोला, "बोलो क्या करना है।"

"पहले तो अपने सैनिकों के समान, मुझे आदेश देना बंद करो।"

"लो इसी क्षण से बंद कर दिया।"

"तो अब मेरे आदेश की प्रतीक्षा करो।"

"तुम आदेश करो तो।"

"आदेश मानोगे ?"

"मानूँगा।"

"जहाँ बुलाऊँगी, आओगे ?"

"आऊँगा।"

"जिस समय बुलाऊँगी, आओगे ?"

"आऊँगा।"

"हाँ ! अब कुछ-कुछ ठीक लग रहा है।" सैरंध्री शांत स्वर मे बोली, "तुम्हारे स्वर में प्रेमी का सा रंग आ रहा है। ..." और सहसा उसकी मुद्रा बदल गई,

"मेरी तो समझ में नहीं आता कीचक ! तुम इतने मूर्ख क्यों हो कि समझते हो कि कोई भी स्त्री किसी बलात्कारी से प्रेम करने लगेगी और उसके सम्मुख आत्मसमर्पण कर देगी ?"

सैरंध्री ने उसकी ओर देखा : उसकी भंगिमा बिगड़ी हुई सी थी, जैसे सहसा कोई कडवा पदार्थ चबा गया हो, और अब न उसे निगलने में रुचि हो, और न उगलने का साहस।

"मेरा मूर्ख कहना बुरा लगा ?" सैरंध्री ने पूछा।

"नहीं।" कीचक हकलाया, "वह थी ही मेरी मूर्खता।"

"अच्छा है, समझ गए कि प्रेम मे अहंकार नहीं होता, ऊँच-नीच नहीं होती, बडा-छोटा नहीं होता, इच्छा और स्वार्थ नहीं होता। प्रेम में अपनी इच्छा आरोपित नहीं की जाती, दूसरे की अघोषित इच्छाओं की पूर्ति मे ही अपना जीवन दान कर दिया जाता है। प्रेमी तो वही है, जो अपना अहंकार, अपना स्वार्थ, अपना मानापमान, अपना सर्वस्व अपनी प्रिया की झोली में डाल दे। उसके एक संकेत पर अपने प्राण दे दे।" सैरंध्री ने उसे अपांग से देखा, "प्रेमी युगल एक-दूसरे को प्राप्त करने के लिए आजीवन प्रतीक्षा करते हैं। तत्काल शरीर भोग का बलात् प्रयत्न, प्रेम के क्षेत्र में मूर्खता ही तो है। उससे तो नारी के मन में अंकुरित प्रेम, तत्काल नष्ट हो जाता है। और नारी के मन में प्रेम न हो, तो प्रेम क्रीड़ा में पुरुष को क्या सुख मिल सकता है !..."

कीचक को लगा कि सैरंध्री के इन सिद्धांत बोझिल शब्दों के पीछे कुछ बहुत मधुर, बहुत कोमल ध्वनित हो रहा था। उन शब्दों में एक प्रकार की स्वीकारोक्ति थी।

"तो क्या तुम्हारे मन में भी मेरे प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ था ?" उसने बहुत धीरे से पूछा।

"किसके मन मे नहीं होगा ?" सैरंध्री ने उत्तर दिया, "पर मैं तो अभी अपने उस भाव को समझने का ही प्रयत्न कर रही थी कि तुमने मुझे मेरी इच्छा के विरुद्ध, बलात् प्राप्त करना चाहा और नहीं कर सके तो सार्वजनिक रूप से मुझे ठोकर मार कर चले आए।"

"अब उस लज्जाजनक प्रसंग को बार-बार स्मरण मत कराओ मालिनी !" कीचक ने अपने स्वर में प्रयत्नपूर्वक वेदना के घट उँडेले, "मेरी लज्जा की कोई सीमा नहीं है। अपनी जिस अनुरागिनी की मुझे दुष्टों से रक्षा करनी चाहिए थी, मैं उसी का अपमान कर बैठा।"

"यही तो। ..." सैरंध्री बोली, "अपने उन्माद में तुमने यह नहीं देखा कि मेरे पति इस समय यहाँ उपस्थित नहीं हैं, तो क्या हुआ; हूँ तो मैं किसी की विवाहिता ही। गणिका नहीं हूँ कि किसी भी पुरुष के प्रेम को घोषित रूप से

स्वीकार करती रहूँ और समाज में सिर ऊँचा उठा कर चल सकूँ। ... और फिर वह भी ऐसी स्थिति में, जब कि स्वयं राजा भी मुझ पर अपनी दृष्टि गडाए बैठे हों।..."

"राजा भी ?" कीचक को जैसे अकस्मात् ही किसी भयंकर बिच्छू ने काट लिया।

"तुम्हें नहीं मालूम ?" सैरंध्री ने बहुत रस ले कर सुनाया, "राजा और रानी में तो मुझे ले कर झगडा हुआ। यहाँ तक कि रानी ने राजा को धमकी दी कि वे अपने भाई से कह कर उनका वध करा देंगी। राजा बहुत बोले। उठ कर कक्ष से बाहर चले गए। ... पर डर तो वे गए ही। फिर मेरी ओर उन्होंने हाथ नहीं बढ़ाया। मेरे मन में तो उसी दिन से उस महावीर के प्रति आकर्षण अंकुरित हो उठा था, जिससे स्वयं राजा भी भयभीत थे।"

कीचक को सैरंध्री के शब्द, अमृत के समान स्फूर्तिदायक लग रहे थे।... कहीं उसने वह मूर्खता न की होती तो ...

"कीचक ! तुमने कदाचित् ध्यान नहीं दिया। ..."

"किस बात की ओर ?" उसे सैरंध्री का इस प्रकार कीचक पुकारना बहुत आत्मीय और मधुर लग रहा था। उसका मन इतना विह्वल हो चुका था कि इस समय सैरंध्री उसके प्राण माँगती तो वह एक क्षण के लिए भी नहीं सोचता ... उसने तो आज ही जाना था कि उसका नाम कितना मधुर था।

"जब तुम मुझे पकड़ने के लिए मेरे पीछे आ रहे थे और मैं राजा की सभा में घुस गई थी, तुमने मुझे धक्का दिया ..."

"उसे अब भूल भी जाओ मालिनी !" कीचक का स्वर याचनापूर्ण था।

"नहीं ! मैं वह नहीं कह रही।" सैरंध्री बोली, "तुमने देखा नहीं। उसके लिए राजा ने न तुम्हें रोका और न दंडित करने का प्रयत्न किया।"

"हाँ। तो ?"

"राजा वस्तुतः हम दोनों से ही अपना प्रतिशोध ले रहे हैं।"

"कैसा प्रतिशोध ?" कीचक ने पूछा।

"यदि मैं अपमानित हुई, तो भी उनकी इच्छा पूर्ण हुई, क्योंकि मैंने उनका प्रेम निवेदन स्वीकार नहीं किया था; और यदि मेरा अपमान करने के कारण मेरे पति के अदृश्य गंधर्व मित्रों ने तुम्हारा वध कर दिया, तो राजा का तुमसे प्रतिशोध लेने का लक्ष्य पूरा हुआ।"

"मुझसे किस बात का प्रतिशोध ?" कीचक कुछ चकित था।

"रानी ने तुम्हारे बल की धमकी दे कर ही तो उन्हें मेरी ओर आगे बढ़ने से रोक दिया था। ... और शायद मेरे मन में तुम्हारे प्रति अंकुरित होने वाले अनुराग की सूचना भी उन्हें हो ही गई थी।"

कुछ क्षणों तक कीचक मन ही मन, विराटराज के प्रति क्रूर भावों का पोषण करता रहा। फिर बोला, "राजा और रानी के मध्य होने वाली बातें तुम्हें कैसे ज्ञात हो जाती हैं ? क्या स्वयं रानी ने तुम्हें बताया ?"

'नहीं।" सैरंध्री बोली, "रात्रि के समय राजपरिवार के शयन कक्षों की रक्षा तथा परिचर्या करने वाली दासियों से क्या गुप्त रह सकता है। वे ही सब कुछ बताती रहती हैं।"

"ओह !" कीचक बोला, "तो उनसे सावधान रहना चाहिए।"

"क्यों ? तुम्हें उनका क्या भय है।" सैरंध्री का स्वर एक बार फिर से व्यंग्यात्मक हो गया, "तुम तो किसी भी स्त्री को मार्ग पर पकड कर सार्वजनिक रूप से प्रेम निवेदन कर सकते हो, जैसे नाटक में कोई अभिनेता दर्शकों के सम्मुख अपना प्रेम निवेदन करता है..."

"ओह मालिनी ! अब भूल भी जाओ उन बातों को।"

"मैं तो भूल भी जाऊँ;" सैरंध्री बोली, "किंतु मेरे पति भूल जाएँगे इन बातों को ? मेरे पति के वे पाँच-पाँच गंधर्व मित्र, जो अज्ञात रह कर मेरी रक्षा कर रहे हैं, वे भूल जाएँगे इस बात को ?"

"मैं उनसे डरता हूँ क्या ?" कीचक बोला, "आने दो उनको। उनके मस्तक काट कर उनके हाथों में न दे दिए तो मेरा नाम कीचक नहीं।"

"और उन्होंने मेरा मस्तक काट कर, तुम्हारे हाथों में दे दिया तो ?"

कीचक गंभीर हो गया। ... इस विषय में तो उसने कुछ सोचा ही नहीं था। वह अपनी रक्षा तो कर सकता था, किंतु मालिनी की रक्षा ? क्या वह मालिनी से विवाह कर ले ? किंतु मालिनी विवाहिता है। वह दूसरे की पत्नी से विवाह कैसे कर सकता है ? कौन स्वीकार करेगा, उसके इस प्रकार के विवाह को ?... ठीक ही तो कह रही थी मालिनी—वह परकीया से प्रेम कर रहा है, किंतु उसकी विधि नहीं जानता था। व्यर्थ ही अपने अहंकार में वह प्रकट रूप में मालिनी की कामना करता रहा है। जो काम, गुप्त रूप से अदृश्य रह कर, बिना किसी झंझट के हो सकता है, उसे इस प्रकार घोषणा कर करके करने का क्या लाभ ? ...

"तो आज रात्रि के अंधकार में मेरे प्रासाद में आ जाओ। वहाँ कोई हमें देखने वाला नहीं होगा।" कीचक की वाणी में से मद छलक रहा था।

"क्यों तुम्हारे प्रासाद में रात को परिचारिकाएँ नहीं होतीं अथवा प्रहरी नहीं होते ?"

"ओह !"

"तुम्हें कोई ऐसा स्थान नहीं सूझता रसिकराज ! जहाँ प्रहरी, सेवक और रक्षक न हों ? मेरे पति के अदृश्य मित्रों से भयभीत हो ?"

"नहीं ! भयभीत तो नहीं हूँ; किंतु ..."

"सुनो ! रात्रि के समय जहाँ-जहाँ राजपरिवार का कोई भी सदस्य होगा, वहाँ प्रहरी भी होंगे और परिचारिकाएँ भी। इसलिए कोई ऐसा स्थान खोजो, जहाँ रात को कोई उपस्थित ही न होता हो।" सैरंध्री ने कहा।

"ऐसा कौन-सा स्थान हो सकता है ?"

"वह नृत्यशाला देखी है तुमने," सैरंध्री बोली, "जहाँ दिन के समय बृहन्नला राजकुमारियों को नृत्य का अभ्यास करवाता है ?"

"हाँ ! हाँ !! देखी है।" कीचक उत्साह से बोला, "तुम उससे कहीं अधिक चतुर हो सैरंध्री ! जितनी मैं तुम्हें समझता था।"

सैरंध्री मौन रही।

"क्या बात है, तुम कुछ बोल नहीं रहीं। मैं तुम्हारी प्रशंसा कर रहा हूँ।"

"सुन रही हूँ अपनी प्रशंसा।" सैरंध्री बोली, "तुम मुझे सैरंध्री कह रहे हो और समझ रहे हो कि मेरी प्रशंसा कर रहे हो ?"

"ओह ! फिर भूल हो गई।"

"ध्यान रहे कि अब इस भूल की पुनरावृत्ति न हो।" सैरंध्री का स्वर कुछ कठोर हो गया, "नहीं तो रात को संकेत स्थल पर नहीं आऊँगी और फिर रात भर अपनी पत्नी के ही चरण दबाते रह जाओगे, चाहे वह जैसी भी है।"

"नहीं ! नहीं !! अब ऐसी भूल नहीं होगी मालिनी !" वह बोला, "तो तुम रात को उस नाट्यशाला में आओगी ?"

"हाँ। वह नाट्यशाला रात्रि के समय सर्वथा निर्जन होती है। वहाँ न कोई प्रहरी होता है और न ही कोई दीपक जलता है।" सैरंध्री बोली, "रात्रि के समय जब तुम्हारे कक्ष में दीपक भर तेल एक बार जल ले, तो चुपके से वहाँ चले आना। ध्यान रहे कि किसी को मालूम न हो कि तुम वहाँ जा रहे हो। न वहाँ जाकर मुझे पुकारना।"

"तो तुम्हें कहाँ खोजूँगा वहाँ ?" कीचक के मन में मद के प्रपात झर रहे थे। उसने आज तक संभोग-सुख बहुत पाया था, किंतु इस प्रकार की कामक्रीड़ा का अवसर कभी नहीं आया था। वह सोच रहा था कि चतुर स्त्री का संग कितना असाधारण होता है।

"पुकारना मत !" सैरंध्री ने उसे डपट दिया।

"नहीं पुकारूँगा।" कीचक सहम गया।

"नहीं ! मुझे यह सब सोच लेना चाहिए।" सैरंध्री बोली, "तुम्हारा क्या है। वहाँ आकर पुकारने लगोगे, 'मालिनी मैं आ गया। मालिनी ! मैं आ गया।' और फिर अगले दिन वे गंधर्व यदि तुम्हारा कुछ न बिगाड़ सके तो मेरा मस्तक काट कर तुम्हारे प्रसाद के द्वार पर लटका आएँगे।"

"नहीं पुकारूँगा।" कीचक बोला, "माँ भवानी की शपथ। नहीं पुकारूँगा।"

"नृत्यशाला के पीछे के कक्ष में एक पलंग बिछा है। उस पर अनेक बार बृहन्नला विश्राम करती है। मैं अंधकार में उसी पलंग पर लेट जाऊँगी। यदि कोई आया भी तो अंधकार में उसे कुछ दिखाई नहीं देगा। यदि किसी ने मुझे देख भी लिया तो कोई बहाना बना लूँगी कि रात्रि में नींद नहीं आ रही थी। घूमने निकली थी। थोड़ी देर के विश्राम के लिए यहाँ लेट गई तो ठंढी बयार के कारण नींद आ गई। तुम आ कर, बिना एक भी शब्द कहे, मुझे अपने स्पर्श से जगा लेना।... पर हाँ ! न तो किसी को साथ लाना और न ही किसी को बता कर आना। कहीं ऐसा न हो स्वयं को स्त्री-मन का विजेता घोषित करने के लिए अपने मित्रों में यह घोषणा कर आओ कि तुम मालिनी के साथ अभिसार करने के लिए नृत्यशाला में जा रहे हो। यदि ऐसा कुछ किया, तो स्मरण रखना, मालिनी अपने गंधर्व रक्षकों की प्रतीक्षा नहीं करेगी। या तो तुम्हारे प्राण ले लेगी अथवा अपने प्राण दे देगी। "

विचार मात्र से कीचक की शिराओं में अग्नि प्रवाहित होने लगी थी। मालिनी स्वयं अपने मुख से कह रही है, कि वह वहाँ अंधकार में पलंग पर लेट कर उसकी प्रतीक्षा करेगी ...

"नहीं ! नहीं !! ऐसा कुछ नहीं होगा।" कीचक शीघ्रता से बोला, "मैं ऐसी मूर्खता अब कभी नहीं करूँगा। प्रेम गुप्त व्यापार है। वह गुप्त ही रहेगा।"

"ठीक है। अब जाओ।" सैरंध्री बोली, "रात्रि के समय मिलेंगे। नृत्यशाला में। जब तुम्हारे प्रासाद में एक दीपक भर तेल जल लेगा।"

"मालिनी ! विदा होने से पूर्व एक परिरंभण प्रिये !"

"फिर वही मूर्खता !" सैरंध्री ने दाँत पीस कर कहा, "तुम सबके सामने मेरे पीछे आए हो। सब जानते हैं, क्यों आए हो। अब परिरंभण के पश्चात् तुम जितने प्रफुल्लित हो कर लौटोगे, उससे सबको ज्ञात हो जाएगा कि तुम मालिनी का मन जीतने में सफल हो गए हो। तो फिर हमारा प्रेम गुप्त कैसे रह पाएगा। यहाँ से जाओ। दाँत पीसते हुए जाओ। मुझे बुरा भला बकते हुए जाओ। मैं भी तुम्हारी निन्दा करती हुई ही जाऊँगी। सबको इसी भ्रम में रखना होगा कि हम में झगड़ा चल रहा है।"

"बडी कठिन परीक्षा ले रही हो मालिनी।" कीचक बोला। उसके स्वर में तनिक भी विरोध नहीं था।

"परीक्षा तो कठिन होगी ही। कल तुमने मुझे मारा। मेरे मुख से रक्त निकल आया, जो दो प्रहर तक मेरे मुख पर जमा रहा। आज उसी मुख से तुम्हारे प्रेम की सुगंध आएगी तो कुछ गोपनीयता रह पाएगी ?"

कीचक ने अत्यंत आतुर प्रेमी के समान सैरंध्री को देखा; किंतु कुछ बोला

नहीं।

"अब जाओ।" वह बोली।

"सैरंध्री ने उसके जाने की प्रतीक्षा नहीं की। वह वेगपूर्वक मंडप की ओर लौट गई। वह बहुत भयभीत दिखाई पड़ रही थी, जैसे किसी से बच कर भाग आई हो।

अन्य परिचारिकाओं ने उसे देखा, "बेचारी सैरंध्री !"

49

कीचक ने सुदेष्णा से मिलना भी आवश्यक नहीं समझा। क्या होगा मिल कर। जब उसे बताना ही नहीं है कि सैरंध्री ने स्वयं उसे मिलने के लिए एकांत स्थान पर बुलाया है, अपने प्रेम को स्वीकार भी किया है, और समागम का वचन भी दिया है, तो सुदेष्णा से मिल कर क्या होगा। यदि वह उसके सामने भी पड़ा तो वह उसके मुख के भावों को देख कर ही समझ जाएगी कि सैरंध्री से उसकी क्या बात हुई है। सैरंध्री को यदि संदेह भी हो गया कि सुदेष्णा को उसके और कीचक के संबंध के विषय में कुछ भी ज्ञात है, तो उसे अच्छा नहीं लगेगा। और कीचक किसी भी मूल्य पर सैरंध्री को प्रसन्न रखना चाहता था। बड़ी कठिनाई से हाथ आई है यह सैरंध्री। ऐसी स्त्रियों के प्रेम का रस ही कुछ और होता है। ...

कीचक एक प्रकार के असाधारण सुख का अनुभव कर रहा था, जो स्वयं उसके लिए भी सर्वथा नया था। उसने आज तक नारी संग कर, शरीर-भोग का सुख पाया था; किंतु इस प्रकार का गोपनीय व्यवहार और प्रेम की अभिव्यक्ति उसके लिए सर्वथा नवीन अनुभव था। अब तक के समागम में वह जानता था कि वह स्त्री उससे क्या चाहती है। वह जो सुख उससे प्राप्त कर रहा था, उसका मूल्य वह धन से चुका रहा था, अर्थात् उसे शरीर सुख दे कर वह स्त्री स्वय वस्त्राभूषण तथा धन-संपत्ति का सुख प्राप्त कर रही थी। वह तो एक प्रकार का व्यवसाय था। उसमें किसी को यह कष्ट तो हो सकता था कि उसको उसके पदार्थ का पूरा मूल्य नहीं मिला, किंतु उसमें किसी प्रकार के प्रेम अथवा भावनात्मक संबंध की कोई चर्चा नहीं थी। सब कुछ अत्यंत स्पष्ट, स्थूल तथा पार्थिव था। कुछ भी सूक्ष्म तथा अज्ञात नहीं था। शरीर चाहे उसकी किसी रानी का हो अथवा किसी दासी और परिचारिका का।...उस व्यवहार में यदि प्रेम इत्यादि शब्दों का प्रयोग होता भी था, तो कीचक जानता था कि वह सब पाखंड

था। उसके पास वह धन न होता अथवा वह उतना धन न दे रहा होता तो वह स्त्री प्रेम शब्द का उच्चारण करना भी न जानती। ... और कीचक ने तो आज तक किसी से यह कहा ही नहीं कि वह उससे प्रेम करता है। प्रेम क्या होता है, वह नहीं जानता। वह तो केवल कामदेव से परिचित था। काम के आवेग से परिचित था। उसे अपने शरीर के ताप तथा मन के झंझावातों से मुक्त होने तथा कोमल स्पर्श के सुख का अनुभव करने के लिए नारी शरीर की आवश्यकता होती थी; अपने आधिपत्य तथा अहकार भाव के पोषण के लिए नारी और नारी शरीर की आवश्यकता होती थी। और उसका मूल्य वह सदा ही धन से चुकाता था।...पर सैरंध्री के साथ वह बात नहीं थी ...

सहसा वह ठिठक गया : वह कैसे जानता है कि इस बार वही बात नहीं थी, अथवा सैरंध्री वैसी स्त्री नहीं थी ?

सैरध्री ने उसके धन के प्रति आज तक कभी लोभ नहीं दिखाया था। उसे धन का लोभ होता तो आज तक कितनी ही बार वह अपना शरीर कीचक को समर्पित कर चुकी होती। कीचक ने जब भी उसे धन का लोभ दिया, उसने कीचक का तिरस्कार किया। आज भी तो उसने अपने सम्मान की चर्चा की है, अपने सुख की नहीं। अपने मूल्य की नहीं। कीचक को सुख देने के प्रतिदान की नहीं। ... नहीं ! यह स्त्री निश्चित रूप से भिन्न थी। उसके सहवास का सुख कुछ नया ही होगा। वह न उसे अपने एकांत कक्ष में बुला रही थी और न ही उसके प्रासाद में आने को प्रस्तुत थी। वह नहीं चाहती कि कोई उन दोनों के संबंध को जाने। ... इसी के स्थान पर कोई और दासी अथवा परिचारिका होती तो वह कीचक के साथ अपने संबंधो का प्रचार करती और उससे स्वयं को महत्त्वपूर्ण बना कर सहस्रों प्रकार के लाभ की कामना करती। मत्स्यदेश में कीचक की प्रेमिका होने का क्या अर्थ है, यह वे सब समझती रही हैं। ... पर सैरंध्री तो इस सारे संबंध को अपने हृदय में ही छुपा कर रखना चाहती है। वह किसी के सम्मुख कुछ भी प्रकट करना नहीं चाहती। वह इससे अपना कोई भी सांसारिक हित साधना नहीं चाहती...

आह्लादित कीचक भूतल से जैसे एक हाथ ऊपर ही चल रहा था। एक ओर उसका मन चाहता था कि वह सारे विराटनगर में ही नहीं, सारे मत्स्यप्रदेश मे यह घोषणा कर दे कि सैरंध्री उससे प्रेम करती है, और दूसरी ओर वह उसके विषय में एक शब्द भी बाहर निकलने देना नहीं चाहता था। वह मन ही मन, गुपचुप उस रहस्य का रसपान कर रहा था। ...लोग समझते होंगे कि सैरंध्री उसको अपने निकट भी फटकने नहीं दे रही, और वह आज रात, उसके निमंत्रण पर अभिसार के लिए जा रहा था। कीचक को कुछ वैसा ही आनन्द आ रहा था, जैसा कोई राजा साधारण सैनिक के रूप में अपनी राजधानी में भ्रमण करे

और कोई भी उसे पहचान न सके। ...

कीचक आज भी राजसभा में नहीं गया। अपनी इस आनन्दमयी मनःस्थिति में वह राजा और उसके सभासदों की बकवाद सुनना सहन नहीं कर सकता था। ... वह अपने संगीत मंडप में आ बैठा। आज वर्षा नहीं हो रही थी, किंतु आकाश पर मेघ मँडरा रहे थे। ऐसा आकाश देख कर कीचक को या तो माधवी की इच्छा होती थी, या फिर किसी अति आकर्षक नारी शरीर की। ...

आज उसे माधवी की तनिक भी इच्छा नहीं हो रही थी। वह तो पहले से ही एक अलौकिक मद में उन्मत्त था। इस मद का अनुभव उसने पहले कभी नहीं किया था। ...

आकाश पर मेघ विचित्र लीलाएँ कर रहे थे। वे एक स्थान पर स्थिर नहीं थे। कभी कोई टुकड़ा कहीं से पृथक् हो जाता था और कभी कोई टुकडा किसी से मिल जाता था। वे क्षण-क्षण में नई से नई आकृतियॉ बना रहे थे। ... और कीचक यह देख कर चकित रह गया कि वे सारी की सारी आकृतियॉ सैरंध्री की ही थीं। ... उसके मन में विचित्र प्रकार की उत्कंठा जन्म ले रही थी। कीचक के ही समान ये मेघ भी सैरंध्री पर मुग्ध हो गए लगते थे। ... प्रतिस्पर्धी भी मिले तो कैसे, जिनका न कुछ बनाया जा सकता था, न बिगाड़ा जा सकता था। ... पर कीचक उनको अपना प्रतिस्पर्धी क्यों माने ? वे तो उसके सेवक चित्रकार थे, जो अपने स्वामी के लिए उसकी प्रेमिका के चित्र बना रहे थे। ...कीचक बैठा, बहुत देर तक सैरंध्री की विभिन्न मुद्राओं के चित्र देखता रहा; और मन में उठती मीठी टीस का रसपान करता रहा। ...

सहसा उसे ध्यान आया कि वह बहुत देर से बैठा सैरंध्री के रूप को देख रहा है, किंतु उसने यह नहीं सोचा है कि रात को जब वह सैरंध्री के सम्मुख पहुँचेगा तो सैरंध्री भी उसके रूप को निहारेगी। वह भी देखेगी कि उसका प्रेमी कितना आकर्षक है।...वैसे तो साधारण से साधारण नारी की दृष्टि रूप पर टिकती है, वह वस्त्रों को भी देखती है और आभूषणों को भी। वह केशविन्यास को भी निहारती है और चंदनलेप के प्रकार को भी।...और फिर मालिनी तो व्यवसाय से ही सैरंध्री है। उसकी दृष्टि से क्या चूक सकता है। ...

सहसा कीचक को लगा कि उसे भी साधारण परिचारिकाओं की नहीं, किसी दक्ष सैरंध्री की आवश्यकता है, जो उसके रूप को ऐसा निखार दे, जैसा मालिनी ने इन दिनों सुदेष्णा के रूप को निखार दिया है।...

संगीतमंडप से उठ कर कीचक अपने विश्रामकक्ष में आ गया। दर्पण के सम्मुख बैठ कर उसने अपने रूप को निहारा।... पहले तो वह बड़ी देर तक अपने रूप पर मुग्ध होता रहा; किंतु उसकी अपनी दृष्टि से ही, कानों के निकट तथा श्मश्रुओं में आ गई सफेदी छुपी नहीं रह सकी।... हॉं ! एक बार इस ओर

ध्यान चला जाए, तो वह उतना युवा भी नहीं दिखता। इन केशों का कुछ करना होगा। ...मेहंदी लग सकती है, किंतु वह मालिनी की दृष्टि से छिपी नहीं रहेगी। कोई ऐसा लेप मिल जाता, जो इन केशों को सर्वथा काला कर देता, तो उत्तम था। ...कीचक को पहली बार लगा कि उसकी अवस्था कुछ अधिक हो गई है, जो युवा नारियों को आकृष्ट करने में बाधा हो सकती है। ...इस कालचक्र से तो युद्ध नहीं किया जा सकता; न ही उसको टाला जा सकता है।...पर ऐसा प्रबंध तो अवश्य ही किया जा सकता है कि सामने वाले की दृष्टि धोखा खा जाए। वह उसकी वास्तविक अवस्था का पता न लगा सके, और उसे युवा ही मानता रहे। ...

वह दर्पण छोड कर उठ खडा हुआ। ... उसे अभिसार की तैयारी कर लेनी चाहिए। सबसे पहले तो उसे मालिनी के उन नेत्रों को चौंधियाने का प्रबंध कर लेना चाहिए, जो कीचक के रूप रंग में दोष देख सकते हैं। ...नारी के नेत्र स्वर्णाभूषणों से चौंधिया सकते हैं। ... वे आभूषण चाहे, कीचक के शरीर पर हों, अथवा वह मालिनी को भेंट किए जाएँ। यह ठीक है कि मालिनी दूसरी स्त्रियों से भिन्न है। उसने कभी कीचक के धन को महत्त्व नहीं दिया। न ही उसने कीचक से कोई अनुरोध किया है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि उसे कीचक से किसी प्रकार की कोई अपेक्षा है। ...कीचक मालिनी का मूल्य नहीं चुका रहा, किंतु वह उसे उपहार तो दे सकता है। उपहार किसको अच्छा नहीं लगता। मालिनी माँग नहीं रही; किंतु कीचक अपनी ओर से उसे उपहार दे कर अपनी सदाशयता की धाक उसके मन पर जमा सकता है।...

उसने परिचारिका को नहीं बुलाया, न ही किसी दासी को सहायता के लिए पुकारा। अपनी किसी पत्नी को तो वह भनक भी नहीं लगने देना चाहता था कि उसकी मालिनी से किसी प्रकार की कोई बात भी हुई है, अथवा वह आज रात अभिसार के लिए जाने वाला है। ... वह स्वयं ही अपनी आभूषण पेटिका को उलटता-पलटता रहा। एक लंबा समय लगा कर उसने अपने धारण करने तथा मालिनी को भेंट करने के लिए अलग-अलग आभूषण छाँटे।...

अब वस्त्रों की बारी थी। ... वह अपने पिछले सैनिक अभियान में ही अपने लिए अनेक कौषेय लाया था, जिन पर स्वर्ण का सुंदर सूचीकार्य किया गया था। उसे आज भी स्मरण है कि काशी के निकट उसके एक सैनिक ने जब एक बुनकर से कौशेयी दुकूलों की एक गाँठ छीन ली थी, तो वह बुनकर कैसे रोया था। कह रहा था कि इसमें उसकी सारी पूँजी ही नहीं, राजा का धन भी लगा हुआ है। यदि उसने वे दुकूल राजा तक नहीं पहुँचाए तो राजा उसके प्राण ले लेगा। ... परंतु वे दुकूल कीचक को बहुत प्रिय लगे थे। उसने कहा था कि वह तो राजा के पास से भी वे दुकूल छीन ही लेता, ऐसे में राजा तक वे पहुँचे

अथवा नहीं पहुँचे, उससे क्या अंतर पड़ता है।... उस तंतुवाय के रोने पर वह पसीज जाता तो वह किसी का भी धन नहीं छीन सकता था।... और यदि वह दूसरों का धन न छीनता तो उसका निर्वाह कैसे होता। राजा से मिले वेतन से तो उसके चाकरों का भी निर्वाह नहीं होता। ... अब कल को कोई उसे कहे कि वह हाथ आई, उसकी सुंदर स्त्री को मुक्त कर दे तो कीचक के लिए यह कैसे संभव था ?

उसने स्वर्णखचित कौशेयी साड़ी निकाल कर मालिनी के उपहार के रूप में रख दी। सुदेष्णा ने इतनी सुंदर सैरंध्री तो रख ली है, किंतु उसका मूल्य नहीं समझा। कभी भी उसे उसके रूप के योग्य वस्त्र नहीं दिए। इस साडी में मालिनी का रूप निखर कर आएगा। ... अपने लिए भी उसने कौशेय के ही उत्तरीय और अधोवस्त्र चुने। सुंदर दुकूल भी निकाल लिए।

अपने केशों की ओर उसका विशेष ध्यान था। मालिनी केशसज्जा में तो संसार भर में अद्वितीय थी। जाने वह अपने केशों की ओर से इतनी असावधान क्यों थी। यह भी संभव है, कि उसकी दृष्टि में उसके उन्मुक्त केश ही उसका सौन्दर्य बढ़ाते थे। यह तो कीचक अपने ही अनुभव से जानता था कि जब मालिनी अपने हाथों से माथे तथा चेहरे पर आ गई केशों की लटों को हटाती थी तो देखने वालो के वक्ष में उनचास पवन ही नहीं चलने लगते थे, सहस्रों झंझावातों की सृष्टि भी होती थी।

पर आज उसे केशों का शृंगार करने के स्थान पर, मस्तक पर किरीट धारण करके जाना चाहिए था। किरीट की तो शोभा ही और होती है। मालिनी को देखना चाहिए कि विराटनगर में राजा तथा राजकुमार के अतिरिक्त कीचक भी किरीट धारण करने की क्षमता रखता है।...वह किरीटविहीन प्रशासक मात्र ही नहीं है, किरीट का अधिकारी सेनापति है।... उससे केशसज्जा की समस्या भी सुलझ जाएगी। ...

उसने अपनी सुगंधिद्रव्य की पेटिका खोली ...

द्वार पर खड़ी दासी भीतर आई, "सेनापति मेरा प्रणाम स्वीकार करें।"

"क्या है ?" कीचक ने कुछ रुष्ट स्वर में कहा।

"राजसभा का एक संदेशवाहक आया है श्रीमन्!" दासी बोली, "वह दर्शन की अनुमति चाहता है।"

"उसे लौटा दो। राजसभा का कार्य राजसभा में होना चाहिए, मेरे आवास के विश्रामकक्ष में नहीं। मैं राजा का दास नहीं हूँ कि कभी भी, कहीं से भी संदेशवाहक भेज कर मुझे बुला लें।"

"जो आज्ञा।" दासी लौट गई।

"मैं अभिसार की तैयारी कर रहा हूँ और यह राजा मुझे अपने दर्शनों के

लिए बुला रहा है।...मूर्ख कहीं का। ...क्या समझता है, अपने आपको—मालिनी सैरंध्री ?" और कीचक को हँसी आ गई। उसके मन में राजा विराट की एक छवि उभर रही थी, जिसमें उन्होंने सैरंध्री की वेशभूषा धारण कर रखी थी।

कीचक ने एक सुरभिद्रव्य हाथ में लिया। यह अलभ्य है। केकय में भी बड़ी कठिनाई से मिलता है, किंतु प्रयत्न करने पर मिल जाता है। यदि इस से सुवासित हो कर वह मालिनी के पास पहुँचेगा, तो निश्चित रूप से वह कहेगी कि उसने ऐसी सुरभि तो अपने जीवन में कभी नहीं सूँघी। वह अपनी नासिका उसके शरीर से लगा कर, अपनी आँखें बंद कर, उसका आनन्द लेगी और कीचक शेष सारी सुरभि उस पर उँडेल देगा।

वह कहेगा, "इस बार मैं केकय से यह सुरभि इतनी मात्रा में मँगाऊँगा कि मेरी मालिनी उसमें स्नान कर सके।"

"यह तुमने क्या किया ? इतनी अनमोल सुरभि इस प्रकार मुझ पर उँड़ेल दी।" वह कहेगी।

"धन्य हो गई यह सुरभि, तुम्हारे शरीर का स्पर्श करके।" वह कहेगा, 'इसका इससे उत्तम उपयोग और कोई नहीं हो सकता था।"

"मुझे एक वचन दो।" वह उसका हाथ पकड, उसके अत्यंत निकट हो उसके नेत्रों में झाँकेगी।

"क्या ?"

वह अपना कपोल उसके वक्ष पर रख देगी और अपने नेत्र बंद कर लेगी, "वचन दो कि तुम अपनी मूल्यवान वस्तुएँ तथा अपना धन मुझ पर इस प्रकार नहीं लुटाओगे। मुझे यह सब नहीं चाहिए। मुझे तो बस तुम्हारा प्रेम चाहिए। हृदय में छिपा प्रगाढ़ प्रेम, जिसकी सूचना मेरे सिवाय किसी को भी न हो।"

और कीचक की समझ में भी नहीं आएगा कि वह क्या कहे। किस प्रकार अपने प्राण निकाल कर मालिनी के चरणों पर धर दे। अंततः वह कहेगा, 'मेरी तो यह कामना है मालिनी कि मुझे ऐसी सुरभि ही नहीं धन का हिमालय बार बार मिले और वह सारा धन मैं लाकर तुम्हारे चरणों पर डाल दूँ।'

मालिनी उसके अधरों पर अपना कोमल हाथ रख कर उसे चुप करा देगी, 'ऐसे मत कहो। मुझे तो तुम्हारे चरणों की सेवा करने का अवसर मिल गया, तो समझो कि मेरा जीवन सार्थक हो गया।'

कीचक के मन में अनेक विचार आते रहे। कितने ही दृश्य बनते और बिगडते रहे। वह कल्पना करता रहा कि उसकी किस बात का उत्तर मालिनी क्या देगी और वह उसे क्या कहेगा। वह विभिन्न प्रकार के वस्त्रों में अपनी कल्पना करता रहा; और उतने ही रूपों में मालिनी को भी देखता रहा और फिर सूर्य पर खीझता रहा, जो अस्त ही नहीं हो रहा था। सूर्यास्त हो, पृथ्वी पर अंधकार

उतरे, एक दीपक तेल जले, तो वह मालिनी से मिलने जाए। ...बीच-बीच में उसके मन में मालिनी के प्रति भी विरोध जागता रहा, उसने उसे उन्मुक्त रूप से मिलने से क्यों रोका ? क्यो तड़पा रही है वह उसे ? अब तक तो कीचक के साथ ऐसा कभी नहीं हुआ। वह तो किसी के भी कक्ष में किसी भी समय जा सकता था और किसी को भी घसीट कर अपनी शैया पर ला सकता था। ... पर नहीं ! वह मालिनी के साथ वैसा व्यवहार नहीं कर सकता। यह तो संबंध ही और प्रकार का है। वह चाहता है कि वह नहीं, मालिनी उससे प्रेम करे। अपने मन से करे। अपनी इच्छा से करे। वह मालिनी को न बुलाए, मालिनी उसे आमंत्रित करे। वह न जाए, तो मालिनी उसे उपालंभ दे। उससे झगडा करे।

संध्या हो गई और पृथ्वी पर अंधकार उतर आया। कीचक उठ खड़ा हुआ। अब उसे चलना चाहिए। अपने सर्वश्रेष्ठ वस्त्रों में, मस्तक पर किरीट धारण कर उसने स्वयं को दर्पण में देखा तो उसका अपना ही दर्प जाग उठा। ... ऐसा सुदर्शन पुरुष कौन है संसार में। अवस्था कुछ अधिक अवश्य हो गई है, किंतु वह युवाओं से भी अधिक आकर्षक है। बल में उससे बढ़ कर कौन है। वह वीर पुरुष है। धन का उसके पास अभाव नहीं है। ... तो फिर मालिनी जैसी विश्वसुंदरी किसी और पुरुष का वरण कैसे कर सकती है ?

वह द्वार पर आया। परिचारिका ने आगे बढ़ कर हाथ जोड प्रणाम किया, "क्या आज्ञा है स्वामी ?"

"कुछ नहीं। तुम यहीं ठहरो। मैं थोड़े समय के लिए बाहर जा रहा हूँ।"

"क्या सारथि को रथ लाने का संदेश भिजवा दिया जाए स्वामी ?"

कीचक को क्रोध आ गया। वह चुपचाप निकल जाना चाहता है; और यह मूर्खा व्यर्थ ही कोलाहल कर रही है।

"तुम्हें जब तक आदेश न दिया जाए, तब तक तुम्हें कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है।" वह कुछ रोषपूर्वक बोला।

"तो क्या स्वामी पदातिक ही जाएँगे ?"

इस बार कीचक स्वयं को संयत नहीं कर पाया। डपट कर बोला, "क्या तुम शांति से अपने स्थान पर बैठी नहीं रह सकतीं ?"

इससे पहले कि परिचारिका कुछ समझ पाती, वह आगे बढ़ गया। ...कैसी-कैसी मूर्खाओं को उसकी सेवा में नियुक्त कर दिया जाता है। और यह परिचारिका तो न सुंदर है, न युवा ...

वह भवन के बाहर निकला तो उसके अंगरक्षकों का नायक सामने आ गया, "कितने अंगरक्षक साथ चलेंगे स्वामी ?"

कीचक को लगा, उसके ये सेवक यदि उसके साथ यही व्यवहार करते रहे, तो वह उनको पीट बैठेगा; किंतु नायक पर उसको उतना क्रोध नहीं आया, जितना उस परिचारिका पर आया था।

"नायक ! मैं एक गोपनीय कार्य से जा रहा हूँ। अंगरक्षकों की आवश्यकता नहीं है। तुम मेरे साथ नहीं आओगे; किंतु तुम अपने सैनिकों के साथ यहीं रुक कर मेरा एक कार्य करोगे।"

"स्वामी आज्ञा दें।"

"मेरे भवन की ही नहीं, मेरे कक्ष की भी रक्षा इस प्रकार होनी चाहिए, जैसे मैं अपनी शैया पर विश्राम कर रहा हूँ। किसी को यह सूचना नहीं होनी चाहिए कि मैं अपनी शैया पर नहीं हूँ।" वह बोला, "कोई जिज्ञासा करे तो उसे यही बताया जाएगा कि मैं अपने विश्राम कक्ष में अपनी शैया पर सो रहा हूँ। जिज्ञासा करने वाले चाहे राजा हो, अथवा मेरी पत्नियाँ। सबको यही सूचना दी जाएगी। कोई भेंट करना चाहे, कक्ष के भीतर आना चाहे, उसे यही कहा जाएगा कि अनुमति नहीं है। कोई कक्ष में प्रवेश करना चाहे तो उसे बलात् रोका जाएगा। प्रातः मैं गुप्त रूप से लौटूँगा और तब इस प्रकार गतिविधि आरंभ होगी, जैसे मैं रात्रि भर की निद्रा के पश्चात् उठा हूँ। समझ गए ?"

"स्वामी की आज्ञा का अक्षरशः पालन होगा।" नायक ने उत्तर दिया।

कीचक आगे बढ गया। वह अंधकार का लाभ उठा रहा था; अन्यथा इस सारे क्षेत्र को पार कर जाना और किसी को ज्ञात न होने देना, संभव नहीं था।

नृत्यशाला में पहुँच कर उसने सुख की साँस ली। अंततः वह गुप्त रूप से यहाँ तक पहुँच गया था। महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होना भी कितने झंझट का काम है। ... उसने दबे पाँव नृत्यशाला में प्रवेश किया। पता नहीं मालिनी अभी तक आई भी थी अथवा नहीं। उसे तो और भी गोपनीय ढंग से आना होगा। किंतु उसके द्वार पर परिचारिकाएँ और द्वारपाल तो नहीं हैं न ! उसके साथ अंगरक्षक तो नहीं चलते। ... कहाँ होगी वह ? इस अंधकार में उसे खोज पाना कौन-सा सरल है। किसी कोने में दुबक कर बैठी होगी। ...और कीचक का मन है कि बल्लियों उछल रहा है। उसकी इच्छा हो रही थी कि वह चिल्लाकर कहे, 'मालिनी मैं आ गया। कहाँ हो प्रिये ! आओ और मेरे कंठ से लग जाओ। कंठ से क्यों मेरे वक्ष से लग जाओ। मेरे वक्ष में समा जाओ। ...'

किंतु मालिनी ने उसे बोलने से मना किया था। उसे नेत्रों से खोजना होगा, स्वर से नहीं। ... हाँ ! उसने एक भारी शैया की चर्चा की थी। कहाँ है वह ?... वह दीवार का सहारा ले कर आगे बढ आया। अब लग रहा था कि मालिनी के लिए लाई गई भेंट, उसकी गतिविधि में बाधा बन रही थी। उसका एक हाथ तो उसमें ही उलझा था; किंतु बिना किसी भेंट के कोई अपनी प्रिया

से मिलने जाता है ? और वह भी मालिनी जैसी प्रिया से ... आगे उतना अँधेरा नहीं था। शुक्ल पक्ष था। चंद्रिका छन कर आ रही थी। उससे कुछ स्पष्ट हो रहा था तो अनेक परछाइयाँ भी बन रही थीं। कितने भ्रम उत्पन्न हो रहे थे, जैसे स्थान-स्थान पर कुछ रखा हो। कहीं कोई खड़ा हो। कहीं कोई बैठा हो। पर कहीं कोई नहीं था। दूर से पूरा संसार दीखता था, निकट जाने पर कहीं भी कुछ नहीं था।...पर वह पर्यक वहाँ रखा था और उस पर कोई सोया हुआ भी था। ... तो मालिनी उससे पूर्व ही आ गई थी। अपनी सुविधा से चुपचाप आकर लेट गई होगी, ताकि किसी को पता ही न चले।... वह भी उसे कुछ पता नहीं लगने देगा। चुपचाप निकट जाकर उसे अपनी भुजाओ में भर कर उसे चकित कर देगा।... पर इस अंधकार में वह उसके दिए हुए वस्त्राभूषणों को कैसे देख पाएगी ? वह उसके नयनों में जो प्रसन्नता और कृतज्ञता देखना चाहता है, उसे कैसे देख पाएगा।...

किंतु अब यह सब सोचने का समय नहीं था। उसके सम्मुख सैरंध्री... मालिनी जैसी सुंदरी उसकी प्रतीक्षा में सेज पर सोई थी। कीचक को तो यह विश्वास ही नहीं हो रहा कि मालिनी उसे प्राप्त हो जाएगी ... और वह है कि यहाँ लेटी कैसे उसकी प्रतीक्षा कर रही है। ऐसे तो प्रथम रात्रि तक में नवोढ़ा भी अपने प्रियतम की प्रतीक्षा नहीं करती ...

कीचक ने निकट जा कर, उसका उत्तरीय पकड़ कर खींचा, "मैं आ गया सुश्रोणि ! आओ मेरी भुजाओं में समा जाओ। आओ मेरे वक्ष से लग जाओ।..."

मालिनी का स्पर्श बहुत कठोर था; और दूर से आती ज्योत्स्ना में जिस आकृति को कीचक ने पर्यक पर से उठते देखा, वह बल्लव से बहुत मिलती-जुलती थी। ...

50

चतुरसेन ने देखा, बल्लव अपने कक्ष के द्वार के मध्य अपनी शैया पर निश्चिंत सो रहा था। सामान्यतः वह इतनी देर तक नहीं सोया करता था। रात को वर्षा हुई थी। संभव है, किसी कारण से रात को उसकी निद्रा पूरी न हुई हो।...

"बल्लव !" चतुरसेन ने उसे हिलाकर जगाया, "उठो।"

बल्लव ने एक अंगडाई ली और वह उठ कर बैठ गया, "क्या दिन बहुत चढ आया है ?"

"नहीं ! दिन तो बहुत नहीं चढ आया; किंतु लगता है कि सैरंध्री के पति के मित्र गंधर्व विराटनगर पर चढ आए हैं।"

बल्लव की तंद्रा भी जैसे एक झटके से उसे छोड गई, "क्या किया उन गंधर्वो ने ?"

"रात को किसी ने सेनापति कीचक का वध कर डाला है। लोगो का अनुमान है कि यह उन्हीं गंधर्वो का काम है।" चतुरसेन बोला, "वध क्या किया है, पीट-पीट कर उसके हाथ-पॉव भी उसके धड मे ही घुसेड़ दिए हैं, जैसे पानी से बाहर निकल कर कछुआ अपने हाथ-पैर समेट लेता है।"

"क्या ? कीचक मारा गया ?" बल्लव ने आश्चर्य से पूछा, "तुम्हें कैसे मालूम हुआ काका ?"

"अरे अब तक तो सारे नगर को ही ज्ञात हो चुका है, तुम मेरी बात पूछ रहे हो।" चतुरसेन बोला, "प्रातः जब मुँह अँधेरे ही एक परिचारिका झाड़-बुहार के लिए नृत्यशाला में पहुँची तो उसने वहॉ एक मुड़ा-तुडा शव देखा। वह चीत्कार करती बाहर भागी। उससे सूचना पा कर प्रहरी पहुँचे। उन्होंने पहचाना कि वह शव तो सेनापति कीचक का है। उन्होंने अपने अधिकारी को सूचना दी। इस प्रकार सारे नगर में सूचना प्रसारित हो गई।"

"तो नगर की क्या प्रतिक्रिया है ?" बल्लव ने कुछ रस लेते हुए पूछा।

"नगरवासी तो प्रसन्न हैं कि एक दुष्ट से अनायास ही मुक्ति मिल गई।" चतुरसेन ने बताया, "किंतु रानी सुदेष्णा बहुत दुखी हैं। कीचक उनका भाई था न। और सुना है कि राजा भी कुछ भयभीत हैं।"

"क्यों ? उन्होंने क्या किया है ?"

"कीचक जैसे व्यक्ति को मार देने वाला साधारण व्यक्ति तो नहीं होगा न !" चतुरसेन बोला, "संभव है कि वह नगर में भी कुछ उत्पात मचाए। वह नहीं मचाएगा तो कीचक के समर्थक मचाएँगे।"

"व्यर्थ ही भयभीत हैं विराटराज ! कीचक को मारने वाले का राजा से क्या विरोध ?" बल्लव बोला, "पर कीचक को किसने मारा होगा काका ?"

"यह तो भगवान ही जाने बेटा ! किंतु कीचक के भाइयो—उन उपकीचको—को, और शायद रानी सुदेष्णा को भी संदेह है कि यह सब सैरंध्री के कारण हुआ है। कीचक आजकल सैरंध्री के पीछे पड़ा हुआ था। परसों उसने सैरंध्री को राजसभा में सबके सामने लात मारी थी। उसका प्रतिशोध लेने अथवा सैरंध्री को निर्भय करने के लिए ही संभवतः सैरंध्री के ही किसी अन्य प्रेमी ने कीचक का वध कर दिया है।"

"सैरंध्री के किसी प्रेमी ने ? मैंने तो सुना है कि सैरंध्री के पति के पाँच अदृश्य गंधर्व मित्र सदा उसकी रक्षा करते है।" बल्लव बोला।

"पता नहीं कि सत्य क्या है, कोई कुछ कहता है और कोई कुछ।" चतुरसेन बोला, "पर बेचारी सैरंध्री का तो काल आ गया न !"

बल्लव पहली बार कुछ गंभीर हुआ; किंतु उसने स्वयं को सँभाले रखा, "क्यों ? उसे क्या हुआ है ?"

"कीचक तो मारा गया; किंतु उपकीचक तो जीवित हैं न ! पूरे एक सौ पाँच हैं वे लोग। वे यह मानते हैं कि कीचक को किसी ने भी मारा हो, किंतु मारा है सैरंध्री के ही कारण।" चतुरसेन बोला, "इसलिए वे इसका दंड सैरंध्री को देना चाहते हैं।"

बल्लव का मन जैसे एक बार जोर से उछला, "सैरंध्री को दंडित करना चाहते हैं ?"

"हाँ !" चतुरसेन बोला, "उन्होंने राजा से अनुमति माँगी है। वे लोग सैरंध्री को बाँध कर कीचक के शव के साथ जीवित जला देना चाहते हैं। सैरंध्री का यही दंड उनको उचित लगता है।"

"राक्षस हैं वे लोग।" बल्लव कुछ उत्तेजित स्वर में बोला, "कीचक के वध के लिए बिना किसी प्रमाण के सैरंध्री को दोषी ठहराने और दंडित करने का क्या अर्थ ? और यह भी कोई दंड है ? यह तो अधर्म है। अत्याचार है। राजा इस प्रकार की अनुमति कभी नहीं देंगे।"

"नहीं देंगे का क्या अर्थ।" चतुरसेन बोला, "राजा ने अनुमति दे दी है।"

"अनुमति दे दी ?" बल्लव का मन जैसे भभक उठा, 'विराटराज इतने अन्यायी हैं क्या ?"

"तुम्हें इन राजाओं के विषय में ज्ञान नहीं है।" चतुरसेन का स्वर वीतराग था, "कितने आदेश ये अपनी इच्छा से देते हैं और कितने ये किसी भय से तथा कितने लोभ से देते हैं। ये राघवेन्द्र रामचंद्र तो हैं नहीं, न ही धर्मराज युधिष्ठिर हैं, जिन्हें राज्य के प्रति रत्ती भर भी लोभ न हो। ये लोग तो प्रतिक्षण जैसे अपने सिंहासन की रक्षा के लिए कितने ही अधर्म, कितना ही अन्याय करते रहते हैं। अब कीचक तो नहीं है; किंतु सेना की रीढ़ तो ये उपकीचक ही हैं। वे सब कीचक के प्रति निष्ठावान हैं। राजा उनकी बात नहीं मानेंगे, तो उन्हें रोक तो पाएँगे नहीं। उपकीचक अभी उनकी अनुमति माँग रहे हैं। अनुमति न मिलने पर वे उनकी इच्छा के विरुद्ध भी वही काम कर सकते हैं।"

"इस प्रकार की चर्चा सुन कर सैरंध्री विराटनगर से भाग तो नहीं गई ?" बल्लव ने पूछा।

"नहीं ! भागेगी कहाँ। उपकीचकों ने पहले उसे पकड़ कर बाँध लिया था और तब राजा से अनुमति माँगी थी।" चतुरसेन बोला, "वे लोग अर्थी ले जाने की तैयारी कर रहे हैं।"

"तो सैरंध्री की मृत्यु अवश्यंभावी है ? उसे कोई नहीं बचा सकता ?" बल्लव के स्वर में चिंता थी।

"लगता तो यही है," चतुरसेन ने कहा, "वैसे इस समय कंक भी राजा के पास बैठे उन्हें समझा रहे हैं कि यह धर्म नहीं है। एक असहाय अबला को इस प्रकार राक्षसों की दया पर छोड़ देना न्याय नहीं है। जब राजसभा में उसे कीचक ने लात मारी थी, तब भी सैरंध्री ने राजा से कहा था कि वह उनकी प्रजा है, उनके आश्रय में है, उसकी रक्षा राजा का धर्म है।..."

"तो राजा क्या कहते हैं ?"

"राजा क्या कहेंगे। वे स्वयं भी जानते हैं कि यह अधर्म है; किंतु वे उपकीचकों का विरोध करने का साहस नहीं कर पा रहे। उनके सामने प्रश्न है कि वे सैरंध्री की रक्षा करें अथवा अपने सिंहासन की ? ऐसे में वे निश्चित रूप से सिंहासन की ही रक्षा करेंगे, सैरंध्री की नहीं।"

"राजा का सिंहासन सुरक्षित है। उनकी रक्षा करने के लिए उपकीचक उनके साथ हैं, तो फिर उन्हें किसका भय है ?" बल्लव के स्वर में व्यंग्य था।

"राजा उपकीचकों की बात मानते हैं तो उन्हें भय है सैरंध्री के अज्ञात प्रेमियों का। जिसने कीचक की हत्या की है, वह उनकी हत्या भी तो कर सकता है। राजा कीचक से अधिक बलवान तो नहीं हैं।" चतुरसेन ने कहा, "और उपकीचकों की बात न मानें तो उपकीचक ही उनका सिंहासन पलट देंगे। दुर्बल और दूसरों के भरोसे शासन करने वाला राजा न तो न्याय कर सकता है, न धर्म पर चल सकता है, न निर्भय निद्रा का सुख ले सकता है।"

"तो वे कंक को यह बात समझा क्यों नहीं देते ?"

"कौन किसको समझा सकता है भाई !" चतुरसेन बोला, "उधर राजकुमारी उत्तरा अपनी गुरु उस बृहन्नला के साथ रानी सुदेष्णा को समझा रही है कि वे सैरंध्री की रक्षा करें। उपकीचकों का यह निर्णय एक भयंकर भूल है।"

"ओह ! बृहन्नला भी ?" बल्लव के स्वर में कुछ स्फूर्ति आई, "क्या कह रही है वह रसीली बृहन्नला ?"

"वह कह रही है कि उपकीचक सैरंध्री को इस प्रकार जला तो पाएँगे नहीं, तो राजा क्यों व्यर्थ ही अपने सिर यह पाप ले रहे हैं।"

"क्यों नहीं जला पाएँगे उपकीचक ?"

"बृहन्नला कह रही है कि जिसने कीचक को मार डाला है, वह यदि उपकीचकों को क्षमा भी कर दे, तो भी सैरंध्री के अनेक अन्य प्रेमी हैं, जो सैरंध्री को मरने नहीं देंगे, उसके लिए उन्हें चाहे सारे उपकीचकों को मार डालना पड़े।" चतुरसेन ने बताया।

"बृहन्नला कैसे जानती है यह सब ?" बल्लव ने पूछा।

"वह सैरंध्री की सखी है न ! महाराज युधिष्ठिर के यहाँ काम करने के दिनों से ही दोनों में कुछ घनिष्ठता है।" चतुरसेन बोला, "इसलिए सैरंध्री उसे बहुत कुछ बताती रहती है।"

"रानी क्या कहती हैं ?"

"वे अपने भाई की मृत्यु से दुखी हैं, इसलिए सैरंध्री से रुष्ट हैं।" चतुरसेन ने कहा, "उन्हें लगता है कि सैरंध्री एक ऐसा आकर्षक विषवृक्ष है, जिसका फल चखने को विराटनगर का प्रत्येक पुरुष आतुर है। यदि वह यहाँ रही तो पुरुष स्वयं को रोक नहीं पाएँगे और सैरंध्री के रक्षक उन्हें जीवित नहीं छोड़ेंगे। इसलिए सैरंध्री का जीवित रहना विराटनगर के पुरुषों के लिए, अर्थात् विराटनगर के लिए संकटपूर्ण है।"

"सैरंध्री के सौन्दर्य को देख कर पुरुष उस पर मर मिटते है, इसलिए सैरंध्री को मरना होगा ?" बल्लव बोला, "यह कैसा न्याय है काका ?"

"यह राजपरिवारों का न्याय है बेटा। वे ऐसा ही करते हैं।" चतुरसेन बोला, "तुम अब विश्राम करोगे अथवा तुम्हारी निद्रा पूरी हो गई ? मेरा विचार है कि तुम्हारा वह तंतिपाल दूध ले कर आता ही होगा।"

"मैं सो चुका। तुम चलो, इधर का मैं सँभाल लूँगा।" बल्लव उठ खडा हुआ।

चतुरसेन चला गया और बल्लव कूद कर भूमि पर खडा हो गया। वह अब और विलंब नहीं कर सकता था। बृहन्नला तथा कंक अपनी ओर से प्रयत्न कर रहे थे; किंतु यदि राजा अथवा रानी ने हस्तक्षेप नहीं किया, तो सैरंध्री बेचारी तो उन दुष्टों के हाथों मारी जाएगी। ... तो क्या करे बल्लव ? क्या वह उपकीचकों के निवास पर जाकर सैरंध्री को छुडा लाए ?

बल्लव अभी सोच ही रहा था कि सामने से तंतिपाल आता दिखाई दिया। उसने निकट आकर दूध का भांड एक ओर रखा और बोला, "भाई ! उपकीचक सैरंध्री को बाँध कर ले गए हैं। यह सूचना मिल गई ?"

बल्लव के मन में आया कि वह पूर्णतः अज्ञानी बन कर ततिपाल से सब कुछ पूछे; किंतु उसमें बहुत सारा समय नष्ट हो जाने की आशंका थी। बोला, "हाँ ! सूचना तो मिल गई; किंतु करना क्या है ?"

"कंक ने कहलवाया है कि राजा उपकीचकों का विरोध करने का साहस नहीं जुटा पा रहे हैं। इसलिए हमें स्वयं ही उपकीचकों से लड़ना होगा। वे इस पक्ष में नहीं हैं कि हम अपने शस्त्र शमी वृक्ष से उतार कर लाएँ। उनका विचार है कि उपकीचकों के लिए दिव्य शस्त्रों की आवश्यकता नहीं है। उनके लिए तो साधारण शस्त्रास्त्र ही पर्याप्त है। वैसे भी अपने शस्त्र लाने में वहुत समय लग जाएगा और हमारा रहस्य भी खुल जाएगा। ..."

"मेरा विचार है कि मै पहले निःशस्त्र ही उनसे निबट लूँ। तुम लोग निकट ही रहना। तुम अपनी गौवों को चराने के बहाने से और ग्रंथिक अश्वों को चराने की आड़ में। कंक और बृहन्नला जिस बहाने से आ सकें, आ जाएँ। यदि मैं अपने प्रयत्न में सफल हो जाता हूँ, तो किसी को कुछ करने की आवश्यकता ही नहीं है, किंतु यदि तुम लोगों को लगता है कि मेरे लिए सैरंध्री को उनसे छुडा पाना कठिन है और सैरंध्री के प्राणों पर किसी प्रकार की विपत्ति है, तो तुम लोग अपना प्रयत्न आरंभ कर देना।"

तंतिपाल ने आश्चर्य से बल्लव को देखा : वह तो कभी इस प्रकार बात नहीं करता कि यदि मैं न कर पाऊँ, यदि असफल हो जाऊँ, तो ऐसा करना। वह तो सदा यही कहता है कि मैं ऐसा कर दूँगा।...

तभी बल्लव ने पुनः कहा, "वैसे इसकी संभावना है नहीं। मैं स्वयं अकेला ही उन उपकीचकों को निबटा दूँगा।"

"ठीक है।" तंतिपाल बोला, "हम आपके लिए भी कुछ शस्त्रों की व्यवस्था रखेंगे।"

"ले आना।" बल्लव हँसा, "किंतु मेरा विचार है कि यदि हमने शस्त्रों का प्रयोग किया तो विराटनगर के लोगों की यह धारणा भंग हो जाएगी कि सैरंध्री की रक्षा अलौकिक शक्ति से संपन्न कुछ अदृश्य गंधर्व कर रहे हैं। शस्त्र तो अपने आप में ही प्रमाण हैं कि उनका प्रयोग करने वाले भी साधारण मानवीय शक्तियों तक सीमित कुशल सैनिक ही हैं। मेरी इच्छा है कि मैं कुछ ऐसा करूँ कि लोगों की अदृश्य गंधर्वो वाली धारणा ही कुछ और दृढ हो।"

"बहुत अच्छा ! किंतु हम शस्त्रों के साथ प्रस्तुत रहेंगे।"

तंतिपाल चला गया।

बल्लव ने पाकशाला के लिए आवश्यक सामान पर दृष्टि डाली। वह यदि कुछ समय के लिए लुप्त भी हो जाए तो भोजन समय से तैयार हो जाएगा। पाकशाला के कर्मचारी अपने समय पर आएँगे और सामग्री प्रस्तुत पा कर अपना काम आरंभ कर देंगे। तब तक वह भी आ ही जाएगा। ...

उसने एक दुकूल ले कर अपने सिर पर एक मुरेठा सा बाँध लिया था। वह कुछ इस प्रकार फैलाकर बाँधा गया था कि उससे उसके चेहरे का अधिकांश भी ढक गया था। उसके कारण किसी को यह संदेह नहीं हो सकता था कि उसने अपना चेहरा छिपाने अथवा अपना वेश परिवर्तित करने का प्रयत्न किया है। वैसे उस मुरेठे के साथ उसे पहचानना कठिन ही था।

उसने अपने कक्ष के कपाटों पर भीतर से साँकल चढ़ा दिया। वातायन से कूद कर बाहर निकला, और बाहर से वातायन भिडा कर भली प्रकार बंद कर दिए।

वह पाकशाला से बाहर निकल आया; किंतु वह मुख्य द्वार की ओर न जाकर दीवार फाँद कर बाहर निकला। अब उसे नगर प्राचीर के निकट पहुँचने की शीघ्रता थी। नगर से बाहर निकलने से पहले वह किसी की दृष्टि मे नहीं पडना चाहता था। ... प्रातः का समय था। साधारण जन अपने-अपने कार्य पर जाने की तैयारी में थे। अधिकांश लोग देवालयों की ओर जा रहे थे। नगर प्राचीर की दिशा में जाने वाले लोगों की संख्या बहुत अधिक नहीं थी। सयोग ही था कि मार्ग में उसे पहचानने वाला कोई नहीं मिला। बल्लव नगरद्वार की ओर भी नहीं गया। एक एकांत सा स्थान देख कर वह उभरे पत्थरों तथा प्राचीर मे बन आए गढ़ों के सहारे प्राचीर पर चढ़ गया; और जब तक कि कोई उसे प्राचीर पर चढ़ते देख, आपत्ति अथवा जिज्ञासा करता, वह बाहर की ओर कूद गया था।

मिट्टी पर पग टिकते ही उसने अपनी दृष्टि चारो ओर दौडाई—किसी ने उसे देखा तो नहीं ? अथवा उसे कोई देख तो नहीं रहा ? नहीं ! आस-पास कोई नहीं था। बल्लव ने अपनी धोती को ऊँचा कर, कस कर बॉधा। अब वह घुटनों से ऊपर वाली कसी हुई धोती में था। ऊपर से अनावृत बलिष्ठ शरीर किसी को भी भयभीत करने के लिए पर्याप्त था। उसने पगड़ी खोल कर उससे अपना सारा चेहरा इस प्रकार ढक लिया था कि केवल ऑखें खुली रहें और नासिका सॉस ले सके।

वह नगरद्वार से श्मशान की ओर जाने वाली पगडंडी के साथ लगते एक विशाल और भयावह वृक्ष पर चढ़ कर बैठ गया। सामान्यतः लोग मानेंगे कि यह वृक्ष प्रेतों का स्थान हो सकता है। यदि वह इस पर से कूद कर उन पर झपटेगा तो अधिकांश लोग यही मानेंगे कि उस वृक्ष पर निवास करती किसी प्रेतात्मा ने कुपित हो कर उन पर आक्रमण किया है। ... और लोग प्रेतों से युद्ध नहीं करते, उनसे भागने में ही अपनी सुरक्षा मानते हैं।

बल्लव को वहॉ बैठे अधिक समय नहीं हुआ था कि उसने देखा कि असंख्य गौवों का एक झुंड किसी दिशा से आकर उस पगडंडी के आस-पास ही फैल गया। उनके साथ एक नहीं चार गोप थे। वे गौवों को चरने के लिए छोड़ कर पृथक्-पृथक् स्थानों पर अपनी गठरियॉ ले कर बैठ गए थे। बल्लव समझ गया कि उन गठरियों में छोटे खड्ग और बाण हो सकते हैं। ... किंतु इन सबका प्रबंध कहॉ से किया होगा तंतिपाल ने ? इतना तो स्पष्ट था ही कि वह साधारण शस्त्रों का प्रबंध करने में सफल हो ही गया था।

तभी नगरद्वार की ओर से एक अरथी आती दिखाई दी। उसके साथ सैकडों लोग चल रहे थे। कोलाहल भी पर्याप्त था। रुदन भी था, आक्रोश भी था; और उत्तेजना भी थी। और उन सबके मध्य सैरंध्री का चीत्कार भी था। वह उन दुष्टों

को भगवान की और धर्म की दुहाई दे रही थी कि वे ऐसा अत्याचार न करें, अन्यथा उसके रक्षक गंधर्व उनके परिवार के परिवार नष्ट कर डालेंगे। उनके वंश में उनका दीया-बाती करने वाला भी कोई नहीं बचेगा। बीच-बीच में वह अपने रक्षक गंधर्वो को भी पुकार लेती थी। जाने वे अब तक क्यों नहीं आए थे।

कहाँ थी वह ? बल्लव ने अपनी दृष्टि घुमाई। ...उसकी आत्मा काँप उठी। उन दुष्टों ने कीचक की टिकठी पर ही जीवित सैरंध्री को भी बाँध रखा था।

बल्लव ने अपने क्रोध को संयत करने के लिए, वृक्ष की एक मोटी शाखा पर पाँव रख, बलपूर्वक उसे दबाया। उस प्रेतव्याप्त परिवेश में उस शाखा के टूटने का स्वर कुछ ऐसा ही था, जैसे आकाश पर से कोई उल्का टूट कर गिरी हो।

टिकठी उठा कर आगे-आगे चलने वाले लोग जैसे बिदकने को तैयार हो गए। उनकी गति बढ़ गई। उनकी ग्रीवाएँ घूम-घूम कर देखने लगीं कि यह ध्वनि किसकी है और किस ओर से आई है। उसी घबराई हुई अवस्था में वे लोग उस वृक्ष के नीचे पहुँचे, जिस पर बल्लव बैठा हुआ था। ... और तभी जैसे सारा वृक्ष ही टूट कर उन लोगों पर गिर पड़ा। उस टूटी हुई शाखा को लिए दिए बल्लव नीचे कूद पडा था। ...धरती पर पग धरते ही उसके हाथ, पैर और वह शाखा जैसे स्वचालित रूप से प्रहार करने लगे थे।... टिकठी उठा कर चल रहे लोगों के भयभीत मन, उसका यह आकस्मिक प्रहार सह नहीं पाए और वे टिकठी पटक कर भागे।

इससे पहले कि कोई कुछ समझ सकता, बल्लव ने टिकठी पर बँधी सैरंध्री की रस्सियाँ तोड दीं।

"भागो सैरंध्री।" उसने धीरे से कहा, "डरो नहीं यह मैं हूँ, तुम्हारा बल्लव। शेष चारों भी यहीं हैं, उन वृक्षों और गायों की आड मे।"

सैरंध्री का आत्मबल जागा, "नहीं प्रियतम ! ये लोग मुझे श्मशान में लाए हैं, तो मैं आज श्मशान की देवी के समान इन सबकी मृत्यु का दृश्य देखूँगी।" वह बोली, "मुझे आज तुम्हारा पराक्रम देखना है।"

बल्लव के पास अधिक समय नहीं था। धीरे से बोला, "तो किसी सुरक्षित से कोने में खडी हो जाओ और देखो।"

"यदि वे लोग भाग गए और तुमसे युद्ध करने ही न आए तो ?" सैरंध्री बोली, "ऐसे में वे लोग नगर में पहुँच कर मुझे फिर से बाँध लेंगे।"

"तुम्हारा यहीं रुकना उचित है। वे लोग मुझसे भयभीत हो कर युद्ध करने न भी आएँ तो तुम्हें पुनः पकडने के लोभ में ही आएँ।" बल्लव बोला, "यहाँ तो युद्ध के बहाने मैं उनका वध कर सकता हूँ, नगर में पहुँच कर वे फिर से

सुरक्षित हो जाएँगे। वहाँ मैं राजा का रसोइया हो जाऊँगा और वे राजा के सेनानायक और संबंधी। यहाँ तुम्हारे अपमान का प्रतिशोध लिया जा सकता है, नगर में जाकर राजा से न न्याय मिल सकता है, न तुम्हारा प्रतिशोध।"

बल्लव ने देखा कि उपकीचकों के साथ साधारण नागरिकों की जो भीड़ उनके प्रति अपनी निष्ठा जताने अथवा मनोरंजक दृश्य देख कर सुख प्राप्त करने आई थी, वह तो भाग चुकी थी। ... किंतु लगता था कि पहले पलायन के पश्चात् उपकीचकों ने फिर से व्यूहबद्ध होना आरंभ कर दिया था। उनके पास शस्त्र नहीं थे, किंतु उनमें से अनेक ने उसी के समान अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार वृक्षों की शाखाएँ इत्यादि तोड ली थीं।

वे लोग अब वृक्षों के पीछे से निकल कर बाहर आ गए थे। परस्पर विचार कर युद्ध की कोई योजना तो उन्होंने बनाई ही थी, जिसके अंतर्गत वे आगे बढ रहे थे। ... उनके आगे बढ़ने की दिशा से यह संकेत भी मिल रहा था कि उनकी अधिक रुचि बल्लव से युद्ध करने की न हो कर सैरंध्री को घेरने की थी। इसका अर्थ तो यह हुआ कि यदि वे सैरंध्री को पकड पाए तो उसे ले कर वे पलायन कर जाएँगे और बल्लव को पुनः सैरंध्री को मुक्त कराने का अभियान चलाना पड़ेगा।

उसके मन में एक बिंब उभर रहा था।... एक वृक्ष से एक मेमना बँधा हुआ था और उसके चारों ओर भेड़ियों का एक झुंड उसे कच्चा चबा जाने के लिए अकुला रहा था। आखेटक, उन भेड़ियों का आखेट करना चाहता था, इसलिए वह मेमने को वहाँ से किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचाना भी नहीं चाहता था ...और उसे वहाँ बाँध कर उसके प्राणों के लिए चिंतित भी था। ...

उपकीचकों ने परस्पर कोई एक संकेत किया और वे अकस्मात् ही अनेक वर्गों में बँट गए। उनमें से कुछ वृक्षों के पीछे गए, कुछ ने वहाँ चरती गायों को अपना कवच बनाया और कुछ ने सीधे बल्लव पर धावा बोला।

बल्लव उनकी मूर्खता पर मुस्कराया। यदि वे सारे के सारे एक साथ उस पर आक्रमण करते तो कुछ अधिक सफल हो सकते थे। इस प्रकार बँट कर तो वे वैसे ही मारे जाएँगे। उपकीचकों के अपने निकट पहुँचने से पूर्व उसने देखा कि गायों के आड़ लेने वाले उपकीचकों को कुछ लोग घसीट कर वन में ले गए थे। और अपने पीछे किसी को भी न आते देख उस पर झपटने वाले उपकीचक भी द्विविधा में फँस गए थे।

अपने भाइयों की सफलता देख बल्लव के मन में कुछ ऐसा उल्लास उमड़ा कि उसने उपकीचकों के अपने निकट पहुँचने की प्रतीक्षा नहीं की। उसने भयंकर गर्जन किया और उनकी आगे बढ़ने वाली भयभीत भीड़ पर टूट पड़ा। उसकी भुजाएँ, टाँगें तथा वृक्ष की शाखा सब मिल कर एक ऐसे यंत्र के समान

घूम रही थीं कि जिसके निकट पहुँचना संभव नहीं था; और जो कोई भी उस यंत्र को छू जाता था, वह अपने पैरों पर खड़ा नहीं रह पाता था।

पहली टोली को धराशायी होते देख, उनकी दूसरी टोली आई तो, किंतु उसमें तनिक भी उत्साह नहीं था। वे देख और समझ चुके थे कि जिससे वे लोग लडने जा रहे हैं, उसकी क्षमता उन सबको मिलाकर भी कदाचित् अधिक ही थी। निश्चित रूप से वह कोई मानव नहीं था। वह अदृश्य तो नहीं था, किंतु अपनी क्षमता में अलौकिक अवश्य था।... उपकीचक पीछे भी नहीं भाग सकते थे।...उनके जो साथी पीछे की ओर गए थे, वे लौटे नहीं थे। निश्चित रूप से वे लोग युद्ध छोड कर भागे नहीं थे। उन्हें उस ओर खड़े अदृश्य गंधर्व घसीट कर ले गए थे। ...यह तो उन्हें पहले ही सोचना चाहिए था कि जिन क्रोधी और अदृश्य गंधर्वो ने महाबली कीचक को मार-मार कर मांस का लौंदा बना दिया था, उनके विरुद्ध वे क्या कर पाएँगे। तब सोचा नहीं और क्रोध मे उनकी रक्षिता को भी उठा लाए, कीचक के शव के साथ जीवित जलाने को। ... अब अपने प्राण बचाना भी कठिन हो रहा था।...

सहसा उनका सारा संघर्ष युद्ध के लिए न रह कर पलायन के लिए हो गया। बल्लव को चिंता हुई : कहीं उनमें से कुछ भी लोग भाग कर नगर लौट गए तो सैरंध्री के कष्टो का अंत नहीं होगा।... किंतु प्रसन्नता की बात यह थी कि उससे दूर होते ही उपकीचक वृक्षों तथा गायों की आड में उसके भाइयों द्वारा धरे जा रहे थे। वे लोग भी अपने हाथ में आए उपकीचक का वध कर उसे खुले में फेंक देते थे। ...शेष बचे तथा अपने प्राणों की रक्षा के लिए भागने वाले उपकीचकों को समझ में आ जाता था कि वन में घुस जाना भी उनके लिए सुरक्षित नहीं था। ...

युद्ध अधिक देर नहीं चला। अकस्मात् ही वह समाप्त हो गया। बल्लव ने देखा कि न कोई उपकीचक उसके सामने था और न ही कोई वन में से निकल कर उस पर आक्रमण करने के लिए आ रहा था। उसके चारों ओर उपकीचकों के शव बिखरे हुए थे। उसके भाइयों ने जिस प्रकार अदृश्य रह कर उपकीचकों को मारा था, उससे या तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता था कि सैरंध्री की रक्षा कुछ अदृश्य गंधर्व कर रहे थे; अथवा यह निष्कर्ष निकाला जा सकता था कि अकेले बल्लव ने ही एक सौ पाँच उपकीचकों को मार डाला था। ...

सैरंध्री ने कृतज्ञता, मुग्धता और प्रेमविह्वलता से आपूर्त एक मुस्कान बल्लव पर डाली ही थी कि वह धीरे से बोला, "मै जा रहा हूँ देवि ! हम सबका अदृश्य और अज्ञात रहना ही उचित है। तुम अपनी सुविधा से नगर में लौटो।"

सैरंध्री स्तब्ध-सी खड़ी की खडी रह गई। बल्लव वहाँ से हवा हो गया

था। वन में से वृक्षों तथा उन गायों के पीछे से कोई प्रकट नहीं हुआ। ... कोई उपकीचक भी उस पर आघात करने के लिए आगे नहीं बढ रहा था। सारे उपकीचक भूमि पर इस प्रकार लेटे हुए थे कि जैसे किसी कृषक ने उपकीचकों की फसल काटी हो। वे सब पूलों के समान धरती पर लेटे हुए थे। ...

सैरंध्री के मन में अपने पतियों के प्रति गर्व का भाव जागा। सुदेष्णा और विराट ने परस्पर वार्तालाप में किसी भी कारण से यह कहा हो कि अदृश्य गंधर्व उसकी रक्षा करते हैं, किंतु वह कथन सत्य प्रमाणित हो गया। पॉच अदृश्य गंधर्व उसकी रक्षा कर रहे थे। प्रतिक्षण ... हर समय ... वे पॉचों अदृश्य गंधर्व इस समय यहॉ से चले गए थे। वे अदृश्य और अज्ञात ही रहना चाहते थे। इसलिए सबका अपने-अपने काम पर पहुँचना बहुत आवश्यक था। यदि कहीं यह बात खुल जाए कि सैरंध्री की रक्षा करने वाले बल्लव, बृहन्नला, कंक, ग्रंथिक और तंतिपाल हैं, तो फिर यह कैसे गुप्त रह सकता है कि वे कौन है।...किंतु सैरंध्री को वापस पहुॅचने की कोई जल्दी नहीं थी। सारा नगर जानता है कि राजा के प्रिय उपकीचक उसे बलात् उठा कर ले गए हैं ... और सैरंध्री का मन कैसा-कैसा तो हो आया ... कितने ही समय तक वह एक मृतक के साथ बंधी रही थी। ...एक शव के साथ। कीचक के शव के साथ।... उसे लगा, उसके शरीर और वस्त्रों में जैसे मृत्यु की दुर्गंध बस गई है। इस दुर्गंध को वह अपने साथ तो नहीं ढो सकती। उसे स्वयं को इससे मुक्त करना होगा। ...उसे सुदेष्णा की केशसज्जा के लिए पहॅुचने की कोई जल्दी नहीं थी। वह थोड़ी देर इस मुक्त प्रकृति में स्वच्छंद भाव से जीना चाहती थी।...

पर क्या वह इतनी सुरक्षित थी कि मुक्त और स्वच्छंद भाव से इस निर्जन में प्रकृति के निकट रह सके ?

"यही तो परीक्षा है।" उसके अपने मन ने उत्तर दिया, "उन्मुक्त आकाश पर स्वच्छंद उड़ने का सुख है तो श्येन के झपट पड़ने का संकट भी है। प्रत्येक सुख के साथ संकट जुड़ा है। देखना है कि एक सौ पाँच उपकीचकों और स्वयं कीचक की हत्या के पश्चात् भी सैरंध्री पर अपनी इच्छा आरोपित करने का साहस कोई करता है क्या ? यदि अब भी कोई सैरंध्री के रूप पर मुग्ध हो कर, अथवा कीचक के वध के प्रतिशोध के भाव से आता है, तो समझना चाहिए कि यह युद्ध अभी समाप्त नहीं हुआ है।"

सैरंध्री सावधानी से चारों ओर देखती हुई, धीरे-धीरे चल कर सरितातट पर पहुँची। आस-पास कोई नहीं था। उसके रक्षक गंधर्वो को गए काफी समय हो गया था। अभी तक कोई उसके निकट नहीं आया था। क्या अर्थ था इसका ? उसका कोई शत्रु नहीं था ? यहॉ, नगर के बाहर, इस वन्य क्षेत्र में कोई व्यक्ति ही नहीं था, अथवा उसके गंधर्वो का इतना भय व्याप्त हो गया था कि कोई

उसके निकट आने का साहस नहीं कर रहा था ?

सैरंध्री बहुत दिनों के पश्चात् इस प्रकार मुक्त भाव से सरिता के जल में उतरी थी। उसने अच्छी तरह मल-मल कर अपने शरीर को स्वच्छ किया, जैसे अपने शरीर से कीचक के शव के स्पर्श का मल धो रही हो, टिकठी पर बँधी होने के भाव को धो रही हो; अथवा अपने शरीर पर कीचक तथा उपकीचको की पडी दूषित दृष्टि के प्रभाव को धो डालना चाहती हो। वह स्वयं नहाई, उसने अपने वस्त्र धोए, और मुक्त मन से जलक्रीडा में लगी रही। ...उसके मन में बैठा हुआ असुरक्षा का भाव जैसे क्रमशः क्षीण होता हुआ, अंततः विलीन हो गया था। ... उसके पतियो ने आज गुप्त रूप से विराटनगर के उन शक्तिशाली सेनापति और सेनानायकों को मार डाला था, जिनके सम्मुख राजा भी सिर नहीं उठा सकता था। कोई नहीं जानता था कि सैरंध्री, और कोई नहीं, स्वयं द्रौपदी कृष्णा है। कोई नहीं जानता था कि पाँचों पांडव इसी नगर में छुपे हुए हैं और उन्होने ही उसकी रक्षा की है ... किंतु यह तो सभी जानते थे कि सैरंध्री का अपमान करने का दंड था—मृत्यु। निश्चित रूप से उसके रक्षकों का वही आतंक दुष्टों को उससे दूर रखे हुए था, नहीं तो इस नगर में तो, साधारण सैनिक से ले कर सेनापति तक, किसी युवती स्त्री को देखते ही भेड़ियों के समान झपट पडते थे...

सैरंध्री उस समय तक जल क्रीडा करती रही, जब तक उसे यह नहीं लगा कि अब उसे ठंड लगने लगी है, इसलिए उसे जल से निकल आना चाहिए। उसने अपने धुले किंतु गीले वस्त्र धारण किए और नगर की ओर चल पडी। नगरद्वार तक की पगडंडी पर उसे कोई नहीं मिला। ...किंतु नगरद्वार पर सैनिक भी थे और नागरिक भी। सैरंध्री ने कौतूहलवश उनकी ओर देखा—कैसा व्यवहार करेगे वे उसके साथ ? वे सब जानते होंगे कि यह वही सैरंध्री है, जिसके कारण कीचक मारा गया। यह वही सैरंध्री है जिसे एक सौ पॉच उपकीचक, कीचक के शव के साथ टिकठी पर बॉध कर लाए थे, और उसके प्रतिशोध स्वरूप उन सबके शव अब भी श्मशान से बाहर पडे थे। उनका दाह संस्कार भी नहीं हुआ था। राजा ने शीघ्र ही उनके संस्कार की व्यवस्था नहीं की, तो वन के हिंस्र जीव तथा गृध्र इत्यादि पक्षी उन्हे नोच डालेंगे। ...अब सैरंध्री किसी से भी छुपी हुई नहीं थी। वह अवगुंठनवती नहीं थी। वह सुदेष्णा के प्रासाद के अवरोध मे नहीं थी। उसका कोई रक्षक उसके साथ नहीं चल रहा था। कोई भी सैनिक अथवा नागरिक उस सद्यःस्नाता के रूप को देख सकता था। कोई भी उससे प्रश्न पूछने के लिए उसके निकट आ सकता था। कोई भी अपनी अच्छी अथवा बुरी प्रतिक्रिया अभिव्यक्त कर सकता था। ...

पर नहीं, वहॉ वैसा कुछ नहीं हुआ। लोग उसे देखते थे, पहचानते थे और

उसके लिए मार्ग छोड़ कर एक ओर हट जाते थे। उनके चेहरों पर छाया भय वह स्पष्ट देख रही थी।

पाकशाला के निकट से निकलते हुए उसने देखा बल्लव द्वार पर ही खडा था। उसके अधरों पर एक हल्की-सी छिपी मुस्कान थी।

सैरंध्री ने अपने हाथ जोड़ कर आकाश की ओर उठाए, "जिन गंधर्वराज ने मेरी रक्षा की, उनको मेरा नमस्कार है।"

"असहाय स्त्री-पुरुषों के साथ अत्याचार करने वाले राक्षस इसी प्रकार मारे जाएँगे और साधु नर-नारी निर्भय हो कर विराटनगर में स्वच्छद विचरण करेंगे।" बल्लव बोला, "तुम्हारी आज्ञा के अधीन जो लोग नगर में गुप्त निवास कर रहे हैं, वे तुम्हारी प्रसन्नता देख कर स्वयं को उऋण मान मुदित भाव से वास करेंगे।"

दोनों ने मुस्कराकर एक-दूसरे को देखा और सैरंध्री आगे बढ गई।

51

राजसभा से लगे अपने एकांत कक्ष में विराट अकेले बैठे थे। उनकी चिंता का कोई अंत ही नहीं दीख रहा था। ... कीचक जब अपने सैनिक अभियान पर त्रिगर्त की ओर गया हुआ था, तो वे कैसे निश्चिंत थे। जैसे चाहते थे, अपना राज्य चला रहे थे। उनकी इच्छा हुई और उन्होने कंक को नियुक्त कर लिया। प्रजा का सुख-दुख सुनते रहे और अपनी क्षमता भर उनके दुखों का निवारण भी करते रहे। ... और तब कीचक लौट आया। उसने उनके द्वारा किए गए प्रत्येक कार्य की आलोचना की। उनका विरोध किया। ... बस एक सैरंध्री की नियुक्ति का ही विरोध नहीं किया। सैरंध्री के आकर्षण में वह अन्य सब कुछ भूल गया। ...अपनी किन-किन दुर्बलताओं के कारण, उन्होंने कीचक को सहन किया। ... पहले तो वे यह मानते रहे कि वे सुदेष्णा को प्रसन्न रखने के लिए कीचक के अतिचार को सहन कर रहे हैं। फिर उन्हें यह लगा कि कीचक उनका और विराटनगर का रक्षक है। वह नहीं होगा तो अपने शत्रुओं के सैनिक आक्रमणों का सामना वे कैसे करेंगे। ... यह तो उनकी समझ में बहुत बाद में आया कि कीचक विराटनगर में उनकी इच्छा से नहीं, अपनी इच्छा से वर्तमान है। वे उसे निष्कासित करना भी चाहेंगे, तो नहीं कर पाएँगे। ऐसा कोई प्रयत्न करने पर संभवतः वह ही उनको निष्कासित कर देगा।... वे उससे भयभीत भी थे और उन्हें उसकी आवश्यकता

भी थी।...जब उसने राजसभा में सबके सम्मुख सैरंध्री को लात मारी थी, तो सैरंध्री ने उनसे रक्षा की प्रार्थना की थी; किंतु वे उसकी प्रार्थना कैसे सुन सकते थे। उनका तो सारा शासन ही कीचक और उसके समर्थक उपकीचकों के बल पर था। उनके अपने भाई शतानीक और मदिराक्ष भी कीचक के अनुगत हो गए थे। क्यों ? वे आज तक नहीं समझ सके। भय के कारण, अथवा लोभ से ? किसी भी कारण से हुए हों; किंतु विराट यह जानते थे कि वे कीचक की आज्ञाओं का पालन करते थे। तो फिर विराट को भी तो कीचक का ही सहारा लेना था। पापियों की सहायता से चलाया जा रहा शासन धर्म की बात कैसे सुन सकता था। और सैरंध्री धर्म को पुकार रही थी। ... उस समय न वे कीचक की बात मान सकते थे और न सैरंध्री की। कीचक की बात मानने से धर्म उन्हें रोकता था और सैरंध्री की मानने से, भय। न वे धर्म का विरोध कर सकते थे, न अपने भय को जीत पाए थे। न कीचक को बंदी कर सकते थे और न सैरंध्री उसे सौंप सकते थे। ... इसलिए दोनो ही उन से रुष्ट थे। ...

वे नहीं जानते कि कीचक का वध किसने किया। उपकीचको को संदेह था कि यह वध सैरंध्री के रक्षकों ने सैरंध्री के कहने पर किया था। वे हत्यारे को तो नहीं पकड सकते थे; किंतु सैरंध्री को पकड कर बॉध लेना तो बहुत सरल था। उन्होंने वही किया। यह न्याय नहीं था, यह तो विराट भी समझते थे; किंतु प्रतिशोध तो कभी भी धर्म तथा न्याय पर आधृत नहीं होता। उपकीचक किसी भी स्थिति में सैरंध्री को मार देते, राजा उसकी अनुमति देते अथवा न देते। सैरंध्री का वध उनके लिए बहुत सरल था। उसका कोई रक्षक नहीं था। असहाय और निर्बल को मारने का लोभ कीचक को भी था और उपकीचको को भी। उनके मन में राजा के अधिकार के लिए कभी सम्मान नहीं रहा, क्योंकि वे जानते थे कि राजा दुर्बल है। ... और अब सैरंध्री के अज्ञात रक्षक अथवा रक्षकों ने एक सौ पाँच उपकीचकों को भी मार दिया था। कीचक तो रात के अंधकार में एकांत स्थल पर मारा गया था। कोई नहीं जानता कि उसको किसने मारा और कैसे मारा, किंतु उपकीचकों को तो उस अकेले गंधर्व ने सम्मुख युद्ध में मारा था। कुछ लोगों का विचार है कि उसके कुछ अन्य अदृश्य सहायक भी थे, किंतु दिखाई तो अकेला वही पड़ रहा था। जिन्हों ने उसे देखा था, उनमें से कुछ लोग उसे एक बलिष्ठ पुरुष के समान बताते हैं और कुछ दैत्याकार। उसने स्वयं को प्रच्छन्न ही रखा था। वह प्रकट होना नहीं चाहता था। उसके सहयोगी भी अदृश्य थे। ... यह सब क्या है ? कीचक का हत्यारा प्रकट क्यों नहीं होता ? उपकीचकों का वध करने वाले वीर पुरुष सम्मुख क्यों नहीं आते ? क्या उन्हें अपने पहचाने जाने का भय है ? पर किससे भयभीत हैं वे लोग ?

अब तो कीचक और उपकीचक, सब ही मारे जा चुके हैं ...। विराट ने देखा है, कि इतनी-सी देर में शतानीक और मदिराक्ष का व्यवहार भी बदल गया है। तो फिर अपने किस शत्रु से भयभीत हैं सैरंध्री के रक्षक ? क्या वे राजा से भयभीत हैं ? संभव है ऐसा ही हो। ...राजा ने सैरंध्री के अपमान के संदर्भ में कीचक का पक्ष लिया था। राजा ने उपकीचकों को अनुमति दी थी कि वे सैरंध्री को जीवित जला दें। ... तो वे राजा को अपना शत्रु क्यों न माने ?

विराट काँप उठे। यह क्या किया उन्होंने ? यदि गंधर्व राजा से भयभीत हैं, तो वे राजा से भी प्रतिशोध लेने का प्रयत्न अवश्य करेंगे। ... अब राजा उनको कैसे बताएँ कि राजा को न सैरंध्री से कोई विरोध है और न उसके पक्षधरों से। ... सत्य कुछ भी हो किंतु यथार्थ यही है कि सैरंध्री राजा की सभा में उनकी आँखों के सम्मुख अपमानित हुई। उसने उनसे न्याय माँगा। रक्षा की याचना की, और राजा ने न उसकी रक्षा की, न न्याय ही किया। तो फिर सैरंध्री के ये अदृश्य अज्ञात गंधर्व रक्षक ...

राजा का चिंतन जैसे थम गया। ...स्वयं उनके अपने मन में जब सैरंध्री के प्रति आसक्ति जन्मी थी तो रानी के साथ झगडे में यह तो स्वय उन्होंने ही कहा था कि वह अपने भाई के द्वारा उनका वध करवा दे और घोषणा कर दे कि सैरंध्री के अदृश्य गंधर्व रक्षकों ने उनका वध कर दिया है। तभी यह बात भी उठी थी कि यदि कोई पुरुष सैरंध्री की ओर पग बढाएगा तो सैरंध्री का कोई अन्य प्रेमी ईर्ष्यावश उसकी हत्या कर देगा। तो क्या यह सारा कार्य सैरंध्री के किसी अज्ञात प्रेमी का है अथवा सचमुच कोई अज्ञात गंधर्व, जिसके पास कुछ अलौकिक शक्तियाँ हैं, सैरंध्री की रक्षा कर रहा है ? ... पर यदि वह सैरंध्री का प्रेमी है, तो कभी न कभी उसने भी सैरंध्री के निकट जाने का प्रयत्न किया होता। ... किंतु सैरंध्री को कभी किसी पुरुष के साथ नहीं देखा गया। अधिकांशतः तो वह सुदेष्णा के प्रासाद में ही रहती है। हाँ ! बृहन्नला के साथ उसकी मैत्री की बात अवश्य सुनी गई है। पर क्या बृहन्नला यह सब कर सकती है ? वह कीचक का वध कर सकती है ? ... और उपकीचकों को तो सम्मुख युद्ध में मारा गया है। उस योद्धा का शरीर किसी बलिष्ठ पुरुष का शरीर बताया गया है। उस समय उसका शरीर अनावृत था। बृहन्नला का शरीर वैसा नहीं हो सकता ...तो कौन है वह ? वह प्रकट क्यों नहीं होता ? ...प्रकट कैसे हो ?—राजा ने स्वयं ही सोचा। कीचक की बहन, जहाँ महारानी हो, वहाँ कीचक का शत्रु प्रकट क्यों होगा ? इस सैरंध्री के कारण रानी अपने पति के वध की बात कर रही थी। तब उसने यह नहीं सोचा था कि उसके अपने भाई की भी हत्या हो सकती है। ... तो क्या अब सुदेष्णा, सैरंध्री को क्षमा कर देगी ? ... उत्तर में राजा के मन में कोई हँस पड़ा, 'यह पूछो कि क्या सैरंध्री सुदेष्णा को क्षमा कर

देगी ?'

"महाराज इस कंक का प्रणाम स्वीकार करें।"

राजा ने सिर उठाया, "आ गए कंक! इस समय मुझे तुम्हारी ही आवश्यकता है।"

"आदेश करें महाराज !"

"बैठो कंक !" राजा बोले, "क्या सैरंध्री का यह रक्षक मुझे भी अपना शत्रु मान सकता है ?"

"आप उसके शत्रु कैसे हो गए महाराज ?"

"मैंने सैरंध्री की रक्षा नहीं की। मैंने उपकीचकों को सैरंध्री को बाँध कर ले जाने से नहीं रोका।" राजा जान बूझ कर सैरंध्री को जीवित जलाने की अनुमति की बात टाल गए।

कंक हँस पडे, "मै भी वहीं था महाराज ! मैंने भी सैरंध्री की रक्षा नहीं की।"

"पर तुम राजा तो नहीं हो न !"

"धर्म की रक्षा, केवल राजा का ही कर्तव्य तो नहीं है महाराज !" कंक बोले, "वह तो प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है; और स्त्री की रक्षा करना तो प्रत्येक पुरुष का धर्म है।"

"वह तो ठीक है।" राजा बोले, "किंतु तुम्हारे पास राजा के अधिकार नहीं हैं, और उसने तो मुझसे रक्षा की प्रार्थना भी की थी।"

"महाराज का कथन सत्य है; किंतु कर्तव्य का पालन न तो अधिकारों की अपेक्षा करता है और न पुकार की प्रतीक्षा।" कंक ने कहा, "सैरंध्री का रक्षक इतनी बात तो समझता ही होगा कि उस समय जो भी लोग वहाँ उपस्थित थे, उनमें कीचक का समर्थक कोई भी नहीं था। फिर भी कोई कीचक को दंडित करने के लिए नहीं उठा। सब अपने-अपने बंधनों से बँधे हुए थे। कोई धर्म के बंधन से, कोई भय के बंधन से। आप उपकीचकों के भी समर्थक नहीं थे; किंतु आप उनको रोकने में सक्षम नहीं थे।"

"मैं उस गंधर्व को रोकने में भी तो सक्षम नहीं हूँ।"

"उसे यह समझाया जा सकता है।" कंक ने कहा, "और अभी तो यही पता नहीं है कि वह है कौन।"

"मैं तो एक बात और भी सोच रहा हूँ कंक !" राजा बोले, "यदि पिछला सब कुछ हम भुला भी दें, तो भी मेरे भय का निवारण तो नहीं हो जाता।"

"क्यों महाराज ?"

"मुझे सूचना मिली है कि उपकीचको के शव वहाँ फैले पडे हैं। उनकी अंत्येष्टि न की गई, तो वे शव वहीं पडे रहेंगे। ऐसे में रानी अपने संबंधियो

के इस अपमान से क्रुद्ध होंगी।" राजा बोले, "और यदि उनकी अंत्येष्टि की गई तो वह अज्ञात गंधर्व रुष्ट होगा।"

"अंत्येष्टि तो प्रत्येक शव की होनी चाहिए महाराज !" कंक बोले, "मृत्यु के पश्चात् किसी से कैसी शत्रुता। मृत्यु के पश्चात् शत्रुता निभाना धर्म नहीं है महाराज ! और यह गंधर्व अथवा जो कोई भी वह है, अधर्मी प्रतीत नहीं होता। उसने अभी तक तो केवल अधर्मी दुष्टों को ही दंडित किया है, जिनसे विराटनगर के राजा भी पीड़ित थे और प्रजा भी। आप उनकी अंत्येष्टि का आदेश दें, किंतु उनका मृतक-कर्म इस प्रकार हो, जैसे कोई धर्मकार्य होता है। उसमें यह भाव न हो कि आप उनके समर्थक हैं, इसलिए उन्हे अपना आत्मीय मान कर उनको श्रद्धा अर्पित कर रहे हैं।"

"बात तो तुम्हारी ठीक है कंक ! तो मैं उनकी एक ही विराट चिता बना कर उनका सामूहिक दाह कर देने का आदेश दे देता हूँ।" राजा ने कहा, "पर मेरे मन में एक बात और भी है।"

"क्या महाराज !"

"मुझे बताया गया है कि सैरंध्री, नदी में स्नान कर नगर की ओर आ रही है।" राजा ने कहा, "मैं सोचता हूँ कि सैरंध्री संसार की अप्रतिम सुंदरी है। युवती है। वह जहाँ रहेगी, वहॉ पुरुषों का उसकी ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक ही है।... और उसका रक्षक असाधारण क्रोधी है। ऐसे में सैरंध्री के यहॉ रहने से नगर पर यह संकट बना ही रहेगा। यहॉ इस प्रकार की घटनाओं की पुनरावृत्ति होती ही रहेगी। तो ..."

"आपकी इस चर्चा से मेरे मन में एक प्रश्न उठता है कि क्या धर्म स्थापना की पुनरावृत्ति वांछनीय नहीं है ? क्या पापियों के मारे जाने से आप दुखी है ?"

"नहीं उससे तो मैं तनिक भी दुखी नहीं हूँ; किंतु ..."

"किंतु क्या महाराज !"

"किंतु यह कि इन परिस्थितियों में तो कोई भी पुरुष सुरक्षित नहीं है। सैरंध्री की ओर कोई भी आकृष्ट हो सकता है; और सैरंध्री का रक्षक वह गंधर्व किसी का भी वध कर सकता है। तो क्या यह उचित नहीं कि सैरंध्री को विराटनगर से निष्कासित कर दिया जाए ?"

कंक हॅस पडे, "पाप हो विराटनगर के पुरुषों के मन में और उसका दंड दिया जाए सैरंध्री को ?"

"मैं यह नहीं कहता कि सैरंध्री का सौन्दर्य दोषी है," राजा बोले, "किंतु पुरुष मन में वासना भडकाने का कारण तो वही है।"

"नहीं !" कंक के स्वर में पहली बार दीनता का स्थान प्रखरता ने लिया, "कारण, सैरंध्री के शरीर का सौन्दर्य नहीं, पुरुष के मन की वासना है। उत्पात

का कारण सैरंध्री के सौन्दर्य में नहीं, पुरुष की वासना में है। इसलिए नियंत्रण उस मन और उसकी वासना का होना चाहिए, जो पर-स्त्री के रूप को देख कर अपना संयम खोता है।"

"वह उसके वश में कहाँ है ?" राजा बोले।

"कंक ने एक गहरी दृष्टि राजा पर डाली, "एक संपत्ति सैरंध्री के पास है और एक आपके पास। उसके पास सौन्दर्य है, और आपके पास धन। किसी के मन में उसका रूप देख कर उसे पाने की इच्छा उत्पन्न हो सकती है; और किसी के मन में आपके धन को देख कर उसे पाने की इच्छा हो सकती है। सैरंध्री को तो आप अपने राज्य से निष्कासित कर देंगे, अपने धन का क्या करेगे ?"

राजा की दृष्टि मे भय भी था, आश्चर्य भी और विरोध भी, "क्या कह रहे हो ?"

"हॉ महाराज ! पाप पदार्थ में नहीं, व्यक्ति के मन में होता है।" कंक ने कहा, "हमने जो समाज बनाया है, राज्य बनाया है, धर्म और धर्मशास्त्र बनाया है, वह इसीलिए है कि हम सबके अधिकारों को मान्यता देते हुए, समाज में सम्मानपूर्वक सुरक्षित रहें। उसके लिए आवयश्यक है कि हम अपने लोभ पर नियंत्रण रखें। अपने स्वामित्व के अधिकार के समान दूसरों के स्वामित्व के अधिकार का भी सम्मान करें। अपने मनोविकारों का नियंत्रण करें। पराई स्त्री और पराए धन का लोभ न करें। जो इस प्रकार के लोभ को त्याग नहीं सकता, वह दंडनीय है, पदार्थ अथवा गुण का वास्तविक स्वामी नहीं। ..."

"पर वासना तो नारी शरीर में है।"

'"नहीं ! वासना तो एक मनोविकार है। इसलिए वह मन में है। नारी के मन में हो अथवा पुरुष के मन में।" कंक ने कहा, "राम के सौन्दर्य को देख कर यदि शूर्पणखा के मन मे वासना जागी थी, तो दोष राम का था अथवा शूर्पणखा का ?"

"निश्चित रूप से शूर्पणखा का।"

'"सीता के रूप को देख कर रावण के मन में वासना जागी तो दोष किस का था—सीता के सौन्दर्य का अथवा रावण की वासना का ?"

'"रावण की वासना का।"

"यदि सैरंध्री के सौन्दर्य को देख कर कीचक के मन में वासना जागे, तो दोष किसका है—सैरंध्री का, अथवा कीचक का ?"

राजा मौन बैठे रह गए।

"यहॉ भी दोष कीचक का ही है महाराज !" कंक हॅसे, "विराटनगर में सत्य का रूप बदल तो नहीं सकता न।"

"सत्य कहते हो कंक !" राजा बोले, "किंतु मैं विराटनगर में सैरंध्री की उपस्थिति से भयभीत हूँ। न तो मैं उसे यहाँ रख पाने का साहस कर पा रहा हूँ, न उसे निष्कासित करने का। मैं क्या करूँ कंक ? मेरी रक्षा कौन करेगा ?"

"आपके भय का मैं तो कोई कारण नहीं देखता महाराज !" कंक ने मधुर ढंग से कहा, "आपको तो न किसी को रखना है, न निष्कासित करना है। आपको तो मात्र धर्म का पालन करना है। आप धर्म की रक्षा करें, धर्म आपकी रक्षा करेगा।"

राजा कंक को देखते रह गए। उन्होंने कुछ कहा नहीं।

सैरंध्री, रानी सुदेष्णा के प्रासाद में उसके मंडप की ओर जा रही थी कि उसने देखा, नृत्यशाला के द्वार पर बृहन्नला अपनी शिष्याओं के साथ खड़ी थी।

"कैसी हो सखि !" उसने पूछा।

"कैसी हो सकती हूँ।" सैरंध्री का स्वर कुछ रूखा था, "वे राक्षस उपकीचक मुझे कीचक के शव के साथ टिकठी पर ही बाँध कर ले गए थे।..."

"हाँ ! सुना मैंने।" बृहन्नला बोली, "मेरे लिए तो प्रसन्नता का विषय है कि तुम सुरक्षित लौट आईं।"

'सैरंध्री के श्रवणों में बृहन्नला का शब्द 'प्रसन्नता' खटक गया। बोली, "हाँ ! यहाँ दिन भर राजकुमारियों के साथ ता- धा -धिन-ना करती रहोगी, तो तुम्हें प्रसन्नता ही होगी। यह कैसे जानोगी कि किसी की पीड़ा क्या है।"

बृहन्नला ने निकट आकर उसका हाथ पकड़ कर स्नेह से सहलाया, "बहुत कष्ट सहना पड़ा सखि !"

"कष्ट जैसा कष्ट !" सैरंध्री की आँखों से नरक की ज्वाला झाँक रही थी, "एक दुष्ट राक्षस की मृत देह के साथ टिकठी पर बँधे रहने की अनुभूति, उसकी वेदना, अपमान की पीड़ा और मृत्यु, चिता मे जीवित जलाए जाने जैसी मृत्यु का भय—इन सबका सम्मिलित कष्ट तुम्हें कैसे समझ में आ सकता है। तुम अपनी नृत्यशाला में सुख से रहो और नाचती रहो।"

बृहन्नला के नेत्र वेदना से सजीव हो उठे, "संवेदना तो हो सकती है सखि ! वेदना तो हम सबकी अपनी-अपनी ही है। मैं पशु योनि से भी निम्नतर इस नपुंसक योनि का नरक ढो रही हूँ। उसके कष्ट को तो तुम नहीं जान सकतीं, संवेदना से उसका अनुमान ही कर सकती हो। पर प्रश्न यह नहीं है कि किसं की पीड़ा अधिक अथवा कम है। वह सिद्ध कर हमें स्वयं को महान् अथवा तुच्छ सिद्ध नहीं करना है। मूल बात तो यह है कि हमें किसी भी स्थिति में ईश्वर के प्रति कृतघ्न नहीं होना चाहिए। अपने दुखों को नगण्य मान कर ईश्वर के प्रति कृतज्ञता

से मस्तक झुकाना चाहिए, क्योंकि वह यदि हमें पीड़ा देता है, तो उस पीडा से मुक्त भी करता है। उसने यदि तुम्हें बाँध ले जाने वाले भेजे, तो तुम्हारे उन बंधनो को तोड कर तुम्हें मुक्त करने वाला भी भेजा।"

"मत चर्चा करो अपने उस ईश्वर की।" सैरंध्री चिढ कर बोली, "क्या आवश्यकता थी उसे ऐसा संसार बनाने की ? क्या मिल जाता है, उसे मनुष्य को पीड़ित करके। वह ऐसा संसार नहीं बना सकता था, जिसमें पीड़ा और यातना न हो, जिसमें पाप और अपराध न हों।"

"ऐसा क्या है, जिसका निर्माण उसके वश में नहीं है। किंतु ऐसे संसार मे स्वच्छ रहने का कोई महत्त्व नहीं है, जिसमें धूल मिट्टी और धुऑं न हो। इस पृथ्वी पर, इस वायुमंडल मे, जहॉ मलिन होने के सारे उपकरण हैं, उन सबके होते हुए भी स्वच्छ रहने का महत्त्व है।" बृहन्नला का स्वर और भी कोमल हो आया था, "सुख और दुख उसने नहीं बनाए हैं सखि ! ये तो हमारे ही बनाए हुए हैं। यह हमारा अहंकार है, जो हमें दूसरों से पृथक् कर, इस शरीर तक सीमित करता है, और फिर स्वयं को बडा-छोटा, सुखी-दुखी मानता है। स्वयं को इस शरीर से पृथक् कर, तटस्थ भाव से संसार को देखो, तो तुम्हें पता चलेगा कि न सुख है, न दुख है—ये सब तो हमारे बनाए हुए भ्रम मात्र हैं। कष्ट हमें हमारा मन ही देता है। मन में घृणा न हो, तो संसार में कहीं घृणा नहीं है। मन में हिंसा न हो तो संसार में हिंसा नहीं है ..."

"बंद करो अपने ये उपदेश।" सैरंध्री तड़प कर बोली, "जो कुछ मैंने सहा है, वह सब सहना पड़े तो भूल जाओगी, यह सारा अध्यात्म ! तुम्हारी बात का तो अर्थ है कि मुझे कीचक ने लात नहीं मारी, मेरे अपने मन ने मारी है। उपकीचकों ने मुझे टिकठी पर नहीं बाँधा, मेरे मन ने बॉधा है। क्या सार्थकता है, ऐसी व्यर्थ की बातों की।"

"नहीं ! राजसभा में लात तो तुम्हें कीचक ने ही मारी। उससे तुम्हारा शरीर आहत भी हुआ। ... किंतु तुम्हें जिसने यातना दी, वह तुम्हारा अहंकार ही था। तुम यदि उस मूर्ख को क्षमा कर सकतीं, तो तुम्हें वह यातना नहीं भुगतनी पड़ती। उपकीचक तुम्हें टिकठी पर बॉध कर ले गए। तुम्हें उतना दुख देने के लिए एक सौ पाँच उपकीचकों को अपने प्राण देने पड़े। तो भी अभी तुम दुखी ही हो ?"

"उन्होंने जो पाप किया था, उसके लिए उन्हें दंडित तो होना ही था।" सैरंध्री तड़प कर बोली।

"यही तो मैं भी कह रही हूँ, जो पाप करेगा, उसका दंड पाएगा ही, तो तुम दुखी क्यों हो सखि !" बृहन्नला ने कहा, "वस्तुत. कोई किसी के मन को नहीं जानता। तुम मेरे मन को नहीं जानतीं। मैं अपनी वेदना वैसे प्रकट नहीं

करती, जैसे तुम चाहती हो। मै अपनी इच्छाएँ, अनिच्छाएँ, प्रेम और घृणा अपने ही ढंग से व्यक्त करती हूँ। उनकी अपनी पद्धति और शैली है। इसलिए तुम मेरे मन को नहीं समझती हो। मेरे मन को नहीं समझ सकतीं, तो कोई बात नहीं; किंतु अपने मन को तो समझो।"

सैरंध्री ने कोई उत्तर नहीं दिया; किंतु बृहन्नला का वाक्य उसके कानों में गूँजता ही रहा, "मेरे मन को नहीं समझ सकतीं, तो कोई बात नहीं, कितु अपने मन को तो समझो।" वह आगे बढती चली गई और वह वाक्य उसके मन में गूँजता रहा। क्या कहना चाहती थी बृहन्नला ? ...क्यों रुष्ट है, वह बृहन्नला से ? बल्लव से तो वह रुष्ट नहीं है। उसे तो नमस्कार करके आई है, और बृहन्नला से... वह बृहन्नला के मन को नहीं जानती, अथवा अपने मन को नहीं जानती। ...कदाचित् वह दोनों के मन को नहीं जानती। वह चाहती है कि बल्लव के समानं बृहन्नला उसके प्रति अपनी संवेदना, अपना कष्ट, अपना प्रेम प्रकट करे... किंतु यह बृहन्नला ... ओह यह अर्जुन, जाने क्यों इतना आत्मलीन होता जा रहा है। वह भी धर्मराज के ही समान, शांत हो गया है। उसे भी क्रोध नहीं आता। वह तड़प कर शत्रु पर टूटता नहीं। भीम के समान, उसकी आज्ञा पूरी करने को आतुर नहीं रहता। ... सच कहा है बृहन्नला ने। सैरंध्री का अहंकार ही है, जो उसे पीडित कर रहा है।...उसके पतियों ने उसकी रक्षा कर ली है। उन्होंने कीचक और उपकीचकों को मार डाला है। सैरंध्री को अब कुछ शांत हो जाना चाहिए। ...कहीं ऐसा तो नहीं कि उसका अपना ही रजोगुण उसको यह सारा दुख दे रहा हो ?

बृहन्नला तो वहीं रह गई, किंतु उत्तरा तथा अन्य बालिकाएँ, सैरंध्री के साथ-साथ सुदेष्णा के मंडप तक आई।

रानी ने सैरंध्री को देखा। उसका मन एक बार कॉप उठा। वह समझ नहीं पाई कि उसके मन में सैरंध्री के लिए क्या भाव था।... पर यह विचार का समय नहीं था। उसे जो कुछ कहना था, वह इसी समय कह सकती थी। अब न कहा, तो कभी नहीं कह सकेगी।

"सैरंध्री !" रानी ने कहा, "मैंने तुम्हें अपनी सेवा से मुक्त किया। अब तुम जहॉ चाहो, जा सकती हो। मेरी ओर से तुम पूर्णतः स्वतंत्र हो।"

सैरंध्री ने देखा। रानी उसे आदेश दे रही थी, अथवा मात्र सूचना ? उसके शब्दों में न तो आदेश का अधिकार था, न सूचना की तटस्थता। शब्द चाहे कुछ भी क्यों न हो, उसके स्वर में पर्याप्त दीनता थी।

"मुझे किस अपराध के लिए निष्कासित किया जा रहा है रानी ?" सैरंध्री के स्वर में तनिक भी आक्रामकता नहीं थी, "कीचक आपका भाई था, यह सत्य है। उसकी मृत्यु का दुख भी आपको होगा ही। किंतु उसे मैने नहीं मारा। वह

तो अपने कर्मों के कारण मारा गया है। उपकीचक आपके संबंधी थे। उन्होंने जो कुछ किया, उसके लिए तो रानी के रूप में, आपको चाहिए था कि आप उनको मृत्यु दंड देतीं। आपने नहीं दिया, उन्हें वह दंड मेरे रक्षकों ने दिया। आप मुझे किस अपराध के लिए दंडित कर रही हैं ?"

"सैरंध्री ! तुम्हारा सौन्दर्य अद्वितीय है; और पुरुषों को विषय-भोग प्रिय होता है। मैं डरती हूँ कि कल को कहीं मेरे पति अथवा किसी अन्य पुरुष ने तुम्हारे रूप के प्रति दुर्बलता दिखाई, तो तुम्हारे रक्षक उन्हें भी क्षमा नहीं करेंगे। तुम्हारे रक्षक अत्यंत क्रोधी हैं। तुम्हें अपने निकट रखने का जोखम, मैं और नहीं झेल सकती।" रानी ने उसकी ओर देखा, "तुम्हारे प्रति अपराध तो मैंने भी किया है, और मेरे पति ने भी। तुम्हारे मन में हमारे प्रति भी क्रोध होगा। ..."

'सैरंध्री मुस्कराई, "रानी ! आपने मेरा उपकार भी किया है। मैं आपका भय समझती हूँ, किंतु आपके लिए कोई संकट नहीं देखती। आपकी इच्छा है, तो मैं चली जाऊँगी। वैसे भी मेरे जाने की घड़ी निकट आ रही है। क्या आप मुझे और कुछ दिनों के लिए आश्रय देंगी ? मुझे विश्वास है कि इस अवधि में मेरे पति लौट आएँगे और मुझे यहाँ से ले जाएँगे।"

रानी अपना भय छिपा नहीं सकी। बोली, "मैं नहीं जानती कि तुम कौन हो और क्या हो। पर इतना तो समझने लगी हूँ कि तुम एक साधारण सैरंध्री नहीं हो। तुम जो भी हो, मैं अपने पति और पुत्रों के साथ तुम्हारी शरण में हूँ देवि ! तुम जब तक चाहो, स्वामिनी बन कर यहाँ रहो; किंतु मुझे एक वचन दो कि मेरे परिवार का अब और कोई अनिष्ट नहीं होगा।"

सैरंध्री को बृहन्नला की बात स्मरण हो आई। कंक ने भी कहा था : क्षमा धर्म है। क्षमा सत्य है। क्षमा धन है। ... उसका मन जैसे निर्मल हो आया। बोली, "मुझसे भय न करें महारानी ! और मुझे अपनी सैरंध्री के ही रूप में कुछ दिन और अपने आश्रय में रहने दें। मेरा भरण पोषण करती रहें। मैं आपको वचन देती हूँ कि मेरे कारण आपका कोई अनिष्ट नहीं होगा। मुझे अपनी सहायिका ही मानें। मेरे रक्षक, आपकी तथा आपके परिवार की भी वैसी ही रक्षा करेंगे, जैसी वे आज तक मेरी करते आए हैं।"

सैरंध्री के एक वाक्य से सुदेष्णा के वक्ष और सिर से जैसे हिमालय का सा बोझ हट गया। उसका मन जैसे किसी गहरे अंधकार में से बाहर निकल आया। उसके अधरों पर एक हल्की-सी सात्विक मुस्कान उभर आई।

52

विकट उत्तेजना की स्थिति में दुर्योधन अपने मंडप में एक कोने से दूसरे कोने तक घूम रहा था।

उसके सारे गुप्तचर विभिन्न राज्यों और प्रदेशों से खोज कर लौट आए थे। उन सबने बड़े विस्तार से उसे बताया था कि उन्होंने पांडवों को किस किस वन में खोजा, किस-किस नगर में ढूँढ़ा, किस-किस राज्य में उनके विषय में पता लगाया, किस-किस राजसभा में उनकी महीनों प्रतीक्षा की; किंतु उनमें से किसी ने भी ऐसी कोई सूचना नहीं दी कि उन्होंने पांडवों अथवा पांडवों जैसे लगने वाले किन्हीं लोगों को देखा, अथवा उनके विषय में सुना। स्वयं को धुरंधर खोजी मानने वाले उसके गूढ़ पुरुषों ने भी बड़े विस्तार से वर्णन कर बताया कि किन असहनीय कठिन परिस्थितियों में तथा किन दुर्गम स्थानों पर उन्होंने पांडवों को खोजा। ... दुर्योधन धैर्यपूर्वक सुनता रहा और उसके कान यह सुनने को तरसते ही रहे कि कोई तो कहता कि उसने पांडवों को खोज निकाला है। अब दुर्योधन का काम है कि वह जाए और पांडवों को पकड़ लाए, उन्हें पकड़ मँगवाए; अथवा जाकर उनके सम्मुख खड़ा हो जाए और कहे कि मैंने तुम्हें पहचान लिया है। ....

उसके गूढ़ पुरुष उसे बताते हैं कि पांडव कहीं नहीं हैं। दुर्योधन उन से पूछता है, तो फिर पांडव कहाँ गए ? उन्हें धरती निगल गई, अथवा आकाश खा गया ? तो गुप्तचरों के पास एक सुविधाजनक उत्तर है ..."महाराज ! कदाचित् वन के भयंकर पशु उन्हें खा गए हैं। ... कदाचित् स्वयं को गुप्त रखने के प्रयत्न में वे लोग दुर्गम स्थानों की ओर बढ़ते चले गए और किसी गहरी खाई में गिर गए, अथवा अत्यधिक शीत के कारण मर गए, अथवा कहीं दब गए हैं।"... गुप्तचर अपनी असफलता को छिपाने के लिए पांडवों की मृत्यु की संभावना पर बहुत अधिक बल देते हैं... वे चाहते हैं कि दुर्योधन इस संभावना का विश्वास कर उनका पीछा छोड़ दे; किंतु दुर्योधन इसका विश्वास नहीं कर सकता। ... पहले भी तो वह देख चुका है कि उसके अपने मित्रों ने पांडवों को वारणावत के लाक्षागृह में जलाकर क्षार कर दिया था। उनके जले हुए शव भी मिल गए थे। उनके मृतक कर्म भी कर दिए गए थे। और एक लंबे अज्ञातवास के पश्चात् वे एक दिन उसकी छाती पर मूँग दलने के लिए, द्रौपदी के साथ प्रकट हो गए थे। जो पांडव लाक्षागृह की आग में से जीवित बच सकते हैं, हिडिंब वन में से सुरक्षित बाहर निकल सकते हैं, वे पांडव अब अपने इतने सबल और समर्थ मित्रों और संबंधियों के होते हुए, कठिन जीवन के अपने इतने अनुभव के पश्चात्, इस एक

वर्ष के अज्ञातवास मे किसी दुर्घटना के कारण मृत्यु की गोद में चले गए होगे...दुर्योधन यह स्वीकार कर ही नहीं सकता। ...

दुर्योधन स्वयं अपनी और अपने गुप्तचरों की असफलता से इतना व्याकुल है, और दूसरी ओर महाराज धृतराष्ट्र उसका रक्तपान करने के लिए, आठों प्रहर एक ही प्रश्न करते रहते है कि पांडवों का कोई पता मिला क्या ? वह कहता है कि वह उनकी खोज करवा रहा है तो उन्हें संतोष नहीं होता। उन्होंने उसकी इतनी भर्त्सना तो जीवन भर नहीं की होगी, जितनी इस असफलता के कारण पिछले कुछ दिनों में कर दी है। उनके चेहरे से उसके प्रति जो तिरस्कार बरसता है, वह उसके लिए असहनीय हो जाता है। उसकी समझ में नहीं आता कि उसकी इस कठिनाई में, जब वह स्वयं ही इतना व्याकुल है, उसके पिता उसकी किसी प्रकार की सहायता नहीं कर सकते, तो उसे इस प्रकार प्रताड़ित क्यों करते हैं ? ... उन्हे क्या सुख मिलता है, इसमें ? वे उससे इस प्रकार का व्यवहार करते है, जैसे उसने उनकी सारी जमा-पूँजी नष्ट कर, उन्हें सर्वथा कंगाल कर, किसी सार्वजनिक पथ पर भिक्षा माँगने के लिए बैठा दिया हो। ...कभी-कभी वह स्वयं यह देख कर भयभीत हो जाता है कि उसके पिता, जिन्होंने अपना सारा जीवन राजपरिवार में राजकुमार और राजा के रूप में व्यतीत किया है, निर्धनता से कितने आतंकित हैं। पांडवों को तो उसने निर्धनता से इस प्रकार घबराते नहीं देखा। पता नहीं महाराज धृतराष्ट्र के मन में धन का लोभ है अथवा निर्धनता का भय ? कदाचित् दोनों ही हैं। ... यहीं वह स्वयं को अपने पिता से भिन्न पाता है।... पिता पांडवों के शत्रु हैं, किंतु उनके मन में पांडवों के लिए घृणा नहीं है, भय हो सकता है। उसके मन में पांडवों के लिए घृणा ही घृणा है, भय तनिक भी नहीं है।...

समय का ध्यान आता था तो दुर्योधन के शरीर का सारा रक्त उसके मस्तिष्क की ओर दौडने लगता था। ... अब मात्र एक सप्ताह शेष था। यदि वह एक सप्ताह में पांडवों को नहीं खोज पाया तो उनके अज्ञातवास का समय पूर्ण हो जाएगा। और वे लोग फिर एक बार अपने मित्रों और संबंधियों के साथ उसके वक्ष पर आ खडे होगे कि उनका राज्य उन्हें लौटा दिया जाए। ...

वर्षो पहले भी यही हुआ था। हिडिंबवन में अज्ञातवास कर वे लोग कांपिल्य में प्रकट हुए थे। वहाँ एक प्रकार का भ्रम अवश्य था। वे पांडव थे, अथवा नहीं; किंतु अधिकांश लोग मानते थे कि वे पांडव ही थे। ... अंततः वे पांडव ही निकले। उस स्वयंवर के पश्चात् वे अकेले और असहाय नहीं रह गए थे। उनके मित्र थे, संबंधी थे। उनके पास सैन्य बल भी था, और मनोबल भी। ...

उन्हें उनका राज्य देने से मना नहीं किया जा सकता था। कैसे किया जा सकता था, जबकि उनके साथ यादवों और पांचालों का बल था और

हस्तिनापुर में भीष्म और विदुर बैठे थे। ...

और सहसा दुर्योधन के मन में एक प्रश्न गूँजने लगा ... यदि कहीं इस बार भी पांडव अपना अज्ञातवास सफलतापूर्वक पूरा कर हस्तिनापुर लौट आए तो भीष्म पितामह किसका पक्ष लेंगे ? क्या भूमिका होगी उनकी ? संभव है कि उस स्थिति में भीष्म धर्म का आंचल पकड़ लें कि पांडवों ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की है, अतः उनका राज्य उन्हें लौटा दिया जाना चाहिए। ... किंतु अब, इस समय, जबकि पांडवों ने अपनी प्रतिज्ञा अभी पूरी नहीं की है, और उनको खोज निकालने का दुर्योधन का प्रयत्न भी उतना ही न्याय तथा धर्म संगत है, तो इस समय क्या भीष्म पांडवों को खोज निकालने मे दुर्योधन की सहायता करेंगे ?...

और दुर्योधन का अपना ही मन जोर-जोर से चीत्कार करने लगता है कि क्यों करेंगे वे सहायता ? वे चाहते हैं कि पांडवों को उनका राज्य दे दिया जाए और पांडव सुख से रहें। इसमें पांडवों के प्रति भीष्म का कोई पक्षपात दिखाई नहीं देता दुर्योधन को। भीष्म ने कभी कहा भी नहीं है कि वे पांडवों को दुर्योधन से अधिक प्रेम करते हैं। उन्होंने सदा कहा है कि वे दोनों को समान रूप से प्रेम करते हैं। वे मध्यस्थ है। मध्यस्थ हैं तो चाहेंगे कि युधिष्ठिर और दुर्योधन दोनों ही सुखी रहें। दोनों ही अपने-अपने नगर में अपने-अपने सिंहासन पर बैठ कर शासन करें। ... एक पितामह को, जो अपने दोनों पुत्रों की संतानों को समान रूप से प्रेम करता हो, ऐसा सोचना ही शोभा देता है।... किंतु दुर्योधन ने सदा यह सोचा है कि भीष्म उन सबके पितामह मात्र ही तो नहीं हैं। वे राजपुरुष भी हैं, जैसे द्रोण हैं, जैसे कृपाचार्य हैं, जैसे विदुर हैं। उन सबका दुर्योधन अथवा महाराज धृतराष्ट्र से एक व्यक्तिगत संबंध भी है; किंतु वे सब हस्तिनापुर राज्य के एक पद पर कार्य कर रहे हैं। उस पद की पहली प्रतिज्ञा है, हस्तिनापुर के सिंहासन के प्रति निष्ठा। ... और निष्ठा के निर्वाह के मार्ग में न व्यक्तिगत संबंध आना चाहिए, न तटस्थता, न धर्म विचार। दुर्योधन को तो शुद्ध निष्ठा चाहिए। राजसिंहासन के प्रति निष्ठा। राजा के प्रति निष्ठा। उन्हें केवल राजा का हित देखना होगा। ... ऐसी स्थिति में हस्तिनापुर का, महाराज धृतराष्ट्र का, दुर्योधन का हित इसी में है कि पांडवों को खोज निकाला जाए और उनको उन्हीं की प्रतिज्ञा के अनुसार पुनः बारह वर्षो के लिए वनवास के लिए भेज दिया जाए। ऐसे में पितामह का कर्तव्य न अपने पौत्रों के प्रति है, न धर्म के प्रति। उनका कर्तव्य तो हस्तिनापुर राज्य के प्रति है। ... और कर्तव्य का पालन ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है। उसमें न व्यक्तिगत भावों के लिए कोई स्थान है और न व्यक्तिगत संबंधों के लिए। आज तो बात पांडवों को खोजने तक ही सीमित है। कल जब दुर्योधन पांडवों का राज्य उनको नहीं लौटाएगा, तो पांडव युद्ध की तैयारी भी करेंगे। तब पितामह क्या करेंगे ? पांडवों के प्रति अपने स्नेह के कारण राजा

और राजसिंहासन से द्रोह करेंगे ? द्रोण क्या करेंगे ? बहुत प्रिय है उनको अर्जुन ! पर क्या वे अपने पद के कर्तव्य का निर्वाह नहीं करेंगे ? कृपाचार्य क्या करेंगे ? ...वे अपने पद को छोड़ कर, राजा को त्याग कर, अपने कर्तव्य का व्यक्तिगत रूप से स्वतंत्र चुनाव नहीं कर सकते। उन्हें यह चुनने का अधिकार नहीं है कि वे किस पक्ष से युद्ध करेंगे। ... युद्ध तो राजनीति प्रेरित होते हैं। उनका कारण न धर्म है, न संबंध। किसी सेनापति को राजा यह अनुमति नहीं दे सकता कि युद्ध के समय वह यह सोचने लगे कि वह अपना पद त्याग कर, धर्म के लिए, न्याय के लिए, व्यक्तिगत संबंधों के लिए, अपने स्नेह और प्रेम के लिए युद्ध करेगा। ...संधि-विग्रह का निर्णय केवल राजा करता है, और उसका आधार राजनीतिक स्वार्थ होता है। जिस प्रकार सैनिक को यह अधिकार नहीं है कि वह यह निश्चय करे कि किस युद्ध में कौन-सा व्यूह रचा जाएगा, वह अधिकार केवल सेनपति का है, वैसे ही सेनापति को यह अधिकार नहीं है कि वह यह निर्णय करे कि कौन-सा युद्ध होगा, कौन-सा नहीं, किसके साथ युद्ध होगा, किसके साथ नहीं। यह अधिकार केवल राजा का है।... भीष्म को न यह अधिकार है कि वे यह निर्णय करें कि कौन-सा युद्ध होगा और कौन-सा नहीं, न यह अधिकार है कि वे यह तय करें कि किसके साथ युद्ध होगा, किसके साथ नहीं। यह निर्णय तो दुर्योधन ही करेगा; अथवा करेंगे महाराज धृतराष्ट्र। भीष्म को तो केवल व्यूहों के विषय में सोचना होगा। सेना का संचालन करना होगा। ...

सहसा दुर्योधन का चिंतन थम गया। ... वह इस सारे विषय को केवल अपनी ही चिंता क्यों मानता है ? वह यह क्यों मानता है कि उसने व्यक्तिगत रूप से पांडवों का राज्य प्राप्त किया है और पांडवों का अज्ञातवास पूरा हो गया तो उसके राज्य का एक अंग, एक समृद्ध अंग उससे छिन जाएगा। ... इस समस्या का रूप यह नहीं होना चाहिए। इसका रूप कुछ और होना चाहिए। हस्तिनापुर राज्य ने इंद्रप्रस्थ को जीता था। अब इंद्रप्रस्थ, हस्तिनापुर राज्य का एक प्रांत है। उसकी रक्षा, हस्तिनापुर राज्य का दायित्व है। यदि कोई राजा सैनिक आक्रमण कर हस्तिनापुर का कोई प्रांत उससे छीनना चाहता है, तो उसकी रक्षा के लिए हस्तिनापुर का राजा ही नहीं, सारे सैनिक तथा प्रशासनिक अधिकारी तथा सैनिक युद्ध करेंगे। ... तो फिर पांडवों से हस्तिनापुर के प्रांतों को बचाना, अपने जय किए हुए प्रदेशों की रक्षा करना, केवल दुर्योधन का ही काम क्यों है। यह न उसका व्यक्तिगत स्वार्थ है, न लोभ। यह तो राजकीय कार्य है। हस्तिनापुर राज्य के प्रत्येक पदाधिकारी तथा कर्मचारी को इसमे सहयोग करना होगा। उसके लिए दुर्योधन को अपने मंडप अथवा एकांत कक्ष में अपना मस्तक भित्तियों से मारने की आवश्यकता नहीं है। इसका विचार तो राजसभा मे होना चाहिए। ... यदि अभी से, पांडवों की खोज के कार्य से ही दुर्योधन ने सारे सभासदों को

अपने साथ नहीं लिया, तो जब युद्ध का निर्णय होगा, तब दुर्योधन उनसे यह अपेक्षा कैसे करेगा कि वे लोग युद्धक्षेत्र में अपना रक्त बहाएँगे ...

"राजन ! मैं यह नहीं कहता कि तुम्हारे गुप्तचर योग्य नहीं हैं, अथवा उन्होंने पांडवों को खोजने का प्रयत्न नहीं किया।" कर्ण बोला, 'किंतु यह तो संभव है कि वे पांडवों के विषय में जिस धारणा को ले कर उन्हें खोजने निकले थे, पांडवों ने उस प्रकार सोच कर कार्य न किया हो।"

"अपनी बात को कुछ अधिक स्पष्ट करके कहो अंगराज !" शकुनि ने कहा।

"मेरा विचार है कि हमारे गुप्तचरों ने सदा इस दृष्टि से देखा है कि युधिष्ठिर की धर्म में बहुत आस्था है, इसलिए वह अपने भाइयों के साथ किसी ऋषि के आश्रम में तपस्या कर रहा होगा। अथवा अपने केश और श्मश्रु बढ़ा कर, वेश बदल कर, किसी तीर्थस्थान पर बैठा होगा। मैंने उन गुप्तचरों को यह कहते सुना है कि उन्होंने वनों में प्रत्येक कुंज में झाँक कर देखा है, प्रत्येक वृक्ष और लता के प्रत्येक पत्ते से पूछा है। इस प्रकार पांडवों को तब खोजना उचित था, जब दे वनवास कर रहे थे; तब नहीं जब वे अज्ञातवास कर रहे हैं।" कर्ण बोला, "एक तो प्रतिज्ञा के अनुसार ही, उन्हें वन में नहीं, जन-समाज में रह कर अज्ञातवास करना था, दूसरे अज्ञात बने रहने के लिए, भीड में बसना अधिक सुविधाजनक होता है, सबसे पृथक् अकेले रहने में सबका ध्यान उस ओर जाता है।"

"उल्टी बात कह रहे हो अंगराज !" दुःशासन बोला, "भीड़ में तो व्यक्ति सुविधा से पहचाना जाएगा। वहाँ कोई न कोई तो उसे देख ही लेगा, और जो देखेगा, वह पहचान भी लेगा।"

"नहीं। ऐसी बात नहीं है।" कर्ण हँसा, "तुम यदि किसी ऋषि के आश्रम अथवा गुरुकुल में जाओगे, किसी एकांत स्थान में बसोगे, तो वहाँ किसी को तुम्हारी आवश्यकता नहीं होगी। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति जानना चाहेगा कि तुम कौन हो ? कहीं अपराधी तो नहीं हो। यदि तुम उसके विचारानुसार अवांछित व्यक्ति हो, तो वह न तुम्हारे निकट रहना चाहेगा, न तुम्हें अपने निकट रखना चाहेगा। तुम्हें अपने निकट बनाए रखना, उसका कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं करता।... इसके विपरीत, जन-संकुल स्थान में भीड़ होगी, किंतु उसके साथ गतिविधि अधिक होने के कारण काम भी बहुत होगा, व्यापार भी होगा। वहाँ का व्यवसायी, उद्यमी और उत्पादक, सस्ते श्रम की खोज में रहता है। उस समय वहाँ जो भी कम पारिश्रमिक पर अधिक श्रम करने को प्रस्तुत होगा, वह उसे काम पर

रख लेगा। वह यह जानने का प्रयत्न नहीं करेगा, कि वह व्यक्ति कौन है ? कहाँ से आया है ? चोरी करके तो नहीं आया ? कहीं हत्या तो नहीं की ? वह तो देखता है कि वह कम पैसे में काम कर रहा है या नहीं। इसी नियम के अंतर्गत धनी और व्यवसाय-प्रधान राज्यों में प्रवासियों का सदा स्वागत होता है। तुम्हें पता है कि निर्धन विदेशी और प्रवासी लोग अपनी आजीविका की खोज में कम पारिश्रमिक पर अधिक कार्य करते है। उनका स्वामी यह भी जानता है कि वे लोग अवैध रूप से कार्य कर रहे हैं। वे लोग अधार्मिक अथवा अपराधी मनोवृत्ति के भी हो सकते हैं, किंतु वह उनका पता किसी को नहीं देता, क्योंकि वह उनके उन्हीं अज्ञात रहस्यों के कारण उनका अधिक से अधिक शोषण कर सकता है। उसे नियम, विधान, शास्त्र, धर्म, राज्य, समाज और राजा की चिंता नहीं होती। वह तो उस समय केवल अपना स्वार्थ देख रहा होता है।"

"तो अंगराज इस सारे सिद्धांत-विवेचन से क्या प्रतिपादित हुआ ?" दुःशासन अब भी हँस रहा था।

"मैं यह कहना चाह रहा हूँ कि पांडव किसी ऐसे ही जनसंकुल स्थान पर जाकर भीड में मिल गए होंगे; और तुम्हारे गुप्तचर उन्हें आश्रमों, तीर्थो, तथा वनों मे खोजते रहे होंगे।" कर्ण बोला, "वे लोग हमारे किसी निकट के राज्य में होंगे और तुम्हारे गुप्तचर उन्हें हिमालय की कंदराओं में खोजते रहे होंगे।"

"मेरे गुप्तचरों और गूढ पुरुषों ने उपयुक्त पद्धति से खोजा होता तो वे अब तक उनका पता ले आए होते। आज तक वे उनका पता नहीं पा सके तो यह अपने आप में ही प्रमाण है कि वे लोग उचित स्थान पर नहीं पहुँचे हैं।" दुर्योधन बोला, "मेरा प्रश्न तो यह है कि अब इस एक सप्ताह में उन्हें कैसे खोजा जाए ? उनके कहाँ होने की संभावना है ?"

सभा में मौन छा गया। यह तो स्पष्ट ही था कि दुर्योधन पांडवों को खोजने के लिए अत्यंत व्यग्र था। ऐसे में उसके सम्मुख किसी संभावना की चर्चा करना और कोई मार्ग सुझाना भी संकट का ही काम था।

किसी को बोलते न देख दुर्योधन ने आचार्य द्रोण की ओर देखा, "आचार्य ! आप पांडवो के गुरु है। उनकी प्रवृत्ति, प्रकृति तथा स्वभाव को भलीभाँति जानते है। क्या आप कुछ सुझा सकते हैं कि पांडव कहाँ होंगे ?"

"पांडव कहाँ होंगे, यह कहना तो कठिन है।..."

"क्यों ? कठिन क्यो है ??" दुर्योधन जैसे झपट कर बोला, "अज्ञातवास क्या युद्धशास्त्र का विषय नहीं है ? संकटकाल में शत्रु से अपनी रक्षा के लिए अज्ञातवास कहाँ और कैसे करना चाहिए, इसका आपने समुचित अध्ययन किया होगा। क्या आपके मन में कोई कल्पना नहीं जागती कि पांडवो की स्थिति में व्यक्ति को कहाँ छिपना चाहिए ? कहाँ छिप सकते हैं ?? कहाँ

छिपे होंगे ???"

आचार्य को दुर्योधन का व्यवहार पर्याप्त अपमानजनक लगा। उसे पता ही नहीं चलता कि वह कहाँ मर्यादा को भंग कर आगे बढ़ गया है। जब वह उनका शिष्य होता है, तो उनके चरणों में बैठता है; और जब युवराज होता है, तो किसी के भी सिर पर चढ़ कर बैठ सकता है। ... उन्होंने स्वयं को संयत किया। वे उसके गुरु हैं, तो उसके सभासद भी हैं। वे अपने इन दोहरे संबंधों की उपेक्षा नहीं कर सकते। उन्हें इस समय उसके सभासद का सा ही व्यवहार करना है। बोले, "तुम इस समय बहुत उत्तेजित हो युवराज ! इसलिए यह भूल रहे हो कि पांडवों ने शास्त्र के आधार पर अपने छुपने की योजना नहीं बनाई होगी। शास्त्र के अनुसार तो उन्हें इस समय द्वारका अथवा कांपिल्य में होना चाहिए था; क्योंकि उन्हीं दो नगरों में उनके वे आत्मीय लोग हैं, जो उनकी सबसे अधिक रक्षा कर सकते हैं। उन दो स्थानों को तो तुम्हारे गुप्तचर भली प्रकार छान ही आए हैं। वस्तुतः तुम्हारे गुप्तचरों ने अपना सबसे अधिक और मूल्यवान समय इन्हीं दो नगरों में गँवाया है। यदि उन्होंने बुद्धि से काम लिया होता तो उन्हें यह बात बहुत पहले समझ में आ जानी चाहिए थी कि इन दो नगरों मे जाने की भूल पांडव कभी नहीं करेंगे।"

"हम यही तो जानना चाह रहे हैं आचार्य ! कि पांडव कहाँ जा सकते हैं ?" दुर्योधन का स्वर अब भी बहुत सम्मानजनक नहीं था।

"इतनी बड़ी पृथ्वी पर पांडव कहीं भी जा सकते हैं।" आचार्य बोले, "मैं तो एक दिन के लिए भी हस्तिनापुर से बाहर नहीं गया हूँ। मैं कैसे कह सकता हूँ कि वे कहाँ गए होंगे। हाँ ! इतना बता सकता हूँ कि पांडव धर्मनिष्ठ लोग हैं। वे परस्पर प्रेम करते हैं और अपने बडे भाई धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा के अधीन रहते हैं।..."

"यह तो हम भी जानते हैं।" दुःशासन बोला।

"किंतु तुम यह नहीं जानते कि ऐसे लोग उस प्रकार की मृत्यु को प्राप्त नहीं होते, जैसी मृत्यु की कामना तुम्हारे गुप्तचर उनके लिए कर रहे हैं।" द्रोण तेजस्वी स्वर में बोले, "पांडव न तो नष्ट हुए हैं और न ही वे कर्ण के सिद्धांतों के अनुसार कहीं तिरस्कृत जीवन व्यतीत कर रहे होंगे। ऐसे धर्मनिष्ठ लोगों का तिरस्कार प्रकृति भी स्वीकार नहीं कर सकती।"

कर्ण ने आचार्य पर एक तिरस्कारपूर्ण दृष्टि डालकर दुर्योधन की ओर देखा।

"इस प्रकार के निष्कर्षो से हम पांडवों को खोज तो नहीं सकते।" दुर्योधन बोला, "आप हमें बताएँ कि वे कहाँ होंगे।"

"मैं तुम्हें बताता हूँ दुर्योधन ! कि राजा युधिष्ठिर कहाँ होंगे।" आचार्य के

कुछ कहने से पूर्व ही भीष्म बोले।

दुर्योधन ने कुछ आश्चर्य से भीष्म की ओर देखा। वह तो अब तक अपने मन में एक ऊहापोह पाल रहा था कि भीष्म इस विषय में उसकी कोई सहायता करना भी चाहेंगे अथवा नहीं; और यहाँ भीष्म अपनी ही ओर से पांडवों को खोजने का सा प्रस्ताव कर रहे थे।

"कहिए पितामह !" दुर्योधन ने यथासंभव विनीत होने का प्रयत्न किया।

"मैं आचार्य से सहमत हूँ कि युधिष्ठिर तथा उसके भाई अपने गुणों के कारण, अपनी सात्विकता के कारण, अपने धर्म के कारण नष्ट होने, अथवा कष्ट पाने के योग्य नहीं हैं। वे जहॉं भी होंगे, सम्मानपूर्वक होंगे। मैं उनके प्रति किसी विरोध के कारण नहीं कह रहा, तुम्हारे हित के लिए बता रहा हूँ कि राजा युधिष्ठिर कहॉं होंगे।" भीष्म बोले, "जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँ के लोगों का अकल्याण नहीं हो सकता। जहॉं राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँ पाप का नाश हो रहा होगा और धर्म की शक्तियॉं वर्द्धमान हो रही होंगी। प्रजा में धर्म की वृत्ति सबल होगी और राजा अधर्मियो के प्रभाव से मुक्त होगा। वहॉं प्रकृति मनुष्य के अनुकूल होगी। जहॉं राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँ राजा और प्रजा सुखी होंगे। जहॉं राजा युधिष्ठिर होंगे, वहॉं भय का नाश हो गया होगा, और साधारण जन सुखी और संपन्न होंगे। जहॉं युधिष्ठिर होंगे, वहाँ पराई स्त्री तथा पराए धन की ओर कोई ऑंख उठा कर भी नहीं देखेगा। ...अब तुम उन्हें खोज सको तो खोज लो।"

दुर्योधन ने चकित हो कर शकुनि की ओर देखा।

शकुनि मुस्कराया और धीरे से बोला, "तुम्हारे पितामह हमें पांडवों का पता दे रहे हैं ?"

"नहीं मातुल। ये केवल उनकी प्रशंसा कर रहे हैं।" और दुर्योधन पितामह से संबोधित हो गया, "पितामह ! युधिष्ठिर की प्रशंसा तो आप सदा करते ही रहते हैं, इस समय भी कर रहे हैं। प्रश्न यह है कि इस समय इसका औचित्य क्या है ?"

"धूप को वहीं खोजना चाहिए, जहॉं धरती सूखी हो। जल को वहीं खोजना चाहिए, जहॉं हरीतिमा हो। धर्मराज को वहीं खोजना चाहिए, जहाँ अधर्म पराजित हो रहा हो।" भीष्म बोले, "मैं तुम्हारे हित के लिए ही यह सब कह रहा हूँ। तुम्हारी इच्छा हो तो इन सूत्रों के माध्यम से धर्मराज को खोज लो, और मन माने तो अपनी प्रजा और अपने मन का अन्वेषण भी कर लो। ... "

"बुड्ढा बौरा गया है।" शकुनि फिर धीरे से बोला।

"बौरा नहीं गया मातुल ! यह हमें मूर्ख बना रहा है।" दुःशासन ने कहा।

दुर्योधन की दृष्टि कृपाचार्य की ओर घूमी, "आप क्या कहते हैं आचार्य ?"

दुर्योधन को कोई उत्तर देने से पूर्व उनके मन में एक दृश्य घूम गया : ...वे अपनी बहन से मिलने गए थे। वहीं आचार्य से चर्चा करते हुए कुछ बातें इस विषय में भी उठी थीं। द्रोण का यह निश्चित और सुविचारित मत था कि दुर्योधन, पांडवों को उनके अज्ञातवास में ढूँढ़ पाए अथवा न ढूँढ पाए; किंतु वह उनका राज्य उन्हें लौटाएगा नहीं। वह किसी न किसी बहाने से उनके अधिकार का तिरस्कार कर देगा। ... और पांडव चुपचाप लौट नहीं जाएँगे। युधिष्ठिर चाहे अपना अधिकार छोड़ भी दे, भीम उसकी बात नहीं मानेगा। भीम मान जाए, तो द्रुपद नहीं मानेगा। ... इसलिए पांडवों के अज्ञातवास की अवधि समाप्त होते ही, युद्ध की तैयारियाँ आरंभ हो जाएँगी। ...

कृपी ने चिंतित हो कर पूछा था, "तो आप क्या करेंगे आचार्य ! आपके तो दोनों ही शिष्य हैं। और आपको तो अर्जुन ही सबसे अधिक प्रिय है।"

आचार्य की मुद्रा देख कर ही कृप समझ गए थे कि कृपी का इस प्रकार प्रश्न करना द्रोण को रुचिकर नहीं था। फिर भी उन्होंने प्रश्न को टाला नहीं था। उन्होंने कहा था, 'प्रिय तो मुझे अर्जुन ही है। आज भी यदि दुर्योधन और अर्जुन में से एक को चुनना हो तो मैं अर्जुन को ही चुनूँगा। ... पर द्रुपद के रहते, मैं पांडवों का आचार्य पद नहीं पा सकता; और उनका वेतनभोगी कर्मचारी बन कर मैं जीवित नहीं रह सकता। ... यह तो तब है, जब किसी एक का पक्ष लेने की मुझे स्वतंत्रता हो। मैं जानता हूँ कि धृष्टद्युम्न के अधिकार-क्षेत्र में पहुँचते ही मेरा जीवन समाप्त हो जाएगा। इसलिए मुझे अच्छा लगे या बुरा, अपने जीवन की रक्षा के लिए मुझे दुर्योधन की रक्षा करनी ही पड़ेगी।"

कृप ने तब से बहुत सोचा है। बहुत सारा समय ऊहापोह में बिताया है। उनका द्रुपद से कोई वैर नहीं है। उनका पांडवों से कोई विरोध नहीं है। उनको दुर्योधन से कोई प्रेम भी नहीं है। चयन की स्वतंत्रता हो, तो कदाचित् आज भी वे युधिष्ठिर और दुर्योधन में से युधिष्ठिर को ही चुनेंगे; किंतु उनका भाग्य भी आचार्य के साथ ही बँधा है। वे अश्वत्थामा के विरुद्ध नहीं जा सकते, वे द्रोण के विरुद्ध नहीं जा सकते, वे न कृपी के पुत्र का विरोध कर सकते हैं, न उसके पति का।...

कृपाचार्य ने दृष्टि उठा कर देखा, दुर्योधन की दृष्टि उन पर ही टिकी हुई थी।

"मैं बहुत विवाद के पक्ष में नहीं हूँ, इसलिए चर्चा से अधिक कर्म पर बल है मेरा। विचार का विरोधी नहीं हूँ, किंतु व्यवहार के पक्ष में हूँ।" कृप बोले, "आचार्य द्रोण से सहमत हूँ कि पांडवों के नष्ट होने की संभावना बहुत नगण्य है। इसलिए यह मान कर कि वे अब जीवित नहीं हैं, उनकी खोज स्थगित नहीं करनी चाहिए। महामना भीष्म से भी सहमत हूँ कि युधिष्ठिर को वहीं खोजो, जहाँ धर्म वर्धमान

है। अपनी ओर से यही कहना चाहता हूँ कि पांडवो को वहाँ खोजो, जहॉं अब तक नहीं खोजा है। जिन राज्यों पर ध्यान नहीं दिया था, वहॉं ध्यान दो। विभिन्न राजसभाओं में स्थानीय सूत्रों से नहीं, अपने गुप्तचरों से सूचनाएँ एकत्रित करवाओ। दूसरों के सहारे से मत चलो, अपने बलबूते पर यह काम करो।"

दुर्योधन को लग रहा था कि इस सारी चर्चा का कोई लाभ नहीं हुआ। अपने जिन गुप्तचरों पर उसको इतना गर्व था, जिन्हें वह संसार के सबसे अधिक दक्ष गुप्तचर मानता था, उन्होंने इस पूरे एक वर्ष में अपनी अयोग्यता ही सिद्ध की है। ... और अपने जिन वयोवृद्ध सभासदों से उसने चर्चा की है, उन्होंने भी किसी राज्य अथवा स्थान का नाम नहीं लिया था। उन्होंने केवल सैद्धांतिक और वायवीय चर्चा ही की थी। उसका कोई लाभ नहीं था। संतोष की बात केवल यह थी कि उनमें से किसी ने भी उससे असहयोग करने अथवा पांडवों का पक्ष लेने में रुचि नहीं दिखाई थी। किसी ने यह नहीं कहा था कि उसे पांडवो को खोजने का अधिकार नहीं है, अथवा इस कार्य में वे उसकी सहायता करना नहीं चाहते हैं। किसी ने यह नहीं कहा कि अब पांडवों को उनका राज्य लौटा दिया जाना चाहिए...

"युवराज!" दासी ने आकर धीरे से उसके कान के पास कहा, "त्रिगर्तराज सुशर्मा आपके दर्शनो के लिए द्वार पर खडे हैं।"

दुर्योधन को यह समाचार अच्छा नहीं लगा। सुशर्मा से उसे पूरी सहानुभूति थी। उसे उसने महत्त्व भी बहुत दिया था। सुशर्मा आरंभ से ही युधिष्ठिर के विरुद्ध था। त्रिगर्त क्षेमंकर की हत्या नकुल के हाथों हुई थी। सुशर्मा का पांडव-विरोध बढ़ता ही गया था। इसलिए दुर्योधन के मन में उसके प्रति आकर्षण था। जैसे-जैसे त्रिगर्तो और मत्स्यों की शत्रुता बढ़ती गई थी, वैसे-वैसे सुशर्मा भी दुर्योधन के निकट आता चला गया था। इधर पिछले प्रायः एक वर्ष में कीचक ने उसे इतना पीड़ित किया था कि उसे सहायता के लिए दुर्योधन के आश्रय में आना पड़ा था। दुर्योधन ने उसका अच्छा आतिथ्य किया था। उसके सत्कार और सहायता में किसी प्रकार की कमी नहीं की थी। ... किंतु इस समय दुर्योधन अपनी समस्या में इतना उलझा हुआ था कि सुशर्मा की व्यथा-कथा सुनने के लिए उसके पास न समय था, न धैर्य। वह इस एक सप्ताह में पांडवों को न खोज पाया तो वे अपना राज्य माँगने के लिए, उसकी छाती पर आ खडे होंगे। उस समय जो युद्ध होगा, उसमें दुर्योधन, सुशर्मा की क्या सहायता करेगा। उसमें तो दुर्योधन चाहेगा कि सुशर्मा ही उसकी सहायता करे...

उसे सुशर्मा की सहायता की आवश्यकता है। पांडवों के एक-एक शत्रु की उसे आवश्यकता है। तो वह सुशर्मा से भेंट को कैसे टाल सकता है। ऐसे उन्मत्त लोग ही तो उसके सबसे बडे सहायक होगे, जो उससे कुछ भी मॉंगे

बिना, अपने प्राण दे कर, पांडवों का नाश करने पर तुले रहेंगे।

"लिवा लाओ।" उसने कहा।

दासी की आँखों में आश्चर्य का भाव झलका। दुर्योधन ने पहले यही आदेश दिया था कि वह इस समय गुप्त मंत्रणा में है, इसलिए किसी से भी भेंट नहीं करेगा। वह तो यह अपेक्षा ले कर आई थी कि युवराज का आदेश होगा कि उन्हें मना कर दो। यदि वह अधिक आग्रह करे तो रक्षकों को बुलाकर उसे बाहर का मार्ग दिखा दो। ... किंतु नहीं, वह तो उसे लिवा लाने के लिए कह रहा था। ... युवराज की गुप्त मंत्रणा समाप्त हो गई है, उनका मन बदल गया है; अथवा त्रिगर्तराज सुशर्मा इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि युवराज उनका तिरस्कार नहीं कर सकते ?

सुशर्मा ने भीतर प्रवेश कर प्रणाम किया और आसन ग्रहण करने के स्थान पर खड़ा-खड़ा ही बोला, "युवराज ! मैं जानता हूँ कि आप किसी महत्त्वपूर्ण गुप्त मंत्रणा में हैं। फिर भी मेरे गुप्तचर कुछ ऐसे समाचार लाए हैं कि मेरे लिए अपने राज्य की ओर तुरंत प्रस्थान आवश्यक हो गया है। आप मेरी उतावली समझ सकते हैं। मैं आपको यही सूचना देने आया हूँ कि मैंने अपने लोगो को प्रस्थान की तैयारी करने का आदेश दे दिया है। हम लोग यथाशीघ्र किसी भी समय त्रिगर्त के लिए चल पड़ेंगे।"

दुर्योधन को आश्चर्य हुआ। यह सुशर्मा, जो अपने शत्रुओं से पीडित हो कर, सहायता के लिए, उसकी शरण में पड़ा था, आज अकस्मात् ही बिना किसी प्रकार की सहायता लिए त्रिगर्त की ओर भाग जाना चाहता है। ऐसा क्या घटित हो गया है ?

"बोलो मित्र ! क्या बात है ?" दुर्योधन बोला, "तुम्हारे गुप्तचर ऐसा क्या समाचार लाए हैं ? उन समाचारों में हमारी भी तो रुचि हो सकती है।"

"विराटनगर से मेरे गुप्तचर समाचार लाए हैं कि मत्स्यों के सेनापति सूतपुत्र कीचक का किसी अज्ञात व्यक्ति ने रात के अंधकार मे वध कर दिया है।" सुशर्मा ने कहा, "हत्यारा अभी तक प्रकट नहीं हुआ है। मुझे हत्यारे का करना ही क्या है। मेरे लिए तो इतना ही पर्याप्त है कि त्रिगर्तो को प्रताड़ित करने वाला कीचक अब जीवित नहीं है। राजा विराट हम लोगों के सम्मुख वैसे ही असहाय है, जैसे हम कीचक के सम्मुख थे। अब हमारी बारी है। हम मत्स्यों को उनके किए का दंड देना चाहते हैं।"

कीचक की मृत्यु का यह आकस्मिक समाचार दुर्योधन को क्षण भर के लिए स्तब्ध कर गया।

"कीचक मारा गया ?" दुर्योधन ने स्वयं को सँभाला, "तुम्हारा क्या अनुमान है ? कीचक का वध क्या राजा विराट ने स्वयं करवाया होगा ?"

"नहीं ! ऐसा तो संभव ही नहीं है। विराट का कीचक से विरोध भी था; किंतु उसे उसकी आवश्यकता भी थी।" सुशर्मा हँसा, "कीचक की सहायता के बिना तो विराट अपने अंतःपुर पर भी शासन नहीं कर सकता था।...लोगों का विचार है कि कीचक का वध करने वाला कोई अत्यंत क्रोधी अदृश्य गंधर्व है। कीचक का वध किसी शस्त्र से नहीं हुआ। लगता है किसी अत्यंत बलशाली पुरुष ने उसे अपने शारीरिक बल से ही पटक-पटक कर मार डाला है। उसको पीट-पीट कर उसके शरीर को मांस का एक लौंदा बना दिया गया है। ..."

सुशर्मा बोलता जा रहा था और दुर्योधन के मन के अंधेरे कोनों में जैसे *मंद-मंद प्रकाश होता जा रहा था। ... कीचक को किसी ने मार दिया था।* ... उसे तो शस्त्र से भी मारना कठिन था और उसे किसी ने बिना शस्त्र के ही मार दिया था। इतना शारीरिक बल किसमें था ?... जरासंध अब जीवित नहीं है। बलराम द्वारका में हैं। वैसे भी वे अदृश्य रह कर ऐसा काम क्यों करेंगे। उन्हें किसका भय है ? ... शल्य के भी मद्र से इधर आने की कोई सूचना नहीं है। ...कहीं यह भीम तो नहीं ? भीम इस समय स्वयं को प्रकट नहीं कर सकता। भीम ...

"लोग कीचक के मारे जाने के कारण का भी तो कोई अनुमान लगाते होंगे।" दुर्योधन बोला।

"युवराज ! वस्तुतः वहाँ बहुत कुछ घटित हो गया है।" सुशर्मा बोला, "लोगों का ही नहीं, कीचक के भाई तथा अनुगत उपकीचकों का विचार था कि कीचक, रानी सुदेष्णा की एक सैरंध्री पर मुग्ध था और उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध बलात् प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था। अपनी मृत्यु से दो दिन पहले उसने सैरंध्री का सार्वजनिक अपमान भी किया था। उसी का प्रतिशोध लेने के लिए, उस सैरंध्री के उस गंधर्व रक्षक ने उसे मार डाला।"

"सैरंध्री !" दुर्योधन के मन में बनने वाला चित्र कुछ अधिक स्पष्ट हो गया था, "वह सैरंध्री बहुत सुंदर है क्या ?"

"हाँ युवराज ! गुप्तचरों का कहना है कि वह असाधारण सुंदरी है। उपकीचकों ने कीचक के वध का प्रतिशोध लेने के लिए उस सैरंध्री को, जिस का नाम मालिनी है, कीचक के शव के साथ बाँध कर जलाने का निर्णय किया। राजा ने उसकी अनुमति भी दे दी। वे उसे बाँध कर भी ले गए। श्मशान के बाहर वह गंधर्व पुनः प्रकट हो गया। इस बार वह अदृश्य नहीं था; किंतु उसने अपना चेहरा छिपा रखा था। अतः उसे पहचानना तो संभव नहीं था; किंतु वह अत्यंत बलशाली पुरुष था। उसने सैरंध्री को बचाने के लिए, उपकीचकों पर आक्रमण किया। कहते हैं कि उसके कुछ अदृश्य सहायक भी थे। उन लोगों ने सारे के सारे, एक सौ पाँच उपकीचकों का वहीं वध कर डाला।"

दुर्योधन के मन ने गति पकड़ ली थी। ... वह सैरंध्री अवश्य ही द्रुपदपुत्री कृष्णा है; और उसका वह गंधर्व रक्षक भीम ही है। तो शेष पांडव भी वहीं छिपे होंगे। पांडव उसके इतने निकट थे, और उसके मूर्ख गुप्तचर कहाँ-कहाँ धक्के खा रहे थे।

"वह सैरंध्री क्या अब राजा की बंदिनी है ?" दुर्योधन ने पूछा।

"नहीं ! वह पहले के ही समान, राजा के अंतःपुर में रानी की सैरंध्री के रूप में रह रही है।"'

"तो इसका अर्थ है कि राजा उससे भयभीत है। उसे दंडित करने का साहस नहीं किया उसने। अन्यथा कीचक तथा एक सौ पाँच उपकीचकों की हत्या का कारण होते हुए भी सैरंध्री इस प्रकार स्वतंत्र नहीं रह सकती थी।" दुर्योधन मन ही मन चिंतन करता रहा, और फिर उसने सुशर्मा से पूछा, "वह गंधर्व तो अज्ञात और अदृश्य है, किंतु क्या विराटनगर में राजा का कोई ऐसा कर्मचारी है, जिसे वहाँ बहुत बलशाली माना जाता है ?"

"मेरे गुप्तचरों ने बताया है कि राजा का रसोइया बल्लव बहुत दीर्घाकार है।"

दुर्योधन जैसे अपने स्थान से उछल पडा। उसने पुकारा, "दासी !"

"महाराज !"

"गुप्तचर-प्रमुख शर्वनाग को उपस्थित करो। तत्काल ! इसी क्षण।"

दासी के बाहर जाते ही वह बोला, "मेरा विचार है त्रिगर्तराज ! कि आपके ही नहीं हमारे शत्रु भी विराटनगर में ही उपस्थित हैं।"

सबने चकित हो कर उसकी ओर देखा।

"मुझे पूरा विश्वास है कि वह सैरंध्री और कोई नहीं, पांचाली कृष्णा है। वह दीर्घाकार रसोइया भीम है; और कीचक को उसी ने मारा है। अन्य किसी मनुष्य में इतनी शक्ति नहीं है कि कीचक जैसे बलशाली पुरुष को इस प्रकार मार डाले। गंधर्व के वे अदृश्य सहायक, उसके भाई हैं, जिनकी सहायता से उसने एक सौ पाँच उपकीचकों को मारा है।"

"यदि ऐसा ही था तो हमारे गुप्तचरों ने हमें सूचना क्यों नहीं दी ?" दुःशासन बोला।

"यही पूछने के लिए तो शर्वनाग को बुलाया है।" दुर्योधन ने उत्तर दिया।

शर्वनाग ने आकर दुर्योधन को प्रणाम किया।

"शर्वनाग !" दुर्योधन का स्वर पर्याप्त कठोर था, "तुम्हारे चर पाडवो की खोज में पृथ्वी पर सब ओर गए। वे सारे देशों तथा सारे राज्यों में गए। पर्वतों

की चोटियों और सागर तटों तक गए। ..."

"जी महाराज !"

"क्या वे विराटनगर भी गए थे ?"

"जी गए थे। वहाँ उन्हें कुछ भी महत्त्वपूर्ण दिखाई नहीं दिया था।"

"तुमने वहाँ कैसी खोज करवाई थी ?"

"यद्यपि विराटनगर पर हमारा विशेष बल नहीं था, पर खोज हमने वहाँ भी करवाई थी।"

"क्या मैं जान सकता हूँ कि विराटनगर पर तुम्हारा विशेष बल क्यों नहीं था ?" दुर्योधन का स्वर कुछ व्यंग्यात्मक हो गया था।

"हमने सबसे पहले तो यह विचार किया था कि पांडव यदि किसी नगर में जाएँगे, तो श्रमिक, व्यापारी अथवा सेवक बन कर तो रहेंगे नहीं। वे लोग राज-काज तथा सेना का काम जानते थे, तो किसी राजा के निकट उसकी सभा में ही रहेंगे; अथवा छद्म वेश में राजा के अतिथि हो कर रहेंगे। इसलिए हम ने यह विचार किया कि वे किस-किस राजा के निकट रह सकते हैं। अतिथि के रूप में वे द्वारका, कांपिल्य तथा अपने अन्य संबंधियों के प्रासादों में रह सकते थे। हमने वे सारे स्थान वर्ष भर छाने हैं, किंतु वहाँ ऐसा कोई अतिथि एक दिन को भी नहीं आया, जिस पर पांडव होने का संदेह किया जा सके। "

"मैं पूछ रहा हूँ कि विराटनगर पर तुम्हारा बल क्यों नहीं था ?"

"युवराज ! विराटनगर यहाँ से इतना निकट है कि वे लोग वहाँ रह कर अज्ञात बने रहने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे।" शर्वनाग बोला, "फिर वहाँ राजा विराट तो पांडवों को आश्रय देने के पक्ष में हो सकते थे; किंतु उनका सेनापति कीचक रंच मात्र भी पांडवों के पक्ष में नहीं था। इसलिए उसके तथा उसकी बहन रानी सुदेष्णा के रहते पांडवों को राजा विराट की सभा में स्थान मिल ही नहीं सकता था।"

"किंतु कीचक तो इतने समय तक त्रिगर्त में उत्पात् मचा रहा था।" दुर्योधन बोला, "वह विराटनगर में था ही कहाँ ?"

"कीचक चाहे विराटनगर में नहीं था; किंतु उसका आतंक वहाँ था। रानी सुदेष्णा वहाँ थीं। विराटराज जिस प्रकार कीचक के नियंत्रण में हैं, उसको देख कर तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि वे कीचक की इच्छा के विरुद्ध पांडवो को अपनी सभा में स्थान देने का साहस कर सकते हैं।" शर्वनाग बोला, "फिर भी महाराज ! हमने विराटनगर की राजसभा पर दृष्टि रखी। इस सारी अवधि में राजा ने अपनी सभा में केवल एक नए व्यक्ति को नियुक्त किया था। पर वह पांडवों में से एक नहीं हो सकता था।"

"क्यों नहीं हो सकता था ?" दुर्योधन ने कठोरता से पूछा।

"पहली बात तो यह है कि वह अकेला था; और यह हम सब जानते हैं कि पांडव जहाँ भी होते हैं, इकट्ठे होते हैं।" शर्वनाग ने उत्तर दिया, "दूसरा कारण यह कि वह व्यक्ति राजा का द्यूत-सहचर ही नहीं, एक प्रकार से द्यूतविद्या का गुरु था। और यह हम सब ही जानते हैं कि पांडवों में से किसी को भी द्यूतविद्या का ऐसा ज्ञान नहीं है कि वे किसी राजा को द्यूत सिखा सकें।"

दुर्योधन शर्वनाग का विरोध नहीं कर सका। वह सत्य ही कह रहा था कि पांडवों में से किसी को भी द्यूतविद्या का साधारण-सा भी ज्ञान नहीं था। युधिष्ठिर खेल तो लेता था; किंतु उसे खेलना नहीं कह सकते।

"राजा ने और किसी व्यक्ति को नियुक्ति नहीं दी ?" दुर्योधन ने पूछा।

"राजसभा में और कोई व्यक्ति नियुक्त नहीं किया गया।" शर्वनाग दृढता से बोला।

"न सही राजसभा। एक नगर में सैकड़ों काम होते हैं।"

"युवराज का कथन सत्य है।" शर्वनाग बोला, "इतनी बडी पृथ्वी पर हमारे एक सहस्र गुप्तचर न तो प्रत्येक स्थान पर पहुँच सकते हैं, न प्रत्येक व्यक्ति के विषय में सूचना एकत्रित कर सकते हैं। हमें कुछ तो अनुमान करना ही पडेगा कि हमारा वांछित व्यक्ति कहाँ हो सकता है। हमारी चिंतन पद्धति के अनुसार विराटनगर में पांडवों के होने की कोई संभावना नहीं थी।"

"तुम मूर्ख हो।" दुर्योधन जैसे फट पड़ा, "राजा ने एक रसोइया भी नियुक्त किया था।"

"विराटनगर में हमारे सूत्रों ने हमें ऐसी कोई सूचना नहीं दी।" शर्वनाग का स्वर कुछ धीमा हुआ, "और वैसे भी महाराज ! रसोइया तो रसोई में ही होगा, वह राजसभा की नियुक्ति नहीं है।"

"प्रश्न राजसभा की नियुक्ति का नहीं है। सत्य यह है कि पांडव वहीं थे और तुमने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया।" दुर्योधन बोला।

"भूल हुई युवराज ! किंतु न तो हमारे अनुमान के अनुसार पांडव वहाँ हो सकते हैं और न हमें उसका कोई प्रमाण मिला है।" शर्वनाग बोला, "यदि राजसभा का कंक अथवा पाकशाला का बल्लव पांडवों में से कोई है, तो आप मेरा विश्वास कीजिए महाराज ! कि राजा विराट को भी सूचना नहीं है कि वे कौन हैं। उन्होंने कभी उनसे वैसा व्यवहार नहीं किया, जैसा वे पांडवो के साथ करना चाहेंगे।"

"मेरा इससे कोई संबंध नहीं है कि राजा विराट ने उन्हें पहचाना अथवा नहीं।" दुर्योधन क्रुद्ध हो कर बोला, "मैं तो इतना जानता हूँ कि तुम उन्हें खोज नहीं पाए।"

"यदि पांडव विराटनगर में उपस्थित हैं, तो मैं अपने गुप्तचरो की असफलता

स्वीकार करता हूँ युवराज !"

"तुम्हारी यह स्वीकृति क्या पांडवो को फिर से बारह वर्षो के लिए वन भेज देने के लिए पर्याप्त है ?" दुर्योधन का क्रोध किसी भी प्रकार कम नहीं हो रहा था, "अब जब यह पता लग ही चुका है कि पांडव विराटनगर में हैं, जाओ अन्य पांडवों को भी खोजो कि वे किस बिल में छिपे बैठे हैं। उनके वहाँ होने के निश्चित प्रमाण लाओ। अन्यथा ... अन्यथा तुम्हारे गुप्तचरों की असफलता, तुम्हारे जीवन की असफलता मे परिणत हो जाएगी।"

शर्वनाग के कुछ कहने से पहले ही सुशर्मा बोला, "युवराज ! मेरा विचार है कि अब यह कार्य मुझे करने दिया जाए।"

दुर्योधन ने उसकी ओर देखा।

"मैं तो मात्र इतनी सी बात से ही उत्साहित था कि कीचक मारा गया है। यह तो मैंने सोचा ही नहीं था कि यह इतना बड़ा समाचार है कि उससे आपके और मेरे शत्रुओ के एक साथ विनाश का अवसर उपलब्ध हो जाएगा।" सुशर्मा ने कहा, "मेरा विचार है कि आप मुझे अनुमति दें कि मैं अपने सैनिको के साथ विराटनगर पर आक्रमण करूँ। विराट की सारी धन संपत्ति का हरण करूँ और आपके शत्रुओं को बाँध कर आपके चरणों में ला डालूँ।"

"मेरा भी एक प्रस्ताव है युवराज !" कर्ण बोला, "क्यों न हमारी सेना भी त्रिगर्तराज के साथ जाए। मैने सुना है कि विराटनगर में अनमोल गोधन है। हम उसका हरण कर लेंगे। यदि पांडव वहाँ छिपे हुए हैं, तो वे अवश्य ही राजा की सहायता को आएँगे। उस समय हम उन्हें पहचान लेंगे। और यदि पांडव वहाँ नहीं हैं, तो हम विराटनगर का वैभव लूट लाएँगे। कीचक ने बहुत सारे राज्यों का धन लूट कर उनको कगाल कर दिया था, अब विराटराज भी देखे कि निर्धनता क्या होती है।"

दुर्योधन अपने मन में एक योजना बना रहा था। धीरे से बोला, "यह तो निश्चित रहा कि हम दोनों की सेनाएँ विराटनगर पर तत्काल आक्रमण करें। पूरी शक्ति से करे। उसकी विस्तृत योजना पर हम लोग अभी विचार कर लेते हैं। ..."

53

"भाभी ! मत्स्य देश से समाचार आया है कि वहाँ के सेनापति कीचक को किसी बलवान गंधर्व ने रात के अंधकार मे बिना किसी शस्त्र के ही मार डाला है।"

कुंती ने थोड़ी देर चुपचाप विदुर की ओर देखा और फिर पूछा, "यह तुम्हारा समाचार है अथवा दुर्योधन को भी ज्ञात है ?"

"यह समाचार तो सुशर्मा ने दुर्योधन को ही दिया है।"

"क्या दुर्योधन समझ गया है ?"

"हाँ भाभी ! उसे पूरा विश्वास है कि यह भीम का ही काम है। वे लोग विराटनगर पर आक्रमण की तैयारी में हैं। कदाचित् दो एक दिनों में प्रयाण होगा।"

"कुछ और भी पता चला ?" पारंसवी ने पूछा।

विदुर ने सारी बात विस्तार से बताई।

"इसका परिणाम क्या हो सकता है विदुर ?"

"अज्ञातवास समाप्त होने में सप्ताह भर शेष है भाभी ! अब तो आज का दिन भी गया। इस दृष्टि से छह दिन ही और रह गए।" विदुर बोले, "इन छह दिनों में ये लोग विराटनगर पहुँच कर विराट को पराजित कर, पांडवों को प्रकट होने को बाध्य करने में सफल होंगे—इसमें मुझे तो संदेह है। और यदि पांडवों को सूचना मिल गई कि दुर्योधन आ रहा है, तो वे लोग बचा हुआ एक आध दिन इधर-उधर भी तो बिता सकते हैं। किसी और नगर में जा सकते हैं। उनका विराटनगर में ही रहना क्या आवश्यक है। और अभी हमें उनके विषय में सब कुछ ज्ञात भी तो नहीं है। संभव है कि इस घटना के पश्चात् वे लोग वहाँ से कहीं और चले ही गए हों।"

"तुम्हारी बात सत्य है विदुर ! इस घटना के पश्चात् वे लोग वहाँ से चले भी गए हो सकते हैं।" कुंती बोली, "किंतु मेरा विचार है कि वे लोग वहाँ से न ही जाएँ तो अच्छा है। उन्हें ये शेष छह दिन भी विराटनगर में ही व्यतीत करने चाहिए।"

"क्यों भाभी ? इतना संकट मोल लेने की क्या आवश्यकता है ?" पारंसवी ने पूछा।

"विराट से दुर्योधन वैसे ही प्रसन्न नहीं है। वह जानता है कि विराट ने युधिष्ठिर को अपना सम्राट् स्वीकार किया था; और उसने दुर्योधन का कभी सम्मान नहीं किया है।" कुंती ने कहा, "किंतु स्थिति इतनी सरल भी नहीं है। विराट का सेनापति कीचक, राजा के प्रति अपने विरोध के कारण, अथवा मात्र विराट पर दबाव बनाए रखने के लिए, पांडवों का साथ नहीं चाहता था। कीचक न पांडवों के साथ था न विराट के साथ। संभवतः वह दुर्योधन की मैत्री स्वीकार करता, किंतु वह त्रिगर्तों को कई बार पीड़ित कर चुका था और त्रिगर्तराज सुशर्मा दुर्योधन का मित्र था। इसलिए कीचक दुर्योधन का मित्र भी कभी नहीं हो सका।"

"मुझे तो लगता है भाभी ! कि दुर्योधन के मन में सुशर्मा तथा कीचक दोनों की ही मैत्री की इच्छा थी, क्योंकि ये दोनों ही पांडवों के विरोधी थे। किंतु

सुशर्मा के कारण वह कीचक के प्रति अपनी मित्रता नहीं जता पाया और कीचक के कारण खुल कर सुशर्मा की सहायता नहीं कर पाया। अब कीचक बीच से हट गया है, और दुर्योधन के लिए कोई द्विविधा नहीं रह गई है। विराट उसका भी विरोधी है और सुशर्मा का भी।"

"इसीलिए तो कह रही हूँ कि अब सुशर्मा तथा दुर्योधन दोनों मिल कर अपना सारा संचित आक्रोश निकालेंगे। विराट उनके सम्मुख सर्वथा असहाय होगा। ऐसे समय में मेरे पुत्रों को चाहिए कि वे उसकी सहायता करें।" कुंती ने कहा, "उन्होंने वर्ष भर उसके आश्रय में व्यतीत किया है। उसका अन्न खाया है। वे कृतघ्न नहीं हैं, इसलिए उन्हें विराट की सहायता करनी चाहिए। यदि वे स्वयं को बचाने के लिए विराटनगर छोड कर चले जाएँगे, तो दुर्योधन, विराट को पांडवों को अपने नगर में आश्रय देने के लिए भी दंडित करेगा।"

"क्या विराट जानता था कि पांडव उसके नगर में हैं ?"

"दुर्योधन के गुप्तचर-प्रमुख ने तो यही कहा है कि यदि कंक और बल्लव, युधिष्ठिर और भीम हैं तो राजा को भी इस बात का ज्ञान नहीं था।"

तीनों चुपचाप बैठे मन ही मन सोचते रहे।

"मुझे लगता है कि भीम को कुछ धैर्य रखना चाहिए था।" पारंसवी बोली, "महीना भर और निकल जाता तो किसी प्रकार का कोई संकट नहीं रह जाता। फिर चाहे वे अपने ढंग से अपना प्रतिशोध ले लेते।"

"इतना तो स्पष्ट ही है कि यह सब कुछ भीम ने किया है और पांचाली के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए ही किया है।" विदुर ने कहा, "हमें सारी घटनाओं का ज्ञान नहीं है, इसलिए हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि भीम को धैर्य धारण करना चाहिए था अथवा नहीं।"

"यदि कंक ही युधिष्ठिर है, तो निश्चित रूप से उसने पांचाली को धैर्य धारण करने को कहा होगा।" कुंती बोली, "पर प्रश्न यह है कि कीचक ने सैरंध्री का अपमान करने के पश्चात् उसका पीछा छोड दिया था क्या ? यदि उसने सैरंध्री का अपमान करने के पश्चात् उसका पीछा छोड दिया था, तो कुछ अंशों में धैर्य धारण करना ही उचित था; किंतु यदि उस अपराध के पश्चात् भी कीचक को राजा ने दंडित नहीं किया और कीचक फिर से सैरंध्री को अपमानित करने पहुँच गया, तो ऐसी स्थिति में क्या धैर्य धारण करना चाहिए था ?"

"सामान्य स्थितियों मे तो चाहे धैर्य न रखते, किंतु अज्ञातवास ...।"

"प्रश्न अज्ञातवास का नहीं है।" विदुर बोले, "मेरे मन में तो यह समस्या एक द्वंद्व के रूप में आती है।"

कुंती और पारंसवी ने उनकी ओर देखा।

"मनुष्य के लिए कार्यसिद्धि को अपना लक्ष्य मानना उचित है अथवा अपने

सम्मान को ?" विदुर बोले, "यदि कार्यसिद्धि ही उसका लक्ष्य है, तो किसी भी सीमा तक अपमान सहा जा सकता है; किंतु ऐसी स्थिति में किसी भी सीमा तक अधर्म भी किया जा सकता है। कर्ण ने कार्यसिद्धि को अपना लक्ष्य माना, इसलिए उसने अपने गुरु परशुराम से भी अपना सत्य छुपाया। असत्य कथन किया। युधिष्ठिर ऐसा नहीं करेगा। अतः वह न अपना धर्म छोड़ेगा, न अपना सम्मान।"

"वह क्या करेगा, इसके विषय में मैं कुछ नहीं कह सकती।" कुंती ने कहा, "किंतु मैं इतना तो जानती हूँ कि युधिष्ठिर प्रतिशोध का कभी समर्थन नहीं करेगा। अतः पांचाली के अपमान के पश्चात् उसने अवश्य ही धैर्य धारण करने के लिए कहा होगा। ... किंतु एक बात मेरे मन में निरंतर रहती है कि युधिष्ठिर सामान्य पुरुष नहीं है। उसे क्रोध नहीं आता। उसके व्यवहार को देख कर सामान्य जन यह नहीं मानता, कि वह क्रोध को जीत चुका, अतः वह महान् है। साधारण जन तो यही समझता है कि वह कायर है। इसीलिए मैं युधिष्ठिर के धैर्य और शांति से डरने लगी हूँ। ..."

"आप नहीं चाहतीं कि युधिष्ठिर धैर्य धारण करे ?" पारंसवी ने पूछा।

"मै चाहती हूँ कि युधिष्ठिर उतना ही धैर्य धारण करे, जितना सम्मानजनक है। उस धैर्य का क्या लाभ, जिससे मनुष्य कायर समझा जाए।" कुंती ने उत्तर दिया, "और नारीत्व का अपमान ऐसा अपराध नहीं है, जिसके पश्चात् भी धैर्य धारण किया जाए। इसलिए यदि सैरंध्री पांचाली ही है, और बल्लव भीम है, तो उनका अधैर्य शुभ ही है। मैं उस अधैर्य की प्रशंसा करती हूँ।"

"पर भीम द्वारा कीचक के वध से भयंकर स्थिति उत्पन्न हो गई है न!" पारंसवी बोली, "वे लोग पांचाली को जीवित जलाने के लिए बाँध कर ले गए। यदि उचित समय पर पांडव नहीं पहुँचते तो पांचाली के प्राण ही चले जाते। अब उन्होंने पांचाली के प्राण तो बचा लिए हैं, किंतु उनके पहचान लिए जाने का संकट सामने खड़ा है।"

"ठीक है, वे इस संकट को झेलें।" कुंती ने शांत स्वर में उत्तर दिया, "किंतु नारी के अपमान को न झेलें। मुझे तो कभी-कभी युधिष्ठिर के धैर्य से भय लगने लगता है। वह अपना राज्य प्राप्त करने का अधैर्य भी नहीं दिखाता है। उसे तो राज्य का कोई मोह ही नहीं है; किंतु उसके कारण उसके भाई भी राज्य से वंचित हो जाएँगे; और प्रजा को दुर्योधन जैसे आततायी का शासन झेलना पड़ेगा। संसार अभी जरासंध को ही नहीं भूला है, ऐसे में इतनी जल्दी दूसरा जरासंध उत्पन्न हो गया, तो धर्म का संपूर्ण नाश हो जाएगा।"

"आप आशंकित हैं भाभी ! कि यदि सारी प्रतिज्ञाएँ पूर्ण हो जाने पर भी दुर्योधन ने युधिष्ठिर को उसका राज्य नहीं लौटाया, तो भी युधिष्ठिर युद्ध नहीं

करेगा ?" विदुर ने पूछा।

"हॉ विदुर ! मेरे मन में ऐसी आशंका है।" कुंती ने उत्तर दिया, "किंतु मै ऐसा होने नहीं दूँगी। यदि दुर्योधन उसका राज्य नहीं लौटाता तो युधिष्ठिर को युद्ध करना ही पड़ेगा। यह मेरा वचन है।"

विदुर और पारंसवी ने चकित दृष्टि से कुंती को देखा। उन्होंने कुंती का ऐसा तेजस्वी रूप पहले कभी नहीं देखा था।

54

प्रात ध्यान कर विराट उठे तो उन्होने रानी को देखा। उसने इस समय तक तनिक भी शृंगार नहीं किया था। राजा को आश्चर्य हुआ। रानी को और किसी बात का ध्यान रहे या न रहे, अपने शृंगार को वह कभी नहीं भूली। तो फिर आज ?... संभवत. सुदेष्णा अपने भाइयों और संबंधियों की मृत्यु का शोक मना रही थी। ऐसे में उससे इस विषय में कुछ पूछना राजा को उचित नहीं लगा। राजा उसके अवसाद का कारण पूछ बैठें और वह उत्तर देने के स्थान पर प्रतिप्रश्न कर बैठे कि क्या वे नहीं जानते कि पिछले दो दिनों में उसके कितने संबंधी काल के गाल मे समा गए हैं, तो वे उसको क्या उत्तर देंगे।

उन्हें लगा कि शायद रानी ने आज दर्पण ही नहीं देखा है। यदि देखा होता तो कैसा भी शोक क्यों न होता, वह इस रूप में दिन के प्रकाश में किसी भी व्यक्ति के सम्मुख नहीं आती, चाहे वह राजा ही क्यों न होते। और इस समय तक तो उसे कितनी ही सेविकाओं, परिचारिकाओं तथा दासियों ने देखा होगा।... उसका रूप तनिक भी आकर्षक नहीं लग रहा था। कौन कह सकता था कि यह वही रानी सुदेष्णा है, जिसके सम्मुख अनेक बार उसकी अपनी पुत्री उत्तरा का रूप भी फीका लगने लगता था। अवस्था भी कितनी अधिक लग रही थी, जैसे यौवन न जाने कब का विदा हो गया हो।

उसका रूप ही नहीं, व्यवहार भी पर्याप्त बदला हुआ था। उसके तेवर आज वैसे तीखे नहीं थे कि सामने वाले के हाथों के तोते उड जाएँ। वह राजा के सम्मुख बहुत विनीत भाव से आई थी। उसने उनसे उनके स्वास्थ्य के विषय में जिज्ञासा की थी। जानना चाहा था कि उनका मन तो प्रसन्न था न ! उन से पूछा था कि उन्हें आज प्रातः किसी विशेष वस्तु की आवश्यकता तो नहीं है। और फिर उसने बहुत धीरे से कहा, "क्या मैं आज भैया के भवन मे चली जाऊँ ? कुछ समय अपनी भाभियों के साथ व्यतीत कर आऊँगी। उनके शोक

में उन्हें सांत्वना देने का प्रयत्न करूँगी।"

राजा चकित रह गए। आज सुदेष्णा उन से अपने भाई के घर जाने और अपनी भाभियों के शोक में सम्मिलित होने के लिए भी अनुमति माँग रही थी। ... विचित्र बात थी। आज तक तो वह उन्हे अपनी किसी गतिविधि की सूचना तक देना आवश्यक नहीं समझती थी। वे ही अपनी ओर से पता लगवाते रहते थे कि रानी कहाँ है, क्या कर रही है, कब तक वापस अपने भवन में लौटेगी। ...

"आप आज सभा में जाएँगे ?" रानी ने पूछा।

"हाँ ! सभा में तो जाना होगा।" राजा कुछ सोच कर बोले, "राज-परिवार शोक में है; इसलिए प्रजा का काम तो रुक नहीं सकता।"

"नहीं प्रजा की उपेक्षा उचित नहीं है।" रानी सहज भाव से कह गई, जैसे वह कुछ भी असाधारण न कर रही हो, "पुत्र श्वेत भी आपके साथ जाएगा ?"

राजा पुनः चौंके। रानी ने कभी इतने स्नेह से अपनी सपत्नी सुरथा के पुत्र को स्मरण नहीं किया था।

"उसे अपने साथ ले जाया कीजिए। " सुदेष्णा ने उनके उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की, "युवराज को सभा में राजा के साथ जाना चाहिए, ताकि वह उचित निर्देशन में राज-काज सीख सके। प्रजा पालक राजा बन सके, अपनी ही प्रजा का रक्त पीने वाला राक्षस नहीं।"

राजा कुछ भी समझ नहीं पा रहे थे कि यह सब क्या है। यदि उन्होने अपने मुख से अपने ज्येष्ठ पुत्र श्वेत को युवराज कह दिया होता तो सुदेष्णा उनका मुँह नोच लेती; और आज उसने बिना किसी संदर्भ के ही उसे युवराज कह दिया था।

"ठीक कह रही हो रानी !" राजा उससे सहमत हो गए।

दासी ने आकर प्रणाम किया, "महाराज ! आर्य शतानीक आपके दर्शनों के लिए द्वार पर उपस्थित हैं।"

"तो मैं चलती हूँ महाराज !" रानी उनके प्रति पूर्ण सम्मान प्रदर्शित करती हुई, अपने मंडप की ओर चली गई।

"लिवा लाओ।" राजा ने आदेश दिया।

शतानीक भी बहुत दिनों के पश्चात् उनके दर्शन करने उनके भवन में आया था, नहीं तो उससे राजसभा मे ही भेंट होती थी। वे सुनते रहते थे कि वह प्रायः कीचक के भवन पर जाया करता है। वहाँ उनके आपानक होते रहते थे। आज वह इधर कैसे आ गया ?

"महाराज की जय हो।" शतानीक ने साधारण सभासदों के ही समान उनको प्रणाम किया।

"बैठो शतानीक !" राजा ने कहा, "कहो। आज प्रातः ही कैसे आए ? कोई विशेष प्रयोजन ?"

"मैं महाराज को बधाई देने आया हूँ।"

राजा ने चकित दृष्टि से उसकी ओर देखा, "कैसी बधाई ?"

"कीचक और उपकीचक मारे गए हैं। अब विराटनगर एक प्रकार से स्वतंत्र है। विराटराज पर किसी का आतंक नहीं है।"

राजा समझ नहीं पा रहे थे कि वे क्या कहें। उनके मन में एक विचित्र प्रकार की उलझन थी।

"शतानीक ! तुम जानते हो कि कीचक विराटनगर का सेनापति था। उसके कारण विराटनगर सुरक्षित था। उसके कारण हमारे अनेक शत्रु अपने दाँत पीसते रह जाते थे, फिर भी उनके पग हमारी भूमि की ओर उठ नहीं पाते थे।" राजा बोले, "तुम यह भी जानते हो कि कीचक मेरा श्यालक था। उसकी मृत्यु के कारण रानी सुदेष्णा शोक में डूबी हुई हैं। यह राजपरिवार के शोक का अवसर है। तो भी तुम मुझे बधाई दे रहे हो ?"

राजा की बात सुन कर शतानीक हतप्रभ रह गया। उसकी आँखें कुछ असहज रूप में खुली हुई थीं और उसका मन सोच रहा था कि कहीं उससे कोई भूल तो नहीं हो गई ?

उसने जैसे अपने आपको समेटा, "महाराज ! राजपरिवार और साधारण परिवार में यही तो अंतर है। पिता की मृत्यु पर कोई राजकुमार ही सुख का अनुभव कर सकता है, क्योंकि राजकुमार ही राजा बनता है। यह साधारण जन का अनुभव नहीं हो सकता। कीचक के विषय में मुझसे अधिक और कौन जानता है। उसके आतंक के कारण मैं और मदिराक्ष आपसे इतने दूर हो गए। हमारे मन आपके लिए तड़पते थे और जिह्वा कुछ कह नहीं पाती थी। हमारे पग आपके प्रासाद की ओर उठना चाहते थे और कीचक का स्मरण कर काँप कर रह जाते थे। क्या हम नहीं जानते महाराज ! कि कीचक के कारण न किसी का धन सुरक्षित था और न सम्मान। उसने आपके सम्मुख सैरंध्री का अपमान किया और आप उसे दंडित नहीं कर सके। यह क्या आपकी नीति थी ? आप स्वेच्छा से ऐसा कर सकते थे ? ... अब आप स्वतंत्र हैं। प्रभुसत्तासंपन्न राजा हैं। आपके अधिकारों का अपहरण कोई नहीं कर सकता। सारे नगर में कीचक के वध को आपकी नीति माना जा रहा है कि किस प्रकार आपने एक अदृश्य गंधर्व की ओट में उस दुष्ट कीचक से मुक्ति पा ली।"

"नगर मे ऐसी चर्चा है क्या ?"

"हाँ महाराज ! लोग अपने राजा की बुद्धिमत्ता की प्रशंसा कर रहे हैं।"

राजा का मन हुआ वे उच्च स्वर में हँस पड़ें। जिस गंधर्व के भय के मारे उनकी आत्मा काँप रही है, लोग समझ रहे हैं कि वह गंधर्व राजा का ही उपकरण है।

"और उपकीचकों के वध के विषय में लोग क्या कह रहे हैं ?" राजा ने जिज्ञासा की।

"आपकी प्रजा का विचार है कि कीचक का वध करवाकर आपने उपकीचकों को सैरंध्री को बाँध कर ले जाने की अनुमति इसीलिए दी कि इस बहाने से उन से भी मुक्ति पाई जा सके; अन्यथा आप जैसा धर्मप्राण राजा, उपकीचकों को इस प्रकार की अनुमति कभी न देता।" शतानीक ने कहा।

विराट की इच्छा हुई कि वे अपने भाई को सब कुछ सत्य-सत्य बता दें; किंतु उनके विवेक ने उन्हें रोक दिया : यदि उनकी प्रजा उन्हे यह श्रेय दे रही है, तो उन्हें चुप ही रह जाना चाहिए। ... यह शतानीक, जो इतने दिनों के पश्चात् उनके पास आकर इस प्रकार की चिकनी-चुपड़ी बातें कर रहा है, वह भी क्या उसी भय से उनके पास आया है ? आज सुदेष्णा का व्यवहार बदला हुआ है, तो क्या वह भी इसी कारण बदला हुआ है ? कीचक के जीवित रहते, वह किस प्रकार उन पर अपना दबाव बनाए रखती थी। उसके जीवित रहते, उसने कभी श्वेत को युवराज बनाने की चर्चा नहीं की। ...

विराट के मन में एक प्रकार की वितृष्णा जन्म ले रही थी। ... यह उनका भाई था, जो उनके सम्मुख बैठा उनकी प्रशंसा कर रहा था। कीचक का भय था उसको, अथवा उसको शक्ति का वास्तविक स्रोत मान कर, उससे कुछ पाने का लोभ था ? यदि वह मानता था कि कीचक का इतना आतंक था, तो उसने अपने भाई की सहायता करने के स्थान पर कीचक का पक्ष क्यों ग्रहण किया ? भयवश ? लोभवश ? ... तो क्या अब भी उसके मन में लोभ ही है ? ... एक वे पांडव है कि बडे से बड़े भय और बड़े से बड़े लोभ की स्थिति में भी किसी ने किसी का साथ नहीं छोड़ा। ... एक विराट की पत्नी है कि अपने भाई को शक्तिशाली मान कर अपने पति को उसके प्राण लेने की धमकी भी दे सकती है, और भाई के न रहने पर, पति के प्रताप से ही डर जाती है। ... उधर पांडवो की पत्नी है कि अपने पिता का साम्राज्य छोड़ कर अपने पतियों के साथ वनवास के लिए चली जाती है। उसे तो कभी नहीं लगा कि वह अपने पिता और अपने भाई की शक्ति से बलवती हो कर, अपनी इच्छाएँ अपने पतियों पर आरोपित कर सकती है। ...क्या विराट के घर में भी संबंधों की वही स्थिति नहीं हो सकती ? ... यहाँ कमी किसकी ओर से है ? स्वयं उनकी ओर से अथवा उनके भाइयों और पत्नी की ओर से ? ... अब जब कीचक का आतंक समाप्त हो गया है,

और सैरध्री के रक्षक ने उनके प्रति अपना रोष प्रकट नहीं किया है, तो क्यो न वे भी वही मान लें, जो उनकी प्रजा कह रही है। वे यदि युधिष्ठिर बनें, तो संभव है कि उनके भाई भी युधिष्ठिर के भाई बनने का प्रयत्न करें। ...

"मेरा विचार है शतानीक ! कि अब जब कीचक नहीं है, तो हमें विराटनगर मे धर्मराज्य स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। कोई निर्धन न रहे, कोई असुरक्षित न रहे, किसी के विकास का मार्ग अवरुद्ध न हो, किसी को कोई विशेषाधिकार न हो, किसी को पराए धन तथा पराई स्त्री की ओर आँख उठा कर देखने का साहस न हो।"

"मेरे भी मन में कुछ ऐसी ही कल्पना जागी थी महाराज !" शतानीक ने कहा।

"उसके लिए आवश्यक है शतानीक ! कि हम अपनी तथा अपनी प्रजा की रक्षा के लिए किसी और पर निर्भर न रहें। अपनी कल्पना के राज्य का निर्माण करना है तो उसके लिए श्रम भी स्वयं ही करना होगा, और संकट भी स्वयं ही झेलने होगे।"

"आपका कथन सत्य है महाराज !"

"तो सेनापति का पद तुम सँभालो और नगर की सुरक्षा का दायित्व ग्रहण करो।" विराट बोले, "कीचक के बिगड़ैल सैनिकों को नियंत्रित करो। आवश्यकता होने पर उन्हें दंडित करो।"

"इस कार्य में कोई विशेष कठिनाई होनी नहीं चाहिए महाराज !" शतानीक ने कहा, "कीचक और उपकीचकों के वध के कारण राज्य के सारे आततायी डरे बैठे हैं। वे यह समझ रहे हैं कि राजा न्याय करने पर तुले हैं। वे दुष्टों को अवश्य दंडित करेंगे। ऐसे में सात्विक लोगों का उत्साह अपने चरम पर है और वे लोग हमारे साथ सहयोग करने के लिए आतुर हैं। इस समय यदि दुष्टों को बंदी किया जाएगा अथवा उन्हें दंडित किया जाएगा तो उसका कोई विरोध नहीं करेगा। हमें इस अवसर का लाभ उठा कर सारी सत्ता तत्काल अपने हाथ में कर लेनी चाहिए और किसी दुष्ट को क्षमा नहीं करना चाहिए।"

"तो ऐसा ही करो।" विराट बोले, "कल की विशेष राजसभा की घोषणा कर दो। उसमें सारे विभागों के अध्यक्षों को बुला लो। उन सबसे उनके विभागों का विवरण लिया जाएगा। कोई यह न समझे कि राजा असावधान अथवा अक्षम है।"

"महाराज की आज्ञा का अक्षरशः पालन होगा।" शतानीक ने खड़े हो कर राजा को प्रणाम किया।

विराट दिन भर बहुत व्यस्त रहे। उन्हें लग रहा था कि विराटनगर में जैसे कोई नई व्यवस्था स्थापित की जा रही है। दिन भर विभिन्न प्रकार के लोग आते रहे। अपने ही राज्य और प्रजा के विषय में राजा को अनेक नई सूचनाएँ मिलीं। राजा को लग रहा था कि उनकी प्रजा पहली बार अपना मन उनके सामने खोल रही है।

रात के भोजन के समय उन्होंने बल्लव को देखा।

"क्या बात है बल्ल्व ! बहुत प्रसन्न हो।" राजा बोले, "तुम्हें क्या मिल गया है ?"

"मुझे क्या चाहिए। पाना और खोना तो विशिष्ट लोगों को होता है महाराज !" बल्लव बोला, "साधारण जन तो सत्य और धर्म की जय देख कर ही प्रसन्न हो जाता है। मैंने दिन भर देखा है, आपके सैनिको का व्यवहार बदल गया है। जहाँ कल तक वे किसी भी निर्बल और असहाय को देख कर उसे लूटने की सोचते थे, वहीं आज वे उसकी सहायता करते दिखाई दिए। मुझे लगता है महाराज ! शक्तिशाली और प्रशासन में ऊँचे पदों पर बैठे लोगों को, जब उनके अपराधों का दंड नहीं दिया जाता तो समाज की शुभ तथा कल्याणकारी शक्तियाँ हतोत्साहित हो जाती हैं। सामान्य जन भयभीत हो जाता है। वह अधिक, और फिर उससे भी अधिक कायर होता जाता है। उसके विपरीत संसार की अशुभ शक्तियों का साहस और भी बढ़ने लगता है। वे मानते हैं कि उन्हें रोकने वाला कोई नहीं है। वे अधिक से अधिक पाप करने लगते हैं, जैसे कीचक ने महारानी की सैरंध्री तक पर अत्याचार करना चाहा और उसे आपकी उपस्थिति में गिरा कर लात मारी। उसी का परिणाम था कि साधारण सैनिक भी किसी स्त्री को देखते ही, उसका अपमान करने पर तत्पर हो जाता था। मुझे लगता है महाराज ! अपराध का दंड वैसे तो सबको ही मिलना चाहिए, किंतु समाज के महत्त्वपूर्ण लोगों को तो उनके अपराधों का दंड तत्काल और कठोरता से मिलना चाहिए।"

"तुम तो बड़े विचारक हो बल्लव ! मैं तो तुम्हें रसोइया ही समझता रहा।" राजा हँसे, "इसका अर्थ है कि तुम शाक और पक्वान्न के साथ ही नहीं, मनुष्यों के साथ भी न्याय कर सकते हो।"

"वह सब मैं नहीं जानता महाराज !" बल्लव नम्रता से बोला, "मैं तो साधारण जनों में रहता हूँ, इसलिए उनके मन की बात जानता हूँ। सामान्यतः राजा को केवल अपने राज्य की चिंता होती है, किंतु साधारण जन को संसार में कहीं भी होता हुआ अन्याय चुभता है। उसका तादात्म्य किसी से भी हो सकता है, क्योंकि उसे किसी राजा से कुछ लेना-देना नहीं है। उसका स्वार्थ, न्याय के मार्ग में आड़े नहीं आता। वह तो बस सत्य, न्याय तथा धर्म की जय देख

कर ही प्रसन्न हो जाता है। जैसे आज विराटनगर में प्रत्येक नागरिक प्रसन्न है। कीचक तथा उपकीचकों की मृत्यु से महारानी की सैरंध्री ही सुरक्षित नहीं हो गई है, मत्स्यदेश की प्रत्येक स्त्री स्वयं को सुरक्षित मानने लगी है।"

"तुम ठीक कह रहे हो बल्लव !" राजा धीरे से बोले, "किंतु क्या प्रजा यह नहीं कहती कि राजा ने उपकीचकों को सैरंध्री को जीवित जला देने की अनुमति दे कर अन्याय किया ?"

"नहीं महाराज ! प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि राजा असहाय थे।" बल्लव ने उत्तर दिया, "वे समझते हैं कि राजा ने अपनी इच्छा और न्याय बुद्धि के विरुद्ध यह अनुमति दी थी। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि आज से राजा स्वतंत्र हो गए हैं।"

"कहते तो वे ठीक ही हैं; किंतु जिन त्रिगर्तो से कीचक विराटनगर की रक्षा करता था, वे त्रिगर्त अब हमें स्वतंत्र रहने देंगे, तब न !" राजा का मन प्रसन्न नहीं था।

"संसार में कोई किसी को स्वतंत्र नहीं रहने देता महाराज !" बल्लव बोला, "स्वतंत्रता तो अपने साहस, आत्मबल और बलिदान से प्राप्त की जाती है और निरंतर तपस्या से उसकी रक्षा की जाती है। स्वतंत्र तो वही रह सकता है, जो दासता और मृत्यु में से मृत्यु का वरण करता है, दासता का नहीं।"

"वाह !" राजकुमारी उत्तरा बोली, "तुम तो बहुत ही तेजस्वी हो बल्लव ! तुम पाकशालाध्यक्ष कहाँ से बन गए, तुम्हें तो कहीं सेनापति, राजा अथवा राजगुरु होना चाहिए था।"

"राजकुमारी बडी दयालु हैं।" बल्लव हँसा, "पर मैं तो सामान्य और साधारण जन के मन की बात कह रहा था। राजा हो गया होता, तो साधारण जन के मन की बात कैसे जान पाता।" वह रुका, "आप शाक और लेंगी ?"

उत्तरा फिर हँस पड़ी, "तुम बड़े चतुर हो बल्लव ! बातों में भुलाकर सदा ही आवश्यकता से अधिक भोजन करा देते हो। उधर मेरी गुरु बृहन्नला सदा से सम्यक और सीमित भोजन के पक्ष में हैं। वे कहती हैं कि आवश्यकता से अधिक भोजन साधना का शत्रु है। उससे तमोगुण की वृद्धि होती है।"

"नपुंसकों की बात छोड़ें राजकुमारी ! मैं तो पुरुषों के समान खाने के पक्ष में हूँ।"

"तुम अपने स्थान पर ठीक हो सकते हो बल्लव ! किंतु बृहन्नला को एक साधारण नपुंसक मान कर उनकी उपेक्षा नहीं कर देनी चाहिए।" उत्तरा बोली, "न जाने अपने किस पाप के कारण उन्होंने यह शरीर पाया है। वैसे वे महान् कलाकार और साधक तो हैं ही, महान् आत्मा भी हैं। मैंने उन्हें आज तक कभी कोई छिछोरी बात करते नहीं सुना। ऐसी गुरु तो किसी पुण्य के आधार पर

ही मिल सकती हैं।"

"आप निश्चित रूप से उस सैरंध्री से प्रभावित हैं। वह ही बृहन्नला की ऐसी ही प्रशंसा करती फिरती है।"

"तुम तो अंतःपुर के बहुत सारे रहस्य जानते हो बल्लव !" राजकुमार उत्तर बोला, "मैं तो समझता था कि तुम पाकशाला तक ही सीमित रहते हो।"

"बल्लव अपने स्वर को दबा कर हँसा, "कौन पाकशाला तक नहीं जाता राजकुमार और रसोई किस व्यक्ति तक नहीं जाती। ..."

"आपका भोजन हो गया हो महाराज ! तो मैं उठना चाहूँगी।" सहसा सुदेष्णा बोली, "ये बच्चे तो आज बहुत ही वाचाल हो गए दीखते हैं। मुझे कुछ विश्राम की आवश्यकता है।"

"चलो भई उठो।" राजा कुछ हल्के ढंग से बोले, "महारानी आज बहुत थक गई लगती हैं।"

रात्रि को राजा अपने विश्राम कक्ष में आए, तो रानी उनसे पहले ही वहॉ थी। सुदेष्णा अब भी सहज प्रसन्न नहीं थी।

"क्या बात है सुदेष्णे ! क्या तुम्हें लगता है कि तुम्हारे भाई के देहाँत पर और कोई भी दुखी नहीं है ?"

रानी ने तत्काल कुछ नहीं कहा; किंतु वह चुप भी नहीं रही। बोली, "नहीं ! जिस कीचक का मरना सामान्य जन के लिए मुक्तिपर्व जैसा हो, उसके देहांत पर कोई शोक क्यों करे। ..."

"इतना समझती हो तो फिर खिन्न क्यों हो ?"

"आपसे सच कहूँ ?"

"मुझे अपना सत्य नहीं बताओगी, तो फिर किसे बताओगी, सुदेष्णे ! पति से भी निकट पत्नी के लिए और कौन हो सकता है।"

"मैं देख रही हूँ कि मैं खिन्न हूँ। घबराई हुई हूँ। ... पर मुझे लगता है, वस्तुतः मैं डरी हुई हूँ।"

राजा ने रानी को ध्यान से देखा : रानी के चेहरे पर भय ही था। उन्होंने पहले उस ओर ध्यान नहीं दिया था।

"किससे भयभीत हो सुदेष्णे ? मुझसे ??"

"नहीं महाराज !" सुदेष्णा की आँखों में अश्रु ही नहीं आ गए, कंठ में बहुत देर से रोकी हुई सिसकियाँ भी फूट पड़ीं।

राजा ने निकट जाकर पहले रानी के कंधे पर हाथ रखा और फिर उसे अपने वक्ष से लगा लिया। रानी का सारा संयम टूट गया। वह खुल कर रो पड़ी।

थोडी देर में रानी सँभली और बोली, "मैंने अक्षम्य अपराध किया है और अब उसी का दंड पाने से भाग रही हूँ।"

"पहले तो यह बताओ, तुम्हें किसका भय है ?" राजा ने बहुत स्निग्ध स्वर में पूछा।

"सैरंध्री का। उसके रक्षक गंधर्व का। सैरंध्री का पक्ष लेने वाले सामान्य जन का। अपनी प्रजा का।"

"अरे ! अरे !! अरे !!!" राजा हँस पड़े, "इतने सारे लोगों का भय क्यों है तुम्हें ?"

"मैंने जब पहले दिन सैरंध्री को कीचक के भवन में माधवी लाने के लिए भेजा था, तब भी मैं जानती थी कि कीचक के मन में क्या है। सैरंध्री ने मुझसे कहा भी कि मैं किसी और को भेज दूँ, क्योंकि कीचक उसका अपमान करेगा। मैंने उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध कीचक के पास जाने को बाध्य किया ...।"

"वे सब अब अतीत की बातें हैं रानी !" राजा ने उसके कपोल थपथपाए, "उन्हें भूल जाओ।"

"मैं तो भूल जाऊँ; किंतु न तो सैरंध्री इसको भूलेगी, न उसका रक्षक वह गंधर्व। मुझे लगता है कि वह किसी भी क्षण कहीं भी प्रकट हो कर मेरी हत्या कर देगा।"

"और मुझे लगता है कि उसे तुम्हारी हत्या करनी होती तो वह अब तक कर चुका होता।" राजा बोले, "वह सैरंध्री के अपमान के लिए तुम्हें दोषी मानता तो जिस दिन सैरंध्री का अपमान हुआ, उसी रात को वह तुम्हारा वध कर देता।" राजा रुके, "मुझे तो लगता है रानी ! उसने तुम्हें और मुझे क्षमा कर दिया है। उसने मान लिया है कि कीचक की शक्ति के सम्मुख हम असहाय थे। क्या तुमने कीचक के भय से ही सैरंध्री को उसके पास जाने को बाध्य नहीं किया ?"

"भय तो था मेरे मन में महाराज ! कीचक का भय भी था।" रानी ने बहुत धीरे से कहा, "किंतु भय आपका भी था। सैरंध्री का भी था।"

"मेरा भय ?" राजा चकित थे।

"हाँ महाराज ! मुझे लगता था कि सैरंध्री मुझसे इतनी सुंदर है कि किसी भी क्षण आप मेरा त्याग कर उसका हाथ थाम लेंगे।" रानी का कंठ अवरुद्ध हो गया, "इसलिए मैंने चाहा कि वह कीचक के अधीन रहे। न वह यहाँ से जाए और न आप उसे प्राप्त कर सकें।"

राजा स्तब्ध रह गए। कैसा कलुषित भय था रानी के मन में। पति पर तो विश्वास था ही नहीं। ... पर ईश्वर पर तो विश्वास किया होता। एक पतिपरायणा सती नारी का सतीत्व नष्ट करवाना चाहती थी रानी ... ताकि उसका पति उसकी ओर आकृष्ट न हो सके ...राजा को लगा, उन्होंने अपनी इस रानी

को कभी नहीं पहचाना। उन्होंने उसे जितना भी जाना, कम जाना। उन्होंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि कोई नारी किसी भी अन्य नारी के शीलभंग में सहायक हो सकती है; और यहाँ उनके अपने घर में उनकी अपनी पत्नी ने अपने भाई की सहायता से सैरंध्री जैसी नारी का सतीत्व भंग करवाने का प्रयत्न किया। ... सैरंध्री, जो अपने रूप के आकर्षण से जिस दिन चाहे किसी भी राजा की महारानी बन सकती है; किंतु वह सैरंध्री का कार्य कर रही है। ऐसी सती नारी के साथ इस प्रकार का छल।

"रानी ! कुछ तो ईश्वर का भय रखा होता ..." राजा के मुख से अनायास निकला।

"हाँ महाराज ! यही तो सोच रही हूँ कि मैं आपसे डरती रही, कीचक से डरती रही, सैरंध्री से डरती रही; किंतु उससे नहीं डरी, जिससे डरना चाहिए था। ... न अधर्म से डरी, न अन्याय से, न पाप से डरी न अपराध से। डरना मुझे अपने मन से चाहिए था और मैं जिस तिस से डरती रही...।"

"तुमने इस विषय में सैरंध्री से कोई चर्चा की है ?" अंततः राजा ने पूछा।

"नहीं।" रानी बोली, "मैंने तो उसे बुलाया भी नहीं था; किंतु वह अपने समय से काम पर आ गई थी। मैंने उससे अपना प्रसाधन नहीं करवाया। बहुत हुआ, अब उसे सैरंध्री के समान आज्ञाएँ देने का साहस मुझमें नहीं है।"

राजा सोच रहे थे ... और उस सैरंध्री को देखो, जिससे सारा मत्स्य देश काँप रहा है, वह अब भी रानी के केश सँवारने समय से पहुँच जाती है ...

55

एक लंबे अंतराल के पश्चात् आज विराटनगर की राजसभा अपनी संपूर्णता मे जुटी थी। राजा, रानी, युवराज, अन्य राजकुमार, मंत्री तथा महत्त्वपूर्ण अधिकारी एकत्रित थे। विराट के मन में बार-बार आ रहा था कि वे घोषणा करें कि विराटनगर और उसके राजा, अब आततायियों से मुक्त हो गए हैं। अब विराटनगर का प्रशासन, प्रजा के कल्याण के लिए काम करेगा। प्रजा, वस्तुतः संतान होगी और राजा, एक वास्तविक पिता के समान उनका पालन करेंगे। ...

पर यह सब कहने का अर्थ था कि यह भी स्वीकार कर लिया जाए कि अब तक वास्तविक सत्ता राजा के हाथ में नहीं थी। वे राजा दिखाई तो देते थे; किंतु उनकी स्थिति एक काष्ठ पुत्तलिका से अधिक नहीं थी। ... आज अपने इस विजय पर्व में अपनी पराजय की गाथा को स्मरण करना, राजा को शोभनीय

नहीं लग रहा था।

सभा आरंभ हुई। राजा ने घोषणा की, "राजपुरोहित,मंत्री, सभासद तथा प्रजाजन सुनें। मैं आज अपने ज्येष्ठ पुत्र, श्वेत को मत्स्यदेश का युवराज नियुक्त कर रहा हूँ।"

सभा भवन में तालियाँ गूँजीं। किसी भी ओर से आपत्ति तो क्या अनुत्साह का भी प्रमाण नहीं मिला।

"मैं अपने छोटे भाई शतानीक को, राज्य की सेना का सेनापति नियुक्त करता हूँ।"

पुनः तालियों की गड़गडाहट ने भवन को गुंजित कर दिया।

किंतु राजा की तीसरी घोषणा से पूर्व ही द्वारपाल ने आकर राजा को प्रणाम किया, "महाराज ! आपके गोवंश का पालक गोप आनन्दस्वरूप आपके दर्शनों के लिए खड़ा है और त्राहि-त्राहि कर रहा है। वह कहता है कि सूचना इतनी महत्त्वपूर्ण है कि तत्काल महाराज तक नहीं पहुँचाई गई, तो अनर्थ हो जाएगा।"

राजा को आश्चर्य तो हुआ कि ऐसी क्या सूचना हो सकती है; किंतु उन्होंने विलंब करना उचित नहीं समझा।

"आने दो।" उन्होंने कहा।

आनन्दस्वरूप को राजा ने देखा। उसकी वेशभूषा किसी उत्सव के अनुकूल थी। उसने कानों में बडे-बड़े कुंडल तथा भुजाओं पर अंगद धारण कर रखे थे; किंतु वह सहज और शांत नहीं था। लगता था कि वह बहुत शीघ्रता में आया था और बहुत व्याकुल था। संभवतः गोशाला से यहाँ तक वह अपना रथ दौड़ाता ही लाया था।

तंतिपाल भी चौंका। आनन्दस्वरूप का इस समय यहाँ होने का क्या अर्थ ? अनेक गोशालाएँ उसकी देख-रेख में थीं। तंतिपाल की अनुपस्थिति में वह उन सबको छोड़ कर यहाँ कैसे चला आया ?

आनन्दस्वरूप राजा को प्रणाम कर खड़ा हो गया।

"कहो गोप आनन्दस्वरूप !" राजा ने कहा, "क्या समाचार लाए हो।"

"महाराज ! अनर्थ हो गया।" गोप का स्वर रुदन मिश्रित था, "त्रिगर्तो की सेना ने आज उषाकाल में, आपकी गोशाला पर आक्रमण कर दिया। हम ने उन्हें रोकने का बहुत प्रयत्न किया। हमारे पास जितने शस्त्र थे, हमने उनका भी प्रयोग किया, किंतु हम किसी सेना से युद्ध कर सकने योग्य योद्धा तो हैं नहीं। वे युद्ध मे हमें जीत कर; और भाई बंधुओं सहित हमारा तिरस्कार कर, आपका सारा गोधन हाँक कर ले गए। आपका दक्षिण गोष्ठ, गोधन से सर्वथा शून्य हो गया है। अपना गोधन लौटा लाने का तत्काल कोई उपाय करे महाराज !"

"तुम्हारा अध्यक्ष तंतिपाल कहाँ है ?" राजा ने कहा, और फिर उनकी दृष्टि सभा में बैठे तंतिपाल पर जा पड़ी। तंतिपाल तो संभवतः रात्रि को ही गोशाला क्षेत्र से चल पड़ा होगा।

तंतिपाल ने अपने स्थान पर खड़े हो कर राजा को प्रणाम किया, "जब मैं वहाँ से चला था महाराज ! तव तक तो किसी सेना के आने का कोई लक्षण नहीं था; अन्यथा शायद मै आपकी सेवा में उपस्थित नहीं हो सकता। इस समय मैं त्रिगर्तों की सेना से युद्ध कर रहा होता।"

"ठीक है।" राजा आनन्दस्वरूप की ओर मुड़े, "तुम कैसे जानते हो कि वे त्रिगर्त ही हैं।"

"उन लोगों ने स्वयं भी बताया है; और राजा सुशर्मा को मैं पहचानता भी हूँ महाराज !" गोप ने उत्तर दिया।

"क्या सुशर्मा स्वयं सेना के साथ आया है ?"

"हाँ महाराज !" आनन्दस्वरूप बोला, "उसने मुझसे कहा है, जाओ अपने राजा को सूचित कर दो कि अब त्रिगर्त उन सारे अत्याचारों का प्रतिशोध लेंगे, जो मत्स्यों ने आज तक त्रिगर्तो पर किए हैं।"

राजा ने शतानीक की ओर देखा, "देखो शतानीक तुम्हारे सेनापति बनते ही युद्ध स्वयं हमारे द्वार पर आ गया है। वैसे मैं जानता था कि कीचक की मृत्यु का पहला प्रभाव यही होगा। अब सुशर्मा को हम से भयभीत रहने का कोई कारण नहीं है।"

"वे लोग हमारे गोधन को किस ओर हाँक कर ले गए हैं ?" राजा ने पूछा।

"वे अपने राज्य की सीमा की ओर जाते देखे गए थे।" गोप ने बताया।

"अच्छा अब तुम जाओ। विश्राम करो। हम देख लेंगे।"

कंक ने तंतिपाल की ओर देखा...बल्लव और ग्रंथिक भी वहीं थे। उनके नेत्र भी अपने भाइयों से मिले।

"मेरा विचार है कि कीचक की मृत्यु की सूचना से दुर्योधन को यह अनुमान हो गया है कि हम कहाँ हो सकते हैं। उसी ने सुशर्मा को भेजा होगा।" बल्लव ने धीरे से अपने निकट बैठे कंक से कहा।

"यह भी संभव है कि सुशर्मा, विराट से अपना प्रतिशोध लेने आया हो; और यह भी संभव है कि उसे दुर्योधन ने भेजा हो।" कंक बोले, "जो भी हो। हमें विराट की सहायता करनी है। मेरे गणित से आज अज्ञातवास की अवधि समाप्त हो रही है। यदि हमारा रहस्य खुल भी गया तो हमारी कोई हानि नहीं होगी। वैसे अच्छा यही है कि अभी विराट को हमारी वास्तविकता ज्ञात न ही हो। उसे यह युद्ध कर लेने दो।"

"हम सब जाएँगे ?" बल्लव ने पूछा, "कृष्णा की रक्षा ..."

"बृहन्नला है न !" कंक ने कहा।

"आर्य कंक !" सहसा राजा ने कंक को संबोधित किया, "देखा आप ने ! ये लोग स्वयं को राजा कहते है। अपने मन पर तो शासन कर नहीं पाते, और प्रजा पर शासन करना चाहते हैं। जब लुटेरे और दस्यु लोग सत्ता के केन्द्र में आ जाएँ, तो कौन सुरक्षित रहेगा इस संसार में ?"

"महाराज ! सत्ता हाथ में आ जाए तो दस्यु-कर्म सरल हो जाता है।" कंक ने कहा, "वे तो प्रयत्न करेंगे ही कि वे दस्यु के समान सबका धन लूट भी लें और राजा और सम्राट् का सम्मान और अधिकार भी पाएँ..."

"पर राजा की मर्यादा भी तो कुछ होनी चाहिए। चरित्र चोरों तथा लुटेरों का; और पद राजा का। संसार ऐसे तो नहीं चल सकता।" राजा जैसे अपने आपसे बाते कर रहे थे।

"आप ठीक कह रहे हैं। पहले यह स्थिति कीचक के कारण थी, अब वही सुशर्मा के कारण हो गई है। ये लोग प्रजापालन के इतिहास में दुर्घटनाएँ हैं महाराज ! राजनीति के आकाश के धूमकेतु। स्थायी नहीं रहेंगे।" कंक ने कहा, "ऐसे ही लोगों के कारण आवश्यक हो जाता है कि आप जैसे न्यायी लोग सत्ता पर अपनी पकड़ दृढ करें। जब देवचरित लोग शासन नहीं कर पाते, तो राक्षसों का राज्य होने लगता है।"

"आपका क्या विचार है, इन परिस्थितियों में हमें क्या करना चाहिए ?"

"करना क्या है महाराज ! अपने गोवंश को तो लौटाना ही होगा।"

"कह तो आप ठीक रहे हैं; किंतु ये साधारण लुटेरे नहीं हैं। यह त्रिगर्तो की नियमित और सुशिक्षित सेना है और सुशर्मा उनका नेतृत्व कर रहा है।" विराट बोले, "युद्ध में हम पराजित हो गए, तो फिर सब कुछ समाप्त हो जाएगा। गोधन तो गया, राज्य भी जाएगा।"

बल्लव ने राजा विराट की ऑखों में भय के लक्षण देखे थे। वह कोई चुभती सी बात कहना चाहता था; किंतु कंक की उपस्थिति में वह संभव नहीं था।

"महाराज ! आज यदि आप अपनी गौवों की रक्षा नहीं करेंगे, तो कल वे आपके परिवार की स्त्रियों को हाँक कर ले जाएँगे; और परसों आप भी उनके बंदी के रूप में उनके रथों के साथ घिसटते दिखाई देंगे।" कंक ने धीरे-से कहा, "आप क्या समझते हैं कि वे केवल आपका गोधन ले गए हैं। यह किसी के राज्य को अंशो में हड़पने की पद्धति है। मेरा निश्चित मत है कि आज उन्होंने आपके गोशाला क्षेत्र पर आक्रमण किया है, कल वे आपके गोष्ठों पर भी आक्रमण करेंगे। राजनीति में युद्ध की उपेक्षा नहीं हो सकती। रजोगुण राजनीति का अनिवार्य तत्त्व है। राजा न चाहे तो भी उसे लड़ना ही पडता है।"

बल्लव मन ही मन मुस्कराया : यह सब कंक कह रहे थे, तो उसके पीछे उनके मन में अपनी परिस्थितियाँ भी होंगी ही। वे कभी भी युद्ध के पक्ष में नहीं रहे; किंतु आज वे युद्ध की आवश्यकता स्वीकार कर रहे हैं, चाहे आपद्धर्म के रूप में ही सही। उनके मन में है कि वनवास और अज्ञातवास का काल समाप्त हो गया है। पता नहीं दुर्योधन अब भी उनका राज्य लौटाएगा अथवा नहीं। और यदि वह उनका राज्य नहीं लौटाता है, तो युद्ध तो उनको भी करना ही पड़ेगा।...राजा न भी चाहे तो उसे लड़ना पड़ता है। ...

शतानीक ने राजा को द्वन्द्व में देखा तो बोला, "मेरा मन तो यह कहता है महाराज ! कि इस युद्ध को गोरक्षा तक ही सीमित न रखा जाए। इसे त्रिगर्तों के साथ निर्णायक युद्ध मान कर ही चलिए, ताकि त्रिगर्त इसके पश्चात्, फिर हम पर आक्रमण करने का साहस न कर सकें।"

"बातें तो बहुत साहस की कर रहे हो शतानीक ! पर सुशर्मा की शक्ति से परिचित भी हो ? वह रथियों का स्वामी कहलाता है। अच्छा, ठीक है !" राजा ने परिस्थिति की अनिवार्यता को देखते हुए उत्तर दिया, "सेना तैयार करो।" और जैसे तत्काल ही राजा को कुछ स्मरण हो आया, "ग्रंथिक ! हमारे रथों और अश्वों की क्या स्थिति है ?"

"चिंता की कोई बात नहीं है महाराज !" ग्रंथिक बोला, "हमारे अश्व संसार के सबसे गतिशील अश्व सिद्ध होंगे। त्रिगर्तों के पास उस गति से दौडने वाले अश्व नहीं हैं; और वैसे भी वे लोग गौवों के साथ जा रहे हैं, तो निश्चित रूप से उनकी गति एक सेना के समान त्वरित तो हो ही नहीं सकती।"

"तो ग्रंथिक ! तुम सारे रथों को तैयार करवाओ।" फिर राजा ने जैसे स्वयं से कहा, "पर हम सब चले जाएँगे, तो पीछे नगर की रक्षा कौन करेगा ?" वे कंक की ओर मुड़े, "मेरा विचार है कंक ! कि सेनापति और युवराज सेना को ले कर जाएँ। मैं विराटनगर की रक्षा के लिए यहीं रहूँगा। तुम मेरे परामर्श के लिए मेरे साथ रह सकते हो।"

राजा ने यह बात कुछ इतने अनगढ़ ढंग से कही थी कि कोई भी समझ सकता था कि उनका मन भयभीत है।

"सेनापति और युवराज तो जाएँगे ही।" सहसा रानी सुदेष्णा ने कहा, "नगर की रक्षा के लिए आप कुमार उत्तर को छोड़ जाइए। वह पीछे सब कुछ सँभाल लेगा।"

रानी के मन की बात पर्याप्त स्पष्ट थी। वह उत्तर को युद्ध में भेजना नहीं चाहती थी; किंतु राजा को रुकने के लिए उसने नहीं कहा था। क्या वह चाहती थी कि राजा तो युद्ध में जाएँ, किंतु उत्तर न जाए।

"हाँ ! यह ठीक रहेगा। पिता जी आप नगररक्षा की चिंता न करें। वह

सब मै देख लूँगा।" उत्तर तत्काल बोला, "त्रिगर्त आएँ, अथवा उनके कोई और शक्तिशाली मित्र। मुझे किसी का भय नहीं है। बस मेरे लिए एक रथ और कुछ शस्त्र छोड़ जाइएगा।"

"उत्तर ठीक कह रहा है महाराज ! वह नगर की रक्षा कर लेगा।" रानी ने कहा, "और आप लोग कोई बहुत दूर तो जा नहीं रहे। राज्य की सीमा तक ही तो जा रहे हैं। दो-तीन दिनों में लौट आएँगे।"

राजा कुछ नहीं बोले; किंतु उनका चेहरा कह रहा था कि यह सब उनको अच्छा नहीं लग रहा था।

"महाराज !" सहसा कंक ने कहा, "यह आक्रमण बहुत आकस्मिक है। आपकी सेना तैयार नहीं है। आपका सेनापति तथा उसके सहायक भी मारे गए है। मुझे लगता है कि आपके पास पर्याप्त योद्धा नहीं हैं। मैं अपनी क्षमता के अनुसार आपकी सेवा करना चाहता हूँ। आपने हमारा पालन किया है। संकट की हर घड़ी में आपके साथ रहना हमारा धर्म है। युद्ध में मै भी आपके साथ चलूँगा।"

राजा ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा, "तुम तो ब्राह्मण हो कंक ! तुमने कभी युद्ध किया है ?"

"ब्राह्मण तो परशुराम और द्रोणाचार्य भी हैं महाराज ! मैंने भी योग्य गुरु से शस्त्रों की शिक्षा प्राप्त की है। आप निश्चिंत रहें।" कंक ने कहा, "और आपके मन में कीचक के न रहने पर किसी प्रकार का कोई संभ्रम हो तो आप इस बल्लव पर भरोसा कर सकते हैं।"

राजा ने चकित भाव से बल्लव की ओर देखा। उसके शरीर को देख कर अनेक बार उनके मन में कई प्रकार की आशंकाओं, संभावनाओं तथा योजनाओं ने जन्म लिया था। पर उन्होंने प्रत्येक बार यह सोच कर टाल दिया था कि यदि उसमें किसी भी प्रकार का युद्ध-कौशल होता तो वह अब तक भाड़ ही क्यो झोंक रहा होता ? कीचक की उस विचित्र मृत्यु के पश्चात् भी उनके मन में बल्लव का विचार आया था। राजसभा में जब कीचक ने सैरंध्री का अपमान किया था, तो इस बल्लव ने ही तो उसे उठा कर फेंक दिया था। ... पर उस समय शायद वे इतने विचलित और भयभीत थे कि उन्होंने इस विषय में अधिक सोचना ही नहीं चाहा। जो व्यक्ति दिन-रात पाकशाला में घुसा रहे, भोजन पकाने और खाने की चर्चा करने से कभी ऊबता ही न हो, और जिसके हाथों में सदा करछुल और कड़ाही ही रहे, वे उसकी कल्पना एक योद्धा के रूप में कैसे करते। ... पर अब कंक कह रहा है, तो ठीक ही कह रहा होगा। ...

"तुम कीचक के स्थानापन्न के रूप में बल्लव का नाम ले रहे हो ? कीचक विकट योद्धा था। उसके भय से ही यह सुशर्मा कभी मत्स्यों की ओर देखने

का साहस नहीं कर सका था।" राजा ने कहा।

"हाँ महाराज ! बल्लव आपको कीचक का अभाव अनुभव नहीं होने देगा। वह बहुत योग्य अंगरक्षक है। आपके समीप रहेगा, तो शत्रु निकट भी नहीं फटक सकेगा।"

बल्लव वीर था या नहीं, किंतु राजा देख रहे थे कि वह बलिष्ठ था। वह अपनी शारीरिक क्षमता से भी बहुत कुछ कर सकता था।

"ठीक है। तुम्हारे तथा बल्लव के लिए भी रथ की व्यवस्था कर दी जाएगी।" विराट ने कहा, "किंतु शस्त्र हैं तुम्हारे पास ?"

बल्लव, तंतिपाल और ग्रंथिक ने कंक की ओर देखा।

"नहीं। शस्त्र तो नहीं हैं। पहले से युद्ध की संभावना के विषय में सोचा होता, तो हम अपने लिए शस्त्रों की व्यवस्था कर लेते।" कंक ने कहा, "यह सब तो इतना आकस्मिक है कि अब आपको ही हमारे लिए शस्त्रों की व्यवस्था भी करनी पड़ेगी।"

"किस शस्त्र का अभ्यास है तुम्हें ?" राजा ने पूछा।

"आप मुझे, तंतिपाल तथा ग्रंथिक को धनुष बाण और खड्ग दे दें।" कंक ने उत्तर दिया, "बल्लव को चाहें तो धनुषबाण और गदा दे दें।"

"तंतिपाल और ग्रंथिक भी युद्ध करेंगे ?" विराट ने कुछ चकित हो कर पूछा।

"क्यों ! तंतिपाल सभा में न आया होता, तो सबसे पहले त्रिगर्तो से उसे ही लड़ना पड़ता।" कंक ने उत्तर दिया, "और ग्रंथिक का तो काम ही अश्वों और रथों का है। आपने कहीं ऐसा सूत भी देखा है, जो युद्ध में सम्मिलित न होता हो ?"

सहसा विराट बाले, "कंक ! तुम इन सबकी ओर से इतने विश्वासपूर्वक कैसे बोल रहे हो ?"

"महाराज ! हम सब महाराज युधिष्ठिर की सेवा में थे ... वहीं एक-दूसरे के विषय में जानने का अवसर मिला।"

"ओह हाँ !" राजा ने आगे सुनना आवश्यक नहीं समझा, "ठीक है। शस्त्रागार से अपनी इच्छानुसार शस्त्र भी ले लो।"

विराटनगर की सेना विदा हो गई। नगररक्षकों तथा अंगरक्षकों की कुछ टोलियाँ ही पीछे रह गई थीं। ... वे टोलियाँ ही थीं, उन्हें वाहिनियाँ तो कहा ही नहीं जा सकता था। रानी प्रसन्न थी कि उसने चाहे किसी भी व्याज से हो, किंतु राजकुमार उत्तर को नगर में रोक लिया था। उत्तर अभी इतना बड़ा और समझदार

नहीं हुआ था कि वह उसे त्रिगर्तो से युद्ध करने के लिए भेज देती। वैसे भी वह युद्ध मे अपने दोनों पुत्रों को एक साथ भेजना नहीं चाहती थी।...पर उत्तर को उसने किसकी रक्षा के लिए रोका था ? उत्तर की रक्षा के लिए, अथवा स्वयं अपनी रक्षा के लिए ?...वह भी चला जाता तो पीछे रानी तथा अंतःपुर की रक्षा कौन करता ?... और रानी को प्रत्येक क्षण अपनी रक्षा की चिंता रहती थी, अपने लिए रक्षकों की आवश्यकता का अनुभव होता था। कैसे न होता ... उसके अपने प्रासाद मे, उसके नयनों के सम्मुख सैरंध्री आज भी स्वच्छंद घूम रही थी। उसका रक्षक, वह अदृश्य गंधर्व भी उसके निकट ही यहीं आस-पास कहीं होगा। वह किसी को दिखाई तो देता ही नहीं, जिस क्षण चाहे, किसी की भी ग्रीवा मरोड़ सकता है, किसी का भी कंठ दबा सकता है। ...

रात हो गई थी और राजा की ओर से कोई समाचार नहीं आया था। भोजन के समय रानी को स्मरण आया कि राजा और राजकुमार तो नहीं ही थे, प्रासाद में बल्लव भी उपस्थित नहीं था। वह होता तो रानी कुछ आश्वस्त रहती। वैसे तो वह रसोइया ही था; किंतु उसका शरीर बलिष्ठ था। संभवतः आवश्यकता होने पर वह उस अदृश्य गंधर्व को भी रोक सकता था।

"उत्तर, आज रात तुम मेरे ही मंडप में सोना पुत्र !" रानी ने कहा, "तुम्हारे पिता और भाई यहाँ नहीं हैं। किसी भी समय किसी भी प्रकार का समाचार आ सकता है। मैं चाहती हूँ कि आज हम सब एक साथ ही रहें। तुम मेरी आँखों के सामने ही रहो। जिस भी समय आवश्यकता हो, मैं तुम्हें जगा सकूँ। जब इच्छा हो तुम्हें देख सकूँ। ..."

उत्तर हँसा, "मैं समझ नहीं पा रहा माँ ! कि आप मेरी रक्षा करना चाहती हैं अथवा चाहती हैं कि मै आपकी रक्षा करूँ।"

"इसमें न तो माँ का अपने पुत्र के प्रति मोह अस्वाभाविक है और न पुत्र द्वारा अपनी माँ की रक्षा करना।" रानी ने कठोर स्वर में कहा, "ये सब तुम्हारे परिहास का विषय नहीं है। तुम केवल मेरी आज्ञा का पालन करोगे।"

उत्तर को उसमें कोई आपत्ति नहीं थी। राजकुमारियों, दासियों और परिचारिकाओं के मध्य घिरे रहना उसे कभी भी अप्रिय नहीं लगा था।

रात प्रायः व्यतीत होने को थी; किंतु राजा की ओर से अब भी कोई समाचार नहीं आया था। पता नहीं वे त्रिगर्तो को पकड नहीं पाए, युद्ध लंबा खिंच गया, अथवा विजय हाथ नहीं लगी। रानी के मन में ढेर सारी दुष्कल्पनाएँ थीं। ...

इधर कुछ वर्षों से सारे युद्ध तो कीचक के नेतृत्व में ही हो रहे थे। राजा को युद्ध का अभ्यास नहीं रह गया था और कदाचित् उनमें योद्धा होने की अधिक क्षमता भी नहीं थी। ... कीचक के आक्रमणों के कारण त्रिगर्त मत्स्यों से रुष्ट भी बहुत थे। ऐसे में यदि मत्स्यों की सेना पराजित हुई, तो वह पराजय मत्स्यों को बहुत महँगी पडेगी। ... राजा के साथ युवराज श्वेत तो गया ही था, सुदेष्णा का अपना पुत्र शंख भी गया था... भगवान उनकी रक्षा करना ...

पर रानी यह सब क्या सोच रही है ? ... मत्स्य पराजित हो गए होते तो त्रिगर्त अब तक विराटनगर में प्रवेश कर चुके होते। ऐसे मे अपने अतःपुर में बैठी रानी सुदेष्णा तथा उसका पुत्र उत्तर ...पुत्री उत्तरा ... कोई भी तो सुरक्षित नहीं था। ... यदि दुर्दैव से सुशर्मा विजयी के रूप मे उनके प्रासाद में प्रविष्ट हुआ तो वह कुछ भी कर सकता था। उससे, मत्स्यराज के परिवार के लिए, दया अथवा करुणा की अपेक्षा करना व्यर्थ था।

रात निर्विघ्न व्यतीत हो गई। कहीं से कोई भी शुभ अथवा अशुभ समाचार नहीं आया। प्रातः उठ कर स्नान के पश्चात् रानी साधना कक्ष में आ बैठी। बहुत देर तक ध्यान करने का प्रयत्न किया, किंतु ध्यान लगा ही नहीं। बहुत प्रयत्न कर लेने पर भी जब सफलता नहीं मिली, तो जप करने बैठ गई। उसे लगा, ऐसी व्याकुल मनःस्थिति में जप ही उत्तम है। हठपूर्वक ध्यान नहीं हो सकता किंतु हठपूर्वक जप हो सकता है। वह बड़ी देर तक जप करती रही।

साधना कक्ष से निकल कर रानी ने उत्तर को ढूँढा। वह राजकुमारियों, दासियों और परिचारिकाओं में घिरा बैठा था और बहुत प्रसन्न था, जैसे किसी खिलंदडे बच्चे को बहुत सारे खिलौने एक साथ मिल गए हों। वे सब भी उसके साथ ऐसे ठिठोली कर रही थीं, जैसे वह उनका राजकुमार न हो, थोडी देर के लिए आया, विनोदी स्वभाव का कोई प्राघुण हो। राजकुमार इतना प्रसन्न था कि उसे देख कर लगता ही नहीं था कि उसके राज्य को कहीं से किसी भी प्रकार के संकट का सामना करना पड़ रहा है, अथवा मत्स्यदेश पर किसी अन्य राजा ने आक्रमण किया है, अथवा उसके परिवार के इतने सारे लोग युद्ध के लिए गए हैं, और वहाँ किसी के प्राणों पर कोई संकट है। ... उसे किसी अशुभ समाचार की आशंका है अथवा वह किसी शुभ समाचार की प्रतीक्षा में है। वह तो सब कुछ भूल कर परम आनन्द की स्थिति मे था। ऐसा लग रहा था कि वे सब लोग किसी मांगलिक उत्सव के अवसर पर एकत्रित हुए हैं। उसके भाई और पिता युद्ध के लिए नहीं गए, बरात ले कर वधू की डोली लेने गए हैं। ये लोग जैसे उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रहे है; और अपने अवकाश के क्षण हास-परिहास में व्यतीत कर रहे हैं। पर बात केवल इतनी ही नहीं थी। आज उत्तर कुछ अतिरिक्त उत्साही और वाचाल लग रहा था। ... *क्या था यह ?*

केवल नारी सान्निध्य ? नहीं ! उसकी दृष्टि बार-बार कीचक की पुत्री सुचरिता तथा उस नई परिचारिका शुभांगना पर पड रही थी। वे भी तो लपक-लपक कर किसी न किसी व्याज से उस पर गिरी पड़ रही थीं। क्या उत्तर का यह वाचाल रूप इन्हीं दोनों की उपस्थिति के कारण था ? ...

उस आनन्द महोत्सव के विघ्नस्वरूप, एक परिचारिका दौड़ी हुई आई, "राजकुमार की जय हो। एक गोष्ठाध्यक्ष, आपके सीमांत गोष्ठों से कोई गंभीर समाचार लाया है।"

"अब क्या समाचार लाया है। जो समाचार आना था, वह तो आ चुका।" उत्तर बोला, "उस संकट के निवारण के लिए हमारी सेना जा चुकी। स्वयं महाराज सेना ले कर गए हैं। वह अब और क्या चाहता है।"

"राजकुमार आप उसकी बात तो सुन लीजिए।" शुभांगना के स्वर में अनुरोध की मात्रा कुछ अधिक ही थी।

"अब उसके लिए मैं उठ कर सभाभवन में जाऊँ। यहाँ की सारी चर्चा अधूरी छोड जाऊँ।" उत्तर ने आपत्ति तो की, किंतु उसके वाक्य की ध्वनि कह रही थी कि वह उसकी बात मान जाएगा।

"वह द्वार पर खडा है। मैं उसे यहीं बुला देती हूँ।" सूचना लाने वाली परिचारिका ने कहा।

"जाओ, उसे बुला लाओ।" सहसा रानी ने कहा।

तब उत्तर ने देखा कि उसकी माता वहाँ खड़ी थीं, उन्होंने गोष्ठाध्यक्ष को बुला लाने का आदेश दे दिया था; और उसे अपनी माता की इच्छा से गोष्ठाध्यक्ष की बात सुननी थी। उसने बाध्यता की सी मुद्रा बनाई और औपचारिक राजसी भंगिमा में बैठ गया।

गोष्ठाध्यक्ष अत्यंत व्याकुल स्थिति में उसके सम्मुख उपस्थित हुआ। कोई भी देख सकता था कि वह असाधारण रूप से उत्तेजित था। उसने प्रणाम किया और बोला, "राजकुमार ! आप यहाँ बैठे है, और वहाँ वे आपका सारा गोधन हाँके लिए जा रहे हैं। उन्होंने गोष्ठों में आग लगा दी है। वहाँ हाहाकार मचा है। जिसने भी उन्हें रोकने का प्रयत्न किया, वही मारा गया। ..."

"चुप !" उत्तर ने उसे डाँटा, "समाचार ले कर चला था तो समय से यहाँ क्यों नहीं पहुँचा ? मार्ग में कहीं सो गया था क्या ?"

"मैं तो कहीं श्वास लेने के लिए भी नहीं रुका," गोपाध्यक्ष बोला, "और आप सोने की बात कह रहे हैं।"

"तो फिर समय से क्यों नहीं पहुँचा ?" उत्तर का स्वर अब भी कठोर था, "यह समाचार तो कल ही विराटनगर में पहुँच गया था। स्वयं महाराज सेना ले कर गए हैं। हम तो उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रहे हैं, और तू अभी गोधन

के हॉके जाने का समाचार ही लाया है। आलसी मूर्ख।"

गोष्ठाध्यक्ष बौराया सा राजकुमार को देखता रहा। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि जिस स्वामीभक्ति के लिए वह किसी पुरस्कार की अपेक्षा कर रहा था, उसके लिए उसे ताड़ना क्यों मिल रही है।

"आप किस सूचना की चर्चा कर रहे हैं राजकुमार !" वह साहस कर बोला, "आक्रमण तो आज प्रातः ब्रह्ममुहूर्त में हुआ है, उसकी सूचना कल ही विराटनगर कैसे पहुँच गई थी ?"

"पुत्र ! तुम्हें कोई भ्रम हो रहा है। इस गोपाध्यक्ष की पूरी बात सुनो।" सुदेष्णा ने पुनः हस्तक्षेप किया।

रानी के हस्तक्षेप से सारा वातावरण बदल गया। जहॉ सब कुछ विनोद के लिए हो रहा था और प्रत्येक व्यक्ति परिहास के लिए, एक-दूसरे पर कटाक्ष कर रहा था, वहाँ अब पूर्ण गंभीरता का राज्य था।

"तुम कहाँ से आए हो ? त्रिगर्तो से लगते सीमांत के गोशाला प्रदेश से ?" उत्तर ने पूछा।

"नहीं राजकुमार ! मैं तो कुरुओं से लगते सीमांत प्रदेश के गोष्ठों का अध्यक्ष हूँ। मैं आपके उत्तर गोष्ठ से आया हूँ।"

"आक्रमण आज प्रातः हुआ है ?"

"हाँ ! राजकुमार !"

"आक्रमण त्रिगर्तो ने किया है ?"

"नहीं राजकुमार ! वे तो कौरव हैं।" गोष्ठाध्यक्ष बोला, "स्वयं दुर्योधन, भीष्म, द्रोण, कर्ण..."

निकट खड़ी सैरंध्री के कान खडे हो गए... दुर्योधन ने मत्स्यराज पर आक्रमण कर दिया है ? क्या वे जान गए हैं कि पांडव यहाँ छिपे हुए हैं ?... पर चिंता की कोई बात नहीं है। उनका अज्ञातवास तो समाप्त हो गया है।... पर धर्मराज यहॉ नहीं हैं। जाने वे कब प्रकट होना चाहते हैं। ... यहाँ तो केवल अर्जुन है। ... उसका गांडीव भी उसके पास नहीं है। दुर्योधन तो अपनी पूरी तैयारी से आया होगा। ...

"तत्काल कोई उपाय कीजिए राजकुमार !" गोष्ठाध्यक्ष कह रहा था, "उन्होंने आपका गोधन तो लूट ही लिया है। मुझे लगता है कि वे राजधानी को भी लूटने के लिए आएँगे।"

उत्तर के चेहरे पर स्पष्ट घबराहट उभरी; किंतु उसने स्वयं को सँभाल लिया। वह इतनी सारी युवतियों के सम्मुख ऐसी कोई बात नहीं कहना चाहता था, जिससे उनकी दृष्टि में उसका सम्मान कुछ कम हो।

"ओह ! इन दुष्टों ने जान बूझ कर वह समय चुना है, जब हमारी सेना

एक अभियान पर गई हुई है। पिता जी, युवराज श्वेत, शंख भैया और सेनापति भी यहाँ नहीं हैं। ..."

"राजकुमार ! इस समय तो सब कुछ आपको ही सँभालना है।" गोष्ठाध्यक्ष ने कहा।

"तो यहाँ कौन इन कौरवों से डरता है। मैं अकेला ही भीष्म, द्रोण, दुर्योधन, कर्ण ...सबको नाकों चने चबवा देता, पर... पर मेरे पास कोई अच्छा सारथि नहीं है... जब से मेरा सारथि युद्ध में मारा गया है, तब से मेरा युद्ध में जाना कठिन हो गया है। जाओ, कोई अच्छा सा सारथि खोज कर लाओ।"

सुदेष्णा से और नहीं सुना गया। वह पल्लू से अपना मुँह दबाए, अपने कक्ष की ओर चली गई। ... उसने उत्तर को नगर में रोक कर अच्छा नहीं किया। वह क्या जानती थी कि उधर त्रिगर्तों से युद्ध होगा; और इधर कौरवों की सेना आ जाएगी। उसने तो उसे युद्धक्षेत्र से बचाए रखने के लिए, नगर में रोक लिया था। वह क्या जानती थी कि वह युद्धक्षेत्र में नहीं जाएगा, तो युद्धक्षेत्र ही उसके पास चला आएगा। अब वह बेचारा इतने सारे महारथियों का सामना कैसे करेगा ?... इससे तो अच्छा था कि वह अपने पिता के साथ ही चला जाता। वहाँ उसके रक्षक तो होते। सहायक तो होते। यहाँ कुछ अंगरक्षकों और परिचारिकाओं की सेना ले कर वह युद्ध करेगा क्या ? ...

सैरंध्री ने देखा कि रानी वहाँ से हट गई है। ... राजकुमार को कोई समाधान नहीं सूझ रहा है, इसलिए वह अपनी वीरता की गाथा गा रहा है। ...

"यह समझ लो कि यदि मैं व्यूह के सम्मुख पहुँच जाऊँ, तो कोई व्यूह, व्यूह नहीं रह जाता, चाहे वह चक्रव्यूह ही क्यों न हो। ..."

सैरंध्री नाट्यशाला में बृहन्नला के पास आई।

"आओ सखि ! कैसे आई ?" बृहन्नला ने पूछा।

सैरंध्री ने उसे सारी स्थिति बता दी।

बृहन्नला के मुख पर चिंतन के लक्षण उभरे, "मेरा विचार है कि दुर्योधन को यह संदेह हो गया है कि हम यहाँ हैं। यह संदेह, कीचक के वध का समाचार मिलने के पश्चात् ही हुआ होगा। तभी उसने यह योजना बनाई होगी। यह एक ही युद्ध है, जिसके लिए आक्रमण दो भागों में किया गया है। कदाचित् धर्मराज को इसका आभास कल ही हो गया था, तभी तो वे मुझे अपने साथ त्रिगर्त युद्ध में नहीं ले गए। उनकी यही योजना रही होगी कि मैं यहाँ विराटनगर की रक्षा करूँ।"

"तो अब क्या करना है ?"

"यदि कौरवों को बाहर ही नहीं रोका गया, तो वे विराटनगर में प्रवेश कर जाएँगे। उससे नगर और नगरवासियो की हानि होगी। इसलिए मुझे वहीं

जाना होगा, जहाँ वे लोग हैं ...किंतु प्रिये ! यदि गोपाध्यक्ष की सूचना सत्य है, तो मुझे कुछ आश्चर्य हो रहा है।"

"किस बात का आश्चर्य ?"

"दुर्योधन और कर्ण का आना तो तर्कसंगत ही है। उन्हें हमारे जहाँ होने की सूचना मिलेगी, वे हमें सूँघते हुए वहीं आ जाएँगे; किंतु आचार्य तथा पितामह का इस प्रकार उनके साथ आना ...।" बृहन्नला ने कहा।

"क्यों ? इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? वे हस्तिनापुर की सेना के अंग नहीं हैं क्या ?"

"वे हस्तिनापुर की सेना के अंग हो सकते हैं; किंतु वे पांडवों के शत्रु नहीं हैं। हमारे पितामह तथा गुरु हमें खोज कर आखेट के लिए दुर्योधन के सम्मुख डाल देंगे, इसका मुझे विश्वास नहीं होता।" बृहन्नला ने उत्तर दिया।

"तुम्हारा चिंतन वहीं रुका खड़ा है, जहाँ उस समय था, जब तुम लोग गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे।" सैरंध्री हँसी, "तब से अब तक बहुत सारा समय व्यतीत हो चुका है और बहुत कुछ परिवर्तित हो चुका है।"

"तुम कहना चाहती हो कि अब पितामह तथा आचार्य हमसे प्रेम नहीं करते।" बृहन्नला ने कहा।

"वे जो तुमसे प्रेम करते थे और करते हैं, वे तुम्हारे पितामह तथा आचार्य थे। जो लोग सेना ले कर आक्रमण करने आए हैं, वे दुर्योधन की सभा और सेना के पदाधिकारी हैं।" सैरंध्री बोली, "राजा सैनिक अभियान करे और उसका कर्मचारी कह दे कि वह सेना के साथ नहीं जाएगा ? तो फिर प्रिय ! तुम शासन की कठोरता को ठीक-ठीक नहीं जानते। तुमने क्या वे भृत्य सैनिक नहीं देखे, जो किसी पराए राज्य अथवा राजा की सेना में भरती हो कर, अपने ही लोगों के विरुद्ध लड़ते हैं और पराए लोगों से अधिक क्रूर हो जाते हैं।"

"वे भृत्य सैनिक होते हैं, वे स्वतंत्र नहीं होते; किंतु ये लोग दुर्योधन के भी पितामह तथा गुरु हैं।" बृहन्नला ने कहा, "इनकी स्थिति भिन्न है।"

"वह सब युद्ध करते समय देख लेना।" सैरंध्री बोली, "बताओ, इस समय क्या करना है। अपने को प्रच्छन्न बनाए रखना है अथवा प्रकट हो जाना है ?"

"धर्मराज से पूछे बिना स्वयं को प्रकट करना तो उचित नहीं है।" बृहन्नला ने कहा, "किंतु कौरवों को तो रोकना ही पड़ेगा और विराटराज का गोधन भी लौटाना पड़ेगा। नगर में न कोई सेना है न कोई योद्धा। मुझे उनसे युद्ध करना होगा। ... किंतु मैं अकेला अपने आप तो युद्धक्षेत्र में नहीं जा सकता। कोई तो संबल चाहिए। कोई तो बहाना हो।..."

"तो ?"

बृहन्नला ने सैरंध्री के नयनों में देखा, "प्रिये, जाओ और जाकर राजकुमार

उत्तर से कहो कि यदि वह युद्धक्षेत्र में जाने से केवल इसलिए संकोच कर रहा है कि उसके पास अच्छा सारथि नहीं है, तो उसके योग्य सारथि मिल गया है। उसको कहो, बृहन्नला बहुत ही अच्छी सारथि है। अनेक बार तो वह अर्जुन का भी सारथ्य कर चुकी है। राजकुमार को चाहिए कि वह बृहन्नला को बुला ले और अपने गोधन तथा अपने राज्य की रक्षा करे।"

सैरंध्री लौटी तो उसने उत्तर को उसी स्थान पर राजकुमारियों और परिचारिकाओं के बीच बैठे, पाया।

"वह पिछला युद्ध जो अट्ठाइस दिनों तक ... नहीं...नहीं, पूरे एक मास तक चला था, उसी में मेरा सारथि मारा गया।" वह कह रहा था, "अब बिना सारथि के कोई महारथी युद्ध कैसे कर सकता है। स्वयं पांडुपुत्र अर्जुन भी सारथि के बिना युद्धक्षेत्र में नहीं जा सकते। मुझे अभी कोई अच्छा सारथि मिल जाए, तो अभी जाकर इन कौरवों को दिखा दूँ कि किसी वीर राजा का पशुधन चुरा लेने का परिणाम क्या होता है। चोर कहीं के। बड़े योद्धा बने हैं। समझा होगा कि विराटनगर सूना पड़ा है, जाएँगे और लूट लाएँगे। एक बार सामना हो जाए, तो उनको भी स्वीकार करना पड़ेगा कि यह राजकुमार उत्तर नहीं, स्वयं अर्जुन ही है, जो अपने दिव्यास्त्रों से उनको पीड़ा पहुँचा रहा है।"

"राजकुमार ! संसार में सबसे वीर वह अर्जुन ही है क्या कि बार-बार उसका उदाहरण दे रहे हो ?" सैरंध्री ने पूछा।

"और कौन है, जो उनकी समता कर सके।" उत्तर बोला, "उन्हीं से तो थर-थर काँपते हैं, दुर्योधन और कर्ण।"

"आपने उन्हें कभी देखा है राजकुमार ?" सुचरिता ने पूछा।

उत्तर कहने ही जा रहा था कि अनेक बार उसने अर्जुन के साथ युद्ध किया है कि उसे स्मरण हो आया कि सैरंध्री सामने ही खड़ी थी; और यहाँ आने से पूर्व वह द्रौपदी की सेवा किया करती थी। उसके सम्मुख ऐसी बात कह कर पकडे जाने की आशंका थी।

"नहीं साक्षात्कार तो नहीं हुआ है किंतु मन ही मन मैं उनको अपना गुरु मानता हूँ।"

"तो यदि आपको वह सारथि मिल जाए, जो कभी अर्जुन का भी सारथ्य कर चुका है, तो ?" सैरंध्री ने पूछा।

"फिर क्या है," उत्तर बोला, "वह मेरे रथ के अश्वों को सँभाले और मैं उन सारे कौरवों को सँभाल लूँगा।"

"तो फिर मै आपको एक रहस्य की बात बताती हूँ।" सैरध्री बोली, "आपकी नाट्यशाला में राजकुमारियों को संगीत और नृत्य की शिक्षा देने वाली बृहन्नला है न। वह नृत्य और संगीत सीखने से पहले तो अर्जुन की सारथि ही थी। खांडव

वन के दाह के समय, वही तो अर्जुन का सारथ्य कर रही थी।"

उत्तर जोर से हँसा, "वह नपुंसक और अर्जुन का सारथि ! सैरंध्री, तुमने भांग तो नहीं खा ली ?"

"नहीं राजकुमार सत्य कह रही हूँ। नपुंसक है तो क्या हुआ। उसकी भुजाएँ देखो। वह स्वयं को छुपाए रहती है, अन्यथा उसके शरीर में बहुत शक्ति है।" सैरंध्री बोली, "आप उसे बुला लें। उससे अच्छा सारथि आपको और कहाँ मिलेगा ?"

सैरंध्री देख रही थी, राजकुमार द्वन्द्व में था। यदि वह बृहन्नला को सारथि स्वीकार कर ले, तो उसे युद्ध के लिए जाना पडता। युद्ध के लिए वह जाना नहीं चाहता था; किंतु वह सैरंध्री के प्रमाण को मिथ्या सिद्ध कैसे कर सकता था। ...

"अब मैं राजकुमार हो कर, पुरुष हो कर, उस नपुंसक से सहायता की प्रार्थना करूँ ?" उत्तर बोला।

"आप प्रार्थना न करें राजकुमार !" सैरंध्री बोली, "आप राजकुमारी उत्तरा से कहें। वे तो बृहन्नला की शिष्या हैं। उन्हें उससे प्रार्थना करने में संकोच नहीं होगा।"

"हाँ राजकुमार आप विलंब न करें।" सुचरिता बोली, "अन्यथा, यदि कौरव अपने नगर की ओर लौट गए तो हमारा सारा गोधन छिन जाएगा; और यदि वे इस ओर आ गए तो आपका नगर भी आपके अधिकार में नहीं रहेगा।"

"जाओ उत्तरा !" बाध्य हो कर उत्तर बोला, "अपनी उस गुरु से कहो कि यदि उसे अश्व की वल्गा पकड़नी आती है, यदि वह युद्धक्षेत्र में चलने वाले अस्त्र-शस्त्रो से नहीं डरती, यदि मनुष्य के शरीर से बहते रक्त को देख कर वह अपनी बुद्धि खो नहीं देती, यदि सैनिक का मुंड कटता देख वह अचेत नहीं हो जाती, तो वह मेरे रथ का सारथ्य करे। विलंब न करे। हमें कौरवों से युद्ध करने जाना है।"

उत्तरा चकित थी कि जिस बृहन्नला को वह वर्ष भर से अत्यंत दक्ष नर्तक और गायक के रूप में जानती है, वह सारथ्य भी कर सकती है। उसे युद्ध का अनुभव भी है। ... कैसी विचित्र बात है।... युद्ध से मनुष्य कठोर होता है, और कलाओं से कोमल; तो फिर बृहन्नला में ये इतने आत्मविरोधी गुण कैसे हैं ?... राजकुमारी मन ही मन हँसी ... बृहन्नला में तो प्रकृति ने पुरुष और स्त्री दोनों के ही गुण रखे हैं। यह भी तो आत्मविरोधी ही है ... पर तभी उसने स्वयं को सुधार लिया ...उसमें पुरुष और स्त्री दोनों के ही गुण नहीं हैं। ...प्रकृति की अद्भुत सृष्टि है यह बृहन्नला भी। जो क्षमताएँ एक साधारण से साधारण जीव में भी होती हैं, प्रकृति ने बृहन्नला को वे भी नहीं दीं, कितु दूसरी ओर उसी

बृहन्नला को कितना कुछ दिया है प्रकृति ने। किन्नर कंठ, ऐसा लचीला शरीर, असाधारण साधना, आध्यात्मिक मन, उत्कृष्ट कोटि की बुद्धि और निर्लोभी चिंतन! राजकुमारी ने कितनी बार चाहा कि उसकी गुरु उससे कोई उपहार ग्रहण करे, कोई बहुमूल्य वस्तु ! ... किंतु बृहन्नला का वीतराग मन कभी नहीं पसीजा। उसने कभी कुछ स्वीकार नहीं किया।

उत्तरा ने अपनी गुरु को प्रणाम किया, "गुरुदेवी ! अभी-अभी सैरंध्री ने बताया है कि आप एक अद्‌भुत सारथि भी हैं, और इससे पहले कुंतिपुत्र अर्जुन का सारथ्य कर चुकी हैं।"

बृहन्नला ने कुछ नहीं कहा। चुपचाप सुनती रही।

"हम लोग अत्यंत संकट में हैं। कौरवों ने हमारे गोष्ठों पर आक्रमण कर दिया है और हमारी गौवों को हॉक कर लिए जा रहे है। नगर में और कोई है नहीं। भैया उत्तर को ही यह युद्ध करने जाना होगा।" उत्तरा ने कहा, "उनका सारथि पिछले युद्ध में मारा गया था। उसके पश्चात् से उनके पास कोई सारथि नहीं है ..."

बृहन्नला की इच्छा हुई कि पूछे, "क्या राजकुमार अपने उस सारथि के पुनः जन्म लेने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। ऐसे भी कोई योद्धा युद्ध करता है, कि युद्ध के लिए प्रयाण के समय सारथि खोजा जा रहा है।" किंतु उसने कुछ कहा नहीं। राजकुमारी को इस विषय में क्या ज्ञात होगा। वह तो अपने भाई का संदेश ले कर आई थी। वह क्या जानती थी कि उसका भाई इस युद्ध से बचने के लिए यह बहाना बना रहा है, अथवा वह सचमुच ही किसी सारथि की खोज में है। ... बृहन्नला के मन में बहुत स्पष्ट था कि उत्तर इस युद्ध में नहीं जाना चाहता। उत्तर तो उत्तर, स्वयं राजा विराट भी होते, तो इन सारे कौरव योद्धाओ के नाम सुन कर वे भी युद्ध को टालना ही उचित समझते। ... किंतु बृहन्नला को इस युद्ध मे जाना ही था और उसका जाना राजकुमार उत्तर के माध्यम से ही हो सकता था। अन्यथा तो कोई बृहन्नला को किसी सैनिक रथ को हाथ भी नहीं लगाने देगा।...

"राजकुमारी ! तुम समझती हो कि मैं युद्ध में किसी योद्धा का सारथ्य कर सकती हूँ ?" बृहन्नला मुस्करा रही थी।

"अब तो मैं समझने लगी हूँ गुरुदेवी ! कि आप संसार का कोई भी कार्य पूरी दक्षता से कर सकती हैं।"

"विचित्र लीला है उस प्रभु की।" बृहन्नला बोली, "कभी-कभी पुरुषों को युद्ध में उतारने का काम नपुंसकों को करना पडता है।"

"बृहन्नले ! तुम्हें युद्ध से भय तो नहीं लगता ?" राजकुमार ने विनोद की मुद्रा में पूछा। उसकी दृष्टि यह देखने को तड़प रही थी कि उसके इस विनोद का शुभांगना पर क्या प्रभाव हुआ है।

"नहीं राजकुमार ! युद्ध से तो भय नहीं लगता; किंतु सारथ्य का ज्ञान मुझे नहीं है।" बृहन्नला बोली, "कहीं यह न हो कि युद्धक्षेत्र में पहुँच कर आपको पश्चात्ताप होने लगे कि आप किसको अपनी सारथि बना कर ले आए। ऐसे में आप युद्धक्षेत्र छोड़ कर भागेंगे, तो संसार के सारे क्षत्रियों का नाम कलंकित हो जाएगा।"

उत्तर ने कनखियों से सुचरिता को देखा और बृहन्नला से बोला, "तो कुंतिपुत्र अर्जुन तुम्हारे मनोरंजन के लिए तुम्हें युद्ध में अपने साथ ले जाया करते थे ?"

"महावीर अर्जुन तो बिना सारथि के भी युद्ध कर सकते थे, इसलिए वे मुझे साथ ले जाते थे।" बृहन्नला ने कहा, "मैं तो वल्गा पकड़े बैठी रहती थी। वे जैसे कहते थे, मैं वैसे ही करती जाती थी। आप भी जो सिखाएँगे, मैं सीखती जाऊँगी।"

"युद्धक्षेत्र तो युद्धक्षेत्र ही होता है, गुरुकुल नहीं; कि वहाँ कोई तुम्हें सारथ्य की शिक्षा देता रहे।" उत्तर बोला, "मैं तुम्हें बाणों और व्यूहों का अंतर ही समझाता रह जाऊँ और वह बूढ़ा भीष्म हमें अंगूठा दिखा दे, ऐसी मूर्खता तो मैं नहीं कर सकता।"

"तो फिर सव्यसाची अर्जुन के समान विना सारथि के ही युद्ध कर लीजिए।" बृहन्नला बोली, "आप उनसे किस बात में कम हैं।"

उत्तर को लगा कि बृहन्नला ने उसे संकट में डाल दिया है। सँभलकर बोला, "किसे मूर्ख बना रही हो। कहीं सारथि के विना भी कोई युद्ध कर सकता है। वह वल्गा सँभालेगा अथवा धनुष ? चार हाथ तो किसी के नहीं होते।"

"ठीक कहते हैं राजकुमार ! किंतु जिस समय पार्थ अर्जुन ने सुभद्रा का हरण किया था, उनके साथ कोई सारथि नहीं था।" बृहन्नला ने कहा, "उन्होंने अश्वों को भी सँभाला था और मार्ग में आने वाले सारे यादव सैनिकों और वीरों से युद्ध भी किया था।"

सैरंध्री ने सुना। बृहन्नला की बात सत्य थी। सुभद्राहरण के समय अर्जुन के रथ में कोई सारथि नहीं था।...पर बृहन्नला को क्या सूझी है, इस समय अर्जुन के युद्ध-कौशल के वर्णन की ?...नहीं ! कदाचित् यह सब सायास ही था। यह सब सुनने के पश्चात् उत्तर यह बहाना नहीं बना सकता था कि बृहन्नला को सारथि के रूप में लेकर वह युद्ध करने नहीं जाएगा। ... बृहन्नला की चाल सैरंध्री की समझ में आ रही थी।

राजकुमार उत्तर ने कवच धारण किया और बृहन्नला को भी कवच पहनाया। बृहन्नला ने रथ मे बैठ कर उल्टे-सीधे ढंग से वल्गा पकड़ ली। राजकुमार उत्तर ने अपना रथ शस्त्रास्त्रों से भर लिया था। शस्त्रास्त्रों की दृष्टि से उसका चयन दोषपूर्ण नहीं था। लगता था कि उसे शस्त्रों और उनके प्रयोग का ज्ञान तो था; बस मन में युद्ध का उत्साह ही नहीं था।

"चलें राजकुमार ! आपको भय तो नहीं लग रहा न ?" बृहन्नला ने पूछा।

"क्या कह रही हो बृहन्नले ! भय क्या होता है, यह तो मैंने आज तक जाना ही नहीं। रथ को कौरवों की ओर ले चलो।" उत्तर ने कहा, "आज मैं अकेला ही सारे कौरवों को युद्ध भूमि में सुलाकर ही लौटूँगा।"

उत्तरा, सुचरिता तथा शुभांगना ने उनके लिए शुभ कामना की, "जैसे खांडव-दाह मे कुंतिपुत्र अर्जुन को सफलता हाथ लगी, वैसे ही आज का यह युद्ध राजकुमार उत्तर के लिए अभ्युदय का कारण हो।"

"बृहन्नले !" राजकुमारियों ने कहा, "लौटते हुए हमारी गुड़िया के लिए भीष्म और द्रोण के सुंदर-सुंदर महीन वस्त्र ले आना।"

"राजकुमार उनको पराजित कर देंगे तो मैं उनके सुंदर दुकूल तुम्हारी गुडिया के लिए अवश्य लाऊँगी।"

बृहन्नला ने अश्वों को हॉका। रथ ने तत्काल गति पकड ली।

सुदेष्णा को सूचना मिली कि उत्तर कौरवों से युद्ध करने के लिए चला गया है, तो उसने चकित हो कर पूछा, "किंतु उसका सारथ्य कौन करेगा ?"

"बृहन्नला उसकी सारथि बन कर गई है।" परिचारिका ने बताया।

"वह नपुंसक बृहन्नला युद्ध में राजकुमार उत्तर का सारथ्य करेगी।" रानी ने सिर पीट लिया, "यह मूर्खतापूर्ण परामर्श उसे किसने दिया ?"

परिचारिका सहम गई, "महारानी ! सैरंध्री ने बताया था कि बृहन्नला ने किसी समय कुंतिपुत्र अर्जुन का सारथ्य किया था।"

"ओह मेरे ईश्वर !" रानी बोली, "पर उत्तर को यह तो समझना चाहिए था कि अर्जुन जैसे योद्धा के साथ सारथि हो न हो, उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता, किंतु योद्धा उत्तर हो और सारथ्य बृहन्नला करे, तो उन्हें पराजित करने के लिए शत्रु को तनिक भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता।"

और मन ही मन सुदेष्णा समझ रही थी कि सैरंध्री ने उससे अपने अपमान का प्रतिशोध ले लिया था।

56

बृहन्नला ने वल्गा को दो-चार बार उल्टा-सीधा किया। रथ के अश्व भी सारथि के अज्ञान के कारण कुछ अटपटाए। उत्तर यह सब देख कर हँसता रहा। वह अब भी पलट-पलट कर पीछे की ओर देख रहा था। ... किंतु अब राजप्रासाद पीछे छूट गया था। वहाँ न सुचरिता दिखाई दे रही थी और न ही शुभागी। अब न वहाँ कोई उसकी वीरता देखने वाला था और न ही उसकी वीरता की चर्चा सुनने और करने वाला। अब तो उसका रथ था, रथ को हाँकने वाली सारथि थी और वह स्वयं था। उसका जैसे सारा मद उतर गया। जीवन का रस ही समाप्त हो गया।...

तब उसका ध्यान बृहन्नला की ओर गया। वह अब सन्नद्ध हो कर सारथि के आसन पर बैठी थी। उसके हाथों में वल्गा काँप नहीं रही थी। अश्वो को भी उसकी अनुभवहीनता से कोई असुविधा नहीं हो रही थी।...उत्तर ने एक प्रकार से नए सिरे से आँखें खोल कर सजग मन से देखा : बृहन्नला एक दक्ष सारथि के समान रथ-संचालन कर रही थी। अश्व जैसे हवा में उड़े जा रहे थे। वे लोग नगर प्राचीर को पार कर आए थे और श्मशान की ओर जाने वाले मार्ग पर आगे बढ़ते जा रहे थे।

"तुम कहाँ ले जा रही हो मुझे ?" सहसा उसने बृहन्नला से पूछा।

"जहाँ कौरवों की सेना खड़ी आपकी प्रतीक्षा कर रही है राजकुमार !" बृहन्नला ने उत्साहपूर्वक कहा, जैसे किसी बड़ी उपलब्धि की सूचना दे रही हो, "आपने कहा था न कि जहाँ कौरव हैं, मुझे वहीं ले चलो।"

"मैंने ऐसा कुछ कहा था क्या ?" उत्तर ने अपने-आपसे पूछा।

... उसे तनिक भी स्मरण नहीं था कि उसने ऐसा कुछ कहा था। कब कहा होगा ? ... उसकी आँखों के सम्मुख सुचरिता और शुभांगना के चेहरे तैर गए। वे सामने थीं, तो वह जाने क्या-क्या कह गया था। अब तो उसे कुछ स्मरण भी नहीं है।

"पर बृहन्नला ! हम वहाँ जाकर क्या करेंगे ?" उसने कुछ कंपित स्वर में पूछा।

"क्यों राजकुमार ! कौरवों ने आपके उत्तर गोष्ठों पर आक्रमण किया है। मैंने सुना है कि उन्होंने आपके गोष्ठों में आग लगा दी है। आपके सारे गोधन का भी हरण कर लिया है।" बृहन्नला ने कहा।

"मैं यह नहीं पूछ रहा हूँ कि उन्होंने क्या किया है।" उत्तर के स्वर मे खीझ भी थी और घबराहट भी, "मैं पूछ रहा हूँ कि हम वहाँ जाकर क्या करेंगे।"

"आप उनसे युद्ध करेंगे राजकुमार !" बृहन्नला ने कहा, "उनसे अपना गोधन लौटाएँगे और उनसे उनकी दुष्टता का प्रतिशोध लेंगे। उन्हें उनके अपराधो के लिए दंडित करेंगे।"

उत्तर को लग रहा था कि उसका मुख सूख रहा था और उसके मन में कौरवों की सेना के निकट जाने का भी कोई उत्साह नहीं था। रथ में बैठे हुए भी उसकी टॉगें कॉप रही थीं और उसे बृहन्नला पर क्रोध आ रहा था, जो रथ को उस दिशा में दौड़ाए लिए जा रही थी, जिधर कौरव सेना खडी थी।

"बृहन्नला ! तुम जानती भी हो कि कौरव सेना का अर्थ क्या है ? सुना भी है कि कौरव सेना में कौन-कौन से योद्धा इस समय आए हुए हैं और उनकी वीरता किस कोटि की है।... या तुम समझ रही हो कि तुम्हें नाचते देख कर वे अपने शस्त्र रख देंगे और तुम्हारे साथ तालियॉ बजाने लगेंगे ?"

"जानती क्यों नहीं।" बृहन्नला बोली, "सुना है भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, कर्ण तथा दुर्योधन आदि योद्धा आए हुए हैं।"

"और तुम समझती हो कि मेरे जैसा मूर्ख बालक, अपनी अनुभवहीनता के बाण मार मार कर उन्हें पराजित कर देगा।" उत्तर का स्वर रुऑसा हो रहा था, "मैंने तो ढंग से कोई युद्ध लड़ा ही नहीं है। शस्त्रों का भी कोई विशेष अभ्यास नहीं है। बस किसी प्रकार रथ-संचालन भर कर सकता हूँ।"

"पर आपने तो कहा था राजकुमार ! कि आप सारे कौरवों को पराजित कर उनके वस्त्र राजकुमारी की गुड़िया के लिए लाएँगे। ..."

"मूर्खा है तू तो।" उसका स्वर कॉंप रहा था, "वह सब तो मैंने उन लड़कियों को रिझाने की मूढ़ता में कहा था। तुम देख रही हो, मैं कितना भयभीत हूँ।"

"भय से तो काम नहीं चलेगा राजकुमार !"

"नहीं चलेगा तो न चले। काम चलाने के लिए मै अपने प्राण दे दूँ।" उत्तर ने कहा, "मोड रथ को। हम नगर में वापस चलेंगे। पिता जी मुझे नगर की रक्षा के लिए छोड गए थे। नगर सूना पड़ा है और तुम मुझे मूर्खो के समान वहॉ सरिता तट की ओर लिए जा रही हो। लौटा रथ को।"

बृहन्नला ने रथ को नगर की ओर लौटाने की कोई तत्परता नहीं दिखाई, तो उत्तर बौखला गया, "तू सुन नहीं रही बृहन्नला ! बहरी भी है क्या ? मैं कह रहा हूँ, रथ को नगर की ओर मोड़।"

"नगर सुरक्षित है राजकुमार ! कौरव सेना अभी नगर से बहुत दूर है। उनका लक्ष्य आपका नगर अधिकृत करना नहीं है।" बृहन्नला ने कहा, "उन्होंने तो गोष्ठों पर आक्रमण कर आपको चुनौती भेजी है और अब नगर से बाहर, कुछ दूरी पर अपनी सुविधा के स्थान पर व्यूहबद्ध खड़े होंगे। हमें वहीं जाकर उनसे युद्ध करना है।"

"बकवास मत कर !" उत्तर किसी अनियंत्रित आवेश के प्रभाव में चिल्लाया, "तुझे युद्ध करना है ? युद्ध तो मुझे ही करना है और मैं कह रहा हूँ कि नगर की ओर लौट चल। नपुंसकों में पुंसत्व तो नहीं होता, बुद्धि भी नहीं होती क्या ?"

"राजकुमार आप बिना लड़े ही लौट जाएँगे तो लोग क्या कहेंगे।"

"कुछ भी कहें लोग।" उत्तर बोला, "लोग कुछ ऐसा कहेंगे, इसलिए मैं अपने प्राण दे दूँ।"

श्मशान निकट आ गया था। रथ कुछ धीमा हुआ और उत्तर, रथ से कूद पड़ा, "मैं तो नगर में जा रहा हूँ। तू जाकर युद्ध कर ले कौरवों से।"

बृहन्नला को हँसी आ गई। राजकुमार सचमुच बहुत अधिक भयभीत हो गया था। पर वह उसे इस प्रकार लौट जाने तो नहीं दे सकती। बृहन्नला ने रथ रोक दिया। स्वयं भी रथ से कूदी और दौड़ कर राजकुमार को जा पकड़ा। उसने देखा, राजकुमार का सारा शरीर काँप रहा था। उसकी घिग्घी बँधी हुई थी।

"मुझे छोड़ दे बृहन्नला ! मैं पुरस्कार में तुझे अपने सारे आभूषण दे दूँगा।" उसने बड़ी कठिनाई से कहा और वह अचेत हो कर भूमि पर गिर पड़ा।

बृहन्नला ने उसे अपनी भुजाओं में उठाया और लाकर रथ में लेटा दिया। रथ में बैठ कर घोडों को हाँका और रथ शमी वृक्ष के निकट आकर खड़ा हो गया।

उसने देखा, उत्तर की चेतना कुछ-कुछ लौट आई थी किंतु भय के मारे वह पुनः अचेत हो सकता था।

"मैंने तुझे कहा है बृहन्नला कि मैं कौरवों से नहीं लड़ सकता। तू क्यों मेरी जान के पीछे पड़ी है।" वह किसी रोगी के समान धीरे से बोला।

"तुम युद्ध नहीं कर सकते राजकुमार ! सारथ्य तो कर सकते हो।" बृहन्नला बोली, "तुम सारथ्य करो। कौरवों से युद्ध मैं करूँगा।"

राजकुमार का मुख आश्चर्य से खुल गया, "तुम युद्ध करोगी, इसलिए पुरुषों के समान बोलने लगी हो।"

"पुरुष नपुंसकों के समान बोलेंगे तो नपुंसकों को पुरुषों के समान बोलना ही पड़ेगा।" बृहन्नला ने कहा, "अब उठो और जो कुछ मैं कह रहा हूँ, वह करो।"

राजकुमार की मूर्च्छा विलुप्त हो गई थी। वह आश्चर्य से बृहन्नला को देख रहा था। बृहन्नला की न केवल भाषा बदल गई थी, उसका तो सारा व्यक्तित्व ही बदल गया था। उसके चेहरे पर कैसी दृढ़ता थी, कैसा संकल्प। उसने अपनी वेणी उतार दी थी और अपने केशों को एक श्वेत वस्त्र से बाँध लिया था।

"तुम कौन हो ?" उत्तर अनायास ही पूछ बैठा।

"सब कुछ बताऊँगा।" बृहन्नला ने कहा, "पर जब तक मैं युद्धवेश धारण

करता हूँ, जो कह रहा हूँ, वह करो।"

उत्तर को लगा : उसके सम्मुख खडा व्यक्ति साधारण नहीं था। उसका व्यक्तित्व दुर्निवार था और उसका आदेश अलंघ्य।

"क्या करना होगा ?"

"इस शमी वृक्ष पर चढ़ जाओ। और ऊपर टँगे, श्वेत वस्त्र में लिपटे, हमारे शस्त्र उतार लाओ।"

"यह वृक्ष श्मशान में है। उसके आसपास अभिचार कर्म संपादित हुआ प्रतीत हो रहा है। उस पर एक शव भी टँगा हुआ है।" उत्तर बोला, "मैं राजकुमार हूँ। मैं इस प्रकार के अनाथ शवों का स्पर्श कर अपवित्र नहीं होना चाहता।"

"वह शव नहीं है राजकुमार ! वे हमारे शस्त्र है।" बृहन्नला ने बलपूर्वक कहा, "वृक्ष पर चढ़ो और शीघ्रतापूर्वक उन्हें उतार लाओ।" उसने रुक कर उत्तर को देखा, "उतारने को तो मैं भी उतार सकता हूँ; किंतु यदि मैं वृक्ष पर चढा, तो तुम स्वयं भी भाग जाओगे और रथ को भी भगा कर ले जाओगे। संभव है, नदी में कूद कर अपने प्राण ही दे दो। तब रथ और सारथि के अभाव में मैं युद्ध नहीं कर पाऊँगा। मुझे दुर्योधन से युद्ध करना ही है और तुम्हारा गोधन भी लौटाना है। उसके बिना मै विराटनगर नहीं लौट सकता। मैं अपनी शिष्याओं के परिहास का पात्र नहीं बनना चाहता।"

"तुम कौन हो ?" उत्तर का मुख आश्चर्य से खुला हुआ था।

"बताऊँगा तो तुम मेरा विश्वास नहीं करोगे। अभी इतना ही जान लो कि तुम्हारा, तुम्हारे परिवार का, तुम्हारे राज्य का मित्र हूँ। इसलिए हमारे शस्त्र उतार लाओ।" बृहन्नला ने कहा, "नहीं उतारोगे, तो वृक्ष पर मुझे चढ़ना पड़ेगा। पहले तुम्हें इस वृक्ष से बाँध दूँ, ताकि तुम पलायन कर कहीं अपने प्राण न दे दो।"

"नहीं !" उत्तर के मुख से अनायास ही निकल गया, "मुझे बाँधो मत। मै वृक्ष पर चढ कर तुम्हारे शस्त्र उतारता हूँ।"

वह रथ से उतर आया और वृक्ष पर चढने लगा।

उत्तर समझ नहीं पा रहा था कि वह बृहन्नला के इस नए रूप से प्रभावित था अथवा केवल भयभीत था; किंतु वह अभी उससे सहमत नहीं था। वृक्ष पर चढते हुए भी उसके मन में सहस्रों शंकाएँ थीं। ... पता नहीं, यह कौन था। क्या चाहता था। कौरव महारथियों से अकेला युद्ध करने की तैयारी तो ऐसे कर रहा था, जैसे देवराज इंद्र हो, अथवा स्वयं अर्जुन हो।...और सहसा उत्तर के मन में एक नया विचार आया : यदि वह वृक्ष पर नहीं चढ़ता है तो यह बृहन्नला रूपी छद्मवेशी अवश्य ही उसे इस शमीवृक्ष से बाँध देगा। उत्तर उससे मुक्त नहीं हो सकेगा। वह उसकी शक्ति देख चुका है। वह एक छोटे से बालक के

समान, उत्तर को पकड़ कर उठा लाया था और रथ में डाल गया था।... इस से तो अच्छा है कि उत्तर वृक्ष पर चढ़ कर देखे कि उस वस्त्र में कोई अज्ञात शव लिपटा है, अथवा शस्त्र हैं, जैसा कि यह व्यक्ति कह रहा है। यदि उसमें शस्त्र हुए तो उत्तर उसको सच्चा मान लेगा। शस्त्र नहीं हुए तो वह अपनी रक्षा के लिए वृक्ष पर ऊँचा से ऊँचा चढ़ता जाएगा, जहाँ यह व्यक्ति उसे पकड़ न पाए।...

वस्त्र में लिपटे उस बड़े से आकार तक पहुँचने में उत्तर को विशेष कठिनाई नहीं हुई। उसने साहस कर उस वस्त्र को हटाया। उसके अंदर पत्तों का आवरण था, जो अब सूख गए थे। उन्हें हटाने के लिए उसे कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ा।

पत्तों के हटते ही वह चकित रह गया : उसके सम्मुख जैसे कोई असाधारण शस्त्रागार था। कोदंड, खड्ग, गदा, शूल और बण। किसके थे ये शस्त्र। इनके सम्मुख तो उसके अपने शस्त्र खिलौने दिखाई पड़ते थे।

उत्तर ने वे शस्त्र नीचे उतार दिए।

बृहन्नला ने उसमें से एक कोदंड उठा कर उसकी प्रत्यंचा चढ़ाई।

"किसके हैं ये शस्त्र ?" उत्तर का स्वर अभिभूत था।

"पांडवों के।" बृहन्नला ने कहा।

"और पांडव कहाँ हैं ? वनवास के पश्चात् उन्हें अज्ञातवास के लिए जाना था।" उत्तर से पूछे बिना नहीं रहा गया।

"तुम्हारे यहाँ जो कंक के रूप में रह रहे हैं, वे युधिष्ठिर हैं।" बृहन्नला ने कहा, "तुम्हारा रसोइया बल्लव मध्यम पांडव भीम है। मैं अर्जुन हूँ। ग्रंथिक, नकुल है; और तंतिपाल, सहदेव है। समझ गए, हमने अपना अज्ञातवास तुम्हारे नगर में ही पूर्ण किया है।"

उत्तर को जैसे कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था।...यह बृहन्नला अर्जुन है ? नृत्य और गायन में लगा रहने वाला नपुंसक, यह अर्जुन है ?

"क्या प्रमाण है इसका ?" उत्तर बोला, "मुझे तो विश्वास नहीं हो रहा।"

"इन शस्त्रों को रथ में रखो। हमें विलंब नहीं करना चाहिए, नहीं तो कौरव तुम्हारी गौवों को हाँक कर दूर ले जाएँगे।" अर्जुन ने कहा, "मेरे अर्जुन होने का जो प्रमाण माँगोगे, दूँगा।"

उत्तर ने शस्त्रों को रथ में रखने में अर्जुन की सहायता की।

"अब तुम रथ में सारथि का स्थान सँभालो।" अर्जुन ने कहा, "युद्ध मैं करूँगा। तुम्हें भय तो नहीं लगेगा ?"

उत्तर को स्मरण हो आया : अभी थोड़ी देर पहले ही तो वह रथ से कूद कर भागा था। वह युद्ध नहीं करना चाहता था। उसे भय लग रहा था। भय

ही क्या, उसे तो मूर्च्छा आ रही थी। पर अब...

वह कूद कर सारथि के आसन पर जा बैठा, "नहीं। भय क्या होता है, मुझे पता नहीं है। मेरा तो जैसे जन्म-जन्मांतरों से देखा गया, अपूर्ण स्वप्न पूरा हुआ है। वीरवर अर्जुन का सारथि बनना तो जाने कितने जन्मों के पुण्य का प्रभाव है।"

रथ चला तो उत्तर ने पूछा, "कौरव आपको पहचान नहीं जाएँगे ?"

"हमारे अज्ञातवास का काल पूरा हो गया है, इसलिए मैं तो स्वयं ही प्रकट हो रहा हूँ। अपने नाम की घोषणा कर दूँगा।" अर्जुन ने कहा।

"तो फिर इस साड़ी से भी मुक्त क्यों नहीं हो जाते ?"

"इस समय और कोई वस्त्र नहीं है।" अर्जुन ने कहा, "विलंब करने का भी कोई लाभ नहीं है।"

"तो फिर आपको कोई अर्जुन कैसे मानेगा ?"

"मेरा परिचय मेरा वेश अथवा मेरा परिधान नहीं है राजकुमार !" अर्जुन ने कहा, "मेरा परिचय मेरा गांडीव है। मेरा आचरण है। युद्ध में जब मेरे इस धनुष से बाण छूटेंगे, वे ही सबको मेरा परिचय देंगे।"

रथ ने वेग पकड़ लिया था।

"यदि आप अर्जुन हैं तो बताएँ कि आपके कितने नाम हैं ?" ऩाम ने कहा।

"मेरे अर्जुन होने का प्रमाण चाहते हो ?"

"आपने कहा था कि प्रमाण देंगे, इसलिए पूछ रहा हूँ; अन्यथा आपका विश्वास कर लेता।" उत्तर ने कहा।

"मेरे दस नाम हैं—अर्जुन, फाल्गुन, जिष्णु, किरीटी, श्वेतवाहन, बीभत्सु, विजय, कृष्ण, सव्यसाची और धनंजय।"

"आप विजय क्यों कहलाते हैं ?"

"मैं अपने शत्रुओं को परास्त किए बिना कभी नहीं लौटता, इसलिए विजय कहलाता हूँ।"

"आप धनंजय क्यों कहलाते हैं ?"

"मैं अनेक देशो को जीतकर, उनसे कर रूप में केवल धन ले कर, धन के मध्य ही स्थित था, इसलिए मैं धनंजय कहलाया।" अर्जुन ने उसकी ओर देखा, "मेरे रथ के अश्व श्वेत होते हैं, इसलिए मैं श्वेतवाहन हूँ। मेरा जन्म उत्तर फाल्गुनी नक्षत्र में हुआ था, इसलिए मैं फाल्गुन कहलाता हूँ। वैजन्त ने मेरे सिर पर मुकुट रखा था, इसलिए मैं किरीटी कहलाता हूँ। युद्ध में मैं कोई बीभत्स कर्म नहीं करता, इसलिए मुझे बीभत्सु भी कहते हैं। मैं अपने दाएँ और बाएँ दोनों हाथों से गांडीव खींचता हूँ, इसलिए मेरा नाम सव्यसाची है। मैं सबके प्रति समभाव रखता हूँ, इसलिए अर्जुन हूँ। इंद्र का पुत्र हूँ, इसलिए जिष्णु कहलाता

हूँ। मेरा वर्ण श्यामल है और मैं लोगों के चित्त को आकर्षित कर लेता हूँ, इसलिए कृष्ण भी कहलाता हूँ।" अर्जुन ने रुक कर उसे पुनः देखा, "किंतु राजकुमार! नामों और उनका अर्थ जान लेना इस बात का पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि मैं अर्जुन हूँ। वह तो अब तुम भी जानते हो, किंतु तुम अर्जुन नहीं हो। मेरा परिचय तो अब मेरा धनुष ही देगा।"

अर्जुन ने अपना शंख निकाला और उसे पूरे बल से फूँका।

उत्तर को लगा, उसने शंख की ऐसी ध्वनि पहले कभी नहीं सुनी थी। उसके कानों के पर्दे जैसे फट रहे थे; किंतु उसका उत्साह पहले से भी दोगुना हो गया था।

57

द्रोण के मन में अनेक व्यूह थे; किंतु भूमि पर उन्होंने अभी कोई व्यूह नहीं रचा था। वे सेनापति नहीं थे कि व्यूह का दायित्व उनका होता। समरभूमि में भीष्म उपस्थित थे, तो सेना का संचालन भी उनका ही अधिकार था।

वैसे भी वे अभी युद्ध के लिए तनिक भी गंभीर नहीं थे। उन्हें लग रहा था कि उनका मन अभी युद्ध के लिए रंच मात्र भी आतुर नहीं था। ...पर क्यों? जब वे एक सैनिक अभियान पर निकले हैं, तो वे युद्ध के लिए तत्पर क्यों नहीं हैं ?? उनका मन इस 'क्यों' का उत्तर खोजने निकलता है, तो उन्हे लगता है, कि वह अपने ही विषय में अनेक प्रश्नों को ले कर उलझ जाता है। ...युद्ध के संदर्भ में क्या स्थिति है उनकी ? कितना अनुभव है उनको वास्तविक युद्ध का? आज तक कितने युद्ध किए हैं उन्होंने ?...नहीं! व्यक्तिगत रूप से उन्होंने आज तक किसी युद्ध में भाग नहीं लिया था। प्रशिक्षण देने तथा अपने शिष्यों की क्षमता का प्रदर्शन करने की बात और थी। वे शस्त्रों और व्यूहों के आचार्य थे; किंतु योद्धा की भूमिका उनके लिए एकदम नई थी।...उन्हें स्वयं युद्ध करने की कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ी। वे द्रुपद से लड़ना चाहते थे, तो वह काम युधिष्ठिर तथा उसके भाइयों ने कर दिया था।...उसके पश्चात् उन्होंने कभी सोचा ही नहीं था कि उन्हें कभी वास्तविक युद्ध करना भी है। उन्होंने स्वयं को गुरु तथा युद्धाचार्य के अतिरिक्त कभी कुछ और समझा भी नहीं था। यह तो युधिष्ठिर के युवराज बनने के अवसर पर धृतराष्ट्र ने उन्हें सैन्य के प्रशिक्षण तथा संचालन-परामर्श का नया दायित्व दे दिया था। उसने ऐसा क्या सोच कर किया था, यह तो वही जाने; किंतु

द्रोण ने सोचा था कि इस से उनके हाथ में कुछ प्रशासनिक सत्ता आएगी। सत्ता की उनको आवश्यकता भी थी और वह उन्हें प्रिय भी लगने लगी थी। ... यदि वे उस नए पद तथा नए दायित्व को स्वीकार न करते तो आज भी दुर्योधन तथा उसके भाइयों के पुत्रों को धनुर्वेद पढ़ा रहे होते; अथवा हस्तिनापुर छोड कर किसी आश्रम में बैठे साधना कर रहे होते। संभव था कि अहिछत्र चले जाते और राज-धर्म का निर्वाह करने का प्रयत्न करते।... पर वह सब करने का क्या लाभ था ? उससे तो कहीं अच्छा था कि वे हस्तिनापुर जैसे शक्तिशाली राज्य की राजसभा में इस सम्मानित पद पर बैठे अपनी इच्छानुसार अपना विकास तथा अपने हितों की रक्षा करते रहते।

वे दुर्योधन के सेनापति तो थे नहीं कि युद्धों में उसकी सेनाओं का नेतृत्व करते। वे उसके गुरु थे, और सैन्य प्रशिक्षण एवं संचालन के लिए परामर्शदाता थे। दुर्योधन ने कभी उनके इस पद की चिंता नहीं की थी। कर्ण की तथाकथित दिग्विजय के समय उनको उस अधिकार का प्रयोग भी नहीं करने दिया गया था। ... तो फिर आज उन्हें दुर्योधन यहाँ क्यों ले आया है ? और वे क्यों आ गए है ? ...

दुर्योधन उन्हें यहॉ क्यो ले आया, यह तो वही जाने; किंतु वे क्यों चले आए ? क्या बाध्यता थी उनकी कि वे दुर्योधन के वेतनभोगी योद्धा के रूप में यहॉ खडे है ? ... उन्हें लगता है कि कीचक के वध के समाचार के पश्चात् हस्तिनापुर में बहुत कुछ बदल गया था। जो व्यवहार तब दुर्योधन ने किया था, उसके पश्चात् उन्होंने अपने विषय में बहुत कुछ सोचा था। उन्हें सोचना पडा था ...

दुर्योधन के व्यवहार ने उसका दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट कर दिया था। वह उन्हें अपना गुरु कहता था। उन्हें संबोधित करते हुए भी वह 'आचार्य' शब्द का प्रयोग करता था, किंतु उसके व्यवहार में कहीं यह भाव नहीं था कि वे उसके गुरु हैं, और वह उनकी आज्ञा के अधीन था। वह स्पष्टतः उन्हें राजा का एक कर्मचारी ही मानता था। उन्हें ही क्यों, वह तो अपने पितामह, देवव्रत भीष्म को भी अपना कर्मचारी ही मानता था। वह अपने मुख से ऐसे शब्द उच्चरित नहीं करता था, किंतु उसका अर्थ यह नहीं था कि वह यह कह नहीं सकता था। किसी भी दिन वह कह सकता था कि वे हस्तिनापुर राज्य के कर्मचारी थे। कुछ अधिक सम्मान प्रदर्शित करता तो 'राजपुरुष' कह सकता था। ऐसी किसी भी स्थिति मे, उनसे राजा तथा युवराज की सारी आज्ञाओं का पालन अपेक्षित था। यदि वे ऐसा नहीं करना चाहते, तो उनके पास एक ही विकल्प था कि वे हस्तिनापुर छोड जाते। ...

उनके मन में सैकडो बार यह प्रश्न आया था कि क्या वे हस्तिनापुर छोड़

कर जाना चाहते हैं ? क्या वे हस्तिनापुर छोड़ कर जा सकते हैं ?...और प्रत्येक बार उनके मन ने निषेध में अपना सिर हिला दिया था।...

हस्तिनापुर में अब राज्य का संचालन भीष्म तथा विदुर की इच्छा से नहीं होता था। वहाँ का वास्तविक शासक तो दुर्योधन ही था; और दुर्योधन को प्रेरित करने वाले थे—कर्ण और शकुनि ! कई बार द्रोण अनुभव करते थे कि वे हस्तिनापुर में स्वतंत्र नहीं थे। उन पर जो बंधन थे, वे धर्म, सत्य, न्याय और नैतिकता के नहीं थे। वे दुर्योधन जैसे पापी के बंधन थे। कई बार तो उन्हे लगता था कि वे पिंजरे में बंद पक्षी के समान थे। पिंजरे में उनका दम घुट रहा था। वे अपने पंख फड़फड़ाना चाहते थे। पिंजरे को तोड़ कर खुले आकाश में उड़ जाना चाहते थे। ऐसे में यदि संभव होता तो वे हस्तिनापुर छोड़ देना ही पसंद करते। ... किंतु इतना तो वे जानते ही थे कि पिंजरे के बाहर खुला आकाश ही नहीं होता, आकाश में उड़ने वाले श्येन भी होते हैं। उनसे रक्षा करने का काम पिंजरा ही कर रहा होता है। पिंजरे के टूटते ही श्येन झपटते हैं।...हस्तिनापुर से बाहर द्रुपद उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। धृष्टद्युम्न का संकल्प उनके हस्तिनापुर से निकलने की प्रतीक्षा में था। बहुत संभव है कि एकलव्य भी कहीं अपना कटा अंगूठा लिए उनकी प्रतीक्षा कर रहा हो। ...उनके लिए सबसे सुरक्षित स्थान पांडवों का राज्य होता; किंतु पहले तो अकेला युधिष्ठिर ही उनकी प्रतिशोध वृत्ति से सहमत नहीं था, और अब तो पांडवों की महारानी के रूप में द्रुपदपुत्री कृष्णा बैठी है। ... नहीं ! द्रोण के लिए कोई विकल्प नहीं है। ... उन्हें अपने लिए कदाचित् उतनी चिंता न भी होती, किंतु अश्वत्थामा ? यदि द्रुपद, धृष्टद्युम्न तथा शिखंडी ने अश्वत्थामा से प्रतिशोध लेना चाहा तो ?

द्रोण को हस्तिनापुर में ही रहना होगा। पांडवों को उनका राज्य वापस मिल जाए, तो भी द्रोण इंद्रप्रस्थ जाकर नहीं रह सकते। उन्हें हस्तिनापुर मे ही रहना होगा; और दुर्योधन को अपना राजा भी मानना होगा। ...कीचक के वध का समाचार आने के पश्चात् हुई चर्चा में दुर्योधन ने एकदम स्पष्ट कर दिया था कि वह पांडवों का राज्य नहीं लौटाएगा। वह तो युद्ध की तैयारी कर रहा है। युद्ध तो होगा ही। ... उस स्थिति में क्या द्रोण युद्ध से तटस्थ रह पाएँगे ? दुर्योधन उन्हें युद्ध में सम्मिलित होने के लिए नहीं कहेगा ? वह द्रोण को व्यूह रचने का आदेश नहीं देगा ? युद्ध करने का आदेश नहीं देगा ?? ... पर क्या वे पांडवों को अपने हाथों से मार सकेंगे ? अपने अर्जुन को अपने ही बाणों से बींध सकेंगे ?... तो और विकल्प ही क्या है ? वे दुर्योधन और अर्जुन दोनों की रक्षा तो नहीं कर सकते। विशेषकर जब दुर्योधन उनकी रक्षा कर रहा हो; और अर्जुन उनके शत्रुओं के हाथों में खेल रहा हो। ... दुर्योधन के साथ रहेंगे, तो युद्ध तो उन्हे करना ही पड़ेगा। तब वे केवल आचार्य और गुरु नहीं रह पाएँगे।

...उन्हें योद्धा के रूप में समरभूमि में उतरने से पहले उस कार्य का थोड़ा अभ्यास भी कर लेना चाहिए। उन्हें युद्ध से भयभीत नहीं होना चाहिए। ... छोटे-छोटे युद्धों में सम्मिलित होना चाहिए। उस बडे और वास्तविक युद्ध से पहले, कुछ छोटे और कम भयंकर युद्धों से उनको वास्तविक युद्ध में अपनी स्थिति का ज्ञान हो जाएगा।...

विराटनगर में वे किसी बड़े युद्ध की संभावना से नहीं आए थे। युद्ध की गंभीर तैयारी भी उन्हें नहीं लग रही थी। मत्स्यों से लड़ने के लिए विशेष तैयारी की आवश्यकता भी नहीं थी। ... वे लोग जानते ही थे कि उनसे एक दिन पूर्व त्रिगर्तो ने मत्स्यों पर आक्रमण किया है और मत्स्यराज अपनी सेना के साथ युद्ध करने गए हुए हैं। इस दृष्टि से विराटनगर में इस समय नगररक्षकों तथा राजपरिवार के अंगरक्षकों के अतिरिक्त और किसी को नहीं होना चाहिए। जब कोई होगा ही नहीं, तो युद्ध की स्थिति ही कैसे आएगी।... तो फिर व्यर्थ ही दिव्यास्त्र ढोने की क्या आवश्यकता थी ?...

उनके मन में यह बात स्पष्ट थी कि दुर्योधन भी किसी बड़े और गंभीर युद्ध की बात सोच कर नहीं आया था। वह तो मत्स्यों को पूरी तरह लूटना चाहता था। वह चाहता था कि मत्स्यों का सारा गोधन उसको मिल जाए। उसके पश्चात् मत्स्यों की भूमि को भी वह क्रमशः खंड-खंड कर, अपने तथा अपने मित्रों के राज्यों में मिला ले। ... पर शायद उसके लिए वह स्वयं युद्ध करना नहीं चाहता था। वह न अपने योद्धाओं को मरवाना चाहता था, न अपनी सेना को कटवाना चाहता था। वह चाहता था कि उसका यह युद्ध त्रिगर्त लड़ लें। मत्स्य दुर्बल हो जाएँ, और वह अपना मनोवांछित कर सके। ...

वे सब लोग प्रतीक्षा में खड़े थे कि विराटनगर में उनके द्वारा गोहरण का समाचार पहुँच ले और यदि वहाँ कोई सेना तथा योद्धा हो तो वह युद्ध के लिए नगर के बाहर निकल आए। नगर में प्रवेश करने की उनकी अभी कोई योजना नहीं थी। नगर में प्रवेश करने की सार्थकता तो तब थी, जब राजप्रासाद तथा राजसभा पर भी अधिकार करना हो। अब तक उन्हें ऐसा नहीं लगा था कि दुर्योधन की ऐसी कोई इच्छा थी। कीचक की मृत्यु के पश्चात् मत्स्यों की सेना की स्थिति बहुत दृढ़ नहीं रह गई थी। उससे तो दुर्योधन का कोई सेनापति, अथवा दुःशासन, विकर्ण या कर्ण कोई भी लड़ लेता और उन्हें पराजित कर, जो चाहता उसे प्राप्त कर लेता। ... ऐसे में भीष्म, कृप, अश्वत्थामा तथा उन्हें साथ लाने का क्या अर्थ था ? ... क्या दुर्योधन मत्स्यों से इतना भयभीत था कि वह अपने समस्त योद्धाओं को साथ लाए बिना यहाँ आने का साहस नहीं कर सकता था ? या वह अपने योद्धाओं की प्रदर्शनी लगा कर मत्स्यों को भयभीत कर देना चाहता था ... या ... वह उन सब योद्धाओं की, जिन्हें वह सीधे-सीधे अपना वेतनभोगी नहीं कह

सकता, अपने प्रति निष्ठा की परीक्षा लेना चाहता था ? क्या वह देखना चाहता था कि वे लोग पांडवों के साथ होने वाले आगामी युद्ध में उसका साथ देंगे अथवा नहीं। ... और पांडवों के साथ उसका युद्ध तो होना ही है ...परिवेश में चारों ओर उस युद्ध की गंध अभी से फैल रही थी। ...पर यह सब क्या था ?...एक ओर तो उन्हें लगता था कि हस्तिनापुर के समस्त योद्धाओं को अपने साथ लाने का अर्थ है कि दुर्योधन किसी बहुत बड़े युद्ध की भूमिका बाँध कर आया है; और दूसरी ओर उन्हें लगता है कि वे लोग तो युद्ध की गंभीर तैयारी के साथ आए ही नहीं हैं ? दुर्योधन को अपने लिए इस युद्ध में कोई गंभीर संकट दिखाई नहीं देता ?....पर क्या उसे यह संदेह नहीं है कि विराटनगर में कीचक का वध करने वाला व्यक्ति, मध्यम पांडव भीम ही है ? हाँ ! उसे यह संदेह है। तभी तो वह यहाँ आया है और उन सबको भी अपने साथ लाया है। क्या चाहता है वह ? मत्स्यराज तथा उनकी सेना यहाँ उपस्थित न हो और वह पांडवों को अकस्मात् पकड कर उन्हें चकित कर दे ? ... वह जानता है कि पांडव अपने सम्मुख भीष्म, द्रोण तथा कृपाचार्य को देख कर युद्ध नहीं करेंगे। वह जानता है कि उन लोगों के आदेशों की पांडव उपेक्षा नहीं करेंगे। ... तो क्या वे सब लोग पांडवों को फाँसने के लिए लासा के रूप में लाए गए हैं ? यदि उसका संदेह सत्य निकले, यदि पांडव विराटनगर में ही छिपे हुए हों, यदि मत्स्यराज की अनुपस्थिति में पांडव दुर्योधन से लड़ने आएँ, तो अपने सम्मुख अपने गुरुओं और अपने पितामह को देख कर, अपने शस्त्र डाल दे ? आत्मसमर्पण कर दें ? दुर्योधन के बंदी हो जाएँ, ताकि वह उनका वध कर सके, अथवा उन्हें पुनः दीर्घकाल के लिए वनों में भेज दे।...

तभी उन्हें लगा कि अकस्मात् ही सन्नाटा टूट गया है। दूर से किसी रथ के आने की ध्वनि आ रही थी। उसके चक्रों की ध्वनि गंभीर थी। वह साधारण रथ नहीं था, जिसमें यात्री एक स्थान से दूसरे स्थान के लिए यात्रा करते हैं। पर था वह एक ही रथ, इसलिए वह मत्स्यों की सेना नहीं हो सकती।

"कहीं यह मत्स्यों का कोई दूत तो नहीं आ रहा आचार्य ?" दुर्योधन ने उनकी ओर देखा।

"संभव तो है।" आचार्य ने कहा, "यदि उनको हमारे आक्रमण की सूचना मिल गई है और उनके पास युद्ध का सामर्थ्य नहीं है, तो वे संधि के लिए दूत भेज सकते हैं।"

"पर संधि नहीं होगी।" दुर्योधन ने जैसे आदेशात्मक स्वर में कहा, "आवश्यक हुआ तो गोधन के साथ-साथ दूत का भी हरण होगा। ..."

दुर्योधन की बात पूरी नहीं हुई। एक ओजस्वी शंखनाद ने जैसे उसे मध्य मे ही मौन कर दिया। उसने आचार्य की ओर देखा। अन्य लोग भी उनके निकट

सिमट आए। केवल भीष्म ही थे, जो अपने रथ में बैठे कुछ सोचते रहे।

सहसा द्रोण के चेहरे पर समाधान का भाव जागा।

"यह कोई संधिदूत नहीं है दुर्योधन ! यह शंखनाद तो किसी योद्धा का है, जो हमें चुनौती देने आ रहा है।" द्रोण ने कहा।

"किंतु ध्वनि तो एक अकेले रथ की है। एक रथ पर कितनी बडी सेना आ रही है आचार्य ! जो हमारे इतने सारे अतिरथियों को चुनौती देगी ?" दुर्योधन हँस रहा था।

"यह भी तो संभव है भैया ! कि सेना पीछे आ रही हो।" दुःशासन के स्वर में एक प्रकार की चिंता थी।

"मेरा विचार है दुर्योधन ! कि तुम्हारा अनुमान सत्य सिद्ध हुआ है।" द्रोण बोले, "पांडव विराटनगर में ही अज्ञातवास कर रहे हैं।"

दुर्योधन ने चकित दृष्टि आचार्य पर डाली। उसे अपने वार्तालाप में उनका यह कथन पूर्णतः अप्रासंगिक लग रहा था।

"एक ही रथ आ रहा है। एकाकी। उसकी गति से यह नहीं लगता कि वह संधि-संदेश ला रहा हो। वह तो युद्ध की चुनौती दे रहा है।" द्रोण बोले, "और उसी का रथी यह शंखनाद कर रहा है। ऐसा साहस केवल एक योद्धा कर सकता है; और वह है अर्जुन।"

"अर्जुन !"

"हाँ अर्जुन। तुम जानते हो कि अकेला अर्जुन क्या कर सकता है। उसने अनेक युद्ध अकेले ही जय किए हैं। वह तुम्हारे सारे महारथियों और अतिरथियों से अकेला ही युद्ध करने का भी साहस कर सकता है।" द्रोण बोले, "तुम देख सकते हो कि उसका नाम सुन कर ही तुम्हारे सैनिकों और सेनानायकों के रोंगटे खड़े हो गए हैं; और उनका युद्ध का सारा उत्साह समाप्त हो गया है। मुझे तो तुम्हारी सारी सेना भयभीत दिखाई पड़ रही है।"

दुर्योधन की दृष्टि अपने निकट खड़े सारे लोगों पर घूम गई। दूर से आते रथ के पहियों की घरघराहट, उसके कानों में से होती हुई जैसे उसके मन में उतर ही नहीं गई, उसे मथने भी लगी।

"युद्ध नहीं होगा तो न हो। हम कौन यहाँ युद्ध करने आए हैं। हम जानते हैं कि त्रिगर्तो ने दक्षिण के गोष्ठों पर आक्रमण किया है और मत्स्यराज अपनी सेना के साथ उनसे युद्ध करने गए है।" दुर्योधन बोला, "और यदि वह अर्जुन ही आ रहा है, तो घबराने की क्या बात है। आने दीजिए उसे। अभी उनका अज्ञातवास चल रहा है। यदि वह हमारे सम्मुख आ जाएगा तो हम पांडवों को फिर से तेरह वर्षो के लिए वनवास दे देंगे।"

"तुम कहते रहो कि अभी उनका अज्ञातवास समाप्त नहीं हुआ है; किंतु

किसी भी गणित से उनका अज्ञातवास पूर्ण हो चुका है। इसलिए धर्मतः तो तुम उन्हें अब वनवास दे नहीं सकते।" द्रोण बोले, "तुम कहते हो कि तुम कौन सा उन से युद्ध करने आए हो। संभव है कि वह भी तुमसे युद्ध करने न आ रहा हो। पर मत्स्यों की उन गौओं को तो, जो तुमने अपने अधिकार में कर ली हैं, वह छीन कर ले ही जाएगा। इसलिए मेरी बात मानो। तुम गौवों को ले कर हस्तिनापुर की ओर शीघ्रता से प्रस्थान करो। शेष सेना व्यूहबद्ध हो कर खडी हो जाए; और शत्रुओं पर प्रहार करने की तैयारी करे।"

दुर्योधन को आचार्य की बात मान्य नहीं लगी। अर्जुन को इस प्रकार सम्मुख देख कर वह रणक्षेत्र छोड़ कर कायरों के समान भाग नहीं सकता। ... किंतु वह उससे द्वैरथ युद्ध भी नहीं करना चाहता। ... उसे द्वैरथ की आवश्यकता ही क्या है। उसके साथ इतने महारथी किसलिए आए हैं। इतने सेनानायकों, महारथियों तथा अतिरथियों के होते हुए यदि राजा दुर्योधन को ही युद्ध करना पडे तो वह राजा किस बात का है।

"मैं जानता हूँ कि एक रथ आ रहा है। संभव है कि उसमें अर्जुन ही हो; पर उससे हमारी सेना भयभीत क्यों है।" वह क्रुद्ध स्वर मे बोला, "हमारे महारथी भ्रांत चित्त हो चुपचाप क्यों बैठे हैं। शत्रु आएगा तो युद्ध तो करना ही होगा। कोई कौरवों से उनकी संपत्ति छीन कर भाग जाए तो हम चुपचाप नहीं बैठेंगे।..." वह रुका और फिर जैसे द्विगुणित क्रोध से बोला, "कोई यह न समझे कि जो युद्ध से भाग जाएगा, वह सुरक्षित अपने घर पहुँच जाएगा, जो युद्धक्षेत्र छोड़ कर पलायन करेगा, वह मेरे बाणों से मारा जाएगा। युद्ध मे तो फिर भी कोई जीवित बच सकता है; किंतु युद्ध से भागने वाले के लिए निश्चित मृत्यु है। ..."

द्रोण का मुख जैसे कड़वा हो गया। किसे धमका रहा है दुर्योधन ? वह तो कहेगा कि उसने यह बात साधारण सैनिकों के लिए कही है; किंतु द्रोण समझ सकते हैं कि वह ये धमकियाँ किसे दे रहा है। वह समझता है कि पांडवों को सामने देख कर द्रोण भाग जाएँगे ? द्रोण को युद्ध छोड कर भागने की क्या आवश्यकता है। अर्जुन उनका शिष्य है। वह अपना कितना भी विकास कर ले, किंतु वह उनसे तो अधिक समर्थ नहीं हो सकता। ... और यदि ऐसा हो भी जाए, तो वे जानते हैं कि वे युद्धक्षेत्र में उसके सामने जाकर खडे हो जाएँगे, तो भी वह उन पर प्रहार नहीं करेगा। अर्जुन उनका वध नहीं कर सकता। वे अर्जुन को भी जानते हैं और दुर्योधन को भी।

द्रोण कुछ कहने की सोच ही रहे थे कि कर्ण तडप कर बोला, "युवराज ! तुम अपने इन आचार्य द्रोण को तो अपने स्कंधावार में ही छोड आओ अथवा अपनी सेना में पीछे की ओर कहीं नियुक्त कर दो।"

"क्यों ? क्यों ?? ऐसी क्या बात है ?" दुःशासन ने पूछा।

"आचार्य को पांडवों से इतना प्रेम है कि यह उनके विरुद्ध तुम्हारी सेना का कभी नेतृत्व कर ही नहीं सकते।" कर्ण बोला, "मुझे तो लगता है कि पांडवों ने जान-बूझ कर इन्हें हस्तिनापुर में छोड़ रखा है, ताकि ये तुम लोगों को हतोत्साहित करने के लिए उनकी प्रशंसा करते रहें।"

द्रोण सुन रहे थे कि कर्ण क्या कह रहा था। उन्हें स्मरण था कि वर्षों पहले वह भी, उनके पास शिष्य रूप में शस्त्र शिक्षा के लिए आया था। उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया था। ...यह तब से ही उनके विरुद्ध अपने मन में विष पाल रहा है। उनके विरुद्ध ही नहीं, उन सबके विरुद्ध, जिनसे वे प्रेम करते हैं, जो उन्हें प्रिय हैं। ...यह व्यक्ति किसी का सम्मान नहीं कर सकता। यह किसी से प्रेम नहीं करता। यह केवल अपने अहंकार से प्रेम करता है। ... जिस आचार्य द्रोण को कुरुश्रेष्ठ भीष्म भी सम्माननीय मानते हैं, उनकी चर्चा यह इस प्रकार कर रहा है...

"व्यूह रचना के पहले सोच लो युवराज ! ग्रीष्म ऋतु है। हमारे सैनिक यहाँ के तप्त पवन से व्याकुल हैं। हम शत्रुओं के राज्य में हैं। और द्रोण को हम से द्वेष तथा अर्जुन से प्रेम है। ये अर्जुन की प्रशंसा कर हमारी सारी सेना को हताश कर देंगे।" कर्ण पुनः बोला, "वैसे भी इन्हें युद्ध का अनुभव ही क्या है ? गुरुकुल में बच्चों को बाण चलाना सिखाने से ही तो युद्ध का अनुभव नहीं हो जाता। आचार्यों से तो बस सैद्धांतिक चर्चा करवा लो, प्रवचन करवा लो, व्याख्या करवा लो। युद्ध इत्यादि उनके वश का नहीं है।"

दुर्योधन अपने मित्र की बात सुन रहा था; किंतु उसकी दृष्टि आचार्य के चेहरे को भी पढ़ रही थी। आचार्य को कर्ण की ये सारी बातें किसी भी प्रकार अच्छी नहीं लग सकती थीं। कृपाचार्य का भाव भी प्रसन्नता का नहीं था; और अश्वत्थामा के तेवर भी बिगड़ने लगे थे। किंतु कर्ण का उनमें से किसी की ओर भी ध्यान नहीं था।...अथवा उसे उनमें से किसी की भी चिंता नहीं थी।...

"यदि अर्जुन इनको इतना ही महाकाल दिखाई देता है अपने लिए, तो कोई न करे युद्ध। मैं अकेला ही देख लूँगा अर्जुन और उसके भाइयों को।" कर्ण बोला, "कौरव तथा उनके आचार्य, मत्स्यों से छीना हुआ गोधन ले कर हस्तिनापुर लौट जाएँ। एक सैनिक भी नहीं चाहिए मुझे। मैं अकेला ही पांडवों को परास्त कर, विराटनगर की सारी संपदा जीत कर, हस्तिनापुर आऊँगा और युवराज दुर्योधन के चरणों में अनमोल मणि-माणिक्यों के साथ-साथ रज्जू में बँधे हुए पाँच दास और एक दासी भेंट करूँगा।"

कर्ण कदाचित् और भी बहुत कुछ कहता; किंतु तब तक कृपाचार्य आगे बढ़ आए थे। उन्होने कर्ण पर एक तीखी दृष्टि डाली, "राधापुत्र ! तुम्हें युद्ध

के औचित्य अथवा अनौचित्य का कुछ भी ज्ञान नहीं है। तुम न कार्य को समझते हो न कार्य के परिणाम को। तुम तो केवल क्रूरता को जानते हो। यह भूल जाते हो कि युद्ध वहीं करना चाहिए, जहाँ वह अत्यंत आवश्यक हो। अनावश्यक युद्ध की कोई सार्थकता नहीं है। पांडवों को हमने पहले ही अन्यायपूर्वक तेरह वर्षो तक उनके राज्य से वंचित रखा है। अब उनके साथ फिर एक बार अत्याचार करना पाप है। हम अर्जुन से केवल इसलिए युद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि एक रथ बनाने वाले सूत के हाथों में धनुष आ गया है और उसकी इच्छा जिस-तिस से जूझने की होती रहती है। उसका मस्तिष्क भ्रष्ट हो गया है। उस विक्षिप्त के रोग का उपचार किसी वैद्य से होना चाहिए। वह युद्ध की आवश्यकता और अनावश्यकता का चिंतन करने योग्य नहीं है।" वे दुर्योधन की ओर घूमे, "हम में से किसी को भी अकेले जाकर अर्जुन से भिड़ने की आवश्यकता नहीं है। ...यदि लड़ना ही है तो उपयुक्त व्यूह की रचना कर सब मिल कर युद्ध करें। यदि हम छह महारथी मिल कर युद्ध करें तो कदाचित् हम अर्जुन से युवराज को बचा सकें।"

दुर्योधन को कुछ संतोष हुआ। कृपाचार्य ने सारे विरोध के पश्चात् भी युद्ध के पक्ष में अपना मत दे दिया था। नहीं तो कर्ण की बात से रुष्ट हो, वे युद्ध का विरोध भी कर सकते थे; और युद्धक्षेत्र छोड़ कर जा भी सकते थे।

"कर्ण ! न तो अभी हमने मत्स्यों की गौवों को जीता है, न हम मत्स्यों की सीमाओं से बाहर निकले हैं, न हम हस्तिनापुर की सीमाओं में सुरक्षित पहुँच गए हैं, तो तुम इतनी बकवाद क्यो कर रहे हो। सैकड़ों युद्ध जीत कर विश्व भर से अपनी शक्ति का लोहा मनवा कर भी कोई वीर इस प्रकार प्रलाप नहीं करता, जिस प्रकार तुम कर रहे हो। तुम्हें आत्मप्रशंसा का रोग हो गया है। मातुल ने ठीक ही कहा है, किसी अच्छे आयुर्वेदाचार्य से तुम्हारे मस्तिष्क का उपचार होना चाहिए।" अश्वत्थामा ने घूम कर दुर्योधन की ओर देखा, "और युवराज ! तुम सुनते रहते हो कि तुम्हारा परमप्रिय मित्र क्या कह रहा है। उसमें शालीनता, विनय और शिष्टाचार नहीं है, तो तुम में तो है। तुम्हें तो देखना चाहिए कि वह तुम्हारे गुरु का अपमान कर रहा है। तुम उसे रोकते नहीं हो और वह तुम्हारा अवलंब पा कर सबके सिर पर नाचना अपना अधिकार मानता जा रहा है। द्यूत में किसी का राज्य जीतना न तो वस्तुतः राज्य जीतना है, न किसी को उससे संतोष होता है। ऐसा संतोष तो तुम जैसे मूर्ख को ही हो सकता है युवराज ! तुमने अथवा तुम्हारे इस मित्र ने पांडवों में से किसी एक भाई को भी कभी द्वन्द्व युद्ध में जीता है ? इंद्रप्रस्थ का राज्य तुमने पांडवों को युद्ध में पराजित कर जीता है ? तुम लोगों ने निर्दोष द्रुपदपुत्री कृष्णा को जिस प्रकार रजस्वला और एकवस्त्रा होने पर भी केशों से घसीट कर सभा के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया

था, उसका प्रतिशोध लेने पार्थ अर्जुन आ रहा है। अब तुम लड़ लो उससे, या तुम्हारा यह अहंकारी मित्र लड ले। जिसने द्यूत खेला था, तुम्हारा वह मातुल लड ले। हम तो मत्स्यों से युद्ध करने आए हैं, मत्स्यों से ही युद्ध करेंगे। अर्जुन से मैं तो युद्ध नहीं करूँगा।"

दुर्योधन ने सब कुछ शांत भाव से सुन लिया। अश्वत्थामा द्वारा स्वयं को मूर्ख कहा जाना भी सहन कर लिया। वह जानता था कि कर्ण ने जो कुछ कहा था, उसको सुन कर अश्वत्थामा की विस्फोटक प्रतिक्रिया हो सकती है। वही हुआ था। अब यदि कर्ण ने पुनः कुछ कहा तो बात और भी बिगड़ सकती है। संभव है कि अर्जुन से लडने के स्थान पर ये लोग परस्पर ही लड पडें। दुर्योधन को इस समय यहाँ अश्वत्थामा को रुष्ट करना बहुत महँगा पड़ेगा। अश्वत्थामा को रुष्ट करने का अर्थ है, आचार्य द्रोण तथा कृपाचार्य को भी रुष्ट करना। अर्जुन की उन तीनों से तो कोई शत्रुता है नहीं। कहीं वे लोग एकजुट हो कर, उसके विरुद्ध अपना एक पक्ष न बना लें। उसका इतने दिनों तक द्रोण और उसके परिवार को पालना व्यर्थ ही न हो जाए।

दुर्योधन का एक मन हो रहा था कि वह तत्काल आचार्य से क्षमा माँग ले। उनके संतोष के लिए कर्ण को डाँटने का नाटक भी कर दे। ... किंतु उसका अपना ही मन एक अन्य प्रस्ताव भी रख रहा था। ... वह देखे तो सही कि ऐसे किसी संकट के काल में आचार्य की दुर्योधन के प्रति कितनी निष्ठा है; और अर्जुन का उनके प्रति कितना प्रेम है। ...

भीष्म बहुत देर से आत्मलीन से अपने रथ में बैठे थे। ...उनको स्वयं ही लगने लगा था कि उनकी अवस्था इतनी हो गई थी कि उनमें अब युद्ध के लिए उत्साह नहीं जागता था। इस समय भी, जब वे एक प्रकार से युद्धक्षेत्र में खडे, शत्रु के आक्रमण की प्रतीक्षा कर रहे थे, उन्हें युद्ध संबंधी किसी प्रकार के उत्साह अथवा आवेश का अनुभव नहीं हो रहा था। ... जब कीचक के वध का समाचार मिला था, तो उनके मन मे भी आया था कि संभवतः यह भीम का ही काम हो। ... किंतु एक और विचार भी था उनके मन में। वह मत्स्यराज विराट का कोई षड्यंत्र भी तो हो सकता था। कीचक का कोई अन्य शक्तिशाली शत्रु भी हो सकता था। ... दुर्योधन का क्या था। उसके मन में तो एक ही चिंता थी कि पांडव अपना अज्ञातवास सफलतापूर्वक पूरा कर लौट आएँगे, तो उसे उनका राज्य लौटाना पडेगा। उसे एक प्रकार का ज्वर चढ़ा हुआ था, जिसमें चारो ओर पांडव ही पांडव दिखाई देते थे। ...

भीष्म ने इस घटना और उसके विषय में सोचा अवश्य था किंतु उनमे

किसी प्रकार की सक्रियता नहीं आई थी। ... उसका कोई कारण भी नहीं था। ... किंतु जब उन्हें ज्ञात हुआ कि त्रिगर्तो को भेजने के पश्चात् दुर्योधन स्वयं भी मत्स्यों के गोष्ठों पर आक्रमण करने जा रहा है, तो वे निष्क्रिय नहीं रह सके। ... दुर्योधन नहीं सोचता था, किंतु उनके मन में यह बात थी कि यदि भीम ने ही कीचक का वध किया है; और पांडव विराटनगर में छिपे हुए हैं, तो त्रिगर्तो और कौरवों के आक्रमण के कारण पांडव विराट की सहायता के लिए अवश्य आएँगे। ... दुर्योधन तो यह मानता था कि यदि पांडव सम्मुख आ जाएँगे, तो वह और उसका मित्र कर्ण उन सबका वध कर देगे। ... और यदि ऐसा नहीं हो सका तो वह उनको पकड़ लेगा कि वे अपने अज्ञातवास में पहचान लिए गए हैं। ...पर जो बात उसकी कल्पना में भी नहीं आती थी, वह भीष्म को सोने नहीं देती थी। ... यह सुनने के लिए कि उनके पौत्रों ने युद्ध में एक-दूसरे का वध कर दिया है, भीष्म हस्तिनापुर में अपने प्रासाद में बैठे नहीं रह सकते थे। ... यह भी तो संभव था कि कीचक को मारने वाला कोई और हो, जिसकी शक्ति का अनुमान दुर्योधन को नहीं था; और पांडवों के प्रति अपने द्वेष के कारण वह और कुछ जानना भी नहीं चाहता था। ऐसी स्थिति मे दुर्योधन की रक्षा कौन करेगा ? कर्ण ? कर्ण समर-भूमि में तभी तक टिक सकता था, जब तक उसकी विजय हो रही हो। उसके प्राणों पर संकट आया और वह भागा। घोष-यात्रा के अवसर पर भी उसने दुर्योधन के प्राणों की चिंता नहीं की थी। ...

यह तो बहुत अच्छा हुआ कि दुर्योधन ने उन से भी साथ चलने का आग्रह किया; अन्यथा उन्हें किसी अन्य व्याज से, साथ आने का प्रबंध करना ही पड़ता। ... हस्तिनापुर से तो यह मूर्ख सबको साथ ले कर चला था; किंतु यहाँ आकर विभाजित सेना के मध्य खड़ा है और समझ नहीं पा रहा कि उसने कर्ण को अनुशासित नहीं किया तो बहुत संभव है कि इसी क्षेत्र में अश्वत्थामा और कर्ण का द्वैरथ युद्ध हो। ... ऐसी स्थिति में यदि कहीं कर्ण ने अश्वत्थामा को कोई हानि पहुँचाई, तो द्रोण और कृपाचार्य कर्ण का ही नहीं, दुर्योधन का भी वध कर सकते हैं। ... यह दुर्योधन इतना मूर्ख क्यों है ? यह समझता नहीं कि योद्धा को अपने ही घातक शस्त्रों से सावधान रहना पड़ता है। असावधानी के कारण उसके अपने ही शस्त्र उसके प्राण ले सकते हैं। ... दुर्योधन को अपने इन शक्तिशाली शस्त्रों के प्रति अपने व्यवहार में सावधान रहना होगा।...'

और तब भीष्म ने सारी चर्चा अपने हाथ में ले ली, "यह आपसी भेद का समय नहीं है। शत्रु किसी सेना का नाश उतनी शीघ्रता से नहीं कर सकता, जितनी शीघ्रता से उसका अपना विभाजन कर सकता है।"

"आचार्य ने अर्जुन की प्रशंसा अपनी सेना में भेद उत्पन्न करने के लिए नहीं की थी।" अश्वत्थामा वैसे ही तड़प कर बोला, "शिष्य भी सतान के समान

ही प्रिय होता है; और अर्जुन जैसे शिष्य पर किस गुरु को गर्व नहीं होगा। आचार्य ने उसकी प्रशंसा कर दी तो किसी को यह अधिकार नहीं मिल जाता कि वह उनका इस प्रकार अपमान करे। पूज्य-पूजन अपराध नहीं है।"

"तुम सत्य कह रहे हो गुरुपुत्र ! मैं तुमसे सहमत हूँ।" भीष्म बोले, "मैं कृपाचार्य से भी सहमत हूँ कि अनावश्यक युद्ध संसार का क्रूरतम और सर्वाधिक जघन्य अपराध है। आचार्य द्रोण का कथन भी पूर्णतः सत्य है कि अर्जुन अकेला ही हम सबसे युद्ध कर सकता है। ..."

"पितामह ! युद्ध की आवश्यकता ही क्या है ?" दुर्योधन बोला, 'अर्जुन के सम्मुख आते ही उनकी प्रतिज्ञा भंग हो जाएगी। अज्ञातवास में पहचाने जाने के कारण उन्हें फिर से वनवास करना होगा। बस हम सब मिल कर उसे पकड भर लें।..."

"मूर्ख हो तुम !" भीष्म ने उसे डॉट दिया, "उनके अज्ञातवास की अवधि समाप्त हो चुकी है। एक प्रकार से उससे भी पाँच मास ऊपर हो गए हैं।"

"ऐसा होता तो वे पाँच मास पहले ही प्रकट हो चुके होते।" दुर्योधन बोला।

"हो तो जाते; किंतु इतनी बात तो वे भी समझते ही हैं कि तुम अधिमास का बहाना ले कर उन्हें पुनः वन में भेजने का प्रयत्न करोगे।" भीष्म कुछ थम कर बोले, "मैं भी नहीं चाहता कि तुम लोगों में युद्ध हो, और मैं जानता हूँ कि अर्जुन भी युद्ध-लोलुप नहीं है। मेरी बात मानो, तुम उनका राज्य उन्हें दे कर युद्ध के बिना ही संधि कर लो।"

"राज्य तो मैं किसी भी स्थिति में नहीं लौटाऊँगा पितामह ! वे एक नहीं छत्तीस अज्ञातवास पूरे कर लें।" दुर्योधन को भीष्म के प्रस्ताव पर विचार करने की कोई आवश्यकता ही नहीं लगी।

लगा, भीष्म दुर्योधन को जोर का थप्पड़ मार देंगे। उनका चेहरा तमतमा आया था और ऑखें रक्तिम हो उठी थीं। ... किंतु वे अपना क्रोध पी गए।

"तो फिर युद्ध के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है।" भीष्म बोले, 'किंतु युद्ध विभाजित सेना से नहीं हो सकता।"

"आचार्य मुझे क्षमा करें।" दुर्योधन ने तत्काल पाला बदल लिया, "वह कर्ण की मूर्खता थी कि उसने आचार्य की आलोचना की।" दुर्योधन ने कर्ण की ओर देखा और झुक कर द्रोण के चरण पकड़ लिए, "गुरुदेव ! अपने इस मूर्ख शिष्य को क्षमा करें।"

दुर्योधन की इच्छा को समझ कर्ण ने भी हाथ जोड़ दिए, "आचार्य क्षमा करें। मैंने अपने आवेश में जो कुछ कह दिया, उस पर मैंने विशेष विचार नहीं किया था। मैं अपने किए पर लज्जित हूँ।"

द्रोण का मन विशेष उल्लसित नहीं था, किंतु उस पर से एक भारी बोझ

हट गया। बोले, "तो फिर हम सब मिल कर ऐसे व्यूह की रचना करें, जिससे अर्जुन किसी भी प्रकार राजा दुर्योधन के निकट न पहुँच सके। राजा की रक्षा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण काम है।"

भीष्म ने देखा : द्रोण भी प्रायः वही सोच रहे थे, जो उनके मन में था। वे दुर्योधन को अर्जुन के हाथों मरने नहीं देंगे। ... और दुर्योधन तो अर्जुन को मार सकता ही नहीं है।

"तो फिर तुम ऐसा करो दुर्योधन ! एक चौथाई सेना अपने साथ ले कर तत्काल हस्तिनापुर लौट जाओ। एक चौथाई सेना के साथ मत्स्यों का गोधन दक्षिण दिशा से हस्तिनापुर भेज दो। आधी सेना के साथ हम लोग यहाँ अर्जुन को रोकने का प्रयत्न करेंगे।" भीष्म ने दूसरा प्रस्ताव रखा।

दुर्योधन ने कर्ण की ओर देखा : कर्ण के चेहरे पर किसी प्रकार की कोई प्रतिक्रिया नहीं थी। द्रोण, कृप तथा अश्वत्थामा प्रस्ताव से सहमत लगे। ... तो क्या करे दुर्योधन ? समरभूमि छोड़ कर जाने की उसकी इच्छा नहीं थी। वह अर्जुन का वध अपने हाथों से न भी कर सके तो वह उसे अपने नेत्रों से मरते देखना चाहता था। ... पर भीष्म के प्रस्ताव से सहमत होने वालों का अभिप्राय उसकी समझ में आ रहा था। वे लोग स्वयं को अर्जुन से उसकी रक्षा करने में असमर्थ मान रहे थे।... और आचार्य तथा उनके पुत्र का क्या भरोसा है। किसी के विरुद्ध भी मन में गाँठ बाँध लेंगे, तो उसे द्रुपद के समान अपना शत्रु मान लेंगे। यदि उन्होंने कहीं अर्जुन के विरुद्ध मन से युद्ध न किया तो ? अश्वत्थामा कह ही चुका है कि वह अर्जुन से युद्ध नहीं करेगा। ...ऐसे में तो मत्स्यों की लूटी हुई गौओं के भी हाथ से निकल जाने की आशंका थी।

"तुम सुरक्षित हस्तिनापुर पहुँचो मित्र ! इस अर्जुन को तो मैं देख लूँगा।" कर्ण ने धीरे से कहा।

दुर्योधन सहमत हो गया। उसका मन निरंतर चिल्ला रहा था... इस अश्वत्थामा का कोई भरोसा नहीं है। वह अपने पिता के अपमान के कारण कर्ण से रुष्ट था। कर्ण से रुष्ट होने के कारण वह उसके मित्र दुर्योधन से भी प्रसन्न नहीं था। वह उसे मूर्ख कह ही चुका था।... वह अपने प्रतिशोध में पशु हो सकता है। वह उनका साथ छोड़ सकता है; और जिधर वह होगा, उसके पिता और मातुल भी उसी ओर होंगे।

दुर्योधन और अपहरित गोधन को सेना के साथ हस्तिनापुर की ओर भेज कर भीष्म बोले, "हम वज्रगर्भ, व्रीहिमुख तथा अर्धचक्रांत मंडल व्यूहों की रचना करेंगे। आचार्य मध्य में रहें। सेना के वाम भाग की रक्षा अश्वत्थामा करे। दक्षिण पक्ष

की रक्षा कृपाचार्य करें। कर्ण सेना के सम्मुख होगा और मैं पृष्ठ भाग में रह कर सेना की रक्षा करूँगा।"

कर्ण समझ नहीं पाया कि वह प्रसन्न है अथवा खिन्न। वह प्रसन्न था कि वह अर्जुन से युद्ध करने वाली सेना के अग्रिम भाग मे था। युद्ध का सवसे अधिक अवसर उसी को मिलेगा। ... पर वह एक प्रकार की अनाम सी खिन्नता का अनुभव भी कर रहा था। ... इस भीष्म ने सवसे अधिक संकट का स्थान उसे ही दिया था। मरे तो वह मरे। द्रोण को मध्य में खडा कर सुरक्षित कर दिया था और स्वयं तो सारी सेना के पीछे छिप कर खड़ा हो गया था। कर्ण ने द्रोण का अपमान करने के लिए कहा था कि दुर्योधन द्रोण को सेना के पिछले भाग मे रखे, ताकि वह शत्रु से मिल न सके, कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय न कर सके; किंतु भीष्म ने तो स्वयं अपनी इच्छा से सेना के पीछे रहने का निर्णय किया था। क्यों ? इसलिए कि वह स्वयं सुरक्षित रहे, अथवा इसलिए कि वह अर्जुन से युद्ध करने से वच जाए, उसे अर्जुन का वध न करना पडे। वह अपनी रक्षा कर रहा था अथवा अर्जुन की ?? इस समय दुर्योधन भी यहाँ नहीं था कि कोई भीष्म का विरोध कर सकता। ... ये दोनों ही वृद्ध अत्यंत षड्यंत्रकारी हैं। इन दोनों का ही कोई भरोसा नहीं है...

58

अर्जुन ने उत्तर को संकेत किया, "रुक जाओ राजकुमार !"

उत्तर ने रथ रोक दिया। अर्जुन ने अनुभव किया कि उत्तर वैसे चाहे भीरु रहा हो... और भीरु भी क्यों, इतने सारे कौरव महारथियो को देख कर तो वड़े-वडों के छक्के छूट जाते... उत्तर की तो अभी अवस्था और युद्ध का अनुभव ही क्या था... किंतु उसका रथ संचालन पर्याप्त दक्षतापूर्ण था।

सामने कौरव सेना व्यूहवद्ध खड़ी थी। ...अर्जुन ने अपनी दृष्टि घुमाई ...पितामह भी थे, आचार्य द्रोण और कृपाचार्य भी दिखाई दे रहे थे। अश्वत्थामा और कर्ण भी अपने रथों में सन्नद्ध वैठे थे। ... किंतु न तो वहाँ दुर्योधन था और न ही गोष्ठ से चुराया हुआ गोधन। गौवे कहाँ गई ? क्या इन लोगों ने गौओं को दुर्योधन के साथ पहले ही हस्तिनापुर भेज दिया है। विराटनगर की चुनौती को स्वीकार करने का भी साहस नहीं हुआ।

"राजकुमार !" अर्जुन ने कहा, "यहाँ न तुम्हारा गोधन है और न दूसरों का धन लूटने वाला वह दस्यु दुर्योधन। यहाँ व्यर्थ युद्ध की आवश्यकता नहीं

है। वहीं चलो, जहाँ गोधन है और दुर्योधन है।"

उत्तर ने उसकी ओर देखा, "किधर गया होगा ?"

"दक्षिण मार्ग से गया होगा।" अर्जुन ने कहा।

उत्तर ने तत्काल अपने अश्वों को मोड लिया; और बिना तनिक भी विलंब किए, रथ को पूरे वेग से दौड़ा दिया।

कर्ण ने देखा कि अर्जुन आया है, खड़ा उन लोगों को देखता रहा है और फिर उल्टे पैरों भाग गया है। उसकी इच्छा हुई कि वह अर्जुन का पीछा करे। उसे पकड़े। उसे रथ से घसीट कर भूमि पर गिरा दे और उसके कंठ पर अपना पैर रख कर पूछे, "यही है तेरी वीरता ?"

पर वह व्यूहबद्ध सेना के एक अंग के रूप में खडा था, वह अपनी इच्छा से अपना स्थान छोड़ कर उसके पीछे नहीं भाग सकता था। सेना के नायक भीष्म थे; और वे अपने स्थान पर शिला के समान बैठे थे।

"आपका वह वीर पौत्र तो भाग गया पितामह !" उसने चिल्लाकर कहा।

भीष्म कुछ सोच रहे थे। कर्ण की बात से खीझ उठे, "वह भाग नहीं गया अंगराज ! हमें मूर्ख बना गया है। हम उसे रोकने के लिए व्यूह बाँधे खडे रह गए और वह हम से उलझे बिना ही दुर्योधन के पीछे चला गया है। हम सब यहाँ सजे खडे रहेंगे। तुम अपनी वीरता पर प्रसन्न होते रहोगे और वह वहाँ दुर्योधन को दबोच लेगा।"

भीष्म के वाग्बाणों ने कर्ण के अहंकार के व्यामोह को छेद डाला। ... यह वृद्ध सत्य ही कह रहा है, वे लोग यहाँ खड़े रह जाएँगे और वहाँ अर्जुन दुर्योधन की हत्या कर देगा। ...उसने दृष्टि घुमाई, तो उसे लगा कि सारी कौरव सेना पर दुर्योधन की मृत्यु का सन्नाटा छा गया है।

"अर्जुन का पीछा करो।" भीष्म ने आदेश दिया, "वह किसी भी प्रकार दुर्योधन तक न पहुँच पाए।"

अर्जुन को मत्स्यों की गौवों को खोजने में अधिक समय नहीं लगा। निश्चित रूप से गौवों की वैसी गति नहीं हो सकती थी, जैसी अश्वों की थी। उसने देखा कि दुर्योधन के सैनिक असंयत रूप से गौवों को दौड़ाने का प्रयत्न कर रहे हैं। उनके व्यवहार से स्पष्ट था कि वे स्वयं ही बहुत भयभीत थे और शीघ्रातिशीघ्र यहाँ से निकल जाना चाहते थे। ...

"इनके साथ तो कोई रक्षक ही नहीं है राजकुमार !" अर्जुन ने कहा।

"सैनिक हैं तो।" उत्तर बोला, "मेरा विचार है, कई वाहिनियाँ होंगी।"

"वाहिनियाँ तो हैं।" अर्जुन ने कहा, "किंतु भयभीत और अपने प्राणों को

बचाने को आतुर सैनिक तो इन गौवों को हस्तिनापुर पहुँचाने से रहे। दुर्योधन ने एक भी महारथी योद्धा इनके साथ नहीं भेजा है।"

अर्जुन ने किसी भटके मेघखंड द्वारा वरसाई गई बूँदों के समान, कौरव सैनिकों पर बाणों की एक बौछार कर दी।

सैनिकों में तत्काल घबराहट और भय के लक्षण दिखाई दिए। वे जानते थे कि अर्जुन के भय से उन्हें शीघ्रातिशीघ्र हस्तिनापुर भेजा जा रहा है।...बाणों की इस आकस्मिक बौछार और सामने खड़े रथ को देख कर उन्हें कोई संदेह नहीं रह गया कि जिससे डर कर दुर्योधन भी भाग रहा था, वह अर्जुन उनका वध करने आ गया है। ... उनका सारा अनुशासन टूट गया। ... कोलाहल से घबरा कर गौवे भी भागने लगीं और सैनिक भी। ...

"पार्थ गौवें तो भाग रही हैं।" उत्तर बोला।

"उनकी चिंता मत करो।" अर्जुन बोला, "वे भाग कर अपने गोष्ठो की ओर ही जाएँगी। हमे तो उन सैनिकों को देखना है, जो गौवों को उनके गोष्ठों की ओर जाने से रोकेंगे।"

अगले कुछ ही क्षणों में स्पष्ट हो गया कि सैनिकों को गौवों से कहीं अधिक अपने प्राणों की चिंता थी। उनमें से कोई भी अर्जुन से युद्ध करने का इच्छुक नहीं था। उन्होंने गौवों को रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया। अपने प्राणों की रक्षा के लिए वे भाग कर सघन वन में छुप गए।

"अब ?" उत्तर ने पूछा।

"गौवों को तो तुम गोष्ठ में पहुँचा हुआ ही समझो।" अर्जुन ने कहा, "अब हमें उस दस्यु दुर्योधन को खोजना है।"

रथ-चक्रों के चिह्न आगे का मार्ग दिखा रहे थे। उत्तर ने अपने अश्व उसी ओर बढ़ा दिए।

"मुझे लगता है उत्तर ! कि पितामह की गौवों के हरण में भी कोई रुचि नहीं रही होगी।" अर्जुन ने कहा, "अन्यथा वे गौवों के साथ कोई योद्धा तो भेजते ही।"

"यदि उनको गौवों में रुचि नहीं थी तो वे यहाँ करने क्या आए थे।" उत्तर ने कहा।

अर्जुन समझ रहा था कि यह प्रश्न नहीं था। उत्तर ने अपनी शैली में उससे अपनी असहमति प्रकट की थी।

"यह सब समझने के लिए तो पहले पितामह के मन को समझना होगा।" अर्जुन ने भी हल्के से हँस कर विषय को टाल दिया।

उन्हें अपने आगे-आगे कुछ दूरी पर कुछ रथ तथा अश्वारोहियों की वाहिनियाँ दिखाई देने लगी थीं, और अपने पीछे आते हुए सैनिकों तथा रथों

की ध्वनि भी सुनाई पड़ने लगी थी।

"राजकुमार ! मुझे लगता है कि हम ठीक दिशा में जा रहे हैं। हमारे आगे-आगे यह सेना दुर्योधन की ही होनी चाहिए ..."

"और पीछे ?" उत्तर ने पूछा।

"हमारे पीछे वे भी आ रहे हैं, जिन्हें हम युद्धभूमि में व्यूहबद्ध खड़े छोड़ आए थे।" अर्जुन ने कहा, "लगता है कि उनकी भी समझ में आ गया है कि हमारी व्यर्थ के युद्ध में कोई रुचि नहीं है। हमारा लक्ष्य कौन है, यह भी वे समझ गए होंगे। इसलिए दुर्योधन की रक्षा के लिए आ रहे हैं।"

"अर्जुन का अनुमान सत्य निकला। सामने भागने वाला दुर्योधन ही था।

अर्जुन के बाणों की बौछार से दुर्योधन रुक गया। अब वह और अर्जुन आमने-सामने थे।

अर्जुन ने संकेत किया, "सारी सेना की अनदेखी कर सीधे दुर्योधन पर रथ चढ़ा दो, चाहे रथ से रथ टकरा जाए।"

"रथ टूट भी सकता है पार्थ ! अश्वों के प्राण जा सकते हैं।" उत्तर ने अपनी आशंका प्रकट की।

"नहीं ! ऐसा नहीं होगा। उसका सारथी भय के कारण अपना रथ हटा लेगा।" अर्जुन ने उत्तर दिया, "और यदि वैसा कुछ हो गया तो हम उनका रथ छीन लेंगे।"

उत्तर ने अपना रथ इस प्रकार दौडा दिया, जैसे उसके सम्मुख खुला मार्ग हो और उस पर किसी का कोई अस्तित्व न हो।

सहसा पीछे से आने वाले अनेक रथ उनके निकट से होते हुए आगे निकल गए और अर्जुन ने देखा कि सबके आगे कर्ण था। वह अपने युवराज की रक्षा के लिए सबसे अधिक व्याकुल था। वह जानता था कि अर्जुन के बाणों से दुर्योधन अपनी रक्षा नहीं कर पाएगा। ... अर्जुन कर्ण पर झपटा कि बीच में कर्ण के रक्षक संग्रामजित, शत्रुसह, और जय आ गए।

उनको हटाए बिना कर्ण तक नहीं पहुँचा जा सकता था और कर्ण को हटाए बिना दुर्योधन पर आक्रमण करना संभव नहीं था। अर्जुन के मन में उन लोगों से युद्ध करने की कोई इच्छा नहीं थी; किंतु वे लोग उसके मार्ग में आ रहे थे। उसने अपना गांडीव उनकी ही ओर मोड दिया। तब कहीं से भागता दौड़ता विकर्ण बीच में आ गया। ... वह दुर्योधन का भाई था, इसलिए उसे अर्जुन के हाथों मरना ही था; किंतु उस क्षण में भी अर्जुन भूल नहीं सका कि यह वह व्यक्ति था जिसने द्यूतसभा में पांचाली के अपमान का विरोध किया था।...अर्जुन का मन नहीं चाहता कि विकर्ण अभी यहीं मर जाए। यह तो कोई ऐसा युद्ध भी नहीं था। वे लोग मत्स्यों की गौवें चुराने आए थे; और अर्जुन उनको लौटा

ले जाना चाहता था। ऐसे मे विकर्ण का मरना क्या आवश्यक था। ...पर वह उसके सम्मुख खडा चुनौती दे रहा था... अर्जुन के बाणो का एक झोंका चला और विकर्ण के रथ के अश्व भूमि पर लोट गए, सारथि अपने आसन पर ही सो गया और विकर्ण का कवच टूट गया। उसके शरीर से अनेक स्थानों पर से रक्त बहने लगा था। विकर्ण के सम्मुख प्राण बचाने के लिए पलायन कर जाने के सिवाय और कोई मार्ग ही शेष नहीं था।

अर्जुन ने गांडीव को दूसरी ओर मोडा ...

राजकुमार उत्तर का मुख आश्चर्य से खुल गया : गांडीव धनुष था कि महाकाल का संदेश ! ...विकर्ण भाग चुका था। शत्रुंतप मारा गया। कर्ण का भाई सग्रामजित भी खेत रहा था।...

उत्तर उनमें से किसी को भी नहीं पहचानता था। उसके लिए तो सारे ही मात्र कौरव योद्धा थे। ...किंतु अर्जुन उसे गिरने वालो के नाम ऐसे बताता जा रहा था, जैसे कोई मरने वालो की संख्या बता रहा हो ...

अब अर्जुन के सामने कर्ण था। कर्ण ने देखा था कि उसकी रक्षा करते करते, उसका भाई संग्रामजित मारा गया था। उसके क्रोध ने उसके मन में छिपे अर्जुन के भय को धूमिल कर दिया था। ...

"अर्जुन !" वह चिल्लाकर बोला, "तू जो यह स्त्री वेश बना कर आया है, उसका कारण तो मुझे मालूम नहीं है, किंतु इसके कारण मैं तुझ पर प्रहार न करूँ, यह संभव नहीं है। तू ने मेरे भाई को मारा है, अब उसके शुल्क के रूप मे अपने प्राण दे।"

"अर्जुन ने देखा कि तब तक भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा भी आ पहुँचे थे। वे लोग किसी योजना के अंग स्वरूप संयोजित रूप में अपने रथ बढा रहे थे, किंतु कर्ण ने उनकी चिंता न कर अपना रथ अकेले ही बढा लिया था। यह उसके आवेश के कारण भी हो सकता था और उसके अहंकार के कारण भी। इसी प्रयत्न में कर्ण अकेला पड गया था। भीष्म, द्रोण तथा कृपाचार्य जिस तटस्थ भाव से खडे थे, उससे यही अनुमान लगाया जा सकता था कि वे दुर्योधन की रक्षा के लिए, उस पर आक्रमण करने वाले के मार्ग में तो खड़े थे, किंतु कर्ण के इस अकेले जूझने के प्रयत्न में वे उसकी सहायता करने के लिए आगे बढते दिखाई नहीं पड़ रहे थे।

क्षण भर भी नष्ट करना उचित नहीं था। अर्जुन का धनुष खिंचा और जैसे वह मंडलाकार ही हो गया। उसमें से बाण छूटते ही जा रहे थे। कर्ण ने भी बाण वर्षा आरंभ कर दी थी; किंतु वे बाण उद्भ्रांत से हो गए लगते थे। अर्जुन के बाणों की झड़ी ने उसके अश्व मार दिए थे। सारथि मूर्छित कर दिया था। रथ के चक्र और चंक्ररक्षक अंग भंग के कारण सीधे खडे नहीं हो पा रहे थे।

कर्ण का शरीर बाणों से जैसे बिंध गया था। उसका टूटा कवच अपने ही रक्त से रंग कर लाल हो गया था। ... वह कूद कर टूटे रथ से नीचे आया और सेना के पीछे कहीं छिपे दुर्योधन की ओर भाग गया। उसके लिए वही एक शरणस्थली बची थी।

"राजकुमार! अब हमारे सामने पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण तथा कृपाचार्य हैं। इन्हें पहचान लो।" अर्जुन ने कहा, "पितामह को देख रहे हो न! ये राजलक्ष्मी से संपन्न हो कर भी दुर्योधन के अधीन हो रहे हैं। यह बात मेरे मन को संतप्त करती रहती है।" अर्जुन ने उत्तर पर एक त्वरित दृष्टि डाली, "वैसे हम उनके निकट सबसे अंत में चलेंगे। मैं जानता हूँ, वे मेरे मार्ग में विघ्नकारक नहीं होंगे।"

अर्जुन ने अपना शंख उठा लिया और उच्च स्वर मे कहा, "मैं तृतीय पांडव कुंतीपुत्र अर्जुन अपने पितामह तथा आचार्यों को इस युद्धभूमि में प्रणाम करता हूँ।"

उसने शंख को पूरी शक्ति से फूँका। उत्तर को लगा कि इस शंखनाद से उसके कान ही बहरे हो जाएँगे। उसने कुछ कहने के लिए पीछे देखा कि अर्जुन के धनुष पर चढ़े एक विचित्र और अपरिचित शस्त्र को देख कर चकित स्वर में बोला, "यह क्या है पार्थ ?"

"अब तुम कुछ दिव्यास्त्रों की शक्ति देखो राजकुमार !" अर्जुन ने उत्तर दिया।

उनका रथ कृपाचार्य के सम्मुख पहुँचा ही था कि अर्जुन ने अपना अस्त्र छोड दिया।

कृपाचार्य अपने धनुष से बाण छोड़ रहे थे। उनमें से कुछ बाणों ने अर्जुन को क्षत भी पहुँचाए थे, किंतु अर्जुन के आक्रमण का कुछ विचित्र ही प्रभाव हुआ। कृपाचार्य के रथ के अश्व बाणों की व्यथा से ऐसे उछले कि रथ का सतुलन पूर्णतः नष्ट हो गया। कृपाचार्य अपने धनुष को सँभालते ही रहे और वे अपने स्थान से गिर कर भूमि पर आ रहे। अब वे रथविहीन हो कर खुले क्षेत्र मे गांडीवधारी अर्जुन के सामने खड़े थे।

उनके सैनिक वेग से दौड़ते हुए आए और रथविहीन कृपाचार्य को रणभूमि से हटा कर ले गए। अर्जुन ने उनके इस काम में कोई बाधा नहीं डाली।

अर्जुन का रथ आचार्य द्रोण के रथ की परिक्रमा कर, उनके सम्मुख खडा हो गया। अर्जुन ने हाथ जोड कर प्रणाम किया, 'आचार्य मुझ पर क्रोध न करे। मैं तो आप पर तभी प्रहार करूँगा, जब आप मुझ पर प्रहार कर लेंगे।

द्रोण ने अपना धनुष सँभाल लिया। उनके बाण चले और लगा कि निमिष भर में ही जैसे अर्जुन, उसका सारथि, तथा अश्व सब ही आहत हो गए। ... अर्जुन मुस्कराया, "राजकुमार घबराओ नहीं। आचार्य ने अनुमति दे दी है। अब

मैं भी अपने गुरु को अपने शस्त्र कौशल का प्रमाण दे सकता हूँ।"

अर्जुन ने अपने दिव्यास्त्र प्रकट करने आरंभ किए। क्रमशः उसका वेग बढता चला गया और द्रोण मंद पड़ते रहे। वे विस्मयविमुग्ध हो कर, अपने शिष्य का विकास देख रहे थे। यह बालक वर्षों पूर्व उनके चरणों में बैठ कर धनुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करता था। यह वह पौधा था, जिसे उन्होंने रोपा और सींचा था। उसके पश्चात् वह उनसे दूर चला गया था। आज एक लंबे अंतराल के पश्चात् वह उनके सम्मुख खडा जैसे इतने दिनों की अपनी अनुपस्थिति का विवरण प्रस्तुत कर रहा था। अपना कितना विकास किया था उसने। वे देख रहे थे ... अर्जुन का कभी न चूकने वाला स्वभाव, शस्त्रास्त्रों की अद्भुत शिक्षा, उसकी स्फूर्ति, दूर तक बाण मारने की शक्ति। उसके पास ज्ञान भी था, प्रशिक्षण भी था, अभ्यास भी था, उत्साह भी था और क्षमता तथा शक्ति भी थी। ... आचार्य के रोम-रोम से जैसे उसके लिए आशीर्वाद प्रस्फुटित हो रहे थे।

दोनों ओर से शस्त्रास्त्र चल रहे थे। ... अर्जुन दिखा रहा था, देखिए आचार्य ! मैं यह भी कर सकता हूँ। ... और उसे लग रहा था, आचार्य भी जैसे उसके साथ क्रीडा कर रहे हों।... यदि मैं इस शस्त्र का प्रयोग करूँगा तो क्या करोगे अर्जुन ? यदि इस प्रकार आघात करूँगा, तो तुम अपनी रक्षा कैसे करोगे ? रथ की गति यह हो जाए तो रथी का कोण क्या होगा ? ...

आचार्य प्रश्न के रूप में जैसे एक बाण चलाते थे और योग्य शिष्य के रूप में उत्तर में अर्जुन बाणों की झड़ी लगा देता था।

अश्वत्थामा देख रहा था कि अर्जुन घातक प्रहार चाहे नहीं कर रहा था; किंतु उसके वृद्ध पिता क्रमशः शिथिल होते जा रहे थे। यदि युद्ध इसी गति और म से चलता गया, तो आचार्य के शरीर का सारा रक्त बह जाएगा। उन्हें व्यावहारिक युद्ध का विशेष अनुभव नहीं था। दुर्योधन के इस युद्ध के लक्ष्य से भी वे सहमत नहीं थे; और उन्हें युद्ध भी करना पड़ रहा था, अपने प्रियतम शिष्य से। कैसे लड़ सकेंगे आचार्य !

अश्वत्थामा जैसे रथों की वाहिनी ही ले कर बीच में घुस आया और उसने अर्जुन को चारों ओर से घेर लिया। अपने पिता को वहाँ से हटने का अवसर उपलब्ध कराना था, तो कुछ समय के लिए अर्जुन को किसी भी प्रकार, अक्षम करना ही होगा। अन्यथा आचार्य का बचना कठिन था। पता नहीं वे युद्ध कर नहीं पा रहे थे, अथवा वे अर्जुन से युद्ध करना नहीं चाहते थे। ...

अश्वत्थामा का विचार था कि अर्जुन आचार्य को उनकी इस दुर्बल स्थिति मे जाने नहीं देगा। प्रतिपक्षी को एक बार भूमि पर गिरा कर कौन फिर उसे उठने देता है। यदि इस समय आचार्य यहाँ से निकल गए तो पुनः पर्याप्त सबल हो कर लौटेंगे। ... किंतु उसे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि अर्जुन ने आचार्य

को घेरने, रोकने अथवा और कठिन परिस्थितियों में डालने का कोई प्रयत्न नहीं किया। उसने जैसे हँस कर अश्वत्थामा का स्वागत किया और अपने गांडीव को उसकी ओर मोड़ लिया।

अश्वत्थामा ने पार्थ पर प्रबल प्रहार किया। दसियों बाण उसके वक्ष पर दे मारे। वह चाहता था कि एक बार अर्जुन इतना शिथिल हो जाए कि आचार्य संग्रामभूमि से बाहर निकल जाएँ। अर्जुन अश्वत्थामा की इच्छा को समझ रहा था; और साथ ही उस नीति की दुर्बलता को भी समझ रहा था। उसने अपने प्रहार की गति को शिथिल कर दिया था। वह बाण कम चला रहा था और रथ के अश्वों को अधिक नचाने के संकेत करता जा रहा था। थोड़ी ही देर में दोनो योद्धाओं की नीति का प्रभाव सामने आ गया। ... आचार्य अपनी घायल अवस्था में युद्धभूमि से हट गए थे, किंतु अश्वत्थामा के बाण समाप्त हो गए थे। ... उसने पहले इस ओर ध्यान नहीं दिया था कि वह इस प्रकार के लंबे सघन युद्ध के लिए उपयुक्त संख्या में बाण नहीं लाया था। ...

आचार्य को तो उसने सुरक्षित स्थान पर पहुँचने में सफलता पा ली थी, किंतु अब अपना युद्ध चलाए रखने के लिए उसके पास बाण नहीं बचे थे ...

कर्ण फिर से अपना रथ शस्त्रों से भर कर लौट आया था। उसमें इतना धैर्य नहीं था कि वह अश्वत्थामा और अर्जुन के युद्ध का परिणाम देख लेता। उसे लगा कि यही क्षण अर्जुन से भिड जाने के लिए उपयुक्त है। यदि वह और अश्वत्थामा, अर्जुन को घेर लेंगे, तो कदाचित् वह अर्जुन का अंत ही होगा। ...उसने आचार्य के लिए अपशब्द कहे थे, तो अश्वत्थामा इतना क्रुद्ध हो गया था। अर्जुन ने तो आचार्य को क्षत-विक्षत कर दिया है। अश्वत्थामा उसके प्रति अवश्य ही क्षोभ से भरा हुआ होगा। ... कर्ण अपना रथ दौड़ाता हुआ, अर्जुन के सामने आ खडा हुआ।

अर्जुन उसे देख कर हँसा, "अभी थोड़ी देर पहले तू मेरे सामने से पीठ दिखा कर भाग गया था; इसीलिए अब तक जीवित है। तुझे सूचना मिल गई कि नहीं कि तेरा छोटा भाई मारा गया है। तेरे सिवाय और कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपने भाई को मरवा कर और युद्धक्षेत्र छोड़ कर पलायन करके भी, भद्र समाज में खड़ा हो कर अपनी वीरता का बखान करे।"

अर्जुन ने देखा कि अश्वत्थामा के सैनिक समरभूमि में गिरे हुए बाण एकत्रित कर, उसे दे रहे हैं। उसने अश्वत्थामा की ओर से मुँह फेर कर कर्ण से युद्ध आरंभ किया। कर्ण नए उत्साह से लड़ने आया था। उसने प्रबल वेग से धावा बोला; किंतु गांडीव की मार को सहना उसके संभव नहीं हो रहा था। अर्जुन ने इस बार उस पर बाणों की बौछार नहीं की थी। उसने लक्ष्य ताक कर मारने की नीति बनाई थी और परिणाम सामने था। कर्ण के रथ के अश्वों ने घुटने

टेक दिए। कर्ण अपना रथ बदलने की सोच ही रहा था कि अर्जुन के तीखे बाण वज्र के समान उसके वक्ष में लगे। उसका कवच छिन्न-भिन्न हो गया और बाण उसके वक्ष में घुस गया। कर्ण को मूर्छा आ गई। ...उसके सैनिकों ने उसे तत्काल घेर लिया और उसे हटा ले गए। ...

अर्जुन और उत्तर ने एक-दूसरे की ओर देखा और प्रसन्नता में जोर से हॅस पडे।

उत्तर की हॅसी अधिक देर तक उसका साथ नहीं दे सकी। उसके शरीर पर जितने घाव लग चुके थे, उनका प्रभाव तो होना ही था। वह धीरे से बोला, 'युद्ध और कितनी देर चलेगा पार्थ ?"

"क्यों ? क्या बात है ? तुम्हें भय लग रहा है ?"

"नहीं ! गांडीवधारी अर्जुन के संरक्षण मे भय कैसा, किंतु अब मैं अधिक देर तक आपके घोड़ों को सॅभाल नहीं पाऊँगा। मेरे प्राणों में भयंकर व्यथा है और मन अत्यंत व्याकुल हो रहा है। युद्ध में चलने वाले इन दिव्यास्त्रो के कारण दिशाएँ भागती सी प्रतीत हो रही हैं। लगता है कि इस वसा, रुधिर तथा मेद की गंध से मैं मूर्च्छित ही हो जाऊँगा।"

"चिंता मत करो राजकुमार ! तुम मूर्च्छित नहीं होगे। संभवतः तुमने पहले कभी इतने सैनिक तथा ऐसा युद्ध नहीं देखा है।" अर्जुन ने कहा, "तुम शायद जानते भी नहीं कि तुमने कितना अद्‌भुत काम किया है। इन महारथियों के सम्मुख अपने रथ को टिकाए रखना साधारण सारथि का काम नहीं है। थोड़ा धैर्य और रखो। अब तुम पितामह भीष्म के सम्मुख चलो।"

कर्ण की सहायता के लिए दुःशासन, बढ कर आगे आ गया था; किंतु उससे युद्ध करने के लिए अर्जुन को रुकने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। वह अर्जुन के बाणों की एक बौछार भी नहीं झेल सका। उसे घायल होता देख, विकर्ण, दु.सह तथा विविंशति सम्मुख आ गए।

भीष्म देख रहे थे कि दुर्योधन के ये मूर्ख भाई अपनी अनुभवहीनता में अर्जुन के सम्मुख आ गए थे। अर्जुन ने दया कर उन्हे छोड़ ही नहीं दिया, अथवा वे स्वयं ही भाग न गए तो वे मारे जाएँगे। उन्होंने अपने सारथि को संकेत किया और अगले ही क्षण वे अर्जुन के रथ के सम्मुख खड़े थे।

अर्जुन को रुकना पड़ा। उसने देखा भीष्म कुछ व्याकुल थे। वे सहज भाव से युद्ध नहीं कर रहे थे। कदाचित् इसीलिए उन्होंने युद्ध आरंभ ही दिव्यास्त्रों से किया था। उनके प्रहारों को झेलने के लिए अर्जुन को भी दिव्यास्त्रों का प्रयोग करना पडा।

दिव्यास्त्र बहुत देर तक नहीं चले। एक बार फिर से बाणों का युद्ध आरंभ हो गया था। भीष्म ने अर्जुन पर बहुत सारे प्रहार किए और उसकी गति सर्वथा अवरुद्ध कर दी थी; किंतु यह तो अर्जुन भी समझ रहा था कि पितामह ने उस पर एक भी घातक प्रहार नहीं किया था। उसकी भी कोई इच्छा नहीं थी कि वह पितामह को पीड़ा पहुँचाए।... किंतु यह युद्ध था। यदि विपक्षी योद्धा पर प्रहार न किया जाए तो विपक्षी प्रहार कर सकता है। यदि अर्जुन भीष्म को अक्षम नहीं करेगा तो कौरव सेना अक्षम नहीं होगी।...

अर्जुन के अगले ही बाण ने भीष्म के धनुष की प्रत्यंचा काट डाली। भीष्म के नयनों में उसके लिए प्रशंसा का भाव जागा। वह उनके निकट होता तो कदाचित् वे उसकी पीठ थपथपा देते।

अर्जुन ने भीष्म के वक्ष पर बाण छोड़े। उनका कवच कटा नहीं कितु उसका प्रहार दुर्निवार था। भीष्म को लगा कि कदाचित् वे मूर्च्छित हो जाएँगे। वे रथ का कूबर पकड़ कर निश्चेष्ट बैठे रह गए।

सारथि ने देखा : पितामह कदाचित् अचेत हो गए थे। कौरव सेना का सेनापति ही अचेत हो जाएगा तो युद्ध कैसे होगा ? वह तत्काल अपना रथ वहाँ से हटा ले गया।

अर्जुन ने फिर एक बार भयंकर शंखनाद किया।

दुर्योधन ने देखा कि अर्जुन उनके व्यूह के बाहर खड़ा था। अब यह उसकी इच्छा पर था कि वह पुनः कौरवों के साथ जूझे अथवा लौट कर चला जाए। उसने मत्स्यों का गोधन तो लौटा ही लिया था।...दुर्योधन ने जैसे कोई भयंकर दुःस्वप्न देखा था... उसकी सेना के सम्मुख से, उसके अनेक-अनेक महारथियों के सम्मुख से अर्जुन जीवित और सुरक्षित लौटा जा रहा था। ...कौन रोकेगा उसे ? कौन ??... उसकी दृष्टि पितामह पर पडी। वे पुनः लौट आए थे और सचेत थे।...

"पितामह !" दुर्योधन ने चीत्कार किया, "पितामह ! उसे रोकिए। उसे मारिए।"

भीष्म के मुख से जैसे धिक्कार फूटा, "जब तुम्हारे सामने था अर्जुन तो क्यों नहीं पकड लिया उसे ? अर्जुन कभी निर्दय व्यवहार नहीं करता। वह पापाचार में प्रवृत्त नहीं होता। वह बड़े से बड़े लोभ के लिए भी धर्म को नहीं छोडता। अवसर मिलने पर भी उसने युद्ध में हमारे प्राण नहीं लिए। अच्छा है कि अब तुम सुरक्षित हस्तिनापुर लौट जाओ। अर्जुन भी गौओं को जीत कर लौट जाए। ध्यान रखो, अब मोह में कहीं तुम्हारा स्वार्थ ही नष्ट न हो जाए। सबको वही कार्य करना चाहिए, जिसमें उनका कल्याण हो।..."

दुर्योधन ने अपना माथा पीट लिया : पितामह ने प्रकारांतर से युद्ध करना

अस्वीकार कर दिया था। द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा पर उसे पहले ही विश्वास नहीं हो रहा था।... अर्जुन इस समय अपने पूर्ण उत्कर्ष पर था। उससे युद्ध का यह उपयुक्त अवसर नहीं था।

कौरव सेना को हस्तिनापुर लौट चलने का आदेश दे दिया गया था।... और दुर्योधन सोच रहा था... पता नहीं, सुशर्मा को भी कुछ हाथ लगा या नहीं।...

अर्जुन का रथ पितामह और आचार्यों के रथों की ओर बढ़ा। उसने उनकी परिक्रमा कर उनको प्रणाम किया और विराटनगर की ओर लौट चला।

"राजकुमार ! समरभूमि में से कौरव महारथियों के दुकूल उठा लो और नगर की ओर लौट चलो।"

59

अर्जुन ने अपने सारे शस्त्र शमी वृक्ष पर उसी प्रकार छिपा कर रख दिए, जैसे वे पहले थे और स्वयं बृहन्नला का वही रूप धारण कर लिया, जिसमें वह विराटनगर से चला था।

उत्तर को आश्चर्य हुआ, "यह आप क्या कर रहे हैं धनंजय ? युद्ध में कौरवों के सम्मुख अपना नाम पुकार कर घोषणा कर चुके, तो आपको विराटनगर में बृहन्नला के रूप में रहने की क्या अनिवार्यता है ?"

"राजकुमार ! यदि तुम्हारे पिता को इस प्रकार अकस्मात् पता चलेगा कि पाँचों पांडव प्रच्छन्न रूप में उनके निकट वास कर रहे हैं, तो कहीं भय से उनके प्राण ही न निकल जाएँ।" अर्जुन ने रथ में सारथि का स्थान ग्रहण किया और हँस कर बोला, "वैसे यह निर्णय कि हमें कब और कहाँ प्रकट होना है, धर्मराज के हाथ में है। मैं उनकी आज्ञा के बिना, अपनी इच्छानुसार कहीं भी स्वयं को प्रकट नहीं कर सकता।"

"तो फिर आपने युद्ध में स्वयं को इस प्रकार कौरवों के सम्मुख प्रकट क्यों कर दिया ?" उत्तर ने पूछा।

"मैं न भी बताता, तो मेरे गांडीव से, मेरी युद्ध शैली से, मेरी क्षमताओं से कौरव मुझे पहचान ही लेते।" अर्जुन ने कहा, "दूसरे यह कि जितनी देर मैं बृहन्नला के रूप में लड़ता और वे मुझे पहचान न पाते, उतनी देर तक उनके मन में अर्जुन का भय नहीं जागता, जो उन्हें हतोत्साहित करने के लिए आवश्यक था। इसलिए युद्ध की नीति के रूप में, आरंभ में ही, मैने अपना परिचय दे दिया।" अर्जुन ने उत्तर की ओर देखा, "दुर्योधन के साथ होने मात्र से पितामह भीष्म,

आचार्य द्रोण तथा कृपाचार्य अर्जुन के शत्रु नहीं हो जाते। यदि वे मुझे नहीं पहचानते तो अपना शत्रु मान कर मुझसे युद्ध करते। पहचान लेने के पश्चात् उन्होंने मेरे साथ वैसा ही युद्ध किया, जैसा वे अर्जुन के साथ करना चाहते थे।"

"तो मेरे पिता को ही वास्तविकता बताने में क्या आपत्ति है आपको ?"

"यह रहस्य मेरा ही तो नहीं है राजकुमार ! मैं प्रकट हो जाऊँगा तो मेरे भाइयों को भी प्रकट होना पडे गा; और इसके लिए धर्मराज की आज्ञा आवश्यक है।"

"आपका कथन उचित ही है।" उत्तर बोला, 'किंतु जो पराक्रम आपने किया है, कौन विश्वास करेगा कि वह सब कुछ नृत्य-गान करने वाले एक साधारण षंडक ने किया है।"

अर्जुन उन्मुक्त मन से हँसा, "नहीं ! युद्ध में वह पराक्रम षंडक वृहन्नला ने नहीं, मत्स्यराज के वीर पुत्र राजकुमार उत्तर ने किया है। विराटनगर में तुम अपने पिता से यही कहोगे कि उन कौरव महारथियों को तुमने ही मार भगाया है।"

इस बार उत्तर भी हँसा, "आपने इस युद्ध से पहले विराटनगर में मेरा वह रूप देखा ही था। जब तक मैंने आपको नहीं जाना था तब तक मैं कह सकता था कि मैंने अकेले ही छह-छह कौरव महारथियों को मार कर भगा दिया। ... पर अब आपको जान लेने के पश्चात्, आपका पराक्रम देख लेने के पश्चात् मैं ऐसी कोई बात नहीं कह सकता। मैं कहने को कह भी दूँ, तो जानता हूँ कि मेरी बात कोई नहीं मानेगा। देर सवेर से सारी बातें प्रकट तो होंगी ही। तब मिथ्यावादी के रूप में मेरा जो अपमान होगा, उसको सहन करना मेरे लिए कठिन होगा। ..." उत्तर ने रुक कर अर्जुन की ओर देखा, "आपसे सत्य कहता हूँ धनंजय ! आपके इस रूप को देख कर और युद्ध के इस अनुभव से समृद्ध हो कर मेरा मन भी कुछ बदल गया है। मुझे लगने लगा है कि जो क्षमता मुझमें है, मैं उसी के यश से संतोष क्यों न कर लूँ। वह भी तो कम नहीं है। मैं ईश्वर के प्रति कृतज्ञ रहूँ कि उसने मुझे बहुत कुछ दिया है। जो यश मेरा नहीं है, उसके लोभ में मिथ्या वचन और मिथ्या आचरण से अपनी आत्मा को कलुषित क्यों करूँ।" वह हल्के से हँसा, "इतने बडे पराक्रम का श्रेय मै ले भी लूँ तो कल फिर त्रिगर्त और कौरव आएँगे, तब उनसे कौन युद्ध करेगा। पिता जी तो मुझे ही भेज देंगे कि जाओ पुत्र ! अपने शत्रुओं को निपटा आओ। ... नहीं धनंजय ! यह असंभव है।"

"तो ठीक है, जो उचित समझो, वही करो; किंतु मैं अभी प्रकट होना नहीं चाहता।" अर्जुन ने कहा।

रथ चल पड़ा। कुछ देर तो अर्जुन का ध्यान अश्वों और रथ में ही लगा

रहा; फिर उत्तर से पूछा, "तुम्हारे गोष्ठ पर चिकित्सक हैं क्या ? शल्य चिकित्सक ? जो हमारे घावों का उपचार कर सकें ?"

"हाँ। वैद्य भी हैं और शल्यचिकित्सक भी।" उत्तर ने कहा।

"तो हम पहले गोष्ठ पर ही चल रहे हैं। मुझे तुम्हारे घावों की बहुत चिंता है। चिकित्सा में विलंब हुआ तो भारी क्षति हो सकती है।" अर्जुन ने कहा, "गोष्ठ में जाकर यह भी ज्ञात हो जाएगा कि तुम्हारी गौवे वहाँ पहुँच गई हैं कि नहीं। अपने गोपो को अथवा किसी दूत को मत्स्यराज के पास भेज देना, ताकि उन्हें तुम्हारा समाचार मिल जाए और तुम्हारी ओर से वे निश्चिंत हो सकें।"

"हमारे घोड़े भी बहुत थके हुए हैं। उन्हें भी थोड़ा विश्राम चाहिए।" उत्तर ने कहा।

"हाँ ! वहीं अश्वों को नहला धुला देंगे, कुछ खिला पिला देंगे और विश्राम करा देंगे। हम संध्या समय विराटनगर की ओर चलेंगे।"

नगरद्वार पर उनके स्वागत का पूरा प्रबंध था। द्वार और राजपथ पुष्पों और दीपों से सुसज्जित थे। नगर के प्रमुख लोग उनका स्वागत करने के लिए वहाँ विद्यमान थे। स्वागत करने वालों का नेतृत्व राजकुमारी उत्तरा कर रही थी।

उत्तरा ने अपने भाई और गुरु के शरीर पर इस प्रकार बँधी पट्टियाँ देखीं, तो उसका चेहरा कुछ उतर गया।

"बहुत घाव लगे है भैया ?"

उत्तर हँसा, "तू तो पगली है। हम लोग युद्ध में गए थे। कौरव सेनाओं का नेतृत्व उनके छह-छह महारथी कर रहे थे। हमारे साथ कौन था ? बृहन्नला के साथ मैं; और मेरे साथ बृहन्नला। इतनी भी सुविधा नहीं थी कि यदि हमारे घोड़े क्षत-विक्षत हो जाएँ अथवा मारे जाएँ तो हम उन्हें बदल ही लें। ऐसे में शरीर पर युद्ध के कुछ चिह्न ले कर हम सुरक्षित लौट आए हैं तो क्या उदास होने की बात है ?"

उत्तरा प्रयत्नपूर्वक मुस्कराई और उसने दोनों की आरती उतारी।

"महाराज नगर में लौट आए हैं ?" बृहन्नला ने पूछा।

"हाँ गुरुदेवी ! महाराज सकुशल हैं। वे त्रिगर्तो से अपना गोधन लौटा लाए हैं; और व्याकुलतापूर्वक आप लोगों की प्रतीक्षा कर रहे हैं।" उत्तरा ने कहा।

बृहन्नला ने रथ में से उठा कर कुछ वस्त्र उत्तरा की ओर बढ़ाए, "यह लो राजकुमारी ! तुम्हारी और तुम्हारी सखियों की पुत्तलिकाओं के लिए।"

"क्या है यह ?" उत्तरा ने पूछा।

"कौरव महारथियों के अंगवस्त्र और दुकूल।" बृहन्नला मुस्कराई, "वे

समरभूमि में छोड गए और हम उठा लाए।"

"आपने उस भयंकर युद्ध में भी इसे स्मरण रखा गुरुदेवि।" उत्तरा उल्लसित स्वर में बोली, 'हमने तो वह क्रीड़ावश ही कहा था।"

"अपनी योग्यतम शिष्या की इच्छा को पूर्ण करना भी मेरा धर्म था।"

नगरद्वार पर वे लोग अधिक देर तक नहीं रुके। बृहन्नला को विश्राम की आवश्यकता थी; और उससे भी अधिक उत्तर को। राजकुमारी उत्तरा उन्हें अपने रथ में सुविधापूर्वक राजप्रासाद तक ले आई और सभा भवन के द्वार पर छोड कर स्वयं अंतःपुर में चली गई।

द्वारपाल ने भीतर राजा को सूचना दी और तत्काल अनुमति ले कर बाहर आ गया, "आप जाएँ राजकुमार ! बृहन्नला के लिए आदेश है कि वे थोडी देर बाहर ही प्रतीक्षा करें।"

बृहन्नला को आश्चर्य हुआ। अब तक का जो घटनाक्रम रहा था, उसे जानने के पश्चात् राजा बृहन्नला के साथ ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते थे। उत्तर को भी यह कुछ अपमानजनक लगा। वह राजा के सम्मुख अकेला जाने में संकुचित हो रहा था; किंतु बृहन्नला ने उसे भीतर भेज दिया, "संभवतः तुम्हारे पिता पहले तुमसे एकांत में मिल कर कोई महत्त्वपूर्ण बात करना चाहते हैं।"

उत्तर भीतर चला गया, तो बृहन्नला ने द्वारपाल से पूछा, "भीतर कौन-कौन है ?"

"महाराज हैं। ब्राह्मण कंक है और वह सैरंध्री है, मालिनी।" द्वारपाल ने बताया, "मैंने महाराज को बताया कि आप दोनो आए है, तो उन्होंने कहा, भेज दो। पर न जाने क्यों कंक ने कहा कि पहले केवल राजकुमार को भेजो। बृहन्नला को बाद में भेजना।"

ओह !... बृहन्नला ने सोचा... अवश्य ही कोई विशेष कारण होगा, अन्यथा युधिष्ठिर द्वारपाल को ऐसा आदेश क्यों देते। ... राजा ने बृहन्नला की कोई अवमानना नहीं की थी।

"वह सैरंध्री वहॉं क्या कर रही है ?" बृहन्नला ने पूछा, "उसका काम तो रानी का शृंगार करना है।"

"जाने क्या कर रही है।" द्वारपाल बोला, "पहले तो बड़ी अवगुंठनवती बनी घूमती थी। अब उसे किसी का कोई भय ही नहीं रह गया है। वहॉं उस कंक के पास बैठी थी। आजकल महारानी तो उससे अपना कोई काम करवाती नहीं। कोई उससे कुछ पूछता तो है नहीं कि वह क्या कर रही है, और क्यों कर रही है। कंक से उसका क्या संबंध है कि हर समय उस ब्राह्मण के निकट

बैठी रहती है।"

कोई क्यों नहीं पूछता ?" बृहन्नला ने पूछा।

"सबको अपने प्राण प्यारे हैं भाई। जाने वह किससे रुष्ट हो जाए और उसका रक्षक वह गंधर्व उसके प्राण ले ले।" द्वारपाल बोला, "मुझे तो भय है कि इस बार वह अदृश्य गंधर्व कहीं इस ब्राह्मण कंक का ही वध न कर दे।"

बृहन्नला को उस चर्चा में रस आने लगा था।

"कैसी स्त्री है यह सैरंध्री ?"

"तुम नहीं जानती हो कि कैसी है।" द्वारपाल बोला, "कीचक तो पहले भी विराटनगर में था और असंख्य स्त्रियाँ भी थीं; पर ऐसा रक्तपात तो कभी नहीं हुआ। अब यह जाने कैसी स्त्री है कि जिस ओर क्रोध से देख लेती है, उधर ही आग लग जाती है।"

"अरे तो इसमें न तो भय की कोई बात है, न रोष की।" बृहन्नला ने कहा, "कीचक अत्याचारी था। वह अपने अत्याचारों के कारण मारा गया। यदि सैरंध्री ने उस अत्याचार का विरोध किया तो क्या बुरा किया। कीचक ने उस बेचारी को कम सताया था। तुम्हें उससे कोई सहानुभूति नहीं है ?"

"सहानुभूति ? हमें तो उससे भय लगता है भाई। सच्ची बात तो यही है।" द्वारपाल बोला, "वह तो विराटनगर का आतंक है। महाराज को देखो, त्रिगर्तो को पराजित कर आए हैं। उस सुशर्मा को मार पीट कर अपना गोधन लौटा लाए हैं; किंतु सैरंध्री को कुछ कहने का साहस नहीं है उनमें। न रानी ही उसे कुछ कहती हैं। परम स्वतंत्र हो गई है सैरंध्री ! स्वतंत्र क्या, वह तो उच्छृंखल हो गई है। उस ब्राह्मण की भी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। उसे कुछ कहता ही नहीं। अरे वह तो सैरंध्री है। उसका तो काम है घर-घर डोलना। भगवान ने रूप-रंग भी वैसा ही दे दिया है। पर कंक तो सच्चरित्र ब्राह्मण है, विद्वान् है, धर्मात्मा है। वह तो स्वयं को सँभाले। ...पर सुंदरी नारी का जादू ...।"

उत्तर ने राजसभा में प्रवेश किया। मत्स्यराज द्यूत सामग्री के साथ बैठे थे। लगता था, उन्होंने माधवी का भी सेवन किया था। वे अत्यंत उल्लसित मनःस्थिति में थे। ... वहीं सामने कंक भी बैठे थे। पर राजा और कंक जैसे पृथक्-पृथक् असंपृक्त बैठे थे। कंक की नाक से रक्त बह रहा था और सैरंध्री एक पात्र में जल ले कर, उनकी सहायता करने का प्रयत्न कर रही थी। राजा न उस ओर देख रहे थे, न उस दृश्य से तनिक भी प्रभावित थे।

उत्तर ने अपने पिता को प्रणाम किया और कंक की ओर भी शीश नवाया।

वह इतना प्रत्यक्ष सम्मान नहीं था कि राजा को अखरता; किंतु कंक की उपेक्षा का अपराधी वह नहीं हुआ।

"महाराज ! आर्य कंक को यह क्या हुआ है। लगता है, उन्हें घाव लगा है। यह कैसे हो गया ? यह युद्ध का घाव तो नहीं है।"

"मैंने मारा है इसे। इस पांसे से।" राजा ने एक पांसा उठा कर दिखाया, "मुझे तुम्हारी इस अलौकिक विजय की सूचना मिली। मैं बहुत प्रसन्न था। उससे भी अधिक, जितना मै त्रिगर्तो को पराजित करके हुआ था। मैंने माधवी पी और द्यूतक्रीड़ा के लिए इसे आमंत्रित किया। मैं इतना प्रसन्न था कि प्रसन्नता मुझसे सँभाली नहीं जा रही थी। मैं तो समझता था कि कीचक के न होने से हम सदा पीडित और पराजित ही रहेंगे; किंतु हम विजयी हुए। मैंने उस सुशर्मा को पराजित किया और तुम कौरवों को जीत आए। कितना प्रसन्न था मैं। मैंने माधवी का सेवन किया ..."

उत्तर देख रहा था कि राजा से माधवी सँभाली नहीं जा रही थी। अधिकांशतः तो राजा नहीं, माधवी ही बोल रही थी। ...लगता था, उसी उन्मत्तता की स्थिति में उन्होंने कंक को पांसा फेंक कर दे मारा था।

"आप का युद्ध कैसा रहा पिता जी !"

"युद्ध ठीक था।" विराट बोले, "सब लोगों ने अच्छी प्रकार युद्ध किया। शतानीक अच्छा सेनापति है। शंख भी अच्छा योद्धा है। यह कंक है तो ब्राह्मण, पर युद्ध तो यह भी एक वीर क्षत्रिय के समान ही करता है। इसने कहा था न कि उनको भी साथ ले चलो। उनको ..."

"किन को ?" उत्तर ने पूछा।

"अरे उनको। बल्लव को। उस तंतिपाल को। ग्रंथिक को। वे सब भी असाधारण योद्धा हैं। मैं तो जानता ही नहीं था कि मेरी प्रजा में ऐसे अच्छे योद्धा हैं। वीर राजा की प्रजा को वीर ही होना चाहिए। हमने दिन में तो त्रिगर्तो को बहुत मारा; पर रात्रि को जब विश्राम करना था, त्रिगर्त फिर लड़ने आ गए। वे चंद्रमा के प्रकाश में भी लड़ते ही रहे। हम थक गए थे। सेना भी शिथिल हो गई थी। उसी में उन्होंने मुझे पकड़ लिया। मैं पकड़ा गया। राजा बंदी हो गया तो सेना को भागना ही था। सैनिक भाग गए। तब इस कंक ने उस बल्लव को भेजा। बल्लव ने सुशर्मा को बहुत मारा। उसे बाँध लिया और लाकर इस कंक के चरणों में डाल दिया। अरे राजा मैं हूँ। मेरे चरणों में नहीं डाला। इसके चरणों में डाल दिया, जैसे राजा यह हो। मैं तो तभी इसको मारता, पर मैंने सोचा कहीं बल्लव मुझे ही न मार दे। इसलिए छोड़ दिया। ... और कंक को देखो। इसने उस सुशर्मा को मुक्त कर दिया। उसे मुझे समर्पित नहीं किया। मुक्त कर दिया। क्यों कर दिया मुक्त। वह

इसका बंदी था ? वह मेरा बदी था। क्यों छोड़ा इसने ? मैंने नहीं पूछा। सोचा बल्लव रुष्ट न हो। बल्लव इसका बहुत आदर करता है। और यह सैरंध्री भी सदा इसकी सेवा में लगी रहती है। कौन है यह उसे छोड़ने वाला ? क्यों छोड़ दिया इसने उस सुशर्मा को ? ..."

उत्तर बहुत कुछ समझ रहा था। उसके पिता इतना बड़ा युद्ध जीत गए थे, किंतु उनकी वह विजय कुंठित हो कर रह गई थी।

"महाराज ! आपने आर्य कंक को आहत कर अच्छा नहीं किया।" उत्तर ने विनीत भाव से कहा, "एक ऐसे सात्विक ब्राह्मण के अपमान से तो हमारा सारा परिवार नष्ट हो जाएगा।"

"परिवार नष्ट हो जाएगा ? क्यों परिवार क्यों नष्ट हो जाएगा ?"

"आपने आर्य कंक का अपमान क्यों किया ?"

"मुझे तुम्हारी विजय का समाचार मिला। मैं बहुत प्रसन्न हुआ। होना ही था। किसी का पुत्र छह-छह कौरव महारथियों को अकेला ही पराजित कर दे तो वह प्रसन्न नहीं होगा क्या ? होगा। मैं तुम्हारी प्रशंसा करता था तो यह कंक उस हिजडे बृहन्नला की प्रशंसा करने लगता था। यह कहता था कि जो विजय हुई है, वह बृहन्नला के कारण हुई है, तुम्हारे कारण नहीं। मैं कब तक सहन करता। मैंने इससे कहा भी, किंतु यह नहीं माना। तो फिर मैंने पांसा उठा कर दे मारा।" विराट ने उत्तर की ओर देखा, "मैंने कुछ अनुचित किया पुत्र ? इस अपराध के लिए तो मैं इसे कारागार में भी डाल सकता था।"

"आपने बहुत अनुचित किया महाराज ! आप न आर्य कंक के प्रभाव को जानते हैं, न इनकी शक्ति को। आपको चाहिए कि आप इनसे क्षमा मॉंगें।" उत्तर बोला, "अन्यथा आप बहुत बडे अनर्थ के भागी होंगे।"

कंक और सैरंध्री ने भी राजकुमार की बात सुनी। उन्होंने एक-दूसरे की ओर देखा : तो उत्तर उनका परिचय जान गया है।

विराट ने किसी प्रकार की आनाकानी नहीं की। वे उठ कर कंक के निकट आए, "आप मुझे क्षमा करें आर्य कक ! मुझसे भूल हो गई है। मैंने अनजाने ही आपका अपमान कर दिया है। आप जानते ही है कि मै क्यों स्वयं को संयत नहीं रख सका। आप मुझे क्षमा कर दें।"

"आप चिंता न करें महाराज !" कंक ने कहा, "मैंने क्षमा का व्रत ले रखा है। आपके प्रति मेरे मन में तनिक भी क्रोध नहीं है। आप निश्चिंत रहें, आप का कोई अहित नहीं होगा।"

कंक की नाक से रक्त बहना बद हो चुका था। उन्होने संकेत किया कि अब बृहन्नला को भी भीतर बुलाया जा सकता है।

बृहन्नला ने भीतर आकर राजा को प्रणाम किया, और फिर उतने ही सम्मान

से कंक को भी प्रणाम किया।

राजा ने उसकी ओर देखा, 'तुमने भी बहुत पट्टियाँ बाँध रखी हैं। हाँ ! कुछ बाण तो तुम पर भी गिरे ही होंगे। इसका अर्थ है कि तुम योद्धा हो या न हो, युद्धक्षेत्र में जा सकती हो। अच्छा तुम्हें भी कल पुरस्कार दिया जाएगा।"

राजा ने न तो बृहन्नला के उत्तर की प्रतीक्षा की और न उसकी ओर ध्यान ही दिया। वे तो अपने वीर पुत्र को मुग्ध हो कर देख रहे थे, "तुम जैसा वीर पुत्र पा कर मैं धन्य हुआ पुत्र ! मैंने वस्तुतः कभी भी तुम्हारा उचित महत्त्व नहीं आँका। तुम्हें इतना वीर कभी नहीं समझा। अच्छा बताओ कि तुमने उन कौरव महारथियों से कैसे लोहा लिया ? कैसे उन्हें पराजित किया ? भीष्म को, द्रोण को, कृपाचार्य को, कर्ण को, दुर्योधन को, उस अश्वत्थामा को ? कैसे अपनी गौवें लौटाई ?"

उत्तर ने देखा, राजा का मस्तिष्क माधवी के प्रभाव से मुक्त हो रहा था। वे कुछ सहज हो गए लगते थे। अब कदाचित् वे यथार्थ को सुन कर ग्रहण कर सकें।

"महाराज ! मैं अपने अहंकार में बृहन्नला को साथ ले कर, अकेला ही कौरवों से लड़ने चला तो गया था; किंतु कौरव सेना और कौरव महारथियों को देख कर मेरे प्राण ही निकल गए। मैंने बृहन्नला से कहा कि वह रथ लौटा ले। मुझे कौरवों से युद्ध नहीं करना है। न ही मुझे अपना गोधन लौटाना है। मुझे तो बस अपने प्राणों की रक्षा करनी है। मैं रथ से कूद गया; और भयभीत हो कर वन की ओर भागने लगा था। उसी समय एक देवपुरुष वहाँ प्रकट हुआ। उसने मुझे सांत्वना दी। मुझे समझाया। मुझे लौटा कर वापस लाया। मुझे रथ में बैठाया और स्वयं सारा युद्ध किया। युद्ध उसी ने किया। कौरवों को पराजित उसी ने किया। गोधन उसी ने लौटाया। मैं तो बस रथ में बैठा भर रहा।"

कंक और सैरंध्री ने बृहन्नला की ओर देखा। बृहन्नला के अधरों पर एक मंद सी मुस्कान थी।

"वह देवपुरुष कहाँ है ? मुझे उससे मिलवाओ पुत्र ! मैं उसे कुछ पुरस्कार देना चाहता हूँ।"

"वह देवपुरुष तो अंतर्धान हो गया महाराज !" उत्तर बोला, "यह सत्य है कि उस देवपुरुष ने छह कौरव महारथियों को पराजित किया, किंतु आर्य कंक और बल्लव ने भी तो कम वीरता का कार्य नहीं किया। ये न होते, तो संभवतः आप सुशर्मा के कारागार में होते। तो आपने आर्य कंक को क्या पुरस्कार दिया ?"

राजा का मस्तक झुक गया। वे कुछ देर चुपचाप बैठे रहे। फिर उन्होंने

धीरे से सिर उठाया और कहा, "मुझसे भूल हुई। पर क्या उस देवपुरुष से मैं कभी नहीं मिल सकूँगा ?"

उत्तर ने बृहन्नला की ओर देखा।

"नहीं महाराज ! मेरा अनुमान है कि वह दो एक दिनों में आपके दर्शनों के लिए आएगा।" बृहन्नला ने कहा।

मत्स्यराज को बृहन्नला का इस प्रकार बीच में बोलना अच्छा नहीं लगा; किंतु उन्होंने उससे कुछ कहा नहीं। उत्तर से बोले, "चलो पुत्र ! अपनी माता और अपने भाई बहनों से मिल लो। वे सब भी तुमसे मिलने को व्याकुल होंगे।"

कंक, बृहन्नला और सैरंध्री को वहीं छोड कर राजा उत्तर को ले कर चले गए।

"वहॉ युद्ध में क्या हुआ ?" अर्जुन ने पूछा।

"मत्स्य लोग वीरतापूर्वक लड़े; किंतु सुशर्मा और उसके रथियों की सेना अत्यंत दुर्धर्ष थी। वे लोग मत्स्यों के वश के तो थे नहीं।" युधिष्ठिर ने बताया, "पर तुम जानते हो कि भीम सेना के आगे हो तो प्रत्येक सैनिक ही भीम बन जाता है। नकुल और सहदेव भी दुर्योधन के मित्र से अपना प्रतिशोध लेना चाहते थे, इसलिए उन लोगों ने भी कोई कसर नहीं छोड़ी। संध्या तक तो मत्स्यों की अधिक क्षति नहीं हुई किंतु; रात्रि-युद्ध में हम लोग कुछ चूक गए। मत्स्यराज अधिक दुस्साहसी हो गए और अपनी रक्षा की विशेष चिंता किए बिना सुशर्मा से भिड़ गए। सुशर्मा ने अवसर पाया तो मत्स्यराज को बॉध लिया। उसके पश्चात् उसकी युद्ध में विशेष रुचि नहीं रह गई थी। वह मत्स्यराज को ले कर अपने राज्य की ओर निकल जाना चाहता था। तभी मैंने भीम को उसके पीछे भेजा। भीम ने सुशर्मा को न केवल जा पकड़ा, वरन् मत्स्यराज को छुडा लिया; और सुशर्मा को बहुत पीटा। फिर वह उसे ले कर मेरे पास आया और मैंने यह सोच कर कि उसे उसके अपराध का पर्याप्त दंड मिल चुका है, यह कह कर मुक्त कर दिया कि वह जहॉ भी जाए, स्वयं को मत्स्यराज का दास बताए।" युधिष्ठिर निमिष भर रुके, "वहाँ तो मत्स्यराज कुछ बोले नहीं, किंतु आज के उनके प्रलाप से लगता है कि उन्हें इस बात का बहुत कष्ट है कि सुशर्मा उन्हें न सौंप कर, मुझे ही क्यों सौंपा गया; और मैंने उसे मुक्त क्यों कर दिया। फिर भी वे प्रसन्न थे कि उनका गोधन लौटा लाया गया है और त्रिगर्तो की करारी हार हुई है। राजधानी में लौटते ही उन्हें सूचना मिली कि उत्तर गोष्ठ पर कौरवों का आक्रमण हुआ था और राजकुमार उत्तर अकेला ही, बृहन्नला को सारथि बना कर उन से युद्ध करने निकला है। अपने पुत्र की वीरता के विषय में वे कुछ न कुछ तो जानते ही होंगे। उन्होंने मान लिया कि उनका वह पुत्र तो अब तक जीवित भी नहीं होगा। सुशर्मा को जय करने की सारी प्रसन्नता हवा हो गई थी कि

तुम लोगों द्वारा भेजे गए दूत ने आकर समाचार दिया कि कौरवों को पराजित कर राजकुमार उत्तर अपनी गौवों के साथ लौट रहा है। बस तब क्या था। वे अपनी प्रसन्नता को सँभाल नहीं पाए। इस आशातीत विजय को सँभालना किसी के लिए भी कठिन होता। पहले तो उन्होंने नगर को सुसज्जित करने तथा उत्तर के स्वागत इत्यादि के आदेश दिए। फिर थोड़ी माधवी पी ली और द्यूत के पांसे ले कर बैठ गए। मैंने उन्हें समझाया भी कि द्यूत तो वैसे ही कोई अच्छी चीज नहीं है और आप इस मानसिक स्थिति में द्यूत खेलना चाहते हैं। किंतु वे माने नहीं। तुम्हारी विजय की सूचना से पहले भी जब उन्होंने उत्तर के विषय मे चिंता की बात की तो भी मैंने समझाया कि यदि बृहन्नला उसकी सारथि है, तो उत्तर को कुछ नहीं होगा। अब द्यूतक्रीड़ा के मध्य फिर उसकी विजय की चर्चा करने लगे, तो भी मैंने बृहन्नला की प्रशंसा कर दी। बृहन्नला की इस प्रशंसा के कारण वे मुझसे रुष्ट हो गए। उनका सुख जैसे कुंठित हो गया।"

"पर यदि उनको उससे कष्ट होता था तो आपको मेरी प्रशंसा करने की क्या आवश्यकता थी ?" अर्जुन ने कहा।

"वैसे तो कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी।" युधिष्ठिर बोले, "किंतु यदि मैं उनके इस सुख को कुंठित न करता तो जाने उनका सुख क्या अनर्थ कर डालता। उनका अहंकार भी आकाश की ऊँचाइयाँ छूने लगा था और प्रतिशोध का भाव भी क्रूर होने लगा था। वैसे भी अब हमें प्रकट तो होना ही है।..."

"कब प्रकट होना है ?" द्रौपदी ने पूछा, "मैं भी सैरंध्री बनी रह कर प्रसन्न नहीं हूँ।"

"मैंने भी उत्तर को बड़ी कठिनाई से समझाया है। वह तो इसी क्षण हम सबको प्रकट करने पर तुला हुआ था।"

"मेरा विचार है कि मत्स्यराज को अपना विजय पर्व मना लेने दो, फिर हम अपना परिचय उनको दे देंगे।" युधिष्ठिर उठ खड़े हुए, "आओ चलें। सब कुछ होने पर भी अभी हम राजा के सेवक ही हैं। राजा की अनुपस्थिति में सभा भवन में इस प्रकार बैठे रहने पर कहीं राजा का द्वारपाल ही आपत्ति न करे।"

वे बाहर निकले तो द्वारपाल ने उन्हें कुछ घूर कर देखा। उसे सुनाते हुए सैरंध्री ने बृहन्नला से कहा, "सखि ! तुम मुझे मेरे निवास तक पहुँचा दोगी ?"

"जाओ बृहन्नले ! सैरंध्री को उसके निवास तक पहुँचा दो।"

युधिष्ठिर अपने भवन की ओर चले गए और अर्जुन तथा द्रौपदी नृत्यशाला के मार्ग पर चल पड़े। एकांत होते ही अर्जुन ने कहा, "मध्यम कहाँ है ?"

"अपनी निद्रा पूरी कर रहे हैं मध्यम पांडव।" द्रौपदी ने कहा, "उन्हें युद्ध

में रात्रि को जागना पड़ा था।"

"ओह हाँ !" अर्जुन ने हँस कर कहा, "तुम कैसी हो सखि ! तुम्हारे गंधर्व का तो बहुत आतंक है विराटनगर पर।"

"मैं यह जानने को उत्सुक हूँ कि कौरवो के साथ उस युद्ध में क्या हुआ ?"

"जो हुआ, उसकी सूचना तो तुम्हें मिल चुकी है।" अर्जुन ने कहा, "हम विजयी हुए, क्योंकि हम अपनी गौवों को लौटा लाए; और कौरव विजयी हुए, क्योंकि वे अपने युवराज को जीवित और सुरक्षित बचा कर हस्तिनापुर लौट सके।"

द्रौपदी दो-चार पग चुपचाप चली और फिर बोली, "हमने वनवास संबंधी अपनी सारी प्रतिज्ञाएँ पूरी कर दी हैं। फिर भी मेरे मन में यह दृढबद्ध धारणा है कि दुर्योधन हमारा राज्य नहीं लौटाएगा। यदि यह असंभव भी संभव हो जाए। वह हमारा राज्य लौटा भी दे तो मेरी खुली वेणी की प्रतिज्ञा पूरी नहीं होती। इसलिए युद्ध तो होगा ही।"

"तो ?"

"संयोग ही है कि तुम आज ही उन से एक युद्ध करके आए हो और वह भी अकेले। तुम उन्हें पराजित करके आए हो।" द्रौपदी बोली, "क्या मैं मान लूँ कि तुम अकेले ही, इन छह कौरव महारथियों को पराजित कर सकते हो ? आगामी युद्ध मे तुम उन्हें इसी प्रकार पराजित कर लोगे ?"

"मुझे अपनी युद्ध-क्षमता पर पूर्ण विश्वास है; किंतु यह मान लेने का मेरे पास कोई कारण नहीं है कि मैं पितामह तथा आचार्य से अधिक शक्तिशाली हो गया हूँ।" अर्जुन ने कहा।

"तो फिर पांडव दुर्योधन को पराजित करने का स्वप्न कैसे देख सकते हैं ?"

वे लोग नृत्यशाला में पहुँच गए थे। द्रौपदी के लिए यह वह स्थान था, जहाँ भीम ने कीचक को मारा था; और अर्जुन के लिए यह स्थान अपनी शिष्याओं के साथ नृत्य तथा संगीत के अभ्यास का था।

"यहाँ बैठें ?" अर्जुन ने पूछा।

"तुम्हें विश्राम की आवश्यकता नहीं है ?"

"तुम साथ हो तो विश्राम ही विश्राम है।"

वे नृत्य मंडप में चंद्रमा के प्रकाश में बैठ गए।

"तुम यह क्यों सोचती हो कि दुर्योधन को जीतने के लिए, हमें अपने पितामह और गुरु को भी पराजित करना होगा ?" अर्जुन ने पूछा।

"क्योंकि वे लोग हस्तिनापुर राज्य के अंग हैं और युद्ध की स्थिति में वे हस्तिनापुर की सेनाओं का नेतृत्व करेंगे। दुर्योधन उनकी आड में होगा और वे

लोग दुर्योधन की रक्षा कर रहे होंगे।" द्रौपदी बोली।

"मैं मानता हूँ कि वे मध्यस्थ हैं और मध्यस्थ ही रहेगे। वे युद्ध में दुर्योधन की ओर से क्यों लड़ेंगे ?"

"मैं अभी उस विवाद में पड़ना नहीं चाहती।" द्रौपदी बोली, "किंतु यदि वे दुर्योधन के पक्ष से युद्ध करने आए, तो क्या तुम उन दोनों को पराजित कर सकते हो ?"

"निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।" अर्जुन बोला।

"तो फिर आज तुम उनको कैसे पराजित कर सके, जब उनके साथ कृपाचार्य भी थे, दुर्योधन भी था, कर्ण भी था।... और भी अनेक लोग थे।" द्रौपदी बोली, "क्या वे लोग दिव्यास्त्र नहीं लाए थे ? उनकी सामरिक तैयारी पूरी नहीं थी ? वे लोग तुमसे युद्ध करने की तैयारी से नहीं आए थे ? अथवा वे तुमसे युद्ध करना नहीं चाहते थे ?..."

"बड़ा कठिन है इन प्रश्नों का उत्तर।" अर्जुन बोला, "मेरे मन में एक बात है कि मेरा उनसे सामना भी हुआ। हमने एक-दूसरे पर बाण भी चलाए। एक-दूसरे को आहत भी किया। किंतु मुझे लगता है कि वे मुझे नष्ट करने का प्रयत्न नहीं कर रहे थे, वे केवल मुझसे दुर्योधन की रक्षा कर रहे थे।"

"और तुम ?"

"मैं उनको पराजित करने अथवा उनका वध करने का कोई प्रयत्न नहीं कर रहा था। मैं तो मात्र उन्हें मार्ग से हटा कर दुर्योधन तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहा था।"

"यदि ऐसा न हो। यदि युद्ध में एक-दूसरे का वध अनिवार्य हो। तो क्या तुम पितामह का वध कर सकते हो ? आचार्य का शिरोच्छेदन कर सकते हो ?" द्रौपदी ने पूछा।

अर्जुन पूरी खुली आँखों से उसकी ओर देखता रहा। फिर बोला, "तुम ऐसी बातें पूछ भी कैसे सकती हो ? मैं पितामह का वध कैसे कर सकता हूँ। मैं राज्य के लिए अपने पितामह और अपने गुरु से युद्ध करने की सोच भी नहीं सकता।"

"तो तुमने आज उनसे युद्ध कैसे किया ?"

"कहा न ! न मैं उनका वध करने की सोच रहा था; न उन्होंने मेरा वध करने का कोई प्रयत्न किया।"

द्रौपदी ने अर्जुन के नेत्रों में असह्य पीड़ा देखी। वह और कुछ पूछ भी नहीं सकी।

60

संध्या समय जब मत्स्यराज अपने परिवार के साथ भोजन के लिए बैठे तो उनकी दृष्टि से यह बात छिपी नहीं रह सकी कि आज प्रायः सब कुछ बदला हुआ था। आज बल्लव के स्थान पर चतुरसेन उपस्थित हुआ था। अभ्यासवश मत्स्यराज के मन में आया भी कि वे चतुरसेन को कहें कि वह जाकर बल्लव को बुला लाए। एक युद्ध में भाग लेने का अर्थ यह नहीं होता कि वह कोई योद्धा हो गया है। जब राजपरिवार भोजन कर रहा हो तो बल्लव को यहाँ उपस्थित होना चाहिए।... पर उन्होंने पिछले एक दिन और रात में बल्लव का जो रूप देखा था, उसको वे भूल नहीं पा रहे थे। उन्होंने माधवी की झोंक में कंक का कल का रूप भुला दिया था तो उनके अपने पुत्र ने ही उन्हें बाध्य किया था कि वे कंक से क्षमा माँगें। अब यदि वे बल्लव का योद्धा रूप भुलाकर उसे अपनी पाकशाला के अध्यक्ष के रूप में आदेश देते हैं, तो जाने कौन उन्हें फिर से क्षमा माँगने पर बाध्य कर दे।...वैसे कोई और उन्हें बाध्य न भी करे, तो भी वे यह भूल नहीं सकते कि बल्लव ने त्रिगर्तो के राजा सुशर्मा को किस प्रकार पीटा था। उन्हें आश्चर्य था कि वह उसकी हत्या करने का प्रयत्न नहीं कर रहा था, बस उसे पीट कर अधिक से अधिक मानसिक और शारीरिक कष्ट देने का प्रयत्न कर रहा था, जैसे उससे किसी बात का कोई प्रतिशोध ले रहा हो। ...जो सुशर्मा, विराटराज के लिए, किसी आतंक से कम नहीं था, वही सुशर्मा कितना अवश था, बल्लव के सामने। कंक ने सुशर्मा को मुक्त तो कर दिया था; किंतु उसे यह आदेश दे कर छोड़ा था कि वह जहाँ भी जाए, स्वयं को मत्स्यराज का दास बताए। ... उसी योद्धा बल्लव को वे अपना रसोइया कैसे मान सकते हैं।... यदि बल्लव मान जाए तो वे उसे अपना सेनापति नियुक्त करना चाहेंगे। ...

और जिस कंक को वे मात्र अपना द्यूत-सहचर मानते थे, वह भी कैसा योद्धा निकला। ... वही क्यों, कंक ने ग्रंथिक और तंतिपाल के लिए कहा था। वे भी अद्‌भुत योद्धा निकले। जैसे वे लोग उनके गोपालक और अश्वपालक न हो कर पांडवों के योद्धा रहे हों...

विराटराज की चिंतन-प्रक्रिया थम गई।...

पांडवों के योद्धा ही क्यों, क्या वे स्वयं पांडव नहीं हो सकते ? संभव है कि बल्लव, स्वयं भीम हो। पांडवों में उसी का आकार ऐसा दीर्घाकार था। ... तो कंक ? कंक, स्वयं युधिष्ठिर तो नहीं ?... पर युधिष्ठिर को तो द्यूतविद्या का ज्ञान ही नहीं था; और कंक द्यूत का विद्वान् है। नहीं ! कंक युधिष्ठिर नहीं हो

सकता। ... और यदि वह है भी, तो उनके अन्य भाई कहाँ हैं ? पांडव एक-दूसरे से पृथक् हो कर तो रह ही नहीं सकते।... तंतिपाल और ग्रंथिक ? कहीं वे नकुल और सहदेव तो नहीं ? योद्धा तो वे भी बहुत अच्छे हैं।...

विराट ने द्रौपदी के स्वयंवर में द्रौपदी और पांडवों—भीम और अर्जुन—को देखा था। अर्जुन ने स्वयंवर की प्रतिज्ञा पूरी की थी और उसके पश्चात् भीम की सहायता से सारे राजाओं से युद्ध किया था। पर तब वे लोग तपस्वी ब्राह्मणों के वेश में थे। और तब उनकी अवस्था भी क्या थी। कितने वर्ष हो गए उस घटना को। उसके पश्चात् उन्होंने पांडवों को युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय देखा था। तब वे पहचान पाए थे किसी को ? तब भी उन्हें लगा था कि उस अर्जुन को तो उन्होंने पहले कभी देखा ही नहीं था।... वैसे भी उस समय उनके वैभव के दिन थे। सारे जंबूद्वीप के राजा पंक्तिबद्ध हो कर उन्हें कर देने की प्रतीक्षा कर रहे थे। विराट तो उनको निकट से देख भी नहीं पाए थे। आज इतने वर्षों के पश्चात् वे उन्हे कहाँ पहचान पाएँगे। उन्होंने न तो उन्हें निकट से ध्यानपूर्वक देखा था, न अब उनका वही रूप था; और न ही विराट की अपनी स्मरण शक्ति ऐसी रह गई थी कि वे इतने वर्ष पूर्व देखे गए व्यक्तियों को इस प्रकार पहचान लें। ... पर यदि वे यह मान लें कि कंक वस्तुतः युधिष्ठिर ही है, तो बल्लव को भीम होना चाहिए। तंतिपाल और ग्रंथिक को नकुल और सहदेव होना चाहिए। ... तो फिर अर्जुन और पांचाली कृष्णा कहाँ हैं ? उन्हें कहीं और भेज दिया है क्या ?...पर क्यों, सैरंध्री ही पांचाली नहीं हो सकती क्या ? वैसा रूप और किसका होगा ?... पर नहीं ! यदि सैरंध्री ही पांचाली होती, तो कोई भी एक पांडव उसे अपनी पत्नी के रूप में अपने साथ ही रखता। वह कंक के साथ उसकी पत्नी के रूप में सम्मानपूर्वक रह सकती थी।... क्या आवश्यकता थी, उसे इस प्रकार सैरंध्री बना कर कीचक जैसे पापी का जोखम आमंत्रित करने की ? और फिर पांचाली क्या इस प्रकार किसी रानी का केश-प्रसाधन करती ? वह अपने किसी एक पति की अवगुंठनवती पत्नी बन कर उसके घर में सुख से रहती। सैरंध्री तो सचमुच कोई विपत्ति की मारी हुई अभागी स्त्री है, जिसको कीचक और उसके भाइयों के हाथों, इतना कष्ट सहना पड़ा है।...

सहसा विराट अपने पुत्र की ओर मुड़े, "उत्तर ! तुमने राजसभा में मुझसे कहा था कि मैं कंक का प्रभाव नहीं जानता। मैंने भी युद्ध में उसका रणकौशल देखा है। मुझे लगता है कि वह कोई असाधारण पुरुष है। वह वह नहीं है, जो बन कर वह रह रहा है। तुम बता सकते हो कि वह कौन है ?"

उत्तर के चेहरे के भावों से स्पष्ट था कि वह धर्मसंकट में पड गया है।

वह कुछ देर मौन रहा और फिर धीरे से बोला, "आप यदि मुझसे अभी यह न पूछे और थोडा धैर्य रखें, तो हम सबका कल्याण होगा।"

"उत्तर ! मैं तुम्हारा पिता हूँ और इस देश का राजा भी। तुम कुछ अपरिचित लोगों का रहस्य मुझसे छिपा रहे हो ?" विराट के स्वर में उपालंभ के साथ कुछ खीझ भी थी।

"पिता जी !" उत्तर के स्वर में बाध्यता भी थी और एक प्रकार का स्नेहपूर्ण आग्रह भी, "अपने प्रति मेरी निष्ठा में किसी प्रकार का कोई संदेह न करें। बस यह समझें कि जिस देवपुरुष ने कौरवों से युद्ध कर मेरे प्राण और आपके धन तथा सम्मान की रक्षा की है, मैं कृतज्ञतावश उसके आग्रह की रक्षा कर रहा हूँ। दो-एक दिनों की बात है, आपको सब कुछ स्वतः ही ज्ञात हो जाएगा। हाँ! इतना मैं आपको बता देता हूँ कि कंक वह नहीं हैं, जिस वेश में वे रह रहे हैं।"

"तुम मेरे धैर्य की परीक्षा लेना चाहते हो ?"

"नहीं ! मैं चाहता हूँ कि आप मुझे कृतघ्न होने को बाध्य न करें।"

राजा ने और कुछ नहीं पूछा।

रानी ने चतुरसेन को बुलाया, "चतुरसेन ! बल्लव को तुमने पाकशाला में नियुक्त किया था।"

"नहीं महारानी ! नियुक्त तो महाराज ने ही किया था।" चतुरसेन बोला, "हाँ ! उसका आग्रह मैंने किया था।"

"वह कौन है ?" सुदेष्णा ने पूछा।

चतुरसेन स्तब्ध रह गया।

"बोलते क्यो नहीं ?"

"मैं नाम का ही चतुरसेन हूँ महारानी ! वैसे मैं कोई चतुराई नहीं कर रहा हूँ।" वह बहुत दीन स्वर में बोला, "मैं तो अभी तक यही समझता हूँ कि वह एक अच्छा रसोइया है। मैंने तो यहीं सुना कि कुछ लोग विराटनगर में छद्म वेश में भी रह रहे हैं।"

राजा ने रानी की ओर उस दृष्टि से देखा, जो कह रही थी कि इस प्रकार के प्रयत्नों का कोई लाभ नहीं है।...वे थोडा-सा खा कर उठ गए।

विराट अपने कक्ष में आए तो उनका मन और अधीर हो उठा था। केवल उत्तर जानता था कि कि कंक कौन है। कदाचित् वह यह भी जानता हो कि बल्लव कौन है। ... पर वह बताएगा नहीं और राजा उसे इस काम के लिए बाध्य भी नहीं कर सकते। वह कुछ अनुचित भी नहीं कह रहा। वस्तुतः राजा को भी उस

देवपुरुष के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए, जिसने अपने रणकौशल से उनके पुत्र के प्राण बचाए और उनके राज्य की भी रक्षा की। उसकी इच्छा का सम्मान उन्हें भी करना चाहिए था।... पर यह कंक है कौन ?

राजा की समझ में कुछ नहीं आ रहा था। वे जितना सोचते जाते थे, उतना ही उलझते जाते थे। किसी क्षण उन्हें लगने लगता था कि कंक ही युधिष्ठिर है, बल्लव भीम है, तंतिपाल और ग्रंथिक, नकुल और सहदेव हैं, सैरंध्री पांचाली कृष्णा है... और अगले ही क्षण लगता था कि ऐसा नहीं हो सकता था।... युधिष्ठिर को द्यूत का ज्ञान नहीं था। भीम रसोई में होता तो सारा भोजन वही खा जाता; और किसी को तो मिलता ही नहीं। पांचाली कृष्णा किसी की सेवा नहीं कर सकती थी।... और अर्जुन तो यहाँ था ही नहीं।...

सहसा उनका ध्यान बृहन्नला की ओर चला गया। वह भी तो रणभूमि में गई थी। एक षंडक युद्धभूमि मे जाए, एक योद्धा का सारथ्य करे, शरीर पर घाव खाए... क्या यह सब विचित्र नहीं था ? उसने छह-छह कौरव महारथियों के साथ युद्ध करने वाले देवपुरुष का सारथ्य किया था। कहीं वही अर्जुन तो नहीं ? ... और राजा के अपने ही मन ने उसका विरोध किया... अर्जुन, और बृहन्नला के रूप में ? राजा की अपनी युवती दासियों ने उसकी परीक्षा की थी। उन्होंने प्रमाणित किया था कि वह पुरुष नहीं है। वह नपुंसक है। राजकुमारी उत्तरा और उसकी सखियाँ वर्ष भर उसके संपर्क मे रही हैं। उसके वेश में कोई भी छद्म होता तो वह इतने समय तक अनुद्घाटित नहीं रह सकता था।... नहीं ! न अर्जुन बृहन्नला बन कर रह सकता है और न बृहन्नला, वस्तुतः अर्जुन हो सकती है।...

राजा अपने मस्तिष्क में होने वाले तर्क-युद्ध से थक गए थे।... उन्होंने तर्क करना छोड दिया। वे अब समझौता करने की स्थिति में आ गए थे।... अच्छा नहीं हैं वे पांडव। तो क्या हो गया; और यदि वे पांडव हैं, तो क्या हो गया ? उन्होंने पांडवों का पालन ही तो किया था। किसी का पालन करना कोई अपराध तो नहीं है।... पर अगले ही क्षण उनका मन एक नए पथ पर मुड गया...इसे पालन करना कहते हैं ? उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिर को अपशब्द कहे। पांसा फेंक कर उन्हें मारा। उनकी नासिका से रक्त बहाया। उन्हें अपना साधारण कर्मचारी समझा। धिक्कारा। भीम से भोजन पकाने का काम करवाया। वह सेवक के समान उनसे पूछता रहा, उन्हें परोसता रहा और वे खाते रहे। ...

यह सब तो फिर भी क्षम्य था। वे सब उनके सेवक के रूप में रह रहे थे और उनकी सेवा कर रहे थे; किंतु यदि सैरंध्री ही स्वयं पांचाली कृष्णा है, तो उसके प्रति तो निश्चित अत्याचार हुआ है। उनके अपने मन में भी उसके प्रति लोभ जागा था। रानी ने उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध कीचक के घर भेजा

था। स्वयं राजा की उपस्थिति में कीचक ने उसका अपमान किया था और राजा ने उसकी रक्षा नहीं की थी। ... और अंत में राजा ने उपकीचकों को यह अनुमति दी थी कि वे सैरंध्री को जीवित ही जला दें।... क्या पांडव उन्हें क्षमा कर सकेंगे? क्या द्रौपदी यह सब भुला देगी ??... पर कंक, बल्लव, ग्रंथिक, तंतिपाल तथा बृहन्नला—सब ने ही तो उनके लिए अपने प्राणों को जोखम में डाला था। उनकी सहायता की थी। उनकी रक्षा की थी। उनके राज्य, उनके धन और उनके परिवार को सुरक्षित रखने में उनका ही सामर्थ्य तो था। ... तो वे निश्चित रूप से पांडव नहीं हो सकते। ... पर यदि वे पांडव नहीं थे, तो कौन थे वे ?

राजा की समझ में कुछ नहीं आ रहा था।

"दासी !" उन्होंने पुकारा।

"महाराज !" दासी हाथ जोड़े खड़ी थी।

"माधवी लाओ।"

"महाराज को निद्रा नहीं आ रही ?"

"हाँ।" राजा बोले, "प्रश्न मत करो। माधवी लाओ। इस समय और कोई मेरी सहायता नहीं कर सकता।"

... यदि वे पांडव ही हुए तो ? वे पांडव हुए तो भीम उन्हें जीवित ही नहीं छोड़ेगा। वही होगा सैरंध्री का रक्षक गंधर्व। उसी ने कीचक की वह दुर्गत की होगी। वह विराट को भी उसी प्रकार रौंद कर मांस का लौंदा-सा बना देगा। भीम ने छोड़ भी दिया, तो अर्जुन उन्हें नहीं छोड़ेगा। क्या करेंगे वे ? करना क्या है, अर्जुन से उत्तरा का विवाह कर देंगे। कीचक की पुत्री भीम को ब्याह देंगे। कुछ तो करना ही होगा...

पर वे पांडव थे, तो उनसे असंतुष्ट तो नहीं थे। वे तो उनकी ओर से युद्ध कर उनकी रक्षा कर रहे थे। पता नहीं वे प्रसन्न थे कि अप्रसन्न। राजा की तो समझ में ही कुछ नहीं आ रहा था।...

"दासी ! माधवी... ।"

विराटनगर में दो दिन उत्सव ही उत्सव होते रहे। नगर को सजाया गया। निर्धनों को दान दिया गया। प्रजा के मनोरंजन के लिए नृत्य गान और संगीत हुआ। मल्लों ने राजा से पुरस्कार पाए। कलाविदों को राजा ने उपहार दिए। ... और स्वयं राजा अपने एकांत में माधवी पीते रहे। उनके मन को शांति नहीं थी। उन्हें अपने किसी प्रश्न का उत्तर नहीं मिल रहा था। वे नहीं जानते थे कि अगले कुछ दिनों में उनके साथ क्या घटित होने वाला है।... उनकी दृष्टि निरंतर उत्तर पर लगी हुई थी। राजकुमार तनिक भी चिंतित दिखाई नहीं पड़ता था। इस

से वे एक प्रकार से निश्चिंत होने का प्रयत्न भी करते थे, किंतु चिंता थी कि उनका साथ ही नहीं छोड़ रही थी।

माधवी के प्रभाव में वे अनेक प्रकार की योजनाएँ भी बनाते रहते थे। यदि उस देवपुरुष ने आकर उन से कुछ माँगा तो वे क्या करेंगे। ... सैरंध्री का रक्षक वह गंधर्व प्रकट हो गया तो वे क्या करेंगे।... कंक युधिष्ठिर ही निकला तो वे क्या करेंगे। ... पर इन दो दिन के विजयोत्सव में किसी ओर से कोई बाधा नहीं पड़ी। न राजा की ओर से, न उनके मित्रों अथवा शत्रुओं की ओर से।

तीसरे दिन राजा प्रातः राजसभा में आए तो देख कर चकित रह गए कि कंक अपने सर्वश्रेष्ठ वस्त्रों में उल्लसित मुद्रा में राजाओं के लिए नियत स्वर्ण आसन पर बैठे हुए थे। उनके पीछे, और उनके साथ, मानों उनकी रक्षा करते हुए से बैठे थे—बल्लव, तंतिपाल तथा ग्रंथिक।...उनके साथ एक और व्यक्ति भी था, जो भीम के समान दीर्घाकार तो नहीं था; किंतु पर्याप्त बलिष्ठ दिखाई पड़ता था। विराट ने उसे ध्यान से देखा : हाँ ! वह बृहन्नला ही था, किंतु आज वह पुरुष के रूप में था। साथ ही सैरंध्री भी बैठी थी। विराट को लगा, रहस्योद्घाटन का समय आ गया था। आज वे सारे के सारे ही अपना छद्म छोड़ कर बैठे थे। कदाचित्, वे अपनी वास्तविकता प्रकट करने वाले थे।...

"कंक ! मैंने तुम्हें पांसा फेंकने वाला सभासद बनाया था; किंतु आज तुम मेरे कर्मचारियों में नहीं, राजाओं के लिए नियत आसन पर बैठे हो ? लगता है, तुमने आज राजाओं के स्थान पर बैठने की योग्यता अर्जित कर ली है।"

उत्तर कंक ने नहीं, पुरुष वेश वाले बृहन्नला ने दिया, "राजन ! ये साधारण राजाओं की तो बात ही क्या, इंद्र के आधे सिंहासन पर बैठने के अधिकारी हैं।" फिर जैसे उसने उनका परिचय देते हुए कहा, "ये मूर्तिमान धर्म हैं। पराक्रमी पुरुषों में श्रेष्ठ हैं। इस संसार में सर्वाधिक बुद्धिमान और तपस्या के आश्रय हैं। ये पांडवों में अतिरथी वीर हैं। बलवान, धैर्यवान, चतुर सत्यवादी और जितेन्द्रिय हैं। ये ही कुरुवंश में सर्वश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर हैं।"

सारी सभा जैसे स्तब्ध रह गई। सभासदों के नेत्र आश्चर्य से कुछ अधिक खुल गए।

विराट स्वयं अपनी स्थिति समझ नहीं पा रहे थे। वे पिछले तीन दिनों से इसी क्षण की प्रतीक्षा कर रहे थे। वे पिछले तीन दिनों से इसी क्षण का साक्षात्कार करने से आतंकित थे। वे समझ नहीं पा रहे थे कि वे प्रसन्न थे अथवा भयभीत थे। वे प्रसन्नतावश विह्वल थे, अथवा त्रासवश उनकी टाँगें काँप रही

थी।...

उन्होंने स्वयं को संभाला, "आप का स्वागत है धर्मराज! यदि आप युधिष्ठिर हैं, तो आपके भाई भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव कहाँ हैं? आपकी पटरानी पांचाली कृष्णा कहाँ है? द्यूत में हारने के पश्चात् से आप लोगों के विषय में मेरे पास कोई सूचना ही नहीं थी।"

अर्जुन ने अपने सारे भाइयों तथा द्रौपदी का परिचय कराया।

विराट कहना चाहते थे कि यह सब उनके लिए कितना आकस्मिक था और कितना संभावित भी। पिछले तीन दिनों से वे यही तो सोच रहे थे कि कहीं वे लोग पांडव ही तो नहीं हैं। उन्हें कितनी प्रसन्नता है कि पांडव उनके इतने निकट थे...

"पिता जी!" उत्तर बोला, "मैंने आपसे जिस देवपुरुष की चर्चा की थी, जिन्होंने छह के छह कौरव महारथियों को अकेले ही पराजित किया था, वे ये ही हैं, कुंतीपुत्र अर्जुन! ये न होते, तो आज न मैं होता, न आपका गोधन लौटता और राज्य के विषय में तो मैं कुछ कह ही नहीं सकता।"

राजा के मन में पिछले तीन दिनों की सारी ऊहापोह कौंध गई।

विराट अपने हाथ जोड़ कर युधिष्ठिर के सम्मुख खड़े हो गए, "मेरा सौभाग्य है कि आप लोग वन से सुरक्षित लौट आए हैं और आपने एक वर्ष का अज्ञातवास भी सफलतापूर्वक पूर्ण कर लिया है। आप लोग मेरे घर में रहे, यह भी मेरा सौभाग्य है। आपके विषय में न जानने के कारण मुझसे तथा मेरे परिवार वालों से जो कोई भूल हुई हो, उसे उदारतापूर्वक क्षमा करें और मेरा राज्य, मेरा कोष तथा मेरी सेना को स्वीकार करें। अब यह सब कुछ आपका है।"

युधिष्ठिर मुस्कराए, "महाराज! हम आपके कृतज्ञ हैं कि आपने एक वर्ष तक हमारा पालन किया। अब हम आपके राज्य का अपहरण कैसे कर सकते हैं। हमें आपका नहीं अपना राज्य, इंद्रप्रस्थ का राज्य, दुर्योधन से प्राप्त करना है। आप उसमें हमारी सहायता करें।"

विराट के मन की जैसे सारी आशंकाएँ छँट गईं।... युधिष्ठिर उनसे रुष्ट नहीं थे। वैसे चाहे कंक के ही रूप में ही सही, युधिष्ठिर ने कहा था कि उन्होंने अक्रोध का व्रत लिया है। वे क्रोध नहीं करते। तो वे विराट पर भी क्रोध नहीं करेंगे।... यही अवसर था, जब वे उनका स्वागत कर सकते थे। उनको प्रसन्न कर सकते थे। उनका मन जीत सकते थे और उनके साथ अपना स्थाई संबंध स्थापित कर सकते थे।

"धर्मराज!" विराट बोले, "आपके चरित्र के विषय में मैंने बहुत कुछ सुना है। अब आपकी महानता प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। मुझ पर एक कृपा और करें। मेरा एक अनुरोध स्वीकार करें।"

"कहिए महाराज ! क्या इच्छा है आपकी।"

"मेरी इच्छा है कि आपके भाई धनंजय, मेरी पुत्री उत्तरा को अपनी पत्नी के रूप में ग्रहण करें।" विराट बोले, "उन्होंने एक वर्ष तक उसे नृत्य और संगीत की शिक्षा दी है। वे उसके गुणों को जानते हैं। वह उनकी प्रिय शिष्या है। उत्तरा के मन में भी उनके लिए अत्यधिक श्रद्धा है।"

युधिष्ठिर की दृष्टि द्रौपदी पर जा टिकी : उसे निश्चित रूप से यह प्रस्ताव प्रिय नहीं लगा था। उन्हें स्मरण था कि सुभद्रा को ले कर अर्जुन जब इंद्रप्रस्थ लौटा था, तब भी द्रौपदी ने अपना विरोध जताया ही था।...

उनकी दृष्टि अर्जुन की ओर घूमी। उसके चेहरे पर अप्रसन्नता का कोई लक्षण नहीं था; किंतु वहाँ किसी कामना की पूर्ति का उल्लास भी नहीं था।

उनके कुछ पूछने से पूर्व ही अर्जुन बोला, "विराटराज ! मै आपकी पुत्री और अपनी प्रिय शिष्या उत्तरा को अपनी पुत्रवधू के रूप में ग्रहण करने का इच्छुक हूँ। आप शायद जानते हों कि मेरा ज्येष्ठ पुत्र अभिमन्यु सुभद्रा का पुत्र और श्रीकृष्ण का भागिनेय है।"

"वैसे तो मुझे इस संबंध में भी कोई आपत्ति नहीं है; किंतु मैं जानना चाहता हूँ कि आप उसे अपनी पत्नी के रूप में क्यों ग्रहण करना नहीं चाहते ?" विराट ने कहा, "क्या आप उसे इस योग्य नहीं पाते ?"

"महाराज ! अब मेरी अवस्था विवाह योग्य नहीं है। मेरी मानसिकता भी ऐसी नहीं है। ये सब मेरी अयोग्यताएँ हैं, उत्तरा की नहीं।" अर्जुन ने कहा, "मैंने वर्ष भर उत्तरा को अपनी शिष्या के रूप में देखा है। उसके प्रति मेरे मन में वात्सल्य का भाव है। यदि मैं उसे अपनी पुत्रवधू के रूप में स्वीकार करता हूँ, तो यह उसके तथा मेरे—दोनों के चरित्रों की शुद्धता का प्रमाण है। यदि मैं उसे अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार करता हूँ, तो यह शंका सदा ही उठेगी कि उस वर्ष भर में भी हमारे संबंध पिता पुत्री के से नहीं थे।"

और किसी ने देखा हो या न देखा हो, किंतु युधिष्ठिर ने देखा कि द्रौपदी के चेहरे पर से सारी काली घटाएँ छँट गई और वहाँ प्रफुल्लता छा गई।

"मेरा विचार है कि धनंजय का निर्णय सर्वमान्य है।" युधिष्ठिर बोले, "मैं अर्जुन के बड़े भाई के रूप में, और इस परिवार के मुखिया के रूप में यह संबंध स्वीकार करता हूँ।"

आज वे पाँचों भाई और द्रौपदी प्रकट रूप से युधिष्ठिर के भवन में एकत्र हुए थे। विराट की तो बहुत इच्छा थी कि वे लोग उनके प्रासाद में निवास करें,

किंतु युधिष्ठिर उसके लिए सहमत नहीं हुए थे।

"अब ?" भीम ने पूछा, "हस्तिनापुर चलना है अथवा अपने यहाँ होने की सूचना भिजवानी है ?"

"सूचना किसे भिजवाएँगे— पितामह को ? महाराज धृतराष्ट्र को ?? अथवा सीधे दुर्योधन को ???" नकुल ने पूछा।

"मत्स्यराज विराट का आग्रह है कि हम अभी हस्तिनापुर न जाएँ। वे हमें अपने नगर उपप्लव्य में निवास करने का निमंत्रण दे रहे हैं।" अर्जुन ने कहा, "वे चाहते हैं कि हम उसे अपना अस्थायी निवास मान लें। अपने सारे संबंधियों को वहीं आमंत्रित करें और वहीं अभिमन्यु और उत्तरा का विवाह हो।"

"मैं तो युद्ध की बात सोच रहा था।" भीम बोला, "और यहाँ विवाह की चर्चा हो रही है। तुम्हें अभिमन्यु के विवाह की इतनी शीघ्रता क्या है। वह अभी सोलह वर्षों का ही तो हुआ है। गृहस्थ आश्रम में प्रवेश के लिए वह अभी कम से कम नौ वर्ष प्रतीक्षा कर सकता है।"

अर्जुन हँस पड़ा, "मुझे कोई शीघ्रता नहीं है मध्यम ! यह आग्रह तो विराटराज का है। वे नहीं चाहते हैं कि इस विवाह में कोई विलंब हो। संभवतः वे समझते हैं कि हम लोग यदि अपने संघर्ष में उलझ गए तो विवाह टलता जाएगा।"

"मेरा भी मन हो रहा है कि एक पुत्र का विवाह कर ही लूँ।" द्रौपदी बोली, "देखूँ तो सही कैसा लगता है सास बनना और एक नन्हीं-सी प्यारी बहू को अपने घर लाना।"

सबने युधिष्ठिर की ओर देखा।

"भीम युद्ध की बात सोच रहा है। पांचाली भी अपने प्रतिशोध की प्रतीक्षा कर रही है; किंतु वह पुत्रवधू को भी अपने घर ले आना चाहती है।" युधिष्ठिर बोले, "हम चाहते हैं कि हम हस्तिनापुर जाएँ, ताकि अपना राज्य प्राप्त कर सकें और महाराज विराट चाहते हैं कि हम उपप्लव्य में रह कर विवाह करें। ... अब हमें देखना है कि हम इन सब इंच्छाओं और योजनाओं को कैसे संयोजित कर सकते हैं।"

"मुझे लगता है कि कुछ बातें तो सबमें समान हैं।" सहदेव ने कहा, "सबसे पहले तो हमें सबको—अपने संबंधियों, मित्रों तथा शत्रुओं को सूचना देनी है कि हमने अपना वनवास और अज्ञातवास सफलतापूर्वक पूरा कर लिया है। हमें अपना राज्य प्राप्त करने के लिए सबसे संपर्क करना है। हमें युद्ध में मित्र सेनाओं को एकत्रित करने के लिए सबसे संपर्क करना है। हमें विवाह में आमंत्रित करने के लिए सबसे संपर्क करना है।..."

"अर्थात् सबसे पहले तो हमें सबसे संपर्क करना है, तो वह विवाह के

निमंत्रण के व्याज से ही हो।" युधिष्ठिर बोले, "हम उपप्लव्य नगर में अपना शिविर स्थापित करते हैं। वहीं से सबको अभिमन्यु के विवाह का निमंत्रण भेजते हैं। विवाह के अवसर पर हमारे सारे संबंधी और मित्र एकत्रित होंगे और तब यह परामर्श और विचार-विमर्श भी हो सकता है कि हम बात कहाँ से आरंभ करें—अपना राज्य माँगने से ? प्रतिशोध से ?? अथवा युद्ध से???"

"देखिए, युद्ध तो होगा ही।" भीम बोला, "यह तो संभव ही नहीं है कि आप हस्तिनापुर पहुँच कर कहें कि हमने द्यूत की सारी प्रतिज्ञाएँ पूर्ण कर दी हैं और दुर्योधन आपको आपका राज्य लौटा दे। हम इंद्रप्रस्थ में स्थापित हो जाएँ और तब अपनी सेना सजाकर दुर्योधन और दुःशासन से अपना प्रतिशोध लेने जाएँ। युद्ध के बिना दुर्योधन आपको राज्य लौटाएगा ही नहीं।"

"ऐसी स्थिति में हमें पहले शक्ति संचय करनी चाहिए।" नकुल बोला, "और उसके लिए विवाह के बहाने सबको एकत्रित कर लेना सबसे सरल विधि है।"

"इसका अर्थ है कि बरात के बहाने सेना एकत्रित होगी और बहू को घर लाएँगे तो रणलक्ष्मी भी साथ ही आएगी।" द्रौपदी बोली।

"आभास तो कुछ ऐसा ही हो रहा है।" सहदेव बोला।

"अर्जुन ! विराटराज का उपप्लव्य में निवास का प्रस्ताव स्वीकार करो।" युधिष्ठिर बोले, "भीम ! विवाह का निमंत्रण प्रेषित करो—द्वारका, कांपिल्य, काशी,चेदि ... सब स्थानों पर।"

"मध्यम ! स्मरण रहे यह निमंत्रण युद्ध का उद्घोष है।" द्रौपदी ने कहा, "इसलिए उसी शैली में जाए कि प्रत्येक बराती एक-एक अक्षौहिणी सेना ले कर आए।"

"हस्तिनापुर के विषय में क्या सोचा है ?" अर्जुन ने पूछा, "माँ को सूचित नहीं करना है क्या ? और विदुर काका ?? पितामह और आचार्य ???"

सबने युधिष्ठिर की ओर देखा।

"माँ विवाह में नहीं आएँगी।" युधिष्ठिर बोले।

"क्यों ? पौत्र के विवाह में नहीं आएँगी ??" द्रौपदी चकित थी।

"विवाह हो अथवा कुछ और। वे नहीं आएँगी। मैं अपनी माँ को जानता हूँ।" युधिष्ठिर बोले, "वे तो अब हस्तिनापुर से तब ही हिलेंगी, जब या तो हम इंद्रप्रस्थ के सिंहासन पर बैठ कर उन्हें लाने के लिए राजकीय रथ भेजें अथवा युद्ध में दुर्योधन को पराजित कर, विजयी के समान हस्तिनापुर जाकर स्वयं उनको अपने रथ में बैठा कर लाएँ।"

"तो यह माँ की प्रच्छन्न तपस्या है ?" सहदेव ने पूछा।

"तपस्या कह लो अथवा हठ कह लो।" युधिष्ठिर ने कहा।

वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली–110002

प्रत्यक्ष

महासमर-7

नरेन्द्र कोहली

वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : 1998
द्वितीय संस्करण : 1999
तृतीय संस्करण : 2000

मूल्य : 300.00 रुपये

© लेखकाधीन

शब्द-संयोजक
विनायक कम्प्यूटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032

मेहरा ऑफसेट प्रेस, नयी दिल्ली-110002
द्वारा मुद्रित

PRATYAKSH
(Mahasamar-7)
by Narendra Kohli

अटल जी के लिए
सादर, सस्नेह
जिन्होंने अनायास ही इस खंड का
नामकरण कर डाला था

1

अर्जुन के कक्ष में प्रवेश करते ही द्रौपदी उत्साहपूर्वक उसकी ओर बढ़ी, "ओह फाल्गुन !"

अर्जुन के मन की सहस्रों आशंकाएँ इस एक संबोधन से मिट गईं।··· नहीं, पांचाली उससे रुष्ट नहीं थी। यदि रुष्ट होती तो वह उसे किसी भी और नाम से पुकार सकती थी, किंतु 'फाल्गुन' कहकर कभी संबोधित नहीं करती। वह अत्यधिक औपचारिक होकर उसके प्रति असाधारण सम्मान प्रदर्शित करती। उस पर इस प्रकार की अनौपचारिक सहज और प्रिय मुस्कान न लुटाती। इसमें तो उसके हृदय का नैसर्गिक और मादक उल्लास झलक रहा था।

"कैसी हो प्रिये ?"

"मैं ! मैं बहुत प्रसन्न हूँ। सच पूछो तो प्रसन्नता के मारे एकदम बौराई हुई हूँ।"

"क्यों ? क्यों ??" अर्जुन भी सहज भाव से हँसा।

"एक तो अभी तक जैसे मुझे विश्वास ही नहीं हो रहा कि हमारा वनवास ही नहीं अज्ञातवास भी समाप्त हो गया है। ··· और दूसरे मेरे लिए यह कल्पना करना भी कठिन हो रहा है कि हमारा पुत्र इतना बड़ा हो गया है कि उसका विवाह हो सकता है। अभी तक तो मैं सास के रूप में माता कुंती को ही देखती हूं। अपनी तो उस रूप में मैं कल्पना भी नहीं कर पाती।"

"क्यों ? किसी समय की वधू ही तो अवसर आने पर सास बनती है।"

"हाँ ! किंतु मेरे मन में सास की छवि एक वृद्धा के रूप में है और मेरा मन अभी स्वयं को वृद्धा मानने को प्रस्तुत ही नहीं है।" द्रौपदी झेंपी-सी मुस्करा रही थी।

"मेरा विचार है कि जब हमारा विवाह हुआ था तो माता भी ऐसी कोई वृद्धा नहीं थीं।" अर्जुन ने कहा।

"किंतु मैं तो उस समय एक किशोरी मात्र ही थी।" द्रौपदी बोली, "मैंने सर्वप्रथम उन्हें एक प्रौढ़ा के रूप में देखा और आज तक मेरा मन उन्हें प्रौढ़ा ही मानता है। मेरी

अवस्था उनकी तब की अवस्था से अधिक भी हो जाए, तो मैं स्वयं को उस प्रकार प्रौढ़ा नहीं मान पाऊँगी।"

"सत्य है।" अर्जुन ने कहा,"हम पहली बार जिसको जिस रूप में देखते हैं, उसे उस रूप में ही स्वीकार कर लेते हैं और फिर उसमें परिवर्तन करना कठिन होता है। मैंने तुम्हे एक किशोरी के रूप में देखा था, तो तुम मेरे लिए किशोरी ही रहोगी। मुझे तुम्हारे इस आनन में सदा वही चेहरा झाँकता दिखाई देगा।"

"तो मैं तुम्हारे लिए कभी प्रौढ़ा नहीं हूँगी ? कभी वृद्धा नहीं हूँगी ?" द्रौपदी ने पूछा।

"लगता तो यही है।" अर्जुन ने उत्तर दिया, "मेरा मन तुम्हारे जिस रूप पर रीझा था, वह कैसे विस्मृत हो सकता है। वैसे जब हमारा विवाह हुआ था, न हमारी अवस्था इतनी कम थी, न माता की। अभिमन्यु अभी केवल सोलह वर्षो का है। तुम्हारी अवस्था भी उतनी नहीं है। तुम अपनी युवावस्था में ही सास बनने जा रही हो। इतनी युवा सास पाना उत्तरा के लिए भी सौभाग्य का विषय है।"

"लगता है आज अपने कक्ष से ही चाटुकारिता की योजना बना कर चले थे।" द्रौपदी ने उसे ललित दृष्टि से देखा।

"नहीं ! अपने कक्ष से तो मन में एक पाप ले कर चला था। तुम अनुमति दो तो तुमसे कहकर अपने मन का बोझ कुछ हल्का कर लूं।"

"पाप ?" द्रौपदी चकित थी, "तुम्हारे मन में पाप, फाल्गुन ?"

"हाँ! मेरे मन में पाप था।" अर्जुन ने कहा, "मैं सोच रहा था कि हमारे पुत्रों में सबसे पहले अभिमन्यु का विवाह हो रहा है। वह न तो अपने भाइयों में सब से बड़ा है और न ही तुम उसकी जननी हो। क्या तुम्हें यह बात माता कुंती के समान कोंचती नहीं होगी कि बड़े होते हुए भी किसी द्रौपदेय का विवाह नहीं हो रहा ···।"

द्रौपदी ने अर्जुन की बात सुनी और चुप रह गई। वह 'तुम्हारा पुत्र' न कहकर 'द्रौपदेय' तथा सुभद्रा का पुत्र न कहकर, 'सौभद्र' कह रहा था। वह उसे देखती रही और मन ही मन विचार करती रही।

"क्या सोच रही हो ?" अर्जुन ने पूछा।

"सोच रही हूँ कि यदि तुम्हारे मन में यह था तो सचमुच पाप ही था; और यदि इस विचार के साथ लगा पापबोध भी था तो यह पाप नहीं था।" द्रौपदी मुस्कराई, "अब सोचती हूँ कि माता कुंती के ही समान मेरे मन में परिवेदन का विचार क्यों नहीं आया ? माता ने हमारे विवाह के समय जो कुछ सोचा था, वह उनका स्वार्थ नहीं, धर्म ही था। तो मैंने क्यों नहीं सोचा ?" द्रौपदी रुकी, "मैंने कदाचित् इसलिए नहीं सोचा, क्योंकि विराट् ने उत्तरा का विवाह तुमसे करने का प्रस्ताव रखा था। तुमने उसे अपनी पुत्रवधू माना तो मेरे वक्ष पर से पहाड़-सी चिंता हट गई। अब अपनी इस अवस्था में मैं एक नई सपत्नी को नहीं झेल सकती; और उत्तरा जैसी बच्ची को अपनी सपत्नी के रूप में

देखने की तो कल्पना भी असह्य है मुझे। फिर तुमने अपनी पुत्रवधू के विषय में सोचा तो निश्चय ही तुम्हारे मन में अपने औरस पुत्रों में बड़े का ही ध्यान आएगा। श्रुतकर्मा छोटा है, अभिमन्यु बड़ा है। तुमने ठीक ही सोचा फाल्गुन। मैं आपत्ति करती तो यह कर सकती थी कि तुमने उलूपी के पुत्र इरावान अथवा चित्रांगदा के पुत्र बभ्रुवाहन के विवाह के विषय में क्यों नहीं सोचा ?"

"सोचा था।" अर्जुन ने कहा, "किंतु वे लोग अपने मातामहों के उत्तराधिकारी हैं। संभवतः वे विराट को स्वीकार्य नहीं होते। वे हमारे निकट भी नहीं हैं—न मेरे निकट, न तुम्हारे, न सुभद्रा के। उनके लिए उत्तरा का हाथ माँगना क्या उचित होता ?"

"जब तुमने इतना सोचा है फाल्गुन ! तो यह भी सोच सकते थे कि अभिमन्यु के अविवाहित रहते, श्रुतकर्मा का विवाह कर मैं कैसे प्रसन्न हो सकती थी। परिवेदन के पक्ष में मैं भी नहीं हूँ।" द्रौपदी ने कहा।

"यह तो सोच ही सकती थीं कि प्रतिविंध्य के अविवाहित रहते अभिमन्यु का विवाह हो रहा है।" अर्जुन ने उस पर एक गंभीर दृष्टि डाली।

"ईर्ष्या मेरे स्वभाव में नहीं है, ऐसा नहीं कहूंगी, किंतु उदारता भी है मुझमें।" द्रौपदी ने कहा, "सुभद्रा से जब ईर्ष्या की थी तो की थी। जब उसे अपनी बहन मान लिया तो उसके गर्भ से जन्मे अपने ही पुत्र से क्या ईर्ष्या। वह मेरे प्रिय फाल्गुन का औरस पुत्र है। सपत्नी के माध्यम से ही सही। सखा कृष्ण का भागिनेय है अभिमन्यु। ··· और प्रिय ! अपने पुत्रों को इस प्रकार बाँट कर देखती तो उन्हें सुभद्रा के पास छोड़ कर तुम लोगों के साथ वन कैसे चली जाती। सुभद्रा की उदारता का कोई प्रतिदान नहीं है मेरे पास। उसने अपने अभिमन्यु के साथ मेरे भी पांचों पुत्रों को समान प्रेम से पाला है तेरह वर्ष। अपने मातुल और मातामह के पास नहीं रहे वे। अपनी माता के पास रहे। मैंने तो फिर पाँच पुत्रों को जन्म दिया है। सुभद्रा का तो एक ही पुत्र था छोटा-सा। संतान पालने का ऐसा कौन-सा अनुभव था उसको कि मेरे पांच पुत्रों को भी इतनी ममता दे सकती। पर कृष्ण की सहोदरा है वह। उसके मन में भी अथाह प्रेम है। कृपण नहीं है वह। तो उसके प्रति अथवा उसके पुत्र के प्रति मैं अपने मन में ईर्ष्या भाव कैसे ला सकती हूँ। कृतघ्न नहीं हूँ मैं। ···वैसे भी···" वह मौन हो गई।

"वैसे भी क्या ?" अर्जुन ने पूछा।

"जन्म उसे चाहे सुभद्रा ने दिया है, किंतु संतान तो वह मेरी ही है। मेरी संपत्ति है। उसे मैं सुभद्रा को ही क्यों दे डालूँ।··· तुम जो चाहे कहो और समझो फाल्गुन ! किंतु विवाह तो मेरे ही पुत्र का हो रहा है।" द्रौपदी वस्तुतः प्रसन्न दिखाई दे रही थी।

"यह भी नहीं पूछोगी कि मत्स्यराज के प्रस्ताव पर मैंने क्यों अभिमन्यु के ही विषय में सोचा ?"

"बताना चाहते हो तो बताओ।" द्रौपदी बोली, "मैंने तो अपने आप ही कल्पना कर ली थी।"

"कल्पना तो तुमने अच्छी ही की, किंतु मेरे मन में वह नहीं था।" अर्जुन ने कहा, "जव मत्स्यराज ने उत्तरा के विवाह का प्रस्ताव रखा तो यह तो मेरे मन में स्पष्ट ही था कि मुझे उससे विवाह नहीं करना है। वस्तुतः मुझे और विवाह ही नहीं करना था। इस दृष्टि से मुझे तत्काल उस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देना चाहिए था ; किंतु मत्स्यराज जैसे राजा के प्रस्ताव का तिरस्कार मुझे प्रिय नहीं था। वैसे भी हम चाहते थे कि उनके वंश से हमारा घनिष्ठ संवंध हो। संवंध का ऐसा अवसर हम चूकना नहीं चाहते थे। और तुम जानती हो कि मुझे अपनी वह शिष्या आत्मजा के समान प्रिय हो गई थी। मैं उसे स्वयं से दूर भी नहीं करना चाहता था और उस के लिए अच्छे से अच्छे वर की कामना भी करता था। उसकी अवस्था, उसका रंग-रूप तथा उसकी देहयष्टि इत्यादि को देखते हुए मुझे पांडवों के पुत्रों में से अभिमन्यु ही उसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त वर लगा था। अपने औरस पुत्र की वात मेरे मन में नहीं थी। फिर वह सुभद्रा का सवसे बड़ा पुत्र है, इसलिए हम परिवेदन जैसे पाप से भी वच जाते हैं।"

"जब इतना सोचा है तो यह भी सोचा होगा कि अभिमन्यु और उत्तरा की अवस्था अभी ब्रह्मचर्य की है। अभी उनकी विवाह की अवस्था नहीं आई है। तो आर्य मर्यादा का उल्लंघन तो हम कर ही रहे हैं।" द्रौपदी ने कहा।

"यह आपात्काल है देवि। इसलिए इसे आपद्धर्म ही मानो।" अर्जुन ने कहा, "युद्ध सिर पर है। अभी इन वच्चों की अवस्था युद्ध की भी नहीं है ; किंतु ये युद्ध करेंगे। तो ऐसे में यदि वे अपनी अवस्था से पहले गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर रहे हैं तो कोई वहुत आपत्तिजनक वात नहीं है।"

अर्जुन को विदा कर द्रौपदी ने तत्काल ही अपनी दासी को भीम के पास दौड़ा दिया, "जा, जा कर मध्यम पांडव से कह कि मैंने उन्हें स्मरण किया है। मैं तत्काल मिलना चाहती हूँ। यदि वे न आए तो मैं उनके कक्ष की ओर आ रही हूँ। फिर न कहें कि वे किसी मंत्रणा में व्यस्त हैं।"

दासी ने रानी की विकलता देखी तो मुस्कराना चाह कर भी नहीं मुस्कराई। उपप्लव्य में आज कल परिस्थितियाँ ही ऐसी थीं। एक ओर विवाह की धूम थी और दूसरी ओर युद्ध का वातावरण। पता नहीं युद्ध पहले होगा अथवा विवाह।

भीम ने आने में देर नहीं की।

"क्या बात है प्रिये !" उसे द्रौपदी का आनन उल्लसित दिखाई नहीं पड़ रहा था।

"मेरे मन में एक वात आई है।" द्रौपदी बोली, "अभिमन्यु के विवाह के अवसर पर संवंधियों और कुटुंबियों को तो आमंत्रित किया जाएगा न ?"

"हाँ प्रिये ! क्यों नहीं। बिना अतिथियों के भी कभी विवाह हुआ है क्या ?"

"क्या इस बार भी राजसूय यज्ञ के अवसर के ही समान तुम लोग हस्तिनापुर से अपने शत्रुओं को आमंत्रित करोगे और उनकी प्रसन्नता के लिए मेरे पिता और भाइयों की अवमानना करोगे ?"

भीम गंभीर ही नहीं, कुछ चिंतित भी दिखाई दिया, "तुम्हारी यह आशंका महत्त्वपूर्ण है।"

"क्या इस बार भी ऐसा ही होगा ?" द्रौपदी ने कुछ आग्रहपूर्वक पूछा।

"कह नहीं सकता कि धर्मराज के मन में क्या है, किंतु मेरा विचार है कि हम दुर्योधन से अपना भ्रातृत्व बहुत निभा चुके। वह हमारा भाई कभी नहीं बना, न ही बन सकता है। मुझे तो पितामह पर भी संदेह है कि वे कभी दुर्योधन का साथ छोड़ेंगे। जो हमारे नहीं हैं उन्हें प्रसन्न करने के लिए हम अपनों की अवज्ञा बहुत कर चुके।" उसने द्रौपदी की ओर देखा, "मैं धर्मराज से आग्रह करूँगा कि वे जहाँ चाहें निमंत्रण भेजें, किंतु अपने शत्रुओं को आमंत्रित न करें और अपने मित्रों की अवहेलना भी न करें।"

"सत्य कह रहे हो मध्यम पांडव ?"

"युद्ध की स्थितियाँ बन रही हैं। हम पंचालों की सहायता के बिना तो युद्ध कर ही नहीं सकते।" भीम ने कहा, "अपने स्नेह अथवा संबंधों के कारण न सही, अपने स्वार्थ के कारण ही सही, हमें पंचालों को पूर्ण सम्मान देकर आग्रहपूर्वक निमंत्रित करना होगा। यह तो धर्मराज की विचित्र लीला है कि जो हमारा मस्तक काट लेना चाहता है, उसे तो वे आदरपूर्वक बुलाएँगे और जो हमारे लिए अपने प्राण देने को तत्पर बैठे हैं, उनकी ओर देखेंगे भी नहीं।"

"सत्य कह रहे हो मध्यम ?" द्रौपदी ने दूसरी बार पूछा।

"सत्य कह रहा हूँ।" भीम ने दृढ़ता से कहा, "इस विवाह में हस्तिनापुरवालों के लिए कोई स्थान नहीं है। वस्तुतः विवाह के निमंत्रण के छद्म में हम युद्ध-निमंत्रण भेज रहे हैं। हम वर-यात्रा की नहीं, सेना की प्रतीक्षा कर रहे हैं। हस्तिनापुर से सैनिक सहायता हम किस आधार पर माँगेंगे और किसके विरुद्ध माँगेंगे ? सैनिक सहायता तो हमें कांपिल्य से ही मिलेगी। पितामह और आचार्य हमारी ओर से दुर्योधन के विरुद्ध युद्ध नहीं करेंगे। उनके विरुद्ध तो महाराज द्रुपद, धृष्टद्युम्न और महारथी शिखंडी ही हमारी सहायता करेंगे। महाराज द्रुपद आएंगे तो समझ लो कि उनके विरोध के कारण हस्तिनापुर से कोई भी इस विवाह में सम्मिलित नहीं होगा।" भीम के चेहरे पर द्रौपदी को प्रसन्न कर लेने के पश्चात् प्रकट होनेवाले सुख की मुस्कान थी, "स्थिति स्पष्ट हुई ?"

"हाँ ! स्पष्ट हुई।" भीम ने भी द्रौपदी के चेहरे पर ऐसे आनन्द के चिह्न कम ही देखे थे।

भीम चला गया।

द्रौपदी अपने पलंग पर लेट गई। आज उसका मन लौट लौट कर पुरानी बातों

को स्मरण कर रहा था। उसे वे पीड़ादायक दिन स्मरण आ रहे थे, जव द्रोण ने कांपिल्य पर आक्रमण कर, उन लोगों को अपमानित किया था। ये पांडव ही उसके पिता को वॉध कर ले गए थे। द्रोण ने उनके आधे राज्य का अपहरण किया था। कांपिल्य का राजवंश दुखी, पीड़ित और अपमानित था। प्रतिशोध की ज्वाला भड़क रही थी और तव उन लोगों ने एक संकल्प किया था। प्रतिशोध का संकल्प। द्रौपदी ने यज्ञ की अग्नि में से पुनः जन्म लिया था। धृष्टद्युम्न अपने शस्त्रों सहित यज्ञ की अग्नि में से पुनः प्रकट हुआ था। आज वह क्षण आ गया था, जव वे अपने प्रतिशोध के विपय में सोच सकते थे। पांडव आज उसके थे। उनको उसके पिता और भाइयों की आवश्यकता थी। आज पांडवों का अपना और कोई नहीं था। कोई था, तो वस कांपिल्य का राजवंश, कृष्णा के पिता और भाई।

द्रौपदी के नेत्रों में जैसे रक्त की पिपासा जागी। उसके अधरों पर एक हिंस्र मुस्कान थी।

2

प्रातः जव सांव और लक्ष्मणा उन्हें प्रणाम करने आए तो कृष्ण की दृष्टि से यह छिपा नहीं रह सका कि लक्ष्मणा के चेहरे पर सदा के समान वह सहज उल्लास नहीं था।

वे लोग लौटने लगे तो कृष्ण ने सांव को रोक लिया,"क्या वात है पुत्र ! लक्ष्मणा प्रसन्न नहीं दीखती ? तुम लोगों में परस्पर कोई कहा-सुनी हुई है क्या ?"

"वह···पिताजी !···" सांव कुछ अटपटाया और फिर सँभलकर वोला, "इन दिनों उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं है।"

"यही तो पूछ रहा हूं कि क्या हुआ है ? क्या कष्ट है उसको ?"

सांव चुपचाप खड़ा उनकी ओर देखता रहा, जैसे सत्य वोल न सकता हो और झूठ वोलना न चाहता हो।

"वैठो।" कृष्ण वोले, "इसका अर्थ है कि कोई साधारण-सी वात नहीं है। कुछ ऐसा है कि उस विपय में मुझे वताते हुए भी तुम्हें संकोच हो रहा है।" वे क्षण भर रुके, "हमारे परिवार में दुराव की परंपरा नहीं है पुत्र ! वात चाहे कितनी भी अप्रिय क्यों न हो।"

"नहीं ! ऐसी तो कोई वात नहीं है पिताजी !" सांव वोला, "वह प्रसन्न नहीं है। नहीं।··· यह वात भी नहीं है। वस्तुतः वह चिंतित और आशंकित है।"

"क्या चिंता है ?" कृष्ण ने उसकी ऑखों में देखा, "कैसी आशंका है ?"

इस वार भी सांव तत्काल कुछ नहीं वोला। उसके द्वंद्व ने उसे रोके रखा और कृष्ण धैर्यपूर्वक उसकी ओर देखते रहे।

"पांडवों का वनवास और अज्ञातवास पूर्ण हो गया है।" अंततः वह बोला, "और उसे चिंता है कि वे लोग अपना राज्य वापस माँगेंगे।..."

"तो इसमें चिंता की क्या बात है ?" कृष्ण बोले, "इसके कारण लक्ष्मणा अपनी किसी संपत्ति से वंचित नहीं होगी। पांडव अपना अधिकार ही तो माँगेंगे। उन्हें अपना राज्य न माँगना होता तो वे लोग वनवास और अज्ञातवास जैसी कठोर प्रतिज्ञाएँ क्यों पूर्ण करते।"

"वह तो ठीक है।" सांब ने उत्तर दिया, "किंतु उसकी मान्यता है कि उसके पिता, पांडवों से अपने राज्य की रक्षा करना चाहेंगे।..."

"दुर्योधन के राज्य को पांडवों से किसी प्रकार का कोई भय नहीं है।" कृष्ण बोले, "वह अपने राज्य की रक्षा करेगा अथवा पांडवों का राज्य पचा जाना चाहेगा ?"

"वह इस ढंग से नहीं सोचती।" सांब ने कहा, "वह अपने पिता के ही समान यह मानती है कि जो राज्य एक बार उसके पिता को मिल गया, वह उनका हो गया; चाहे वह किसी भी प्रकार मिला हो। अब उसकी रक्षा करना उनका धर्म है। इसलिए यदि पांडव उसके पिता से इंद्रप्रस्थ का राज्य वापस माँगेंगे, तो अनिवार्यतः युद्ध होगा।"

"पांडवों द्वारा अपना राज्य माँगे जाने पर युद्ध नहीं होगा।" कृष्ण बोले, "युद्ध होगा, दुर्योधन द्वारा द्यूत के अवसर पर की गई प्रतिज्ञा पूरी न करने पर।"

"एक ही बात है।"

कृष्ण ने उसे आश्चर्य से देखा, "एक ही बात है ? यह एक ही बात है ?"

"एक ही बात तो है कि युद्ध होगा।" सांब बोला, "चाहे पांडव राज्य मांगें अथवा चाहे कुरुराज उसे न लौटाएं। परिणाम तो एक ही होगा। वैसे भी उस के पिता यह मानते हैं कि यदि युद्ध में जीते गए राज्य की रक्षा की जाती है और वह धर्मसंगत है, तो द्यूत में जीते गए राज्य की भी रक्षा होनी चाहिए और उसकी रक्षा के लिए किया गया युद्ध भी धर्मसंगत है।"

कृष्ण कुछ क्षणों के लिए अपने पुत्र की ओर देखते रहे। वह जो कुछ भी कह रहा था, वह सब उनके लिए सर्वथा अनपेक्षित था, चाहे वह उसे अपनी ओर से कहता, चाहे लक्ष्मणा अथवा दुर्योधन के विचारों के रूप में।

"किसी दूसरे के राज्य को छीनना अधर्म है, चाहे वह युद्ध के माध्यम से ही क्यों न छीना गया हो। द्यूत के माध्यम से तो किसी के राज्य को छीनने की कल्पना भी अधर्म है।" कृष्ण बोले, "दस्यु का धन अपना नहीं होता अतः उसकी रक्षा के लिए किया गया रक्तपात क्षात्र-धर्म नहीं होता।" वे रुक गए। जैसे स्वयं को समेटते रहे और फिर बोले, "यह धर्म-अधर्म की चर्चा फिर कभी करेंगे। अभी तो यह बताओ कि लक्ष्मणा अस्वस्थ क्यों है ? क्या वह युद्ध से भयभीत है ?"

"नहीं ! वह युद्ध से भयभीत क्यों होगी। यदि युद्ध हुआ तो यह उसके पिता का पहला युद्ध तो नहीं होगा।" सांब बोला, "उसकी आशंका यह है कि ऐसी स्थिति

में यादवों की सेना पांडवों के पक्ष में उसके पिता के विरुद्ध लड़ेगी।"

"तो इसमें अनुचित क्या है ?" कृष्ण बोले, "यादवों ने सदा धर्म के पक्ष में युद्ध किया है।"

"वह चाहती है कि यादव अधर्म के विरुद्ध चाहे युद्ध करते रहें; किंतु उसके पिता के विरुद्ध न लड़ें। वे भी तो हमारे वैसे ही संबंधी हैं, जैसे पांडव हैं।" सांब बोला, "वरन् मुझे तो यह भी लगता है कि हम समान रूप से दोनों पक्षों के संबंधी हैं, इसलिए हमें प्रयत्नपूर्वक इस युद्ध को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए।'

"हम युद्धप्रिय रक्तपिपासु हिंस्र जीव नहीं हैं। इसलिए हमने सदा ही युद्ध को रोकने का प्रयत्न किया है; किंतु शांति के नाम पर अधर्म-स्थापना के पक्षधर नहीं हैं हम।" कृष्ण रुक गए। उन्होंने एक शोधक दृष्टि सांब पर डाली, "यह सब मुझसे कहने के लिए लक्ष्मणा ने तुमसे कहा है ?"

"नहीं ! उसने कहा तो नहीं है ; किंतु वह ऐसा चाहती अवश्य है।"

"तो तुम उसको बता दो कि अब वह स्वस्थ हो सकती है। तुमने वह सब मुझ से कह दिया है।" कृष्ण मुस्करा रहे थे, "यदि यह एक पुत्री की अपने पिता की सुरक्षा के लिए चिंता मात्र है, तो अत्यंत शुभ है; किंतु यदि इस प्रकार दुर्योधन यादवों को प्रभावित करने का प्रयत्न कर रहा है, तो तुम्हें उससे सावधान रहना चाहिए पुत्र।"

"क्यों क्या अपने संबंधियों से सहायता लेना पाप है, अधर्म है ?" सांब कुछ उत्तेजित स्वर में बोला, "क्या मुझे अपनी पत्नी की प्रसन्नता का ध्यान नहीं रखना चाहिए ?"

"अपनी पत्नी हो, अपना भाई हो अथवा अपना पिता—किसी के लिए भी धर्म के मार्ग को अवरुद्ध करना पाप है।" कृष्ण का स्वर इस बार कहीं बहुत दूर से आता लग रहा था, "अपने संबंधियों का समर्थन करने और धर्म का विरोध करने के स्थान पर अपने संबंधियों को धर्म के मार्ग पर चलाने का प्रयत्न अधिक श्रेयस्कर है। युद्ध को रोकना चाहते हो, तो दुर्योधन को अधर्म करने से रोको। युद्ध रुक जाएगा। दुर्योधन की रक्षा करनी है तो उसे धर्म की रक्षा करने को कहो। उसकी रक्षा धर्म कर लेगा।"

सांब ने जैसे यह सब कुछ नहीं सुना। उसने अपने मन में रुकी बात भी कह डाली, "पिताजी ! वह चाहती है कि आप उसके पिता की रक्षा का वचन दें।"

कृष्ण की मुस्कान अत्यंत मोहक थी, "मैंने आज तक केवल धर्म की रक्षा का वचन दिया है। वही अब भी दे रहा हूँ। इससे अधिक कुछ नहीं कह सकता।"

"इसी बात से तो भयभीत है वह।" सांब ने एक प्रकार का प्रच्छन्न प्रतिवाद किया, "वह यह मानती है कि आप धर्म की आड़ ले कर उसके पिता का विरोध करेंगे।"

"मेरा किसी से कोई विरोध नहीं है; किंतु अधर्म से मेरी मैत्री भी नहीं है।" कृष्ण ने कहा, "इसलिए मुझसे भयभीत होने का कोई कारण नहीं है। भयभीत ही होना है तो अधर्म से हो। धर्म से मैत्री कर लो तो मुझसे स्वतः मैत्री हो जाएगी।"

"उसके पिता मानते हैं कि अपने राज्य की रक्षा करना उनका धर्म है।"

"तो धर्म से उनका परिचय नहीं है। व्यक्ति की स्वार्थ बुद्धि से धर्म परिवर्तित नहीं हो जाता। धर्म तो एक ही रहेगा और वह सबकी रक्षा करेगा।" कृष्ण बोले, "दुर्योधन को पहले धर्म से अपना परिचय करना चाहिए।"

"सबका अपना-अपना धर्म होता है पिताजी !" सांब कुछ आक्रामक हो कर बोला, "आवश्यक तो नहीं कि जिसे आप धर्म समझते हैं, उसी को सब लोग धर्म मानें। मेरे लिए अपनी पत्नी को सुखी रखना भी धर्म है। वह अपने पिता की सुरक्षा के लिए चिंतित है, तो कुछ अनुचित तो नहीं है। मैं उसे सुखी देखना चाहता हूँ तो मुझे उसे उसके पिता की रक्षा की ओर से आश्वस्त करना होगा।"

"मुझे खेद है सांब कि तुम मेरे पुत्र होते हुए भी अपनी पत्नी की अपेक्षाओं और अपने धर्म में अंतर नहीं कर पा रहे हो।" कृष्ण बोले, "धर्म व्यापक मानवता के हित में होता है। प्रकृति के नियमों के अनुकूल होता है। ईश्वर की इच्छा के अनुसार चलने में होता है। पत्नी को उसके अधर्म में सहयोग देना तुम्हारा धर्म नहीं है। पत्नी को प्रसन्न रखने के लिए उसके पिता के पापों में सहयोगी और सहभागी होना तुम्हारा धर्म नहीं है।" कृष्ण रुके, "और सबका अपना-अपना धर्म नहीं होता। धर्म परस्पर विरोधी नहीं हो सकता।"

"आप मनुष्य के व्यापक हित की बात कर रहे हैं," सांब ने जैसे साहसपूर्वक अपनी थूक गटकी, "पांडवों के पक्ष से लड़कर अपने प्राण देने में यादवों का क्या हित है ? हमने सदा ही उन्हें दिया है। जहाँ तक आपका वश चला, आपने उनके लिए अपना घर खाली कर दिया। वे तो उसे भी सँभाल नहीं सके। अब हस्तिनापुर जैसे राज्य से शत्रुता मोल लेकर उन पांडवों की ओर से युद्ध कर हम अपने प्राण दे देंगे तो किसका हित होगा ? आप समझते हैं कि इस कार्य में यादव आपका साथ देंगे ?"

कृष्ण मुक्त कंठ से हँसे, "तुम क्या समझते हो पुत्र ! कि धर्म का आचरण करने वाला, उस आचरण से पहले यह सोचता है कि कौन उसका साथ देगा और कौन नहीं देगा ? यदि ऐसा सोचते हो तो तुम्हें संसार का ज्ञान नहीं है। धर्म का आह्वान ईश्वरीय आह्वान है। वह अलंघ्य है। उसके लिए संगी-साथियों की प्रतीक्षा नहीं की जा सकती और न अपने सगे-संबंधियों से उसकी अनुमति ली जाती है। तुम यदि मुझसे यह कहना चाहते हो, अथवा तुम्हारी पत्नी तुमसे यह वचन चाहती है कि यदि दुर्योधन से युद्ध हुआ तो तुम उसके विरुद्ध नहीं लड़ोगे, तो मैं तुम्हारा मंतव्य समझ गया हूँ। कृष्ण धर्म का आचरण न यादवों के भरोसे करता है, न अपने पुत्रों के भरोसे।"

"आप सदा सब पर अपनी ही इच्छा आरोपित करना क्यों चाहते हैं ? माँ का भी सदा आप से यही विरोध रहा है।" लगा कि सांब रो देगा।

"शांत मन से सोचो सांब ! मैं पिता हो कर अपनी इच्छा को तुम पर आरोपित नहीं कर रहा हूँ और तुम पुत्र हो कर मुझे आदेश दे रहे हो।" कृष्ण सहज भाव से

बोले, "जांववती का विरोध भी इसी कारण है। मैंने सदा उसे स्वेच्छा से जीवन जीने की स्वतंत्रता दी है, किंतु वह मुझे ऐसी स्वतंत्रता नहीं देना चाहती। स्मरण रहे, जो दूसरों को स्वतंत्रता दे नहीं सकता, वह स्वतंत्रता की अपेक्षा भी नहीं कर सकता।"

"आप पर कौन अपनी इच्छा आरोपित कर सकता है।" सांव के स्वर में खीझ थी, "और यदि मैं कह भी रहा हूँ तो क्या मैं यादवों को युद्ध में कटवाने के लिए कह रहा हूँ ?"

कृष्ण हँसे, "जो लोग धर्म के लिए युद्ध नहीं करेंगे, वे क्या मरेंगे नहीं ? उनका शरीर अमर रहेगा ?" कृष्ण के स्वर में जैसे कोई दिव्य तत्त्व आ समाया, "ये सारे शरीर अपने समय पर नष्ट होंगे सांव ! समय आने पर वे घर में, वन में, कहीं भी काल के गाल में समा जाएँगे; और समय न आया हो तो वे युद्ध के मध्य में से भी सुरक्षित लौट आएँगे। अच्छा है कि मनुष्य का जीवन धर्म-स्थापना के हित काम आए। अधर्म की रक्षा के लिए इस शरीर को बचाए रखने का क्या लाभ ?"

"मेरी समझ में आपकी ये वातें नहीं आतीं।" सांव वोला, "मैं तो केवल यह सूचना आप तक पहुँचाना चाहता था कि सामान्य यादवों को धर्म के नाम पर पांडवों की ओर से युद्ध करने में कोई रुचि नहीं है।"

"अच्छा है कि तुमने अपनी बुद्धि से यादवों का मूल्यांकन कर मुझे सूचित कर दिया।" कृष्ण अव भी उसी प्रकार सहज और उल्लसित दिखाई पड़ रहे थे।

सांव के रुक जाने के पश्चात् लक्ष्मणा सीधी चलती चली गई थी।

वह जैसे किसी आवेश में चल रही थी। अपनी और अपने परिवेश की उसे कोई चेतना नहीं थी। उसकी कल्पना अनेक चित्र वना और विगाड़ रही थी। वह वहुत जीवंत रूप में देख रही थी कि इस समय पिता और पुत्र में क्या वातें हो रही थीं। श्रीकृष्ण ने सांव को रोक लिया था, उसे नहीं। अवश्य ही वे अपने पुत्र से लक्ष्मणा की उपस्थिति में चर्चा करना नहीं चाहते थे। ऐसी कौन-सी चर्चा थी जो वे अपनी पुत्रवधू के सामने नहीं करना चाहते थे। निश्चित रूप से वह उसके मायके के संबंध में ही रही होगी। वह पहले दिन से ही जानती थी कि उसके पिता उसके श्वसुर को प्रिय नहीं थे। वह यह भी जानती थी कि उस के पति अपने पिता के विरुद्ध नहीं जा सकते।··· श्रीकृष्ण पांडवों से वैसे ही वहुत प्रेम करते हैं। सदा ही उनकी सहायता के लिए भागदौड़ करते रहते हैं। अर्जुन पर तो जैसे वे अंपने प्राण ही न्यौछावर कर देने को सदा तत्पर रहते हैं। ··· उसके पति सांव ने भी अर्जुन से धनुर्विद्या प्राप्त की है। वह भी अपने गुरु से प्रेम करता है।··· ऐसे में वे पांडवों के विरुद्ध कैसे जा सकते हैं। ऊपर से वूआ सुभद्रा स्वयं द्वारका में उपस्थित हैं। वे जितनी कठोर महिला हैं, उनसे कोई कैसे आशा कर सकता है कि वे किसी को क्षमा कर देंगी। वे तो पहले ही दिन से अपने पुत्रों को

युद्धाभ्यास में लगाए हुए हैं कि उन्हें बड़े हो कर कौरवों का नाश करना है।···

जाने इस समय उसके श्वसुर उसके पति को क्या कह रहे होंगे। कैसा आदेश दे रहे होंगे। वह यह कैसे देखेगी कि उसका यह सारा श्वसुरकुल शस्त्रास्त्र-सज्जित होकर उसके पितृकुल के लोगों की हत्या करने जाए। पांडव और किसी को क्षमा कर भी दें; किंतु वे उसके पिता को कभी क्षमा नहीं करेंगे। वह भीम तो जाने कब से उसके पिता के रक्त का पिपासु है।···

एक दासी ने कक्ष में त्वरित प्रवेश किया। वह लक्ष्मणा की ओर देख जैसे हक्की-बक्की खड़ी रह गई।

"आप तो रो रही हैं।"

लक्ष्मणा चौंकी। वह स्वयं भी नहीं जानती थी कि वह रो रही थी। उसने अश्रु पोंछ लिए।

"तू क्या सूचना लाई है ?"

"ज्येष्ठ वासुदेव आपसे भेंट करने आ रहे हैं।" दासी बोली।

"ताऊजी।" लक्ष्मणा के मुख से अनायास ही निकला।

क्षण भर में लक्ष्मणा के मन में सहस्रों विचार कौंध गए। वह संभलकर बैठ गई, "जा सादर लिवा ला।"

लक्ष्मणा को लगा कि बलराम एकदम ठीक समय पर आए हैं। इस समय उनसे अधिक उपयुक्त व्यक्ति और कोई हो ही नहीं सकता था। सारी द्वारका में यदि किसी को उसके पिता से वास्तविक प्रेम है, तो वे बलराम ही हैं। वह स्वयं सोचती भी तो कदाचित् उसके मन में उनका नाम न आता। यह तो प्रभु की ही कृपा है कि उन्होंने स्वतः ही ताऊजी को इस ओर आने के लिए प्रेरित कर दिया।

बलराम के द्वार पर प्रकट होते ही लक्ष्मणा ने लपककर आतुरतापूर्वक उनके चरण स्पर्श किए।

"दीर्घायु प्राप्त करो। सुखी रहो। सदा सुखी रहो।" बलराम बोले, "कैसी हो पुत्री ?"

"आपकी कृपा है ताऊजी !" लक्ष्मणा ने स्वयं को संभालकर कहा। उसकी इच्छा हो रही थी कि वह ताऊजी के कंधे पर सिर रख कर खूब रोए। वह स्वयं को सँभाल न पाती तो कदाचित् उनके चरणों पर लोट कर रोती ही चली जाती।

"तो मेरा वह दुष्ट भतीजा जो संयोग से तुम्हारा पति है, कहां है ? मुझे आते देख कर छुप गया है क्या ?" बलराम अत्यंत आह्लादित मुद्रा में थे।

"हम लोग पिताजी को प्रणाम करने गए थे। मैं तो प्रणाम कर चली आई, किंतु पिताजी ने उन्हें रोक लिया।"

"उसे अकेले को रोक लिया। अरे तो क्या कृष्ण उसे तुम्हारे सामने नहीं पीट सकता था कि तुम्हें भेज दिया।"

लक्ष्मणा समझ रही थी कि यह बलराम की विनोदी मुद्रा थी; और इस समय वे ऐसी अनेक बातें कह सकते थे, जो वे सुविचारित ढंग से कभी नहीं कहेंगे। पर इसी मुद्रा में वे उसकी बात पूरी सहानुभूति से सुन भी सकते थे।

"ताऊजी ! वहाँ आर्यपुत्र को नहीं, आपके प्रिय शिष्य को पीटने की तैयारी हो रही है।" लक्ष्मणा अपने अश्रु नहीं रोक पाई।

बलराम का आह्लाद टिका नहीं रहा। लक्ष्मणा के अश्रु उन्हें स्तब्ध कर गए थे।

"क्या बात है पुत्री ! तुम इतनी दुखी क्यों हो ?" बलराम बोले, "ऐसा क्या अघटनीय घट गया कि मेरी पुत्री की आँखों से अश्रु ढुलक रहे हैं ?"

"पांडवों का अज्ञातवास पूर्ण हो गया है ताऊजी।" वह बोली, "वे उपप्लव्य में प्रकट हो गए हैं।"

"तो अच्छा ही हुआ। बेचारे बड़े कष्ट में थे।"

"वह तो ठीक है।" लक्ष्मणा बोली, "किंतु अब वे लोग मेरे पिता से इंद्रप्रस्थ का राज्य माँगेंगे। पिता अपने राज्य की रक्षा करना चाहेंगे तो पांडव उन पर शस्त्र उठाएँगे।··· और उनके सबसे बड़े सहायक होंगे यादव। मैं यह कैसे देखूंगी कि मेरा श्वसुरकुल, मेरे पितृकुल का वध करने के लिए शस्त्र उठाए। मैं अपने पति की आरती उतारकर उन्हें युद्ध में भेजँगी कि वे जा कर मेरे पिता तथा मेरे भाइयों का वध कर के आएँ।··· और यदि युद्ध में वे उनका वध नहीं करेंगे तो क्या वे अपने प्राण गँवाएं। मैं तो दोनों ही ओर से मारी गई ताऊजी।" लक्ष्मणा के अश्रु इस बार कुछ अधिक ही समारोहपूर्वक वह निकले।

बलराम को लगा कि वे लक्ष्मणा के अश्रु नहीं देख पाएँगे। ऐसे में वे असंतुलित हो कर कुछ भी अटपटा काम कर सकते हैं।

"पहले तुम अपने अश्रु पोंछो लक्ष्मणा ! स्वयं को सँभालो, पुत्रि !" बलराम बोले, "तुम जो कुछ कल्पना कर बैठी हो, अभी उसमें से कुछ भी घटित नहीं हुआ है। पांडव उपप्लव्य में बैठे हैं। वहाँ अभिमन्यु का विवाह हो रहा है। वे लोग विवाह की व्यवस्था में व्यस्त होंगे। न राज्य की बात है, न युद्ध की। न कोई युद्ध करने गया है, न कोई जा रहा है। तुम व्यर्थ ही व्याकुल हो रही हो। दुर्योधन तुम्हारा ही पिता नहीं है। वह मेरा परमप्रिय शिष्य है। तुम क्यों समझती हो कि वह असहाय है, अनाथ है, अक्षम है।"

"आप बहुत भोले हैं ताऊजी ! आप नहीं जानते कि वहाँ विवाह की आड़ में सैनिक तैयारियाँ हो रही हैं। मैंने देखा है, सुभद्रा बूआ सदा ही अपने पुत्रों को युद्ध की शिक्षा देती रही हैं। युद्ध तो होगा ही ताऊजी। पर आप मुझे वचन दीजिए, आप अपने शिष्य का वध करने नहीं जाएँगे।" और सहसा ही लक्ष्मणा पर जैसे उन्माद छा गया, "केवल पांडव ही तो आपके संबंधी नहीं हैं। मेरे पितृकुल से भी तो आपका संबंध है। सुभद्रा बूआ अर्जुन की पत्नी हैं तो मैं भी तो आपकी पुत्रवधू हूँ। बताइए, हूँ कि नहीं ? आप एक संबंध को स्वीकार करेंगे और दूसरे को अनदेखा कर जाएँ, यह तो उचित

नहीं है। आप मध्यस्थ हैं, तो फिर आप एक ही पक्ष की सहायता कैसे कर सकते हैं ?"

"लक्ष्मणा ! धैर्य धारण करो पुत्री ! अभी ऐसा कुछ नहीं हुआ, जिस कारण तुम इतनी व्याकुल हो रही हो।" बलराम बोले, "मैं तुम्हें वचन देता हूँ।..."

"आप वचन तो दे देते हैं, पर उससे क्या होता है। होता तो वही है, जो श्रीकृष्ण चाहते हैं।" लक्ष्मणा झपटकर बोली, "आपने तो पहले भी, हमारे विवाह से पूर्व, पिता जी को वचन दिया था। पिताजी ने कहा था कि पांडवों की तुलना में आप हमें अपना शत्रु ही मानते हैं। और आपने कहा था कि आपने तो कभी ऐसा नहीं माना।"

लक्ष्मणा के शब्दों में कुछ ऐसा ही बल था कि बलराम की आँखों के सम्मुख वह सारा ही दृश्य सजीव हो उठा...

"मुझे सब स्मरण है।" बलराम ने लक्ष्मणा की ओर देखा।

लक्ष्मणा ने कुछ कहा नहीं। वह मौन खड़ी बलराम की ओर देखती रही और बलराम ने देखा कि उसकी आँखों में फिर से अश्रु तैर रहे थे।

बलराम ने स्वयं को इतना विवश कभी नहीं पाया था। वे लक्ष्मणा के अश्रु नहीं देख सकते थे। पर उन अश्रुओं को रोकने के लिए वे क्या कर सकते थे।

"तुम व्यर्थ ही आशंकित हो पुत्री !" अंततः वे बोले, "मेरा विश्वास करो, तुम्हारा अथवा तुम्हारे पितृकुल का कोई अनिष्ट नहीं होगा; और यादवों के हाथों तो ऐसा अनिष्ट होने की कोई संभावना ही नहीं है।"

"आप कहते हैं तो मैं मान लेती हूँ ; किंतु मेरा मन बार-बार कहता है कि कुछ बहुत भयंकर होनेवाला है।" लक्ष्मणा बोली, "पांडव प्रकट हो गए हैं। कुछ ही दिनों में उनका कोई न कोई दूत यहाँ आ पहुँचेगा और सारे यादव रणसज्जित हो कर उनकी सहायता के लिए पहुँच जाएँगे।"

बलराम खड़े उसे देखते रहे। वे गंभीर ही नहीं, विचारमग्न भी थे। अंततः बोले, "मुझ पर विश्वास कर सकती हो तो इसे निश्चित जानो कि तुम्हारी आशंकाएँ सत्य प्रमाणित नहीं होंगी।"

सम्मोहित से बलराम चले गए। लक्ष्मणा देख सकती थी कि उनके मन में ऊहापोह चल रहा था। वे किसी योजना पर विचार कर रहे थे। निश्चित रूप से वे अपने वचन को क्रियान्वित करने की बात सोच रहे थे।... किंतु लक्ष्मणा को अब भी संतोष नहीं हो पा रहा था। वह विश्वास नहीं कर पा रही थी कि पांडवों अथवा श्रीकृष्ण का दुर्योधन-विरोध समाप्त करने के लिए इतना ही पर्याप्त था। पर्याप्त था या नहीं, पर उसकी इच्छा थी कि वह अपनी सास जांबवती के सम्मुख भी अपनी चिंता प्रकट कर दे। अपने पति का विरोध करने में पत्नी जितनी समर्थ होती है, उतना कोई और हो ही कैसे सकता है...

3

पिछले दो दिनों में रानी सुदेष्णा ने अपने मन को वहुत टटोला था : क्या था उनके मन में ? वे देवी पांचाली से भयभीत थीं ? पश्चात्ताप था, उनके मन में ? सत्ता के मद में डूवे अपने उस घृणित रूप के अपने सामने आ जाने से पीड़ित थीं ?··· रह-रह कर उनको लगता था कि वे और कुछ नहीं चाहतीं, वस देवी द्रौपदी उन्हें हृदय से क्षमा कर दें। उनके प्रति अपने मन में कोई रोप न रखें। कौन नहीं जानता था, द्रौपदी के तेज को। उनका क्रोध किसी को क्षमा नहीं करता था। कीचक की दुर्गति से वड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है।···द्रौपदी का अपमान कर वह दो दिन नहीं जी सका।

पता नहीं पांचाली को कितना स्मरण था, किंतु सुदेष्णा स्वयं ही नहीं भूल पाती थीं कि उन्होंने पांचाली के साथ समय-समय पर कैसा व्यवहार किया था। उसे अपनी सैरंध्री समझकर आदेश तो दिए ही थे, अनेक वार उसका अपमान नहीं तो उपेक्षा और अवमानना तो की ही थी; और अंत में उसे एक प्रकार से वलात् ही अपने भाई कीचक के पास माधवी लाने के वहाने इसलिए भेज दिया था कि कीचक अपनी इच्छा पूरी कर सके। सैरंध्री सचमुच सैरंध्री होती तो कदाचित् उन वातों को भूल जाती। प्रासादों में दासियों के साथ ऐसा व्यवहार कोई अभूतपूर्व तो नहीं था। ···किंतु द्रौपदी यह सव कैसे भूल सकती थीं। पर क्या उसे वे उन परिस्थितियों में सुदेष्णा का स्वाभाविक व्यवहार अथवा अज्ञान समझ कर क्षमा कर देंगी ? सुदेष्णा ने जो कुछ किया था, एक सैरंध्री के साथ किया था, देवी द्रौपदी के साथ तो नहीं।···

···अव द्रौपदी पांडवों की पटरानी और सुदेष्णा की समधन ही नहीं, उत्तरा की सास भी थीं। सुदेष्णा ने अपनी प्यारी पुत्री द्रौपदी को सौंप दी थी। अपने दुःस्वप्नों के क्षणों में वह देखती थी कि द्रौपदी, सुदेष्णा के व्यवहार का प्रतिशोध उसकी पुत्री से ले रही है। द्रौपदी को न कोई रोक सकता था, न परामर्श अथवा उपदेश दे सकता था। पांचों पांडव ही उसकी रक्षा को तत्पर नहीं थे, उसके अपने पिता और भाई भी यहाँ उपस्थित थे। विराट और उनकी सेना तो पाँच पांडवों का ही प्रतिकार नहीं कर सकती थी, पांचालों के आ जाने से तो स्थिति ही वदल गई थी। पांचाल ही क्यों, यादव भी तो थे। यादवों के महानायक, कृष्ण···। पांडवों से उनका जो संवंध था, वह तो था ही, वे द्रौपदी के सखा भी थे।··· इस समय द्रौपदी जिससे अप्रसन्न हो जाए, उसकी रक्षा कौन कर सकता था ?···

दासी ने प्रवेश कर प्रणाम किया, "महारानी ! महाराज पधार रहे हैं।"

सुदेष्णा अपनी उधेड़वुन से वाहर निकलीं। अच्छा है कि महाराज इधर आ रहे हैं। उनसे भी विचार-विमर्श हो जाएगा। संभव है कि मन कुछ हल्का हो।

मत्स्यराज आए तो सुदेष्णा ने खड़े हो कर प्रणाम किया।

"कैसी हो महारानी ! लगता है अभी विश्राम नहीं हुआ।"

"महाराज सत्य ही कह रहे हैं। वस्तुतः विश्राम हो तो कहाँ से ? मन का ऊहापोह ही समाप्त नहीं होता।" सुदेष्णा ने कहा, "कभी मेरा मन मुझे बताता है कि पांडवों पर हमने बहुत कृपा की है; और कभी वह कहता है कि हमने उनके साथ बहुत कठोर व्यवहार किया है।"

"जो किया सो किया।" विराट हंसे, "अब वे न अज्ञातवास कर रहे हैं, न हमारे वेतन भोगी कर्मचारी हैं। अब वे हमारे समधी हैं।"

"यह ही तो चिंता है मुझे। यदि वे प्रतिशोध लेने पर उतर आए, तो उनसे हमारी रक्षा कौन कर सकता है ?" सुदेष्णा बोली, "अब उत्तरा उनके घर में है, उनकी पुत्रवधू है, द्रौपदी उसकी सास है। यदि मेरे व्यवहार का बदला उसने मेरी पुत्री से लेना चाहा तो ?"

विराट ने रानी के चेहरे को ध्यान से देखा : वह सचमुच बहुत चिंतित लग रही थी। कदाचित् रात को सो भी न पाई हो। उन्हें लगा कि उन्हें रानी से सहानुभूति तो है, किंतु रानी की यह स्थिति उनके लिए कुछ मनोरंजक भी है। यही रानी अपने भाई के बल के अहंकार में अपने पति तक को हत्या की धमकी दे रही थी, सैरंध्री के साथ तो उसने जो किया होगा, वह तो किया ही होगा। उसके पाप अब अपना चक्र पूरा कर उसके पास लौट आए हैं, जैसे किसी और पर छोड़ी गई कृत्या, पलटकर छोड़ने वाले पर आ गई हो।··· पर विराट यह नहीं भूल सकते कि वह उनकी पत्नी है। जीवन में जब कभी वे उससे त्रस्त हुए और उनके मन में उसका विरोध जागा, उनके मन में आया कि वे उसके विषय में सबको सब कुछ बता दें। वे बताएँ कि ऊपर से कोमल, मधुर और शिष्ट दिखनेवाली यह महिला भीतर से कितनी क्रूर है, कितनी स्वार्थी और अहंकारी है।··· पर प्रत्येक बार उनका मन ठिठुककर रह गया। वह उनकी पत्नी ही होती, तो और बात थी। वह उनके बच्चों की माँ भी थी। वे अपने बच्चों के सामने उनकी माँ का कौन-सा रूप रखना चाहते हैं ? संसार के सामने उनके बच्चे सिर उठा कर कैसे कह सकेंगे कि उनकी मॉ, एक आदर्श स्त्री थी। समाज क्या कहेगा उनको कि उनकी माँ कैसी स्त्री थी। प्रत्येक बार वे मौन रह गए।··· इस स्त्री का अहंकार टूटा, जब कीचक का वध हुआ। कीचक के जीवित रहते इसे लगता था कि न तो धरती पर राजा है और न आकाश पर ईश्वर।···कीचक की मृत्यु से यह असहाय हो गई··· और इस समय भी यह कैसी डरी-सहमी सी बैठी है, जैसे अपनी ही छाया से आतंकित हो।···

"नहीं ! वे लोग वैसे नहीं हैं।" विराट बोले, "मुझे तो लगता है कि पांडवों और द्रौपदी को अपने अज्ञातवास के दिनों के संबंध में जैसे कुछ भी स्मरण नहीं है। एक बार भी ऐसा अवसर नहीं आया कि उन्होंने विनोद में भी कभी उन दिनों की किसी घटना की चर्चा की हो। मैंने माधवी और अपने अहंकार के मद में धर्मराज को पांसा दे मारा था। उनके मस्तक पर चोट आई थी, रक्त बहा था, पांचाली ने स्वयं अपने आँचल से उस रक्त को पोंछा था।··· पर उस रक्त की भी चर्चा कभी नहीं हुई। इतना

उदार हृदय पांडवों का ही हो सकता है। द्रौपदी उनकी ही पटरानी है। वह उत्तरा को कभी पीड़ित नहीं करेगी। और फिर अभिमन्यु की जननी तो देवी सुभद्रा हैं। उनके साथ तो रानी ! तुमने कभी कोई दुर्व्यवहार नहीं किया है। समय आने पर क्या वे अपनी पुत्रवधू की रक्षा नहीं करेंगी ? क्या अभिमन्यु अपनी पत्नी को अकारण पीड़ित होने देगा ? धनंजय भी तो उत्तरा से कितना प्रेम करते थे। उन्होंने सदा ही उसे अपनी पुत्री के रूप में देखा, अन्यथा मेरे प्रस्ताव पर वे उससे विवाह करते अथवा न करते, वे उसे अपनी पुत्रवधू के रूप में न मागते।"

सुदेष्णा कुछ क्षणों तक राजा के कथन पर विचार करती रही और फिर बोली, "ठीक है, वे भले लोग होंगे; किंतु वे सामने रहते हैं तो मेरे मन में आशंकाएँ जागती ही रहती हैं।"

"अपने मन को संयत करो रानी ! जो तुम्हें पीड़ित कर रहे हैं, वे उनके नहीं तुम्हारे अपने विचार हैं।" राजा ने कहा और चुप हो गए।

वे जानते थे कि जो कुछ वे कहने जा रहे थे, वह सत्य था; किंतु सुदेष्णा को सत्य कभी प्रिय नहीं था। उसे मधुर सुनना और कटु वोलना पसंद था। वह चाहे किसी की प्रशंसा करे या न करे, उसे अपनी प्रशंसा चाहिए थी। वह दूसरों की आलोचना तो कर सकती थी; किंतु अपनी आलोचना सुन नहीं सकती थी। वह दूसरों के लिए नियम वनाती थी, किंतु अपने लिए किसी नियम को मानने को प्रस्तुत नहीं थी। इस समय भी वह अपना ही मन द्रौपदी पर आरोपित कर रही थी। सोच उसका मन रहा था और वह मान रही थी कि वे द्रौपदी के विचार हैं। वे यह सब कह देते तो वह उनका मुंह नोच लेती। पर वे जानते हैं कि यदि वह द्रौपदी के स्थान पर होती तो सुदेष्णा से अवश्य ही प्रतिशोध लेती।

"पीड़ित तो मुझे अपने विचार ही कर रहे हैं।" सुदेष्णा ने कहा, "किंतु मैं जानती हूँ कि नारी का मन कैसे सोचता है। जो मैं सोच रही हूँ, वही द्रौपदी का मन भी सोच रहा होगा। नारी के मन को आप नहीं समझ सकते, केवल मैं ही समझ सकती हूं।"

विराट की इच्छा हुई कि वे जोर से हँस पड़ें। यह अच्छा विभाजन है कि पुरुष नारी के मन को नहीं समझ सकता। तो क्या नारी भी पुरुप के मन को नहीं समझ सकती ? किंतु यदि सुदेष्णा से पूछा जाएगा, तो वह कहेगी कि वह पुरुप के मन को राई रत्ती जानती है।···विराट स्त्री-मन और पुरुप-मन को नहीं जानते किंतु वे मनुष्य के मन को जानते हैं। सोचता तो मनुष्य का अपना ही मन है, अपने लिए भी और दूसरों के लिए भी, मानता चाहे वह यह है कि दूसरा व्यक्ति ऐसा सोचेगा। स्वयं से मुक्त हो कर कोई किसी और के समान कैसे सोच सकता है।···कीचक की वहन कैसे सोच सकती है कि कोई अपने प्रति किए गए अपराधों के लिए भी किसी को क्षमा कर सकता है।

"सुदेष्णे !" विराट वोले, "मैंने पांडवों को देखा और परखा है। वे लोग वैसे नहीं

हैं, जैसे साधारण मनुष्य होते हैं। साधारण से मेरा तात्पर्य है, शरीर और मन में रहनेवाले मनुष्य ! पांडव वे लोग हैं, जो आत्मा में रहते हैं। वे संसार में नहीं, धर्म में वसते हैं।"

"रहते होंगे।" सुदेष्णा स्वयं नहीं समझ सकी कि वह पांडवों की यह प्रशंसा क्यों सहन नहीं कर पाई, "आत्मा में रहें अथवा धर्म में रहें, मेरी तो यह इच्छा है कि अव वे अपने राज्य में रहें। हमने रहने को उपप्लव्यनगर दे दिया तो इसका अर्थ यह तो नहीं है कि अव वे अपने राज्य में जाएँगे ही नहीं। स्थान हमने दिया। आतिथ्य हम ने किया। उनके अतिथियों को ठहराया। विवाह में भी हमारा ही धन खर्च हुआ। उनको यौतुक भी दिया और उन पर व्यय भी किया। उनके पास था ही क्या।..."

"उपप्लव्य तुम्हारा है। धन-धान्य भी तुम्हारा है। गोशालाएँ और अश्वशालाएं भी तुम्हारी हैं।" विराट हँस पड़े, "वस तुम इतना ही भूल रही हो कि..."

"कि पांडवों ने हमारी रक्षा की थी।" सुदेष्णा ने उनकी वात पूरी नहीं होने दी, "वे न होते तो आज यह राज्य हमारा नहीं होता। पता नहीं हम जीवित भी होते अथवा नहीं, इत्यादि इत्यादि...।" उसका स्वर पर्याप्त ऊँचा हो चुका था, "उन सवका शुल्क चुका नहीं चुके हम ? अथवा आजीवन उन वातों को स्मरण करते रहेंगे और उस का शुल्क चुकाते रहेंगे ?"

"वैसे तो कृतज्ञता महान् धर्म है और हमें पांडवों का कृतज्ञ रहना चाहिए", विराट वोले, "किंतु वह सव नहीं कह रहा मैं।"

"तो क्या कह रहे हैं आप ?"

"तुम भूल रही हो कि अभी दुर्योधन और सुशर्मा दोनों ही जीवित हैं और विराटनगर पर आक्रमण केवल इसलिए नहीं कर रहे, क्योंकि पांडव यहाँ निवास कर रहे हैं।"

"तो पांडव यहाँ आजीवन निवास करेंगे ?" सुदेष्णा का स्वर अवश्य कुछ नीचा हो गया था, किंतु उसका भाव तनिक भी नहीं वदला था, "अपने राज्य में कभी नहीं जाएँगे ?"

"जाएँगे। वे अपने ही राज्य में जाएँगे। तुम्हारा राज्य उनको नहीं चाहिए।" विराट वोले, "विवाह हो चुका है। विवाह-संवंधी सारे अनुष्ठान और आयोजन पूरे हो चुके। अव उनके राज्य की ही वात होनी है।"

"वात होनी है का क्या अर्थ ?"

"तुमने देखा है कि अभिमन्यु के विवाह में सम्मिलित होने के लिए हस्तिनापुर से कोई नहीं आया है।" विराट ने कहा, "भीष्म और विदुर भी नहीं।"

"तो ?"

"यदि वे लोग सहज भाव से विवाह में सम्मिलित होते तो यह माना जाता कि पांडवों से उनका कोई विरोध नहीं है। पांडव वनवास और अज्ञातवास पूर्ण कर चुके हैं तो दुर्योधन उनको उनका राज्य दे देगा।" विराट वोले, "किंतु वे नहीं आए, इसका

अर्थ है कि वे पांडवों को अपना शत्रु मानते हैं। और शत्रुओं को कोई उनका राज्य नहीं लौटाता। संभावना यही है कि दुर्योधन उनका राज्य नहीं लौटाएगा। इसलिए उस दशा में क्या करना है, उस पर विचार करने के लिए सभा होगी।...''

''दुर्योधन राज्य नहीं लौटाएगा तो क्या करेंगे पांडव ?'' सुदेष्णा वोली, ''युद्ध ही करना होगा। यहां बैठे रहने से तो कुछ नहीं होगा।''

''यहां बैठे नहीं रहना चाहते वे।'' विराट ने उत्तर दिया, ''वे सारी परिस्थितियों पर विचार करना चाहते हैं। युद्ध के बिना राज्य मिल गया तो, और नहीं मिला तो--दोनों ही स्थितियों में क्या करना होगा।''

''क्या करना होगा ! वन तो नहीं लौट जाएँगे वे।'' सुदेष्णा तड़पकर वोली, ''मैं नहीं चाहती कि वे लोग सदा के लिए यहीं रहें। उन्हें अपने रहने योग्य स्थान का प्रबंध तो कर लेना चाहिए।''

''किसी परिजन के पास रहना होगा तो उनके पास और भी ठिकाने हैं।'' विराट का स्वर कुछ ऊँचा हो गया, ''वे कांपिल्य भी जा सकते हैं और द्वारका भी। वे उनके पास नहीं रहे तो तुम्हारे पास भी नहीं रहेंगे।'' उन्होंने स्वयं को संयत किया, ''तुम चिंता मत करो। आज की सभा में कोई न कोई निर्णय हो ही जाएगा।''

4

वसुदेव ने अपने आसपास एक दृष्टि डाली : वलराम और सात्यकि जाकर द्रुपद के साथ बैठ गए थे। विचित्र वात थी, सात्यकि न कृष्ण के साथ वैठा था और न अर्जुन के साथ। वह जाकर वलराम के साथ बैठ गया था।...वसुदेव मन-ही-मन हँसे। वे दोनों निकट हों तो उनके टकराने की संभावना अधिक होती है। फिर भी वे एक साथ बैठे हैं तो कोई प्रयोजन होगा ही। ... कृष्ण और युधिष्ठिर मत्स्यराज विराट के साथ वैठे थे।... वसुदेव को एक प्रकार के आह्लाद का अनुभव हुआ। कम-से-कम इस सभा में किसी ने कृष्ण और वलराम को यह कह कर नहीं टोका कि वे लोग किरीटधारी राजा नहीं हैं, इसलिए वे राज समाज में अथवा राजाओं के साथ नहीं बैठ सकते। वे दोनों तो इस सभा के सव से महत्त्वपूर्ण राजाओं के साथ ही वैठे हुए हैं। ...अन्य पांडव, द्रुपदपुत्र, विराटपुत्र, प्रद्युम्न, सांब, अभिमन्यु तथा द्रौपदी के पाँचों पुत्र प्रायः साथ साथ ही वैठे हुए थे।...

वसुदेव पहली वार पांडवों के किसी समारोह में आए थे, पर कुंती यहां फिर भी नहीं थी। जिससे उनका सवसे निकट का संवंध है, वह हस्तिनापुर में वैठी थी। उस के पहले पौत्र का विवाह था, वह फिर भी नहीं आई थी। वह अपना धर्मयुद्ध कर रही थी। उसके लिए विवाह उतना आवश्यक नहीं था, जितना यह आग्रह कि युधिष्ठिर

दुर्योधन से लड़कर अपना राज्य प्राप्त करे।···

··· देवकी भी नहीं आई थी। उसके मन में विवाह इत्यादि उत्सवों के लिए अव वैसा उत्साह नहीं रह गया था। बहुत सारे विवाह देखे थे उसने। अव उसका मन समारोहों में नहीं एकांत में ही अधिक रमता था। यात्रा में उसको कष्ट होता था।···अच्छा ही था कि शरीर की अक्षमता के साथ मन भी कामनाहीन होता जा रहा था, अन्यथा क्रूर कामनाएँ अक्षम शरीर के साथ खिलवाड़ कर, उसे कष्ट ही देतीं।···पर वसुदेव क्या करने आ गए हैं यहां ? क्या उनके बिना यह विवाह नहीं होता ? अथवा उनका मन अव भी समारोहप्रिय है ?··· अरे दौहित्र का विवाह है।··· उनके मन ने कहा··· नाना का उपस्थित होना आवश्यक है। एक ही तो पुत्री है उनकी; और उस का एक मात्र पुत्र है अभिमन्यु। उसके विवाह में भी वे न आएँ ?

वे हँसे। उनका अपना मन उनके साथ ही छल कर रहा था। नाना की उपस्थिति महत्त्वपूर्ण होती है, पर नाना के विना विवाह नहीं होता, ऐसी वात तो नहीं है।··· दो दो मामा आए हैं, तो नाना की क्या आवश्यकता ? स्वयं उपस्थित होते हुए भी वसुदेव ने क्या किया ? जो कुछ किया कृष्ण और वलराम ने ही तो किया।··· तो वे क्यों आ गए ? केवल सुभद्रा के आग्रह के कारण ?

उनका मन तो तव से यह प्रश्न भी कर रहा है कि सुभद्रा को क्या आवश्यकता पड़ी थी कि अभिमन्यु का विवाह कर दिया अभी से ? अभी तो अभिमन्यु केवल सोलह वर्षों का था। आर्य मर्यादा के अनुसार यह उसके ब्रह्मचर्य का काल था। अभी तो उस के बड़े भाई अविवाहित थे।··· ठीक है कि उस पर परिवेदन का नियम लागू नहीं होता। ···पर सुभद्रा को जल्दी ही क्या थी ?

अर्जुन कहता है कि विराट ने जव उत्तरा के विवाह का प्रस्ताव रखा तो उस के मन में वड़ा स्पष्ट था कि उत्तरा अभी वहुत छोटी थी। अर्जुन की अवस्था उस के पिता होने योग्य थी। विवाह का प्रस्ताव अस्वीकार किया जाता तो शायद विराट का अपमान होता।··· और पांडव न विराट का अपमान करना चाहते थे, न विराट की मैत्री खोना चाहते थे। विवाह प्रस्ताव के माध्यम से विराट ने उनके सम्मुख मैत्री और दृढ़ संवंधों का एक अवसर प्रस्तुत किया था। विवाहेतर किसी संवंध से कदाचित् यह अवसर नहीं आता। पांडव विराट के परिवार के साथ विवाह संवंध तो चाहते ही थे।··· पांडवों के पुत्रों में अभिमन्यु ही कदाचित् उत्तरा की अवस्था के अनुकूल वर था। तो अर्जुन ने अभिमन्यु के साथ उसका विवाह स्वीकार कर लिया···

पर वसुदेव इस विवाह में क्यों आ गए ?··· और वसुदेव को लगता है कि वात केवल विवाह तक सीमित होती तो कदाचित् वे न ही आते। वे जानते थे कि अभिमन्यु का विवाह एक वहाना है। विवाह के व्याज से सारे मित्र और संवंधी एकत्रित होंगे और पांडवों की समस्या का समाधान खोजेंगे। तव हस्तिनापुर से युद्ध का प्रसंग उठेगा। सैनिक सहायता की वात आएगी।··· पर दुर्योधन तथा युधिष्ठिर को लेकर यादव अव

एकमत नहीं थे। यादव तो यादव··· स्वय कृष्ण और वलराम सहमत नहीं थे। इन दिनों द्वारका में जिस प्रकार के विरोध और मतभेद उभर रहे थे, उसको देखते हुए, वे कृष्ण, वलराम तथा अन्य यादवों को उपप्लव्यनगर भेजकर, स्वयं द्वारका में वैठे नहीं रह सकते थे। उन्हें वार-वार लगा था कि पांडवों और धार्तराष्ट्रों के झगड़े में उनका अपना घर वँटा जा रहा था। पांडवों तथा धार्तराष्ट्रों के संवंधों की चिंता वे न भी करें तो कृष्ण और वलराम के संवंधों की चिंता तो उन्हें करनी ही होगी।···उन्हें वार-वार लगा था कि सांव ने कृष्ण के घर में क्लेश के वीज ही नहीं वोए, वलराम को कृष्ण के घर में घुसकर उसका विरोध करने का एक आधार भी दे दिया है। वे समझ नहीं पा रहे थे कि पिता होकर भी वे इतने असहाय क्यों हो रहे थे। कृष्ण और वलराम के मध्य की खाई चौड़ी होती जा रही थी और वे कुछ नहीं कर पा रहे थे···जो यादव वाहर से इतने शक्तिशाली, संगठित और एकजुट दिखाई दे रहे थे, भीतर से कितने खोखले थे वे लोग।···

कृष्ण उठ खड़े हुए थे। सभा में शांति हो गई।

"उपप्लव्य में एकत्रित, सम्राट् युधिष्ठिर के सुहृदो !" कृष्ण ने उच्च स्वर में कहा, "आप जानते हैं कि हम अभिमन्यु के विवाह के अवसर पर यहाँ पांडवों का सुख वाँटने आए हैं। सुख वाँटने का अधिकार है तो उनका दुख वाँटना भी हमारा कर्तव्य है। आप यह भी जानते ही हैं कि धृतराष्ट्र ने पांडवों से उनका पैतृक राज्य छीनने के लिए उनके शैशव से ही कितने उपाय किए हैं। जव वे पांडवों की हत्या नहीं कर सके तो धर्मराज युधिष्ठिर को उनके धर्म के वंधन में वाँध कर धृतराष्ट्र ने पिता के रूप में आज्ञा दी कि वे द्यूत खेलें। हम जानते हैं कि धर्मराज न द्यूतविद्या के ज्ञानी हैं, न वे द्यूत खेलने के पक्ष में थे; किंतु वे पिता की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते थे। द्यूत में हारने वाले के लिए वारह वर्षों के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास की शर्त रखी गई थी। पांडवों ने वह शर्त भी पूरी की। अव उन्हें उनका राज्य मिल जाना चाहिए। धर्मराज अधर्म से मिला हुआ इंद्र का राज्य भी नहीं चाहते। अब तो वे हस्तिनापुर का अपना पैतृक राज्य भी नहीं माँग रहे। वे तो अपने वाहुवल द्वारा अर्जित अपनी संपत्ति की माँग कर रहे हैं। हम सवको मिलकर वह मार्ग खोजना है, जिससे धर्म और न्याय पर चलते हुए, उनके संबंधों को क्षति न पहुँचाते हुए, युधिष्ठिर और दुर्योधन दोनों का ही हित हो।" और सहसा ही उनके स्वर में जैसे कोई अलौकिक तेज झलका, "दुर्योधन ने वह राज्य पांडवों को किसी युद्ध में पराजित कर नहीं जीता है। उसने अधर्मपूर्वक कपट द्यूत में उनके राज्य का अपहरण किया है। हम सबका धर्म है कि हम दुर्योधन के बढ़े हुए लोभ को रोकें। इस वार यदि दुर्योधन ने धर्मराज का राज्य नहीं लौटाया तो पांडव उन सवका वध कर देंगे। अव पांडव और उत्पीड़न नहीं सहेंगे। दुर्योधन ने युद्ध छेड़ा तो पांडव दृढ़ प्रतिरोध करेंगे और उन सवका वध कर देंगे।" वे फिर से सहज हो गए। उनका स्वर पहले के ही समान कोमल और मधुर हो गया, "अभी हम नहीं जानते कि

दुर्योधन के मन में क्या है। इसलिए आवश्यक है कि उसका मत जानने के लिए यहां से कोई पवित्रात्मा, धर्मप्राण, कुलीन और सावधान व्यक्ति हस्तिनापुर जाए। कुरुवृद्धों से वात करे। उन्हें समझाए और कोई ऐसा मार्ग निकाले, जिससे दोनों पक्षों का हित हो। उनके धर्म, न्याय और यश की रक्षा हो।"

श्रीकृष्ण मौन हो गए। उन्होंने हाथ जोड़कर सबको प्रणाम किया और अपने स्थान पर वैठ गए।

वसुदेव संतुष्ट थे। कृष्ण ने ऐसा कुछ नहीं कहा था, जो एक पक्षीय अथवा उग्र हो। वह ऐसे समाधान पर विचार करने के लिए कह रहा था, जिससे दोनों पक्षों का हित हो। अन्यथा वह यह भी तो कह सकता था कि हमें चाहिए कि हम दुर्योधन और उसके भाइयों का वध कर हस्तिनापुर का साम्राज्य युधिष्ठिर को सौंप दें और उसे फिर से सम्राट् की उपाधि से विभूषित करें।···पर उसने ऐसा कुछ नहीं कहा था। वलराम तथा उसके सहयोगियों को उससे असंतोष नहीं होना चाहिए। लक्ष्मणा की सारी आशंकाएँ निर्मूल हो जानी चाहिए··· न पांडव युद्ध चाहते हैं, न कृष्ण को ही निरीह हत्याएँ प्रिय हैं।

तभी वलराम उठकर खड़े हो गए।···वसुदेव चौंके।···अव इसके वोलने की क्या आवश्यकता है ? जहां वोलने की आवश्यकता होती है, वहाँ तो मुँह खोलता नहीं; और जहाँ कोई आवश्यकता नहीं, वहाँ उठकर खड़ा हो गया है। यह कृष्ण के समर्थन में उठ नहीं सकता और विरोध का कोई अवकाश नहीं था। कृष्ण ने ऐसा कुछ कहा ही नहीं था ···

"कृष्ण ने वहुत सुविचारित वक्तव्य दिया है। यह भी अच्छी वात है कि युधिष्ठिर पूरा न माँग कर आधे राज्य की ही आकांक्षा कर रहे हैं। युधिष्ठिर और दुर्योधन, दोनों का ही हित इसी में है। वे दोनों ही हमारे संवंधी हैं। इसलिए हम दोनों के ही हित की आकांक्षा करते हैं। मध्यस्थ होने के नाते हमें ऐसा ही करना चाहिए।" वलराम वोले,"मैं चाहता हूँ कि यहाँ से कोई वहुत ही वुद्धिमान, प्रतिभाशाली और तटस्थ व्यक्ति हस्तिनापुर जाए। वह भीष्म, धृतराष्ट्र, द्रोणाचार्य इत्यादि से चर्चा करे और कोई शांतिपूर्ण समाधान निकाले। दुर्योधन और उ के सहयोगियों को उत्तेजित करनेवाली कोई वात न करे। युद्ध की तो चर्चा ही नहीं करनी चाहिए। युद्ध से किसी का भला नहीं होता।" उनका स्वर कुछ वदला, "कृष्ण ने वहुत ठीक कहा है कि हम दुर्योधन के शुभचिंतक हैं, अतः हमें उसके वढ़े हुए लोभ को रोकना चाहिए; पर उसने यह नहीं कहा कि धर्म के नाम पर पांडवों की असंगत माँग का समर्थन भी नहीं करना चाहिए। सारा दोष दुर्योधन का ही नहीं है। युधिष्ठिर को द्यूत का व्यसन नहीं होता तो ऐसी स्थिति ही क्यों आती। खेलने ही वैठे थे तो अपने जैसे ही किसी अज्ञ व्यसनी को चुनते। वे तो शकुनि जैसे दक्ष द्यूतक का आह्वान कर उससे खेलने लगे। ऐसे में तो कोई भी हारेगा ही। उसमें सुवलपुत्र का क्या दोष है। उनसे यह भी नहीं हुआ कि दो एक दाँव खेल

कर उठ जाते। वे तो रोष और आवेश में खेलते ही चले गए। अब यदि राज्य और सारी संपत्ति दुर्योधन के पास है, तो वह उस का त्याग क्यों करेगा। कोई भी व्यक्ति हाथ आई संपत्ति को छोड़ना नहीं चाहता। वह उसके लिए स्वाभाविक ही है। पांडव वीर योद्धा हैं, किंतु कोई ऐसे शक्तिशाली भी नहीं हैं कि उनके भय से दुर्योधन अपना राज्य त्याग दे। यदि पांडवों के पास अपने सहायक हैं तो दुर्योधन के पास भी सहायकों और योद्धाओं का अकाल नहीं है। उसने भी बलवान होकर ही पांडवों के राज्य पर आधिपत्य जमाया है। दुर्योधन को पांडवों से भयभीत होने का कोई कारण नहीं है। इसलिए युद्ध की तो बात ही नहीं करनी चाहिए। युद्ध से किसी का भी भला नहीं होता। युद्ध में दोनों ही पक्ष अनीति, अधर्म और अन्याय का सहारा लेते हैं। अन्याय से किसी का भी हित नहीं होता। संसार की किसी समस्या का समाधान नहीं होता। हमें शांति का व्यवहार करना चाहिए। समझा-बुझाकर समझौता करना चाहिए और मिल-जुलकर रहना चाहिए···"

वसुदेव चकित थे : उनके इस पुत्र ने आज अपने स्वभाव की सारी उग्रता का त्याग कर केवल शांति की बात कही थी। क्यों ? क्या इसलिए क्योंकि कृष्ण ने दुर्योधन के विरुद्ध युद्ध का संकेत किया था। पर क्या बलराम ने दुर्योधन को भी कभी मिल-जुल कर रहने का परामर्श दिया था ? उससे कभी कहा था कि उसका यह अत्यधिक लोभ इस भरतखंड के सारे राजाओं के लिए संकट का कारण बन जाएगा ?··· वह दुर्योधन के शक्तिशाली समर्थकों और सहायकों की चर्चा कर रहा था। क्या कहना चाहता था वह ? क्या वह पांडवों और कृष्ण को धमकी दे रहा था कि युद्ध की स्थिति में वह दुर्योधन का पक्ष ले सकता है ?

वसुदेव ने कृष्ण की ओर देखा : क्या वह बलराम का विरोध करेगा ? बलराम ने अपनी बात उसके समर्थन से आरंभ की थी किंतु उसकी समाप्ति तो कृष्ण के विरोध पर ही हुई थी। क्या कृष्ण युधिष्ठिर के पक्ष में कुछ कहेगा ? क्या वह कहेगा कि वह युधिष्ठिर का व्यसन नहीं, उसका धर्म था ? वह अपनी इच्छा से नहीं, धृतराष्ट्र की आज्ञा से खेल रहा था, इसलिए वह अपनी इच्छा से द्यूत छोड़कर उठ नहीं सकता था। और तब जो हुआ, सो हुआ, अब तो पांडव धर्मानुकूल समय पूरा कर आए हैं। क्या अब बलराम अपने शिष्य से कहेगा कि वह भी धर्मानुकूल आचरण करे और पांडवों का राज्य उन्हें लौटा दे ?

कृष्ण केवल देख रहे थे, कुछ बोल नहीं रहे थे। उनके द्वारा बलराम का विरोध करने का कोई लक्षण दिखाई नहीं पड़ रहा था। वे तो बलराम को ऐसे देख रहे थे, जैसे वे पहले से ही जानते हों कि बलराम यह सब ही कहेंगे···

तभी युयुधान सात्यकि एक प्रकार से उछलकर खड़ा हो गया, "बलरामजी ! जिस का जैसा मन होता है, वह वैसी ही बात करता है। अच्छा है कि आज आपने अपने मन की बात कह दी। प्रभु की बड़ी विचित्र लीला है कि एक ही वृक्ष में दो शाखाएँ

होती हैं। एक फलों के भार से धरती तक झुक आती है और दूसरी पर एक फूल तक नहीं फलता। आपने जो कुछ कहा है, उसके लिए मैं आपको दोप नहीं देता। दोष तो मैं इन वीर राजाओं को देता हूं, जो वैठे आपकी ऐसी वातें सुन रहे हैं। कोई भरी सभा में धर्मराज युधिष्ठिर को दोपी ठहराए और हम वैठे चुपचाप सुनते रहें, इससे वड़ा पाप और क्या हो सकता है।···."

वसुदेव का मन खटक गया। कृष्ण और वलराम नहीं टकराए तो सात्यकि ने वह कमी पूरी कर दी। यदि वलराम को क्रोध आ गया तो जो रण धार्तराष्ट्रों और पांडवों में संभावित है, वह यहीं हो लेगा। उन्होंने देखा··· वलराम की भृकुटी वक्र हो रही थी। उन्हें सात्यकि की वात अच्छी नहीं लग रही थी, किंतु वे स्वयं को सँभाले हुए थे। एक वार उन्होंने अपनी दृष्टि उठाई और कृष्ण की ओर देखा। वे उतनी ही तन्मयता से सात्यकि की वात सुन रहे थे, जैसी तन्मयता से उन्होंने वलराम की वात सुनी थी।···

"आप धर्मराज को द्यूत का अपराधी ठहरा रहे हैं। वे द्यूत क्रीड़ा से परिचित भी नहीं थे और धृतराष्ट्र ने उन्हें अपने घर बुलाकर सुवलपुत्र शकुनि के साथ खेलने के लिए वैठा दिया।" सात्यकि कह रहा था, "उस वलात् खेलाए गए द्यूत में छलपूर्वक जीते गए राज्य को आप धर्मपूर्वक जय करने की वात कह रहे हैं। धर्मराज इंद्रप्रस्थ में अपनी इच्छा से द्यूत खेलते और तव शकुनि उनसे जीत जाता तो हम आपकी वात मान लेते।" सात्यकि वोला, "इस पर भी पांडवों ने अपनी प्रतिज्ञानुसार वनवास और अज्ञातवास पूरा कर लिया है। अव धर्मानुसार उनका राज्य लौटाने के स्थान पर कौरव कह रहे हैं कि अवधि पूर्ण होने से पहले ही उन्होंने पांडवों को पहचान लिया था। भीष्म, द्रोण और विदुर उनको समझा रहे हैं और वे उनकी वात नहीं मान रहे, उलटे युद्ध की तैयारी कर रहे हैं। ऐसे कौरवों का पक्षले कर आप धर्मराज को दोपी ठहरा रहे हैं।"

सात्यकि का क्रोध जैसे वढ़ता ही जा रहा था। साथ ही साथ उसका संकोच भी कम होता जा रहा था। अव वह वलराम से आँखें नहीं चुरा रहा था। वह उन पर आग्नेय दृष्टि डाल रहा था। ···वसुदेव कुछ चकित थे। सात्यकि के इस व्यवहार से वलराम रुष्ट होने के स्थान पर कुछ संकुचित होते से लग रहे थे। ऐसा लग रहा था कि उनका अपराधवोध कुछ जाग उठा था; किंतु वे उसे दवाए हुए थे।

और सहसा सात्यकि का स्वर और भी ऊँचा हो गया,"आप हमें वता रहे हैं कि पांडव ऐसे वलशाली नहीं हैं कि दुर्योधन उनसे भयभीत हो जाए। आप मुझे बताएँ कि जिधर वीरवर अर्जुन होंगे, चक्रधारी भगवान कृष्ण होंगे, मैं हूंगा, भीम, नकुल, सहदेव होंगे, महाराज विराट, महाराज द्रुपद, धृष्टद्युम्न, पाँचों द्रौपदीपुत्र, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु, गद, प्रद्युम्न और सांव होंगे, उनसे कौन युद्ध करेगा, और युद्धक्षेत्र से जीवित लौट जाएगा। मैं सौगंधपूर्वक कहता हूँ, दुर्योधन और उसके भाइयों को और उनकी सहायता को आने वालों को काट कर उनके सिर धर्मराज के चरणों पर चढ़ा दूँगा।" उसने रुककर वलराम पर दृष्टि डाली, "शांति हमें भी प्रिय है। हम भी कोई रक्तपिपासु हिंस्र जीव नहीं हैं;

किंतु हमारे लिए धर्म, अपने मोह को छिपाने के लिए ओट नहीं है। हम न्याय और संबंधों में से न्याय का वरण करेंगे। क्षत्रिय हैं, इसलिए युद्ध की धमकियों से भयभीत नहीं होंगे।'' उसने जैसे अपनी नीति की घोषणा की, ''अब पांडुनंदन युधिष्ठिर को उनका राज्य मिल जाना चाहिए, अन्यथा हम शकुनि सहित, धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन तथा कर्ण को मार कर धर्मराज युधिष्ठिर का राज्याभिषेक करेंगे। आततायी शत्रुओं का वध करने में कोई पाप नहीं है, वरन् उनसे याचना करना ही अधर्म और अपयश का कारण है।''

वसुदेव ने देखा, बलराम सब कुछ सुनकर भी सात्यकि की ओर देख नहीं रहे थे। वे प्रयत्न कर रहे थे कि उन पर इस भाषण का कोई प्रभाव दिखाई न पड़े।··· तब वसुदेव की दृष्टि कृष्ण पर पड़ी : कृष्ण उस समय सात्यकि को न देख कर अपने पुत्रों की ओर देख रहे थे। उन आँखों की अपेक्षा को वसुदेव स्पष्ट पढ़ रहे थे। वे एक पिता की आँखें थीं, जो अपने पुत्रों को इस अपेक्षा से देख रही थीं कि क्या वे संकट और विरोध की इस घड़ी में अपने पिता की सहायता के लिए आएँगे ? क्या वे अपने पिता के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करेंगे ?··· और प्रद्युम्न भी बलराम के ही समान इधर-उधर देख रहा था। उसने अपने पिता अथवा सात्यकि से आँखें नहीं मिलाईं। उनके समर्थन में खड़े होने की कोई तत्परता नहीं दिखाई। सांब और गद भी मौन बैठे रहे, जैसे वे मात्र द्रष्टा हों। यहाँ उनका कोई सक्रिय योगदान हो ही नहीं। उन्होंने कृष्ण को सर्वथा अकेला छोड़ दिया था।··· कृष्ण की आँखों में निराशा थी, अवसाद नहीं। निश्चित् रूप से उसके पुत्रों और भाइयों ने उसे बहुत निराश किया था।··· वसुदेव अपनी आँखों से इस पराए नगर में अपने भाइयों और पुत्रों द्वारा कृष्ण का यह परित्याग देख रहे थे।···

सहसा बलराम ने सात्यकि की ओर देखा, उसकी कृष्ण के पुत्रों पर टिकी हुई निराश दृष्टि को पहचाना और उनके चेहरे पर विजय की मुस्कान उभरी। उन्होंने सात्यकि पर उपहासपूर्ण दृष्टि डाली, जैसे उन्होंने अखाड़े में सात्यकि को आकाश दिखा दिया हो। बलराम का चेहरा अपनी विजय से उद्दीप्त हो रहा था।··· और सात्यकि की हताशा, उसके चेहरे को हिंस्र बनाती जा रही थी।···

वसुदेव की दृष्टि कृष्ण की ओर मुड़ गई। कृष्ण की इस भंगिमा को वे भली प्रकार पहचानते थे। बहुत बार देखा था उन्होंने कृष्ण की इस भंगिमा को। वह अपने पुत्रों को समझाएगा नहीं। अनुनय-विनय नहीं करेगा। केवल स्वीकार कर लेगा, जैसे वह तो मात्र परीक्षण कर रहा था उनका। देखना चाहता था कि वे लोग धर्मयुद्ध में उसके साथ हैं या नहीं। कर्म तो उसे स्वयं ही करना है।···

वसुदेव का मन जैसे कांप उठा : कृष्ण को त्याग दिया तो यादवों के पास शेष रह ही क्या गया ? वे नहीं जानते कि कृष्ण को त्यागने के पश्चात् उनके पास केवल अधर्म बचेगा। ···और यदि कृष्ण ने उन्हें त्याग दिया तो ? जिसे कृष्ण ही त्याग दे उस की रक्षा कौन करेगा? ··· एक पांडव थे कि जिन्होंने अपने असमर्थ बड़े भाई का कठिन

से कठिन परीक्षा में साथ नहीं छोड़ा, क्योंकि वह धर्म के मार्ग पर चल रहा था और एक वसुदेव का यह अपना परिवार था, जो कृष्ण का परित्याग केवल इसलिए कर रहा था, क्योंकि कृष्ण धर्म पर चल रहा था।···और कृष्ण बैठा इस प्रकार मुस्करा रहा है, जैसे उसकी ही किसी योजना के अधीन उसके अपने परिजनों ने अपनी वास्तविकता प्रकट कर दी हो।···

तभी पांचालराज द्रुपद उठकर खड़े हुए।

"मान्य राजसमाज !" वे बोले, "मैं बलरामजी से सहमत हूँ कि मधुर स्वभाव और शांतिप्रियता, मनुष्य का गुण है; किंतु दुर्योधन मधुर व्यवहार से राज्य नहीं देगा। अपने पुत्र-मोह के कारण धृतराष्ट्र उसका ही अनुसरण करेगा। भीष्म और द्रोण दीनतावश और शकुनि तथा कर्ण अपनी मूर्खतावश उसका साथ देंगे।" सहसा कुछ रुककर उन्होंने बलराम की ओर देखा, "बलरामजी का यह कहना मुझे बहुत उचित नहीं लगता कि दुर्योधन से मेल-जोल कर हम अपनी बात मनवाएँ। दुर्योधन पापपूर्ण विचार रखनेवाला अधर्मी है। उसके प्रति मधुर व्यवहार का अर्थ है, गधे के प्रति कोमल व्यवहार करना और गाय के प्रति कठोर होना। जो पापी और मूर्ख होते हैं, वे सज्जनता का सम्मान नहीं करते। वे उसे कायरता और शक्तिहीनता मानते हैं। वे केवल बल की भाषा समझते हैं। इसलिए हमें अपने मित्र राजाओं के पास संदेश भेज देना चाहिए कि वे हमारे लिए सैन्य-संग्रह का उद्योग करें। दुर्योधन भी या तो अब तक ऐसा संदेश भेज चुका होगा अथवा भेजनेवाला होगा। सज्जन राजा पहले मिलनेवाले युद्ध-निमंत्रण को स्वीकार कर लेगा और पहले बुलानेवाले पक्ष की सहायता करेगा। इसलिए हमें शीघ्रता करनी चाहिए। शल्य, धृष्टकेतु, जयत्सेन, केकय राजकुमारों को संदेश भेजो। अमितौजा, उग्र, कृतवर्मा, अंधक, दीर्घप्रज्ञ, रोचमान के पास दूत भेजो। सुबाहु, रुक्मी, देवक, एकलव्य, सुशर्मा और पंचनद के राजाओं को बुलाओ।"

द्रुपद अपने स्थान पर बैठ गए।

वसुदेव ने बलराम की ओर देखा : क्या वह द्रुपद का विरोध करेगा ?

पर बलराम सर्वथा उदासीन होकर बैठ गए थे, जैसे उन्होंने तो अपना संकल्प कर लिया था, और अब जो कुछ भी कहा और सुना जाएगा, उसका उन पर कोई प्रभाव होनेवाला नहीं था।

और तभी कृष्ण फिर से उठ खड़े हुए, "जो अवसर के विपरीत व्यवहार करता है, वह मूर्ख माना जाता है। हमारा पांडवों और कौरवों से एक-सा संबंध है। दोनों ही हमारे अनुकूल व्यवहार करते हैं। हम सब यहाँ विवाह के लिए आए थे। अब विवाह हो गया है, अतः हम सब अपने-अपने घर लौट जाएँगे। महाराज द्रुपद और मत्स्यराज विराट ! आप लोग ही पांडवों की कार्यसिद्धि के लिए अनुकूल संदेश भेजिए। आप जो भी संदेश भेजेंगे, वह हम सबका निश्चित मत होगा। यदि दुर्योधन न्याय के अनुसार शांति स्वीकार करेगा, तो कौरव और पांडवों में परस्पर बंधुजनोचित सौहार्द स्थापित

होगा। संसार एक व्यापक संहार से वच जाएगा।…"

वलराम ने एक विजयी मुस्कान सात्यकि की ओर उछाल दी। सात्यकि तड़पकर रह गया। कृष्ण ने भी पाली वदल ली। वे भी दूत भेजने की वात कर रहे हैं। अपने पुत्रों तक को आदेश नहीं दे रहे। वलराम जैसे कह रहे हैं कि उनकी इच्छा के विरुद्ध कृष्ण के पुत्र भी उनका साथ नहीं देंगे।…

"यदि दुर्योधन हमारा प्रस्ताव स्वीकार न करे, तो आप दूसरे राजाओं को युद्ध निमंत्रण भेज कर, सवके अंत में हमको आमंत्रित कीजिएगा।" कृष्ण ने अपनी वात पूरी की, "फिर गांडीवधारी अर्जुन के कुपित होने पर, मंदवुद्धि मूढ़ दुर्योधन अपने मंत्रियों और वंधुजनों के साथ सर्वथा नष्ट हो जाएगा।" कृष्ण रुक गए, "पर पांडव युद्ध की तैयारी तभी करें, जव दुर्योधन किसी भी प्रकार संधि की वात न माने।"

सात्यकि को लगा कि कृष्ण ने अपने वड़े भाई की इच्छा के सम्मुख पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया है। वलराम अपनी विजय पर प्रसन्न हैं और अपनी प्रसन्नता को छिपाने का वे कोई कारण नहीं देखते। उनके हाव-भाव स्पष्ट रूप से कह रहे थे कि उन्होंने आज इस सभा में एक निर्णायक युद्ध में पांडवों, सात्यकि और कृष्ण को पराजित कर दिया है।…

कृष्ण मौन हो गए। वलराम ने कुछ नहीं कहा। वसुदेव का मन हो रहा था कि वे अपने दोनों पुत्रों के साथ कहीं एकांत में वैठें और उन्हें समझाएँ। पर क्या समझाएँ ? वलराम का समर्थन करने का अर्थ था, दुर्योधन की रक्षा और पांडवों को सदा के लिए उनके राज्य से वंचित कर देना। यह न्याय नहीं था।… और यदि उन्होंने कृष्ण का समर्थन किया, तो वलराम की पुरानी शिकायत फिर से उभर आए गी कि वे सदा कृष्ण का पक्ष ले कर उस का विरोध करते हैं।…

अर्जुन ने मौन भाव से कृष्ण की ओर देखा।… कृष्ण तो कहते थे कि वे स्वयं ही दुर्योधन का वध कर पांडवों का राज्य उन्हें दिला देंगे। आज ऐसा क्या हो गया कि वे द्वारका लौटने की वात कर रहे हैं और कह रहे हैं कि जैसे अन्य राजाओं को सहायता के लिए वुलाया जाए, वैसे ही उनसे भी सहायत माँगने जाया जाए। कहाँ ? द्वारका में ? यहाँ नहीं ? क्या वे नहीं जानते कि पांडवों को उनकी पूरी सहायता की आवश्यकता है। उनके ही सहारे तो पांडवों ने यह अभियान छेड़ा है। कृष्ण क्या सोच रहे हैं, यह तो वे ही जानें। कदाचित् उसी में पांडवों का हित होगा।

5

सभा से उठकर पांडव विना किसी विचार-विमर्श के ही जैसे स्वतःचालित ढंग से धर्मराज के कक्ष ही ओर चल पड़े। प्रायः वे सब ही आत्मलीन थे, जैसे किसी न किसी ऊहापोह

में हों; और अभी या तो कुछ कहना न चाहते हों अथवा कहने की स्थिति में न हों।

कक्ष में प्रवेश कर उन्होंने देखा कि द्रौपदी तथा सुभद्रा कदाचित् उनकी प्रतीक्षा में पहले ही वहाँ आई बैठी थीं।

द्रौपदी ने उन्हें देखा तो सहज ही समझ गई कि सब कुछ सामान्य तथा उनकी इच्छा के अनुकूल नहीं हुआ है। ··· किंतु सभा में तो सब अपने संबंधी, मित्र तथा उनके अनुकूल लोग ही थे। वहाँ ऐसा क्या घटित हो गया कि सारे के सारे पांडव इस प्रकार मस्तक झुकाए और चेहरे लटकाए लौटे हैं।

"क्या हुआ सभा में ?" द्रौपदी ने उत्सुकता के प्रबल आवेग में पूछा।

किसी ने भी तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया। सब जैसे आत्मलीन से पहले अपने लिए बैठने की कोई व्यवस्था कर लेना चाहते थे।···कुछ देर प्रश्नों से बचना चाहते थे, अथवा मन को स्थिर करने के लिए थोड़ा समय चाहते थे।

द्रौपदी समझ रही थी कि इस आत्मलीनता का अर्थ क्या था। किसी न किसी कारण से वे लोग उल्लसित तो नहीं ही थे; संभवतः थोड़े से निराश भी थे। किसी द्वन्द्व के कारण भी ऐसी स्थिति हो सकती थी--कोई बाह्य द्वन्द्व अथवा आंतरिक कलह।

"आप कुछ बोलते क्यों नहीं ?" सुभद्रा ने प्रत्यक्ष रूप से अर्जुन से पूछा।

अर्जुन ने उस पर एक झिलमिल-सी दृष्टि डाली, जिसमें कुछ भी स्पष्ट नहीं था। यह भी नहीं कि वह उत्तर देगा भी अथवा नहीं। सुभद्रा और द्रौपदी दोनों ही उत्सुकता से उसकी ओर देखती रहीं।

अर्जुन ने बिना उनकी ओर देखे हुए, आसन पर बैठते हुए कहा, "विचार-विमर्श हुआ सभा में और क्या होना था। निश्चय किया गया है कि महाराज द्रुपद एक दूत हस्तिनापुर भेजेंगे ताकि वह दुर्योधन को समझा सके कि वह धर्मराज का राज्य उन्हें लौटा दे।"

"ऐसे निश्चय का लाभ जिसका कोई अर्थ ही न हो।" सुभद्रा बोली, "समझाने से ही समझनेवाला होता तो दुर्योधन बहुत पहले ही समझ गया होता। क्या सभा में बैठे लोग यह मानते हैं कि उसे आज तक किसी ने कुछ समझाया ही नहीं है ?"

"मुझे तो यह बताओ कि सभा में हुआ क्या ?" द्रौपदी का स्वर उत्तेजित और चेहरा तमतमाया हुआ था, "सभा इस निश्चय पर पहुँची तो कैसे पहुँची ? वहाँ यह निश्चय क्यों नहीं हुआ कि उपप्लव्य से पांडवों की सेना सीधे हस्तिनापुर पर आक्रमण करेगी ? क्या सभा में हमारा एक भी सच्चा हितैषी नहीं था ?"

कुछ क्षण सब ही मौन रहे, फिर अर्जुन बोला, "नहीं ऐसी बात नहीं है। सभा में तो सब हमारे हितैषी ही थे।"

"तो उन्होंने हमारा हित साधा क्यों नहीं ?" द्रौपदी ने अपने प्रखर स्वर में पूछा।

"सभा में प्रथम वक्ता श्रीकृष्ण थे। उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में निर्द्वन्द्व भाव से कहा कि कौरव अधर्मी हैं। उन्होंने अधर्मपूर्वक पांडवों से उनका राज्य छीना है। यदि

उन्होंने पांडवों का राज्य स्वेच्छा से नहीं लौटाया तो वे सबके सब मारे जाएँगे।...''

''हाँ ! पहली बार तो यही कहा था।'' भीम ने आतुरतापूर्वक अर्जुन की बात बीच में ही काट दी। उसे जैसे अपने मन की घुमड़न को उँडेलने का सूत्र मिल गया था।

''और दूसरी बार ?'' द्रौपदी ने उसकी ओर देखा।

''श्रीकृष्ण के पश्चात् इनके गुरुजी उठ खड़े हुए थे।'' नकुल के स्वर की कटुता ने भीम को आगे बोलने से जैसे रोक दिया, ''उन्होंने भी उतने ही स्पष्ट शब्दों में और उतने ही निर्द्वन्द्व भाव से न केवल यह कहा कि वे कौरवों और पांडवों के संदर्भ में मध्यस्थ की स्थिति रखते हैं, बड़े प्रबल शब्दों में यह भी कहा कि वे युद्ध के पक्ष में नहीं हैं। आज वे शांति और अहिंसा के परम समर्थक बने हुए थे। उन्होंने क्षत्रियों की उस सभा को बताया कि समस्याओं का समाधान शस्त्रों से नहीं होता। समस्याओं का समाधान शांतिपूर्वक परस्पर विचार-विमर्श से होना चाहिए।...''

''वासुदेव बलराम युद्ध का पक्ष छोड़ कर शांति का प्रचार कर रहे थे।'' सुभद्रा के स्वर में अनायास ही परिहास का तत्त्व आ मिला था।

''इतना ही नहीं, दुर्योधन की रक्षा करते हुए उन्होंने धर्मराज पर यह आरोप भी लगा दिया कि वे द्यूतव्यसनी हैं और द्यूतक्रीड़ा में अपना राज्य हारने के लिए स्वयं दोषी हैं। उसमें दुर्योधन का कोई दोष नहीं है।...''

''इसका क्या अर्थ ?'' सुभद्रा के मुख से निकला और द्रौपदी जैसे चकित सी उन लोगों की ओर देखती रह गई।

''इसका अर्थ है कि उन्होंने अपना पक्ष स्पष्ट कर दिया है। पांडवों को उनसे किसी प्रकार की कोई अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए।'' सहदेव बोला, ''इतना ही नहीं, वे मध्यस्थ हैं, अतः यदि उन्हें लगा कि दुर्योधन दुर्बल पड़ रहा है, अथवा उसके साथ अधर्म हो रहा है तो वे उसकी रक्षा के लिए भी खड़े हो सकते हैं।''

''यह कैसा अधर्म है।'' सुभद्रा बोली, ''किसी ने उनका विरोध नहीं किया ? सभा में तो भैया कृष्ण और स्वयं पिताजी भी थे।''

''थे तो सब ही।'' भीम ने कुछ उद्दंड भाव से उत्तर दिया, ''मातुल सदा के समान मौन बैठे रहे और कृष्ण ने अपनी पाली ही बदल ली। तत्काल उसे स्मरण हो आया कि कौरवों और पांडवों से उसके एक ही समान संबंध हैं और यादव इन दोनों के लिए मध्यस्थ हैं। इतना ही नहीं। उसने तो सभा को ही एक प्रकार से निरर्थक घोषित कर दिया।...''

अर्जुन ने मध्य में ही कुछ कहना चाहा; किंतु भीम ने अपने हाथ के संकेत से उसे रोक दिया, ''अपने मित्र के बचाव के लिए इतने उतावले होने की आवश्यकता नहीं। मैं सब कुछ सच-सच ही बता रहा हूँ।''

अर्जुन कुछ नहीं बोला।

"कृष्ण ने कहा कि हम सब लोग उपप्लव्य में अभिमन्यु के विवाह के संदर्भ में एकत्रित हुए थे। वह हो गया है। अतः अव सव लोग अपने-अपने घर जाएँ। इसका अर्थ है कि अव पांडवों के राज्य अथवा युद्ध की चर्चा का कोई अर्थ नहीं है। उसके लिए फिर कभी देखेंगे।··· अर्थात् यदि वासुदेव बलराम हमें दुर्योधन से लड़ने नहीं देंगे तो कृष्ण तो उसकी चर्चा भी करने नहीं देगा।"

सुभद्रा आश्चर्य से भीम की ओर देखती रही, "वहाँ किसी ने इन वातों का विरोध नहीं किया ?"

"ऐसा नहीं है सुभद्रा !" अर्जुन ने उत्तर दिया, "मध्यम अपने गुरुजी की रक्षा करने के लिए तथ्यों को थोड़ा-सा मरोड़ रहे हैं। अपने गुरु को तो कुछ कह नहीं सके, इसलिए अपना आक्रोश कृष्ण के प्रति व्यक्त कर रहे हैं।"

"मैं किसी की रक्षा नहीं कर रहा हूँ।" भीम तड़पकर वोला, "मेरे मन में अपने गुरु के लिए सम्मान अवश्य है किंतु उसका यह अर्थ नहीं है कि यदि वे दुर्योधन के रक्षक वन जाएंगे तो मैं उनका अनुसरण करता रहूँगा।"

"तो फिर बताते क्यों नहीं हो कि सात्यकि ने वहाँ वासुदेव वलराम का प्रवल विरोध ही नहीं किया, एक प्रकार से उन्हें चुनौती भी दी और पांडवों के पक्ष में स्पष्ट युद्ध की घोषणा भी की।" अर्जुन ने कहा।

"सात्यकि ने जो कहा सो कहा, मेरा प्रश्न तो यह है कि कृष्ण ने उसके पश्चात् क्या किया। उसने अपनी पाली क्यों बदल ली ? उसका स्वर इतना बदला हुआ क्यों था ? न उसके स्वर में वह आक्रामकता शेष थी, न वह एकपक्षता। सारा कुछ समेट कर उठकर चल दिए ताकि न वह स्वयं विरोध करे, न किसी और को करने दे। महाराज द्रुपद से कह दिया कि वे अपना दूत हस्तिनापुर भेज दें। वह हस्तिनापुर में जो कुछ कह आएगा वह सबकी ओर से कहा हुआ मान लिया जाएगा। जैसे उनके दूत के समझाने से दुर्योधन सब कुछ समझ जाएगा और इंद्रप्रस्थ का राज्य लाकर हमारी झोली में डाल देगा।"

"तो गोविंद को क्या करना चाहिए था ?" युधिष्ठिर पहली बार उनकी चर्चा में सम्मिलित हुए।

"जो कुछ सात्यकि ने कहा, वह कृष्ण को कहना चाहिए था। चर्चा को और आगे वढ़ाना चाहिए था। हमारा पक्षधर होकर हमारा पक्ष प्रस्तुत करना चाहिए था। सव कुछ समेटकर भाग नहीं जाना चाहिए था।" भीम ने कुछ उद्दंडतापूर्वक कहा।

"तो तुम सात्यकि से प्रसन्न हो और कृष्ण से नहीं।" युधिष्ठिर धीरे से मुस्कराए।

"ऐसी वात भी नहीं है।" भीम की उत्तेजना कुछ कम हो गई लगती थी, "मैं कृष्ण के पहले वक्तव्य से सहमत हूं; परंतु मेरी समझ में यह नहीं आ रहा कि वलराम जी और सात्यकि के वक्तव्यों के पश्चात् वह इतना वदल क्यों गया। जो कृष्ण कल तक यह कह रहा था कि पांडवों को कुछ करने की ही आवश्यकता नहीं है, यादव ही

दुर्योधन से उनका राज्य छीन कर उन्हें लौटा देंगे। वही कृष्ण अव मध्यस्थ हो गया है।"

"तुम्हारी पीड़ा हम समझते हैं।" युधिष्ठिर वोले, "पर सोचने की वात तो यह है भीम ! कि गोविंद के पहले और दूसरे वक्तव्य के मध्य उनके मन और परिवेश में ऐसा क्या हो गया कि उन्हें वह कहना पड़ा, जिसे तुम पाली वदलना वता रहे हो ?"

"तो फिर आप भी मानते हैं न कि कृष्ण ने अपना वक्तव्य वदल लिया ? वासुदेव वलराम के एक हल्के से विरोध से ही कृष्ण अपना धर्म भूल कर उनकी ही भाषा वोलने लगा ?"

"थोड़ा धैर्य धारण करो भाई।" युधिष्ठिर वोले, "मैंने कहा है कि यह विचार का विषय है। तुम ही वताओ कि उन दोनों वक्तव्यों के मध्य के समय में क्या हुआ ?"

"कह तो रहा हूँ कि पहली वार उसने अपने मन की वात कही और दूसरी वार वह या तो वड़े भाई से डर गया अथवा भाई का प्रेम प्रधान हो गया और धर्मगौण।" भीम अव भी अपनी ही वात पर टिका हुआ था।

"अपनी हठ छोड़ो और मान कर चलो कि गोविंद ने जो कुछ कहा और किया वह धर्म के पक्ष में ही किया; क्योंकि कृष्ण अधर्म का पक्ष ले ही नहीं सकते।" युधिष्ठिर वोले, "अव प्रश्न तो इस अन्वेषण का है कि वह धर्म कैसे है। मैं समझता हूँ कि सभा में आने के समय तक गोविंद यह मानकर चल रहे थे कि यादवों में परस्पर कितना भी मतभेद और वैर-विरोध क्यों न हो, उनमें कितने भी पक्ष तथा विपक्ष क्यों न हों, वे कितने भी दलों और वर्गो में विभाजित क्यों न हों, उनमें पांडवों की सहायता के विषय में कोई मतभेद अथवा विभाजन नहीं होगा। उन्होंने कदाचित् यह कल्पना भी नहीं की होगी कि सभा में कोई यह कहने का साहस भी करेगा कि कौरवों और पांडवों के विवाद में पांडवों का भी कोई दोष है। किंतु वासुदेव वलराम के वक्तव्य से यह स्पष्ट था कि वे यादवों की सभा में अथवा अन्यत्र कहीं भी दुर्योधन का विरोध नहीं होने देंगे। विरोध चाहे कृष्ण की ओर से ही क्यों न हो रहा हो। यदि विरोध होगा तो वे दुर्योधन का पक्ष लेंगे और आवश्यक हुआ तो उसकी रक्षा के लिए मुझे अपराधी भी घोषित करेंगे।..." युधिष्ठिर ने रुककर उन सव लोगों की ओर देखा, "इस वक्तव्य से कृष्ण ने वलराम का पक्ष समझ लिया और मौन रह गए। वे कदाचित् इस अवसर पर इस विवाद को हवा नहीं देना चाहते थे। किंतु सात्यकि मौन नहीं रहा और सात्यकि के वक्तव्य को सुनकर कृष्ण को लगा होगा कि पांडवों के पक्ष-विपक्ष को लेकर, धर्म-अधर्म को लेकर ; अथवा पांडवों को दी जाने वाली सैनिक सहायता को लेकर यदि यादवों को उन्मुक्त विचार-विमर्श करने का अवसर दिया गया तो पांडवों की बात तो पीछे रह जाएगी, उनके अपने मतभेद अधिक मुखर होंगे। उन लोगों का अपना वैर-विरोध अधिक सक्रिय होगा। उनका अपना दल-विभाजन अधिक दृढ़ होगा। ऐसी स्थिति में संभव है कि दुर्योधन से हमारे युद्ध का अवसर ही न आए, उससे पहले ही यादवों में गृहयुद्ध आरंभ हो जाए। तुम कहते हो कि कृष्ण ने सारा विचार-विमर्श समेट

लिया। वे न समेटते तो बहुत संभव था कि जैसे सात्यकि ने बलराम का विरोध किया था, वैसे ही बलराम के पक्ष से कोई सात्यकि का विरोध करता। वह विरोध और कटु हो सकता था। उसमें वचनों के स्थान पर शस्त्र भी प्रकट हो सकते थे। वैसा कुछ हो जाता तो क्या उससे पांडवों को कोई सहायता मिल पाती ?"

कोई कुछ नहीं बोला।

"मेरा विचार है कि कृष्ण नहीं चाहते कि कौरवों और पांडवों के युद्ध से पहले, पांडवों का धर्मराज्य स्थापित होने से पहले—यादव लोग एक सामरिक शक्ति के रूप में समाप्त हो जाएँ।" युधिष्ठिर पुनः बोले, "न ही वे यह चाहते हैं कि यादवों के किसी भी एक अंग को संपूर्णतः अथवा अंशतः दुर्योधन की ओर से लड़ने का कोई बहाना मिल जाए।"

"उन्हें यादवों का इतना मोह क्यों है ?" भीम कुछ झींककर बोला।

"यह यादवों का मोह नहीं है।" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "मेरा मन कहता है कि उन्हें लगता है कि ऐसी कोई भी स्थिति पांडवों के धर्मराज्य की स्थापना में बाधा हो सकती है। संभवतः वे यादवों की अंतःकलह अथवा विनाश को पांडवों के धर्मराज्य की स्थापना तक टालना चाहते हैं। उसके पूर्व यादवों की अंतःकलह पांडवों को भी अपनी लपेट में ले सकती है और उससे पांडवों तथा उनके कुछ मित्रों का नाश करने का संभावित कारण भी हो सकती है। ऐसा होने से दुर्योधन का पक्ष सबल और सुरक्षित होगा। वे ऐसा कुछ भी नहीं होने देना चाहते।"

"आप सत्य ही कह रहे हैं महाराज ! संभवतः ऐसा ही हो।" द्रौपदी धीरे से बोली, "किंतु यदि यादवों की अंतःकलह टालने के लिए सदा ही शांति का पक्ष लेना पड़ा तो पांडवों को उनका राज्य कभी भी नहीं मिल पाएगा।"

"नहीं। ऐसा तो नहीं है।" युधिष्ठिर बोले, "किंतु इस समय उनके सम्मुख एक ही मार्ग दिखाई पड़ता है कि वे बलराम, कृतवर्मा तथा अक्रूर जैसे लोगों को इतना उत्तेजित कभी न होने दें कि धर्मराज्य की स्थापना से पूर्व किसी भी प्रकार यादवों में परस्पर युद्ध की स्थिति आ जाए।"

"यदि ऐसा ही है तो कृष्ण हमें यह सब कुछ बताता क्यों नहीं है ? वह क्यों चाहता है कि हम सदा पहेलियाँ ही बूझते रहें ?" भीम का रोष समाप्त ही नहीं हो रहा था।

"कहते तो तुम ठीक ही हो।" युधिष्ठिर बोले, "किंतु प्रेम, मैत्री और सौहार्द में व्यक्ति सदा स्पष्टीकरण ही तो देता नहीं चलता। कभी विश्वास का सहारा भी लेना पड़ता है। क्या कृष्ण कभी यह मानकर नहीं चल सकते कि पांडव उन पर विश्वास करते हैं और उनकी ओर संशय की दृष्टि से नहीं देख रहे हैं ? मित्र के मन की व्यथा को हम स्वयं भी तो समझ सकते हैं। क्या आवश्यक है कि वे हमें यादवों के दुर्गुण बताकर अपनी बाध्यताएँ बताते रहें।"

लगा भीम के पास धर्मराज के तर्क का कोई उत्तर नहीं है। वह कुछ देर मौन रहा और फिर सायास मुस्कराकर वोला, "आज तो कृष्ण को वचाने के लिए महाराज अर्जुन से भी आगे निकल गए हैं।"

6

कृष्ण एक विचित्र मनःस्थिति में थे। उन्हें लग रहा था कि उनके हाथ-पैर वांधकर उन्हें एक ओर डाल दिया गया था। वलराम का दृष्टिकोण स्पष्ट था। इसीलिए उन्होंने दुर्योधन को ऐसा वचन दे दिया था। कृष्ण अपने वड़े भाई का विरोध नहीं कर सकते थे। उन्हें मर्यादा का पालन करना होगा। वे ही मर्यादा का पालन नहीं करेंगे तो अपने पुत्रों से कैसे अपेक्षा करेंगे कि वे अपने पिता का विरोध न करने की मर्यादा का पालन करें ?··· आज तक कृष्ण पांडवों को सहायता देने का आश्वासन देते आए थे और अव, जव सचमुच सहायता का क्षण आया था, तो वे कुछ नहीं कर सकते थे।··· उन पर दोनों पक्षों का समान अधिकार था। यदि समान आधार पर वे पांडवों की कोई सहायता करना चाहें, तो भी उन्हें कौरवों के विरुद्ध शस्त्र नहीं उठाना था। वे ही नहीं, उनके सारे वंश में से कोई भी दुर्योधन के विरुद्ध शस्त्रवद्ध नहीं हो सकता था।···

सहसा कृष्ण चौंके : वे भी क्या भीष्म और युधिष्ठिर के समान धर्म के वंधन में वँधकर निष्क्रिय हो रहे हैं। उनका धर्म तो वाँधता नहीं मुक्त करता है। तो फिर वे इतने असहाय क्यों हैं ? ··· वचन तो वलराम ने दिया है। कृष्ण की कोई वाध्यता नहीं है कि वे वलराम के दिए हुए सारे वचनों की रक्षा करें।··· वे जानते हैं कि बलराम के मन में दुर्योधन के प्रति जो कोमल भाव है, उस के चलते वलराम ऐसे अनेक वचन दे सकते हैं। ··· कृष्ण वलराम के वचन की रक्षा न करें और वे पांडवों की ओर से युद्ध-सज्जित हो जाएँ, तो वलराम क्या करेंगे ?··· क्या वे कृष्ण से रुष्ट मात्र होंगे ? उन्हें छोड़कर चले जाएँगे ? अथवा ···

नहीं ! शायद वलराम यह नहीं करेंगे। यदि कृष्ण पांडवों के पक्ष में रण-सज्जित हुए, तो वहुत संभव है कि वलराम अपने रोष में दुर्योधन के पक्ष से लड़ने के लिए पहुँच जाएँ। यदि ऐसा कुछ हुआ तो वह इस युद्ध की सवसे वड़ी दुर्घटना होगी। यादवों में भयंकर विभाजन हो जाएगा। कृतवर्मा, अक्रूर तथा उनके सहयोगी अपनी सेनाओं के साथ वलराम के पक्ष में आ खड़े होंगे। कहीं ऐसा न हो कि कृष्ण पांडवों की सहायता कर पाने के स्थान पर, उनके लिए कोई और वड़ा संकट खड़ा कर दें।···

पर यदि कृष्ण अपने पुत्रों को साथ लेकर पांडवों की ओर से युद्ध करें तो··· कृष्ण को लगा कि वे मन ही मन स्वयं पर हँस पड़े हैं··· कौन लड़ेगा उनके पक्ष से ? सांव ? सांब को क्या लक्ष्मणा पांडवों की ओर से लड़ने देगी ? अथवा क्या लक्ष्मणा

की इच्छा के विरुद्ध, सांव धर्म का पक्ष लेकर लड़ना चाहेगा ? यदि उसे लड़ने की स्वतंत्रता दी गई तो कहीं वह दुर्योधन के पक्ष में ही तो जा कर खड़ा नहीं हो जाएगा ? सांव की पीढ़ी अपने आपको विद्रोही मानती है। उसे उन सव वातों में कोई श्रद्धा नहीं है, जिनका कृष्ण सम्मान करते हैं। जिन ऋपियों के कृष्ण चरण धोते हैं, सांव उन्हें पाखंडी मानकर, उनका उपहास करता है।··· क्या प्रद्युम्न कृष्ण का साथ देगा ? क्या उसे किसी और का युद्ध लड़ने में रुचि होगी ? और चारुदेष्ण ···

सहसा कृष्ण को लगा कि उन्हें पता ही नहीं चला कि वे कव इतने अकेले हो गए हैं। यादवों में परिवर्तन तो आ ही रहा था, किंतु वे उनके लिए इतने पराए हो जाएँगे, ऐसी आशंका उनके मन में जन्मी ही नहीं थी।··· पर ऐसा कैसे हो गया ? उन्होंने अपने पुत्रों को उचित शिक्षा नहीं दी अथवा उचित संस्कार नहीं दिए ? वे अन्य लोगों को प्रभावित कर सकते हैं तो ऐसा कैसे हुआ कि उनकी छत्रछाया में पलनेवाले उनके अपने पुत्र उन सिद्धांतों और संस्कारों को ग्रहण नहीं कर सके, जिन्हें कृष्ण सारी सृष्टि के लिए उपयोगी मानते हैं ?··· कृष्ण हँस पड़े··· संस्कार क्या देने से ही हो जाता है ? शिक्षा क्या देनेवाले की इच्छानुसार अपना प्रभाव दिखाती है ? धरती में वीज ग्रहण करने की उर्वरा शक्ति न हो तो कृपक कितने ही उपयोगी वीज वोए, कोई अंकुर नहीं फूटेगा।··· शिष्य होकर सात्यकि कृष्ण के लिए अपने प्राण दे सकता है, किंतु कृष्ण के अपने पुत्र उनके लिए अपना रक्त वहाएँगे, इसमें संदेह है। कृष्ण तो संस्कार दे ही सकते हैं, मार्ग दिखा सकते हैं, किंतु किसी में उसे ग्रहण करने की क्षमता न हो तो वे क्या कर सकते हैं। पिता और गुरु का अहंकार व्यर्थ है।··· उसे तो अपने पुत्र और शिष्य के प्रति कृतज्ञता का भाव रखना चाहिए, जो उसकी परंपरा को आगे चलाता है। उस गुरु और पिता की पीड़ा कौन जान सकता है, जिसे अपनी परंपरा के निर्वहण के लिए कोई योग्य पुत्र अथवा शिष्य न मिला हो।···

वे कुछ क्षणों तक स्तव्ध वैठे रहे और सहसा उनके मन में एक विस्फोट हुआ।··· क्या हो गया है उनके आत्मवल को ? क्यों वे एक वृद्ध और असहाय पिता के समान दूसरों के सहारे अपना युद्ध लड़ने की सोच रहे हैं ? पहले तो कभी कृष्ण ने ऐसे नहीं सोचा था। जरासंध से लड़ने के लिए तो वे किसी से सहायता माँगने नहीं गए थे। कृष्ण यह शरीर मात्र तो नहीं हैं कि उनकी शक्ति इस प्रकार परिमित हो जाए। उनमें यह कैसा व्यक्ति-भाव जागा है ? उन्हें यह सीमा-वोध क्यों हुआ ? क्या पुत्र ही उनके अपने हैं ? और सारी सृष्टि परायी है ? देह संवंध ही संवंध हैं क्या ? वे अपना अनंत वोध क्यों त्याग वैठे हैं ? उनकी वुद्धि को भी माया घेर रही है।···वे हँस पड़े···यह चेतना भी विचित्र क्रीड़ा करती है।···वे तो ऊर्जा का वह स्रोत हैं, जो सेनाओं का निर्माण करता है।··· और सत्य तो न कभी अकेला होता है न दुर्वल। प्रकृति सत्य की रक्षा करती है। धर्म इस प्रकार पराजित और हताश नहीं हो सकता।···वे वलराम को युद्ध से दूर रखने के लिए, उनके दुर्योधन को दिए गए वचनों की रक्षा करेंगे। उनके भाई न आएँ,

उनके पुत्र न आएँ, अन्य यादव महारथी न आएँ, कृष्ण अकेले ही पर्याप्त हैं। यादवों में विभाजन हो अथवा वे दुर्योधन की ओर से युद्ध सज्जित हो कर, पांडवों का पक्ष दुर्वल करें, इससे तो अच्छा है कि वे लोग द्वारका में अपने प्रासादों में रह कर जीवन के सुखों का भोग करें···

कृष्ण अपने भीतर डूबते चले गए। वे जैसे क्रमशः निर्वध होते जा रहे थे। शरीर का वंधन वहुत पीछे छूट गया था। वे तो महासागरों पर तैर रहे थे। महाकाशों पर उड़ रहे थे। वहाँ सूर्य नहीं था, पर अंधकार भी नहीं था। सव कुछ जैसे स्वप्रकाशित था। मार्ग में कोई भौतिक बंधन नहीं था, कोई उनकी गति अवरुद्ध नहीं कर रहा था। वे जैसे कोई अनिवार्य वेग थे, जो सृष्टि के केन्द्र में स्थित थे और सारी सृष्टि को गति प्रदान कर रहे थे···

अशांत सात्यकि अपने कक्ष में अकेला बैठा था।

क्या हो रहा है, यह सव ? यादवों को क्या न्याय-अन्याय का कोई वोध नहीं रहा ? उन्हें धर्म का स्वरूप विस्मृत हो गया है क्या ? वसुदेव कुछ वोले ही नहीं, न पक्ष में न विपक्ष में। कृष्ण का स्वर वहुत कोमल हो गया था, जैसे पांडवों और धार्तराष्ट्रों को, युधिष्ठिर और दुर्योधन को समान धरातल पर रखा जा सकता हो। जैसे उनमें से एक वादी और दूसरा प्रतिवादी न हो; जैसे एक पीड़ित और दूसरा पीड़क न हो। कृष्ण ने कहा कि यादवों का पांडवों और धार्तराष्ट्रों से समान संवंध है। संवंध तो है··· पुराने संबंध भूल भी जाएँ, तो अव कृष्ण की भगिनी का संवंध अर्जुन से हुआ है, तो उनके पुत्र का संवंध दुर्योधन की पुत्री से हुआ है··· किंतु अर्जुन से उनका संबंध, उनके अर्जुन के प्रति अबाध प्रेम का परिणाम है ; और सांव और लक्ष्मणा का संबंध कृष्ण की वाध्यता है। वह सांव की उच्छृंखलता थी।··· तो फिर ये दोनों संबंध समान कैसे हो गए ?···कृष्ण भी वलराम के दबाव में आ गए हैं क्या ? प्रद्युम्न, गद, और सांब तो कुछ बोले ही नहीं।···

वलराम के मन को तो वह बहुत दिनों से भाँप रहा था। सुभद्रा के विवाह के अवसर पर भी वलराम कृष्ण से सहमत नहीं थे।··· इसलिए बाध्य होकर कृष्ण ने अर्जुन को प्रेरित किया था कि वह सुभद्रा का हरण कर ले। कृष्ण ने बलराम को अर्जुन के विरुद्ध शस्त्र नहीं उठाने दिया, तो बलराम ने भी कृष्ण के शस्त्रों से दुर्योधन को पूर्णतः सुरक्षित रखा। सांब के बंदी हो जाने पर भी बलराम ने कृष्ण को दुर्योधन के विरुद्ध शस्त्र उठाने का अवसर नहीं दिया।··· और आज··· आज तो वलराम ने दुर्योधन के अपराध को क्षीण करने के लिए, युधिष्ठिर को द्यूतव्यसनी सिद्ध कर दिया। द्यूत कांड का सारा दोष युधिष्ठिर पर ही डाल दिया।··· जो वलराम अपने क्रोध के लिए ही प्रख्यात थे··· वे ही बलराम कह रहे थे,··· युद्ध में दोनों ओर से अनीति और अन्याय का व्यवहार

होता है; और अन्याय से इस जगत् में किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए कौरवों से युद्ध की बात सोची ही न जाए।··· कौरवों और पांडवों में युद्ध हो, इसकी आकांक्षा ही मत करो।··· संधि ! समझौता !! शांति !!!"

बलराम आज कैसी बातें कर रहे हैं। दुर्योधन उन्हें इतना प्रिय हो गया है कि उसके चारित्र्य को सर्वथा विस्मृत कर, उसके अन्याय और अत्याचारों की उपेक्षा कर···वे केवल शांति की चर्चा कर रहे हैं। दुर्योधन के विरुद्ध उठा प्रत्येक हाथ वे बाँध देना चाहते हैं। ··· सदा अपने कंधे पर शस्त्र लेकर चलनेवाले, शब्द से भी पूर्व शस्त्र का प्रयोग करनेवाले बलराम, युद्ध के विरोधी इसलिए हो गए हैं, क्योंकि युद्ध में अनीति होती है; किंतु दुर्योधन की सारी अनीति की ओर से, चुपके से आँखें मूँद लेना चाहते हैं। जहाँ युद्ध के बिना ही इतनी अनीति है, वहां युद्ध में और क्या अनीति हो जाएगी ?···

सात्यकि का आक्रोश बढ़ता जा रहा था। वह जानता था कि कृष्ण न अधर्म पर चल सकते थे, न उसका पक्ष ले सकते थे।··· किंतु कृष्ण पर उसका विश्वास कितना भी दृढ़ क्यों न हो, जो घटनाएँ उसकी आँखों के सम्मुख घटी थीं, उनकी उपेक्षा तो वह नहीं कर सकता था।··· आज जब वह अपेक्षा कर रहा था कि विराट की सभा में कृष्ण वह सब कहेंगे, जो कुछ उन्होंने द्यूत में हारने के पश्चात् पांडवों को वन में जाकर कहा था, तो उन्होंने एक शांतिदूत का प्रस्ताव रख दिया। उन्होंने एक बार भी नहीं कहा कि कोई उनका साथ दे या न दे, कोई युद्ध करे या न करे, वे स्वयं आततायी दुर्योधन का वध कर, पांडवों का राज्य उन्हें दिला देंगे। कौन रोक रहा था कृष्ण को ? उन्होंने पांडवों की सभा में, इस सारे राज-समाज के सम्मुख अपने सुदर्शनचक्र से शिशुपाल का वध कर दिया था। क्यों वे दुर्योधन के साथ भी वैसा ही व्यवहार नहीं करते ?

··· सहसा सात्यकि का ध्यान दूसरी ओर चला गया··· क्या पिछले कुछ दिनों से वह देख नहीं रहा कि कृष्ण अपनी प्रखरता को भी हल्के आवरण से आच्छन्न करने का प्रयत्न कर रहे हैं, और अपनी मुखरता को भी। वे जैसे सावधान होकर बोल रहे हैं। सावधान होकर चल रहे हैं। वे धृतराष्ट्र और दुर्योधन की नीतियों के सर्वथा विरुद्ध होते हुए भी, जैसे अपनी वाणी और व्यवहार में कहीं यह प्रकट नहीं होने देना चाहते कि वे पांडवों और धार्तराष्ट्रों के संदर्भ में तटस्थ और निष्पक्ष नहीं हैं। ··· वे दुर्योधन को उस के पिछले कृत्यों और अत्याचारों का दंड देने की चर्चा भी नहीं करते। बस यह कह रहे हैं कि पांडवों ने द्यूत में दिए गए अपने वचन के अनुसार वनवास और अज्ञातवास पूरा कर लिया है, अतः उनका राज्य उन्हें लौटा दिया जाए। संपूर्ण राज्य भी नहीं। यदि पांडवों को उनका आधा राज्य भी दे दिया जाता है, तब भी पांडव संतुष्ट हो जाएँगे और दुर्योधन से युद्ध नहीं करेंगे। इसका अर्थ यह है कि दुर्योधन यदि पांडवों को उनका आधा राज्य भी लौटा देता है, तो उसे क्षमा कर दिया जाएगा··· भीम को विष देना, वारणावत में पांडवों को जलाना, धोखे से पांडवों को हस्तिनापुर के संपूर्ण

राज्य के स्थान पर, मृत्युरूपी खांडवप्रस्थ का भयंकर वन देना, द्यूत में उनके साथ अधर्म करना, द्रौपदी को अपमानित करने के लिए निर्वस्त्र करने का अपराध··· दुर्योधन के ये सारे अपराध क्षमा कर दिए जाएँगे ? युधिष्ठिर तो दुर्योधन को क्षमा करने के लिए आतुर ही बैठे हैं; किंतु क्या कृष्ण भी उसे क्षमा कर देंगे ?

कौन बाँध रहा है कृष्ण को ? उनके तेज को ? उनके धर्म को ? कृष्ण अनावश्यक हिंसा नहीं करते। वे निरीह हत्याएँ नहीं करते।··· वे नृशंस नहीं हैं। किंतु वे युधिष्ठिर की अनृशंसता के समर्थक भी नहीं हैं। उन्होंने जरासंध, कंस और शिशुपाल को क्षमा नहीं किया। उनको दंडित करने के लिए उन्हें कभी विचार और पुनर्विचार नहीं करना पड़ा।··· फिर दुर्योधन के संदर्भ में ही वे ऐसे क्यों हो रहे हैं—केवल बलराम के शिष्य-मोह के कारण ? या दुर्योधन को वे अपना समधी होने का लाभ दे रहे हैं ?

सभा से उठकर वह कृष्ण से भेंट करने के लिए उनके कक्ष में भी गया था···उसने सोच रखा था कि वह मुक्त मन से कृष्ण से कह देगा कि उन्हें यहाँ वर्तमान राज-समाज के सम्मुख सार्वजनिक रूप से यह घोषणा कर देनी चाहिए कि वे पांडवों का राज्य, उन्हें दिलाने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हैं। दुर्योधन अपनी प्रतिज्ञानुसार यदि पांडवों का राज्य उन्हें नहीं लौटाएगा, तो वे शस्त्रबल से राज्य छीन ही नहीं लेंगे, उसके लिए दुर्योधन, उसके भाइयों, मित्रों तथा संबंधियों को दंडित भी करेंगे।··· किंतु वहां तो दृश्य ही कुछ और था···

वहाँ कृष्ण के निकट न पांडव थे, न युद्ध का कोई समारोह था। न शस्त्रों संबंधी कोई चर्चा थी, न व्यूहों पर विचार विनिमय।··· कृष्ण बहुत शीघ्रता में थे और किसी लंबी यात्रा की तैयारी कर रहे थे।···

"कहाँ जा रहे हैं ?" सात्यकि के मुख से अनायास ही निकल गया।

"द्वारका !"

"क्यों ?" सात्यकि ने पूछा, "चारों ओर आसन्न युद्ध के मेघ मँडरा रहे हैं और आप पांडवों को अकेला छोड़कर द्वारका लौटे जा रहे हैं ?"

कृष्ण ने शांत मन से दारुक को यात्रा संबंधी कुछ निर्देश दिए और अधरों पर एक मनोहर मुस्कान लिए हुए, सात्यकि की ओर मुड़े, "तुम क्या अपेक्षा लेकर आए थे कि मैं यहाँ कवच धारण कर सुदर्शनचक्र लिए युद्ध के लिए सन्नद्ध खड़ा मिलूँगा।"

सात्यकि ने चकित दृष्टि से कृष्ण की ओर देखा था। वे उसका उपहास नहीं कर रहे थे। वे विनोद की मुद्रा में भी नहीं थे। उनका निर्द्वन्द्व, ग्रंथिहीन मन निरभ्र आकाश के समान स्वच्छ था। वे कदाचित् सात्यकि की अपेक्षाओं से पूर्णतः अवगत थे।···

"आप युद्ध वेश में खड़े होंगे, ऐसा तो मैंने नहीं सोचा था; किंतु यह अपेक्षा तो एकदम नहीं की थी कि आप द्वारका लौट जाने की तैयारी में होंगे।" सात्यकि ने कहा था, "कल्पना की थी कि आप पांडवों के लिए और अधिक सहायता जुटाने के लिए

प्रयत्नशील होंगे। जो राज-समाज आपके निकट होगा, आप उन्हें निर्देश दे रहे होंगे कि वे लोग अपनी सेनाएँ लेकर, किस रूप में कब पांडवों से मिलेंगे। अपने प्रभाव क्षेत्र के सारे राजाओं को आप संदेश भिजवा रहे होंगे। जो मध्यस्थ हैं, उन्हें अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न कर रहे होंगे···।"

"अपने पक्ष में ?" कृष्ण मुस्करा रहे थे।

"अपने पक्ष में, अर्थात् पांडवों के पक्ष में।" सात्यकि ने कहा था, "क्योंकि हमारा और पांडवों का पक्ष एक है।"

इस बार कृष्ण न हँसे, न मुस्कराए। सहज गंभीर स्वर में बोले, "पांडवों का और हमारा पक्ष अभी से एक कैसे हो गया ? अभी तो युद्ध का निश्चय नहीं हुआ। पांडवों ने हमसे सहायता नहीं माँगी। हमने उन्हें और धार्तराष्ट्रों को सहायता माँगने का समान अवसर नहीं दिया। हमने पांडवों के पक्ष से युद्ध करने का निश्चय नहीं किया। तो हमारा और पांडवों का पक्ष एक कैसे हो गया ?"

सात्यकि जैसे स्तब्ध खड़ा रह गया : वह यह सब क्या सुन रहा था, वह भी श्रीकृष्ण के मुख से ? इस प्रकार की स्थिति की उसने कल्पना भी नहीं की थी। क्या कृष्ण और अर्जुन पृथक् हो सकते हैं ? उनके पक्ष भिन्न हो सकते हैं ? नहीं !···तो फिर इस प्रकार का नाटक करने की क्या आवश्यकता थी ? किसको दिखाने के लिए कृष्ण कर रहे हैं यह लीला ? वे सारे यादवों के साथ सुधर्मा सभा में बैठेंगे। वहाँ पांडवों का कोई प्रतिनिधि महाराज उग्रसेन के सम्मुख उपस्थित होकर धर्मराज युधिष्ठिर की ओर से भावी युद्ध के लिए, सैनिक सहायता की याचना करेगा। उग्रसेन सारे यादव कुल प्रतिनिधियों से उनका मत पूछेंगे और फिर वे निर्णय करेंगे कि यादव सेनाएँ पांडवों के पक्ष से लड़ें गी।···ठीक है कि राजा तो उग्रसेन ही हैं। यादवों की ओर से इस प्रकार का निर्णय करने का अधिकार भी सुधर्मा सभा को ही है।··· किंतु कौन नहीं जानता कि कृष्ण की बात को कोई नहीं टालेगा। अर्जुन ने जब सुभद्रा का हरण किया था, तो सारे यादव महारथी उसके विरुद्ध शस्त्रबद्ध हो गए थे, बलराम भी। तब कृष्ण ने ही तो उन सबको रोक दिया था। कृष्ण के तर्कों का उत्तर किसके पास है ? किस की मनीषा कृष्ण के विरुद्ध खड़ी हो सकती है ? किसका विवेक कृष्ण से श्रेष्ठतर है ?··· किसी का नहीं ! तो फिर सात्यकि यह कैसे मान रहा है कि वह कृष्ण से श्रेष्ठ है। वह ठीक सोच रहा है और कृष्ण ठीक नहीं सोच रहे। वह कृष्ण पर विश्वास कर, उनका अनुसरण करने के स्थान पर कृष्ण की नीति में दोष क्यों देख रहा है ? इस समय कृष्ण अकेले हैं, उसे उनका साथ देना चाहिए, उनका समर्थन कर उनका बल बढ़ाना चाहिए।···

7

द्वारका के मार्ग में ही अर्जुन को कुछ-कुछ आभास हो गया था कि श्रीकृष्ण इस समय द्वारका में नहीं हैं। द्वारका के नगरद्वार पर ही इस सूचना की पुष्टि भी हो गई।

अव ?

उसे वापस उपप्लव्य लौट जाना चाहिए अथवा द्वारका में रुककर कृष्ण की प्रतीक्षा करनी चाहिए ?

पर तब अर्जुन को लगा कि उससे भी बड़ा प्रश्न उसके मन में यह था कि कृष्ण कहाँ चले गए ? वे उपप्लव्य से द्वारका के लिए चले थे। मार्ग में कहीं रुकने की कोई योजना नहीं थी और कहीं अन्यत्र चले जाने का कोई अर्थ नहीं था। वे जानते थे कि दुर्योधन से पांडवों का युद्ध होगा। दुर्योधन ने संसार भर में अपने दूत दौड़ा दिए हैं। वह अपने मित्रों से ही नहीं अपने शत्रुओं से भी सहायता माँग रहा है। जिनसे मित्रता नहीं है, उनसे भी मित्रता कर रहा है। ऐसे में कृष्ण कोई स्पष्ट निर्णय किए विना उपप्लव्य से चुपचाप चले आए थे और अव द्वारका न पहुँचकर कहीं विलुप्त हो गए थे।··· जाने वे कव द्वारका लौटें। उनकी प्रतीक्षा में कितने समय तक ठहरना पड़े। उस समय का उपयोग कहीं और भी तो किया जा सकता है।···

सहसा उसके मन में एक नया ही अर्जुन जागा।···क्या सोच रहा है वह कि पांडव कष्ट में हैं और कृष्ण उनका कष्ट भूल कर··· नहीं, उनके कष्ट की उपेक्षा कर, कहीं और व्यस्त हो गए हैं ?··· वह सोच रहा है कि कृष्ण स्वयं ही अपनी सेना लेकर उपप्लव्य नहीं पहुँचे और अर्जुन को द्वारका आना पड़ा है याचक बन कर।··· वह समझ रहा है कि कृष्ण को उनकी चिंता नहीं है अथवा वे अपना महत्त्व जता रहे हैं ? अपना भाव बढ़ा रहे हैं ?

अर्जुन को लगा कि यह प्रश्न ही अपने आप में उसके लिए धिक्कार था। यदि कृष्ण को पांडवों की चिंता नहीं है, तो संसार में और कोई ऐसा नहीं है, जिसे उनकी चिंता हो। यदि कृष्ण धर्म की ओर से असावधान हो सकते हैं, तो और कौन है ऐसा, जो इतना सजग होकर अनवरत रूप से धर्म की रक्षा में लगा हुआ है। किसे चिंता है, संसार में एक धर्मराज्य की स्थापना की, ताकि प्रजा कुशासन के चंगुल से स्वतंत्र हो जाए और अत्याचारों से मुक्त हो ?··· आज तक कृष्ण ने पांडवों की पुकार की कब प्रतीक्षा की ? कब चाहा उन्होंने कि पांडव याचक बनकर उनके सम्मुख खड़े हों, तब ही वे उनकी सहायता करेंगे ? कब जताया कृष्ण ने कि वे सदा पांडवों की सहायता करते रहे हैं अथवा पांडव सदा उनकी सहायता पर निर्भर रहे हैं ? ···कृष्ण के विपय में ऐसा कुछ सोचना भी पाप है। ···कृष्ण जहाँ कहीं भी होंगे, पांडवों की चिंता कर रहे होंगे। धर्म की रक्षा के लिए प्रयत्नशील होंगे।···

अव और कुछ सोचने की आवश्यकता नहीं थी। चाहे जितना भी समय लगे,

उसे कृष्ण की प्रतीक्षा करनी चाहिए। अन्यत्र भेजने के लिए पांडवों के पास और भी दूत हैं। और काम करने के लिए उपप्लव्य में उसके भाई वैठे हैं और निरंतर कुछ न कुछ कर ही रहे हैं।···

कृष्ण द्वारका में नहीं हैं, तो अर्जुन को कहाँ ठहरना चाहिए ? मातुल के पास ? सात्यकि के भवन में ? उद्धव के निवास पर ? वासुदेव वलराम के भवन में ?···या कृष्ण के ही अतिथिभवन में ?···

अर्जुन को लग रहा था कि उसका कहीं भी जाना अनुचित नहीं था; किंतु कृष्ण से अधिक प्रिय उसे और कोई नहीं था। कृष्ण से अधिक निकट और कोई नहीं था। कोई नहीं था, जो उसे कृष्ण से अधिक अपना लगता हो। कृष्ण नहीं थे द्वारका में। तो क्या ? उनका प्रासाद तो था। उनका परिवार तो था। ऐसा तो नहीं है कि कृष्ण के उपस्थित न होने पर, उनके घर में अर्जुन के लिए स्थान ही न हो। वह उनके पास आया है, तो उसे उनके ही द्वार पर जाना चाहिए। उनके द्वार पर यदि यह उत्तर मिला कि वे घर पर नहीं हैं और उससे वहाँ ठहरने का आग्रह न किया गया तो वात और है। तव वह सोचेगा कि उसे कहीं और जाना है।

किंतु ऐसी स्थिति में भी पहले मातुल को प्रणाम करने के लिए तो जाना ही चाहिए। मातुला से आशीर्वाद लेना भी आवश्यक है।

उसने अपना रथ वसुदेव के प्रासाद की ओर मोड़ दिया।

प्रासाद में पहुँचने तक कुछ अंधकार हो चला था। मार्गों में उतनी भीड़ भाड़ भी नहीं थी। कदाचित् यह ऋतु का प्रभाव था। शीत ऋतु चल रही थी। मथुरा और इंद्रप्रस्थ में इससे-कहीं अधिक ठंडे प्रदेश थे; किंतु द्वारका में आकर यादव भी इसी ऋतु को ठंडा मानने लगे थे क्या ? कारण जो भी हो, किंतु अर्जुन ने द्वारका के पथों पर सदा ही इस से कहीं अधिक भीड़ देखी थी।

द्वारपाल ने उसे पहचान कर प्रणाम किया और एक दासी को बुलाकर कहा, "आर्य को तत्काल स्वामी के पास ले जाओ।"

दासी नई थी। अर्जुन को पहचानती नहीं थी। वोली, "स्वामी इस समय किसी से नहीं मिलते। वे भोजन कर अपने शयन कक्ष में जा चुके हैं। संभवतः सो गए हों अथवा अध्ययन कर रहे होंगे। अथवा···"

द्वारपाल मुँहवाए उसकी बात सुनता रहा कि वह मूर्खा विना कुछ सोचे समझे, विना आगंतुक का महत्त्व जाने, वकती चली जा रही है। जब वह चुप नहीं हुई तो झल्ला कर बोला, "जव मैं तुझे कह रहा हूं, तो ले क्यों नहीं जाती। अपना संविधान बघार रही है।"

"अ··· ह···! बड़े तुम आए बोलनेवाले। जैसे मेरे स्वामी तुम ही हो। मैं तुम्हारी

आज्ञा के अधीन नहीं हूं कि तुमने कहा और मैं स्वामी के विश्राम की चिंता किए विना आगंतुकों को उनके विश्राम कक्ष में पहुँचाती रहूँ।"

"फिर लगी बकवाद करने। जानती भी है कि कौन हैं ये।"

"महाराज उग्रसेन हैं अथवा उनके जामाता श्वफल्कपुत्र आर्य अक्रूर हैं।" दासी ने जैसे द्वारपाल को चिढ़ाया।

"रहने दो द्वारपाल ! यह नहीं ले जाना चाहती। मैं स्वयं ही चला जाऊँगा।" अर्जुन ने कहा।

"हाँ ! स्वयं ही चले जाओगे।" दासी बोली, "जैसे मैं जाने ही तो दूँगी।"

"अरे मूर्ख ! ये महाराज वसुदेव के जामाता कौंतेय अर्जुन हैं। देवी सुभद्रा के पति।"

"तो पहले बताना चाहिए था न !" दासी की ऐंठ अब भी कुछ कम नहीं हुई थी, "बताओगे कुछ नहीं और आदेश देते जाओगे तो मुझे क्या स्वप्न आएगा कि ये कौन हैं।"

दासी चल पड़ी।

"क्षमा करें आर्य ! आजकल द्वारका में कुछ अधिक ही उद्दंडता की बयार चल रही है।"

अर्जुन ने झुककर वसुदेव के चरण स्पर्श किए तो उन्होंने उसे वक्ष से लगा लिया, "अभी आ ही रहे हो अथवा द्वारका में आए कुछ समय हो गया ?"

"बस सीधा चला ही आ रहा हूँ मातुल ! मार्ग में ही पता चला कि कृष्ण द्वारका में नहीं हैं, इसलिए उस ओर भी नहीं गया। बस आपको प्रणाम करने चला आया।"

"अच्छा किया पुत्र !" वसुदेव बोले, "कृष्ण द्वारका में नहीं है; किंतु दुर्योधन उसकी प्रतीक्षा में यहाँ डेरा डाले हुए है। लक्ष्मणा के कारण इस घर और परिवार में उसका अबाध प्रवेश है।"

अर्जुन ने वसुदेव को जैसे पहली वार ध्यान से देखा : उनका शरीर अब भी स्वस्थ लगता था। लंबा ऊँचा वलिष्ठ शरीर था। अपने समय में अच्छे योद्धा रहे होंगे मातुल। अर्जुन को अपनी माँ की आकृति ध्यान हो आई। माँ भी स्वस्थ और बलिष्ठ शरीर की स्वामिनी हैं। उनका चेहरा अपने भाई से पर्याप्त साम्य रखता है। कदाचित् तभी लोगों को कई वार कृष्ण और अर्जुन की आकृति में भी साम्य दिखाई पड़ने लगता था। कृष्ण ने अपनी आकृति अपने पिता से पाई थी और अर्जुन ने अपनी माँ से।

सहसा अर्जुन ने मातुल के चेहरे में कृष्ण को देखा। अपनी युवावस्था में मातुल भी वहुत कुछ कृष्ण जैसे ही लगते होंगे, चाहे उनके चेहरे पर कृष्ण की सी रहस्यात्मक मोहिनी न रही हो।

मातुला ने सुना कि अर्जुन आया है, तो वे भी उससे मिलने आईं।

अर्जुन ने चरण छुए तो आशीर्वाद देकर बोलीं, "आ ही रहे थे तो सुभद्रा को भी लेते ही आते।"

अर्जुन हँसा, "ले तो आता मातुला ! किंतु उसे द्वारका से गए अभी दिन ही कितने हुए हैं। कितने लंबे समय तक रहकर गई है वह। अभी आपका मन नहीं भरा।"

"कभी बेटी की संगति से भी मां का मन भर सकता है ?" देवकी हंसकर बोलीं।

"मातुला ! इस समय तो वह अपनी पुत्रवधू में कुछ ऐसी मग्न है कि उसके संसार में और किसी का कोई अस्तित्व ही नहीं है।"

"उचित ही तो है पुत्र ! पुत्रवधू में मग्न नहीं होगी तो पुत्रवधू उस पर मुग्ध कैसे होगी। पहले माँ सेवा करती है, तभी तो बाद में संतान उसकी सेवा करती है। सुभद्रा अभी अपनी पुत्रवधू को प्रेम नहीं देगी तो अपनी आवश्यकता के समय उस का प्रेम कैसे पाएगी।"

"वह तो अपनी पुत्रवधू में मग्न है और तुम लोग किसमें व्यस्त हो पार्थ ?" वसुदेव ने पूछा, "सैन्य-संग्रह में ?"

"हाँ मातुल ! अभी तो हमारा ध्यान उसी ओर लगा है।"

सहसा वसुदेव की मुद्रा बदली, "तुम्हें आश्चर्य नहीं हुआ अर्जुन ! कि उपप्लव्य में विराट की सभा में मैंने तुम्हारे पक्ष में सांत्वना के रूप में भी एक शब्द नहीं कहा ? बलराम जब तुम्हारे विरोध में बोल रहा था, तो भी मैंने उसे नहीं रोका।"

"नहीं ! आश्चर्य की तो ऐसी कोई बात नहीं थी मातुल ! यादवों में एक प्रकार का गणतंत्र ही तो है। सबको अधिकार है, अपना स्वतंत्र मत रखने का।" अर्जुन बोला,"आप यदि सुधर्मा सभा में यादवों को एक मत से निश्चय करने की सुविधा देना चाहते हैं तो उपप्लव्य में आपसी मतभेदों को सार्वजनिक करने की कोई आवश्यकता नहीं थी।"

"एकमत और सुधर्मा सभा।" वसुदेव कुछ विचित्र प्रकार से बोले, जैसे या तो इन दोनों शब्दों का उपहास करना चाहते हों अथवा उसके अतीतगौरव को स्मरण कर कष्ट का अनुभव कर रहे हों।

"क्यों क्या सुधर्मा सभा में यादव अपनी समस्याओं पर विचार नहीं करते।"

"पता नहीं क्या करते हैं।" वसुदेव उदासीन भाव से बोले, "मुझे तो लगता है कि अब यादवों को महाराज उग्रसेन को अपना राजा मानने में भी रुचि नहीं है। वे भी यादव ही हैं, जो सुधर्मा सभा की मर्यादा भंग कर उसे भी कौरवों की द्यूतसभा बना देना चाहते हैं।"

"छोड़िए भी।" देवकी ने उन्हें इस चर्चा से विरत करना चाहा, "आपको क्या लेना है, इन विवादों से।"

"सत्य है कि मुझे कुछ नहीं लेना राजनीति और सत्ता के इस बँटवारे से।" वसुदेव

का स्वर पर्याप्त हताश था, "किंतु मैं यादवों की सुख-समृद्धि से तो उदासीन नहीं हूं। संसार में धर्म की पराजय तो नहीं देखना चाहता मैं। यादवों की जिस स्वतंत्रता और स्वाभिमान के लिए, मैंने अक्रूर के समान कंस से समझौता नहीं किया। एक के पश्चात् एक अपने नवजात शिशुओं को उस राक्षस के हाथों मृत्यु को प्राप्त होते देखा, उस स्वतंत्रता और स्वाभिमान को अव मैं सत्ता लोलुप, स्वार्थी लोगों की झोली में तो नहीं डाल सकता।" वसुदेव रुके और जैसे दुगने आवेश के साथ बोले, "जव शत्रुओं के पग तले इनका कंठ दबा हुआ था, अपना बलिदानं देनेवाला नेता चाहिए था, तब तो कृष्ण प्यारा था इन सबको। अब इन्हें कृष्ण की कोई नीति रुचिकर नहीं है। क्यों ? क्योंकि कृष्ण उन्हें सत्ता का अबाध भोग नहीं करने देता। उनके पापों के मार्ग में आड़े आता है कृष्ण।"

अर्जुन ने मातुल को कभी इस प्रकार आवेश में बोलते नहीं सुना था। कोई विशेष वात ही होगी अन्यथा यह उनका स्वभाव नहीं था।

"कोई विशेष वात मातुल ?" अर्जुन को लगा कि प्रश्न पूछने के लिए वह उचित शब्द भी ढूँढ़ नहीं पा रहा है।

"विशेप वात क्या होनी है पुत्र ! सदा के समान मनुष्य के लोभ, स्वार्थ और मूर्खता की गाथा है, जो इस समय यादवों पर घटित हो रही है।" वसुदेव वोले, "जव तक कंस और जरासंध जीवित थे, सवको लग रहा था कि सव कुछ उनका ही है। और किसी का कुछ भी नहीं है। तब किसी ने उनसे नहीं पूछा कि मथुरा का राज्य और यादवों की संपत्ति उनकी ही क्यों है; किंतु अब वे नहीं हैं, तो प्रत्येक यादव सोच रहा है कि द्वारका का राज्य उसी को क्यों नहीं मिल जाता। सत्ता उसके हाथ में क्यों नहीं आ जाती। स्यमंतक मणि उसकी मुट्ठी में बंद हो कर क्यों नहीं रहती। सबको वहुत जल्दी है अधिकार पाने की, धनी होने की, अपने ही समाज को और अपने ही परिजनों को लूटने की। पहले तो एक जरासंध था, जो यादवों के धन को मथुरा से बाहर ले जाता था और यादव कंगाल होते जाते थे। अब तो अनेक जरासंध हो गए हैं। कितने ही यादव हैं, जो यादवों के धन को उचित-अनुचित साधनों से हथियाकर विभिन्न देशों और राज्यों में अपनी तथा अपने विदेशी मित्रों की कोठियों में संचित कर रहे हैं, ताकि न महाराज उग्रसेन का उस पर कोई अधिकार रहे, न सुधर्मा सभा का।"

अर्जुन के लिए इसमें से वहुत कुछ नया था। न तो उसने कभी यादवों की राजनीति में रुचि ली थी, न कभी कृष्ण ने ही उससे ऐसी कोई चर्चा की थी।

"पर महाराज उग्रसेन से किसी का क्या विरोध हो सकता है ?" उसने कुछ चकित भाव से पूछा।

"विरोध ! विरोध क्या होना है पुत्र !" वसुदेव हँसे, "कुछ लोगों को राज्य पाने की वहुत जल्दी है। उन्हें लगता है कि महाराज वहुत वृद्ध हो गए हैं, उन्हें चाहिए कि वे सिंहासन त्याग दें।"

अर्जुन ने मातुल की ओर देखा भर। कहा कुछ भी नहीं।

"महाराज सिंहासन त्याग भी दें तो उत्तराधिकार किसको मिले ? कौन निर्णय करे कि महाराज का उत्तराधिकारी कौन है ?"

"महाराज उग्रसेन। और कौन ?"

"पर यदि महाराज का निर्णय उनके पक्ष में नहीं हुआ तो।" वसुदेव बोले, "इसलिए वे यह अधिकार महाराज को नहीं देना चाहते।"

"तो यादव मिलकर निर्णय कर लें। सुधर्मा सभा यह निर्णय करे।"

"साधारण जन कृष्ण के पक्ष में हैं। इसलिए राज्यलोलुप नेता सभा को भी यह अधिकार नहीं देना चाहते।" वसुदेव बोले, "कोई चाहता है कि उत्तराधिकारी पुत्र हो, कोई चाहता है कि जामाता हो। कोई इसे अपने कुल के लिए आरक्षित रखना चाहता है तो कोई अपने वंश के लिए। वे सिद्धांत तो कदाचित् द्वारका में किसी को स्मरण भी नहीं हैं, जिनके लिए यादवों ने कंस, जरासंध और उनके मित्रों से युद्ध किया था।"

"वे कौन लोग हैं मातुल ?" अर्जुन के मुख से अनायास ही निकल गया।

"सब अपने ही लोग हैं।" वसुदेव बोले, "शतधन्वा भी तो यादव ही था, जिसने सत्राजित का वध किया था। अक्रूर को भी उग्रसेन के सिंहासन पर लौटते ही लगने लगा था कि उन्हें अब राजसिंहासन से हट जाना चाहिए और राजा का पद अपने जामाता को दे देना चाहिए, अर्थात् स्वयं अक्रूर को। सत्राजित का धन देखकर भी उसके मुख में पानी आ गया था। लोभ से लार टपकने लगी थी उसकी। अपनी अवस्था को भूल कर सत्यभामा से विवाह करने का स्वप्न देखने लगा था ताकि सत्राजित के जामाता के रूप में स्यमंतक मणि उसे मिल जाए। वह नहीं हुआ तो शतधन्वा की सहायता से सत्राजित का वध करवा स्वयं स्यमंतक मणि लेकर बैठ गया। कृष्ण ने उससे स्यमंतक मणि नहीं छीनी क्योंकि कृष्ण को किसी भी पदार्थ का मोह नहीं है। कृष्ण ने उसका वध नहीं किया कि यादवों में मतभेद उत्पन्न न हों, पर वह तो आज तक महाराज उग्रसेन से रुष्ट है कि उन्होंने उसे राज्य क्यों नहीं दिया। वह आज भी भयभीत है कि जैसे सत्राजित ने सत्यभामा कृष्ण से ब्याह दी वैसे ही महाराज अपना सिंहासन कृष्ण को दे न दें। वह समझता है कि कृष्ण महाराज का पक्ष इसलिए लेता है, क्योंकि उसे सिंहासन का लोभ है। कृष्ण को सिंहासन अथवा राज्य का मोह होता तो यादवों का राजा बनने से उसे कौन रोक सकता था। जिस कृष्ण ने उसे स्यमंतक मणि अपने पास रखने दी, उसी कृष्ण को वह लोभी समझता है और उससे वैर पालता है।... स्यमंतक मणि को लेकर जब बलराम तक कृष्ण पर संदेह कर सकता है और उस के शत्रुओं के हाथों में खेल सकता है तो मैं किसी और को कुछ कहने का अधिकारी कहाँ हूँ।..."

"बस भी कीजिए अब !" सहसा देवकी बोलीं, "व्यर्थ ही क्यों अपने स्वास्थ्य के शत्रु हो रहे हैं आप।"

"मैं कहाँ किसी से कुछ कहता हूँ। वह तो अपने भागिनेय को देख कर मन कुछ

उमड़ आया।" वसुदेव बोले, "उपप्लव्य में सब कुछ अपनी आँखों देखा-सुना और कुछ नहीं कहा। इसे अपने घर आया देख स्वयं को रोक नहीं पाया।"

"वह भागिनेय ही नहीं जामाता भी है।" देवकी ने वातावरण को कुछ हल्का करने का प्रयत्न किया, "उससे कुछ तो गोपनीयता रखनी ही चाहिए।"

वसुदेव ने भी मुस्कराने का प्रयत्न किया, "अच्छा पार्थ ! अब तुम विश्राम करो। यात्रा से आए हो।" वे रुके और पुनः बोले, "तुम विश्राम करो; किंतु स्मरण रहे कि तुम यहाँ विश्राम करने नहीं आए हो। किसी कार्यवश आए हो और वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण द्वारका में नहीं है; किंतु दुर्योधन है। तुम कृष्ण से कुछ नहीं चाहते। मांगने में भी संकोच कर सकते हो; किंतु वह नहीं करेगा। कृष्ण कहाँ है और क्यों है, यह रुक्मिणी ही जानती है। कब आएगा, यह भी वही जानती है। तुम विश्राम से पहले रुक्मिणी से अवश्य मिल लेना और जैसा वह कहे, वैसा ही करना। ठीक है ?"

"ठीक है मातुल !" अर्जुन बोला।

"अच्छा पुत्र ! मैं इन्हें विश्राम के लिए ले जा रही हूँ। तुम अन्यथा न मानना।" देवकी स्नेह सिंचित वाणी में बोलीं, "आज मैं इन्हें असाधारण रूप से उत्तेजित पा रही हूं। इनके लिए विश्राम आवश्यक है।"

"आप उचित ही कह रही हैं मातुला !" अर्जुन ने खड़े हो कर उन्हें प्रणाम किया।

"जा तो मैं रहा ही हूँ ; किंतु जाते-जाते एक बात और कहता ही जाऊँ पुत्र !" वसुदेव रुक गए, "मुझे लगता है कि शासक चाहे बदल जाए, किंतु शासन की रीति बड़ी कठिनाई से बदलती है। जिनका विरोध कर, जिनसे युद्ध कर, सत्ता छीनी जाती है, नए शासक उनसे उनकी शैली, उनकी रीति, उनका सोच विचार, उनकी भाषा और उनकी अभिव्यक्ति—सब कुछ ग्रहण कर लेते हैं। अपनी रीति उनको शासकों की रीति ही नहीं लगती। वे स्वयं को पुराने शासकों के साँचे में ढाल लेते हैं।"

"इसका क्या अर्थ है मातुल ?" अर्जुन ने कुछ चकित भाव से पूछा।

"इसका अर्थ है कि जरासंध और कंस से जिन कारणों से यादव घृणा करते थे, अब उन ही बातों को वे आतुरतापूर्वक ग्रहण करना चाहते हैं।" वसुदेव बोले, "जब कंस वह करता था तो हम कहते थे कि वह यादवों की जनतांत्रिक व्यवस्था को भंग कर रहा है ; किंतु अब यादव स्वयं उस पद्धति को अपनाना चाहते हैं। सब राजा बनना चाहते हैं। अब उन्हें घृणा नहीं है, राजसी तंत्र से, राजाओं के अधर्म से, राजाओं की स्वच्छंदता से। वे मुग्ध हुए जा रहे हैं, उन सब पर।" वे रुके, "कृष्ण ठीक ही कहता था कि द्वारका के सुरक्षित हो जाने के पश्चात् नारायणी सेना भंग कर दी जानी चाहिए थी; ताकि उस संहारक यंत्र का दुरुपयोग न हो सके; किंतु अब यादवों की रुचि उसे भंग करने में नहीं, उस पर आधिपत्य स्थापित करने में है। अब वे नया निर्माण न कर पुराने निर्माण का भोग करना चाहते हैं। निर्माण करने में जिन लोगों ने अपना रक्त दिया है, उनके आदर्शों में उनकी रुचि नहीं है, वे तो उस ऐश्वर्य को भोगना चाहते

हैं, जो उस रक्तदान से प्राप्त हुआ है।··· तुम्हें यह देखना है पार्थ ! कि इतनी कठिनाई से प्राप्त की गई यादवों की यह सत्ता अयोग्य और अपवित्र हाथों में न जाए। वह अपने मार्ग से भटक न जाए। तुम्हें कृष्ण की सहायता करनी है।"

"अब आप चलिए भी।" देवकी ने कहा, "पार्थ इस समय सहायता लेने आया है, सहायता करने का समय आएगा तो वह आप की ही आज्ञा का पालन करेगा।"

"कृष्ण की सहायता से मेरा तात्पर्य भी यही है।" वसुदेव बोले, "धर्म पर स्थिर रहना। लोभ मत करना। कृष्ण का साथ मत छोड़ना। उसका विश्वास करना। उस पर संदेह मत करना।"

वसुदेव चले गए और अर्जुन खड़ा सोचता ही रह गया कि आज तक तो मातुल कभी इस प्रकार नहीं बोले। अब द्वारका में ऐसा क्या हो रहा है कि जिसने उन्हें इतना व्याकुल कर दिया है।

8

श्रीकृष्ण के भवन तक पहुँचने तक संध्या छिप गई थी; और रात्रि का आगमन पूर्णतः हो चुका था। चारों ओर अंधकार अवश्य था; किंतु द्वारका की वीथियों में प्रकाश का अभाव नहीं था। श्रीकृष्ण के द्वार पर उसे कोई कठिनाई नहीं हुई। द्वारपाल के निकट ही खड़ी दासी उसे तत्काल भीतर लिवा ले गई।

दासी अर्जुन को उस कक्ष में ले गई, जहाँ सामान्यतः श्रीकृष्ण अपने मित्रों से भेंट किया करते थे। अर्जुन देख कर चकित रह गया कि वहाँ सात्यकि, उद्धव, रुक्मिणी तथा सत्यभामा उसके स्वागत के लिए उपस्थित थे। इसका क्या अर्थ ? क्या उनको उसके आने की सूचना थी अथवा संयोग से ही ये सब लोग यहाँ उपस्थित थे ? पर नहीं ! द्वार पर जिस प्रकार उसका स्वागत हुआ था, उसका अर्थ था कि उन लोगों को उस के आने की सूचना हो चुकी थी।

"आओ पार्थ !" रुक्मिणी ने उसका स्वागत किया, "हमें भय था कि जैसे ही तुम्हें सूचना मिलेगी कि श्यामसुंदर द्वारका में नहीं हैं, तुम तत्काल लौट जाओगे। तुम्हारे पास युद्ध की तैयारी का व्याज तो है ही; और हमारे पास उसका कोई प्रतिकार भी नहीं था।"

"और जब कि सब लोग यह जानते हैं कि देवी सुभद्रा भी उपप्लव्य में ही है, द्वारका में नहीं।" सत्यभामा ने अपनी टिप्पणी की।

"क्या यह सत्य है पार्थ ?" उद्धव ने चकित होकर पूछा, "यदि तुम्हें सूचना मिल जाए कि कृष्ण द्वारका में नहीं हैं, तो द्वारका में किसी और से मिलने में तुम्हें कोई रुचि ही नहीं रह जाएगी ?"

"ऐसा होता तो मैं अब तक द्वारका छोड़ चुका होता।" अर्जुन ने उत्तर दिया, "किंतु ऐसा नहीं है। मैं यहाँ तुम लोगों से भेंट करने आया हूँ।"

"तो फिर सत्या ऐसा क्यों कह रही है ?" उद्धव का स्वर गंभीर था।

"सलहज है न ! इसलिए उसका अधिकार बनता है, यह सब कहने का।" रुक्मिणी ने कहा।

"सलहज तो आप भी हैं, आप नहीं कहतीं ?" सात्यकि ने पूछा।

"मैं पार्थ की बड़ी भाभी हूँ। मेरा संबंध ममता का है, हास-परिहास का नहीं।" रुक्मिणी ने उत्तर दिया।

"और मैं स्वभाव से भी अत्यंत गंभीर महिला हूँ।" सत्यभामा ने नाटक की शैली में जोड़ा।

यद्यपि अर्जुन का हास-परिहास से कोई विरोध नहीं था; किंतु इस समय उस की रुचि अन्य बातों में अधिक थी। वह जानने को उत्सुक था कि कृष्ण उपप्लव्य से कहाँ चले गए और क्यों ?

"कृष्ण कहाँ हैं ?" अर्जुन ने गंभीरता से पूछा।

"द्वारका में नहीं हैं।" सत्यभामा ने भी उतनी ही गंभीरता से उत्तर दिया; किंतु यह समझना किसी के लिए भी कठिन नहीं था कि वह गंभीरता कृत्रिम ही नहीं नाटकीय भी थी और उसका एकमात्र प्रयोजन अर्जुन को विनोदी मुद्रा में लाना ही था।

"सत्या भाभी ! मैं इस समय परिहास की मनःस्थिति में नहीं हूँ।" अर्जुन ने धीरे से कहा।

"पार्थ ! मैंने भी तो पूरी गंभीरता से ही बताया है कि श्यामसुंदर द्वारका में नहीं हैं। वैसे तो हमारी भी यह उत्कट इच्छा है कि कोई बता सके तो बताए कि वे कहाँ चले गए हैं; किंतु यहाँ ऐसा कोई समर्थ जीव है नहीं।" सत्यभामा ने कहा, "और इधर ये उद्धव महाराज हैं न, ये अपने शैशव से ही भयंकर प्रकार के खोजी रहे हैं। श्यामसुंदर जब मथुरा आए थे तो ये खोजना चाहते थे कि गोपियों को बहकाया जा सकता है अथवा नहीं। इसी अभियान को लेकर ये वृंदावन जा पहुँचे। इन्होंने अपनी खोज के पश्चात् यह पाया कि श्यामसुंदर के प्रेमियों को किसी भी तर्क से नहीं बहकाया जा सकता, क्योंकि वे सब प्रेम के आराधक होते हैं। श्यामसुंदर के प्रेमी न तो भजन पूजन करते हैं, न आँखें बंद कर समाधि लगाते हैं, वे तो बस श्यामसुंदर से प्रेम करते हैं और प्रेम करते ही चले जाते हैं।..."

सत्यभामा कदाचित् कुछ और भी कहती, किंतु उस से पूर्व ही सात्यकि ने पूछ लिया, "और आज ये क्या खोजने आए हैं ?"

"आज ये अनुसंधान का एक अभूतपूर्व क्षेत्र ले कर आए हैं।" सत्यभामा ने उत्तर दिया, "इनकी जिज्ञासा है कि श्यामसुंदर को कब यह ज्ञात हुआ कि वे नन्द और यशोदा के नहीं, वसुदेव और देवकी के पुत्र हैं और उन्हें इसका विश्वास कैसे हो गया ?"

"भाभी ! उद्धव आपसे बड़े हैं। आपको उनका इस प्रकार उपहास नहीं करना चाहिए।" अर्जुन से कहे बिना नहीं रहा गया।

"अरे इस सत्या ने आज तक किसी का सम्मान किया है कि मेरा करेगी।" उद्धव के स्वर में तनिक भी विरोध नहीं था, "यह अपने शैशव से मुझे भकुआ ही मानती आई है, और वही मानती रहेगी।"

"नहीं उद्धव महाराज !" सत्यभामा ने हँसकर कहा, "अब यदि मैंने आपको 'भैया' अथवा 'आर्य उद्धव' कहकर संबोधित करना आरंभ किया तो आपको विश्वास ही नहीं होगा कि मैं आपको बुला रही हूँ। आप अपने आस-पास देखने लगेंगे कि मैं किसे पुकार रही हूँ।"

"मैं संबोधन की बात नहीं कर रहा।" उद्धव ने कहा।

"मैं जानती हूँ कि आप संबोधन की नहीं, भावना की बात कर रहे हैं। मैं भी भावना के ही विषय में कह रही हूँ। मैं आपका बहुत सम्मान करती हूँ। आपकी दार्शनिक मुद्रा देखते ही मेरे मन में सम्मान के सहस्रों उत्स फूटने लगते है..."

"सत्या !" रुक्मिणी ने उसे टोक दिया,"उद्धव का प्रश्न तो गंभीर है। तुम बताओ, श्यामसुंदर को कब ज्ञात हुआ कि वे यशोदा मैया के नहीं माता देवकी के पुत्र हैं ? मैं तो स्वयं चकित हूँ कि मेरे मन में आज तक यह प्रश्न क्यों नहीं उपजा।"

अर्जुन ने स्पष्ट देखा कि रुक्मिणी की गंभीरता का प्रभाव सब पर पड़ा। प्रायः सबका ही ध्यान सत्यभामा के परिहास से हटकर उद्धव की गंभीर जिज्ञासा में जा अटका था।

"मुझे भी लगने लगा है कि उद्धव की जिज्ञासा अत्यंत महत्त्वपूर्ण और मौलिक है।" अर्जुन अनायास ही उस संवाद में सम्मिलित हो गया, "यह सत्य है कि कृष्ण का जन्म कारागार में हुआ। यह भी सत्य है कि मातुल किसी प्रकार अपने नवजात पुत्र को छिपा कर नन्दगोप को सौंप आए। मैंने सुना है कि यह कार्य कुछ इतनी गोपनीयता से हुआ था कि स्वयं यशोदा को भी यह पता नहीं चला कि कब उसकी नवजात पुत्री को वहाँ से उठाकर उसके स्थान पर शिशु कृष्ण को लेटा दिया गया।"

"मैंने तो सुना है कि यशोदा को पता ही नहीं था कि उसने एक कन्या को जन्म दिया है।" सात्यकि ने कहा।

"संभव है कि उसने निद्रा में प्रसव किया हो और सोई की,सोई रह गई हो।" सत्यभामा बोली।

"तुम जानती हो भाभी ! यह संभव नहीं है। निद्रा में प्रसव हो जाए तो प्रसव वेदना का क्या अर्थ है।" अर्जुन बोला, "एक प्रकार से यह संभव हो भी सकता है; किंतु उसके लिए हमें मानना पड़ेगा कि प्रसव काल में, अथवा उसके तत्काल पश्चात् ही यशोदा अचेत हो गई और वे जान भी नहीं पाई कि उन्होंने पुत्र को जन्म दिया है अथवा पुत्री को।"

"प्रसव के समय उनके पास कोई दायी तथा परिवार की वृद्धाएँ भी तो होंगी। वे तो अचेत नहीं हो गई थीं। उन्हें तो ज्ञात होना चाहिए था कि यशोदा ने एक कन्या को जन्म दिया है।" रुक्मिणी ने बलपूर्वक कहा, "ऐसी स्थिति में उनके माध्यम से सारे गोकुल में यह समाचार प्रसारित हो गया होता कि श्यामसुंदर यशोदा के पुत्र नहीं हैं।"

"तो हम मान लेते हैं कि यशोदा को यह ज्ञात था कि उन्होंने एक कन्या को जन्म दिया था···" सात्यकि ने कहना चाहा।

"यदि यशोदा को ज्ञात था तो प्रसव के समय उपस्थित दो-एक महिलाओं को भी ज्ञात ही होगा कि जन्म लेनेवाली कन्या थी। ऐसे में गोकुल में यह रहस्य, रहस्य नहीं रह सकता था कि कृष्ण, यशोदा के पुत्र नहीं हैं।" उद्धव ने कहा।

"तो ?"

"तो इस पूरे दृश्य की हमें अपने ढंग से कल्पना करनी पड़ेगी।" उद्धव ने कहा।

"कैसी कल्पना ?" अर्जुन ने पूछा।

"मैं कल्पना करता हूँ कि नन्द के घर में नन्द तथा यशोदा के अतिरिक्त और कोई तीसरा प्राणी नहीं था। कोई कर्मकर अथवा दासी भी नहीं।"

"इसका क्या अर्थ ? 'सत्यभामा' ने कहा, "गोपों का मुखिया और इतना संपन्न गोप। फिर भी उनके घर में कोई दास-दासी और कर्मकर नहीं ?"

"इसका प्रमाण है कि घर और गोशाला का सारा कार्य नन्द और यशोदा स्वयं ही करते थे। गौवों को चराने के लिए भी बालपन से ही बलराम और कृष्ण को जाना पड़ता था। यदि कुछ चरवाहे रहे भी होंगे तो वे उस समय अपने घर अथवा नंद की गोशाला में रहे होंगे।"

"वासुदेव बलराम को भी गौवें चराने जाना पड़ता था।" सत्यभामा ने कहा।

"क्षमा करें देवि !" उद्धव ने उसे चिढ़ाया, "बलराम वृंदावन में नंद के पुत्र के रूप में नहीं, वसुदेव-पत्नी रोहिणी के पुत्र के रूप में रह रहे थे।"

"तो उससे क्या हुआ ? क्या वे गौवें चराने नहीं जा सकते थे अथवा वे जाते नहीं रहे ?" सत्यभामा उग्र स्वर में बोली।

"उससे यह हुआ कि वे अपना गोधन ले जाते थे, नंद का नहीं। तुम्हारे भय से भी नहीं।"

"तो उससे क्या हुआ।" सत्यभामा चिढ़कर बोली, "जाते तो वे श्यामसुंदर के साथ ही थे न।"

"जाते तो श्यामसुंदर के साथ ही थे।" उद्धव बोले, "किंतु इस समय प्रश्न नंद के घर में किसी कर्मकर के होने अथवा न होने का है, कृष्ण और बलराम के साथ जाने का नहीं। ठीक है ?"

"ठीक है।" सब सहमत थे।

सत्यभामा को उद्धव के सम्मुख इस प्रकार अवाक् रह जाना बहुत खल रहा था;

किंतु इस समय और कोई विकल्प नहीं था।

"नन्द को यह ज्ञात नहीं था कि यशोदा का प्रसव इतना निकट है।" उद्धव ने बात आगे बढ़ाई।

"क्यों ?" सत्यभामा ने पुनः उसे टोक दिया। उसे यह अवसर अपने बहुत अनुकूल लग रहा था, "वे इतने अज्ञानी नहीं हो सकते।"

"मैं समझता हूँ कि यह यशोदा का पहला ही प्रसव था। उनकी और किसी संतान की कोई चर्चा मैंने अब तक नहीं सुनी है। अतः नन्द और यशोदा दोनों ही अनुभवहीन और संकोची रहे होंगे। वैसे भी नन्द-यशोदा कोई राजन्य संस्कृति के लोग तो थे नहीं कि पहले से वैद्यों और दायियों से चर्चा करते रहते। वे साधारण जन थे और प्रसव को भी जीवन की अन्य सामान्य प्रक्रियाओं के समान ही एक सामान्य प्रक्रिया मानते थे। वैसे भी कई बार किन्हीं ज्ञात अथवा अज्ञात कारणों से प्रसव अपेक्षित समय से पहले हो जाता है। अतः हम मान लें कि उस रात्रि के लिए दायी इत्यादि का कोई प्रबंध नहीं किया गया होगा। घर में कोई कुल वृद्धा भी नहीं बुलवाई गई होगी।"

"मान लिया। अब आगे चलो।" सत्यभामा ने कहा।

उद्धव ने थोड़ी देर तक मौन रहकर कहना आरंभ किया।

भाद्र मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी का दिन था। प्रातः से ही आकाश पर मेघ कुछ इस प्रकार मँडरा रहे थे, जैसे आज सूर्य को उदित ही नहीं होने देंगे। नंद समझ रहे थे कि वर्षा होने के लक्षण थे। वर्षा होगी और जोर की होगी। भाद्र मास की वर्षा थी। झड़ी लग जाए तो चाहे तीन दिन तक न रुके। चरवाहों को प्रातः ही कह दिया था कि समय से घर लौट आएँ। वर्षा होने लगे तो गौवों के साथ बाहर न रहें।

मध्याह्न तक कुछ बूँदाबाँदी भी हो गई थी। संध्या समय तक नियमित वर्षा आरंभ हो गई। नंद प्रसन्न थे कि गौवें समय से गोशाला में लौट आई थीं; नहीं तो ध्यान उधर ही लगा रहता। इधर यशोदा भी अब उतनी भाग दौड़ नहीं कर सकती थीं। अपनी इस अवस्था में उन्हें भाग दौड़ करनी भी नहीं चाहिए थी। उनका अपनी इस अवस्था में वर्षा में भीगना भी अच्छा नहीं था। ठीक है, समय से सारा काम हो गया। वे लोग निश्चिंत भाव से सो सकते थे। वर्षा होती है तो होती रहे।

आधी रात को अकस्मात् ही यशोदा को लगा कि प्रसव वेदना आरंभ हो गई है। उन्होंने इस वेदना के विषय में कुलवृद्धाओं से भी सुना था और अपनी सखियों से भी; किंतु उन्होंने यह कल्पना भी नहीं की थी कि वह इतनी भयावह हो गी। यह तो मृत्यु के गर्भ से जन्म के उदित होने जैसा था···

यशोदा के कराहने के शब्द से नंद की नींद टूटी।

"क्या बात है ?"

"मैं मर जाऊँगी।" यशोदा ने अपने दांत भींचे।

नन्द ने उनके चेहरे को देखा : अत्यंत धैर्यवान यशोदा पीड़ा के आरंभ में ही ऐसी निढाल हो जाएँगी, यह उनकी कल्पना में भी नहीं था।

"किसी को बुलाऊँ ?" नन्द ने पूछा।

"कोई आ कर मेरे स्थान पर प्रसव कर देगा, अथवा प्रसव मैं करूँगी और पीड़ा कोई और झेलेगा ?"

"जब यह सब जानती हो तो यह क्यों कहती हो कि मर जाओगी। तुम मर जाओगी तो प्रसव कोई और करेगा क्या ?" नन्द ने अपने परिहास से उनका कष्ट कुछ कम करने का प्रयत्न किया।

यशोदा ने हँसने का प्रयत्न किया; किंतु हँस नहीं सकीं। पीड़ा की ऐसी लहर उठी कि उन्होंने अपने ही दाँतों से अपने अधर काट लिए। उनके अधरों पर रक्त देख कर नन्द घबरा गए।

"मैं सोचता हूँ, किसी को बुला ही लूँ।" वे धीरे से बोले।

"सोचते ही रहोगे या कुछ करोगे भी ?" यशोदा ने बड़ी कठिनाई से कहा।

नन्द को उनके स्वर में अपने लिए भर्त्सना की ध्वनि सुनाई पड़ी। यशोदा सचमुच बहुत कष्ट में थीं और वे बहुत दक्ष प्रबंधक नहीं थे। कोई और होता तो पहले से ही सब कुछ सोच-समझ कर रखता। कह-सुन रखा होता तो वे अब तक झपटकर वैद्य अथवा दायी को ले ही आए होते। पर वे क्या जानते थे कि यह आज ही होना है। सोने के समय तक तो कोई लक्षण ही नहीं था। यह भी उनकी कल्पना में नहीं था कि स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट यशोदा को प्रसव में इस प्रकार का कोई कष्ट होगा; और उन्हें वैद्यों तथा दायियों की आवश्यकता पड़ेगी। साधारण स्त्रियाँ भी कुछ पीड़ा सह कर, कुछ हाथ-पैर पटककर, थोड़ा-सा चीत्कार कर, संतान को जन्म दे ही लेती हैं।...

पर इस समय यशोदा कुछ अधिक ही कष्ट में दिखाई दे रही थीं। नंद को वैद्य और दायी, दोनों को ही बुला लेना चाहिए। वे जो भी सहायता कर सकें, करें।... पर यशोदा को अकेली कैसे छोड़ जाएँ ? पीछे कोई तो हो, जो आवश्यकता होने पर उन्हें एक घूँट पानी पिला सके। ऐसा न हो कि अकेली यशोदा वेदना में पर्यंक से मारकर अपना सिर ही फोड़ लें। यह उनके लिए भी घातक होगा और जन्म लेनेवाली संतान के लिए भी।

तो नंद, वृद्धा लक्ष्मी को ही उसकी कुटिया से बुला लें। वह दायी नहीं है। शायद कुछ विशेष कर भी न सके, पर यशोदा के पास बैठ तो सकती ही है। उनकी पीड़ा न भी हर सके, उनके हाथ-पैर सहला कर, उन्हें थोड़ी सांत्वना तो दे सकती है। आवश्यकता पड़ने पर उनकी छोटी-मोटी सहायता कर सकती है।...

यशोदा को लग रहा था कि उनकी ऊर्जा कम होती जा रही है और उनका कष्ट बढ़ता जा रहा है। वे यह सहन नहीं कर पाएँगी।... उनका हृदय जैसे डूबने लगा

था...शरीर स्वेद से नहाने लगा था··· लगता था वे ठंडी पड़ती जा रही थीं।···

"यशोदा ! मैं लक्ष्मी को बुलाने जा रहा हूँ।···"

यशोदा ने नन्द की ओर एक अवश और दीन दृष्टि से देखा और असाधारण रूप से क्षीण स्वर में कहा, "मत जाओ।... तुम्हारे लौटने तक मैं कदाचित् मर ही जाऊँगी। अंतिम समय में मुझे इस प्रकार अकेली मत छोड़ो।···"

बाहर आकाश पर चपला जोर से चमकी और मेघों का भयंकर गर्जन हुआ।

नन्द ने सब कुछ देखा और सुना, किंतु उसका अनुभव तनिक भी नहीं किया। उनकी ज्ञानेन्द्रियाँ जैसे निस्पंद हो गई थीं ···यशोदा का स्वर डूब रहा था। कहीं सत्य ही तो कोई अनिष्ट नहीं होनेवाला। प्रसव में स्त्रियों के प्राण भी चले जाते हैं।···नहीं चाहिए उन्हें ऐसी संतान। उन्हें अपनी यशोदा का जीवन चाहिए ··

वे द्वार की ओर झपटे किंतु सहसा उनके पग रुक गए। यशोदा अभी जीवित है। लौटेंगे और वे उनको छोड़कर जा चुकी हुई तो ?··· वे ठीक ही तो कह रही हैं, अंतिम समय में उन्हें उनके पास होना चाहिए। और कुछ नहीं भी कर सकेंगे तो उनका हाथ थामे बैठे रहेंगे। उनके शरीर की पीड़ा का हरण नहीं कर सकेंगे तो भी उसकी आत्मा पर बोझ तो नहीं रहेगा।

पर क्या वे अपनी पत्नी को क्रमशः मृत्यु के मुख में जाते हुए चुपचाप देखते रहें, और कुछ न करें ? उनका हाथ थामने भर से नंद के प्रयत्नों की इतिश्री हो जाएगी ?··· यशोदा तो प्रायः अचेत हो चुकी थीं। उन्हें तो यह भी पता नहीं चलेगा कि कोई उनके पास है भी या नहीं।···

उन्होंने कक्ष के कपाट खोले। वरांडे में पानी की भयंकर बौछार थी, जैसे इंद्र का ऐरावत अपने विशाल सूँड़ में सारा सागर भर कर राक्षसी क्रोध से उसे उनके द्वार पर ही बरसा रहा हो। नहीं, वह जल बरसा नहीं रहा था। वह तो जैसे जल पटक रहा था। शरीर पर वर्षा की बूँद नहीं पड़ती थी, कशा का आघात होता था। जल की बूँदें किसी का अंग-भंग भी कर सकती हैं, यह नन्द को आज ही समझ में आया था··· पर वे वर्षा से डर कर घर में ही नहीं बैठे रह सकते थे।··· वे वरांडे को पार कर ड्योढ़ी में आए। बाहरी कपाट खोले तो वे स्तब्ध खड़े रह गए··· आकाश से ऐरावत ही पानी नहीं बरसा रहा था। यमुना भी जैसे उनके द्वार पर ही आ गई थी। भवन के सामने का सारा क्षेत्र जल में डूब चुका था। गोशाला में भी पानी भर गया था। जाने गौवों की क्या स्थिति थी... उनका भवन पर्याप्त ऊँचाई पर था। उन्हें स्मरण नहीं आता कि आज तक यमुना ने अपनी मर्यादा कभी इस प्रकार भंग की हो। प्लावन की स्थिति में भी वह अपनी वेला की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करती थी। तो आज ऐसा क्या हो गया···

हाथ का दीपक बुझने-बुझने को हो रहा था। नन्द ने अपना पग आगे बढ़ाया। पानी गहरा था। पहले ही डग में पानी उनके घुटनों तक आ गया था।···जाने अगले

डग में वह कहाँ तक पहुँचे।

और तव नन्द की दृष्टि पानी में तैरते एक सर्प पर पड़ी। उनके पैर लौटकर अपने भवन की देहरी पर आ गए।···उन्होंने मुड़कर देखा··· वह सर्प अव दिखाई नहीं पड रहा था। पता नहीं वह पानी के प्रवाह के साथ ही कहीं वह गया था, अथवा उनको भयभीत कर अपनी विल में लौट गया था···। विल में तो क्या लौटा होगा। उसकी विल में भी तो पानी भर गया होगा। तभी तो वह वहाँ से निकलकर किसी आश्रय की खोज में उनके द्वार तक आया होगा।··· तभी उन्हें फिर से एक सर्प दिखाई दिया। पता नहीं, यह वही था अथवा कोई और। कैसी स्फूर्ति से उनको दंश मारने के लिए आगे वढ़ रहा था··· अथवा नहीं··· कदाचित् वह अपने प्राण वचाने के लिए हाथ-पैर मार रहा था···।

नंद का हृदय काँप गया। जाने कालिय नाग की कितनी संतानें इस समय मृत्यु की संदेशवाहक बनकर चारों ओर फैल गई थीं। अभी यमुना का जल उनके द्वार के वाहर ही था। संभव है थोड़ी देर में, यह उनके आँगन में भी प्रवेश कर जाए। वाढ़ के पानी के लिए कुछ भी संभव था। वर्षा तो अभी हो ही रही थी।···

नन्द लौट कर अपने कक्ष में यशोदा के पास आ गए।··· वे वाहर नहीं जा सकते थे।··· नहीं जा सकते थे ? और अपनी पत्नी को किसी वैद्य की सहायता के अभाव में मरते हुए देख सकते थे ?··· वे चलकर नहीं जा सकते थे, तो तैरकर तो जा सकते थे।··· हॉ ! वे तैरकर जा सकते थे ; पर वैद्य अथवा दायी को तैराकर ला तो नहीं सकते थे। उनकी नौका यमुना तट पर थी। घर में होती तो वे वैद्य को मथुरा से नाव में ला सकते थे।··· वैद्य इस प्रलय जैसे प्लावन और वर्पा में उनके साथ नाव में आ जाता ? मथुरा का वैद्य ? वैद्य की पत्नी नंद को ही जल में न डुवो देती।···

सहसा यशोदा के शरीर में कंपन हुआ। वे मानो अपनी अचेतावस्था में ऐंठीं और कराहीं। नंद ने देखा···प्रसव हो रहा था। उनकी संतान जन्म ले रही थी।···

वे आगे वढ़ आए। ऐसे में वे यशोदा की क्या सहायता कर सकते थे ?

उन्होंने वरवस ही संतान को अपने हाथों में उठा लिया। यशोदा कदाचित् पूर्णतः अचेत हो चुकी थीं। उन्हें पता भी नहीं लगा था कि उन्होंने एक संतान को जन्म दिया है।···

नंद ने नवजात शिशु की ओर देखा। वह एक अत्यंत दुर्वल-सी कन्या थी। वह जीवित थी; किंतु शरीर में किसी प्रकार की कोई गतिविधि नहीं थी।··· क्या वह जीवित रह पाएगी ? और यशोदा ? उन्होंने यशोदा की नाड़ी देखी। नहीं ! नाड़ी तो चल रही थी। हृदय के स्पंदन का भी प्रमाण था। वे अभी जीवित थीं। माँ और पुत्री—दोनों ही जीवित थीं। पर क्या दोनों जीवित रह पाएँगी ? उन्हें तो दोनों में से एक के भी जीवित रहने के लक्षण नहीं लग रहे थे।···

तो क्या करें वे ? अपनी पुत्री को अपने हाथों में लिए खड़े रहें और पत्नी और

पुत्री को मृत्यु से संघर्ष करते हुए देखते रहें ?···

तभी बाहर किसी ने जोर से कपाट थपथपाए। साँकल बजाया और बजाता ही चला गया। साँकल इस प्रकार बजाया गया था कि मेघों के गर्जन और वर्षा के फूत्कार के होते हुए भी वे स्पष्ट सुन रहे थे कि कोई साँकल बजा रहा था।···इस वर्षा और बाढ़ में आधी रात को यह कौन आ गया ?

नंद स्वयं बाहर जा नहीं पाए थे और किसी के बाहर से आने की वे कल्पना भी नहीं कर पा रहे थे और यहाँ कोई उनके द्वार पर आ, उनके कपाट थपथपा रहा था, साँकल बजा रहा था। कहीं ये सारी ध्वनियाँ यमुना के जल से ही तो उत्पन्न नहीं हो रहीं। स्वयं यमुना ही तो उनका कपाट नहीं थपथपा रही ?

उन्होंने कन्या को यशोदा के निकट लेटा दिया। कन्या ने न तो एक बार अपनी आँखें खोली थीं और न ही एक बार वह रोई ही थी।

वे द्वार की ओर बढ़ रहे थे और किसी आतुर हाथ द्वारा कपाटों का थपथपाया जाना और साँकल का निर्ममतापूर्वक बजाया जाना निरंतर सुन रहे थे। लगता था कि साँकल की मार से कपाट ही टूट जाएँगे।

"रुक जाओ।" उन्होंने साँकल खोलते हुए कहा।

"नंद, द्वार खोलो।" किसी अत्यंत व्याकुल कंठ ने अधैर्य से कहा।

नंद स्वर तो नहीं पहचान पाए किंतु उस स्वर की पीड़ा ने उन्हें अपना परिचय दे दिया था। उनका अपना मन निरंतर पूछ रहा था कि अपनी ऐसी विकट स्थिति में भी जब वे घर से बाहर नहीं निकल पाए हैं तो यह कौन और कैसा दुखियारा है जो उनके द्वार तक आ पहुँचा है ?

कपाट खुले तो देखा : उनके सम्मुख वसुदेव खड़े थे।

लंबे ऊँचे बलिष्ठ वसुदेव। अस्तव्यस्त केश और श्मश्रु, जल से भीगे हुए। उनके सिर पर एक मंजूषा थी। वे अत्यंत निढाल दीख रहे थे। इतने कि नंद स्वयं को एकदम भूल कर उनको सहारा देने को उनकी ओर बढ़े।

"मैं ठीक हूँ।" वसुदेव बोले, "बहुत थक गया हूँ।"

जल के थपेड़ों के समान नंद के मन में प्रश्नों के भी थपेड़े थे। वे कल्पना ही नहीं कर सकते थे कि इस समय कोई यमुना को तैर कर और वर्षा को झेल कर उनके घर तक पहुँच जाएगा।··· और फिर वह भी कौन ? स्वयं वसुदेव। वृष्णिवंश के स्वामी वसुदेव। उनसे मित्रों के समान स्नेह रखनेवाले वसुदेव। कंस के कारागार में बंदी वसुदेव।···

"आप ? आप कारागार से कब छूटे ?"

"भीतर चलो।" वसुदेव बोले, "इस समय घर में कौन-कौन है ?"

"मैं हूँ। यशोदा है। पता नहीं यशोदा भी है या नहीं। एक छोटी बच्ची···।" नंद, वसुदेव को सहारा दिए हुए, जितनी जल्दी हो सकता था, भीतर लिए जा रहे थे।

"अच्छा है कि कोई नहीं है।" वसुदेव बोले, "सुनो नंद ! समय बहुत कम है। देवकी ने अपनी आठवीं संतान को जन्म दिया है।" वे लोग वराण्डे में आ गए थे, "वह संतान, जिसकी हम प्रतीक्षा कर रहे थे।" वसुदेव ने अपने सिर से मंजूषा उतारी।

मंजूषा का ढक्कन खुला और नंद की दृष्टि जैसे चिपककर रह गई। मंजूषा में लेटा शिशु आकर्षक और मनोहर ही नहीं, इतना सजीव था कि दृष्टि उस पर से हटती ही नहीं थी। वह किसी नवजात शिशु के समान आँखें मूँदे शांत नहीं पड़ा था। वह तो अपने चंचल नेत्रों से उनकी ओर देखकर अत्यंत नटखट ढंग से मुस्करा रहा था, जैसे कह रहा हो, 'देखो, कैसा छकाया।' ऐसा लग ही नहीं रहा था कि एक नवजात शिशु इस जलप्लावन में वर्षा और झंझावात को झेलकर यमुना को पारकर मथुरा से यहॉ तक की यात्रा कर आया था।

नंद को लगा कि उनके मन की सारी उद्विग्नता जाती रही है।

"पर आप यहाँ आ कैसे गए ?" नंद अपनी जिज्ञासा रोक नहीं पाए।

"वह सब बताने का समय नहीं है। मुझे तत्काल वापस लौटना है।" वसुदेव बोले, "ध्यान से सुनो। इस शिशु की रक्षा करनी होगी। इसे जीवित रहना ही है; क्योंकि इसके जीवित रहने पर ही मेरा, तुम्हारा और अनेक लोगों का जीवन निर्भर करता है। इसे मेरा नहीं, अपना पुत्र बनाकर इसका पालन करना, ताकि कंस को यह ज्ञात न हो सके कि यह देवकी का पुत्र है। उसे ज्ञात हुआ कि यह देवकीपुत्र है, तो न यह बचेगा, न मैं, और न तुम। इसे बलराम और रोहिणी से भी दूर ही रखना। यह तुम्हारा और यशोदा का पुत्र है।...स्वयं इसे भी मालूम न हो कि यह तुम्हारा पुत्र नहीं है।" सहसा वे रुके, "यशोदा कहाँ है ?"

नंद ने हाथ बढ़ाकर शिशु को अपनी भुजाओं में उठा लिया। उनके सारे शरीर में जैसे विद्युत की लहर दौड़ गई। ऐसी आनन्ददायक सिहरन का अनुभव उन्होंने कभी नहीं किया था।

"आइए।" वे वसुदेव को अपने कक्ष में ले आए।

वसुदेव ने देखा : यशोदा अचेत पड़ी थी और उसके साथ ही एक नवजात शिशु लेटा था। संभवतः अभी-अभी ही प्रसव हुआ था। शिशु को अभी नहलाया भी नहीं गया था।

वसुदेव ने पलटकर नंद की ओर देखा।

"हाँ ! अभी प्रसव हुआ है। इस जलप्लावन में किसी वैद्य को कहाँ से लाता। यशोदा अचेत हो गई है और यह बच्ची तो कदाचित् जीवित ही नहीं है। है भी तो इसके अधिक देर तक जीवित रहने के लक्षण नहीं हैं।"

"यह तो बहुत ही सुंदर संयोग है कि यशोदा ने भी अभी ही संतान को जन्म दिया है।" वसुदेव बोले, "तुम प्रातः लोगों को बता सकते हो कि यशोदा ने जुड़वाँ बच्चों को जन्म दिया है। किसी को किसी प्रकार का कोई संदेह नहीं होगा।"

"कन्या तो कदाचित् जीवित ही नहीं है।" नंद बोले।

वसुदेव ने आगे बढ़कर कन्या को देखा। उसका स्पर्श किया। उसका श्वास देखा। उसकी नाड़ी देखी।

"संभव है कि अभी जीवित हो। पर हाँ ! बहुत देर जीवित नहीं रहेगी।" वसुदेव बोले, "और यशोदा को तो स्वस्थ होना ही होगा, नहीं तो कृष्ण को कौन पालेगा।"

"कृष्ण कौन ?" नंद ने पूछा।

वसुदेव ने अपने बालक की ओर संकेत किया, "काला भी है और आकर्षक भी। इसी से इसका नाम कृष्ण रख दिया है।"

नंद ने बालक को यशोदा के पास लेटा दिया। कन्या को उठाकर वसुदेव की ओर बढ़ाया, "इसे आप ले जाइए, वृष्णिश्रेष्ठ !"

"क्यों ?" वसुदेव चकित थे।

"आप कंस के कारागार में लौटेंगे। कंस को समाचार मिलेगा कि देवकी भाभी ने आठवीं संतान को जन्म दिया है। वह नवजात शिशु के विषय में पूछेगा। आप पिछली बार के समान यह तो नहीं कह सकेंगे कि गर्भपात हो गया है। गर्भपात का भी तो प्रमाण देना होगा। यह कन्या आपके पास होनी चाहिए। उसे दिखा दीजिएगा कि महादेवी ने इस कन्या को जन्म दिया है।" नंद बोले।

"वह इसे मार डालेगा।" वसुदेव बोले।

"उसे आपका नवजात शिशु नहीं मिला तो वह आपको और भाभी को मार डालेगा। इतने पर ही संतुष्ट होकर शांत नहीं बैठ जाएगा वह। वह आपके पुत्र की खोज करेगा। खोजेगा तो पा भी लेगा।" नंद बोले, "और यह कन्या यहाँ रह भी गई तो कदाचित् ही जीवित रह पाए। यह तो अभी से मृतप्राय लग रही है। ले जाइए आर्य ! इसके जीवित रहने की बहुत संभावना नहीं है। इसका शरीर यदि आपको, कृष्ण को और मुझे बचा लेता है, तो इसने अपने जन्म का उद्देश्य पूर्ण किया।"

"पर यह यशोदा की संतान है। उसे पूछे बिना तुम इसे मुझे कैसे दे रहे हो ?"

"यशोदा तो स्वयं भी बचेगी अथवा नहीं, पता नहीं। बच गई तो इस दुर्बल मृतप्राय कन्या का पालन कर पाएगी या नहीं, मालूम नहीं। यह यहाँ मर जाएगी और इसके मोह में हम सब मारे जाएँगे। आप इसे ले जाइए। प्रभु इसे जीवित रखना चाहेगा तो वहाँ भी जीवित रख लेगा।" नंद ने कन्या वसुदेव की मंजूषा में लेटा दी, "और यदि इसके बलिदान से ही मथुरा की रक्षा होनी है, तो वही हो।"

"मैं चलता हूँ।" सहसा वसुदेव बोले, "इससे पहले कि वर्षा रुक जाए और कंस के प्रहरी कारागार में लौट आएँ। मुझे वापस पहुँच जाना चाहिए।"

"पर आप इस जलप्लावन में लौटेंगे कैसे ?" नंद ने कहा, "थोड़ी देर रुक जाइए। वर्षा का बल कुछ कम हो तो चले जाइएगा।"

"नहीं। यह जल ही मेरा कवच है। यही मुझे यहाँ ले आया है और यही ले

जाएगा।"

"पर आप कारागार से निकल कैसे आए ?" नंद के मुख से अनायास ही निकल गया, "प्रहरियों ने आपको आने कैसे दिया ?"

वसुदेव वहुत जल्दी में थे, फिर भी नंद के प्रश्न का उत्तर देने के लिए वे रुक गए, "मथुरा में भी भयंकर वर्षा हो रही है। यमुना में अभूतपूर्व वाढ़ आई है। साधारण पथों और वीथियों में ही नहीं, प्रासादों और अट्टालिकाओं में भी यमुना का जल घुस गया है। जल के साथ सर्प और भयंकर जीव-जंतु स्थान-स्थान पर तैरते दिखाई दे रहे हैं। इस समय यमुना कंस से भी अधिक भयंकर हो गई है। कारागार के प्रहरी अपने परिवारजनों की सुरक्षा के लिए चिंतित हो कर भाग गए हैं। पता नहीं वे जान-बूझ कर कारागार के द्वार खुले छोड़ गए अथवा घवराहट में उन्हें ताले लगाने का ध्यान नहीं रहा। ..."

वसुदेव बाहर निकल आए। उन्होंने सँभाल कर मंजूषा को सिर पर रख लिया।

"अरे इसे सिर पर क्यों उठाते हैं। यह मेरी कन्या है। आपके सिर पर पैर धरे, यह उचित नहीं है।" नंद बोले।

"कन्या तो देवी होती है, पुत्री वह किसी की भी हो।" वसुदेव ने कहा, "वैसे भी कृष्ण को मैं ऐसे ही लाया था। इसे भी ऐसे ही ले जाऊँगा।"

"मार्ग में इस पर वर्षा की बौछार पड़ेगी।" नंद बोले।

"सिर पर नहीं उठाऊँगा तो इसे यमुना का जल बहाकर ले जाएगा।" वसुदेव वोले, "वह वर्षा से अधिक हानिकारक है। मंजूषा का ढक्कन जितना बचा सकेगा, इसे वचाएगा।"

वसुदेव बाहर निकल आए।

नंद देख रहे थे कि वसुदेव को वर्षा की कोई चिंता नहीं थी। वे तो ऐसे चल रहे थे, जैसे वर्षा हो ही न रही हो। वे क्षिप्र गति से चलते हुए वाहरी द्वार तक आए। उन्होंने इतनी भी प्रतीक्षा नहीं की कि नंद आकर बाहर का कपाट खोलें। उन्होंने स्वयं कपाट खोले और निर्द्वन्द्व भाव से बढ़ी हुई यमुना के जल में उतर गए। उनका एक हाथ अपने सिर पर रखी मंजूषा को सँभाले हुए था, और दूसरे से वे जल को हटाने का प्रयत्न कर रहे थे। नंद समझ नहीं प. रहे थे कि वसुदेव पानी में चल रहे थे अथवा तैर रहे थे।

वे अपने इस मित्र को निहारते रहे। कितना कष्ट सहा है इस वसुदेव और उनकी पत्नी देवकी ने। वर्षो हो गए कंस के अत्याचार सहते हुए... और आज कैसा दुस्साहस किया है वसुदेव ने। न कंस से डरे और न प्रकृति से...

सहसा उन्होंने देखा कि वसुदेव अकस्मात् ही जैसे जल के भीतर चले गए, अथवा जल की कोई लहर ऊँची उठ गई। वसुदेव के शरीर का कोई अंग दिखाई नहीं दे रहा था; किंतु मंजूषा अव भी जल के ऊपर दिखाई दे रही थी। उसे उन्होंने जल से ऊपर

ही रखा था।

वसुदेव जैसा योद्धा भी संसार में कभी-कभी ही उत्पन्न होता है--नंद ने सोचा।

वे भीतर चले आए। यशोदा की स्थिति कुछ विशेष सुधरी नहीं थी। यदि यशोदा की इस स्थिति में उसे यह बताया जाएगा कि उसने एक मृत अथवा मृतप्राय कन्या को जन्म दिया था तो उसे क्या प्रसन्नता होगी। अब यदि उसकी चेतना लौटेगी तो वह कृष्ण को देखेगी। कृष्ण की एक मुस्कान उसका सारा श्रम हर लेगी।

यदि यशोदा को दोनों नवजात शिशु दिए जाते और उसे यह ज्ञात हो जाता कि कृष्ण उसका अपना पुत्र नहीं है, तो क्या वह अपनी पुत्री के रहते हुए, मन से कृष्ण का पालन-पोषण कर पाती। उसके भाग्य में कृष्ण को जन्म देना तो नहीं लिखा था; किंतु उसका पालन-पोषण लिखा था। कृष्ण का पालन-पोषण।···तो वह उसी को पाले।

उद्धव मौन हो गए।

"कथा तो तुम अद्भुत कहते हो उद्धव महाराज !" रुक्मिणी ने कहा, "किंतु यह भी तो संभव है कि ये बातें उन दोनों में पहले से ही निश्चित हों, इसीलिए तात श्यामसुंदर को लेकर वहाँ पहुँचे हों।"

"पहले ही निश्चित हुई होंगी। वहाँ बलराम जो पल रहे थे।" सात्यकि बोला।

"मैं तो समझती थी कि तुम कोरे दार्शनिक ही हो उद्धव ! किंतु तुम तो अद्भुत कथाकार भी हो। तुम घटनाओं को कैसे सजीव और तर्कसंगत बना देते हो।" रुक्मिणी पुनः बोलीं। उनके स्वर में पूर्ण मुग्धता का भाव था।

"तो हम यह मान लें कि यशोदा को पता ही नहीं था कि कृष्ण उनके पुत्र नहीं हैं।" अर्जुन ने कहा, "केवल नंद ही इस रहस्य को जानते थे।"

"ठीक।" उद्धव ने कहा, "इसीलिए यह रहस्य अंत तक रहस्य ही बना रहा और गोकुल और वृंदावन में कोई भी नहीं जान पाया कि कृष्ण किसके पुत्र हैं। दूसरी ओर वसुदेव काका ही जानते थे कि कृष्ण, नन्द के घर में पल रहे हैं।..."

"क्यों ? क्या उन्होंने माता को भी नहीं बताया होगा कि वे पुत्र को कहाँ छोड़ कर आए हैं ?" रुक्मिणी ने पूछा, "अथवा माता ने पूछा नहीं होगा कि श्यामसुंदर कहाँ हैं ?"

"तो मान लीजिए कि उन दोनों को ही ज्ञात था और किसी को नहीं।" उद्धव ने जैसे संशोधन स्वीकार किया, "तो फिर कृष्ण को किसने बताया और कब बताया कि वे नंद-यशोदा के पुत्र नहीं हैं।"

"सीधी-सी और बड़ी छोटी-सी बात है, जिसका उद्धव महाराज बतंगड़ बना रहे

हैं।" सत्यभामा बोली, "श्यामसुंदर तथा बलराम भैया को मथुरा लाने के लिए अक्रूर को कंस ने जब वृंदावन भेजा था तो उन्हें बता ही दिया होगा कि वे कौन हैं और अक्रूर ने ही श्यामसुंदर को बताया होगा कि वे वस्तुतः किसके पुत्र हैं।"

"द्वारका में सब लोग यही जानते हैं। सत्या भी वही जानती है।" उद्धव ने कहा, "किंतु प्रश्न यह है कि कंस को यह कैसे ज्ञात हुआ ? और जब अक्रूर ने कृष्ण को यह बताया तो उन्होंने उसका विश्वास कैसे कर लिया ? इस सत्या को अक्रूर बताए कि यह आर्य सत्राजित की पुत्री नहीं है तो यह मान लेगी क्या ?"

"कोई विश्वसनीय कारण होगा तो अवश्य मान लूंगी।" सत्यभामा बोली।

"कारण तो है न ! ऐसे धीर-गंभीर विद्वान् पुरुष की ऐसी पुत्री···"

जोर का एक सम्मिलित ठहाका गूँजा।

"इस बार उद्धव चमत्कार कर गए।" सात्यकि ने कहा,"सत्या भाभी ! अब झगड़ा मत करना।"

सत्यभामा सचमुच हतप्रभ रह गई। उसे उद्धव की ओर से ऐसे किसी प्रहार की आशा नहीं थी।

"कोई भी कह सकता है कि जब कंस ने नन्द-यशोदा की पुत्री को धरती पर पटका तो उसने योगमाया का रूप धारण कर लिया था और कंस से कहा था कि तुझे मारनेवाला जन्म ले चुका है और गोकुल में पल रहा है।" उद्धव पुनः कथा की ओर लौटे, "यही प्रचलित कथा है; किंतु मेरा तर्कशील मन इसको मानने को तैयार नहीं है।"

"क्यों ? क्या ऐसा नहीं हो सकता ?" रुक्मिणी ने पूछा।

"होने को तो कुछ भी हो सकता है, ईश्वर और प्रकृति के लिए कुछ भी असंभव नहीं है।" उद्धव ने कहा, "किंतु कृष्ण के स्थान के संबंध में स्वयं दैवी शक्तियों द्वारा इस प्रकार के प्रचार का कोई अर्थ नहीं है। फिर भी यदि हम मान लें कि प्रकृति अपने प्रकट नियमों के विरुद्ध आचरण नहीं करती तो हमें यह भी मान लेना चाहिए कि एक छोटी बच्ची को धरती पर पटकने पर वह देवी के रूप में प्रकट नहीं होती। फिर जिस कृष्ण की रक्षा के लिए वसुदेव काका ने इतना कष्ट सहा था, उसे पुनः संकट में डालने के लिए इस दैवी घटना, अर्थात् योगमाया की इस सूचना का क्या अर्थ ?"

"ठीक है उद्धव !" अर्जुन ने कहा, "यदि हम मान लें कि कंस को कृष्ण-जन्म तथा उनके पालन-पोषण के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं था, तो फिर कंस उनकी हत्या के लिए उन सारे हत्यारों को गोकुल कैसे भेजता रहा ?"

"मैं कोई त्रिकालदर्शी सिद्ध पुरुष नहीं हूँ कि तुम्हारे इन प्रश्नों का उत्तर दूँ; किंतु मेरा तर्क कहता है कि कंस ने वसुदेव काका के इन वक्तव्यों का कभी विश्वास नहीं किया कि देवकी काकी का सातवाँ गर्भ नष्ट हो गया था ; और उनकी आठवीं संतान एक कन्या ही थी।" उद्धव ने कहा, "कंस को किसी न किसी अनियमितता की सूचना अवश्य मिली होगी। संभव है कि उसके पास संदेह का कोई कारण हो···"

"उसे काका पर संदेह होता तो वह उनका वध करवा देता।" सात्यकि वोला, "उसे ऐसा करने से कौन रोक सकता था।"

"कोई चतुर प्रशासक अपने वंदी से भेद उगलवाए विना उसका वध नहीं करता।" उद्धव ने कहा, "वह उनका वध करवा देता तो उनका रहस्य उनके साथ ही चला जाता। इसलिए वह अपने अनुमानों पर ही चल रहा था। कंस के स्थान पर वैठ कर, उसके चिंतन में उतरकर देखो। वह मानता होगा कि काकी देवकी का आठवाँ पुत्र जीवित है। वह उस व्यक्ति के पास होगा, जिसे काका ने उसे सौंपा होगा। काका ने उसे अपने किसी परम विश्वसनीय व्यक्ति को ही सौंपा होगा। वह वहीं होगा, जहाँ वसुदेव काका के परम हितैपी लोग होंगे। और यह तो कंस भी जानता था कि नन्दगोप काका वसुदेव के परम निष्ठावान मित्र अथवा सहयोगी ही नहीं हैं; उनके निकट रह कर रोहिणी काकी वलराम का पालन-पोपण कर रही थीं। फिर गोकुल से नित्य ही कृष्ण के किसी न किसी चमत्कारी कृत्य की सूचना आ ही रही थी।"

"तो फिर उसने कृष्ण का वध क्यों नहीं करवा दिया ?" अर्जुन ने पूछा।

"यह लो।" उद्धव ने हंसकर कहा, "वध करवाने में कोई कसर छोड़ी थी क्या। नित्यप्रति तो वह भाड़े के हत्यारे भेज रहा था। अव कृष्ण उनके वस के नहीं थे तो कंस क्या करता।"

"नहीं ! मेरा तात्पर्य है कि वह सेना ले जाकर गोकुल अथवा वृंदावन को घेर कर अपने सैन्य वल से कृष्ण और वलराम का वध कर सकता था।" अर्जुन ने कहा।

"कर तो वह यह भी सकता था; किंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उस के पास इसका कोई प्रमाण नहीं था कि कृष्ण देवकी काकी के ही आठवें पुत्र हैं।" उद्धव ने कहा, "वह जो कुछ भी कर रहा था, वह मात्र संदेह के आधार पर कर रहा था। ऐसे में किसी वालक अथवा किशोर का वन में किसी पशु अथवा मनुष्य के हाथों आकस्मिक रूप से मारा जाना और वात है और राजा द्वारा एक पूरे क्षेत्र अथवा समुदाय के किसी प्रिय नेता का वध दूसरी वात है। वह अपने वहुत सारे शत्रु वना चुका था। संभवतः यादवों और उन गोपों में अपने लिए और शत्रु वनाना नहीं चाहता था।" उद्धव ने रुककर उनकी ओर देखा, "यह मेरा अनुमान ही है। मेरे पास इन वातों का कोई प्रमाण नहीं है।"

"पर उद्धव ! तुम्हारा वह प्रश्न तो वीच में ही रह गया कि श्यामसुंदर को यह कव ज्ञात हुआ कि वे वसुदेव-देवकी के पुत्र हैं।" रुक्मिणी ने स्मरण दिलाया।

"हाँ ! जहाँ वहकाकर दूसरी दिशाओं में ले जानेवाले इतने लोग वैठे हों, वहाँ ऐसा ही होता है।" उद्धव ने हंसकर कहा, "मैंने इस विपय में वहुत सोचा है और मैं तो इसी निष्कर्प पर पहुँचा हूँ कि कृष्ण के सत्य को केवल दो ही व्यक्ति जानते थे—वसुदेव काका और नंदगोप। कंस को संदेह भर था। पर यदि कृष्ण देवकीपुत्र नहीं भी थे, तो भी वह उनकी क्षमता और लोकप्रियता से भयभीत था। वह किसी भी प्रकार

उनका वध करवाना चाहता था; किंतु उसका दायित्व अपने सिर नहीं लेना चाहता था। वह यह तो समझ ही गया होगा कि कृष्ण देवकीपुत्र हों या न हों, वे उसके मित्र नहीं हो सकते। उनके रूप में उभरते हुए अपने एक समर्थ प्रतिद्वंद्वी को वह पहचान रहा था। वह नहीं चाहता था कि वह कुछ भी ऐसा करे जिससे कृष्ण लोकनायक वन जाएँ और कंस के सारे शत्रु उनके नेतृत्व में संगठित हो जाएँ। इसलिए वह उनकी हत्या किसी और के सिर थोपना चाहता था।"

"मुझे आश्चर्य होता है कि तुम ये सारी बातें इतने निश्चित रूप से कैसे कह सकते हो उद्धव ! जैसे तुमने यह सव अपनी आँखों से देखा हो।" रुक्मिणी के नेत्रों में प्रशंसा का भाव था।

"आपने मुझे थोड़ी देर पहले कथाकार कहा ही है भाभी !" उद्धव ने सहज भाव से कहा, "कथा ही तो वुन रहा हूँ। सारी संभावनाओं पर विचार कर मानव मनोविज्ञान के आधार पर कुछ तर्कसंगत निष्कर्ष ही तो निकाल रहा हूँ। वैसे मैं अनुभव करता हूँ कि जहाँ योग साधना में समाधि का सत्य यह है कि ध्यान लग जाने पर सत्य पर पड़े आवरण हटने लगते हैं और सत्य उजागर होने लगता है, वैसे ही सृजन का सत्य यह है कि जब हम घटनाओं तथा पात्रों पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं तो उन घटनाओं और पात्रों के यथार्थ पर से आवरण हटने लगते हैं।"

"पर हम इतना सारा परिश्रम क्यों कर रहे हैं ?" सत्यभामा ने कहा, "हम माँ अथवा पिताजी से पूछ ही क्यों नहीं लेते कि वस्तुतः क्या हुआ था। वे कंस के मन को तो नहीं जानते; किंतु अपने विषय में तो जानते हैं कि उन्होंने श्यामसुंदर को कव और कैसे कहाँ पहुँचाया था और…"

"तुम क्या समझती हो सत्या देवी !" उद्धव के संवोधन में स्पष्ट उपहास था, "कि मैंने कभी काका और काकी से इस विपय में चर्चा ही नहीं की ? मैंने उनसे यह सव जानना नहीं चाहा ? वहुत प्रयत्न किया है मैंने। पर वे लोग जैसे इन घटनाओं को स्मरण ही नहीं करना चाहते। वहुत पीड़ादायक है, यह सव उनके लिए। विवाह के पश्चात् अपने ही भाई के हाथों इस प्रकार अपमानित और पीड़ित होकर कारागार में डाल दिए जाना और सारे मित्रों कुटुंवियों में से किसी का भी सहायता को न आना। फिर सैनिकों, प्रहरियों तथा प्रशासनिक अधिकारियों की दृष्टि के सम्मुख गर्भ धारण करना। संतान को जन्म देना और फिर उसकी मृत्यु को देखना, सुनना, उसका अनुभव करना; और निरीह होकर उसे स्वीकार कर लेना। तुम समझती हो कि वे उन घटनाओं की स्मृति से फिर कभी गुजरना चाहेंगे। उस पीड़ा को पुनः झेलना चाहेंगे ?"

"यदि वे उन घटनाओं की चर्चा नहीं करना चाहते तो उसके कुछ और कारण भी हो सकते हैं।" सात्यकि ने कहा, "मुझे लगता है कि उन घटनाओं के पीछे अनेक प्रमुख यादवों के संवंधों और चरित्रों के रहस्य छिपे हुए हैं। कौन कव किसका मित्र था और कौन शत्रु। कौन किसकी सहायता कर रहा था और कौन किससे शत्रुता का

निर्वाह कर रहा था; कौन लोभ में विक गया था और कौन किसके भय से पीला पड़ गया था। यदि उन दिनों को स्मरण कर, घटनाओं का विश्लेषण कर, उनके सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाएगा तो बहुत सारे ऐसे सत्य सामने आएँगे जो आज यादवों के हित में नहीं हैं। कदाचित् इसलिए भी वसुदेव काका अपना मुख नहीं खोलना चाहते।"

"चलो, हमने स्वीकार किया कि हम माँ और पिताजी से इस विषय में कुछ नहीं जान सकते," रुक्मिणी ने कहा, "तो फिर उद्धव ही बताएँ कि क्या हुआ होगा।"

"ऐसी स्थिति में कंस दो बातों से उद्विग्न रहा होगा। एक तो वह देवकीपुत्र को खोज नहीं पा रहा था और दूसरे कृष्ण नामक सबलगोप का वह दमन नहीं कर पा रहा था।" उद्धव ने कहा, "ऐसे में उसने सोचा होगा कि क्रीड़ा के बहाने कृष्ण का वध तो करवा ही दिया जाए। यदि वह देवकीपुत्र है, तो कंस का संकट ही टल जाएगा; और यदि वह देवकीपुत्र नहीं भी है, तो एक बलवान प्रतिद्वंद्वी से उसे मुक्ति मिल जाएगी। और यदि कृष्ण और देवकीपुत्र दो भिन्न व्यक्ति हैं तो यह संभावना भी समाप्त हो जाएगी कि भविष्य में वे दोनों मिलकर कंस का विरोध करेंगे।"

"अर्थात् कृष्ण का वध तो उसे करवाना ही था, वह देवकीपुत्र हो या न हो।" अर्जुन ने कहा।

"हाँ ! और उसके लिए उसने उस यज्ञ का आयोजन किया जो प्रजा के लिए उत्सव और मनोरंजन का पर्याय था और कंस उसके माध्यम से मुष्टिक और चाणूर के हाथों कृष्ण तथा बलराम दोनों का ही वध करवा देना चाहता था। उसके कारण यदि प्रजा का आक्रोश उमड़ता तो मुष्टिक और चाणूर के विरुद्ध उमड़ता। यदि वे कुवलयापीड़ हाथी के पैरों तले कुचले जाते तो भी यही माना जाता कि एक मदांध हाथी ने उन्हें कुचल दिया। उसे एक दुर्घटना मान कर प्रजा शांत हो जाती। ..."

"इससे यह तो स्पष्ट है कि कंस कृष्ण का वध करना भी चाहता था और उस वध से भयभीत भी था।" सात्यकि ने कहा।

"हाँ। मैं भी यही कहना चाहता हूँ। उसने यह निश्चय किया और अक्रूर को उन लोगों को वृंदावन से लिवा लाने के लिए भेजा।" उद्धव ने कहा, "अब मेरे मन में प्रश्न यह है कि उसने उसके लिए अक्रूर को ही क्यों चुना ?"

"मुझे तो अक्रूर का चरित्र आरंभ से ही कुछ संदेहास्पद लगता है।" सत्यभामा ने वितृष्णा से कहा।

"संदेहास्पद का क्या अर्थ ?" अर्जुन ने अनायास ही पूछ लिया।

"सत्या के लिए तो वह है ही एक खलपात्र।" उद्धव ने कहा, "पहले उसने अपनी अवस्था को पूर्णतः विस्मृत कर सत्या से विवाह की इच्छा प्रकट की, क्योंकि उसे धन और रूपसी दोनों ही एक स्थान पर दिखाई दे रहे थे; और फिर उससे निराश हो कर शतधन्वा को उत्तेजित कर आर्य सत्राजित का वध करवा डाला। शतधन्वा ने वध किया

तो उसका दंड भी पाया, किंतु अक्रूर को तो उसके पुरस्कारस्वरूप स्यमंतक मणि मिल ही गई, जो उसने आज तक न सत्या को सौंपी है, न कृष्ण को और न महाराज उग्रसेन को।"

"यह तो तुम सत्यभामा की दृष्टि से कह रहे हो, पर वह उस समय कंस की दृष्टि में क्या था ?" रुक्मिणी ने पूछा।

"यह तो कंस ही बता सकता है भाभी ! मैं तो अपना अनुमान ही भिड़ा सकता हूँ।" उद्धव ने कहा।

"अनुमान भिड़ाने को ही तो कह रही हैं दीदी, कथाकार महाराज !" सत्यभामा ने कहा।

"कंस की दृष्टि में भी अक्रूर ऐसा व्यक्ति रहा होगा, जिसे लोभ और त्रास के माध्यम से क्रय भी किया जा सकता था और भयभीत कर अपने आदेश का पालन भी करवाया जा सकता था। मुझे ऐसा लगता है कि महाराज उग्रसेन के जामाता और वसुदेव काका के मित्र होते हुए भी जब अक्रूर ने कंस की सभा नहीं छोड़ी तो कंस यह समझ गया होगा कि अक्रूर से समझौता हो सकता है, बस उसका मूल्य चुकाने की बात है।" उद्धव ने कहा, "दूसरी बात यह हो सकती है कि अक्रूर किसी समय काका के मित्र रहे थे। वे काका के साढ़ू भी थे। अतः कंस ने सोचा होगा कि काका का यह रहस्य अक्रूर को ज्ञात ही होगा। ऐसे में यदि अक्रूर उसके आदेश का पालन न करने का दुस्साहस करते हैं, तो कृष्ण निश्चित रूप से देवकीपुत्र ही है। और यदि वे आदेश का पालन कर देते हैं तो उनकी निष्ठा की परीक्षा भी हो जाएगी और कृष्ण जैसा एक सबल प्रतिद्वंद्वी भी मारा जाएगा।"

"और अक्रूर ने क्या सोचा ?" रुक्मिणी ने कहा, "मैंने तो सुना है कि अक्रूर ने श्यामसुंदर के प्रति बहुत भक्ति भाव दिखाया था।"

"मेरे मन में अक्रूर की छवि एक ऐसे व्यक्ति की है, जो समय से कुछ पूर्व यह समझ लेता है कि कौन-सा व्यक्ति कुछ महत्त्वपूर्ण होनेवाला है, अथवा किसके महत्त्वपूर्ण होने की संभावना है। कौन उदीयमान सूर्य है।" उद्धव ने उत्तर दिया, "ऐसे में अक्रूर के मन में यह विचार आने की संभावना है कि जिस भविष्यवाणी की निरंतर चर्चा हो रही है, उसमें यदि तनिक-सा भी सत्य है, तो कृष्ण से मैत्री कर लेने में ही लाभ है। उसने एक प्रकार की कूटनीति खेली। कंस को कहा कि वह उसकी आज्ञा का पालन कर रहा है और कृष्ण तथा बलराम को कहा कि वह उनका भक्त है। वह कंस के आदेश से बाध्य होकर आया है; किंतु उन लोगों को सावधान कर रहा है कि उनके प्राणों को संकट है। कंस उनके वध का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार उसने कंस और कृष्ण दोनों की ही ओर से अपनी सुरक्षा का प्रबंध कर लिया था।"

"मूल प्रश्न अब भी अपने स्थान पर अडिग है।" सात्यकि ने कहा, "कि श्रीकृष्ण को कब ज्ञात हुआ कि वे वसुदेव और देवकी के पुत्र हैं।"

"द्वारका में तो लोग यही मानते हैं कि नारद ने कंस को यह बता दिया और कंस ने अक्रूर को बताया। अक्रूर ने जाकर श्यामसुंदर को बताया होगा।" सत्यभामा ने कहा, "और जो लोग श्यामसुंदर में दैवी तत्त्व स्वीकार करते हैं, वे तो यह मानते हैं कि उन्हें सब कुछ स्वतः ही ज्ञात था, किसी के बताने की क्या आवश्यकता थी।"

उद्धव हँसे, "किंवदंतियों में यही तो लाभ है कि जहाँ कुछ समझ में न आए, वहाँ महर्षि नारद का नाम डाल दिया जाए। भई ! नारद को क्या आवश्यकता थी कि वे आकर कंस को यह सब बताते। मेरी समझ में तो यह भी नहीं आता कि यदि कंस, कृष्ण तथा बलराम भैया का वध करना ही चाहता था तो उसे अक्रूर को यह सब बताने की भी क्या आवश्यकता थी कि वह उनका वध करना चाहता है। उसने अक्रूर को केवल इतना ही आदेश दिया होगा कि वह कृष्ण और बलराम को मथुरा ले आए।"

"तो फिर श्यामसुंदर को कैसे ज्ञात हुआ होगा कि उनके माता-पिता कौन हैं ?" सत्यभामा ने आतुरता से कहा।

"जहाँ तक मैं समझता हूँ, इस रहस्य का ज्ञान दो ही व्यक्तियों को था—काका को और नन्दराय को।" उद्धव ने कहा, "काका ने तो कृष्ण को बताया नहीं होगा। बताने का कोई अवसर ही नहीं आया। तो ऐसे में केवल नन्दराय ही कृष्ण को यह रहस्य बता सकते थे। अब प्रश्न है कि उन्होंने कब बताया होगा।"

"हाँ ! कब बताया होगा ?" रुक्मिणी ने पूछा।

"मेरी कल्पना में तो एक ही बात आती है और मेरा तर्क उससे सहमत है कि जब नन्दराय ने अक्रूर के आने का समाचार सुना होगा तो वे सारी बात भाँप गए होंगे, और यदि न भी भाँप सके होंगे तो उनके मन में यह आशंका तो जागी ही होगी कि कंस का यह निमंत्रण साधारण नहीं है और कृष्ण-बलराम के मथुरा जाने में उनके प्राणों को संकट है। ऐसे में उन्होंने यह निर्णय किया होगा कि कृष्ण-बलराम को यह रहस्य बता ही दिया जाए, ताकि वे लोग असावधान न रहें।" उद्धव ने कहा, "उनके स्थान पर कोई भी व्यक्ति होता तो यही करता। वे यह भी समझ ही गए होंगे कि अब कृष्ण-बलराम से उनकी विदाई का समय आ गया है। एक बार कृष्ण मथुरा चले जाएँ तो कंस और उनका संघर्ष होगा ही और परिणाम जो भी हो कृष्ण वापस नन्दगाँव नहीं लौटेंगे। इसलिए एक ओर उन्होंने कृष्ण-बलराम को सावधान किया होगा और दूसरी ओर गोपों को यथासंभव अधिक से अधिक संख्या में मथुरा जाने के लिए प्रोत्साहित किया होगा, ताकि यदि आवश्यकता हो तो कृष्ण की रक्षा के लिए संघर्ष किया जा सके।"

"मैं उद्धव से सहमत हूँ।" अर्जुन ने कहा, "किंतु इस सारी चर्चा से मेरे मन में एक और प्रश्न उठता है।"

"मेरे मन में भी।" सत्यभामा ने कहा।

"तुम्हारे मन में कभी कोई उत्तर भी उठा है कि बस प्रश्न ही उठते हैं।" उद्धव

ने जैसे उसे चिढ़ाया।

"लो ! पार्थ के मन में प्रश्न उठा तो कोई बात नहीं और मेरे मन में उठा तो आपत्ति का कारण हो गया।" सत्यभामा ने विरोध जताया।

"पहले पार्थ का प्रश्न सुन लें सत्यभामा ?" रुक्मिणी ने पूछा।

"पहले पार्थ का ही सुन लो। घर के जामाता हैं, फिर अतिथि हैं।" सत्यभामा ने कहा, किंतु सब ही समझ रहे थे कि उसका स्वर गंभीर नहीं था।

"मेरे मन में यह आता है कि यदि मातुला रोहिणी पहले से ही गोकुल में निवास कर रही थीं तो यह कंस को भी ज्ञात होगा।" अर्जुन ने कहा, "ऐसे में कृष्ण तथा बलराम के गुप्त तथा अज्ञात रहने का कोई प्रश्न ही नहीं है।"

"और यदि रोहिणी माता, पिताजी से पृथक् रह रही थीं, तो समाज ने यह कैसे स्वीकार कर लिया कि उनका पुत्र पिताजी की ही संतान है ?" सत्यभामा ने कहा।

"इतना ही नहीं।" रुक्मिणी ने भी अपनी आपत्ति जोड़ दी, "एक स्त्री का गर्भ दूसरी स्त्री के उदर में स्थापित करना तो ईश्वर के ही वश का है। इस आकर्षण और संकर्षणवाली बात को भी मैं समझ नहीं पा रही हूँ।"

"बोलो कथाकार महाराज !" सत्यभामा ने जैसे उद्धव को चुनौती दी।

इस बार उद्धव न तो परिहास की मुद्रा में आए और न ही उन्होंने सत्यभामा के प्रति आक्रामक मुद्रा अपनाई। वे जैसे अपने भीतर ही डूब गए।

"कृष्ण के जन्म और कृत्यों में अनेक बातें ऐसी हैं, जिन पर विचार करते हुए मुझे लगता है कि वह सारा प्रसंग जैसे अलौकिक ही है। उसकी व्याख्या मानव बुद्धि और तर्क से नहीं की जा सकती। उसे चमत्कार के रूप में ही स्वीकार कर लेना चाहिए। चमत्कार से मेरा तात्पर्य है, भगवान की इच्छा के रूप में।" उद्धव ने कहा, "कृष्ण के जन्म के समय जिस प्रकार प्रकृति ने अपना अद्‌भुत रूप दिखाया, उसकी क्या व्याख्या है ? इतना जल बरसा जैसे प्रलय काल ही आ गया हो। जल ने उन सब लोगों के स्थानों और घरों को घेर लिया जो काका और काकी को बंदी बनाए रखने का दायित्व का निर्वाह कर रहे थे। उन्हें अपने घरों और परिवारों के डूबने का समाचार भी मिल गया होगा। वे अपने परिवारों के लिए इतने घबराए और चिंतित हुए होंगे कि उनके मन से कंस का भय निकल गया होगा; अथवा वे प्रभु से इतने भयभीत हो गए होंगे कि काका और काकी पर दया दिखाकर वे ईश्वर से अपने परिवारों को बचाने की प्रार्थना कर रहे होंगे। यह भी संभव है कि उन्हें लगा हो कि इस जलप्लावन में सब कुछ बह जाएगा। जब सब कुछ समाप्त ही हो जाना है तो काका और काकी को कारागार में बंद रखने की क्रूरता करने का कोई अर्थ नहीं है। उन्होंने द्वार खोल दिए हो सकते हैं। द्वारपालों, सैनिकों और रक्षकों के भाग जाने के पश्चात् कारागार के द्वार सबके लिए ही खुले होंगे। उसी जलप्लावन के कारण काका नन्दगांव तक जा सके। और ध्यातव्य यह है कि वह प्लावन ही काका की रक्षा करता रहा। उसी प्लावन के कारण नन्द के

घर में एकांत था। उसी प्लावन ने किसी को उन तक और उनको और किसी तक पहुँचने नहीं दिया। इन सव तथ्यों पर विचार करने से क्या यह नहीं लगता कि ईश्वर की इच्छा थी कि कृष्ण जन्म लें, सुरक्षित रहें और वड़े होकर कंस का वध करें। ईश्वर की इस इच्छा का पालन, सृष्टि के मात्र एक तत्त्व, जल ने ही कर दिया। वस एक वार अतिवृष्टि हुई और ईश्वर की सारी योजना पूरी हो गई। तो फिर इस सारे प्रसंग को अलौकिक क्यों न माना जाए ?"

"तो फिर मानते क्यों नहीं हो, व्यर्थ ही वीच में अपनी वुद्धि की टाँग क्यों अड़ाते हो ?" सत्यभामा ने कहा।

"क्योंकि भगवान ने मुझे श्रद्धा के साथ वुद्धि और तर्क का भी वरदान दिया है, तुम्हारे समान उससे वंचित नहीं रखा।" उद्धव ने गंभीर मुद्रा वनाए हुए कहा।

"ठीक है। समझ लूँगी।" सत्यभामा ने मुँह वनाया।

"तो मेरी सहज वुद्धि कहती है कि संसार में जो कुछ भी घटित हो रहा है, वह ईश्वर की इच्छा से ही घटित हो रहा है, क्योंकि वह उसके वनाए हुए कार्य-कारण के नियमों के अंतर्गत हो रहा है। तो फिर भगवान को अपने, अपनी प्रकृति के नियमों को तोड़ने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए।" उद्धव वोले, "ऐसी स्थिति में हम यह मानेंगे कि रोहिणी काकी, नंदराय के घर पर नहीं, उनके निकट, नन्दराय के संरक्षण में ही सही, किंतु अपने गोकुल में निवास कर रही थीं, और गोपों की सहायता से अपने गोधन का पालन कर रही थीं।"

"चलो, ऐसा ही मान लेते हैं।" सात्यकि ने जैसे वात को आगे वढ़ाए जाने का संकेत किया।

"वात को हम उसके आरंभ से ही शुरू करें।" उद्धव कुछ क्षण रुके।

"इसका क्या अर्थ ? आरंभ से ही शुरू करें। आरंभ और शुरू में क्या भेद है ?" सत्यभामा के स्वर में जिज्ञासा कम, विरोध ही अधिक था, हल्की-सी चिड़चिड़ाहट भी।

"मैं जानता था कि तुम नहीं समझोगी।" उद्धव ने कहा; किंतु रुककर सत्यभामा को कुछ कहने का अवसर नहीं दिया, "मुझे लगता है कि मथुरा में जव सव कुछ सामान्य और धर्मसंगत था, जव अन्याय नहीं था और उग्रसेन न्यायपूर्वक शासन कर रहे थे, तव भी कंस अपने पिता से प्रसन्न नहीं था। वह जानता था कि वह उग्रसेन का औरस पुत्र नहीं है। वह उनका क्षेत्रज पुत्र था और वे उस का पालन कर केवल अपने धर्म का निर्वाह कर रहे थे। वहुत संभव है कि उनके पश्चात् मथुरा का राज्य उसे न मिले। यादवों में तो वैसे भी अपना राजा निर्वाचित किया जाता था। फिर यहां तो राजा ही उसके पक्ष में नहीं था। अन्य लोगों से उसे किसी प्रकार का विरोध नहीं था। इसलिए वह उनसे स्नेह भी करता था। काका और काकी के विवाह के समय तक कदाचित् वह देवकी काकी से अपनी वहनों में सवसे अधिक स्नेह करता था।"

"तो फिर उसमें इतना परिवर्तन कैसे आ गया ?" सात्यकि ने पूछा।

"अपनी महत्वाकांक्षाओं और अपने श्वसुर के प्रोत्साहन से उसने सत्ता हथिया लेनी चाही। महाराज से विरोध पा कर वह उग्र हो उठा और उसने उनको बंदीगृह में डाल दिया। यह उसने कर तो दिया, किंतु उसके पश्चात् वह डर गया। डर गया था, इसलिए अधिक आक्रामक भी हो उठा। वह अपने शासन को क्रूर करता चला गया और मन ही मन अधिक भयभीत होता गया। वह जानना चाहता था कि यादव प्रमुखों के मन में क्या है; किंतु यह जानने का कोई उपाय नहीं था। किसी यादव प्रमुख ने उग्रसेन का पक्ष ले कर कंस का कठोर विरोध नहीं किया था। उससे जहाँ एक ओर उसे यह लग रहा था कि लोग भय, लोभ अथवा स्नेह के कारण उसके पक्ष में हैं; वहीं उसे यह भी लग रहा था कि जो लोग उग्रसेन के नहीं हो सके, वे उसके कैसे हो सकते हैं। यादवों का अविरोध और निष्क्रियता देखकर जहाँ उसे एक प्रकार की आश्वस्ति होती थी, वहीं दूसरी ओर उसे किसी मौन-मूक षड्यंत्र की गंध भी आती थी। एक ओर वह उन्हें अपने स्नेह से जीत लेना चाहता था और दूसरी ओर वह उनके हाथ-पैर बाँध कर उन्हें कोड़ों से पीटना भी चाहता था।

"वह पहले यादवों में इतना घुलने-मिलनेवाला व्यक्ति कभी नहीं रहा था। अब उसकी सामाजिकता भी पहले से बहुत बढ़ गई थी। सारे उत्सवों में सम्मिलित होकर वह यादवों का मन जीतने का प्रयत्न करता था। किंतु एकांत होते ही उसके मन में आशंकाएँ जन्म लेने लगती थीं। वह यादवों को जानता था। वे उसके इस कृत्य को क्षमा करने वाले नहीं थे। तो उस का भविष्य क्या था ? उस की पत्नियाँ अपने पिता को इतना समर्थ मानती थीं कि उन्हें कंस का बाल बाँका होता भी नहीं लगता था।···किंतु कंस यादवों के विद्रोही तथा आत्मस्वाभिमानी स्वभाव को जानता था। वह समझता था कि ऊपर की यह शांति वस्तुतः किसी बड़े झंझावात का लक्षण भी हो सकती है। उसकी व्याकुलता देखकर उसकी पत्नियों ने उसे किसी ज्योतिषी से चर्चा करने का परामर्श दिया।···"

"ज्योतिषी ? भविष्यवक्ता ?" अर्जुन ने आश्चर्य से कहा, "यह रोग तो मगध का है।"

"वहीं से आए थे ज्योतिषी। जरासंध ने ही भेजे थे।" उद्धव ने कहा।

"ज्योतिषी तो ठीक हैं, पर बलराम भैया कब गोकुल में आए ?" रुक्मिणी ने पूछा।

"रोहिणी काकी कोई उपयुक्त अवसर पा कर मथुरा में काका और काकी के पास आई होंगी ···अथवा यह भी संभव है कि रोहिणी काकी वहाँ गई ही न हों और किसी प्रकार बलराम भैया को उनके पास पहुँचा दिया गया हो और यह प्रचारित कर दिया गया हो कि देवकी काकी का गर्भ गिर गया है। वस्तुतः उस समय तक कंस बहुत सावधान नहीं था। वह यह मानता था कि काका अपना वचन भंग नहीं करेंगे। काका ने तब तक अपने वचनानुसार अपने छह पुत्र, कंस को सौंप ही दिए थे। इसलिए काका

के लिए अपने अज्ञात सहयोगियों की सहायता से अपने नवजात पुत्र को रोहिणी काकी के पास भिजवा देना और गर्भपात की सूचना प्रचारित कर देना भी कठिन नहीं था। कंस तो देवकी काकी के सातवें पुत्र के विलुप्त हो जाने, तथा आठवें पुत्र के स्थान पर पुत्री के मिलने से अधिक सावधान हुआ होगा। नहीं तो वह कल्पना भी नहीं कर सका होगा कि उसके उस क्रूर आतंक के होते हुए कोई वसुदेव काका की सहायता भी कर सकता है।"

"पर प्रश्न तो यह है कि मातुला रोहिणी ने तो पुत्र को जन्म तभी दिया होगा जब संकर्षित गर्भ उनके उदर में आया होगा।" अर्जुन ने कहा।

"यदि इसे ईश्वरीय चमत्कार माना जाए तो योगमाया ने सचमुच संकर्पण किया।" उद्धव ने उत्तर दिया, "अन्यथा यदि रोहिणी काकी ने सचमुच बलराम को जन्म दिया तो उसके लिए किसी ऐसे समर्थ और दक्ष शल्यशास्त्रज्ञ अथवा शल्यचिकित्सक की आवश्यकता होगी जो शल्यचिकित्सा की सहायता से एक स्त्री के गर्भ से भ्रूण को निकालकर दूसरी स्त्री के गर्भ में स्थापित कर सके।"

"और यदि ऐसा शल्य चिकित्सक न हो तो ?" रुक्मिणी ने पूछा।

"तो फिर बलराम को भी जन्म देवकी काकी ने दिया और वे किसी प्रकार गोकुल में रोहिणी काकी के पास पहुँचाए गए। "उद्धव ने कहा।

"वे भी यशोदापुत्र थे क्या ?" सत्यभामा ने पूछा।

"नहीं ! बलराम तो प्रकट तभी हुए; जब कृष्ण खेलने और ऊधम करने योग्य हो गए थे। अन्यथा उससे पूर्व तो गोकुल में कहीं संकर्पण अथवा बलराम की चर्चा ही नहीं थी। और उसके पश्चात् वे दोनों इस प्रकार इकट्ठे दिखाई पड़ते हैं कि जैसे वे वस्तुतः सगे भाई हों। कृष्ण उन्हें भैया कहते हैं, और किसी गोप को तो नहीं कहते। कदाचित् रोहिणीपुत्र प्रचारित होने के कारण बलराम कभी भी गोप नहीं कहाए। कृष्ण को जानबूझकर यशोदापुत्र के रूप में प्रस्तुत किया गया, ताकि कंस को किसी भी प्रकार उनके देवकीपुत्र होने का संदेह न हो।"

"और यशोदापुत्री योगमाया के विषय में क्या कहेंगे कथाकार महोदय ?" सत्यभामा ने कहा।

"तुमने तो मेरे दवर का नाम ही कथाकार महोदय रख दिया।" रुक्मिणी ने कहा।

"वे आपके ही तो देवर नहीं हैं दीदी !" सत्यभामा बोली, "पर फिर भी आप को आपत्ति है तो मैं तार्किक महोदय भी कह सकती हूँ।"

"छोड़िए भाभी ! यह सत्या जैसी है, वैसी ही रहेगी।" उद्धव ने कहा, "लोकमानस जिस वाक्य को योगमाया द्वारा कहा हुआ मानता है, मेरा तर्क उसे लोकध्वनि मानता है। जो बात चारों ओर फैल जाती है और लोक-मन उस पर विश्वास करने लगता है, उसे ही आकाशवाणी, अथवा नारदजी द्वारा कही हुई बात, अथवा योगमाया द्वारा उच्चरित वाक्य कहा जाता है। वैसे कृष्ण-जन्म की रात्रि को हुए प्रकृति के उत्पात से,

कारागार में हुई अनियमितताओं से, तथा आठवें देवकीपुत्र को न पा कर कंस का मन वैसे ही आशंकित था। अब यशोदापुत्री को शिला पर पटकने के पश्चात् कंस का अपना मन भी इस क्रूरता से दहल गया होगा। भयभीत तो वह पहले से ही था···"

"कंस भयभीत था ?" सात्यकि ने मानों प्रश्न के रूप में आपत्ति की।

"ऊपर से बहुत वीर दिखनेवाला आक्रामक मन भीतर से बहुत भयभीत ही होता है।" उद्धव मुस्कराए, "इतनी हत्याएँ करनेवाला और अबाध ढंग से निर्दोष लोगों का रक्त बहानेवाला कंस स्वयं अपनी मृत्यु से असाधारण रूप से भयभीत था। वस्तुतः इस प्रकार निरीह नवजात शिशुओं की क्रूर हत्याएँ कर वह अपने भय से ही तो लड़ रहा था।···"

सहसा सात्यकि उठ खड़ा हुआ, "मेरा विचार है कि शेष कथा तथा शेष प्रश्नों को किसी और दिन के लिए छोड़ दिया जाए। आज पर्याप्त रात्रि हो चुकी। केशव तो अभी आए नहीं हैं। अब आएँगे भी तो उन्हें विश्राम की आवश्यकता होगी। पार्थ भी थोड़ी निद्रा ले ही लें तो अच्छा है।"

"ठीक है।" रुक्मिणी ने अर्जुन की ओर देखा, "आशा है श्यामसुंदर आज रात्रि को, अथवा कहिए कल सूर्योदय से पूर्व अवश्य आ जाएँगे। उपयुक्त अवसर पर मैं आप के पास दासी भेजूँगी। आपको बिना कोई प्रश्न पूछे, मेरी भेजी हुई दासी के साथ श्यामसुंदर से मिलने के लिए उनके शयन कक्ष में जाना है।"

अर्जुन ने स्वीकृति में सिर हिला दिया।

"पुनः कह रही हूँ, बिना शंका, प्रश्न और बिना संकोच के।" रुक्मिणी ने कहा, "कई बार सज्जन लोग अपनी सज्जनता में अपना अधिकार खो देते हैं और दुर्जन अधिकार न होने पर भी अपना आधिपत्य जमा लेते हैं।"

अर्जुन इस कथन का महत्व तो समझ गया किंतु उसका संदर्भ उसकी समझ में नहीं आया; पर उस विषय में कुछ पूछना उसे अनावश्यक ही लगा। कोई कारण होगा, तभी तो मातुल ने रुक्मिणी भाभी से अवश्य मिलने का आदेश दिया था और भाभी ने भी विदा करते हुए स्पष्ट निर्देश दे ही दिया था।

9

उद्धव अपने निवास पर आ तो गए, पलंग पर लेट भी गए, किंतु उन्हें नींद नहीं आई। सात्यकि ने कथा रुकवा दी थी और सारी बातें कल तक के लिए स्थगित कर दी थीं, किंतु उद्धव के अपने मन में तो जैसे वह सारा परिवेश सजीव का सजीव ही बना रह गया। वे स्वयं उस परिवेश में जीने के सुख को त्यागना नहीं चाहते थे, तो उसे झटक कर अपने मन में से परे कैसे फेंक देते।··· वे सोचते रहे।··· रेखाएं गहरी होती रहीं।

रंग भरते गए··· और उनके मन के अस्पष्ट और धुँधले से लगनेवाले वे चित्र स्पष्ट होते चले गए··· कंस का अधिक से अधिक क्रूर होते जाना··· यह वही समय रहा होगा, जब महाराज उग्रसेन के भाई देवक ने अपनी पुत्री देवकी का विवाह वसुदेव से करने का निश्चय किया होगा। कंस का इससे कोई विरोध नहीं था। उसने इस विवाह का पूर्ण समर्थन किया होगा। देवकी उसकी प्रिय भगिनी थीं और वसुदेव उसके कभी के मित्र थे ही। वे उग्रसेन के समय से ही एक समर्थ मंत्री थे। संभावना थी कि इस संवध से वसुदेव उसके और भी निकट आ जाएँगे। उनसे उसका संबंध और भी प्रगाढ़ हो जाएगा।···

सहसा उद्धव को लगा कि उनके मन के चित्र, जो अभी-अभी स्पष्ट हुए थे, अब पूर्णतः सजीव हो उठे थे। उन्होंने जैसे वसुदेव की काया में प्रवेश ही कर लिया था···

वसुदेव की आँखें फटी की फटी रह गईं।···

देवकी की विदा का समय था। कंस उसे रथ में आरूढ़ होने में सहायता कर रहा था कि अकस्मात् ही उसने न केवल देवकी को छोड़कर अपनी भुजाएँ उससे सर्वथा मुक्त कर लीं, वरन् पीछे हटकर उसने अपना खड्ग कोश से बाहर निकाल लिया।···खड्ग किसके लिए ? देवकी पर तो कोई संकट नहीं था।···अरे···लगा, जैसे वह देवकी का वध ही कर डालेगा।···जो कंस इस विवाह में उत्साहपूर्वक सम्मिलित ही नहीं हुआ था, एक प्रकार से सारे विवाह का नियंत्रण और संचालन कर रहा था, वही कंस सहसा इस प्रकार राक्षस हो गया था।

देवकी की समझ में कुछ नहीं आया। वह स्तंभित सी खड़ी थी। न वह कुछ सोच पा रही थी, न वोल पा रही थी और न ही उसका शरीर हिल ही पा रहा था।···सारा शरीर सहसा जड़-सा हो गया था।

वसुदेव को और कोई समाधान नहीं सूझा तो वे देवकी की रक्षा के लिए उस के सम्मुख आ खड़े हुए।

"क्या बात है मित्र ?" उन्होंने प्रयत्नपूर्वक पूछा।

लगा कि कंस अपनी एक भुजा से वसुदेव को परे धकेल, दूसरी से देवकी पर प्रहार करनेवाला है, पर उसने ऐसा कुछ किया नहीं। कुछ कहा भी नहीं। वह भी जैसे किसी कारणवश स्तव्ध रह गया था। उसकी मुद्रा देखकर अगले ही क्षण वसुदेव ने अपना संवोधन वदल दिया, "क्या बात है महाराज ?"

कंस ने वसुदेव के प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया। उसने अपने निकट खड़े मगध से आए अपने तांत्रिक भविष्यवक्ता की ओर देखा।

भविष्यवक्ता ने स्वीकृति में अपना सिर हिलाया, "हाँ महाराज ! इसी स्त्री का···" और फिर कुछ सोच कर उसने अपने शव्द परिवर्तित कर दिए, "महाराज !

आपकी इसी भगिनी का आठवाँ पुत्र आपका वध करेगा।" बोल कर जैसे वह अपनी ही वाणी से डर गया, "उससे आपके प्राणों को संकट है महाराज !"

कंस का चेहरा भय से पीला पड़ गया। उसके मुख से कोई शब्द नहीं फूटा।

वह अपने भय से लड़ रहा था। उसके नेत्रों में भय की छाया थी। वह देवकी की ओर इस प्रकार देख रहा था, जैसे वह साक्षात् मृत्यु के दर्शन कर रहा हो··· उसने स्वयं को सँभाला। अब वहाँ भय नहीं, भय की प्रतिक्रिया थी। उसने आक्रामक रूप धारण कर लिया था, "वध तो वह तब करेगा, जब उसका जन्म होगा। मैं देवकी का ही वध कर देता हूं। न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी।"

वसुदेव का मस्तिष्क बहुत वेग से दौड़ रहा था। एक ओर वे देख रहे थे कि विवाह में सम्मिलित ये सैकड़ों स्त्री-पुरुष अपनी खुली आँखों से देख रहे थे कि कंस अपनी निरपराध भगिनी की सार्वजनिक रूप से हत्या करने जा रहा था, किंतु किसी के मन में उसके प्रतिकार और निराकरण का कोई विचार अंकुरित होता दिखाई नहीं दे रहा था। कहीं कोई सक्रियता नहीं थी। जड़ता का साम्राज्य था। सबकी आँखों में एक प्रकार के भय और असहायता का भाव था। यह मथुरा में ही संभव था कि कोई व्यक्ति एक निरपराध स्त्री का सार्वजनिक रूप से वध कर दे और सैकड़ों नहीं सहस्रों लोग उस के विरोधी होते हुए भी खड़े देखते रहें, योद्धाओं के खड्ग उनकी कटि से ही बँधे रहें, वे कोश से बाहर ही न निकलें, वीरों की भुजाओं की मछलियाँ तड़पकर रह जाएँ, पर उनकी भुजाएँ उठ न पाएँ। मथुरा में न्याय की ही नहीं, साहस की भी मृत्यु हो चुकी थी।··· कदाचित् जन सामान्य के साहस की मत्यु पर ही राक्षसों के अन्याय का जन्म होता है।···

तो वसुदेव ही अपनी नवविवाहिता की रक्षा के लिए क्यों कुछ नहीं करते ? उनका हाथ अपने खड्ग की मूँठ पर गया भी, किंतु कुछ सोचकर वे थम गए।··· यह ठीक है कि वे स्वयं अच्छे योद्धा थे। उनमें साहस का इतना अभाव भी नहीं था कि अपनी नवविवाहिता को इस प्रकार अपनी आँखों के सम्मुख मर जाने देते। उनके चारों ओर शूर वंश के वीर खड़े थे। यदि वसुदेव साहस करेंगे तो संभवतः वे लोग भी उनकी सहायता को आ जाएँ।··· पर वसुदेव भूल नहीं सकते कि ये ही लोग थे, जिनके सम्मुख कंस ने महाराज उग्रसेन को बंदी बनाकर कारागार में डाल दिया था। कोई नहीं आया था अपने राजा की सहायता को। न मंत्री, न सेनापति, न उनके भाई और न उनके पुत्र तथा जामाता।··· और आज तो कंस की स्थिति भी एकदम बदल गई है। कंस राजा है। उसकी अपनी सेना तो है ही, मागधों की अनेक वाहिनियाँ भी उसकी सहायता के लिए मथुरा के स्कंधावार में सन्नद्ध खड़ी हैं। उसकी अंगरक्षक वाहिनी, निकट ही उपस्थित है। यहां वसुदेव को कुछ सफलता मिल भी गई तो कंस की एक पुकार पर चेदि से मगध तक के राजा और उनकी सेनाएँ मथुरा पर चढ़ दौड़ेंगी।···यदि वसुदेव ने आज कंस के विरुद्ध अपना खड्ग उठाया, तो न वे जीवित बचेंगे, न देवकी; और

इतना ही क्यों रोहिणी, मदिरा, भद्रा और उनकी अन्य पत्नियाँ भी नहीं बचेंगी। कंस उनके किसी पुत्र को भी जीवित नहीं छोड़ेगा··· और वसुदेव के भाई ? किसी के भी जीवित रहने की आशा नहीं रहेगी।···

'पर वसुदेव मात्र एक योद्धा ही नहीं हैं।' वसुदेव के एक मन ने कहा, 'वे मंत्री भी हैं। कंस के मन में जाने उनका कितना महत्व था, किंतु उग्रसेन के वे प्रिय मंत्री थे। वे अपनी बुद्धि से भी तो काम ले सकते हैं और राजा को मंत्रणा दे सकते हैं···'

"महाराज ! जो अपराध अभी हुआ नहीं है, उसके लिए, एक आशंकित व्यक्ति के अनुमान मात्र से, आप उस निरपराध स्त्री की हत्या करना चाहते हैं, जो आपकी भगिनी है।" वसुदेव बोले, "पहले अपराध होता है, फिर राजा उसके लिए दंड की घोषणा करते हैं।"

कंस ने घूरकर वसुदेव को देखा : वह कंस का विरोध कर रहे थे। राजा का विरोध ? राजद्रोह ?··· कंस का मन हुआ कि पहले वसुदेव का ही शीश उतार ले। कंस को राजद्रोही मंत्रियों की आवश्यकता नहीं है।··· पर उसका मन अपने ही शब्दों पर अटक गया।···हाँ ! वसुदेव उसका मंत्री भी तो है··· वह अपनी पत्नी के प्राणों की भिक्षा नहीं माँग रहा, वह उसको मंत्रणा दे रहा है।

"मैं एक अपराधी को उसके अपराध के लिए दंडित नहीं कर रहा।" कंस बोला, "मैं तो अपने प्राणों पर, अपने राज्य पर होनेवाले आक्रमण का निराकरण कर रहा हूँ। तुमने युद्धशास्त्र में कहीं यह लिखा पढ़ लिया है कि राजा सूचना मिल जाने पर भी आक्रमण की प्रतीक्षा करे ? अपने शत्रु को वह उसके स्कंधावार में ही समाप्त कर सकता हो तो भी न करे। अपराध के लिए दंड देना न्यायाधिकरण का काम है और अपनी तथा राज्य की रक्षा करना राजा का काम है। मैं राजा का ही काम कर रहा हूँ। हटो मेरे सामने से।" कंस का हाथ वसुदेव को हटाने के लिए आगे बढ़ आया।

"धैर्य धारण करें महाराज !" वसुदेव ने भयभीत न दिखने का प्रयत्न किया, "आक्रमण की तैयारी की सूचना पर आप शत्रु का स्कंधावार ध्वस्त कर दें, कोई आप का विरोध नहीं करेगा; किंतु किसी तांत्रिक की यह भविष्यवाणी सुनकर कि दमघोष का पोता आप पर आक्रमण करेगा, आप दमघोष का वध कर दें, यह तो राजधर्म न हुआ।"

वसुदेव ने दमघोष का नाम जानबूझकर लिया था। कंस पर उसका अपेक्षित प्रभाव भी हुआ। वह दमघोष का वध कर देगा, ऐसा कहने से पहले उसे एक सहस्र वार सोचना पड़ता।

"क्या आप विश्वासपूर्वक बता सकते हैं कि आपके मित्र राजाओं में से किसी का भी पुत्र अथवा पौत्र आपका शत्रु नहीं होगा ?" वसुदेव ने पुनः कहा, "राजनीति में क्या कभी कोई ऐसी संभावना होती है कि मित्र राजाओं के पुत्र भी मित्र ही रहें ? नहीं न !"

"नहीं।" कंस बोला।

"तो आप किस-किस मित्र राजा का वध कर चुके ?"

"पर देवकी का आठवाँ पुत्र मेरा वध करेगा, यह निश्चित सूचना है।"

वसुदेव समझ नहीं पाए कि कंस का भय प्रवलतर था अथवा उसका क्रोध।

"तो आप उसके आठवें पुत्र के जन्म लेते ही उसका वध कर दीजिएगा।" वसुदेव बोले, "आपको संकट देवकी के आठवें पुत्र से है, देवकी से तो नहीं।"

"हाँ ! हॉ !! वसुदेव ठीक कह रहे हैं।" देवक साहस कर आगे बढ़े, "पुत्र ! तुम को आत्मरक्षा का पूर्ण अधिकार है, किंतु तुमको अपनी वहन से तो कोई संकट नहीं है न।"

देवकी कॉप कर रह गई : वसुदेव किस सुविधा से अपने आठवें पुत्र के वध की वात कह रहे हैं, और उसके अपने पिता भी एक प्रकार से उन्हीं का समर्थन कर रहे हैं। ये पुरुष लोग···

"हाँ ! वसुदेव ठीक कह रहे हैं।" भीड़ में से दो एक मंद स्वर आए, पर दिखाई नहीं दिया कि वे कौन लोग थे। कदाचित् वे लोग अपनी बात कहना भी चाहते थे और स्वयं को प्रकट करना भी नहीं चाहते थे।

कंस ने बिना कोई उत्तर दिए ही, अपने हाथ के प्रयोग से अपने पितृव्य देवक को एक ओर हटा दिया। उसने देवकी की ओर देखा, किंतु संवोधित वह वसुदेव से ही हुआ, "मेरा अपना मन अपनी इस भगिनी के वध के विचार से प्रसन्न नहीं है। मैंने इसे इसके शैशव से खेलाया है; किंतु क्या जानता था कि इसी का पुत्र मेरा वध करेगा।"

"यह भी कहॉ जानती है कि आपका वध इसके पुत्र के हाथों होगा।" वसुदेव ने मुस्कराने का प्रयत्न किया, "यह तो केवल आपका यह मागध तांत्रिक ही जानता है। यह भी कितना जानता है, मुझे मालूम नहीं। क्या इसके गणित अथवा लक्षणों की पहचान में त्रुटि नहीं हो सकती ?"

"मैं अव इस संशय में नहीं पड़ना चाहता कि यह कितना जानता है।" कंस बोला, "मैं अपने प्राणों की रक्षा में कोई ढील नहीं छोड़ना चाहता। फिर संख्या के अनुमान में कहीं कोई विवाद अथवा भ्रम भी हो सकता है। यदि तुम वचन दो वसुदेव, कि तुम देवकी की प्रत्येक संतान को उसके जन्म लेते ही मुझे सौंप दोगे तो मैं तुम्हारी नवविवाहिता को यह मान कर जीवित छोड़ सकता हूँ कि इसके मन में तो मेरे प्रति कोई शत्रु-भाव नहीं है। देवकी को मैं जानता हूं।···"

वसुदेव देख रहे थे कि कंस अपने मुख से सौहार्द की चर्चा कर रहा था किंतु उसकी भुजाएँ खड्ग तौल रही थीं। जाने किस समय उसका हाथ उठ जाए और देवकी के प्राणों पर संकट आ जाए।

"कंस ! मेरे मित्र !" वसुदेव ने अपनी वाणी में स्नेह उँड़ेलने का प्रयत्न किया,

"मेरा भी तो तुमसे मैत्री और स्नेह का ही संबंध रहा है। आशा है तुम मेरे इस विवाह को सुख का अवसर ही रहने दोगे। मेरी नवविवाहिता पत्नी का वध कर इसे एक त्रासद घटना में परिवर्तित नहीं करोगे।"

"मुझे न तुम्हारी मैत्री पर संदेह है, न तुम्हारे स्नेह पर। मैं तुम्हारे इस नए विवाह का सुख भी तुमसे छीनना नहीं चाहता।" कंस बोला, "किंतु अपनी संतान किसे प्रिय नहीं होती। संतान के जन्म के पश्चात् तुम्हारा मन बदल जाए और तुम षड्यंत्र रचने लगो, तो ?"

"नहीं ! ऐसा नहीं होगा।"

"वचन देते हो कि तुम देवकी की प्रत्येक संतान को उसके जन्मते ही मुझे सौंप दोगे।"

"सौंप दूँगा।" वसुदेव ने कहा।

"उन पर मेरा अधिकार होगा। मैं उनका वध कर सकूँगा। उसके लिए तुम मेरे प्रति अपने मन में कोई विरोध नहीं पालोगे, कोई शत्रु-भाव नहीं पनपने दोगे, इसी प्रकार मेरे मित्र और शुभचिंतक बने रहोगे।"

"हाँ ! सौंप दूँगा। उन पर आपका पूर्ण अधिकार होगा महाराज !"

"सोच समझ कर वचन देना।" कंस ने अत्यंत क्रूर दृष्टि उन पर डाली, "किसी संकट से बच निकलने के लिए कोई वचन देना एक बात है और उसका वस्तुतः पालन करना दूसरी। मैं अपने प्राणों के लिए कोई संकट मोल लेना नहीं चाहता, इसलिए मैंने देवकी के वध की बात सोची थी, पर उसके प्रति अभी भी मेरे मन में स्नेह है। उसने आज तक कभी मुझे कोई कष्ट नहीं दिया, वह कंसा के समान कभी मुझसे लड़ी भी नहीं।···और तुम्हें भी मैं अपना परम मित्र और सर्वाधिक विश्वसनीय मंत्री मानता हूँ।"

"मैं जानता हूँ महाराज !" वसुदेव बोले।

"मैं यह जानता हूँ कि जब मैं तुम्हारी संतान का वध करूँगा तो तुम मेरे मित्र नहीं रह पाओगे।" कंस का स्वर कुछ बदला, "पर मैं देवकी की संतान को जीवित नहीं छोड़ूँगा। इस पर तुम मुझे अपना शत्रु समझना चाहो तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। सब को अपनी संतान प्यारी होती है। तुम मुझ से शत्रु जैसा व्यवहार कर सकते हो, किंतु यदि तुम उस बात को मेरी ओर से मात्र आत्मरक्षा का ही प्रयत्न मानो, अपने प्रति शत्रुता का कृत्य नहीं ; और मेरा विश्वास कर सको तो हम अब भी अच्छे मित्र बने रह सकते हैं।··· वरन् एक मित्र के रूप में तुम्हें यह सोचना चाहिए कि मेरे शत्रु तुम्हारे भी शत्रु हैं। तुम्हें उनसे मेरी रक्षा करनी चाहिए।"

कंस वसुदेव की ओर देख रहा था।···

वसुदेव ने थूक गटकी··· यह राक्षस उनकी संतान का वध कर भी उन्हें अपनी मैत्री का विश्वास दिला रहा था··· किंतु वे इस समय उसके विरुद्ध कुछ नहीं कह सकते थे, कुछ नहीं कर सकते थे। उसकी बात माने बिना वे देवकी को यहाँ से जीवित अपने

घर नहीं ले जा सकते थे।· ·

"मैं समझता हूं।" वसुदेव ने धीरे से कहा, "परिस्थितियों की कठोरता के मध्य भी हम अपनी कोमल भावनाओं और अपने मधुर संबंधों को जितना सुरक्षित रख सकें, उतना ही अच्छा है।"

"इन परिस्थितियों में मैं और किसी के भी वचन का विश्वास नहीं करता, किंतु वसुदेव ! मैं तुम्हारे वचन का विश्वास कर सकता हूँ।" कंस बोला, "यदि तुम अपने मुख से यह कहते हो कि तुम देवकी की प्रत्येक संतान को जन्म लेते ही मुझे सौंप दोगे, तो मैं तुम्हारा विश्वास करूँगा।···"

लगता था कि कंस अपने भय को नियंत्रित कर चुका था। उसकी समझ में आ गया था कि तत्काल कोई उसका वध करने नहीं जा रहा था।··· आज देवकी का विवाह हुआ था। अभी उस की किसी संतान ने जन्म नहीं लिया था। उस की आठवीं संतान से कंस के प्राणों को संकट था। उसके जन्म लेने में अभी बहुत समय था। और आठवीं संतान भी जन्म लेते ही तो खड्ग नहीं उठा लेगी। उस बच्चे को भी खड्ग उठाने और चलाने का सामर्थ्य प्राप्त करने में कुछ समय लगेगा।···

"बोलो वचन देते हो ?" कंस ने पूछा।

"हाँ ! वचन देता हूं।" वसुदेव बोले।

"ठीक है, तो अपनी पत्नी को ले जाओ।" कंस पीछे हट गया। उसने देवकी को रथारूढ़ होने में कोई सहायता नहीं की। उसका संकेत पाकर उसके अंगरक्षक आगे बढ़ आए थे। उन्होंने वसुदेव के रथ के लिए मार्ग बना दिया था। कंस अब उस विवाह में सहभागी नहीं, मात्र एक दर्शक था। वह देवकी का भाई नहीं, मथुरा का राजा था।···

देवकी को रथ में बैठाकर वसुदेव भी रथारूढ़ हुए। उनकी दृष्टि चारों ओर देख रही थी। अधिकांश लोग वहां से परे हट गए थे। अनेक लोग तो दिखाई भी नहीं दे रहे थे। कदाचित् अब वे स्वयं को न तो इस सारे समारोह का अंग बनाना चाहते थे और न ही वे वसुदेव से अपना कोई संबंध स्वीकार करना चाहते थे।

वसुदेव को लगा, उनका एक मन भीतर ही भीतर कहीं हंस रहा था। जिस कंस के आतंक से यहाँ उपस्थित लोग वसुदेव से अपने सारे संबंधों को विलुप्त कर देना चाहते थे, वही कंस वसुदेव से अपना संबंध पूर्णतः विच्छिन्न करना नहीं चाहता था। वह उस संबंध को किसी भी रूप में बचाए रखना चाहता था···

वसुदेव नहीं जानते थे कि अब विदाई के लिए कोई और शगुन होना शेष था अथवा नहीं। वे नहीं जानते थे कि उन्हें देवक के परिवार में से किस-किससे विदाई लेनी थी। वे नहीं जानते थे कि अभी देवकी की किन सखियों, बहनों और परिवारजनों को उससे लिपटकर उसके प्रति स्नेह जताना था और किस-किसको उस पर आशीर्वाद की वर्षा करनी थी।··· कदाचित् किसी का भी ध्यान इन बातों की ओर नहीं था। देवक

भी यही चाहते रहे होंगे कि अब, जब कंस एक ओर हट गया है, वसुदेव अपना रथ यहाँ से शीघ्रातिशीघ्र जितनी दूर ले जा सकते हों, ले जाएँ।···

वसुदेव ने अपने सारथि को चलने का संकेत किया।

रथ के चलते ही वसुदेव के मन में पहला विचार आया कि वर्तमान परिस्थितियों में उनका अपने भवन पर जाना ही क्यों आवश्यक है ? वे इसी समय इसी रथ में देवकी को लेकर कहीं और क्यों नहीं चले जाते ?··· अपनी गोचारण भूमि में, अपने गोकुल में, अपने सैन्य स्कंधावार में, अपने किसी संबंधी के घर, कहीं भी मथुरा से दूर, कंस के राज्य की सीमाओं से बाहर, उसकी राजसत्ता से परे···

उन्होंने सिर उठा कर देखा : उनके साथ, उनके आगे और उनके पीछे चलने वालों में उनके अपने भाई-बंधु कम, कंस की अंगरक्षक वाहिनी के सैनिक ही अधिक थे।··· वे प्रायः उनको घेरकर चल रहे थे, जैसे वे उनके युद्धबंदी हों··· नहीं ! इस समय वे कहीं नहीं भाग सकते थे। वे उतने स्वतंत्र नहीं थे, जितने कि वे स्वयं को समझ रहे थे··· पर इतनी जल्दी भी क्या थी ? यदि कंस प्रतीक्षा कर सकता था, तो वे भी प्रतीक्षा कर सकते थे। कोई आज ही तो देवकी की संतान का जन्म होनेवाला नहीं था। उन्हें भी धैर्य रखना चाहिए। परिस्थितियों का ध्यान रखना चाहिए। योजना बनानी चाहिए। अपने मित्रों और शत्रुओं की पहचान करनी चाहिए।··· आज की एक घटना से सारे संबंधों की पहचान बदल गई है। उन्हें नए सिरे से अपने संबंधों को परिभाषित करना होगा··· पर उसके लिए अभी बहुत समय था। इतनी जल्दी भी क्या थी, आज तो उनका विवाह ही हुआ था···

अपने भवन के अपने विशेष कक्ष में पहुँचकर वसुदेव ने देवकी की ओर देखा।

कंस के व्यवहार से देवकी एकदम स्तंभित-सी हो गई थीं। एक तो जीवन की कठोरता से सर्वथा अनभिज्ञ किशोरी, फिर भीरु; और फिर उनका अपना ही भाई उनके पाणिग्रहण के अवसर पर खड्ग खींचकर उनकी हत्या के लिए तत्पर हो जाए··· तो वे अपनी सुरक्षा के लिए जीवन में किसकी ओर देखेंगी ?

"देवकी ! साहस करो प्रिये ! अब कोई भय नहीं है।" वसुदेव ने उनके कंधे पर अपना हाथ रखकर सांत्वना देने का प्रयत्न किया।

देवकी ने वसुदेव की ओर देखा तो उनकी दृष्टि में न शृंगार था न प्यार। वहाँ तेज था, प्रखरता थी और थी वक्रता।

"कोई भय नहीं है ?"

"अब इस समय क्या भय है ? पहले पुत्र के जन्म होने तक कोई संकट नहीं है।" वसुदेव बोले।

"यह क्या कम संकट है कि मैं किसी वधिक की प्रसन्नता के लिए, एक नहीं,

आठ-आठ संतानों को जन्म दूँगी ?"

"उसे यह वचन ही तो दिया है, संतान तो नहीं दे दी।" वसुदेव ने मुस्कराने का प्रयत्न किया।

"हाँ ! दिया तो वचन ही है; किंतु आपके लिए प्रसिद्ध है कि आपके वचन और कर्म में कहीं कोई अंतर नहीं है। आपकी वचन-निष्ठा की यह ख्याति न होती तो क्या कंस आपके कहने मात्र से आपको और मुझे इस प्रकार जीवित, सुरक्षित और मुक्त छोड़ देता ?"

"मेरा विश्वास नहीं हैं तुम्हें ?" वसुदेव ने स्वयं को बहुत संयत रखने का प्रयत्न किया, "जिस संतान की चर्चा है, वह देवकी की ही नहीं, वसुदेव की भी संतान होगी।"

ठीक कह रहे थे वसुदेव, वह उनकी संतान भी होगी। पर देवकी इस समय वसुदेव की संतान की नहीं, अपनी संतान की चिंता कर रही थीं। संतान की चिंता भविष्य की चिंता थी।··· पर देवकी को कंस के उस व्यवहार ने तात्कालिक रूप से जैसे एकदम जड़ बना दिया था। वे तो कंस को आज तक केवल एक स्नेहिल भाई के रूप में ही जानती थीं। जब कभी किसी ने उसकी कठोरता और क्रूरता की चर्चा की तो वे यही मानती थीं कि राज-काज में ऐसे बहुत से अवसर आते हैं, जब क्षत्रियों को कुछ क्रूर लगनेवाले कर्म भी करने पड़ते हैं। वही करता होगा कंस भी। पर आज उन्होंने जो कुछ देखा था, वह भिन्न ही नहीं, सर्वथा डरा देनेवाला था।

"क्या सोच रही हो ?" वसुदेव ने पूछा।

"सोच रही हूँ कि पुरुष कितने कठोर होते हैं।" देवकी ने उनकी ओर देखा, "एक, भाई होकर भी मात्र अपनी एक आशंका के कारण, अपनी बहन का वध करने के लिए तत्पर हो जाता है और दूसरा पिता हो कर भी अपने प्राण बचाने के लिए अपनी संतानों को मृत्यु को सौंप देने का वचन दे देता है। उस माँ के विषय में कुछ नहीं सोचता, जो उन संतानों को अपने गर्भ में रखकर उनका पोषण करेगी और प्रसव वेदना सह कर उनको जन्म देगी।"

वसुदेव कुछ क्षणों तक देवकी को चुपचाप देखते रहे। फिर धीरे से बोले, "मैं अब तक सोच रहा था कि मेरा और तुम्हारा एक पक्ष है और कंस हमारा शत्रु है। पर अब पता चला है कि तुम मुझसे भिन्न ही नहीं हो, मुझे अपने विरोधी के रूप में भी देख रही हो। मुझे और कंस को एक पक्ष बना रही हो तुम, क्योंकि हम दोनों पुरुष हैं। तुम्हें नहीं लगता कि पक्ष स्त्री और पुरुष का नहीं होता, पक्ष तो धर्म और अधर्म का होता है और अपने कर्मो के लिए, अपने धर्म और अधर्म के लिए, हम व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होते हैं, किसी वर्ग अथवा दल के आधार पर नहीं। मैंने तुमसे अभी कहा है कि वह मेरी भी संतान होगी। पिता के वक्ष में भी एक हृदय होता है देवकी, जो अपनी संतान के लिए तड़पता है।"

"तो फिर आपने अपनी संतानें उस दुष्ट को सौंपने का वचन क्यों दिया ?"

"इसलिए कि मैं तुम्हारी रक्षा करना चाहता था। मेरे मन में स्त्री और पुरुष का द्वंद्व नहीं था। मेरे मन में तो सामान्य रूप से एक निरीह और असहाय स्त्री तथा व्यक्तिगत रूप से अपनी पत्नी की रक्षा का प्रश्न था।" वसुदेव बोले।

"मेरी रक्षा के लिए, अथवा राजा को प्रसन्न कर अपनी रक्षा और उन्नति के लिए ?" देवकी तमककर बोलीं, "आप वीर हैं, योद्धा हैं। क्यों नहीं आपने उसे चुनौती दी ? अपनी पत्नी की रक्षा के लिए शस्त्र का सहारा क्यों नहीं लिया ?"

"जब कंस ने उग्रसेन को बंदी कर सिंहासन पर आधिपत्य जमाया तो तुम्हारे पिता ने अपने भाई की रक्षा के लिए शस्त्र क्यों नहीं उठाया था ?" वसुदेव बोले, "आज जब कंस तुम्हारी हत्या के लिए व्यग्र हो रहा था, तुम्हारे पिता ने क्यों शस्त्र नहीं उठाया ?"

देवकी कुछ नहीं बोलीं।

"केवल कंस से लड़ना होता, तो कदाचित् मैं अपने बल पर ही लड़ लेता। किंतु कंस के पास राज्य का सारा तंत्र है, सेना है, सत्ता है, कोष है··· और सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि जरासंध और उसके सारे मित्र तथा मांडलिक राजा कंस की पीठ पर हैं। उन सबसे अकेले भिड़ जाने का प्रयत्न मात्र आत्महत्या है।" वसुदेव रुके, "तुम कह सकती हो कि अपनी संतान को मरवाने से तो अच्छा था कि मैं स्वयं ही अपने प्राण दे देता।"

उन्होंने अपनी पत्नी की ओर देखा; किंतु देवकी कुछ नहीं बोलीं।

"मैं वह भी कर सकता था। मुझे यह विश्वास होता कि मेरी मृत्यु से तुम और मेरी संतानें सुरक्षित हो जाएँगी तो मैं अपने प्राण दे देता।" वसुदेव बोले, "किंतु मैं जानता हूँ कि ऐसा नहीं होगा। मेरी मृत्यु के पश्चात् भी वह तुम्हें जीवित नहीं रहने देगा। ऐसे में तुम्हारी कोई संतान जन्म ही नहीं ले सकेगी, जिनकी मृत्यु की कल्पना से तुम इस प्रकार भयभीत हो।"

"तो हमारे जीवित रहने का ही क्या लाभ, जब हमारी संतान जीवित नहीं रह सकेगी ?" देवकी का आक्रोश कम नहीं हो रहा था।

"अब हम जीवित हैं, तो संतान का जन्म भी होगा और जब उनका जन्म होगा तो हम उनकी रक्षा का प्रयत्न भी कर सकेंगे।" वसुदेव के नयनों में भविष्य के प्रति पूर्ण आश्वासन था।

नेत्रों के उस आश्वासन और वाणी के विश्वास ने देवकी को मोह लिया।

"आप अपनी संतान की रक्षा का प्रयत्न करेंगे ? उसे कंस को नहीं सौंप देंगे ?"

"अपनी क्षमता भर तो उनकी रक्षा करूँगा ही।" वसुदेव बोले।

"अपने वचन के पालन की हठ नहीं करेंगे ?"

"वचन मैंने स्वेच्छा से नहीं दिया है। यह वचन का अपहरण है। वह तो तुम्हारी रक्षा का तात्कालिक उपाय था। उसे वचन नहीं कहते।" वसुदेव बोले, "इस वचन का

आधार न स्वेच्छा है, न धर्म। उसका पालन अधर्म है।"

"तो हम क्या करेंगे ?"

"देवकी ! जब कोई योद्धा प्रत्यक्ष युद्ध में असमर्थ हो जाता है, तो वह परोक्ष युद्ध करता है। हमें परोक्ष युद्ध ही करना होगा।" वसुदेव बोले, "हमें कंस का विश्वास बनाए रखना होगा; और गुप्त रूप से मथुरा से निकल जाने का प्रयत्न करना होगा।"

"क्या यह संभव है ?"

"प्रयत्न के पश्चात् ही पता लग पाएगा। वैसे कोई ऐसा असंभव भी नहीं है।" वसुदेव जैसे सशब्द चिंतन कर रहे थे, "यदि हम मथुरा से निकलकर सुरक्षित किसी मित्र राजा के पास पहुँच सके, तो फिर कोई संकट नहीं है। किंतु मेरी चिंता इस समय तो यह है, कि यदि हम यहाँ से सुरक्षित न निकल सके, तो हमारी क्या स्थिति होगी।··· यदि कंस को हमारे जाने की योजना का पता चल गया, अथवा हम मथुरा से भागते हुए, कंस द्वारा पकड़ लिए गए तो वह हमें कारागार में भी डाल सकता है और हमारा वध भी कर सकता है।"

"पर उसे हमारी योजना का पता कैसे चलेगा ?"

वसुदेव ने कोई उत्तर नहीं दिया। वे चुपचाप कुछ सोचते रहे और फिर टहलते हुए गवाक्ष के निकट चले गए। उन्होंने गवाक्ष से कुछ दूर रहकर, स्वयं को छिपाए हुए, नीचे पथ की ओर देखा।

"इधर आओ देवकी !" उन्होंने बहुत मंद स्वर में कहा और अपने हाथ से उन्हें निकट आने का त्वरित संकेत किया।

"क्या है ?" देवकी ने मानो मन ही मन प्रश्न किया और उठकर उनके पास पहुँच गई।

इस महत्त्वपूर्ण चर्चा के मध्य, वसुदेव का इस प्रकार गवाक्ष से कुछ दिखाने का प्रयत्न करना उन्हें एकदम अच्छा नहीं लग रहा था। क्या दिखाएँगे ? आकाश ? आकाश पर मेघ और सूर्य ? किसी वृक्ष पर बैठे पक्षी युगल ? चंद्रमा और तारे ? बहुत देखे हैं चाँद और तारे, देवकी ने। इस समय उनकी मनःस्थिति तनिक भी एक सद्यःविवाहिता नारी की नहीं थी। वे न पति के प्रेमपूर्ण वचनों का रस ले सकती थीं और न ही प्रकृति का सौन्दर्य निहारना चाहती थीं।··· उनकी पीड़ा अपने प्राणों की भी नहीं थी। वे तो यह सोच रही थीं कि यदि वे आठ पुत्रों को भी जन्म देंगी, तो भी निःसंतान ही रहेंगी। उन आठ को तो कंस मार ही डालेगा और वसुदेव में इतना सामर्थ्य और साहस उन्हें दिखाई नहीं पड़ रहा था कि वे कंस से देवकी की संतानों की रक्षा कर सकें। देवकी को भले ही वे बचा लें···

"यहाँ आओ देवकी !" वसुदेव ने पुनः कहा और साथ ही अपने हाथ से निकट आने का संकेत किया।

उस स्वर और संकेत में कुछ ऐसी आतुर गंभीरता थी कि देवकी उसकी उपेक्षा

नहीं कर पाई। वे निकट चली गई।

वसुदेव ने उन्हें अपने हाथ से घेर कर, वातायन से कुछ पहले ही रोक लिया।

"वह देखो।" वसुदेव वोले, "सामने एक व्यक्ति खड़ा है। वह विक्षिप्त वना इधर-उधर डोल रहा है। दूसरी ओर एक भिक्षुक बैठा है।··· ये दो व्यक्ति निश्चित रूप से कंस के गुप्तचर हैं। ये यहाँ हम पर दृष्टि रखने के लिए नियुक्त किए गए हैं। संभवतः उसने कुछ और प्रवंध भी किए होंगे। मैं जानता था कि वह ऐसा करेगा।··· तुम क्या समझती हो कि वह हमें चुपचाप मथुरा से सुरक्षित निकल जाने देगा ?"

देवकी चुपचाप उनकी ओर देखती रहीं। जव वसुदेव ने और कुछ नहीं कहा तो वे वोलीं, "तो हम कुछ नहीं कर सकते ?"

वसुदेव मुस्कराए, "मैं सैनिक हूँ और सैनिक तब तक अपना शस्त्र नहीं छोड़ता, जव तक उसका हाथ ही न कट जाए।"

देवकी उनकी ओर देखती रहीं। बोलीं कुछ नहीं।

"अभिप्राय यह है देवकी ! कि वर्तमान परिस्थितियों में मैं कंस से प्रत्यक्ष युद्ध नहीं कर सकता।" वे बोले, "इसलिए उसे विश्वास दिलाता रहूँगा कि मैंने उसके सम्मुख पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया है; किंतु मेरा युद्ध चलता रहेगा।"

"कैसे ? अपनी संतानें उसे सौंप कर ?" देवकी के स्वर में असहायता भी थी और वक्रता भी, "आप उसे वचन दे चुके हैं।"

"मैंने कहा न कि मैंने उसे वचन दिया नहीं है। उसने मेरे वचन का अपहरण किया है।" वसुदेव बोले, "वचन वह होता है, जो स्वेच्छा से दिया जाए। वक्ष पर खड्ग रखकर लिया गया वचन, वचन का अपहरण मात्र है।"

देवकी कुछ आश्वस्त तो दिखीं, किंतु पूर्ण संतुष्ट नहीं थीं। वसुदेव भी अपने विचारों में डूवे रहे···

उग्रसेन ने वहुत प्रयत्न किया था कि वे कंस और अपने अन्य पुत्रों में कोई भेद न आने दें, किंतु कंस कभी इस वात को भूल नहीं पाया कि वह उग्रसेन का औरस पुत्र नहीं, क्षेत्रज पुत्र है। उसे सदा ही उग्रसेन के व्यवहार में भेदभाव दिखाई देता था, और यह भय तो सताता ही था कि पुत्रों में सवसे बड़ा होने पर भी उग्रसेन राज्य उसे नहीं देंगे। यही कारण था कि वह आरंभ से ही घर के भीतर अपने मित्र और सहायक न खोज कर उन्हें वाहर ढूँढ़ता रहा। इसी खोज में वह जरासंध तक जा पहुँचा था। जरासंध को उसकी महत्वाकांक्षा भा गई थी। वैसे भी वह मथुरा का युवराज तो माना ही जाता था। जरासंध ने इस संभावना और अपेक्षा के साथ कि कंस मथुरा का राजा वनेगा, अपनी दो-दो पुत्रियाँ अस्ति और प्राप्ति उससे व्याह दी थीं।

वसुदेव को कंस का यह व्यवहार और उसके ये यादवेतर संबंध कभी भी रुचिकर नहीं रहे थे। उन्हें लगता था कि वह अति महत्वाकांक्षी और अत्यधिक आत्मकेंद्रित होता जा रहा था। अपनी महत्वाकांक्षा की आँधी में वह यादवों की रीति-नीति को भूलता

जा रहा था, और अधिक से अधिक मागध होता जा रहा था। यादवों को यह सब प्रिय नहीं था, इसे वह जानता था, पर वह स्वयं न बदल कर यादवों को बदल देना चाहता था। स्वयं को मथुरा और यादवों पर आरोपित ही नहीं, स्थापित करने के लिए वह मगध पर अधिक से अधिक निर्भर होता जा रहा था।

वसुदेव को लगता है कि कंस राजा बनने की बहुत शीघ्रता में था··· और कदाचित् उससे भी अधिक आतुर जरासंध था।··· एक प्रातः माथुरों ने देखा कि रातों-रात मागध सेना ने मथुरा को घेर ही नहीं लिया था, वह नगर में प्रवेश भी कर गई थी और उसके प्रतिकार का कहीं कोई प्रयत्न भी दिखाई नहीं दे रहा था। राजा इन कार्यों के लिए युवराज पर निर्भर थे और युवराज के लिए मागध सेना शत्रुओं की सेना नहीं थी। वह तो कंस की ही आज्ञा के अधीन थी। वह कंस की ही सेना थी।··· परिणाम वही हुआ, जो ऐसी स्थिति में हो सकता था··· कंस ने न यादवों की सभा की चिंता की और न राजा की। उसने आदेश पर आदेश देकर मथुरा का सारा विधान ही बदल दिया। यादवों ने राजा की ओर देखा। राजा ने अपनी सत्ता का उपयोग करना चाहा तो कंस ने उग्रसेन को कारागार में डाल दिया।···

वसुदेव ही नहीं, सारे माथुर चकित रह गए थे, पर विरोध का स्वर कहीं से नहीं उठा। उग्रसेन के अपने आठ पुत्रों ने कंस का विरोध नहीं किया। देवक मौन बैठे रहे। उग्रसेन की पुत्री कंसा के पति अक्रूर प्रसन्न होकर कंस से जा मिले।··· उन सब को लग रहा था कि उग्रसेन को स्वयं ही राज्य युवराज को सौंप देना चाहिए था, या नहीं तो स्वयं चुपचाप सिंहासन पर बैठकर देखना चाहिए था कि कंस मथुरा पर कैसे शासन करता है।··· पर बाद में कुछ और बातें भी प्रकट हुई।··· कंस को उपहार में मगध से अटूट धन मिला था। कंस ने वह धन अपने भाइयों और भगिनीपतियों में एक प्रकार से लुटा दिया था। तो फिर उन लोगों को कंस का विरोध करने की क्या आवश्यकता थी। उग्रसेन उनको कभी इतना धन नहीं देते।··· और फिर राज्य अंततः तो कंस को ही मिलना था। उनको तो कोई राजा बना नहीं रहा था।···

आँखें तो उनकी तब खुलीं, जब कंस ने राजगुरु, राजसभा, मंत्रियों और सेनापतियों की तनिक भी चिंता किए बिना, राजकोष का सारा धन मनमाने ढंग से व्यय करना आरंभ किया। सभा में यह प्रश्न विचारार्थ उठा तो उन लोगों ने कंस का एक नया ही रूप देखा। उसने पूछा, धन किसका है ? राज्य का ही तो। राज्य किसका है ? राजा का ही तो। राजा कौन है ? कंस ही तो। तो जब उसे मंत्रणा की आवश्यकता का अनुभव होगा, वह उन लोगों से पूछ लेगा, अन्यथा उन्हें राजा का मार्ग काटने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। वे अपनी वृत्ति लें और प्रसन्न रहें। उन्हें कोई व्यक्तिगत कष्ट हो तो वे राजा से कहें। राजा उनका कष्ट दूर कर देंगे, पर राजा को अपना विरोध तनिक भी सह्य नहीं है। राजा के विरोध का अर्थ था, राजद्रोह; और राजद्रोह का दंड था, मृत्यु।··· कुछ लोग आपस में ही फुसफुसाते रह गए कि यादवों का राजा तो सारे

यादव वंशों का मुखिया होता था। वह सार्वभौम सत्तासंपन्न स्वतंत्र राजा तो नहीं होता, जैसा अन्य राज्यों में था। पर यह फुसफुसाहट ही रही। राजा से कोई स्पष्ट रूप से कुछ कह नहीं सका।··· सेनापति ने कुछ चतुराई दिखाई और कहा, "महाराज ! राज्य, प्रजा और धन सबके स्वामी राजा ही हैं। पर अपने उस राजा की सुरक्षा के लिए भी प्रबंध करना पड़ता है। उसके लिए सेना और सेनापति हैं। इसलिए आवश्यक है कि मथुरा में सैनिक प्रशिक्षण की परंपरा बनी रहे। युवकों को युद्ध प्रशिक्षण दिया जाता रहे, ताकि सैनिकों की भावी पीढ़ी तैयार होती रहे। अच्छे से अच्छे अश्वों और रथों की भी व्यवस्था होनी चाहिए, ताकि सेना की परिवहन शक्ति बनी रहे। दुर्गों और नगरप्राचीर का निर्माण और संस्कार भी अनिवार्य है···" सेनापति कदाचित् और भी कुछ कहता, किंतु कंस ने उसे डाँट दिया, "क्या उसे राजा की सुरक्षा की चिंता राजा से भी अधिक है ? कोई आवश्यकता नहीं थी, दुर्ग और प्राचीर की। किसमें साहस था कि वह कंस के राजा होते हुए, मथुरा पर आक्रमण करता। यदि किसी ने ऐसा दुस्साहस किया तो मागध सेना किसलिए थी ? कोई आक्रांता मथुरा से जीवित बचकर नहीं जा सकता था।···"

सेनापति ने समझ लिया कि अब कंस को न सेना की आवश्यकता थी और न सेनापति की। उसकी सेना का प्रशिक्षण मगध में हो रहा था। उसकी रक्षा-नीति, संधि-विग्रह का विचार मगध में हो रहा था। उसके मित्रों और शत्रुओं का चयन जरासंध कर रहा था।··· यहाँ तो कंस था, उसकी प्रजा थी और था, कंस का खड्ग।··· और तब से वसुदेव देख रहे थे कि उस खड्ग का भय सबको था। सब उस खड्ग से अपनी रक्षा करना चाहते थे, पर न तो कोई उस खड्ग के सम्मुख अपनी ढाल अड़ाने का साहस कर रहा था, न अपनी खड्ग उससे टकराने का। संगठित होना तो बहुत दूर की बात थी।···

किसी ने द्वार खटखटाया।

देवकी ने वसुदेव की ओर देखा और वसुदेव ने उच्च स्वर में पूछा, "कौन है ?"

"मैं हूँ, कंसा।" स्वर आया, "द्वार खोलिए। मेरी बहन आपकी पत्नी है, बंदिनी नहीं कि आप हमें उससे मिलने ही नहीं देंगे।"

कंसा खिलखिलाकर हँस रही थी, ताकि वसुदेव समझ लें कि वह यह सब विनोद में कह रही है।

वसुदेव ने उठकर द्वार खोल दिया।

कंसा हँसती-खिलखिलाती भीतर आई और सीधी देवकी के पास जाकर रुकी, "अरे, तुम तो अभी यहीं बैठी हो। लगता है, न मुँह हाथ धोया, न कुछ खाया पीया, न कपड़े बदले। मैंने तो समझा था कि अभी तक सामान बाँधकर किसी लंबी यात्रा पर जाने का प्रबंध कर चुकी होगी।"

"क्यों ? ऐसी क्या बात है ?" देवकी ने अपने अवसाद से बाहर निकलने का प्रयत्न किया।

"अरे यहाँ रहोगी तो तुम्हारी सपत्नियाँ किसी न किसी व्याज से प्रतिदिन तुम्हें पीड़ित करने का कोई न कोई प्रसंग ढूंढ़ ही लेंगी।" वह बोली, "कदाचित् पति से मिलन के आह्लाद में तुम भूल गई हो कि तुम वसुदेव की पहली पत्नी नहीं हो। उनकी और भी पत्नियाँ हैं। यहाँ रहोगी तो अपनी सपत्नियों के साथ अपने पति को प्रतिक्षण बाँटती रहोगी।··· अच्छा लो, कुछ खा लो। तुम्हारे लिए मिष्टान्न लाई हूँ। हमारे भगिनीपति तो अब तक अपने मधुर वचनों से तुम्हारा पेट भरने का प्रयत्न करते रहे होंगे। उनके पास वे हैं भी प्रभूत मात्रा में। अब तक तुम्हें विश्वास दिला दिया होगा कि तुमसे प्रेम करनेवाले संसार में वे अकेले ही हैं। माता-पिता, भाई बहनों का प्रेम तो कोई प्रेम होता नहीं।"

देवकी भावशून्य दृष्टि से कंसा को देखती रहीं : यह कैसी स्त्री है। इतनी बड़ी दुर्घटना हो जाने पर भी यह इस प्रकार चुहल कर रही है, जैसे कुछ असाधारण हुआ ही न हो।

देवकी से कंसा के लाए मिष्टान्न में से कुछ भी खाया नहीं गया।

"क्या हो गया है तुझे ?" अंततः कंसा बोली।

"तुम्हें नहीं मालूम ?" देवकी ने कुछ शुष्क स्वर में पूछा।

"शैशव में ऐसा कितनी बार हुआ है कि कंस भैया ने मेरी चोटी पकड़कर मुझे घसीट लिया अथवा दो चाँटे लगा दिए और तुझे सदा स्नेह ही दिया।" कंसा बोली, "उन्होंने सदा तुम्हारा ही पक्ष लिया। मुझे तो डाँटते और पीटते ही रहते थे, और अब भी कौन से बदल गए हैं। आज यदि तुझ पर खड्ग उठा लिया तो इसमें इतना दुखी होने की कौन-सी बात है। खड्ग ही तो उठाया है, तेरा मस्तक तो नहीं काट लिया।"

"मस्तक काटा तो नहीं, पर अपनी इच्छा तो प्रकट कर ही दी है।" देवकी ने उसकी ओर देखा, "मेरे पुत्रों के लिए निश्चित मृत्यु की घोषणा कर दी है।"

"मृत्यु ! जैसे तेरे पुत्रों ने जन्म ले ही लिया हो और जैसे कंस ने कभी अपनी इच्छाओं, प्रयत्नों और आदेशों को परिवर्तित ही न किया हो।" कंसा हँसी, "अरी पगली ! वह तो कंस है। क्रुद्ध होता है तो मृत्यु से कम की बात ही नहीं करता और प्रसन्न होता है तो उसे स्मरण भी नहीं रहता कि वह कभी रुष्ट भी था।"

"हाँ ! ठीक है।" देवकी ने उसे टालना चाहा।

"तो फिर ऐसे मुँह बनाए क्या बैठी हो ?" कंसा देवकी को हँसाने के प्रयत्न में जोर से हँसी।

पर प्रयत्न करके भी देवकी हँस नहीं पाई। भाई-बहन का यह कोई ऐसा झगड़ा नहीं था, जिसे विरोधविहीन सामयिक झगड़ा मान लिया जाए। ऐसा ही होता तो कंस ने अपने पिता उग्रसेन को कब से कारागार से मुक्त कर दिया होता और उनसे क्षमा

मॉग ली होती। भाई-बहनों का क्रीड़ा में झगड़ा और बात है और अपने प्राणों के भय से विरोध पालना कुछ और। कंस की क्रूरता से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती थी कि वह इस बात को भूल जाएगा।···

"कहीं तुझे ऐसा तो नहीं लग रहा कि तेरे पहले पुत्र का जन्म आज ही हो जाना है।" कंसा ने उसे गुदगुदाया, "उसमें कुछ तो समय लगता है बहना ! चाहो भी तो समय से पहले कुछ नहीं होता।"

"जानती हूँ।"

"तो जा ! मथुरा से बाहर चली जा। कुछ दिन भ्रमण कर आ। तेरा मन बहल जाएगा और तू इस दुखद घटना को भूल जाएगी।"

देवकी ने वसुदेव की ओर देखा।

"तुम चाहो तो कंसा बहन के साथ चली जाओ। मैं तो मथुरा छोड़कर जा नहीं सकता। मेरा परिवार है। तुम्हारे अतिरिक्त भी तो मेरी रानियाँ हैं। फिर मैं महाराज का मंत्री हूँ। महाराज की सभा मथुरा में ही रहेगी। मैं मथुरा छोड़कर कैसे जा सकता हूँ।" वसुदेव बोले।

"मैं तो पहले ही जानती थी कि जिस पुरुप की पहले भी रानियाँ हों, उससे विवाह करने पर कन्या को कोई विशेष सुख नहीं मिलता। पर काका ने मेरी बात सुनी ही नहीं। ब्याह दी हमारी परम सुंदरी देवकी भी वृष्णिश्रेष्ठ से। उन्हें तो ये ऐसे भाए हैं कि उनकी और पुत्रियाँ भी होतीं तो इन्हीं से ब्याह देते। और कोई वर खोजने की आवश्यकता ही क्या है।"

"तुम तो यह प्रयत्न करो कंसा ! कि अक्रूर का और कोई विवाह न हो।" वसुदेव ने कुछ हल्के होने का प्रयत्न किया, "वह तुम्हारे ही पल्लू से बँधा रहे।"

कंसा हँसती हुई उठ खड़ी हुई, "जा रही हूँ। पर आती रहूँगी। यह मत सोचना वृष्णिश्रेष्ठ ! कि विवाह के पश्चात् हम अपनी बहन को भुला देंगे। प्रतिदिन हम में से कोई न कोई भाई-बहन यहाँ निश्चित रूप से आएगा ही।"

"अवश्य आइए। आपका ही घर है।" और वसुदेव मुस्कराए, "आप जैसी सुंदरी साली प्रतिदिन आने की धमकी दे तो किसे बुरा लगेगा।"

कंसा मुष्टिका दिखाकर पूर्ण नाटकीयता से बोली, "दुष्ट !"

कंसा चली गई तो वसुदेव ने देवकी की ओर देखा, "क्या था यह ? कैसे इतना प्रेम उमड़ पड़ा ?"

"मैं क्या जानूँ।" देवकी का स्वर अब भी पूर्णतः अवसाद में डूबा हुआ था, "मैं तो केवल यह जानती हूँ कि आपकी और भी पत्नियाँ हैं, और भी दायित्व हैं। आप मुझे मथुरा से बाहर कहीं नहीं ले जा सकते। आपने विवाह तो किया है, किंतु आप के पास अवकाश नहीं है कि आप मुझे इस मथुरा से बाहर कहीं ले जा सकें, जहाँ मेरे और मेरे पुत्रों के लिए मृत्यु की छाया मँडरा रही है।"

"पगली हो तुम !" वसुदेव ने देवकी को प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखा, "मान कर रही हो, विना यह सोचे कि कंसा केवल यह देखने आई थी कि हम कहीं मथुरा छोड़कर जा तो नहीं रहे हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि वह कंस की ओर से गुप्तचर वनकर आई थी।···" वसुदेव ने रुककर देवकी की ओर देखा, "एक वात और कहता हूँ। ध्यान से सुनो। वह जो यह कहकर गई है कि कोई न कोई भाई-वहन तुमसे मिलने अवश्य आएगा, उसका अर्थ है कि एक दिन में कई वार यह देखा जाएगा कि तुम किस स्थिति में हो, कहीं जा तो नहीं रही हो ? सामान तो नहीं वँध रहा ? कोई आया तो नहीं है ? यह क्रम चलेगा और समय आने पर देखा जाएगा कि तुमने गर्भ धारण किया है अथवा नहीं। संतान का जन्म कव होना है···।"

"यह वात है ?" देवकी ने चकित होकर पूछा।

"और क्या समझती हो तुम कि कंस हमें भवन के वाहर वैठाए उन दो गुप्तचरों के भरोसे मुक्त छोड़ देगा। उनको तो हम जव चाहें, भ्रम में डाल कर निकल सकते हैं।" वसुदेव वोले, "वास्तविक गुप्तचरी तो कंसा और उसके भाई-वहन करेंगे, हमारे अपने वनकर अपना प्रेम प्रदर्शित कर।"

"पर वह तो अक्रूर की पत्नी है, वह इस प्रकार कंस का काम क्यों करेगी ?"

"अक्रूर का भी तो अपना स्वार्थ है। क्या वह कंस से भयभीत नहीं है ? क्या उसके मन में कोई लोभ नहीं है ? लोभ और त्रास, दोनों ही उससे हमारे विरुद्ध काम कराएँगे।" वसुदेव वोले, "इस समय वह पूर्णतः कंस के हाथों में खेल रहा है। वह कंस की प्रसन्नता अर्जित करने के लिए हमें और हमारे पुत्रों का वध भी करवा सकता है।"

"मैं उन्हें इतना दुष्ट नहीं समझती।" देवकी के स्वर में अव भी प्रतिरोध था।

"वह दुष्ट कितना है, यह मैं नहीं कह सकता, किंतु वह भीरु भी है और लोभी भी।"

"ओह ! मेरे प्रभु ! और मैं इसे एक वहन का प्रेम समझ रही थी।"

वसुदेव गंभीर हो गए, "एक वहुत महत्त्वपूर्ण वात कहता हूँ देवकी ! इसका सदा ध्यान रखना। हम उन लोगों से घिरे हुए हैं, जो हमारे अपने हैं, किंतु उनमें से कोई भी हमारा अपना नहीं है। आत्मीय लोगों में, संवंधियों में, मित्रों और सुहृदों में प्रेम और स्नेह भी होता है, किंतु तुलना, स्पर्धा और ईर्ष्या भी उन्हीं में होती है। इसलिए हमारा जीवन सरल और सामान्य नहीं होगा। तुम मेरा विश्वास करना। इस संकट में हम दो ही हैं, तुम और मैं। अपनी सहोदराओं का भी विना परीक्षण के भरोसा मत करना। हमें खोजना पड़ेगा कि कौन वस्तुतः हमारा अपना है। इसलिए दूसरों के सम्मुख कहे हुए, मेरे शव्दों के कारण किसी भ्रम में मत पड़ना।···आज कंसा के सम्मुख जो कुछ भी कहा है मैंने, वह सव केवल इसलिए कहा कि कंस को यह विश्वास हो जाए कि मैं सचमुच मथुरा छोड़ कर कहीं नहीं जाऊँगा।" वसुदेव रुके, "मैं तुमसे प्रेम करता हूँ, किंतु अपनी दूसरी पत्नियों का शत्रु नहीं हूँ। फिर भी परखना होगा कि कौन हमारे इस

संकट में कहाँ तक हमारा साथ निभा सकती है।…वैसे मुझे लगता है कि संकट और जोखिम में मैं रोहिणी पर कुछ विश्वास कर सकता हूँ। वह कुछ दुस्साहसी भी है।…"

"जैसा आप उचित समझें।" देवकी वोलीं, "मैं इस विषय में कुछ नहीं जानती।"

10

प्रातः ही सत्यभामा वसुदेव और देवकी को प्रणाम करने आई।

आशीर्वाद देकर वसुदेव ने कहा, "अभी कृष्ण तो नहीं आया ?"

"नहीं ! पिताजी।" सत्यभामा ने कहा, "जाने कहाँ भटक रहे हैं।"

वसुदेव हँसे, "यदि कृष्ण भी भटकने लगा तो संसार को धर्म के मार्ग पर क़ौन ले जाएगा ?"

"नहीं ! मेरा तात्पर्य वह नहीं था।" सत्यभामा ने कुछ संकुचित होकर कहा, "जाने किस कार्य से कहाँ-कहाँ प्रयत्नरत होंगे।"

"किसी उच्च उद्देश्य को प्राप्त करना हो तो प्रयत्न तो करना ही पड़ता है सत्या ! त्याग भी करना पड़ता है।" वसुदेव बोले, "कृष्ण का जन्म बड़े भाग्य से होता है। उसके लिए बहुत तपना पड़ता है।"

"रात्रि को अर्जुन आए थे तो उद्धव और सात्यकि भी कुछ ऐसी ही चर्चा कर रहे थे। वे कह रहे थे कि आपको क्या-क्या नहीं सहन करना पड़ा।" सत्यभामा बोली, "मैं कभी-कभी सोचती हूँ कि जब आप श्यामसुंदर को गोकुल में छोड़ कर आए थे तो आपको कैसा लगता रहा होगा ?"

वसुदेव हँसे किंतु कुछ बोले नहीं।

सत्यभामा को स्मरण हो आया कि उद्धव ने भी कहा था कि वसुदेव उन दिनों की चर्चा नहीं करते। वह अपने भवन में लौट गई।

सत्यभामा चली गई किंतु उसका कहा हुआ वह वाक्य वसुदेव के मन में घुमड़ता रहा। कैसा लगता रहा होगा, जब वे कृष्ण को नंद के पास छोड़कर आए थे ?… कहने को तो उस रात को व्यतीत हुए बहुत समय हो चुका था, किंतु वसुदेव के लिए तो जैसे कल की ही वात थी।… उनके मन में एक-एक घटना, एक-एक बात, एक-एक विचार इस प्रकार सजीव था, जैसे वक्ष पर लगा कोई सद्यःप्राप्त घाव।…

वसुदेव समझ नहीं पा रहे थे कि वे स्वयं कितना चल रहे थे, कितना तैर रहे थे; और कितना पानी का वहाव उन्हें धकेलकर अपनी मनोवांछित दिशा में लिए जा रहा था। वे अपनी गति के प्रति सचेत थे; किंतु इस तथ्य से भी अनभिज्ञ नहीं थे कि अव थकान

उन पर भारी पड़ती जा रही थी और यह बहुत संभव था कि यमुना की किसी लहर का वेग उन्हें अपने साथ ही वहाकर ले जाए।··· क्लांति भी कैसी थी कि इस प्लावन में भी, जहॉ मृत्यु उनके सम्मुख खड़ी थी, उन्हें निद्रा घेर रही थी और इच्छा होती थी कि इन सारे संकटों को भूल कर वे चुपचाप इन लहरों पर ही शांति की नीन्द सो जाएँ··· उनके मन के किसी और कोने में एक और इच्छा भी जन्म ले रही थी। यहीं कुछ दूर पर रोहिणी भी रह रही थी। वहाँ वलराम भी था। वह वर्ष भर का हो चुका होगा। लड़खड़ाकर अपने पैरों पर चलने लगा होगा। चलता न भी हो तो खड़ा तो हो ही जाता होगा। संभवतः तुतलाकर कुछ टूटे-फूटे शव्द भी वोलता होगा। 'माँ' तो कहता ही होगा, संभव है 'पिता' का भी टूटा-फूटा उच्चारण करना सीख गया हो। उनके आठ-आठ पुत्रों ने जन्म लिया है; किंतु वे किसी एक को भी उठते, वैठते, रेंगते अथवा चलते हुए देखना तो दूर, उन्हें करवट वदलते हुए भी नहीं देख पाए थे।···आज अवसर है, वे चाहें तो रोहिणी के घर चले जाएँ। अपनी पत्नी और पुत्र को भी देख लें। थोड़ा विश्राम भी कर लें।···एक वार मथुरा लौट गए तो इन में से कुछ भी संभव नहीं होगा।...

पर वे मथुरा लौटना ही क्यों चाहते हैं ? अव, जव वे कारागार ही नहीं, मथुरा से भी वाहर निकल आए हैं, तो वे पुनः उसी कारागार में लौटना क्यों चाहते हैं ? वे यहीं रह जाएँ और देवकी को किसी प्रकार मुक्त कराने का प्रयत्न करें।···वह सव तो होता ही रहेगा। इस समय वे कितने थके हुए हैं। निद्रा की उन्हें कितनी आवश्यकता है। क्यों न वे रोहिणी के घर में थोड़ी देर विश्राम कर लें ?

पर विश्राम कैसे कर लें ? कंस से उनका निरंतर युद्ध चल रहा था। कंस ने उनकी छह संतानों का वध किया था। उन छह को ले जाकर, उन्होंने स्वयं अपने हाथों से कंस को सौंपा था, ताकि कंस देवकी का वध न करे और देवकी अपने आठवें पुत्र को जन्म दे सके।··· देवकी का आठवाँ पुत्र··· वर्षो से, वे ही नहीं, सारी मथुरा, सारे यादव, देवकी के आठवें पुत्र के जन्म की प्रतीक्षा कर रहे थे। कंस के ज्योतिपियों की भविष्यवाणी और कंस का भय, माथुरों के लिए एक प्रकार की आश्वस्ति का काम कर रहा था। कंस देवकी के आठवें पुत्र से जितना अधिक भयभीत होता जाता था, माथुर उसकी प्रतीक्षा उतनी ही तीव्रता से करने लगते थे।

अव उसी आठवीं संतान का जन्म हो गया था; और कैसी विचित्र लीला थी ईश्वर की कि वे उसे सुरक्षित रूप से नंद को सौंप आए थे।···कृष्ण इस समय अवश्य सुरक्षित था; किंतु वे यह विश्वास कैसे कर सकते थे कि कंस और उसके ससुर जरासंध के जीवित रहते हुए, कृष्ण सुरक्षित रहेगा। क्या कंस यह विश्वास कर लेगा कि देवकी ने इस कन्या को जन्म दिया है ?···उसका वध यह मृतप्राय कन्या करेगी क्या ?···

वसुदेव का ध्यान उस कन्या की ओर चला गया। वह उनके सिर पर उस मंजूषा में सुरक्षित थी।···पर क्या वह मथुरा तक जीवित पहुँच भी पाएगी ?··· वसुदेव का मन अपने ही प्रश्न से डर गया।··· यदि यह कन्या, कंस के हाथों तक जीवित न पहुँची, तो

कंस जाने कैसा उत्पात करे। वह कभी भी यह नहीं मानेगा कि देवकी ने कन्या को जन्म दिया और कन्या की मृत्यु हो गई वह तो यही कहेगा कि वसुदेव ने कोई षड्यंत्र रचा है और देवकी की आठवीं संतान को कहीं छुपा दिया है। इस कन्या को वह किसी और की मृत संतान मानेगा। संभव है, वह देवकी का वध करने पर उतारू हो जाए। संभव है कि वह स्वयं उनका वध कर दे अथवा अपने वधिकों को उनके वध का आदेश दे दे···

और वसुदेव ने जैसे पहली बार अनुभव किया कि इस समय उनका हृदय न तो अपने वध के विचार से उस प्रकार भयभीत हुआ जैसा हुआ करता था और न देवकी की मृत्यु की कल्पना से उनका अस्तित्व काँपा। उन्हें लगा, उनका मन किसी प्रवल आधार को पाकर स्थिर हो गया था··· देवकी अपने आठवें पुत्र को जन्म दे चुकी थी और कृष्ण कंस के कारागार से ही नहीं, उसकी नगरी से भी वाहर नंद के पास पहुँच गया था। नंद उसकी रक्षा अपने प्राण देकर भी करेगा। जो कृष्ण को बचाने के लिए अपनी संतान, यह जानते हुए भी उन्हें दे सकता है कि कंस उसकी हत्या कर देगा, उसके संरक्षण में वे कृष्ण को असुरक्षित नहीं मान सकते।

किंतु उनका कारागार में सुरक्षित पहुँचना आवश्यक था। यदि वे यमुना की लहरों के साथ वह गए और कंस को देवकी के आठवें प्रसव की सूचना मिलने तक वापस कारागार में नहीं पहुँचे, तो उसे प्रमाण मिल जाएगा कि वे कारागार से बाहर निकल गए थे। उसका अर्थ था कि वे अपने आठवें पुत्र को किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचा आए थे।··· वह कृष्ण की खोज करेगा तो उसे नंद तक पहुँचने में वहुत कठिनाई नहीं हो गी।··· ऐसे में उनकी आज तक सहन की गई यह सारी पीड़ा, अपमान की यह सारी यातना··· सब व्यर्थ जाएगी। कंस यदि कृष्ण को पाने में समर्थ हो गया, तो फिर यादवों की यह सारी प्रतीक्षा अर्थहीन हो जाएगी। यादवों का यह जनतंत्र नष्ट हो जाएगा। कंस के राज्य में धर्म और न्याय के लिए कोई स्थान नहीं है। मथुरा में भी जरासंध का राक्षसी राज्य हो जाएगा और कंस का तनिक सा भी विरोध करनेवाला व्यक्ति जीवित नहीं वच पाएगा।···

वसुदेव को लगा कि वे किसी निद्रा से जाग उठे हैं।··· उन्होंने अपनी तंद्रा, शिथिलता और क्लांति को झटककर परे कर दिया है। यह मानना उनकी भूल थी कि उनका लक्ष्य पूरा हो गया है। वस्तुतः अव तो वास्तविक युद्ध आरंभ हुआ है। अव तक तो कंस ने उनके उन पुत्रों का वध किया है, जिनकी मृत्यु होनी ही थी। वह तो अव जन्मा है, जिसके हाथों कंस की मृत्यु होनी है। अब तक उन्होंने कुछ नहीं खोया। वास्तविक वंचना तो कृष्ण से वंचित होने में है ···

पर अपनी संतान को वचाने के लिए वे नंद और यशोदा की संतान की वलि कैसे दे सकते हैं ?···वसुदेव को लगा कि उनके मन में जैसे धिक्कार का सा भाव उठा। यह कैसा स्वार्थ ? यदि नंद उनका इतना निष्ठावान सहयोगी है, तो उसका यह अर्थ तो नहीं कि वे उसकी संतान के साथ ऐसा व्यवहार करें। नंद उनकी संतान की रक्षा

करेगा तो उन्हें भी तो उसकी संतान की रक्षा करनी चाहिए।···

पर क्या वे सचमुच अपनी संतान की रक्षा के लिए नंद की संतान की बलि दे रहे हैं ? क्या नंद कृष्ण की रक्षा इसलिए कर रहा है, क्योंकि वह वसुदेव का पुत्र है और वसुदेव उसका जीवन चाहते हैं ? यदि ऐसा होता तो वह अपनी संतान उनको क्यों सौंप देता ? क्या कृष्ण केवल उनकी संतान हैं ? और कुछ नहीं है ? क्या वह सारे यादवों की एक मात्र आशा नहीं है ?··· नंद किस लिए अपनी कन्या की बलि दे रहा है ? इसीलिए तो कि कृष्ण के प्राणों की रक्षा हो और संसार को कंस से मुक्ति मिले।··· पर क्या यह नहीं हो सकता कि कृष्ण की भी रक्षा हो जाए और यह कन्या भी बच जाए ?···यदि ऐसा हो सकता तो नंद ने वैसा ही कुछ किया होता। वह यह भी तो बता सकता था कि यशोदा ने जुड़वाँ बच्चों को जन्म दिया है।··· किंतु कदाचित् उसे यह विश्वास हो चुका है कि यह कन्या किसी भी अवस्था में जीवित नहीं बचेगी। वह तो जैसे प्रकृति की लीला में कृष्ण के प्राणों को बचाने का निमित्त बनने आई थी। कृष्ण यशोदा का पुत्र बनकर पल सके, उसके लिए यह आवश्यक था कि यशोदा के गर्भ में भी संतान आए, वही इस कन्या ने किया। ··· कृष्ण की सुरक्षा के लिए आवश्यक है कि कंस को यह विश्वास हो कि देवकी की आठवीं संतान मर चुकी है, उसके लिए यह कन्या अपनी देह छोड़ गई है।··· यह योजना तो स्वयं ईश्वर की बनाई हुई लगती है। वसुदेव को इसमें क्या करना है ? वे न तो इसे कार्यान्वित करने के लिए अपनी ओर से कुछ कर सकते हैं, और न ही इस का स्वरूप बदल सकते हैं।··· तो फिर वे किस बात के लिए चिंतित हैं। यदि प्रकृति को इस कन्या से कोई और कार्य करवाना होगा तो वह उसके प्राणों की रक्षा भी कर लेगी।··· संभव है कि कंस के मन में दया जाग जाए। वह इस कन्या की हत्या न करे। उसका वध तो देवकी के आठवें पुत्र के हाथों होना था, पुत्री के हाथों नहीं।··· तो फिर वह इस कन्या का वध क्यों करेगा ?···

वसुदेव को लगा कि उनके मन में एक नया उत्साह भर आया है। वे अब केवल वसुदेव नहीं रह गए थे। वे तो ईश्वर की किसी योजना को पूर्ण करने के एक उपकरण मात्र थे। उस उपकरण को जो कार्य करना था, वही वे करके लौट रहे थे। आगे भी जो प्रभु चाहेंगे, वही होगा···

मथुरा में कारागार के द्वार तक पहुँचने तक वसुदेव एक प्रकार के उन्माद का सा अनुभव करते रहे। उन्हें न तैरने की थकान का अधिक अनुभव हुआ और न ही समय की दीर्घता का कोई आभास।··· वे कारागार के द्वार पर पहुँचे तो यमुना की लहरें अभी उसी प्रकार फुफकार रही थीं। सूर्योदय पर्याप्त निकट था किंतु तट पर क़हीं कोई गतिविधि दिखाई नहीं दे रही थी। न कहीं कोई व्यक्ति देवालय की ओर आता-जाता दिखाई दिया और न कहीं से हवन, यज्ञ अथवा मंत्रोच्चार का स्वर सुनाई दिया। शासन के प्रतिनिधियों का भी कोई अस्तित्व कहीं नहीं था। यमुना के जल का पूर्ण तथा एकछत्र साम्राज्य था। वर्षा का प्रकोप कुछ मंद हुआ था किंतु जल तत्त्व ने सर्वत्र

अपना प्रभुत्व जमा रखा था।

वसुदेव कारागार के निकट आए। द्वार के कपाट उसी प्रकार भिड़े हुए थे, जैसे वे छोड़ गए थे। अर्गला में ताला लटक तो रहा था; किंतु वह बंद नहीं था। द्वाररक्षक से जल्दी में भागते हुए वह इस प्रकार खुला रह गया था और वसुदेव भी उसे इसी प्रकार छोड़ गए थे। इसका अर्थ था कि न तो अभी वह द्वाररक्षक ही लौटा था और न ही कोई अन्य सैनिक अथवा अधिकारी यहाँ आया था। कंस तो इस जलप्लावन में अपना प्रासाद छोड़कर यहाँ क्या ही आता।··· हाँ ! एक अंतर अवश्य था। जब वे गए थे तो बाढ़ का जल कारागार की पहली सीढ़ी तक ही आया था और अब वह उसकी अंतिम सीढ़ी तक चढ़ आया था। बहुत संभव है कि उनकी अनुपस्थिति में वह कारागार में प्रवेश भी कर गया हो और अब उतार पर हो।···

उन्होंने कारागार में प्रवेश किया। वे अपनी कोठरी तक आए। मार्ग में कहीं कोई नहीं था। उग्रसेन और अन्य बंदियों की कोठरियाँ आगे थीं। पानी यहाँ तक नहीं आया था तो आगे क्या गया होगा। ···

उन्हें आते देख कर देवकी उठ खड़ी हुई। वे फटी-फटी आँखों से उनकी ओर देख रही थीं।

"तुम सोई नहीं ?" वसुदेव ने अपने सिर से मंजूषा उतारते हुए कहा।

"आप कृष्ण को वापस ले आए ? क्या गोकुल तक नहीं पहुँच सके ?"

"नहीं। नंद को सौंप आया हूँ कृष्ण।" वसुदेव बोले, "यह तो यशोदा की कन्या है।"

"तो इसे क्यों ले आए आप इस कारागार में ?"

"देवकी की आठवीं संतान के रूप में कंस के सम्मुख भी तो कोई नवजात शिशु प्रस्तुत करना है।" वसुदेव ने मंजूषा देवकी के सम्मुख रख दी, "कन्या को सँभाल लो और मैं यह मंजूषा द्वारपाल की कोठरी में वापस रख आता हूँ।"

देवकी का मन जैसे जड़ हो गया था, किंतु उनका शरीर किसी यंत्र के समान अपना कार्य करता जा रहा था, "पर क्या अपनी संतान की रक्षा के लिए किसी दूसरे की संतान परोस देंगे उस हत्यारे के सम्मुख ?"

वसुदेव के किसी उत्तर से पूर्व ही देवकी ने मंजूषा का आवरण हटाकर कन्या को अपने हाथों में उठा लिया था। उन्होंने कन्या का निरीक्षण किया और बोलीं, "कन्या का रूप तो अलौकिक है, किंतु यह तो जीवित नहीं लगती। क्या मार्ग में ही प्राणांत हो गया ?"

"यह तो कोई वैद्य ही बता सकता था कि जब मैं वहाँ से लेकर चला था तो यह जीवित थी अथवा नहीं।" वसुदेव बोले, "किंतु नंद का विचार था कि यह लंबी आयु लेकर नहीं आई है, अतः इसे कंस को सौंप देने में कोई हानि नहीं है।"

देवकी का चेहरा कठोर पड़ गया, "आता ही होगा वह दुष्ट।"

तभी कारागार के बाहर के कपाटों के खुलने का शब्द हुआ।

"लो आ गया वह।" वसुदेव बोले।

पगध्वनि निकट आती गई। कई लोगों के निकट आने का शब्द था।

वे लोग उनकी कोठरी के निकट आए तो वसुदेव ने देखा कि कंस उनमें नहीं था। वे तो कंस के वे सैनिक थे जो कारागार का समाचार उसे देते थे। वे लोग राज्य वैद्य को, देवकी का परीक्षण करने के लिए, लाए थे।

वैद्य ने देवकी की गोद में शिशु को देखा तो बोला, "प्रसव तो हो चुका। अब मेरा क्या काम है।"

सैनिकों ने आश्चर्य से एक-दूसरे को देखा और फिर उनका नायक बोला, "हमें सूचना नहीं थी कि प्रसव हो चुका है।"

"प्रमाद तुम्हारे सैनिक करते हैं और कष्ट मुझे दिया जाता है। इस आँधी-पानी में तुम लोग मुझे यहाँ घसीट लाए हो, जब कि मेरा यहाँ कोई काम नहीं है।" वैद्य पर्याप्त रुष्ट प्रतीत हो रहा था, "अब जाओ महाराज को सूचना दो कि देवकी की आठवीं संतान ने जन्म ले लिया है।"

"जाओ जाकर द्वारपालों से पूछो कि उन्होंने यह सूचना महाराज तक क्यों नहीं भेजी।" नायक ने आदेश दिया, "आइए वैद्यराज ! आपको आपके निवास तक पहुंचा आएं।"

वैद्य के हाव-भाव से स्पष्ट था कि उसे इस समय इस कष्टकर वेला में आना बहुत अखर रहा था। पर उसने कुछ कहा नहीं। वह चुपचाप उनके साथ लौट गया।

वे चले गए। पहले उनके पगों की ध्वनि होती रही और फिर उनके वार्तालाप का शब्द सुनाई दिया।

"सूचना क्यों नहीं दी गई ?" शायद नायक द्वारपाल से पूछ रहा था।

"कौन-सी सूचना ?" यह बौखलाया हुआ स्वर द्वारपाल का लगता था।

"हम किस सूचना की प्रतीक्षा कर रहे हैं मूर्ख ?"

"तुझे इतना भी पता नहीं है कि देवकी के प्रसव की सूचना महाराज तक तत्काल पहुँचाई जानी थी।" यह किसी और सैनिक की डाँट थी।

द्वारपाल समझ गया होगा कि उससे प्रमाद हो चुका था। रात को तो भागकर अपना घर-परिवार देखने चला ही गया था। अब घर से लौटकर कदाचित् वह द्वार पर खड़ा होकर ही संतुष्ट हो गया था। भीतर तो वह आया ही नहीं था।

"तुम लोग कैसे आए हो ?" उसने कुछ तमककर पूछा।

"नाव से।"

"मेरे पास कौन-सी नाव थी कि मैं महाराज तक सूचना भेजता ?" द्वारपाल का आक्रोशपूर्ण स्वर सुनाई दिया, "मुझे यहाँ टाँगकर किसी ने एक क्षण को भी सोचा कि मेरे घर में क्या हुआ होगा ?"

"शेष लोग कहाँ हैं ?" यह नायक का स्वर था।

"गए होंगे अपने-अपने घरों को।"

"क्यों ?"

"देखने गए हैं कि उनकी पत्नियों ने जिन संतानों का प्रसव किया था वे बालक घर में ही हैं अथवा यमुना में बह गए।" द्वारपाल के मन से कदाचित् क्षणिक रूप से कंस का भय निकल चुका था, "जब अपने पुत्रों के प्राणों पर आ बनती है तो किसे चेत रहता है यह देखने का कि देवकी के आठवें पुत्र ने जन्म लिया है अथवा नहीं।"

"बकवास मत करो।" नायक ने उसे डाँटा, "बिना अपने अधिकारी की अनुमति के अपने कर्मस्थल को इस प्रकार छोड़ जाना, सैनिक को शोभा नहीं देता। मैं महाराज को इसकी सूचना दूँगा।"

"अवश्य दो।" द्वारपाल बोला, "मैं भी महाराज को सूचना दूँगा कि इस प्लावन में हम तो यहाँ अपने धर्म का निर्वाह करते रहे और हमारे अधिकारियों ने हमारे परिवारों की तनिक भी चिंता नहीं की। अपने ही परिवारों को नौकाओं में बैठाकर सुरक्षित स्थानों तक ढोते रहे।"

"मुँह बहुत खुल गया है तुम्हारा।" नायक ने कहा और आगे बढ़ गया।

वे चले गए, किंतु वसुदेव जानते थे कि उनकी वास्तविक परीक्षा अब होगी।

थोड़ी देर में ही कंस के अंगरक्षकों ने आकर उनकी कोठरी का द्वार खोल दिया और अपने शस्त्र लेकर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर सन्नद्ध खड़े हो गए। तब कंस आया। उसने द्वार पर ही रुककर पहले कक्ष का निरीक्षण किया और फिर उसकी दृष्टि देवकी की गोद में निस्पंद सोए शिशु पर टिक गई।

"तो आठवीं संतान ने भी जन्म ले लिया ?" वह प्रसन्न था।

देवकी ने कोई उत्तर नहीं दिया। वसुदेव चुपचाप आगे बढ़े और उन्होंने देवकी से कन्या को लेकर कंस की ओर बढ़ा दिया।

कंस के व्यग्र हाथों ने आगे बढ़कर कन्या को थाम लिया। उसने उसे देखा और उसके मुख का स्वाद जैसे कसैला हो गया।

"कन्या ?" उसने वसुदेव की ओर देखा।

वसुदेव ने केवल सिर हिला दिया, कुछ कहा नहीं।

"मेरा वध करने के लिए कन्या जन्म ले, यह कैसे संभव है ?"

"मेरा विचार है कि तुम्हारे ज्योतिषियों ने देवकी के आठवें पुत्र के विषय में कहा था।" वसुदेव बोले, "यह तो कन्या है और आठवीं संतान भी है या नहीं।..."

"मुझे बहकाने का प्रयत्न मत करो।" कंस बोला, "मैं इन झंझटों में पड़नेवाला नहीं हूँ कि आठवाँ पुत्र अथवा आठवीं संतान। मैं तुम्हारी किसी भी संतान को जीवित

नहीं छोड़ूँगा। · यद्यपि मैं जानता हूँ कि तुम्हारी यह मृतप्राय कन्या मेरा वध नहीं कर सकती।"

"क्यों ? भगवती दुर्गा ने महिषासुर का वध नहीं किया था।"

"तो भगवती दुर्गा ने जन्म लिया है, तुम्हारी पुत्री बनकर ?"

"संभव है।" देवकी ने कहा।

"यह वध करेगी मेरा ?" कंस चिल्लाया।

"हमने कभी ऐसी कोई घोषणा नहीं की।" वसुदेव बोले, "तुम्हारे ही भविष्यवक्ता तुम्हें इस प्रकार की बातें बताते रहते हैं। उनसे ही जाकर पूछो।"

"तुमने शिशु बदल दिया है।" कंस की कठोर दृष्टि वसुदेव पर जा टिकी।

वसुदेव मुस्कराए। वे जानते थे कि कंस इसी निष्कर्ष पर पहुंचेगा।

"हाँ ! तुमने मेरे लिए कारागार के द्वार उन्मुक्त कर दिए थे। तुमने इस वर्षा से मेरी और मेरे शिशु की रक्षा का प्रबंध कर दिया था। तुमने मेरे जाने के लिए एक बड़ी-सी सुरक्षित नौका का प्रबंध कर दिया था। अतः मैं उस नाव में बैठकर अपने पुत्र को मगध पहुँचा आया और वहीं के हाट से इस कन्या को क्रय कर लाया।" वसुदेव मुस्करा रहे थे।

"तुम कारागार के बाहर नहीं गए थे ?" कंस ने उनकी मुस्कान की उपेक्षा की।

"अनेक कपाटों में बंद और असंख्य सैनिकों से रक्षित कारागार में से कोई बाहर जा सकता है, तो मैं गया था।" वसुदेव बोले।

"तुम बताओ देवकी !" कंस देवकी की ओर बढ़ गया, "अपने भाई से झूठ मत बोलना।"

"अपनी संतानों के हत्यारे को भी यदि कोई अपना भाई मान सकता है, तो मैं तुम्हें अपना भाई मानूंगी और तुमसे झूठ नहीं बोलूंगी।" देवकी ने कहा।

"रात को बहुत वर्षा हुई है। कारागार के रक्षक अपने स्थानों पर नहीं रहे। अवश्य ही तुम्हें बाहर निकलने का अवसर मिल गया होगा।" कंस बोला, "तुम्हारे चेहरों पर वैसी दीनता और आतंक भी नहीं है, जैसा कि अपनी संतान को मृत्यु को सौंपने पर हो सकता है।"

"निश्चिंत हम हैं। इसलिए नहीं कि यह हमारी संतान नहीं है।" वसुदेव बोले, "निश्चिंत हम इसलिए हैं कि तुम इसकी हत्या नहीं कर सकते।"

"क्यों ? यह भगवती दुर्गा का अवतार है अथवा यह योगमाया है।" कंस का चेहरा क्रूर हो गया था।

"इसलिए कि इसके प्राण पहले ही इसका शरीर छोड़ चुके हैं।" वसुदेव ने कहा।

कंस ने चौंककर कन्या की ओर देखा : उसके चेहरे को देखा। उसकी बंद आंखों को देखा। उसके श्वास को परखा। उसकी नाड़ी का परीक्षण किया···

उसका चेहरा विकृत हो गया। उसे लगा कि उस कन्या का शरीर चाहे उसके

हाथ में था किंतु वह उसके हाथों से निकलकर ऊपर कहीं आकाश में स्थित होकर उसका मुँह चिढ़ा रही है।··· मार मुझे मार। कर मेरी हत्या।··· तू क्या करेगा मेरी हत्या। अब तेरी हत्या होगी। तेरी हत्या करनेवाले का जन्म हो चुका है। वह सुरक्षित है। पल रहा है। बड़ा हो रहा है।···

"कहां है तुम्हारा पुत्र ? गोकुल में रोहिणी के पास ?" कंस क्रोध से विक्षिप्त हो रहा था।

"रोहिणी के पास उसका अपना पुत्र है।" वसुदेव बोले, "देवकी पुत्र नहीं।"

क्रोध में कस ने कन्या को भूमि पर पटक दिया।

"इन दोनों के हाथों और पैरों में बेड़ियाँ डाल दो ताकि द्वार खुला भी हो तो ये बाहर न जा सकें।" उसने जाते-जाते आदेश दिया।

वसुदेव की हथेलियां उनके कानों से जा लगीं···वे न तो फिर से देवकी का चीत्कार सुन सकते थे और न कंस का अट्टहास ···

11

कृष्ण अभी द्वारका नहीं लौटे थे। अर्जुन को समझ नहीं आ रहा था कि कृष्ण कहाँ रुक गए और क्यों रुक गए···

सहसा उसका ध्यान पिछली रात हुई चर्चा की ओर चला गया। वसुदेव भी अपने संघर्ष के दिनों की चर्चा करना नहीं चाहते और कृष्ण भी अपना युद्ध कहीं अकेले ही लड़ते रहते हैं। लोगों के सम्मुख आते हैं तो कष्ट, यातना अथवा संघर्ष का कोई चिह्न भी उनके आसपास नहीं होता। उनका हंसता-मुस्कराता और विजयी रूप ही सबके सम्मुख प्रकट होता है।··· यह गुण अपने पिता से ही पाया होगा कृष्ण ने···

तभी उद्धव आ गए।

"रात को अच्छी नींद आई ?" उद्धव ने हंसकर पूछा, "सामान्यतः द्वारका के बाहर के लोगों को श्रीकृष्ण के इस भवन में सागर की लहरों का कोलाहल ही सोने नहीं देता।"

"नहीं, मुझे सागर की लहरों ने तनिक भी कष्ट नहीं दिया।" अर्जुन ने कहा, "किंतु कथाकार ! तुम्हारी कथा रात भर मेरे आस-पास डोलती रही। समझ नहीं पाया कि वे मेरे स्वप्न थे, मेरा चिंतन था, स्मृतियाँ थीं, तुम्हारी कथा की छायाकृतियाँ थीं···पता नहीं कथा मेरे भीतर थी या मैं कथा के भीतर था।···"

"अच्छा !" उद्धव ने उत्साहपूर्वक कहा, "मैं नहीं जानता था कि मेरा कथा-वाचन

इतना प्रभावशाली है।"

अर्जुन के मन में भी चपलता जागी, "कथा-वाचन प्रभावशाली था अथवा मेरे भीतर अपने मातुल और मातुला के प्रति लगाव की मात्रा अधिक थी।..."

"तुम तो विनोद में कह रहे हो पार्थ ! किंतु यह तो साहित्य-चिंतन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।" उद्धव ने गंभीरता से कहा, "रचनाकार जो कुछ भी संप्रेपित करता है, यदि वह पाठक अथवा श्रोता के अनुभव संसार का अंग नहीं है अथवा अंग वन नहीं पाता, तो वह रचना को ग्रहण नहीं करता। इसलिए रचनाकार और उसका सहृदय, यदि दोनों एक ही अनुभव-संसार के अंग नहीं हैं तो कदाचित् रचना उतनी प्रभावशाली नहीं हो पाती। कई वार तो यह होता है कि रचनाकार ने जहाँ रचना छोड़ी, श्रोता अपने अनुभव अथवा अपनी संवेदना के कारण उसके आगे अथवा उसके समानांतर अपनी कथा वुनने लगता है।"

"संभव है कि मेरा मन भी रात भर कुछ इसी प्रकार का प्रयत्न करता रहा हो।" अर्जुन ने कहा, "तुम्हारे आने से पहले भी मैं यही सोच रहा था कि मातुल ने मथुरा में रहते हुए भी क्या वहाँ से निकल जाने का प्रयत्न नहीं किया होगा ?"

"क्यों नहीं किया होगा ? अवश्य किया होगा।" उद्धव ने कहा, "वरन् मैं तो यहां तक सोचता हूँ कि जव मथुरा से निकलने के अपने प्रयत्नों में उन्होंने सफलता नहीं पाई होगी, तो उन्होंने प्रयत्नपूर्वक रोहिणी काकी के, मथुरा से वाहर, अपने गोकुल में रहने की व्यवस्था की होगी। यह सारा काम कोई एक दिन में अथवा एक ही प्रयत्न में तो नहीं हो गया होगा।"

"तो कैसे हुआ होगा यह सव ?"

"कथा सुनना चाहते हो ?" उद्धव ने मुस्कराकर पूछा।

अर्जुन ने कुछ नहीं कहा, पर उसकी मुस्कान अपनी माँग स्पष्ट करती रही।

"सुनो !"

नगरद्वार निकट आ रहा था और वसुदव जैसे पूर्णतः सजग हो गए थे। अव कुछ भी हो सकता था। उनकी इतने दिनों की बनाई योजना सफल भी हो सकती थी और क्षण भर में ध्वस्त भी हो सकती थी। ऐसे में उन्हें निराश होकर चुपचाप घर लौट जाना भी पड़ सकता था।

"नगरद्वार के रक्षक तो रथ को रोकने का संकेत कर रहे हैं।" देवकी घवराए हुए स्वर में वोलीं।

"चिंता मत करो। हमें सारी स्थितियों के लिए तैयार रहना है।" वसुदेव वाले, "आवश्यक तो नहीं कि हमें पहली ही वार में सफलता मिल जाए। सहस्रों असफलताओं की नींव पर एक सफलता का प्रासाद वनता है।"

हमें उसके लिए वाध्य नहीं करेंगे।"

वसुदेव सारी स्थिति को वहुत अच्छी प्रकार समझ रहे थे, किंतु वे उसे प्रकट करना नहीं चाहते थे। वोले, "तुम समझते हो कि तुम वसुदेव पर वलप्रयोग कर सकते हो ? तुम मेरे खड्ग का वेग देखना चाहते हो ?"

इस वार नायक शालीनता से मुस्कराया।

"आपके खड्ग के वेग से भली-भाँति परिचित हूँ मैं।" नायक वोला, "हम माथुर हैं, वृष्णिश्रेष्ठ ! हम आप के खड्ग को भी जानते हैं और आप के चरित्र को भी। जहां तक हमारा संबंध है, आप को खड्ग उठाने की भी आवश्यकता नहीं है। हमारा खड्ग आप पर उठ भी नहीं सकता ; पर..." उस ने मुड़ कर पीछे देखा।

"पर क्या ?" वसुदेव का स्वर अवश्य मंद हो गया था, किंतु उन का आक्रोश चुका नहीं था।

"पर पीछे वह जो बैठा है, वह हमारा अधिकारी है। वह मथुरा का निवासी नहीं, मागध है। वह आप पर खड्ग उठा ही नहीं सकता, आप पर प्रहार भी कर सकता है।" नायक वोला, "और उसके आदेश में वँधे हम कुछ भी करने को वाध्य हैं।"

"तुम माथुर होकर भी मागधों के अधीन हो ?" वसुदेव ने उसे उकसाना चाहा।

"आप मंत्री होकर भी यह नहीं जानते क्या ?" नायक वोला, "वस्तुतः हम सव ही मागधों के अधीन हैं। महाराज कंस मागधों पर माथुरों से कहीं अधिक विश्वास करते हैं।"

वसुदेव कुछ सोचते रहे और फिर वोले, "वस्तुतः मैं मथुरा के वाहर जाने का प्रयत्न नहीं कर रहा, मैं तो अपने गोकुल में जा रहा हूँ। अपने गोधन की देख-भाल नहीं करूँगा तो गोपाल असावधान हो जाएँगे। मेरी व्यक्तिगत क्षति तो होगी ही, पर मथुरा राज्य के पशुधन की भी तो हानि होगी। मुझे नगर वंदी वना दिया गया है तो कोई वात नहीं। उसके विषय में मैं महाराज से बात कर लूगा कि यह महाराज का प्रेम है, अथवा उनका रोष, पर इस समय मुझे अपने गोकुल में जाने दो। मेरे गोपाल मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।"

इस वार नायक कुछ विनीत हो गया। वोला, "मैं वह सव समझता हूँ। मैं तो आपका यहाँ तक विश्वास करने को प्रस्तुत हूँ कि आप संध्या तक नहीं तो कल तक लौट भी आएँगे। पर हमें आदेश है कि आपको मथुरा के द्वार से वाहर न जाने दिया जाए। आपका गोकुल, मथुरा से बाहर यमुना पार है। वताइए हम अपने राजा की आज्ञा का उल्लंघन कैसे कर सकते हैं ?"

"ठीक है। मैं मथुरा से वाहर नहीं जाता।" वे रथ से नीचे उतर आए, "देवकी तुम गोकुल में चली जाओ। गोधन को देखकर,गोपालों से चर्चा कर, उनकी आवश्यकताओं को समझकर लौट आओ। तब मैं यहीं से उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने का प्रयत्न करूँगा।"

"नहीं !" नायक ने अश्वों की वल्गा थाम ली, "देवी देवकी को भी मथुरा से बाहर जाने की अनुमति नहीं है। आप दोनों ही नगर से वाहर नहीं जा सकते।"

वसुदेव समझ गए कि नायक से किसी प्रकार की चतुराई नहीं चलेगी। उस से विवाद करने का भी कोई लाभ नहीं था। वह अपने अधिकारियों के आदेशानुसार अपना कार्य कर रहा था।

उन्होंने देवकी की ओर देखा : वे मूर्तिवत् उनकी ओर देख रही थीं। वे पहले ही बहुत आशंकित थीं। लगता था कि नायक के इस नम्र विरोध से ही उनकी सारी आशाएँ जैसे ध्वस्त हो गई थीं।

वे रथ में आ बैठे और नायक को सुनाते हुए वोले, "देवकी ! लगता है कि महाराज को अपने इस मंत्री से कुछ ऐसा काम है कि मुझे स्वयं से दूर नहीं कर सकते।"

देवकी उनके विनोद पर हँस नहीं पाई। वे भावहीन मुद्रा वनाए उनकी ओर देखती रहीं।

"तुम्हारा गोकुल सुरक्षित है। चिंता मत करो। हमारे गोपाल उनकी अच्छी सेवाकर रहे हैं।" वसुदेव बोले, "हम फिर किसी समय चलेंगे और अपने गोधन को देख आएंगे।"

उन्होंने रथ को वापस अपने भवन की ओर मोड़ लिया।

नगरद्वार पीछे छूट गया तो देवकी के मुख पर का वर्ण कुछ सहज हुआ, "वह हमारे रथ की छानवीन करता तो समझ नहीं जाता कि हम मथुरा से भाग रहे थे ?"

"क्यों ? ऐसा क्या था हमारे रथ में, जिससे पता लग जाता कि हम मथुरा छोड़ कर जा रहे थे ?" वसुदेव हँस पड़े।

"आपको हँसी सूझ रही है और मेरे प्राण निकले जा रहे हैं।" देवकी उदास हो गई, "अभी तो कंस को मेरे गर्भ धारण करने की कोई सूचना नहीं है। उसे ज्ञात हो गया तो फिर हमारा मथुरा से निकलना असंभव हो जाएगा।..."

वसुदेव ने विस्मय से उनकी ओर देखा, "आज तुम कंस को भैया भी नहीं कह रहीं और उसके नाम के साथ कोई आदरसूचक विशेषण भी नहीं लगा रहीं।"

"वह तो बचपन का अभ्यास है, जो छूटता ही नहीं था। बड़ी कठिनाई से पीछा छुड़ाया है।" देवकी के स्वर में वितृष्णा प्रकट हुई, "जो मेरी संतान के पीछे पड़ा है, अव मैं कब तक उस हत्यारे को भैया कहती रहूँ।"

वसुदेव भी कुछ गंभीर हो गए थे, "मेरा विचार था कि वह उसका तात्कालिक आवेश था। आरंभ में तो मुझे पूर्ण विश्वास था कि थोड़ा समय व्यतीत हो जाएगा तो वह अपने इस उन्माद से मुक्त हो जाएगा।... पर अव लगता है कि ऐसा नहीं होगा।..."

"तो ?" देवकी ने चिंतित स्वर में पूछा।

"अभी ऐसा कुछ नहीं हुआ है देवकी कि तुम इतनी चिंतित हो गई हो।" वसुदेव

प्रयत्नपूर्वक मुस्कराए, "अभी बहुत समय है हमारे पास सोचने और करने को। मुझे पूरी आशा है कि हम अपनी पहली संतान के जन्म से पूर्व कोई न कोई मार्ग निकाल ही लेंगे।"

वसुदेव का स्वर आशा से परिपूर्ण ही नहीं, उससे आप्लावित भी था; किंतु देवकी को उससे कोई संतोष नहीं हो रहा था। अब तक तो उनके मन में था कि उन पर कोई विपत्ति आनेवाली है, किंतु अब यह स्पष्ट हो गया था कि वे लोग स्वयं को कितना भी स्वतंत्र समझें किंतु वे लोग कंस के बंदी थे। कारागार में न सही, अपने घर में न सही, पर वे नगर में तो बंदी थे ही। नगर में कोई अपना पशुधन नहीं रखता था। अपने उपयोग के लिए दो एक पशुओं की बात और थी। सब के पशु अपने-अपने गोकुल में थे, जहाँ उनके गोपाल उनके पशुओं के साथ रहते थे।··· वसुदेव और देवकी अपने पशुओं को देखने भी नहीं जा सकते थे। अपने गोपालों से भी नहीं मिल सकते थे।···तो वे भ्रमण के लिए कहां जा पाएंगे, अपनी और अपनी भावी संतान की रक्षा के लिए अन्यत्र कौन सा स्थान खोजेंगे···

भवन में लौटकर वसुदेव रथ से उतरे, "आओ देवकी ! घर आ गया है।"

"आप इसे घर कह रहे हैं ?" देवकी का स्वर कटुता से भरा था।

"कोई कारागार में भी रहे तो वह उसका घर हो जाता है और यह तो है ही हमारा घर।" वसुदेव ने देवकी को सहारा देकर रथ से उतारा, "तुम बहुत हताश हो प्रिये ! वैसे अभी उसका समय नहीं आया है। अभी हमारा कुछ नहीं बिगड़ा है।···"

वसुदेव अभी और कुछ कहते किंतु देवकी ने वह सब सुनना स्वीकार नहीं किया। बोलीं, "आप उसे बिगड़ा हुआ कब मानेंगे, जब वह दुष्ट सचमुच ही हमारे पुत्र का वध कर उसका शरीर आपको सौंप देगा ? ···"

"गोकुल नहीं जाने दिया तो हमें ज्ञात हुआ कि हम बंदी हैं, अन्यथा हम तो स्वयं को स्वतंत्र समझकर प्रसन्न थे।···" वसुदेव रुक गए···"एक बात मेरे मन में आ रही है देवकी !"

"क्या ?" देवकी ने पूछा।

"मैं नगरद्वार पर खड़े उस नायक की बात क्यों मान लूँ कि हम नगरबंदी हैं। मैं कंस के पास जाऊँगा और उससे पूछूँगा कि यह सब क्या है।" वसुदेव बोले।

"और वह आपको बता देगा कि यह सब क्या है ?" देवकी बोलीं, "यदि अब भी आपको समझ में न आया हो तो वह आपको समझा देगा कि आप उसके मंत्री नहीं, बंदी हैं।"

"तुम विश्राम करो, मैं देखता हूँ कि मुझे अब क्या करना चाहिए।"

वसुदेव राजप्रासाद में पहुँचे तो वहाँ उन्हें कुछ भी अपने प्रतिकूल दिखाई नहीं पड़ा।

कंस ने बड़े समारोह से वसुदेव का स्वागत किया, "अरे भाई ! आर्य वसुदेव के लिए कोई बढ़िया-सा आसन लाओ। उस आसन पर क्यों बैठा रहे हो, जिस पर प्रत्येक आने-जानेवाला बैठता है।" उसने अपने सेवकों को आदेश दिया, और फिर वह परिचारिका की ओर मुड़ा, "खड़ी-खड़ी क्या कर रही है ? मगध से जो माधवी आई है, वह ला। वसुदेव जी आए हैं। उनका महत्त्व क्यों नहीं समझती ? वे हमारे मंत्री ही नहीं हैं। हमारे भगिनीपति भी हैं। वृष्णिकुलपति हैं। मगध के साम्राज्य के आधार स्तंभ हैं।..."

वसुदेव कंस का यह सारा नाटक देखते रहे। वह उनको प्रभावित करने का प्रयत्न कर रहा था। शायद वह चाहता था कि वे यह स्वीकार कर लें कि वह अब भी उन का पहले जैसा ही मित्र था। अपने मन में वह भी यह जानता था कि अब स्थिति वह न है, न हो सकती है। कदाचित् इसीलिए वह अधिक आवभगत करता दिखाई पड़ रहा था।... पर उसे अपना पाखंड छुपाना भी नहीं आता था।...

"सुनो परिचारिके !" वसुदेव ने परिचारिका को रोक लिया, "महाराज इस समय भूल गए हैं कि मैं माधवी इत्यादि का सेवन नहीं करता, माधवी चाहे मगध की हो, चाहे देवलोक की।"

"क्यों छोड़ दी ?" कंस हँसा।

"छोड़ता वह है, जो कभी पीता रहा हो।" वसुदेव ने कहा, "मैंने कभी आरंभ ही नहीं की तो छोड़ने का प्रश्न कहाँ उठता है।"

"कभी नहीं पी ?"

"महाराज जानते हैं कि मैंने कभी नहीं पी। मुझे माधवी अथवा किसी भी सुरा में कभी रुचि नहीं रही।" वसुदेव कुछ खीजकर बोले।

"सार्वजनिक रूप से नहीं पी, यह मैं जानता हूँ, किंतु एकांत में ?" कंस कुछ धृष्ट हो चला था।

"मैं यह अंतर नहीं करता।" वसुदेव बोले।

"मुझे स्मरण आता है कि तुम कभी-कभी मेरे साथ बैठकर पी लेते थे।" कंस बोला।

"यह आपकी मदांधता की स्मृति है।" वसुदेव ने कहा, "आप यह सब छोड़ कर कृपापूर्वक मेरी बात सुनें। मैं आपके पास एक महत्त्वपूर्ण कार्य से आया हूँ।"

"बोलो।" कंस ने सुनने की मुद्रा बनाई।

"महाराज !..." वसुदेव ने अपनी बात आरंभ की।

किंतु कंस ने उन्हें आगे कहने नहीं दिया। बोला, "इतने पराए होकर क्यों बोल रहे हो बंधु ! हम मित्र हैं। तुम मेरे मंत्री और भगिनीपति भी हो...।"

"वह सब ठीक है।" वसुदेव बोले, "किंतु इस समय मैं मथुरा के अधिपति

महाराज कंस के पास ही आया हूँ।"

"मथुरा का अधिपति कंस तुम्हारे मित्र से कहीं भिन्न है क्या ?" कंस का हास्य आत्मीय तो नहीं था; किंतु अनौपचारिक अवश्य था।

"हाँ महाराज !" वसुदेव बोले, "मथुरा का राजा मेरा मित्र होता तो मुझे आज नगरद्वार पर रोक नहीं लिया जाता। आपने तो मुझे कभी नहीं कहा; किंतु नगरद्वार के रक्षकों के नायक ने मेरा रथ रोककर मुझे बताया कि मुझे अपने गोकुल में जाने की भी अनुमति नहीं है। महाराज कंस के आदेशानुसार मैं नगरबंदी हूँ, अतः मैं मथुरा की प्राचीर से बाहर नहीं जा सकता।"

"जो व्यक्ति नगर भर में कहीं भी जा सकता है, जो किसी से भी मिल सकता है, वह बंदी कैसे हो सकता है ?" कंस जैसे अपनी सच्चाई के प्रति पूर्णतः आश्वस्त था।

"पर मैं नगर से बाहर क्यों नहीं जा सकता ?" वसुदेव भूल गए थे कि कंस क्रुद्ध हो जाए तो किसी का वध करने के लिए उसे एक क्षण को भी सोचना नहीं पड़ता।

"सुनना ही चाहते हो तो सुनो।" कंस क्षण भर में ही पर्याप्त कठोर हो गया लगता था, "यदि तुम नगर के बाहर चले गए, अथवा एक बार मेरे नियंत्रण से मुक्त हो गए तो तुम अपने वचन का कदापि पालन नहीं करोगे।"

"किस वचन का ?"

"यह भी भूल गए न !" कंस हँसा, "इसी का तो भय है मुझे।"

"आपको मालूम है कि मैं अपने वचनों का पालन करता हूँ।"

"इसी का विश्वास करके ही तो चल रहा हूँ मित्र !" कंस बोला, "किंतु अब तुम यह आप-आप छोड़ो और मुझसे मित्रों के समान बात करो, ताकि मैं विश्वास कर सकूँ कि तुम मुझसे रुष्ट नहीं हो।"

"रुष्ट होने का मुझे क्या अधिकार है।"

"फिर वही बात।" कंस बोला, "तुम्हारी ये बातें अपने-आप में प्रमाण हैं कि तुम मुझसे रुष्ट हो।"

"यदि यह सत्य भी हो तो आपको क्या अंतर पड़ता है। मेरा रोष आपका क्या बिगाड़ लेगा, जबकि आपका रोष क्षण भर में मेरे प्राण ले लेगा।" वसुदेव बोले।

"ऐसी बात है तो मेरी बात ध्यान से सुनो वसुदेव !" कंस बोला, "तुम ठीक कह रहे हो कि हमारी मैत्री में भी यह भेद बना ही रहेगा कि मैं चाहूँ तो तुमसे समानता का व्यवहार कर सकता हूँ; किंतु तुम मुझसे समानता का व्यवहार करोगे तो वह तुम्हारे हित में नहीं होगा। मैं तुम्हें मित्र कह रहा हूँ तो उसका अर्थ है कि मैं तुमसे रुष्ट नहीं हूँ।··· अब रही तुम्हारे वचन की बात। तुमने मुझे वचन दिया है कि तुम देवकी के प्रत्येक पुत्र को··· नहीं ! उसकी प्रत्येक संतान को जन्म लेते ही मेरे पास ले आओगे।··· और मुझे यह अधिकार होगा कि मैं उनका वध कर दूं। तुम इसे मेरी शत्रुता नहीं मानोगे।

यह मेरी ओर से आत्मरक्षा का प्रयत्न है। मैं नहीं चाहता कि कोई ऐसा शिशु जीवित रहे जो बड़ा होकर मेरा वध करने का विचार भी मन में ला सके। मैं उसे बड़ा होने ही नहीं दूँगा।..."

"अपना वचन स्मरण है मुझे।" वसुदेव बोले, "उसका मुझे बंदी करने से क्या संबंध ? क्या तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं है ?"

"हाँ ! अब तुम बोले मित्रों के समान।" कंस कुछ सहज हुआ, "मुझे तुम्हारा विश्वास है, इसलिए मैंने तुम्हें और देवकी को जीवित छोड़ दिया; अन्यथा मैं अपने संभावित शत्रुओं को जीवन दान नहीं करता। कंस इतना उदार कभी नहीं रहा और न वह होना ही चाहता है..."

"हम दोनों ही तुम्हारे शत्रु नहीं हैं।"

"जानता हूँ।" कंस बोला, "पर मेरे काल के उत्स हो सकते हो। व्यक्ति को उस जलस्रोत को अपनी आँखों के सम्मुख रखना चाहिए, जिसमें उसके डूबकर मरने की संभावना है। मैं उस जलस्रोत को नदी अथवा सागर बनने ही नहीं दूँगा, जिससे उसकी गहराई इतनी हो सके कि मैं उसमें सिर तक डूब सकूँ, और मर जाऊँ।"

वसुदेव समझ रहे थे कि कंस के मन में क्या है। वे थोड़ी देर तक चुपचाप उसे देखते रहे और फिर बोले, "अच्छा। तुम मुझे बंदी बनाकर मथुरा में रखो, मैं कोई आपत्ति नहीं करूँगा। मैं मथुरा से बाहर भी नहीं जाऊँगा। किंतु अपने पशुधन का ध्यान तो करना ही पड़ेगा। कभी-कभार तो जाकर देखना ही होगा कि गोपाल क्या कर रहे हैं। उसके लिए परिवार से कोई तो होना चाहिए, जो जाकर देख सके। मैं नहीं जाता तो देवकी को ही जाने दो।..."

"नहीं !" कंस कुछ इस प्रकार चिल्लाया कि वसुदेव समझ नहीं पाए कि वह क्रुद्ध था अथवा भयभीत, "कभी नहीं। देवकी तो कभी नहीं। किसी मूल्य पर नहीं। क्या इतना पर्याप्त नहीं है कि मैंने उसे जीवित छोड़ दिया है ?" उसने रुककर वसुदेव को देखा, जैसे चेतावनी दे रहा हो, "इस प्रकार की चतुराई मुझसे मत करना। तुम चाहते हो कि देवकी अपने गर्भ के साथ सुरक्षित मथुरा से बाहर निकल जाए और किसी सुरक्षित स्थान पर अपनी संतान को जन्म दे और तुम्हारा वह पुत्र साधन एकत्रित कर मुझ पर आक्रमण करे। मैं यह सब नहीं होने दूँगा। देवकी मथुरा से बाहर नहीं जा सकती।"

"क्या देवकी मेरा त्याग कर कहीं चली जाएगी ?"

"संसार में कुछ भी असंभव नहीं है।" कंस बोला।

"ठीक है। मैं मान लेता हूँ कि देवकी अपने प्राणों के भय से मुझे मथुरा में छोड़ कर भी जा सकती है।" वसुदेव मुस्कराकर बोले, "पर यदि वह अपने पहले गर्भ की रक्षा के लिए मुझे छोड़ कर चली जाएगी तो उसके आठवें पुत्र का जन्म कैसे संभव होगा ?"

कंस को जैसे कोई तर्क नहीं सूझा। झपटकर बोला, "मैं यह सब कुछ नहीं सुनना

चाहता।"

"और फिर तुम कहते हो कि हम मित्र हैं ?"

"हम मित्र हैं, तव तक, जव तक तुम मुझसे चतुराई नहीं करते। तुमने चतुर वनने का प्रयत्न किया तो मैं तत्काल तुम्हारा भयंकर शत्रु हो जाऊँगा।" कंस के नेत्र क्रोध से लाल हो रहे थे, "मैं शत्रुता करने वाले को भी क्षमा कर सकता हूँ किंतु धूर्तता करनेवाले को नहीं।···मुझसे कभी चतुराई मत करना।"

वसुदेव ने उसके नेत्रों की लालिमा को देखा; किंतु वे उससे विचलित नहीं हुए। वोले, "तो कहो तो अपने गोकुल की सारी गौवें, अपने गोपालों को दान कर दूँ ?"

"क्यों ?"

"जव मैं उन तक जा नहीं सकता। उनका कोई लाभ उठा नहीं सकता। तो फिर उनका स्वामी बने रहने का क्या लाभ है ?" वसुदेव वोले, "गोपाल भी प्रसन्न हो जाएँगे और मथुरा राज्य को मेरे गोकुल से दूध मिलना भी वंद हो जाएगा।"

"धमका रहे हो ?" कंस जोर से हँसा, "नहीं ! न तो मैं तुम्हारी कोई हानि चाहता हूँ, न अपनी क्षति। वे गौवें तुम्हारी ही रहेंगी। हाँ ! यह सोचना पड़ेगा कि तुम्हारे परिवार से कौन अपनेगोकुल में जाकरगोपालों को निर्देश इत्यादि देगा।···"

वसुदेव कुछ नहीं वोले। वे चुपचाप कंस को देखते रहे : देखें वह इस समस्या का कैसे समाधान करता है।

"तुम कह रहे थे कि मैं अकेली देवकी को गोकुल में जाने की अनुमति दे दूँ···" कंस ने मौन होकर वसुदेव की ओर देखा।

"हाँ ! कह तो रहा था···"

"तो क्या देवकीगोकुल का काम सँभाल सकती है ?" कंस ने पूछा।

"अव तक उसने कभी यह काम किया तो नहीं है, किंतु संकट में ऐसे बहुत सारे प्रयोग करने पड़ ही जाते हैं···।"

"इसका अर्थ यही हुआ कि यदि मैं देवकी को मथुरा से वाहर जाने की अनुमति दे दूँ तो वह अपने गोकुल का काम सँभाल लेगी।" कंस वोला।

"ऐसा ही समझ लो।"

"यदि आपात् स्थिति में यह काम देवकी कर सकती है तो रोहिणी भी कर सकती होगी।" कँस हँसा, "वह तो राजकन्या भी नहीं है।"

"हाँ शायद !" वसुदेव कोई स्पष्ट उत्तर देना नहीं चाहते थे।

"तो फिर ऐसा करो," कंस ने कहा, "तुम गोकुल का काम रोहिणी को सौंप दो। मैं उसे मथुरा से बाहर जाने से नहीं रोकूँगा।···" कंस रुककर मुस्कराया, "तुम हमारे पुराने मित्र हो। तुम्हारा कष्ट देखा भी तो नहीं जाता।"

वसुदेव का मन वहुत स्फूर्ति से काम कर रहा था।··· ठीक है··· कंस को रोहिणी और रोहिणी की संतानों से कोई भय नहीं था, इसीलिए वह रोहिणी को मथुरा से बाहर

जाने की अनुमति दे रहा था। इस प्रकार वह तो सुरक्षित थी ही। उसके मथुरा से निकल जाने से उन लोगों को क्या लाभ होगा ?···कोई लाभ हो न हो, वह नन्दगाँव में अपने गोकुल के साथ रहे गी, तो मथुरा से बाहर एक ठिकाना तो होगा।··· आज रोहिणी के लिए एक मार्ग बना है, कल देवकी के लिए भी वन जाएगा।

"पर यदि भविष्य में रोहिणी का कोई पुत्र जन्म लेता है तो तुम यह तो नहीं कहोगे कि वह देवकी का ही पुत्र है ?"

"क्यों कहूँगा। मैं मूर्ख हूँ क्या ?"

वसुदेव ने कंस की ओर देखा, कहें या न कहें ? फिर सोचा कह ही देना चाहिए। कहे बिना तो वात बनेगी नहीं।

"नहीं ! ऐसा कहने का दुस्साहस मैं नहीं कर सकता, किंतु तुम शंकालु तो हो ही।" वसुदेव वोले, "रोहिणी जाकर स्थायी रूप से गोकुल में ही तो नहीं रहने लगेगी। वह मथुरा आती-जाती रहेगी। कल को तुम्हें संदेह हो जाए कि वह देवकी का पुत्र ले गई है और उसे पाल रही है, तो ?···" वसुदेव कंस की ओर देखते रहे। कंस कुछ नहीं वोला तो वे स्वयं ही वोले, "इससे तो अच्छा है कि हम सव मथुरा में ही रहें, ताकि तुम्हारा कोप देवकी के पुत्रों तक ही सीमित रहे, मेरी अन्य रानियों की संतानें तुम्हारे संदेह से मुक्त रहें।···"

कंस को वसुदेव का यह रूप जैसे अपराध-वोध दे गया। वोला, "मैं किसी पर भी कुपित नहीं हूँ। मुझे समझने का प्रयत्न करो। मैं केवल आत्मरक्षा के लिए यह सव कर रहा हूँ।"

"आत्मरक्षा वह तब होती, जब तुम आघात करनेवाले आक्रांता का वध करते।" वसुदेव बोले, "यह कैसी आत्मरक्षा है कि अपने एक भविष्यवक्ता के कहने मात्र से तुम अपनी वहन की सारी संतानों को मार डालना चाहते हो और ऐसा करने में सफल हो सको, उसके लिए तुमने देवकी और मुझे एक प्रकार से वंदी बना लिया है। और यह सब किया है, मित्र बनकर। यदि तुम मुझे अपना शत्रु मान लो और मेरा वध कर डालो तो मैं तनिक भी प्रतिवाद नहीं करूँगा। पर तुम मित्र भी बने रहना चाहते हो और मुझे वंदी भी करना चाहते हो। देवकी के पुत्रों के वध का संकल्प भी किए वैठे हो और चाहते हो कि देवकी तुम्हें अपना प्रिय भाई भी मानती रहे।···"

कंस के नेत्रों में व्यग्रता उभरी और वसुदेव मौन हो गए।

"मैं तुम्हारा शत्रु नहीं हूँ, इसलिए चाहता हूँ कि तुम मुझे अपना मित्र ही मानो और देवकी मुझे पहले के ही समान अपना प्रिय भाई माने। मैं तुम दोनों से प्रेम करता हूँ, पर मैं स्वयं से भी प्रेम करता हूँ। अपनी रानियों और अपने पुत्रों से भी प्रेम करता हूँ, इसलिए स्वयं जीवित भी रहना चाहता हूँ।" वह रुक गया, "तुम ही वताओ, मैंने तुम लोगों को मथुरा से वाहर नहीं जाने दिया, किंतु अन्य कोई दुर्व्यवहार किया ? तुम्हारी गोकुलवाली कठिनाई मैंने समझ ली है, इसलिए स्वयं कह रहा हूँ कि रोहिणी को मथुरा

से बाहर जाने तथा मथुरा में लौटकर आने की अनुमति है।"

वसुदेव के मन में आया कि कहें कि तुम बहुत अच्छे व्यक्ति हो पर तभी तक जब तक तुम्हारी इच्छा का अतिक्रमण नहीं होता। तुम्हारी इच्छा के बाहर तो किसी को कोई अधिकार ही नहीं है। यहाँ तक कि तुम्हारे पिता को भी नहीं। तुम्हें राज्य करने की इच्छा हुई तो अपने पिता को भी कारागार में डाल दिया।···यादवों ने बहुत भूल की कि उसे तुम्हारा पारिवारिक क्षेत्र मान कर, अथवा तुम से डरकर अथवा अपने निहित स्वार्थो में उल कर उग्रसेन का साथ नहीं दिया और उस अवसर पर मौन रह गए।···अब भी एक भविष्यवक्ता की सच्ची-झूठी भविष्यवाणी से विचलित हो कर तुम देवकी की सारी संतानों का वध कर देना चाहते हो। अपराध अभी हुआ नहीं और तुम उसके लिए हमें दंडित करना चाहते हो।··· यादव अब भी मौन हैं। जब तुमने देवकी का वध करने के लिए खड्ग ताना था, तब भी वे मौन थे। उन्हें कदाचित् मौन रहने का अभ्यास हो चुका है। पर मौन से अन्याय का प्रतिकार तो नहीं होता। आज अत्याचार वसुदेव के साथ हो रहा है, तो उनके कान पर जूँ नहीं रेंग रही, पर अत्याचार को रोका न जाए तो वह संतुष्ट होकर कहीं रुक तो नहीं जाता। वह निरंतर अपना प्रसार करता है। वह वसुदेव को नष्ट कर शांत तो नहीं होगा। कल वह अत्याचार अन्य यादवों को भी अपना ग्रास बनाएगा, तब वे स्मरण करेंगे कि कभी वसुदेव के साथ भी अत्याचार हुआ था, राक्षसी अत्याचार···

"तो यह मेरे मित्र कंस का वचन है कि रोहिणी तथा मेरी अन्य रानियों की संतानें सुरक्षित हैं ?" वसुदेव ने पूछा।

"तुम्हारे मित्र कंस का भी और महाराज कंस का भी।" कंस ने कहा, "मैं देवकी की संतानों को जीवित नहीं छोड़ सकता, अन्यथा मेरी मित्रता का जो प्रमाण चाहो, माँग सकते हो।"

वसुदेव घर लौट आए।

"कुछ बात बनी ?" देवकी ने पूछा।

"कोई विशेष नहीं।" वसुदेव बोले, "वह इतना तो मान गया है कि रोहिणी गोकुल में जाकर गोधन का पालन-पोषण करे, किंतु हम दोनों को वह किसी भी स्थिति में मथुरा से बाहर जाने की अनुमति नहीं देगा।"

"तो हम उसके बंदी बने रहेंगे और वह हमारे पुत्रों का वध करता रहेगा ?" देवकी के स्वर में जैसे चीत्कार था।

"इतनी जल्दी हताश हो जाना तो कोई अच्छी बात नहीं देवकी !" वसुदेव ने मुस्कराकर स्थिति को सहज बनाने का प्रयत्न किया।

पर देवकी हँस नहीं पाई। बोलीं, "मैं हताश नहीं हूँ, किंतु आपके समान निश्चिंत भी नहीं हूँ।"

"मैं तुम्हें निश्चिंत दिखाई देता हूँ ?"

देवकी तत्काल 'हां' नहीं कह पाई, पर कुछ प्रयत्न कर वोलीं, "अपनी तुलना में तो आपको निश्चिंत ही पाती हूँ।"

"मैं कंस के पास गया था। किसलिए ? क्योंकि मैं निश्चिंत हूं ?"

"मैं तो अव कंस का मुख भी नहीं देख सकती। आप जाने उससे कैसे वात करते हैं।" देवकी वोली, "सोचती हूँ कि जिस समय उसने ताऊजी को कारागार में डाला था, पिताजी को उसी समय उसका विरोध करना चाहिए था। वह केवल पिता और पुत्र का क्षेत्र नहीं था, उससे तो सारे यादवों का भाग्य अनुस्यूत है।"

"ठीक कहती हो।" वसुदेव बोले, "किंतु बात केवल इतनी ही नहीं है कि यादवों ने एक पुत्र को अपने पिता के साथ निबटने के लिए मुक्त छोड़ दिया था। उसके साथ जरासंध का भय भी था और कितने ही लोग चाहते थे कि महाराज उग्रसेन की पकड़ राज्य पर से कुछ ढीली हो।..."

"क्यों ?"

"क्योंकि महाराज उग्रसेन उनके स्वार्थो के आड़े आ रहे थे।" वसुदेव बोले, "स्वाथियों और अपराधियों को न्यायी राजा अपने अनुकूल नहीं लगता।"

"आप कहना चाहते हैं कि महाराज उग्रसेन जैसे न्यायी राजा को भी कुछ लोग नहीं चाहते थे ?"

"न्यायी राजा को तो न्यायी प्रजा ही पसंद कर सकती है।" वसुदेव बोले, "अराजक तत्त्व कभी भी सक्षम और न्यायी राजा की कामना नहीं करते।"

"और जब उसने मुझे मारने के लिए खड्ग निकाल लिया था, तब क्या हुआ था ?"

"तब तो मुझे यही लगा कि यादव अब अपनी एकता को ही नहीं खो चुके, वे संकीर्ण, स्वार्थी और भीरु भी हो चुके हैं। वे सामूहिक हित के लिए नहीं, केवल व्यक्तिगत हित के लिए ही लड़ सकते हैं। सोचते हैं कि कंस दुष्ट है किंतु दूसरों के लिए। मेरे साथ तो वह कोई दुष्टता नहीं कर रहा न ! किसी और के लिए कोई अपने प्राणों पर संकट क्यों झेले।"

"यह तो क्षत्रियत्व नहीं है।" देवकी ने कहा।

"हाँ ! इसे क्षत्रियत्व का लोप ही समझो।"

"तो हमारा भविष्य क्या है ?"

"मथुरा के यादवों में से क्षत्रियत्व का लोप हुआ है, प्रकृति में से सात्विकता का लोप तो नहीं हो गया।" वसुदेव हँसे, "धैर्य रखो। प्रत्येक सूर्यास्त के पश्चात् सूर्योदय भी होता है।"

उद्धव मौन हो गए।

"सुंदर ! अति सुंदर !!" अर्जुन ने कहा, "लगता है कि एकदम ऐसा ही हुआ होगा।"

"अच्छा ! आगे की कथा फिर सही।" उद्धव ने कहा, "चलो रुक्मिणी भाभी से पूछें कि श्रीकृष्ण का कोई संदेश आया है या नहीं।"

"चलो।"

12

स्वागताधिकारी ने दुर्योधन को टोका, "आप मेरे साथ आएँ।"

"कहाँ ?" दुर्योधन के स्वर में जिज्ञासा भी थी और आपत्ति भी।

"अतिथिभवन में।" स्वागताधिकारी बोला, "वासुदेव रात को बहुत विलंब से सोए हैं। संभव है कि वे कुछ विलंब से जागें। स्नान-ध्यान में भी कुछ समय लग सकता है। ऐसे में आप कहाँ प्रतीक्षा करते रहेंगे। मैं आपको अतिथिभवन में ठहरा देता हूं। आप निश्चिंत होकर वहां विश्राम करें, अथवा अपना मनोरंजन करें। वासुदेव अपनी सुविधा से आपको बुला लेंगे।... अथवा इच्छा होने पर स्वयं ही आप से मिलने चले आएंगे।"

दुर्योधन के मन में अहंकार का जैसे विस्फोट ही हो गया।... ये यादव सचमुच ही विक्षिप्त हो गए हैं क्या ? अपने आपको क्या समझने लगे हैं ? कौरव तो उग्रसेन को भी कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण राजा नहीं मानते, तो यह कृष्ण क्या है ? अधिक से अधिक यादवों की सभा का एक प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण सदस्य।... और उसका यह सेवक कौरवों के युवराज को इस प्रकार रोक रहा है, जैसे कृष्ण कोई सम्राट् हो और दुर्योधन उस की राजसभा में आया कोई याचक।...

दुर्योधन ने भूल की कि वह अपने साथ आए योद्धाओं को नगर के बाहर अपने स्कंधावार में ही छोड़ आया। नहीं तो अभी इस स्वागताधिकारी को किसी वृक्ष के साथ टाँग देता।... वैसे सैनिकों की भी क्या आवश्यकता है, वह चाहे तो स्वयं ही एक झटके में इसका मुंड धरती पर लुढ़का दे... पर नहीं। वह कृष्ण से सहायता माँगने आया है। उसे स्वयं को संयत रखना होगा। कृष्ण के स्वागताधिकारी का वध कर, वह कृष्ण से सहायता कैसे माँग सकता है।...

"तुम मुझे पहचानते तो हो कि मैं कौन हूँ ?" दुर्योधन ने जैसे साधारण--सा प्रश्न किया था; किंतु उसके शब्दों में जो अनावृत धमकी थी, उसे स्वागताधिकारी भी समझ रहा था।

"पहचानता हूँ युवराज !" वह मुस्कराया, "आप राजकुमारी लक्ष्मणा के पिता हैं।

आपको अपने समधियों की मर्यादा का पालन करना चाहिए।"

दुर्योधन को झटका लगा : अपने जिस संवंध को वह अधिक अधिकार पाने के लिए रेखांकित कर रहा था, उसी संवंध के आधार पर, स्वागताधिकारी ने उसे कुछ और छोटा कर दिया था।

"आप चाहें तो मैं आपको राजकुमारी लक्ष्मणा के भवन में ले चलूँ। कदाचित् आप वहां अतिथिभवन से अधिक आत्मीयता का अनुभव करें।" स्वागताधिकारी वोला।

"मैं वहीं से आ रहा हूँ मूर्ख !" वहुत प्रयत्न करने पर भी दुर्योधन स्वयं को संयत नहीं कर पाया, "वैसे तुम्हें यही संवंध क्यों स्मरण रह गया ? तुम भूल गए कि मैं वासुदेव वलराम का पट्ट शिष्य भी हूँ।"

स्वागताधिकारी का मुँह कड़वा हो गया : उसे आज तक उसके स्वामी ने भी इस प्रकार नहीं धिक्कारा था। दुर्योधन की अभद्रता उसे आरंभ से ही खल रही थी। इस समय तो वह जैसे पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी।··· किंतु वह उसके स्वामी का संवंधी था। वह मर्यादाहीन हो रहा था; किंतु स्वागताधिकारी तो अपनी मर्यादा नहीं छोड़ सकता था। वह वासुदेव श्रीकृष्ण का स्वागताधिकारी था। उसे तो वैसा ही व्यवहार करना होगा, जो ऐसे पद के लिए उचित था।···

"मुझे भी कुछ आश्चर्य हुआ कि आप अपने गुरु को प्रणाम करने नहीं गए और पहले अपने समधी के द्वार पर आ गए।"

दुर्योधन की आँखों में कुछ क्रोध झलका : यह स्वागताधिकारी उसके प्रत्येक वाक्य को उसके अवमूल्यन का कारण वना देता है।···

"अपने गुरु के पास मैं उनकी सुविधा के अनुसार प्रणाम करने जाऊँगा; किंतु अपने समधी से तो मैं अपनी सुविधा से मिल सकता हूँ।"

दुर्योधन आगे वढ़ गया।

स्वागताधिकारी उसका मार्ग छेककर खड़ा हो गया, "अभी वासुदेव निद्रामग्न हैं राजकुमार ! आप थोड़ा समय कहीं और व्यतीत कर लें—उद्यान में, अतिथिभवन में, सागरतट पर··· किंतु वासुदेव के कक्ष में न जाएँ।"

दुर्योधन के मन में आया कि वह स्वागताधिकारी को एक ठोकर मारे और आगे वढ़ जाए··· किंतु उसके इस व्यवहार को एक अहंकारी राजा की उच्छृंखलता माना जाता··· उस ने वड़ी कठिनाई से स्वयं को संयत किया, "मैं रुक नहीं सकता स्वागताधिकारी ! मुझे वासुदेव से तत्काल मिलना है। एक-एक निमिष से भी वहुत अंतर पड़ जाएगा। मेरी भयंकर क्षति हो सकती है। इसलिए मुझे रोको मत। अन्यथा मुझे वलप्रयोग करना पड़ेगा··· ।"

स्वागताधिकारी हंस पड़ा, "आप वलपूर्वक भीतर प्रवेश करना चाहें, वड़ी प्रसन्नता से करें। उस स्थिति में मेरे स्वामी मुझसे रुष्ट नहीं होंगे। उस स्थिति का दायित्व आप पर होगा।"

दुर्योधन सँभल गया। स्वागताधिकारी ठीक कह रहा था। यदि वह कृष्ण के कर्मचारियों से संघर्ष कर, वलपूर्वक उसके कक्ष में प्रवेश करेगा, तो कृष्ण उससे प्रसन्न कैसे होगा ? वह उसकी सहायता क्यों करेगा ? उसकी सहायता करने को कृष्ण वाध्य तो नहीं है। संवंधी होने मात्र से उसे कृष्ण पर ऐसा कोई अधिकार तो प्राप्त नहीं हो जाता। ··· उसके पास तो एक ही मार्ग है कि वह शिष्टता, प्रेम और संवंध के आवरण में कृष्ण के निकट पहुँचे। कृष्ण उसकी सहायता करे तो करे; किंतु यदि वह उस की सहायता नहीं करता और पांडवों की सहायता करता है, तो दुर्योधन बलराम को इसी आधार पर उत्तेजित कर सकता है कि कृष्ण पांडवों का पक्षपाती है। इसलिए बलराम को दुर्योधन का पक्ष लेना चाहिए···

"नहीं ! मेरी ऐसी कोई योजना नहीं है।" दुर्योधन कुछ विनम्र स्वर में वोला, "मैं तो बस असाधारण रूप से उत्कंठित हूँ। मेरा मन और किसी स्थान पर नहीं रमेगा। मैं कृष्ण के निकट रहना चाहता हूँ। मेरा विश्वास करो, मैं कुछ भी ऐसा नहीं करूँगा, जिससे उसकी निद्रा भंग हो। मैं उसके निकट वैठ शांति से उसके जागने की प्रतीक्षा करूँगा। वह जागेगा तो उससे कुछ क्षणों तक चर्चा कर, चला जाऊँगा, ताकि उसके पश्चात् अपनी रुचि से वह अपनी दिनचर्या चला सके। हमारा तत्काल मिलना कितना आवश्यक है, तुम नहीं समझ रहे। दो महत्त्वपूर्ण व्यक्ति मिलते हैं तो दूरगामी महत्त्व के राजनीतिक निर्णय होते हैं, तुम समझ रहे हो कि मैं यहाँ अपना सत्कार करवाने आया हूँ।"

"मैं जानता हूँ कि आप महत्त्वपूर्ण राजनीतिक निर्णयों के लिए ही व्याकुल हैं युवराज ! पर मेरा धर्म है कि मैं अपने स्वामी के विश्राम को वाधित न होने दूँ। अतिथियों को उसी समय उनके सम्मुख प्रस्तुत करूँ, जब वे उनसे मिलना चाहें।" स्वागताधिकारी बोला, "आप वचन देते हैं कि आप उनकी निद्रा में व्याघात नहीं डालेंगे ?"

"मैं वचन देता हूँ।"

"तो आइए।" स्वागताधिकारी आगे-आगे चल पड़ा, "किंतु स्मरण रखिएगा कि आपका वचन एक क्षत्रिय का वचन है।"

दुर्योधन कुछ नहीं बोला। वह चुपचाप उसके पीछे चलता रहा। वह पक्ष अथवा विपक्ष में कुछ भी कहकर, किसी विवाद में पड़ना नहीं चाहता था। ऐसा न हो कि वह कुछ कहे और किसी भी कारण से स्वागताधिकारी अपना निश्चय वदल दे ···

स्वागताधिकारी को आते देखकर द्वार पर खड़ा परिचारक एक ओर हट गया। स्वागताधिकारी ने बहुत धीरे से कपाट खोले। कृष्ण अभी सो रहे थे। उसने संकेत से दुर्योधन को भीतर प्रवेश करने के लिए कहा और एक आसन की ओर इंगित कर दिया। दुर्योधन ने एक आज्ञाकारी बालक के समान भीतर प्रवेश किया। स्वागताधिकारी ने कपाट पहले के ही समान भिड़ा दिए।

दुर्योधन ने कुछ आश्वस्त होकर मुक्त मन से सांस ली।··· अंततः वह कृष्ण के

कक्ष में पहुँच ही गया था। कृष्ण अचेत सो रहा था। अर्जुन भी कृष्ण की प्रतीक्षा में दो दिनों से द्वारका में ही था, पर वह अभी तक कृष्ण से मिल नहीं पाया था। मिलता भी कैसे कल रात देर गए कृष्ण द्वारका लौटा था, जब अर्जुन चैन से अपने पलंग पर सो रहा होगा।··· कृष्ण के द्वारका लौटने की सूचना के बाद से ही दुर्योधन व्याकुल था कि कहीं अर्जुन उसके कृष्ण से मिलने से पहले ही उसके सम्मुख न पहुँच जाए। कृष्ण से मिल कर कोई वचन न ले ले।···अब ऐसा कोई भय नहीं था··· यदि दुर्योधन इस आसन पर बैठ जाए, तो निद्रा टूटते ही, आँख खुलते ही, कृष्ण उसे देखेगा। दुर्योधन उसी समय उससे सहायता माँगेगा। कृष्ण उसे सहायता देना नहीं चाहेगा। वह निश्चित रूप से पांडवों का मित्र है, तो पांडवों के विरुद्ध लड़नेवाले पक्ष को वह सैनिक सहायता क्यों देगा। किंतु यदि वह सहायता नहीं देगा, तो दुर्योधन अपने गुरु बलराम के पास जा सकता है, अपनी पुत्री लक्ष्मणा के पास जा सकता है, वह कृष्ण और सात्यकि के शत्रुओं के पास जा सकता है।··· सात्यकि का परम विरोधी कृतवर्मा··· कृष्ण की पुत्री चारुमती का श्वसुर कृतवर्मा। दुर्योधन कृतवर्मा के पास जा सकता है। कैसा संयोग था कि दुर्योधन भी कृष्ण का समधी था और कृतवर्मा भी। कृतवर्मा अवश्य ही उस की सहायता करेगा।··· दुर्योधन, कृष्ण के पक्षपाती उग्रसेन के विरोधी अक्रूर का भी आश्रय ले सकता है। वह कृष्ण पर पक्षपात का, भेदभाव का, आरोप लगा सकता है। वह बलराम को उनके भाई के विरुद्ध भड़का सकता है, सांब को उसके पिता के विरुद्ध प्रेरित कर सकता है··· वह कृष्ण के घर और परिवार के भीतर ऐसी कलह भड़काएगा कि कृष्ण कौरव-पांडवों का युद्ध भूल जाएगा और अपनी आँखों के सम्मुख अपने वंश के लोगों को एक-दूसरे के विरुद्ध लड़ते हुए देखेगा।

सहसा दुर्योधन का विचार बदला··· इतना सब सोचने और करने की क्या आवश्यकता है। कक्ष में वह है और कृष्ण है। कक्ष के कपाट बंद हैं। कृष्ण अचेत सो रहा है। यदि इस समय दुर्योधन अपने खड्ग का एक वार करे, तो कृष्ण फिर कभी अपने पैरों पर उठकर खड़ा नहीं हो पाएगा। एक हल्का-सा शब्द भी नहीं होगा। किसी को कुछ ज्ञात नहीं होगा और दुर्योधन कपाट खोल कर निकल जाएगा··· कृष्ण नहीं रहेगा तो पांडवों को यादवों की ओर से शायद ही कोई सहायता मिले। पांडव वैसे ही उसके शोक में रो-रोकर मर जाएँगे।···शायद फिर युद्ध की आवश्यकता ही न रहे। कोई युद्ध करनेवाला ही न रहे···

किंतु कहीं ऐसा न हो कि उसकी किसी आहट से कृष्ण जाग जाए और सुदर्शन चक्र के एक ही आघात से शिशुपाल के मुंड के समान, दुर्योधन का मुंड भी भूमि पर लुढ़कता दिखाई दे। इस मायावी का कुछ पता नहीं कि सोया है अथवा नाटक ही कर रहा है।··· वह न भी जागे और किसी प्रकार का कोई शब्द हो जाए, कृष्ण के सहयोगी आ जाएं··· कदाचित् वे दुर्योधन को पकड़कर बाँध न भी पाएँ। किंतु यदि यह सूचना यादवों को मिल गई कि कृष्ण का हत्यारा दुर्योधन है, तो बलराम और कृतवर्मा की

मैत्री की भावना भी दुर्योधन के प्रतिकूल हो सकती है। पांडव कृष्ण को खोएँगे तो दुर्योधन बलराम को खो देगा। उससे तो कहीं अच्छा है कि वह युद्ध में कृष्ण के विरुद्ध बलराम को खड़ा कर दे···

तभी पुनः कक्ष के कपाट खुले।

दुर्योधन ने चकित दृष्टि से देखा कि द्वार पर अर्जुन खड़ा था। स्वागताधिकारी उसे भी निःशब्द प्रवेश करने का इंगित कर रहा था।···तो अर्जुन आ गया कृष्ण की रक्षा करने ···

दुर्योधन को लगा कि कृष्ण मुस्करा रहा है। जैसे कह रहा हो, "मूर्ख ! तू मुझे सोया हुआ समझ रहा है, अचेत। मैं तो तब भी जाग रहा होता हूँ, जब सारा जगत् सो रहा होता है।···"

दुर्योधन की समझ में कुछ नहीं आया कि उस सोए हुए कृष्ण ने कैसे जान लिया कि दुर्योधन के मन में क्या है। उसने बिना हिले-डुले बाहर सूचना कैसे भेज दी और वे लोग अर्जुन को यहाँ कैसे ले आए··· । अर्जुन तो इतनी प्रातः आकर कृष्ण को कष्ट देनेवालों में से नहीं है।···

अर्जुन ने बिना एक भी शब्द कहे, हाथ जोड़कर दुर्योधन को प्रणाम किया।

'मैत्री दिखा रहा है।' दुर्योधन ने मन ही मन कहा, 'तो दुर्योधन ही कौन-सा धूर्तता में कम है। ऊपरी शिष्टाचार दिखाना उसे ही कौन बहुत भारी पड़ता है।'

दुर्योधन ने हाथों की ही मुद्रा से पूछा, "यहाँ कैसे ?"

और अर्जुन ने अंगुली के संकेत से ही कहा कि उसे कृष्ण से मिलना है।

दुर्योधन का मुख कड़वा हो गया··· कृष्ण के बिना इनका कोई काम नहीं चलता। हर समय दौड़कर कृष्ण के पास चले आते हैं। जब सब कुछ उसी की इच्छा और सामर्थ्य से होना है, तो सिंहासन पर उसे ही क्यों नहीं बैठा देते ?...

अर्जुन आगे बढ़ रहा था।··· दुर्योधन ने दृष्टि घुमाई। पलंग की दूसरी ओर एक और आसन रखा हुआ था। शायद अर्जुन उस पर बैठना चाहता था··· पर नहीं। अर्जुन तो पलंग के पायताने के निकट आकर रुक गया था। जाने वह क्या देख रहा था।···सदा ही उनींदा-सा खड़ा, शून्य में कुछ अस्पष्ट सा देखता रहता है।...

अर्जुन ने रुककर कृष्ण के मुखमंडल की ओर देखा··· कैसा शांत और प्रसन्न चेहरा था और कैसी प्रगाढ़ निद्रा थी। इस प्रकार निश्चिंत होकर कितने लोग सो पाते हैं ··· कृष्ण के मुखमंडल पर बालक का सा भोलापन भी था और देवसुलभ दिव्यता भी।···

अर्जुन बहुत धीरे से उनके चरणों के पास, पलंग पर ही बैठ गया।···

दुर्योधन सोच रहा था : यह मूर्ख, सोए हुए कृष्ण को जगाकर ही छोड़ेगा।··· जगा देगा तो जगा दे। कृष्ण उसी से रुष्ट होगा और जो कुछ यह माँगने आया है, उसे नहीं देगा।··· पर यह क्या माँगने आया है ? अभिमन्यु के विवाह के अवसर पर

कितने दिनों तक तो कृष्ण उपप्लव्य में उन्हीं के पास था। तो क्यों नहीं मांग लिया उन्होंने, जो कुछ उन्हें माँगना था। दौड़े-दौड़े यहाँ द्वारका में आने की क्या आवश्यकता थी ?···पर नहीं। शायद अर्जुन के इस प्रकार बैठने से कृष्ण की निद्रा भंग नहीं होगी। अर्जुन बैठा ही कहां था। वह तो पलंग की पाटी का सहारा लेकर लगभग खड़ा ही था। इसी योग्य थे ये पांडव। दासों और भृत्यों के समान सदा याचना करनेवाले। यह अर्जुन पलंग की पाटी पर ही क्यों बैठा था। यह नीचे भूमि पर ही क्यों नहीं बैठता। इसी योग्य है यह।··· अभी कृष्ण पार्श्व बदले तो उसका पादप्रहार हो इसके शरीर पर···गिर ही पड़े तो अच्छा है। यह धम्म से नीचे गिरे, इसके कूल्हे की अस्थि टूटे और उसके गिरने के शब्द से कृष्ण की निद्रा भंग हो। क्रुद्ध हो कृष्ण इसे एक लात और जमाए···

पर दुर्योधन का मन जानता था कि यह सब कुछ नहीं होगा। पलंग से गिरकर किसी साधारण बालक की भी अस्थि नहीं टूटती; और यह तो अर्जुन था··· बलिष्ठ और तपस्वी शरीरवाला योद्धा···

सहसा कृष्ण के श्वासों की समगति में कुछ परिवर्तन हुआ। उन्होंने करवट बदली। उनकी निद्रा कदाचित् पूरी हो गई थी।··· अर्जुन को स्मरण था कि कृष्ण ने कई बार कहा था कि न बहुत सोनेवाला योगी होता है और न ही सर्वथा न सोने वाला। न बहुत अधिक खानेवाला योगी होता है और न बहुत कम खानेवाला।···

दुर्योधन अपनी व्यग्रता में अपने आसन पर कुछ आगे खिसका। किंतु कृष्ण की उसकी ओर पीठ थी। वह उठकर बैठ जाए तो दुर्योधन उससे संबोधित होगा।

कृष्ण के नेत्र खुले। उनके सम्मुख अर्जुन बैठा था। उनकी पलकों के खुलते ही अर्जुन ने अपने हाथ जोड़कर माथे से लगा लिए, "प्रणाम वासुदेव।"

'ओह तो कृष्ण जाग गया है।' दुर्योधन ने सोचा, 'नहीं जागा है तो यह अर्जुन उसे जगा ही देगा। तो फिर वह ही पीछे क्यों रहे ?'

"मैं भी आया हूँ वासुदेव !" दुर्योधन ने कहा; किंतु वह अपने स्थान से हिला नहीं। वह कृष्ण का समधी था, उसका अतिथि था··· अवस्था में उससे बड़ा था। तो वह क्यों उठ कर खड़ा हो। कृष्ण का धर्म है कि वह उठ कर उस का स्वागत करे।

कृष्ण उठकर खड़े हो गए, "तुम भी पधारे हो दुर्योधन ! यह तो बड़ा ही शुभ प्रभात है कि ऐसे-ऐसे महानुभाव मेरे स्थान पर पधारे हैं।···किंतु आप दोनों ब्रह्ममुहूर्त में ही आ गए हैं, अथवा मैं ही मध्याह्न तक सोया रह गया ?···"

दुर्योधन कुछ नहीं बोला। कृष्ण के शब्दों का वेश प्रश्न जैसा अवश्य था; किंतु वह कोई वास्तविक जिज्ञासा नहीं थी। उसका उत्तर क्या देना।

"मैं भी चकित था।" अर्जुन बोला, "स्वागताधिकारी ने बताया कि वासुदेव अभी निद्रामग्न हैं, तो मुझे कुछ संकोच भी हुआ। किंतु सोचा, तुम्हारा क्या पता है केशव ! रात्रि भर यात्रा में रहे हो, किसी ग्रंथ का अध्ययन करते रहे हो, किसी ऋषि के आश्रम में ज्ञान-चर्चा करते रहे हो, समाधि में बैठे रहे हो··· या जाने कौन-सा प्रसंग हो कि

तुम रात भर सोए नहीं, इसलिए आज ब्रह्ममुहूर्त में आंख नहीं खुली। अन्यथा तुम्हारे जैसा कर्मयोगी, इस प्रकार अकर्म से प्रीति नहीं कर सकता···।"

दुर्योधन का मन जैसे धधक उठा : यह अर्जुन कैसी चाटुकारिता कर रहा है। धूर्त कहीं का। समझता है कि अपने इन शब्दों से वह कृष्ण को मोहित कर लेगा···

"अज्ञान के तिमिर में नयन खुल भी जाएँ, तो वह जागरण नहीं होता धनंजय। जागरण के लिए तो ज्ञान के सूर्य की प्रतीक्षा करनी ही पड़ती है।" कृष्ण मुस्करा रहे थे। उनके चेहरे पर तंद्रा अथवा आलस्य का कोई लक्षण नहीं था।

दुर्योधन को अच्छा लगा ··· कृष्ण ने उस चाटुकारिता के उत्तर में एक दार्शनिक-सा लगनेवाला वाक्य कह दिया था, जिसमें ध्वनि का सम्मोहन तो था, किंतु अर्थ कुछ विशेष नहीं था। अर्जुन ने समझा होगा कि उसकी चाटुकारिता से प्रसन्न होकर कृष्ण उसे कुछ दे देगा। इतना भोला तो कृष्ण भी नहीं है··· वह भी इसे शब्दों में ही बहला देगा···।

अर्जुन की आँखें विस्मय से फैल गई।··· क्या कृष्ण उसके आगमन की प्रतीक्षा में नयन मूँदे लेटे थे ? वे दुर्योधन की उपस्थिति में जागना नहीं चाहते थे ? क्या उन्हें ज्ञात था कि अर्जुन भी आनेवाला है ? कैसे ज्ञात था उन्हें ? वे अंतर्यामी हैं ?··· या यह रुक्मिणी भाभी की सावधानी है ? क्या है यह सब ? योगशास्त्र की मान्यता है कि योगी एक ही समय में एक से अधिक स्थानों पर उपस्थित हो सकता है। योगी किसी के मन की बात भी जान सकता है क्या ?··· दुर्योधन की वाणी ने अर्जुन को कुछ और सोचने नहीं दिया। वह कह रहा था, "कृष्ण ! मैं क्षमा चाहता हूँ कि मैंने तुम्हारे विश्राम में व्याघात उपस्थित किया; किंतु तुम जानते ही हो कि विपत्ति कुछ भी करा लेती है। पांडवों के साथ हमारा जो युद्ध होगा···"

"पांडवों के साथ युद्ध करना निश्चित कर चुके हो क्या ?" कृष्ण ने उसे बीच में ही टोक दिया।

दुर्योधन कुछ अचकचा गया···कृष्ण इस प्रकार के वक्र प्रश्न क्यों पूछता है ? सब जानते हैं कि युद्ध होगा; क्या कृष्ण नहीं जानता ? जानता तो वह भी है। उस की अनुमति के बिना तो पांडव सेनाएँ एकत्रित नहीं कर रहे··· तो फिर वह ऐसा प्रश्न क्यों पूछ रहा है, जिसके उत्तर में दुर्योधन को यह स्वीकार करना पड़े कि युद्ध के लिए वह उत्तरदायी है। क्या पांडव युद्ध करना नहीं चाहते ?···

"युद्ध तो होगा ही।" दुर्योधन कुछ कठोर स्वर में बोला, "पांडवों को हमने अज्ञातवास की अवधि समाप्त होने से पहले ही पहचान लिया था। पर न वे इस सत्य को स्वीकार करना चाहते हैं, न राज्य की अधर्मपूर्ण माँग छोड़ना चाहते हैं। तो फिर युद्ध नहीं होगा क्या ?"

अर्जुन के मन में एक भयंकर प्रतिक्रिया हुई। उसकी इच्छा हुई कि दुर्योधन के इस मिथ्या सत्य का प्रबल प्रत्याख्यान करे··· किंतु किसके लिए ? कृष्ण जानते हैं कि

सत्य क्या है। उन्हें क्या बताना। दुर्योधन भी जानता है कि सत्य क्या है; किंतु वह उसे स्वीकार नहीं करेगा। तो फिर उसे भी क्या बताना।··· और कृष्ण स्वयं भी मिथ्या का प्रतिवाद करने में समर्थ हैं।···

"युद्ध निश्चित ही है तो पांडवों को सैन्य-संग्रह करना चाहिए।" कृष्ण अत्यन्त मनमोहक ढंग से मुस्कराए, "अर्जुन ! कहीं तुम भी सैनिक सहायता के लिए ही तो नहीं आए ?"

दुर्योधन के पैरों तले से जैसे धरती खिसक गई। ··· यह कृष्ण तो अर्जुन के कुछ माँगे विना ही उसे सब कुछ दे डालेगा।···

"मैं सैनिक सहायता के लिए आया हूँ। मैंने लक्ष्मणा और सांव से कह भी दिया था। उन्होंने शायद तुम्हें नहीं बताया है।" दुर्योधन ने व्यग्र वाणी में कहा, "और मैं अर्जुन से पहले आया हूँ कृष्ण !"

"संभवतः तुम ठीक कह रहे हो दुर्योधन !" कृष्ण बोले, "किंतु मैंने तो अर्जुन को ही पहले देखा है; और वैसे भी अर्जुन अवस्था में तुमसे छोटा है, उसे मॉगने का अधिकार तुमसे पहले होना चाहिए।"

दुर्योधन को लगा कि उसकी सारी सावधानी व्यर्थ गई है। कृष्ण ने अर्जुन की सहायता करने का मार्ग निकाल ही लिया है। अब वह सव कुछ अर्जुन को दे देगा तो दुर्योधन क्या कर लेगा ?··· और यदि कृष्ण उसकी सहायता नहीं करना चाहेगा तो दुर्योधन क्या कर लेगा ?··· पर नहीं ! दुर्योधन कृष्ण को अपनी मनमानी करने नहीं देगा। कृष्ण के पास जो नारायणी सेना है, वह अकेले कृष्ण की नहीं है। उस पर उसके गुरु बलराम का भी उतना ही अधिकार है। कृष्ण उस सेना को अपनी इच्छा से अपने मित्र पांडवों को नहीं दे सकता।··· बलराम उसे ऐसा नहीं करने देंगे। और दुर्योधन भी उसे ऐसा करने नहीं देगा।···

"तुम्हारे तर्क से अर्जुन को मॉगने का अधिकार पहले हो सकता है; किंतु उस से मेरा माँगने का अधिकार पूर्णतः समाप्त नहीं होता। मैं वाद में ही माँग लूँगा; किंतु सहायता मुझे भी देनी होगी। मैं भी तुम्हारा वैसा ही मित्र हूँ, जैसा कि अर्जुन है; और हमारा संबंध भी एक जैसा ही है।" दुर्योधन इतने अधिकार से बोला कि उसे स्वयं ही अपनी वाणी पर आश्चर्य होने लगा।

"मैंने यह तो नहीं कहा कि मैं तुम्हारी सहायता नहीं करूँगा।" कृष्ण बोले, "मैं सहायता के दो भाग कर देता हूँ और अर्जुन को उसमें से एक भाग चुन लेने का अधिकार देता हूँ। दूसरा भाग तुम्हारा होगा।"

"किंतु विभाजन न्यायपूर्ण होना चाहिए।" दुर्योधन बोला।

"तुम उसे अन्यायपूर्ण नहीं कह सकोगे।" कृष्ण वोले।

दुर्योधन मौन रह गया। वह कृष्ण पर विश्वास नहीं कर पा रहा था। क्या यह संभव है कि कृष्ण अपनी इच्छा से अपने सैनिक वल के दो समान भाग करे और एक

अर्जुन को देकर दूसरा दुर्योधन को दे दे ?··· ऐसा कभी नहीं हो सकता। कोई बुद्धिमान व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता और कृष्ण तो इन वातों में कुछ अधिक ही चतुर है।···

"स्वीकार है ?" कृष्ण ने दुर्योधन से पूछा।

दुर्योधन शब्दों में अपनी स्वीकृति नही दे सका; किंतु उसने अपना सिर हिला कर संकेत दे दिया।

कृष्ण मुस्कराए, "मेरे पास वलिष्ठगोपों की एक विशाल सेना है, जिसके सेनापति मेरे बड़े भाई बलराम हैं। वह सेना एक ओर रहे गी। उसमें मैं अथवा बलराम भैया सम्मिलित नहीं हैं। दूसरी ओर मैं रहूँगा। अकेला मैं।··· किंतु मैं युद्ध नहीं करूँगा। शस्त्र ग्रहण नहीं करूँगा। अर्जुन ! चुनाव का अधिकार तुम्हारा है। सोच-समझकर निर्णय करो। तुम्हें क्या चाहिए- कृष्ण अथवा सेना ? निःशस्त्र कृष्ण अथवा वलिष्ठगोपों की सशस्त्र नारायणी सेना ? जो चाहिए, चुन लो।"

दुर्योधन के प्राण जैसे उछलकर उसके नखों में समा गए : यह कृष्ण ने क्या कर दिया ? यह तो कोई सम विभाजन नहीं है। यदि अर्जुन ने नारायणी सेना माँग ली तो दुर्योधन के लिए क्या रह जाएगा ?··· वह इस निःशस्त्र कृष्ण को लेकर क्या करेगा ? ···पर उसके अपने ही मन का कोई अंश उसे वोलने से रोक रहा था···उसे देखना चाहिए कि पांडवों का कृष्ण-प्रेम क्या निर्णय करता है। यदि इस मूर्ख अर्जुन ने अपने कृष्ण-प्रेम में कृष्ण को चुन लिया और नारायणी सेना छोड़ दी तो दुर्योधन का अपना मनभावन हो जाएगा··· और यदि कहीं अर्जुन ने नारायणी सेना माँग ली तो दुर्योधन तव आपत्ति करेगा कि कृष्ण ने सम विभाजन नहीं किया था। इस पक्षपातपूर्ण, न्यायरहित विभाजन को कौन स्वीकार करेगा···

अर्जुन ने दृष्टि उठाकर कृष्ण की ओर देखा : कृष्ण के मुखमंडल पर कहीं कोई द्वन्द्व नहीं था, कहीं कोई वाध्यता अथवा मजवूरी नहीं थी। वहाँ तो सदा के समान सहज उल्लास था, जैसे कहीं कोई संकट न हो, विभाजन न हो। कृष्ण के उन लीलामय नेत्रों में जैसी पारदर्शिता उस समय थी, वैसी तो अर्जुन ने पहले कभी नहीं देखी थी। वे कुछ भी तो छिपा नहीं रहे थे। वे तो जैसे सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन करा रहे थे। मार्ग दिखा रहे थे।··· वे कह रहे थे, "अर्जुन ! तू स्वयं निर्णय कर, तुझे क्या चाहिए। कृष्ण चाहिए अथवा नहीं ? एक ओर कृष्ण है और दूसरी ओर संसार है। तुझे संसार चाहिए अथवा कृष्ण ?"

कृष्ण के नेत्र कितने स्पष्ट रूप से वता रहे थे कि संसार का मोह कृष्ण को प्राप्त करने नहीं देगा। संसार चाहिए तो कृष्ण को त्यागना होगा। पर अर्जुन, कृष्ण को त्याग नहीं सकता था। अर्जुन को संसार नहीं कृष्ण की आवश्यकता थी। इससे अधिक स्पष्ट रूप में कृष्ण और कैसे बताते कि वे संसार में नहीं हैं, संसार भले ही उनमें हो।

"क्या चुनते हो अर्जुन !" कृष्ण का स्वर कितना अर्थपूर्ण और संगीतमय था, जैसे किसी अज्ञात इंद्रधनुषी लोक से अवतीर्ण होकर वेणु के पोरों में से आकार ग्रहण

कर रहा हो।

अर्जुन युद्ध को भूल गया था। दुर्योधन का कोई अस्तित्व नहीं था उसके लिए, जिसे पराजित करने की महत्वाकांक्षा में वह कृष्ण का त्याग कर देता। उसका हृदय जैसे चीत्कार कर रहा था, मैं तुम्हें त्याग नहीं सकता कृष्ण। मैंने तुम्हें पाने के लिए जन्म-जन्मांतरों में युग-युगों तक तपस्या की है। अव मैं दुर्योधन जैसे एक कीट को पराजित करने के लिए, तुम्हें त्याग दूँ। क्या अर्थ रखता है एक युद्ध अथवा एक राज्य, क्या महत्त्व है किसी सांसारिक जय और पराजय का। तुम्हें पा लिया तो मैंने सब कुछ पा लिया।··· जानता हूँ कि तुम देखना चाहते हो कि मेरा मन कहीं डोलता है अथवा नहीं। तुम मेरी एकनिष्ठा को परखना चाहते हो तो परख लो। मुझे और कुछ नहीं चाहिए।···

"मैं तुम्हें ही माँगता हूँ कृष्ण ! तुम्हें चुनता हूं।" अर्जुन बोला।

"मैत्री के मोह में कहीं कोई भूल न कर बैठना अर्जुन ! मेरे साथ मेरी सेना नहीं है। मैं शस्त्र भी धारण नहीं कर रहा। और तुम एक बड़े युद्ध के कगार पर खड़े हो।" कृष्ण ने उसे जैसे चेतावनी दी।

दुर्योधन मन ही मन उबल रहा था : कृष्ण ने अर्जुन को चुनाव का अवसर पहले दिया। अर्जुन ने अपनी इच्छा से चुन लिया तो अब कृष्ण यह सब क्या कर रहा है··· उसे अर्जुन के चुनाव को स्वीकारकर लेना चाहिए···

"मैं मोह से मुक्त हो रहा हूं केशव ! मोहग्रस्त नहीं हो रहा।" अर्जुन अपने भीतर एक निराकार उल्लसित उजास की अनुभूति कर रहा था।

दुर्योधन की बाछें खिल गईं। अर्जुन अपने चुनाव पर स्थिर था।

"तो मुझे नारायणी सेना स्वीकार है।" दुर्योधन तत्काल बोला, "तो यही चयन निश्चित रहा। अर्जुन ने कृष्ण को चुना और मैंने कृष्ण की सेना को।"

"हाँ ! यही निश्चित रहा।" अर्जुन ने उत्तर दिया।

प्रसन्न मन के साथ दुर्योधन विदा हो गया।

"निःशस्त्र कृष्ण की युद्ध में क्या सार्थकता होगी अर्जुन ?" कृष्ण मुस्करा रहे थे।

"जैसे आप जीवन में हमारा सारथ्य कर रहे हैं, युद्ध में भी मेरा सारथ्य करें।" अर्जुन ने कहा।

"ठीक है अर्जुन !" कृष्ण रहस्यपूर्ण ढंग से हँसे, "युद्ध में निःशस्त्र योद्धा तो एक सारथि ही होता है।"

13

सात्यकि स्तब्ध बैठा था : यह श्रीकृष्ण ने क्या किया ?···

पहले तो उसकी समझ में यह ही नहीं आ रहा था कि दुर्योधन का साहस कैसे हुआ कि वह एक मित्र और संबंधी के रूप में श्रीकृष्ण के पास सहायता मांगने के लिए पहुँच गया··· पर उस में समझने को क्या था।··· जो व्यक्ति राजसत्ता के लिए, धन संपत्ति के लिए, अपने भाइयों की हत्या का प्रयत्न कर सकता है, वह अपने स्वार्थ के लिए, थोड़ी देर के लिए निर्लज्ज होकर, किसी के सम्मुख हाथ नहीं पसार सकता ?···यह दुर्योधन वैसे इतना अहंकारी दिखाई देता है; किंतु इसमें तनिक सा भी स्वाभिमान नहीं है। अपने स्वार्थ के लिए किसी की भी प्रशंसा कर सकता है, चाटुकारिता कर सकता है, नाक रगड़ सकता है, हाथ पसार सकता है। इसमें रंचमात्र भी स्वाभिमान होता, तो यह श्रीकृष्ण के द्वार पर कभी नहीं जाता··· पर यह तो निर्लज्ज है परले सिरे का···

दुर्योधन तो जो है सो है; किंतु वासुदेव को क्या हो गया है ? वे भी धर्मराज युधिष्ठिर के समान व्यवहार करने लगे हैं। शत्रु भी द्वार पर माँगने आ गया, तो मित्रों से बढ़कर परम मित्र हो गया ? उसकी हत्या नहीं की, उसे बंदी नहीं बनाया, तो उसे धिक्कारकर द्वारका की सीमा से बाहर तो निकाल देते। दूसरों के राज्य का हरण करनेवाला, जीवित लोगों को आग में जलाकर मारनेवाला आततायी, मित्र बनकर विष देनेवाला नीच; और द्यूतसभा में नारी को इस प्रकार अपमानित करनेवाला यह पापी, श्रीकृष्ण के द्वार पर सहायता माँगने आया और श्रीकृष्ण ने उसे सत्कारपूर्वक अपने परम मित्र अर्जुन के समकक्ष बैठाकर बराबर सहायता देने की बात की। बराबर ?··· एक ओर सारी की सारी नारायणी सेना और दूसरी ओर अकेले श्रीकृष्ण। वे भी निःशस्त्र। जो युद्ध नहीं कर सकते। युद्ध में क्या करेंगे ? अर्जुन का रथ हाँकेंगे। पार्थसारथि बनेंगे।···

यह सम-विभाजन हुआ क्या ? यदि इसी प्रकार का विभाजन करना था, तो एक ओर यदि अपनी सेना रखी थी, तो दूसरी ओर स्वयं सुदर्शन चक्र लेकर खड़े हो जाते, तो भी कोई बात थी।··· और यदि स्वयं नहीं लड़ना था, तो पांडवों को आरंभ से इतना उत्साहित ही क्यों किया ? क्यों उन्हें सांत्वना देते रहे कि सारे यादव उनकी ओर से युद्ध करेंगे।··· आज जब पांडव सचमुच युद्ध सज्जित हो रहे हैं, तो कृष्ण को भी अपना समधी प्यारा हो गया ?···

'समधी !'···सात्यकि का मन इस शब्द पर अटक गया··· कृतवर्मा भी तो श्रीकृष्ण का समधी है। यदि चारुमती भी अपने पिता पर दबाव डालेगी तो क्या श्रीकृष्ण कृतवर्मा के भी वैसे ही सहायक हो जाएँगे ?···

तो फिर सात्यकि और पांडव कहां जाएँगे ? सात्यकि तो किसी समय कृतवर्मा से स्वयं ही निबट लेगा किंतु पांडव किसका सहारा लेंगे ? किससे सहायता माँगेंगे ?

यह युद्ध तो दुर्योधन जीत ही गया...

और धनंजय ने क्या किया ? न कोई प्रतिवाद किया। न कृष्ण से कोई झगड़ा किया। न मैत्री की दुहाई दी, न संबंधों की, न धर्म की और न श्रीकृष्ण के वचनों की। मौन मूक चुन लिया श्रीकृष्ण को। अकेले श्रीकृष्ण को। निःशस्त्र श्रीकृष्ण को।... आज तक तो सात्यकि को धर्मराज का ही चरित्र समझ में नहीं आ रहा था, अब तो अर्जुन और कृष्ण भी उसकी बुद्धि के लिए अगम्य हो गए हैं। एक ओर युद्ध की तैयारी हो रही है। दूर-दूर तक राजाओं को युद्ध-निमंत्रण भेजे जा रहे हैं। छोटे-छोटे राजाओं को अपने सैनिकों के साथ आने के लिए आमंत्रित किया जा रहा है। मनुहार की जा रही है। दूर-दूर के राजाओं से अपने पक्ष में युद्ध करने का अनुरोध किया जा रहा है। ...और दूसरी ओर पांडवों के सबसे बड़े सहायक वासुदेव श्रीकृष्ण अपनी विश्व प्रसिद्ध चतुरंगिणी सेना, पांडवों के शत्रुओं को दे रहे हैं।...

सात्यकि अपने गुरु कौंतेय अर्जुन को भी क्या कहे ?... इन पांडवों को ही क्या कहे ? इन्हें संसार की सबसे शक्तिशाली सेना से युद्ध करना है। दुर्योधन, कर्ण, द्रोण, भीष्म जैसे शक्तिशाली और दक्ष वीरों से लोहा लेना है; और इन्होंने यादवों की समग्र सैनिक शक्ति को प्राप्त करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। उपप्लव्य में न उन्होंने बलराम को घेरा और न कृतवर्मा से कुछ कहा। श्रीकृष्ण पर उन्हें इतना विश्वास है कि उस से कुछ माँगा ही नहीं। सब अपना ही समझा।... और अब माँगने के लिए द्वारका आ भी पहुँचे तो क्या माँगा—निःशस्त्र सारथि श्रीकृष्ण।... न सेना माँगी, न महारथी।... श्रीकृष्ण से माँगना ही था तो कुछ तो ढंग से माँगते। न प्रद्युम्न माँगा, न गद, न उद्धव, न सांब... सैनिक और सेना भी नहीं माँगी। उन्हें कुछ नहीं चाहिए, कोई नहीं चाहिए। चाहिए तो बस एक श्रीकृष्ण !...

और सात्यकि जैसे दूसरी बार स्तब्ध रह गया।

पांडवों को केवल श्रीकृष्ण चाहिए। श्रीकृष्ण को पाकर भी श्रीकृष्ण से कुछ नहीं चाहिए। श्रीकृष्ण से केवल श्रीकृष्ण चाहिए।... सात्यकि को लगा कि वह युद्ध क्षेत्र से उठकर जैसे अध्यात्म के क्षेत्र में आ गया है। ... अर्जुन ने जो कुछ किया, वह युद्ध की तैयारी में जुटा कोई योग्य सेनापति कभी नहीं करेगा। ... यह तो साधनारत कोई भक्त ही कर सकता है, जो भगवान की खोज में निकला हो। उसे केवल भगवान चाहिए। भक्त की तो एकनिष्ठा ही इसमें है कि उसे ईश्वर ही चाहिए। उसका ऐश्वर्य भी नहीं। ऐश्वर्य तो माया है। ईश्वर तक पहुँचने के मार्ग की बाधा है। जो ऐश्वर्य मांगता है, वह ईश्वर को नहीं माँगता। जो भगवान से भी संसार ही माँगता है, उसे संसार मिल जाता है और ईश्वर उससे और भी दूर हो जाता है।... मूर्ख दुर्योधन ने वही किया। वह श्रीकृष्ण के पास याचक भाव से आया भी... और केवल साधारण सैनिक लेकर चला गया। श्रीकृष्ण की आकांक्षा नहीं की उसने। श्रीकृष्ण से श्रीकृष्ण को ही नहीं मांगा। निकट आने के स्थान पर, वह श्रीकृष्ण से और भी दूर चला गया...

श्रीकृष्ण ने एक वार नहीं, अनेक वार पांडवों के सम्मुख प्रस्ताव रखा कि वे दुर्योधन से उनका राज्य छीनकर, उन्हें लौटा देंगे··· किंतु पांडवों ने कभी राज्य नहीं माँगा। सदा धर्म ही माँगा। आज जव राज्य के लिए ही युद्ध के कगार पर खड़े हैं, तो भी सेना नहीं माँगी, श्रीकृष्ण माँगे।

कहते हैं, ईश्वर अपने भक्त की परीक्षा लेते हैं··· एक-एक कर वे उसका सुख-समृद्धि, मान-सम्मान, सत्ता-अधिकार, सव कुछ छीन लेते हैं। मनुष्य जव सर्वथा असहाय हो जाता है, अपने सारे साधनों और क्षमताओं की निरर्थकता देख लेता है, तो उसका अहंकार विगलित हो जाता है। अहंकार का मल पिघलकर वह जाए, तो मनुष्य का मन वहुत स्वच्छ होकर आँख खोलता है। उसका 'मैं' लुप्त हो जाता है, तो उसे 'वह' दिखाई देने लगता है—'वह' जो ईश्वर है, सृष्टिकर्ता है, सर्वशक्तिमान है···तव वह देखता है कि जो कुछ कर रहा है, ईश्वर ही कर रहा है, और कोई कुछ नहीं कर रहा···

सात्यकि मन की अत्यंत उत्तेजित अवस्था में उठकर खड़ा हो गया।··· उसे लगा कि वह स्थिर खड़ा नहीं रह सकता। उसके मन में इतने सारे झंझावात इतने वेग से चल रहे थे कि उसे अपना शरीर ही नहीं, अपना संपूर्ण अस्तित्व उड़ता हुआ अनुभव हो रहा था···

तो क्या, कुछ लोग जो वासुदेव श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व के साथ देवत्व जोड़ते हैं, वह सत्य है ? क्या वे एक ऐसे असाधारण पुरुष हैं, जो ईश्वर की विशेष शक्ति ले कर पैदा हुए हैं ? वे अवतार हैं ? क्या स्वयं ईश्वर इस शरीर को धारण कर प्रकट हुए हैं ?··· पांडव इस वात को जानते हैं क्या ?··· एक भीम को छोड़कर, जो केशव को अपना छोटा भाई मानकर, उनसे वड़े भाई के समान व्यवहार करता है, शेष सारे पांडव श्रीकृष्ण के प्रति पूज्य वुद्धि रखते हैं। धर्मराज युधिष्ठिर यद्यपि श्रीकृष्ण के वैसे मित्र नहीं हैं, जैसे अर्जुन हैं; किंतु वे श्रीकृष्ण को साधारण मनुष्य मानकर, उनके साथ वैसा व्यवहार नहीं करते। अवस्था में श्रीकृष्ण उनसे छोटे हैं; किंतु धर्मराज ने सदा उन्हें पूज्य भाव अर्पित किया है। राजसूय यज्ञ में भी उन्होंने उनकी अग्रपूजा की थी।··· अर्जुन तो उनका परम सखा ही है, जो उनके प्रति शिष्य भाव रखता है। नकुल सहदेव तो उन्हें वड़े भाई के रूप में भी पूजा के योग्य मान लेते हैं।··· द्रौपदी ने भी अपनी पीड़ा की घड़ी में सदा श्रीकृष्ण को ही पुकारा है···

तो क्या पांडव जानते हैं कि श्रीकृष्ण साधारण मनुष्य नहीं, स्वयं ईश्वर हैं ? कृष्ण के प्रति पांडवों का पूर्ण समर्पण तो इसी वात का संकेत है। उनकी एकनिष्ठा, पूर्ण समर्पण, प्रपत्ति का भाव !··· पांडवों का सदा से उनके प्रति यही भाव रहा है।···

पर इससे क्या मिला पांडवों को ? उन वेचारों का तो सारा जीवन, शत्रुओं से पिटते हुए व्यतीत हो गया। उनकी पैतृक संपत्ति और सत्ता, स्वार्जित धन और राज्य,

सब कुछ तो उनसे बार-बार छिन जाता है। ठीक है, उनकी मृत्यु नहीं हुई; किंतु सुख तो उन्हें कभी मिला नहीं। जीवित बचे तो अपने उद्यम से अथवा अपने भाग्य से···कृष्ण के प्रति पूज्य भाव और आत्मसमर्पण ने उन्हें क्या दिया ?··· सब कुछ तो दुर्योधन को मिला। पांडवों को क्या मिला ?

और जैसे सात्यकि के मन में कोई उच्च स्वर में चिल्लाया, "पांडवों को श्रीकृष्ण मिले।··· श्रीकृष्ण मिले।··· श्रीकृष्ण मिले।···" ···अब भी तो पांडवों को श्रीकृष्ण ही मिले थे : सेना नहीं, सैनिक नहीं, शस्त्र नहीं, जय नहीं, श्रीकृष्ण मिले थे ! श्रीकृष्ण !!

तो क्या पांडवों का यह सारा जीवन, राज्य और अधिकार के लिए संघर्ष नहीं है, यह उनकी आध्यात्मिक साधना है ? वे क्षत्रिय राजाओं के समान अपनी सुख-समृद्धि के लिए प्रयत्न नहीं कर रहे, ईश्वर प्राप्ति के लिए साधना कर रहे हैं ? वन-वन मारे फिरते हैं और श्रीकृष्ण को स्मरण करते हैं ? पीड़ित और अपमानित होते हैं और श्रीकृष्ण को पुकारने लगते हैं। श्रीकृष्ण उन्हें कुछ नहीं देते हैं और वे पूर्ण आत्मनिष्ठा से श्रीकृष्ण के सम्मुख आत्मसमर्पण कर-के सुखी होते हैं।···

सहसा सात्यकि की चिंतन-यात्रा रुक गई।··· क्या सोच रहा है वह ? और किधर जा रहा है ? पांडवों ने तो उसे कुछ नहीं कहा, वह स्वयं ही अपनी भावुकता में श्रीकृष्ण को ईश्वरत्व प्रदान करता जा रहा है।···यदि श्रीकृष्ण सचमुच ही ईश्वर हैं, सर्वशक्तिमान हैं, तो क्या आवश्यकता है, इस सारी तैयारी की ? क्या आवश्यकता है युद्ध की ? क्या आवश्यकता है, ईश्वर के बनाए मनुष्य के रक्त से, इस धरती को लाल करने की ? ईश्वर की इच्छा मात्र से दुर्योधन का मन बदल सकता है, उसका सारा सामर्थ्य नष्ट हो सकता है, उसके जीवन का अंत हो सकता है··· यदि कृष्ण ईश्वर के अवतार हैं, तो क्यों उनके प्रिय लोग इतना कष्ट सहने को बाध्य हैं ? स्वयं ईश्वर की सखी को इस प्रकार अपमानित होने की क्या आवश्यकता थी ?···

पर द्रौपदी की उस अपमानजनक स्थिति में रक्षा भी तो चामत्कारिक ढंग से हुई थी··· जैसे स्वयं श्रीकृष्ण वहाँ प्रकट हो गए हों···

सात्यकि कुछ समझ नहीं पा रहा था··· वह किस निष्कर्ष पर पहुंचना चाहता था ?··· वह श्रीकृष्ण को अलौकिक पुरुष सिद्ध करना चाहता था, या उनकी अलौकिकता का विरोध करना चाहता था ? वह उन्हें ईश्वर मानना चाहता था अथवा उन्हें साधारण पुरुष ही प्रमाणित करना चाहता था ?···

उसे लगा, उसे श्रीकृष्ण को ईश्वर मानने में कोई आपत्ति नहीं थी।··· श्रीकृष्ण उसके मित्र थे, उसके गुरु थे। वे उसके गुरु अर्जुन के मित्र थे, कुछ अर्थों में उनके भी गुरु थे।··· यदि श्रीकृष्ण ईश्वर ही थे, तो सात्यकि को लाभ ही लाभ है··· वह ईश्वर के इतना निकट जो था···किंतु यह सारा घटनाचक्र ?··· घटनाएं तो यह विश्वास करने नहीं देती थीं। पांडवों के लिए कुछ नहीं कर पाए थे श्रीकृष्ण। अपने यादवों को भी ठीक से सँभाल नहीं पा रहे थे श्रीकृष्ण।··· लगता था स्थितियाँ भी उनके हाथ से

निकलती जा रही थीं और व्यक्ति भी।··· उनके मित्र दुर्वल होते जा रहे थे और शत्रु वलवान। उनके अपने भाई वलराम उनके प्रभाव में नहीं रह गए थे··· सुना था, उनके पुत्रों के मन में भी अनेक अवरोध थे। ऐसा व्यक्ति अलौकिक कैसे हो सकता है ? ··· जो ऐसे साधारण लोगों को भी प्रभावित न कर पाए, वह ईश्वरीय तेज कैसे हो सकता है ?···

14

वलराम आए और विना किसी निमंत्रण अथवा आग्रह की प्रतीक्षा किए, एक आसन पर वैठ गए।

कृष्ण के लिए उनका यह व्यवहार कुछ अप्रत्याशित ही था। वे न तो कभी इतनी शांति से आते थे, और न इस प्रकार शांति से वैठते थे। वे जव भी आते थे, कोलाहल करते हुए ही आते थे। पुकार-पुकार कर जव तक एक-एक व्यक्ति से मिल नहीं लेते थे, और एक-एक व्यक्ति उनसे वैठने का आग्रह नहीं कर लेता था, तव तक वे वैठते नहीं थे। किंतु आज···

"दुर्योधन मेरे पास आया था।" वलराम कुछ इस ढंग से वोले, जैसे सूचना न दे रहे हों, कृष्ण से किसी प्रकार का स्पष्टीकरण माँग रहे हों।

कृष्ण ने कुछ नहीं कहा।

"उसने वताया कि पांडवों के विरुद्ध होनेवाले संभावित युद्ध के लिए उसने तुमसे सैनिक सहायता माँगी थी।" वलराम ने कहा।

कृष्ण इस वार भी कुछ नहीं वोले।

"वोलते क्यों नहीं ?" वलराम ने डाँटा।

कृष्ण मुस्कराए, "वल भैया ! आप मुझे सूचनाएँ दे रहे हैं। इसमें मेरे वोलने का अवकाश ही कहाँ है।"

"इस वात की पुष्टि तो करो कि उसने मुझे जो कुछ वताया है, वह सत्य है।"

"हाँ। सत्य है। भला वह अपने गुरु को मिथ्या सूचनाएं क्यों देगा ?"

वलराम सावधान न होते, तो तड़पकर कह देते कि दुर्योधन कभी सत्यवादी नहीं रहा है, इसलिए उसकी वात पर विना परीक्षण और पुष्टि के विश्वास नहीं किया जा सकता।··· किंतु आज वे पर्याप्त सावधान थे। समझ गए कि कृष्ण एक ही वाक्य में उनसे ऐसा वहुत कुछ कहलवा सकता है, जिससे दुर्योधन दुष्ट और दुश्चरित्र सिद्ध हो जाए। तव कृष्ण वहुत सुविधा से उनसे पूछेगा कि वे ऐसे व्यक्ति की सहायता क्यों करना चाहते हैं ?···

"उसने मुझे यह भी वताया है कि तुमने नारायणी सेना उसे दे दी है।"

"उसने आपको सत्य ही बताया है।" कृष्ण बोले, "अर्जुन और दुर्योधन दोनों ही मेरे पास सहायता माँगने आए थे। आपको स्मरण होगा, जब आप सांब को दुर्योधन के कारागार से छुड़ाने हस्तिनापुर गए थे, तो उसे वचन दे आए थे कि हमारे लिए वह भी पांडवों के समान प्रिय संबंधी होगा। युद्ध का अवसर आने पर हम दोनों की ही समान रूप से सैनिक सहायता करेंगे।"

"स्मरण है।"

"तो मैंने आज आपके वचन का पालन कर दिया है।" कृष्ण बोले।

बलराम चिंतनलीन हो गए।··· हाँ। उन्होंने ऐसा ही वचन दिया था दुर्योधन को। पर उसका क्या अर्थ ? कल यदि कौरवों और यादवों में अनबन हो जाए; और कौरव यादवों पर आक्रमण कर दें, तो क्या यादव उनके विरुद्ध शस्त्र नहीं उठाएँगे ? ··· कृष्ण क्या शस्त्रों के बिना ही युद्ध करेगा ?··· सहसा उनका चिंतन दूसरी दिशा में मुड़ गया··· किंतु कृष्ण युद्ध ही क्यों करेगा ? यादवों के साथ जब युद्ध होगा तो देखा जाएगा। अभी तो कौरव-पांडवों का युद्ध है। क्या आवश्यकता है कृष्ण को कौरव- पांडवों के घरेलू झगड़े में पड़ने की ?

वे कृष्ण से संबोधित हुए, "चयन का प्रथम अवसर किसे दिया ?"

"अर्जुन को।"

"क्यों ?" बलराम बोले, "अवस्था में दुर्योधन बड़ा है। पहला अधिकार उसका था।"

कृष्ण मुस्कराए, "यह मैं क्या जानूँ। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि जब कभी मुझे और आपको चयन का अधिकार मिला, आपने सदा मुझसे ही कहा कि तू छोटा है, तू पहले चुन ले। मैंने वैसा ही अधिकार अर्जुन को दिया। वह अवस्था में छोटा जो है···।"

कृष्ण रुके। वे देख रहे थे कि बलराम अपने पक्ष का बचाव नहीं कर पा रहे थे। वे असमंजस में थे और कोई सहायक तर्क खोजने का प्रयत्न कर रहे थे।

"और दूसरी बात यह है कि जब मैं जागा तो मेरी दृष्टि अर्जुन पर पहले पड़ी। मेरे विचार से चयन का पहला अवसर उसी को मिलना चाहिए था।···"

"किंतु आया तो पहले दुर्योधन ही था।"

"हाँ ! उसने ऐसा बताया तो था।" कृष्ण बोले, "किंतु यदि पहले आनेवाला व्यक्ति अपने अहंकार में छिपकर बैठ जाए तो क्या किया जा सकता है ? उसे मेरे सम्मुख बैठना चाहिए था और वह मेरी पीठ पीछे जाकर बैठ गया।"

"हाँ उसका यह निर्णय तो उचित नहीं था।" बलराम कुछ कोमल पड़े।

"वैसे आप चिंता न करें," कृष्ण बोले, "मैं समझता हूँ कि दुर्योधन को अपना इच्छित भाग मिल गया है। यदि उसे पहले चयन का अवसर मिलता, तो भी वह निःशस्त्र कृष्ण के स्थान पर सशस्त्र नारायणी सेना को ही चुनता।"

बलराम को स्मरण हो आया···दुर्योधन प्रसन्न था कि अर्जुन को प्रथम अवसर मिलने पर भी, उसने सेना को नहीं चुना था।··· किंतु दुर्योधन को इस प्रकार प्रसन्न देखकर भी बलराम निश्चिंत नहीं हो पा रहे थे। कृष्ण पांडवों की ओर था, चाहे शस्त्रों के बिना ही था। दुर्योधन यह तो समझ ही नहीं पा रहा था कि कृष्ण के शस्त्र युद्ध नहीं करते थे, युद्ध तो कृष्ण की बुद्धि करती थी; और वह अब भी पांडवों के पक्ष में थी।

"तो अर्जुन ने तुम्हें चुन लिया ?"

"जी।"

"तुम पांडवों की ओर से युद्ध करोगे ?" बलराम का स्वर पुनः कुछ कठोर हो गया था।

"कोई निःशस्त्र व्यक्ति युद्ध कैसे कर सकता है, विशेषकर वहाँ, जहाँ अन्य योद्धा दिव्यास्त्रों और देवास्त्रों का प्रयोग कर रहे हों। किंतु युद्ध में सम्मिलित तो मैं हूँगा ही।" कृष्ण बोले।

"हमने निश्चय किया था कि हम कौरवों और पांडवों के द्वंद्व में सम्मिलित नहीं होंगे, तो तुम उस युद्ध में सम्मिलित होने का निश्चय क्यों कर रहे हो ?" बलराम ने जिज्ञासा के आवरण में छिपा अपना विरोध जताया।

"आपने तो निश्चय किया था कि हम दोनों पक्षों को समान रूप से सहायता देंगे। मैंने वही किया है। आपका युद्ध न करने का निश्चय भी मैंने अक्षरशः स्वीकार किया है।··· मैं शस्त्र धारण नहीं करूंगा। मेरे साथ मेरी सेना नहीं होगी।"

बलराम को कृष्ण का यह तर्क अच्छा नहीं लगा। बोले, "बहुत स्वेच्छाचारी हो गए हो। यह नहीं सोचते कि तुम्हें युद्ध में इस प्रकार सम्मिलित होते देखकर, अन्य यादव योद्धा भी, मनमाने ढंग से युद्ध में सम्मिलित होंगे।"

कृष्ण मनोरम ढंग से मुस्कराए, "जो यादव योद्धा युद्ध में भाग लेना चाहें, लें। जिस पक्ष से युद्ध करना चाहें, करें। मैं उनका विरोध नहीं करूँगा; किंतु वे मेरे ही समान, जिस पक्ष से लड़ें, अपनी सेना उसके विरोधी पक्ष को सौंप दें। यदि दुर्योधन की ओर से युद्ध करें तो अपनी सेनाएँ पाँडवों को सौंप दें।"

सारी स्थिति बलराम की समझ में आ रही थी।··· यह कृष्ण का ही साहस था कि वे जिस पक्ष से युद्ध में सम्मिलित हो रहे थे, अपनी सेना उसके विरोधी पक्ष को सौंप रहे थे। अपनी ही सेना के विरुद्ध लड़ रहे थे अथवा अपनी ही सेना को अपने विरुद्ध लड़ने की स्वतंत्रता दे रहे थे। और कोई योद्धा ऐसा कार्य नहीं करेगा।···कोई नहीं चाहेगा कि वह अपनी ही सेना के विरुद्ध लड़े।···

"किंतु मैं चाहता हूँ कि तुम किसी भी रूप में इस युद्ध में सम्मिलित मत होओ।" बलराम बोले, "मैंने दुर्योधन से कह दिया है कि मैं कृष्ण के विरुद्ध नहीं लड़ूँगा; इसलिए मैं युद्ध में सम्मिलित नहीं होऊँगा। तुम भी युद्ध में सम्मिलित मत होना।"

कृष्ण ने बलराम की ओर देखा, शायद वे अपना मंतव्य कुछ और स्पष्ट करें; किंतु बलराम अपनी बात पूरी कर चुके थे।

"आप कृष्ण के विरुद्ध नहीं लड़ेंगे तो कृष्ण के पक्ष में युद्ध कर सकते हैं।" कृष्ण बोले, "किंतु शायद आप दुर्योधन के विरुद्ध भी लड़ना नहीं चाहते।"

"हाँ ! न मैं तुम्हारे विरुद्ध लड़ना चाहता हूँ, न दुर्योधन के विरुद्ध। इसीलिए मैं युद्ध में सम्मिलित नहीं हो रहा। तुमसे पुनः कह रहा हूँ कि तुम भी युद्ध में सम्मिलित मत होना। तुम्हारे इस युद्ध में सम्मिलित होने से यादव स्वच्छंद रूप से दोनों पक्षों में बँट जाएँगे। एक दूसरे के विरुद्ध लड़ेंगे। उससे तो कौरवों तथा पांडवों की तुलना में यादवों की ही हानि अधिक होगी।"

कृष्ण के नेत्रों में जैसे ज्योति झलकी, चेहरे पर हल्का आवेश था; किंतु उन का स्वर अब भी पहले के ही समान मधुर था, "भैया, आप जितना प्रयत्न मुझे तटस्थ रखने का कर रहे हैं, उससे आधा भी युद्ध को रोकने का करते, तो इस युद्ध की कोई संभावना ही न रहती।"

"मैं युद्ध के पक्ष में हूँ?" बलराम के स्वर में रोष झलका।

"आप युद्ध के पक्ष में हैं या नहीं, यह कहना कठिन है; किंतु दुर्योधन को इस युद्ध से विरत करने का प्रयत्न आपने एक बार भी नहीं किया। यदि आपने उसका विरोध किया होता तो वह यह दुस्साहस कभी नहीं करता। आपके निषेध का उल्लंघन वह कभी नहीं कर सकता।"

"मैं दुर्योधन को कैसे कह सकता हूँ कि सैनिक आक्रमण की स्थिति में वह अपनी रक्षा न करे।"

"आप उससे यह तो कह ही सकते हैं कि वह पांडवों का राज्य उनको लौटा दे।" कृष्ण बोले।

"मैं पहले ही कह चुका हूँ कि दुर्योधन ने यह राज्य युधिष्ठिर से द्यूत में जीता है। उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध राज्य लौटाने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।" बलराम बोले, "और तुम चाहते हो कि दुर्योधन तो मेरी आज्ञा का पालन करे, किंतु अनुज होकर भी तुम मेरी आज्ञा का पालन न करो।"

"मैंने कभी आपकी किसी आज्ञा का उल्लंघन किया है ?" कृष्ण के स्वर में आश्चर्य था।

"तुमने अर्जुन को जो वचन दिया है, वह लौटा लो।" बलराम बोले, "तुम पांडवों की ओर से युद्ध में सम्मिलित मत होओ।"

कृष्ण की मुस्कान क्रीड़ामयी थी, "मैं आपके वचन का पालन कर रहा हूँ और आप मुझे अपना वचन लौटाने के लिए कह रहे हैं।" कृष्ण रुके, "चलिए, वह भी कर लूँगा। किंतु मैंने दुर्योधन को अपनी सेना दी है। यदि आप वह सेना दुर्योधन से लौटा लें तो मैं अर्जुन को दिया हुआ अपना वचन लौटा लूँगा।"

वलराम कुछ नहीं वोले। उन्हें लगा कि कृष्ण ने एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी है, जिसमें न वे उसे कुछ कह सकते हैं, न रोक सकते हैं। शायद वह इसीलिए अपनी सेना निःसंकोच और निर्द्वन्द्व भाव से दुर्योधन को दे सका था। वह दुर्योधन को सेना देने को इसीलिए आतुर था कि वलराम उसे पांडवों की ओर से युद्ध करने से न रोक सकें।··· क्या कृष्ण उनसे चतुराई कर रहा था ?··· पर वे भी तो कृष्ण से चतुराई करने का प्रयत्न कर रहे थे। वे चाहते थे कि पांडव इतने दुर्वल हो जाएँ कि वे दुर्योधन से युद्ध करने का साहस न कर सकें और दुर्योधन की इच्छानुसार समझौता कर लें।··· वे जानते थे कि कृतवर्मा ने भी अपनी सेना का एक वड़ा भाग, दुर्योधन को दे दिया था। उन्होंने यह भी सुना था कि कृतवर्मा अवसर मिलते ही दुर्योधन के पक्ष में युद्ध करने के लिए पहुँच जाएगा; क्योंकि उसे सात्यकि से अपना हिसाव चुकता करना था।···वलराम आज तक यह नहीं समझ सके थे कि कृष्ण के प्रति कृतवर्मा का दृष्टिकोण क्या था। वह उनकी आज्ञाओं का पालन करता था। अनेक अवसरों पर कृष्ण पर अपने प्राण न्यौछावर करता हुआ सा दिखाई पड़ता था; किंतु सेना तो उसने तव भी कृष्ण के विरोधियों को ही दी थी।

··· वलराम कुछ भी निश्चित नहीं कर पा रहे थे। वे प्रत्येक अवस्था में दुर्योधन को सुरक्षित देखना चाहते थे। उनको लगता था कि उनकी स्थिति भी भीष्म के समान हो गई थी। वे जानते थे कि दुर्योधन ने क्रूरता का काम किया है। अन्याय और अत्याचार किया है; किंतु उसके लिए वे उसे मृत्युदंड देना नहीं चाहते थे; और पांडव उसे मृत्युदंड दिए विना मानेंगे नहीं। भीम उसे किसी भी स्थिति में जीवित नहीं छोड़ेगा। इसीलिए उन्होंने कृष्ण को इस युद्ध से दूर रखना चाहा था।··· कृष्ण अत्यंत निर्मम है। जाने क्यों धर्म की वात आने पर वह अपना-पराया कुछ नहीं सोचता। किसी की ममता उसे नहीं व्यापती। ···पर जव-जव वे उसे अपनी मुट्ठी में वांधने का प्रयत्न करते हैं, जाने किन अजान दरारों और रिक्तियों से वह उनकी मुट्ठी से फिसलकर, वाहर निकल आता है। उसने उनके प्रत्येक वचन की रक्षा की है, उनकी प्रत्येक आज्ञा का पालन किया है; किंतु उनकी इच्छा की पूर्ति कभी नहीं हो पाई। उन्होंने आज भी कृष्ण को पूर्णतः वांध रखा था; किंतु उन वंधनों में वँधा कृष्ण भी इतना स्वतंत्र था कि उसकी कर्मक्षमता अवरुद्ध नहीं होती थी। उन्होंने उसे वाधा तो था, किंतु न वे उसे विपरीत दिशा में मोड़ पाए थे, और न वे उसे अकर्मण्य ही कर पाए थे।···

15

उपप्लव्य में प्रवेश कर, राजप्रासाद तक पहुँचने में अर्जुन को पर्याप्त विलंव हो गया था। दिन ढल गया था और कुछ-कुछ अंधकार हो चला था। यदि विश्राम करने के विचार

से वह अपने भवन में चला जाता तो कदाचित् अधिक विलंब हो जाता। उसने सीधे धर्मराज के पास जाने का ही निश्चय किया।

धर्मराज अकेले नहीं थे। वहाँ सारा परिवार एकत्रित था। जिस उत्साह से उन्होंने अर्जुन का स्वागत किया था, उससे तो यही आभास होता था कि वे लोग उसी की प्रतीक्षा में वहाँ बैठे थे।

"आओ धनंजय ! हम तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहे थे।" युधिष्ठिर बोले, "कहना चाहिए, विकट प्रतीक्षा।"

"तो आपको मेरा संदेश मिल गया था ?"

"यह संदेश तो मिल गया था कि तुम, द्वारका से चल रहे हो; किंतु सैनिक संधि अथवा सहायता के विषय में हमें तुम्हारा कोई संदेश नहीं मिला है। हम सब लोग यह जानने को भी उत्सुक थे कि द्वारका में तुम्हारा कैसा स्वागत हुआ और कितनी तथा कैसी सहायता मिली। वासुदेव बलराम हम पर कुछ कृपालु हुए अथवा नहीं।" युधिष्ठिर बोले।

"मेरा विचार है कि धनंजय को थोड़ा जलपान तो करवा ही देना चाहिए, वे लंबी यात्रा से लौटे हैं। उन्हें भूख भी लगी होगी और संभवतः विश्राम की भी आवश्यकता हो।" देविका ने अर्जुन को युधिष्ठिर के प्रश्न का उत्तर देने का अवसर नहीं दिया।

"यह है गृहस्वामिनी का धर्म। इनके भवन में एकत्रित हुए हैं तो ये बात नहीं करने देंगी, पहले जलपान करवाएँगी।" भीम ने कुछ वक्र स्वर में कहा, "तुम सचमुच की अन्नपूर्णा हो भाभी ! पर इस समय हम सब ही सूचनाओं के भूखे हैं। हमें भी तो स्वयं को तृप्त कर लेने दो। उसके पश्चात् तुम अर्जुन का सत्कार करती रहना।"

देविका ने द्रौपदी की ओर देखा।

"अभी रुक जाओ देविका ' द्रौपदी धीरे से बोली, "सबसे प्रबल भूख मध्यम की ही होती है। उन्हें अपनी भूख मिटा लेने दो।"

"जलपान की आवश्यकता नहीं है भाभी !" अर्जुन ने मधुर ढंग से मुस्कराकर कहा, "मैं आपके यहाँ से भोजन कर के ही जाऊँगा।"

"हाँ भाई !" भीम ने कहा।

अर्जुन मुस्कराया, "धैर्य से सुनने की बात है, मध्यम ! उत्तेजना में तो न कहा जाएगा, न सुना जाएगा।"

भीम सचेत हो गया। कदाचित् वह अपनी उत्तेजना में कुछ अधिक ही उग्र हो गया था, "चलो ! धैर्य से ही सुनाओ। तुम्हारा तो स्वभाव ही है, दीर्घसूत्रता। तुम्हारा एक नाम धैर्य-परीक्षक भी होना चाहिए था।..."

"मैं जब द्वारका पहुँचा तो ज्ञात हुआ कि दुर्योधन भी वहाँ आया हुआ है।..."

"हस्तिनापुर से हमारे सूत्रों ने भी सूचना भिजवाई थी कि दुर्योधन द्वारका गया है।" भीम ने उसकी बात काट दी।

"हाँ ! किंतु मुझे यह सूचना द्वारका पहुँचकर ही मिली।" अर्जुन बोला, "उस समय श्रीकृष्ण द्वारका में नहीं थे। दुर्योधन ने अपनी सेना नगर के बाहर ही ठहरा दी थी और स्वयं सांब और लक्ष्मणा के भवन में रुका हुआ था।"

"पर श्रीकृष्ण को तो द्वारका में ही होना चाहिए था।" सहदेव जैसे अपने आप से बोला, "वे यहाँ से तो द्वारका ही गए थे।"

"हाँ। होना तो उन्हें द्वारका में ही चाहिए था, किंतु वे वहाँ नहीं थे। मार्ग में कहाँ रुक गए थे अथवा किस ओर चले गए थे, कह नहीं सकता।" अर्जुन ने कहा, "यह उनकी नीति भी हो सकती है कि वे मेरे द्वारका पहुंचने से पहले वहाँ नहीं होना चाहते थे..."

"क्यों ? तुम्हारे बिना उसे द्वारका सूनी लगती है क्या, इतनी रानियों के होते हुए भी।" भीम अपनी उत्तेजना को किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त करता चल रहा था।

अर्जुन हँस पड़ा, "नहीं ! इसलिए नहीं। वरन् इसलिए कि वे हमारे प्रमाद को समझ रहे थे। हमें यह ध्यान ही नहीं था कि हमें कृष्ण से भी सैनिक सहायता माँगने की औपचारिकता पूरी करनी है। हमने कभी यह भी नहीं सोचा था कि दुर्योधन इतना निर्लज्ज है कि वह उन लोगों से भी सहायता माँगेगा, जो हमारे इतने अपने हैं कि हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि वह उनके द्वार पर भी जाएगा। हमने यह भी नहीं सोचा कि यदि दुर्योधन हमसे पहले कृष्ण के पास सहायता माँगने पहुँच गया तो वे उसे क्या उत्तर देंगे।..."

"क्या उत्तर देंगे का क्या अर्थ। सीधे-सीधे कहेंगे कि तुम पापी हो। मुझे तुम से कोई सहानुभूति नहीं है।" द्रौपदी बोली, "कल्पना करो कि हम केशव से सहायता न माँगते और दुर्योधन उनके द्वार पर पहुँच जाता तो क्या केशव उसके पक्ष से युद्ध करने पहुँच जाते ? क्या श्रीकृष्ण का अपना धर्म उन्हें अधर्म का पक्ष लेने से नहीं रोकता ?"

"वह तो श्रीकृष्ण ही जानें।" अर्जुन ने कहा, "हुआ यह कि दुर्योधन मुझसे पहले द्वारका पहुँचा हुआ था। उसे श्रीकृष्ण के द्वारका पहुँचने का समाचार मिला और वह किसी प्रकार श्रीकृष्ण के शयनकक्ष में ही धँस गया। मैं इन सारी गतिविधियों से अनभिज्ञ था किंतु न तो मातुल ही इस ओर से असावधान थे और न रुक्मिणी भाभी। अगली रात किसी समय कृष्ण द्वारका पहुँचे। भाभी ने प्रातः ही दासी भेज दी। मैं जब कृष्ण के शयनकक्ष में पहुँचा तो नहीं जानता था कि वे अभी सोए हुए हैं। भाभी यह व्यवस्था न करतीं, तो कदाचित् मेरे लिए विश्राम करते हुए श्रीकृष्ण के कक्ष में इस प्रकार घुस जाना संभव नहीं होता।"

"ठीक है। तुम कक्ष में गए। फिर ?" भीम ने कहा।

अर्जुन ने भीम की ओर देखा। वह जैसे जिज्ञासा की अग्नि में जल रहा था।

सारी घटना को पूर्ण विस्तार से सुनने का धैर्य उसमें नहीं था।

"दुर्योधन ने मुझसे पहले सहायता माँगी ; किंतु कृष्ण ने मुझे पहले चुनने को कहा।..."

"चुनने को ? क्या चुनने को ?" सुभद्रा ने पहली बार मुख खोला।

"उन्होंने सहायता के दो वर्ग बनाए।" अर्जुन ने बताया, "पहले वर्ग में संपूर्ण नारायणी सेना थी और दूसरे में वे स्वयं– अकेले और निःशस्त्र। उन्होंने कहा कि वे युद्ध नहीं करेंगे। शस्त्र नहीं उठाएँगे।"

"इस विभाजन का क्या अर्थ ? जैसे कृष्ण के सैन्यबल पर दुर्योधन का बराबर का अधिकार हो।" भीम ने क्रुद्ध स्वर में कहा, "दुर्योधन के मित्र तो हमारे शत्रु हैं ही, अब हमारे मित्र भी हमारे शत्रु हो रहे हैं।"

अर्जुन ने शांत भाव से युधिष्ठिर की ओर देखा। उन्होंने उसे आगे कहने का संकेत किया।

"मैंने अपना मत उन दोनों में से कृष्ण के पक्ष में दिया। मैंने कृष्ण को चुन लिया। कृष्ण ने मुझे चेतावनी दी कि मैं सोच लूँ, वे अकेले होंगे, उनके साथ सेना नहीं होगी। उनके भाई और पुत्र नहीं होंगे। वे शस्त्र भी नहीं उठाएँगे।" अर्जुन ने रुक कर उन सबको देखा, "मैंने तब भी कृष्ण को ही चुना।..."

भीम का मुख आश्चर्य से खुल गया। उसे देखकर लगता था कि वह कोई अनहोनी बात सुन रहा था। ऐसी दुखद कल्पना तो उसने कदाचित् अपने किसी भयंकरतम स्वप्न में भी नहीं की थी।

"तुमने कृष्ण को चुन लिया ?" अंततः उसने कहा।

"हाँ। मैंने कृष्ण को चुन लिया।" अर्जुन का स्वर पूर्णतः आश्वस्त था।

"क्यों ? तुमने निःशस्त्र कृष्ण को ही क्यों चुना ? तुमने नारायणी सेना को क्यों नहीं चुना ?" भीम का स्वर अत्यंत उत्तेजित था, "नारायणी सेना युद्ध की अनुभवी एक अत्यंत दक्ष और शस्त्रनिपुण सेना है। उसके सैनिकों ने अपना महत्त्व अनेक बार प्रमाणित किया है। तुमने उन्हें छोड़कर अकेले निहत्थे कृष्ण को चुना, ताकि तुम उसके साथ बैठकर कुछ मधुर वार्तालाप कर सको। उसका वेणुवादन सुन सको। तुम कौरवों से युद्ध करने जा रहे हो, किसी मनोरम यात्रा पर नहीं जा रहे हो।..."

भीम का चेहरा क्रोध से तमतमा आया था। उसे देखकर किसी को भी लग सकता था कि यदि वह किसी प्रकार शांत न हुआ और यही स्थिति बनी रही तो क्रोध के मारे या तो उसके मुख से झाग गिरने लगेगा या फिर वह अर्जुन पर अपने हाथों अथवा किसी शस्त्र से प्रहार कर बैठेगा।...

अर्जुन ने युधिष्ठिर की ओर देखा। युधिष्ठिर के चेहरे पर उद्विग्नता का कोई चिह्न नहीं था। वे भीम के इस क्रोध से तनिक भी प्रभावित नहीं लग रहे थे।

"तुमने कृष्ण को क्यों चुना अर्जुन ?" उनका स्वर पूर्णतः शांत था।

"क्योंकि मैं कृष्ण को त्याग नहीं सकता। मैं कृष्ण से युद्ध नहीं कर सकता। मैं कृष्ण के विरोधी पक्ष में जीवित नहीं रह सकता। कृष्ण को त्यागने का अर्थ है अपने प्राणों को त्यागना, धर्म को त्यागना। मैं धर्म को त्याग नहीं सकता। कल यदि आप कहें कि मैं आप और राज्य में से किसी एक को चुन लूँ, तो क्या मैं राज्य को चुनूँगा ? आपको छोड़ दूँगा ?" अर्जुन ने रुककर भीम को देखा,"कृष्ण को त्याग कर संसार में प्राप्त करने को रह ही क्या जाता है ? कृष्ण के विना संसार की समस्त भौतिक उपलब्धियाँ मेरे लिए कोई अर्थ नहीं रखतीं।"

सुभद्रा ने अर्जुन को बहुत जाना था, पर उसने उसका यह रूप आज से पहले कभी नहीं जाना था। कहाँ वह सोच रही थी कि पांडव उसके भाइयों को उनके व्यवहार के लिए कोसेंगे और कहाँ अर्जुन कह रहे हैं कि वे कृष्ण को त्याग नहीं सकते। चाहे कृष्ण उन्हें त्याग दें, तो भी नहीं··· इस युद्ध के निमित्त सुभद्रा को वहुत कुछ नया समझ में आ रहा था। आज समझ में आ रहा था कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को क्यों प्रोत्साहित किया, सुभद्रा का अपहरण करने को। आज समझ में आ रहा है कि श्रीकृष्ण क्या कर रहे हैं, कैसी परीक्षा ले रहे हैं, पांडवों के प्रेम की और उनके धर्म की।···

"तो फिर कृष्ण से कहा होता कि वह तुम्हें सैनिक भी दे। शस्त्र भी दे। युद्ध में विजय प्राप्त करने में हमारा सहायक हो।" भीम ने उत्तेजित स्वर में कहा।

अर्जुन मौन बैठा रहा, जैसे उसे कुछ भी कहना आवश्यक न लग रहा हो, किसी प्रकार के स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता न हो··· और जैसे भीम की बात की कोई सार्थकता न हो।

"क्यों नहीं कहा ?" भीम का स्वर और भी ऊँचा हो गया।

"कृष्ण दे सकते तो स्वयं ही दे सकते। जब उन्होंने अपना और अपने सैन्यबल का विभाजन कर दिया और मुझे उनमें से एक चुन लेने को कहा, तो उसका अर्थ था कि वे दोनों वर्ग मुझे नहीं दे सकते थे। अथवा उन दोनों को एक साथ प्राप्त करना हमारे हित में नहीं था।" अर्जुन बोला, "कृष्ण से कुछ माँगने की क्या आवश्यकता है। क्या वे नहीं जानते कि हमें क्या चाहिए और उन्हें हमें क्या देना है।"

"मूर्खतापूर्ण भावुक बातें मत करो। ऐसा ही होता तो तुम्हें द्वारका भेजने की क्या आवश्यकता थी।" भीम ने कहा तो, किंतु उसके स्वर में अब क्रोध की वैसी गूँज नहीं थी।

"अर्जुन ने जो कहा है, उस पर शांत मन से विचार करो मध्यम !" युधिष्ठिर मधुर ढंग से वोले, "कृष्ण का विरोध करने के स्थान पर, उन्हें समझने का प्रयत्न करो। जव यहाँ, उपप्लव्य में बलराम के विरोध में कृष्ण ने कुछ नहीं कहा और विना किसी सहायता अथवा संधि की चर्चा के उठकर चल दिए, तो मेरा माथा तभी ठनक गया था। वे सीधे द्वारका नहीं पहुँचे, तो भी उसका अर्थ था कि वे इन परिस्थितियों का कोई समाधान खोज रहे थे। अर्जुन की इन सूचनाओं के पश्चात् मेरे मन में कुछ बातें स्पष्ट

हो रही हैं। अब मेरी समझ में आ रहा है कि कृष्ण बहुत पहले ही क्यों नारायणी सेना को भंग कर देना चाहते थे। हम मानते हैं कि नारायणी सेना कृष्ण की सेना है; किंतु लगता है कि उस पर कुछ और लोगों का भी अधिकार था...''

"इसका क्या अर्थ ?" सहसा द्रौपदी ने पूछा।

"उदाहरण के लिए हम मान लें कि नारायणी सेना के सेनापति के रूप में बलराम का भी उस सेना पर उतना ही अधिकार था, जितना कृष्ण का। और हम यह जानते हैं कि बलराम नहीं चाहते कि हम दुर्योधन से युद्ध करें। ऐसे में यदि हम नारायणी सेना के भरोसे लड़ने जाते हैं, तो क्या वह सेना हमारे लिए पूर्णतः विश्वसनीय होती ?" युधिष्ठिर ने उन सबकी ओर देखा।

"जिस सेना का सेनापति ही हमारे पक्ष में न हो, हम उसके भरोसे कैसे लड़ सकते हैं।" सहदेव ने कहा।

"प्रश्न यह भी है कि कृष्ण अपनी सेना को भंग क्यों करना चाहते थे ? क्या उसके सैनिक विश्वसनीय नहीं रहे ? क्या वह सेना, धर्म के पक्ष में लड़नेवाली सात्विक शक्ति न हो कर, अपने स्वार्थों के लिए लड़नेवाली रक्तपिपासु युद्धतंत्र मात्र बन गई है ? क्या उसके सैनिक युद्ध से थक गए हैं और युद्धक्षेत्र से भाग जाने का मन बना रहे हैं ? क्या उसके सैनिकों ने विजय के पश्चात् अपने सेनापति से विजय का मूल्य माँगने की नीति घोषित कर दी है ?" युधिष्ठिर बोले।

कोई कुछ नहीं बोला। सबकी चिंता ही बोल रही थी।

"इन सारे कोणों से हमें सोचना चाहिए। हम कृष्ण से स्पष्टीकरण नहीं माँगेंगे। हम कृष्ण पर भरोसा करेंगे। इस विभाजन के पश्चात् हम कृष्ण को अपना विरोधी नहीं मानेंगे, उन्हें सदा के समान अपना हितैषी ही मानेंगे।" युधिष्ठिर बोले, "वे निःशस्त्र भी बहुत शक्तिशाली हैं। वे अर्जुन का सारथ्य कर सकते हैं। हमारी सेना को विजय का मार्ग दिखा सकते हैं।"

"एक बात मेरे मन में भी आती है।" सहदेव ने कहा, "कहीं ऐसा तो नहीं कि कृष्ण अपनी सेना के साथ हमारे पक्ष से युद्ध करते तो बलराम, अक्रूर तथा कृतवर्मा जैसे लोग अपनी सेनाओं के साथ दुर्योधन के पक्ष में जा खड़े होते ?"

"ऐसी संभावना भी हो सकती है।" नकुल ने कहा।

भीम ने उन सबको देखा। कोई भी कृष्ण अथवा अर्जुन का विरोध करता दिखाई नहीं दे रहा था। पर उसका मन अब भी नहीं मान रहा था कि उन लोगों को इन परिस्थितियों को चुपचाप स्वीकार कर लेना चाहिए था। उसे लग रहा था कि वे लोग कृष्ण पर कुछ अधिक ही भरोसा कर रहे हैं।

"क्या दुर्योधन भी कृष्ण की सहायता पाकर प्रसन्न मन से लौट आया ? क्या वह द्वारका में और किसी के पास नहीं गया ?" उसने अर्जुन से पूछा।

"नहीं ! मेरी सूचना के अनुसार वह कृष्ण की सेना लेकर बलराम के पास गया

था।"

"तो उन्होंने क्या कहा ?"

"उन्होंने कहा कि जो कुछ वे दुर्योधन को दे सकते थे, वह कृष्ण ने उसे पहले ही दे दिया है। उनके पास उसे देने के लिए और कुछ नहीं है।" अर्जुन ने बताया, "उन्होंने कहा कि कृष्ण ने स्वयं को अर्जुन को दे दिया है किंतु कृष्ण शस्त्र धारण नहीं कर रहा। इसलिए वे न तो कृष्ण के सहयोगी हो कर दुर्योधन के विरुद्ध लड़ेंगे और न वे दुर्योधन की सहायता के लिए कृष्ण के विरुद्ध लड़ेंगे। वे कृष्ण का विरोध किसी भी स्थिति में नहीं कर सकते और विशेषकर जब वह युद्ध में निःशस्त्र होगा। अतः अब युद्ध में उनकी कोई रुचि नहीं है। वे मध्यस्थ हैं, किसी भी पक्ष की पराजय नहीं चाहते। अतः इस युद्धकाल में वे तीर्थाटन के लिए चले जाएँगे।"

एक संक्षिप्त सन्नाटे के पश्चात् द्रौपदी बोली, "मुझे तो लगता है कि गोविन्द ने यह सब कुछ बहुत सोच समझ कर किया है; और अपने इस निर्णय से उन्होंने दुर्योधन के एक बहुत प्रबल सहायक, ज्येष्ठ वासुदेव को, युद्ध से पहले ही निरस्त कर दिया है।"

भीम ने कुछ कहा तो नहीं, किंतु उसे लगने लगा था कि नारायणी सेना दुर्योधन को देकर कृष्ण ने कदाचित् उनकी सहायता ही की थी। यदि कृष्ण नारायणी सेना उन्हें दे देते और युद्ध में उनकी विजय होती तो युद्ध के पश्चात् सेनानायक विजय में अपना भाग माँगते। ऐसे समय में जब अन्य सारी सबल सेनाएँ दुर्बल हो चुकी होंगी, नारायणी सेना के सेनानायकों को नियंत्रित करना पांडवों के लिए भी कठिन हो सकता था। धर्मराज कह रहे हैं कि कृष्ण नारायणी सेना को भंग करना चाहता था; किंतु अब भीम को लगने लगा था कि कृष्ण नारायणी सेना को भंग नहीं, नष्ट करना चाहते हैं। तभी तो उन्होंने वह सेना दुर्योधन को थमा दी। वे जानते हैं कि दुर्योधन पराजित होगा और उसके पक्ष से लड़नेवाली सारी सेनाएँ नष्ट होंगी। इस सेना की रक्षा करनी होती तो किसी भी प्रकार वह सेना पांडवों को देते। नारायणी सेना पांडवों की रक्षा करती तो पांडव भी नारायणी सेना की रक्षा करते।

"दुर्योधन और किसी के पास नहीं गया ?" भीम ने पूछा।

"दुर्योधन द्वारका में प्रायः सबके ही पास गया; किंतु सिवाय कृतवर्मा के उसे और किसी ने कुछ नहीं दिया। कृतवर्मा ने उसे अपनी एक वाहिनी दे दी है।"

"और तुम किसी के पास नहीं गए ?"

"नहीं ! कृष्ण से माँगने के पश्चात् और किसी से माँगने की स्थिति नहीं रहती।" अर्जुन ने कहा, "वैसे सात्यकि ने मुझसे कहा है कि कोई आए या न आए, वह अवश्य ही अपनी सेना के साथ हमारे पक्ष में युद्ध करने के लिए आएगा।"

16

मद्रराज शल्य अपने प्रासाद के एकांत कक्ष में अत्यंत व्याकुल भाव से एक सिरे से दूसरे सिरे तक टहल रहे थे।

आज उनकी सभा में पांडवों का दूत आया था, जो उन्हें दुर्योधन के विरुद्ध होने वाले आसन्न युद्ध में पांडवों की ओर से लड़ने का निमंत्रण दे गया था। शल्य ने चाहे इस संबंध को स्मरण रखने का कभी प्रयत्न नहीं किया; किंतु वे यह भूल भी नहीं पाए कि माद्री उनकी छोटी बहन थी। उन्होंने शुल्क लेकर भीष्म को उसका दान किया था। शुल्क लेकर दान करने के पश्चात् उनका उसके प्रति कोई दायित्व नहीं था; किंतु उसके साथ अपने संबंध को तो नहीं भुलाया जा सकता था। माद्री पांडु के साथ वनों में और पर्वतों पर भटकती रही थी। शल्य को उसका क्या करना था। पांडु अपनी इच्छा से अपनी राजधानी छोड़कर साधना के लिए गया था। फिर समाचार आया था कि पांडु का देहांत हो गया था और माद्री ने स्वेच्छा से उसके साथ चितारोहण किया था। कुंती अपने पुत्रों के साथ हस्तिनापुर लौट आई थी। शल्य ने मान लिया था कि हस्तिनापुर से उनका संबंध समाप्त हो गया था। जब माद्री ही नहीं रह गई, तो उन्हें किसी और से क्या लेना-देना था। उन्होंने कभी यह जानने का प्रयत्न ही नहीं किया कि माद्री के पुत्रों का क्या हुआ। यह खोजना तो भीष्म का काम था, उनका नहीं।...और फिर उनके चरों ने यह समाचार भी दिया था कि वारणावत के अग्निदाह में कुंती अपने पाँचों पुत्रों के साथ जल मरी थी। कुंती के पुत्र... अर्थात् माद्री के पुत्र भी। कुंती ने अपने और माद्री के पुत्रों में कभी कोई भेद नहीं किया था। कुंती अपने पुत्रों के साथ जल मरी थी तो अब माद्री के पुत्र भी जीवित नहीं थे।...

द्रौपदी के स्वयंवर में प्रतिज्ञा पूरी कर पांचाली को जीतनेवाले वनवासी ब्राह्मणों से उसे छीनने के लिए, जब शल्य युद्ध कर रहे थे तो वे क्या जानते थे कि वे कुंती के पुत्रों से ही लड़ रहे थे। उनके लिए तो वे लोग वारणावत में जलकर मर चुके थे। भीम के हाथों उनकी बड़ी अपमानजनक पराजय हुई थी।... उन्हें पहले ज्ञात होता तो कदाचित् वे भीम से युद्ध करने के स्थान पर उसे अपना पुत्र स्वीकार कर अर्जुन और भीम की वीरता के यश के भागी होने का प्रयत्न करते। भीम उनसे शक्तिशाली सिद्ध हुआ था, किंतु शल्य को इससे कोई प्रसन्नता नहीं हुई थी। न ही वे इस तथ्य से कभी समझौता कर पाए। रुक्मरथ को भी अपने पिता का अपमान अच्छा नहीं लगा था। वह अपने पिता से अप्रसन्न था कि क्यों वे बिना सोचे-समझे किसी से भी भिड़ जाते हैं। न अपनी अवस्था देखते हैं, न भिड़ने की आवश्यकता। जरासंध से भिड़े होते तो हारकर भी कुछ प्रशंसा पाते। भिड़ गए तरुण भीम से। जहाँ न जीतने पर यश मिल सकता था, न हारने पर सहानुभूति। प्रत्येक अखाड़े में पिटनेवाला मल्ल, मल्ल नहीं विदूषक माना जाता है। उसके मन में भीम के प्रति भी रोष था कि उसने उन्हें अपना

परिचय क्यों नहीं दिया। …परिचय दिया होता तो कदाचित् उससे भिड़ने का अवकाश ही नहीं रहता। … वस्तुतः रुक्मांगद और रुक्मरथ को पांडव कभी भी प्रिय नहीं रहे। पांडवों से उनका कभी कोई सीधा झगड़ा नहीं हुआ; किंतु वे दोनों भाई सदा ही पांडवों की अपेक्षा दुर्योधन और सुशर्मा के प्रति अधिक सदय रहे थे। वस्तुतः पांडवों का पक्ष लेने का कभी कोई लाभ ही दिखाई नहीं दिया। वे न तो पांडवों को असाधारण वीर मानते थे और न उनकी वीरता से प्रसन्न थे। शल्य को भी कभी पांडवों से आत्मीयता और स्नेह का अनुभव नहीं हुआ था। सदा वनों और पर्वतों पर रहने वाले, ऋषि-मुनियों और संन्यासियों के चरण धोनेवाले यज्ञ और तपस्या करनेवाले, दान और धर्म की चर्चा करनेवाले, राजन्य संस्कृति से दूर, इन अव्यावहारिक वीरों से किसी भी महत्वाकांक्षी राजा को क्या लेना-देना था ?

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के पहले पांडव दिग्विजय के लिए निकले थे और नकुल मद्र देश आया था। तव पहली वार शल्य का मन पांडवों की ओर कुछ आकृष्ट हुआ था। नकुल के चेहरे में कोई ऐसी वात थी जो शल्य को माद्री का स्मरण करा गई थी। उसके व्यवहार में शल्य के प्रति आक्रामकता भी नहीं थी। फिर यह भी दिखाई दे रहा था कि पांडवों ने स्वयं को धार्तराष्ट्रों से अधिक शक्तिशाली सिद्ध कर दिया था। उनकी महत्वाकांक्षाएँ भी जाग उठी थीं। युधिष्ठिर के चक्रवर्ती सम्राट् होने के लक्षण दिखाई दे रहे थे। यह पहला अवसर था कि शल्य के मन में उनसे भिड़ने की इच्छा नहीं जागी थी। शल्य पहली बार उनके मातुल वने थे। अपने संवंध की आड़ में शल्य उनसे युद्ध टाल गए थे। उपयुक्त उपहार देकर उन्होंने नकुल को प्रसन्न मन से लौटा दिया था।

द्यूतसभा में उन्होंने पांडवों की दुर्गति देखी थी। उन्होंने मान लिया था कि युधिष्ठिर इसी के योग्य था। वह संन्यासी हो सकता था, राजा नहीं। उसके व्यवहार में कहीं राजाओं के से लक्षण नहीं थे। तो फिर उसका पक्ष लेकर लड़ने का क्या लाभ ? दुर्योधन ने स्वयं को कहीं अधिक चतुर शासक सिद्ध किया था। उन्हें दिख रहा था कि भविष्य में दुर्योधन जरासंध के ही समान एक असाधारण शक्ति-संपन्न सम्राट वनने की दिशा में वढ़ रहा था। तो फिर उस उदीयमान सूर्य के दुर्वल और मूर्ख शत्रुओं का पक्ष लेने का क्या लाभ ? शल्य व्यावहारिक व्यक्ति थे। उन्हें भावनाओं में वहना अच्छा नहीं लगता था।

… सुशर्मा के माध्यम से रुक्मरथ को कीचक की मृत्यु की सूचना मिली थी। विराटनगर पर दुर्योधन और सुशर्मा के सम्मिलित आक्रमण का समाचार भी शाकल आया था। शल्य को यह भी ज्ञात हुआ था कि पांडव अज्ञातवास पूरा कर आए हैं और अभिमन्यु का विवाह उत्तरा से हो रहा है, पर पांडवों ने उन्हें उस विवाह में आमंत्रित नहीं किया था। बहुत जल्दी में थे वे। प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे। शल्य भी बहुत आतुर नहीं थे, ऐसे विवाहों में सम्मिलित होने के, जहाँ न कोई समारोह हो, न विलास। बस काम ही काम।

पांडवों ने उन्हें विवाह का निमंत्रण नहीं भेजा था, किंतु आज युद्ध में सम्मिलित होने का निमंत्रण भेज दिया था। युद्ध-निमंत्रण मद्रराज शल्य के लिए नहीं, पांडवों के वीर मातुल के लिए था। पता नहीं उन्हें अभिमन्यु के विवाह के अवसर पर यह संवंध स्मरण क्यों नहीं आया था। मातुल क्या युद्ध में ही बुलाए जाते हैं ? शल्य को यह संवंध प्रिय रहा हो या न रहा हो, किंतु वे इस संबंध का तिरस्कार नहीं कर सकते थे। सार्वजनिक रूप से तो एकदम नहीं। रुक्मरथ पांडवों के पक्ष से लड़ने को उत्सुक नहीं था। शल्य भी आतुर नहीं थे, किंतु क्षत्रिय होते हुए, वे रण-निमंत्रण अस्वीकार नहीं कर सकते थे। और फिर उनका तो संबंध भी मातुल का था। पांडवों का निमंत्रण, दूसरे पक्ष के निमंत्रण से पहले न आया होता तो और वात थी, किंतु पांडवों ने अपना दूत कदाचित् सबसे पहले शाकल ही भेजा था। ···शल्य ने युद्ध में उनकी ओर से सम्मिलित होने की सहमति दे दी थी।

और अव वे निरंतर सोच रहे थे कि क्या उनका निर्णय ठीक था ? पांडवों के पास न सेना थी, न सेना संगठित करने के लिए आवश्यक धन। दुर्योधन जैसे समर्थ शक्तिशाली और धनी राजा के सम्मुख उन का पक्ष बहुत दुर्वल था। वे सैनिक कहाँ से लाएँगे ? ले आए तो उनका भरण-पोषण कैसे करेंगे ? उनके आवास का क्या करेंगे ? उनको शस्त्र कहाँ से लेकर देंगे ? उनका वेतन कहाँ से लाएँगे ? ऐसे में उनकी ओर से युद्ध करना क्या उचित होगा ? कहीं यह अपनी पराजय को आमंत्रित करने जैसा तो नहीं है ?

इतना तो शल्य भी समझ रहे थे कि इस बार यह निर्णायक युद्ध होने जा रहा है। केवल युधिष्ठिर और दुर्योधन के लिए ही नहीं, सारे जंबूद्वीप के लिए। पराजित पक्ष अपने राज्य से ही नहीं, अपने प्राणों से भी हाथ धोएगा। शल्य के लिए युद्ध निर्णायक नहीं था, युद्ध से पूर्व अपने पक्ष का चयन ही निर्णायक था। उन्होंने यदि विजयी पक्ष का चयन कर लिया तो विजय उनकी थी। राज्य, धन, संपदा, शक्ति और सत्ता—सब कुछ उनका था।··· और कहीं दुर्वल पक्ष चुन लिया, तो उनकी अपनी वीरता क्या कर लेगी। पक्ष चयन की भूल उनका सव कुछ ले डूबेगी।···

पर वे क्या कर सकते थे। नकुल और सहदेव, उनके भागिनेय थे। इस संबंध से वे युधिष्ठिर के भी मातुल थे। युधिष्ठिर ने अपने मातुल से सैनिक सहायता माँगी थी। अपने पक्ष से युद्ध में सम्मिलित होने की प्रार्थना की थी। शल्य वीर क्षत्रिय थे। ऐसी प्रार्थना का तिरस्कार करना उनके लिए असंभव था। ··· हाँ ! यदि वे स्वीकार कर लें कि वे इतने वृद्ध हो चुके हैं कि अव युद्ध नहीं कर सकते, तो वात और है। पर वे भीष्म से तो वृद्ध नहीं हैं। ··· और जव द्रौपदी के स्वयंवर में वे भीम जैसे तरुण से मल्लयुद्ध करने के लिए उतर आए थे, तो अव वे स्वयं को एक असमर्थ वृद्ध कैसे मान सकते हैं।···फिर क्षत्रिय धर्म भी तो एक ऐसा वंधन था कि रण-निमंत्रण का तिरस्कार करना असंभव था। ··· उन्होंने दूत को अपनी स्वीकृति दे दी थी।

दूत, उनका आश्वासन पाकर चला गया था किंतु उनका मन उसी क्षण से अनिष्ट की आशंका से पीड़ित हो, उन्हें अशांत किए हुए था। सभा में तो रुक्मरथ ने उनसे कुछ नहीं कहा था, किंतु बाद में उसने बताया था कि उसके मित्र सुशर्मा का दूत भी उनकी प्रतीक्षा कर रहा है। सुशर्मा एक क्षण के लिए भी नहीं भूला है कि जिस समय उसने विराट को पराजित कर बंदी कर लिया था, उस समय भीम ने बीच में पड़कर न केवल विराट को मुक्त करा दिया था, वरन् सुशर्मा को बंदी कर अत्यंत अभद्र ढंग से अपमानित किया था। उसने उसे एक प्रकार से दास ही बना डाला था। वह तो युधिष्ठिर ही था, जिसने अपनी अव्यावहारिकता में उसे मुक्त कर दिया था। यदि कहीं भीम ने उसे विराट को सौंप दिया होता, तो विराट उसका वध ही कर डालता।··· कौरवों और पांडवों का यह आसन्न युद्ध सुशर्मा के लिए वरदान बनकर आया था। वह पांडवों से अपने उस अपमान का प्रतिशोध लेना चाहता था। ऐसे में रुक्मरथ उसके विरुद्ध पांडवों के पक्ष से कैसे लड़ सकता था।··· पर शल्य पांडवों के दूत को अपना वचन दे चुके थे।

"तो फिर आप ही जाइए उस युद्ध में।" रुक्मरथ ने अपना रोष जताया था, "आप भूल जाते हैं कि योद्धा होते हुए भी हम राजा हैं। हम युद्ध में भी धरती पर नहीं सो सकते। हमें दासियों की सेवा के बिना रहने का अभ्यास नहीं है। दिन भर हम युद्ध क्षेत्र में अपना रक्त और स्वेद बहा सकते है; किंतु संध्या समय हमें वारुणी भी चाहिए और नृत्य-संगीत भी। हम रथ में अथवा अश्व की पीठ पर सोना नहीं चाहते। हम रात भर निर्विघ्न निद्रा चाहते हैं और प्रातः सौगंधिक स्नान की सुविधा भी। दे पाएँगे आपके भागिनेय ये सारी सुविधाएँ ? आपने तो यह निमंत्रण ऐसे स्वीकार कर लिया, जैसे किसी निर्धन संबंधी के घर विवाह का निमंत्रण, जहाँ न विश्राम की सुविधा है, न खाने-पीने की।"

शल्य अपने पुत्र का पक्ष समझ रहे थे, पर वे वचन दे चुके थे। अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिए बोले, "वे युद्ध करने निकले हैं तो ये सुविधाएँ भी जुटाएँगे ही।"

"कहाँ से जुटा लेंगे वे सुविधाएँ ?" रुक्मरथ बोला, "आपने उनके दूत के कथन पर विचार नहीं किया ? वह स्वयं कह रहा था कि उनके पास साधनों की कमी है। वे किसी को किसी लाभ अथवा लोभ का वचन नहीं दे सकते। वे धर्म और न्याय के नाम पर युद्ध का आह्वान कर रहे हैं। वे यह वचन भी नहीं दे रहे कि विजयी होने पर वे अपने पक्ष के राजाओं को कोई विशेष लाभ पहुँचाएँगे। वे आपसे सैनिक भी माँग रहे हैं और उनके साथ युद्धकोश के नाम पर धन भी। यह कैसा निमंत्रण है पिताजी ! जिसमें हानि ही हानि है, लाभ की कोई चर्चा ही नहीं।"

"तुम जो कह रहे हो, वह ठीक है; किंतु उनके अपने मित्र और संबंधी हैं।" शल्य ने अपना बचाव करने के लिए कहा, "युद्ध की योजना, बिना साधनों के नहीं बनती।"

"पुत्र का विवाह तक तो उन्होंने विराट की भूमि पर किया है," रुक्मरथ बोला, "और विराट के पास भी क्या है। पांचाल अवश्य कुछ समृद्ध हैं, किंतु कौरवों के तो वे पासंग भी नहीं हैं।"

"यादव उनकी सहायता करेंगे।" शल्य ने कहा।

"मुझे तो ऐसा नहीं लगता।" रुक्मरथ बोला, "यादव मथुरा में थे तो बात और थी। अब तो उनमें भी दुर्योधन के अनेक समर्थक उत्पन्न हो चुके हैं। कृष्ण, यादवों के राजकोष से कुछ नहीं दे पाएँगे युधिष्ठिर को। और कृष्ण के पास अपनी व्यक्तिगत संपत्ति है ही कितनी। न वह व्यापारी है और न ही उसका सैनिक-लूट में विश्वास है। वह तो द्वारका में भी कोई बहुत धनी नहीं माना जाता। व्यक्तिगत संपत्ति हो भी कितनी सकती है। उससे कोई युद्ध तो नहीं लड़ा जा सकता।"

शल्य समझ रहे थे कि रुक्मरथ ठीक कह रहा था। पर वे क्या कर सकते थे। वे वचन दे चुके थे।

:

शल्य को शाकल से चले हुए तीन दिन हो गए थे। दो दिनों की यात्रा तो उनके अपने राज्य की सीमा के भीतर ही थी। तीसरे दिन वे त्रिगर्तराज सुशर्मा के राज्य में प्रवेश कर गए थे। सुशर्मा ने उनका अच्छा स्वागत किया था। उनकी अगवानी के लिए, नगरद्वार पर वह स्वयं उपस्थित था और शल्य तथा रुक्मरथ को अपने प्रासाद में ले आया था। उनकी सेना को उसने अपने स्कंधावार में ठहरने की सुविधा दी थी।

शल्य की सारी आवश्यकताओं की व्यवस्था करने के पश्चात् सुशर्मा रुक्मरथ को अपने कक्ष में ले आया।

"यह क्या कर रहे हो तुम लोग ?" उसने रुक्मरथ से पूछा, "उन पांडवों का पक्ष लेकर लड़ने जा रहे हो, जिनका पराजित होना निश्चित है।"

रुक्मरथ अपने हाथ में पकड़े चषक को देखता रहा और कुछ सोचता रहा। फिर उसने मस्तक उठाकर सुशर्मा की ओर देखा, "दुर्योधन ने निमंत्रण भेजने में कुछ विलंब कर दिया। पांडवों का दूत पहले आ गया। पिताजी को लगा कि दुर्योधन को उनकी उतनी आवश्यकता नहीं है। या तो वह उनका महत्त्व नहीं समझता, अथवा वह उनकी उपेक्षा कर रहा है।..."

"नहीं ! ऐसी कोई बात नहीं है।" सुशर्मा कुछ आक्रामक स्वर में बोला, "दुर्योधन तो पचास सैनिकों के किसी नायक की भी उपेक्षा नहीं कर रहा है। वह महावीर शल्य की उपेक्षा कैसे कर सकता है।"

"तो उस ने दूत भेजने में प्रमाद क्यों किया ?"

सुशर्मा आकर रुक्मरथ के इतना समीप बैठ गया कि आवश्यकता होने पर वह उसे छू भी सके, "थोड़ा विचार करो मित्र ! पांडवों के मित्र ही कितने हैं। अँगुलियों

पर गिन लोगे। उन्हें दूत ही कितने भेजने हैं। इसलिए उनका दूत शीघ्र आ गया। दुर्योधन के दूत तो अभी हस्तिनापुर से निकल ही रहे होंगे। उसके निमंत्रण समाप्त तो नहीं हो गए। तुम्हें कुछ तो प्रतीक्षा करनी चाहिए थी। इतनी व्यग्रता की क्या आवश्यकता थी।"

"पिताजी को स्मरण हो आया कि हम क्षत्रिय हैं। जो हमें पहले आमंत्रित कर लेगा, हमें उसकी ही सहायता करनी है।" रुक्मरथ बोला, "वे रण-निमंत्रण का तिरस्कार नहीं कर सकते।··· और फिर वे कैसे भूल सकते हैं कि उनके भागिनेयों ने सारा जीवन उनसे कुछ नहीं माँगा है। पिताजी ने सारा जीवन उनके लिए कुछ नहीं किया है। आज वे हाथ पसारकर माँग रहे हैं, तो अपनी छोटी बहन के पुत्रों को वे न कैसे कह देते।"

"इतनी अवस्था हो जाने पर भी मद्रराज अभी राजनीति को नहीं समझते।" सुशर्मा ने चषक अपने कंठ में उँड़ेल लिया, "राजनीति संबंधों पर चलती है क्या ? आज उनके भीतर का मातुल जाग गया है और उनको अपने भागिनेय बहुत प्रिय लगने लगे हैं, पर उन्हें ध्यान देना चाहिए कि कृष्ण ने कंस का वध करते समय यह स्मरण नहीं रखा था कि वह उसका मातुल है। उसी कृष्ण के मित्र हैं, ये पांडव। अपने स्वार्थ के आड़े आते ही मातुल के कंठ पर खड्ग रख देंगे।" उसने रुककर रुक्मरथ को देखा, "राजनीति में हमें उन संबंधों को भुलाना पड़ता है, जो प्रकृति ने बनाए हैं। राजनीति तो अपने बनाए संबंधों पर चलती है। हम अपने माता-पिता और भाई-बहन स्वयं नहीं चुन सकते, किंतु अपने मित्र, सहायक और नेता स्वयं चुन सकते हैं। प्रकृति जिसे हमारा भाई बनाकर भेजती है, उसे हम अपना सगा तो मानते हैं, किंतु वही हमारे राज्य में से अपना भाग माँगता है। वही विभाजित करवाता है, पिता के राज्य तथा कोष को। प्रकृति द्वारा उत्पन्न किए गए हमारे भाई मूर्ख भी हो सकते है, किंतु हम अपने लिए मूर्ख मित्र कभी नहीं चुनते। पांडवों ने इस बात को समझा होता तो वे युधिष्ठिर का अनुसरण कभी न करते। यदि वे युधिष्ठिर का अनुसरण न करते तो इस संकट में भी न पड़ते।··· तुम मेरी बात को समझ रहे हो न ?"

"मैं तो समझता हूँ।" रुक्मरथ बोला, "मुझे कोई स्नेह नहीं है अपने इन भाइयों से; पर पिताजी से विवाद करने का कोई लाभ नहीं है। तुम जानते हो, ये वृद्ध लोग जो धारणा एक बार बना लेते हैं, उससे रंचमात्र भी नहीं डिगते, चाहे वह कितनी भी मूर्खतापूर्ण क्यों न हो। हठी और अड़ियल होना इनकी विशेषता है।"

"पांडवों के पक्ष में युद्ध कर क्या मिलेगा तुम्हें ?" सुशर्मा बोला, "एक तो पांडव युद्ध जीत ही नहीं सकते। जीत गए तो सब कुछ दान कर पर्वत की किसी ऊंची-चोटी पर जा बैठेंगे। वे राजनीति में रहना चाहते हैं और अहिर्निश धर्म का जाप भी करना चाहते हैं। प्रजा को संतान के समान मानो। उसका पालन करो। अरे, घोड़ा घास से मैत्री करेगा तो खाएगा क्या ? क्षत्रिय इसलिए तो अपना रक्त नहीं बहाता कि दूसरों से छीना हुआ धन प्रजा-पालन में लगा दे और स्वयं सूखी रोटी खाकर सो जाए। जीवन का भोग उसकी आवश्यकता है। भोगप्रिय न हो तो वह युद्ध ही क्यों करेगा। और फिर

अपने बुरे दिनों के लिए भी कुछ बचाकर रखना पड़ता है। संचय नहीं करेंगे तो फिर सदा पांडवों के ही समान अपना अपमान करवाते रहेंगे, अपनी पत्नी को अनावृत करवा राजसमाज का मनोरंजन करते रहेंगे और आजीवन वनों में भटकते रहेंगे।"

"सब समझता हूं; किंतु इस समय अपने पिता को पांडवों की सहायता से विमुख नहीं कर सकता।"

"उनसे कहो कि वचन दिया है तो कोई बात नहीं। किसी न किसी बहाने से उस वचन को लौटाया भी जा सकता है।" सुशर्मा बोला, "यदि निकट भविष्य में सम्राट् दुर्योधन के मांडलिक राजाओं में कोई सम्मानजनक स्थान प्राप्त करना है, तो यही अवसर है, उसे प्रसन्न करने का। अभी से उसका मन जीत लोगे तो युद्ध के पश्चात् लाभ ही लाभ है। इस युद्ध में उसके शत्रुओं के सिर काटकर उसे भेंट किए जा सकते हैं। युद्ध के पश्चात् तो अपना सिर काट दोगे तो भी वह उतना प्रसन्न नहीं होगा।"

"प्रयत्न करता हूँ। वे समझ जाएँ तो बहुत अच्छा। वस्तुतः मैं उनका बहुत विरोध कर नहीं सकता। अधिक कुछ कहूँगा तो वे रुक्मांगद को युवराज घोषित कर देंगे। तुमने स्वयं ही कहा है कि सगा भाई ही सबसे पहले आपका राज्य और धन छीनने की ओर अग्रसर होता है।" रुक्मरथ बोला, "अच्छा मुझे अब नींद आ रही है। आज तो तुम्हारे प्रासाद में सुख की नींद सो लूँ, फिर पता नहीं पाँडवों के यहाँ बिस्तर भी मिलता है या नहीं। तपस्वी लोग हैं। क्या पता बिस्तर माँगने पर वे कहें, भूमि पर सोनेवाला व्यक्ति ईश्वर के अधिक निकट होता है, इसलिए भूमि पर सोना ही उचित है..."

"तुम लोग बिस्तर इत्यादि लेकर नहीं चले क्या···?"

"नहीं ! सब कुछ है।" रुक्मरथ बोला, "मैं तो केवल एक दृष्टांत दे रहा था।"

पिछली रात शल्य को तनिक भी नींद नहीं आई थी। उन्होंने बहुत सोच-समझकर अपना पड़ाव डाला था, किंतु वे क्या जानते थे कि वहाँ इतने मच्छर होंगे और पास के कूप से जो जल मिलेगा, वह भी कड़वा होगा। लोग कूप उत्खनन करने से पहले यह पता भी नहीं लगाते कि वहाँ की धरती के नीचे का जल पीने योग्य भी है अथवा नहीं। किसी ने कूप खुदवाया होगा और उसका जल पीने के पश्चात् सिर पीटकर उसका त्याग कर गया होगा, किंतु शल्य जैसे आगंतुकों के लिए तो वह भ्रमजाल छोड़ गया न ! उन्होंने तो एक अच्छा-सा कूप देखकर वहाँ पड़ाव डाला था और सारी रात प्यासे रह गए थे। प्रातः स्नान करने से पहले भी दस बार सोचा था कि कहीं ऐसा न हो कि यह जल स्नान करने योग्य भी न हो। वे अपने शरीर पर यह जल डालें और सारे शरीर में खुजली मच जाए। बहुत सोच-समझकर उन्होंने ये सारे विचार मन से निकाल दिए। जल खारा हो अथवा कड़वा, पीने के काम आए या न आए, उसमें स्नान तो किया ही जा सकता

है।··· पर जव रात को अच्छी नींद सोए ही नहीं तो स्नान से भी स्फूर्ति कहाँ से आती।

"रुक्मरथ ! अव केवल आज रात्रि का पड़ाव रह गया है। कल हम उपप्लव्य पहुँच जाएँगे।" शल्य ने कहा।

"जी ! पिताजी !"

"आज अपने चरों को शीघ्रगामी अश्वों पर सेना से आगे भेज दो कि वे उचित निरीक्षण के पश्चात् आज रात्रि के लिए हमारा मंडप ऐसे स्थान पर लगाएँ, जहाँ किसी प्रकार की कोई असुविधा न हो।"

"कुछ स्थानीय लोग सहायता के लिए मिल जाते, तो हमें मंडप के लिए स्थान चुनने में सुविधा होती।" रुक्मरथ वोला, "मैं प्रयत्न करता हूँ कि आज आपको किसी प्रकार की असुविधा न हो।"

शल्य ने कह तो दिया था और उन्होंने देखा था कि थोड़ी ही देर में रुक्मरथ ने अपने चरों को सेना से आगे भेज भी दिया था। वे लोग अश्वों पर गए थे और उनके पीछे छकड़ों में मंडप निर्माण की सामग्री भी भेज दी गई थी।··· किंतु शल्य को अपने इस पुत्र की योग्यता पर वहुत विश्वास नहीं था। पता नहीं इसके चर कैसी व्यवस्था करेंगे। दिन के समय सूर्य का ताप भी प्रचंड हो जाता था। दिन भर तपती हुई यात्रा करो और रात को शांति से सो भी न सको, तो यात्रा सुखद कैसे हो सकती है। सैनिक, सुविधाओं के अभाव की वात करें, तो उनसे कहा जा सकता है कि यह उनके अभ्यास और प्रशिक्षण का ही अंग है; किंतु राजा तो जानता है न कि यह सव उसकी असमर्थता और अभावों के प्रमाण हैं ···उन्हें लगने लगा था कि कौरवों से युद्ध के पहले ही उन का इस कठोर प्रकृति से युद्ध आरंभ हो गया है।···

मध्याह्न के समय वे लोग भोजन के लिए रुके तो उन्हें सूचना मिली कि जो चर मंडप-निर्माण के लिए भेजे गए थे, वे लौट आए हैं।

'मैं तो पहले ही जानता था कि रुक्मरथ का प्रवंध ऐसा ही कुछ होगा।' उन्होंने सोचा, 'इसके चर लौट आए हैं। कुछ भूल गए होंगे। अव सामान ले कर चलेंगे तो सेना से पहले कैसे पहुँचेंगे। सेना ही इनसे पहले पहुँच जाएगी। तो कव ये मंडप का निर्माण करेंगे और कव शल्य विश्राम करेंगे।'

रुक्मरथ अपने चरों को लेकर उनके सम्मुख उपस्थित हुआ, "पिताजी ! इन का कहना है कि आज रात्रि के विश्राम के लिए मंडप निर्माण की आवश्यकता नहीं है। हमारे विश्राम के लिए मंडप के स्थान पर पांडवों ने हमारी अगवानी के लिए एक प्रकार का भवन ही वहाँ तैयार करवा रखा है। आप की सेवा के लिए दास-दासियाँ भी उपस्थित हैं। राजसी पाकशाला का प्रवंध है। स्वादिष्ट भोजन वन रहा है।···"

शल्य ने सुना और सुनकर चुप रह गए। ···उन्होंने तो कभी सोचा ही नहीं था कि युधिष्ठिर इतना दूरदर्शी भी हो सकता है। उसने उनकी अगवानी के लिए पहले से उपयुक्त स्थान पर मंडप वनवाकर वहाँ अपने सेवक रख छोड़े हैं ताकि उन्हें किसी प्रकार

का कोई कष्ट न हो। इसका अर्थ है कि युधिष्ठिर उतना साधनहीन नहीं है, जितना वे समझ रहे थे। कितना साधन-संपन्न है, यह तो मंडप में पहुँचकर ही ज्ञात होगा।

.

संध्या समय शल्य उस मंडप तक पहुँचे तो उसे देखते ही रह गए। यदि उन्हें पहले से ही ज्ञात न होता कि वहाँ उनके लिए मंडप बनवाया गया है, तो वे उसे एक प्रासाद ही समझते। सैनिकों के लिए भी पर्याप्त सुखदायक स्थान का निर्माण किया गया था और शल्य और रुक्मरथ के लिए तो जैसे प्रत्येक वस्तु की व्यवस्था कर दी गई थी।

उनके वहाँ पहुँचते ही सेवकों में मानों अद्भुत स्फूर्ति का संचार हो गया था। वे इस प्रकार सेवा कर रहे थे मानों, उनके अपने घर कोई उत्सव हो और शल्य उनके सब से सम्मानित अतिथि हों। न स्थान का अभाव था, न सेवकों का और न पदार्थों का।··· शल्य एक -एक पदार्थ देखते थे और मन ही मन सोचने लगते थे कि उन्होंने पांडवों की क्षमता का कितना मिथ्या अनुमान लगाया था। पांडवों के पास धन चाहे जहाँ से भी आया हो, किंतु उनके पास सामर्थ्य का अभाव नहीं था। शल्य स्वयं अपने घर आए अतिथि का ऐसा सत्कार नहीं कर सकते थे। जिस पट का मंडप निर्माण के लिए उपयोग किया गया था, उसका परिधान तक पहनने का अच्छे-अच्छे धनी लोग स्वप्न नहीं देख सकते थे। जैसे पर्यक इस वन में उनको उपलब्ध कराए जा रहे थे, वैसे तो अनेक राजाओं के अपने प्रासादों में भी उपलब्ध नहीं होंगे। दास-दासियों की संख्या इतनी थी, जो किसी अच्छे-भले राजा के लिए भी ईर्ष्या का विषय हो सकती थी।

वे लोग भोजन करने के लिए बैठे तो शल्य की आँखें खुली की खुली रह गईं। यह सेना के प्रयाण के मार्ग में बनाए गए मंडप में उपलब्ध भोजन था अथवा किसी सम्राट् के घर में किसी अति विशिष्ट समारोह का भोजन। लगता था कि पूरे योजन भर में व्यंजनों के भांड सजा दिए गए हैं। एक-एक दाना भी खाए तो बड़े से बड़ा भोजन भट्ट भी आधे व्यंजन नहीं चख सकेगा।

भोजन करके रात को शल्य अपने पर्यक पर लेटे तो अत्यंत उल्लसित मनोदशा में थे। उनके पर्यक के दोनों ओर दो अत्यंत सुंदर दासियाँ चँवर डुला रही थीं। दो दासियाँ उनके चरण चाँप रही थीं। पर्यक के निकट एक चौकी पर सुरा-भांड नहीं, सुरा-भंडार ही सजा हुआ था। कल रात शल्य को मच्छरों ने सोने नहीं दिया था और आज मच्छर उनके मंडप में प्रवेश भी नहीं कर सकते थे। कल उनको पीने का मीठा जल भी नहीं मिला था और आज वे संसार की सर्वोत्तम सुरा का स्वाद ले सकते थे। कल वे एक अभावों भरी यात्रा पर थे और आज वे सोच भी नहीं पा रहे थे कि उन्हें और किस पदार्थ की आवश्यकता हो सकती है।···

युधिष्ठिर के विषय में उनका अनुमान सचमुच ही बहुत अनुचित था। उसने

दुर्योधन जैसे धनाढ्य राजा से युद्ध छेड़ा था तो अपने साधनों पर विचारकर के ही छेड़ा होगा। युधिष्ठिर के पास धन का कोई अभाव नहीं था।··· जिसके पास धन होगा, उसे सेना और शस्त्रों की क्या कमी हो सकती है।... शल्य को लग रहा था कि उनके साथ कुछ वैसा ही घटित हुआ है, जैसा कि परिवर्तन को न जानने और समझने वाले व्यक्ति के साथ होता है। उन्होंने पांडवों को छोटे बालक ही समझा था। यह नहीं सोचा था कि इतने समय में वे बड़े भी हो सकते हैं। शल्य को उनकी विपत्तियों का ही ज्ञान था। वे उनके विकास को नहीं जानते थे। ये वे पांडव ही तो थे, जिन्हें धृतराष्ट्र ने खांडवप्रस्थ का भयंकर वन दिया था और उन्होंने उसे इंद्रप्रस्थ के सुंदर साम्राज्य में बदल दिया था। पांडव चमत्कारी जीव थे। शल्य अभी तो केवल इतना ही जानते थे कि पांडवों को द्रुपद, विराट् और श्रीकृष्ण की सहायता प्राप्त है। वे यह नहीं जानते कि उनके और कितने मित्र और सहायक होंगे। जरासंधपुत्र सहदेव भी तो उनका ही अनुयायी है और जरासंध के पास सारी सृष्टि का धन एकत्रित था। सहदेव चाहे तो उन्हें अकूत धन दे सकता है। शिशुपाल के पास क्या नहीं था। उसका पुत्र धृष्टकेतु भी पांडवों का सखा है। उसकी भगिनी करेणुमती नकुल की पत्नी है। वह चाहे तो चेदि देश की सारी संपत्ति उन्हें दे सकता है।··· और रुक्मरथ चाहे जो भी कहे, यादवों के समान धनी कौन हो सकता है। उनके पास सैन्य शक्ति भी है और व्यापार शक्ति भी। वे व्यापार-बहुल सागरतट के स्वामी हैं। उनकी धरती अत्यंत उपजाऊ है। उनके उद्योग-धंधे विकसित हैं। जो कोई उन पर आक्रमण करता है, वे उसे पराजित कर सर्वथा कंगाल कर देते हैं। पांडवों को यादवों का यह सारा धन उपलब्ध होगा··· तो फिर युधिष्ठिर को धन की क्या चिंता ?··· पांडव दुर्बल नहीं हैं। वे यह युद्ध जीत भी सकते हैं।··· और यदि युधिष्ठिर ने यह युद्ध जीत लिया तो संसार में उसके सम्मुख खड़ा होने वाला कोई नरेश नहीं होगा।··· विजय में विजयी राजा के सहयोगियों का भी तो भाग होता है। युद्ध जय करने के पश्चात् शल्य को कुछ भी मिल सकता है··· धन, धरती, सेना··· कुछ भी। वे मद्र के साथ-साथ सिंधुपति जयद्रथ और त्रिगर्तपति सुशर्मा के राज्यों के भी स्वामी हो सकते हैं। युधिष्ठिर उन्हें मना नहीं करेगा··· बस युधिष्ठिर का मन उनसे प्रसन्न होना चाहिए।··· उन्हें युधिष्ठिर को प्रसन्न करने के लिए कुछ करना चाहिए।...

शल्य को लगा कि वे युधिष्ठिर से मिलने को इतने आतुर हो उठे हैं कि उपप्लव्य पहुँचना तो दूर, वे प्रातः तक की भी प्रतीक्षा नहीं कर सकते।···

"दासी !" शल्य ने चंवरधारिणी की ओर देखा, "तुम्हारे स्वामी के दर्शन कब और कहां हो सकते हैं ?"

चंवरधारिणी ने अपनी वक्र दृष्टि से उनकी ओर देखा और एक कामुक मुस्कान अपने अधरों पर ले आई, "महाराज ! हमने तो सोचा था कि आपको स्वामी से अधिक हमारी आवश्यकता है।"

शल्य इतनी उल्लसित मनःस्थिति में थे कि दासी से रुष्ट नहीं हो सके। मुस्करा

कर बोले, "तुम्हारी कामना की भी एक सीमा है सुंदरी ! इस समय तो तुम्हारे स्वामी से ही मिलने की आतुरता है।"

"महाराज का कथन उचित ही है।" दासी सँभल गई, "युद्धकाल है। महाराज को हमसे अधिक स्वामी की आवश्यकता है। कदाचित् प्रातः ही वे आपके दर्शनों को आएँगे।··· किंतु यह निश्चित सूचना नहीं है महाराज ! यह मेरा अनुमान मात्र ही है।"

शल्य के लिए इतना ही पर्याप्त था। युधिष्ठिर स्वयं प्रातः यहाँ आ रहा था। आ जाए तो अच्छा है, अन्यथा कल संध्या तक तो वे स्वयं ही उपप्लव्य तक जा पहुँचेंगे।···

उन्होंने अपने नेत्र मूँद लिए और सुखद कल्पनाओं में निमग्न हो गए।

प्रातः जब शिविर का प्रधान प्रबंधक उनका कुशल समाचार पूछने आया तो उन्होंने पहला प्रश्न किया, "तुम लोगों ने आनेवाले सारे राजाओं के स्वागत-सत्कार के लिए ऐसा प्रबंध किया है अथवा यह हमारे ही लिए है ?"

प्रबंधक मुस्कराया, "महाराज ! अतिथि तो अतिथि ही होता है। हम किसी की भी उपेक्षा नहीं करते, किंतु सबकी तुलना आपसे कैसे हो सकती है। हमारे स्वामी ने कहा है कि आपको वे अपने पिता तुल्य मानते हैं। आपके सत्कार में किया गया किसी भी प्रकार का प्रमाद अक्षम्य होगा।" उसने रुककर चाटुकार दृष्टि से शल्य की ओर देखा, "आप हमारे प्रबंध से संतुष्ट तो हैं, महाराज !"

"मैं परम संतुष्ट हूँ।" शल्य बोले, "सत्य तो यह है कि मैंने तुम लोगों की ओर से कभी ऐसे सत्कार की कल्पना भी नहीं की थी। तुम्हारे स्वामी आनेवाले थे, वे आए ?"

"महाराज को हमारे प्रबंध में किसी प्रकार की कोई त्रुटि तो नहीं मिली ?" वह कुछ भीत स्वर में बोला, "महाराज को किसी प्रकार का कोई कष्ट तो नहीं हुआ ? दासियों ने रात्रि को आपको सुखी तो रखा ?"

"नहीं !" शल्य उन्मुक्त मन से हँसे, "ऐसी कोई बात नहीं है। तुम्हारे लिए भय का कोई कारण नहीं है। तुम्हारे प्रबंध से मैं इतना प्रसन्न हूँ कि तुम्हारे लिए तुम्हारे स्वामी से किसी असाधारण मूल्य के श्रेष्ठ पुरस्कार की संस्तुति करूँगा और मैं स्वयं अपनी ओर से तुम्हारे स्वामी को उनका मुँह माँगा वर देना चाहता हूँ। मेरे अधिकार क्षेत्र में से जो कुछ वे चाहें, मुझसे मांग सकते हैं।"

"वे शिविर के निकट ही हैं महाराज !" प्रबंधक ने कुछ स्वस्थ होते हुए कहा, "क्या आप उनको अंपने दर्शन करने की अनुमति देंगे ?"

"मेरी इच्छा तो है। क्या उनके पास समय होगा ?" शल्य बोले, "वे युद्ध की तैयारी में लगे हैं।"

"कितने भी व्यस्त क्यों न हों, किंतु वे आपके दर्शन करने अवश्य आएँगे। मद्रपति की इच्छा उनके लिए ईश्वरीय आदेश का महत्त्व रखती है। उसकी उपेक्षा संभव

नहीं।"

शल्य मन ही मन हँसे। उन्होंने युधिष्ठिर के शील के विषय में ठीक ही सुना था। वह गुरुजनों और कुलवृद्धों को ईश्वर तुल्य ही समझता है। तभी तो सब कुछ जानते और समझते हुए भी उसने धृतराष्ट्र की आज्ञा की उपेक्षा नहीं की और द्यूत में सब कुछ हार गया।

"उन्हें सूचना दो कि मैं न केवल उनसे भेंट करने को आतुर हूँ, वरन् उनको उन का मुँह माँगा वरदान देना चाहता हूँ।" शल्य ने कहा।

"जैसी मद्रराज की इच्छा।" प्रबंधक ने झुककर हाथ जोड़े और उनके कक्ष से बाहर चला गया।

शल्य बहुत प्रसन्न थे। पता नहीं क्यों आज तक उन्होंने युधिष्ठिर की योग्यता और शक्ति को नहीं पहचाना। क्यों उनके मन में नहीं आया कि अपने सारे षड्यंत्रों के पश्चात् भी दुर्योधन यदि पांडवों को नष्ट नहीं कर पाया तो उसका कोई कारण होगा। यदि उन्होंने पहले अपने इन भागिनेयों की ओर तनिक सा ध्यान दिया होता तो वे उन्हें दुर्योधन के छल-छंद से बचा सकते थे। युधिष्ठिर इंद्रप्रस्थ का ही नहीं, हस्तिनापुर का भी सम्राट् हो सकता था और स्वयं शल्य जम्बुद्वीप की उस सबसे शक्तिशाली राजसभा में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान पर विराजमान हो सकते थे। उन्होंने कभी युधिष्ठिर का न्याय संगत मूल्यांकन नहीं किया। पांडव कष्ट सहते रहे और शल्य अपने वास्तविक महत्त्व से वंचित रहे। पर अब वे वैसा नहीं होने देंगे।...

दासी ने उनके कक्ष में प्रवेश किया, "मद्रराज की जय हो। स्वामी द्वार पर उपस्थित है। और आपके चरण स्पर्श कर आपको प्रणाम करने की अनुमति चाहते हैं।"

शल्य ने कुछ कहा नहीं। वे आतुरतापूर्वक द्वार की ओर चले। वे स्वयं द्वार पर खड़े होकर युधिष्ठिर का स्वागत करेंगे।

उन्होंने द्वार पर से यवनिका हटाई। उनके सम्मुख खड़ा था—दुर्योधन !

उसके हाथ जुड़े हुए थे और मस्तक झुका हुआ था।

"तुम ?" शल्य कुछ इतने चकित हुए कि उनके मुख से और कोई शब्द ही नहीं निकला।

क्षण भर में शल्य के मन में विचारों के कितने ही झंझावात अपने पूरे वेग से उठे और जैसे अपना वृत्त पूर्ण कर कहीं विलीन हो गए।...

उन्हें लगा कि दुर्योधन अत्यंत धूर्त है। उसने उनके साथ चतुराई की है। उस का यह सत्कार, सत्कार नहीं षड्यंत्र था। अपने शत्रुओं को दुर्बल करने का प्रयत्न। उसे क्या आवश्यकता थी, शल्य के लिए मंडप बनवाने की और उनके लिए इस प्रकार सुविधाएँ जुटाने की। निश्चित रूप से वह अपने शत्रुओं के मित्रों को फोड़ने का प्रयत्न कर रहा था। अब तक जब भी अवसर आया है, उसके सेवकों ने कभी उसके नाम की चर्चा नहीं की। उनके प्रश्नों के कुछ इस चतुराई से उत्तर दिए गए कि वे समझते

रहे कि वे युधिष्ठिर के अतिथि हैं और वे लोग उन्हें अपने स्वामी के विषय में बताते रहे। युद्ध आरंभ हुआ नहीं और उसके लिए दुर्योधन के छल-छंद आरंभ हो गए। युधिष्ठिर की सहायता के लिए जाती हुई सेनाओं का अपहरण आरंभ हो गया। युधिष्ठिर ऐसा कार्य कभी नहीं करेगा। ऐसी दुष्टता तो दुर्योधन ही कर सकता है।···

पर तभी शल्य के मन में एक दूसरी लहर उठी।··· दुर्योधन अधिक व्यावहारिक है। दुर्योधन का यह षड्यंत्र ही प्रमाणित करता है कि युधिष्ठिर उसकी समकक्षता नहीं कर सकता। दुर्योधन युद्ध में वीरता के अतिरिक्त चतुराई और धूर्तता का भी सहारा लेगा। वह उसे युद्धशास्त्र का ही अंग मानता है। शत्रु को किसी भी प्रकार दुर्बल किया जाए, उससे क्या अंतर पड़ता है। अपनी विजय के लिए कोई भी शस्त्र उठाया जा सकता है। किसी भी व्यूह की रचना की जा सकती है। दुर्योधन ने जो कुछ किया है, वह उसका कौशल भी हो सकता है और अनीति अथवा अधर्म भी। उसके लिए कोई भी मार्ग निषिद्ध नहीं है···

"हाँ महाराज ! मेरे चरों ने सूचना दी थी कि आप मुझको मेरा मनचाहा वर देना चाहते हैं।" दुर्योधन बोला।

"मैं तो शिविर के स्वामी···" वे रुक गए, "यह शिविर तुम्हारा है ? यह मंडप तुमने बनवाया है ?"

"हाँ मातुल !" दुर्योधन बोला, "आप चकित क्यों हैं ? मैंने बनवाया है और आप के लिए बनवाया है। आप पांडवों के मातुल हैं तो मेरे भी तो मातुल हुए। आप अपनी सेना सहित यात्रा कर रहे हैं, तो मैं आपको कष्ट कैसे होने देता।" दुर्योधन ने रुक कर उनकी ओर देखा, "आज चाहे आप युधिष्ठिर की सहायता को जा रहे हैं, किंतु मैं यह कैसे भूल सकता हूँ कि आप सदा मेरे सहायक रहे हैं। युधिष्ठिर अपनी असमर्थता के कारण आपके मार्ग में आपके लिए उचित व्यवस्था नहीं कर सकता तो क्या मैं आपको कष्ट में यात्रा करने दूँगा।"

शल्य के मन में क्षण भर में बहुत कुछ घट गया।··· वे युधिष्ठिर और पांडवों के विषय में जो कुछ सोच रहे थे, वह सब उनका भ्रम ही था। उनका पहला मूल्यांकन ही ठीक था। युधिष्ठिर में उनका ऐसा सत्कार करने का सामर्थ्य नहीं था।··· और बात केवल सत्कार की नहीं थी। उसके पास धन था ही नहीं··· तो फिर वह सेना कहां से एकत्रित करेगा ? उसके लिए सुविधाएँ कहाँ से जुटाएगा ? युद्ध जय कैसे करेगा ?···

"आप मुझे वर देना चाहते थे।" दुर्योधन बोला।

सहसा शल्य के मन में जैसे रुक्मरथ आ बैठा। वह मुस्करा रहा था। उसका स्वर उनके मन और मस्तिष्क में बहुत स्पष्ट गूंज रहा था, "पिताजी ! फिर ऐसा अवसर नहीं आएगा। आपने पांडवों के दूत को सहायता का वचन देकर भूल की है। पांडव कभी विजयी नहीं हो सकते। उनके पक्ष से लड़ने में कोई लाभ नहीं है। दुर्योधन का सामर्थ्य आप देख ही रहे हैं। वह अपने शत्रुओं के लिए भी इतना कुछ करने का सामर्थ्य

रखता है, जितना पांडव अपने परम मित्रों के लिए भी करने का सोच नहीं सकते। आप ने युधिष्ठिर को वचन दिया है तो दुर्योधन को वर दे दीजिए। उस वरदान की आड़ में आप बहुत कुछ करने का सोच सकते हैं। इस वरदान के सम्मुख युधिष्ठिर को दिए गए वचन का क्या महत्त्व है। आप उस वचन से मुक्त हो जाएँगे।…"

"हाँ ! मैं तुम्हारे सत्कार से प्रसन्न हो कर तुम्हें वर देना चाहता था।" शल्य बोले, "माँगो। क्या माँगना चाहते हो। मेरे सामर्थ्य के भीतर जो भी है, तुम मांग सकते हो।"

"मैं तो सदा से ही आपके द्वार पर खड़ा याचक हूँ मातुल !" दुर्योधन बोला, "मैं चाहता हूँ कि आप मेरी सारी सेना के अधिपति हो जाएँ।"

शल्य जैसे स्तब्ध रह गए… अपने जिन भागिनेयों की सहायता के लिए वे दौड़े जा रहे थे, उन्होंने एक बार भी नहीं सोचा कि मार्ग में मातुल को पीने के लिए जल भी मिलेगा या नहीं। और दुर्योधन ने उनके मार्ग में स्कंधावार और प्रासाद दोनों ही बनवा दिए।… अपने भागिनेयों के पास वे अपनी सेना लेकर जा रहे हैं, उनके अधीन रह कर युद्ध करने। युधिष्ठिर ने उन्हें सेनापति बनाने की बात कभी नहीं की। वहाँ द्रुपद, विराट और कृष्ण के सम्मुख उनका पद क्या होगा, वे नहीं जानते ; किंतु दुर्योधन उन्हें अपनी सारी सेना का अधिपति बना रहा है। इस आसन्न महासमर में वे विजयी सेना के महासेनापति होंगे… विजय के पश्चात् उनकी क्या स्थिति होगी ?… और युधिष्ठिर क्या दे सकता है उनको ?… उन्होंने युधिष्ठिर को सहायता का वचन दिया है; किंतु अब परिस्थितियां एकदम बदल चुकी हैं। वे दुर्योधन को वर दे सकते हैं। वे अपने वरदान की रक्षा के लिए अपने वचन का उल्लंघन कर सकते हैं।…

"तुम जानते हो कि माद्री मेरी सहोदरा थी और मैं युधिष्ठिर की सहायता के लिए सेना लेकर जा रहा हूँ।"

"जानता हूं मातुल ! किंतु यह भी जानता हूँ कि मद्रपति जैसे क्षत्रियों के लिए अपने मुख से दिया गया वर सारे रक्त संबंधों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। अयोध्यापति दशरथ ने अपने वरदान की रक्षा के लिए ही तो श्रीराम जैसे पुत्र को वन भेज दिया था। उनको राम से प्रिय और कौन हो सकता था किंतु क्षत्रिय द्वारा दिया गया वर…।" दुर्योधन बोला।

शल्य अपनी दृष्टि दुर्योधन पर गड़ाए खड़े रहे। दुर्योधन की बात मान लेने से उनका गौरव बढ़ जाएगा। मद्रराज ने अपने संबंधों की उपेक्षा कर अपने वर की लाज रखी…वे युधिष्ठिर को दिए गए वचन से मुक्त हो रहे थे। उनको अपने मन के अनुकूल परिस्थितियाँ मिल रही थीं। वे रुक्मरथ की इच्छा पूरी कर सकते थे। वे सुशर्मा का परामर्श स्वीकार कर सकते थे।… पांडव उनसे रुष्ट नहीं होंगे। वे तो अपने वर की रक्षा करने के लिए उनकी प्रशंसा ही करेंगे। उन्हें अपनी सहायता, अपनी शक्ति तथा अपनी जय की चिंता नहीं थी, वे तो धर्म को महत्त्व देंगे। शल्य को अपने भागिनेयों से मुँह चुराने की आवश्यकता नहीं है।

"तो ठीक है वत्स !" शल्य बोले, "मैंने तुम्हें वर दिया।··· पर पहले मैं युधिष्ठिर के पास उपप्लव्य जाऊँगा। उसे सारी परिस्थितियों की सूचना देकर, तुम्हारे युद्ध शिविर में लौट आऊँगा।"

"जैसी महाराज की इच्छा।" दुर्योधन बोला, "आपकी यात्रा सुखद हो। मैं आप के मार्ग में आपके लिए सारा प्रबंध करने का आदेश दे देता हूँ।" वह रुका, "वैसे सारी सेना को उपप्लव्य ले जाकर क्या करेंगे ? उसे सीधे युद्ध शिविर में जाने दीजिए। आप पांडवों से मिलकर आ जाइए। मैं आपकी प्रतीक्षा करूँगा।"

"जैसी तुम्हारी इच्छा।" जाने क्यों शल्य का स्वर बहुत उल्लसित नहीं था।

17

"धर्मराज ! सूचना आई है कि मद्रनरेश शल्य मत्स्यदेश की सीमा में प्रवेश कर चुके हैं।" भीम ने बताया।

"उनके ठहराने की व्यवस्था तुमने कहाँ की है ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"उनको तो आपके ही भवन के एक कक्ष में ठहरा देंगे।" भीम ने कहा, "वैसे पता नहीं उन्हें उसकी भी आवश्यकता पड़ेगी अथवा नहीं।"

युधिष्ठिर ने ध्यान से भीम की ओर देखा, "क्या बात है मध्यम ! तुम मद्रनरेश को एक कक्ष में ठहराना चाहते हो, जबकि उनके वस्त्रों और शस्त्रों के लिए ही एक पूरा भवन अपेक्षित होगा। उनसे रुष्ट हो क्या ?"

"रुष्ट नहीं हूँ।" भीम अब भी गंभीर था, "पर तुष्ट भी नहीं हूँ। मद्रराज अपने चार सेवकों के साथ अकेले ही आ रहे हैं। न तो उनके साथ उनकी सेना है और न युवराज रुक्मरथ–जिनके आने की हमें निश्चित सूचना थी।"

"वे लोग पीछे आ रहे होंगे।" युधिष्ठिर बोले, "संभव है मातुल हम तक शीघ्र पहुँचने के लिए आतुर हों।"

"कुछ कह नहीं सकता।"

"कोई बात नहीं !" युधिष्ठिर बोले, "तुम उनकी अगवानी के लिए किसी को भेजो और उनके ठहरने की व्यवस्था करो। वे आ जाएँ तो सब कुछ स्पष्ट हो जाएगा।"

संध्या समय तक शल्य युधिष्ठिर के भवन में आ पहुँचे थे। भीम की सूचना पूर्णतः सत्य थी। शल्य के साथ उनके केवल चार सेवक थे। सेना तो थी ही नहीं, कोई सैनिक अधिकारी भी उनके साथ नहीं था, जिससे माना जा सकता कि वे सैनिक विषयों में कुछ चर्चा करना चाहते हैं। युवराज रुक्मरथ के उनके पीछे आने का भी कोई संकेत

नहीं था। शल्य का अपना रथ भी शस्त्रों से शून्य ही था।

"तो मातुल युद्ध के लिए प्रस्तुत होकर नहीं आए हैं।" सहदेव ने कहा, "संभव है कि युद्ध की दृष्टि से फिर कभी आएँ।"

"संभवतः उन्होंने युद्ध समाप्ति के पश्चात् आने की योजना बनाई है।" भीम ने कहा, "तब तक यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि विजय किसकी हुई है। वैसे भी युद्ध कोई अच्छी बात तो है नहीं।"

पाँचों भाइयों ने मातुल को प्रणाम किया। द्रौपदी, सुभद्रा और उनके पुत्र भी आए। शल्य ने सबको आशीर्वाद दिया और विस्तार से सबके विषय में जानकारी चाही। वे देर तक एक-एक व्यक्ति से बातें करते रहे, जैसे दीर्घ काल से उन सबके विषय में सूचनाओं के भूखे हों। उन्हें किसी प्रकार की जल्दी नहीं थी; और न वे लंबी यात्रा से थके हुए प्रतीत हो रहे थे।

"पुत्र युधिष्ठिर !" वे बोले, "तुम्हारा यश दिग-दिगंत में फैल रहा है। मैं कितना प्रसन्न हूँ कि तुम लोग वनवास और अज्ञातवास की परीक्षा में से इस प्रकार सफलतापूर्वक उत्तीर्ण होकर निकले हो। यह तो तुम ही हो पुत्र ! जो धैर्यपूर्वक इस प्रकार के कष्ट सह लेते हो, अन्यथा दुर्योधन के अत्याचारों को इस प्रकार शांत मन से सह लेना और किसी के वश का तो है नहीं···"

भीम ने अर्जुन की ओर देखा और आँखों ही आँखों में पूछा, "मातुल आज धर्मराज की इतनी प्रशंसा क्यों कर रहे हैं ? कहीं यह तो नहीं कहना चाह रहे कि दुर्योधन का अत्याचार सहना और किसी के वश का तो है नहीं, इसलिए उस अत्याचार को सहने का कार्य तुम ही करते चलो।"

अर्जुन भी कुछ समझ नहीं पा रहा था। उसने अपना अज्ञान जताने के लिए अपने कंधे उचका दिए।

शल्य की बातों से भीम का एक प्रकार से मनोरंजन हो रहा था। वे किसी चाटुकार सभासद के समान धर्मराज की प्रशंसा कर रहे थे।

"तुम साक्षात् धर्मराज हो पुत्र ! क्षमा, दया, करुणा के तो तुम अवतार ही हो। तुम अपना धर्म कभी मत छोड़ना···"

अब तक नकुल पर्याप्त ऊब चुका था। युद्ध की कहीं कोई बात नहीं थी, न सेना की, न शस्त्रों की, न व्यूहों की··· न राज्य की, न अधिकार की,···दया, क्षमा, करुणा की चर्चा···

"मेरा विचार है कि मद्रराज अपने किसी आकस्मिक निर्णय की भूमिका बना रहे हैं।" अर्जुन ने धीरे से सहदेव के कान में कहा।

सहदेव ने उसकी ओर देखकर सहमति में सिर हिला दिया।

द्रौपदी का धैर्य भी चुकता जा रहा था। शल्य की धर्म-चर्चा में उसे किसी प्रकार के षड्यंत्र की गंध आ रही थी। कहीं वे किसी प्रकार की संधि का संदेश तो नहीं लाए ?

यदि कहीं वे धर्मराज को यह समझाना चाहते हैं कि दुर्योधन राज्य के बिना जी नहीं सकता और धर्मराज का लक्ष्य तो राज्य नहीं, धर्म है। अतः वे राज्य को दुर्योधन के लिए छोड़ दें और स्वयं अपना लक्ष्य प्राप्त करें। धर्मराज तो तत्काल तपस्या के लिए जाने को प्रस्तुत हो जाएँगे।··· कहीं शल्य को दुर्योधन की ओर से कोई बड़ा उत्कोच तो नहीं मिल गया ?

सुभद्रा सोच रही थी कि ये सब लोग इस बौड़म मद्रराज को इतना महत्त्व ही क्यों देते हैं। बीच युद्ध में आ कर यह व्यक्ति धर्म-चर्चा करने बैठ गया है। वह इतना भी नहीं समझता कि पांडवों के पास पहले से ही धर्म बहुत है। उन्हें उसकी और आवश्यकता नहीं है। व्यक्ति को आवश्यकता उस वस्तु की होती है, जो उसके पास नहीं है। पांडवों के पास राज्य नहीं है और दुर्योधन के पास धर्म नहीं है। शल्य को चाहिए कि वे दुर्योधन को थोड़ा धर्म दे आएँ और पांडवों से तो केवल राज्य-प्राप्ति की चर्चा करें ···

"जीवन का लक्ष्य तो धर्म ही है पुत्र ! और तुम सौभाग्यशाली हो कि अपना मार्ग देख पा रहे हो और दृढ़तापूर्वक उस पर चल रहे हो।" शल्य बोले, "अब भीष्म हस्तिनापुर की रक्षा को अपना धर्म समझ बैठे हैं तो उनसे कोई क्या कहे। धर्म के भी तो अनेक रूप हैं।···"

"मेरे मन में पितामह के लिए कोई दुर्भावना नहीं है।" युधिष्ठिर ने कहा, "आप उनकी चर्चा इस समय न करें। वे अपने धर्म पर चल रहे हैं।···"

"ठीक कह रहे हो पुत्र ! जिसे जो धर्म दिखाई दे, वह उसी पर तो चलेगा।" शल्य ने कहा, "शीत ऋतु में हिमवान की जिन नदियों का जल जम जाता है, उन पर चलनेवाले पशु-पक्षियों को कहाँ मालूम होता है कि जिस हिम पर वे चल रहे हैं, वह केवल ऊपरी आवरण है। उसके नीचे धरती नहीं, जल है। यदि किसी कारण आवरण हट जाए तो वे गहरे ठंडे जल में जा गिरेंगे और उनकी मृत्यु हो जाएगी···"

युधिष्ठिर भी समझ रहे थे कि यह सब मद्रराज की भूमिका ही है। क्या कहने वाले थे वे ?

"धरती समझकर नदी की धारा पर चलनेवाले पशु को क्या तुम उसके लिए दोषी ठहराओगे पुत्र ? और उसके लिए उसे तुम दंडित करना चाहोगे ?"

"नहीं मातुल !" धर्मराज बोले, "वह पशु तो न नदी पर चल रहा है, न धरती पर। वह तो अपने सत्य पर चल रहा है। और सत्य पर चलनेवाले को हम दोषी कैसे ठहरा सकते हैं।"

"ठीक कहते हो पुत्र ! मैं जानता था कि तुम मेरी बात समझोगे और मुझे अपने धर्म पर चलने के लिए अपराधी नहीं ठहराओगे।" शल्य धीरे से बोले, "मैं तुम्हें एक सूचना देना चाहता हूँ !"

सारे पांडव जैसे अपने पंजों पर खड़े हो गए : इतनी देर से वे इसी सूचना की

ही तो प्रतीक्षा कर रहे थे।···

"मैंने तुम्हें सैनिक सहायता का वचन दिया था। मैं और रुक्मरथ, अपनी सेना लेकर निकले थे। तुम जानते ही हो कि मार्ग लंवा भी है और कष्टप्रद भी। और जव सेना के साथ चलना हो तो अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ वढ़ जाती हैं।" शल्य बोले, "दिन में यात्रा का समय तो व्यतीत हो जाता था; पर रात को विभिन्न असुविधाओं के कारण नींद नहीं आती थी। उससे यात्रा वड़ी दुखदायी हो गई थी। कष्ट के उस समय में हमें मार्ग में वने हुए कुछ मंडप मिले, वहाँ हमारा स्वागत हुआ। हमारा राजसी सत्कार हुआ। मैंने मान लिया कि वे मंडप तुमने मेरी सुविधा के लिए वनवाए हैं। मैं वहां की सेवा और सत्कार से इतना प्रसन्न हुआ कि मैंने तुम्हें मनचाहा वर देना चाहा। मैंने सेवकों को अपने स्वामी को बुलाने का आदेश दिया तो वहां के स्वामी के रूप में प्रकट हुआ दुर्योधन !···"

पांडवों ने चौंककर शल्य की ओर देखा।

"हमारे गुप्तचरों ने तो यह सूचना दी ही नहीं कि हमारी मित्र सेनाओं के मार्ग में दुर्योधन भवन और मंडप वनवा रहा है।" भीम ने कहा।

"संभवतः वे भवन और मंडप दुर्योधन के मित्र राजाओं के राज्यों की सीमाओं के भीतर रहे होंगे।" अर्जुन ने कहा।

"संभव है कि ऐसा ही हो।" सहदेव बोला, "वैसे भी हमारे पास गुप्तचरों की इतनी संख्या नहीं है कि सारे जंबूद्वीप में होनेवाली दुर्योधन की इस प्रकार की गतिविधियों पर दृष्टि रख सकें। उसके पास इतना धन है कि वह युद्ध में आनेवाले प्रत्येक सैनिक के लिए एक-एक भवन बनवा सकता है और हमें प्रत्येक कौड़ी व्यय करने से पहले सोचना पड़ता है।"

"फिर क्या हुआ मातुल ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"क्या होना था पुत्र ! मैं वचन हार चुका था।" शल्य बोले, "मैंने उसे वरदान माँगने को कहा और उसने माँगा कि मैं आसन्न युद्ध में उसकी समस्त सेनाओं का अधिपति हो जाऊँ।"

"और आपने उसे यह वरदान दे दिया ?" नकुल ने पूछा।

"और क्या करता पुत्र ! मैं अपने वचन में वँधा था।" शल्य बोले।

"उसके सम्मुख आने से पूर्व आप वचन में कैसे वँध गए ?" सहदेव वोला, "उसे सम्मुख देखकर आपने उसे वर माँगने के लिए कहा। इस का अर्थ है कि उस समय तक आप जान चुके थे कि आप धरती पर नहीं जमी हुई नदी पर चल रहे हैं।"

"मैं उसके सेवकों को ही कह चुका था कि मैं उसे वर देना चाहता हूँ।" शल्य ने कुछ धृष्ट होकर कहा।

"हाँ ! उसके सेवकों के सम्मुख अपनी इच्छा प्रकट करने के कारण धर्म में वँध गए थे और हमारे दूत को सैनिक सहायता देने के वचन के कारण आप धर्म में नहीं

वँधे थे ? पहले वचन के विरुद्ध आप दूसरा वचन कैसे दे सकते थे ?" भीम का स्वर कुछ प्रखर था।

शल्य ने अचकचाकर युधिष्ठिर की ओर देखा।

"ठीक है मातुल ! आपने जो सत्य देखा, उसका पालन किया। जिसे धर्म समझा उस का आचरण किया।" युधिष्ठिर बोले, "हमें आपको उपालंभ देने का कोई अधिकार नहीं है। यह आपका धर्म न होकर आपकी इच्छा भी होती तो हम आपका विरोध नहीं करते।"

"मातुल ! लोगों में धर्म कम मात्रा में और लोभ ही अधिक मात्रा में होता है।" नकुल का स्वर कुछ उग्र हो गया था, "आपने दुर्योधन की सेनाओं का महासेनापति होने के लोभ में तो उसे वर नहीं दे दिया ?"

शल्य ने स्तब्ध दृष्टि से नकुल की ओर देखा। कुछ देर तक उनकी अवाक् दृष्टि उस पर टिकी रही और फिर जैसे उनका आत्मनियंत्रण लौट आया, "तू एकदम अपनी मां पर गया है। वह भी इसी प्रकार अपने प्रश्नों से दूसरों को हतप्रभ कर दिया करती थी।"

उन्होंने जैसे रुककर आत्मवल एकत्रित किया, "तू समझता है कि भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य के होते हुए वह मुझे अपना प्रधान सेनापति वना देगा ?"

"यही कह रहा था मैं।" नकुल वोला, "यदि उसने कहा भी है, तो उसके भ्रम में मत रहिएगा। उसने इसी प्रकार का प्रस्ताव प्रत्येक महारथी के सम्मुख रखा होगा।" वह रुका और एक प्रज्वलित दृष्टि शल्य पर डालकर बोला, "यदि कहीं वह आपको यह वचन दे कि युद्ध जय करने के पश्चात् वह आपको अपना आधा राज्य दे देगा तो भी उसका विश्वास मत कीजिएगा। उसने हमें अपने तेरह वर्पो के निष्कासन के पश्चात् भी हमारा राज्य नहीं लौटाया है।"

"अव हम दुर्योधन के वचन का विश्वास नहीं करते।" अर्जुन ने कहा। निश्चित रूप से वह नकुल की आक्रामकता का वेग कुछ कम करने का प्रयत्न कर रहा था।

"कारण कुछ भी रहा हो और परिणाम चाहे कुछ भी हो।" सहसा युधिष्ठिर ने कहा, "इतना तो स्पष्ट है कि वह युद्ध में हमसे अधिक चतुर प्रमाणित हो रहा है। फिर भी मैं नहीं चाहूँगा कि जो योद्धा अपने मन से हमारे साथ न हो, उसे हम उस की इच्छा के विरुद्ध अपने पक्ष से लड़ने को वाध्य करें।..."

"मैं मन से तो तुम्हारे साथ हूँ युधिष्ठिर !..."

युधिष्ठिर ने शल्य को और कुछ कहने का अवसर नहीं दिया, "मैं आपका विश्वास करता हूँ मातुल ! इसलिए आपको हमारा एक काम करना होगा।"

"क्या पुत्र ?"

"मैं जानता हूँ, योद्धाओं के करने योग्य कार्य नहीं है यह। फिर भी आप यह

कार्य मेरे लिए करें।"

"क्या पुत्र !"

"मेरा विचार है कि युद्ध में जब कर्ण और अर्जुन का द्वैरथ युद्ध होगा, तो दुर्योधन कर्ण के लिए एक असाधारण प्रतिभाशाली सारथि की खोज करेगा, क्योंकि अर्जुन के सारथि स्वयं श्रीकृष्ण हैं।" युधिष्ठिर बोले, "और तब उसकी दृष्टि आप पर पड़ेगी।"

"जहाँ तक मैं समझता हूँ, दुर्योधन ने मातुल का अपहरण इसी काम के लिए किया है।" अर्जुन ने कहा, "मेरा सारथ्य श्रीकृष्ण करेंगे, यह सुनकर उसे कर्ण के लिए कोई ऐसा ही सारथि चाहिए होगा।..."

"कर्ण ने एक बार कहा था कि वह युद्ध-सारथ्य में मुझे श्रीकृष्ण के समकक्ष मानता है।" शल्य बोले।

"पर मद्रपति को अपनी सेनाओं का महासेनापति बनाने का निमंत्रण देकर एक योद्धा का सारथि बना देना तो न्याय नहीं है।" भीम ने शल्य पर एक वक्र दृष्टि डाली।

"भीम ! तुम कदाचित् मेरा उपहास करने का प्रयत्न कर रहे हो।" शल्य के स्वर में कुछ क्षोभ प्रकट हुआ, "किंतु दुर्योधन ने मुझे अभी सारथि बनाया नहीं है। युधिष्ठिर ने केवल उसकी संभावना की चर्चा की है। और सूत-कर्म कोई ऐसा निकृष्ट कर्म नहीं है, जिससे क्षत्रिय योद्धा विदक जाए। श्रीकृष्ण भी तो अर्जुन के सारथि बनकर ही युद्ध में उतरेंगे।"

"नहीं महाराज ! सारथि-कर्म निन्दा का विषय नहीं है।" युधिष्ठिर बोले, "वह भी युद्ध-कर्म है और युद्ध में बिना लड़े शस्त्रों का सामना करना, उन्हें झेलना अधिक धैर्य का कार्य है।" युधिष्ठिर ने रुककर शल्य की ओर देखा, "मैं यह कह रहा था महाराज ! कि यदि कभी ऐसा अवसर आए तो आपको मेरा एक कार्य करना है।"

शल्य को अपने क्षोभ को नियंत्रित करने के लिए प्रयत्न करना पड़ा, "कैसा कार्य पुत्र !"

"ऐसे अवसर पर आप कर्ण का उत्साह-वर्द्धन न कर, उसे हतोत्साहित करें।" युधिष्ठिर बोले, "सारथि की दृष्टि में सम्मान न हो तो योद्धा का बल आधा ही रह जाता है। आपने अपनी सेना दुर्योधन को दे दी है, तो अपना भाव और प्रेम हमें दें। इसे भी अपना धर्म ही समझें।"

शल्य ने युधिष्ठिर की ओर देखा : उनकी भंगिमा में न तो अपमान था न अवहेलना।

"मैं तुम्हें वचन देता हूँ पुत्र ! कि यदि ऐसा अवसर आया तो मेरा व्यवहार तुम्हारे मनोनुकूल ही होगा।" शल्य ने कहा, "कर्ण का अहंकार वैसे भी मुझे कभी प्रिय नहीं रहा।"

शल्य को उनके विश्रामकक्ष तक पहुँचाने के लिए स्वयं युधिष्ठिर उनके साथ गए। उन्होंने एक क्षण के लिए भी न अपना विरोध जताया था न चिंता; न ही उन्होंने मद्रराज की किसी भी प्रकार की कोई उपेक्षा की थी।

"यह सब क्या है ?" द्रौपदी ने भीम की ओर देखा, "यदि हमारे सहायक मद्रराज जैसे ही निकले तो दुर्योधन उन सबका अपहरण कर लेगा।"

"हमारे सारे सहायक मद्रराज जैसे ही तो नहीं हैं।" भीम ने कहा।

"और धर्मराज अब भी उन पर भरोसा कर रहे हैं और उनसे किसी न किसी प्रकार की सहायता माँग रहे हैं।" सुभद्रा ने बड़ी देर से मन में दबे अपने आवेश को वाणी दी।

"मैंने तो आज धर्मराज का एक नया ही रूप देखा है।" अर्जुन ने कहा।

"कैसा नया रूप ?" द्रौपदी कुछ तमककर बोली, "वैसे ही तो हैं। मातुल स्पष्ट विश्वासघात कर शत्रुओं से जा मिले हैं और धर्मराज अब भी उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त कर रहे हैं। उनसे तो आज नकुल ही बहुत प्रखर रहे कि स्पष्ट कह दिया कि वे महासेनापति बनने के लोभ में दुर्योधन के पक्ष में चले गए हैं।"

"वह ठीक है, पर धर्मराज ने मातुल को बता दिया कि दुर्योधन उन्हें महासेनापति नहीं कर्ण का सारथि बनाना चाहता है।" अर्जुन ने कहा, "उन्होंने यह भी वता दिया कि यदि मातुल हमारे प्रति सत्यनिष्ठ नहीं रहे तो दुर्योधन के प्रति भी वे अपनी निष्ठा पर टिके नहीं रहेंगे। वे दुर्योधन के पक्ष से युद्ध करेंगे, किंतु उसका हित नहीं साधेंगे; कर्ण का सारथ्य करेंगे किंतु उसके साथ भी विश्वासघात करेंगे।"

"धनंजय ठीक कह रहे हैं।" सुभद्रा ने तत्काल समर्थन कर दिया, "पर मैं तो चकित हूँ ऐसे लोगों को देखकर। प्रभु की भी कैसी लीला है। कैसे-कैसे जीव बनाए हैं उसने। बातें कर रहे हैं आदर्शों की, धर्म में बँध जाने की और तनिक सा धन और पद का लोभ सम्मुख आ जाए तो क्षण भर भी टिके नहीं रह सकते। बस स्वार्थ ही स्वार्थ रह जाता है। दया आती है मुझे तो ऐसे लोगों पर।"

"सुभद्रा ! यह समझ लो कि प्रभु ने सामान्य सृष्टि तो ऐसी ही बनाई है। जीव की इंद्रियाँ और मन तो लोभ, मोह, स्वार्थ, अहंकार, मद, मात्सर्य जैसे तत्त्वों से ही बनाए गए हैं। जीव के लिए वैसा ही व्यवहार स्वाभाविक है।" अर्जुन ने कहा, "सारा खेल ही इन तत्त्वों से मुक्त होने का है। इनसे मुक्त होने का प्रयत्न करने के लिए ही तो यह मानव तन मिला है हमें। जिसमें ये सारे तत्त्व जितनी कम मात्रा में हैं, वह मनुष्य विकास के उतने ही ऊँचे सोपान पर पहुँचा हुआ है।"

18

विदुर सभा से घर लौटे तो देखा कि कुंती जैसे उनकी प्रतीक्षा में ही बैठी थीं।

"क्या सोच रही हो भाभी ?"

कुंती मुस्कराई, "सोच भी रही हूँ और तुम से पूछ भी रही हूँ—मेरे पुत्रों का दुर्योधन से युद्ध होगा अथवा शांति, अहिंसा और अनृशंसता के नाम पर अंततः फिर एक बार कोई अन्यायपूर्ण संधि हो जाएगी ?"

विदुर गंभीर हो गए, "ऐसा लगता है कि युद्ध तो होगा भाभी !"

"मैंने तो सुना है कि आज तक दोनों पक्षों की ओर से संधि के प्रयत्न हो रहे हैं।" कुंती ने कहा, "और तुम युद्ध की चर्चा कर रहे हो।"

"भाभी ! हस्तिनापुर की सेनाओं और दुर्योधन की सहायता के लिए आई मित्र राजाओं की सेनाओं के स्कंधावारों से पंचनद, कुरुजांगल, रोहितकवन, समस्त मरुभूमि, अहिछत्र, कालकूट, गंगातट, वारण, वाटधान और यमुनापर्वत इत्यादि क्षेत्र अटे पड़े हैं। ये सब संधि के लक्षण हैं अथवा युद्ध-ज्वर के ?"

कुंती के नेत्रों में कुछ चिंता झलकी, "कौन-कौन आ चुका है दुर्योधन की सहायता को ?"

"भगदत्त आया है प्रायः एक अक्षौहिणी सेना ले कर।"

"प्राग्ज्योतिषपुर से वह आ भी गया।" कुंती ने जैसे अपने आप से कहा, "आना ही था उसे। कृष्ण ने उसके पिता भौमासुर का वध किया था और अर्जुन ने राजसूय यज्ञ के अवसर पर उसे पराजित कर उससे कर वसूला था। उस वैर को वह भूल नहीं पाया होगा और प्रतिशोध लेने के लिए दुर्योधन की सहायता को दौड़ा आया होगा। दुर्योधन न भी लड़ना चाहे तो ऐसे प्रतिशोध-कामी लोग युद्ध करवाकर ही रहेंगे।" कुंती ने कुछ रुककर पुनः पूछा, "...और कौन आया है ?"

"कृतवर्मा आया है भाभी !"

"कृष्ण के दोनों समधी मिलकर उसके विरुद्ध खड़े हो गए हैं।" कुंती मुस्कराई, "पर कृतवर्मा कुछ जल्दी नहीं आ गया विदुर ?"

"जल्दी से आपका क्या तात्पर्य है भाभी ?"

"अभी तो ढंग से युद्ध की घोषणा भी नहीं हुई है। अभी यादवों ने एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध की नीति भी प्रकट नहीं की है। अभी से कृतवर्मा को कृष्ण के विरुद्ध खड़े होने की क्या आवश्यकता थी ?"

"ठीक कहती हो भाभी ! किंतु बलराम तथा कृतवर्मा ने एक प्रकार से तो पांडवों के विरोध की घोषणा कर ही दी है।" विदुर बोले, "पांडवों का विरोध उसे चाहे न भी कहें, किंतु दुर्योधन की पक्षधरता तो वह है ही। ...और कृतवर्मा तो केवल सात्यकि के विरोध के कारण पांडवों का शत्रु बना बैठा है।"

"और ?"

"केकय के पाँच राजकुमार आए हैं। अवन्ती से विन्द और अनुविन्द आए हैं, दो अक्षौहिणी सेना ले कर। महिष्मती से नील और कंबोजनरेश एक-एक अक्षौहिणी सेना ले कर आए हैं। सिंधु सौवीर से जयद्रथ आया है।..."

"वह फिर आ गया। उसे तो भीम ने युधिष्ठिर का दास बना कर छोड़ा था।" कुंती ने कहा, "कृतघ्न कहीं का।... अच्छा है कि वह युद्ध में भीम के सम्मुख पड़े, ताकि भीम उसका वध कर सके, अन्यथा तो वह फिर हाथ जोड़ देगा और युधिष्ठिर को फिर स्मरण हो आएगा कि वह दुःशला का पति है। वह उसे फिर क्षमा कर देगा। जयद्रथ को द्रौपदी के साथ किए गए दुर्व्यवहार का दंड तो युद्ध में ही दिया जा सकता है।"

"हाँ भाभी ! मुझे भी लगता है कि बहुत समय से इस धरती पर पापियों को उचित दंड नहीं दिया जा सका है। धरती उनके बोझ से कराह रही है। कदाचित् इसी लिए प्रभु ने यह संहार लीला रची है। भूरिश्रवा भी एक अक्षौहिणी सेना के साथ आया है।" विदुर बोले।

"भूरिश्रवा !" कुंती ने कहा, "उसे क्या कहना। वाह्लीक ने सदा सत्ता का साथ दिया है। सोमदत्त भी पिता के पक्ष में ही है, तो उसका पुत्र भूरिश्रवा विपक्ष का साथ कैसे दे सकता है।"

"ठीक कह रही हो भाभी ! ये लोग तो सत्ता के साथ हैं, क्योंकि सत्ता उनका पोषण करती है।" विदुर बोले, "उन्हें न्याय-अन्याय तथा धर्म-अधर्म से क्या लेना-देना। उन्हें तो बस अपने पोषण की चिंता करनी है। राजा उनका पेट भरता जाए और जो मन में आए करता जाए।"

"मैं उन्हें दोष नहीं देती।" कुंती ने उत्तर दिया, "यदि भीष्म जैसे मनस्वी सिंहासन का पक्ष नहीं छोड़ सकते, तो किसी और के लिए कुछ कहना ही व्यर्थ है।"

"भाभी !" विदुर का स्वर पहले से भी कहीं अधिक गंभीर हो गया था, "मैं पितृव्य का पक्ष लेकर उनका बचाव नहीं करना चाहता, किंतु मुझे लगता है कि उनके विषय में तुम्हारी धारणा ठीक नहीं है। उनके हाथ सिंहासन ने नहीं, कुलधर्म ने बाँध रखे हैं।"

"तो वे समझते हैं कि दुर्योधन का पक्ष लेकर मेरे पुत्रों से युद्ध करने पर उनके कुलधर्म का निर्वाह होगा ?" कुंती का स्वर प्रखर हो उठा था।

"उनके मन में क्या है, यह तो मैं नहीं जानता, किंतु इतना अवश्य जानता हूँ कि न तो वे तुम्हारे पुत्रों के विरोधी हैं, न वे उनका अधिकार छीनने के पक्ष में हैं और न वे इस युद्ध की आकांक्षा रखते हैं।" विदुर बोले, "मेरा विचार है कि वे अब भी न्यायपूर्ण संधि का कोई मार्ग खोजने का प्रयत्न कर रहे हैं।"

"भगवान करें ऐसा ही हो।" कुंती ने कहा।

विदुर प्रतीक्षा करते रहे किंतु जब कुंती ने और कुछ नहीं पूछा तो बोले, "और भाभी ! सबसे आश्चर्य की बात है कि शल्य एक अक्षौहिणी सेना लेकर दुर्योधन के युद्ध शिविर में आ गया है।"

"शल्य ? मद्रनरेश शल्य ?"

"हाँ भाभी !"

"क्यों ? उसे क्या सूझी ?"

"कह नहीं सकता।" विदुर ने धीरे से कहा, "पर संसार में भाँति-भाँति के लोग होते हैं। संभवतः उसे दुर्योधन के पक्ष में विजय के, और इसलिए भविष्य में उसी के पक्ष में अधिक धन और सत्ता के दर्शन हुए हों। यदि राज्य के अबाध भोग के लिए कंस अपने भागिनेयों की हत्या कर सकता है, बहन और बहनोई को कारागार में डाल सकता है, तो शल्य क्या अपने भागिनेयों के विरुद्ध युद्ध भी नहीं कर सकता ?"

"वह जो भी करे किंतु मैं जानती हूँ कि स्वार्थ, मूर्खता का दूसरा नाम है।" कुंती ने कहा, "मेरे पुत्र शल्य को अपने पिता तुल्य समझते और उसका वैसा ही सम्मान करते; किंतु अब वह उनके हाथों अपनी गौरवहीन मृत्यु प्राप्त करेगा।"

"मुझे लगता है कि शल्य को दुर्योधन ने कोई बड़ा लोभ दिया होगा।"

"संभव है। वह आज से नहीं पांचाली के स्वयंवर के समय से ही दुर्योधन के पक्ष में लड़ता आ रहा है।" कुंती ने कहा, "एक तो दुर्योधन की विजय का क्षण आएगा ही नहीं और यदि कभी वह क्षण आया तो भी मेरी दृढ़ धारणा है कि दुर्योधन के मंत्री —कर्ण, दुःशासन और शकुनि—शल्य को सत्ता के निकट भी नहीं फटकने देंगे।"

"संभव है कि ऐसा ही हो।"

"ऐसा ही होगा।" सहसा कुंती ने अपनी मुद्रा बदलकर विदुर की ओर देखा, "और विदुर ! पांडुपुत्रों ने भी सेना एकत्रित की है अथवा नहीं ?"

"क्यों नहीं।" विदुर हँसे, "इस बार तो वे भी युद्ध के संदर्भ में पर्याप्त गंभीर लगते हैं। वे मत्स्यराज की तो भूमि पर ही हैं। विराट और द्रुपद उनके सैन्य और धन संग्रह के कार्य का संयोजन कर रहे हैं। शिशुपालपुत्र चेदिराज धृष्टकेतु अपनी एक अक्षौहिणी सेना लेकर उनके शिविर में पहुँच गया है। मगध से जरासंधपुत्र सहदेव और जयत्सेन भी प्रायः एक अक्षौहिणी सेना लेकर आ गए हैं।"

"यह तो पांडुपुत्रों का पुण्य ही फलीभूत हुआ है।" कुंती ने कहा, "जरासंध और शिशुपाल का वध उनका सहायक हो गया है।"

"द्वारका में अर्जुन को केवल श्रीकृष्ण मिले, यह तो तुम जानती ही हो भाभी !" विदुर बोले, "किंतु सात्यकि भी एक अक्षौहिणी सेना के साथ उपप्लव्य पहुँच गया है।"

"उसे तो आना ही था।" कुंती का स्वर उल्लसित था, "वह तो कृष्ण को उसके पुत्रों से भी अधिक प्रेम करता है और अर्जुन का भी वह प्रिय शिष्य है। वैसे भी कृतवर्मा से अपना गणित बराबर करने के लिए उसे यही अवसर मिलेगा।"

"और भाभी पाड्य नरेश आ गया है। अनेक पर्वतीय राजा आए हैं। कुछ कैकेय राजकुमार भी आए हैं।..."

"तुम कह रहे थे कि कैकेय दुर्योधन की सहायता के लिए आए हैं ?"

"केकय से बहुत लोग आए हैं भाभी ! अभी स्थिति स्पष्ट नहीं है। कुछ वे हैं, जिनके हाथ में सत्ता है और वे उसे बनाए रखने के लिए सहायता चाहते हैं। कुछ वे हैं, जो राज्यच्युत और देश निष्कासित हैं। वे अपनी सत्ता लौटाना चाहते हैं। लगता है कि वे अपना युद्ध केकय में न लड़कर, यहाँ लड़ना चाहते हैं..."

पारंसवी बहुत देर से चुपचाप उनकी चर्चा सुन रही थी। उसने पहली बार मुँह खोला, "और सभा का क्या समाचार है। सुना है कि महाराज धृतराष्ट्र के पास धर्मराज का दूत आया था और धृतराष्ट्र ने भी संजय को पुत्र युधिष्ठिर के पास भेजा था।"

"अरे तुमने बहुत कुछ सुन लिया पारंसवी ! लगता है कि भाभी की संगति ने तुम्हें भी बहुत जागरूक बना दिया है।" विदुर मुस्कराए।

"क्यों, जो सभा का समाचार रखे, वही जागरूक होता है ?" पारंसवी कुछ तमक कर बोली।

"नहीं !" विदुर गंभीर थे, "सभा में तो केवल राजनीति होती है। जीवन का कदर्य रूप। मनुष्य का निकृष्ट चिंतन। तमोन्मुखी रजोगुण। वहाँ कुछ भी उदात्त नहीं है। अब वे दिन नहीं रहे, जब राजसभा में धर्म की चर्चा होती थी।" विदुर रुके, "कभी-कभी सोचता हूँ कि जाने क्यों प्रभु ने मुझे भगवान व्यास के आश्रम में नियुक्त नहीं किया, हस्तिनापुर की राजसभा में किया। वहाँ ऐसा क्या है, जिसे मनुष्य देखे, और आनंदित हो ? ऐसा क्या है, जिसे कोई सुने और उसके ज्ञान में वृद्धि हो ? ऐसा क्या है, जिस का चिंतन करे और उसका विकास हो ?"

"तो फिर क्यों चिपके बैठे हैं उस सभा से ? छोड़ क्यों नहीं देते ?" पारंसवी बोली।

"प्रभु ने जहाँ नियुक्त किया है, वहीं बैठा उसके आदेश का पालन कर रहा हूँ।" विदुर हँसे, "सोचता हूँ कि भगवान व्यास को भी अवसर पड़ने पर, सभा में आना ही पड़ता है, तो मैं ही भागकर कहाँ जाऊँगा। जब प्रभु की इच्छा मुक्त करने की होगी, तो वह स्वयं ही मुक्त कर देगा। तब तक मैं अपने धर्म का निर्वाह करता चलूँ।"

"तो अपने धर्म का निर्वाह करो।" कुंती ने हँसकर कहा, "बताओ, मेरे पुत्रों के दूत ने क्या कहा ?"

"भाभी ! महाराज द्रुपद के पुरोहित आए थे राजदूत बन कर।" विदुर ने बताया, "उन्होंने स्पष्ट रूप से संक्षेप में ही अपनी बात कही थी। उसका सार यह था कि दुर्योधन ने कई बार पांडवों की हत्या का प्रयत्न किया है। पांडवों का पैतृक धन और राज्य, धृतराष्ट्र ने दुर्योधन की सहायता से अपहृत कर लिया है। पांडवों का अपने बाहुबल से अर्जित और समृद्ध किया गया राज्य भी द्यूत में छल प्रपंच से उनसे छीन लिया गया।

फिर भी पांडवों ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वनवास के बारह वर्ष और अज्ञातवास का एक वर्ष पूरा कर लिया है। पांडव अब भी अपने विरुद्ध हुए अत्याचारों को भुलाने को प्रस्तुत हैं। वे कुरुवंश के अंग हैं और वही बनकर रहना चाहते हैं। वे सब से भाईचारा चाहते हैं। जनसंहार उनको प्रिय नहीं है। वे बिना युद्ध किए अपना राज्य प्राप्त करने के इच्छुक हैं।··· पर यदि पांडवों को इंद्रप्रस्थ का राज्य नहीं लौटाया गया, तो पांडव यह सिद्ध करना चाहेंगे कि वे दुर्योधन से अधिक बलिष्ठ हैं। धर्मराज के पास सात अक्षौहिणी सेना, अर्जुन का पराक्रम, भीम का बल और श्रीकृष्ण की बुद्धिमत्ता है।"

"पुरोहित ने बात तो स्पष्ट कही और प्रखर रूप में कही। किंतु द्रुपद का पुरोहित भीष्म और द्रोण के लिए शांतिदूत हो ही नहीं सकता। उन्होंने द्रुपद को सिवाय अपने शत्रु के और कुछ समझा ही नहीं।" कुंती के आनन पर संतोष झलका, "तो महाराज ने उसका क्या उत्तर दिया ?"

"महाराज से पहले पितृव्य बोले।" विदुर ने बताया, "उन्होंने दूत की बात का समर्थन किया और स्पष्ट कहा कि पांडवों को उनका राज्य लौटा दिया जाना चाहिए। राज्य न लौटाने का कोई औचित्य नहीं है। न लौटाने का एक ही कारण है कि दुर्योधन समझता है कि पांडव युद्ध में उससे जीत नहीं सकते; किंतु सत्य यह नहीं है। दूत ने ठीक कहा है कि अर्जुन का पराक्रम अद्भुत है···" विदुर रुके, "पितृव्य ने अर्जुन की प्रशंसा में दो ही वाक्य कहे थे कि कर्ण की ईर्ष्याग्नि भड़क उठी। उसने यह चिंता भी नहीं की कि पितृव्य अभी बोल रहे हैं और वे न केवल अवस्था में उससे कहीं अधिक वृद्ध हैं, वरन् कर्ण की तुलना में वे सभा के कहीं अधिक सम्माननीय और महत्त्वपूर्ण सदस्य हैं।"

कुंती के चेहरे पर उत्सुकता के स्थान पर गंभीर चिंता आ विराजी, "क्या कहा कर्ण ने ?"

"कर्ण बोला कि अतीत की चर्चा करना व्यर्थ है। वह तो सबको ज्ञात ही है। पांडवों ने अज्ञातवास की प्रतिज्ञा पूरी नहीं की है। वे एक वर्ष पूरा होने से पहले ही पहचान लिए गए हैं। उन्हें धर्मपूर्वक तो पुनः बारह वर्षों के लिए वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास करना चाहिए। उसके पश्चात् वे दुर्योधन की शरण में शांति से रह सकते हैं। पर पांडव धर्म के बल पर नहीं, मूर्ख मत्स्यराज और उस भड़काऊ द्रुपद के बल पर राज्य लेना चाहते हैं। यदि वे युद्ध ही चाहते हैं तो मेरी बात स्मरण रखें···"

"पितृव्य ने कुछ नहीं कहा ?" पारंसवी ने पूछा।

"पितृव्य को क्रोध आ गया।" वे बोले, "पांडव मत्स्य और पांचालों की सेना के बल पर राज्य लेना नहीं चाहते, तुम्हें ही अपने बल का अहंकार हो गया है।" उनका क्रोध छलका, 'आज तक पांडवों के विरुद्ध किसी युद्ध में तुम ढंग से लड़े भी हो ? प्रत्येक युद्ध में हारकर अथवा डरकर भाग जाते हो। क्या किया तुमने द्रुपद के साथ हुए युद्ध में, क्या किया गंधर्वों के विरुद्ध घोषयात्रा के युद्ध में ? क्या किया तुमने विराट

के गोहरण के अवसर पर हुए युद्ध में ? सदा ही युद्ध छोड़कर भागनेवाले प्रथम व्यक्ति तुम होते हो। तुम्हारे भरोसे रहे तो हस्तिनापुर की सेना सदा ही धूल फांकती रहेगी।" इस पर कर्ण ने पुनः कुछ कहना चाहा, किंतु धृतराष्ट्र ने उसे डाँटकर चुप करा दिया और कहा कि "पितृव्य ठीक कह रहे हैं। इसी में पांडवों का ही नहीं, हमारा भी और सारे संसार का हित है। महाराज ने दूत को आश्वस्त किया और कहा कि वे उसके संदेश का उत्तर देने के लिए, अपना दूत पांडवों के पास भेजेंगे और प्रयत्न करेंगे कि सौहार्द और प्रेम से सारी समस्या का समाधान हो जाए।"

"मैंने सुना है कि उन्होंने संजय को दूत वनाकर भेजा था।" पारंसवी वोली।

"हाँ! संजय गया था और कल रात वह लौट भी आया है। उसने आज प्रातः सभा में पांडवों का संदेश महाराज को सुनाया है।" विदुर बोले।

"महाराज ने क्या संदेश भेजा युधिष्ठिर को कि वह अपना राज्य न माँगे ?" कुंती ने कटु स्वर में कहा, "अपने भाइयों और पत्नी के साथ वन में चुपचाप पड़ा रहे ?"

"नहीं भाभी ! ऐसा संदेश जाता तो कम से कम उसमें उनके मन का भाव स्पष्ट तो होता। उन्होंने संजय के माध्यम से जो संदेश भिजवाया, वह कुछ और ही था।"

"क्या संदेश था ?" पारंसवी ने पूछा।

"महाराज धृतराष्ट्र ने दुर्योधन की ढेर सारी निंदा करके कहा था कि संजय युधिष्ठिर से कहे कि दुर्योधन के सिर पर तो मृत्यु मँडरा रही है, वह किसी की भी बात नहीं सुन रहा, तो युधिष्ठिर ही उनकी बात मान ले और युद्ध के स्थान पर प्रेम से काम ले। तो संजय ने जाकर पहले तो पांडवों की कुशलता पूछी और फिर सवको सबकी ओर से प्रणाम और आशीर्वाद निवेदित किया और तब कहा कि युधिष्ठिर अपने भाई दुर्योधन के प्रति क्रोध न करे, उसे प्रेम से ही समझा ले।..."

"तो युधिष्ठिर सहमत हो गया ?" कुंती ने जैसे चौंककर पूछा।

"नहीं !... युधिष्ठिर ने भी कुरुवंश और हस्तिनापुर के प्रत्येक साधारण से साधारण व्यक्ति के प्रति अभिवादन निवेदित कर कहा कि वे लोग दुर्योधन को समझाने का प्रत्येक संभव प्रयत्न कर चुके हैं। जव उन सबसे कुछ नहीं हुआ तो अव प्रेम से दुर्योधन को कुछ समझा लेना उसके लिए संभव नहीं है। संजय ने कहा कि वह संधि का संदेश लेकर आया है और भीष्म तथा धृतराष्ट्र भी संधि ही चाहते हैं।" विदुर ने वताया, "तो उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा कि वह भी युद्ध नहीं चाहता, किंतु संधि का आधार न्याय होता है। जव तक पांडवों को इंद्रप्रस्थ का राज्य लौटाया नहीं जाएगा, तव तक न न्याय हो पाएगा और न संधि हो सकेगी।"

"दुर्योधन को समझाना तो दूर की वात है, संजय भी समझा कि नहीं ?" पारंसवी मुस्करा रही थी।

"संजय नहीं समझा।" विदुर वोले, "उसने युधिष्ठिर को समझाना आरंभ किया कि युद्ध एक घातक शस्त्र है। उससे किसी का भला नहीं होता। वह पाप-कृत्य है।

युधिष्ठिर जैसा धर्मात्मा ऐसा पाप-कृत्य कर अपना भूत और भविष्य क्यों बिगाड़ना चाहता है।...''

''वाह ! दुर्योधन प्रेम से राज्य दे नहीं और युधिष्ठिर युद्ध से राज्य ले नहीं, तो सीधा-सीधा अर्थ हुआ कि वह अपना राज्य दुर्योधन को दान कर दे।'' पारंसवी बोली, ''वे लोग दुर्योधन को ही क्यों नहीं समझाते कि वह पांडवों को अपना भाई मानकर उनके साथ प्रेम से रहे। समझने का सारा दायित्व पांडवों ने ही ले रखा है क्या ?''

''संजय का तर्क तो कुछ ऐसा ही था कि दुर्योधन अधर्मी है। वह तो धर्म पर चलने का नहीं। युधिष्ठिर धर्मात्मा है, इसलिए उसे धर्म पर चलना चाहिए; और युद्ध धर्म नहीं है।'' विदुर बोले।

''अर्थात् वह तो दुष्ट है ही, इसलिए उसे दुष्टता करने दो। तुम भले आदमी हो, इसलिए सदा कष्ट सहो, अन्याय सहो, पीड़ा सहो। वह शक्ति का प्रयोग करता है तो करने दो, तुम क्यों बल-प्रयोग करते हो।'' पारंसवी का क्षोभ बढ़ता जा रहा था, ''पाखंडी कहीं के।''

''वे तो युधिष्ठिर को उसी के आदर्शों में बाँधने का प्रयत्न कर रहे थे, पर वह बँधा क्या ?'' कुंती ने पूछा।

''तुम ठीक कहती हो भाभी !'' विदुर बोले, ''संजय ने तो यहाँ तक कहा कि राज्य और धन-धान्य तो नश्वर है, जो अक्षय है, वह है यश। युधिष्ठिर को अपना यश नष्ट नहीं करना चाहिए। वह भीष्म और अश्वत्थामा सहित द्रोण का वध कर राज्य प्राप्त करना चाहता है। ऐसा अधर्मपूर्ण कर्म करने से तो अच्छा है कि यदि दुर्योधन उसका राज्य नहीं लौटाता तो वह वृष्णियों और अंधकों के राज्य में भिक्षा माँगकर अपना और अपने भाइयों का निर्वाह कर ले। युद्ध पाप है; और युधिष्ठिर को पाप से बचकर रहना चाहिए।'' विदुर ने रुककर उन लोगों की ओर देखा, ''वह तो युधिष्ठिर को कुछ इस प्रकार समझा रहा था, जैसे युधिष्ठिर न्यायपूर्वक अपना राज्य न माँग रहा हो, कोई भयंकर पाप करने जा रहा हो। उसने तो यहाँ तक कह डाला कि यदि अंततः युद्ध ही करना था तो बारह वर्षों का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास करने की क्या आवश्यकता थी। वनों और पर्वतों में तेरह वर्षों तक स्वयं तपने और अपने भाइयों को तपाने की क्या आवश्यकता थी। द्यूत के ही अवसर पर युधिष्ठिर बल-प्रयोग कर अपना राज्य ले सकता था। जो काम युधिष्ठिर आज करना चाह रहा है, वह तब भी हो सकता था।''

''यहाँ तक ?'' पारंसवी चकित थी।

''उसने यह भी कहा कि युधिष्ठिर की दृष्टि में क्षमा महान् धर्म है; इसलिए उसे वही करना चाहिए। सारे पापों की जड़ जो क्रोध है, युधिष्ठिर उसे क्यों अपनाए हुए है। भीष्म, अश्वत्थामा, द्रोण, कृपाचार्य तथा अन्य लोगों का वध कर, युधिष्ठिर जिन भोगों को प्राप्त करना चाहता है, वे इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इससे तो अच्छा है कि

परम पवित्र और महान् अभ्युदय का कार्य संपादित हुआ जानो।' उसके पश्चात् श्रीकृष्ण मौन हो गए, जैसे कुछ और अति महत्त्वपूर्ण वात कहना चाहते हों।''

''क्या कहा कृष्ण ने ?'' कुंती ने पूछा।

''श्रीकृष्ण वोले, 'यदि संधि हुई तो ही कौरव यमपाश से मुक्त हो पाऐंगे। पर मैं हस्तिनापुर आया तो कौरव मेरी बात सुनेंगे ? वे मेरा सम्मान कर पाएँगे ?'' विदुर रुक गए, ''और भाभी ! श्रीकृष्ण ने एक बहुत ही सुंदर बात कही। उन्होंने कहा, 'संजय ! हस्तिनापुर जाकर महाराज धृतराष्ट्र से कहना, कौरव एक वन हैं और पांडव उसमें विचरण करनेवाले व्याघ्र। वन यदि व्याघ्रों की रक्षा करेगा तो व्याघ्र भी वन की रक्षा करेंगे। यदि वन ने व्याघ्रों को मार डाला तो वन के निकट जाने, उसमें प्रवेश करने तथा उसका नाश करने में किसी को कोई भय नहीं रहेगा। इसलिए यदि कौरव अपनी रक्षा करना चाहते हैं तो उन्हें पहले पांडवों की रक्षा करनी होगी।''

''फिर क्या हुआ विदुर ?''

''पांडवों ने संजय का सत्कार किया और बहुत स्नेह से कौरवों के लिए संदेश देकर उसे विदा किया। धर्मराज ने तो यहाँ तक कह दिया कि वे शांति बनाए रखने के लिए पाँच पाँडवों के लिए पॉच गाँव लेकर भी समझौता करने को तैयार हैं।...''

''पॉच गाँव ?'' पारँसवी चकित थी।

''हॉ ! पॉचगाँव ! युधिष्ठिर ने कहा कि पाँडवों को अवस्थल, वृकस्थल, माकंदी, वारणावत तथा कोई एक और गॉव दे दिया जाए तो वे युद्ध का विचार त्याग देंगे।''

कुंती ने चकित होकर विदुर की ओर देखा, ''किसी ने भी उसके इस प्रस्ताव का विरोध नहीं किया ? अभी तो तुम कह रहे थे कि इंद्रप्रस्थ का राज्य लिए बिना कोई संधि नहीं होगी और अभी वह पॉच ग्रामों पर आ गया ?''

''हॉ भाभी ! किसी ने भी युधिष्ठिर के प्रस्ताव का विरोध नहीं किया,'' विदुर बोले, ''क्यों नहीं किया, यह तो मैं नहीं जानता किंतु कुछ लोगों का कहना है कि पांडवों की मान्यता है कि उन्हें पाँव रखने के लिए धरती चाहिए। उन्हें पाँच गाँव भी दे दिए जाएँगे, तो वे अपने वाहुवल से उनका विकास कर लेंगे, जैसे उन्होंने खांडवप्रस्थ को इंद्रप्रस्थ वना लिया था।... किंतु कुछ अन्य लोगों का विचार है कि ऐसा नहीं है। ऐसा होता तो वे कोई भी पाँच ग्राम माँगते, जो ग्राम उन्होंने माँगे हैं, वे एक-दूसरे से जुड़े हुए नहीं हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि युधिष्ठिर अपने प्रत्येक भाई के लिए एक ग्राम माँग रहा है। ऐसे तो उन पाँचों का अपना-अपना पृथक् राज्य होगा। वे एक-दूसरे से पृथक् हो जाऐंगे। यदि पांडव पृथक्-पृथक् हो जाएंगे तो दुर्योधन उन्हें एक दिन भी जीने नहीं देगा। पांडव एक-दूसरे से पृथक् होने की कल्पना भी नहीं कर सकते। इसलिए पांच पृथक्-पृथक् ग्राम माँगने का अर्थ और ही है।...''

''तुम क्या समझते हो विदुर ?''

''कह नहीं सकता भाभी ! मुझे तो यह युधिष्ठिर की शांति कामना के अतिरिक्त

और कुछ भी नहीं लगता। इसमें कोई राजनीतिक अथवा सैनिक चाल होगी, ऐसी तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। या इसका अर्थ इतना ही है कि युधिष्ठिर को यह पूर्ण विश्वास है कि दुर्योधन पाँच ग्राम भी नहीं देगा।"

"तो संजय उपप्लव्य से लौट आया?" पारंसवी ने पूछा।

"हाँ! वह कल संध्या समय लौट आया था।" विदुर बोले, "उसने हस्तिनापुर लौट कर महाराज को अपने लौटने का समाचार तो दिया किंतु यह भी जता दिया कि वह अपने इस कार्य से प्रसन्न नहीं है। वह जैसे कोई अपवित्र कार्य करके लौटा था। उसे धर्म-विरुद्ध पांडवों को बहकाने के लिए भेजा गया और राजकर्मचारी होने के कारण उसे वह काम करना पड़ा, इससे वह तनिक भी प्रसन्न नहीं था।"

"क्या उसने महाराज से यह सब कहा?" पारंसवी ने पूछा।

"हाँ! अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के माध्यम से किसी न किसी प्रकार ये सब बातें कह ही दीं।" विदुर ने कहा, "और जब महाराज ने जानना चाहा कि युधिष्ठिर ने उनके लिए क्या संदेश दिया है, तो उसने कहा कि वह बहुत थका हुआ है। वह रात भर विश्राम करेगा और अगले दिन सभा में सबके सामने वह पांडवों का संदेश सुनाएगा।"

"यह तो महाराज को यातना देने की बात है। वे इस प्रकार की जिज्ञासा को रात भर कैसे झेल पाए होंगे।" पारंसवी मुस्करा रही थी।

"शायद संजय यही चाहता था कि महाराज रात भर तड़पें। उसने उन्हें रात भर तड़पाया और आज प्रातः ही सभा में पांडवों का संदेश सुनाया।" विदुर बोले।

"संजय भी एक ही व्यक्ति है अपनी प्रकार का।" कुंती ने कहा और किसी चिंता में मग्न हो गई।

19

पिछले दो दिनों से कृष्ण निरंतर एक प्रकार की चिंता में थे।

पांडवों ने यदि एक दूत हस्तिनापुर भेजा था तो उसके उत्तर में एक दूत हस्तिनापुर से उपप्लव्य आ गया; किंतु उस का लाभ क्या हुआ?... कृष्ण जानते थे कि युधिष्ठिर इतना तो समझ ही रहे थे कि संजय के माध्यम से भेजा गया धृतराष्ट्र का संधि-प्रस्ताव मात्र एक पाखंड था। वे संधि की बात कर रहे थे, किंतु पांडवों का राज्य लौटाना नहीं चाहते थे। वे पांडवों को सब कुछ त्यागकर पूर्ण आत्मसमर्पण करने के लिए कह रहे थे और उसे संधि का नाम दे रहे थे। उन्होंने युद्ध के दोष गिनाए थे और युधिष्ठिर को युद्ध से विरत करने का प्रयत्न किया था; किंतु युद्ध के मूल कारण को दूर करने में कोई रुचि नहीं दिखाई थी। पांडवों का राज्य लौटाने की चर्चा तक नहीं की थी।

वे चाहते थे कि जिस प्रकार पांडवों ने अब तक वनवास किया है, वे वैसे ही अपने जीवन के शेप दिन भी काट लें। पांडवों को वनवास करने और भिक्षा पर निर्भर रहने का लंबा अभ्यास था ही, और दुर्योधन बिना साम्राज्य के जी नहीं सकता था। तो फिर वैसा ही चलता रहे, यथास्थिति बनी रहे। दुर्योधन साम्राज्य भोगता रहे और पांडव तपस्या करते रहें। व्यर्थ ही इतना रक्तपात करने का क्या लाभ।

युद्ध तो युधिष्ठिर भी नहीं चाहते थे; किंतु राज्य उनको चाहिए था। अपने लिए नहीं तो अपने भाइयों के लिए। अपने पुत्रों के लिए। वे समझ रहे थे कि इस समय वे अपने परिवार का भली-भाँति भरण-पोपण तक नहीं कर पा रहे हैं। इसलिए यदि सारा राज्य नहीं मिलता तो वे पाँच ग्रामों अथवा पाँच नगरों पर समझौता करने को प्रस्तुत थे। पर वे यह भी जानते थे कि धृतराष्ट्र के मन में राज्य का अत्यधिक लोभ था। लोभ मनुष्य की विचार-शक्ति को नष्ट कर देता है; और विचार-शक्ति न हो तो लज्जा भी नष्ट हो जाती है। धृतराष्ट्र और दुर्योधन दोनों ही निर्लज्ज हो चुके थे।···

दुर्योधन ने उनका राज्य लौटाने से इंकार कर दिया था। उसे युद्ध का भय नहीं था। वह यह मानता था कि युद्ध में पांडव उसे पराजित नहीं कर सकते थे। दुर्बल को न्याय देने में दुर्योधन का कोई विश्वास नहीं था। यदि पांडव बलपूर्वक उससे राज्य छीन नहीं सकते थे, तो वह स्वयं उन्हें राज्य क्यों लौटाए। उसकी नीति स्पष्ट थी। राज्य चाहिए तो लड़कर ले लो।···

कृष्ण को लगता था कि बात केवल इतनी ही नहीं थी कि वह समझता था कि पांडव हस्तिनापुर की सेना को पराजित नहीं कर पाएँगे। कहीं यह बात भी उसके मन में जमी हुई थी कि पांडव उससे युद्ध ही नहीं करेंगे। जिसे वे अपना पिता मानते हैं, उस धृतराष्ट्र से युद्ध कर वे उ का राज्य नहीं छीनेंगे। वे भीष्म और द्रोण के विरुद्ध शस्त्र नहीं उठाएँगे। उसका यह सोचना सत्य से बहुत दूर भी नहीं था। युधिष्ठिर किसी का भी वध करना श्रेयस्कर नहीं मानते थे तो वे अपने पिता और पितामह का वध कैसे करते। वे इसे नृशंसता मानते थे और उन्होंने अनृशंसता का प्रण ले रखा था। वे किसी भी प्रकार की संधि के लिए प्रस्तुत थे ताकि उन्हें भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य तथा बाह्लीक जैसे कुल वृद्धों से युद्ध न करना पड़े।··· कृष्ण ने उन्हें पराक्रम दिखाने का ही परामर्श दिया था। क्षत्रिय के लिए भीख मांगना अधर्म है। उन्होंने कहा था कि या तो युद्ध में विजय प्राप्त कीजिए अन्यथा युद्धक्षेत्र में अपने प्राण दे दीजिए। धृतराष्ट्र के पुत्र तो सभी के लिए वध्य हैं, उनको मार डालना ही उचित है। उसमें किसी प्रकार का द्वंद्व उचित नहीं है।

अपनी सारी शांतिप्रियता के बाद भी युधिष्ठिर समझ रहे थे कि युद्ध उन्हें करना ही पड़ेगा। वे एक ओर जहाँ युद्ध के लिए सहमत हो गए थे, वहीं दूसरी ओर इस ग्लानि में तड़प रहे थे कि उनके कारण भरतवंशियों का नाश होगा। कृष्ण अभी तक उन्हें यह नहीं समझा पाए थे कि यदि यह विनाश हुआ तो दुर्योधन के अधर्म के कारण होगा,

युधिष्ठिर के धर्म के कारण नहीं।

युधिष्ठिर की यह मोहग्रस्त स्थिति कृष्ण को चिंतित किए हुए थी। युधिष्ठिर यह सव न समझ रहे होते तो उन्हें समझाया जा सकता था। वे युद्ध के लिए सहमत न होते तो उन्हें सहमत किया जा सकता था; किंतु इस मोह, ग्लानि और अपराध-वोध के मध्य एक अनमने से युद्ध का क्या लाभ ?

कृष्ण की चिंता का कारण केवल इतना ही नहीं था। इधर भीम ने भी अपने भाइयों की ओर देखकर कहना आरंभ कर दिया था कि युधिष्ठिर तो युद्ध के विरुद्ध हैं ही, अर्जुन के मन में भी अपार दया है। सहस्रों सैनिकों का अकारण वध भीम को अच्छा नहीं लगता। वह भी नहीं चाहता कि उनके सुख के लिए भरतवंशियों का विनाश हो। इसलिए दुर्योधन से किसी प्रकार का समझौता कर लिया जाए, जिससे विश्व में शांति वनी रहे।··· यह नहीं कि कृष्ण समझ नहीं रहे थे कि यह सव कहते हुए, भीम का हृदय किस प्रकार रक्तवमन करता होगा, किंतु अपने चारों ओर करुणा का ऐसा विराट सागर लहराता देख, अपने भाइयों के मन में वर्तमान दया, करुणा और सहिष्णुता के पारावार से साक्षात् कर, कदाचित् वह स्वयं को मन ही मन किसी हिंस्र जीव के रूप में देखने लगा था। वह अपनी ही दृष्टि में राक्षस हो गया लगता था।···कृष्ण को पांडवों के मन में से क्षत्रिय वृत्ति का लोप होता-सा दिखाई पड़ रहा था, जो किसी भी रूप में शुभ नहीं था।

सवसे वड़ी वात यह थी कि जिन्हें शांति की चिंता नहीं थी, उन्हें न तो कोई संधि करने के लिए कह रहा था और न ही कोई उन्हें संभावित युद्ध के लिए दोषी ठहरा रहा था। धृतराष्ट्र और दुर्योधन का सारा प्रचार यह था कि पांडव मानवता के शत्रु थे, क्योंकि वे अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए, युद्ध जैसे भयंकर विनाश को आमंत्रित कर रहे थे। वे दुर्योधन से अपना राज्य न माँगें, चुपचाप भिक्षुकों के समान जीवन व्यतीत कर लें तो क्यों कोई सैन्य संगठन करेगा और क्यों कोई रणसज्जित होगा। सारा दोप तो पांडवों का ही था, क्यों वे अपना राज्य मॉग रहे थे ? हस्तिनापुर में भीष्म और द्रोण से कुछ आशा की जा सकती थी; किंतु वे दोनों ही द्रुपद के विरोधी थे। पांडव पांचालों को छोड़ नहीं सकते थे, और उनके साथ रहते हुए, वे भीष्म और द्रोण को युद्ध से विरत कर नहीं सकते थे। वे मन में अवश्य ही मानते रहे होंगे कि द्रुपद के पुरोहित का शांतिदूत के रूप में आना, वस्तुतः शांति का प्रस्ताव हो ही नहीं सकता।

द्वारका में वलराम भी इन दिनों शांति के दूत वने हुए थे। वे भी यही मानते थे कि कृष्ण पांडवों को व्यर्थ ही युद्ध के लिए प्रेरित कर रहे थे। दुर्योधन और युधिष्ठिर में संधि करवा देनी चाहिए थी और कृष्ण वह नहीं करवा रहे थे।··· पर यह वलराम भी नहीं वताते थे कि संधि कैसे हो। दुर्योधन से राज्य भी न माँगा जाए और उसे दंडित भी न किया जाए; अर्थात् दुर्योधन को उसकी दुष्टता का पुरस्कार दिया जाए और पांडवों को उनकी सज्जनता के लिए दंडित किया जाए। अपराधियों को संरक्षण देनेवाली यह

करुणा कृष्ण की समझ में नहीं आती थी। दुष्ट-दलन के अभाव में धर्म-संस्थापना कैसे हो सकती थी। ऐसी शांति का वे क्या करेंगे, जिसमें दुष्टों को मानवता और धर्म के विरुद्ध अपराध करने के विशेषाधिकार प्राप्त हो जाएँगे। पर इस समय हवा ऐसी चल रही थी कि न्याय और धर्म की माँग भी जैसे अपराध हो गई थी।

सब ओर से बार-बार संधि की पुकार का अर्थ समझते थे कृष्ण। वे जानते थे कि उनसे क्या अपेक्षा थी धर्मराज की और क्या चाहते थे बलराम। युधिष्ठिर ने तो अपने भाइयों से ही नहीं, विराट, द्रुपद तथा अपने मित्र अन्य राजाओं से कहा भी था कि कृष्ण को दूत के रूप में हस्तिनापुर भेजा जाए, ताकि जो संधि द्रुपद के पुरोहित नहीं कर पाए, वह संधि कृष्ण संपन्न कराएँ। कृष्ण के लिए क्या असंभव था।··· धर्मराज शांतिपूर्ण संधि के लिए आतुर थे और कृष्ण को केवल धर्म की चिंता थी। अंततः उन्होंने युधिष्ठिर से कह ही दिया, "धर्मराज ! मैं आपकी पीड़ा समझता हूँ। आप युद्ध नहीं चाहते।"

"नहीं। युद्ध से मेरा कोई विरोध नहीं है।" युधिष्ठिर ने अपना पक्ष स्पष्ट किया, "मैं विनाश नहीं चाहता।"

"जिसमें विनाश न हो, ऐसा कोई युद्ध नहीं होता।" कृष्ण बोले, "आप विनाश नहीं चाहते, इसका अर्थ हैं कि आप युद्ध भी नहीं चाहते।"

"नहीं वासुदेव !···" युधिष्ठिर अपनी बात कहने के लिए कुछ और संप्रेषण-सक्षम शब्द ढूँढ़ रहे थे।

"युद्ध मैं भी नहीं चाहता। मानवता से प्रेम करनेवाला कोई व्यक्ति युद्ध नहीं चाहता।" कृष्ण बोले, "इसलिए हम संधि का एक और प्रयत्न करेंगे।"

"कैसे ?"

"मैं स्वयं दूत बनकर हस्तिनापुर जाऊँगा।" कृष्ण ने कहा, "आपके लाभ को बाधा न पहुँचाते हुए, मैं दोनों पक्षों में धर्मपूर्ण संधि का प्रयत्न करूँगा। संभव है कि महाराज द्रुपद के पुरोहित वे बातें न कह पाए हों, जो मैं कह सकता हूँ।"

युधिष्ठिर के मन पर से तो जैसे पर्वत का सा भारी बोझ हट गया। यदि कृष्ण दूत बनकर हस्तिनापुर जाएँगे तो वहाँ ऐसा कौन बैठा है, जो कृष्ण के तर्कों का उत्तर दे सके अथवा उनका तिरस्कार कर सके।

"मैं एक मध्यस्थ के समान दोनों पक्षों के हितों का ध्यान रखते हुए कोई ऐसा मार्ग ढूँढ़ने का प्रयत्न करूँगा, जिससे युद्ध न हो और विश्व में शांति बनी रहे।" कृष्ण बोले, "मैं हस्तिनापुर जाकर कौरवों की युद्ध विषयक तैयारी संबंधी सूचनाओं से अवगत होकर, आपकी विजय के लिए पुनः यहाँ लौट आऊँगा।"

युधिष्ठिर की प्रसन्नता अधिक देर नहीं टिकी। कुछ चिंतित होकर बोले, "श्रीकृष्ण ! मेरी इच्छा है कि आप स्वयं हस्तिनापुर जाएँ, क्योंकि मैं शांति चाहता हूं; किंतु मैं आपकी सुरक्षा के लिए भी चिंतित हूं, और सम्मान के लिए भी। संभव है कि

दुर्योधन आपका अपमान करना चाहे, आपको किसी प्रकार की हानि पहुँचाने का प्रयत्न करे। अपनी सारी सद्भावना के बाद भी मैं जानता हूँ कि हस्तिनापुर में पितामह का नहीं दुर्योधन का राज्य है और उसके मंत्री शकुनि, कर्ण और दुःशासन जैसे लोग हैं।"

"मैं सावधान रहूँगा। आप मेरी चिंता न करें।" कृष्ण ने कहा, "दुर्योधन के संवंध में जिन लोगों के मन में अभी द्विविधा है, जो लोग उसके चरित्र के धर्म-अधर्म संवंधी तत्त्वों के विषय में अभी स्पष्ट निर्णय नहीं कर पाए हैं, मैं उन सव लोगों का संदेह वहाँ जाकर दूर कर दूँगा।"

कृष्ण देख रहे थे कि नकुल और सहदेव अपने वड़े भाइयों की इस शांतिप्रियता से तनिक भी प्रसन्न नहीं थे। वे मानते थे कि उनके लिए न्याय प्राप्त करने के सारे मार्ग वंद हो चुके हैं। अब युद्ध के सिवाय कोई विकल्प नहीं बचा है और ऐसे समय में उनके वड़े भाई धर्म को भूलकर शांति की आकांक्षा करने लगे हैं। आज तक पांडव धर्म-वंधन में वँधे होने के कारण अपना अधिकार नहीं माँग पा रहे थे; किंतु अब, जब ऐसा कोई कारण नहीं है, युद्ध ही उनका धर्म है, धर्मराज उस धर्म की उपेक्षा कर शांति और भरतवंश की रक्षा की चिंता करने लगे हैं।···

"शांतिदूत श्रीकृष्ण से मैं भी कुछ कह सकती हूँ?"

कृष्ण ने द्रौपदी की ओर देखा। वे उसके उस एक वाक्य में से ध्वनित अथाह पीड़ा का हाहाकार सुन रहे थे।

"वोलो कृष्णे !"

"शांति किसी को वुरी नहीं लगती। युद्धक्षेत्र में पड़े असंख्य शवों को देखना किसी के लिए भी प्रिय दृश्य नहीं हो सकता।" द्रौपदी बोली, "किंतु पीड़ित मानवता की रक्षा के लिए और उसे सांत्वना देने के लिए अपराधियों को दंडित करना भी राजधर्म है या नहीं ? पापियों को दंडित न करना अधर्म है या नहीं ? गोविंद ! तुम हस्तिनापुर जाओगे तो संधि की वात करते हुए स्मरण रखना कि वहीं कौरवों की द्यूतसभा में पापी दुःशासन ने रजस्वला, एकवस्त्रा कृष्णा को उसके इन केशों से पकड़कर घसीटते हुए, सभा में प्रस्तुत किया था, उस द्रौपदी को जो सम्राट् द्रुपद की पुत्री है, वीर धृष्टद्युम्न तथा महारथी शिखंडी की वहन है, जो सम्राट् पांडु की पुत्रवधू है और इन वीर पांडवों की पत्नी होने के साथ-साथ पाँच-पाँच महारथी पुत्रों की माता ही नहीं तुम्हारी सखी भी है। जहाँ द्रौपदी के साथ यह व्यवहार हो सकता है, वहाँ किसी साधारण स्त्री का कितना सम्मान हो सकता है, इसकी तो तुम कल्पना कर ही सकते हो गोविंद ! द्रौपदी को एक लात मारने के लिए कीचक और उसके सारे कुटुंवियों को अपने प्राण गँवाने पड़े थे। हस्तिनापुर के अपराधी इसलिए स्वच्छंद नहीं घूम सकते, क्योंकि वे पांडवों के संवंधी हैं अथवा वे इतने शक्तिशाली हैं कि उन पर हाथ डाला जाएगा तो शांति भंग होगी, विप्लव होगा

और उस स्थिति को संभालने के लिए एक विराट् युद्ध करना पड़ेगा। अपराधी को इसलिए क्षमा करना क्योंकि वह किसी का बंधु है अथवा अत्यंत शक्तिशाली है--न धर्म है, न राजधर्म। तुम राजा नहीं हो गोविंद ! न शासक हो और न न्यायाधीश; किंतु तुम संसार में धर्म-संस्थापना करने आए हो, इसलिए मैं तुम्हें कहती हूं कृष्ण ! मुझे न्याय चाहिए, उसके लिए चाहे कितना भी रक्त बहे।" द्रौपदी ने रुक कर अपने पतियों की प्रतिक्रिया देखी और पुनः बोली, "मैं जानती हूँ कि करुणा एक महान् गुण है; किंतु पीड़ित व्यक्ति को ऐसी करुणा अच्छी नहीं लगती, जिससे पीड़क लाभान्वित हो। मैं जानती हूँ कि धर्मराज के लिए संसार का सबसे बड़ा धर्म है, क्षमा; किंतु यह व्यक्ति का धर्म हो सकता है, यह सामाजिक धर्म नहीं हो सकता। अपराधियों को क्षमा कर कोई समाज जीवित नहीं रह सकता।" द्रौपदी ने अपने पाँचों पतियों पर चेतावनी भरी एक दृष्टि डाली, "एक बात मैं स्पष्ट बता दूँ। मेरे ये केश, जिन्हें पापी दुःशासन ने खींचा था, आज भी खुले हैं। यदि पांडव इनका प्रतिशोध नहीं लेना चाहते तो इन्हें न्याय दें। प्रतिहिंसा और प्रतिशोध कोई उदात्त भाव नहीं है, किंतु न्याय तो सर्वथा सात्विक भाव है। मुझे न्याय दो। यदि पांडव न्याय नहीं कर सकते तो तुम मुझे धर्म दो केशव ! अपनी सखी को धर्म न दे सको तो पीड़ित प्रजा को धर्म दो।" सहसा जैसे द्रौपदी के चारों ओर कोई अग्निकुंड धधक उठा। वह अग्नि की किसी विराट लपट का रूप धारण कर चुकी थी, "और यदि तुमने भी धर्म न दिया केशव ! तो मैं तुम्हें बता दूँ, यह युद्ध तब भी नहीं रुकेगा। न्याय के लिए संघर्ष करना कोई अधर्म नहीं है। कोई यह कह दे कि पांडवों का राज्य छीनना अधर्म नहीं था, तो मैं मान लूंगी ; किंतु द्रौपदी को उस स्थिति में केशों से पकड़ कर घसीटते हुए सभा में लाना और उसके साथ दुर्व्यवहार करना, अधर्म नहीं था, यह मैं नहीं मानूँगी। कोई कहे कि पांडव राज्य के बिना भी जीवित रह सकते हैं तो मैं स्वीकार कर लूँगी; किंतु द्रौपदी अपने इस अपमान के साथ जीवित नहीं रह सकती। छल-कपट से किसी सम्राट् का राज्य छीनकर कोई जीवित रह सकता है, किंतु स्त्रीत्व का अपमान कर कोई जीवित नहीं रह सकता। इसलिए केशव ! पांडव नहीं लड़ेंगे तो पांचाल लड़ेंगे। धर्मराज नहीं लड़ेंगे तो मेरे वृद्ध पिता लड़ेंगे। भीम और अर्जुन नहीं लड़ेंगे तो महावीर धृष्टद्युम्न और महारथी शिखंडी लड़ेंगे। शूरवीर यादव नहीं लड़ेंगे तो उनका दौहित्र अभिमन्यु लड़ेगा, मेरे वीर पुत्र लड़ेंगे। माँ का सम्मान विश्व-शांति से अधिक महत्त्वपूर्ण है केशव ! जिन्हें आज शांति प्रिय हो गई है, उन्हें उस समय सोचना चाहिए था, जब वे अग्निकुंड से उत्पन्न हुई द्रुपदपुत्री कृष्णा के केश खींच रहे थे, उसे निर्वस्त्र करने का प्रयत्न कर रहे थे। जो स्थान पाप से मलिन होता है, वह पापियों के रक्त से धुलकर ही पवित्र होता है।"

द्रौपदी ने रुककर अपनी प्रज्वलित दृष्टि कृष्ण पर डाली। कृष्ण उसे तनिक भी उत्तेजित नहीं लगे। वे पूर्णतः शांत ही नहीं थे, मुस्करा भी रहे थे। वह मुस्कान ऐसी नहीं थी, जिसकी द्रौपदी उपेक्षा कर जाती। वह तो उसके तपते हुए क्षत-विक्षत हृदय

पर जैसे चंद्रिका का शीतल लेप कर गई थी।

"मैं शांतिदूत बनकर हस्तिनापुर जा रहा हूँ, क्योंकि हम शांति नष्ट कर पृथ्वी को रक्त-स्नान के लिए बाध्य करना नहीं चाहते।" कृष्ण बोले, "किंतु शांति का आधार तो न्याय और धर्म होता है कृष्णे ! धर्म की हत्या कर तो शांति स्थापित नहीं होती। संसार का कोई भी अपराध क्षम्य हो सकता है किंतु नारीत्व का अपमान कर कोई अपराधी दंड न पाए, यह संभव नहीं है। इस संसार को धारण करनेवाला तत्त्व है–धर्म। उस धर्म का विश्वास करो। पाप क्षय का प्रतिनिधि है, धर्म निर्माण का। न यह सृष्टि क्षय का पक्ष लेती है, न इसका स्रष्टा। आततायी अपने पाप का दंड न पाए, यह संभव ही नहीं है। तुम अपनी जिह्वा से कुछ भी न कहो, तो भी तुम्हारे इन खुले केशों की दुहाई तीनों लोकों में प्रतिध्वनित हो रही है।" कृष्ण मुस्कराए, "जहाँ इतना धैर्य धारण किया है सखि ! वहीं मेरे हस्तिनापुर से लौट आने तक स्वयं को संयत रखो। तुम्हारे ये अश्रु अनुत्तरित नहीं रहेंगे।"

कृष्ण के आश्वासन के पश्चात् द्रौपदी ने एक शब्द भी नहीं कहा और वह अपने कक्ष में लौट गई। वह जानती थी कि कृष्ण ने जो कुछ कहा था, वह उसे मात्र सांत्वना देने के लिए नहीं कहा था, वह शिष्टाचार मात्र भी नहीं था। कृष्ण के शब्दों को प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती।

पर कृष्ण तो कुछ कर ही नहीं रहे थे। न वे हस्तिनापुर जा रहे थे, न वे उस संदर्भ में उपप्लव्य में ही कुछ करते दिखाई देते थे। वे या तो एकांत में बैठे बाँसुरी बजाते थे अथवा कहीं किसी संन्यासी या तपस्वी के साथ धर्म-चर्चा करते दिखाई देते थे। उन्हें देख कर ऐसा लगता ही नहीं था कि वे उपप्लव्य में थे, जहाँ चारों ओर सेनाएँ एकत्रित थीं। सैनिक गतिविधिँ जोरों पर थीं और उन्हें युद्ध को बचाने के लिए शांतिवार्ता के लिए हस्तिनापुर जाना था।

तीसरे दिन वैंतेय अपने चारों गरुड़ों के साथ लौटा··· हां ! वह लौटा।··· तो वह कहीं गया हुआ था।··· द्रौपदी ने सोचा··· इतने समय से उसने उन गरुड़ों के विषय में सोचा ही नहीं था कि वे लोग कहाँ विलुप्त हो गए थे।

वैंतेय का संदेश सुनने के पश्चात् कृष्ण ने अपनी मुरली एक ओर रख दी और उठ खड़े हुए। अब वे न पिछले दिनों के समान निश्चिंत थे और न निष्क्रिय। वे बहुत व्यस्त दिखाई पड़ने लगे थे। द्रौपदी चकित थी कि यदि कृष्ण वैन्तेय की प्रतीक्षा ही कर रहे थे तो वे इतने निश्चिंत कैसे थे। किसी की प्रतीक्षा में तो व्यक्ति इतना व्याकुल होता है कि वे सामान्य रूप से अपनी दिनचर्या का ही निर्वाह नहीं कर पाता और कृष्ण थे कि जैसे छुट्टियाँ मनाने उपप्लव्य आए हों। अद्‌भुत हैं कृष्ण। पर ऐसे अद्‌भुत न होते तो फिर कृष्ण ही कैसे होते।

कृष्ण स्वयं, उनके गरुड़ तथा उनका सारथि दारुक किसी लंबी यात्रा की तैयारी में लग गए थे। लंबी यात्रा ? कहां जाना है कृष्ण को ? जाना कहाँ है। हस्तिनापुर तक ही तो जाना है। तो उसकी ही तैयारी हो रही होगी। पर यह यात्रा की तैयारी नहीं थी। यदि द्रौपदी उसे युद्ध की तैयारी न भी कहती तो किसी बड़े अभियान की तैयारी तो अवश्य कहती। कृष्ण ने सहस्रों लोगों के कई दिनों तक खाने योग्य अन्न एकत्रित कर, उसे साथ ले जाने का प्रबंध किया था। एक छोटे-मोटे युद्ध के योग्य सहस्र- दो सहस्र सैनिकों के लिए शस्त्रास्त्र प्राप्त कर उन्हें ले जाने की व्यवस्था की थी। एक वड़ी संख्या में उन्होंने मंडपकर्मियों को भी तैयार किया था। भोजन पकाने के लिए रसोइए भी एकत्रित किए गए थे।···

द्रौपदी समझ नहीं पा रही थी कि कृष्ण यह सब क्यों कर रहे हैं। यदि उन्हें शांतिवार्ता के लिए हस्तिनापुर तक ही जाना था तो यह सब आवश्यक नहीं था। न उतने लोग थे, न उतनी दूरी थी, और न उपप्लव्य से किसी सेना के उनके साथ हस्तिनापुर जाने की सूचना ही थी।···

तीसरे दिन प्रायः संध्या समय द्वारका से एक पूरी वाहिनी के साथ उद्धव, सात्यकि और कृतवर्मा उपप्लव्य आ पहुँचे।··· द्रौपदी की सूचना के अनुसार कृतवर्मा तो अपनी एक अक्षौहिणी सेना के साथ हस्तिनापुर पहुँच चुका था। तो फिर वह द्वारका से कैसे आ रहा है ? हो सकता है कि कृतवर्मा युद्ध में विलंब देख कर द्वारका लौट गया हो। तो फिर कृष्ण ने उसे वहीं रहने क्यों नहीं दिया ? वे उसे फिर से हस्तिनापुर ले जा रहे हैं।···

वैन्तेय के आ जाने के पश्चात् कृष्ण शायद उन्हीं के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे। तो वे गरुड़ कृष्ण का संदेश लेकर द्वारका ही गए होंगे। कृष्ण ने अपनी सहायता के लिए द्वारका से सात्यकि और उद्धव को बुलाया था, यह तो द्रौपदी की समझ में आता था; किंतु यह कृतवर्मा ? कृतवर्मा का किसी समय कृष्ण से बहुत प्रेम था। यादवों के संघर्षपूर्ण जीवन में वह कृष्ण का सहयोगी रहा है; किंतु इन दिनों वह बलराम के निकट था। और बलराम के निकट होने का अर्थ था कि वह पांडवों की अपेक्षा दुर्योधन के अधिक निकट था। तो उसे क्यों बुलाया है कृष्ण ने अपनी सहायता के लिए ? और फिर वह ही क्यों आ गया, कृष्ण की सहायता करने ? उसने तो अपनी सेना का एक भाग आगामी युद्ध के लिए दुर्योधन को दे भी दिया था। तो फिर··· पर सेना ?··· द्रौपदी ने सोचा··· पांडवों के सबसे बड़े सहायक कृष्ण ने भी तो नारायणी सेना दुर्योधन को दे दी है। कृष्ण को समझना बड़ा कठिन था, पर कृतवर्मा···

यादव एक लंबी यात्रा करके आए थे। उनके रथ संस्कार-परिष्कार माँगते थे, अश्वों को विश्राम की आवश्यकता थी। वे किसी भी स्थिति में शीघ्र यात्रा के लिए उपलब्ध नहीं हो सकते थे।

युधिष्ठिर को भी आश्चर्य हुआ। कृष्ण अपने साथ सैनिक ही ले जाना चाहते थे तो उपप्लव्य में सैनिकों का अभाव तो नहीं था। उन्होंने अपने साथ हस्तिनापुर जाने के लिए द्वारका से सैनिक बुलाए थे। क्या उन्हें और किसी के सैनिकों पर विश्वास नहीं था, जो द्वारका से सैनिक मँगाए गए थे। और यह उनकी अपनी नारायणी सेना तो नहीं थी। उसे तो वे दुर्योधन को दे चुके थे।··· और सबसे बड़े आश्चर्य की बात यह थी कि उनके बुलाने पर सात्यकि और कृतवर्मा एक साथ आए थे, जैसे उनमें परस्पर कोई मतभेद ही न हो।···

कृष्ण ने सिवाय सैनिकों के शेष सब लोगों को उपप्लव्य में विश्राम करने का आदेश दे दिया। उन्होंने रथों को संस्कार-परिष्कार के लिए कर्मकरों को सौंप दिया। अश्वों को पूर्ण और दीर्घकालीन विश्राम के लिए, अश्वशालाओं में पहुँचा दिया गया। सैनिकों के लिए उपप्लव्य में उपलब्ध तीव्रगामी नए रथ लिए गए, नए अश्व और नए सारथि।··· कृष्ण अपने साथ चलने के लिए, एक अतितीव्रगामी जुझारू सेना तैयार कर रहे थे। शायद अपनी इस सेना को वे एक अत्यंत शक्तिशाली और समर्थ गरुड़ का रूप देना चाहते थे, जिसमें गति के साथ वेग भी हो और जिसकी तीव्रता को कोई झेल न पाए।

"इतनी तीव्रता की क्या आवश्यकता है केशव ?" युधिष्ठिर ने हँसकर पूछा, "आप शांतिवार्ता के लिए जा रहे हैं, पलायन करती हुई किसी सेना का पीछा तो आप को करना नहीं है। न ही नियत अवधि में आपको वहाँ पहुँचना अथवा लौटकर यहाँ आना है। कहीं ऐसा तो नहीं कि आप मथुरा के समान यहाँ भी किसी प्रकार की रथ-संचालन-स्पर्धा रखना चाहते हैं ?"

"नहीं ! ऐसा कुछ तो नहीं है।" कृष्ण बोले, "आप जानते हैं हस्तिनापुर में दुर्योधन और उसके दुष्ट मंत्री भी हैं। मुझे उनसे अपनी रक्षा के लिए सैनिक तो चाहिए ही।"

"पर सैनिक तो उपप्लव्य में पर्याप्त हैं। आपने जितने लोग द्वारका से बुलाए हैं, हम इससे भी दुगने सैनिक आपको यहाँ से दे सकते थे।"

"जानता हूं।" कृष्ण मुस्कराए, "पर मुझे तो द्वारका के ही सैनिक चाहिए।"

"क्यों ? क्या हमारे सैनिकों पर विश्वास नहीं है आपको ?"

"मुझे है, किंतु संभव है कि द्वारका के यादवों को न हो।"

युधिष्ठिर कुछ समझे, कुछ नहीं समझे; किंतु इतना तो समझ ही गए कि कृष्ण के मन में कोई विशिष्ट योजना थी। वे युद्ध करने नहीं जा रहे, किंतु प्रहारक शक्ति अपने साथ रखना चाहते थे, चाहे वह प्रदर्शन के लिए ही हो। अनेक अवसरों पर शक्ति-प्रदर्शन की भी आवश्यकता होती है। उन्हें उपप्लव्य के सैनिकों पर विश्वास है किंतु वे अपने साथ उन सैनिकों को ले जा रहे हैं, जिन पर द्वारका के यादवों को भी विश्वास है। उन्हें शीघ्रता की कोई आवश्यकता नहीं है किंतु वे तीव्रगामी दल चाहते

हैं।··· कृष्ण अभी नहीं बताएँगे कि वे क्या करना चाहते हैं। वे किस बात की तैयारी कर रहे हैं। वे प्रहार करेंगे अथवा प्रतिरोध ? क्या चाहते हैं कृष्ण ?

युधिष्ठिर ने कृष्ण से पूछा नहीं और कृष्ण ने बताया नहीं। सब जानते थे कि कल प्रातः कृष्ण हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान करेंगे। इससे अधिक कुछ नहीं।

20

रात्रि के भोजन के पश्चात् पाँचों पांडव युधिष्ठिर के भवन में एकत्रित थे। द्रौपदी, सुभद्रा, देविका, बलंधरा, करेणुमती और विजया भी वहाँ उपस्थित थीं। अर्जुन को यह देखकर कुछ आश्चर्य हुआ कि उद्धव, कृतवर्मा और सात्यकि भी वहां उपस्थित थे। एक नहीं थे तो कृष्ण ही नहीं थे।

"कृष्ण कहाँ हैं ?" अर्जुन ने पूछा।

उसने किसी को संबोधित नहीं किया था किंतु जिस प्रकार वह उद्धव की ओर देख रहा था, उससे स्पष्ट था कि उत्तर की अपेक्षा भी उद्धव से ही थी।

"मैं नहीं जानता।" उद्धव ने कहा, "संभवतः कोई भी नहीं जानता। हो सकता है कि वे इस समय अपने उन अश्वों की सेवा कर रहे हों, जिन्हें कल प्रातः रथों में जुतना है। यह भी संभव है कि वे उपप्लव्य से योजनों दूर किसी वन में अपने साथ जानेवाले सैनिकों को प्रशिक्षण दे रहे हों।··· और यह भी संभव है कि वे किसी संन्यासी की कुटिया में बैठे उससे ब्रह्मविद्या, ईश्वर और जीवन के संबंध में कोई जिज्ञासा कर रहे हों।"

"संभव तो यह भी है कि सब कुछ भूलकर वे किसी एकांत स्थान में ध्यान लगाए बैठे हों।" कृतवर्मा ने कहा।

"मुझे आश्चर्य है कि श्रीकृष्ण ने तुम लोगों को द्वारका से बुला भेजा और हम से उसकी चर्चा भी नहीं की।" युधिष्ठिर बोले।

"स्पष्ट है कि वे आप में से किसी को अपने साथ हस्तिनापुर नहीं ले जाना चाहते।" सात्यकि ने उत्तर दिया।

"वह तो स्पष्ट है ही।" अर्जुन ने कहा, "किंतु यदि उन्हें अपने साथ सहायक रखने ही थे तो उन्होंने बलराम भैया को क्यों नहीं बुलाया।"

उद्धव, कृतवर्मा और सात्यकि ने एक-दूसरे की ओर देखा, किंतु उत्तर किसी ने भी नहीं दिया।

"क्या पहले भी कभी ऐसा हुआ है कि उनके निकटतम लोगों को भी पता न हो कि वे क्या करने जा रहे हैं ?" करेणुमती ने पूछा।

"क्यों नहीं !" सात्यकि जैसे कुछ उतावली में बोला, "जब-जब उनके अपने लोग

पक्ष और विपक्ष में बँट जाते हैं, जब-जब उनको संदेह की दृष्टि से देखा जाता है, तब-तब वे कुछ रहस्यमय हो जाते हैं। मथुरा पर जब कालयवन और जरासंध का सामूहिक आक्रमण हुआ था, तो हम उनके साथ थे, किंतु श्रीकृष्ण की सारी गतिविधि प्रकट भी थी और गुप्त भी। हम स्वयं नहीं जानते थे कि वे क्या कर रहे हैं और क्या करना चाहते हैं।"

"गुप्त क्या था ?" अर्जुन ने पूछा।

"अब तो कुछ भी गुप्त नहीं है," उद्धव ने कहा, "किंतु तब बहुत कुछ गुप्त था। मथुरा के यादव ही कृष्ण पर संदेह कर रहे थे, उनकी क्षमताओं पर संदेह कर रहे थे, उनके लक्ष्य पर अविश्वास कर रहे थे, जैसे आजकल द्वारका में हो रहा है।"

"आजकल ?" युधिष्ठिर के मुख से जैसे अनायास ही निकल गया।

"हाँ !" सात्यकि बोला, "अनेक यादव उनकी नीति से सहमत नहीं हैं। वे उनसे रुष्ट हैं कि कृष्ण उन्हें अनावश्यक रूप से युद्ध में घसीट रहे हैं। वे पांडवों और कौरवों में मध्यस्थ न होकर पांडवों के पक्षपाती हो गए हैं। वे युद्ध के लिए आतुर हो रहे हैं, अपने मन से सचमुच शांति के समर्थक नहीं हैं।"

"कौन सोचता है ऐसा ?" भीम ने कुछ उद्विग्न होकर पूछा।

"बहुत लोग हैं।" सात्यकि बोला, "श्रीकृष्ण के बड़े भाई स्वयं वासुदेव बलराम ऐसा सोचते हैं। श्रीकृष्ण के समधी ये हमारे सम्मानित मित्र कृतवर्मा सोचते हैं।"

कृतवर्मा ने तड़पकर सात्यकि की ओर देखा, जैसे कोई बहुत कठोर बात कहने वाला हो, किंतु फिर कुछ सोच कर चुप ही रह गया।

अर्जुन के मन में अनेक प्रश्न उठे कि ऐसा क्यों है। साथ ही जैसे अनेक समाधान भी उपजे··· कृष्ण ने क्यों सैनिक द्वारका से बुलाए हैं। कृष्ण ने कृतवर्मा को क्यों बुलाया है···

"तो उस समय केशव ने क्या किया था ?" द्रौपदी ने पूछा, "नहीं ! शायद मेरा प्रश्न ठीक नहीं है। मैं पूछ रही थी कि उस समय मथुरा में क्या हुआ था ?"

"इस प्रकार की कथा-वार्ता सुनाने में तो उद्धव ही सिद्धहस्त हैं।" सात्यकि हँसा, "वे ही आपको वह सारी कथा सुनाएँगे और ऐसे सुनाएँगे कि सारा युग आपके सामने जीवंत हो उठेगा।"

"अच्छा !" कई कंठों ने एक साथ ही आश्चर्य प्रकट किया।

"हाँ !" अर्जुन ने कहा, "मैं इसका साक्षी हूँ। मैं द्वारका में इनके मुख से कृष्ण के शैशव की कथाएं सुन चुका हूँ।"

"उद्धव ! हमें भी सुनाओ।" द्रौपदी ने आग्रहपूर्वक कहा।

"भाभी वह तो लंबी बात हो जाएगी।" उद्धव ने संकोच से कहा, "उसके लिए लंबा समय चाहिए और यहाँ अनेक लोगों को वैसे ही नींद आ रही है। फिर···"

"फिर क्या ?" बलंधरा ने पूछा।

"सात्यकि और कृतवर्मा तो सब कुछ जानते हैं। वे लोग ऊब जाएंगे।"

"अच्छा, वे ऊब जाएँगे तो सोने चले जाएँगे।" सुभद्रा ने कहा, "आप सुनाइए उद्धव भैया ! मैं भी तो सुनूं कि मेरे जन्म से पहले मेरे भाइयों ने कैसे-कैसे कष्ट झेले हैं।"

"ठीक है। सुना देता हूँ; किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि मुझे सब कुछ स्मरण अथवा कंठस्थ है कि किस समय किसने क्या कहा। मैं तो कुछ स्मृति से, कुछ कल्पना से, कुछ अनुमानों से और कुछ तर्क से जोड़ता चलता हूँ, ताकि आपके सम्मुख उस युग का एक जीवंत और पूर्ण चित्र उपस्थित हो सके।" उद्धव ने कहा।

"ठीक है।" सुभद्रा बोली, "हम मान लेंगे कि आप उस युग की कथा ही लिख रहे हैं और उसी का कोई एक अंश हमको सुना रहे हैं।"

"तुम मान क्या लोगी सुभद्रे ! मेरा विचार है कि यही सत्य भी है।" अर्जुन ने कहा, "उद्धव बताते नहीं हैं, किंतु इनके मन में कृष्ण संबंधी कथा लिखने की बात अवश्य है।"

उद्धव ने न तो अर्जुन का समर्थन किया, न विरोध। केवल इतना कहा, "तो फिर सुनो..."

वसुदेव के आवास पर कृष्ण, बलराम, कृतवर्मा, उद्धव तथा सात्यकि परस्पर विचार-विमर्श के लिए एकत्रित हुए थे। उनके मन में प्रश्न तो थे ही, कुछ उलझनें और चिंताएँ भी थीं। पर समाधान भी तो उनको स्वयं ही खोजने थे।

सात्यकि कुछ अधिक ही उत्तेजित था, इसलिए बात उसी ने आरंभ की, "इन लोगों को समझ पाना मेरे वश की बात नहीं है। एक क्षण में ये श्रीकृष्ण की जयजयकार कर रहे होते हैं और दूसरे ही क्षण उन्हें अपना हत्यारा कहना आरंभ कर देते हैं। ये लोग अपना पक्ष स्पष्ट क्यों नहीं कर लेते कि वे श्रीकृष्ण के साथ हैं या नहीं। इन्हें श्रीकृष्ण की आवश्यकता है भी या नहीं।"

"तुम्हें ये लोग समझ में नहीं आते और मुझे यह कृष्ण ही समझ में नहीं आता।" बलराम का असंतोष उनके स्वर में मुखर हो आया था।

उद्धव को कुछ आश्चर्य हुआ, "क्यों कृष्ण को समझने में क्या कठिनाई है भैया ?"

बलराम ने अपनी दृष्टि उद्धव पर गाड़ दी, "जो इसे गालियाँ दे रहा होता है, यह उसी से प्रेम जताने चल देता है। क्रोध क्यों नहीं आता इसे ? क्यों इसे अपने सम्मान की भी चिंता नहीं है। मेरे साथ कोई इस प्रकार का व्यवहार करता तो मैं उसकी ग्रीवा मरोड़ देता, अथवा कंठ दबा देता।"

कृष्ण उपस्थित थे और कुछ नहीं बोल रहे थे। सबके नेत्र उनकी ओर मुड़ गए।

किंतु कृष्ण केवल मुस्कराते ही रहे।

"बताओ कृष्ण ! क्या है यह सब ?" कृतवर्मा ने आग्रह किया, "तुम्हें क्रोध क्यों नहीं आता ?"

"सब के भाग का क्रोध करने का काम हमने दाऊ को सौंप रखा है।" कृष्ण वैसे ही मुस्कराते रहे, "उनके क्रोध के पश्चात् कोई क्रोध करने की सोच भी सकता है ? सब ही शांति-शांति चिल्लाने लगते हैं।"

सात्यकि को लगा कि कृष्ण उनकी गंभीर जिज्ञासा को विनोद में टाल रहे हैं। बोला, "हम सचमुच जानना चाहते हैं श्रीकृष्ण ! कि इसका रहस्य क्या है ?"

कृष्ण ने देखा कि सब लोग पुनः उनकी ओर देख रहे हैं, तो उन्होंने बोलने का मन बनाया। वे गंभीर चिंतन की मुद्रा में दिखाई पड़ रहे थे, "क्रोध कोई एक ही भाव तो नहीं है कि सबको एक ही समान एक ही परिस्थिति में आए।"

बलराम कुछ अटपटा गए, "इसका क्या अर्थ कि क्रोध एक ही भाव नहीं है ? हम तो यह जानना चाहते हैं कि ऐसा क्यों है कि हम क्रोध में सामने खड़े व्यक्ति पर प्रहार करते हैं और तुम उसे गले से लगा लेते हो।"

कृष्ण हँस पड़े, "नहीं दाऊ ! ऐसी कोई बात नहीं है, बस क्रोध को समझ लेने की आवश्यकता है। एक क्रोध रजोगुणी है, वह हमारे अहंकार के आहत होने पर जन्म लेता है और हम सामने खड़े व्यक्ति का अपमान कर, उसे आहत कर, अथवा उसका वध कर अपने अहंकार का पोषण करना चाहते हैं..."

"और दूसरा ?" उद्धव ने पूछा।

"और दूसरा क्रोध सतोगुणी है, जो धर्म का नाश होते देख, धर्म की रक्षा के लिए जन्म लेता है।" कृष्ण बोले, "जब कोई मुझे भला-बुरा कहता है, तो उससे धर्म का नाश नहीं होता, इसलिए मेरे मन में सात्विक क्रोध नहीं जागता। यदि कुछ जागता है तो वह रजोगुणी क्रोध है। मैं उसे बहुत श्रेयस्कर नहीं समझता, इसलिए उसका दमन करने का अभ्यास करता हूँ। यदि सतोगुणी क्रोध भी न जागता तो मैं कंस का वध कैसे करता ? जरासंध का विरोध क्यों करता ?"

"मथुरा और मथुरा के यादवों के लिए इतना कुछ करने पर भी जो लोग पहला अवसर मिलते ही तुम्हें भला-बुरा कहने लगते हैं, वे भी कृतघ्नता रूपी अधर्म ही कर रहे हैं।" उद्धव ने अपना मत प्रकट किया, "वे भी तो कृतज्ञता रूपी धर्म के हत्यारे हैं। उनके प्रति तुम्हें सात्विक क्रोध क्यों नहीं आता ?"

कृष्ण फिर मुस्कराए, "मेरा विचार है कि तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले मैं सात्यकि की उस जिज्ञासा को शांत कर लूँ कि लोग एक बार यह निश्चय क्यों नहीं कर लेते कि वे मेरे साथ हैं अथवा नहीं ? उन्हें मेरी आवश्यकता है अथवा नहीं ?"

"चलो, यही सही।" उद्धव ने कहा।

"जन सामान्य के जीवन में यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि वे कृष्ण के पक्ष में हैं

अथवा नहीं। उनका पक्ष है, उनका अपना स्वार्थ। वे देखते हैं कि उनका स्वार्थ उनके साथ है या नहीं। जब उन्हें लगता है कि कृष्ण के कारण उन्हें कोई लाभ हो रहा है, अथवा उनका कोई स्वार्थ सध रहा है, तो वे कृष्ण से प्रेम करने लगते हैं, उसका जयजयकार करने लगते हैं; और जैसे ही उन्हें अपने स्वार्थ पर कोई संकट घिरता दिखाई देता है, वे उसका दोष कृष्ण को देकर उसका विरोध करने लगते हैं।" कृष्ण बोले, "उन का पक्ष तो अपने-आप में स्पष्ट ही है।"

"तो आपको ऐसे स्वार्थी और कृतघ्न लोगों पर क्रोध क्यों नहीं आता ?" सात्यकि कुछ रोषपूर्वक बोला।

कृष्ण तब भी उत्तेजित नहीं हुए, "क्योंकि उनकी मानवता के विकास का अभी शैशव काल है। जब कोई शिशु अपने माता-पिता के सारे उपकार भूलकर उन्हें दोष देने लगता है कि वे उसे एक खिलौना भी लेकर नहीं दे रहे, तो उसके माता-पिता उसकी कृतघ्नता तथा स्वार्थ को उसका शैशव मानकर क्षमा कर देते हैं। वैसे भी साधारण जन को उनके अज्ञान के लिए क्षमा ही कर देना चाहिए। शिशु जब वयस्क हो जाता है तो वैसा नहीं करता, उसी प्रकार साधारण जन का जब विकास हो जाएगा तो उनका भी व्यवहार वैसा नहीं रहेगा। हमें उन्हें अविकसित मानव मानकर उनके विकास का प्रयत्न करना चाहिए, उन्हें अपना विरोधी और शत्रु मानकर उन्हें क्षति पहुँचाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।"

"कहीं तुम जरासंध को भी तो शिशु मानकर क्षमा कर देने की नहीं सोच रहे ?" बलराम का स्वर आशंकित था।

"उसे शिशु भी मान लूँगा तो दंडित कर उसका विकास करने का प्रयत्न करूँगा। उसे तो दंडित होना ही है। उसके पाप उसे क्षमा नहीं करेंगे।" कृष्ण बोले।

"क्यों ? उसके प्रति तुम्हारे मन में वैसी ही करुणा क्यों नहीं है ?" उद्धव कुछ चकित था।

"क्योंकि वह अधर्म के मार्ग पर चल रहा है।"

"यदि हम आपकी तर्क-पद्धति पर चलें, श्रीकृष्ण ! जरासंध को सहानुभूति दें, उसे उसकी अपनी ही दृष्टि से देखें, उसके पक्ष से सोचें, उसके कृत्यों को उचित ठहराने का प्रयत्न करें, तो कह सकते हैं कि आज तक उसने जो कुछ भी किया, उसमें कोई दोष नहीं था।" सात्यकि ने तर्क किया, "उसने अपने आस-पास के राजाओं का संगठन ही तो किया। उसने साधारण राजा से चक्रवर्ती सम्राट बनने का प्रयत्न किया तो क्या पाप किया। सारे महत्वाकांक्षी राजा सम्राट बनने का प्रयत्न करते हैं। हमारे धर्मशास्त्रों में इसका विधान है। इसे प्रजा के हित में माना जाता है। इसमें अधर्म कहाँ है ?"

बलराम ठहाका मारकर हँस पड़े, "सात्यकि ने पकड़ लिया कृष्ण को। कृष्ण पकड़ा गया।"

कृष्ण मुस्कराकर बलराम की हँसी को टाल गए और सात्यकि से संबोधित हुए,

"ठीक कहते हो सात्यकि युयुधान ! अश्वमेध और राजसूय यज्ञ प्रजा के हित में माने जाते हैं, और उनसे राजा को पुण्य प्राप्त होता है, क्योंकि उनके माध्यम से सम्राट प्रजा को छोटे-छोटे राजाओं के अत्याचारों से मुक्त कर उनकी रक्षा करता है। वह उनको एक सीमित छोटे प्रदेश में वंदी होने की नियति से बचाकर एक वड़े साम्राज्य का अंग वनाता है, जिससे प्रजा को व्यापार, पर्यटन तथा तीर्थयात्रा इत्यादि की सुविधा मिलती है, और हमारे छोटे राज्य भी आर्यावर्त्त के वाहर से आनेवाले वड़े और शक्तिशाली राजाओं से अपनी रक्षा करने में सक्षम हो जाते हैं।"

"किंतु जरासंध क्या कर रहा है ?" कृतवर्मा ने पूछा।

"वह केवल अपने अहंकार की पुष्टि कर रहा है। इस आर्यावर्त्त को नष्ट करने के लिए बाहर से आततायी आक्रमणकारियों को निमंत्रित कर रहा है, ताकि आर्य प्रजा उन विदेशियों के पदों तले रौंदी जाए। पुरुष मारे जाएँ, स्त्रियाँ अपमानित हों, शिशु विदेशी मंडियों में दासों के समान वेचे जाएँ। खेत, कार्यशालाएँ, गृह, अग्निशालाएँ और गुरुकुल जलाकर क्षार कर दिए जाएँ।" कृष्ण वोले।

"आर्यावर्त्त को नहीं, वह तो मथुरा को नष्ट करना चाह रहा है।" वलराम ने कृष्ण के वक्तव्य में त्रुटि ढूँढ़ निकाली।

किंतु कृष्ण का ध्यान उस ओर नहीं था, "अपने आहत अहंकार का प्रतिशोध लेने के लिए, जरासंध की प्रतिहिंसा इतनी भड़क उठी है कि वह यह नहीं देख पा रहा कि कालयवन मथुरा को नष्ट कर चुपचाप वापस नहीं लौट जाएगा। रक्त उसके मँह को लग जाएगा। वह एक-एक-कर इन छोटे-छोटे राज्यों को उदरस्थ करता जाएगा। कालयवन के नेतृत्व में आई इस विराट मलेच्छ यवन सेना में जो सैनिक हैं, वे क्रूर भृतक हत्यारे हैं। वे न स्वयं को वचाने के लिए युद्ध कर रहे हैं, न किसी आदर्श की रक्षा के लिए और न धर्म की स्थापना के लिए। वे धर्म के विनाश के लिए आ रहे हैं। और उनको आमंत्रित कर रहा है जरासंध ! उनको मार्ग दिखा रहा है, जरासंध। पापी जरासंध। अपने तुच्छ अहंकार की तुष्टि के लिए वह विदेशियों से मैत्री जता कर इस धरती पर रक्त और अग्नि का खेल खेलना चाहता है। अपने एक अल्पकालीन सुख के लिए इस धरती को सदा के लिए शत्रुओं की दासी वना देना चाहता है।"

"मुझे लगता है कि कालयवन से भी वड़ा राक्षस तो यह जरासंध है।" उद्धव ने कहा।

"ठीक कह रहे हो उद्धव !" कृष्ण ने अपनी सहमति जताई, "कोई हिंस्र पशु वन में अपनी रक्त पिपासा बुझाता रहता है, तो बुझाए; किंतु उसे मार्ग दिखाते हुए किसी नगर में ले आना कहीं अधिक भयंकर है। कालयवन तो एक आक्रांता है; किंतु जरासंध देशद्रोही है। जिस मिट्टी से उपजा अन्न खाता है, उसका कोई सम्मान नहीं है उसके मन में, उसे विदेशियों के पैरों तले रौंदवा देना चाहता है। उस जरासंध के प्रति मेरे मन में करुणा जागती है, तो मैं चाहता हूँ कि उसका जीवन यहीं रुक जाए ताकि

उसके पाप और न बढ़ें। उसका वध कर देना चाहता हूँ मैं। कंस को भी तो और पाप करने से रोकने के लिए ही जीवन से मुक्त किया था मैंने।"

"चाहते तो हम सब भी वही हैं, किंतु अब करना क्या है ?" कृतवर्मा मुख्य विषय पर लौट आया, "एक ओर से कालयवन और दूसरी ओर से जरासंध ! माथुर उनका सामना नहीं कर सकते। उनसे कैसे रक्षा करोगे मथुरा की ? इस बार तुम और बलराम यदि मथुरा छोड़ भी जाओ तो कालयवन माथुरों को नहीं छोड़ेगा। मैंने तो सुना है कि उसे असहाय स्त्री-पुरुषों के वक्ष में खड्ग आर-पार कर देने में असीम सुख का अनुभव होता है। रक्त बहता देख उसे मदिरा पीने का सा सुख मिलता है। घरों को अग्निसात करना क्रीड़ा है उसकी।"

"तो क्या हुआ।" सात्यकि के स्वर में ओज था, "हम आज तक युद्ध करते आए हैं, आगे भी युद्ध कर सकते हैं। बात तो इतनी सी है न कि इस समय हम युद्ध के लिए प्रस्तुत नहीं हैं।"

"युद्ध तो कोई भी कर सकता है मित्र सात्यकि ! विजय भी प्राप्त कर सकता है।" कृष्ण हँसे, "पर हम युद्ध क्यों करते हैं ?"

"आत्मरक्षा के लिए।" उत्तर उद्धव ने दिया।

"आत्मरक्षा किसलिए ?" कृष्ण ने पूछा।

"जीवन धारण करने के लिए।" कृतवर्मा ने कहा।

"जीवन किसलिए, इसलिए कि पुनः युद्ध हो और हम पुनः आत्मरक्षा करें ?" कृष्ण मुस्कराए।

"कृष्ण को इस प्रकार वृत्तों में चिंतन का रोग है।" बलराम ने अपनी आपत्ति प्रकट की।

"नहीं दाऊ ! मैं यह कहना चाह रहा हूँ कि जीवन इसलिए होता है कि हम अपना विकास करें, धर्म की स्थापना करें। कोई भोग का जीवन जीना चाहे तो भोग सामग्री एकत्रित करे और सुख से रहे। जीवन इसलिए तो नहीं होता कि व्यक्ति एक युद्ध लड़े और दूसरे युद्ध की प्रतीक्षा करे और सारा जीवन युद्ध के आतंक तले त्रस्त होकर बिताए।" कृष्ण बोले।

"कृष्ण ने एकदम ठीक कहा।" कृतवर्मा ने अपनी सहमति प्रकट कर दी।

"मथुरा में क्या हो रहा है। न प्रजा की रक्षा हो पा रही है। न यादवों के पास अपने विकास का समय और अवसर है। न वे जीवन का भोग कर पा रहे हैं और न अपना उत्थान।" कृष्ण बोले, "युद्ध इसलिए नहीं होता कि अगले युद्ध की तैयारी हो, युद्ध इसलिए होता है कि हमें स्थायी शांति मिले। क्या हमें स्थायी शांति की कोई आशा है ?"

कृष्ण अपने स्थान से उठकर चिंतनमग्न होकर टहलने लगे।

कृष्ण को इस स्थिति में देखकर सात्यकि कुछ चकित रह गया। बोला, "आप

के पास भी इस समस्या का कोई समाधान नहीं है श्रीकृष्ण ?"

"समाधान होते नहीं हैं, खोजने पड़ते हैं मित्र ! कई बार उनका निर्माण भी करना पड़ता है।" कृष्ण अब भी जैसे किसी और लोक में थे।

"पर निर्माण तो कष्टसाध्य प्रक्रिया है।" कृतवर्मा ने अपना मत प्रकट किया।

"है तो," कृष्ण बोले, "किंतु असहाय बैठे रहकर अपमानित, वंचित और पीड़ित होने से तो उत्तम है न। अपने परिजनों के साथ मृत्यु को प्राप्त होने से तो श्रेयस्कर है।" वे बलराम की ओर मुड़े, "सभा में आज विकद्रु काका ने यादव वंश की उत्पत्ति और विकास का इतिहास सुनाया था। आपने सुना था दाऊ ?"

"क्यों नहीं सुना था।" बलराम कुछ चिढ़कर बोले, "तुम समझते हो कि मैं उन सभासदों में से हूँ, जो सभा में जाकर सोने का काम करते हैं ?"

"मैं जानता हूँ, आपके सोने के अन्य स्थान हैं। आप सभा में नहीं सोते।" कृष्ण हँसे, और सहसा वे गंभीर भी हो गए, "सभा में कोई सभासद नहीं सोता। जब राष्ट्र संकट में हो तो कोई सो भी कैसे सकता है।···पर सभासद के वेश में अनेक दस्यु सभा में प्रवेश पा जाते हैं। वे तो सोएँगे ही।··· किंतु मैं कुछ और कह रहा था। आपने ध्यान दिया कि आर्य विकद्रु के वक्तव्य के अनुसार, यादवों के आदि पुरुष हर्यश्व जब तक अयोध्या में सुखी होने का प्रयत्न करते रहे, तब तक वे सुखी नहीं हो सके। उन्हें सुख के लिए अपने मूल निवास का त्याग कर अपने लिए नया स्थान खोजना पड़ा।"

"तो क्या आप मथुरा-त्याग की बात सोच रहे हैं ?" उद्धव के स्वर में आश्चर्य भी था और आपत्ति भी।

"संभवतः यह भी एक समाधान हो।" कृष्ण पूर्णतः शांत थे।

"हम जरासंध के भय से भाग जाएँ ? तुम रणछोड़ बनना चाहते हो ? मैं तो मथुरा का त्याग नहीं करूँगा।" बलराम उत्तेजित हो उठे थे।

"इतनी जल्दी में कोई निश्चय न करें दाऊ !" कृष्ण हँसे, "पहले मेरी पूरी बात सुनिए और थोड़ी देर उस पर विचार कीजिए।"

"और किया ही क्या है मैंने आज तक। सदा तुम्हारी बात ही तो सुनता रहा हूँ।" बलराम बोले, "किंतु अब नहीं सुनूँगा। मथुरा का त्याग कदापि नहीं करूँगा।"

"सुन लीजिए भैया ! सुनने में क्या है। मानना न मानना तो हमारे अपने हाथ में है।" उद्धव ने उन्हें मनाने का प्रयास किया।

"हाँ ! सुनने में क्या हानि है। वैसे जो लोग कंस-वध के पश्चात् मथुरा को सुरक्षित मानकर बाहर से मथुरा में आश्रय लेने के लिए आए थे, जब वे सुनेंगे कि श्रीकृष्ण मथुरा त्याग रहे हैं तो कैसा लगेगा उनको ?" सात्यकि की अपनी समझ में नहीं आ रहा था कि वह कृष्ण का समर्थन कर रहा था अथवा विरोध।

कृष्ण उनकी चर्चा सुनकर भी जैसे नहीं सुन रहे थे। वे अपनी किसी स्वप्निल किंतु गंभीर मुद्रा में थे, "ग्रहण सुख के लिए होता है, किंतु यदि ग्रहण कष्ट का कारण

बन जाए, तो त्याग ही उत्तम है।" उन्होंने सब लोगों पर दृष्टि डाली, "और दाऊ ! युद्ध अपने आप में कोई स्वतंत्र लक्ष्य नहीं हो सकता। इसलिए यदि युद्ध का संवरण कर माथुरों का हित होता हो, तो वह क्यों न किया जाए, केवल इसलिए कि लोग कृष्ण को कायर और भगोड़ा कहने लगेंगे। कृष्ण को वीर कहलाने के लिए यादवों की सामूहिक मृत्यु स्वीकार नहीं है। उससे संसार में धर्म की स्थापना नहीं हो सकती। और फिर यह तो केवल चिंतन-पद्धति की बात है···"

"चिंतन-पद्धति की ?" उद्धव चकित था।

"मैं युद्ध से भाग नहीं रहा। मैं जरासंध ही नहीं, कालयवन से भी युद्ध को प्रस्तुत हूँ; किंतु वे चाहते हैं कि हम मथुरा की प्राचीर के भीतर रहें, जो स्थान-स्थान से टूटी हुई है, जिसकी रक्षा के लिए शक्तिशाली दुर्ग नहीं हैं, जिसकी खाइयों का वर्षों से संस्कार नहीं हुआ है, जिसकी सेना में आक्रांता सेना के दसवें अंश के बराबर भी सैनिक नहीं हैं।" कृष्ण बोले, "यदि हम उनकी इस इच्छा को पूरा करें तो यह वीरता नहीं आत्महत्या है। मैं यह आत्महत्या नहीं करूँगा। मैं वीर क्षत्रिय के समान युद्ध करता हूँ। न मैं निरीह हत्याएं करूँगा और न मैं आत्महत्या करूँगा।"

"वीर क्षत्रिय का धर्म, युद्ध में विजय अथवा वीरगति है, युद्ध से पलायन नहीं।" बलराम ने उपालंभ दिया।

"मैं भी कायरता का समर्थक नहीं हूँ, किंतु मैं मूढ़ता का भी वरण करने को प्रस्तुत नहीं हूँ। मुझे युद्ध करना होगा तो मैं अपनी व्यूह-रचना करूँगा। युद्ध-स्थल अपनी सुविधा से चुनूँगा, कालयवन अथवा जरासंध की सुविधा से नहीं।" कृष्ण का स्वर क्रमशः दृढ़ और प्रखर होता जा रहा था।

"इसका क्या अर्थ हुआ कृष्ण ?" कृतवर्मा ने कुछ उतावली में पूछा।

"हम पहले भी मथुरा छोड़कर चले गए थे। हमने मथुरा में युद्ध किया होता तो हम सारे यादवों के वध के दोषी होते; किंतु हमने गोमंत में अपनी व्यूह रचना की और जरासंध को उसमें घेरकर पराजित किया।" कृष्ण बोले, "तो अब हम कालयवन और जरासंध की इच्छा पूरी करने के लिए मथुरा में क्यों बैठे रहें ?"

"तो सीधे-सरल ढंग से यह क्यों नहीं कहते कि पिछली बार के ही समान इस बार भी हम मथुरा से निकल जाएँगे···" बलराम जोर से हँस पड़े।

"नहीं ! यदि पिछली बार के समान हम दोनों ही मथुरा त्याग कर चले गए तो कालयवन माथुर यादवों को जीवित नहीं छोड़ेगा।" कृष्ण बोले, "इसलिए मैं सारे यादवों को, सारे मथुरावासियों को, मथुरा खाली कर देने का परामर्श दूँगा, ताकि हम सदा के लिए जरासंध के भय से मुक्त हो कर अपने लिए एक नए भविष्य का निर्माण कर सकें।"

उद्धव और सात्यकि कृष्ण की बात कुछ-कुछ समझ रहे थे। उन्होंने कुछ अधिक जानने के लिए कृष्ण को निहारा। उनकी दृष्टि में प्रसन्नता और प्रशंसा का भाव था।

बलराम कुछ चकित होकर कृष्ण को देखते रह गए और कृतवर्मा जैसे कृष्ण से असहमत था।

अंततः कृतवर्मा ने ही कहा, "पर मथुरावासियों को लेकर जाओगे कहाँ ? कोई दो-चार लोग तो हैं नहीं कि किसी अन्य राज्य अथवा नगर में शरण ले लेंगे।"

कृष्ण एक मधुर मुस्कान अपने अधरों पर ले आए, "इसीलिए तो कह रहा हूँ कि कभी-कभी समाधान का संधान भी करना पड़ता है।"

सब लोग समझ गए कि कृष्ण अब इस समय और अधिक कुछ नहीं बताएँगे। जिज्ञासा करने का कोई लाभ नहीं होगा।

सप्ताह-भर में ही कृष्ण ने उद्धव और बलराम को संदेश भिजवाया, "समाधान का संधान पूर्ण हुआ। आ जाओ।"

उद्धव ने कृष्ण के कक्ष में पहुँचकर देखा, वहाँ सात्यकि और कृतवर्मा भी नहीं थे। उसने कृष्ण से कुछ पूछना आवश्यक नहीं समझा। मान लिया कि कृष्ण अभी इस समाचार को सात्यकि और कृतवर्मा जैसे निकट के लोगों के सम्मुख भी प्रकट नहीं करना चाहते हैं।

उन तीनों के अतिरिक्त वहाँ पाँच और व्यक्ति भी उपस्थित थे। इन्हें उद्धव पहचानता था। ये वैन्तेय तथा उसके चार गरुड़ मित्र थे। कृष्ण से वैन्तेय की भेंट गोमंत पर्वत के वन में ही हुई थी। वैन्तेय गरुड़ जाति का था। वे लोग गरुड़ को अपने यूथ का इष्ट मानते थे। अपने ध्वज पर गरुड़ का चिह्न धारण करते थे। आकाश पर तो उड़ नहीं सकते थे किंतु धरती पर अधिक से अधिक वेग से यात्रा करना अपनी उपलब्धि मानते थे। गति ही उनके जीवन का लक्ष्य था। गोमंत पर्वत में प्रवास करते हुए कृष्ण ने वैन्तेय की कुछ वैसी ही सहायता की थी, जैसी उन्होंने मथुरा में कुब्जा की की थी। वैन्तेय स्वयं को रोगी मानकर जीवन से निराश हो गया था और कृष्ण ने उसका स्वास्थ्य और आत्मविश्वास दोनों ही लौटा लाने में उसकी पूरी सहायता की थी। वैन्तेय ने तब से कृष्ण को अपना आराध्य देव ही मान लिया था। कृष्ण भी वैन्तेय को ऐसे ही काम सौंपते थे, जो उसकी अपनी प्रकृति और रुचि के अनुकूल हों।

कृष्ण ने वैन्तेय की ओर देखा, "कहो वैन्तेय ! तुम्हारे संधान का क्या परिणाम निकला।"

वैन्तेय ने कुछ अटपटी दृष्टि से उद्धव और बलराम की ओर देखा। कदाचित् वह अपने संधान का महत्त्व और उसकी गोपनीयता को समझता था। किंतु अंततः कृष्ण की इच्छा को समझकर बोला, "हम लोग मथुरा से पश्चिम सागर तक की भूमि का निरीक्षण कर आए हैं आर्य !"

कृष्ण उसकी ओर देखते रहे, बोले कुछ भी नहीं।

"हस्तिनापुर में भीष्म हैं, किंतु सत्ता धृतराष्ट्र के हाथ में है। पांडव आपका साथ दे सकते हैं, किंतु वे अभी स्वतंत्र रूप से कोई निर्णय नहीं कर सकते। निर्णय धृतराष्ट्र ही करते हैं।" वैन्तेय बोला, "चेदि में दमघोष आपके पक्ष में हो सकते हैं; किंतु यदि वे आपका साथ देंगे तो जरासंध की सहायता से शिशुपाल उनकी भी वही स्थिति कर देगा जो कंस ने उग्रसेन की की थी। पांचाल द्रुपद आपके पक्ष में ही हैं, किंतु आचार्य द्रोण से युद्ध के पश्चात् उनका राज्य भी आधा रह गया है और उनकी क्षमता भी कम हो गई है। आगे बढ़ने पर सारे राजा जरासंध के मांडलिक हैं। कुशस्थली को रुक्मी ने ध्वस्त कर दिया है और सागर की ओर से आनेवाले दस्यु पुण्यजन राक्षसों ने भी उसकी कुछ भूमि का अपहरण कर लिया है। वहाँ कोई अच्छी नगरी नहीं है। रेवत राजा की राजधानी गिरिनार, नष्टप्राय ही है। उनके पास न राजनीतिक सत्ता है, न सैनिक सत्ता और न आर्थिक सत्ता। रुक्मी के भय से कोई उनकी सहायता भी नहीं करता। वे आशंकित और त्रस्त, नष्ट हो जाने की प्रतीक्षा में बैठे हैं। वैसे वह भूमि उर्वर है। पशुपालन के लिए चारणभूमि यथेष्ट है। सागर की ओर से व्यापार की संभावनाएँ भी पर्याप्त हैं। पर सागरतट पर दस्युओं का भय है। उनसे रक्षा के लिए जलयुद्ध के साधनों की आवश्यकता है। जो आर्य राजाओं के पास नहीं है।"

वैन्तेय मौन हो गया।

"तुमने रेवत राजा से कुछ चर्चा की ?" कृष्ण ने पूछा।

"हाँ आर्य ! महाराज रेवत अपनी अशक्तता के कारण किसी का विरोध करने की स्थिति में ही नहीं हैं। वे किसी की भी सहायता स्वीकार करेंगे; किंतु रुक्मी के भय से कोई उनकी सहायता करेगा ही नहीं।" वैन्तेय ने उत्तर दिया।

उद्धव के मन में एक प्रश्न उथल-पुथल मचाए हुए था। वह पूरी बात सुनने तक उसको रोकना चाहता था, किंतु उससे रहा नहीं गया। बोला, "तो रुक्मी ही गिरिनार और कुशस्थली पर क्यों अधिकार नहीं कर लेता ?"

"यह तो वही जानता है आर्य !" वैन्तेय ने कहा, "किंतु माना यह जाता है कि जरासंध को जल दस्युओं से युद्ध में कोई रुचि नहीं है, इसलिए रुक्मी भी उस ओर पग नहीं बढ़ा रहा है। वे लोग समझते हैं कि रेवत स्वयं ही अपनी मृत्यु मर जाएँगे। उनके पास न धन है, न बल, न जन। परिवार में एक पुत्री है, जिसका अभी तक विवाह नहीं हुआ है। वह सुंदर तो है किंतु इतनी दीर्घाकार और युद्धनिपुण है कि कदाचित् ही किसी पुरुष की प्रिया हो सके। दूसरी ओर जलदस्युओं को भूमि पर अधिकार करने में कोई रुचि नहीं है। वे लूटपाट कर वापस अपने पोतों में लौट जाते हैं। ऐसे में वह भूमि रुक्मी की ही है। जब चाहेगा, हाथ बढ़ाएगा और उसे झपट लेगा।"

कृष्ण अपने भीतर कहीं डूब गए। लगा कि उनके भीतर कोई गहन मंथन चल रहा है। मंथन आवश्यक था। उन्हें शीघ्रातिशीघ्र किसी सार्थक निर्णय पर पहुँचना था, अन्यथा विनाश का संवरण करना संभव नहीं होगा।

थोड़ी देर में कृष्ण कुछ वहिर्मुखी हुए। वैन्तेय पर एक स्नेहिल दृष्टि डाली और बोले, "तुम चलो वैन्तेय ! अव विश्राम करो। तुम और तुम्हारे मित्रों ने वहुत काम किया है। तुमने जितना श्रम किया है, उसी के अनुपात में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ भी लाए हो। यादव सदा ही तुम्हारे ऋणी रहेंगे।"

वैन्तेय कुछ भावुक हो उठा। लगा कि वह वहुत कुछ कहना चाहता है ; किंतु उसने कुछ भी नहीं कहा। थोड़े प्रयत्न के पश्चात् उसने स्वयं को संयत कर लिया और प्रणाम कर अपने मित्रों के साथ वाहर निकल गया।

"यह सव क्या है कान्हा ? मेरी तो कुछ समझ में नहीं आ रहा।" वलराम ने कहा।

कृष्ण समझ रहे थे कि वलराम को सव समझ में आ रहा था, किंतु वे इस विषय में कुछ और सुनना चाहते थे।

"दाऊ ! आपको स्मरण है, अवंती में अपने गुरुकुल में आपने एक राजकुमारी को गुरुदेव से गदा-युद्ध की शिक्षा लेते देखा था ?"

कृष्ण और वलराम को जव कभी वहुत आत्मीयता दिखानी होती थी तो वे लोग अपने गोकुलवाले संवोधनों का प्रयोग करने लगते थे।

कृष्ण की वात से वलराम के चेहरे का वर्ण कुछ अरुणिम हो गया, "हाँ ! रेवती तो ··· तो यह वैन्तेय उन्हीं रेवत राजा की चर्चा कर रहा था ?"

"हाँ दाऊ !" कृष्ण वोले, "मुझे यह तो ज्ञात था कि रेवत राजा कुछ कठिनाई में हैं; किंतु यह नहीं मालूम था कि वे इस दुर्दशा तक पहुँच गए हैं। उनकी जो स्थिति वैन्तेय वता रहा है, उसके अनुसार वे इतने अक्षम हैं कि इच्छा होने पर भी वे किसी का विरोध नहीं कर सकते : मथुरा के यादवों का भी नहीं। यदि हम उनके सम्मुख सहायता का प्रस्ताव रखेंगे तो वे हमारी सहायता का तिरस्कार नहीं करेंगे। उनका शत्रु है रुक्मी···"

"और वह हमारा भी शत्रु है।" उद्धव ने कहा।

"दूसरे शत्रु हैं, जल-दस्यु पुण्यजन राक्षस।···" कृष्ण ने कहा।

"वे भी हमारे शत्रु हैं।" उद्धव ने पुनः कहा।

"तो हम रेवत के मित्र हों न हों, उनके शत्रुओं के शत्रु अवश्य हैं।" कृष्ण मुस्कराए।

"हम उनके मित्र क्यों नहीं हैं। मित्र ही हैं।" वलराम के स्वर में स्पष्ट प्रतिवाद था।

"मेरा अनुमान भी कुछ ऐसा ही है।" कृष्ण ने हंसकर विनोदी मुद्रा में वलराम को देखा और वे गंभीर हो गए, "यदि हम गिरिनार के निकट कुशस्थली की द्वारका में माथुरों को वसाएँ, तो कदाचित् रेवत हमारा स्वागत करेंगे। न भी करें तो वे न हमारा विरोध कर संकते हैं न करेंगे।"

बलराम समझ नहीं पा रहे थे कि वे कृष्ण के इस निर्णय से सहमत हैं अथवा नहीं, "पर हम उस असहाय राजा का राज्य नहीं छीनना चाहते।"

"मैं आपके मन की बात समझ रहा हूँ दाऊ !" कृष्ण इस बार कुछ अधिक मुखर हो उठे, "नहीं ! हम उनका राज्य नहीं छीनेंगे। मैं तो केवल दोनों की समानताओं की बात कह रहा था। हम जरासंध और कालयवन से पीड़ित हैं, वे रुक्मी और पुण्यजनों से। सहायक न कोई उनका है, न हमारा है। तो हम जाकर उनके साथ खड़े हो जाएँगे, ताकि हम अपनी भी रक्षा कर सकें और उनको भी उनके शत्रुओं से बचा सकें।"

"मुझे लगता है कि इस समस्या का यह सर्वोत्तम समाधान है; किंतु एक संशय भी है, मेरे मन में।" उद्धव ने कहा।

"अब यह संशय कहाँ से आ गया ?" बलराम पर्याप्त आक्रामक स्वर में बोले।

किंतु उद्धव ने बलराम की उग्रता की चिंता नहीं की, "कदाचित् मथुरा के लोग अपना नगर, अपना घर बार, न छोड़ना चाहें।"

"तो न छोड़ें। रहें यहीं। मरें जरासंध के सैनिकों के हाथों।" लगा बलराम को मथुरा छोड़ने की बहुत जल्दी मच गई थी।

कृष्ण ने मुस्कराकर उद्धव की ओर देखा और उद्धव चकित होकर बलराम को निहारता रह गया।

"संशय ठीक है, ऐसी संभावना भी हो सकती है। मोह बड़ा बलवान होता है।" अंततः कृष्ण बोले, "किंतु इस प्रस्ताव को राजसभा में रखने का समय तो आ ही गया है।"

सभा आरंभ हुई तो महामंत्री विकद्रु ने कहा, "सारे सभासद सुनें। आज की सभा वासुदेव कृष्ण के अनुरोध पर उनके एक प्रस्ताव पर विचार करने के लिए बुलवाई गई है।"

उग्रसेन ने कृष्ण की ओर देखा और कहा, "तो सबसे पहले कृष्ण ही अपना प्रस्ताव रखें, ताकि सभासद प्रस्ताव से परिचित होकर अपने विचार प्रकट कर सकें।"

"महाराज ! आप जानते हैं कि आज सारे यादवों के सम्मुख एक ही समस्या है।" कृष्ण उठकर खड़े हो गए, "प्रतिदिन समाचार आ रहे हैं कि जरासंध और कालयवन की क्रूर सेनाएँ निरंतर मथुरा की ओर बढ़ रही हैं। जरासंध ही कम नहीं है; किंतु कालयवन की क्रूरता और भयंकरता के विषय में जो भी सूचनाएँ मिली हैं, वे रोंगटे खड़े कर देनेवाली हैं। हम सब जानते हैं कि हम कितनी भी सैनिक तैयारी कर लें और कितनी भी वीरता क्यों न दिखाएँ, कालयवन और जरासंध की संयुक्त सेनाओं से हम मथुरा को नहीं बचा सकेंगे।"

"यह सब तो मथुरा के दुधमुँहे शिशुओं को भी ज्ञात है।" बृहद्बल कृष्ण का उपहास-सा करता हुआ बोला, "तुम यह बताओ कि तुम्हारा प्रस्ताव क्या है।"

उग्रसेन ने रोषपूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देखा जैसे कह रहे हों कि यह व्यक्तिगत

राग-द्वेष और परस्पर टकराहट का समय नहीं है। इस समय तो हमें सामूहिक हित में ही चिंतन करना है। पर वे मुख से कुछ वोले नहीं।

कृष्ण ने अपना वक्तव्य आगे वढ़ाया, "महाराज ! मेरा प्रस्ताव यह है कि यदि हम युद्ध कर मथुरावासियों के प्राण, उनके सम्मान और उनके धन की रक्षा नहीं कर सकते तो हमें यह आत्मघाती युद्ध न कर, कालयवन से वचने के लिए मथुरा का त्याग कर देना चाहिए।"

"कितना अच्छा प्रस्ताव है।" सत्राजित ने मुखर वितृष्णा से कहा, "पिछली वार कृष्ण और वलराम ने मथुरा छोड़ी थी, इस वार हम सव मथुरा त्याग दें।"

कारागार से मुक्त होकर वसुदेव जव से मथुरा के राजनीतिक और नागरिक जीवन में लौटे थे, वे सार्वजनिक रूप से वहुत कम वोलते थे। आज वे भी सत्राजित की वात सुनकर तिलमिला गए। वोले, "मुझे अभी ज्ञात नहीं है कि कृष्ण के प्रस्ताव का पूर्ण स्वरूप क्या है, किंतु पिछली वार कृष्ण-वलराम ने मथुरा त्यागी थी तो जरासंध की पराजय हुई थी। उसमें ऐसा क्या है, जिस पर हमारे मान्य सभासद को आपत्ति है।"

सत्राजित के कुछ कहने से पहले ही वृहद्वल उठ खड़ा हुआ, "आपत्ति मुझे है। कृष्ण, वलराम मथुरा त्याग गए थे, तो हम थे यहाँ जरासंध से लोहा लेने के लिए, अपनी मातृभूमि की रक्षा करने के लिए। यह दूसरी वात है कि जरासंध ने मथुरा को छेड़ा ही नहीं···"

"क्योंकि वह तुमसे डर गया था।" सात्यकि की हँसी की कटुता किसी का भी हृदय विदीर्ण कर सकती थी।

किंतु वृहद्वल पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ, जैसे उसने सात्यकि की वात या तो सुनी न हो अथवा वह उसका अभिप्राय समझ न पाया हो, "नहीं ! क्योंकि वह केवल कृष्ण-वलराम को पकड़ने आया था। किंतु इस वार वह मथुरा को नष्ट करने आ रहा है। हम मथुरा खाली कर जाएँ, उसके लिए ? ताकि वह आए और हमारा धन लूटकर ले जाए। हमारे भवनों को जला जाए।··· अथवा···" वह मुस्कराया, "कृष्ण-वलराम को इस वार अकेले भागते हुए भय लगता है ?"

कृतवर्मा अपना क्रोध संयत नहीं रख सका। चिल्लाकर वोला, "वृहद्वल ! जिह्वा सँभालकर··· जिन कृष्ण-वलराम ने हमें कंस के कारागार से मुक्त किया है, तुम चाहते हो कि हम उनको जरासंध की दया पर अकेले छोड़ दें। नीचता की भी कोई सीमा होती है।"

उग्रसेन कुछ विचलित हुए। उन्हें लगा कि यदि यह चर्चा इसी रूप में आगे वढ़ी तो मुख्य विषय तो मार्ग में ही कहीं छूट जाएगा और यादवों की कलह का कोई अंत नहीं रहेगा, "मर्यादाभंग की अनुमति किसी को भी नहीं है। वोलने से पूर्व सभासद अपने शब्दों पर विचार कर लें।"

उग्रसेन ने कृष्ण की ओर देखा, मानो उन्हें अपना वक्तव्य आगे वढ़ाने को कह

रहे हों; किंतु कृष्ण से भी पहले सात्यकि उठ खड़ा हुआ।

"महाराज ! यदि श्रीकृष्ण मथुरा त्याग का प्रस्ताव कर रहे हैं तो हम उनके साथ हैं।" सात्यकि ने कहा, "वृहद्वल चाहें तो पीछे रहकर मथुरा की रक्षा कर सकते हैं। जिस दिन वे हमें कालयवन और जरासंध के मस्तक भिजवा देंगे, उस दिन हम उनकी मथुरा में लौट आएँगे।"

उग्रसेन ने वर्जनापूर्ण दृष्टि से सात्यकि को देखा, उनकी आँखों में वृहद्बल के लिए भी कोई प्रोत्साहन नहीं था। बोले, "बोलो वासुदेव ! मथुरा त्याग से तुम्हारा क्या तात्पर्य है। संकट ही सही, पर क्या संकट में भी कोई अपना घर-बार इस प्रकार छोड़ देता है ?"

"महाराज का कथन उचित है।" कृष्ण ने कहा, "व्यक्ति घर की रक्षा तव तक करता है, जब तक रक्षा संभव हो। घर जलने लगता है तो व्यक्ति उसके साथ स्वयं नहीं जल जाता। हमें तो मात्र इतना निर्णय करना है कि हमें वसते हुए घर में जलना है अथवा मथुरा की प्रजा को बचा लेना है और केवल खाली घर को जलने के लिए छोड़ देना है।"

"किंतु मथुरा का त्यागकर हम जाएँगे कहाँ ?" उग्रसेन के स्वर में असहायता का भाव अत्यंत स्पष्ट था।

"उसके लिए आप मुझ पर निर्भर रह सकते हैं।" कृष्ण बोले।

सत्राजित का स्वर इस बार और भी आक्रामक था, "बिना कुछ जाने-बूझे, नयन मूदकर सब कुछ तुम पर छोड़ दें, चाहे तुम हमें ले जा सागर में धकेल दो।"

कृष्ण कुछ इस प्रकार मुस्कराए, जैसे कह रहे हों, तुमको धकेलने के लिए अनेक स्थान हैं, उसके लिए इतनी दूर ले जाने की क्या आवश्यकता है। मुख से वे कुछ नहीं बोले।

उग्रसेन ने सत्राजित को और बोलने नहीं दिया, "हमें तुम पर पूर्ण विश्वास है वासुदेव ! किंतु सत्राजित की वात में भी कुछ सार है। यादवों के मन में अपने तारणहार के प्रति वहुत श्रद्धा है किंतु हम अंध भक्ति को प्रोत्साहित करना नहीं चाहेंगे। हम यह भूल नहीं सकते कि मथुरा राज्य वस्तुतः यादवों का गणतंत्र है।"

"महाराज का कथन धर्मसंगत है; इसीलिए मैं चाहता हूँ कि पहले यह निश्चित हो ले कि यदि हम उपयुक्त और सुरक्षित स्थान खोजने में सफल हो गए तो हम मथुरा त्याग के पक्ष में हैं अथवा नहीं।" कृष्ण बोले।

"मैं सैद्धांतिक रूप से मथुरा त्याग के विरोध में नहीं हूं; किंतु अपनी चल और अचल संपत्ति यहीं छोड़कर, कंगाल होकर हम अपने प्राण बचा लें तो हमारा जीवन भी कोई जीवन होगा।" कृतवर्मा बोला, "कृष्ण का क्या है, किसी की गोशाला में चाकरी कर लेगा, किंतु हम तो गोपाल नहीं हैं।"

सात्यकि की समझ में नहीं आ रहा था कि यह कृतवर्मा क्या था। किस ओर

था वह। पता ही नहीं चलता था कि कब तक वह किसी का साथ देगा और कब पल्ला झटककर विरोधी पाली में जा खड़ा होगा। उसकी इच्छा हो रही थी कि खड़ा होकर कृतवर्मा को कठोरतम शब्दों में लताड़े···

"कृतवर्मा !" बलराम के नेत्र इतनी ही देर में रक्तिम हो उठे थे।

"आप उत्तेजित न हों दाऊ ! उन्हें आपत्तियां करने दीजिए, हम उन्हें उनकी आपत्तियों के उचित उत्तर देंगे।" कृष्ण ने बलराम को आगे बढ़ने से रोक दिया।

"किंतु यह तो आपत्ति नहीं है। श्रीकृष्ण का अपमान है, शुद्ध अपमान।" सात्यकि से कहे बिना नहीं रहा गया।

"गोपाल कहलाने में मेरा कोई अपमान नहीं है सात्यकि ! सम्मान, पद का नहीं प्रतिभा का होता है मित्र ! पद तो कभी भी छिन सकता है, प्रतिभा को कोई नहीं छीन सकता।" कृष्ण अत्यंत मधुर ढंग से बोले, "गोपाल यदि गोकुल और वृंदावन की रक्षा कर सकता है तो आज यह प्रमाणित होने दो कि गोपाल मथुरा और यादवों की भी रक्षा कर सकता है।"

"बात तो संपत्ति की हो रही थी। हम अपनी संपत्ति छोड़कर कंगाल हो जाएँ क्या ?" सत्राजित चर्चा को अपनी रुचि की ओर मोड़ लाया।

"नहीं ! आप अपनी संपत्ति में से जितना उठाकर साथ ले जा सकें, अपने रथों और छकड़ों में लादकर ले चलें।" कृष्ण बोले, "किसी को कोई आपत्ति नहीं होगी।"

"छकड़ों की संख्या चाहे कितनी भी हो ? उनकी गति चाहे कितनी ही धीमी हो ?" अक्रूर ने पहली बार अपना मुँह खोला।

"हां ! आप अपना गोधन साथ ले लें। सेवक-चाकर, अश्व, रथ, स्वर्ण आभूषण, जो कुछ उठाकर ले जा सकते हों अपने साथ ले लें।" कृष्ण बोले, "बस चल पड़ें। मथुरा को त्याग दें तो आपकी सुरक्षा का दायित्व लेने को मैं तैयार हूँ।"

सत्राजित को जाने क्या हो गया था। कृष्ण के एक-एक वाक्य पर, उसके मन में एक से बढ़कर एक, भयंकर कल्पनाएँ जाग रही थीं, अधिक से अधिक पीड़ादायक चित्र बन रहे थे, "ताकि मार्ग में जरासंध और कालयवन की सेनाएँ हमें घेर लें और अपनी रक्षा के लिए हमारे पास न नगर प्राचीर हो, न जल से भरी खाइयाँ, न दुर्ग की सुविधा। मुक्त आकाश के नीचे हम अपने परिवारों के साथ अपनी सारी चल संपत्ति के साथ उनकी सेनाओं में घिर जाए और वे जो व्यवहार चाहें, हमारे साथ करें।"

बलराम और सात्यकि दोनों ही क्रोध में दाँत पीस रहे थे। उद्धव हताश-सा बैठा था। वसुदेव चिंतित थे। विकद्रु और उग्रसेन अप्रसन्न दिखाई पड़ रहे थे।

कृष्ण ने मुस्कराते हुए सारी सभा पर एक दृष्टि डाली और बोले, "मैं दाऊ और अपने मित्रों के साथ यहाँ पीछे मथुरा में तब तक रहूँगा, जब तक एक-एक मथुरावासी हमारे चुने हुए सुरक्षित स्थान पर नहीं पहुँच जाता। हमारे यहाँ रहते हुए जरासंध और कालयवन आपके पीछे नहीं आएँगे। उनका लक्ष्य हम दोनों हैं, आपके गर्दभ और कुक्कुट

नहीं।"

सात्यकि को लगा कि उसकी हंसी फूट पड़ेगी। कृष्ण ने स्वर्ण और वहुमूल्य मणियों की चर्चा नहीं की थी। वे गर्दभों और कुक्कुटों के विषय में कह रहे थे। क्या वे अपने गोपाल कहे जाने का प्रतिशोध ले रहे थे ? पर नहीं ! कृष्ण प्रतिशोध में विश्वास नहीं करते।

"नहीं ! हम यह नहीं कर सकते। वसुदेवपुत्रों और उनके मित्रों को मथुरा में, काल के मुख में छोड़कर मथुरावासियों को किसी सुरक्षित स्थान पर नहीं जाना है।" उग्रसेन ने अत्यंत स्पष्ट वाणी में कहा, "आत्मा को छोड़कर शरीर न प्रसन्न रह सकता है, न जीवित।"

सभा में जैसे उल्लास का ज्वार आ गया, "हम कृष्ण-बलराम को छोड़कर कहीं नहीं जाएँगे।"

"कृष्ण जो कह रहे हैं, वह सब हमारे हित में ही है। हम अपना सब कुछ अपने साथ ले जा सकते हैं।" अक्रूर कृष्ण के पक्ष में लगे किंतु अगले ही क्षण उन्होंने अपना पक्ष वदल लिया, "सब कुछ ले जाएँगे तो भी हमारे ये प्रासाद यहीं रह जाएँगे। हम अपने प्रासादों को तो अपने छकड़ों पर लाद कर नहीं ले जा सकते, न उनके नीचे पहिए लगा सकते हैं। अनेक-अनेक पीढ़ियों की आय और वर्षो के पश्रिम से मथुरा के जो भव्य प्रासाद यादवों ने वनाए हैं, इन्हें हम यहीं छोड़ जाएँ, ताकि कालयवन के सैनिक इनको ईधन के समान जलाकर इन पर अपना भोजन पकाएँ।"

"मैं तो मथुरा त्यागने के पक्ष में नहीं हूँ। कृष्ण के लिए ये प्रासाद चाहे मिट्टी के ही हों, मेरे लिए ये स्वर्ण के हैं।" वृहद्‌बल को फिर से कृष्ण का विरोध करने का अवसर मिल गया था, "मथुरा और किसका नाम है ? हमारे भवनों, नगर प्राचीर और दुर्ग का ही तो। सब कुछ ले जाएँ तो भी मथुरा तो यहीं रहेगी। क्या कृष्ण इस मथुरा को भी वचा लेगा ?"

सारी सभा ने कृष्ण की ओर देखा। प्रत्येक सभासद के चेहरे पर पृथक् भाव था : कहीं आश्चर्य का, कहीं चिंता का, कहीं चुनौती का, कहीं सहानुभूति का और कहीं दया का।

कृष्ण सहज भाव से मुस्कराते रहे, "शूरवंश के प्रासाद का महत्त्व मथुरा के किसी भवन से कम नहीं है। राजभवन से भी नहीं।" उन्होंने रुककर उग्रसेन की ओर देखा, किंतु वहां भी कोई विरोध नहीं था, "उन्हें भवन कहो अथवा प्रासाद; अट्टालिकाएँ कहो अथवा हवेलियां; हैं वे मात्र मिट्टी ही। माया का एक रूप। भौतिक पदार्थ।" और सहसा कृष्ण जैसे अपने संकल्प और आत्मवल के दिव्य आलोक में आलोकित हो उठे, "चैतन्य कभी मृत्तिका का वंदी नहीं होना चाहिए, किंतु आप उसे वही वनाना चाहते हैं। मथुरा के भवनों की रक्षा का दायित्व मेरा नहीं है, मैं मथुरा के प्राणियों की रक्षा का दायित्व लेता हूँ।" वे रुके और वलपूर्वक वोले, "मैं यहाँ मृण्मय की रक्षा के लिए नहीं, चिन्मय

के उत्थान के लिए आया हूं।"

कृष्ण के उन वाक्यों में कुछ ऐसा था कि वे विभिन्न दिशाओं से अनेक बार प्रतिध्वनित होते हुए, दसों दिशाओं में गूँज उठे। सारे सभासद अनुभव कर रहे थे कि यह एक अलौकिक अनुभव था। कृष्ण का यह वक्तव्य उन्होंने अपने कानों से नहीं, मानों मन तथा आत्मा से सुना था।…क्या करता है कृष्ण। कभी वह इतना साधारण लगता है और कभी इतना मायावी हो जाता है।…

थोड़ी देर में सब कुछ सामान्य हो गया, किंतु यह आभास नहीं मिटा कि यहाँ अभी-अभी कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण और असाधारण घटित हुआ है।

कृतवर्मा ने एक लंबा असाधारण मौन तोड़ते हुए कहा, "वैसे तो मैं कृष्ण से पूर्णतः सहमत हूँ।… पर अपनी मातृभूमि के प्रति भी तो हमारा कोई दायित्व है। हम मातृभूमि को शत्रुओं के लिए इस प्रकार त्याग दें तो हमारा धर्म हमें धिक्कारेगा नहीं ?"

बृहद्बल को भी कुछ सहारा मिल गया, "और क्षत्रिय होने के नाते भी हमारा कोई धर्म है। वह हमें पुकारेगा नहीं ?"

कृष्ण एक बार फिर किसी अदम्य शक्ति, आत्मबल और विश्वास से उद्दीप्त हो उठे। सब लोग उनकी ओर देख रहे थे, किंतु उस सात्विक आलोक की आँखों में सीधे देख सकने का जैसे किसी का साहस नहीं हो रहा था।

"तुम अपने सारे धर्मों को त्यागकर मेरे साथ आ जाओ। मैं तुम्हें सारे पापों, भयों तथा दायित्वों से मुक्त कर दूँगा।" कृष्ण का स्वर जैसे आकाश के सघन बलाहकों को चीरकर पृथ्वी तक आ रहा था। …

"अब बस करें ?" उद्धव ने उन लोगों की ओर देखा, "आज के लिए पर्याप्त हो गया।"

"यह तो राजसभा की बात हुई भैया।" सुभद्रा जल्दी से बोली, "साधारण मथुरावासी क्या सोच और कर रहे थे ?"

"वे भी कुछ तो सोच और कर ही रहे थे।" उद्धव ने उसे टालना चाहा, "अब एक-एक व्यक्ति के मन में तो कोई कुशल कथाकार भी नहीं झाँक सकता।"

"पर दो-चार झलकियां तो दी ही जा सकती हैं।" द्रौपदी ने कहा, "हम तुम्हें अधिक कष्ट नहीं देंगी।"

"सवेरा हो जाएगा।" उद्धव ने जैसे उन्हें चेतावनी दी।

"कोई बात नहीं। ऐसे अवसर कौन बार-बार आते हैं।" सुभद्रा बोली, "एक रात जाग ही लेंगे तो क्या।"

"अच्छा बहना ! तुम्हारी ही इच्छा सही…।" उद्धव बोला।

मथुरा के मध्यमवर्गीय लोगों के रहने की एक वीथि में प्रत्येक घर के द्वार पर सामान ढोने की कोई न कोई गाड़ी खड़ी थी—छकड़ा हो या बैलगाड़ी। लोग अपने घरों से अपना सामान निकाल-निकालकर ला रहे थे और उन गाड़ियों में रख रहे थे। गठरियाँ, पोटलियाँ, लकड़ी की पेटियाँ, बोरियाँ इत्यादि लद रही थीं। साथ ही पशु भी थे : अश्व,गाय, वकरियां, भेड़ें, कुक्कुट और शुक···।

एक युवा अपनी वृद्धा माँ को, बाँह पकड़, सहारा देता हुआ घर के द्वार से गाड़ी तक ला रहा था। वृद्धा को कुछ कम ही दिखाई देता था, इसलिए पुत्र बताता चल रहा था कि कहाँ सँभलना है, कहाँ सीढ़ी है, कहाँ गढ़ा है, और कहाँ ऊँचाई है। अंत में छकड़े के निकट पहुँच, माँ को उसमें चढ़ाने का प्रयत्न किया किंतु वृद्धा माँ से उस ऊँचाई तक चढ़ा नहीं गया। पुत्र ने माँ को उठा कर छकड़े में चढ़ाना चाहा तो माँ झल्ला उठी, "तू मुझे अपने घर से निकालकर कहाँ ले जा रहा है रे ?"

"मैं नहीं जानता मां ! श्रीकृष्ण जानते हैं।" पुत्र ने कहा।

माँ समझ नहीं पाई कि उसे इस उत्तर से कुछ संतोष हुआ या नहीं। इसी अस्पष्टता में उसने दूसरा प्रश्न पूछा, "कितनी दूर चलना होगा ?"

"नहीं जानता माँ ! श्रीकृष्ण जानते हैं।" पुत्र ने पहला उत्तर ही दुहरा दिया।

माँ झल्ला गई, "जब तू कुछ जानता ही नहीं है, तो यह सब कर क्यों रहा है ?"

पुत्र कुछ असमंजस में निष्क्रिय-सा खड़ा रह गया। फिर बोला, "माँ, यदि मैं कहता कि तेरे सारे पड़ोसी अपने घर खाली कर मथुरा से भाग रहे हैं, तो तू क्या कहती ?"

"क्या कहती। यही कहती कि तू भी वही कर जो सब कर रहे हैं। सारा संसार कोई मूर्ख थोड़े ही है।" माँ ने बिना विचार किए अभ्यासवश उत्तर दे दिया, "वे सब हमसे तो चतुर चालाक ही हैं। कोई कारण होगा, इसलिए ही तो सब जा रहे हैं।"

पुत्र को भी उत्तर सूझ गया, "तो तू वही समझ माँ ! सब लोग जा रहे हैं। तू कहे तो सारी गली में घुमाकर दिखा दूँ। सब लोग सचमुच ही जा रहे हैं।"

माँ को लगा कि वह अपने ही जाल में फँस गई है। थोड़ी देर मौन रही, किंतु फिर उससे मौन रहा नहीं गया, "तो क्या तू भी इस भेड़चाल में पड़ गया। अरे पूछा तो होता कि लोग अपना बसा-बसाया घर क्यों छोड़ रहे हैं। ऐसा तो मैंने न कभी देखा न सुना। राम राम। और नगर को छोड़ ही रहे हैं तो जा कहाँ रहे हैं।"

अंततः पुत्र ने बता देना ही उचित समझा, "मथुरा पर जरासंध और कालयवन की सेनाओं का आक्रमण होनेवाला है माँ ! इसलिए लोग प्राण बचाकर भाग रहे हैं।"

थकी-सी वृद्धा माँ में जाने कहां की ऊर्जा आ गई। उसने झटके से पुत्र के हाथ में पकड़ी अपनी कलाई छुड़ाई और भीतर की ओर चल पड़ी, "हो रहा है आक्रमण तो होता रहे। राजा का आक्रमण राजा पर होता है, सेना का सेना पर। हमें क्या लेना-देना इन राजाओं-महाराजाओं से। वे लड़ते-मरते रहें राज के लिए। तू क्यों घर

छोड़कर भाग रहा है, तू राजा है या सेनापति ?"

पुत्र अपनी माँ को जानता था। वह ले जा रहा था तो वह जाना नहीं चाहती थी। न ले जाता तो कहती कि वह उसे मरवा डालना चाहता है, इसीलिए घर से हिल नहीं रहा।

बेटे ने आगे बढ़ माँ को रोका, "माँ ! बात केवल युद्धक्षेत्र की होती तो मैं कभी घर छोड़कर नहीं जाता, राजा चाहे कोई होता; किंतु वे लोग तो सारे माथुरों को मार मथुरा नगरी को अग्निसात् करने की इच्छा से आ रहे हैं।"

"तू उनसे मिलकर आया है क्या ?" माँ ने उसे वक्र दृष्टि से देखा।

"नहीं ! मथुरा के गुप्तचर यह सूचना लाए हैं और जरासंध ने तो मथुरा के नाश की सार्वजनिक प्रतिज्ञा ही की है।"

"हाय राम ! हमने उनका क्या बिगाड़ा है ?"

पुत्र माँ को वापस छकड़े की ओर ले चला, "हमने उनका कुछ नहीं बिगाड़ा, फिर भी वे हमको नष्ट करना चाहते हैं, इसीलिए तो राक्षस हैं वे। अपने अहंकार की पुष्टि के लिए वे कितने भी निरीह लोगों को मार सकते हैं।" सहसा पुत्र रुक गया। उसने प्रसन्नता और गर्व के भाव से माँ को देखा, "और एक प्रकार से हमने उनका बिगाड़ा भी है माँ। एक व्यक्ति जो राजा नहीं है, राजा बनना भी नहीं चाहता, उसने प्रजा को राजाओं से लड़ना सिखा दिया है। मनुष्य को समझा दिया है कि वह मनुष्य है, अतः पशुओं का सा जीवन व्यतीत न करे। अब जरासंध मथुरा की जागरूक प्रजा पर अपनी मनमानी नहीं थोप पा रहा, इसलिए हमारा शत्रु हो गया है।"

पुत्र के गर्व ने जैसे माँ को भी प्रभावित किया। कुछ पुलकित होकर बोली, "तू वासुदेव कृष्ण की चर्चा कर रहा है ?"

" हाँ, माँ !"

"हाँ! कृष्ण के आने से मथुरा में बहुत अंतर आ गया है। प्रजा के भूखे बच्चों के मुख से उनकी रोटी छीनकर अब रानियों का शृंगार नहीं होता। लोगों के कंठ से छिनकर गोरस रानियों के नहाने के काम नहीं आता। राजा के मल्ल भले घरों की वहू-बेटियों को उठाकर नहीं ले जाते। लोग सुविधा और सम्मान से जी रहे हैं।" और सहसा उसकी विह्लता का भाव क्षीण हो गया, "पर हम अपना घर-वार छोड़कर कहां जाएँगे पुत्र !"

"जहाँ श्रीकृष्ण ले जाएँगे।" पुत्र ने उसी उत्साह से कहा।

"कहा ले जा रहा है वह ? कहीं ऐसा तो नहीं कि कृष्ण चाहता है कि जब वह अपने राज्य के लिए लड़े तो तू उसकी सेना में भर्ती हो जाए ? कंस के ही समान वह भी अपनी सेना तो तैयार नहीं कर रहा ?" लगा माँ के मन में पुत्र पर आया कोई संकट व्याप्त हो गया।

"नहीं माँ ! श्रीकृष्ण राज्य के लिए नहीं लड़ रहे। उन्हें राज्य नहीं चाहिए।" पुत्र

ने बलपूर्वक कहा, "उनका लक्ष्य इन सबसे बहुत ऊंचा है।"

माँ को पुत्र की बात का विश्वास नहीं हुआ। उसका उपहास सा करती हुई बोली, "राज्य के लिए नहीं लड़ रहा तो क्या वह किसी कुएँ-बावड़ी के लिए लड़ रहा है ?"

"नहीं माँ ! वे धर्म के लिए युद्धरत हैं। उन्हें अपने लिए कुछ नहीं चाहिए।" पुत्र ने कहा।

"सब ऐसी ही पट्टी पढ़ाते हैं, लोगों को। किसी को भी अपने लिए कुछ नहीं चाहिए होता।" माँ के मन में उसके जीवन का अनुभव जाग उठा था, "हम किसी से कुछ माँगने भी नहीं जाते, फिर भी जिसे देखो, वह हमारे लिए ही लड़ रहा है। बहुत पीड़ा है उन लोगों के मन में हमारे लिए।"

पुत्र का धैर्य चुक गया। कुछ रोष से बोला, "श्रीकृष्ण शेष लोगों से भिन्न हैं माँ। वस्तुतः वे किसी से लड़ भी नहीं रहे। वे तो हमारी रक्षा कर रहे हैं।"

मां का प्रौढ़ अनुभव अपनी अवहेलना नहीं सह सका। पुत्र को डाँटकर बोली, "तू दूसरों पर इतना निर्भर क्यों रहता है ? अपने मन से कोई निश्चय क्यों नहीं कर सकता ?"

पुत्र का स्वाभिमान और आत्मविश्वास दोनों ही जाग उठे। उसने माँ को अपनी भुजाओं में उठाकर छकड़े पर चढ़ा दिया, "मैंने अपने मन से ही निश्चय किया है मां ! कि मुझे अपनी बुद्धि पर विश्वास तो करना चाहिए, किंतु उस पर अहंकार नहीं करना चाहिए। अपना अहंकार गला सकूँ, उसके लिए किसी पर श्रद्धा रखनी चाहिए।...और श्रद्धा के लिए श्रीकृष्ण से अधिक योग्य पात्र कहाँ मिलेगा माँ।"

माँ को पुत्र की बात जँची भी और नहीं भी जँची। बोली, "तुझ पर तो कृष्ण ने अपना कोई मंत्र फेर दिया है। पर वह बताता क्यों नहीं कि वह हमें कहाँ ले जा रहा है।"

"क्योंकि वह गोपनीय है। यदि सबको यह ज्ञात हो कि हमें कहाँ ले जा रहे हैं तो कालयवन को भी ज्ञात हो जाएगा कि हम कहाँ जा रहे हैं। फिर वह मथुरा पर आक्रमण करने के स्थान पर हमारे सार्थ पर ही आक्रमण करेगा और हमारी हत्या कर अपना लक्ष्य पूरा करेगा।"

माँ अपने पुत्र को मुग्ध दृष्टि से देखती रह गई। पुत्र भी छकड़े में बैठ गया और उसने वल्गा थामकर अश्वों को हाँक दिया।

मथुरा के ही एक दूसरे मुहल्ले में एक और परिवार अपने रथ में अपना सामान लाद रहा था। रथ, उसमें रखे सामान और अपनी वेशभूषा से वे लोग कुछ संपन्न लग रहे थे। परिवार का वृद्ध मुखिया, स्वयं रथ में बैठा सामान रखवा और सँभलवा रहा था।

सहसा वृद्ध का ध्यान रथ में रखे सामान से उचटकर दूसरी ओर बहक गया। उसने अपने घर के द्वार की ओर देखा और चिल्लाया, "अरे सब कुछ रखवा लेना। कुछ व्यर्थ समझकर पीछे छोड़ मत देना।..." चिल्लाने से उसे खाँसी आ गई तो मुँह

ही मुँह में बड़बड़ाने लगा, "सारा जीवन एक-एक कौड़ी जोड़कर यह भवन बनवाया। घर के उपकरण संचित किए। किसको पता था कि अंत समय में यह भवन इस प्रकार छोड़ना पड़ेगा।··· अब जब सुख-शांति से यहाँ रहने का समय आया है तो कह रहे हैं कि हमें मथुरा में लौटना ही नहीं है। यह भवन यहीं खड़ा रहेगा और कालयवन के सैनिक इस घर में ठाठ से अपनी पत्नी के साथ विश्राम करेंगे।···" इस विचार ने उसे इतना विह्वल कर दिया कि वह अपनी खाँसी भूलकर फिर चिल्ला उठा, "अरे ताले ठीक से लगा देना। ऐसा न हो कि पीछे कोई सेंध लगाकर घर में घुस जाए।"

वृद्ध की पत्नी, पुत्र, पुत्रवधू और एक पुत्री आगे पीछे भवन से निकल आए। वे सब जैसे सामान की अंतिम खेप लेकर आए थे। इसलिए उन सबके हाथों में कोई न कोई सामान पकड़ा हुआ था।

"सब कुछ आ गया ?" वृद्ध से पूछे बिना रहा नहीं गया।

"आ गया पिताजी !" पुत्र ने पूर्ण आश्वासन देने की मुद्रा में कहा।

"ताला ठीक से लगा दिया न ?" वृद्ध ने फिर भी पूछ ही लिया।

पुत्र तो कुछ नहीं बोला, किंतु पत्नी खीज उठी, "अरे जब पीछे कुछ है ही नहीं, तो ताला किसके लिए लगाना है ?"

"कुछ न सही। भवन तो है।" वृद्ध भी चिड़चिड़ाया, "कोई उसमें घुसकर उसे गंदा करेगा। तोड़-फोड़ करेगा। तुमने बनवाया होता तो तुम्हें कुछ पीड़ा होती। मेरे मन से पूछो, अपना भवन छोड़ते हुए उसे कैसा कष्ट हो रहा है।" अपने आवेश में वृद्ध ने रथ से नीचे उतरने का प्रयत्न किया।

"अरे यह क्या कर रहे हैं आप ?" पत्नी झल्लाई।

"रथ से नीचे उतर रहा हूँ।" वृद्ध ने पूर्ण शांति से बताया।

"पर क्यों ?" पुत्र को पूछना ही पड़ा।

"देख तो आऊँ कि तुम लोगों ने ताला ठीक से लगाया है अथवा नहीं।" वृद्ध के स्वर में विनती का भाव था, "कहीं बाहर का ताला तो ठीक से लगाया हो और भीतर खुला छोड़ आए हो।"

"पिताजी। मैंने एक-एक ताला अपने हाथों से लगाया है और बहुत सावधानी से लगाया है।" पुत्र ने विश्वास दिलाया।

"तुम्हारे तो हाथ में ही छेद है। उसमें से कुछ भी गिर सकता है।" वृद्ध की आशंकाएँ मुख से फूट ही पड़ीं, "जो तुम्हें बंद दिखाई देता है, वह वस्तुतः खुला होता है और जिसे तुम खुला समझते हो, वहाँ ताला होता ही नहीं। तुम्हारा भरोसा कर मैं अपनी संपत्ति तो नष्ट नहीं होने दे सकता।"

रथ से उतरकर वृद्ध घर की ओर चल पड़ा। सारा परिवार असहाय-सा खड़ा देखता रह गया। वृद्ध धीरे धीरे चलता हुआ अपने द्वार के निकट पहुँचा और बड़ी देर तक ताले को टटोलता रहा। उसे अच्छी तरह खींच-खाँचकर देखा-परखा। पुत्र का धैर्य

चुक गया तो वह भी आकर निकट खड़ा हो गया।

वृद्ध ने उसकी ओर देखा, "भीतर के ताले ठीक से लगाए हैं न ? खोल कर देखने की आवश्यकता तो नहीं है ?"

"अव आप सारा घर खुलवाकर फिर से देखेंगे क्या ?" पुत्र कुछ रोप से वोला, "पिताजी, कभी किसी और पर भी भरोसा कर लेना चाहिए।"

वृद्ध ने पुत्र की भंगिमा देखी तो कुछ सँभल गया, "हाँ। ठीक है। चलो, अव तो ऐसे ही ठीक है। इस कृष्ण ने कारागार के ताले क्या तोड़े हमारे घरों में ताले लगवा दिए।"

लोगों की एक भीड़ चली जा रही थी। कुछ लोग बैलगाड़ियों पर थे, कुछ रथों, और कुछ छकड़ों पर। सवसे अधिक संख्या पदाति लोगों की ही थी। लोगों ने अपने अश्वों, गायों-बैलों, गर्दभों पर भी सामान लाद रखा था। वच्चे, पैदल भी थे, सवारियों पर लदे हुए भी। कुछ अपने माता-पिता, बड़े भाई-वहनों की अँगुली थामे भी चल रहे थे और कुछ अपने पालतू पशुओं के सहारे यात्रा कर रहे थे।

उस सार्थ के वीचों-वीच एक रथ धीरे-धीरे चल रहा था। रथ में केवल पति-पत्नी ही थे। वेशभूषा से दोनों पर्याप्त संभ्रांत दिखाई दे रहे थे।

पत्नी प्रसन्न नहीं थी उसके मन पर कोई भारी वोझ पड़ा लग रहा था। वहुत देर से उसने अपने पति से भी वात नहीं की थी। अव रहा नहीं गया तो वोली, "सारा गोधन किसके भरोसे छोड़ आए हो ?"

"अपने अहीर लाएँगे न।" पति ने निश्चिंत भाव से कहा।

पत्नी को अपने पति की यह निश्चिंतता अच्छी नहीं लगी। वोली, "अहीर अपने वाल-वच्चों को सँभालेंगे अथवा तुम्हारे गोधन की रक्षा करेंगे ?"

पति को पत्नी की इस प्रकार की आपत्तियों में कोई रुचि नहीं थी। वोला, "वे गायों को भी अपनी संतान के ही समान पालते हैं।"

"वहुत भरोसा है अपने अहीरों का। पता तो तव चलेगा, जव वे गायों समेत किसी और दिशा में खिसक लेंगे।" पत्नी का स्वर पहले से कहीं अधिक तीखा हो गया था।

"तुम्हें उन पर तनिक भी भरोसा नहीं है ?" पति भी कुछ खीज उठा, "इतने वर्षों से वे हमारी सेवा कर रहे हैं। भागना ही होते तो कव से भाग लिए होते।"

"उग्रसेन ने तो अपने पुत्र के ही समान पाला था कंस को, फिर भी उसने लोभ के वश में होकर वृद्ध राजा को कारागार में डाल दिया।" पत्नी तुनककर वोली, "तुम्हारे अहीरों को तो कोई लोभ है ही नहीं न ! वे लोग धर्मात्मा हैं अथवा देवता ?"

पति ने अहीरों के पक्ष में विवाद करना उचित नहीं समझा। पत्नी के मन में

मानवता के प्रति विश्वास उत्पन्न करना भी उसके वश का नहीं था। बोला, "तो क्या करता मैं ? तुम्हें रथ में बैठा देता और स्वयं गायों को हाँकता हुआ सार्थ के पीछे-पीछे चलता ?"

"ऐसा ही कर लेते तो तुम्हारे इस बाँके सारथि को भगाकर नहीं ले जाती मैं।" पत्नी का रोष बढ़ता ही जा रहा था।

पति ने अपना सिर पीट लिया, "मैं भी तुम्हारी ही शैली में चिंतन करता तो कहता, तुम न भगा ले जातीं, तो सारथि ही तुम्हारा अपहरण कर लेता। पर कहने का क्या लाभ। अब तुम्हारा अपहरण भी कौन करेगा।"

उसी भीड़ के एक और कोने में एक ठुसी हुई बैलगाड़ी चल रही थी। उसमें दो-तीन वृद्ध थे। एक चालीस तक पहुँचती स्त्री थी, जिसकी गोद में दो बच्चे थे। बच्चे दो-तीन वर्षों के छोटे-बड़े थे, किंतु थे दोनों ही गोद के बच्चे। स्त्री उन दोनों को कठिनाई से ही सँभाल पा रही थी। उसके आस-पास विभिन्न वय के और लोग थे। एक लड़के की गोद में एक मेमना भी था, जो बार-बार छूटने का प्रयत्न कर रहा था। स्थान के अभाव में सब काफी कठिनाई से ही बैठे थे।

बैलगाड़ी के पीछे-पीछे, चालीस-बयालीस वर्ष का एक पुरुष चल रहा था। उस ने पीछे-पीछे आने-वाली एकगाय की रस्सी भी पकड़ रखी थी। वह बैलगाड़ी में बैठी बच्चोंवाली महिला का पति था। दोनों की दृष्टि बार-बार मिल रही थी। पुरुष प्रसन्न दिखाई पड़ रहा था; किंतु स्त्री मन ही मन पीड़ित थी और उसकी व्यथा उसकी आंखों और उसके चेहरे पर दिखाई पड़ रही थी। अंततः उससे रहा नहीं गया।

"अब तुम गाड़ी में आ ही क्यों नहीं जाते ? कब तक पदाति चलते रहोगे ?"

"आ तो जाऊं, पर गैया का पगहा किसे थमा दूँ, तेरी गोद में तो पहले ही दो बालक हैं। पगहा भी पकड़ लेगी क्या ?" पुरुष स्नेहसिक्त स्वर में बोला।

"हाँ ! पकड़ लूंगी पगहा भी-। और न हो तो गाड़ी से बाँध दो पगहा। गैया साथ-साथ चलती आएगी।" स्त्री के स्वर में पति के प्रति प्रत्यक्ष चिंता थी।

"चल तेरी ही मान लेता हूँ।" पुरुष मधुर स्वर में बोला, "पगहा गाड़ी से बाँध देता हूँ, पर गाड़ी में मेरे बैठने को स्थान भी है ? चींटी तक के बैठने को तो स्थान नहीं है, मुझे कहाँ बैठाएगी ?"

"सबके बैठने को स्थान है, बस एक तुम्हारे लिए ही नहीं है ?" स्त्री कुछ रुष्ट स्वर में बोली, "तुम आ जाओ। न हो तो मैं उतर जाती हूँ। और किसी से पैदल न चला जाता हो तो न सही। मैं ही पैदल चल लूँगी।"

पुरुष प्रसन्नता और उतावली में चिल्लाया, "न ! न ! महारानी ऐसा अत्याचार मत कर। न तो मुझसे ये दोनों बालक सँभलेंगे, न तू उन्हें ले कर पैदल चल पाएगी।

बैठी रह। कोई कष्ट नहीं मुझे चलने में। दिन में कई-कई कोस चलने का अभ्यास है मुझे।"

स्त्री से रहा नहीं गया, "देखो तो ! अभी से स्वेद में नहा चुके हो। मैं तुम्हें इस प्रकार श्रम करते देख, स्वयं आराम से कैसे बैठी रह सकती हूँ।"

"अरे मैं तो अपने परिवार के लिए स्वेद बहा रहा हूँ। श्रीकृष्ण को देख, किस-किसके लिए जान हल्कान कर रहे हैं।" पुरुष का स्वर कुछ विह्वल हो गया था।

मथुरा की वह गली सर्वथा सुनसान लग रही थी। सारे घरों के द्वार बंद थे। कृष्ण अपने रथ पर बैठे थे और वैन्तेय तथा उसके चार साथी गरुड़, अश्वों पर आरूढ़ थे। वैन्तेय के हाथ में गरुड़ ध्वज था। वे लोग प्रत्येक द्वार तथा प्रत्येक घर का निरीक्षण कर रहे थे।

वैन्तेय लौटकर कृष्ण के पास आया, "आर्य ! यहाँ तो कोई दिखाई नहीं देता। लगता है कि सब लोग जा चुके हैं।"

"अच्छा है। उससे हमारा कार्य सरल हो जाएगा।" कृष्ण बोले, "फिर भी वैन्तेय हमें प्रमाद नहीं करना चाहिए, प्रत्येक घर को देख लेना चाहिए। पुकार लेना चाहिए।"

तभी कृष्ण ने देखा कि उन चारों में से एक गरुड़ उनकी ही ओर आ रहा था। उसके साथ एक अनिच्छुक-सा प्रौढ़ व्यक्ति धीरे-धीरे चल रहा था।

"आर्य ! ये महाशय अभी अपने भवन में ही हैं और इनकी मथुरा त्यागने में कोई रुचि नहीं है।" गरुड़ ने कहा।

वह व्यक्ति निकट आकर चुपचाप खड़ा हो गया। उसने न तो गरुड़ की बात का विरोध किया, और न पुष्टि ही।

"आप मथुरा त्यागना नहीं चाहते ?" कृष्ण ने बहुत कोमल स्वर में पूछा।

व्यक्ति ने उनकी ओर देखा और निर्द्वन्द्व भाव से कहा, "नहीं कृष्ण !"

"क्यों ?"

व्यक्ति मुस्कराया, "लोग जिस भय से मथुरा छोड़कर भाग रहे हैं, वह भय मुझे नहीं है।"

"आपको अपने प्राणों का मोह नहीं ? उसका कोई महत्त्व नहीं आपके लिए ?" कृष्ण ने पूछा।

व्यक्ति के चेहरे पर असमंजस का भाव उभरा, "मेरे पास कोई बहुत संपत्ति नहीं, जिसके लिए कोई मेरी हत्या कर देगा। इस भवन के लिए कोई मेरी हत्या कर भी दे तो ऐसा कोई नहीं, जिसे मेरी आवश्यकता हो अथवा मेरे पश्चात् इस भवन की आवश्यकता हो। मेरा कोई परिवार नहीं है। मेरा कोई नहीं है।"

कृष्ण ने जैसे उसके मन में झाँक लिया था। उसकी ऊपर की निश्चिंतता वस्तुतः

मन के विपाद का प्रतिविंब थी। वह व्यक्ति जैसे किसी के स्नेह के लिए चीत्कार कर रहा था। कृष्ण ने उसको स्नेहिल दृष्टि से देखा, "काका ! तो यह कृष्ण किसका है, यदि तुम्हारा नहीं है ?"

व्यक्ति ने कदाचित् इस प्रकार के उत्तर की कल्पना भी नहीं की थी। उसके भीतर की जड़ता कृष्ण के एक वाक्य का भी प्रतिरोध नहीं कर सकी। उसका मन कुछ विह्वल हो उठा, फिर भी धृष्ट होकर वोला, "तुम अपने पिता के हो कृष्ण वासुदेव ! तुम वसुदेव के हो।"

कृष्ण हँसे, "वे लोग तो मथुरा छोड़कर जा चुके। तो मैं मथुरा की इन गलियों में किसे खोज रहा हूँ ? अपने परिवार को ही तो। उनको जो मेरे हैं, मैं जिनका हूँ। काका अनेक वार हम अपने संवंधों को जानते ही नहीं हैं। कभी खोजने की चेष्टा की है कि कौन तुम्हारा है और तुम किसके हो ?" कृष्ण के मुख पर एक अत्यंत रहस्यमयी मुस्कान उभरी और उनका स्वर जैसे प्रेम से संगीतमय हो गया, "जो किसी के नहीं हैं, जिनका कोई नहीं है, वे सव मेरे हैं काका। केवल मेरे।"

व्यक्ति को लगा कि वह जैसे स्वयं अपने-आप से लड़ रहा है। उसका एक मन भाग कर अपने घर में घुस जाना चाहता था और दूसरा मन कृष्ण के चरणों में लोट जाना चाहता था। पर वह यह भी समझ रहा था कि कृष्ण उसे भागने नहीं देंगे और चरणों में वह स्वयं नहीं लोटेगा। वोला, "मेरा क्या करोगे कृष्ण ? मैं शस्त्र चलाना नहीं जानता। अश्व नहीं हॉक सकता। कृषि-कर्म नहीं कर सकता। किसी योग्य नहीं हूँ। मैं तुम्हारे किसी काम नहीं आऊँगा।"

"अपने काम तो आओगे काका !" कृष्ण हँसे, "जिस दिन अपने काम के हो गए, समझ लो कृष्ण के काम के हो गए।"

व्यक्ति की समझ में कुछ नहीं आया। बोला, "अपना काम क्या है। वैसे भी मृत्यु की ही प्रतीक्षा है। वह चाहे जरा के वहाने आए अथवा जरासंध के वहाने।"

कृष्ण ने समाधि की सी तन्मयता से उसे देखा, "जीवन इस शरीर के ही साथ तो समाप्त नहीं हो जाता काका ! जरा मारे अथवा जरासंध। वे तो इस शरीर का ही नाश करेंगे। आत्मा अनश्वर है। शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मरेगी। तो किसकी प्रतीक्षा करोगे ?"

"प्रतीक्षा ! तव किसकी प्रतीक्षा।" व्यक्ति असमंजस में खड़ा रह गया।

"तुम्हारे वस्त्र पुराने हो जाते हैं, जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं तो क्या करते हो उनका ?"

"फेंक देता हूँ।"

"उसके पश्चात् नग्न घूमते हो अथवा नए वस्त्र धारण करते हो ?"

"नए वस्त्र धारण करता हूँ।" वह व्यक्ति वोला, "वस्त्र धारण किए विना शरीर कैसे रह सकता है ?"

"वैसे ही नया शरीर धारण किए बिना आत्मा कैसे रह सकती है।" कृष्ण बोले।

व्यक्ति की बुद्धि जैसे फिर विद्रोह कर रही थी। वह सुन रहा था, किंतु विरोध में कोई तर्क न होने पर भी वह कृष्ण की बात मानना नहीं चाहता था।

"मर जाओगे, तो भी अगला जन्म तो होगा ही काका !" कृष्ण बोले, "अगला जन्म लेकर फिर मृत्यु की प्रतीक्षा करोगे ? और कुछ नहीं करोगे ? और कुछ नहीं है तुम्हारे पास करने को ?"

व्यक्ति को लगा कि उसके कान ही नहीं, उसका मन और उसकी आत्मा भी कृष्ण की बात को सुन रहे हैं। पर उसकी बुद्धि उसे मानना नहीं चाहती। उसका अभ्यास अपनी जकड़ ढीली नहीं कर रहा। उसका अहंकार अब भी विद्रोह कर रहा है।

"क्या यह अच्छा नहीं कि उस मृत्यु से निरपेक्ष होकर कर्म करो।" कृष्ण बोले, "कोई कर्म परिवार के लिए नहीं होता, सब अपने लिए ही होता है।"

"अपने लिए ?" व्यक्ति के मुख से अनायास ही निकल गया।

"हाँ ! अपने विकास के लिए। अपने बंधनों को काटने के लिए, अपनी आत्मा को निर्मल करने के लिए।" कृष्ण बोले, "परिवार तो एक बहाना है, जिसके माध्यम से व्यक्ति कुछ सेवा और त्याग का अभ्यास करता है। अपने मोह से मुक्त होने का प्रयत्न करता है।"

व्यक्ति को लगा कि बिना विचारे कृष्ण की बात का विरोध कोई अर्थ नहीं रखता। यह तो उसकी अपनी बुद्धि की ही जड़ता है।

"किंतु परिवार अपने मोह में उसे बाँधता भी है। शरीर के संबंध ही तो आत्मा को संभ्रमित करते हैं।" कृष्ण मुस्कराए, "आपका परिवार नहीं है, तो प्रभु ने आप को अवसर दिया है कि आप बिना पारिवारिक मोह में बँधे, इस विराट मानव समाज को परिवार के रूप में स्वीकार कर सकें और उसके माध्यम से अपना विकास कर सकें।"

व्यक्ति को लगा कि वह अब स्वयं को बाँधकर नहीं रख सकता। वह कृष्ण के प्रति निर्मम नहीं हो सकता। वह उनके प्रेम के प्लावन को रोक नहीं सकता। उसका मन तो कब से भीग रहा था, बुद्धि ही नहीं मान रही थी। पर अब इस विह्वलता को बुद्धि कैसे रोकेगी।

"समझ रहा हूँ कृष्ण ! कुछ-कुछ समझ रहा हूँ।" वह धीरे से बोला, "मैंने शायद विराट मानवता से स्वयं को काट लिया था।"

"इसे ही तो अहंकार कहते हैं काका !" कृष्ण बोले।

व्यक्ति ने चकित होकर कृष्ण की ओर देखा, "अहंकार तो स्वयं को दूसरों से बड़ा समझने में होता है पुत्र ! मैंने तो स्वयं को कभी किसी से बड़ा नहीं समझा।"

कृष्ण हँसे, "ठीक है; किंतु बड़ा तो तभी समझेंगे, जब स्वयं को पृथक् मानेंगे। जब आप इस विराट मानवता का अंग हैं, उससे पृथक् हैं ही नहीं, तो किससे बड़े हैं और किससे छोटे ?"

व्यक्ति अपनी आंखों में शून्य लिए कृष्ण को देखता रहा और सहसा उसके नेत्रों में एक प्रकाश कौंधा, "मैं समझ गया कृष्ण ! मैं समझ गया पुत्र !" उसके हाथ जैसे आपस में गुँथ गए, "अब इस शरीर को मरने के लिए नहीं छोड़ूँगा। इससे कुछ काम लूँगा। तुम चलो। मैं अभी आता हूँ।"

"तो हमारे साथ ही क्यों नहीं चलते काका ?" कृष्ण ने पूछा।

व्यक्ति कुछ संकुचित हुआ, "मेरे पास रथ या अश्व नहीं है कृष्ण ! कभी उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया। मैं पदाति ही आऊँगा, धीरे-धीरे। तुम्हारे साथ कैसे चल सकता हूँ।"

"ओह काका ! जब कृष्ण तुम्हारा है तो यह रथ तुम्हारा क्यों नहीं है।" कृष्ण ने रथ में खड़े होकर उसकी ओर अपना हाथ बढ़ाया, "आओ मेरे साथ।"

व्यक्ति ने जैसे अनायास ही पूर्ण समर्पण की स्थिति में अपने दोनों हाथ आगे बढ़ा दिए, "ओह कृष्ण ! जिसका हाथ तुम थाम लो···।"

प्रयाण के लिए प्रस्तुत बलराम को कृष्ण का समाचार गरुड़ों से मिल गया। सारी मथुरा देखी जा चुकी थी। अब और विलंब का कोई कारण नहीं था।

मथुरा के मुख्य द्वार से सबसे पहले बलराम का रथ निकला। उनके साथ उद्धव था। वे लोग युद्धवेश में थे। उनका रथ शस्त्रास्त्रों से भरा हुआ था। उनके दाएँ-बाएँ, अश्वों पर सशस्त्र अंगरक्षक चल रहे थे। पहली पंक्ति के अंगरक्षकों के हाथ में हल के चिह्नवाले ध्वज थे।

"उद्धव ! यह कान्हा मथुरा कब छोड़ेगा ?" बलराम ने जैसे कृष्ण के लिए अपनी चिंता जताई।

"सबको मथुरा से विदा कर।" उद्धव बोला, "उन्होंने मुझसे कहा था कि मैं उनकी चिंता न करूँ। मेरा दायित्व आपके साथ रहकर सार्थ का नेतृत्व करना है और यदि आगे से सार्थ पर कोई आक्रमण हो तो हमें उसका सामना करना है।"

"वह तो ठीक है; किंतु हमें सूचना तो होनी चाहिए कि वह है कहाँ।" बलराम बोले, "संकट के समय हम उसकी सहायता तो कर सकें।"

"मैंने कहा था उनसे," उद्धव ने उत्तर दिया, "तो उन्होंने कहा कि मैं उनका मोह छोड़कर अपना कर्म करता जाऊँ। उनके काम में टाँग न अड़ाऊँ। उनका समाचार न मिले तो भी मानूँ कि वे सकुशल हैं। उन्हें सहायता की आवश्यकता होगी तो वे स्वयं सूचना भिजवाएँगे।"

"इस कृष्ण से पार पाना बहुत कठिन है। न उसके प्रति मोह छूटता है, न वह अपने प्रति मोह रखने देता है।" बलराम झल्लाए।

बलराम के रथ के पश्चात् महाराज उग्रसेन का रथ था। उनके साथ भी सशस्त्र

अंगरक्षक और ध्वजवाहक थे। फिर एक-एक कर विकद्रु, सेनापति, सत्राजित, अक्रूर, बृहद्‌बल तथा अन्य मुख्य यादवों के रथ निकले। सब लोग युद्ध के लिए पूरी तरह तैयार थे। वसुदेव अपने रथ में देवकी और रोहिणी के साथ थे। आज उन्होंने भी युद्धवेश धारण कर रखा था। उसके पश्चात् सामान्य जनों की गाड़ियाँ और रथ थे। सार्थ के दोनों ओर मथुरा की सेना चल रही थी। एक खंड के पश्चात् कृतवर्मा और उसके सैनिक चल रहे थे। सार्थ के इस खंड का प्रबंधक कृतवर्मा था। उसके बाद के खंड का दायित्व सात्यकि और उसके सैनिकों पर था।

कृष्ण का रथ मथुरा से सबसे अंत में निकला था। उनके रथ पर उनके साथ वही व्यक्ति बैठा था, जिसे वे उसके घर से निकालकर लाए थे। चारों गरुड़ अश्वारोही उनको घेरकर चल रहे थे और वैन्तेय गरुड़ध्वज लिए हुए उनसे कुछ आगे चल रहा था।

कृष्ण को दूर से ही छोटे से आकार में एक स्त्री-पुरुष धीरे-धीरे घिसटते हुए से दिखाई दे रहे थे। जैसे-जैसे रथ आगे बढ़ रहा था, उनकी आकृति स्पष्ट होती जा रही थी। वे मथुरा के ही निवासी थे। अपने साधारण से घरेलू सामान से लदे-फदे धीरे-धीरे चल रहे थे। शरीर की आकृति से भी बहुत बलिष्ठ नहीं लगते थे और इस समय तो पर्याप्त थके हुए से दिखाई दे रहे थे।

उनके निकट आकर कृष्ण ने रथ रोक दिया।

अपने निकट एक राजसी रथ और पाँच अश्वारोहियों को रुकते देख वे लोग घबरा गए, पर समझ नहीं पाए कि सिवाय प्रतीक्षा के और क्या कर सकते थे।

कृष्ण रथ से उतरकर उनके पास आए।

"क्यों काका ! सार्थ से पिछड़ गए क्या ?" कृष्ण ने पूछा।

पुरुष ने साहस कर उत्तर दिया, "हाँ भैया ! सिर पर इतना सामान। हमारी महरारू जल्दी चल नहीं पाती। साथ में एक बकरी थी, वह जाने किसी रथारोही अथवा अश्वारोही से डरकर भड़की और भाग खड़ी हुई। उसे ढूँढते रहे। बस ऐसे ही समय बीत गया और सार्थ आगे बढ़ गया।"

स्त्री चुपचाप देखती रही जैसे पहचानने का प्रयत्न कर रही हो, और फिर बोली, "तुम वासुदेव कृष्ण ही हो न भैया ?

"हाँ काकी ! ठीक पहचाना, कृष्ण ही हूँ।" कृष्ण मुस्कराए, "अपनी बकरी की चिंता मत करो। मार्ग में नहीं मिली तो गंतव्य पर पहुँचकर महाराज की ओर से दूसरी अवश्य मिल जाएगी।" वे रुके, "आप लोग थक गए हैं और आपके पास बोझ भी है, कैसे चलेंगे ?"

"ऐसे ही चलेंगे, सरक-सरक के।" पुरुष ने विनोद में अपनी घबराहट छिपाने का प्रयत्न किया, "वैसे भी हम पैदल चलनेवाले लोग रथों और गाड़ियों के बराबर कैसे

चलेंगे। हमें तो पीछे ही घिसटना है। पर एक चिंता है हमें।"

"कैसी चिंता ?" कृष्ण ने पूछा।

"वे रथ तो आगे निकल गए और हमें यह भी पता नहीं है कि हमें जाना कहाँ है। तो हम कहाँ जाएँगे, कैसे जाएँगे।" पुरुष बोला, "अभी तक तो आगे जानेवाले लोगों के पदचिह्न मार्ग पर मिल रहे हैं, पर यह सदा तो ऐसा नहीं रहेगा न।"

"समस्या तो तुमने गंभीर बताई काका !" कृष्ण हँसे, "पर ऐसा होगा नहीं।"

"क्यों ? ऐसा क्यों नहीं होगा ?" पुरुष चकित था।

"क्योंकि रथारोही और अश्वारोही केवल आधा दिन यात्रा करेंगे और आगे किसी सुविधाजनक स्थान पर पड़ाव डालेंगे।" कृष्ण बोले, "वे लोग न केवल पीछे आनेवालों की प्रतीक्षा करेंगे, वरन् उनके रहने और भोजन इत्यादि की व्यवस्था भी करेंगे। गाड़ीवाले तथा पदाति लोग वहाँ पहुँचकर विश्राम करेंगे। उन्हें न ठहरने की व्यवस्था करनी है, न भोजन की।"

"और जो हम पीछे छूट गए तो हमें मार्ग कौन बताएगा ?" स्त्री की चिंता पहले से भी बढ़ गई थी, "भोजन तो वहाँ धरा होगा और हम मार्ग में ही पड़े रह जाएँगे।"

"सबसे पीछे कृष्ण चलेगा काकी। कोई पीछे कैसे छूटेगा।" कृष्ण ने अपने साथी गरुड़ों की ओर संकेत किया, "इन गरुड़ों को देख रही हो। ये अपने अश्वों पर एक प्रकार से उड़ते फिरते हैं। आगे बढ़ते हैं और फिर पीछे लौट आते हैं। पूरे सार्थ में संपर्क बनाए रखने और सूचना इत्यादि पहुँचाने का सारा दायित्व इन्हीं का है। चाहोगी भी तो तुम्हें मार्ग में खोने नहीं देंगे ये।"

"फिर तो भय की कोई बात नहीं है। है न लक्ष्मी !" पुरुष कुछ निश्चिंत हुआ।

स्त्री ने भी सहमति में अपना सिर हिला दिया।

कृष्ण ने उन्हें निश्चिंत देखा तो पूछा, "आपके पास से होकर कोई रथ अथवागाड़ी नहीं गई। किसी को कहा नहीं कि भैया हमें भी बैठा लो।"

"किससे कहते।" पुरुष हँसा, "कभी रथ हमसे डर जाता है, कभी हम रथ से डर जाते हैं। साहस कर एक से कहा तो वह बोला, इतना मूल्य देकर रथ क्या इसलिए क्रय किया था कि तुम जैसे कंगलों को ढोता फिरूँ।"

कृष्ण के चेहरे पर अप्रसन्नता झलकी, "इस संकट के समय भी ऐसा अहंकार। यह तो उचित नहीं है।"

"उसे अपना संकट तो दिख रहा था, हमारा नहीं दिखा। क्या कहें।" पुरुष खिसियानी-सी हँसी हँसा।

"कहना क्या है काका।" कृष्ण बोले, "यह संकट ही इसलिए है, क्योंकि हम ने केवल अपना ही संकट देखा। दूसरों का संकट देखा होता तो मथुरा पर यह संकट ही क्यों आता।" वे रुके, "अच्छा ! आओ अब रथ में बैठ जाओ। हम थोड़ी देर में सार्थ को जा लेते हैं। अभी बहुत दूर नहीं गया होगा।"

"आपके रथ में ? इस राजसी रथ में ?" स्त्री कुछ अकबका गई।

"हाँ ! रथ तो यही है। इसी में चलना पड़ेगा। क्या रथ पसंद नहीं है ?" कृष्ण मुस्कराए।

रथ में कृष्ण के साथ आया वह व्यक्ति अब तक मौन बैठा था। उन स्त्री-पुरुष का संकोच देख कर बोला, "आ जाओ भाई ! कृष्ण का रथ ही हम सब-का रथ है।"

पुरुष ने भी उसे पहली बार ध्यान से देखा। वह उसके निकट आ गया, "क्यों ? ऐसा क्यों है भाई ?"

उस व्यक्ति को जैसे पहली बार अपने उद्गार प्रकट करने का अवसर मिला, "क्योंकि हम सबका एकमात्र आश्रय कृष्ण ही है। और किसके हृदय में इतना प्रेम है कि सबमें बांट सके। कृष्ण ही है जो सबसे प्रेम कर सके।"

स्त्री और पुरुष ने और संकोच करना उचित नहीं समझा। एक-दूसरे की सहायता से वे रथ में बैठ गए।

"त्रेता में रामजी ने वानरों को अपने साथ पुष्पक विमान में बैठाया था और अब श्रीकृष्ण हम सबको अपने साथ अपने रथ में बैठाकर ले चल रहे हैं।" स्त्री ने अपनी कृतज्ञता प्रकट की।

कृष्ण ने मुस्कराकर उनकी ओर देखा और अश्वों की वल्गा थाम ली।

कृष्ण सार्थ के पड़ाव पर पहुँचे तो वहाँ सब कुछ व्यवस्थित हो चुका था और वे लोग उनकी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। बलराम, उद्धव तथा सात्यकि के साथ कृष्ण, उग्रसेन के मंडप में गए। विकद्रु, यादव सेनापति, दुर्गपाल, वसुदेव, अक्रूर, देवक इत्यादि प्रमुख यादवगण वहीं बैठे थे।

उग्रसेन ने कृष्ण को देखा तो बोले, "तुमने तो वासुदेव ! मानो मथुरा नगरी को ही पहिए लगाकर चला दिया है। पीछे कोई छूटा ही नहीं।"

विकद्रु भी प्रशंसा में पीछे नहीं रहे, "और कितनी सुविधा से हम लोग यहां तक पहुँच गए हैं महाराज ! ऐसे तो यात्रा का कोई श्रम ही नहीं लगेगा।"

"मैं तो प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि किसी प्रकार हमारी यात्रा की सूचना जरासंध से गुप्त रहे और हम अपने गंतव्य तक पहुँच जाएँ।" वसुदेव बोले, "फिर यादव एक नया जीवन आरंभ कर सकते हैं।"

"चिंता मत करो वसुदेव ! कृष्ण ने चलाया है तो पहुँचा भी देगा। क्यों कृष्ण ?" उग्रसेन बोले।

कृष्ण ने एक गंभीर दृष्टि उन सब पर डाली, "मैंने एक पूरा दिन मथुरावासियों की यह यात्रा देखी है महाराज ! मैं देख रहा था कि न मैं किसी को चला रहा था, न कोई अपने आप चल रहा था।"

"तो ?" अक्रूर ने चकित होकर पूछा।

"किसी को भय चला रहा था, किसी को लोभ।" कृष्ण बोले, "किसी को मोह चला रहा था, किसी को अहंकार···".

"तो इसमें चिंता की क्या वात है, वासुदेव ! संसार तो ऐसे ही चलता है, लोभ मोह के सहारे।" विकद्रु ने सहज भाव से कहा।

"नहीं महामंत्री !" कृष्ण की गंभीरता में चिंता भी आ मिली, "हम यह भूल गए हैं कि संसार को धारण करनेवाला धर्म है। भय, लोभ, मोह और अहंकार उसे धारण नहीं कर सकते। वे केवल उसका क्षरण ही कर सकते हैं। मथुरा को भय और लोभ के सहारे चलाने के प्रयत्न का ही परिणाम था कि महाराज कारागार में थे, मेरे माता-पिता अपनी संतानों का नाश अपनी आँखों से देख रहे थे, अनेक स्वाभिमानी यादव मथुरा छोड़ कर भाग गए थे, युवा वर्ग विलास की ओर बढ़ रहा था, त्याग का महत्त्व वे भूल गए थे।"

उग्रसेन ने सहमति में सिर हिलाया, "ठीक कहते हो वासुदेव। हमें धर्म के सहारे ही चलना चाहिए।"

"मैं चाहता हूँ महाराज ! कि एक बार द्वारका पहुंचकर यादव एक नया जीवन आरंभ करें।" कृष्ण बोले, "वे धर्म पर चलें और संसार में धर्म-संस्थापन का कार्य करें। वे अपने इस पतित जीवन का त्याग करें। यदि हम मथुरा का त्याग कर आए हैं तो उसकी जीवन पद्धति का भी त्याग करें।"

"तुम मार्ग दिखाओ कृष्ण ! हम उस पर चलने का प्रयत्न करेंगे।" उग्रसेन उल्लसित स्वर में बोले।

कृष्ण मुस्कराए, "मैं पूछने तो यह आया था महाराज ! कि आपको यात्रा में कोई कष्ट तो नहीं हुआ ?".

उग्रसेन का स्वर स्नेह से भीग उठा, "नहीं पुत्र ! कोई कष्ट नहीं हुआ। जिस की देखभाल करनेवाले तुम हो, गोविन्द ! उसे क्या कष्ट हो सकता है।"

"तो अब मैं एक बार मथुरा की प्रजा को भी देख लूँ।" कृष्ण ने प्रणाम किया, और बाहर निकल आए। उनके पीछे-पीछे उनके साथ आए युवक भी बाहर निकल आए।

"अव ?" बलराम ने पूछा।

"वैसे तो लगता है कि सब लोग रात्रि भर के लिए व्यवस्थित हो ही गए हैं और उनको भोजन इत्यादि भी पहुँचाया जा चुका है।" कृष्ण बोले, "फिर भी हम लोग पांच टोलियाँ बना लें और चार दिशाएँ और मध्य का भाग बाँटकर एक वार निरीक्षण कर लें। किसी को किसी प्रकार की असुविधा तो नहीं है। भोजन के अतिरिक्त किसी को औषध की आवश्यकता हो तो उसका प्रवंध करें। और मैं जा रहा हूँ यह देखने कि पशुओं के लिए उचित व्यवस्था हुई है या नहीं। दिन भर की यात्रा से पशु थक गए

होंगे। प्रातः फिर यात्रा करनी है।"

बलराम हँस पड़े, "ठीक कहते हो गोपाल !"

"पशुओं की देखभाल तो हम सब भी करते हैं, पर यह तो आज ही समझ में आया कि श्रीकृष्ण ही गोपाल क्यों हैं।" सात्यकि ने प्रशंसा के भाव से कृष्ण की ओर देखा।

"वैसे तो हमें भी अपने पाले हुए पशुओं से प्रेम है, किंतु कृष्ण के तो जैसे प्राण ही उनमें बसते हैं।" उद्धव ने टिप्पणी की।

"मेरे प्राण ही उनके भीतर नहीं बसते, वे सब भी मेरे भीतर बसते हैं।" कृष्ण जैसे अपने आप से कह रहे थे, "सृष्टि ने जीवों को एक ही भाव से बनाया है।"

"सृष्टि तो सारे जीवों को एक ही भाव से देखती है श्रीकृष्ण ! किंतु मनुष्य भी उसे उसी दृष्टि से देखे, तब न ··· !" वैन्तेय ने कहा और कृष्ण के पीछे-पीछे चल पड़ा।

उद्धव ने रुककर सुभद्रा की ओर देखा, "तुम्हें कुछ संतोष हुआ हो तो अब इस कथावाचक को सोने की अनुमति मिले।"

सुभद्रा हँस पड़ी, "तृष्णा तो शांत होती ही नहीं भैया ! पर चलिए, शेष फिर कभी।"

21

कृष्ण प्रातः ही उपप्लव्य से हस्तिनापुर के लिए चल पड़े थे। उन्होंने अपनी किसी योजना के अधीन उद्धव को उपप्लव्य में ही रुकने को कहा था।

हाथ में गरुड़ध्वज लिए चार गरुड़ अपने अश्वों पर उनके रथ के आगे चल रहे थे। सात्यकि और कृतवर्मा अपने-अपने रथों में थे। वैंतेय को कृष्ण ने अपने ही रथ में बैठा लिया था। द्वारका से आए हुए सारे सैनिक भी उनके साथ थे; किंतु उन सब के रथ और अश्व बदल दिए गए थे। कृष्ण मानते थे कि लंबी यात्रा के कारण द्वारका से आए रथ ढीले और अश्व थके हुए थे, उनकी गति वैसी नहीं हो सकती थी, जैसी कि वे चाहते थे। शस्त्रों का भी एक बड़ा भंडार उन्होंने अपने साथ ले लिया था। मध्यम कोटि के एक सामान्य युद्ध के लिए उनके पास विपुल मात्रा में शस्त्रास्त्र थे। कई सप्ताहों के भोजन के लिए उनके पास पर्याप्त अन्न भी था।

"आप कौरवों का अन्न नहीं खाना चाहते क्या ?" वैंतेय ने कुछ चकित भाव से पूछा।

"अपने सैनिकों को कौरवों का अन्न खिला दूँगा तो वे भी उनके प्रति वैसे ही

निष्ठावान हो जाएँगे, जैसे भीष्म और द्रोण हो गए हैं।" कृष्ण हँस पड़े, "उससे अच्छा नहीं है कि उन्हें अपना ही अन्न खिलाया जाए।"

"मैं कई बार अनायास ही सोचने लगता हूँ और सोचता ही जाता हूँ, किंतु मेरी समझ में नहीं आता कि भीष्म और द्रोण क्या सचमुच दुर्योधन के पक्ष में हैं ? क्या वे देख नहीं पाते कि वह कैसा अधर्मी है ? क्या सचमुच ही वे लोग उसके पापों का समर्थन करते हैं ?" वैंतेय बोला, "यदि कौरवों और पांडवों में युद्ध हुआ तो क्या वे उस पापी दुर्योधन की रक्षा के लिए पांडवों का वध कर देंगे ?"

"वे अपने ही बंदी हैं, वैंतेय ! स्वयं ही बाँध लिए गए अपने बंधन वे तोड़ नहीं पाते।" कृष्ण बोले, "द्रोण की स्थिति पहले जो भी रही हो किंतु इस समय वे दुर्योधन के कर्मचारी हैं। वेतन भोगी कर्मचारी। वे उसको छोड़कर नहीं जा सकते। वे पांडवों के पक्ष में नहीं आ सकते, क्योंकि यह द्रुपद और पांचाली कृष्णा का पक्ष है। तटस्थ नहीं रह सकते, क्योंकि तब उनका इतिहास उनके प्रति तटस्थ नहीं रहेगा। द्रुपद, धृष्टद्युम्न और शिखंडी उन्हें जीवित नहीं छोड़ेंगे···।"

"और भीष्म ?"

"मुझे लगता है कि भीष्म भी पांडवों की सेना को पांचालों की ही सेना मानते हैं। वह सेना दुर्योधन अथवा हस्तिनापुर पर आक्रमण करेगी तो वे उसका सामना करेंगे।" कृष्ण बोले, "भीष्म को कुरुवंश का बहुत मोह है। वे किसी भी कुरुवंशी को मरने देना नहीं चाहते, चाहे वह दुर्योधन ही क्यों न हो।··· फिर वे हस्तिनापुर की राजसभा के अंग हैं। हस्तिनापुर की सेना युद्ध करेगी तो वे उससे तटस्थ कैसे रह सकते हैं।"

"तो वे पांडवों के विरुद्ध युद्ध करेंगे ?"

"संभावना तो यही है।"

"उन्हें दुर्योधन के पाप दिखाई नहीं पड़ेंगे।"

कृष्ण हँस पड़े, "जो राजा की रक्षा का दायित्व ग्रहण करता है, उसे यह देखने और विचारने का अधिकार नहीं रहता कि सिंहासन पर बैठा व्यक्ति राजा नहीं दस्यु है। वह तो सिंहासनासीन की रक्षा करता है। मैं जब क्षत्रियों को राक्षस बनते और दस्युओं की रक्षा करते देखता हूँ तो मुझे उन पर बहुत दया आती है।"

संध्या समय कृष्ण ने वृकस्थल में रुकने का निर्णय किया। गरुड़ों को आदेश दे दिया गया और वे आदेश को प्रचारित करने के लिए पवन गति से चल पड़े।

थोड़ी ही देर में वैन्तेय लौटा, "आर्य ! महाराज धृतराष्ट्र के दूत आपकी अगवानी करने आए हैं। उन्होंने सूचना दी है कि यहाँ से दो कोस आगे, आपके रात्रि विश्राम के लिए बहुत सुंदर व्यवस्था है। अच्छे विश्रामगृह हैं। भोजन की उचित व्यवस्था है।

पशुओं की देख-भाल की भी सुविधा है।"

"वे हमें शल्य समझते हैं क्या ?" कृष्ण मुस्कराए, "मंडपकर्मियों से कहो कि वे अपना कार्य आरंभ करें।"

पहली बार वैंतेय की समझ में आया कि कृष्ण उपप्लव्य से ही अपने साथ मंडपकर्मी लेकर क्यों चले थे। निश्चित रूप से आरंभ से ही उनके मन में मार्ग में एक पड़ाव का ध्यान रहा होगा। वे अपनी इस सेना के साथ किसी मंदिर अथवा ग्राम में नहीं ठहर सकते थे। सेना को असुविधा में ठहराना श्रीकृष्ण की प्रकृति नहीं थी। दुर्योधन के विश्रामस्थलों का उपयोग वे करना नहीं चाहते थे। दुर्योधन उनका समधी था। इसी संबंध से वह उनके पास सहायता माँगने आया था और नारायणी सेना ले गया था··· किंतु श्रीकृष्ण तो उसके विश्रामस्थल तक में ठहरना नहीं चाहते थे, उसकी कोई और सहायता कैसे स्वीकार करते।

"श्रीकृष्ण ! आप दुर्योधन की सहायता नहीं लेना चाहते अथवा आपको संदेह है कि उसके किसी विश्रामस्थल में ठहरने पर आपको किसी प्रकार की क्षति पहुँचाई जा सकती है ?" वैंतेय ने पूछा।

"दोनों ही बातें हैं।" कृष्ण बोले।

"वह आपको क्षति क्यों पहुँचाएगा, आप शांतिदूत हैं ?" वैंतेय ने कुछ चकित होकर कहा, "वैसे तो मुझे आपकी ही योजना समझ में नहीं आ रही है। इतने सैनिक, इतने शस्त्र और इतना अन्न।" वैंतेय ने उन सब पर एक दृष्टि डाली, "सम्राट् द्रुपद के पुरोहित भी दूत थे। संजय भी दूत थे। वे लोग तो अपने साथ ऐसी कोई व्यवस्था लेकर नहीं चले थे।"

"वे कृष्ण नहीं थे।"

"श्रीकृष्ण तो दुर्योधन के समधी हैं। दुर्योधन अपनी पुत्री के श्वसुर, अपने जामाता के पिता को क्षति नहीं पहुँचा सकता। अभी तो युद्ध आरंभ भी नहीं हुआ है··· ।"

"ये सब बातें उनके लिए हैं वैंतेय, जो धर्म का आचरण करते हैं। अधर्मी के लिए न कोई नैतिकता होती है, न धर्म, न नियम और न सिद्धांत।" कृष्ण बोले, "मैं दुर्योधन पर विश्वास नहीं कर सकता। वारणावत के लाक्षागृह में जब पांडवों को जीवित जलाने का प्रयत्न किया गया था, उस समय भी कोई युद्ध नहीं हो रहा था और पांडव तो उसके भाई हैं।"

"हस्तिनापुर में कोई युद्ध होगा ?" सहसा वैंतेय ने विषय बदल दिया।

"हो भी सकता है।" कृष्ण बोले।

"तो फिर आप स्वयं को संकट में डालने के लिए जा ही क्यों रहे हैं ?"

"मैं अपने धर्म का निर्वाह कर रहा हूं।"

अब पूछने को कुछ नहीं रह गया था।

कृष्ण ने हस्तिनापुर के निकट गंगातट पर स्कंधावार स्थापित करने का आदेश दिया।

"सेना आपके साथ हस्तिनापुर नहीं जाएगी ?" सात्यकि ने कुछ चकित हो कर पूछा।

"नहीं !" कृष्ण बोले, "दूत अपने साथ सेनाएँ लेकर राजसभाओं में नहीं जाते।"

"तो फिर ऐसी सेना साथ लाने का क्या लाभ ?" कृतवर्मा बोला, "मुझे द्वारका से बुलाने का क्या अर्थ ?"

"तुम्हारी उपस्थिति मात्र मेरे लिए पर्याप्त आश्वासन है और दुर्योधन के लिए चेतावनी।" कृष्ण मुस्करा रहे थे।

सात्यकि तनिक भी प्रसन्न नहीं था। कृतवर्मा की उपस्थिति दुर्योधन के लिए चेतावनी कैसे हो सकती है। दुर्योधन जानता है कि कृतवर्मा उसी का हितैपी है। कृतवर्मा की उपस्थिति से तो दुर्योधन का साहस तथा मनोबल और भी बढ़ जाएगा। पर कृष्ण कह रहे हैं तो कुछ सोच कर ही कह रहे होंगे।...

हस्तिनापुर के द्वार पर सभी छोटे-बड़े, श्रीकृष्ण का स्वागत करने आए थे, एक दुर्योधन और धृतराष्ट्र को छोड़कर। स्वागत करनेवालों में से कदाचित् किसी को भी स्मरण नहीं था कि श्रीकृष्ण युधिष्ठिर के दूत बनकर आए हैं, उस युधिष्ठिर के, जिस के पास इस समय कोई राज्य नहीं था और जो दुर्योधन से किसी भी प्रकार संधि कर अपने लिए राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था।...श्रीकृष्ण के पास कोई पद होता न होता, उन पर किसी राजा की छत्रछाया होती न होती, श्रीकृष्ण तो श्रीकृष्ण ही थे। राजा धृतराष्ट्र ने अपने पुत्रों तथा राज्य के पदाधिकारियों को भेज कर अपना उत्साह दिखाया था। भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, विदुर आदि लोग श्रीकृष्ण के प्रति अपने सम्मान के कारण आए थे। प्रजा यह देखना चाहती थी कि जिस श्रीकृष्ण के विषय में उस ने इतनी कथाएँ सुनी थीं, वे श्रीकृष्ण कैसे थे। वीथियाँ, मार्ग, राजमार्ग सभी की सज्जा की गई थी। नगरद्वार से लेकर राजप्रासाद तक के मार्ग के दोनों ओर अपार जनसमूह खड़ा था, अटारियाँ अटी पड़ी थीं। जनसमूह सब ओर से निरंतर पुष्प-वर्षा कर रहा था। आज तक न तो किसी राजा के स्वागत में इतना उत्साह दिखाई पड़ा था, और न कोई शासक अपने किसी अतिथि के स्वागत के लिए प्रजा में ऐसा उत्साह भर सकता था। यह तो जन सामान्य का श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम ही था।...

रथों का यह सार्थ सीधे धृतराष्ट्र के भवन पर आकर रुका। श्रीकृष्ण भवन की तीन ड्योढ़िया पार कर धृतराष्ट्र के कक्ष में प्रविष्ट हुए। उन्होंने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और धृतराष्ट्र ने अपने आसन से उठकर उनका स्वागत किया। पुरोहितों को बुलाकर शास्त्रीय विधि से उनका सत्कार किया और कहा, "आपने बहुत कृपा की श्रीकृष्ण कि आप स्वयं पधारे।"

श्रीकृष्ण ने ध्यान से धृतराष्ट्र को देखा। उस दृष्टिहीन राजा के चेहरे पर कोई ऐसा भाव नहीं था, जिसे देखकर कोई कह सकता कि उसे श्रीकृष्ण के आने पर प्रसन्नता

नहीं हुई है। उसके व्यवहार में कोई ऐसा संकेत नहीं था, जिससे कहा जा सकता कि वह उनका उचित स्वागत नहीं कर रहा। अपने मन के लोभ और भय का लेश मात्र भी वह प्रकट नहीं होने देता था। उस सीधे-सरल चेहरे को देखकर कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि उसके पीछे ऐसा कुटिल हृदय भी हो सकता है। उसने उनसे एक-एक कर सबकी कुशलता संबंधी प्रश्न किए। अपना सौहार्द दिखाया और उनके इस प्रकार हस्तिनापुर आने के लिए कृतज्ञता प्रकट की।

श्रीकृष्ण ने भी व्यक्तिगत धरातल पर सबसे मिलने, उनका आदर-सत्कार करने और कुशल-मंगल की जिज्ञासा कर, विदा होने के लिए अनुमति माँगी।

"कहाँ जाएँगे आप ?" धृतराष्ट्र ने कुछ चकित होकर पूछा, "हमने आपके ठहरने की व्यवस्था, दुःशासन के प्रासाद में की है। वह मेरे अपने भवन से भी बड़ा और श्रेष्ठतर है।"

"कोई बात नहीं महाराज !" श्रीकृष्ण अत्यंत मधुर ढंग से बोले, "आप जानते हैं कि मुझे सुविधाओं से अधिक सम्मान प्रिय है। आपके पुत्र दुःशासन की ख्याति ऐसी नहीं कि उसके भवन के अवरोध में कोई स्वयं को सुरक्षित मान सके। आपके पुत्रों का पूज्यपूजनधर्म से परिचय नहीं है।"

"क्या किया है मैंने ?" दुःशासन तड़पकर बोला।

"ईश्वर की उपासना से भी पहले, मनुष्य को नारीत्व का सम्मान सीखना होता है, तुमने अभी वह भी नहीं सीखा।" कृष्ण बोले, "जो लोग अपने भाइयों और माता को प्रासाद में बंदी कर उन्हें जीवित जला देते हैं, उनके प्रासादों में अतिथि होना तो किसी का दुर्भाग्य ही हो सकता है, सम्मान नहीं।"

"पर श्रीकृष्ण !" धृतराष्ट्र ने कुछ उतावली में कहा, "मैंने तो अभी आपको कोई उपहार भी नहीं दिया है।..."

"कोई बात नहीं महाराज !" कृष्ण मुस्कराए, "आज तो मैं केवल आपके दर्शन करने आया हूँ। कल प्रातः आपकी राजसभा में आऊँगा और स्वयं आप से एक उपहार की याचना करूगा। आशा है कि आपकी उदारता मुझे निराश नहीं करेगी।"

कृष्ण भवन से बाहर निकल आए। रथ में बैठकर उन्होंने उन लोगों की भी प्रतीक्षा नहीं की, जो शायद उन्हें विदा करने आ रहे थे।

"महामंत्री विदुर के आवास पर चलो दारुक !"

श्रीकृष्ण को अपने द्वार पर आया देख विदुर को आश्चर्य हुआ, "आप यहाँ श्रीकृष्ण !"

"हाँ महात्मन् ! मैं हस्तिनापुर में और किसके द्वार पर जा सकता हूं ?"

विदुर के मन में सहस्रों बातें घूम गई। क्या कह रहे थे श्रीकृष्ण ! ईश्वर सात्विक मनुष्य के द्वार पर ही जाता है। ईश्वर निर्मल मन में ही प्रकट होता है··· क्या विदुर

की साधना फलित हुई है ?···

विदुर ने मुख से कुछ नहीं कहा। उन्हें भीतर लाकर बैठाया। श्रीकृष्ण जानते थे कि विदुर का आवास एक प्रकार के आश्रम का ही रूप है। उनका व्यक्तित्व भी कुछ वैसा ही था। वे महामंत्री तो अब भी थे; किंतु अव न उनके पास कोई सत्ता थी और न धन। उनका आवास गंगातट पर एक खुली भूमि में था, किंतु वह प्रासाद नहीं था। उनकी अपनी कोई संतान नहीं थी किंतु उनके इस आश्रम में पलनेवाले अनेक वालक-बालिकाओं के लिए वे और उनकी पत्नी माता-पिता ही थे।

"भाभी को बुलाऊँ ?" विदुर ने पूछा।

"नहीं ! मैं स्वयं उनके पास जाऊँगा।" कृष्ण बोले।

तब तक पारंसवी भी आ गई। कृष्ण ने उन्हें अपनी बूआ के ही समान प्रणाम किया। पारंसवी ने उनके प्रणाम को उसी ग़रिमा से स्वीकार कर आशीर्वाद दिया, किंतु उनकी आँखों में आए कृतज्ञता के अश्रु किसी से भी छुप नहीं पाए।

उन्होंने श्रीकृष्ण के लिए जल, अर्घ्य और मधुपर्क प्रस्तुत किया। सत्कार कर पारंसवी भीतर चली गईं।

"श्रीकृष्ण ! क्या आप सचमुच ही संधि का प्रस्ताव लेकर कल सभा में जाएंगे ?" विदुर ने पूछा।

"क्यों ? क्या संधि का प्रस्ताव शोभनीय नहीं है ?" कृष्ण मुस्कराए।

"नहीं ! संधि को अशोभनीय कैसे कहा जा सकता है।" विदुर बोले, "किंतु आप नहीं जानते कि कौरवों की राजसभा में आपके विषय में क्या चर्चा हुई है।"

"क्या दुर्योधन ने मुझे बंदी करने की इच्छा प्रकट की है ?" कृष्ण मुस्करा रहे थे।

आश्चर्य से विदुर का मुख खुला का खुला रह गया, "आप यह भी जानते हैं और फिर भी आप हस्तिनापुर में आए हैं।"

कृष्ण ने स्थिर दृष्टि से उनकी ओर देखा, "यह मैं जानता नहीं हूँ। मेरा अनुमान है। दुर्योधन मुझसे नारायणी सेना ले चुका है। बलराम भैया प्रत्यक्ष रूप से उसके पक्ष में हैं। यादवों में अधिकांश लोग मध्यस्थ हैं और कुछ अन्य लोग दुर्योधन के पक्ष में भी हैं। ऐसे में अब उसे मुझसे कुछ भी और मिलने की कोई संभावना नहीं है, अतः वह स्पष्ट रूप से अपनी शत्रुता प्रकट कर सकता है।" वे रुककर मुस्कराए, "पर यहाँ क्या चर्चा हुई ?"

"आपके आने की सूचना पर धृतराष्ट्र ने वहुत प्रसन्नता प्रकट की और वताया कि वे कितनी वहुमूल्य वस्तुएँ आपको भेंट करने की सोच रहे हैं। मैंने उनसे पूछा कि क्या वे समझते हैं कि इतनी सारी बहुमूल्य वस्तुएँ देकर वे श्रीकृष्ण को पांडवों से विलग कर लेंगे ?"

"क्या कहा उन्होंने ?"

"वही। जो ऐसे सारे अवसरों पर वे कहते हैं। उन्होंने बहुत विस्तार से मुझे समझाया कि उनके मन में आपके लिए कितना सम्मान और कितनी श्रद्धा है। वे पांडवों से कितना प्रेम करते हैं।" विदुर ने बताया, "उन्होंने स्नेह, प्रेम, ममता, मैत्री, शांति और त्याग को लेकर ऐसी-ऐसी आदर्शवादी बातें कीं कि मुझे लगने लगा कि मैं किसी अत्यंत महान् आत्मा के सम्मुख बैठा हूँ और उनकी स्वच्छता और सात्विकता के सम्मुख अत्यंत मलिन और तुच्छ व्यक्ति हूँ।"

"यह उनका सबसे बड़ा अस्त्र है।" कृष्ण बोले, "वे स्वयं जानते हैं कि वे असत्य बोल रहे हैं और फिर भी लोग उनके कथन को सत्य मान रहे हैं तो मन ही मन कितना हँसते होंगे वे ?"

"और तब दुर्योधन बोला कि यह सब करने की कोई आवश्यकता नहीं है। कृष्ण को किसी प्रकार का कोई उपहार देना व्यर्थ है। उसे प्रसन्न कर हमें क्या लेना है।" विदुर ने बताया, "दुर्योधन ने स्पष्ट रूप से कहा कि वह कृष्ण को बंदी बना लेगा और कारागार में डाल देगा। पांडवों का सबसे बड़ा सहारा कृष्ण ही है। उसे बंदी कर लिया तो पांडवों का बल, साहस और भविष्य सब कुछ ही बंदी हो जाएगा। युद्ध का अवसर ही नहीं आएगा। कृष्ण मेरा बंदी होगा तो सारे यादव भी मेरे अधीन होंगे और तब तीनों लोकों में ऐसी कौन-सी शक्ति है जो मेरे सामने खड़ी हो सके।"

कृष्ण अब भी मुस्करा रहे थे, "और तब ?"

"तब पितृव्य भीष्म उठे। उन्होंने कहा कि मंदबुद्धि दुर्योधन अब काल के वश हो गया है। वह अपने हितैषियों के समझाने पर भी अनर्थ करने पर ही तुला हुआ है। धृतराष्ट्र भी सद्विचारों को न मानकर कुमार्ग पर चलनेवाले इस पापात्मा का अनुसरण कर रहे हैं। दुर्योधन ने धर्म का सर्वथा त्याग कर दिया है। वे उस पापी और क्रूर दुर्योधन की बातें और नहीं सुन सकते। यह कहकर वे सभा से उठकर चले गए।" विदुर ने कृष्ण की ओर देखा, "यह सब जानकर भी आप सभा में जाएँगे ?"

"महात्मा विदुर !" कृष्ण के नयनों से जैसे स्नेह की वर्षा हो रही थी, "मैं हस्तिनापुर में आया हूँ तो कौरवों की सभा में भी जाऊँगा ही।"

"क्या करने जाएंगे ? संकट में फँसने ?" विदुर के स्वर में कातरता थी, "दुर्योधन ने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि वह इस जीवन में तो पांडवों के साथ मिलकर अपनी संपत्ति का भोग नहीं कर सकता। संधि की कोई संभावना नहीं है। अब जानने को क्या शेष रह गया है गोविंद !"

"मेरे जानने को कुछ शेष नहीं है। मैं तो सदा से ही यह सब जानता रहा हूँ। किंतु कुछ और लोग हैं, जिन्हें अभी और बहुत कुछ जानना है। मैं कल प्रातः सभा में जाऊँगा ताकि वे लोग जानने योग्य जान सकें।" कृष्ण उठ खड़े हुए, "अब मैं बूआ से मिल लूँ।"

कृष्ण भवन के भीतर चले गए। विदुर और पारंसवी के निवासवाले खंड को पार

करते हुए, वे कुंतीवाले खंड में पहुँचे। कुंती, अपने कक्ष के बाहरवाले प्रकोष्ठ में ही बैठी थीं। कृष्ण ने आगे बढ़कर चरण-स्पर्श किए।

"चिरंजीवी हो पुत्र !" कुंती ने कृष्ण के सिर पर हाथ रखा, "महाराज से मिल कर आ रहे हो ?"

"हाँ बूआ !"

"संधि कर आए अथवा युद्ध होगा ?"

"संभावना तो युद्ध की ही है किंतु अभी संधि का प्रयत्न होगा। उसके विषय में निश्चित रूप से तो कल ही पता पाऊँगा।" कृष्ण बोले, "आप कैसी हैं ?"

"जैसी हो सकती हूँ, वैसी ही हूँ पुत्र !" कुंती ने कहा, "जानती हूँ कि अपने भाइयों की तुम पूरी देख-भाल कर रहे हो। जानती हूँ कि एक सीमा के पश्चात् कोई माता-पिता अपनी संतान के लिए कुछ नहीं कर सकते, फिर भी अपने पुत्रों की चिंता करती हूँ।"

"क्यों चिंता करती हैं बूआ ? आपके पुत्र महावीर हैं। वे सब प्रकार से समर्थ हैं। वे धर्म की छत्रछाया में हैं।" कृष्ण मुस्कराए, "फिर भी उनकी चिंता करती हैं ?"

"चिंता तो मैं इसलिए करती हूँ, क्योंकि मैं उनकी माँ हूँ।" कुंती ने कहा, "न मैं उनकी असहायता और निर्धनता भूल पाती हूँ और न अपनी पुत्रवधू का अपमान। मुझे चिंता है कि अपनी उदारता और क्षमाप्राण बुद्धि के कारण युधिष्ठिर कहीं महाराज धृतराष्ट्र का संधि प्रस्ताव मान ही न ले।"

"संधि प्रस्ताव मानने में आपको क्या आपत्ति है बूआ ? उससे अट्ठारह अक्षौहिणी सेना नष्ट होने से बच जाएगी।" कृष्ण बोले, "उनके परिवारों का शोक टल जाएगा। क्या आपको यह अच्छा नहीं लगेगा ?"

"पाप, अधर्म और अन्याय की रक्षा के लिए शांति का प्रस्ताव एक सुंदर तर्क है।" कुंती ने एक कटु मुस्कान के साथ कहा, "जिन्हें संधि इतनी ही प्रिय है, उनसे कहो कि वे मानवता के इस विनाश को बचाने के लिए थोड़ा त्याग करें। अपने पुत्र दुःशासन को उसके अपराध का दंड भोगने के लिए भीम को सौंप दें। यह भी न कर सकें तो दुर्योधन को कोई पाँच ग्राम देकर, सत्ता, पूर्व-युवराज युधिष्ठिर को सौंप दें। शांति की रक्षा के लिए सारा मूल्य सदा पांडव ही क्यों चुकाएँ? इस संसार में शांति बनाए रखने के लिए धृतराष्ट्र का सिंहासन पर बैठे रहना और मेरे पुत्रों का वनों में भटकते रहना क्यों आवश्यक है। शांति के लिए द्रौपदी ही क्यों अपमानित होती है, दुर्योधन क्यों थोड़ा-सा कष्ट नहीं सहता।··· नहीं केशव ! यह धर्म नहीं है। जिस संधि से अधर्म सत्तासीन होता है, मैं उसकी समर्थक नहीं हूँ। धर्मक्षेत्र को पापियों के रक्त से धुलना ही होगा, तभी वह धर्मक्षेत्र हो पाएगा। शांति के उपासकों से कहो कि यदि सैनिकों को मृत्यु से बचाना है तो वे दुर्योधन को कहें कि वह भी जरासंध के समान भीम से अकेले लड़कर इस युद्ध का निर्णय कर ले। जो विजयी हो, वह राजा हो और

अपराधियों को दंडित करने का उसे अधिकार हो।"

कृष्ण हँसे, "ठीक कहती हैं बूआ ! पापी को दंडित होना ही चाहिए; किंतु दंडित केवल पापी ही नहीं होगा, पाप में उसका सहायक, उसका रक्षक और उस पाप के फल का भोक्ता भी होगा।"

"उनकी सूची तो बहुत लंबी है पुत्र !"

"न्याय सूची देखकर तो नहीं होता बूआ !" कृष्ण उठ खड़े हुए, "तो चलूँ, हस्तिनापुर के युवराज से भी भेंट कर आऊँ। राजा दुर्योधन मुझे न हस्तिनापुर के नगर द्वार पर मिले, न महाराज के मंडप में।"

"तुम तो निर्बंध स्वच्छंद पवन के समान हो कृष्ण ! कोई तुम्हें कहीं जाने से कैसे रोक सकता है।" कुंती ने मुस्कराकर जैसे उन्हें अनुमति दे दी।

दुर्योधन का प्रासाद पर्वत के समान ऊँचा और विराट था। उसको सुंदर और असाधारण बनाने के लिए बहुत सारा धन और स्वर्ण व्यय किया गया था, किंतु उसमें कहीं भी भव्यता और पवित्रता का आभास नहीं होता था। धन का अहंकार और प्रदर्शन अवश्य झलकता था। कृष्ण मन ही मन मुस्कराए, 'वैभव का आतंक इसे ही कहते हैं।'

परिचारिकाएँ कृष्ण को सीधे दुर्योधन के कक्ष में ले गईं। प्रासाद में अनेक लोग दिखाई पड़ रहे थे, जैसे सारा कुरुकुल वहाँ एकत्रित हो; किंतु दुर्योधन के कक्ष में केवल दुःशासन, कर्ण और शकुनि ही थे। उन्होंने कृष्ण का समारोहपूर्वक स्वागत किया। जल, मधुपर्क और अर्घ्य निवेदित किया।

कृष्ण बैठ गए तो अन्य कक्षों से कुछ और लोग भी उनसे मिलने आए। दुर्योधन ने उन सबसे उनका परिचय कराया।

और तब दुर्योधन बोला, "कृष्ण ! चलिए हम पहले भोजन कर लें और फिर आप मेरे इसी भवन के सर्वश्रेष्ठ विश्राम कक्ष में रात के लिए विश्राम कर सकते हैं।"

कृष्ण ने उठने की कोई तत्परता नहीं दिखाई, "नहीं युवराज ! मैं भोजन करने के विचार से नहीं आया हूँ और न ही आपके प्रासाद में रात्रि विश्राम की मेरी कोई योजना है। मेरे हस्तिनापुर प्रवेश से लेकर अब तक आपके दर्शन नहीं हुए थे, इसलिए मैंने सोचा कि आपसे भेंट तो कर ही आऊँ।"

"वह तो ठीक है किंतु आपको मेरे यहाँ भोजन करने में क्या असुविधा है ?" दुर्योधन के मधुर शब्दों और शिष्ट व्यवहार के आवरण के भीतर से भी उसकी खीज प्रतिबिंबित हो रही थी, "हम समधी हैं। हमारे द्वारा निवेदित अन्न, जल, वस्त्र और शैया को आपने इस प्रकार तिरस्कृत कर दिया है, जैसे आप हमसे कोई संबंध ही नहीं रखना चाहते।"

"मैं दूत हूँ।" कृष्ण बोले, "और दूत अपने प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर ही

भोजन तथा सम्मान स्वीकार करता है। आप भी मेरे प्रयोजन की सिद्धि के पश्चात् मेरा और मेरे साथियों का सत्कार कर सकते हैं।"

दुर्योधन का क्षोभ कुछ मुखर हो उठा, "आप केवल दूत ही तो नहीं हैं। हमारे और पांडवों के संबंधी भी हैं। आप मध्यस्थ हैं और संभावित युद्ध के लिए आपने दोनों पक्षों की सहायता की है। मैं आपसे पूछ सकता हूं कि आप हमारा इस प्रकार तिरस्कार क्यों कर रहे हैं ? आपका उद्देश्य सफल हो या न हो, हम निरंतर आपका सम्मान करने का प्रयत्न कर रहे हैं; किंतु उसमें हमें तनिक भी सफलता नहीं मिल रही है। आप हमारे आतिथ्य का निरादर क्यों कर रहे हैं। आपसे हमारा न कोई वैर है न कोई झगड़ा।"

कृष्ण के चेहरे पर मधुर मुस्कान के साथ सात्विक तेज भी दमका, "राजन् ! मैं काम, क्रोध, लोभ, द्वेष अथवा स्वार्थवश कभी धर्म का त्याग नहीं कर सकता। किसी के घर का अन्न या तो प्रेमवश ग्रहण किया जाता है अन्यथा किसी आपत्ति में पड़ कर। प्रेम तुम्हारे मन में नहीं है और मैं किसी आपत्ति में नहीं पड़ा हूं।"

"आपसे किसने कह दिया कि मेरे मन में प्रेम नहीं है ?" दुर्योधन का स्वर आवेशात्मक होता जा रहा था।

"पांडव तुम्हारे भाई हैं। वे सर्वगुण संपन्न हैं और सदा धर्म पर चलते हैं। उन्होंने कभी तुम्हारा कोई अहित नहीं किया। तुम सदा ही उनसे अकारण द्वेष करते रहे हो।" कृष्ण बोले, "मेरा पांडवों से ऐसा तादात्म्य है कि मुझे उनसे एकरूप हुआ ही समझो। जो उनसे प्रेम करता है, वह मुझसे भी प्रेम करता है। जो उनसे घृणा करता है, वह मुझसे भी घृणा करता है। उनका मित्र मेरा मित्र है और उनका शत्रु मेरा शत्रु है।"

"इसका क्या अर्थ हुआ ?" दुर्योधन भौंचक रह गया। उसने कृष्ण से इस प्रकार के उत्तर की कभी आशा नहीं की थी।

"इसका अर्थ यह है कि जो द्वेष करता हो, न तो उसका अन्न खाना चाहिए, न उसे अन्न खिलाना चाहिए। तुम पांडवों से द्वेष करते हो और पांडवों में मेरे प्राण हैं।" कृष्ण बोले, "तुम्हारा यह सारा अन्न दुर्भावना से दूषित है, अतः यह मेरे खाने योग्य नहीं है।"

दुर्योधन स्तंभित-सा कृष्ण को देखता रह गया। उसने तो सोचा था कि वे संधि करने आए हैं इसलिए वे सदा उसके अनुकूल रहने का प्रयत्न करेंगे, उसका विरोध करने से बचेंगे; पर कृष्ण तो ···

कृष्ण उठ खड़े हुए, "मैं जा रहा हूं दुर्योधन ! आशा है कल कौरवों की सभा में तुमसे भेंट होगी।"

कर्ण, दुःशासन और शकुनि किंकर्तव्यविमूढ़ से बैठे रह गए। उनकी समझ में ही नहीं आया कि कृष्ण इतनी जल्दी सब कुछ समाप्त कर उठकर कैसे चले गए। वे संधि करने आए थे अथवा संधि न होने देने की पृष्ठभूमि बनाने आए थे।··· कृष्ण वस्तुतः संधि चाहते हैं या नहीं चाहते ? पर यदि वे संधि नहीं चाहते तो वे हस्तिनापुर क्या

करने आए हैं ? दुर्योधन तो संधि के लिए तैयार ही नहीं है। यदि कृष्ण भी संधि नहीं चाहते तो उनकी इच्छा तो हस्तिनापुर आए विना ही पूरी हो रही थी।··· फिर उन्होंने हस्तिनापुर आने का संकट क्यों उठाया ? दुर्योधन तो राजसभा में कह चुका है कि वह कृष्ण को वंदी वना लेगा··· और यह संभव नहीं है कि सभा में सार्वजनिक रूप से कही गई ऐसी वात की सूचना कृष्ण को न हो। तो फिर वे हस्तिनापुर क्यों आए ?

कृष्ण विदुर के आवास पर लौटे ही थे कि उन्हें पितामह भीष्म के आने की सूचना दी गई।

कृष्ण ने आकर उन्हें प्रणाम किया, "पितामह ! आपने आने का कष्ट किया। मुझे बुला लिया होता।"

"बुलाने ही तो आया हूँ श्रीकृष्ण !" पितामह वोले, "मुझे सूचना मिली कि अपने हस्तिनापुर प्रवास में आपने दुःशासन अथवा दुर्योधन के भवन में ठहरना अस्वीकार कर दिया है। इसलिए मेरा धर्म है कि मैं आपको अपने आवास पर ठहरने के लिए आमंत्रित करूँ। आशा है कि आप मेरा यह निमंत्रण स्वीकार करेंगे।"

कृष्ण को लगा कि उनके सम्मुख एक ऐसा कुलवृद्ध खड़ा है, जो अपनी अगली पीढ़ियों के चारित्र्य पर लज्जित है किंतु उनके सम्मुख असहाय है।

"इस निमंत्रण के लिए मैं आपका आभारी हूँ पितामह !" कृष्ण वोले, "पर क्या आप को यह नहीं लगता कि महात्मा विदुर के घर रहकर भी मैं आपका ही अतिथि हूँ। क्या आप आर्य विदुर को अपनी ही संतान नहीं मानते ?"

"घर तो यह भी मेरा ही है; किंतु इस तर्क से तो दुर्योधन का घर भी मेरा ही घर है।" भीष्म हँसे, "विदुर ने अपने अपरिग्रही स्वभाव के कारण अपने यहाँ वे सारी सुविधाएं नहीं जुटाई हैं, जिनके आप अभ्यस्त हैं। संभवतः यहां रुकने से आपको तो असविधा हो ही, कहीं विदुर को भी संकुचित न होना पड़े।"

इस वार कृष्ण भी हँसे, "तो आप हम दोनों को ही धर्म-संकट से वचाना चाहते हैं।··· पर पितामह ! मैं यहां इसलिए तो नहीं आया कि एक महात्मा को संकुचित करूँ। आप जानते हैं कि अपने ऐश्वर्य के होते हुए भी मैं एक गोपाल हूँ। प्रकृति के निकट रहना मुझे माँ की गोद में रहने जैसा लगता है। मुझे आर्य विदुर के घर में कोई असुविधा कैसे हो सकती है।" सहसा कृष्ण रुक गए, "वैसे मेरी इच्छा है कि मैं आपके घर पर आप के साथ कुछ समय व्यतीत करूँ। आपका आतिथ्य ग्रहण करूँ। किंतु पितामह ! मैंने दुर्योधन से कहा है कि पांडव मेरे प्राण हैं। मैं उनके साथ एकरूप हूँ। जो उनसे द्वेप करता है, वह मुझसे भी द्वेप करता है, जो उनका शत्रु है, वह मेरा भी शत्रु है।" कृष्ण ने भीष्म की आंखों में देखा, "मैं उस व्यक्ति का अन्न नहीं खा सकता, जो पांडवों के विरुद्ध युद्ध करेगा। क्या आप मुझे यह आश्वासन दे सकते हैं कि यदि युधिष्ठिर और दुर्योधन में युद्ध हुआ तो आप दुर्योधन के पक्ष से नहीं लड़ेंगे ? आप दुर्योधन की रक्षा नहीं करेंगे ?"

भीष्म उनकी ओर देखते रहे किंतु कुछ वोले नहीं। कुछ समय के पश्चात् धीरे

से बोले, "श्रीकृष्ण ! मैं नहीं चाहता कि यह युद्ध हो; किंतु लगता है कि मैं इसे रोक नहीं पाऊंगा।"

"प्रश्न युद्ध का नहीं, आपकी मध्यस्थता का है। क्या आप धर्म का पक्ष ले कर पांडवों की ओर से दुर्योधन की सेना के विरुद्ध युद्ध करने को प्रस्तुत हैं ?" कृष्ण बोले, "अथवा आप एक मध्यस्थ के समान युद्ध से तटस्थ रह सकते हैं ?"

भीष्म मौन बैठे रहे। वे अपने असमंजस से बाहर नहीं निकल पा रहे थे। उन्हें लग रहा था कि कृष्ण ने उनके चारों ओर एक व्यूह रच दिया है। उन्हें व्यूह तोड़ना है तो बाण संधान करना ही पड़ेगा अथवा आत्मसमर्पण की स्थिति आ जाएगी।

"श्रीकृष्ण ! आपसे यह छिपा नहीं है कि मेरा मन आपके सम्मुख समर्पण कर चुका है। आपसे मेरा कोई विरोध नहीं है। विरोध मेरा पांडवों से भी नहीं है। वे मेरे पौत्र हैं और मुझे दुर्योधन से अधिक प्रिय हैं।" भीष्म बोले, "किंतु मैं अपने धर्म के बंधन में बँधा हूँ। मैं धर्म के विरुद्ध नहीं जा सकता। जहाँ धर्म मुझे खड़ा करेगा, मैं आपको वहीं खड़ा मिलूँगा।"

"क्या ऐसा नहीं हो सकता पितामह कि कोई अपना धर्म समझने में ही भूलकर रहा हो।" कृष्ण मुस्कराए, "वह अपने मोह को ही धर्म मानकर चल रहा हो।"

भीष्म ने चौंककर कृष्ण की ओर देखा, "मैंने आजीवन धर्म की साधना की है। मुझसे ही धर्म को समझने में भूल हो रही है ?"

"कोई वृद्धा इस कारण तो संसार की सर्वश्रेष्ठ पाककला विशेषज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि उसने अपनी किशोरावस्था से अपने ढंग की रोटियाँ सेंकी हैं। कोई वृद्ध श्रमिक इसलिए तो सर्वश्रेष्ठ वास्तुशिल्पी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसे ईंटें जोड़ते हुए पचास वर्ष हो गए हैं।" कृष्ण बोले, "मेरी बात आपको बहुत कठोर लग सकती है, किंतु पितामह ! आप जिसे धर्म समझ रहे हैं, वह आपका बंधन मात्र है। धर्म बाँधता नहीं, मुक्त करता है। धर्म और मोह का निर्वाह एक साथ नहीं हो सकता। आपने धर्म की निर्ममता को नहीं पहचाना क्या ?"

भीष्म कृष्ण को देखते रह गए। हाँ ! कृष्ण का कथन सत्य था। भीष्म ने जब से स्वयं को बाँधना आरंभ किया था, तब से कभी खोला नहीं था। वे कुल के साथ बँधे थे, कृष्ण नहीं बँधे; नहीं तो कदाचित् सारे संसार पर यादवों का राज्य होता। कृष्ण ने यादवों को द्वारका से आगे अपना प्रसार करने नहीं दिया। भीष्म हस्तिनापुर से बँधे बैठे थे, कृष्ण ने मथुरा का त्याग करने में तनिक भी मोह नहीं दिखाया।… सत्य कहते हैं कृष्ण ! धर्म उनका बंधन नहीं था, पर भीष्म ने तो धर्म को सदा बंधन के रूप में ही देखा है।…

"जहाँ इतना कुछ कहा है, वहाँ एक और कठोर बात कहने की अनुमति चाहता हूँ पितामह !" कृष्ण बोले, "आपके प्रति अपनी ममता से बाध्य हूँ। कहे बिना रह नहीं पाऊंगा।"

भीष्म चकित थे। विचित्र है, यह कृष्ण भी ! एक ओर अपनी ममता की बात कर रहा है और दूसरी ओर कठोर बात कहने की अनुमति माँग रहा है···

"कहिए श्रीकृष्ण !"

"महाराज प्रतीप और शांतनु के समय की कौरवों की राजसभा और धृतराष्ट्र तथा दुर्योधन के समय की राजसभा में बहुत अंतर है, यह तो आप भी देख रहे होंगे।"

"स्पष्ट ही है।"

"कभी इसके कारण पर विचार किया है आपने ?"

"हमारी अगली पीढ़ियाँ पतनोन्मुखी होती गई हैं।" भीष्म बोले।

"क्यों होती गई हैं ? कौन उत्तरदायी है उसके लिए ?" कृष्ण बोले, "वे लोग ही तो, जो अपने मोह के कारण अधर्म को अधर्म नहीं कह सके। वे लोग ही तो जो पारिवारिक शांति के लिए, धर्मराज युधिष्ठिर के साथ होता हुआ अन्याय देखकर मौन रहे और उससे दुर्योधन का समर्थन करते रहे। अपने उत्तराधिकारी को चुनने की भूल ही तो कारण है इसका। आज फिर दुर्योधन और युधिष्ठिर आमने-सामने खड़े हैं। आप से धर्म आज भी पूछ रहा है, किसे चुनेंगे आप ? आज फिर आप दुर्योधन का पक्ष लेंगे, युधिष्ठिर के वध का कारण बनेंगे और समय को कोसेंगे कि कलियुग आ गया है अथवा आ रहा है। युग तो आपके कर्म में है पितामह ! आप सत्य का पक्ष लें तो सत्ययुग है और आप असत्य का संरक्षण करें तो कलियुग है ही।"

भीष्म को लगा कि उनका मस्तिष्क फट जाएगा। उनके पास कृष्ण के किसी प्रश्न का कोई उत्तर नहीं था; किंतु वे हस्तिनापुर और कुरुकुल का विरोध नहीं कर सकते थे। वे कुरुकुल के विनाश के प्रेरक नहीं हो सकते थे···

वे उठ खड़े हुए, "अच्छा श्रीकृष्ण ! कदाचित् मेरे भाग्य में आपका आतिथ्य करना नहीं बदा है, किंतु हस्तिनापुर में आकर किसी प्रकार की असुविधा झेलने को आप बाध्य नहीं हैं। विदुर के लिए मेरा घर पराया नहीं है।"

भीष्म चले गए। उनके चरणों का भारीपन उनके लिए ही नहीं विदुर और कृष्ण के लिए भी कष्टकारक सिद्ध हो रहा था।

पितामह को गए अधिक समय नहीं हुआ था कि दो और रथ आकर विदुर के द्वार पर रुके। पहले रथ में आचार्य द्रोण और अश्वत्थामा थे और दूसरे रथ से कृपाचार्य उतरे।

विदुर समझ रहे थे कि वे लोग भी श्रीकृष्ण से ही भेंट करने आए थे। विदुर से भेंट करने आने की संभावना बहुत कम ही थी।

"संभवतः ये भी आपको निमंत्रित करने आए हैं।" विदुर बोले।

कृष्ण मुस्कराकर रह गए, कुछ बोले नहीं।

आचार्य ने आकर कृष्ण और विदुर की मंगल कामना की।

"श्रीकृष्ण ! मुझे अश्वत्थामा से ज्ञात हुआ कि किन्हीं कारणों से आपको दुर्योधन और दुःशासन का निमंत्रण असुविधाजनक लगा है तो मुझे लगा कि मेरे लिए यह स्वर्ण अवसर है कि मैं आपको अपने आश्रम में विश्राम करने को आमंत्रित करूँ।" द्रोण बोले, "आप मेरे सर्वप्रिय शिष्य के अभिन्न मित्र हैं, इसलिए आपको मेरा अन्न पराया नहीं लगना चाहिए। पिता और गुरु का अन्न परान्न नहीं होता। और फिर आप धर्म के ज्ञाता हैं, आपके साथ दो-चार दिनों का सत्संग लाभकारी होगा।"

"इस निमंत्रण के लिए आपका आभारी हूँ आचार्य ! किंतु आप जानते ही होंगे कि मैं पांडवों का दूत हूँ और युधिष्ठिर और द्रुपद का पक्ष एक ही है। क्या आप मेरा आतिथ्य करते समय द्रुपद के प्रति अपना द्वेष त्याग सकेंगे ?" कृष्ण अत्यंत सहज भाव से आचार्य की ओर देख रहे थे।

"मैंने तो आपको पांडवों के दूत के रूप में आमंत्रित किया है।" आचार्य ने मुस्कराने का प्रयत्न किया, किंतु मुस्करा नहीं पाए।

"दूत तो मैं धर्मराज युधिष्ठिर का ही हूँ।" कृष्ण बोले, "किंतु पांडवों और पांचालों का पक्ष एक ही है। उनका जो पहला दूत आया था, वह महाराज द्रुपद का ही पुरोहित था।"

द्रोण ने एक तीखी दृष्टि से कृष्ण की ओर देखा, "श्रीकृष्ण ! क्या यह सत्य है कि आप नहीं चाहते कि यह संधि हो ? आप शांति के पक्षधर होकर नहीं आए हैं ?"

"मैं तो धर्म का पक्षधर हूँ आचार्य !" कृष्ण का स्वर अत्यंत प्रखर था, "मैं धर्म-स्थापना के पक्ष में हूँ, शांति और संधि के माध्यम से हो जाए तो सबसे अच्छा, न हो तो युद्ध के माध्यम से हो। मेरा गंतव्य न शांति है न युद्ध, मेरा गंतव्य तो धर्म है।"

"मैं भी तो अपने धर्म का ही निर्वाह कर रहा हूँ।"

"धर्म में द्वेष का कोई काम नहीं है।" कृष्ण मुस्कराए, "आप द्रुपद के प्रति अपना द्वेष त्याग सकें तो मैं इसी समय आपके साथ चलने को प्रस्तुत हूँ।"

"क्या द्रुपद के मन में द्वेष नहीं है ? प्रतिशोध का भाव नहीं है ? वहां क्या धर्म है ?" कृपाचार्य बोले।

"वहाँ क्षत्रिय धर्म है।" कृष्ण मुस्कराए, "आपने उनके राज्य का अपहरण किया है। क्या यह असत्य है ?"

"वह मेरा प्रतिशोध था।" आचार्य बोले।

"वह प्रतिशोध तो तब होता, जब द्रुपद ने आपका राज्य छीना होता। आपका सम्मान छीना होता। आपके धन का अपहरण किया होता।" कृष्ण बोले, "उन्होंने तो आपसे अपने राज्य में बसने और आपका भरण-पोषण करने का प्रस्ताव किया था। आप ही अपने अहंकार में उस एक सामान्य से सामाजिक सत्य को अपना अपमान मान कर अपनी शक्ति के उन्माद में उनका अपमान कर बैठे।"

"अतीत को परिवर्तित करना अब मेरे वश में तो नहीं है।" द्रोण बोले, "द्रुपद

ही उसे विस्मृत क्या नहीं कर सकते।"

"द्रुपद उसे विस्मृत कर सकते हैं। अपनी प्रतिहिंसा और प्रतिशोध के भावों को त्याग सकते हैं।" कृष्ण बोले, "किंतु पहले आप अपना लोभ तो छोड़ें। उनका राज्य तो उन्हें लौटाएँ। अपने अपराधों का परिमार्जन किए विना तो किसी की प्रतिहिंसा शांत नहीं की जा सकती आचार्य।"

"तो हम धृष्टद्युम्न से भयभीत नहीं हैं श्रीकृष्ण !" अश्वत्थामा ने कुछ आवेश में कहा।

"भय में किया गया परिमार्जन, प्रायश्चित्त अथवा त्याग तो परिमार्जन, प्रायश्चित्त तथा त्याग होता ही नहीं। त्याग तो धर्म की दृष्टि से होना चाहिए।" कृष्ण बोले, "तुम धृष्टद्युम्न से भयभीत नहीं हो, किंतु अपने मन से पूछ कर देखो, क्या तुम निर्धनता से भयभीत हो ? दुर्योधन ने युधिष्ठिर की संपत्ति का अपहरण किया है और तुम्हारे पिता ने महाराज द्रुपद की। दोनों पराए धन का लोभ छोड़ नहीं पा रहे हैं। तो फिर शांति कैसे स्थापित की जा सकती है ?"

"चलो अश्वत्थामा !" द्रोण उठकर खड़े हो गए, "श्रीकृष्ण ! ऐसे तो आप संधि नहीं करवा पाएँगे।"

"मैं संधि माँगने आया भी नहीं।" कृष्ण मुस्करा रहे थे, "मैं तो न्याय माँगने *आया हूँ, धर्म को स्थापित करने आया हूँ। उसका माध्यम चाहे जो भी हो।"*

वे लोग चले गए। विदुर, पारंसवी और कुंती ने कृष्ण को भोजन कराया।

कृष्ण के चेहरे पर पूर्ण तृप्ति देखकर विदुर को संतोष हुआ। बोले, "श्रीकृष्ण ! क्या आप सत्य ही अब भी कल कौरवों की सभा में संधि का प्रस्ताव करने जाएंगे ?"

"मैं उसी उद्देश्य से आया हूँ महात्मन् !" कृष्ण प्रसन्न मुद्रा में थे।

"आप जानते हैं केशव ! कि दुर्योधन मंदबुद्धि और धर्मनाशक है। वह अपने लिए दूसरों से सम्मान मांगता तो है; किंतु किसी का सम्मान करना उसे नहीं आता। वह गुरुजनों और धर्मशास्त्रों की आज्ञा को नहीं मानता। वह हठी, अहंकारी और स्वयं को पंडित माननेवाला है। वह भोगासक्त, मित्रद्रोही, कृतघ्न, असत्य प्रेमी और विवेकशून्य है।" विदुर बोले, "उस पर आपके समझाने का कोई प्रभाव नहीं होगा। संभव है, वह आपका अपमान ही कर बैठे। फिर भी आप सभा में जाएँगे ?"

"मनुष्य ने केवल विचार ही किया हो, विचार को कर्म में परिणत न किया हो तो उसे उस कर्म का कर्ता नहीं मान लेना चाहिए। संभव है कि वह उसे कर्म में परिणत न करे और उसका विचार भी बदल जाए। इसलिए मैं सभा में जाऊँगा।" कृष्ण बोले, "आप जो कुछ बता रहे हैं, वह सब मैं जानता हूँ, फिर भी पृथ्वी को विनाश से बचाने का एक प्रयत्न करना चाहता हूँ। शांति के लिए मैं धर्म और अर्थ के अनुकूल हिंसारहित

प्रस्ताव करना चाहता हूँ, परिणाम जो भी हो।"

"मैं आपको पहले भी वता चुका हूँ, वहाँ आपके प्राणों के लिए संकट भी हो सकता है।" विदुर ने वह कह दिया, जिसे वे अव तक बचाते आ रहे थे।

कृष्ण के अधरों पर जैसे एक मायावी मुस्कान उभरी, "मुझे इससे भय नहीं लगता विदुर काका !"

22

परिचारिका ने आकर उद्धव को वताया कि सुभद्रा उससे मिलने आ रही है, तो उसे आश्चर्य नहीं हुआ; किंतु सुभद्रा के साथ द्रौपदी, बलंधरा और करेणुमती को देखकर वह चकित रह गया।

"आश्चर्य हुआ न भैया ?" सुभद्रा ने हँसकर पूछा।

"हाँ ! आश्चर्य तो हुआ।" उद्धव को स्वीकार करना पड़ा, "वैसे अपने अतिथि से मिलने आना कोई असामान्य वात तो नहीं है, किंतु मैंने यह कल्पना नहीं की थी कि पांडव-कुलवधुएँ इस प्रकार संगठित हो कर इस वेचारे उद्धव पर धावा बोल देंगी।"

"वस्तुतः हमारे मन में एक जिज्ञासा है, जिसका समाधान तुम ही कर सकते हो उद्धव !" द्रौपदी ने कहा, "मुझे लगा कि अपना सिर फोड़ने से अच्छा है कि तुम से ही उस जिज्ञासा का समाधान करा लिया जाए ।..."

"मध्यम पांडव कह रहे थे कि उद्धवजी का नाम तो समाधानक ही होना चाहिए।" वलंधरा बोली, "आजकल सारी समस्याओं और जिज्ञासाओं के समाधान उद्धवजी के पास ही हैं।"

उद्धव पहले तो हतप्रभ-सा वलंधरा को देखता रहा : उसे वलंधरा से यह सव सुनने की तनिक भी आशा नहीं थी, पर जव उसे स्मरण हो आया कि वह भीम की पत्नी होने के अधिकार से उसी शैली में बोल सकती है तो वह हँसा, "मध्यम पांडव की सेवा में मेरी ओर से हाथ जोड़कर विनीत भाव से यह निवेदन कर दीजिएगा कि उद्धव की अपने विषय में ऐसी कोई धारणा नहीं है। न कभी मैंने ऐसी कोई घोषणा की है। यह अधिकार तो श्रीकृष्ण का है। इसलिए ऐसी कोई भी उपाधि वे मुझ पर नष्ट न करें।"

"उद्धव !" वार्तालाप को भटकते देख, द्रौपदी ने चर्चा को नियंत्रित करने का प्रयत्न किया, "मध्यम पांडव के आक्षेपों को थोड़ी देर के लिए भूल जाओ और हमें वताओ कि श्रीकृष्ण ने तुम्हें, सात्यकि और कृतवर्मा को द्वारका से क्यों बुलाया ? यदि उन्हें अपने साथ ले जाने के लिए सैनिकों की आवश्यकता थी ही तो उन्होंने उपप्लव्य में एकत्रित वलों में से ही किसी वाहिनी को क्यों नहीं चुना ?"

"और फिर उन्होंने दुर्योधन के पक्षधर, कृतवर्मा पर ही इतना विश्वास क्यों किया, जिसकी निष्ठा पर इन दिनों निर्भर होना, सबसे अधिक घातक हो सकता है ।" सुभद्रा ने कहा।

"अच्छा है कि तुममें से किसी ने यह नहीं पूछा कि श्रीकृष्ण ने मुझे द्वारका से बुलाकर यहाँ क्यों छोड़ दिया, अपने साथ हस्तिनापुर क्यों नहीं ले गए। वे मुझ पर विश्वास नहीं करते अथवा मैं युद्ध में सक्षम नहीं हूँ ?" उद्धव हँसे।

"पूछना तो हमको यह भी है, भैया !" सुभद्रा बोली।

"मैं पहले ही जानता था।" उद्धव बोला, "तुम्हारे इन सारे प्रश्नों के ठीक-ठीक उत्तर तो स्वयं श्रीकृष्ण ही दे सकते हैं। पर यह तो हम सभी जानते हैं कि श्रीकृष्ण यह समझते हैं कि दुर्योधन से अब किसी प्रकार की कोई संधि नहीं हो सकती। वे यह भी जानते हैं कि दुर्योधन को अब उनसे किसी प्रकार के किसी लाभ की भी कोई आशा नहीं है। अपने साथ सेना लेकर हस्तिनापुर जाने का अर्थ यह भी है कि वे मानते हैं कि वे वहाँ सुरक्षित नहीं हैं। तो फिर वे हस्तिनापुर गए ही क्यों ?" उद्धव मौन हो गए।

"क्यों गए ?" सुभद्रा ने पूछा।

"मेरा अनुमान है कि श्रीकृष्ण वहाँ जाकर बलराम भैया, कृतवर्मा तथा दुर्योधन के समर्थक अन्य सारे यादवों को यह दिखाना चाहते हैं कि दुर्योधन वह नहीं है, जो वे उसे समझते हैं। वस्तुतः वे वहाँ दुर्योधन का चरित्र उद्घाटित करने गए हैं।" उद्धव ने कहा, "आप लोग पूछ सकती हैं कि बलराम भैया बीच में कहाँ से आ गए ? मेरा अनुमान है कि कृतवर्मा को श्रीकृष्ण ने बलराम भैया के प्रतिनिधि के रूप में ही बुलाया है। यह निश्चित है कि हस्तिनापुर में दुर्योधन उनके साथ सम्मानजनक व्यवहार नहीं करेगा। वे चाहते हैं कि दुर्योधन द्वारा उन्हें अपमानित करने का वह प्रयत्न कृतवर्मा के नेत्रों से बलराम भैया भी देखें, ताकि उस पर विश्वास कर सकें। द्वारका के सैनिक और सेनानायक देखें कि श्रीकृष्ण से दुर्योधन कैसा व्यवहार कर रहा है, ताकि उन्हें श्रीकृष्ण के दुर्योधन-विरोध का तर्क समझ में आए।"

"तो गोविंद वहाँ जान बूझकर अपमानित होने गए हैं।" द्रौपदी के स्वर में व्यथा का भाव था।

"उन्हें कोई क्या अपमानित करेगा।" उद्धव ने कहा, "जो प्रयत्न भी करेगा, वह मुँह की खाएगा। जो शिशुपाल के साथ हुआ, वह किसी के भी साथ हो सकता है।…" उद्धव की दृष्टि करेणुमती पर जाकर ठहर गई : कहीं उद्धव के मुँह से कोई अनुपयुक्त बात तो नहीं निकल गई।

अपने पिता का नाम सुनकर करेणुमती चौंकी अवश्य थी, किंतु उससे अधिक कोई प्रतिक्रिया उसने प्रकट नहीं की।

"फिर भी बलराम भैया को यह बात समझाने का कोई और उपाय भी हो सकता है।" सुभद्रा बोली, "इस प्रकार शत्रुओं के घर में घुसकर उन्हें अपना अपमान करने

का अवसर देना··· और अपने प्राणों को संकट में डालना···।"

"तुम भूलती हो सुभद्रा ! कि श्रीकृष्ण के लिए अपने मान-अपमान का कोई महत्त्व नहीं है। वे इन सव से उदासीन हैं। सच्चे अर्थों में उत् आसीन। हम सवसे कहीं ऊँचे स्थान पर आसन है उनका। हमारे धरातल पर नहीं जीते वे। जो व्यक्ति संसार भर के राज समाज को एकत्रित कर उनके सम्मुख ऋषियों के जूठे पत्तल उठाने लगता है, उसके लिए सांसारिक मान-अपमान का कोई महत्त्व है क्या ? जो व्यक्ति भौमासुर के प्रासाद से मुक्त कराई गई असंख्य दुखियारी स्त्रियों को समाज में सम्मानजनक स्थान दिलाने के लिए, उन्हें अपनी पत्नी स्वीकार कर, उनका कलंक अपने माथे पर धारण करता है, उसे दुर्योधन द्वारा किए गए अपमान की क्या चिंता हो सकती है। श्रीकृष्ण को चिंता है तो केवल धर्म की। अनेक वार तो मुझे लगता है कि वे मित्र और शत्रु में भी भेद नहीं करते। दोनों को समान भाव से देखते हैं। तभी तो सैनिक सहायता देते हुए उन्होंने धनंजय और दुर्योधन के साथ समान व्यवहार किया। समान अवसर दिया। कोई भेद नहीं रखा।"

"पर शत्रु और मित्र समान कैसे हो सकते हैं ?" द्रौपदी ने तड़पकर पूछा, "मित्र, मित्र है और शत्रु, शत्रु।"

"मैं भी पहले इसी प्रकार सोचा करता था।" उद्धव ने मुस्कराकर कहा, "पर श्रीकृष्ण को देखा और समझा तो लगा कि बात यह नहीं है। उनके लिए शायद कोई शत्रु है ही नहीं। उनके मन में शत्रुता का भाव ही नहीं है। उनको समझकर ही मुझे धर्मराज का महत्त्व भी ज्ञात हुआ। कैसे वे आज भी दुर्योधन के प्रति अपने मन में शत्रुभाव नहीं रखते। कैसे वे अपना, अपने भाइयों और पत्नी का घोरतम अपमान देख कर भी विचलित नहीं होते। उनमें रजोगुण जैसे है ही नहीं। उनके चरित्र को समझना है तो पहले अध्यात्म को समझना होगा। अध्यात्म को जाने विना तो उनका चरित्र हमारे सामने खुलता ही नहीं।···"

उद्धव की बात द्रौपदी को विचलित कर रही थी। वह धर्मराज से इस संदर्भ में कभी सहमत नहीं हुई थी। संभव है कि उसने उनको समझने में भूल की हो। संभव है कि उसके अपने मन में रजोगुण का आधिक्य हो।···पर वह इस विषय में और बात करना नहीं चाहती थी।···

"उद्धव ! हम कृतवर्मा की वात कर रहे थे।"

"हाँ ! मुझे लगता है कि श्रीकृष्ण एक प्रकार से कृतवर्मा का परीक्षण भी करना चाहते हैं।"

"कृतवर्मा का परीक्षण ?" सुभद्रा के मुख से चीत्कार फूटा, "आपका अभिप्राय है कि कृतवर्मा भी उनके साथ छल कर सकता है। कहीं उसने सचमुच छल किया, वह दुर्योधन से मिल गया तो हस्तिनापुर में भैया की रक्षा कौन करेगा ?"

उद्धव देखता रहा और मुस्कराता रहा, जैसे सुभद्रा की घवराहट का रस ले

रहा हो।

"यह क्या भैया ?" सुभद्रा तमककर बोली, "आप ऐसे क्या देख रहे हैं ? आप को चिंता नहीं हो रही ?"

"इसका अर्थ है कि तुम अपने भैया को नहीं जानतीं सुभि !" उद्धव हँसे, "एक तो श्रीकृष्ण को हाथ ही कौन लगा सकता है; और यदि ऐसा कुछ हुआ और कृतवर्मा ने छल किया तो श्रीकृष्ण अपना युद्ध कौशल दिखाएँगे। जिन शस्त्रों को वे कभी प्रकट नहीं करते, उन शस्त्रों को प्रकट करेंगे। किसी अन्य की सहायता की आवश्यकता पड़ी तो सात्यकि है वहाँ। और यदि स्थिति सात्यकि से भी न सँभली तो देखना है कि श्रीकृष्ण की रक्षा के लिए भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य क्या करते हैं। मुझे लगता है कि श्रीकृष्ण, भीष्म, द्रोण तथा कृपाचार्य को भी उनकी मोह निद्रा से जगाना चाहते हैं ।··· और यदि हस्तिनापुर में श्रीकृष्ण असमर्थ सिद्ध हुए और कोई उनकी सहायता को नहीं आया तो उद्धव यहाँ किसकी प्रतीक्षा कर रहा है ? मैं जाऊंगा यादवों की सेना लेकर। और तुम देख लेना, ऐसी किसी भी स्थिति में बलराम भैया हमारे साथ होंगे, दुर्योधन के साथ नहीं।"

"ओह मेरे राम !" द्रौपदी ने अपनी दोनों हथेलियों से अपना मुखड़ा थाम लिया, "गोविन्द कितनी दूर तक सोचते हैं और कैसी-कैसी योजनाएँ वनाते हैं।"

"पर यह सव मेरा अनुमान ही है पांचाली ! कहीं ऐसा मत समझना कि श्रीकृष्ण मुझसे यह सव कह कर गए हैं।" उद्धव ने कहा, "श्रीकृष्ण के कार्य किसी श्रेष्ठ कवि की रचना के समान होते हैं, जिनसे अनेक अर्थ ध्वनित होते हैं और प्रत्येक व्यक्ति उनका अर्थ अपनी क्षमता, आवश्यकता और परिस्थितियों के अनुसार ही समझता है।"

"यदि आप लोगों की जिज्ञासा का समाधान हो गया हो तो मैं भी अपनी जिज्ञासा, आर्य उद्धव के सम्मुख प्रस्तुत करूं।" अव तक चुप वैठी करेणुमती ने कहा।

उद्धव को अव करेणुमती की वह भंगिमा समझ में आई । वह तो अव तक अपने मन की जिज्ञासा में ही उलझी हुई थी। कदाचित् इसीलिए उसने शिशुपाल संवंधी उनके कथन पर अधिक ध्यान नहीं दिया था।

"आप सब लोग अपनी जिज्ञासाएँ इकट्ठी करके लाई हैं क्या ?" उद्धव ने हँस कर कहा।

"जिज्ञासा चाहे किसी की हो, किंतु उत्तर में हम सवकी रुचि है।" वलंधरा वोली, "देविका दीदी की भी, जो यहाँ आ नहीं पाई हैं।"

"तव तो कोई महत्त्वपूर्ण जिज्ञासा होगी।" उद्धव ने कहा, "वोलिए क्या जिज्ञासा है।"

करेणुमती पर्याप्त गंभीर लग रही थी, "श्रीकृष्ण और वासुदेव वलराम, दोनों ही एक प्रकार से दो-दो माताओंवाले पुत्र हैं। श्रीकृष्ण को पहले ज्ञात ही नहीं था कि वे देवकीनंदन हैं। जव तक वे वृंदावन में रहे, वे यही जानते थे कि वे यशोदानंदन हैं और

जव उनको ज्ञात हुआ कि वे वसुदेव-देवकी के पुत्र हैं, वे मथुरा चले आए और लौटकर वृंदावन गए ही नहीं। किंतु वलराम भैया के साथ ऐसा नहीं हुआ। वे आरंभ से ही मातुला रोहिणी के पास थे और उनके पास ही रहे। जव उन्हें यह ज्ञात हुआ कि वे भी देवकीपुत्र हैं, तो उनके व्यवहार में क्या परिवर्तन आया ? मेरा तात्पर्य है कि वे अव भी मातुला रोहिणी को ही अपनी जननी मानते हैं; अथवा अपनी जननी का महत्त्व वे मातुला देवकी को देते हैं ?"

"मातुला देवकी उनकी जननी कैसे हो सकती हैं ?" वलंधरा वोली, "उनको जन्म तो मातुला रोहिणी ने ही दिया है न ? क्यों सुभद्रा ?"

सुभद्रा कुछ सकपका गई, "मैं क्या जानूँ। ये सारी वातें तो मेरे जन्म से पहले की हैं। मैं तो इतना ही जानती हूँ कि वड़े भैया माता रोहिणी के पुत्र हैं। वे उनके साथ रहते हैं। देवकी उनकी माता तो हैं, किंतु वे उनकी जननी··· ऐसा भाव तो उन्होंने कभी नहीं दिखाया।"

"वोलो उद्धव ! वोलो।" द्रौपदी ने हँसकर कहा, "देखो, कैसी सूक्ष्म गवेपणा है। संभव है कि तुम्हारे मन में भी कभी ऐसे प्रश्न उठे हों।"

"हाँ ! है तो सूक्ष्म गवेपणा ही।" उद्धव ने भी हँसकर कहा, "किंतु एकदम ऐसा भी नहीं है कि इनके विषय में मैंने कभी कुछ सोचा ही न हो।। वस्तुतः श्रीकृष्ण और वलराम भैया का व्यवहार कभी एक जैसा नहीं होता, क्योंकि न तो दोनों का स्वभाव एक समान है और न दोनों की परिस्थितियाँ एक जैसी रही हैं।"

"स्वभाव तो एक समान नहीं है किंतु परिस्थितियाँ तो एक जैसी ही थीं।" सुभद्रा ने कुछ चकित स्वर में कहा, "परिस्थितियों में क्या भेद था ?"

"परिस्थितियों में पहला अंतर तो यह था कि यशोदा, श्रीकृष्ण के साथ न मथुरा आई न द्वारका। वे पीछे वृंदावन में ही रह गई। इसलिए श्रीकृष्ण को अपनी दो माताओं का सामना एक साथ कभी नहीं करना पड़ा। यह सूचना मिलते ही कि कान्हा देवकीपुत्र हैं, यशोदा ने उन पर से अपना आधिपत्य ही नहीं अपना अधिकार भी हटा लिया। उन्होंने देवकी काकी को श्रीकृष्ण, पुत्र के रूप में संपूर्णतः सौंप दिया। पर···"

"पर क्या ?" वलंधरा ने पूछा।

"पर वड़े भैया की स्मृति जहाँ तक जाती है, उन्होंने रोहिणी काकी को ही अपनी माता के रूप में जाना है। उन्हें अपनी चेतना के पहले दिन से ही यही ज्ञात हुआ कि वे वसुदेवपुत्र हैं। जव श्रीकृष्ण के देवकीपुत्र होने की सूचना वहाँ प्रचारित हुई, उससे श्रीकृष्ण को अंतर पड़ा हो तो पड़ा हो, वड़े भैया को कोई अंतर नहीं पड़ा। नया केवल इतना ही ज्ञात हुआ कि जिस कान्हा को वे नंदनंदन के रूप में जानते आए थे और उस रूप में भी उस से वहुत प्रेम करते थे, वह उनका अपना ही भाई था।··· ठीक है ?" उद्धव ने उन लोगों की ओर देखा, "वे मथुरा आए तो रोहिणी काकी, उनकी माता के रूप में, उनके साथ थीं। मैं नहीं जानता कि उनके मन में क्या भाव था और

क्या नहीं था; किंतु उनके लिए यह तो संभव नहीं था कि वे रोहिणी काकी से कहते कि अब वे उनकी माता नहीं रहीं। वे माता तो थीं ही उनकी। जन्म दिया तो भी और नहीं दिया, तो भी। वे उनके जनक की पत्नी थीं और उनकी किशोरावस्था तक उन्होंने ही उनका पालन-पोषण किया था। मुझे लगता है कि अपने जीवन में इन दो माताओं को समानांतर पा कर, उन्हें कठिनाई का अनुभव तो हुआ ही होगा। उनके मन में देवकी काकी के लिए ममता भी जागी होगी; किंतु न तो कभी रोहिणी काकी ने यह कहा होगा कि देवकी काकी उनकी जननी हैं, वे उनके पास चले जाएँ और न ही देवकी काकी ने उन्हें बुलाकर कहा होगा कि वे उनके पुत्र हैं, इसलिए रोहिणी को छोड़कर उनके पास आ जाएँ। वे इतने छोटे भी नहीं थे कि जननी को सम्मुख पाकर उनसे लिपट जाते अथवा देवकी काकी ही उन्हें सम्मुख पा, ममत्व से बाध्य हो कर उन्हें गोद में उठा अपने वक्ष से लगा लेतीं । मुझे लगता है कि बड़े भैया के सम्मुख यह एक अप्राकृतिक-सी स्थिति थी और उन्हें इसी को स्वीकार करना था। जब कभी देवकी काकी उनके सामने पड़ती होंगी, उन्होंने अपने किशोर अहम् के कारण उनको परायापन दिखाने का प्रयत्न किया होगा। अपनों को पराया बनाए रखने का बोझ कभी-कभी बहुत भारी पड़ता है। परिणाम यह हुआ होगा कि जब कभी उनके मन में देवकी काकी के प्रति जननी का सा प्रेम उमड़ा होगा, तब उन्होंने उसका दमन किया होगा और प्रयत्नपूर्वक स्वयं को समझाया होगा कि उन्हें अपने मन में देवकी काकी के लिए वैसा भाव नहीं आने देना है। रोहिणी काकी को माता मानते हुए भी वे जानते थे कि वे उन की जननी नहीं थीं ; और देवकी काकी को अपनी जननी मानते हुए भी, वे उसे कभी स्वीकार नहीं कर पाए। तो इस असहज स्थिति में जीवन व्यतीत करने के कारण कुछ न कुछ तो असहज हो ही गए हैं। यह स्वाभाविक ही है। रोहिणी काकी भी उन्हें निरंतर इस बात का स्मरण कराती रही होंगी कि वे ही उनकी माता और जननी हैं। ऐसा न हो कि वे देवकी को सम्मुख देखकर उनके ही हो जाएँ। संभव है बड़े भैया उन्हें विश्वास दिलाते रहे हों कि वे ऐसे नहीं हैं। वे उनके हैं और उनके ही रहेंगे। वे उन्हें छोड़कर कहीं नहीं जाएँगे।··· मैं सोचता हूँ··· ।" और सहसा उद्धव ने मौन साध लिया।

वाग्धारा कुछ इस प्रकार रुकी थी कि उद्धव के श्रोताओं को एक झटका-सा लगा। सबने जैसे चौंककर उनकी ओर देखा, "क्या सोचते हैं आप ?"

"कुछ नहीं !" उद्धव ने कहा, "यदि कुछ सोचता भी हूँ तो उसका यहाँ कहना उचित नहीं है। बलराम भैया कोई दूर के अथवा पराए व्यक्ति तो हैं नहीं कि उनके विषय में अनुमान भिड़ाए जाएँ और उन्हें इस प्रकार की पारिवारिक गप्प-गोष्ठी का विषय बनाया जाए। वे बड़े हैं और हमारे सम्माननीय हैं, चाहे वे इस समय दुर्योधन के ही पक्षधर क्यों न हो गए हों।"

"अब तुम वाग्जाल फैला रहे हो उद्धव !" द्रौपदी के स्वर में भरपूर डाँट थी, "यह पाखंड हमारे साथ मत करो। जो मन में आया था अथवा आया है, वह कहो।

हाँ ! हमसे यह वचन चाहते हो कि इसकी भनक तक बड़े भैया के कानों में नहीं पड़ेगी, तो वह वचन हम दे सकती हैं।" और रुकते-रुकते भी द्रौपदी ने जोड़ दिया, "वैसे भी अब उनसे हमारी भेंट होने की कोई संभावना नहीं है।"

उद्धव ने सुभद्रा की ओर देखा।

"कहिए न भैया !" वह बोली, "यहाँ ऐसा कौन है, जिससे आप घबरा रहे हैं। क्या लोग अपने परिवार के अन्य सदस्यों के विषय में परस्पर चर्चा नहीं करते। मुझे तो लगता है कि जब कभी भी परिवार के लोग एकत्रित होते हैं तो उनका सर्वप्रिय मनोरंजन ही सारे सदस्यों की अर्थप्रकृति को खोज निकालना होता है।"

"ठीक है।" उद्धव ने अपनी इच्छा के विरुद्ध अनमने भाव से सुभद्रा के अनुरोध का मान रखने का अभिनय किया, "मुझे लगता है कि कभी-कभी उनके मन में इसी कारण से देवकी काकी का विरोध जागा होगा कि उन्होंने उन्हें कभी श्रीकृष्ण के समान अपना पुत्र नहीं माना। उन्हें इसी कारण देवकी काकी की अन्य संतानों से ईर्ष्या भी हुई होगी। उनके मन में यह भी आया हो सकता है कि इन सब लोगों ने मिलकर उन्हें पराया घोषित कर दिया है। इसी कारण से अजाने ही उन सबके प्रति उपालंभ, विरोध, तुलना, स्पर्धा तथा ईर्ष्या का भाव जागा होगा। संभव है कि उन्होंने कभी-कभी यह भी सोचा हो कि क्या ही अच्छा हो कि वे कुछ ऐसा करें कि देवकी माता उन्हें इस प्रकार पराया कर देने के लिए पछताएँ। उन्हें अपने पास बुलाएँ, उन्हें अपने वक्ष से लगाने के लिए तड़पें; किंतु तब वे देवकी माता की उस ममता का तिरस्कार कर दें। वे स्वयं चाहे जानते भी न हों, किंतु मुझे लगता है कि वे अपनी इस स्थिति तथा अपने इन संबंधों के कारण एक अनाम-सी व्यथा का अनुभव करते रहे हैं और उसके कारण वे उन लोगों की इच्छा के विरुद्ध चलकर, एक प्रकार से उनको पीड़ित कर, अपनी व्यथा का प्रतिशोध लेने का प्रयत्न भी करते रहे हैं। मुझे तो उनके श्रीकृष्ण-विरोध का मूल कारण ही यही लगता है। उनका यह विरोध, एक प्रकार से उनके वंचित मन का ममता के लिए चीत्कार है; किंतु अब वे इतने बड़े हो चुके हैं और उनका मन इस प्रकार पक चुका है कि वे इस बात को स्वीकार नहीं करेंगे।"

"बात तो ठीक ही लगती है।" द्रौपदी बोली, "काफी जटिल चरित्र है उनका।"

"जब परिस्थितियाँ उलझी होंगी, मन में ग्रंथियाँ होंगी तो चरित्र ऋजु कैसे रह सकता है।" उद्धव ने कहा।

"भैया, आप जो कुछ भी कह रहे हैं, वह सर्वथा सत्य प्रतीत हो रहा है; किंतु आपकी बातों से ही मेरे मन में कुछ जिज्ञासाएँ जाग उठी हैं।" सुभद्रा ने कहा, "मैं तो सुनती आई हूँ कि गोकुल और वृंदावन में भी कृष्ण और बलराम एक साथ ही खेलते थे। एक साथ गौवें चराने वन जाते थे। कृष्ण बड़े भैया को तब से ही 'दाऊ' कहते थे... ।"

"ठीक सुना है तुमने ।" उद्धव ने कहा।

"तो जब वे जानते ही नहीं थे कि वे दोनों भाई हैं, तो कृष्ण बड़े भैया को 'दाऊ' कैसे कहते थे ? वे और किसी को तो 'दाऊ' नहीं कहते थे।" सुभद्रा ने कहा, "वे यशोदा मैया के सम्मुख दाऊ के प्रति अपना असंतोष ही व्यक्त नहीं करते, वे उन पर अभियोग भी लगाते हैं। इन सबसे तो ऐसा नहीं लगता कि वे भाई नहीं हैं, एक घर में नहीं रहते, अथवा उन दोनों की माता यशोदा नहीं हैं। इन सारे प्रसंगों में किसी भी और गोपाल का नाम नहीं आता। एक दाऊ ही हैं सब स्थानों पर।"

"ठीक कहती हो सुभद्रा ! इन सब विवरणों को सुनकर तो ऐसा ही लगता है। मुझे कोई आपत्ति भी नहीं है। तुम ऐसा मानना चाहो तो मान सकती हो।"

"प्रश्न यह नहीं है कि मैं क्या मानना चाहती हूँ।" सुभद्रा बोली, "प्रश्न तो मन में उठी जिज्ञासा का है। आप कर सकें तो जिज्ञासा का समाधान करें। इस भ्रम का निवारण करें।"

"मैं इस सारे प्रसंग को इस प्रकार देखता हूँ।" उद्धव ने कहा, "जब वसुदेव काका को अपने विभिन्न प्रयत्नों के पश्चात् यह समझ में आ गया कि उनकी और उनकी नव विवाहिता पत्नी देवकी की स्वतंत्रता केवल मथुरा तक ही सीमित है और कंस उनको मथुरा से बाहर नहीं जाने देगा, तो उन्होंने अपनी अन्य रानियों को मथुरा से बाहर भेजने का प्रयोग आरंभ किया होगा। उसी में उन्होंने रोहिणी काकी को मथुरा से बाहर भेजा होगा। वे वृंदावन आईं, यमुना ही तो पार करनी थी। वृंदावन में उन की कुछ भूमि थी। कुछ पशु थे। नंद उन पशुओं की देखभाल करते थे। संभवतः रोहिणी काकी पहले नंद के घर में ही उतरी हों। फिर उन्होंने अपनी भूमि पर अपने लिए अपने आवास का प्रबंध किया होगा। अपनी आवश्यकतानुसार अपने कुछ पशु अपने पास रखे होंगे। यह वह समय है, जब न रोहिणी काकी की कोई संतान थी, न यशोदा मैया की। वे दोनों निकट ही रहती थीं, इसलिए अपनी आवश्यकता के लिए भी और सामाजिकता के लिए भी एक-दूसरी से मिलती-जुलती रहती होंगी। उनके आर्थिक और सामाजिक स्तर में पर्याप्त अंतर था, किंतु फिर भी एक प्रकार की मैत्री उनमें स्थापित हो गई थी। बलराम के वृंदावन में अवतरण तक यशोदा की कोई संतान नहीं थी, इसलिए रोहिणी काकी बलराम भैया को यशोदा के पास छोड़ दिया करती थीं। यशोदा बलराम की मैया नहीं तो मौसी तो थीं ही।... तब श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। बलराम उस समय डेढ़ दो वर्ष के रहे होंगे। वे उसी प्रकार यशोदा के पास आते रहे, जैसे पहले आया करते थे। वे लगभग उस घर के बालक जैसे ही थे। यशोदा अपने सहज स्नेह से उनके साथ खेला भी करती थीं और उनको खिलाया-पिलाया भी करती थीं। अब कृष्ण के आ जाने से बलराम के लिए नंद के घर में एक और आकर्षण बढ़ गया था। उन्हें एक नया और जीता-जागता खिलौना मिल गया था। वह उन्हें सहज ही अपने भाई जैसा ही प्रिय था। अब तक वे अकेले थे, अब दो हो गए थे। यशोदा ने भी कृष्ण को बलराम के लिए 'दाऊ' संबोधन ही सिखाया था। नंद ने भी इसे विशेष रूप से प्रोत्साहित किया हो

सकता है । थे तो वे दोनों भाई ही। यशोदा को इस प्रोत्साहन का कारण तो ज्ञात नहीं था, न कभी उन्होंने पूछा ही था। उन्होंने मान लिया था कि नंद वसुदेव की पत्नी और उनके प्रति अपना सम्मान दिखा रहे थे।" सहसा उद्धव रुक गए, "तुम लोगों ने कभी ध्यान दिया है कि कृष्ण-बलराम के शैशव के विषय में जो कुछ भी जानने-सुनने को मिलता है, उसमें कृष्ण-बलराम का ही संबंध है। कहीं-कहीं बलराम और यशोदा की भी चर्चा मिल जाती है, किंतु क्या कृष्ण और रोहिणी की भी चर्चा कहीं मिलती है ?"

"नहीं।" सुभद्रा ने अनायास ही कहा।

"क्यों ?"

"पता नहीं।" बलंधरा बोली, "किंतु है यह विचित्र बात ही।"

"नहीं ! इतनी कोई विचित्र भी नहीं है।" उद्धव ने कहा, "सोचो, रोहिणी काकी के पास अपनी संतान थी, इसलिए उन्हें पड़ोसियों के बच्चों को खेलाने का अवकाश नहीं था। फिर वे यह भी तो नहीं जानती थीं कि कृष्ण देवकीपुत्र हैं। वे तो यही जानती थीं कि वे यशोदानंदन हैं। ऐसे में गोपालों के उस मुखिया के पुत्र के प्रति उन्हें किसी आकर्षण का अनुभव नहीं हुआ होगा। पर यह पूछा जा सकता है कि जब सारा ब्रज कृष्ण के प्रति आकृष्ट था तो रोहिणी काकी ही क्यों आकृष्ट नहीं हुई ?"

"हाँ ! यह प्रश्न तो बहुत महत्त्वपूर्ण है।" द्रौपदी ने कहा।

"मेरा अनुमान है कि नंद स्वयं ही यह नहीं चाहते होंगे कि कृष्ण किसी भी प्रकार रोहिणी के घर जाएँ, उनके निकट रहें और उनके प्रिय बनें। उन स्थितियों में कृष्ण का संबंध वसुदेव से भी जोड़ा जा सकता था। उन्हें भय होगा कि उससे कृष्ण का भेद खुल जाएगा अथवा कंस के गुप्तचरों को संदेह हो जाएगा। वे अधिक से अधिक इस बात को प्रचारित करना चाहते होंगे कि कृष्ण यशोदा के पुत्र हैं।..."

"भैया ! आप अपने इन सारे अनुमानों को परसों के समान कथा के रूप में नहीं सुना सकते ?" सुभद्रा ने पूछा, "अच्छा तो लग रहा है, किंतु वैसा रस नहीं आ रहा।"

और सहसा एक कोलाहल ही मच गया, "हाँ ! कथा के रूप में । कथा के रूप में।"

उद्धव देख रहा था और हँस रहे थे... ये पांडवों की पत्नियाँ इस अवस्था में भी छोटी-छोटी बालिकाओं के समान मचल-मचलकर हठकर रही थीं। लगता था, थोड़ी देर और उनकी बात न मानी तो अभी भूमि पर बैठकर एड़ियाँ रगड़ने लगेंगी।

"अच्छा सुनो ! एक छोटा–सा प्रसंग सुनाता हूँ।" उद्धव ने कहा, "अधिक तंग नहीं करना, नहीं तो मैं भी हस्तिनापुर चला जाऊंगा।"

"ठीक है ।" करेणुमती ने कहा।

"क्या ठीक है ?" उद्धव हँसे, "छोटा-सा प्रसंग, अथवा मेरा हस्तिनापुर चले जाना ?"

"यदि तुमने ठीक से नहीं सुनाया कथावाचक ! तो तुम्हारा हस्तिनापुर जाना

निश्चित है।" द्रौपदी ने धमकाने का अभिनय किया, "वहाँ उन दुष्ट लोगों के साथ रहोगे तो तुम्हें पता चलेगा कि सात्विक लोगों की संगति में कितना आनन्द होता है।"

"तो सुनो, साधु समाज !" उद्धव ने कहा ।

कृष्ण वाहर से आया था और वहुत उत्तेजित था।

"मैया ! मैं कल से दाऊ के साथ खेलने नहीं जाऊँगा।"

"क्यों रे, एक ही तो दाऊ है तेरा, उससे भी रुष्ट रहता है।" यशोदा हँसीं, "क्या आज फिर दाऊ से कुछ मनमुटाव हो गया ?"

"दाऊ वहुत खिझाते हैं मुझे।" कृष्ण ने उपालंभ के स्वर में कहा, "पूछता हूँ तो कुछ वताते नहीं। अपने खेल में मगन रहते हैं।"

"तो क्या हो गया ? खेलने ही तो जाते हैं।" यशोदा हँसीं, "तू भी खेल में मगन हो जाया कर।"

"मैंने तो कह दिया कि मैं अपने वावा से कह दूँगा सव कुछ। खूव पीटेंगे तुम्हें।" कृष्ण ने वताया।

"तो क्या कहा वलराम ने ?" यशोदा को जैसे वालकों के झगड़े में रस आने लगा था।

"दाऊ क्या कहेंगे। वोले, 'मैं भी अपने वावा को कह दूँगा। वे तुम्हारे वावा को पीटेंगे।' तो मैंने उन्हें अँगूठा दिखा दिया। 'ठेंगा पीटेंगे। उनके वावा तो यहाँ हैं ही नहीं। मथुरा में हैं। जव तक मथुरा से यहाँ आएँगे, मेरे वावा महाराज कंस के पास नहीं पहुँच जाएँगे, न्याय माँगने।…' "

नंद का मन काँप कर रह गया… यह इतना-सा कृष्ण क्या-क्या सीख रहा है। यह कंस से न्याय की अपेक्षा कर रहा है और वह भी वसुदेव के विरुद्ध। इस वालक को ये सारी वातें कौन सिखाता है… पर वह भी क्या करे। वह तो यही जानता है कि कोई अत्याचार करे तो न्याय राजा से ही माँगा जाता है। अव राजा ही न्याय करना छोड़, राक्षस हो जाए, तो इतना-सा वालक क्या करे…

"तव क्या कहा वलराम ने ?" यशोदा अव भी हँस रही थीं।

"दाऊ को और कुछ नहीं सूझा तो वोले, 'नंद वावा तेरे लिए मुझे क्यों पीटेंगे। वे तो तेरे वावा हैं ही नहीं।…"

नंद स्तब्ध रह गए… वलराम कैसे जानता है यह सव ? क्या वसुदेव ने रोहिणी को वता दिया और रोहिणी से वलराम को ज्ञात हो गया ?…

"क्यों, वे तेरे वावा क्यों नहीं हैं ?" यशोदा अव भी हँस रही थीं और नंद की चिंता वढ़ रही थी… यह कैसी वात हो रही है वालकों में… नंद कृष्ण के वावा नहीं हैं। कहीं ऐसा तो नहीं कि नंदगांव में इस प्रकार की चर्चा हो कि कृष्ण, नंद का पुत्र

नहीं है ?···

"दाऊ कहते हैं, तू तो नंद बाबा और यशोदा मैया का पुत्र हो ही नहीं सकता। नंद बाबा ऐसे गोरे हैं, यशोदा मैया भी कितनी गोरी चिट्टी हैं। मैया तेरी जननी होतीं तो तू ऐसा काला कैसे होता ?..."

नंद का ध्यान आज तक नहीं गया था इस ओर। कृष्ण के रूप को उन्होंने इस दृष्टि से तो कभी देखा ही नहीं था। चलो अच्छा है। बात बालकों की कल्पना तक ही है। वसुदेव तो नंद से भी अधिक गोरे हैं। देवकी यशोदा से कहीं अधिक गौरवर्णा हैं। कृष्ण काला है तो कोई संदेह नहीं करेगा कि वह वसुदेव-देवकी का पुत्र है। विधाता ने कहीं कृष्ण की रक्षा के लिए, उसका यह वर्ण, उसका कवच बनाकर तो नहीं भेजा। कंस को कहा भी जाए कि कृष्ण देवकीनंदन है तो उसे विश्वास नहीं होगा। माखन सदृश्य गौरवर्णा देवी देवकी का ऐसा काला पुत्र कैसे हो सकता है ? अच्छा है, कृष्ण बाहर धूप में अधिक से अधिक खेले। और काला हो जाए। कुछ बड़ा होकर गोधन के साथ वन में जाए। धूप में तपे, बरखा में भीगे। और काला हो जाए उसका वर्ण। वह देवकी भाभी से जितना भिन्न दिखाई दे, उतना ही अच्छा··· उतना ही सुरक्षित···

उनका ध्यान फिर यशोदा की ओर चला गया··· वे अब भी कान्हा से पूछ रही थीं, "तूने दाऊ से पूछा नहीं कि मैया मेरी जननी नहीं है तो मैं मैया को मिल कहाँ से गया ?"

नंद को लगा कि कोई उनके कलेजे को गीले कपड़े के समान निचोड़ रहा है।··· कहाँ से मिल गया यशोदा को कान्हा ? कहाँ से ??

"दाऊ कहते हैं, मैया ने तुझे जन्म नहीं दिया, हाट से मोल लिया है।" कृष्ण ने कहा, "मैया क्या सचमुच हाट में बालक बिकते हैं ?"

नंद का ध्यान उन की बातों से उचट गया··· यशोदा ने कृष्ण को जन्म नहीं दिया··· यशोदा ने कृष्ण को जन्म नहीं दिया··· बलराम अपने भोलेपन में ऐसी बातें कह रहा है। यशोदा सुन रही है और हँस रही है।··· कल जब उसे ज्ञात होगा कि उसने सचमुच ही कान्हा को जन्म नहीं दिया है तो क्या करेगी वह ?··· नंद को बहुत चिंता है।··· चिंता ही चिंता तो है··· कभी कान्हा की और कभी यशोदा की।··· वे दोनों ही वह नहीं जानते, जो नंद जानते हैं।··· कितना अच्छा होता, जो नंद भी न जानते। वे भी उन लोगों के समान ही निश्चिंत होकर उनकी इस क्रीड़ा में सम्मिलित हो सकते··· नंद का ज्ञान, कैसा बोझ था उनके वक्ष पर···

"मैया तू भी तो मुझे ही मारना जानती है।" अब कृष्ण बलराम के विरुद्ध नहीं, यशोदा के विरुद्ध अपना रोष व्यक्त कर रहा था, "दाऊ को बुलाकर उस पर क्यों नहीं खीजतीं ? क्यों नहीं ताड़ना करती उन की ?" कृष्ण का स्वर एकदम रुआँसा हो गया था।

नंद देख रहे थे, यशोदा न कान्हा के दुख से पीड़ित थी, न उसके रोष से क्रुद्ध।

वह तो अपने पुत्र के इस भोलेपन पर ऐसी मुग्ध थी कि जैसे आनन्द-सागर में वह रही थी।···

"मैया !" कान्हा ने क्रोध में यशोदा का पल्लू पकड़कर खींचा, और यशोदा ने अपना हाथ वढ़ाकर, कान्हा को खींचकर, अपने वक्ष से लगा लिया। लगता था, उसको तीनों लोकों का राज्य मिल गया था···

"वस !" उद्धव ने कथा रोक दी, "आज यहीं तक।"

"अपना तो मन नहीं भरा भैया !" सुभद्रा ने कहा, "जाने आप कथा क्यों रोक देते हैं ?"

"कृष्ण की कथा से कभी किसी का मन भरा है पगली।" उद्धव वोले, "किंतु मैं यहाँ एक कथावाचक वनकर नहीं आया कि दिन भर तुम लोगों को कथा सुनाता रहूँ। मैं योद्धा के रूप में आया हूँ। जव तक श्रीकृष्ण हस्तिनापुर से सुरक्षित नहीं लौट आते, तव तक मुझे यहाँ सैनिक तैयारी के साथ सन्नद्ध और तत्पर रहना है। जाने कव कैसा समाचार मिले और मुझे हस्तिनापुर की ओर भागना पड़े।"

"हम जा रही हैं उद्धव !" द्रौपदी ने कहा, "किंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि तुम इसके वाद हमें कृष्णकथा नहीं सुनाओगे।"

"सुनाऊँगा क्यों नहीं ।" उद्धव ने हंसकर कहा, "श्रोताओं को जितना रस सुनने में आता है, मुझे उससे कहीं अधिक सुनाने में आता है। वस अवसर और अवकाश की वात है।"

"ठीक है।" हम प्रतीक्षा करेंगी।" वलंधरा ने कहा।

23

हस्तिनापुर से कृष्ण का कोई समाचार नहीं आया था और उद्धव की समझ में नहीं आ रहा था कि वह उपप्लव्य में वैठा-वैठा क्या करे। एक वार तो मन में आया कि धर्मराज से कहकर कोई दूत हस्तिनापुर भेजे, जो वहाँ का समाचार लाए··· किंतु फिर स्वयं ही इस विचार को स्थगित कर दिया। पांडवों के अपने गुप्तचर थे जो सव ओर से समाचार ला रहे थे, तो हस्तिनापुर से भी उनका कोई न कोई संपर्क होगा ही। कुछ महत्त्वपूर्ण घटित होगा तो समाचार भी आ ही जाएगा। वे कृष्ण के लिए इतने चिंतित क्यों हैं ?··· इतनी चिंता तो शायद यशोदा भी न करती हों···

और उद्धव का मन दूसरी ओर चल पड़ा।··· यशोदा चिंता करती होंगी। अवश्य करती होंगी, पर कव तक ? जव तक उनको ज्ञात नहीं था कि कृष्ण देवकी के पुत्र

हैं। हाँ ! कृष्ण एक समय तक उनके पुत्र थे और फिर वे उनके पुत्र नहीं रहे थे। तो कैसा लगा होगा यशोदा को, जब उन्हें ज्ञात हुआ होगा कि कृष्ण उनके पुत्र नहीं हैं ? क्या बीती होगी उनके मन पर ?...

पर तभी उद्धव को लगा कि उनके मन में कहीं से नंद प्रकट हो गए हैं और कह रहे हैं, "मुझसे पूछो कि मैंने यशोदा को यह समाचार कैसे दिया होगा।..."

हां ! ... कैसे दिया होगा यह समाचार नंद ने यशोदा को ? और कब दिया होगा ?

प्रश्न हॅसिया के समान जैसे उद्धव के उदर की ऑतों में अड़ गए। चुभन भी थी और कष्ट भी। कैसे ? कैसे ? कैसे बताया होगा नंद ने और कैसे सुना होगा यशोदा ने ?... उद्धव का मन जैसे वृंदावन ही पहुंच गया था...

नंद सारी रात करवटें बदलते रहे। एक क्षण को भी उन की आंख नहीं लगी। यशोदा की जब भी नींद टूटी, उन्होंने पूछा, "क्या बात है, नींद नहीं आ रही ?"

"हॉ ! जाने क्या हो गया है। आज तो नींद रूठ ही गई है।" नंद ने यशोदा को किसी गंभीर चिंता से बचाने के लिए कहा, "वार्द्धक्य जो आ गया है।"

"हाँ ! आ तो गया है। सिर के सारे केश श्वेत हो गए हैं। चेहरे पर झुर्रियॉ पड़ गई हैं। कमर झुक गई है। मुँह में कोई दाँत नहीं रहा।" यशोदा ने कुछ खीजकर कहा और करवट बदलकर सो गई।

पर जब तीसरी बार उन की नीन्द टूटी और पाया कि नंद अब भी जाग ही रहे हैं तो वे करवट बदल कर सो नहीं सकीं।

"बात क्या है," वे उठकर बैठ गई, "अब तक तो वृद्धावस्था भी समाप्त हो गई होगी, पर नींद क्यों नहीं आ रही ?"

यशोदा ने दीपक जलाकर उसकी बत्ती उकसायी और नंद को देखा : उनके चेहरे पर चिंता की इतनी अधिक रेखाएं थीं कि कोई भी उनको स्पष्ट ही पढ़ सकता था।

"क्या बात है ?"

नंद अब तक मन-ही-मन बहुत तप चुके थे। वे प्रायः इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि वे यशोदा से इस रहस्य को और नहीं छुपा सकते। उन्हें यशोदा को बता ही देना चाहिए, अन्यथा वे अपने अज्ञान में और भी कष्ट पाएँगी।

"भोर होने में और कितनी देर है ?" नंद ने पूछा।

"मैं पूछ रही हूँ कि बात क्या है और तुम लगे हो भोर की खोज करने।" यशोदा कुछ खीजकर बोलीं, "सारी रात सोए नहीं हो। कोई तो बात है, जो मुझे बताना नहीं चाहते।"

"इसीलिए तो पूछ रहा हूं कि भोर हो गई या अभी और सोना है ?"

"भोर हो या न हो। अव और नहीं सोना है। मुझे वताओ, वात क्या है ?"

नंद ने उनकी ओर देखा। वे जानते थे कि उनके मुख से निकले शव्दों को सुनते ही यशोदा का यह स्वस्थ और उल्लसित चेहरा कुम्हला जाएगा। उनका मन पीड़ा से चीत्कार कर उठेगा। पर वताना तो था ही। वे अव और नहीं छिपा सकते।

"एक समाचार है यशोदा ! और वह सुखद नहीं है। लगता है कि हमारे अच्छे दिन वीत गए।" नंद धीरे से वोले।

"ऐसा क्या हो गया कि हमारे अच्छे दिन ही वीत गए ?" यशोदा ने विनोद की सी मुद्रा वनाई ।

"शायद तुमने सुना हो कि मथुरा से कंस के मंत्री श्वफलकपुत्र अक्रूर हमारे ग्राम में आए हैं।"

"हाँ ! सुना तो था कि मथुरा से कोई राजपुरुप आए हैं, पर उसमें चिंतित होने की क्या वात है ?" यशोदा कुछ आवेश में वोलीं, "हमने राजा का कर तो पूरा चुका दिया है और दूध-घी भी मथुरा जाता ही रहता है।"

"वह सव ठीक है।" नंद वोले, "पर अक्रूर राजा का कर लेने नहीं आए हैं, वे मथुरा में होनेवाले धनुपयज्ञ में सम्मिलित होने के लिए, हम सवके साथ कृष्ण और वलराम को आमंत्रित करने आए हैं।"

"तो उसमें चिंतित होने की क्या वात है ?" यशोदा ने कहा, "चलेंगे न हम सव। देख आएँगे राजा का धनुषयज्ञ। निमंत्रण ही तो है, कोई दंड तो नहीं है।"

"कितनी भोली हो यशोदा तुम !" नंद की पीड़ित और उनींदी आँखों में हल्की-सी विशदता आई, "इस निमंत्रण का अर्थ यह नहीं है कि राजा अपनी प्रजा का मनोरंजन करना चाहता है। तुम्हारी भी इतनी अवस्था हो गई, कभी राजा ने हमें-तुम्हें अथवा किसी भी गोप को इस प्रकार निमंत्रित किया कि मैं रथ भेज रहा हूँ, आओ और मथुरा में होने वाला उत्सव देख जाओ। यह निमंत्रण नहीं, आदेश है।··· आ जाओ, अन्यथा पकड़ मँगाए जाओगे।"

"तो ?"

"तो यह कि कृष्ण के अनेक कृत्यों की सूचना राजा को मिल चुकी है। उसे वलराम की वीरता का भी ज्ञान है। अव वह उसी वहाने उन दोनों को मथुरा में वुला कर उस धनुपयज्ञ में अपना वल दिखाने को कहेगा। वल किसके विरुद्ध दिखाया जाएगा ? निश्चित रूप से राजा के मल्लों और योद्धाओं के विरुद्ध। वे मल्ल इन दोनों वालकों को मार डालेंगे। राजा इनके प्राण लेना चाहता है और दिखाना यह चाहता है कि कृष्ण और वलराम उस धनुपयज्ञ में मल्लों से लड़ते हुए मारे गए।"

यशोदा चुपचाप नंद को देखती रहीं और फिर वोलीं, "यह तुम भोर ही भोर में कैसी अशुभ वातें कर रहे हो ? यदि राजा ने मेरे और रोहिणी के पुत्रों के वल और वीरता को जान कर उन्हें मथुरा ले जाने के लिए अक्रूर को भेजा है तो उस में मरने-मारने

की चर्चा कहाँ से आ गई। राजा अपनी बलवान प्रजा को पुरस्कृत करता है या उसके प्राण लेता है ?"

"राजा तो वही करता है, जो तुम कह रही हो, पर कंस कैसा राजा है, तुम जानती ही हो।" नंद बोले, "वह राक्षस, कृष्ण और बलराम का वध करना चाहता है।"

"पर क्यों ? क्या बिगाड़ा है मेरे लाल ने उसका। कृष्ण तो कभी मथुरा गया भी नहीं।"

नंद कुछ क्षणों तक यशोदा को चुपचाप देखते रहे। फिर धीरे से बोले, "तुम जानती हो कि बलराम रोहिणी का पुत्र है।"

"यह कोई पूछने की बात है।"

"और यह भी जानती हो कि रोहिणी वसुदेव की पत्नी है।"

"हाँ !"

"तो बलराम वसुदेव का पुत्र है ?"

"हाँ !"

"और वसुदेव कंस के कारागार में बंदी हैं, क्योंकि कंस यह मानता है कि उसके ज्योतिषी की भविष्यवाणी के अनुसार देवकी का आठवाँ पुत्र उसकी हत्या करेगा ?"

"हाँ !"

"तो कंस वसुदेव के पुत्रों का वध करना चाहता है।" नंद बोले।

"पर कंस का वध तो देवकीपुत्र करेगा और बलराम रोहिणीपुत्र है।"

"कंस को संदेह है कि बलराम भी देवकीपुत्र ही है, जिसे रोहिणी अपना पुत्र कह कर यहाँ पाल रही है।"

यशोदा नंद को देखती रहीं। उनके नयनों में जैसे सहस्रों प्रश्न थे···

"तो क्या कंस का संदेह सत्य है ? बलराम भी देवकीपुत्र ही है ?" अंततः उन्होंने पूछा।

"हां ! उसका जन्म सातवें ही मास में हो गया था और वसुदेव ने किसी प्रकार उसे रोहिणी के साथ यहाँ भेज दिया था।"

यशोदा स्तब्ध-सी बैठी नंद को देखती रहीं। वे जैसे अपनी पलकें झपकना भी भूल गई थीं।

"तो तुमने इतने दिनों तक मुझसे यह छुपाए क्यों रखा ?"

"वसुदेव के रहस्य की रक्षा के लिए मुझे तुमसे और भी बहुत कुछ छुपाना पड़ा है यशोदा !" नंद धीरे से बोले, "इसलिए नहीं कि मुझे तुम पर विश्वास नहीं था, वरन् केवल इसलिए कि यदि तुम्हें वसुदेव के रहस्यों का ज्ञान हो जाता तो कदाचित् तुम इतना सहज व्यवहार न कर पातीं और किसी न किसी को संदेह हो जाता और वसुदेव के पुत्रों पर संकट आ जाता।"

"और क्या छुपा रखा है तुमने मुझसे ?" यशोदा जैसे किसी भयंकर आशंका के

मध्य श्वास ले रही थीं।··· सहसा एक विचार उनके मन में कौंधा, "तुम कह रहे थे कि अक्रूर कृष्ण को भी मथुरा ले जाने आए हैं ?"

"हाँ !"

"क्या कंस कृष्ण का भी वध करना चाहता है ?"

"हाँ ! मेरा ऐसा ही अनुमान है।"

"पर क्यों ? वह तो वसुदेव का पुत्र नहीं है।"

"नहीं ! वह भी वसुदेव का ही पुत्र है। वह देवकीनंदन है।" नंद ने एक झटके में कह ही दिया।

यशोदा का मस्तक जैसे अजाने ही किसी स्तंभ से टकराकर सन्न रह गया था। वे यह भी नहीं जान पा रही थीं कि मस्तक से रक्त भी बह रहा था अथवा वह मात्र संवेदनशून्य ही हुआ था। उनके नयन फटे के फटे रह गए। श्वास भी जैसे थम गया था।

"तुम झूठ बोलते हो।" यशोदा के मुख से चीत्कार फूटा, "यह कैसे संभव है। उसे मैंने अपने गर्भ में रखकर पाला है। उसे मैंने जन्म दिया है। उसे मैंने अपने वक्ष से लगाकर दूध पिलाया है। वह देवकी का पुत्र कैसे हो गया ?"

यशोदा की स्थिति देखकर नंद डर गए। यशोदा कहीं उन्मादिनी ही न हो जाए। क्या वह इस सूचना का इतना वड़ा और ऐसा क्रूर आघात सह पाएगी ?···

नंद ने आगे वढ़ कर यशोदा को अपनी भुजाओं में थामने का प्रयत्न किया। यशोदा झटके से उनसे दूर हट गई। उनके नेत्रों का ताप और क्रोध असह्य था। वे चीत्कारकर वोलीं, "कंस नहीं, तुम मेरे पुत्र को मुझसे छीन लेना चाहते हो। मैं जानती हूँ, तुम वसुदेव से बहुत प्रेम करते हो। प्रेम नहीं करते, दास हो तुम उसके। तुम मेरा पुत्र उसे दे देना चाहते हो, ताकि वह उसकी वलि देकर अपने आठवें पुत्र को वचा ले।···"

नंद कुछ नहीं वोले।

"राक्षस हो तुम कंस के ही समान।" और यशोदा रो पड़ा।

नंद धीरे-धीरे उनके निकट पहुँचे और फिर से उन्हें भुजाओं में थामने का प्रयत्न किया। इस वार यशोदा ने दूर हटने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने अपने आक्रोश में नंद के वक्ष पर हथेलियों और मुट्ठियों से अनेक प्रहार किए और फिर हताशा की स्थिति में श्लथ होकर उनके वक्ष पर अपना मस्तक टेक दिया, "तुम मुझे इस प्रकार क्यों मार डालना चाहते हो ? मैं आज तक क्यों न जान पाई कि तुम इतने दुष्ट हो।"

यशोदा रोती रहीं और नंद उनकी पीठ थपकते रहे। वे कुछ नहीं वोले।

जव यशोदा के अश्रु चुक गए तो उन्होंने अपने नेत्र पोंछे और नंद की ओर देखा, "मुझे वताओ कि सत्य क्या है ?"

"सत्य यही है यशोदा ! कि कृष्ण देवकीपुत्र है।"

"यह कैसे संभव है ?" यशोदा के नेत्रों में नए सिरे से पीड़ा जाग उठी थी।

"मेरा विश्वास करो यशोदा ! मैं तुम्हें सत्य ही बता रहा हूँ।" नंद ने बहुत धीरे से स्नेहसिक्त स्वर में कहा, "पर तुम स्वयं को सँभालो। मैं चाहता हूँ कि वसुदेव का यह रहस्य अब भी रहस्य ही बना रहे। अब तक इस रहस्य को मैं जानता हूं अथवा वसुदेव। देवकी भाभी भी जानती हैं अथवा नहीं, कह नहीं सकता।··· अब तुम भी जानती हो।"

"मैं अभी न जानती हूँ और न मानती हूँ।" यशोदा बोलीं, "जिस पुत्र को मैं ने स्वयं जन्म दिया हो, उसे मैं देवकी का पुत्र कैसे मान लूँ ?"

"तुम्हें स्मरण है यशोदा ! जिस रात्रि तुम्हारे अनुसार तुमने कृष्ण को जन्म दिया था, उस रात्रि प्रसव वेदना से तुम अचेत हो गई थीं ?"

"अचेत हो जाने का क्या अर्थ ? प्रसव की अवधि में यदि कुछ समय के लिए मेरी चेतना चली भी गई थी तो मेरी संतान किसी और की कैसे हो गई ?"

"नहीं। तुम अचेत हो गई थीं।··· उस समय वसुदेव आए थे। वे एक मंजूषा में छिपाकर कृष्ण को लाए थे।···"

"तुमने मुझे बताया था कि उस रात्रि भयंकर वर्षा थी और यमुना में प्रलय का सा प्लावन था कि तुम इच्छा और आवश्यकता होने पर भी किसी वैद्य अथवा दायी को नहीं ला सके और वसुदेव मथुरा से यहाँ तक आ गए। वे कैसे आए ? उनके पास कोई विशेष नौका थी, जो यमुना के प्लावन से नहीं डरी ?"

"तुम विश्वास नहीं करोगी, पर सत्य यही है कि वसुदेव यमुना में तैरकर यहाँ तक आए थे। संभव है उनको उस समय कोई नाव न मिल सकी हो। संभव है उन्होंने नाव में आना उचित न समझा हो। पर सत्य यही है कि वे यमुना में तैरकर आए थे।···"

"वे क्यों नहीं डूबे ?"

"यह तो केवल प्रभु ही बता सकते हैं। मनुष्य के रूप में तो मैं इतना ही जानता हूँ कि कृष्ण को जीवित रहना था, इसलिए प्रभु ने वसुदेव को साहस दिया और जल को उनका रक्षक बनाकर भेजा।"

"ऐसा चमत्कार वसुदेव के साथ ही क्यों हुआ ? हमारे साथ कभी क्यों नहीं हुआ ?"

"क्यों ? तुम्हें कभी नहीं लगा कि कृष्ण के साथ प्रतिदिन ही कोई न कोई चमत्कार हो रहा था ? उस कृष्ण का ही तो चमत्कार था कि वसुदेव यहां तक आ पहुँचे।"

यशोदा तत्काल कुछ नहीं कह सकीं। वे इसे अस्वीकार नहीं कर सकती थीं । कृष्ण था ही चमत्कारी।

"तो मैंने प्रसव नहीं किया ?"

"किया।"

"तो मेरी संतान कहाँ है ? क्या वह कृष्ण नहीं है ?"

"तुमने एक कन्या को जन्म दिया था यशोदे !" नंद मंद किंतु गंभीर स्वर में बोले, "वह मृतप्राय थी। तुम्हारी अपनी स्थिति भी ठीक नहीं थी। वह कन्या मैंने वसुदेव को दे दी, ताकि वे कंस को कह सकें कि देवकी ने उस कन्या को जन्म दिया था।"

"वे ले गए उसे ताकि कंस उसका वध कर सके ?"

"मैंने वह कन्या उन्हें सौंपी थी, शेष सब लोगों के प्राण बचाने और कंस के अत्याचारों से मुक्ति पाने के लिए।" नंद का स्वर कुछ दृढ़ हुआ, "कृष्ण की रक्षा का यही उपाय था मेरे पास।"

"तो कंस ने उसे मार डाला ?"

"नहीं ! समाचार यह है कि कंस उसे उठाकर भूमि पर पटक देना चाहता था, किंतु वह पहले ही उसके हाथों से निकलकर आकाश में जा बैठी।"

"इसका क्या अर्थ ?" यशोदा ने पूछा।

"यदि ईश्वरीय चमत्कार मानना चाहो तो मान लो कि वह योगमाया थी, जो कंस के हाथ से निकल गई और उसे चेतावनी दे गई कि उसका अत्याचार समाप्त होने वाला है। उस का वध करनेवाला जन्म ले चुका है···"

"और यदि मैं इस चमत्कार का विश्वास न करना चाहूं तो ?"

"तो यह कि कंस द्वारा उसका वध होने से पहले ही उसके प्राण पखेरू उड़ चुके थे।"

"उस भयंकर वर्षा को झेलकर, यमुना की बाढ़ की यातना को झेलकर, वह सद्यःजात कन्या मरती नहीं तो क्या करती।" यशोदा ने जैसे अपने आपसे कहा, "यहाँ रही होती मेरे पास, तो मैं उसे अपने वक्ष से लगाकर रखती। शायद उसके प्राण बच जाते।"

"कृष्ण भी वही सब झेलकर आया था। जिसे बचना होता है, वह बच ही जाता है।" नंद हँस पड़े, "तुम कदाचित् भूल गई हो कि उसके पश्चात् तुम कितनी अस्वस्थ रही थीं। कृष्ण था तो उसका मुख देख-देख कर तुमने जीवन पाया।" वे रुके, "क्या तुम्हें इस बात का पश्चात्ताप है कि तुम्हें अपनी उस कन्या के स्थान पर कृष्ण मिला ?"

यशोदा ने घायल नागिन के समान तड़पकर उनकी ओर देखा, "तुम इससे भी क्रूर प्रश्न नहीं कर सकते ? कृष्ण को पाकर मेरा जीवन सार्थक हुआ। मैंने तो कभी जाना ही नहीं कि कृष्ण को मैंने जन्म नहीं दिया है। यह तो तुम आज बता रहे हो। मेरे मन में तो मात्र एक लोभ जागा है। कृष्ण की बहन भी होती तो ?···"

नंद अपने विचारों में डूबे मौन बैठे रहे।

"कुछ बोलते क्यों नहीं ? तुम इतने चुप्पे तो कभी नहीं थे।"

"सोच रहा हूँ कि तब तो वसुदेव को कन्या देकर कृष्ण को रख लिया था, अब अक्रूर को क्या देकर कृष्ण को अपने पास रख लूँ।" नंद की आँखों में अश्रु आ गए।

यशोदा उनके पास खिसक आई। अपने हाथ से नंद के अश्रु पोंछकर बोलीं, "जिसने कृष्ण को तब बचाया था, उसका अस्तित्व अब नहीं है क्या ? तुम यह क्यों नहीं मानते कि कंस स्वयं अपनी मृत्यु को निमंत्रण दे रहा है।"

"बहुत समझाया है मन को।··· पर मन है कि मानता ही नहीं है। कृष्ण मथुरा चला जाएगा, यह बात किसी भी प्रकार गले से नहीं उतरती।" नंद बोले, "मैं तो पहले दिन से ही जानता था कि कृष्ण वसुदेव का पुत्र है, तो भी उससे बिछुड़ना मेरे प्राण लिए ले रहा है, और तुम···" नंद ने जैसे बहुत प्रयत्न कर यशोदा की ओर देखा, "सोचता हूँ कि कृष्ण का कोई भाई-बहन होता तो उसके जाने के पश्चात् कोई तो सहारा होता तुमको ।"

"कोई बालक कृष्ण का स्थानापन्न नहीं हो सकता।" यशोदा का स्वर पर्याप्त दृढ़ हो आया था, "मैं तो एकदम दूसरी बात सोच रही हूँ।"

"क्या ?"

"विवाह के पश्चात् कई वर्षों तक हमारी कोई संतान नहीं हुई। उस कन्या के पश्चात् फिर कोई दूसरी संतान भी नहीं हुई।" यशोदा ने नंद की ओर देखा, "तो फिर मैंने उस एक मृतप्राय कन्या को ही जन्म क्यों दिया ?"

"उसी प्रसव के समय कोई ऐसा विकार हो गया कि फिर तुम गर्भ धारण ही नहीं कर सकीं।" नंद बोले।

"और मैं सोचती हूँ कि मेरे भाग्य में संतान को जन्म देना नहीं था। वह प्रसव तो इसलिए हुआ कि मैं कृष्ण को अपने स्तनों से दूध पिला सकूँ।" यशोदा के नयनों से अश्रुओं की धारा बह चली, "यह मत समझना कि मैं संतान न होने से दुखी हूँ मैं कृष्ण की धाय बनकर ही परम सौभाग्यशालिनी हूँ। जिस प्रभु ने देवकी को कृष्ण की जननी बनने का सौभाग्य दिया, उसी ने कृष्ण की धाय बनने के लिए मुझे चुना। देवकी ने तो उसके प्रसव का कष्ट सहा, मैंने उसके लालन-पालन का सुख पाया। कृष्ण का पालन करना अपने आप में इतना बड़ा सुख है कि कोई भी माता उसके लिए जन्म-जन्मांतरों तक संतानविहीन रह सकती है।"

नंद चकित होकर यशोदा को देख रहे थे। यह तो कोई नई-सी यशोदा थी। इस यशोदा को तो उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था।

"कृष्ण को बता दिया है कि वह वासुदेव है, देवकीनंदन है ?" यशोदा ने पूछा

"नहीं !"

"बताओगे ?"

"सोचता हूँ कि बता ही देना चाहिए। उसे ज्ञात होना चाहिए कि उस पर कितना बड़ा संकट आनेवाला है; और उसका कारण क्या है ।" नंद बोले, "वैसे भी अब वसुदेव-देवकी को कारागार से छुड़ाने का उद्यम करने का समय आ गया है।"

"ठीक से बताना।" यशोदा बोलीं, "यह नहीं कि औचक ही बता दो और बच्चा

विचलित ही हो जाए।"

"कर दी न फिर माँ वाली बात।" नंद बोले, "कृष्ण क्या ऐसा बच्चा है कि वह इस सूचना का वेग भी न झेल पाए।"

"ठीक है, जैसा तुम उचित समझो।" यशोदा ने जैसे अपने-आप से कहा, "मेरा जीवनधन तो अब मुझसे विलग हो ही रहा है।"

उद्धव ने देखा, आज बिना किसी सूचना के ही सुभद्रा और द्रौपदी उसकी ओर आ रही थीं।

"क्या कर रहे हैं भैया ?" सुभद्रा ने पूछा।

"आज आने की कोई सूचना नहीं भिजवाई ?" उद्धव ने कहा।

"सोचा, यदि पहले सूचना भेज दी तो तुम कहीं भाग ही न जाओ उद्धव !" द्रौपदी ने हँसकर कहा, "वस्तुतः हम दोनों में थोड़ा-सा विवाद हो गया है। हम दोनों ही कल्पना कर रही थीं कि मातुला रोहिणी जब पहली बार अपने गोकुल में गई होंगी तो वहाँ क्या हुआ होगा। हम दोनों की कल्पना इतनी भिन्न है कि हम चाहती हैं कि तुम हमें मातुला के पहली बार गोकुल में जाने की कथा सुनाओ…"

"भैया ! मना मत करिएगा।" सुभद्रा ने न द्रौपदी की बात समाप्त होने की प्रतीक्षा की और न उद्धव का उत्तर सुनने की, "बस एक आध प्रसंग सुना दीजिए, हम आपको अधिक कष्ट नहीं देंगी।…"

"हाँ उद्धव !"

"मैंने मना कहाँ किया है।" उद्धव हँस पड़े, "वस्तुतः मैं भी अभी कृष्ण के विषय में ही सोच रहा था, पर वह दूसरा प्रसंग था। अच्छा तुम लोग रोहिणी काकी के गोकुल जाने का प्रसंग सुनो..."

रोहिणी अपने गोकुल में न जाकर पहले नन्द के घर ही आई। अपने गोकुल में जाने का कोई लाभ नहीं था। वहां गोशाला थी। कुछ एक कुटीर थे, जिनमें आवश्यकता होने पर गोपाल रहा करते थे। अन्यथा रात को वे लोग अपने घरों में लौट जाया करते थे। वसुदेव ने चलने से पहले रोहिणी को जो महत्त्वपूर्ण बातें बताई थीं, उनमें एक यह भी थी कि यमुना पार के वन के इस छोर पर नंदगांव से बरसाने तक जो लोग रहते थे, वे कृषक नहीं थे। वे वन में अथवा वन के निकट रहते थे। उन्होंने वनों को काट कर खेत बनाने के स्थान पर वन को ही अपना खेत मान लिया था। जिनके पास पशु थे, वे गोपाल थे। उनके पशुओं को चारा वन से ही मिल जाता था। वे दूध तथा उससे उपलब्ध अन्य पदार्थों का व्यवसाय करते थे। अतः उन्हें खेतों की आवश्यकता नहीं

थी। और जिनके पास पशु नहीं थे, वे दूसरों के पशुओं को, उनकी गोशालाओं में पालने तथा वन में से चरा लाने का कार्य करते थे। वैसे गोपाल हों अथवा चरवाहे, वे स्वयं को गोप ही कहते थे। उनका समाज वैसे तो पर्याप्त सम था, फिर भी गायों की संख्या के कारण कुछ सामाजिक भेद तो था ही। जहाँ वसुदेव का गोधन रहता था, वह क्षेत्र नंदगाँव के निकट था और नंद एक प्रकार से उनके गोकुल के लिए भी उत्तरदायी थे। वसुदेव ने नंद को कभी अपना कर्मचारी नहीं समझा था। वे लोग पीढ़ियों से उनके लिए कार्य करते थे, इसलिए उनके साथ, कार्य-संवंध के साथ-साथ एक प्रकार से पारिवारिक सौहार्द का भी संवंध था। नंद के पास अपना भी गोधन था; और उनकी संख्या अन्य गोपालों से कुछ अधिक ही थी। यही कारण था कि नंद अपने ग्राम के मुखिया भी कहलाते थे।

रोहिणी ने नंदगॉव पहुँचकर सीधे नंद के घर जाना ही उचित समझा। नंद और उनकी पत्नी यशोदा ने उनका स्वागत किया। रोहिणी ने देखा कि नागरिक सुविधाएँ न होने पर भी नंद का घर खाता-पीता घर था। उनके पास कुछ चरवाहे तो कार्य करते थे, किंतु घर के काम-काज के लिए सेवक इत्यादि नहीं थे। सेवकों की शायद वहाँ परंपरा ही नहीं थी। हाँ ! आवश्यकता पड़ने पर कोई भी किसी से सहायता ले सकता था। पड़ोसी, मित्र, संवंधी अथवा सगोत्रीय होने के नाते सव लोग परिवारजनों के समान एक-दूसरे की सहायता कर दिया करते थे। वे सव लोग एक-दूसरे को समान ही मानते थे। समान संवंधों और सम्मान के लिए, धन की समानता आवश्यक नहीं थी। धन से वे लोग कदाचित् किसी को छोटा-वड़ा मानते भी नहीं थे। पर नंद वहाँ के मुखिया थे, उनके राजा अथवा स्वामी नहीं। उनकी चर्चा से रोहिणी को लगा कि नंद वसुदेव को राजवंश का मानते हैं, इसलिए वे उन्हें स्वयं से अधिक समझदार और सामर्थ्यवान भी मानते हैं। उनकी वातों में वसुदेव के प्रति एक प्रकार की मैत्री का भाव भी दिखाई दिया। वे देवकी के लिए कभी 'महादेवी' शव्द का प्रयोग करते थे, जैसे वे कोई रानी हों और कभी 'भाभी' का। रोहिणी के लिए भी वे कभी स्वामिनी का सा सम्मान प्रकट करने लगते थे और कभी संवंधियों का सा स्नेह।

"मैं यदि नंदगॉव के मुखिया को अपना देवर मान, उन्हें उनके नाम से पुकारूँ तो किसी मर्यादा का हनन तो नहीं होगा न ?" रोहिणी ने पूछा।

"हमारा सौभाग्य भाभी !" नंद वोले, "वृष्णिश्रेष्ठ वसुदेव कहते हैं कि वे राजा नहीं हैं; किंतु हम तो उनको ही अपना राजा मानते हैं। वे कहते हैं कि वे हमारे वंधु हैं और हम कहते हैं कि जो हमारा वंधु नहीं है, वह हमारा राजा कहाँ से हो सकता है। इसीलिए वसुदेव हमारे राजा भी हैं और वंधु भी। अव आप हमारी भाभी वन गई हैं तो उससे अधिक अच्छी बात क्या हो सकती है। यह यशोदा है न ! यह मुझे उपदेश देती रहती है कि मैं अपने चरवाहों को अधिक सिर चढ़ा लेता हूँ। पर मैं कहता हूँ कि हमारे जीवन और समाज में अभी मागध परंपरा नहीं आई है, जहाँ हम राजा को

अपना स्वामी मानने लगें। राजा हो अथवा मुखिया-हम उससे प्रेम करते हैं, उससे भयभीत नहीं रहते। मेरे चरवाहे हों अथवा सहगोत्री बंधु, सब मुझसे प्रेम करते हैं। आप जानती ही हैं कि गोप लोग वनचारी लोग हैं, इसलिए स्वच्छ मन के होते हुए भी वे उद्दंड हैं। प्रेम से चाहे उनके प्राण ले लो, भय से तो वे आपका कोई काम नहीं करेंगे।"

यशोदा सुंदर युवती थीं। खूब हृष्टपुष्ट। स्वस्थ और बलिष्ठ। वे रोहिणी के पीने के लिए दूध लेकर आई थीं।

"क्या लाई हो यशोदा ! दूध ?" रोहिणी ने पूछा।

"नहीं दीदी ! यह गोरस है।" यशोदा बोलीं, "दूध तो इसे मथुरावासी कहते हैं, क्योंकि वे इसे दोहन के माध्यम से प्राप्त करते हैं और इससे नहाते हैं, इससे अपना आँगन लीपते हैं। हम तो इसे गोरस ही कहते हैं। हम इसे अपनी गऊओं के रस के रूप में प्राप्त करते हैं।"

रोहिणी हँस पड़ीं, "सारे मथुरावासी तुम्हारे गोरस से नहाते नहीं हैं, न उससे अपने आँगन लीपते हैं। यह तो केवल तुम्हारे राजा कंस के प्रासाद में होता है। उसकी रानियाँ न गऊ को पालती हैं, न उससे प्रेम करती हैं। नदियों-भर दूध उन्हें बिना मोल चुकाए मिल जाता है तो वे उसमें स्नान न करें तो क्या करें ?"

"अरे नहीं है गोरस उनके काम का तो क्यों कर लगा-लगा कर हमारा रक्त पीते हैं।" यशोदा ने कुछ रोष से कहा, "और कर लिए बिना नींद नहीं आती, तो उस गोरस को किन्हीं निर्धन बच्चों को पिला दें, जिन्हें गोरस उपलब्ध नहीं है। हम तो अपनी गऊओं के वत्सों के मुख से छीनकर उन्हें गोरस दें और वे उसमें नहाकर उसे अपने आँगन में बहा दें। यह तो घोर अत्याचार है।"

"नंद ! हमारी देवरानी तो घनी सुंदर और स्वस्थ ही नहीं, बहुत समझदार भी है।" रोहिणी ने मुस्कराकर प्रशंसात्मक भाव से यशोदा की ओर देखा।

"भाभी ! हमारे यहाँ कोमल युवतियों से काम नहीं चलता। उनको स्वस्थ तो होना ही होगा। गऊ को सँभालना है। गोरस का काम करना है। दही बिलोना है। बोझ उठाना है। वन में जाकर लकड़ी काटनी है। छोटे-मोटे किसी वन्य पशु से पाला पड़ जाए तो उसका सामना भी करना है। यहाँ किसी कोमलांगी का क्या काम ?"

"ठीक कहते हो नंद !..."

रोहिणी कुछ और कहती, उससे पूर्व ही यशोदा ने पूछ लिया, "पर दीदी ! वे लोग गोरस से नहाती क्यों हैं ? उन्हें जल नहीं मिलता क्या ? गोरस से नहाने के पश्चात् भी तो उन्हें जल से नहाना ही पड़ता होगा।"

"वे समझती हैं कि गोरस से नहाने से उनका शरीर गोरस के ही समान उजला और चिकना हो जाएगा।" रोहिणी ने बताया।

"वह तो गोरस पीने से भी होगा, वे गोरस पीती क्यों नहीं ?"

"वे समझती हैं कि गोरस पीने से उनका शरीर स्थूल हो जाएगा, जबकि उनके

पति कंस को तन्वंगियाँ ही प्रिय हैं।" रोहिणी ने बताया।

यशोदा के नेत्रों में जैसे आश्चर्य की चकाचौंध छा गई, "क्या किसी की पत्नी का शरीर स्थूल हो जाए तो वह अपने पति की प्रिया नहीं रहती ? ऐसा होता है क्या मथुरा में ? एकदम राक्षसों की नगरी है वह तो। हमारे यहाँ कोई ऐसा करे तो उसकी हड्डी-पसली एक कर दें।"

"अरे तुम क्यों हल्कान होती हो ?" नंद ने कहा, "जो मथुरा में होता है, उसे होने दो, यहाँ वैसा कुछ नहीं होने जा रहा। तुम स्त्रियों के साथ यह बड़ी कठिनाई है, तत्काल आशंकित हो जाती हो। जो कहीं हुआ हो न हुआ हो, उसको अपने ऊपर घटा लोगी और मान लोगी कि तुम्हारा पति भी तुम्हारे साथ वही करने जा रहा है।"

"असुरक्षा का भाव है, और क्या।" रोहिणी ने कहा, "पर तुम लोग क्यों आशंकित होती हो। यहाँ तो सारी स्त्रियाँ काम करती हैं और अपनी आजीविका स्वयं कमाती हैं। पति किसी और का हो भी जाए तो क्या कठिनाई है।"

"आजीविका की चिंता नहीं है भाभी ! चिंता तो पति की है। बात यह है कि कुछ गोपियाँ तनिक उच्छृंखल भी होती हैं। यशोदा को भी मुझे लेकर एक गोपी पर संदेह है। कहती है कि उससे बात ही क्यों करते हो।" आप ही बताएँ भाभी, क्या मुखिया भी किसी को कह सकता है कि वह उसकी व्यथा-कथा नहीं सुनेगा ?"

"चुप !" यशोदा ने स्नेहापूर्त नेत्रों से नंद को घुड़का।

"इन्हें छोड़िए दीदी ! आप बताइए, आप क्या अपना गोकुल देखने आई हैं ?" यशोदा ने पूछा।

"वह तो देखना ही है," रोहिणी ने मुस्कराकर कहा, "पर मैं उसके पश्चात् मथुरा लौटनेवाली नहीं हूँ।"

यशोदा ने चकित होकर उनकी ओर देखा, "तो यहीं रहेंगी क्या ?"

"यदि रहूँ तो तुम्हें अच्छा नहीं लगेगा क्या ?"

"ऐसा प्रश्न क्यों पूछती हैं।" यशोदा बोलीं, "हमें क्यों अच्छा नहीं लगेगा। आप जैसी बड़ी बहन मिलें तो किसे अच्छा नहीं लगेगा। पर आप यहाँ रह पाएँगी ? यहाँ नगरोंवाली वे सुविधाएँ तो हैं नहीं, न ही नागर समाज है। भगवान ने जितनी बुद्धि देकर भेज दिया, सो भेज दिया। माँ-बाप ने जो सिखा-पढ़ा दिया, सो सिखा-पढ़ा दिया। न कोई गुरुकुल है न कोई पाठशाला। न अध्ययन होता है न विद्याभ्यास। जीवन जो सिखा देता है, बच्चे वही सीख लेते हैं।..."

"लो ! इतनी तो समझदारी की बातें कर रही हो और फिर कहती हो कि कोई पाठशाला है, न गुरुकुल।" रोहिणी बोलीं, "तुमसे खूब निभेगी मेरी।"

"सच ! आप यहीं रह जाइए भाभी !" नंद बोले, "इसी आँगन में दो एक कोठरियाँ और डाल लेंगे। यशोदा अकेली है। आपका संग हो जाएगा।"

रोहिणी ने मुस्कराकर यशोदा की ओर देखा, "देखो देवर जी ! अभी तो यशोदा

और आपको एकांत ही चाहिए। मेरा सिर पर बैठे रहना किसे अच्छा लगेगा, और अकेले भी कितने दिन रहेंगे ? सौभाग्यवती की गोद भरने में दिन ही कितने लगते हैं।"

यशोदा पहले तो झेंप गई, उनके कपोल लज्जा से गुलाबी हो आए, किंतु तत्काल सँभलकर बोलीं, "चलिए, आपकी ही बात रही। तब भी तो आप जैसी बहन निकट होंगी तो सहायता ही होगी।"

"क्यों नहीं।" रोहिणी ने कहा, "ऐसा शुभ अवसर बार-बार आए।"

"तो पक्की रही। आप हमारे साथ ही रहेंगी।"

"अभी तो डेरा यहीं डालूँगी, पर फिर अपने गोकुल में गोशाला के पास ही अपने लिए एक छोटा-मोटा भवन बनवा लूँगी।" रोहिणी ने कहा, "वहीं रहूँगी। अधिक देर तक तो तभी रह सकूँगी, जब अपने रहने का स्थायी प्रबंध कर लूँगी।"

"आपका स्वागत है। आप यहाँ रहेंगी तो कभी-कभी जेठ जी भी आ जाया करेंगे।" यशोदा ने कहा, "पर एक जिज्ञासा है दीदी ! आप मथुरा छोड़कर यहाँ क्यों रहना चाहती हैं ? आज तक तो कोई नगर छोड़कर इस वन में बसने आया नहीं।"

रोहिणी ने बारी-बारी उन दोनों को देखा, "तो तुम्हें कुछ पता नहीं है ? यहाँ क्या मथुरा का कोई समाचार नहीं आता ?"

"क्या पता नहीं है ?"

रोहिणी थोड़ी देर उनकी ओर देखती रहीं। फिर बोलीं, "पिछले कितने समय से आर्य वसुदेव यहाँ नहीं आए ?"

"हाँ ! मैं भी सोच रहा था कि जब से उन्होंने यह नया विवाह किया है, तब से वे नंदगाँव नहीं आए हैं।" नंद ने कहा, "क्या इस विवाह से वे बहुत व्यस्त हो गए हैं ?"

"तो तुमको सचमुच कुछ ज्ञात नहीं है।" रोहिणी ने कहा और उन्हें सारी कथा सुनाई। वसुदेव और देवकी की स्थिति समझाई, "आर्यपुत्र मथुरा से बाहर जा नहीं सकते, इसलिए अब मुझे यहाँ अपने गोकुल में रहना होगा। पता नहीं वे यहाँ आ पाएँगे अथवा नहीं, किंतु मैं बीच-बीच में उनसे मिलने के लिए मथुरा जाती रहूंगी।"

"बड़ा दुष्ट है, यह कंस भी ।" नंद ने कहा, "कोई सुरक्षित नहीं है उसके राज्य में—न उसके पिता, न भाई, न भगिनीपति। किसी भी समय खड्ग उठाकर किसी का भी वध कर सकता है। तनिक सा रुष्ट होने पर किसी को भी बधिकों को सौंप सकता है। पूरा राक्षस हो गया है यह अपने पिता को बंदी करनेवाला।" नंद ने रुककर रोहिणी को देखा, "आपने अच्छा किया जो आप यहाँ आ गई। ऐसे राक्षस के राज्य में बस कर करना ही क्या है।"

"वह तो ठीक है।" रोहिणी ने कहा, "पर यहाँ रहूँ अथवा वहाँ, राज्य तो कंस का ही रहेगा।"

"आर्य वसुदेव कंस का राज्य छोड़ कर कहीं और क्यों नहीं जा बसते ?" यशोदा

ने पूछा।

"वह दुष्ट उन्हें मथुरा से वाहर निकलने दे, तव न !" रोहिणी ने श्वास छोड़ा।

नंद चिंतित हो गए लगते थे। एक लंबे मौन के पश्चात् वोले, "कुछ करना होगा भाभी ! वृष्णिश्रेष्ठ का इस प्रकार बंदी होना हम सहन नहीं कर सकते।"

उद्धव ने मौन होकर सुभद्रा और द्रौपदी की ओर देखा।

"अरे हम दोनों के मन में तो बहुत ही मधुर चित्र थे।" द्रौपदी बोली, "यह तो कुछ और ही निकला।"

"यह तो एक दुर्धर्प संघर्ष की गाथा है भाभी ! इसमें केवल साहस का माधुर्य है।" उद्धव ने कहा, "मैं तो काका के विपय में जितना सोचता हूँ, उनके धैर्य और साहस पर मुग्ध होता जाता हूँ।"

"तुम ठीक कहते हो उद्धव ! मैंने आज तक केवल अपने सखा कृष्ण के विषय में ही सोचा था, मातुल के विषय में तो कभी सोचा ही नहीं।" द्रौपदी ने कहा।

24

सात्यकि और कृतवर्मा, यादव महारथियों के साथ प्रातः ही हस्तिनापुर में प्रवेश कर गए थे। वे विदुर के आवास के निकट गंगातट पर मांगलिक वेशभूषा में किसी शुभ यात्रा के लिए कृष्ण की प्रतीक्षा में खड़े थे। सैनिकों की वेशभूषा किसी उत्सव के योग्य रखी गई थी। वे लोग कृष्ण के साथ संधि रूपी समारोह में सम्मिलित होने के लिए ही तो आए थे; किंतु युद्ध के लिए पूर्णतः प्रस्तुत थे। वे उन वस्त्रों में युद्ध भी कर सकते थे और यात्रा भी। उनका संगठन कृष्ण ने एक प्रहारक तथा तीव्रगामी सेना के रूप में किया था। सैनिकों की संख्या अधिक नहीं थी; किंतु वे युद्ध में एक गंभीर प्रहारक शक्ति का रूप धारण कर सकते थे।

स्नान-ध्यान तथा संध्या-उपासना से निवृत्त होकर कृष्ण सभा में जाने के लिए प्रस्तुत हुए। तभी विदुर ने उन्हें बताया कि उन्हें सभा में ले जाने के लिए स्वयं युवराज दुर्योधन और सुवलपुत्र शकुनि आए हैं।

कृष्ण चौंके। कल की घटनाओं के पश्चात् उन्हें यह आशा नहीं रह गई थी कि दुर्योधन उनकी अगवानी के लिए आ सकता है। वह पांडवों से किसी प्रकार की संधि का इच्छुक नहीं था। जब वह संधि ही नहीं चाहता तो वह कृष्ण को सभा में उपस्थित देखने को इतना आतुर क्यों है ? उसे संधि नहीं चाहिए, इसलिए उसने यह नहीं चाहा कि कृष्ण राजसभा में न आएँ, उसने चाहा कि कृष्ण सभा में आएँ। क्यों ? कृष्ण सभा

में हों और संधि न हो। क्यों ? ताकि कृष्ण को युद्ध का अपराधी ठहराया जा सके। सारे संसार को बताया जा सके कि कृष्ण ने संधि नहीं होने दी। कृष्ण शांति नहीं चाहते। कृष्ण युद्धलोलुप, रक्तपिपासु जीव हैं··· पर कृष्ण को इस प्रकार कलंकित करने से दुर्योधन को क्या लाभ होगा ? कृष्ण का अपयश फैलेगा तो उससे दुर्योधन का कौन-सा लोभ तृप्ति पाएगा ? दुर्योधन को अपने यश-अपयश की कोई चिंता कभी नहीं रही, अन्यथा वह पांडवों के साथ इस प्रकार का व्यवहार कभी न करता। निकृष्ट कर्म कर के भी समाज की दृष्टि में भले बने रहने की चिंता धृतराष्ट्र को होती है, दुर्योधन को नहीं। तो दुर्योधन कृष्ण को सभा में क्यों ले जाना चाहता है। वह उनसे रूठकर क्यों अपने घर में बैठा नहीं रहा ? कल वह उनकी अगवानी के लिए नहीं आया था। उनसे मिलने के लिए धृतराष्ट्र के प्रासाद अथवा विदुर के आवास पर भी नहीं आया; तो कृष्ण के कल के व्यवहार से अपमानित होकर आज वह उनकी अगवानी करने क्यों चला आया ? कल की घटना के पश्चात् उसने स्वयं को अपमानित अनुभव क्यों नहीं किया ? ऐसा कैसे हो सकता है कि उसके समान अहंकारी व्यक्ति के मन में कृष्ण के व्यवहार से क्रोध न उपजा हो ? उसने उनसे उसका प्रतिशोध लेने का प्रयत्न क्यों नहीं किया ?··· क्या सोच कर वह उनका स्वागत करने नगरद्वार पर नहीं आया और फिर अपने घर आए कृष्ण को भोजन के लिए ही आमंत्रित नहीं किया, अपने घर पर ठहरने का निमंत्रण भी दिया ?

कृष्ण के मन में चिंतन की प्रक्रिया चलती रही। ···दुर्योधन ने आरंभ में उन की उपेक्षा करने का प्रयत्न किया था। वह अपने पिता से रूठा हुआ था, क्योंकि धृतराष्ट्र ने कृष्ण के हस्तिनापुर आने पर उन्हें सम्मानित करने का प्रस्ताव रखा था। उनके हस्तिनापुर आने को एक उत्सव बनाने का प्रयत्न किया था। दुर्योधन नहीं चाहता था कि कृष्ण को कोई महत्त्व दिया जाए। तो फिर उसने अपने भवन में उन्हें आमंत्रित क्यों किया ? वह सामान्य शिष्टाचार नहीं हो सकता। उसने शिष्टाचार और सामाजिक मर्यादा की कभी चिंता नहीं की। उसका जीवन सात्विक आदर्शों तथा सामाजिक धर्म से नहीं, मात्र पाशविक वृत्तियों से प्रेरित और संचालित होता है। वह लोभ और स्वार्थ से प्रेरित हो कर किसी के भी सम्मुख घुटने टेक सकता है; किंतु किसी को स्वयं से श्रेष्ठ मान उसका सम्मान नहीं कर सकता। वह अपनी क्षति के भय से, किसी प्रकार की आशंका से पीड़ित हो कर, किसी की चाटुकारिता तो कर सकता है, किसी के गुण से प्रभावित होकर उसकी प्रशंसा नहीं कर सकता।··· गंधर्वो द्वारा वंदी किए जाने पर वह युधिष्ठिर को पुकार-पुकार कर घिघियाया था, किंतु मुक्त हो जाने पर उसके मन में कहीं कृतज्ञता का लेश मात्र भी नहीं वचा था। दुर्वासा के माध्यम से पांडवों को पीड़ित करने के लिए वह उनके सामने बार-बार माथा टेकता रहा था, किंतु पूजा भाव से तो उसने कभी देवर्षि नारद को भी प्रणाम नहीं किया। कुछ पाने के लोभ में उसने महर्षि वेदव्यास को पितामह कहकर भी पुकारा हो सकता है, किंतु उनके धर्म के सम्मुख

नतमस्तक तो वह कभी नहीं हुआ।…

तो आज भी उसे कृष्ण से शांति पाने की लालसा नहीं है। वह कृष्ण के धर्म से अभिभूत होकर उन की अगवानी करने नहीं आया है। वह तो अपने लोभ में वंधा अपनी जिह्वा लपलपाता आया है। कृष्ण को अपनी सभा में घेर कर वंदी करने का लोभ। कृष्ण के वध का लोभ।… उसे भय होगा कि कृष्ण कहीं हस्तिनापुर छोड़ कर भाग ही न जाएँ। कृष्ण सभा में न आएँ और अपनी सेना में घिरे वैठे रहें। वह कृष्ण से युद्ध नहीं चाहता। वह उन्हें ललकार कर वंदी करना नहीं चाहता। वह तो उन्हें घेर कर बंदी करना चाहता है।…कृष्ण मुस्कराए ।

"श्रीकृष्ण !" दुर्योधन ने कहा, "महाराज धृतराष्ट्र सभा में आ गए हैं और पितामह भीष्म इत्यादि कुलवृद्धों के साथ आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैं आपकी अगवानी के लिए आया हूँ। आपको ले जाने के लिए अपना रथ लाया हूँ। मेरे साथ सभा में पधारकर कौरवों की कामना को सनाथ करें।"

कृष्ण ने दुर्योधन को देखा : उसके शव्द जितने विनीत थे, उसके चेहरे पर उसके सौवें अंश के बराबर भी विनय नहीं थी। शव्द जैसे किसी और के हों और वह उन्हें रट कर आया हो, या फिर पीट-पीट कर जिह्वा को तो विनय सिखा दी गई हो, किंतु मन का अहंकार तनिक भी घट न पाया हो।

"मैं प्रस्तुत हूँ राजा दुर्योधन !" कृष्ण बोले, "किंतु मैं अपने ही रथ में जाऊँगा। मेरा सारथि दारुक रथ तैयार कर चुका है। मेरे रथ में मेरे साथ महात्मा विदुर भी जाएँगे।"

"महात्मा कौन ?" दुर्योधन ने कुछ इस प्रकार पूछा जैसे या तो उसे सुनाई न दिया हो या फिर उसकी समझ में न आया हो।

"महात्मा विदुर। तुम्हारे पितृव्य।"

कृष्ण देख रहे थे कि विदुर की चर्चा अपने पितृव्य के रूप में सुनकर उसका मुख जैसे कड़वा हो गया था।

"ठीक है। चलिए।" दुर्योधन आगे-आगे चल पड़ा।

अपने अंगरक्षकों के अश्वों के मध्य, यात्रा के आगे-आगे दुर्योधन का रथ था और उसके पीछे यादव महारथियों के रथ और यादव अश्वारोही चल रहे थे। उनके पीछे कृष्ण का विराट रथ था। आज उनका रथ अपने मांगलिक वेश में था। चाँदी की घंटियों और पुष्पमालाओं में उसका सारा सामरिक महत्त्व छिप गया था। उसमें शस्त्रास्त्र भी रखे हुए हैं, यह तो वाहर से देखा ही नहीं जा सकता था। पाँचों गरुड़ों के हाथों में गरुड़ध्वज और पुष्पों से सुसज्जित दीर्घ शूल थे। उनके अश्व भी असाधारण रूप से अलंकृत थे। वे अपने नायक वैन्तेय के नेतृत्व में कृष्ण के रथ के आगे चल रहे थे। उनके पीछे

सात्यकि और कृतवर्मा अपने-अपने रथों पर थे। सात्यकि के साथ कुछ अंगरक्षक ही थे। मुख्य सेना कृतवर्मा के साथ थी। उसके सैनिक कृतवर्मा की अपनी वाहिनी से संबंधित थे। कृष्ण की रक्षा का दायित्व कृतवर्मा की इसी वाहिनी पर था।

यात्रा देखने के लिए सारा हस्तिनापुर पथों और वीथियों में उमड़ आया था। भवनों की अटारियाँ लोगों के वोझ से जैसे झुक आई थीं। चारों ओर से कृष्ण का जय-जयकार हो रहा था। जितने कंठ थे, उतने ही शब्द थे; और जितने शब्द थे, उतने ही पुष्प थे। मार्ग भर निरंतर पुष्प-वर्षा होती रही थी।

राजसभा के सम्मुख रथ रुके तो कृष्ण ने दारुक की ओर देखा, "तुम तैयार रहना। द्वार तक आने में विलंब न हो। मार्ग पहले से ही सुगम्य रखना। अश्व दौड़ने को प्रस्तुत हों और रथ शत्रुओं का मार्ग अवरुद्ध करने को। शेष सब कुछ कृतवर्मा के निर्देश के अनुसार करना।"

"मैं आपको प्रस्तुत मिलूँगा वासुदेव !" दारुक ने कहा।

सभा में आगे-आगे दुर्योधन और शकुनि ने प्रवेश किया। उनके पीछे कृष्ण थे। उन्होंने एक ओर विदुर और दूसरी ओर सात्यकि का हाथ पकड़ रखा था। कृतवर्मा उनके पीछे था।

कृष्ण के प्रविष्ट होते ही, धृतराष्ट्र के साथ, सभा में बैठे सारे कुलवृद्ध उठ खड़े हुए। कृष्ण को आश्चर्य हुआ कि सभा में नारद, कण्व और परशुराम भी उपस्थित थे।

धृतराष्ट्र ने कृष्ण से बार-बार आग्रह किया कि वे उनके लिए विशेष रूप से रखे गए 'सर्वतोभद्र' आसन को ग्रहण करें; किंतु कृष्ण उन ऋषियों को पहले बैठा कर ही बैठे। विदुर कृष्ण के आसन से लगती हुई एक मणिमय चौकी पर बैठे जिस पर श्वेत रंग का मृगचर्म बिछा हुआ था। दुःशासन ने सात्यकि को और विविंशति ने कृतवर्मा को स्वर्णमय सिंहासन पर वैठाया। दुर्योधन और कर्ण, कृष्ण के निकट ही एक ही आसन पर बैठे। कदाचित् इसके माध्यम से दुर्योधन कर्ण के प्रति अपनी निकटता प्रकट करना चाहता था और कर्ण इसके द्वारा अपना महत्त्व जता रहा था। कर्ण इस समय भी अमर्ष से भरा हुआ दिखाई पड़ रहा था। यद्यपि वह दुर्योधन के साथ एक ही आसन पर बैठा था, किंतु उसके मन से अपनी उपेक्षा का भाव नहीं जा रहा था। वह अपना महत्त्व जानता था, किंतु इस सभा में तो वह मात्र एक सूतपुत्र अथवा अधिक से अधिक अंगराज था। वह यह घोषणा तो नहीं कर सकता था कि कुरु साम्राज्य दुर्योधन का था और दुर्योधन उसके परामर्श के बिना एक डग भी उठाने में सक्षम नहीं था।··· ठीक है कि कुरुओं की सेना में अनेक योद्धा थे, किंतु उसके समान दुर्योधन के प्रति समर्पित एक भी योद्धा नहीं था। वस्तुतः यह सारा साम्राज्य उसी के कंधों पर टिका हुआ था।···

सब लोग बैठ गए तो कृष्ण धृतराष्ट्र से संबोधित हुए, "कुरुश्रेष्ठ ! मैं एक विशेष

प्रयोजन से हस्तिनापुर आया हूँ। इस समय आपकी और हमारी समस्या एक ही है। मैं चाहता हूँ कि क्षत्रियों का संहार हुए बिना कौरवों और पांडवों में संधि हो जाए। संसार एक विराट संहार से बच जाए और सब लोग शांति के सुख का भोग करें। युद्धरत देश समृद्ध नहीं हो सकता। बिना शांति के समाज का विकास नहीं होता। मैं जानता हूँ कि कुरुओं में शील है; किंतु इस समय आपका पुत्र दुर्योधन धर्म और अर्थ को विस्मृत कर क्रूर आचरण कर रहा है। वह अपने ही बंधुओं से अशिष्ट, अभद्र तथा क्रूर व्यवहार कर रहा है। लोभ में लिप्त होकर धर्म की मर्यादा का हनन कर रहा है।

''धर्मराज युधिष्ठिर ने आपके लिए संदेश भेजा है कि वे आज भी आपको अपने पिता के स्थान पर मानते हैं। द्यूत के छल में उनका राज्य और संपत्ति उनसे छीन ली गई, फिर भी इस आशा से उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा का तेरह वर्ष तक पालन किया कि उसके पश्चात् आप धर्मपूर्वक अपने वचनानुसार उनका राज्य लौटा देंगे और उन्हें अपने पुत्रों के रूप में अंगीकार कर लेंगे। यदि आज भी आप उनको अंगीकार करें तो आप उनके द्वारा सुरक्षित हो कर उनके द्वारा जीते हुए राज्य का अनंत काल तक भोग कर सकते हैं। पर यदि आप न उनको उनकी संपत्ति लौटाते हैं, न उनको अंगीकार करते हैं तो विनाश उपस्थित है महाराज ! विनाश उपस्थित अवश्य है, किंतु उसका निवारण अब भी संभव है, और वह आपके और मेरे हाथ में है। आप अपने पुत्रों को मर्यादा में रखिए। मैं पांडवों को नियंत्रित करूँगा। आप अपने पुत्रों का शासन कर संधि का प्रयत्न करें। दोनों पक्षों का हित इसी में है। आप पांडवों से सुरक्षित रह कर संसार के राज्य का भोग भी कर सकते हैं और संसार को विनाश के गर्त में धकेल भी सकते हैं। आपके पुत्र युधिष्ठिर ने कहा है कि वह आपकी सेवा के लिए भी प्रस्तुत है और युद्ध के लिए भी । आपके सारे साम्राज्य में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो युधिष्ठिर के समान आपकी सेवा कर सके और आपकी सेना में एक भी ऐसा योद्धा नहीं है, जो अर्जुन को युद्ध में पराजित कर सके। युद्ध और सेवा में से जो आपको अधिक प्रिय हो, आप उसका चयन कर लें।'

कृष्ण मौन हो गए। सारी सभा अवाक् होकर उनको सुन रही थी।

किसी और वक्ता को बोलते न देख, परशुराम उठे, ''धृतराष्ट्र ! श्रीकृष्ण ने जो भी कहा है, वे उसका पालन करेंगे; और इससे अधिक उदार कोई क्या हो सकता है। तुम स्वयं विचार करो, जो पक्ष सबल है, जो पक्ष पीड़ित है, जिन लोगों के साथ तुमने सदा अत्याचार किया है– वे लोग तुमसे राज्य नहीं माँग रहे, केवल स्नेह माँग रहे हैं। याचना कर रहे हैं कि तुम उनको अपने पुत्रों के समान अंगीकार कर लो। वे पुत्र के समान तुम्हारी सेवा करेंगे। हस्तिनापुर का सारा राज्य पैतृक उत्तराधिकार के रूप में उनका है। इंद्रप्रस्थ का राज्य उन्होंने अपने बाहुबल से अर्जित और विकसित किया है। रक्तपात से बचने के लिए, शांति स्थापित करने के लिए, उन्होंने अपने पूर्ण राज्य की माँग पहले भी छोड़ दी थी। आज वे इंद्रप्रस्थ का भी त्याग कर रहे हैं। मैंने सुना है

कि उन्होंने तुमसे केवल पाँच ग्राम लेकर भी संधि करने का प्रस्ताव संजय के माध्यम से भेजा है। फिर और क्या चाहिए तुम्हें ? क्यों मानवता के विनाश के लिए तुले हुए हो ?"

"मैं आपसे पूर्णतः सहमत हूँ भगवन् !" धृतराष्ट्र ने कुछ अधिक ही भक्तिपूर्ण स्वर में कहा, "श्रीकृष्ण की महानता को भी समझता हूँ और स्वीकार करता हूँ; किंतु मेरे वश में कुछ नहीं है। मेरे पुत्र मेरे अधीन नहीं हैं। दुर्योधन ने मुझे इस सिंहासन से अभी उतारा नहीं है किंतु मेरे हाथ में कोई अधिकार नहीं है। मेरा यह मंदबुद्धि और दुराचारी पुत्र दुर्योधन मेरी कोई आज्ञा नहीं मानता। मैं उसे समझा ही तो सकता हूँ किंतु वह समझने से इंकार करता है।" धृतराष्ट्र ने उस दिशा में देखा, जिधर से कृष्ण का स्वर आ रहा था, "श्रीकृष्ण ! जनार्दन ! यदि आप ही इसे समझा सकें तो समझाएँ। संभव है कि वह आपकी बात मान जाए।"

नारद चकित थे··· एक वह पुत्र है, युधिष्ठिर, जो यह जानते हुए भी कि धृतराष्ट्र उसके राज्य का अपहरण करने के लिए उसे द्यूत के लिए आमंत्रित कर रहा है, मन में द्यूतविरोध होते हुए भी, जूआ खेलने बैठ गया, ताकि पिता की आज्ञा का उल्लंघन न हो; और एक पुत्र है यह दुर्योधन, जिसके विषय में राजसभा में सार्वजनिक रूप से कहा जा रहा है कि वह पिता की आज्ञा नहीं मानता, और फिर भी वह उठकर यह कहने के लिए खड़ा नहीं होता कि वह पिता की आज्ञा का पालन करेगा। कैसा और किस सीमा तक का निर्लज्ज है यह।···

कृष्ण ने भी धृतराष्ट्र की बात सुनी। उनकी कातरता देखकर किसी को भी उन पर दया आ सकती थी। सिंहासन पर बैठा एक सार्वभौम सत्ताधारी राजा कह रहा था कि उसका पुत्र उसकी आज्ञा का पालन नहीं करता।··· तो वह क्यों अपने युवराज को पदच्युत नहीं करता ? उसके पास भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य और अश्वत्थामा जैसे योद्धा हैं। क्यों वह उन्हें आदेश नहीं देता कि वे दुर्योधन को बंदी करें ? क्यों वह अपने मन की बात मनवाने के लिए, अपनी आज्ञाओं का पालन करवाने के लिए अपनी सत्ता और अपने अधिकारों का प्रयोग नहीं करता ? यदि दुर्योधन उसकी आज्ञा का पालन नहीं करता और युधिष्ठिर उसका आज्ञाकारी पुत्र है तो वह पूर्व युवराज, युधिष्ठिर को ही फिर से युवराज क्यों नहीं बनाता ? क्या उसकी इच्छा ही नहीं है कि दुर्योधन उस की आज्ञा का पालन करे, अर्थात् पांडवों को उनका राज्य लौटा दे ? वह नहीं चाहता कि पांडवों को राज्य का कोई एक छोटा-सा अंश भी दिया जाए ? वह अपनी इच्छा को सार्वजनिक रूप से स्वीकार नहीं करना चाहता, इसलिए दुर्योधन को अपनी ढाल बनाए हुए है ?···दुर्योधन में अपने पिता से अधिक नैतिक बल है, वह अपनी इच्छा को अपनी इच्छा के रूप में स्वीकार तो कर रहा है।··· पर यह भी तो संभव है कि धृतराष्ट्र उग्रसेन के ही समान असहाय हो गया हो ?··· पर नहीं ! भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य के होते हुए, वह उग्रसेन के समान असहाय कैसे हो सकता है ?··· और यदि वह सचमुच ही

पाप का समर्थन नहीं करता, अधर्म की रक्षा करना नहीं चाहता तो अपनी अक्षमता को स्वीकार करते हुए, उसे अपना पद त्याग देना चाहिए। जो राजा अपनी आज्ञाओं का पालन नहीं करवा सकता, उसके राजा बने रहने का क्या अर्थ ?··· संभव है कि वह अपना लोभ न छोड़ पा रहा हो। एक दुर्योधन उसकी आज्ञाओं का पालन नहीं करता, किंतु शेष लोग तो करते हैं। उसे सभा में राजा का सम्मान तो मिलता है। उसके विलास के साधन तो उसे उपलब्ध होते हैं।···

यह भी तो संभव है कि वह अपना राज्य दुर्योधन के बल पर ही चला रहा हो। दुर्योधन के हटते ही उसे अपने सिंहासन के छिन जाने का भय हो। गुंडों के बल पर राज्य करनेवाला राजा गुंडों का दमन कैसे कर सकता है।··· पर यदि धृतराष्ट्र अपने भोग विलास और अपने अहंकार की तुष्टि के लिए पाप और पापियों की रक्षा कर रहा है तो कृष्ण को उससे सहानुभूति कैसे हो सकती है।··· फिर भी यदि वह दुर्योधन को समझाने को कह रहा है, तो अपनी बात कहने में कोई हानि नहीं है।···

"मुझे जो कुछ कहना था, मैं कह चुका हूँ कुरुराज ! किंतु मैं आपके पुत्र युवराज दुर्योधन से इतना तो अवश्य कहना चाहता हूँ कि जो अपने सर्वगुण संपन्न आत्मीय जनों से द्वेष पालता है और पराए लोगों से अपनी रक्षा की आशा रखता है, उसका भार यह पृथ्वी सहन नहीं करती।" कृष्ण बोले, "दुर्योधन ! तुम यह माने बैठे हो कि तुम पांडवों को युद्ध में पराजित कर दोगे, किंतु दृष्टि उठाकर अपनी सेना में एक व्यक्ति ढूँढकर दिखाओ, जो अर्जुन को युद्ध में पराजित कर सकता हो; और फिर युद्ध में जिसका सारथि मैं होऊँगा, उसे युद्ध में पराजित करनेवाला व्यक्ति अपने दोनों हाथों पर पृथ्वी को उठा सकता है। मैं अब भी तुम से कहता हूँ, तुम आधा राज्य पांडवों को दे दो, वे तुम्हारे पिता को सम्राट् और तुम्हें युवराज बनाए रखेंगे।"

दुर्योधन ने कृष्ण की बात शांति से सुनी और सबको यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उसने अपना क्रोध नियंत्रण में ही रखा। उसका स्वर भी ऊंचा नहीं उठा। बोला, तो एकदम आक्रामक नहीं था। वह तो जैसे अपनी व्यथा ही कह रहा था।

"केशव ! मैं यह मानता हूँ कि आप पक्षपात कर रहे हैं। आप, विदुर, आचार्य और पितामह ही नहीं मेरे अपने पिता भी अकारण ही मुझ से द्वेष करते हैं। इस सारे प्रसंग में मुझे तो अपना रंच मात्र भी अपराध दिखाई नहीं देता। युधिष्ठिर द्यूत में अपना राज्य हार गया तो क्या उसके लिए मैं दोषी था ? पांडव अपने अज्ञातवास में प्रकट हो गए और पहचान लिए गए तो क्या उसके लिए मैं अपराधी हूँ?" दुर्योधन का स्वर कुछ कठोर हुआ, "अब पांडव अकारण ही पांचालों के साथ मिलकर कौरवों का वध करना चाहते हैं, तो आप लोग चाहते हैं कि मैं भयभीत होकर अपना राज्य उन्हें दे दूँ और स्वयं वनवास के लिए चला जाऊँ। आपका कौन-सा धर्म कहता है कि शत्रु को देखकर क्षत्रिय, युद्ध को छोड़कर शांति की बात करने लगे। आप लोग मुझे विनाश से डरा रहे हैं तो मैं आपको बता दूँ कि क्षत्रिय का धर्म युद्ध में प्राण दे देना है, भयभीत

होकर भागना नहीं।" उसने सीधे कृष्ण की ओर देखा, "मैं यह मानता हूँ कि पांडवों को खांडवप्रस्थ देना भी अनुचित था। उस पर उनका कोई अधिकार नहीं था। और अब तो जो राज्य मेरे पिता ने मुझे दे दिया है, उसे पांडवों को लौटाने का कोई प्रश्न ही नहीं है। सारी राजसभा मेरी यह निर्भीक वाणी सुने, पांडवों को हस्तिनापुर, इंद्रप्रस्थ अथवा किन्हीं पाँच ग्रामों का राज्य तो क्या मेरे जीते जी उन्हें सूई की नोक बराबर भूमि भी नहीं मिल सकती। वे युद्ध के लिए सैन्य संचय कर रहे हैं तो हम भी प्रस्तुत हैं। अब शांतिदूतों का भेजना बंद करें और जो निर्णय करना है, युद्ध क्षेत्र में कर लें।"

कृष्ण देख रहे थे कि दुर्योधन अपने पापों को स्पष्ट बचाकर अपना पक्ष ऐसे प्रस्तुत कर रहा था, जैसे वह ही धर्म पर चलने के कारण अब तक पीड़ित रहा हो।

"तेरे पिता ने छलपूर्वक पांडवों के पिता का राज्य हथिया लिया।" कृष्ण बोले, "तूने अपने शैशव में ही भीम को विष दिया। तूने उन्हें वारणावत के लाक्षागृह में जीवित जलाकर मार डालने का षड्यंत्र रचा। पांडवों की समृद्धि को देख ईर्ष्या से जल कर तूने इस छलपूर्ण द्यूत का प्रपंच रचा। तेरे पिता ने पिता के रूप में आज्ञा देकर पांडवों को द्यूत के लिए बुलाया, अन्यथा धर्मप्राण पांडव द्यूत में सम्मिलित क्यों होते। तुम्हारे संकेत पर शकुनि ने युधिष्ठिर को द्यूत में छलपूर्वक वंचित किया। तुम लोगों ने सब कुछ हार जाने पर भी युधिष्ठिर को द्यूत से उठने नहीं दिया। द्रौपदी को उन की संपत्ति बताकर दाँव पर लगाने को बाध्य किया। किसी भी स्त्री के साथ जो व्यवहार पाप है, वैसा व्यवहार तूने अपने बड़े भाई की पत्नी के साथ सार्वजनिक रूप से किया। तुमने, कर्ण ने और दुःशासन ने जो कुछ द्रौपदी और पांडवों को कहा, वह सब तुम्हारा काल बुलाने के लिए पर्याप्त है। तुम्हारा सौभाग्य है कि मैं उस समय यहाँ आ नहीं सका, नहीं तो तुम तीनों के मस्तक अपने सुदर्शन चक्र से काटकर द्रौपदी के चरणों में चढ़ा देता।···उन्होंने बारह वर्षों का वनवास काटा, एक वर्ष का अज्ञातवास किया। तुम काल-गणना को झुठलाना चाहते हो और कहते हो कि वे एक वर्ष से पहले पहचान लिए गए।···उस पर भी तुम कह रहे हो कि तुम्हें अपना कोई अपराध दिखाई नहीं पड़ता। नेत्रहीन हो तुम ! विवेकशून्य हो।" कृष्ण क्षण-भर के लिए रुके, "बहुत आतुर हो वीरगति पाने को, तो वह तुम्हें बहुत शीघ्र मिलेगी। दुर्योधन ! पांडवों द्वारा याचना करने पर और कुलवृद्धों द्वारा आदेश दिए जाने पर भी जो राज्य, आज तुम पांडवों को नहीं देना चाहते, वही तुम युद्धक्षेत्र में शव के रूप में गिरकर उन्हें दोगे।"

दुःशासन का मन काँप गया। शिशुपाल का सिर कटते देखा था उसने। द्यूतसभा में भी जब द्रौपदी ने कृष्ण को पुकारा था तो उसका मस्तक घूम गया था। उसे चारों ओर सुदर्शन ही सुदर्शन दिखाई दे रहे थे। उसने असहाय दृष्टि से चारों ओर देखा : सच कह रहे हैं कृष्ण ! उस दिन वे यहाँ नहीं थे। आज वे हैं। यदि सत्य ही उन्होंने सुदर्शन निकाल लिया तो कौन बचाएगा कौरवों को ?

वह पैर दबाए दुर्योधन के पास आया, "युवराज ! मुझे तो लगता है कि यदि

आप कृष्ण से संधि नहीं करते, तो आज हमारे पिता ही भीष्म और द्रोण की सहायता से हम तीनों को बंदी कर पांडवों को सौंप देंगे।"

दुर्योधन का चेहरा क्रोध से लाल हो गया, "मुझे भी ऐसा ही लगता है। पर मैं उसका अवसर ही नहीं आने दूँगा।"

दुर्योधन उठकर खड़ा हो गया, "मुझे इस सभा में बैठकर इन मूर्खों की बातें सुनने की कोई बाध्यता नहीं है।"

वह सभा छोड़कर बाहर निकल गया। उसके पीछे दुःशासन, कर्ण, शकुनि तथा उनके मंत्री भी चले गए।

भीष्म ने उसे जाते देखा तो बोले, "जो धर्म को त्याग कर क्रोध का अनुसरण करता है, उसका नाश दूर नहीं है। लगता है कि क्षत्रियों की फसल पक चुकी है और कट जाने को तैयार है।"

कृष्ण की तेजस्वी वाणी सुनाई दी, "कंस ने इसी प्रकार अपने पिता का ऐश्वर्य छीन लिया था और राजा बन गया था। मैंने अपने सजातीय बंधुओं के हित के लिए युद्ध में उसे मार डाला। समस्त कुल के हित के लिए एक व्यक्ति को, ग्राम के हित के लिए एक परिवार को, जनपद के हित के लिए एक ग्राम को, और आत्मा के कल्याण के लिए समस्त भूमंडल का त्याग श्रेयस्कर है। भरतवंशियो ! यदि आप अपने वंश का कल्याण चाहते हैं तो दुर्योधन, दुःशासन और कर्ण को बंदी कर पांडवों को सौंप दें।"

धृतराष्ट्र का हृदय काँप उठा। कृष्ण स्वयं उसकी राजसभा में सारे भरतवंश के सम्मुख उसके पुत्रों को बंदी कर पांडवों को सौंप देने को आह्वान कर रहे थे। यदि कहीं इससे भीष्म अथवा कोई और वीर प्रेरित हो उठा तो अनर्थ हो जाएगा। दुर्योधन को पांडवों के हाथ सौंपने का अर्थ है, उसे भीम को सौंपना, जो उसकी निश्चित मृत्यु है। धृतराष्ट्र की अंधी आँखों के सम्मुख समस्त भूमंडल घूम गया।

"देवी गांधारी को बुलाओ।" धृतराष्ट्र के मुख से अनायास ही निकला।

"जी महाराज !" विदुर ने निकट जाकर पूछा।

धृतराष्ट्र अब तक कुछ सभल गया था। वह कृष्ण को बोलने का और अवसर नहीं देना चाहता था। वे बोले, तो जाने उनकी ओजस्विनी वाणी क्या चमत्कार कर जाए।

"गांधारी को बुलाओं। वह दुर्योधन को समझाए। कदाचित् माँ के कहने से दुर्योधन मान जाए और संधि कर ले।"

"यदि आप सत्य ही पांडवों के साथ संधि के इच्छुक हैं, तो आप वह कर सकते हैं।" विदुर ने कहा, "उसके लिए दुर्योधन की सहमति आवश्यक नहीं है। यदि आप उसे सहमत करना ही चाहते हैं तो समझाना ही तो एकमात्र उपाय नहीं है। समाज के हित के लिए कभी-कभी कठोर हो कर हाथ में दंड भी ग्रहण करना पड़ता है महाराज !"

धृतराष्ट्र का हृदय फट गया : यह विदुर तो सचमुच ही दुर्योधन को बंदी कर पांडवों को सौंप देना चाहता है।

"तुम जाकर गांधारी को बुला लाओ।" धृतराष्ट्र ने अपनी वाणी में जन्मी खीझ को सयत किया, "मां के कहने में बहुत बल होता है। तुम जाकर गांधारी को बुला लाओ।"

"अच्छा महाराज !" विदुर गांधरी को बुलाने के लिए चले गए।

सभा में एक कष्टदायक मौन छाया हुआ था। धृतराष्ट्र के लिए यह समय काटना कठिन था। इससे तो अच्छा था, कृष्ण ही कुछ बोलते रहते, पर कृष्ण का बोलना तो भयंकर हो सकता है। कहीं वे बोलने ही न लग जाएँ। ···धृतराष्ट्र की समझ में नहीं आया कि वह क्या चाहता है, कृष्ण बोलें अथवा न बोलें।··· नहीं, शायद वह नहीं चाहता कि कृष्ण बोलें। किंतु कोई तो कुछ बोले।

धृतराष्ट्र का दम घुटने लगा था। वह स्वयं ही बोला, "यह मूर्ख दुर्योधन ऐश्वर्य के लोभ में पड़कर अपना राज्य भी गँवाएगा और प्राण भी। मर्यादा का उल्लंघन कर यह मूढ़ अपने हितैपी गुरुजनों की उपेक्षा कर सभा को छोड़कर चला गया है।"

धृतराष्ट्र की कल्पना में द्यूत के पूर्व के दिन घूम गए। इंद्रप्रस्थ से लौटकर दुर्योधन कैसे एड़ियाँ रगड़-रगड़कर उनके सम्मुख रोया था। युधिष्ठिर की संपत्ति देख आने के पश्चात् उसको रात को नींद नहीं आती थी। वह उस सारी संपत्ति पर अधिकार करना चाहता था।··· वह लोभ ही तो था।··· वह संपत्ति भी उसे मिल गई तो फिर पांडवों को अपमानित करने का क्या औचित्य था। उस समय दुर्योधन और उसके मित्रों को धर्म-बंधन में बँधे असहाय पांडवों को पीड़ित करने की क्या आवश्यकता थी। पांडवों की संपत्ति छीन कर अहंकार हो गया था उसे।··· उसी अहंकार में काम जागा था उस का। पांडवों की पत्नी को अपमानित ही नहीं किया था उसने। वस्तुतः अपने मन में छिपे गुप्त काम को ही सार्वजनिक रूप से प्रकट किया था उसने। लोभ, अहंकार और काम की विकृतियों ने उसकी बुद्धि भ्रष्ट कर दी थी। अपना हित-अहित भी सोच नहीं पाया वह।··· उसे तो जो हुआ सो हुआ, धृतराष्ट्र को क्या हुआ था ? उन्होंने तो न द्रौपदी का रूप देखा था, न युधिष्ठिर की संपत्ति। क्यों सहमत होते चले गए वे दुर्योधन से। उनका पुत्र-मोह उनकी बुद्धि भ्रष्ट कर देता है। जब वह उनके सम्मुख रोने लगता है, हठ करता है, एड़ियाँ रगड़ता है, प्राण देने की धमकी देता है, तो वे वह सब कुछ करने को सहमत हो जाते हैं, जो वह चाहता है। उसके उस अधर्म की रक्षा वे ही तो कर रहे हैं··· यह उनका पुत्र-मोह ही है, या सत्ता का मद चढ़ जाता है उनको और वे भी विकृतियों में सुख अनुभव करने लगते हैं ?··· वे असहाय थे अपने पुत्र की सत्ता के सम्मुख अथवा द्रौपदी का निर्लज्ज अपमान होते जान तथा पांडवों को असहाय देख उन्हें अपनी सत्ता का अनुभव होने लगा था ?···

ध्वनियों से उन्हें आभास हुआ कि विदुर गांधारी को ले आए हैं।

"अपने इस हठी पुत्र को समझाओ गांधारी !" धृतराष्ट्र ने कहा, "न किसी की मानता है, न किसी की सुनता है। सभा से ही उठकर चला गया है।"

गांधारी को पहले तो कुछ विचित्र-सी अनुभूति हुई। उसे अपने उस पुत्र को समझाने को कहा जा रहा है, जो सारे संसार के राजाओं को अपने वश में कर इतना बड़ा साम्राज्य चला रहा है। अव उसके दुर्योधन को समझाने के दिन रह गए हैं क्या ? और माँ अपने पुत्र को समझाए ही तो एकांत में समझाएगी, जहाँ वे दो ही हों, और वह उसे अपने ममत्व का वास्ता दे सके, अथवा इस प्रकार भरी सभा में वैठकर प्रदर्शन के रूप में वह उसे समझाने का नाटक करे। राजसभा में भी माता और पुत्र का वह नैसर्गिक संवंध प्रकट हो सकता है क्या ?··· पर शायद धृतराष्ट्र लोगों को दिखाने के लिए कोई नाटक ही करना चाहते हैं। उन्हें दुर्योधन की इस दस्युवृत्ति में अपनी शक्ति की अनुभूति होती है। यदि सचमुच पांडवों को उनका राज्य दे दिया गया और वे शक्तिशाली हो गए, तो कौन जाने वे अपना वचन पूरा करें, न करें। महाराज धृतराष्ट्र ने तो आज तक कोई वचन पूरा करने के लिए दिया ही नहीं, तो वे यह आशा कैसे कर सकते हैं कि कोई अपना वचन पूरा करेगा···यदि दुर्योधन को समझाना ही चाहते, तो आज तक उन्हें दुर्योधन को समझाने का समय नहीं मिला था क्या ? जो इस प्रकार···

"किसे समझाऊँ ?"गांधारी ने पूछा, "दुर्योधन सभा में है क्या ?"

"नहीं ! वह सभा छोड़कर चला गया है।" धृतराष्ट्र ने कहा, "विदुर ! बुलाओ उसको। उससे कहो कि मेरे आदेश और अपनी माता की आज्ञा से यहाँ आए और देवी गांधारी की वात सुने।"

विदुर चले गए। वे जानते थे कि दुर्योधन अपने मंत्रियों के साथ सभाभवन के अपने कक्ष में होगा।

दुर्योधन उन्हें वहीं मिल गया। वह, दुःशासन, कर्ण और शकुनि के साथ था। उसके कुछ अन्य मंत्री भी वहीं थे। विदुर ने देखा, एक कोने में वृद्ध कुणीक भी वैठा हुआ था। उसके चेहरे पर आज भी सदा के समान पैशाची मुस्कान थी।···विदुर को समझने में कोई कठिनाई नहीं थी कि वे लोग वहाँ वैठे कोई षड्यंत्र रच रहे थे। विदुर को देख, वे मौन हो गए। विदुर से अपने माता-पिता के आदेश सुनकर दुर्योधन ने अपने मित्रों की ओर देखा, "मैं अभी आया।"

विदुर समझ नहीं पाए कि वह सचमुच अपने पिता के आदेश से उनके साथ चल पड़ा अथवा उसके पास विदुर को तत्काल वहाँ से टालने का यही सरलतम उपाय था।

वह आकर सभा में खड़ा हो गया। अपने आसन पर वैठने की उसकी कोई इच्छा नहीं थी।

"क्या कहना चाहतीं हैं माता ?" उसका स्वर उग्र था।

"पुत्र दुर्योधन !" गांधारी ने कहा, "अपने इन सुहृदों की वात मान लो। तुम संसार को जीतना चाहते हो, किंतु उससे पहले तुम्हें अपने मन को जीतना चाहिए। कोई

भी अपनी इच्छा मात्र से न तो राज्य प्राप्त कर सकता है, न उसकी रक्षा और न उस का उपभोग। पहले अपने काम और क्रोध को जीतो पुत्र ! तब राज्य की बात सोचना। दूसरों पर शासन करने से पहले स्वयं पर शासन करना पड़ता है।" गांधारी ने रुककर जैसे कोई संकल्प किया और बोली, "एक बात बहुत स्पष्ट कहती हूँ। तुम जिनके बल पर युद्ध जीतने की कामना किए बैठे हो, उन पितृव्य भीष्म, आचार्य द्रोण तथा कृपाचार्य को पांडव भी उतने ही प्रिय हैं, जितने तुम। वे राज्य से अधिक महत्त्व धर्म को देते हैं। वे तुम्हारी सेना में खड़े भी हो जाएँगे तो वहाँ उनका तन ही होगा, उनका मन निश्चित रूप से पांडवों के पक्ष में खड़ा होगा। उन्होंने तुम्हारा अन्न खाया है, इसलिए वे युद्ध में तुम्हारे लिए अपने प्राण दे सकते हैं; किंतु वे युधिष्ठिर को वक्र दृष्टि से भी नहीं देखेंगे। इस संसार में केवल लोभ से कोई उपलब्धि नहीं होती। लोभ से कुछ भी सिद्ध होनेवाला नहीं है। तुम मेरी बात मानो। पांडवों से संधि कर लो।..."

गांधारी और धृतराष्ट्र ने नहीं देखा, किंतु सारी सभा ने देखा कि दुर्योधन के चेहरे पर कैसे भाव थे। वहाँ माता और माता के वचनों के लिए कोई सम्मान नहीं था। कोई श्रद्धा नहीं थी उसके मन में उस गांधारी के लिए, जिसे बुलाकर धृतराष्ट्र ने कुछ इस प्रकार सभा में बैठाया था, जैसे दुर्योधन उसकी उपेक्षा कर ही न सकता हो। दुर्योधन की उग्रता पूर्णरूपेण उसके मुखमंडल पर प्रकट हो चुकी थी। वह किसी हिंस्र पशु के समान भयंकर लग रहा था। किसी क्रूर संकल्प का मन बनाए वह उठा और बिना एक भी शब्द कहे, वह पुनः सभा छोड़कर अपने मंत्रियों के पास चला गया।

"दुर्योधन चला गया है भाभी !" विदुर ने कहा और गांधारी मौन हो गई।

सात्यकि काफी समय से व्याकुल था। उसे क्रुद्ध करने के लिए, दुर्योधन का व्यवहार ही पर्याप्त था, किंतु उसकी व्याकुलता का मूल कारण दुर्योधन और उसके मित्रों की संदिग्ध गतिविधि थी। सात्यकि को लग रहा था कि दुर्योधन की मंडली निष्क्रिय नहीं है। वह जिस मुद्रा में उठकर गया था, उससे स्पष्ट था कि वह सभा की सारी गतिविधि का प्रतिकार करने के लिए शीघ्र ही लौटेगा। किंतु यह प्रतिकार कैसे होगा ? उसे दुर्योधन के चेहरे पर विनाश का जो संकल्प दिखाई दिया था, उसे देख लेने के पश्चात् सभा में बैठे रहना उसके लिए असंभव हो गया था।

सात्यकि भी दुर्योधन के पीछे-पीछे सभा से निकल आया।

दुर्योधन बड़ी व्यग्रता से अपने कक्ष की ओर जा रहा था। उसने अपने क्रोध को छिपाने का कोई प्रयत्न नहीं किया था। उसके व्यवहार में किसी प्रकार की कोई गोपनीयता नहीं थी। वह अपने साथ आए मंत्रियों को निरंतर आदेश देता जा रहा था, जैसे युद्धकाल में कोई सेनापति देता है। वह तत्काल सारे सेनानायकों को उपस्थित होने, तथा सारी विकट जुझारू वाहिनियों को सभा के निकट प्रस्तुत होने की आज्ञा प्रचारित

करने को कह रहा था।

"पर युवराज ! राजसभा में वाहिनी नहीं आ सकती।" एक मंत्री ने कहा, "इस से सभा की मर्यादा भंग होती है।"

"हम आज तक सब कुछ क्या मर्यादा के भीतर रहकर ही करते रहे हैं मूर्ख ! जो प्रतिरोध करेगा, उसे हम सँभाल लेंगे···" दुर्योधन बोला, "आज कृष्ण लौटकर उपप्लव्य नहीं जा सकता। मैं उसे बेड़ियों में जकड़ा हुआ देखना चाहता हूँ।"

"क्या करना चाहते हैं युवराज ?"

"मैं उसे उसी प्रकार बाँध कर रखूँगा, जैसे कंस ने उसके पिता को बाँध कर रखा था।" दुर्योधन बोला, "उसी के योग्य है वह।"

सात्यकि लौट पड़ा। उसने संकेत से कृतवर्मा को सभा से बाहर बुलाया।

"कहाँ चले गए थे तुम ?" कृतवर्मा ने व्यग्रता से पूछा।

"वह कार्य करने गया था, जिसके लिए श्रीकृष्ण ने हमें द्वारका से बुलाया था।" सात्यकि बोला, "दुर्योधन श्रीकृष्ण को बंदी करने की योजना बना रहा है। थोड़ी देर में उसके सैनिक और सेनानायक यहाँ आ जाएँगे। हमें श्रीकृष्ण को सुरक्षित यहाँ से निकाल ले जाना है। बाहर जाकर तुम गरुड़ों को भीतर भेज दो। तुम स्वयं कवच धारण करो। सारी सेना को सभा के बाहर व्यूहबद्ध करो। रथों को प्रस्तुत करो। मैं श्रीकृष्ण को सभा से सुरक्षित निकाल लाऊँगा। देखना, दुर्योधन के सैनिक सभाभवन में प्रवेश न कर पाएँ।"

"नहीं कर पाएँगे।" कृतवर्मा के शरीर का सारा रक्त उसके मस्तिष्क की ओर दौड़ गया, "दुर्योधन की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है क्या। वह असंभव को संभव करना चाहता है।"

कृतवर्मा जानता था कि इस समय यहाँ पर्याप्त यादव सेना नहीं थी। कौरवों की नगरी से, उनकी सैनिक शक्ति को भंग कर, उनके बंदी को निकाल ले जाना सरल नहीं था; किंतु अब उसकी समझ में आ रहा था कि श्रीकृष्ण ने उसे और सात्यकि को द्वारका से क्यों बुलाया था। उन्होंने वैसे तीव्रगामी रथ अपने साथ क्यों लिए थे। वे अपने साथ एक छोटी, किंतु क्षिप्रगामी प्रारक सेना क्यों चाहते थे।··· तो उन्हें पहले से ही कुछ न कुछ आभास था।···

यह तो कृतवर्मा के सम्मान का प्रश्न था। उसकी रक्षा में से श्रीकृष्ण को कोई बंदी कैसे कर सकता है। और फिर यह दुर्योधन उसकी इच्छा के विरुद्ध श्रीकृष्ण को बंदी कैसे करेगा, जिसे उसने अपनी सेना का एक बड़ा भाग सैनिक सहायता के रूप में दिया है। दुर्योधन को भ्रम हो गया है कि कृतवर्मा ने उसे सैनिक सहायता दी है, तो वह श्रीकृष्ण पर हाथ डाल सकता है। कहीं ऐसा तो नहीं कि वह मूर्ख यह समझ बैठा हो कि कृतवर्मा उसका मित्र है, इसलिए वह श्रीकृष्ण को बंदी करने में उसकी सहायता करेगा।

कृतवर्मा ने अपने दाँत पीसे। आज वह अपनी परीक्षा देगा। वह श्रीकृष्ण को किसी से कम प्रेम नहीं करता। सात्यकि से उसका विरोध अपने स्थान पर है, किंतु उसके लिए वह श्रीकृष्ण को कौरवों के बंदी नहीं हो जाने देगा। श्रीकृष्ण की रक्षा के संदर्भ में उसका सात्यकि से कोई विरोध नहीं है, कोई मतभेद नहीं है।

सात्यकि ने श्रीकृष्ण के निकट जाकर उन्हें बाहर की गतिविधि की सूचना दी। उसके पश्चात् वह विदुर और धृतराष्ट्र के निकट गया। वे दोनों स्तंभित रह गए। अभी तो दुर्योधन को समझाया जा रहा था कि वह युधिष्ठिर से संधि कर ले और वह श्रीकृष्ण को ही बंदी बना लेना चाहता था।··· अपनी मुक्ति के लिए वह कोई भी मार्ग खुला नहीं रखना चाहता था। उसका काल सचमुच उसके सम्मुख खड़ा था।

सात्यकि को लगा कि अन्य सब लोगों का ध्यान भी उसकी ओर आकृष्ट हो चुका था। वह क्या गुप्त सूचना दे रहा था।··· दुर्योधन की इस गतिविधि को गोपनीय बनाए रखने में उसकी कोई रुचि नहीं थी। इस सूचना को सार्वजनिक करने के लिए उसे धृतराष्ट्र की अनुमति लेने की भी क्या आवश्यकता थी।···

"महाराज और मान्य सभासद मेरी बात सुनें।" सात्यकि ने ऊँचे स्वर में कहा, "आप लोग यहाँ बैठे हुए कौरवों और पांडवों में संधि करा, शांति स्थापित करने का कोई मार्ग खोज रहे हैं और आपका युवराज अपने कक्ष में बैठा, अपने सैनिकों और सेनानायकों को राजसभा की मर्यादा के विरुद्ध यहाँ एकत्रित कर रहा है, ताकि वह श्रीकृष्ण को बंदी कर सके। उसका विचार है कि पांडवों का सारा बल श्रीकृष्ण के कारण है। यदि श्रीकृष्ण बंदी हो जाएं तो पांडव शक्ति समाप्त हो जाए गी। अतः युद्ध नहीं होगा। मैं आपको चेतावनी दे रहा हूँ कि यदि ऐसा कोई भी प्रयत्न किया गया तो यादव चुप नहीं बैठेंगे। आप युद्धक्षेत्र में रक्त बहने को रोकना चाहते हैं और आपका युवराज आपकी राजसभा में रक्त बहाने का प्रबंध कर रहा है।···"

सभा में एक प्रकार का कोलाहल मच गया। दुर्योधन की हठ के कारण ही वहाँ शांति की संभावना के प्रति कोई उत्साह नहीं रह गया था। अब इस सूचना के पश्चात् तो युद्ध उनकी सभा के द्वार पर आ खड़ा हुआ था।···

"महाराज ! इस सर्वनाश को रोकिए।" विदुर ने उच्च स्वर में धृतराष्ट्र को संबोधित किया, "आपके पुत्र तो अपने काल को पुकार-पुकार कर बुला रहे हैं।"

"बुलाओ ! इस मूढ़ को।" धृतराष्ट्र एकदम घबरा गया था। उसको लगा कि आशंकाओं और भय के कारण उसके पेट की तह में कहीं एक ऐंठन-सी उठ रही है। इस स्थिति में तो उसका राजसभा में बैठना भी असंभव हो जाएगा।

सात्यकि ने कृष्ण को देखा : उन्होंने एक बार भी स्वयं सात्यकि, कृतवर्मा अथवा अपने सैनिकों को बुलाने का प्रयत्न नहीं किया था। उन्होंने सभा से निकल जाने की

इच्छा का भी कोई संकेत नहीं किया था। वे स्थिर भाव से धृतराष्ट्र को देख रहे थे।

और सहसा वे बोले, "कुरुराज ! आप अपने पुत्रों को आदेश दें कि यदि वे मुझे वंदी कर सकते हैं तो कर लें। मैं भी देखता हूँ कि कौन किसको बंदी करता है। जिन नीच कृत्यों पर आपके पुत्र उतर आए हैं, उसका दंड तो यही है कि मैं इन सबको वंदी कर पांडवों को सौंप दूँ, ताकि भीम, दुर्योधन और दुःशासन के संबंध में की गई अपनी प्रतिज्ञाएँ पूरी कर सके।..."

"नहीं श्रीकृष्ण ! नहीं ! !" धृतराष्ट्र के मुख से जैसे चीत्कार निकल गया, "ऐसा मत करना। मैंने दुर्योधन को बुलाया है। विदुर उसे अपने साथ लाने के लिए गया है। मैं उसे समझाऊँगा। तुम भी उसे समझाओ।..." लगा कि धृतराष्ट्र के अश्रु वह निकलेंगे।

"नहीं महाराज ! मेरी ऐसे नीच कर्मो में कोई रुचि नहीं है।" कृष्ण बोले, "ऐसा कोई समय नहीं था, जब मैं चाहता और आपके पुत्रों को दंडित न कर पाता। मैंने आज तक नहीं किया तो केवल इस कारण क्योंकि न धर्मराज युधिष्ठिर अधर्म के मार्ग से सिंहासन तक पहुँचने की यात्रा करना चाहते थे, न मैं अधर्म को प्रश्रय देना चाहता था; किंतु आपके पुत्रों को अपनी शक्ति का जो भ्रम हो गया है, वे उसका निवारण कर लें। मैंने जिस प्रकार धर्मराज की सभा में शिशुपाल का मस्तक काट लिया था, वैसे ही किसी भी क्षण मैं आपके पुत्रों के साथ भी करने की क्षमता रखता हूँ।..."

"नहीं श्रीकृष्ण ! नहीं !" धृतराष्ट्र का स्वर रुदनमय हो चुका था।

तभी विदुर के साथ दुर्योधन ने सभा में प्रवेश किया।

"दुर्योधन !" कृष्ण का मधुर स्वर ओज से भर आया था, "तुमने समझा कि मैं अकेला हूँ और तुम्हारे योद्धाओं में घिरा हुआ हूँ, इसलिए तुम मुझे बंदी कर लोगे। तुमने यह नहीं सोचा कि यदि मैं इस प्रकार अकेला हो सकता था तो मैं तुम्हें अपनी नारायणी सेना क्यों देता। मैं ऐसा ही अकेला होता तो मैं अपनी इच्छा से कौरवों की राजसभा में क्यों आता। तुम समझते हो कि मैं अपनी मूर्खता में तुम पर विश्वास कर यहाँ चला आया, पर आज तुम देखो कि मैं अपने विश्वास पर यहाँ आया हूँ। अकेला तो वह है, जो विश्व मानवता से स्वयं को काट कर तुम्हारे समान अहंकारी हो गया है। मैं अकेला नहीं हूँ, क्योंकि मैं पृथक् नहीं हूँ। मैं ब्रह्मांड में और ब्रह्मांड मुझमें है। तुम हँसोगे दुर्योधन ! कि यदि ऐसा है, तो तुम्हें दिखाई क्यों नहीं देता। तुम्हें दिखाई इसलिए नहीं देता क्योंकि तुम्हारे पास नेत्र हैं, दृष्टि नहीं है। देखने के लिए दृष्टि की आवश्यकता होती है और दृष्टि न नेत्रों में होती है, न सूर्य की किरणों में। दृष्टि तो स्रष्टा की वह शक्ति है, जिसके माध्यम से ये आँखें देखती हैं। मैं अकेला नहीं हूँ। देखो, पांडव भी यहीं हैं, यादव भी यहीं हैं। देव भी यहीं हैं, असुर भी यहीं हैं, देखो..."

दुर्योधन को लगा कि कृष्ण एक भयंकर अग्नि में बदल गए हैं। उसे पता नहीं लगा कि वे अग्नि में जल रहे थे, अथवा वे अग्नि उगल रहे थे... उसकी आँखों के सम्मुख अँधेरा छा रहा था... उसके सैनिक अभी आए भी नहीं थे और कृष्ण के पाँचों

गरुड़ उनको घेर कर नहीं, मानो अपने कंधों पर उठाकर सभा से बाहर ले जा रहे थे। कृष्ण की पीठ पर सात्यकि था। कृतवर्मा अपने सैनिकों के साथ सभा में घुस आया था। उसे रोकने का साहस किसी ने नहीं किया था। कोई कर भी नहीं सकता था। उसने कृष्ण का बाहर जाने का मार्ग सुगम कर रखा था। दुर्योधन के सैनिक उसको रौंदकर ही कृष्ण तक पहुँच सकते थे···पर कृतवर्मा को रौंदना उन सैनिकों के लिए संभव नहीं था।···

25

कृष्ण कौरवों की राजसभा से बाहर निकल आए। उनके आगे-आगे कृतवर्मा और पीछे-पीछे सात्यकि थे। द्वार के सम्मुख ही दारुक उनके रथ के साथ उपस्थित था। कृतवर्मा का सारथि भी निकट ही अपने रथ के साथ सन्नद्ध खड़ा था। अन्य यादव वीर भी अपने रथों पर तत्पर बैठे थे।

कृष्ण रथ पर बैठ गए। सात्यकि लपककर उनके पीछे आ खड़ा हुआ। गरुड़ों ने अपने अश्व सँभाल लिए। कृतवर्मा अपने रथ पर आरूढ़ हो गया था।

कृष्ण ने पलटकर सभाद्वार की ओर देखा : कौरवों की सभा के सारे जाज्वल्यमान नक्षत्र वहाँ खड़े जैसे उन्हें विदा कर रहे थे। उस भीड़ में कृष्ण कुछ चेहरों को स्पष्ट रूप में देख रहे थे—भीष्म, द्रोण, कृप, विदुर, धृतराष्ट्र, बाह्लीक, अश्वत्थामा, विकर्ण, युयुत्सु, कर्ण···

कृष्ण ने हाथ जोड़कर उन सबका अभिवादन किया और दारुक को संकेत किया, "चलो।"

रथ चला तो सात्यकि बोला, "केशव ! वे सब लोग भी हमारे पीछे-पीछे आ रहे हैं। क्या चाहते हैं वे ?"

"आने दो । वे हमें बंदी करने के लिए नहीं आ रहे।" कृष्ण निश्चिंत स्वर में बोले, "घर आए अतिथियों को विदा करने के लिए, कुछ दूर तक तो जाना ही चाहिए।"

"वह तो ठीक है।" सात्यकि धीरे से बोला, "किंतु यह कर्ण क्यों आ रहा है ? इसे तो दुर्योधन के साथ पीछे रुककर कोई षड्यंत्र रचना चाहिए था। वह हमें विदा करने क्यों आ रहा है ?"

"कर्ण भी आ रहा है ?" कृष्ण जैसे अपने आप से बोले, "हाँ ! उसका आना कुछ आश्चर्यजनक अवश्य है। दुर्योधन ने उसे रोका नहीं, या वह रुका नहीं ?···"

सात्यकि अपेक्षापूर्ण नेत्रों से कृष्ण की ओर देखता रहा; किंतु कृष्ण और कुछ नहीं बोले। वे तो जैसे समाधिस्थ हो चुके थे।

विदुर के आवास के निकट पहुँचकर कृष्ण ने अपनी सजगता का प्रमाण दिया, "दारुक रुको। मैं बूआ से मिलकर आता हूँ।"

वे रथ से नीचे उतरे, "सात्यकि ! मुझे बूआ से कुछ महत्त्वपूर्ण बातें करनी हैं, पूर्णतः एकांत में। प्रयत्न करना कि हमारी चर्चा के मध्य महामंत्री विदुर भी भीतर न आ सकें।"··· और वे कृतवर्मा की ओर मुड़े, "जो लोग हमें विदा करने आ रहे हैं, वे न सशस्त्र हैं और न उनकी इच्छा युद्ध की है। फिर भी दुर्योधन और उनके मित्रों से सावधान रहना।"

"आप निश्चिंत रहें केशव !" कृतवर्मा बोला।

कृष्ण भवन के भीतर चले गए। विदुर और पारंसवी के निवासवाले खंड को पार करते हुए, वे कुंतीवाले खंड में पहुँचे। कुंती, अपने कक्ष के बाहरवाले प्रकोष्ठ में ही बैठी थी। कृष्ण ने आगे बढ़कर चरण स्पर्श किए।

"चिरंजीवी हो पुत्र !" कुंती ने कृष्ण के सिर पर हाथ रखा, "कुरुओं की राजसभा से आ रहे हो ?"

"हाँ बूआ ! राजसभा में जो कुछ हुआ, वह सब आपको महात्मा विदुर विस्तार से बता देंगे।" कृष्ण बोले, "किंतु एक बात मैं भी कहना चाहता हूँ।"

"क्या है पुत्र ?"

"अब युद्ध होकर रहेगा। उसे कोई नहीं रोक सकता। अच्छा हो कि आप मेरे साथ उपप्लव्य चलें। युद्ध की स्थिति में आपका यहाँ रहना ठीक नहीं है।"

"यह तो तुमने बहुत शुभ समाचार दिया केशव ! कि युद्ध अनिवार्यतः होगा।" कुंती प्रसन्न मुद्रा में बोलीं, "दुर्योधन ने तो कभी छिपाया ही नहीं कि उसका एक मात्र लक्ष्य पांडवों का वध है – सम्मुख युद्ध में हो तो, गुप्त रूप से हो तो।··· प्रश्न तो यह है कि क्या युधिष्ठिर ने भी युद्ध का निश्चय कर लिया है ?"

"युद्ध तो होगा ही।" कृष्ण मुस्कराए, "धर्मराज चाहें तो, धर्मराज न चाहें तो।"

"मुझे संदेह है पुत्र !" कुंती की मुद्रा में कोई परिवर्तन नहीं आया, "फिर भी, मुझे तो किसी भी स्थिति में यहीं रहना है। वनवास के लिए विदा करते हुए, मैंने युधिष्ठिर से यही कहा था कि वह माने कि उसके राज्य के साथ, उसकी माता भी हस्तिनापुर में बंदिनी है। वह युद्ध कर, अपनी राज्यलक्ष्मी तथा अपनी माता–दोनों को ही मुक्त करा कर ले जाए।"

"आपका मन अपने पुत्रों से मिलने का नहीं होता बूआ ?"

"क्यों नहीं होता।" कुंती ने उत्तर दिया, "किंतु अपनी संतान के हित के लिए ही अनेक बार माता-पिता को तपना पड़ता है। मैं उनके पास चली गई, तो जाने युधिष्ठिर युद्ध करे, न करे।"

"युद्ध तो अब होगा ही, इसकी आश्वस्ति आप मुझसे लें।" कृष्ण बोले, "अधर्म की खेती पक चुकी है। उसकी कटाई अब होगी ही।"

"तो पुत्र ! मेरा हस्तिनापुर में रहना, अब भी आवश्यक है।"

"क्यों बूआ ?"

"दो कारण हैं।" कुंती धीरे से बोलीं, "एक कारण तो दुर्योधन को युद्ध के लिए अनवरत उत्तेजना देना है। तुमने सुना होगा, पिछले कुछ समय से मैं अपना एकांतवास त्याग कर, कुरुओं के सारे उत्सवों, सभा-समारोहों में सम्मिलित होने लगी हूँ। मैं दुर्योधन के प्रासाद में भी आती-जाती हूँ।··· वह मुझे देखता है और उसे मेरे पुत्रों का स्मरण हो आता है। उनके साथ किया गया अन्याय भी उसकी स्मृति में जागता होगा; और उनके प्रति द्वेष और शत्रुता भी। मैं चाहती हूँ कि अपने क्षोभ में, वह किसी दिन मेरी हत्या कर दे, ताकि युधिष्ठिर का धर्म जागे।···"

कृष्ण मौन रहे। कुछ बोले नहीं।

"एक और कारण यह है कृष्ण ! कि युद्ध की स्थिति में मैं दुर्योधन को कुछ दुर्बल भी करना चाहती हूँ। उसके लिए मेरा हस्तिनापुर में बने रहना बहुत आवश्यक है।"

"आप दुर्योधन को कैसे दुर्बल करेंगी बूआ ?" कृष्ण ने कुछ चकित होकर कुंती की ओर देखा, "क्या कोई भीतरी घात करने का संकल्प किया है ?"

"कुछ ऐसा ही समझो।" कुंती धीरे से बोलीं, "स्वयं अपने-आपको शक्तिशाली बनाने के लिए मनुष्य अपने साथ नित नए मित्र जोड़ता है; और शत्रु को दुर्बल करने के लिए उसके मित्रों को तोड़ता है।"

"आप दुर्योधन के किन मित्रों को तोड़ने की सोच रही हैं बूआ ?" कुंती को मँजे हुए राजनीतिज्ञों के समान चर्चा करते देख, कृष्ण को कुछ विस्मय हुआ।

कुंती मौन बैठी, शून्य को घूरती रहीं।

"आपने बताया नहीं बूआ ।"

"एक रहस्य है पुत्र ! जिसे मैं वर्षों से अपने वक्ष में, इस आशंका से दबाए हुए हूँ कि उसके प्रकट हो जाने से कहीं कोई हानि न हो जाए।···"

कृष्ण चुपचाप कुंती की ओर देखते रहे।

"अब मुझे लगने लगा है कि उसका कुछ लाभ भी हो सकता है। यदि वह रहस्य प्रकट हो जाए, तो संभावना है कि दुर्योधन का निकटतम तथा विश्वस्ततम मित्र उस से टूट जाए··· ।"

कृष्ण का चेहरा कुछ गंभीर हो उठा। वे कुंती के ठीक सम्मुख जा बैठे। उन्होंने सीधे, कुंती की आँखों में देखा, "क्या यह रहस्य कर्ण से संबंधित है बूआ ?"

कुंती के चेहरे पर एक प्रकार की अचकचाहट उभरी, जैसे किसी ने उनकी कोई चोरी पकड़ ली हो, "तुमने कर्ण का ही नाम क्यों लिया पुत्र ?"

"क्योंकि वही दुर्योधन का निकटतम और विश्वस्ततम मित्र है।" कृष्ण का स्वर

कुछ और गहरा तथा प्रभावशाली हो उठा, "और यदि यह कर्ण से संबंधित रहस्य है, और वर्षों पुराना है, तो यह उसके जन्म का ही रहस्य होगा बूआ ! अधिरथ को वह गंगा में बहता हुआ मिला था··· तो यह रहस्य, उसके जन्म और उसकी जननी तथा जनक का है। क्यों बूआ ?"

एक क्षण के लिए कुंती जैसे सहम गई ; किंतु फिर स्वयं को संयत कर मुस्कराई, "तुम तो अंतर्यामी हो पुत्र ! तुमसे कुछ भी कैसे छिपा रह सकता है।"

"एक बात और है बूआ ।" कृष्ण पुनः बोले, "कर्ण के प्रति आपका व्यवहार सदा ही ममतामय रहा है। आपने कभी उसकी निन्दा नहीं की। आप उसकी निन्दा सुन भी नहीं सकती थीं। कहीं वह यादवपुत्र तो नहीं है ?"

"नहीं कृष्ण ! वह पांडुपुत्र है।" और तब जैसे कुंती की चेतना लौटी। कृष्ण के सम्मोहन में वे अपना रहस्य प्रकट कर चुकी थीं। उनकी दृष्टि कृष्ण पर टिक गई— क्या प्रतिक्रिया है, कृष्ण की ?

कृष्ण ने कुंती के दोनों कंधों पर अपने हाथ रखे, "तो वह आपका पुत्र है बूआ ! अथवा माद्री बूआ का ?··· किंतु ऐसा तेजस्वी पुत्र आपका ही हो सकता है।" कृष्ण को अपना अनुमान इतना निश्चित लगा कि अपनी जिज्ञासा को और आगे बढ़ाना उनके लिए आवश्यक नहीं था।

"वह मेरा ही कानीन पुत्र है।" कुंती ने कहा, ताकि कृष्ण को कोई भ्रम न रहे, "वह सूर्यपुत्र, दुर्वासा की मंत्रणा से उत्पन्न हुआ था। मेरे पिता कुंतिभोज, किसी प्रकार अधिरथ से परिचित थे। उन्होंने अपनी दुहिता के कानीन पुत्र के कलंक से बचने के लिए, वह बालक निःसंतान अधिरथ को सौंप दिया था।"

कृष्ण, कुंती को देखते रहे और मन-ही-मन कुछ भाँपते रहे। अंततः बोले, "हस्तिनापुर में उसके निकट रहकर उसके प्रति आपकी ममता विकसित होती रही है। अब युद्ध सामने आ खड़ा हुआ है । आपको भय है कि कहीं, वह अर्जुन के हाथों मारा न जाए ?"

"नहीं !" कुंती के स्वर में स्पष्ट विरोध था, "हस्तिनापुर में उसके निकट रह कर, दुर्योधन के प्रति उसकी मैत्री तथा उसके पाप-कृत्यों को देखकर, तिल-तिल कर उसके प्रति मेरी ममता दम तोड़ती रही है।··· इसलिए मैं कभी इतनी विवश नहीं हुई कि उसे अपनी भुजाओं में भरकर, अपने वक्ष से लगा लेती।" कुंती ने रुककर कृष्ण की ओर देखा, "अब उसे अपने निकट लाने से अधिक महत्त्वपूर्ण दुर्योधन से दूर ले जाना है।···"

कृष्ण किसी गंभीर चिंता में लीन हो गए। एक लंबे मौन के पश्चात् बोले, "बूआ ! इस रहस्य के प्रकट हो जाने पर यदि कर्ण की प्रतिक्रिया हमारे अनुकूल न हुई, तो यह रहस्योद्घाटन हमारे लिए संकटपूर्ण भी हो सकता है।···"

"कैसे ?"

"उसे अभी हम रहने दें।" कृष्ण मुस्कराकर कुंती का प्रश्न टाल गए, "आप मेरी केवल दो बातें मान लें। एक तो यह कि सीधे-सीधे आप कर्ण के सम्मुख इस रहस्य का उद्‌घाटन न करें। कर्ण की प्रतिक्रिया बहुत हिंस्र भी हो सकती है। आप मुझे अनुमति दें कि उसे यह सूचना मैं अपने ढंग से दूँ। यदि उसकी प्रतिक्रिया हमारे अनुकूल हुई तो या तो मैं कर्ण को अपने साथ उपप्लव्य ले जाऊंगा, या फिर आपको निश्चित सूचना भिजवाऊगा। यदि कर्ण हस्तिनापुर में रहा और मेरी ओर से आपको कोई संदेश नहीं मिला तो उसका अर्थ है कि आपको भी उससे मिलकर उसे यह सूचना देनी है। आप उसे यह सूचना पूर्ण एकांत में देंगी और इस बात का निश्चित ध्यान रखेंगी कि यह रहस्य अब भी गोपनीय ही रहे। पहले से अब तक में अंतर केवल इतना आया है कि अब आप के अतिरिक्त इस रहस्य को मैं और कर्ण भी जानते हैं।··· यह रहस्य किसी भी अवस्था में सार्वजनिक नहीं होना चाहिए; और न दुर्योधन अथवा युधिष्ठिर को इसका रंचमात्र भी आभास ही होना चाहिए।"

कुंती ने सहमति में अपना सिर हिलाया, "मैं समझती हूँ पुत्र !"

"ऐसा भी न हो बूआ ! कि अपने मातृत्व से आप कर्ण के आत्मबल में वृद्धि कर दें।" कृष्ण मुस्कराए, "उसको सूचना तो मिले, किंतु इस रूप में कि उसका आत्मबल टूटे, वह हतोत्साहित हो, उसका रजोगुण आहत हो। यदि वह दुर्योधन को छोड़, अपने भाइयों के पक्ष में आ गया, तो ठीक; किंतु यदि वह दुर्योधन के पक्ष से युद्ध करने की ठाने रहा, तो वह विभाजित चरित्र होकर लड़े, पाप-बोध लेकर लड़े, स्वयं ही अपने विरुद्ध लड़े···"

"मैं समझती हूँ पुत्र !"

"तो मैं चलता हूँ बूआ !" कृष्ण अपनी चिंताओं से पूर्णतः मुक्त हो गए थे, "धर्मराज के लिए कोई संदेश हो तो कहें। अपने पुत्रों के लिए कोई आदेश; अपनी पुत्रवधू के लिए कोई आशीष !···"

कुंती ने कुछ क्षणों तक शांत दृष्टि से कृष्ण की ओर देखा और फिर जैसे उनके हृदय में आक्रोश का कोई उत्स फूट निकला···"मेरे पुत्र युधिष्ठिर से कहना कि वह धर्मराज है, इसलिए वह धर्म की रट ही न लगाए, उसे समझने का प्रयत्न भी करे। वेद के अर्थ को न जाननेवाले अज्ञ वेदपाठी की सारी बुद्धि केवल मंत्रों की आवृत्ति में ही नष्ट हो जाती है, वैसे ही युधिष्ठिर की बुद्धि केवल शांति को बनाए रखने में ही नष्ट हो रही है। वैश्य का धर्म केवल शांति तक सीमित रहता है; किंतु क्षत्रिय का धर्म युद्धक्षेत्र तक भी जाता है। युधिष्ठिर शांति-धर्म का पालन कर रहा है; और प्रजापालन रूपी धर्म की हानि कर रहा है। प्रजापालक के लिए, युद्ध रूपी कठोर धर्म का भी निर्वाह करना पड़ता है। राजा दंड-नीति के प्रयोग में पूर्णतः न्याय से काम लेता है, तो जगत् में 'सत्य युग' नामक उत्तम काल का आविर्भाव होता है। राजा का कारण काल है, अथवा काल का कारण राजा है—ऐसा संदेह मन में नहीं उठना चाहिए। राजा ही काल का कारण

है। केशव ! उससे कहना कि वह राजाओं तथा राजर्पियों का आचरण करे। भिक्षा का उसे निपेध है; कृपि भी उसके योग्य नहीं है। वह तो प्रजा को क्षति से त्राण देनेवाला क्षत्रिय है। उसे वैसा ही आचरण करना चाहिए। वह साम, दाम, दंड, भेद से किसी भी प्रकार अपने पैतृक राज्य का उद्धार करे। अपने वाहुवल से आजीविका अर्जित करे। राजधर्म के अनुसार युद्ध करे। अपने शत्रुओं का आनन्द न वढ़ाए, उन्हें ताप दे। मैं, उसकी माता, उसे जन्म दे कर भी अनाथा की भाँति, दूसरों के दिए, अन्नपिंड की आशा में आकाश की ओर दृष्टि लगाए रहती हूँ।…"

कुंती के स्वर का क्षोभ इतना प्रखर था कि कृष्ण भी उससे अप्रभावित न रह सके। बोले, "वूआ ! मैं धर्मराज को ठीक इन्हीं शव्दों में आपका संदेश दे दूँगा। आप निश्चिंत रहें, पांडव अवश्य ही युद्ध करेंगे।"

"ठीक है पुत्र ! जव तुमने उनकी भुजा थामी है, तो मुझे किस वात की चिंता।" कुंती, जैसे पुनः ऊर्जस्वित हो उठीं, "तुम उसे विदुला और उसके पुत्र संजय की कथा सुनाना।"

"यह कौन-सी कथा है वूआ ?" कृष्ण की भी उत्सुकता जाग उठी थी।

"विदुला एक यशस्विनी, तेजस्विनी, मानिनी, जितेन्द्रिया तथा दूरदर्शिनी क्षत्राणी थी। उसका पुत्र संजय, सिंधुराज से युद्ध में पराजित होकर, अपने घर लौटकर पूर्ण शांति से सो रहा। विदुला ने उसे जगाया और कहा, 'तू मेरे गर्भ से उत्पन्न हुआ है; किंतु मुझे आनन्दित करनेवाला नहीं है। तू तो शत्रुओं का हर्ष वढ़ानेवाला है। तू सर्वथा क्रोधशून्य है; क्षत्रियों में गणना करने योग्य नहीं है। तू नाम मात्र का पुरुप है। नपुंसक।' संजय ने पूछा, 'तुम क्या चाहती हो माँ !' विदुला ने कहा, 'शत्रु रूपी साँप के दाँत तोड़ता हुआ तत्काल मृत्यु को प्राप्त हो जा। प्राण जाने का संदेह हो, तो भी शत्रु के साथ युद्ध में पराक्रम ही प्रकट कर। तू तिंदुक की जलती हुई लकड़ी के समान, चाहे दो ही घड़ी के लिए, पर प्रज्वलित हो उठ; किंतु भूसी की ज्वालारहित आग के समान, केवल धुआँ मत कर।' पुत्र ने चकित हो कर पूछा, 'तू मेरी माता होकर भी मेरे प्रति इतनी निर्दय क्यों है ? मैं ही जीवित नहीं रहूँगा, तो जीवन में तेरे लिए कौन-सा सुख शेप रह जाएगा ?' विदुला ने उत्तर दिया, 'तू मुझे तव ही प्रिय हो सकता है, जव तेरा आचरण सत्पुरुपों के योग्य हो। यदि तू अपने शत्रुओं के प्रति क्रूरतापूर्ण व्यवहार नहीं करेगा, तो सव ओर तेरा अपयश फैलेगा। संजय ! ऐसी अवस्था में भी यदि मैं तुझे कुछ न कहूँ, तो मेरा यह वात्सल्य गदही के स्नेह के समान शक्तिहीन और निरर्थक होगा।' "

कृष्ण ने अपनी तेजस्विनी वूआ की ओर मुग्ध दृष्टि से देखा, "यह कथा भी अवश्य कहूँगा वूआ ।"

"और अर्जुन तथा भीम से कहना पुत्र !" कुंती वोलीं, "कि मैंने कहा है कि जिस क्षण के लिए क्षत्राणी 'पुत्र' को जन्म देती है, वह क्षण आ गया है। उनसे कहना कि वे युधिष्ठिर का अनुकरण न करें। वे मेरी पुत्रवधू पांचाली की इच्छा पूर्ण करें। द्यूतसभा

में उसके अपमान के समय निष्क्रिय रहकर, जो पाप उन्होंने किया है, उसके प्रायश्चित्त का अवसर आ गया है। उनसे यह भी कहना कृष्ण ! कि मुझे उनके राज्य के छिन जाने से भी उतना कष्ट नहीं हुआ, जितना कृष्णा के अपमान से हुआ है। वे उसका निराकरण करें, तो ही इस क्षत्राणी का पुत्र-प्रसव सार्थक होगा।"

कृष्ण, अपनी बूआ के मन की स्थिति समझ रहे थे। वे यदि धैर्यपूर्वक बैठकर सुनते तो वे और भी बहुत कुछ कहतीं; किंतु कृष्ण के मन में और भी अनेक योजनाएँ थीं। वे उठ खड़े हुए, "आप निश्चिंत रहें बूआ ! आपका कहा हुआ, एक-एक शब्द आपके पुत्रों तक पहुँच जाएगा; और परिणाम भी आपके मनोनुकूल ही होगा।"

कुंती के चरण स्पर्श कर, उनकी परिक्रमा कर, कृष्ण बाहर निकल आए। भवन के द्वार पर इस समय भीड़ लगने की सी स्थिति हो रही थी। सब लोग अपने-अपने रथों पर आए थे, तो भीड़ तो होनी ही थी—भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, धृतराष्ट्र, वृद्ध बाह्लीक, अश्वत्थामा, विकर्ण, युयुत्सु, विदुर··· विदुर अपने ही भवन के भीतर नहीं आए थे। कदाचित् वे नहीं चाहते थे कि बूआ के साथ एकांत में होनेवाली वार्ता में वे व्याघात पहुँचाएँ; या फिर संभव है कि सात्यकि और कृतवर्मा ने ही उन्हें किसी प्रकार का कोई संकेत कर दिया हो... और कर्ण ! तो कर्ण अभी तक प्रतीक्षा कर रहा था··· कृष्ण मुस्कराए··· कर्ण का इस प्रकार उन्हें विदा करने आना और उनकी प्रतीक्षा करना, बहुत महत्वपूर्ण था···

कृष्ण ने एक-एक व्यक्ति से स्नेहपूर्वक विदा ली। उन्हें लौट जाने का आग्रह किया ···किंतु कर्ण के सम्मुख पहुँचते ही जैसे वे कुछ और ही हो गए, "मुझे विदा करने के लिए नगरद्वार तक नहीं चलोगे महावीर ?"

कर्ण को भी कुछ विस्मय हुआ। जाने, कृष्ण उसे इतना महत्त्व क्यों दे रहे थे ···कहीं ऐसा तो नहीं कि वे इस प्रकार दुर्योधन से प्रतिशोध लेना चाहते हों ? दुर्योधन ने उन्हें छलपूर्वक बंदी करने का प्रयत्न किया था··· वे भी छलपूर्वक उसका अपहरण करना तो नहीं चाहते ? पर नहीं ! कृष्ण ऐसा नहीं करेंगे। उनकी इच्छा होगी तो वे इसी क्षण ललकारकर सुदर्शन चक्र का प्रहार करेंगे; और सबके देखते देखते उसका मुंड काट कर पृथ्वी पर लुढ़का देंगे··· वे उस का अपहरण क्यों करेंगे ?··· और फिर यदि प्रयत्न करेंगे भी तो कर्ण इतना निरीह तो नहीं है कि सहायता की गुहार करता हुआ, द्वारका तक जा पहुँचे।

"क्यों नहीं !" कर्ण बोला, "आप चलें। मैं अपने रथ पर आता हूँ।"

"नहीं !" कृष्ण की मुस्कान असाधारण रूप से मधुर थी, जैसे मन को अभिभूत कर लेनेवाली प्रकृति की कोई मोहिनी छवि हो, "अपने सारथिं को कह दो, वह पीछे-पीछे आए। चलोगे तो तुम, मेरे ही रथ में, मेरे साथ। मुझे तुमसे कुछ बातें करनी हैं···।"

कर्ण का कुछ समाधान हुआ, कुछ नहीं हुआ। वह अपने संशय और समाधान के वीच अपने रथ तक आया··· 'छल भी हो सकता है। युद्ध में कुछ भी संभव है।'···किंतु उसका मन इसके विरुद्ध भी सोच रहा था।···'यदि कृष्ण सचमुच कोई वात करना चाहते हों, तो···। ' इसमें भयभीत होने की क्या वात थी ?···

"सारथि ! पीछे-पीछे आओ।" उसने कहा, "मैं श्रीकृष्ण के रथ में उनके साथ जा रहा हूँ।" वह पलटते-पलटते रुक गया, "अपना रथ उनके रथ से कुछ दूरी पर रखना। इतनी दूरी पर कि यदि कुछ भी असाधारण देखो, किसी प्रकार का कोई संकट दिखाई दे तो, रथ को रोककर लौटा सको। वापस हस्तिनापुर पहुंचकर युवराज को समाचार दे सको।···" उससे कहे विना नहीं रहा गया, "उन्होंने भी तो छलपूर्वक कृष्ण को वंदी करने का षड्यंत्र किया था।···"

सारथि के उत्तर की प्रतीक्षा उसने नहीं की। वह लौटकर कृष्ण के रथ के निकट आया और स्फूर्ति से उस पर आरूढ़ हो गया। कृष्ण ने मुस्कराकर अपना हाथ उस की ओर वढ़ाया और उसे थामकर, वहुत आदरपूर्वक रथ के पिछले खंड में वैठाया। वे स्वयं आकर कर्ण के सम्मुख वैठे और उनके नयनों के मूक संकेत को समझकर सात्यकि उठकर आगे, दारुक के पास जा वैठा।

कर्ण को, कृष्ण के इस सारे व्यवहार से पर्याप्त आश्चर्य हुआ था, जो उसने प्रकट नहीं किया। आवश्यकता ही क्या थी ! अभी तक वह यह तो जान ही नहीं पाया था कि कृष्ण के इस व्यवहार के पीछे क्या है। वह सहज और सरल प्रेम तो नहीं हो सकता। कृष्ण के मन में, उसके लिए प्रेम क्यों होगा ? उसने कौन-सी भलाई की है, कृष्ण के साथ ?··· तो क्या यह कृष्ण की राजनीति थी ?··· पर उसकी राजनीति के साथ कर्ण का क्या संवंध ? वे यह जानते हैं कि कर्ण, दुर्योधन का मित्र है और वह दुर्योधन को छोड़कर कहीं नहीं जाएगा। कृष्ण को राजनीति करनी ही थी, तो दुर्योधन के साथ करते ! उसे तो प्रत्यक्ष रूप से रुष्ट कर दिया उन्होंने ! उसका आतिथ्य अस्वीकार कर दिया।··· क्या वे हस्तिनापुर में यह दिखाने आए थे कि पांडवों को राज्य मिले, न मिले, धार्तराष्ट्रों से संधि हो, न हो—वे दुर्योधन की मैत्री स्वीकार नहीं करेंगे ?··· किंतु दुर्योधन उनका समधी है।··· उन्होंने दुर्योधन की सहायता के लिए अपनी नारायणी सेना दे दी है; और अपने मित्र अर्जुन को क्या दिया उन्होंने ?··· कृष्ण की नीति, कर्ण की समझ में नहीं आती। दुर्योधन द्वारका जाता है, तो अपनी सारी सेना उसे सौंप देते हैं। स्वयं हस्तिनापुर आते हैं, तो दुर्योधन के घर एक समय का भोजन तक नहीं करते··· उसका प्रत्यक्ष तिरस्कार करते हैं।···

"महावीर कर्ण !" कृष्ण ने उसे अत्यंत मधुर स्वर में संवोधित किया, "तुम्हें आश्चर्य हो रहा होगा कि मुझे तुमसे ऐसी कौन-सी वात करनी है कि उसके लिए तुम्हें अपने साथ रथ में ले आया।"

"चकित तो मैं हुआ हूँ वासुदेव !" कर्ण वोला, "किंतु कोई इतना अधिक आश्चर्य

भी नहीं हुआ, जिससे मन का संतुलन प्रभावित हो जाए।"

"क्यों ? अधिक क्यों नहीं ?" कृष्ण मुस्कराए।

"क्योंकि आपका व्यवहार ऐसा ही रहता है।" कर्ण बोला, "जो व्यक्ति दुर्योधन से शत्रुता करे और फिर अपनी नारायणी सेना उसे दे दे– उसकी किस बात से मैं चकित हो सकता हूँ ? जो व्यक्ति अपने परम प्रिय सखा को कहे कि अपनी सारी सेना तो मैं तुम्हारे शत्रु को दूँगा, किंतु मित्र तुम्हारा ही रहूँगा; जो यह कहे कि रहूँगा तो तुम्हारे ही पक्ष में, किंतु युद्ध में शस्त्र नहीं उठाऊँगा–उसके व्यवहार से चकित होने के स्थान पर, उसे समझने का प्रयत्न करना चाहिए।"

"कहीं तुम उसी प्रयत्न के लिए तो मेरे पास नहीं आए थे ?"

"ऐसा भी सोचा जा सकता है।" कर्ण मुस्कराया, "मेरे मन में कहीं यह है कि आप जैसे शक्तिशाली पुरुष को रुष्ट कर दुर्योधन ने अपना हित नहीं साधा। उसे आप के साथ यह व्यवहार नहीं करना चाहिए था।···"

"शक्तिशाली ! जिसने अपनी सेना शत्रु को सौंप दी। स्वयं शस्त्र धारण न करने की प्रतिज्ञा कर ली। वह शक्तिशाली कैसे हुआ ?" कृष्ण मनमोहक ढंग से मुस्करा रहे थे।

कर्ण कुछ आत्मलीन-सी स्थिति में बैठा था। न तो वह इतना सजग था कि माना जाता कि वह कृष्ण का निरीक्षण-परीक्षण कर, उनके विषय में किसी निष्कर्ष तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहा था, न वह उनकी उपेक्षा करता दिखाई पड़ रहा था··· वह तो जैसे अपनी आत्मा के किसी सत्य को मूर्तिमान करने का प्रयत्न कर रहा था।

"कृष्ण !" वह बहुत धीरे से बोला, "यदि आप कौरवों और पांडवों के संभावित युद्ध में तटस्थ हो गए होते, तो मैं आपको समझ सकता था। मान लेता कि आप बलराम के समान इतने शक्तिशाली हैं कि आपको दोनों पक्षों में से किसी से भी भय नहीं है। कोई भी आप से रुष्ट हो जाता है, तो आपको उसकी चिंता नहीं है।" कर्ण ने रुककर कृष्ण को देखा, "दुर्योधन हो या युधिष्ठिर–अक्षौहिणियों सेना एकत्रित कर भी, युद्ध के परिणाम से भयभीत हैं ; किंतु वासुदेव ! आप अपने हाथों के शस्त्र त्याग कर युद्ध के मध्य उपस्थित रहने को तत्पर हैं। कितने शक्तिशाली हैं आप ! क्या है आपकी इस शक्ति का स्रोत ?"

कृष्ण केवल मुस्कराए। कुछ बोले नहीं।

"एक बात और आती है, मेरे मन में।" कर्ण बोला, "आप और बलराम–दोनों भाई हैं। दोनों शूर-वीर और योद्धा हैं। दोनों मिलकर जिस किसी के पक्ष में हो जाएँ, वह पक्ष पराजित नहीं हो सकता।···तो आप दोनों एक साथ क्यों नहीं हैं ?"

इस बार कृष्ण उतने तटस्थ नहीं दिखे। बोले, "भाइयों को एक साथ रहना चाहिए ?"

"क्यों नहीं !" कर्ण बोला, "भाइयों से बढ़कर और कौन है संसार में ! दुर्योधन

के भाई उसके साथ हैं; युधिष्ठिर के भाई उसके।"

"तो तुम क्यों अपने भाइयों को त्याग, अपने शत्रुओं के साथ मिले बैठे हो ?" कृष्ण का स्वर एक विचित्र सम्मोहन लिए हुए था, जो मन को बाँधता भी था और मुग्ध भी करता था।

"मैं तो अपने भाइयों के ही साथ हूँ···।"

"तुम अपने भाइयों के साथ तो नहीं ही हो; तुम अपने भाइयों को जानते तक नहीं हो।" कृष्ण ने उस पर एक भरपूर दृष्टि डाली, "महावीर कर्ण ! तुम अधिरथ और राधा के पुत्र नहीं हो।"

"जानता हूँ, वे मेरे जननी-जनक नहीं हैं; किंतु मेरे माता-पिता तो वे ही हैं।" कर्ण कुछ चकित दृष्टि से कृष्ण को देख रहा था : कृष्ण उसे वह सत्य बता रहे थे, जो हस्तिनापुर का बच्चा-बच्चा जानता था।

"तुम मेरी बूआ कुंती के कानीन पुत्र हो—पांडवों के बड़े भाई। अतः तुम भी पांडव हो।" कृष्ण का स्वर जैसे इंद्र के वज्र का सा प्रभाव लिए हुए था।

मर्माहत-से कर्ण ने कृष्ण की ओर देखा : वे उसके साथ कैसा क्रूर परिहास कर रहे थे ? कैसी लीला रच रहे थे ?···

"क्या कह रहे हैं वासुदेव ?"

"कन्या के विवाह के पूर्व उसकी जो संतान जन्म लेती है, वह कानीन संतान कहलाती है। जो उसके गर्भ में तो विवाह से पूर्व आए, किंतु जिसका जन्म विवाह के पश्चात् हो, वह सहोढ है।··· जो भी हो, स्त्री जिस पुरुष से विवाह करती है, उस की संतान का पिता, वह पुरुष ही होता है। तुम कुंतीपुत्र होने के कारण हस्तिनापुर के महाराज पांडु के ज्येष्ठ पुत्र हो। धर्मराज युधिष्ठिर के बड़े भाई ! हस्तिनापुर और इंद्रप्रस्थ के राजसिंहासन तुम्हारे हैं।··· दुर्योधन ने तुम्हें अंग देश का राजा स्वीकार मात्र किया है। कुछ दिया नहीं है। तुम अपने भाइयों के पक्ष में आ जाओ, तो वे सम्राट् के रूप में तुम्हारा अभिषेक करेंगे। युधिष्ठिर, युवराज के रूप में तुम्हें चँवर डुलाएँगे; भीम तुम्हारा छत्र पकड़कर खड़े होंगे; अर्जुन तुम्हारा सारथ्य करेगा।··· नकुल सहदेव छोटे भाइयों के रूप में तुम्हारी सेवा करेंगे।···"

कृष्ण ने रुककर कर्ण की ओर देखा : वह इन सूचनाओं के आघात से जैसे अचेत पड़ा था। उसके चेहरे पर, नयनों में, अधरों पर··· कहीं कोई प्रतिक्रिया नहीं थी। वह स्तब्धावस्था में था। जिसका मस्तिष्क ही अवाक् होकर स्तंभित हो गया हो, उस की जिह्वा क्या बोलती···

कृष्ण ने अपनी लीला का जैसे चरम उत्कर्ष दिखाया, "सम्राट् युधिष्ठिर की महारानी, द्रुपदपुत्री कृष्णा, तुम्हारी साम्राज्ञी होगी। ···पांडवों के पुत्र तुम्हारे पुत्र होंगे—तुम्हारे आज्ञाकारी पुत्र।"

"आप कैसे जानते हैं यह सब ?" कर्ण का मन इन सारी सूचनाओं को अंगीकार

करने के स्थान पर, उनके विरुद्ध विद्रोह कर रहा था, "मैं क्यों न मानूँ कि आप दुर्योधन को दुर्बल करना चाहते है। इसलिए मुझे उससे पृथक् करने के लिए, इस प्रकार की माया रच रहे हैं ? क्या प्रमाण है, इन बातों का ? मैं क्यों न मानूँ कि यह सब मिथ्या है, सत्य नहीं है ?"

कृष्ण हँसे, "वैसे तो मेरे वचनों को साक्षी की आवश्यकता नहीं होती···किंतु तुम्हारा जीवन दुर्योधन के साथ व्यतीत हुआ है, जिसका प्रत्येक श्वास झूठ बोलता है। इसलिए तुम किसी का भी अविश्वास कर सकते हो। इससे कोई हानि नहीं। अच्छा है कि तुम दुर्योधन से भी उसके वचनों का प्रमाण माँगो।"

"वह मेरा मित्र है।" कर्ण बोला।

"मित्र पर भी अंधश्रद्धा नहीं होनी चाहिए; और न अमित्र पर अंध अश्रद्धा।" कृष्ण अपनी सामान्य उल्लसित मुद्रा में कह रहे थे, "फिर भी तुम्हें यह पूछने और जानने का अधिकार है। मुझे यह सूचना, मेरी बूआ कुंती ने दी है; तुम्हारी जननी ने। किंतु शायद तुम उनका भी विश्वास न करो; क्योंकि वे पांडवों की भी जननी हैं। इसलिए तुम अपने पिता अधिरथ से पूछना कि क्या वे महाराज कुंतिभोज को जानते हैं ? उनके उनसे क्या और कैसे संबंध रहे हैं ?··· और क्या उन्हें महाराज कुंतिभोज से कभी कोई वरदान मिला है ? कोई उपहार-नवजात शिशु का उपहार ?"

कर्ण को लगा कि वह इस सत्य से विद्रोह नहीं कर सकता। एक तो पांडव-जननी, कुंती ही मिथ्या वचन नहीं कहेगी··· और यदि उन्हें मिथ्याभाषिणी मान भी लिया जाए तो अधिरथ के प्रमाण का विरोध कैसे किया जा सकता है ?···

कृष्ण ने कर्ण की सहमति की प्रतीक्षा नहीं की। बोले, "और अंगराज कर्ण ! तुम जानते हो कि मैं हाथ में शस्त्र लूँ या न लूँ, इस युद्ध में दुर्योधन की विजय नहीं हो सकती। महाराज धृतराष्ट्र का भय सर्वथा मिथ्या नहीं है। वे जानते हैं कि पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, तथा कृपाचार्य के पास चाहे कितने भी दिव्यास्त्र तथा देवास्त्र हों, किंतु दुर्योधन के अपने पास केवल भैया बलराम की दी हुई गदा विद्या ही है। न उसने धनुर्विद्या का समुचित अभ्यास किया है, न उसके पास दिव्यास्त्र तथा देवास्त्र हैं। पितामह तथा आचार्य के शरीर हस्तिनापुर में हैं, किंतु उनके मन पांडवों के निकट उपप्लव्य में बसते हैं। और जहाँ आचार्य हैं, वहीं अश्वत्थामा और कृपाचार्य भी हैं।···योद्धाओं में से दुर्योधन केवल तुम पर ही विश्वास कर सकता है। और दिव्यास्त्रों की प्राप्ति में तुम्हें कोई विशेष सफलता नहीं मिली है। आचार्य द्रोण ने तुम्हें विद्या का दान दिया नहीं; परशुराम ने विद्या कम दी शाप अधिक दिया।··· अब तुम चाहो भी तो न तपस्या का समय है, न साधना का। इस समय अपनी यह स्वर्णिम त्वचा भी उतार कर देवताओं के चरणों में समर्पित कर दो तो कदाचित् ही तुम्हें कोई शक्तिशाली दिव्यास्त्र मिल सके···।"

कर्ण का मस्तिष्क कृष्ण के तर्कों का प्रतिकार करने में समर्थ नहीं था; किंतु

उसका मन हठ पकड़ता जा रहा था। बोला, "वीर लोग जय-पराजय को पूर्वनिश्चित कर, युद्ध-क्षेत्र में नहीं उतरते ; और न ही जय-पराजय की संभावनाओं को देख कर अपना पक्ष निर्धारित किया जाता है। दुर्योधन को मैंने अपना मित्र माना है, तो मैत्री का निर्वाह अंत तक करूंगा। पराजय और मृत्यु के क्षणों में भी मैं दुर्योधन का साथ नहीं छोड़ सकता।" वह उठकर खड़ा हो गया, "कृपया सारथि को कहें कि रथ को रोक दे। मैं यहीं से लौटना चाहूँगा।"

"जैसी तुम्हारी इच्छा।"

कृष्ण भी उठ खड़े हुए। उन्होंने न कर्ण से रुकने का आग्रह किया, न उसे सहमत करने का प्रयत्न। उन्होंने रथ के अगले खंड में बैठे सात्यकि को संकेत किया। उसने दारुक से कहकर रथ रुकवा दिया।

कर्ण रथ से उतरा। अत्यंत यांत्रिक और भावशून्य रूप से उसने हाथ जोड़कर कृष्ण को प्रणाम किया, यद्यपि वह जानता था कि कृष्ण अवस्था में उससे छोटे हैं। वे बड़े भाई के रूप में युधिष्ठिर के भी चरण स्पर्श करते हैं, और कर्ण तो युधिष्ठिर से भी बड़ा है···किंतु इस समय, उसे कृष्ण इतने विराट लग रहे थे, इतने उदात्त कि यदि व्यवहार का संकोच आड़े न आता, तो वह ही उनके चरण छू लेता···

वह जाने के लिए मुड़ा ; किंतु तभी एक विचार उसके मन में कौंध गया···अच्छा हुआ कि कृष्ण भी खड़े, उसके रथ के चल लेने की प्रतीक्षा कर रहे थे···

"श्रीकृष्ण !"

"कहो अंगराज !"

"क्या युधिष्ठिर और उसके भाई, मेरे साथ अपने इस संबंध से परिचित हैं ?"

"नहीं।" कृष्ण का स्वर गंभीर था, "यदि तुम इस संबंध को स्वीकार कर, अपने भाइयों के साथ आने को सहमत हो, तो मैं उन्हें तुम्हारे विषय में सब कुछ बता दूंगा ; और यदि तुम्हें दुर्योधन का मित्र बने रहना है, पांडवों के विरुद्ध युद्ध करना है, उनके प्राणों का हरण करना है, उनसे उनका राज्य छीन कर दुर्योधन को देना है, तो मैं उन्हें यह रहस्य बताने के पक्ष में नहीं हूँ। यदि उन्हें ज्ञात हो गया कि तुम उनके सहोदर हो, तो वे तुमसे युद्ध नहीं करेंगे, चाहे तुम उनका वध ही क्यों न कर दो। इस संबंध से अनभिज्ञ होने पर, वे कम से कम अपनी रक्षा में, युद्ध तो तत्परता से कर सकेंगे।···"

"मैं भी यही सोच रहा था।" कर्ण बोला, "यदि युधिष्ठिर को यह ज्ञात हो गया, तो वह न युद्ध करेगा, न अपने भाइयों को करने देगा। पराजित होने की बात नहीं है, वे युद्ध ही नहीं करेंगे।" कर्ण ने रुककर कृष्ण की ओर देखा, "और यदि कहीं, यह रहस्य दुर्योधन को ज्ञात हो गया ?"

"तुम चाहो तो दुर्योधन को बता दो, ताकि वह इसे प्रचारित कर, पांडवों को युद्ध से निरस्त कर दे। पांडव अनस्तित्व में विलीन हो जाएंगे। युद्ध के बिना ही तुम्हें विजय प्राप्त हो जाएगी।" कृष्ण मुस्करा रहे थे।

"मैं यह भी नहीं चाहता।" कर्ण बोला, "मैंने अब तक नीचता के अनेक कार्य किए हैं; किंतु अब मैं पांडवों से युद्धक्षेत्र में सम्मुख युद्ध करना चाहता हूँ। मैं उन्हें अपनी रक्षा का पूर्ण अवसर देना चाहता हूँ। इसलिए···।" वह चुप हो गया।

कृष्ण उसकी ओर देखते रहे।

"इसलिए देवी कुंती से···।"

"वे तुम्हारी जननी हैं कर्ण !" कृष्ण ने उसकी बात काट दी।

"वह ठीक है।" कर्ण ने तर्क करने में कोई रुचि नहीं दिखाई, "इसलिए देवी कुंती से कहिएगा कि जैसे आज तक इस रहस्य को गुप्त रखा है, वैसे ही युद्ध की समाप्ति तक इसे गुप्त ही रखें।"

"तुम्हारा ध्यान कदाचित् इस ओर नहीं गया अंगराज !" कृष्ण बोले, "कि यदि दुर्योधन इस रहस्य को जान गया, तो वह तुम पर भी विश्वास नहीं कर पाएगा। वह सदा ही आशंकित रहेगा कि जाने कब, तुम्हारा मन अपने भाइयों के पक्ष में चला जाए। तुम उसके मित्र रहो, न रहो; वह तुम्हारा मित्र नहीं रह पाएगा।"

कर्ण ने एक दृष्टि कृष्ण के उल्लसित मुखमंडल पर डाली और बिना कोई उत्तर दिए मुड़ गया। उसे लगा कि अपने मन की दुर्बलता प्रकट कर देने के पश्चात् वह कृष्ण की आँखों में नहीं देख पाएगा। कृष्ण की दृष्टि शिलाओं के आर-पार देखती है और उनके अधरों की मुस्कान पर्वतों को भी पिघला देती है। कर्ण अब भी उनके सम्मुख खड़ा रहा, तो कदाचित् उसका आत्मनियंत्रण उस का साथ छोड़ जाएगा···

कर्ण की विचित्र स्थिति थी। वह तो कृष्ण को जय करने गया था और कृष्ण ने जय-पराजय, दोनों को ही निरर्थक कर दिया। वह स्वयं ही अपने-आपको समझ नहीं पा रहा था : वह प्रसन्न था अथवा अवसन्न ? उसे कुछ नया प्राप्त हुआ था अथवा पिछला भी छिन गया था ? वह पहले से कुछ अधिक विराट हो गया था, अथवा मात्र उसका क्षरण ही हुआ था ? उसका कोई नया जीवन आरंभ हो रहा था अथवा आज तक के जीवन पर भी प्रश्नचिह्न लग गया था ?···

वह आकर चुपचाप अपने रथ में बैठ गया था। जब रथ चला नहीं और सारथि उसकी ओर देखता ही रह गया, तो उसकी समझ में आया कि उसने अभी सारथि को बताया नहीं है कि उसे कहाँ जाना है। अपनी इस किंकर्तव्यविमूढ़ता पर खीज भी आई; किंतु···

"घर चलो।" उसने अत्यंत मंद स्वर में कहा।

सारथि भी समझ रहा था कि कोई बहुत महत्त्वपूर्ण घटना घट गई है।··· किंतु हुआ क्या है ! बस, श्रीकृष्ण के रथ में उनसे कुछ बातें ही तो हुई हैं··· उन्होंने ऐसा क्या कह दिया कि वज्रशिला के समान हृदयवाले इस वीर योद्धा की यह स्थिति हो गई···

"क्या वात है महाराज ?"

"कुछ नहीं।" कर्ण वोला, "घर चलो।"

कर्ण मौन हो गया। सारथि सोच ही रहा था कि वह जानने का आग्रह करे या न करे कि कर्ण की आँखें उसकी ओर उठीं। उन आँखों का निपेध इतना प्रखर और वलशाली था कि सारथि का कुछ पूछने का साहस ही नहीं हुआ।

कर्ण को लगा कि उसका अपना मन दो भागों में खंडित होता जा रहा था। जव कृष्ण उसे वता रहे थे कि वह कुंती का कानीन पुत्र है, तो उनकी वाणी में इंद्र के वज्र का सा प्रभाव था···वही प्रभाव अव स्पष्ट होकर उसके सम्मुख आ रहा था। उसकी मानस-शिला का चूर्ण नहीं वना था, तो उसके कम-से-कम दो खंड तो हो ही गए थे···

दुर्योधन का यह मित्र, पांडवों का सदा का शत्रु, आज किस कारण से पांडवों के इस मित्र को विदा करने, उसके भक्तों के साथ उसके पीछे-पीछे चला आया था ? कृष्ण को जय करने ? उन्हें दुर्योधन के पक्ष में लाने ? दुर्योधन के व्यवहार का परिमार्जन करने ?···लोग कहते हैं कि कृष्ण तांत्रिक है, उसके पास विचित्र शक्तियां हैं··· कहीं उसने कर्ण को अपनी सम्मोहिनी शक्ति से अपनी ओर खींच तो नहीं लिया, ताकि वह उसे यह भेद वता सके ?

पर नहीं ! कर्ण का मन इतना दुर्वल नहीं है कि कोई उसको इस प्रकार सम्मोहित कर उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे अपने निकट खींच ले। वह तो कर्ण का अपना ही मन था, जो उसे वहाँ ले गया था···।

उसने कृष्ण की निर्भीकता देखी थी। केवल कृष्ण ही इस प्रकार अकेले और निःशस्त्र अपने शत्रुओं के घर में घुस सकते थे, उनकी सभा में आ सकते थे, उन्हें धमकी और चुनौती दे सकते थे। कृष्ण ही थे कि अपने घोषित शत्रु को अपनी सेना दे सकते थे। जैसे उनके मन में किसी के प्रति प्रतिशोध की भावना न हो, प्रतिहिंसा न हो, क्रोध न हो, घृणा न हो,···

नहीं ! क्रोध तो था उनके मन में। अपना सारा अपमान सहा था कृष्ण ने, किंतु रुक्मिणी का अपमान नहीं सह पाए थे। रुक्मिणी के प्रति अपमानजनक शव्द कहे थे शिशुपाल ने और अपना मस्तक कटवा वैठा था।··· दुर्योधन ने कृष्ण को वंदी करना चाहा और वे उसे चेतावनी देकर चले गए, किंतु पांचाली के अपमान को नहीं भूले थे श्रीकृष्ण। आज भी कह गए थे कि उस अवसर पर उपस्थित होते तो दुर्योधन, दुःशासन और कर्ण का मस्तक काटकर द्रौपदी के चरणों में डाल देते। कृष्ण दंभ की खोखली भाषा नहीं वोलते। वे उपस्थित होते तो सत्य ही ऐसा कर डालते। कर्ण का मन जैसे काँप गया।··· युद्धक्षेत्र में वीरगति प्राप्त करने से वह नहीं डरता, किंतु एक स्त्री के प्रति अपशव्द कहने के लिए दंड के रूप में अपना मस्तक कटवाना, तनिक भी सम्मानजनक नहीं लगता उसको। श्रीकृष्ण की सखी है पांचाली। उसके अपमान को

क्षमा नहीं करेंगे वे। तभी तो तेरह वर्षों बाद भी वे उसे स्मरण कर रहे हैं।

कर्ण को भी स्मरण है वह दृश्य। कर्ण ने वेश्या कहा था पांचाली को। उसे निर्वस्त्र करने का प्रस्ताव किया था। उसके अपमान को उचित ठहराया था।··· पांचाली को ··· और पांडवों को अपमानित कर, उन्हें अपमानित होते देख, कैसे सुख का अनुभव कर रहा था वह। कैसी तृप्ति थी, जैसे कोई पुराना ऋण उतार रहा हो। पर तब यह तो नहीं सोचा था कि वह श्रीकृष्ण को भी रुष्ट कर रहा था। मदांधता की उस घड़ी में वह भूल गया था कि पांचाली सखी थी श्रीकृष्ण की। आज श्रीकृष्ण का रौद्र रूप देख उसका मन चीत्कार कर रहा था कि वह श्रीकृष्ण को बता दे कि वह केवल पांडवों का विरोधी था। श्रीकृष्ण का तनिक भी विरोध नहीं था उसके मन में,··· चाहे वे पांडवों के कितने ही मित्र क्यों न हों।··· उसने उस पांचाली का अपमान किया था, जो पांडवों की पत्नी थी। श्रीकृष्ण की सखी के प्रति उसके मन में कोई असम्मान नहीं था। वह पांडवों का अपराधी हो सकता है, किंतु वह श्रीकृष्ण का दोषी नहीं था।···

वह श्रीकृष्ण के प्रति अपना सौहार्द जताना चाहता था। उसे रेखांकित करना चाहता था। पर वह क्या जानता था कि श्रीकृष्ण भी उसके प्रति अपना सौहार्द जताने का कोई अवसर ढूँढ़ रहे थे। वह एक संदेश देने गया था श्रीकृष्ण को और उन्होंने उसे अपना संदेश दे दिया था··· कि जिनके प्रति शत्रुता स्वीकार करने गया था, वे उसके भाई निकले। जिस स्त्री को अपमानित किया था, वह उसके अपने भाइयों की पत्नी थी।···

"यही तो चाहते थे तुम।" उसका एक मन कह रहा था, "तुम सूतपुत्र नहीं रहना चाहते थे। लो, बन गए तुम क्षत्रियकुमार। अब तुम्हें कोई सूतपुत्र नहीं कहेगा। चलो ! भाग कर विदुर के घर चलो। वहीं हैं, तुम्हारी जननी। दूर नहीं है। तेरह वर्षों से यहीं रह रही हैं। तुम्हें यह ज्ञान नहीं था, इसलिए तुमने जाकर कभी उनके चरण नहीं पकड़े, कभी उस गोद में अपना सिर नहीं रखा। अब क्या है ? संभवतः वे तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही होंगी।··· उन्होंने ही तो कृष्ण को यह रहस्य बताया है। कदाचित् यह कहकर ही बताया होगा कि वे तुम्हें सूचित करें और विदुर के घर तक जाने के लिए प्रेरित करें।··· उनकी इच्छा तो स्पष्ट ही है। वे तो अपनी भुजाएँ पसारे तुम्हें पुकार रही हैं··· अब निर्णय तो तुम्हें करना है। तुम्हें अपनी जननी की गोद में जाना है या नहीं।··· पर नहीं जाने का क्या अर्थ हुआ ! अब तक तो तुम्हें ज्ञात ही नहीं था, किंतु जान लेने के पश्चात् कोई ऐसा भी अभागा होता है, जो अपनी जननी का अनादर करे···

किंतु कर्ण का एक और मन निरंतर अस्वीकार की मुद्रा बनाए अपने स्थान पर डटा हुआ था।··· "मैंने यह तो चाहा था कि मुझे क्षत्रिय स्वीकार किया जाए; किंतु यह तो कभी नहीं चाहा था कि बदले में, जो कुछ मेरा है, वह सब कुछ मुझसे छीन

लिया जाए।··· वे राधा माता, जिनके विषय में वह सारा जीवन सुनता आया है कि उसे गोद में लेते ही वात्सल्य प्रेरित होकर उनके स्तनों में दूध उतर आया था; वे राधा माता, जिन्होंने उस अवोध, अज्ञात कुलशील, अपरिचित शिशु का मल-मूत्र धोना स्वीकार किया।··· वे ही राधा माता, अव उसकी माँ न रहें ? अधिरथ, जिन्होंने उसे अपनी वृद्धावस्था का अवलंवन माना, दत्तक पुत्र के रूप में उसे अपना समग्र उत्तराधिकार दिया··· वे अधिरथ उसके वावा न रहें ?··· पांचाली उसकी महारानी होगी, तो उन सूत कन्याओं का क्या होगा, जो अव तक उसकी सखियाँ थीं, पत्नियाँ थीं, उसकी संतान की माताएँ थीं ?···

कर्ण के मन में एक निर्धन व्यक्ति का विंव उभर रहा था, जो धन के अभाव में अच्छे वस्त्र नहीं पहन सकता था; उसके घर में अच्छे पात्र और भांड नहीं थे; सोने के लिए टूटी चारपाइयाँ थीं; वैठने के लिए घर के वने, अनघड़ और कुरूप मंच थे। ··· अकस्मात् किसी कारण से प्रसन्न होकर, राजा उसे वहुत सारा धन पुरस्कार-स्वरूप दे देता है। वह अपने लिए नए वस्त्र लाता है, नया विस्तर लाता है, नया पर्यंक और नए आसन। नए भांडों का क्रय करता है।··· किंतु घर इतना खुला तो था नहीं कि नई और पुरानी—सारी चीजों के लिए वहाँ स्थान हो पाता। परिणामतः एक-एक कर वह नई वस्तुओं के लिए स्थान वनाता चलता है··· और अंततः देखता है कि वह अपनी सारी पुरानी वस्तुएँ, एक-एक कर घर से वाहर फेंक चुका है···

कर्ण के जीवन में क्या वही वात मनुष्यों को लेकर नहीं होने जा रही ?··· उसके जीवन में कुंती आएगी तो राधा के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं रहेगा । एक वार देवकी के पास आ जाने पर कृष्ण कभी यशोदा के नहीं हो सके··· कर्ण को नए भाइयों के रूप में पांडव मिलेंगे तो अधिरथ के पुत्र उसके भाई नहीं रहेंगे।··· उसके पिता सम्राट् पांडु हैं, तो अधिरथ सूत उसका पिता कैसे हो सकता है ?··· द्रौपदी उसके जीवन में आए तो वे सूत कन्याएं दासियों में परिणत नहीं हो जाएं गी क्या ?··· कृष्ण की मैत्री का अर्थ है, दुर्योधन से वियोग···

कर्ण का हृदय इस प्रकार ऐंठ रहा था, जैसे उसे गीला कपड़ा मान, सुखाने के लिए कोई निचोड़ रहा हो।···

अपने कक्ष में आकर वह लेटा ही था कि एक नया विचार, उसके मन में कौंधा··· उसने कृष्ण के कहने भर से, इस संवंध को स्वीकार कैसे कर लिया ? संभव है कि यह कृष्ण का षड्यंत्र मात्र हो।··· दुर्योधन को दुर्वल करने के लिए। वह कर्ण और दुर्योधन के मध्य किसी भी प्रकार का कोई भेद उत्पन्न करना चाहता हो··· और उसके लिए इस प्रकार के संवंध के आविष्कार से श्रेष्ठतर और क्या मार्ग हो सकता है ?··· कृष्ण ने इस संवंध का कोई प्रमाण तो प्रस्तुत किया ही नहीं है···। हां ! उसने यह अवश्य कहा कर्ण चाहे तो अपने पिता, अधिरथ से ही पूछ सकता है... तो कर्ण अपने पिता से पूछ ही क्यों नहीं लेता ? क्षण भर में निश्चय हो जाएगा कि सत्य क्या है ?···

कर्ण का मन था कि किसी निश्चय पर टिक ही नहीं रहा था।··· ये सारे निश्चय तो जैसे नदी की धारा में दिखाई देनेवाले पत्थर थे। वह जिस पत्थर को आधार मान कर, उस पर अपना पैर रखता था, वही जल में डूबने लगता था।··· तब उसे ज्ञात होता था कि वस्तुतः वह पत्थर नहीं पत्ता था, जो स्वयं पराश्रित होकर जल के सहारे तैर रहा था। जो स्वयं निराधार था, वह कर्ण के लिए आधार का काम कैसे कर सकता था··· और कर्ण के पग दूसरी ओर बढ़ जाते थे।

यदि वह अधिरथ से ही पूछता है और वे कह देते हैं कि वे कुंतिभोज को जानते हैं, तो इतने भर से क्या यह प्रमाणित हो जाएगा कि कर्ण कुंती का ही कानीन पुत्र है; और कुंतिभोज ने पालन-पोषण के लिए उसे अधिरथ को सौंप दिया था ? क्या कर्ण अधिरथ से पूछ सकेगा, "बाबा ! मैं किसका पुत्र हूँ ?" यदि अधिरथ ने पलट कर पूछ लिया कि क्या वह अधिरथ का पुत्र नहीं है ?··· तो क्या उत्तर देगा कर्ण ?··· क्या वह उनसे कह सकेगा कि वह उनका पुत्र तब तक ही था, जब तक उसे अपने जननी-जनक नहीं मिले थे। क्या वह स्वीकार कर सकता है कि वह अपने शैशव से अपने जननी-जनक को खोज रहा है; और उनके न मिलने के कारण ही वह अब तक उनका पुत्र बना हुआ, उनके घर में निवास कर रहा था ?··· वैसे यदि कुंतिभोज ने अधिरथ को अपना हितैषी मान कर, गुप्त रीति से अपना दौहित्र उसे सौंपा था, तो यह शपथ भी अवश्य ही दिलवाई होगी कि वे इस तथ्य को गोपनीय ही मानेंगे और सदा गुप्त रखेंगे।··· तो अधिरथ अपनी प्रतिज्ञा क्यों भंग करेंगे ? सत्य से उनको इतना प्रेम है कि जिस पुत्र का पालन-पोषण कर उसे इतना बड़ा किया, उसे वे अपनी वृद्धावस्था में अपने घर से निकाल देंगे ? सत्य से उन्हें यदि इतना ही प्रेम होता तो इस रहस्य को वे अब तक गोपनीय क्यों बनाए रखते ?··· कर्ण के प्रति अपने प्रेम के कारण, वे झूठ भी बोल सकते हैं। वे कह सकते हैं कि वे कुंतिभोज को जानते ही नहीं। तब कर्ण के सत्य जानने के सारे द्वार बंद हो जाएँगे।··· पर कर्ण यह जानना ही क्यों चाहता है ? वह राधा और अधिरथ को अपने माता-पिता मान कर संतुष्ट क्यों नहीं रह सकता ?···

कर्ण का एक और मन जैसे तड़पकर उठ खड़ा हुआ।··· जब-जब कोई उसे सूतपुत्र कहकर संबोधित करता है, कैसे धिक्कार की वर्षा होती है उस पर। कैसे उसके वक्ष पर वज्र-सा लगता है। क्यों वह सूतपुत्र पुकारनेवालों के मुँह ही नहीं नोच लेना चाहता, उनकी जिह्वा भी खींच लेना चाहता है ? क्या यह कम प्रमाण था कि वह अपने सूत माता-पिता से संतुष्ट नहीं था ? वह अपने लिए क्षत्रिय माता-पिता चाहता था।··· और आज यह अवसर आया है कि वह अपनी आत्मा को आश्वस्त कर सके कि वह सूतपुत्र नहीं है, तो वह उस अवसर से मुँह क्यों चुराने लगा है ?··· क्यों नहीं वह सीधा कुंती के पास चला जाता और पूछता कि यदि वे ही उसकी जननी हैं तो इतने वर्षों से हस्तिनापुर में रहते हुए, उसे क्यों नहीं बताया कि वे ही उसकी माता हैं ? क्यों

उन्होंने उसे पुत्र कहकर संबोधित नहीं किया ?··· कर्ण का चिंतन थम गया।··· जब कभी, जहाँ कहीं भी कुंती से उसका साक्षात्कार हुआ था और संभाषण का तनिक-सा भी अवसर आया था, कुंती ने उसे सदा पुत्र कहकर ही संबोधित किया था। पांडवों ने उसके प्रति चाहे जितना भी विरोध जताया हो, अपनी घृणा प्रकट की हो, कुंती ने तो उसका स्वागत सदा मुस्कान से ही किया था। वे कर्ण की ही आँखें थीं, जो शत्रुता और मात्सर्य से रंजित होने के कारण, कुंती की मुस्कान में से छलकते वात्सल्य को नहीं देख पाई; अन्यथा कुंती की ओर से तो माधुर्य का अभाव कभी नहीं था।···

पर कर्ण का व्यवहार ? कैसा था कर्ण का व्यवहार ? कर्ण ने सदा ही कुंती और उनके पुत्रों का तिरस्कार किया था। उनका अपमान किया था। वह सदा ही बहुत कठोर रहा था, उनके प्रति। सदा घृणा और शत्रुता से परिपूर्ण। जिन्हें उसने सदा नष्ट करना चाहा—वे उसके सहोदर निकले; और जिसे उसने कभी शांति से जीने नहीं दिया, वह उस की जननी।

कर्ण की इच्छा हुई कि वह अपना मस्तक दीवार से दे मारे। क्या करता रहा, वह आज तक ? अपने शत्रुओं की सेवा ? अपने सहोदरों की हत्या का प्रयत्न ?

कर्ण का चिंतन, जैसे फिर एक बार ठिठककर खड़ा हो गया··· क्या हो गया है उसे ? उसने कृष्ण की सूचना को उसकी पूर्णता में स्वीकार कर लिया है। वह कुंती को अपनी माँ और पांडवों को अपना भाई मानने लग गया है।··· इसका अर्थ है, दुर्योधन की शत्रुता।··· राधा और अधिरथ उसके माता-पिता नहीं रहेंगे; किंतु उसके पालक तो वे रहेंगे ही। वे उसके अमित्र अथवा शत्रु तो नहीं बन जाएँगे··· किंतु दुर्योधन ? दुर्योधन उसका शत्रु हो जाएगा··· नहीं ! कर्ण इतना कृतघ्न नहीं हो सकता। ...

"आर्यपुत्र !"

वृषाली उसके सम्मुख खड़ी थी।

"आर्यपुत्र ! क्या चित्त प्रसन्न नहीं है ?"

"नहीं ! ऐसा तो कुछ नहीं है।" कर्ण ने स्वयं को संयत किया, "किसने कहा तुमसे ?"

"आपके व्यवहार ने ।" वृषाली उसके निकट बैठ गई, उससे सटकर। उसने अपनी तर्जनी से कर्ण के ललाट पर से केशों को हटाया, जैसे पूरे मुखमंडल को बहुत स्पष्टता से देखना चाहती हो। अपनी दोनों हथेलियों से उसके मुखमंडल को घेरकर बोली, "चंद्रमा को ग्रहण क्यों लगा है ? यह सूर्य आज इतना अवसन्न क्यों है ?"

कर्ण का हृदय जैसे पिघलता जा रहा था··· कैसा तो था वृषाली का यह स्पर्श। उसकी यह ममता। कर्ण का मन होने लगा था कि उसकी गोद में अपना सिर रख दे और कहे, "तुम मुझे यह प्रेम देती रहो तो मुझे किसी और के प्रेम की आवश्यकता ही क्या है । मैं इसी से परिपूर्ण हो जाऊँगा।" ···किंतु वह उसके सम्मुख अपना हृदय खोल नहीं सकता था। उसे अपनी समस्या बता नहीं सकता था।··· उसे उसके मायावी

स्पर्श से दूर ही रहना चाहिए था।

"कोई विशेष बात नहीं है।" वह बोला, "युद्ध सामने दिखाई पड़ रहा है। अनेक महत्त्वपूर्ण सामरिक निर्णय करने हैं।"

वृषाली खिलखिलाकर हँस पड़ी, "महावीर कर्ण ! युद्ध संबंधी निर्णय करने मात्र से यदि आप पर इतनी क्लांति छा जाएगी, तो युद्धक्षेत्र में उतरने से क्या होगा ?"

"नहीं ! यह बात नहीं है।" कर्ण ने यथाशक्ति अपने व्यवहार को कठोर बनाने का प्रयत्न किया, "युद्ध से आक्रांत नहीं हूँ मैं। हमें अपना पक्ष और विपक्ष निश्चित करना है।"

"कुछ स्पष्ट और निश्चित कहेंगे आप ?"

"अनेक राजा अपनी सेनाओं के साथ आ रहे हैं। अनेक निमंत्रण के बाद भी नहीं आए··· अपनी नीति तो निश्चित करनी ही पड़ेगी।"

"मैं समझती थी कि यह दायित्व कदाचित् राजा दुर्योधन का है।" वृषाली बोली।

"राजा दुर्योधन से मैं कोई भिन्न हूँ क्या ?" तनिक-सी असावधानी से ही कर्ण का स्वर ऊँचा उठ गया। उसकी खीज अपना सारा छद्म छोड़कर प्रकट हो गई थी।

वृषाली को जैसे जोर का आघात लगा था।

"मैंने यह तो नहीं कहा था।" वह उठ खड़ी हुई, "वाक्‌बाणों के स्थान पर कहीं वास्तविक बाणों का ही आघात न होने लगे।"

वह कक्ष छोड़कर चली गई।

"मुझे सबके प्रति कठोर होना होगा।" कर्ण सोच रहा था, "नहीं तो ये लोग मुझसे मेरे मित्र दुर्योधन को छीन लेंगे। सबके प्रति कठोर होना होगा। कुंती के प्रति भी। अपने इस मन के प्रति भी, जो उन लोगों को लेकर जाने कैसे-कैसे सपने बुनने लगा है। कर्ण कृतघ्न नहीं हो सकता। न राधा और अधिरथ के प्रति और न राजा दुर्योधन के प्रति, जो आज तक कर्ण के ही परामर्श पर पांडवों के विरुद्ध युद्ध की ओर अग्रसर होता रहा है··· ।"

26

"बहुत थके हुए हो विदुर ?" कुंती ने विदुर की ओर देखा, "नहीं ! कदाचित् थके हुए नहीं हो, किसी उलझन में हो।"

विदुर ने मुस्कराने का प्रयत्न किया, "इसे उलझन नहीं कहते भाभी ! मैंने आज कुछ बहुत अद्‌भुत देखा है और निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि वह क्या था।"

"पारंसवी !" कुंती ने पुकारा, "तुम्हारे पति आज फिर कोई अद्‌भुत समाचार लाए हैं। सुनना हो तो आ जाओ।"

"है तो अद्भुत ही।" विदुर आत्ममुग्ध-से मुस्कराने लगे थे।

"अव तो तुम चिंतित नहीं लग रहे।" कुंती ने कुछ चकित होकर कहा, "अव तो तुम किसी उपलब्धि पर प्रसन्न होते से दीखते हो।"

पारंसवी आ गई थी, "क्या वात है भाभी !"

"वात तो अभी विदुर वताएँगे।"

"आप जानती हैं भाभी ! आज श्रीकृष्ण कौरवों की राजसभा में गए थे।" विदुर बोले।

"जानती हूँ।" कुंती ने कहा, "उसके पश्चात् उपप्लव्य जाने से पूर्व वह मेरे पास भी आया था, प्रणाम करने। सभा में क्या हुआ ? मुझे तो वह निश्चित रूप से कह गया है कि अव युद्ध होगा ही।"

"युद्ध तो आज ही हो जाता, किंतु श्रीकृष्ण ही टाल गए।" विदुर बोले।

"हाँ ! सुना है कि दुर्योधन कृष्ण को वंदी करने की योजना बना रहा था।" कुंती ने कहा, "किंतु कृष्ण कुछ तैयारी से आया हुआ था। कृतवर्मा अपनी सेना के साथ सभा के सम्मुख डट गया और सात्यकि कृष्ण को निकालकर ले गया। वाहर दारुक कृष्ण का रथ लिए खड़ा था। दुर्योधन उनको रोक नहीं सका और वे लोग निकल गए।"

"तुम भी वड़ी चमत्कारी हो भाभी !" विदुर बोले, "श्रीकृष्ण की बूआ जो हो।"

"लो इसमें चमत्कार क्या है।"

"घर बैठे वे सारी सूचनाएँ एकत्रित कर लेती हो, जो मैं सभा में वैठा हुआ भी नहीं कर सकता।" विदुर बोले, "पर बात इतनी-सी ही नहीं है।"

"तो वात क्या है ?" पारंसवी आतुर स्वर में बोली, "पहेलियाँ मत वुझाइए। बात बताइए।"

"सामान्यतः तो बात इतनी-सी ही है कि श्रीकृष्ण सभा में आए। दुर्योधन श्रीकृष्ण को वंदी करने का षड्यंत्र रच रहा था। यादवों ने भी अपनी योजना वना ली। दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि तथा कर्ण सभा में आ गए थे। और सहसा श्रीकृष्ण ने गर्जना की कि दुर्योधन यदि उन्हें अकेला समझकर बंदी करने की योजना बना रहा है, तो वह मूर्ख है, क्योंकि वे अकेले नहीं थे। पांडव भी वहीं थे, वृष्णि और अंधक वीर भी वहीं विद्यमान थे। आदित्य, रुद्र और वसु भी वहीं थे।"

"पांडव यहाँ कहाँ हैं ?" कुंती ने कहा, "वे एक ही समय में उपप्लव्य और हस्तिनापुर में कैसे उपस्थित हो सकते हैं ?"

"यही तो वता रहा हूँ भाभी !" विदुर वोले, "श्रीकृष्ण ने यह कहा भर और फिर वे सभा से निकल गए ?"

"दुर्योधन ने उन्हें पकड़ने का प्रयत्न नहीं किया ?" पारंसवी ने पूछा।

"पकड़ता कौन ? दुर्योधन और उसके संगी-साथी अचेत पड़े थे।..."

"तो इसका अर्थ है कि यादव लोग, कौरवों को अचेत कर कृष्ण को सभाभवन

से निकाल कर ले गए।" कुंती ने कहा, "पर कौरवों को अचेत कैसे किया ? संज्ञाशून्य करने वाली कोई औषध छिड़की ?"

"मैं ऐसा नहीं कह सकता, क्योंकि न मैं अचेत हुआ था, न पितृव्य भीष्म हुए थे, न आचार्य द्रोण, न स्वयं महाराज धृतराष्ट्र और न संजय। यदि कोई औषध छिड़की गई होती तो हम सबको भी अचेत हो जाना चाहिए था।"

"तो शेष लोग कैसे अचेत हो गए ?" पारंसवी ने पूछा।

"मैं नहीं जानता।" विदुर बोले, "मैं अचेत नहीं था। श्रीकृष्ण जैसे बोल रहे थे, मुझे लगा कि वे सामान्य मधुर श्रीकृष्ण नहीं रह गए हैं। उनके चेहरे पर पहले तो असाधारण क्रोध झलका। लगा कि उनकी आँखों में से ज्वाला निकल रही है; और फिर वे प्रज्वलित हो उठे। वहाँ प्रकाश ही प्रकाश था। उसके साथ ताप भी था। मुख से ज्वाला निकल रही थी। मुझे लगा कि जो कुछ वे कह रहे हैं, वह सब कुछ प्रकट है। सचमुच ही पांडव उनके पीछे खड़े थे। उनके ललाट पर ब्रह्मा और वक्ष में रुद्र देव थे। उनकी भुजाओं में अर्जुन और बलराम थे।··· वह श्रीकृष्ण का मधुर और मुस्कराता हुआ रूप नहीं था। वह तो जैसे महाकाल का कोई रौद्र रूप था, जिसकी जिह्वा रक्त चाटने को लपलपा रही थी··· ।"

"तुमने यह सब देखा विदुर ? यह तुम्हारी सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा किया हुआ वर्णन तो नहीं है ?"

"नहीं भाभी ! मैंने यह सब देखा और अनुभव किया ।" विदुर बोले, "देखने से अधिक मैंने अनुभव किया। अनुभव तो और भी बहुत कुछ किया, किंतु उन सब का वर्णन कठिन है।···" उनकी दृष्टि जाकर पारंसवी पर टिक गई, "इस प्रकार क्या देख रही हो, जैसे मैं विक्षिप्त हो गया हूँ ?"

"लग तो कुछ ऐसा ही रहा है।" पारसवी बोली, "सीधी-सी बात है कि दुर्योधन ने श्रीकृष्ण को अपनी सभा में अकेले आया देख, उन्हें असहाय समझा और उन्हें बंदी करने की योजना बनाई। श्रीकृष्ण उतने असावधान नहीं थे, जितना कि दुर्योधन उन्हें समझ रहा था। श्रीकृष्ण पूरी तैयारी से आए होंगे। उनके साथ सात्यकि और कृतवर्मा भी थे। उन की सेना भी थी। सात्यकि भाँप गया, उसने कृतवर्मा को सावधान कर दिया। उन लोगों ने अपनी सेना से सभा को घेर लिया। दुर्योधन के सैनिक हटा दिए गए अथवा बंदी कर लिए गए। भीतर श्रीकृष्ण और सात्यकि ने कुछ ऐसा किया, जिससे अधिकांश लोग अचेत हो गए। जो लोग संज्ञाशून्य नहीं हुए, उनमें से एक भी ऐसा नहीं था, जो उनको बंदी करने का प्रयत्न करता। श्रीकृष्ण और सात्यकि बाहर निकल आए। वहाँ उनका रथ प्रस्तुत था। कृतवर्मा अपनी सेना सहित उनकी रक्षा के लिए प्रस्तुत था। वे लोग सुरक्षित निकल गए। अब इस घटना को इतना रहस्यमय बनाने की क्या आवश्यकता है ? पता नहीं आप को सब स्थानों पर ब्रह्मा और रुद्र क्यों दिखाई देने लगते हैं।"

विदुर हँसे, "मैं जानता था कि इस सारी घटना की व्याख्या तुम कुछ इसी प्रकार

करोगी। बुद्धिमती जो ठहरीं। पर मुझे बताओ कि भीष्म, द्रोण और संजय को भी यही सब क्यों दिखाई दिया। और सबसे बड़ी बात है कि धृतराष्ट्र ने भी यह सब कुछ देखा।"

"महाराज धृतराष्ट्र ने देखा ?" पारंसवी ने कुछ चीत्कार कर कहा, "जिसको अपने सामने खड़ा पर्वत दिखाई नहीं देता, उस नेत्रहीन ने श्रीकृष्ण का यह रूप देखा ?"

"हाँ ! उनका तो यही कहना है।"

"एक अंधे ने देखा और दुर्योधन इत्यादि को आँखें रहते कुछ दिखाई नहीं दिया ?" पारंसवी ने कहा।

"हाँ !"

"विदुर ! तुम कृष्ण को चमत्कारी पुरुष सिद्ध करना चाहते हो ?" कुंती ने पूछा।

"भाभी ! मैं कुछ सिद्ध नहीं करना चाहता। मैंने तो आपसे वह सब कहा है, जो मैंने देखा और मन से अनुभव किया है।"

"यदि आपकी मान्यता के अनुसार श्रीकृष्ण परब्रह्म अथवा उनका अवतार हैं, तो वे इस प्रकार अपमानित होने की प्रतीक्षा क्यों करते रहते हैं ?" पारंसवी ने तेजस्वी स्वर में कहा, "वे दुर्योधन को अचेत कर सकते हैं, तो उसे मार भी तो सकते हैं। मार क्यों नहीं देते उसे ? इतनी लीला करने की क्या आवश्यकता है ?"

"वह तो दूर की बात है," कुंती बोली, "साधारण परिस्थितियों में भी वह अपना सुदर्शन चक्र निकाल ले तो दुर्योधन का सिर धड़ से पृथक् लोटता दिखाई देगा। पता नहीं कृष्ण उसके साथ भी वही व्यवहार क्यों नहीं करता, जो उसने शिशुपाल के साथ किया।"

"मैं नहीं जानता कि उनकी यह क्या लीला है।" विदुर बोले, "कुछ लोग मानते हैं कि वे बलराम द्वारा दुर्योधन को दिए गए वचन का पालन कर रहे हैं। वे उस पर शस्त्र नहीं उठाएँगे।"

"मेरी तो समझ में यह नहीं आता कि वे कैसे ईश्वर हैं कि वे सामने खड़े रहते हैं और दुर्योधन जैसे लोग उन्हें पहचान नहीं पाते।" पारंसवी बोली, "यदि वे अवतार हैं तो उनका प्रभाव दुर्योधन पर क्यों नहीं होता। उसके सम्मुख आते ही वे बार-बार असफल क्यों हो जाते हैं ?"

"तुम्हारे प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर मैं नहीं जानता।" विदुर जैसे अपने भीतर कहीं डूब गए थे, "मैं तो केवल इतना जानता हूँ कि ईश्वर को देखने के लिए, ईश्वर का सामने आकर खड़ा होना आवश्यक नहीं है। उसके लिए तो अपने पास आँखें होनी चाहिए। ईश्वर तो प्रत्येक कण में है, हमारे पास ही उसे देखने के लिए आँखें नहीं हैं। यदि कोई अपने सम्मुख खड़े ईश्वर को देख नहीं पाता तो वह ईश्वर की नहीं, उस व्यक्ति की विफलता है।"

"यह कैसा तर्क है ?" पारंसवी ने कहा।

"मनुष्य अपने-आपको ही नहीं पहचान पाता, तो ईश्वर को पहचानना तो दूर

की बात है।"

"ये कौन-सी विशेष आँखें हैं, जो धृतराष्ट्र के पास तो हैं, दुर्योधन के पास नहीं हैं ?"

"तुम्हारा कटाक्ष तो मैं समझता हूँ।" विदुर बोले, "किंतु मेरा सत्य यही है। मैं सुविधा से कह सकता था कि इन प्राकृतिक आँखों से ईश्वर को नहीं देखा जा सकता। उसके लिए निर्मल चरित्र चाहिए; किंतु तब मैं धृतराष्ट्र को दुर्योधन से पृथक् कैसे करूँगा ? मुझे कभी-कभी लगता है कि मैं धृतराष्ट्र के चरित्र को नहीं समझ सकता। वह कभी-कभी धर्मात्मा-सा लगने लगता है और अगले ही क्षण वह चांडाल दिखाई देने लगता है। प्रभु ही जानें कि उन्होंने धृतराष्ट्र को क्या बनाया है। उसे इतना अभिशप्त करके भी इतना सुख दिया है। इतना भोग दिया है उसे कि वह उसे सँभाल नहीं पाता।…" वे कुंती की ओर मुड़े, "क्या सोच रही हो भाभी ?"

"सोचती हूँ कि भीष्म, द्रोण, तुम, धृतराष्ट्र, गांधारी और स्वयं श्रीकृष्ण जिसे समझा रहे हों, वह कुछ भी क्यों नहीं समझ पाता ? क्या दुर्योधन का व्यक्तित्व इतना प्रबल है कि वह ईश्वर के समझाने पर भी नहीं समझ पाए, या फिर यह ईश्वर की ही इच्छा है कि वह कुछ न समझे और उन सारे राजाओं को विनाश की ओर घसीट कर ले जाए, जो उसके मित्र हैं ?" कुंती ने कहा, "मैं देख रही हूँ कि धृतराष्ट्र भी बार-बार कह रहे हैं कि वे वह नहीं चाहते, जो दुर्योधन कर रहा है। मैं सोचती हूँ कि यदि ऐसा है तो वे उसके हाथ से सत्ता क्यों नहीं छीन लेते ? वे उसे बंदी क्यों नहीं करते ? निष्कासित क्यों नहीं करते ? भीष्म और द्रोण बार-बार उसे समझाते हैं, बार-बार उसका विरोध करते हैं, किंतु न तो उसे त्यागते हैं, न उसके विपक्ष का साथ देते हैं। सभा और घर में निरंतर उसका विरोध करते हैं और युद्ध में फिर उसका साथ देते हैं। क्या है, यह सब ?"

"मुझे तो लगता है कि ये सब लोग दुर्योधन के विरोध का नाटक-भर करते हैं।" पारंसवी बोली, "नहीं तो इतनी निष्ठा से उसकी आज्ञाओं का पालन क्यों करते चलते ?"

"मैं तो इसमें से एक आध्यात्मिक स्थिति देखता हूँ।"

"आपको तो प्रत्येक आत्मविरोधी स्थिति में से एक आध्यात्मिक सत्य की प्राप्ति होती है।" पारंसवी विनोदी मुद्रा में दिखाई पड़ रही थी।

"तुम मुझे चिढ़ाने का प्रयत्न कर रही हो, किंतु यह सत्य है पारंसवी कि सांसारिक विरोधों में से ही आध्यात्मिक सत्य प्रकट होते हैं।" विदुर बोले, "मैं धृतराष्ट्र को तो पाखंडी मान सकता हूँ, किंतु पितृव्य भीष्म और आचार्य द्रोण को नहीं। मुझे लगता है कि सचमुच मनुष्य का अहंकार एकदम व्यर्थ का है। पितृव्य आज तक सोचते रहे कि वे कुरुकुल की रक्षा कर रहे हैं, इसलिए उन्होंने दुर्योधन को कुछ नहीं कहा। अब सिद्ध होने जा रहा है कि दुर्योधन के अत्याचारों की अनदेखी कर भीष्म कुरुकुल की रक्षा

नहीं कर रहे थे, उसके विनाश के बीच बो रहे थे। धृतराष्ट्र अपने पुत्र के लिए भोग के असंख्य साधन जुटा रहे थे और अब वे देखेंगे कि वे उसकी मृत्यु का प्रबंध कर रहे थे। सब जानते हैं कि युद्ध से विनाश होगा और फिर भी क्षण प्रति क्षण युद्ध की ओर बढ़ते जा रहे हैं। क्या अर्थ है इस सबका ? क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि ईश्वर ही विनाश का इच्छुक है ? मनुष्यों के देखते-सुनते, प्रयत्न करते, होता वही है, जो ईश्वर की इच्छा होती है।"

"लगता तो यही है।" पारंसवी बोली।

"इसीलिए किसी भी भक्त के मन में आता है कि वह अपना प्रयत्न करता रहे किंतु ईश्वर की इच्छा के सम्मुख अपना माथा टेक दे।" विदुर बोले, "बौद्धिकता से क्या होगा। मनुष्य की बुद्धि तो इतनी सीमित और अदूरदर्शी है कि अपने से बाहर कुछ देख ही नहीं पाती। ईश्वर को जानना और समझना तो बहुत दूर की बात है। ईश्वर को तो वही जान सकता है, जिसे स्वयं ईश्वर जानने की क्षमता दे। इसीलिए दुर्योधन और उसके मित्र श्रीकृष्ण को नहीं पहचान पा रहे हैं।"

"और आप पहचान पा रहे हैं।" पारंसवी जोर से हँसी।

"हाँ ! यह ईश्वर की कृपा ही तो है।" विदुर बोले।

"यह ईश्वर की कृपा है कि उसने आपको दासी के गर्भ से जन्म दिया। कुरु साम्राज्य के महामंत्री रहे और सदा ही अपमानित होते रहे, यह सब दया है ईश्वर की ?" पारंसवी बोली, "सब कुछ होते हुए भी एक संतान तक नहीं दी। यह दया है ईश्वर की ?"

विदुर की आँखों में अश्रु आ गए। कंठ रुँध गया, "कृतघ्न मत बनो पारंसवी। ईश्वर की कृपा है कि दासी के गर्भ से जन्म लेकर भी मैं राजपरिवार का सदस्य रहा। महाराज पांडु और धृतराष्ट्र का भाई रहा। यह भगवान की कृपा है कि दुर्योधन की सारी उपेक्षा के बाद भी मैं कुरु साम्राज्य का महामंत्री रहा। उसने मुझे इस काया से जन्मी संतान नहीं दी किंतु पांडवों जैसे असाधारण पुत्र दिए। अपना परिवार तो देखो, कितने लोग पल रहे हैं तुम्हारे आश्रय में। वह तुम्हारा परिवार ही तो है। प्रभु की कृपा तो देखो कि श्रीकृष्ण, हस्तिनापुर के महाराज और युवराज के घर भोजन नहीं करते और मेरे यहाँ आकर भोजन कर मुझे कृतार्थ करते हैं। भाभी जैसी महारानी और राजमाता अपनी इच्छा से हमारी इस कुटिया में हमारे साथ निवास करती हैं। और कौन-सा गौरव चाहिए तुम्हें पारंसवी ?"

पारंसवी और विदुर एक-दूसरे को देखते रहे। वे समझ नहीं पा रहे थे कि एक-दूसरे से क्या कहें।

कुंती हँसी, "बोलो पारंसवी ! बोलो ! कहो कि प्रभु ने विदुर की बुद्धि ही भ्रष्ट कर रखी है कि उसे जीवन का कोई दुःख, दुःख ही नहीं लगता। उसे सुख और दुःख की परख ही नहीं है।"

"नहीं भाभी !" इस बार पारंसवी का स्वर ठहरा हुआ था और नेत्र भीगे हुए थे, "मुझे हाथ जोड़ कर उस प्रभु का धन्यवाद करना चाहिए कि इस हस्तिनापुर में रहते हुए भी, धृतराष्ट्र का अन्न खाते हुए भी एक मेरे ही पति की बुद्धि सात्विक रही है यहाँ। इन्होंने पुत्र युधिष्ठिर को पहचाना, इन्होंने श्रीकृष्ण को पहचाना। मेरा सौभाग्य कि इनकी संगति से मेरी बुद्धि भी कुछ सात्विक हुई।" पारंसवी ने अपनी आँखें पोंछ लीं।

"कृष्ण तो फिर मेरी समझ में कुछ-कुछ आ जाता है।" थोड़ी देर में कुंती बोलीं, "मेरी समझ में यह कृतवर्मा एकदम नहीं आता।"

"क्यों ? कृतवर्मा भी कोई योगी है क्या ?" पारंसवी हँसी।

"कहाँ तो वह अपनी सेना दुर्योधन को दे देता है और कहाँ वह कृष्ण की रक्षा के लिए अपने प्राणों का पण लगाकर उसी दुर्योधन के विरुद्ध जम जाता है।" कुंती ने कहा।

"हाँ ! कह तो आप ठीक रही हैं भाभी !" विदुर ने सहमति प्रकट की, "सात्यकि और कृतवर्मा एक-दूसरे को एक आँख नहीं देख पाते और यहाँ वे दोनों श्रीकृष्ण की रक्षा में ऐसा सहयोग करते दिखाई देते हैं कि जैसे उनमें कोई मतभेद ही न हो।" विदुर कुछ रुके, "यह भी तो संभव है भाभी ! कि उनका परस्पर मतभेद हो, किंतु श्रीकृष्ण से कोई मतभेद न हो। और जहाँ तक दुर्योधन को सेना देने का संबंध है, श्रीकृष्ण ने भी तो अपनी नारायणी सेना दुर्योधन को दे दी है और वह कृतघ्न फिर भी घर आए श्रीकृष्ण को बंदी करने की योजना बना रहा है।"

"हाँ ! विरोध तो सात्यकि और कृतवर्मा का ही है।" कुंती ने कहा, "पर वह विरोध भी कृष्ण के ही चारों ओर मँडराता दिखाई देता है। सात्यकि कृष्ण का भक्त है, इसलिए वह पांडवों की ओर से युद्ध करेगा, और कृतवर्मा उसका ऐसा विरोधी है कि वह अपनी शत्रुता निभाने के लिए, दुर्योधन की सेना में सम्मिलित हो जाएगा।"

"बात इतनी-सी ही है क्या ?" सहसा पारंसवी बोली, "मुझे तो लगता है कि एक कारण और भी है। कृतवर्मा सात्यकि का शत्रु तो है ही, पर वह भयंकर महत्वाकांक्षी भी है। पांडवों की सेना में उसे कोई महत्त्व नहीं मिलनेवाला, जब कि दुर्योधन की सेना में वह नारायणी सेना का महानायक होकर लड़ेगा।"

"महत्त्व के सम्मुख धर्म कुछ नहीं है क्या ?" कुंती ने जैसे अपने-आप से पूछा।

"कुछ लोगों के लिए महत्त्व ही धर्म होता है भाभी !" सहसा पारंसवी ने विषय बदल दिया, "अच्छा, सभा में श्रीकृष्ण का वह रूप देख कर धृतराष्ट्र की क्या प्रतिक्रिया थी ? वे भयभीत नहीं हुए ?"

"मुझे तो वे प्रसन्न ही लगे।" विदुर ने कहा।

"क्यों ? इसमें प्रसन्न होने की क्या बात थी ?" पारंसवी बोली, "वे श्रीकृष्ण की शक्ति देखकर भयभीत क्यों नहीं हुए ? श्रीकृष्ण उनके पुत्रों के शत्रुओं के पक्ष में हैं।"

"मुझे तो लगा कि वे प्रसन्न थे कि श्रीकृष्ण उनके पुत्रों को अचेत कर ही छोड़ गए। उन्होंने उनकी हत्या नहीं की।" विदुर बोले।

"महाराज सचमुच ही नेत्रहीन हैं।" पारंसवी ने अत्यंत दार्शनिक मुद्रा में कहा और उठकर भीतर चली गई।

"विदुर !" कुंती धीरे से बोलीं, "तुम क्या सोचते हो, ऐसी संकटपूर्ण योजना में भी कृष्ण ने सात्यकि और कृतवर्मा जैसे परस्पर विरोधी लोगों को साथ क्यों लिया ? यदि कौरवों की सभा में ही उनका आपसी विरोध बलवान हो उठता और वे परस्पर लड़ पड़ते तो कृष्ण की रक्षा का क्या होता ?"

"मैं तो सोचता हूँ भाभी कि श्रीकृष्ण ने जानबूझकर संकट की इस घड़ी में उन दोनों को एक साथ रखा, ताकि वे अपना विरोध मिटा सकें। कृतवर्मा देख सके कि दुर्योधन कैसा व्यक्ति है और संभव हो सके तो वह दुर्योधन को छोड़कर पांडवों के पक्ष में आ सके। यादवों का पारस्परिक मनोमालिन्य कुछ कम हो सके।"

"कदाचित् तुम ठीक सोचते हो विदुर !" कुंती आत्मलीना-सी होती हुई बोलीं, "यह कृष्ण भी विचित्र है। कभी पांडवों के लिए अपने प्राण संकट में डाल देता है, कभी यादवों के लिए। उसे तो जैसे अपने प्राणों का तनिक भी मोह नहीं है।"

27

युयुत्सु ने घर में प्रवेश किया।

प्रभा सामने ही खड़ी थी। चेहरे पर सहज स्वागत का भाव, नेत्रों में अपेक्षा और अधरों पर मधुर मुस्कान थी। अपनी पत्नी का यह रूप युयुत्सु को बहुत लुब्ध करता था, किंतु इस समय मन कुछ ऐसा बुझा हुआ था कि इच्छा होते हुए भी न तो वह उसकी ओर देखकर मुस्करा ही सका और न कुछ बोल ही पाया। लगा कि कोई शक्ति उसके सारे अंगों को इस प्रकार जकड़े हुए है कि उसकी इच्छा का कोई अर्थ ही नहीं है। ...वह सिर झुकाए हुए अपने विश्रामकक्ष की ओर चला गया।

प्रभा अपने स्थान पर स्तब्ध खड़ी रह गई। उसने चाहे अपने अधरों से एक शब्द भी उच्चरित नहीं किया था, किंतु उसने घर आए पति का मधुर स्वागत तो किया था और वे थे कि सिर झुकाए ऐसे कतराकर निकल गए, जैसे उसे पहचानते ही न हों। व्यक्ति बात न भी करे, क़िंतु उसकी आँखों में पहचान तो झलके।... उसे युयुत्सु का यह व्यवहार बहुत अपमानजनक लगा था।...पर उसने स्वयं को समझाया... बाहर से आए हैं, कुछ ऐसा तो घटित नहीं हो गया, जिससे वे विचलित हो गए हैं और स्वयं को संयत नहीं रख पा रहे ?... बिना बात के भी विचलित हो जाते हैं तो ऐसे ही हो जाते हैं...

उसने स्वयं को समझाया और युयुत्सु के पीछे-पीछे विश्रामकक्ष में आ गई।

"क्या बात है प्रिय ? बहुत दुखी दिखाई दे रहे हैं ?"

"हाँ !" युयुत्सु ने इस प्रकार कहा, जैसे उसे 'हाँ' कहने के लिए भी बहुत परिश्रम करना पड़ रहा हो।

"क्या हुआ ?"

युयुत्सु ने उसे इस प्रकार देखा, जैसे सोच रहा हो कि उसे कुछ बताना है अथवा नहीं और फिर बहुत भारी मन से बोला, "कुछ नहीं ! तुम जानती ही हो कि राजसभा में बहुत कुछ ऐसा होता रहता है, जो मुझे विचलित कर देता है। तुम जाओ। मैं थोड़ी देर में ठीक हो जाऊँगा।"

"फिर भी, कुछ ज्ञात तो हो कि बात क्या है ?"

"तुम जानती हो कि आज सभा में श्रीकृष्ण को आना था। वे शांतिदूत के रूप में आए थे और बात यहाँ तक हो गई कि उन्होंने शांति की प्रतिज्ञा के लिए धर्मराज की ओर से केवल पाँच ग्राम ही माँगे। दुर्योधन ने वे भी नहीं दिए···।"

"फिर 'दुर्योधन' कह रहे हैं।" प्रभा ने उसे टोक दिया, "आप उन्हें 'भाई', युवराज अथवा 'महाराज' कुछ भी कह सकते हैं।··· आस-पास दास-दासियाँ और कर्मकर होते हैं। कोई भी सुन लेता है और वहाँ तक बात पहुँचा देता है कि आपके घर में उनके प्रति सम्मान नहीं दर्शाया जाता। व्यर्थ ही विपत्ति आमंत्रित करने का क्या लाभ ?"

युयुत्सु ने अपनी पत्नी को कठोर आँखों से देखा और प्रयत्नपूर्वक कहा, "दुर्योधन अन्यायी है। वह शांति नहीं चाहता। युद्ध चाहता है, ताकि शक्ति के बल पर पराया धन हड़प सके। मैं उसका सम्मान नहीं कर सकता।"

"सम्मान मत कीजिए, किंतु थोड़ी सावधानी बरतने में क्या हानि है ?"

युयुत्सु ने प्रभा पर आक्रामक दृष्टि डाली, "दम घुटता है मेरा। उसका सम्मान करने के विचार से ही मेरा श्वास बंद होने लगता है।"

"तो फिर आप भी पांडवों के समान या तो वनवास करेंगे अथवा किसी अज्ञात नगर में भिक्षा माँगेंगे।" वह पैर पटकती हुई चली गई, "लगता है पांडव पत्नियों के समान मुझे भी अपना जीवन अपने मायके में ही काटना पड़ेगा।"

युयुत्सु का रक्त खौल रहा था। उसकी इच्छा हो रही थी कि इस दीवार को ठोकर मारे और उसे ढा दे। आग लगा दे हस्तिनापुर में। इतना विनाश करे कि··· उसे जीवन में जैसे कोई रुचि नहीं रह गई थी।··· कभी उसकी इच्छा होती थी कि वह रोने लगे और कभी मन होता था कि चीत्कार करता हुआ हस्तिनापुर के चौराहों पर निकल जाए···

उसने अपनी आँखें बंद कर लीं और सोने का प्रयत्न करने लगा। कदाचित् निद्रा उसे कुछ शांति दे सके।···

किसी ने उसकी भुजा पकड़कर उसकी आँखों से हटा दी। उसने आँखें खोलीं।··· सामने माँ खड़ी थीं।

"क्या वात है ? आज क्या हो गया ?" माँ ने पूछा, "फिर दोनों में झगड़ा हो गया ? वह भी बिस्तर पर औंधी पड़ी है।"

"झगड़ा-वगड़ा कुछ नहीं हुआ माँ !" वह बोला, "वस, मेरा मन ठीक नहीं है।"

"क्यों ? क्या हुआ ?"

"दुर्योधन ने सभा में शांतिदूत वनकर आए श्रीकृष्ण को वंदी करने का प्रयत्न किया।···"

"वह उन्हें बंदी कर पाया ?"

"नहीं ! पर उसने प्रयत्न किया।" युयुत्सु ने कहा, "यह तो नहीं ही समझता कि यह अधर्म और अन्याय है, वह मूर्ख यह भी नहीं समझता कि श्रीकृष्ण उसके वस के नहीं हैं।"

"वह तेरा बड़ा भाई है।" माँ ने जैसे चेतावनी दी।

"नहीं ! वह मेरा वड़ा भाई नहीं है, मैं ही उसका छोटा भाई हूँ।" युयुत्सु ने जैसे प्रतिवाद किया।

"क्या अंतर है दोनों में ?"

"वह मेरा भाई होता तो वह मेरा भी हित देखता, मेरी इच्छा का सम्मान करता। पर है उसे चिंता, किसी और की भावना अथवा इच्छा की ?" युयुत्सु ने माँ को देखा, "मैं उसका छोटा भाई हूँ, इसलिए मुझे उसका आदर करना होगा, उसकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करना होगा, उसके पापों का समर्थन करना होगा। नहीं होता मुझसे यह सब माँ। नहीं होता।"

"क्या चाहता है तू ?" माँ ने उसे घूरकर देखा, "राजप्रासाद में रहना अच्छा नहीं लगता तुझे ? राजकुमार का पद काटता है तुझे ? दास वनकर आजीवन किसी की सेवा करना चाहता है, जैसे मैं किया करती थी ?"

"अच्छा होता तुम सेवा ही करतीं माँ ! राजप्रासादों का मोह न पालतीं।" युयुत्सु वोला, "मुझे इस प्रकार पाप का समर्थन तो न करना पड़ता।"

"जानती हूँ। आरंभ से ही ऐसा रहा है तू।" माँ ने कहा, "सदा से दुर्योधन का विरोधी रहा है तू। उसने भीम को विप दे दिया था तो तू पांडवों को सूचना देने चला गया था। इतना भी नहीं सोचा कि उसे सूचना मिल गई होती तो वह तुझे भी विष दे देता।··· मन में कितना भी भेद हो, व्यवहार में कितना भी अंतर हो, पर स्मरण रख, वह तेरा भाई है और तुझे सदा उसका समर्थन ही करना है।"

"यही तो धर्म संकट है मेरा।" युयुत्सु विस्तर से उठ खड़ा हुआ, "भाई का समर्थन तो कोई करे, पर पाप का समर्थन कैसे करे ?"

"भाई का साथ तो देना ही होगा। अच्छा है तो, और बुरा है तो। कुछ अपना हित भी देखा जाता है या नहीं।"

युयुत्सु को लगा कि वह अपनी माँ का भी सम्मान नहीं कर पाएगा। बोला, "यही संकट है मेरा। कोई मेरा विश्वास नहीं करेगा, किंतु मैं अपने स्वार्थ के लिए नहीं, न्याय के लिए जीना चाहता हूँ। सुविधापूर्ण चाहे न हो किंतु मैं स्वच्छ जीवन जीना चाहता हूँ।"

"तो चला जा पांडवों के पास।" माँ ने उसे डाँटा, "यहा रहकर क्या कर रहा है ? हस्तिनापुर में रहेगा तो दुर्योधन का समर्थन करना पड़ेगा। विभीषण ने अपने भाई को त्यागा था तो आज तक लोगों ने उसे क्षमा नहीं किया है। वह भाई का हत्यारा माना जाता है।"

"जानता हूँ। इसीलिए तो पूछता हूँ कि पापी का समर्थन इसलिए धर्म है कि वह पापी हमारा भाई है। क्या मुझे अपनी इच्छा का स्वतंत्र जीवन जीने, स्वतंत्र निर्णय करने का कोई अधिकार नहीं है।" युयुत्सु क्रुद्ध स्वर में बोला, "मैं विभीषण को तनिक भी दोषी नहीं मानता। उसने धर्म का मार्ग चुना। उस राक्षस रावण का और उसके शासन का समर्थन करने का क्या अर्थ ? मैं मानता हूँ कि विभीषण ने अपने कुटुंब और लंका की प्रजा को रावण के राक्षसी राज्य से मुक्ति दिलाई । विभीषण ने अपने धर्म का पालन किया।..."

"भाई की हत्या करवाना धर्म था ?" माँ ने गुर्रा कर पूछा।

"यही तो देखना है कि संबंध अधिक महत्त्वपूर्ण है अथवा धर्म।" युयुत्सु बोला, "श्रीकृष्ण ने धर्म के सम्मुख संबंधों को कभी कुछ नहीं समझा। उन्होंने अपने उस मातुल कंस का वध अपने हाथों से कर दिया, क्योंकि वह अधर्मी था, प्रजा को पीड़ित कर रहा था।... उन्होंने अपने समधी होने पर भी दुर्योधन का कभी समर्थन नहीं किया...।"

"श्रीकृष्ण ने न भी किया हो, किंतु बलराम तो दुर्योधन को वही महत्त्व दे रहे हैं...।" माँ ने उसकी बात काट दी।

युयुत्सु चुप नहीं रहा। माँ की पूरी बात सुने बिना ही बोला, "इसीलिए लोग उनको अवतार नहीं मानते, जबकि श्रीकृष्ण को स्वयं नारायण अथवा नारायण का अवतार माननेवालों का कोई अभाव नहीं है।... व्यक्ति को सत्य के लिए जीना चाहिए माँ ! संबंधियों के लिए नहीं।"

"तो फिर तू चला ही क्यों नहीं जाता पांडवों की ओर ?" माँ जैसे आपे से बाहर हो गई थीं, "जिसका नमक खा रहा है, उसी का विरोध कर रहा है।"

इस बार युयुत्सु तड़पकर क्रुद्ध स्वर में नहीं बोला। कुछ शांत होकर ठहरे हुए स्वर में बोला, "यही तो विचार का विषय है माँ ! कि नमक दुर्योधन का है अथवा ईश्वर का। जिस ईश्वर ने दुर्योधन को शरीर दिया, प्राण दिए, धन संपत्ति और अधिकार दिया, यह राज्य दिया–दुर्योधन उसका दिया धर्म क्यों नहीं मानता। वह अपना धर्म

चलाना चाहता है। वह स्वयं को नमक बनानेवाला समझता है।…"

"लगता है तुझ पर युधिष्ठिर का प्रेत अधिकार कर बैठा है।" मां ने जैसे हताश होते हुए कहा।

"उसका तो मुझे पता नहीं माँ ! किंतु इतना मुझे अवश्य ज्ञात है कि मैं दुर्योधन का अन्न नहीं खाता, ईश्वर का दिया खाता हूँ। दुर्योधन की सुरक्षा में नहीं जीता, ईश्वर की इच्छा के कारण जीवित हूँ। इसलिए मैं उसका कृतज्ञ हूँ। उसी के सत्य पर चलना चाहता हूँ। उसका दिया यह जीवन मलिन करना नहीं चाहता।…"

"ऐसा ही है तो चला क्यों नहीं जाता ?" मां ने कहा, "अब यह मत कहना कि मेरे कारण तू हस्तिनापुर का बंदी बना बैठा है। तुझे जाना हो तो जा। मैं तेरे बिना भी हस्तिनापुर में सुखी जीवन व्यतीत कर लूँगी।…"

"जानता हूँ।" युयुत्सु बोला, "विभीषण इसलिए जा सका था, क्योंकि दूसरी ओर राम थे। उन्होंने उसका विश्वास किया, उसे अंगीकार किया, उसे शरण दी। यदि राम के स्थान पर सुग्रीव होता तो उसके वानर, विभीषण के टुकड़े कर देते। मैं आज पांडवों के पक्ष में चला जाऊँ तो वहाँ कौन है जो मेरा विश्वास करेगा। कौन मानेगा कि दुर्योधन का भाई पांडवों का पक्ष ले सकता है। द्यूतसभा में विकर्ण ने द्रौपदी का पक्ष लिया था; किंतु आज तक वह भी दुर्योधन के विरुद्ध नहीं जा सका। मैं पांडवों के पक्ष में चला जाऊँ तो भीम मुझे दुर्योधन का गुप्तचर ही मानेगा। मैं तो दोनों ओर से ही गया माँ ! दुर्योधन के पक्ष से मैं लड़ना नहीं चाहता और पांडव मेरा विश्वास नहीं करेंगे।…"

"तो तू संन्यास ग्रहण कर और हिमालय की चोटी पर जा बैठ।" माँ का स्वर वक्र हो गया।

"कदाचित् मेरे लिए वही एक मार्ग खुला है।…" युयुत्सु बोला।

"संन्यास लें आपके शत्रु।" प्रभा कक्ष में आ गई। उसके चेहरे पर रोष का अब कोई लक्षण नहीं था। कदाचित् वह कपाट के पीछे से माता और पुत्र की सारी बातें सुन रही थी, "आप हस्तिनापुर की सेना की ओर से नहीं लड़ना चाहते तो आप तटस्थ रह सकते हैं। युद्ध करना कोई अनिवार्य तो है नहीं।"

"धर्म-अधर्म के युद्ध में जो तटस्थ रहते हैं, वे अधर्म का ही साथ दे रहे होते हैं प्रभा ! मैं वह नहीं कर सकता।" युयुत्सु ने जैसे अपने आप से कहा, "वैसे भी हस्तिनापुर में तटस्थ रहने का अधिकार किसी को है भी ? तुम क्या समझती हो कि दुर्योधन मुझे तटस्थ रहने का अधिकार देगा ?"

"क्यों ? विदुर नहीं रहते क्या हस्तिनापुर में ?" प्रभा ने पूछा।

"एक तो विदुर योद्धा नहीं हैं और दूसरे विदुर का वध करने का साहस दुर्योधन नहीं कर सकता…।" युयुत्सु रुक गया, "नहीं ! शायद ऐसा नहीं है। जो श्रीकृष्ण को बंदी करने का दुस्साहस कर सकता है, वह महात्मा विदुर का वध भी कर सकता

है। उसे शायद विदुर कभी इस योग्य लगे ही नहीं।··· मैं क्या करूँ प्रभा ! मेरी समझ में कुछ नहीं आता।"

"तू वही कर, जो तू कर सकता है।" माँ ने कटु स्वर में कहा।

"मैं क्या कर सकता हूँ माँ ?"

"तू क्या कर सकता है, मैं जानती हूं।" मां ने कहा, "तू अपनी माँ को युधिष्ठिर की माँ के ही समान किसी संवंधी के द्वार पर पड़ी रहने को वाध्य कर सकता है। तू अपनी पत्नी को द्रौपदी के ही समान सभा में सार्वजनिक रूप से अपमानित करवाने का प्रवंध कर सकता है।"

लगा, युयुत्सु की हताशा अकस्मात् ही विलुप्त हो गई और उसका तेज जाग्रत हो आया, "तो इस भय से मैं पाप और अधर्म का पक्ष लेकर धर्म की हत्या करने पर उतारू हो जाऊँ ?···" उसने अपनी मां की ओर देखा और दृढ़ स्वर में बोला, "तुमने तो माँ मेरा पक्ष और दृढ़ कर दिया। तुमने ही मुझे वताया कि हस्तिनापुर में जो दुर्योधन की आज्ञा के अधीन नहीं रहता, उसके साथ क्या व्यवहार किया जाता है। यहां भय का साम्राज्य है अथवा लोभ का।··· और माँ ! मैं न लोभ के अधीन लार टपका सकता हूँ, न भय से दुम हिला सकता हूँ।···"

"तो फिर क्या करेगा तू ?"

"क्या करूँगा, नहीं जानता; किंतु क्या नहीं करूँगा, वह बहुत स्पष्ट है मेरे मन में।" युयुत्सु का स्वर पर्याप्त दृढ़ हो आया था।

28

कुंती दिन भर प्रतीक्षा करती रहीं; किंतु कृष्ण का कोई संदेश नहीं आया। विदुर ने निश्चित् सूचना दी थी कि कर्ण को कृष्ण अपने रथ में अपने साथ लेकर तो गए थे; किंतु कुछ समय पश्चात् कर्ण अपने रथ पर हस्तिनापुर लौट आया था और अब हस्तिनापुर में ही था। विदुर से कुंती यह नहीं पूछ सकती थी कि कृष्ण ने कर्ण से क्या वातें कीं। उसे उसका रहस्य वता दिया था अथवा नहीं ?···

किंतु यदि कर्ण हस्तिनापुर में ही विद्यमान था, तो उसका अर्थ यह था कि वह दुर्योधन को छोड़कर पांडवों के पक्ष से लड़ने को तैयार नहीं था, अन्यथा उसे इस समय उपप्लव्य में, पांडवों के शिविर में होना चाहिए था। यदि उसने पांडवों के अनुकूल कोई भी निर्णय किया होता, तो कृष्ण उसकी सूचना अवश्य भिजवाता। किसी भी प्रकार की सूचना के अभाव में तो यही मानना होगा कि कर्ण ने दुर्योधन का साथ छोड़ना स्वीकार नहीं किया है।··· ऐसे में कुंती को उससे मिलना ही होगा। वह विना कोई प्रयत्न किए, विदुर के घर में वैठी-वैठी, अपने पुत्रों के परस्पर युद्ध और एक-दूसरे की हत्या के

समाचार नहीं सुन सकतीं।

सोने से पहले कुंती ने निर्णय कर लिया था कि वे प्रातः कर्ण से अवश्य भेंट करेंगी; फिर भी जाने क्यों सारी रात वे जैसे ऊहापोह के थपेड़ों से आंदोलित होती रहीं। किसी भयंकर अनिष्ट की आशंका से पीड़ित रहीं। नीद में भी इस प्रकार के स्वप्न देखती रहीं कि प्रातः जब वे घाट पर पहुँचती हैं, कर्ण स्नान कर, वहाँ से जा चुका होता है। ··· एक आध स्वप्न उन्होंने इस प्रकार का भी देखा कि कर्ण उन्हें वहाँ मिल तो जाता है, किंतु उसके साथ शकुनि और दुर्योधन भी हैं।··· कुंती उससे कहती हैं कि वे एकांत में उससे कुछ चर्चा करना चाहती हैं; किंतु वह हठ पकड़ लेता है कि शकुनि और दुर्योधन उसके इतने आत्मीय हैं कि उनसे उसका कुछ भी गोपनीय नहीं है। वह जो भी चर्चा करेगा, उनके सम्मुख ही करना चाहेगा।··· कुंती को देखकर दुर्योधन और शकुनि कुछ इस प्रकार हँसते हैं, जैसे द्यूतसभा में, वे द्रौपदी को अपमानित करते हुए हँसे थे··· और सहसा, कुंती, द्रौपदी में परिवर्तित हो जाती हैं। कुंती और द्रौपदी एक हो जाती हैं···और उधर कर्ण, शकुनि और दुर्योधन, एक-दूसरे में समा कर, एक ही व्यक्ति में ढल जाते हैं और उनका चेहरा धृतराष्ट्र का चेहरा बन जाता है।···

कुंती ने एक लंबा चीत्कार किया और उनकी नींद टूट गई। उन्हें लगा, वे स्वेद से नहायी हुई हैं और उनका हृदय इतने वेग से धड़क रहा है, जैसे वे कई योजन दौड़ कर आई हों···

उसके पश्चात् कुंती को नींद नहीं आई। कुछ देर तक वे करवटें बदलती रहीं और फिर उन्होंने सोने का प्रयत्न ही त्याग दिया। बिस्तर से उठ, कक्ष से बाहर आ कर देखा : आकाश पर तारे टिमटिमा रहे थे; किंतु पवन यह भी कह रहा था कि उषा के प्रकट होने में अब बहुत देर नहीं है।

स्वयं को उत्तरीय में पूर्णतः लपेटकर, कुंती बाहर निकल आई। यह तो अच्छा ही हुआ कि नींद जल्दी टूट गई, अन्यथा प्रकाश फैल जाता और गंगा-तट पर आवागमन बढ़ जाता। फिर वे किस-किस से छुपतीं और किस-किसको स्पष्टीकरण देतीं···

सामने से कोई आ रहा था। कुंती एक ओर हट गई और उस आनेवाले की ओर देखा : ऊँचा डील-डौल, लहराते हुए लंबे श्वेत केश और वैसी ही लंबी श्वेत श्मश्रु। वे गंभीर स्वर में मंत्र-जाप कर रहे थे।··· कुंती ने उस छँटते हुए अंधकार में भी पहचान लिया : ये पितामह भीष्म थे। वे स्नान कर लौट भी आए थे। कुंती ने सुना था कि भीष्म और कर्ण का कुछ ऐसा ही नियम बँधा था कि वे एक साथ घाट पर उपस्थित नहीं होते थे। वैसे भी पितामह सूर्योदय से पूर्व ही अपने भवन में पहुँच जाते थे; और कर्ण सूर्योपासना करके ही गंगा-तट छोड़ता था।··· भीष्म लौट रहे थे, इसका अर्थ था कि कर्ण के आने का समय हो रहा था।

घाट से कुछ पहले ही कुंती ने मार्ग छोड़ दिया और वृक्षों के एक झुरमुट के पीछे शांत भाव से खड़ी हो गई। वे जिस स्थान पर खड़ी थीं, वहाँ सहज ही किसी की दृष्टि

नहीं पड़ सकती थी। वैसे भी इस समय गंगा स्नान के लिए आनेवाले लोग प्रायः अपने ध्यान मे लीन होते थे। वे वृक्षों के पीछे छिपे लोगों की खोज नहीं करते थे।

कुंती को वहुत प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी : कर्ण अभी दूर ही था कि उसके आने का पता लग गया। वह ब्राह्मणों के एक झुंड में घिरा हुआ आ रहा था, जो 'महाराज' कर्ण और 'अंगराज' कर्ण का जयजयकार कर रहा था। ··· कुंती को लगा कि सहसा ही गंगा तट का वह सात्विक वातावरण किसी राजप्रासाद के गलियारे-सा राजसिक हो गया है। थोड़ी देर पहले तक वहाँ पूर्ण निःस्तव्धता थी और वीच-वीच में जो स्वर उठता भी था, वह गंगा अथवा महादेव शिव के जय-जयकार का होता था, अथवा कोई ऐसा मंत्र, कोई ऐसी ऋचा, जो गंगास्नान के ही समान पवित्र होती थी। ये सांसारिक जयघोप तो कर्ण के साथ ही आए थे।··· वे याचक ब्राह्मण इस मुहूर्त में, गंगातट पर आकर भी ईश्वर का स्मरण नहीं कर रहे थे, वे मनुष्य का जय-जयकार कर रहे थे।··· उनकी वाध्यता को कुंती समझ सकती थीं। उन्हें धन चाहिए था, और वह उन्हें कर्ण के माध्यम से ही प्राप्त होनेवाला था। वे तो उसी का जय-जयकार करेंगे। मनुष्य की दृष्टि इतनी सीमित है, वह इतनी कम दूरी तक देख सकता है कि उसे केवल प्रत्यक्ष लाभ ही दिखाई पड़ता है।··· वे लोग यदि एक-आध प्रहर ईश्वर का जय-जयकार करेंगे तो ईश्वर आकाश से दो-चार स्वर्ण मुद्राएँ तो टपका नहीं देगा; किंतु कर्ण का थोड़ा-सा जयघोष कदाचित् उन्हें कुछ स्वर्ण अथवा रजत की मुद्राएँ दिलवा देगा।··· पर ईश्वर क्यों विमुख करता है याचकों को ? क्यों नहीं वह भी कोई ऐसा ही नियम वना देता कि किसी एक निश्चित संख्या में उसका जय-जयकार करने पर वह एक स्वर्ण मुद्रा देगा। इससे लोगों में भक्ति-भावना की वृद्धि होगी···

और सहसा कुंती को हँसी आ गई··· वे संसार में ईश्वरीय विधान प्रचलित करने की वात नहीं सोच रहीं; वे तो ईश्वर को ही सांसारिक विधान ओढ़ा रही थीं। मनुष्य का मन अपना जय-जयकार सुनकर जितना पुलकित होता है, ईश्वर का मन नहीं होता होगा। ईश्वर में अहंकार नहीं है कि वह जय-जयकार सुन कर प्रसन्न हो जाए और स्वर्णमुद्राओं की वर्पा कर दे।··· वह मनुष्य के शब्दों को नहीं सुनता, उसके मन को देखता है। तृष्णाहीन सात्विक मन की सारी आवश्यकताएँ तो वह स्वयं ही पूरी कर देता है···

कुंती के मन में युधिष्ठिर का चित्र उभरा··· उसे न राज्य की इच्छा है, न जय-जयकार सुनने की तृष्णा। राजसभा के बाहर उसके आस-पास कितने ब्राह्मण होते हैं। ईश्वर, धर्म तथा भक्ति संवंधी कितनी चर्चा होती है, उसके सम्मुख।··· किंतु प्रशस्ति केवल ईश्वर की होती है, युधिष्ठिर की नहीं।··· कर्ण इस पवित्र गंगा स्नान और इस दान-दक्षिणा से क्या पाएगा ? दान तो वह होता है, जो एक हाथ दे तो दूसरे को उस

का आभास भी न हो। मन में उसका अहंकार तो आए ही नहीं। दुखी के प्रति संवेदना के कारण, अपना धन उसे देकर, मन एक सात्विक आनन्द का अनुभव करे। अपना जय-जयकार करवाकर धन देने से तो अहंकार में ही वृद्धि होगी; और अहंकार ही तो सारे कष्टों का, सारे दुखों का मूल है।

कुंती ने अपने चिंतन को जैसे बलात् रोका। …कर्ण उसका पुत्र है। पुत्र का यश सुनकर, उसका महत्व देखकर, माँ को प्रसन्न होना चाहिए… और वे हैं कि पुत्र के गुणों में भी दोष निकालने लगी हैं… युधिष्ठिर में सात्विकता है, और कुंती चाहती हैं कि उसके मन में रजोगुण की वृद्धि हो। कर्ण में राजसिकता है और वे चाहती हैं कि उसमें सात्विकता जागे।… युधिष्ठिर युद्ध करना नहीं चाहता और कुंती की इच्छा है कि वह युद्ध करे। कर्ण युद्ध के लिए आतुर है और कुंती चाहती हैं कि वह युद्ध न करे।

कुंती ने अपने सिर को झटका… वे ऐसा कुछ नहीं चाहतीं। उनकी तो एकमात्र इच्छा है कि युधिष्ठिर धर्म के लिए, अपने सम्मान के लिए, युद्ध करे और कर्ण अधर्म के पक्ष से न लड़े।… वे चाहती हैं कि नारीत्व का अपमान करनेवालों को कठोरतम दंड मिले। वे चाहती हैं कि युधिष्ठिर सम्राट् बनने के लिए चाहे न लड़े, किंतु द्रौपदी के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए अवश्य खड्ग उठाए।… वे तो इतना ही चाहती हैं कि उनके पुत्रों को उनका अधिकार मिले और वे परस्पर एक-दूसरे का वध करने के स्थान पर, मिलकर प्रेमपूर्वक रहें।…

उनका मन अपना ताना-बाना बुनता जा रहा था और उनकी आंखें कर्ण को निहार रही थीं।…कर्ण ने स्नान किया, सूर्य की उपासना की; और अब वह ब्राह्मणों को दान दे रहा था… कुंती को हँसी आ गई… जिनको दान दिया जा रहा था, वे दान की कामना में आए तो साथ थे; किंतु दान पाते ही विदा होते जा रहे थे। दान प्राप्त कर लेने के पश्चात्, दाता से उनका कोई रागात्मक संबंध नहीं रह जाता था। अब दाता के साथ वे याचक नहीं, दाता का अपना पुण्य मात्र था…

अब कर्ण एकदम अकेला था।… इसी क्षण की प्रतीक्षा थी कुंती को।… यदि वे संकोच कर गईं और कर्ण विदा हो गया, तो उनकी वही स्थिति होगी, जो वे कल रात अपने स्वप्नों में देखती रही हैं… या यह भी संभव है कि कर्ण से मिलने के लिए कोई और आ जाए और कुंती को उससे बात करने के लिए वांछित एकांत न मिले।…

कुंती वृक्षों के झुरमुट से निकलकर आगे बढ़ीं और कर्ण के सम्मुख आ गईं।

कर्ण ने आहट पाकर सिर उठाया। सामने खड़े व्यक्ति को वह पहचान नहीं सकता था।… एक तो मेघों के आ जाने के कारण सूर्य का प्रकाश अपनी पूर्ण क्षमता के साथ पृथ्वी पर पहुँच नहीं पा रहा था ; दूसरे उस व्यक्ति ने अपने उत्तरीय में स्वयं को पूर्णतः छिपा रखा था।…

"कौन है ?" कर्ण ने पूछा।

"एक याचक !" कुंती ने धीरे से कहा, "मुझे महाराज से एकांत में कुछ माँगना है।"

कर्ण को कुछ आश्चर्य हुआ। कंठ नारी का सा था; किंतु उसकी ऊँचाई पुरुष होने का सा भ्रम उत्पन्न कर रही थी।··· कौन है यह याचक ?··· किंतु एकांत में क्यों ? ···संभवतः कोई स्वाभिमानी व्यक्ति है, जिसके लिए दान लेने का निषेध हो, किंतु दान के बिना उस का कोई काम रुक रहा हो।···

"बोलो, क्या चाहिए ? यहाँ एकांत ही तो है।" कर्ण ने कहा।

"अभी एकांत है, किंतु किसी भी क्षण कोई आ सकता है। संभव है कि अपनी बात कहने में मुझे कुछ समय लग जाए।" कुंती ने कहा, "मुख्य मार्ग से हटकर यदि आप इधर वृक्षों के पीछे आ जाएँ।···"

कर्ण क्षण भर के लिए ठिठका।··· कल कृष्ण के निमंत्रण पर भी वह ठिठका था। कहीं कोई षड्यंत्र तो नहीं रचा जा रहा।···यद्यपि वह जानता था कि क्षत्रियों में अपने शत्रु को चुनौती देकर, सम्मुख युद्ध में मारने का प्रचलन है··· फिर भी स्वयं दुर्योधन ने भीम को विष खिला दिया था और लाक्षागृह में पांडवों को जलाकर मारने का प्रयत्न किया था।··· ऐसे में यह तो नहीं सोचा जा सकता था कि कोई दूसरा व्यक्ति इस प्रकार का षड्यंत्र नहीं कर सकता। संभवतः उन वृक्षों के पीछे किसी ने भृतक हत्यारे छिपा रखे हों और इस नारी कंठवाले पुरुष को, उसे बुलाने के लिए भेजा हो।

कर्ण ने अपनी सारी आशंकाओं को झटक दिया··· हस्तिनापुर में गंगा के निकट ···इस प्रकार के षड्यंत्र संभव नहीं हैं।··· और फिर आवश्यक होने पर निःशस्त्र कर्ण भी दस-बीस शस्त्रधारियों से अकेला भी भिड़ सकता है··· उन वृक्षों के पीछे कोई पूरी वाहिनी तो छिपी नहीं होगी।

कर्ण, कुंती के दिखाए मार्ग पर चला आया··· यह निभृत स्थान था।··· संभवतः घाट पर यहाँ का शब्द सुना तो जा सकता था, किंतु सहज ही देखा नहीं जा सकता था।···

"कौन हो तुम ?"

कुंती का उत्तरीय उनके सिर और चेहरे से हटता हुआ, कंधों पर आ गया।

"ओह आप !" कर्ण के मन में जैसे ज्वार उठा; किंतु उसे अपना संकल्प विस्मृत नहीं हुआ था।··· उसे तनिक भी कोमलता नहीं दिखानी थी। उसे तो कठोर बनना था··· क्रूरता की सीमा तक···

"मैं याचक बनकर आई हूँ अंगराज !" कुंती ने कहा, "इसलिए मुझे याचिका की पूर्वपीठिका स्पष्ट करनी होगी।"

कर्ण के मन में आया कि वह तत्काल वहाँ से चल दे। वह जानता था कि कुंती की याचना कृष्ण के आग्रह से भिन्न नहीं होगी। वह पुनः उसी द्वंद्व में पड़ना नहीं चाहता था।··· किंतु अपने सामने खड़ी इस नारी को, एक साधारण याचक मान झटक कर

वह जा भी तो नहीं सकता था।··· आज तक उसने जिस कुंती को देखा था, वह पांडवों की माता थी, उसके शत्रुओं की माता।··· आज जो कुंती उसके सम्मुख खड़ी थी, वह उसकी अपनी जननी थी।··· उसने कुंती को अगणित बार देखा था; किंतु अपनी जननी को तो वह पहली ही बार देख रहा था।···

कर्ण मौन खड़ा था। कुंती उसके बोलने की प्रतीक्षा दीर्घकाल तक नहीं कर सकती थीं। बोलीं, "राधेय ! तुम्हारा पालन-पोषण अधिरथ के घर में हुआ है ; किंतु क्या तुम जानते हो कि तुम्हारी जननी मैं हूँ ? तुमने मेरी कुक्षि से जन्म लिया है पुत्र !"

कुंती कल्पना कर रही थीं कि यह सूचना पाते ही वह दौड़कर आतुरतापूर्वक उनसे लिपट जाएगा और कदाचित् कुछ रोष जताते हुए यह भी कहेगा कि आज तक उससे यह संबंध छिपाया क्यों गया था।··· या फिर संभव है कि वह क्रुद्ध होकर फट पड़े कि जब वे जानती थीं कि वह उनका पुत्र है और उनके इतने निकट है, तो उन्होंने उसे इतना तड़पाया क्यों ?

किंतु कर्ण मौन ही नहीं, निस्पंद खड़ा उन्हें देखता रहा।

कुंती अवाक् रह गईं : वे अब ऐसा क्या कहतीं, जिससे उत्तेजित होकर, कर्ण कुछ बोल पड़ता—पक्ष में, विपक्ष में; प्रसन्नता में, क्रोध में। ब्रह्मास्त्र तो वे पहले ही छोड़ चुकी थीं। अब छोटे-मोटे शस्त्रास्त्रों का क्या काम ?··· जब कर्ण पर्याप्त समय तक कुछ नहीं बोला, तो कुंती ही पुनः बोलीं, "तुम कुछ बोलते क्यों नहीं पुत्र ? क्या तुम्हारे लिए यह सूचना कोई अर्थ नहीं रखती। क्या तुम अपनी खोई हुई माता और भाइयों को पाकर प्रसन्न नहीं हो ?"

"यह सब कुछ कृष्ण मुझे पहले ही बता चुके हैं।" कर्ण सर्वथा ऊष्मारहित स्वर में बोला, "किंतु मैं सोचता हूँ कि जो सूचना आप सबने वर्षों तक मुझसे छुपाए रखी, अब अकस्मात् ही वह इस प्रकार क्यों उद्‌घाटित की जा रही है ?" उसने रुककर कुंती की ओर देखा, "क्या महत्त्व है, इस सूचना का मेरे लिए ? इससे मुझे यह ज्ञात नहीं हुआ कि मेरे माता-पिता कौन हैं। इससे मुझे ज्ञात हुआ कि मेरी इस दुर्दशा के लिए उत्तरदायी कौन हैं। कौन है वह, जिसने अपने मिथ्या सामाजिक सम्मान के लिए एक नवजात शिशु के सुख-सुविधा, कीर्ति-यश की बात तो जाने दीजिए, उसके जीवन की भी चिंता नहीं की। बहा दिया उसे नदी की धारा में, डूबने के लिए, मरने के लिए। आज मुझे यह ज्ञात नहीं हुआ कि मुझे जन्म किसने दिया, मुझे यह ज्ञात हुआ कि मेरी हत्या का प्रयत्न किसने किया।"

इस बार कुंती की प्रतिक्रिया, कर्ण की अपेक्षा के सर्वथा प्रतिकूल हुई। उसने सोचा था कि कुंती लज्जित होंगी, उनकी वाणी लड़खड़ा जाएगी, उन्हें शब्द नहीं मिलेंगे, संभव है कि नयनों से अश्रु टपकने लगें। कदाचित् वे पश्चात्ताप प्रकट करें। संभवतः क्षमा माँगें··· किंतु कुंती का चेहरा तो क्षोभ के मारे कठोर ही नहीं, कुछ प्रदीप्त भी हो उठा, "तो खड्ग निकालो। कर दो मेरा वध। प्रतिशोध नहीं लोगे ? वैसे भी तुम्हारी तो

हत्यारिणी हूँ मैं। माता तो मैं उनकी हूँ, जिन्हें आजीवन पीड़ित, अपमानित और वंचित करना, तुम्हारे अस्तित्व का एकमात्र लक्ष्य रहा है। मेरा वध कर दोगे, तो उन्हें पीड़ा भी होगी, वे वंचित भी होंगे और स्वयं को अपमानित भी अनुभव करेंगे। उस से तुम्हें अपार हर्ष होगा। तुम्हारे मित्रों को स्वर्गिक आनन्द मिलेगा।"

"मेरी शूरवीरता एक असहाय वृद्धा की हत्या कर गौरवान्वित नहीं होगी।..." कर्ण का मन वहाँ से तत्काल चल देना चाहता था, बिना किसी चर्चा और संवाद के; किंतु उसके पग धरती में जैसे कीलित हो गए थे। कुंती की पूरी बात सुने बिना, उन की भर्त्सना कर, उन्हें अनुत्तरित किए बिना चले जाने में क्या सुख था।

"तुम्हारी शूरवीरता तो केवल एक असहाय युवती को सार्वजनिक रूप से निर्वस्त्र कर गौरवान्वित होती है न !" कुंती की आँखों में से जैसे कोई हिंस्र जीव झाँक रहा था, "अपनी वीरता का अधिक बखान मत करो। तुम नहीं जानते थे कि मैं तुम्हारी जननी हूँ; किंतु मैं जानती थी कि मैंने तुम्हें जन्म दिया है... और अपने पुत्र की वीरता देख-देख कर, एकांत में सिर पटक-पटककर वर्षों रोती रही हूँ मैं।..."

कर्ण की आँखें आश्चर्य से फैलकर कुछ और बड़ी हो गईं। इस माता को अपने पुत्र... कर्ण जैसे पुत्र...की वीरता पर गर्व नहीं है ? वह अपने पुत्र के कृत्यों से पीड़ित होती रही है ?... कर्ण की आँखों में दमित आक्रोश प्रकट हुआ... ये लोग आज तक उसका तिरस्कार किसी और पद्धति से करते रहे थे। आज इस नई पद्धति का आविष्कार किया है इन्होंने।

"वह मेरा प्रतिशोध था।" कर्ण का स्वर पूर्णतः आश्वस्त था, "उसने अपने स्वयंवर में मुझे सूतपुत्र कहा था।"

"वह तो यही जानती थी कि तुम अधिरथ के पुत्र हो; तो वह तुम्हें ऋषिपुत्र कैसे कह देती।" कुंती के स्वर में झंझावात का सा वेग था, "महाराज धृतराष्ट्र जब संजय को 'सूतपुत्र' कहते हैं, तो संजय उनके परिवार की स्त्रियों को अपमानित करने पर उतारू नहीं हो जाता।"

"धृतराष्ट्र संजय का सम्मान करते हैं; किंतु उसने मेरा अपमान करने के लिए वह सब कहा था। यदि वह मेरा अपमान न करती तो मैं उसका अनादर क्यों करता ?" कर्ण की वाणी का बल क्षीण हो रहा था, "अन्यथा मैं स्त्रियों का बहुत सम्मान करता हूँ।"

"प्रतिशोध ही लेना था तो वीर पुरुषों के समान लेते। निकाल लेते खड्ग और उसके रक्षकों का सम्मुख युद्ध में वध कर, उसका हरण कर लाते।" कुंती बोली, "यह प्रतिशोध है तुम्हारा। राजसभा में बुलाकर, उसके वीर पतियों को धर्म के बंधन में बाँध, एक असहाय स्त्री के नारीत्व से प्रतिशोध...।" कुंती की दृष्टि कर्ण पर लक्ष-लक्ष धिक्कारों की वर्षा कर रही थी, "और जानती हूँ, कितना सम्मान करते हो तुम स्त्री का। जो स्त्री तुम्हारे विरुद्ध कहे, तुम्हारी कामनापूर्ति में विघ्न बने, उसे तुम वेश्या कह

कर पुकारते हो। उसे सार्वजनिक रूप से निर्वस्त्र कर, उसकी पीड़ा से आनंदित होते हो, उसके अपमान से गौरवान्वित होते हो।" कुंती के स्वर में जैसे कोई तरल तप्त धातु वह रही थी, "अपने अपमान का दुःख है तुमको··· जो अपमान तुम लोगों ने पांचाली का किया है, जो अपमान तुम लोगों ने पांडवों का किया है··· द्यूतसभा में उनके वस्त्र उतरवा लिए और उन महावीरों के सम्मुख उनकी पत्नी को 'वेश्या' कहकर, उसे नग्न करने का प्रयत्न किया, उसे रति-निमंत्रण दिया।··· उसे दूसरा पति चुन लेने को कहा··· उस अपमान से बड़ा अपमान किया था पांचाली ने तुम्हारा ?···तुम्हारे उस नीच कर्म को देखकर भी क्या प्रतिक्रिया थी पांडवों की ? उन्होंने युद्ध की प्रतिज्ञा की, धर्म की प्रतिज्ञा की और चुपचाप चले गए उठकर। यदि वे भी धर्म को भूलकर, अपने अपमान का प्रतिशोध लेने को तत्पर होते, अपने शस्त्र उठा लेते, तो देखती मैं तुम लोगों की वीरता।··· और तुम्हें यह भी सूचित कर दूँ, महावीर ! कि उसने तुम्हारा अपमान नहीं किया था, केवल तुमसे विवाह करने की अनिच्छा प्रकट की थी। यदि यह अपमान था तो तुम जानते ही होगे कि प्रत्येक स्वयंवर में नारी, सम्मान तो केवल एक ही पुरुष का करती है, शेष सवका तो अपमान ही होता है।"

"यदि पांचाली मुझसे विवाह नहीं करना चाहती थी, तो यही कहती। उसने जाति की वात क्यों कही ?" कर्ण का दमित आक्रोश फिर से उफन आया था; किंतु उस की वाणी में विश्वास का वल नहीं था।

"इसलिए कि वह यह नहीं कह सकती थी कि वह उस आततायी से विवाह नहीं करेगी, जो निर्दोष लोगों को उनकी निद्रावस्था में जलाकर मार डालने का षड्यंत्र करता है, करवाता है; और ऐसे षड्यंत्र करनेवालों का साथ देता है।"

"उस कांड के लिए मुझसे वड़ा दोषी दुर्योधन है। पांचाली ने उसे क्यों नहीं रोका ?" कर्ण कुछ और विफरकर बोला, "क्यों नहीं लगाया उस पर आरोप ? मेरी ही जाति··· ।"

"चुप रहो तुम !" कुंती ने उसे डाँटा, जैसे माँ अपने नन्हे वच्चे को डाँटती है, "तुम आज तक यही करते आए हो। केवल अपनी रट लगाए रहते हो, दूसरे की सुनते नहीं। अपना ही पक्ष जानते हो, दूसरे का पक्ष जानना नहीं चाहते।··· आज तुम पहले मेरी वात सुनो।"

कर्ण सहम गया। आज तक उसे इतनी ममता से किसी ने नहीं डाँटा था। वह चाहे कुंती को माता का सम्मान देने को प्रस्तुत नहीं था; किंतु यह सत्य था कि वे उसकी जननी हैं। इसीलिए कुंती ने उसे इस प्रकार डाँटने का साहस किया था।··· कर्ण उन्हें अपनी माँ माने या न माने, वे तो उसे अपना पुत्र मानती ही हैं।··· मानती क्या हैं, वह उनका पुत्र है।···

"सुन रहा हूँ मैं।" इस वार कर्ण का स्वर कुछ दवा हुआ था।

"दुर्योधन को रोकने की कोई आवश्यकता नहीं थी पांचाली को।" कुंती वोली,

"उसमें सामर्थ्य ही नहीं था कि वह स्वयंवर की प्रतिज्ञा पूरी कर सकता। इसलिए उस का स्वयंवर में सम्मिलित हो, असफल रह अपमानित होना अधिक वड़ा दंड था। तुम्हारे सफल होने की कुछ संभावना थी, इसी भय के कारण उसने तुम्हें रोक दिया।" कुंती ने रुककर उसकी ओर देखा, "और सूत एक व्यवसाय है, जाति नहीं। अपने व्यवसाय से संवंधित होने पर वही अपमान का अनुभव करता है, जो स्वयं उसे हीन मानता है। तुम सूत के व्यवसाय को हीन मानते हो; अधिरथ और संजय, ऐसा नहीं मानते। तुम राधेय कहलाने में आज अपमान का अनुभव नहीं करते; कल यदि तुम्हारे मन में, यह भाव उठे कि राधा एक साधारण स्त्री है, हीन स्त्री है, तुम्हारी माता होने के योग्य नहीं है, तो तुम राधेय पुकारे जाने पर भी अपमान का अनुभव करोगे···।"

कर्ण को कोई उत्तर नहीं सूझा।··· सत्य ही कह रही हैं कुंती।··· आहत तो उसका अहंकार होता था··· अन्यथा धनुर्धर के रूप में अर्जुन की श्रेष्ठता की चर्चा सुनकर, वह क्यों तड़प उठता था।··· अधिरथ के परिवार में पलने और वढ़ने के वाद भी 'सूतपुत्र' सुनते ही, उसके तन-वदन में आग क्यों लग जाती थी।··· उसका मन कभी इस प्रकार स्वयं से तटस्थ होकर, अपने ऊपर अभियोग लगाने, अथवा लगाए गए अभियोग पर विचार करने को तैयार नहीं हुआ था··· पर आज··· कर्ण को लगा कि उसके अहंकार का कोई कगार टूटकर गिर गया था। मन कैसा तो विगलित-सा हो गया था। वह अपने अधरों में ही फुसफुसाया, "आप अव तक कहाँ थीं देवि ! मुझे समझाने पहले क्यों नहीं आई ?"

"देवी क्यों कहता है, हत्यारिणी कह।" कुंती के तेवर वैसे ही वक्र थे; किंतु उनका स्वर कुछ भीग आया था, "तू अपनी व्यथा की वात कहता है पुत्र ! कभी उस कुंती की व्यथा पर भी विचार कर।··· वहुत छोटी थी, जब मेरे जनक शूरसेन ने मुझे अपने पितृष्वसीय कुंतिभोज को दे दिया था। पिता कुंतिभोज के घर में क्या अवस्था रही होगी मेरी, सोच ! दुर्वासा जैसे औघड़ और क्रोधी ऋषि को प्रसन्न रखने का दायित्व सौंपा गया था मुझे।··· पिता का आदेश ! उनके सम्मान की रक्षा !···दुर्वासा को मैं किसी भी प्रकार अप्रसन्न नहीं होने दे सकती थी। उनके रोप को रोकना था, जैसे भी हो··· यह उनकी ही मंत्रणा थी कि तेरा जन्म हुआ।··· यह कैसे संभव था पुत्र ! कि मेरे जैसी अवोध वालिका मात्र, उस प्रासाद में रहते हुए, अपने पिता से अपना गर्भ छिपा लेती, उनके अज्ञान में ही यह प्रसव हो जाता और अपने नवजात शिशु को मरने के लिए मैं अश्व नदी के जल में प्रवाहित कर आती ?··· पर इसमें तेरा भी क्या दोप। तुझे तो राधा और अधिरथ ने यही बताया होगा कि तू उन्हें गंगा की धारा में वहता हुआ मिला।··· मेरे पिता कुंतिभोज ने उन्हें यही कहने को कहा होगा।"

कर्ण चौंका, "तो क्या उन्होंने मुझे गंगा की धारा में नहीं पाया ?"

कुंती के अधरों पर एक मंद मुस्कान आ बैठी, "कभी उस सारे भूगोल पर दृष्टि डाली होती, तो तुझे इस कथा के सत्य का ज्ञान हो गया होता।"

कर्ण ने कुछ नहीं कहा। मौन अधरों और अपेक्षापूर्ण नयनों से कुंती की ओर देखता रहा।

"भोजपुर से अश्व नदी में बहाई गई एक मंजूषा, सुरक्षित बहती हुई आकर चर्मणवती में बहने लगती है। चर्मणवती उसे बहाकर यमुना में ले जाती है। यमुना उसे प्रयाग में गंगा को सौंपती है; और चंपानगरी में अधिरथ उसे गंगा की धारा में से निकालता है। वह एक साधारण मंजूषा थी अथवा चतुर और दक्ष नाविकों द्वारा चालित कोई सैनिक अथवा व्यापारिक बेड़ा, जो सहस्रों योजन तैरता हुआ, सुरक्षित चंपानगरी तक जा पहुँचा ?" कुंती ने कर्ण की ओर देखा, "तुमने कभी इस कथा का बौद्धिक विश्लेषण किया होता, तो स्वयं ही समझ जाते कि यह संभव नहीं है, यह मात्र एक कथा है··· ।"

"क्यों ? संभव क्यों नहीं है ?" कर्ण ने क्षीण से स्वर में प्रतिवाद किया, "ईश्वर की इच्छा हो तो कुछ भी संभव हो सकता है।"

"न मैं ईश्वर से विवाद करती हूँ, न उसकी इच्छा का विरोध।" कुंती बोलीं, "किंतु ईश्वर की बनाई इस प्रकृति के भी कुछ नियम हैं। सहस्रों योजन की यात्रा में किसी लहर ने उस मंजूषा को नहीं डुबोया, कहीं जल उसमें प्रविष्ट नहीं हुआ, किसी महामत्स्य अथवा ग्राह ने उस पर आक्रमण नहीं किया, कोई डोंगी, कोई नौका अथवा जलपोत उसके मार्ग में नहीं आया, किसी भँवर ने उस मंजूषा को नहीं घेरा, उस नवजात शिशु को इतने दीर्घ काल तक न भूख ने पीड़ित किया, न प्यास ने। वह तो जैसे अमृत पी कर सोया हुआ था।··· सहस्रों योजनों की उस यात्रा में, मार्ग में किसी और मनुष्य ने उस मंजूषा को नहीं देखा, किसी ने उसे नहीं रोका··· । वह सीधी अधिरथ के पास जा पहुँची, जैसे उस पर अधिरथ का नाम और पता लिखा हुआ था।"

"मैंने कहा न कि यह ईश्वर की इच्छा थी।" कर्ण कुछ रोषपूर्वक बोला, "वह मेरे जीवन की रक्षा करना चाहता था।"

"जब अपने जीवन की रक्षा को तू ईश्वरीय विधान मानकर संतुष्ट है, तो जननी द्वारा अपने त्याग और अधिरथ सूत के घर पालन-पोषण को भी ईश्वरीय विधान क्यों नहीं मानता ? उसके लिए तू अपनी माँ से क्यों रुष्ट है ?" कुंती की दृष्टि जैसे कर्ण के हृदय के आर-पार देख रही थी, "पर तू वह क्यों मानेगा, जिसमें किसी दूसरे को अपना अपराधी घोषित कर, उसे दंडित न कर सके। वैसे भी तुझे अभ्यास हो गया है, स्वयं को एक दिव्य पुरुष मानने का। तू सूर्यपुत्र है। अलौकिक रूप पाया है तूने। मंजूषा में रख तुझे जल में प्रवाहित किया गया और ईश्वर अपने हाथों से मंजूषा को खेकर, अधिरथ के पास ले गए, और आदेश दिया, 'इसका पालन-पोषण करो। यह दिव्य संतान है। बड़े होकर बहुत सारे असाधारण कार्य करने हैं इसे। कुलवधुओं का अपमान करना है··· माता को हत्यारिणी घोषित करना है··· भाइयों का वध करने की प्रतिज्ञा करनी है इसे।'···पर वे तेरी मंजूषा मेरे पास क्यों लाते। मैं तो हत्यारिणी हूँ। मुझ हत्यारिणी

की गोद में, तुझ जैसा एक दिव्य पुरुप कैसे पलता।"

कर्ण सिर झुकाए चुपचाप खड़ा रहा। कुछ क्षणों के पश्चात् उसने दृष्टि उठाई, "तो सत्य क्या है माता ?"

कुंती चौंकी··· कर्ण ने उसे माता कहकर संबोधित किया था।··· इसका कुछ तो अर्थ होगा··· उसका मन कहीं तो थोड़ा पिघला होगा···

"सत्य यह है पुत्र ! कि मेरे पिता महाराज कुंतिभोज, न अपनी पुत्री की कानीन संतान को समाज के सम्मुख स्वीकार करना चाहते थे, न उसकी हत्या का पाप अपने सिर लेना चाहते थे। इसलिए किन्हीं सूत्रों से संतानहीन राधा और अधिरथ से संपर्क कर, तुम्हें उन्हें सौंप वे संतुप्ट हो गए। मैं तव इस सिथति में नहीं थी कि उनके मन को जान पाती, अथवा उनके द्वारा की गई सारी व्यवस्था की जानकारी प्राप्त करने में सफल हो पाती। मैं तो वस इतना ही जान पाई कि तुझे हस्तिनापुर के किसी अधिरथ सूत को सौंपा गया है।···" कुंती वोलीं, "पिता चाहते थे कि मैं तुम्हें भूल जाऊॅं; पर मैं तुझे कैसे भूल सकती थी। मैंने अपने स्वयंवर में हस्तिनापुर के युवराज का वरण किया, ताकि हस्तिनापुर आ सकूँ। यहाँ रह सकूँ। तुझे खोज सकूँ। जानती थी कि हस्तिनापुर की साम्राज्ञी होकर भी तुझे पुनः प्राप्त नहीं कर सकती। तुझे न तो मेरा पितृकुल स्वीकार करेगा, न श्वसुरकुल।··· किंतु मन चाहता था कि तुझे देख सकूँ···। दूर से ही सही, पर निहार सकूँ।··· तुझे गोद में न भी ले सकूँ, तो तेरे सम्मुख तो वैठ सकूँ।··· तेरे मुख से अपने लिए 'माता' संवोधन न भी सुन सकूँ, तो तुझे 'पुत्र' कह कर तो पुकार सकूँ।" कुंती का स्वर रुँध गया। वे आगे वोल नहीं सकीं।

कर्ण का प्रतिरोध जैसे पिघलने लगा था। वह आकर कुंती के सम्मुख खड़ा हो गया। उसने अपनी तर्जनी से कुंती के अश्रु पोंछे, "पर ऐसा क्यों हुआ माता ? कुंतिभोज मुझे स्वीकार क्यों नहीं कर सकते ? पराशर ने कृष्णद्वैपायन व्यास को स्वीकार किया था कि नहीं ?"

"पराशर ऋषि थे। ऋषि प्रत्येक जन्म को दिव्य मानता है। दुर्वासा भी यही मानते थे।" कुंती वोलीं, "किंतु कुंतिभोज राजा हैं। राजपरिवारों में कानीन पुत्रों को मान्यता नहीं मिलती पुत्र ! शांतनु ने कृष्णद्वैपायन व्यास को अपना पुत्र स्वीकार नहीं किया। सत्यवती भी मेरे ही समान अपने पति तथा श्वसुरकुल को अपनी कानीन संतान की सूचना नहीं दे सकीं। वे अपने हाथों उसका पालन-पोषण नहीं कर सकीं। महाराज शांतनु की मृत्यु के पश्चात् व्यास समर्थ ऋषि हो कर, इस वंश की सहायता के लिए ही हस्तिनापुर के राजप्रासाद में प्रवेश पा सके। यदि महाराज शांतनु ने दीर्घायु पाई होती, अथवा कुरुवंश संतानहीनता के संकट में नहीं पड़ा होता, तो शायद माता सत्यवती भी महर्पि को राजप्रासाद में बुलाने का साहस न कर पातीं।···"

"पर यदि ऋषि स्वीकार करते हैं, तो राजवंशों को इसमें क्या आपत्ति है ?" धर्म के नियामक तो ऋषि ही हैं।"

"तुम नहीं जानते क्या ?" कुंती वितृष्णा से मुस्कराई, "ऋषि का चिंतन समाजहित से प्रेरित होता है और राजवंश का स्वार्थ से । ऋषि के पास देने के लिए केवल ज्ञान है, जो कि वह किसी भी योग्य पात्र को दे सकता है। एक को दे देने से उसका ज्ञान चुक नहीं जाता, कि दूसरे को उत्तराधिकार में कुछ दे न सके।··· राजा के पास राज्य है, जिसे वह अपनी मृत्यु के पश्चात् भी अपनी संतान के माध्यम से अपने ही पास रखना चाहता है। यदि कानीन पुत्र को पुत्र मान लिया जाए, तो वह सारे पुत्रों में ज्येष्ठ होगा। राजा को अपनी औरस संतान के होते हुए भी अपना राज्य अपने कानीन पुत्र को ही देना पड़ेगा··· हाँ ! औरस पुत्र का जन्म न हो तो राजा क्षेत्रज अथवा दत्तक पुत्र को स्वीकार करता है; किंतु कानीन पुत्र को वह तव भी मान्यता नहीं देता।"

सहसा कर्ण चौंका··· वह समाजशास्त्र पर चर्चा करने के लिए तो यहाँ नहीं रुका था। आज उसके सम्मुख वह स्त्री खड़ी थी, जिसे वह आज तक अपने शत्रुओं की माता मानता आया था; और आज वह कह रही है कि वह उसकी जननी है··· आज तक जिससे घृणा करता रहा था, आज वह बता रही है कि उसे उससे कितना प्यार करना चाहिए था।··· कर्ण अपने मन की दृढ़वद्ध धारणाएँ नहीं मिटा सकता था। उसके मन के विरोध, उपालंभ और कष्ट–इस एक सूचना से धुल तो नहीं गए थे।··· वह इस स्त्री को माँ का सम्मान कैसे दे सकता था ? किंतु वह अपने मन को उसके चरणों में लोटने से रोक भी कैसे सकता था। उसके मस्तिष्क में निरंतर विस्फोट हो रहे थे, "जन्म के समय कुछ नहीं कर सकीं, तो वाद में हस्तिनापुर आकर क्यों नहीं खोजा मुझे ?"

"खोजना तो वहुत चाहा तुझे।" कुंती वोलीं, "किंतु क्या कहकर खोजती तुझे ? मैं तो वस एक नाम जानती थी कि तू अधिरथ के घर में है।··· किंतु अधिरथ कौन है ? कहाँ है ? तेरा नाम क्या है ?"

"क्यों, तुम किसी से भी पूछकर अधिरथ के घर आ सकती थीं। मुझे बता सकती थीं।" कर्ण का आक्रोश जैसे चुक ही नहीं रहा था। कुंती के तर्कों से वह सागर की लहरों के समान पीछे हट जाता था; और थोड़ी देर में दूसरी लहर के रूप में पुनः लौट आता था।

कुंती अपने क्षोभ के मध्य भी हँसीं, "यदि इस प्रकार पूछ-पड़ताल कर, मैं अधिरथ के घर पहुँचकर, तुझे गोद में उठाकर कहती, 'पुत्र ! मैं तेरी जननी हूँ।' तो उस रहस्य की रक्षा कैसे होती, जिसके लिए तुझे स्वयं से पृथक् करना पड़ा था ? अपने पितृकुल और श्वसुरकुल के सम्मान की रक्षा कैसे करती मैं ?" कुंती कुछ रुकीं, किंतु उन्होंने कर्ण को वोलने का अवसर नहीं दिया, "मैंने तुझे तव जाना, जब तू रंगशाला में अर्जुन से भिड़ चुका था और अधिरथ ने आकर, तुझे पुत्र के रूप में संवोधित किया था।···"

"तो तभी वता देतीं तो कौन-सा आकाश गिर पड़ता ?"

"आकाश गिरने के लिए नहीं वना पुत्र ! इसलिए वह तो नहीं गिरता, न ही गिरा; किंतु मेरे मन-मंदिर में बने अनेक स्वर्णिम प्रासाद गिर गए। मेरी आशाएँ ध्वस्त हो गई।

मेरी इच्छाएं जलकर क्षार हो गई।" कुंती वोलीं, "तव तक तू दुर्योधन का परम मित्र वन चुका था। उस दुर्योधन का, जिसने भीम को विप खिलाकर, अचेतावस्था में उसे बाँधकर, नागों से दंशित करवाने के लिए गंगा की धारा में डाल दिया था··· तव तक तू अर्जुन का शत्रु वन चुका था··· तू आचार्य द्रोण से रुप्ट हो चुका था।··· भगवान परशुराम से झूठ वोलकर पड्यंत्रपूर्वक, उनकी विद्या चुराने का अपराधी वन चुका था।"

"क्यों ? मुझे द्रोण से विद्या सीखने का अधिकार क्यों नहीं था ? क्योंकि मैं सूतपुत्र था ?···" कर्ण विपाक्त वाणी में वोला, "कितना अपमानित हुआ हूँ मैं। कितना··· ।"

"मैं आचार्य का पक्ष नहीं लेती। उसकी कोई वाध्यता नहीं है मेरे लिए; किंतु विद्या का दान तो गुरु की इच्छा से ही मिलता है, उनकी सेवा कर। हम किसी के कंठ पर अपना चरण धर कर, उससे वलात् विद्या नहीं सीख सकते···। विद्या दस्युवृत्ति से नहीं मिलती पुत्र ! सेवावृत्ति से मिलती है।"

"किंतु मैं सुपात्र था।" कर्ण बोला, "क्षत्रियों का ऐसा कौन-सा गुण है, जो किसी और में है और मुझमें नहीं है ?"

"कौन कहेगा कि एकलव्य सुपात्र नहीं था। तू अपनी तुलना एकलव्य से कर।" कुंती वोलीं, "गुरु ने उसका तिरस्कार किया, तो उसने हठ नहीं की। नीचता पर नहीं उतरा वह। किसी से झगड़ा नहीं किया। मनुष्य की धातु उसके असफलता के क्षणों में ही पहचानी जाती है।··· एकलव्य किसी और गुरु के पास नहीं गया। आचार्य को ही अपना गुरु माना और साधना की। जिस गुरु ने उसका तिरस्कार किया था, उसी को उसने गुरुदक्षिणा दी।··· मैं नहीं कहती कि आचार्य ने उचित किया। यह भी नहीं कहती कि प्रत्येक व्यक्ति को एकलव्य का सा आचरण करना चाहिए··· केवल तुझे बता रही हूँ कि तेरे साथ कोई अत्याचार नहीं हुआ। कोई ऐसा अन्याय अथवा अधर्म नहीं हुआ कि तू पांडवों के प्राणों का ग्राहक हो गया। आज तक तू उनका शत्रु बना हुआ है और उनका वध करने को प्रयत्नशील है।"

"तो पांडवों ने कौन-सा मेरे साथ उचित व्यवहार किया।" कर्ण कटु स्वर में वोला, "भीम और अर्जुन ने क्या कहनी-अनकहनी नहीं कही मुझे। वे मेरे प्राणों के ग्राहक नहीं हैं क्या ?"

"कितनी वार उन्होंने तेरे प्राण लेने का प्रयत्न किया ? कितनी बार उन्होंने तेरी हत्या का षड्यंत्र रचा ? कितनी बार उन्होंने सेना लेकर तेरे वध का अभियान किया ?" कुंती का तेजस्वी स्वर गूँजा, "तेरा तिरस्कार आचार्य ने किया और तू अर्जुन का शत्रु हो गया, क्योंकि वह आचार्य को प्रिय था। तू क्या समझता है कि तू अर्जुन का वध कर देगा तो आचार्य तुझसे प्रेम करने लगेंगे ? अर्जुन उनका सर्वाधिक प्रिय शिष्य है, फिर भी उन्होंने अश्वत्थामा को उससे अधिक शिक्षा दी है। तू उससे ईर्ष्या क्यों नहीं करता ? उसके वध के लिए षड्यंत्र क्यों नहीं रचता ?"

"पांडवों से तो मेरी शत्रुता इसलिए है, क्योंकि वे मेरे मित्र दुर्योधन के शत्रु हैं।" कर्ण बोला।

"पांडव दुर्योधन के शत्रु नहीं हैं। दुर्योधन पांडवों का शत्रु है। दुर्योधन ने उनके प्राण लेने के प्रयत्न किए, उसने उनका राज्य छीना, उन्हें अपमानित किया और उस की प्रतिक्रिया में पांडवों ने क्या किया ?" कुंती का स्वर जैसे उसके वक्ष को चीरता हुआ निकल रहा था, "आज भी युधिष्ठिर पांच ग्राम लेकर संधि के लिए तत्पर बैठा है। वह आज भी दुर्योधन को अपना भाई मानता है। उसके मन में आज भी दुर्योधन के लिए घृणा नहीं है।"

"और भीम ?"

"भीम ने अवश्य प्रतिज्ञाएँ की हैं ; किंतु वह भी धर्मराज की आज्ञा से वाहर नहीं है।"

उन दोनों के मध्य एक सन्नाटा सा छा गया। कर्ण कुछ कह नहीं रहा था; किंतु उसका मन कुंती से सहमत नहीं हो पा रहा था। उसे मौन देखकर कुंती ही वोलीं, "अव जव तू सब कुछ जान ही गया है तो अपनी वृद्धा माँ को सहारा दे, अपने भाइयों की भुजा थाम, छोड़ दे अपनी यह तामसिक हठ। कुरुवंश को उसके संपूर्ण नाश से बचा।"

"यह संभव नहीं है माँ ! मैं दुर्योधन को नहीं छोड़ सकता।" कर्ण वोला, "मेरा मन अब भी यही कहता है कि हस्तिनापुर में सब ने मेरी महत्वाकांक्षाओं का दमन किया, मेरा तिरस्कार किया। वस एक दुर्योधन ही था, जिसने अपनी मित्रता निभाई। मुझे मान दिया, सम्मान दिया, धन दिया, पद दिया···। मैं उससे विश्वासघात नहीं कर सकता।"

कुंती ने कुछ नहीं कहा।

"क्यों ? तुम सहमत नहीं हो माँ !"

"नहीं ।" कुंती का स्वर कठोर था, "तेरी महत्वाकांक्षाएँ अपने स्थान पर ठीक थीं; किंतु यदि किसी की महत्वाकांक्षा पूरी न हो, तो उसे यह अधिकार नहीं है कि वह अधर्म पर उतर आए, वह दस्यु वन जाए, अथवा दस्युओं के दल में सम्मिलित हो जाए।··· युधिष्ठिर जानता था कि धृतराष्ट्र उसे लूट रहे हैं, फिर भी उसने पिता की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया। वह जानता था कि उसके साथ छल हो रहा है, फिर भी वह अपने वचन से पीछे नहीं हटा। तेरी महत्वाकांक्षा क्या है ? दुर्योधन जैसे पापी के चरण धो-धो कर पीना ? इस आकांक्षा में कौन-सी महानता है ? हाँ ! अपने महत्त्व की आकांक्षा है।··· महत्वाकांक्षा तो युधिष्ठिर की है, जो इस सारे राज्य को त्याग कर केवल तपस्या करना चाहता है। वह राज्य नहीं चाहता, धर्म चाहता है, सत्य चाहता है, ईश्वर चाहता है। महत्वाकांक्षा तो अर्जुन की है, जो तपस्या के वरदान सी मिली उर्वशी को त्याग आया। पांडवों को अधर्म नहीं चाहिए। अधर्म के माध्यम से कोई सुख-सुविधा नहीं चाहिए।···"

"युधिष्ठिर की बात तो मैं फिर भी कुछ-कुछ समझता हूँ।" कर्ण ने कुंती की

बात काट दी, "किंतु मेरे सम्मुख अर्जुन का वखान मत करो। क्या है अर्जुन ? एक साधारण-सा निस्पृह प्राणी··· क्या महानता है उसमें ? उस केंचुए में ?···"

"मेरी वात सुन !" लगा, कुंती किसी अलौकिक शक्ति से आविष्ट हो गई थीं, "जिस पांचाली ने तुझे स्वयंवर में भाग लेने से रोक दिया और तू इतनी क्षुद्रता पर उतर आया कि नारी का ऐसा अपमान करने लगा, उस पांचाली को जय करके लाया था अर्जुन ! मेरे एक संकेत पर उसने पांचाली धर्मराज को सौंप दी। तनिक-सा मोह नहीं किया उसने। स्वयंवर में उसने जिसे स्वयं जीता था, उस पांचाली को भाई के साथ एकांत में देख लेने मात्र के अपराध में वारह वर्षों तक इंद्रप्रस्थ से वाहर भटकता रहा वह। हिमालय पर वैठ वर्षों तपस्या कर पशुपतास्त्र पाया उसने। किसी गुरु से झूठ वोल, पाखंड कर, धनुर्विद्या पाने का प्रयत्न नहीं किया।" कुंती ने आगे वढ़, उसके हनु के नीचे अपनी तर्जनी रख, उसका मुख ऊपर उठाया, "ऐसा क्या असाधारण है तुझ में कि स्वयं को इतना महान् मानता है तू ? असाधारण गिनता है स्वयं को ? दिव्य पुरुष समझने लगा है स्वयं को। उषा-सी सुनहली त्वचा पाकर मनुष्य महान् नहीं हो जाता। मनुष्य महान् होता है अपने आचरण से, अपने कर्मो से ।··· धर्म, अधर्म की पहचान नहीं है तुझको। एक पापी से महत्त्व मिला तो उसी का हो गया। उसे मित्र कहता है तू ? जानता है, दुर्योधन की मैत्री क्या है ? तेरी आत्मा का हनन। मित्र वह होता है जो मित्र का हित साधता है, उसे धर्म के मार्ग पर ले चलता है, उसकी आत्मा का उन्नयन करता है। तेरे मित्र तेरे साथ क्या कर रहे हैं ? या तू उनके साथ मिलकर क्या कर रहा है—राक्षसी कृत्य। नारकीय योजनाएँ। कहाँ जाकर रुकेगी तेरी आत्मा ? ···रसातल में ? एक पांडवों का मित्र है कृष्ण··· ।"

"ठहरो माँ !" कर्ण का क्षुब्ध स्वर सुनाई दिया, "मैं समझता हूँ कृष्ण और दुर्योधन का अंतर। मुझे भी कृष्ण मिले होते··· ।"

"कृष्ण मिला है, इसलिए पांडव धर्म पर नहीं चल रहे।" कुंती के तीव्र स्वर ने उसकी बात काट दी, "पांडव धर्म पर चल रहे हैं, इसलिए कृष्ण उनका मित्र वना। कृष्ण को धर्म चाहिए। तुझे केवल मैत्री चाहिए। मैत्री चाहे हत्यारों की हो, पापियों की हो, आततायियों की हो।"

"कैसी माँ हो तुम, जिसे अपने महावीर पुत्र में कोई गुण दिखाई नहीं देता।" कर्ण की सारी कोमलता लुप्त हो गई थी और उसका स्वर वहुत कठोर हो गया था, "मुझमें कोई गुण नहीं है, तो मुझे खोजती हुई यहाँ तक क्यों आई हो देवि !"

उसके इस परिवर्तन से कुंती सर्वथा अप्रभावित रहीं। उतनी ही कठोरता से वे भी वोलीं, "भाइयों को एक-दूसरे का रक्त वहाने से रोकना चाहती हूँ। अपने पाँच पुत्रों की जीवन-रक्षा की इच्छा से आई हूँ।··· अपने छठे पुत्र को अपनी आत्मा के हनन से रोकना चाहती हूँ।··· किंतु तेरा अहंकार कुछ गले तव न ! तेरी हृदय-शिला में अपने भाइयों के लिए स्नेह का कोई उत्स फूटे··· ।"

"मुझमें कोई गुण तो देखो मां !" कुंती की फटकार से कर्ण का मन जैसे रो पड़ा, उसकी भंगिमा अनुनय करने की सी हो गई, "कब से प्रयत्न कर रहा हूँ कि मेरे भी किसी गुण को मान्यता मिले। जिसने निर्गुण ब्रह्म को नहीं पहचाना, उसकी शालिगराम की भक्ति को भी सराहा जाता है। मैंने जिन्हें भाइयों के रूप में जाना ही नहीं, उनके लिए स्नेह कहाँ से लाऊँ। हाँ ! जिसे मित्र माना है, जिसे अपने शैशव से प्रेम और सम्मान की दृष्टि से देखा है, उसके प्रति अब कठोर नहीं हो सकता।··· जीवन में और कोई उदार कर्म किया हो या न किया हो, किंतु अपनी मैत्री का निर्वाह तो कर रहा हूँ। धर्म के प्रति न सही, किंतु मित्र के प्रति तो निष्ठा में कोई कमी नहीं है।···"

कुंती हँसीं, जैसे साक्षात् कटुता ही आकर उनके अधरों पर विराजमान हो गई हो, "कितने गर्व से कह रहा है, पाप के प्रति तो निष्ठा है मुझमें। अच्छा होता कि यह निष्ठा तुझमें न होती।···"

कर्ण मौन खड़ा कुंती को देखता रहा : उसके पास कुंती की बात का कोई उत्तर नहीं था। ठीक कह रही थी माँ। कर्ण में निष्ठा तो थी, किंतु दुर्योधन के प्रति, क्योंकि उसने कर्ण की प्रशंसा की, उसका सम्मान किया, उसे अपना मित्र माना··· तो उस की निष्ठा उसके अपने प्रति थी।··· यदि दुर्योधन भी उसका वह मान-सम्मान न करता तो ?···

"तुम जो कुछ भी कहो, माँ ! किंतु अब मैं दुर्योधन को नहीं छोड़ सकता।" कर्ण बोला, "श्रीकृष्ण ने जब से मुझे तुम्हारे विषय में बताया है, तब से ही मेरे मन ने बहुत चिंतन-मनन किया है; किंतु मुझे और कोई मार्ग नहीं मिला है। मैं पांडवों की-सी वृत्ति अंगीकार नहीं कर सकता। यदि मैं उनके ज्येष्ठ सहोदर के रूप में उनके साथ खड़ा हो गया, तो न मैं युधिष्ठिर के मार्ग पर चल पाऊँगा, न वे अपना मार्ग त्याग मेरे साथ चल पाएँगे। युधिष्ठिर अपना सिंहासन मुझे दे देगा; और मैं उसे दुर्योधन के चरणों में अर्पित कर दूँगा। पांडवों को क्या मिलेगा माँ ! मुझे अग्रज के रूप में प्राप्त कर ? जो राज्य वे दुर्योधन से लड़ कर, उसे जय कर प्राप्त कर सकते हैं—वह भी उनसे छिन जाएगा। वे सर्वथा कंगाल हो जाएँगे। मुझे अग्रज के रूप में पाकर वे कुछ नहीं पाएँगे माँ !"

कुंती मौन रह गई : कर्ण ठीक कह रहा था।··· यह जानकर कि कर्ण उस से ज्येष्ठ है, युधिष्ठिर कभी सिंहासन पर नहीं बैठेगा··· और कर्ण, वह राज्य दुर्योधन को दे ही देगा। उसकी आत्मा दासी है दुर्योधन की। कुंती इसलिए तो कर्ण को मनाने नहीं आई थीं कि पांडवों की राज्य-प्राप्ति की सारी संभावनाएँ ही समाप्त हो जाएँ और कर्ण के ही समान, ये पाँचों भी, उस अधर्मी दुर्योधन के दास हो जाएँ।···

"तू उस अधर्मी दुर्योधन का संग छोड़ दे पुत्र ! अपने भाइयों के पास लौट आ।" कुंती धीरे से बोलीं, "तुझे मित्र ही चाहिए तो कृष्ण से मैत्री कर।"

"अब यह संभव नहीं है माँ ! यह सत्य है कि लता का जन्म भूमि से होता है;

किंतु जिस वृक्ष से लिपटकर वह आकाश की ओर उठती है, यदि उस वृक्ष से उसे पृथक् करोगी, तो वह लता छिन्न-भिन्न तो होगी ही, जीवित भी नहीं रह पाएगी।" कर्ण बोला, "यह जानकर भी कि तुम मेरी जननी हो, जैसे मैं अपनी माता राधा को त्याग नहीं सकता, वैसे ही यह जानकर भी कि युधिष्ठिर मेरा सहोदर है, मैं दुर्योधन को त्याग नहीं सकता।"

कर्ण की आँखों में कुंती उसकी असहायता को पढ़ रही थीं।

"पुत्र, तू पांडवों के पक्ष में नहीं आना चाहता, तो मत आ।" कुंती बोलीं, "किंतु दुर्योधन का पक्ष तो त्याग दे। मैं नहीं चाहती कि मेरी ही संतान, परस्पर युद्ध कर, एक-दूसरे का रक्त बहाए।"

"तुम बहुत देर से आई हो माँ !" कर्ण ने कुंती की ओर पीठ कर ली थी, "मेरे मन में बहुत कटुता थी ! तुम्हारे लिए। माँ के वात्सल्य का अमृत जो नहीं पाया था। वंश का चाहे कोई महत्त्व न हो, जाति चाहे जन्म से नहीं कर्म और आचरण से निर्धारित होती हो; किंतु मैंने उसी के कारण बहुत विष पीया है। मेरा रक्त उससे बहुत विषाक्त हुआ है।··· अब शायद तुम्हारे स्नेह का अमृत मेरे दग्ध हृदय को कुछ शांति दे, मेरे आचरण में परिवर्तन आए; किंतु क्षत्रिय होकर मैं युद्ध से पीछे नहीं हट सकता। यदि मेरा और अर्जुन का युद्ध न हुआ, तो हम दोनों ही क्षत्रिय समाज में कलंकित होंगे कि युद्ध से पलायन के लिए हम दोनों ने इस संबंध की कल्पना कर ली है।" कर्ण ने रुक कर कुंती की ओर देखा, "सत्य कहूँ तो इस युद्ध के लिए दुर्योधन भी उतना उत्सुक नहीं था, जितना मैं था। इस युद्ध का सूत्रधार मैं ही हूँ माँ ! मेरे ही भरोसे दुर्योधन ने इस युद्ध को आमंत्रित किया है। अब यदि मैं ही युद्ध से पलायन कर गया, तो मैं कौन सा पुण्य कमाऊँगा माँ ! अब तक बहुत से पाप किए हैं मैंने किंतु युद्ध का त्याग उन सबसे बड़ा पाप होगा।"

"तो ठीक है। युद्ध में अपने सहोदरों का वध करने का पुण्य कमा।" कुंती का स्वर पर्याप्त प्रखर हो गया, "अपनी मैत्री के प्रमाण में अपने सहोदरों के शव दुर्योधन को भेंट कर। सहोदरों के रक्त से अपनी मित्रता की लता को सींच।··· इस धरती पर से धर्म का बिरवा उखाड़ फेंक और अधर्म के वृक्ष की छाया में सदा के लिए बैठा रह। पुण्य-सलिला को पाट दे और पाप के सागर में निमग्न हो जा।"

"नहीं माँ ! अब यह नहीं होगा। अपने संचित कर्मों के प्रभाव से मैं मुक्त नहीं हो सकता। कर्म-बंधनों को मैं काट नहीं सकता; किंतु कोई नया कुकर्म नहीं करूंगा।" कर्ण के नेत्रों में आकाश की सी स्वच्छता थी। उसके मुखमंडल पर सात्विक तेज था, "तेरे वात्सल्य का अमृत, मेरे रक्त के विष का कुछ निराकरण तो करेगा ही।··· मैं पिछले दो दिनों में बहुत बदल गया हूँ माँ ! वह परिवर्तन तुम्हें मेरे आचरण में भी दिखाई देगा।"

कुंती एकटक अपने उस पुत्र को देख रही थीं, जो इस समय सचमुच ही कुछ

दिव्य हो आया था।

"मैं दुर्योधन को त्याग नहीं सकता माँ ! मैंने अर्जुन के वध की प्रतिज्ञा की है। मैं अपनी प्रतिज्ञा से स्खलित नहीं हो सकता।" उसने कुंती की आँखों में देखा, "किंतु एक वचन तुम्हें भी देता हूँ। मैं शेप चार पांडवों का वध नहीं करूँगा। वे मेरे हाथ में आ भी गए, तो उन्हें जीवित छोड़ दूँगा। उन्हें जीवन का दान दूँगा।"

कुंती समझ नहीं पाई कि वे प्रसन्न थीं अथवा अप्रसन्न। यह उनकी कोई उपलब्धि थी अथवा पूर्ण पराजय···

"तो मैं केवल चार पांडवों की माता रह जाऊंगी ?"

"नहीं माँ ! तू पाँच पुत्रों की माता रहेगी। यदि मैं अर्जुन के हाथों मारा गया तो तू पांच पांडवों की माता रहेगी और यदि विधि ने अर्जुन की अल्पायु लिखी है··· यदि युद्ध में उसे मेरे हाथों वीरगति प्राप्त हुई, तो भी तेरे पांच ही पुत्र जीवित रहेंगे।···" कर्ण ने कुंती के चरण स्पर्श किए और अपने अश्रु छिपाता हुआ, आगे बढ़ गया।

कुंती ने भी अपने अश्रु पोंछ लिए।··· समझ गई उसे उसका पुत्र मिल गया था।··· चार पांडवों ने भी अपना ज्येष्ठ पा लिया था··· बस, नहीं मिला तो अर्जुन को कोई नहीं मिला।··· कर्ण ने चाहे साम्राज्य की तृष्णा जय कर ली हो, किंतु अर्जुन के प्रति अपनी ईर्ष्या से वह पराजित ही हुआ था।··· वह न अपने अहंकार को पहचान पा रहा था, न अपनी ईर्ष्या को। वह उन सबको दुर्योधन के प्रति निष्ठा का नाम दे कर स्वयं को गौरवान्वित करना चाहता था, किंतु यह नहीं जानता था कि मोह और अहंकार को सुंदर शब्दों का आवरण दे भी दिया जाए, तो उनका स्वरूप बदल नहीं जाता।···

और इस पर तो वह विचार ही नहीं करना चाहता कि यदि कुंती का भाग्य, दुर्भाग्य में परिवर्तित हो गया। अर्जुन का वध कर्ण के हाथों हुआ और अन्य पांडव दुर्योधन के अन्य सहायकों के हाथों मारे गए तो कर्ण कहाँ खड़ा दिखाई देगा··· क्योंकि दुर्योधन को तो वह तब भी नहीं छोड़ पाएगा···

29

बड़ी देर के पश्चात् दुर्योधन ने अपना सिर उठाकर अपने मित्रों की ओर देखा, "मेरी तो समझ में नहीं आता कि यह कृष्ण क्या करता है।"

"क्या करता है।" शकुनि बोला, "अपनी तंत्रविद्या का प्रयोग करता है और सब को मूर्ख बनाता है। है कुछ भी नहीं, बस नेत्रों का भ्रम है। वह हम लोगों की दृष्टि बांध देता है।"

कर्ण की प्रतिक्रिया जानने के लिए दुर्योधन ने उसकी ओर देखा। कर्ण गंभीर

ही नहीं पर्याप्त अनमना-सा भी लग रहा था। न उसने दुर्योधन की ओर देखा, न उस की अपेक्षा को पूरा किया। दुर्योधन ने ही पूछा, "तुम्हारा क्या विचार है मित्र !"

कर्ण वार्तालाप में सम्मिलित होने को कोई विशेष इच्छुक नहीं लगा। फिर भी बोला, "मुझे तो यह सारा जीवन ही तंत्र-विद्या का खेल लगने लगा है। कहीं कोई किसी की दृष्टि बाँध देता है और कहीं कोई किसी की दृष्टि खोल देता है। और श्रीकृष्ण जिस दक्षता से इस खेल को खेलते हैं, वह तो अद्वितीय है।"

"लगता है अंगराज की भी दृष्टि खुल गई है ?" दुःशासन ने कहा, "कृष्ण को श्रीकृष्ण कह रहे हैं। किसी खेल की भी चर्चा है। यह कैसा खेल है भाई ?"

"क्या कहूँ।" कर्ण अब भी अन्यमनस्क था, "कुछ कह नहीं सकता। अब तो यह सोचने लगा हूं कि दृष्टि खुलना कहते किसको हैं।"

"इसे तो व्यास या शुकदेव के पास भेज दो।" शकुनि बोला, "आज इसमें कोई आश्रमवासिनी आत्मा समा गई है।"

कुछ क्षणों तक दुर्योधन उसे तीक्ष्ण दृष्टि से देखता रहा और फिर बोला, "नहीं ! हस्तिनापुर की सबसे सुंदर मधुबाला को कहो, कर्ण को आज छककर गंधार की सर्वश्रेष्ठ माधवी पिलाए। इसकी आँखें तभी खुलेंगी। मुझे लगता है कि आजकल इस का अपनी रानियों से कुछ अधिक ही झगड़ा हो रहा है।"

"मुझे तो लगता है कि आजकल मेरा अपने-आपसे ही झगड़ा चल रहा है।" कर्ण उठकर खड़ा हो गया, "अभी चलता हूँ। मन शांत होगा तो आ जाऊँगा।"

"अरे तुम तो रुष्ट ही हो गए।" दुर्योधन ने उसका हाथ पकड़ लिया, "बैठो। तुमने शायद नहीं सुना। मुझे पितामह ने क्या कहा है। इस बार तो उन्होंने मेरी भी दृष्टि पूर्णतः खोल दी है। उन्होंने बताया कि उनका सारा जीवन केवल दो लक्ष्यों से प्रेरित रहा है। एक तो कुरुकुल का उच्छेद न हो और दूसरे, उसके यश का निरंतर विस्तार होता रहे। वे चाहते हैं कि मैं भी इन दो लक्ष्यों को सिद्ध करने में उनका साथ दूँ। वे यह मानते हैं कि हस्तिनापुर के राजा पांडु थे, धृतराष्ट्र नहीं। इसलिए पांडु के पुत्र ही अपने पिता की संपत्ति के उत्तराधिकारी हैं। इसलिए मुझे कलह नहीं करनी चाहिए और चुपचाप आधा राज्य पांडवों को दे देना चाहिए।…"

"तो इसमें नई बात क्या है। वे तो सदा ही तुम्हारी आँखें खोलने का प्रयत्न करते रहे हैं। अब तुम ही न खोलो तो वे क्या कर सकते हैं।" शकुनि बोला।

"नया यह है कि उन्होंने मुझे सारा राज्य पांडवों को देने को नहीं कहा।" दुर्योधन हँसा, "यदि राज्य पांडु का था और अब उसके उत्तराधिकारी पांडव ही हैं तो फिर ये लोग सारा राज्य युधिष्ठिर को दिए जाने की बात क्यों नहीं कहते ? वृद्ध भीष्म की बात सुनकर महाराज ने भी मुझसे कहा कि ज्येष्ठ पुत्र यदि अहंकारी हो तो उसे राज्य की प्राप्ति नहीं होती। उन्होंने मुझे बताया कि देवापि और बाह्लीक दोनों ही शांतनु से बड़े थे, किंतु अनेक कारणों से राज्य उनको न मिलकर शांतनु को मिला। उसी प्रकार

पिताजी भी अंगहीन थे, इसलिए राज्य उनको नहीं दिया गया, उनसे छोटे पांडु को दिया गया। अतः अब पांडु के पश्चात् राज्य के उत्तराधिकारी उसके पुत्र हैं। पिताजी तो राज्य के अधिकारी थे ही नहीं, तो फिर उनका पुत्र हो कर मैं स्वयं को राज्य का उत्तराधिकारी कैसे समझता हूँ। जो राजा का पुत्र नहीं है, वह उसके राज्य का अधिकारी कैसे हो सकता है। अतः मैं पराए धन का अपहरण करना चाहता हूँ। युधिष्ठिर राजा का बेटा है, इसलिए न्यायतः प्राप्त हुए राज्य पर उसी का अधिकार है। अतः मैं सारा नहीं तो आधा राज्य पांडवों को दे दूँ। अन्यथा मैं अपने साथ-साथ अपने छोटे भाइयों की मृत्यु का कारण बनूँगा।…"

सबने चौंक कर दुर्योधन की ओर देखा : उसके पिता और राजा ने उसे स्पष्ट शब्दों में आदेश दे दिया था, तो फिर वह क्या करेगा ?

"क्या हो गया है महाराज को ?" शकुनि जैसे अपने आप से पूछ रहा था।

"कुछ नहीं !" दुर्योधन बोला, "डर गए हैं। पांडवों की शक्ति के वर्णन से डर गए हैं। कृष्ण के जादू-टोने से डर गए हैं। सारा जीवन, उन्होंने विलास का सेवन किया है। राजसिंहासन पर बैठे हैं और आदेश दिए हैं। न युद्ध किया है, न रक्त बहाया है। भोग किया है किंतु कभी उसका मूल्य नहीं चुकाया है उन्होंने। इसलिए अब भयभीत हैं। उन्हें लगता है कि उनके सारे पुत्र मारे जाएँगे और यह राज्य भी उनसे छिन जाएगा। कौन जाने उनके अंतिम दिन कारागार में कटें, उग्रसेन के समान। यदि युद्ध न हो तो कम से कम वे राजसिंहासन पर तो बैठे रहेंगे।…यदि मन में इतना ही सत्य और धर्म होता और वे सच्चे मन से मान रहे होते कि राज्य पांडु का है तो क्यों अब तक बैठे हुए थे उस सिंहासन पर ? क्यों पांडवों को वन भेज रखा था। बैठा देते उन्हें सिंहासन पर और स्वयं उनके स्थान पर वन चले जाते। अपना सारा जीवन तो सिंहासन पर बैठ कर व्यतीत किया, अब मेरी बारी आई है तो उन्हें स्मरण हो आया है कि राज्य पांडु का था।"

शकुनि को लगा कि दुर्योधन सर्वथा सत्य कह रहा है। नहीं तो गांधारी वह सब कहती दुर्योधन से। शकुनि ने स्वयं उसे कहते सुना था कि वस्तुतः हस्तिनापुर का राज्य पांडु का ही था और उसी के पुत्र उसके उत्तराधिकारी हो सकते थे। उसने तो यहाँ तक कह दिया था कि पूर्वजों के जीवित रहते और किसी का राज्य पर अधिकार ही कैसे हो सकता है। भीष्म के जीवित होते हुए, सिंहासन पर धृतराष्ट्र का ही कोई अधिकार नहीं है तो भीष्म, धृतराष्ट्र, विदुर और युधिष्ठिर के जीवित रहते हुए, दुर्योधन कैसे हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बैठने की कल्पना कर सकता है।…

हाँ ! गांधारी भी डर गई थी।… शकुनि सोच रहा था… अपनी मृत्यु से नहीं। अपने पुत्रों की मृत्यु से। पुत्र-मोह में भी कितनी शक्ति है। शकुनि ने तो अपना सारा जीवन हस्तिनापुर में व्यतीत कर दिया था कि किसी प्रकार कुरुवंश समूल नष्ट हो और वह अपना प्रतिशोध ले सके। …और उसकी बहन आज उसी कुरुवंश को जीवित रखने

के लिए हस्तिनापुर का सिंहासन भी छोड़ना चाहती है। पुत्रों से बहुत मोह हो गया है उसको। कुरुवंश को अपना वंश मानने लगी है। भूल गई गांधारों के अपमान को।...

"तो दुर्योधन ! अब करना क्या है ?" शकुनि ने पूछा।

"करना क्या है। बघारने दो धर्म इन सबको। हमारी सेना प्रस्तुत है। युद्धक्षेत्र की ओर प्रयाण करो।" दुर्योधन बोला, "मेरा तो विचार है कि पांडवों को उपप्लव्य से चलने ही नहीं देना चाहिए। हमें उनके चलने से पहले ही उपप्लव्य पर आक्रमण कर देना चाहिए।"

"नहीं !" कर्ण बोला, "राजा दुर्योधन ! तुम भूल रहे हो कि तुम पांडवों पर आक्रमण नहीं कर रहे, पांडवों के आक्रमण का प्रतिकार कर रहे हो।"

"वैसे उपप्लव्य पर आक्रमण करने में भी क्या हर्ज है।" दुर्योधन बोला, "पर नहीं ! हमारे कुलवृद्ध व्यर्थ ही दुखी होंगे..."

"वह तो है ही, उसके अतिरिक्त, उपप्लव्य में पांडव कुछ सामरिक लाभ में रहेंगे। हमें हस्तिनापुर दूर पड़ जाएगा। पीछे से सहायता और भोजन सामग्री इत्यादि ले जाने में कठिनाई होगी, जबकि वे विराट और पंचाल दोनों के ही निकट पड़ेंगे।"

"तो ठीक है पांडव उपप्लव्य से चलेंगे, तो उन्हें हस्तिनापुर तक नहीं आने देना है। उन्हें मार्ग में ही कहीं रोक लेना है। कहाँ उचित होगा कर्ण ?" दुर्योधन बोला।

"कुरुक्षेत्र। उन्हें उससे आगे मत आने दो। हस्तिनापुर के द्वार पर युद्ध क्यों हो ?" कर्ण ने कहा, "वैसे भी वहाँ सेनाओं के रुकने के लिए पर्याप्त स्थान और सुविधा है। स्कंधावार निर्माण के लिए उपयुक्त भूमि है, सैनिकों के लिए जल उपलब्ध है। सुरक्षित अस्थायी दुर्गों का निर्माण हो सकता है। पांडव यदि कुरुक्षेत्र से आगे बढ़ आए तो फिर उन्हें हस्तिनापुर तक पहुँचने से नहीं रोका जा सकता।"

"ठीक है। उपयुक्त स्थान है।" दुर्योधन बोला, "दुःशासन सारे राजाओं को सूचित करो कि वे अपनी सेनाओं के साथ कुरुक्षेत्र पहुँचें। स्कंधावार निर्माण के सामान और कर्मकरों के प्रस्थान का भी आज ही प्रबंध कर दो।"

"वह तो हो जाएगा।" दुःशासन बोला, "पर अपने प्रधान सेनापति के विषय में भी कुछ निश्चय किया है ? किसका अभिषेक करेंगे, इस पद पर ?"

दुर्योधन थोड़ी देर मौन रहा। फिर बोला, "मैं जिस पर विश्वास करता हूँ, उसे सेनापति बना दूँ तो भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा के विषय में सोचना पड़ेगा कि वे क्या करेंगे। भीष्म यह युद्ध ही नहीं चाहते। सहस्रों बार समझाया कि द्रुपद की सेनाएँ कुरुओं पर आक्रमण कर रही हैं, पर उनकी बुद्धि में कुछ समाए तब न। मुझे लगता है कि इन वृद्धों की बुद्धि मूढ़ता की स्थिति तक पहुंच गई है।..."

"और द्रोण ?" दुःशासन ने पूछा।

"कहाँ तो मैं समझ रहा था कि द्रोण द्रुपद से लड़ने को आतुर होंगे और कहाँ वे मुझे उपदेश दे रहे थे कि पांडु ने यह राज्य धृतराष्ट्र और विदुर को धरोहर के रूप

में सौंपा था। सत्यप्रतिज्ञ विदुर तो कोष को सँभालने, दान देने, भृत्य वर्ग की देख-भाल करने तथा सब के भरण-पोषण के कार्य में संलग्न रहे और भीष्म संधि-विग्रह के कार्य में व्यस्त हो, राजाओं से सेवा और कर प्राप्त करते रहे। इसलिए उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया कि कैसे धृतराष्ट्र ने राज्य पर आधिपत्य जमा लिया और अब तुम उसके उत्तराधिकारी बन बैठे हो। मैं तुमसे आजीविका नहीं पाना चाहता हूँ। मैं भीष्म का दिया हुआ पाना चाहता हूँ, तुम्हारा दिया नहीं। जहाँ भीष्म है, वहीं द्रोण है। इसलिए भीष्म जो कहते हैं, उसी का पालन करो।…"

"तो द्रोण को सेनापति बनाना भी सुरक्षित नहीं है।" शकुनि बोला।

"वह पांडवों से जा मिलेगा।" दुःशासन बोला, "अर्जुन उसका प्रिय शिष्य है।"

दुर्योधन मुस्कराया, "वहाँ उस आचार्य के स्वागत के लिए द्रुपद, धृष्टद्युम्न और शिखंडी बैठे हैं। जाते ही द्रोण का ऐसा स्वागत होगा कि… अर्जुन कितना भी प्रिय शिष्य हो आचार्य का, किंतु पांडव अब सृंजयों को नहीं छोड़ सकते। तुमने देखा नहीं, अभिमन्यु के विवाह में उन्होंने न भीष्म को आमंत्रित किया न द्रोण को। वह विवाह करवाने वाले द्रुपद ही थे। जाएँ द्रोण उस द्रुपद के पास। चरणों पर गिर भी पड़ें तो वह नहीं छोड़ेगा। केशों से पकड़ एक ही वार में रुंड और मुंड को पृथक् कर देगा।…" दुर्योधन ने रुककर अपने मित्रों की ओर देखा, "ये हमें उपदेश देते हैं, अपने विषय में नहीं सोचते। अपने-अपने पापों के कारण इनके भी हाथ-पाँव बँधे हैं। मैं जानता हूँ कि उनके पास भी कोई विकल्प नहीं है, किंतु मैं उन लोगों को रुष्ट नहीं करना चाहता, क्योंकि यदि कोई लड़ना नहीं चाहेगा तो वह तीर्थाटन के बहाने से चल देगा। वन में तपस्या करने बैठ जाएगा।"

"और कोई जाए तो जाए, किंतु द्रोण अब वन में नहीं रह सकते।" शकुनि बोला, "उन्हें तो राजाश्रय चाहिए ही।"

"ठीक है।" दुर्योधन बोला, "मैं उनकी बात नहीं मानूँगा। पांडवों को राज्य नहीं दूँगा, पर इससे आगे बढ़कर उन दोनों वृद्धों को रुष्ट नहीं करूँगा। जहाँ तक संभव है, प्रयत्न करूँगा कि वे युद्ध करें और हमारे पक्ष से करें। उसके लिए कुछ विनम्र होना पड़े तो वह भी कर लूँगा। पितामह को मनाना आवश्यक है। द्रोण तो वहीं होंगे, जहाँ भीष्म हैं। दुर्वासा को भी तो मनाया ही था। सोच लूंगा कि एक बार फिर से वही व्यायाम कर रहा हूँ।"

"पर अंगराज कर्ण को क्या हुआ है ?" दुःशासन बोला, "कहीं ये प्रधान सेनापति न बनाए जाने के कारण तो रुष्ट नहीं हैं ?"

"नहीं !" कर्ण ने हँसने का प्रयत्न किया, "मैं तो अभी कृष्ण में ही उलझा हूँ। उन्होंने क्या किया कि हस्तिनापुर के सारे कुलवृद्ध एक ही वाणी बोलने लगे और सब ने युवराज को राज्य पांडवों को दे देने का उपदेश दे दिया।… तुम्हें नहीं लगता कि कृष्ण का वह प्रचंड रूप देखकर कोई भी डर सकता है। वस्तुतः उन्होंने सारे हस्तिनापुर

को डरा दिया है।"

"मैं तो नहीं डरा।" दुर्योधन निर्भीक स्वर में बोला, "यदि मैं डर गया होता तो मैं उसे बंदी करने की बात कैसे सोचता ?"

"तुम डरे नहीं, क्योंकि तुम अचेत हो गए थे। तुमने देखा ही नहीं कि कृष्ण का क्रोध कैसा था।"

"अरे, एक मनुष्य का क्रोध हो ही कैसा सकता है।" दुर्योधन बोला, "भीम से अधिक भयंकर था क्या वह ?"

"हाँ युवराज !" दुःशासन बोला, "भीम क्रुद्ध होता है तो लगता है कि एक व्यक्ति क्रुद्ध हुआ है, कृष्ण क्रुद्ध होता है तो लगता है कि प्रकृति ही क्रुद्ध हो गई है। भीम का क्रोध आँखें देखती हैं और शरीर डरता है, कृष्ण का क्रोध तो मन देखता है और आत्मा डर जाती है।"

"यह भी किसी आश्रम में जाने की तैयारी में है।" दुर्योधन हँसा, "युद्ध में कृष्ण को सामने देखकर भाग तो नहीं जाओगे ?"

"उसके हाथ में सुदर्शन देख लूँ तो कदाचित् भाग ही जाऊँ।" दुःशासन के चेहरे पर सचमुच त्रास था, "पर उसने तो युद्ध में शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा की है न ! इसलिए पलायन की कोई संभावना नहीं है।"

"अच्छा अब तुम जाओ और सेनाओं के प्रस्थान का प्रबंध करो।" दुर्योधन बोला, "तुम ठहरो अंगराज !"

दुर्योधन का अभिप्राय समझकर दुःशासन और शकुनि उठकर चले गए।

"कहो, क्या हुआ है।" दुर्योधन ने उसकी ओर देखा।

"होना क्या है।" कर्ण हँसा, "जीवन में न जाने कब किसकी आँख खुल जाए और उस की समझ में आए कि उसने जब अपने जीवन की दिशा निश्चित की थी, तब वह कितना अज्ञानी था। पर जीवन जी चुकने के पश्चात् न तो अपनी की जा चुकी यात्रा में संशोधन किया जा सकता है, न उसे फिर से आरंभ किया जा सकता है।..."

दुर्योधन उसकी ओर देखता रहा और सोचता रहा। ...क्या यह अपनी पत्नी से इतना दुखी है कि सोच रहा है कि उससे विवाह ही न किया होता तो यह अधिक सुखी रहता ? यही जीवन पुनः एक बार जीने को मिले और फिर से विवाह करने का अवसर आए तो यह वृषाली से विवाह नहीं करेगा ? संभव है, यह झगड़ा वृषाली से न हो, किसी और पत्नी अथवा उपपत्नी से हो।... पर वह इस चिंता को छोड़ क्यों नहीं देता ? जो पत्नी अधिक प्रिय हो, उसके साथ समय बिताए। जो अप्रिय लगने लगी हो, उससे दूर रहे। न जाए उसके पास। कोई भी प्रिय न लगती हो तो और विवाह कर ले। पत्नियों से न पटती हो तो गणिकाएँ हैं, रक्षिताएँ हैं, दासियाँ हैं। इसमें इस प्रकार मेढ़क का सा चेहरा बनाए रखने की क्या आवश्यकता है...

"तुम अपनी पत्नियों की चिंता छोड़कर युद्ध के विषय में क्यों नहीं सोचते ? पत्नियों का महत्त्व मैं समझता हूँ, किंतु युद्ध उससे अधिक महत्त्वपूर्ण है।" दुर्योधन ने उसे समझाने का प्रयत्न किया।

"कौन-सी पत्नियाँ ?" कर्ण कुछ अटपटा कर बोला, किंतु वह तत्काल ही दुर्योधन की बात समझ गया।··· अच्छा है कि यह वही मानता रहे, उसने सोचा और बोला, "युद्ध की ही बात सोचता हूँ। जीवन भी तो एक संग्राम ही है। युद्ध के शस्त्रों और व्यूहों के विषय में मनुष्य सोचता है तो जीवन के शस्त्रों और व्यूहों के विषय में भी सोचना पड़ता है। सैन्य संधियों के समान अपने जीवन में भी तो अपने मित्रों और शत्रुओं का चुनाव करते हैं। मैं तो एक व्यापक युद्ध की बात सोच रहा हूँ।"

"तुम उसे कितना भी व्यापक युद्ध बना लो, रहेगा वह रति-युद्ध के अवरोध के भीतर ही।" दुर्योधन मुस्कराया, "अपनी पत्नियों के विषय में सोचने से तो अच्छा है कि तुम पांडवों के विषय में ही सोचो। उनसे कैसे मुक्ति पाई जाए।"

"ठीक कहते हो मित्र !" कर्ण बोला, "बड़ी समस्या तो पांडवों से मुक्ति की है, पत्नियों का क्या है। जब तक नहीं मिलती, तब तक पुरुष उसे पाने के लिए तड़पता है। मिल जाए तो उससे मुक्त होने को व्यग्र रहता है। हम पांडवों को पाने को तो नहीं तड़पे थे। वे ही बार-बार आकर हमारे कंठ में लटक जाते हैं। उनसे तो मुक्ति ही चाहिए।"

दुर्योधन संतुष्ट हो गया··· कोई बहुत गंभीर बात नहीं लगती थी।

"पर यह कृष्ण !···"

"उसकी चिंता तुम मत करो। उसे मैं संभाल लूंगा।" दुर्योधन बोला और उठ खड़ा हुआ।

30

दुर्योधन रात भर व्याकुल रहा। उसे नींद नहीं आ रही थी। मन में जैसे विचारों की सेनाएँ एक-दूसरे के विरुद्ध व्यूहबद्ध हो रही थीं।

यह सत्य था कि उसने बहुत बड़ी संख्या में राजा और उनकी सेनाओं को एकत्रित कर लिया था। उसके पास ग्यारह अक्षौहिणी सेना थी और पांडवों के पास केवल सात अक्षौहिणी। यदि संख्या का कोई भी महत्त्व था तो यह युद्ध वह जीत ही चुका था; किंतु केवल संख्या के बल पर वह इतना आश्वस्त नहीं हो सकता था। विराटनगर में गोहरण के समय उसके पास कितनी सेना और महारथी थे और अर्जुन अकेला था, फिर भी अर्जुन विराट की गौवें लौटा ले गया था। घोषयात्रा के समय भी उसके पास योद्धाओं की कमी नहीं थी।··· महत्त्व तो सेनानायकों का है। उत्तम व्यूह रचना होनी चाहिए।

सेना का श्रेष्ठ नेतृत्व होना चाहिए। व्यक्तिगत शौर्य का बहुत महत्त्व है, किंतु सेना को विखरने से भी तो बचाना होगा।··· उसका सबसे विश्वसनीय योद्धा कर्ण है; किंतु पितामह और आचार्य दोनों ही कर्ण के विरुद्ध व्यूहबद्ध हो जाएँगे। वे कर्ण के नेतृत्व में युद्ध करना स्वीकार नहीं करेंगे। और दुर्योधन न पितामह को छोड़ सकता है, न आचार्य को। तो क्या कर्ण उनके सेनापतित्व में युद्ध कर लेगा ?

दुर्योधन के मन में अनेक दृश्य उभर रहे थे, जब कर्ण और पितामह में विवाद हुआ था। पितामह ने कर्ण की निन्दा की थी और कर्ण ने भी क्षमता भर उनका अपमान किया था। दुर्योधन अपने मन को टटोलता है तो पाता है कि उसके मन में पितामह की अपेक्षा कर्ण के प्रति अधिक सहानुभूति है ; किंतु वह युद्ध के इस अवसर पर पितामह को छोड़ नहीं सकता। महाराज धृतराष्ट्र ने एक बार विदुर को हस्तिनापुर से निकाला था तो वह सीधा पांडवों के पास चला गया था। दुर्योधन ने यदि भीष्म की अवमानना की तो वे भी युधिष्ठिर के निकट खड़े दिखाई देंगे। उसे तो सबको अपने साथ रखना था··· और पितामह को अपने साथ रखना था तो उन्हें सेनापतित्व सौंपना पड़ेगा। और किसी के सेनापतित्व में वे युद्ध नहीं करेंगे। पितामह सेनापति होंगे तो आचार्य को भी कोई आपत्ति नहीं होगी। वे पितामह को अपना आश्रयदाता मानते हैं।··· किंतु कर्ण के सेनापतित्व में तो कदाचित् आचार्य भी युद्ध न करें··· पर पितामह को अपनी सेना का नियंत्रण सौंप देना उचित था क्या ? वे परिस्थितिवश आज उसके साथ हैं, किंतु मन तो उनका आज भी पांडवों के ही साथ है। वस्तुतः यह सारी समस्या ही पितामह की खड़ी की हुई है। यदि उन्होंने विचित्रवीर्य के पश्चात् धृतराष्ट्र को ही हस्तिनापुर का राजा मान लिया होता, तो यह संकट क्यों खड़ा होता ? पांडु के पश्चात् भी तो वर्षों राज्य किया है धृतराष्ट्र ने। तो उस समय भीष्म ने कैसे यह निर्णय कर लिया कि एक नेत्रहीन व्यक्ति राजा नहीं हो सकता।···वह भूल हो ही गई थी तो जिस समय अपने पुत्रों को लेकर कुंती हस्तिनापुर आई थी, उसी समय कह देते कि ये लड़के कुंती के पुत्र हो सकते हैं, उन्हें पांडुपुत्र कैसे माना जा सकता है। भीष्म ने तत्काल उनको पांडुपुत्र मान लिया और वे राज्य के अधिकारी हो गए।··· आज अपनी सेना की बागडोर पितामह के हाथ सौंपकर कहीं दुर्योधन भी कोई वैसी ही भूल तो नहीं कर रहा ?···

पर भीष्म के जीवित रहते, उनको पृथक् कर कोई युद्ध नहीं लड़ा जा सकता। और भीष्म को अपने साथ रखना है तो उन्हें प्रधान सेनापति बनाना ही होगा।··· और यह यथाशीघ्र हो जाना चाहिए। विलंब घातक भी हो सकता है।···

भीष्म का मन बार-बार अतीत की ओर लौट रहा था।···

वे सदा ही मानते रहे हैं कि पांडवों के साथ न्याय नहीं हुआ। भीम को विष दिया गया, भीष्म को ज्ञात ही नहीं हुआ। वारणावत में पांडवों को जीवित जला देने

के षड्यंत्र का भी उन्हें ज्ञान नहीं था। उन्हें खांडवप्रस्थ में निर्वासित किया गया।··· भीष्म तब भी कुछ नहीं बोले थे। कुरुकुल का गौरव और उसकी रक्षा उनका परम धर्म था।··· राज्य बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं था धृतराष्ट्र के समान उन्हें राज्य की आकांक्षा होती तो वे अपना अधिकार ही क्यों छोड़ते।··· द्यूतसभा में भी पांडवों के साथ न्याय नहीं हुआ। वे देख रहे थे।···

वे उठकर खड़े हो गए। व्याकुलता थमी नहीं तो टहलने लगे। गवाक्ष से गंगा की धारा को देखते रहे और सोचते रहे ?··· क्या युद्ध को कोई नहीं टाल सकता ?

एक नाम उनके मन में आता है—श्रीकृष्ण का ! श्रीकृष्ण युद्ध टाल सकते हैं। उन्होंने टालना तो चाहा था। उन्होंने पांडवों के लिए केवल पाँच ग्राम माँगे थे। दुर्योधन ने उन्हें मना ही नहीं कर दिया, उन्हें बंदी करने का भी प्रयत्न किया। यह तो उनका अपना शौर्य था कि वे सुरक्षित निकल गए, अन्यथा दुर्योधन की ओर से तो कोई कसर नहीं थी।··· तो फिर श्रीकृष्ण इस युद्ध को क्यों टालना चाहेंगे। उनकी यह कम कृपा थी कि उन्होंने उसी क्षण सुदर्शन चक्र निकालकर दुर्योधन का वध नहीं कर दिया। उन्होंने तो अपनी मध्यस्थता की घोषणा करने के लिए दुर्योधन को अपनी सारी सेना दे दी और स्वयं शस्त्र न उठाने का प्रण कर लिया। पर दुर्योधन ने उनको भी बंदी करने का प्रयत्न किया।··· कैसी लीला है भगवान की। कैसे-कैसे लोग बनाता है वह। एक ओर अपनी मध्यस्थता प्रमाणित करने के लिए सेना और शस्त्र त्यागनेवाला वीर है और दूसरी ओर इतनी बड़ी सहायता पाकर भी उस कृष्ण को बंदी करने का प्रयत्न करनेवाला दुर्योधन। अब श्रीकृष्ण क्यों युद्ध टालना चाहेंगे ?

तो फिर भीष्म को ही कुछ करना होगा।

पर इस स्थिति में भी भीष्म युद्ध रोकने की बात सोच सकते हैं ? कैसे रोकेंगे युद्ध ! अभी किसी भी क्षण दुर्योधन उनके पास आ सकता है। वह आकर उनसे अपनी ओर से लड़ने का निवेदन करेगा। भीष्म को तत्काल निर्णय करना होगा। वे इस युद्ध में भाग लेंगे अथवा नहीं ? अस्वीकार वे कर नहीं सकते और स्वीकार वे करना नहीं चाहते। अस्वीकार कर देंगे, तो भी युद्ध रुक जाएगा क्या ? वे अपने प्रासाद में बैठे-बैठे, धृतराष्ट्र के समान अपने पुत्रों के वध के समाचार सुनते रहेंगे। धृतराष्ट्र तो केवल दुर्योधन के पक्ष को अपने पुत्रों का पक्ष समझता है। पांडवों को वह अपना शत्रु मानता है; किंतु भीष्म के लिए तो दोनों ही उनके पुत्रों के पक्ष हैं। वे किसी भी एक पक्ष की जय नहीं चाहते। वे तो दोनों की जय चाहते हैं। और वह तो तभी संभव है, जब युद्ध न हो।

दुर्योधन ने उन्हें बहुत उकसाया है कि पांडवों का पक्ष पांचालों का पक्ष है। पांचालों में द्रुपद हो, अथवा धृष्टद्युम्न—वे दोनों ही भीष्म से प्रसन्न नहीं हैं। भीष्म ने

उनके शत्रु द्रोणाचार्य को आश्रय दिया था। और द्रुपद का पुत्र है शिखंडी, जो उनके वध का प्रण किए बैठा है। पांचालों का वश चले तो न भीष्म सुरक्षित हैं न द्रोणाचार्य !··· पर इन बातों से भीष्म को भय नहीं लगता। उन्हें पांचालों का भय होता तो वे द्रोणाचार्य को आश्रय ही क्यों देते। भीष्म को न अपनी मृत्यु का भय है, न पांचालों की जय का। वे पूर्णतः आश्वस्त हैं कि पांडवों के शस्त्र अवसर मिलने पर भी अपने पितामह का वध नहीं करेंगे। भीष्म दुर्योधन की रक्षा में खड़े होंगे, तो भी पांडव उनका वध नहीं करेंगे।···पर कौरवों द्वारा कौरवों का वध होते देख तो भीष्म स्वयं ही मर जाना चाहेंगे।

वे यह युद्ध नहीं चाहते। इस युद्ध को टालना ही होगा।···

यदि वे युद्ध करना अस्वीकार कर दें, तो भी दुर्योधन लड़ेगा ? हां ! लड़ेगा। वह द्रोणाचार्य के बल पर लड़ेगा। द्रोण के साथ कृप है, अश्वत्थामा है। वे तो लड़ेंगे ही, उधर से पांचाल जो आ रहे हैं। ···पर उधर अर्जुन भी तो है। द्रुपद को बाँधकर द्रोणाचार्य के चरणों में डाल देनेवाला अर्जुन ही तो था। आचार्य अपने उस शिष्य के विरुद्ध लड़ेंगे ?···

द्रोण लड़ें न लड़ें, दुर्योधन कर्ण के बल पर लड़ेगा। कर्ण को रोकना कठिन है। उसका तो सारा अस्तित्व ही युद्ध की संभावना पर टिका है। युद्ध का संकट जितना अधिक होगा, दुर्योधन को उसकी उतनी अधिक आवश्यकता होगी। कर्ण को युद्ध से कैसे रोका जा सकता है ? दुर्योधन किसी भी प्रकार कर्ण को नहीं छोड़ेगा। कर्ण तो जैसे सृष्टि ने विनाश के लिए ही रचा है। उसकी प्रवृत्ति धर्म की ओर है ही नहीं। अन्यथा न वह दुर्योधन को युद्ध के लिए उकसाता और न दुर्योधन के लिए अपने प्राण न्यौछावर करने के लिए इतना व्याकुल होता। कर्ण पर और किसी का वश नहीं है। न उसके पिता का, न उसके भाइयों का, न उसके गुरु का। वह तो शुद्ध रूप से दुर्योधन के ही नियंत्रण में है और उसने अर्जुन के वध की प्रतिज्ञा कर रखी है।···

परिचारिका ने निकट आकर प्रणाम किया, "पितामह ! युवराज आपके दर्शन करने आए हैं।"

भीष्म चौंके : कैसी विचित्र बात है, वे इधर दुर्योधन के विषय में चिंतन कर रहे हैं और उधर दुर्योधन उनके विषय में ही सोच रहा होगा।

"लिवा लाओ।"

दुर्योधन ने आकर प्रणाम किया।

"कैसे आए वत्स ?" भीष्म ने आशीर्वाद देने के पश्चात् पूछा।

"पितामह ! युद्ध हस्तिनापुर के द्वार पर खड़ा है।" दुर्योधन बोला, "अब समय नहीं है कि यह विश्लेषण किया जाए कि इसके लिए उत्तरदायी कौन है। न ही अब उसको टालने अथवा रोकने के उपाय करने का समय है। शत्रुओं से संधि हो नहीं सकती, क्योंकि उन की जो मांग है, वह मैं पूरी कर नहीं सकता। मैंने जैसे भी पाया है, किंतु

हस्तिनापुर का राज्य अब मेरा है और इंद्रप्रस्थ, हस्तिनापुर राज्य का ही अंग है। खांडवप्रस्थ के रूप में जब पांडवों को पृथक् राज्य दिया गया था, मैं तब भी कौरव राज्य के विभाजन का समर्थक नहीं था। अब संयोग से अथवा भगवान की कृपा से यदि कौरवों का राज्य अखंड हो गया है, तो मैं उसका पुनर्विभाजन नहीं होने दूंगा। कौरवों के राज्य को बाँटकर उन्हें निर्बल करने का पांचालों और मत्स्यों का षड्यंत्र मैं सफल नहीं होने दूँगा। द्वार पर खड़े शत्रुओं से युद्ध तो करना ही पड़ेगा। क्षत्रिय होकर हम लोग घुटने नहीं टेक सकते। हस्तिनापुर की सेना कुरुक्षेत्र पहुँच चुकी है। आप से निवेदन करने आया हूँ कि आप हमें आश्रय दें। हमारी रक्षा करें। कौरवों के महासेनापति के रूप में आप पांचालों को रोकें।"

भीष्म सुन रहे थे और मन-ही-मन मुस्करा रहे थे। दुर्योधन यह नहीं कह रहा कि वह पांडवों से अपहृत राज्य उनको वापस नहीं करेगा क्योंकि वह स्वयं उस पर अपना आधिपत्य चाहता है। वह यह भी नहीं कह रहा कि वह पांडवों से युद्ध करना चाहता है, वह तो कौरवों के राज्य की रक्षा के लिए आक्रमणकारी पांचालों से युद्ध करने की बात कह रहा है। पांचालों से तो भीष्म को युद्ध करना ही चाहिए।··· उनके मन में आया कि वे दुर्योधन से पूछें कि उसने यह तो उनसे पूछा ही नहीं कि वे युद्ध में सम्मिलित भी होना चाहते हैं कि नहीं, अपने आप ही निर्णय कर लिया कि वे युद्ध करेंगे और उसके पक्ष से ही करेंगे।···पर सहसा वे रुक गए। उन्हें कुरुक्षेत्र में से अपने लिए एक मार्ग बनता दिखाई दे रहा था।···

"तुम जानते हो पुत्र ! कि मैं तुम्हारे समान पांडवों को अपना शत्रु नहीं मानता। मैं तो उन्हें भी तुम्हारे ही समान अपने पुत्र मानता हूँ। उनसे प्रेम करता हूँ। मैं उनका और तुम्हारा युद्ध नहीं चाहता···"

"हम युद्ध नहीं करेंगे तो हस्तिनापुर पर पांडवों का नहीं पांचालों का राज्य होगा पितामह ! आप देखिएगा कि पांडवों की सेना का सेनापतित्व धृष्टद्युम्न अथवा द्रुपद करेंगे।···" दुर्योधन ने पितामह की बात काट दी।

पर पितामह ने भी दुर्योधन को अपनी बात पूरी नहीं करने दी, "मैं दूसरी बात कह रहा हूँ। जहाँ तक तुम्हारा और युधिष्ठिर का प्रश्न है, मैं मध्यस्थ हूँ। मैं भी बलराम के समान तटस्थ रहने की घोषणा कर सकता था; किंतु क्षत्रिय होने के नाते युद्ध से विमुख होना नहीं चाहता।"

"तो फिर बात क्या है ?" दुर्योधन अपनी प्रसन्नता छिपा नहीं पा रहा था।

"मैं मध्यस्थ हूँ, यह जानकर भी तुम अपनी सेना का नेतृत्व मुझे सौंपना चाहते हो ?" भीष्म बोले, "यह सोच लो। बाद में तुम्हें पश्चात्ताप न हो। युद्ध में आदेश सेनापति का माना जाएगा, युवराज का नहीं।"

"इसमें मुझे किसी प्रकार की कोई भ्रांति नहीं है।" दुर्योधन बोला, "आदेश आपका ही माना जाएगा।"

"व्यूह की रचना मैं अपनी इच्छा से करूँगा।"

"आपके समान व्यूह-रचना का ज्ञान और किसको है।" दुर्योधन चाटुकार स्वर में बोला, "इस संदर्भ में कोई आपको परामर्श भी नहीं दे सकता, आदेश की तो बात ही क्या।"

"किस योद्धा के वध का विशेप प्रयत्न किया जाएगा और कव, इसका निर्णय भी मैं करूँगा।"

"हाँ ! पितामह ! आप ही करेंगे।"

"तो सेनापति वनने के लिए, मेरी प्रतिज्ञाएँ सुन लो।" भीष्म बोले, "मैं किसी भी स्थिति में पांडवों में से किसी का वध नहीं करूँगा। जव तक वे ही मुझे मार नहीं डालते, तब तक मैं उनकी सेना का संहार करूँगा। स्वीकार है ?"

"स्वीकार है पितामह !"

"मैं किसी स्त्री पर अथवा उस पुरुष पर, जो पहले स्त्री रह चुका हो शस्त्र नहीं उठाऊँगा।" भीष्म बोले।

कर्ण ने चौंक कर दुर्योधन की ओर देखा, "वे स्पष्ट कह रहे हैं कि वे शिखंडी पर शस्त्र नहीं उठाएंगे।"

"और दुर्योधन ! तुम्हारा यह मित्र कर्ण युद्ध में मेरी स्पर्धा करता है, इसलिए या तो यह ही पहले युद्ध कर ले, या फिर मैं ही कर लूँ।" भीष्म बोले।

"मैं तो पहले ही प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि पितामह के वर्तमान रहते मैं शस्त्र नहीं उठाऊँगा।" कर्ण बोला, "मैं इनके युद्धक्षेत्र से हट जाने के पश्चात् ही वहाँ पग रखूँगा।"

"तो ठीक है दुर्योधन ! मैं तुम्हारा सेनापतित्व स्वीकार करता हूँ।"

"मैं कृतार्थ हुआ पितामह !" दुर्योधन ने प्रसन्न होकर परिचारिका की ओर देखा।

परिचारिका तिलक का थाल ले आई।

दुर्योधन ने भीष्म को शस्त्र समर्पित कर उनका तिलक किया।

दुर्योधन, पितामह के भवन से वाहर निकला तो अत्यंत प्रसन्न था। बोला, "कर्ण ! मैं आज उतना ही प्रसन्न हूँ, जितना कृष्ण के भवन से उसकी नारायणी सेना लेकर निकलते समय था।"

"वह तो ठीक है युवराज ! किंतु एक बात की ओर तुम्हारा ध्यान नहीं गया।" कर्ण चिंतित स्वर में बोला, "तुम्हारे इस धूर्त पितामह ने मुझे युद्ध से निष्कासित कर दिया है और सारी सेना अपने नियंत्रण में ले ली है। वह पांडवों को मारेगा नहीं और पांडव शिखंडी को सामने कर पहले ही दिन इस का वध कर देंगे।"

"पितामह पांडवों का वध नहीं करेंगे, पांचालों और मत्स्यों का करेंगे और हम पांडवों से निवट लेंगे।" दुर्योधन मुस्कराया, "पांचाल शिखंडी को सामने कर पितामह

का वध कर देंगे। पितामह का पांडवों से जा मिलने का संकट सदा के लिए समाप्त हो जाएगा और तुम युद्ध में सम्मिलित हो सकोगे।"

"तो तुम चाहते हो कि पितामह जब तक जीवित रहें, तुम्हारे रहें या फिर वे न ही रहें।"

"हां ! यही चाहता हूँ मैं।"

कर्ण समझ नहीं पा रहा था कि पितामह और पौत्र में से किसकी इच्छा पूर्ण हुई थी।

31

सात्यकि और कृतवर्मा के साथ कृष्ण सकुशल उपप्लव्य पहुँच गए थे। दुर्योधन ने उनका पीछा करने, उन्हें रोकने अथवा बंदी करने का कोई प्रयत्न नहीं किया था। हस्तिनापुर में घटित घटनाओं का पूर्वाभास पांडवों को अपने गुप्तचरों और धावकों से मिल गया था। कृष्ण ने लौटकर उन्हें विभिन्न लोगों के संदेश दिए। कुंती का संदेश उन्होंने सारे परिवार के सम्मुख दिया। फिर वे विश्राम की आवश्यकता बता कर सोने चले गए थे।

प्रातः जब कृष्ण पांडवों के साथ मंत्रणा के लिए आए तो वे अकेले ही थे।

"उद्धव, सात्यकि और कृतवर्मा कहाँ रह गए ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"वे अपने सैनिकों के साथ हैं। आप उनकी चिंता न करें।" कृष्ण बोले, "उनका इस मंत्रणा में उपस्थित रहना आवश्यक नहीं है।"

युधिष्ठिर ने उनकी ओर देखा, "अब मधुसूदन ?"

"अब तो दंड ही एक मात्र उपाय है धर्मराज !"

"अर्थात् युद्ध ?" भीम के मन की प्रसन्नता उसकी वाणी में भी मुखर थी।

"उसके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है।" कृष्ण बोले, "दुर्योधन पाँच ग्राम देने को भी प्रस्तुत नहीं है।"

"मैं भी पाँच ग्रामों पर संतोष करने को प्रस्तुत नहीं हूँ।" भीम बोला, "यह तो अच्छा हुआ कि दुर्योधन ने ही हमारा तिरस्कार कर दिया, नहीं तो मेरे लिए शांत रहना कठिन होता।"

"तो युद्ध अनिवार्य है।" युधिष्ठिर के मन में उत्साह नहीं था।

"इसे युद्ध न कहें धर्मराज ! यह दंड है।" कृष्ण बोले, "पाप और अधर्म का विस्तार और प्रसार तभी होता है जब राक्षसत्व दंडित नहीं होता; जब क्षत्रिय भी अपनी कोमलता, भीरुता, दया अथवा करुणा के वश में होकर दंड का त्याग कर देते हैं। यदि भीष्म कुरुकुल के प्रति अपने मोह के कारण अपने क्षत्रिय धर्म की उपेक्षा न करते और दुर्योधन को आरंभ में ही उसके पापों के लिए दंडित करते, तो न वह और धृतराष्ट्र

राक्षस वनते और न इस युद्ध का अवसर आता। यह शांति और संधि की आतुरता ही थी, जिसने अधर्म को इस सीमा तक पैर पसारने के अवसर दिए और इस भयंकर युद्ध की आवश्यकता आ पड़ी।" कृष्ण ने रुककर युधिष्ठिर की ओर देखा, "अव आप मान लें कि संवाद, संदेश और दूतों की संधिवार्ता का काल समाप्त हुआ। युद्ध निश्चित ही नहीं, अनिवार्य है; उसके अतिरिक्त और कोई उपाय भी नहीं है। इसलिए आप अपनी सेनाओं को युद्धभूमि की ओर प्रयाण का आदेश दें।"

युधिष्ठिर अवाक् से कृष्ण की ओर देखते रहे, जैसे उन्हें विश्वास ही न हो रहा हो कि वस्तुतः युद्ध का समय आ गया है। युद्ध आरंभ हो जाने पर अवध्य पुरुषों का भी वध करना पड़ेगा। युधिष्ठिर ने भारी मन से दीर्घ श्वास खींचा, "जिससे वचने के लिए मैंने वनवास का कष्ट स्वीकार किया और एक-से-एक भयंकर यातनाएं सहन कीं, वह अनर्थ मेरी सारी सद्भावना और सारे प्रयत्नों से भी टल नहीं सका।··· युद्ध हमारे द्वार पर आया खड़ा है, किंतु वंदनीय और अवध्य गुरुजनों से युद्ध करने में क्या औचित्य है ?"

अर्जुन की दृष्टि भीम पर पड़ी : निश्चय ही वह कोई कठोर वात कहने जा रहा था। उससे पहले ही अर्जुन ने कहा, "महाराज ! श्रीकृष्ण ने माता और विदुर काका के विचार आपको सुनाए हैं। मेरा निश्चित मत है कि वे लोग अधर्म की बात नहीं कहेंगे।" उसने रुककर कुछ अधिक वलपूर्वक कहा, "और धर्मराज ! अव हमारा युद्ध से निवृत्त हो जाना भी तो धर्म नहीं है।"

"भीष्म और द्रोण भी दुर्योधन को समय-समय पर समझाते रहे हैं," कृष्ण वोले, "किंतु वे भी सदा उचित बात नहीं कहते। एक महात्मा विदुर को छोड़कर, हस्तिनापुर में अन्य सब लोग, दुर्योधन का ही अनुसरण करते हैं। और दुर्योधन को जानते हुए भी आप नहीं जानते। आपकी सेना में सम्मिलित सारे राजाओं को मिलाकर भी उतना पाप और अमंगलकारक भाव नहीं है, जितना अकेले दुर्योधन में विद्यमान है।"

"ठीक है।" युधिष्ठिर ने एक दीर्घ श्वास छोड़ा, "तो हम अपने सेनापतियों के चयन के विषय में भी सोच लें, परस्पर चर्चा कर लें।"

"आप राजा हैं। आप जिसे चाहें, अपना प्रधान सेनापति नियुक्त कर सकते हैं।" कृष्ण बोले।

"हमारे पास सात अक्षौहिणी सेना है। उसका नेतृत्व करने के लिए सात नायक हैं : महाराज द्रुपद, मत्स्यराज विराट, मध्यम पांडव भीमसेन, महारथी धृष्टद्युम्न, शिखंडी, महावीर सात्यकि और चेकितान। अब प्रश्न इनमें से सेना के नेतृत्व के लिए, महानायक को चुनने का है।" उन्होंने सवकी ओर देखा, "बताइए, आप लोगों का क्या मत है ?"

"मेरा विचार है कि महारथी शिखंडी को ही यह दायित्व सौंपा जाना चाहिए।" भीम ने सवसे पहले कहा।

"क्यों ? ऐसी क्या विशेषता है शिखंडी में ?" कृष्ण सहास उसे देख रहे थे,

"आप कहीं इसलिए तो यह नाम प्रस्तावित नहीं कर रहे कि सब लोग एकमत होकर कहें, इससे तो मध्यम पांडव भीम ही श्रेष्ठ रहेंगे।"

"नहीं !" भीम ने कुछ उत्तेजित हो कर कहा, "मैंने शिखंडी का नाम इसलिए प्रस्तावित नहीं किया है कि वे हमसे अधिक शूरवीर अथवा वलवान हैं; इसलिए भी नहीं कि वे हमसे अधिक रणकुशल हैं, अथवा उनका सैनिक अनुभव हमसे कुछ अधिक है। मैं इसलिए कह रहा हूँ कि हम पाँचों भाई अपना मन कितना भी कठोर वना लें, कौरवों के प्रति हमारे मन में वह भाव आ ही नहीं सकता, जो शिखंडी के मन में है।"

"अर्थात् हम उनके प्रति वैसे नृशंस नहीं हो सकेंगे ?" युधिष्ठिर वोले।

"ऐसा ही समझ लीजिए।" भीम ने कहा, "उन्होंने भीष्म का वध करने की प्रतिज्ञा की है। दूसरी ओर हम सव अपने पितामह से इतना प्रेम करते हैं कि उनके देहावसान की कल्पना भी नहीं कर सकते, कामना कैसे करेंगे और कर्म का तो कहना ही क्या। फिर हमारी सेना का मुख्य भाग पांचाल सेना का ही है। शिखंडी सेनापति होंगे तो उनके सैनिकों में अधिक उत्साह रहेगा और उनको यह अपना ही युद्ध लगेगा। महाराज द्रुपद और धृष्टद्युम्न को भी इससे कोई विरोध नहीं होगा।..."

"यदि इन सव बातों को महत्त्व दिया जाए तो मेरा विचार है कि प्रधान सेनापति का पद धृष्टद्युम्न को दिया जाना चाहिए।" अर्जुन ने भीम की उग्रता के ठीक विपरीत मंद और मधुर स्वर में कहा, "वैसे तो सबसे पहले महाराज द्रुपद का नाम आना चाहिए था, किंतु समर्थ होने पर भी वे वृद्ध हैं। उन पर इतने बड़े युद्ध का भार नहीं डाला जाना चाहिए। यह उनके लिए कष्टकर हो सकता है। हम अपनी विजय के लिए उनके प्राणों को दाँव पर लगाना नहीं चाहेंगे। धृष्टद्युम्न अभी युवक हैं, समर्थ हैं। आचार्य द्रोण के वध के लक्ष्य से अग्निकुंड में से जन्मे हैं। प्रतिशोध की भावना उनमें भी कम नहीं है।"

"मैं भी समझता हूँ कि सवसे पहले यह अधिकार महाराज द्रुपद का ही है।" नकुल ने कहा, "वे अवस्था में वड़े हैं। वीर और अनुभवी हैं। मूल विरोध तो उनका ही है। उनकी आज्ञा के अधीन रहकर युद्ध करने में किसी का स्वाभिमान आहत नहीं होगा।"

"तुम्हारा क्या विचार है बुद्धिमान सहदेव ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"मैं समझता हूँ कि हम लोग मत्स्यराज विराट की भूमि पर स्थित हैं और उन की सेना तथा परिवार की हमें पूरी सहायता है।" सहदेव ने कहा, "वे युद्ध में कुशल और वीर हैं...। हमें उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।"

"महाराज विराट के प्रति, मेरे मन में पूर्ण सम्मान है, किंतु सहदेव ने इस वात पर ध्यान नहीं दिया कि मत्स्य सेना की सारी वीरता तो कीचक के कारण थी। सुशर्मा कीचक से पीड़ित था, मत्स्यराज से नहीं।" भीम ने कहा, "भावना अपने स्थान पर है, किंतु हम को यह युद्ध जीतना है, मात्र अपनी कृतज्ञता का प्रदर्शन नहीं करना है। मैंने

मत्स्यराज को सुशर्मा से युद्ध करते देखा है। मुझे नहीं लगता कि वे सात अक्षौहिणी सेना का, ग्यारह अक्षौहिणी सेना के विरुद्ध नेतृत्व कर पाएँगे।"

सब मौन थे।

"हमारे पास अभी तीन नाम और भी है।" युधिष्ठिर बोले, "सात्यकि, चेकितान और भीम।"

"यद्यपि मध्यम पांडव के नेतृत्व में आगे बढ़नेवाला सैनिक विजय के प्रति सब से अधिक आश्वस्त हो सकता है, किंतु उनका नाम मैं प्रधान सेनापति के लिए प्रस्तावित नहीं कर रहा।" कृष्ण बोले, "मैं चाहता हूँ कि वे प्रधान सेनापति का भी अनुशासन करें। सात्यकि के शौर्य के विषय में मुझे तनिक भी संदेह नहीं है, किंतु वह अवस्था में छोटा है और उसमें धैर्य का अभाव हो सकता है। उसके गुरु उसकी आज्ञा के अधीन होकर लड़ें, यह बहुत न्यायसंगत व्यवस्था नहीं है। फिर उसके सेनापति बनने से यादवों की राजनीति आपके लिए घातक हो सकती है। चेकितान के पास भी व्यक्तिगत शौर्य ही है, जो पांडवों की सेना का प्रधान सेनापति बनने के लिए पर्याप्त नहीं है।"

"तो फिर श्रीकृष्ण ही प्रधान सेनापति का नाम बताएँ।" युधिष्ठिर बोले।

सबने कृष्ण की ओर देखा।

"मैं समझता हूँ कि प्रधान सेनापति पद के लिए धृष्टद्युम्न ही सर्वश्रेष्ठ योद्धा हैं।" कृष्ण बोले, "प्रधान सेनापति में जितने गुण आप चाहते हैं, वे सब उनमें हैं।··· और उनके प्रधान सेनापति बनने से आपकी सेना और सेनानायकों में किसी प्रकार का रोष भी नहीं जागेगा तथा कुरुवंशियों के मन में उतना ही आतंक उत्पन्न होगा, जितना भीम के नाम से दुःशासन के मन में हो सकता है।"

युधिष्ठिर ने एक-एक कर अपने सारे भाइयों की ओर देखा : सब सहमत प्रतीत होते थे। कहीं किसी के चेहरे पर असंतोष नहीं था।

"तो हमारा सर्वमान्य निर्णय है कि धृष्टद्युम्न हमारे प्रधान सेनापति हों।" युधिष्ठिर बोले, "अब हम अपनी सेना को प्रयाण का आदेश दे सकते हैं।"

"युद्धभूमि का चयन हो गया क्या ?" अर्जुन ने पूछा।

"उसका चयन दुर्योधन ने कर लिया है।" कृष्ण बोले, "उसकी सेनाएँ कुरुक्षेत्र में अपना स्कंधावार बना रही हैं। वह वहीं व्यूहबद्ध होकर हमारी सेना पर आक्रमण करेगा।"

युधिष्ठिर ने भीम की ओर देखा, "ठीक है ?"

"मेरे लिए सारे स्थान ठीक हैं।" भीम ने कहा, "मुझे तो दुर्योधन की जंघा तोड़नी है, और वह कार्य कहीं भी हो सकता है।···"

"तो फिर ठीक है। धृष्टद्युम्न को सूचित करो। उपप्लव्य के दुर्ग की रक्षा के लिए खाइयों, परकोटों और रक्षक प्रहरियों की समुचित व्यवस्था करो, ताकि हमारी अनुपस्थिति में उपप्लव्य के दुर्ग में रहनेवाली स्त्रियों, बालकों तथा धन को लूटने का कोई प्रयत्न

न कर सके।" युधिष्ठिर बोले, "रथों, अश्वों तथा हाथियों को चलने के लिए तैयार किया जाए। सबके आगे मध्यम पांडव भीमसेन, प्रधान सेनापति धृष्टद्युम्न के साथ चलेंगे और प्रभद्रकगण उनकी रक्षा के लिए उन्हें घेर कर चलेंगे। उनके साथ नकुल, सहदेव, अभिमन्यु, और पाँचों द्रौपदेय जाएँगे। उनके पश्चात् शकट्, हाट, डेरे, तंबू इत्यादि चलेंगे। कोष को विश्वस्त योद्धाओं की रक्षा में सावधानी से ले जाया जाए। शस्त्रास्त्रों का परिवहन भी कुशल योद्धाओं के संरक्षण में हो। चिकित्साकुशल वैद्य साथ चलें।" युधिष्ठिर रुके, "उसके पश्चात् मेरे साथ पाँचों कैकेय कुमार, धृष्टकेतु, अभिभू, श्रेणिमान, वसुदान और शिखंडी चलेंगे। सेना के पिछले भाग में मत्स्यराज विराट, पंचालराज द्रुपद, महाराज कुंतिभोज, सुधर्मा और धृष्टद्युम्न के पुत्र चलेंगे। श्रीकृष्ण और अर्जुन सबकी देखभाल करते हुए, स्वेच्छा से चलेंगे और उनकी रक्षा के लिए अनाधृष्टि, चेकितान तथा सात्यकि उनको घेरकर चलेंगे।"

"ऐसा ही होगा धर्मराज !" भीम ने कहा।

"स्कंधावार के लिए हिरण्वती नदी के तट पर कोई समतल प्रदेश देखना, जहाँ घास और ईंधन का बाहुल्य हो। न हमारे पशुओं को खाद्य और जल का अभाव हो और न हमारे सैनिकों को। जल तो हिरण्वती से ही आएगा, किंतु अन्न का पर्याप्त भंडार साथ लेकर चलो। वहाँ घास मिल जाए तो ठीक, अन्यथा हमारे पास घास और भूसी का पर्याप्त भंडार होना चाहिए। शिविरों के लिए भूमि सात्यकि नापें, खाई इत्यादि खुदवाने का कार्य श्रीकृष्ण करें। स्कंधावार निर्माण में ध्यान रहे कि विभिन्न शिविरों के मध्य आवागमन के लिए सुरक्षित मार्ग हों, ताकि खाद्य तथा शस्त्रास्त्रों के परिवहन में किसी प्रकार की बाधा न हो।..."

"और यदि हमारे कार्य में दुर्योधन के सैनिक बाधा उपस्थित करें ?" भीम ने पूछा।

"तो बल प्रयोग कर सकते हो।" युधिष्ठिर बोले, "युद्ध करना है तो स्कंधावार का निर्माण करना ही होगा। सुरक्षित तथा सुविधाजनक स्कंधावार का अर्थ है, विजय की अधिक संभावना। अतः सैनिकों के लिए उचित व्यवस्था करो।"

भीम ने प्रसन्न मुद्रा में हाथ जोड़कर आज्ञा स्वीकार की।

32

युद्धक्षेत्र में पांडवों का स्कंधावार स्थापित हो गया था। नई-नई वाहिनियों का निरंतर आगमन हो रहा था। आनेवाली वाहिनियों के नायक, नियंत्रणमंडप से आवश्यक निर्देश लेकर, अपने-अपने सैनिकों के साथ अपने लिए नियत स्थान पर अपने-अपने शिविर स्थापित कर रहे थे।

हिरण्वती के तट पर धर्मराज युधिष्ठिर के शिविर में पांडव पक्ष के प्रमुख लोग उपस्थित थे। युद्ध संबंधी नीतियों को अंतिम रूप दिया जा रहा था और प्रबंध संबंधी चर्चा हो रही थी।...

"तो हमारी सात अक्षौहिणी सेना के सात सेनापति होंगे—महाराज द्रुपद, महाराज विराट, सात्यकि युयुधान, महावीर धृष्टद्युम्न, चेदिराज धृष्टकेतु, महारथी शिखंडी, मगधराज जरासंधपुत्र सहदेव।" युधिष्ठिर बोले, "प्रधान सेनापति होंगे धृष्टद्युम्न। उन सेनापतियों के अधिपति होंगे वीरवर अर्जुन। अर्जुन के नेता और नियंता होंगे वासुदेव श्रीकृष्ण ।"

"और मध्यम पांडव भीम को आप कोई दायित्व नहीं देना चाहते ?" कृष्ण ने पूछा।

"जहाँ बल का अभाव दिखाई देगा, जहाँ अपनी सेना पीछे हटती लगेगी, जहाँ सैनिकों का उत्साह मंद पड़ेगा, जहाँ सैनिकों को अपने साथ ले कर शत्रुओं में धंसने की आवश्यकता होगी, जहाँ शत्रु के व्यूह को बलपूर्वक तोड़ना होगा, वहाँ मध्यम पांडव सहायता भी पहुँचाएँगे और नेतृत्व भी करेंगे।" युधिष्ठिर बोले, "भीम हमारी नासीर सेना के नायक हैं। उनकी आवश्यकता सबको रहेगी..."

सहसा द्वाररक्षक प्रवेश कर हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया।

सबकी दृष्टि उस ओर उठी, "क्या है ?"

"महाराज ! वासुदेव बलराम पधार रहे हैं। वे बहुत शीघ्रता में लगते हैं।" वह बोला, "उनके साथ कुछ अन्य यादव वीर भी हैं; किंतु वे लोग युद्धवेश में नहीं हैं।"

युधिष्ठिर ने कुछ चकित भाव से कृष्ण की ओर देखा, "वे आनेवाले थे क्या ?"

"ऐसी कोई सूचना तो नहीं थी।" कृष्ण बोले, "किंतु उनके कहीं आने-जाने पर कोई बंधन तो है नहीं।"

"संभव है कि उन्होंने अंततः यह निर्णय कर लिया हो कि उन्हें हमारे पक्ष से युद्ध करना है।" भीम ने कहा, "कहीं हमारा निमंत्रण देर से पहुँचा है, कहीं निर्णय अथवा व्यवस्था होने में विलंब हुआ है। योद्धा युद्धक्षेत्र को छोड़कर जाएँगे कहाँ ?"

युधिष्ठिर ने पुनः कृष्ण की ओर देखा।

"मुझे तो ऐसी कोई संभावना दिखाई नहीं देती।" कृष्ण बोले, "फिर भी मध्यम की अपेक्षा से मेरा कोई विरोध नहीं है, पर तब दुर्योधन को दिए गए भैया के वचन का क्या होगा ?"

"वे चाहें तो अपने वचन की रक्षा करते हुए भी हमारी सहायता कर सकते हैं।" अर्जुन ने कहा, "दुर्योधन चाहे अपने पिता के आदेश की उपेक्षा कर दे, किंतु वह बलराम भैया के आदेश को चुनौती नहीं देगा। उनका एक आदेश दुर्योधन को इस युद्ध से विरत कर सकता है।"

"तुम जाओ।" युधिष्ठिर ने द्वारपाल से कहा, "हम स्वयं वाहर आकर उनका स्वागत करेंगे।"

वलराम आए।

पांडवों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उनके साथ न केवल अक्रूर थे; उद्धव, गद, प्रद्युम्न, सांव तथा चारुदेष्ण भी थे। जैसी कि सूचना द्वारपाल ने दी थी, वे लोग युद्धवेश में नहीं थे। उनके पास इस समय साधारण अस्त्र-शस्त्र भी नहीं थे।

युधिष्ठिर ने आगे वढ़, वलराम की भुजाएँ थामकर उनका स्वागत किया। अभिवादन और सम्मान का आदान-प्रदान हुआ और वलराम वैठ गए।

"मुझे प्रसन्नता है कि द्वारका में मेरी अनुपस्थिति में आप मेरे पुत्रों के साथ हैं, अथवा वे आपके साथ हैं। कितनी सुखद अनुभूति है कि यादवों में भी कोई किसी के साथ है।" कृष्ण ने कहा।

वलराम इससे प्रसन्न नहीं हुए। वोले, "इनसे वड़ा हूँ तो इनको संरक्षण देना मेरा धर्म है। सव तुम्हारे समान तो नहीं होते कि वड़ों की आज्ञा के अधीन न रहें।"

वलराम का रोप स्पप्ट था। वे कृष्ण से प्रसन्न नहीं थे और इसलिए उनसे किसी सुखद समाचार की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती थी। कृष्ण पर उनके रोप का कोई विशेप प्रभाव दिखाई नहीं दिया। वे उनके आने और उनके तेवरों से तनिक भी विचलित नहीं हुए थे। वे अव भी वैसी ही प्रसन्न मुद्रा में थे, जैसे वलराम के आने से पूर्व थे। वोले, "दाऊ ! मैं कव आपकी आज्ञा से वाहर रहा ?"

वलराम कुछ अकवका गए। वोले, "हाँ ! ठीक कहते हो कान्हा ! तुम कभी मेरी आज्ञा से वाहर नहीं गए, किंतु कभी मेरी इच्छा के अधीन भी नहीं रहे।"

"भैया ! आप कैसी आज्ञाएँ देते हैं, जिनसे आपकी अपनी ही इच्छा पूरी नहीं होती।"

लगा, वलराम अभी कृष्ण पर झपट पड़ेंगे, किंतु वे अपना आक्रोश पी गए, "मेरी आज्ञाओं में ही कोई ऐसा दोप रहा होगा कि उनसे मेरी कामनाएँ पूर्ण नहीं होतीं।"

कृष्ण हल्के से मुस्कराए, "दोप आज्ञाओं में नहीं, इच्छाओं में खोजा जाना चाहिए।"

इस वार वलराम संयत नहीं रह सके, "दोप मेरी इच्छाओं का ही सही, किंतु तुम्हें अपने वड़े भाई की इच्छाओं का सम्मान करना चाहिए। भगवान राम को उनके पिता ने वनवास की आज्ञा नहीं दी थी, किंतु वे समझ गए थे कि उनके वन जाने से ही कैकेयी को दिया गया वर पूरा हो पाएगा। वे अपना धर्म समझते थे।"

"मैं भी अपना धर्म समझता हूँ।" कृष्ण का स्वर कुछ तीखा था किंतु वे तत्काल शांत हो गए, "यदि नियम यह हो कि छोटों को वड़ों की इच्छा का सम्मान करना चाहिए,

तो आपको भी पिताजी की इच्छा का सम्मान करना चाहिए। वे नहीं चाहते कि हम दुर्योधन की किसी प्रकार की कोई सहायता करें। मेरे इन पुत्रों को भी मेरी इच्छा का सम्मान करना चाहिए।" कृष्ण ने उनकी ओर देखा, "मैं आपको दोप नहीं देता, किंतु आपकी यह कार्य-पद्धति तो विचित्र है कि आप अपने पिता की इच्छा का सम्मान न करें, किंतु आपके पुत्र आपकी इच्छा का सम्मान अवश्य करें।"

वलराम ने अपना सिर झटका, जैसे वे कृष्ण से तनिक भी सहमत न हों; किंतु उनके तर्क का कोई भी उत्तर न देना चाहते हों।

"मैंने इसे कितनी बार समझाया है कि हम मध्यस्थ हैं। हमारे लिए कौरव और पांडव दोनों ही एक समान हैं। दोनों से हमारा एक जैसा ही संवंध है।" वलराम ने युधिष्ठिर की ओर देखा, "दुर्योधन इतने चक्कर काट रहा था। उसकी भी सहायता की जानी चाहिए थी। वह मेरे पास भी आया था, किंतु मैंने उसकी सहायता करने से मना कर दिया और अर्जुन को भी सहायता नहीं दी।..." उन्होंने अपनी रुष्ट दृष्टि कृष्ण पर डाली, "पर यह जव अर्जुन को देखता है, तो इसकी मति ही स्थिर नहीं रहती। एकदम बौरा जाता है। अर्जुन की इच्छा पूरी होनी चाहिए, फिर चाहे सारा संसार कट मरे।"

भीम को लगा कि वलराम अपनी मर्यादा का अतिक्रमण कर रहे हैं, पर वे अपने छोटे भाई के प्रति अपना रोप जता रहे थे तो किसी और का वीच में पड़ना तनिक भी आवश्यक नहीं था।

"पर मैं इससे इतना प्रेम करता हूँ कि मैं इसके विरुद्ध जा नहीं सकता।" वलराम बोले। वे स्वयं नहीं जानते थे कि वे किससे संवोधित थे, पर वे धर्मराज की ओर देख रहे थे, "यदि कुरुक्षेत्र में उपस्थित रहा तो मैं कौरवों का विनाश देखकर उस स्थिति में उनकी उपेक्षा नहीं कर पाऊँगा। मेरे लिए आत्मनियंत्रण कठिन हो सकता है। इसलिए मैं यहाँ रुकना नहीं चाहता। मैं सरस्वती नदी के तट पर वसे तीर्थों के दर्शन करने जा रहा हूँ और अपने इन वीर यादवों को भी ले जा रहा हूँ कि कहीं युद्ध के किन्हीं परिणामों को देखते हुए, इनका मन डोल न जाए।"

सहदेव का मन निरंतर कुछ-न-कुछ सोच रहा था। अक्रूर का बलराम के साथ जाना वह समझ रहा था। यद्यपि श्रीकृष्ण ने स्यमंतक मणि अक्रूर के ही पास छोड़ दी थी, किंतु अक्रूर श्रीकृष्ण के प्रति अपना विरोध छोड़ नहीं पाए थे। वह कदाचित् उनका विरोध भी था और उनके मन का भय भी। उनको आज भी भय था कि श्रीकृष्ण उनसे उनकी स्यमंतक मणि छीन लेंगे। वे आज भी भयभीत थे कि उग्रसेन श्रीकृष्ण को अपना उत्तराधिकारी बना देंगे और वे उग्रसेन के पश्चात् भी यादवों के राजा नहीं बन पाएँगे। वे शायद आज भी भूल नहीं पाए थे कि वे सत्यभामा से विवाह करना चाहते थे और सत्राजित ने उसका विवाह श्रीकृष्ण के साथ कर दिया था।... ऐसा क्यों है कि अक्रूर को प्रत्येक उस वस्तु की आवश्यकता थी, जो कृष्ण को प्रिय थी अथवा कृष्ण के

अधिकार में थी ?··· अपनी इन्हीं कामनाओं के कारण कृष्ण उन्हें अपने शत्रु लगने लगे थे और यह भी विचित्र लीला थी नियति नटी की कि कृष्ण के विरुद्ध सबसे अधिक संरक्षण की अपेक्षा उनके अपने भाई बलराम से की जा रही थी।···

पर उद्धव को क्या हुआ था ? वह क्यों भाग रहा था ? उसे कृष्ण और बलराम में से बलराम को चुनने की आवश्यकता क्यों पड़ गई थी ? श्रीकृष्ण के शांतिदूत बन कर हस्तिनापुर जाने से पहले तक तो ऐसी कोई बात नहीं थी। उद्धव उनके आह्वान पर द्वारका से उपप्लव्य आया ही था, पर अब··· कहीं यह मात्र बलराम का आतंक ही तो नहीं है ?

और श्रीकृष्ण के अपने पुत्र··· प्रद्युम्न, सांब, चारुदेष्ण··· क्या हुआ है इन सब को ? ये लोग क्षत्रिय हैं, युद्ध निष्णात हैं, धर्म को जानते हैं, फिर भी क्यों वे अपने पिता के साथ नहीं हैं ?··· और पिता भी कैसा··· श्रीकृष्ण जैसा, धर्म का साक्षात् रूप। पुत्रों को तो पिता के अनुरूप ही होना चाहिए।··· किंतु शायद नहीं। पुत्रों को पिता के अनुरूप शरीर ही मिला है, मन नहीं, मस्तिष्क नहीं, आत्मा नहीं, प्रकृति नहीं। उन की आत्मा के अपने संस्कार हैं। रूप, देहयष्टि और शौर्य तो पिता के ही समान है, पर धर्म के प्रति वह ललक नहीं।··· यादवों को धर्म का आह्वान क्यों सुनाई नहीं पड़ता ? कदाचित् यादवों को अपनी संपन्नता रास नहीं आई। वह उनके धर्म को खा गई··· पता नहीं वे क्यों समझ नहीं पाए कि जीवन का भोग धर्मपूर्वक भी हो सकता है।···

क्या वे सब लोग अपनी इच्छा से तीर्थाटन करने जा रहे थे ?··· सहदेव मन-ही-मन हंसा··· वह जानता था कि इनमें से किसी की भी तीर्थो में कोई रुचि नहीं थी। वे सरिताविहार के लिए जा सकते थे, वनभोज के लिए जा सकते थे, पर्वतक्रीड़ा में उनकी रुचि हो सकती थी, किंतु तीर्थाटन··· सहदेव का मन मानता ही नहीं था। तीर्थ किसके लिए ? तीर्थ तो वह है, जिसे देखकर प्रभु का ध्यान आए, धर्म में रुचि दृढ़ हो। यदि इनकी धर्म में रुचि होती तो वे श्रीकृष्ण के साथ ही न आए होते, दुर्योधन से युद्ध करने के लिए।··· अथवा बलराम ही उन्हें इस भय से अपने साथ घसीट कर कृष्ण से दूर लिए जा रहे हैं कि कहीं किसी समय उन पर कृष्ण का जादू ही न चल जाए। कहीं वे कृष्ण से सहमत ही न हो जाएँ। कहीं यादव वीर पांडवों की सहायता ही न करने लगें।···

युधिष्ठिर का मन बलराम की उक्ति में अटक गया था।··· वे कृष्ण के विरुद्ध भी नहीं जा सकते थे और कौरवों का विनाश देखकर उस स्थिति में उनकी उपेक्षा भी नहीं कर सकते थे—क्या अर्थ है इसका ? यदि पांडव कौरवों का संहार करेंगे तो बलराम कौरवों का पक्ष लेकर, पांडवों के विरुद्ध युद्ध करने लगेंगे ? बलराम के मन में पांडवों के लिए तो कभी इतनी सहानुभूति नहीं जगी। वे कहते हैं कि वे मध्यस्थ हैं, किंतु युधिष्ठिर

को तो आज तक इसका कोई प्रमाण नहीं मिला। उनका कहना है कि भीम और दुर्योधन उन्हें समान रूप से प्रिय हैं, किंतु इसका प्रमाण उन्होंने कभी नहीं दिया। वे सदा दुर्योधन का ही पक्ष प्रस्तुत करते दिखाई पड़े।··· कौरवों से इतने स्नेह का कारण ? पांडवों के विनाश के विषय में तो कोई चिंता प्रकट नहीं कर रहे वे। क्या वे मानते हैं कि पांडवों पर किसी प्रकार का कोई संकट ही नहीं है ? पांडवों को कौरवों से बहुत अधिक शक्तिशाली समझते हैं वे ?··· नहीं, कदाचित् यह बात नहीं है। वे कृष्ण के कारण कौरवों को संकटग्रस्त मानते हैं। उन्हें पांडवों से नहीं कृष्ण से भय लगता है, इसीलिए कृष्ण को युद्ध से विरत करने का प्रयत्न करते जा रहे हैं।··· उधर वह गद भी है।··· हाँ ! रोहिणीपुत्र होने के कारण वह कृष्ण की अपेक्षा बलराम को अपने अधिक निकट मानता होगा।

पर इस प्रद्युम्न को क्या हो गया है ? वह क्यों कृष्ण से रूठा-रूठा घूम रहा है ? ताऊ, अपने पिता से भी अधिक प्रिय हो गए ? सारा जीवन तो कृष्ण जन सामान्य और राज समाज में इतने लोकप्रिय थे कि बलराम सदा कुढ़ते ही रहे कि कृष्ण की उपस्थिति में कोई उनकी ओर ध्यान भी नहीं देता और यहाँ अपने ही घर में बलराम की लोकप्रियता कृष्ण को सर्वथा अकेला कर गई है।··· हाँ ! प्रद्युम्न आरंभ से ही विद्रोही रहा है। शंबर के घर से लौटा था तब से ही विद्रोही था। कृष्ण और रुक्मिणी दोनों ही उसकी पत्नी माया को पाकर बहुत प्रसन्न नहीं थे। कृष्ण तो फिर भी किसी प्रकार मान गए थे, अथवा उन्होंने स्वयं को समझा लिया था, किंतु रुक्मिणी का विरोध कदाचित् कभी शांत नहीं हुआ। अपनी पुत्रवधू के रूप में अपने पुत्र से अवस्था में बारह वर्ष बड़ी स्त्री को वे स्वीकार नहीं कर पाई, तो उसके लिए उन्हें दोषी तो नहीं ठहराया जा सकता। कृष्ण ने इस विषय में कभी रुक्मिणी का विरोध नहीं किया। क्या प्रद्युम्न उसका प्रतिशोध ले रहा है कृष्ण से ? उनका विरोध करने के लिए बलराम के पक्ष में खड़ा हो गया है ?··· अथवा यह और कुछ नहीं, बस धर्म के प्रति उदासीनता मात्र है ? संभव है कि उसे यह युद्ध अनावश्यक लगता हो।··· पुत्र भी कैसे-कैसे अपने पिता के लिए पराए हो जाते हैं।···

सांब का कृष्ण के प्रति विरोध तो उसी दिन प्रस्फुटित होने लगा था, जिस दिन दुर्योधन ने उसे अपने जामाता के रूप में स्वीकार किया था और लक्ष्मणा उसके जीवन में आई थी। वह कभी समझ नहीं पाया कि कृष्ण और दुर्योधन में कभी कोई मैत्री नहीं हो सकती, और वह जितना ही दुर्योधन की ओर प्रवृत्त होता जाएगा, उतना ही अपने पिता से दूर होता जाएगा।··· और यह चारुदेष्ण ? उसके विषय में तो कुछ भी समझ में नहीं आता। होगा उसका भी अपना कोई कारण।···

"वासुदेव बलराम !" युधिष्ठिर बोले, "आप हमारे युद्ध-शिविर में आए हैं, इसलिए आपका सम्यक् सत्कार तो नहीं हो सकता, किंतु आप हमारे साथ भोजन तो करेंगे न ?"

बलराम ने युधिष्ठिर को एक शून्य दृष्टि से देखा, जैसे समझ न पा रहे हों कि क्या कहें । फिर अपने आक्रोश के प्रवाह में ही बोले, "भोजन से क्या विरोध है मेरा। यह तो कृष्ण ही है, जो नापता-तौलता रहता है कि किसके घर भोजन करना है और किसके घर नहीं करना है।..."

तो कृष्ण के प्रति उनका रोष था कि समाप्त ही नहीं हो सकता था।... वे इस बात से भी रुष्ट थे कि कृष्ण ने दुर्योधन के घर भोजन क्यों नहीं किया।... पवित्रता और अपवित्रता की तो बात ही दूर, वे यह भी नहीं सोच रहे थे कि कृष्ण का अपनी सुरक्षा की दृष्टि से भी दुर्योधन के घर खाना उचित नहीं था।... जो व्यक्ति भीम को विष दे सकता था, वह कृष्ण के भोजन में भी विष मिला सकता था।...

अर्जुन का ध्यान निरंतर इस ओर जा रहा था कि कृष्ण ने बलराम के इन वक्तव्यों पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की थी। वे सहज रूप से अपने भाई को देख रहे थे। उनके मुख पर सहज उल्लसित भाव था। कदाचित् बलराम को कृष्ण की यह अविचलित मानसिकता भी कष्ट पहुँचा रही थी।... और अर्जुन के मन में एक प्रश्न उठ रहा था ... बलराम ने मध्यस्थ का स्थान ग्रहण किया था तो ठीक था। वे मध्यस्थ ही रहते। वे युद्ध नहीं करना चाहते थे, न करते। वे तीर्थाटन करने जा रहे थे, जाते ; किंतु वे यहां युद्ध-शिविर में क्यों प्रकट हो गए हैं ? क्या प्रयोजन है, इसका ?... वे अपना आक्रोश रोक नहीं पाए और उसे व्यक्त करने के लिए इतनी दूर चले आए, अथवा यह उनका अंतिम प्रयत्न है, दुर्योधन की सहायता का ? वे कृष्ण का क्रोध जगाने का प्रयत्न कर रहे हैं, अथवा फिर... स्वयं तो आए हैं, ठीक है, किंतु अन्य यादवों और विशेष कर कृष्ण के पुत्रों को इस प्रकार साथ लाकर कृष्ण के प्रति अपना क्षोभ व्यक्त करने का क्या प्रयोजन है ? क्या इन सबसे वे अपना महत्त्व बढ़ा रहे हैं ? यादवों में अपनी प्रतिष्ठा जगा रहे हैं ?...

"प्रद्युम्न !" सहसा कृष्ण बोले, "तुम अपने भाइयों से मिलना नहीं चाहोगे ? वे सब यहीं हैं, इस युद्ध-शिविर में, अपने पिता के साथ। वे तुम्हारे शिष्य भी रहे हैं। इस युद्ध में वे भी अपना युद्धकौशल दिखाएँगे।"

"कौन ? अभिमन्यु, यहाँ है ?" प्रद्युम्न कुछ सकपकाकर बोला, "वह युद्धक्षेत्र में आ गया ? वह तो इतना छोटा-सा है। मैं तो इसी बात से चकित था कि उसका अभी से विवाह कैसे कर दिया गया ?..."

"अपना विवाह कदाचित् तुम भूल गए हो।" कृष्ण मुस्कराए, "तुम्हारी क्या अवस्था थी, जब तुम अपनी इच्छा से विवाह कर, अपनी पत्नी को साथ लेकर घर लौटे थे।"

प्रद्युम्न क्षण भर को कुछ संभ्रमित हुआ और फिर सँभल गया, "मेरा जिन परिस्थितियों में पालन-पोषण हुआ था, क्या अभिमन्यु, भी उन्हीं परिस्थितियों में बड़ा हुआ है ?" स्पष्टतः वह अपना बचाव करने के लिए कुछ उग्र हो गया था।

"नहीं तुम्हारी परिस्थितियाँ पर्याप्त भिन्न थीं।" कृष्ण बोले, "माता-पिता के घर से तुम्हारा अपहरण हो गया था। तुम स्वयं भी पूरी तरह नहीं जानते थे कि तुम कौन हो। तुम अपने ही शत्रु के घर में अज्ञात रूप से पल रहे थे। तुम्हारा वहाँ से मुक्त होकर घर लौटना आवश्यक था। किंतु तुम कामदेव के अवतार हो। तुम में काम-भाव बहुत अधिक है, इसलिए तुम शंवर के प्रासाद में अपने साथ सेवा करने वाली एक दासी से प्रेम कर बैठे, जो तुमसे कम-से-कम बारह वर्ष बड़ी थी···

"उसने मेरा पालन-पोषण किया था पिताजी !" प्रद्युम्न कुछ आवेश में बोला।

"पालन-पोषण करनेवाली तो माता होती है पुत्र !" कृष्ण मुस्कराए, "वैसे तुम जानते हो, मेरा माया से कोई विरोध नहीं है। मैंने तो केवल स्मरण कराया कि विवाह की अपनी बाध्यताएँ होती हैं। वैसे अभिमन्यु का विवाह उसके पिता की इच्छा से हुआ है। उसने प्रेम के नाम पर नहीं, कर्तव्य के नाम पर विवाह किया है।···" वे रुके और तत्काल बोले, "वैसे भोजन के समय तुम्हारी भेंट केवल अभिमन्यु से ही नहीं, प्रतिविंध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतसेन से भी हो जाएगी।"

"वहाँ यौद्धेय, सर्वग, निरमित्र और सहोत्र भी होंगे।" भीम ने कहा, "और यदि चाहो तो इरावान तथा घटोत्कच से भी मिल सकते हो। उलूपी तथा अर्जुन के पुत्र इरावान के विषय में जानते हो न ? मेरे तथा हिडिंबा के पुत्र का नाम घटोत्कच है।"

प्रद्युम्न ने कुछ नहीं कहा। बस, मुस्कराकर रह गया।

तब तक कृष्ण का ध्यान दूसरी ओर जा चुका था, "वैसे सांब ! तुम तीर्थाटन करने क्यों जा रहे हो ? तुम्हारी रुचि कुछ अध्यात्म की ओर मुड़ी है क्या ?"

"कान्हा ! तुम इन बच्चों को इनके ताऊ के विरुद्ध भड़का रहे हो।"

"नहीं दाऊ ! उन्हें तीर्थ का महत्त्व समझा रहा हूँ। यह न हो कि वे पर्यटन और तीर्थ का अंतर ही न समझ पाएँ।" कृष्ण बोले, "सृष्टि तो ब्रह्म का ही रूप है। उस से प्रेम का तात्पर्य ब्रह्म से ही प्रेम करना है। सृष्टि को जानना भी ब्रह्म को ही जानना है। जिस स्थान को देखकर मन का मल विगलित हो, मन में पवित्रता आए, सात्विक भाव जागें, और स्रष्टा का स्मरण हो आए, वही तो तीर्थ है।" कृष्ण रुके, "मन में यह भाव लेकर तीर्थ करने मत जाना कि तुम क्षत्रिय हो कर भी एक धर्मसंगत युद्ध से पलायन करने के लिए तीर्थ की ओट ले रहे हो।···"

सांब तो कुछ नहीं बोला, उसके स्थान पर बलराम बोले, "न यह धर्मसंगत युद्ध है, न हम तीर्थ के व्याज से इससे पलायन कर रहे हैं। मैं तो इस पारस्परिक विनाश को रोकने के लिए प्रयत्नशील हूँ।"

"आइए। आप लोग अब भोजन के लिए आइए।" युधिष्ठिर ने कहा, "हम सब की अपनी-अपनी मान्यताएँ और धारणाएँ हैं। उनका समाधान तर्क से नहीं हो पाएगा। यह तो महाकाल ही अपनी यात्रा में निश्चित करेगा कि सत्य क्या है और सत्य पक्ष कौन-सा है।"

में द्रौपदी को दाँव पर लगाने को वाध्य किया था··· और अव दुर्योधन उसी के पुत्र को दूत वनाकर पांडवों के पास भेज रहा था।··· उन्हें चिढ़ाने के लिए ही तो।··· भीम को क्रोध से विक्षिप्त करने के लिए ही तो।···

उलूक के जाने के पहले तो भीष्म को यह ज्ञात ही नहीं था कि वह क्या संदेश ले जा रहा था। पता तो उन्हें तब चला था, जब उलूक पांडवों का संदेश लेकर लौटा था।··· वे प्रधान सेनापति थे। युद्धकाल में उनकी सत्ता सर्वोपरि थी। उनके आदेश के विना किसी दूत को कहीं जाना ही नहीं चाहिए था।··· किंतु यहाँ दुर्योधन उपस्थित था, जो स्वयं को राजा मानता था और राजा को अपने सेनापति से कुछ भी पूछने की आवश्यकता नहीं थी।···

उलूक को उसने पांडवों को बहुत ही निकृष्ट ढंग से ललकारने के लिए भेजा था। संदेश क्या था, प्रत्यक्ष अपमान का प्रयत्न था। वह तो पांडवों का स्कंधावार था, जहाँ का राजा युधिष्ठिर था ; इसलिए उसने दूत को अवध्य मानते हुए, उलूक को जीवित लौटा दिया था, अन्यथा ऐसे संदेश के पश्चात् दूत के प्राणों के बचने की कोई संभावना नहीं थी। संदेश क्या था, पांडवों को उनके प्रत्येक कष्ट और प्रत्येक अपमान का स्मरण अत्यंत भोंडे ढंग से कराया गया था। उसने एक-एक कर बार-बार युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव को ही नहीं, श्रीकृष्ण को भी अभद्र भाषा में उनके अपमान का स्मरण करा कर कहा था कि यदि पुरुप हो तो कल प्रातः ही युद्धक्षेत्र में आ जाओ। उसने उन्हें वार-वार द्रौपदी के अपमान का स्मरण कराया था और कहा था कि यदि तुम नपुंसक न होते तो कोई तुम्हारी पत्नी को इस प्रकार अपमानित कैसे कर लेता।··· नपुंसक नहीं हो तो कल प्रातः ही समरभूमि में आ जाओ।···

विचित्र वात यह थी कि उस सारे संदेश में स्वयं भीष्म और द्रोण के शौर्य की वहुत चर्चा थी। वार-वार यह कहा गया था कि वे भीष्म को कभी पराजित नहीं कर सकते। इसलिए उनको उनका राज्य कभी वापस नहीं मिल सकता।··· तो उसका क्या उत्तर हो सकता था ? अर्जुन का संदेश आया था कि वह दुर्योधन के सम्मुख उनके देखते-देखते कुरुओं के गौरव भीष्म का वध करेगा। उसने एक वार प्रतिज्ञा की, उसे वार-वार प्रतिज्ञा करने की आवश्यकता नहीं है। भीम ने कहा कि द्यूतसभा में क्षत्रिय-समाज के सम्मुख की गई अपनी प्रतिज्ञा को वह पूर्णतः सत्य करके दिखाएगा। वह वस्तुतः दुःशासन का वक्ष फाड़कर उसका रक्त पिएगा और दुर्योधन के सारे भाइयों का वध कर उसकी भी जंघा तोड़ेगा। श्रीकृष्ण ने भी कह दिया कि कल प्रातः युद्ध में दुर्योधन सामने आए और देखे कि कौन किसका वध करता है···

भीष्म समझ नहीं पाए कि वे क्या करें ? वे दुर्योधन के इन सारे दुष्कृत्यों का समर्थन नहीं कर सकते। वे स्वयं को उसका वेतनभोगी कर्मचारी भी नहीं मानते कि अपना कर्तव्य मानकर वे उसके पक्ष से युद्ध करें, उसकी सेवा करें।···पर उन्हें कुरुकुल की रक्षा करनी है। वे इस युद्ध से उदासीन हो जाएं अथवा तटस्थ होकर बैठ जाएँ तो

क्या यह युद्ध रुक जाएगा ? दुर्योधन अपने मंत्रियों और मित्रों से उत्तेजना पाकर और भी क्रूर नहीं हो जाएगा ?··· उसने यह स्थिति तो उत्पन्न कर ही दी है कि अर्जुन जैसा शालीन पौत्र भी अपने पितामह के वध की प्रतिज्ञा कर रहा है···

उनका मन थम गया।··· तो इसमें अर्जुन का क्या दोष है ? वे भी तो उनके चिर शत्रु के प्रधान सेनापति बनकर युद्ध में उतर रहे हैं। वह उनके वध की बात नहीं करेगा तो विजय कैसे प्राप्त कोगा ? अपने विरुद्ध खड़े शत्रु का वध करना तो क्षत्रिय का धर्म है।··· वे पांडवों के शत्रु नहीं हैं।··· पर दुर्योधन तो पांडवों का शत्रु है ही; और वे उसके प्रधान सेनापति हैं।···

वे तटस्थ नहीं रह सकते तो वे पांडवों के पक्ष से युद्ध क्यों नहीं करते ? इस पापी दुर्योधन को उसके पापों का दंड क्यों नहीं देते ?··· पर नहीं ! कौरवों की रक्षा की प्रतिज्ञा का अर्थ दुर्योधन का वध तो नहीं है। पांडवों के पक्ष से वे युद्ध कैसे कर सकते हैं। उनके शत्रु द्रुपद उस ओर हैं।··· उन की हत्या का संकल्प कर युद्ध में आने वाला शिखंडी उस ओर है।··· दुर्योधन के पक्ष में कोई उनके वध की प्रतिज्ञा कर नहीं आया है। कोई उनका शत्रु नहीं है।··· नहीं है ? स्वयं दुर्योधन ही कुरुकुल का शत्रु होने के कारण उनका शत्रु नहीं है ?··· भीष्म कुछ समझ नहीं पाते हैं। निर्णय नहीं कर पाते हैं। इसलिए कौरव उसी दिशा में बढ़ते जा रहे हैं, जिधर दुर्योधन उनको ले जाना चाहता है।··· दुर्योधन चाहता है अथवा स्वयं महाकाल की भी यही इच्छा है ? ··· राजाओं की यह फसल पक गई लगती है।···

उलूक को भेजने के पश्चात् दुर्योधन ने उनसे अपनी सेना के योद्धाओं की शक्ति का अनुमान जानना चाहा था। जानता तो वह रहा ही होगा। अपने पक्ष के योद्धाओं का उत्साह बढ़ाना चाहता होगा।··· अथवा अपनी हताशा दूर करने की आवश्यकता आ पड़ी थी उसे ?··· उन्होंने अपने पक्ष के सारे योद्धाओं का परिचय दिया था। नहीं ! यह परिचय नहीं था, यह तो उनका मूल्यांकन था।··· सबका मूल्यांकन हो गया तो कर्ण की बारी आई थी।··· कर्ण पहले ही प्रतिज्ञा कर चुका था कि वह भीष्म के होते हुए युद्ध नहीं करेगा। भीष्म ने भी सेनापतित्व स्वीकार करते हुए, स्पष्ट रूप से कहा था कि वे कर्ण से मिलकर नहीं लड़ेंगे। या तो कर्ण लड़ ले या फिर वे लड़ेंगे।··· पर फिर भी कर्ण उस दुर्योधन के साथ लगा-लगा, समरभूमि तक चला आया है। वह युद्ध नहीं करेगा, किंतु युद्ध संबंधी अनेक दायित्व तो दुर्योधन ने उसे सौंप ही रखे हैं। स्कंधावार की स्थापना में भी उसका ही अधिक हाथ है। तो फिर युद्धभूमि उससे अपना पीछा कैसे छुड़ा ले।···

कर्ण का परिचय देने की बारी आई तो भीष्म की दृष्टि सहज ही उसके दोषों पर गई। उन्होंने दुर्योधन से कहा, "कर्ण रणक्षेत्र में वीरता का नहीं, क्रूरता का परिचय देता है। वह कटुभाषी, आत्मप्रशंसक और नीच है। दुर्योधन ! यह तुम्हारा मंत्री, नेता और बंधु बना हुआ है। वह अभिमानी तो है ही, तुम्हारा आश्रय पाकर कुछ अधिक

ही ऊँचा चढ़ गया है। यह अतिरथी तो क्या महारथी भी नहीं है, यह अर्द्धरथी है। जिस अर्जुन को पराजित करने का लक्ष्य ले कर यह जी रहा है, उस अर्जुन से भिड़ने पर यह कदापि जीवित नहीं बच सकता।"

द्रोणाचार्य मौन नहीं रहे। उन्होंने तत्काल ही भीष्म का समर्थन कर दिया था, "मैं आप से पूर्णतः सहमत हूँ। प्रत्येक युद्ध में कर्ण अहंकार तो बहुत प्रदर्शित करता है, गर्वोक्तियों के पर्वतों का निर्माण करता है, किंतु युद्ध करने के स्थान पर वहाँ से भागता हुआ ही दिखाई देता है।"

इतना सुनना था कि कर्ण सारी मर्यादा भूल गया। उसका उच्छृंखल रूप प्रकट हो गया। कटु वाणी में बोला, "इस वृद्ध भीष्म को सदा मुझसे द्वेष रहा है।..."

क्यों रहा है, यह उसने बताया नहीं, बताता भी क्या ?...

"तुम सदा मुझे अपमानित करने का प्रयत्न करते रहते हो।" वह बोला, "तुम मुझे मूर्ख और कायर समझते हो। वस्तुतः तुम मुझसे नहीं, कौरवों से ही द्वेष करते हो। तुम्हारे मन में पांडवों के प्रति अंध प्रेम है। इसलिए तुम कौरवों का अहित करने के लिए युद्ध के इस संकटपूर्ण अवसर पर उनमें मतभेद उत्पन्न करना चाहते हो। उन में विभाजन करना चाहते हो। अपने ही पक्ष के योद्धाओं का उत्साह और तेज नष्ट करना चाहते हो। क्यों ? क्योंकि तुम दुर्योधन के हितैषी नहीं हो। तुम उसके प्रधान सेनापति तो बन गए हो किंतु उसे नष्ट करना चाहते हो। अपना यह छद्म वेश उतारो और अपना पक्ष स्पष्ट करो।..."

तब उसे लगा होगा कि इतना भर ही पर्याप्त नहीं है। वह भीष्म को जितना पीड़ित करना चाहता था, उतना वह कर नहीं पाया है। उसके शब्द कुछ अधिक कटु होने चाहिए। भीष्म ने उसे कटुभाषी कहा था।

"बड़ी अवस्था के कारण, सिर के केश श्वेत हो जाने के कारण कोई महारथी नहीं हो जाता। बड़ी अवस्था का सम्मान क्षत्रियों में नहीं, शूद्रों में होता है।" उसने जैसे अपने हृदय का विष उगला, "अधिक धन संचित कर लेने से भी कोई महारथी नहीं हो जाता। भाई-बंधुओं की अधिक संख्या भी किसी को महारथी नहीं बना देती।"

"इस सूतपुत्र को शांत करो दुर्योधन !" भीष्म ने कहा था।

लगा जैसे अकस्मात् ही कर्ण की क्रोधाग्नि धधक उठी। उसे इतने आवेश में भीष्म ने पहले कभी नहीं देखा था। उनके मन में एक शंका भी जागी : कहीं इसके मुँह से झाग ही न गिरने लगे। कहीं, यह आवेश में अचेत होकर ही न गिर पड़े।...

"सूतपुत्र नहीं हूँ मैं।" कर्ण के स्वर में ऐसी भयंकर गर्जना थी कि कहीं वह विक्षिप्त तो नहीं हो गया... और सहसा कर्ण जैसे कुछ सचेत हो गया, "मैं किसी क्षत्रिय से कम वीर नहीं हूँ।" वह दुर्योधन की ओर मुड़ गया, "यह भीष्म, दुर्भाव से दूषित होकर तुम्हारी निन्दा कर रहा है। अपना हित चाहते हो तो इसे अभी त्याग दो। कहाँ रथियों और महारथियों को समझना और कहाँ अल्पबुद्धि भीष्म। अति वृद्ध है यह। इस

की बातें श्रवणीय नहीं हैं। वृद्धावस्था के अतिरेक के कारण इसका मस्तिष्क जड़ हो चुका है।··· इसका त्याग करो। मैं अकेला ही पांडवों की सेना को आगे बढ़ने से रोक दूँगा। मेरे समरभूमि में उतरते ही पांडव और पांचाल दसों दिशाओं में भाग जाएँगे।"

भीष्म देखते रहे उसकी ओर··· वे जानते थे कि उसे सूतपुत्र कहलाना अच्छा नहीं लगता था। वह स्वयं सूत नहीं था, क्षत्रिय था, इसलिए सूतपुत्र होने का कलंक वह अपने माथे से मिटा देना चाहता था। पर आज उसका क्रोध कुछ असाधारण ही था। वह पीड़ा में कुछ इस प्रकार चिल्लाया था, जैसे उसके घायल वक्ष पर किसी बलिष्ठ अश्व की शक्तिशाली टाप पड़ गई हो।··· भीष्म से यह भी नहीं छुपा था कि अपने सूतपुत्र न होने की घोषणा के पश्चात् जो कुछ कहना उसके लिए स्वाभाविक था, वह सब नहीं कहा था उसने। उसको वह पी गया था, सायास।··· उस प्रवाह में उसे अपने विषय में ही कहना चाहिए था, पर अकस्मात् ही वह दुर्योधन की ओर मुड़ गया और भीष्म को त्याग देने की बात करने लगा था।

भीष्म को यह भी लगा कि ऐसे अवसरों पर प्रायः जो वह पांडवों को नष्ट करने की बात किया करता था, वह सब उसने आज नहीं कहा है। वह उनको रोक लेने की बात कह रहा था। उसे देखकर पांडवों के भाग जाने की बात तो उसने कही थी, किंतु उनके वध की गर्वोक्ति नहीं की थी, न ही वैसी कोई प्रतिज्ञा ही की।··· पांडवों के प्रति आज वह वैसा कठोर क्यों नहीं था। ?···

"जब कर सकते हो तो कल प्रातः ही पांडवों का विनाश क्यों नहीं करते ?" अश्वत्थामा ने कहा, "युद्ध न करने की प्रतिज्ञा किए क्यों बैठे हो ?"

"क्योंकि सेना की विजय का यश सेनापति को मिलता है। सेनापति भीष्म है। पांडवों का विनाश मैं करूँगा और उसका सारा यश भीष्म को मिलेगा।" कर्ण ने कुछ अटपटाकर कहा, "भीष्म के जीते जी मैं कोई युद्ध नहीं करूँगा। भीष्म की मृत्यु के पश्चात् मैं सारे महारथियों के साथ अकेला ही टक्कर लूँगा।"

भीष्म सोचते रहे। वे देख रहे थे, युद्ध सिर पर था। इस समय यदि किसी भी कारण कौरवों की सेना दुर्बल हुई तो पांडवों की विजय होगी और युधिष्ठिर के न चाहने पर भी वह होगा, जो तनिक भी शुभ नहीं है। उनकी हत्या होगी तो होगी, द्रोणाचार्य को धृष्टद्युम्न कदापि जीवित नहीं छोड़ेगा। वे इस समय कौरव सेना को दुर्बल नहीं कर सकते थे।··· पर यह कर्ण।···

"सिर पर एक भयंकर युद्ध है। इस समय अपनी सेना में पारस्परिक मतभेद उत्पन्न करना उचित नहीं है, इसलिए तू अभी तक जीवित है।" भीष्म को लगा कि वे और शांत नहीं रह सकते, "नीच ! कुलांगार ! साधु पुरुष अपने बल की चर्चा करने को शालीनता नहीं मानते, तथापि तेरे व्यवहार से संतप्त होकर मैं अपनी प्रशंसा कर रहा हूँ। तू वैर का मूर्तिमान स्वरूप है। तेरा सहारा पाकर कुरुकुल के विनाश के लिए यह भयंकर अन्याय उपस्थित हो गया है। दुमर्ते ! जिससे तू स्पर्धा करता है, उस अर्जुन

से समर भूमि में युद्ध कर । मैं देखूँगा, इस संग्राम में तू किस प्रकार बच पाता है।…"

दुर्योधन यह नहीं चाहता था। कर्ण द्वारा भीष्म का अपमान उसे कुछ-कुछ अच्छा लगता था। उससे वह भीष्म के तेज को नियंत्रित रखना चाहता था। भीष्म के मन में पांडवों के प्रति जो स्नेह था, उसके लिए उन्हें पीड़ित करते रहना, वह बहुत आवश्यक मानता था।… किंतु उसने यह नहीं चाहा था कि वे दोनों इस सीमा तक भिड़ जाएँ कि अभी उनके शस्त्र निकल आएँ और पांडवों से लड़ने के स्थान पर वे परस्पर युद्ध करते दिखाई दें।

"पितामह, शांत हो जाइए। मैं कर्ण की ओर से आपसे क्षमा माँगता हूँ।" दुर्योधन बोला, "आप सोचिए तो हमारा शत्रु कैसा बलवान है और हम आपस में ही लड़ रहे हैं। मैं आप में से किसी का भी अपमान अथवा क्षति नहीं देख सकता। अंततः तो वह मेरी ही क्षति हैं। आप मेरा मुख देखकर कर्ण को क्षमा कर दें। वह भी मेरी ही जय के लिए इस प्रकार व्याकुल है। आप उसे मेरा ही एक यंत्र समझिए।…"

"मैं समझता हूँ।" भीष्म बोले "किंतु अपने इस यंत्र को नियंत्रण में रखो। ऐसा न हो कि वह अपने ही लोगों को रौंदने लगे। अपना हाथी मदांध होकर अपनी सेना को कुचलने लगे तो उसका भी वध करना पड़ता है।" भीष्म ने कठोर दृष्टि से दुर्योधन को देखा, "वह तुम्हारा मित्र है और अकेला ही सारे महारथियों से टक्कर ले सकता है। पर मैंने तुम्हें पहले ही बता दिया है कि मैं पांडवों का वध नहीं करूँगा। वे मेरे लिए अवध्य हैं।… और मैं शिखंडी पर भी शस्त्र प्रहार नहीं करूँगा। तुम चाहो तो अब भी अपना सेनापति बदल सकते हो। तुम्हारे पास मुझसे भी श्रेष्ठ सेनापति है।…" भीष्म की दृष्टि कर्ण पर जा टिकी थी।

"नहीं पितामह ! ऐसी कोई बात नहीं हैं" दुर्योधन बोला, "आप शांत रहें। कर्ण आपके सम्मुख भी नहीं पड़ेगा।" उसने कर्ण की ओर देखा और कर्ण उसका अभिप्राय समझकर उस मंडप से बाहर निकल गया, "हमें कल प्रातः ही समरभूमि में जाना है। आप देख लें कि हमारी सेना उसके लिए तैयार है न !"

"ठीक है। हमारी सेना कल समरभूमि में जाएगी।" भीष्म ने गंभीर स्वर में कहा।

34

कुरुक्षेत्र में कौरवों और पांडवों की सेनाएँ आमने-सामने डट गई।

दुर्योधन अपने रथ में खड़ा चारों ओर देखता रहा। अपनी ओर से वह अपनी सेना का एक सर्वेक्षण भी कर आया था। सेना के प्रयाण के समय तक उसके मन में उल्लास का पारावार उमड़ रहा था। पितामह भीष्म का रथ रणक्षेत्र में आ गया तो जैसे उसे विजय अपने सामने खड़ी दिखाई दी थी।… किंतु कुछ क्षणों के पश्चात् उल्लास

के उस ज्वार का भाटा भी आया।··· कभी-कभी वह स्वयं अपने-आप से रुष्ट हो जाया करता था। उसका सुख, सुख के रूप में ही क्यों नहीं आता। वह सागर के ज्वार-भाटा जैसा क्यों होता है। वह सुख के पर्वत पर क्यों नहीं चढ़ता, जहाँ वह स्थिर रह सके। वह सागर की तरंग के रूप में क्यों आता है, जिसका ऊपर जाकर नीचे आना अनिवार्य है। कदाचित् यह प्रवृत्ति उसे अपने पिता से उत्तराधिकार में मिली थी। वे भी उत्साह में आते हैं तो इतने दुस्साहसी हो जाते हैं, जैसे सिंह की भी ग्रीवा मरोड़ देंगे; और जव उत्साह का ज्वार, उतार पर होता है, तो वे एक मूपक से भी डर जाते है। ···उसके साथ भी तो यही होता है। मद के समान उत्साह चढ़ता है और जव अवसाद घिरता है तो उसे सँभालने के लिए सुरापान ही एक मात्र सहारा दिखाई पड़ता है।

···उसके मन की आशंकाएँ किसी भी प्रकार मिट ही नहीं रही थीं। पितामह उसके प्रधान सेनापति होने पर भी मूलतः उसके पितामह ही थे। वह उनको अपना कर्मचारी मानता रहे; किंतु किस समय वे अपने मन में पुनः उसके पितामह हो जाएँगे, इसे वह नहीं जानता। आज उनके मन में पांडवों का प्रेम जागा और उन्होंने पांडवों का वध करना अस्वीकार कर दिया, जाने कव उनके मन में पांडवों की सेना के प्रति ममत्व जाग उठे और वे उसका भी संहार करना अस्वीकार कर दें। इन वृद्धों की मनोदिशा वदलने में समय ही कितना लगता है।···

पर कोई वात नहीं, उसके पास द्रोणाचार्य थे।··· ठीक है कि आचार्य, किसी भी प्रकार पितामह की समकक्षता नहीं कर सकते; किंतु इन पांडवों को तो ठिकाने लगा ही सकते हैं। अर्जुन को आचार्य ही ने तो धनुर्धर वनाया है। कुछ तो ऐसा होगा जो उन्होंने अपने पास रखा होगा कि अर्जुन कभी भी उन पर भारी न पड़े। अर्जुन ने जो कुछ पाया, द्रोण और कृपाचार्य से ही पाया; किंतु द्रोणाचार्य के पास तो शरद्वान, महर्षि अग्निवेश तथा महापराक्रमी परशुराम तक की विद्या है।··· अर्जुन द्रोणाचार्य का प्रिय शिष्य है; किंतु ये पांडव इतने मूर्ख हैं कि द्रुपद, धृष्टद्युम्न और शिखंडी को साथ लेकर हस्तिनापुर की सेना से लड़ने आए हैं। द्रुपद को देखते ही आचार्य के मस्तक को रक्त चढ़ जाएगा। पितामह भी किसी भी अवस्था में पांचालों से हस्तिनापुर की रक्षा करना चाहेंगे। वे कौरवों पर द्रुपद का आधिपत्य तो दूर, उसकी मैत्री भी स्वीकार नहीं करेंगे।···दुर्योधन मन-ही-मन हंसा··· पांचालों से संवंध कर लेना ही पर्याप्त नहीं था कि ये मूर्ख उन्हें साथ लेकर हस्तिनापुर पर चढ़ आए हैं।

दुर्योधन को लग रहा था कि पांडव युद्ध करने नहीं आए, आत्महत्या करने आए हैं।···पितामह और आचार्य सेना को नष्ट कर लें तो दुर्योधन पितामह को हटा, कर्ण को वुला लाएगा। अर्जुन के शरीर के गिरते ही पांडवों के ध्वज का पतन आरंभ हो जाएगा। उस मोटे भीम को तो वह अपने हाथों से मारना चाहता है। उसकी गदा के प्रहार से जव वह धराशायी होगा तो इंद्रप्रस्थ और हस्तिनापुर का राज्य स्थायी रूप से दुर्योधन का हो जाएगा। युधिष्ठिर और उसके उन दो छोटे भाइयों नकुल और सहदेव को मारना

क्या कठिन है। वे तो स्वयं ही मर जाएँगे। पर यह कर्ण ने क्या किया···

दुर्योधन को लगा कि उसके मन में प्रतिज्ञाओं में बंधनेवाले इन मूर्खों के लिए कोई सहानुभूति नहीं है। भीष्म और युधिष्ठिर ही क्या कम थे प्रतिज्ञाओं में बँधने के लिए कि कर्ण ने भी प्रतिज्ञा कर डाली कि पितामह उसे सभा और युद्धक्षेत्र में नहीं देखेंगे। वह उनके पतन के पश्चात् ही युद्धक्षेत्र में प्रवेश करेगा। उसने यह नहीं सोचा कि यह युद्ध पितामह का नहीं, दुर्योधन का है। यदि वह युद्ध नहीं करेगा तो उससे पितामह की कोई हानि नहीं होगी, हानि तो दुर्योधन की है। पर इस समय कोई उसकी नहीं सुन रहा है। युद्धकाल उपस्थित है, इसलिए दुर्योधन किसी को रुष्ट भी नहीं कर सकता। सब अपना-अपना भाव बढ़ा रहे हैं। कर्ण ने कह दिया कि वह पितामह के होते नहीं लड़ेगा और पितामह ने प्रतिज्ञा कर ली कि वे न पांडवों का वध करेंगे न किसी स्त्री अथवा पहले स्त्री रह चुके पुरुष पर शस्त्र उठाएँगे।··· पता नहीं ये सारी मूर्खतापूर्ण प्रतिज्ञाएँ उसके ही पक्ष के लोग क्यों कर रहे हैं।···

उसके पक्ष के ही क्यों ? कृष्ण ने भी तो ऐसी प्रतिज्ञा कर ली है कि पांडवों की आधी से अधिक शक्ति ही समाप्त हो गई है। नारायणी सेना भी उसे दे दी और स्वयं शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा भी कर ली।··· दुर्योधन सोचता है तो उसे हँसी आती है। लोग अपनी जड़ों पर स्वयं ही कैसे कुठाराघात कर लेते हैं।···

जो भी हो, पितामह को बचाना होगा।··· पर वह पितामह को तो तब ही बचा सकता है, जब वे स्वयं को बचाना चाहें। कई बार तो उसे लगता है कि पितामह उस की ओर से लड़ना चाहते भी हैं और नहीं भी चाहते। पांचालों के विरुद्ध वे लड़ना चाहते हैं और पांडवों के विरुद्ध नहीं लड़ना चाहते··· किंतु दुर्योधन क्या करे, पांचाल और पांडव एक ही पक्ष में हैं··· दुर्योधन को पितामह की क्षमता पर विश्वास है, किंतु उनके मन पर विश्वास नहीं है। वे उसे किसी भी क्षण धोखा दे सकते हैं। उसे सावधान रहना होगा।···

पितामह की ओर बढ़ता उसका रथ रुक गया। उसने अपने सारथि को संकेत किया। वह धीरे-धीरे चलता हुआ आचार्य द्रोण के पास आ गया। रथ पर बैठकर आचार्य से बात नहीं हो सकती थी। वह रथ से उतर आया।

"आचार्य ! शत्रु की सेना देख रहे हैं। मुझे तो नहीं लगता कि यह पांडवों की सेना है।" उसने ध्यान से आचार्य के चेहरे को देखा, "मुझे तो यह पांचालों की सेना दिखाई देती है। देखिए भीम और अर्जुन के होते हुए भी उनका प्रधान सेनापति धृष्टद्युम्न है। यह व्यूह भी उसी का रचा हुआ है।" वह रुका, "आचार्य ! प्रधान सेनापति पितामह हैं; किंतु मुझे आपका ही सहारा है। वैसे भी पांचाल जीत गए तो द्रुपद आपसे प्रतिशोध लिए बिना नहीं मानेंगे। आपको अपनी रक्षा भी करनी है और कौरव सेना की भी। पितामह के पास ज्ञान तो है किंतु अब उन्हें युद्ध का अभ्यास कहाँ रह गया है। आप उनकी रक्षा करें। वे तो अपने प्राण देने पर तुले हुए हैं। कहते हैं, शिखंडी पर प्रहार

नहीं करेंगे। अब यह आपका ही दायित्व है कि पितामह को शत्रुओं और विशेष कर शिखंडी से बचाएँ।"

"ठीक है राजन् ! तुम चिंता मत करो।" द्रोण बोले, "लाख प्रतिज्ञाएँ की हों, पर भीष्म अपने प्राण तो नहीं देंगे न !"

"उनका क्या भरोसा।" दुर्योधन बोला, "मुझे उनकी बहुत चिंता है।"

"तुम शिखंडी के लिए ही चिंतित हो।" द्रोण बोले, " उन्हें यदि स्मरण हो आया कि अर्जुन भी एक वर्ष तक बृहन्नला के रूप में रह चुका है, तो वे उस पर भी प्रहार नहीं करेंगे।"

"आपने ठीक स्मरण कराया आचार्य !" दुर्योधन की मुखाकृति अत्यंत दीन हो गई, "अब मेरा सर्वस्व आपके ही हाथ में है।···"

भीष्म की दृष्टि दुर्योधन पर पड़ी। वे देख रहे थे कि पहले तो वह जैसे अपनी और पांडवों की सेना का निरीक्षण-सा कर रहा था, उसके पश्चात् वह उनके निकट न आ कर, द्रोण के पास चला गया था और बहुत दीन बनकर उनकी चाटुकारिता कर रहा था। यह निर्लज्ज किसी पर भी विश्वास नहीं करता। उनके सम्मुख प्रधान सेनापति बन जाने की प्रार्थना लेकर नाक रगड़ता रहा और कर्ण तथा द्रोण को उनके विरुद्ध उकसाता रहा। यह समझता है कि उसे सेनापति के ऊपर भी सेनापति रखने हैं। भीष्म नहीं लड़ना चाहेंगे तो द्रोण उन्हें बाध्य कर लेंगे अथवा कर्ण उनके संकल्प को बदल देगा ? यदि वे यहाँ खड़े हैं तो अपनी इच्छा से खड़े हैं। युद्धक्षेत्र में आकर क्षत्रिय युद्ध न करे, यह कैसे हो सकता है ?··· वह एक ओर तो उनको प्रधान सेनापति का दायित्व सौंपता है और दूसरी ओर उन पर विश्वास भी नहीं करता। उन्हें पांडवों के विरुद्ध व्यूह रचने को कहता है और स्वयं उनके विरुद्ध व्यूह की रचना करता फिरता है।··· उन्होंने अपने सिर को झटका। दुर्योधन कोई पहली बार तो ऐसा कर नहीं रहा है। वे उसे उसके शैशव से जानते हैं। उन्होंने एक प्रकार से उसका लालन-पालन किया है। तो फिर आज उसके व्यवहार को लेकर चिंता का क्या लाभ ? वे युद्ध करने आए हैं तो अपने धर्म का निर्वाह करेंगे ही।

भीष्म ने शंख अपने मुख से लगाया और फेफड़ों की पूर्ण शक्ति से उसे फूँका। यह युद्ध की चुनौती भी थी और उनकी अपनी ओर से युद्ध आरंभ करने की घोषणा भी।

अर्जुन का रथ युद्धक्षेत्र में आया ही था कि कौरव पक्ष से शंखघोष हुआ।··· तो यह दुर्योधन का रणघोष था। कौन बजा रहा था यह शंख ? क्या स्वयं राजा ?··· किंतु राजा तो धृतराष्ट्र

हैं और वे युद्धक्षेत्र में आए ही नहीं। उनके प्रतिनिधि के रूप में उन का युवराज ही वहां उपस्थित था। प्रतिनिधि क्या, अब तो दुर्योधन ही जैसे हस्तिनापुर का राजा था। अर्जुन ने सुना था कि अव हस्तिनापुर में दुर्योधन को युवराज अथवा राजकुमार न कहकर, राजा दुर्योधन ही कहा जाता था। वैसे भी जो राजा युद्धक्षेत्र में शत्रु का सामना न कर सके, युद्धकाल में वह राजा नहीं रह सकता।··· नीति-निर्धारण धृतराष्ट्र के नियंत्रण में होता, तो वे कुछ भी करते किंतु युद्ध नहीं होने देते। युद्ध के लिए आतुर तो दुर्योधन ही था। उसे कदाचित् यह विश्वास हो चुका था कि पांडवों का वध किए विना वह मन की शांति नहीं पा सकेगा और पांडवों का वध युद्ध में ही संभव था। अर्जुन का मन वार-वार यह प्रश्न पूछता था कि क्या यह संभव भी था ? किंतु शायद दुर्योधन ने स्वयं को पूर्ण विश्वास दिला लिया था कि युद्ध की स्थिति में वह पांडवों को निश्चित रूप से यमराज के पास भेज सकता था ···तो यह शंखनाद किस का है ? दुर्योधन का अथवा उसके किसी सेनापति का ?···

अर्जुन की दृष्टि कृष्ण पर जा टिकी ··· शंखनाद के विषय में क्या कृष्ण भी नहीं जानते ? ऐसा तो संभव नहीं है। कृष्ण सर्वज्ञ हैं। जो वे चाहते हैं, जान ही लेते हैं, और जो जानने का प्रयत्न वे स्वयं नहीं करते, वह कोई और आकर उनको वता जाता है।··· पर कभी-कभी कुछ बातें कृष्ण नहीं भी जानते। लाक्षागृह में अग्निदाह के पश्चात् पांडव कहाँ थे, यह कृष्ण नहीं जानते थे। अपने वनवास के पश्चात् पांडव विराटनगर में अज्ञातवास कर रहे थे, यह कृष्ण नहीं जानते थे।...

कृष्ण ने अपना शंख हाथ में ले लिया था। अगले ही क्षण पांचजन्य का भयंकर उद्घोष वायुमंडल को प्रकंपित करता हुआ, जैसे अंतरिक्ष की ओर चला गया।

अर्जुन सावधान हुआ। शत्रु का शंखनाद सुनकर यह विचार करते रहने का क्या औचित्य है कि शंखनाद किसने किया। किसी ने भी किया हो। युद्धभूमि में आ गए हैं तो शत्रु को पराजित करना ही महत्त्वपूर्ण है। श्रीकृष्ण ने तो नहीं सोचा। उन्होंने तत्काल शंखनाद कर दिया है।

अर्जुन का हाथ स्वतःचालित ढंग से अपने शंख की ओर चला गया और अगले ही क्षण देवदत्त का घोष वायुमंडल में फैल गया। और तव अर्जुन ने सुना, पांडव पक्ष की ओर से युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव के शंख भी चुनौती भरा निनाद कर रहे थे। वातावरण में ओज ही नहीं, एक प्रकार का उल्लास भी था। पांडवों ने वर्षों तक दुर्योधन का अत्याचार सहा था। वे अपने धर्म से भी बँधे हुए थे और धर्मराज के आदेश से भी, नहीं तो भीम ने कब से हस्तिनापुर की ईट से ईट वजा दी होती। पर अच्छा ही हुआ कि पांडवों ने इतना संयम वरता। उन्होंने शांति के लिए अथक प्रयत्न किया। कष्ट सहा और त्याग की जिस सीमा तक जाना संभव था, वे गए। उन्होंने कभी मानव रक्त वहाना नहीं चाहा। मानव जीवन की रक्षा करना उनका धर्म है; किंतु अपनी रक्षा, अपने अधिकारों की रक्षा, न्याय और धर्म की रक्षा भी उनका ही दायित्व है। अब

इस युद्ध के लिए वे दोषी नहीं हैं। क्षत्रिय के रूप में यह उनका धर्मयुद्ध है। इस युद्ध का दायित्व उन पर है, जो अन्याय और अधर्म करते रहे हैं और आज अधर्म का पक्ष लेकर युद्ध करने आए हैं। अव पांडव अपना प्रतिशोध लें या न लें, परंतु दुर्योधन के अत्याचारों का प्रतिवाद तो वे अवश्य ही कर डालेंगे।

शंखनाद का क्रम अभी समाप्त नहीं हुआ था। द्रुपद, धृतराष्ट्र तथा शिखंडी ने भी अपने शंख वजाए। विराट तथा अन्य राजा भी अपने शंख वजा रहे थे। वस्तुतः जव तक नायक अपना शंख वजाकर युद्ध का आदेश नहीं देता, सैनिक युद्ध करने की स्थिति में नहीं आ सकते थे। ··· और तव अर्जुन ने देखा कि अभिमन्यु ने अपना शंख वजाया। पांडवों के पुत्रों में सवसे छोटा था अभिमन्यु। उसके पश्चात् उसके वड़े भाइयों ने अपने-अपने शंख उठा लिए। इस वार जो नाद उठा, वह पांडवों के अपने पुत्रों के शौर्य की घोषणा कर रहा था। अर्जुन कव से इस दिन की प्रतीक्षा में था कि उनके पुत्र अपना प्रशिक्षण पूर्ण कर युद्धक्षेत्र में उतरें। गर्व से उसका वक्ष जैसे कुछ और स्फीत हो आया··· पर अर्जुन से यह छिपा नहीं रहा कि उस स्फीत वक्ष के भीतर कहीं एक भावुक तथा प्रेम से परिपूर्ण हृदय भी था, जो थोड़ा-सा आशंकित भी था। ये पांडवों के पुत्र थे, वीर योद्धा भी थे··· किंतु अभी वालक ही थे। उन्होंने युद्ध का प्रशिक्षण ही पाया था, वास्तविक युद्ध का अनुभव नहीं था उन्हें। पर सिंह-शावकों को अंततः सिंह तो वनना ही था···

पांडवों को पहले ही ज्ञात था कि दुर्योधन कर्ण को अपना सेनापति वनाना चाहता था। कर्ण से अधिक भरोसा उसे और किसी पर नहीं था। हो भी कैसे सकता था। दुर्योधन के मन में पांडवों के प्रति जितनी क्रूरता थी, उसे कार्यान्वित करने में तो कर्ण ही समर्थ था; या फिर शकुनि इतना क्रूर हो सकता था। किंतु शकुनि के पास न उतना साहस था, न वल और न युद्धकौशल। वह तो अधर्म के पांसे ही फेंक सकता था। उसे सेनापतित्व सौंपने से तो पहले ही दिन स्वयं दुर्योधन रेणु और रक्त में लोटता दिखाई देता।··· अर्जुन का मन जानता है कि पितामह और आचार्य वीच-वचाव तो कर सकते हैं, किंतु वे दुर्योधन की प्रसन्नता के लिए पांडवों का वध नहीं कर सकते। पितामह का धनुष क्या अर्जुन पर वाण वरसा सकता है ? आचार्य का चाप अपने शिष्य की हत्या के लिए उठ सकता है ? वह समझता है कि धन और सत्ता के सामने मानवीय संवंधों का कोई अस्तित्व नहीं रहता। ··· पांडवों को सूचना मिली थी कि दुर्योधन ने औपचारिक रूप से पितामह से सेनापतित्व ग्रहण करने का अनुरोध किया था। न करता तो पितामह को युद्ध का आमंत्रण कैसे देता। ··· वैसे यदि दुर्योधन के स्थान पर धर्मराज युधिष्ठिर होते तो वे पितामह से यही प्रार्थना करते कि पितामह, अव आपकी अवस्था इतना घोर श्रम करने की नहीं है। आप हस्तिनापुर में अपने प्रासाद में विश्राम करें। हम यह युद्ध जय कर आपको प्रणाम करने आएंगे।··· किंतु दुष्ट दुर्योधन में इतना विवेक कहाँ। वह तो चाहेगा कि यदि संभव हो तो पितामह पांडव पक्ष की सेना का जितना

बड़ा भाग नष्ट कर सकें, कर दें और यदि युद्ध में उनका वध ही हो जाता है तो हो जाए।...

तो दुर्योधन पितामह को सेनापतित्व सौंपने गया था। सूचना तो यही थी कि पितामह ने अपनी कुछ प्रतिज्ञाओं के साथ सेना का नेतृत्व करना स्वीकार कर लिया था।...

अर्जुन का मन कहता था कि वे प्रतिज्ञाएँ ऐसी थीं, जिन्हें दुर्योधन कभी स्वीकार नहीं कर सकता था। दुर्योधन कैसे सहमत हो जाता कि कर्ण युद्ध में सम्मिलित न हो कर अपने घर बैठा रहे।... वह पितामह को अपनी सेना का महासेनापति बनाना चाहता था तो क्यों ? यदि वे पांडवों का वध ही नहीं करेंगे, तो वह उनको सेनापति ही क्यों बनाएगा। निश्चित रूप से उसके पश्चात् या तो दुर्योधन ही अपनी असमर्थता जताकर उन्हें पृथक् कर देगा अथवा पितामह ही दुर्योधन के किन्हीं बंधनों को अस्वीकार कर पृथक् हो जाएँगे। वे मध्यस्थ तो हो सकते हैं, किंतु अपने पौत्रों में से किसी एक का, और वह भी अधर्म का पक्ष वे नहीं ले सकते।...

अर्जुन ने अपने मन में जैसे अनन्त ऊर्जा का अनुभव किया। वर्षो की प्रतीक्षा के पश्चात् आज यह अवसर आया था। उसने अपने हाथ में पकड़ा देवदत्त शंख नीचे रखकर, गांडीव उठा लिया।

"केशव !" अर्जुन ने कहा, "रथ को एक बार दोनों सेनाओं के मध्य ले चलिए। देखूँ तो, कौन-कौन आया है, दुर्योधन का पक्ष लेकर हमसे युद्ध करने। किस-किस ने दुस्साहस किया है। किस-किस का सिर यमराज ने माँग लिया है।... नाम तो मैं बहुत सारे सुन रहा हूँ; किंतु वे सब तो शत्रु का मिथ्या प्रचार भी हो सकता है।"

"अवश्य !" कृष्ण बोले, "अनुचरों द्वारा लाए गए समाचारों की स्वयं पुष्टि कर लेना योद्धा के लिए उचित ही है। वैसे भी अर्जुन ! सेनापति धृष्टद्युम्न के भी नायक तुम हो, तो सारी सेना का दायित्व तुम पर ही है।"

"और मेरा दायित्व आप पर है केशव !"

"मुझ पर !" कृष्ण के अधरों पर एक रहस्यमयी मुस्कान उभरी और उन्होंने रथ आगे बढ़ा दिया।

कृष्ण ने जहाँ रथ रोका, वहाँ सामने दुर्योधन की सेना में भीष्म तथा आचार्य द्रोण के रथ खड़े थे।

चलते रथ में से भी अर्जुन ने बहुत कुछ देखा था किंतु रथ रुका तो उसकी दृष्टि भी ठहरी।... तो पितामह अपने स्थान पर दृढ़ नहीं रह पाए ! वे मध्यस्थ भी नहीं रह पाए। दुर्योधन ने उन्हें युद्ध में पक्ष लेने के लिए मना ही लिया था।...

और फिर उसकी दृष्टि जाकर आचार्य द्रोण पर टिक गई।... विराटनगर के बाहर

अर्जुन ने पितामह से भी युद्ध किया था और आचार्य से भी; किंतु वहां पितामह और आचार्य का लक्ष्य था दुर्योधन की रक्षा; और अर्जुन का लक्ष्य था विराट के गोधन को सुरक्षित लौटाना। न वह किसी का वध करने आया था और न ही आचार्य और पितामह उसके वध के इच्छुक थे··· किंतु यहाँ तो ऐसी बात नहीं थी। क्षत्रिय को अपने धर्म का निर्वाह करना होगा। विजय अथवा मृत्यु की आकांक्षा ले कर लड़ना होगा।···उसे अपनी क्षमता भर दुर्योधन के ही नहीं, पितामह और आचार्य के वध का भी प्रयत्न करना होगा।··· पितामह उसका और उसके भाइयों का वध नहीं करेंगे, किंतु उसके ससुर और सालों का वध तो करेंगे··· अभिमन्यु तो कुंतीपुत्र नहीं है, उसका वध तो करेंगे··· पांडवपुत्रों प्रतिविंध्य, सुतसोम, शतानीक, श्रुतसेन और श्रुतकर्मा का शिरोच्छेदन तो करेंगे···यौद्धेय, सर्वग, निरमित्र और सुहोत्र के वक्ष पर तो बाण का प्रहार करेंगे··· इरावान और घटोत्कच की तो निश्चित् हत्या करेंगे··· ये सब तो कुंती के पुत्र नहीं हैं, चाहे उनके पुत्रों के पुत्र हों। उनमें से पाँच तो भीष्म और द्रोण के समान रूप से शत्रु-द्रुपद के दौहित्र हैं।··· उनका वध न करने की प्रतिज्ञा पितामह ने नहीं की है, पर अर्जुन पितामह का वध नहीं कर सकता··

वह द्रोण का वध भी नहीं कर सकता··· पर आचार्य ने तो यह भी नहीं कहा है कि वे कुंती के पुत्रों का वध नहीं करेंगे।···

अर्जुन का मन शिथिल होता जा रहा था।··· आज तक उसने जब कभी युद्ध के विषय में सोचा था, तो अपने भाइयों और दुर्योधन तथा उसके भाइयों में ही युद्ध की कल्पना की थी।··· उनके बीच द्रोण और भीष्म कहाँ से आ गए। अर्जुन की पीढ़ी के युद्ध में इन वृद्धों का क्या काम।··· और उसके अपने पुत्रों को इस प्रकार युद्धक्षेत्र में पितामह और आचार्य का सामना करना होगा, यह तो उसकी कल्पना में भी नहीं आया था। ··· कैसे करेंगे वे इन जगत्विश्रुत योद्धाओं का सामना। ··· जब कि अर्जुन के अपने हाथ भी बँधे हुए थे। वह भीष्म और द्रोण का वध नहीं कर सकता था। उनके रक्त में भीगा साम्राज्य नहीं चाहिए उसे !···

और तभी उसकी दृष्टि दूर खड़े अभिमन्यु पर जा टिकी।··· यदि वह भी जीवित न रहा तो अर्जुन को राज्य किसके लिए चाहिए ? अपने पुत्रों के शवों पर खड़े हो कर वे पांचों भाई राज्य का भोग करेंगे ?···

उसे लगा कि उसके अधर सूखते जा रहे थे और उसका मन एक प्रकार की वितृष्णापूर्ण उदासीनता से भरता जा रहा था। राज्य उसके लिए पहले भी कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण नहीं था, जिसके लिए युद्ध किया जाए; किंतु अब तो जैसे वह सर्वथा ही सारहीन दिखाई दे रहा था। इस युद्ध से जो प्राप्य था, उसका कोई मूल्य नहीं था और युद्ध का जो मूल्य था, उससे अधिक मूल्य किसी पदार्थ का हो नहीं सकता था।···

श्रीकृष्ण की दृष्टि अर्जुन के मुख पर जा ठहरी, "क्या बात है अर्जुन ! तुम्हारे आनन पर वह उत्साह दिखाई नहीं दे रहा ?"

"केशव ! कह नहीं सकता कि क्या हो रहा है मुझे। मन पर एक प्रकार की उदासीनता छा रही है। हताशा ही कह लो।" अर्जुन ने धीरे से कहा, "मैं अपने पितामह और गुरु का वध कर कृतघ्नता जैसा जघन्य पाप नहीं कर सकता। इन लोगों के रक्त में डूबा राज्य नहीं चाहिए मुझे। उससे तो कहीं अच्छा है कि हम वन में रह लें, भिक्षा पर निर्वाह कर लें।" उसकी दृष्टि सामने खड़े भीष्म और द्रोण के रथों पर जमी थी।

"क्या यहाँ आने से पहले तुम नहीं जानते थे कि भीष्म और द्रोण, दुर्योधन के पक्ष से युद्ध करने आ रहे हैं ?" कृष्ण के स्वर में हल्का-सा कटाक्ष था।

"संभावना तो थी, किंतु यह संभावना भी थी कि कदाचित् वे मध्यस्थ के रूप में इस युद्ध में तटस्थ रहें।" अर्जुन ने कहा।

कृष्ण मन-ही-मन मुस्कराए। क्या सचमुच इतनी ही बात थी। अर्जुन अपने मन को समझ भी रहा था कि नहीं। मन में जो था, उसे वह कह भी रहा था, अथवा जानता ही नहीं था कि उसके भय का कारण क्या था।

कृष्ण उसके मन को समझ रहे थे।··· वह पितामह और आचार्य को मार नहीं सकता और उनको मारे बिना अपने पक्ष के लोगों की रक्षा नहीं कर सकता। अपने पक्ष में मित्रों और संबंधियों के अतिरिक्त उसके अपने भाई भी हैं और पुत्र भी। वह उनको बचाकर यह युद्ध करना चाहता है। पता नहीं वे कैसे लोग हैं, जो युद्ध भी करना चाहते हैं और हताहत भी नहीं होना चाहते।···कितना अबोध है अर्जुन का मन। वह यह समझता है कि उसके भाई और पुत्र युद्ध नहीं करेंगे तो उनका अंत नहीं आएगा ? और यदि अर्जुन, भीष्म और द्रोण का वध नहीं करेगा तो वे अजर अमर हो जाएँगे ?

"तो क्या सोचा है ?" कृष्ण मुस्करा रहे थे।

"सोचना क्या है केशव ! मेरा मन कुछ सोचने की स्थिति में नहीं है। हाथों से गांडीव जैसे छूटा जा रहा है।" अर्जुन ने कहा, "संभवतः मैं युद्ध नहीं कर पाऊँगा।"

कृष्ण मौन रहे। मन-ही-मन वे हंस रहे थे। ···यदि पितामह और आचार्य का वध न करने की ही बात होती, तो जैसे पितामह ने प्रतिज्ञा की थी कि वे शिखंडी और पांडवों का वध नहीं करेंगे, वैसे ही अर्जुन भी प्रतिज्ञा कर सकता था कि वह पितामह और आचार्य का वध नहीं करेगा। वह भी उनका उसी प्रकार प्रतिकार कर सकता था, जैसे वे पांडवों की सेना का करना चाहते थे। कृष्ण स्वयं भी तो शस्त्र ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा कर युद्धक्षेत्र में आए हैं। ऐसे में न तो अर्जुन को इस प्रकार हताश होने की आवश्यकता थी और न ही युद्ध से विमुख होने की।··· अर्जुन का विषण्ण आनन देखकर यह नहीं लगता कि वह युद्धक्षेत्र में खड़े दो वृद्धों का वध करना नहीं चाहता। वह तो इस प्रकार ऊर्जाशून्य हो रहा है, जैसे अभी धरती पर गिर पड़ेगा। ये शारीरिक लक्षण ही नहीं हैं। यह तो उसका मोहग्रस्त मन है, जो उसके शरीर को सर्वथा अक्षम किए दे रहा है।

कृष्ण देख रहे थे कि यह वह अर्जुन था, जो अपनी तपस्या के वल पर निर्विकल्प

समाधि तक जा चुका था ; किंतु उसके पश्चात् भी तो वह अपने मोह से मुक्त नहीं हो पाया था। उसके संस्कार अभ्यासवश पुनः लौट आए थे। जिसके अपने भीतर का यह महासमर अभी समाप्त नहीं हुआ था, वह बाहर का यह समर कैसे लड़ेगा। मन अपनी ध्यानभूमि से नीचे उतर आया था, और अब संसार का ही हो गया था। लौट आया था उसका मोह। उसका मन उस उच्च धरातल पर स्थिर नहीं रह पाया था। नहीं तो क्या उसकी युद्धक्षेत्र में आते ही यह स्थिति होती।···क्या यह उसकी कायरता है ? दुर्योधन ने भी तो खड़े किए हैं अपने भाई और पुत्र युद्धक्षेत्र में। वह तो विचलित दिखाई नहीं देता। क्या उसे अपनी संतान से प्रेम नहीं है, अथवा वह अर्जुन के समान कायर नहीं है।··· नहीं ! कायर तो अर्जुन भी नहीं है। दुर्योधन को भी अपने पुत्रों से प्रेम है, किंतु कदाचित् उसे उनसे भी अधिक स्वयं अपने-आप से प्रेम है। वह हस्तिनापुर के राज्य के लिए किसी को भी कटवा सकता है। किसी के भी प्राण ले सकता है। वह अर्जुन के समान संवेदनशील नहीं है, अतः परिणाम के विषय में सोचता ही नहीं है। अपने कर्म को जानता है, उसके परिणाम को नहीं। तामसिक कर्म है उसका। अर्जुन चिंतन करता है। परिणाम की कल्पना करता है। उसका मोह है, जो उसे कायर बना रहा है। कृष्ण यदि अर्जुन को उसके भाइयों, पुत्रों और निकट संबंधियों की रक्षा का आश्वासन दे दें तो क्या वह इस स्थिति से उबर सकेगा ? नहीं शायद नहीं। तब वह अपने और संबंधियों की रक्षा की कामना करेगा। अपने पक्ष के लोगों को बचाना चाहेगा। विपक्ष में भी ऐसे बहुत से लोग हैं, जिनकी रक्षा करना चाहेगा। ऐसे तो युद्ध नहीं हो सकता। युद्ध का परिणाम तो अनिश्चित ही होना चाहिए।

अर्जुन ने कृष्ण को देखा—वे मौन थे, उसे किसी प्रकार का कोई आश्वासन नहीं दे रहे थे। सांत्वना देने के लिए भी कोई शब्द नहीं कहा था उन्होंने। अर्जुन का मन किसी चंचल और भीत मृगशावक के समान छलाँगें लगा रहा था। वह भयंकर से भयंकर विध्वंसकारी कल्पनाएँ कर रहा था।··· युद्धक्षेत्र में खड़े ये सारे व्यक्ति मारे जाएँगे। वंश के वंश ही समाप्त हो जाएँगे। जिन वंशों के सारे पुरुष वीरगति को प्राप्त हो जाएँगे, उनकी स्त्रियां क्या करेंगी ? उन स्त्रियों की रक्षा कौन करेगा और उन्हें धर्मभ्रष्ट होने से कौन बचाएगा। जाने वे किन पुरुषों के आधिपत्य में चली जाएँगी। जाने किस वर्ण, व्यवसाय और प्रकृति के पुरुषों के पल्ले जा पड़ेंगी। उन अभागी स्त्रियों को अपनी इच्छा, प्रकृति तथा संस्कारों के प्रतिकूल उन पुरुषों के साथ रहना होगा तो उनसे उत्पन्न संतान अंतःविभाजित और विक्षिप्त नहीं होगी क्या ?···

अर्जुन का मन इस दुष्कल्पना को ही सहन नहीं कर पा रहा था, तो इस वास्तविकता का सामना वह कैसे करेगा··· ?

अर्जुन ने अनायास ही गांडीव त्याग दिया और रथ के पृष्ठ भाग में जाकर हताश-सा बैठ गया।

"यह क्या है अर्जुन !" कृष्ण ने पूछा।

"मैं युद्ध नहीं करूँगा केशव !" अर्जुन ने कहा, "अपने गुरुओं को मार, कृतघ्नता जैसा पाप नहीं कर सकता मैं। उसकी कल्पना से ही मेरे शरीर का सारा रक्त सूख गया है। कृतघ्नता अधर्म है।"

"तुम केवल भीष्म और द्रोण की मृत्यु की संभावना से इतने चिंतित हो ?"

अर्जुन ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया। कुछ रुककर बोला, "उनकी चिंता तो है ही; किंतु मेरे मन पर तो इस समय जैसे महानाश का आतंक छा गया है। ये सारे लोग, जो इस युद्धक्षेत्र में एकत्रित हुए हैं, इनमें से कोई भी बचेगा अथवा नहीं, कह नहीं सकता।··· और इस महानाश का सूत्रपात मैं करूं।··· यह नहीं हो सकता।"

यह तो मोह के एक ही आघात से सारा ज्ञान भूल गया। इसे स्मरण नहीं है कि जो पंचभूत संघटित होकर शरीर को आकार देते हैं, वे ही विघटित होकर उस आकार का रूपांतरण कर देते हैं। उसे नाश मानता है यह। संघटन और विघटन के संबंध को नहीं जानता। संघटन को सत्य मानता है, विघटन को नहीं।···

"तुम बाण नहीं चलाओगे तो भीष्म और द्रोण मरेंगे नहीं ? यह सारा विनाश रुक जाएगा ?"

"कह नहीं सकता।" अर्जुन बोला, "कदाचित् नहीं रुकेगा। न भीम रुकेंगे, न अश्वत्थामा, न दुर्योधन और न कर्ण।"

कृष्ण ने उसकी ओर देखा, "आततायी अपने पाप से मारा जाता है अर्जुन ! किसी और के मारे नहीं। देहधारी की मृत्यु उसके अपने शरीर में ही निवास करती है।"

"जानता हूँ। पर···"

"जानते हो किंतु मानते नहीं हो।" कृष्ण बोले, "जो मरता है, वह शरीर है। हम शरीर नहीं हैं, आत्मा हैं। आत्मा का न संघटन होता है, न विघटन। वह अविकारी है। वह पंचभूतों से संघटित नहीं हुई, इसलिए उसका विघटन भी संभव नहीं है। हम में से ऐसा कोई नहीं है, जिसका अस्तित्व आत्मा के रूप में किसी काल में नहीं था, अथवा भविष्य में किसी काल में नहीं होगा। और शरीर का क्या है, वह तो ऋतु में आए पुष्प के समान खिलता और मुरझा जाता है। कोई नहीं भी तोड़ता तो भी मुरझा कर टहनी से गिर जाता है। जिन राजाओं ने युद्ध नहीं किए, क्या उनका देहांत नहीं हुआ ? जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है और जो मरता है, उसका पुनर्जन्म निश्चित है। आत्मा पुराना शरीर त्याग उसी प्रकार नया शरीर धारण करती है, जैसे शरीर पुराना वस्त्र त्याग नया वस्त्र धारण करता है। असत् की सत्ता नहीं हो सकती और सत् का अभाव नहीं हो सकता।"

"मैं क्या करूँ केशव ! हमारा शरीर वस्त्र के समान ही सही ; किंतु जिन्हें जीवित देखना चाहता हूँ, जिन्हें इसी शरीर के रूप में जानता हूँ, उनके प्राण हरण करने का कर्म कैसे कर सकता हूँ ?"

कृष्ण ने मुस्कराकर उसकी ओर देखा, "यदि युद्ध विनाश है तो भी क्या यह

तुम्हारी इच्छा से प्रस्तुत हुआ है ? तुमने चाहा था कि युद्ध हो ?"

"नहीं।" अर्जुन ने उत्तर दिया।

"जब विनाश तुम्हारी इच्छा से प्रस्तुत नहीं होता। जब विनाश तुम्हारी इच्छा से रुकता नहीं। तो तुमने यह कैसे मान लिया कि यह तुम्हारे ही कर्मों का फल है ? तुम कर्म नहीं करोगे तो भावी यह नहीं होगी, कुछ और होगी ?"

अर्जुन कुछ चौंका। ऐसा नहीं लग रहा था कि वे लोग युद्धक्षेत्र में खड़े हैं और कृष्ण उसे युद्ध के लिए प्रेरित कर रहे हैं। कृष्ण तो कुछ और ही कह रहे हैं। वे युद्ध संबंधी बात नहीं कर रहे। वे उससे भिन्न कोई सत्य बता रहे हैं उसको। कह रहे हैं कि वह कर्म नहीं करेगा तो भी भावी वही रहेगी। पर तब कौन करेगा वह कर्म। अर्जुन युद्ध नहीं करेगा, उसका कोई भाई युद्ध नहीं करेगा, उसके शत्रु युद्ध नहीं करेंगे, तो भी भावी वही रहेगी ? तो कर्म कौन करेगा ?

"तुम्हीं तो कहते हो कि हमें अपने कर्मों का फल मिलता है।" अर्जुन ने जैसे कृष्ण को उपालंभ दिया।

कृष्ण ने एक बार मुस्कराकर उसकी ओर देखा और फिर वल्गा सँभाल ली। उन्होंने अश्वों को संकेत किया और रथ चल पड़ा। अर्जुन का ध्यान उस ओर गया किंतु उसने कुछ पूछा नहीं कि कृष्ण उसे कहाँ ले जा रहे हैं। उसका मन ऐसा हताश हो रहा था कि जैसे उसकी किसी भी विषय में कोई रुचि रह ही नहीं गई थी। उसे लगा कि कृष्ण रथ को यहीं रोके रखें अथवा कहीं और ले जाएँ—इससे उसे कोई अंतर ही नहीं पड़ेगा। वह तो दोनों स्थितियों से प्रायः उदासीन ही था।

कृष्ण रथ की गति बढ़ने नहीं दे रहे थे। रथ मंथर गति से चल रहा था, जैसे कृष्ण और अर्जुन, दोनों सेनाओं का निरीक्षण कर रहे हों।

"मैं कहता हूँ कि कर्म का फल मिलता है।" कृष्ण ने बात आरंभ की, "किंतु क्या मैंने कभी कहा कि तुम्हें अपने कर्म का फल तुम्हारी इच्छानुसार मिलेगा। क्या मैंने कहा कि कर्म करो न करो, इच्छा करो और अपना मनोवांछित फल पा लो।"

अर्जुन जैसे कुछ सजग हुआ, "नहीं ! तुमने कहा कि हमें अपने कर्मों का फल प्रकृति के नियमों के अधीन मिलता है।"

"और वे नियम हमारी, किसी एक मनुष्य अथवा मनुष्यों के किसी एक समूह की इच्छा से नहीं बने हैं।"

"तो फिर मैं क्या करूँ ?" अर्जुन ने मंद स्वर में पूछा।

"अपना स्वधर्म।" कृष्ण बोले।

स्वधर्म ··· अर्जुन के मन में अनेक प्रसंग जीवंत होने लगे थे। कितनी ही बार कृष्ण से इस विषय में चर्चा हुई थी।··· कृष्ण कभी भी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह को लेकर चर्चा नहीं करते थे। इस प्रकार की चर्चा को वे खंड चर्चा मानते थे। वे कहते थे, खंड चर्चा कर अखंड सत्य नहीं पाया जा सकता। पूर्ण सत्य को पाने के लिए तो

पूर्ण पर ही विचार करना होगा। स्वधर्म को जानना है तो पहले प्रकृति के धर्म को जानो, जिससे तुम्हारा निर्माण हुआ है, जिसने तुम्हारा निर्माण किया है।··· कितने गुण हैं प्रकृति के ? तीन ! सत्व, रज और तम ! प्रकृति इन तीन गुणों से बाहर नहीं जाती तो मनुष्य कैसे जाएगा। मनुष्य को अपना धर्म इन तीन गुणों में ही खोजना पड़ेगा। अर्जुन स्वयं को जितना जानता-पहचानता था, उससे कह सकता था कि उसे वंश-परंपरा में रजोगुण मिला था। प्रशिक्षण और साधना ने उस रजोगुण को सत्वोन्मुखी बनाया था। उसका व्यवसाय और अभ्यास रजोगुणी ही था। उसने उस तेज की साधना की थी, जो अधर्म और अन्याय सहन नहीं करता। इसलिए अन्याय और अधर्म का विरोध करने की क्षमता अर्जित की थी उसने।

"मैं रजोगुणी क्षत्रिय हूँ कृष्ण !" अर्जुन ने कहा।

"तो तुम भिक्षा माँग कर नहीं रह सकते। तुम्हें शासन करना होगा। समाज का अनुशासन करना होगा। दुष्ट-दलन करना होगा। तुम राजनीति से नहीं भाग सकते। राजनीति में रहकर न युद्ध से बच सकते हो न वध से।" कृष्ण बोले, "आज अपने मोह के कारण तुम राज्य के लिए युद्ध करने से श्रेष्ठ भीख माँगना बता रहे हो; किंतु क्षत्रिय का तेज अन्याय सहन नहीं कर सकता। तुम राज्य के लिए नहीं न्याय के लिए लड़ोगे। तुम्हारा स्वधर्म लड़वाएगा। तुम्हारी प्रकृति लड़वाएगी।"

"मैं न लड़ना चाहूँ तो ?"

"तुम्हारा 'मैं' क्या है अर्जुन ?" कृष्ण मुस्कराए, "यह शरीर ? यह तो पंचभूतों से बना है। इसे प्रकृति ने बनाया है।···"

अर्जुन को लगा कि उसकी विस्मृति कुछ दूर हो रही है। प्रकृति के स्वरूप और स्वभाव के विषय में उसने गुरुकुल में अध्ययन किया था। वेदों ने प्रकृति को त्रिगुणात्मक कहा है।···

"इसे इस प्रकार समझो कि प्रकृति तुम्हारे माध्यम से अन्याय के विरुद्ध लड़ना चाहती है, इसलिए उसने तुम्हारे इस शरीर और मन का निर्माण करते हुए उसमें रजोगुण को स्थापित किया। अब यदि तुम अपने मोह के कारण तमोगुणी व्यवहार करना चाहते हो, तो तुम अपने स्वधर्म के विरुद्ध ही नहीं जा रहे, अपने विरुद्ध लड़ रहे हो; और अपने आप से लड़कर, कोई क्या उपलब्ध करेगा। मोहग्रस्त होकर तुम प्रकृति की इच्छा का विरोध कर रहे हो। स्वधर्म के विरुद्ध चलना अधर्म है धनंजय !"

अर्जुन का मन जैसे कृष्ण की बात पर अटक गया। कर्म और फल की चर्चा होती है तो कृष्ण कहते हैं कि प्रकृति कर्म का फल तो देती है, किंतु अपने नियमों के अधीन। आम्र के वृक्ष को पोषित करने पर प्रकृति आम्रफल ही देगी। हम उससे द्राक्षा नहीं पा सकते। इसलिए कृष्ण कहते हैं कि हमें कर्म की स्वतंत्रता है। उसके फल पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है। किंतु यदि प्रकृति त्रिगुणात्मक है और सब कुछ प्रकृति ही कर रही है, तो मनुष्य क्या कर रहा है ?

"तुम कह रहे थे केशव ! कि कर्म के फल पर मेरा कोई नियंत्रण नहीं है।" अर्जुन जैसे निद्रा से जागकर उठ खड़ा हुआ, "अब तुम कह रहे हो कि मेरा अपने कर्म पर भी कोई नियंत्रण नहीं है ? कर्म भी प्रकृति ही करती है।"

रथ युद्ध-क्षेत्र के उस खंड में आ पहुँचा था, जहाँ वृक्षों के अनेक झुंड खड़े थे। उनके मध्य से न तो रथों का संचालन हो सकता था और न गजों का। वहाँ व्यूह नहीं रचा जा सकता था। इसलिए यहाँ आसपास वाहिनियाँ भी नहीं थीं।

कृष्ण ने रथ एक वृक्ष की छाया में खड़ा कर दिया।

"कर्म तो प्रकृति ही करती है धनंजय !" कृष्ण वल्गा छोड़कर अर्जुन के पास आ बैठे, "मधुमक्खी यदि पुष्पों के रस से मधु बनाती है, तो तुम समझते हो कि वह उसके अपने वश का काम है ? वह अपनी इच्छा से कर रही है मधुसंचय ? गाय अपनी इच्छा से, अपने सामर्थ्य से घास को दूध में परिणत कर लेती है। तुम अपने भोजन पर नियंत्रण कर अपनी इच्छानुसार उसका रक्त, मल अथवा मांस बना सकते हो ?"

"नहीं !"

"तो कौन कर रहा है यह सब ? प्रकृति ही तो करती है। प्रकृति का यंत्र है मधुमक्खी, गाय अथवा मनुष्य का शरीर। उन शरीरों में अपनी इच्छानुसार यंत्रों का निर्माण करती है वह।"

"तो अपनी वीरता का अहंकार व्यर्थ है ? अपनी क्षमता का गर्व तर्कहीन है ?"

"व्यर्थ। पूर्णतः व्यर्थ और तर्कहीन। क्योंकि यह भ्रम है, अज्ञान है।" कृष्ण बोले, "इसलिए कहता हूँ कि जब तक ज्ञान नहीं है, स्वधर्म पर टिक कर निष्काम कर्म करो।"

अर्जुन को कृष्ण का रूप कुछ दिव्य होता सा लग रहा था, "ज्ञान होने पर अपने स्वरूप को पहचानो। आत्मस्थ होने का प्रयत्न करो। आत्मस्थ हो जाओगे तो अपनी आत्मा और परमात्मा की समानता पहचानोगे। उससे तादात्म्य करना चाहोगे।"

अर्जुन बैठा नहीं रह सका। उसके सम्मुख ये वे कृष्ण नहीं थे, जो उसका रथ हाँक रहे थे, ये तो उनमें से कोई और ही कृष्ण प्रकट हुए थे। उसे कई बार लगता था कि वह जिस कृष्ण को जानता है, वह संपूर्ण कृष्ण नहीं है, वह उनका एक अंश मात्र है। उस एक कृष्ण में से जैसे प्रतिक्षण एक नए कृष्ण प्रकट होते हैं। संपूर्ण कृष्ण को जाना भी जा सकता है क्या ?

वह उठा और कृष्ण के सम्मुख हाथ जोड़कर खड़ा हो गया, "हम दोनों मित्र रहे हैं। पर मैंने सदा तुम्हें अपना गुरु ही माना है। तुम मुझे बहुत कुछ समझाते रहे हो। बताते रहे हो। तुमने मुझे कर्मयोग के विषय में पहले भी बताया है। तुमने सांख्य और योग की भी चर्चा की है। पर वह सब जैसे सूचनाओं के रूप में मेरे मस्तिष्क के किसी कोने में पड़ा रहता है। जीवन में उसके व्यवहार का समय आते ही मैं वह सब भूल जाता हूँ। प्रकृति मुझसे क्या करवाना चाहती है, मैं नहीं जानता, किंतु मैं अपने पितामह और गुरु का वध करने के लिए उन पर बाण तो नहीं चला सकता।"

"मैंने कंस को किसलिए मारा था ? जरासंध का वध किसलिए किया था ? राजसूय यज्ञ का आयोजन क्यों हुआ था ?" कृष्ण का स्वर कुछ प्रखर हुआ।

"अन्याय और अत्याचार को समाप्त करने के लिए।"

"आज युद्धक्षेत्र में क्या करने आए हो ?"

"अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध युद्ध करने।"

"तो फिर युद्ध करते क्यों नहीं ?"

"कैसे करूँ। चारों ओर मेरे अपने संबंधी हैं।"

"यह तो अच्छी परिभाषा है अर्जुन ! कोई और करे तो अधर्म। और यदि वही कृत्य तुम्हारे पितामह करें तो वह अधर्म नहीं है।"

"मेरे पितामह अधर्मी नहीं हैं।"

"दुर्योधन अधर्मी है ?"

"है।"

"तो तुम दुर्योधन का वध करो।"

"नहीं कर सकता। मार्ग में पितामह खड़े हैं।"

"पितामह के संरक्षण में अधर्म पोषित हो रहा है ?"

"नहीं ! पितामह अधर्म नहीं कर सकते।"

"दुर्योधन अधर्मी है। वह भीष्म द्वारा संरक्षित है। भीष्म का वध किए बिना यदि दुर्योधन मारा नहीं जा सकता, तो पहले दंडित किसे होना चाहिए ?"

अर्जुन कुछ नहीं बोला।

"हस्तिनापुर में उगी नागफनी की एक झाड़ी नागफनी ही होगी न ?"

"हां।"

"और यदि वह इंद्रप्रस्थ में उग आए तो ?"

"जो नागफनी है, वह नागफनी ही रहेगी।"

"एक अधर्मी तुम्हारे परिवार से बाहर जन्म लेकर अधर्मी होगा और तुम्हारे परिवार में जन्म लेने के कारण वह अधर्मी नहीं रहेगा ?" कृष्ण मुस्कराए, "जीवन का सत्य यह है धनंजय ! कि अधर्म के विरुद्ध शस्त्र उठाओगे तो सबसे पहले, तुम्हारे अपने परिजन और प्रियजन ही तुम्हारा हाथ पकड़ेंगे।"

"किंतु वे मेरे पितामह हैं।"

"प्रकृति तो केवल अश्वत्थ अथवा नागफनी ही उत्पन्न करती है। इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि वह किस दीवार के भीतर और किस दीवार के बाहर है। तुमने परिवार की एक दीवार बनाकर किसी को अपना और किसी को पराया मान लिया है।"

"तो क्या परिवार का कोई अर्थ नहीं है ? वंश कुछ नहीं होता ? हमारा अपना-पराया कुछ नहीं है ?" अर्जुन ने जैसे प्रतिवाद किया।

"तुम मनुष्य की नहीं, मात्र व्यक्ति की दृष्टि से देख रहे हो, इसलिए किसी को

अपना और किसी को पराया मानते हो। खंड की नहीं, संपूर्ण की दृष्टि से देखो। ईश्वर की दृष्टि से देखो। जो संवंध स्रष्टा से तुम्हारा है, वही पितामह का भी है। तुम दोनों ईश्वर के हो। एक-दूसरे के नहीं।"

"तो हम क्या हैं ?" अर्जुन ने चकित भाव से पूछा।

"ईश्वर की शक्ति है—प्रकृति। तुम्हारा यह शरीर प्रकृति ने पंचभूतों से निर्मित किया है; इसलिए यह प्रकृति की संपत्ति है। प्रकृति अपने-आप में पूर्ण है। उसका विभाजन अथवा सीमांकन, मनुष्य की अपनी सीमा है, प्रकृति की नहीं। यह मनुष्य का अपना भ्रम है। उसका मोह है। इसी मोह के कारण तुममें दृष्टिदोष आ गया है; और तुम अपना धर्म देख नहीं पा रहे हो।" कृष्ण की आंखों में ही दिव्य भाव नहीं झलका, उनका स्वर भी जैसे कुछ अलौकिक हो आया था, "आसक्ति किसी को सत्य के दर्शन करने नहीं देती। स्वधर्म के निर्वाह के लिए आसक्ति को त्यागना होगा।"

अर्जुन जैसे अपने द्वंद्व से लड़ रहा था, "मैं तुम्हारा शिष्य हूँ केशव ! तुम्हारे आदेश का पालन करना चाहता हूँ; किंतु मैं पितामह का पौत्र भी हूँ। उनके प्रति भी मेरा कोई धर्म है···"

उसकी दृष्टि उठी तो उसे लगा कि कृष्ण कुछ वदल से गए हैं। उनकी आँखों का आकर्षण कुछ और वढ़ गया है और उनके चेहरे का तेज जैसे असह्य होता जा रहा है। ··· क्या यह धूप है ? उसने जैसे अपने आप से पूछा।··· नहीं ! यह धूप नहीं थी। वे लोग वृक्ष की छाया में थे और आकाश का सूर्य भी इतना प्रखर नहीं था कि उसके कारण किसी का चेहरा तपने लगता और उसका स्वाभाविक वर्ण कुछ दिव्य होने लगता।

"अर्जुन ! ऐसा कोई काल नहीं था, जव तुम नहीं थे अथवा मैं नहीं था।" कृष्ण सहसा वोले, "तुम मोह के कारण अपने स्वरूप को भूल गए हो।"

अर्जुन ने विस्मित भाव से कृष्ण की ओर देखा। वे ठीक कह रहे थे। उसकी स्मृति पर ही जैसे कोई आवरण पड़ गया था। समाधि में कैसा अनुभव किया था उसने। यह शरीर ही तो नहीं था वह। वह तो कुछ और था। उसका रूप दिव्य था। विना किसी वाहरी उपकरण के भी वह स्वप्रकाश से प्रकाशित था। वह उन्मुक्त था। स्वतःपूर्ण था। वह शरीर से भिन्न था; शरीर जैसे उसका वाहरी आवरण था, पिंजरा था। शरीर उसको सीमित कर रहा था। वह तो जैसे गरुड़ था, जो आकाश में ही नहीं, आकाश के पार भी उड़ सकता था। वह तो जैसे विशाल जलपोत था, जो महासागर की उत्ताल तरंगों पर स्वतंत्रतापूर्वक संचरण कर सकता था; किंतु शरीर ने उसे अपने भीतर आवद्ध कर, उस की क्षमताओं को सीमित कर दिया था।··· वह सचमुच अपने स्वरूप को भुला वैठा था।

उसने कृष्ण की ओर देखा : उनका रूप कुछ अद्भुत होता जा रहा था।

"यह क्या है कृष्ण ?"

"मानव शरीर की इस सांतता में भी मुझे अपनी अनंतता का वोध है।" कृष्ण

वोले, "मैंने प्रकृति द्वारा निर्मित यह शरीर धारण अवश्य किया है; में नहीं, आत्मा में निवास करता हूँ। संसार के सारे भोग प्रकृति का शरीर भोगता है, मैं इससे मुक्त हूँ, क्योंकि मैं यह शरीर नहीं हूँ।

अर्जुन का मन कृष्ण की विराटता देखता रहा और मुग्ध हो उसका प्रेम, श्रद्धा में वदलता जा रहा है; और उसकी श्रद्धा भक्ति रही है, "तुम महामानव हो कृष्ण ! तुम मानव से आरोह कर चुके हो हो।"

"नहीं। मनुष्य का आरोह नहीं होता। जव होता है तो होता है।" कृष्ण का स्वर जैसे मेघों में से आ रहा था, "मनुष्य का होता, ईश्वर का अवतरण ही मनुष्य होता है।"

अर्जुन का मन जैसे वौरा-सा गया था, "मैं क्या हूँ कृष्ण

"तुम भी वही हो, जो मैं हूँ।" कृष्ण वोले।

"तो मैं अपने स्वरूप को देख क्यों नहीं पा रहा ?"

"अपने मोह के कारण। मोह वाधक है, विश्वात्मा से ता

अर्जुन मुग्ध भाव से कृष्ण की ओर देखता रहा और फिर माध्यम से भी वही प्रकृति कार्य कर रही है, और दुर्योधन के का अर्थ यह है केशव ! कि प्रकृति ही प्रकृति के विरुद्ध लड़ रही को मार रही है।..."

"इसीलिए तो कहता हूँ कि जो मार रहा है, वह भी मैं हूँ वह भी मैं ही हूँ।" कृष्ण वोले।

अर्जुन स्तव्ध भाव से कृष्ण को देखता ही रह गया। आज में ही नहीं आ रहे थे। आज तक कृष्ण ने उसे असंख्य वार समझ ज्ञान दिया था। कर्म, विकर्म, अकर्म और निष्काम कर्म के विषय थी... किंतु कृष्ण कभी ऐसे तो नहीं लगे थे उसे। वे उसे एक अत्यंत प्रज्ञावान पुरुष लगे थे। किंतु आज तो ...

"मुझे तुम पर पूरा विश्वास है कृष्ण !" अर्जुन कुछ सँ... वोला, "वहाँ मेरे भाई युद्ध के मुहाने पर खड़े हैं और मैं जैसे यु आ गया हूँ। क्या सोचते होंगे वे ? मेरे शत्रु क्या सोचते होंगे ? मुझे रहा है और भाई का धर्म भी, शिष्य का धर्म भी और पौत्र का धर्म धर्म परस्पर विरोधी हैं कृष्ण !"

कृष्ण ने अर्जुन की आँखों में देखा। अर्जुन को लगा, उस और हो गई है। उसका रोम-रोम जैसे संवेदनशील हो गया है। च सा भाव आ गया था।...

कृष्ण वोले तो उनका स्वर नंदन कानन के किसी अलौकि

निनाद लिए हुए था, "तू सब धर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आ जा अर्जुन ! मैं तुझे सारे संशयों और पापों से मुक्त कर दूँगा।"

अर्जुन को लगा, यह किसी मनुष्य का साधारण स्वर नहीं था। यह तो जैसे ब्राह्मी आदेश हुआ था उसे। इस आदेश का उल्लंघन नहीं हो सकता था। इस पर संशय नहीं किया जा सकता था··· वह जैसे चेतना के किसी दिव्य सागर में तैर रहा था। जो कुछ सामने घटित हो रहा था, वह तो उसका द्रष्टा मात्र था। कर्ता कोई और था। या कर्ता कोई भी नहीं था ? सब कुछ स्वतः ही घटित हो रहा था ? ··· उसके सामने खड़े कृष्ण का स्वरूप कुछ वायवीय हो गया था, और क्रमशः आलोकमय होता जा रहा था···

ये वही कृष्ण हैं, जिन्हें सबसे पहले यादवों ने त्याग दिया। फिर जैसे उनके परिवार ने उन्हें स्वयं से विलग कर दिया।··· भाइयों ने ··· पुत्रों ने ··· संबंधियों ने ··· कृष्ण ने स्वेच्छा से अपनी सेना का परित्याग कर दिया और संकल्पपूर्वक निःशस्त्र हो गए।··· दूसरी ओर पाँचों पांडव एक साथ हैं। उनके पुत्र तथा अन्य संबंधी उनके साथ हैं। उनके पास सात अक्षौहिणी सेना है। ··· उनके पास शस्त्रास्त्र, दिव्यास्त्र और देवास्त्र हैं ··· किंतु युद्ध कौन कर रहा है ? युधिष्ठिर लड़ना नहीं चाहते, अर्जुन ने शस्त्र त्याग दिए। उनकी ओर देखकर भीम का उत्साह भी भंग हो जाता है। पांडव शस्त्र ग्रहण न करें तो कौरव भी क्यों लड़ेंगे। तो लड़ कौन रहा है ? ··· अकेले, नितांत एकाकी निःशस्त्र कृष्ण का उत्साह ही तो। ··· अर्जुन को लगा कि सारे युद्धक्षेत्र में एक कृष्ण ही हैं, जो लड़ रहे हैं।··· कृष्ण··· केवल कृष्ण ! ···

"तुम कौन हो कृष्ण ?" सहसा अर्जुन ने पूछा।

कृष्ण हँसे तो लगा जैसे इंद्रधनुष पर चपला चमकी हो, "इस भेद-दृष्टि को त्याग कर देखो अर्जुन ! मैं ही हूँ, और है ही क्या। यहाँ और कोई नहीं है, बस मैं ही मैं हूँ।"

अर्जुन ने कृष्ण को देखा : उसे लगा कि कृष्ण ही नहीं बदले, वह स्वयं भी बदल गया है और चारों ओर का संसार कुछ विचित्र-सा हो गया है। सब कुछ यथावत् है, किंतु क्यों लगता है कि आकार का सारा भेद होने पर भी कहीं कोई भेद नहीं है। यह कैसा तो तादात्म्य है कि उसे सबमें एक ही पदार्थ दिखाई दे रहा है – उसमें, कृष्ण में, वृक्षों में, रथ के अश्वों में।···

"इस समय मैं महाकाल के रूप में उपस्थित हुआ हूँ अर्जुन ! जो कुछ दिखाई देता है, वह सब मुझमें से ही प्रकट हुआ है और इसको लौटकर मुझमें ही विलीन हो जाना है।"

अर्जुन के मन में एक बिंब जन्म ले रहा था : मनुष्य पिता के वीर्य और माँ के रज से जन्म लेता है। वह छोटा-सा शरीर पृथ्वी से अन्न, सरिता से जल, वायुमंडल से वायु और सूर्य से प्रकाश लेता है। वह विकसित होकर पूर्ण मनुष्य बनता है। विकास के पूर्ण होते ही उसका क्षरण आरंभ हो जाता है।··· और अंत में वह शरीर क्षार हो कर पंचभूतों में समा जाता है, ऋतु के सुमनों के समान। वही सूर्य है, वही जल है, वही

पवन है, वहीं धरती और उसका उत्पन्न किया हुआ अन्न है; किंतु कोई उस का पोषण नहीं करता। वे ही तत्त्व, जिन्होंने उसके शरीर का निर्माण किया उसका क्षय करने आ गए हैं। महामाया उसे जन्म दे रही थी, महामाया ही उस कर रही थी और महामाया ही उसका भक्षण कर रही थी···,

अर्जुन ने कृष्ण की ओर देखा : कृष्ण मुस्करा रहे थे। वे उसकी ऑख रहे थे। अर्जुन को लगा, जैसे कृष्ण की आँखें उसे अपनी ओर खींच रही हैं सारा अस्तित्व उन आँखों में ही समाता जा रहा है।

अर्जुन के मन का बिंब जैसे साक्षात् प्रकट हो रहा था। कृष्ण एक प्रकाशपुंज में परिणत हो गए थे, जैसे सहस्रों सूर्य एक साथ आकाश पर उदि हों। ··· उस प्रचंड सूर्य की ऊर्जा से वायु का जन्म हुआ। वायु ने जल का सृ ताप, वायु और जल ने मिलकर वनस्पति को जन्म दिया। वनस्पति को और मनुष्यों ने खाया। उन विराट जीव-जंतुओं, वृक्षों और मनुष्यों को सूक्ष्म ने खाया। और सारा कुछ लौटकर उसी सूर्य में समा गया। उस सूर्य का भयंकर हो गया था। उसके सहस्रों मुख प्रकट हो गए थे। बड़ी-बड़ी सेनाएँ, उ से खिंची चली आ रही थीं और उसकी दाढ़ों में कुचली जा रही थीं। उन्हीं भीष्म भी दबे हुए थे और द्रोण भी। दुर्योधन और उसके भाई भी··· अर्जुन ने भी उन श्वासों से खिंचकर उन दाढ़ों में दबते देखा। उस भयंकर आकृति के निकलती ज्वाला में जलते देखा···

अर्जुन ने अपनी हथेलियों से अपनी आँखें ढाँप लीं।

आँखें खोलीं, तो सब कुछ यथावत् ही था। वह अपने रथ पर बैठा था उसके निकट खड़े मुस्करा रहे थे।

"यह सब क्या था केशव ?"

"सृष्टि का सत्य।"

"तुमने मुझे सम्मोहित किया ?"

"नहीं ! माया का आवरण हटा दिया। सत्य प्रकट हो गया।"

अर्जुन का मन पवन वेग से दौड़ रहा था। क्या यह सब कृष्ण की थी ? कृष्ण का तांत्रिक रूप था ? कृष्ण ने अपनी कोई सिद्धि दिखाई थी ?··· औ अपना मन ही चीत्कार कर रहा था—नहीं ! ऐसा कुछ नहीं था। यह उपलब्धि ही थी। अब अर्जुन का न तन शिथिल था, न मन। उसे युद्ध से भय नहीं था। वह विनाश की कल्पना से त्रस्त नहीं था। वह जान रहा था कि न नि होता है, न विनाश। न जन्म कुछ है, न मृत्यु।···

तो क्या कृष्ण ने उसे युद्ध के लिए सहमत कर लिया था ? उसे युद्धा कर दिया था ? अब वह संतुष्ट था कि विजय उनकी ही होगी, इसलिए वह लिए प्रस्तुत था ? वह अपना कर्तव्य समझ गया था और अब स्वधर्म के अनु

का इच्छुक था ?

नहीं ! ··· उसका मन प्रशांत रूप से उसे समझा रहा था··· यह कोई साधारण प्रेरणा नहीं थी, यह तो जैसे अलंघ्य ब्राह्मी आह्वान था। आज तक वह अपनी संवेदना के आधार पर मानवता में रह रहा था, किंतु अब वह जान गया था कि दिव्य जीवन उससे कुछ भिन्न होता है। उसे मनुष्य में नहीं, प्रभु में रहना है। वह अब तक प्राण, हृदय और बुद्धि में रह रहा था, किंतु अब उसे आत्मा में रहना है। वह किसी कालखंड अथवा कालप्रवाह में नहीं जी रहा, वह तो सनातन में निवास कर रहा है। वह उस प्रभु को भूल गया था और जीवन और सृष्टि के निर्णय स्वयं ही करने लगा था।··· अपने धर्म और कर्तव्य पर ध्यान था उसका, पर वह तो एक व्यक्ति का धर्म और कर्तव्य था। कृष्ण ने ठीक ही कहा है, "सब धर्मो को त्याग कर मेरी शरण में आओ।···"

"चलें ? युद्ध की ओर ?" कृष्ण ने पूछा।

"चलो केशव !" अर्जुन ने गांडीव उठा लिया।

उसे लगा कि उसके मन में अनेक प्रश्न हैं, किंतु सारे प्रश्नों का समाधान भी हो चुका है। उसे जो दिव्य अनुभूति हुई है, वह अत्यंत व्यापक चित्र के समान है, जिस में वह छोटी-छोटी रेखाएँ और रंग भरना चाहेगा। उसे कृष्ण से अभी बहुत सारी चर्चा करनी है।···

35

अपना कवच उतार, शस्त्र रथ के तल्प पर रख युधिष्ठिर रथ से नीचे उतर आए। उन्होंने एक बार दृष्टि उठाकर अपने भाइयों की ओर देखा और कौरवों की सेना की ओर चल पड़े।

भीम चकित था : धर्मराज कर क्या रहे हैं ? कौरवों की उस भयंकर सेना में वे निःशस्त्र पैदल चले जा रहे हैं। इस समय दुर्योधन का एक बाण उनकी जीवन-लीला समाप्त कर सकता है। वर्षो की साधना, प्रतीक्षा और कष्ट सहन की पीड़ा का परिणाम क्या होगा यदि धर्मराज की जीवन-लीला ही समाप्त हो गई···

पर इतना तो भीम भी समझ ही रहा था कि उसे शस्त्र लेकर युधिष्ठिर की रक्षा के लिए दौड़ने की आवश्यकता नहीं है। यदि वैसा कुछ होता तो युधिष्ठिर स्वयं ही शत्रु सेना में इस प्रकार निःशस्त्र नहीं घुस जाते।··· वैसे युद्ध के नियमों में तो यही निश्चित हुआ था कि निःशस्त्र तथा युद्ध के अनिच्छुक व्यक्ति पर कोई शस्त्र नहीं उठाएगा। भीष्म के कौरवों के महासेनापति होते हुए यह आशा नहीं की जा सकती थी कि युद्ध के नियम धरे के धरे रह जाएँगे और ऐसे में कोई धर्मराज पर बाण चला देगा।··· किंतु दुर्योधन पर किसी भी रूप में विश्वास नहीं किया जा सकता। अधर्मी के लिए नियम

तोड़ना कोई इतनी बड़ी वात नहीं है। जिसने आज तक कोई मर्यादा नहीं मानी, आज वह युद्ध के नियम न माने तो क्या आश्चर्य ? और यदि धर्मराज के प्राण ही परमात्मा में विलीन हो गए, तो फिर दुर्योधन को दंडित करने का भी क्या लाभ होगा ?

भीम ने अर्जुन की ओर देखा : वह भी अपना कवच उतार रहा था और कृष्ण निश्चिंत खड़े उसे निहार रहे थे। उनके चेहरे पर किसी प्रकार की कोई उद्विग्नता नहीं थी। न वे अर्जुन को रोक रहे थे, न उसे समझा रहे थे। वे तो जैसे सहज उल्लसित मन से खड़े उसके कवच उतारने की प्रतीक्षा कर रहे थे। इसका अर्थ था कि वे इसमें कोई संकट नहीं समझते थे।··· तो फिर भीम ही कैसे अपने रथ पर बैठा रह सकता था।

जब तक युधिष्ठिर दोनों सेनाओं के मध्य भाग तक पहुँचे, तव तक उनके चारों भाई उसी प्रकार निःशस्त्र होकर उनके साथ आ मिले थे। उन्होंने मुस्कराकर उनकी ओर देखा और आगे बढ़ गए। अव तक निश्चित हो चुका था कि वे पितामह भीष्म के पास जा रहे थे। यह वात कौरवों से भी छिपी नहीं थी।···

"देखो इस नपुंसक को।" जयद्रथ ने हंसकर थोड़ी दूरी पर खड़े सुशर्मा की ओर देखा, "अव अंत समय में घवराकर शस्त्र त्याग कर कौरवों के सेनापति की शरण में जा रहा है।"

"मैं तो पहले ही जानता था सिंधुराज ! कि यह युद्ध नहीं करेगा।" त्रिगर्तराज सुशर्मा वोला, "अरे जो अपनी अपमानित होती हुई पत्नी की सहायता के लिए शस्त्र नहीं उठा सकता, जो अपनी पत्नी का अपहरण करनेवाले को बंदी कर भी दंडित नहीं कर सकता, वह युद्ध क्या करेगा।"

जयद्रथ को द्रौपदी के अपमान से अधिक अपना अपमान स्मरण हो आया। उसे लगा कि सुशर्मा उसे उसके अपमान का स्मरण करा उसको आहत करने का प्रयत्न कर रहा है। पर युधिष्ठिर ने सुशर्मा को भी तो विराट के साथ युद्ध करते हुए वंदी हो जाने पर मुक्त कर दिया था। संभवतः सुशर्मा उस बात को भूल गया है।···

"तुम क्या समझते हो अब युद्ध नहीं होगा ?"

"युद्ध तो होगा ही।" सुशर्मा वोला, "युधिष्ठिर लड़े न लड़े, हम तो लड़ेंगे ही। मैं इस मोटे भीम को जीवित नहीं छोड़ूँगा, इसने न केवल विराट को मेरे हाथ से छुड़ा लिया, मुझे अपमानित भी किया।"

"मुझे तो भीम और अर्जुन दोनों से ही निपटना है और···" जयद्रथ आगे वोल नहीं पाया।

पाँचों पांडव पितामह भीष्म के निकट पहुँच गए थे और हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम कर रहे थे। भीष्म ने उन्हें आशीर्वाद देने की मुद्रा में अपनी भुजा उठा दी थी।

"पितामह ! हमें युद्ध की अनुमति दीजिए।" युधिष्ठिर वोले, "युद्ध के लिए यदि आपकी अनुमति है तो हमें विजय का आशीर्वाद दीजिए।"

भीष्म की आँखें डवडवा आईं। उन्होंने अपना धनुष नीचे रख दिया। लगा कि

वे इतने विह्वल हो गए थे कि कदाचित् उनकी वाणी अवरुद्ध हो जाए।

वे स्वयं को संयत कर बोले, "मुझे तुम पर संदेह नहीं करना चाहिए था, किंतु तुम्हारे विरोध में शस्त्रबद्ध होकर खड़ा हो गया हूँ, इसलिए मान लिया था कि कदाचित् अब तुम मुझे अपना पितामह नहीं मानोगे, विरोधी पक्ष का सेनापति ही मानोगे।..." उनका स्वर कुछ लड़खड़ाया, "या शायद दुर्योधन के निकट रहते रहने से ही मेरी यह धारणा बन गई थी कि अब सारे पौत्र उसी के समान होते हैं।"

"पितामह !" अर्जुन बोला, "विजय का आशीर्वाद नहीं देंगे क्या ?"

"विजयी होओ पुत्रो !" उन्होंने अपने अश्रु पोंछ लिए, "अपनी स्थिति और अपने कारणों से तुम्हारी ओर से युद्ध नहीं कर सकता, उसके सिवाय जो चाहो मांग लो। तुमने शस्त्रों से नहीं, अपने व्यवहार से मुझे जय कर लिया तो युद्ध में विजय तुम्हारी ही होगी।"

"नहीं ! आप अपने स्थान पर दृढ़ रहकर युद्ध करें।" युधिष्ठिर ने कहा, "बस हमें हमारा हित बताते रहें। हमें परामर्श देते रहें।"

"वह तो तुम्हारा अधिकार है पुत्रो।"

"हमें जीवन भर अपना अधिकार ही तो नहीं मिला पितामह !" भीम बोला।

"जानता हूँ।" भीष्म बोले, "इसीलिए तुमसे यह नहीं पूछ रहा कि तुम लोग सैन्य-संग्रह कर हस्तिनापुर पर आक्रमण करने क्यों आए हो। तुमसे यह नहीं कह रहा कि शस्त्र त्याग दो और अपने भाइयों का रक्त मत बहाओ।"

"तो हमें वह युक्ति प्रदान करें पितामह ! जिससे हम आपका निराकरण कर पाएँ।" युधिष्ठिर बोले।

"तुम जानते हो, मैंने पांडुपुत्रों का वध न करने और शिखंडी से युद्ध न करने की प्रतिज्ञा की है।" भीष्म बोले, "तो फिर मेरा निराकरण करने में बाधा ही क्या है।"

"बाधा तो कदाचित् कोई नहीं है," अर्जुन ने कहा, "पर हमारा दायित्व और भी बढ़ गया है।"

भीष्म हँसे। वे समझ रहे थे कि अर्जुन क्या कह रहा है। वे अपनी रक्षा करते तो पांडवों को उनकी रक्षा की आवश्यकता नहीं थी, पर वे पांडवों और शिखंडी से अपनी रक्षा नहीं कर रहे थे, इसलिए पांडवों को उनकी रक्षा भी करनी थी। बोले, "जानता हूँ। जाओ अपने धर्म पर अडिग रहो। जहाँ धर्म है, वहीं कृष्ण हैं और जहाँ कृष्ण हैं, वहीं विजय का वास है।"

पाँचों पांडव उन्हें प्रणाम कर आचार्य द्रोण की ओर बढ़ गए। द्रोण ने उन्हें भीष्म की ओर जाते और उनका आशीर्वाद लेते हुए देखा था, अतः उन्हें उनके आने के प्रयोजन को समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

पांडवों के प्रणाम के उत्तर में उन्हें विजय का वर देते हुए बोले, "विधाता की लीला समझ नहीं पाता हूँ वत्सो ! नहीं तो कौन सोच सकता था कि मैं और अर्जुन एक-दूसरे के विरोधी होकर युद्ध करेंगे। पर नियति अबूझ है।" वे अर्जुन की ओर मुड़े,

"कदाचित् तुम्हें स्मरण हो अर्जुन ! युधिष्ठिर के युवराज्याभिषेक पर मैंने तुमसे कहा था कि कभी आवश्यकता हो तो मेरे विरुद्ध युद्ध करने से संकोच मत करना।"

"स्मरण है आचार्य !"

"तो अब तुम युद्ध करो पुत्र ! संकोच मत करो।"

"पर आपको हम जय कैसे करेंगे गुरुवर !" युधिष्ठिर बोले, "गुरु को पराजित करना शिष्य की मर्यादा नहीं है।"

आचार्य हँस पड़े, "ठीक कहते हो युधिष्ठिर ! पर दुर्योधन के पक्ष से लड़ते हुए भी मुझे कहीं यह भ्रम नहीं है कि विजय दुर्योधन की होगी।"

"क्यों आचार्य !" अर्जुन ने कहा, "जिस पक्ष में आप, पितामह और आचार्य कृप हों, उन्हें कौन पराजित करेगा ?"

"जय तो धर्म की होती है पुत्र ! और धर्म वहाँ है, जहाँ कृष्ण हैं। अतः विजय भी वहीं होगी, जहाँ कृष्ण होंगे।" द्रोण की आँखें जैसे भावी को देखकर हँस रही थीं।

"पितामह ने भी यही कहा है," अर्जुन बोला, "पर यह कैसे संभव है ? केशव शस्त्र भी नहीं उठाएँगे तो वे युद्ध में विजय कैसे प्राप्त करेंगे।"

"यह तो दुर्योधन का तर्क है पुत्र ! तुम्हारा नहीं।" द्रोण गंभीर हो गए, "यदि ऐसा न होता तो तुम नारायणी सेना का त्याग कर केवल कृष्ण को क्यों माँगते ?"

"आप सत्य कह रहे हैं आचार्य ! हम केशव को नहीं छोड़ सकते।" युधिष्ठिर बोले।

"छोड़ तो मैं भी तुम्हें नहीं सकता था, किंतु मैं और द्रुपद एक साथ नहीं रह सकते।" आचार्य बोले, "जाओ। कृप से भी आशीर्वाद ले लो।"

कृपाचार्य को प्रणाम कर युधिष्ठिर बोले, "आप भी दुर्योधन के पक्ष में युद्ध करेंगे, यह नहीं सोचा था मैंने।"

"मैं दुर्योधन के साथ नहीं हूँ धर्मराज ! मैं अश्वत्थामा के साथ हूँ। अश्वत्थामा अपने पिता के साथ है और द्रोणाचार्य द्रुपद के विरुद्ध हैं।" कृपाचार्य गंभीर स्वर में बोले, "जीवन बड़ी विचित्र क्रीड़ा है। हम नहीं जानते कि हम किसके साथ हैं और किसके विरोधी हैं।"

उन्हें प्रणाम कर पांडव अपनी सेना की ओर लौटे।

अर्जुन ने देखा, कृष्ण वहाँ नहीं थे। उसने दृष्टि घुमाई : कृष्ण कर्ण के पास खड़े दिखाई पड़े। ये वहाँ क्या करने पहुँच गए, उसने सोचा। उसका मन कोई समाधान नहीं दे पाया। जाने कृष्ण क्या लीला रच रहे थे। उनके मुखड़े पर एक क्रीड़ामयी मुस्कान थी, जैसे युद्धक्षेत्र में न खड़े हों, किसी समारोह में भाग लेने आए हों।···

दोनों सेनाओं के मध्य पहुँचकर युधिष्ठिर एक बार फिर खड़े हो गए। वे कौरवों

की सेना की ओर मुड़े और उच्च स्वर में वोले, "युद्ध आरंभ करने से पहले मैं दुर्योधन की सेना में खड़े योद्धाओं को एक निमंत्रण देना चाहता हूँ। आप में से जो कोई भी हमारी सहायता करने के लिए हमारी ओर से युद्ध करने का इच्छुक हो, वह दुर्योधन की सेना छोड़ कर वाहर आ जाए, हम उसे स्वीकार करेंगे।..."

युधिष्ठिर के निमंत्रण से उस कोलाहलमय क्षेत्र में सन्नाटा छा गया : यह कैसा रण-निमंत्रण है। युद्ध-निमंत्रण तो युद्ध से पहले भेजे जाते हैं। तव सवने अपना-अपना पक्ष निश्चित कर लिया था। यह कैसे संभव है कि जो सैनिक घर से कौरवों की ओर से युद्ध करने के लिए चला हो, उनकी सेना में आ मिला हो, उसे उसका स्थान और कर्तव्य वता दिया गया हो, वह अव अंतिम समय में उनका पक्ष छोड़कर पांडवों की ओर आ जाएगा ?... अभी युद्ध तो आरंभ ही नहीं हुआ है तो विना कुछ घटित हुए ही कोई अपना पक्ष-परिवर्तन क्यों करेगा ?... और क्या युधिष्ठिर ने यह विचार कर लिया है कि यदि वे कौरवों के योद्धाओं को अपनी ओर आ जाने का निमंत्रण दे रहे हैं तो ऐसा निमंत्रण दुर्योधन भी दे सकता है और अनेक योद्धा विजय के लोभ में ही कौरवों की ओर जा सकते हैं।...

वह स्तब्ध सन्नाटा थोड़ी देर में ही टूट गया, कौरवों की सेना में से अपना रथ दौड़ाता हुआ युयुत्सु वाहर आ गया था।...

युद्धक्षेत्र में एक भयंकर कोलाहल मच गया। जाने कितने लोग अपने स्थान पर खड़े चिल्ला रहे थे। वे क्या कह रहे थे, यह सुनना संभव नहीं था।...

तभी युयुत्सु ने उच्च स्वर में कहा, "धर्मराज ! मैं इस युद्ध में आपके पक्ष से लड़ना चाहता हूँ। मैं युवराज दुर्योधन का भाई और महाराज धृतराष्ट्र का पुत्र हूं। मेरा प्रश्न है कि क्या आप मुझे अंगीकार करेंगे ?"

सवसे पहले भीम की दृष्टि युधिष्ठिर की ओर उठी : कहीं धर्मराज यह ही न कह दें कि एक भाई को अपने भाई के विरुद्ध नहीं लड़ना चाहिए।...

पर युधिष्ठिर ने ऐसा कुछ नहीं कहा। वे उसी प्रकार उच्च स्वर में वोले, "तुम दुर्योधन के ही नहीं मेरे भी भाई हो। मैं तुम्हें अंगीकार करता हूँ।"

युधिष्ठिर का मन वहुत वेग से अपने शैशव की ओर दौड़ रहा था। जव दुर्योधन ने भीम को विप दिया था तो यही युयुत्सु था, जिसने उन्हें उसकी सूचना दी थी। उन दिनों जव वे अपने भाइयों और माता के साथ स्वयं को अत्यंत असुरक्षित पा रहे थे। कहीं कोई सहायक दिखाई नहीं देता था। सव ओर दुर्योधन का इतना आतंक था कि कोई पांडवों के प्रति अपनी सहानुभूति तक प्रकट करने से डरता था। विदुर काका तक ने माँ को यह परामर्श दिया था कि वे भीम को दुर्योधन द्वारा विप दिए जाने की वात अपनी जिह्वा पर न लाएँ। ऐसा न हो कि उनके अन्य पुत्रों के प्राण भी संकट में पड़ जाएँ।... उस समय भी युयुत्सु ने उन लोगों को दुर्योधन की योजनाओं और उसके कृत्यों के विषय में अनेक सूचनाएँ दी थीं।... वह दुर्योधन से प्रेम नहीं करता था। वह उससे

भयभीत नहीं था।··· पर वह उससे प्रेम क्यों नहीं करता था ? वह गांधारी का पुत्र नहीं था, किंतु था तो धृतराष्ट्रपुत्र ही।··· वह धृतराष्ट्रपुत्र तो था किंतु वह अधर्म में न अपने पिता के साथ था, न अपने भाइयों के साथ। वह धर्म के साथ था, इसलिए वह पांडवों के पक्ष से लड़ना चाहता था, तो धर्मराज उसे अंगीकार क्यों न करें ?···

"मैं आभारी हूँ धर्मराज ! कि आपने मुझे अंगीकार किया और अधर्म के पक्ष से लड़ने की बाध्यता से मुक्ति दिलाई। अब मैं वीर क्षत्रियों के समान धर्मयुद्ध करूँगा, दुर्योधन से अपने संबंध के कारण धर्म और धर्म के समर्थकों की हत्या करनेवाला पापी नहीं रहूँगा।" युयुत्सु ने कहा और वह अपना रथ दौड़ता हुआ पांडवों की सेना में आ मिला।

अर्जुन अपने रथ के निकट आया तो उसने देखा कि कृष्ण भी लौट आए थे।

"आप कहाँ चले गए थे केशव ?"

"मैं कर्ण से कहने गया था कि पितामह भीष्म ने तो उसके और उसके भाई-बंधुओं के शस्त्र भी रखवा लिए हैं, तो वह पितामह के जीवित रहने तक पांडवों की ओर से युद्ध क्यों नहीं करता ? पितामह के धराशायी होते ही वह लौटकर दुर्योधन के पक्ष में जा सकता है।"

अर्जुन ने चकित होकर कृष्ण की ओर देखा, "ऐसा भी कुछ संभव है क्या ?"

"क्यों ? यदि धर्मराज कौरव सेना के योद्धाओं को पांडवों की ओर से युद्ध करने का निमंत्रण दे सकते हैं तो कर्ण के सम्मुख ऐसा प्रस्ताव रखने में क्या हानि है।" कृष्ण बोले।

"मैं हानि की नहीं संभावनाओं की बात कर रहा हूँ।"

"संभावनाओं की कोई सीमा नहीं होती अर्जुन !" कृष्ण बोले, "मैं यह तो चाहता ही नहीं हूँ कि कर्ण पांडवों की ओर से युद्ध करे। मैं तो केवल इतना चाहता हूँ कि वह दुर्योधन की ओर से न लड़े।"

अर्जुन कुछ समझा कुछ नहीं समझा, किंतु उसने कृष्ण से और कोई प्रश्न नहीं किया।··· सचमुच संभावनाओं की कोई सीमा नहीं होती। जब युधिष्ठिर ने कौरव योद्धाओं के प्रति आह्वान किया था, तब उन्हें कहाँ विश्वास था कि कोई भी उस पक्ष से पांडवों के पक्ष में आ जाएगा। उनके अपने मातुल शल्य अपने घर से चले थे तो उनकी ओर से युद्ध करने निकले थे, किंतु मार्ग में ही वे अपना पक्ष बदलकर दुर्योधन की सेना में चले गए।··· पर वह देख रहा था कि धर्मराज के निमंत्रण पर युयुत्सु उनके पक्ष में आ गया था।··· उसने भी कभी युयुत्सु के विषय में कुछ अधिक सोचा नहीं था। पर अब सोचता है तो उसे लगता है कि युयुत्सु का भी वहाँ दम घुट रहा होगा। उसने भी वहां से निकलकर चैन की साँस ली होगी।··· उसके आ जाने से पांडवों का बल बढ़ा है अथवा

नहीं, इस विषय में मतभेद हो सकता था, किंतु इसमें कोई संदेह नहीं था कि उसके चले आने से दुर्योधन का पक्ष अवश्य दुर्बल हुआ था। भौतिक दृष्टि से भी और नैतिक दृष्टि से भी।···

36

अर्जुन के मन में बड़ी चिंता थी। युद्ध आरंभ हो गया था और भीम ने बिना कोई और विचार किए सीधे दुर्योधन पर आक्रमण कर दिया था। मध्यम पांडव को अपनी प्रतिज्ञा को यथार्थ में परिणत करना था और और अपने मन की साध भी पूरी करनी थी।··· पर यह प्रक्रिया केवल भीम तक ही सीमित नहीं थी। सारे ही योद्धा, युद्ध में कुछ और करने से पहले अपने मन की ज्वाला को अपने शत्रु के रक्त से शांत कर लेना चाहते थे। सात्यकि ने भी पहले ही दिन में पहले ही क्षण कृतवर्मा से निबट लेना आवश्यक समझा था। धृष्टद्युम्न सीधा आचार्य द्रोण पर जा कूदा था और शिखंडी ने अश्वत्थामा को घेरना अपनी प्राथमिकता में रखा था। उन्हें भी अपनी और अपने पिता की प्रतिज्ञा पूरी करनी थी।··· द्रुपद ने अपने पुत्रों को द्रोण और अश्वत्थामा से युद्ध करते देख अपना ध्यान जयद्रथ पर केंद्रित किया था। उन्हें कदाचित् वनवास में हुए द्रौपदी के हरण का स्मरण हो आया था। जयद्रथ को अभी तक उसका कोई उचित दंड नहीं मिला था।··· अर्जुन मन-ही-मन कहीं विस्मित था कि वे सब लोग धर्मराज को उनका राज्य दिलाने के लिए एक धर्मयुद्ध करने आए थे; किंतु सबको अपने वैर-विरोध स्मरण हो आए थे और एक सच्चे क्षत्रिय के रूप में पांडवों का धर्मयुद्ध लड़ने के स्थान पर वे अपना-अपना युद्ध लड़ रहे थे। इसका अर्थ कहीं यह भी था कि धर्मराज यह युद्ध लड़ते न लड़ते, इन लोगों को तो युद्ध करना ही था।

युधिष्ठिर ने युद्ध के लिए शल्य को चुना था। उनका शल्य से कोई व्यक्तिगत विरोध नहीं था; किंतु पांडव यह नहीं भूलते थे कि उनके मातुल होते हुए भी शल्य ने आज तक उनकी सहायता तो नहीं ही की थी, सदा उनके आड़े आए थे। उनसे युद्ध तो करना ही था। युधिष्ठिर उन्हें न चुनते तो नकुल और सहदेव में से कोई उनसे अपने खड्ग के माध्यम से पूछता ही कि वे दुर्योधन की ओर कैसे चले गए। वैसे इसमें पूछने को बहुत कुछ नहीं था। वे लोग जानते थे कि दुर्योधन ने उन्हें अपने धन के माध्यम से लुब्ध किया था।··· और वैसे भी कदाचित् शल्य को यही आशा थी कि अंततः विजय तो दुर्योधन की ही होनी है।··· तो वे विजयी पक्ष के ही साथ क्यों न रहते ?··· पांडवों ने अपने शैशव से ही शल्य को प्रायः ही दुर्योधन की इच्छा के अनुकूल काम करते देखा था। द्रौपदी के स्वयंवर में भी, चाहे अपने अज्ञान में ही, वे दुर्योधन के पक्ष से लड़ रहे थे।···

पर अर्जुन को चिंता इन लोगों की नहीं थी।··· उसकी दृष्टि बार-बार जाकर भीष्म पर टिक जाती थी और फिर वह स्वतः ही शिखंडी को ढूँढ़ने लगता था। पितामह ने सार्वजनिक रूप से घोषणा कर, उसके लिए एक उलझन खड़ी कर दी थी।··· कृष्ण ने उसे मोह का स्वरूप समझा दिया था और एक प्रकार से वह समझ भी गया था। मन-ही-मन कहीं जानता भी था कि इस युद्ध में सम्मिलित हुए लोगों में से किसी का भी जीवित बच निकलना संदिग्ध था। पितामह भी अपवाद नहीं थे।··· फिर भी जाने क्यों उसका मन अभी भीष्म को मृत्यु की डाढ़ों में फँसे हुए नहीं देखना चाहता था।··· यह तो बहुत अच्छा था कि अश्वत्थामा, शिखंडी और द्रुपद के मन में आचार्य द्रोण के प्रति क्रोध इतना प्रबल था कि उन लोगों का ध्यान अभी भीष्म की ओर नहीं गया था। जैसे ही उनका मन इस ओर जाएगा, वे शिखंडी को भीष्म से युद्ध करने के लिए नियुक्त कर देंगे।··· पितामह स्वयं को नहीं बचाएँगे तो उनकी रक्षा का दायित्व किस पर था ?··· दुर्योधन भी अवश्य ही इस ओर से सजग होगा। उसने अपने सेनापतियों से पितामह की रक्षा का विशेष प्रबंध करने को कहा होगा।··· पर अर्जुन को लगता है कि जब पितामह ने अपने प्राण पांडवों की दया पर ही डाल दिए हैं तो पांडवों का भी उनके प्रति कुछ धर्म बनता है। वे दुर्योधन के पक्ष से भी युद्ध करते हुए उनके शत्रु नहीं हैं। उन्होंने अपनी मृत्यु का उपकरण पांडवों के हाथों में पकड़ा दिया है और जाकर विपक्ष में खड़े हो गए हैं। क्या करना चाहते हैं वे ? दुर्योधन को परखना चाहते हैं कि वह कहाँ तक उनकी रक्षा कर सकता है, अथवा पांडवों की परीक्षा करना चाहते हैं कि वे उनसे कितना प्रेम करते हैं ?··· पर परिस्थितियां कितनी विचित्र हैं। वे पांचालों को तो परखना नहीं चाहते। पांचालों से अपनी रक्षा भी करना चाहते हैं। पांचालों को न मारने का प्रण भी नहीं किया है उन्होंने। पांचालों के मन में उनके प्रति विरोध है, क्योंकि उन्होंने पांचालों के शत्रु द्रोण को अपने यहाँ आश्रय दिया था। द्रोण को आश्रय देने वाला दुर्योधन नहीं था, भीष्म थे।··· पर द्रुपद का अपमान करनेवाले उपकरण तो पांडव थे। स्वयं अर्जुन ने द्रुपद को पराजित कर उन्हें रस्सियों में बाँधा था और आज पांडव उन पर ही आश्रित हैं। पांचाल पांडवों के सहायक हैं। पांडवों के प्रति रोष नहीं है उनके मन में। सब कुछ गड्ड-मड्ड हो गया है। श्रीकृष्ण ठीक ही कहते हैं ··· ये सारे क्षत्रिय काल के गाल में समा चुके हैं। वे किसी न किसी बहाने से मारे ही जाएँगे। किसी को कोई मारेगा और किसी को कोई। पर मरेंगे सब ही। तो ? वह शिखंडी को पितामह के सम्मुख खड़ा कर दे, ताकि शिखंडी पितामह का वध कर दे ?··· मोह उचित नहीं है। पर···

"क्या सोच रहे हो अर्जुन ?" कृष्ण ने पूछा।

"सोच रहा हूँ कि इस युद्धक्षेत्र में भी लोग धर्म का नहीं, पांडवों का भी नहीं, अपना ही युद्ध लड़ रहे हैं। ये सात्यकि और कृतवर्मा द्वारका में न लड़कर यहाँ लड़ रहे हैं, किंतु लड़ वे अपना ही युद्ध रहे हैं।" अर्जुन बोला।

कृष्ण हँसे, "और ध्यान से देखोगे तो पता चलेगा कि वे अपना युद्ध भी नहीं

लड़ रहे, वे त्रिगुणात्मक प्रकृति का युद्ध लड़ रहे हैं। यहाँ सात्यकि और कृतवर्मा नहीं लड़ रहे। घृणा लड़ रही है। भय लड़ रहा है। लोभ लड़ रहा है। अहंकार लड़ रहा है।"

"वे घृणा से क्यों नहीं लड़ते ? भय और क्रोध से क्यों नहीं लड़ते ? अपने अहंकार से क्यों नहीं लड़ते ?..."

"जैसे तुम अपने मोह से लड़ रहे हो ?"

अर्जुन ने चकित होकर कृष्ण की ओर देखा, "आप कैसे जान गए कि मैं अपने मोह से लड़ रहा हूँ ?"

"जब तुमने गांडीव भूमि पर रख दिया था, तब तुम मोह से पराजित हुए थे।" कृष्ण बोले, "जब तुम गांडीव उठाकर अपने शत्रुओं पर प्रहार करोगे तो मैं मान लूँगा कि तुमने अपने मोह को स्थायी अथवा अस्थायी रूप से पराजित कर दिया है, पर जब तुम गांडीव हाथ में लिए हुए, शून्य को घूरते रहते हो तो मैं समझ जाता हूँ कि तुम अपने मोह से लड़ रहे हो।"

"आपने सत्य ही कहा मधुसूदन !" अर्जुन बोला, "आप निकट रहेंगे तो मोह क्या, मैं किसी को भी जीत लूँगा। पर इस समय तो सोच रहा हूँ कि कृतवर्मा आप का समधी होकर भी आप के विरोधी पक्ष में क्यों है ?"

"दुर्योधन मेरा समधी होकर यदि स्वयं मेरा विरोधी पक्ष हो सकता है तो कृतवर्मा मेरा समधी होकर मेरे विरुद्ध क्यों नहीं जा सकता।" कृष्ण बोले, "तुम यही समझो कि संसार में संबंधों से पक्ष निश्चित नहीं होते।"

"यही तो पूछ रहा हूं कृष्ण !" अर्जुन बोला, "कि वह आपके विरुद्ध क्यों है, आपके साथ क्यों नहीं है ?"

"मेरा पक्ष तो तब ही हो सकता है, जब वह धर्म का पक्ष हो।" कृष्ण बोले, "वे लोग धर्म के पक्ष में खड़े होंगे, तो उन्हें संसार का बहुत कुछ त्यागना पड़ेगा।"

"दुर्योधन को तो इंद्रप्रस्थ का राज्य त्यागना पड़ेगा, किंतु कृतवर्मा को क्या त्यागना पड़ेगा ?"

"और कुछ त्यागना पड़े न पड़े, सात्यकि के प्रति अपनी घृणा त्यागनी पड़ेगी। उसके प्रति अपना द्वेष त्यागना पड़ेगा।"

"तो उसमें उसकी हानि ही क्या है ?" अर्जुन ने कुछ चकित स्वर में पूछा, "उसका मन कुछ स्वच्छ हो जाएगा, आत्मा कुछ पवित्र हो जाएगी।"

कृष्ण हँसे, "त्याग से तो किसी का भी मन स्वच्छ होता है, किसी की भी आत्मा पवित्र होती है, पर कौन तत्पर है त्याग के लिए ?"

"मैं धन संपत्ति और सुख भोग के त्याग की बात नहीं कर रहा, मैं तो घृणा और द्वेष के त्याग के विषय में कह रहा हूँ।" अर्जुन ने कहा।

"धन संपत्ति भी मल है, सुख-भोग भी और घृणा-द्वेष भी।" कृष्ण बोले, "अब यह तो अपनी स्वच्छ दृष्टि की बात है कि किसको किसमें स्वच्छता दिखाई देती है।

दुर्योधन ने भी तो पांडवों के प्रति ईर्ष्या, द्वेष और घृणा को अपनी सबसे मूल्यवान निधि मानकर ही हृदय से लगा रखा है। उसे कहा जाए कि वह पांडवों से उसी प्रकार प्रेम करे, जैसे आज भी युधिष्ठिर उससे करते हैं तो उसके प्राण ही निकल जाएँगे। कुछ लोगों के जीवन का लक्ष्य ही मल एकत्रित करना है और वही उनकी सर्वाधिक महन्त्वपूर्ण उपलब्धि होती है।"

"पर कृतवर्मा तो हस्तिनापुर में आपकी रक्षा के लिए अपना वक्ष अड़ाकर खड़ा हो गया था ?"

"हाँ ! पर उसका कृष्ण-प्रेम सदा ही सात्यकि के प्रति घृणा से हार जाता है। उसकी घृणा, प्रेम से कहीं अधिक बलवती है।" कृष्ण मुस्कराए, "अब तुम सावधान हो जाओ, हम कुरुश्रेष्ठ भीष्म के सम्मुख जा रहे हैं।"

37

रानी सुदेष्णा को सूचना ी गई कि समरभूमि से कोई दूत महत्त्वपूर्ण समाचार लेकर आया है तो उनका हृदय जैसे डूबने लगा। कैसा समाचार आया है ? अभी तो युद्ध का आरंभ ही है। एक दिन के युद्ध के पश्चात् विजय का अथवा किसी बड़ी उपलब्धि का समाचार तो नहीं ही आ सकता। तो फिर यह कैसा समाचार आया है ?···वह दूत महारानी सुदेष्णा को समाचार देना चाहता है। वह द्रौपदी को सूचना देने उपप्लव्य क्यों नहीं गया ? वह सुदेष्णा को ही क्यों समाचार देना चाहता है ? इसका क्या अर्थ है ? यदि युद्ध का सामान्य दैनन्दिन समाचार होता तो वह दुर्गपाल को दे दिया जाता और सामान्य समाचारों के समान, प्रजा की जानकारी के लिए, विराटनगर में उसकी भी घोषणा हो जाती।··· पर वह महारानी सुदेष्णा के सम्मुख उपस्थित होकर समाचार निवेदित करना चाहता है···

सुदेष्णा आशंकित मन से दूत की प्रतीक्षा कर रही थीं।

दूत ने सुदेष्णा के सम्मुख उपस्थित होकर प्रणाम किया।

रानी ने देखा कि दूत के चेहरे पर उल्लास का एक कण भी नहीं है। उसके पास कोई शुभ समाचार नहीं हो सकता। रानी का मन जैसे चीत्कार कर उठा, तो क्या महाराज विराट पहले ही दिन युद्ध में खेत रहे।··· सुदेष्णा ने यह कभी नहीं माना था कि उनकी अवस्था युद्ध के लिए उपयुक्त थी। सारे युद्ध तो कीचक के नेतृत्व में होते थे। महाराज को अब युद्ध का अभ्यास ही कहाँ था। वे तो सुशर्मा के साथ हुए युद्ध में ही कदाचित् वीरगति पा चुके होते। इन्हीं पांडवों ने उन्हें बचा लिया था कि वे अपने राज्य की रक्षा के लिए नहीं पांडवों के राज्य के लिए लड़ते हुए प्राण दें।··· इन पांडवों ने उनके प्राण ले ही लिए।···

दूत अपने मुख से कुछ नहीं बोला। वह हाथ जोड़े मौन खड़ा रहा।

"क्या समाचार है दूत ? क्या महाराज ने वीरगति पाई है ?" सुदेष्णा ने स्वयं को कुछ सँभालकर पूछा।

दूत को जैसे बोलने का आधार मिल गया।

"नहीं महारानी ! महाराज सकुशल हैं। प्रभु उन्हें अनन्तकाल तक बनाए रखें। स्वस्थ और समर्थ जीवन प्रदान करें।" दूत ने कहा।

"तो फिर क्या समाचार है ?"

"महारानी ! महाराज विराट के छोटे और वीर पुत्र, कुमार उत्तर, युद्ध के प्रथम दिन युद्धक्षेत्र में वीरगति को प्राप्त हुए।"

सुदेष्णा स्तब्ध रह गई।... वह तो महाराज के विषय में ही सोचती रही। उसे यह स्मरण ही नहीं आया कि उसके अपने पुत्र उत्तर और शंख भी इसी युद्ध में गए हुए हैं।... और उनका युद्ध का अनुभव भी सबसे कम है।... मृत्यु वृद्धावस्था की प्रतीक्षा नहीं करती, उसका ग्रास कोई भी, कभी भी बन सकता है।...

रानी ने अपनी सिसकी बड़ी कठिनाई से रोकी। उनका हृदय फटा जा रहा था, किंतु वे जानती थीं कि पुत्र के वीरगति पाने पर क्षत्राणियाँ अश्रु नहीं बहातीं।

"कुमार उत्तर !" अंततः उनके मुख से निकला, "क्यों ? वह अनाथ था क्या ? उसका कोई रक्षक नहीं था ? कोई सहायक नहीं था ? श्वेत तो उसका सौतेला है, किंतु शंख तो उसका सहोदर है। उसके पिता तो वीर हैं और मत्स्यों की सेना उनके साथ है। अपने अज्ञातवास में अर्जुन को उसकी आवश्यकता थी तो वह उसे भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण और दुर्योधन से भी बचा लाया था।... पांडवों को अब उसकी आवश्यकता नहीं थी क्या कि उन्होंने उसकी रक्षा का कोई प्रयत्न नहीं किया ? वे भूल गए कि वह उनके पुत्र अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा का भाई है ? महाराज विराट को भी उसका ध्यान नहीं आया ?"

"ऐसा कुछ नहीं हुआ महारानी !" दूत ने अत्यंत सम्मान से झुककर कहा, "कुमार कल के युद्ध के नायक रहे। वे साधारण सैनिकों के समान अनाम लोगों से लड़ते हुए साधारण मृत्यु को प्राप्त नहीं हुए। वे शत्रुओं के महावीरों से लड़ते हुए, उनके दाँत खट्टे कर वीरगति को प्राप्त हुए हैं।"

सुदेष्णा का मन चाह रहा था कि वे अपने स्थान से उठकर, इस प्रकार का अशुभ समाचार लानेवाले इस दूत का मुँह नोच लें; किंतु उसका कोई लाभ नहीं था। स्वयं को संयत रखते हुए धैर्यपूर्वक बोलीं, "मुझे सारा समाचार दो दूत। यह सब कैसे हुआ ?"

"महारानी की जय हो। महारानी सच्ची क्षत्राणी हैं।" दूत बोला, "युद्ध के आरंभ में पांडव सेनाएँ, मध्यम पांडव भीमसेन के नेतृत्व में आगे बढ़ीं। वे दुर्योधन से लड़ना चाहते थे और उनके मन में दुर्योधन के वे सारे अपराध सजीव हो उठे थे, जो शैशव से अब तक उनके प्रति उसने किए थे। कौरवों की ओर से दुर्योधन, दुर्मुख, दुःशल, शल, दुःशासन, दुर्मर्षण, विविंशति, चित्रसेन, विकर्ण, पुरुमित्र, जय, भोज, भूरिश्रवा

इत्यादि ने मिलकर भीम को घेरा। वे दुर्योधन को भी बचाना चाहते थे और अपने प्रधान सेनापति भीष्म की भी रक्षा करना चाहते थे। भीम को इतने योद्धाओं में घिरा देखकर द्रौपदीपुत्र प्रतिविंध्य, सर्वग, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतसेन उनकी रक्षा को आए। दूसरी ओर से वीर अभिमन्यु, नकुल, सहदेव और धृष्टद्युम्न अपने-अपने युद्ध छोड़ कर, उनकी सहायता को पहुँचे।"

"उस समय अर्जुन क्या कर रहे थे ?" सुदेष्णा के स्वर में आरोप का सा भाव था, "वे उनकी सहायता को क्यों नहीं आए ?"

"उन्होंने उस समय कौरवों के महासेनापति भीष्म को रोक रखा था महारानी !" दूत बोला, "यदि वे भीष्म को न रोकते तो संभवतः भीष्म भी दुर्योधन की सहायता को आ जाते। पर भीष्म महावीर अर्जुन को एक प्रकार से टाल कर चेदि, काशी, करूष तथा पांचालों की सेना में आ घुसे। वे जिस रूप में पांडवों की सेना को नष्ट कर रहे थे, उसे देखकर आपके जामाता, अर्जुनपुत्र अभिमन्यु ने अपने प्रतिपितामह भीष्म पर भयंकर आक्रमण किया। उनके आक्रमण की भयंकरता को देखकर भीष्म तो, अन्य योद्धाओं को छोड़कर उनकी ओर उन्मुख हुए ही, कृपाचार्य, कृतवर्मा तथा शल्य भी भीष्म की सहायता को आ गए। उस सोलह वर्ष के छोटे से बालक के सम्मुख कौरव पक्ष के सबसे अनुभवी और वीर योद्धा एकत्रित हो गए थे। तब भी अभिमन्यु ने दुर्मुख का सारथि मार डाला और कृपाचार्य का धनुष काट दिया। भीष्म ने भी प्रतिशोध लेने के लिए अभिमन्यु का सारथि मार डाला; किंतु अभिमन्यु का वेग वे रोक नहीं सके। आत्मरक्षा का और कोई उपाय न देखकर भीष्म ने अपने दिव्यास्त्र प्रकट किए। इस युद्ध में सब से पहले दिव्यास्त्र प्रकट करनेवाले योद्धा भीष्म ही थे। सारी समरभूमि की दृष्टि जैसे अभिमन्यु पर ही केन्द्रित हो गई थी। वह बालक अनुभवी योद्धाओं और दिव्यास्त्रों के सम्मुख खड़ा था; किंतु तनिक भी विचलित नहीं था।··· अपने जामाता की रक्षा के लिए सबसे पहले मत्स्यराज विराट वहाँ पहुँचे। अपने पिता की सहायता के लिए कुमार उत्तर अपना युद्धक गज दौड़ाते हुए वहाँ आ गए। स्थिति की गंभीरता को देखते हुए, प्रधान सेनापति धृष्टद्युम्न, मध्यम पांडव भीम, वीरवर सात्यकि तथा पाँचों कैकेय राजकुमार दौड़े आए। सब ही अपने-अपने स्थान पर खड़े अपने बाणों से शत्रुओं को बींध रहे थे, पर राजकुमार उत्तर उतने से ही संतुष्ट नहीं हुए। उनका आवेश न तो प्रतीक्षा कर सकता था और न ही अपनी सुरक्षा का वैसा आग्रही था। उन्होंने अपने हाथी को प्रेरित किया और हाथी ने शत्रुओं के बाणों की वर्षा की चिंता न कर, निकट जाकर अपना एक अगला पाँव मद्रराज शल्य के रथ के जूए पर रखकर अपना सारा भार उस पर डाल दिया। परिणाम यह हुआ कि शल्य के रथ के चारों अश्वों ने उसी बोझ के नीचे दबकर अपने प्राण त्याग दिए। रथ के ध्वस्त होने पर मद्रराज का जीवित बचना कठिन हो रहा था। निश्चय ही क्षण भर के विलंब से ही उनके प्राण भी जा सकते थे। वे किसी भी रथ के पहिए, अश्व के सुम अथवा हाथी के पैरों तले कुचले

जा सकते थे। अपनी उसी अवस्था में शल्य ने, अपनी सुरक्षा के प्रति असावधान, राजकुमार उत्तर पर लोहे की एक शक्ति चला दी। राजकुमार कदाचित् ऐसे किसी आक्रमण के लिए प्रस्तुत नहीं थे। वे मान रहे थे कि रथ टूट गया है, अतः शल्य दूसरा रथ प्राप्त होने तक युद्ध नहीं करेंगे, पर शल्य ने अपने लिए दूसरा रथ प्राप्त करने से अधिक आवश्यक शत्रु पर आक्रमण करना समझा। उस शक्ति ने राजकुमार का कवच फाड़कर उनके वक्ष में प्रवेश किया। राजकुमार अचेत होकर अपने हाथी से नीचे गिर गए और फिर कभी सचेत नहीं हुए।"

दूत मौन हो गया और सुदेष्णा को लगा, जैसे सारा संसार ही मौन हो गया हो।··· पता नहीं उत्तर अपने पिता को बचाने गया था अथवा अपने भगिनीपति की रक्षा करने गया था। जिसकी भी रक्षा करने गया था, एक अच्छे उद्देश्य से गया था। एक वीर पुरुष के समान गया था। स्वयं को साधारण योद्धा मानकर उसने निरीह सैनिक नष्ट नहीं किए थे। वह भीष्म, शल्य और कृपाचार्य से लड़ा था। जो कुछ भी हुआ था, किंतु सुदेष्णा का पुत्र, उसका अपना उत्तर अब जीवित नहीं था। वह कभी लौटकर उसके पास नहीं आएगा।···

"तो क्या मत्स्यों की वीरता वहीं समाप्त हो गई ?" रानी ने सहसा पूछा, "मत्स्यराज विराट अपने पुत्र के हत्यारे को क्षमा कर, अपना सिर झुकाए, शोक मनाते हुए लौट आए ? शंख अपने भाई की मृत्यु को विधि का विधान मानकर निष्क्रिय बैठा रहा।"

"नहीं महारानी !" दूत बोला, "कल का दिन मत्स्यों की वीरता का दिन था। भरतदेश के इस महान संग्राम में पहले ही दिन मत्स्यों ने अपनी वीरता का स्तंभ स्थापित किया है।"

सुदेष्णा का ध्यान उसके शब्दों पर गया। वह वीरता का स्तंभ स्थापित करने की बात कर रहा था, विजय-स्तंभ नहीं कह रहा था।

"फिर क्या हुआ दूत ?" सुदेष्णा ने पूछा।

"महारानी ! मद्रराज शल्य अपने ध्वस्त रथ से बाहर निकल आए थे। उन्होंने अपने खड्ग से राजकुमार उत्तर के उस युद्धक गज का सूँड़ काट लिया। उस हाथी पर अब तक विभिन्न योद्धाओं ने सैकड़ों बाण चलाए थे। उसका सारा शरीर बाणों से बिंधा हुआ तो था ही, सूँड़ कट जाने की पीड़ा को वह सहन नहीं कर सका और वहीं धराशायी हो गया। शल्य को अवसर मिल गया और वे कृतवर्मा के रथ पर आरूढ़ हो गए।"

"मैं मद्रराज का नहीं मत्स्यों का समाचार पूछ रही हूँ।" सुदेष्णा के स्वर में पीड़ा भी थी और रोष भी।

"महारानी ! राजकुमार श्वेत ने दूर से अपने भाई की वीरता को देखा था और यह भी देखा था कि कौन लोग राजकुमार उत्तर को घेरे हुए थे। राजकुमार श्वेत ने शल्य पर ऐसा भयानक आक्रमण किया कि उनको जीवन ही संदिग्ध हो उठा। शल्य

की रक्षा के लिए उनका पुत्र रुक्मरथ, कोसलनरेश बृहदवल, मागध जयत्सेन, अवंती के राजकुमार विंद और अनुविंद, कांवोजराज सुदक्षिण तथा सिंधुनरेश जयद्रथ दौड़े हुए आए। राजकुमार श्वेत ने उन सातों के धनुष कई-कई वार काट दिए, उनके द्वारा चलाई गई शक्तियों के टुकड़े कर दिए। वे अपने भाई की मृत्यु के कारण इतने उत्तेजित थे कि उन्होंने अपनी सुरक्षा की तनिक भी चिंता नहीं की। वे शल्य से तत्काल ही प्रतिशोध ले लेना चाहते थे, किंतु रुक्मरथ अपने पिता की रक्षा के लिए अपनी जान लड़ाए हुए था। परिणाम यह हुआ कि राजकुमार श्वेत ने अपना ध्यान रुक्मरथ पर ही केंद्रित कर दिया। उन्होंने रुक्मरथ को इतना आहत कर दिया कि वह मूर्च्छित होकर रथ में गिर पड़ा और उसका सारथि उसे तत्काल युद्धक्षेत्र से हटा ले गया।

"स्वयं दुर्योधन और कुरुवृद्ध भीष्म को लगा कि आज शल्य राजकुमार श्वेत के हाथों नहीं वच पाएँगे। वे दोनों ही अपनी पूरी शक्ति से राजकुमार श्वेत पर टूट पड़े। राजकुमार को इस प्रकार घिरा देखकर, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु, स्वयं प्रधान सेनापति धृष्टद्युम्न, मध्यम पांडव भीमसेन, सात्यकि, महाराज विराट तथा कैकेय राजकुमार उनकी रक्षा को दौड़े। शिखंडी ने तो ऐसा भयंकर आक्रमण किया कि दुर्योधन तक भीष्म की मृत्यु के भय से थर्रा उठे। राजकुमार श्वेत को जैसे साँस लेने का अवसर मिल गया। उन्होंने अविलंव कुरुवृद्ध भीष्म पर ऐसा भयंकर आक्रमण किया कि उनकी रक्षा को आए सारे महारथी भीष्म को अकेला छोड़कर भाग गए। किसी ने कभी कल्पना भी नहीं की होगी कि विराटपुत्र राजकुमार श्वेत के आक्रमण से शल्य, कृपाचार्य और कृतवर्मा जैसे क्षत्रिय योद्धा समरभूमि छोड़कर भाग जाएंगे। राजकुमार श्वेत ने भीष्म को स्तव्ध ही नहीं कर दिया, उन्होंने उनका ध्वज भी काटकर फेंक दिया। आप मेरा विश्वास करें महारानी ! कौरवों ने यही माना कि कौरवों के प्रधान सेनापति भीष्म को राजकुमार श्वेत के हाथों वीरगति प्राप्त हो गई है। दुर्योधन, वाह्लीक, कृतवर्मा, कृपाचार्य, शल, जलसंध, विकर्ण, चित्रसेन, विविंशति तथा शल्य पुनः लौटे। भीष्म तव तक पर्याप्त क्षतविक्षत हो चुके थे। वे धनुष उठाते थे और राजकुमार श्वेत तत्काल उन का धनुप काट देते थे। तीन वार उनके धनुप की प्रत्यंचा कट चुकी थी। अंततः भीष्म स्वयं को राजकुमार के सम्मुख पूर्णतः असहाय पा कर अपने क्रोध में उनके अश्वों पर प्रहार कर वैठे। उन्होंने राजकुमार के रथ के सारथि और अश्वों को मार दिया। रथहीन राजकुमार को कौरव योद्धाओं ने दूसरा रथ नहीं लेने दिया। महारानी ! युद्ध के पहले ही दिन युद्ध के नियम टूटने लगे। कौरवों ने यह विचार नहीं किया कि श्वेत रथहीन हैं और अभी युद्ध के लिए तैयार नहीं हैं। उन्होंने यह भी विचार नहीं किया कि वे अकेले हैं और उनको घेरे हुए अनेक महारथी खड़े हैं। पर राजकुमार श्वेत कहाँ माननेवाले थे। उन्होंने एक शक्ति उठाकर भीष्म पर फेंकी और कहा, "भीष्म ! युद्ध ही करना है तो पुरुप वनो।" भीष्म ने वह शक्ति अपने बाणों से काट दी। राजकुमार धनुप-वाण की दूर से प्रहारक शक्ति और रथ की सुरक्षा, दोनों ही से वंचित हो चुके थे। उन्होंने एक भारी गदा उठाकर भीष्म

के रथ पर दे मारी। कौरवों के प्रधान सेनापति का रथ भंग हो गया और वे धरती पर आ रहे। अब वे दोनों ही विरथी थे। पर वे कौरव योद्धाओं में घिरे थे। शल्य ने तत्काल भीष्म को रथ उपलब्ध करा दिया। भीष्म पुनः रथारूढ़ हो चुके थे। राजकुमार की सहायता के लिए सात्यकि, भीमसेन, धृष्टद्युम्न, कैकेय राजकुमार, धृष्टकेतु तथा अभिमन्यु, सब ही दौड़े। कौरव नहीं चाहते थे कि उनके मध्य घिरे श्वेत को किसी प्रकार की कोई सहायता पहुँच सके। अतः स्वयं भीष्म, द्रोणाचार्य तथा कृपाचार्य ने राजकुमार श्वेत की सहायता के लिए आनेवाले पांडव पक्ष के वीरों को रोक दिया। राजकुमार उनके बाणों के सम्मुख असहाय थे। उन्होंने अंतिम उपाय के रूप में धनुर्धारी भीष्म के अत्यंत निकट जाकर अपने खड्ग से उनका धनुष काट डाला।···भीष्म ने तत्काल नया धनुष उठाकर भीम को रोका और अभिमन्यु पर भीषण प्रहार किया। सात्यकि और धृष्टद्युम्न, द्रोणाचार्य तथा कृपाचार्य से पार नहीं पा रहे थे। वे आगे बढ़ने का कोई मार्ग खोज नहीं पा रहे थे। भीष्म नहीं चाहते थे कि पांडवों को और समय मिले और वे उनके हाथ में आए राजकुमार श्वेत को सुरक्षित निकाल ले जाएँ। उन्होंने तत्काल ब्रह्मास्त्र द्वारा अभिमंत्रित बाण राजकुमार श्वेत पर चला दिया। ब्रह्मास्त्र अभिमंत्रित वह बाण, हाथ में खड्ग लिए, असहाय से भूमि पर खड़े, राजकुमार का कवच काटकर उनके हृदय को छेद गया।

"महारानी ! राजकुमार श्वेत धराशायी हो गए, किंतु सारी समरभूमि में उनकी यशोगाथा गूँज रही थी। स्वयं श्रीकृष्ण और अर्जुन आए और उन्होंने पांडव सेना को पीछे हटा लिया। राजकुमार श्वेत के देहांत के पश्चात् पांडवों में युद्ध का उत्साह नहीं रह गया था। महारानी ! युद्ध के पहले ही दिन मत्स्यराज विराट के दो-दो पुत्रों ने अपने श्रेष्ठ क्षत्रिय होने का प्रमाण दिया है और संसार के श्रेष्ठतम योद्धाओं के मन पर अपनी क्षमता और वीरता की धाक जमाई है। श्रीकृष्ण और अर्जुन, महाराज विराट के सम्मुख नतमस्तक थे और स्वयं सम्राट् युधिष्ठिर आकर मत्स्यराज को अपनी भुजाओं में भर कर युद्धक्षेत्र से स्कंधावार तक ले गए थे।···"

सुदेष्णा ने कुछ नहीं कहा। उनकी आँखों से अश्रु टप-टप गिर रहे थे। वे जानती थीं कि यह शोक का समय था, पर वे यह भी जानती थीं कि यही गौरव का समय भी था।··· एक ओर उनका मन होता था कि वे कुरुवृद्ध भीष्म से पूछें कि एक विरथी योद्धा को उन्होंने रथ लेने की अनुमति क्यों नहीं दी और दूसरी ओर वे जानना चाहती थीं कि यह कैसा धर्मयुद्ध था, जिसमें धनुष-बाण की प्रहारक शक्ति से विहीन राजकुमार पर ब्रह्मास्त्र अभिमंत्रित बाण छोड़ा गया। भीष्म की यह कैसी वीरता थी और उनका यह कैसा धर्म था ?··· युद्ध में शायद कोई धर्म का पालन नहीं करता, चाहे वह कितना ही बड़ा योद्धा क्यों न हो···

"और शंख ?···" सुदेष्णा का कंठ रुँध गया। वे आगे बोल नहीं पाईं।

"राजकुमार शंख उस समय युद्धक्षेत्र में कुछ दूरी पर थे। उन्हें अपने भाइयों के

युद्ध का समाचार मिल गया था। वे उसी ओर आए। उन्होंने शल्य को कृतवर्मा के रथ पर चढ़ा देखा तो उनकी आँखों में रक्त उतर आया। इसी दुष्ट ने उनके छोटे भाई उत्तर पर शक्ति चलाई थी।··· वीरवर शंख ने शल्य पर ऐसा भयंकर आक्रमण किया कि कौरवों को शल्य की रक्षा के लिए भाग कर आना पड़ा। बृहदवल, जयत्सेन, रुक्मरथ, विंद, अनुविंद, सुदक्षिण तथा जयद्रथ—ये सात महारथी शल्य की रक्षा के लिए आए। राजकुमार शंख ने सातों को अपने वाणों की नोक पर रोक लिया। भीष्म ने राजकुमार को सात-सात महारथियों पर भारी पड़ते देखा तो उन्होंने स्वयं राजकुमार पर आक्रमण किया। अर्जुन देख रहे थे कि सात-सात महारथियों से अकेले युद्ध करते हुए राजकुमार पर कौरव सेनापति ने आक्रमण किया है। उन्होंने श्रीकृष्ण को संकेत किया और श्रीकृष्ण ने उनका रथ लाकर राजकुमार के सम्मुख खड़ा कर दिया। उधर अर्जुन ने भीष्म को पीछे हटने पर वाध्य किया और इधर शल्य को अवकाश मिल गया। उन्होंने राजकुमार के रथ के अश्वों को अपनी गदा से मार कर रथ को अचल बना दिया। राजकुमार समझ गए कि अव उस रथ पर बैठे रहना एक प्रकार से आत्महत्या ही होगी। वे हाथ में नग्न खड्ग लेकर रथ से भूमि पर कूदे और तत्काल अर्जुन के रथ में आ चढ़े। वे वहाँ सुरक्षित थे। उन्हें अब न भीष्म का भय था न शल्य का। ···भीष्म का अर्जुन पर वश नहीं चला तो वे प्रभद्रकों को नष्ट करने में जुट गए··· ।"

"ये प्रभद्रक कौन हैं दूत ?" सुदेष्णा ने पूछा।

"पांचालों के ही एक विशेषगोत्र के क्षत्रियों को प्रभद्रक कहा जाता है महारानी ! वे लोग अधिकांशतः धृष्टद्युम्न और शिखंडी के ही अनुयायी हैं।" दूत बोला, "भीष्म ने प्रभद्रकों, अन्य पांचालों, मत्स्यों तथा कैकेयों को नष्ट करना आरंभ किया। और फिर वे अर्जुन को एक ओर छोड़कर अपनी सेनाओं में घिरे द्रुपद पर चढ़ दौड़े। अर्जुन के बीच में आ जाने और राजकुमार शंख के सुरक्षित हो जाने पर भीष्म कुछ इतने कुपित हुए कि वे महाविनाश के मेघों के समान पांडव सेना पर बरसने लगे। पांडवों के अनेक सैनिक मारे गए, अनेक भाग गए, कितने ही सैनिक रौंदे गए, और शेष उत्साहहीन हो कर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए। पांडव सेना में एक प्रकार से हाहाकार ही मच गया। उनकी सेना भयंकर रूप से मथी जा रही थी और व्यूह पूर्णतः भंग हो चुका था।··· उधर सूर्यास्त भी हो रहा था। पांडवों ने अपनी सेना को समरभूमि से लौटा लेना ही उचित समझा।···"

"तो शंख सुरक्षित है ? मेरा एक पुत्र तो अभी तक जीवित है ?"

"हाँ महारानी ! वीरवर अर्जुन स्वयं अपने रथ में राजकुमार को सुरक्षित अपने स्कंधावार में लौटा लाए थे।" दूत ने उत्तर दिया।

रानी अपने कक्ष में चली आईं। उनके मन में विचारों के प्रभंजन चल रहे थे।··· जिस दिन पांचाली उनके पास सैरंध्री बनकर आई थी, यदि वे उसकी कला पर मुग्ध हो कर

उसे अपने पास रखने की हठ न करतीं तो क्या उनके वे दोनों पुत्र जीवित नहीं होते ? न वे सैरंध्री को अपने पास रखतीं, न पांडव विराटनगर में अज्ञातवास करते, न पांडवों से उनका संबंध होता, न विराटराज उनकी सहायता को जाते··· उनका मन स्तंभित होकर खड़ा हो गया।···यदि उत्तरा का अभिमन्यु से संबंध न हुआ होता तो क्या सचमुच ही मत्स्यों की सेना किसी एक पक्ष से युद्ध करने के लिए युद्धक्षेत्र में न जाती ? कुरुक्षेत्र में युद्ध हो रहा होता और मत्स्यराज विराट अपने पुत्रों के साथ अपने प्रासाद में बैठे रहते ? क्या यह संभव था ? नहीं ! यह तो होना ही था। इस व्याज से नहीं तो किसी और व्याज से होता, पर होना तो था ही···

38

युधिष्ठिर रात्रि भर चिंता करते रहे थे। स्वयं को बहुत सांत्वना देते रहने पर भी वे किसी प्रकार आश्वस्त नहीं हो पाए थे। समरभूमि में आज उन्होंने जो कुछ भी देखा था, वह उनकी नींद उड़ा देने के लिए पर्याप्त था। वे पहले ही जानते थे कि संख्या में उनकी सेना, दुर्योधन की सेना से बहुत कम थी, उस पर यदि पितामह एक-एक दिन में इस प्रकार उनकी इतनी सेना का संहार करते जाएँगे तो पांडव क्या कर पाएँगे।··· युधिष्ठिर का मन बार-बार पीछे लौट जाता है और उन्हें स्मरण कराता है कि वे कभी भी युद्ध के पक्ष में नहीं थे।···

रात्रि भर के चिंतन-मनन के पश्चात् भी उन्हें अपनी समस्या का कोई समाधान दिखाई नहीं दिया तो वे प्रातः ही श्रीकृष्ण के शिविर में पहुँचे। अपने भाइयों तथा सारे सेनापतियों को भी उन्होंने वहीं बुला लिया।

कृष्ण ने युधिष्ठिर की चिंतित मुद्रा देखी तो मुस्कराए, "धर्मराज किस बात से चिंतित हैं ?"

"चिंतित धर्मराज नहीं हैं श्रीकृष्ण !" युधिष्ठिर ने कुछ सहज होने का प्रयत्न किया, "चिंतित तो राजा युधिष्ठिर हैं।"

"पर कारण क्या है ? मैं तो राजा के लिए चिंता का कोई कारण नहीं देखता।"

"मेरी चिंता हैं पितामह भीष्म। आपने कल समरभूमि में देखा ही था। पितामह को देख कर, उनके बाणों से आहत होकर, मेरी सारी सेना भागने लगती है। उनके सम्मुख कोई ठहर ही नहीं पाता।···"

"सेना का यह भागना-दौड़ना तो आपके लिए राज्यप्राप्ति का व्यायाम है धर्मराज !" कृष्ण मुस्कराए, "इसमें चिंता के लिए अवकाश कहाँ है ?"

"राज्य के लिए पराक्रम कर मैं क्षीण होता जा रहा हूँ। मेरे वीर भाई बाणों से पीड़ित होकर कितने कृश हो रहे हैं। एक ही दिन में उनके घावों से इतना रक्त बहा

है कि राज्य के लिए मेरी आकांक्षा ही नहीं, उसके लिए मेरी सारी आशा भी बह गई है। राज्य की तो बात ही क्या, अब तो हमारा जीवन भी दुर्लभ होता जा रहा है। मेरे लिए अपने भाइयों का जीवन ही पर्याप्त है।'' युधिष्ठिर बोले, ''भीष्म दिव्यास्त्रों के ज्ञाता हैं। वे हमारी सारी सेना का संहार कर डालेंगे। अपने मित्रों, संबंधियों, और इन भूपालों को भीष्म रूपी मृत्यु को परोसने से तो अच्छा है कि मैं वन में चला जाऊँ और दुष्कर तपस्या करूँ। रणक्षेत्र में अपने मित्रों की व्यर्थ हत्याएँ क्यों करवाऊँ ?''

''आप तो एक ही दिन के युद्ध से इतने विचलित हो गए धर्मराज !'' कृष्ण बोले, ''ठीक है कि कल भीष्म ने अपना पराक्रम प्रकट किया है और मत्स्यराज के दो-दो पुत्र एक ही दिन में वीरगति को प्राप्त हो गए हैं। पर आनेवाला प्रत्येक नया दिन पिछले दिन से भिन्न होता है। किसी भी सूर्यास्त का अर्थ यह तो नहीं होता कि अगले दिन का सूर्योदय नहीं होगा।''

''आप ठीक कह रहे हैं मधुसूदन ! किंतु सूर्यास्त के पश्चात् भी सूर्योदय का विश्वास हमें इसलिए रहता है, क्योंकि हम मध्याह्न के सूर्य को भी देख चुके होते हैं। अंधकार से उसका प्रचंड संघर्ष हमें उसकी इच्छा का बल दर्शाता है।'' युधिष्ठिर बोले, ''किंतु मुझे तो अपना कोई योद्धा मार्तंड बनकर भीष्म से लड़ता हुआ दिखाई नहीं दिया, मैं अब किसके विश्वास पर सूर्योदय की प्रतीक्षा करूं ?''

''क्यों आपको अपने भाइयों के शौर्य पर विश्वास नहीं है ?'' कृष्ण बोले, ''अर्जुन को पराजित करनेवाला कौन है कौरवों की सेना में ? भीम के बल की थाह कौन पा सकता है, उनके सेनापतियों में से ?''

''एक भीम ही तो क्षत्रिय धर्म का विचार करता हुआ, केवल अपने बाहुबल के भरोसे, अपनी पूर्ण शक्ति से युद्ध कर रहा है। पर भीम दिव्यास्त्रों का ज्ञाता नहीं है। उसके धनुष पर साधारण बाण होते हैं। वह अपनी गदा और खड्ग से लड़ता है। वह एक-एक कर सैनिकों का संहार करता है। अकेला भीमसेन सौ वर्षों में भी शत्रु सेना का संहार नहीं कर सकता।'' युधिष्ठिर के मन में कहीं कोई आशा जाग ही नहीं रही थी।

''अर्जुन तो दिव्यास्त्रों का ज्ञाता है। उस पर आपको विश्वास क्यों नहीं है ?'' कृष्ण ने पूछा।

''अर्जुन दिव्यास्त्रों का ज्ञाता है, पर मैं सव्यसाची अर्जुन को इस युद्ध में मध्यस्थ का-सा व्यवहार करते देख रहा हूँ।'' युधिष्ठिर ने अर्जुन पर दृष्टिपात करते हुए कहा, ''वह आपका मित्र और शिष्य है। आप उसके मन को मुझसे कहीं अधिक जानते हैं।''

''वह अपने भाइयों और दुर्योधन में मध्यस्थ कैसे हो सकता है।'' कृष्ण ने भी मुस्कराकर अर्जुन की ओर देखा।

अर्जुन मौन बैठा रहा। उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

''मैं भी यही सोचता हूँ कि उसे मध्यस्थ नहीं होना चाहिए, किंतु कल के युद्ध से मुझे लगा कि दिव्यास्त्रों का ज्ञाता होते हुए भी वह भीष्म और द्रोणाचार्य से दग्ध

होते हुए हम लोगों की उपेक्षा कर रहा है।" युधिष्ठिर बोले, "आप स्वयं अर्जुन से पूछें कि क्या ऐसा नहीं है ?"

कृष्ण ने एक लीलामयी दृष्टि अर्जुन पर डाली। उनके मन में युद्ध से पूर्व का अर्जुन का सारा द्वंद्व घूम गया था। अभी तो युधिष्ठिर को यह ज्ञात ही नहीं था कि किस प्रकार अर्जुन ने गांडीव त्याग कर कहा था कि वह युद्ध नहीं करेगा। यदि युधिष्ठिर वह सब जान जाएँ तो वे कदाचित् अर्जुन से पूर्णतः निराश हो कर आज ही युद्ध छोड़ कर वन में चले जाएँगे।…

और तब कृष्ण ने युधिष्ठिर की ओर देखा, "धर्मराज ! आप तनिक भी चिंतित न हों। भीष्म अमरता लेकर नहीं आए हैं। उनके मोह के कारण ही युद्ध की स्थिति आई है। जहाँ और इतने लोगों के प्राण जाएँगे, वहीं भीष्म भी अपने प्राणों से ही अपने मोह का मूल्य चुकाएंगे। प्राण तो उनके जाएँगे ही। अर्जुन चाहे, न चाहे। अर्जुन नहीं करेगा तो शिखंडी उनका वध करेगा। अपनी वीरता के कारण भी, अपने वैर के कारण भी, अपने संकल्प के कारण भी।…"

अकस्मात् ही अर्जुन जैसे अपनी गहरी तंद्रा से जाग उठा था। युधिष्ठिर द्वारा युद्ध में मध्यस्थ होने के आरोप पर भी जो अर्जुन मौन रह गया था, वह अब मौन नहीं रहा। बोला, "केशव ! हम जानते हैं कि पितामह ने शिखंडी से न लड़ने का प्रण कर रखा है। ऐसे में यदि हम उन्हें शिखंडी से युद्ध करने को बाध्य करते हैं और शिखंडी उनका वध कर देते हैं तो क्या यह एकपक्षीय युद्ध नहीं होगा ? क्या यह निरीह हत्या नहीं होगी ?"

युधिष्ठिर की दृष्टि कृष्ण की ओर घूम गई, जैसे कह रहे हों, 'देखा। मैं न कहता था कि यह भीष्म को मारना नहीं चाहता।'

कृष्ण की हँसी कह रही थी, 'हाँ ! अब ही नहीं देखा, मैं तो पहले से ही जानता हूँ कि इसका द्वंद्व अभी पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ है।'

"अर्जुन ! अपने शत्रुओं से प्रेम करना सबसे बड़ा पातक है।" कृष्ण ने गंभीर होकर कहा।

"पितामह हमारे शत्रु नहीं हैं।" अर्जुन के मुख से अनायास ही निकल गया।

"तुम जिस सेना का अंग हो, उसका संहार करनेवाले का पक्ष लेकर तुम उसका बचाव करना चाहते हो। सीधे-सीधे जाकर अपने शस्त्र लेकर तुम भीष्म की रक्षा नहीं कर रहे, किंतु जिस योजना के अंतर्गत उनका वध हो सकता है, तुम उस योजना को कार्यान्वित होने देना नहीं चाहते।"

"नहीं ऐसी तो कोई बात नहीं है।" अर्जुन ने कहा।

"अर्जुन ! व्यक्ति को उसकी निश्चयात्मिका बुद्धि ही अपने लक्ष्य तक ले जाती है। उस निश्चयात्मिका बुद्धि के लिए सारे मोहों से मुक्त होना पड़ता है। तुम पितामह का मोह भी नहीं छोड़ोगे और दुर्योधन से लड़कर विजयी होना भी चाहोगे, तो ये दोनों

काम नहीं होंगे।" कृष्ण का स्वर कुछ अलौकिक होता जा रहा था, "व्यवसायात्मिका बुद्धि का केवल एक निश्चय होता है। सहस्रों शाखाएँ तो संकल्परहित अनिश्चयात्मिका बुद्धि में होती हैं, और उसका परिणाम केवल दुःख और पराजय है।"

अर्जुन के मन में भी युद्ध से पूर्व श्रीकृष्ण के साथ हुआ संवाद जाग उठा। पता नहीं क्यों उसका मोह जन्म-जन्मांतरों के किसी संस्कार के समान फिर-फिर जाग उठता था और उसका मन फिर से अवश हो जाता था। वह क्यों नहीं मान लेता कि यह युद्ध है और युद्ध में अपने विरुद्ध लड़नेवाले योद्धा का वध करना ही पड़ता है, अन्यथा वह आपका वध कर देता है।··· भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य यदि दुर्योधन की सेना में थे तो समरभूमि में वे उसके शत्रु ही थे। यदि उसे अपने लिए, अपने भाइयों के लिए, न्याय के लिए, धर्म के लिए इस युद्ध में विजय प्राप्त करनी है, तो समय आने पर उसे इन लोगों का वध भी करना पड़ सकता है।···

"आप आज के युद्ध की तैयारी करें धर्मराज ! आज आपको निराशा हाथ नहीं लगेगी।" कृष्ण की मुस्कान युधिष्ठिर के लिए आश्वस्तकारिणी थी।

"तुम्हारी वाणी सत्य हो वासुदेव !" युधिष्ठिर द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न की ओर मुड़े, "तुम मेरे सेनापति हो धृष्टद्युम्न ! तुम्हें मेरी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। देव कार्त्तिकेय जैसे देवताओं के सेनापति थे, वैसे ही तुम पांडवों के सेनापति बनो।"

धृष्टद्युम्न कुछ चकित हुआ, "मैं आपकी आज्ञाओं का उल्लंघन कैसे कर सकता हूँ धर्मराज ! आप आदेश देकर देखें, मैं तो शत्रुओं का वध करने को व्याकुल बैठा हूँ।"

"तो फिर तुम आज क्रौंचारुण नामक व्यूह का निर्माण करो।" युधिष्ठिर ने कृष्ण की ओर देखा।

"ठीक है।" कृष्ण ने सहमति में अपना सिर हिला दिया।

"सबके आगे चोंच के स्थान पर अर्जुन होंगे। सिर के स्थान पर अपनी सेना सहित महाराज द्रुपद होंगे। नेत्रों के स्थान पर कुंतिभोज और धृष्टकेतु होंगे। ग्रीवा के स्थान पर दाशार्णक, दाशेरक, प्रभद्रक, अनूपक तथा किरातगण होंगे। बाएँ पंख के स्थान पर अग्निवेश्य, हुंड, मालव, दानभारि, शबर, वत्स, और नाकुल सैनिक होंगे। उनके साथ नकुल और सहदेव होंगे। इनके अधिपति स्वयं सेनापति धृष्टद्युम्न होंगे। दाएँ पंख के स्थान पर पाँचों द्रौपदेय, अभिमन्यु और सात्यकि होंगे। उनके साथ दारद, पिशाच, पुंड्र, कुंडरविष, मारुत, धेनुक, तंगण, परतंगण, वाह्लिक, तित्तिर, चोल और पांड्य सैनिक होंगे। इनके अधिपति भीमसेन होंगे। पृष्ठभाग पर पटच्चर, पौंड्र, पौरव और निषादों के साथ मैं रहूँगा। जघन भागों में एक ओर महाराज विराट और पाँचों कैकेय राजकुमार होंगे और दूसरी ओर काशिराज और शैव्य होंगे।"

युधिष्ठिर ने रुककर कृष्ण की ओर देखा।

"मुझे प्रसन्नता है महाराज ! कि आप भी युद्ध के प्रति इतने सतर्क हो गए हैं।" कृष्ण बोले, "धृष्टद्युम्न आज तुम्हारे कौशल की परीक्षा है।"

दुर्योधन ने पांडवों का व्यूह देखा तो पिछले दिन के युद्ध की विजय का मद जैसे उतर गया। वह देख रहा था कि पांडवों ने कदाचित् सारी योजना भीष्म के वध की दृष्टि से बनाई थी। भीष्म नहीं रहे तो उनके दिव्यास्त्रों का रक्षा-कवच समाप्त हो जाएगा। तब तो अकेला भीम ही उसकी सेना को कुचल डालेगा।

उसने शत्रुंजय, दुःशासन, विकर्ण, नन्द, उपनन्द तथा चित्रसेन को आज्ञा दी, "संस्थान, शूरसेन, वेत्रिक, कुकुर, आरोचक, त्रिगर्त, भद्रक, यवन तथा पारिभद्रक सेनाओं के साथ जाकर महासेनापति भीष्म की रक्षा करो। एक क्षण को भी यह मत भूलना कि भीष्म की रक्षा अपनी विजय की रक्षा है।"

भीष्म को इससे कोई अंतर नहीं पड़ रहा था कि कौन उनके साथ है, कौन उनके दाएँ-बाएँ है और कौन उनके पीछे है। वे अपने दिव्यास्त्र प्रकट कर चुके थे और उनके बाणों की वर्षा आरंभ हो गई थी। वे एक साथ ही अभिमन्यु, भीम, सात्यकि, कैकेय, विराट और धृष्टद्युम्न पर बाण बरसा रहे थे। उनके प्रहार-क्षेत्र में मुख्यतः चेदि और मत्स्य सेनाएँ थीं। भीष्म उनके प्रति कितने भी कठोर हो सकते थे।...

दुर्योधन ने देखा कि भीष्म की बाण-वर्षा ने पांडवों का व्यूह भंग कर दिया था। अभी युद्ध का आरंभ ही था और पांडवों की रथसेना का पलायन आरंभ हो गया था।... दुर्योधन के अधरों पर मुस्कान प्रकट हुई... पितामह के इसी गुण के कारण ही तो उसने उन को अपना सेनापति बनाया था।...

सहसा, एक धावक आकर दुर्योधन के निकट खड़ा हो गया।

"क्या समाचार है ?" दुर्योधन ने पूछा।

"युवराज ! पांडवों के रथारोही भाग रहे हैं और अर्जुन उससे बहुत पीड़ित हैं। वे कह रहे हैं कि भीष्म चेदि और मत्स्य सेना का संहार कर रहे हैं और उनसे सुरक्षित होकर, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, शल्य, विकर्ण और आप मिलकर पांचाल सेना को समाप्त किए दे रहे हैं। अपनी सेना की रक्षा के लिए भीष्म का वध आवश्यक हो गया है। उन्होंने श्रीकृष्ण से अपना रथ भीष्म के सम्मुख ले चलने के लिए कहा है।"

दुर्योधन के अधरों की मुस्कान तत्काल विलीन हो गई। उसने देखा कि अर्जुन कौरव और शूरसेनप्रदेश की सेनाओं का वध करता हुआ भीष्म के निकट पहुँचने का प्रयत्न कर रहा था।

उसने संकेत से धावक को जाने के लिए कहा और पूर्वदेशीय, सौवीर और केकय सेनाओं को भीष्म के सम्मुख खड़े हो, उनकी रक्षा करने का संकेत किया और जयद्रथ, द्रोणाचार्य, शल्य, शकुनि और विकर्ण को भीष्म के निकट जाने का आदेश दिया।

अर्जुन पितामह के सम्मुख खड़ा था और भीष्म अनेक योद्धाओं से घिरे उसे देख रहे थे। दोनों ओर से निरंतर बाण चल रहे थे। दुर्योधन के मन में बहुत स्पष्ट था कि यदि भीष्म इसी प्रकार अड़े रहें तो वे अर्जुन को सर्वथा असहाय कर सकते हैं। ऐसे में दुर्योधन और उसके साथी योद्धा अर्जुन को घेरकर उसका वध भी कर सकते हैं।...

पर तभी उसकी दृष्टि पांडव सेना की ओर चली गई। अर्जुन की सहायता के लिए सात्यकि, विराट, धृष्टद्युम्न, अभिमन्यु, और पाँचों द्रौपदेय आ पहुँचे थे; और धृष्टद्युम्न भीष्म को छोड़कर द्रोण पर जैसे बरस ही पड़ा था। उसका आक्रमण बहुत ही प्रबल था। द्रोण अब भीष्म की कोई सहायता नहीं कर सकते थे। इस आक्रमण के कारण सबका ध्यान अर्जुन की ओर से हट गया था। उतनी सी देर में अर्जुन कौरव सेना में घुस गया था और धनुष का खेल सा करने लगा था।

कहाँ अभी थोड़ी देर पहले तक दुर्योधन भीष्म को ले कर इतना आश्वस्त था और कहाँ अर्जुन के आते ही उसे लगा कि भीष्म के हाथ बँध गए थे। उनके धनुष से जैसे बाण ही नहीं छूट रहे थे। कहाँ तो अब तक पांडवों की सेना का संहार हो रहा था और कहाँ अर्जुन के आते ही पाँसा पलट गया और न केवल पांडवों की सेना का संहार रुक गया था, उलटे दुर्योधन की सेना में त्राहि-त्राहि मच गई थी।··· दुर्योधन को लगा कि यदि वह किसी प्रकार भीष्म के बिना अपना काम चला सकता तो वह कब से उनसे छुटकारा पा चुका होता।···भीष्म द्वारा उसका सेनापतित्व स्वीकार किया जाना भी भीष्म का षड्यंत्र मात्र ही था। उन्होंने कौरव सेना पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया था। वे उसके सेनापति होते हुए भी प्रायः उसकी ही सेना की गति अवरुद्ध कर देते थे।···

"पितामह !" वह भीष्म के पास जाकर बोला, "कृष्ण के साथ आकर अर्जुन, हमारे समस्त सैनिकों के सक्रिय होने पर भी, हम लोगों का मूलोच्छेद कर रहा है। आप के और आचार्य द्रोण के वर्तमान होते हुए भी हमारे सैनिक मारे जा रहे हैं।"

पितामह ने उसकी ओर देखा। जाने उनके मन में क्या था। वे कुछ कहते-कहते रह गए। बस धीरे से बुदबुदाते हुए से बोले, "युद्धों में सैनिक मारे ही जाते हैं, युवराज !"

भीष्म के एक बुदबुदाते से संक्षिप्त वाक्य ने जैसे उसके रक्त को खौला ही दिया। उसका सारा संचित आक्रोश और पश्चात्ताप उसकी जिह्वा पर आ गया, "आप ही के कारण कर्ण ने अपने शस्त्र डाल दिए हैं और उसके समान उत्कट योद्धा दर्शक के समान एक किनारे बैठा हुआ यह युद्ध देख रहा है। नहीं तो इस समय वह समरभूमि में अर्जुन से युद्ध कर रहा होता और मुझे आपसे इस प्रकार अर्जुन को मारने की प्रार्थना नहीं करनी पड़ती।" उसने रुककर जैसे अपना सारा आत्मबल अपने शब्दों में उंडेल कर कहा, "गंगानंदन ! ऐसा कुछ कीजिए, जिससे अर्जुन को मार डाला जाए। उसे मरना ही होगा, क्योंकि उसके जीते जी हमारी विजय नहीं हो सकती।"

भीष्म ने एक क्रोधपूर्ण दृष्टि दुर्योधन पर डाली और बोले, "क्षत्रिय धर्म को धिक्कार है।"

वे अर्जुन की दिशा में बढ़ गए थे और दुर्योधन अपने स्थान पर खड़ा उनको देख रहा था। वह जानता था कि भीष्म की नीति पांडवों को मारने की नहीं थी और दुर्योधन का एक मात्र लक्ष्य पांडवों का वध करना ही था··· दुर्योधन और भीष्म—दोनों

एक ही सेना के अंग थे। तो वह सेना क्या करेगी ? भीष्म पांडवों के आस-पास लड़ना चाहते थे और दुर्योधन पांडवों से लड़ना चाहता था। वह समझ रहा था कि वह तनिक-सा भी शिथिल होगा तो भीष्म और द्रोण दोनों ही पांचालों और मत्स्यों का आखेट करने लगेंगे। वे पांडवों की ओर देखेंगे भी नहीं··· और दूसरी ओर पांडव दुर्योधन और उसके भाइयों का रक्तपान करने लगेंगे···

दुर्योधन को लगा कि भीष्म को अर्जुन का वध करने को कहकर स्वयं यहीं रुके रहना कदाचित् बुद्धिमत्ता नहीं थी। इससे उसका लक्ष्य पूरा नहीं होगा। उसे भीष्म को वाध्य करना चाहिए कि वे अर्जुन से युद्ध करें। उसे स्वयं न भी मारें तो उसे इतना असमर्थ तो कर ही दें कि कोई और योद्धा उसकी हत्या कर सके।

दुर्योधन ने विकर्ण और अश्वत्थामा को संकेत किया। वे लोग उसके निकट आ गए तो वे तीनों भीष्म को घेरकर आगे बढ़े। वस्तुतः वे भीष्म को तीन दिशाओं से घेरकर चौथी दिशा की ओर धकेल रहे थे और चौथी दिशा अर्जुन की ओर जाती थी।

भीष्म और अर्जुन को आमने-सामने पड़ने में अधिक देर नहीं लगी। सामने पड़ते ही उनका युद्ध आरंभ हो गया था। वे एक-दूसरे पर वाण वरसा रहे थे। पर अव भीष्म का पहले जैसा आतंक नहीं रह गया था।

और सहसा भीष्म ने वह काम किया, जिसकी दुर्योधन को कभी आशा नहीं थी। उन्होंने खींचकर एक के पश्चात् एक, तीन वाण कृष्ण को दे मारे··· दुर्योधन के नेत्र जैसे फटे रह गए। वह सोच भी नहीं सकता था कि भीष्म इस प्रकार अर्जुन को छोड़कर कृष्ण को घायल कर देंगे। पर अर्जुन को न मारकर कृष्ण को मारने का क्या लाभ ? और सहसा दुर्योधन के मन में प्रसन्नता की एक लहर प्रवाहित हो गई। भीष्म ने पांडवों को न मारने की प्रतिज्ञा की थी। उन्होंने कृष्ण के संवंध में ऐसी कोई प्रतिज्ञा नहीं की थी। आज यदि वे कृष्ण का वध कर देते हैं तो पांडव तो अपने आप ही मारे जाएंगे। यह कृष्ण ही है, जो पांडवों का वल है। इसी ने उन्हें युद्ध के लिए उकसाया है। यही उनसे युद्ध करवा रहा है। यही नहीं रहेगा तो पांडव युद्ध में सक्षम नहीं रहेंगे। पितामह ने यह अच्छी युक्ति सोच निकाली है। इस प्रकार वे अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा भी कर लेंगे और पांडवों का अंत भी कर देंगे। कृष्ण के शरीर से रक्त वह रहा था··· दुर्योधन को लगा कि उसने आज तक इतना मनोहारी दृश्य नहीं देखा। कृष्ण के शरीर से रक्त वहता देख जैसे उसे कोई अलौकिक आनन्द प्राप्त हुआ था।··· पर कृष्ण उत्तेजित नहीं था। यह कैसी वात है ? इस व्यक्ति को कभी पीड़ा क्यों नहीं होती ? यह कभी दुखी क्यों नहीं होता ? हताश क्यों नहीं होता ? और तभी दुर्योधन ने देखा कि जिसके अपने शरीर से रक्त वह रहा था, वह कृष्ण तो पूर्णतः शांत था, किंतु कृष्ण को आहत देखकर अर्जुन जैसे आपे से वाहर हो गया था। उसका रौद्र रूप प्रकट हो रहा था।··· कहीं पितामह ने अर्जुन को उत्तेजित करने के लिए ही तो कृष्ण को अ.हत नहीं किया ? पितामह अर्जुन का वध नहीं करेंगे, इसलिए अर्जुन भी उनके प्रति कठोर नहीं होता था।

यद्यपि अपनी सेना के संहार को देखकर उसने कहा था कि वह भीष्म का वध कर देगा, किंतु उसने वैसा कोई प्रयत्न नहीं किया था।··· कृष्ण को आहत देखकर वह जितना प्रचंड हो उठा था, उससे तो लगता था कि वह पितामह का वध अवश्य कर डालेगा। क्या पितामह अर्जुन के हाथों मरने की तैयारी कर रहे हैं ? उन्होंने कहा था, "क्षत्रिय धर्म को धिक्कार है।" तो उन्होंने दुर्योधन से मुक्ति पाने का यह मार्ग खोज निकाला था ?···

अर्जुन का प्रचंड रूप प्रकट हुआ था। उसने पितामह को तो नहीं मारा, किंतु उनके सारथि का वध कर दिया था। दुर्योधन ने तत्काल पितामह के रथ में नया सारथि पहुँचाने की व्यवस्था की। यह तो अच्छा ही हुआ कि सारथि के अभाव में भी अश्व वहीं खड़े रहे और दुर्योधन को नया सारथि भेजने का अवसर मिल गया।

अर्जुन और भीष्म में जो युद्ध चल रहा था, उसे देखकर दुर्योधन पितामह को किसी प्रकार का कोई दोष नहीं दे सकता था; वहाँ भयंकर युद्ध चल रहा था। उन दोनों के बाणों के गलियारों में किसी और योद्धा को प्रवेश का साहस भी नहीं हो सकता था, किंतु उसका क्या लाभ ? वह एक प्रकार से दोनों ही पक्षों की ओर से अपनी प्रहारक शक्ति का प्रदर्शन मात्र था। उनमें से घातक प्रहार कोई भी नहीं कर रहा था।

द्रोण को अपने सम्मुख धृष्टद्युम्न दिखाई पड़ गया था और धृष्टद्युम्न को देख लेने के पश्चात् द्रोण किसी और से युद्ध नहीं कर सकते थे। उन्होंने पहले ही झटके में भल्ल मार कर धृष्टद्युम्न को घायल कर दिया था। उन्होंने उसका धनुष काट दिया और सारथि भी मार दिया। धृष्टद्युम्न के लिए अपने उस रथ की बैठक में बने रहना संकटपूर्ण था। अपने सम्मुख द्रोण को देखकर उसका आक्रोश भी अपनी चरम स्थिति को प्राप्त कर चुका था। उसने अपनी सुरक्षा की चिंता नहीं की। वह हाथ में ढाल और खड्ग लेकर सीधा आचार्य द्रोण पर जा कूदा। पर द्रोण सावधान थे। उन्होंने धृष्टद्युम्न को अपने बाणों की नोक पर दूर ही रोके रखा। यदि कहीं वह उनके निकट आ जाता तो संभवतः वे उसके खड्ग के प्रहार को सहन नहीं कर पाते। वे उससे खड्गयुद्ध करना नहीं चाहते थे।

पर तब तक भीम को सूचना मिल गई थी कि पांडवों का प्रधान सेनापति संकट में था और बाणों की सुरक्षा के अभाव में वह द्रोण द्वारा एकदम बींध दिया जा सकता था। भीम ने विलंब नहीं किया। उसने सीधे द्रोण पर आक्रमण किया। द्रोण का ध्यान धृष्टद्युम्न से हटा और धृष्टद्युम्न को अवसर मिल गया। भीम ने उसे अपने रथ पर चढ़ा लिया था। अब धृष्टद्युम्न पर प्रहार करना उतना सरल नहीं था। वरन् लग रहा था कि भीम और धृष्टद्युम्न, दोनों मिलकर द्रोण पर भारी ही पड़ेंगे।

दुर्योधन ने कलिंगराज भानुमान को द्रोण की रक्षा के लिए नियुक्त किया। भानुमान के साथ उसकी विशाल सेना ही नहीं, उसके जुझारू सेनापति तथा वीर पुत्र भी थे। उसकी गजसेना अत्यंत समर्थ थी। वे द्रोणाचार्य को घेरे रहेंगे तो भीम आगे

नहीं बढ़ पाएगा और द्रोण अपने बाणों से उसे और धृष्टद्युम्न को बींध देंगे।··· पर लगा कि भीम के आ जाने से द्रोणाचार्य की रुचि धृष्टद्युम्न से युद्ध करने में नहीं रही। उन्होंने धृष्टद्युम्न को छोड़ दिया और आगे बढ़ते हुए द्रुपद और मत्स्यराज विराट को रोक लिया।···

दुर्योधन समझ रहा था कि कलिंगराज को भीम से भिड़ाने से कोई विशेष लाभ नहीं था, पर कलिंग सेना भीम को घेरकर अपना व्यूह बना चुकी थी, अतः उनका युद्ध तो होना ही था।··· पर वह युद्ध कलिंग सेना को महँगा पड़ा। उनकी सारी वीरता और साधनसंपन्नता किसी काम न आई। भीम का बल और आक्रोश उन पर भारी पड़ रहा था। भीम ने एक-एक कर भानुमान, शक्रदेव और केतुमान का वध कर दिया। वह वध भी साधारण नहीं था।··· आरंभ में तो भानुमान ने भीम के सारथि को मार दिया और रथ को निष्क्रिय कर भीम को एक ही स्थान पर जड़ीभूत कर दिया। पर भीम अपना रथ छोड़ हाथ में खड्ग ले, कूदकर हाथी के दाँतों के सहारे उसके मस्तक पर चढ़ गया और अपने खड्ग से उसने भनुमान को चीर डाला। उसने उसी खड्ग से हाथी का सूँड काट दिया और हाथी को भी मार डाला।···

तब तक भीम का स्थायी सारथि, विशोक नया रथ ले आया था और उसने भीम को रथ में चढ़ा लिया था। भीम अपने पूरे आवेश में था। उसने श्रुतायु का भी वध कर दिया चक्ररक्षकों को मारकर केतुमान का भी वध कर दिया। उसके पश्चात् जैसे भीम कलिंग सेना के मध्य कूद ही तो गया।

कलिंग सेना के सम्मुख पलायन के अतिरिक्त और कोई मार्ग ही नहीं था। उसके नायक मारे जा चुके थे। हाथियों पर महावत न होने के कारण वे अपनी ही सेना को कुचल रहे थे। धृष्टद्युम्न ने अपनी सेना कलिंग सेना के पीछे लगा दी थी। शिखंडी भी उसके साथ ही आ गया था। युधिष्ठिर भी अपनी गजसेना के साथ उनकी सहायता के लिए आ गए थे।

भीष्म ने देखा कि अब अर्जुन के सामने डटे रहने का कोई लाभ नहीं था। उधर भीम सारी कौरव सेना का ही संहार कर देगा। वे अर्जुन को छोड़कर भीम का सामना करने के लिए आए। सात्यकि, भीम और धृष्टद्युम्न ने एक साथ मिलकर उन पर आक्रमण किया। भीष्म ने तीनों को अपने बाणों की नोक पर रोक लिया और भीम के नए रथ के अश्वों को मार दिया। भीम अपना गदा लेकर उस टूटे रथ से कूद गया। सात्यकि ने यह स्थिति देखी तो उसने भीष्म की गति अवरुद्ध करने के लिए उनके सारथि को मार गिराया।··· भीष्म के अश्व, सारथि के अभाव में डर गए थे और वे भीष्म समेत रथ को लेकर समरभूमि से बाहर भाग गए।

भीम ने कलिंग सेना का पूर्ण संहार कर दिया था और वह उनके मध्य भूमि पर खड़ा था। भीष्म समरभूमि में थे नहीं। द्रोण, द्रुपद और विराट में उलझे हुए थे। भीम की उस रक्त-मूर्ति के सम्मुख आने का दुर्योधन का भी साहस नहीं हुआ। तब तक

धृष्टद्युम्न ने आकर उसे अपने रथ पर चढ़ा लिया और एक विकट जयघोष किया।

अश्वत्थामा, शल्य और कृपाचार्य सामने से आ गए। धृष्टद्युम्न ने पहले ही आघात में अश्वत्थामा के अश्व मार डाले। अश्वत्थामा तत्काल कूदकर शल्य के रथ पर चढ़ गया।

अभिमन्यु भी भीम की सहायता के लिए रथ दौड़ाता हुआ आ निकला। दुर्योधन ने देखा, उसका पुत्र लक्ष्मण भी अभिमन्यु का पीछा कर रहा था। यद्यपि लक्ष्मण ने अभिमन्यु के सम्मुख कोई दुर्वलता नहीं दिखाई थी, किंतु अभिमन्यु की वीरता के विषय में दुर्योधन सुन चुका था। वह अपने पुत्र के प्राणों के लिए कोई संकट नहीं मोल लेना चाहता था। वह तत्काल उसकी सहायता के लिए आ पहुँचा।··· सारे कौरवों ने मिल कर अभिमन्यु को घेर लिया। उधर अर्जुन भी अब खाली था और उसकी दृष्टि भी अपने पुत्र के आस-पास थी। वह देख रहा था कि कौरवों के अनेक महारथियों ने अभिमन्यु को घेर लिया था। उनकी योजना अर्जुन समझ रहा था।

भीष्म फिर से युद्धभूमि में लौट आए थे। द्रोणाचार्य भी उनके साथ आ मिले थे। वे सब मिलकर अर्जुन पर चढ़ आए। किंतु इस समय अर्जुन अपनी असाधारण मुद्रा में था। उसने जैसे अपने बाणों से आकाश आच्छादित कर दिया था। वह निर्विघ्न वाण चला रहा था। उसने कौरव सेना के सम्मुख बाणों की ऐसी प्राचीर वना दी थी, जिस का वेधन उनके लिए संभव नहीं हो पा रहा था। अर्जुन का लक्ष्य उनकी गजारोही और अश्वारोही सेना थी। थोड़ी ही देर में गजारोही और अश्वारोही भागने लगे। वड़े गजों के मार्ग में आने से रथों को भी मार्ग छोड़ देना पड़ा।··· लगता था कि अर्जुन प्रलय बनकर उन पर छा गया था। उसके निकट जाना तो दूर, उसके सम्मुख खड़े रहना भी कठिन था।

भीष्म ने द्रोण की ओर देखा, "अभिमन्यु को घेरना महँगा पड़ा है। कौरव सेना को लौटाना अब संभव नहीं है। संध्या भी हो ही रही है। मेरा विचार है कि आज युद्ध समाप्ति की घोषणा कर अब सेना को हटा ही लेना चाहिए।"

"जैसा आप उचित समझें।" द्रोण बोले, "अब युद्ध के लिए कोई वहुत समय शेप भी नहीं वचा है।"

39

युद्ध को आरंभ हुए दो दिन हो चुके थे।

कर्ण लगातार युद्ध को देख रहा था, उसके समाचार सुन रहा था। उसका रक्त खौल-खौल जाता था और दाँत भिंच-भिंच जाते थे। इतना वड़ा युद्ध हो रहा था और वह द्रष्टा वना वैठा उसे देख रहा था, जैसे युद्धकर्म से उसका कुछ लेना-देना ही न

हो।···पर, वह कर ही क्या सकता था।

कभी-कभी तो उसकी बुद्धि उस पर सहस्र-सहस्र धिक्कार बरसाने लगती थी।··· उसने ऐसी शपथ ही क्यों ली ?··· अब भीष्म यदि युद्ध की समाप्ति तक जीवित रहे और समरभूमि से नहीं हटे तो कर्ण इसी प्रकार शून्य में अपना खड्ग भाँजता रहेगा। उसे स्वयं को श्रेष्ठ क्षत्रिय प्रमाणित करने का कोई अवसर नहीं मिलेगा ? क्या इस संसार में कभी कोई नहीं जान पाएगा कि वह भी कुंती का ही पुत्र है और इस नाते वह पांडुपुत्र है ?··· हस्तिनापुर के सम्राट का ज्येष्ठ पुत्र !

और उसका मन काँपकर रह गया।··· कैसी विचित्र स्थिति है उसकी। एक ओर तो वह संसार को यह बताने को तड़प रहा है कि वह श्रेष्ठ क्षत्रिय है, वह कुंती का पुत्र है··· हस्तिनापुर के महाराज पांडु का पुत्र है।··· और दूसरी ओर वह इसी सूचना के सार्वजनिक हो जाने के भय से इतना भयभीत था।··· यह सूचना एक बार किसी एक व्यक्ति के कानों में पड़ जाए तो कौरवों और पांडवों का यह युद्ध तत्काल बंद हो जाएगा।··· तो फिर कर्ण अर्जुन का वध कैसे करेगा ? कर्ण के मन की चिर तृष्णा कैसे शांत होगी ?···

कभी-कभी कर्ण के मन में कहीं बहुत नीचे दबा हुआ एक दुर्बल-सा स्वर जाग उठता था··· वह, उसे अपने भाइयों का विरोध छोड़ देने का परामर्श देता था। क्यों व्यर्थ ही वह उस विरोध को पाले हुए है ? जिस अर्जुन का वध करने को वह इतना आतुर था, उस अर्जुन को ज्ञात हो जाए कि कर्ण उसका भाई है, तो वह तत्काल अपना गांडीव उसके चरणों में धर देगा। अपना सारा विरोध भूल जाएगा। उसके मन में कर्ण के लिए तनिक भी द्वेष नहीं रहेगा···

पर जाने कर्ण का मन कैसा था कि वह अर्जुन के प्रति अपना विरोध छोड़ नहीं पा रहा था।··· धर्मराज को वह क्षमा कर सकता था। उस मोटे भीम की भी उपेक्षा कर सकता था।··· पर वह अर्जुन को क्षमा नहीं कर सकता था।··· क्षमा ? उसका चिंतन रुक गया। अर्जुन ने उसका कोई अपराध किया है क्या, जो वह उसे क्षमा करने की बात सोच रहा था ? नहीं ! अर्जुन का अपराध क्या ? यह तो प्रतिस्पर्धा थी··· नहीं ! कदाचित् ईर्ष्या थी। संभव है कि यह द्वेष ही हो। अर्जुन उसके यश के मार्ग में खड़ा था। वह उसके मार्ग की बाधा था। अर्जुन के जीवित रहते, कर्ण कभी संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर नहीं हो सकता था। अर्जुन उसके यश का दस्यु था। तो कर्ण उस दस्यु को कैसे क्षमा करदे ?···

कर्ण के मन का वह दुर्बल सा स्वर एक बार फिर उभरा था।··· क्या वह अपने छोटे भाई के यश में ही प्रसन्न नहीं हो सकता था, जैसे युधिष्ठिर और भीम हो लेते थे ?··· नहीं !··· उसने अपना सिर झटक दिया··· अर्जुन न युधिष्ठिर को संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर होने से रोक रहा था, न भीम को। वह केवल कर्ण को ही रोक रहा था। वह केवल कर्ण का अपराधी था, केवल कर्ण का। इसलिए उसे दंडित करने का काम भी

कर्ण का ही था।...

तो क्या उसे अपने भाई प्रिय नहीं थे ? युधिष्ठिर को अपने भाई प्रिय थे। दुर्योधन को अपने भाई प्रिय थे। तो उसी को क्यों अपने भाई प्रिय नहीं थे ?... नहीं ! ऐसी तो कोई बात नहीं थी। भाई प्रिय न होते तो वह इस आशंका से क्यों पीड़ित होता कि यदि युधिष्ठिर ने अपना राज्य उसे दे दिया तो वह उसे दुर्योधन को सौंप देगा और पांडव फिर से वनवास करने को बाध्य हो जाएँगे।... जब तक उसे उनसे अपना संबंध ज्ञात नहीं था, तब तक वह उन्हें वन ही क्यों, यमपुर भेजने को भी उत्सुक था; पर अब वह उनके प्राण लेना नहीं चाहता... किंतु अर्जुन के प्रति अपना विरोध वह नहीं छोड़ सकता।... युयुत्सु भी तो दुर्योधन का भाई है। बलराम भी तो कृष्ण के भाई हैं, किंतु उनका पक्ष एक नहीं है। बलराम कृष्ण के विरुद्ध लड़ नहीं रहे, किंतु युयुत्सु तो दुर्योधन के विरुद्ध लड़ भी रहा है। तो भाई होने का अर्थ ? जहाँ अपने लक्ष्य न मिलें, मन न मिलें, अपने सिद्धांत न मिलें, व्यवहार न मिले, वहाँ भ्रातृत्व क्या करेगा ? महत्त्व तो अपने मन और लक्ष्य के मिलने का है।...

पर युधिष्ठिर का तो उससे कोई लक्ष्य नहीं मिलता, फिर वह अपना राज्य उसे क्यों दे देगा ?

बहुत देर तक कर्ण सोचता रहा और फिर उठ खड़ा हुआ।... सोचने का कोई लाभ नहीं था।... युधिष्ठिर उससे बहुत भिन्न था। वह युधिष्ठिर नहीं हो सकता।...

पर कर्ण के मन की जिज्ञासा ने उसका पीछा नहीं छोड़ा।... केवल यह कहने से तो काम नहीं चलेगा कि युधिष्ठिर उससे भिन्न है। प्रश्न तो यह है कि युधिष्ठिर का व्यवहार श्रेष्ठ था, अथवा कर्ण का ? वह अब तक जो कुछ भी करता आया था, वह उचित था या नहीं ? यदि वह सब उचित नहीं था तो उसे स्वयं को बदलना चाहिए या नहीं ?...

और कर्ण को लगा कि वह कभी भी युधिष्ठिर नहीं हो सकता।... युधिष्ठिर को राज्य का कोई मोह नहीं था। वह सम्राट् होकर भी वनवास करने चला गया था और कर्ण प्रासादों में रहकर भी निर्धनता से भयभीत था। युधिष्ठिर क्षत्रिय होकर भी युद्ध करना नहीं चाहता था और यह लांछन सहने को भी प्रस्तुत था कि उसका चारित्र्य क्षत्रियों जैसा नहीं है; और कर्ण क्षत्रिय कहलाने मात्र के लिए तड़प रहा था। उसके लिए वह कुछ भी करने को प्रस्तुत था। उसे यश चाहिए था, सम्मान चाहिए था... राजसी सम्मान। तापसों का सा सम्मान उसे नहीं चाहिए था। वह उन सब लोगों को दंडित करना चाहता था, जो उसे श्रेष्ठ क्षत्रिय नहीं मानते थे।... युधिष्ठिर को इसकी चिंता ही नहीं थी कि कौन उसे क्या कहता है।...

कर्ण को युधिष्ठिर नहीं बनना है। उसे कर्ण ही रहना है। इसलिए उसे दुर्योधन की मित्रता चाहिए। उसे युद्ध की आवश्यकता है, जिसमें वह अर्जुन का वध कर सके और संसार का श्रेष्ठतम धनुर्धर कहला सके।... और कर्ण को लगा कि उसके मन का

वह दबा हुआ मंद स्वर फिर कुछ बल पकड़ रहा था। वह मिमियाकर धीरे-धीरे कह रहा था कि कर्ण अहंकारी है। उसे अपने अहंकार की तुष्टि चाहिए। उसके लिए वह कुछ भी कर सकता है।···

कर्ण को लगा कि उसके सारे शरीर का रक्त उसके मस्तिष्क को चढ़ता जा रहा था। उसके दाँत भिंचते जा रहे थे। वह अपने भीतर के उस स्वर को कुचल देना चाहता था। वह अपना यह रूप देखना ही नहीं चाहता था। उसे स्वीकार करना नहीं चाहता था। यदि वह वैसा था भी तो उसे बदलना नहीं चाहता था। वह युधिष्ठिर नहीं था, वह युधिष्ठिर हो नहीं सकता था, वह युधिष्ठिर होना चाहता भी नहीं था।···

वह अपने शिविर से बाहर निकल आया। कहाँ जाए वह ?

आज का युद्ध समाप्त हो चुका था। सैनिक अपने शिविरों में चले गए थे। कोई विश्राम कर रहा था, कोई अपने घावों की देख-भाल कर रहा था, कोई शल्य चिकित्सक के शिविर में वैठा अपनी बारी की प्रतीक्षा कर रहा था।··· संभवतः कुछ लोग कल के युद्ध की तैयारी भी कर रहे हो सकते थे।··· दुर्योधन क्या कर रहा होगा ? उसके मंडप में उसके सेनापतियों का विचार-विमर्श चल रहा हो सकता था। और प्रधान सेनापति थे, भीष्म ! कर्ण भीष्म के सामने जाना नहीं चाहता था। वह जानता था कि भीष्म के मन में उसके लिए कोई सम्मान नहीं था। कर्ण को अपने सम्मुख देखकर वे कुछ न कुछ ऐसा अवश्य कह देंगे, जिससे उसके मन का सुषुप्त आक्रोश जाग उठेगा। उसने बार-बार प्रयत्न किया था कि उसके और कुरुवृद्ध भीष्म के मध्य की यह दूरी कम हो जाए। उन दोनों के स्वार्थों में कहीं टकराहट नहीं थी। भीष्म की वीरता के प्रति उसके मन में कहीं सम्मान भी था, पर उसका यह प्रयत्न कभी सफल नहीं हुआ था। उसके स्थान पर कुछ न कुछ ऐसा हो जाता था कि उनके मध्य की कटुता बढ़ जाती थी।··· तो क्या वह भीष्म को बता दे कि वह भी कुंती का ही पुत्र है। उन्हें युधिष्ठिर प्रिय है, तो कर्ण भी प्रिय होना चाहिए।··· पर नहीं ! उन्हें यह ज्ञात हो गया तो सारा खेल ही बिगड़ जाएगा।···

मंथर गति से चलता हुआ कर्ण अनायास ही दुर्योधन के मंडप के सम्मुख आ कर खड़ा हो गया। क्या उसे भीतर जाना चाहिए, अथवा चुपचाप लौट जाना चाहिए। उसका द्वंद्व अभी समाप्त नहीं हुआ था। वह यहाँ आना चाहता भी था और नहीं भी आना चाहता था। पर अब शायद लौट जाने का समय नहीं था, दुर्योधन के द्वाररक्षकों ने उसे देख लिया था और वे प्रणाम की मुद्रा में झुक भी गए थे।··· कर्ण यदि चुपचाप लौट जाएगा तो उन्हें यह बहुत विचित्र लगेगा।

वह आगे बढ़ आया, "युवराज एकांत में हैं अथवा अपने सेनापतियों के साथ, युद्ध-व्यवस्था संबंधी चर्चा कर रहे हैं ?"

"युवराज एकांत में हैं। विश्राम की तैयारी कर रहे हैं।" द्वाररक्षक बोला, "क्या उन्हें आपके आने की सूचना दूँ ?"

कर्ण दुर्योधन से मिलने का लोभ रोक न सका। बोला, "हाँ ! यदि वे इस समय मुझसे मिल सकें तो मैं उनसे युद्ध संबंधी कुछ चर्चा करना चाहूँगा।"

एक द्वाररक्षक भीतर चला गया।

द्वाररक्षक के लौटने से पहले ही दुर्योधन स्वयं बाहर निकल आया, "आओ मित्र ! भीतर आओ। तुम बाहर क्यों खड़े हो ? तुम्हें भी भीतर आने के लिए अनुमति की आवश्यकता है क्या ?"

"नहीं ! मैंने सोचा कि कहीं युवराज विश्राम न कर रहे हों।"

"तुम आ जाओ तो अपने-आप ही विश्राम हो जाता है।" दुर्योधन बोला, "मित्र की उपस्थिति किसी विश्राम से कम होती है क्या।"

कर्ण को दुर्योधन के स्वर में कृत्रिमता की गंध आई। जब से युवराज ने युद्ध के लिए सेनाएँ एकत्रित करने का उद्योग आरंभ किया था, तब से ही कर्ण ने अनुभव किया था कि दुर्योधन ने एक प्रकार की छद्म विनीत मुद्रा अर्जित कर ली थी। उसे कदाचित् उसका ही अभ्यास हो गया था। वह कर्ण के साथ भी उसी प्रकार का व्यवहार कर रहा था।

वे दोनों भीतर आए। दुर्योधन ने कर्ण को एक सुखद आसन पर बैठाया और स्वयं अपने पर्यक पर अधलेटा होता हुआ बोला, "मैं लेटा रहूँ तो तुम अन्यथा तो नहीं मानोगे ? युद्ध में व्यक्ति थक जाता है और रात को शरीर को भरपूर विश्राम न मिले तो प्रातः वह स्फूर्ति ही नहीं आती।" दुर्योधन ने अपना चषक उठा लिया, "सुरा ले सकते हो ?"

कर्ण ने मुस्कराकर सहमति दे दी।

"इस भयंकर युद्ध में तुमसे दूर और युद्ध से बाहर रहकर मैं एक प्रकार की व्याकुलता का अनुभव कर रहा हूँ।" कर्ण ने बात आरंभ की।

"कठिनाई तो मुझे भी हो रही है।" दुर्योधन बोला, पर कर्ण को उसके स्वर में उस कठिनाई का कोई प्रमाण नहीं मिला। वह परम संतुष्ट लग रहा था।

"मैं तुम्हारी वह कठिनाई दूर करना चाहता हूँ; पर मैंने वह मूर्खतापूर्ण शपथ जो ले रखी है।"

"तो ?" दुर्योधन ने अपना चषक खाली कर उसकी ओर देखा।

"क्या यह संभव नहीं है कि तुम अपने उस वृद्ध पितामह को उनके घर भेज दो। वे कुछ विश्राम कर लें और मैं तुम्हारे लिए कुछ थोड़ा-सा क्षत्रियकर्म कर दूँ ?"

"कोई विशेष बात ?" दुर्योधन ने उसे ध्यान से देखा।

"विशेष बात इतनी-सी है कि तुम्हारे प्रधान सेनापति का मन अपने शत्रुओं से प्रेम करता है। ऐसे में वह उनका नाश कैसे कर सकता है ?" कर्ण बोला, "मैं देखता रहता हूँ, सुनता रहता हूँ, अनुभव करता रहता हूँ और अपना रक्त पीता रहता हूँ।"

दुर्योधन ने कुछ कहा नहीं, केवल उसकी ओर देखता रहा।

"पहले दिन पांडवों की सेना पराजित हुई, उन्हें समरभूमि से हटना पड़ा, पर पांडवों का एक भी मुख्य योद्धा धराशायी नहीं हुआ।" कर्ण बोला, "दूसरे दिन पांडवों की विजय हुई, पर तब भी उन्हें अपनी विजय का कोई मूल्य चुकाना नहीं पड़ा। उन का कोई प्रधान योद्धा मारा नहीं गया। जो मरे वे सब साधारण सैनिक थे, जिनकी अनुपस्थिति से उनकी सेना तनिक भी दुर्बल नहीं होगी।" कर्ण ने दुर्योधन की ओर देखा, "इसका क्या अर्थ है ? जब वे घिर जाते हैं, असहाय हो जाते हैं, पराजित होते हैं, पलायन करते हैं, तब भी हमारी सेना उनके किसी प्रधान योद्धा का वध नहीं करती और जब वे विजयी होते हैं तो भी उनको अपनी विजय के शुल्क स्वरूप किसी अतिरथी का बलिदान नहीं करना पड़ता।"

"क्यों ? पहले दिन युधिष्ठिर के मुख्य सहायक और अर्जुन के समधी मत्स्यराज विराट के दो-दो पुत्र खेत रहे। दूसरे दिन पांडव विजयी रहे तो उस दिन हमारे योद्धा मरने चाहिए थे, किंतु हमने उन्हें बचा लिया। वे हमारे किसी महत्त्वपूर्ण योद्धा का वध नहीं कर पाए।"

"युवराज ठीक ही कहते हैं।" कर्ण का स्वर कुछ उदासीन हो गया लगता था, "मत्स्यराज के पुत्र तो अपनी मूर्खता में मारे गए अथवा पांडव उनकी सुरक्षा का प्रबंध नहीं कर पाए। पर कभी आपने सोचा कि पांडवों के परिवार का एक भी योद्धा क्यों मारा नहीं गया ? नकुल, सहदेव को मार गिराने में क्या कठिनाई थी ? पांडवों के छोटे-छोटे बच्चे युद्ध में उन्मुक्त विचर रहे थे। वह लड़का अभिमन्यु तुम्हारे प्रधान सेनापति भीष्म से भिड़ गया था, किंतु वे सब युद्धभूमि से जीवित लौट गए। क्यों ?"

"क्यों ?" दुर्योधन ने उसकी ओर देखा।

"क्योंकि तुम्हारे प्रधान सेनापति उनका वध करना नहीं चाहते।" कर्ण बोला, "वे पांचालों और मत्स्यों को तो मार गिराएँगे, किंतु पांडवों का बाल भी बाँका नहीं होने देंगे।"

"मैंने भी इस विषय में सोचा था," दुर्योधन बोला, "मुझे लगता है कि भीष्म हों अथवा द्रोण, वे लोग पांचालों और मत्स्यों को अपना व्यक्तिगत शत्रु मानते हैं। उन का वध करने में उन्हें तनिक भी पीड़ा नहीं होती, क्योंकि वे युवराज दुर्योधन के शत्रुओं को नहीं अपने शत्रुओं को मार रहे होते हैं।... पर उससे भी पांडवों की सेना तो दुर्बल होती ही है।"

"यदि सारे पांचाल और मत्स्य मारे जाएँ, तो भी पांडव उतने ही शक्तिशाली रहेंगे।" कर्ण बोला, "किंतु यदि पांडवों में से एक भीम और अर्जुन मार दिए जाएं तो सारे पांचाल और मत्स्य रोते हुए अपने घर लौट जाएँगे।"

"तो ?"

"तो यह कि भीष्म केवल उनको मार रहे हैं, जिन्हें मारने से पांडव सेना की केवल संख्या कम हो रही है, बल नहीं।" कर्ण बोला, "उससे पांचाल और मत्स्य दुर्बल होंगे

किंतु आपको विजय प्राप्त नहीं होगी।''

"तो हमें क्या करना चाहिए ?" दुर्योधन ने गंभीर स्वर में पूछा।

"भीष्म को सेना से हटा दीजिए। मैं युद्धभूमि में आ जाऊँगा।" कर्ण वोला, "और आप जानते ही हैं कि मेरा आखेट कौन है। मेरा वचन है कि मैं अर्जुन को मार गिराऊँगा और पांडव सेना तत्काल अपने स्कंधावार में लौट जाएगी। अर्जुन की अनुपस्थिति में युद्ध करने का उनका साहस ही नहीं होगा।" कर्ण ने रुककर दुर्योधन की ओर देखा, "मेरा यह सुविचारित मत है कि पांडवों की सेना में केवल एक योद्धा है – अर्जुन ! उसका वध कर दिया जाए तो विजय आपकी है युवराज !"

दुर्योधन ने कुछ नहीं कहा।

"आप भीष्म को हटा दीजिए और मेरा चमत्कार देखिए।" कर्ण ने पुनः कहा।

इस वार दुर्योधन मौन नहीं रहा। वह विचारपूर्ण मुद्रा में वोला, "मैं पितामह से वात करूँगा। यह नहीं हो सकता कि वे प्रधान सेनापति भी हों और हमारे शत्रुओं की रक्षा भी करते रहें।"

कर्ण बैठा प्रतीक्षा करता रहा, किंतु दुर्योधन ने और कुछ नहीं कहा। दुर्योधन की प्रत्यक्ष उवासियाँ वता रही थीं कि वह कर्ण को अपने मंडप से जाने का आदेश दे रहा था।

कर्ण लौट आया। दुर्योधन उसके परामर्श की इस प्रकार उपेक्षा करेगा, इसकी उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी।··· पर दुर्योधन को क्यों इतना मोह है उस वृद्ध पितामह से, जो उसकी विजय के लिए कोई प्रयत्न भी नहीं कर पा रहा है।··· और कर्ण अपने एक भाई और भाइयों के पुत्रों तक का वध करने का संकल्प लिए वैठा है···

कर्ण का मन रुक गया।

वह दुर्योधन का मित्र था। वह उसकी विजय चाहता था।··· पर अपने भाइयों के पुत्रों के वध की कल्पना कोई वहुत गौरवपूर्ण नहीं लग रही थी··· क्या कर रहा था कर्ण ? वह अपनी ही दृष्टि में क्षुद्र होता जा रहा था··· तभी उसकी ऑखों के सम्मुख कुंती आ खड़ी हुई···

'यह तुमने क्या कर डाला माँ ! कर्ण अव पहले जैसा वह कर्ण ही नहीं रहा। परिवर्तित हो जाता तो भी कोई वात नहीं थी। वह परिवर्तित भी नहीं हुआ था। वह तो खंडित हो गया है माँ !··· यह तुमने क्या किया माँ !'

कुंती मुस्कराई, 'मैंने युधिष्ठिर की विजय के लिए तुम्हें दुर्वल कर दिया है। दुर्योधन की पराजय का प्रवंध किया है। भीष्म भी खंडित हैं, द्रोण भी खंडित हैं, अव तुम भी खंडित हो। तुम सब अपने भीतर की दुर्वलता से ही मारे जाओ··· यही तुम्हारा दंड है।'

'तुम्हें मैं प्यारा नहीं माँ ?' कर्ण का स्वर वहुत दीन हो आया था।

'मुझे केवल धर्म प्यारा है पुत्र !'

कुंती विलीन हो गई।

दुर्योधन ने कर्ण को विदा कर दिया। उसे कर्ण का प्रस्ताव कुछ इतना आकस्मिक और अटपटा लगा था कि वह उस पर विचार ही नहीं करना चाहता था। कैसा मूर्खतापूर्ण प्रस्ताव था कि भीष्म जैसे योद्धा को रुष्ट कर अपनी सेना से पृथक् कर दिया जाए। कर्ण यह क्यों नहीं सोचता कि भीष्म से भरपूर लाभ उठा लिया जाए और जब वे चुक जाएँ, तो उनके स्थान पर उसे लाया जाए।··· कर्ण अपने भीष्म-विरोध के कारण देख नहीं पा रहा था कि भीष्म का क्या-क्या उपयोग हो सकता था।··· यदि भीष्म स्वयं ही युद्ध कर पांडव पक्ष को पराजय के गर्त में धकेल देते हैं और दुर्योधन को अभय कर देते हैं तो ठीक ही है, किंतु यदि वे युद्ध में वीरगति पाते हैं तो उनके पश्चात् कर्ण आ ही सकता है।··· युद्ध से हटाए गए जीवित भीष्म पांडवों के लिए उपयोगी हो सकते हैं किंतु धराशायी भीष्म से दुर्योधन को किसी संकट की कोई आशंका नहीं थी। इसलिए यदि भीष्म जीवित हैं तो उन्हें युद्धक्षेत्र में होना होगा और दुर्योधन के पक्ष में होना होगा, अन्यथा उन्हें मर जाना चाहिए···

'कर्ण को प्रातः समझा लिया जाएगा।' दुर्योधन ने सोचा, 'इस समय तो निद्रा कर्ण से भी अधिक आवश्यक है।'

प्रातः तक दुर्योधन कर्ण के दृष्टिकोण पर पर्याप्त विचार कर चुका था। पर्याप्त ऊहापोह के पश्चात् वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि वह कर्ण के प्रस्ताव को मान नहीं सकता था किंतु उसकी चेतावनी पर ध्यान तो दे ही सकता था।··· उसे लग रहा था कि भीष्म को प्रधान सेनापति के पद से हटाना आवश्यक नहीं था, किंतु उनसे बात तो की ही जानी चाहिए थी।···

वह भीष्म के मंडप में पहुँचा तो वे युद्धवेश धारण कर रहे थे।

"आओ दुर्योधन !" उन्होंने कहा, "कुछ चिंतित लगते हो।"

"युद्धक्षेत्र में खड़ा राजा चिंतित नहीं होगा क्या ?"

"चिंतित तो सेनापति को होना चाहिए।" भीष्म बोले।

"सेनापति तो केवल युद्ध को हारता अथवा जीतता है।" दुर्योधन ने कहा, "किंतु राजा का तो राज्य भी छिन जाता है।"

"तो राजा दूसरों के राज्य का मोह छोड़े और अपने राज्य से ही संतुष्ट रहे। उसे न युद्ध करना होगा और न युद्ध हारने की आशंका ही सताएगी।" भीष्म बोले, "राज्य का मोह ही तो है, जो राजा को चिंतित कर रहा है और असंख्य लोगों की मृत्यु का

कारण बन रहा है।"

"मेरी चिंता यही है पितामह ! कि मेरे सेनापति इस युद्ध के औचित्य को स्वीकार नहीं करते। यदि वे युद्ध को आवश्यक और उचित नहीं मानते तो वे उसे जीतेंगे कैसे ?" दुर्योधन बोला।

"मैं युद्ध का औचित्य स्वीकार नहीं करता, क्योंकि मैं कौरवों की रक्षा करना चाहता हूँ। मैं तो आज भी कहता हूँ पुत्र ! कि अपने भाइयों से संधि कर लो। युधिष्ठिर का राज्य उसे लौटा दो।···"

"सेनापति का कर्तव्य युद्ध है, संधि-विग्रह का निर्णय नहीं।" दुर्योधन बोला, "आपको व्यूह का निर्माण करना है और शत्रु के रूप में सामने खड़े योद्धाओं का नाश करना है।"

"अपने क्षात्र धर्म को धिक्कारते हुए भी वही कर रहा हूँ पुत्र !" भीष्म रुके, "···यह सेनापति तुम्हें पुत्र भी कह सकता है अथवा नहीं राजा दुर्योधन ?"

"आप मुझसे रुष्ट हैं पितामह ! पर मैं अपने सैनिकों को मरते हुए नहीं देख सकता। अपने स्वजनों का रक्त बहते नहीं देख सकता···"

"मैं भी तो अपने स्वजनों का रक्त बहते नहीं देखना चाहता।" भीष्म बोले।

दुर्योधन ने स्वयं को सँभाला, "आपके साथ विडंबना यह है पितामह कि युद्ध में दोनों ओर आपके स्वजन हैं और दोनों ओर ही आपके शत्रु भी हैं। कोई पक्ष हारे अथवा जीते, आपको अपने स्वजनों का रक्त बहते देखना ही होगा।··· पर मेरे साथ यह नहीं है। मैं स्वजन केवल उन्हें मानता हूँ, जो मेरी विजय के लिए मेरे पक्ष से युद्ध कर रहे हैं और विरोध में खड़े शत्रुओं का वध कर रहे हैं। आप मेरे प्रधान सेनापति हैं और फिर भी पांडव सेना ने अभी तक घुटने नहीं टेके हैं। शत्रुओं का कोई भी महत्त्वपूर्ण योद्धा मारा नहीं गया है। आप अपनी सेना के शत्रुओं की रक्षा कर रहे हैं।"

"नहीं दुर्योधन ! समरभूमि में मैंने कोई दुर्बलता नहीं दिखाई है।" भीष्म बोले, "परसों हमारे सैनिकों ने कुछ मार खाई थी, किंतु कल तो हम विजयी हुए हैं।"

"ऐसी विजय का भी क्या लाभ पितामह ! जिसमें शत्रुओं का कोई सेनापति खेत न रहे। शत्रु के शिविर में से क्रंदन का कोई स्वर न उठे।"

"यह तो मैंने पहले ही कह दिया था दुर्योधन ! कि पांडव मेरे लिए अवध्य हैं। आज तुम्हें बता रहा हूँ कि पांडव तुम्हारे किसी भी योद्धा के लिए अवध्य हैं। अर्जुन का वध द्रोण और कृपाचार्य भी नहीं कर सकते, तुम्हारा वह मित्र कर्ण तो उसका पासंग भी नहीं है।···"

"तो पितामह ?"

"संधि कर लो पुत्र !"

"यह असंभव है।" दुर्योधन बोला, "आप पांडवों का नाश कीजिए। अपने दिव्यास्त्रों का प्रयोग कीजिए, देवास्त्रों का प्रयोग कीजिए। चाहे सारी सृष्टि नष्ट हो जाए,

किंतु पांडवों का नाश होना ही चाहिए।"

"मैं अपनी क्षमता भर वही कर रहा हूँ।" भीष्म बोले, "तुम्हें मुझ पर विश्वास न हो तो मैं सेनापति का पद छोड़ देता हूँ। वैसे भी तुम्हारे योद्धा तुम्हारी आज्ञानुसार युद्ध कर रहे हैं। उन्हें किसी सेनापति की आवश्यकता ही नहीं है।"

"आपकी किसी आज्ञा का उल्लंघन नहीं हुआ है पितामह !" दुर्योधन बोला, "और मैं आपके सिवाय और किसी को सेनापति बना ही नहीं सकता। आपकी प्रसन्नता के लिए मैंने कर्ण को युद्ध से बाहर कर दिया है। आप पांडवों का वध नहीं कर सकते तो उनके पुत्रों का वध कीजिए, उनके मित्रों का वध कीजिए। उनके सेनापतियों के मुंड समरभूमि में गिरने ही चाहिएँ। आप क्षात्र धर्म से द्रोह नहीं कर सकते।"

"मैं अपने क्षात्र धर्म का ही पालन कर रहा हूँ पुत्र !" भीष्म ने उस पर एक प्रखर दृष्टि डाली, "तुम आश्वस्त रहो, न मैं क्षात्र धर्म से द्रोह करूँगा और न अपने कर्तव्य से।"

दुर्योधन चला गया।

भीष्म बैठ गए। उनके मन में युद्ध के लिए तनिक भी उत्साह नहीं था। ठीक कह रहा था, दुर्योधन कि वे युद्ध के औचित्य से सहमत नहीं थे।··· तो फिर वे क्यों खड़े थे, समरभूमि में। क्यों नहीं वे भी बलराम के समान तीर्थयात्रा के लिए निकल गए ? क्यों वे पांडवों के विरुद्ध धनुष-बाण लेकर खड़े हो गए हैं ?··· नहीं ! उन्होंने पांडवों के वध के लिए धनुष नहीं उठाया है।··· और कोई जाने या न जाने, वे जानते हैं कि वे समरभूमि में खड़े अपने पौत्रों के मध्य केवल आ अड़े हैं। वे मानते हैं कि वे बीच से हट जाएँगे तो दुर्योधन और उसके सारे मित्र मिलकर भीम और अर्जुन का नाश न भी कर सकें तो शेष पांडवों और उनके पुत्रों को मार देंगे। और द्रुपद तथा उसके पुत्र द्रोण और दुर्योधन को समाप्त कर देंगे।··· भीष्म हैं कि बीच में खड़े हैं, इसलिए न पांडवों में से कोई मरा और न दुर्योधन अथवा हस्तिनापुर की कोई क्षति हुई।··· दुर्योधन नहीं समझ सकता कि भीष्म किस-किसको बचाने के लिए युद्धभूमि में खड़े हैं।··· वे कौरवों की रक्षा के लिए खड़े हैं। वे कौरवों के गौरव की रक्षा के लिए खड़े हैं। वे हस्तिनापुर की रक्षा के लिए खड़े हैं। वे द्रोण की रक्षा के लिए खड़े हैं··· दुर्योधन को यह सब कुछ दिखाई नहीं देता। वे तो जो कुछ स्वयं देख रहा है, उसी को सृष्टि का अंत मान लेता है। वह क्या जाने कि वे आजीवन किस-किसकी रक्षा के लिए खड़े रहे हैं। किस-किस धर्म की रक्षा करते रहे हैं वे···

पर कहाँ किसी की रक्षा कर पा रहे हैं ? दुर्योधन आज भी संधि के लिए सहमत नहीं है। वह युद्ध चाहता है। विनाश चाहता है। पांडवों का वध करना चाहता है वह। संसार में से धर्म को समाप्त कर देना चाहता है वह।··· उसकी इच्छा के विरुद्ध भीष्म किसी की रक्षा नहीं कर पा रहे हैं।··· नहीं कर पाएंगे।··· तो फिर क्यों खड़े हैं वे

यहाँ ?··· इसलिए कि कौरवों की सेना उनके नियंत्रण में रहे। वे विनाश को यथाशक्ति रोक रखें। सेना किसी और के नियंत्रण में होती तो कदाचित् युद्ध का स्वरूप कुछ और होता। अव तक सवसे अधिक कौरव ही खेत रहे होते।···

पर अव भीष्म वीच से हट ही क्यों नहीं जाते ? श्रीकृष्ण धर्म की स्थापना करना चाहते हैं, तो वे क्यों नहीं उन्हें धर्म-संस्थापना कर लेने देते ?··· पर श्रीकृष्ण के मन में किसी के लिए भी मोह नहीं है। वे धर्म-संस्थापना करेंगे तो अपना-पराया नहीं देखेंगे। कौरव मारे जाएँगे।··· पर वे श्रीकृष्ण की इच्छा का विरोध कर भी कैसे पाएँगे ? अंततः तो उन्हें मध्य से हटना ही पड़ेगा।··· अव तो उन्हें लगने लगा था कि दुर्योधन की यह हठ भी जैसे श्रीकृष्ण की ही योजना है। उन्हीं की इच्छा पूर्ण कर रहा है दुर्योधन।··· अकेला वूढ़ा भीष्म इन दोनों के विरुद्ध कैसे लड़ सकता है ?···

40

रणभूमि से पांडवों का दूत आया था।

द्रौपदी ने सारी पांडव-वधुओं को वुला लिया था, ताकि वाद में कोई यह न कह सके कि उसे युद्ध संवंधी पूरी सूचना नहीं मिल सकी। सवके आने के पश्चात्, अंत में उत्तरा को अपने साथ लेकर सुभद्रा आई।

"हाँ दूत ! वोलो, क्या समाचार है ?"

"महारानी ! कल कौरवों की ओर से पितामह ने गरुड़ व्यूह की रचना की थी। चोंच के स्थान पर वे स्वयं थे। नेत्रों के स्थान पर द्रोण और कृतवर्मा थे। शिरोभाग पर अश्वत्थामा और कृपाचार्य थे।···"

"अरे हमें इससे क्या लेना-देना कि किस स्थान पर कौन था।" वलंधरा ने दूत को आगे नहीं वोलने दिया, "हमें तो समाचार चाहिए। हमें वताओ कि हमारे पतियों, पुत्रों, भाइयों और पिताओं में से कोई हताहत तो नहीं हुआ न ?"

दूत ने द्रौपदी की ओर देखा।

"हाँ ! ठीक कह रही है वलंधरा। हमें युद्धशास्त्र तो पढ़ना नहीं है और न ही हमें युद्ध का विश्लेषण कर देखना है कि युद्ध संचालन ठीक हुआ अथवा नहीं।" करेणुमती ने अपनी सहमति प्रकट कर दी, "हमें तो वताओ कि हमारे प्रियजन सकुशल तो हैं न ? और हमें वताओ कि हमारे शत्रुओं में से कौन-कौन मारा गया।"

दूत अव भी द्रौपदी की ओर ही देखता रहा।

"हाँ दूत !" अंततः द्रौपदी ने कहा, "हमें यह जान कर क्या करना है कि किस योद्धा ने अपने किस शत्रु को कौन सा वाण मारा और कितने वाण मारे। हमें तो तुम हमारे प्रियजनों का कुशल-समाचार ही दो। वताओ, वे सव कुशल से हैं न ?"

"हाँ महारानी ! वे सब सकुशल हैं। स्वस्थ हैं। बाण तो सबको ही लगे हैं, इसलिए आहत हैं, किंतु हमारे वैद्य तथा शल्यचिकित्सक अपनी औषधियों और अपने कौशल से उनके बाण निकाल देते हैं और उनके घावों का उपचार कर देते हैं।"··· दूत ने बताया।

"शल्यचिकित्सक तो शरीर को चीरकर ही बाण निकालते होंगे ?" उत्तरा ने जैसे अपनी पीड़ा व्यक्त की।

"राजकुमारी ! हमारे वैद्यों के पास अनेक विशल्यकारिणी औषधियाँ हैं।" दूत ने उत्तर दिया, "प्रायः उनसे ही शरीर में धँसे बाण निकल आते हैं, पर जब कोई बाण बहुत गहरे धँसता है अथवा किसी प्रकार की वक्रता और जटिलता के कारण औषधियाँ काम नहीं कर पातीं, तो शल्यचिकित्सक शल्यक्रिया का प्रयोग भी करते हैं।···"

"कल अधिक घायल कौन हुआ है ?" सुभद्रा ने पूछा।

दूत ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया, पर अपने श्रोताओं के चिंतित हो उठने से पहले ही बोला, "थोड़े बहुत घाव तो प्रत्येक योद्धा को लगते ही हैं, पर कल स्वयं श्रीकृष्ण और तृतीय पार्थ-वीरवर अर्जुन को कुछ गंभीर घाव लगे हैं।..."

"क्या ? श्रीकृष्ण को भी ?" द्रौपदी का स्वर जैसे हल्का-सा चीत्कार लिए हुए था।

"कोई चिंताजनक बात नहीं है महारानी !" दूत ने तत्काल उन्हें आश्वस्त किया, "हुआ यह कि युद्ध के आरंभ में ही धनंजय ने कौरवों के रथियों का विनाश आरंभ किया और मध्यम पांडव भीम ने अपने पुत्र घटोत्कच के साथ कौरव-पक्षी राजाओं को खदेड़ना आरंभ किया। उस समय सात्यकि, चेकितान और पाँचों द्रौपदेय उनके साथ थे।···"

"यह चेकितान कौन है ?" सहसा द्रौपदी ने पूछा, "इस का नाम तो पहले कभी नहीं सुना।"

"ये हमारे पक्ष से युद्ध करनेवाले एक वृष्णिवंशी यादव हैं।" दूत ने बताया, "ये आपके स्वयंवर में कांपिल्य में भी उपस्थित थे। राजसूय यज्ञ के अवसर पर उपस्थित होकर इन्होंने धर्मराज को अपना तूणीर भेंट किया था। ये अत्यंत वीर हैं। युद्ध के पहले ही दिन इन्होंने त्रिगर्तराज सुशर्मा से द्वंद्व युद्ध कर अपनी वीरता की धाक जमा दी थी।"

द्रौपदी ने सुभद्रा की ओर देखा, "और तो कोई यादव आया नहीं, चेकितान कैसे आ गए ?"

"हमारे परिवार से कोई विशेष संबंध नहीं रहा, इसलिए मैं भी इनके विषय में इससे अधिक कुछ नहीं जानती, जितना कि दूत ने बताया है।··· हो सकता है कि इन्हें किसी से अपना व्यक्तिगत वैर चुकाना हो, यह भी संभव है कि धर्म के समर्थक होने के कारण वे पांडवों के पक्ष से लड़ने आए हों; और यह भी संभव है कि क्षत्रिय होने के नाते युद्ध की चर्चा सुनकर द्वारका में निष्क्रिय बैठे न रह सके हों।"

"हाँ ! तो ?" द्रौपदी ने दूत को आगे बोलने का संकेत किया।

"अपनी सेना का वह विनाश राजा दुर्योधन से सहन नहीं हुआ। वे अपनी

गजसेना लेकर राजकुमार घटोत्कच से युद्ध करने आए। पर पांडव भी असावधान नहीं थे। धनंजय ने अनेक राजाओं को रोक लिया। राजकुमार अभिमन्यु और वीरवर सात्यकि ने शकुनि और उसके भाइयों पर आक्रमण किया। शकुनि के भाइयों ने सात्यकि को किसी प्रकार घेरकर उनका रथ काट डाला। सात्यकि, राजकमार अभिमन्यु के रथ पर आ चढ़े और उन दोनों ने मिलकर शकुनि की सेना का पूर्ण संहार कर डाला। राजकुमार अभिमन्यु की वीरता और असाधारण युद्धकौशल की बहुत चर्चा है महारानी !" दूत की दृष्टि द्रौपदी के चेहरे से हटकर सुभद्रा और उत्तरा की ओर चली गई।

"अभिमन्यु मेरा वीर पुत्र है।" द्रौपदी ने कहा, "उसने अपने पिता और मातुल से श्रेष्ठ गुण पाए हैं। सुभद्रा ने उसका श्रेष्ठ पालन-पोषण और प्रशिक्षण किया है। हमें अभिमन्यु से असाधारण उपब्धियों की अपेक्षा है।"

"तुम पार्थ और पार्थसारथि श्रीकृष्ण के विपय में कुछ वता रहे थे दूत !" सुभद्रा ने कहा।

"हॉ महादेवि ! उसी की ओर आ रहा हूँ। धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने छोटे भाइयों, माद्रेय नकुल एवं सहदेव के साथ आचार्य द्रोण पर आक्रमण किया। दुर्योधन को कहीं से कोई सहायता नहीं मिल रही थी और मध्यम पांडव, अपने पुत्र घटोत्कच के साथ उसके सम्मुख आ अड़े थे। राजकुमार घटोत्कच ने अपना ऐसा शौर्य प्रकट किया कि दुर्योधन सर्वथा असहाय हो गया। मध्यम पांडव ने उसके वक्ष में एक ऐसा वाण मारा कि उसे मूर्च्छा आ गई। उसका सारथि अपने स्वामी को अचेत देखकर उनके प्राण वचाने के लिए रथ को समरभूमि से बाहर निकाल ले गया।…"

"लो, दुर्योधन तो भाग ही गया।" वलंधरा बोली, "बड़ा वीर वनता था।"

"राजा के रणभूमि से पलायन कर जाने के कारण कौरव सेना में भगदड़ मच गई। मध्यम पांडव को ऐसी स्थिति में उस सेना को खदेड़ने में किसी क्रीड़ा का सा आनन्द आ रहा था। राजकुमार घटोत्कच भी इस क्रीड़ा के वड़े दक्ष खिलाड़ी हैं।…"

"मैंने सुना है कि घटोत्कच मायावी युद्ध करता है।" करेणुमती ने कहा, "यह क्या होता है ?"

"क्या वह कभी प्रकट और कभी विलुप्त हो जाता है ?" देविका ने अपनी जिज्ञासा प्रकट की, "या कभी धरती पर स्थित हो लड़ता है और कभी उड़कर आकाश में चला जाता है ? कभी वह अग्नि और कभी धुआँ उगलता है ? क्या, यह सब संभव है दूत ?"

"नहीं महारानी ! ऐसा कुछ नहीं है।" दूत ने सहास कहा, "ऐसी कोई बात नहीं है। राक्षसों द्वारा मायावी युद्ध की वहुत चर्चा है, पर उसका अर्थ वह नहीं है, जो आप कह रही हैं। उसका अर्थ तो मात्र इतना ही है कि मायावी योद्धा अपने शत्रु को भ्रम में रखता है। वह उन नियमों का पालन नहीं करता, जिनका पालन आर्य वीर करते हैं। वह विपक्षी के सम्मुख से लुप्त हो जाता है। विपक्षी समझता है कि युद्ध समाप्त

हो गया, किंतु मायावी योद्धा लौट आता है। वस्तुतः वह युद्ध की मर्यादा को नहीं मानता। युद्ध की स्थिति में वह अपने वचनों का पालन नहीं करता। कहता कुछ है करता कुछ है। युद्ध में उस पर किसी प्रकार का विश्वास नहीं किया जा सकता। यही मायावी युद्ध है।"

"तो मध्यम पांडव ने दुर्योधन की सेना को भेड़ों के रेवड़ के समान खदेड़ दिया ?" बलंधरा भीम की वीरता के विषय में सुनने को व्यग्र लग रही थी।

"हाँ ! महारानी ! मध्यम पांडव ने कौरव सेना को खदेड़ ही दिया था कि राजा दुर्योधन सचेत हो उठे। वे रणक्षेत्र में लौट तो आए, किंतु स्वयं युद्ध करने के स्थान पर वे सीधे पितामह के पास पहुँचकर विलाप करते हुए से बोले, 'आपके और आचार्य द्रोण के होते हुए भी मेरी सेना भाग रही है। आपके विरोधी होते हुए भी पांडव आप के कृपापात्र हैं। तभी तो आप मेरी सेना की यह दुर्दशा देखकर भी सहन कर रहे हैं।··· आप मुझे पहले ही बता देते कि आप पांडवों के ही समान धृष्टद्युम्न और सात्यकि से भी युद्ध नहीं करेंगे तो मैं आपका, आचार्य द्रोण और आचार्य कृप का मत जानकर कर्ण के साथ मिलकर अपने कर्तव्य का निश्चय कर लेता।···' पितामह जानते थे कि जब भी दुर्योधन के मन में उनके प्रति कोई असंतोष उभरता है तो वह उनको कर्ण की धमकी देता है। इससे पहले कि वे कुछ कहते, दुर्योधन ने कहा, 'यदि आप को युद्ध में मेरा परित्याग करना अच्छा नहीं लगता है तो आप दोनों श्रेष्ठ पुरुष अपना पराक्रम प्रकट कीजिए।' भीष्म उसकी इस प्रकार की उक्तियों से विशेष प्रसन्न नहीं थे। बोले, 'पांडवों को इंद्र भी नहीं जीत सकते, फिर भी तुम्हारी इच्छा के अधीन मैं पांडवों का आगे बढ़ना रोक दूँगा।' " दूत ने रुक कर द्रौपदी की ओर देखा, "ध्यान दें महारानी ! पितामह ने यह नहीं कहा कि वे पांडवों का नाश करेंगे। उन्होंने कहा कि वे पांडवों को आगे बढ़ने से रोक देंगे।"

"इससे अधिक वे कुछ कर भी नहीं सकते थे।" सुभद्रा ने कहा।

दूत ने सुभद्रा की टिप्पणी पर कोई प्रतिक्रिया प्रकट नहीं की। अपना वर्णन आगे बढ़ाता हुआ बोला, "उस समय तक सूर्य नारायण पश्चिम की ओर जा चुके थे। पांडव पक्ष उस दिन के युद्ध में स्वयं को विजयी मानकर अपनी विजय का उत्सव मनाने की तैयारी में था कि दुर्योधन की उकसाहट में पितामह ने एक विशाल सेना लेकर पांडव सेना पर आक्रमण कर दिया··· ।"

"यह तो अन्याय है।" देविका ने कहा, "सूर्य नारायण पश्चिम की ओर जा चुके थे और पांडव युद्ध के लिए प्रस्तुत नहीं थे और पितामह ने आक्रमण कर दिया ? यह कैसी वीरता है पितामह की ?"

"हाँ महादेवि ! बात तो कुछ ऐसी ही है।" दूत ने कहा, "दुर्योधन और उसके सारे भाई स्वयं पितामह की रक्षा के लिए उनके साथ थे। वे जानते थे कि यदि पांडवों ने शिखंडी को आगे कर दिया तो पितामह युद्ध नहीं कर पाएँगे। इसलिए वे किसी और

पर विश्वास न कर, स्वयं ही पितामह की रक्षा में जुट गए थे।"

"क्या पांडवों ने शिखंडी को उनसे लड़ने भेजा ?" वलंधरा ने पूछा।

"मध्यम पांडव वहुत क्रुद्ध थे कि अव, जव उस दिन का युद्ध समाप्तप्राय था और पांडव एक प्रकार से युद्ध से निवृत्त हो चुके थे, पितामह उन पर ऐसा भयानक आक्रमण कर रहे थे। यह भी एक प्रकार का मायावी युद्ध ही तो था। मध्यम पांडव चाहते थे कि पांचाल राजकुमार शिखंडी को सामने रखकर सव लोग उनकी रक्षा करें और आज पितामह को धराशायी कर ही दिया जाए, किंतु धर्मराज को यह अन्याय लगता था कि जव पितामह यह घोषणा कर चुके हैं कि वे शिखंडी से युद्ध नहीं करेंगे तो उनके सामने शिखंडी को खड़ा कर उनके साथ माया युद्ध किया जाए। उन्होंने महारथी शिखंडी को पितामह से युद्ध करने की अनुमति नहीं दी।…"

"ओह !"

"कौरव सारे अधर्म करते रहें और पांडव प्रतिक्षण धर्म विचार ही करते रहें।" देविका ने एक गंभीर श्वास छोड़ा।

"हाँ ! महादेवि !" दूत बोला, "पांडवों ने अपना धर्म नहीं छोड़ा। न शिखंडी को पितामह के सामने जाने दिया और न ही राजकुमार घटोत्कच को उनसे माया युद्ध करने की अनुमति दी। परिणाम यह हुआ कि पितामह के इस भयानक आक्रमण से धर्मराज की सेना विखर गई। वासुदेव श्रीकृष्ण ने यह सव देखा और धनंजय से कहा, 'दीर्घ काल से तुम जिस अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे, वह आ गया है। यदि इस समय भी तुम मोह से किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हो तो पूरी क्षमता से युद्ध करो और अपनी सेना की रक्षा करो। अपना वचन पूरा करो कि युद्ध में अपने विरुद्ध लड़ने आए अपने शत्रुओं का वध करोगे, चाहे वे पितामह अथवा आचार्य ही क्यों न हों।' धनंजय कुछ चिंतित दिखे, किंतु उन्होंने अपने द्वंद्व को तत्काल समाप्त कर दिया और वोले, 'आप रथ को वहीं ले चलिए, जहाँ पितामह हैं। मैं अभी उनको रथ से नीचे गिरा दूँगा।… ' श्रीकृष्ण हँसे, 'अभी भी उन्हें रथ से नीचे गिराने की वात कह रहे हो। ऐसा क्यों नहीं कहते कि उनका वध कर दोगे।' धनंजय ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। उनका रथ पितामह के निकट पहुँच गया था और पितामह का वेग भी कुछ थम गया था। पांडवों की विखरी हुई सेना कुछ सिमट आई थी और उनका पलायन भी रुक गया था। भीष्म को अपना इस प्रकार रुद्ध होना कुछ सहन नहीं हुआ और उन्होंने अपना अत्यंत भयंकर रूप प्रकट किया। उन्होंने सेना को छोड़कर जैसे सीधे राजकुमार अर्जुन पर ही नहीं स्वयं वासुदेव श्रीकृष्ण पर आक्रमण किया। जव तक कि श्रीकृष्ण समझते कि पितामह के मन में क्या है, धनंजय और वासुदेव दोनों ही क्षत-विक्षत हो चुके थे। उस पर न जाने क्यों अपनी स्वाभाविक गंभीरता छोड़ कर पितामह भीष्म हँस-हँस कर श्रीकृष्ण को चिढ़ा रहे थे। वे उन्हें अधिक से अधिक क्रोध दिलाने का प्रयत्न कर रहे थे…। पितामह द्वारा किया जा रहा विनाश असाधारण और अत्यंत भयंकर था। पांचालों की सेना सर्वथा नष्ट

होने की स्थिति में पहुँच गई थी, इसलिए अपना अस्तित्व बचाने के लिए, रणक्षेत्र छोड़कर भाग रही थी।···"

"पितामह का व्यवहार मेरी समझ में तो आता ही नहीं।" बलंधरा बोली, "एक ओर धर्म का पक्ष लेने की घोषणा करते हैं और फिर श्रीकृष्ण पर आक्रमण करते हैं। श्रीकृष्ण से अधिक धर्म को कौन जानता है।··· पांडवों को अपने लिए अवध्य घोषित करते हैं और फिर धनंजय पर आघात कर उन्हें क्षत-विक्षत कर देते हैं।···"

"वह मैं समझा दूँगी।" द्रौपदी ने कहा, "पहले युद्ध के सारे समाचार सुन लो।"

"भीष्म भयंकर विनाश कर रहे थे।" दूत ने कहा, "लगा कि श्रीकृष्ण क्रोध से काँप उठे हैं। वे बोले, 'अर्जुन के मन में अपने पितामह का मोह है। वे उनके साथ युद्ध जैसा युद्ध कर ही नहीं सकते। ठीक है। अब मैं किसी पर निर्भर नहीं रहूँगा। मैं स्वयं ही युद्ध कर पितामह का ही नहीं, आचार्य, दुर्योधन तथा उसके सारे भाइयों का वध कर अभी धर्मराज का राज्य उन्हें दिलवा देता हूँ।··· ' धनंजय ने कुछ नहीं कहा। वे युद्ध की ओर उन्मुख हो गए थे, अथवा श्रीकृष्ण को उत्तर देने से बच रहे थे। इस समय पितामह ही नहीं, आचार्य द्रोण, विकर्ण, जयद्रथ, भूरिश्रवा, कृतवर्मा, कृपाचार्य, श्रुतायु, अंबष्ठपति, विंद, अनुविंद तथा सुदक्षिण इत्यादि योद्धाओं ने मिल कर एक साथ ही धनुर्धर अर्जुन पर आक्रमण कर दिया था। दुर्योधन इस अवसर को छोड़ना नहीं चाहता था। जाने पितामह फिर कभी ऐसा उग्र रूप धारण करें, न करें। इसलिए कुछ ऐसा हो कि अर्जुन आज युद्ध से जीवित लौटकर न जा सके।··· उधर सात्यकि ने देखा कि राजकुमार अर्जुन घिर गए हैं। सारे महारथी एक साथ ही अकेले अर्जुन से भिड़ गए हैं। न किसी को धर्म का विचार है, न युद्ध-संहिता का।··· सात्यकि अपना रथ दौड़ाते आए और धनंजय तथा कौरवों के मध्य अड़ गए। उससे कौरवों का आघात कुछ बाधित हुआ। धनंजय की सहायता भी हुई किंतु भीष्म की प्रचंडता में कोई विशेष अंतर नहीं आया। उनके प्रहारों के सामने पांडव सेना ही नहीं, पांडवों के अच्छे-अच्छे योद्धा असहाय हो रहे थे। और कुछ नहीं सूझता था तो रणभूमि को त्याग पलायन कर रहे थे।··· और अकस्मात् ही श्रीकृष्ण पितामह भीष्म से भी अधिक प्रचंड हो उठे।··· वे सात्यकि से संबोधित हुए, 'युयुधान ! जो भाग रहे हैं, भाग जाएँ। जो खड़े हैं, वे भी चले जाएँ। किसी की सहायता नहीं चाहिए मुझे। मैं अभी सहायकों सहित भीष्म और द्रोण को मार गिराता हूँ।' श्रीकृष्ण ने पार्थ की ओर देखा, 'अपने सम्मुख पितामह को खड़े देखकर अर्जुन सहज कोमलता से युद्ध कर रहा है और भीष्म प्रचंड होते जा रहे हैं। अर्जुन को न अपनी सेना प्रिय है, न अपने भाई। उसे तो अपने गुरु और पितामह ही प्रिय हैं। किंतु मुझे केवल धर्म प्रिय है। मैं अधर्म को विजयी होने नहीं दूँगा।' और···" दूत ने चुप होकर अपने सम्मुख बैठी व्यग्र श्रोताओं का जैसे निरीक्षण किया, "और श्रीकृष्ण ने सचमुच ही अपना सुदर्शन चक्र प्रकट कर दिया। उसे धारण किया। सुदर्शन की नाभि अत्यंत सुंदर थी। उसका प्रकाश सूर्य के समान और प्रभाव वज्र के समान था। किनारे

क्षुरों के समान तीक्ष्ण थे। श्रीकृष्ण ने अश्वों की वल्गा छोड़ दी और अपनी तर्जनी पर सुदर्शन को घुमाते हुए रथ से भूमि पर कूद पड़े। वे अपने पैरों की धमक से पृथ्वी को कँपाते हुए भीष्म की ओर वेग से दौड़े।··· रण रुक गया। दोनों ओर की सेनाएं जैसे स्तब्ध खड़ी रह गई।··· और कौरवों की सेना में सहसा हाहाकार मच गया। श्रीकृष्ण से कौन लड़ता ? कौन उन पर प्रहार करता ? दुर्योधन भी अपने स्थान पर चिंतित खड़ा था। जिसने अपनी सभा में आए श्रीकृष्ण को वंदी करने का प्रयत्न किया था, वह भी आज युद्धक्षेत्र में श्रीकृष्ण पर प्रहार नहीं कर सका। दुःशासन तो जैसे किसी सम्मोहन की सी स्थिति में सुदर्शन को ही देखता जा रहा था।"

"और भीष्म ? भीष्म क्या कर रहे थे ?" सुभद्रा ने पूछा।

"भीष्म तनिक भी भयभीत दिखाई नहीं पड़ रहे थे।" दूत ने बताया, "वे घवराए हुए भी नहीं लगे। उन्होंने वहुत सहज भाव से अपना भयंकर धनुष उठाया, उसकी प्रत्यंचा खींची। उनके मन में तनिक भी मोह नहीं था। वे बोले, 'आइए देवेश्वर ! जगन्निवास ! आपको नमस्कार है। सवको शरणदेने वाले लोकनाथ ! आज इस रणभूमि में वलपूर्वक इस उत्तम रथ से मुझे मार गिराइए। आपके हाथों मारा जाऊंगा तो इस लोक में भी मेरा कल्याण होगा और उस लोक में भी। आपके हाथों मरने से तीनों लोकों में मेरा गौरव वढ़ जाएगा।' "

"पर पितामह ने श्रीकृष्ण को नारायण के रूप में प्रणाम क्यों किया ?" वलंधरा ने पूछा, "क्या वे श्रीकृष्ण को नारायण मानते हैं ?"

दूत ने कुछ नहीं कहा। उसने द्रौपदी की ओर देखा, जैसे सहायता के लिए याचना कर रहा हो।

"तुम जानती तो हो वलंधरा !" द्रौपदी ने कहा, "अनेक लोग श्रीकृष्ण को नारायण का अवतार मानते हैं। पितामह भी उन्हीं में से एक हैं। राजसूय यज्ञ के समय भी उन्होंने श्रीकृष्ण की अग्रपूजा का प्रस्ताव रखा था और उनके प्रति पूज्य बुद्धि दिखाई थी।"

"यदि ऐसा ही है तो वे श्रीकृष्ण के विरुद्ध लड़ते क्यों हैं ? उन पर प्रहार क्यों करते हैं ? उनका रुधिर क्यों वहाते हैं ?" वलंधरा का स्वर कुछ और उग्र हो गया, "क्या पितामह भी कोई राक्षस हैं, जो नारायण से युद्ध करना चाहते हैं ?"

"नहीं ! वे राक्षस तो नहीं हैं।" द्रौपदी ने कहा, "पर वे अपने कुछ संकल्पों से वँधे हैं। कहा जाता है कि गंगापुत्र के रूप में जन्म लेने से पूर्व वे एक वसु थे। यह उसी वसु का अहंकार ही प्रतीत होता है, जो उनसे कठोर से कठोर व्रतों का पालन करवाता है। यह उसी वसु का अवशिष्ट अहंकार ही है, जो उनको धर्म के वंधन में वाँध देता है। तपस्या का फल सिद्धि के रूप में होता है तो उसका अहंकार भी होता है।···"

"पर एक भक्त के समान समर्पण कर कोई अपने आराध्य पर वाण का प्रहार

कैसे कर सकता है ?" बलंधरा अब भी अपने प्रश्न पर टिकी हुई थी।

द्रौपदी ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया किंतु कुछ ही निमिषों में बोली, "मैं नहीं जानती कि मेरा मूल्यांकन ठीक है अथवा नहीं, पर मुझे लगता है कि पितामह ने जो सोचा और चाहा था, वह नहीं हो रहा है। युद्ध उनकी पकड़ से बाहर जा रहा है। ऐसे में वे न युद्ध त्याग सकते हैं, न पांडवों का वध कर सकते हैं, न दुर्योधन को पांडवों के हाथों मरते हुए देख सकते हैं। तो क्या समाधान है ? समाधान कोई नहीं है तो एक प्रकार का पलायन ही संभव है, और वह पलायन है उनका शरीर त्याग। वे अपने शरीर त्याग का एक बहाना ढूँढ़ रहे हैं। जब दुर्योधन उनको अधिक कोंचता है, वे श्रीकृष्ण अथवा धनंजय को अधिक से अधिक पीड़ित करते हैं, ताकि उन दोनों में से कोई एक उनका वध कर दे और वे अपने इस द्वंद्व से मुक्त हो सकें। तुमने सुना न, वे कह रहे थे कि श्रीकृष्ण के हाथों जीवन मुक्ति पाकर उनका इस लोक में भी कल्याण ही होगा।…"

"ओह !" अनेक कंठों से निकला।

"जिसका वध नहीं करना है, उसे आहत, घायल, क्षत-विक्षत करने का क्या अर्थ ?" द्रौपदी ने पुनः कहा, "वे धनंजय और श्रीकृष्ण को आहत कर उत्तेजित करते हैं। उकसाते हैं उन्हें कि मुझे मारो। और श्रीकृष्ण कदाचित् उनकी इच्छा पूरी करने ही जा रहे थे।…"

"हाँ माहारानी !" दूत ने घटनाओं का सूत्र पकड़ लिया, "पर तब धनंजय भी रथ से कूद पड़े और श्रीकृष्ण के पीछे भागे। उन्होंने अपनी शक्तिशाली भुजाओं से श्रीकृष्ण की भुजाएँ थाम लीं। उन्होंने श्रीकृष्ण को रोकने का भरसक प्रयत्न किया, किंतु श्रीकृष्ण को रोकना उनके लिए संभव नहीं था। वे उन्हें रोकने के स्थान पर स्वयं ही उनके साथ घिसटते जा रहे थे। और तब वीरवर अर्जुन ने श्रीकृष्ण की भुजाएँ छोड़ उनके पैर थाम लिए। दस पगों तक उन्हें खींच कर श्रीकृष्ण रुके और उन्होंने राजकुमार की ओर देखा… 'या तो स्वयं युद्ध करो अथवा अब मुझे ही अपना सामर्थ्य दिखा लेने दो।' "

"तो क्या कहा धनंजय ने ?" सुभद्रा ने पूछा।

"राजकुमार बोले, 'केशव ! अपने क्रोध को संयत कीजिए। मैं अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करूँगा। अपने भाइयों और पुत्रों की शपथ खाकर कहता हूँ कि आपका आदेश होने पर सारे के सारे कौरवों का विनाश कर दूँगा।' श्रीकृष्ण ने रुककर उनकी ओर देखा, 'सच कह रहे हो न ? ऐसा न हो कि अपने गुरु और पितामह के प्रति अपनी गौरव बुद्धि के कारण तुम फिर उनके वध से संकोच कर जाओ।' 'नहीं ! ऐसा नहीं होगा गोविंद !' धनंजय ने उत्तर दिया। श्रीकृष्ण कुछ संतुष्ट होते लगे। उन्होंने सुदर्शन को अपनी तर्जनी से उतार लिया। अपने रथ में लौट आए। हाथ में पांचजन्य लेकर उच्च स्वर में उसे फूँका।"

"यह सुदर्शन चक्र तो उन्हें खांडव दाह के समय देव अग्नि ने दिया था न ?"

सहसा देविका ने पूछा।

"हाँ !" द्रौपदी ने कहा, "क्यों ?"

"करेणुमती कह रही थी कि श्रीकृष्ण ने शतधन्वा को भी सुदर्शन चक्र से ही मारा था। मैंने उससे कहा भी कि तव तक तो उनके पास सुदर्शन चक्र था ही नहीं, तो फिर उससे उन्होंने शतधन्वा का वध कैसे किया ?" देविका ने अपनी समस्या रखी।

"ओह !" द्रौपदी हँसी, "वस्तुतः गोमंत पर्वत पर जरासंध से हुए युद्ध के समय से ही चक्र श्रीकृष्ण का आयुध रहा है किंतु वह सुदर्शन चक्र नहीं था। अनेक लोग यह भी मानते हैं कि उन्हें सुदर्शन चक्र उनके गुरु सांदीपनी ने दिया था। यदि वह सुदर्शन उन्हें गुरु सांदीपनी से मिला था तो द्वारका में भी उनके पास सुदर्शन होना चाहिए, जिस से वे शतधन्वा को मार सकें।··· पर यदि सुदर्शन वह चक्र था, जो उन्हें खांडव दाह के समय देव अग्नि से प्राप्त हुआ था तो शतधन्वा का वध उससे नहीं हुआ था।···"

"इसका अर्थ तो यह हुआ कि श्रीकृष्ण के पास अपने चक्र भी रहे होंगे।" देविका ने कहा, "एक चक्र उन्हें अपने गुरु सांदीपनी से भी प्राप्त हुआ था और एक देव अग्नि से भी। संभवतः देव अग्नि से प्राप्त चक्र ही सुदर्शन था।···"

"कदाचित् यही सत्य है।" द्रौपदी ने कहा।

"फिर क्या हुआ दूत ?" सुभद्रा ने पूछा।

"श्रीकृष्ण के अपने रथ पर वापस लौटते ही जैसे दुर्योधन इत्यादि जाग उठे।" दूत वोला, "दुर्योधन, भीष्म, भूरिश्रवा इत्यादि योद्धा आगे बढ़े और शल्य भी उनसे आ मिले। उन लोगों ने एक साथ मिलकर एक प्रवल प्रहार राजकुमार अर्जुन पर किया।··· और तव वीरवर धनंजय ने अपना महेन्द्रास्त्र प्रकट कर दिया। महेन्द्रास्त्र का आना था कि धनंजय ने वाणों का ऐसा जाल विछा दिया कि कौरवों के रथ ही नहीं गज भी रुक गए। कौरवों को ऐसे स्तब्ध देखकर विराट और द्रुपद भी लौट आए। उनकी सेनाएँ अपने स्थान पर पैर जमाने लगीं। धनंजय उस समय ऐसे प्रवल हो गए थे कि कौरवों के सैनिकों ने जैसे उनके सम्मुख अपना मस्तक ही टेक दिया, जैसे मृतप्राय गज धरती पर गिरने से पहले करता है। उनके यंत्र कट गए, ध्वज गिर गए। दुर्योधन दाँत पीसता रह गया किंतु भीष्म, द्रोण, वाह्लीक इत्यादि योद्धा पीछे हट गए। प्राच्य, सौवीर, क्षुद्रक और मालव क्षत्रिय प्रायः नष्ट हो गए। श्रुतायु, अंवष्ठपति, दुर्मर्षण, चित्रसेन, द्रोण, कृप, जयद्रथ, वाह्लीक, भूरिश्रवा, शल्य, शल और पितामह भीष्म राजकुमार अर्जुन द्वारा पराजित किए गए।··· संध्या हो ही रही थी। कौरव सेनाओं के सम्मुख अपनी रक्षा का और कोई उपाय नहीं था। पितामह ने सेना को स्कंधावार में लौटने का आदेश दिया।" दूत मौन हो गया।

"जव उनका मन होता है आक्रमण कर देते हैं और जव चाहते हैं अपनी सेनाएँ लौटा लेते हैं।" करेणुमती बोली।

"राजकुमार घटोत्कच की इच्छा थी कि कौरवों की सेनाओं को इस प्रकार सुरक्षित

लौटने न दिया जाए।" दूत ने बताया, "वे चाहते थे कि उन्हें मायावी युद्ध करने की अनुमति दी जाए। वे इस लौटती हुई सेना पर पीछे से अपनी गजसेना को लेकर आक्रमण करें और अंधकार का सहारा लेकर इस भयभीत, क्लांत और विखंडित सेना को सर्वथा कुचलकर रख दें।..."

"यही उचित था।" बलंधरा बोली, "घटोत्कच ठीक ही कह रहा था।"

"किंतु धर्मराज ने उसकी अनुमति नहीं दी।" दूत ने बताया।

"धर्म !" द्रौपदी ने कहा और जैसे शून्य में घूरने लगी, "श्रीकृष्ण ने उन्हें समझाया नहीं कि युद्ध में धर्म क्या होता है ?"

"अरे हाँ !" सहसा उत्तरा ने कहा, "मुझे बताया गया है कि श्रीकृष्ण अपना धर्म कभी नहीं छोड़ते।"

"हाँ ! यही बात है।" सुभद्रा ने कहा।

"तो फिर शस्त्र धारण न करने की प्रतिज्ञा कर उन्होंने सुदर्शन चक्र कैसे धारण कर लिया ?"

"उन्होंने युद्ध किया तो नहीं न !" करेणुमती बोली।

"यदि पिताजी उन्हें रोक न लेते तो वे क्या भीष्म पितामह पर प्रहार नहीं करते ?" उत्तरा बोली।

"तुम्हारे पिताजी उन्हें रोक ही लेंगे, यह वे जानते थे।" सुभद्रा ने कृष्ण का बचाव करने का प्रयत्न किया, "यह सब कुछ तो उन्होंने धनंजय को उत्तेजित करने के लिए ही किया।"

"वे नाटक कर रहे थे अथवा वे पिताजी को इतना जानते हैं कि उन्हें पहले ही ज्ञात था कि उनकी इस धमकी का परिणाम क्या होगा ?" उत्तरा ने पुनः कहा, "यदि कहीं पिताजी उन्हें न रोकते अथवा रोक न पाते तो क्या श्रीकृष्ण पितामह पर प्रहार कर, अपनी प्रतिज्ञा भंग कर देते ?"

"मेरा विचार है पुत्री ! कि यह सब भी था," द्रौपदी ने कहा, "और यह भी संभव है कि श्रीकृष्ण को लगा हो कि ऐसे संकल्पों से अधर्म की वृद्धि होती है। अतः उस की रक्षा अब आवश्यक नहीं है। वस्तुतः यह संकल्प उनका अपना तो है नहीं। यह तो एक प्रकार से उनके वचन का अपहरण ही है। वैसे उनके मन में क्या था, यह तो वे ही जानें। जब लौट कर आएँगे तो उनसे पूछ लेना।"

"अच्छा मुझे यह बताओ दूत ! कि हमें अनेक बार बताया जाता है कि घटोत्कच अथवा कोई व्यक्ति बहुत वीर है।" करेणुमती ने सहसा ही चर्चा की धारा दूसरी ओर मोड़ दी, "किंतु जब अपनी अथवा विपक्ष की सेनाओं के हारने का वर्णन करते हो तो कभी नहीं बताते कि उस समय वह वीर पुरुष कहाँ था। जब दुर्योधन की सेना भागती है तो भीष्म और द्रोण कहां होते हैं और जब पांडवों की सेना पिट रही होती है तो वीर धनंजय, मध्यम पांडव अथवा घटोत्कच कहाँ होते हैं ?"

"महारानी ! ऐसा तो अनेक वार हो जाता है कि किसी दुर्द्धर्ष योद्धा को किसी एक व्यूह में घेर अथवा रोक लिया जाता है। सारे योद्धा एक ही स्थान पर तो लड़ते नहीं। युद्ध चाहे एक हो किंतु व्यूह अनेक होते हैं। प्रत्येक योद्धा के आस-पास एक युद्ध चल रहा होता है। इसलिए प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक योद्धा तो उपस्थित हो नहीं सकता।" दूत वोला, "फिर यह भी संभव है कि अपने घावों अथवा श्रम के कारण, अपने सारथि की असमर्थता अथवा अपने अश्वों की क्लांति के कारण कोई योद्धा किसी समय उतना प्रभावशाली नहीं हो पाता और किसी समय इसी की विपरीत परिस्थितियों के कारण वह अत्यंत भयंकर हो उठता है। यह भी संभव है कि कोई योद्धा किसी समय अपने क्षतों के कारण अक्षम होकर युद्ध से अनुपस्थित हो जाए और किसी दिन के युद्ध में उसकी किसी प्रकार की चर्चा ही न हो। आप देखेंगी कि किसी दिन तो युद्ध में जय का सारा श्रेय राजकुमार अर्जुन का होता है। किसी दिन मध्यम पांडव ही मध्यम पांडव होते हैं। कभी-कभी सात्यकि युयुधान इतने प्रवल हो उठते हैं कि कौरव उन्हें सँभाल ही नहीं पाते। किसी दिन धृष्टद्युम्न ही एक मात्र योद्धा के रूप में दिखाई पड़ते हैं। वैसे मेरा अनुमान है कि इन सिद्ध योद्धाओं के साथ-साथ सव से छोटे राजकुमार अभिमन्यु तथा भीमपुत्र घटोत्कच की वीरता, क्षमता तथा युद्ध कौशल से दुर्योधन और उसके मित्र अत्यंत भयभीत हैं। इसका अर्थ कहीं भी यह नहीं है कि अन्य राजकुमार युद्ध में अपना कौशल नहीं दिखा रहे।··· आप मेरी वात समझ रही हैं न ?"

"अभिमन्यु का कोई गुण वता सकते हो दूत ?" द्रौपदी ने कुछ वक्र दृष्टि से उत्तरा की ओर देखा।

"हाँ महारानी ! उनमें अद्भुत साहस है। वे आचार्य द्रोण और पितामह भीष्म से टकराने में भी संकोच नहीं करते।" दूत ने कहा, "जैसे ही उन्हें सूचना मिलती है कि किसी एक स्थान पर कौरव सेना पांडवों पर भारी पड़ रही है, वहाँ पहुँचने वाले वे प्रथम वीर होते हैं। उनकी वीरता और तेजस्विता की उनके शत्रु भी प्रशंसा करते हैं···"

द्रौपदी ने उत्तरा के मुखमंडल पर गर्व और संकोच के चिह्नों को निहारकर एक प्रकार की तृप्ति का अनुभव किया, "और घटोत्कच ?"

"उन्हें जहाँ खड़ा कर दिया जाए, वहाँ से उन्हें कोई डिगा नहीं सकता। उनमें भी अपने पिता के ही समान कौशल से वल अधिक है।" दूत वोला, "वे युद्ध में उसी प्रकार आनन्द का अनुभव करते हैं, जैसे कोई दानी दान में और कोई कलाकार अपनी कला की साधना में करता है।···"

"अच्छा दूत ! क्या तुम जानते हो कि भैया द्वारा दुर्योधन को दी गई यादवों की नारायणी सेना, क्या कर रही है ?" सुभद्रा ने पूछा।

"महारानी ! दुर्योधन ने उस सेना को अनेक वाहिनियों में विभाजित कर, विभिन्न सेनापतियों की सेवा में नियुक्त कर दिया है।" दूत बोला, "इस युद्ध में न अव कोई

नारायणी सेना है, न यादवी सेना।"

"यह तो नारायणी सेना का भी अपमान है और श्रीकृष्ण का भी।" बलंधरा बोली, "पर उसने ऐसा क्यों किया ?"

"यह तो वह ही जाने, किंतु कहा जाता है कि वह उस सेना से इतना भयभीत था कि वह उसे एक स्वतंत्र, स्वावलंबी सेना के रूप में युद्ध करने की अनुमति देने का साहस नहीं कर सकता था।" दूत बोला, "कुछ लोगों की मान्यता है कि दुर्योधन को अपने प्रति नारायणी सेना की निष्ठा पर विश्वास नहीं था। वह मानता था कि नारायणी सेना के गोपों के मन में श्रीकृष्ण के प्रति जो प्रेम है, उसके कारण वे लोग और किसी के पक्ष से युद्ध कर ही नहीं सकते। पर श्रीकृष्ण से वह सेना लेकर उसने उसे पांडवों के पक्ष से युद्ध करने से रोक दिया था।"

"पर यह भी तो संभव है कि उस बिखरती हुई नारायणी सेना के लोग अपनी-अपनी इच्छा से अपने-अपने प्रिय नायक के पास चले गए हों।" द्रौपदी ने कहा।

"बहुत कुछ ऐसा ही हुआ है महारानी !"

"और दुर्योधन का वह भाई युयुत्सु, जो हमारे पक्ष में आ गया है," देविका ने पूछा, "वह क्या कर रहा है ?"

"राजकुमार युयुत्सु भी युद्ध कर रहे हैं; किंतु अभी तक उनके विषय में कहने के लिए कोई असाधारण बात नहीं है।"

"अंत में एक बात और बताओ दूत !" सुभद्रा ने एक प्रकार की आकस्मिकता के साथ पूछा, "तृतीय पार्थ और भैया कृष्ण के घाव अब कैसे हैं ? कोई गंभीर बात तो नहीं है न ?"

दूत हँसा, "नहीं महारानी ! वे दोनों पूर्णतः सकुशल तथा स्वस्थ हैं। अगले दिन वे युद्ध में इस प्रकार सम्मिलित हुए हैं, जैसे कल कुछ हुआ ही न हो।"

"ठीक है दूत !" द्रौपदी ने कहा, "अब तुम जाकर विश्राम करो। कल प्रातः ही तुम्हें कुरुक्षेत्र लौटना है।"

"जो आज्ञा महारानी !" दूत ने प्रणाम किया और बाहर निकल गया।

41

"एक बात पूछूँ ?"

विदुर मुस्कराए, "क्या बात है, आज एक प्रश्न पूछने के लिए भी अनुमति ली जा रही है।"

"एक धावक युद्ध की कुछ सूचनाएँ लेकर कुंती भाभी के पास आया था।" पारंसवी ने बताया, "कह रहा था कि मध्यम पांडव भीम ने आज बहुत वीरता दिखाई,

वे रथ त्याग अकेले और पदाति ही शत्रुओं से युद्ध करने चल दिए थे।"

"वीरता नहीं, मूर्खता दिखाई।" विदुर कुछ खिन्न स्वर में बोले।

"तो क्या वीरता और मूर्खता में कोई अंतर नहीं है ?"

विदुर ने पारंसवी की ओर देखा : वह पूर्ण गंभीरता से उनसे अपने प्रश्न के उत्तर की अपेक्षा कर रही थी।

वे हँस पड़े, "नहीं ! मूर्खता और वीरता पर्याय नहीं हैं।··· पर परिणाम सोचे बिना अनावश्यक रूप से संकट को आमंत्रित करना, विजय को पराजय में परिणत कर, वीरता को मूर्खता भी सिद्ध कर सकता है।"

"भीम ने क्या किया ?" पारंसवी ने पूछा।

"क्यों ? तुमने धावक की पूरी बात नहीं सुनी ?" विदुर ने पूछा।

"हाँ ! एक प्रकार से तो पूरी बात नहीं ही सुनी और दूसरे, वह तो उसकी प्रशंसा कर रहा था और आप उसे उसकी मूर्खता बता रहे हैं।" पारंसवी ने रुककर विदुर की ओर देखा, "इसका अर्थ है कि जो कुछ वह बता रहा था, आप उससे सहमत नहीं हैं।···"

"यदि धावक उसे भीम की वीरता बता रहा था तो मैं सचमुच उससे सहमत नहीं हूँ।" विदुर बोले, "उसने तो एक प्रकार से स्वयं को मृत्यु के हाथों में सौंप ही दिया था।"

"कैसे ?"

"उसके लिए तो आज के युद्ध का सारा विवरण ही सुनाना पड़ेगा।" विदुर ने कुछ क्लांत से स्वर में कहा।

"तो सुनाइए।"

"नहीं ! शायद भाभी को वह सब सुनकर अच्छा न लगे।" विदुर बोले।

"भाभी बहुत जीवटवाली महिला हैं। वे अपने जीवन में हम दोनों की तुलना में कहीं अधिक प्रतिकूलता सहन कर चुकी हैं।" पारंसवी ने इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई। आस-पास किसी को न देखकर बोली, "पर क्या यह संभव नहीं है कि आप भाभी की अनुपस्थिति में ही मुझे आज के युद्ध का विवरण सुना दें ?"

"मैं तो तुम्हारे पहले प्रश्न से ही समझ रहा था कि तुम मुझे घेरने का प्रयत्न कर रही हो।" विदुर हँस पड़े, "पर मैं कुछ थका हुआ हूँ। संक्षेप में ही कहूँगा।"

"हाँ ! संक्षेप में ही सही।"

"अच्छा।"

द्रुपद आचार्य द्रोण से उलझे हुए थे। धृष्टद्युम्न पिता की सहायता के लिए, उनकी ओर बढ़ ही रहा था कि उसकी दृष्टि रणभूमि में खड़े शकुनि पर पड़ी।··· राजनीति और द्यूत के पाँसे फेंकनेवाला शकुनि भी युद्ध कर रहा था।··· धृष्टद्युम्न को लगा कि अब

न तो वह व्यूह की चिंता कर सकता है, न कहीं से और सहायता आने अथवा कहीं सहायता पहुँचाने की। उसे तो बस शकुनि को पाठ पढ़ाना है। यही वह विच्छू है, जो आज तक बार-बार पांडवों को डसता रहा है। यही है, जिसने द्यूत में सब कुछ हार जाने पर भी, धर्मराज को यह कहकर उठने नहीं दिया कि अभी तो पांचाली बची हुई है। इसी ने द्रौपदी को दाँव पर लगवाया, इसी ने उसे दासी बनाया, इसी ने उसे अपमानित करवाया।··· इसे मारे बिना धृष्टद्युम्न की न तो शपथ पूरी हो सकती है और न ही उसके मन की धधकती ज्वाला शांत हो सकती है।··· आज शकुनि सामने पड़ गया था, नहीं तो सर्प के समान जाने कहाँ अपनी बिल में छिपा रहता था। पाँसे फेंकनेवाले इस विषधर को आज धृष्टद्युम्न अपने बाणों का विष भी चटा ही दे।···

धृष्टद्युम्न ने अपना रथ मोड़ लिया।

छोटे-छोटे दो एक टीलों को पारकर वह प्रायः उस क्षेत्र में पहुँच गया था, जो अभी थोड़ी देर पहले तक कौरव सेना से आक्रांत था, पर इस समय कैसा तो खाली-खाली लग रहा था। वहाँ इस समय किसी की सेना नहीं थी, पर सेना वहाँ रही थी, इस के कुछ प्रमाण अवश्य थे।··· टूटे हुए रथ और आहत तथा मरे हुए गज, स्पष्ट बता रहे थे कि थोड़ी ही देर पहले वहां कोई भीषण संघर्ष हुआ था।··· और तभी धृष्टद्युम्न ने देखा कि एक विराट रथ एक ओर निष्क्रिय सा खड़ा था। उस में सारथि तो था किंतु योद्धा नहीं था।··· धृष्टद्युम्न ने प्रायः एक ही समय में रथ और उसके सारथि को पहचाना।··· यह तो मध्यम पांडव भीम का रथ था और विशोक उनका ही तो प्रिय सारथि था··· कैसा अवसाद में डूबा-सा बैठा था, जैसे उसके शरीर में प्राण ही न हों।··· धृष्टद्युम्न का हृदय स्तब्ध रह गया··· भीम कहाँ गए ? सूने रथ का क्या अर्थ ?... यहाँ कुछ देर पहले तक कौरवों की सेना वर्तमान थी और यहां युद्ध भी हुआ था··· अब यहाँ रथ ही था भीम नहीं थे··· कहा गए भीम ? कहीं कुछ अघटनीय तो नहीं घट गया ?··· धृष्टद्युम्न को लगा कि उसका हृदय भीतर ही भीतर कहीं डूबता जा रहा था। उसकी चेतना ही जैसे लुप्त हो रही थी।··· उसने स्वयं को सभाला ... ईस प्रकार साहस छोड़ने से तो काम नहीं चलेगा। बहुत संभव है कि भीम अभी जीवित हों··· और यदि वस्तुतः अघटनीय घटित हो ही चुका है तो भी न अभी युद्ध समाप्त हुआ है और न धृष्टद्युम्न का जीवन ! पांडवों के प्रधान सेनापति को इस प्रकार की चंचलता शोभा नहीं देती···

वह विशोक के निकट चला आया। विशोक अत्यंत व्याकुल दिखाई पड़ रहा था। धृष्टद्युम्न को सम्मुख खड़ा देख, उसकी चेतना कुछ लौटी, किंतु उसकी आँखों का श्मशान अब भी वहीं वर्तमान था।···

"मध्यम पांडव कहाँ हैं ?" धृष्टद्युम्न ने अधैर्यपूर्वक पूछा।

"पता नहीं।" विशोक का स्वर पर्याप्त विचलित था, "मुझे यहाँ प्रतीक्षा करने के लिए कह, रथ से उतरकर, पदाति ही कौरवों के इस सैन्य-सागर में उतर गए।"

"पर क्यों ?" धृष्टद्युम्न का स्वर व्यग्रता लिए हुए था, "अकारण ही तो उन्होंने रथ नहीं त्यागा होगा। शत्रुओं से अपनी रक्षा करनेवाले रथ को त्याग कर कौरव सेना में घुसने का तो अर्थ है कि व्यक्ति अपना कवच उतार फेंके, अपना खड्ग शत्रु के चरणों में रख दे और फिर उससे युद्ध करने का प्रयत्न करे।··· क्यों त्यागा उन्होंने रथ ?"

"मैं क्या जानूँ।" विशोक बोला, "मुझसे तो उन्होंने इतना ही कहा कि तुम दो घड़ी अश्वों को रोककर यहीं मेरी प्रतीक्षा करो, तब तक मैं इन लोगों का वध कर लूँ, जो मेरी हत्या करने को उद्यत हैं।"

"कौन लोग थे ?"

"महाराज धृतराष्ट्र के अनेक पुत्र थे।" विशोक बोला, "दुर्योधन के भाई।"

"भीमसेन को उनके साथ युद्ध करते देखा तुमने ?"

"वे लोग अपना व्यूह बनाए हुए थे। उन्होंने मध्यम पांडव पर कुछ प्रहार भी किए थे। संभवतः वे स्वामी के चारों ओर अपने रथों से किसी प्रकार की घेराबंदी करने का प्रयत्न कर रहे थे।" विशोक ने कहा, "पर तब तक स्वामी स्वयं ही रथ त्याग कर उनकी ओर चल दिए। स्वामी उनके निकट पहुँचे तो मुझे लगा कि कौरव उनसे युद्ध करने के स्थान पर उन्हें घेरने का ही अधिक प्रयत्न कर रहे हैं। यह भी संभव है कि वे अपनी सेना से और सहायता पाने के लिए, अपनी स्थिति और प्रबल करने के लिए, पीछे हट गए हों। संभवतः वे चाहते थे कि मध्यम पांडव उनकी सेना में गहरे उतर जाएँ और वे उन्हें घेरकर जीवित पकड़ अपना बंदी बना लें।···"

"तो भी भीमसेन उनके पीछे चले गए ? और सब कुछ जानते और समझते हुए भी तुमने उन्हें जाने दिया ?" धृष्टद्युम्न ने चिंतित होकर पूछा।

"सारथि रथी को नहीं रोक सकता सेनापति ! वे योद्धा हैं, जैसे चाहेंगे, युद्ध करेंगे। मैं तो उनकी आज्ञा के अधीन चलनेवाली काष्ठ-पुतलिका हूँ।" विशोक ने कहा, "वैसे शत्रुओं की क्षति किए बिना स्वामी उनके पीछे नहीं गए। जब मध्यम पांडव ने आक्रोशपूर्वक, रौद्र रूप धरे हुए कौरव सेना रूपी सागर में प्रवेश किया तो सचमुच वे उनको मथ ही रहे थे। उनकी गदा के प्रहार से कौरवों के विशालकाय गजों के कुंभस्थल फट गए, पृष्ठ भाग विदीर्ण हो गए, गजारोही धराशायी हो गए, रथ टूट गए, अश्वारोही नष्ट हो गए।··· वह तो मैं सब कुछ देखते हुए भी समझ नहीं पा रहा था कि स्वामी स्वयं अपने लिए मार्ग बनाते जा रहे थे अथवा कौरव सेना ही स्वेच्छा से उनके लिए मार्ग छोड़ती जा रही थी।···"

धृष्टद्युम्न के लिए और रुकना संभव नहीं था। उसका मन निरंतर कहता जा रहा था कि उसके प्रिय भीमसेन कौरवों के छल में फँस गए हैं। कौरवों ने उन्हें जान बूझ कर लुब्ध किया है और एक प्रकार से उन्हें घेरकर अपनी इच्छित दिशा में ले गए हैं।··· यदि भीम यमराज को सौंप नहीं दिए गए हैं तो कौरवों के बंदी हो गए हैं।··· और यह तो धृष्टद्युम्न कल्पना कर ही सकता था कि यदि भीम कभी दुर्योधन के बंदी

हो गए तो वह उनके साथ कैसा व्यवहार करेगा···

धृष्टद्युम्न का मन जैसे उच्च स्वर में भीम के लिए रोना चाहता था।··· पांडवों में और था ही कौन, जिससे यह अपेक्षा की जा सकती कि वह कौरवों से युद्ध कर अपना राज्य और अपना सम्मान लौटाएगा ? अकेले भीमसेन ही तो। यदि भीम ही न रहे तो न पांचाल द्रोण से अपना प्रतिशोध ले पाएँगे, न पांडव कौरवों से। अर्जुन योद्धा थे, संसार के श्रेष्ठ धनुर्धर थे, किंतु वे अपने शत्रुओं के वक्ष का रक्त पीने की इच्छा तो नहीं रखते थे। भीम ही नहीं रहेंगे तो द्रौपदी का अपमान करनेवाले दुर्योधन की जंघा कौन तोड़ेगा ?··· ओह भीम ! तुमने यह कैसा बचपना किया ? स्वेच्छा से रथ त्याग, यह कैसा उन्माद है ?···

धृष्टद्युम्न ने भीम को खोजने के लिए उसी दिशा में जाने का संकल्प किया, जिधर कौरव भीम को ले गए थे।··· युद्धक्षेत्र में वहाँ एक मार्ग सा बन गया लगता था। वह स्थान दूर तक सुनसान ही लग रहा था। युद्ध हो नहीं रहा था, पर युद्ध वहाँ से हो कर निकला था।··· उसके पैरों की धमक सुनाई नहीं पड़ रही थी किंतु उसके पद-चिह्न अब भी दिखाई पड़ रहे थे। कोई अत्यधिक बलशाली झंझावात इस मार्ग से अभी-अभी अपने पैरों चल कर गया था और बड़े-बड़े विराट वृक्षों को उनकी जड़ों समेत उखाड़कर फेंक गया था।··· अथवा कोई प्रबल भूचाल आया था और सारे नगर को भूमिसात कर गया था।···

धृष्टद्युम्न आगे बढ़ा तो उसे रण का कोलाहल ही सुनाई नहीं पड़ने लगा, युद्ध के प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिलने लगे।··· और तब उसने देखा कि अकेले पदाति भीम केवल एक गदा लिए हुए कौरवों के मध्य खड़े वस्तुतः उनकी सेना को मथ रहे थे। कौरव सेना सागर की लहरों के समान बार-बार लौटकर भीम रूपी शिला से टकराती थी और फिर कठोर प्रतिरोध पाकर बिखर जाती थी।··· यह सत्य था कि भीम उनका भयंकर संहार कर रहे थे, किंतु यह भी उतना ही सत्य था कि कौरवों के अनेक अस्त्र ज्ञाता इस समय भीम को घेर चुके थे और भीम का बल उनको रोकने के लिए पर्याप्त नहीं था। आक्रमणकारियों की संख्या बहुत अधिक थी और वे विभिन्न प्रकार के अस्त्रों से सज्जित थे। वे भीम के निकट आनेवाले नहीं थे। दूर से ही अपने अस्त्रों का प्रहार करनेवाले थे, इसलिए न भीम का बल कुछ कर सकता था, न भीम की भारी गदा।···

धृष्टद्युम्न ने अपना रथ भीम तथा कौरव सेना के मध्य अड़ा दिया। भीम पदाति थे और वीरता, कौशल, शस्त्र दक्षता—इन सब से अधिक वे क्रोध का विष ही उगल रहे थे। उन पर इतने अस्त्रों से प्रहार किया गया था कि उनका शरीर पूर्णतः क्षत-विक्षत हो चुका था; किंतु न उनकी भुजाएँ रुक रही थीं, न कौरवों का संहार। भीम उस समय प्रलयकालीन यमराज की प्रतिमूर्ति लग रहे थे।···

धृष्टद्युम्न ने भीम को अपने रथ पर खींच लिया। रथ की ओट हो गई थी, इसलिए कौरवों के अस्त्र उन तक पहुँच नहीं रहे थे। धृष्टद्युम्न ने भीम के शरीर में धँसे बाणों

को खींच कर वाहर निकाला और उसे अपने वक्ष से लगाकर कुछ शांत किया।···

यद्यपि भीम ने इस समय तक अत्यंत भयंकर कर्म किया था और कौरवों को पर्याप्त हानि पहुँचाई थी, किंतु इस समय वे अपने क्रोध के मद में यह नहीं देख पा रहे थे कि उनके शरीर से निरंतर रक्त प्रवाहित हो रहा था। यदि तत्काल घावों का उपचार नहीं हुआ तो भीम रक्त के अभाव में ही भूमि पर गिरकर प्राण त्याग देंगे···

धृष्टद्युम्न ने सारथि को अपना रथ इस क्षेत्र से वाहर निकाल, पांडव सेना के निकट ले चलने का संकेत किया।

दुर्योधन ने यह सव देखा।··· जिस भीम को वह अपना बंदी मान वैठा था, उसे उसके हाथों से छीनकर धृष्टद्युम्न जीवित लिए जा रहा था।··· यह भीम नहीं जा रहा था, दुर्योधन के हाथों से हस्तिनापुर का राज्य निकला जा रहा था।··· यदि इस समय भीम सुरक्षित निकल गया तो इतना संकट उठाकर, अपने कितने ही सैनिकों की बलि देकर, भीम के शरीर पर लगाए गए इतने सारे घाव, कौरवों के किस काम आएँगे। वे घाव तो उपचार से थोड़ी ही देर में भर जाएँगे। यमराज के उपकरण सरीखी अपनी इस भयंकर गदा के साथ भीम कल फिर इस युद्ध में आ खड़ा होगा।··· कौरवों का यह सारा परिश्रम व्यर्थ चला जाएगा। भाग्य से मिला यह अवसर पुनः लौटकर कभी नहीं आएगा।··· आवश्यक तो नहीं कि भीम अपना रथ त्याग, अकेले ही पैदल कौरव सेना में घुस आने की मूर्खता दूसरी वार करे।···

उसने अपने भाइयों की ओर देखा, "यह दुरात्मा द्रुपदपुत्र आकर भीम से मिल ही नहीं गया, उसे जीवित लेकर लौट भी रहा है। इस समय जितनी सेना उपलब्ध है, सारी की सारी लेकर इन पर आक्रमण करो। आचार्य द्रोण को खोजो। वे जहाँ कहीं हैं, उन्हें यहाँ आने के लिए प्रेरित करो··· और पितामह को यहाँ से दूर रखो। प्रयत्न करो कि इस एक झटके में हम भीम ही नहीं धृष्टद्युम्न का भी वध कर दें। फिर यह युद्ध हमारा चाकर हो जाएगा।··· आज इन दोनों में से कोई भी जीवित नहीं वचना चाहिए।···"

धृष्टद्युम्न भी दुर्योधन की योजना को समझ रहा था।··· इस प्रकार के आक्रमण को, जिसमें सारी की सारी सेना ने एक महारथी को घेर लिया हो, एक अकेले अर्जुन ही झेल सकते थे और ऐसे अवरोधों से बाहर निकल सकते थे।··· यह काम न तो भीम के वश का था और न धृष्टद्युम्न के। भीम अपने शरीर पर लगे घावों के कारण वहुत प्रवल भी नहीं रह गए थे। और धृष्टद्युम्न को अपनी सीमाओं का ज्ञान था···

उसने मोहनास्त्र उठाकर अपने धनुष पर चढ़ा लिया। इतने कम समय में और कोई अस्त्र मनोवांछित फल नहीं दे सकता था। मोहनास्त्र लंवे समय के लिए प्रभावी भी नहीं था। पर धृष्टद्युम्न को तो बस इतना ही समय चाहिए था कि वह कौरवों के इस व्यूह से सुरक्षित बाहर निकल जाए।··· इतना काम तो मोहनास्त्र कर ही सकता था।···

मोहनास्त्र चला और कौरव सैनिक अचेत हो-हो कर मृतकों के समान गिरने

लगे।··· उनका व्यूह भंग हो गया था। दुर्योधन समझ भी नहीं पाया था कि यह सब क्या हो रहा है और इस स्थिति में वह अपनी सेना को कैसे सँभाले।··· वह देख रहा था कि धृष्टद्युम्न का रथ दूर से दूर होता जा रहा था, उसकी पहुंच से बहुत दूर···

"यह मोहनास्त्र क्या होता है ?" पारंसवी ने पूछा।

"स्पष्ट है कि यह एक ऐसा अस्त्र है, जो बाण के समान धनुप पर रखकर चलाया जाता है और जो किसी भी पदार्थ से टकराकर कुछ ऐसा प्रभाव दिखाता है कि उसके प्रभाव क्षेत्र में आए लोग अचेत हो जाते हैं।" विदुर बोले।

"वह अस्त्र मस्तिष्क को सुला देनेवाला धूम्र छोड़ता है क्या ?" पारंसवी ने पूछा।

"संभव है।" विदुर बोले, "मैं इन शस्त्रास्त्रों के विषय में कोई विशेष ज्ञान नहीं रखता। मैंने कभी उनका अध्ययन भी नहीं किया है।···"

"यह लो। कौरवों के राजवंश में उत्पन्न होनेवाले और उनके महामंत्री के रूप में अपना जीवन बितानेवाले बुद्धिमान विदुर यह भी नहीं जानते कि मोहनास्त्र क्या है।" पारंसवी उपहास के स्वर में बोली।

"तो इसमें आश्चर्य क्या है ?"

"क्यों ? शस्त्रों का सामान्य ज्ञान तो गुरु ने आपको भी दिया ही होगा।"

"नहीं ! मैंने शस्त्रास्त्रों का अध्ययन नहीं किया।" विदुर बोले, "मेरी उनमें कभी रुचि नहीं रही।"

"तो क्या हुआ।" पारंसवी अपनी बात से टली नहीं, "सारा जीवन शस्त्रधारियों के मध्य व्यतीत कर दिया और अस्त्रों संबंधी सामान्य ज्ञान भी नहीं है आपको ?"

"कितने लोगों को उस शरीर का ज्ञान है, जिसमें हमारे प्राण रहते हैं, और जिस शरीर से हम अपना अस्तित्व मानते हैं ? कितने लोगों को अपनी आत्मा का ज्ञान है ? तुम कितना जानती हो अपने इस शरीर अपनी इस आत्मा के विपय में ?"

"ओह हो ! आप तो गंभीर हो गए।" पारंसवी को लगा कि उसकी उक्ति अपने गंतव्य से कुछ आगे ही निकल गई थी। उसने अपनी बात सँभाली, "वस्तुतः मेरे मन में एक प्रश्न यह है कि यदि ऐसे शस्त्रास्त्र हैं, जो दूर-दूर से ही शत्रु की सेना को अचेत कर सकते हैं अथवा उसका नाश कर सकते हैं, तो फिर लोग एक क्षेत्र में आमने-सामने एकत्रित होकर खड्ग और गदा जैसे आदिम शस्त्रों से क्यों लड़ते हैं, जैसे उनके पास कोई परिष्कृत शस्त्र ही न हो। वे अपने स्कंधावार से ही ऐसे अस्त्रों का प्रहार कर अपने शत्रु की सेना को नष्ट क्यों नहीं कर देते ?"

विदुर कुछ सहज हुए, "प्रश्न तो उचित ही है। वस्तुतः साधारण सैनिक तो खड्ग, शूल, शक्ति और गदा से ही लड़ता है। कुछ ही योद्धा हैं, जिन्होंने अस्त्रों, दिव्यास्त्रों और देवास्त्रों का ज्ञान पाया है। अस्त्रों का ज्ञान एक बात है, उनके संचालन की विधि

का ज्ञान दूसरी बात है। फिर संचालन विधि के साथ संचालन का अभ्यास। बहुत कम ऐसे योद्धा हैं, जिन्होंने उनके संचालन में दक्षता प्राप्त की है।··· समझ रही हो न ?" विदुर ने पारंसवी की ओर देखा, "पहली बात तो यह है कि योद्धा के शरीर में क्षमता हो, फिर उसके मन में साहस हो। उसे शस्त्रों का ज्ञान हो, उनके संचालन की विधि आती हो, संचालन का अभ्यास हो, उसमें दक्षता प्राप्त हो··· कोई एक बात है क्या ?"

"ऐसे योद्धा संख्या में बहुत कम हैं क्या ?"

"कम हैं, तभी तो उनकी इतनी माँग है।" विदुर बोले, "इसीलिए तो जिसके पास जिस अस्त्र का ज्ञान है, वह उसे अपने वक्ष में ही छुपाए रखता है और बहुत आवश्यक होने पर अपने किसी प्रिय व्यक्ति के सम्मुख ही उसे प्रकट करता है। एक-एक अस्त्र के ज्ञान के लिए कितने-कितने गुरुओं की सेवा करनी पड़ती है। धन्य हैं वे ऋषि, जो किसी भी क्षेत्र के अपने ज्ञान को ग्रंथों में अंकित कर देते हैं ताकि भविष्य में आने वाले अजाने लोग भी उनका लाभ उठा सकें। उनके मन में किसी प्रकार का कोई स्वार्थ नहीं है। इसलिए कठिन तपस्या से प्राप्त अपने ज्ञान का वे कोई मूल्य नहीं माँगते।···"

"मैं यह क्यों न मान लूँ कि ऐसे शस्त्रास्त्रों का कहीं कोई अस्तित्व नहीं है, बस कथाकारों ने अपनी कथा का आकर्षण बढ़ाने के लिए उनकी कल्पना भर कर ली है। उन्होंने उसे स्वयं भी कभी देखा नहीं है।" पारंसवी ने कहा।

"चाहो तो ऐसा भी मान सकती हो। मैं न तो कथाकारों को कल्पना करने से रोक सकता हूँ, न तुम्हारी कल्पना को अवरुद्ध कर सकता हूँ।" विदुर मुस्करा रहे थे।

"पर आपकी मान्यता क्या है ?" पारंसवी भी मुस्कराई, "आपकी मान्यता के विषय में पूछ रही हूँ, आपका ज्ञान नहीं जांच रही कि कहीं कह दें कि आपको भी इन शस्त्रास्त्रों का ज्ञान नहीं है। कोई ज्ञानी से तो विवाद भी करे, अपना अज्ञान स्वीकार कर लेनेवाले को कोई क्या कहे।"

विदुर मौन हो गए, किंतु पारंसवी के मन में अब भी कुछ जिज्ञासाएँ थीं।

"आपको यह कैसे ज्ञात हुआ कि भीम को उस अवस्था में देखकर धृष्टद्युम्न के मन में क्या विचार आए ?"

"मैं तुम्हें युद्ध का विवरण नहीं सुना रहा। मैं तो उस विवरण को सुनकर अपने मन पर अंकित छवि तुम्हारे सामने साक्षात् कर रहा हूँ। इसलिए योद्धाओं के मन की बात भी कह रहा हूँ।" विदुर कुछ रुके और फिर बोले, "अब आगे की घटनाएँ सुननी हैं अथवा नहीं ?"

"ओह ! अभी कुछ शेष है क्या ?" पारंसवी बोली, "मैंने समझा कि युद्ध समाप्त हो गया।"

"एक योद्धा के हट जाने से युद्ध समाप्त हो जाता है क्या ?"

"अच्छा, अच्छा, सुनाइए।" अपनी चिबुक के नीचे हथेली रखकर पारंसवी सुनने की मुद्रा में दत्तचित होकर बैठ गई।

द्रोण को धृष्टद्युम्न संबंधी सूचनाएँ मिल रही थीं। धृष्टद्युम्न और भीम का परस्पर मिल जाना उन्हें कौरव सेना के लिए बहुत घातक लग रहा था।··· उनके मन में अकस्मात् ही बहुत जल्दी मच गई। उन्होंने एक के पश्चात् एक बाण मारकर द्रुपद को निष्ठुरता से आहत कर दिया। वे कोई घातक अस्त्र मारकर द्रुपद का वध ही कर देना चाहते थे कि द्रुपद को अपनी असहायता का बोध हो गया। उनको कहीं से कोई सहायता मिलती दिखाई नहीं दे रही थी और द्रोण को वे अकेले संभाल नहीं सकते थे।··· वे समझ गए थे कि उनसे द्रोण नहीं लड़ रहे थे, द्रोण का पुरातन संचित आक्रोश लड़ रहा था, या फिर अहिछत्र का राज्य छिन जाने का भय लड़ रहा था।··· द्रोण इस समय बहुत हिंस्र हो रहे थे। उनके सामने द्रुपद टिक नहीं पाएँगे। यदि टिकने का प्रयत्न करेंगे तो उनके प्राण जाएँगे।···

द्रुपद ने रथ अपने लिए सुरक्षित क्षेत्र की ओर मोड़ लिया और द्रोण से दूर चले गए।···

द्रुपद के हटते ही द्रोण ने विजय के उन्माद में जोर से अपना शंख फूँका···

द्रुपद सामने थे नहीं और धृष्टद्युम्न भीम के साथ मिलकर कौरवों का नाश कर रहा था। तो फिर द्रोण को किसी और से युद्ध करने की आवश्यकता ही क्या थी। सबसे पहले उन्हें दुर्योधन की ही रक्षा करनी थी।··· वैसे भी शंख फूंकने से अधिक सुख पांचालों का रक्त बहाने में था। दुर्योधन कहीं भीम और धृष्टद्युम्न के हत्थे चढ़ गया तो द्रोण को इस प्रकार पांचालों का रक्त बहाने का अवसर कभी नहीं मिलेगा।···

दुर्योधन की सेनावाले क्षेत्र की ओर बढ़ते ही एक धावक ने आकर उन्हें सूचना दी, "आचार्य ! पांचाल राजकुमार धृष्टद्युम्न ने किसी ऐसे अस्त्र का प्रयोग किया है, जिस से राजा दुर्योधन के सैनिक अपनी चेतना खोकर मूर्च्छित हो गए हैं।"

द्रोण की आँखों में जैसे रक्त उतर आया : धृष्टद्युम्न उनकी अपेक्षा से अधिक घातक सिद्ध हो रहा था। उसकी कोई उचित व्यवस्था न की गई तो वह द्रोण के सारे स्वप्न छिन्न-भिन्न कर देगा।···

तभी उन्होंने देखा : भीम और धृष्टद्युम्न युद्ध में ऐसे निर्भय विचर रहे थे, जैसे कोई माली अपने उद्यान में विचरता है और जिस पौधे को अनावश्यक मानता है, उसे उखाड़कर फेंक देता है।··· दुर्योधन और उसके भाइयों को अचेत कर उन्हें जैसे किसी का कोई भय ही नहीं रह गया था।··· पर दुर्योधन को अचेत कर, इन्होंने उसका वध क्यों नहीं किया ?··· क्या यह मान लिया कि दुर्योधन की मृत्यु हो गई है, अथवा अचेत शत्रु पर प्रहार करना उन्होंने नीति विरुद्ध-समझा ? इतने वीर है ये लोग ? या भीम को आहत मान, धृष्टद्युम्न ने उसे कौरव सेना से दूर रखना ही उचित माना है ?··· पर धृष्टद्युम्न ने इतने घायल भीम को उपचार के लिए वैद्य के पास क्यों नहीं भेजा ? क्या भीम इस अवस्था में भी युद्धक्षेत्र छोड़ना नहीं चाहता ? क्या वह अपने क्षतों का उपचार

भी संध्या समय युद्ध वंद हो जाने पर ही करवाएगा ?…

भीम और धृष्टद्युम्न के मन की वात द्रोण समझ नहीं पाए।

"आप समझ पाए क्या ?" पारंसवी ने पूछा।

"नहीं ! मैं भी अनुमान ही कर सकता हूँ।" विदुर वोले, "वस्तुतः किसी और के मन की वात समझने के लिए वे भाव हमारे मन में भी होने ही चाहिए।… पर भीम और धृष्टद्युम्न का शौर्य मेरे मन में नहीं है, इसलिए उन को न मैं समझ सकता हूँ न द्रोण।"

"द्रोण क्यों नहीं ?"

"क्योंकि आदर्शवादी, वलिदानी वीरता उनके मन में भी नहीं है।" विदुर वोले, "अव तुम युद्धकथा सुन लो, गुत्थियाँ फिर सुलझा लेना।…"

द्रोण ने प्रज्ञास्त्र का प्रयोग किया। लगा युद्धक्षेत्र की कुहेलिका छँट गई और दुर्योधन और उसके भाई उठ वैठे। दुर्योधन ने आँखें खोलते ही भीम को खोजना आरंभ किया।… यदि वह तत्काल भीम को पा ले तो वह उसके व्रण भरने से पहले ही उसका इतना रक्त और वहा देगा कि भीम सारे वैद्यों और औपधियों के क्षमताओं से वाहर चला जाए।…

उधर युधिष्ठिर को भी सारी सूचनाएँ मिल रही थीं। वे चाहते थे कि भीम पहले उपचार और विश्राम की ओर ध्यान दे और थोड़ी देर के लिए युद्ध को भूल जाए, पर वे यह भी जानते थे कि अपने पैरों पर खड़े होने की क्षमता रहते, भीम युद्धक्षेत्र से वाहर नहीं जाएगा।…

युधिष्ठिर ने पाँचों द्रौपदेयों और अभिमन्यु को धृष्टकेतु तथा पाँचों कैकेय राजकुमारों के साथ उनकी खोज में भेजा। उन्हें अधिक नहीं भटकना पड़ा। जैसे सारी नदियाँ समुद्र की ओर दौड़ती हैं, वैसे ही सारी वाहिनियां उस ओर दौड़ रही थीं, जहाँ भीम, धृष्टद्युम्न, दुर्योधन तथा द्रोण थे।… धृष्टकेतु ने देखा : भीम अपने रथ पर आ गया था और स्वतंत्र रूप से युद्ध कर रहा था, जैसे उसको कोई घाव लगा ही न हो। वह अपने साथियों सहित उनके निकट पहुँच ही नहीं गया, सूचीमुख व्यूह वनाकर युद्ध भी करने लगा।

धृष्टद्युम्न ने द्रोण को देखा तो धृतराष्ट्रपुत्रों से लड़ने का मोह छोड़ द्रोण की ओर पलटा। द्रोण अभी-अभी द्रुपद को छोड़कर आए थे, धृष्टद्युम्न को सामने देखा तो अपना सारा क्रोध उसी पर उँड़ेल दिया। उन्होंने उसका धनुप काट दिया और उसके रथ के चारों अश्वों को मार दिया। यदि धृष्टद्युम्न अपने रथ को न छोड़ता तो द्रोण उसको उसका काल ही वना देते। धृष्टद्युम्न अपना रथ छोड़कर अभिमन्यु के विशाल रथ पर आरूढ़ हो गया। पर द्रोण का आक्रमण इतना प्रवल था कि पांडवों का व्यूह भंग हो

गया। उनकी सेना में भगदड़ मच गई। भीम अपनी सेना को रोकने का प्रयत्न कर रहा था कि उसने देखा, दुर्योधन उसका मार्ग छेक कर खड़ा था। दुर्योधन ने उस पर वाण तो चलाए किंतु भीम को लगा कि वह उसका वध करने के स्थान पर उसे जीवित ही वंदी करने के प्रयत्न में है। भीम क्रोध से जैसे जल ही तो उठा। दुर्योधन उसे कोई वन्य पशु समझता है जो जीवित पकड़ने का प्रयत्न कर रहा है।··· भीम ने सारा युद्ध भुला कर अपना रथ दुर्योधन की ओर मोड़ा और द्वैरथ युद्ध की मुद्रा में आ गया। दोनों ओर से वाण चले, भीम ने दुर्योधन को घायल किया, दुर्योधन ने भीम को।··· पर तव तक अभिमन्यु तथा उसके साथ आए ग्यारह महारथियों ने उन पर आक्रमण कर दिया था। धृतराष्ट्रपुत्रों ने भीम को छोड़ दिया और अभिमन्यु की ओर वढ़ गए। भीम से निवटना उनके लिए कठिन हो रहा था। अभिमन्यु को यदि वे हताहत कर पाए तो भीम और अर्जुन दोनों को ही वे मार्मिक चोट पहुँचा सकेंगे।··· पर भीम ने उन्हें नहीं छोड़ा। दुर्योधन को लग रहा था कि वह भीम और अभिमन्यु के मध्य एक प्रकार से फँस गया है और उसके भाई उसकी सहायता नहीं कर पा रहे हैं। द्रोण धृष्टद्युम्न से ही उलझे हुए हैं। वे देख ही नहीं रहे हैं कि दुर्योधन के लिए भीम और अभिमन्यु कितने घातक सिद्ध हो रहे हैं। वे तो धृष्टद्युम्न को मारकर अपना राज्य सुरक्षित कर लेना चाहते थे। वस्तुतः वे दुर्योधन का युद्ध तो लड़ ही नहीं रहे थे। वे तो अपना ही युद्ध लड़ रहे थे।···

पर तभी भीष्म का रथ वहाँ आ पहुँचा।

अभिमन्यु उत्साहित होकर भीष्म की ओर मुड़ गया और दुर्योधन पुनः भीम का सामना करने के लिए आ खड़ा हुआ। भीम को लगा कि उसकी कोई चिर प्रतीक्षित मनोकामना पूरी हुई है। वोला, "दुर्योधन ! मैं वर्षों से जिसकी अभिलाषा और प्रतीक्षा कर रहा था, वह अवसर मुझे आज प्राप्त हुआ है। यदि तू युद्ध छोड़ कर भाग नहीं गया, तो आज अवश्य ही तुझे मार डालूँगा। माता कुंती को जो क्लेश उठाना पड़ा है, हमने वनवास में जो कष्ट भोगा है, और सभा में पांचाली को जो अपमान सहना पड़ा है, उन सवका प्रतिशोध मैं आज तुझसे लूँगा। हमारे तिरस्कार का जो पाप तू करता आया है, आज उसका फल भोग। उलूक के माध्यम से जो संदेश तूने भिजवाया था कि तुम्हें और तुम्हारे भाइयों को मारकर हम अपनी प्रतिज्ञा पूरी करें, उसके अनुसार मैं आज तुझे और तेरे भाइयों को मारूँगा।"

और फिर जैसे भीम के धनुष से कोई झंझावात छूटा। दुर्योधन के धनुष कटे, उसका सारथि घायल हुआ, घोड़े मारे गए, छत्र कटा···

"मेरी समझ में एक वात नहीं आती कि जो धनुर्धर अपने शत्रु के धनुष की प्रत्यंचा काट सकता है, वह अपने शत्रु के वक्ष में वाण मारकर उसी को समाप्त क्यों नहीं कर सकता ?" पारंसवी ने विदुर का कथा-प्रवाह रोक दिया।

"प्रश्न उचित है।" विदुर वोले, "कभी योद्धा का रथ देखो तो वात समझ में आ जाएगी। योद्धा शरीर पर कवच धारण करता है। उसके सामने रथ के दंड और छत्र होते हैं। उस तक पहुँचने के मार्ग में कई वाधाएँ हैं। पर जव वह प्रहार करता है तो उसका धनुप किसी न किसी रूप में उसके दंड और छत्र इत्यादि से भी वाहर निकल आता है। ठीक है ?"

"ठीक !"

जयद्रथ ने आकर दुर्योधन के पृष्ठ भाग की सुरक्षा सँभाल ली। कृपाचार्य ने उसे उसके रथ से निकालकर अपने रथ पर चढ़ाया। भीम के आक्रमण से दुर्योधन इतना घायल हो चुका था कि वह रथ के पिछले भाग में सिर पकड़कर वैठ गया।

जयद्रथ को वन की वह घटना स्मरण हो आई थी, जव भीम ने उसे वाँधकर उसके केश मुंडित कर उसे युधिष्ठिर का दास घोपित किया था।··· आज भीम अकेला था और जयद्रथ के पास अपनी सेना के साथ-साथ सारी कौरव सेना की सहायता थी। असंख्य रथी थे उसके साथ। आज वह अपना प्रतिशोध ले सकता था। भीम के साथ भी वैसा ही व्यवहार कर सकता था, जैसा भीम ने उसके साथ किया था।···

पर तव तक भीम अकेला नहीं रह गया था। अभिमन्यु और उसके साथ के गयारह महारथी आ गए थे। चित्रसेन, सुचित्र, चित्रांगद, चित्रदश, चारुमित्र, सुचारु, नंद, उपनन्द इत्यादि ने अभिमन्यु को घेरा। और सहसा अभिमन्यु ने अपना दिव्यास्त्रों का ज्ञान प्रकट किया। उन्होंने देखा कि अभिमन्यु भीम के ही समान युद्ध में उन्मत्त हो कर लड़नेवाला योद्धा है। जव तक कि वे समझ पाते कि अभिमन्यु क्या करना चाहता है, उसने विकर्ण के रथ के ध्वज, दंड, सारथि और घोड़ों को वींध डाला था। विकर्ण की क्षत-विक्षत स्थिति को देखकर उसके भाइयों ने मिलकर अभिमन्यु पर आक्रमण किया। अभिमन्यु का तो वे कुछ विगाड़ नहीं सके, हां श्रुतकर्मा का रथ नष्ट हो गया। उसे सुतसोम ने अपने रथ पर चढ़ा लिया।···

सूर्यास्त हो चुका था। पर युद्ध थम नहीं रहा था। सारे योद्धा आज अपने मन की कर लेना चाहते थे। भीष्म ने पांडवों की हानि तो की, किंतु धृष्टद्युम्न की सेना की ही अधिक क्षति हुई थी। सूर्यास्त से दो घड़ी पश्चात् अंधकार आया देख, भीष्म अपनी सेना को सुरक्षित लौटा कर अपने शिविर में चले गए। पांडव सेना भी लौटी। युधिष्ठिर ने गर्व और स्नेह से भीम और धृष्टद्युम्न का मस्तक सूँघा और उन्हें अपने शिविर में ले गए।

"अभिमन्यु का मस्तक क्यों नहीं सूँघा ?" पारंसवी ने पूछा, "वह भी तो कम वीरता से नहीं लड़ा।"

"युधिष्ठिर प्रतिदिन प्रत्येक योद्धा का मस्तक तो सूँघते नहीं।" विदुर बोले, "वैसे अभिमन्यु पर उनको कोई कम गर्व नहीं है। वह उनकी सेना का सबसे छोटी अवस्था का महारथी है और अपने बड़े भाइयों से ही नहीं अपने पिता और ताऊ-काका से भी प्रतिस्पर्धा करता है। उसका युद्ध में आना कभी अर्जुन के आने के समान माना जाता है कभी भीम के आ पहुँचने के समान।··· पर युधिष्ठिर ने भीम का मस्तक सूँघा, क्योंकि उसने वह असाधारण कर्म किया था, जिसे धावक ने वीरता कहा था और मैंने मूर्खता।···"

"और धृष्टद्युम्न का मस्तक क्यों सूंघा ?"

"क्योंकि उसने भीम को उस असाधारण संकट से मुक्त कर जीवित युधिष्ठिर के सम्मुख पहुँचाया था।"

"वहाँ सारे योद्धा आए, द्रोण और भीष्म भी, किंतु अर्जुन और श्रीकृष्ण कहाँ थे ?" पारंसवी बोली, "उन्होंने क्या किया ?"

"उन्होंने भी युद्ध ही किया।" विदुर हँस पड़े, "युद्ध का क्षेत्र इतना बड़ा है कि सारे योद्धा एक ही स्थान पर एकत्रित होकर नहीं लड़ते। यह कौरव सेना की दुर्बलता है कि उसके सारे अतिरथी एक ही स्थान पर एकत्रित हो जाते हैं।"

"क्यों ?"

"क्योंकि उनका राजा अथवा राजा के भाई किसी न किसी ऐसे संकट में फँस जाते हैं कि उनको बचाने के लिए उनके योद्धाओं को तत्काल वहाँ भागना पड़ता है।" विदुर बोले, "वैसे बहुत सारी सूचनाएँ हम तक नहीं भी पहुँच पाती हैं और बहुत सारी सूचनाएँ सामान्य मानकर प्रेषित नहीं की जाती हैं। आज के युद्ध में अर्जुन की चर्चा विशेष नहीं हुई है, किंतु जब विशेष रूप से अर्जुन के विषय में पूछा गया तो ज्ञात हुआ कि उसने कौरव सेना की अत्यधिक हानि की है, किंतु उसमें कोई विशिष्ट योद्धा आहत नहीं हुआ। दूसरे दिन के युद्ध में न घटोत्कच की चर्चा हुई, न कृतवर्मा की, जबकि ये दोनों ही विकट योद्धा हैं। तो क्या उन्होंने युद्ध नहीं किया ? क्या वे पहले ही दिन आहत हो गए थे और दूसरे दिन युद्ध करने में समर्थ नहीं थे ?··· इन प्रश्नों का मेरे पास कोई उत्तर नहीं है।"

"सारे प्रश्नों का उत्तर किसके पास होता है।" पारंसवी ने कहा और किसी चिंता में डूब गई।

42

दुर्योधन का शरीर रक्त से भीगा हुआ था। उसके मुख पर उसके स्वाभाविक अहंकार का एक कण भी नहीं था। पीड़ा और याचना की प्रतिमूर्ति बना वह पितामह के सम्मुख खड़ा था, जैसे अभी रो देगा।

"यहाँ क्या कर रहे हो दुर्योधन ?" पितामह कुछ अकवकाकर वोले, "तुम्हें अपने वैद्य के पास जाना चाहिए। जाओ, अपना शरीर स्वच्छ करवाओ और अपने घावों पर औपध का लेप करवाओ। इस स्थिति में यहाँ, मेरे शिविर में आना तुम्हारे स्वास्थ्य के लिए अच्छा नहीं है। युद्ध के क्षत असावधानी से विगड़ जाते हैं तो फिर वैद्य भी कुछ नहीं कर सकते।"

"शरीर स्वच्छ करवा अपने घावों का उपचार करवा लूँगा तो आपको वह सव कैसे ज्ञात होगा, जो मैं आपको वताना चाहता हूँ।" दुर्योधन अपने स्थान पर अडिग खड़ा रहा, "अपने स्वास्थ्य की रक्षा करता रहूँगा तो कौरवों के साम्राज्य का स्वास्थ्य संकट में पड़ जाएगा।"

"क्या वताना चाहते हो मुझे ?"

"संसार की सवसे शक्तिशाली सेना है हमारे पास। उसके सैनिक भयंकर जुझारू योद्धा हैं। उसकी व्यूह रचना भी संसार-भर में अद्वितीय होती है। उसमें सम्मिलित वाहिनियों के ध्वजों की गणना की जाए तो वे असंख्य दिखाई देते हैं।" दुर्योधन वोला, "फिर भी पांडव महारथी उसमें निर्विघ्न प्रवेश कर, हमारे सैनिकों को मारते, पीड़ा देते, और विदीर्ण ही नहीं करते, उसमें से सुरक्षित लौट भी जाते हैं। भीम ने दुर्भेद्य मकर व्यूह में प्रवेश कर, मृत्यु दंड के समान भयंकर वाणों द्वारा मुझे क्षत-विक्षत कर दिया है। ऐसे में मुझे तनिक भी शांति कैसे मिल सकती है और मैं निश्चिंत भाव से वैद्य के पास कैसे जा सकता हूँ।" दुर्योधन ने रुककर कुछ ऐसे देखा, जैसे पितामह को अत्यधिक पीड़ित करने के लिए कोई भयंकर प्रहारक शब्द खोज रहा हो, "सत्यप्रतिज्ञ पितामह ! मैं आपकी कृपा से पांडवों को मारना और उन पर विजय प्राप्त करना चाहता हूँ।"

भीष्म ने सव कुछ सुना और अपने स्थान पर निस्पंद वैठे इस प्रकार दुर्योधन को देखते रहे, जैसे या तो दुर्योधन उनके सम्मुख था ही नहीं, या फिर उनकी दृष्टि उसके आर-पार देख रही थी।··· वस्तुतः उनकी दृष्टि उसके आर-पार ही देख रही थी। वह जैसे 'सत्यप्रतिज्ञ' संवोधन से उन्हें चिढ़ाने का प्रयत्न कर रहा था। वह उन्हें स्मरण करा रहा था कि वे उसके सेनापति थे और सेनापतित्व स्वीकार करते हुए उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि वे अपनी पूर्ण क्षमता से युद्ध करेंगे।··· वह उन पर अभियोग लगा रहा था कि वे अपनी पूरी क्षमता से नहीं लड़ रहे थे।··· वह उन्हें मिथ्याभाषी और मिथ्याचारी कहना चाहता था किंतु 'सत्यप्रतिज्ञ' कह रहा था।··· उन्हें पीड़ित और अपमानित करने की यह नई शैली आविष्कृत की थी उसने।···

वे जानते थे कि यदि वे इस समय अपने मन में उठ रहे भाव उसके सम्मुख रखेंगे तो वह यही उत्तर देगा कि उसने तो यह सब कहा ही नहीं है।··· अनेक लोग नहीं जानते कि वे जो कुछ कह रहे हैं, उसका अर्थ क्या है; किंतु दुर्योधन जानता है कि वह क्या कह रहा है।···

उनकी इच्छा हुई कि कहें कि वह उनको जो चाहे कह ले, पर यह तो वताए

कि अपने जिस बल और अपने जिन सहायकों के भरोसे वह अहंकार के सबसे ऊँचे शिखर पर जा चढ़ा था; पांडवों को सूई की नोक के बराबर भी भूमि न देने की घोषणा कर रहा था, कृष्ण को बंदी करने के लिए सचेष्ट हुआ था, और उलूक के माध्यम से सर्वथा अभद्र संदेश भेज रहा था··· उन सब का क्या हुआ ? क्या यह सब वह पितामह के भरोसे ही कर रहा था ?··· क्यों नहीं आज भी सिर ऊँचा उठाकर, वक्ष ठोककर भीम के सम्मुख खड़ा हो जाता और कहता कि वह उससे राज्य छीनकर दिखाए ? क्यों रक्त में नहाया हुआ रुआंसा होकर यहाँ, पितामह के सम्मुख खड़ा छोटे बच्चे के समान रो रहा है कि उसे उसका मनोवांछित फल नहीं मिल रहा है ?··· पर वह तो अपने शैशव से यही करता आया है और धृतराष्ट्र को ही नहीं पितामह को भी द्रवित होकर उसकी अभिलाषाएँ पूरी करनी पड़ी हैं···

"दुर्योधन !··· विपक्षियों के शस्त्रास्त्रों से पीड़ित होकर भागते हुए तुम्हारे सैनिक जब अपने महाराज को खोजते हैं तो रणभूमि में तुम दिखाई नहीं पड़ते। कहाँ होते हो तुम ?" पितामह ने उसके उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की। वे अपने ही प्रवाह में कहते गए, "मैं अपनी पूरी शक्ति से भयंकर प्रयत्न कर, पांडवों की सेना में प्रवेश कर उनका संहार करता हूं या नहीं ?"

"करते हैं पितामह !" दुर्योधन धीरे से बोला।

"मैं स्वयं को छिपाकर तो नहीं रखता ?"

"नहीं पितामह !"

"मैं दूसरों को युद्ध का आदेश देकर स्वयं जा अपने शिविर में तो नहीं छिप जाता ?"

"नहीं पितामह !"

"मैं अपने प्राणों की चिंता लिए हुए विपक्षी योद्धाओं से ऑखें चुराता तो नहीं फिरता ?"

"मैं यह नहीं कह रहा हूँ पितामह !"

दुर्योधन के मन में खीज का ज्वार उदित हुआ, किंतु उसने अपना क्रोध प्रकट नहीं होने दिया।··· उसने तो सोचा था कि उसकी बातों से भीष्म का क्षात्र तेज जाग उठेगा और वे शत्रुओं के वधका प्रयत्न करेंगे, पर···

"तुम जो कुछ कह रहे हो, वह सब मैं समझ रहा हूँ।" भीष्म बोले, "मैं तुम्हें विजय दिलाना चाहता हूँ ··· किंतु पांडवों का वध करना नहीं चाहता। मैं तुम्हें सुख देना चाहता हूँ किंतु पांडवों को दुख देना नहीं चाहता।···"

"ये दोनों बातें एक साथ कैसे संभव हैं पितामह ?"

"यह तो तुम्हें पहले सोचना चाहिए था।" भीष्म ने घूरकर उसे देखा, "अधर्म की विजय नहीं होती। असत्य की विजय नहीं होती। तुम अधर्म पर चलकर, असत्य जीवन व्यतीत कर विजय चाहते हो··· ये दोनों बातें भी संभव नहीं हैं, दुर्योधन !"

"मैं आपसे धर्म संबंधी विवाद करना नहीं चाहता।" दुर्योधन का स्वर कुछ ऊँचा उठ गया, "मैं तो आपसे केवल यह जानना चाहता हूँ कि हमारी सेना को सामरिक विजय क्यों प्राप्त नहीं हो रही ?"

"पांडवों के सहायक अत्यंत भयंकर, परम शौर्य संपन्न, शस्त्रों के विद्वान् और यशस्वी हैं। वे धर्म, सत्य और अपने अधिकारों के लिए लड़ रहे हैं, इसलिए उन्होंने क्लांति को जीत लिया है। वे युद्ध से थकते नहीं; उनका रोष उन्हें युद्ध से विरत होने नहीं देता। वे वाण नहीं चलाते, हम पर अपना रोप रूपी विप उगलते हैं···।"

"हम भी तो अपने अधिकारों के लिए ही लड़ रहे हैं।" दुर्योधन तत्काल वोला।

"तुम लोभ से लड़ रहे हो, पराए धन का अपहरण करने के लिए लड़ रहे हो, दूसरों को वंचित करने के लिए लड़ रहे हो। तुम्हारे पक्ष में सत्य और धर्म कैसे हो सकते हैं। सत्य और धर्म तुम्हारी ओर नहीं हैं तो तुम्हारी विजय कैसे हो सकती है। विजय तो उसी की होती है, जिसके पक्ष में धर्म होता है।" भीष्म वोले।

"पर आपने तो कहा कि आप मुझे विजय दिलवाना चाहते हैं।" दुर्योधन वोला।

"हाँ, मैं तुम्हें विजय दिलवाना चाहता हूँ।" भीष्म पूर्ण धैर्य से वोले, "इसलिए निरंतर प्रयत्न कर रहा हूँ कि तुम धर्म को स्वीकार करो। धर्म तुम्हारा पक्ष न भी ले तो तुम धर्म का पक्ष लो, ताकि तुम्हें विजय प्राप्त हो सके।"

एक वार तो लगा कि दुर्योधन अव और नहीं सह सकेगा। वह भड़ककर कुछ अकथनीय भी कह सका था। वह पितामह का अपमान भी कर सकता था··· पर उसने स्वयं को सँभाल लिया। वोला, "मैं धर्म और सत्य को जानता अवश्य हूं, किंतु उस में मेरी कोई निष्ठा नहीं है। मैं केवल अपने शत्रुओं का संहार चाहता हूँ। आप उन का नाश क्यों नहीं कर पा रहे ?"

"वे वल-पराक्रम में प्रचंड हैं और तुम्हारे वैरी हैं। वे तो तव ही मरेंगे, जव उन का वैर मरेगा। उन्हें तुम्हारी इच्छा से सहसा ही पराजित नहीं किया जा सकता।" भीष्म कुछ रुके, "फिर भी मैं प्रयत्न करूँगा कि तुम्हारे शत्रुओं का नाश करूँ।··· मुझे लगने लगा है दुर्योधन ! कि अव मुझे अपने जीवन की रक्षा की भी आवश्यकता नहीं है।···"

भीष्म का स्वर वहुत वदला हुआ था। दुर्योधन ने चकित होकर पितामह की ओर देखा।

"तुम्हें भी ऐसा नहीं लगता कि मेरे प्राणों की रक्षा अव आवश्यक नहीं है ?"

"क्या कह रहे हैं पितामह ?" दुर्योधन ने आश्चर्य दर्शाया।

"मैं यह कह रहा हूँ कि मैं तुम्हारी मनोकामना पूरी करूँगा। मैं पांडवों को जय करूँगा ; किंतु यदि तुम्हें विजय चाहिए तो पांडवों से संधि कर लो।" भीष्म वोले, "जिन के सहायक श्रीकृष्ण हैं और जिनके पास भीम, अर्जुन, सात्यकि, अभिमन्यु तथा घटोत्कच जैसे योद्धा हैं, उन्हें देवराज इंद्र भी पराजित नहीं कर सकते।"

दुर्योधन ने चकित दृष्टि से पितामह को देखा, "मैं कुछ समझ नहीं पाया

पितामह ! आप मेरी मनोकामना पूरी भी करेंगे और मेरी विजय भी नहीं होगी ? आप पांडवों को जय भी करेंगे और मुझे पांडवों से संधि भी करनी पड़ेगी ? मैं कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ।…"

"तुम ठीक ही समझ नहीं पा रहे हो, क्योंकि तुम्हारा मस्तिष्क सोचने-समझने की शक्ति खो चुका है।" पितामह बोले, "तुम्हारा अहंकार तुम्हें उन्मादी बनाए हुए है, तुम्हारे स्वार्थ ने तुम्हें अंधा कर रखा है।…जाओ, जाकर अपना उपचार करवाओ। कदाचित् उसके पश्चात् तुम्हें कुछ समझ में आ जाए।"

भीष्म अपने स्थान से उठे। उन्होंने अपनी युद्ध-औषधियों में से विशल्यकरणी नामक औषध निकाल कर दुर्योधन को दी, "तुम्हें तात्कालिक सुख देने के लिए यह औषध दे रहा हूं। इस का उपयोग करो। शरीर के सारे शूल इस से बाहर आ जाएंगे। शरीर की पीड़ा कम हो जाए गी। जाओ… ।"

दुर्योधन चला गया।

भीष्म अपने स्थान पर आकर बैठे तो उनका मन अपनी ही उक्तियों का विश्लेषण करने लगा… उन्होंने कहा था कि वे दुर्योधन की इच्छा पूरी करेंगे। शायद परम इच्छा कहना चाहिए था। … भीष्म जानते हैं कि दुर्योधन ने बहुत प्रसन्न मन से उन को अपना प्रधान सेनापति नहीं बनाया था। उसकी बाध्यता भी वे समझते हैं।… फिर भी जिस कामना से उसने यह पद उनको दिया था, वह पूरी नहीं हो रही थी। उसने समझा था कि भीष्म के आते ही पांचाल योद्धा मारे जाएँगे, और वह पांडवों को मार गिराएगा।… उसकी इच्छा पूरी नहीं हुई थी।… और स्वयं भीष्म ने क्या सोचा था ?… उन्होंने अपने आपसे पूछा।… क्या सोचा था उन्होंने ?… उन्होंने सोचा था कि वे सारे कुरुवंश को बचाए रखेंगे। पांडवों की रक्षा के माध्यम से धर्म की भी रक्षा करेंगे। दुर्योधन को समझा लेंगे। पांचालों के नाश से दुर्बल होकर पांडव भी कोई समझौता कर ही लेंगे… पर वह सब भी नहीं हुआ। दुर्योधन प्रतिदिन पहले से अधिक उग्र होता जा रहा है। वह प्रतिक्षण माँग कर रहा है कि भीष्म पांडवों का वध करें… उन्होंने भी वचन दिया है कि वे पांडवों को जय करेंगे… पर क्या दुर्योधन समझता है कि जब भीष्म कहते हैं कि वे पांडवों को जय करेंगे तो उसका अर्थ क्या होता है ? नहीं ! वह उनका अभिप्राय नहीं समझता।… भीष्म कहते हैं कि वे पांडवों का मन जीतेंगे और दुर्योधन समझता है कि वे पांडवों के शारीरिक और सामरिक बल को जीतेंगे।… वे उसे निरंतर बता रहे हैं कि युद्ध में पांडवों को कोई नहीं जीत सकता। फिर भी वह भीष्म को 'कोई ' के बाहर मान लेता है। भीष्म पांडवों का मन जीतना चाहते हैं… और वह तो धर्म पर चलकर ही होगा, उनका वध करके नहीं।…

तो फिर भीष्म अपने इस शरीर की रक्षा क्यों कर रहे हैं ? उससे किसी का कोई मनोरथ पूर्ण होने नहीं जा रहा। न उनका अपना और न दुर्योधन का।… इसीलिए तो दुर्योधन उन्हें युद्ध के लिए अधिक से अधिक उकसा रहा है कि या तो वे पांडवों का

वध करें या फिर अपने प्राण दे दें ताकि वह कर्ण को रणक्षेत्र में उतार सके।··· भीष्म को अब उसकी यह इच्छा तो पूरी कर ही देनी चाहिए।··· वे धराशायी नहीं होंगे तो दुर्योधन उन्हें निरंतर पांडवों के वध के लिए कहता रहेगा, जो वे करेंगे नहीं। उनके रहते कर्ण रण-क्षेत्र में आ नहीं सकता, और उसे रणभूमि में लाना, दुर्योधन की परम इच्छा है।··· वे जानते हैं कि युधिष्ठिर पर भी बहुत दवाव है कि सारे पांडव महारथी शिखंडी की रक्षा करें और उसे भीष्म से भिड़ा दें। भीष्म शिखंडी से युद्ध नहीं करेंगे और कौरव महारथी, पांडवों द्वारा रक्षित शिखंडी को मार नहीं सकेंगे, तो अंततः भीष्म का पतन होगा शिखंडी के हाथों ?··· भीष्म शिखंडी के हाथों मरना नहीं चाहते··· पर युधिष्ठिर भी कितने दिनों तक अपना प्रतिरोध बनाए रख सकेगा। अर्जुन कब तक शिखंडी को भीष्म से दूर रखेगा ?··· उसने बहुत समय दे दिया है भीष्म को··· तो जब वह सब कुछ होना नहीं है जो भीष्म चाहते हैं तो वे युद्ध में खड़े ही क्यों हैं··· वे बीच से हट ही क्यों नहीं जाते ताकि पांडव अपना मनचाहा कर लें, कृष्ण अपनी योजना पूरी कर लें, दुर्योधन अपना बल-परीक्षण कर ले··· वे क्यों सब की इच्छाओं के मार्ग में अड़े हुए हैं।··· शायद प्रभु की इच्छा के मार्ग में भी अड़े हुए हैं··· नहीं अब उन्हें हट ही जाना चाहिए···

भीष्म कवच सज्जित हुए और युद्ध क्षेत्र में गए। उन्होंने मंडल व्यूह बनाया। वे युद्ध करते रहे और उन्हें सूचनाएँ मिलती रहीं··· युधिष्ठिर ने वज्र नामक व्यूह का निर्माण किया था। द्रोण ने विराट पर और अश्वत्थामा ने शिखंडी पर धावा किया। दुर्योधन द्रुपद पर चढ़ दौड़ा। नकुल तथा सहदेव अपने मातुल शल्य से जूझ रहे थे। विंद-अनुविंद, अर्जुन का कुछ नहीं बिगाड़ सके तो इरावान पर ही शक्ति परीक्षण करने लगे। अनेक नरेशों ने आगे बढ़ते अर्जुन को रोका और भीम ने कृतवर्मा को अवरुद्ध किए रखा। अभिमन्यु ने चित्रसेन, विकर्ण तथा दुर्मर्षण के साथ युद्ध किया, भगदत्त घटोत्कच को पाठ पढ़ाने का प्रयत्न करता रहा। अलंबुश सात्यकि से जूझता रहा, भूरिश्रवा और धृष्टकेतु परस्पर उलझे रहे। युधिष्ठिर और श्रुतायु लड़े। चेकितान ने कृपाचार्य को रोके रखा।

भीष्म ने सुना कि अर्जुन ने कृष्ण को वचन दिया है कि रणक्षेत्र में जो-जो उस से युद्ध करना चाहते हैं, वह उन सबको आज नष्ट कर देगा। अर्जुन से पिटकर अनेक राजा भीष्म की शरण में आ गए थे। सुशर्मा को अर्जुन ने इतना पीड़ित किया था कि वह समरभूमि छोड़कर भाग गया था।··· सुशर्मा बहुत पीड़ित था पांडवों से।··· कीचक की मृत्यु हो जाने पर जब वह विराट से अपना प्रतिशोध लेना चाहता था, तब भीम ने उसको कंठ से पकड़कर महाराज विराट के चरणों में डाल दिया था। और अब जब से युद्ध आरंभ हुआ था अर्जुन उसे कहीं टिकने ही नहीं दे रहा था। ··· सुशर्मा के मन

में विष एकत्रित हो रहा था। वह अपना प्रतिशोध लेने के लिए किसी भी प्रकार की दुष्टता पर उतर सकता था ···

सुशर्मा दुर्योधन के पास गया और उससे किसी विशेष योजना पर चर्चा कर उनके पास आ गया। और तब भीष्म ने देखा कि त्रिगर्तों ने शिखंडी से उनकी रक्षा के व्याज से उन्हें घेर रखा है। वे लोग उनकी रक्षा कर रहे थे, या उन्हें अर्जुन से लड़वा कर, उनकी ओट से अर्जुन को पीड़ित कर उससे अपना प्रतिशोध लेना चाहते थे।···

भीष्म समरभूमि में खड़े थे। वे युद्ध कर भी रहे थे। अपनी सेना को अर्जुन के रोष से बचा रहे थे। ... पर जाने क्यों उन्हें लग रहा था कि समरभूमि में वे नहीं, उनकी छाया खड़ी थी। वे युद्ध नहीं कर रहे थे, उनकी छाया युद्ध कर रही थी। ... यह सारा युद्ध ही उन्हें वास्तविक नहीं लग रहा था।...यह कैसा तो कोई भयंकर स्वप्न था...

उन्हें सूचना मिली कि द्रोण ने फिर से विराट को घेर लिया है और अपने तीखे बाणों से उन्हें आहत कर दिया है। विराट ने भी द्रोण को बींध दिया। द्रोण क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने विराट का रथ ध्वस्त कर दिया। विराट अपने रथ से कूदकर अपने पुत्र शंख के रथ पर जा चढ़े। पिता और पुत्र दोनों ने मिलकर द्रोण का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। द्रोण इस समय किसी के रोके रुक नहीं सकते थे। उन्होंने तत्काल शंख का वध कर दिया। विराट ने अपने तीसरे पुत्र का वध अपनी आँखों से देखा। वे समझ रहे थे कि अब उनके भी प्राण नहीं बचेंगे। वे क्या कर सकते थे। आस-पास कोई सहायक भी नहीं था। वे समरभूमि छोड़ कर भाग गए।···

भीष्म को विराट पर दया आई··· बेचारे के तीनों पुत्र मारे गए थे। पर युद्ध में क्षत्रिय अपने प्राण देने ही तो आते हैं ··· यहाँ अपने पक्षवालों के प्रति ही संवेदना प्रकट करने का अवसर नहीं आता, शत्रुओं के प्रति कोई क्या सहानुभूति दिखाए।

विराट से मुक्त हो द्रोण पांडव सेना के दूसरे भाग की ओर बढ़े। अश्वत्थामा पिता की सहायता को न आ सके, इसलिए शिखंडी ने अश्वत्थामा पर आक्रमण किया। उसके निकट पहुँचकर उसकी त्रिकुटी पर बाण मारा। अश्वत्थामा अपने ओज में था। उसने क्षण भर में ही शिखंडी का सारथि, ध्वज, अश्व सब कुछ नष्ट कर दिया। शिखंडी अपने हाथ में खड्ग लेकर रथ से नीचे कूद गया। वह कुपित श्येन के समान समरभूमि में विचर रहा था कि अश्वत्थामा ने बाण मारकर उसका खड्ग भी खंडित कर दिया। शिखंडी ने अपने हाथ में रह गया खड्ग का वह खंड घुमाकर अश्वत्थामा को दे मारा। अश्वत्थामा ने उसे भी काट दिया और शिखंडी को आहत कर दिया।··· पर शिखंडी अश्वत्थामा के साथ इस युद्ध में अपने प्राण त्यागना नहीं चाहता था। वह उसे भीष्म के वध के लिए बचाए हुए था।··· भीष्म जानते थे।··· शिखंडी सात्यकि के रथ पर आरूढ़ हो सुरक्षित हो गया···

सात्यकि ने अलंबुश को बींध डाला। अलंबुश ने सात्यकि का धनुष काटकर उसे गंभीर रूप से घायल कर दिया। सात्यकि ने क्रोध में ऐंद्रास्त्र निकाल लिया। धनंजय

से ही मिला था, उसे ऐंद्रास्त्र। अलंबुश युद्धक्षेत्र त्याग कर भाग गया। सात्यकि ने सिंहनाद किया।

धृष्टद्युम्न ने दुर्योधन के अश्व मार दिए। दुर्योधन अपने रथ से कूदकर हाथ में असि लेकर धृष्टद्युम्न की ओर दौड़ा। शकुनि ने आकर दुर्योधन को अपने रथ पर चढ़ा लिया, नहीं तो दुर्योधन व्यर्थ ही धृष्टद्युम्न के हाथों अपने प्राण गँवाता। यह युद्ध की कोई रीति नहीं थी। द्यूत के खिलाड़ी शकुनि ने दुर्योधन को ऐसा द्यूत खेलने नहीं दिया। वे दोनों तो धृष्टद्युम्न के सामने से हट गए, पर कौरव सेना धृष्टद्युम्न से वच नहीं पाई। उसने सामने खड़ी कौरव वाहिनियों का विनाश कर डाला।

भीष्म ने यह भी सुना कि गजारूढ़ भगदत्त से त्रस्त होकर पांडव सेना भाग चली। घटोत्कच पांडव सेना को लौटा लाया। घटोत्कच ने भगदत्त को पीड़ित किया तो भगदत्त ने उसे घायल कर दिया। घटोत्कच पहले तो विचलित नहीं हुआ किंतु जव युद्ध अपने चरम पर पहुँचा तो वह भगदत्त का तेज संभाल नहीं पाया। अंततः घटोत्कच भगदत्त से पीड़ित होकर युद्धभूमि छोड़कर कहीं विलुप्त हो गया और भगदत्त पांडव सेना का मर्दन करने लगा।

नकुल और सहदेव ने शल्य को इतना क्षत-विक्षत किया कि वे रथ के पिछले भाग में जा वैठे और मूर्च्छित हो गए।··· उनका सारथि तत्काल ही उनका रथ समरभूमि से हटाकर वाहर ले गया।···

भीष्म ने यह सव समरभूमि में ही सुना, किंतु आज कोई भी सूचना उन्हें उत्तेजित नहीं कर रही थी। उन्हें किसी विजय में लाभ और किसी पराजय में हानि का अनुभव नहीं हो रहा था। युद्ध जैसे मात्र युद्ध के लिए हो रहा था, उसका कोई प्रयोजन नहीं था।···

युधिष्ठिर से पराजित होकर श्रुतायु भाग गया। उसी के साथ कौरव सेना में भगदड़ मच गई। उधर चेकितान और कृपाचार्य में भयंकर युद्ध हो रहा था। चेकितान ने कृपाचार्य को वाणों से आच्छादित कर दिया था। कृपाचार्य ने उसके रथ के अश्व मार दिए। चेकितान हाथ में गदा लेकर, अपने टूटे हुए रथ से कूद पड़ा और उसने अपनी गदा से कृपाचार्य के रथ के सारथि और घोड़े मार गिराए। कृपाचार्य धरती पर खड़े होकर भी चेकितान से लड़ते रहे। उन्होंने अपने वाणों से उसकी गदा तोड़ दी। चेकितान ने खंग खींच ली। कृपाचार्य के वाण समाप्त हो गए थे, वे भी असि लेकर चेकितान की ओर दौड़े। उस युद्ध में दोनों ने एक-दूसरे को आहत किया और दोनों ही भूमि पर गिर पड़े। अंततः करकर्ष ने चेकितान को अपने रथ में उठा लिया और शकुनि, कृपाचार्य को अपने रथ में उठा ले गया।

भीष्म ने देखा कि चित्रसेन, विकर्ण और दुर्मर्पण ने मिलकर अभिमन्यु पर आक्रमण किया। भीष्म के मन में दया उपजी··· वेचारा वालक··· वह रणभूमि में आ तो गया था किंतु था तो अभी वालक ही। और फिर तीन-तीन योद्धाओं का आक्रमण··· कहाँ है अर्जुन ? उसे अपने पुत्र की सुरक्षा का ध्यान रखना चाहिए।··· वह कहीं किसी

व्यूह में उलझा होगा तो युधिष्ठिर को ही विचार करना चाहिए कि अभिमन्यु, को इस प्रकार असुरक्षित न छोड़े। दुर्योधन और उसके भाई अर्जुन को कोई क्षति नहीं पहुँचा सकेंगे तो अपना क्रोध अभिमन्यु पर उतारेंगे।··· और वह सुशर्मा··· वह पांडवों से··· और विशेष रूप से अर्जुन से इतना रुष्ट है कि यदि उसे कहीं अभिमन्यु दिखाई पड़ गया तो वह उसका पीछा ही नहीं छोड़ेगे।···

पर अभिमन्यु एक दक्ष योद्धा के समान निर्भीक होकर लड़ रहा था। उसकी युद्ध-शैली में कहीं अर्जुन और कहीं श्रीकृष्ण का प्रभाव दिखाई पड़ता था। अभिमन्यु असहाय नहीं था, उन धार्तराष्ट्रों के सामने।··· उसने उनके धनुष काटकर उनके रथ नष्ट कर दिए थे। विरथी होकर उन धार्तराष्ट्रों का सारा शौर्य कहीं विलुप्त हो गया था। वे असहाय गोवत्स के समान इधर-उधर कूद-फाँद कर रहे थे। अभिमन्यु अव सरलता से उनका वध कर सकता था।··· भीष्म को उनके प्राण वचाने होंगे··· धृतराष्ट्र के पुत्र मरते जा रहे हैं।··· युद्ध के चौथे ही दिन अकेले भीम ने ही दुर्योधन के आठ भाइयों—सेनापति, जलसंध, सुषेण, उग्र, वीरबाहु, भीम, भीमरथ और सुलोचन—को मार गिराया था। उन आठों को तो भीष्म नहीं बचा सके थे, किंतु आज इन्हें तो वचाना होगा। भीष्म उनकी रक्षा के लिए वढ़े।··· पर अभिमन्यु तो उन्हें वहीं छोड़ कर किसी दूसरी दिशा में मुड़ गया।··· क्यों नहीं वध किया उसने उनका ?··· क्या वह उन्हें भीम का आखेट मान, उसकी प्रतिज्ञा का स्मरण कर उन्हें छोड़ गया अथवा उनका वध उसे अपने शौर्य के अनुकूल नहीं लगा ?···

सामने से अर्जुन का रथ आ रहा था। कदाचित् उसे अपने पुत्र पर धार्तराष्ट्रों के इस आक्रमण की सूचना मिल गई होगी··· पर अभिमन्यु तो अपने शत्रुओं को पराजित कर वहाँ से जा चुका था।··· संभव है कि सुशर्मा भी अभिमन्यु, के लिए ही वहाँ आया हो, पर उसे अर्जुन सामने से आता मिल गया। उसने अर्जुन को रोक लिया।··· अर्जुन ने भी देखा, अभिमन्यु वहाँ नहीं था। इस समय संभवतः वह अभिमन्यु की खोज में जाना चाहता था, किंतु सुशर्मा उसे रोक रहा था।

अर्जुन क्रुद्ध हो उठा, "तुम योद्धाओं में अति उत्तम हो किंतु पांडवों के पूर्व वैरी हो। तुम लोगों ने जो अन्याय किया है, यह उसी का अति भयंकर फल है। अच्छा है कि तुम मुझे यहीं मिल गए। आज मैं तुम्हें तुम्हारे दिवंगत पूर्वजों के दर्शन करा देता हूँ···"

सुशर्मा ने अर्जुन को कोई उत्तर नहीं दिया। उसने अपने सैनिकों को संकेत किया। उसके पुत्र और भाई उसके आस-पास घिर आए थे। उसने अर्जुन के चारों ओर अवरोध वना लिया था। और उसके मुख पर एक अति भयंकर मुस्कान प्रकट हो आई थी। आज अर्जुन उसकी मुट्ठी में था। वह पांडवों से अपना सारा वैर आज चुकता कर लेगा···

अर्जुन को सुशर्मा द्वारा अपना इस प्रकार रोका जाना वहुत दुस्साहसपूर्ण लगा। वह चकित था कि सुशर्मा ने यह क्यों नहीं सोचा कि उसे अर्जुन से दूर रहना चाहिए।

अर्जुन उसे खोजे तो सुशर्मा को छिप जाना चाहिए और सुशर्मा स्वयं ही अर्जुन के सम्मुख आ खड़ा ही नहीं हुआ, उसे घेरने का साहस भी कर रहा है।··· क्षण भर को अर्जुन के मन में उसके प्रति करुणा जागी। वह मूर्ख नहीं जानता कि वह क्या कर रहा है। उसने अपने सारे कुटुंब को एक ही स्थान पर एकत्रित कर लिया है।··· अपने सारे पुत्रों और भाइयों को ले कर स्वयं ही मृत्यु के मुख में आ गया है।···

अर्जुन ने उन सबके धनुष काट दिए और फिर एक-एक कर उन का वध करना आरंभ किया।··· कहां सुशर्मा सोच रहा था कि वह अर्जुन को घेर कर उसको बंदी कर लेगा अथवा उसका वध कर देगा। जो सफलता भीष्म, द्रोण और दुर्योधन को नहीं मिली, वह सुशर्मा प्राप्त कर लेगा; और कहाँ उसकी आँखों के सम्मुख एक-एक कर उसके सारे पुत्र और भाई मारे गए··· वह असहाय खड़ा देखता रहा।··· किंतु वे अपने पुत्रों के वध को देखकर, विराट के समान अपने प्राण बचाकर नहीं भागेगा। वह प्रतिशोध लेगा··· वह अर्जुन का वध करेगा। उसका मुंड काटकर अपने शूल पर टांगकर सारी समरभूमि में उसे प्रदर्शित करेगा।···

सुशर्मा ने अपने पृष्ठ-रक्षकों को पुकारकर सामने बुला लिया। वह जानता था, उसके पास बत्तीस पृष्ठ-रक्षक थे; और जब उसके पुत्रों तथा भाइयों का हत्यारा उसके सम्मुख खडा था तो उसको अपनी पीठ पर रक्षकों की कोई आवश्यकता नहीं थी।··· बत्तीस पृष्ठ-रक्षक और सुशर्मा, तैंतीस योद्धा एक अकेले अर्जुन के लिए पर्याप्त होने चाहिएँ।··· पर अर्जुन के लिए तैंतीस व्यक्ति पर्याप्त नहीं थे।··· अर्जुन ने देखा, उसके बाणों की मार से एक-एक पृष्ठ-रक्षक के गिरने से सुशर्मा की सिंह जैसी दहाड़ दुर्बल पड़ती जा रही थी और उसमें पीड़ा और चीत्कार का स्वर मिलता जा रहा था।···

अंततः अर्जुन से प्रतिशोध लेने का संकल्प दुहराता और भीष्म की रक्षा को विस्मृत करता हुआ सुशर्मा कौरवों की विशाल सेना के पीछे कहीं विलीन हो गया।

अर्जुन का रथ भीष्म की ओर बढ़ा।

"इस मूर्ख सुशर्मा को क्या हुआ था केशव ! अकारण ही अपने पुत्रों और भाइयों को गँवा बैठा।" अर्जुन बोला, "क्या वह इतनी-सी बात नहीं समझ सकता था कि यह कोई ऐसा व्यूह नहीं था, जहाँ उसे अपने पुत्रों की बलि देने की कोई अनिवार्यता हो। वह अपनी सीमा नहीं जानता क्या ?"

कृष्ण हँसे, "बहुत अच्छा उदाहरण है यह, क्रोध से मनुष्य की बुद्धि सम्मोहित हो जाने का।"

"पर युद्ध में क्रोध का क्या काम केशव ?" अर्जुन ने कहा, "यहाँ तो बुद्धि को शांत ही रखना चाहिए।"

"ठीक कहते हो अर्जुन ! युद्ध ही क्यों, मनुष्य को आजीवन स्वयं को शांत रखना चाहिए। पर मनुष्य के समस्त ज्ञान की शत्रु उसकी कामनाएँ हैं। कामनाएँ व्यक्ति के ज्ञान को पूर्णतः ढँक देती हैं।" कृष्ण बोले, "और जब कामना पूरी नहीं होती तो मनुष्य

को क्रोध आता है। वस्तुतः काम और क्रोध एक ही भाव के दो नाम अथवा पक्ष हैं। उस क्रोध से रही-सही बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है। सुशर्मा उसका प्रमाण दे रहा है। वह पांडवों से प्रतिशोध चाहता है, अर्जुन का वध करना चाहता है। उसकी यह कामना पूरी नहीं होती तो उसे क्रोध आता है। क्रोध उसकी बुद्धि को सम्मोहित कर देता है और उसकी समझ में यह नहीं आता कि वह अर्जुन को पराजित कर उसका वध नहीं कर सकता, चाहे उस प्रयत्न में उसके सारे पुत्र और भाई मारे ही क्यों न जाएँ। इसीलिए क्रोध को मनुष्य का शत्रु कहा गया है।"

अर्जुन पितामह के सम्मुख पहुंच गया था। किंतु पितामह पर बाण चलाने से पहले ही, कौरव सेनाएँ भीष्म की रक्षार्थ आ गई। अनेक कौरव योद्धा अर्जुन पर टूट पड़े। शिखंडी को लगा कि अर्जुन को तत्काल सहायता की आवश्यकता है। वह अर्जुन की ओर बढ़ा।···

शिखंडी को निकट देख अर्जुन को कुछ उलझन होने लगी। शिखंडी उसकी रक्षा और सहायता तो क्या करेगा, वह पितामह पर आक्रमण करेगा। पितामह उससे युद्ध नहीं करेंगे। शिखंडी को रोकने के लिए कौरव योद्धा आएँगे। अर्जुन शिखंडी की रक्षा करेगा। वह पितामह पर आक्रमण करेगा।··· उसकी रक्षाकर अर्जुन पितामह के वध में सहायक होगा··· इससे तो अच्छा है कि अर्जुन दुर्योधन अथवा जयद्रथ से ही निपट ले।... वह उनकी ओर बढ़ गया। दुर्योधन की सहायता के लिए कृपाचार्य, शल्य और शल भी आ गए थे। इधर पांडव भी अर्जुन के निकट पहुँचते जा रहे थे···

भीष्म ने शिखंडी को अपने सामने देखा तो उनके अधरों पर एक विचित्र-सी मुस्कान आ गई। उन्होंने शिखंडी से न लड़ने का संकल्प किया था। शिखंडी उनके सामने था और शायद सोच रहा था कि प्रहार करे अथवा न करे। पता नहीं वह भीष्म के सम्मुख टिक पाए, न टिक पाए। वह तो अर्जुन की सहायता के लिए आया था और अर्जुन वहां से कहीं और चल दिया था। अर्जुन के मन को समझते थे पितामह, किंतु कृष्ण ने कैसे रथ मोड़ दिया। धनुष अर्जुन के हाथों में था, किंतु अश्वों की वल्गा तो कृष्ण के हाथों में थी।··· भीष्म ने शिखंडी का धनुष काट दिया।··· शिखंडी किंकर्तव्यविमूढ़ सा खड़ा था कि युधिष्ठिर ने उसे डाँटा, "तुम ठीक से युद्ध क्यों नहीं करते ? अपनी शपथ को स्मरण रखो और मिथ्याभाषण का पाप मत करो। किससे भयभीत हो, उन पितामह से, जो तुमसे युद्ध भी नहीं करेंगे ? उन्होंने तुम्हारा धनुष काटकर तुम्हें पराजित कर दिया और फिर भी तुम क्रुद्ध काल के समान उन पर टूट नहीं रहे हो।··· प्रहार करो। पितामह पर पूरी शक्ति से प्रहार करो।···"

भीष्म अपने मन से पूछते रह गए कि वे मुस्कराएँ, रोएँ या क्रुद्ध हों ? इस युद्ध ने युधिष्ठिर को भी अब ऐसे स्थान पर पहुंचा दिया था कि वह भीष्म के वध के लिए आतुर हो उठा था।··· भीष्म जानते थे कि यह समरभूमि थी, यहाँ भावुक होने का कोई कारण नहीं था; किंतु इस तथ्य की उपेक्षा वे कैसे कर सकते थे कि वे युधिष्ठिर और

दुर्योधन दोनों की रक्षा करने का प्रयत्न कर रहे थे और दूसरी ओर युधिष्ठिर और दुर्योधन दोनों ही उनकी मृत्यु की कामना कर रहे थे। जिस प्रकार युधिष्ठिर, शिखंडी को प्रेरित कर रहा था, उससे तो लगता था कि उन पर शस्त्र उठाने में शिखंडी का हाथ कांप जाए तो कॉप जाए, युधिष्ठिर का हाथ नही काँपेगा।··· अब भीष्म किसके लिए जीवित रहना चाहते हैं ?··· ठीक है कि भीष्म के कारण युधिष्ठिर की सेना कट रही थी। युधिष्ठिर न भी चाहे तो उसकी सेना के अन्य सेनापति, उसकी वाहिनियों के नायक अपने सैनिकों की रक्षा के लिए भीष्म की मृत्यु के इच्छुक होंगे ही। युधिष्ठिर कब तक उनका प्रतिरोध कर सकता था ?···

शिखंडी भीष्म की ओर मुड़ा और बाण साधता हुआ बोला, "खड़ा रह !"

भीष्म मुस्कराए। उन्हें शिखंडी से युद्ध नहीं करना था। उन्होंने शिखंडी की अवहेलना कर दी। शिखंडी ने आक्रमण तो किया, किंतु युद्ध का अवसर नहीं आया। शल्य बीच में आ कूदा। युधिष्ठिर का ध्यान उधर से हटा ही था कि भीष्म ने उनका धनुप काट दिया। ··· युधिष्ठिर डर गए। उनके पास धनुष भी नहीं था और जयद्रथ उनके सम्मुख था।

युधिष्ठिर को भय से पीड़ित देखकर भीम गदा लेकर पदाति ही जयद्रथ पर टूट पड़ा। जयद्रथ ने भीम पर भयंकर बाण चलाकर उसे घायल तो कर दिया किंतु भीम ने अपनी गदा के प्रहार से उसके रथ के अश्वों को मार गिराया। जयद्रथ को संकट में देख दुर्योधन उसकी सहायता को भागा आया। भीम की विकराल मूर्ति देख जयद्रथ का युद्ध करने का सारा उत्साह समाप्त हो गया था। उसकी आँखों के सम्मुख भीम की एक ही मुद्रा नाचती रहती थी··· यदि वह भीम की पकड़ में आ गया तो संभव है कि भीम इस बार उसे दास बनाकर ही संतोष न करे। वह दुःशासन के समान उसके वक्ष का भी रक्त पीना चाहेगा··· जयद्रथ ने भी तो द्रौपदी के हरण का प्रयत्न किया था···

जयद्रथ भय के कारण दुर्योधन के निकट जा उसके सैनिकों के मध्य कहीं दुबक गया।

भीम ने जयद्रथ को दुर्योधन की काँख में दुबका देखा तो वह अपनी भयंकर गदा लेकर उसकी ओर चला। भीम के उस विकराल रूप को देख दुर्योधन और उसके भाई भयभीत होकर भाग गए। एक चित्रसेन ही था, जो अपने स्थान पर अडिग खड़ा रहा। भीम ने अपनी भयंकर गदा खींचकर उसे मारी। चित्रसेन का रथ टूट गया। वह खंग लेकर भीम के सम्मुख जाने की सोच ही रहा था कि विकर्ण ने उसे अपने रथ पर चढ़ा लिया।

अब फिर धृतराष्ट्र के पुत्र संकट में थे। भीम उनका काल था।··· दुर्योधन और उसके भाइयों की ओर से भीम का ध्यान हटाने का एक ही मार्ग था। भीष्म ने युधिष्ठिर पर आक्रमण कर दिया। युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव ने मिलकर भीष्म का सामना

किया। उन्होंने भीष्म को अपने असंख्य बाणों से आच्छादित कर दिया; किंतु भीष्म अपने स्थान पर निर्भीक खड़े रहे। उन्होंने युधिष्ठिर के अश्व मार दिए और युधिष्ठिर के रथ को एक ही स्थान पर कीलित कर दिया। युधिष्ठिर ने भीष्म पर एक शक्ति चलाई। भीष्म ने उसे बड़ी सरलता से काट दिया। युधिष्ठिर तत्काल नकुल के रथ पर आ गए। किंतु भीष्म का आक्रमण रुका नहीं। उनके बाण निरंतर चलते रहे। उनसे युधिष्ठिर को कम, नकुल और सहदेव को ही अधिक घाव लगे।··· युधिष्ठिर नकुल के निकट खड़े देख रहे थे। उनके ये दोनों छोटे भाई, कितने असहाय थे, भीष्म के सम्मुख। पितामह ने यह तो कहा था कि पांडु पुत्र उनके लिए अवध्य हैं, किंतु यह उन्होंने नहीं कहा था कि वे उनको अपने तीखे बाणों से पीड़ित नहीं करेंगे। पता नहीं किसी-किसी समय पितामह इतने क्रूर क्यों हो जाते हैं।··· इस यातना से छुटकारा तो तभी मिल सकता है, जब पितामह रणक्षेत्र से हट जाएँ।··· जाने अर्जुन क्यों इधर-उधर भटकता रहता है। वह पितामह का वध क्यों नहीं करता ?··· पांडवों को यदि यह युद्ध जीतना है तो उन्हें सबसे पहले पितामह को ही मार्ग से हटाना होगा। पितामह दुर्योधन के सबसे बड़े रक्षक हैं। वे हिमालय के समान उसके सामने डट जाते हैं तो कोई दुर्योधन का क्या बिगाड़ सकता है ?··· पितामह को हटाना ही होगा ··· पांडवों की विजय और पितामह का जीवन दोनों एक साथ संभव नहीं हैं। पांडवों को यह युद्ध जीतना ही है ... पितामह को मरना ही होगा ... वे पांडवों को कितने भी प्रिय क्यों न हों, उन्हें धर्म की जय के लिए मरना होगा···

43

"पितामह !" दुर्योधन हाथ जोड़कर भीष्म के सम्मुख खड़ा था, "आप जानते हैं कि सुनाभ, अपराजित, कुंडधार, पंडितक, विशालाक्ष, महोदर, आदित्यकेतु तथा बह्वाशी—ये मेरे भाइयों के नाम हैं ?"

भीष्म को आश्चर्य नहीं हुआ। उनके मन में पहले से ही यह संभावना जन्म ले चुकी थी कि दुर्योधन किसी भी समय आ सकता है और अपने क्षोभ को प्रकट करने के लिए उनसे किसी भी प्रकार की अकथनीय कटु बातें कह सकता है।

"जानता हूँ।" भीष्म बोले, "यह भी जानता हूँ कि आज भीम ने तुम्हारे इन आठ भाइयों के प्राण ले लिए हैं।"

"तो आप यह भी जानते होंगे कि युद्ध के चौथे दिन भी उसी भीम ने मेरे आठ अन्य भाइयों के प्राण ले लिए थे ?"

"जानता हूँ।"

"तो फिर आप यहाँ शांति से बैठे क्या रहे हैं ?" दुर्योधन का स्वर ऊंचा हो गया, "आप हमारे प्रधान सेनापति हैं और फिर भी मध्यस्थ बने रहने के कारण सदा ही हम

लोगों की उपेक्षा करते हैं। मेरे सहोदर भाई काल के गाल में समाते जा रहे हैं और आप अपने प्रिय पांडवों को आहत तक नहीं करना चाहिए। खाते हमारा हैं और प्रेम उनसे करते हैं।" दुर्योधन आपे से वाहर हो रहा था, "मैं एक ऐसे विनाशकारी मार्ग पर इतनी दूर चला आया हूँ, जहाँ से वापस लौटना मेरे लिए संभव नहीं है। विनाश ही होना है तो मेरे शत्रुओं का हो, हमारा नहीं। हमारा होना है तो उनका भी हो। यह क्या कि वे पूर्णतः सुरक्षित होकर लड़ रहे हैं और हम प्रतिदिन मरते जा रहे हैं। आप को प्रधान सेनापति वनाकर आठ दिनो का महायुद्ध कर आया। अव अपना सेनापति वदल भी दूँ तो मेरे ये सोलह भाई तो जीवित नहीं हो जाएँगे···।" लगा कि जैसे वह रो ही पड़ेगा, "मैंने तो अपने विश्वविजयी वीर पितामह को अपना प्रधान सेनापति बनाया था, और अव मैं अपने उस पितामह को ढूँढ़ रहा हूँ और वे कहीं मिलते ही नहीं। उनके स्थान पर एक हृदयहीन मध्यस्थ बैठा दिखाई देता है, जिसे कुरुकुल का विनाश तनिक भी द्रवित नहीं कर पा रहा··· ।"

भीष्म जानते थे कि दुर्योधन कटुभाषी है, किंतु इस सीमा तक ?··· और वह भी अपने पितामह से ? अपने उस सेनापति से, जिसके सम्मुख वह प्रतिदिन विजय का याचक बना खड़ा रहता है ? इस मूर्ख को कुछ पता भी होता है कि वह किससे क्या कह रहा है ?··· भीष्म की आँखों में अश्रु आ गए। वे इस प्रकार का अपमान सहने के लिए तो कुरुकुल की रक्षा नहीं कर रहे थे। उन्होंने अपने इन पौत्रों का पालन-पोषण, इस दिन के लिए तो नहीं किया था।··· उन्हें लगा कि वे अपनी इस जीवन-यात्रा से बहुत थक गए हैं। सचमुच वृद्ध हो गए हैं वे। आज उनका मन किसी 'अपने' के कंधे पर सिर टिकाकर थोड़ा रो लेना चाहता था।··· यह मूर्ख दुर्योधन स्वयं अपने पापों का फल भोग रहा है और दोष दे रहा है, देवव्रत भीष्म को, जिन्होंने सदा कुरुकुल की रक्षा के लिए अपने प्राण न्यौछावर किए हैं।··· यह दुष्ट अधर्मी क्या जाने कि भीष्म ने क्या कुछ सहन किया है इस कुल केगौरव और इस की मर्यादा की रक्षा के लिए··· मन हुआ, इसी क्षण वे खींचकर एक चाँटा इस दुर्योधन के मुख पर लगाएं, ताकि वह अपनी मर्यादा को पहचान सके। राजा हो गया है तो अपने पितामह से इस प्रकार संबोधित होगा···

नहीं चाहिए, उनको इसका यह सेनापतित्व। कोई कृपा नहीं की है, उसने उन्हें सेनापति वनाकर। अपने स्वार्थ के लिए वनाया है उसने उनको सेनापति, ताकि वे पांडवों का वध कर हस्तिनापुर का राज्य सदा के लिए उसकी झोली में डाल दें।··· वह समझता है कि भीष्म उसका दिया खाते हैं। उसे स्मरण नहीं है कि वह जो कुछ खा रहा है, वह सब भीष्म का है।··· उनकी इच्छा हुई कि वे सारथि से कहें, कि वह रथ प्रस्तुत करे, वे हस्तिनापुर में अपने घर जाना चाहते हैं।··· कर ले दुर्योधन जो निपटारा उसे पांडवों से करना है। वना ले सेनापति जिसे बनाना है। नहीं चाहिए उन्हें ऐसा यश और नहीं चाहिए ऐसा अपयश।···

पर सृंजय ? सोमक ? पांचाल ?··· कौन सँभालेगा उनकी सेनाओं को ? वे कौरवों को खा जाएँगे··· वे अपने परंपरागत वैर का प्रतिशोध ही नहीं लेंगे, भीष्म के पूर्वजों द्वारा संरक्षित हस्तिनापुर का राज्य भी पचा जाएँगे वे। दुर्योधन नहीं समझता कि भीष्म किस लक्ष्य के लिए लड़ रहे हैं।··· भीष्म ने बहुत सारे युद्ध लड़े हैं अपने वैरियों से। युद्ध करने आई शत्रुओं की सेनाओं से और अपने मन में बैठे विकारों से। बहुत कुछ जीता है उन्होंने; किंतु अभी पांचालों, सोमकों और सृंजयों के प्रति अपने वैर को नहीं जीत पाए हैं।··· उन्होंने देखा था कृष्ण को युधिष्ठिर के राजसूय में ऋषियों के उच्छिष्ट पत्तल उठाते। अहंकार को कैसे जीता जाता है, यह कृष्ण से सीखना चाहिए; किंतु अभी भीष्म अपने कुल के अहंकार को जीत नहीं पाए हैं।··· वे एक मूर्ख दुर्योधन के कारण अपने कुल के गौरव को तिलांजलि नहीं दे सकते। वे हट जाएँगे तो द्रुपद और धृष्टद्युम्न जिसे नष्ट करेंगे, वह दुर्योधन का अहंकार नहीं कौरवों का गौरव होगा··· तो भीष्म कैसे छोड़ दें इस सेना का सेनापतित्व जो पांचालों के विरुद्ध लड़ रही है ?···

"तुम्हें मुझे और द्रोण को युद्ध के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए था। हम मध्यस्थ हैं।" वे स्वयं को बड़ी कठिनाई से संयत कर पाए, "और भीम, उसके भाइयों और उस की पत्नी के प्रति जो व्यवहार तुमने किया है, वह भी तुम जानते ही हो। भीम ने जो प्रतिज्ञाएँ की हैं, उनका ज्ञान भी तुमको होगा ही। तुम जानते हो कि तुम्हारा जो भाई भीम के सम्मुख पड़ेगा, वह मारा जाएगा।" उनका स्वर पूर्णतः रुक्ष और कठोर हो गया, "तुम अपने मन को स्थिर कर, युद्ध के विषय में अपना दृढ़ मत बना लो और स्वर्ग को ही अपना अंतिम आश्रय मानकर पांडवों के साथ युद्ध करो। जाओ।"

दुर्योधन चला गया।

दुर्योधन को अपने सम्मुख से तो पितामह ने भेज दिया था, किंतु उनके मन के भीतर से वह नहीं गया था। ··· उनको लग रहा था कि उसने किसी हिंस्र पशु के समान अपने नुकीले पंजों से उनके मन को छील डाला था।··· इस प्रकार भीष्म अपने जीवन में कम ही अपमानित हुए हैं। दुर्योधन क्या समझता है कि वह जिसका इतना अपमान करेगा, वह अपने प्राणों का पण लगाकर उसके लिए युद्ध करेगा ? कितना जानता है वह मानव-मन को ? ये तो भीष्म ही हैं कि इतना अपमान सहकर अभी खड़े सोच रहे हैं कि दुर्योधन के पक्ष से युद्ध करना उचित है क्या ?··· कोई और होता तो इस प्रकार अपमान सह जाता ? वह दुर्योधन से अपने अपमान का प्रतिशोध नहीं लेता ? उसे अपमानित नहीं करता क्या ? उसे नीचा दिखाने का प्रयत्न नहीं करता ? उसे हानि पहुंचाने का प्रयत्न नहीं करता ?··· कोई क्षमा कर पाता दुर्योधन को ?···

प्रतिशोध ?··· क्षमा ?··· मान अपमान ?···

सहसा भीष्म का मन फिर से कृष्ण की ओर चला गया।··· मान-अपमान की बात हुई थी कृष्ण से। राजसूय के अवसर पर ही पूछा था भीष्म ने उनसे; और कृष्ण ने कहा था··· "जिसने मन को जीत लिया, उसने ब्रह्म को पा लिया। उसका मन प्रशांत

है। वह द्वंद्वों से उदासीन है। उसके लिए सुख–दुःख, शीत-ताप और मान-अपमान एक समान हैं। ज्ञान-विज्ञान से तृप्त पुरुष आत्मज्ञानी भी है और योगी भी। उसके लिए कंचन और मृत्तिका एक समान हैं। सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, ईर्ष्यालु, पुण्यात्मा और पापात्मा में उसकी समबुद्धि होती है।…" पर भीष्म तो आज तक यह नहीं कर पाए।… कृष्ण ने दुर्योधन को अपनी नारायणी सेना दे दी, पर भीष्म अभी तक पांचालों का अस्तित्व स्वीकार नहीं कर पाए।… तो क्या करें वे ? दुर्योधन द्वारा किए गए इस अपमान को वे अपना अपमान न मानें ? उसे दुर्योधन की दुर्बुद्धि ही मानें ? युधिष्ठिर के समान ही उसे क्षमा कर दें ?… पर वे कृष्ण तो नहीं हो सकते। कृष्ण ने तो आत्मा को जान लिया है। इसलिए परमात्मा को भी पहचान लिया है। कृष्ण तो परम तत्व को पहचान कर जैसे स्वयं भी परम तत्त्व ही हो गए हैं।… भीष्म उसे जानते तो हैं, पहचानते नहीं हैं। उन्हें उसकी सूचना तो है, संवेदना नहीं है। ज्ञान तो है, किंतु अनुभूति नहीं है।…

नहीं ! भीष्म चाहे कृष्ण न हो पाए हों, किंतु वे दुर्योधन भी नहीं हो सकते। वे अपना कर्म तो करेंगे ही। अपने कुल तथा उसके गौरव की रक्षा वे करेंगे। वे मूर्ख दुर्योधन द्वारा प्रेरित उत्तेजना के कारण अपना क्षात्र धर्म छोड़कर पांचालों के सामने से भाग नहीं सकते।… युद्ध तो उन्हें करना ही होगा। कहीं ऐसा न हो कि वे दुर्योधन को हानि पहुँचाने का प्रयत्न करें और उसका इच्छित कार्य कर बैठें। बहुत संभव है कि उसने उनका यह अपमान सोच-समझ कर ही किया हो। संभव है कि उनसे त्वरित मुक्ति पाने के लिए यह उसकी सुविचारित युक्ति हो।… नहीं, भीष्म किसी उत्तेजना के अधीन कोई भयंकर निर्णय नहीं करेंगे…

युद्ध और प्रचंड हो गया। कौरव सेना आगे बढ़ी तो पांडवों की ओर से भी प्रबल आक्रमण हुआ। धृष्टद्युम्न, शिखंडी और सात्यकि ने एक ओर से भीष्म पर आक्रमण किया; विराट तथा सोमक योद्धाओं के साथ द्रुपद ने दूसरी ओर से; कैकेय, धृष्टकेतु तथा कुंतिभोज ने तीसरी ओर से। अर्जुन, पाँचों द्रौपदेयों तथा चेकितान ने, दुर्योधन की रक्षा कर रहे राजाओं पर आक्रमण किया और अभिमन्यु, घटोत्कच तथा भीम स्वयं दुर्योधन की ओर बढ़े।

द्रोण सृंजयों पर टूट पड़े। कृतवर्मा तथा शकुनि अपनी-अपनी सेनाएँ लेकर पांडव सेना से जूझने लगे।

कांबोज, मही, सिंधु, वनायु, आरट्ट, तित्तिर तथा पर्वतप्रदेशीय अश्वों की सेना लेकर इरावान ने कौरवों के अश्वारोहियों की सेना पर धावा बोला। शकुनि के भाई–गज, गवाक्ष, वृषभ, चर्मवान, आर्जव तथा शुक–अपनी अश्वारोही वाहिनियाँ लेकर इरावान से लड़ने आगे आए। इरावान अकेला था और उस पर आक्रमण करनेवाले अनेक। इरावान रक्त से नहा गया, किंतु उसका मन भय से परिचित नहीं था। वह

गांधार योद्धाओं द्वारा मारे गए प्रासों से ही उन पर प्रहार करता जा रहा था। अंततः एक-एक कर, उस युद्ध में शकुनि के ये सारे भाई मारे गए।

दुर्योधन को सूचना मिली तो वह अलंबुश के पास गया, "हमारी रक्षा करो, राक्षसराज ! नागकन्या उलूपी के इस पुत्र ने हमारी सारी अश्वसेना नष्ट कर दी है। गांधार के उन महान् वीरों का वध कर दिया है।··· बकासुर का वध स्मरण करो वीर ! इन पांडवों से अपना प्रतिशोध लेना है तुम्हें। यदि तुम इरावान का मस्तक काट लो, तो तुम्हारा प्रतिशोध हो जाएगा और हमारी सेना विनाश से बच जाएगी।"

अलंबुश को इससे अच्छा अवसर और क्या मिलता। उसने आते ही अपना मायावी युद्ध आरंभ किया। उसके राक्षस सैनिक विभिन्न प्रकार के भ्रमपूर्ण समाचारों का प्रचार कर रहे थे। वे किसी भी मृत योद्धा की गदा को उठाकर भागते हुए, दुर्योधन का जयजयकार कर रहे कि दुर्योधन ने द्वितीय पांडव भीम का वध कर दिया है। किसी अज्ञात सैनिक के शव का कोई अंग उठाकर पांडवों के निकट जाकर वे उसे धर्मराज युधिष्ठिर का अंग घोषित कर अलंबुश की जय का कोलाहल कर रहे थे।··· अलंबुश, इरावान के सम्मुख खड़ा युद्ध कर रहा था और उसके सहयोगी विभिन्न दिशाओं से दौड़ते हुए आकर घोषणा कर रहे थे कि राक्षसराज अलंबुश का रथ आ रहा है, उसे मार्ग दो।··· इरावान की एकाग्रता प्रतिक्षण बाधित हो रही थी। वह भ्रम में पड़ा समझ ही नहीं पा रहा था कि जिस के साथ वह युद्ध कर रहा था, वह अलंबुश है अथवा अलंबुश को अभी आना है।··· और यदि अलंबुश को आना है तो वह किस दिशा से आ रहा है ?

सहसा राक्षसों ने आकाश की ओर देखकर चिल्लाना आरंभ किया, "राक्षस राज अलंबुश का विमान आकाश से उतर रहा है।" वे सब आकाश की ओर देख रहे थे और उन्होंने समरभूमि में इधर-उधर हटकर विमान के उतरने के लिए स्थान बना दिया था।··· इरावान ने आकाश की ओर देखा··· क्या सचमुच कोई विमान आ रहा था ? क्या अलंबुश के पास कोई विमान था ? क्या वह आकाश मार्ग से यात्रा करता था ? ··· अलंबुश की इस माया के सम्मुख, इरावान को सर्वथा सम्मोहित सा देख, उसके मातृकुल के नाग सैनिकों ने उसकी रक्षा के लिए उसे चारों ओर से घेर लिया; किंतु अलंबुश उनके लिए गरुड़ प्रमाणित हुआ। उसने एक-एक कर नाग योद्धाओं को मार डाला और मोहित इरावान का भी वध कर दिया।···

घटोत्कच ने इरावान के वध का समाचार सुना तो एक भयंकर त्रिशूल लेकर वह कौरवों पर टूट पड़ा। उसका आक्रमण इतना आकस्मिक और त्रासद था कि कौरव सेना अपना व्यूह छोड़कर भाग चली।

इरावान के वध के समाचार से दुर्योधन बहुत उत्साहित हुआ था। उसने पांडवों की कुछ तो क्षति की, पांडवों में से किसी एक का तो वध हुआ। इरावान का मारा जाना पांडवों के वध के समान ही महत्त्वपूर्ण था। अर्जुन सुनेगा तो वह उतना ही पीड़ित होगा, जितना दुर्योधन अपने भाइयों के वध का समाचार पाकर हुआ था। कदाचित् उससे

भी अधिक··· आज यदि कहीं घटोत्कच भी इसी प्रकार मारा जा सके, तो भीम और अर्जुन दोनों के प्राण आधे ही रह जाएंगे।···

दुर्योधन ने घटोत्कच पर आक्रमण किया। बंगनरेश अपनी गजसेना के साथ दुर्योधन की रक्षा के लिए साथ चला।

उसका आक्रमण इतना भयंकर था कि घटोत्कच के राक्षस विचलित हो उठे। दुर्योधन को अवसर मिला। उसने वेगवान, महारौद्र, विद्युज्जिह्व और प्रमाथी नामक राक्षस योद्धाओं का वध कर डाला।··· उसका उत्साह उसे उकसा रहा था कि वह बंगनरेश के गज को पीछे कर स्वयं की घटोत्कच पर आक्रमण करे।··· पर उसकी आवश्यकता नहीं पड़ी। घटोत्कच स्वयं ही सम्मुख आ गया। वह अत्यंत क्रोध की स्थिति में था। दुर्योधन को अपने सम्मुख देखकर बोला, "मैंने देखा है तूने मेरे पितरों को कैसे-कैसे कष्ट दिए हैं। मैं जानता हूँ कि तूने मेरी माता पांचाली का कैसा अपमान किया है। आज उन सबका प्रतिशोध मैं लूंगा तुझसे।"

घटोत्कच ने अपने शूल के प्रहार से गजसेना का संहार आरंभ किया। एक-एक कर हाथी गिरते रहे और दुर्योधन असहाय-सा देखता रहा।···

भीष्म को सूचना मिली। उन्होंने द्रोण को संदेश भिजवाया, "यह दुर्योधन मूर्खो के समान कहीं भी जा भिड़ता है। अब वह घटोत्कच से उलझा हुआ है। उसके प्राण संकट में हैं। जाइए और जाकर उसकी रक्षा कीजिए।"

द्रोण ने तत्काल उस दिशा में प्रस्थान किया।

राजा के प्राण संकट में हैं, और आचार्य द्रोण उनकी रक्षा के लिए जा रहे हैं—यह समाचार कौरव सेना में दावाग्नि के समान फैल गया। द्रोण के साथ-साथ सोमदत्त, वाह्लीक, जयद्रथ, कृपाचार्य, भूरिश्रवा, शल्य, विंद, अनुविंद, बृहद्बल, अश्वत्थामा, विकर्ण, चित्रसेन और विंविशति भी चले।

घटोत्कच ने कौरव महारथियों को आते हुए देखा। उसके उत्साह में तनिक भी ह्रास नहीं हुआ। उल्टे वह और उत्साहित हो उठा। आज वह दुर्योधन के इन रक्षकों को भी पाठ पढ़ाएगा। ये ही हैं, जिन के बल पर दुर्योधन आज तक सब पर अत्याचार करता रहा है।··· घटोत्कच ने न केवल उन सब को रोका, उन में से अनेक को अपने बाणों से आहत भी कर दिया···

युधिष्ठिर ने भीम को बुलाया, "मध्यम ! कौरवों की विशाल सेना उस ओर गई है, जिधर दुर्योधन से घटोत्कच जूझ रहा है। दुर्योधन के साथ बहुत सारे महारथी हैं। मुझे लगता है तुम्हें हिडिंबापुत्र की रक्षा के लिए जाना चाहिए। ऐसा न हो कि हम उसे भी उलूपीपुत्र के समान खो दें।···"

भीम के साथ सत्यधृति, सौचित्ति, श्रेणिमान, वसुदान, अभिभू, अभिमन्यु, पाँचों द्रौपदेय, क्षत्रदेव, क्षत्रधर्मा तथा अनूप देश के राजा नील चले।

पांडवों की सहायता आई देखकर कौरव सेना टिक नहीं पाई। अपनी सेना को

इस प्रकार पलायन करते देख दुर्योधन क्रुद्ध होकर भीम पर झपटा—यही था, उस की सारी कठिनाइयों का मूल। यही था, जो चुन-चुन कर उसके भाइयों का वध कर रहा था। आज यदि वह भीम को समाप्त कर दे तो पांडवों में से किसका साहस था कि वह उसके सामने टिक सके।

दुर्योधन ने भीम पर वाणों की झड़ी लगा दी और उसका एक वाण जाकर भीम के वक्ष पर लगा। लगता था कि उसका कवच फट गया था और वाण उसे गंभीर घाव दे गया था। भीम को उस वाण से व्यथित होते सबने देखा। वह ध्वजदंड का सहारा लिए स्वयं को सचेत करने का प्रयत्न कर रहा था।···

दुर्योधन को अपनी विजय बहुत निकट दिखाई दी··· अभी यह मोटा रथ में ही लेट जाएगा और फिर सदा के लिए भूमि पर सो जाएगा।···

पर उधर अपने पिता को कष्ट में देखकर घटोत्कच जल उठा। अभिमन्यु भी दौड़ा।

द्रोण काँप उठे : अभिमन्यु और घटोत्कच एक साथ दुर्योधन पर कूद पड़े तो दुर्योधन को कौन बचाएगा। उन्होंने तत्काल कृपाचार्य, भूरिश्रवा, शल्य, अश्वत्थामा, विविंशति, चित्रसेन, विकर्ण, जयद्रथ, बृहद्वल, विंद तथा अनुविंद को दुर्योधन की रक्षा के लिए उसे घेर लेने के लिए भेजा। इतने से भी संतोष नहीं हुआ तो वे स्वयं भीम के सम्मुख आ खड़े हुए और उसे अपने वाणों से वींधने लगे। भीम ने द्रोण का तनिक भी भय नहीं माना, न ही उनके प्रति सम्मान के कारण उसका हाथ काँपा। उसने उसी क्रूरता से द्रोण को आहत किया, जैसे वह दुर्योधन को करता।

भीम को द्रोण से उलझे देख, अश्वत्थामा और दुर्योधन मिलकर उस पर झपटे। अब धनुष-बाण से भीम को संतोष नहीं हुआ। यह वाणों का युद्ध अर्जुन के लिए ही छोड़ देना चाहिए, जो एक साथ असंख्य वाण चलाता है या अपने धनुष से दिव्यास्त्र छोड़ता है। भीम की तो गदा ही अच्छी। एक प्रहार और सामनेवाला समाप्त।··· वैसे भी अंधकार घिरता जा रहा था। दूर तक दिखाई भी नहीं पड़ता था। जाने वाण किस को जा लगे।···

वह हाथ में गदा लेकर रथ से कूद पड़ा।

घटोत्कच से और धैर्य नहीं हो सका। उसने अपने साथियों को संकेत किया और वहाँ एक विचित्र प्रकार का मायायुद्ध आरंभ हो गया। धुँधलके का सहारा लेकर घटोत्कच का एक राक्षस कहीं से घुसकर द्रोण के रथ में जा चढ़ा और रथ के पीछे बँधे शस्त्रागार का बंधन काट आया। द्रोण के सैनिकों ने देखा कि आचार्य के रथ में उनका शस्त्रागार ही नहीं था। कृपाचार्य का सारथि अपने स्थान से उछलकर कृपाचार्य से ही जा टकराया था। जयद्रथ के रथ के अश्व जाने कैसे खुल कर स्वतंत्र हो गए थे। रथ भूमि पर आ गिरा था और जयद्रथ अपने सारथि से ही उलझ गया था।···

कौरव सैनिकों में तत्काल समाचार फैल गया कि कौरवों ने अपनी पराजय की

हताशा में कुछ अधिक ही मदिरा पी ली है, अथवा घटोत्कच ने अपनी माया से सारे कौरव महारथियों को उन्मादी बना दिया है, वे परस्पर ही युद्ध कर रहे हैं और एक-दूसरे का मस्तक काट रहे हैं। ऐसे महारथियों की आज्ञा के अधीन रह कर उनके लिए युद्ध कैसे किया जा सकता है।...

कौरव सैनिकों को युद्ध छोड़ कर भागने में अधिक समय नहीं लगा।

भीष्म को कौरवों के पराभव का समाचार मिल गया था और थोड़ी ही देर में दुर्योधन भी उनके सम्मुख आ खड़ा हुआ, "प्रभु !..."

भीष्म ने चकित दृष्टि से उसकी ओर देखा : वह उन्हें 'पितामह' नहीं 'प्रभु' संबोधित कर रहा था। उन्हें विश्वास नहीं हुआ कि कभी दुर्योधन भी उनसे इस प्रकार संबोधित हो सकता है।...

"मेरे शत्रु पांडव जैसे वासुदेव कृष्ण का आश्रय लेकर युद्ध करते हैं, उसी प्रकार मैंने केवल आपका अवलंब ग्रहण कर पांडवों से यह भयंकर युद्ध छेड़ा है। मैंने अपनी यह सारी सेना—ग्यारह अक्षौहिणी सेना आपकी आज्ञा के अधीन रख छोड़ी है।... ऐसी शक्तिशाली सेना है हमारी, फिर भी भीम ने घटोत्कच की सहायता लेकर हमें परास्त कर दिया है। यह अपमान मेरे अंग-अंग को दग्ध कर रहा है। सोचिए, हस्तिनापुर का राजा दुर्योधन, उस वनैले राक्षस से पराजित हो गया और उसकी सेना भाग गई।..."

भीष्म उसकी ओर देखते रहे : यह दुष्ट स्वयं ही युद्ध करता है और जब पराजित हो जाता है तो भागा हुआ उनके पास आ जाता है, जैसे उसमें भीष्म का कहीं कोई दोप हो।... और इस समय तो वह उनको 'प्रभु' कह रहा है।... आज दुर्योधन की प्रभुता घटोत्कच से पराजित हो गई तो भीष्म प्रभु हो गए।...

"मैं आपकी कृपा से स्वयं ही उस नीच और दुर्धर्ष राक्षस को मारना चाहता हूं, उस पर विजयी होना चाहता हूँ।" दुर्योधन बोला।

भीष्म फिर कुछ चकित रह गए... वह स्वयं घटोत्कच का वध करना चाहता था, तो करता क्यों नहीं ? भागा हुआ उनके पास क्यों चला आता है ?... वध तो वह स्वयं ही करना चाहता है, किंतु उनकी सहायता से करना चाहता है। उनकी सहायता से ? या तो भीष्म ही घटोत्कच का वध कर सकते हैं, या फिर दुर्योधन ही कर सका है। ... क्या वह चाहता है कि घटोत्कच को पकड़कर भीष्म उसके सम्मुख उपस्थित करें और वह अपनी असि से उसका वध कर दे ? ऐसा चाहता है दुर्योधन ?

"तुम युद्ध में सदा अपनी रक्षा का ध्यान रखो, हस्तिनापुर के राजा दुर्योधन ! तुमसे किसने कहा है कि युद्ध में जिस-तिस से भिड़ते रहो।" भीष्म बोले, "तुम सदा धर्मराज युधिष्ठिर से ही युद्ध किया करो।... या फिर उनके भाइयों से लड़ सकते हो। राजा का अपमान न हो, इसलिए राजधर्म का ध्यान रखकर ही राजा केवल राजा से

युद्ध करता है।··· तुम्हें घटोत्कच से युद्ध नहीं करना चाहिए। उससे युद्ध करने के लिए और लोग हैं।···"

"पर उसका भी तो कोई प्रवंध करना होगा।" दुर्योधन खीजकर वोला, "मैं युधिष्ठिर से ही लड़ता रहूँगा तो घटोत्कच हमारी सारी सेना को नष्ट कर देगा।··· उसका मरना वहुत आवश्यक है।"

"उससे लड़ने के लिए मैं प्राग्ज्योतिपपुर के राजा भगदत्त को भेजता हूँ।" भीष्म वोले।

भगदत्त अपने हाथी सुप्रतीक पर आरूढ़ होकर आया। उसके साथ ही कौरव सेना का आत्मवल लौटा और सेना कुछ स्थिर होकर युद्ध करने लगी।

भीम, अभिमन्यु, घटोत्कच, पाँचों द्रौपदेयों, सत्यभूति, क्षत्रदेव, धृष्टकेतु, वसुदान और दशार्णवराज ने भगदत्त और उसके साथ लौटी सेना का सामना किया।

घटोत्कच ने अपना त्रिशूल भगदत्त को मारा, किंतु भगदत्त ने वड़ी सुविधा से उसका त्रिशूल काटकर फेंक दिया। अव प्रहार करने की वारी भगदत्त की थी। उसने एक भयंकर शक्ति घटोत्कच पर चलाई। भीम का हृदय काँप उठा। अव घटोत्कच वच नहीं सकता।··· किंतु घटोत्कच ने आगे वढ़ स्वयं ही उछलकर वह शक्ति थाम ली और भगदत्त को अपमानित करने के लिए, अपने घुटने पर रखकर शक्ति के दो खंड कर दिए।···

भीम का हृदय उल्लास से उछल पड़ा।··· इसका अर्थ था कि उसने सदा ही अपने पुत्र की क्षमता को वहुत कम आँका था··· अथवा यह पुत्र के प्रति मोह था, जो उसे आशंकित कर देता था।

भगदत्त हताश नहीं हुआ। वह जानता था कि उस पर न केवल कौरव सेना के गौरव की रक्षा का भार था; पांडवों से प्रतिशोध लेने का यह स्वर्णिम अवसर भी था। उसने अपने वाणों से भीम को घायल किया और घटोत्कच को तो एक प्रकार से वींध ही दिया। द्रौपदेयों को आहत किया और भीम के सारथि विशोक को इतना व्यथित किया कि वह रथ छोड़कर पीछे के खंड में जा वैठा।

भीम ने समझ लिया कि अव उससे धनुष-वाण से कुछ नहीं होगा। उसने हाथ में गदा उठाई और रथ से कूदकर भूमि पर आ गया। उसी समय दूसरी ओर से देवदत्त का नाद हुआ और अर्जुन आता हुआ दिखाई दिया।··· अव कौरवों के सामने प्रश्न था कि वे निकट जाकर भीम की गदा का सामना करें अथवा दूर से ही अर्जुन की वाण-वर्षा को रोकें।···

भगदत्त ने भीम को छोड़कर युधिष्ठिर पर आक्रमण किया। और युधिष्ठिर की रक्षा में सारे पांडव जुट गए। राजा की रक्षा सेना के किसी भी योद्धा से अधिक महत्त्वपूर्ण

थी। युद्ध भयंकर होता चला गया।

"तुम्हें एक समाचार देना है अर्जुन !"

और भीम ने अर्जुन को इरावान की मृत्यु का समाचार दिया।

भीम का विचार था कि अर्जुन की प्रतिक्रिया अत्यंत भयंकर होगी। संभव है कि वह कोई विकट प्रतिज्ञा कर बैठे। संभव है कि वह अपना रथ सीधा दुर्योधन के रथ से दे मारे। संभव है वह कोई भयंकर देवास्त्र प्रकट करे···

पर अर्जुन ने सुना और उसकी दृष्टि अनायास ही कृष्ण की ओर उठ गई, जैसे कह रहा हो, "मैंने तो पहले ही कहा था।" और फिर धीरे से बोला, "क्या है क्षत्रिय धर्म भी। धन के लिए युद्ध ? राज्य के लिए हत्याएँ ? धिक्कार है इस क्षत्रिय जीवन को। जिनके लिए राज्य की कामना की जा सकती है, वे पहले ही संसार छोड़ जाएँगे तो क्या करेंगे हम इस राज्य का।"

"जिसका वध हुआ है धनंजय ! वह शरीर था। जिसका जन्म हुआ है, उस की मृत्यु निश्चित है; और जिसकी मृत्यु हुई है, उसका पुनर्जन्म निश्चित है। जन्म और मृत्यु केवल शरीर के ही होते हैं, आत्मा के नहीं।" कृष्ण बोले, "जो शरीर राज्य के लिए युद्ध नहीं करते, मृत्यु तो उनकी भी होती है। धन्य हैं वे जो अपने धर्म का पालन करते हैं और अधर्म के नाश के लिए शरीर त्यागते हैं।" कृष्ण का स्वर संगीतमय हो गया था, "आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल गला सकता है, न पवन उसे जलशून्य-शुष्क कर सकता है।" वे रुके, "सामने देखो ! आचार्य द्रोण को केन्द्र में रखकर कौरवों की सेना आ रही है।"

अर्जुन की निराश आंखों में जैसे एक कठोरता साकार हुई और उसने गांडीव की प्रत्यंचा खींची।

द्रोण आते ही सागर की किसी लहर के समान भीम पर टूट पड़े; और दूसरी लहर के समान भीष्म, कृपाचार्य, भगदत्त, और सुशर्मा ने अर्जुन पर आक्रमण किया। कृतवर्मा और वाह्लीक ने मिलकर सात्यकि को रोका। अंवुष्ट, अभिमन्यु से जा भिड़ा। ··· युद्ध की बुझती-बुझती ज्वाला, जैसे फिर से जाग ही नहीं गई थी, पूर्णतः भड़क भी उठी थी।

आज भीम की गदा, द्रोण से भी नहीं रुक पा रही थी। भीम ने अपने सामने धृतराष्ट्र के पुत्र देखे तो जैसे उसके भीतर की समस्त हिंसा, प्रतिशोध भावना, अब तक का अपमानित अहंकार अपनी पूरी क्रूरता के साथ जाग उठे थे।

"तुम आचार्य को रोकना पुत्र !" उसने घटोत्कच से कहा और धृतराष्ट्र-पुत्रों पर टूट पड़ा। उसने व्यूढोरस्क, कुंडलीक, अनाधृष्टि, कुंडभेदिन, वैराट, दीर्घलोचन, दीर्घवाहु, सुवाहु और कनकध्वज की हत्या कर दी।

दुर्योधन ने देखा : उसकी सेना के सारे महारथियों के देखते-देखते भीम ने उसके नौ और भाइयों की हत्या कर दी थी। युद्ध अपनी भयंकरतम स्थिति में था और रात्रि

का आगमन हो गया था। उसकी इच्छा हो रही थी कि अपने भाइयों का प्रतिशोध लिए विना वह युद्ध से न हटे। पांडवों का कोई एक भाई तो धराशायी हो। किंतु अधिकांश सैनिक दिन भर के परिश्रम से थककर चूर-चूर हो चुके थे। कितने ही भाग गए थे और अंधकार में कुछ भी न दिखने के कारण अनेक कुचले भी गए थे। वह चाहे कितना ही दुखी और उत्तेजित क्यों न हो। अव आज और युद्ध नहीं हो सकेगा।

दोनों सेनाएँ अपने स्कंधावारों में लौट गईं।

दुर्योधन अपने शिविर में दुःशासन, कर्ण और शकुनि के साथ वैठा था। वह दुखी ही नहीं, वहुत हताश भी था। अपना क्षोभ उससे सँभाला नहीं जा रहा था।

"भीष्म और द्रोण के विपय में तो मैं जानता ही था," सहसा वह आक्रोशपूर्वक वोला, "पर आज मैं देख रहा हूँ कि जाने क्यों कृपाचार्य, शल्य और भूरिश्रवा भी पांडवों को कोई वाधा नहीं पहुँचाते। ये कैसे योद्धा हैं ? हम इनकी गिनती महारथियों और अतिरथियों में करते रहें और ये लोग अपने शत्रुओं का वचाव करते रहें, तो हम जीत कैसे सकते है ? जिस सेना में इतना आंतरिक विरोध हो और शत्रुओं के प्रति सहानुभूति हो, वह विजय कैसे प्राप्त कर सकती है। पांडव स्वयं को अवध्य समझकर मेरी सेना का संहार कर रहे हैं।" सहसा वह कर्ण की ओर मुड़ा, "और राधेय ! तुम युद्ध से मुँह मोड़कर रूठी प्रियतमा के समान अपने शिविर में वैठे हो। तुम नहीं देख रहे कि पांडव मुझे परास्त कर रहे हैं ? द्रोण देखते रहते हैं और भीम मेरे भाइयों का वध करता रहता है। आज तक मेरे पच्चीस भाइयों का वध कर चुका है वह। और तुम पितामह के प्रति अपने विरोध पर अड़े हो। इधर मेरा अपना जीवन संदिग्ध हो उठा है। ऐसे में मैं युद्ध कैसे कर सकता हूँ।··· ग्यारह अक्षौहिणी सेना का स्वामी मैं और मेरा जीवन भी सुरक्षित नहीं है, क्योंकि मैं परायों को अपना समझ कर उनसे घिरा हुआ युद्ध कर रहा हूँ।··· तुम तो कहते थे कि तुम मेरे मित्र हो।···" लगा, दुर्योधन अभी रो देगा।

कर्ण के चेहरे पर एक कठोर भाव उपजा। उसकी आँखों में दृढ़ता थी, "उस भीष्म को हटा दो। मैं सत्य की शपथ खाकर कहता हूँ कि मैं उन सोमकों सहित सारे कुंतिपुत्रों को एक साथ मार डालूँगा।···" कर्ण को लगा कि उसके अपने मन में से ही किसी ने उसे टोका है··· सारे कुंतिपुत्रों का वध वह कैसे कर सकता है ?··· वे उसके भाई हैं। उसने अपनी जननी को चार पांडवों के प्राण न लेने का वचन दिया है। वह भी तो दुर्योधन को वैसा ही पराया लगेगा, जिन्हें वह अपना समझता है··· पर जैसे उसके अहंकार ने हठपूर्वक उस स्वर को दवा दिया। वह आज इस वृद्ध भीष्म को पराजित करके ही रहेगा। भीष्म देखें कि कर्ण क्या कर सकता है। वह दुर्योधन को अपने पितामह से भी अधिक विश्वसनीय लग सकता है।···

"मैं तुमको पूरे विश्वास के साथ वता रहा हूँ कि भीष्म पांडवों का वध तो नहीं

ही करेंगे, वे उनकी कोई गंभीर क्षति भी नहीं करेंगे। वे उन पर दया करते हैं, उनसे प्रेम करते हैं। वे उनका वध कैसे कर सकते है।" उसने कहा, "तुम अपने उस पूजनीय वृद्ध पितामह से उनके शस्त्र रखवा लो और फिर मेरे द्वारा पांडवों को मारा गया ही समझो।"

दुर्योधन के मन में चिंतन प्रक्रिया चल पड़ी थी।··· अपनी मूर्खता को चतुराई समझा दुर्योधन ने। पहले दिन से जिनके विषय में उसे पता था कि वे पांडवों से प्रेम करते हैं, जिन्होंने उसके सम्मुख पांडवों का वध न करने की प्रतिज्ञा की, उन पितामह को अपना सेनापति बनाया उसने। क्यों ? वह अपने मन में योजनाएँ बनाता रहा कि किसका वध वह पितामह से करवा लेगा और उनको हटाकर किसका वध वह कर्ण से करवाएगा। उस मूर्ख ने तब यह नहीं सोचा कि पितामह किस-किसका वध नहीं करेंगे और इस बीच पांडव किस-किस का वध कर डालेंगे··· यह चतुराई थी उस की ?···

सुनहरी पगड़ी बाँधे, हाथ में बेंत और झर्झर लिए सिपाही, लोगों को हटाकर दुर्योधन के लिए मार्ग बना रहे थे। दुर्योधन अश्व पर आरूढ़ था। सुगंधित तेल से भरे स्वर्णनिर्मित दीपक लेकर सेवक उसे घेरकर चल रहे थे। दुर्योधन के मित्र और भाई, गजों, अश्वों तथा रथों पर चल रहे थे।

भीष्म के शिविर के सम्मुख पहुँचकर यात्रा रुक गई।

दुर्योधन ने भीतर पहुँचकर पितामह को प्रणाम किया।

"दुर्योधन ! इस समय तुम ?" पितामह अधिक कुछ नहीं बोले। युद्ध का समय था, राजा किसी भी प्रकार की चर्चा अथवा आदेश के लिए अपने सेनापति के पास आ सकता था।

"और भी बहुत लोग आए है। बाहर खड़े हैं। आवश्यकता होने पर भीतर आएँगे; अन्यथा बाहर से ही लौट जाएँगे।" दुर्योधन जाकर सर्वतोभद्र सिंहासन पर बैठ गया।

उसने दृष्टि उठाकर पितामह की ओर देखा। पितामह उसके बोलने की प्रतीक्षा कर रहे थे।

"पितामह ! यदि आप मेरे प्रति द्वेष के कारण पांडवों की रक्षा कर रहे हैं, तो कर्ण को युद्धक्षेत्र में आने और युद्ध करने की अनुमति दीजिए।" दुर्योधन बोला।

भीष्म तत्काल कुछ नहीं बोले··· यह दुर्योधन क्या समझता है ? जो इस से प्रेम करता है, वह किसी और से प्रेम कर ही नहीं सकता ? ···इस व्यक्ति दुर्योधन की रक्षा तो उन्होंने कभी नहीं करनी चाही, किंतु कुरुकुल के इस राजकुमार की रक्षा के इच्छुक भीष्म सदा ही रहे, तो उसका क्या अर्थ है कि वे कुरुकुल के ही अन्य राजकुमारों की रक्षा न करें ? इसकी रक्षा करनी है तो अन्य सब राजकुमारों को मार डालें ? यह मूढ़ दुर्योधन कब समझेगा कि किसी भी मनुष्य को अधिक से अधिक लोगों से प्रेम करने

की स्वतंत्रता है··· वरन् जो जितना सात्विक व्यक्ति होगा, वह उतने ही अधिक लोगों से प्रेम करेगा, उसका परिवार उतना ही बड़ा होगा।··· यह तो केवल अपने-आप से ही प्रेम करना जानता है और अब चाहता है कि अन्य लोग भी केवल इससे ही प्रेम करें···

भीष्म ने व्यथित स्वर में धीरे से कहा, "तुम प्रतिदिन देखते हो कि मैं युद्ध में क्या करता हूँ। फिर भी दिन भर में जितने बाण मेरे शरीर पर लगते हैं, उससे अधिक वाग्बाण तुम मुझे मेरे शिविर में आकर मारते हो। तुम्हें विजय चाहिए और तुम्हें लगता है कि वह तुम्हें कर्ण के माध्यम से मिलेगी। कर्ण समरभूमि में आए, उसके लिए मुझे वहाँ से हटना होगा। मैं क्षत्रिय हूँ। जीते जी युद्धक्षेत्र से हट नहीं सकता। इसलिए कर्ण को समरभूमि में आने देने के लिए मुझे मरना होगा।··· कर्ण के माध्यम से तुम्हारी जय के लिए मैं अपने प्राण देने को प्रस्तुत हूँ।" भीष्म ने उसकी ओर देखा, "पर यह स्मरण रहे कि अर्जुन ने खांडववन के दाह के समय इंद्र को भी पराजित किया था। जब गंधर्वों ने तुम्हें बाँध लिया था तो कर्ण भागनेवालों में सबसे पहला व्यक्ति था। तब अर्जुन ने ही तुम्हें गंधर्वों से मुक्त कराया था। विराटनगर में अर्जुन ने हम सबको पराजित किया था—कर्ण को भी। कर्ण के वस्त्र उतारकर ले गया था वह उत्तरा की गुड़िया के लिए। ··· वही अर्जुन है यह।" और सहसा भीष्म का स्वर कुछ बदल गया, "तुमने पांडवों और सृंजयों से वैर ठाना है। तुमने उन्हें वंचित किया है। तुमने उन्हें अकारण अपमानित किया है। तुमने उनके वध का प्रयत्न किया है बार-बार···। अब स्वयं ही उनसे युद्ध क्यों नहीं करते ? भागे-भागे, कभी इधर और कभी उधर जाते हो। कभी अपने पुरुषत्व का भी परिचय दो तो हम देखें। यह सूचना मैं तुम्हें फिर दे रहा हूँ कि इंद्र सहित सारे देवता मिलकर भी अर्जुन को नहीं जीत सकते।" वे क्षण भर के लिए रुके, "जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं कल सिवाय शिखंडी के अन्य सृंजयों को मार डालूँगा।"

दुर्योधन उठ खड़ा हुआ, "ठीक है पितामह ! तो फिर यही हो। कल आप सृंजयों को समाप्त कर दें और फिर मैं अपना पौरुष भी प्रदर्शित करूँगा।···"

दुर्योधन उनके मंडप से निकल गया। भीष्म अपने स्थान पर बैठे रह गए।··· यह तो निश्चित ही था कि अब वे बहुत अधिक समय तक कौरवों के सेनापति नहीं रह सकते।···

44

दिन भर के युद्ध के पश्चात् द्रुपद अपने शिविर में न जाकर धृष्टद्युम्न के शिविर में आए। वे अपने साथ शिखंडी को भी ले आए थे।

"मुझे लगता है धृष्टद्युम्न !" वे बोले, "हमें धर्मराज से स्पष्ट रूप से कुछ बातें

कर ही लेनी चाहिए।"

"किस विषय में पिताजी ?" धृष्टद्युम्न ने पूछा।

"तुम प्रधान सेनापति हो पुत्र ! तुम्हें मुझसे अधिक ज्ञात होना चाहिए कि हमारी सेना की क्या स्थिति है।" द्रुपद बोले, "हमें रणसज्जित हुए आज नौ दिन हो गए, क्या तुमने विचार किया है कि आज तक हमारी सेना में कितने महारथी हताहत हुए हैं ? किन वाहिनियों की अधिक क्षति हुई है ? शत्रुओं में से कौन से योद्धा हमारा अधिकतम विनाश कर रहे हैं और किन योद्धाओं के न रहने से हमारी सेना अधिक सुरक्षित हो सकती है ? हमारी अधिकतम क्षति करनेवाले विपक्षी योद्धा अभी तक जीवित क्यों हैं ?"

धृष्टद्युम्न ने अपने पिता की ओर देखा : वे कह चुके अथवा उन्हें अभी और कुछ कहना था ? शायद जो कहना था, वह उन्होंने शब्दों में नहीं कहा है, किंतु अपना मंतव्य वे अपने इन्हीं वाक्यों में ध्वनित कर चुके हैं।···

धृष्टद्युम्न ने शिखंडी की ओर देखा। वह किसी चिंता में मग्न बैठा था। धृष्टद्युम्न को लगता था कि इस युद्ध में शिखंडी पर दायित्व का बोझ उसकी क्षमता से कुछ अधिक ही था। उसके संदर्भ में भीष्म की प्रतिज्ञा का ज्ञान सबको ही था। शिखंडी की अपनी प्रतिज्ञा से भी सब अवगत थे। ऐसे में उससे यह अपेक्षा की जा रही थी कि वह भीष्म का वध करे। वह जब कभी भीष्म के सम्मुख गया, भीष्म ने चाहे उस पर शस्त्र नहीं साधा किंतु जैसे सारी की सारी कौरव सेना उस पर टूट पड़ी। शिखंडी सारी कौरव सेना का सामना कैसे कर सकता था ?··· परिणामतः उसकी प्रतिज्ञा अभी अधूरी थी और सारी सेना अपेक्षा भरी दृष्टि से उस की ओर देख रही थी।···

"आप ठीक कहते हैं पिताजी !"

"तो पुत्र या तो प्रधान सेनापति के अधिकार से तुम स्वयं निर्णय करो अथवा राजा के रूप में युधिष्ठिर से इस विषय में चर्चा करो। हम कब तक प्रतीक्षा करेंगे ?" द्रुपद बोले।

"तो तत्काल ही चलें।" धृष्टद्युम्न बोला, "अन्यथा···।"

धृष्टद्युम्न ने अपना वाक्य अधूरा ही छोड़ दिया और किसी ने उससे पूछा भी नहीं कि वह क्या कहना चाह रहा था।

वे तीनों युधिष्ठिर के शिविर में आए और सूचना भिजवाकर उन्होंने मंडप में प्रवेश किया। वहाँ कृष्ण तथा अर्जुन पहले से ही विद्यमान थे।···

"आइए।" युधिष्ठिर ने उनका स्वागत किया, "मैं भी आपकी ओर संदेश भेजने ही वाला था।"

"कोई विशेष बात है राजन ?"

"हां ! समर-नीति पर ही चर्चा करनी है।" युधिष्ठिर बोले, "भीम, नकुल और सहदेव भी आ ही रहे होंगे।"

द्रुपद, धृष्टद्युम्न और शिखंडी बैठ गए।

"आप युद्ध-नीति पर चर्चा अवश्य करें, किंतु इससे भी पहले मुझे अपनी बात कहनी है।" द्रुपद बोले, "यदि आपको आपत्ति न हो तो···।"

तभी मंडप में भीम, नकुल और सहदेव ने भी प्रवेश किया।

उनको स्थान ग्रहण करने के लिए कहकर युधिष्ठिर, द्रुपद से बोले, "हाँ ! कहिए।"

"राजन् ! क्या आपको नहीं लगता कि आज हमारी असाधारण क्षति हुई है। प्रतिदिन ही हो रही है। आज युद्ध का नौवाँ दिन था और हम आज भी भीष्म का कुछ नहीं विगाड़ पाए ?"

"मैं भी इन्हीं वातों से चिंतित हूँ महाराज !" युधिष्ठिर ने कहा, "आपकी चिंता और मेरी चिंता में कोई विशेष अंतर नहीं है।"

"नहीं ! अधिक नहीं तो थोड़ा अंतर तो है ही।" द्रुपद बोले, "मैं यह मानता हूँ कि वैसे तो भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा तथा कृपाचार्य सारी ही पांडव-सेना का विकट संहार कर रहे हैं, किंतु उनका पांचालों से विशेष वैर है। वे पांडवों और यादवों की वाहिनियों के प्रति उतने क्रूर नहीं हैं, जितने पांचालों, सृंजयों, सोमकों और प्रभद्रकों के प्रति हैं। वे प्रतिदिन हमारा भयंकर विनाश कर रहे हैं।···"

"पंचालराज !" सहसा सहदेव ने उन्हें टोक दिया, "आप अपनी सेना में भी विभिन्न वाहिनियों की दृष्टि से कुछ भेद मानते हैं क्या ?"

"सेना तो एक ही है किंतु वाहिनियों का भेद अवश्य है।" द्रुपद बोले, "सहदेव ! मेरी वात को समझने का प्रयास करो। भीष्म और द्रोण पांडवों के शत्रु नहीं है, किंतु वे पांचालों के शत्रु हैं। भीष्म ने पांडवों को अपने लिए अवध्य घोषित किया है किंतु पांचाल, सोमक, सृंजय और प्रभद्रक इत्यादि उनके लिए अवध्य नहीं हैं। इसलिए वे प्रतिदिन हमारा भयंकर संहार कर रहे हैं।"

"महाराज ! युद्ध में संहार तो होता ही है। विराटराज के तीन पुत्र मारे गए। उलूपीपुत्र इरावान मारा गया···" नकुल ने कहा।

"मानता हूँ।" द्रुपद वोले, "रक्त तो हम प्रतिक्षण बहा रहे हैं; किंतु भीष्म जैसे योद्धा से अपने सैनिकों को वचाना हमारा दायित्व है अथवा नहीं ?"

"है क्यों नहीं ?" नकुल ने कहा, "और वह हम प्रतिदिन कर रहे हैं।"

"वही तो नहीं कर रहे हैं।" द्रुपद का स्वर कुछ ऊँचा हो गया, "अपनी सेना की रक्षा और उसकी क्षति को न्यूनतम करने के लिए आवश्यक है कि हम शत्रु की प्रहारक क्षमता को नष्ट करें। पर मैं देख रहा हूँ कि उनसे कोई युद्ध ही नहीं कर रहा है।···"

"युद्ध नहीं हो रहा ?" भीम ने कहा, "आपने देखा, आज पाँचों द्रौपदेयों और अभिमन्यु ने राक्षस अलंवुश के साथ कैसा युद्ध किया। उस स्थान पर लड़ रही कौरव

सेना पलायन कर गई। अलंवुश आज अभिमन्यु से पराजित हुआ है। अर्जुन ने पितामह भीष्म से युद्ध किया है। द्रोण, अश्वत्थामा तथा कृपाचार्य से सात्यकि ने भयंकर युद्ध किया है। अर्जुन ने त्रिगर्तो का एक प्रकार से सर्वनाश ही कर दिया है। मैंने कौरवों की गजसेना को प्रायः नष्ट कर दिया है। अभिमन्यु ने चित्रसेन को भी पराजित किया है। धर्मराज, नकुल और सहदेव ने शकुनि की अश्वसेना को भूमिसात् कर दिया है।…"

"यह सब हम भी जानते हैं मध्यम पांडव !" धृष्टद्युम्न बोला, "किंतु आप भूल रहे हैं कि द्रोण ने आज फिर एक बार पिताजी को नीचा दिखाया है। वृद्ध भीष्म द्वारा पांडव सेना इतनी पीड़ित हुई है कि समरभूमि छोड़कर भाग ही गई। आपने ध्यान नहीं दिया कि भीष्म की क्रूरता और उनके सम्मुख धनंजय की कोमलता को देख स्वयं श्रीकृष्ण भी आहत हुए हैं। जब पांडवों की सेना भीष्म से पीड़ित होकर भाग रही थी तो श्रीकृष्ण ने धनंजय से कहा था कि वे जिस अवसर की अभिलाषा और प्रतीक्षा कर रहे थे, वह आ पहुँचा है। यदि वे अपने पितामह के मोह से मोहित नहीं हो रहे हैं तो भीष्म पर प्रहार करें। उन्होंने धनंजय को उनकी वह प्रतिज्ञा भी स्मरण कराई जो उन्होंने उपप्लव्य में संजय के सम्मुख की थी। उन्होंने युद्ध में सम्मुख आनेवाले कौरव योद्धाओं के वध की प्रतिज्ञा की थी। श्रीकृष्ण ने उन्हें क्षत्रिय धर्म की कठोरता का स्मरण भी कराया। आपको ज्ञात है कि धनंजय ने उस समय क्या कहा ?"

"मैं जानता हूँ वह सब।" युधिष्ठिर बोले, "अर्जुन ने कहा कि उसके मन में द्वंद्व है। उसके सम्मुख दो ही मार्ग हैं—वह अवध्य ही नहीं वंदनीय पुरुषों का वध कर नरक से भी बढ़कर निन्दनीय राज्य प्राप्त करे अथवा वनवास का कष्ट सहन करे।…"

"पर धनंजय ने पितामह से युद्ध तो किया।" भीम ने कुछ चकित भाव से कहा।

"हॉं ! युद्ध तो किया। भीष्म के दो धनुष भी काटे किंतु वह तो सारा केशव का ही सारथ्य कौशल था कि वे भीष्म के बाण निरस्त करते जा रहे थे, धनंजय का मन तो भीष्म के प्रति कठोर हुआ ही नहीं, जबकि भीष्म ने उनके मस्तक पर भी बाणों का घातक प्रहार किया था।…"

"अब उससे…।" नकुल ने कुछ कहना चाहा।

धृष्टद्युम्न ने उसकी बात बीच में ही काट दी, "मेरी बात का प्रमाण है श्रीकृष्ण का व्यवहार। क्या आप लोगों को ज्ञात नहीं है कि धनंजय की भीष्म संबंधी कोमलता देखकर और यह देखकर कि भीष्म पांडवों के उत्तमोत्तम वीरों का वध करते जा रहे हैं, स्वयं श्रीकृष्ण क्रुद्ध होकर, अश्वों को त्याग रथ से कूद पड़े थे और अपना प्रतोद लेकर ही भीष्म को मारने के लिए झपटे थे। श्रीकृष्ण जैसे पुरुषोत्तम, जिन्होंने क्रोध और वैर को भी जय कर लिया है, की इस उत्तेजना का भी तो कोई कारण होगा। यह तो सारी सेना ने देखा है कि धनंजय उनके चरण पकड़ उन्हें मना कर वापस रथ पर लाए हैं। यह दूसरा अवसर है जब श्रीकृष्ण ने धनंजय को उनकी मोह निद्रा से जगाने के लिए अपने प्राणों को इस प्रकार संकट में डाला है।…"

सबकी दृष्टि अर्जुन पर जा टिकी।

"मैंने स्वयं को बहुत साधा है किंतु मैं पितामह के वक्ष में बाण मार नहीं सकता।" अर्जुन धीरे से बोला।

मंडप में जैसे एक अप्रिय-सा मौन छा गया।

"मैं तुम्हारी बात समझता हूँ धृष्टद्युम्न !" सहसा युधिष्ठिर बोले, "युद्ध तो मुझे भी अच्छा नहीं लगता। इसलिए नहीं कि मैं लड़ना नहीं चाहता, वरन् इसलिए कि वे हमारी सेना का संहार कर रहे हैं और हम कुछ कर नहीं पा रहे। मुझे यह पीड़ा भी कोंच रही है कि मेरे ही कारण मेरे भाई भी राज्य से वंचित होकर बैठे हैं। मेरे ही कारण भरी सभा में पांचाली का अपमान हुआ था। सोचा था कि इस युद्ध के माध्यम से मैं इन सबका सम्मान और वैभव लौटा लाऊँगा; किंतु अब तो लगता है कि प्राण ही बचे रह जाएं तो बड़ी बात होगी।" युधिष्ठिर ने उन सबकी ओर देखा, "मैं सोचता हूं कि यदि मैं वन चला जाऊं तो किसी को इस युद्ध की आवश्यकता नहीं रहेगी।··· न पितामह के हाथों पांचालों का विनाश होगा और न ही धनंजय को पितामह के वध की कोई बाध्यता रहेगी।···"

और सहसा कृष्ण मुस्कराए, "यह युद्ध कोई ऐसा कठिन तो नहीं है धर्मराज ! यदि अर्जुन भीष्म का वध नहीं करना चाहता तो आप मुझे आज्ञा दीजिए, मैं उनका वध करूँगा। मैंने पहले भी कहा है कि जो पांडवों के शत्रु हैं, वे मेरे भी शत्रु हैं और जो उनके मित्र हैं, वे मेरे भी सुहृद हैं। मैं पार्थ की प्रतिज्ञा पूरी करूँगा।··· अपने मित्र के वचन का पालन मेरे लिए भी उतना ही आवश्यक है, जितना उसके लिए।"

"नहीं ! मैं आपको असत्यवादी नहीं बना सकता।" युधिष्ठिर बोले, "आप अपनी प्रतिज्ञा पर टिके रहिए, पर मेरे मन में एक विचार है।···"

"क्या ?" द्रुपद ने पूछा।

"पितामह ने हमारे पक्ष से युद्ध करना स्वीकार नहीं किया था किंतु उन्होंने हमें उचित परामर्श देने का वचन अवश्य दिया था।" युधिष्ठिर बोले, "मैं एक बार उनसे भी पूछना चाहता हूँ कि ऐसे धर्म-संकट में वे हमें क्या परामर्श देते हैं।"

"मैं जानता हूँ कि अर्जुन के साथ तुम्हारे मन में भी कम मोह नहीं है अपने पितामह का।" द्रुपद का स्वर कुछ कटु हो आया था, "किंतु पुत्र ! एक परामर्श मेरा भी है। अर्जुन को कहो कि उसे अपने पितामह का वध करने की आवश्यकता नहीं है। वह केवल शिखंडी की रक्षा करे। शिखंडी भीष्म का वध कर देगा। हमारा आरोप यह है कि जब भी पांचालों ने भीष्म की ओर पग बढ़ाए, तब-तब सारे कौरव महारथी और अतिरथी भीष्म की रक्षा को दौड़े आए, किंतु जब-जब भीष्म अथवा द्रोण के हाथों पांचालों, सोमकों, सृंजयों और प्रभद्रकों का संहार हुआ, पांडवों ने उनकी रक्षा का वैसा गंभीर प्रयत्न कभी नहीं किया।"

द्रुपद के इस खुले आरोप ने पांडवों को जैसे अवाक् कर दिया। कोई कुछ

नहीं वोला।

अंततः कृष्ण ने युधिष्ठिर की ओर देखा, "क्या कहते हैं धर्मराज ?"

"क्षत्रियत्व को धिक्कार है, पर अव मैं भी भीष्म का वध चाहता हूँ, क्योंकि उसके विना हमें न्याय नहीं मिल सकता।" युधिष्ठिर ने कहा, "किंतु मैं चाहता हूँ कि हम एक वार पितामह से भी इस संदर्भ में परामर्श ले ही लें।"

"और यदि उस परामर्श से हमारी समस्या का समाधान न हुआ तो ?" धृष्टद्युम्न ने पूछा।

"तो जैसा श्रीकृष्ण कहेंगे, मैं करने को प्रस्तुत हूँ।" युधिष्ठिर ने कहा।

"पितामह !" दुर्योधन की मुद्रा यद्यपि विनीत ही थी, किंतु उसका स्वर स्वामी का अधिकार लिए हुए था।

भीष्म ने पलटकर देखा : अव उनके लिए कुछ भी अप्रत्याशित नहीं था। वे जानते थे कि संध्या समय युद्ध रुक जाएगा। सेनाएँ अपने-अपने स्कंधावार में लौट जाएँगी। सैनिक और सेनाधिकारी—महारथी से लेकर पदाति योद्धा तक, स्वयं को कल प्रातः युद्ध आरंभ होने तक मुक्त पाएगा। वह विश्राम करे, या कल के युद्ध की तैयारी—यह उसकी अपनी इच्छा थी। संभवतः संध्या का समय वह अपने मित्रों के साथ वैठ कर व्यतीत करना चाहे। जिनसे वहुत दिनों से भेंट नहीं की, उनसे मिलना चाहे।··· यह युद्ध भी विचित्र मेला है। दूर-दूर देशों से लोग आए हैं : राजा भी, योद्धा भी, सारथि भी, श्रमिक भी। अपने जिन मित्रों और परिचितों से लोग वर्षों से नहीं मिले हैं—वे सव यहाँ एकत्रित हुए हैं। संध्या समय लोग कई वार शत्रु पक्ष की ओर से लड़ रहे अपने मित्रों और संवंधियों से मिलने के लिए भी जाते हैं ···किंतु दुर्योधन आकर भीष्म के सम्मुख खड़ा हो जाता है—स्वामी के समान, राजा के समान, जो अपने सेनापति से इस वात का स्पष्टीकरण माँगता है कि आज का युद्ध उसकी अपेक्षानुसार क्यों नहीं लड़ा गया।··· युद्ध का परिणाम उसकी इच्छानुसार क्यों नहीं हुआ ?···

"आओ सुयोधन !"

"पितामह ! आज एक और दिन वीत गया है।"

"मुझे भी ज्ञात है पुत्र !"

लगा कि दुर्योधन जैसे अपना धैर्य खो वैठेगा; किंतु उसने स्वयं को संयत किया, "आपको मालूम तो है पितामह ! और कदाचित् आपको यह भी ज्ञात होगा कि सैनिक क्षति की दृष्टि से एक दिन के युद्ध का क्या महत्त्व होता है। सैनिक पांडवों के ही नहीं कटते, हमारे भी मारे जाते हैं।"

"ऐसा तो कोई युद्ध है ही नहीं सुयोधन ! जिसमें क्षति केवल एक ही पक्ष की हो।" पितामह वोले, "पांडव युद्ध करने आए हैं, अपनी सेना ध्वस्त करवाने नहीं।

निश्चय ही वे भी तुम्हारी सेना का संहार करेंगे ही।··· पर क्या तुम आज के युद्ध से असंतुष्ट हो ? क्या सेनापति को उसकी त्रुटियाँ बताने आए हो ? यह सेनापति राजा के सम्मुख अपनी असफलताओं का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करे ?"

दुर्योधन से वृद्ध पितामह की खीज छिपी नहीं थी; किंतु यह अवसर इन बातों के लिए नहीं था। बोला, "पितामह ! आप रुष्ट न हों। मैं तो केवल यह कहने आया हूँ कि युद्ध के नौ दिन व्यतीत हो गए हैं, असंख्य सैनिक मारे गए हैं; किंतु पांडवों के पक्ष का एक भी प्रमुख योद्धा खेत नहीं रहा। उनकी शक्ति कम नहीं हो रही। क्या हमें अपनी सेना में किसी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है ?"

"कैसा परिवर्तन ?" पितामह एक मंच पर बैठ गए, "बैठो ! युद्ध में प्रतिदिन परिवर्तन हो रहे हैं। व्यूह बदले जा रहे हैं। थके सैनिकों को पीछे रखकर अभिनव, अश्रांत वाहिनियों को आगे भेजा जा रहा है। प्रतिदिन योद्धाओं के द्वंद्व बदले जा रहे हैं, ताकि पिछले दिन के युद्ध के अनुभव से दूसरे पक्ष का योद्धा हम पर भारी न पड़े। और कैसा परिवर्तन चाहते हो राजन !"

लगा, क्षण भर के लिए दुर्योधन का तेज कुछ मलिन पड़ा ; किंतु अगले ही क्षण वह सँभल गया, "मैं व्यूह परिवर्तन की नहीं, रण-नीति के परिवर्तन की बात कह रहा हूँ पितामह !" वह बोला, "हम अब तक साधारण सैनिकों का नाश कर रहे हैं, जिन से हमारी कोई शत्रुता नहीं है। ये सारे सैनिक मारे जाएँगे तो भी युद्ध समाप्त नहीं होगा। जिनसे हमारी शत्रुता है, जिनके पतन से हमारी विजय होगी और युद्ध समाप्त होगा, उन योद्धाओं में से तो अभी एक का भी वध नहीं हुआ।"

पितामह हँसे, "विरोधी पक्ष के सैनिकों से तुम्हारी कोई शत्रुता नहीं है, यह तो अच्छी बात है; किंतु मेरी तो विरोधी पक्ष के रथियों, महारथियों, अतिरथियों और सेनापतियों से भी कोई शत्रुता नहीं है पुत्र ! सैनिक शत्रुता का भाव लेकर नहीं लड़ता। योद्धा तो क्षात्र-धर्म में प्रवृत्त है। वह तो पूर्ण एकाग्रता और दक्षता से अपने कौशल का प्रदर्शन कर रहा है। उसमें व्यक्तिगत शत्रुता और राग-द्वेष कहाँ है ? यादव सैनिकों की पांडवों से क्या शत्रुता है ? मद्रराज शल्य का अपने भांजों से क्या वैर है ? क्यों वे लोग पांडवों के विरुद्ध हमारे पक्ष से लड़ रहे हैं ?···"

"मैं यह नहीं कह रहा पितामह !"

"तो क्या कह रहे हो ?"

"मैं चाहता हूँ कि यह युद्ध शीघ्र समाप्त हो।" दुर्योधन बोला।

"पांडवों से संधि कर लो। उनका राज्य लौटा दो। वे इंद्रप्रस्थ का राज्य लेकर ही संतुष्ट हो जाएँगे। हस्तिनापुर का राज्य फिर भी तुम्हारे पास ही रहेगा।"

"उससे युद्ध रुक जाएगा पितामह ! युद्ध समाप्त नहीं होगा।"

"क्यों ?"

"क्योंकि युद्ध का कारण शेष रहेगा।"

"कैसे ?"

"पांडवों को हस्तिनापुर का राज्य चाहे अपेक्षित न हो, किंतु मुझे इंद्रप्रस्थ का राज्य चाहिए और जव तक एक भी पांडव जीवित है, वे इंद्रप्रस्थ का राज्य छोड़ेंगे नहीं। इसलिए जव तक पांडवों का वध नहीं होता, तव तक युद्ध समाप्त नहीं होगा पितामह !"

भीष्म ने एक भरपूर दृष्टि दुर्योधन पर डाली, जैसे उसके चेहरे पर से कुछ खोज रहे हों, और फिर वोले, "युद्ध मैं अवश्य कर रहा हूँ सुयोधन ! किंतु, पांडव मेरे लिए अवध्य हैं। मैंने अपनी युवावस्था में दो प्रतिज्ञाएँ की थीं—एक राज्य त्याग की और दूसरी आजीवन स्त्री-प्रसंग से दूर रहने की। क्यों की थीं मैंने ये प्रतिज्ञाएँ ?…"

उस आवेश की स्थिति में भी दुर्योधन मन-ही-मन हंस पड़ा, बुड्ढा अपनी महानता वखाने विना नहीं रहेगा। प्रतिज्ञाएँ की थीं तो की थीं—उनका इस युद्ध से क्या संवंध ?… इस समय युद्ध की वात करो…

"वे प्रतिज्ञाएँ इसलिए की थीं कि मेरे पिता सुखी रह सकें।" भीष्म वोले, "और उन प्रतिज्ञाओं के पश्चात् मैंने न हस्तिनापुर का त्याग किया न राजप्रासाद का, ताकि कौरव राजवंश सुखी, संपन्न और सुरक्षित रह सके।… और अव तुम चाहते हो, मैं अपने हाथों पांडवों का वध कर दूँ।… यह संभव नहीं है दुर्योधन !"

"यह तो युद्ध है पितामह !" दुर्योधन संयत हँसी हँसा, "आप उनका वध नहीं करेंगे, तो वे आपका वध कर देंगे। आपको युद्ध नहीं जीतना, पर उनको तो जीतना है।"

पितामह दुर्योधन की ओर कुछ ऐसी मुद्रा में देखते रहे, जैसे सोच रहे हों कि कुछ कहें या न कहें, फिर जैसे अपने आप से ही वोले, "मैंने तुम लोगों का पालन-पोपण किया था, ताकि तुमसे यह वंश चले। तुम लोगों ने न मेरा पालन-पोपण किया है, न अव मुझसे कौरव वंश चलना है। तुममें से कोई भी चाहे तो मेरा वध कर सकता है।"

दुर्योधन की आँखों में एक वार तो ऐसा भाव उतरा, जैसे कहना चाह रहा हो, 'फिर पांडव ही आपका वध क्यों करें—मैं ही क्यों न करूँ ?' पर फिर जैसे उस भाव को वह पी गया और शांत स्वर में वोला, "इस वार दुर्योधन अपने पितामह से नहीं कह रहा, राजा दुर्योधन अपने सेनापति से संवोधित है।" उसने पितामह की आँखों में देखा, "सेनापति का दायित्व राजा की इच्छाओं को पूर्ण करना होता है। मैं यह चाहता हूँ कि हमारी सेनाएँ, पांडवों के निर्दोप पदाति सैनिकों के नाश को नहीं, उनके महारथियों का वध करने को प्राथमिकता दें। एक दिन में पाँचों पांडव न भी मरें, तो भी एक पांडव प्रतिदिन मरना ही चाहिए—चाहे हमारी सारी सेना उनमें से किसी एक भाई को ही घेरकर क्यों न लड़े। चाहे हमारा युद्ध, धर्म-युद्ध के नियमों के विरुद्ध ही क्यों न हो। मुझे धर्म नहीं विजय चाहिए।… और महासेनापति !" दुर्योधन ने रुककर पितामह की ओर देखा। उसकी दृष्टि और वाणी में न भीष्म के वार्द्धक्य के लिए कोई सम्मान था, न उनके

साथ अपने संबंध का कोई बोध, "यदि कल से इस नीति का पालन नहीं हुआ, तो स्मरण रहे, राजा को अधिकार है कि वह एक सेनापति को निरस्त कर दूसरा सेनापति नियुक्त करे।"

भीष्म ने दुर्योधन की ओर देखा और अत्यंत वीतराग स्वर में बोले, "राजन् को ज्ञात होगा कि न तो सेनापतित्व मेरी आजीविका का साधन है, न निष्प्रयोजन नरसंहार मेरे लिए कोई गौरवशाली कृत्य है। मैं सेनापतित्व माँगने नहीं गया था तुम्हारे पास, तुम ही आए थे मेरे पास, यह प्रार्थना लेकर।"

दुर्योधन के चेहरे का रंग कुछ फीका पड़ गया, किंतु वह हतप्रभ नहीं हुआ, "पितामह ! राजा जब युद्ध ठानता है, तो उसका एक ही लक्ष्य होता है—शत्रुदमन ! शत्रु चाहे कोई भी हो।"

उसके स्वर में छिपी धमकी को भीष्म ने पहचाना। दुर्योधन की उद्दंडता उन्हें अखरी भी। पर यह कोई पहला अवसर तो था नहीं। दुर्योधन की उद्दंडता देखते हुए, उन्हें वर्षों हो गए थे। धृतराष्ट्र और विदुर का वह कोई अंकुश नहीं मानता था—यह तो वे जानते ही थे। वह भीष्म का ही आज्ञाकारी हो—ऐसा भी कोई भ्रम उन्हें नहीं था। किंतु उन्हें इस प्रकार खुले रूप में धमकी उसने पहले कभी नहीं दी थी। यह युद्धकाल था। युद्ध में वैसे भी शिष्टाचार शिथिल हो जाता है। वह राजा के रूप में अपने सेनापति को आदेश देने की स्थिति में तो था ही। इस स्थिति का आभास भीष्म को उस समय भी था, जब उन्होंने सेनापतित्व स्वीकार किया था। किंतु··· किंतु आज दुर्योधन उन्हें स्पष्ट कह रहा था कि यदि वे पांडवों का वध नहीं करेंगे तो पांडव उन का वध कर देंगे... और यदि ऐसा भी नहीं हुआ तो ? तो दुर्योधन उनका वध कर देगा।···

भीष्म ने स्वयं को सँभाला। वे नहीं चाहते थे कि स्थिति उनके नियंत्रण से बाहर हो जाए। इससे पहले कि दुर्योधन और उनमें विचार-संप्रेषण बाधित हो जाए, उन्हें अपनी बात कह लेनी चाहिए।

"सुयोधन !" भीष्म का वाक्संयम अद्भुत था, "प्रत्येक राजा जानता है कि युद्ध का एक समाधान संधि भी है।"

"दुर्योधन मर जाएगा, किंतु पांडवों से संधि नहीं करेगा।" दुर्योधन बोला, "इस विषय को आप यहीं छोड़ दें। और पितामह ! कल के युद्ध में किसी न किसी महानायक को धराशायी होना ही है··· यदि आप किसी को न कर सके तो कोई आपको कर देगा।···"

दुर्योधन पितामह का उत्तर सुनने के लिए भी नहीं रुका। वह जैसे तेंदुए के समान छलांग मारकर शिविर से बाहर निकल गया।

दुर्योधन वाहर निकला और पितामह को लगा, जैसे उनका सारा संसार वदल गया है।···

वे अपने शिविर में एक सिरे से दूसरे सिरे तक टहलते रहे।··· कभी क्षण भर को रुक जाते तो अगले ही क्षण फिर चल पड़ते।··· उन्होंने वहुत टाला था, पर शायद अव निर्णय का क्षण आ गया था।···

भीष्म ने और कुछ चाहा हो या न चाहा हो, गृहकलह कभी नहीं चाही, कुरुवंश को नाश से वचाने के लिए उन्होंने क्या नहीं किया। माता सत्यवती को उन्होंने वचन दिया था··· वे कुरुवंश की रक्षा करेंगे···

दुर्योधन के जन्म से पहले ही, जव युधिष्ठिर के जन्म का समाचार पाकर गांधारी ने अपने गर्भ को नष्ट करने का प्रयत्न किया था, उसी दिन से भीष्म के मन में कुरुकुल के भविष्य को लेकर आशंकाएँ जन्म लेने लगी थीं। वाहरी आक्रमणों से भीष्म को कोई भय नहीं था। भीष्म जानते थे कि उनके जीवित रहते कोई वड़े से वड़ा योद्धा भी हस्तिनापुर की ओर आँख उठाकर नहीं देख सकता। अपनी दिग्विजयों के अभियानों में जरासंध जैसा योद्धा भी हस्तिनापुर की ओर नहीं आया··· किंतु गृहकलह का दमन तो भीष्म के शौर्य से नहीं हो सकता था।···

जव भीष्म ने यह दायित्व स्वीकर किया था, तव क्या वे जानते थे कि भविष्य में पुरु और देवव्रत जैसे पुत्र नहीं होंगे। उन्होंने कभी सोचा था कि अव पुत्र, पिता की संपत्ति नहीं होगा, पिता ही पुत्र की संपत्ति हो जाएगा। वे क्या जानते थे कि पिता की एक इच्छा पूरी करने के लिए अपने संपूर्ण जीवन दे देनेवाले पुत्रों के स्थान पर पिता और पितामह को वध की धमकी देनेवाले पुत्र और पौत्र जन्म लेंगे।···

धृतराष्ट्र की धूर्तता और लोभ को वे भलीभाँति पहचानते थे। भोग, सत्ता और अधिकार के लिए उसकी लपलपाती जिह्वा को कौन देख नहीं सकता था। गांधारी की शालीनता और पति-भक्ति जैसे लोक-विश्रुत गुणों के पीछे छिपी उसकी प्रकृति भी भीष्म से छिपी हुई नहीं थी। राजसत्ता और स्त्री-भोग के प्रति पांडु में भी कम दुर्वलता नहीं थी। ···भीष्म सव कुछ देखते रहे थे और केवल एक ही प्रयत्न करते रहे थे कि किसी प्रकार कुरुकुल के भीतर शांति वनी रहे।···

पांडव जव से हस्तिनापुर आए थे, दुर्योधन अनवरत उनके पीछे पड़ा हुआ था। कितना अत्याचार किया था उन पर। भीष्म को सदा उनसे सहानुभूति रही। वे सदा उनके हितैपी रहे; किंतु एक भी वार वे पांडवों की सहायता कर पाए ? दुर्योधन ने भीम को विष दिया; किंतु भीष्म उसे दंडित करने की वात सोच भी नहीं सके। वारणावत का कांड हुआ। ···न्याय की वात होती तो धृतराष्ट्र और दुर्योधन—दोनों को जीवित जला कर भस्म कर दिया जाना चाहिए था। भीष्म पांडवों का पक्ष लेते तो जो युद्ध आज हो रहा है, वह वर्षो पहले हो चुका होता। इस युद्ध को टालने के लिए ही तो भीष्म चुपचाप वैठे रहे। उन्होंने सोच लिया कि यदि पांडवों के कुछ कष्ट सह लेने से गृहकलह नहीं होती, कुरुवंश का नाश नहीं होता, तो पांडवों को कष्ट सह लेने दो। वंश की रक्षा

और सुख-शांति के लिए किसी को तो मूल्य चुकाना ही है। विधाता ने पांडवों को उस स्थिति में डाल दिया है तो पांडवों को सह लेने दो।…

जब पांडवों को उनका पैतृक राज्य न देकर धृतराष्ट्र ने उन्हें खांडव वन और खांडवप्रस्थ के खंडहर तथा प्रजा के रूप में बर्बर क्रूर हिंस्र जातियाँ, इस अपेक्षा से सौंप दी थीं कि पांडव उनसे लड़ते-भिड़ते ही समाप्त हो जाएँगे, तो भी भीष्म ने सोचा था कि यह क्रूर धृतराष्ट्र इन अबोध लड़कों को हिंस्र पशुओं के सम्मुख डाले दे रहा है। किंतु पांडवों ने कितनी शांति से उसी भूखंड को चुपचाप स्वीकार कर लिया था। …और गृह-युद्ध फिर से टल गया था, कुरुवंश विनाश से बच गया था…

यह युद्ध तो कौरवों की द्यूतसभा में भी हो सकता था। जब शकुनि पांडवों को छल रहा था, दुर्योधन उन्हें अपमानित कर रहा था और धृतराष्ट्र यह सब कुछ चुपचाप ही नहीं देख रहा था, उससे प्रसन्न भी हो रहा था—तब भी यदि भीष्म ने एक बार भीम को ललकार दिया होता, एक बार कहा होता कि यह अधर्म है और उन्हें अपने समर्थन का विश्वास दिलाया होता, तो युधिष्ठिर चाहे अपने धर्म पर टिका रहता, किंतु कौरव-पांडव युद्ध उसी दिन हो गया होता।… किंतु भीष्म ने तब भी यही सोचा था कि यदि पांडवों के वनवास से कुरुवंश की सुरक्षा क्रय करनी पड़े, तो भी वह सस्ती है।… माता सत्यवती को वचन दिया था भीष्म ने कि वे कुरुवंश की रक्षा करेंगे… और इस रक्षा के लिए, अपने बंधन में बँधे इस सारे अन्याय को देखते रहे, सहते रहे, किसी सीमा तक सहभागी और सहयोगी बनते चले गए, क्योंकि दुर्योधन को धर्म न्याय, प्रेम, संबंध, किसी भी नाते वे नहीं रोक सकते थे; और शस्त्र बल का प्रयोग करते तो कुरुकुल रक्तपात से सुरक्षित कैसे रहता ?… किंतु कहाँ टाल पाए वे रक्तपात को। कृष्ण ठीक जानते हैं कि धर्म क्या है, न्याय क्या है…भीष्म तो कभी अपना धर्म समझ नहीं पाए।…

और जब युद्ध ठन ही गया। सेनाएँ आमने-सामने आ खड़ी हुई। भीष्म को उस दिन भी यह विश्वास था कि यदि वे एक बार भी पांडवों को यह आदेश दे दें कि वे वन को वापस लौट जाएँ और राज्य की इच्छा सदा के लिए छोड़ दें तो भी वे उनकी आज्ञा का पालन करते।… किंतु माता सत्यवती को उन्होंने कुरुवंश की रक्षा का वचन दिया था—मात्र दुर्योधन की अधर्मपूर्ण इच्छाओं को संरक्षण देने का नहीं। कुरुवंश की रक्षा के लिए, पांडवों की रक्षा भी आवश्यक थी। कुरुकुल का धर्म तो उन्हीं में स्थित था। दुर्योधन तो कुरुकुल का संचित पाप ही था…

पर दुर्योधन का नियमन कैसे होता ? उसे कौन समझाता ? उसका शासन कौन करता ?…

और तब भीष्म ने सोचा था : दुर्योधन को नियंत्रित करने का एक ही मार्ग था—उसकी सेना का नियंत्रण। वह जिस सेना के बल पर इतरा रहा था, जिसके कारण रण ठन रहा था, भीष्म उस सेना को ही अपने नियंत्रण में रखेंगे, वे दुर्योधन की सेना का

सेनापतित्व स्वीकार करेंगे। ··· न दुर्योधन के पास सेना होगी और न वह मनमाना विनाश कर पाएगा। भीष्म युद्ध भी करेंगे और कुरुकुल की रक्षा का प्रयत्न भी। संधि होने में समय ही क्या लगता है। शायद प्रभु दुर्योधन को क्षण भर को सद्बुद्धि दे दें और इस विनाश से कुरुकुल की रक्षा हो जाए।···ठीक कह रहा था दुर्योधन। भीष्म ने इस भयंकर युद्ध के नौ दिनों में किसी भी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति का वध नहीं होने दिया था। मित्र राजाओं की सेनाओं का संहार हुआ भी था, तो भी भीष्म के मन में कहीं अब भी आशा थी कि पांडवों की शक्ति दिखाकर, समझा-बुझाकर, अपने पक्ष की असमर्थता बताकर–डरा-धमकाकर–किसी भी प्रकार दुर्योधन को वे संधि के लिए सहमत कर लेंगे।···

किंतु आज क्या कह गया था दुर्योधन। संधि असंभव थी। यदि संधि असंभव थी, तो इस महासंहारक युद्ध में भीष्म कुरुकुल की रक्षा कैसे कर लेंगे ? माता सत्यवती को दिए गए वचन का निर्वाह कैसे करेंगे ?··· और भीष्म ने इसलिए तो सेनापतित्व नहीं ही स्वीकार किया था कि वे अपनी वीरता, शौर्य, रण कौशल और शस्त्रज्ञान से पांडवों का वध कर, उनकी सेना को नष्ट कर, वे दुर्योधन जैसे अन्यायी और अधर्मी राजा को आर्यावर्त्त का निष्कंटक राज्य सौंप देंगे।···

तो माता सत्यवती को दिए गए वचन में बँधे भीष्म क्या अपनी आँखों के सम्मुख कुरुकुल का नाश होते देखते रहेंगे ?···

भीष्म को लगा, वर्षों बाद उनके भीतर का देवव्रत जागा है। आज फिर से वे संकल्प करने की मुद्रा में हैं। ··· वे इस विनाश के भागी नहीं होंगे। वे अपने इन पालित पुत्रों-पौत्रों का वध अपने हाथों से नहीं करेंगे और न ही उनके वध में सहयोगी होंगे, चाहे··· हाँ ! चाहे कुछ हो जाए··· प्रभु की इच्छा पूर्ण हो। कुरुकुल का नाश होना ही है तो हो, किंतु भीष्म के हाथों क्यों हो। ···कदाचित् अब भीष्म के इस रंगभूमि से हट जाने का समय आ गया है··· उन्हें ज्ञात हो गया है कि प्रत्येक मनुष्य की इच्छा की एक सीमा है। वे प्रकृति के निर्णय को अपनी इच्छा से नहीं पलट सकते। या फिर अपनी इच्छा पूर्ण करने के लिए जो साधना उन्हें करनी चाहिए थी, वे वह नहीं कर पाए। वे चूक गए। समय पर अपने किसी मोह के कारण अपना धर्म नहीं निभा पाए तो प्रकृति उनकी इच्छा पूर्ण क्यों करती।···

पर माता सत्यवती को दिया गया वचन ?···

और तभी भीष्म को याद आया, पिता का वरदान ! भीष्म ने स्वयं को अपनी प्रतिज्ञा में बाँधा था। और पिता ने प्रसन्न होकर उन्हें इच्छा-मुक्ति का वर दिया था। ···उन्होंने आज तक उस वर का उपयोग नहीं किया था, किंतु आज शायद समय आ गया था कि वे उस वर का उपयोग करें। वे अब और अधिक बंदी नहीं रह सकते। वे मुक्त होंगे, अपनी इच्छा से ही मुक्त होंगे··· उन्हें मुक्त होना ही होगा···वे दुर्योधन की इच्छा पूरी करेंगे, उसकी आज्ञा का पालन करेंगे··· कल के युद्ध में केवल साधारण

सैनिक ही नहीं मरेंगे, एक महानायक भी अवश्य धराशायी होगा।··· यह मात्र दुर्योधन का ही आदेश नहीं है, शायद प्रभु की भी यही इच्छा है··· जिसका कर्म समाप्त हो गया हो, उस अनावश्यक को अब रंगभूमि से हट ही जाना चाहिए।··· वे किसी के काम के नहीं हैं। पांडवों के काम के तो वे कभी भी नहीं रहे, अब वे दुर्योधन के काम के भी नहीं हैं···

"जय हो महासेनापति !"

भीष्म का विचार प्रवाह भंग हुआ।

"आर्य ! महाराज युधिष्ठिर अपने भाइयों और श्रीकृष्ण के साथ आपको प्रणाम करने आए हैं।"

"आने दो।"

कृष्ण और पांचों पांडवों ने आकर उन्हें प्रणाम किया।

भीष्म का मन इतना आर्द्र हो रहा था कि उनकी इच्छा हुई कि इन छहों को लिपटाकर इतना-इतना रोएँ कि उनके केश और कंधे भीष्म के अश्रुओं से भीग जाएँ। दुर्योधन इनमें से एक-एक की हत्या के लिए व्यग्र हो रहा है; और ये एक क्षण भी नहीं भूले कि कौरव उनके भाई हैं; यद्यपि भीष्म उनकी विरोधी सेना के सेनापति हैं, किंतु वे उनके पितामह हैं, द्रोणाचार्य पांडव सेना के भयंकर संहारक होकर भी उनके गुरु हैं। उन्होंने कभी किसी का अविश्वास नहीं किया। वे आज भी सहज भाव से भीष्म से मिलने आए हैं। भीष्म के मन में बार-बार आता है कि उनसे कहें, 'पुत्र ! कौरवों के स्कंधावार में इस प्रकार निःशंक हो कर मत आया करो।' पर ऐसी बात वे कैसे कह सकते हैं। वे उनके स्नेह का प्रत्याख्यान कैसे करें··· अपने सेनापतित्व के अधिकार को लांछित कैसे करें। क्या उनकी अपनी सेना भी पूर्णतः उनके नियंत्रण में नहीं है ?···

"कैसे हो पुत्र युधिष्ठिर !"

"आपकी कृपा है पितामह !" युधिष्ठिर बोले, "आज के युद्ध में आपका शौर्य अद्भुत था।"

भीष्म मुस्कराए : अपनी सेना के संहारक की वीरता और क्षमता की प्रशंसा कर रहा है युधिष्ठिर। युद्ध ने भी उनका मन रंचमात्र मलिन नहीं किया है।

"पंचाल सेना तो त्राहि-त्राहि कर उठी थी पितामह !" भीम उत्फुल्ल मन से बोला, "उनसे सावधान रहिएगा। द्रुपद, शिखंडी और धृष्टद्युम्न आपके वध के लिए भीषण रूप से व्यग्र हैं।"

भीष्म की इच्छा हुई कि कहें कि पंचालों से उनका परंपरागत विरोध चल ही रहा है। भीष्म भी सोचते हैं कि युद्ध में खड़े हो ही गए हैं और शस्त्र-प्रहार करना ही है तो अपने शत्रुओं पर ही करें। उनके विरुद्ध पंचालों का क्रोध आधारहीन तो नहीं।

किंतु भीष्म ने यह सब नहीं कहा। पंचाल पांडवों के सबसे बड़े सहायक थे।···

भीष्म हँसे, "वैसा ही व्यग्र दुर्योधन भी है··· तुम लोगों के वध के लिए।"

"उससे कहिए, मुझसे द्वंद्वयुद्ध कर ले। उसी से जय-पराजय का निर्णय हो जाए।" भीम और भी खुलकर हँसा, "व्यर्थ का नरसंहार क्यों करवा रहा है।"

"वह तो कहता है कि युद्ध के लिए उत्तरदायी तुम लोग हो।" भीष्म सहज स्नेह से बोले, "यदि तुम लोग संधि कर लो···"

कृष्ण के नेत्रों में जैसे चपला कौंदी। उन्होंने भीष्म को देखा : शत्रुओं का सेनापति युद्ध के मध्य संधि की बात कर रहा था, "संधि की प्रतिज्ञा क्या होगी पितामह ! कि पांडव अपने राज्य की माँग छोड़ दें और अपने हाथों से अपने शीश काटकर दुर्योधन के चरणों में डाल दें ?"

भीष्म उदास हो गए। उनका मन कह रहा था, कैसी सटीक बात कही है, कृष्ण ने। ऐसा ही तो चाहता है दुर्योधन। पर मुख से इतना ही कहा, "वासुदेव ! क्या ऐसे भी संधि होती है ?"

"आततायियों की संधि तो ऐसी ही होती है पितामह !" कृष्ण बोले, "संधि की कोई संभावना होती तो वह उसी दिन हो जाती, जिस दिन मैं हस्तिनापुर गया था। किंतु दुर्योधन···"

"पितामह ! मैं युद्ध के आरंभ तक पिछली सारी घटनाएँ विस्मृत कर अपने-आप को समझाता रहा कि कौरव हमारे भाई हैं। वे हमसे अलग नहीं हैं। और दुर्योधन यह मानता रहा कि वे हमारे भाई नहीं हैं।" अर्जुन ने थमकर पितामह को देखा, "चलो न सही भाई। तुम हमसे पृथक् ही सही। जो भाई नहीं होते, वे शत्रु तो नहीं होते। पर वह कहता है कि तुम पृथक् हो, अन्य हो, इसलिए हमारे शत्रु भी हो। वह शत्रु भाव ही रखता, पर हमें जीने तो देता, किंतु वह तो कहता है कि यदि शत्रु हो तो तुम्हें जीवित रहने का भी अधिकार नहीं है।"

"यही है तो दुखद तथ्य है तात !"

"अब तो हम भी दुर्योधन से सहमत हो गए हैं कि वे हमसे पृथक् हैं, अन्य हैं। हम परस्पर शत्रु हैं; और शत्रु का वध न्यायोचित है। शत्रु के वध का अधिकार उन्हें ही नहीं, हमें भी है। ऐसा क्यों है कि वे अपने शत्रु को मारें तो वह न्यायोचित कर्म है, और हम अपने शत्रु को मारें तो हम नरसंहार के अपराधी हैं। जो कुछ वह कर रहा है, वही हम करते हैं तो वह हमें दोषी क्यों ठहराता है ?" भीम साकार प्रश्न बना बैठा था।

"मैं यह नहीं कहता कि तुम कुछ भी अनुचित कर रहे हो पुत्र ! तुम्हारे स्थान पर कोई और होता तो यह कर्म वर्षों पहले करता। किंतु···" उन्होंने रुककर पांडवों को देखा, "किंतु तुम्हारी इस सहमति से दुर्योधन अपने दुष्कृत्यों में सफल हो गया है। वह तो चाहता ही था कि तुम उसकी बात मान लो। वह तुमने मान ली। कुरुवंश का

विनाश आज तक तुमने रोका था पुत्र !··· पर कदाचित् अब वह बच नहीं पाएगा।···"

"यह तो आप स्वीकार करेंगे ही पितामह !" सहदेव बोला; "कि युद्ध करेंगे तो हम विजयी होने का प्रयत्न भी करेंगे।"

"अवश्य।" लगा पितामह की आँखें गीली हो आईं, "विजय की कामना से ही लोग युद्ध करते हैं। तुम ही क्यों, तुम्हारी विजय की कामना तो मैं भी करता हूँ। विजय तुम्हारी ही हो। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ। तुम लोग कुरुवंश का धर्म हो, उसका पुण्य हो।"

युधिष्ठिर ने पितामह का यह रूप पहले कभी नहीं देखा था। वे कुछ विस्मित स्वर में बोले, "पितामह ! विजय का आशीर्वाद आप हमें दे रहे हैं, और धनुष ले कर दुर्योधन के पक्ष से युद्ध भी आप ही करते हैं। आपके जीवित रहते, हमारी विजय हो कैसे सकती है ? और आपके वध की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। आपकी कामना और कर्म क्या परस्पर विरोधी नहीं हैं पितामह ?"

लगा, पितामह अपनी भीगी आँखों को छिपाने के लिए हँस पड़े, "मैं सारा जीवन ऐसा ही रहा हूँ पुत्र ! मेरी इच्छाएँ, कामनाएँ, मेरा चिंतन—इन सबके विरुद्ध रहा है मेरा कर्म। आजीवन मन में वीतराग बना रहा और एक बड़ी गृहस्थी को ढोने का प्रयत्न भी करता रहा। स्नेह किसी से करता रहा, और कंधे पर किसी और को उठाए रहा। जिनकी पूजा करता था, उनसे युद्ध किया; जिनसे प्रेम करता था, उनको ठुकराता रहा। मेरा जीवन तो द्वंद्वों का पुंज रहा है पुत्र ! किंतु अब द्वंद्व अधिक दिन नहीं चलेंगे···। तुम्हारी विजय की कामना कर रहा हूं तो तुम्हारे मार्ग में खड़ा भी नहीं रहूँगा।···"

"आप युद्ध से निरस्त होंगे पितामह ?" अर्जुन चकित था।

"नहीं !" पितामह जैसे अपने-आप में लौट आए थे, "क्षत्रिय युद्ध से निरस्त नहीं होता पार्थ ! जीवन से निरस्त होता है।"

"तो हमारी विजय कैसे होगी ?" युधिष्ठिर ने कहा, "सत्य तो यह है पितामह ! कि हम लोग युद्ध में आपसे त्रस्त हो रहे हैं। हम आपसे इसी विषय में चर्चा करने ही आए थे। हमारी विजय का रथ किस मार्ग से होकर जाएगा ?"

भीष्म हँसे, "यदि मैं तुम्हारी विजय के मार्ग में खड़ा हूँ तो मुझे हटाना तो तनिक भी कठिन नहीं है। मैंने इस युद्ध से पूर्व दो प्रतिज्ञाएँ की हैं। क्या तुम्हें उनका ज्ञान नहीं है ?"

"हमें ज्ञान है।" युधिष्ठिर बोले, "आपने प्रतिज्ञा की है कि आप हम पाँचों में से किसी का वध नहीं करेंगे और शिखंडी से युद्ध नहीं करेंगे।"

"तो फिर कठिनाई क्या है ?" भीष्म हँस रहे थे।

"हम आपकी मृत्यु की कामना नहीं करते, इसलिए अर्जुन आपका वध नहीं करेगा और शिखंडी को हम आपसे युद्ध करने नहीं देंगे।" युधिष्ठिर बोले।

"दुर्योधन यह सुनेगा तो तुम्हें मूर्ख कहेगा।" भीष्म की वाणी में उनके लिए प्रशंसा

का भाव था।

"उससे अपने लिए वुद्धिमान के रूप में मान्यता लेने के लिए हम अपने पितामह के वध का पातक तो नहीं कर सकते।" अर्जुन वोला, "और उसकी दृष्टि से तो आप की भी दोनों प्रतिज्ञाएँ आत्मघाती हैं।"

भीष्म चुपचाप अर्जुन को देखते रहे। फिर वोले, "सुनो पुत्रो ! मैं यह युद्ध अपनी विजय के लिए नहीं लड़ रहा। न मैं दुर्योधन को विजयी वनाने के लिए युद्ध कर रहा हूँ। मैं जिस प्रयोजन से तुम्हारे और दुर्योधन के मध्य खड़ा था, उसका पूरा होना अव संभव नहीं है। मेरे युद्ध का अव कोई प्रयोजन नहीं है। मैं युद्ध से निरस्त होना चाहता हूँ। क्षत्रिय हूँ, इसलिए पीछे नहीं हट सकता। अतः मेरी सहायता करना चाहते हो तो मेरा वध करो। वध नहीं करना चाहते, तो इतना क्षत-विक्षत तो कर ही दो कि मैं युद्ध-क्षेत्र में खड़ा न रह सकूँ। मैं जानता हूँ कि न तुम मेरा अपमान करना चाहते हो, न मेरा वध।..." उन्होंने अर्जुन की ओर देखा, "तव प्रश्न यह है कि क्या तुम चाहते हो कि मैं शिखंडी के हाथों मारा जाऊँ ? तुम कितने दिन मुझे उससे वचाते रहोगे। वह जव भी मेरे सामने पड़ेगा, मैं अपना धनुष त्याग कर खड़ा हो जाऊंगा। द्रुपद, धृष्टद्युम्न और शिखंडी मेरा वध करना चाहते हैं। तुम उन तीनों का विरोध कर मेरी रक्षा नहीं कर पाओगे। अंततः वह क्षण आएगा ही।...और मुझे यह एकदम सम्मानजनक नहीं लगता।..."

"आपका वध !" अर्जुन वोला, "शिखंडी के हाथों ? यह आप क्या कह रहे हैं पितामह !"

"यह तो युद्ध है पुत्र !" भीष्म हँसे, "मैंने कुरुवंश की रक्षा का संकल्प किया था। यदि मैंने तुम्हारा वध किया तो वंश की रक्षा कैसे होगी ? एक ही मार्ग है कि तुम मेरा वध कर दो, ताकि मैं वंशघाती न वनूँ।"

"पितामह !" कृष्ण वोले।

"हाँ वासुदेव ! जीवन भी एक युद्ध है और युद्ध में कभी-कभी बड़ी विकट परिस्थितियाँ आती हैं।" भीष्म वोले, "दुर्योधन विषवीज है। वह इस वंश का नाश कर के रहेगा। मैं वंशनाश में उसका सहभागी नहीं होना चाहता, न इस घटना का साक्षी। जव तक मुझे संधि की कुछ आशा थी, मैं युद्ध क्षेत्र में बना रहा। अव कोई आशा शेष नहीं है। मैं जीते जी युद्धक्षेत्र से हट नहीं सकता। धनंजय ! मुझे युद्ध क्षेत्र से हटा दो पुत्र !"

उनके मध्य एक सन्नाटा-सा टँग गया। इतनी वड़ी सेना का इतना समर्थ सेनापति और कैसा असहाय !...

"पितामह !" अंत में कृष्ण ही बोले, "क्या अर्जुन में सामर्थ्य है कि वह युद्ध में आपको पराजित कर सके ?"

लगा कि पितामह ने जैसे आँखें स्वच्छ करने के व्याज से अश्रु पोंछे हैं, "दुर्योधन

मानता है कि मैं युद्ध करूँ तो धनंजय मुझे पराजित नहीं कर पाएगा। वह उसे मेरी वीरता समझता है। यह नहीं जानता कि वह इसलिए है क्योंकि अर्जुन के हाथ मुझ पर उठते नहीं। अर्जुन के मन में स्नेह है मेरे लिए। मैं यह मानता हूँ कि विराटनगर का युद्ध प्रमाण है कि हम धनंजय की-क्षमता पर किसी प्रकार का अविश्वास नहीं कर सकते।"

सब चुपचाप पितामह को देखते रहे।

और फिर जैसे पितामह ने बड़े उत्साह से कहा, "तुम लोग जानते ही हो कि तुम्हारी सेना में मेरे वध के लिए कौन सबसे अधिक उत्कंठित है।"

"शिखंडी।" सारे पांडव सहमत थे।

पितामह हँस पड़े, "अंबा ने ही पुनर्जन्म लिया है। वह अंतिम बार विदा होते हुए कह गई थी कि उस जन्म में मेरी हत्या न कर पाई तो दूसरा जन्म लेगी। लगता है शिखंडी के रूप में आई है, नहीं तो मुझसे क्या इतनी शत्रुता है शिखंडी की। पता नहीं यह उसकी शत्रुता है या प्यार है। प्रेम नहीं मिला तो शत्रुता पाल ली। कौन जाने लोहा और चुंबक एक-दूसरे के शत्रु होते हैं या मित्र। किंतु वे एक-दूसरे की ओर आकृष्ट अवश्य होते हैं। शिखंडी मेरी ओर खिंच रहा है।··· शिखंडी या शिखंडिनी।···" पितामह हँसे, "शिखंडी को अनेक लोग आरंभ में स्त्री ही मानते रहे हैं। मैं आज भी उसे स्त्री रूप ही मानता हूँ। लगता है कि कुछ देय है मेरी ओर। अंबा को उसका देय नहीं दे पाया। शिखंडिनी को दूँगा। उस की कामना पूरी करूँगा। उसे कामनापूर्ति का वर देता हूँ।"

"पर वह अंबा नहीं है तात ! वह शिखंडी है, द्रुपद का पुत्र। महारथी शिखंडी। वह शस्त्रधारी योद्धा है। वह आपका वध कर देगा।" भीम के मुख से जैसे अकस्मात् ही निकला।

"जानता हूँ।" भीष्म बोले, "तभी तो उसे कामनापूर्ति का वर दे रहा हूँ।"

"यह तो आत्मवध है पितामह !" कृष्ण बोले।

"नहीं ! यह तो मेरी मुक्ति है वासुदेव ! स्वैच्छिक मुक्ति ! मेरे पिता ने मुझे यही वर दिया था।" वे जैसे किसी और लोक से बोल रहे थे, "मैं जब कुरुवंश का नाश रोक नहीं सकता, तो इस जीवन रूपी बंधन में बँधे रहने का प्रयोजन ही क्या है। मैं स्वेच्छा से इससे मुक्त हो रहा हूँ।"

"पितामह ! अपनी इस स्वीकारोक्ति का महत्त्व समझ रहे हैं न ?" कृष्ण बोले, "आप अपने शत्रुओं को युद्ध में अपने वध का आदेश दे रहे हैं।"

"शत्रुओं को नहीं। अन्य पक्ष को।" पितामह हँसे, "यही तो अंतर है, मुझमें और दुर्योधन में।"

"पितामह ! ···" अर्जुन ने कुछ कहना चाहा।

"पार्थ !" पितामह ने मध्य में ही उसकी बात काट दी, "अब कहने-सुनने का

अवसर नहीं है। मैं न और युद्ध करना चाहता हूँ, न युद्ध से भागना चाहता हूँ। क्षत्रिय के समान क्षेत्र में आया था, क्षत्रिय के समान हटूँगा। स्त्री पर शस्त्र नहीं उठाऊँगा।" वे हँस रहे थे "पर मेरे मन में एक पीड़ा है पार्थ !"

"क्या पितामह ?" अर्जुन कुछ चकित था।

"मैं शिखंडी जैसे साधारण योद्धा के बाणों से नहीं मरना चाहता। भीष्म जैसे योद्धा के लिए यह बहुत सम्मानजनक मृत्यु नहीं है वत्स ! मुझे वीरों की सम्मानजनक मृत्यु चाहिए पुत्र ! मेरी तो कामना है कि मैं संसार के अन्यतम धनुर्धारी के बाणों से आहत होकर गिरूँ। देवव्रत भीष्म युद्ध में साधारण सैनिक की मृत्यु नहीं मरना चाहता।"

"यह कैसे होगा पितामह !" युधिष्ठिर बोले।

"पार्थ समझता है और समझता है पार्थसारथि !" पितामह हँस रहे थे।

अर्जुन ने मुख उठाकर भीष्म को देखा : क्या कह रहे हैं पितामह ! युद्ध के आरंभ से ही उसके मन में जो द्वंद्व थे, क्या पितामह उन्हें जानते हैं ? कृष्ण ने कहा था, युद्ध में व्यक्तिगत रागद्वेष नहीं होते। क्षात्रधर्म का निर्वाह ही उसका एक मात्र कर्तव्य है।··· क्या पितामह उसे वही संदेश नहीं दे रहे। क्या वे उसके मन के द्वंद्वों को काटने में उसकी सहायता कर रहे हैं, उसे उसके धर्म की ओर प्रवृत्त कर रहे हैं··· युद्ध में प्रवृत्त हुआ है तो उसे पितृघाती भी बनना होगा ?···

वह अवाक् बैठा पितामह को देखता रहा।

"दुर्योधन ने मुझे आदेश दिया है कि कल के युद्ध में किसी न किसी महानायक को धराशायी होना ही होगा; अंबा अपने प्रतिशोध के लिए जन्म-जन्मांतरों में भटक रही है और सृष्टि के धारक धर्म की इच्छा है कि युधिष्ठिर इस युद्ध में विजयी हों।···" पितामह जोर से हँसे, "मैं चाहता हूँ कि दुर्योधन की इच्छा पूरी हो पुत्र ! अंबा को उसके प्रतिशोध ताप से मुक्ति मिले और संसार में धर्म की स्थापना हो।" पितामह ने आशीर्वाद की मुद्रा में अपना हाथ उठा दिया।

"पर मैं आपका वध नहीं कर सकता पितामह !" अर्जुन का स्वर रुदन के निकट पहुँच चुका था।

"मत करना वध। मैं तो केवल इतना ही कह रहा हूँ कि मुझे युद्धक्षेत्र से हटा दो।" भीष्म ने उसे स्नेह से देखा, "मेरे सुख के लिए इतना तो तुम्हें करना ही चाहिए।"

"चलो अर्जुन !" कृष्ण ने अर्जुन को और बोलने नहीं दिया। वे पितामह की ओर मुड़े, "आपकी इच्छा पूरी होगी पितामह ! आप युद्धक्षेत्र से अर्जुन के द्वारा ही हटाए जाएँगे।"

●●●

निर्बन्ध

नरेन्द्र कोहली

महासमर

निर्बन्ध

महासमर-8

वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली-110002

निर्बन्ध

महासमर-8

नरेन्द्र कोहली

ग्रन्थालय
274869
हस्ताक्षर
दिनांक

वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : 2000
© लेखकाधीन

मूल्य : 300.00 रुपये

शब्द-संयोजक
विनायक कम्प्यूटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032

मेहरा ऑफसेट प्रेस, नयी दिल्ली-110002
द्वारा मुद्रित

NIRBANDH
(Mahasamar-8)
by Narendra Kohli

आचार्य विष्णुकांत शास्त्री के चरणों में
एक श्रद्धावनत मन का विनीत प्रणाम

1

"पिताजी !"

द्रोण ने अपनी पलकें उठाकर अश्वत्थामा की ओर देखा तो लगा कि उन्हें उस प्रकार पलकें उठाना भी जैसे भारी पड़ रहा है। कदाचित् अश्वत्थामा ने इस प्रकार सहसा आकर उनकी एकाग्रता भंग कर दी थी।

"क्या बात है पिताजी !" अश्वत्थामा ने पूछा, "आप सहज प्रसन्न नहीं दीखते ?"

द्रोण की दृष्टि में अश्वत्थामा के लिए भर्त्सना थी। क्या वह इतनी-सी भी बात नहीं समझता ? पर अपनी उस दृष्टि का अश्वत्थामा पर कोई प्रभाव न देखकर बोले, "भीष्म धराशायी हो चुके हैं।"

"तो चिंता किस बात की ?" अश्वत्थामा के स्वर में उल्लास था, "सेनापति वीरगति प्राप्त करता है तो उसका सहयोगी उपसेनापति, प्रधान सेनापति बन जाता है। सेनापति कभी नहीं मरता।"

इस बार द्रोण ने कुछ मुस्कराकर उसकी ओर देखा, "तो मुझे प्रसन्न होना चाहिए कि भीष्म के धराशायी होने से मेरी उन्नति का द्वार खुल गया है ?"

"मैं तो यही समझता हूँ; और यह भी मानता हूँ कि भीष्म के पश्चात् आपका ही प्रधान सेनापति चुना जाना स्वाभाविक, न्यायोचित तथा निश्चित है।"

"शिक्षा के समय जो कुछ तुमने अपने उपाध्याय से सुना, उसे सुग्गे के समान रट रहे हो।" द्रोण का स्वर कठोर हो गया, "अपनी स्थिति पर भी कुछ विचार किया है तुमने ?"

"अपनी स्थिति पर ?" अश्वत्थामा उनका अभिप्राय नहीं समझ पाया।

"किसी समय मैंने द्रुपद को अपना मित्र माना था। उससे मन खट्टा हुआ तो उसके सबसे समर्थ विरोधी का अवलंब ग्रहण करने मैं हस्तिनापुर आया था।..." द्रोण ने उसकी ओर देखा, "पर तुमने कभी इस पर विचार किया है कि मैं हस्तिनापुर क्या करने आया था ?"

अश्वत्थामा अपने पिता की ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखता रहा।

"तुमने कभी सोचा कि यदि मुझे युद्ध ही करना था तो मैंने स्वयं द्रुपद से युद्ध क्यों नहीं किया ?" द्रोण बोले, "कौरव राजकुमारों का गुरु बनने के लिए क्यों चला आया ? द्रुपद से तत्काल प्रतिशोध न लेकर उसे कौरव राजकुमारों की शिक्षा समाप्त होने तक टाल क्यों दिया ?"

अश्वत्थामा अपने पिता का एक सर्वथा नवीन रूप देख रहा था।... हाँ ! यह प्रश्न उसके मन में तो कभी नहीं उठा। पिता तब भी धनुर्वेदाचार्य थे। व्यूहों का ज्ञान तो उनको तब भी था। तो उन्होंने युद्ध की बात क्यों नहीं सोची ?

"तुम कह सकते हो कि तब मेरे पास सेना नहीं थी।" द्रोण बोले, "किंतु जिस समय मैं कौरव राजकुमारों को साथ लेकर द्रुपद से युद्ध करने गया था, तब सेना भी थी मेरे पास। फिर भी युद्ध मैंने नहीं किया। कौरवों ने भी नहीं किया। दुर्योधन और कर्ण तो पराजित होकर भाग ही आए थे। युद्ध पांडवों ने किया था।" द्रोण ने अपने पुत्र को देखा, "यदि पांडव भी द्रुपद को जय न कर सकते तो क्या मैं युद्ध करता ?"

"आप युद्ध नहीं करते ?" अश्वत्थामा चकित था।

"मैं द्रुपद की पराजय चाहता था, उसका अपमान चाहता था, उससे प्रतिशोध चाहता था, पर मैं उससे स्वयं युद्ध करना नहीं चाहता था। मैं उससे युद्ध करने नहीं गया था, उसे अपमानित करने गया था।"

"यदि अर्जुन और भीम पांचालों को पराजित नहीं कर पाते तो आप चुपचाप हस्तिनापुर लौट आते ? युद्ध नहीं करते ?"

"नहीं !" द्रोण जैसे अपने आपसे कह रहे थे, "कौरव राजकुमार पराजित होकर लौटते तो उनके अपमान और पराजय का प्रतिकार करने के लिए, भीष्म स्वयं युद्ध करने जाते। मैं तो द्रुपद और भीष्म को युद्धक्षेत्र में आमने-सामने कर देना भर चाहता था।"

"आप अर्जुन की क्षमता पर विश्वास कर नहीं गए थे ?"

"मुझे अर्जुन से अपेक्षाएँ तो बहुत थीं; किंतु इतना विश्वास नहीं था कि वह द्रुपद को पराजित कर इस प्रकार बाँध लाएगा।"

"तो आपने अर्जुन को उस युद्ध के लिए तैयार नहीं किया था ?"

"युद्ध के लिए तो तैयार किया था, किंतु यह विश्वास नहीं था कि वह विजयी होगा ?" द्रोण बोले, "निश्चित विश्वास नहीं था।"

"तो आप उसे संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी नहीं मानते थे ?"

"नहीं ! मैं उसे एक श्रेष्ठ धनुर्धारी ही मानता था। उसके सर्वश्रेष्ठ होने का विश्वास तो मुझे विराटनगर के गोहरण वाले युद्ध में हुआ है।" द्रोण बोले।

"तो आपने एकलव्य का अँगूठा क्यों लिया ? अर्जुन को संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी बनाए रखने के लिए नहीं ?"

द्रोण की आँखों में खीज जन्मी, "तुम अर्जुन के संसार में सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी होने

की बात बार-बार क्यों कहते हो ? उससे अधिक तो मैंने तुमको सिखाया है। उसे पानी भरने के लिए भेज कर भी तुम्हें शिक्षा देता रहा। उसके वारणावत चले जाने के पश्चात् भी तुम्हें सिखाता रहा। तुम मेरे प्रिय पुत्र हो। एकमात्र पुत्र हो। तो फिर मैं तुमसे अधिक और किसे सिखा सकता था।"

"तो फिर एकलव्य का अँगूठा…?" अश्वत्थामा कुछ झपटकर बोला, "यदि आपको उसके अर्जुन पर भारी पड़ने का भय नहीं था, तो उसको इस प्रकार अपंग करने का प्रयोजन ?"

अश्वत्थामा ने अपने पिता की ओर देखा तो चकित रह गया। उनकी आँखों में जैसे क्रोधाग्नि धधक रही थी।

"क्या बात है पिताजी ?" अश्वत्थामा कुछ शांत होकर बोला, "मैंने ऐसा तो कुछ नहीं कहा।" और फिर जैसे वह सँभल गया, "यदि मेरी किसी बात ने आपका मन दुखाया हो तो मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।"

"मैंने एकलव्य का अँगूठा लिया था, क्योंकि वह मेरा अपमान कर रहा था।" द्रोण की शिराओं में जैसे घृणा का विष धधक रहा था।

अपमान ?… अश्वत्थामा सोचता रह गया… जिस एकलव्य ने गुरुदक्षिणा में अपने अँगूठे के रूप में उन्हें अपना सारा धनुर्ज्ञान दे दिया, अपना सारा सामर्थ्य उनकी झोली में डाल कर स्वयं पूर्णतः अकिंचन हो गया, उसके विषय में उसके पिता कह रहे हैं कि वह उनका अपमान कर रहा था ?…

पिता की मनःस्थिति इस समय विवाद करने की नहीं थी। वे तो उसकी जिज्ञासा से ही क्षुब्ध हो रहे थे, उसके विरोध को कैसे सहन करते।…

"अपमान ?" न चाहते हुए भी अश्वत्थामा के मुख से अनायास ही निकल गया।

"हाँ अपमान।" द्रोण के अधर जैसे क्रोध से फड़फड़ा रहे थे, "वह यह सिद्ध कर रहा था कि द्रोण के सिखाए बिना भी कोई संसार का श्रेष्ठ धनुर्धारी हो सकता है। जिसका मैंने तिरस्कार किया, जिसे मैंने शिक्षा नहीं दी, वह मेरे शिष्य से अच्छा धनुर्धर प्रमाणित हो जाए तो फिर मेरे चयन और मेरे प्रशिक्षण का अर्थ ही क्या रह गया ?"

अश्वत्थामा स्तब्ध रह गया। उसने आज तक एकलव्य की ओर से ही सोचा था। अपने पिता के मन को भी जानना चाहा तो उनके उदात्त रूप के विषय में ही सोचा। उनके इस रूप को तो उसने जाना ही नहीं था। किसी अबोध की श्रद्धा और निष्ठा से भी किसी ज्ञानी का अहंकार आहत होता है, यह उसके लिए नया ही अनुभव था। तभी तो अर्जुन की प्रत्येक उपलब्धि के साथ कर्ण का रक्त खौलने लगता है।… तो यह अहंकार उसके पिता में भी है। हाँ ! अहंकार तो है ही, अन्यथा वे द्रुपद से इतने रुष्ट क्यों होते। उसके एक वाक्य से पिता अपना संतुलन क्यों खो देते ? वह उनका स्वाभिमान मात्र होता तो वे द्रुपद के आतिथ्य का तिरस्कार कर कांपिल्य छोड़ देते… किंतु यह प्रतिशोध… और फिर प्रतिशोध की भी कितनी लंबी योजना। कौरव राजकुमार

द्रुपद को अपमानित न कर सकें तो भीष्म जाएँ द्रुपद का अपमान करने।...यह मात्र अहंकार ही था अथवा...? क्या-क्या छिपा है मनुष्य के मन में...

"तो फिर आप हस्तिनापुर ही क्यों आए ?" अश्वत्थामा ने पिता की उत्तेजना देखते हुए विषय बदल दिया।

"मैं भीष्म के बल के भरोसे हस्तिनापुर आया था, भीष्म के धर्म पर विश्वास कर।"

"अपने बल के भरोसे क्यों नहीं ?"

"मैं युद्धाचार्य था, योद्धा नहीं।" द्रोण बोले, "शस्त्रों के विषय में जानना और समरभूमि में अपने शरीर पर आघात झेलना, अपने शरीर को चिरवाना और दूसरे जीवित शरीर को चीरना दो भिन्न बातें हैं। सैद्धांतिक पक्ष का मैं ज्ञाता था; किंतु युद्ध न कभी किया था, न देखा था। मनुष्य का रक्त बहाने के साधनों का मुझे ज्ञान था; किंतु किसी का रक्त मैंने बहाया नहीं था। अपने शरीर से रक्त बहाने की तो मैंने कल्पना भी नहीं की थी।... और पुत्र ! जो केवल सिद्धांत की बात करता है, आवश्यक नहीं कि वह वीर भी हो, वह प्रायः भीरु होता है। वह किसी का संरक्षण पाकर सुरक्षित ढंग से अपना कार्य करना चाहता है। मैं भी भीष्म की छाया में सुरक्षित रहकर द्रुपद से प्रतिशोध लेना चाहता था।... मैं उसे अपमानित और वंचित करना चाहता था; किंतु अपना कुछ भी दाँव पर लगाना नहीं चाहता था।..."

"पर पिछले दस दिनों से हो रहे इस युद्ध में तो आप कहीं दुर्बल नहीं पड़े।"

"हस्तिनापुर में रहते हुए, युद्धों का पूर्वाभ्यास भी हुआ है और कुछ-कुछ अभ्यास भी।" द्रोण बोले, "विराटनगर में पहली बार मैंने वास्तविक युद्ध का अभ्यास किया, किंतु वह युद्ध अकेले योद्धा अर्जुन के विरुद्ध था और यह मैं तब भी जानता था कि अर्जुन मेरा वध करने नहीं आया है, वह केवल विराट का गोधन लौटा ले जाने आया है। इसलिए वस्तुतः वह भी प्राणांतक युद्ध नहीं था।"

"पर यह युद्ध ?"

"यह युद्ध भी तो मैंने, तुमने, हमने भीष्म की ही छाया में ही लड़ा है।..." द्रोण अपने स्थान से उठ खड़े हुए। उनका चेहरा अवसाद में डूबा हुआ था। इस बार बोले तो उनके स्वर में भी विषाद था, "अब भीष्म ही नहीं रहे।..."

"तो ?"

"तो हम अब असुरक्षित हैं। अब हमें किसी दृढ़ कवच की सुरक्षा से वंचित होकर अपने बल पर युद्ध करना होगा।"

"तो भय का क्या कारण है पिताजी ! हम समर्थ हैं।"

द्रोण कुछ नहीं बोले। वे सिर झुकाए चुपचाप बैठे कुछ सोचते रहे।

"आप भयभीत हैं पिताजी ?"

"मैं आरंभ से ही भीरु रहा हूँ।" द्रोण बोले, "मैं अपने ज्ञान के सामर्थ्य से तो अवगत था किंतु अपने योद्धा रूप को नहीं जानता था। पिछले दस दिनों में मैंने अपना

योद्धा रूप भी देखा है। मन-ही-मन कहीं यह भी जानता हूँ कि अर्जुन मुझसे प्रेम करता है, मेरा सम्मान करता है। मेरे सम्मुख वह अपना परम शौर्य प्रकट नहीं करेगा। वह मेरा वध नहीं करेगा, जैसे वह भीष्म का वध करना नहीं चाहता था। किंतु अर्जुन न राजा है, न प्रधान सेनापति। फिर उधर कृष्ण भी हैं। इसका अर्थ है कि…"

"पिताजी ! भय का कोई कारण नहीं है।" अश्वत्थामा कुछ व्यग्र स्वर में बोला, "हम क्षत्रिय नहीं हैं; किंतु योद्धा तो हैं। आपके प्राणों को कोई भय नहीं है। महाराज दुर्योधन आपकी सुरक्षा का पूर्ण प्रबँध करेंगे। अब भीष्म के पश्चात् दूसरा योद्धा ही कौन है।"

"तुम्हें अपनी क्षमता का ज्ञान है, अपने शत्रुओं की क्षमता का नहीं। हमें बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है। पलक झपकने भर का समय धृष्टद्युम्न को दे दो और देखो, वह मेरा मस्तक काट कर ले जाएगा।" द्रोण रुके, और फिर तमककर बोले, "वैसे मुझे भय अपने प्राणों का नहीं है। पिता बन जाने के पश्चात् सारी चिंता पुत्र की होती है। मैं अपनी भूख से पीड़ित होकर द्रुपद के पास नहीं गया था। तुम्हें ही दूध के स्थान पर आटे का घोल पी कर प्रसन्न होते देख मेरा मन रक्त वमन करने लगा था और मैंने द्रुपद के पास जाने की योजना बनाई थी।…"

"तो अब भी आपको मेरे ही प्राणों का भय है ?"

"पुत्र पिता की आत्मा होता है। वह उसका आत्मज है। वह उसका भविष्य है, उसका विकास और विस्तार है। मैं तुम्हारे लिए चिंतित नहीं हूँगा तो और किसके लिए हूँगा।…"

"मैं तो आज तक यही समझता रहा कि आप मुझसे भी कहीं अधिक अर्जुन से प्रेम करते हैं।…" अश्वत्थामा ने हँसने का प्रयत्न किया।

"अर्जुन का भी मोह है मुझको। वह मेरा मानसपुत्र है।… किंतु देह के संबंधों का मोह बड़ा होता है। किसी गुरु को अपना शिष्य अपने औरस पुत्र से अधिक प्रिय नहीं होता।… और मेरे तो तुम एकमात्र पुत्र हो। तुम्हें कुछ हो गया तो मेरे जीवन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाएगा।…"

"पिताजी !"

अश्वत्थामा को रोमांच हो गया। उसने अपने पिता का यह रूप पहले कभी नहीं देखा था।… और इस प्रकार… इतने मुखर रूप में उन्होंने अपने प्रेम को अभिव्यक्ति पहले कभी नहीं दी थी।

"वह तो ठीक है पिताजी ! किंतु अपने शस्त्रों और अपने युद्ध-कौशल के साथ हम इतने असुरक्षित भी नहीं हैं।" अश्वत्थामा धीरे से बोला, "और युद्ध करने पर क्षत तो लगते ही हैं। हम यह अपेक्षा कैसे कर सकते हैं कि हम तो शत्रु पर प्रहार करेंगे; किंतु वह हम पर प्रहार नहीं करेगा।…"

"ठीक कहते हो पुत्र !" द्रोण बोले, "इस बात को मैं भी समझता हूँ। सिद्धांत

रूप में कहीं चर्चा करनी हो अथवा किसी को समझाना हो तो ये सारी बातें मैं भी कह सकता हूँ... किंतु अपनी प्रकृति को मैं जानता हूँ। यह देखते हुए भी कि यहाँ असंख्य योद्धाओं ने स्वेच्छा से अपने साथ अपने पुत्रों को भी रणसज्जित किया है, मैं अपना मोह दूर नहीं कर पा रहा। मैंने देखा है कि विराट के चक्षुओं के सम्मुख उनके तीन-तीन पुत्रों का वध हुआ है। अर्जुन के सारे सामर्थ्य और पांडव सेना की सारी शक्ति के होते हुए भी इरावान मारा गया... और फिर भी वे पिता योद्धाओं के रूप में सहज भाव से युद्ध कर रहे हैं। मैं सोचता हूँ कि अपने पुत्र के हताहत होने का समाचार पाकर कोई पिता जीवित कैसे रह सकता है।...''

''राजा दुर्योधन ने भी तो अपने पुत्रों को रणभूमि में उतारा है पिताजी !''

''जानता हूँ।'' द्रोण ने धीरे से कहा, ''उसने तो राज्य के मोह में बहुत कुछ किया है, पर प्रश्न यह है कि मैं इस रणभूमि में क्या कर रहा हूँ ? अपने पुत्र और मानस पुत्रों की मृत्यु देखने के लिए क्यों खड़ा हूँ यहाँ ? मुझे क्या लेना है इस रण से ?''

''आप भूलते हैं कि हमने इसी राजा से बहुत धन-धान्य पाया है। उसी के कारण हमारे पास अहिछत्र का राज्य सुरक्षित है। उसी के कारण...''

''भ्रांति है तुम्हारी।'' द्रोण एक विचित्र प्रकार की उत्तेजना में बोले, ''हमने जो कुछ पाया, भीष्म से पाया। मैंने तुमसे कहा था कि मैं भीष्म के संरक्षण में आया था। उनके शौर्य पर भी विश्वास था मुझको और उनके धर्म पर भी।... दुर्योधन के न तो शौर्य में मेरी आस्था है और न उसके धर्म में। अधर्मी है वह। अपने स्वार्थ के कारण वह घुटनों के बल गिर भी सकता है और किसी के तलुवे भी चाट सकता है।... किंतु धर्म का लेश भी नहीं है उसमें।''

''हम भी धर्म की रक्षा के लिए युद्ध नहीं कर रहे।'' अश्वत्थामा के स्वर में हल्की-सी उत्तेजना उभरी, ''हम हस्तिनापुर के साम्राज्य और उसके राजा की रक्षा के लिए रणस्थली में आए हैं।''

''इसी का तो संताप है मुझे।'' द्रोण जैसे अपने आपसे कह रहे थे, ''मैंने धर्म की रक्षा के लिए धनुष क्यों नहीं उठाया, स्वार्थ की रक्षा के लिए शस्त्रग्रहण क्यों किया।''

अश्वत्थामा हतप्रभ-सा अपने पिता को देखता रहा और फिर कुछ उत्तेजना में बोला, ''आज युद्ध का पहला दिन नहीं है पिताजी ! ग्यारहवाँ दिन है। यह सब सोचना था तो आपको युद्ध आरंभ होने से पहले सोचना चाहिए था। मन में द्वंद्व ही उठने थे तो युद्ध के पहले दिन उठने चाहिए थे। बीच युद्ध में आज ग्यारहवें दिन यह सब सोचने का तर्क क्या है।...''

''एक ही कारण है पुत्र ! और वही इसका तर्क भी है। भीष्म अब नहीं हैं। वे असमर्थ होकर शर-शैया पर पड़े हैं और उनके प्राण अपने प्रयाण के लिए जाने किस अनुकूल क्षण की प्रतीक्षा में हैं।'' द्रोण ने प्रयत्नपूर्वक अश्वत्थामा की ओर देखा, ''और इधर दुर्योधन स्वयं को हमारा स्वामी माने बैठा है। मेरा स्वाभिमानी मन अपने मित्र द्रुपद

का एक वाक्य नहीं सह सका तो इस अधर्मी का स्वामित्व कैसे सह पाएगा।"

अश्वत्थामा अपने पिता के प्रेम से भीग रहा था। अकस्मात् ही पिता की इस हठ से कुछ खीज उठा।"' स्वाभिमान और धर्म की बात कर रहे हैं वे"'। अपने अहंकार को नहीं देखते। अपने स्वार्थ को नहीं देखते।

"तो मैं दुर्योधन से कह दूं कि आप उसके प्रधान सेनापति नहीं बनना चाहते ?"

"तनिक भी विचार क्षमता नहीं है तुममें ?" द्रोण सहसा ही फुफकार उठे, "मैं प्रधान सेनापतित्व अस्वीकार कर दूँगा तो दुर्योधन को उस अहंकारी कर्ण को प्रधान सेनापति बनाने का एक बहाना मिल जाएगा।"

"तो क्या चाहते हैं आप ? सेनापति बनना भी चाहते हैं और नहीं भी बनना चाहते ?"

"मूर्ख हो तुम।" द्रोण बोले, "मैं भीष्म की छत्रछाया के न रहने का शोक कर रहा हूँ। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मैं कर्ण की छत्रछाया अंगीकार कर लूँ।" उन्होंने रुककर अश्वत्थामा को देखा, "सत्य तो यह है कि मैं युद्ध करना नहीं चाहता; किंतु अब चाहूँ भी तो इससे बच नहीं सकता।"

"क्यों ?" अश्वत्थामा ने कुछ चकित होकर पूछा, "आप लड़ना न चाहें तो कौन आपको बाध्य कर सकता है ?"

"मेरे कर्म।" द्रोण कहीं शून्य में देख रहे थे, "यदि मैं दुर्योधन को त्यागना चाहूँ तो वह इस बात से डर जाएगा कि मैं पांडवों के पक्ष में चला जाऊँगा। वह इसे सहन नहीं कर पाएगा। स्वच्छंद और मुक्त द्रोण को वह जीवित नहीं रहने देगा।"

"क्यों ? हम असमर्थ हैं क्या ?" अश्वत्थामा फुफकारकर बोला, "दुर्योधन युद्ध में हमें पराजित कर सकता है क्या ?"

द्रोण हँसे, "युद्ध क्यों करेगा वह ? वह भोजन में विष देगा, वह विषधर भेजेगा, जो छिपकर विष बुझा बाण मारेंगे, वह आग लगाएगा और हमें सोते हुए ही परलोक पहुँचाएगा। नहीं पुत्र ! मैं इतना जोखिम नहीं उठा सकता। मेरे साथ जो हो वह तो हो, किंतु मैं तुम्हारे प्राणों को भी संकट में नहीं डालना चाहता।"

अश्वत्थामा को आज अपने पिता की कोई बात समझ में नहीं आ रही थी। यह अकस्मात् ही उनको क्या हो गया था। वे अतिवृद्ध हो गए थे क्या ? अपनी छाया से भी डरने लगे थे। दुर्योधन को अपना शत्रु मान बैठे थे और अपने तथा अपने पुत्र वीर अश्वत्थामा के प्राणों के लिए चिंतित थे।

"यद्यपि मेरी ऐसी कोई इच्छा नहीं है, किंतु तर्क के लिए कहता हूँ, हम दुर्योधन के शत्रुओं से मैत्री कर सकते हैं।" उसने अपने पिता को सांत्वना देने का प्रयत्न किया, "हम अहिछत्र लौटा देंगे।"

"हम अहिछत्र लौटा सकते हैं। हम फिर से उनका सम्मान करना भी आरंभ कर सकते हैं। किंतु हमने उनका जो अपमान किया है, उसे नहीं लौटा सकते।" द्रोण जैसे

अपने आपसे बात करने लगे थे, "द्रुपद तो कदाचित् मुझे क्षमा कर भी दे, किंतु धृष्टद्युम्न, शिखंडी और द्रौपदी मुझे क्षमा नहीं करेंगे। मित्र तो मेरा एक ही था द्रुपद ! किंतु शत्रु तो उसका सारा परिवार है।" उन्होंने अश्वत्थामा की ओर देखा, "हम जब कर्म करते हैं तो यह कल्पना भी नहीं करते कि उसके परिणाम रूपी रज्जू भविष्य में हमें किन जटिलताओं में उलझा देगी। हम चाहेंगे भी तो मुक्त नहीं हो सकेंगे। कर्म तो भाग्य का ऐसा आलेख है, जो किसी भी प्रकार मिटाया नहीं जा सकता।"

"तो ?" अश्वत्थामा ने पूछा।

"हमें युद्ध करना ही होगा। और यदि लड़ना ही है तो सैनिक के रूप में लड़ने से तो सेनापति के रूप में लड़ना ही अधिक सम्मानजनक है। कम क्षमता और कम बुद्धि के व्यक्ति की आज्ञा के अधीन लड़ने में भी तो कोई सुख नहीं है।" द्रोण निश्चयात्मक स्वर में बोले, "सेनापति सेना का तो सर्वोच्च अधिकारी होता है, किंतु वह राजा नहीं हो सकता। मैं सेनापतित्व स्वीकार कर लूँ तो कर्ण, जयद्रथ अथवा शल्य की आज्ञाओं का पालन करने से तो बच जाऊँगा; किंतु इस पापी दुर्योधन की आज्ञाओं से मुक्ति नहीं है।"

द्रोण को इतना हताश देखकर भी अश्वत्थामा कुछ नहीं बोला। उसके चेहरे से स्पष्ट था कि उसका मौन उसकी सहमति का द्योतक नहीं था। बस वह अपने पिता का विरोध नहीं कर रहा था, क्योंकि वह उन्हें और दुखी नहीं करना चाहता था।

2

अपने मंडप में कर्ण को सहसा अपने सम्मुख देखकर दुर्योधन को थोड़ा आश्चर्य हुआ।

...ठीक है कि उसने सदा ही कहा था कि कर्ण को उसके मंडप में प्रवेश करने के लिए किसी अनुमति की आवश्यकता नहीं है। वह अधिकारपूर्वक भीतर आ सकता है।...पर कर्ण प्रायः पहले संदेश भिजवाता था और फिर अनुमति मिलने पर ही भीतर आया करता था। आज उसका व्यवहार कुछ बदला हुआ था। न तो उसने सूचना भिजवाई थी और न ही अनुमति की प्रतीक्षा की थी। वह आकर जिस प्रकार विश्वविजयी मुद्रा में उसके सम्मुख खड़ा हो गया था, उससे यह नहीं लगता था कि वह भूमि पर खड़ा था। वह भूमि से कुछ ऊपर खड़ा था और संसार जैसे उसके चरणों में रेंग रहा था।...

"मैं भीष्म पितामह से मिलकर आ रहा हूँ युवराज !" उसने कहा।

दुर्योधन को कुछ आश्चर्य हुआ। आज वह भीष्म को 'पितामह' कह रहा था। उसने उनके लिए किसी अपशब्द का प्रयोग नहीं किया था।

"क्या चर्चा हुई ?" दुर्योधन की उत्सुकता कुछ-कुछ जाग उठी थी।

"उन्होंने स्वीकार किया कि वीर और योद्धा के रूप में मैं किसी से कम नहीं हूँ।

वे नहीं चाहते थे कि यह युद्ध हो, इसलिए वे मुझे हतोत्साहित करने के लिए जानबूझकर मेरा तिरस्कार करते रहते थे। वे जानते थे कि यह युद्ध आप मेरे ही भरोसे कर रहे हैं। मैं हतोत्साहित हो गया तो आप यह युद्ध नहीं करेंगे।" कर्ण ने कहा, "उन्हें खेद है कि उनका व्यवहार मेरे प्रति सौहार्दपूर्ण नहीं रहा।"

दुर्योधन का मन कहीं और भटक गया था। वह कल्पना कर रहा था कि पितामह ने कर्ण से यह सब कैसे कहा होगा और क्यों कहा होगा ?…उनके मन में कर्ण के प्रति जो घृणा थी, वह केवल इसकारण तो मिट नहीं सकती कि अब वे युद्ध के योग्य नहीं रहे थे।…

"क्या उन्होंने तुम्हें युद्ध में सम्मिलित होने के लिए प्रेरित्त किया ?" दुर्योधन ने पूछा।

"आरंभ में तो यही कहा कि अब भी समय है, पांडवों से संधि कर लो; किंतु जब मैंने स्पष्ट कह दिया कि यह संभव नहीं है, तो हँसकर बोले, ठीक है। यदि यह संभव नहीं है तो अपने शस्त्र उठाओ और अर्जुन से युद्ध करो। जाओ दुर्योधन को विजय दिलाने के लिए प्रयत्न करो। उसका तुम जैसा हितैषी कोई और नहीं है।…"

दुर्योधन दो भागों में बँट गया। उसका बाहरी आवरण कर्ण से संबोधित था; किंतु उसका अन्तर्मन कहीं दूर अपनी शरशैया पर लेटे भीष्म पितामह के मन में सेंध लगाने का प्रयत्न कर रहा था। क्या सचमुच पितामह चाहते हैं कि कर्ण शस्त्र लेकर अर्जुन से लड़े और दुर्योधन को विजय दिलाए ?… क्या वे यह मानते हैं कि कर्ण अर्जुन को पराजित कर सकता है ? उन्होंने आज तक तो यही कहा था कि अर्जुन को देवता भी नहीं जीत सकते।…

सहसा उसे लगा कि उसने पितामह के मन में सेंध लगा ली है… वह कल्पना कर रहा था कि किस प्रकार पहले पितामह ने कर्ण को संधि कर लेने के लिए समझाया होगा और जब कर्ण ने सहमति प्रकट नहीं की तो उन्होंने उसे निश्चित मृत्यु के हवाले करने के उद्देश्य से अर्जुन से युद्ध करने का परामर्श दिया होगा।… वे मानते हैं कि कर्ण अर्जुन को पराजित नहीं कर सकता। वे यह भी मानते होंगे कि अर्जुन कर्ण का काल है। तो वे कर्ण को उसके काल को समर्पित कर रहे होंगे और कर्ण प्रसन्न था कि पितामह ने जैसे उसे विजय का वरदान दे दिया है…

पर कर्ण इतना नासमझ तो नहीं हो सकता।… पता नहीं पितामह ही बदल गए थे या दुर्योधन ही उन्हें समझने में भूल कर रहा था।…

उसने सिर को झटका। वह इस प्रकार विभाजित नहीं होना चाहता था। उसे एक ही ओर रहना था। द्वंद्वों के मध्य टँगे रहने के लिए युधिष्ठिर ही पर्याप्त था।

"अंगराज !" दुर्योधन बोला, "यह तो निश्चित ही है कि पितामह के युद्धक्षेत्र से हट जाने के कारण तुम्हारे लिए समरभूमि में लौटने के मार्ग में कोई बाधा नहीं रही। यह भी सत्य ही है कि पितामह के धराशायी हो जाने से हमारी सेना में जो एक भयंकर

शून्य उत्पन्न हो गया है, वह तुम्हारे लौट आने से भर जाएगा। तुम्हारे लौट आने के समाचार से मेरे सैनिकों में जैसा और जितना उत्साह जागेगा, उसकी कल्पना करके ही मैं जैसे तृप्त हो जाता हूँ। तुम्हारे आगमन से हमारी सेना पर सूर्योदय का-सा प्रभाव होगा। उनके मन पर पड़ा हुआ निराशा का कुहासा छँट जाएगा।''' किंतु मित्र ! इस समय मेरे सम्मुख एक बड़ी समस्या है।"

कर्ण को पहली बार लगा कि दुर्योधन के मन में उसके युद्ध में लौट आने के अतिरिक्त कुछ और भी है।

"क्या बात है राजन् !" कर्ण ने गंभीर स्वर में पूछा।

"पितामह अब युद्ध के योग्य नहीं हैं।"

"जानता हूँ।"

"हमें एक प्रधान सेनापति चाहिए।"

कर्ण ने दुर्योधन की ओर देखा : क्या है राजकुमार के मन में ? क्या वह चाहता है कि कर्ण अपने मुख से कहे कि वह प्रधान सेनापति का पद स्वीकार कर रहा है ?''' नहीं ! ऐसा होता तो दुर्योधन स्वयं ही कह देता कि वह प्रधान सेनापति के रूप में उसका अभिषेक कर रहा है।''' तो क्या है राजकुमार के मन में ? क्या वह चाहता है कि कर्ण अपने मुख से किसी और योद्धा का नाम प्रधान सेनापति के रूप में प्रस्तावित करे ? किसे चाहता है दुर्योधन ?'''

"आपके पास योद्धाओं की तो कोई कमी नहीं है राजन् ! दुःशासन, शल्य, शकुनि, जयद्रथ, भगदत्त, कृतवर्मा, द्रोण, अश्वत्थामा, कृपाचार्य''' ।" कर्ण बोला। उसने सायास अपना नाम इस सूची से पृथक् रखा था।

"यह प्रसन्नता का विषय है।" दुर्योधन बोला, "किंतु सेनापति के चयन में यही तथ्य बाधक भी तो हो सकता है।"

"राजकुमार ठीक कह रहे हैं।" कर्ण उसके मन की बात समझ गया, "उन नरेशों में परस्पर स्पर्धा है। उनमें से किसी एक का नाम प्रधान सेनापति के रूप में सामने आएगा तो अन्य लोग ईर्ष्या से जल मरेंगे। विद्रोह भड़क सकता है। संभव है शस्त्रों से एक-दूसरे को काट डालें। यह भी संभव है कि उनका शरीर तो इस पक्ष में लड़े और मन उस ओर हो जाए'''। वे लोग आपके हित की भावना से युद्ध नहीं करेंगे।"

"तो ?"

कर्ण समझ गया कि दुर्योधन अपने मुख से कोई नाम उच्चरित नहीं करेगा।

"तो एक ही मार्ग है कि आचार्य द्रोण को प्रधान सेनापति बना दिया जाए।" कर्ण बोला, "वे वयोवृद्ध है, आचार्य हैं, शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ हैं। और उनके सेनापति बनने से कृपाचार्य और अश्वत्थामा भी प्रसन्न होंगे।"

"मेरी इच्छा तो तुम्हें प्रधान सेनापति पद देने की थी, किंतु मेरे मन में अनेक संशय थे।" अंततः दुर्योधन ने अपना भाव प्रकट किया, "तुम्हारे प्रधान सेनापति बनते

ही द्रोण बिदककर परे हो जाते और उनके पीछे नथुने फुलाते हुए कृपाचार्य चले जाते। उनके साथ होता अश्वत्थामा अपनी दुम हिलाता हुआ। इन लोगों ने अपने बाप का राज समझ रखा है और युद्ध के इस संकटपूर्ण काल में मैं उनका विरोध कर नहीं सकता। सब अपना-अपना मूल्य माँग रहे हैं। तनिक-सी बात पर तुनककर पांडवों की ओर चल देंगे। युद्ध का समय न होता तो मैं इन तीनों को उनका उचित स्थान दिखा देता। इस समय तो जिसको देखो, वही अपना भाव बढ़ा रहा है।···"

"तुम चिंता मत करो मित्र !" कर्ण बोला, "तुम उनको सेनापति बना दो। मुझे तनिक भी बुरा नहीं लगेगा। मैं मानता हूँ कि वे वृद्ध हैं। उनके पास समय कम है। आज हैं, कल नहीं भी हो सकते। उनको मुझसे पहले सेनापति बनना चाहिए। मेरे लिए अपना सेनापति बनना महत्त्वपूर्ण नहीं है। मेरे लिए महत्त्वपूर्ण है तुम्हारी विजय।"

"तुम मेरे वास्तविक मित्र हो, इसलिए मेरे मन की बात समझते हो।" दुर्योधन के स्वर में असाधारण माधुर्य था, "द्रोण के सेनापति होने के और भी लाभ हैं। अर्जुन किसी भी स्थिति में अपने गुरु का वध नहीं करेगा। द्रोण सम्मुख होंगे तो अर्जुन का परम शौर्य प्रकट नहीं होगा। हमारे लिए बहुत आवश्यक है कि अर्जुन का शौर्य किसी न किसी प्रकार दबा रहे।" दुर्योधन ने कर्ण के कंधे पर हाथ रख अत्यंत आत्मीयता से कहा, "मेरे मन में दो एक लक्ष्य हैं, जो आचार्य के माध्यम से पूरे हो सकते हैं। एक बार वे पूरे हो लें तो मैं द्रोण और कृपाचार्य को उठाकर बाहर फेंक दूँगा। यदि अश्वत्थामा भी उनके साथ जाना चाहे तो जाए। मैं भूला नहीं हूँ कि विराटनगर के युद्ध में अपने पिता के सम्मान की रक्षा के नाम पर वह किस प्रकार मुझसे लड़ पड़ा था। कितने अपमानजनक ढंग से···"

"नहीं ! नहीं ! इसकी क्या आवश्यकता है।" कर्ण बोला, "मैं जानता हूँ, तुम्हारे मन में मेरे लिए कितना प्रेम है। वैसे तो मैं स्वयं अकेला ही पाँचों पांडवों और धृष्टद्युम्न के लिए पर्याप्त हूँ, किंतु इतने बड़े युद्ध में अनेक प्रकार के योद्धाओं की आवश्यकता होती है। और फिर पिछले तेरह वर्षों से आपने इतने राजाओं के साथ जो मैत्री की है, उसका निर्वाह किया है, वह इसलिए तो नहीं कि युद्ध के अवसर पर मेरे मोह में आप योद्धाओं को अपने से दूर कर दें। हमें उन सबकी आवश्यकता है।"

"इसीलिए तो वक्ष पर पत्थर रख कर सब कुछ सहन कर रहा हूँ, अन्यथा रंगभूमि में तुम्हारा अपमान करने वाले कृपाचार्य को मैं अपने निकट भी फटकने देता ?" दुर्योधन ने कर्ण की ओर देखा, "तुम्हें स्मरण है, जब तुमने अर्जुन को द्वंद्व युद्ध के लिए ललकारा था तो इसी कृप ने तुमसे पूछा था कि तुम कौन हो ? तुम्हारी जाति क्या है ? तुम्हारा परिचय क्या है ? मेरे मन से तो वह उसी दिन उतर गया था। यह तो युद्ध की ही बाध्यता है कि मैं ऐसे लोगों को भी अपने हृदय से लगाए हुए हूँ, अन्यथा···।"

"कोई बात नहीं राजन् !" कर्ण ने उसकी बात बीच में ही काट दी, "पहले हम पांडवों से निबट लें, फिर इन लोगों का भी प्रबंध कर लिया जाएगा।"

"एक कठिनाई यह भी तो है कि द्रोण स्वयं को मेरा गुरु ही मानते रहेंगे, सेनापति नहीं।"

"तो मानते रहें।" कर्ण बोला, "भीष्म भी तो सदा स्वयं को तुम्हारे पितामह ही मानते रहे। यदि इससे उन लोगों को कोई प्रसन्नता मिलती है तो उन्हें प्रसन्न हो लेने दो।"

कर्ण चला आया।

अपने मंडप के एकांत में आकर वह लेट गया। उसे लगा कि उसके वक्ष के भीतर उनचासों पवन चल रहे हैं और उसके ऊपर असंख्य बवंडर मचल रहे हैं। दुर्योधन उससे कितना प्रेम करता है। उसको उसके सम्मान की कितनी चिंता है... किंतु जिस दिन उसे ज्ञात होगा कि वह कुंती का पुत्र है और उसने अपनी माँ को यह वचन दे रखा है कि वह चार पांडवों का वध नहीं करेगा उस दिन क्या सोचेगा दुर्योधन उसके विषय में ?

क्या वह दुर्योधन को अपना रहस्य बता दे ? नहीं। तब दुर्योधन इस सहजता से युद्ध नहीं कर पाएगा और कर्ण अपना प्रतिशोध कैसे लेगा उस विश्वविजेता अर्जुन से ? कर्ण के जीवन की एकमात्र महत्त्वाकांक्षा कैसे पूर्ण होगी ? नहीं ! जैसे दुर्योधन समय की प्रतीक्षा में है और बहुत कुछ सहन करता चल रहा है, वैसे ही कर्ण को भी मौन रहना होगा। सहना होगा।...

दुर्योधन का मन लौट-लौटकर अपनी जीवन-कथा के पृष्ठ उलट रहा था।...कहाँ से आरंभ किया और कहाँ तक चला आया। किन-किन मार्गों और मोड़ों से चल कर आई उसके जीवन की यात्रा यहाँ तक।... आज मन बहुत सारे प्रश्नों से जूझना चाहता था, बहुत सारी स्वीकृतियों को प्रकाशित करना चाहता था...

वह बहुत छोटा था जब उसे ज्ञात हो गया था कि हस्तिनापुर का राज्य पांडु काका का था। वे कुछ कारणों से साधना के लिए वन चले गए थे। इस समय धृतराष्ट्र हस्तिनापुर के सिंहासन पर आसीन थे। जब कभी महाराज पांडु हस्तिनापुर लौट आएँगे, सिंहासन उनको लौटा दिया जाएगा।... दुर्योधन को इस प्रकार की सूचनाएँ अच्छी नहीं लगती थीं। यह राज्य उनका नहीं था, यह सारा धन, वैभव, सत्ता, शक्ति... उनकी नहीं थी। अपने पिता से उत्तराधिकार में उसे यह सब मिलने वाला नहीं था। कभी न कभी तो पांडु लौट ही आएँगे और राज्य उनको लौटा दिया जाएगा। हाँ ! यदि वे कभी न लौटें तो संभव है कि महाराज धृतराष्ट्र के पश्चात् राज्य उसको मिल जाए।... और तब उसका मन अपने लिए कोई मार्ग खोजने लगता था। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि महाराज पांडु कभी हस्तिनापुर न लौटें और यह राज्य सदा के लिए उसके पिता का और उनके पश्चात् उसका हो जाए ?... यह कैसे संभव था। पांडु को कभी तो लौट कर आना ही था। पर क्यों लौट कर आना था उनको ? क्या यह संभव नहीं कि पांडु वहीं मर

जाएँ ? उनकी नैसर्गिक मृत्यु हो जाए, उनको कोई हिंस्र पशु खा जाए अथवा हस्तिनापुर से जाकर कोई उनकी हत्या कर आए ? क्या यहाँ से कोई विषधर नहीं भेजा जा सकता था, जो विष में बुझा एक बाण उनके वक्ष में उतार आए ?...

पर तब दुर्योधन बहुत छोटा था। नैसर्गिक मृत्यु तथा हिंस्र पशुओं पर तो कभी उसका वश नहीं रहा, किंतु उन दिनों तो वह किसी भृतक हत्यारे को भेजने की व्यवस्था भी नहीं कर सका था।... अपनी असहायता उसे बहुत कचोटती थी। और तब उसके मन में अनेक योजनाएँ जन्म लेने लगती थीं।... यदि उसके बड़े होने तक पांडु वन से हस्तिनापुर नहीं लौटे तो वह किसी न किसी हत्यारे को अवश्य ही उनके पीछे भेज देगा या फिर सैनिकों को ही भेज देगा, पूरी की पूरी एक वाहिनी अथवा सारी सेना कि वे वहाँ जा कर पांडु की हत्या कर आएँ।...

पर यदि पांडु उसके बड़े होने से पहले ही हस्तिनापुर लौट आए तो ?... इस आशंका से वह पागल हो उठता था और तब उसके मन में विभिन्न प्रकार के तर्कों का झंझावात चलने लगता था।... पांडु और धृतराष्ट्र—दोनों भाइयों में उसके पिता बड़े हैं, राज्य उनको ही मिलना चाहिए था। यह राज्य पांडु को क्यों दे दिया गया ? इसलिए कि उसके पिता अंधे थे ? नेत्रहीन थे ? पर उसके पिता अंधे ही क्यों थे ?... जब प्रत्येक मनुष्य के दो नेत्र होते हैं तो उसके पिता ही नेत्रहीन क्यों थे ? उसका मन विधाता से लड़ने को हो आता। उसी के साथ ऐसा अन्याय क्यों ? विधाता स्वयं क्यों नेत्रहीन नहीं हुए ? "उसके पिता ही क्यों हुए ?... वैसे उसे अपने पिता के नेत्रहीन होने में कोई आपत्ति नहीं थी। आपत्ति इस बात में थी कि उन्हें राज्य क्यों नहीं मिला ? संसार में अपंग तो अनेक लोग होते हैं, पर उनसे उनके पिता का उत्तराधिकार तो नहीं छीन लिया जाता। उसे समझाया गया कि नियम यही है कि राजा को अपंग नहीं होना चाहिए ? पर वह नियम को तो तभी तक स्वीकार कर सकता था, जब तक वह उसके अनुकूल हो। प्रतिकूल नियमों से उसको कोई सहानुभूति नहीं थी।... ऐसा नियम क्यों नहीं बनाया गया कि राज्य बड़े पुत्र को ही मिलेगा, वह चाहे अपंग और अपाहिज ही क्यों न हो। ... दुर्योधन बनाता तो ऐसा ही नियम बनाता। पर वह नियम बना नहीं सकता था।...

उसके जन्म से पूर्व ही राज्य उसके पिता के हाथों से छीनकर पांडु को दिया जा चुका था... पांडु वन भी जा चुके थे।... अपने जन्म से पूर्व वह राज्य संबंधी नियम कैसे बनाता।... नियम तो वह आज भी नहीं बना सकता। शास्त्रों की रचना वन में बैठे ऋषि करते हैं, जिनके पास न अपना राज्य है, न किसी का राज्य उन्हें छीनना है। उन्हें क्या पता कि भाइयों में सबसे बड़े होने पर भी राज्य का न मिलना कितना कष्टप्रद है।... तो फिर उन ऋषियों को राज्य संबंधी नियम बनाने का अधिकार किसने दे दिया, जिनके पास न राज्य है, न जिन्हें राज्य मिलने की कोई संभावना है।... राज्य तो दुर्योधन को मिलना है। वंचना की संभावना भी उसको ही होती है, जिसके पास कुछ हो। ऋषियों का क्या है।... तो क्यों न नियम बनाने की अनुमति भी केवल उसे ही हो, जिसका

राज्य से कोई संबंध है।''' पर राज्य होते हुए भी दुर्योधन नियम बना नहीं सकता।''' दुर्योधन के शरीर का सारा रक्त जैसे उसके मस्तिष्क की ओर दौड़ने लगता था।''' उसे बनाने नहीं दिया जाएगा तो वह तोड़ देगा। अपनी इच्छानुरूप निर्माण नहीं हो सकता तो अपनी इच्छा के अनुसार ध्वंस तो हो सकता है ?''' हाँ ! वह नियम बना नहीं सकता, पर नियम तोड़ अवश्य सकता था। उसकी इन नियमों में कोई आस्था नहीं थी, जिनसे उसके पिता के हाथों से राज्य निकल गया था। उसके मन में उन लोगों के प्रति भी कोई श्रद्धा नहीं थी, जिन्होंने उन नियमों को मान कर उसके पिता को राज्य से वंचित किया।''' इसीलिए भीष्म और विदुर उसे कभी अच्छे नहीं लगे। सत्यवती और व्यास के प्रति भी कोई श्रद्धा नहीं थी उसके मन में। अच्छे लगे मातुल शकुनि, जिन्होंने सदा से उसे प्रकृति का एक ही नियम सिखाया था कि अधिकार से अधिक महत्त्वपूर्ण है, आधिपत्य। जो कुछ तुम्हें चाहिए, उस पर आधिपत्य जमाओ, अधिकार की चिंता मत करो। जिसके पास अधिकार है, उसे आधिपत्य मत जमाने दो, वह टापता रह जाएगा। और आधिपत्य के लिए आवश्यक है, बल। यदि तुम्हारे पास बल है तो फिर किसी नियम और नैतिकता की ओर ताकने की कोई आवश्यकता नहीं है। नियमों को व्यवहार में लाने के लिए, उनका कार्यान्वियन करने के लिए भी उनके पीछे राज्य अथवा समाज का बल होता है। नियम के पीछे बल न हो तो नियम का कोई अर्थ नहीं है। तो तुम बल एकत्रित करो। मात्र नियम बनाने से कुछ नहीं होगा। जिस समय धृतराष्ट्र को शारीरिक रूप से अपूर्ण मान कर राज्य नहीं दिया गया, उस समय यदि वे भीष्म, विदुर और सत्यवती से अधिक बलवान होते तो राज्य कदापि पांडु को नहीं मिलता।'''

दुर्योधन ने उसी दिन से बल की प्रतिष्ठा और नियमों की अवहेलना का सिद्धांत सीख लिया था।''' पर वह अभी बालक ही था कि वन में पांडु का देहांत हो गया। कुंती अपने पुत्रों को लेकर हस्तिनापुर आ गई।'''दुर्योधन ने उन लोगों को देखा : उसे बताया गया कि वे उसके भाई थे। उसे यह भी बताया गया कि वे पांडु के पुत्र थे, अतः अपने पिता का राज्य उनको ही मिलना था। उनका बड़ा भाई हस्तिनापुर का युवराज होने वाला था।''' दुर्योधन को दोनों ही बातें स्वीकार्य नहीं थीं। न वह उनको अपने भाई मानने को प्रस्तुत था और न ही वह राज्य युधिष्ठिर को दे देने को तैयार था। आज तक वह हस्तिनापुर का अघोषित युवराज था। आज कुछ लोग वन से आ गए थे तो वे युवराज हो जाएँगे ? उनको देखकर कौन उन्हें राजकुमार मानेगा। वनवासियों जैसे वस्त्र थे, वैसे ही केश। स्वभाव भी राजकुमारों जैसा नहीं था। सबको झुक-झुककर प्रणाम करते रहते थे। दिन भर अध्ययन-अध्यापन की चर्चा करते थे। कभी जप कभी तप। कभी पूजा कभी उपवास। राजकुमार क्या ऐसे होते हैं ? न कोई व्यसन न विलास'''

पर भयभीत तो वह था ही।''' धृतराष्ट्र से उसका राज्य भीष्म और सत्यवती ने छीन लिया था, कहीं उससे उसका राज्य भी ये कुल वृद्ध न छीन लें। भीष्म अब भी जीवित थे और शक्तिशाली थे। यह दूसरी बात थी कि वे राजकाज में बहुत हस्तक्षेप

नहीं करते थे।''' राज्य के महामंत्री विदुर थे, जो भीष्म के बहुत आज्ञाकारी थे। हाँ ! अब सत्यवती हस्तिनापुर में नहीं थीं।'''

पर दुर्योधन आश्वस्त था, उसके साथ उसके मातुल थे। क्रमशः उसने कर्ण और अश्वत्थामा से मित्रता कर ली थी। दुःशासन भी ठीक उसी के समान सोचता था और सदा उसका साथ देने को तत्पर रहता था।''' वैसे भी कुछ ही दिनों में उसने परख लिया था कि पांडवों में से कोई भी उससे संघर्ष के लिए उत्सुक नहीं था। वे न तो उसके पिता धृतराष्ट्र से राज्य लौटा लेने की स्थिति में थे और न ही बड़े हो जाने पर वे उससे राज्य छीन पाएँगे। हस्तिनापुर का प्रत्येक व्यक्ति जानता था कि दुर्योधन हस्तिनापुर और कौरवों का भावी सम्राट् था। उस पर कोई नियम लागू नहीं होता था। उस पर कोई शासन नहीं कर सकता था। उसने जब क्रुद्ध होकर एक सारथि को मार डाला था तो भी किसी ने कुछ नहीं कहा था। संभव है कि महाराज को किसी ने उसकी सूचना भी न दी हो। सारथि के परिवार को साहस ही नहीं हुआ होगा कि वे युवराज पर ऐसा अभियोग लगाएँ।'''

पर भीम का शरीर शक्तिशाली होता जा रहा था। वह न तो युधिष्ठिर और अर्जुन के समान अनमना था, न वह दुर्योधन की धौंस सहता था। वह किसी भी बात पर उसका विरोध करने और भिड़ने के लिए भी तैयार रहता था।''' दुर्योधन समझ रहा था कि यह भीम उसके मातुल शकुनि का आधिपत्य वाला सिद्धांत चलने नहीं देगा। वह उससे उसका राज्य भी छीन लेगा।''' पर दुर्योधन उसे छीनने देगा, तब तो। वह उसे उस दिन के लिए जीवित ही नहीं रहने देगा। और तब दुर्योधन ने उसे विषाक्त मोदक खिलाकर अचेत कर दिया था। चेतनाहीन भीम को रस्सियों से भली भाँति बाँधकर गंगा की धारा में फेंक दिया था। विष से नहीं मरेगा तो गंगा में डूबकर मर जाएगा। डूबकर नहीं मरता तो विषधरों के दंश से मर जाएगा। उसके शव को ठिकाने लगाने की भी आवश्यकता नहीं थी। वह तो गंगा में बह ही गया था।'''

जिस किसी ने उसे समझाने का प्रयत्न किया, दुर्योधन ने यही माना कि वह उसका शत्रु था। वह नहीं चाहता था कि दुर्योधन के मार्ग के काँटे हटें। वे उसे हत्या कहते थे, किंतु दुर्योधन उसे राजनीति कहता था। युद्ध में भी तो इतने लोग मारे जाते हैं। किसलिए ? राज्य के लिए, सत्ता के लिए, धन के लिए, भोग के लिए।''' तो वह भीम की हत्या क्यों नहीं कर सकता ? माँ ने उसे समझाया था कि युद्ध की बात और होती है। वहाँ हम शत्रुओं को चुनौती देते हैं, शस्त्र देते हैं और क्षत्रियों के समान आमने-सामने लड़ते हैं। नियम ही ऐसा था।''' किंतु दुर्योधन को नियमों की चिंता नहीं थी। उसे अपना लक्ष्य प्राप्त करना था, जैसे भी हो।''' कभी तनिक-सा चिंतित भी हुआ तो मातुल ने समझा दिया कि नियम कायरों के लिए होते हैं। वीर लोग अपने नियमों का निर्माण स्वयं करते हैं।'''

भीम मृत्यु के मुख से बच कर हस्तिनापुर लौट आया था। आचार्य द्रोण की शिक्षा

से अर्जुन धनुर्धारी हो गया था। रंगशाला में आचार्य द्रोण ने अपने शिष्यों के कौशल का प्रदर्शन किया तो अर्जुन ने बहुत प्रशंसा पाई थी और पांडव बहुत शक्तिशाली होते प्रतीत हुए थे दुर्योधन को। उसने उनके सम्मुख कर्ण को खड़ा कर दिया था। कर्ण से अर्जुन का द्वंद्वयुद्ध हो जाता तो कर्ण कदाचित् दुर्योधन के उस शत्रु को सदा के लिए समाप्त कर देता, पर कृपाचार्य ने उसकी इच्छा पूरी नहीं होने दी। उन्होंने द्वंद्वयुद्ध ही नहीं होने दिया। द्वंद्वयुद्ध तो नहीं हुआ, किंतु कृपाचार्य और भीम की उक्तियों ने कर्ण को सदा के लिए दुर्योधन की झोली में अवश्य डाल दिया। दुर्योधन ने कर्ण का आवृत व्रण देख लिया था। वह उसकी महत्त्वाकांक्षा को भी समझ गया था।''' न कर्ण किसी की श्रेष्ठता स्वीकार कर सकता था और न दुर्योधन। वे अच्छे मित्र थे और आगे भी रह सकते थे। दुर्योधन को सत्ता चाहिए थी और कर्ण को सत्ता की कृपा, सान्निध्य और सम्मान। दुर्योधन उसकी प्रशंसा करता रहेगा और कर्ण आजीवन उसके लिए लड़ता रहेगा।'''

कृष्ण ने कंस को मार कर मथुरा पर आधिपत्य जमा लिया था। यादव लोग शक्तिशाली हो गए थे और एक दिन पांडवों के मातुल के रूप में अक्रूर हस्तिनापुर आया। परिणाम यह हुआ कि युधिष्ठिर को हस्तिनापुर का युवराज बना दिया गया। धृतराष्ट्र ने उसे और उसके भाइयों को द्रुपद के साथ होने वाले युद्ध में झोंक दिया था। पर पांडव उसमें विजयी हो आए थे। अब युधिष्ठिर को युवराज पद से नहीं हटाया जा सकता था। वह दुर्योधन का राज्य छीन कर ही रहेगा।''' दुर्योधन के लिए यह असह्य था। वह इसको स्वीकार नहीं कर सकता था। न वह धर्म को मानना चाहता था, न शास्त्र को। न परंपरा को न कुल वृद्धों के आदेश को। वह तो यह जानता था कि वह अपना राज्य किसी को नहीं दे सकता था। कुछ हो जाए। यदि उसे सीधे-सीधे राज्य नहीं दिया जाएगा तो वह उसे कुटिल मार्ग से प्राप्त करेगा।''' वे कहते थे कि हस्तिनापुर का राज्य उसका नहीं था। पर क्यों नहीं था ? जिस राज्य को वह अपना मानता था, वह उसका था। किसी के कहने से वह उसे कैसे त्याग सकता था।'''

वारणावत में उसने पाँचों पांडवों को उनकी माता के साथ जला कर मार डालने की योजना बनाई थी।''' कितना सुखी था वह, जब तक ये पांडव और उनकी यह माता हस्तिनापुर में नहीं आए थे। उनके आते ही उसके प्रतिद्वंद्वी उत्पन्न हो गए थे। सामने शत्रु दिखाई पड़ने लगे थे। यदि उनकी उपस्थिति से दुर्योधन की इच्छाओं में बाधा पड़ती थी तो उनको जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं था। उनको मरना होगा। पिता को मना लिया था उसने। पिता मानते थे कि यह अनुचित है। उनके मन में कहीं यह धारणा भी हो सकती है कि यह पाप है; किंतु पांडवों को अपने और अपने पुत्र के मार्ग से तो वे हटा ही देना चाहते थे। हाँ ! उस पाप का भार अपने कंधों पर उठाना नहीं चाहते थे। दुर्योधन को उसमें न कुछ अनुचित लगता था और न कुछ पापपूर्ण। यह तो राजनीति थी, जिसमें शत्रु का विनाश कर देना ही एकमात्र उपाय था। शत्रु का नाश

पाप नहीं था। वह तो विजय थी। पिता यह काम घोषित रूप से नहीं करना चाहते थे अतः गोपनीय ढंग से किया गया।

इस कृत्य का बहुत विरोध हुआ। सबने उसको धिक्कारा। पर वह आज भी जानता है कि यदि वारणावत में पांडव मर गए होते तो यह साम्राज्य उसका होता और इस राजनीतिक विजय के लिए उसके पिता भी उसके कृतज्ञ होते। उसे बार-बार कहा गया कि पांडव तो धर्म पर चलते हैं। वह क्यों अधर्म का मार्ग नहीं छोड़ता। उसका उत्तर उसके मन में था। मूर्ख थे पांडव, जो राजनीति में रहकर धर्म की बात करते थे। उन्हें धर्म इतना ही प्यारा था तो वे वनों में रहकर आरण्यक जीवन व्यतीत करने को स्वतंत्र थे। कृष्ण आजीवन कभी सिंहासन पर नहीं बैठ पाया, क्योंकि सदा धर्म की बात करता रहा। नहीं तो कंस के वध के पश्चात् उसे तत्काल मथुरा का सिंहासन अधिकृत कर लेना चाहिए था। तब नहीं कर पाया, क्योंकि अवस्था कम थी और उसे राजनीति का कोई अनुभव नहीं था। वस्तुतः वह राज्य का न महत्त्व जानता था और न उसका सुख। द्वारका जा कर तो उसे राजा बन ही जाना चाहिए था''' पर वह तब भी धर्म का राग अलापता रहा और स्वयं अपने-आपको तथा अपने बंधुओं को वंचित करता रहा।''' दुर्योधन उस मिट्टी का बना हुआ नहीं है। वह एक पूर्ण राजनीतिज्ञ है। वह रजोगुणी है। उसका धर्म क्षात्र धर्म है; और क्षत्रिय के लिए आवश्यक है कि वह अपने शत्रुओं को ही नहीं, संभावित शत्रुओं का भी वध कर दे। किसी के पास इतना धन न छोड़े कि वह धन भविष्य में उसके लिए किसी प्रकार का संकट उत्पन्न कर सके। किसी को इतना शक्तिशाली न बनने दे कि वह उसके लिए कोई चुनौती खड़ी कर सके। राजनीति में कोई आदर्श नहीं होता, कोई सिद्धांत और कोई धर्म नहीं होता। यदि होता भी है तो दुर्योधन उसको नहीं मानता। वह सब युधिष्ठिर के लिए है कि जाए और उन वनवासी तपस्वियों से चर्चा करे कि राजा का कर्तव्य क्या होता है। दुर्योधन का अपना चिंतन है। राजा का एक ही कर्तव्य है कि वह स्वयं को शक्तिशाली, धनी और समर्थ बनाए। जिसका हित करने में उसका लाभ हो, उसका हित करे और जिससे प्रतिकूलता की संभावना हो, उसे किसी भी प्रकार नष्ट कर दे। राजनीति में कोई स्थायी मित्र और शत्रु नहीं होता। अपना स्वार्थ ही एकमात्र मित्र है। उसे सैनिक सहायता चाहिए थी तो वह कृष्ण के पास भी चला गया। अपनी पुत्री के माध्यम से कृष्ण को, उसके पुत्रों और भाइयों से पृथक् कर दिया। जिस कृष्ण से उसे नारायणी सेना मिली थी, उसको हस्तिनापुर आने पर बंदी करने का प्रयत्न किया, क्योंकि अब उसे कृष्ण से कोई लाभ होने वाला नहीं था। राजनीति में कृतज्ञता का पालन करता तो वह अपने सहायकों का दास हो जाता, उनका राजा कैसे रह सकता था।''' कृष्ण और युधिष्ठिर राजधर्म की बात करते हैं। करते रहें। दुर्योधन राजनीतिज्ञ है और वही रहना चाहता है।''' राजसूय यज्ञ में उसे युधिष्ठिर ने महत्त्व दिया तो क्या वह उसको शक्तिशाली बनाए जाने में सहायक होता ताकि युधिष्ठिर अधिक से अधिक महान् सम्राट् बनता जाए ? उसने यह भी देख लिया

था कि पांडव बहुत शक्तिशाली हो चुके थे। वह उनसे लड़ नहीं सकता था। तो क्या वह उनका धन और राज्य छीनने का प्रयत्न ही न करता। वे शक्तिशाली थे, इसलिए वे उसके लिए और भी भयंकर थे। उनका नाश तो उसे करना ही था। लड़ नहीं सकता था, इसलिए उन्हें द्यूत के लिए बुलाया।''' उनका राज्य छीनना था, इसलिए छीन लिया। उस समय धर्म और अधर्म के वितंडावाद में पड़ने का क्या अर्थ ? मनुष्य का एकमात्र धर्म है अपना सुख, अपना स्वार्थ। यदि धन से सुख मिलता है तो धन प्राप्त करे। स्त्री से सुख मिलता है तो स्त्री को हस्तगत करे। सत्ता से सुख मिलता है तो सत्ता छीन ले। अहंकार से सुखी होता है तो अहंकार को स्फीत करे। शत्रु को पीड़ित कर सुख मिलता है तो शत्रु को तड़पाए। इसलिए जब कर्ण ने द्रौपदी को निर्वस्त्र कर देने के लिए कहा तो उन्माद हो गया था दुर्योधन को। उसने तो इस सुख की कल्पना ही नहीं की थी। वह तो केवल इतना भर ही सोच पाया था कि वह द्रौपदी को अपनी दासी के रूप में अपमानित करे और पांडवों का तड़पना देखे। कैसा आह्लाद का क्षण था। कर्ण ने द्रौपदी को निर्वस्त्र करने का प्रस्ताव किया था। जिस द्रौपदी को पाने की आकांक्षा उसके मन में मर कर भी नहीं मरी थी, उसका इस प्रकार सार्वजनिक निर्वस्त्र दर्शन''' संसार की कोई सुरा इतना मद नहीं दे सकती थी। उसमें काम की उत्तेजना भी थी, अहंकार का उद्दाम मद भी, अपने शत्रुओं को पीड़ित और अपमानित देखने का सुख भी। धर्म-धर्म चिल्लाने वाले कुलवृद्धों को नतमस्तक देखने में कैसा अलौकिक सुख था।''' द्रौपदी चीत्कार करती थी कि बताओ धर्म क्या है तो उस चीत्कार की असहायता को देखकर दुर्योधन को एक पूरे भांड का मद चढ़ जाता था। वैसी क्षीवता का उसने अपने जीवन में फिर कभी अनुभव नहीं किया। वह तो दुःशासन ही न जाने क्यों कृष्ण के नाम से भयभीत होकर गिर पड़ा, अन्यथा''' ।

पिता धृतराष्ट्र ने भयभीत होकर पांडवों को दासता से मुक्त कर दिया, नहीं तो दुर्योधन की योजना तो कुछ और ही थी। धृतराष्ट्र पांडवों को अपना पुत्र समझते थे अथवा कहते मात्र थे। मन से मानते नहीं थे, पर कहते तो थे। यह कैसे संभव था कि पुत्र पिता के दास रहते ?''' पर उससे क्या ? दुर्योधन तो उनको अपने भाई नहीं मानता था।''' उसने किसी समय कहा भी था कि पांडव कुरुओं की संतान थे ही नहीं। उनको कुरुवंश से निष्कासित किया जा सकता, तो वह क्यों न करता। वह तो उनकी हत्या करना चाहता था, चरित्रहनन तो बात ही क्या थी। यदि उनको कुरुवंश से निष्कासित करने से उसे हस्तिनापुर और इंद्रप्रस्थ का साम्राज्य मिल जाता तो वह उनका तो क्या कुंती का भी चरित्रहनन कर सकता था।''' पर वह डर गया था इस तर्क से कि उस स्थिति में वह भी कुरुवंशी नहीं था। शांतनु की औरस संतान के रूप में तो भीष्म, चित्रांगद और विचित्रवीर्य ही जीवित बचे थे। भीष्म और चित्रांगद का तो विवाह ही नहीं हुआ और विचित्रवीर्य की संतान नहीं हुई। धृतराष्ट्र और पांडु भी तो नियोग से ही उत्पन्न हुए थे।''' दुर्योधन का वह तर्क भी नहीं चल पाया था। चल जाता तो उसे

पांडवों से कोई संकट नहीं रहता। तब कदाचित् उसे उनके जीवित रहने में भी कोई आपत्ति न होती। उसे राज्य चाहिए था। जो कोई उसकी सत्ता के मार्ग में आ रहा था, उसका रक्त भी चाहिए था।...

पांडवों को बारह वर्षों का वनवास दिया था, क्योंकि उससे बड़ी अवधि के लिए उन्हें वन भेजना संभव नहीं था। उसने मान लिया था कि उन बारह वर्षों में वे कहीं मर-खप जाएँगे। पर साथ ही एक वर्ष का समाज के मध्य अज्ञातवास भी था। इसीलिए था वह कि वे अज्ञातवास में पहचान लिए जाएँ और फिर से बारह वर्ष के लिए वन चले जाएँ।... दुर्योधन तब भी जानता था कि उसे पांडवों का राज्य नहीं लौटाना है और अपने निर्णय पर वह अडिग रहा।... यह पांडवों का ही भाग्य था कि वे सफलतापूर्वक वनवास कर आए और उनका अज्ञातवास भी पूरा हो गया।... दुर्योधन को आश्चर्य इस बात का नहीं था। उसे तो आश्चर्य इस बात का था कि पांडव यह विश्वास कैसे कर रहे थे कि उनका राज्य उनको लौटा दिया जाएगा। वे वचन की बात कर रहे थे। नियम की चर्चा कर रहे थे।... राजनीति नहीं समझते थे मूर्ख। नहीं जानते थे कि राजनीति में वचन और आश्वासन देते समय भी यह सबको ज्ञात होता है कि उनका पालन नहीं किया जाएगा। उन्होंने दुर्योधन अथवा धृतराष्ट्र के वचन का विश्वास किया तो यह उनका धर्म नहीं राजनीति की अनभिज्ञता अथवा मूर्खता थी।... वे राजनीति में धर्म की बात ही क्यों करते हैं—यह दुर्योधन आज तक नहीं समझ सका था।... कोई राजा इसलिए इतना बड़ा साम्राज्य किसी को सौंप देगा, क्योंकि वे कुछ शर्तें पूरी कर आए थे ? नियमतः राज्य उनको मिलना चाहिए था। वे शास्त्र की बात कर रहे थे, विधान और संविधान की बात कर रहे थे। व्यावहारिक राजनीति का उनको ध्यान ही नहीं था।... दुर्योधन ने तो आरंभ से ही सोच रखा था कि वह यही कहेगा कि वे अज्ञातवास में ही पहचान लिए गए थे। गणना में हेरफेर करने में क्या लगता है, जब कि सत्ता उसके हाथ में थी। गणक उसके थे।... पर कुरुवृद्ध भीष्म ने उसकी योजना नष्ट कर दी थी। दुर्योधन जानता था कि भीष्म और विदुर जैसे लोगों को अपनी राजसभा में रखना उसकी राजनीतिक भूल थी। पर वह क्या कर सकता था। यह उसकी राजनीतिक बाध्यता भी थी।... अब तो यही संभव था कि वह सिवाय अपनी इच्छा के शेष किसी भी विधान को मानना अस्वीकार कर देता।... धृतराष्ट्र ने कहा कि राज्य पांडवों का है, किंतु उसने स्वीकार नहीं किया। भीष्म ने समझाया, पिता ने समझाया, विदुर ने समझाया, द्रोणाचार्य कहते रहे, माता गांधारी को बुला लिया गया। कृष्ण कहते रहे... पर क्या किसी के कहने से दुर्योधन अपना राज्य पांडवों को दे देता। मातुल ने ठीक कहा था, राज्य उसका नहीं था, जिस पर किसी विधान से उसका अधिकार बनता था; राज्य उसका था, जिसका उस पर आधिपत्य था। इस समय दुर्योधन कुरु साम्राज्य का अधिपति था। यदि उसके पिता सचमुच ही स्वयं को राजा मानते तो वे स्वयं ही पांडवों को राज्य दे देते, तो फिर वे क्यों दुर्योधन को समझाते रहे कि पांडवों से संधि कर ले।... इसका अर्थ एक ही

था कि या तो वे मानते थे कि राज्य पर दुर्योधन का आधिपत्य था, अथवा वे भी पांडवों को राज्य देना नहीं चाहते थे किंतु वे खुल कर कह नहीं सकते थे कि वे राज्य नहीं देंगे। दुर्योधन कह सकता था कि वह राज्य किसी को भी नहीं देगा। राज्य उसको चाहिए। राज्य पर अपना आधिपत्य जमाए रखने के लिए वह कोई भी तर्क देगा, कोई भी उपाय करेगा, कोई भी हथकंडा अपनाएगा।''' उसने राज्य पाने के लिए पांडवों की हत्या के अनेक प्रयास किए थे। अब पांडवों को राज्य चाहिए तो वे उसका वध करें'''

वध के लिए बल चाहिए। दुर्योधन पहले दिन से जानता था कि पांडवों के पास इतना बल नहीं है कि वे हस्तिनापुर की सेना और योद्धाओं का वध कर सकें। यदि बल, कौशल और सामर्थ्य था भी तो उनके पास संकल्पशक्ति नहीं थी कि वे कुरुवंशियों का वध कर सकते। मूर्ख, इतना भी नहीं जानते कि जो वध नहीं कर सकता, वह राजनीति भी नहीं कर सकता।'''

वे दुर्योधन को अन्यायी और अधर्मी घोषित करते रहे, पर वे लोग इस बात से भी अवगत नहीं थे कि राजनीति का सारा न्याय और धर्म केवल बल में है। जिसके पास बल है, वह किसी नियम को नहीं मानता, किसी संधि को नहीं मानता। वह मानता है कि नियम हों अथवा संधियाँ—सब उसके अण्ने स्वार्थ की रक्षा के लिए ही हैं।

3

274869

दूत चला गया और एक सर्वव्यापी मौन छा गया।

अंततः द्रौपदी ने ही कहा, "हम सब जानती हैं कि पितामह के भूमिपात से किसी को भी प्रसन्नता नहीं होगी। वे जैसे भी थे, पांडवों को प्रिय थे। किंतु हम यह भी जानती हैं कि हमारी विजय के लिए पितामह का पतन आवश्यक था।''' युद्ध की दृष्टि से यह समाचार हमारे लिए सुखद है।"

"आप ठीक कह रही हैं।" देविका ने सबसे पहले उसका समर्थन किया, "पितामह के पतन के बिना पांडवों की जय हो ही नहीं सकती थी।"

"यह तो ठीक है किंतु इस सारी सूचना में मुझे पांडवों का गौरव कहीं दिखाई नहीं देता।" बलंधरा ने द्रौपदी की ओर देखा, "एक वृद्ध को उसके प्रेमपाश में बाँध कर स्वयं उससे यह रहस्य प्राप्त करना कि उसका वध कैसे किया जा सकता है; और फिर आर्य शिखंडी को सम्मुख खड़ा कर, पितामह को निहत्था कर, उन्हें बाणों से बींध देना। यह तो कोई वीरता नहीं है जीजी !"

द्रौपदी ने ही नहीं, देविका और करेणुमती ने भी बलंधरा की ओर इस प्रकार देखा, जैसे कह रही हों कि उन्हें पहले से ही आशंका थी कि वह ऐसी ही कोई बात कहेगी।

"बलंधरा ! अब तुम इस पूर्वश्रुत कथा को इस प्रकार सुनो।" द्रौपदी ने कहा,

"पांडव पहले दिन से जानते थे कि पितामह ने दो प्रतिज्ञाओं के साथ दुर्योधन का सेनापतित्व स्वीकार किया था। पहली यह कि पांडव उनके लिए अवध्य होंगे और दूसरी यह कि किसी स्त्री पर, अथवा उस पुरुष पर जो पहले कभी स्त्री रह चुका है, वे शस्त्र नहीं उठाएँगे।"

"तो ?" बलंधरा के स्वर में न केवल असहमति थी, वरन् स्पष्ट चुनौती भी थी।

"पांडवों ने यह जानते हुए भी कि पितामह को इस विधि से थोड़े ही समय में धराशायी किया जा सकता है, उसका उपयोग नहीं किया। क्यों ? क्यों पहले ही दिन उस विधि से पितामह का वध नहीं किया और विराट के दोनों पुत्रों को बचा लिया ? क्योंकि पांडव वीर हैं और पितामह से प्रेम करते हैं। शिखंडी ने जब कभी भीष्म पितामह पर आक्रमण किया, कौरवों के कितने-कितने महारथी और अतिरथी उन पर टूट पड़े और धनंजय ने शिखंडी को वह सुरक्षा प्रदान नहीं की, जो वे कर सकते थे। शिखंडी हर बार असफल होकर लौट आए और पितामह पांडवों की सेना को काटते रहे।" द्रौपदी ने कहा, "तुमने कभी ध्यान नहीं दिया बलंधरा ! कि धर्मराज ने श्रीकृष्ण को कई बार उपालंभ दिया कि अपनी सेना को कटती देखकर भी धनंजय पितामह का वध नहीं करते।"

"हाँ ! उपालंभ दिया तो था।" बलंधरा ने कहा, "पर उससे क्या सिद्ध होता है ?"

"श्रीकृष्ण भी दो-दो बार रथ से कूद कर पितामह को मारने के लिए युद्धक्षेत्र में उनकी ओर दौड़े थे ?"

"हाँ !"

"क्यों ?" द्रौपदी ने पूछा, "क्या इसलिए कि धनंजय पितामह का वध कर नहीं सकते थे अथवा वे करना नहीं चाहते थे ?"

बलंधरा ने कुछ नहीं कहा।

"यदि धनंजय असमर्थ होते तो श्रीकृष्ण स्वयं रथ से कूद कर उन्हें उत्तेजित क्यों करते ? धर्मराज रुष्ट क्यों होते ?" देविका ने उसकी ओर देखा।

बलंधरा इस बार भी कुछ नहीं बोली।

"स्पष्ट है कि सव्यसाची पितामह का वध करने में समर्थ होते हुए भी उनका वध नहीं करना चाहते थे।" सुभद्रा ने कहा, "वे उनसे प्रेम करते थे। उन्हें अपनी सेना का कटना स्वीकार्य था, किंतु वे पितामह का वध करना नहीं चाहते थे।"

"तो फिर वध किया क्यों ?" बलंधरा बोली।

सुभद्रा का वर्ण कुछ तप्त हुआ। लगा कि वह बलंधरा को कोई कठोर बात ही न कह दे।

"वध तो होना ही था बलंधरा ! समरभूमि में शत्रुपक्ष से लड़ने वाले योद्धा का वध नहीं किया जाएगा तो पराजय स्वीकार करनी पड़ेगी।" देविका ने बात सँभाल ली, "तुम इसे इस प्रकार देखो। पांडव पहले ही दिन आर्य शिखंडी को सम्मुख खड़ा कर

पितामह का वध कर सकते थे, किंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया। दूसरी ओर पितामह लड़ भी रहे थे और दुर्योधन को संधि कर लेने के लिए समझा भी रहे थे। शायद पांडव भी ऐसी ही किसी संधि की प्रतीक्षा कर रहे हों। पर अपनी सेना को कटते देख धर्मराज की भी तीव्र इच्छा होने लगी थी कि पितामह का वध हो जाना चाहिए। श्रीकृष्ण ने पहले दिन से ही स्पष्ट कर दिया था कि वे पितामह का वध शीघ्रातिशीघ्र चाहते हैं। उधर दुर्योधन भी पितामह से रुष्ट हो रहा था कि उनके सेनापतित्व में पांडवों का वध नहीं हो रहा है। अतः वह भी पितामह की मृत्यु की कामना कर रहा था ताकि वह कर्ण को सेनापति के रूप में समरभूमि में ला सके। तीसरी ओर पितामह देख रहे थे कि संधि की कोई संभावना नहीं थी और सेना प्रतिदिन कट रही थी। जिन कौरवों की वे रक्षा करना चाहते थे, उनके दोनों पक्ष उनकी मृत्यु की कामना कर रहे थे। हार कर उन्होंने पांडवों से कह ही दिया कि वे शिखंडी के हाथों मरना नहीं चाहते। उन्हें अर्जुन के हाथों मरने का यश मिले। यह तो एक हताश व्यक्ति की गौरवपूर्ण आत्महत्या है।"

"तो पांडव उनके शिविर में क्या पूछने गए थे ?" बलंधरा अपनी बात से टलने को तैयार नहीं थी।

"अनुमति लेने गए थे कि अब वे पितामह का वध कर ही दें।" सुभद्रा ने कहा।

बलंधरा जोर से हँस पड़ी, "अपने वध्य से भी कोई उसके वध की अनुमति लेता है ?"

"पांडव लेते हैं।" द्रौपदी ने जैसे दृढ़तापूर्वक किसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया, "युद्धारंभ के समय भी धर्मराज अपना कवच उतारकर, अपने विरुद्ध लड़ने वाले अपने गुरुओं और कुलवृद्धों से अनुमति लेने गए थे।"

"विचित्र हैं ये पांडव भी।" बलंधरा ने जैसे अपने आपसे कहा।

"तभी तो वे असाधारण हैं।" देविका बोली।

"एक बात मेरे मन में भी है जीजी !" करेणुमती बोली, "पूछूँ ?"

"किससे पूछना है ?" सुभद्रा की आँखों में असाधारण चंचलता थी, और वह बलंधरा की ओर देख रही थी।

द्रौपदी को जाने क्यों सुभद्रा की उस चंचल मुस्कान में से कृष्ण झाँकते दिखाई दिए : है तो यह उनकी बहन ही।

"नहीं ! मैं बलंधरा जीजी से नहीं पूछ रही।" करेणुमती बोली, "मैं तो आप सब के सम्मुख अपनी एक जिज्ञासा रखना चाहती हूँ—उत्तर जिस किसी के भी पास हो।"

"जिज्ञासा क्या है ?" देविका ने पूछा।

"आप किसी भी प्रकार काल-गणना कर लें, पितामह की अवस्था इतनी कम नहीं हो सकती कि वे इस प्रकार का युद्ध कर सकें। और वे युद्ध ही नहीं कर रहे थे, प्रलय मचा रहे थे। तरुणों की तरुणाई भी उनकी सक्रियता और स्फूर्ति के सम्मुख लज्जित हो रही थी।"

"तुम कितनी अवस्था आँकती हो उनकी ?" देविका ने पूछा।

"किसी भी गणित से उनकी अवस्था कम से कम सवा सौ से डेढ़ सौ वर्षों के बीच होनी चाहिए।" करेणुमती बोली।

"हाँ ! इतनी तो होनी ही चाहिए।" देविका ने कहा और सुभद्रा की ओर देखा।

सुभद्रा ने भी सहमति में सिर हिला दिया।

"तो फिर जहाँ हम मनुष्य मात्र की अधिकतम आयु एक सौ वर्ष मानते हैं, वहाँ एक व्यक्ति न केवल डेढ़ सौ वर्ष तक जीवित हो, वरन् युवाओं के समान युद्ध कर रहा हो इसे कोई कैसे स्वीकार कर सकता है ?"

"पर यह सत्य है। हमारे सामने है।" बलंधरा बोली, "इसे झुठलाया नहीं जा सकता।"

"सत्य है, इसीलिए तो मेरे मन में यह जिज्ञासा है। कैसे संभव है यह ? पितामह ने इसे कैसे संभव किया ? क्या यह मात्र ब्रह्मचर्य के कारण है, अथवा उनके पास कोई सिद्धि है ?" करेणुमती ने बारी-बारी उन सबकी ओर देखा।

"वैसे तो आचार्य द्रोण की अवस्था भी कम नहीं है।" सुभद्रा ने कहा, "और कृपाचार्य ही कौन से छोटे हैं।"

"मानने को मान लो कि आचार्य भी कम तपस्वी नहीं हैं।" देविका ने कहा, "किंतु पितामह के विषय में तो यह भी कहा जाता है कि उन्हें अपने पिता से इच्छामृत्यु का वरदान मिला है।''' क्या यह सब इसके कारण है ?"

"नहीं ! मैं इससे सहमत नहीं हूँ।" द्रौपदी ने कुछ आवेश में कहा, "मैं तो वैसे ही शाप और वरदान पर बहुत विश्वास नहीं करती, पर महाराज शांतनु के विषय में तो यह एकदम सत्य नहीं हो सकता। उन्होंने कौन-सी तपस्या की थी कि उन्हें कोई सिद्धि प्राप्त होती, जिससे वे किसी को वरदान दे सकते। वे तो साधारण भोगी पुरुष थे। पहले गंगा के प्रेम में डूबे रहे और फिर सत्यवती के मोह में निमज्जित हो गए। यदि वैसे पुरुष को भी वरदान देने की शक्ति मिल सकती है तो फिर हम तुम क्यों किसी को वर नहीं दे सकतीं ?"

"वरदान न सही। मुझे तो शाप की शक्ति मिल जाए तो मैं अभी इसी क्षण दुर्योधन को भस्म कर दूँ।" बलंधरा बोली।

"बस ! बस !! बात तो पितामह की अवस्था और उनकी क्षमता की थी।" देविका ने कहा, "और फिर उनकी इच्छामृत्यु की। क्या है इन सबका कारण ?"

सबकी दृष्टि द्रौपदी पर आ टिकी थी।

"तुम लोग मुझसे इसका उत्तर माँग रही हो ?" उसने कुछ विस्मित स्वर में पूछा।

"हाँ !" करेणुमती बोली, "तो और कौन उत्तर देगा ?"

"इसका उत्तर तो तुम लोगों को श्रीकृष्ण से ही माँगना चाहिए। वे ही जानते हैं जन्म-मृत्यु के रहस्यों को।"

"अब श्रीकृष्ण यहाँ उपस्थित नहीं हैं तो उनकी सखी ही उत्तर दे।" सुभद्रा ने हँस कर कहा।

"क्यों ? उनकी बहन क्यों न दे ?" द्रौपदी भी हँसी।

"क्योंकि उनकी बहन न उनकी सखी के समान विदुषी है, न उतना बुद्धिमती, न ही उसे जीवन का इतना अनुभव है।" सुभद्रा गंभीर हो गई थी।

"मैं तुम्हारी अपेक्षाओं पर पूरी उतरूँगी कि नहीं, कह नहीं सकती, किंतु प्रयत्न करती हूँ।" द्रौपदी की मुद्रा भी चिंतनशील हो गई, "मेरे मन में एक ही बात आती है। उपनिषद् कहते हैं :

पृथ्वी अप् तेजः अनिल खे समुत्थिते, पंचात्मके योग गुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगः न जरा न मृत्युः, प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।।

यदि पितामह ने भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँचों महाभूतों का सम्यक् प्रकार से उत्थान होने पर तथा इनसे संबंध रखने वाले पाँच प्रकार के योग संबंधी गुणों की सिद्धि हो जाने पर, योगाग्निमय शरीर को प्राप्त कर लिया है, तो उनको न तो रोग सताएगा, न बुढ़ापा आएगा और न ही उनकी मृत्यु होगी, अर्थात् उनकी मृत्यु उनकी अपनी इच्छा के अधीन होगी।"

"क्या यह सब संभव है जीजी !" करेणुमती के स्वर में अविश्वास था।

"मैं कह नहीं सकती करेणु !" द्रौपदी ने कहा, "मुझे स्वयं इसका कोई अनुभव नहीं है; किंतु शास्त्र कह रहा है और हमारे सामने पितामह का उदाहरण है। मानना न मानना तो अब श्रद्धा-अश्रद्धा का प्रश्न है।"

"यदि यह संभव है तो कुछ और योगी भी तो होने चाहिए। एक अकेले पितामह ही क्यों ?" बलंधरा बोली, "पर हमें तो और कोई दिखाई नहीं पड़ता।"

"होने को तो कृष्ण द्वैपायन व्यास भी हैं।''' और देख सको तो देखो, श्रीकृष्ण और धनंजय की अवस्था पर भी क्या काल का कोई प्रभाव दिखाई पड़ता है ? क्या वे भी चिरयुवा नहीं लगते ?" द्रौपदी ने हँसकर कहा, "और यदि इस प्रकार के योगी होते हैं तो उन सबका हमारे आसपास होना भी आवश्यक नहीं है। फिर भी मैं आग्रह नहीं कर सकती कि तुम लोग इस स्पष्टीकरण को स्वीकार कर ही लो।"

"विचित्र बात है।" बलंधरा जैसे अपने आपसे बोली, "मानो तो समस्या, न मानो तो समस्या। यह गोरखधंधा तो मेरी समझ से एकदम ही बाहर है।"

"मुझे तो उससे भी विचित्र वे सूचनाएँ लगती हैं, जो पितामह के धराशायी हो जाने के बाद की हैं।" सुभद्रा ने कहा।

"पार्थ द्वारा उन्हें बाण का तकिया देने की ? बाण द्वारा धरती से जल प्रकट करने की ?" द्रौपदी ने पूछा।

"हाँ ! और यह भी कि पितामह के शरीर में बाण आर-पार धँसे हैं और वे उन पर ही सोए हैं।"

कुछ क्षणों तक द्रौपदी ने कुछ नहीं कहा। फिर अकस्मात् ही बोली, "द्वंद्व मेरे मन में भी है। या तो उपनिषद् की उक्ति के प्रकाश में पितामह के योगाग्निमय शरीर को स्वीकार कर लें। उससे यह माना जा सकता है कि पितामह को बाणों के इस प्रकार आर-पार हो जाने पर भी कोई कष्ट नहीं हो रहा है। या फिर कष्ट तो हो रहा है; किंतु उनकी मृत्यु नहीं हो सकती, क्योंकि वह उनकी इच्छा के अधीन है।"

"संभव तो यह भी है, किंतु यह भी तो हो सकता है कि पितामह के शरीर में कुछ ऐसे बाण धँस गए हों, जिन्हें निकालना न तो विशल्यकारी औषधियों के लिए संभव है और न ही शल्यचिकित्सकों के लिए।" देविका ने कहा।

"क्यों ? शल्यचिकित्सकों के लिए क्यों संभव नहीं है ?" सुभद्रा ने पूछा।

"बाणों को निकालने की शल्यक्रिया उनके प्राण भी ले सकती है।" देविका ने उत्तर दिया, "ऐसे में वे अपने पर्यंक पर लेटे हों, तो भी बाण-शैया पर सोए ही माने जाएँगे। वे उन बाणों की चुभन, उनकी पीड़ा से तो मुक्त नहीं हो सकते।"

"वैसे योगशास्त्र का यह भी कहना है कि साधक यदि अपना स्वरूप पहचान कर स्वयं को आत्मा के रूप में देखता है और इस शरीर से पृथक् अनुभव करने लगता है, तो उसे इस शरीर का कोई कष्ट पीड़ित नहीं करता।" द्रौपदी ने कहा, "वह बिना किसी पीड़ा का अनुभव किए, अपने हाथों से अपने शरीर के अंगों को काट सकता है।"

"हमारी कठिनाई यह है कि हमारा सत्य केवल वह है, जिसको स्वयं हमने अनुभव किया है।" सहदेव की पत्नी विजया ने पहली बार मुँह खोला, "जो हमारे अनुभव क्षेत्र से बाहर है, उसका विश्वास हम कैसे कर लें।''' किंतु पितामह का उदाहरण हमें बहुत कुछ सोचने को बाध्य करेगा।"

"और वह बाण का तकिया और बाण से धरती में से जल निकाल कर पिलाना ?" बलंधरा ने जैसे उन्हें स्मरण कराया।

"यह तो मुझे किसी कवि की अतिशयोक्तिपूर्ण कल्पना ही लगती है।" देविका ने कहा, "बाकी तुम लोगों की इच्छा।"

"क्यों ? क्या धनंजय एक ऐसा बाण नहीं मार सकते थे, जो पितामह के सिर को नीचे से सहारा तो दे किंतु उनको आहत न करे ?" सुभद्रा ने कहा, "एकलव्य ने भी तो कुत्ते का मुँह बाणों से भर दिया था, किंतु उसे आहत नहीं किया था ?"

"बात तो ठीक है।" द्रौपदी ने समर्थन किया।

"बात तो ठीक ही है।" देविका बोली, "किंतु मैं सोचती हूँ कि धनंजय और शिखंडी ने युद्ध में पितामह को इतने बाण मारे थे कि उनके शरीर का कोई भाग बाणशून्य नहीं था। शरीर पर कवच भी रहा होगा। उस कवच को भी भेदा गया। तो क्या उनके कंठ और माथे पर कोई बाण नहीं मारा होगा ? शिरस्त्राण के बाद भी कंधों से ऊपर बहुत सारा भाग अनावृत होता है। मारा ही होगा। ऐसे में तकिया देने के लिए और बाण

क्या मारना।" देविका ने रुककर सुभद्रा को देखा, "वैसे तुम्हारी इच्छा भई। नहीं तो धनंजय के लौटने पर उनसे पूछ लेना।"

"मानना न मानना तो अपने अनुभव, अपनी बुद्धि और अपनी श्रद्धा पर निर्भर करता है," द्रौपदी ने कहा, "पर इतना तो कहना ही होगा कि जो भी हुआ, बहुत अद्‌भुत हुआ।"

सुभद्रा हँसी, "जीजी ने तो चर्चा के समापन की ही घोषणा कर दी।"

4

दुर्योधन ने अपने हाथों, शास्त्रीय विधि से आचार्य द्रोण का प्रधान सेनापति के रूप में अभिषेक किया। बहुत आडंबर और समारोह के साथ अपनी प्रसन्नता जताई। वाद्यों के घोष और शंखों की ध्वनि से आकाश फटने लगा। पुण्याहवाचन हुआ, स्वस्तिवाचन हुआ। सूत, मागध तथा वंदीजनों ने स्तोत्र तथा गीत गाए। दुर्योधन और आचार्य द्रोण, दोनों के वंशों की विरुदावलियाँ गाई गईं। श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने जयजयकार किया। भीष्म के सेनापति के रूप में अभिषेक के अवसर पर जो नहीं हुआ था, वह भी हुआ। नर्तकियों ने अत्यंत मादक नृत्य किया।''' उस समय वह युद्ध का शिविर नहीं किसी अत्यंत विलासी राजा की समृद्ध सभा का उत्सव लग रहा था।

द्रोण बहुत ध्यान से दुर्योधन की ओर देख रहे थे। वह जैसे भूमि पर नहीं आकाश पर चल रहा था। उसके चेहरे का दर्प देखकर कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि इसने कल ही भीष्म जैसा अपना सेनापति खोया है। जिस पितामह के प्रति वह अपना इतना प्रेम जताता था, वे युद्ध से हटे भर हैं। अभी तो उनकी मृत्यु भी नहीं हुई थी। वे उसी प्रकार वैद्यों और शल्य चिकित्सकों में घिरे हुए स्वास्थ्य और मृत्यु के दोराहे पर खड़े थे, जाने वे किस मार्ग पर अग्रसर होंगे। उनके क्षत भर भी सकते हैं और वैद्य असफल भी हो सकते हैं।''' किंतु शायद दुर्योधन ने उनके जीवन की आशा एकदम छोड़ दी थी। वह निश्चिंत था कि वे लौट कर नहीं आएँगे।''' आ भी सकते होंगे तो दुर्योधन के व्यवहार को देखकर आ नहीं सकेंगे।'''

द्रोण को जैसे कोई मद चढ़ने लगा था।''' दुर्योधन को भीष्म से भी अधिक उन पर भरोसा था। भीष्म को तो कदाचित् उसने अपनी बाध्यता में ही प्रधान सेनापति स्वीकार किया था। वे उसके पितामह थे। उनकी उपेक्षा वह कर नहीं सकता था। पर द्रोण को तो उसने स्वयं चुना था, नहीं तो उसकी सेना में महीपों का कोई अभाव नहीं था। आज इन शूरवीर क्षत्रियों की पोल खुल गई थी। कितने पानी में थे वे। शस्त्र पकड़ना तो सबको आता है, किंतु उस पर नियंत्रण भी तो होना चाहिए।''' द्रोण को आज द्रुपद याद आ रहे थे। द्रुपद ने कहा था कि मित्रता तो समानता के आधार पर होती है।'''

आज देखे द्रुपद कि उन दोनों में क्या समानता है। द्रोण कदाचित् संसार के सबसे समृद्ध राजा के प्रधान सेनापति हैं और द्रुपद युधिष्ठिर की सेना में एक साधारण महारथी है। उसके वर्तमान रहते, पांडवों ने उसके पुत्र को प्रधान सेनापति बना रखा है। और पांडवों की स्थिति क्या है ? उनके पास अपने राज्य के नाम पर एक ग्राम भी नहीं है। बेचारे विराट की भूमि पर अपना डेरा डाल कर युद्ध करने आए हैं।

आज द्रोण को अनुभव हो रहा था कि राजकीय पद का क्या अर्थ होता है। पहले वे राजकुमारों के गुरु थे। सेना के मार्गदर्शक थे। सुविधाएँ तो उनको तब भी थीं। एक प्रकार से अधिकार भी थे, किंतु यह तो युद्ध की स्थिति में प्रधान सेनापति बन कर ही समझ में आता है कि अधिकार क्या होता है। यह सारी सेना उनकी थी। अपनी-अपनी सेनाओं के साथ आए महीप गण भी उनकी सेना के मात्र महारथी थे। उन सबको द्रोण की आज्ञाएँ माननी होंगी। उनके किरीट अब द्रोण की आज्ञाओं के सम्मुख नतमस्तक थे। द्रोण जिसे चाहेंगे, बचा लेंगे और जिसे चाहेंगे, मृत्यु के मुख में धकेल देंगे।...

"राजन् !" सहसा द्रोण ने कहा, "तुमने मुझे आज प्रधान सेनापति बनाया है। समारोह भी बहुत है। तुमने मुझे बहुत कुछ दिया है। मेरी इच्छा है कि आज मैं भी तुम्हें कुछ दूँ। इस अवसर पर आज तुम मुझसे एक वर माँग लो।"

दुर्योधन ने आचार्य की ओर देखा। 'चढ़ गई बुड्ढे को। वर दे रहा है।'

वह जानता था कि आचार्य द्रोण को प्रधान सेनापति बनाकर जब वह राजकीय महत्त्व देगा तो यह कंगाल ब्राह्मण उस सुख को झेल नहीं पाएगा। वह उसकी उच्चतम भौतिक अपेक्षाओं से भी कुछ ऊपर ही होगा। उसके पग भूमि से ऊपर उठ ही जाएँगे। हवा में लटकने लगेगा बुड्ढा ! तब दुर्योधन उसे जिस ओर चाहेगा, घुमाता रहेगा। ... दुर्योधन ने द्रोण को भी देखा था और अश्वत्थामा को भी। उनका अतीत अभावों भरा अवश्य था, किंतु वर्तमान में ऐसा कोई कष्ट उन्हें नहीं था। पर अतीत के उस भूत ने उनका पीछा कभी नहीं छोड़ा था। द्रोण सदा भविष्य के प्रति आशंकित रहे थे कि कहीं उनका अतीत पुनः लौट कर न आ जाए... और अश्वत्थामा का लोभ कभी तृप्ति की सीमा को छू नहीं सका। वह निरंतर बढ़ता ही गया था।...

"आपकी कृपा है आचार्य ! सोचता हूँ एक वर माँग ही लूँ। आप आज युधिष्ठिर को बंदी कर मुझे ला दीजिए जीवित।"

द्रोण जैसे आकाश से गिरे। उनके पगों को यथार्थ के कंकड़ चुभने लगे। वे दुर्योधन की सेना के प्रधान सेनापति थे। दुर्योधन की सेना में उनका महत्त्व सर्वोपरि था,... किंतु पांडवों की सेना पर तो उनका कोई नियंत्रण नहीं था। पांडव योद्धा तो उनकी आज्ञा के अधीन नहीं थे।... वहाँ अर्जुन था। वह क्या अपने भाई और राजा को जीवित बंदी करने देगा।... अपने राजा की रक्षा के लिए पांडव सेना अपना सारा बल लगा देगी।...

द्रोण ने दुर्योधन की ओर देखा : वह जानता भी है कि वह क्या माँग रहा है ? उसे नहीं मालूम कि वह असंभव माँग रहा है। वर देते हुए, वर देने वाले की क्षमता

का भी ध्यान रखना चाहिए। यह एक शिष्य अपने गुरु से वर माँग रहा था अथवा एक मदांध राजा बिना सोचे-समझे, अपने अधीनस्थ कर्मचारी को आदेश दे रहा था ?...

और सहसा द्रोण के भीतर का सेनापति जागा... ऐसे युद्ध कैसे हो सकता है। यदि राजा सेनापति के कार्यों में, उसके व्यूहों में, उसकी रणनीति में, इस प्रकार बिना सोचे-समझे हस्तक्षेप करता रहेगा, तो युद्ध के परिणाम का दायित्व सेनापति पर कैसे हो सकता है ?... पर दुर्योधन इस समय न तो क्षीव था, न मदोन्मत्त, न मदोद्धत। वह युद्ध की विधि से इतना अनभिज्ञ भी नहीं था कि इतनी-सी बात न समझता हो कि किसी का वध करने और उसे जीवित पकड़ने में कितना अंतर है। युधिष्ठिर का वध करने में क्या कठिनाई है। किसी भी उपयुक्त अवसर पर एक बाण से युधिष्ठिर धराशायी हो जाएगा। न तो वह अर्जुन के समान धनुर्धारी है कि वह शत्रुओं की बाण वर्षा का निराकरण कर लेगा; और न ही उसके पास दिव्यास्त्र और देवास्त्र ही हैं, जिनसे वह अपनी रक्षा कर लेगा।... किंतु उसको जीवित पकड़ने के लिए उसके निकट जाना होगा। युधिष्ठिर की रक्षा के लिए पांडवों का सारा बल लगा होगा। उस प्रयत्न में कितने कौरव सैनिक मारे जाएँगे क्या दुर्योधन यह समझता नहीं ?

इन क्षत्रिय राजाओं के साथ यही तो कठिनाई है : सामर्थ्य है नहीं और इच्छाएँ आकाश को छू रही हैं। यह दुर्योधन महाराज दुर्योधन अपने शैशव से ही अपने शत्रुओं के विरुद्ध एक भी युद्ध जीत नहीं पाया; और आदेश इस प्रकार देता है, जैसे ब्रह्मांड उसी के आदेश से परिचालित होता है। इधर इसकी इच्छा हुई और उधर सृष्टि ने अपना क्रम बदला। अपने उसी अहंकार में इस मूर्ख ने पांडवों को अपने रक्षकों को अपना शत्रु बना डाला।...

पर इस समय तो यह उसका अहंकार नहीं गुरु के वरदान का मद था।

"क्या यह इतना कठिन है आचार्य ?" दुर्योधन पूछ रहा था, "आप इतनी गहरी चिंता में डूब गए। क्या वर नहीं देंगे ?" उसने कहा नहीं, किंतु मन-ही-मन सोचा, 'बुड्ढा वर दे कर फँस गया है। मुँह से शब्द ही नहीं फूट रहा।'

"नहीं ! नहीं !! कठिनाई की बात नहीं है राजन् !" द्रोण बोले, "मैं सोच रहा था कि तुम्हारे वर के पीछे धर्म है अथवा राजनीति ?"

"धर्म की ओर मेरी प्रवृत्ति नहीं है आचार्य !" दुर्योधन बोला, "मैं सांसारिक मनुष्य हूँ। मैं धर्म के नाम पर वंचित नहीं किया जा सकता।"

आचार्य की इच्छा हुई कि हँस पड़ें। कैसे कह रहा है कि वह सांसारिक मनुष्य है, इसलिए धर्म की ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं है। जैसे संसार में केवल अधर्म ही हो। नहीं जानता कि धर्म ही संसार को भी धारण करता है।... कैसे कुछ लोगों ने अपने स्वार्थ, लोभ और लिप्सा को उचित ठहराने के लिए जीवन को अधर्म का पर्याय बना दिया है।... द्रोण का मन कुछ सँभला... बहुत असत्य भी नहीं कह रहा है दुर्योधन। संसार में तात्कालिक लाभ तो अधर्म से ही होता है। धर्म को जितना त्यागते जाओ, उतनी

ही सांसारिक सफलता पाते जाओ। पर सफलता के मद में यह समझ में नहीं आता कि यह सफलता ही क्षय का द्वार भी है।"'

द्रोण का मन जाने कैसे फिर बदल गया। संभव है कि दुर्योधन के मन में कोई और भाव हो।"'

"पांडवों ने गंधर्व चित्ररथ से तुम्हारे प्राणों और सम्मान की रक्षा की थी। क्या तुम उसका प्रतिदान करना चाहते हो ?" द्रोण बोले, "अथवा बंदी युधिष्ठिर को मुक्त कर उनसे भ्रातृत्व स्थापित करना चाहते हो ?"

"नहीं आचार्य !" दुर्योधन बोला, "युधिष्ठिर के वध के निषेध के मूल में न कृतज्ञता है, न दया, न धर्म। यह मेरी राजनीति है।"

आचार्य की मुखाकृति के भाव कुछ बदले, "राजन् ! युद्ध राजनीति के पीछे चलेगा, या राजनीति युद्ध के पीछे। तुम्हारी राजनीतिक चालों के कारण हम युद्ध में विजयी ही न हो सके तो तुम्हारी राजनीति क्या करेगी ? हमें पहले युद्ध जीत लेने दो, फिर तुम अपनी राजनीति खेल लेना।"

दुर्योधन हँसा, "आचार्य मुझसे अधिक ही समझते हैं; किंतु फिर भी शायद यह बात आपके ध्यान में नहीं आई कि यदि आप युधिष्ठिर का वध कर भी देंगे, तो युद्ध में हमारी विजय नहीं होगी और न पांडवों का राज्य मैं निष्कंटक भोग पाऊँगा। भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव तब भी जीवित रहेंगे।" दुर्योधन कुछ रुका, "आचार्य मुझे क्षमा करें, जैसा कि मैं देख रहा हूँ, हमारी सेनाओं और सेनापतियों के लिए उनसे निबटना भी सरल नहीं है। पितामह भीष्म जैसे सेनापति के होते हुए भी पिछले दस दिनों में एक भी पांडव या उनकी सेना का कोई प्रबल योद्धा नहीं मारा जा सका।"

द्रोण का मन कैसा तो कसैला हो गया। उन्हें पता ही नहीं चला कि कैसे उसी अनुपात में उनका स्वर भी कटु हो गया।

"राजन् को मेरी क्षमता में संदेह है या इच्छा में ?"

"दोनों में से किसी में भी नहीं।" दुर्योधन बोला, "मैं तो केवल यह कह रहा था कि पाँचों पांडवों का वध कर दिया जाए, तो भी कृष्ण, सात्यकि, अभिमन्यु, द्रौपदी के पुत्र, धृष्टद्युम्न और शिखंडी इत्यादि बच रहते हैं। इनमें से कोई न कोई मेरा वध कर ही देगा। मेरा वध न भी हुआ तो भी पांडवों का राज्य मैं निष्कंटक रूप से नहीं भोग पाऊँगा। यदि पांडवों से युद्ध में जीतने का विश्वास मुझे होता तो मैं उनके राजसूय यज्ञ से पहले उन पर आक्रमण न भी कर पाता तो राजसूय से लौट कर उन पर आक्रमण अवश्य करता।"

द्रोण ने उसकी ओर देखा, जैसे पूछ रहे हों क्यों नहीं किया आक्रमण ? पर कुछ बोले नहीं।

"उसी युद्ध को टालने के लिए मामा शकुनि ने युधिष्ठिर के साथ द्यूत खेला था।"

"युधिष्ठिर को फिर से द्यूत क्रीड़ा के लिए जीवित बचा लेना चाहते हो ?"

"हाँ आचार्य ! एक वार युधिष्ठिर जीवित मेरे हाथों में आ जाए, फिर देखिए।" वह मुस्कराया, "उसे फिर से पिताजी की ओर से द्यूत खेलने के लिए बुलाया जाएगा। वह पीछे नहीं हटेगा। पिता के आदेश का वह तिरस्कार नहीं कर सकता। वह फिर से अपना राज्य हार कर अपने भाइयों समेत वन में चला जाएगा। अर्जुन, कृष्ण, भीम··· सव खड़े टापते रहे जाएँगे, पर न वे अपने भाई का साथ छोड़ेंगे और न उसकी आज्ञा का उल्लंघन करेंगे।" दुर्योधन का अट्टहास सारे मंडप को गुँजा गया।

द्रोण स्तब्ध रह गए : यह दुर्योधन की राजनीति थी। वह युधिष्ठिर को उसी के धर्म में वाँध कर वंदी वना रहा था। युद्ध जीतने का कितना सरल मार्ग था। और द्रोण के मन में अपना ही प्रश्न गूँजा : युद्ध राजनीति के पीछे चले या राजनीति युद्ध के पीछे ?

द्रोण की राजनीति में तो युद्ध प्रमुख था। युद्ध की जय-पराजय ही तो वाद की राजनीति को जन्म देती है। उन्होंने द्रुपद से युद्ध जीता तो अहिछत्र का राज्य उन्हें मिला। वे युद्ध में पराजित हो जाते तो पांचाल की राजनीति कुछ और होती।··· पर दुर्योधन शायद उनसे भी कुशल राजनीतिज्ञ है। उसका अपना तो धर्म, नियम, आदर्श और सिद्धांत नहीं हैं। वह केवल अपना स्वार्थ समझता है—किसी भी मूल्य पर, किसी भी माध्यम से। शक्ति, धन, सत्ता, राज्य, भोग—सव कुछ चाहिए उसे, केवल अपने लिए। उसके पास सव कुछ हो और किसी अन्य के पास कुछ न हो।··· इसीलिए वह युद्धों को जन्म देता है। युद्धों की स्थितियाँ पैदा करता है। जहाँ विजयी हो सकने की संभावना हो, वहाँ युद्ध करता ही है और जहाँ विजय की निश्चित संभावना न हो, वहाँ उसे टालता है और धूर्तता का आश्रय लेता है।··· दुर्योधन क्षत्रिय तो है, पर वीर नहीं है। अपने समर्थ प्रतिद्वंद्वी से सम्मुख युद्ध करने का साहस वह कभी नहीं करता। उसमें धर्म और विवेक का अंश भी नहीं है कि उसकी राजनीति प्रजा के हित में कोई उदात्त कार्य करती।··· क्यों रह गए द्रोण तुम इस हस्तिनापुर में, इस दुर्योधन के अन्न से पलने को ? क्यों अहिच्छत्र चले नहीं गए ? अपना स्वतंत्र राज्य लेकर क्यों तुमने प्रजा का पालन नहीं किया ? प्रजा का पालन ?··· द्रोण ने जैसे अपने आपसे पूछा, वे ब्राह्मण हैं, मूलतः आचार्य हैं ज्ञान का दान करने वाले। उनका पालन क्षत्रिय राजा करते आए हैं। वे प्रजा का पालन कैसे करेंगे ? तो क्यों उन्होंने एक ब्राह्मण के समान, आचार्य के समान, कहीं आश्रम वनाकर अपने शिष्यों को ज्ञान का दान करने में जीवन व्यतीत नहीं किया ?···

प्रतिहिंसा !··· ओह मेरी प्रतिहिंसा··· किसी ने उनकी निर्धनता का उपहास किया तो उनमें प्रतिहिंसा जागी··· वे धनी बनेंगे। धनी वनने के लिए उन्होंने वैश्य बनने की बात नहीं सोची। ब्राह्मण के रूप में ही धनी बनना चाहा।···अहिछत्र के राजा बने रहने के लिए उन्हें हस्तिनापुर का सामंत भी वने रहना पड़ा···और फिर सामंत से सेनापति चाहे वे प्रधान सेनापति ही क्यों न हों, पर इस कलुषित राजनीति वाले इस राजा दुर्योधन का आदेशवाहक कर्मचारी वनना पड़ा।···तो अब उसकी राजनीति से मतभेद कैसे हो

सकता है ? उन्हें उसकी इच्छा का अनुसरण करना होगा, उसकी कलुषित राजनीति की सहायता करनी पड़ेगी। युद्ध-धर्म को छोड़ना पड़ेगा।...और इस समय तो जाने किस मद में वे उसे वर ही दे बैठे हैं।...

"आचार्य ने कुछ बताया नहीं।" दुर्योधन ने उनका ध्यान अपनी ओर खींचा।

"जब तक अर्जुन, युधिष्ठिर की रक्षा के लिए युद्धभूमि में उपस्थित है, तब तक युधिष्ठिर को जीवित बंदी करना असंभव है राजन् !" द्रोण ने बहुत अनिच्छा से कहा, "अर्जुन को युधिष्ठिर से अलग कर, युद्धक्षेत्र में कहीं दूर अटका लो, मैं युधिष्ठिर को कल ही बंदी बनाकर तुम्हारे चरणों में डाल दूँगा।"

द्रोण के मन में सोया हुआ ब्राह्मण बहुत दिनों के बाद जागा था : एकलव्य का अँगूठा कटवा लिया था, तब भी वह ब्राह्मण बहुत रोया था। पर द्रोण की प्रतिहिंसा उनके बिना सिखाए ही एक-एकलव्य को कैसे जन्म लेने देती ? अपने पुत्र अश्वत्थामा और शिष्य अर्जुन से उत्कृष्ट धनुर्धर को इस पृथ्वी पर कैसे सहन कर लेती।... और आज फिर युधिष्ठिर को बंदी करने का षड्यंत्र रचते हुए, उनका वह ब्राह्मण, उसी प्रकार आत्मयातना से पीड़ित होकर कराह रहा था... आज भी द्रोण को ब्राह्मण के क्रंदन की ओर से बहरा हो जाना होगा।...

दुर्योधन ने कुछ आश्चर्य से द्रोण को देखा : यह वाग्मी ब्राह्मण क्या आज अपनी असमर्थता स्वीकार कर रहा है, "क्या आचार्य कह रहे हैं कि वे अर्जुन के सामने असमर्थ हैं ?"

द्रोण ने दुर्योधन की ओर देखा। उनकी आँखें दुर्योधन के द्वारा किए गए अपमान का स्पष्ट प्रतिरोध कर रही थीं; पर उनकी जिह्वा बहुत संयत ढंग से बोली, "आचार्य ने कुछ नहीं कहा। एक सेनापति अपने राजा को बता रहा है कि इस प्रकार के सम्मुख युद्ध में जहाँ सेना के ऐसे व्यूह रचे जाते हैं और दिव्यास्त्रों और देवास्त्रों से संपन्न अर्जुन जैसा योद्धा होता है विरोधी पक्ष के राजा को जीवित बंदी करना, असंभव होता है। यदि ऐसा संभव हुआ होता तो पांडव कब से तुम्हें बंदी कर ले जा चुके होते।"

'बुड्ढा भड़का नहीं।' दुर्योधन ने सोचा, 'उल्टे मुझे फँसाने का प्रयत्न कर रहा है।'

"अर्जुन आपका ही शिष्य है आचार्य ! उसने जो कुछ भी सीखा है, आपसे ही सीखा है। उसे शिक्षा देते हुए, कुछ तो आपने अपने लिए भी बचा कर रखा ही होगा। क्या आप उसको पराजित नहीं कर सकते ? और वह भी तब, जब हम जानते हैं कि वह आपका वध कभी नहीं करेगा ?"

द्रोण को इस जिज्ञासा में अपना अपमान दिखाई दे रहा था, किंतु उन्होंने अपने अहंकार को आड़े आने नहीं दिया। जानते थे कि दुर्योधन क्या चाहता है। जितना वे तनते जाएँगे, उतना ही दुर्योधन के जाल में फँसते जाएँगे।

"शिक्षा तो मैंने ही दी है अर्जुन को किंतु अर्जुन मेरी अपेक्षा अभी पर्याप्त तरुण है। गुरुकुल से बाहर जा कर भी उसने जीवन के भोग नहीं भोगे। बहुत तपस्या की

है उसने। बहुत पुण्य अर्जित किया है। उसकी आत्मा और शरीर उन पुण्यों से मंडित हैं। वह इंद्र और रुद्र से अनेक प्रकार के दिव्यास्त्रों और देवास्त्रों का शिक्षण प्राप्त कर चुका है।" द्रोण ने रुककर दुर्योधन को देखा, "और इस समय तुम्हारे प्रति उसका अमर्ष बहुत बढ़ा हुआ है। फिर मुझमें अर्जुन से लड़ने का उत्साह भी नहीं है।"

दुर्योधन स्तब्ध रह गया। क्यों उत्साह नहीं है अर्जुन से युद्ध करने में ? अभी तो वर दे रहे थे और अब कोई उत्साह ही नहीं रह गया।…जबकि अर्जुन से युद्ध करने में किसी प्रकार का कोई संकट ही नहीं है। सारी सेना जानती है कि अर्जुन के लिए द्रोण अवध्य हैं।

"क्या सेनापति कोई ऐसा व्यूह नहीं रच सकते, जिसके कारण अर्जुन कहीं और फँस जाए।" दुर्योधन के स्वर में आवृत चुनौती थी। इस बार उसने उन्हें आचार्य कह कर संबोधित नहीं किया था। उन्हें स्मरण करा दिया था कि वे सेनापति हैं और वह उनका राजा है।

"सेनापति का काम युद्ध के आदेश देना है राजन् ! षड्यंत्र रचना नहीं।"

दुर्योधन ने मुस्कराकर द्रोण को देखा : बुड्ढा भीतर से खौल रहा है।

"यह षड्यंत्र नहीं है आचार्य ! मैं इसे रणनीति कहता हूँ।" दुर्योधन ने आचार्य को गंभीर दृष्टि से देखा, "शत्रु की क्षमता को विभाजित कर उसके अलग-अलग खंडों पर आक्रमण कर उन्हें पराजित करना, क्या युद्ध कौशल नहीं है ?"

"शत्रु की शक्ति को विभाजित कर, उसे पराजित करना निश्चित रूप से युद्ध कौशल है दुर्योधन ! युद्ध शास्त्र में हम इसे भी व्यूह रचना ही कहते हैं। पर, शत्रु को द्यूत क्रीड़ा के लिए बाध्य करने के लिए, बंदी करना रणनीति नहीं राजनीति है। इसीलिए मैंने उसे षड्यंत्र कहा। षड्यंत्रों का क्षेत्र राजा का होता है, सेनापति का नहीं।"

बहुत बोल रहा है आज… दुर्योधन मन-ही-मन बोला… भूल गया कि द्रुपद के विरुद्ध षड्यंत्र रचने ही आया था हस्तिनापुर। जिस क्षण हस्तिनापुर की ओर इसका पहला पग उठा होगा, उससे पहले ही इसके मन में षड्यंत्र रचा जा चुका था—कौरव राजकुमारों को ज्ञानदान करना या आजीविका कमाना लक्ष्य नहीं था द्रोण का। वह तो भीष्म जैसे शक्तिशाली और प्रभावशाली क्षत्रिय के पौत्रों को अपना माध्यम बनाकर द्रुपद को वंचित करना था। उसके मन में कहीं कुरुओं और पांचालों की पारंपरिक शत्रुता भी रही होगी। उसने उस वैमनस्य का भी लाभ उठाया। तभी तो भीष्म ने द्रुपद पर आक्रमण का विरोध नहीं किया… और अपने इस षड्यंत्रकारी अभियान को कैसा पवित्र नाम दिया था आचार्य ने—गुरु दक्षिणा। आज सबके बीच खड़ा होकर कह रहा है कि षड्यंत्र राजा का क्षेत्र है।…

"यदि अर्जुन वहाँ न हुआ तो आप युधिष्ठिर को जीवित पकड़ लाएँगे ?" दुर्योधन ने पूछा।

"हाँ पकड़ लाऊँगा।" द्रोण का मन प्रसन्न नहीं था।

"प्रतिज्ञा करते हैं ?"

द्रोण ने तत्काल कुछ नहीं कहा। वे प्रतिज्ञा कैसे कर सकते हैं ? वे तो उसे वर दे रहे हैं, वह भी सशंक हो कर। पर अब वे उसे अस्वीकार कैसे करें।

"हाँ ! प्रतिज्ञा करता हूँ।" द्रोण ने कहा।

"ठीक है। आप आज के युद्ध की तैयारी करें।" दुर्योधन के स्वर में अनावृत उल्लास था।

द्रोण चले गए। पर जाते हुए न तो उनका मन उल्लसित था, न उनका सिर गर्व से उठा हुआ था। उनके चेहरे पर चिंता की रेखाएँ थीं।

द्रोण के पीछे-पीछे अन्य लोग भी चले गए, किंतु दुःशासन, कर्ण और शकुनि अब भी उसके निकट ही थे।

"दुःशासन !" दुर्योधन बोला, "सारी सेना में सूचना प्रसारित करवा दो कि कौरवों के प्रधान सेनापति आचार्य द्रोण ने अपने राजा के सम्मुख प्रतिज्ञा की है कि वे युधिष्ठिर को जीवित बंदी कर आज अपने राजा को सौंपेंगे।"

"पर राजन् !" कर्ण तत्काल बोला, "यह सूचना तो गोपनीय है। पांडवों तक यह सूचना पहुँच गई तो वे युधिष्ठिर की सुरक्षा का प्रबंध कर लेंगे।"

"और मैंने यह प्रतिज्ञा गुप्त रखी तो आचार्य द्रोण उसको भूल ही जाएँगे अथवा किसी न किसी व्याज से उसको टाल जाएँगे, जो मैं नहीं चाहता।"

"अर्थात् आचार्य को बाध्य करने के लिए इस प्रतिज्ञा का प्रचार आवश्यक है।" शकुनि ने कहा।

"एकदम।" दुर्योधन ने उत्तर दिया, "देखा नहीं, कैसे मरे हुए मन से उन्होंने प्रतिज्ञा की है। यह भी कह दिया है कि उनके मन में अर्जुन से लड़ने का उत्साह नहीं है।"

"आपको अपने आचार्य और प्रधान सेनापति पर विश्वास नहीं है ?" कर्ण ने पूछा।

"नहीं !" दुर्योधन के मन में कहीं कोई संकोच नहीं था, "पांडवों के संदर्भ में मैं उन पर विश्वास नहीं कर सकता। वैसे भी यह युद्ध न द्रोण का है, न पितामह का था। वे दोनों ही पांडवों के प्रति कोमल भाव रखते हैं। मैं उन पर तनिक भी विश्वास नहीं करता।"

"जिस पर विश्वास नहीं है, उसे प्रधान सेनापति बना दिया ?" दुःशासन चकित था।

"बाध्यता है।" दुर्योधन ने उत्तर दिया, "इसीलिए तो उन पर दृष्टि रखनी पड़ेगी। उनको घेरे रखना होगा ताकि वे युद्ध करते रहें और अपने मन की न कर पाएँ। हमें केवल उनका युद्ध कौशल चाहिए।''' उनकी क्षमता हमारी दासी होनी चाहिए, और कुछ नहीं।"

कर्ण अपने मंडप की ओर चला तो उसका मन भी भारी था।

5

द्रोण स्वयं को अत्यधिक थका हुआ ही नहीं, स्वयं अपनेआप से रुष्ट भी अनुभव कर रहे थे। जैसे हर क्षण वे अपने आपसे ही लड़ रहे हों। लगता था शरीर में प्राण ही नहीं थे। न मन में उत्साह था, न आत्मा में किसी प्रकार का आनन्द।

आज दिन भर उन्होंने बहुत परिश्रम किया था। वह श्रम उनके मन को किसी प्रकार की विशदता प्रदान करने के स्थान पर, उनके पोर-पोर को पीड़ित कर रहा था। इच्छा होती थी कि स्वीकार कर लें कि अब वे वृद्ध हो गए हैं। वे युद्ध जैसे कठोर कर्म के योग्य नहीं रहे। अब उनको समरभूमि में नहीं उतरना चाहिए।··· किंतु वे भीष्म से तो अधिक वृद्ध नहीं थे। क्या भीष्म ने भी कभी इस प्रकार की क्लांति का अनुभव किया था ?··· किया ही होगा, नहीं तो वे आज इस प्रकार शरशैया पर क्यों सोए होते।

नहीं बात केवल युद्ध की नहीं थी।··· वे सोच रहे थे··· श्रम की क्लांति में जो एक प्रकार का सुख होता है, वे उसका अनुभव भी तो नहीं कर रहे थे। युद्ध में प्राप्त कोई विजय भी तो उनकी आत्मा को आनन्दित नहीं कर पाती थी, तो फिर युद्ध की पराजय उन्हें कैसे आनन्दित कर सकती थी।··· उन्हें चाहिए था अपना गुरुकुल, जिसमें वे साधना करते। नए-नए शस्त्रों का अध्ययन करते, उनका आविष्कार करते। अपने शिष्यों के बीच रहते, उनका विकास करते। ज्ञान का सुख पाते। युद्धक्षेत्र में इस प्रकार रक्त बहाना उन्हें कैसे आनन्दित कर सकता था। शत्रुता अपने आप में ही सुखदायी नहीं होती। और फिर पांडव तो उनके शत्रु भी नहीं थे। पर युद्ध तो उन्हें करना ही था।··· युद्ध ? किसके लिए ? आज तक वे मानते आए, वे अपनी इच्छा से अपना युद्ध लड़ रहे हैं; किंतु अब संध्या समय दुर्योधन के सम्मुख जाते हुए वे किसी प्रकार स्वयं को विश्वास नहीं दिला पा रहे थे कि यह उनका अपना युद्ध था और वे अपनी सेना के अधिपति थे।··· उनका मन स्पष्ट देख रहा था कि वे अपने शिष्य के आज्ञापालक एक सेनानायक मात्र थे।··· वे अपनी इच्छा के विरुद्ध युद्ध कर रहे थे। जिनसे प्रेम करते थे, उनके विरुद्ध लड़ रहे थे। वे जिसे आदेश देने के अधिकारी थे, उसकी आज्ञाओं का पालन कर रहे थे··· पता नहीं कि मनुष्य कैसे इतना मोहग्रस्त हो जाता है कि यह निर्णय भी नहीं कर पाता कि कौन-सा पक्ष उसका अपना है और कौन-सा कर्म उसका कर्तव्य है।···

वे दुर्योधन के शिविर में आए।

दुर्योधन ने उनको राजा के समान नहीं, शिष्यवत् ही प्रणाम किया और बोला, "युद्ध का ग्यारहवाँ दिन भी बीत गया आचार्य ! किंतु हम वहीं खड़े हैं, जहाँ से चले थे।"

"राजन् !" द्रोण बोले, "योद्धा का काम तो युद्ध करना ही है, जय-पराजय तो विधाता के हाथ में है।"

दुर्योधन के मन में आया, चिल्लाकर कहे, 'तो हम युद्ध कर ही क्यों रहे हैं, हम

विधाता को ही युद्ध क्यों नहीं करने देते।' पर बोला, "तो न सेनापति के हाथ में कुछ है, न राजा के हाथ में ?"

द्रोण जानते थे कि दुर्योधन उनको दोषी ठहराएगा। पिछले दस दिनों में पांडवों की किसी भी सफलता के लिए जो अपने पितामह को दोषी ठहराता रहा, वह द्रोण को मुक्त कैसे छोड़ देगा।

"राजन्! तुमसे कुछ छिपा तो है नहीं। युद्ध में सबसे आगे तो तुम स्वयं ही थे। हमने उत्तम व्यूह रचा था। सब पक्षों तथा प्रपक्षों का ध्यान रखा था। दक्षिण पक्ष में जयद्रथ, कलिंगराज और विकर्ण थे। उनका प्रपक्ष शकुनि था। वाम पक्ष में कृपाचार्य, कृतवर्मा, चित्रसेन, विविंशति तथा दुःशासन थे। उनकी सहायता के लिए कंबोज, शक तथा यवन थे। उनके पीछे कर्ण था। कर्ण की रक्षा के लिए मद्र, त्रिगर्त, अंबुष्ट, प्रतीच्य, उदीच्य, मालव, शिवि, शूरसेन, मलद के श्रेष्ठ योद्धा थे।"

"तो फिर हमें अपने लक्ष्य में सफलता क्यों नहीं मिली ?"

"उसके लिए न मैं अपने व्यूह को दोषी ठहराता हूँ, न अपने प्रयत्न को।" द्रोण बोले, "क्या तुमने नहीं देखा कि हमारे योद्धा समरभूमि में पहुँच कर किस प्रकार व्यूह और संपूर्ण युद्ध के लक्ष्य तथा परिप्रेक्ष्य को भूल कर अपना व्यक्तिगत युद्ध लड़ने लगते हैं ?"

"क्या कहना चाहते हैं आप ?"

"सात्यकि को सामने देखकर कृतवर्मा स्वयं अपने ही वश में नहीं रहता। शकुनि, सहदेव से लड़ने लगता है, भूरिश्रवा शिखंडी से, शल्य नकुल से जूझने लगते हैं, भगदत्त द्रुपद से, अलंबुश घटोत्कच से..."

"उन्हें शत्रुओं से युद्ध नहीं करना चाहिए ?"

"युद्ध करने के लिए ही तो समरभूमि में आए हैं, किंतु युद्ध-विज्ञान को भूल कर अपने व्यक्तिगत शत्रु से जूझ पड़ने पर संपूर्ण सेना का व्यूह तो व्यर्थ हो ही जाता है।"

दुर्योधन की इच्छा हुई कि चिल्लाकर कहे कि वह जानता है यह सब; पर उससे क्या ? वे युद्ध तो नहीं जीत पाए। वह तो मानता था कि भीष्म के हटते ही द्रोण पांचालों को खा जाएँगे और कर्ण पांडवों को, किंतु यहाँ तो कुछ भी नहीं हुआ।...

"मैं समझ नहीं पाता कि आप लोगों से वह छोटा-सा छोकरा अभिमन्यु ही क्यों सँभाला नहीं जाता। आज उसने पौरवराज की जो दुर्दशा की है, देखा था आपने उसे। धनुष कट गया था, रथ बेकार हो गया था। सिंधुराज जयद्रथ जैसा समर्थ योद्धा उसके सामने था, तो भी उसने पौरव के रथ पर चढ़कर उसकी शिखा से पकड़ लात मार कर उसे रथ से नीचे गिरा दिया। कोई कुछ नहीं कर पाया। ऐसा क्या है उस सोलह वर्ष के छोकरे में कि उसके हाथों हमारे श्रेष्ठ योद्धाओं का सम्मान सुरक्षित नहीं है। उसका कोई उपचार आपको करना पड़ेगा।"

"उसका उपचार तो हो जाता।" द्रोण धीरे से बोले, "पर तुमने मुझसे युधिष्ठिर

को जीवित बंदी करने की जो प्रतिज्ञा करवा ली थी, मैं उसमें व्यस्त था। वैसे अभिमन्यु को छोकरा मात्र समझना भूल होगी। मैंने उसे युद्ध करते देखा है। पहली बात तो यह है कि उसके मन में भय जैसा कोई भाव ही नहीं है। वह बड़े से बड़े योद्धा से तनिक भी भयभीत नहीं होता। किसी से भी समान भाव से जूझ पड़ता है। फिर उसके पास अर्जुन और श्रीकृष्ण—दोनों की ही युद्ध विद्या की संपदा है। उसने बलराम और प्रद्युम्न से भी कुछ सीखा है। उसे तो तुम दूसरा अर्जुन ही समझो।"

दुर्योधन के मन में क्षोभ का ज्वार उठा : बुड्ढा उस छोकरे की प्रशंसा कर रहा है। इसे ध्यान नहीं है कि अभी मैं इसकी ऐसी प्रशंसा करूँगा कि कभी भूल नहीं पाएगा।

"वह सब ठीक है। पर आपने युधिष्ठिर को ही कहाँ बंदी किया ?" दुर्योधन के मुख पर उसके मन की कुटिलता प्रकट नहीं हुई, "आपको कदाचित् ध्यान नहीं है कि आपने मुझे वर दिया था।"

द्रोण तत्काल कुछ नहीं बोले, किंतु क्षण भर में ही सँभल गए, "मैंने वर दिया था और मैं युधिष्ठिर को बंदी नहीं कर सका हूँ ये दोनों ही बातें सत्य हैं; किंतु मेरी प्रतिज्ञा भंग नहीं हुई है।"

"जानता हूँ।" दुर्योधन ने द्रोण को आगे बोलने नहीं दिया, "आप युधिष्ठिर को प्रायः बंदी कर ही चुके थे कि अर्जुन आ गया और उसने हमारी सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया।... अंतिम विजय उनकी ही हुई और हमारी सेना को वापस अपने शिविरों में जाना पड़ा।"

"राजन् का कहना सर्वथा सत्य है। यदि मुझे थोड़ा-सा भी समय और मिल जाता तो युधिष्ठिर बंदी हो ही गया था।" द्रोण ने रुककर एक गहरी दृष्टि दुर्योधन पर डाली, "यदि युधिष्ठिर को बंदी करना है तो कुछ ऐसा करना होगा कि अर्जुन उससे इतनी दूर चला जाए कि उसे या तो युधिष्ठिर के बंदी होने की सूचना ही न मिले, अथवा सूचना मिलने पर भी वह पर्याप्त समय तक युधिष्ठिर के निकट पहुँच न पाए।"

"सेनापति आप हैं।" दुर्योधन बोला, "कोई ऐसा व्यूह रचिए कि वे दोनों एक-दूसरे से योजनों दूर हो जाएँ।"

"हम व्यूह रच सकते हैं। उसके लिए हमें अपनी सेना को भी उतना ही फैलाना होगा, जितनी दूर हम उन्हें करना चाहते हैं। उससे तो हमारी अपनी पराजय का मार्ग भी प्रशस्त हो सकता है।"

"तो कोई षड्यंत्र कीजिए।"

द्रोण जैसे तड़प उठे। उन्हें पता ही नहीं चला कि उनका स्वर कब इस सीमा तक कटु हो गया, "वह सेना का नहीं राजनीतिज्ञों का काम है।"

पर दुर्योधन पर उनकी कटुता का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। उसने आत्मीयता भरी आँखों से आचार्य को देखा और मधुवेष्टित स्वर में बोला, "ठीक है। आचार्य की इच्छा पूरी होगी। षड्यंत्रों की रचना राजनीति ही करेगी। सेनापति को अनुकूल परिस्थितियाँ

मिलेंगी। कल के युद्ध में युधिष्ठिर और अर्जुन अलग-अलग स्थानों पर लड़ेंगे। कल अर्जुन को रोकने के दायित्व से महासेनापति मुक्त होंगे। तब युधिष्ठिर को जीवित बंदी कर लाएँगे अहिच्छत्राधिपति ?"

द्रोण चौंके, दुर्योधन उन्हें आचार्य न कहकर अहिच्छत्राधिपति कह रहा था, "दुर्योधन ! पांडवों की रणनीति तुम तय नहीं करते। तुम कैसे कह सकते हो कि कल युधिष्ठिर और अर्जुन एक स्थान पर नहीं होंगे।"

"यह दायित्व आचार्य मुझ पर छोड़ दें।" दुर्योधन की मुस्कान कुटिल हो उठी, "यदि युद्धक्षेत्र में युधिष्ठिर अकेला हुआ तो सेनापति उसे जीवित बंदी कर लाएँगे ?"

"कर लाऊँगा।" द्रोण के स्वर में उनका उल्लास सम्मिलित नहीं था।

"सेनापति वचन देते हैं ?"

"वचन देता हूँ।"

"ठीक है। कल रणभूमि में युधिष्ठिर अकेला ही होगा।" दुर्योधन का स्वर पूर्णतः आश्वस्त था, "अब आचार्य अपने शिविर में विश्राम करें।"

द्रोण अपने शिविर की ओर चले तो उनका मन बार-बार उनसे पूछ रहा था : दुर्योधन का षड्यंत्र युधिष्ठिर के विरुद्ध था अथवा स्वयं द्रोण के विरुद्ध ? संसार में कोई ऐसा भी राजा होगा, जो अपने प्रधान सेनापति के विरुद्ध षड्यंत्रों की रचना करे ? कल यदि द्रोण युधिष्ठिर को जीवित बंदी न कर सके, तो सेनापति के रूप में अपने राजा को दिए गए उनके वचन का क्या होगा ?''उन्हें लग रहा था कि वे वचन दे कर ही नहीं आए, वे वचन हार कर आए हैं।

दुर्योधन अपने शिविर में अकेला रह गया तो उसे लगा कि परामर्श के लिए अभी जितने लोग उसके पास आए थे, वे स्वयं तो चले गए हैं, किंतु अपनी चिंताएँ वहीं छोड़ गए हैं। अपने शिविर में वह ढेर सारी चिंताओं के साथ अकेला है। वे चिंताएँ उसके साथ सहयोग नहीं कर रहीं। वे जैसे उसकी शत्रु हैं। उसे वे नोच-नोच कर खा रही हैं। और फिर द्रोण को वचन में बाँधते-बाँधते, वह स्वयं नहीं बँध गया क्या ? उस ब्राह्मण ने ठीक ही कहा था कि पांडवों की रणनीति दुर्योधन तय नहीं करता। तो फिर उसने कैसे आचार्य से कह दिया कि कल युधिष्ठिर और अर्जुन युद्धक्षेत्र में अलग-अलग स्थानों पर लड़ेंगे''

सहसा उसके चेहरे पर मुस्कान उभर आई : कहीं ऐसा हो जाए तो ? यदि बुड्ढे ने अपना वचन पूरा कर दिया तो कल संध्या समय तक युधिष्ठिर के हाथ-पैर बँधे होंगे और वह उसके चरणों में पड़ा होगा'' और यदि द्रोण से ऐसा न हो सका'' यदि वह अपना वचन पूरा न कर सका'' तो क्या उसे सेनापति पद से हटा कर कर्ण को सेनापति बनाया जा सकता है ? यदि ऐसा हुआ तो फिर दुर्योधन दोनों ही प्रकार से विजयी होगा—द्रोण की विजय में भी और उसकी पराजय में भी।

पर अब दुर्योधन की सफलता का सारा भार दुर्योधन के ही कंधों पर था। उसे

कुछ ऐसा करना था कि कल अर्जुन और युधिष्ठिर एक स्थान पर न हों। अर्जुन किसी और स्थान पर लड़े, युधिष्ठिर से कहीं वहुत दूर, जहाँ उसे युधिष्ठिर की आपत्ति, विपत्ति की सूचना ही न हो सके। मुख्य रणक्षेत्र की घटनाओं का उसे आभास तक न हो।''' पर कौन बाँधेगा, ऐसा विचित्र व्यूह ? कौरवों के मुख्य योद्धाओं से पृथक् द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा, शल्य''' के विना ? कौन अर्जुन को अपने अनुचर सरीखा दूर-दूर घुमाता रहेगा ? किसमें है इतना साहस और इतना कौशल ?

दुर्योधन ने ताली बजाई ।

द्वारपाल ने भीतर आकर प्रणाम किया।

"किसी को भेज कर, मातुल को हमारा प्रणाम कहो। उन्हें सूचना दो कि हम उनसे कुछ परामर्श करना चाहते हैं। उनसे निवेदन करो कि यदि वे अन्यत्र व्यस्त न हों तो शीघ्र दर्शन दें।"

द्वारपाल चला गया और दुर्योधन फिर से अपनी चिंता में डूव गया : शकुनि को प्रकृति से विचित्र सूझवूझ मिली है। घात लगाने की वैसी वुद्धि और किसी में नहीं है। उन्हें और कुछ सूझे या न सूझे, सम्मुख युद्ध से वच कर पीछे से वार करना खूब आता है''' पर यदि मामा भी कुछ न सुझा सके'''

शकुनि के आने तक दुर्योधन उद्विग्न-सा अपने शिविर में चक्कर लगाता रहा।

"मातुल !" शकुनि के प्रवेश करते ही दुर्योधन स्वागत के लिए आगे वढ़ा।

"भागिनेय !" शकुनि सदा के समान शांत था।

दुर्योधन को अपने मातुल से सदा ईर्ष्या होती थी : वह इतना शांत कैसे रह लेता है। मामा ने ऋषियों के समान कोई सिद्धि पा ली थी क्या, या यह केवल अधिक मदिरा का ही परिणाम है ? कितनी ही बड़ी विपत्ति हो या उपलब्धि, मामा की एकाग्रता भंग नहीं होती। उनका संतुलन तनिक भी नहीं डगमगाता। जितनी बड़ी विपत्ति हो मामा उतने ही शांत दिखाई देते हैं।''' और एक वे हैं हमारे पिता !''' दुर्योधन का चिंतन कुछ वक्र हुआ, हमारे पिता राजा धृतराष्ट्र ! चिड़िया भी चुहुक जाए तो उनका आसन डोल जाता है। यह तो अच्छा है कि भगवान ने उन्हें दृष्टि नहीं दी, नहीं तो दिन भर कुछ न कुछ देखते रहते और घबराते रहते।''' चिड़िया का सा हृदय कहें या छिपकली की सी प्रवृत्ति ! सामने से कुछ आया नहीं कि अपने बचाव के लिए उन्होंने हाथ-पैर चलाए नहीं। शायद उनकी इस प्रवृत्ति को जान कर ही माँ ने मातुल को कभी गंधार लौटने नहीं दिया।'''

"कहो भागिनेय !" शकुनि वोला, "कुछ चिंतित लगते हो।"

"चिंतित नहीं। उद्वेलित हूँ मातुल !"

"पिता की प्रवृत्ति पाई है तुमने दुर्योधन ! जो आँखें न होने पर भी सृष्टि की प्रत्येक क्रिया के लिए उत्कंठित रहते हैं। अपनी माँ को देखो, जिसने आँखें रहते हुए भी, कुछ भी देखना अस्वीकार कर दिया। धैर्य की सीमा है तुम्हारी माँ। तुममें धैर्य तनिक भी नहीं।"

"चरित्र विश्लेषण बाद में कीजिएगा आर्य मातुल !"

"आर्य मातुल !" दुर्योधन के शब्दों को दोहराकर शकुनि ऐसे मुस्कराया जैसे दुर्योधन को गाली दे रहा हो, "क्या बात है राजन्! आज आर्य मातुल कह रहे हो, मातुल पर्याप्त नहीं है क्या ?"

"परिहास का समय नहीं है मातुल !" दुर्योधन कुछ सहज होकर बोला, "युद्ध की घड़ी है; और खड्ग सिर पर लटक रहा है। प्रातः से पहले…"

"द्रोण को दिए अपने वचन की चिंता है पुत्र ?"

"हाँ मातुल !"

"मैं सोच ही रहा था कि तुमने यह वचन बिना सोचे-समझे दे दिया है।" शकुनि की मुद्रा गंभीर हो उठी।

"अब समस्या यह है मातुल ! कि वह कौन है जो अर्जुन को युद्धक्षेत्र से दूर ले जाए और उसे वहीं रोके रखे ?"

शकुनि ने अपनी आँखें बंद कर लीं, जैसे किसी असीम ज्ञान को पाने के लिए समाधि में चला गया हो, "पांडवों के परम मित्र कौन-कौन हैं दुर्योधन ?"

"कृष्ण।" दुर्योधन बोला।

"और ?"

"पांचाल।"

"और मत्स्य !"

"हुँ।" शकुनि कुछ क्षण मौन रहा और फिर बोला जैसे सारी समस्या का समाधान पा गया हो, "और पांडवों के इन परम मित्रों के परम शत्रु कौन-कौन हैं भागिनेय ?"

"मैं, मातुल मैं। मैं इन तीनों का परम शत्रु हूँ।"

"मैं तुम्हें नहीं ढूँढ रहा हूँ दुर्योधन !" शकुनि ने आँखें खोलीं तो उनमें दुर्योधन के लिए एक हल्का-सा तिरस्कार था, "मैं तुम्हारे मित्रों को खोज रहा हूँ।"

"ओह !" दुर्योधन की आँखों में समझ की चमक आई।

"कोई नई बात नहीं कह रहा, केवल तुम्हें स्मरण करा रहा हूँ," शकुनि बोला, "पांडवों के परम मित्रों के परम शत्रु ही तुम्हारे मित्र हैं।"

"कृष्ण का परम शत्रु जरासंध और शिशुपाल थे।"

"वे दोनों अपनी जीवन यात्रा पूरी कर चुके।"

"बलराम को कृष्ण के विरोध में खड़ा किया जा सकता है।" दुर्योधन के स्वर में उल्लास का उत्स फूट पड़ा।

"बलराम, कृष्ण का प्रतिद्वंद्वी हो सकता है, शत्रु नहीं। उसे कृष्ण के विपक्ष में खड़ा कर सकते हो, कृष्ण से लड़वा नहीं सकते। फिर बलराम और कृष्ण का करार युद्धारंभ से पहले ही हो चुका है। अब बलराम को तुम युद्ध में नहीं घसीट सकते।"

"तो ?"

"कोई और परमशत्रु ?"

"मेरे और आपके सिवाय और कोई नहीं मातुल !"

"कर्ण भी नहीं ?"

"नहीं।" दुर्योधन बोला, "कर्ण अर्जुन का शत्रु है, कृष्ण का नहीं। मैं जानता हूँ, उसके मन में कृष्ण के प्रति सम्मान है। क्यों है, यह कहना कठिन है।"

"तो कृष्ण को रहने दो।" शकुनि बोला, "पांचालों का परम शत्रु ?"

"कौरव।"

"कौरवों के अतिरिक्त ?"

"द्रोण।"

"हाँ द्रोण ठीक है; किंतु द्रोण को यदि अर्जुन से अलग से भिड़ाएँ तो तुम्हारा मुख्य युद्धक्षेत्र कौन सँभालेगा; और फिर युधिष्ठिर को बंदी करने का कार्य भी द्रोण के कंधों पर है। वैसे भी द्रोण की ललकार पर अर्जुन के स्थान पर धृष्टद्युम्न आगे आएगा। अर्जुन को युद्धक्षेत्र से हटाने के लक्ष्य से यदि हमने द्रोण को भी मुख्य व्यूह से हटा दिया तो हमें लेने के देने पड़ जाएँगे।"

"तो पीछे कर्ण तो है।" दुर्योधन कुछ आवेश में बोला।

शकुनि ने शब्दविहीन दृष्टि से दुर्योधन को देखा। कितनी शांत थीं वे आँखें—सर्वथा आवेगशून्य। और कितनी कठोर डाँट थी उनमें। उन आँखों के सम्मुख दुर्योधन सदा ही स्तंभित रह जाता था।

"तुम भूलते हो कि कर्ण ने पांडवों तथा उनके मित्रों के विरुद्ध एक भी युद्ध नहीं जीता। दिग्विजय के नाम पर उसने कुछ छोटे-मोटे राजाओं को अवश्य हराया है··· वह भी पता नहीं कि वे हारे या उन्होंने हस्तिनापुर की शक्ति के आतंक के सामने अपने हथियार डाल दिए। कर्ण ने अधिकांश युद्धों में पलायन ही किया है।" शकुनि ने रुक कर दुर्योधन को देखा, "द्रोणाचार्य ने युद्धों से भागने के लिए प्रसिद्धि नहीं पाई है। उसने जगत्विजेता शिष्य उत्पन्न करने में नाम कमाया है।"

"आप भी पितामह के समान कर्ण के साथ अन्याय कर रहे हैं।" दुर्योधन बोला, "मत्स्यों के साथ युद्ध में द्रोण भी अर्जुन से हारे हैं।"

"ठीक है।" शकुनि का संतुलन खंडित नहीं हुआ, "द्रोण अर्जुन का गुरु है। उन दोनों का युद्ध कभी बहुत गंभीर नहीं हो सकता। कोई नहीं कह सकता कि कब गुरु का शिष्य-प्रेम जाग उठे और कब शिष्य के मन में गुरुभक्ति मूर्तिमान हो जाए। मेरा दृढ़ मत है कि युद्ध में न कभी द्रोण अर्जुन का वध करेगा, और न ही अर्जुन द्रोण के प्राण हरेगा।"

"जानता हूँ। प्रश्न है, ऐसी स्थिति में करना क्या है ?"

"मत्स्यों का परम शत्रु ?"

"त्रिगर्त !"

शकुनि कुछ देर तक आँखें बंद करके सोचता रहा। उसने आँखें खोलीं और बोला, "वे वीर हैं ?"

"मेरा विचार है कि वे वीर हैं।"

"पर्याप्त बल है उनके पास ?"

"उनका संख्या बल तो पर्याप्त है।"

"युद्धक्षेत्र में अर्जुन उनका अनवरत वध करता जाए, तो भी वे उसे संध्या तक रोके रख सकेंगे ?"

"मेरा अनुमान है कि वे उसे रोके रख सकेंगे।"

"धर्म में विश्वास है उनका ?"

"धर्म के पक्के हैं।"

"तो उन्हें उनके धर्म में बाँधो।" शकुनि बोला, "उनसे प्रतिज्ञा करवाओ। संशप्तक सैनिकों के रूप में भेजो, उन्हें युद्धक्षेत्र में।"

दुर्योधन के निर्जीव शरीर में जैसे जान पड़ गई। विह्वलता की उस स्थिति में उसकी इच्छा हुई कि भाग कर या तो मातुल के चरणों पर गिर पड़े या मातुल के गले लग जाए।" किंतु सहसा उसे स्मरण हो आया कि वह हस्तिनापुर का युवराज है—राजा दुर्योधन; और यह राजप्रासाद नहीं युद्ध शिविर है।

"उचित समझो तो उनका संख्याबल बढ़ाने के लिए आधी नारायणी सेना को भी उनके साथ लगा दो। या तो वे कृष्ण को मारें या फिर कृष्ण ही उनको मारें।" शकुनि बहुत प्रखर ढंग से बोला, "और देखो। इस सारे प्रसंग की भनक तक कृष्ण के कानों में न पड़े।"

"वह आचार्य की प्रतिज्ञा के विषय में जानता है।" दुर्योधन बोला, "समझ ही जाएगा।"

"तुम्हें द्रोण की प्रतिज्ञा को प्रचारित नहीं करना चाहिए था।"

दुर्योधन कुछ उत्तर देता, उससे पहले ही शकुनि अपना उत्तरीय सँभालता हुआ, उसके शिविर से बाहर जा चुका था।

दुर्योधन को लगा, शकुनि के जाने के बाद, उसके सारे व्यक्तित्व में जैसे सन्नाटा छा गया। सहसा उस सन्नाटे में एक तीखी ध्वनि गूँजी, जैसे किसी निर्जन मरुभूमि में विरही मयूर चीखा हो, "देखो ! इस सारे प्रसंग की भनक तक कृष्ण के कानों में न पड़े।"

दुर्योधन जानता था कि राजनीति में वैसे ही कोई किसी पर विश्वास नहीं करता और यह तो युद्धकाल था। चारों ओर गुप्तचरों और गूढ़पुरुषों का जाल फैला हुआ था। कोई नहीं जानता था कि उसके आसपास किस रूप में शत्रुओं के चर टिके हुए हैं। इसलिए प्रायः सारी गतिविधि गोपनीय रखने का ही प्रयत्न किया जाता था। और इस प्रसंग में तो स्वयं मातुल कह गए हैं कि कृष्ण के कानों में भनक तक न पड़े।"

दुर्योधन का ध्यान पहले इस ओर नहीं गया था, पर जाना चाहिए था। यदि कहीं कृष्ण को पता लग गया तो" वह सागरतट की लहरों को देख सागर के गर्भ का भेद जानने वाला व्यक्ति था। जाने कैसे वह व्यक्ति शत्रुओं के मन की तह तक डुबकी लगा आता था। वह पहले से जानता था कि विरोधी पक्ष कौन-सी चाल चलने जा रहा है। यदि उसे कहीं भनक मिल गई कि सुशर्मा के संशप्तकों की चुनौती के पीछे दुर्योधन है तो वह तत्काल समझ जाएगा कि आघात कहाँ होगा और उसका परिणाम क्या होगा" ऐसे में निश्चय ही अर्जुन सावधान हो जाएगा और दुर्योधन की इच्छा बंदरिया के मृत बच्चे के समान उसके वक्ष से चिपकी रह जाएगी।

6

त्रिगर्तराज सुशर्मा ने अपने मंडप में अकस्मात् आ गए दुर्योधन की आरती उतारी और मधुपर्क देकर उसको बहुत सम्मान से बैठाया।

"इस समय महाराज कैसे पधारे ?" वह साकार प्रश्न बना खड़ा था।

दुर्योधन ने मुस्कराकर पहले उसे देखा और फिर मंडप में चारों ओर दृष्टि घुमायी, "मित्रवर ! क्या हमें कुछ देर के लिए पूर्ण एकांत मिल सकता है ?"

सुशर्मा कुछ चकित हुआ। उसने आज तक नहीं सोचा था कि दुर्योधन उसे अपना इतना आत्मीय समझता है। युद्ध के इन ग्यारह दिनों में यह पहला ही अवसर था कि दुर्योधन उसके शिविर में आया था।

उसने अपने भाइयों की ओर देखा। उन्हें उसकी इच्छा समझने में क्षण भर भी नहीं लगा। वे उसके मंडप से बाहर चले गए।

सुशर्मा स्वयं द्वार पर आया। द्वारपाल को उसने आदेश दिया, "तुम लोग मंडप से सौ पगों की दूरी पर चले जाओ। ध्यान रहे, जब तक अगला आदेश न मिले, शिविर में पूर्ण एकांत और गोपनीयता का आदेश है। आज्ञा के उल्लंघन का दंड मृत्यु है। तुम्हारी चेतावनी की कोई अवज्ञा करे तो निःसंकोच उसको घातक बाण मार दो चाहे वह व्यक्ति राजपरिवार का सदस्य ही क्यों न हो।"

दुर्योधन को उसकी तत्परता देख प्रसन्नता हुई। यह व्यक्ति अवश्य ही उसकी इच्छा की पूर्ति करेगा।

"महाराज ! आदेश दें।" सुशर्मा हाथ जोड़े दुर्योधन के सम्मुख उपस्थित हुआ।

"ऐसे नहीं मित्र !" दुर्योधन ने खड़े होकर सुशर्मा के जुड़े हाथ खोल दिए, "हम मित्र हैं। मित्रों के समान ही बातें करेंगे। वस्तुतः मैं तुम्हारे पास एक अत्यंत आवश्यक और गोपनीय कार्य से आया हूँ।"

सुशर्मा कृतकृत्य हो गया, "आप एक बार कहें तो।"

"मैं कल की रणनीति तय करने के लिए तुम्हारे पास आया हूँ।"

"रणनीति सेनापतियों के अधिवेशन में तय हो नहीं गई ?"

"रणनीति तो किसी भी क्षण बदल सकती है मित्र !" दुर्योधन मुस्कराया, "वस्तुतः गोपनीयता की दृष्टि से उसे निरंतर बदलते ही रहना चाहिए।"

"ओह !" सुशर्मा के चेहरे पर आश्चर्य के भाव प्रकट हुए।

दुर्योधन ने उसे अधिक सोचने का अवसर नहीं दिया, "मित्र ! युद्ध के इतने दिन व्यतीत हो गए हैं। दोनों ओर की सेना का नाश भी पर्याप्त संख्या में हुआ है, पर हम कोई भी असाधारण विजय प्राप्त नहीं कर पाए हैं। शत्रुओं का कोई प्रमुख योद्धा धराशायी नहीं हुआ है।"

सुशर्मा ने सहमति में सिर हिलाया।

"मैं चाहता हूँ कि अब हम और समय तथा सैनिक न खोएँ। हम महत्त्वपूर्ण योद्धाओं को ध्यान में रख कर निर्णायक युद्ध करें। महासेनापति आचार्य द्रोण भी मुझसे सहमत हैं।" वह रुककर सुशर्मा की ओर देखने लगा।

सुशर्मा ने कुछ कहा नहीं, किंतु वह सहमत ही प्रतीत हो रहा था।

"मैं चाहता हूँ कि तुम मुख्य सेना और व्यूह को भूल जाओ। तुम पांडव पक्ष में से अपना परम शत्रु चुन लो और अपनी सेना को साथ ले उसके साथ निर्णायक युद्ध करो।"

लगा, अकस्मात् ही सुशर्मा को दुर्योधन की बात समझ में आ गई।

"उचित निर्णय है।" वह बोला, "हम व्यर्थ ही इधर-उधर अपना समय, अपनी क्षमता और सैनिक नष्ट क्यों कर रहे हैं। हमें लक्ष्यबद्ध युद्ध करना चाहिए।"

"तुम तो मेरे मन में बसे हो मित्र ! एकदम मेरे मन की बात कह दी।" दुर्योधन बोला, "हम और समय खोना नहीं चाहते। कल से ही ऐसा युद्ध हो।"

"मैं सहमत हूँ।" सुशर्मा ने मुट्ठी बँधी अपनी भुजा उठाई।

"तुम अपना परम शत्रु चुन लो—कोई एक योद्धा।"

सुशर्मा के जबड़े भिंच गए, मुट्ठियाँ कस गईं, उसके शरीर की प्रत्येक मांसपेशी तन गई, उसकी आँखें आवेश से छलछला उठीं।

"निःसंदेह भीम। वह मोटा वृकोदर भीम। उसने विराटनगर में मेरी बहुत दुर्दशा की थी। बहुत अपमानित किया था उसने मुझे।" सुशर्मा जैसे अपने सम्मुख भीम को साक्षात् देख रहा था।

दुर्योधन को लगा, उसका बाण लक्ष्य तक नहीं पहुँचा। बोला, "भीम मोटा तो है, पर कोई विशेष योद्धा नहीं है। वह मल्ल है, सैनिक नहीं। उसके मरने जीने से युद्ध में कोई बहुत अंतर नहीं पड़ेगा। तुम उसे मार भी दोगे, और अर्जुन जीवित रहेगा, तो भी हम सुरक्षित नहीं रहेंगे। पांडवों का बल वस्तुतः अर्जुन है, भीम नहीं। वस्तुतः उसके गांडीव से सब डरते हैं।" दुर्योधन ने जैसे रुकते-रुकते कहा, "वैसे भी मैं भीम को

अपने गदायुद्ध के लिए सुरक्षित रखना चाहता हूँ। उसे तो मैं मारूँगा, पटक कर।"

इस बार सुशर्मा, दुर्योधन का मंतव्य समझ गया।

"अर्जुन ! हाँ गांडीवधारी अर्जुन। भीम का रक्षक तो वही है। भीम तो पास आकर मारता है। अर्जुन दूर से ही सर्वनाश कर देता है। गांडीवधारी अर्जुन ने सदा हमारा अपमान किया है। यद्यपि हम सदा निरपराध रहे हैं, तो भी उसके द्वारा सदा हमारा अपराध किया गया है। सारी प्रताड़ना तो उसी की है··· ओह एक बार अर्जुन से सम्मुख युद्ध का अवसर मिल जाए तो मेरा जीवन पूर्णकाम हो उठे।"

"तो मित्र ! कल तुम अर्जुन से जी भर कर युद्ध करो। जी भर कर। ऐसा युद्ध जिसमें तुम हो और तुम्हारा अपराधी। न कोई तीसरा बीच में पड़े, न तुम दोनों में कोई युद्ध-विमुख हो, युद्ध भूमि छोड़े—मृत्युपर्यंत युद्ध। एक का वध करके ही दूसरा युद्धभूमि छोड़े।"

"ऐसा ही होगा कुरुराज ! ऐसा ही होगा।"

"संकल्प करते हो ?"

सुशर्मा में जैसे आवेश का ज्वालामुखी फूट पड़ा, "संकल्प नहीं, मैं शपथ ग्रहण करूँगा। मैं संशप्तक युद्ध करूँगा।"

दुर्योधन ने सायास अपनी प्रसन्नता को छिपाए रखा, "आपके भाई और सेनापति सहमत होंगे ?"

दुर्योधन के प्रश्न से सुशर्मा की उत्तेजना और भी बढ़ गई, जैसे वह प्रश्न न हो, आक्षेप हो।

"यदि आपको आपत्ति न हो तो सब कुछ आपके सामने ही निश्चित हो जाए।"

"मुझे प्रसन्नता होगी।"

सुशर्मा अपने स्थान से उठ कर द्वार तक आया। संकेत से उसने द्वारपाल को बुलाया। द्वारपाल के निकट आने पर वह बोला, "राजकुमारों और सेनापतियों को संदेश दो, युद्ध-मंत्रणा के लिए मैंने उन्हें तत्काल बुलाया है।"

द्वारपाल चला गया।

दुर्योधन ने बहुत मीठे ढंग से कहा, "एक बात का ध्यान रहे मित्र ! यह सारी योजना अत्यंत गोपनीय है। शत्रु हमारी रणनीति से अवगत हो गया तो बहुत संभव है कि वह इससे बच निकलने का उपाय करे। सारा कुछ इस सहजता और आकस्मिकता से हो कि शत्रुओं को हमारी रणनीति पर विचार कर अपना व्यूह रचने का अवकाश ही न मिले।"

"अर्जुन कायर नहीं है। वह चुनौती की उपेक्षा नहीं करेगा।"

"उसका सारथि कृष्ण अत्यंत धूर्त है। वह क्षत्रिय धर्म की कोई और व्याख्या कर अर्जुन को बहकाकर ले जाएगा।"

"आप ठीक कह रहे हैं।" सुशर्मा तत्काल सहमत हो गया।

सुशर्मा के भाई सत्यरथ, सत्यवर्मा, सत्यव्रत, संतोष और सत्यकर्मा आ जुटे। सेनापति भी उपस्थित हो गए।

सुशर्मा ने कहा, "कुरु सम्राट् हमें अपनी इच्छा से अपने परम शत्रु से कल प्रातः संशप्तक युद्ध करने का अवसर देने के लिए पधारे हैं। ये हमारी रणनीति, हमारे व्यूह, सैन्य संचालन--किसी में भी बाधा नहीं डालेंगे। इस युद्ध के लिए हम प्रधान सेनापति द्रोणाचार्य के आदेश के भी अधीन नहीं होंगे। यह हमारा स्वतंत्र युद्ध होगा, अपने परम शत्रु अर्जुन के साथ। आप सहमत हैं ?"

उनमें से किसी को भी आपत्ति नहीं थी। उन्हें जैसे अभ्युदय का अवसर मिला था। उनके मुख पर प्रसन्नता और आवेश आ विराजे।

सुशर्मा ने निमिष मात्र भी समय नहीं खोया। तत्काल पुरोहित को बुलाया। अपने भाइयों और सेनापतियों के साथ स्नान किया। शुद्ध होकर, कुश ले, वस्त्र पहन अग्निदेव का पूजन किया। नई मुंजमेखला धारण की। ब्राह्मणों को दक्षिणा दी और केसरिया वस्त्र धारण कर रणव्रत का संकल्प लिया, "यदि हम अर्जुन को मारे बिना लौटें, अथवा अर्जुन द्वारा प्रताड़ित होकर युद्धभूमि से भागें तो हमें अपने किसी पुण्य का फल न मिले। हम रौरव नरक में पड़ें। हमारा युद्ध तब तक चलेगा, जब तक या तो अर्जुन का वध न हो, या हम ही वीरगति को प्राप्त न हों। अपना वचन भंग करने पर हम स्वेच्छा से स्वयं को अग्निसात् करेंगे।"

दुर्योधन को लगा, उसने पांडवों को पूर्णतः पराजित कर दिया है।

युधिष्ठिर के मंडप में पांडव पक्ष के सारे योद्धा एकत्रित थे। सेना के प्रयाण और व्यूह संबंधी चर्चा चल रही थी कि द्वारपाल ने प्रवेश किया, "महाराज ! त्रिगर्त नरेश सुशर्मा का दूत महाराज के दर्शनों की प्रतीक्षा में बाहर खड़ा है।"

"त्रिगर्त नरेश सुशर्मा का दूत ?" कृष्ण ने कुछ विस्मय प्रकट किया, "अब दुर्योधन के पक्ष के राजा पांडवों के पास अपने-अपने स्वतंत्र दूत भेजने लगे हैं क्या ?"

"मेरी भी समझ में नहीं आ रहा।" युधिष्ठिर बोले।

"उसका संदेश सुन लीजिए, समझ में आ जाएगा।" धृष्टद्युम्न बोला, "संभव है, वह दुर्योधन का पक्ष छोड़कर हमारे साथ आना चाहता हो।"

"उसकी संभावना बहुत कम है, पर चलिए संदेश सुनने में क्या हानि है।" भीम ने कहा।

"बुलाओ।" युधिष्ठिर ने द्वारपाल से कहा।

दूत ने प्रवेश कर प्रणाम किया।

"कहो दूत ! क्या संदेश लाए हो।"

"महाराज !" दूत बोला, "त्रिगर्तराज सुशर्मा वीरवर अर्जुन से मृत्युपर्यंत संशप्तक युद्ध करना चाहते हैं। उन्होंने कल रात्रि अपने भाइयों के साथ केसरिया वस्त्र तथा नई

मुंजमेखला धारण की है। वे नहीं चाहते कि उनके और गांडीवधारी अर्जुन के युद्ध में किसी प्रकार का कोई विघ्न आए। इसलिए वे मुख्य युद्ध से कहीं दूर किरीटधारी अर्जुन से सम्मुख युद्ध चाहते हैं। यदि वे, उनके भाई अथवा उनके सेनानायक जीवित युद्धक्षेत्र छोड़ देंगे तो वे स्वेच्छा से स्वयं को अग्निसात् करेंगे। उन्होंने धनंजय को चुनौती भेजी है। यदि धनंजय सच्चे क्षत्रिय हैं तो उनकी चुनौती स्वीकार करें।"

अर्जुन का रक्त उफना और युधिष्ठिर के माथे पर चिंता की रेखाएँ खिंच आईं।

"तुम बाहर प्रतीक्षा करो दूत ! हम तुम्हें पुनः बुलाकर उत्तर देंगे।" युधिष्ठिर बोले, "द्वारपाल ! दूत का असत्कार न हो।"

दूत बाहर चला गया तो सबकी दृष्टि अर्जुन पर जा ठहरी।

"मैं जाऊँगा। नीच सुशर्मा जहाँ लड़ना चाहेगा, वहीं लड़ूँगा।" अर्जुन ने युधिष्ठिर की ओर देखा।

"तो फिर आज का व्यूह परिवर्तित करना होगा। यह व्यूह तो धनंजय की उपस्थिति के बिना संभव नहीं है।" धृष्टद्युम्न ने कहा।

कृष्ण सहज भाव से मौन थे और उनका ध्यान अर्जुन और युधिष्ठिर से अधिक भीम पर केन्द्रित था।

"आज ये त्रिगर्त संशप्तक युद्ध के लिए इतने अधीर क्यों हैं। युद्ध के पिछले ग्यारह दिनों में तो इन्होंने कोई असाधारण वीरता नहीं दिखाई।" सहसा कृष्ण बोले।

"और फिर ये अर्जुन से ही क्यों लड़ना चाहते हैं ?" भीम हँसा, "कभी मुझे भी तो कोई चुनौती दे।"

"आप लड़ना चाहेंगे मध्यम ?" कृष्ण ने भीम से पूछा, किंतु उनका ध्यान कहीं और था।

"क्यों नहीं।" भीम का स्वर उत्साह से भरा हुआ था, "किंतु यह संशप्तक युद्ध है, इसमें तीसरे व्यक्ति को बीच में पड़ने की अनुमति नहीं है।"

"दो व्यक्तियों के बीच तीसरे को नहीं पड़ना है," कृष्ण बोले, "पर एक तीसरा व्यक्ति आकर दो में से एक को बुला ले जाए तो एक व्यक्ति अकेला रह जाता है।"

"कृष्ण ! तुम कोई उलटबांसी रच रहे हो क्या ?" अर्जुन मुस्कराया, "या यह दो और तीन संख्याओं को लेकर गणित की कोई समस्या है ?"

"श्रीकृष्ण उलटबांसी नहीं रच रहे, वे दुर्योधन के व्यूह का वर्णन कर रहे हैं।" युधिष्ठिर बोले, "युद्धशास्त्र के विद्वान् होकर भी तुम देख नहीं रहे कि तुम त्रिगर्तों के साथ लड़ने के लिए मुख्य युद्धभूमि से दूर हटाए जा रहे हो और मेरे गुप्तचर यह सूचना दे रहे हैं कि आचार्य द्रोण ने आज मुझे जीवित बंदी कर दुर्योधन को सौंप देने का वचन दिया है।"

"धर्मराज की सूचना ठीक है। वैसे वह सूचना बहुत गोपनीय भी नहीं है। दुर्योधन ने उसे स्वयं ही प्रचारित भी करवाया है।" कृष्ण और भी गंभीर हो गए थे, "इस संशप्तक

युद्ध और धर्मराज के बंदी बनाए जाने की योजना में कोई न कोई संबंध अवश्य है।"

"धर्मराज को बंदी बनाना इतना सरल है क्या ?" भीम ने प्रतिवाद किया, "एक अर्जुन नहीं होगा। हम सब मिल कर भी उसके स्थानापन्न नहीं हो सकते ?"

युधिष्ठिर की इच्छा हुई कि कह दें 'हाँ ! अर्जुन के अभाव को शेष चारों पांडव, ही नहीं, सारे पांचाल और मत्स्य मिल कर भी पूरा नहीं कर सकते।' पर इस समय ऐसा कहना उचित नहीं था। वीरों का अहं पीड़ित होगा। उनका आत्मबल आहत होगा। भीम रुष्ट भी हो सकता था।

"इस स्थिति को इस प्रकार देखिए।" कृष्ण बोले, "गजसेना के आक्रमण को रोकने और रथों, गजों तथा पैदल सेना के त्वरित विनाश का जो काम आप कर सकते हैं मध्यम ! वह और कोई नहीं कर सकता। उसी प्रकार शत्रुओं के कूट व्यूहों और षड्यंत्रों से सेना की रक्षा करने का जो काम अर्जुन कर सकता है, वह आप नहीं कर सकते। आचार्य द्रोण का तोड़ आपके पास नहीं है।"

"आचार्य द्रोण की तो आप चिंता ही न करें।" धृष्टद्युम्न ने कहा, "मेरे जीवित रहते द्रोण कुछ नहीं कर सकते; और आप विश्वास करें, युद्धक्षेत्र में द्रोण मेरा वध नहीं कर सकते।"

"तुम्हारी वीरता में मुझे कोई संदेह नहीं है महासेनापति !" कृष्ण मुस्कराए, "किंतु प्रधान सेनापति महाराज युधिष्ठिर की व्यक्तिगत सुरक्षा में लग जाएँगे तो शेष सेना को कौन देखेगा ?"

"मुझे अपने बंदी होने या मरने का भय नहीं है।" युधिष्ठिर बोले, "किंतु मुझे बंदी कर वे तुम लोगों से कोई अपमानजनक संधि करना चाहेंगे तो तुम लोगों को भारी मूल्य चुकाना होगा।" धर्मराज का स्वर धीमा हो गया, "पहले भी एक बार तुम लोग मेरे कारण अपना राज्य वैभव खो चुके हो।"

"आप उसकी चिंता न करें भैया," अर्जुन इस बार निर्णायक स्वर में बोला, "आपके कारण हमने क्या खोया और क्या पाया, इस विवाद में न पड़ें। महाराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ पराक्रम सम्राट हैं और पांडव पक्ष के प्रधान हैं। उनकी रक्षा होनी ही चाहिए। प्रधान के बंदी होने का अर्थ उस पक्ष की हार ही होती है। हम सबको अपने सम्मान की रक्षा के लिए आपकी रक्षा करनी ही है।"

"पर तुम्हारा इस चुनौती को स्वीकार करना क्यों आवश्यक है ?" कृष्ण बोले, "सुशर्मा तुमसे एकाकी लड़ना चाहता, तो भी कोई बात थी। उसके साथ उसके भाई होंगे, उसके सेनापति होंगे। उसके सैनिक होंगे। यह न तो कोई चुनौती है और न न्याय। उन्होंने युद्ध की शपथ ले ली, इसलिए तुम अपने भाइयों, अपनी सेना, अपनी योजना सब कुछ छोड़ दोगे, यह बुद्धिमत्ता तो नहीं।"

"यह क्षत्रिय धर्म है।" अर्जुन बोला।

"और मैं उसका पालन नहीं करता।" कृष्ण मुस्कराए, "भविष्य में दुर्योधन का

कोई मांडलिक यह शपथ ग्रहण करे कि वह अर्जुन से शूल युद्ध करेगा, तो तुम अपना गांडीव त्याग कर उससे लड़ने पहुँच जाओगे ? अथवा जयद्रथ यह शपथ ग्रहण कर ले कि वह तुमसे सिंधु के तट पर लड़ेगा तो तुम सिंधु के तट पर चले जाओगे ? तुम देख नहीं रहे हो कि यह तुम्हें युद्धक्षेत्र से हटाने का षड्यंत्र मात्र है ? तुम इसे क्षत्रिय धर्म कहते हो, किंतु मैं इसे अन्याय मानता हूँ। दुर्योधन की सेना पहले दिन से ही धर्म को तिलांजलि दे कर युद्ध कर रही है, तुम इसको पहचान नहीं रहे ?"

"किंतु कोई क्षत्रिय इस प्रकार दी गई युद्ध की चुनौती को अस्वीकार नहीं कर सकता।" अर्जुन बोला, "यदि मैं इस चुनौती को स्वीकार नहीं करता तो उसका यह अर्थ होगा कि मैं अकेला एक वाहिनी से भी लड़ने का साहस नहीं कर सकता और यदि मेरे भाई मुझे जाने नहीं देंगे तो उसका अर्थ होगा कि वे सब मिल कर भी अकेले अर्जुन के समान नहीं हैं। इस प्रकार का अपमानजनक प्रस्ताव हम कैसे कर सकते हैं, जबकि महावीर भीम और अतिरथी धृष्टद्युम्न यहाँ बैठे हैं। मुझे अपने लिए नहीं तो अपने भाइयों के लिए इस चुनौती को स्वीकार करना पड़ेगा।..."

कृष्ण मुस्कराए, "तुम क्रोध में हो। क्रोध से मोह उत्पन्न होता है और मोह से स्मृति विभ्रम हो जाता है। स्मृति के अभाव से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि नष्ट होने पर सर्वनाश हो जाता है।"

"मेरा विचार है कृष्ण ! तुम अर्जुन की उपस्थिति को कुछ अतिरिक्त महत्त्व दे रहे हो।" भीम ने कहा, "क्या हम सब इतने गए बीते हैं कि अर्जुन की अनुपस्थिति में एक दिन का युद्ध भी नहीं लड़ सकते और अपने राजा की रक्षा एक दिन के लिए भी नहीं कर सकते ?"

कृष्ण ने भीम के स्वर में निहित क्षोभ को पहचाना। उनके प्रस्ताव से भीम स्वयं को आहत अनुभव कर रहा था। संशप्तकों की चुनौती तो केवल अर्जुन के लिए थी, किंतु अर्जुन को जाने देना अथवा न जाने देना सारे योद्धाओं के लिए चुनौती बन गया था।

"मैं अर्जुन के जाने के पक्ष में नहीं हूँ।" युधिष्ठिर ने कुछ दृढ़ स्वर में कहा, "आप लोग चाहे मुझे कायर कह लें; किंतु मैं धनंजय की अनुपस्थिति में स्वयं को सुरक्षित नहीं समझता। कल संध्या समय भी इसी योजना के अंतर्गत आचार्य मुझे बंदी करने का प्रयत्न कर चुके हैं। यदि ठीक अवसर पर धनंजय ने आकर उनकी सेना को ध्वस्त न कर दिया होता तो वे मुझे बंदी कर चुके होते। हम देख चुके हैं कि उन्हें न तो हमारा कोई व्यूह रोक पाया न कोई योद्धा।"

धृष्टद्युम्न के मुख का स्वाद जैसे कसैला हो गया, "आप धनंजय को संशप्तक युद्ध के लिए भेजना चाहें, न भेजना चाहें, वह एक पृथक् बात है; किंतु मैं यह मानने को प्रस्तुत नहीं हूँ कि हम सब मिल कर भी युद्ध में द्रोण की गति रोकने में समर्थ नहीं हैं।" और वह सात्यकि की ओर मुड़ा, "क्या विचार है सात्यकि ?"

सात्यकि के लिए कदाचित् यह प्रश्न अनपेक्षित था। प्रयत्नपूर्वक बोला, "मैं समझता हूँ कि यदि धनंजय चुनौती को स्वीकार करने के इच्छुक हैं तो हमें उनकी सहायता करनी चाहिए। मुझे पूर्ण विश्वास है कि वे उस सुशर्मा के काल सिद्ध होंगे।"जहाँ तक धर्मराज की सुरक्षा का प्रश्न है, यदि आप लोगों को आपत्ति न हो तो मैं इस दायित्व को लेने के लिए प्रस्तुत हूँ।"

कृष्ण देख रहे थे कि इस विषय में उनके आग्रह के कारण अधिक से अधिक योद्धाओं का स्वाभिमान आहत हो रहा था। उन सबके अहंकार ने कैसा मोह जाल फैला दिया था कि सत्य कहीं दिखाई ही नहीं पड़ रहा था।

"आप जिसे चाहें, उसे सम्राट् की रक्षा के लिए नियुक्त कर जाएँ।" धृष्टद्युम्न अर्जुन से बोला, "वैसे भी हम सैन्य संचालन इस प्रकार करें कि सम्राट् सुरक्षित रहें।"

"मुझे तुम पर पूरा भरोसा है धृष्टद्युम्न ! इस समय संयोग ही कुछ ऐसा है कि हमें मुख्य युद्धभूमि से हट कर यह नया व्यूह रचना पड़ रहा है। मैं न त्रिगर्तों की ललकार को अनसुना कर सकता हूँ, न उनके इस संशप्तक युद्ध की चुनौती को अस्वीकार कर सकता हूँ।" अर्जुन ने उत्तर दिया।

कृष्ण मुस्कराए, "मैं एक बात कहूँ ?"

"अवश्य। आप मौन रहेंगे तो अनिष्ट ही हो जाएगा।" युधिष्ठिर ने कहा।

"अर्जुन ! आज तुम द्रोणाचार्य का वध कर दो। संशप्तक युद्ध के लिए कल चले जाना।" कृष्ण बोले, "द्रोणाचार्य नहीं होंगे तो तुम धर्मराज को अकेला छोड़ सकोगे।"

अर्जुन के चेहरे पर बहुत कठोर भाव उभरे, "न मैं आचार्य का वध कर सकता हूँ और न धर्मराज का त्याग कर सकता हूँ।"

"नहीं ! आप जाएँ।" धृष्टद्युम्न बोला, "आपकी कीर्ति को निष्कलंक रखने का प्रयत्न करना प्रत्येक वीर का धर्म है।"

"भैया की सुरक्षा के लिए महावीर सत्यजित को नियुक्त कर दो। और तुम लोग निश्चिंत होकर अपना युद्ध करो।" अर्जुन युधिष्ठिर की ओर मुड़ा, "भैया ! जब तक वीर सत्यजित जीवित हैं, आप निश्चिंत होकर युद्ध करें; आचार्य द्रोण कभी अपने मन की नहीं कर पाएँगे। और हाँ !"" वह रुका और फिर प्रत्येक शब्द चबा-चबा कर बोला, "यदि सत्यजित वीरगति पा जाएँ, तो चाहे हमारे पक्ष के सारे योद्धा आपको घेर कर खड़े हों, आप युद्धक्षेत्र से हट जाएँ।"

"पर सत्यजित ही क्यों ?" सात्यकि चकित था, "उनका कोई अद्‌भुत कृत्य तो मैंने सुना ही नहीं।"

"पांडवों में से कोई आचार्य के प्रति उतना कठोर नहीं हो सकता, जितना पांचाल हो सकते हैं।" अर्जुन बोला, "उनमें महाराज द्रुपद अपने वार्द्धक्य के कारण आचार्य का तेज सँभाल नहीं पाएँगे। धृष्टद्युम्न प्रधान सेनापति हैं। उनके पास सेना के अनेक दायित्व हैं। शिखंडी परसों पितामह से बहुत जूझे हैं। उनके घाव उनको किसी भयंकर

युद्ध की अनुमति नहीं देंगे। एक आर्य सत्यजित ही यह दायित्व सँभाल पाएँगे। मैंने उन्हें कांपिल्य में युद्ध करते देखा है। मैं उनके शौर्य और कौशल से परिचित हूँ। मैं समझता हूँ कि वे इस दायित्व को सँभाल पाएँगे। आचार्य उन्हें देखेंगे तो धर्मराज के निकट भी नहीं आएँगे।" वह धर्मराज की ओर मुड़ा, "आप संतुष्ट हैं भैया ?"

धर्मराज मुस्कराए तो उनकी आँखों में अश्रु आ गए, "मैं जानता हूँ कि बड़े भाई अथवा राजा के रूप में यदि मैं तुम्हें न जाने का आदेश दूँ तो तुम नहीं जाओगे; किंतु मैं तुम्हारी तेजस्विता को नष्ट करना नहीं चाहता। जाओ। प्रभु तुम्हारा कल्याण करें अर्जुन !"

7

अर्जुन को लगा कि त्रिगर्तों ने चुनौती तो दे दी है किंतु अब वे किसी स्थान पर रुक कर युद्ध करने के स्थान पर, युद्धक्षेत्र से दूर से दूर भागते जा रहे थे। संशप्तक युद्ध की स्थिति में उन्हें अधिकार था कि वे अपने युद्ध के लिए, मुख्य समरभूमि से पृथक् कोई स्थान चुन लें, जहाँ मुख्य युद्ध का कोई हस्तक्षेप न हो।... पर जिस प्रकार वे भागते जा रहे थे, उससे अर्जुन को संदेह होने लगा था कि उनका लक्ष्य युद्ध था भी अथवा यह अर्जुन को रणभूमि से दूर ले जाने मात्र का कोई अभियान था ?

समरभूमि पीछे छूट गई थी। वे लोग कुछ सरोवरों और सरिता तट के अनेक दूहों को पार कर आगे आ गए थे। मार्ग में कुछ उपवन और वन खंड भी दिखाई दिए थे। पर न तो सुशर्मा ही कहीं रुकता दिखाई दे रहा था और न कृष्ण ही कहीं ठहरना चाहते थे।

सहसा, त्रिगर्तों पर झपटते हुए रथ के वेग से अपनी दृष्टि हटाकर कृष्ण बोले, "पार्थ ! युद्ध में दो पक्ष होते हैं न !"

"हाँ ! क्यों ?"

"और दोनों एक-दूसरे के विरोधी होते हैं।"

"हाँ !"

"तो दक्ष सेनापति वह है जो अपनी इच्छा, सुविधा और क्षमता के अनुसार अपनी अनुकूल स्थितियों में लड़े; अथवा वह चतुर योद्धा है जो शत्रुओं के व्यूह में धँसता फिरे, उनकी इच्छा के अनुसार उनकी शर्तों पर लड़े और इस प्रकार अपनी पराजय में अपने शत्रुओं का सहायक हो ?"

"पर कोई क्षत्रिय संशप्तक युद्ध से मुँह नहीं चुरा सकता।" अर्जुन ने कृष्ण का अभिप्राय समझकर कहा।

"मैंने इन रूढ़ियों को कभी अपना धर्म नहीं माना। कल यदि कर्ण अपनी सेना

के साथ आकर अकेले धर्मराज को इसी प्रकार के संशप्तक युद्ध के लिए ललकारे तो धर्मराज को भी उसकी चुनौती स्वीकार कर उसके साथ युद्ध करने के लिए अकेले चले जाना चाहिए ?" कृष्ण ने पूछा।

अर्जुन ने कोई उत्तर नहीं दिया, किंतु स्पष्ट था कि वह धर्मराज द्वारा इस प्रकार की चुनौती स्वीकार करने का समर्थक नहीं था; किंतु अपने मुख से वह यह भी स्वीकार नहीं करना चाहता था कि वह युद्ध में स्वयं को धर्मराज से कहीं अधिक समर्थ मानता था। उसकी तुलना धर्मराज से नहीं की जानी चाहिए थी।

कृष्ण ही पुनः बोले, "जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मौलिक चिंतन होता है। युद्ध के क्षेत्र में भी हो सकता है। मैंने कालयवन की चुनौती स्वीकार नहीं की थी। मैं कभी जरासंध की इच्छा के अनुसार नहीं लड़ा था। मैं तुम्हें हतोत्साहित कर दुर्बल करना नहीं चाहता, किंतु न तो मैं जीवन को दूसरों के आदर्शों के अनुसार जीने का समर्थक हूँ और न ही युद्ध में दूसरों के रचे व्यूह में फँस कर लड़ने का। तुम्हें अपना व्यूह रचना है। संसार में लोग तुम्हें विभिन्न प्रकार की चुनौतियाँ देते रहेंगे, अलग-अलग व्यूहों से पुकारेंगे, तो तुम उनकी योजनाओं के अनुसार भागते रहोगे, अपना व्यूह कब रचोगे ? अपना युद्ध कब लड़ोगे ? जीवन को सफलतापूर्वक वही जी सकता है, जो अपनी निश्चयात्मिका बुद्धि से जिए। विक्षेपों से तो ऊर्जा बिखरती ही है। वे सब लोग तुम्हारी ऊर्जा को बिखेरने में लगे हुए हैं। तुम्हें स्वयं को एकाग्र करना है।" कृष्ण रुके, "मैं जानता हूँ कि तुम सुशर्मा, उसके भाइयों और उसकी सेना से लड़ने में समर्थ हो; किंतु अपने सामर्थ्य का अहंकार भी तुम्हारा शत्रु हो सकता है। एक बार धर्मराज ने शत्रु की शर्तों पर द्यूत खेला था और आज तुम त्रिगर्तों की इच्छा से द्यूत खेलने जा रहे हो। मेरा मन आश्वस्त नहीं है मित्र !"

अर्जुन ने कृष्ण को देखा : वे चिंतित लग रहे थे। किंतु इस क्षण तो न चिंता का समय था, न चिंतन का—सामने त्रिगर्त संशप्तक अर्द्धचंद्राकार व्यूह रच कर युद्ध के लिए प्रस्तुत थे। उन्होंने अर्जुन को कुछ भी समझने का अवसर नहीं दिया। उनका आक्रमण आकस्मिक और बड़ा भयंकर था। युद्ध आरंभ होते ही सुबाहु ने अर्जुन के किरीट पर प्रहार कर दिया था।

अर्जुन को स्मरण हो आया, एक सुबाहु उसका मित्र भी है और एक यह सुबाहु है, जो शपथपूर्वक उससे युद्ध करने आया है। वस्तुतः इन त्रिगर्तों को अपने सैनिकों की संख्या का अभिमान है। वे समझ रहे हैं कि अर्जुन ने इस प्रकार अकेले युद्ध की चुनौती को स्वीकार कर मूर्खता की है। इसलिए वे इतने आश्वस्त होकर आक्रमण कर रहे हैं। इसका कहीं यह अर्थ भी है कि उन्हें अर्जुन की क्षमता और युद्धपद्धति का ज्ञान नहीं है। उन्हें बताना होगा कि अर्जुन कैसे युद्ध करता है।...

अर्जुन ने एक भल्ल मारा और सुबाहु के दस्ताने कट गए।

अर्जुन के इस आक्रमण ने संशप्तकों को और भी उत्तेजित कर दिया। सुशर्मा, सुरथ,

सुधन्वा और सुबाहु एक साथ ही अर्जुन पर चढ़ दौड़े। यह आक्रमण अर्जुन की अपेक्षा से अधिक घातक था, इसके लिए न तो वह तैयार था और न ही उसने कोई सावधानी बरती थी।...

उसने देखा, त्रिगर्तों का यह आक्रमण उसके शरीर पर कई क्षत छोड़ गया था। उनके इस दुस्साहस पर उसका मन क्रोध से फुफकार उठा।... अगले ही क्षण उसने सुधन्वा का धनुष काट दिया, उसके अश्व मार दिए और फिर शिरस्त्राण सहित उसका मस्तक काट दिया।

सुशर्मा ने देखा : अर्जुन के एक ही आघात ने उसके सैनिकों को भयभीत कर दिया था। वे सब शरण खोजते हुए, मुख्य समरभूमि में नियुक्त दुर्योधन की सेना की सुरक्षा में जाने का प्रयास कर रहे थे। ये सब वे लोग थे, जिन्होंने प्रण किया था कि यदि वे समरभूमि छोड़कर भागेंगे तो स्वयं को जीवित जला कर अपने प्राण दे देंगे।

सारी सेना भाग कर कहीं छिप गई थी और सुशर्मा को अपने पीछे अपने पृष्ठरक्षक भी दिखाई नहीं दे रहे थे। इस समय युद्ध करना अपने प्राण देने के समान था और वह अर्जुन के प्राण लेने आया था, प्राण देने नहीं।

अर्जुन ने उस सारे क्षेत्र का एक चक्कर लगाया। संशप्तक सेना कहीं आसपास ही होनी चाहिए। पर उनमें से कोई भी दिखाई नहीं दे रहा था। वे समरभूमि छोड़कर भागे नहीं थे, बस छिप गए थे। ऐसे में यहाँ रुके रहकर प्रतीक्षा करने से तो उत्तम था कि वे लोग लौट कर द्रोण द्वारा पीड़ित पांडव सेना की रक्षा करते।

"कृष्ण ! लौट चलें क्या ?"

"जो लोग संशप्तक युद्ध करने आए थे वे तो दिखाई पड़ नहीं रहे।" कृष्ण बोले, "किंतु वे नष्ट नहीं हुए हैं। यहीं कहीं छिपे होंगे। जो भाग कर दुर्योधन तक जा पहुँचे होंगे, वे उसकी ताड़ना के बाद फिर लौटेंगे।... पर समय नष्ट करने का क्या लाभ ?"

कृष्ण ने रथ मोड़ा ही था कि लगा संशप्तक फिर से प्रकट होने लगे हैं। स्पष्टतः उनकी अधिक रुचि अर्जुन को यहाँ रोके रखने में थी, युद्ध करने में नहीं।

"इस बार उनके साथ नारायणी सेना के गोप भी हैं।" कृष्ण बोले।

अर्जुन चकित रह गया।... नारायणी सेना को कहीं और न लड़वाकर दुर्योधन ने उसे कृष्ण और अर्जुन से ही लड़ने भेज दिया है।

"यह क्या ?"

"मुझे लगता है कि दुर्योधन मुझसे सेना ले तो गया, किंतु उसे कभी भी नारायणी सेना पर विश्वास नहीं हुआ।"

"तो फिर उस सेना पर इतना व्यय करने का क्या लाभ ?"

"नारायणी सेना उसकी ओर से लड़े न लड़े, पांडवों के पक्ष से तो नहीं लड़ेगी।" कृष्ण बोले, "इस समय हमसे युद्ध करने के लिए भेजने का तो अर्थ है कि वह इस सेना की अपने प्रति निष्ठा परखना चाहता है। उसे इस सेना को मरवाने में भी कोई

कष्ट नहीं होगा। नारायणी सेना मरे या उसके हाथों अर्जुन तथा कृष्ण नष्ट हो जाएँ, उसे दोनों में ही प्रसन्नता होगी।"

"पर यदि नारायणी सेना की निष्ठा संदिग्ध है तो वह हमसे भी तो मिल सकती है। और ऐसे में सुशर्मा तथा त्रिगर्तो की यह सेना जीवित नहीं बचेगी।"

"मुझे लगता है कि दुर्योधन को सुशर्मा की भी आवश्यकता नहीं है।" कृष्ण बोले, "यदि त्रिगर्तों को मरवाकर भी वह धर्मराज को पराभूत कर पाया तो वह इसे अपनी विजय ही मानेगा।"

इस वार प्रहार नारायणी सेना की ओर से हुआ। वह कृष्ण और बलराम द्वारा प्रशिक्षित सेना थी। उनका प्रहार उसी प्रशिक्षण के अनुकूल अत्यंत भयानक था। अर्जुन जानता था कि देवास्त्रों के अभाव में वह अकेला इस प्रकार कदाचित् टिक नहीं पाएगा। अब तक युद्ध का स्वरूप बदल गया था। उसे शीघ्र ही सक्रिय होना था। पर नारायणी सेना तो कृष्ण की सेना थी। उसका संहार ?"' जब कृष्ण को ही उनका कोई मोह नहीं था तो उनके लिए अर्जुन ही क्यों चिंतित है।"' और क्षण भर को अर्जुन के सम्मुख कृष्ण का वह विश्वरूप प्रकट हो गया। क्या देखा था अर्जुन ने—कृष्ण महाकाल का भयंकर रूप धारण किए खड़े थे और सेनाएँ की सेनाएँ उनकी दाढ़ों तले कुचली जा रही थीं।"' उन्होंने कहा था, 'अर्जुन ! ये सब लोग पहले ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। तू तो निमित्त मात्र है।'"' ठीक ही तो कहा था कृष्ण ने। जीवन और मृत्यु तो महाकाल के दो चरण मात्र थे। जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु निश्चित है और जिसकी मृत्यु हुई है, उसका जन्म अवश्यंभावी है।"'तो फिर क्या सोच रहा है अर्जुन ! कैसा मोह इस नारायणी सेना का।

अर्जुन ने गांडीव पर त्वराष्ट्र अस्त्र चढ़ा लिया। अस्त्र चला और नारायणी सेना के गोपों के साथ-साथ ललित्थ, मालव, मावेल्लक, त्रिगर्त सैनिक मृत्यु के मुख में समाते चले गए। चारों ओर पीड़ा और चीत्कार का स्वर था। और तब जाने कैसे त्रिगर्तों की सारी सेना जैसे किसी एक धनुर्धारी में परिणत हो गई। वे सब एक ही समय में सक्रिय हुए और कृष्ण तथा अर्जुन उनके चलाए हुए सहस्रों बाणों से ढँक गए।

त्रिगर्तों में हर्ष की लहर दौड़ गई। सुशर्मा ने कुछ क्षणों तक अर्जुन के रथ की ओर देखा और चिल्लाया, "मारे गए। वे दोनों ही मारे गए। जाओ, कोई महाराज दुर्योधन को समाचार दो कि हमने उनके शत्रुओं को नष्ट कर दिया है।"

कृष्ण का शरीर स्वेद से नहा गया। इस अनपेक्षित बाण-वर्षा से वे खिन्न हो गए थे। लगता था कि यह वर्षा अर्जुन को पराभूत कर गई थी।

उन्होंने पीछे मुड़कर देखा। किसी प्रकार की सक्रियता दिखाई नहीं पड़ी तो बोले, "तुम कहाँ हो अर्जुन ? जीवित तो हो ?"

"हाँ केशव ! जीवित हूँ और सकुशल हूँ।" अर्जुन बोला, "कुछ घाव लगे हैं। और आप ?"

"मुझे भी कुछ छोटे-मोटे घाव ही लगे हैं।" कृष्ण बोले, "अब तुम विलंब मत करो। धर्मराज हमारे लौटने की प्रतीक्षा कर रहे होंगे।"

अर्जुन ने वायव्यास्त्र चला दिया। त्रिगर्तों की बाण वर्षा बंद हो गई। लगा कि वायु सारे मेघों को जैसे उड़ा कर ही ले गई। ऐसे में वर्षा कहाँ से होती।

द्रोण निश्चिंत थे कि अर्जुन संशप्तकों से युद्ध करने के लिए बहुत दूर निकल गया था। उसके पास न तो सरलता से युद्ध का कोई समाचार भेजा जा सकता था और न ही संशप्तक उसे सुविधा से लौटने देंगे। वे उसके मार्ग में बिछ जाएँगे किंतु उसे लौटने नहीं देंगे।... वह एक प्रहर भी वहाँ उलझा रहे तो द्रोण अपनी योजना में सफल हो जाएँगे।...

द्रोण ने गरुड़ व्यूह रचा और अपनी सेना को प्रयाण का आदेश दे दिया।

पांडव सेना ने मंडलार्द्ध व्यूह बनाया था। धृष्टद्युम्न पूर्णतः संतुष्ट था कि द्रोण अपनी इच्छानुसार कोई बड़ी सफलता प्राप्त नहीं कर पाएँगे। अपने मन के किसी कोने में वह एक आवृत-सी प्रसन्नता का भी अनुभव कर रहा था। आज अर्जुन और कृष्ण यहाँ उपस्थित नहीं थे, इसलिए धृष्टद्युम्न को भी खुल कर अपनी वीरता दिखाने का अवसर मिलेगा।...वह अपनी इच्छानुसार द्रोण के प्रति कठोर हो सकेगा। अर्जुन की उपस्थिति में उसके पूज्य गुरु के वध की योजना नहीं बनाई जा सकती थी। किसी न किसी बहाने से अर्जुन कुछ ऐसा कर ही देता था कि धृष्टद्युम्न के हाथ बँध जाते थे और उसके मन की मन में ही रह जाती थी। आज वैसा कुछ नहीं होने जा रहा।...

"धृष्टद्युम्न !" युधिष्ठिर ने कहा, "सेना का प्रबंध ऐसा हो कि द्रोण मेरे निकट न आ सकें।"

"आप निश्चिंत रहें महाराज !" धृष्टद्युम्न बोला और तत्काल ही उसका मन सोचने लगा : क्या कोई ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकती कि युधिष्ठिर, द्रोण को धृष्टद्युम्न के जाल में फँसाने का चारा बन जाएँ ? द्रोण यह समझते रहें कि वे युधिष्ठिर के निकट पहुँचने में सफल हो रहे हैं, जिसका अर्थ है कि वे अपने लक्ष्य के निकट जा रहे हैं और अंततः वे पाएँ कि धृष्टद्युम्न का जाल उनके चारों ओर ऐसा बुना जा चुका है कि वे उससे किसी भी अवस्था में निकल नहीं सकते ? यह तो केवल आज ही हो सकता है और इसी समय हो सकता है। अर्जुन और कृष्ण लौट आए तो वे अपने राजा को इस प्रकार चारा नहीं बनने देंगे, चाहे उसके माध्यम से धृष्टद्युम्न कितनी ही बड़ी मछली फाँसने का प्रयत्न क्यों न कर रहा हो।...

धृष्टद्युम्न ने युधिष्ठिर की ओर बढ़ते हुए द्रोण को रोका।...द्रोण का मन धृष्टद्युम्न को देखते ही सहम-सा गया। वे जानते थे कि वे धृष्टद्युम्न के निकट सुरक्षित नहीं थे। वह उनके वध का कोई अवसर नहीं चूकेगा। पर अब युद्ध में तो किसी से भी लड़ना पड़ सकता है। यह द्रोण की पाठशाला नहीं है कि जिसे वे चाहें शिक्षा दें और जिसे चाहें, मना कर दें। युद्ध में चुनाव की स्वतंत्रता नहीं हो सकती। पर तभी दुर्मुख आगे

बढ़ आया और उसने धृष्टद्युम्न को रोका।

द्रोण के लिए यह स्वर्णिम अवसर था। जब तक धृष्टद्युम्न दुर्मुख से निबटे, उन्हें आगे बढ़कर अपने लक्ष्य के निकट पहुँच जाना चाहिए था।

वे झपाटे से युधिष्ठिर की ओर बढ़े और उन पर प्रहार किया। युधिष्ठिर ने उनको देखा। वे द्रोण का अभिप्राय भी समझते थे। उन्होंने धनुष उठा लिया। जब गुरु ने स्वयं ही युद्ध आरंभ कर दिया था तो उन्हें भी स्वतंत्रता थी कि वे अपना युद्ध कौशल दिखाएँ।

तभी सत्यजित बड़े वेग से वहाँ प्रकट हो गया। उसने क्षण भर का भी विलंब नहीं किया और द्रोण पर भयंकर आक्रमण किया। उसके आक्रमण का परिणाम स्पष्ट था। द्रोण घायल हो गए। उनका ध्वज कट गया, अश्व विंध गए और सारथि मूर्च्छित हो गया। सत्यजित ने द्रोण के दोनों पृष्ठरक्षकों को भी दस-दस बाण मार कर अपनी क्षमता का परिचय दे दिया था।

अर्जुन ने ठीक ही चुनाव किया था सत्यजित का''' युधिष्ठिर सोच रहे थे''' उन्होंने तो न कभी सत्यजित का यह वेग देखा था और न यह प्रखरता। कांपिल्य के जिस युद्ध में अर्जुन ने सत्यजित को लड़ते देखा था, युधिष्ठिर ने तो उसमें भाग ही नहीं लिया था। अर्जुन और भीम उन्हें नगर से बाहर ही खड़ा कर गए थे। ऐसा वेग और त्वरा तो कदाचित् धृष्टद्युम्न में भी नहीं थी।

पर सत्यजित के आक्रमण से द्रोण हतप्रभ नहीं हुए। वे क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने अपने उस कीलित रथ से ही सत्यजित का धनुष काट डाला और उसे आहत कर दिया। सत्यजित ने अपने घावों की चिंता न करते हुए, तत्काल दूसरा धनुष उठा लिया।

धृष्टद्युम्न ने सत्यजित का तेज भी देखा और उसकी असहायता भी, किंतु दुर्मुख उसके ऐसे आड़े आया था कि उसे हिलने ही नहीं दे रहा था। तब तक वृक सत्यजित की सहायता को आ गया था। वे दोनों मिल गए थे और द्रोण को पीड़ित कर रहे थे। किंतु द्रोण उनके वश के नहीं थे। द्रोण के धनुष से बाणों की जैसे एक झड़ी चली और सत्यजित तथा वृक के धनुष कट गए। अगले ही बाण में द्रोण ने वृक का वक्ष छेद डाला। वृक का वध सत्यजित के लिए चुनौती था। उसने तड़पकर द्रोण पर बाणों की वर्षा की। सत्यजित को इस प्रकार प्रचंड होते देखकर द्रोण ने अपने धनुष पर अर्द्धचंद्राकार बाण रखा और अगले ही क्षण सत्यजित का मस्तक कट कर भूमि पर गिर गया।

युधिष्ठिर को लगा कि द्रोण, उनके बहुत निकट आ चुके हैं। संभव है कि उनका अगला प्रयत्न युधिष्ठिर को बंदी करने का ही हो। वे नहीं जानते थे कि द्रोण उन्हें किस प्रकार बंदी करना चाहते थे। उधर सत्यजित का वध देखकर कौरव सेना के अनेक महारथी इसी ओर बढ़ रहे थे। धृष्टद्युम्न उनके निकट नहीं आ पा रहा था। कौरव महारथियों ने उसे पहले ही घेर लिया था। निश्चित रूप से यह उनकी योजना का ही अंग रहा होगा। आचार्य की रक्षा के लिए उन्हें धृष्टद्युम्न को रोकना ही होगा।''' अब युधिष्ठिर का यहाँ रुकना उचित नहीं था। अर्जुन ने कहा था कि सत्यजित न रहे तो उन्हें किसी

भी स्थिति में युद्धक्षेत्र से हट जाना चाहिए था।''' वे नहीं हटेंगे और बंदी हो जाएँगे तो वह एक प्रकार से सारे पांडवों का बंदी होना होगा। उन सबकी पराजय होगी।''' नहीं ! युधिष्ठिर ऐसा संकट आमंत्रित नहीं कर सकते।'''

उन्होंने सारथि को संकेत किया, "अपने मंडप की ओर चलो।"

द्रोण खड़े देख रहे थे कि युधिष्ठिर उनसे दूर होते जा रहे थे। उनका रथ ऐसा अड़ा था कि वे आगे बढ़ नहीं सकते थे। दूसरी ओर धृष्टद्युम्न अपनी सेना के साथ उन पर टूट पड़ा था। सत्यजित का वध उसके लिए असहनीय था। पांचालों के साथ केकय, मत्स्य, चेदि, कारूष, कोसल के योद्धा द्रोण के चारों ओर घिर आए थे। द्रोण वहाँ से हिल नहीं सकते थे और किसी प्रकार की सहायता कहीं से आ नहीं रही थी। उनके सम्मुख कोई विकल्प नहीं था।

विराट का छोटा भाई शतानीक द्रोण पर चढ़ आया था। एक क्षण का विलंब भी घातक हो सकता था। द्रोण ने शतानीक को युद्ध का अवसर ही नहीं दिया। इससे पहले कि वह उन पर वाण चलाता, उन्होंने शतानीक का सिर काट लिया।

वृक, सत्यजित और अब शतानीक को इस प्रकार मृत्यु के मुख में जाते देख पांचाल सैनिकों का साहस टिक नहीं पाया। उनके पाँव उखड़ गए। धृष्टद्युम्न की योजना तनिक भी सफल नहीं हो पाई थी।

युधिष्ठिर अपने मंडप की ओर चले तो गए थे, किंतु वे न तो युद्ध की ओर से असावधान रह सकते थे और न अपनी सेना की ओर से उदासीन। पांचाल सेना के पलायन का समाचार पाकर वे अपने मंडप में बैठे नहीं रह सकते थे। उन्हें युद्ध करना ही होगा, परिणाम चाहे जो भी हो।

उन्होंने धृष्टद्युम्न को संदेश भिजवा दिया कि वे द्रोण पर आक्रमण करने जा रहे हैं। द्रोण को अपनी मनमानी करने के लिए मुक्त नहीं छोड़ा जा सकता।

युधिष्ठिर को द्रोण की ओर वढ़ते देखकर शिखंडी, उसका पुत्र क्षत्रवर्मा, वसुदान, उत्तमौजा, सात्यकि, युधामन्यु, चेकितान, धृष्टद्युम्न सब ने ही द्रोण को घेरने का प्रयत्न किया। धृष्टद्युम्न चाहता था कि वे लोग द्रोण और युधिष्ठिर के बीच इस प्रकार प्राचीर वन जाएँ कि द्रोण न आगे वढ़ सकें और न युधिष्ठिर को सम्मुख खड़े देखकर वहाँ से हट सकें। उन्हें इस प्रकार कीलित कर, धृष्टद्युम्न उन्हें बंदी भी कर सकता था और उनका वध भी संभव था।

पर तव तक कौरव सेना ने अपने सेनापति के लिए नया रथ प्रस्तुत कर दिया था। द्रोण फिर से आत्मवल से भर उठे थे। उनके सम्मुख उनके शत्रु पांचाल खड़े थे। द्रोण का भयंकर रूप प्रकट हुआ। उनकी वाण-वर्षा अजस्र थी। वे सवको दवाकर फिर से युधिष्ठिर की ओर वढ़ रहे थे।'''

युधिष्ठिर को सूचना मिली कि भौमासुर के पुत्र प्राग्ज्योतिषपुर के अधिपति भगदत्त की गजसेना ने भीम को घेर लिया था। उसके गजों के सम्मुख असमर्थ होकर अथवा द्रोण को घेरने में अपने महारथियों की सहायता करने के लिए पांचाल सेना भीम को अकेला छोड़ गई थी। भीम अकेला ही उन युद्धक गजों से लड़ने का प्रयत्न कर रहा था। भगदत्त के हाथी ने भीम के रथ को चूर-चूर कर दिया था और भीम उस हाथी के नीचे छुप कर अंजलिकावेध से हाथी को प्रसन्न करने का प्रयत्न कर रहा थां। वह इस प्रतीक्षा में था कि पांडव सेना का कोई हाथी वहाँ आकर भगदत्त के गज से उसकी रक्षा करे।

दूसरे दूत ने युधिष्ठिर को बताया कि उसने देखा था कि "मध्यम पांडव हाथी के नीचे से निकल आए थे। वे उसके सम्मुख खड़े हो गए थे। हाथी ने उन्हें पैरों से कुचलने का प्रयत्न किया था।" उसके पश्चात् दूत समझ नहीं सका था कि किस युक्ति से भीम उससे बच गए थे किंतु उस गज ने उन्हें अपनी सूंड में जकड़ लिया था।

तीसरे दूत ने सूचना दी कि भीम को हाथी ने अपनी सूंड में लपेट तो लिया था किंतु वह उनकी हत्या नहीं कर पाया था। दूत ने स्वयं देखा था कि भीम उसकी सूंड से छूट कर अपनी रक्षा के लिए इधर-उधर दौड़ रहे थे, पर उनको अभी कोई सुरक्षित स्थान मिला नहीं था।"'

एक ओर युधिष्ठिर की अपनी सुरक्षा का प्रश्न था और दूसरी ओर भीमसेन जैसे भाई और योद्धा की सुरक्षा की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। द्रोण बहुत समर्थ थे तो भगदत्त भी दुर्बल नहीं था। केवल भगदत्त और भीम की बात होती तो शायद वे भीम को स्वयं ही निबट लेने देते, किंतु भगदत्त के पास पूरी सेना और अनेक युद्धक गज थे। भगदत्त स्वयं न लड़कर अपने हाथी को भीम से लड़वा रहा था। भीम एकदम अकेला पड़ गया था। सूचना भी बहुत स्पष्ट नहीं थी। संभव है कि अब तक भीम युद्ध में खेत ही रहा हो और संदेशवाहक ने सूचना की कठोरता कम करने के लिए उन्हें स्पष्ट न बताया हो।"'

युधिष्ठिर अब और नहीं रुक सकते थे। यदि भीम अभी जीवित है तो उसकी रक्षा करनी होगी और यदि वह वीरगति को प्राप्त हो गया है तो उसका प्रतिशोध लेना होगा।

पांचाल सेना को साथ लेकर युधिष्ठिर ने भगदत्त को घेर लिया। युयुत्सु उनके साथ था। पर युयुत्सु की वीरता और साहस के होते हुए भी वह भगदत्त का तोड़ नहीं था। भगदत्त ने पहले ही झपाटे में युयुत्सु के अश्वों और सारथि को मार डाला। युयुत्सु के उस संकट में अभिमन्यु निकट आ गया। युयुत्सु तत्काल अभिमन्यु के रथ पर चला गया।

भगदत्त का ध्यान भीम की ओर से हटकर युधिष्ठिर पर केंद्रित हो गया था। भीम भी उसके पंजे से निकलकर अभिमन्यु और युधिष्ठिर के निकट आ गया था; किंतु यह स्पष्ट था कि भगदत्त को रोकना उनके लिए सरल नहीं होगा।

एक दूत अर्जुन के पास भी आया। दूत को देखते ही अर्जुन का मन सशंक हो उठा। कहीं धर्मराज के साथ तो कोई अघटनीय नहीं घट गया।... पर नहीं। दूत भगदत्त के माध्यम से भीम पर आए संकट की सूचना लाया था।

यह वैसा संकट नहीं था किंतु अर्जुन भगदत्त की भी उपेक्षा नहीं कर सकता था। उसका मन चंचल हो उठा।

"संशप्तक तो भाग गए हैं केशव ! हम भगदत्त के पास ही चलें।"

"चलो।" कृष्ण ने रथ मोड़ा।

किंतु अर्जुन को लौटते देखकर जाने कहाँ से संशप्तक प्रकट हो गए। वे शायद किसी गुप्त आक्रमण की योजना बना रहे थे। वह संभव नहीं हुआ तो उन्होंने प्रत्यक्ष आक्रमण कर दिया। इस बार का आक्रमण पिछले आक्रमण से भी अधिक भयंकर था। उसका प्रभाव कृष्ण पर भी हुआ था। उनका शरीर जैसे शिथिल हो गया था और उन पर मोह सा छा गया था। अर्जुन का धैर्य चुक गया। उसने गांडीव पर लघु ब्रह्मास्त्र रखा और संशप्तकों पर छोड़ दिया। सामान्यतः वह इस अस्त्र का प्रयोग नहीं ही करता, किंतु वह अकेला था और संशप्तक सहस्रों की संख्या में। उस पर वे केशव को पीड़ित कर रहे थे। अर्जुन इसकी अनुमति नहीं दे सकता था। लघु ब्रह्मास्त्र का वेग संशप्तक सेना नहीं झेल पाई। उनमें से कुछ गिरते और शेष भागते दिखाई दिए। कृष्ण पर छाया मोह भी छँट गया। उन्होंने प्रशंसापूर्ण भाव से अर्जुन की ओर देखा, "धनंजय ! आज तो तुम्हारा कौशल इंद्र से भी बढ़ गया लगता है।"

"अब भगदत्त के पास चलिए।" अर्जुन ने कहा, "ऐसा न हो कि हमें विलंब हो जाए।"

रथ पुनः मुड़ा और सुशर्मा प्रकट हो गया। उसके साथ उसका भाई सत्यरथ भी था। उसने पीछे से बाण छोड़ा और बोला, "कायर के समान कहाँ भागा जा रहा है अर्जुन ! पहले मुझसे युद्ध कर।"

अर्जुन के मन में खीज जन्मी... इस कायर को देखो। एक ओर तो संशप्तक युद्ध करने आया है और दूसरी ओर निमिष भर में युद्धक्षेत्र छोड़कर भाग जाता है।... उस पर अर्जुन को कायर कह रहा है।... उधर युधिष्ठिर और भीम पुकार रहे थे और इधर यह दुष्ट उसे रोक रहा था। धर्मराज का विचार ठीक ही था, सुशर्मा उससे युद्ध करने नहीं आया था, वह तो केवल उसे मुख्य युद्धक्षेत्र से दूर रखना चाहता था, ताकि वहाँ द्रोण अपनी मनमानी कर सकें।...

कृष्ण ने रथ लौटाया। सुशर्मा के बाण बहुत प्रभावी नहीं थे। उसके बाणों के उत्तर में अर्जुन ने बाणों की एक झड़ी छोड़ी। सुशर्मा घायल हुआ उसका ध्वज और धनुष दोनों ही कट गए थे। उसके भाई पर अर्जुन ने सात बाण छोड़े। उसके सारथि और अश्वों को मार डाला और अंतिम बाण से विंध कर सत्यरथ भी अपने रथ से नीचे आ गिरा।

सुशर्मा ने यह सब देखा और सर्प के आकार की एक शक्ति अर्जुन पर दे मारी। उसने कृष्ण पर तोमर से प्रहार किया। अर्जुन ने अपने बाणों से शक्ति और तोमर को रास्ते में ही काट दिया और अंतिम बाण सुशर्मा को मारा।

सुशर्मा का रथ फिर पीछे की ओर चला गया। संभवतः वह पीछे के वन में कहीं लुप्त हो गया था।

"चलिए केशव ! इस बार यह प्रकट होकर पुकारे भी तो नहीं रुकना है।" अर्जुन बोला, "यह योद्धा नहीं छलावा है। मुझे क्षत्रियों का धर्म सिखाता है और स्वयं केवल कपट युद्ध करता है।"

कृष्ण रथ को ऐसे चला रहे थे कि वह रथ न हो गरुड़ हो। कौरव सेना को रौंदते हुए वे दोनों भगदत्त के निकट आए। युद्ध अभी चल रहा था। युधिष्ठिर, भीम, अभिमन्यु तथा युयुत्सु सभी सुरक्षित थे और युद्ध कर रहे थे। अर्जुन ने जैसे पलक झपकते ही अपने वाणों की झड़ी से भगदत्त की सेना छिन्न-भिन्न कर दी थी। भगदत्त की सेना कदाचित् धनुष वाण के युद्ध में दक्ष नहीं थी। सेना भाग गई थी और भगदत्त अपने हाथी पर अकेला खड़ा था। फिर भी उसने अपने वाणों से अर्जुन और कृष्ण को आहत कर दिया था।

अर्जुन को अपने गांडीव पर वाण चढ़ाते देख भगदत्त मुस्कराया और उसने अपना हाथी आगे बढ़ाया। उसका हाथी सुप्रतीक उनके बहुत निकट आ गया था। कदाचित् वह बाणों का युद्ध नहीं चाहता था। तो ? और सहसा कृष्ण का ध्यान इस ओर गया कि वह अपने हाथी से उनका रथ कुचल देना चाहता था। हाथी इस कला में दक्ष प्रतीत होता था। उसने अपना पैर उठाया ही था कि कृष्ण ने रथ को दाहिने कर उससे दूर हटा लिया।

"अर्जुन ! यदि उसके हाथी का पैर हमारे रथ पर पड़ गया तो अश्वों सहित रथ बैठ जाएगा।" कृष्ण बोले, "अब तुम भगदत्त की क्रीड़ा समाप्त करो।"

अर्जुन ने भगदत्त की ओर देखा। उसने अपने लंबे केश एक सुनहरी पट्टी से बाँध रखे थे। अर्जुन ने एक बाण से उसकी वह सुनहरी पट्टी काट दी। भगदत्त के केश उसके मुख पर आ गिरे। उसकी आँखें बंद हो गई थीं। अर्जुन का अगला बाण उसके वक्ष को चीर गया और भगदत्त अपने हाथी से नीचे आ गिरा।

पांडव सेना ने हर्ष का चीत्कार किया और युधिष्ठिर तथा भीम आतुरता से अर्जुन की ओर लपके। बड़ी देर के पश्चात् युधिष्ठिर के चेहरे पर निश्चिंतता की मुस्कान आई थी।

8

दुर्योधन भीतर ही भीतर क्रोध से उफन रहा था।

"आप स्पष्ट ही क्यों नहीं कह देते आचार्य ! कि आप हमारी गणना अपने शत्रुओं में करते हैं।" वह बोला, "आपका व्यवहार मेरे लिए अबूझ होता जा रहा है। आप मुझे वर तो देते हैं किंतु उसको पूरा नहीं करते। वर लौटा लेने का क्या अर्थ ? मैंने आपको वर देने को बाध्य तो नहीं किया था।…"

"मैंने वर लौटाया नहीं है।" द्रोण बोले, किंतु उनके स्वर में लज्जा का भाव स्पष्ट ही था, "तुमने स्वयं देखा होगा; और चाहो तो अपने मित्रों से भी पूछ सकते हो कि मैं अपने पूरे सामर्थ्य से प्रयत्न कर रहा हूँ।"

"आप प्रयत्न कर रहे होते तो इतनी बड़ी कौरव सेना और इतने महारथियों के होते हुए एक युधिष्ठिर को न पकड़ पाते ? वह कोई ऐसा असाधारण योद्धा तो है नहीं। कौन विश्वास करेगा आपके इस प्रयत्न का ?"

"मुझे असमर्थ मान लो, किंतु मेरे प्रयत्न पर संदेह मत करो।" द्रोण बोले, "मैंने कल भी यही कहा था कि अर्जुन को युद्ध से दूर रखो आज भी वही कह रहा हूँ। तुमने वचन दिया था कि ऐसा ही होगा। तो फिर अर्जुन ठीक समय पर समरभूमि में उपस्थित कैसे हो जाता है ?"

दुर्योधन को लगा कि द्रोण का संकोच और उनकी वह लज्जा कहीं तिरोहित हो गई है। अपनी असफलता से अधिक वे सुशर्मा की दायित्वहीनता से क्रुद्ध थे।

दुर्योधन के मन में सुशर्मा के लिए अनेक अपशब्द थे।… बहुत वीर बनता था और संशप्तक युद्ध करने चला था। अच्छा संशप्तक है कि न स्वयं खेत रहा, न बंदी हुआ; और अर्जुन को मुक्त छोड़ दिया। अर्जुन युद्ध में लौट आया। उसने भगदत्त का वध कर दिया और भीम तथा युधिष्ठिर को सकुशल निकाल ले गया।… इस युद्ध में किसका विश्वास करे दुर्योधन !

आज के कर्ण के युद्ध से भी वह प्रसन्न नहीं था।… कर्ण का युद्ध में आना अंधकार में सूर्य के अवतरित होने के समान होना चाहिए था। पर वह तो इधर-उधर कुछ बाण फेंकता रहा। कुछ छोटे-मोटे सेनानायकों को मारता रहा। अपने पक्ष के कुछ छोटे-मोटे योद्धाओं की रक्षा करता रहा। न उसने अर्जुन का ढंग से सामना किया, न किसी और योद्धा का। अर्जुन के सामने पड़ा तो कोई बवंडर नहीं उठा और तब तक धृष्टद्युम्न, सात्यकि और भीम भी आ गए थे। कर्ण ने उनके धनुष तो काट दिए, पर उससे अधिक कुछ नहीं… उन तीनों ने शक्ति से उस पर प्रहार किया। कर्ण ने उनकी शक्तियों का निवारण कर अर्जुन को बाण मारे तो अर्जुन ने उसके देखते-देखते उसके छोटे भाई का वध कर, उन बाणों का उत्तर दे दिया। उसका प्रतिशोध लेने के लिए कर्ण के दो भाई शत्रुंजय और विपाट आए तो उनका भी वध कर दिया।… क्या हो गया है इस कर्ण

को ? उसकी आँखों के सम्मुख अर्जुन ने उसके तीन-तीन भाइयों का वध कर दिया और वह अपना धनुष पकड़े खड़ा रहा और इधर-उधर बाण फेंकता रहा। यदि द्रोण और जयद्रथ के साथ स्वयं दुर्योधन वहाँ न पहुँचा होता तो अर्जुन की सहायता से धृष्टद्युम्न, सात्यकि, और भीम ने कर्ण को मार ही डाला होता।''' इस कर्ण से तो वह वृद्ध भीष्म ही अधिक प्रभावशाली था।'''

"अर्जुन संशप्तकों को छोड़कर युद्ध में कैसे आ गया, उसको भी देखूँगा मैं।" दुर्योधन बोला, "किंतु हमारी सारी योजनाएँ शत्रुओं की गतिविधि पर ही निर्भर नहीं होनी चाहिए, कुछ अपने बल पर भी होनी चाहिए। यदि शत्रु हमारी अपनी इच्छा के अनुसार काम नहीं करता तो क्या हम अपना कोई लक्ष्य प्राप्त ही नहीं कर पाएँगे ?"

द्रोण सिर झुकाए बैठे रहे और कुछ सोचते रहे।

यह बुड्ढा अब यहाँ सिर झुकाकर ऐसे बैठा रहेगा, जैसे कोई महान् चिंतन कर रहा है।''' नहीं ! शोक की मुद्रा में है। युद्ध में वीरगति प्राप्त मृतकों का शोक कर रहा है। नहीं ! उससे तो चिंतन वाली बात ही अधिक रोचक है।''' दुर्योधन की इच्छा हुई कि पुकारकर सबको बुला ले और कहे,''' देखो अभी यहाँ एक नए वेद का सृजन होने वाला है। आचार्य चिंतन कर रहे हैं।'''

सहसा द्रोण ने सिर उठाया, "दुर्योधन !"

"हाँ गुरुदेव !" दुर्योधन ने हाथ जोड़ दिए, किंतु कोई भी समझ सकता था कि वह द्रोण का उपहास कर रहा था।

"यदि तुम्हारे संशप्तक अपने प्राण दे कर भी कल अर्जुन को युद्धभूमि से दूर रख सकें तो कल कुछ न कुछ तुम्हारी इच्छानुकूल अवश्य होगा।"

"क्या होगा ?"

"कल मैं चक्रव्यूह की रचना करूँगा।" द्रोण बोले।

"तो उससे क्या हो जाएगा ?" दुर्योधन का स्वर अब भी बहुत कड़वा था।

द्रोण का मन विक्षिप्त-सा हो उठा : द्रुपद के व्यवहार से पीड़ित होकर वे इसलिए तो हस्तिनापुर नहीं आए थे कि यहाँ उनको अपने शिष्य के हाथों वही व्यवहार मिले। पर युद्ध की स्थिति थी और वे अपने उन्माद में दुर्योधन को वर दे कर स्वयं ही इस जाल में फँस गए थे। अब धैर्य तो रखना ही पड़ेगा।

"मेरी सूचना के अनुसार पांडव सेना में चक्रव्यूह का वेधन केवल अर्जुन और कृष्ण कर सकते हैं। यदि वे दोनों अनुपस्थित हों तो उनकी सेना में चक्रव्यूह का वेधन करने वाला कोई नहीं है।" द्रोण बोले।

"पहले तो केवल अर्जुन के अनुपस्थित होने की बात थी, अब कृष्ण भी ?"

"वे दोनों जहाँ भी होंगे, साथ ही होंगे।" द्रोण बोले।

"नहीं भी हो सकते।" दुर्योधन खीज कर बोला, "कल अर्जुन किसी और सारथि को अपने साथ ले ले अथवा कृष्ण ही उसका रथ न हाँके तो हम क्या कर लेंगे ?

क्या हम कृष्ण को बाध्य कर सकते हैं कि वह अर्जुन का रथ हाँके ही ?"

"नहीं ! ऐसा कुछ नहीं है।" द्रोण बोले, "पर सामान्यतः वे दोनों जहाँ भी होंगे, एक साथ ही होंगे।"

"ठीक है।" दुर्योधन बोला, "वे दोनों नहीं होंगे तो कोई चक्रव्यूह का वेधन नहीं कर पाएगा। तो उससे क्या ? चक्रव्यूह बना खड़ा रहेगा। वह भंग नहीं होगा, उसका वेधन नहीं होगा। पर उससे हमें क्या मिलेगा।"

"तुम तनिक धैर्य से सुनो राजन् !" द्रोण का तेज जागा··· यह दुर्योधन तो सारी मर्यादाओं का अतिक्रमण कर रहा है। सत्ता के मद में उन्मत्त बैठा है। भूल गया है कि युद्धकाल में सारी सेना सेनापति की आज्ञा के अधीन होती है।

"चक्रव्यूह एक यंत्र के समान आगे बढ़ेगा। अपने ही स्थान पर खड़ा नहीं रहेगा। यदि कोई उसका वेधन नहीं करेगा तो चक्रव्यूह उनका वेधन कर जाएगा। पांडव सेना समरभूमि छोड़कर भाग जाए तो बात और है, अन्यथा उन्हें अपने सैनिकों की रक्षा के लिए चक्रव्यूह से जूझना ही पड़ेगा। नहीं जूझेंगे तो वह चक्र के समान उन्हें कुचलता जाएगा। ऐसे में युधिष्ठिर न आए, भीम आएगा, नकुल आएगा, सहदेव आएगा, धृष्टद्युम्न आएगा, शिखंडी आएगा। कोई तो आएगा ही। तुम्हें अपने शत्रुओं में से किसी महत्त्वपूर्ण योद्धा के धराशायी होने का समाचार अवश्य मिलेगा।"

"आप वचन देते हैं ?" दुर्योधन का मन कुछ-कुछ स्वस्थ होने लगा था।

"प्रत्येक बात पर वचन माँगते हो, प्रतिज्ञा करवाते हो।" द्रोण भी कुछ वक्र होकर बोले, "पर भूल जाते हो कि अपना वचन तुम पूरा नहीं कर रहे हो।"

"नहीं ! आज मैं सुशर्मा को भी उसका कर्तव्य अच्छी तरह स्मरण करा दूँगा।" दुर्योधन बोला, "आप अपना वचन पूरा करें।"

"जब खुल कर इतनी बात हो ही रही है तो मैं यह भी कह दूं कि तुम्हारे योद्धाओं से अर्जुन तो क्या भीम भी नहीं सँभलता। और तो और वह बालक अभिमन्यु भी जहाँ आ जाता है, तुम्हारे शूरवीर वहाँ से भी पलायन आरंभ कर देते हैं।" द्रोण के स्वर में भी कड़वाहट उतर आई थी, "कर्ण ने दिन भर में क्या किया ? विकर्ण ने क्या किया ? कृतवर्मा कहाँ था ? शल्य और जयद्रथ क्या करते रहे ? भगदत्त अपने हाथियों को लड़वाता रहा। स्वयं लड़ने का अवसर आया तो आँखों पर पट्टी बाँध कर सो गया।" द्रोण ने एक भरपूर दृष्टि दुर्योधन पर डाली, "सारा कुछ सेनापति के किए ही नहीं होता; और लोगों को भी युद्ध करना पड़ता है। मुझे लगता है कि कर्ण अब इस प्रतीक्षा में है कि मैं भी वीरगति पा लूँ तो वह प्रधान सेनापति बने और युद्ध करे। सैनिकों और सेनापतियों की मैं कुछ नहीं कहता, किंतु राजा तो तभी जीतता है, जब अपने-अपने स्थान पर प्रत्येक सैनिक लड़ता है। सैनिकों को तो जाने दो, सारथि और अश्व भी अपना कर्तव्य न करें तो राजा को पराजय का मुँह देखना पड़ता है।" द्रोण निर्णायक स्वर में बोले, "मैंने अपनी असफलता के लिए तुम्हारा क्रोध बहुत झेला है, किंतु तुम्हें ज्ञात होना

चाहिए कि केवल द्रोण, अश्वत्थामा और कृपाचार्य के युद्ध से ही तुम्हें विजय नहीं मिलेगी। कल यदि अर्जुन फिर युद्धभूमि में उपस्थित हो गया तो मुझे अपनी नीति बदलनी पड़ेगी…। अपमान सहने की भी एक सीमा होती है।"

द्रोण उठकर जाने लगे, पर सहसा रुककर बोले, "चाहो तो यह सूचना भी पांडवों तक पहुँचा दो कि मैं कल चक्रव्यूह की रचना करने वाला हूँ, ताकि वे लोग अर्जुन को संशप्तक युद्ध के लिए जाने से रोक लें और वह चक्रव्यूह का वेधन करने के लिए उपस्थित रहे।"

वे मंडप से बाहर चले गए।

दुर्योधन द्रोण को जाते हुए चुपचाप देखता रहा। जाने क्यों इस समय उसे द्रोण का क्रोध बुरा नहीं लगा था।… बुड्ढा बुरा मान गया है।… वह सोच रहा था… पर कुछ न कहो तो ये लोग आवेश में ही नहीं आते। पितामह को भी जब वह कुछ कहता था तो पितामह रुष्ट होकर और भी भयंकर युद्ध करते थे। वही बात आचार्य के साथ भी है। इनकी बूढ़ी हड्डियों को सेंकते रहना पड़ता है। कुछ न कहता तो ये चक्रव्यूह भी न रचते। अब कह दिया तो रुष्ट होकर उन्हें स्मरण हो आया कि चक्रव्यूह भी रचा जा सकता है।… पर यह सुशर्मा…

"द्वारपाल !" दुर्योधन ने पुकारा।

"महाराज !" द्वारपाल प्रकट हुआ।

"किसी को भेजो, जाकर त्रिगर्तराज सुशर्मा को बुला लाए।"

द्वारपाल चला गया। सुशर्मा ने आने में अधिक विलंब नहीं किया।

दुर्योधन ने उसे देखा : वह अब भी संशप्तक योद्धा के ही वेश में था।

"क्यों तुम्हारी शपथ पूरी हो गई ?"

"नहीं महाराज !" सुशर्मा बोला, "अर्जुन युद्ध छोड़कर भाग आया।"

"और तुमने उसे रोकना उचित नहीं समझा ?" दुर्योधन की वाणी वक्र हो गई, "सोचा होगा, एक कायर युद्ध छोड़कर भाग रहा है, उसे रोकने से तुम्हारी वीरता कलंकित होगी।"

"नहीं मित्र ! ऐसी बात तो नहीं है।"

"तो क्या बात है ?"

"उसने लघु ब्रह्मास्त्र चला दिया। उसके सम्मुख हमारे योद्धा टिक नहीं पाए। कुछ मारे गए और कुछ भाग गए।" सुशर्मा बोला, "मुझे भी पीछे हट जाना पड़ा।"

"यह नहीं कहते कि तुम अर्जुन से भयभीत होकर युद्ध से पलायन कर वन में कहीं छिप गए। जब अंधकार हो गया और तुम्हें विश्वास हो गया कि अर्जुन लौट गया होगा, आज का युद्ध समाप्त हो गया होगा तो तुम चुपके से अपने शिविर में आकर बैठ गए। ऐसे ही होते हैं वीर संशप्तक योद्धा और यही है तुम्हारी शपथ ?" दुर्योधन का स्वर कठोर हो गया था, "जो-जो सुविधाएँ तुमने मुझसे माँगीं मैंने तुम्हें दीं। नारायणी

सेना के इतने सैनिक भी तुम्हें दिए।''' और तुम हो कि न तुम अर्जुन को मार सके और न अपने प्राण ही दे सके ?"

सुशर्मा हतप्रभ खड़ा रह गया। वह दुर्योधन से इस प्रकार के संवाद की अपेक्षा नहीं कर रहा था। वह अपनी स्तब्धावस्था से उबरा तो उसका क्षोभ भी भड़क उठा, "हमने दो बार तो उन दोनों को लगभग मूर्च्छित ही कर दिया था; पर अर्जुन के पास देवास्त्र हैं। हम उसके सामने क्या कर सकते थे।"

"उसके पास देवास्त्र न होते तो वह अकेला तुम्हारे सहस्रों योद्धाओं से युद्ध करने क्यों चल देता ? वह विक्षिप्त है या उन्मत्त है ? तुम चाहते हो कि वह साधारण धनुष-बाण लेकर तुमसे लड़ने के लिए अकेला आए और तुम चौदह सहस्र सैनिक लेकर उसे मार डालो ? क्यों ? तब उसके भाई नहीं आएँगे ? उसके साथ सेना नहीं होगी ? वे सब आएँगे तो तुम रोक लोगे उनको ?"

"पर यह तो कोई युद्ध न हुआ।" सुशर्मा का स्वर रुदन के निकट पहुँच चुका था।

"तो और युद्ध क्या होता है,-अकेले निहत्थे व्यक्ति का चौदह सहस्र योद्धाओं से युद्ध ?" दुर्योधन ने उसे घूरकर देखा, "इतनी ही समझ है तुम्हें युद्ध की और युद्ध की शपथ की ? यदि अकेले ही लड़ना है, बिना अस्त्रों के लड़ना है तो जाओ, उस मोटे भीम को पुकार लो। वह बिना किसी अस्त्र-शस्त्र के आएगा और तुम्हारी ग्रीवा मरोड़कर तुम्हारी हथेली पर धर कर चला जाएगा।"

"तो आप चाहते हैं कि हम व्यर्थ में ही अपने प्राण दे दें ?"

"जो योद्धा कभी कीचक से भी न जीत पाया हो, वह जब अर्जुन को चुनौती दे तो उसे कुछ सोच-विचार भी लेना चाहिए। यह तुम्हें सोचना था कि तुम्हें प्राण देने हैं या नहीं। देने हैं तो व्यर्थ में देने हैं या उसका मूल्य वसूलना है।" दुर्योधन ने उसे देखा, "तुम क्या समझ रहे थे कि तुम राजा विराट से युद्ध करने जा रहे थे कि गए और उसे घसीट लाए।"

सुशर्मा के सम्मुख दुर्योधन का यह रूप पहले कभी नहीं आया था। वह अवाक् खड़ा उसे देखता रहा। फिर बोला, "हाँ ! मुझे यह पहले ही सोचना चाहिए था कि मैं अपना युद्ध नहीं लड़ रहा। मैं हस्तिनापुर के राजा दुर्योधन का युद्ध लड़ रहा हूँ। मुझे ज्ञात होना चाहिए था कि मेरे स्वामी की मुझसे क्या अपेक्षा है।"

"इन सब उपालंभों का मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।" दुर्योधन बोला, "यह तो समरभूमि है। यहाँ केवल वीरता का मोल है। शपथ लेकर भी युद्ध करने गई सेना इस प्रकार भाग जाए और शत्रु को सुरक्षित लौट आने दे, यह लज्जाजनक प्रसंग है। उसके लिए किसी का सम्मान नहीं होता।"

"तो अब क्या चाहते हैं आप ?"

"एक तो अपने ये तेवर छोड़ो।" दुर्योधन ने उसी प्रकार कटु स्वर में कहा, "इतने

वीर सिद्ध नहीं हुए तुम कि कोई राजा तुम्हारा बहुत अधिक मोल आँके।"

सुशर्मा ने कुछ नहीं कहा। वह चुपचाप सिर झुकाए बैठा रहा।

"अब कल के लिए अपना कर्तव्य सुनो।" दुर्योधन ने कहा, "सैनिक चाहे और अधिक ले जाना। जो मर गए सो मर गए। अर्जुन तुम्हारे सैनिक गिनने नहीं आएगा कि कौन मर गया था और कौन जीवित था। अर्जुन को जितनी दूर ले जा सको, ले जाओ। चाहो तो सरस्वती के भी पार ले जाओ। उस पर इतना बड़ा आक्रमण मत करो कि उसे देवास्त्रों का प्रयोग करना पड़े। छोटे-छोटे आक्रमण करो। स्पष्ट है कि तुम उसका वध नहीं कर सकते, इसलिए उसे उलझाए रहो। मन में स्पष्ट कर लो कि तुम उसकी हत्या करने नहीं, उसे मुख्य रणक्षेत्र से दूर रोके रखने के लिए लगाए गए हो। छोटे आक्रमण करो, किंतु दिन भर आक्रमण करो। निरंतर आक्रमण करो। कोई न कोई टोली हर समय उसके सम्मुख होनी चाहिए। सौ दो सौ सैनिकों के लिए वह देवास्त्रों का प्रयोग नहीं करेगा। वह संध्या तक वहाँ से हिल नहीं पाए।"

"ऐसा ही होगा।"

"एक बात और।" दुर्योधन पुनः बोला, "उसे इतनी दूर ले जाओ कि पांडवों का कोई संदेशवाहक वहाँ तक न पहुँचे और इस बात के लिए सावधान रहो कि यदि कोई संदेशवाहक वहाँ तक पहुँचता है तो उसका वध होना चाहिए।" दुर्योधन ने उसे घूरकर देखा, "यह मत कहना कि यह युद्ध के नियमों के विरुद्ध है। युद्ध जीतना हो तो उसके लिए अपने अनुकूल नियम बनाए जाते हैं। पांडवों का कोई संदेशवाहक अर्जुन तक नहीं पहुँचना चाहिए। उसे मुख्य युद्धक्षेत्र में घटित किसी घटना का समाचार नहीं मिलना चाहिए। यदि कल सूर्यास्त से पूर्व अर्जुन समरभूमि में लौट आया तो फिर तुम्हारे लिए मुझसे बुरा कोई नहीं होगा।"

सुशर्मा ने दुर्योधन की ओर देखा भर। कहा कुछ भी नहीं। उसके मन में एक चित्र उभर रहा था।...

वन में एक मेमना अकेला, स्वच्छंद घूम रहा था। एक व्याध ने उसे देखा और कहा, "तुम वन में इस प्रकार स्वच्छंद घूम रहे हो। अभी कोई वृक अथवा व्याघ्र आ जाएगा तो तुम्हें चीर-फाड़कर खा जाएगा। तुम अपनी सुरक्षा के लिए चिंतित नहीं हो ?"

"मैं क्या कर सकता हूँ। मैं व्याघ्रों और वृकों से लड़ तो नहीं सकता। उनको देखकर भाग ही तो सकता हूँ। वही करता हूँ और वही करूँगा।"

"तुम मेरे साथ आ जाओ।" व्याध ने कहा, "देखो, मेरे पास एक सुरक्षित भवन है। व्याघ्र और वृक उसमें प्रवेश नहीं कर सकते। मेरे पास धनुष-बाण है। मैं एक बाण में व्याघ्र के प्राण ले सकता हूँ। तुम मेरे साथ आ जाओ। मैं तुम्हारा पालन-पोषण करूँगा।"

मेमना उसके साथ चला आया। व्याध ने उसके गले में रस्सी बाँध दी।

"यह क्या कर रहे हो ?" मेमने ने पूछा, "इससे तो मेरी स्वच्छंदता ही समाप्त हो जाएगी। मैं अपनी रक्षा के लिए भाग भी नहीं सकूँगा।"

"उसकी कोई आवश्यकता नहीं है।" व्याध ने कहा, "तुम्हारे गले में बँधी रस्सी को देखकर व्याघ्र स्वयं समझ जाएगा कि तुम मेरे हो। मेरे पालतू हो। मेरी रक्षा में हो।"

मेमना मान गया। उसके मन में यह बात आई ही नहीं कि यदि वह नहीं भी मानेगा तो अब व्याध उसके गले से रस्सी खोल कर उसे स्वतंत्र करने से तो रहा।

व्याध ने व्याघ्र के आखेट की तैयारी की। वह स्वयं अपने धनुष-बाण के साथ ऊपर मचान पर चढ़ गया और मेमने को नीचे वृक्ष के तने के साथ बाँध दिया।

"मुझे भी अपने साथ ऊपर मचान पर बैठा लो।" मेमने ने कहा, "मैं भी व्याघ्र को मरते हुए देखना चाहता हूँ।"

"तुम नीचे बँधे हुए दिखाई नहीं दोगे तो व्याघ्र मेरे निकट आएगा ही क्यों ? और व्याघ्र आएगा नहीं तो मैं मारूँगा किसे ?" व्याध ने हँसकर कहा।

... मेमने ने देखा, व्याध का चेहरा व्याघ्र से भी अधिक भयानक लग रहा था।

न जाने क्यों सुशर्मा को उस मेमने के चेहरे में अपना ही प्रतिरूप दिखाई पड़ रहा था।...

प्रातः अभी युद्ध के लिए सेनाएँ सज्जित ही हो रही थीं कि द्वारपाल ने अर्जुन को सूचना दी कि त्रिगर्तराज सुशर्मा बाहर खड़े उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

अर्जुन को आश्चर्य हुआ : सुशर्मा ? इस समय ? पांडवों के शिविर में, उसके मंडप के बाहर ? क्या वह कोई छद्म आघात करना चाहता है ? क्या वह कोई षड्यंत्र रच रहा है ? यह भी कोई शकुनि है क्या ?... पर नहीं । वैसा कुछ होता तो वह इस प्रकार सूचना क्यों भेजता ? खुले रूप में इस प्रकार पांडवों के शिविर में क्यों आता ?... तो क्या वह दुर्योधन से रूठकर उनके पक्ष में आ गया है ?... पर नहीं ! ऐसा कुछ होता तो वह भी युयुत्सु के ही समान युद्ध से पहले उनकी ओर आ जाता। किंतु सुशर्मा, युयुत्सु नहीं है। बहुत अंतर है दोनों में...

अर्जुन के मन में द्वंद्व था—सुशर्मा को अपने द्वार पर आया अतिथि मान कर, बाहर निकल अर्जुन को उसका स्वागत करना चाहिए ? अथवा उसे अपने मंडप में प्रवेश की अनुमति भर देनी चाहिए और प्रतीक्षा करनी चाहिए ?

"राजकुमार !" द्वारपाल ने कहा, "त्रिगर्तराज ने कहा है कि वे शत्रु के शिविर में तो आ गए हैं; किंतु उसके मंडप में प्रवेश नहीं करेंगे। वे तो केवल आपको युद्ध के लिए ललकारने आए हैं।"

अर्जुन के मन में बहुत सारी बातें स्पष्ट हो गईं। वह बाहर निकल आया।

"क्यों ? कल युद्ध से भाग क्यों आए ?" सुशर्मा ने कहा, "मुझे मरा हुआ समझ लिया था ? मैं बताने आया हूँ कि मैं अभी जीवित हूँ और अपनी शपथ पर स्थिर हूँ। तुममें साहस हो तो हमारे साथ युद्ध करने के लिए आओ।"

अर्जुन की इच्छा हुई कि सुशर्मा के इस नाटक पर उच्च स्वर में हँसे।

"भाग मैं आया था या तुम कहीं विलुप्त हो गए थे ? मुझे तो लगता है कि तुम

किसी अन्य मार्ग से भाग कर अपने शिविर में जा छिपे थे।" अर्जुन बोला, "वीर तो तुम नहीं ही हो; आज तुम्हें बता दूँ कि तुम निर्लज्ज और मिथ्याभाषी भी हो।"

"तुम्हारे शिविर में खड़ा हूँ, इसलिए जो कहना है कह लो।" सुशर्मा बोला, "पर तुम्हें यह भी जानना चाहिए कि मैं विलुप्त नहीं हो गया था। न ही अपने शिविर में जा छिपा था।" सुशर्मा बोला, "मैं शिथिल होकर वहीं वन में पड़ा था। तुम्हें ढूँढ़ना चाहिए था कि मैं कहाँ हूँ। चाहे उसके बाद मेरा वध ही कर देते। पर युद्धक्षेत्र से इस प्रकार भाग जाने का क्या अर्थ ?"

"तुम पांडवों के शिविर में मेरे मंडप के सामने खड़े हो, इसलिए यह सब कह कर भी अभी जीवित हो। हम घर आए व्यक्ति का वध नहीं करते।" अर्जुन बोला, "किंतु आज भी यदि तुम समरभूमि से विलुप्त नहीं हो गए तो तुम्हें जीवित नहीं छोड़ूँगा। तुम शिथिल ही नहीं, मूर्च्छित होकर गिर भी गए तो तुम्हें ढूँढ़ कर तुम्हारा मस्तक काटूँगा, ताकि तुम्हारी यह जिह्वा फिर किसी को इस प्रकार अपमानित न कर सके।"

"तुम पहले युद्धक्षेत्र में तो आओ।" सुशर्मा बोला, "फिर देखते हैं कि कौन किसका मस्तक काटता है।"

उसने अपना अश्व मोड़ा और बोला, "हम समरभूमि के दक्षिण भाग में होंगे। आओगे तो संग्राम के लिए स्थान का निर्णय कर लेंगे। यह मत कहना कि कुरुक्षेत्र छोड़कर अन्यत्र नहीं जाऊँगा, क्योंकि मेरे भाई यहाँ हैं। अपनी कायरता को छिपाने के कई बहाने बनाए जा सकते हैं।"

सुशर्मा जाने के लिए मुड़ ही रहा था कि कृष्ण आ गए।

"यह क्या करने आया था ?"

"संशप्तक युद्ध के लिए बुलाने आया था।" अर्जुन ने बताया।

"आज फिर ?"

"हाँ ! आज फिर।" अर्जुन ने कहा, "पर आज अंतिम दिन है। यदि आज यह भाग गया तो फिर इसकी चुनौती का कोई अर्थ नहीं होगा।"

"पर आज भी क्यों ?" कृष्ण बोले, "तुमने देखा कि कल भी इसने चतुराई की थी। यह केवल तुम्हें धर्मराज से दूर रखने का एक बहाना मात्र है। संभव है, वे आज भी धर्मराज को बंदी करने का प्रयत्न करें। तुम्हें सावधान रहना चाहिए धनंजय !"

"तुम जानते हो केशव ! कि मैं युद्ध के लिए बुलाए जाने पर पीछे नहीं हट सकता। ऐसा संकल्प है मेरा।"

"संकल्प तो ठीक है किंतु हमारा कोई आदर्श हमारी वंचना का कारण नहीं बनना चाहिए।" कृष्ण बोले, "तुम भूलते हो कि इन छोटे-मोटे बहानों से वे तुम्हें इधर-उधर भटकाते रहेंगे और तुम पांडव सेना के किसी काम के नहीं रहोगे।" और यह स्मरण कराने की आवश्यकता तो नहीं है न कि धर्मराज ने तुम्हारे भरोसे पर ही यह युद्ध स्वीकार किया था।"

"आपने बहुत ठीक प्रश्न किया है देवि !" दूत बोला, "जो कुछ उच्च स्वर में कहा जाता है, वह तो बहुत सारे लोग सुन ही लेते हैं; किंतु कुछ बातें आसपास खड़े सैनिकों से ज्ञात होती हैं। युद्ध की स्थिति में दोनों ओर से अनेक गुप्तचर यह पता लगाने का प्रयत्न कर रहे होते हैं कि शत्रुओं में से किसके मुख में क्या है और किसके मन में क्या है। ऐसे में अनेक गोपनीय बातें भी गोपनीय नहीं रह पातीं। और फिर थोड़ा-बहुत अनुमान और कल्पना का भी सहारा होता है देवि। आवश्यक नहीं कि जो कुछ मैं कहूँ, ठीक वे ही शब्द उन्होंने भी कहे हों; किंतु तात्पर्य तो हम समझ ही सकते हैं।"

"ठीक है। आगे बोलो।" द्रौपदी ने कहा।

"कौरवों की सेना आगे बढ़ रही थी।" दूत बोला, "पांडवों के पास यह विकल्प नहीं था कि वे आगे बढ़ें अथवा न बढ़ें। न ही उनके पास यह विकल्प था कि वे किस ओर से आगे बढ़ें। स्थिति तो यह थी कि या तो कौरव सेना से टकराओ अथवा उसके द्वारा लील लिए जाओ। वह तो जैसे विराट ग्राह के समान लहरों पर तैरती हुई आगे बढ़ रही थी। मुँह खोले हुए। सर्वग्रासी। जो कुछ सामने आएगा उसके उदर में समा जाएगा। न तो उसके सम्मुख स्थिर रहा जा सकता था और न उसके उदर में समाया जा सकता था। उन दोनों का ही अर्थ था : मृत्यु ! एक-एक कर पांडव योद्धा गजसेना की मार न सह सकने के कारण लौट आए।''' सात्यकि, चेकितान, धृष्टद्युम्न, कुंतिभोज, द्रुपद, क्षत्रधर्मा, वृहत्क्षेत्र, युधामन्यु, शिखंडी, उत्तमौजा, विराट, धृष्टकेतु और पाँचों द्रौपदेय गए और जैसे व्यूह से टकराकर लौट आए। मध्यम पांडव भीमसेन ने प्रबल आक्रमण किया किंतु कौरवों के व्यूह में एक खरोंच भी नहीं पड़ी।'''

"महाराज युधिष्ठिर बहुत चिंतित थे कि क्या करें ? अभी उनके पक्ष के अनेक योद्धा और थे, किंतु वे जानते थे कि वे भी इसी प्रकार असफल ही लौटेंगे। न तो वे युद्ध का क्षेत्र छोड़ सकते थे और न ही उस बढ़ते हुए लौह यंत्र से टकरा सकते थे। धनंजय किसी अज्ञात स्थान पर संशप्तकों से युद्ध करने चले गए थे। उन तक सूचना भी नहीं पहुँचाई जा सकती थी। और यदि सूचना पहुँच भी जाए तो वे संशप्तक युद्ध छोड़कर नहीं लौटेंगे।''' और आचार्य थे कि निरंतर अपनी सेना को युधिष्ठिर की ओर बढ़ा रहे थे। आज वे धर्मराज को बंदी कर दुर्योधन को सौंप ही देंगे'''"

"जब धनंजय जानते थे कि कल आर्य सत्यजित अपने प्राण दे कर भी धर्मराज की रक्षा नहीं कर पाए; सारी सेना मिलकर भी आचार्य का सामना नहीं कर पाई; तो फिर आज धर्मराज और सेना की रक्षा की समुचित व्यवस्था किए बिना वे संशप्तकों से युद्ध करने कैसे चले गए ? उन्हें किसी ने रोका नहीं ?" सुभद्रा ने तड़पकर पूछा।

"सेना की नीतियों और अतिरथियों की इच्छाओं के विषय में यह दूत कुछ नहीं कह सकता महारानी !"

"दूत ठीक कह रहा है सुभद्रा !" द्रौपदी ने धीरे से कहा, "दूत तो धनंजय से

नहीं पूछ सकता न कि वे क्या कर रहे हैं और क्यों कर रहे हैं।"

"दूत तो ठीक कह रहा है दीदी ! पर मैं भी ठीक कह रही हूँ कि उन्हें अपना यश बहुत प्यारा है। अन्य किसी के प्राणों का भी कोई मूल्य नहीं है उनके लिए।" सुभद्रा का स्वर अब भी आक्रोश से भरा हुआ था, "सेना और युद्धों के विषय में जानने वाला कोई व्यक्ति ऐसा निर्णय कर ही कैसे सकता है ? यह भी कैसी वीरता है, जिसका कोई तर्क नहीं।"

"वीरों का तर्क तो हम नहीं समझ सकतीं।" द्रौपदी ने सुभद्रा को शांत करने के लिए कहा, "जब मध्यम पांडव अपना रथ त्याग कर अकेले ही कौरवों की सेना में उतर गए थे, और धृष्टद्युम्न ने उन्हें मृत ही मान लिया था तो उसके पीछे भी कोई तर्क नहीं था। जो व्यक्ति अपने सामर्थ्य को जानता है, वह कभी-कभी ऐसे निर्णय कर लेता है, जो दूसरों की समझ में नहीं आते। यही मान कर मन को थोड़ा शांत रखो।"

सुभद्रा का स्वर कुछ धीमा तो हुआ किंतु वह मौन नहीं रही। बोली, "उनके साथ तो भैया भी हैं। जाने वे उन्हें क्यों नहीं समझाते।"

"हाँ ! फिर क्या हुआ दूत ?" द्रौपदी ने हँसकर वातावरण में कुछ उल्लास बिखेरने का प्रयत्न किया।

"पांडव सेना में हताशा की लहर दौड़ गई। किसी को कोई समाधान नहीं सूझ रहा था। उस चिंता के क्षण में राजकुमार अभिमन्यु ने धर्मराज को सांत्वना दी, 'आप इस व्यूह से चिंतित हैं महाराज ! मैं इसमें प्रवेश कर सकता हूँ।' "

सुभद्रा चौंक उठी। अनायास ही उसके मुख से निकल गया, "पर अभिमन्यु तो चक्रव्यूह में केवल प्रवेश कर सकता है। उससे निकलने की विधि का तो उसे ज्ञान ही नहीं है।"

"यही कहा राजकुमार ने।" दूत बोला, "उन्होंने बताया कि वे चक्रव्यूह का भेदन कर उसमें प्रवेश तो कर सकते हैं; किंतु वे उससे बाहर निकलने की विधि नहीं जानते। किन्हीं कारणों से पिताजी को उन्हें वह सिखाने का समय ही नहीं मिला था।"

"तो क्या महाराज ने अभिमन्यु को चक्रव्यूह वेधन के लिए भेज दिया ?" सुभद्रा का स्वर चिंतित था।

"राजकुमार ने कहा कि वे चक्रव्यूह में प्रवेश कर सकते हैं। भीतर जाकर वे अकेले ही सारे कौरव योद्धाओं का वध कर देंगे तो उन्हें निकलने से रोकेगा कौन। पर यदि किसी कारण से उन्हें लौटना ही पड़ा तो बाहर निकलने के लिए उन्हें सहायता की आवश्यकता होगी।"

"फिर ?" देविका के प्राण जैसे उसके कंठ में आ गए थे।

"धर्मराज निर्णय नहीं कर पा रहे थे किंतु मध्यम पांडव, राजकुमार की इस बात से बहुत उत्साहित हो चुके थे। उन्होंने प्रसन्न होकर राजकुमार के कंधे पर हाथ मार कर कहा कि वे उन लोगों को भी प्रवेश की विधि सिखा दें। पांडव एक बार व्यूह में

प्रविष्ट हो गए तो जैसा कि राजकुमार ने कहा है, कौरवों का वध करने से उन्हें कौन रोक लेगा।"

"तो क्या अभिमन्यु ने उन्हें वह सिखाया ?" सुभद्रा ने पूछा।

"नहीं महारानी !" दूत बोला, "राजकुमार ने बताया कि उसका सिखाना इस प्रकार संभव नहीं है। उसके लिए समय भी लगेगा और अभ्यास भी करना होगा। इस प्रकार सीखना संभव होता तो उन्होंने अब तक उसमें से निकलने की विधि भी सीख ली होती।"

"तो क्या किया पांडवों ने ?" द्रौपदी ने पूछा।

"धर्मराज ने कहा कि यदि राजकुमार चक्रव्यूह में उन लोगों के लिए द्वार बना देंगे तो वे लोग उनके रथ के अंग के समान ही उस द्वार में प्रवेश कर जाएँगे।" दूत बोला, "मध्यम पांडव ने कहा कि राजकुमार संकेत भर कर दें तो वे उनके साथ-साथ भीतर चले जाएँगे। छाया के समान उनके साथ लगे रहेंगे। जिस मार्ग से राजकुमार भीतर जाएँगे, उसी से मध्यम पांडव भी सेना लेकर उनके पीछे चलेंगे। वे एक बार भीतर घुस जाएँ तो सीधे दुर्योधन के पास पहुँचेंगे। फिर देखेंगे कि कौन-सा व्यूह उन्हें राजा दुर्योधन की जंघा तोड़ने से रोकता है।"

"तो राजकुमार ने चक्रव्यूह में प्रवेश किया ?" बलंधरा ने पहली बार प्रश्न किया।

"हाँ देवि !"

बलंधरा ताली बजाकर हँसी, "मैं जानती थी कि अंततः हम लोग सफल होंगे।"

पर सुभद्रा देख रही थी कि दूत के मुख पर प्रसन्नता का कोई चिह्न नहीं था। उसका मन अपनी आशंकाओं से निरंतर जूझ रहा था।

"राजकुमार अभिमन्यु ने व्यूह में प्रवेश किया और कौरव सेना में विकट विनाश मचाया। उन्होंने गजारोही, अश्वारोही तथा पैदल सेना को मार भगाया। कौरव सेना में भगदड़ मच गई। द्रोण भी चिंतित हो उठे। उन्होंने तत्काल अपने महारथियों को आदेश दिया कि वे कौरव नरेश की रक्षा करें। वे सब राजकुमार अभिमन्यु की ओर बढ़े; किंतु राजकुमार ने उन सबको अपने बाणों की नोक पर रोक दिया…"

"यह कथा कहानी बाद में सुनाना।" सुभद्रा ने तीखे स्वर में दूत को टोका, "पहले बताओ कि अभिमन्यु के पीछे कोई और योद्धा व्यूह के भीतर घुसने में सफल हुआ या नहीं ?"

दूत ने सुभद्रा की ओर देखा। वह इसी क्षण के लिए भयभीत था। अब कहे या न कहे ? अंततः तो सब कुछ बताना ही था। वह आया ही इसी प्रयोजन से था।…

"नहीं महारानी ! पांडवों का अनुमान भ्रमित प्रमाणित हुआ।" दूत ने कहा, "राजकुमार ने चक्रव्यूह पर आक्रमण किया और अपने लिए एक द्वार बनाकर उसमें से प्रवेश कर गए। किंतु जिस समय मध्यम पांडव उसमें से प्रवेश करने का प्रयत्न कर रहे थे, उसी समय वह द्वाररक्षक सिंधुपति जयद्रथ द्वारा बंद कर दिया गया। मध्यम पांडव ही नहीं, महाराज युधिष्ठिर, चतुर्थ और पंचम पांडव राजकुमार नकुल एवं सहदेव भी

कुछ नहीं कर सके। वे व्यूह में प्रवेश करने का प्रयत्न करते रहे और राजकुमार अभिमन्यु उस व्यूह में गहरे से गहरे उतरते गए। वे उसमें धँसते ही चले गए।...''

सुभद्रा ने अपना सिर पकड़ लिया। उसका मन हो रहा था कि वह पूछे कि क्या अभिमन्यु चक्रव्यूह से जीवित बच कर निकल आया ? क्या दूत के कुरुक्षेत्र से चलने तक अभिमन्यु युद्ध कर रहा था ?... पर उसका अपना मन ही इन प्रश्नों से इतना भयभीत था कि उसका साहस ही नहीं हो रहा था कि वह दूत को टोके।

''राजा दुर्योधन की रक्षा के लिए कौरव योद्धाओं ने राजकुमार अभिमन्यु को घेर लिया। उनमें द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, दुःसह, दुःशासन, विविंशति, कृतवर्मा, शल्य, शकुनि, बृहद्‌बल, भूरिश्रवा तथा स्वयं राजा दुर्योधन थे।'' दूत बोला, ''उसी समय अश्मकपुत्र ने अपने रथ पर आकर राजकुमार पर बाण वर्षा आरंभ की। राजकुमार देख रहे थे कि उनके पीछे उनका कोई सहायक चक्रव्यूह में प्रवेश नहीं कर पाया है, इसलिए युद्ध उन्हें स्वयं ही करना है। उन्होंने अश्मकपुत्र को तनिक भी समय नहीं दिया और अपने बाण से उसका मस्तक काट दिया। अश्मकपुत्र को इस प्रकार मरते देख कर्ण से सहन नहीं हुआ और उसने राजकुमार पर आक्रमण कर दिया। राजकुमार ने उसका उचित उत्तर दिया और कर्ण को घायल कर पीछे धकेल दिया। दीर्घलोचन, कुंडलभेदी और सुषेण को भी घायल कर दिया। अश्वत्थामा और कृतवर्मा को गहरी चोट पहुँचाई। राजकुमार को भी अनेक बाण लगे थे किंतु वे तनिक भी शिथिल नहीं हुए और उन्होंने मद्रराज शल्य को इतने बाण मारे कि वे मूर्च्छित होकर रथ की बैठक में गिर पड़े। शल्य के छोटे भाई मद्रराज की सहायता के लिए आए तो राजकुमार ने अपने बाणों से पहले उनके हाथ-पैर काट डाले और फिर उनका मस्तक धड़ से पृथक् कर दिया। अकेले राजकुमार के विरुद्ध लड़ने वाली कौरव सेना की रक्षा के लिए स्वयं प्रधान सेनापति आचार्य द्रोण को आना पड़ा। राजकुमार ने न केवल आचार्य द्रोण को आहत किया वरन् उन्होंने कृपाचार्य, अश्वत्थामा, कृतवर्मा, बृहद्‌बल, कर्ण इत्यादि को भी क्षत-विक्षत कर दिया। द्रोण यह देखकर चकित रह गए और उन्होंने राजकुमार की प्रशंसा करते हुए कहा कि यह चाहे बालक ही हो; किंतु उसमें अपने पिता और मातुल दोनों का सम्मिलित बल और कौशल प्रकट हो रहा है।...''

''आचार्य द्रोण ने मेरे पुत्र की प्रशंसा की ?'' द्रौपदी ने गद्‌गद कंठ से पूछा।

''हाँ महारानी ! उन्होंने ऐसी प्रशंसा की कि राजा दुर्योधन उसे सहन नहीं कर पाए। वे युद्ध में ही बिफर गए और बोले, 'हमारे प्रधान सेनापति अपने प्रिय शिष्य के पुत्र को मारना नहीं चाहते, नहीं तो चक्रव्यूह में अकेला घुस आया यह छोकरा अभी तक इस प्रकार खुला घूम कर हमारे योद्धाओं को पीड़ित नहीं कर रहा होता। ये अर्जुनपुत्र की रक्षा कर रहे हैं और वह इनसे रक्षित होकर हमारा काल बना हुआ है।' ''

''यही होना था।'' द्रौपदी ने कहा, ''दुर्योधन में इतनी उदारता होती कि वह अपने शत्रुओं के गुणों को भी स्वीकृति दे सकता तो इस युद्ध का अवसर ही न आता।''

पुत्र की प्रशंसा सुनकर भी सुभद्रा के चेहरे पर मुस्कान की एक रेखा तक नहीं आई थी। वह जैसे दोनों हाथों से अपने हृदय को थाम कर बैठी थी।

"फिर क्या हुआ दूत ?" उसने पूछा।

"दुर्योधन की बात सुनकर दुःशासन आगे बढ़ आया महारानी ! उसने कहा कि वह अभी राजकुमार अभिमन्यु का वध कर देगा। उनकी मृत्यु के शोक से तृतीय पांडव स्वयं ही मर जाएँगे अथवा आत्मघात कर लेंगे। उनके प्राण अपने प्रिय पुत्र में ही बसते हैं। जब तृतीय पांडव की ही मृत्यु हो जाएगी तो सारे पांडव स्वयं ही आत्मदाह कर लेंगे। वे वीरवर सव्यसाची के बिना जीवित नहीं रह सकेंगे।''' दुःशासन की बात सुनकर दुर्योधन बहुत प्रसन्न हुआ; किंतु उससे राजकुमार अभिमन्यु और भी क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने दुःशासन को छब्बीस बाण मारे। उन दोनों का द्वैरथ युद्ध आरंभ हो गया। दोनों योद्धा अपने रथों द्वारा दाएँ-बाएँ विचित्र मंडलाकार गति से विचरते हुए युद्ध करने लगे। योद्धाओं का उत्साह बढ़ाने के लिए वहाँ ढोल, मृदंग, दुंदुभि, भेरी, झांझ इत्यादि का भयंकर संगीतमय शब्द हो रहा था। उसी में दोनों ओर के योद्धाओं के सिंहनाद और शंखनाद भी सम्मिलित हो जाते थे।

"तभी राजकुमार अभिमन्यु ने कहा, 'अरे मूर्ख ! द्यूत क्रीड़ा में विजय पाने के उन्माद में अपने शब्दों से तूने धर्मराज को कुपित किया और वीरवर भीमसेन के प्रति अनर्गल और अपमानजनक बातें कहीं। मेरे उग्र धनुर्धर पितरों के राज्य का अपहरण किया। इन सभी बुराइयों के फलस्वरूप उन महात्मा पांडवों के क्रोध से आज तेरा यह दुर्दिन आया है। कुरुकुल कलंक ! आज मैं अपनी रोषमयी माता कृष्णा और पिता भीमसेन का अभीष्ट पूर्ण कर इस युद्ध के ऋण से उऋण हो जाऊँगा।' राजकुमार की बात सुन कर अपने अहंकार में उन्मत्त दुःशासन ने अपने रथ के दंडों की ओट से निकल राजकुमार को चुनौती दी। उस क्षण राजकुमार ने उसे पच्चीस बाण मारे। उनकी पीड़ा से व्यथित होकर दुःशासन रथ की बैठक में बैठ गया। उसे मूर्च्छा आ गई थी। सारथि ने देखा कि द्वैरथ युद्ध क्या, दुःशासन तो युद्ध करने की ही स्थिति में नहीं था। वह उसे तत्काल युद्धक्षेत्र से दूर ले गया।"

"और किसी ने कुछ नहीं किया।" द्रौपदी ने प्रसन्नता से कहा, "पर आज मेरे वीर पुत्र ने मेरे अपमान का प्रतिशोध ले लिया। आज भी मैं उस दुष्ट दुःशासन के रक्त से अपने केश नहीं धो पाई हूँ। पर वह भी होगा। मैं निश्चिंत हूँ। तभी कहते हैं कि पुत्र समर्थ हो जाए तो माता की शक्ति सौगुना बढ़ जाती है।"

सुभद्रा ने भी क्षण भर को मुस्कराकर गर्व से दमकते हुए द्रौपदी के चेहरे को देखा और फिर गंभीर होकर पूछा, "तब भी पांडवों ने कुछ नहीं किया ?"

"महारानी ! चारों पांडवों तथा पाँचों द्रौपदेयों ने हर्षनाद किया और पांचालों तथा कैकेयों की सहायता से द्रोण के व्यूह का भेदन करने के लिए उस पर टूट पड़े। व्यूहद्वार पर तो जयद्रथ था और वह पांडवों को किसी भी प्रकार आगे बढ़ने नहीं दे रहा था;

किंतु उस पर भी दुर्योधन भयभीत स्वर में कर्ण को फटकारता हुआ बोला, 'दुःशासन सूर्य के समान शत्रुओं को संतप्त करता हुआ, युद्ध में उनका भयंकर विनाश कर रहा था, उसी अवस्था में वह अभिमन्यु के चंगुल में फँस गया।''' उधर पांडव अभिमन्यु की सहायता के लिए प्रचंड बलशाली सिंहों के समान हमारे व्यूह को तोड़ने के लिए धावा कर चुके हैं। वे किसी भी समय व्यूह तोड़कर भीतर आ सकते हैं। और तुम क्या कर रहे हो ? व्यर्थ समय नष्ट कर रहे हो। तुम अभिमन्यु को रोक नहीं सकते ?' ''

"यह दुर्योधन अपने ही मित्रों से कैसे बात करता है।" देविका ने कहा, "न द्रोण का सम्मान करता है, न कर्ण का।"

"उसे भय नहीं है कि वह उनका इस प्रकार अपमान करेगा तो वे उसे छोड़कर जा भी सकते हैं।" बलंधरा बोली।

"वह जानता है कि वे लोग उसे छोड़कर जा नहीं सकते। उन्होंने अपने जीवन में कोई वैकल्पिक द्वार खुला नहीं रखा है।" सुभद्रा ने कहा।

"नहीं बात यह नहीं है।" करेणुमती बोली, "मुझे लगता है कि वे लोग इस बात से भी डरते होंगे कि वे लोग उसका पक्ष छोड़ेंगे तो वह उनका वध कर देगा।"

"दुर्योधन वध कर देगा द्रोण का ?" बलंधरा हँसी, "द्रोण उसकी सारी सेना का वध कर सकते हैं।"

"नहीं ! मेरा विचार है कि करेणु ठीक कहती है।" द्रौपदी ने कहा, "अपना पक्ष त्याग कर जाने वाले को दुर्योधन ऐसे ही तो छोड़ नहीं देगा। वह द्रोण को सम्मुख युद्ध में पराजित नहीं कर सकता तो क्या। जब वे सोए होंगे तो उनके मंडप को आग तो लगा सकता है। उन्हें भोजन में विष तो दे सकता है।"

"हाँ तो दूत ! फिर क्या हुआ ?" सुभद्रा ने पूछा।

"महारानी ! दुर्योधन की फटकार कर्ण को वैसे ही लगी जैसे अश्व को कशा लगता है या फिर गज को अंकुश लगता है। वह तड़पकर आगे बढ़ा और उसने राजकुमार पर अनेक बाण बरसाए। राजकुमार तब तक आचार्य द्रोण पर आक्रमण करने का मन बना चुके थे। वे आचार्य के सम्मुख पहुँचने को बहुत उतावले हो चुके थे। उन्होंने सामने से आकर बाण चलाते हुए कर्ण को घायल किया और आगे बढ़ गए। उनका मार्ग कोई रोक नहीं सका। पर कर्ण ने भी उनका पीछा नहीं छोड़ा। उसने पहले से अनेक बाण खाए हुए राजकुमार अभिमन्यु को अपने बाणों से बींध डाला। अपनी ओर से उसने कोई कोर कसर नहीं छोड़ी । जितनी पीड़ा वह दे सकता था, उसने दी। राजकुमार उसकी ओर उपेक्षा न कर सके। उन्होंने अपने भल्लों द्वारा शत्रुओं के धनुष काट दिए। कर्ण का मुख मोड़ दिया। उसके अश्व घायल हो गए थे। उसका सारथि भी क्षतविक्षत हो गया था और स्वयं कर्ण के शरीर पर भी अनेक घाव लगे थे। कर्ण की दशा इतनी दीन हो गई कि उसका छोटा भाई उसे बचाने के लिए दौड़ा आया।''''

"यह कर्ण का छोटा भाई क्या होता है दूत ?" द्रौपदी ने कहा, "तुम उसका नाम

नहीं बता सकते ? क्या वह शोण था ? ऐसे तो बहुत भ्रम हो सकता है, कर्ण के अनेक छोटे भाई हैं।"

"आप ठीक कहती हैं महारानी !" दूत बोला, "संभव है कि वह शोण ही रहा हो। युद्धकाल में सबका ठीक-ठीक परिचय नहीं भी मिलता। एक नया योद्धा आता है और युद्ध आरंभ करते ही दिवंगत हो जाता है। ऐसे में किसी से पूछ भी लिया जाए कि वह कौन था तो अधिकांशतः उत्तर मिलता है कि कोई नया व्यक्ति था। कभी-कभी कोई बता देता है कि वह कर्ण का भाई था अथवा शल्य का भाई था या···। संभव है बाद में उनका ठीक नाम पता मिल भी जाए, किंतु इस समय तो मैं इतना ही बता सकता हूँ देवि ! कि कर्ण की रक्षा के लिए आने वाला योद्धा कर्ण का भाई था।"

"फिर ?" देविका ने पूछा।

"पांडव सेनाओं को लग रहा था कि राजकुमार अभिमन्यु कौरवों में घिर गए हैं। यद्यपि वे उन पर भारी पड़ रहे हैं और उनके सारे महारथियों के लिए आतंक बने हुए हैं, फिर भी उनका शरीर बहुत आहत हो चुका था। उनकी रक्षा के लिए सहायता पहुँचनी ही चाहिए।···"

"वही तो।" सुभद्रा ने कहा।

दूत ने सुभद्रा की ओर देखा और अपनी कथा आगे बढ़ा ले गया, "व्यूह के बाहर पांडवों का भयंकर कोलाहल था किंतु वे लोग अब तक व्यूह का भेदन नहीं कर पाए थे कि राजकुमार की कोई सहायता कर पाते। इधर राजकुमार अभिमन्यु ने कर्ण की सहायता को आए उनके भाई का मस्तक काट कर भूमि पर लुढ़का दिया। कर्ण पीड़ा से चीत्कार कर उठा। पर राजकुमार वहीं तक रुकने वाले नहीं थे। उन्होंने कर्ण पर न केवल अपना दबाव बढ़ा दिया, वरन् उसे ही अपना मुख्य लक्ष्य बना लिया। परिणाम यह हुआ कि अपने शरीर से बहते रक्त को देखता हुआ कर्ण युद्धभूमि से बाहर हो गया। तब राजकुमार ने अन्य योद्धाओं की ओर ध्यान दिया।

"महाराज युधिष्ठिर, मध्यम पांडव भीमसेन, महावीर सात्यकि, प्रधान सेनापति धृष्टद्युम्न, अप्रतिहत शिखंडी, महाराज द्रुपद और विराट, पाँचों द्रौपदेय और कैकेय राजकुमार मिल कर चक्रव्यूह में अपने प्रवेश के लिए द्वार बनाने का विकट प्रयत्न कर रहे थे; किंतु भयंकर और महान् धनुष धारण करने वाले सिंधुराज जयद्रथ ने अपने दिव्यास्त्रों का प्रयोग कर उन सबकी प्रगति रोक दी थी। यह अविश्वसनीय था किंतु सत्य था। धृष्टद्युम्न ने जयद्रथ का धनुष काट दिया, पर जयद्रथ ने तत्काल दूसरा धनुष उठा लिया। भीमसेन ने तीन-तीन बाण मार कर जयद्रथ का धनुष, ध्वज और छत्र काट दिए, किंतु जयद्रथ ने तीसरा धनुष उठा ही नहीं लिया, उन्होंने महावीर भीमसेन का रथ भी नष्ट कर दिया। मध्यम पांडव अपनी रक्षा के लिए सात्यकि के रथ में चले गए। सिंधुराज का यह पराक्रम अनपेक्षित और अविश्वसनीय था। राजकुमार अभिमन्यु ने द्वाररक्षक गजों को मार कर, पांडवों के व्यूह में प्रवेश के लिए जो मार्ग बनाया था, जयद्रथ

ने उसे भी बंद कर दिया था। मत्स्य, पांचाल, कैकेय और पांडव बार-बार प्रयत्न कर रहे थे; किंतु जयद्रथ ने उन्हें हर बार पीछे धकेल दिया।"

"जीजी के अपहरणकर्ता को मुक्त कर देने का यह दंड मिला पांडवों को।" सुभद्रा जैसे अपने आपसे बोली, "उन्हें उसे वन में मार देना चाहिए था। अधिक उदारता भी कल्याणकारी नहीं होती।"

"कौरवों ने अपने रथसमूह से राजकुमार को सब ओर से घेर लिया था। जाने उनमें वृषसेन कैसे सबसे आगे हो गया था।...."

"वृषसेन कौन ?" देविका ने पूछा।

"कर्णपुत्र वृषसेन महारानी !" दूत ने कहा, "वह आगे था। राजकुमार ने उसके सारथि को घायल किया और उसका धनुष काट दिया। वृषसेन ने दूसरा धनुष उठा लिया और राजकुमार के अश्वों को बींधने लगा। तब तक वसातीय आगे बढ़ आया और ललकारकर बोला, 'तू इस युद्ध से जीवित नहीं बच पाएगा।' उसने राजकुमार को साठ बाण मारे। किंतु राजकुमार उससे तनिक भी चिंतित नहीं हुए। उन्होंने लौह कवच धारण करने वाले उस वसातीय को, दूर तक के लक्ष्य को मार गिराने वाले बाण द्वारा वक्ष में चोट पहुँचाई। कवच ने बाण की नोक को तो उसके वक्ष तक नहीं पहुँचने दिया किंतु उस बाण के आघात से कवच से दबकर उसका वक्ष पिचक गया और वह मरकर रथ से नीचे गिर पड़ा।"

"यह वसातीय कौन था ?" बलंधरा ने पूछा, "मैंने इसका नाम कभी नहीं सुना।"

"वह एक कौरव योद्धा था। इससे अधिक उसके विषय में कोई सूचना नहीं मिलती।" दूत बोला, "इसी प्रकार का एक और योद्धा सत्यश्रवा भी है। राजकुमार ने उसका भी वध कर दिया। कौरवों में घिरे होने पर भी राजकुमार उनके लिए काल बने हुए थे। अपनी सेना को विचलित देखकर शल्यपुत्र रुक्मरथ आवेश में आगे आया। उसने अपने सैनिकों को सांत्वना दी, 'तुम्हारे भयभीत होने का कोई कारण नहीं है। मेरे जीवित रहते यह छोकरा अभिमन्यु तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। मैं अभी इसे जीवित पकड़ लेता हूँ।' उसने अपना रथ राजकुमार की ओर दौड़ा दिया। उसने राजकुमार के वक्ष में तीन बाण मारे और सिंहनाद किया। उसके पश्चात् उसने राजकुमार की भुजाओं पर बाण मारे। तब तक राजकुमार ने उसका धनुष काट दिया। उसके पश्चात् भल्ल बाणों से उसकी दोनों भुजाएँ काट दीं। वे उसे जीवित भी छोड़ सकते थे। वह युद्ध के सर्वथा अयोग्य हो चुका था। बिना भुजाओं के उसका जीवन भी उसके लिए बोझ हो जाता। राजकुमार ने उसे जीवन की पीड़ा से मुक्त करने के लिए, सुंदर नेत्रों और भौंहों से सुशोभित उसका मस्तक भी काट डाला।

"चारों ओर त्राहि-त्राहि मच गई। रुक्मरथ के मित्र राजकुमारों ने आकर वीर अभिमन्यु को घेर लिया। दुर्योधन प्रसन्न हो उठा।...."

"दुर्योधन के प्रसन्न होने का तो कोई कारण नहीं दीखता मुझे।" करेणुमती बोली।

"उसके प्रसन्न होने का प्रकट कारण तो यह था महारानी ! कि उन राजकुमारों के आक्रमण के पश्चात् सारथि, अश्वों और ध्वजा के सहित राजकुमार अभिमन्यु बाणों में छिप गए थे। वे कहीं भी दिखाई नहीं दे रहे थे। दुर्योधन ने मान लिया होगा कि राजकुमार उस बाण जाल में सदा के लिए बँध गए हैं और उससे बाहर नहीं निकल पाएँगे।" दूत बोला, "किंतु एक अनुमान यह भी है कि यद्यपि शल्य उसकी ओर से युद्ध कर रहे थे किंतु दुर्योधन उनकी ओर से पूर्णतः आश्वस्त नहीं था। वे पांडवों के मातुल हैं और उन्हीं की सहायता के लिए वे अपने घर से चले भी थे। यह तो बीच मार्ग में से दुर्योधन उनका अपहरण कर लाया था। किसी भी क्षण शल्य के मन में पुनः अपने भागिनेयों का प्रेम जाग सकता था और वे दुर्योधन का त्याग कर सकते थे। अब जब उनके पुत्र का वध राजकुमार अभिमन्यु के हाथों हो गया था, वे पांडवों के पक्षधर नहीं हो सकते थे। वे अपने पुत्र का वध करने वाली सेना का अंग कैसे हो सकते थे।..."

"हाँ ! यह कारण एक बड़ा कारण हो सकता है।" देविका ने कहा।

"पर यह भी तो हो सकता है कि शल्य के मन में आए कि यदि वे पांडव पक्ष से लड़ रहे होते तो उनके पुत्र की मृत्यु ही न होती ?" बलंधरा बोली, "इस दृष्टि से उनके पुत्र का हत्यारा दुर्योधन ही ठहरता है।"

"हो तो यह भी सकता है।" द्रौपदी ने कहा।

दूत रानियों के वैचारिक ऊहापोह में नहीं फँसा। उसने अपनी बात आगे बढ़ाई, "पर दुर्योधन की प्रसन्नता बहुत देर तक टिकी नहीं महारानी ! राजकुमार ने अपनी रथमाया प्रकट की और गांधर्वास्त्र का प्रयोग कर उस सारे बाण जाल को काट कर परे फेंक दिया। वे अस्त्र-संचालन का कौशल दिखाते हुए अलातचक्र की भाँति घूम रहे थे। वस्तुतः वे एक नहीं सहस्रों रूपों में दिखाई पड़ रहे थे। अभी यहाँ थे, अगले क्षण कहीं और थे। ऐसा लगता था कि वे युद्धक्षेत्र में सब स्थानों पर हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं था, जहाँ वे नहीं थे।... उन्होंने अपने घेरने वाले रुक्मरथ के मित्र राजकुमारों के शरीरों के टुकड़े-टुकड़े कर दिए थे।

"अब दुर्योधन के भयभीत होने की बारी थी। वह जो समझ रहा था कि आचार्य द्रोण ने एक ऐसे व्यूह की रचना कर दी है, जिसमें राजकुमार अभिमन्यु घिर गए हैं और पांडव सेना से उन्हें कोई सहायता नहीं मिल सकती—वह सब उसका भ्रम था। ऐसा लगता है कि राजकुमार अभिमन्यु के संदर्भ में दुर्योधन को अब किसी पर भी विश्वास नहीं रह गया था। उसे सब ओर अपने विरुद्ध षड्यंत्र दिखाई दिए होंगे। आचार्य द्रोण और कर्ण से तो वह पहले ही झगड़ चुका था। अब और किससे कहता। परिणामस्वरूप वह स्वयं ही अपनी सेना के साथ राजकुमार पर चढ़ दौड़ा। पर विचित्र बात यह हुई कि राजकुमार से उसका युद्ध जैसा युद्ध हुआ ही नहीं। एक आधी-अधूरी क्षणिक-सी झड़प हुई और दुर्योधन अनेक बाणों से घायल होकर युद्ध छोड़कर भाग गया।

"अपने राजा को भागते देख कौरव सेना में भी भगदड़ मच गई। इस अपमानजनक पराजय से बचने के लिए द्रोण, अश्वत्थामा, बृहद्बल, कृपाचार्य, कर्ण, कृतवर्मा, शकुनि—सब मिलकर राजकुमार अभिमन्यु पर टूट पड़े; पर राजकुमार का तेज उस समय ऐसा था कि ये सारे महारथी और अतिरथी मिलकर भी उनके सम्मुख टिक नहीं पा रहे थे। ऐसे में चाहे अपने अभिमान के कारण अथवा अपने अज्ञान के कारण दुर्योधन-पुत्र लक्ष्मण, राजकुमार के सम्मुख डट गया। अपने पुत्र को इस प्रकार संकटपूर्ण कार्य करते देखकर, उसकी रक्षा के विचार से दुर्योधन लौट आया। अपने राजा की रक्षा के लिए अन्य महारथी भी लौटे। राजकुमार अभिमन्यु उनसे भयभीत नहीं थे और न ही वे इस अवसर को छोड़ना चाहते थे। उन्होंने लक्ष्मण पर आक्रमण कर दिया। एक ही भल्ल से उन्होंने लक्ष्मण का सुंदर, सुघड़ नासिका, मनोहर भौंह, सुंदर केशांत और रुचिर कुंडल से युक्त मस्तक धड़ से पृथक् कर दिया।…"

"दुर्योधन के पुत्र को मार दिया !" बलंधरा का मुख जैसे आश्चर्य में खुल गया था।

"चारों ओर हाहाकार मच गया।" दूत बोला, "जिसे बचाने के लिए अपने प्राणों को पुनः संकट में डाल कर दुर्योधन लौट आया था, वह लक्ष्मण उसकी आँखों के सम्मुख मारा गया था। वह पूरी शक्ति से चीत्कार कर उठा, 'इस अभिमन्यु को मार डालो।' और तत्काल राजकुमार को घेर लिया गया। इस बार उनको घेरने वालों में आचार्य द्रोण भी थे। उनके साथ कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, बृहद्बल और कृतवर्मा थे। राजकुमार उनसे जूझते रहे। सहसा वे पलटे और उन्होंने चक्रव्यूह के मुख्य प्रवेश-द्वार की रक्षा करने वाली सिंधुराज की गजसेना पर आक्रमण कर दिया।…"

"क्या वे छह कम थे कि वह सातवें को आमंत्रित करने चल दिया।" सुभद्रा को अभिमन्यु का यह कृत्य अच्छा नहीं लगा था। यही तो बचपना होता है।

"इसका वास्तविक कारण तो राजकुमार स्वयं ही जानते हैं," दूत बोला, "किंतु हमारी सेना में यह माना जा रहा है कि या तो वे व्यूह के बाहर खड़े और भीतर आने का प्रयत्न करते पांडव योद्धाओं की, प्रवेश के लिए मार्ग बनाने में सहायता करना चाहते थे, या फिर उन्हें लगा होगा कि वे और अधिक देर तक व्यूह में कौरवों से घिरे न रहें। बाहर से सहायता न आ सके तो वे बाहर निकल जाएँ। यह भी संभव है कि उन्होंने सोचा हो कि पांडव सेना बाहर से प्रयत्न करे और वे भीतर से उनकी सहायता करें तो संभव है कि चक्रव्यूह ध्वस्त हो जाए और कौरव सेना को दबोचा जा सके।"

"फिर क्या हुआ दूत ?" सुभद्रा ने पूछा।

"प्रवेश-द्वार की रक्षा के लिए जयद्रथ के सहायक कलिंग सैनिक, निषादगण और क्राथपुत्र थे।" दूत ने रुककर द्रौपदी की ओर देखा, "क्राथ कौरवपक्ष के प्रसिद्ध राजा हैं। उनका पुत्र अपने नाम से नहीं क्राथपुत्र के नाम से ही प्रसिद्ध है। उसने स्वयं और उसकी गजसेना ने लौह कवच धारण कर रखे थे। उस गजसेना ने ही राजकुमार का

मार्ग रोक लिया। उसी समय जब राजकुमार अभी अपनी नीति निश्चित कर रहे होंगे, क्राथ ने स्वयं भी उन पर आक्रमण कर दिया। राजकुमार अभिमन्यु को संकट में देखकर द्रोण भी लौट आए थे। वे और उनके महारथी पुनः राजकुमार को घेर लेना चाहते थे। पर इसी बीच राजकुमार ने क्राथपुत्र को उसके गज से मार गिराया। राजकुमार जयद्रथ की ओर बढ़ ही रहे थे कि कौरव सेना ने अपने छह महारथियों के नेतृत्व में राजकुमार को घेर लिया। वे लोग नहीं चाहते थे कि राजकुमार सिंधुपति तक पहुँचें। कहीं वे जयद्रथ को भी विचलित कर दें अथवा उसका वध कर दें तो फिर पांडवों को भीतर घुसने से कोई नहीं रोक सकता था।

"राजकुमार उनकी नीति समझ गए थे। उन्होंने जयद्रथ की ओर बढ़ने से पहले वृन्दारक को मार गिराया।"

"धृतराष्ट्रपुत्र वृन्दारक ?" द्रौपदी ने पूछा।

"नहीं महारानी ! धृतराष्ट्रपुत्र वृन्दारक अभी जीवित है। यह एक अन्य कौरव योद्धा था, जिसे राजकुमार अभिमन्यु ने मार गिराया।" दूत बोला, "उन्होंने अश्वत्थामा को भी घायल कर दिया। अपने पुत्र पर संकट देखकर द्रोण जैसे पगला गए। उन्होंने राजकुमार पर एक सौ बाण चला दिए। अश्वत्थामा को लगा कि उनकी रक्षा करते हुए, द्रोण स्वयं संकट में फँसते जा रहे हैं। अश्वत्थामा ने अपने पिता की रक्षा के लिए राजकुमार पर साठ बाण झोंक दिए। उसी समय बृहद्बल को भी अपनी वीरता प्रमाणित करने की सूझी। राजकुमार ने उसका मस्तक ही काट गिराया। उन्होंने कर्ण के कान में एक बाण मारा। कर्ण किसी प्रकार के असमंजस में उनके सम्मुख खड़ा हो गया। राजकुमार ने उसके छह मंत्रियों को उनके अश्वों और सारथियों सहित मार डाला। उसी समय उनके हाथों मगधराज का पुत्र तरुण अश्वकेतु भी मारा गया। मार्तिकावतक नरेश भोज भी अपने प्राणों से हाथ धो बैठा। तभी अपने दाँत पीसता हुआ दुःशासनपुत्र अपना रथ वहाँ ले आया। आते ही उसने चार बाण मार कर सारथि और अश्वों सहित राजकुमार को घायल कर दिया। राजकुमार अभिमन्यु ने हँसकर कहा, 'तेरा पिता तो कायर के समान भाग गया। प्रसन्नता की बात है कि तू युद्ध करना जानता है।' राजकुमार ने पलटकर उसे कई बाण मारे किंतु अश्वत्थामा ने वे बीच में ही काट दिए। राजकुमार ने अश्वत्थामा की ध्वजा काट दी और उसकी सहायता के लिए आने वाले शल्य को नौ बाण मारे। उसकी ध्वजा काट कर उसके दोनों पार्श्वरक्षकों को मार डाला। शल्य भाग कर दूसरे रथ पर चले गए। अब राजकुमार ने अपना धनुष शकुनि की ओर मोड़ दिया। घायल शकुनि ने दुर्योधन से कहा, 'राजन् ! वह हममें से एक-एक कर युद्ध कर हम सबको मार डाले, उससे पहले ही हम सबको मिलकर अभिमन्यु को मार डालना चाहिए।' कर्ण ने भी आचार्य द्रोण से कहा, 'आचार्य ! इससे पहले कि यह हमें मार डाले, हमें इसे मारने की विधि बताइए। इसका वध कैसे होगा ?' आचार्य कौरव सेना पर आए संकट को समझ रहे थे और वे कर्ण की पीड़ा को भी देख रहे थे किंतु वे

राजकुमार अभिमन्यु की वीरता पर मुग्ध थे। बोले, 'पिता और पुत्र में कोई अंतर नहीं है। इसका युद्धकौशल और इसकी वीरता किसी भी योद्धा का मन प्रसन्न कर देगी।' कर्ण क्रुद्ध होकर बोला, 'आप उस पर मुग्ध ही होते रहेंगे या कुछ करेंगे भी। मैं उसके बाणों से आहत और पीड़ित होकर केवल इसलिए समरभूमि में खड़ा हूँ क्योंकि समरभूमि से पलायन क्षत्रियकर्म नहीं है।' आचार्य मुस्कराए, 'अन्यथा तुम भाग जाते ?' "

"और वह करता ही क्या है।" द्रौपदी ने कहा, "प्रत्येक युद्ध में सबसे पहले भागने वाला योद्धा कर्ण ही तो होता है।"

"हाँ महारानी ! यही कहा आचार्य ने भी।" दूत ने कहा, "पर उससे कर्ण लज्जित नहीं हुआ। और भी क्रुद्ध होकर बोला, 'आपका क्या बिगड़ा है इस युद्ध में । मेरे भाई मारे गए हैं। मेरे पुत्रों ने वीरगति पाई है। मेरा भी अपना कोई न मरता तो मैं अभिमन्यु की वीरता पर मुग्ध होता रहता।' आचार्य ने इस झगड़े को आगे नहीं बढ़ाया। बोले, 'अभिमन्यु का कवच अभेद्य है। उसको कोई भेद नहीं सकता। हाँ ! मनोयोगपूर्वक चलाए गए बाणों से इसके धनुष और प्रत्यंचा को काटा जा सकता है। इसे परास्त करना चाहते हो तो सारे महारथी एकत्रित हो जाओ। पहले उसके रथ को नष्ट करो ताकि वह एक ही स्थान पर कीलित हो जाए और फिर उसका धनुष काट दो, ताकि वह दूर से युद्ध न कर पाए। जब वह हम सब के बीच अकेला घिर जाएगा और निकट से सम्मुख युद्ध करने को बाध्य होगा तो उसके पास केवल एक शस्त्र होगा और हम सब विविध शस्त्रों से युक्त होंगे। उस समय हम उसका वध कर सकते हैं।' "

"दुष्ट कहीं के।" सुभद्रा ने कहा, "अकेले बालक को घेर कर उसे बाध्य कर, उसके हाथ-पैर बाँध कर उससे युद्ध करने को क्षत्रिय कर्म कहते हैं।"

दूत कुछ सावधान हो गया। उसे ज्ञात था कि अब सबसे कठिन क्षण आ रहा है। बोला, "ठीक कहती हैं महारानी ! उन्होंने युद्ध नहीं किया आखेट किया। पांडवों को व्यूह से बाहर रखा और स्वयं सब के सब राजकुमार के निकट घिर आए। सबसे पहले कर्ण ने राजकुमार का धनुष काट दिया। कृतवर्मा ने उनके रथ के अश्व मार डाले। कृपाचार्य ने उनके पार्श्वरक्षक मार डाले। निःशस्त्र राजकुमार अकेले उस अचल रथ में खड़े थे और छह-छह महारथी अपनी पूर्ण दक्षता से उन पर बाणों की बौछार कर रहे थे। उनका शरीर पहले ही बहुत बिंध चुका था। सारे अंगों से रक्त प्रवाहित हो रहा था। समझ गए कि यदि वे खड़े रहे तो वहीं ढेर हो जाएँगे। राजकुमार ने ढाल और खड्ग उठा लिए और उछलकर जैसे आकाश मार्ग से अपने शत्रुओं पर इंद्र के वज्र के समान गिरे। आचार्य द्रोण ने क्षुरप्र से उनके खड्ग को उसकी मूठ से काट डाला और कर्ण ने उनकी ढाल को टुकड़े-टुकड़े कर दिया। राजकुमार ने चक्र उठा लिया। उस रूप में उनको देखकर बहुत लोगों को चक्रधारी श्रीकृष्ण का स्मरण हो आया। दुर्योधन के तो जैसे प्राण ही निकल गए। जाने यह लड़का चक्र से क्या कर डालेगा। छह के छह महारथी जैसे भयपरिचालित होकर अपना धैर्य खो बैठे। उन सबने मिलकर चक्र

के टुकड़े-टुकड़े कर दिए। और तब राजकुमार ने गदा उठा ली। सबसे निकट अश्वत्थामा था। उन्होंने उस पर ही प्रहार किया। वह अपने रथ की बैठक से तीन पग पीछे हट गया। पर राजकुमार ने उसके अश्वों और उसके पार्श्वरक्षकों के प्राण ले ही लिए। राजकुमार के शरीर में इतने बाण धँसे थे कि वे साही के समान प्रतीत हो रहे थे या फिर जैसे पितामह भीष्म ही शरशैया पर लेटने के स्थान पर सीधे खड़े हो गए थे। वे आगे बढ़े और शकुनि के भाई कालिकेय को मार डाला। उसके साथ के सत्तर गांधार मार दिए। अपना मार्ग रोकने वाले दस वसातीय रथियों को मार डाला। दुःशासनपुत्र के अश्वों और रथ को चूर-चूर कर डाला। दुःशासनपुत्र अपनी गदा लेकर राजकुमार की ओर दौड़ा। दोनों में गदायुद्ध होने लगा। सारे महारथी उन दोनों के चारों ओर वृत्त बनाकर शस्त्रों सहित सन्नद्ध खड़े थे। वे दुःशासनपुत्र को बचा कर बाण चला रहे थे। दुःशासनपुत्र तनिक भी क्लांत नहीं था। उसकी स्फूर्ति स्पष्ट थी। फिर उस पर और कोई आघात भी नहीं कर रहा था। सहसा ही दोनों योद्धाओं ने अपनी-अपनी गदा के अग्रभाग से विरोधी पर प्रहार किया। दोनों को ही गहरी चोट लगी और वे दोनों ही भूमि पर गिर पड़े।…"

"अभिमन्यु को उठने ही नहीं दिया होगा उन्होंने ।" सुभद्रा के स्वर में क्रोध भी था और पीड़ा भी।

"हाँ महारानी !" दूत बोला, "दुःशासनपुत्र पहले उठ खड़ा हुआ और उसने उठते हुए लड़खड़ाते राजकुमार अभिमन्यु के मस्तक पर गदा दे मारी। राजकुमार अचेत होकर पृथ्वी पर गिर गए।… कौरव सेना ने हर्ष का चीत्कार किया।…" दूत की वाणी जैसे उसके मुख में ही जम गई।

सुभद्रा अचेत होकर द्रौपदी की गोद में ही गिर गई थी।

10

सूर्यास्त हुआ और आज का युद्ध समाप्त हो गया।

अर्जुन का रथ शिविर की ओर लौट रहा था। कृष्ण सदा के समान प्रसन्न थे और उनका ध्यान अर्जुन से भी अधिक अपने अश्वों की ओर लगा हुआ था।

अर्जुन स्वयं को बहुत थका हुआ अनुभव कर रहा था। उसका शरीर उतना क्लांत नहीं था, जितना कि मन अवसाद में डूबा हुआ था। आज का दिन तो व्यर्थ ही गया। संशप्तक सेना प्रायः नष्ट हो गई थी; किंतु सुशर्मा आज भी न तो मारा गया और न बंदी ही हुआ। आज वह अर्जुन के सम्मुख प्रायः नहीं आया था। थोड़ी देर के लिए सामने आता भी था तो फिर कहीं विलुप्त हो जाता था। छोटी-छोटी टुकड़ियों के साथ लौकिक शस्त्रों से साधारण युद्ध करते ही सारा दिन बीत गया। दिन भर उसे अपने

भाइयों और सेना का कोई समाचार नहीं मिला। आज ऐसा क्या हो गया कि पूरे दिन में एक भी संदेशवाहक उसके पास नहीं पहुँचा।''' कृष्ण ने ठीक ही कहा था कि यह मात्र षड्यंत्र था, युद्ध नहीं। पर उस समय अर्जुन जाने क्यों उसे स्वीकार नहीं कर पाया था।

मार्ग में कहीं कोई लौटती हुई वाहिनी नहीं मिली। कहीं कोई कोलाहल नहीं था। लगता था कि आज युद्ध कुछ जल्दी ही सिमट गया था। किसी प्रकार की कोई गतिविधि अब शेष नहीं थी। पांडवों के शिविर के मुख्य द्वार पर सैनिकों ने अर्जुन का अभिवादन तो किया; किंतु अन्य दिनों के समान प्रसन्न मुद्रा में आज के युद्ध का कोई समाचार नहीं दिया।''' वहाँ प्रतिदिन के समान निश्चिंतता की चहल-पहल भी नहीं थी।

अपने मंडप के निकट उसे कुछ अधिक ही निर्जनता लगी।

"क्या तुम्हें भी लग रहा है कृष्ण ! कि आज हमारे शिविर में रणवाद्य नहीं बज रहे ?"

"हाँ ! कुछ ऐसा ही है।" कृष्ण बोले, "कहीं कोई दुर्घटना तो नहीं घट गई।"

"आज अभिमन्यु ने भी मंडप से निकलकर हमारा स्वागत नहीं किया।"

कृष्ण ने कोई उत्तर नहीं दिया।

रथ के रुकते ही मंडप से युधिष्ठिर बाहर निकल आए। वे बिना कुछ बोले, अर्जुन के सम्मुख खड़े हो गए। उनके हाथ जुड़े हुए थे और उनकी आँखों में अश्रु थे। चेहरे पर लज्जा का भाव था और कंठ जैसे अवरुद्ध हो रहा था। उनकी इतनी कातर अवस्था अर्जुन ने तब भी नहीं देखी थी, जब वे द्यूत में हारे थे और भरी सभा में कौरवों ने पांचाली का अपमान किया था।

"मैं तुम्हारा अपराधी हूँ धनंजय !"

अर्जुन कुछ नहीं बोला, वह धर्मराज की अश्रुपूरित आँखों को देखता रहा।

"तुम छोटे भाई होकर भी मेरी रक्षा करते हो, और मैं बड़ा होकर, परिवार का मुखिया होकर भी अभिमन्यु की रक्षा नहीं कर पाया। मैं तुम्हारा अपराधी हूँ।"

"क्या हुआ अभिमन्यु को ?" अर्जुन का आशंकित मन निमिष भर में सहस्रों दुष्कल्पनाएँ कर गया।

"तुम्हें सूचना नहीं मिली ?"

"नहीं तो।"

"धावक तुम तक नहीं पहुँचा ?"

"नहीं !"

धर्मराज ने संक्षेप में सारी घटना सुना दी।

इसी दिन से डरता था अर्जुन। उसने युद्ध के आरंभ में ही कहा था कृष्ण से कि जिनके लिए उन्हें राज्य, सुख और संपत्ति चाहिए, वे ही इस युद्ध में मारे जाएँगे तो क्या करेंगे वे राज्य का, धन का, संपत्ति का ? कृष्ण ने उसे उसका मोह कहा था।

क्लैव्य कहा था। ''' कहाँ सीमा की रेखा खींचे वह पुत्र के प्रति अपने प्रेम और इस पापी मोह में ? पुत्र की मृत्यु का समाचार पाकर क्या उसे शोक नहीं होना चाहिए ? क्या प्रतिशोध के लिए उसका रक्त नहीं उफनना चाहिए ?''' पर कृष्ण क्षत्रिय कर्म का तो निषेध नहीं करते।''' अधर्मी शत्रु का वध करने से तो वे उसे नहीं रोकते।''' वे तो कह ही रहे थे कि अधर्मियों को दंडित करना उसका कर्तव्य है। वही था, जो युद्ध से भाग रहा था। उसे ही धार्तराष्ट्र अपने लग रहे थे। गुरु के प्रति वहुत भक्ति थी उसके मन में'''

"युद्ध में क्षत्रिय योद्धा वीरगति पाएँगे ही। जो बचेंगे वे अपने पक्ष की रक्षा और शत्रु के नाश के लिए लड़ेंगे। कोई किसी के लिए अपराधी कैसे है ?" अर्जुन की आँखों में अश्रुओं का वेग बढ़ा और उसका गला रुँध गया; किंतु वह तत्काल सँभला, "मैं संशप्तकों की चुनौती को सहन नहीं कर सका और उनके साथ लड़ने चला गया–आप की रक्षा का भार दूसरों पर छोड़ कर। नहीं समझ पाया कि यह सव षड्यंत्र मात्र था, आपको बंदी करने के लिए, हमारी सेना की अप्रतिकार्य क्षति के लिए। यदि मेरे पीछे आपको कुछ हो जाता, तो मैं किसका अपराधी होता। आप यह ही समझिए कि अभिमन्यु ने मेरा दायित्व निभाया। उसने मेरे स्थान पर आपकी रक्षा की'''।"

"तुम कहते हो उसने तुम्हारे स्थान पर मेरी रक्षा की," धर्मराज का शोक किसी भी प्रकार कम नहीं हो रहा था, "और मैं कह रहा हूँ कि उसने मेरे स्थान पर अपने प्राण दिए।''' मैं कैसा पुत्रभक्षी पिता हूँ।''' अपने बच्चे के लिए प्राण दे नहीं सकता था, तो अपनी रक्षा के लिए उसके प्राण लेने का मुझे क्या अधिकार था।"

"भगवान न करे कि इस परिवार में कभी कोई दुर्योधन पैदा हो, जो अपने पितामह से कहे कि हमारी रक्षा के लिए युद्ध कीजिए और अपने प्राण दीजिए। अभिमन्यु वीर क्षत्रिय था, इसलिए उसने अपने पिता और अपने राजा के लिए अपने प्राण दिए।" अर्जुन समझ नहीं पा रहा था कि वह किसे सांत्वना दे रहा था–धर्मराज को, अथवा स्वयं अपने आपको ?

"मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा'''" युधिष्ठिर उसी प्रकार विह्वल थे, "मैं पांचाली को, सुभद्रा को, उत्तरा को''' क्या मुँह दिखाऊँगा।"

"उन्हें सूचना भिजवा दी गई क्या ?" अर्जुन ने पूछा।

"सूचना तो तुम्हें भी भेजी थी किंतु वह धावक ही जाने कहाँ खो गया। संभव है कि किसी योद्धा का बाण उसे भी आ लगा हो।" युधिष्ठिर ने कहा, "सुभद्रा और उत्तरा तो उपप्लव्य से यहाँ आ भी गई हैं।"

कृष्ण ने आगे बढ़ युधिष्ठिर की बाँह थाम ली, "अभिमन्यु आपका भी पुत्र था धर्मराज ! वह सुभद्रा और उत्तरा की ही तो थाती नहीं था। उसने वीरगति पाई है, असाधारण वीरता दिखाई है। उस वीर क्षत्रिय ने अपने मातृ और पितृकुल–दोनों का ही मुख उज्ज्वल किया है। उससे सुभद्रा और उत्तरा के चेहरे गर्व से गौरवान्वित होंगे'''

आप उनका साक्षात्कार करने में संकोच न करें। उन्हें धैर्य बँधाएँ। छत्र बनकर बड़ों के समान उनका रक्षण और पालन करें, उनकी दया या घृणा की बात न सोचें।"

"और अभिमन्यु की क्षतिपूर्ति..."

"क्षतिपूर्ति तो नहीं हो सकती भैया !" अर्जुन के स्वर में ओज लौट आया था, "पर कौरवों को इसका मूल्य चुकाना होगा। उन्हें मैं बताऊँगा कि किसी निःशस्त्र वीर बालक को घेर कर, छह-छह महारथियों द्वारा उसका वध, कितना महँगा पड़ता है।" उसने रुककर भीम की ओर देखा, "पर एक बात मेरी समझ में नहीं आ रही।"

"क्या ?" भीम ने पूछा।

"आप लोग चक्रव्यूह का वेधन नहीं कर सकते थे, किंतु अभिमन्यु के प्रवेश के पश्चात् उसके पीछे तो जा ही सकते थे। उसका प्रयत्न क्यों नहीं किया गया ? उसे शत्रुओं के सैन्य सिंधु में अकेला और असहाय क्यों छोड़ा गया ?"

"हमारी तो रणनीति यही थी कि वह व्यूह वेधन करेगा। हमारे लिए एक द्वार बना देगा और हम उसके पीछे-पीछे उसी मार्ग पर चलते जाएँगे। यह किसने सोचा था कि वह व्यूह वेध कर उनकी सेना में प्रवेश कर जाएगा और हम उसके पीछे जा ही नहीं पाएँगे।"

"पर क्यों ?" अर्जुन बोला, "क्यों नहीं किया प्रवेश आपने ?"

"हम प्रवेश कर नहीं पाए।" युधिष्ठिर बोले, "अभिमन्यु ने व्यूह में द्वार बनाया; किंतु हममें से जिसने भी उसमें प्रवेश का प्रयत्न किया वह रोक दिया गया।"

"कौन था द्वार पर, जो अपने बल से भीमकर्मा वृकोदर को आगे बढ़ने से रोक सकता है ?" अर्जुन ने पूछा।

"द्वार पर जयद्रथ था।" भीम का सिर जैसे लज्जा से झुक गया, "जिस जयद्रथ को मैं किसी भी समय अपनी गदा के एक वार से धराशायी कर सकता था, कल उसके सामने मैं एकदम असहाय हो गया। मैं बार-बार जैसे किसी प्राचीर से टकराकर लौट आता था। उसने धर्मराज को अभिमन्यु के पीछे नहीं जाने दिया। वीर धृष्टद्युम्न और शिखंडी उसे अपने मार्ग से नहीं हटा पाए। युयुधान सात्यकि उससे पराभूत होकर रह गया।"

"जयद्रथ ने किया यह सब ? जयद्रथ ऐसा योद्धा तो नहीं है।" अर्जुन जैसे विश्वास ही नहीं कर पा रहा था, "इसका अर्थ तो यह हुआ कि अकेला जयद्रथ हमारी सारी सेना पर भारी पड़ा। ऐसा तो पितामह और आचार्य भी कभी नहीं कर पाए।"

"जयद्रथ की इस सफलता से दुर्योधन के योद्धा भी चकित हैं।" सहदेव ने कहा, "उनकी सेना में एक कथा सुनाई जा रही है कि वन में पांचाली के अपहरण के प्रयत्न के पश्चात् आप दोनों से अपमानित होकर जयद्रथ ने महादेव शिव से वरदान प्राप्त करने के लिए घोर तपस्या की थी। महादेव ने प्रसन्न होकर उसे एक वरदान माँगने को कहा था। उसने कहा कि महादेव उसे ऐसा सामर्थ्य दें कि वह पाँचों पांडवों को

युद्ध में पराजित कर सके। इस पर महादेव ने कहा कि यह संभव नहीं है; किंतु उसकी तपस्या निष्फल भी नहीं जाएगी। अर्जुन को तो वह कभी पराजित नहीं कर पाएगा, किंतु उस वर के प्रभाव से केवल एक दिन के लिए वह शेष चार पांडवों की गति रोक पाने में समर्थ होगा। उसी वर के प्रभाव से आज उसने अभिमन्यु के पीछे जाने वाले प्रत्येक योद्धा को रोकने में सफलता पाई थी।''

अर्जुन ने कुछ नहीं कहा। वह मन-ही-मन कुछ सोचता रहा।

''यह कथा मैंने भी सुनी है किंतु मेरा मन इस पर विश्वास नहीं करता।'' नकुल बोला, ''न तो जयद्रथ तपस्या कर सकता है और न महादेव उसे ऐसा वर दे सकते हैं। फिर उसने वर केवल चार पांडवों के विरुद्ध पाया और आज उसने धृष्टद्युम्न, शिखंडी और सात्यकि को भी आगे बढ़ने से रोक दिया।''

''तो फिर यह चमत्कार कैसे हो गया ?'' भीम जैसे अपने आपसे पूछ रहा था।

''वैसे तो कुछ साधक तामसी तपस्या से तामसी वर भी प्राप्त कर लेते हैं किंतु जयद्रथ के विषय में यह सत्य प्रतीत नहीं होता।'' कृष्ण धीरे से बोले।

''तो फिर यह सब क्या है ?'' अर्जुन के स्वर में जैसे चीत्कार था।

कृष्ण उसकी विह्वलता को चिंतित दृष्टि से देखते रहे और फिर धीरे से बोले, ''यदि किसी द्वार पर कोई दृढ़ सबल ताला लगा हो और तुम्हारे पास उसकी कुंजिका न हो, तो तुम उसे खोलने के लिए क्या करोगे ?''

''जब कुंजिका न हो तो उसको तोड़ा ही जा सकता है।'' अर्जुन ने कहा।

''तोड़ने और खोलने के यंत्र तुम्हारे पास नहीं हैं। तो ?'' कृष्ण ने पूछा।

''तो वह ताला नहीं खुलेगा।'' अर्जुन ने कहा।

''तो ऐसे में यदि उस कपाट के पीछे कोई बालक भी बैठा होगा तो वह तुम्हें उसमें प्रवेश करने नहीं देगा।'' कृष्ण ने नकुल की ओर देखा, ''मेरी बात समझ रहे हो न ? रोक तो तुम्हें ताला रहा है, वह बालक नहीं, किंतु रोकने का श्रेय उस बालक को दिया जा सकता है।''

''मैं समझ गया।'' अर्जुन ने कहा, ''चक्रव्यूह को वेधने की युक्ति केवल अभिमन्यु को ज्ञात थी, इसका अर्थ है कि उसके पास कुंजिका थी। अतः वह ताला खोल कर भीतर प्रवेश कर गया और शेष जो भी योद्धा वहाँ गया, उसे चक्रव्यूह में प्रवेश करने की विधि ज्ञात नहीं थी, इसलिए कोई प्रवेश नहीं कर पाया और उस वीरता का श्रेय जयद्रथ को दिया गया। यह बात अद्‌भुत थी और जयद्रथ की क्षमता से बाहर थी, इसलिए उसके साथ वर की कथा जुड़ गई।''

''ठीक बात है।'' कृष्ण बोले, ''होता केवल यह है कि जब किसी असमर्थ व्यक्ति को तनिक-सा भी सामर्थ्य मिल जाता है, तो उसका अहंकार आकाश को छूने लगता है। जयद्रथ को चारों पांडवों को रोकने का यश मिल गया तो उसका अहंकार तो स्फीत होना ही था। उसी अहंकार में उसने पांडवों के साथ दुर्व्यवहार किया। स्वयं को असाधारण

वीर माना और अभिमन्यु के वध का श्रेय स्वयं लिया।"

"जो भी हो।" अर्जुन ने कहा, "उसने अभिमन्यु के वध का यश लिया है तो उसका दंड भी वही पाएगा। मैं उसे इस यश का किरीट पहनने नहीं दूँगा।"

"इसका श्रेय कर्ण भी लेना चाहता था किंतु जयद्रथ ने उससे कहा कि यदि वह पांडवों को द्वार पर ही न रोक लेता तो कर्ण अभिमन्यु को कभी घेर न पाता।" सहदेव ने कहा।

"जयद्रथ तो कल संध्या तक ही धरती पर पड़ा होगा; और कर्ण भी अपने पुत्रशोक से वैसे ही रोएगा, जैसे आज मैं रो रहा हूँ।" अर्जुन की आँखों से अश्रु फूट वहे।

कृष्ण ने अर्जुन के कंधे पर हाथ रखा, "पार्थ !"

"सब लोग सुनें।" अर्जुन जैसे आपे से बाहर हो गया था, "मैं अपने गांडीव की सौगंध खाकर प्रतिज्ञा कर रहा हूँ कि कल सूर्यास्त तक यदि मैंने जयद्रथ का वध न किया तो चितारोहण कर अपने प्राण दे दूँगा।"

अर्जुन असाध्य आवेश में था। उसने गांडीव को अपने दाएँ और बाएँ दोनों हाथों से टंकारा। देवदत्त को हाथ में लेकर जोर से फूँका, जैसे वह अपनी प्रतिज्ञा की घोषणा सारे युद्धक्षेत्र में कर रहा हो।

कृष्ण की आँखों में चिंता का धुँधलका उतरा, "यह तुमने क्या किया सव्यसाची ! किसी से परामर्श तो कर लिया होता।"

"क्यों ? क्या मैंने अपने सामर्थ्य से अधिक की प्रतिज्ञा कर ली है ?" अर्जुन ने कृष्ण की ओर देखा।

"नहीं ! ऐसा तो मैं नहीं कहूँगा किंतु यह जयद्रथ से तुम्हारा द्वंद्वयुद्ध नहीं है।"

"यह वही जयद्रथ है कृष्ण ! जिसे मैंने वनवास काल में सेना सहित योजनों आगे दौड़ते हुए भी अपने बाणों से बींध दिया था।"

"ठीक कहते हो, किंतु न तो उस समय तुम्हारे सम्मुख समय की सीमा थी और न दुर्योधन वहाँ उपस्थित था।" कृष्ण की चिंता कम नहीं हुई थी, "आज की तुम्हारी प्रतिज्ञा का समाचार शीघ्रातिशीघ्र दुर्योधन तक पहुँच जाएगा। वे लोग जयद्रथ को कल प्रातः से सूर्यास्त तक कहीं छुपा लेंगे अथवा सारी सेना और सारे महारथी मिलकर उसकी रक्षा करेंगे। केवल एक दिन की ही तो बात है। अकेला सुशर्मा, केवल अपने दम पर दो दिनों से तुमसे बचता फिर रहा है, तो क्या दुर्योधन अपने सारे सामर्थ्य के होते हुए, एक दिन के लिए जयद्रथ को छिपा नहीं सकता ? यदि वे उसमें सफल हो जाते हैं तो तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा में बँध कर संध्या समय चितारोहण करना पड़ेगा। दुर्योधन के लिए, तुमसे छुटकारा पाने का इससे सरल उपाय और क्या हो सकता है। तुमने स्वयं ही एक प्रकार से उसकी विजय के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया है।"

"मुझे इसका भय नहीं है।" अर्जुन बोला, "छिपा लें उसे, कहाँ छिपाएँगे—आकाश में, पाताल में, अंतरिक्ष में। मैं उसे कहीं से भी खोज लाऊँगा। अभिमन्यु का वध कर

वह इस प्रकार जीवित नहीं रह सकता। और यदि मैं उसे दंडित नहीं कर सकता तो फिर मेरे इस जीवन का लाभ ही क्या है। ऐसे में मुझे मर ही जाना चाहिए।"

कृष्ण कुछ नहीं बोले। वे प्रसन्न थे कि अभिमन्यु की मृत्यु पर अर्जुन का रजोगुण जागा था, तमोगुण नहीं। यदि कहीं उसकी मानसिकता युद्धारंभ काल के समान होती तो इस समय वह इस प्रकार की प्रतिज्ञा नहीं करता।... पर यह प्रतिज्ञा पूरी कैसे होगी ?

कृष्ण ने अर्जुन के मंडप में प्रवेश किया। भीतर सूचना भिजवा दी कि वे आए हैं।

भीतरी भाग से सुभद्रा निकलकर आई। कृष्ण ने उसकी ओर देखा : वह बहुत उदास थी। उदास तो उसको होना ही था। उसकी आँखों से झर-झर अश्रु बह रहे थे, किंतु वह सँभल-सँभलकर अपने पगों पर चल रही थी। यदि कहीं शोक के कारण उसके पाँव डगमगा रहे होते और उसे चलने के लिए भी दासियों के सहारे की आवश्यकता पड़ती—तो भी कृष्ण को आश्चर्य नहीं होता।

कृष्ण ने अपने हाथ आगे बढ़ाए। सुभद्रा उनकी कंधे से आ लगी, "यह क्या हो गया भैया। मुझे तो जीवन के आरंभ में ही मृत्यु आ मिली।"

कृष्ण उसकी पीठ थपथपाते रहे। सुभद्रा को लगा कि उसके अश्रु तो नहीं रुक रहे हैं किंतु उसके मन की जलन जैसे कुछ शांत हो रही है। शरीर की तपन कुछ कम हो गई थी। मन का झंझावात जैसे कुछ संतुलित हो रहा था।... यह भाई का स्नेह था अथवा कृष्ण का वह तांत्रिक रूप, जिसकी प्रायः लोग चर्चा करते हैं... या फिर यह कृष्ण का देवत्व था ? उसकी समझ में कुछ नहीं आया किंतु इतना तो निश्चित था कि उसकी शारीरिक और मानसिक पीड़ा जैसे वाष्प बनकर विलुप्त हो गई थी।

कृष्ण अलग हुए। उन्होंने सुभद्रा को उसके कंधों से पकड़कर पृथक् किया और उसकी ओर देखा।

"यह क्या हुआ भैया ?" सुभद्रा ने पुनः कहा, "आप और धनंजय मिलकर भी उसकी रक्षा नहीं कर सके।"

"हाँ ! हम दोनों भी उसकी रक्षा नहीं कर सके।" कृष्ण ने सुभद्रा को एक आसन पर बैठाया, "हम दोनों ही यहाँ नहीं थे। उसका लाभ उठाया इन कौरवों ने। अकेले निहत्थे बालक को चक्रव्यूह में बंदी कर छह-छह महारथियों ने घेर कर उसका वध कर दिया। पर तुम चिंता मत करो बहन ! धनंजय ने कल संध्या तक उसका प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा की है। उसकी प्रतिज्ञा पूर्ण होगी। कल सूर्यास्त तक जयद्रथ का प्राणांत हो जाएगा। जिन्होंने अभिमन्यु का इस प्रकार वध किया है, वे सब इसका फल पाएँगे। उन्हें भी अपने अथवा अपनों के रक्त से इस अन्याय का मूल्य चुकाना होगा।"

सुभद्रा की आँखें उनकी ओर उठीं, "जयद्रथ तो मारा जाएगा, किंतु अभिमन्यु... वह तो लौट कर नहीं आएगा।"

"मैं समझता हूँ तुम्हारी पीड़ा को।" कृष्ण बोले, "जानता हूँ कि अभिमन्यु बहुत

जल्दी चला गया। पर सोचो, वह इतनी कम अवस्था में ही वह सब कुछ कर गया, जो कोई वीर क्षत्रिय अपने दीर्घ जीवन में करने की इच्छा रखता है। वीरता और पराक्रम का यशोस्तंभ स्थापित कर गया अभिमन्यु।"

"वह तो ठीक है भैया ! मेरा दुःख यह नहीं है कि उसको जो करना चाहिए था, वह कर नहीं गया, या कर नहीं सका।" सुभद्रा बोली, "किंतु उसने जीवन का कौन-सा सुख देखा ? क्या सुख भोगा ? अभी उसने जीवन में देखा ही क्या था ?"

कृष्ण के चेहरे से चिंता और पीड़ा के भाव तिरोहित हो गए। वे सहज आनन्द की स्थिति में बोले, "सुभद्रे ! पुण्यात्मा संसार में सुख भोगने के लिए नहीं, कर्म करने आता है। जिसने कर्तव्य किया, वह मुक्त हुआ और जिसने सुख भोगा, वह कर्म बंधन का बंदी हुआ। जीवन और मृत्यु के चक्र का बंदी। बंदी तो बार-बार इस मर्त्यलोक में आएगा। स्मरण है तुम्हें उपनिषद् का वह श्लोक, हमने साथ-साथ पढ़ा था।"

"कौन-सा श्लोक भैया ?"

"सदा साथ रहने वाले दो सखा सुपर्ण एक ही वृक्ष पर आश्रय किए हुए हैं। उनमें से एक उसके स्वादिष्ट फलों को आसक्तिपूर्वक भोगता है और दूसरा उस भोग से उदासीन, तटस्थ भाव से देखता रहता है।" कृष्ण बोले, "सुख तो शरीर का भोग ही है न ! तुम समझती हो कि अभिमन्यु अपने दिव्य लोकों और दिव्य शरीर को छोड़कर इस पृथ्वी पर इस मर्त्य शरीर के भोग भोगने आया था ? जो कर्म करने आते हैं, वे कम समय में ही अपना कर्म कर अपने लोक को लौट जाते हैं। उसने अपने दिव्य कर्मों से इस पृथ्वी पर यश का दिव्य शरीर पाया है, और दिव्य लोकों में अपने लिए अक्षय स्थान बनाया है। अभिमन्यु की मृत्यु पर शोक करना उचित नहीं है।"

"परंतु मेरा तो एक ही पुत्र था न भैया !"

"पगली है तू।" कृष्ण हल्के से मुस्कराए, "तेरा और मेरा क्या होता है ? कौन किसका है ? तेरा होता तो तू रोक न लेती उसे। जिसे वह पीछे छोड़ गया, वह उसका नहीं था। उसका होता तो साथ न ले जाता। अपनों को ही खोज रही है तो पांडवों के अन्य पुत्र तेरे नहीं हैं क्या ? द्वारका में तूने बस अभिमन्यु को ही पाला था तेरह वर्ष ? द्रौपदी के पुत्र तेरे पास नहीं थे ? वे तेरे पुत्र नहीं हैं ? इस काया के संबंध को ही संबंध मानती है तू ? जिसे तूने जन्म दिया, वही तेरा है ? पर यह काया ही तेरी नहीं है सुभद्रा ! हम यह काया नहीं हैं।"

"जानती हूँ भैया !"

"पर मानती नहीं है ?"

"मानती भी हूँ, पर आपके समान योगी नहीं हो पाती।" उसने कृष्ण की ओर देखा, "कहाँ से लाऊँ इतना संयम ? कहाँ से लाऊँ इतना धैर्य।"

"यह संयम और धैर्य तो तू अपने आपसे ही पाएगी। हम स्वयं ही अपना उद्धार करते हैं बावली ! और स्वयं ही अपना पतन।" कृष्ण बोले, "हम स्वयं ही अपने मित्र

हैं और स्वयं ही अपने शत्रु। स्वयं को सँभाल, क्योंकि तुझे उत्तरा को भी सँभालना है। उत्तरा की भावी संतान भी तेरी ही संतान है। तेरे पास सांसारिक दायित्व के नाम पर अब केवल उत्तरा है। उसकी देखभाल कर। उसका दुख कम नहीं है तुझसे और उसकी अवस्था और अनुभव तुझसे बहुत कम हैं। तेरे पास संसार को देखने की जो दृष्टि है, संभव है उसके पास वह भी न हो।"

"नहीं ! वह पांडवों के अज्ञातवास की अवधि में धनंजय की शिक्षा में रही है। बहुत अज्ञानी भी नहीं है।"

"अच्छा है कि वह रानी सुदेष्णा के पग-चिह्नों पर नहीं चल रही।" कृष्ण बोले, "जाओ उसे सँभालो।"

सुभद्रा अपने स्थान पर बैठी रही।

"क्या बात है ?" कृष्ण की वाणी स्नेह से ओतप्रोत थी, "कुछ और पूछना है ?"

"हाँ भैया !"

"पूछ।"

"धनंजय तो देख नहीं पाए कि संशप्तकों के युद्ध के पीछे क्या है। पर क्या आपका विवेक भी नहीं समझ पाया कि उन्हें इस युद्ध की स्थिति में अपने परिवार और अपनी सेना को शत्रुओं की कृपा पर छोड़कर नहीं जाना चाहिए था ?" सुभद्रा ने सीधे कृष्ण की ओर देखा, "क्या आप भी उन्हें समझाने में समर्थ नहीं थे कि उनका इस प्रकार जाना विनाशकारी हो सकता है ?"

कृष्ण तत्काल कुछ नहीं बोले। वे सुभद्रा की ओर देखते रहे।

"क्यों भैया ?" सुभद्रा ने पुनः पूछा।

"मनुष्य का अहंकार बहुत बलवान होता है। उसके उदय से बुद्धि कार्य नहीं करती। विवेक नष्ट हो जाता है।"

"जानती हूँ।"

"सुशर्मा की चुनौती से अर्जुन का अहंकार जाग उठा था। उसके अहंकार से लड़ना मेरे लिए भी कठिन था।" कृष्ण बोले, "फिर भी जब मैंने उसे समझाने का प्रयत्न किया तो पाया कि अहंकार तो सब में था और पर्याप्त जाग्रत अवस्था में था। मैंने कहा कि अर्जुन वहाँ नहीं होगा तो धर्मराज की रक्षा नहीं हो पाएगी। यह बात न भीम को अच्छी लगी, न धृष्टद्युम्न को। मैं इस बात पर अधिक बल देता तो इससे भी बड़ा अनर्थ हो सकता था, जितना अर्जुन की अनुपस्थिति के कारण हुआ है।"

"अन्य लोग भी चाहते थे कि वे मुख्य युद्धक्षेत्र से अनुपस्थित हो जाएँ ?"

"नहीं ! ऐसा तो नहीं है।" कृष्ण बोले, "किंतु यह कोई नहीं सुनना चाहता था कि अर्जुन की अनुपस्थिति में वे लोग आचार्य द्रोण को रोकने में असमर्थ रहेंगे।"

"ओह !" सुभद्रा मौन हो गई किंतु उठकर गई नहीं।

कृष्ण उसे देखते रहे : शायद वह कुछ कहे। पर सुभद्रा थी कि न कुछ कह रही

थी और न ही सिर उठाकर उनकी ओर देख रही थी।

"क्या बात है सुभद्रा ? किसी संशय से पीड़ित हो ?"

इस बार सुभद्रा ने सिर उठाकर सीधे कृष्ण की आँखों में देखा, "आप कहते हैं भैया ! कि हमें अपने कर्मों का फल मिलता है।"

"हाँ ! मिलता है।" कृष्ण मुस्कराए, "कर्म फल के विषय में फिर कोई शंका जागी है तुम्हारे मन में ?"

"पुण्य कर्मो से सुख मिलता है और दुष्कर्मों से व्यक्ति दुख पाता है।" सुभद्रा बोली, "इसका कहीं यह अर्थ भी है कि जो व्यक्ति सुखी दिखाई पड़ता है, वह अपने सत्कर्मों का सुख भोग रहा है और जो मनुष्य दुखी है, वह अपने पापों का दंड पा रहा है।"

"यह तो बहुत स्थूल व्याख्या है कर्म सिद्धांत की।"

"क्यों ? इसमें स्थूल क्या है और सूक्ष्म क्या है ?" सुभद्रा के स्वर में कुछ आवेश झलका, "बात को सरल ढंग से कहा गया है।"

"कहा तो सरल ढंग से ही गया है सुभद्रे ! किंतु कई बार सरलीकरण के अतिरेक से अर्थ का अनर्थ हो जाता है।" कृष्ण कुछ मुस्कराए, "पर तुम पहले कह लो, क्या कहना चाहती हो।"

"मेरे मन में बार-बार आ रहा है कि मेरे किन पापों के कारण मेरा किशोर पुत्र अकाल मृत्यु को प्राप्त हुआ ? उसे पूर्णायु क्यों नहीं मिली ?" सुभद्रा बोली, "अभिमन्यु पूर्वजन्मों के अपने किन पापों के कारण इस अल्पायु में संसार छोड़कर चला गया ?"

"तुम कहना चाहती हो कि अभिमन्यु की इस वीरगति का अर्थ है कि यह उसे, तुम्हें तथा धनंजय—तीनों को ही तुम लोगों के पापों का दंड मिला है।"

"हाँ भैया !"

"कौन है ऐसा व्यक्ति, जो पुत्र की इस प्रकार की मृत्यु के क्षण में माँ को सांत्वना देने के लिए कह सकता है कि वह, उसका पुत्र और उसका पति—तीनों ही पापी हैं; और अपने पापों का दंड पा रहे हैं ?" कृष्ण कुछ असहज हो आए, "यह उचित नहीं है।"

"पर भैया सांत्वना देने के नाम पर असत्य भी तो नहीं बोलना चाहिए।"

"नहीं ! असत्य बोलने की आवश्यकता नहीं है।" कृष्ण बोले, "दुखों का अंत तो सत्य को जान कर, उसे स्वीकार कर ही होता है।"

"तो फिर···" सुभद्रा ने उनकी ओर देखा, "मैं इसे अपने कर्मों का फल क्यों न मानूँ ?"

कृष्ण अपने स्थान से उठकर उसके निकट आए। उन्होंने अपना हाथ उसके सिर पर रखा और स्नेह से थपथपाया, "तेरा मन इस समय स्थिर नहीं है। हिल्लोलित स्थिति है तेरे मन की। फिर भी इस बात को समझ मेरी बहना ! तेरा तो एक पुत्र गया है

और वह भी युद्ध में वीर क्षत्रियों के समान लड़ते हुए। हमारे माता-पिता के छह पुत्रों को उनके जन्म के तत्काल पश्चात् ही मार दिया गया था। सातवें हैं, बलराम भैया और आठवाँ हूँ मैं।''

''जानती हूँ।''

''तो क्या हमारे माता-पिता इतने पापी हैं कि उनको छह-छह नवजात पुत्रों की मृत्यु का कष्ट सहना पड़ा। उन्होंने जो कष्ट पाया, वह कंस के अत्याचार के कारण नहीं, अपने पाप के कारण था ?'' कृष्ण ने उसकी ओर देखा।

सुभद्रा तत्काल कुछ नहीं बोली। मौन बैठी सोचती रही। अंत में सिर उठाकर बोली, ''यह मानने की इच्छा नहीं होती, क्योंकि उनकी वृत्तियाँ अत्यंत सात्विक हैं। फिर उन्होंने आप जैसे पुत्र को जन्म दिया है। आपकी माँ पापात्मा नहीं हो सकती।''' पर फिर कर्म के फलों की व्याख्या कैसे होगी ?''

कृष्ण कुछ क्षणों तक सोचते रहे। फिर धीरे से बोले, ''हम अपनी बात आदि से ही आरंभ करें सुभद्रे ! ब्रह्म अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति के माध्यम से यह सृष्टि रचता है और आगे का सारा प्रपंच उस प्रकृति के तीनों गुणों का ही है। इस दृष्टि से कर्ता या तो ब्रह्म है अथवा उसकी प्रकृति। विद्या माया भी उसी की है और अविद्या माया भी। परा शक्ति भी उसकी है और अपरा शक्ति भी। वस्तुतः प्रकृति के गुण ही सारे जीवों से सब कुछ करवा रहे हैं। किंतु उस अविद्या माया के वशीभूत होकर आत्मा देह के साथ अपना तादात्म्य कर लेती है और अपने अहंकारवश स्वयं को कर्ता मान लेती है। जो मनुष्य स्वयं को कर्मों का कर्ता मान लेता है, वह कर्म बंधनों में बँधता है। जो उसे निष्काम रूप से करता है और यही जानता है कि कर्ता वह नहीं कर्तार है, वह उन कर्म बंधनों में नहीं बँधता। ठीक है ?''

''ठीक है भैया !''

''तो अपने कर्मों का फल तो उसी को मिलेगा, जो अपने अज्ञान और अपनी आसक्ति के कारण स्वयं को कर्ता मानेगा।'' कृष्ण बोले, ''जो जीव अपना सारा कर्तृत्व ईश्वर को समर्पित कर देता है और स्वयं को कर्ता नहीं मानता, उस पर कर्म का नियम—संसार का कार्य-कारण का नियम—लागू नहीं होता। वह ईश्वर का उपकरण मात्र है।''' जो कर्ता का अहंकार पालता है, वह प्रकृति के नियमों के अनुसार अपने कर्मों का फल अवश्य पाता है। समझ रही हो न ?''

''समझ रही हूँ भैया !''

''अब कर्म फल को केवल दो भागों—सुख और दुख या दंड और पुरस्कार—में मत बाँटो।'' कृष्ण बोले, ''कर्म का फल तो क्रिया की प्रतिक्रिया है। उसका रूप कुछ भी हो सकता है। यहाँ, एक और बात पर भी ध्यान दो बहना !''

''क्या भैया ?''

''यह माया की सृष्टि है। यहाँ जो सत्य है, वह दिखाई नहीं देता; और जो सत्य

नहीं है, वह दिखाई पड़ता है।"

"इसका क्या अर्थ हुआ ?" सुभद्रा चौंक उठी।

"इसका अर्थ है कि जिसको मनुष्य सुख मान बैठता है, आवश्यक नहीं कि वह सुख ही हो।" कृष्ण बोले, "जिसे हम दुख मानते हैं, वह अनिवार्यतः दुख नहीं होता।"

"ऐसा कैसे संभव है ?"

"पांडवों का जन्म हस्तिनापुर से दूर पर्वतों पर स्थित ऋषिकुल में हुआ। दुर्योधन तथा उसके भाई हस्तिनापुर में कुरुओं के राजप्रासाद में जन्मे। कोई भी यह मानेगा कि दुर्योधन का शैशव सुखमय था और पांडवों का दुखों और कठिनाइयों से भरा।" कृष्ण ने सुभद्रा की ओर देखा, "सहमत हो ?"

"ठीक है भैया !"

"किंतु पांडवों का वह दुख उनके लिए हितकर था। उसी के कारण उन्हें धर्म की शिक्षा मिली और वे धर्मात्मा हुए। क्या तुम चाहोगी कि पांडवों का जन्म हस्तिनापुर में होता, चाहे वे दुर्योधन के समान पापी ही बनते ?"

"नहीं ! मैं यह नहीं चाहती।" सुभद्रा बोली, "किंतु क्या दुखों को सौभाग्य माना जाए ? आप मुझसे कहेंगे कि अभिमन्यु का वध मेरे लिए सौभाग्य का प्रतीक है ?"

"नहीं ! ऐसा नहीं कहूँगा।" कृष्ण बोले, "केवल इतना ही कहूँगा कि संसार में जिसे सुख और दुख कहा जाता है, उन दोनों में ही सम रहने का प्रयत्न करो। यदि दुख में यह कहकर सांत्वना दी जाती है कि इसे ईश्वर की इच्छा मान कर स्वीकार करो और इतने विह्वल मत होओ तो यह भी कहा जाना चाहिए कि सुख को भी ईश्वर की इच्छा मान कर सहज रूप से स्वीकार करो। उससे इतना उत्फुल्ल होना भी श्रेयस्कर नहीं है।"

कृष्ण उसकी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा करते रहे किंतु वह कुछ नहीं बोली। अंततः कृष्ण ही बोले, "दूसरी बात यह है सुभद्रे ! कि जिसे हम अपना मान बैठते हैं, वह हमारा होता नहीं है। हमारा होता तो हमें छोड़कर न जाता। उपनिषद् की उक्ति स्मरण रखो—'इदम न मम'। जब वह मेरा है ही नहीं, तो मुझसे छिना क्या ?"

"जब वह मेरा था ही नहीं तो उसके चले जाने पर मेरा मन दुखी क्यों है ?" सुभद्रा बोली, "जहाँ दुख है, वहाँ कुछ दोष भी है ही।"

"ठीक कह रही हो। जहाँ दुख है, वहाँ दोष भी है।" कृष्ण बोले, "पर वह दोष तुम्हारे पूर्व जन्मों के पाप नहीं हैं, अपने पुत्र में तुम्हारी आसक्ति है। यह आसक्ति ही कष्ट देती है। यही दुख का कारण है।"

"आप प्रेम को आसक्ति कहते हैं ?"

"नहीं ! प्रेम को आसक्ति नहीं कहता। मैं आसक्ति को ही आसक्ति कहता हूँ।" कृष्ण सहज स्वर में बोले, "प्रेम, मोह और आसक्ति में अंतर करना सीखो सुभद्रे !"

"क्या अंतर है भैया उनमें ?"

"द्वारका में अभिमन्यु और द्रौपदेयों के पालन-पोषण के लिए जो कष्ट तुमने सहा, और उस कष्ट में जो सुख पाया, वह तुम्हारा प्रेम है।" कृष्ण बोले, "उन पर तुम जितना अधिकार जताओगी, उन्हें अपने साथ बाँध कर रखने का जितना प्रयत्न करोगी; और उनके विकास के मार्ग में जितनी बाधा तुम बनोगी, वह तुम्हारा मोह होगा।"

"और आसक्ति ?"

"अपना जीना स्थगित कर, उनके माध्यम से जीने का प्रयत्न और इस प्रक्रिया में स्वयं पाया गया कष्ट तथा उनको दिया गया क्लेश तुम्हारी आसक्ति होगी।" कृष्ण बोले, "मोह और आसक्ति के कारण दुख होता है, प्रेम के कारण नहीं। प्रेम सब को मुक्त करता है। वह न स्वयं बँधता है, न औरों को बाँधता है। अधिक से अधिक संख्या में जीवों से प्रेम करो सुभद्रे ! किंतु किसी के प्रति मोह मत पालो और आसक्ति तो ईश्वर के सिवाय और किसी में होनी ही नहीं चाहिए।"

सुभद्रा ने उनकी ओर देखा और जैसे उसके मन का क्षोभ एक बार ही फूट पड़ा, "यह ईश्वर का कैसा न्याय है कि धर्मराज युधिष्ठिर जैसा सात्विक और पवित्र जीवन जीने वालों को कष्ट दिया जाए और धृतराष्ट्र तथा दुर्योधन जैसे पापियों को राजपाट का सुख ? ऐसे में किसे उसके न्याय में विश्वास रह जाएगा ?"

"कहा न कि यह माया की सृष्टि है। ईश्वर जिनसे रुष्ट होता है, उन्हें इतना सुख देता है कि वे उसे भूल जाएँ और भूले ही रहें; और जिनसे प्यार करता है, उन्हें तिल-तिल जलाकर उनका मल निकाल देता है।" कृष्ण मुस्कराए, "तुम्हें नहीं लगता कि पांडवों ने जो कष्ट सहा, वह उनकी तपस्या थी, उनकी परीक्षा थी ? उस तपस्या ने उन्हें जो बना दिया है, वह तुम अभी नहीं जानती हो। उनका स्थान देवताओं से भी ऊँचा है। उनकी उपलब्धि मानव इतिहास में अद्वितीय होगी। सहस्राब्दियों तक उनकी पूजा होगी।" वे रुके और पुनः बोले, "धृतराष्ट्र की सारी उपलब्धियाँ शरीर के सुख तक सीमित हैं। शरीर असमर्थ होता जाएगा और उन सुखों का भी अंत हो जाएगा। विषय तो रहेंगे, किंतु उसकी इंद्रियाँ उनका भोग नहीं कर पाएँगी। इसमें अन्याय कहाँ है सुभद्रे !"

सुभद्रा को कोई तर्क नहीं सूझ रहा था। कृष्ण कह तो ठीक ही रहे थे किंतु उसका मन अभी भी विद्रोह किए हुए था, "एक ओर हम अपने किए हुए कर्मों का फल पाते हैं; और दूसरी ओर ईश्वर रुष्ट होकर मनुष्य को सुख देता है, तथा प्रसन्न होकर कष्ट देता है। दोनों बातें कैसे संभव हैं ?"

"संभव तो हैं किंतु हम उन्हें ठीक-ठीक समझ नहीं पाते, क्योंकि माया ने हमें मोहित कर रखा है।" कृष्ण बोले, "जिसे हम सुख मानते हैं, वह सुख नहीं है; जिसे हम दुख मानते हैं, वह दुख नहीं है। यह तो बुद्धि का फेर है। पलंग पर बैठ गरिष्ठ भोजन करता हुआ व्यक्ति स्वयं को परम सुखी मान रहा है; जबकि वह सीधे-सीधे रोग के राज्य में प्रवेश कर रहा है। अखाड़े, खेल के मैदान अथवा खेत-खलिहान में श्रम कर पसीना बहाते व्यक्ति को, वह कष्ट सहन करता हुआ दुखी व्यक्ति मान रहा है, जबकि वह निःरुग्णता

और पुष्टता की ओर अग्रसर हो रहा है। अपने संचित कर्मों के परिणामस्वरूप, व्यक्ति ईश्वर द्वारा उन कर्मों की ओर प्रेरित होता है, जो उसके वास्तविक सुख-दुख के दाता हैं। यह दूसरी बात है कि मनुष्य की सीमित दृष्टि उस सुख-दुख को न देख सके। कर्म सिद्धांत और ईश्वर की माया में कहीं कोई विरोध नहीं है सुभद्रे !"

"पर अच्छे लोगों को इस प्रकार दुखी करना क्यों आवश्यक है ?"

"पुरस्कार परीक्षा के बाद ही मिलता है बहना ! और परीक्षा उसी की होती है, जो परीक्षा देने को प्रस्तुत हो।" कृष्ण बोले, "जो परीक्षा देना नहीं चाहता, वह न तो स्वयं को तपस्या की भट्ठी में तपाता है और न ही पुरस्कार पाता है। किसी भी बड़ी उपलब्धि के लिए परीक्षा तो देनी ही होगी। ईश्वर को पाने के लिए सात्विकता तो अर्जित करनी ही होगी; और स्वयं को तपाए बिना कोई निर्मल कैसे हो सकता है।"

सुभद्रा उठ खड़ी हुई, "मैं नहीं जानती कि वह मायावी इस संसार को कैसे चलाता है, किंतु इतना समझ पाई हूँ कि उससे रुष्ट होने के स्थान पर उसे समझने का प्रयत्न करना ही श्रेयस्कर है।"

सुभद्रा उठकर खड़ी तो हो गई थी, उसने जाने का संकल्प भी कर लिया था; किंतु उसके पग उठ नहीं रहे थे।

"अभी तुम्हारा पूरा समाधान नहीं हुआ सुभद्रे !" कृष्ण के स्वर में वेणु का सा माधुर्य था।

"हाँ भैया !" वह बोली, "मन में बार-बार प्रश्न उठता है कि अभिमन्यु कहाँ होगा, किस रूप में होगा, किस स्थिति में होगा ?"

"सुभद्रे !" कृष्ण का स्वर अत्यंत गंभीर था, "आत्मा एक ऐसा वृत्त है, जिसका केन्द्र इस शरीर में अवस्थित है; किंतु उसकी परिधि कहीं नहीं है। जब वह केन्द्र एक शरीर से दूसरे शरीर में स्थानांतरित हो जाता है, तो पहले शरीर की तथाकथित मृत्यु हो जाती है। मृत्यु का अर्थ है उस केन्द्र का एक शरीर से दूसरे शरीर में स्थानांतरित भर हो जाना। आत्मा जड़ की उपाधियों से बद्ध नहीं है। वह स्वरूपतः नित्य, शुद्ध, बुद्ध तथा मुक्त स्वभाव है।"

"तो फिर वह चैतन्य आत्मा स्वयं को जड़ से बँधी हुई क्यों पाती है ? वह स्वयं को जड़ क्यों समझती है ? यह विशुद्ध, पूर्ण तथा विमुक्त आत्मा इस जड़ का दासत्व क्यों करती है ? स्वतःपूर्ण होते हुए भी इस आत्मा को अपूर्णता का भ्रम क्यों हो जाता है ?" सुभद्रा के स्वर में जिज्ञासा कम और आरोप का भाव अधिक था।

"श्वेताश्वतर उपनिषद् में ऋषि ने कहा है :

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवरणं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।' "

"इसका मेरे प्रश्न से क्या संबंध ?"

"संबंध है।" कृष्ण बोले, "ऋषि का कहना है कि मैंने उस अनादि पुरातन पुरुष

को प्राप्त कर लिया है। सूर्य के समान कांतिमान, अंधकार और अज्ञान से परे उस महान् पुरुष को मैं जानता हूँ। केवल उस पुरुष को जान कर ही मनुष्य मृत्यु को लाँघ जाता है, मृत्यु से परे जा सकता है, मृत्यु के चक्र से छूट सकता है।" कृष्ण ने रुक कर सुभद्रा को देखा, "क्या अर्थ है इसका ? इसका अर्थ है कि इस बंधन में बँधने का, मृत्यु के चक्र में पड़ने का, अंधकार और अज्ञान में डूबने का एक ही कारण है कि हम उस पुरातन पुरुष को भूल गए हैं। भूलने से पहले हम उसे जानते भी रहे हो सकते हैं। उसे भूल कर ही आत्मा जड़ को सत्य मानने और उसकी दासता करने लगी है।"

"ऋषि ठीक ही कह रहे हैं।" सुभद्रा ने जैसे अपने आपसे कहा, "मैं ही क्यों यह भूल गई।"

11

द्रोण अपने शिविर की ओर लौटे तो वे स्वयं ही नहीं समझ पा रहे थे कि वे प्रसन्न हैं अथवा अवसन्न ! वे सफल हैं अथवा असफल ! उन्होंने युधिष्ठिर को बंदी कर दुर्योधन को सौंपने का वचन दिया था। वह तो हो नहीं सका। द्रोण का वचन झूठा हो गया।''' तो क्या हुआ ? क्या इस असफलता के लिए दुर्योधन उन्हें सेनापतित्व से वंचित कर देगा ? क्या वह उन्हें दंडित करेगा ? क्या उनकी किसी प्रकार की क्षति होगी ? उन्हें किसी प्रकार की हानि होगी ?''' शायद नहीं ! इनमें से कुछ नहीं होगा। उन्हें कोई भौतिक हानि भी नहीं होगी। यह तो बस उनके आशंकित मन की लीला है।''' पर भौतिक हानि ही तो सब कुछ नहीं है। द्रोण अपना वचन हार गए, क्या यह चोट कम है। उनके वचन का अब क्या मूल्य रह जाएगा क्षत्रियों के इस समाज में ? द्रोण का नाम लबाड़ियों की सूची में नहीं लिख दिया जाएगा ?''' केवल एक छोटे से उस लड़के अभिमन्यु के कारण ? क्या समझें द्रोण ''' उनका चक्रव्यूह भी असफल रह गया। छह-छह महारथियों ने मर्यादा भंग कर उस अकेले निहत्थे बालक को मारा।

क्या द्रोण दुर्योधन को कह सकते हैं कि उन्होंने युधिष्ठिर को तो बंदी नहीं किया, किंतु अर्जुन के प्राण हर लिए हैं। अभिमन्यु का वध क्या अर्जुन को तोड़ नहीं देगा ? क्या अर्जुन अब भी पहले की सी आस्था से लड़ सकेगा ?''' स्वयं द्रोण के पुत्र को कुछ हो जाए तो उनके लिए संसार में क्या रह जाएगा ?

पर अगले ही क्षण द्रोण के मन में एक दूसरा ही स्वर गूँजा।''' यदि वे समझते हैं कि अभिमन्यु के वध से अर्जुन टूट जाएगा—तो उन्होंने अर्जुन को नहीं जाना। अभिमन्यु के वध का समाचार पाकर अर्जुन के हृदय का उग्रदेव जागेगा।''' वह पहले से भी अधिक प्रचंड होकर लड़ेगा। द्रोण ने पांडव पक्ष को एक अधिरथी से वंचित किया है, किंतु

उन्होंने उनके युद्ध के आवेश में जो वृद्धि की है, वह क्या कम घातक है ?··· अब तक वे लोग कौरव सभा में हुए द्रौपदी के अपमान और अपने वनवास के कष्टों को ही नहीं भूले; ऊपर से उन्हें यह घाव और दे दिया गया। पर कौन जाने, आज के युद्ध का विश्लेषण दुर्योधन किस रूप में करता है। वह तो युद्ध-गणितज्ञ है, जाने किसके मरने और किसके जीने को कहाँ जोड़ता है और कहाँ घटाता है···

दुर्योधन अपने शिविर में बंदी सिंह के समान चक्कर लगा रहा था। संध्या समय जब वह दिन भर के युद्ध के लाभ-हानि का गणित मिलाने बैठा, तो वह समझ नहीं पा रहा था कि उसने क्या पाया और खोया था। दिन भर के युद्ध में सहस्रों सैनिक खोकर वे लोग केवल अभिमन्यु का वध कर पाए थे। इस युद्ध से पहले दुर्योधन ने अभिमन्यु को कभी कुछ नहीं गिना था; किंतु आज के युद्ध में उसने जो प्रखर वीरता दिखाई थी, उससे उसने अपने पिता और मातुल—दोनों के गुण प्रकट कर दिए थे। वह और जीवित रहता तो कौरवों के लिए और बड़ा संकट प्रमाणित होता। उसका मारा जाना तो ठीक रहा। यदि कहीं पितामह ही युद्ध क्षेत्र में महासेनापति के रूप में खड़े रहते तो साधारण सैनिकों का चाहे कितना संहार करते, पर वे अभिमन्यु का वध नहीं होने देते। वे कौरवों और पांडवों को एक ही परिवार मानते हैं—वे अपने वंश की अगली पीढ़ी का वध कैसे होने देते।··· यह तो द्रोण का ही सेनापतित्व था कि उन्होंने चक्रव्यूह की रचना कर अभिमन्यु को फाँस लिया और सारे नियमों और मर्यादाओं को एक किनारे रख, अभिमन्यु का वध करवा दिया··· द्रोण को पांडवों से सचमुच कोई मोह नहीं रह गया है क्या ?··· पर त्रिगर्तो ने युधिष्ठिर को जीवित बंदी बनाने का जो दो दिनों का अवसर दिया था, उसे तो खो दिया द्रोण ने ! क्या सचमुच अभिमन्यु ने ऐसा ही युद्ध किया था कि द्रोण असहाय हो गए थे। या फिर उनके मन में पांडवों की ममता जाग उठी थी···

दुर्योधन का मन हुआ, अपनी इस असहायता में तो वह अपना सिर किसी शिला पर दे मारे या जाकर कहीं जल में कूदकर प्राण दे दे।··· जिन लोगों पर उसका रत्ती भर भी विश्वास नहीं है, उन्हें अपना प्रधान सेनापति नियुक्त करने को बाध्य है वह··· क्या भीष्म, क्या द्रोण ··· क्या करे दुर्योधन ? न तो वह उन्हें अपना पाता है और न दुत्कार ही सकता है। आज वह द्रोण को अप्रसन्न कर दे, तो आज ही वह बुड्ढा युधिष्ठिर को आशीर्वाद देने पहुँच जाएगा। और ये पांडव भी इतने जड़मति हैं कि उन्हें कभी यह स्मरण ही नहीं रहता कि द्रोण उनके शत्रुओं का सहयोगी है। पता नहीं किस मिट्टी के बने हैं पांडव—उन्हें पिछला विरोध कभी याद ही नहीं रहता। हर समय हर किसी को गले से लगाने को तैयार बैठे हैं। भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा तो एक ओर, यदि स्वयं दुर्योधन, दुःशासन और कर्ण भी चले जाएँगे तो युधिष्ठिर उनका भी स्वागत करेगा।··· उनके द्वार हर समय खुले हैं, इसलिए दुर्योधन अपना द्वार किसी के लिए बंद नहीं कर सकता··· द्रोण को कुछ कहने की देर है कि कौरवों की ओर का एक योद्धा कम हुआ

और पांडवों की ओर जुड़ गया। और यदि द्रोण दुर्योधन से रुष्ट होकर पांडवों की ओर गया तो वह बहुत भयंकर युद्ध करेगा। यह बूढ़ा ब्राह्मण अत्यंत द्वेषी है। उसकी नस-नस में विष भरा है। द्रुपद की एक जरा-सी न्यायसंगत बात को वह आज तक नहीं भुला पाया और उसके सारे वंश का शत्रु हो गया। क्षमा तो उसमें क्या होगी, उसमें तनिक-सी विस्मृति भी नहीं है।··· वह क्यों नहीं समझ सका कि दूसरा व्यक्ति भी न्यायसंगत बात कह सकता है। अश्वत्थामा और कर्ण को दुर्योधन अपनी जिह्वा से सहस्र बार मित्र कहकर संबोधित करे, किंतु वे जानते हैं कि दुर्योधन उनका आश्रयदाता है। उनका धर्म है कि वे दुर्योधन को प्रसन्न रखें, उसके काम आएँ।··· और यह द्रोण विचित्र व्यक्ति है··· दंभी, द्वेषी और अहंकारी···

द्वारपाल ने आकर सूचना दी, "प्रधान सेनापति आचार्य द्रोण पधारे हैं।"

"आ गया बुड्ढा अपना स्पष्टीकरण देने," उसके मन ने कहा, पर जिह्वा से उच्चरित हुआ, "आने दो।"

द्रोण ने आकर आशीर्वाद दिया और कहा, "राजन् ! कल की रणनीति के विषय में कुछ चर्चा करना चाहता हूँ।"

"आज की सफलता से आह्लादित होकर कल भी चक्रव्यूह रचना चाहते हैं क्या ?"

द्रोण ने जिज्ञासु दृष्टि से दुर्योधन की ओर देखा : उनका यह शिष्य राजा उन्हें प्रोत्साहित कर रहा है या उनका अपमान कर रहा है ?···

"क्या आज हम सफल रहे हैं ?" उत्तर देने से बचने के लिए द्रोण ने प्रश्न किया।

"क्यों ? आप छह महारथियों ने एक बच्चे को मारा नहीं ?"

द्रोण ने अनुमान लगाया कि अभिमन्यु के वध से दुर्योधन प्रसन्न अवश्य है; किंतु खुल कर उसका श्रेय द्रोण को देना नहीं चाहता··· वैसे दुर्योधन के मन और जिह्वा में कोई संबंध नहीं है, इसे द्रोण बहुत पहले ही समझ गए थे··· दुर्योधन की वाणी और मुखाकृति उसके चिंतन और भावनाओं के कवच नहीं हैं, वे उससे असंबंधित हैं···

"राजन् ! तुम क्या युद्ध संबंधी धर्म और मर्यादा की चर्चा करना चाहते हो ? यदि ऐसा है तो मेरी उसमें कोई रुचि नहीं है। मैं उसकी चर्चा करने नहीं आया।"

"उसमें मेरी भी कोई रुचि नहीं है।" दुर्योधन बोला, "मेरी रुचि तो युधिष्ठिर को बंदी करने में है। आज आपके चक्रव्यूह में छोटी मछली फँसी थी, वह भी जीवित नहीं रही। युधिष्ठिर भी बच गया। अभिमन्यु या किसी और के मरने-जीने का महत्त्व भी तभी तक है, जब तक आप युधिष्ठिर को बाँध कर मेरे सामने नहीं डाल देते। एक बार युधिष्ठिर बंदी हो गया तो फिर मेरी रुचि किसी के वध में नहीं है।" दुर्योधन ने सहज भाव से टहलते हुए द्रोण की ओर पीठ कर ली और फिर उसका चेहरा जब द्रोण की ओर पलटा तो पहले से अधिक भयानक हो चुका था, "मर कर व्यक्ति पीड़ा मुक्त हो जाता है; और मैं पांडवों को यातना में तड़पते हुए देखना चाहता हूँ।"

"तो राजन् क्या चाहते हैं ?"

"कल फिर जाल बँधे।"

"चक्रव्यूह ?"

"हाँ !"

"पर कल अर्जुन युद्धक्षेत्र में विद्यमान होगा। वह अभिमन्यु नहीं है। उसे रोकना किसी के लिए भी संभव नहीं होगा। बड़ी मछली के साथ-साथ सैकड़ों छोटी मछलियाँ भीतर घुस आएँगी। न केवल जाल छिन्न-भिन्न हो जाएगा, वरन् मछुवारों के प्राण भी संकट में पड़ जाएँगे।"

"तो आपकी प्रतिज्ञा का क्या होगा ?" दुर्योधन का चेहरा एकदम अभद्र हो उठा, "लोग कहेंगे आचार्य द्रोण की प्रतिज्ञा, बालक को बहलाने वाले झूठी माँ के आश्वासन मात्र हैं।"

"मैंने अपनी ओर से पूरा प्रयत्न किया है।"

"प्रतिज्ञा प्रयत्न की नहीं, फल प्राप्ति की होती है आचार्य ! जो कुछ आप कर नहीं सकते, उसकी प्रतिज्ञा क्यों करते हैं ?"

द्रोण की समझ में नहीं आया कि क्या कहें... सच कहते तो यही कहते कि एक दंभी और अहंकारी राजा की दुराशाओं को साकार करने का बोझ उनके कंधों पर है, जो कदाचित् उनकी क्षमता से बाहर है।... पर ऐसा सच बोलने का लाभ ?...

धीरे से बोले, "अभिमन्यु की क्षमताओं का, हममें से किसी को भी ठीक ज्ञान नहीं था... और सत्यजित ! हममें से किसी ने सत्यजित के युद्ध कौशल और दृढ़ प्रतिज्ञा को याद नहीं रखा...।" द्रोण रुके। फिर बोले तो उनका स्वर बहुत धीमा हो चुका था, "और शायद मैं यह भूल गया था कि मैं वृद्ध हो गया हूँ।... तुम चाहो तो दुर्योधन ! मैं अपने पद का त्याग कर सकता हूँ।"

'फिर वही...' दुर्योधन के मन की पवन चक्की चलने लगी... 'मैं जानता हूँ कि तुम मुझे छोड़कर भाग जाने को बहुत व्याकुल हो। कोई बहाना खोज रहे हो। पर मैं तुम्हें ऐसा कोई अवसर नहीं दूँगा।... बहुत चतुर समझते हो स्वयं को। जब सब ओर सुख शांति थी, विश्राम और विलास था, प्रासाद और दासियाँ थीं, तब तक तो आचार्य द्रोण हस्तिनापुर की राजसभा की सेवा में थे और अब जब चारों ओर बाण बरस रहे हैं, लहू की नदियाँ बह रही हैं और कंधों पर से मस्तक कट-कट कर गिर रहे हैं... तब आचार्य द्रोण कह रहे हैं कि यदि तुम चाहो तो मैं सेनापति का पद त्याग सकता हूँ... सैनिकों को शांति काल में इसलिए नहीं पाला जाता कि युद्ध काल में वे पद त्याग करें या संधि और समझौतों की बात करें... '

"मैंने यह नहीं चाहा है आचार्य !" दुर्योधन बोला, "मैंने तो युधिष्ठिर को बंदी के रूप में देखना चाहा है।"

"कल अर्जुन रणभूमि में वर्तमान होगा।" द्रोण बोले, "त्रिगर्त संशप्तक समाप्त हो चुके हैं और मुझे और कोई वाहिनी संशप्तक युद्ध के लिए तैयार दिखाई नहीं देती; और

मैं तो समझता हूँ··· ।"

"क्या समझते हैं आप ?"

"कि अभिमन्यु के वध के बाद, अब यदि कोई संशप्तक सेना अर्जुन को ललकारेगी भी तो कदाचित् अर्जुन मुख्य क्षेत्र छोड़कर नहीं जाएगा।"

"यह आपका अनुमान है या आपको कहीं से सूचना मिली है ?"

"मेरा अनुमान है।"

"वह क्षत्रिय धर्म की मर्यादा तोड़ देगा ?"

"आज हमने अभिमन्यु के वध में जितनी मर्यादाएँ तोड़ी हैं, उसके बाद न कोई क्षत्रिय धर्म रह जाता है, न युद्ध मर्यादा··· । मेरी अपेक्षा है कि कल वह उग्रदेव के समान युद्ध क्षेत्र में अवतरित होगा।"

द्वारपाल ने पुनः प्रवेश किया, "महाराज ! सिंधुराज जयद्रथ उपस्थित होना चाहते हैं।"

"हम प्रधान सेनापति से बात कर रहे हैं।"

"उन्हें बताया गया है; किंतु उनका धैर्य चुक गया है। वे बलात् भीतर घुसना चाहते हैं।"

दुर्योधन की भृकुटि चढ़ी और क्षण भर में ही वह पुनः सहज हो गया, "उन्हें आने दो।"

जयद्रथ आँधी के समान शिविर में घुसा। पर उसे देखकर लगा कि उस पर से कई आँधियाँ पहले से ही बीत चुकी हैं। दुर्योधन ने उसे इतना अस्तव्यस्त और घबराया हुआ पहले कभी नहीं देखा था।

"क्या बात है सिंधुराज !"

जयद्रथ ने एक उचटती हुई दृष्टि द्रोण पर डाली और फिर कटे हुए पेड़ के समान टूट कर दुर्योधन के चरणों में गिरा, "महाराज ! मुझे बचा लीजिए।"

"क्या हुआ सिंधुराज ?"

"महाराज ! मेरी रक्षा कीजिए।" लगा जैसे जयद्रथ किसी की बात सुनने या समझने की स्थिति में नहीं है। विक्षिप्तावस्था में वह केवल अपनी बात कह ही सकता था, "या फिर मुझे अनुमति दीजिए कि मैं अपनी सेना लेकर अपने राज्य में लौट जाऊँ।"

"हुआ क्या है वीर जयद्रथ ?" दुर्योधन ने उसे दोनों भुजाओं से पकड़कर खड़ा किया और फिर बलात् धकेलकर एक आसन पर बैठाया। परिचारिका को जल लाने के लिए कहकर वह मुड़ा, "आज के युद्ध के महावीर ! इतने उद्विग्न क्यों हो ?"

"मुझे अपने राज्य में लौट जाने की अनुमति दें महाराज !"

"क्या सिंधुराज बताएँगे कि हमसे क्या अपराध हुआ है ?"

"आपसे कोई अपराध नहीं हुआ महाराज !" जयद्रथ फिर से उठ खड़ा हुआ। लगा वह फिर से दुर्योधन के चरणों में जा गिरेगा।

दुर्योधन ने आगे बढ़कर उसे वहीं रोका।

"अर्जुन ने कल संध्या तक मेरा वध करने की प्रतिज्ञा की है।"

दुर्योधन और द्रोण—दोनों ही स्तब्ध रह गए। दोनों के मुख से एक शब्द भी नहीं निकला।

जयद्रथ अपने आसन के हत्थों को दृढ़तापूर्वक पकड़े हुए हाँफ रहा था। उसके होंठ सूख रहे थे। वह बार-बार अपनी जीभ से उन्हें गीला कर रहा था। उसे देखकर लगता था कि या तो वह एक लंबी दौड़ के बाद यहाँ आकर गिर गया है या वह ऐसा पक्षी शावक है, जिसे सामने भीड़ में अपने माता-पिता दिख रहे हैं और वह एक उड़ान में वहाँ तक पहुँच सकता है, किंतु उसके पंख जैसे जम गए हैं और वह हताश-सा इधर-उधर देख रहा है कि वह अपने स्थान से हिल क्यों नहीं सकता।

"तुम्हें कैसे ज्ञात हुआ ?" दुर्योधन ने पूछा।

"मेरे गुप्तचरों ने मुझे सूचना दी है।"

"किसके सामने प्रतिज्ञा की है ?"

"अपने भाइयों, कृष्ण, पांचालों तथा मत्स्यों की उपस्थिति में।"

"अग्नि और पुरोहित के सम्मुख तो नहीं की न !"

"उससे क्या होता है," लगा जयद्रथ अभी रो पड़ेगा, "वह अर्जुन की प्रतिज्ञा है। शब्द मुख से निकले हैं तो वे कर्म में परिणत होंगे ही।"

"पर तुम्हें ही मारने की प्रतिज्ञा क्यों की है ?" दुर्योधन बोला, "अभिमन्यु का वध करने वाले तो तुम नहीं थे।"

"मैंने व्यूह के द्वार पर उन सबको रोक दिया था।" जयद्रथ बोला, "मैंने उसको मारने का श्रेय लेने की बात कही थी।"

उसने द्रोण से कुछ भी नहीं कहा, पर द्रोण मन-ही-मन संकुचित हो उठे थे।

सहसा जैसे जयद्रथ को दौरा पड़ा, "दुर्योधन ! मुझे अपने देश चले जाने दो। मैं अपनी सेना के साथ यहाँ से सुरक्षित निकल जाना चाहता हूँ।"

दुर्योधन का चेहरा कुछ सजीव हुआ, "तुम अपने देश जाकर सुरक्षित हो जाओगे ?"

"क्यों नहीं । अर्जुन वहाँ तक मेरा पीछा नहीं करेगा।"

"क्यों ? क्या अर्जुन ने कोई ऐसी प्रतिज्ञा की है कि वह कुरुक्षेत्र में ही तुम्हारा वध करेगा ?"

"नहीं ! पर वह युद्धक्षेत्र नहीं छोड़ सकता। और फिर वहाँ मेरा देश होगा, मेरा राज्य होगा, मेरी सेना होगी।"

दुर्योधन की कल्पना में एक बहुत मनोरम दृश्य उभरा : जयद्रथ अपनी सेना के साथ पड़ाव पर पड़ाव डालता हुआ सिंधु सौवीर की ओर भागता जा रहा है और उसके पीछे अर्जुन का रथ दौड़ रहा है। जैसे-जैसे अर्जुन के रथ की गति बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे ही वह कुरुक्षेत्र से दूर होता जा रहा है, युधिष्ठिर से दूर होता जा रहा है··· और पीछे

युधिष्ठिर खड़ा है अकेला और असहाय।''' क्रमशः उसे कौरव महारथी घेरते जा रहे हैं और वह असहाय-सा चीखता-चिल्लाता अभिमन्यु के समान ही धराशायी हो जाता है''' कौरव योद्धा उसे बाँध कर लाते हैं और दुर्योधन के चरणों में डाल देते हैं।''' जब तक जयद्रथ को मार कर अर्जुन लौटता है, तब तक युधिष्ठिर जुए में सब कुछ शकुनि से हार चुका है और वे पाँचों भाई द्रौपदी को लिये हुए, फिर से वनवास के लिए जा रहे हैं।'''

"महाराज ! मैं यहाँ रहा तो कल संध्या तक अर्जुन अवश्य ही मेरा वध कर देगा। मुझे अपने देश लौट जाने दें।" जयद्रथ ने जैसे गुहार की।

दुर्योधन की कल्पना में एक दूसरा चित्र उभरा : जयद्रथ अपनी सेना के साथ भागता जा रहा है। सात्यकि, भीम, धृष्टद्युम्न, और पांडव पुत्रों को युद्धक्षेत्र सौंप कर अर्जुन और कृष्ण जयद्रथ का पीछा कर रहे हैं। जयद्रथ को अकेला पाकर उसका सिर धड़ से अलग करने में अर्जुन को तनिक भी श्रम नहीं पड़ता। वह आधे प्रहर में ही जयद्रथ का वध कर उसकी सेना को तहस-नहस करके वापस कुरुक्षेत्र लौट आता है और फिर अपने भाइयों के साथ मिल कर कौरव सेनाओं का संहार करता है। द्रोणाचार्य असहाय से खड़े कहते हैं, 'अब इसे कौन रोके। आज तो सिंधुराज जयद्रथ भी नहीं है'''

'तो युधिष्ठिर को बंदी करो।' दुर्योधन आदेश देता है।

'कैसे बंदी करें ? अर्जुन उसकी रक्षा कर रहा है।'

'अर्जुन को कहीं और ले जाओ।'

'कौन ले जाए ? त्रिगर्त संशप्तक मारे जा चुके हैं।'''

क्षण भर में ही यह चित्र उसकी दृष्टि से ओझल हो गया। जयद्रथ उसे लगभग झंझोड़ रहा था, "दुर्योधन तुम कुछ कहते क्यों नहीं ?"

"सिंधुराज !" दुर्योधन बोला तो उसका स्वर पर्याप्त आश्वस्त था, "इतना घबराओ मत। हम तुम्हारी रक्षा करेंगे।"

"कौन रक्षा करेगा मेरी ? मुझे किसी पर भी विश्वास नहीं है। मैं एक बार अर्जुन और भीम का क्रोध झेल चुका हूँ। अब और अपमानित नहीं होना चाहता।" जयद्रथ और भी घबरा गया, "मुझे अपने देश लौट जाने दो।"

"वीरवर जयद्रथ !" दुर्योधन कुछ और विश्वास के साथ बोला, "देश भाग जाने से न तुम्हारी कीर्ति की रक्षा हो पाएगी और न तुम्हारे प्राणों की।" उसकी आँखें जैसे जयद्रथ को भेद रही थीं, "उस दिन भी तुम्हारी सेना और तुम्हारे मित्र तुम्हारे साथ थे, जब तुमने द्रौपदी के अपहरण का प्रयत्न किया था। पांडवों ने तुम्हें न केवल पराजित किया था, तुम्हें बंदी भी किया था। तुम्हारे वक्ष पर अपना चरण रख कर भीम ने तुमसे कहलवाया था कि तुम युधिष्ठिर के दास हो।" दुर्योधन रुका, "तुमने द्रौपदी का अपमान किया था, उन्होंने तुम्हें अपमानित भर करके छोड़ दिया। अब उनके अनुसार तुमने अभिमन्यु के प्राण लिए हैं। वे तुम्हारा वध करने के लिए आएँगे तो तुम्हारी सेना तुम्हारी

रक्षा कर लेगी ?"

जयद्रथ आँखें फाड़े अवाक् खड़ा था। लगता था कि दुर्योधन के एक ही तर्क ने उससे वह सारी सुरक्षा की भावना भी छीन ली थी, जिसका अब तक उसे विश्वास था।

"यहाँ तुम्हारी सेना है।" दुर्योधन बोला, "तुम्हारे मित्र राजाओं की सेनाएँ हैं। आचार्य द्रोण हैं, कर्ण है, अश्वत्थामा है, कृतवर्मा है, कृपाचार्य हैं, मैं हूँ, दुःशासन है··· क्या अब भी तुम्हें लगता है कि तुम अपने देश में अधिक सुरक्षित रहोगे ?"

जयद्रथ को जैसे कोई उत्तर ही नहीं सूझा। कुछ देर तक किंकर्तव्यविमूढ़-सा खड़ा रहा और जब स्वयं को सँभाल नहीं सका तो फूट पड़ा, "मेरी रक्षा करो दुर्योधन ! मेरी रक्षा करो।"

"तुम्हारी रक्षा करके ही हम स्वयं सुरक्षित रह सकते हैं सिंधुराज !" दुर्योधन बोला, "हम तुम्हारी रक्षा करेंगे।"

वह द्रोण की ओर मुड़ा, "क्यों आचार्य ! आप युधिष्ठिर को तो बंदी नहीं बना पाए, पर सिंधुराज की रक्षा तो कर पाएँगे न ? केवल कल संध्या तक के लिए ?"

द्रोण को लगा, दुर्योधन प्रश्न नहीं कर रहा, उनका अपमान कर रहा है : क्या द्रोण इतनी सारी सेना और इतने महारथियों की सहायता से एक दिन के लिए एक व्यक्ति की रक्षा नहीं कर सकते··· और साथ ही साथ, वह यह भी भूलने नहीं देता कि आज के युद्ध में अर्जुन से दूर लड़ते हुए अकेले युधिष्ठिर को बंदी नहीं बना पाए।

"कल किसी भी मूल्य पर जयद्रथ की रक्षा होनी ही चाहिए आचार्य !" दुर्योधन जैसे याचना कर रहा था, "आप कल किसी पांडव का वध न करें, किसी को बंदी न बनाएँ; किंतु जयद्रथ को कल तक के लिए जीवित बचा लें।"

"ठीक है। कल प्रत्येक मूल्य पर जयद्रथ की रक्षा की जाएगी।" आचार्य बोले।

"आप प्रतिज्ञा करते हैं आचार्य ?"

द्रोण की आँखों में क्रोध झलका : यह भी कोई बच्चों का खेल है कि छोटी-छोटी-सी बात पर प्रतिज्ञा ! अपने पुत्र के वध के कारण प्रतिशोध की ज्वाला में जल कर अर्जुन ने जयद्रथ के वध की प्रतिज्ञा की है तो द्रोण जयद्रथ की रक्षा की प्रतिज्ञा करें।

दुर्योधन का स्वर कुछ कोमल हुआ, "आप प्रतिज्ञा नहीं करना चाहते तो न करें; किंतु आश्वासन तो दें।"

द्रोण कुछ सहज हुए, "अर्जुन मेरा शिष्य है। उसे युद्ध में एक दिन के लिए रोके रखना कोई ऐसा असाधारण कार्य नहीं है, जो मेरी क्षमता से बाहर हो।"

"आपने वचन दिया है आचार्य ! अपने वचन की लाज रखिएगा।" दुर्योधन तत्काल बोला।

'बिच्छू डंक मारना नहीं छोड़ेगा··· ' द्रोण ने सोचा, 'यह दुर्योधन ऐसा ही रहेगा।'

द्रोण उठे, "अच्छा राजन् ! चलता हूँ।"

द्रोण शिविर से बाहर निकल गए। जयद्रथ भी उनके पीछे-पीछे चला गया।

उन्हें विदा कर दुर्योधन अपने आसन पर बैठा तो उसके चेहरे पर मुस्कान थी : देखें मछली चारा निगलती है, या जाल में फँसती है।

द्रोण अपने मंडप में लौटे तो उनकी मनःस्थिति विचित्र हो रही थी। जाने कहाँ से उनके मन में बालक अर्जुन आकर बैठ गया था।

"तुम कहाँ से आ गए ?" द्रोण ने पूछा।

"आना कहाँ से था। मैं तो सदा से आपके मन में ही था।" वह बोला।

"वह तो ठीक है किंतु अब तुम युवा हो चुके हो। मुझे प्रतिदिन समरभूमि में मिलते हो।" द्रोण बोले, "और आज तुम वैसे होकर आ गए हो, जैसे तुम मेरे गुरुकुल में आए थे।"

"आपके लिए तो मैं वही रहूँगा, जैसा पहले दिन आपके पास आया था। मेरा शरीर बढ़ गया है, पर आपका और संबंध तो वही है, जो पहले दिन निश्चित हुआ था। गुरु और शिष्य का। बालक का और वयस्क का। असमर्थ और समर्थ का।"

"तो आज क्या करने आए हो ?" द्रोण का मन स्थिर नहीं था। अर्जुन का यह रूप देखकर उन्हें विचित्र प्रकार की व्याकुलता का अनुभव हो रहा था।

"रोने आया हूँ आपके सम्मुख। महावीर अर्जुन तो रोता हुआ अच्छा नहीं लगेगा, पर आपका शिष्य बालक अर्जुन तो रो सकता है न !" वह बोला।

"पर तुम रोना क्यों चाहते हो ?" द्रोण और भी अटपटा गए थे।

"आप नहीं जानते ? जान कर अनजान बनते हैं।" अर्जुन बोला, "आपने घेर कर मेरे नन्हे से पुत्र को मार दिया। कोई न्याय है यह ? आपको मुझसे प्रेम नहीं तो कोई बात नहीं, किंतु न्याय और धर्म की मर्यादा से तो प्रेम होना चाहिए।"

"वह दुर्योधन की इच्छा थी मेरी नहीं।" द्रोण अपनी आँखें नहीं उठा सके।

"दुर्योधन की इच्छा तो संसार को आग लगा देने की है। उसमें तो आप उसके सहायक हो ही रहे हैं। अब धर्म को आग लगा देने के लिए तो उसके सहायक मत होइए।" अर्जुन बोला, "वैसे यह सब कहने नहीं आया था मैं। मैं तो केवल इतना कहने आया था कि पुत्र की मृत्यु से बहुत पीड़ित हूँ मैं। अपने पौत्र को मार कर आपको कैसा लग रहा है ?"

द्रोण तड़पकर उठ खड़े हुए। पर तब तक वह बालक अर्जुन अपना संवाद बंद कर चुका था। वह उनके हृदय के एक कोने में बैठ गया था और बिना कुछ कहे, निरंतर रोता जा रहा था।''' द्रोण ने उसे पुकारा तो उसने अपना मस्तक ही नहीं उठाया। उन्होंने उसे झंझोड़ा तो उसने अपनी आँखें उठाईं; किंतु उन अश्रुपूरित आँखों में झाँकना द्रोण के वश का नहीं था '''

12

"पर जयद्रथ ही क्यों ?" देविका ने कुछ झल्लाकर कहा, "उससे कहीं बड़े-बड़े पापी वहाँ हैं। द्रोण का अगले दिन संध्या तक वध करने की प्रतिज्ञा क्यों नहीं की धनंजय ने, जिन्होंने चक्रव्यूह रचा ? दुर्योधन को मारने की प्रतिज्ञा क्यों नहीं की, जो इस सारे युद्ध का सूत्रधार है ?"

"ओह देविका !" द्रौपदी ने शांत स्वर में कहा, "इसमें इतना उत्तेजित होने की क्या बात है। विश्वास रखो, वे सब मारे जाएँगे, बारी-बारी। धनंजय नहीं भी मारेंगे तो धृष्टद्युम्न है वहाँ, महाराज द्रुपद हैं। कोई नहीं बचेगा उन कौरवों में से। अंतर इतना ही है कि कोई पहले जाएगा और कोई बाद में।"

"मरना तो सबको ही है जीजी ! हमें भी।" बलंधरा बोली, "पर वह जीवन का एक भिन्न पक्ष है। देविका जीजी की आपत्ति यह नहीं है। वे कह रही हैं…"

"वह जो कुछ कह रही है, वह मैं समझ रही हूँ।" द्रौपदी का स्वर कुछ दृढ़ हुआ, "वही कह रही हूँ मैं। उनमें से कोई नहीं बचेगा, पांडव और पांचाल उन सबको मारेंगे। उन सबकी पत्नियाँ उससे भी भयंकर चीत्कार करेंगी, जैसा मैंने द्यूत सभा में किया था या सुभद्रा ने अभिमन्यु के वध का समाचार सुन कर किया।… अंतर तो कुछ दिनों का ही है। कितने दिन चलेगा यह युद्ध ? दस दिन ? बीस दिन ? तीस दिन ? इससे अधिक नहीं। तो इन दस, बीस, तीस दिनों में इन सबको मर जाना है।"

"ठीक है।" पुनः देविका ही बोली, "मेरा प्रश्न तो इतना ही था कि अभिमन्यु के वध का समाचार सुनकर धनंजय को सबसे अधिक क्रोध जयद्रथ पर ही क्यों आया ? उन्होंने उसे ही क्यों अभिमन्यु के वध का प्रमुख अपराधी माना ?"

"उसने तो अभिमन्यु का वध किया भी नहीं है।" करेणुमती भी उनकी चर्चा में सम्मिलित हो गई, "उस बेचारे ने तो अभिमन्यु को मार्ग दे दिया था।"

"बड़े दोषी वे हैं, जिन्होंने युद्ध की मर्यादा भंग की और छह-छह लोगों ने मिलकर अकेले बालक को पहले रथ और शस्त्रों से वंचित किया और फिर घेर कर किसी पशु के समान उसका आखेट किया।" देविका ने कहा, "अथवा वह बड़ा दोषी है, जिस अकेले ने छह-छह योद्धाओं से युद्ध कर उन्हें व्यूह में प्रविष्ट नहीं होने दिया ?"

"तुम्हें जयद्रथ से बहुत सहानुभूति है क्या ?" द्रौपदी ने कटाक्ष किया, "उसका इतना पक्ष ले रही हो।"

"नहीं ! सहानुभूति नहीं है।" देविका ने उसी प्रकार उत्तेजित स्वर में कहा, "किंतु मन में यह प्रश्न उठा है। मैं जानने का प्रयत्न कर रही हूँ कि वहाँ युद्धक्षेत्र में उपस्थित लोगों का मस्तिष्क कैसे काम करता है। उनका तर्क क्या है ?"

"और मैं सोच रही हूँ कि इस बार धर्मराज ने धनंजय से यह क्यों नहीं कहा कि जयद्रथ, तुम्हारी बहन दुःशला का पति है। तुम उसका वध नहीं करोगे।" बलंधरा बोली।

"नहीं ! इस बार धर्मराज यह नहीं कह सकते।" द्रौपदी ने कहा, "अपने पुत्र का वध करने वाले को कोई इसलिए क्षमा नहीं कर सकता कि वह उनकी बहन का पति है।"

"जो अपनी पत्नी का अपहरण करने वाले को इस कारण से क्षमा कर सकता है, वह अपने पुत्र के हत्यारे को भी क्षमा कर दे तो आश्चर्य की क्या बात है।" विजया पहली बार बोली।

"तब से अब तक में परिस्थितियाँ बहुत बदल गई हैं। बात केवल पुत्र के वध की होती तो क्या पता है कि धर्मराज कह देते कि जयद्रथ के वध से अभिमन्यु वापस तो नहीं आ जाएगा। प्रतिशोध से क्षमा अधिक महान् कर्म है, इसलिए जयद्रथ को क्षमा कर दिया जाए।" करेणुमती बोली, "किंतु यह युद्धकाल है। जिस हत्यारे को क्षमा किया जाएगा वह और हत्याएँ करेगा। आज एक पुत्र का वध हुआ है, कल दूसरे का भी हो सकता है। मैं तो समझती हूँ कि धर्मराज को अपने प्राणों की भी चिंता होगी। न होती तो वीर सत्यजित के मारे जाने पर वे युद्धक्षेत्र से दूर क्यों चले जाते।"

"करेणु ! तुम धर्मराज का अपमान कर रही हो।" द्रौपदी बोली, "वे कायर नहीं हैं। उस अवस्था में भी, जब वे जानते थे कि उन्हें बंदी करने के लिए षड्यंत्र रचा गया है, वे मध्यम पांडव का संकट जान कर अपने प्राणों की चिंता किए बिना, अपने छोटे भाई की रक्षा करने गए।"

"नहीं ! मैं उन्हें कायर नहीं कह रही जीजी।" करेणुमती बोली, "क्षमा से बड़ी वीरता और क्या हो सकती है और इस युद्ध ने तो उनके युद्धवीर रूप को भी अनेक बार प्रमाणित किया है।"

"तो फिर और क्या कह रही हो तुम ?"

"उन्हें युद्ध में मरने वाले अपने पक्ष के प्रत्येक सैनिक की चिंता होगी। युद्ध आरंभ होने के पश्चात् तो मैंने ऐसी कोई चर्चा नहीं सुनी कि धर्मराज ने कौरव पक्ष के किसी भी व्यक्ति को मारने का निषेध किया हो। वहाँ तो धनंजय ही हैं, कि जिन्हें कभी पितामह को मारने में संकोच होने लगता है। कभी उनकी गुरुभक्ति जाग उठती है और वे अपने पुत्र का वध करवा लेते हैं।"

"तुम्हें एक धनंजय ही मूर्ख दिखाई देते हैं क्या ?" द्रौपदी की आँखों में कुछ ताप दिखाई दिया।

"नहीं ! मेरा अभिप्राय वह नहीं था।" इस बार करेणुमती कुछ सहम गई, "ऐसी बात मैं सोच भी कैसे सकती हूँ, पर मुझे लगता है कि एक बार युद्ध आरंभ हो जाने पर धर्मराज ने क्षत्रिय राजा का मन बना लिया है। जब युद्धक्षेत्र में आमने-सामने खड़े हो ही गए हैं तो शत्रु से प्रेम का क्या अर्थ। वे धनंजय की पितामह के प्रति मृदुलता का निरंतर विरोध करते रहे हैं। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि पितामह का यथाशीघ्र वध हो, ताकि हमारी सेना की क्षति कम हो।" उसने रुककर द्रौपदी को देखा, "किंतु युद्धक्षेत्र

में अपने सम्मुख भीष्म पितामह और आचार्य द्रोण को देखकर धनंजय ने यह नहीं माना कि वे शत्रु पक्ष में हैं तो उनका वध होना चाहिए। उन्होंने माना कि वे लोग विरोधी पक्ष से हैं तो वह पक्ष विरोधी ही नहीं है। वे उनके विरुद्ध होने के स्थान पर युद्ध के ही विरोधी हो गए। श्रीकृष्ण ने उन्हें इतना समझाया, पर अपने पितामह और गुरु के प्रति उनका मोह तो समाप्त नहीं ही हुआ। आप सोचिए, वह मोह कितना दृढ़बद्ध है कि तेरह दिनों का युद्ध हो जाने पर, इतने लोगों के वीरगति प्राप्त करने पर भी धनंजय ने अभी एक बार भी आचार्य द्रोण के वध का मन नहीं बनाया है।"

"क्या प्रमाण है तुम्हारे पास ?" द्रौपदी ने पूछा।

"इससे बड़ा प्रमाण और क्या चाहिए कि अभिमन्यु के वध के पश्चात् भी उन्होंने द्रोण को नहीं, जयद्रथ को मारने की प्रतिज्ञा की है।" करेणुमती बोली, "जयद्रथ मर भी गया तो क्या होगा ? द्रोण जीवित रहेंगे, कृपाचार्य जीवित रहेंगे, कर्ण, कृतवर्मा और वह दुःशासनपुत्र, जिसने अचेत अभिमन्यु के सिर पर गदा का प्रहार किया—वे सब जीवित होंगे; और हमारे भाइयों, पिताओं, पतियों और पुत्रों का वध करने का निरंतर प्रयत्न करेंगे। यदि कहीं धनंजय, आचार्य द्रोण के वध की प्रतिज्ञा करते तो कौरवों के आधे प्राण आज संध्या तक निकल जाते।"

"इसी से तो कह रही थी मैं कि हमें यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि धनंजय की दृष्टि में प्रमुख अपराधी जयद्रथ ही क्यों है।" देविका बोली, "ज़यद्रथ ने कल कोई भयंकर अपराध किया है अथवा धनंजय के मन में पहले से ही जयद्रथ के लिए मृत्यु दंड वर्तमान था, जो किन्हीं कारणों से विस्मृति के गर्त में खो गया था और अब यह अवसर पाकर वह उबल पड़ा है ?"

"बहुत संभव है कि वन में मेरे अपहरण के समय से ही धनंजय के मन ने जयद्रथ के लिए मृत्युदंड घोषित कर रखा हो।" द्रौपदी ने कहा, "मध्यम पांडव को अपना आक्रोश प्रकट करने का पर्याप्त अवसर मिल गया था, किंतु धनंजय कुछ नहीं कर पाए थे। संभव है कि धर्मराज के प्रभाव में उन्हें लगा हो कि हमें नृशंस नहीं होना चाहिए। पांचाली का अपहरण हुआ था और पांचाली छुड़ा ली गई, तो अब जयद्रथ का मरना आवश्यक नहीं है; किंतु पुत्र का वध उस खुरंड लगे घाव को छील गया। जमा हुआ रक्त फिर से बहने लगा और धनंजय को लगा हो कि किसी अपराधी को दूसरी बार क्षमा नहीं किया जा सकता। परीक्षित की पुनः परीक्षा बुद्धिमत्ता नहीं है। यह तो वह अपराधी है जो क्षमा का दान पा पश्चात्ताप नहीं करता, पहले से भी अधिक भयंकर हो उठता है।"

"यह भी तो हो सकता है जीजी !" देविका बोली, "कि धनंजय का सारा आक्रोश इस बात के लिए हो कि जयद्रथ ने स्वयं को अभिमन्यु का हत्यारा कह कर स्वयं को गौरवान्वित किया है। जिन लोगों ने मिलकर अभिमन्यु को मारा है, वे मन में कितने भी प्रसन्न हों, किंतु उनमें से किसी ने भी स्वयं को अभिमन्यु का हत्यारा कहने का

साहस नहीं किया है।"

"मैं भी एक बात कहूँ ?" विजया ने पूछा।

"क्यों न कहो।" बलंधरा हँसी, "तुम हमारे सबसे बुद्धिमान देवर सहदेव की सहधर्मिणी हो।"

विजया ने बलंधरा के परिहास पर ध्यान नहीं दिया, "मुझे ऐसा लगता है कि जिन छह महारथियों ने घेर कर अभिमन्यु का वध किया, उनमें से कोई भी इस पर गर्व नहीं कर सकता। उनमें से किसी के लिए भी यह वीरता का कृत्य नहीं है। उस दुःशासनपुत्र के लिए भी नहीं, जिसने छह महारथियों में घिरे क्षत-विक्षत और अचेत अभिमन्यु के सिर पर गदा का प्रहार किया। उन्होंने कोई असाधारण शौर्य का कार्य नहीं किया। सत्य कहा जाए तो उन्होंने एक प्रकार से कायरता का काम किया।" विजया ने रुककर उन सबको देखा, "एक जयद्रथ का ही काम ऐसा था, जो असाधारण था। इतना असाधारण कि उसे महादेव के किसी वर से प्रमाणित करने का प्रयत्न करना पड़ा। ऐसे में वीरता का दंभ करने वाले, स्वयं को अभिमन्यु का हत्यारा घोषित करने वाले, जयद्रथ को ही पहले दंडित करना आवश्यक है जो अपने श्मश्रु उमेठ रहा होगा। शेष लोग तो सिर लटकाए अपने कृत्य पर ग्लानि का अनुभव कर रहे होंगे।"

"बात तो एकदम ठीक कह रही है विजया !" द्रौपदी के स्वर में प्रशंसा का भाव था, "इसने सचमुच स्वयं को सहदेव की योग्य पत्नी सिद्ध कर दिया है।"

13

कृष्ण अपने मंडप में आ तो गए; किंतु उनका मन वहीं अर्जुन के मंडप में उसके आसपास ही मँडरा रहा था।...

आज अभिमन्यु की मृत्यु हो गई; पर कल क्या होगा ?... अर्जुन ने बहुत संकटपूर्ण प्रतिज्ञा कर ली थी। उसके प्रति उसके मन में कोई पश्चात्ताप भी नहीं था। अपनी भूल उसके ध्यान में ही नहीं आ रही थी। इस समय अपने आवेश के कारण वह आत्मविश्वास से परिपूर्ण था और जयद्रथ के वध के लिए कृतसंकल्प था। पर क्या उसका ध्यान अपने मार्ग की कठिनाइयों पर नहीं गया ?... पता नहीं ऐसी प्रतिज्ञाएँ करने से पूर्व ये लोग कुछ सोचते क्यों नहीं हैं। अर्जुन के मन में ऐसा संकल्प जागा ही था तो उसे वह मन में ही रखता और कल संध्या तक जयद्रथ के वध का पूरा प्रयत्न करता। इस सार्वजनिक घोषणा की क्या आवश्यकता थी। मन का आवेग उससे रोका नहीं गया... घोषणा ही करनी थी तो कहता कि वह संध्या समय तक जयद्रथ का वध कर देगा।... चितारोहण से इस शपथ को जोड़ने का क्या औचित्य था ?... अर्जुन का नियंत्रण नहीं है स्वयं पर। पुत्र की मृत्यु ने उसके संयम के सारे बंधन तोड़ दिए

हैं। भूल गया वह कि शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होती। भूल गया वह कि ये दैहिक संबंध भ्रम मात्र हैं। कैसे स्मरण रहता उसे यह सब। अभी उसका अहंकार पूर्णतः विगलित नहीं हो पाया है। ओह ! क्षत्रियों का यह अहंकार ! कोई भी किसी भी दिन विचलित हो जाता है।"'

कृष्ण के मन में तनिक भी संशय नहीं था कि अर्जुन सरलता से जयद्रथ का वध कर सकता था। जयद्रथ उसके सम्मुख पड़े, तब न। या फिर उन दोनों का द्वैरथ युद्ध हो। जयद्रथ का मस्तक काटने में अर्जुन को विशेष श्रम नहीं करना पड़ेगा। किंतु जयद्रथ उसके सम्मुख आएगा ही क्यों ? सारी कौरव सेना और सारे कौरव महारथी उसे घेर कर बैठ जाएँगे।"' उनके लिए अर्जुन को यमलोक भेजने के लिए इससे अधिक अनुकूल अवसर और क्या हो सकता है।"' अर्जुन ने जयद्रथ के वध की प्रतिज्ञा की है, किंतु अपने ही प्राणों को संकट में डाल लिया है।"'

अर्जुन की रक्षा कैसे हो ? कैसे बचाया जा सकता है अर्जुन को ? अर्जुन की रक्षा के लिए जयद्रथ का मरना अनिवार्य है। कौन मारेगा जयद्रथ को--कल संध्या से पूर्व ? कौन पहुँचेगा जयद्रथ तक सारी कौरव सेना को रौंद कर ? आचार्य द्रोण व्यूह-द्वार की रक्षा करेंगे। वे अर्जुन को कभी उसमें प्रवेश नहीं करने देंगे और अर्जुन उनका वध नहीं करेगा।"' तो फिर ?

कृष्ण को नींद नहीं आ रही थी। वे उठ बैठे और मंडप से बाहर निकल आए।

द्वारपाल भागता हुआ आया, "क्या बात है गोविंद ? आपको कुछ चाहिए ?"

"दारुक को बुलाओ।"

कृष्ण मंडप के भीतर आ गए। दारुक ने आने में देर नहीं की।

"गोविंद !"

"दारुक ! कल प्रातः शास्त्र की विधि से मेरे रथ को सावधानी से सुसज्जित करके मेरे साथ रणभूमि में चलना है।"

दारुक ने आश्चर्य से देखा : क्या कह रहे हैं गोविंद ? अपना रथ क्यों ?

"कौमोदकी गदा, दिव्य शक्ति, सुदर्शन चक्र, धनुष बाण, अन्य आवश्यक सामग्री सब रथ में रख लेना। गरुड़ध्वज भी लहरा देना। रथ में बलाहक, मेघपुष्प, शैव्य और सुग्रीव को ही जोतना और उन पर दृढ़ अयस के जाल डाल देना। शत्रुओं के बाण उन तक नहीं पहुँचने चाहिए।" कृष्ण ने उसकी ओर देखा, "तुम सन्नद्ध रहना और जैसे ही पांचजन्य का घोष सुनो, मेरे पास आ जाना।"

"आपकी आज्ञा का पालन होगा गोविंद ! किंतु आप रथ का क्या करेंगे ?" दारुक मौन नहीं रह सका।

"मैं कल वह उद्योग करूँगा, जिससे कुंतिपुत्र अर्जुन, सूर्यास्त से पहले जयद्रथ को मार डाले।"

"पर आपने तो युद्ध में शस्त्र न ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की थी।" दारुक बोला।

"जयद्रथ का वध तो अर्जुन ही करेगा।" कृष्ण बोले, "पर तुमने ठीक ही पूछा। मैं संध्या समय से ही सोच रहा हूँ कि मेरी प्रतिज्ञा महत्तर है अथवा धर्म ? मेरी आँखों के सम्मुख धर्म की हत्या होती रहे तो क्या मैं इसलिए शस्त्र ग्रहण नहीं करूँगा, क्योंकि उससे मेरी प्रतिज्ञा भंग होती है ? मैं अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा करता रहूँ, और धर्म की हत्या होते देखता रहूँ ? क्यों की थी मैंने प्रतिज्ञा ? इसीलिए तो कि उससे धर्म की रक्षा होती थी। अब मेरी प्रतिज्ञा से धर्म की रक्षा नहीं होगी। कल संध्या तक अर्जुन, जयद्रथ का वध न कर पाया तो वह चितारोहण कर अपने प्राण दे देगा। अर्जुन जीवित न रहा तो धर्म कैसे जीवित रहेगा। मुझे अर्जुन से अधिक प्रिय और कोई नहीं है। वह धर्म का रक्षक है। जो अर्जुन से द्वेष करता है, वह मुझसे द्वेष करता है। जो अर्जुन का अनुगामी है, वह मेरा अनुगामी है। अर्जुन तो मेरा आधा शरीर ही है।"

"वह तो ठीक है गोविंद ! किंतु आपकी प्रतिज्ञा ?"

कृष्ण क्षण भर को मौन रहे और फिर बोले, "कई बार सोचता हूँ कि यह प्रतिज्ञा भी एक प्रकार का अहंकार तो नहीं है ?"

दारुक ने चकित दृष्टि से उसकी ओर देखा, क्या कह रहे हैं कृष्ण ?

"प्रतिज्ञा तो साधना होती है," अंततः दारुक बोला, "आप उसे अहंकार कैसे कह रहे हैं ?"

"व्यक्ति के संदर्भ में वह साधना हो सकती है; किंतु विश्व के संदर्भ में वह धर्म की रक्षा करती है क्या ?" कृष्ण बोले, "यदि साधक स्वयं को प्रतिज्ञा के बंधन में बाँध लेता है और वह धर्म की रक्षा के लिए मुक्त नहीं रहता तो मैं उसे धर्म कैसे मान सकता हूँ ?"

"पर केशव··· ।"

"यह सुनना अच्छा नहीं लगा ?"

"नहीं !" दारुक ने कहा।

"मेरे पिता ने कंस को यह वचन दिया था कि वे जन्म लेते ही अपनी प्रत्येक संतान उसे सौंप देंगे। वचन दिया था या नहीं ?"

"दिया था।"

"वह भी तो प्रतिज्ञा ही थी ?"

"हाँ गोविंद ! वह प्रतिज्ञा ही थी।"

"तो उन्होंने मुझे और बलराम भैया को कंस को क्यों नहीं सौंपा ?"

दारुक चुप रह गया।

"उन्होंने न क़ेवल हमें उसे सौंपा नहीं, उसे हमारे जन्म के विषय में ठीक सूचना ही नहीं दी।" कृष्ण ने उसकी ओर देखा, "क्या यह अनुचित था ? क्या यह प्रतिज्ञाभंग था ? क्या यह झूठ था ? क्या उन्हें हमारी रक्षा नहीं करनी चाहिए थी ?"

"यह कोई कैसे कह सकता है।" दारुक ने धीरे से कहा।

"धर्म को समझना बड़ा कठिन है दारुक !" कृष्ण बोले, "अनेक बार हम जिसे धर्म समझ रहे होते हैं, वह धर्म नहीं होता। धर्म तो वह है, जो सत्य को धारण करता है। एक व्यक्ति क्रोध न करने की साधना करे और अपना मान-अपमान न माने, यह तो ठीक है किंतु वह अपनी आँखों के सम्मुख असहाय बालक की हत्या और अबला स्त्री के साथ अत्याचार देखता रहे क्योंकि उसे क्रोध नहीं करना है तो यह धर्म कैसे हो सकता है।"

"पर धर्मराज ने तो द्यूतसभा में यही किया था।" दारुक जैसे सहमकर बोला।

"यही तो अंतर है मुझमें और धर्मराज में। उनके धर्म में और मेरे धर्म में।" कृष्ण बोले, "हमारा स्वधर्म पृथक् है। हमारी प्रकृति पृथक् है। मेरे रक्षणीय का युद्ध में शत्रु के हाथों अधर्मपूर्वक वध होता रहे और मैं शत्रु के बताए हुए युद्ध के नियमों की व्याख्या समझता रहूँ, यह मेरा धर्म नहीं है।"

दारुक मौन खड़ा रहा।

कृष्ण मुस्कराए, "तुम इस समय धर्म की मीमांसा में मत पड़ो। जो कहा है, वही करो। मैं धर्म की रक्षा में तत्पर हूँ, धर्म मेरी रक्षा कर लेगा। भीष्म का प्रतिकार करने के लिए भी मैं दो बार तत्पर हुआ था, किंतु उसकी आवश्यकता नहीं पड़ी थी। मैं प्रयत्न में हूँ कि इस बार भी अर्जुन को कहीं और से सहायता मिल जाए। मुझे स्वयं शस्त्र लेकर उसकी रक्षा न करनी पड़े। कौन जाने इस बार क्या हो, किंतु हमें प्रत्येक स्थिति के लिए तैयार रहना चाहिए।"

"आपकी इच्छा पूरी हो गोविंद।"

अर्जुन न भयभीत था न आशंकित; किंतु चिंतित तो वह भी था। कृष्ण की प्रतिक्रिया और अपने भाइयों की मुद्राएँ देखकर वह समझ गया था कि उसने एक कठिन प्रतिज्ञा कर ली थी। यद्यपि वह अपने मन में आश्वस्त था; किंतु कृष्ण की चिंता अकारण तो नहीं थी। क्यों चिंतित थे कृष्ण ? क्या उन्हें भी लगता था कि वह कल संध्या तक जयद्रथ का वध नहीं कर पाएगा ? वे उसकी क्षमता को कम आँक रहे थे अथवा कौरवों की शक्ति को कुछ अधिक ही समझ बैठे थे ?...

बहुत देर तक अर्जुन को नींद नहीं आई। यह अनिद्रा की स्थिति उचित नहीं थी। यह तो चिंता का लक्षण था। यद्यपि उसे गुडाकेश कहा जाता था और एक रात्रि की अनिद्रा उसके लिए तनिक भी हानिकारक नहीं थी; फिर भी सत्य यही था कि रात भर की अच्छी नींद, योद्धा को अगले दिन युद्ध में स्फूर्ति प्रदान करती थी।... पर क्या करे वह ? वह संकल्पपूर्वक रात भर जाग तो सकता था, पर सो जाना उसके अपने नियंत्रण में नहीं था।...

वनवास काल में महर्षि व्यास ने उसे महादेव संबंधी एक मंत्र दिया था।... सहसा अर्जुन का ध्यान उस ओर चला गया। क्या था वह ? कोई अज्ञात प्रेरणा ? किसी

अज्ञेय शक्ति का कोई रहस्यमय संकेत ? अथवा स्वयं व्यास जी की इच्छा ? वह नहीं जानता''' पर यदि सहस्रों मंत्रों में से उसे इसी एक मंत्र का ध्यान आया था तो उसे उसका मनन करना चाहिए।

अर्जुन ने शैया पर लेट कर अपने शरीर को ढीला छोड़ा तो मन स्वतः ही मंत्र पर एकाग्र होने लगा। एक विचित्र प्रकार की तन्मयता का अनुभव हुआ। लगा, मंत्र के शब्द बोलने लगे हैं। वे अपना अर्थ स्पष्ट कर रहे हैं। शब्द क्या थे, वे तो सृष्टि का रहस्य थे। शांति का सागर थे। मंत्र का जाप जैसे उन्मुक्त आकाश के नीचे खुले समुद्र के ऊपर अनायास परिश्रमशून्य स्थिति में लहरों पर आरूढ़ होने का आनन्द था'''

और सहसा कहीं से कृष्ण आ गए। अर्जुन ने उनकी ओर देखा। पर कहाँ थे वे लोग ? यह युद्धशिविर तो नहीं था। न उसका अपना मंडप था न कृष्ण का। वे द्वारका अथवा उपप्लव्य में भी नहीं थे। जाने कौन-सा स्थान था। पर उससे क्या। वे कहीं भी हो सकते थे। अंतरिक्ष में भी।'''

"तुम चिंता मत करो अर्जुन !" कृष्ण बोले।

"मुझे कोई चिंता नहीं है।" अर्जुन ने कहा, "क्या तुम्हें लगता है कि मैं चिंतित हूँ ?"

"चिंतित तो हो।" कृष्ण हँसे, "तुम्हारी समग्र चेतना एकाग्र होकर कल के युद्ध के संभावित परिणाम के विषय में सोच रही है। यह चिंता का ही लक्षण है।"

"युद्ध करना है तो क्या उसके विषय में सोचूँ भी नहीं।"

कृष्ण हँसे, "चिंतन करो, चिंता नहीं। जो कार्य करना हो, उसे प्रयत्नपूर्वक करो धनंजय ! उद्योगहीन मनुष्य की चिंता उसके शोक का दूसरा नाम है। शोक उसका सबसे बड़ा शत्रु है। शोक मित्रों को दुर्बल करता है और शत्रुओं को बल देता है।"

"मैं शोक नहीं कर रहा और न ही मैं जयद्रथ से भयभीत हूँ।" अर्जुन ने कहा, "पर चिंतित तो मैं हूँ। कौरवों के सारे महारथी और उनके सारे जीवित सैनिक जयद्रथ को घेर लेंगे तो मैं उसे देख भी पाऊँगा ? आजकल सूर्यदेव भी शीघ्र ही अस्त हो जाते हैं।''' सोचता हूँ कि यह प्रतिज्ञा न ही की होती।"

कृष्ण ने उसकी बात का कोई उत्तर नहीं दिया। वे आचमन कर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गए और बोले, "पाशुपत नाम का एक सनातन और उत्तम अस्त्र है। महादेव ने उससे ही सारे दैत्यों का वध किया था। यदि तुम्हें उसका ज्ञान हो तो कल तुम अवश्य ही जयद्रथ का वध कर सकोगे। और यदि तुम्हें उसका ज्ञान न हो तो मन-ही-मन भगवान महादेव की शरण ग्रहण करो। उनका ध्यान करो। उनसे याचना करो। उनकी दया के प्रसाद से तुम उस महान अस्त्र को प्राप्त करोगे।"

अर्जुन ने और कुछ नहीं पूछा। आचमन किया और धरती पर बैठ कर एकाग्र मन से भगवान शिव का चिंतन करने लगा।

अर्जुन धरती पर बैठा था, पर उसे लगा कि वह कृष्ण के साथ आकाश पर उड़ता

हुआ कहीं दूर जा रहा है। वह जानता था कि ऐसे उड़ना मनुष्य के लिए संभव नहीं है, किंतु इस समय उसे अपने उड़ने पर तनिक भी आश्चर्य नहीं हो रहा था। इस समय वे लोग बहुत ऊँचाई पर थे। हिमालय से भी ऊपर। कृष्ण ने उसकी भुजा थाम रखी थी। वे सहज गति से चलने के समान उड़ते जा रहे थे। नीचे कुबेर के उद्यान में कमलों से सुशोभित सरोवर थे। परम पावनी गंगा थी। अनेक आश्रम थे। वे लोग ब्रह्मतुंग पर्वत पर आए। शतशृंग पर आए और फिर शर्यातिवन आ गया। वे महामंद्राचल को भी पार कर गए। वे और भी ऊपर उठे और विष्णुपद आकाश में उड़ने लगे।

सहसा अर्जुन ने अपने तेज में प्रज्वलित एक पर्वत देखा। विचित्र पर्वत था। चारों ओर केवल हिम का प्रसार था और पर्वत इस प्रकार प्रज्वलित था, जैसे सूर्य अपने संपूर्ण तेज में दिप रहा हो। अर्जुन पूछना ही चाहता था कि कृष्ण उसे कहाँ ले आए हैं कि उसने देखा कि उस पर्वत के एक शिखर पर स्वयं भगवान महादेव, जगदंबा पार्वती के साथ विद्यमान थे। उस स्थिति में भी उन्होंने अपने एक हाथ में धनुष धारण कर रखा था।

वे दोनों स्वतः ही महादेव के सम्मुख पहुँच गए। उसके लिए कोई आयास नहीं करना पड़ा। उन्होंने भगवान महादेव के सम्मुख भूमि पर माथा टेक कर प्रणाम किया और उनकी स्तुति करने लगे। अर्जुन समझ नहीं पा रहा था कि वे लोग कौन-से मंत्र पढ़ रहे हैं। कौन-सी स्तुति थी वह। पर उसके मन में जैसे शरणागति का भाव था। वह तो यही जानता था कि वह भगवान महादेव की शरण में आया था और कह रहा था कि वे उस पर कृपा करें।...

सहसा शिव मुस्कराए, "जानता हूँ कि तुम मेरी शरण में आए हो। मैं प्रसन्न हूँ तुमसे। वैसे भी जिस पर श्रीकृष्ण की कृपा है, मैं उसके प्रतिकूल कैसे हो सकता हूँ। जो माँगना है, माँग लो। आज तुम्हारा मनोरथ मैं पूर्ण कर दूँगा।"

अर्जुन ने कुछ नहीं कहा। कृष्ण कहेंगे ?... पर कृष्ण थे कि कुछ कह ही नहीं रहे थे। अर्जुन की जिह्वा थी कि तालू से चिपक गई थी और मन रटता जा रहा था, "प्रभो ! मैं आपसे दिव्य अस्त्र प्राप्त करना चाहता हूँ।..."

महादेव के अधरों पर ऐसी स्मिति आई, जैसे संपूर्ण सृष्टि पर सहस्रों इंद्रधनुष उग आए हों। वे बोले, "तुम्हारा काम्य तुम्हें दे रहा हूँ। जाओ कृष्ण ! मेरा धनुष बाण ले आओ।"

महादेव के पार्षदों ने उनको घेर लिया और एक विशिष्ट मार्ग पर ले चले। वे लोग एक दिव्य सरोवर के तट पर आए, जिसमें अपनी ही आभा से ज्योतित सहस्रों नाग क्रीड़ा कर रहे थे। उनमें से एक जो सबसे बड़ा था वह सूर्यमंडल के समान प्रकाशित हो रहा था और दूसरा नाग मुख से अग्नि उगल रहा था।

आचमन कर और महादेव शिव को मन-ही-मन प्रणाम कर वे दोनों उन नागों के समीप चले गए और शतरुद्री मंत्रों का पाठ करने लगे।

सहसा ही पहला नाग एक विराट धनुष में और दूसरा एक बाण में परिणत हो गया। कृष्ण और अर्जुन ने उन्हें उठा लिया और वे लोग महादेव के पास लौट आए।

महादेव मुस्कराए तो उनके पार्श्व भाग से एक तेजस्वी ब्रह्मचारी प्रकट हो गया। उसके नेत्र पिंगल वर्ण के थे। उसका शरीर बलवान और नील लोहित वर्ण का था। उसने धनुष लेकर उस पर बाण चढ़ाया और उसकी प्रत्यंचा को विधिपूर्वक खींचा। अर्जुन ने उसका खड़ा होना, उसका अपनी मुट्ठी में धनुष पकड़ना, प्रत्यंचा को खींचना, सब कुछ पूरे ध्यान से देखा। भगवान महादेव द्वारा उच्चरित मंत्र को भी ध्यान से सुना और हृदयंगम किया।...

ब्रह्मचारी ने वे धनुष बाण भगवान महादेव की ओर बढ़ा दिए। ब्रह्मचारी विलुप्त हो गया और वहाँ सरोवर प्रकट हो गया। महादेव ने वे धनुष और बाण पुनः सरोवर में डाल दिए। अर्जुन को लगा, उन्होंने वे धनुष बाण सरोवर में नहीं डाले, उसके हृदय-सरोवर में तैरा दिए हैं।

उसने हाथ जोड़ दिए और उसकी आँखें मुँद गईं।

अर्जुन की आँखें खुलीं तो उषा के लक्षण प्रकट हो चुके थे। वह अपने मंडप में अपनी शैया पर लेटा था। न वहाँ कृष्ण थे, न महादेव, न वह पर्वत अथवा वह सरोवर।... तो क्या था वह ? उसने स्वप्न देखा था शायद। पर वह तो इतना जीवंत अनुभव था कि जीवन भी उतना सजीव नहीं होता।... तो क्या वह सत्य ही कृष्ण के साथ महादेव के पास गया था ? उनके स्थान पर ? क्या सत्य ही महादेव से उसे पुनः पाशुपतास्त्र की प्राप्ति हुई थी ?

अर्जुन हँसा।... वह सचमुच ही बहुत चिंतित है, जयद्रथ के वध को ले कर। उसे पाशुपतास्त्र का ज्ञान तो पहले भी था। जो उसके पास पहले से था, उसे पुनः प्राप्त कर क्या होगा ? उसकी चिंता कैसे-कैसे रूप बदलकर उसकी निद्रा में आई थी।... पर वह एक साधारण-सा स्वप्न ही तो नहीं था। स्वप्न ... स्वप्न का यह प्रभाव नहीं होता। स्वप्न तो समय के साथ अपने आप में ही धूमिल होता जाता है।... तो उसे क्यों लग रहा है कि उसका स्वप्न नहीं, चिंता कहीं तिरोहित हो गई है। उसे क्यों लग रहा है कि उसमें एक नई ऊर्जा और नए साहस का उदय हुआ है। उसे क्यों लग रहा है कि वह किसी परम पवित्र अनुभव की छाया में श्वास ले रहा है।... नहीं ! वह उसे एक स्वप्न मात्र ही नहीं मान सकता।... तो क्या यह कोई आध्यात्मिक अनुभव था ? कोई दिव्य दर्शन ? कोई रहस्यपूर्ण संकेत ? क्या उसके सूक्ष्म शरीर को कृष्ण भगवान महादेव के पास ले गए थे ?...

अर्जुन रहस्य के उस अनबूझ संसार में प्रवेश करना नहीं चाहता था। वह नहीं चाहता था कि रात भर की इस निद्रा से प्राप्त स्फूर्ति को वह उस उलझन को सुलझाने की प्रक्रिया में खो दे। वह जो कुछ भी था, उसके लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हुआ था। उसकी चिंता दूर हो गई थी और उसका आत्मबल पहले से कहीं अधिक बढ़ गया था।...

14

बाहुक प्रतीक्षा करता रहा; किंतु न तो श्रीकृष्ण का कोई संदेश आया और न उनके पांचजन्य का घोप ही सुनाई दिया। तो क्या उन्हें रथ और शस्त्रास्त्रों की आवश्यकता नहीं थी ? उन्होंने कहा था कि वे प्रयत्न करेंगे कि अर्जुन को कहीं और से सहायता मिल जाए।"'तो क्या धनंजय को कोई और सहायता मिल गई थी ?"'संभव है कि मिल गई हो।"'सहायक तो संसार में असंख्य हैं, किंतु श्रीकृष्ण जैसा कहाँ !

उसने अपना सिर झटक दिया। उसे क्या लेना-देना था इस बात से कि धनंजय को कहाँ से सहायता मिलनी थी और कहाँ से मिली। वह यहाँ सैन्य संचालन और प्रबंधन का दायित्व नहीं सँभाल रहा था। उसे दूसरों के काम में टाँग अड़ाने की क्या आवश्यकता थी।.अपना कर्त्तव्य कर देना चाहिए और वह उसने कर दिया था।"'यह तो अपने स्वामी की कुशलता की चिंता ही थी, जिसके कारण वह इतना सोच भीं लेता था; अन्यथा उसे अपने रथ और अश्वों की ही चिंता करनी चाहिए थी।"'

कृष्ण अपने मंडप से बाहर आए।

"तुमने रथ तैयार कर दिया बाहुक ?"

"हाँ गोविंद।" बाहुक बोला, "रथ प्रस्तुत है। अश्व जोतूँ ?"

"नहीं ! अब उसकी आवश्यकता नहीं है।" वे मुस्कराए, "काम के कारण रात भर सो नहीं पाए होगे।"

"हाँ ! सोने का पर्याप्त समय नहीं मिला।" बाहुक हँसा, "घर में एक बालक अस्वस्थ हो जाए तो सारी रात उसके सिरहाने कट जाती है। यह तो युद्ध काल का युद्ध शिविर है। यहाँ पूरी नींद कौन सो सकता है।"

"वह तो ठीक है बाहुक !" कृष्ण बोले, "पर व्यक्ति अपने काम की सार्थकता देखना चाहता है। तुमने सारी रात जाग कर रथ में शस्त्र सजाए होंगे और अब मैं वह रथ ले ही नहीं जा रहा। तुम्हें अच्छा तो नहीं लगेगा।"

बाहुक हँस पड़ा, "नहीं स्वामी ! ऐसी बात नहीं है। आप रथ ले जाते और युद्ध करते तो आपकी प्रतिज्ञा भंग होती। मैं कहाँ चाहता हूँ कि आप अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा न कर पाएँ।"

"तुम्हें मेरी प्रतिज्ञा की ही चिंता है, धर्म की नहीं ?"

"मेरे लिए तो आपकी प्रतिज्ञा ही धर्म है। उसकी रक्षा हो रही है तो धर्म की ही रक्षा हो रही है।"

"दार्शनिकों की सी बातें कर रहे हो बाहुक !" कृष्ण हँस पड़े, "तुम्हें यह चिंता नहीं है कि मैंने शस्त्र धारण नहीं किया तो अर्जुन की प्रतिज्ञा की रक्षा नहीं हो पाएगी। प्रतिज्ञा पूरी न हुई तो अर्जुन अपने प्राण दे देगा। यदि ऐसा हुआ तो उसके बिना मैं कैसे जीवित रहूँगा।"

"मैं मानता हूँ कि आप शस्त्र ग्रहण नहीं कर रहे तो इसका अर्थ है कि आप आश्वस्त हैं कि धनंजय की प्रतिज्ञा पूरी होगी।" बाहुक बोला, "जिज्ञासा बस इतनी-सी है कि धनंजय को बल कहाँ से मिला ?"

"बहुत चतुर हो।" कृष्ण फिर हँसे, "समझ लो कि मैंने अपनी प्रतिज्ञा अर्जुन की प्रतिज्ञा से जोड़ दी है। मेरी प्रतिज्ञा तब तक ही अभंग रह सकती है, जब तक अर्जुन धर्म की रक्षा में समर्थ है। धर्म ने अर्जुन की भुजा थाम ली है। शस्त्र उसका हो और नियंत्रण मेरा तो फिर मुझे शस्त्र थामने की क्या आवश्यकता है।" कृष्ण रुके, "जाओ, तुम विश्राम करो। सारी रात के जगे हो।"

"आप धनंजय के मंडप तक कैसे जाएँगे ?"

"मैं कोई अश्व ले जाऊँगा।"

"धर्मराज ! आचार्य द्रोण ने जयद्रथ से कहा है कि वह भूरिश्रवा, कर्ण, अश्वत्थामा, शल्य, वृषसेन, तथा कृपाचार्य के साथ, एक लाख अश्वारोही, साठ सहस्र रथ, चौदह सहस्र गज तथा इक्कीस सहस्र कवचधारी पदातिक सैनिकों को लेकर उनसे छह कोस की दूरी पर जा कर व्यूहबद्ध होकर सावधान रहे। वहाँ वह पूर्णतः सुरक्षित रहेगा।" सहदेव आज के युद्ध के लिए कौरव सेना की तैयारी की सूचनाएँ लाया था।

"और द्रोण स्वयं कहाँ रहेंगे ?" धृष्टद्युम्न ने पूछा।

"कल जयद्रथ व्यूह के द्वार पर था और आचार्य व्यूह के भीतर। आज वे द्वार पर रहेंगे और जयद्रथ व्यूह के गर्भ में छुप कर बैठेगा।" सहदेव बोला, "वे व्यूह के मुख पर रहेंगे। किसी को भीतर प्रवेश नहीं करने देंगे। धनंजय को भी नहीं। वे संध्या तक जयद्रथ को वैसे ही धनंजय की दृष्टि से ओझल रखेंगे, जैसे कुक्कुटी अपने शावक को अपने पंखों के नीचे छुपा कर रखती है।"

"जयद्रथ कहाँ है ?" अर्जुन ने पूछा।

"वह आश्वस्त होकर गांधार महारथियों से घिरा हुआ युद्ध के लिए उसी स्थान पर चला गया है, जहाँ जाने का निर्देश आचार्य ने किया है।"

"व्यूह के मुख पर और कौन-से प्रमुख योद्धा हैं ?" कृष्ण ने पूछा।

"डेढ़ सहस्र कवचधारी मतवाले गजों को लेकर दुर्मर्षण सेनाओं के आगे आकर खड़ा हो गया है। दुःशासन और विकर्ण भी अपनी सेनाओं के साथ व्यूह के अग्र भाग में खड़े हैं।"

"और आचार्य ने व्यूह कौन-सा रचा है ?" चेकितान ने पूछा।

"आचार्य ने चौबीस कोस लंबा और दस कोस चौड़ा चक्रगर्भ शकट व्यूह रचा है। उसके पिछले भाग में पद्म नामक एक गर्भ व्यूह बनाया गया है। पद्मव्यूह के मध्य भाग में सूची नामक एक और गूढ़ व्यूह बनाया गया है। सूचीमुख व्यूह के प्रमुख भाग में कृतवर्मा खड़ा किया गया। कृतवर्मा के पीछे कांबोजराज सुदक्षिण और जलसंध खड़े

हैं। उनके पीछे दुर्योधन और कर्ण एक लाख योद्धाओं के साथ शकट व्यूह के प्रमुख भाग की रक्षा के लिए खड़े हैं। उनके पीछे विशाल सेना के साथ स्वयं जयद्रथ, सूची व्यूह के पार्श्व में खड़ा है।"

अर्जुन ने सब कुछ चुपचाप सुना। थोड़ी देर मौन रहकर उसने कृष्ण की ओर देखा, "चलें ?"

कृष्ण मुस्कराए, "रथ और अश्व तो तैयार हैं। शस्त्रास्त्र रात को ही रखवा दिए थे। औषधियाँ और थोड़ा-सा अन्न और जल भी है। कुछ और चाहिए तो बोलो।"

अर्जुन हँसा, "इतनी तैयारी के साथ तो मैं कभी युद्ध करने नहीं गया।"

"ठीक कहते हो।" कृष्ण बोले, "पर आज का युद्ध सबसे भिन्न है। हमें चौबीस कोस लंबे व्यूह के अंतिम छोर तक संध्या से पहले पहुँचना है। एक-एक अंगुल भूमि पर युद्ध होगा। अश्व दौड़ेंगे अथवा रेंगेंगे, हम कह नहीं सकते। जयद्रथ तक पहुँचने के लिए प्रत्येक कौरव योद्धा से लोहा लेना होगा। लक्ष्य तक पहुँचने में कितना समय लगेगा, कौन जानता है।" कृष्ण ने उसकी ओर देखा, "एक बार हम उस व्यूह में प्रवेश कर गए तो नहीं जानते कि हमारे साथ कितने सहायक होंगे। कोई होगा भी या नहीं। कहीं से किसी प्रकार की सहायता आ भी पाएगी अथवा नहीं। ऐसे में अपने लिए, अपने अश्वों के लिए आत्मनिर्भर होना अच्छा होता है।"

धर्मराज सब कुछ देख और सुन रहे थे। उनकी चिंता बढ़ती जा रही थी।··· कल तो एक ही व्यूह था और पांडव सेनाएँ उसमें प्रवेश नहीं कर पाई थीं। परिणामतः उन्होंने अभिमन्यु खोया था। कहीं आज भी वे कल का ही इतिहास दुहराने तो नहीं जा रहे ? वे जानते थे कि जयद्रथ व्यूहों के गर्भ में बने व्यूह में छिपा बैठा था और अर्जुन को उस तक पहुँचना ही था। उस कार्य का संकट देखते हुए भी वे उसे रोक नहीं सकते थे। कैसे रोकते ? रोकने का अर्थ था, अर्जुन को चिता पर धकेलना। तो फिर क्या करें वे ?··· वे भी अपनी सारी सेना शकट व्यूह को ध्वस्त करने में लगा दें ? वहाँ द्वार पर द्रोण खड़े हैं और वे युधिष्ठिर को बंदी करना चाहते हैं।··· किंतु भयभीत रहकर तो युधिष्ठिर अर्जुन की सहायता नहीं कर पाएँगे।···

अर्जुन अपने रथ पर बैठ गया।

धर्मराज देख रहे थे। अर्जुन ने व्यूह की कोई चर्चा नहीं की थी। रणनीति पर विचार-विमर्श नहीं किया था।

"तुम कहाँ जा रहे हो अर्जुन ?"

"मैं तो वहीं जाऊँगा महाराज ! जहाँ जयद्रथ है।"

"वह तो ठीक है। पर क्या तुम्हारा एक अकेला रथ संपूर्ण कौरव सेना के विरुद्ध लड़ेगा।" युधिष्ठिर ने कहा, "हम भी योजना बनाकर तुम्हारे साथ चलते हैं।"

"नहीं।" अर्जुन बोला, "आप लोग प्रतिदिन के समान युद्ध करें। मुझे अकेले ही जयद्रथ तक जाने की अनुमति दें। मैं शकट व्यूह में प्रवेश करूँगा। आप सारा दिन

उसके मुख पर इतना दबाव बनाए रखें कि आचार्य द्रोण क्षण भर को भी अपना स्थान न छोड़ सकें। वे अपने स्थान से हिल भी न पाएँ। उन्हें मेरा पीछा करने का अवकाश नहीं मिलना चाहिए। इतना हो जाए तो मैं जयद्रथ का वध कर संध्या समय आपके चरण स्पर्श करूँगा।"

युधिष्ठिर ने प्रश्नवाचक दृष्टि से धृष्टद्युम्न की ओर देखा : उसकी आँखों में पूर्ण आश्वस्ति थी। भीम ने भी मुस्कराकर अपनी सहमति दे दी थी।

"तो फिर सात्यकि अर्जुन के साथ जाएँ।" युधिष्ठिर बोले, "चेकितान और युधामन्यु उसके पृष्ठरक्षक होकर जाएँ।"

"ऐसा ही हो महाराज !" धृष्टद्युम्न ने आज्ञा दे दी।

कृष्ण रथ पर बैठे तो सात्यकि भी रथ में आ चढ़ा। अर्जुन ने उसकी ओर देखा भर, कहा कुछ भी नहीं।

कृष्ण ने रथ हाँक दिया।

अर्जुन ने सात्यकि की ओर देखा, "युयुधान ! मैं वहीं जाऊँगा, जहाँ जयद्रथ मरने के लिए मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। मेरे लिए आज जयद्रथ का वध परम कर्तव्य है। किंतु धर्मराज की रक्षा का महत्त्व उससे कम नहीं है। मेरे लिए उचित था कि मैं धर्मराज के निकट रहकर उनकी रक्षा करता। पर तुम जानते हो कि आज वह संभव नहीं है। इसलिए युयुधान ! आज तुम मेरे साथ जाने के स्थान पर सब ओर से धर्मराज की रक्षा करो। मैं मानता हूँ कि मेरे द्वारा उनकी जितनी रक्षा हो सकती है, उतने ही सुरक्षित वे तुम्हारे साथ भी हैं। संग्रामभूमि में तुम साक्षात् श्रीकृष्ण के समान हो। महाराज की रक्षा के लिए मैं, एक तुम पर और दूसरे, प्रद्युम्न पर विश्वास कर सकता हूँ। जयद्रथ का वध मैं अकेला ही कर सकता हूँ, किंतु धर्मराज की रक्षा के लिए मैं तुम्हारा आश्रित हूँ।"

"ठीक है।" सात्यकि बोला, "किंतु आप जहाँ जा रहे हैं, वहाँ भी तो कम संकट नहीं है। धर्मराज ने भी कुछ सोच-समझ कर ही तो मुझे आपके साथ भेजा है।"

"वह धर्मराज का मेरे प्रति स्नेह है।" अर्जुन बोला, "एक प्रकार का मोह है। वे अपनी रक्षा से अधिक मेरी रक्षा के लिए चिंतित हैं।" अर्जुन रुका, "मैं तो एक योद्धा मात्र हूँ। महाराज के प्राण मुझसे अधिक मूल्यवान हैं। राजा की रक्षा सबसे पहले होनी चाहिए।"

"किंतु···।"

"देखो, जहाँ श्रीकृष्ण हैं और मैं हूँ, वहाँ कोई हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता, किंतु पीछे बहुत बड़ी हानि हो सकती है।" अर्जुन ने कहा, "तुम लौट जाओ। मैं धर्मराज को तुम्हारे ही भरोसे छोड़कर जा रहा हूँ। तुम पीछे यहाँ रहकर भी मेरा ही युद्ध लड़ रहे हो।"

सात्यकि ने कृष्ण की ओर देखा। कृष्ण ने बिना कुछ कहे, रथ रोक दिया। सात्यकि

उनका आदेश समझ गया। वह रथ से उतर आया। कृष्ण रथ को आगे बढ़ा ले गए।

समाचारवाहक ने आकर युधिष्ठिर को प्रणाम किया।

"क्या समाचार लाए हो ?" युधिष्ठिर ने धीरे से कहा, "सब कुशल है न ?"

"सब कुशल है महाराज !" समाचारवाहक बोला, "राजकुमार धनंजय की पहली भिड़ंत धृतराष्ट्रपुत्र दुर्मर्षण से हुई। उसके साथ एक सहस्र रथी सौ हाथी तीन सहस्र अश्वारोही और दस सहस्र पैदल सैनिक थे। वह व्यूह से बाहर निकलकर राजकुमार अर्जुन से डेढ़ हजार धनुष की दूरी पर खड़ा हो गया था। पता नहीं उसे द्रोण की सुरक्षा नहीं चाहिए थी अथवा वह स्वयं आचार्य की रक्षा करने का प्रयत्न कर रहा था। राजकुमार अर्जुन ने श्रीकृष्ण से दुर्मर्षण की ओर बढ़ने के लिए कहा। वे उसकी गजसेना को भेद कर कौरवों की सेना में प्रवेश करना चाहते थे।"

"पर अर्जुन से युद्ध करने के लिए दुर्मर्षण को भेजने का क्या अर्थ ?" युधिष्ठिर चकित थे, "वे लोग अर्जुन की वीरता को नहीं जानते अथवा दुर्मर्षण के विषय में उनको कोई भ्रम है। वे उसे अर्जुन के समकक्ष योद्धा मानते हैं ?"

"मैं कह नहीं सकता महाराज !" समाचारवाहक बोला, "उनको कोई भ्रम रहा होगा तो अब दूर हो गया होगा। वह तो राजकुमार के बाणों का पहला रेला ही नहीं झेल पाया। वह मारा गया और उसकी सेना भाग गई। दुःशासन ने अपने भाई को इस प्रकार भूमि पर गिरते और कौरव सेना को भागते देखा तो वह राजकुमार अर्जुन को रोकने के लिए सामने आया। उसने अपने गजों से राजकुमार अर्जुन को घेर लिया। किंतु राजकुमार अर्जुन ने उनके हाथी ऐसे मार गिराए जैसे वे मिट्टी के खिलौने रहे हों।"

"दुःशासन गज ले तो आया किंतु उसे उनका संचालन नहीं आता होगा।" युधिष्ठिर बोले।

"वह तो मैं नहीं जानता महाराज !" समाचारवाहक बोला, "परिणाम यह हुआ कि दुःशासन की सेना अपने नायक सहित भाग चली। अपनी रक्षा के लिए आचार्य द्रोण का संरक्षण पाने के लिए, वे शकट व्यूह के भीतर घुस गए।"

"तो अर्जुन को रोकने के लिए स्वयं आचार्य आए होंगे ?"

"हाँ महाराज ! राजकुमार अर्जुन ने आचार्य द्रोण के व्यूह पर आक्रमण किया। आचार्य को सम्मुख पाकर वे बोले, 'ब्रह्मण ! आप मेरा कल्याण चिंतन कीजिए। मुझे स्वस्ति कहकर आशीर्वाद दीजिए। मैं आपकी कृपा से ही इस दुर्भेद्य सेना के भीतर प्रवेश करना चाहता हूँ। आप मेरे लिए पिता पांडु, धर्मराज तथा श्रीकृष्ण के ही समान श्रद्धेय हैं। जैसे अश्वत्थामा आपके लिए रक्षणीय है, उसी प्रकार मैं भी आपसे संरक्षण पाने का अधिकारी हूँ। मैं आपके प्रसाद से इस युद्ध में जयद्रथ को मारना चाहता हूँ। आप मेरी इस प्रतिज्ञा की रक्षा कीजिए।' किंतु आचार्य ने किसी प्रकार की कोई कोमलता नहीं दिखाई। बोले, 'अर्जुन ! मुझे पराजित किए बिना जयद्रथ को जीतना असंभव है।'

उसके पश्चात् आचार्य ने राजकुमार को तनिक भी समय नहीं दिया। उन्होंने राजकुमार पर भयंकर आक्रमण किया। राजकुमार अर्जुन ने युद्धारंभ के रूप में अपने नौ बाणों से उनके चरणों में आघात किया। आचार्य ने राजकुमार के बाण काटे और राजकुमार तथा श्रीकृष्ण—दोनों को ही आहत कर दिया। राजकुमार अभी संभवतः युद्ध संबंधी किसी निर्णय के विषय में सोच ही रहे थे कि आचार्य ने उनके धनुष की प्रत्यंचा काट डाली और राजकुमार के घोड़ों, ध्वज और भगवान श्रीकृष्ण को भी बींध डाला।"

"आचार्य ने गांडीव की प्रत्यंचा काट डाली ? वह साधारण प्रत्यंचा नहीं है।" धिष्ठिर चकित थे, "पहली बार सुन रहा हूँ कि गांडीव की प्रत्यंचा किसी ने काट दी। पहले तो कभी किसी ने यह नहीं किया था।"

"संभव है कि ऐसा ही हो महाराज !" समाचारवाहक बोला, "पर उससे राजकुमार का उत्साह तनिक भी भंग नहीं हुआ। उन्होंने नई प्रत्यंचा चढ़ा ली और आचार्य से अधिक पराक्रम दिखाया। आचार्य ने अपने नाराचों से राजकुमार के वक्ष में गहरा घाव किया।…"

"मैं इसीलिए अर्जुन के आचार्य से लड़ने का विरोध करता हूँ।" युधिष्ठिर जैसे तड़पकर बोले, "वह अपने गुरु के प्रति कठोर हो नहीं सकता और वे अपनी क्रूरता नहीं छोड़ते। वह उनके चरणों को छूता है और आचार्य अपने नाराचों से उसके वक्ष पर घाव करते हैं। यह कोई युद्ध है।"

"आप चिंता न करें महाराज ! राजकुमार उससे तनिक भी शिथिल नहीं हुए।" समाचारवाहक बोला, "राजकुमार उस घाव से विह्वल अवश्य हो गए किंतु तत्काल ही उन्होंने आचार्य को भी घायल कर दिया।… इधर युद्ध हो रहा था और लगता है कि उधर श्रीकृष्ण मन-ही-मन अपने कर्तव्य का निश्चय कर रहे थे। उन्होंने राजकुमार से कहा, 'धनंजय ! आज समय बहुत मूल्यवान है। हमारी दौड़ सूर्यदेव के साथ है। हमारा अधिक समय यहाँ नहीं बीतना चाहिए। इन्हें छोड़ दो। इस समय महत्त्वपूर्ण यह है कि हम सबसे बचते हुए जयद्रथ के पास पहुँचें।' राजकुमार ने मुस्कराकर सहमति दे दी। श्रीकृष्ण ने रथ हाँका। उनके रथ ने आचार्य द्रोण की परिक्रमा की और वे बाणों की वर्षा कर आगे निकल गए। द्रोण चिल्लाते ही रह गए, 'अरे कहाँ जा रहे हो। तुम तो शत्रु को पराजित किए बिना नहीं लौटते थे।' धनंजय भी हँसे और बोले, 'सत्य है कि मैं शत्रु को पराजित किए बिना नहीं लौटता, किंतु आप मेरे गुरु हैं, शत्रु नहीं हैं। मैं आपका पुत्र सरीखा प्रिय शिष्य हूँ। इस जगत् में ऐसा कोई नहीं है जो आपको पराजित कर सके। और मुझे जयद्रथ तक पहुँचना ही है। मेरे पास कोई विकल्प नहीं है, आचार्य !' "

"अर्जुन के चक्ररक्षक उत्तमौजा और युधामन्यु भी साथ थे क्या ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"हाँ महाराज ! तब तक तो साथ ही थे। आचार्य ने उनकी ओर अधिक ध्यान

नहीं दिया था।'' समाचारवाहक बोला, ''जब राजकुमार आचार्य को पीछे छोड़ गए तो अपने स्थानों से आगे बढ़कर कृतवर्मा, कांबोजनरेश सुदक्षिण तथा श्रुतायु ने आगे आकर राजकुमार को रोका। आचार्य ने उनका पीछा करने का प्रयत्न किया। पर राजकुमार ने अपनी बाण वृष्टि से कृतवर्मा की सेना का त्वरित संहार किया। वे आचार्य को वहीं छोड़कर कृतवर्मा और सुदक्षिण के बीच में से होकर आगे निकल गए। कृतवर्मा ने उन्हें युद्ध में उलझाना चाहा तो श्रीकृष्ण ने तत्काल राजकुमार से कहा, 'हमारा अधिक समय यहीं व्यतीत न हो जाए। तुम कृतवर्मा पर दया मत करो अर्जुन ! वह मेरी पुत्री चारुमती का श्वसुर भी है और हमारा पुराना साथी भी। मथुरा में संघर्ष के दिनों में वह हमारे साथ था; किंतु अब वह अधर्म के पक्ष में खड़ा है। विलंब मत करो। इस समय संबंधी होने का विचार छोड़कर उसे मथ डालो।' राजकुमार ने कृतवर्मा का वध तो नहीं किया किंतु उन्हें मूर्च्छित अवश्य कर दिया। कृतवर्मा अधिक समय तक अचेत नहीं रहे। राजकुमार ने जब तक कांबोजों की सेना पर आक्रमण किया, तब तक कृतवर्मा की चेतना लौट आई थी। उसने राजकुमार के पृष्ठरक्षक युधामन्यु और उत्तमौजा को रोक दिया।…''

''अर्जुन ने कृतवर्मा को जीवित छोड़ दिया ?''

''हाँ महाराज !'' समाचारवाहक बोला, ''लगता है कि वे श्रीकृष्ण के समधी को मार कर चारुमती के लिए कठिनाई उत्पन्न करना नहीं चाहते थे।''

''यह अर्जुन ने अच्छा नहीं किया।'' युधिष्ठिर ने कहा।

दुर्योधन को लगा, उसकी सारी आशाओं पर पानी फिर गया है। कहाँ वह सोचता था कि अर्जुन आचार्य द्रोण को ही पार नहीं कर पाएगा और कहाँ वह दुर्मर्षण, दुःशासन और कृतवर्मा को पछाड़ता और अनेक राजाओं का वध करता हुआ, व्यूह के भीतर दूर तक धँस गया था। द्रोण अभी व्यूह के प्रवेश-द्वार पर ही डटे खड़े थे। क्यों ? ताकि वे अन्य पांडवों का प्रवेश भी सुविधा से करवा सकें ? न तो वे अर्जुन के पीछे आए थे और न ही उन्होंने किसी और के माध्यम से अर्जुन को रोकने का कोई प्रयत्न किया था। ये तो वैसे ही द्वारपाल थे जो प्रत्येक व्यक्ति को द्वार में प्रवेश करने देता है और स्वयं द्वार पर खड़ा-खड़ा ही समझता है कि वह अपने कर्तव्य का पालन कर रहा है। वे व्यूह के द्वार पर खड़े रहेंगे और भीतर अर्जुन जयद्रथ का वध कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर लेगा।… दुर्योधन को जयद्रथ की उतनी चिंता नहीं थी, जितनी अर्जुन की प्रतिज्ञा पूरी होने की। जयद्रथ को मरना है तो मरे। किसी के हाथों मर जाए, आत्महत्या कर ले, किंतु उसका वध अर्जुन के हाथों नहीं होना चाहिए। अर्जुन की प्रतिज्ञा किसी भी दशा में पूरी नहीं होनी चाहिए। उसे आज रात तक चितारोहण करना ही होगा, चाहे कुछ हो जाए। दुर्योधन ऐसा स्वर्ण अवसर नहीं खो सकता। यदि अर्जुन अपनी प्रतिज्ञा के हाथों नहीं मरा तो फिर उसको मारना कठिन होगा… यह बुड्ढा द्रोण जाने क्या करता रहता है।… इससे पीछा कब छूटेगा…

दुर्योधन अपनी व्यग्रता में बिना सहायकों और रक्षकों के अपना एकमात्र रथ दौड़ाता हुआ व्यूह के द्वार की ओर बढ़ा। उसने यह भी चिंता नहीं की कि उसकी इस दौड़ के कारण स्थान-स्थान पर विभिन्न वाहिनियों को व्यूह के नियमों के विरुद्ध इधर-उधर हट कर उसे मार्ग देना पड़ रहा है। उसका आचार्य के पास पहुँचना किसी भी व्यूह से अधिक महत्त्वपूर्ण था।

आचार्य पूरी निष्ठा से पांडवों की सेना को रोके हुए खड़े थे।··· दुर्योधन जैसे आपे में नहीं था। उसकी इच्छा हो रही थी कि अपने खड्ग से इस बुड्ढे ब्राह्मण का मस्तक काट ले अथवा अपनी गदा से इसकी छाती और पीठ को ठोंक कर एक कर दे। पर द्रोण व्यूह का द्वार रोके खड़े थे। उनको मारना किसी भी प्रकार दुर्योधन की समस्याओं को कम नहीं करता। अभी उसके सारे शत्रु जीवित और सक्रिय थे। अभी इस बुड्ढे की बहुत आवश्यकता थी उसको। इसको किसी भी प्रकार पीड़ित किया तो कृपाचार्य और अश्वत्थामा भी दुर्योधन के शत्रु हो जाएँगे।···

"गुरुदेव !" उसने स्वयं को बाँध कर, भक्ति दर्शाते हुए, अपना मस्तक द्रोण के सम्मुख झुका दिया, "अर्जुन हमारी इस विशाल सेना को मथ कर व्यूह के भीतर चला गया है। इसका अर्थ जानते हैं आप ?"

आचार्य द्रोण ने उसे देखा भर। कहा कुछ भी नहीं। उनके मन में पहले से ही यह आशंका थी कि अर्जुन के व्यूह में प्रवेश कर जाने के पश्चात् उसे रोकने अथवा उससे युद्ध करने के स्थान पर यह दुर्योधन तत्काल उनसे स्पष्टीकरण माँगने आ जाएगा।

"जयद्रथ मारा जाएगा उसके हाथों।" दुर्योधन चिल्लाकर व्यग्र स्वर में बोला, "अब अपनी बुद्धि से विचार कीजिए और बताइए कि अर्जुन के विनाश के लिए क्या करना चाहिए।"

द्रोण को दुर्योधन की यह भाव भंगिमा और उसका इस प्रकार चिल्लाना अच्छा नहीं लगा। एक वह अर्जुन है कि विरोधी पक्ष में होते हुए भी क्षण भर को नहीं भूलता कि वे उसके गुरु हैं और एक यह दुर्योधन है।··· पर यह कोई नई बात तो है नहीं। यह मूर्ख राजा युद्ध की सर्वाधिक संकटपूर्ण घड़ी में भी अपने सेनापति को उसके दोष बताने अथवा उसे धिक्कारने से नहीं चूकता। अपने सेनापति के गुण तो उसे दिखाई ही नहीं देते। कल अभिमन्यु का वध किया है, उसका श्रेय तो कोई देगा नहीं। आ गया यह बताने कि अर्जुन व्यूह में प्रवेश कर गया है।

"तुम्हें जयद्रथ को बचाना है या अर्जुन को मारना है ?"

दुर्योधन समझ गया कि द्रोण को उसका व्यवहार चुभ गया है। अपने स्वर को कुछ कोमल बनाता हुआ बोला, "इस भयंकर नरसंहार में जयद्रथ न मारा जाए, वैसा कोई उपाय कीजिए। आपका कल्याण हो। हमारा सबसे बड़ा सहारा आप ही हैं। जब से अर्जुन आप की सेना का व्यूह भेद कर आपको भी लाँघ कर आगे चला गया है, तब से जयद्रथ की रक्षा करने वाले योद्धा महान् संशय में पड़ गए हैं। अपनी यह इतनी

विराट और संगठित सेना मुझे व्याकुल और विनष्ट हुई सी प्रतीत हो रही है। यदि शत्रु इसी प्रकार हमारे व्यूहों को भेद कर सेना में घुसते रहे और उन्हें सब ओर सफलता मिलती रही तो मेरी इस सेना का अस्तित्व ही नहीं रहेगा।"

द्रोण ने दुर्योधन की ओर देखा। उन्हें लगा वह विक्षिप्त हो गया है। अर्जुन के इस प्रकार व्यूह भंग कर सेना में प्रवेश कर आने से जितना जयद्रथ भयभीत हुआ होगा, यह तो उससे भी अधिक आतंकित लग रहा है। जयद्रथ को केवल अपने प्राणों की चिंता है, यह तो सारी सेना को ही मृत मान चुका है।

और सहसा जैसे दुर्योधन के संयम का बाँध टूट गया, "ज्ञात है मुझे कि आप सदा पांडवों का हित साधने में तत्पर रहते हैं। बहुत प्यारे हैं वे आपको। जिसका सेनापति ही उसके शत्रुओं से प्रेम करे, वह राजा अपने लक्ष्य को कैसे पा सकता है। इसीलिए अपने कार्य की गुरुता का विचार कर मैं व्याकुल हो रहा हूँ।…" उसने रुककर द्रोण को देखा और बहुत समय से मन में संचित विष अपनी वाणी में उँडेल दिया, "मैं यथाशक्ति आपके लिए सर्वोत्तम जीविका की व्यवस्था करता रहता हूँ। क्या नहीं दिया मैंने आपको। राजाओं के समान प्रासादों में रहते हैं आप। मणि-माणिक्य में खेलते हैं। सेवकों और दासियों का सुख भोगते हैं। शक्ति भर आपको प्रसन्न रखने की चेष्टा करता रहता हूँ, परंतु आपको कुछ स्मरण ही नहीं रहता।" उसका आवेश कुछ और प्रबल हो उठा, "हम आपके चरणों में सदा भक्ति रखते हैं किंतु तब भी आपके मन की मरुभूमि में हमारे लिए प्रेम का एक अंकुर भी नहीं फूटता। उसके विपरीत जो सदा हम लोगों का अप्रिय करने में तत्पर रहते हैं, हमारे शत्रु हैं, उन पांडवों को आप निरंतर प्रसन्न रखते हैं। जिस थाली में खाते हैं, उसी में छेद करते हैं। हमारा ही खाते हैं और हमारा ही अप्रिय करने में लगे रहते हैं। मैं नहीं जानता था कि आप मधुवेष्टित छुरे के समान हैं। आप पर विश्वास नहीं किया जाना चाहिए था।…"

"तुम्हारी चेतना कुछ दूषित हो रही है राजन् ! या प्रातः ही अधिक सुरापान कर लिया है कि मर्यादा लाँघ रहे हो।" द्रोण ने उसे घूर कर देखा, "ऐसा क्या किया है मैंने कि तुम्हारी जिह्वा विष उगलने लगी है ?"

द्रोण का निष्कंप स्वर दुर्योधन को बाण के समान लगा। उसका रहा-सहा नियंत्रण भी उसका साथ छोड़ गया, "यदि आप मुझे अर्जुन को रोके रखने का वर न देते तो मैं अपने राज्य में लौटने को आतुर सिंधुराज जयद्रथ को कभी यहाँ न रोकता। मैंने मूर्खता की। आपका संरक्षण पाने का भरोसा करके जयद्रथ को आग्रहपूर्वक यहीं रोक लिया और इस प्रकार मोहवश उसे मृत्यु के हाथों में सौंप दिया। यह विश्वासघात…"

सहसा दुर्योधन अपने आपे में आया। उसे स्मरण हो आया कि वह युद्धक्षेत्र में खड़ा है। वह एक कठिन घड़ी में द्रोण से सहायता माँगने आया था। यह सब कुछ उसके मन में था, किंतु यह सब कहना तो नहीं था। यह सब तो उसे तब कहना है, जब पांडव मारे जाएँगे। वह संसार विजेता होगा और इस बुड्ढे की उसे कोई आवश्यकता

नहीं रहेगी। जिस दिन वह इसे हिमालय के लिए विदा करेगा, उस दिन कहने की बातें हैं, ये सब। आज ही कैसे कह गया। इससे तो यह अभी उठकर जाएगा और अर्जुन के पक्ष से लड़ने लगेगा। यही तो चाहता है यह। इसे पलटने में क्या समय लगेगा। क्षण भर में कह सकता है कि इसे धर्म क़ा भान हो गया है। वह अपनी भूल सुधारने लगेगा और दुर्योधन मारा जाएगा।

"आप समझ रहे हैं न आचार्य !" सहसा उसका स्वर बदल गया, "मैं अपने संकट को देखकर विक्षिप्त हो गया हूँ। बुद्धि ऐसी भ्रष्ट हुई है कि मेरी समझ में ही नहीं आता कि मैं क्या कह रहा हूँ। क्या कर रहा हूँ। आपको मुझ पर तनिक भी दया नहीं आती क्या ? कोई तो ऐसा प्रयत्न कीजिए, जिससे जयद्रथ की मृत्यु से रक्षा हो सके।" वह आचार्य के और भी निकट आ गया और हाथ जोड़कर बोला, "आप ही मेरी मानसिक स्थिति को समझ सकते हैं आचार्य ! आर्त होकर व्यक्ति क्या कह जाएगा, क्या कर जाएगा, उसे स्वयं ही पता नहीं होता। मैंने अभी जो प्रलाप किया है, उसके लिए क्रोध मत कीजिएगा। आप जानते ही हैं कि मैं क्रोध में कुछ भी बक जाता हूँ। उस समय जैसे मेरी चेतना ही लुप्त हो जाती है। वह सब मेरे उन्मत्त मस्तिष्क की ही उपज होती है, मेरे मन में वैसा कुछ नहीं होता।''' जैसे भी हो सिंधुराज की रक्षा कीजिए।"

इस दुर्योधन की भी नीचता की कोई सीमा नहीं है।''' द्रोण सोच रहे थे''' एक ओर धमकाता है, दूसरी ओर लोभ दिखाता है, तीसरी ओर हाथ जोड़कर दया की भिक्षा माँगता है। उसने उन्हें मधुवेष्टित छुरा कहा है और स्वयं अपने मन के कलुष को छिपाने के लिए अभी उनके पैरों पर गिर पड़ेगा और उनके पदत्राण चाटने लगेगा। जैसे ही स्वयं को समर्थ समझने लगेगा, उन्हें धिक्कार कर निष्कासित कर देगा। ये पिता-पुत्र स्वार्थ और अहंकार की साक्षात् मूर्ति हैं।

द्रोण बोले, "राजन् ! तुमने मुझे स्मरण दिलाया है कि तुम मेरे अन्नदाता हो। अच्छा ही किया, स्मरण दिला दिया। वैसे यह उसे स्मरण कराना चाहिए जो कृतघ्न हो। जिस मनुष्य में कृतज्ञता का लेश मात्र भी हो, वह इसे भूलता ही नहीं। मैं भी तुम्हें स्मरण करा दूँ कि गुरु को जो भी दिया जाता है, वह उसकी आजीविका नहीं होती। वह केवल गुरु दक्षिणा होती है।"

'हो गया बुड्ढा शुरू।'''' दुर्योधन ने मन-ही-मन कहा''' 'यहाँ युद्ध चल रहा है। प्रतिक्षण कोई न क़ोई मर रहा है और यह मुझे शास्त्र पढ़ाने बैठ गया। अभी यह भी पढ़ाएगा कि गुरु जिस समय शिक्षा देता है, तभी गुरु नहीं होता, वह आजीवन गुरु ही रहता है। माँ जब जन्म देती है, तभी माँ नहीं होती, वह आजीवन माँ ही रहती है। पढ़ा ले गुरु ! पढ़ा ले। मैं भी पढ़ाऊँगा, जब मेरा समय आएगा।'

"जो बातें तुमने कही हैं उनके लिए मैंने बुरा नहीं माना।" द्रोण बोले, "इसलिए नहीं कि तुम राजा हो अथवा तुम मेरे अन्नदाता हो। इसलिए भी नहीं कि तुम मेरे शिष्य हो। केवल इसलिए कि तुम मेरे पुत्र अश्वत्थामा के मित्र हो। मेरे लिए उसी के समान

हो। अपनी संतान की कटु से कटु बात सुन कर भी उसे क्षमा करना पड़ता है, क्योंकि उसे दंडित कर मनुष्य उस दंड को स्वयं ही भोगता है। अपनी पीड़ा से भी अधिक कष्टदायक पुत्र की पीड़ा होती है।" द्रोण रुके, "अब तुम सुनो कि अर्जुन हमारा व्यूह भंग कर कैसे सेना में प्रवेश कर गया। बताऊँ ?"

"बताइए।"

"अर्जुन के पास श्रीकृष्ण जैसा संसार का सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्कृष्ट सारथि है। उनके अश्व भी इस समरभूमि के सर्वोत्तम अश्व हैं। उतने तीव्रगामी और ऊर्जायुक्त अश्व और किसी के पास नहीं हैं। युद्ध में उनकी रक्षा के लिए जो जाल उन पर बिछाया जाता है, वह संसार के सर्वोत्तम अयस का बना हुआ है। किसी अयसकार को कम शुल्क दे कर जैसे-तैसे बनवाया गया जाल नहीं। उनकी रक्षा और देखभाल भी सबसे अच्छी की जाती है। यह काम श्रीकृष्ण सेवकों पर न छोड़कर स्वयं करते हैं। उनके अश्व तीव्रगामी ही नहीं, असाधारण रूप से प्रशिक्षित भी हैं। थोड़ा-सा भी अवकाश बनाकर अर्जुन तत्काल सेना में घुस जाता है। क्या तुमने देखा नहीं कि मेरे चलाए हुए बाण समूह अर्जुन से एक कोस पीछे पड़े हैं।" द्रोण हँसे, "अब स्वीकार कर ही लेना चाहिए कि मैं वृद्ध हो गया हूँ। अतः अब मैं उस त्वरित गति से रथ चलाने में असमर्थ हूँ, जिसकी आज के युद्ध में आवश्यकता है।"

"वह सब ठीक है।" दुर्योधन उनकी बातों से ऊब चुका था, "इस समय तो आप अर्जुन के पीछे जाइए और जा कर उसको किसी भी प्रकार रोकिए। जयद्रथ की रक्षा होनी ही चाहिए। मैंने उसे वचन दिया था कि हम उसकी रक्षा करेंगे।"

यद्यपि द्रोण कह चुके थे कि वे दुर्योधन की कटु से कटु बात सुन कर भी उसे क्षमा ही कर सकते हैं, किंतु उनको दुर्योधन का व्यवहार किसी भी प्रकार सहन नहीं हो रहा था। वे जानते थे कि जयद्रथ की रक्षा होनी चाहिए, पर उसका मूल्य क्या होगा ?... यदि द्रोण यहाँ से हट गए तो उनका व्यूह ध्वस्त हो जाएगा। अभी तो एक अर्जुन ही व्यूह में धँसा है, व्यूह ध्वस्त हो गया तो पांडव सेना का प्रत्येक महारथी उनके व्यूह के भीतर होगा और जयद्रथ के निकट पहुँचने की होड़ में लगा होगा।... तब क्या करेगा दुर्योधन ? उस पराजय का दायित्व वह स्वीकार कर लेगा ?... कभी नहीं।... वह फिर अपनी नीचता पर उतर आएगा। भूल जाएगा कि उसने अभी-अभी अपने व्यवहार के लिए आचार्य से क्षमा माँगी है।... वह फिर उन्हें आज की पराजय के लिए भी दोषी ठहराएगा। पांडवों के प्रति पक्षपात का आरोप लगाएगा। यह नीच ! धन के लोभ में अपने भाइयों की हत्या करवा रहा है इसलिए समझता है कि संसार का प्रत्येक व्यक्ति धन के लिए विश्वासघात कर सकता है।... अपनी अयोग्यता के लिए भी दूसरों को धिक्कारता रहता है...

"राजन् ! इस समय मेरी सेना के सामने कुंतीकुमारों की भारी सेना उपस्थित है। इसे छोड़कर जाऊँगा तो यह व्यूह ध्वस्त हुआ ही समझो।" वे मुस्कराए, "और महाबाहो !

मैंने सारे क्षत्रिय समाज के सम्मुख प्रतिज्ञा की है कि समस्त धनुर्धरों के देखते-देखते मैं युधिष्ठिर को बंदी बना लूँगा। इस समय अर्जुन यहाँ नहीं है। युधिष्ठिर अरक्षित है। वह मेरे सामने खड़ा है। ऐसी अवस्था में मैं व्यूह का द्वार छोड़कर अर्जुन से युद्ध करने नहीं जाऊँगा।"

"तो कौन रोकेगा उसे ?" दुर्योधन झल्लाकर बोला।

द्रोण की इच्छा हुई कि उससे पूछें कि क्या उसने केवल उनके भरोसे ही अर्जुन से वैर साधा था। द्यूत सभा में पांडवों का अपमान किया था, उनकी पत्नी को अपमानित करने का प्रयत्न किया था… उनकी शक्ति के ही विश्वास पर ?… तब तो ये सारे ही भाई बहुत वीर बने हुए थे और अब इससे अकेला अर्जुन नहीं सँभल रहा। जब भीमसेन अपनी गदा के साथ इस पर टूटेगा तो क्या करेगा यह ? तब 'माँ ! माँ !' कहकर चिल्लाएगा अथवा तब भी आचार्य को बुलाएगा…

"इस समय अकेला है वह।" द्रोण का स्वर भी कुछ ऊँचा हो गया, "और तुम सहायकों से संपन्न हो।" वे अपना स्वर सम पर ले आए, "तुम इस संपूर्ण जगत् के स्वामी हो। अतः डरो मत। जाकर अर्जुन से युद्ध करो। तुमने ही पांडवों के साथ वैर बाँधा है, अतः जहाँ अर्जुन गया है, वहाँ उससे युद्ध करने के लिए स्वयं ही शीघ्रतापूर्वक जाओ।"

दुर्योधन का मन हुआ कि आचार्य की इस बुद्धि पर वह रो पड़े। बोला, "जो अर्जुन आपको भी लाँघकर आगे बढ़ गया, वह मेरे द्वारा कैसे रोका जा सकता है। उस पर भी यदि आप इसे ही उचित मानते हैं तो मैं आपके एक दास के समान आपकी आज्ञा के अधीन हूँ। मर ही तो जाऊँगा। आप मेरी रक्षा नहीं करना चाहते तो फिर मुझे जीवित रहकर करना भी क्या है।"

द्रोण की इच्छा हुई कि हँस पड़ें इस दुर्योधन की मूर्खता पर। कभी तो यह राजा बन कर उनको स्मरण कराने लगता है कि वह उनका अन्नदाता है और कभी छोटे बच्चों के समान मचल-मचलकर भूमि पर एड़ियाँ रगड़ने लगता है। यह युद्धरत किसी राजा का व्यवहार है क्या ?

"राजन् ! रक्त बहाने से डरते हो ?" वे हँसकर बोले, "अपना रक्त बहाने से डरते हो ? वैसे अपना रक्त बहाए बिना तो दूसरों का रक्त नहीं बहाया जा सकता।"

दुर्योधन ने कुछ नहीं कहा। चुपचाप खड़ा उनकी ओर देखता रहा।

"तुम्हारा रक्त नहीं बहेगा, मैं उसका प्रबंध कर देता हूँ।" द्रोण धैर्यपूर्वक बोले, "मैं यह कवच तुम्हारे शरीर पर इस प्रकार बाँध देता हूँ जिससे युद्ध में अस्त्र तुम्हें चोट नहीं पहुँचा सकेंगे। इस कवच के रहते कृष्ण, अर्जुन अथवा कोई अन्य योद्धा तुम्हारा रक्त नहीं बहा सकेगा।" उन्होंने रुककर उसे देखा, "वैसे यह तो तुम जानते ही हो, शिक्षा की अवधि में तुम्हें अनेक बार बताया गया होगा कि युद्ध शस्त्रों से नहीं साहस और वीरता से लड़ा जाता है।"

द्रोण ने दुर्योधन के उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की और न दुर्योधन ने कोई उत्तर देने का प्रयत्न ही किया। द्रोण ने आचमन किया और मंत्रोच्चार के मध्य दुर्योधन के शरीर पर वह अद्‌भुत कवच बाँध दिया।

दुर्योधन ने कवच बँधवा लिया। वह मौन था किंतु उसका मन निरंतर द्रोण से विद्रोह कर रहा था। उसे द्रोण का अर्जुन से युद्ध करने के लिए जाना अस्वीकार करना तनिक भी अच्छा नहीं लगा था। एक राजा अपने शत्रु से भयभीत होकर काँपता हुआ सहायता के लिए अपने सेनापति के पास आए और सेनापति उसकी आज्ञा मानने से इंकार कर दे''' क्या अर्थ है इसका ? अब वह दुर्योधन को एक कवच बाँध कर बहलाना चाहता था। दुर्योधन की इच्छा हुई कि कहे, 'आचार्य ! युद्ध यदि शस्त्रों से नहीं लड़े जाते तो मंत्रों और कवचों से भी नहीं लड़े जाते। मैंने अर्जुन को रोक लिया तो अपने बल और पराक्रम से ही रोकूँगा। तब आप इसका श्रेय लेने मत आ जाइएगा कि आपने मुझे कवच बाँध दिया और मैं अर्जुन को पराजित कर पाया।'''' पर यह सब कहा नहीं उसने। ऐसा न हो कि बुड्ढा इस व्यूह को भी छोड़कर चल दे। एक स्थान पर पितामह लेटे हुए हैं, दूसरे किसी स्थान पर यह लेट जाए।''' इससे अधिक छेड़छाड़ उचित नहीं है।'''

दुर्योधन अपना रथ लौटा ले गया।

द्रोण कुछ निश्चिंत हुए। अब अर्जुन की चिंता उन्हें नहीं करनी थी। अब ज़ो करना हो दुर्योधन करे। एक प्रकार से अब उन्हें दुर्योधन की चिंता भी नहीं करनी थी। वे जहाँ थे, उन्हें वहीं बने रहना था। और उनके सम्मुख पांचालों, पांडवों तथा कैकेयों की सम्मिलित सेना खड़ी थी। उनका आक्रमण बड़े वेग से हुआ था और इतना तो आचार्य समझ ही रहे थे कि आक्रमणकारियों में से उनसे युद्ध करने के लिए रुकने का इच्छुक कोई नहीं था। वे उनको लाँघकर अर्जुन के पीछे जाने के इच्छुक थे। आज के युद्ध का केन्द्र बस जयद्रथ था। सारा कुछ उसी के जीवन और मृत्यु पर निर्भर था। पांडवों का एकमात्र लक्ष्य जयद्रथ का वध था और कौरवों की एकमात्र उपलब्धि उसे बचाना था।''' जयद्रथ के मारे जाने से दुर्योधन के योद्धा समाप्त नहीं हो जाते, न ही युद्ध का निर्णय हो सकता था, किंतु उससे पांडवों का मनोबल बहुत बढ़ जाता और दुर्योधन तो टूट ही जाता।'''

द्रोण ने आगे आकर उस आक्रमण को रोका। उनका ध्यान अधिकतर धृष्टद्युम्न पर ही था। एक वह ही था, जो कदाचित् उनको भी अपने युद्ध का लक्ष्य मान सकता था। प्रयत्न करके भी वे पांडवों के प्रति उतने कठोर नहीं हो सकते थे। और इस समय उन्हें यहाँ रोकने के लिए कोई दृढ़ आधार चाहिए था।''' युधिष्ठिर को बंदी करने के लिए''' युधिष्ठिर की रक्षा का दायित्व किसे दे गया है अर्जुन ? भीमसेन ? धृष्टद्युम्न ? सात्यकि ?'''पहले धृष्टद्युम्न का कोई प्रबंध करना आवश्यक था।'''

द्रोण ने पांचालों पर बाण-वर्षा आरंभ की। अन्य कौरवपक्षी योद्धाओं के लिए भी

पांचालों का विरोध ही अधिक सुविधाजनक था।"'

द्रोण को सामने देखकर धृष्टद्युम्न की आँखों में रक्त उतर आया।"' इस ब्राह्मण को मारे बिना उसके जीवन का कोई लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता था।"' धृष्टद्युम्न ने द्रोण पर प्रहार किया। लगा, द्रोण के चलाए हुए सारे बाण जैसे लौट रहे हों। कौरव सेना के लिए यह सर्वथा अप्रत्याशित था। द्रोण ने देखा, उनकी सेना के पैर जमने के स्थान पर उखड़ गए थे।"' उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि धृष्टद्युम्न के आक्रमण में ऐसा क्या था कि उनकी सेना में भगदड़ मच गई थी। उनकी सेना जैसे तीन भागों में बँट गई थी। सैनिकों का पहला दल पांडव योद्धाओं की मार खाकर कृतवर्मा की शरण में चला गया था। दूसरा दल जलसंध की ओर भागता हुआ दिखाई पड़ा; और जो बच गए वे द्रोण का अनुसरण करते रहे। विकर्ण, विविंशति, चित्रसेन इत्यादि ने भीम को घेरा। बाह्लीक ने द्रौपदेयों को रोका। दुःशासन सात्यकि से भिड़ गया, शल्य ने युधिष्ठिर पर आक्रमण किया। संजय ने चेकितान को रोका, शकुनि ने नकुल को, विंद और अनुविंद ने विराट को।"' और फिर जैसे युद्ध कुछ उलट गया। शिखंडी ने बाह्लीक पर आक्रमण कर दिया। किसी अज्ञात दिशा से घटोत्कच प्रकट हो गया और वह अलायुध पर टूट पड़ा।"'

दुःशासन स्वयं को बहुत अपमानित पा रहा था। अर्जुन को रोकने का उसका प्रयत्न सर्वथा असफल हो गया था। अर्जुन तो रोका नहीं ही जा सका, दुःशासन को सेना सहित भागना पड़ गया था। जब वह लौट कर आया तो अर्जुन वहाँ से बहुत दूर जा चुका था।"' उसके पास जाने तक तो वैसे ही संध्या हो जाएगी। पांडव सेना कौरवों का नाश करती रहेगी और वह अपना रथ दौड़ाता हुआ अर्जुन को खोजता रहेगा। उससे अच्छा तो है कि वह इस समय सात्यकि से ही निबट ले। वह भी तो स्वयं को अर्जुन और कृष्ण के समान योद्धा मानता है और उन दोनों का प्रिय भी है।"'

दुःशासन ने सात्यकि पर आक्रमण किया। बाण सीधा जाकर सात्यकि के वक्ष में लगा और उसने उसका कवच भी फाड़ दिया। घाव इतना गहरा था कि सात्यकि को हल्की-सी मूर्च्छा आ गई। किंतु सात्यकि को सचेत होने में अधिक समय नहीं लगा। वह उठ खड़ा हुआ और उसने बाणों की झड़ी लगा दी। दुःशासन के सारे शरीर से रक्त बह रहा था और वह सात्यकि से अपनी रक्षा की विधि सोच रहा था। व्यर्थ ही छेड़ दिया उसने सात्यकि को। योद्धा तो और भी इतने थे। वह किसी और से भी तो भिड़ सकता था।

तभी भीम ने जलसंध पर आक्रमण किया। युधिष्ठिर ने कृतवर्मा पर बाण चलाए। धृष्टद्युम्न ने अपना रथ द्रोण के रथ से लगभग सटा ही दिया। इतनी दूरी भी नहीं थी कि बाण मारा जा सके। तब धृष्टद्युम्न ढाल और तलवार ले रथ से कूदकर द्रोण के रथ पर जा चढ़ा। अपना एक पैर जूए के बीच में और दूसरा पैर घोड़े के पुट्ठे पर रखकर वह खड़ा हो गया। द्रोण के पास बचने अथवा सहायता पाने का कोई अवसर

नहीं था। उन्होंने कभी सोचा भी नहीं था कि धृष्टद्युम्न कभी इस प्रकार का दुस्साहस भी करेगा। उसका रथ टूट गया होता, उसके अश्व मारे गए होते, उसका धनुष कट गया होता तो उसका खड्ग और ढाल लेकर शत्रु पर टूट पड़ना कुछ समझ भी आता था; किंतु हाथ में धनुष बाण रहते और रथ के अक्षुण्ण बने रहने पर भी कोई खड्ग लेकर शत्रु के रथ पर इस प्रकार कूदता है। वह अपने सबसे बड़े शत्रु के दौड़ते हुए रथ पर खड़ा था। घोड़े और जूए पर पैर रख कर। हाथ भी खाली नहीं थे। उन्हें ढाल और तलवार ने उलझा रखा था। ऐसे में वह एक झटके से नीचे गिर सकता था और किसी रथ के चक्र अथवा घोड़ों के खुरों के नीचे कुचला जा सकता था।''' जाने वह किस प्रकार अपने स्थान पर स्थिर खड़ा था। कदाचित् द्रोण के प्रति उसका आक्रोश ही उसे इतना दुस्साहसी बना रहा था।''' आक्रोश से उसका चेहरा कैसा विकृत-सा हो रहा था। साक्षात् मृत्यु जैसा''' द्रोण की रीढ़ की हड्डी में एक सिहरन-सी दौड़ गई''' क्या उनके लिए यमराज का निमंत्रण आ गया है ? पर कैसी क्रूर मृत्यु ! धृष्टद्युम्न क्या उनका मस्तक खड्ग के एक झटके से काट देगा और फिर उसे अपने पैरों से ठुकराएगा ?'''

द्रोण ने निकट से मारे जाने वाले छोटे बाणों की अनवरत वर्षा आरंभ कर दी। वे अपने बाणों से उसे बींधने में सफल हो गए थे। धृष्टद्युम्न के पास अपनी रक्षा का कोई मार्ग नहीं था। या तो वे सीधा द्रोण पर कूद ही जाता और उनका धनुष बाण छीन लेता''' किंतु वह संभव नहीं था। उसके और द्रोण के मध्य, रथ के वे सारे अवरोध थे, जो रथी की रक्षा के लिए लगाए जाते थे। उसे अपना संतुलन भी बनाए रखना था। द्रोण के बाणों से स्वयं को बचाना भी था और फिर द्रोण पर आक्रमण करना था।'''

सात्यकि ने देखा, धृष्टद्युम्न का साहसिक कार्य उसको बहुत महँगा पड़ रहा था। वह हवा में तलवार भांज रहा था और द्रोण उसे अपने बाणों से गोद रहे थे।''' सात्यकि ने द्रोण पर जैसे बाणों की वर्षा ही कर दी।''' द्रोण का ध्यान उधर से हटा और धृष्टद्युम्न उनके रथ से नीचे कूद गया। सात्यकि ने बाण मार कर धृष्टद्युम्न को द्रोण के चंगुल से बचा लिया था।

द्रोण को यह तनिक भी अच्छा नहीं लगा। अपनी मृत्यु को उन्होंने बहुत निकट से देखा था तो धृष्टद्युम्न भी काल के गाल में समा ही चुका था। उनकी मुट्ठी में आकर धृष्टद्युम्न सुरक्षित निकल गया था। दुर्योधन के लिए चाहे अर्जुन का मरना ही महत्त्वपूर्ण था; किंतु द्रोण तो धृष्टद्युम्न का वध करने को भी उतने ही व्याकुल थे। यदि कहीं वे धृष्टद्युम्न को रथ से गिरा पाते तो यह उनकी बहुत बड़ी उपलब्धि होती।

अब द्रोण का लक्ष्य सात्यकि ही था। इसी ने धृष्टद्युम्न को बचा लिया था। इसे न मारा तो यह हर बार धृष्टद्युम्न और युधिष्ठिर को बचा ले जाएगा। उन्होंने सात्यकि पर वेग से प्रहार किया। सात्यकि ने पलटकर द्रोण को छब्बीस बाण मारे। उसने द्रोण के धनुष की प्रत्यंचा काट दी। द्रोण ने नया धनुष उठा लिया, पर सात्यकि ने उसकी

भी प्रत्यंचा काट दी। द्रोण नया धनुष उठाते थे और सात्यकि उसे काट देता था। द्रोण इतने क्षुब्ध हुए कि उन्होंने सात्यकि के वध के लिए दिव्यास्त्र प्रकट किया। सात्यकि हँसा··· द्रोण समझते हैं कि दिव्यास्त्र उनके ही पास हैं। उसने वारुण नामक दिव्यास्त्र धनुष पर चढ़ा ही नहीं लिया, तत्काल उसे द्रोण पर छोड़ भी दिया।···

दोनों ओर से दिव्यास्त्र चलने के कारण हाहाकार मच गया। दोनों पक्षों से अपने-अपने योद्धाओं की रक्षा का प्रयत्न किया गया। युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव और भीम तत्काल सात्यकि की रक्षा के लिए दौड़े। अब तक धृष्टद्युम्न भी स्वस्थ हो चुका था। उसने विराट और द्रुपद के साथ पुनः द्रोण पर आक्रमण किया।

द्रोण को संकट में देखकर, दुःशासन के नेतृत्व में कौरव पक्ष के असंख्य राजकुमार उनकी रक्षा के लिए आए और पांडव सेनाओं से भिड़ गए।

15

अर्जुन और कृष्ण आगे बढ़ते चले गए थे।

पीछे का कोई समाचार अर्जुन को नहीं मिल सकता था, किंतु इतना तो स्पष्ट ही था कि कौरव हों या पांडव, आज दोनों ही पक्षों की रुचि व्यूह के द्वार पर होने वाले युद्ध में नहीं, जयद्रथ के आसपास होने वाले युद्ध में थी। अर्जुन को आश्चर्य हुआ, आचार्य ने आज उसका पीछा नहीं किया था। यह अर्जुन के प्रति उनके सौहार्द के कारण था अथवा वे जयद्रथ की रक्षा करना नहीं चाहते थे ? क्या वे भी अर्जुन की पुत्र-पीड़ा को समझते थे और चाहते थे कि अन्याय से अभिमन्यु का वध करने वालों को उसका दंड मिले ?··· नहीं ! ऐसा कुछ होता तो वे चक्रव्यूह का निर्माण ही क्यों करते। और आज भी उन्होंने कोई साधारण व्यूह नहीं रचा था।··· तो वे क्यों रह गए पीछे ? क्या धर्मराज को जीवित बंदी कर लेने के लोभ में ?··· वस्तुतः मूर्खता तो दुर्योधन की ही थी, जिसने आचार्य के लिए एक आकर्षण द्वार पर रख छोड़ा था और दूसरा उससे चौबीस कोस दूर व्यूह के गर्भ में। उनके लिए अर्जुन की प्रतिज्ञा पूरी न होने देने से अधिक आकर्षण अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने में था। तो वे अर्जुन के पीछे क्यों आते ? वे वहाँ धर्मराज को बंदी करने का प्रयत्न कर रहे होंगे ?

तो अर्जुन का यह निर्णय ठीक था क्या ? अब तक तो दुर्योधन ने षड्यंत्र रच कर संशप्तकों के माध्यम से उसे धर्मराज से दूर रखा था, किंतु आज तो अर्जुन अपनी इच्छा से धर्मराज को अकेला छोड़ आया था। कल अभिमन्यु के वध की सूचना पाने से पहले अर्जुन ने सोचा था कि अब संशप्तकों के द्वारा बुलाए जाने पर भी वह धर्मराज को अकेला छोड़कर नहीं जाएगा।··· पर तब अभिमन्यु के वध का समाचार मिला और उसने यह प्रतिज्ञा कर ली···

आज का अनुभव भी कुछ विचित्र ही अनुभव था। यह किसी व्यूह में प्रवेश करने जैसा नहीं था। यह तो शत्रु के स्कंधावार में प्रवेश करने जैसा था। जहाँ आपका एक अकेला रथ ही हो और चारों ओर शत्रु का शिविर। उसकी सेनाएँ। उसके महारथी। आपको कहीं यह सोचना ही नहीं है कि सामने किसकी वाहिनी है। यहाँ तो सारी वाहिनियाँ शत्रु की वाहिनियाँ थीं। सामने आए प्रत्येक सैनिक से युद्ध करना ही था। और कोई तो अर्जुन के पीछे अथवा उसके साथ नहीं ही आ पाया था, उसके पृष्ठरक्षकों को भी कृतवर्मा ने रोक लिया था।''' कौरवों के धावक सारे व्यूह में दौड़-दौड़कर समाचार पहुँचा रहे थे कि अर्जुन को रोकना है। ऐसे में अर्जुन यह अपेक्षा नहीं कर सकता था कि उसे कहीं अपने आप भी मार्ग मिल जाएगा। किसी को भी सामने देखकर बाणों से अपना मार्ग बनाना ही एकमात्र उपाय था। कृष्ण जानते थे कि उसी मार्ग में से उनको आगे बढ़ना था, वह चाहे कितना ही संकीर्ण क्यों न हो। वे रथ आगे बढ़ा लेते थे। उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकार के मंडल प्रकट कर अपनी दक्षता प्रमाणित कर रहे थे।

कृष्ण और अर्जुन दोनों ही समझ रहे थे कि उनके अश्व थक रहे थे और जयद्रथ अभी बहुत दूर था। इस समय बीच युद्ध के न तो अश्व बदले जा सकते थे और न ही उनको कुछ विश्राम दिया जा सकता था। परिणामतः उनकी गति मंथर होती जा रही थी। उसी का लाभ उठाया विंद और अनुविंद ने। थोड़े से अंतराल के पश्चात् उनके रथ अर्जुन को रोकने के लिए मार्ग के मध्य आ डटे।

"इन्हें बचाकर किसी कोने से निकल चलें कृष्ण ?"

"नहीं ! संभव नहीं होगा। इनसे तो निबट ही लो।"

अर्जुन समझ गया, कृष्ण उन्हें जीवित छोड़ना नहीं चाहते थे।

"मुझे दुर्योधन के प्रति इनकी निष्ठा कभी समझ में नहीं आई।" अर्जुन ने कहा, "मैं कभी समझ ही नहीं पाया कि ये हमारे इतने विकट शत्रु क्यों हैं।"

"ये न तुम्हारे शत्रु हैं, न दुर्योधन के मित्र हैं।" कृष्ण धीरे से बोले, "वस्तुतः इनकी निष्ठा जरासंध के प्रति थी और है। मैं जरासंध का शत्रु बना, इसलिए ये मेरे भी शत्रु हो गए। मेरे शत्रु तुम्हारे मित्र कैसे हो सकते थे ?"

"पर ये तुम्हारे शत्रु क्यों हैं ?" अर्जुन बोला, "तुमने इनका क्या बिगाड़ा है ? ये तुम्हारी बूआ के पुत्र हैं। तुम्हारी पत्नी के भाई हैं। फिर तुमसे स्नेह न कर तुम्हारे शत्रु क्यों हो गए हैं ?"

कृष्ण हँसे, "वैसे तो दुर्योधन भी तुम्हारे ताऊ का पुत्र है, उसे तुमसे स्नेह होना चाहिए।"

"उससे हमारा राज्य का झगड़ा है।" अर्जुन ने कहा, "तुम्हारा विंद और अनुविंद से वैसा कोई झगड़ा नहीं है।"

"ठीक कहते हो।" कृष्ण बोले, "कहने को कहा जा सकता है कि वे जरासंध

के पक्ष के थे और मैं जरासंध का विरोधी था। फिर वे अपनी बहन मित्रविंदा का विवाह दुर्योधन से करना चाहते थे, पर मित्रविंदा ने जयमाला मेरे कंठ में डाल दी; और मैं उसका हरण कर लाया।''' विरोध तो प्रत्यक्ष ही है, पर मैं जानता हूँ कि मूलतः विरोध यह नहीं है।''

''विरोध यह नहीं है ?''

''नहीं।'' कृष्ण बोले, ''यह कोई विरोध नहीं होता। विरोध का कारण जानने के लिए पूछना होगा कि वे मित्रविंदा का विवाह मुझसे होने देना क्यों नहीं चाहते थे ?''

''हाँ !...''

''उसका कारण वही है, जो तुम लोगों के प्रति कर्ण के विरोध का कारण है।'' कृष्ण बोले, ''कर्ण ने आँखें खोलीं तो धृतराष्ट्र और दुर्योधन को राजा और राजकुमार के रूप में देखा। उसके मन में उनके लिए भक्ति जागी। तुम लोगों को उसने निर्धन वनवासी और धृतराष्ट्र के निर्धन आश्रित संबंधियों के रूप में देखा। उसका मन तुम्हें आज भी वैसा ही दीनहीन और निर्धन देखना चाहता है। परिवर्तन अथवा विकास स्वीकार नहीं उसे। वह तुम्हारा वैभव का अधिकार मानने को तैयार नहीं है। वैसे ही विंद और अनुविंद के लिए मैं उनके निर्धन मातुल का पुत्र हूँ, जो निर्धन गोपों के घर पला। वह न मेरे पिता का महत्त्व मानने को तैयार हैं और न मेरा। वे हमें अपने राजसमाज का अंग मान ही नहीं पाए। मनुष्य जब पहली बार किसी से मिलता है तो उसके उस रूप और स्थिति को स्वीकार कर लेता है। उसके पश्चात् उसके विकास और परिवर्तित स्थिति को स्वीकार करना नहीं चाहता। जब ऐसे किसी व्यक्ति का महत्त्व स्वीकार करने का अवसर आता है तो उसे स्वीकार करने के स्थान पर वह उससे ईर्ष्या करने लगता है। यहाँ तक रहे तो भी ठीक। किंतु जब वह इसी कारण से किसी का शत्रु हो जाए और उसके प्राणों का हरण करना चाहे तो वह अधर्म और अपराध की ओर झुक जाता है; और तब उसका प्रतिरोध करना पड़ता है। इसलिए तुम विंद और अनुविंद को मेरी बूआ के पुत्र अथवा मेरे श्यालक के रूप में मत देखो। वे शत्रु हैं, अधर्मी तथा अपराधी हैं।''

विंद और अनुविंद के बाण आकर उनके रथ से टकराए। कृष्ण और अर्जुन दोनों को ही घाव लगे। पर बाणों का मुख्य लक्ष्य कृष्ण ही लगते थे।

'''ये अकारण शत्रु''' अर्जुन सोच रहा था''' अहंकार से उपजी अपनी इच्छा को दूसरों पर आरोपित नहीं कर पाए तो कृष्ण और अर्जुन के ही नहीं, धर्म के भी शत्रु हो गए। अब वे अर्जुन से भी पहले कृष्ण का वध करना चाहते हैं। ऐसे ही अभागों ने अपने मूर्ख व्यक्तिगत राग-द्वेष को इतने बड़े युद्धों का कारण बना दिया है और संसार के संहार के निमित्त बन गए हैं। इनको जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं है।'''

अर्जुन ने बाणों की झड़ी लगा दी। दोनों के रथों के पृष्ठरक्षकों तथा चक्ररक्षकों को मार कर अश्वों के भी प्राण ले लिए। दोनों के सारथियों के वक्ष में बाण का प्रहार किया और अंततः अर्जुन ने विंद को एक क्षुरप्र से मार कर रथ से नीचे गिरा दिया।

अनुविंद ने देखा, उसका भाई मर कर भूमि पर जा गिरा था। उसके अपने अश्व मारे जा चुके थे और सारथि रथ हाँकने की स्थिति में नहीं था। वह अपना अश्वहीन रथ त्याग कर, हाथ में गदा ले अर्जुन के रथ की ओर दौड़ा। अर्जुन समझने का प्रयत्न कर रहा था कि वह अर्जुन पर किस दिशा से प्रहार करना चाहता है कि उसने कृष्ण के ललाट पर अपनी गदा से प्रहार किया। अर्जुन को लगा प्रहार उसके वक्ष पर हुआ है।... कृष्ण अपने स्थान से जैसे कुछ पीछे धसक गए। उनके मस्तक ने ईषादंड का सहारा लिया, किंतु उन्होंने अश्वों की वल्गा नहीं छोड़ी।

अर्जुन के बाण ने पहले अनुविंद की वह भुजा काटी, जिसने कृष्ण पर प्रहार किया था। फिर वह भुजा काटी, जो मुष्टिका बाँध कर प्रहार की मुद्रा में थी। उसके तीसरे और चौथे बाणों से उसके उरु काट डाले, जिनके बल पर वह उनके रथ की ओर दौड़ रहा था। और अंत में उसका मस्तक काट कर उसके प्राणों को उसके शरीर से मुक्त कर दिया।

रथ दौड़ता रहा। उनके सामने कोई नई वाहिनी नहीं थी और पीछे कुछ दूरी पर विंद और अनुविंद के सैनिक उनका पीछा करने की औपचारिकता का निर्वाह कर रहे थे।

रथ एक सुंदर से छोटे प्राकृतिक सरोवर के तट से लगता हुआ आगे बढ़ रहा था। यहाँ प्रकृति बहुत मनोहर थी। वृक्ष पानी के ऊपर झुके हुए थे। अनेक वृक्षों पर सुंदर लताएँ झूल रही थीं। वृक्षों की हरीतिमा और उनके आसपास खिले हुए रंग-बिरंगे पुष्प आँखों और मन को अद्‌भुत उल्लास से भर देते थे।

"इतने दिन युद्ध करते हो गए, हम इधर तो कभी आए ही नहीं।" अर्जुन ने कहा, "आज लग ही नहीं रहा कि हम समरभूमि में खड़े हैं।"

"विंद और अनुविंद के सैनिकों का व्यवहार तुम्हें चकित नहीं कर रहा ?" कृष्ण ने पूछा।

"क्यों ?"

"विंद और अनुविंद के मारे जाने के पश्चात् थोड़ी देर तक उन्होंने हमारा उत्साहशून्य पीछा करने का नाटक किया था।"

"हाँ !"

"उसके पश्चात् उन्हें मार्ग में कहीं बिखर जाना चाहिए था किंतु अब अकस्मात् ही वे कुछ और उग्र हो गए हैं; और वस्तुतः हमारा पीछा कर रहे हैं।" कृष्ण बोले।

"हाँ ! कुछ परिवर्तन तो है।" अर्जुन ने कहा, "कुछ और कौरव वाहिनियाँ भी उनसे आ मिली हैं।... पर केशव ! यह सरोवर कितना मनोरम है।"

"वह पिछला सरोवर तो छोटा था। यह दूसरा उससे भी बड़ा है।" कृष्ण बोले, "मन होता है, कुछ देर इसके तट पर बैठ जाएँ, पर हमें जयद्रथ तक पहुँचना है।"

"केशव ! मेरे घोड़े बाणों से पीड़ित होकर थक गए हैं और जयद्रथ अभी दूर

है।'' अर्जुन ने कहा।

''सोच तो मैं भी रहा था, फिर जाने संध्या तक अश्वों को विश्राम मिले न मिले।'' कृष्ण बोले, ''किंतु इन कौरव वाहिनियों ने हमें घेर रखा है।''

''घेर ही तो रखा है। कोई गंभीर युद्ध तो नहीं छेड़ रखा।'' अर्जुन ने उत्तर दिया, ''मुझे तो उनमें से कोई भी योद्धा बहुत आक्रामक और बहुत समर्थ प्रतीत नहीं होता। बस बाण चलाने का अभ्यास-सा कर रहे हैं या फिर अपने कर्तव्य की पूर्ति मात्र कर रहे हैं। तुम अश्वों को खोल लो केशव ! मैं इन लोगों को रोके रखूँगा।''

''मेरा विचार है कि वे भी तुम्हें रोके ही रखना चाहते हैं।'' कृष्ण मुस्कराए, ''एक तो जितना समय व्यतीत होता जाएगा, वह उनके लिए प्रसन्नता का विषय होगा और दूसरे उन लोगों ने दुर्योधन को सूचना भेज रखी होगी। वे और सेना और योद्धाओं के आगमन की प्रतीक्षा में होंगे।''

''ठीक है। उन्हें आने दो।'' अर्जुन भी मुस्कराया, ''वे मुझे घेरे रहेंगे और मैं उन्हें रोके रहूँगा।''

अर्जुन ने अपने कंधों पर तूणीर बाँध लिए और रथ से उतर आया।

कौरव सैनिकों की समझ में नहीं आया कि हुआ क्या है। अर्जुन के रथ के घोड़े जीवित और स्वस्थ थे। सारथि जीवित और समर्थ थे। तो वह रथ से उतर क्यों आया ? युद्ध में तो कोई रथ को इस प्रकार नहीं त्यागता।''' और तब उन्होंने देखा कि कृष्ण ने अश्वों को रथ से खोल लिया था। सबसे पहले उन्होंने अश्वों के शरीर में चुभे हुए बाण निकाले, घावों पर औषधि का लेप किया; और अपनी स्नेहमयी हथेलियों से उनके सारे शरीर में ऊर्जा का संचार किया। उसके पश्चात् वे उन्हें नहलाने के लिए सरोवर में उतर गए।

कौरव सैनिकों को लगा कि यह स्वर्ण अवसर था। अकेला अर्जुन भूमि पर खड़ा था। न तो वह रथ पर था कि वहाँ से सुरक्षित स्थान की ओर बढ़ जाएगा और न ही यहाँ उसका कोई सहायक था। वह कृष्ण को यहाँ असहाय छोड़कर भागेगा भी नहीं। उसे घेर कर बंदी भी बनाया जा सकता था और उसका वध भी किया जा सकता था।''' दूसरी ओर कृष्ण सर्वथा अकेले और निःशस्त्र थे। यदि उनके ही प्राण लिए जा सकें तो कौरवों की एक बड़ी उपलब्धि होगी।'''

कौरव सेना आगे बढ़कर दोनों सरोवरों के मध्य में आ गई। एक सरोवर उनके आगे था और दूसरा उनके पीछे। उनकी ओर से बाणों की झड़ी लग गई।'''

पर उनमें से आगे बढ़ने वाले सैनिकों को तत्काल पता लग गया कि जिस कृष्ण और अर्जुन को वे अपने सामने समझ रहे थे वे बाणों की एक प्राचीर के पीछे थे; और वह प्राचीर अलंघ्य थी। जिस किसी ने अपना पग उसके पार डालने का प्रयत्न किया, उसका रक्त सरोवर के जल में जा मिला।''' कृष्ण अपने अश्वों को नहला रहे थे और कौरव सैनिक कुछ नहीं कर सकते थे। कृष्ण अश्वों को दाना खिला रहे थे

और सैनिक कुछ नहीं कर सकते थे। न तो वे उनके निकट जा सकते थे और न उनके बाण ही उन तक पहुँच रहे थे।...

और तब कृष्ण अश्वों को लेकर अर्जुन के समीप आए।

"धनंजय ! इस सरोवर का जल अब अश्वों के पीने योग्य नहीं रहा। उसमें सैनिकों का रक्त आ मिला है। इन्हें पीने के लिए स्वच्छ जल चाहिए।"

"अभी लो।" अर्जुन ने कहा और उसके बाणों की प्राचीर कौरव सैनिकों के और निकट पहुँचने लगी। सैनिकों के पास भागने के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं था। वे अपने स्थान पर टिके रहते तो बाणों की प्राचीर में चिन दिए जाते।... उनके रथ और घोड़े पीछे हटते गए और अर्जुन तथा कृष्ण अपने अश्वों के साथ छोटे और स्वच्छ सरोवर के निकट आते गए। अश्वों ने अपनी इच्छा भर जल पिया और कृष्ण उन्हें टहलाते हुए रथ के पास ले गए। उन्होंने उन्हें रथ में जोता और रथ को लेकर अर्जुन के पास आ गए।...

अब अर्जुन और कृष्ण पुनः युद्ध के लिए तैयार थे। कौरव सैनिक खड़े देखते रह गए। न तो उनकी सहायता को कोई सेना आई थी और न ही कोई योद्धा। एक संदेशवाहक यह सूचना लेकर अवश्य आया था कि स्वयं राजा दुर्योधन अपनी विशिष्ट वाहिनियों के साथ अर्जुन के पीछे आ रहे हैं।...

16

"विदुर ! युद्ध के पहले दिन से मेरे मन में एक प्रश्न कुलबुला रहा है।" कुंती ने कहा।

"तो भाभी ! फिर इतने दिनों से उसका भार क्यों ढो रही हैं आप।" विदुर हँस पड़े, "क्या आपको लगता है कि मेरे पास उसका कोई उत्तर नहीं होगा।"

"हाँ ! और भाभी नहीं चाहतीं कि आपको अपने अज्ञान के लिए उनके सम्मुख लज्जित होना पड़े।" पारंसवी ने जोड़ दिया।

"यह अच्छी कही पारंसवी तुमने।" कुंती भी मुस्कराईं, "मेरे मन में हो न हो तुम उसे सब पर आरोपित कर ही दोगी।"

"अच्छा यदि यह बात नहीं है तो फिर आपने इतने दिनों से पूछा क्यों नहीं ?" पारंसवी बोली, "न पूछने का भी तो कोई कारण होना चाहिए।"

"कारण तो यही था कि मैं निश्चय नहीं कर पा रही थी कि वह प्रश्न पूछे जाने योग्य है भी या नहीं।" कुंती ने कहा।

"तो चलिए अब पूछ लीजिए।" विदुर हँसे, "रहस्यवाद काफी हो चुका।"

कुंती थोड़ी देर मौन रहीं, जैसे बात का छोर खोज रही हों। फिर बोलीं, "युद्ध की चर्चा होती है तो रथों, अश्वों और साथ ही योद्धाओं के ध्वजों की भी चर्चा

होती है।"

विदुर और पारंसवी दोनों ही एकटक उनकी ओर देख रहे थे।

"अर्जुन को कपिध्वज कहा जाता है।"

"हाँ।"

"यह भी कहा जाता है कि उसके ध्वज पर कपि का जो चित्र बना हुआ है, वह अत्यंत जीवंत है और वह वानर बहुत भयंकर है।"

"हाँ भाभी !"

"चित्र भयंकर है अथवा वानर भयंकर है ?"

"वे दोनों पृथक्-पृथक् हैं क्या ?" पारंसवी हँस पड़ी।

"कहा तो कुछ इसी प्रकार जाता है।" कुंती ने कहा, "कोई-कोई तो यहाँ तक कह देता है कि युद्ध की अवधि में उस वानर ने अनेक बार अपना क्रोध प्रकट भी किया है। उसके उस क्रोध को देखकर शत्रुओं में भय का संचार भी हुआ।"

पारंसवी ने उसकी पुष्टि के लिए विदुर की ओर देखा।

विदुर ने सहमति में सिर हिला दिया।

"तो ऐसे में यह कैसे कहा जा सकता है कि वह एक भयंकर वानर का चित्र मात्र है ?" कुंती ने कहा, "कहा तो यह जाना चाहिए कि ध्वज़ा पर एक भयंकर वानर बैठा है।"

"पर कपड़े की फड़फड़ाती ध्वजा पर कोई वानर कैसे बैठ सकता है ?" पारंसवी ने कहा, "अथवा कहें कि ध्वजा किसी वानर का बोझ कैसे उठा सकती है ?"

विदुर मौन बैठे रहे।

"क्यों ? कोई उत्तर नहीं है न भाभी के प्रश्न का ?" पारंसवी ने छेड़ा।

"मैंने न कभी संसार के सारे प्रश्नों का उत्तर देने की योग्यता की घोषणा की है और न कभी इस प्रकार की चुनौती स्वीकार की है।" विदुर हँसे, "मैं तो यह सोच रहा था कि क्या भाभी ने कभी यह चर्चा नहीं सुनी कि वन में जब हनुमान भीमसेन को मिले थे तो उन्होंने पवनपुत्र होने के नाते अपने भाई को यह आश्वासन दिया था कि वे अर्जुन के ध्वज पर बैठे रहेंगे और अपनी गर्जना से उसके शत्रुओं को डराते रहेंगे।"

"सुनी है। यह चर्चा भी सुनी है।" कुंती ने कहा, "वस्तुतः यह सब कुछ उसी प्रश्न से जुड़ा हुआ है कि वहाँ सचमुच कोई वानर बैठा हुआ है क्या ?"

"सांसारिक दृष्टि से स्थूल भौतिक रूप में कोई वानर वायु में फड़फड़ाती किसी ध्वजा पर नहीं बैठ सकता।" विदुर ने कहा, "पर मेरा प्रश्न है कि इस दृष्टि से क्या किसी भी व्यक्ति का—चाहे वह व्यक्ति स्वयं हनुमान ही क्यों न हों—अपने उसी शरीर के साथ श्रीराम के समय से आज तक जीवित रहना संभव है ?"

"आपसे प्रश्न पूछने को नहीं, प्रश्न का उत्तर देने को कहा गया है।" पारंसवी

ने कहा, "जब कोई उत्तर नहीं सूझा तो प्रश्न पूछ कर हमें ही डराने लगे।"

"नहीं ! यह बात नहीं है पारंसवी।" विदुर बोले, "इन प्रश्नों का उत्तर मेरे प्रश्न में ही निहित है।"

"वाह ! क्या परिहास है कि उत्तर प्रश्न में निहित है।"

"ठहरो पारंसवी !" कुंती बोलीं, "तुम बहुत तंग करती हो मेरे देवर को।"

"लो, एक तो मैं उत्तर दिलवाऊँ फिर मैं ही दोषी कहलाऊँ।" पारंसवी बोली, "यह तो अच्छा न्याय है भाभी आपका। मैं व्यर्थ ही देवर भाभी के बीच पड़ी।"

कुंती ने पारंसवी के रूठने के नाटक की ओर ध्यान नहीं दिया और बोलीं, "यदि हम यह मान लें कि कोई मनुष्य श्रीराम के समय से आज तक अपना मानवीय शरीर धारण नहीं कर सकता तो हनुमान कैसे कर सकते हैं, तो हम कुछ बहुत मूल्यवान मान्यताओं के प्रति अश्रद्धावान नहीं हो रहे ?"

"नहीं !" विदुर बोले, "आप जानती हैं कि मेरे अपने व्यक्तित्व का निर्माण श्रद्धा तत्त्व से ही हुआ है। पर श्रद्धा को कुछ तर्क भी करना होगा। हम देखते हैं कि प्रत्येक प्राणी के जीवन की अवधि की एक मर्यादा है। उसे उसका अतिक्रमण नहीं करने दिया जाता। मनुष्य कितना भी दीर्घजीवी हो, उसे सहस्र वर्षों का जीवन नहीं मिलता।"

"पर हनुमान अमर हैं।" पारंसवी बोली, "उन्हें शाश्वत जीवन मिला है। अक्षर जीवन। अनश्वर जीवन।"

"हाँ ! हाँ !! मिला तो है। मैं कब उसे अस्वीकार कर रहा हूँ। हम यह मानें कि हनुमान को अक्षर जीवन मिला है और वे हमारे ही समान शरीर धारण करते है। ठीक है ?"

पारंसवी ने स्वीकृति में सिर हिला दिया।

"तो हमें यह भी मानना होगा कि वे किष्किंधा में किसी मुहल्ले के किसी भवन में अब भी रहते होंगे। वे कहीं से शाक क्रय करते होंगे। वे कुछ लोगों से मिलते होंगे। उनके शरीर की साधारण मनुष्यों के समान कुछ आवश्यकताएँ होंगी।''' वे उनकी पूर्ति के लिए भी प्रयत्न करते होंगे। अपनी आजीविका के लिए भी उन्हें कुछ कामों और कुछ लोगों पर निर्भर रहना होता होगा।''' पर है कोई ऐसा प्रमाण ? किसी ने उन्हें किष्किंधा की किसी वीथि में देखा है ? किसी हाट में किसी की उनसे भेंट हुई है ?"

"नहीं ! वे किष्किंधा में कहीं नहीं रहते। उनका वहाँ कोई भवन नहीं है। कोई रसोई नहीं है। वे किसी दुकान पर शाक और अन्न क्रय करने नहीं जाते।" पारंसवी ने कहा, "देवता इस प्रकार शरीर धारण नहीं करते।"

"ठीक यही बात मैं कह रहा हूँ।" विदुर मुस्कराए, "उनका जीवन हमारे समान स्थूल जीवन नहीं होगा। जो अमर होता है, वह ऐसे नश्वर शरीर में नहीं रहता। उनको एक प्रकार का दिव्य और सूक्ष्म जीवन मिला होगा, तभी तो वह अक्षर हो सकता है। ऐसी स्थिति में जो हनुमान वन में भीम को मिले, यदि वह भीम का स्वप्न अथवा कोई

दिव्य दर्शन नहीं था, तो वे सूक्ष्म शरीरधारी हनुमान ही होंगे। यदि हम उनकी कल्पना सूक्ष्म शरीर के रूप में करते हैं तो वे अपने उस शरीर से अर्जुन के रथ की ध्वजा पर भी बैठ सकते हैं। तब वह वानर का चित्र मात्र नहीं है। वे साक्षात् हनुमान हैं। वे अपना भाव भी प्रदर्शित करते होंगे। अपना हर्ष तथा क्रोध भी व्यक्त करते होंगे। यदि वे अपने स्थूल शरीर के साथ वहाँ होते तो अब तक समरभूमि में उतरकर दुर्योधन की सेना को नष्ट न कर चुके होते ?"

"तो आप यह मानते हैं कि हनुमान अपने सूक्ष्म शरीर में अर्जुन की ध्वजा पर वर्तमान हैं ?" पारंसवी ने पूछा।

"इसमें संदेह का कोई कारण नहीं है।" विदुर बोले, "सृष्टि में केवल स्थूल तत्त्व का ही तो अस्तित्व नहीं है। हाँ ! हमारे पास शरीर के रूप में जो यंत्र है, वह सूक्ष्म को बहुत कम पहचानता है, इसलिए वायुमंडल में कहूँ, अंतरिक्ष में कहूँ, सृष्टि में कहूँ, जो सूक्ष्म सत्य हैं, उनका साक्षात्कार बहुत कम लोग कर पाते हैं। हम अपने इस अपर्याप्त यंत्र को ही सर्वज्ञ मानते हैं, इसलिए सूक्ष्मता से न्याय नहीं कर पाते।"

"अच्छा विदुर ! मेरी दूसरी जिज्ञासा है कि यदि हनुमान अर्जुन के ध्वज पर वर्तमान हैं, अर्थात् वे अर्जुन के समर्थक हैं तो वे कौरवी सेना का नाश क्यों नहीं करते ? वे अर्जुन को ही नहीं कृष्ण को भी शत्रुओं के बाणों से आहत होते देख, कैसे चुप बैठे रहते हैं ?"

"संसार की गतिविधियों में हस्तक्षेप तो सूक्ष्म शक्तियाँ भी करती हैं भाभी ! किंतु उस प्रकार नहीं, जैसे स्थूल शक्तियाँ करती हैं।" विदुर बोले, "श्रीकृष्ण को देखो, वे तो मुझ और आप जैसा शरीर ही धारण करते हैं। फिर भी उनका हस्तक्षेप वैसा नहीं है, जैसा शेष योद्धाओं का है। अब कोई यह तो नहीं कह सकता कि इस युद्ध में उनका हस्तक्षेप नहीं है।"

"पर हनुमान को इस युद्ध में उपस्थित रहना ही था तो वे भीम के रथ के ध्वज पर क्यों विराजमान नहीं हुए, जो वायुपुत्र है।" पारंसवी ने कहा, "उनकी भेंट भी तो भीम से ही हुई थी।"

"मैं इसी बात को दूसरे कोण से पूछना चाहती हूँ।" कुंती ने कहा, "अर्जुन ने अपने ध्वज के लिए हनुमान को ही क्यों चुना ? वह विष्णु का गरुड़, शिव का नान्दी अथवा कार्त्तिकेय का मयूर भी तो चुन सकता था।"

"अब इन प्रश्नों के उत्तर तो या हनुमान दे सकते हैं या अर्जुन। मैं इस विषय में क्या कह सकता हूँ।" विदुर बोले।

"मैं बताऊँ ?" सहसा पारंसवी ने कहा।

"अच्छा तो प्रश्न भी तुम ही पूछोगी और उत्तर भी तुम ही दोगी।" विदुर हँसे।

"मैं समझती हूँ कि इसमें न तो अर्जुन की इच्छा काम कर रही है, न भीम और श्रीकृष्ण की।" उसने कहा।

"वह कैसे ?" कुंती ने पूछा।

"भीम से अपनी भेंट में हनुमान ने कहा कि वे अर्जुन की ध्वजा पर वर्तमान रहेंगे।" पारंसवी वोली, "यदि स्वयं भीम कहता तो वह यही कहता कि वे उसकी ध्वजा पर वर्तमान रहें। ठीक है।"

"बात तो ठीक ही लगती है।" विदुर बोले।

"ठीक उसी प्रकार अर्जुन ने तो हनुमान से नहीं कहा कि आप मेरी ध्वजा पर बैठें। वह ध्वजा तो उस रथ के एक अंग के रूप में ही थी।" पारंसवी ने कहा, "यह तो स्वयं हनुमान की ही इच्छा हो सकती है।"

"मैं समझी नहीं।" कुंती ने कहा।

"राम-रावण युद्ध में हनुमान ने अपने प्राण लगा दिए थे; तो जब राम, कृष्ण के रूप में निःशस्त्र होकर इस युद्ध के लिए आए तो हनुमान स्वयं को उनसे दूर कैसे रख सकते थे ?" पारंसवी ने कहा, "भक्त अपने भगवान को इस प्रकार संकट में जाते देखेगा तो क्या वह उनसे दूर रह सकेगा ? भक्त का शरीर सूक्ष्म हो अथवा स्थूल, उसकी सार्थकता तो भगवान की सेवा में ही है न !"

"भीम वेचारा तो यह समझता होगा कि उसके भाई होने के नाते हनुमान ने उसके दूसरे भाई की सहायता की, किंतु तुमने तो सारा चित्र ही वदलकर रख दिया।" कुंती ने कहा, "यहाँ तो सारा भक्तिशास्त्र ही आ गया।"

"हाँ ! वात तो भक्त के हृदय की है।" पारंसवी वोली।

"हम तो आज तक यही मानते आए कि भगवान अपने भक्त की रक्षा करते हैं और यहाँ भक्त अपने भगवान की रक्षा करने आ गया है।" कुंती हँसीं।

"रक्षा तो भगवान ही करते हैं भाभी !" विदुर बोले, "भक्त तो सेवा ही कर सकता है। शायद हनुमान वही कर रहे हैं। उनका सा भक्त और कहीं कोई है क्या ? वे जो कर रहे हैं, वह भक्ति का आदर्श ही होगा न !"

17

कौरव हताश हो चुके थे। तभी दुर्योधन अपना रथ दौड़ाता हुआ आया और अर्जुन को लाँघ कर उसके सामने जा खड़ा हुआ। वह तनिक भी हतोत्साहित अथवा निराश प्रतीत नहीं हो रहा था। उसका अदम्य आत्मविश्वास देखकर एक बार तो कृष्ण भी चकित रह गए। आज कौरवों में से किसी का भी आत्मविश्वास उन्हें सशंक कर देता था।

"पार्थ ! यदि तुम सचमुच पांडु के पुत्र हो तो आज मुझ पर अपने दिव्यास्त्रों का प्रयोग करके दिखाओ। तुममें और कृष्ण में जो बल और पराक्रम हो, उसे प्रकट करो।"

अर्जुन अपने मन में उपजे प्रश्न से जूझ ही रहा था कि दुर्योधन के इस असाधारण आत्मविश्वास का रहस्य क्या हो सकता है कि दुर्योधन ने बाण चलाकर कृष्ण का वक्ष छेद डाला और उनके हाथ के प्रतोद को काटकर भूमि पर गिरा दिया।

अब सोचने का समय नहीं था। अर्जुन के गांडीव से बाण छूटने लगे।" पर वे बाण दुर्योधन के शरीर को आहत करने के स्थान पर उससे टकराने के पश्चात् फिसलकर ऐसे भूमि पर गिर रहे थे, जैसे वे किसी शिला से टकराकर अपनी निष्फलता सिद्ध कर रहे हों।

कृष्ण ने चकित होकर अर्जुन की ओर देखा। अर्जुन ने न समझ पाने की मुद्रा में अपने कंधे उचका दिए और पुनः चौदह बाण मारे। उन बाणों की गति भी वही हुई। दुर्योधन इस प्रकार अटल खड़ा था, जैसे दिखा देना चाहता हो कि अर्जुन उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। अब वह बाण चलाने की जल्दी में भी नहीं लगता था। उसके अधरों पर विद्रूपमय मुस्कान थी, जैसे उसके सम्मुख अर्जुन न हो कोई मदांध मूषक हो।

"क्या हो गया है तुम्हें अर्जुन ? तुम्हारे बाण काम नहीं कर रहे।" कृष्ण बोले, "वे तो जैसे प्रस्तर-खंड से टकरा-टकराकर गिर रहे हैं। तुम्हारा गांडीव, तुम्हारी मुट्ठी तथा तुम्हारा बाहुबल ठीक है न ? या किसी कारणवश तुम समझते हो कि शत्रु से भेंट का अभी अंतिम समय नहीं आया ? तुम्हारे बाणों को इस प्रकार निष्फल होते तो मैंने कभी नहीं देखा।"

अर्जुन की चेतना लौटी, "लगता है कि आचार्य ने मंत्रों सहित इसे यह अभेद्य कवच बाँध दिया है। दुर्योधन भी जानता है कि यह कवच मेरे बाणों के लिए अभेद्य है। तभी तो आकर इस प्रकार सामने खड़ा हो, चुनौती दे रहा है।"

"तो ?"

"आचार्य ने इसे कवच तो बाँध दिया है किंतु इस कवच को धारण करने पर, जिस कर्तव्य के पालन का विधान किया गया है, उसे यह नहीं जानता। जैसे स्त्रियाँ कहीं से अलंकार बनवाकर धारण कर लेती हैं, वैसे ही यह किसी और की दी हुई कवच-धारणा को अंगीकार किए हुए है।" अर्जुन ने कहा।

अर्जुन के चेहरे का द्वंद्व और अनिर्णय का भाव मिट चुका था। उसने मानवास्त्र से अपने बाणों को अभिमंत्रित कर, धनुष खींचा।

दुर्योधन उसी प्रकार निर्भय उसके सामने खड़ा रहा; किंतु अश्वत्थामा पीछे से आगे आ गया। उसने असाधारण स्फूर्ति का परिचय देते हुए, अर्जुन के इस सर्वास्त्रघातक अस्त्र को काट डाला। इस स्थिति का लाभ उठाकर दुर्योधन ने अपने बाणों से कृष्ण और अर्जुन के शरीर को कितने ही छोटे-बड़े घाव दे दिए।

दुर्योधन और अश्वत्थामा दोनों ही एक प्रकार से आश्वस्त थे कि अर्जुन पुनः मानवास्त्र नहीं छोड़ सकता। साधारण बाणों से अर्जुन, दुर्योधन को कोई क्षति नहीं पहुँचा

सकता था। उसका प्रायः सारा ही शरीर अभेद्य कवच से सुरक्षित था।...

कोई विकल्प न देख, अर्जुन ने दुर्योधन के अश्वों और उसके पृष्ठरक्षकों को मार डाला। धनुष और दस्ताने काट दिए। रथ के टुकड़े-टुकड़े कर दिए। दुर्योधन ने घबराकर अपने हाथ जैसे ऊपर उठाए और अर्जुन ने उसकी हथेलियों में पैने बाण धँसा दिए। वह अभी उन्हें देख भी नहीं पाया था कि अर्जुन ने उसके नखों के मांस में प्रहार किया।

दुर्योधन समझ गया कि केवल एक अभेद्य कवच ही युद्ध जीतने के लिए पर्याप्त नहीं है। उसने उस कवच से कुछ अधिक ही अपेक्षा की थी। दुर्योधन असह्य वेदना का अनुभव कर रहा था। उसे पितामह द्वारा दी गई विशल्यकारिणी बूटी स्मरण हो आई। कदाचित् वह ऐसे ही समय के लिए उपयुक्त औषध थी।

कौरव योद्धाओं ने अपने राजा को इस प्रकार व्याकुल देखा तो वे उसकी रक्षा को दौड़े आए।

"मुझे छोड़ो मूर्खो !" दुर्योधन चिल्लाया, "जाओ, सिंधुराज जयद्रथ की रक्षा करो।"

दुर्योधन युद्धभूमि से हट गया। उसके तन और मन में असह्य वेदना हो रही थी।... वह कुछ भी कर ले; किंतु अर्जुन के पास उसके प्रत्येक घात का प्रतिघात होता ही है। आचार्य उसको ऐसा अभेद्य कवच दे सकते थे तो उसकी हथेलियों और नखों का भी कोई न कोई प्रबंध कर ही सकते थे। पर क्यों नहीं किया उन्होंने।... वह बुड्ढा कोई न कोई कमी छोड़ ही देता है।... ठीक है कि दुर्योधन को धनुर्वेद का इतना ज्ञान नहीं है। बाण विद्या का इतना अभ्यास भी नहीं है।... पर आचार्य को तो है। वे ऐसा ही कवच अपने शरीर पर बाँध कर अर्जुन से नहीं लड़ सकते क्या ? अर्जुन उनको लाँघ कैसे आया ? वहाँ वे अपना व्यूह बचाने में लगे हैं और यहाँ जयद्रथ मारा जाएगा।... जो भी बात कही जाए, उसी का विरोध कर देते हैं। ऐसे-ऐसे स्वर्ण अवसर व्यर्थ ही हाथ से निकलते जा रहे हैं। उन्होंने कहा था अर्जुन को युधिष्ठिर से दूर ले जाओ तो वे युधिष्ठिर को जीवित बंदी कर उसे सौंप देंगे। आज तीसरा दिन है... अर्जुन और युधिष्ठिर को पृथक्-पृथक् स्थानों पर लड़ते हुए, किंतु आज तक वे उस धर्मराज को बंदी नहीं कर पाए हैं। आज कहा था कि अर्जुन को जयद्रथ से दूर रखिए। बस ! और कुछ नहीं। वे उतना भी नहीं कर पाए।... कर नहीं पाए अथवा करना चाहते ही नहीं ?... और अर्जुन ऐसा लक्ष्य कैसे साध सकता है ? इतनी दूरी से कोई किसी के नखों में बाण कैसे धँसा सकता है ? यह उसके योगाभ्यास के कारण है क्या ? ऐसी एकाग्रता तो योग से ही हो सकती है। अर्जुन तो वैसे भी अपने शैशव से ही केवल चिड़िया की आँख देखता रहा है।...

कृष्ण रथ को दौड़ाते जा रहे थे। युद्धभूमि में उड़ी धूल से उनकी पलकें तक धूल-धूसरित हो रही थीं और चेहरा स्वेद से भीगा जा रहा था।... रथ की गति फिर से कुछ मंद होने लगी थी।

"वे आ रहे हैं।" अर्जुन ने कहा।

"हाँ !" कृष्ण बोले, "जिस प्रकार से उनके रथ चल रहे हैं, उनका प्रयोजन हमें घेर लेना ही हो सकता है। संभव है हमें घेर कर वे फिर से दुर्योधन अथवा कर्ण की प्रतीक्षा करना चाहते हों। आचार्य तो अपना व्यूह छोड़कर आते दिखाई नहीं देते।"

"आचार्य के मन का द्वंद्व मैं समझता हूँ।" अर्जुन ने कहा, "वे अपना कर्तव्यबोध कितना भी जगा लें; किंतु वे मेरे शत्रु नहीं हो सकते।"

"ठीक है, पर वे तुम्हारे मित्र भी नहीं हो सकते।" कृष्ण बोले, "वे दुर्योधन के सेनापति हैं। उसको अभेद्य कवच दे सकते हैं; पर जो निष्ठा वह उनसे माँगता है, वह नहीं दे सकते। जो श्रद्धा वे दुर्योधन से माँगते हैं, वह दुर्योधन नहीं दे सकता। दुर्योधन और आचार्य—राजा और सेनापति—के पारस्परिक द्वंद्वों को तुम अपने प्रति उनका प्रेम मत समझो। मत भूलो कि अभिमन्यु के आखेट के लिए चक्रव्यूह भी उन्होंने ही रचा था। हम उन पर विश्वास तो नहीं कर सकते।"

अर्जुन ने कोई उत्तर नहीं दिया।... कृष्ण कैसे इतने निर्मोही हो सकते हैं। अर्जुन के मन से अपने गुरु का मोह नहीं जाता। कृष्ण केवल धर्म से प्रेम करते हैं... और किसी से भी नहीं।... उनकी व्यावसायित्मिका वृत्ति, उनकी निश्चयात्मक बुद्धि इतनी एकाग्र है कि उनको उनके लक्ष्य से कोई रंच भर भी डिगा नहीं सकता। वे जैसे सदा समाधि में ही रहते हैं। ऐसा योगी कोई और कैसे हो सकता है...

"जयद्रथ अभी भी हमसे एक कोस दूर तो होगा ?" अर्जुन ने कहा।

"हाँ ! इतना तो होगा।" कृष्ण बोले, "किंतु कौरव रथियों की सेना तो आ पहुँची है। वे हमें घेर लेंगे तो एक कोस पहुँचने में भी बहुत समय लग जाएगा।"

अर्जुन ने अपना गांडीव ताना, "मैं अभी इनका घेरा तोड़ता हूँ।"

"अर्जुन !" कृष्ण धीरे से बोले, "तुम उनका घेरा तोड़ तो लोगे, किंतु उसमें समय लगेगा और आज हमारे पास समय ही नहीं है।"

"तो ?"

"तुम गांडीव की टंकार करो।" कृष्ण बोले, "और मैं पांचजन्य फूँकता हूँ।"

"उससे क्या होगा ?"

"बिना तनिक-सा भी समय खोए हम इनका घेरा तोड़कर निकल जाएँगे।"

अर्जुन समझ नहीं पाया कि कृष्ण क्या कर रहे हैं। शस्त्रास्त्रों का प्रयोग न कर कृष्ण ध्वनि मात्र से शत्रुओं को पराजित करना चाहते हैं। ध्वनि की शक्ति को अर्जुन भी मानता था। वस्तुतः वह पवनदेव की ही तो शक्ति थी, जो नाद बनकर गूँजती थी। नाद के महत्त्व का तिरस्कार कौन कर सकता था। ओंकार भी तो नाद ही है। वह ब्रह्म है। पर युद्ध में नाद का प्रयोग ? जाने कृष्ण के मन में क्या है।... पर कृष्ण की योजना समझे बिना भी उसके अनुसार कार्य करने में अर्जुन को कोई आपत्ति नहीं थी।

उसने गांडीव की प्रत्यंचा को अपने दाएँ कान तक खींचा और कृष्ण ने पांचजन्य

को शक्ति भर फूँका…

अर्जुन ने देखा : उन्हें घेरने वाले रथियों में भी कँपकँपी मच गई थी। उनके रथ ऐसे अस्थिर हो रहे थे, जैसे कोई भूचाल आया हो।… और कृष्ण अपने अश्वों को उनके बीच में से निकालकर ले गए। अर्जुन के रथ के चारों ओर घेरा बनते-बनते रह गया।…

वे बहुत दूर नहीं जा सके। भूरिश्रवा, शल, कर्ण, वृषसेन, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, शल्य और दुर्योधन—आठ-आठ महारथी पुनः उनके सम्मुख खड़े थे। सबसे आश्चर्य की बात थी कि जयद्रथ भी उनके साथ था।… तो इसका अर्थ था कि वे जयद्रथ के इतने निकट पहुँच गए थे कि जयद्रथ को अब छुपे रहना सुरक्षित नहीं लगा। संभव है कि उसका अपने रक्षकों पर से विश्वास उठ गया हो। उसने स्वयं युद्ध करना ही उचित समझा हो।…

वे आठों युद्ध के लिए पूर्णतः सन्नद्ध थे। उनके रथों के अश्वों की एकरूपता पर अर्जुन का ध्यान अटका : अश्वों पर व्याघ्रचर्म का आच्छादन डाला गया था और उन्हें चंद्र चिह्नों से विभूषित किया गया था। वे बहुत आक्रामक मुद्रा में थे, जैसे आर-पार का युद्ध करने आए हों। उन्होंने अर्जुन को घेर कर जैसे किसी पूर्वविचारित योजना के अंतर्गत भल्लों से बींधना आरंभ किया। ध्वज पर चोट की और अश्वों को घायल किया। शत्रु योद्धा से लड़े बिना उसके अश्वों और सारथि पर ऊर्जा का अपव्यय किसी योद्धा की व्याकुलता का ही लक्षण होता है।

कृष्ण को घायल देखकर अर्जुन कुपित हो उठा। जिसको देखो, वही योद्धा को छोड़ सारथि पर प्रहार कर रहा है। क्या चाहते हैं वे ? वे चाहते हैं कि कृष्ण शस्त्र उठाएँ ? वे चाहते हैं कि कृष्ण की प्रतिज्ञा भंग हो ?… पर वे नहीं जानते कि यदि सचमुच ही कृष्ण ने शस्त्र उठा लिया तो इनकी कितनी दुर्गति होगी। कृष्ण पर प्रतिज्ञा भंग का आरोप ही तो लगेगा। पर उससे क्या बिगड़ जाएगा कृष्ण का। इन कौरवों ने सारी मर्यादाओं को भंग कर अभिमन्यु का वध कर दिया, तो किस क्षत्रिय ने दुर्योधन का मुख काला कर, उसके सम्मुख उसके पुत्र को मृत्युदंड देने का साहस किया ? द्रोण ने प्रतिज्ञा की और धर्मराज को बंदी नहीं बना सके तो क्या बिगड़ गया उनका ? प्रतिज्ञा तो व्यक्ति का अपने आपको दिया गया एक वचन है। यदि धर्म की रक्षा के लिए कृष्ण अपने आपको अथवा बलराम को दिया गया एक वचन स्थगित करने का निश्चय कर लेंगे तो ये आठ के आठ महारथी अभी धूल चाटते दिखाई देंगे।… पर अर्जुन यह नहीं होने देगा। उसके रहते वह स्थिति कभी नहीं आएगी कि कृष्ण को युद्ध में शस्त्र उठाना पड़ जाए।…

बाण दोनों ओर से चल रहे थे। घाव भी दोनों ओर लग रहे थे।… पर अर्जुन का ध्यान कर्ण और जयद्रथ पर अटका था। उसकी प्रतिज्ञा थी कि वह आज जयद्रथ का वध करेगा। वध तो उसे इस कर्ण का भी करना था। इस युद्ध में बहुत कोलाहल नहीं मचा रहा कर्ण। क्या द्रोण भी उसे पितामह के ही समान कोई महत्त्वपूर्ण दायित्व

नहीं सौंप रहे अथवा वह स्वयं ही मैत्री के नाम पर अभी तक दुर्योधन का अंगरक्षक बना घूम रहा है। राजा के साथ-साथ लगे रहने के कई लाभ होते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि व्यक्ति सुरक्षित रहता है।...

मातुल शल्य भी बहुत उग्र हो रहे थे। किसके लिए लड़ रहे हैं ये ? संबंधों के लिए ? न्याय के लिए ? अधिकार के लिए ? धर्म के लिए ? लाभ के लिए ? लोभ के लिए ?... कुछ पता नहीं है इनको। युद्ध का उन्माद है उनको। बस युद्ध के लिए ही युद्ध कर रहे हैं शायद। उस युद्ध के लिए, जो लूट में धन और सत्ता देता है। शेष तो कुछ पता ही नहीं है उनको।... और जयद्रथ लड़ने आया भी है तो आठ-आठ महारथियों को साथ ले कर।...

कृष्ण ने रथ को ले जा कर जैसे जयद्रथ के वक्ष पर खड़ा कर दिया था और अर्जुन का तूणीर बाणों की वर्षा करके भी रिक्त नहीं हो रहा था।...

जयद्रथ का चेहरा भय से पीला पड़ रहा था। उसकी कातर दृष्टि दुर्योधन पर पड़ी, "तुमने तो कहा था राजन् ! तुम मेरी रक्षा करोगे।..."

दुर्योधन अपनी ही पीड़ा से व्याकुल था कि जयद्रथ के एक वाक्य ने उसे अपमान के क्षुरों से गोदना आरंभ कर दिया।

"पीछे हटो।" उसने अपने सैनिकों को संकेत किया।

वे लोग व्यूह की सुरक्षा में लौट गए थे।

युधिष्ठिर को लगातार युद्ध के समाचार प्राप्त हो रहे थे। पांचालों और कौरवों में द्रोण को दाँव पर रखकर एक प्रकार का द्यूत-सा हो रहा था। पांचाल किसी भी प्रकार आचार्य का वध कर देने पर तुले हुए थे और कौरवों की विजय इसी में थी कि आचार्य सुरक्षित रहें। कैकेय के बृहत्क्षत्र ने द्रोण पर प्रबल आक्रमण किया था और क्षेमधूर्ति बृहत्क्षत्र का सामना करने आ गया था। धृष्टकेतु के सामने वीरधन्वा डट गया था। विकर्ण और नकुल में द्वंद्व हो रहा था। दूसरी ओर दुर्मुख से सहदेव भिड़ा हुआ था। व्याघ्रदत्त ने सात्यकि पर आक्रमण किया था। द्रौपदेयों ने सोमदेव के पुत्र और भूरिश्रवा के भाई शल को घेर रखा था। अलंबुश अपने भाई बकासुर की हत्या का प्रतिशोध लेने के लिए अब भी भीम से उलझा हुआ था।

युधिष्ठिर को लगा कि यदि इस समय आचार्य को न रोका गया तो वे युद्ध का सारा संतुलन कौरवों की ओर झुका देंगे। धृष्टद्युम्न दूर था, नहीं तो वे उसी को भेजते। वे जानते थे कि उन्हें द्रोण से दूर रहना है। इस समय उनकी रक्षा के लिए नियुक्त सात्यकि भी उनके निकट नहीं था। किंतु द्रोण को मुक्त नहीं छोड़ा जा सकता था।...

युधिष्ठिर ने अपनी वाहिनियों के साथ स्वयं द्रोण पर आक्रमण किया। पर द्रोण इस समय बहुत ही आक्रामक मुद्रा में थे। उन्होंने युधिष्ठिर पर बाणों की वर्षा कर दी। युधिष्ठिर का धनुष कट गया और वे बाणों से इस प्रकार ढँक गए कि अपनी वाहिनी

से भी उनका संपर्क टूट गया। वे समझ रहे थे कि उनका इस प्रकार अपनी वाहिनी से असंपर्क और अपनी सेना की दृष्टि से ओझल हो जाना, उनकी सेना के लिए शुभ नहीं था। कोई भी सेना ऐसे में उन्हें मृत मान लेगी और जिस सेना का राजा मारा जाता है, उसका आत्मबल क्षण भर भी नहीं टिकता।...

युधिष्ठिर ने अपने आत्मबल को संचित किया। अपने धर्म को स्मरण किया और उठकर खड़े हो गए। उन्होंने दूसरा धनुष लिया और आचार्य का धनुष काट डाला, ताकि न आचार्य की ओर से बाण चलें और न ही वे उन्हें ढँक पाएँ। पांडवों की सेना को ज्ञात होना चाहिए कि उनका राजा अभी जीवित है और युद्ध में समर्थ ही नहीं है, कौरवों के महासेनापति से भी लोहा ले सकने की स्थिति में है। राजा सदा अपनी सेना के सामने होना चाहिए।... जब एक के पश्चात् एक कर उन्होंने द्रोण के कई धनुष काट डाले तो किसी प्रभावी परिणाम के लिए हाथ में एक शक्ति उठा ली और उच्च स्वर में सिंहनाद किया।

आचार्य ने तनिक भी संकट झेलना उचित नहीं समझा। उन्होंने धर्मराज की शक्ति को काटने के लिए ब्रह्मास्त्र प्रकट किया। वह युधिष्ठिर की शक्ति को काटता हुआ उनकी ओर बढ़ रहा था। युधिष्ठिर के सम्मुख भी और कोई मार्ग नहीं था। उन्होंने भी आचार्य के ब्रह्मास्त्र के शमन के लिए अपना ब्रह्मास्त्र प्रकट किया। द्रोण को घायल किया और उनके विशाल धनुष को फिर काट डाला।

आचार्य ने इस बार अपना कटा हुआ धनुष फेंककर दूसरा धनुष नहीं उठाया, एक भारी गदा उठाई और युधिष्ठिर पर सीधा वार किया। धर्मराज ने भी गदा से ही उसका प्रतिकार किया। किंतु तब तक आचार्य ने उनके अश्व मार दिए थे और उनके बाण सीधे युधिष्ठिर को पीड़ा पहुँचा रहे थे। युधिष्ठिर अपने रथ से कूदकर धरती पर आ गए। वे निःशस्त्र थे और धरती पर खड़े थे।... आचार्य के लिए उन्हें बंदी करने का स्वर्णिम अवसर था। वे युधिष्ठिर की ओर किसी श्येन के समान झपटे...

पांडव सेना में भयंकर कोलाहल हुआ... राजा मारे गए... राजा मारे गए...

पर तब तक सहदेव किसी ओर से प्रकट हो गया। उसने धर्मराज को तत्काल अपने रथ पर चढ़ा लिया और वहाँ रुकने के स्थान पर द्रोण के व्यूह से दूर अपनी सेना के मध्य ले गया।

अपनी सेना के मध्य सुरक्षित युधिष्ठिर स्वयं अपने आपको भी सँभालने का प्रयत्न कर रहे थे और अपनी सेना को भी। उन्हें समाचार मिल रहे थे।... संशप्तक युद्ध के बचे हुए त्रिगर्त एक-एक कर मारे जा रहे थे। पहले त्रिगर्त वीर वीरधन्वा की मृत्यु हुई। उसके पश्चात् सुशर्मा का पुत्र निरमित्र पांडव सेना में घिर कर मारा गया। नकुल ने विकर्ण को पराजित कर दिया था और विकर्ण उसके सम्मुख से हट गया था। व्याघ्रदत्त ने सात्यकि को पीड़ित किया था और सात्यकि ने उसका वध कर दिया था। द्रौपदेयों ने शल को मार गिराया था। अलंबुश ने भीम को कुछ इस प्रकार घायल कर दिया था

कि भीम को मूर्च्छा आ गई थी। भीम अपने रथ की बैठक में गिर गया था। पर शीघ्र ही सचेत होकर उसने अलंबुश को घेरना आरंभ किया। अलंबुश ने अपनी राक्षसी विद्या प्रकट की किंतु भीम के बाणों ने उसकी एक नहीं चलने दी। अंततः वह अपने प्राण बचाने के लिए भाग कर द्रोण की शरण में चला गया।

इस बार घटोत्कच ने अलंबुश पर आक्रमण किया। अलंब्बुश ने अपनी माया प्रकट की। पांडवों के लिए उसका एक ही अर्थ था कि वह राक्षस, युद्ध के नियमों का उल्लंघन कर रहा था। क्रुद्ध पांडव उस पर टूट पड़े। उन्होंने अलंबुश को घेर लिया।''' और घटोत्कच सबके देखते हुए अपने रथ से कूदकर अलंबुश के रथ पर जा चढ़ा। जब तक स्वयं अलंबुश और उसका सारथि यह समझ सकते कि क्या हो रहा है, घटोत्कच ने उसे पकड़कर अपने सिर से भी ऊपर उठा लिया था। उसने उसे हवा में कई चक्कर दिए और पूरे वेग से धरती पर पटक दिया। अलंबुश का क्षतविक्षत शरीर धरती पर पड़ा था। उसकी त्वचा अनेक स्थानों से फट गई थी और उसकी हड्डियाँ टूट गई थीं।

अलंबुश को मारकर घटोत्कच स्वयं युधिष्ठिर के पास आया। उसने हाथ जोड़कर अपना मस्तक नवाया और फिर धर्मराज के चरणों का स्पर्श किया। उसकी वीरता से धर्मराज गद्गद थे। भावुक स्वर में बोले, "मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ वत्स ! तुम अपने पिता के उपयुक्त वीर पुत्र हो।"

धर्मराज को सूचना मिली कि सात्यकि द्वारा अपनी सेना को पीड़ित जान और उसका कोई प्रतिकार न देख, आचार्य द्रोण ने स्वयं ही सात्यकि पर आक्रमण किया। दोनों में भयंकर युद्ध चला। द्रोण स्वयं भी घायल हो गए थे और सात्यकि भी क्षतविक्षत हो गया था। सात्यकि की शिथिलता का समाचार पाते ही युधिष्ठिर सतर्क हो गए।

"जैसे राहु सूर्य को ग्रस लेता है, वैसे ही इस समय सात्यकि को द्रोण ग्रस रहे हैं। तुम लोग दौड़ो और वहीं व्यूह बाँधो, जहाँ सात्यकि युद्ध कर रहा है।" युधिष्ठिर ने कहा और तब उनकी दृष्टि धृष्टद्युम्न पर पड़ी, "द्रुपदकुमार तुम इस प्रकार निष्क्रिय क्यों खड़े हो। द्रोण पर आक्रमण करो। उनको रोको। नहीं तो हम सात्यकि को खो बैठेंगे। सात्यकि मेरे लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितने कृष्ण अथवा अर्जुन हैं। तुम देख नहीं रहे कि उस पर द्रोण का भय उपस्थित हो गया है ? भीम को भी अपने साथ लो और जाकर सात्यकि युयुधान की रक्षा करो। सारे महारथी इस समय सात्यकि के रथ के समीप जाएँ और उसे यमराज के पाश से छुड़ाएँ। द्रोण उसे आज नहीं छोड़ेंगे।"

युधिष्ठिर का शरीर युद्ध कर रहा था और उनका आशंकित मन अपना ताना-बाना बुनता जा रहा था। इस समय उनको अपनी चिंता नहीं थी। उनके साथ जो होना होगा, वह हो; किंतु उनके लिए युद्धरत उनके ये बंधु कितनी कठिनाई में हैं। कभी-कभी तो उन्हें लगने लगता है कि द्रोण का क्रोध देखकर धृष्टद्युम्न का उत्साह भी जैसे समाप्त हो जाता है। ऐसे में आचार्य से वे कैसे पार पाएँगे''' और आचार्य से पार पाए बिना

कोई कौरव सेना में प्रवेश नहीं कर सकता। वहाँ अर्जुन है। कृष्ण हैं। उनका कोई भी समाचार नहीं मिला है। सामान्य युद्ध होता तो संदेशवाहकों के अश्व दौड़ते रहते और उनको समाचार मिलते रहते। आवश्यकता पड़ने पर युद्ध की नई नीति निर्धारित की जाती। सहायता भेजी जाती। किंतु यहाँ तो कृष्ण और अर्जुन जाकर जैसे कौरव सेना में बंद हो गए हैं। न कोई भीतर जा सकता है, न समाचार ला सकता है।...

द्रोण पीछे हट गए थे। पांडव महारथियों ने सात्यकि को उनसे मुक्त करा लिया था और सात्यकि अब स्वस्थ और प्रसन्न दिखाई दे रहा था।...

और तभी युधिष्ठिर ने कहीं दूर से आती शंख की क्षीण-सी ध्वनि सुनी।... उनके कान धोखा नहीं खा सकते थे। यह निश्चय ही पांचजन्य का घोष था।... कृष्ण पांचजन्य का घोष क्यों कर रहे हैं ?... उन्हें लगा कि वे कौरव सैनिकों का हर्षनाद भी सुन रहे हैं। कौरव किस बात से प्रसन्न हैं। क्या उन्होंने अर्जुन पर विजय प्राप्त की है ? अर्जुन किसी कठिनाई में फँस गया है ? उस पर कोई संकट आया है क्या ?... कहीं ऐसा तो नहीं कि अर्जुन ने वीरगति प्राप्त की हो और कौरव सैनिक हर्ष से उन्मत्त हो रहे हों... तभी तो कृष्ण को अपनी प्रतिज्ञा के विरुद्ध युद्ध करना पड़ रहा है। नहीं तो वे पांचजन्य का घोष क्यों करते ?... पर वे अकेले क्या-क्या करेंगे ? रथ को सँभालेंगे अथवा शत्रुओं को ?

युधिष्ठिर का मन अनेक प्रकार की कल्पनाएँ कर रहा था। उनके मन में अर्जुन और कृष्ण के संकट के अनेक चित्र बन और बिगड़ रहे थे। वे जानते थे कि कृष्ण सब प्रकार से समर्थ थे। अर्जुन जैसा योद्धा भी कोई नहीं था कौरवों के पास।... किंतु उससे क्या होता है। वे सब मिल जाएँगे। कृष्ण और अर्जुन को घेर लेंगे। युद्ध के नियमों की मर्यादा का भी उनको कोई ध्यान नहीं रहेगा। वे अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए कुछ भी कर सकते हैं।... युधिष्ठिर को कुछ करना होगा।... वे जानते हैं कि कितनी भी इच्छा होने पर वे स्वयं द्रोण को लाँघकर कौरव सेना में प्रवेश नहीं कर सकते।... यदि वे ऐसा कोई प्रयत्न करेंगे तो संभव है कि द्रोण उनको मार्ग भी दे दें, और कौरव सेना में प्रविष्ट होने पर उनको घेर कर बंदी कर लें।... युधिष्ठिर बंदी हो गए तो अर्जुन युद्ध को जीत कर भी क्या पाएगा। अपने भाई और राजा की मुक्ति के लिए उसे सब कुछ त्यागना पड़ेगा।... तो किसे भेजें, वे अर्जुन की सहायता के लिए ? भीम वैसा दक्ष धनुर्धर नहीं है कि द्रोण, कर्ण और कृतवर्मा से लोहा ले सके और अर्जुन तथा कृष्ण की कोई सहायता कर सके।...

युधिष्ठिर, सात्यकि के निकट आए, "अब स्वस्थ हो ?"

"महाराज ! मुझ-सा स्वस्थ और कौन होगा। सामने शत्रु हों और मेरे हाथ में शस्त्र हो।" सात्यकि हँसा।

"अर्जुन तुम्हारा भाई है। वह तुम्हारा मित्र भी है और गुरु भी।" युधिष्ठिर बोले, "वह इस समय संकट में है। जाओ, उसकी सहायता का प्रयत्न करो।"

सात्यकि का मुख आश्चर्य से खुल गया, "क्या कह रहे हैं धर्मराज !"

"चिंता मत करो।" युधिष्ठिर बोले, "यदि आचार्य द्रोण तुम्हारा पीछा करेंगे तो भीम के साथ मिलकर हम उन्हें रोकेंगे। तुम उनको लाँघ जाओ तो फिर और कौन है उस सेना में जो तुम्हें रोक पाए।"

"पर महाराज !..."

"सात्यकि ! मुझे लगता है कि वहाँ अर्जुन नखर और प्रासों से युद्ध करने वाले जयद्रथ के सैनिकों में घिर गया है।" युधिष्ठिर बोले, "उस सेना का निवारण किए बिना जयद्रथ को जीतना असंभव है।"

"महाराज ! आपको ऐसा क्यों लग रहा है ? कोई कारण तो होगा। क्या ऐसा कोई समाचार आया है ?"

"नहीं समाचार ही तो नहीं आया।" युधिष्ठिर बोले, "किंतु मैंने कौरव सैनिकों का हर्षनाद और पांचजन्य का भयंकर घोष सुना है। इसका एक ही अर्थ है कि वे लोग संकट में हैं; और केशव को अपनी प्रतिज्ञा के विरुद्ध युद्ध करना पड़ रहा है। तुम जाओ सात्यकि ! न विलंब करो, न भय।"

"महाराज ! अर्जुन के हित के लिए मुझे किसी प्रकार भी अपने प्राणों की चिंता नहीं है। फिर आपका आदेश मिलने पर मैं इस महायुद्ध में क्या नहीं कर सकता। मैं दुर्योधन से भयभीत नहीं हूँ। मैं उससे युद्ध करूँगा। मैं धनंजय के निकट पहुँचूँगा। जयद्रथ के मारे जाने पर उनके साथ ही लौट कर आपके दर्शन करूँगा। पर अर्जुन मुझे आपकी रक्षा में नियुक्त करके गए हैं। ऐसे में मैं आपको छोड़कर कैसे जा सकता हूँ। द्रोण ने आपको बंदी कर लिया तो जयद्रथ का वध किसी भी प्रकार नहीं हो सकेगा।"

"आचार्य मुझे बंदी नहीं कर पाएँगे।" युधिष्ठिर बोले, "तुम सोचो, यदि वे इसमें समर्थ होते तो उनकी प्रतिज्ञा के तीसरे दिन भी मैं तुम लोगों के मध्य कैसे होता ?"

"वह तो ठीक है। हम यही चाहते हैं कि वे इसमें कभी सफल न हो पाएँ।" सात्यकि ने कहा, "मैं तो प्रातः ही धनंजय के साथ जा रहा था, पर उन्होंने आपको मेरे पास धरोहर के रूप में रख छोड़ा है। मेरे चले जाने पर आपकी रक्षा कौन करेगा ? जब तक मैं नहीं लौटता, तब तक द्रोण को कौन रोकेगा ?"

युधिष्ठिर ने उसे स्थिर दृष्टि से देखा और बोले, "युद्धक्षेत्र में तुम्हें समझाने या मनाने में अधिक समय नहीं लगा सकता। मेरी आज्ञा से तुम वहीं जाओ। उनकी सहायता करो। मैं राजा होकर अपनी ही रक्षा करता रहूँगा या अपने सहयोगियों की देखभाल भी करूँगा। तुम स्वयं ही सोचो, ऐसे में तुम क्या करते।"

"यह आपकी उदारता है।" सात्यकि बोला, "किंतु हमारा भी तो कुछ कर्तव्य है। आपकी रक्षा..."

"मेरी रक्षा भीम करेगा। द्रौपदेय करेंगे। कैकेय राजकुमार हैं, घटोत्कच है, विराट हैं, द्रुपद हैं, शिखंडी है, धृष्टकेतु है, पुरुजित है। मेरे भाई हैं।" युधिष्ठिर बोले, "इतने

योद्धा होते हुए भी मेरी रक्षा नहीं होगी, तो क्या करना है इतने महारथियों का ?…"

युधिष्ठिर रुके, "मैं तुम्हारा महत्त्व कम नहीं आँक रहा हूँ युयुधान ! तुम इन सबसे ऊपर हो। इसीलिए तुम्हें अकेले को कौरव सेना को लाँघकर अर्जुन की सहायता के लिए भेज रहा हूँ। आज तुम्हारी वीरता, बल और कौशल की परीक्षा है… मेरा आदेश है, तुम जाओ।"

सात्यकि ने अब कोई आपत्ति नहीं की। अपने आदेश द्वारा युधिष्ठिर ने उसको अर्जुन के वचन से मुक्त कर दिया था। उसका अपना मन भी तो भाग-भाग कर कृष्ण और अर्जुन के आसपास मँडरा रहा था। वह यहाँ लड़ता रहे और वे वहाँ संकट में फँसकर अपने प्राण दे दें, उसका क्या लाभ है। वह उनसे पाई हुई शस्त्र विद्या का मूल्य कब चुकाएगा।… युधिष्ठिर ने उसको एक अद्भुत अवसर प्रदान किया था। अकेला सात्यकि सारी कौरव सेना का लंघन कर अर्जुन की सहायता को पहुँचेगा।…

सात्यकि अपने शिविर में लौटा। रथ को शस्त्रास्त्रों से पूरित करने का आदेश दिया। सेवकों ने रथ में नए अक्लांत अश्व जोते। उन्हें मादक द्रव्य पिलाया। सात्यकि ने भी कैलातक मधु का पान किया और रथारूढ़ हो गया।

भीम ने सात्यकि की कुछ नई-सी भंगिमा देखी तो साथ हो लिया, "कहाँ जा रहे हो ?"

"धर्मराज ने मुझे धनंजय और केशव की सहायतार्थ जाने के लिए कहा है।"

भीम स्तब्ध-सा रह गया, "उन लोगों ने सहायता माँगी है क्या ? क्या वे संकट में हैं ?"

"महाराज का अनुमान है कि वे लोग किसी गंभीर संकट में हैं।"

"चलो ! मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ।" भीम ने कहा।

"नहीं !" सात्यकि बोला, "महाराज ने कहा है कि मेरी अनुपस्थिति में आप उनकी रक्षा करेंगे।" वह रुका, "और मैं तो अपनी ओर से भी कहने वाला था कि मेरी प्रार्थना मान कर, आप धर्मराज की रक्षा के लिए उनके निकट ही रहें। यदि हम दोनों चले जाएँगे तो महाराज के लिए संकट हो सकता है।"

भीम रुक गया, "ठीक है, तुम चलो।"

18

सात्यकि ने देखा, उसके लिए मार्ग बनाने के लिए, स्वयं धर्मराज ने आचार्य द्रोण पर आक्रमण कर दिया था।… धर्मराज के हृदय की उदारता को पाना बहुत कठिन है। अपनी रक्षा की तनिक भी चिंता किए बिना, वे अपने भाई की रक्षा के लिए उसे भेज रहे हैं; और उसकी रक्षा के लिए स्वयं आचार्य पर आक्रमण कर रहे हैं।… जब वे अपनी

अक्षमता जानते हुए भी अपने गुरु और कौरवों के सबसे दुर्द्धर्ष योद्धा पर आक्रमण कर सारे संकट अपनी ओर आकृष्ट कर रहे हैं तो फिर सात्यकि किसका भय करे ? और इस समय तो वैसे भी द्रोण को धर्मराज ने उलझा रखा था।

सात्यकि ने सामने आने वाले सात धनुर्धरों को मार गिराया और वह कौरव सेना में प्रवेश कर गया। उसने देखा, द्रोण धर्मराज को छोड़कर उसकी ओर दौड़े। उन्होंने तत्काल उसके सम्मुख आकर उसे रोका ही नहीं घायल भी कर दिया। पर उससे तो सात्यकि की उग्रता और भी भड़क उठी। उसने द्रोण को क्षतविक्षत कर दिया।

द्रोण हँस पड़े। बोले, "तुम्हारे आचार्य अर्जुन तो एक कायर के समान, समरभूमि छोड़कर चले गए। मैं युद्ध कर रहा था, तो भी मेरी परिक्रमा कर, आगे बढ़ गए। यदि तुम भी उसी के समान भाग नहीं गए तो आज मेरे हाथों से मारे जाओगे।"

सात्यकि के मन में जैसे चपला चमकी : उस सघन अंधकार में प्रकाश की एक रेखा खिंच गई थी। यह आचार्य की चुनौती है अथवा उनका संकेत ? क्या वे उसे बता रहे हैं कि वह भी अर्जुन के समान उनकी परिक्रमा कर चला जाएगा तो वे उसके मार्ग की बाधा नहीं बनेंगे ?… पर इस ऊहापोह में क्या पड़ना। यदि वे ऐसा कोई संकेत नहीं भी दे रहे, तो भी यही उत्तम मार्ग है।… यदि वह उनको छोड़कर नहीं गया, उनके साथ युद्ध में उलझ गया तो सूर्यास्त तक वह यहीं खड़ा दिखाई देगा। वह नहीं चाहता कि ऐसा हो। आचार्य भी नहीं चाहते कि ऐसा हो… यही एक मार्ग है…

"मैं धर्मराज की आज्ञा से अपने आचार्य धनंजय के मार्ग पर जा रहा हूँ।" वह बोला, "आप ऐसा करें कि जिससे मुझे विलंब न हो। शिष्य तो सदा ही अपने आचार्य के मार्ग का अनुसरण करता है। जिस मार्ग से मेरे गुरु गए हैं, मैं भी उसी से जा रहा हूँ।"

द्रोण उस पर बाण चलाते रहे; किंतु सात्यकि ने उनसे उलझने का कोई प्रयत्न नहीं किया। तब तक धर्मराज और मध्यम पांडव भीम आ गए थे और उन्होंने आचार्य को उलझा लिया था।

"ऐसा करो सारथे !" सात्यकि बोला, "वह सामने अवंति की सेना है। उसके पश्चात् वह दाक्षिणात्यों की सेना है। तब बाह्लीकों की सेना है। उसके साथ कर्ण की सेना लगी खड़ी है। ये सब एक-दूसरे से भिन्न हैं। अपने-अपने मार्ग पर डटी हुई हैं। ये अपने स्थान का त्याग नहीं करेंगी। जल्दी एक-दूसरे की सहायता को नहीं आएँगी। तुम इन के मध्य में से होकर चलो। इनको सोचने दो कि तुम किसके क्षेत्र में से जा रहे हो और तुमको रोकना किस सेना का दायित्व है। उस ओर बाह्लीकों के पैदल सैनिक हैं। वहीं चलो।"

सात्यकि का रथ वेगपूर्वक बाह्लीकों की ओर चला तो द्रोण उसके पीछे दौड़े।

सात्यकि ने अपना मार्ग बदल दिया। वह कर्ण की सेना में से होकर कौरवों की सेना में प्रवेश कर गया। कौरव सैनिक इस प्रकार के आकस्मिक और वेगवान आक्रमण

के लिए तैयार नहीं थे। उनके पाँव उखड़ गए।

कृतवर्मा को सात्यकि की यह आकस्मिक सफलता एकदम नहीं भाई।''' और सात्यकि को तो वह किसी भी स्थिति में आगे बढ़ने नहीं देगा। यदि इस युद्ध में से सात्यकि जीवित और यशस्वी होकर निकल गया तो कृतवर्मा के जीवन का लक्ष्य ही क्या रह जाएगा।'''

कृतवर्मा ने आकर सात्यकि को घेर लिया। सात्यकि के लिए अपने मन का क्षोभ दूर करने का यह स्वर्णिम अवसर था। उसने तत्काल भयंकर बाणों से कृतवर्मा को आहत कर दिया।

कहाँ तो कृतवर्मा सोच रहा था कि वह सात्यकि को लोहे के चने चबवाएगा और कहाँ वह स्वयं घायल हो गया था। वह आपे से बाहर हो गया। सबसे पहले उसने सात्यकि का धनुष काटा। सात्यकि अभी असमंजस में ही था कि कृतवर्मा ने अपने बाणों से सात्यकि का कवच फाड़कर, उसे उसके अपने ही रक्त में स्नान करा दिया।

सात्यकि ने धनुष छोड़ एक भयंकर शक्ति से कृतवर्मा की दाहिनी भुजा पर प्रहार किया। दूसरा धनुष लेकर उसके सारथि का मस्तक काट कर फेंक दिया।''' कृतवर्मा के घोड़े अनियंत्रित होकर इधर-उधर भागने लगे। किंतु कृतवर्मा ने तनिक भी घबराहट नहीं दिखाई। उसने वल्गा अपने हाथ में ली और अश्वों को नियंत्रित कर, धनुष उठा लिया।

इस बीच सात्यकि आगे जा चुका था। कृतवर्मा ने झल्लाकर सामने आए भीम पर आक्रमण किया। द्रोण ने भी बिखरी हुई सेना को सँभाला और उसका भार कृतवर्मा को सौंप कर स्वयं सात्यकि के पीछे भागे। युधिष्ठिर उन्हें यह नहीं करने दे सकते थे। वे नकुल और सहदेव के साथ आकर द्रोण के मार्ग में अड़ गए।

कृतवर्मा ने भीम को अपने बाणों से घायल कर दिया था। उसने भीम का धनुष भी काट दिया था। भीम पीड़ा से काँप रहा था। युधिष्ठिर ने अपना ध्यान अब कृतवर्मा पर केंद्रित किया।''' कृतवर्मा युधिष्ठिर की ओर उन्मुख हुआ और इधर भीम फिर से सचेत हो गया। उसने लोहे की एक शक्ति हाथ में लेकर कृतवर्मा पर प्रहार किया। कृतवर्मा ने उस शक्ति के भी टुकड़े कर दिए। पर अब भीम पूर्णतः सजग और सचेत था। उसने दूसरा धनुष उठा लिया और कृतवर्मा पर प्रहार किया। दूसरी ओर से शिखंडी आ गया था। कृतवर्मा ने अपने पहले ही बाण से उसका धनुष काट दिया। शिखंडी ने खड्ग उठाकर अपने रथ से ही कृतवर्मा को दे मारा। स्वयं कृतवर्मा को तो चोट नहीं लगी, किंतु उसका धनुष कट गया। कृतवर्मा उसके इस कौतुक से चकित ही रह गया। उसने दूसरा धनुष उठाया और बाणों की ऐसी वर्षा की कि शिखंडी उसमें घिर कर रह गया। न वह दूसरा धनुष उठा सका, न किसी और के रथ पर जा सका। परिणामतः मूर्च्छित होकर रथ में गिर गया। और कोई मार्ग न देख, उसका सारथि रथ को तत्काल युद्धभूमि से हटा ले गया।

शिखंडी के हटते ही पांडव सेना में भगदड़ मच गई। सात्यकि को लौटना पड़ा। उसने लौट कर कृतवर्मा पर आक्रमण किया; और एक ही झोंके में उसका धनुप काट कर, उसके घोड़ों को मार दिया। उसके पृष्ठरक्षकों और सारथि को क्षतविक्षत कर दिया। इस बार कृतवर्मा की भोजवंशी सेना सात्यकि के सामने नहीं ठहर सकी।

त्रिगर्तों की गजसेना ने सात्यकि को बढ़ते देखा तो उसके चारों ओर घेरा डाल दिया। पर सात्यकि अव किसी से भी रुकने वाला नहीं था। उसने गजसेना को एक प्रकार से ध्वस्त ही कर दिया।

मगधराज जलसंध अपने हाथी को सात्यकि पर चढ़ा लाया। हाथी को इस प्रकार वढ़ते देख सात्यकि के घोड़े कुछ बिदके और उतने में जलसंध ने सात्यकि का धनुप काट दिया। सात्यकि ने दूसरा धनुष लेकर जलसंध के कोदंड को ही काट दिया। जलसंध ने तोमर का प्रहार किया। तोमर सात्यकि की बाईं भुजा पर लगा। भुजा घायल हो गई। सात्यकि ने अपने घाव की चिंता न करते हुए, सीधा नाराच मार कर जलसंध का वध कर दिया।

अव तक द्रोण भागते-दौड़ते सात्यकि के सम्मुख आ गए थे। उनके साथ दुःसह, विकर्ण, चित्रसेन और दुर्योधन थे। सात्यकि ने द्रोण की आँख बचाई और दुर्योधन के रथ से अपना रथ भिड़ाकर जैसे एक शृंखला के रूप में अनेक वाण चला दिए। दुर्योधन इतना क्षतविक्षत हुआ कि वह अपना रथ छोड़कर चित्रसेन के रथ पर जा चढ़ा।...

सात्यकि को आश्चर्य हुआ। कौरव और पांडव सेनाओं में उस अभेद्य कवच की वहुत चर्चा थी, जो द्रोण ने दुर्योधन के शरीर पर मंत्रोच्चार के साथ बाँधा था। उसका क्या हुआ ? उसका प्रभाव समाप्त हो गया था अथवा दुर्योधन उसे उतार ही आया था ? या वह उस कवच को पहनकर उसके अनुरूप आचरण नहीं कर सका ? आचार्य का ध्यान इस ओर गया ही नहीं होगा कि ऐसे कवच के साथ आचरण की भी आवश्यकता होती है। आचार्य भी वस वंदर के कंठ में सच्चे मोतियों का हार डाल देते हैं।

कृतवर्मा फिर से लौट आया था। उसे देखकर सात्यकि के मन में क्रोध का जैसे ज्वार उठ आया। यह व्यक्ति श्रीकृष्ण का शुभचिंतक भी वनता है और उनसे शत्रुता भी रखता है। स्मयंतक मणि की चोरी में सहयोगी भी होता है और वलराम का आश्रय भी चाहता है। कौरवों की सभा में से श्रीकृष्ण को वचा ले जाने के लिए अपने प्राण लगा देता है और अपनी सेना लेकर दुर्योधन की ओर से श्रीकृष्ण के विरुद्ध लड़ने भी आ जाता है।... क्या है यह—दोमुँहा साँप ? सात्यकि तो उसका शत्रु है ही; वह स्वयं को सात्यकि का मित्र कहे भी तो सात्यकि उसको स्वीकार नहीं करेगा। इस व्यक्ति का कोई सिद्धांत नहीं है। इसके जीवन का कोई आदर्श नहीं है। केवल घृणा और द्वेप के आधार पर जीने वाला यह व्यक्ति इस धरती का वोझ है। इससे तो यहीं, कुरुक्षेत्र में ही, अपना गणित वरावर कर लेना चाहिए। फिर जाने यह कहीं दिखाई पड़े न पड़े।...

सात्यकि के धनुप से वाणों की धारा फूट पड़ी। कृतवर्मा अभी विचार ही कर रहा

था कि सात्यकि के बाणों ने उसके शरीर से रक्त बहाना आरंभ कर दिया। कृतवर्मा के हाथ से धनुष बाण छूट गए और वह रथ के पिछले भाग में गिर गया।

दुःशासन को अपने रथ के सामने खड़ा देख, आचार्य के धैर्य का बाँध टूट गया : क्या करते हैं धृतराष्ट्र के ये पुत्र। जहाँ युद्ध कुछ कठोर हुआ कि युद्ध छोड़कर भागते हुए आचार्य के पास पहुँच जाते हैं, जैसे योद्धा न हों, छोटे-छोटे बालक हों।...

"ये सारे रथी कहाँ भागे जा रहे हैं ?" द्रोण ने पूछा। और सहसा उनका मन आशंकित हो उठा, "राजा दुर्योधन सकुशल है ? जयद्रथ अभी जीवित है या न ?"

"आचार्य ! वे लोग सकुशल हैं।" दुःशासन बोला।

"तो फिर तुम यहाँ क्या कर रहे हो ? युद्ध क्यों नहीं करते ?"

"आचार्य ! सात्यकि किसी से भी सँभल नहीं रहा है।" दुःशासन बोला।

"गुरुकुल समझ रखा है इसे कि सात्यकि का दोष बताने चले आए।" द्रोण क्षुब्ध हो उठे, "युद्धक्षेत्र है। कोई नहीं सँभलता तो उसको सँभालने का प्रयत्न करना होता है। तुम राजा के पुत्र हो, राजा के भाई हो और स्वयं महारथी वीर हो। युवराज का पद पाकर भी ढंग से युद्ध करने के स्थान पर किसलिए इधर-उधर भागे-भागे फिरते हो। द्यूत में हारी हुई असहाय स्त्री को अभद्र और अश्लील बातें कहते हो; और वास्तविक युद्ध के सम्मुख पड़ते ही भाग जाते हो। वहीं लड़ सकते हो, जहाँ सामने कोई योद्धा न हो--एक असहाय स्त्री हो और शस्त्रविहीन, नतशिर योद्धा हताश बैठे हों। कोई लड़ न रहा हो। सारे पांचालों और पांडवों से वैर ठानकर अकेले सात्यकि का सामना नहीं होता तुमसे ? कहाँ गया तुम्हारा वह दर्प और अभिमान ? कहाँ गई तुम्हारी गर्जना ? विषैले सर्पों के समान कुंतिकुमारों को कुपित कर, अब कहाँ भागे जा रहे हो ? राजा के क्रूरकर्मा भाई ! अपनी सेना की रक्षा करने के स्थान पर युद्ध में पीठ दिखाकर भागे जा रहे हो ? सात्यकि से इतना डरते हो तो अर्जुन और भीम का सामना कैसे करोगे ?" आचार्य को लगा कि उनका क्रोध अपनी सीमा का अतिक्रमण कर रहा है। वे कुछ इतना कठोर कहना चाहते हैं जो बाणों से भी भयंकर हो, "जाओ जाकर गांधारी के उदर में छुप जाओ। सारी पृथ्वी पर और कहीं भी तुम पांडवों से सुरक्षित नहीं हो। भागने का ही निर्णय कर लिया है तो युधिष्ठिर का राज्य शांति से उसे क्यों नहीं दे देते ? व्यर्थ ही इतना रक्तपात क्यों करवा रहे हो ?"

"राज्य नहीं देंगे हम।" दुःशासन बोला।

आचार्य ने जैसे उसकी बात सुनी ही नहीं। बोले, "इससे पहले कि वे तुम्हारे सारे भाइयों को मार डालें, उनसे संधि कर लो। तुम क्या भीम के पराक्रम को नहीं जानते कि वैर ठाना और अब युद्ध से भागे जा रहे हो। जाओ, जाकर सात्यकि से युद्ध करो, ताकि सेना कुछ ठहर सके।"

दुःशासन पैर पटकता और दाँत पीसता हुआ चला गया : एक बार यह युद्ध समाप्त

हो ले, फिर देखेंगे इस बुड्ढे को। युवराज को कह रहा है कि जाओ, गांधारी के उदर में छिप जाओ।''' इतना अपमान ! यह भी नहीं कहा कि जाओ, माँ के उदर में छिप जाओ। कहता है गांधारी के उदर में छिप जाओ, जैसे गांधारी कोई सामान्य स्त्री हो।''' इसकी भ्रष्ट बुद्धि का उपचार करना होगा। जानता है न कि युद्ध में हमें इसकी आवश्यकता है। इसीलिए हमारे वक्ष पर चढ़कर बैठ गया है।'''

इतना सब कहकर भी द्रोण शांत नहीं हुए। उनके भीतर जैसे अब भी लावा उबल रहा था। सामने पांचाल राजकुमार वीरकेतु पड़ गया तो उसका वध कर डाला। भाई का वध देखकर कुपित चित्रकेतु, सुधन्वा, चित्रवर्मा और चित्ररथ—आचार्य पर टूट पड़े। पर आचार्य तो इस समय महाकाल के अवतार हो रहे थे। उन्होंने उन सबका वध कर दिया।

धृष्टद्युम्न ने सब कुछ देखा। उसकी आँखों में अश्रु आ गए। वह द्रोण की ओर बढ़ा। वह इतना प्रचंड हो रहा था कि उसने द्रोण की गति सर्वथा अवरुद्ध कर दी। कौरव सेना में हाहाकार मच गया। द्रोण मूर्च्छित होकर रथ के पिछले भाग में बैठ गए। धृष्टद्युम्न हाथ में नग्न खड्ग लेकर द्रोण के रथ में कूद गया। वह अपने हाथों से आचार्य का मस्तक काट लेना चाहता था।''' पर तभी जैसे द्रोण की चेतना लौटी। उनके पास अपने ही बनाए हुए वैतस्तिक बाण उपलब्ध थे, जो इतनी कम दूरी से भी वार कर सकते थे। कहाँ तो लगता था कि धृष्टद्युम्न एक हाथ से उनके केश पकड़ेगा और दूसरे से उनका मस्तक काट लेगा और कहाँ वह आचार्य के द्वारा इतना क्षतविक्षत कर दिया गया कि उसका द्रोण के रथ में रुकना असंभव हो गया। उसका सारथि उसकी यह दुर्दशा देखकर अपना रथ उसके बराबर ले आया। धृष्टद्युम्न के लिए और कोई विकल्प नहीं रह गया था। वह तत्काल अपने रथ में कूद गया।

द्रोण अनुभव कर रहे थे कि धृष्टद्युम्न उनके लिए भयंकर आतंक का रूप धारण करता जा रहा था। यह दूसरा अवसर था कि वह अपने रथ से कूदकर उनके रथ पर आ गया था। वह उन योद्धाओं में से नहीं था, जो अपने रथ पर बैठे बाण चलाते रहते हैं। यह घटोत्कच और अलंबुश से कम था क्या कि कूद कर किसी के भी रथ पर जा चढ़ता था। इसको न रथ की आवश्यकता थी, न अश्वों की। किसी भी क्षण कूदकर वह वानर के समान किसी के ध्वज पर जा बैठेगा और वह योद्धा भी कपिध्वज हो जाएगा। द्रोण का मन धृष्टद्युम्न के विषय में सोचकर त्रस्त होता जा रहा था। वह तो मायावी था। युद्धक्षेत्र में जैसे उड़ता फिरता था।''' और कैसा हिंस्र। वह द्रोण के केशों को अपनी मुट्ठी में जकड़कर अपने खड्ग से उनका मस्तक काट लेना चाहता है। जैसे भीम, दु:शासन का रक्त पीना चाहता है, वैसे ही धृष्टद्युम्न उनका रक्त पी कर रहेगा।'''

द्रोण की आँखें क्रोध से लाल हो गईं। पहले तो उन्हें लगा था कि वे धृष्टद्युम्न के चंगुल में फँस गए हैं और दूसरे ही क्षण धृष्टद्युम्न उनकी मुट्ठी में आकर सुरक्षित

निकल गया था और अव वह अपने रथ के दंड और अपने कवच इत्यादि में इतना सुरक्षित था कि वे उसका कुछ विगाड़ नहीं सकते थे। द्रोण का सारा क्रोध उसके सारथि की ओर मुड़ गया। वह इस प्रकार समय से रथ न ले आया होता तो धृष्टद्युम्न वच नहीं सकता था।"'

द्रोण ने अपने वाणों से धृष्टद्युम्न के सारथि का मस्तक काट कर फेंक दिया। उनका मन धृष्टद्युम्न से जितना डर रहा था, उनका प्रतिमन उतना ही हिंस्र होता जा रहा था।"'

धृष्टद्युम्न के रथ के अश्व अनियंत्रित हो गए थे। सारथि के न रहने पर धृष्टद्युम्न उन्हें सँभाल नहीं पाया। वे रथ को ले भागे। पांचालों का मनोवल टूट गया। उनका वीर राजकुमार और पांडवों का प्रधान सेनापति युद्धक्षेत्र में से भाग गया था।

द्रोण इतने उग्र हो गए थे कि पांचाल उनके सामने टिक नहीं सके। वे पीछे हट गए।

सहसा द्रोण की चेतना कुछ लौटी। जाने उनकी चेतना कहाँ चली गई थी। उन्होंने विना कुछ सोचे-समझे असंख्य वाण वरसाए थे, जैसे कोई डरा हुआ वालक विना सोचे-समझे और विना देखे-भाले हवा में अपने हाथ-पैर पटकता रहता है।"'

द्रोण लौटकर अपने व्यूह में आ खड़े हुए।

द्रोण की ताड़ना से आहत होकर दुःशासन सात्यकि का मार्ग रोकने के लिए पहुँचा। उसकी इच्छा हो रही थी कि वह या तो सात्यकि का वध कर उसका मस्तक अपने शूल पर टाँगे हुए सारी सेना के सामने प्रदर्शित करे, अथवा अपने वक्ष में सात्यकि के वाण खाकर समरभूमि में शांति से सो जाए। द्रोण की ताड़ना सात्यकि के वाणों से किसी भी प्रकार कम पीड़ादायक नहीं थी।"' यह वुड्ढा उनका ही अन्न खाकर, उन्हीं लोगों को वाणी के शूल चुभोता था।

सात्यकि ने दुःशासन को आते देखा तो उसका उत्साह जैसे दुगुना हो गया।"' यह मूर्ख युद्ध तो कर नहीं सकता, असहायों को पीड़ित भर कर सकता है। इसी ने पांचाली के केश पकड़कर उसे घसीटा था।"' सात्यकि को पता ही नहीं चला, कव उसने दुःशासन का धनुष काट डाला, उसका खड्ग तोड़ दिया, उसके रथ के अश्वों और सारथि को मार डाला। दुःशासन की सेना उसे छोड़कर भाग चुकी थी; और वह असहाय-सा उसके सम्मुख खड़ा था। वह पूरी तरह से सात्यकि के वश में था।"'

द्रोण ने देखा कि दुःशासन घिर गया है। उन्होंने त्रिगर्तों को भेजा, "जाओ, अपने लाडले युवराज के प्राण वचाओ।"

त्रिगर्त अर्जुन को नहीं पा सके थे। उनका अर्जुन के प्रति संचित द्वेष सात्यकि की ओर मुड़ गया। उन्होंने सात्यकि को जा घेरा। दुःशासन को साँस लेने का अवसर मिल गया। वह त्रिगर्तों के पीछे खड़ा होकर कुछ विश्राम की मुद्रा में सात्यकि की अपमानजनक पराजय का दृश्य देखना चाहता था।"' पर उसकी इच्छा पूरी नहीं हुई। सात्यकि इस समय अपने परम तेजस्वी रूप में था। उसके सामने त्रिगर्तों की एक नहीं

चली। वे कट-कटकर गिरते रहे। कुछ मर गए और शेष समरभूमि छोड़कर भाग गए।

सात्यकि एक क्षण के लिए भी रुकना नहीं चाहता था। उसे अर्जुन के निकट पहुँचने की जल्दी थी। उसने रुककर यह भी नहीं देखा कि त्रिगर्त उसके सामने से हटकर कौन-सा नया व्यूह रच रहे हैं। दुःशासन से सात्यकि का इस प्रकार मुक्तभाव से आगे बढ़ जाना देखा नहीं गया। उसने एक के पश्चात् एक कर, सात्यकि को नौ वाण मारे। सात्यकि ने उसके वाण काटे और आगे बढ़ गया। वह दुःशासन को दंडित करने के लिए भी नहीं रुका। दुःशासन पुनः उसका मार्ग छेककर, उसके सम्मुख आ खड़ा हुआ। सात्यकि ने उसकी गति रुद्ध करने के लिए उसके अश्वों और सारथि को मार डाला। भल्ल से उसका धनुष और उसकी ध्वजा काट डाली। उसके पार्श्वरक्षकों को मार डाला। उसकी रथ शक्ति के टुकड़े-टुकड़े कर डाले।

सात्यकि की वाणवर्षा से वचे हुए त्रिगर्त अव फिर उसके पीछे आ रहे थे। त्रिगर्त सेनापति ने दुःशासन को अपने रथ पर चढ़ा लिया और उसे सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने के लिए कौरवों की छावनी की ओर मुड़ गया।

सात्यकि ने यह देखा तो उसका क्रोध फिर से उमड़ पड़ा। यह निर्लज्ज दुःशासन जीवित बच गया है। अव यह अपने घावों का उपचार करवाकर फिर से समरभूमि में आएगा और पांडव सेना को ललकारेगा। इसका तो मर जाना ही उचित है।... सात्यकि ने अपना रथ मोड़ लिया और त्रिगर्त सेनापति का पीछा किया।... सहसा वह चेता : वह क्या कर रहा है। यह दुःशासन से निर्णय कर लेने का अवसर नहीं था। वह तो अर्जुन के पास जा रहा था। उसे शीघ्रातिशीघ्र वहाँ पहुँचना है। संभव है कि अर्जुन को उसकी सहायता की आवश्यकता हो। संभव है कि धनंजय उसकी प्रतीक्षा ही कर रहे हों।... और फिर इस दुःशासन के वक्ष का रक्त पीने की प्रतिज्ञा कर रखी है भीम ने। यदि इसे यहाँ सात्यकि ने मार डाला तो फिर भीम की प्रतिज्ञा कैसे पूरी होगी ?

द्रोण ने बृहत्क्षत्र, धृष्टकेतु, जरासंधपुत्र सहदेव और धृष्टद्युम्नपुत्र क्षत्रधर्मा का वध कर दिया था। वे अपना पराक्रम प्रकट कर अब भी गर्जना कर रहे थे। धृष्टद्युम्न का पता नहीं था कि वह इस समय कहाँ था। द्रुपद स्वयं को असहाय पा रहे थे; किंतु वे युद्ध छोड़कर भाग नहीं सकते थे। उनके सम्मुख उनके पौत्र का वध हुआ था। वे युद्ध से मुँह कैसे फेर लेते। पर वे स्वयं द्रोण पर आक्रमण करने का साहस भी नहीं कर पा रहे थे। अंततः उन्होंने कुंतिपुत्रों को सामने रख द्रोण पर आक्रमण किया।

युद्ध-क्षेत्र में युधिष्ठिर स्वयं द्रोण के सम्मुख खड़े थे; किंतु उनका मन सहस्रों चिंताओं के दंशों का अनुभव कर रहा था। उन्हें अपनी चिंता थी, अर्जुन की चिंता थी, सात्यकि की चिंता थी। जाने वे लोग कहाँ थे और किस स्थिति में थे। उन्हें न तो कोई अपना रक्षक दिखाई पड़ रहा था और न ही द्रोण का कोई प्रतिद्वंद्वी। किसे कहें वे ? कौन करेगा, उनका काम ? क्या भीम ?

वे भीम के पास पहुँचे, "भीम ! अर्जुन का कोई पता नहीं है।"

युधिष्ठिर के चिंतित स्वर ने भीम को चौंका दिया। उसने युधिष्ठिर की ओर देखा तो लगा, जैसे युधिष्ठिर अपने आपे में नहीं हैं। वे चिंता से प्रायः अचेत से हो रहे थे।

"क्या हुआ ?" भीम ने उनकी ओर देखा, "आपकी ऐसी व्याकुलता तो मैंने कभी नहीं देखी। आज्ञा करें, मैं क्या करूँ।"

"पांचजन्य की जैसी ध्वनि सुनाई पड़ रही है और कृष्ण का जैसा क्रोधमय स्वर सुनाई पड़ रहा है, उससे लगता है कि हम सबका प्यारा अर्जुन अब जीवित नहीं है। उसके दिवंगत होने पर कृष्ण स्वयं युद्ध कर रहे हैं। हमें अर्जुन के कौरवों की सेना में जाने का पता है, लौटने का नहीं। तुम अर्जुन और सात्यकि के पास जाओ।" युधिष्ठिर ने उसकी ओर देखा, "देखो, मुझे मना मत करना। यदि बड़े भाई की आज्ञा मानना तुम्हारा कर्तव्य है तो जैसा मैं कह रहा हूँ, वैसा ही करो। अर्जुन को खोजो, सात्यकि को खोजो। अर्जुन से भी अधिक सात्यकि को खोजो। वह मेरे ही आदेश पर अर्जुन को खोजने के लिए मृत्यु के समान इस कौरव सेना में धँस गया है।"

भीम यह नहीं कह सका कि उसने न तो पांचजन्य का उद्घोष सुना है और न ही कृष्ण का चिंतित स्वर। धर्मराज ने सचमुच ही वैसा कुछ सुना है या यह उनके व्याकुल मन का भय ही है ?...

भीम ने युधिष्ठिर की बात चुपचाप सुन ली। वह उनके मन की स्थिति को समझ रहा था। युधिष्ठिर तो युद्ध करना ही नहीं चाहते थे। यह तो भीम ही था, जिसने उन्हें बाध्य किया था। अब प्रत्येक योद्धा की मृत्यु के लिए धर्मराज व्यक्तिगत रूप से स्वयं को उत्तरदायी मान लेते हैं। वे यह नहीं मानते कि यह पांडवों और पांचालों का सामूहिक युद्ध है, जो सब लोग मिलकर लड़ रहे हैं। वे यह ही मानते हैं कि यह उनका युद्ध है, उनके लिए राज्य प्राप्ति का युद्ध है, जो उनके भाई और संबंधी लड़ रहे हैं।... वे इस समय अपनी सुरक्षा की ओर से अचेत हैं, किंतु भीम उनको असुरक्षित नहीं छोड़ सकता। सात्यकि ने उनकी रक्षा के लिए विशेष रूप से उससे कहा था।...

भीम ने, समरभूमि में लौटते हुए, धृष्टद्युम्न को रोका।

"युद्ध की क्या स्थिति है ?" धृष्टद्युम्न ने पूछा।

भीम की इच्छा हुई कि उसे उसके पुत्र क्षत्रधर्मा के द्रोण द्वारा मारे जाने का समाचार दे दे, किंतु फिर वह रुक गया। वह समाचार तो उसे कुछ समय बाद मिल ही जाएगा। युद्धक्षेत्र में प्रवेश के समय ही उसे वह समाचार दे कर हतोत्साहित करने का क्या लाभ ?

"महाबाहो ! आचार्य द्रोण धर्मराज को बंदी करने पर तुले हुए हैं। उधर महाराज चिंतित हैं अर्जुन और सात्यकि के लिए। मैं जानता हूँ कि मेरे लिए अर्जुन और सात्यकि की सहायता करने से बड़ा कर्तव्य धर्मराज की रक्षा है, किंतु धर्मराज ने मुझे आदेश दिया है कि मैं अर्जुन और सात्यकि की सहायता के लिए जाऊँ। मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता।..."

धृष्टद्युम्न को भीम का संकेत समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं हुई। वह उल्लसित भाव से बोला, "तुम कुछ भी सोच-विचार मत करो मध्यम पांडव ! तुम प्रसन्न चित्त से धर्मराज की आज्ञा का पालन करने के लिए जाओ। धर्मराज की रक्षा मैं करूँगा। मुझे द्रोण से वैसे भी अपना ऋणशोधन करना है। वह तो कहो कि उसका भाग्य ही अच्छा है, नहीं तो अब तक मैं दो-दो बार उसका मस्तक काट कर अपने शिविर के प्रवेश-द्वार पर टाँग चुका होता।"

"तो मैं जाऊँ ?" भीम ने पूछा।

"मुक्त मन से जाओ। निर्द्वंद्व होकर जाओ।" धृष्टद्युम्न ने कहा, "मेरा वध किए बिना, द्रोण धर्मराज को बंदी नहीं कर सकते। और इतना तो तुम भी जानते हो कि वे मेरा वध नहीं कर सकते। मैं ही उनका वध करने वाला हूँ।"

भीम ने अपना रथ घुमाया और अपने शिविर में आ गया। उसने पूजित और संतुष्टचित्त हुए ब्राह्मणों की परिक्रमा कर, आठ प्रकार की मांगलिक वस्तुओं—अग्नि, गौ, सुवर्ण, दूर्वा, गोरोचन, घी, अक्षत और दही—का स्पर्श किया। कैरातक मधु का पान किया। उसका उत्साह उस समय आकाश को छू रहा था और उसके नेत्र मद से लाल हो रहे थे।

19

भीम समरभूमि में लौट आया।

दुःशल, चित्रसेन, कुंडभेदी, विविंशति, दुर्मुख, दुःसह, विकर्ण, शल, सुमुख, दीर्घबाहु, सुदर्शन, विन्दारक, सुहस्त, सुषेण, दीर्घलोचन, अभय, रौद्रकर्मा, सुवर्मा और दुर्विमोचन—ने आकर उसका मार्ग इस प्रकार छेक लिया, जैसे वे लोग उसको ही खोज रहे हों। पर भीम इस समय जिस मनःस्थिति में था, उसमें उसके लिए वे सब योद्धा नहीं थे। वे केवल बाधाओं का एक रूप थे, जो उसका मार्ग रोककर उसे अर्जुन और सात्यकि के निकट नहीं पहुँचने देना चाहते थे। भीम मुस्कराया। कोई व्यक्ति दूर के किसी देश की यात्रा पर निकला हो और मार्ग में कोई पर्वत आ जाए तो यात्री, उस पर्वत को खोदने नहीं बैठ जाता। वह उसे लाँघ जाता है। भीम को भी उनको लाँघ ही जाना था। हाँ ! कोई शिला ऐसे ही अड़ जाए कि उसका पार पाना असंभव हो तो उस शिला को तोड़ना भी पड़ता है। दुर्योधन के ये भाई उसके लिए वैसी शिला नहीं थे। वह शिला तो इनके पार थी और वह थी आचार्य द्रोण की सेना।

भीम उन सबको अपने वेग में लाँघ गया और द्रोण की सेना पर टूट पड़ा।

द्रोण मुस्कराए। तो अब भीम आया है। निश्चित रूप से वह भी अर्जुन और सात्यकि के पीछे जा रहा होगा। वह दुर्मद योद्धा है, किंतु धनुर्धारी नहीं है। फिर उनका शिष्य

है। अर्जुन अपने गुरु की पूजा कर आगे बढ़ा था। देखें भीम कौन-सी विधि अपनाता है।

"महाबली भीमसेन !" द्रोण ने कहा, "तुम समरभूमि में मुझ शत्रु को पराजित किए बिना, इस शत्रु सेना में प्रवेश नहीं कर सकोगे। अर्जुन मेरी अनुमति लेकर ही इस सेना के भीतर घुसा है। यदि इच्छा हो तो तुम भी उसी प्रकार भीतर जा सकते हो। अन्यथा मेरी इस सेना में प्रवेश नहीं कर पाओगे।"

अपने गुरु रहे, इस शत्रु योद्धा और दुर्योधन के सेनापति की यह गर्वोक्ति भीम को सहन नहीं हुई। अपने पक्ष के अनेक योद्धाओं को उसने द्रोण के हाथों मरते देखा था। उसकी आँखें क्रोध से लाल हो गईं। बोला, "अर्जुन तुम्हारी अनुमति से इस समरांगन में प्रविष्ट नहीं हुए हैं।..."

द्रोण चौंके, भीम अपने छोटे भाई की चर्चा तो सम्मानपूर्वक कर रहा था और उनके लिए तुम का संबोधन कर रहा था।... तो भीम के मन में अपने गुरु के लिए पूज्य भाव नहीं था।...

"वे तो दुर्जय हैं। देवराज इंद्र की सेना में भी प्रविष्ट हो सकते हैं।" भीम ने कहा, "उन्होंने तुम्हारी पूजा कर निश्चय ही तुम्हें सम्मान दिया है। परंतु द्रोण ! मैं दयालु अर्जुन नहीं हूँ।..."

आचार्य द्रोण को जैसे अपने कानों पर विश्वास नहीं हो रहा था।... भीम उन्हें नाम लेकर ऐसे संबोधित कर रहा था, जैसे वे उसके गुरु न हों, कोई साधारण योद्धा हों...

"मैं तो तुम्हारा शत्रु भीमसेन हूँ।" भीम ने कहा, "तुम हमारे पिता, गुरु और बंधु हो। हम तुम्हारे पुत्र के तुल्य हैं। हम सब यही मानते हैं और सदा तुम्हारे सामने प्रणतभाव से खड़े होते हैं। यदि तुम अपने आपको शत्रु मानते हो तो ऐसा ही सही। मैं भीमसेन तुम्हारे शत्रु के अनुरूप ही कर्म कर रहा हूँ।..."

द्रोण पहचान रहे थे। भीम के स्वर में उस शिष्य के मन की पीड़ा थी, जो अपने गुरु का उसकी योग्यता, क्षमता, शिक्षा के लिए सम्मान तो करना चाहता है; किंतु उसके आचरण को देखकर उसका सम्मान कर नहीं सकता।...

भीम की जिह्वा शांत हुई तो उसके हाथ सक्रिय हो उठे। भीम ने एक भयंकर गदा उठाई और घुमाकर द्रोण पर दे मारी।

द्रोण ने नहीं सोचा था कि भीम का पहला ही प्रहार इतना भयंकर होगा। अब अपने अस्त्रों में से कोई समर्थ अस्त्र चलाकर, उसकी गदा को रोकना संभव नहीं था। अपनी रक्षा के लिए वे अपने रथ से कूद पड़े। गदा रथ से टकराई और रथ चूर-चूर हो गया। कितने ही योद्धा उसमें दब कर मारे गए। यह तो द्रोण का भाग्य ही था कि वे उस गदा की भयंकरता को समय से जान गए और उनके प्राण बच गए।

भीम ने समरभूमि में अपने प्रवेश की घोषणा बड़े धमाके से की थी। कौरवों में उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही वेगशाली हुई। द्रोण के लिए नया रथ आया। वे तत्काल

अपने व्यूह में आ खड़े हुए। भीम की उस गदा का आतंक असाधारण था। द्रोण क्षण भर को भी कल्पना करते तो उनका वक्ष चिंता से फटने लगता था। गदा जिस समय रथ से टकराई थी, उस समय कहीं वे भी रथ में होते तो उनके शरीर के अनेक खंडों को समरभूमि में दूर-दूर तक खोजना पड़ता···

दुःशासन के नेतृत्व में धार्तराष्ट्रों ने भीम को घेरा। दुःशासन आज बहुत क्रुद्ध था। वह न अर्जुन को रोक पाया था, न सात्यकि को; और ऊपर से द्रोण की ताड़ना अलग। उसके मन में अभी भी द्रोण के शब्द अंगारों से दहक रहे थे,··· जाओ ! जा कर गांधारी के उदर में छिप जाओ··· अभी इस भीम को वह एक शव में परिणत कर देगा तो सारी पराजयों की क्षतिपूर्ति हो जाएगी।···

पर भीम तो दुःशासन को अपने सम्मुख देखकर अत्यंत प्रसन्न था, जैसे सिंह के सामने उसके भोजन के लिए कोई कोमल-सा मृग आ गया हो। प्रसन्नता से उसके दाँत दिखाई देने लगे। भीम के बाण आज कौरवों को अर्जुन के बाणों से भी कठोर लग रहे थे। दुःशासन का वक्ष छलनी हो रहा था।

भीम ने उच्च स्वर में कहा, "ठहर दुःशासन ! तेरे वक्ष से बाणों द्वारा बहाया गया रक्त नहीं पीना है मुझे। मुझे तो तेरा वक्ष अपने इन हाथों से फाड़कर उसका तप्त लहू पीना है···।"

भीम हँस रहा था, किंतु उसकी भंगिमा कुछ इतनी भयंकर थी कि दुःशासन अपने भाइयों को वहीं छोड़कर भाग गया। उसके भाई भी वहाँ खड़े नहीं रह सके। वे भीम के भय से, ऐसे आहत थे कि भीम के शस्त्रों की मार की प्रतीक्षा भी नहीं कर सके। भीम ने उनका दूर तक पीछा किया।··· तभी उसे स्मरण हो आया कि वह अर्जुन और सात्यकि की खोज में जा रहा था। धार्तराष्ट्रों के आखेट के लिए नहीं आया था वह। अर्जुन और सात्यकि की सुरक्षा अधिक आवश्यक है। वस्तुतः धर्मराज की सुरक्षा भी उन्हीं की सुरक्षा पर निर्भर थी।

द्रोण चाहे कितने भी डर गए हों, किंतु वे भीम को इस प्रकार उन्मुक्त नहीं छोड़ सकते थे। उन्होंने कौरवों को एकत्रित किया और फिर से एक बार भीम को घेरा।

स्वयं को घिरा हुआ देखकर भीम को आंतरिक प्रसन्नता हुई। उसने फिर से एक भयानक गदा उठाई और शत्रुपक्ष पर दे मारी। अनेक सैनिकों का कचूमर निकल गया। द्रोण प्रसन्न थे कि इस बार भीम का लक्ष्य वे नहीं थे। उसने तो सारी सेना को ही लक्ष्य बनाया था। गदा जहाँ भी गिरे। कोई भी मरे। कहीं भी मरे।

द्रोण आगे बढ़े और उन्होंने भीम का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। पांडवों के हर्ष पर जैसे कुहासा छा गया। भीम का वेग रुक गया था। दोनों ओर से प्रहार हो रहे थे और समरभूमि में दोनों ही ओर से असंख्य योद्धा मारे जा रहे थे। द्रोण की अपेक्षा थी कि भीम फिर से गदा का प्रहार करेगा। इस बार वे उसके लिए प्रस्तुत थे। किंतु भीम ने गदा नहीं उठाई। अकस्मात् ही वह अपने रथ से कूद पड़ा। उसने अपने दोनों नेत्र

मूँद रखे थे। वह किसी को भी देख नहीं रहा था। न मित्र को न शत्रु को। उसने अपने सिर को जैसे कंधों पर सिकोड़ कर, दोनों हाथों को छाती पर सुस्थिर कर लिया था। और मन, वायु अथवा गरुड़ के से वेग से वह द्रोण के रथ की ओर दौड़ा।

कौरव चारों ओर से उस पर बाणों की वर्षा कर रहे थे। किसी का साहस नहीं हो रहा था कि वह उसके सम्मुख अपना रथ अड़ा दे अथवा अपने खड्ग अथवा गदा से उसका वेग रोक ले।··· पर भीम को आज बाणों की कोई चिंता नहीं थी। वह द्रोण के रथ के निकट पहुँच गया था। उसने उनके रथ का ईषादंड थाम लिया।

द्रोण डर गए। क्या करना चाहता है भीम। क्या वह भी धृष्टद्युम्न के समान रथ पर चढ़कर उनका मस्तक काटना चाहता है ? किंतु उसके हाथ में तो खड्ग भी नहीं था। तो क्या वह उनका कंठ दबाकर उनको मार डालना चाहता है ? या वह अपने मुष्टिका प्रहार से उनके प्राण लेना चाहता है।···

पर भीम ने वह सब कुछ भी नहीं किया। वह रथारूढ़ भी नहीं हुआ। उसने ईषादंड को पकड़ा और रथ को जैसे अपनी ओर घसीट ही तो लिया। वह रथ को घुमा रहा था और रथ उसकी भुजाओं के बल से घूम रहा था, जैसे कोई बालक खेल में किसी बड़े आकार के खिलौने को घुमाता है। रथ के पहिए भूमि से ऊपर उठ गए थे और वह वायु में चक्कर खा रहा था।···

द्रोण अपने स्थान पर टिककर खड़े भी नहीं हो पा रहे थे कि वे किसी शस्त्र का प्रयोग कर भीम को रथ छोड़ने को बाध्य करते। रथ घूम रहा था और द्रोण किसी प्रकार उससे चिपके हुए थे कि कहीं वे नीचे भूमि पर गिरकर भीम के पैरों तले कुचले ही न जाएँ।··· और फिर भीम ने द्रोण के उस घूमते हुए रथ को छोड़ दिया। रथ दूर जाकर गिरा। उसकी चपेट में कुछ और रथ भी आ गए, जैसे भीम ने एक रथ से दूसरे रथों को ध्वस्त किया हो। उसकी चपेट में आए कुछ सैनिकों का कचूमर ही निकल गया था।

द्रोण का सारा उत्साह भंग हो चुका था। ऐसे विकट कर्म करने वाले भीम से वे कैसे पार पा सकते थे।

भीम को अब किसी की चिंता नहीं थी। वह द्रोण की सेना को पीछे छोड़कर आगे बढ़ गया था। मार्ग में कृतवर्मा की भोजवंशी सेना आई, पर भीम ने अपने वेग से उसे मथ दिया और स्वयं आगे बढ़ गया। उसने दरदों को भी पार किया। मलेच्छों को परास्त किया। उसको अपने सामने कुछ दूरी पर सात्यकि युद्ध करता दिखाई दे रहा था और उससे भी कुछ दूरी पर स्वयं अर्जुन युद्ध में व्यस्त था।

भीम ने पूरे उत्साह से सिंहनाद किया। कृष्ण और अर्जुन ने भीम का सिंहनाद सुना। उनके चेहरे खिल गए। अर्जुन ने तत्काल अपना देवदत्त शंख फूँका। सात्यकि ने अपने उत्साह में भयंकर गर्जन किया।

दुर्योधन और उसके मित्र जैसे अपने रथों में अपने पैरों के पंजों पर खड़े हो गए

थे। अकेला अर्जुन ही उनसे सँभल नहीं रहा था; और अब अर्जुन, सात्यकि और भीम इकट्ठे हो गए थे। वे त्रिकोण बनाकर लड़ेंगे तो कौरव सेना उनको रोक नहीं पाएगी। जयद्रथ की रक्षा अब कैसे होगी ?

दुर्योधन ने कर्ण की ओर देखा, "कुछ करो। और कुछ नहीं तो किसी प्रकार इस भीम को रोको।"

कर्ण का मन कैसा तो हो गया था।''' एक-एक पांडव कौरव सेना के सारे वीरों के लिए यमराज हो जाता है। दो मिल जाएँगे तो जाने क्या होगा।''' और प्रत्येक पांडव उसका भाई था। कुंती को वचन दिया था उसने कि वह अर्जुन को छोड़कर और किसी पांडव का वध नहीं करेगा। दुर्योधन यह सब नहीं जानता है। वह उस पर पूर्णतः निर्भर है। दुर्योधन को भीष्म और द्रोण पर भी उतना विश्वास नहीं है, जितना वह कर्ण पर करता है।''' अर्जुन आज अपने तेज में ऐसा तप रहा है कि वह अकेला ही कौरव सेना को विदीर्ण कर इस सीमा तक उसके भीतर घुस आया है कि कौरवों के सारे व्यूह ध्वस्त होते गए हैं।''' वह अर्जुन और भीम को रोके, न रोके, वह उन दोनों को मिलकर लड़ने नहीं देगा।'''

कर्ण को अपने सम्मुख देखकर भीम को वास्तविक सुख मिला। इस व्यक्ति को वह कब से खोज रहा था। यह है, जो दुर्योधन के मन का विष अधिक से अधिक गाढ़ा करता रहता है। यह है, जो दुर्योधन का सबसे बड़ा सहारा है। यह है जो पांडवों को पीड़ित कर सबसे अधिक सुख पाता है। यह है, जिसने द्यूतसभा में पांचाली को वेश्या कहा था और उसे निर्वस्त्र कर देने का प्रस्ताव किया था।'''

भीम ने अपने पहले बाण से कर्ण का कोदंड काट दिया।''' कर्ण कुछ सँभला। वह युद्ध में इस प्रकार शिथिल रहेगा तो भीम का वेग नहीं सँभाल पाएगा। भीम क्रोधी है, यह कर्ण भी जानता है। और भीम क्षमा करना भी नहीं जानता। इसी भीम ने दुर्योधन की जंघा तोड़ने और दुःशासन के वक्ष को फाड़कर उसका रक्त पीने की प्रतिज्ञा की है।''' भीम नहीं जानता कि कर्ण उसका भाई है। जान जाएगा तो क्या वह कर्ण के अपराध क्षमा कर देगा ? क्या भूल जाएगा कि कर्ण का अब तक उन लोगों के प्रति कैसा व्यवहार रहा है ?''' नहीं ! शायद जानकर भी वह पांचाली का अपमान भूल नहीं पाएगा।''' पर भीम को रोकना तो होगा ही। कर्ण उसे मारना नहीं चाहता तो उसके हाथों मरना भी नहीं चाहता। न ही वह उसे उससे अपने संबंध के विषय में बता सकता है।'''

कर्ण ने दूसरा धनुष उठाया और भीम को आहत कर दिया। भीम ने अपना रक्त देखा, तो और भी उग्र हो उठा। उसने क्षुर मारकर कर्ण के धनुष की प्रत्यंचा काट दी। उसके अश्वों और सारथि को भी मार दिया।

कर्ण इस टूटे हुए रथ पर बैठा रहकर अपने प्राण नहीं गँवाना चाहता था। वह रथ वहीं छोड़कर कूद गया। सामने ही वृषसेन का रथ आ रहा था। वृषसेन ने रथ

रुकवाकर कर्ण को सहारा दिया। भीम को यह अच्छा नहीं लगा। वह सोच ही रहा था कि वह गदा लेकर कर्ण पर जा कूदे कि वृषसेन उसे वहाँ से हटा ले गया। भीम ने पुनः धनुष उठा लिया। वह कठोर से कठोर होता जा रहा था, किंतु कर्ण का धनुष अधिक हिंस्र हो ही नहीं पा रहा था। उसका मन, अहंकार और शरीर जैसे एकाग्र ही नहीं हो रहे थे।

दुर्योधन ने कर्ण को देखा : वह तो भीम से ही दब रहा था। भीम तो धनुर्धर था भी नहीं। अर्जुन के सामने पड़कर यह कर्ण क्या करेगा। कहीं कर्ण गंभीर रूप से घायल तो नहीं है ? संभवतः उसे शल्य चिकित्सक अथवा वैद्य की आवश्यकता हो।"'

"दुःशल ! कर्ण संकट में है। उसके लिए रथ प्रस्तुत करो।"

दुःशल अपना रथ लेकर कर्ण के निकट पहुँचा। कर्ण ने उसका संकेत समझा। वह उसके रथ पर आ गया।

"युवराज ने कहा है कि आपके लिए रथ प्रस्तुत किया जाए।" दुःशल बोला, "आप मेरा यह रथ ले लें। मैं अपने लिए दूसरे रथ का प्रबंध करता हूँ।"

दुःशल उस रथ से उतरने की सोच ही रहा था कि भीम के बाण ने उसका मस्तक काटकर भूमि पर गिरा दिया। जब तक कर्ण कुछ समझ पाता, वह स्वयं भी घायल हो चुका था।"' आज भीम स्वयं को अर्जुन के समकक्ष धनुर्धर सिद्ध करने पर तुला हुआ था।

कौरव सेना ने देखा कि दुःशल मारा गया है। कर्ण आहत हुआ है और दुर्योधन यहाँ से कहीं दूर चला गया है। अर्जुन का रथ जयद्रथ की दिशा में और आगे बढ़ गया था और सात्यकि तथा भीम अर्जुन के निकट पहुँचते जा रहे थे।

कौरव सेना का अपने स्थान पर टिके रहना असंभव हो गया था।

दुर्योधन का भागता हुआ रथ आचार्य द्रोण के निकट आकर ठहर गया। आचार्य ने देखा, दुर्योधन के नेत्र रक्तिम हो रहे थे। वह क्रुद्ध भी दिखाई दे रहा था और घबराया हुआ भी।

"अर्जुन, सात्यकि और भीम मेरी विशाल सेना को पराजित कर जयद्रथ के अति निकट पहुँच गए हैं। उन्हें कोई नहीं रोक सका है। वे अपराजित होकर मेरी सेना पर प्रहार कर रहे हैं। मान लिया कि अर्जुन संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी है, इसलिए आपको व्यतिक्रांत कर गया; किंतु सात्यकि और भीम आपको कैसे व्यतिक्रांत कर गए ? क्या आप उनसे पराजित हो गए ?"

द्रोण समझ नहीं पा रहे थे कि वे दुर्योधन से क्या कहें। वह एक ओर उनको पराजित बताकर लज्जित कर रहा था। दूसरी ओर वह उपालंभ लेकर आया था कि वे तीनों उनको व्यतिक्रांत कैसे कर गए। वह उन पर निष्ठाहीनता का आरोप भी लगा रहा था और उनसे सहायता माँगने भी आया था। वह उनको पराजित बताकर लज्जित

था। द्रोण केवल पांचालों से लड़ना चाहते हैं। वे पांडवों अथवा यादवों से लड़ना ही नहीं चाहते ?''' या आज वे अर्जुन, सात्यकि और भीम से बहुत भयभीत हैं ? वे कह रहे हैं कि जयद्रथ की रक्षा करो; किंतु उसकी रक्षा के लिए स्वयं कोई प्रयत्न करना नहीं चाहते। क्या वे जयद्रथ के वध के इच्छुक हैं ? क्या वे नहीं चाहते थे कि अभिमन्यु मारा जाए ?''' पर कल तो ऐसा कुछ नहीं लगा था। उन्होंने चक्रव्यूह रचा भी था, सेना का संचालन भी किया था, अभिमन्यु के वध में भी वे पूर्णतः सहायक रहे थे।''' तो क्या आज, अर्जुन का पुत्र-वियोग में सूखा हुआ चेहरा देखकर आचार्य का मन विगलित हो गया है; और वे अर्जुन को अपना प्रतिशोध ले लेने की सुविधा देना चाहते हैं, या पुत्र की मृत्यु से अर्जुन इतना भयंकर हो उठा है कि द्रोण जैसे योद्धा का भी उसके सम्मुख पड़ने का साहस नहीं हो रहा है ?

दुर्योधन उस दिशा में मुड़ा, जहाँ अर्जुन युद्ध कर रहा था और निरंतर जयद्रथ के निकट होता जा रहा था। अब द्रोण से इस संदर्भ में अधिक आशा नहीं रखनी चाहिए थी। वे अपने स्थान से नहीं हटेंगे। संभवतः वे अपने व्यूह में स्वयं को सुरक्षित पा रहे हैं और वहाँ रहकर वे अपने सम्मान की रक्षा भी कर सकते हैं। दुर्योधन की सहायता के लिए वे इतना ही कर सकते हैं कि पांडवों में से किसी और को कौरव सेना में न घुसने दें।''' पर उससे क्या ? जिनको आना था, वे तो आ ही चुके हैं। कृष्ण, अर्जुन, भीम और सात्यकि—सब ही तो आ चुके। अब कोई और आए या न आए, उससे बहुत अंतर नहीं पड़ेगा।'''

सहसा दुर्योधन की दृष्टि अर्जुन की दिशा में उठी।''' अर्जुन के चक्ररक्षक—पांचाल कुमार, युधामन्यु और उत्तमौजा—सेना के बाहरी भाग से होकर अब सेना में प्रवेश कर अर्जुन के निकट जाने का प्रयत्न कर रहे थे। इसका अर्थ हुआ कि आचार्य ने उन्हें सेना में प्रवेश करने नहीं दिया। वे कौरव सेना के बाहर-बाहर से वन में यात्रा करते हुए, कौरवों की सेना के इस सिरे पर पहुँच गए हैं और यहाँ से सेना में प्रवेश करने का प्रयत्न कर रहे हैं, जहाँ कोई प्रभावी प्रतिरोध नहीं है।''' यदि ये भी अर्जुन के निकट पहुँच गए तो अर्जुन की स्थिति और भी सबल हो जाएगी।

दुर्योधन अपनी वाहिनी के साथ उनके सम्मुख जा खड़ा हुआ। युधामन्यु ने उसे प्रहार का अवसर नहीं दिया। जब तक कि दुर्योधन सँभलता युधामन्यु ने उसे घायल कर दिया था और उसके अश्वों और सारथि को बींध डाला था।

इसी बीच उत्तमौजा को असावधान पाकर दुर्योधन ने उसके पृष्ठरक्षकों को मार डाला। पृष्ठरक्षकों के मारे जाने के कारण सारथि और अश्व असुरक्षित हो गए थे। दुर्योधन ने उन्हें भी जीवित नहीं छोड़ा। उत्तमौजा समझ रहा था कि उसका अपने रथ पर बने रहना मृत्यु को आमंत्रित करना था। वह तत्काल युधामन्यु के रथ पर जा चढ़ा। अपने रथ की रक्षा युधामन्यु कर ही रहा था। उत्तमौजा ने वहाँ से दुर्योधन के सारथि और अश्वों को मार डाला।

अब दुर्योधन उसी स्थिति में था, जिसमें थोड़ी देर पहले उत्तमौजा था। उसके निकट अपना कोई सहायक भी नहीं था। दुर्योधन गदा लेकर रथ से कूद पड़ा और उन दोनों की ओर दौड़ा। उत्तमौजा और युधामन्यु अपने रथ के पिछले भाग से कूद गए। दुर्योधन ने उनके रथ को चूर कर दिया; और इससे पहले कि उत्तमौजा अथवा युधामन्यु में से कोई उस पर प्रहार करता, वह शल्य के रथ पर आरूढ़ हो गया।

उत्तमौजा और युधामन्यु बिना रथ के युद्धक्षेत्र में खड़े थे और दुर्योधन उन्हें छोड़कर चला गया था। उन्होंने चकित होकर एक-दूसरे की ओर देखा। पर वे तत्काल समझ गए। वे लोग एक प्रकार से अर्जुन, सात्यकि और भीम के त्रिकोण के बीच खड़े थे। यहाँ दुर्योधन अधिक देर टिक नहीं सकता था। वह इन दोनों से लड़ता हुआ, अर्जुन के हाथों मरना नहीं चाहता था।''' वे लोग अर्जुन की ओर बढ़ गए।'''

भीम को अर्जुन के निकट जाने को उतावला देखकर कर्ण ने ललकारा, "तुम्हारे शत्रुओं ने भी नहीं सोचा था कि तुम युद्ध में पीठ दिखाओगे। तुम्हारा यह कार्य एक कुंतिपुत्र के योग्य नहीं है। मेरे सम्मुख रुककर मेरे साथ युद्ध करो।"

भीम ने क्रुद्ध दृष्टि कर्ण पर डाली, किंतु उसका मन कर्ण में एक अंतर का अनुभव कर रहा था। कर्ण के स्वर में आज उतना विष नहीं था। उसने भीम को अपने वाग्बाणों से बींधने का प्रयत्न नहीं किया था। वह कह रहा था कि युद्ध से भागना एक कुंतिपुत्र के योग्य कृत्य नहीं था। इस वाक्य में तो कुंती का पुत्र होने में गौरव की ध्वनि थी। कर्ण ने उसे पांडव भी नहीं कहा था। यह नहीं कहा था कि युद्ध की अवज्ञा करना पांडुपुत्र के योग्य कर्म नहीं था। वह कुंती को यह गौरव क्यों दे रहा था ?''' पर न तो कर्ण से कुछ पूछने का यह उपयुक्त अवसर था और न ही कर्ण के मन का विश्लेषण करने का समय था।''' यह तो युद्ध का क्षण था। यदि कर्ण समझता है कि कुंती के पुत्र को इस प्रकार व्यवहार नहीं करना चाहिए, तो भीम कुंती का योग्य पुत्र होने का पूर्ण प्रमाण देगा।

भीम ने अर्द्धमंडलाकार गति से घूमकर कर्ण से युद्ध आरंभ किया। इच्छा हुई कि बाण मारकर इस कर्ण को सदा के लिए चुप ही करा दिया जाए। उसने बाणों की भयंकर वर्षा आरंभ की।

इस बार भीम का उपहास-सा करता हुआ, कर्ण उसके सम्मुख आ खड़ा हुआ। उसकी हँसी भीम को विष के समान लगी। उसके वक्ष में जैसे अग्नि प्रज्वलित हो उठी। उसने दाँत पीसते हुए, कर्ण के वक्ष में गंभीर घाव करने की इच्छा से वत्सदंत नामक बाणों की झड़ी लगा दी। पर कर्ण के विचित्र कवच पर उन बाणों का कोई प्रभाव नहीं हुआ।''' भीम के मन में कर्ण के अलौकिक कवच कुंडल की कथा गूँज गई। भीम ने आज तक स्वीकार नहीं किया कि कर्ण के शरीर पर जन्म के समय से कोई कवच था। यदि होता तो वह भीम को भी दिखाई पड़ना चाहिए था और पिछले सारे युद्धों में उसके

शरीर में घाव करने वाले बाणों को भी। वैसा कोई अलौकिक कवच होता तो न तो कर्ण को घायल होना चाहिए था और न ही किसी युद्ध से पलायन करना चाहिए था।··· पर आज उसने कोई विचित्र कवच धारण कर रखा था।··· प्रातः सुना था कि आचार्य ने दुर्योधन को भी कोई अभेद्य कवच बाँध दिया था, पर उसका प्रभाव तो एक प्रहर भी नहीं रहा। दुर्योधन अभी तो उसके सामने ही पिट कर भागा है। फिर कर्ण का कवच कोई ऐसा अभेद्य भी नहीं था कि भीम पूर्णतः हतोत्साहित हो जाता।··· उसने कर्ण को इक्कीस बाण मारे और उसे क्षत-विक्षत कर दिया।

भीम के बाणों की चोट खाकर कर्ण हँसा। उसने चौंसठ बाण मारकर भीम के कवच की धज्जियाँ उड़ा दीं। स्पष्टतः भीम के शरीर में अनेक घाव लगे थे, किंतु भीम ने उनकी तनिक भी चिंता नहीं की। वह कर्ण के निकट से निकट होता जा रहा था। वह तो जैसे कर्ण से सटता ही जा रहा था। उसके धनुष से निरंतर बाण छूट रहे थे। ऐसा लग रहा था कि भीम, भीम का रथ और भीम के बाण—सब ही कर्ण को कंठ से लगाने को आतुर थे।

पर कर्ण अब भी विशेष उग्र नहीं हुआ था। वह अपनी रक्षा कर रहा था और भीम को पीड़ित भी कर रहा था, किंतु उसके चेहरे पर किसी प्रकार की क्रूरता प्रकट नहीं हुई थी। भीम का कैतालक मद, उसे स्मरण करा रहा था कि कर्ण ने कब-कब उन लोगों के प्रति किस-किस रूप में क्रूरता का व्यवहार किया। वह अपने क्रोध को रोक नहीं पा रहा था। उसे इस बात से भी झुँझलाहट हो रही थी कि कर्ण उसकी बातों और उसके बाणों से उत्तेजित नहीं हो रहा था।··· क्या वह यह जताना चाहता है कि भीम ऐसा योद्धा नहीं है, कि जिससे वह गंभीरतापूर्वक युद्ध करे ? क्या वह भीम का उपहास करने का प्रयत्न कर रहा है ?··· पर तब कर्ण उसे छोड़कर अर्जुन से युद्ध करने क्यों नहीं जाता ? क्या वह अर्जुन से भयभीत है और भीम को वह अपने समकक्ष योद्धा नहीं मानता ?···

भीम ने जैसे अपने अपमान की पीड़ा का दंश अनुभव किया और वह अत्यंत उग्र हो उठा। उसने कर्ण के धनुष की प्रत्यंचा काट दी और कर्ण के वक्ष में भीषण आघात किया। उसके अश्वों का वध कर दिया और उसके सारथि का मस्तक काट दिया।···

कर्ण का अभिमान सहसा उसे छोड़कर भाग गया। भीम उसके समतुल्य योद्धा हो या न हो, कर्ण उससे लड़ना चाहे या न चाहे, किंतु इस समय भीम ने उसे घायल ही नहीं कर दिया था, उसे शस्त्रों और रथ से भी विहीन कर दिया था। यदि वह तत्काल ही अपनी सुरक्षा का प्रबंध नहीं करता तो वह भीम के हाथों मारा जाएगा।···

कर्ण को लगा, उसका कंठ सूख रहा है। भीम अर्जुन के समान धनुर्धर हो या न हो, किंतु ऐसा साधारण योद्धा भी नहीं है कि जिससे अगंभीर युद्ध किया जाए।···

कर्ण तत्काल दूसरे रथ में लौटा। भीम अब तक कर्ण के द्वारा किए गए अपमान

और दुर्व्यवहार को स्मरण कर जैसे जीवन से विरक्त हो उठा था। कर्ण को लौटा देख, उसने उस पर भयंकर आक्रमण किया।

कृष्ण ने भीम को कर्ण से लड़ते देखकर अर्जुन की ओर देखा। अर्जुन मुस्कराया। कृष्ण ने रथ भीम की ओर हाँक दिया। इस बीच भीम ने कर्ण के नए सारथि का वध कर दिया था। कर्ण बिफर गया। सारथि के मारे जाने पर वह पुनः संकट में पड़ गया था। अब उसे यह रथ भी छोड़ना होगा, अन्यथा बिना सारथि के लड़ना होगा।''' बिना सारथि के ?''' एक ओर भीम था और दूसरी ओर अर्जुन ! सात्यकि निरंतर उनकी ओर बढ़ रहा था''' और ऐसे में कर्ण बिना सारथि के युद्ध करेगा ? यह भूल होगी उसकी।

कर्ण ने एक भयंकर शक्ति उठाई। उसे भीम को मार देना होगा।''' उसके मन में निमिष मात्र के लिए कुंती की मूर्ति उभरी। उसने माँ को वचन दिया था कि वह अर्जुन के सिवाय और किसी पांडव का वध नहीं करेगा।'''यह शक्ति लग गई तो भीम जीवित नहीं बचेगा''' पर यह शक्ति न चलाई तो कर्ण जीवित नहीं बचेगा। या तो कर्ण का जीवन बच सकता था या वचन। दोनों का बचना संभव नहीं था।

भीम ने उस शक्ति को आकाश में ही काट दिया। कर्ण के बाणों को भी काट दिया। उसके अश्वों को भी मारकर उसे फिर से रथ से उतर आने को बाध्य कर दिया।

कृष्ण ने अर्जुन की ओर देखा और मुस्कराए, "भीम आज अपने पूरे ज्वार पर है।"

दुर्योधन ने दुर्जय को पुकारा, "दुर्जय ! कर्ण को भीम रूपी इस दावानल से बचाओ। कर्ण का बल बढ़ाते हुए, उस दाढ़ी-मूँछ मुंडे भीम को शीघ्र मार डालो। तुम लोग व्यर्थ ही इधर-उधर उलझे रहते हो। जिन्हें मार डालना चाहिए था, उन्हें अभी तक नहीं मारा है।"

दुर्जय अकस्मात् ही अपने मन में अपने लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो उठा। उसे भीम जैसे योद्धा से लड़ने के लिए कहा था दुर्योधन ने। स्वयं दुर्योधन ने उसे कर्ण की रक्षा का दायित्व सौंपा था। दुर्जय का अहंकार स्फीत होकर जैसे आकाश की ओर उठने लगा था। उसने अपना रथ सीधे भीम के रथ से भिड़ा दिया।

भीम को अपने और कर्ण के मध्य किसी और का इस प्रकार आना अच्छा नहीं लगा। उसका क्रोध जैसे सर्वथा अनियंत्रित हो उठा। उसने कर्ण के प्रति अपने मन में संचित सारा आक्रोश दुर्जय पर उँडेल दिया। दुर्जय उसके बाणों की बौछार को तनिक भी सँभाल नहीं सका और रक्त वमन करता हुआ रथ से नीचे गिर पड़ा। भीम ने उसके अश्वों और सारथि को भी जीवित नहीं छोड़ा।

कर्ण का हृदय पीड़ा से रो उठा। दुर्जय को भीम ने कर्ण को बचाने के प्रयत्न का दंड दिया था। दुर्जय व्यर्थ ही बीच में आकर अपने प्राण गँवा बैठा था। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि उसने अपने प्राण कर्ण के लिए ही त्यागे थे।

अश्रु बहाते हुए कर्ण ने धराशायी दुर्जय की परिक्रमा की।

भीम ने मुस्कराते हुए, रथहीन कर्ण को शस्त्रास्त्रों से आच्छादित कर दिया। कर्ण दुर्जय के रथ में आरूढ़ होकर पुनः भीम की ओर लौटा। क्रुद्ध होकर भीम के शरीर को विदीर्ण कर देने वाले बाणों से प्रहार किया। भीम तत्काल समझ गया कि यदि वह बाणों का ही आश्रय लेगा तो कदाचित् कर्ण उस पर भारी पड़ेगा। भीम ने वज्र के समान भयंकर, छह कोणों वाली, भारी गदा उठाकर, कर्ण पर दे मारी; और तत्काल ही दो क्षुरों की सहायता से उसके सारथि को मारकर उसके रथ की ध्वजा भी काटकर फेंक दी।

कर्ण हाथ में धनुष और कंधे पर एक तूणीर लेकर दुखी मन से रथ से उतर आया। वह सारथि रहित उस रथ पर रहकर युद्ध नहीं कर सकता था। जाने उसके अश्व कब किधर दौड़ पड़ें। वह अश्वों को ही सँभालता रहेगा और भीम उसका वक्ष छेद देगा। पर भूमि पर खड़ा रहकर युद्ध करना भी तो संकटपूर्ण है। किसी ओर से कोई ओट नहीं है। अचल रहकर शत्रु का सामना कैसे किया जा सकता है। फिर शस्त्रों का भी अभाव हो जाएगा। वह अपने हाथों और कंधों पर कितने शस्त्र ढो सकता है।''' पर जब तक उसके पास बाण हैं, वह भीम को आगे बढ़ने नहीं देगा।

कर्ण समझ नहीं पा रहा था कि भीम सचमुच इतना कुशल योद्धा था कि वह कर्ण पर भारी पड़ रहा था या फिर कर्ण ही कुंती को दिए हुए वचन के कारण स्वयं को भीम के वध के लिए तैयार नहीं कर पा रहा था।''' कुंती को वचन दिया होता, न दिया होता, पर यह जानकर कि भीम उसका भाई है, वह उसका वध कर पाएगा ? आज भीम को वह बता दे कि वह उसका बड़ा भाई है तो क्या भीम भी उसके प्रति ऐसा ही कठोर रह पाएगा ? नहीं ! कर्ण तो उसके साथ युद्ध कर रहा है, उसे आहत और पीड़ित भी कर रहा है, भीम तो शायद उससे युद्ध ही न कर पाए।'''

दुर्योधन की चिंता बढ़ती जा रही थी। कर्ण तो भीम से ही पार नहीं पा रहा था। यह अर्जुन से कैसे लड़ेगा ? अब इसका रथ फिर छूट गया है। भूमि पर खड़ा होकर युद्ध करने से बड़ी मूर्खता क्या हो सकती है। वह अपना रथ दुर्मुख के निकट ले गया।

"कर्ण रथ से वंचित कर दिया गया है। उसे रथ दो।" दुर्योधन ने उसे डाँटा, "कुछ अपने आप भी देख लिया करो। सब कुछ मेरे कहने पर ही करना है तो अपनी बुद्धि का उपयोग कब करोगे ?"

दुर्मुख ने कुछ नहीं कहा। चुपचाप कर्ण की ओर बढ़ गया। दुर्योधन को क्या कहना। आज तक उसने अपने किसी छोटे भाई को कुछ माना भी है। बड़ा है तो उसका क्या अर्थ ? ऐसे बात करता है, जैसे वे सब लोग तो बस कीड़े-मकोड़े ही हों।

भीम ने दुर्मुख को आया देखा तो वह प्रसन्न हो गया। कर्ण तो अर्जुन के भाग का था। धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारना तो भीम के लिए परम आनन्द का विषय था। धृतराष्ट्र का एक पुत्र मरता था तो भीम के कंठ में जैसे अमृत का एक और चषक

उतर जाता था। उसने कर्ण को छोड़ दिया और अपना रथ दुर्मुख के सम्मुख ले गया। जब तक कर्ण अथवा कोई और दुर्मुख की सहायता को आता, भीम ने नौ सुमुख बाणों से दुर्मुख को जीवनमुक्त कर दिया।

कर्ण दौड़कर आया और दुर्मुख के रथ में आरूढ़ हो गया। अब वह दुर्मुख की कोई सहायता नहीं कर सकता था। उसने दुर्मुख के शव की परिक्रमा की और आगे बढ़ गया। कर्ण देख रहा था कि दुर्मुख का यह रथ उसके अपने युद्ध कौशल के अनुरूप शस्त्र संपन्न नहीं था। उसमें वे ही शस्त्र उपलब्ध थे, जिनमें दुर्मुख की रुचि थी। निश्चित रूप से दुर्मुख ने वह रथ अपने लिए शस्त्र आपूर्त किया था, उसने कभी सोचा भी नहीं होगा, कि उसका यह रथ कर्ण के युद्ध करने के काम में आएगा। कर्ण स्वयं को निःशस्त्र तो नहीं, किंतु अल्पशस्त्रसज्जित पा रहा था। भीम के बाण अब भी उसका रक्त पी रहे थे। कर्ण ने भीम को चौदह बाण मारे। भीम के शरीर पर क्षत लगे और उनसे रक्त बहा। कर्ण को कुछ संतोष हुआ। किंतु अगले ही क्षण भीम का प्रत्याक्रमण अत्यंत भयंकर था। कर्ण ऐसा विह्वल हुआ कि उसने एक बार शांत मन से विचार भी नहीं किया और युद्ध छोड़कर भाग गया।

कर्ण को इस प्रकार युद्ध छोड़कर भागते देख, दुर्मर्षण, दुःसह, दुर्मद, दुर्धर, और जय ने भीम पर आक्रमण किया। कर्ण ने उन पाँचों को भीम से लड़ते देखा तो पलट आया। भीम ने कर्ण को लौटकर आते देखा तो वह उन पाँचों को छोड़कर कर्ण की ओर बढ़ गया। कौरवों ने कर्ण को घेर लिया। इस प्रकार वे उसकी रक्षा कर रहे थे और कर्ण उनके लिए अपने बाणों से कवच का निर्माण कर रहा था। भीम को यह व्यवस्था अपने आड़े आती लगी। उसने पच्चीस बाणों से उन पाँचों और उनके सारथियों को यमलोक भेज दिया।

कर्ण का मन बुझ गया। दुर्योधन उसकी रक्षा के लिए बार-बार अपने भाइयों को भेज रहा था और कर्ण उनकी रक्षा नहीं कर पा रहा था। कर्ण जब दिग्विजय कर लौटा था तो धृतराष्ट्र ने उसे अपना पुत्र कहा था। और उसके सामने ही भीम धृतराष्ट्र के पुत्रों का वध करता जा रहा है। कर्ण इतना असहाय तो कभी नहीं था। क्या दुर्योधन और धृतराष्ट्र मान लेंगे कि उसने उन धृतराष्ट्रपुत्रों की रक्षा में कोई शिथिलता नहीं दिखाई ?

तभी दुर्योधन के भेजे उसके और भाई कर्ण की रक्षा के लिए आ गए। चित्र, उपचित्र, चित्राक्ष, चारुचित्र, शरासन, चित्रायुद्ध, चित्रवर्मा ने आकर भीम को रोकने का प्रयत्न किया। पर कर्ण देख रहा था कि यह कोई युद्ध नहीं था। वे आए और मारे गए। युद्ध में योद्धा लड़ता तो है, चाहे उसका मस्तक कट ही क्यों न जाए; किंतु दुर्योधन के ये भाई तो जैसे आकर भीम के सामने खड़े हो जाते थे, जैसे वे भीम को लक्ष्यवेध का अभ्यास करा रहे हों।

कर्ण के मन में आया कि वह दुर्योधन से प्रार्थना करे कि वह कर्ण की रक्षा के

लिए अपने भाई न भेजे। इससे कर्ण की कोई सहायता तो होती नहीं, उलटे उसके मन का बोझ बढ़ जाता है कि उसकी रक्षा करने के प्रयत्न में राजा के पुत्र मारे गए।

और तभी शत्रुंजय, शत्रुसह, दृढ़वर्मा, उग्रसेन और विकर्ण ने आकर भीम को रोकने का प्रयत्न किया।

कृष्ण, अर्जुन, युधामन्यु और उत्तमौजा अपने-अपने स्थान से भीम का यह भयंकर युद्ध देख रहे थे। भूरिश्रवा, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, शल्य, और जयद्रथ की दृष्टि भी भीम पर लगी हुई थी। जो अकेला ऐसा भयंकर कृत्य कर रहा है, वह आकर अर्जुन के साथ खड़ा हो गया तो क्या होगा।''' सात्यकि भी अर्जुन की ओर बढ़ता हुआ भीम का पराक्रम देख रहा था।

तभी भीम ने शत्रुंजय, शत्रुसह, दृढ़वर्मा, और उग्रसेन के साथ-साथ विकर्ण को भी मार गिराया।

अर्जुन को प्रसन्नता नहीं हुई। विकर्ण ही एकमात्र धृतराष्ट्रपुत्र था, जिसने द्यूतसभा में द्रौपदी का पक्ष लिया था और दुर्योधन का विरोध किया था। विकर्ण पांडवों को प्रिय था। भीम ने उसे भी मार दिया था'''

"विकर्ण !" भीम का शोकातुर स्वर सुनाई दिया, "मेरी प्रतिज्ञा है कि युद्धस्थल में धृतराष्ट्र के सारे पुत्रों को मार डालूँगा। इसलिए तुम्हारे वध के लिए भी वाध्य था। मेरे मन में तुम्हारे लिए कोई वैर नहीं था। मैंने तुम्हारा वध नहीं किया, वस अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह किया है। गंगानन्दन भीष्म हमसे प्रेम करते थे, फिर भी न्याय-अन्याय के इस संघर्ष में मारे गए। व्यक्तिगत रूप से कोई हमारा कितना ही निकट संवंधी क्यों न हो, हमसे कितना ही प्रेम क्यों न करता हो, हमारा कितना ही हित क्यों न साधता हो, यदि वह दुर्योधन के पक्ष से लड़ेगा तो हमारे हाथों मारा जाएगा।'''"

कर्ण चौंका। क्या भीम कर्ण के साथ अपने संवंध को जान गया है ? क्या वह यह घोषणा उसको सुनाने के लिए कर रहा है। क्या वह उसे जता रहा है कि यह जानते हुए भी कि कर्ण उसका भाई है, दुर्योधन के पक्ष से लड़ने के कारण वह उसका वध कर देगा ?

तभी भीम ने कर्णी वाण को अपने धनुष पर साधा और कर्ण के शिरस्त्राण और कवच के बीच लक्ष्य साध कर छोड़ दिया। बाण ने कर्ण का बड़ा-सा स्वर्ण कुंडल काट कर भूमि पर गिरा दिया और उसके कान को घायल कर दिया। जब तक कर्ण सँभलता, भीम ने भल्ल से उसका वक्ष और नाराच से उसका ललाट आहत कर दिया। कर्ण का मस्तक जैसे घूम गया। वह मूर्च्छा के द्वार पर खड़ा था। उसने रथ के कूबर का सहारा लिया और क्षण भर के लिए आँखें बंद कर, निःस्पंद खड़ा रहा।'''

इस बार कर्ण सचेत हुआ तो वह एक परिवर्तित कर्ण था। उसे केवल यह स्मरण था कि वह दुर्योधन का मित्र है; और पांडव दुर्योधन के शत्रु हैं। उसने भीम का धनुष काट दिया। अश्व मार दिए और सारथि को आहत कर दिया।

भीम का सारथि अपना रथ छोड़कर कूद गया और युधामन्यु के रथ पर जा चढ़ा।

कर्ण के मन से भीम का भय जैसे विलुप्त हो गया था। उसने भीम की अवमानना करते हुए, उसके रथ का ध्वज भी काट गिराया।

भीम का रथ अचल हो चुका था। उसे छोड़ देना ही उचित था।... किंतु अर्जुन का रथ अभी भीम से दूर था। सात्यकि भी यद्यपि दिखाई पड़ रहा था, किंतु इतना निकट भी नहीं था कि वह भीम की सहायता कर सकता। ऐसे में भीम यदि रथ छोड़ देता तो वह पूर्णतः शस्त्रविहीन हो जाता। यहाँ रथ चाहे अचल हो चुका था, किंतु सारे शस्त्रास्त्र अभी भीम के निकट ही थे।

भीम ने एक शक्ति हाथ में उठा ली और उसे घुमाकर कर्ण पर दे मारा।

कर्ण को सहसा लगा कि वह कुछ थक-सा गया है। रक्त अधिक बह गया अथवा उसकी अवस्था अधिक हो गई है ? पर उसकी अवस्था भीष्म और द्रोण से तो अधिक नहीं। वे लोग तो कभी ऐसे नहीं थके। इस भयंकर युद्ध के बीच भी कर्ण के मन में भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य के संबंध में अनेक प्रश्न उमड़ने-घुमड़ने लगे।... क्या रहस्य है उन लोगों के स्वास्थ्य और इस क्लांतिहीनता का ? क्या यह अभ्यास मात्र है ? क्या यह ब्रह्मचर्य है ? क्या यह योगाभ्यास है ? क्या वे लोग किन्हीं विशेष औषधियों का सेवन करते हैं ? नहीं ! उसने अपने सिर को झटक दिया।... यह उसकी शारीरिक क्लांति नहीं थी। कदाचित् प्रातः से अनेक पराजयों का सामना करने के कारण मन ही कुछ शिथिल हो रहा था। पर वह भीम द्वारा फेंकी गई इस शक्ति के सम्मुख आत्मसमर्पण तो नहीं कर सकता।

कर्ण ने अपने बाणों से शक्ति को काट गिराया।

इस बार भीम ने खड्ग और ढाल उठा ली। वह कर्ण के निकट जाकर युद्ध करना चाहता था। जानता था कि उन दोनों के बीच जितनी दूरी होगी, कर्ण को उतना ही बल मिलेगा। वह बाणों के सहारे भीम को पीड़ित कर सकता है। वे एक-दूसरे के निकट होंगे तो अपने बाणों को छोड़कर कर्ण को कोई अन्य शस्त्र उठाना पड़ेगा, या फिर शारीरिक बल का सहारा लेना पड़ेगा।... भीम के लिए उससे अच्छा अवसर और क्या हो सकता था।...

पर कर्ण ने अपने रथ से ही बाण मारकर भीम की ढाल नष्ट कर दी। भीम निमिष मात्र के लिए स्तब्ध खड़ा रह गया। अगले ही क्षण उसने खड्ग, कर्ण के रथ पर चला दी। भीम के खड्ग से कर्ण का धनुष कट गया। कर्ण ठठाकर हँसा।... उसने भीम को एक प्रकार से निःशस्त्र कर दिया था। उसने दूसरा धनुष उठा लिया और भीम को बाणों से बींधना आरंभ कर दिया।

भीम के पास कोई विकल्प नहीं बचा था। वह कूदा और जैसे वायु में उड़ता हुआ कर्ण के रथ पर आ गया।

कर्ण अपने रथ के पिछले भाग में दुबक गया। भीम उसके सम्मुख, उसके रथ

के ध्वजदंड का सहारा लिये हुए खड़ा था। अभी वह पूर्णतः रथ के भीतर नहीं था और न ही अभी अपना संतुलन साध पाया था।

भीम ने कर्ण को उसके रथ पर ही पीटने की योजना बनाई थी। पर रथ पर पहुँचकर भी वह कर्ण पर हाथ नहीं डाल पा रहा था। कर्ण ने इतने निकट होने पर भी उस पर बाणों का प्रहार आरंभ कर दिया था। इस समय भीम के पास कोई शस्त्र नहीं था। कोई ओट भी नहीं थी कि वह बाणों से बचने का प्रयत्न करता।''' और कर्ण था कि मारता ही जा रहा था।

भीम रथ से कूद गया। उसे सबसे पहले कोई ओट चाहिए थी, जहाँ वह कर्ण के बाणों से बच सकता। युद्धक्षेत्र में कितने ही रथ टूटे पड़े थे। वहीं पास ही अनेक हाथियों के शव थे। इन्हें अर्जुन ने मारा था। भीम रथ पर होता तो ये हाथी उसके मार्ग की बाधा हो सकते थे, किंतु इस समय तो ये उसका कवच बन गए थे। भीम को लगा कि यदि वह उनको अपना कवच मानकर, इसी प्रकार उनके पीछे दुबका रहा तो कर्ण को उसके निकट आते कितनी देर लगेगी; और अर्जुन अभी दूर था। अपनी सुरक्षा के लिए भीम को कुछ तो करना ही पड़ेगा। यदि वह प्रहार नहीं करेगा तो यह युद्ध नहीं होगा, बालकों का लुकाछिपी का खेल हो जाएगा। वह हाथियों के पीछे छिपा बैठा रहेगा और कर्ण आकर उसे पकड़ लेगा। वह चोर घोषित होगा। पर युद्ध में चोर अन्य छिपे हुए लोगों को खोजता नहीं है। उसे अपना शत्रु मानकर उसका वध कर दिया जाता है। भीम न तो कर्ण के हाथों मरना चाहता था और न ही युद्धबंदी के रूप में दुर्योधन के दास के समान उसके सम्मुख घसीटा जाना चाहता था। वह योद्धा था, उसे युद्ध करना ही होगा।

भीम ने हाथियों के शव, उनके कटे अंग, रथों के भग्न चक्र तथा अन्य भाग उठा-उठाकर कर्ण पर फेंकने आरंभ किए। ये भी तो गदा प्रहार जैसा ही काम है। ठीक है कि फेंके गए शस्त्रों का आकार गदा के समान नहीं है। उनमें पकड़ने की सुविधा उपलब्ध नहीं है, इसलिए उनका फेंका जाना सरल नहीं है। विशेष प्रहारक नहीं है। किंतु कर्ण के अश्व इस ओर सुविधा से बढ़ नहीं पाएँगे। यदि कर्ण उन्हें छोड़कर आया तो मल्ल युद्ध की कुछ संभावना तो है।''' पर कर्ण अपने बाणों से भीम द्वारा फेंके गए वे शस्त्र काटता जा रहा था। उनसे उसकी कोई क्षति नहीं हो रही थी।

अब तो भीम के पास एक ही विकल्प था कि वह दौड़े और कर्ण को अपने मुष्टिकाप्रहार से मार डाले, या फिर उसके रथ का ईपादंड पकड़कर उसे भी घुमाकर द्रोण के रथ के समान दूर फेंक दे।''' पर यहाँ भीम का सहायक कोई नहीं था। उसके कर्ण के रथ तक पहुँचने के अंतराल में कर्ण तथा अन्य कौरवों के बाणों से उसकी रक्षा करने वाला कोई नहीं था।''' और फिर अर्जुन ने कर्ण को मारने की प्रतिज्ञा की है। यदि कर्ण भीम के हाथों मारा गया तो अर्जुन की प्रतिज्ञा का क्या होगा ?

तत्काल भीम के मन में एक संशय ने सिर उठाया''' यदि कर्ण उसके नियंत्रण में

होता और भीम उसका वध न करता तो यह माना जा सकता था कि वह समर्थ होते हुए भी कर्ण को इसलिए जीवित छोड़ रहा है कि अर्जुन अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर सके। यहाँ तो भीम के अपने प्राणों पर बनी है। तो क्या यह उसके भयभीत मन की अपने प्राण बचाने के लिए आड़ मात्र है ?'''

कर्ण के वाण चल रहे थे और लगता था कि उसका रथ निकट आता जा रहा है। भीम को मूर्च्छा-सी आ रही थी।

20

सात्यकि ने भीम को कर्ण से त्रस्त देखा तो वह अर्जुन की ओर बढ़ने के स्थान पर भीम की दिशा में मुड़ गया।

दुर्योधन की दृष्टि उस पर पड़ी। वह नहीं चाहता था कि भीम को किसी प्रकार की सहायता मिले। दूसरी ओर से अर्जुन भी उसकी ओर वढ़ रहा था। यदि सात्यकि भी वहाँ जा पहुँचा तो वे तीनों मिलकर अपना व्यूह रच लेंगे। पर वह देख रहा था कि कौरवों के लिए सात्यकि को रोकना भी कठिन हो रहा था। सात्यकि इस समय धधकते दावानल के समान प्रचंड हो रहा था। वह किसी सर्वग्रासी यंत्र के समान कौरवों को निगलता जा रहा था। जो कोई उसके सम्मुख जाता था, वह लौटकर नहीं आता था। कौरवों के अनेक महारथी मारे गए तो राजा अलंबुश उसकी ओर वढ़ा। किंतु वह राक्षस अलंबुश तो था नहीं कि अपनी माया का प्रदर्शन करता। वह तो राजा अलंबुश था। सात्यकि के एक बाण ने उसका सिर काट दिया। दुःशासन आगे बढ़ा तो सात्यकि ने उसके घोड़ों को मार डाला। त्रिगर्तों ने सात्यकि को घेरा और पिटकर पीछे हट गए। शूरदेशीय सैनिक बढ़े और पराजित होकर लौट आए। कलिंग आगे वढ़े तो सात्यकि सुविधा से उन्हें भी लाँघ गया।

कृष्ण ने सात्यकि की इस अद्‌भुत वीरता को देखा और अर्जुन का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट किया, "देखो ! सात्यकि भी आ रहा है।"

अर्जुन ने सात्यकि की ओर देखा।''' कृष्ण का ध्यान सब ओर रहता है।''' उसने सोचा। युद्ध में भी और जीवन में भी। अर्जुन की विशिष्टता उसकी एकाग्रता और एकनिष्ठा में थी। पर कृष्ण तो सबका उसी प्रकार ध्यान रखते थे, जैसे संसार का स्रष्टा अपने रचे प्रत्येक जीव का रखता है। कोई बात कृष्ण की दृष्टि से छिप नहीं सकती।

और फिर अर्जुन के मुख पर चिंता की घटाएँ छा गईं, "सात्यकि आ तो रहा है, पर धर्मराज किस स्थिति में हैं ? वह उनको आचार्य द्रोण को सौंप आया है क्या ? और यहाँ जयद्रथ अभी मारा भी नहीं जा सका है। मैं धर्मराज की सहायता के लिए जा भी नहीं सकता।"

तभी अर्जुन ने देखा कि भूरिश्रवा का रथ पर्याप्त वेग से आगे बढ़ रहा था; किंतु उसका गंतव्य अर्जुन अथवा भीम नहीं थे। वह सात्यकि की दिशा में बढ़ रहा था।

अर्जुन की चिंता कुछ और बढ़ गई। जाने धर्मराज किस स्थिति में होंगे। सात्यकि और भीम दोनों ही उन्हें छोड़कर आ गए हैं। सात्यकि थककर अल्पप्राण हो रहा है। उसके घोड़े और सारथि सब ही थके हुए हैं। जाने यह किस समय का चला हुआ है और अकेला ही कौरवों की सारी सेना को लाँघकर आ रहा है। कौरवों की सेना को लाँघा तो अर्जुन ने भी है। किंतु उसके पास दिव्यास्त्र हैं। उसे अभ्यास है, ऐसे युद्धों का। उसके साथ श्रीकृष्ण हैं। यह सात्यकि कैसे चला आया, सबको लाँघकर ? और भूरिश्रवा तथा उसके साथी तो तनिक भी क्लांत नहीं हैं। प्रातः से अर्जुन ने उन्हें एक आध स्थान पर भिड़ते देखा है, किंतु किसी कठोर युद्ध में उन्होंने स्वयं को थकाया नहीं है। संभव है कि दुर्योधन ने उन्हें अभी इसी क्षण युद्ध में उतारा हो, ताकि वे थके हुए कौरव महारथियों का स्थान ले सकें। या फिर भूरिश्रवा अपनी व्यक्तिगत शत्रुता का प्रतिशोध लेने के लिए विशेष रूप से सात्यकि से युद्ध करने आए हैं। ··· सात्यकि की रक्षा करनी होगी।··· सूर्य भी अस्ताचल की ओर बढ़ रहा है। जयद्रथ का वध अभी नहीं हुआ है। ···

भूरिश्रवा ने सात्यकि पर आक्रमण किया।

"आओ सात्यकि !" भूरिश्रवा ने कहा, "बहुत प्रतीक्षा की है मैंने तुम्हारी। तुम्हारे दादा ने मेरे पिता को युद्ध में अपमानित किया था। उनको धरती पर पटककर घसीटा था। उन्हें लात मारी थी। उन सबका प्रतिशोध लेना है मुझे। तुम्हारे पिता तो कभी युद्ध में सामने ही नहीं आए, तो अपने दादा का ऋण तुम्हीं चुकाओ। मैंने तुम्हारी बहुत प्रतीक्षा की है। आज तुम मेरी पकड़ में आए हो। तुम्हारे मारे जाने पर कृष्ण, अर्जुन और धर्मराज युधिष्ठिर उत्साहशून्य होकर युद्ध बंद कर देंगे। एक तुम्हारी मृत्यु से ये इतने सारे वीर क्षत्रिय इस युद्ध में अपने प्राणों की आहुति देने से बच जाएँगे।"

सात्यकि ने वे सारी घटनाएँ सुनी थीं। उसके दादा ने एक स्वयंवर में भूरिश्रवा के पिता सोमदत्त को बहुत अपमानित किया था। सोमदत्त और भूरिश्रवा ने सात्यकि के दादा शिनि से अपने उस अपमान का प्रतिशोध लेने का बहुत प्रयत्न किया था, किंतु वे लोग सफल नहीं हो पाए। उन्होंने उसके पिता सत्यक से भी प्रतिशोध लेना चाहा, किंतु उनका लक्ष्य पूर्ण नहीं हो सका। आज भूरिश्रवा उसी प्रतिशोध की बात कर रहा था।

भूरिश्रवा कुछ जल्दी में था। उसने रथी से युद्ध करने के स्थान पर सारथि से युद्ध आरंभ किया और अगले ही क्षण सात्यकि के घोड़े मार दिए। सात्यकि को अपनी रक्षा के लिए आवश्यक लगा कि वह भी भूरिश्रवा को विरथ कर दे, ताकि दोनों समानता के आधार पर लड़ सकें। भूरिश्रवा की सहायता को तो फिर कोई आ जाएगा, किंतु सात्यकि को अभी अपने लिए किसी सहायता की संभावना दिखाई नहीं दे रही थी।

उधर भीम को कर्ण ने रोक रखा था और इधर अर्जुन को रोकने के लिए सारे कौरव महारथी तत्पर खड़े थे।

सात्यकि ने भी भूरिश्रवा के रथ के घोड़े मार दिए।

अब वे दोनों ही अपने-अपने खड्ग लेकर आमने-सामने आ डटे। उन्होंने भ्रांत, उद्भ्रांत, आविद्ध, आप्लुत, विप्लुत, सृत, संपात और समुदीर्ण आदि गति और पैंतरे दिखाए। दोनों ने ही एक-दूसरे की ढालें काट डालीं और खड्ग उनके हाथ से गिर गए। अब मल्लयुद्ध के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं था। आघात, निग्रह और प्रग्रह का प्रयोग होता रहा। मल्लयुद्ध प्रमाणित कर रहा था कि उन दोनों को ही अपने-अपने दाँव, प्रशिक्षण और शारीरिक बल का भरोसा था। भुजपाश उनका प्रिय दाँव था। दोनों सिरों को टक्कर भी दे रहे थे पैरों को खींचकर, पैरों से पैर लपेटकर, तोमर प्रहार के समान ताल ठोंककर, अंकुश गड़ाने के समान नोचकर उनका मल्लयुद्ध चलता रहा। फिर पादबंध, उदरबंध, उद्भ्रमण, गत, प्रत्यागत, आक्षेप, पतन, उत्थान और संप्लुत का प्रयोग किया गया।

सारथ्य करते हुए भी कृष्ण की दृष्टि सात्यकि की ओर लगी हुई थी। वे सात्यकि के युद्ध कौशल और साहस की सराहना कर रहे थे। किंतु सात्यकि प्रत्येक क्षण शिथिल होता जा रहा था। कृष्ण को निरंतर लग रहा था कि सात्यकि और भूरिश्रवा का यह युद्ध समान योग्यता का नहीं था। सात्यकि दिन भर की लंबी युद्ध-यात्रा के पश्चात् यहाँ तक पहुँचा था और उसे भूरिश्रवा जैसे अक्लांत योद्धा और उसकी वाहिनी से लड़ना पड़ रहा था।''' पर युधिष्ठिर ने भी तो उसे उनकी सहायता के लिए ही भेजा होगा। ऐसे में क्या सहायता करेगा सात्यकि और क्या सहायता करेगा भीम ? उन्हें तो स्वयं अपनी रक्षा के लिए अर्जुन की सहायता की आवश्यकता पड़ गई थी।'''

"देखो पार्थ !" कृष्ण बोले, "वृष्णि और अंधक वंश का वह श्रेष्ठ वीर, भूरिश्रवा के वश में हो गया है। दुष्कर कर्म और कठिन परिश्रम से चूर-चूर होकर वह पृथ्वी पर गिर गया है। सात्यकि तुम्हारा शिष्य है। उसकी रक्षा करो अर्जुन !"

भूरिश्रवा ने सात्यकि को अपनी भुजाओं में उठाकर चार-पाँच चक्कर दिए और उठाकर धरती पर पटक दिया। सात्यकि ने आँखें उठाकर उसकी ओर देखा और अपने हाथ धरती पर टिकाकर, अपने शरीर का संपूर्ण बल लगाकर धरती से उठने का प्रयत्न किया।

भूरिश्रवा ने उसे उसका भी अवसर नहीं दिया। उसने खींचकर एक लात उसके वक्ष पर मारी। सात्यकि पुनः धरती पर लुढ़क गया। उसके वक्ष में पीड़ा हो रही थी। पता नहीं कोई अंग-भंग हो गया था या मात्र आघात की ही पीड़ा थी।

उसने पुनः उठने का प्रयत्न किया।

इस बार भूरिश्रवा ने उसकी टाँग पकड़कर उसे घसीटना आरंभ किया। सात्यकि के शरीर पर अब कोई कवच नहीं था। धरती कठोर और ऊबड़-खाबड़ थी। उन दोनों

के युद्ध की स्थिति कुछ ऐसी हो रही थी, जैसे अखाड़े में दो मल्ल क्रीड़ार्थ मल्लयुद्ध कर रहे हों; और शेष लोग उन्हें देखकर अपना मनोरंजन कर रहे हों। कौरवों को भूरिश्रवा की सहायता करने की आवश्यकता नहीं थी और सात्यकि की सहायता करने वाला वहाँ कोई था नहीं। अर्जुन और भीम पृथक्-पृथक् दिशाओं में दिखाई पड़ रहे थे; किंतु भीम कर्ण से उलझा हुआ था और अर्जुन को कौरव महारथियों ने घेर रखा था।

भूरिश्रवा को विश्वास हो गया कि अब सात्यकि पूर्णतः असहाय हो गया है। वह उसे भूमि पर घसीट भी चुका था और उसके वक्ष पर लात मारकर अपमानित भी कर चुका था। अब केवल उसका वध ही शेष था। पर वह वध भी तो अपमानजनक ही होना चाहिए। बाण मारकर अथवा खड्ग के आघात से उसके प्राण लेना भूरिश्रवा को प्रिय नहीं था।

भूरिश्रवा ने अपने दाहिने हाथ में खड्ग ले लिया और बाएँ हाथ से सात्यकि की शिखा पकड़ ली। वह किसी पशु के समान सात्यकि का वध करना चाहता था। सात्यकि उसके मन की बात समझ रहा था और अपनी उस अर्द्धमूर्च्छितावस्था में भी अपने प्राणों की रक्षा के लिए अपनी गर्दन को घुमा रहा था, ताकि भूरिश्रवा का खड्ग अपने लक्ष्य को न पा सके।

''यह न्याय नहीं है पार्थ ! निःशस्त्र और युद्ध के अयोग्य सात्यकि को भूरिश्रवा खड्ग से मार रहा है।'' कृष्ण कुछ आवेश में बोले, ''वृष्णि और अंधक वंश का यह सिंह, भूरिश्रवा के वश में पड़ गया है। अर्जुन ! यह तुम्हारा शिष्य है और धनुर्विद्या में तुमसे कम नहीं है। वह तुम्हारा आश्रित है और तुम्हारे सम्मुख मर रहा है। तुम्हारा आश्रय लेकर भी वह इस दुर्दशा को प्राप्त हो रहा है तो तुम्हारा पराक्रम मिथ्या है।''

''मेरी दृष्टि जयद्रथ की ओर लगी हुई थी केशव ! इसलिए सात्यकि की दुर्दशा मेरी आँखों से ओझल रही।'' अर्जुन ने कहा, ''आप चिंता न करें। भूरिश्रवा उसका वध नहीं कर पाएगा।''

अर्जुन ने गांडीव पर एक तीक्ष्ण क्षुरप्र चढ़ाया और भूरिश्रवा के दाहिने कंधे का लक्ष्य कर उसे छोड़ दिया। अगले ही क्षण वह बाण भूरिश्रवा की खड्ग वाली भुजा लेकर इस प्रकार उड़ गया, जैसे कोई गरुड़ आकाश से उतरकर किसी भुजंग को अपनी चोंच में दबा, पुनः उड़ गया हो।

कुछ क्षणों तक तो भूरिश्रवा समझ ही नहीं पाया कि उसे क्या हो गया है। उसका हाथ उठ क्यों नहीं रहा और खड्ग सात्यकि के कंठ पर प्रहार क्यों नहीं कर रहा। पर तब उसने अपनी कटी हुई भुजा भी देखी और दूर से आता हुआ, अर्जुन का रथ भी।... वह समझ गया कि उसने सात्यकि को समरभूमि में घसीटा भी है, उसके वक्ष पर लात मारकर उसे अपमानित भी किया है; किंतु वह उसके प्राण न ले पाया है, न ले पाएगा।

अर्जुन निकट आ गया तो भूरिश्रवा ने उसकी ओर देखा, ''अर्जुन ! यह तुम्हारी वीरता नहीं, क्रूरता है। मैं किसी अन्य योद्धा से युद्ध कर रहा था। तुम्हारी ओर तो

मैंने देखा भी नहीं था। मेरी बाँह काट दी तुमने। धर्मराज को क्या मुँह दिखाओगे ?''

''निःशस्त्र सात्यकि का वध खड्ग से कर रहे थे आप। उस पर भी आपको अपनी धर्मपरायणता और वीरता पर अभिमान है।'' अर्जुन बोला।

''ऐसी धूर्तविद्या और ऐसे कुतर्कों का उपदेश तुम्हें तुम्हारे किस गुरु ने दिया है–इंद्र ने ? रुद्र ने ? द्रोण ने ? या कृपाचार्य ने ?'' भूरिश्रवा ने तड़पकर कहा, ''यह नीच और पाप कर्म है। कुरुकुल में जन्म लेकर भी तुम क्षत्रिय धर्म से कैसे गिर गए। तुम्हारा शील तो उत्तम था। तुमने अब तक श्रेष्ठ व्रतों का पालन किया है। सात्यकि की रक्षा के समय तुम्हें धर्म स्मरण ही नहीं रहा। तुम्हें सात्यकि प्यारा है, धर्म नहीं ? यह निश्चय ही तुम्हारा नहीं कृष्ण का मत है। तुम्हारे लिए इतना नीचे गिरना संभव नहीं है। ऐसा तो कृष्ण का कोई मित्र ही कर सकता है।'' वह रुका और फिर जैसे कृष्ण को सुनाता हुआ बोला, ''वृष्णि और अंधक वंश के लोग संस्कारभ्रष्ट हिंसाप्रधान कर्म करने वाले और स्वभाव से ही निन्दित हैं। उनको तुमने प्रमाण कैसे मान लिया ?''

''कल ही जिन महारथियों ने मिलकर अकेले, निःशस्त्र अभिमन्यु का वध किया है, वे न तो वृष्णिवंशी थे, न अंधकवंशी। न ही वे श्रीकृष्ण के मित्र थे; न ही उनके परामर्श पर चल रहे थे। न ही आप उनसे यह सब कहने गए थे भूरिश्रवा !'' अर्जुन बोला, ''आज प्रातः से आपके किस-किस योद्धा ने ध्यान रखा है कि अर्जुन, भीम या सात्यकि किसी अन्य योद्धा से युद्ध में संलग्न हैं, इसलिए किसी तीसरे योद्धा को उनके बीच हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए ? जब मैं संशप्तकों से अकेला भिड़ रहा था, तब तो आपने दुर्योधन को नहीं समझाया कि वह अन्याय था।'' वह रुका, ''वृद्ध होने पर मनुष्य की बुद्धि भी बुढ़ा जाती है। क्षत्रिय अपने-अपने भाई, पिता, पुत्र, संबंधी बंधु-बांधवों, समवयस्क साथियों और मित्रों से घिर कर शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध करते हैं। वे सब लोग उस प्रधान योद्धा के बाहुबल के आश्रित होते हैं। सात्यकि मेरा मित्र, शिष्य और संबंधी है। वह मेरे लिए ही अपने दुस्त्यज प्राणों का मोह छोड़कर युद्ध कर रहा है। राजन् ! रणदुर्मद सात्यकि युद्धस्थल में मेरी दाहिनी भुजा के समान है। आप चाहते हैं कि मैं उसे मर जाने देता और आपकी वीरता की प्रशंसा करता ?'' अर्जुन का स्वर कुछ और प्रखर हो गया, ''रणभूमि में वीर अपनी ही रक्षा नहीं करता, अपने रक्षणीयों की भी रक्षा करता है। इस समग्र युद्ध में सात्यकि के साथ आपके युद्ध को दो योद्धाओं का संग्राम कैसे माना जा सकता है ? प्रातः से सात्यकि से केवल एक आप ही लड़े थे क्या ? असंख्य योद्धाओं को धूल चटाकर आए, थके-हारे, परिश्रम से चूर, सात्यकि को पराजित कर आप वीर हो गए ?''

भूरिश्रवा ने अर्जुन की ओर देखा, ''तुमने मेरी भुजा काटी है, मेरे प्राण नहीं लिए। तुमने मुझे वीरगति का यश भी नहीं दिया। मेरा जीवन न अब जीने योग्य है, न मेरी मृत्यु गौरवमयी हो सकती है। मैं ऐसा जीवन जीना नहीं चाहता। अपनी भुजा से होने वाले रक्तस्राव से मरने से पूर्व ही मैं आमरण अनशन का संकल्प लेकर यहीं युद्धक्षेत्र

में बैठ रहा हूँ, ताकि संसार मेरी मृत्यु देखे और तुम्हें धिक्कारे।"

भूरिश्रवा आमरण अनशन का व्रत लेकर बैठ गया। ब्रह्मलोक में जाने की इच्छा से प्राणायाम के द्वारा, प्राणों को उसने प्राणों में ही होम दिया। वह नेत्रों को सूर्य में और प्रसन्न मन को जल में समाहित करके महोपनिषत्प्रतिपादित परब्रह्म का चिंतन करते हुए योगयुक्त मुनि हो गया।.

युद्ध जैसे थम गया। कौरव सेना अपने स्थान पर रुक गई थी। वे बाण चलाने के स्थान पर अर्जुन के चरित्र के विषय में चर्चा कर रहे थे। भूरिश्रवा जैसे उनका आदर्श हो गया था। वे उसकी प्रशंसा कर रहे थे। उसने अपने जीवन में असंख्य यज्ञ किए थे। बहुत सारा दान दिया था अपने इन्हीं हाथों से। सात्यकि को बहुत अपमानजनक ढंग से पराजित किया था उसने।''' पर अर्जुन ने'''

भूरिश्रवा अपनी प्रशंसा सुन रहा था; किंतु उसने कोई प्रसन्नता व्यक्त नहीं की। कदाचित् वह ध्यान की स्थिति में था अथवा अधिक रक्त बह जाने के कारण मूर्च्छावस्था को प्राप्त हो गया था। सैनिक आश्चर्य कर रहे थे। क्या कोई मूर्च्छावस्था में भी पद्मासन लगाए बैठा रह सकता है ?''' कोई योद्धा भूरिश्रवा की ओर नहीं बढ़ रहा था। दुर्योधन ने भी अर्जुन के भय से भूरिश्रवा के निकट जाने का साहस नहीं किया। अर्जुन वहाँ से बहुत निकट था। उसके बाणों की पहुँच में जाने की मूर्खता कौन करे।

तभी अर्जुन ने उच्च स्वर में कहा, "मेरा जो आत्मीय मेरे बाणों की प्रहारक्षमता के भीतर होगा, मेरे शत्रुओं के हाथों मारा नहीं जा सकता। मेरे किसी शरणागत का मेरे निकट रहते वध नहीं हो सकता। और फिर जिस प्रकार तुम लोगों ने अभिमन्यु का वध किया है, उसके पश्चात् दूसरों को धर्म का उपदेश देने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं। जो लोग स्वयं मर्यादा और धर्म की रक्षा नहीं करते हैं, उन्हें कोई अधिकार नहीं है कि वे दूसरों को धर्मोपदेश दें।"

सहसा भूरिश्रवा ने अपने मस्तक से भूमि का स्पर्श किया और अपने बाएँ हाथ से उठाकर अपनी कटी हुई दाहिनी भुजा, अर्जुन के सम्मुख फेंक दी।

अर्जुन का हृदय कुछ पिघला। बोला, "तात भूरिश्रवा ! मैं धर्मराज युधिष्ठिर के समान ही आपका भी सम्मान करता हूँ। युद्ध में मैं आपको छोड़ नहीं सकता था; किंतु अब हमारी कोई शत्रुता नहीं है। मैं और कृष्ण आपको आदेश देते हैं कि आप शिवि के समान पुण्यात्मा पुरुषों के लोक में जाएँ।"

सात्यकि अपने स्थान पर उठकर खड़ा हो गया। उसने भूमि पर पड़ा अपना खड्ग उठा लिया। वह भूरिश्रवा की ओर बढ़ा। सबकी दृष्टि उसकी ओर गई। क्या करने जा रहा था वह ? क्या वह कटी भुजा वाले, आमरण अनशन कर बैठे, योग के माध्यम से ब्रह्मलोक जाने का प्रयत्न करते हुए, भूरिश्रवा का वध करेगा ?

चारों ओर कोलाहल मच गया। कृष्ण और अर्जुन भी उसे रोक रहे थे।''' पर वह बढ़ता ही गया। और सब के देखते-देखते उसने भूरिश्रवा का मस्तक काट डाला।

चारों ओर पूर्ण निःस्तब्धता थी। कोई कुछ नहीं कह रहा था। कौरव महारथी आगे बढ़ने को मचल रहे थे, किंतु सामने अर्जुन अपना गांडीव लिये खड़ा था। नहीं तो अब तक किसी ने सात्यकि का मस्तक भी काट लिया होता।...

सात्यकि हाथ में खड्ग लिये उठा और बोला, "धर्म का आवरण ओढ़कर खड़े हुए, अधर्मपरायण पापात्माओ ! जब तुमने अभिमन्यु को युद्ध में शस्त्रहीन कर मारा था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ? भूरिश्रवा ने एक वीर के समान युद्ध में मेरा वध कर दिया होता, तो मुझे कोई दुख न होता। उसने मुझे पटककर भूमि पर घसीटा। मुझे अपमानित करने के लिए रोषपूर्वक पादप्रहार किया। किसलिए ? इसलिए कि मेरे दादा ने उसके पिता का अपमान किया था ?... या इसलिए कि मैं उसकी पशुता का असहाय आखेट था ? जब वह मेरा अपमान कर रहा था, वीरों के लिए वर्जित नीच कर्म कर रहा था, उस समय तो किसी ने उसे नहीं रोका। अब वह धर्मात्मा हो गया, क्योंकि वह मुनियों के समान मौन व्रत लेकर बैठ गया है।... वह मुझसे मेरे दादा का प्रतिशोध ले रहा था तो मैं उससे अपना प्रतिशोध भी न लेता ? मेरी भुजाएँ वर्तमान हैं और मैं अपने ऊपर किए गए, आघात का बदला लेने की निरंतर चेष्टा करता आया हूँ। तो भी तुम लोग मुझे मरा हुआ मान लेते हो तो दोष तुम्हारी बुद्धि में है। मैंने भूरिश्रवा का वध कर, मात्र उसके घात का प्रतिघात किया है। हाँ ! मुझे संकट में देखकर धनंजय ने उसकी भुजा काट डाली, इससे मैं भूरिश्रवा के वध के यश से वंचित हो गया हूँ।"

"आओ सात्यकि !" अर्जुन ने कहा, "तुम उत्तमौजा के रथ में आ जाओ। हमें मध्यम पांडव की भी खोज करनी है।"

कर्ण का उन्माद क्षीण हो चुका था। अब भीम उसके वश में था। असहाय और निरीह भीम। वह बेचारा अपने प्राणों के लिए युद्धक्षेत्र में मारे गए पशुओं के पीछे, सिर झुकाए, शत्रुओं की ओर पीठ किए बैठा था। इस समय कर्ण भीम का वध भी कर सकता था।... पर प्रतिशोध के उन्माद के उतरते ही उसे कुंती को दिया गया अपना वचन भी स्मरण हो आया था। वह उसका वध नहीं करेगा, चाहे अपमानित कितना ही क्यों न कर ले। आज प्रातः से भीम ने भी उसे बहुत अपमानित और पीड़ित किया था। वैसे भी निःशस्त्र शत्रु का वध करने में कोई सुख नहीं है...

कर्ण ने निकट आकर अपने धनुष की नोक से भीम को स्पर्श किया।

भीम उसके लिए तनिक भी तैयार नहीं था। कर्ण के धनुष के छूते ही वह क्रोध से उन्मत्त हो उठा। उसने धनुष पकड़कर खींचा और उसके दो खंड कर कर्ण के माथे पर दे मारा।

मार खाकर कर्ण के मन का वह कोमल भाव विलुप्त हो गया। उसके नेत्र क्रोध से आरक्त हो उठे। उसने स्वयं को सँभाला और भीम पर अपनी घृणापूर्त हँसी की वर्षा करते हुए कहा, "ओ श्मश्रुविहीन नपुंसक ! अरे मूर्ख ! ओ पेटू ! शस्त्रास्त्र के

ज्ञान से-शून्य युद्धभीरु कायर ! अब कभी युद्ध मत करना। जहाँ खाने-पीने को मिलता हो, और पेट फुलाकर सोया जा सकता हो, वहीं चला जा। समरभूमि तेरे लिए नहीं है।" कर्ण ने उसकी ओर देखा और उसे लगा कि शायद उसके वचन उतने कठोर नहीं थे, जितने होने चाहिए थे। पुनः बोला, "तू वन में रहकर फल-फूल खाकर, नियम-व्रत का पालन करने योग्य है। युद्ध में आने योग्य नहीं है। तुझमें मुनि वृत्ति है, क्षत्रिय वृत्ति नहीं। जा वन में चला जा। या तू विराट की रसोई के वर्तन माँज। उसके दासों और सेवकों से काम कराने के लिए उन्हें पीट। युद्ध में तेरा क्या काम है।"

कर्ण के मन में भीम के लिए रंच मात्र भी स्नेह नहीं उपजा। उसे अपने हाथ अपने वचन के कारण बँधे हुए लग रहे थे। दाँत किटकिटा रहे थे कि किस प्रकार भीम को अधिक से अधिक कष्ट दे, उसे कैसे सताए, कैसे पीड़ित करे। कर्ण ने उसे पुनः धनुष से कोंचा और बोला, "तुझे वन के वानर भालुओं से युद्ध करना चाहिए, मुझ सरीखे महावीरों से नहीं। मुझसे जूझेगा तो इससे भी अधिक दुर्दशा होगी। या फिर रोता हुआ, कृष्ण और अर्जुन के पास चला जा, वे ही तेरी रक्षा करेंगे।"

भीम का धैर्य समाप्त हो गया था और कर्ण का भय भी विलुप्त हो गया था। उच्च स्वर में हँसते हुए बोला, "दुष्ट ! मैंने तुझे एक बार नहीं, बार-बार पराजित किया है। तब तो तू महावीर और मैं विराट का रसोइया नहीं था। मैं तुझे पीट रहा था, पर तूने स्वयं को विराट के नौकरों में से एक नहीं माना। इतनी पराजयों के पश्चात् एक जय से ही तुझे उन्माद हो गया है। देवराज इंद्र की भी कभी जय और कभी पराजय होती है। नीचकुलोत्पन्न ! आ और मेरे साथ मल्लयुद्ध कर ले। जैसे कीचक को पीस डाला था, वैसे ही तेरे शरीर को भी एक कंदुक बना दूँगा, ताकि प्रत्येक योद्धा उसे अपने पैरों से ठुकरा सके।"

भीम का यह अप्रत्याशित साहस देख कर्ण स्तब्ध रह गया। वह अपने शब्द ज्ञान में से सबसे प्रहारक और पीड़ादायक शब्दों को खोज रहा था, जैसे कोई अपने शस्त्रागार में से सबसे प्रहारक शस्त्र खोजता है।''' पर उसके लिए उसे अधिक समय नहीं मिला। तब तक अर्जुन के रथ की गर्जना निकट ही सुनाई पड़ने लगी थी और उसके बाण कर्ण तक पहुँच रहे थे। गांडीव से छूटे हुए बाण कर्ण को विषैले सर्पों से डँस रहे थे। वह अपना टूटा धनुष हाथ में लिये खड़ा था। अर्जुन के बाणों का प्रतिकार करने का साहस नहीं हुआ। भीम को छोड़कर दूर हट जाना ही उसे श्रेयस्कर लगा।

अर्जुन की मार से कर्ण को बचाने के लिए अश्वत्थामा बीच में आ कूदा। वह नहीं चाहता था कि भीम जैसे योद्धा पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् कर्ण पर अब कोई आँच आए। न ही वह यह चाहता था कि उनके हाथ में आया हुआ भीम इस सुविधा से छूट जाए।

अश्वत्थामा ने अर्जुन के नाराचों को काटा तो अर्जुन ने उसे ही अनेक बाणों से बींध दिया और बोला, "आज भागना मत अश्वत्थामा !"

अश्वत्थामा को वहाँ अकेले ठहरकर अर्जुन का सामना करने का कोई लाभ दिखाई नहीं दिया। अर्जुन की दाईं ओर युधामन्यु के रथ में भीम था और बाईं ओर उत्तमौजा के रथ में सात्यकि !

अश्वत्थामा भीम पर विजय का मोह त्याग कर, रथों और असंख्य गजों से सुरक्षित अपने व्यूह में प्रवेश कर गया।

21

अर्जुन का आत्मबल अपने चरम उत्कर्ष पर था।... भीम और सात्यकि को अब किसी ओर से कोई संकट नहीं था। वे दोनों पूर्णतः सुरक्षित थे और उसके साथ थे। उन्होंने कई दिवंगत कौरव योद्धाओं के रथ अपने अधिकार में कर लिए थे। उत्तमौजा और युधामन्यु अपने-अपने रथों पर अर्जुन के पृष्ठरक्षकों के रूप में चल रहे थे। प्रातः से तो अर्जुन अकेला ही समस्त कौरव महारथियों से युद्ध कर रहा था; किंतु अब वह अकेला नहीं था। अब वे—पांडव सेना के पाँच-पाँच महारथी—एक साथ थे।... पांडव सेना के पाँच रथ और उनके पाँच सर्वश्रेष्ठ योद्धा—जैसे सागर में पाँच भयंकर लहरें एक साथ उठी हों।...

"श्रीकृष्ण !" अर्जुन ने कहा, "रथ को जयद्रथ की ओर ले चलिए। अब उसे अधिक देर तक जीवित नहीं रहना चाहिए। सूर्यदेव भी तीव्रगति से अस्ताचल की ओर ढल रहे हैं।"

कृष्ण ने अर्जुन का उत्साह देखा तो प्रसन्न हो गए। उन्होंने एक बार अपने नेत्र उठाकर सूर्य की ओर देखा और घोड़ों को हाँक दिया, "शिथिलता तुम्हारी ओर से ही है अर्जुन ! मैं प्रसन्न हूँ कि अब मोह तुम्हें बाँध नहीं रहा।"

भूरिश्रवा के वध से स्तंभित कौरव जैसे निद्रा से जागे। भूरिश्रवा का मरना उनके लिए एक बड़ा आघात था; किंतु जयद्रथ मारा गया तो यह वज्रपात ही होगा।... लगा, सारे प्रमुख कौरवों के रथ एक साथ ही जयद्रथ की रक्षा के लिए दौड़ पड़े।... दुर्योधन, कर्ण, वृषसेन, शल्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य ने आकर अर्जुन के रथ को रोका।

जयद्रथ का रथ उनसे कुछ ही पीछे था। वह कुछ इस प्रकार खड़ा था कि अर्जुन के बाणों से बचने के लिए उसे उन महारथियों की आड़ उपलब्ध हो, किंतु वह स्वयं अर्जुन पर प्रहार करना चाहे, तो उसकी सुविधा भी उसे हो।

अर्जुन को तो जैसे अपने और जयद्रथ के मध्य खड़े छह महारथी दिखाई ही नहीं पड़ रहे थे। उसे केवल जयद्रथ दिखाई दे रहा था। जयद्रथ को अपने सम्मुख देखकर अर्जुन के नेत्र क्रोध से जल उठे।... यह वह व्यक्ति है, जो दुर्योधन के साथ मिलकर सदा उन्हें पीड़ित और अपमानित करता रहा है। यह है, जिसने वन में से द्रौपदी का

अपहरण कर लिया था। जो दुस्साहस दुर्योधन भी नहीं कर सका था, वह इसने किया। वह तो पांडव ही समय से पहुँच गए थे, अन्यथा इसने तो कोई कसर नहीं छोड़ी थी।''' और यही वह व्यक्ति था, जिसने घिर गए, आहत हो गए और क्रमशः मृत्यु के मुख में जाते हुए अभिमन्यु की रक्षा के लिए किसी पांडव योद्धा को व्यूह में प्रवेश करने नहीं दिया। यह है वह, जिसने डींग मारी कि उसने सिवाय अर्जुन के पांडवों के सारे योद्धाओं को अकेले ही पराजित कर दिया है। यह वह व्यक्ति है, जो स्वयं को अभिमन्यु का हत्यारा कहकर गौरवान्वित अनुभव करता है। इसने अभिमन्यु के वध का श्रेय माँगा है, तो फिर अर्जुन के हाथों मृत्यु भी तो इसे ही मिलेगी।'''

दुर्योधन ने यह स्थिति देखी तो भय से काँप उठा। उसने दृष्टि उठाकर अपने योद्धाओं की ओर देखा : यदि सचमुच ये छह योद्धा अपना रण कौशल दिखाएँ तो अर्जुन, जयद्रथ का बाल भी बाँका नहीं कर पाएगा।''' किंतु ये कृपाचार्य और अश्वत्थामा ! इनका भरोसा कैसे कर सकता है दुर्योधन। आज प्रातः से ही वह और दुःशासन कितनी बार विनती कर चुके हैं, आचार्य द्रोण के सम्मुख; किंतु वे एक बार भी अपना व्यूह छोड़कर अर्जुन को रोकने के लिए नहीं आए। यदि उन्होंने अपने व्यूह के द्वार पर ही अर्जुन को वैसे ही रोक लिया होता, जैसे कल जयद्रथ ने पांडवों को चक्रव्यूह के द्वार पर रोका था, तो आज कोई संकट ही न होता; और सूर्यास्त के साथ ही अर्जुन भी चिता पर जीवित जल जाता। किंतु आचार्य ने तो अर्जुन ही क्या, भीम और सात्यकि को भी मार्ग दे दिया। और जब दुःशासन उनसे प्रार्थना करने गया तो आचार्य ने उसे गांधारी के उदर में छिप जाने का परामर्श दिया। उसी द्रोण का पुत्र है यह अश्वत्थामा। उसी द्रोण का श्यालक है यह कृप। इनसे क्या आशा की जा सकती है ? जाने इनके मन में क्या है। किस षड्यंत्र के अधीन ये यहाँ युद्ध कर रहे हैं और किस दुरभिसंधि के कारण ये पांडवों की सहायता कर रहे हैं।'''

दुर्योधन ने शल्य की ओर देखा।''' नहीं ! शल्य अर्जुन से नहीं लड़ सकता। उसे तो यह भीम ही उठाकर धरती पर दे मारेगा।''' हाँ ! कर्ण और उसके पुत्र वृषसेन से कुछ अपेक्षा की जा सकती है। वे दोनों ही दुर्योधन से छल नहीं करेंगे। वे किसी षड्यंत्र और दुरभिसंधि में सम्मिलित नहीं होंगे। दुर्योधन उन पर विश्वास कर सकता है।

दुर्योधन का रथ कर्ण के पास पहुँचा, "कर्ण ! अब तुम्हारे युद्ध का समय आया है मित्र ! तुम इस समय अपना बल दिखाओ। आज युद्ध समाप्ति तक जयद्रथ का वध किसी भी स्थिति में नहीं होना चाहिए।"

दुर्योधन को कुछ आश्चर्य हुआ। अर्जुन से युद्ध का अवसर पाकर भी कर्ण ने कोई विशेष उत्साह नहीं दिखाया था। शायद इस समय कर्ण भी भयभीत था। आज भीम ने कुछ समय के लिए उसे भी अपने बल से त्रस्त कर दिया था।

"सुनो।" दुर्योधन पुनः बोला, "बहुत नहीं लड़ना है राधेय ! दिन समाप्त होने तक जयद्रथ किसी प्रकार सुरक्षित रहे तो हमारी विजय ही विजय है। बहुत थोड़ा समय

रह गया है। सूर्यास्त तक अर्जुन को किसी भी प्रकार रोक लो।"

कर्ण के चेहरे पर एक प्रकार का दैन्य प्रकट हुआ, "भीम ने आज बहुत कष्ट दिया है मुझे। फिर भी अपने धर्म का विचार कर युद्धभूमि में खड़ा हूँ मैं।" कर्ण ने दुर्योधन की ओर देखा, "इस समय मेरे शरीर का कोई भी अंग हिलने-डुलने की स्थिति में नहीं है। मैं उस मोटे के बड़े-बड़े भारी बाणों की ज्वाला से भयंकर रूप से संतप्त हूँ। पर तुम चिंता मत करो मित्र ! तब भी मैं यथाशक्ति युद्ध करूँगा; क्योंकि मेरा यह जीवन तो तुम्हारे ही लिए है। इसकी और उपयोगिता ही क्या है। मेरा विश्वास करो, जब तक मेरे बाण चलते रहेंगे, तब तक अर्जुन, जयद्रथ को कोई क्षति नहीं पहुँचा सकेगा।"

"मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ।" दुर्योधन ने कहा और आगे बढ़ गया।

'चलो इतना ही पर्याप्त है।' वह सोच रहा था, 'नहीं तो यह भी कह देता—मैं अत्यंत घायल हूँ। बहुत रक्त बह चुका है। युद्ध करने में समर्थ नहीं हूँ। दो दिन विश्राम कर फिर समरभूमि में आऊँगा—तो दुर्योधन क्या कर लेता। अब तो योद्धाओं की स्थिति भी अश्वशाला में लीद उठाने वाले भृत्यों के समान हो गई है। जब काम कुछ अधिक हुआ तो स्वयं ही लीद करने लगते हैं। उनको विश्राम के लिए अवकाश की आवश्यकता पड़ जाती है। कामचोर हो गए हैं, सब के सब।'

भीम और सात्यकि से सुरक्षित अर्जुन सूर्य के ही समान तप रहा था। उसने कौरव सेना का संहार आरंभ किया।

जब तक कर्ण अपनी कोई रणनीति बनाता, कृपाचार्य ने कौरव महारथियों को संगठित कर लिया था। उन्होंने अपने रथ एक साथ सटा लिए थे और दीवार के समान अर्जुन के सम्मुख खड़े हो गए थे। वे सब अंधाधुंध अर्जुन पर बाण वर्षा कर रहे थे।

कृष्ण ने मुस्कराकर अर्जुन की ओर देखा, "ये लोग तुमसे युद्ध नहीं कर रहे हैं। वे तो बस सूर्यास्त की प्रतीक्षा कर रहे हैं। चाहते हैं कि जयद्रथ उनके रथों की दीवार के पीछे निष्क्रिय बैठा रहे और वे तुम पर बाण फेंकते रहें ताकि तुम आगे न बढ़ पाओ। बस। शेष कार्य सूर्यदेव को सौंप दिया है इन्होंने।"

"पर कृपाचार्य तो दिव्यास्त्रों का प्रयोग कर रहे हैं।" अर्जुन ने कहा।

"ठीक है, किंतु वे शर-संधान कर रहे हैं या बाण फेंक रहे हैं ?" कृष्ण हँसे, "उनमें से कोई सोच-समझ भी रहा है कि व्यक्तिगत रूप से वह अपने शस्त्रों से क्या करना चाहता है और सामूहिक रूप से उनकी योजना क्या है ? वे बाण कम चला रहे हैं, सूर्य से प्रार्थना अधिक कर रहे हैं। इसका अर्थ है कि वे तुमसे बहुत भयभीत हैं।"

"उनके भय को अपनी शक्ति में परिणत किया जाए ?" अर्जुन ने कहा।

"हाँ ! इनको इसी प्रकार बाण फेंकते रहने दो। उन बाणों को काटने के लिए भीम और सात्यकि पूर्णतः समर्थ हैं।" कृष्ण बोले, "तुम इन छह महारथियों को लाँघ जाओ। तुम्हारा लक्ष्य जयद्रथ है। तुम्हारा शस्त्र खड्ग नहीं है कि सम्मुख खड़े इन महारथियों को लाँघे बिना तुम जयद्रथ को पा नहीं सकते।"

अर्जुन ने सीधे जयद्रथ पर बाण छोड़े।

कर्ण स्तब्ध रह गया। उसने यह सोचा ही नहीं था कि अर्जुन उन छह महारथियों को भीम और सात्यकि को समर्पित कर अपना लक्ष्य जयद्रथ को ही बनाएगा। उसने घबराकर कृपाचार्य की ओर देखा। लगा कृपाचार्य और अश्वत्थामा किसी निर्जीव यंत्र के समान अर्जुन की दिशा में बाण फेंककर अपना शस्त्र भंडार व्यर्थ ही नष्ट कर रहे हैं।''' कहीं ये लोग भीतर ही भीतर अर्जुन से मिल ही तो नहीं गए ?''' नहीं ! यह शायद उसके आतंकित मन का ही ऊहापोह है। इस प्रकार वह सब पर संदेह करेगा तो अपना मित्र किसको मानेगा। यदि द्रोण, कृप अथवा अश्वत्थामा पांडवों की ओर जाना ही चाहते तो उन्हें कौन रोक सकता था। युयुत्सु उस ओर चला गया तो कोई क्या कर सका ? न उसने धृतराष्ट्र से अनुमति ली न धृतराष्ट्र में उसे लौटा लाने का सामर्थ्य था।

कर्ण ने अर्जुन के सम्मुख बाणों का एक जाल-सा बुन दिया। अर्जुन ने दस बाण मारकर न केवल उस जाल को छिन्न-भिन्न कर दिया, वरन् कर्ण को घायल भी कर दिया। सात्यकि ने कर्ण को तीन बाण मारे। भीम ने कर्ण को अपने सामने आते देखा तो थोड़ी देर पहले की मुठभेड़ स्मरण हो आई।''' भीम अकेला और निःशस्त्र था तो कर्ण ने उसकी दुर्दशा कर डाली थी। अब देखें वह क्या करता है ? पर कर्ण तो अर्जुन का आखेट था।''' तो भी भीम ने चलते-चलते तीन बाण मार ही दिए।

कर्ण का तेज प्रज्वलित हुआ। उसने अर्जुन, भीम और सात्यकि—तीनों को ही अपना लक्ष्य मानकर अनेक बाण मारे। युद्ध तो वह करेगा ही, चाहे परिणाम कुछ भी हो।'''

कर्ण को इस प्रकार अपने मार्ग में आ उसे विलंब कराने का प्रयत्न करते देख, अर्जुन के मन में जैसे साक्षात् रुद्रदेव ही जाग्रत हो उठे।''' यह कर्ण उसका परम शत्रु तो था ही, उसके पुत्र के हत्यारों का रक्षक भी था। अर्जुन अपने हत्यारे को तो फिर भी क्षमा कर सकता था; किंतु अभिमन्यु के हत्यारों को दंडित किए बिना वह जीवित नहीं रह सकता था। उसका प्रत्येक रक्त बिंदु जैसे प्रचंड और जीवित ज्वालामुखी बन गया था।'''

अर्जुन के बाणों की झड़ी लग गई। कर्ण के शरीर से रक्त बहने लगा। उसके पिछले घाव भी छिल गए थे और अर्जुन ने कितने ही नए घाव भी दे दिए थे। अर्जुन ने कर्ण का धनुष काट दिया और अद्भुत स्फूर्ति का परिचय देते हुए, उसे नौ बाण मारे।

कर्ण ने दूसरा धनुप उठा लिया।

कर्ण के शरीर से इस प्रकार रक्त बहते देखकर दुर्योधन का रक्त अपनी धमनियों में जमता जा रहा था। क्या कर रहा है कर्ण।''' उसने आज तक कर्ण का पालन-पोषण क्या इसलिए किया था कि वह युद्ध में अर्जुन को मारे बिना अपना रक्त बहाकर चुपचाप भूमि पर लेट जाए।

"वीरो ! सब लोग मिलकर यत्नपूर्वक राधापुत्र कर्ण की रक्षा करो। वह युद्धस्थल में अर्जुन की हत्या किए बिना नहीं लौटेगा।" और दुर्योधन को लगा कि इतना कहना भर पर्याप्त नहीं है। उसने जोड़ा, "उसने मुझे ऐसा करने का वचन दिया है।"

कौरव महारथी दुर्योधन के कथन से उतने प्रभावित नहीं हुए, जितना कि अर्जुन हुआ''' तो यह कर्ण दुर्योधन को वचन दे कर आया है कि वह अर्जुन का वध करके लौटेगा।''' तो फिर वह भी देख ले कि कौन किसका वध करता है।''' अर्जुन ने कर्ण के रथ के अश्व मार दिए और सारथि को भी एक क्षुरप्र मारा। पता नहीं लगा कि सारथि उस बाण के लगने से पहले ही कैसे रथ से नीचे जा पड़ा। संभवतः वह अपने भय से ही मूर्च्छित हो गया था। वह कर्ण का नियमित सारथि तो था नहीं। प्रातः से कितने ही रथ और सारथि बदल चुका था कर्ण।'''

अर्जुन के बाण जाल से कर्ण कुछ ऐसा मोहित हुआ कि उसकी समझ में ही नहीं आया कि उसे क्या करना चाहिए। वह किंकर्तव्यविमूढ़-सा युद्धक्षेत्र में ऐसे खड़ा था, जैसे भीड़ भरे मेले में कोई बच्चा खो जाता है।

अश्वत्थामा ने कर्ण को इस दशा में देखा तो तत्काल अपने रथ को उसके और अर्जुन के मध्य ला, खड़ा कर दिया। कर्ण अर्जुन की दृष्टि से ओझल हो गया। अश्वत्थामा ने उसे अपने रथ पर आ जाने का संकेत किया।

कृपाचार्य के प्राण अश्वत्थामा में ही बसते थे। उन्होंने उसे इस प्रकार स्वयं को अर्जुन के सम्मुख डाल देने का संकट उठाते देखा तो स्वयं भी उसकी सहायता को आ गए और शल्य को भी संकेत किया। अब शल्य, अश्वत्थामा और कर्ण अर्जुन पर बाण बरसा रहे थे और कृपाचार्य की दृष्टि कृष्ण पर लगी हुई थी ''' सब के सारथि क्षतविक्षत होते थे, मरते थे और रथ से गिरते थे, किंतु अर्जुन का यह सारथि न थकता था, न मरता था, न गिरता था।''' कृपाचार्य ने कृष्ण को बीस बाण दे मारे।

जयद्रथ का रक्त संचार बहुत बढ़ गया था। वह कल रात से ही प्रत्येक क्षण मृत्यु की पीड़ा झेल रहा था। अभी तक वह घायल भी नहीं हुआ था। वस्तुतः आज अभी तक तो उचित ढंग से उसने युद्ध भी नहीं किया था। कोई शत्रु उसके निकट भी नहीं आया था।''' किंतु वह प्रतिक्षण मर ही तो रहा था। मृत्यु के भय की पीड़ा झेल रहा था। वह स्वयं को महाकाल के जबड़ों में फँसा हुआ अनुभव कर रहा था। अभी दाँत दबेंगे और उसकी सारी अस्थियाँ चरमरा जाएँगी।''' अपने शव को मानों उसने समरभूमि में धराशायी हुआ देखा''' नहीं ! वह अपनी रक्षा का दायित्व इस प्रकार दूसरों पर छोड़कर निश्चिंत नहीं रह सकता था। वे लोग अपना युद्ध लड़ रहे थे। उसकी रक्षा हो रही थी तो इसलिए कि अभी अर्जुन उसके इतना निकट नहीं आ पाया था या फिर वह ही अपनी बिल से निकलकर उसके सम्मुख खड़ा नहीं हुआ था।''' क्या वह इसी प्रकार भयभीत मूषक के समान अपनी बिल में छिपा बैठा रहेगा ? क्यों नहीं वह अर्जुन के सम्मुख जाकर युद्ध करता ? कल उसने अकेले ही पांडव पक्ष के सारे योद्धाओं को

चक्रव्यूह के द्वार पर ही रोक लिया था। आज वह इस अकेले अर्जुन से नहीं लड़ सकता ?

वह इतना घबरा गया था कि अपने स्थान पर निष्क्रिय बैठे रहना उसके लिए कठिन हो गया। कल दुर्योधन ने उसे सिंधुदेश लौटने नहीं दिया था। कहा था कि कौरव योद्धा उसकी रक्षा करेंगे। यही रक्षा हो रही है उसकी। भीम और सात्यकि को साथ लेकर अर्जुन उसके सम्मुख आ खड़ा हुआ है। निरंतर युद्ध हो रहा है। अर्जुन का रथ एक-एक अंगुल कर आगे बढ़ रहा है··· और गिनती के ये कौरव योद्धा इधर-उधर बाण फेंकने का नाटक कर रहे हैं।··· ये रक्षा करेंगे उसकी ?

दुर्योधन की चेतावनी की उपेक्षा कर जयद्रथ अपनी बिल से बाहर निकल आया। उसने अर्जुन और कृष्ण को चार-चार बाण दे मारे। वृषसेन ने उसका साथ दिया। वह अपने पिता को बचाने नहीं गया। जयद्रथ की सहायता को आ गया। जयद्रथ ने एक कृतज्ञ मुस्कान उसकी ओर उछाल दी।

और तब जयद्रथ समझ ही नहीं पाया कि क्या हुआ कि अर्जुन के गांडीव से बाण ऐसे छूटे, जैसे सूर्य से रश्मियाँ छूटती हैं। एक साथ ही अश्वत्थामा, शल्य, कृपाचार्य, वृषसेन और जयद्रथ को अर्जुन के बाणों ने बींध दिया। केवल दुर्योधन बच गया था। वह जयद्रथ के भी पीछे चला गया था।···

अर्जुन ने सिंहनाद किया।

कौरव भयभीत हो उठे। अर्जुन को रोकना शायद अब संभव नहीं था। किंतु वे जयद्रथ को इस प्रकार मरने नहीं दे सकते थे। यदि जयद्रथ आज अर्जुन के हाथों मारा गया तो फिर कल से अर्जुन का युद्धभूमि में सामना कौन करेगा।··· दुर्योधन कुछ आगे बढ़ा और छह के छह महारथी अर्जुन पर टूट पड़े।

अर्जुन ने अपना रोष नहीं दिखाया। इस बार वह हँसा और उसने वारुणास्त्र प्रकट किया। पीली प्रत्यंचा वाला गांडीव धनुष इस प्रकार शस्त्रास्त्र उगल रहा था, जैसे कोई नदी अपना प्रवाह सागर में उँडेलती है। छह महारथी उसके सामने खड़े थे और अपनी सेना का नाश होते देख रहे थे। उनमें से किसी में साहस नहीं था कि वह अपनी रक्षा के अतिरिक्त भी किसी के विषय में कुछ सोच सकता।

वारुणास्त्र का वेग कुछ कम हुआ तो दुर्योधन ने पुनः अपने महारथियों को ललकारा। उनका एक सम्मिलित आक्रमण अर्जुन पर हुआ।

"तुम लोग धनंजय पर आरोप लगा रहे थे कि उन्होंने मेरे और भूरिश्रवा के युद्ध में हस्तक्षेप किया है तो अब तुम क्यों नहीं एक-एक कर धनंजय से लड़ते ? भेजो अकेले कर्ण को अथवा अकेले दुर्योधन को···" सात्यकि ने उच्च स्वर में कहा।

किंतु अर्जुन का ध्यान उस ओर नहीं था। उसने इस सम्मिलित आक्रमण का प्रतिकार करने के लिए इस बार इंद्रास्त्र प्रकट किया था। इंद्रास्त्र अपना कार्य कर ही रहा था। उससे भयभीत कौरवों ने अंधाधुंध अपने शस्त्रागार उँड़ेलने आरंभ कर दिए। उन्होंने इतने शस्त्रास्त्रों की वर्षा की कि आकाश उनसे ढँक गया और सूर्य का सांध्यकालीन

निर्बल प्रकाश पृथ्वी तक आने में असमर्थ हो गया।''' लगा, जैसे रात्रि का आगमन हो गया है। सूर्यास्त के बाद का अंधकार हो गया क्या ?

जयद्रथ ने आकाश की ओर देखा : क्या सत्य ही रात्रि आ गई ? क्या वह अर्जुन के हाथों मारा जाने से बच गया ? क्या अब अर्जुन चितारोहण कर अपने प्राण दे देगा ?

कृष्ण ने अंधकार को भी देखा और जयद्रथ को भी। मुस्कराकर बोले, "अर्जुन ! शीघ्रता करो।"

कौरवों ने युद्ध समाप्ति की घोषणा नहीं की थी; किंतु इस अंधकार को नष्ट करने की तो वे क्या ही सोचते। वे उसे और सघन करना चाहते थे। यह तो उनके हित में ही था कि सूर्यास्त से पहले ही अंधकार हो जाए और पांडव युद्ध से निरस्त हो जाएँ।'''

अर्जुन ने अपने दिव्यास्त्र संबंधी मंत्रों से अभिमंत्रित बाणों द्वारा पराक्रमपूर्वक उस अंधकार को नष्ट कर दिया।

अंधकार अकस्मात् ही हट गया था और अर्जुन, जयद्रथ के अत्यधिक निकट आ खड़ा हुआ था। अब शायद जयद्रथ के जीवन की कोई आशा शेष नहीं थी। दुर्योधन तक जयद्रथ के जीवन से निराश हो चुका था। उसे लगा कि कर्ण जैसा योद्धा भी युद्ध से निवृत्त होकर बैठ गया था। इस समय जो-जो योद्धा अर्जुन की ओर बढ़ता था, उसके शरीर पर प्राणांतकारी बाणों की वर्षा होने लगती थी।

अर्जुन का रथ पुनः जयद्रथ की ओर बढ़ा। दुर्योधन ने जैसे उस ओर से अपनी आँखें फेर लीं। क्या होने जा रहा है। उसने पांडवों की सात अक्षौहिणी सेना के उत्तर में अपने लिए ग्यारह अक्षौहिणी सेना एकत्रित की थी। उसने यादवों को इस युद्ध से निरस्त कर दिया था। कृष्ण के शस्त्र छीन लिए थे। उसकी नारायणी सेना हड़प ली थी।''' और फिर यहाँ तो पांडव सेना थी ही नहीं। उनके मात्र तीन योद्धा थे, कौरव सेना के महासागर में घिरे हुए, फिर भी दुर्योधन जयद्रथ के प्राणों की रक्षा में असमर्थ होता जा रहा था।'''

अर्जुन ने अश्वत्थामा, वृषसेन, कृपाचार्य, शल्य और कर्ण को असंख्य बाण मारे और फिर उसने जयद्रथ को अपने बाणों से ढँक दिया। जयद्रथ ने अपना भय छोड़ दिया था अथवा इस समय वह संवेदनहीनता के उस धरातल पर पहुँच गया था कि वह भय का अनुभव करने के अयोग्य हो गया था। उसने अर्जुन को छह, कृष्ण को तीन, घोड़ों को आठ और ध्वजा को एक बाण मारा।

अर्जुन ने उसके सारथि का मस्तक काट दिया और ध्वज को धूल में मिला दिया।

कृष्ण बार-बार सूर्य की ओर देख रहे थे। उनकी दृष्टि रणभूमि में उड़ती सूर्य के प्रकाश को मंद करती उस धूल पर भी थी और घबराया हुआ जयद्रथ भी उनका ध्यान आकृष्ट कर रहा था।''' कृष्ण स्पष्टतः देख रहे थे कि जयद्रथ की रक्षा को आए ये छह महारथी अर्जुन की गति रुद्ध तो नहीं कर पा रहे थे और न ही वे अर्जुन को

जयद्रथ के वध से रोक पाएँगे, किंतु विलंब तो वे करा ही सकते हैं। उन छह का वध कर अर्जुन सूर्यास्त से पहले जयद्रथ तक नहीं पहुँच सकेगा। यह विलंब घातक भी हो सकता है।'''

सहसा कृष्ण ने अर्जुन का ध्यान आकृष्ट किया, ''पार्थ ! जयद्रथ इस समय भयभीत है। उसके और तुम्हारे मध्य छह महारथी हैं। पाँच ही समझो। दुर्योधन तो अपनी सुविधा के अनुसार अपना स्थान परिवर्तित कर लेता है। तुम इन सबको जीतकर जयद्रथ तक पहुँच नहीं सकते—ऐसा मैं नहीं कहता; किंतु हमारे पास समय कम है। समय बीत गया तो हमारी जय भी पराजय में बदल जाएगी। इसलिए आवश्यक है कि हम कुछ ऐसा करें कि वह धैर्य छोड़कर इतना व्याकुल हो जाए कि अपनी सावधानी भूलकर बाहर निकल आए।''

''क्या करोगे केशव ?''

''मैं सूर्य को ढँकने की कोई युक्ति करूँगा। उसे लगेगा कि सूर्यास्त हो गया है तो वह असावधान होकर सामने आ जाएगा। तुम्हारी मृत्यु के लिए उतावला होकर वह स्वयं को गुप्त नहीं रख पाएगा।'' कृष्ण मुस्कराए, ''ऐसा क्षण आने पर तुम यह मत सोचने लग जाना कि सूर्यास्त हो गया है और जयद्रथ के वध का काल सीमा पार कर गया है। उसका तत्काल वध करना। तुम्हें अधिक समय नहीं मिलेगा। तुम्हारी निमिप मात्र की भी शिथिलता हम सबके लिए घातक होगी।'' उनका स्वर असाधारण रूप से गंभीर था, ''एक निमिप की सक्रियता और निष्क्रियता से राष्ट्रों का इतिहास बदल जाता है। यह क्षण भी हमारे लिए इतिहास का निर्माण करने वाला है।''

''ऐसा ही होगा केशव !'' अर्जुन के स्वर में पूर्ण समर्पण का भाव था।

कृष्ण अपना रथ भीम के निकट ले गए।

''मध्यम !'' वे अपना स्वर कुछ दबाकर बोले, ''कौरवों के वध की चिंता मत करो। अपना रथ इस प्रकार दौड़ाओ कि कौरवों के अधिक से अधिक रथ गतिमान हों। कुछ ऐसा करो कि समरभूमि में असाधारण गतिविधि हो। बाण चाहे एक न चले, किंतु एक भी रथ अपने स्थान पर खड़ा न रहे।''

भीम ने उनकी बात सुनी। वह बहुत कुछ पूछना चाहता था, किंतु कृष्ण वहाँ रुके नहीं। आँखों से कहे अनुसार करने का आदेश देकर वे उससे दूर चले गए। भीम खड़ा देखता ही रह गया।

कृष्ण ने एक-एक कर वही संदेश सात्यकि, उत्तमौजा और युधामन्यु को भी दिया।

और अगले ही क्षण भीम ने शस्त्र छोड़कर रथ की वल्गा सँभाल ली। वह अपना रथ सीधे दुर्योधन के रथ पर चढ़ा ले गया। दुर्योधन की समझ में नहीं आया कि वह क्या करना चाहता है। क्या वह अपने रथ को उसके रथ से भिड़ाकर उसे कुचल डालना चाहता है ? वह कुछ भी चाहता हो। वह तो वही जाने। वह तो बैल है, उसमें बुद्धि ही कहाँ। शस्त्रास्त्रों का युद्ध छोड़कर रथ भिड़ाने पर आ गया है।''' पर दुर्योधन को

तो अपना बचाव करना ही था।''' वह तत्काल अपने स्थान से हटकर किसी सुरक्षित स्थान की खोज में निकल गया। दुर्योधन के इस प्रकार अकस्मात् हटने से उसके दाएँ-बाएँ और पीछे चलने वाले रथों में भी भगदड़ मच गई। किसी की समझ में नहीं आया कि यह क्या हो रहा है। दुर्योधन इस प्रकार डरकर भागा क्यों है।''' पर उससे रथों की गतिविधि बहुत बढ़ गई थी।'''

भीम को देखकर सात्यकि, उत्तमौजा और युधामन्यु ने भी कुछ वैसा ही किया। समरभूमि में रथों का जैसे बवंडर मच गया। पांडवों के तो पाँचों रथ उत्पात मचा ही रहे थे, साथ ही कौरवों का कोई भी रथ अपने स्थान पर खड़ा नहीं रह सका था। अश्वों की टापों और रथचक्रों से उठी हुई धूल आकाश को छूने लगी थी। समरभूमि में प्रकाश अत्यंत क्षीण हो गया था। जैसे सूर्यास्त हुआ ही चाहता था।

कृष्ण ने देखा कि कौरव असावधान थे और जयद्रथ अपनी व्याकुलता में सूर्य की ओर देख रहा था। क्या सत्य ही सूर्यास्त हो गया था ? वे अर्जुन की ओर मुड़े, "जयद्रथ तुम्हारा भय छोड़कर सूर्य की ओर ताक रहा है। इस दुरात्मा के वध का यही क्षण है। इसका मस्तक काटो और अपनी प्रतिज्ञा सफल करो।"

रथों की उस असाधारण हलचल में अर्जुन ने अपने तेजस्वी बाणों से कौरव सेना का विनाश आरंभ किया। उसने कृपाचार्य, कर्ण, शल्य, दुःशासन, वृषसेन और जयद्रथ—सबको ही बाण मारे। जयद्रथ को सर्वाधिक बाण लगे थे। वह बौराया सा खड़ा था—सूर्यास्त हुआ था या नहीं ? यदि सूर्यास्त हो गया था तो अर्जुन बाण क्यों चला रहा था ? और यदि सूर्यास्त नहीं हुआ था तो सूर्य की ज्योति इतनी मंद क्यों हो गई थी ? यह अंधकार क्यों हो रहा था ? कुछ दिखाई क्यों नहीं देता था ?

अर्जुन अपने आक्रोश की पराकाष्ठा पर था। गांडीव से बाण ऐसे छूट रहे थे, जैसे बवंडर के वेग में रेणु कण उड़ते हैं। जयद्रथ के रक्षकों को जयद्रथ स्मरण ही नहीं रहा। वे तो अपने प्राणों के भय से ही उन्मत्त होकर कोई सुरक्षित स्थान खोजने के लिए इधर-उधर भाग रहे थे, किंतु अर्जुन के बाणों से कोई भी स्थान सुरक्षित नहीं था।

सेना भाग गई थी और अर्जुन को अपने सामने कृपाचार्य, कर्ण, शल्य, वृषसेन और दुर्योधन दिखाई दे रहे थे। अश्वत्थामा जाने कहाँ चला गया था। अर्जुन ने उन सब पर अपने बाणों से जैसे एक कुटीर बना दिया था, जिसमें उन सबके रथ बंदी हो गए थे। उसने कर्ण और वृषसेन के धनुष काट दिए, एक भल्ल से शल्य के सारथि को रथ की बैठक से नीचे गिरा दिया। कृपाचार्य को उसके बाणों से गहरी चोट पहुँची थी। उनके शरीर से रक्त बह रहा था।'''

"इनको छोड़ो अर्जुन !" कृष्ण कुछ आवेश में बोले, "दुरात्मा जयद्रथ का मस्तक शीघ्र काटो। तत्काल। सूर्य अस्ताचल पर जाना ही चाहते हैं।"

अर्जुन ने गांडीव को जयद्रथ की ओर कर, दिव्य मंत्रों से अभिमंत्रित किया हुआ बाण तत्काल छोड़ दिया। गांडीव से छूटा वज्र से भी कठोर स्पर्श वाला वह शीघ्रगामी

बाण जयद्रथ का मस्तक काटकर श्येन पक्षी के समान उड़ गया।

सारे कौरवों ने देखा कि जयद्रथ का मस्तक उसके कबंध पर नहीं है। उसका कबंध लड़खड़ाकर भूमि पर गिर पड़ा है।''' अब आज और युद्ध का कोई अर्थ नहीं था। कौरव सेनाएँ हताश हो चुकी थीं। और युद्ध का अर्थ था प्रचंड अर्जुन के हाथों और योद्धाओं का वध।

पांडवों के पाँचों रथ भी जैसे रुक गए थे। भीम, सात्यकि, उत्तमौजा और युधामन्यु अश्वों की टापों और रथचक्रों से धूल उड़ाने का लक्ष्य समझ चुके थे। अब उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी।

रथों की गतिविधि रुकी तो आकाश की ओर उड़ती हुई धूल भी पृथ्वी पर आ गई। सबने देखा, न सूर्य की ज्योति मंद हुई थी, और न ही अभी सूर्यास्त ही हुआ था।

कृष्ण मुस्करा रहे थे। उन्होंने जैसे अपनी माया समेट ली थी।

22

धृतराष्ट्र अपना क्षोभ न रोक सका न छिपा सका। उसकी वाणी और उसकी अभिव्यक्ति जैसे उसके नियंत्रण से विद्रोह कर उठी थी। उसका चेहरा कुछ भयंकर हो उठा था। वह विकृत-सी वाणी में बोला, ''तुम झूठ बोल रहे हो संजय ! यह किसी भी प्रकार संभव नहीं है।''

संजय चकित-सा बैठा उसे देखता रहा। वह एकटक धृतराष्ट्र के चेहरे को देख रहा था और समझ नहीं पा रहा था कि अगले ही क्षण धृतराष्ट्र रो पड़ेगा अथवा क्रोध से झाग थूकने लगेगा। इतना तो वह समझ ही रहा था कि यह उत्तेजना धृतराष्ट्र के हित में नहीं है; किंतु वह उसे दूर करने के लिए क्या करे ? कहीं ऐसा न हो कि उसका किया हुआ कोई उपाय धृतराष्ट्र को और भी उत्तेजित कर जाए।'''

''पर यह सत्य है महाराज !'' वह धीरे से बोला।

''क्या प्रमाण है कि वह सत्य है ?'' धृतराष्ट्र शायद बिना कुछ सोचे-समझे बोल रहा था।

''प्रमाण यही है कि यह घटित हुआ। सबने देखा कि वह सूर्य जो अस्त हो गया था, फिर से आकाश पर दिखाई दे रहा था।'' संजय बोला, ''आश्चर्य सबको हुआ, पर जो कुछ सब लोग अपने नेत्रों से देख रहे थे, उसका तिरस्कार कैसे कर सकते थे।''

धृतराष्ट्र ने कुछ नहीं कहा।

''कल जब जयद्रथ ने चारों पांडवों और उनके सहयोगियों को चक्रव्यूह में प्रवेश करने से रोक दिया था, आश्चर्य तब भी हुआ था सबको, किंतु उसे अस्वीकार कैसे

कर सकते थे। वह सबके सम्मुख घटित हुआ था।" संजय बोला, "वही बात आज भी हुई है।"

"आकाश पर बादल छा गए होंगे। लोगों ने मान लिया होगा कि संध्या हो गई है। सेनाएँ लौटने की तैयारी कर रही होंगी।" धृतराष्ट्र ने स्वयं को कुछ सँभालकर कहा, "और तभी मेघ उड़ गए होंगे। कृष्ण ने घोषणा कर दी होगी कि सूर्यास्त अभी नहीं हुआ है। पर उस मूर्ख जयद्रथ को इतनी जल्दी क्या थी कि वह अपने गुप्त स्थान से ही प्रकट नहीं हो गया, आकर अर्जुन के ही सामने खड़ा हो गया। सदा का अहंकारी और झगड़ालू। अर्जुन को चिढ़ाने आया था। बहुत आतुर रहता है दुर्योधन भी पांडवों को चिढ़ाने के लिए। क्या पाया था उसने घोषयात्रा में ? और क्या पाया जयद्रथ ने अर्जुन को चिढ़ाने के लिए सम्मुख आकर ?"

संजय उसे ध्यान से देखता रहा : वह अपनी बात कहे या मौन रह जाए ? धृतराष्ट्र यही मानना चाहता है तो यही मानता रहे। उससे किसी को क्या अंतर पड़ेगा ?

"तुम स्वीकार करना नहीं चाहते कि आकाश पर बादल घनीभूत हो गए थे और लोगों ने उसे संध्या मान लिया था ?" धृतराष्ट्र ने संजय को चुप रहने नहीं दिया।

"नहीं महाराज ! कल संध्या समय आकाश पर मेघों का कोई भटका हुआ खंड भी नहीं था।" संजय बोला, "आकाश स्वच्छ था। वैसे मेघ कितने भी सघन हो जाएँ, उनसे सूर्यास्त का भ्रम तो नहीं हो सकता।"

धृतराष्ट्र के चेहरे पर जो खीज जन्मी, वह भयंकर थी। संजय को लगा कि इस आवेश में धृतराष्ट्र उस पर आक्रमण भी कर सकता है। पर यह भी स्पष्ट था कि धृतराष्ट्र अपने आपसे निरंतर लड़ रहा था। थोड़ी ही देर में उसने स्वयं को नियंत्रित कर लिया, "अच्छा नहीं होंगे मेघ। निरभ्र आकाश रहा होगा; किंतु क्या तुम लोगों ने पता किया है कि कल सूर्यग्रहण तो नहीं था ?"

संजय को हँसी आ गई, पर उसने स्वयं को संयत किया, "आप कहते हैं तो महाराज ! मैं ज्योतिषियों से पता कर लूँगा। किंतु चंद्रग्रहण और सूर्यग्रहण इत्यादि पर विचार तो कई-कई वर्ष पहले से कर लिया जाता है। उसकी सूचना सार्वजनिक होती है। लोग उस दिन पूजा-पाठ और दान इत्यादि करते हैं। प्रत्येक घाट पर सहस्रों लोग स्नान कर रहे होते हैं। सूर्यग्रहण कोई ऐसी गोपनीय घटना तो नहीं है कि उसका किसी को ज्ञान ही न हो।" क्षण भर चुप रहकर संजय पुनः बोला, "और यदि हम यह मान भी लें कि कल सूर्यग्रहण था और सिवाय श्रीकृष्ण के और किसी को उसका पता नहीं था तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि श्रीकृष्ण ने बहुत पहले यह योजना बनाई होगी कि किस दिन अभिमन्यु का वध हो, उस दिन अर्जुन प्रतिज्ञा करे और अगले दिन अर्जुन सिंधुराज का वध करे। यदि उन्हें इतना कुछ ज्ञात ही था तो उन्होंने अभिमन्यु का वध क्यों होने दिया ? उसे बचाने का प्रयत्न क्यों नहीं किया ? यदि वे जानते थे कि अगले दिन सूर्यग्रहण होने वाला है तो उन्होंने अर्जुन को ऐसी भयंकर प्रतिज्ञा करने से रोका

क्यों नहीं ?"

"इन सब प्रश्नों का उत्तर मेरे पास नहीं है।" धृतराष्ट्र के स्वर में फिर से रोष प्रकट हुआ, "पर यदि यह सब न मानकर तुमसे सहमत हो जाऊँ कि कृष्ण और कोई नहीं, स्वयं नारायण हैं, तो फिर इतना समारोह करने की क्या आवश्यकता है। उनकी तो इच्छा मात्र से दुर्योधन की मृत्यु हो सकती है। उनकी इच्छा मात्र से अभिमन्यु जीवित हो सकता है। उनके एक संकेत पर यह युद्ध रुक सकता है। वे पांडवों को राज्य देने के लिए नई सृष्टि रच सकते हैं। सुदर्शन चक्र से सूर्य को ढँकने की क्या बात है, वे सूर्य को आदेश दे सकते हैं कि वह थोड़ी देर तक अस्त रहकर पुनः उदित हो जाए।"

"हाँ ! यदि नारायण की इच्छा हो तो यह सब हो सकता है।" संजय ने कहा।

"तुम मुझे डरा रहे हो, किंतु मैं इन बातों से न डरना सीख गया हूँ। झूठ है यह। न सूर्य किसी के कहने से छुप सकता है, न प्रकट हो सकता है। तुम भी विदुर के ही मार्ग पर जा रहे हो।" धृतराष्ट्र ने कहा, "मैं इस सारी मूर्खता में विश्वास नहीं कर सकता।"

संजय के मन में अनेक विचार आ रहे थे।··· वह समझ रहा था कि दुर्योधन की हठ के महावट की जड़ें कहाँ हैं। उसके सम्मुख धृतराष्ट्र बैठा था, जो अंधा था, अपंग था, असहाय था, किंतु उसका अहंकार अपनी इच्छा के प्रतिकूल किसी सत्य को स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं था। दुर्योधन तो फिर शरीर से स्वस्थ था, सैन्य संचालन कर सकता था, मित्र बना सकता था, षड्यंत्र रच सकता था··· वह कैसे स्वीकार कर लेता कि कृष्ण स्वयं नारायण थे अथवा नारायण के अंशावतार थे ? अंधा धृतराष्ट्र भी था और अंधा दुर्योधन भी था।

"मैं यह सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं कर रहा महाराज ! कि कृष्ण नारायण हैं।" वह नम्र स्वर में बोला, "मैंने तो आपके कहने पर कल की घटनाएँ आपको सुनाई हैं। यह युद्ध का समाचार है स्वामी ! मैं इस समय ब्रह्म-चिंतन नहीं कर रहा।···"

"तुम ब्रह्म-चिंतन नहीं कर रहे, तुम कृष्ण को नारायण सिद्ध नहीं कर रहे; किंतु तुम मुझे डराने का प्रयत्न कर रहे हो, ताकि मैं दुर्योधन पर दबाव डालूँ कि वह पांडवों को उनका राज्य दे दे।" धृतराष्ट्र ने कहा, "तुम भी विदुर के मार्ग पर ही जा रहे हो। मुझसे मेरी संपत्ति छीनने का प्रयत्न कर रहे हो। तुम्हारे मन को मैं जानता हूँ।"

"नहीं ! मैं ऐसा कोई प्रयत्न नहीं कर रहा।" संजय बोला, "जहाँ तक मेरे मन की बात है, मैं तो केवल यह जानने का प्रयत्न कर रहा हूँ महाराज ! कि श्रीकृष्ण का वास्तविक स्वरूप क्या है। जिस प्रकार वे राजनीति का संचालन करते हैं, उससे वे कुशल राजनीतिज्ञ लगते हैं। ऋषियों से चर्चा करते हैं तो ऋषि लगते हैं। द्रौपदी के सम्मान की रक्षा के लिए जो कुछ उन्होंने किया, कुरुओं की सभा में दुर्योधन इत्यादि को जिस प्रकार अचेत कर वे निकल गए और अर्जुन को जो उपदेश उन्होंने रणभूमि में दिया··· और अब अस्त सूर्य को पुनः उदित कर दिया··· इन सबसे उनको क्या समझें हम ?

क्या मानते हैं आप उनको ?"

"दुर्योधन मानता है कि वह एक तांत्रिक है।" धृतराष्ट्र बोला।

"दुर्योधन उन्हें तांत्रिक मानता है, पर मेरा प्रश्न है कि आप क्या मानते हैं ?" संजय बोला, "यद्यपि अपने समय के, अपने निकट के किसी हाड़-मांस के मनुष्य को ईश्वर अथवा ईश्वर का अवतार मानना बहुत कठिन है। हमारा अपना अहंकार उसमें आड़े आता है। उसकी सीमाएँ हमारा विश्वास जमने नहीं देतीं, किंतु कृष्ण क्या हैं··· इसको समझने का प्रयत्न तो हमें करना ही होगा।"

"मैं कृष्ण को नारायण मान लूँगा तो तुम्हें उससे क्या लाभ हो जाएगा ?" धृतराष्ट्र ने एक चिड़चिड़ाए हुए वृद्ध के समान कहा।

"मुझे कोई लाभ नहीं होगा राजन् !" संजय बोला, "किंतु संभव है कि आपको कोई लाभ हो जाए। आपका अहंकार विगलित हो, आपका लोभ कम हो जाए। आपके मन में यह बात आ जाए कि इस संसार में जो कुछ भी है, वह ईश्वर से व्याप्त है। इसीलिए हमें त्यागपूर्वक भोग करना चाहिए। धन किसी का भी नहीं है। हमें उसका लोभ नहीं करना चाहिए।"

"तुमने लोभ किया होता तो तुम भी किसी राजवंश के प्रवर्तक होते संजय। अपने पीछे अपनी संतान के लिए तुम भी एक साम्राज्य छोड़ जाते।" धृतराष्ट्र ने कहा, "यह लोभ नहीं है, उपलब्धि है। उसे तुम नहीं समझ पाओगे।"

"तुम भी इसे समझ नहीं पाओगे राजन् !" संजय ने मन-ही-मन कहा, "ईश्वर की कृपा नहीं हुई है अभी तुम पर। अभी उसने तुम्हें सद्बुद्धि नहीं दी है। तुम्हें क्यों दिखाई नहीं देता कि जिसे तुम अपनी संतान के लिए साम्राज्य समझ रहे हो, वह उनकी मृत्यु ही नहीं, उनकी आत्मा के पतन का मूल कारण है।"

23

दुर्योधन का सारा उत्साह भंग हो गया था।

वह तो आज युद्ध को समाप्त करने पर ही तुला हुआ था। उसने विश्वास कर लिया था कि अर्जुन आज जयद्रथ का वध नहीं कर पाएगा और अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार चितारोहण कर मृत्यु को प्राप्त होगा। अर्जुन की मृत्यु के पश्चात् पांडवों के लिए युद्ध का अर्थ ही क्या रह जाता।

सहसा वह चौंका··· वह अपनी इच्छा को प्रकृति का सत्य क्यों मान लेता है। वह चाहता है कि अर्जुन की मृत्यु हो जाए, तो क्या अर्जुन की मृत्यु हो जाएगी ? वह चाहता है कि अर्जुन की मृत्यु के पश्चात् उसके सारे भाई आत्महत्या कर लें, तो क्या वे आत्महत्या कर लेंगे ? वह समझता है कि भीम उससे प्रतिशोध नहीं लेगा, आत्महत्या कर लेगा ?···

वह आज समझ पाया था कि इस संसार में अर्जुन से बड़ा योद्धा कोई नहीं है। विराटनगर में गोहरण के समय अकेले अर्जुन ने जो किया था, वही उसने आज यहाँ भी संभव कर दिखाया। विराटनगर में तो कुछ ही महारथी थे, उनके पास इतनी बड़ी संख्या में सेनाएँ भी नहीं थीं।''' आज यहाँ उससे भी कहीं अधिक विकट युद्ध हुआ था।''' फिर भी दुर्योधन ने कैसे मान लिया था कि कर्ण अर्जुन को पराजित कर देगा ? उसका वध कर देगा ? या फिर उसे संध्या समय तक कहीं भी रोके रहेगा ? कर्ण को तो आज भीम ने ही अनेक बार पराभूत कर दिया।'''

आचार्य का भी बहुत भरोसा था उसे। आचार्य को तो भीम उनके रथ सहित उठाकर, कहीं दूर फेंक आया था।''' सात्यकि भी लाँघ गया था आचार्य को।''' पर सच्चे अर्थों में तो दुर्योधन ने न कभी द्रोण का विश्वास किया था, न भीष्म का। उसका तो सारा बल कर्ण पर ही आश्रित था। जिसका भरोसा कर उसने शस्त्रास्त्रों का ऐसा संग्रह किया था, वही कर्ण पराजित हो गया। जिस कर्ण के पराक्रम का विश्वास कर उसने कृष्ण को भी तृण समान तुच्छ समझकर, न केवल उसके संधि प्रस्ताव को ठुकराया, उसको बंदी करने का भी प्रयत्न किया था, वही कर्ण पराजित हो गया।''' तो कर्ण की दिग्विजय का सत्य क्या है ? कर्ण को दिग्विजयी मानकर ही तो दुर्योधन ने इस युद्ध की नींव रखी थी। क्यों स्मरण नहीं आया दुर्योधन को कि घोषयात्रा के अवसर पर भी युद्ध में पीठ दिखाकर सबसे पहले भागने वाला योद्धा, कर्ण ही था। उस युद्ध में तो वह फिर लौट कर आया ही नहीं। दुर्योधन ने कर्ण की बातों पर इतना विश्वास कैसे कर लिया ? जो पितामह से वाग्युद्ध कर ले, वह उनको युद्ध में भी पराजित कर दे, यह आवश्यक तो नहीं। जो सभा में उनका अपमान कर दे, वह उन्हें युद्ध में भी पराभूत कर सके, यह आवश्यक तो नहीं।''' दुर्योधन ने क्यों मान लिया कि पितामह से प्रतिस्पर्धा करने वाला कर्ण उनके समान समर्थ योद्धा भी है।''' अर्जुन ने कभी पितामह का अपमान नहीं किया, युद्ध में भी नहीं; किंतु उसने शस्त्रबल में उन्हें पराजित किया।''' कर्ण ने केवल उद्दंडता की। अपना सामर्थ्य कभी प्रदर्शित नहीं किया।'''

तो फिर कहाँ जाए दुर्योधन ? वह पांडवों की श्रेष्ठता तो स्वीकार नहीं कर सकता। किससे सहायता माँगे ? अपने भाइयों का क्या आश्रय ले। उनमें से जो भी युद्ध में गया, वह लौट कर ही नहीं आया। विकर्ण तक मारा गया। दुःशासन बचा हुआ है, क्योंकि वह अभी तक भीम के हत्थे नहीं चढ़ा।'''

दुर्योधन को आचार्य के पास ही जाना होगा, उस हठी बुड्ढे के पास। वह जैसा भी है, समर्थ है। फिर उसके साथ अश्वत्थामा है, कृपाचार्य हैं। ये तीनों मिलकर बहुत कुछ कर सकते हैं।''' द्रोण का मुख देखने की भी इच्छा नहीं होती, किंतु युद्ध में तो वे ही समर्थ हैं।''' जिस कर्ण के कंधे पर सिर रखकर वह रोना चाहता है, वह कुछ भी करने में समर्थ दिखाई नहीं देता। दुर्योधन को लगा, वह एक बड़े द्वंद्व में फँस गया है।''' क्या करे ? उसी अप्रिय बुड्ढे के पास जाकर सहायता माँगे। उसकी चाटुकारिता

करे ? उसके पौरुप और गौरव को जगाने का प्रयत्न करे ?…

और कोई मार्ग नहीं था। यदि द्रोण को त्याग देने पर अश्वत्थामा और कृपाचार्य उसकी ओर से युद्ध करते तो वह द्रोण के पास कभी नहीं जाता। पर वैसा संभव नहीं है। दुर्योधन जानता है कि द्रोण की उपेक्षा की भनक भी पड़ जाए, तो अश्वत्थामा और कृपाचार्य एक किनारे होकर खड़े हो जाएँगे। अश्वत्थामा उसका मित्र अवश्य है किंतु वह अपने पिता का न त्याग कर सकता है, न उनकी उपेक्षा सहन कर सकता है…

दुर्योधन ने हाथ जोड़कर आचार्य को प्रणाम किया। उसने उनके चरणों का स्पर्श नहीं किया।

"कैसे हैं आचार्य ?"

"एक भयानक पराजय की असफलता को झेलता हुआ सेनापति कैसा हो सकता है राजन् !" द्रोण ने कहा।

"शिखंडी भी उत्साह से भर कर युद्ध के मुख पर खड़ा है। शिखंडी ! जो पूरा पुरुप भी नहीं है। और हम सब वीर पुरुष अपने चेहरे लटकाए हुए भयभीत मूषक के समान अपनी बिलों में छिपे बैठे हैं।" उसका स्वर कठोर हो गया, "आप जानते हैं कि जो लोग मेरी सहायता करना चाहते हैं, वे भी क्यों सहायता कर नहीं पाते ?"

हताश आचार्य ने अवसादपूर्ण दृष्टि उस पर डाली, "क्यों ?"

"वे स्वयं को अरक्षित मानते हैं। वे भयभीत हैं।" दुर्योधन बोला, "यदि हम उनमें सुरक्षा का भाव जगा सकते तो वे हमारी सहायता को आते, किंतु हम…।"

आचार्य ने सिर उठाकर उसकी ओर देखा, किंतु कुछ कहा नहीं।

"आचार्य !" दुर्योधन का स्वर बहुत कातर था, "यदि आपने भरोसा न दिलाया होता तो मैं यह युद्ध कदापि आरंभ न करता। आपको पांडव इतने ही प्यारे थे तो मुझे भ्रम में क्यों रखा ?"

द्रोण ने दुर्योधन को देखा : अपने जीवन को गँवा कर पाया गया अपना सत्य वे इसे कैसे समझाएँ कि स्वार्थी व्यक्ति मूर्ख होता है, वह अपना हित अनहित कुछ नहीं समझता। जिसे अपना लाभ मानकर वह दुराग्रहपूर्वक लपकता है, अंततः वह उसकी हानि ही करता है; किंतु विवेकशून्य, चिंतनविहीन मूर्ख यह कैसे समझ सकता है कि लाभ और हानि किसे कहते हैं। कीचड़ में बिलबिलाता कीट स्वच्छता को श्रेष्ठ कैसे मान सकता है। और दुर्योधन तो स्वार्थी ही नहीं हठी भी है।… क्या यह मूर्ख समझ सकता है कि द्रोणाचार्य झूठ नहीं बोल रहे, वे अपने दायित्व में प्रमाद नहीं कर रहे, वे किसी को धोखा नहीं दे रहे। वे धर्मपूर्वक युद्ध कर रहे हैं…

"तुम विश्वास कर सको तो कहूँ कि मैं अपनी क्षमता भर पूरी निष्ठा से युद्ध कर रहा हूँ।" वे शांत स्वर में बोले, "किंतु तुम्हारे अपने मन का कपट तुम्हें मेरा विश्वास करने नहीं देगा…"

'बुड्ढा भड़का अब।' दुर्योधन मन-ही-मन सोचकर हँसा, पर प्रकट रूप से अत्यंत

दीन होकर बोला, "कैसा कपट गुरुदेव ?"

"तुम्हारा अपना आचरण सत्य वचन और सत्य कर्म से परिचालित नहीं होता, इसलिए तुम समझते हो कि अन्य लोग भी तुमसे झूठ बोल रहे हैं।···" उन्होंने रुककर उसे देखा, "अब तुम जाओ। मैं पांडवों की प्रभावकारी हानि किए बिना आज अपना कवच नहीं उतारूँगा।"

दुर्योधन प्रणाम कर उठ खड़ा हुआ। वह जानता था कि द्रोण ने सच्चे हृदय से उसे वचन दिया है और अपनी प्रतिज्ञा पर वे अडिग रहेंगे; फिर भी उसके भीतर का उद्धत राजा हँसा, 'बुड्ढा यहाँ से तो मन पक्का करके चलता है पर पांडवों को देखते ही ढीला पड़ने लगता है, अपनी सेना को बचाता भी है, शत्रु सेना का नाश भी करता है; किंतु इतने आवेश में कभी भी नहीं आता कि अपनी सुध-बुध भूल जाए। उसका धर्म और विवेक सो जाए। वह साकार और मूर्तिमंत विनाश बन जाए। उसे हत्या और विनाश में सुख का अनुभव होने लगे। प्रत्येक वध के साथ उसकी अमानुषिकता बढ़े। वह रक्तपिपासु हो जाए। विनाश हेतु विनाश करे और जितना अधिक विनाश करे, उतना ही उसका मद उसे चढ़े···'

और सहसा द्रोण जैसे आपे में आए।

"तुमने वचन तो दे दिया द्रोण !" उनके भीतर से स्वर उठा, "वचन तुमने पहले भी दिए हैं।··· पर तुमने कभी सोचा कि यह सब क्या है ? क्यों है यह युद्ध ? किसका है यह युद्ध ? तुम इसमें क्या कर रहे हो ?"

यह दुर्योधन का युद्ध है, द्रोण का युद्ध नहीं है।··· पर द्रोण ने कौरवों का अन्न खाया है··· वे उस अन्न को अपने रक्त से चुका रहे हैं।···

उनके भीतर कोई हँसा : क्या सीधा तर्क है··· अन्न ! और अन्न के स्थान पर रक्त··· ऐसा तर्क तो एक साधारण सैनिक भी नहीं करता··· क्षत्रिय का तो व्यवसाय ही शस्त्र व्यवसाय है—वह भी लड़ता है तो न्याय के लिए लड़ता है··· अपने देश के लिए, समाज के लिए, उनकी रक्षा के लिए, उनके अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ता है··· बिना सिद्धांत के, बिना आदर्श के, मात्र वेतनभोगी सैनिक बहुत सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता। वह तो भाड़े का सैनिक है।···

और तुम तो ब्राह्मण हो द्रोण ! शस्त्रव्यवसाय तुम्हारा व्यवसाय नहीं है। तुमने ज्ञान के रूप में शस्त्रविद्या सीखी थी। तुम आचार्य थे उस विद्या के।··· तुम गुरु के रूप में आए थे कुरुकुल में। पर तुम क्या हो यहाँ ? गुरु ? आचार्य ?··· क्या हो ? तुम इनमें से कुछ भी नहीं हो। तुम्हें पांडवों ने गुरु का सम्मान दिया हो, तो दिया हो, दुर्योधन ने तुम्हें न कभी गुरु का सम्मान दिया, न गुरु माना। उसने तुम्हें गुरु माना होता तो वह सच्चे मन से तुम्हारे चरणों में बैठकर तुमसे पूछता कि यह युद्ध छेड़ा जाए या नहीं ?··· वह तुम्हें इस प्रकार आदेश देने का साहस नहीं करता। वह तुम्हें संबोधित चाहे गुरु कह कर करे, या आचार्य कहकर; किंतु तुम्हारे प्रति उसका व्यवहार और तुमसे उसकी

अपेक्षाएँ वैसी ही हैं, जैसी कोई अपने वेतनभोगी सेनापति से करता है। आदेश पर आदेश, और फिर बलात् कराई गई प्रतिज्ञाएँ। फिर उपालंभ, अविश्वास ... क्या है यह सब—मधुवेष्टित धमकियाँ, अपमान... पदच्युत क्यों नहीं कर देता दुर्योधन उन्हें। सेनापति के काम से राजा संतुष्ट नहीं है तो उसे अधिकार है कि वह उनसे सेनापति के अधिकार छीन ले; और अपने विश्वास का, भरोसे का, सेनापति नियुक्त करे... पर क्यों करेगा वह ऐसा ! वह तो चाहता है कि द्रोण अपने दिव्यास्त्रों का प्रयोग कर एक महाप्रलय मचा दें... दिव्यास्त्र... जिनका रहस्य ये राजा, सेनापति और सैनिक नहीं जानते;... जो असाध्य प्रयत्नों के बाद, आयु का एक बड़ा मूल्य चुका कर देवशक्तियों से प्राप्त किए गए हैं... उन दिव्यास्त्रों का प्रयोग द्रोण उन योद्धाओं पर करें, जो न उनका परिचालन जानते हैं, न निवारण। इसमें कहाँ है धर्म ? कहाँ है वीरता ? कहाँ है द्रोण का आचार्यत्व... किसलिए प्रभु की बनाई अमूल्य सृष्टि का नाश करें द्रोण... केवल इसलिए कि पापी और अन्यायी दुर्योधन अधर्मपूर्वक यह युद्ध जीत सके और अन्यायपूर्वक पांडवों और अन्य राजाओं का राज्य छीन सके। उनकी सत्ता और लक्ष्मी हथियाकर उसका अबाध भोग कर सके। किसी के भी साथ दुर्व्यवहार कर सके, जैसा उसने पांडवों के साथ किया था, सिंहासनारूढ़ किरीटधारी राजाओं को वैसा ही निरीह कर दे, जैसा उसने धृतराष्ट्र को कर रखा था; और किसी भी नारी को अपनी मदांधता के उल्लास के लिए भरी सभा में निर्वस्त्र कर दे, जैसे पांचाली को करने का प्रयत्न किया था, किसी भी ब्राह्मण को अपने टुकड़ों पर पलने वाला भृत्य बना दे, जैसे उसने द्रोण और कृप को बना रखा है... आचार्य राजा का आज्ञापालक कर्मचारी हो जाएगा तो राजा को अत्याचार करने से कौन रोकेगा ? उसके मद का प्रतिकार कौन करेगा ? प्रजा को राजा के अत्याचार से मुक्ति कौन दिलाएगा ?...

और यह सारा पाप क्यों करें द्रोण ?

क्या मिलेगा द्रोण को ?

राज्य ? सुख भोग ? सत्ता ? धन ? मद ? अहंकार ?

किसी जीव को सागर में उतार दिया जाए कि पी ले जितना जल पीना है। कितना जल पिएगा वह ? पात्र अपनी क्षमता भर ही तो जल समेटेगा।... और फिर जीव हो या पात्र। काल प्रवाह में खाली हो जाएगा। जल वापस सागर में पहुँच जाएगा।... अपने इस पचासी वर्ष के वय में क्या भोग पाएँगे द्रोण ?... जब समय था, तब या तो उपलब्ध ही कुछ नहीं था...या उन्होंने स्वयं को साधना के बंधनों में बाँध रखा था... प्रकृति कैसी लीला करती है मनुष्य के साथ।... कुछ ऊँचा उठना है, कुछ बड़ा बनना है तो अपने आसपास के उपलब्ध सुखों की उपेक्षा कर, पहले स्वयं को वंचित कर, फिर आगे बढ़। स्वयं को वंचित नहीं करेगा तो आगे भी नहीं बढ़ेगा।... और जब साधना का काल समाप्त हो जाए तो न भोग के लिए उपयुक्त वय रह जाता है, न मनःस्थिति।... और महानता की मर्यादा ?... बड़प्पन के बंधन ? वे कोई सुख भोग सहन नहीं करते... ऋषि,

स्त्री की कामना करे अथवा धन संपत्ति की, वह शासन की कामना करे या सत्ता की··· कितना हास्यास्पद हो जाता है वह ! जहाँ, जब और जिस किसी भी स्थिति में जिसने भोग किया, उसका पतन आरंभ हो गया।··· पांडव वनों में मारे-मारे फिरते रहे··· उनकी आत्मा का मल कटता गया, उनकी साधना वर्द्धमान होती गई, उन्हें सिद्धियाँ मिलती गई, उपलब्धियाँ होती गईं··· वह पांडवों का वंचना-काल था अथवा उपलब्धि-काल ?···और दुर्योधन अपने प्रासाद में बैठा सुख भोगता हुआ भी ईर्ष्या और द्वेष से जलता रहा, उसका मद और अहंकार बढ़ता गया, उसकी आत्मा कलुषित होती गई··· उसके मन में राज्य छिन जाने का भय और पांडवों के लौट आने का त्रास तांडव करते रहे। क्या सुख भोगा होगा दुर्योधन ने ? अपनी आत्मा, मन और हृदय में उसने मल का पहाड़ संचित कर लिया होगा··· फिर क्या पाया दुर्योधन ने ? क्या उपलब्धि है उसकी ?··· तो क्यों द्रोण छोड़ नहीं देते दुर्योधन को ? क्यों वे बार-बार उससे अपमानित होकर भी उसके पाप में भागीदार हो रहे हैं ?··· इस वय में अब सब कुछ उनके लिए यातना है—राज्य, सेना, सत्ता, संपत्ति, स्त्री··· सब कुछ ।··· तो क्या वे यह सब कुछ अश्वत्थामा के लिए चाहते हैं ?··· पर अश्वत्थामा तो स्वयं अपने लिए ही कर रहा है। वह अपना रक्त बहा रहा है, शत्रुओं का संहार कर रहा है, दुर्योधन को विजय दिला रहा है। वह अपने ज्ञान, कला कौशल, श्रम, स्वामिभक्ति, मित्रता—सबका फल पाएगा। तो उसके लिए क्यों चिंतित हों द्रोण ?

क्यों है फिर यह सब ? केवल द्रुपद के भय से ? या अपनी प्रतिहिंसा के कारण ?··· द्रुपद ने आश्रय तो दे ही दिया था। आश्रय ! हाँ ! द्रुपद एक राजा के रूप में एक तापस ब्राह्मण को आश्रय तो दे ही रहा था—अपने गुरु भाई, सहपाठी द्रोण को मित्रता देने को तैयार नहीं था।··· तो जाग उठी थी द्रोण की प्रतिहिंसा ! द्रोण का अपमान ! शस्त्रास्त्रों के अद्‌भुत ज्ञाता, युद्धकला के पंडित द्रोणाचार्य के साथ मित्रता नहीं कर सकता था द्रुपद।··· पर क्या अनुचित कहा था द्रुपद ने ? द्रोण को हस्तिनापुर में भी आश्रय ही मिला—आश्रयदाता चाहे भीष्म हों, धृतराष्ट्र हों, या दुर्योधन हों। पर यहाँ द्रोण की प्रतिहिंसा नहीं जागी। उनका अहंकार तो क्या, कभी स्वाभिमान भी पीड़ित होकर नहीं जागा··· क्यों ? क्या इसलिए, क्योंकि उनकी प्रतिहिंसा अपना लक्ष्य पाने के लिए कोई भी अपमान सहने के लिए द्रोण को तैयार कर चुकी थी···

वे द्रुपद को डराने के पश्चात् स्वयं भी डर गए। उसका राज्य छीनकर, अपने राज्य के छिन जाने के भय के कारण हस्तिनापुर से चिपककर रह गए। हर प्रकार के अन्याय, अत्याचार और अधर्म को देखते हुए भी इस राक्षसी नगरी में जीते रहे और इसी नगरी में, इसके इस पापी राजा दुर्योधन ने उनके पुत्र अश्वत्थामा को संस्कार दिए।··· आज अश्वत्थामा में ब्राह्मणपुत्र··· विशेष रूप से द्रोण जैसे आचार्य के पुत्र का तो एक भी संस्कार नहीं है··· और अब दुर्योधन चाहता है कि वे अपने सारे दिव्यास्त्रों का प्रयोग कर अपने प्रिय शिष्यों··· पांडवों के साथ-साथ, अपने राजाओं के लोभ या भय की बलिवेदी

पर मिटने के लिए आए हुए उन असंख्य निरपराध निरीह सैनिकों का भी नाश कर दें। ईश्वर की सृष्टि का नाश''' व्यर्थ, अकारण, बिना किसी लाभ अथवा लोभ के ?

द्रुपद के एक शब्द 'आश्रय' से जागी प्रतिहिंसा के कारण पहले ही कम पाप नहीं हो चुका । अब यदि दुर्योधन की बातों में आकर अपनी क्षमता प्रमाणित करने के लिए उन्होंने अपने दिव्यास्त्रों से नरसंहार किया तो जाने इस पाप का परिणाम क्या होगा ?'''

द्रोण को लगा द्रुपद के जीवित रहते, द्रोण द्रुपद की विपक्षी सेना से पृथक् नहीं हो सकते। कोई यह न कह सके कि द्रोण, द्रुपद से डरकर युद्ध छोड़ गए''' तो क्यों न वे द्रुपद का वध कर युद्ध से अलग हो जाएँ। उनकी प्रतिहिंसा का जो अंश उनके मन में रह गया है, वह भी शांत हो जाए।''' हाँ ! अपने शत्रु पक्ष से लड़ते हुए द्रुपद का वध करने के बाद किस बात की लालसा रह जाएगी, उनके मन में ?''' राज्य, सत्ता, सुख-समृद्धि, वैभव और भोग—सबका रहस्य खुल गया है उनके सामने''' इस वय में, इस शरीर और मन को अब और कुछ नहीं चाहिए''' अहंकार के मद का विगलन ही उनका एकमात्र लक्ष्य रह जाएगा।'''

''' हाँ ! अश्वत्थामा का ममता भी उनके मन में है।''' एक द्रुपद का वध कर दें और अश्वत्थामा को सब कुछ सौंपकर इस प्रपंच से अलग हो जाएँ।'''

"पितामह ने स्वयं अपनी मृत्यु स्वीकार कर ली और आप भी हमारी उपेक्षा कर रहे हैं, क्योंकि आप अर्जुन से प्रेम करते हैं।" दुर्योधन बोला, "ऐसे में किसके बल के भरोसे कोई हमारी सहायता करेगा। पांडवों के पक्ष का एक भी योद्धा हमारा कल्याण नहीं चाहता, किंतु हमारे सारे योद्धा या तो मन से पांडवों का कल्याण चाहते हैं, या फिर संशय में हैं। एक कर्ण ही है, जो सच्चे हृदय से मेरी विजय चाहता है।"

"पर वह पराजित होता है और भाग जाता है।" द्रोण का स्वर अनचाहे ही वक्र हो गया।

"मैंने अपने मित्रों को परखे बिना ही उन्हें अपने कार्य पर नियुक्त करने की मूर्खता की है।" दुर्योधन रुआँसा हो गया, "जिन्हें मैंने अपने परम हितैषी माना, उन्होंने ही मेरा नाश कर डाला। अपने शत्रुओं से उनका मोह टूटता ही नहीं, तो वे करेंगे भी क्या।"

द्रोण ने ध्यान से उसकी ओर देखा। वे पूछना चाह रहे थे कि उसका संकेत उनकी ओर तो नहीं है ? पर उन्होंने पूछा नहीं।

"भीष्म स्वेच्छा से शरशैया पर लेट गए हैं। जयद्रथ मारे गए। कर्ण पराजित हो गया। कहीं बैठा अपने अश्रुओं को सुरा में डुबो रहा होगा।" दुर्योधन रुक गया और फिर उसने जैसे ब्रह्मास्त्र छोड़ा, "आप पांडवों के गुरु हैं। अपने शिष्यों का अहित कभी नहीं चाहेंगे। तो फिर मेरे लिए विकल्प ही क्या है ? केवल आत्महत्या ही तो। आप जानते हैं कि मैं पांडवों से संधि नहीं कर सकता।"

"क्यों नहीं कर सकते संधि ?" द्रोण जैसे तड़पकर बोले।

"क्योंकि मैं उनका दास बनकर नहीं रह सकता।" दुर्योधन के अश्रु प्रकट हो गए

और उसका स्वर रुँध गया, "आप समझते हैं कि मैं संधि स्वीकार कर लूँ तो भीम मेरे साथ संधि कर लेगा ? वह मेरी जंघा नहीं तोड़ेगा ? वह दुःशासन के वक्ष को फाड़कर उसका रक्त नहीं पिएगा। पांचाली चुपचाप अपनी वेणी बाँध लेगी ? वह अपने केशों को धोने के लिए दुःशासन के वक्ष का रक्त नहीं माँगेगी ?"

द्रोण स्तब्ध बैठे रह गए। कदाचित् दुर्योधन सत्य ही कह रहा था। भीम उससे कभी संधि नहीं करेगा।

"पर राजा तो युधिष्ठिर है।" वे सायास बोले, "भीम को उसकी आज्ञा का पालन करना होगा। पत्नी अपने पति के आदेश से बाहर कैसे हो सकती है ?"

"तो फिर न आप भीम को जानते हैं, न पांचाली को।" दुर्योधन बोला, "भीम तो उस दिन द्यूतसभा में ही नकुल को अग्नि लाने के लिए कह रहा था, ताकि वह युधिष्ठिर के हाथ जला सके।''' और पांचाली''' !" उसने अपना वाक्य अधूरा ही छोड़ दिया।

"और पांचाली ?"

"वह पत्नी होते हुए भी पांडवों की प्रेयसी है। यह भी आपको बताना पड़ेगा क्या कि पत्नी, अपने पति की आज्ञा का पालन करती है; किंतु प्रेमी अपनी प्रेयसी की इच्छाओं का दास होता है।"

द्रोण को लगा कि वे और दुर्योधन जैसे एक ही नौका में बैठे हैं। द्रोण भी चाहते हैं कि वे पांचालों को मार डालें और पांडव उन्हें स्वीकार कर लें। दुर्योधन भी कहीं चाहता है कि वह भीम और अर्जुन का वध कर दे और युधिष्ठिर उससे उसकी इच्छानुसार संधि कर ले। ऐसा संभव है क्या ?

"कृपाचार्य भी आज के युद्ध में क्षतविक्षत हो गए हैं।" दुर्योधन बोला, "पता नहीं जीवित भी बच पाएँगे या नहीं। वैद्यों और शल्यचिकित्सकों ने अभी ऐसा कोई आश्वासन नहीं दिया है। यदि जीवित बचेंगे तो जाने कब तक उनका उपचार होगा और कब वे युद्ध में लौट पाएँगे। ऐसे में मेरी ओर से युद्ध करने वाला है ही कौन। भीम की लात खाने से तो अच्छा है कि मैं अपने प्राण दे दूँ। मैं मर जाऊँ तो आप भी सुविधा से पांडवों के पक्ष में जा सकते हैं, जैसे युयुत्सु गया है।'''"

द्रोण को लगा, दुर्योधन का यह वाक्य उनको बहुत भीतर तक चीर गया है। दुखी कर दिया दुर्योधन ने। ऐसे दीन तो वे सामान्यतः नहीं होते। असहायता की ऐसी मानसिकता—यह कदाचित् उनकी वृद्धावस्था के ही लक्षण हैं।

"ऐसे क्रूर वचनों से मुझे आहत क्यों कर रहे हो तुम। मैंने और भीष्म ने सदा यही कहा है कि अर्जुन अजेय है। उसके द्वारा सुरक्षित होकर शिखंडी भी भीष्म को धराशायी कर सकता है।" द्रोण ने रुककर एक दृष्टि दुर्योधन पर डाली, "तुम्हें अपने पापों का फल मिलना ही था। यहाँ नहीं मिलता तो परलोक में इससे भी कठोर होकर मिलता।"

"मुझे तो अपने पापों का फल मिलना था, पर आपको किसका फल मिल रहा

है ?" दुर्योधन का दर्प प्रकट हुआ, "अर्जुन आपको कैसे लाँघ गया। वह किसके पापों का फल था ?"

"तुमने अपने सर्वश्रेष्ठ महारथियों के साथ अर्जुन को घेर लिया था, तो फिर पराजित कैसे हो गए—मेरे पापों के कारण ?" द्रोण तड़प उठे, "तुम्हारे अपने बनाए अवरोध के भीतर से तुम्हारा आश्रित जयद्रथ कैसे मारा गया—मेरे पापों के कारण ? मुझे अपने पापों ने मृतप्राय कर दिया था, किंतु तुम और कर्ण तो नहीं मर गए थे। शल्य, कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा तो जीवित थे। तो कैसे मारा गया सिंधुराज ? जयद्रथ की रक्षा में असमर्थ रहे तुम और वाग्बाण मुझे मार रहे हो। मैं स्वयं कम संतप्त हूँ क्या ?"

आचार्य मौन हो गए। वे कहना चाह रहे थे कि उन्हें तो अब अपने ही जीवन की सुरक्षा का कोई मार्ग दिखाई नहीं पड़ रहा था। वे जानते थे कि अर्जुन उनका वध नहीं करेगा। भीम ने भी चाहे उनका रथ उठाकर फेंक दिया था; किंतु उनका वध करने की उसकी भी इच्छा नहीं होगी।''' पर धृष्टद्युम्न अपने पिता के अपमान को कभी नहीं भूलेगा। वह उन्हें क्षमा नहीं करेगा। उसका वध नहीं हुआ तो वह आचार्य का वध अवश्य कर देगा।''' और आचार्य इन पांचालों के वध में स्वयं ही असमर्थ होते जा रहे थे। दुर्योधन केवल अपने विषय में ही जानता था। वह अपने शत्रुओं को पहचानता था। वह अपने युद्ध और उसके लक्ष्य के विषय में जानता था। उसने कब सोचा था कि अन्य लोग किसका युद्ध लड़ रहे हैं। वह अपने शत्रुओं को मारना चाहता था और भूल जाता था कि द्रोण के भी कुछ शत्रु थे और उनका मरना, द्रोण के लिए भी आवश्यक था। यदि पांचाल नहीं मरेंगे तो द्रोण धृष्टद्युम्न के संकल्प में डूब जाएँगे। उनकी मृत्यु हो गई तो जाने अश्वत्थामा क्या करेगा।'''

"मैं जानता हूँ कि आप संतप्त हैं आचार्य ! किंतु उसका प्रतिकार करने के लिए उद्यम भी तो आप ही को करना होगा।''' आप कुछ नहीं करेंगे तो पांडव मुझे मार डालेंगे और पांचाल आपको।" उसने द्रोण की ओर देखा, "मैंने सेनापति के रूप में आपका अभिषेक किस प्रयोजन से किया था ?"

आचार्य के सम्मुख फिर वही धृष्ट दुर्योधन खड़ा था।

"तुम युद्ध की कठोरता को अभी क्या जानते हो।" द्रोण बोले, "जाकर कृपाचार्य से पूछो, जिन्होंने तुम्हारे लिए घाव खाए हैं। यदि वे जीवित हैं और जयद्रथ के मार्ग पर नहीं चले गए हैं तो मैं उनका अभिनन्दन करना चाहूँगा। उतने बाण तुमको लगे होते तो तुम कब के जाकर अपने रंगमहल में सो गए होते।"

दुर्योधन को लगा कि आचार्य बोल तो गए हैं; किंतु शायद अब उन्हें पश्चात्ताप हो रहा है।''' पर आचार्य के मन ने अभी अपना सारा लावा नहीं उगला था। बोले, "तुमने कर्ण से बहुत कुछ सीख लिया है। जहाँ युद्ध कुछ कठोर हुआ अथवा परिस्थितियाँ कुछ विपरीत हुईं, तुम भी कहीं और चले जाते हो। फिर स्वयं को क्षत्रिय कहते हो।"

दुर्योधन की जिह्वा जैसे उसके नियंत्रण में नहीं रही, "आप स्वयं को ब्राह्मण कहते

हैं। कितनी बार वचन दिया आपने कि आप युधिष्ठिर को बंदी कर लाएँगे ? किया बंदी युधिष्ठिर को ? आप कौरव सेनाओं के संचालक हैं। आप उनके सेनापति हैं, पर क्या किया आपने ? हमने तीन-तीन दिन तक अर्जुन को युधिष्ठिर से दूर रखा, किंतु युधिष्ठिर को बंदी किया आपने ? मुझे मेरे क्षत्रियत्व की लाज स्मरण करा रहे हैं, सेनापति के रूप में आपने ही क्या कर दिखाया है ?"

इस बार द्रोण मौन खड़े दुर्योधन को देखते रहे।

"कुछ कहते क्यों नहीं ?"

"वह वचन मेरा नहीं था। तुमने बलात् मुझसे वचन उगलवाया था। अब मैं तुम्हें अपने मन से वचन देता हूँ।" द्रोण बोले, "सारे पांचालों को मारे बिना मैं अपना कवच नहीं उतारूँगा। अश्वत्थामा से कहना कि युद्ध में अपनी रक्षा करते हुए, जैसे भी हो, सोमकों को जीवित न छोड़े। मैंने पिता के रूप में उसे जो उपदेश दिया है, उसका पालन करे। दया, दम, सत्य और सरलता आदि सद्गुणों में स्थिर रहे।" उन्होंने स्थिर दृष्टि से दुर्योधन की ओर देखा, "तुममें साहस और सामर्थ्य हो तो तुम सेना की रक्षा करना। मैं निर्णायक युद्ध के लिए जा रहा हूँ। आज रात्रि हो जाने पर भी युद्ध बंद नहीं होगा। आज रात्रि में भी क्रुद्ध कौरव और सृंजय युद्ध करेंगे। जो तुमसे हो सके, तुम करो और जो तुम्हारा मित्र कर्ण कर सके, वह कर ले।"

दुर्योधन सोचता रहा कि उसने उचित किया अथवा नहीं। वह इससे पहले भी द्रोण से बहुत कुछ कह चुका था, किंतु उन्हें इतने आक्रोश में उसने कभी नहीं देखा था।... सत्य ही वे पांचालों का विनाश किए बिना कवच नहीं उतारेंगे ?... पर क्या पता है इस बुड्ढे का। रथारूढ़ होते ही उसे फिर से अपने प्रिय पांडवों का स्मरण हो आए।... कहीं ऐसा तो नहीं कि भीतर ही भीतर, वह पांडवों से मिल गया हो और इस प्रतीक्षा में हो कि दुर्योधन मारा जाए और वह पांडवों से जा मिले। भितरघात कर, दुर्योधन को पराजित करवाने का कोई पुरस्कार भी मिल सकता है उसको।

उसकी खिन्नता दूर नहीं हुई तो वह कर्ण के मंडप में चला आया।

कर्ण के चिकित्सक उसके घाव स्वच्छ कर उस पर औषधियाँ लगा रहे थे।

"आओ मित्र !" कर्ण ने कहा, "कुछ खिन्न लग रहे हो।"

दुर्योधन के मन में खीज उठी।... लोग अभी पूर्णतः रणभूमि से लौटे भी नहीं हैं; और कर्ण ने अपना कवच उतारकर उपचार भी आरंभ करवा दिया है। इतनी त्वरा किस बात की थी ? कोई ऐसा घातक घाव भी नहीं लगा है उसे, जिसके तात्कालिक उपचार की आवश्यकता होती।

"खिन्नता का कोई कारण नहीं है क्या ?" दुर्योधन कुछ मुखर हुआ, "जयद्रथ का मारा जाना, एक प्रकार से हम सबके लिए पराजय का पूर्व संकेत है।"

"नहीं ! ऐसा तो कुछ नहीं है।" कर्ण बोला, "एक से एक बड़ा योद्धा मारा जाता

है, युद्ध में। उसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वह राजा भी हार जाएगा और सेना भी नष्ट होगी। हमने तो भीष्म के मरने पर भी यह स्वीकार नहीं किया कि दुर्योधन की पराजय होगी।"

दुर्योधन को आश्चर्य हुआ, कर्ण हताश नहीं लग रहा था। जयद्रथ के वध से वह वैसा दुखी भी नहीं था। तो फिर दुर्योधन ही इतना विचलित क्यों था ?

"ठीक है वह सब। पर मैं आचार्य की नीति से दुखी हूँ। मैं वर्षों से उनका और उनके परिवार का पालन-पोषण इसलिए तो नहीं कर रहा था कि युद्ध की स्थिति में वे मेरे साथ ऐसा व्यवहार करें।"

"ऐसा क्या कर दिया आचार्य ने ?" कर्ण ने कुछ विनोदी ढंग से पूछा, "आज तो उनके श्यालक कृपाचार्य ने तुम्हारे लिए बहुत रक्त बहाया है।"

"यदि द्रोण अपनी पूरी क्षमता से अर्जुन को रोकने का प्रयत्न करते तो वह उनके दुर्भेद्य व्यूह को कैसे तोड़ सकता था।"

"पर यह सत्य है कि अर्जुन ने उनका व्यूह तोड़ा।"

"नहीं ! सत्य यह है कि अर्जुन उनका प्रिय शिष्य है और उन्होंने युद्ध किए बिना ही उसे सेना में घुसने का मार्ग दे दिया।"

कर्ण ने कुछ नहीं कहा।

"इतना ही नहीं।" दुर्योधन अपने आवेश में बोला, "कल जयद्रथ सिंधुदेश लौट रहा था, इस ब्राह्मण ने उसे रक्षा का आश्वासन देकर रोक लिया और आज उसे मरवा डाला।"

"आचार्य की निन्दा मत करो।" कर्ण ने कहा, "वह ब्राह्मण तो अपने बल, शक्ति और उत्साह के अनुसार अपने प्राणों का भी मोह छोड़कर युद्ध करता है।"

दुर्योधन सावधान न होता तो आश्चर्य से उसका मुख अवश्य खुल जाता। कर्ण के मुख से ऐसी बात सुनने की वह कल्पना भी नहीं कर सकता था। द्रोण ने कर्ण को अपना शिष्य स्वीकार नहीं किया था; और कर्ण ने आज तक द्रोण को उनके व्यवहार के लिए क्षमा नहीं किया था।

"द्रोण बूढ़े हुए।" कर्ण बड़ी सद्‌भावना से बोला, "वे बेचारे तो शीघ्रता से चलने में भी असमर्थ हैं। तुम्हारे लिए युद्ध कर रहे हैं, यही क्या कम है। भुजाओं द्वारा परिश्रमपूर्वक की जाने वाली चेष्टाओं में अब उनकी शक्ति उतना काम नहीं करती। अस्त्रवेत्ता और पांडवों के गुरु होने पर भी द्रोण पांडवों को युद्ध में जीत नहीं पाएँगे।"

दुर्योधन समझ रहा था कि कर्ण की सहानुभूति में भी आचार्य का तिरस्कार था। पर आज उसके स्वर में पांडवों की प्रशंसा का भाव भी था।

"युद्ध तो हम भी जी जान से कर रहे हैं, पर हमें निराशा ही क्यों हाथ लग रही है ?" दुर्योधन समझ नहीं पाया कि यह प्रश्न उसने कर्ण से पूछा है अथवा यह उसका वाचिक चिंतन मात्र था।

"अपना ही पूर्वकृत कर्म भाग्य बनकर हमारे सामने खड़ा हो जाता है।" कर्ण की मुद्रा कुछ दार्शनिक हो गई थी, "हमारे कर्म, छल, कपट और पराक्रम को दैव पीछे धकेल रहा है।"

दुर्योधन से जैसे यह कर्ण पहचाना ही नहीं जा रहा था। यह तो कोई और ही हो गया लगता था। आज क्या हो गया था उसको ? वह दुर्योधन का कहीं भी समर्थन करने को तैयार नहीं दीखता था।''' दुर्योधन ने तो द्रोण के पांडवों से मिल जाने की संभावना की चर्चा की थी। पर कर्ण''' वह आज दिन भर भीम और अर्जुन से पिटा था। उसके शरीर पर अनेक घाव लगे थे। वह बार-बार पराजित और अपमानित हुआ था। फिर, जिस जयद्रथ की रक्षा के लिए वह युद्ध कर रहा था, वह जयद्रथ भी मारा गया।''' उस पर भी यह न तो दुखी दीख रहा था, न ही इस समय उसका रक्त क्रोध से खौल रहा था।''' यह तो कर्ण के व्यवहार के अनुकूल नहीं था। पांडवों के प्रति ईर्ष्या और द्वेष से कंठ तक भरा हुआ कर्ण आज द्रोण का बचाव कर रहा था, पांडवों की वीरता की प्रशंसा कर रहा था; और अपने ही कृत्यों को छल, कपट और पाप बता रहा था।''' अवश्य ही कहीं कोई बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ है।'''

दुर्योधन बाहर निकल आया। उसका विषाद बढ़ता जा रहा था। द्रोण के सम्मुख तो उसने अपने मन की भड़ास ही निकाली थी। वह उनको कुछ भी करने में असमर्थ मान चुका था। पर आज तो उसे कर्ण से भी कोई सहारा नहीं मिला था। उसका अहंकार इस प्रकार आहत और अपमानित होकर नहीं जी सकता था।''' उसका अवसन्न मन इस समय या तो युधिष्ठिर का मस्तक काट लेना चाहता था या फिर अपने ही प्राण दे देना चाहता था। यह युद्ध बंद ही क्यों हुआ। अंधकार हो गया तो क्या ? संसार तो नष्ट नहीं हो गया, न ही कौरवों की सेना समाप्त हो चुकी है।''' और यदि ऐसा हो भी जाए तो दुर्योधन क्या पांडवों की विजय को स्वीकार कर चुपचाप अपने शिविर में लौट जाएगा। उससे पहले ही आत्महत्या कर लेगा।'''

पर तब क्यों ? उस स्थिति की प्रतीक्षा ही क्यों ? वह आज ही अपने प्राण क्यों नहीं दे देता ? इस प्रकार की अपमानजनक पराजय के पश्चात् वह पांडवों के सम्मुख कैसे पड़ सकता है। किसी और के लिए यह युद्ध समाप्त हो गया होगा, किंतु उसके लिए अभी यह समाप्त नहीं हुआ है। तब तक समाप्त नहीं होगा, जब तक या तो ये सारे पांडव मर न जाएँ अथवा स्वयं दुर्योधन ही वीरगति को प्राप्त न कर ले।

पांडवों की सेना अभी युद्धक्षेत्र से पूरी तरह हटी नहीं थी। उनकी गति पर्याप्त मंथर थी। जाने वे किस कारण से क्रमशः लौट रहे थे।''' पर वे अभी तक समरभूमि में थे। दुर्योधन की मनःस्थिति इस समय इतनी आक्रामक हो रही थी कि यदि पांडव युद्धक्षेत्र में न भी होते, तो वह उनके स्कंधावार पर आक्रमण कर सकता था।

दुर्योधन अपना रथ दौड़ाता हुआ कलिंग राजकुमार के शिविर में पहुँचा।

कलिंग राजकुमार ने शायद अपना कवच अभी खोला ही था। उसने दुर्योधन को आया देखा तो चकित रह गया, "युवराज आप ?"

"राजकुमार ! तुम अपने पिता की मृत्यु से दुखी हो ?"

"बहुत दुखी हूँ।" राजकुमार ने कहा, "प्रतिशोध की ज्वाला से जल रहा हूँ।"

"तो अपनी गजसेना लेकर अभी, इसी समय पांडवों की सेना पर आक्रमण कर दो।"

"अभी ?" कलिंग राजकुमार ने आश्चर्य से पूछा, "अंधकार हो चुका है। सूर्यास्त के पश्चात् युद्ध करना आर्य मर्यादा के अनुकूल नहीं है।"

"न हो। जय उसकी होती है, जो अपने शत्रुओं को मार डालता है। उससे कोई पूछने नहीं आता कि उसने अपने शत्रुओं को कैसे मारा। मुझे मर्यादा नहीं, विजय चाहिए।" दुर्योधन बोला, "तुम्हें अपने पिता के वध का प्रतिशोध लेना है तो आक्रमण करो। पांडवों की सेना अभी युद्धक्षेत्र से हटी नहीं है। यदि हट गई होती तो हम उनके स्कंधावार पर आक्रमण करते।" दुर्योधन ने उसके चकित मुख को देखा, "चकित मत होओ। आचार्य द्रोण भी या तो कहीं युद्ध कर रहे होंगे अथवा अभी युद्ध करने आ जाएँगे। महावीर कर्ण भी आता ही होगा।··· और मैं तो पांडव सेना में प्रवेश करने ही वाला हूँ, चाहे मेरी मृत्यु ही क्यों न हो जाए। मुझे पराजित जीवन नहीं चाहिए।" वह मुड़ा और सहसा रुककर बोला, "युद्ध के नियमों का पालन वहीं तक करो, जहाँ तक वे तुम्हें विजय दिला सकते हैं। युद्ध का एक ही नियम है—विजय !"

कौरवों की गजसेना पांडव सेना का उल्लंघन कर सब ओर से प्रहार करने लगी। पांडवों को पहले तो समझ में ही नहीं आया कि युद्ध का यह पुनरारंभ कैसे हो गया। पर उनकी सेना अभी युद्धक्षेत्र में ही थी। उन्होंने न अभी कवच खोले थे और न ही शस्त्र रखे थे। वे सन्नद्ध हो गए। तत्काल संदेशवाहक दौड़ने लगे। आदेश और समाचार भेजे जाने लगे। सेनाओं का आगमन और स्थानांतरण आरंभ हो गया।

अंधकार इतना सघन हो चुका था कि योद्धा पहचाने नहीं जाते थे। नाम, गोत्र और कुल परिचय सुनकर ही पता चलता था कि कौन कहाँ और किससे लड़ रहा है। दुर्योधन ने पांचाल सेना पर आक्रमण किया था। वह इतना प्रचंड हो रहा था कि दिन भर के युद्ध से शिथिल सैनिक उसका प्रहार झेल नहीं पा रहे थे। कोई आश्रय न देखकर पांचाल सैनिकों ने समरभूमि छोड़ दी। उनका पलायन देखकर भीम ने आकर दुर्योधन को रोका।

दुर्योधन विजय की नहीं, मृत्यु की कामना से युद्ध कर रहा था। उसने नहीं देखा कि कौन सामने आया है और किसको उसके शस्त्र ने घायल किया है। उसने अपने घावों की चिंता किए बिना, सामने पड़ने वाले प्रत्येक योद्धा को आहत किया। जब उसने घटोत्कच के शरीर से रक्त बहते देखा तो जैसे वह चैतन्य हुआ। उसने अपने क्रोध

में पांडव सेना को पर्याप्त क्षति पहुँचाई थी। उसका अवसाद कुछ कम हो गया था। अब उसका क्रोध ही बढ़ता जा रहा था। उसने प्रसन्नता से सिंहनाद किया।

पांडव सेना उसके सामने से भागने लगी थी।

अर्जुन वहाँ उपस्थित नहीं था और भीम जाने क्या कर रहा था। युधिष्ठिर को दुर्योधन का प्रतिकार करने के लिए स्वयं ही जाना होगा। यदि दुर्योधन इसी प्रकार लड़ता रहा तो दिन भर की पांडवों की विजय इस समय पराजय में परिणत हो जाएगी।

युधिष्ठिर ने जाकर दुर्योधन को सावधान किया, "दुर्योधन ! तुम घिर गए हो। दिन भर के थके हुए हो। यह युद्ध का समय भी नहीं है। अब तुम लौट जाओ।"

दुर्योधन ने वचनों का उत्तर बाणों से दिया। युधिष्ठिर अभी सँभल भी नहीं पाए थे कि दुर्योधन के बाण से घायल हो गए। दुर्योधन ने उनके अश्वों को मार दिया। सारथि इंद्रसेन को भी ललाट पर चोट पहुँचाई। ध्वज भी काट कर फेंक दिया। और अंततः युधिष्ठिर के धनुष की प्रत्यंचा भी काट दी।

पर युधिष्ठिर ने अपना स्थान नहीं छोड़ा। उन्होंने दूसरा धनुष उठाया और दुर्योधन को अपने बाणों से ढँक दिया। दुर्योधन के शरीर से रक्त बहता हुआ देखकर पांडव सैनिक लौटे।

इस बार युधिष्ठिर ने सूर्य की किरणों के समान तेजस्वी बाण निकाला। प्रत्यंचा पर रखा और प्रत्यंचा को खींच कर छोड़ दिया, "हाय, तुम मारे गए।"

दुर्योधन खड़ा रह सकने की अवस्था में नहीं था। उसे मूर्च्छा आ रही थी। वह रथ के पिछले भाग में बैठ गया।

पांचाल सैनिकों ने जैसे आकाश को सिर पर उठा लिया, "राजा दुर्योधन मारा गया। राजा दुर्योधन मारा गया।"

चारों ओर अंधकार था। प्रकाश की क्षीण रेखाएँ कहीं-कहीं आ रही थीं। युद्धभूमि की रेणु उड़कर आकाश की ओर जा रही थी। कोलाहल इतना था कि कुछ ठीक से सुनाई नहीं देता था। जब सामने खड़ा योद्धा ही दिखाई नहीं दे रहा था तो ध्वनि का कोई क्या विश्वास करता।...

द्रोण ने पांचाल सैनिकों का जयघोष सुना।...'राजा दुर्योधन मारा गया।'... क्या सचमुच ही दुर्योधन मारा गया ? वह जिस प्रकार विक्षिप्त हो रहा था, उसमें वह किसी भी प्रकार की कोई मूर्खता कर सकता था।... पर कोई संदेशवाहक आकर क्यों नहीं बताता कि क्या हुआ है। इस अराजक स्थिति में युद्ध कैसे होगा ? जो जहाँ है, वहीं है। युद्धक्षेत्र के अन्य भागों की किसी प्रकार की कोई सूचना नहीं है। प्रधान सेनापति को भी नहीं।... पर वे न तो इस उद्घोष को सत्य मानते हैं और न ही उसकी सर्वथा उपेक्षा कर सकते हैं। कोई प्रामाणिक व्यक्ति आकर समाचार दे तो वे निश्चित रूप से जान सकें कि वस्तुतः हुआ क्या है।... यदि सूचना ही न आई ? किसी योजना के अनुसार तो यह युद्ध हो नहीं रहा। न कहीं व्यूह है, न आदेश लाने, ले जाने की कोई

व्यवस्था। जहाँ जिसने चाहा, युद्ध आरंभ कर दिया और जिसने चाहा, युद्ध बंद कर दिया।

पर सूचना आने, न आने के द्वंद्व में द्रोण अनन्तकाल तक जड़ से खड़े तो नहीं रह सकते। उन्हें दुर्योधन के निकट पहुँचना होगा।''' दुर्योधन के मरते ही द्रोण पांचालों की कृपा पर होंगे। द्रोण की अपनी सुरक्षा के लिए दुर्योधन का जीवित रहना बहुत आवश्यक है।'''

कुछ उल्काओं का प्रबंध कर अश्वारोहियों और धावकों के पीछे-पीछे, बाधाओं से लड़ते-भिड़ते और व्यूहों को रौंदते हुए, द्रोण उस जयघोष के स्थान पर पहुँचे। उनका वेग इतना था कि पांडव सैनिक उसे दूर से ही अनुभव करने लगे थे।

द्रोण दुर्योधन के रथ के पास पहुँच गए। दुर्योधन भी उठकर बैठ गया। दुर्योधन और द्रोण ने एक सम्मिलित आक्रमण युधिष्ठिर पर किया। पांचाल सैनिक युधिष्ठिर की सहायता को आए, किंतु द्रोण ने उन्हें नष्ट करने में देर नहीं लगाई।

अब तक अर्जुन और सात्यकि भी आ गए थे। उन्होंने द्रोण पर आक्रमण किया। युधिष्ठिर और भीम भी द्रोण पर झपटे। नकुल, सहदेव, धृष्टद्युम्न, विराट, घटोत्कच, शिखंडी, कैकेय राजकुमार, मत्स्य, प्रभद्रक—सब ही द्रोण की दिशा में चल पड़े, जैसे सारी नदियाँ सागर की ओर भागती हैं।

रात का प्रथम प्रहर बीत रहा था। उस भयंकर रात्रि में पता नहीं लगता था कि अश्वों के पगों, रथों के चक्रों, और पैदल सैनिकों के पैरों से उड़ी हुई धूल ने अंधकार को ढाँक लिया था या अंधकार ने उस धूल को ढाँक लिया था। उल्काओं से प्रकाश की कोई किरण आती तो आभूषण, मणियाँ और तीक्ष्ण शस्त्रों के चमकने का कुछ आभास होता।

भीम ने द्रोण को देखा तो वह उग्र होकर आगे आया। पर द्रोण तक पहुँचने से पहले ही दुर्योधन के भाई उसके मार्ग में आ गए। भीम उन सबका वध कर, द्रोण की ओर बढ़ा।

कलिंग राजकुमार ने अपना रथ लाकर भीम के रथ के सम्मुख खड़ा कर दिया। उसके पिता का हत्यारा उसके सामने खड़ा था। वह उसको कैसे जीवित देख सकता था। उसने भीम और विशोक पर बाण चलाए।

भीम ने उग्र दृष्टि से कलिंग राजकुमार को देखा। इस अंधकार में भीम के बाण भटक जाते थे। लक्ष्यवेध हो नहीं रहा था तो फिर इस प्रकार बाण व्यर्थ गँवाने का क्या लाभ। उसने अपना धनुष रख दिया और अपने रथ से उसके रथ पर कूद गया। जब तक कलिंग राजकुमार समझता कि भीम क्या करना चाहता है, भीम ने वज्र के समान कठोर एक मुक्का उसकी नाक पर दे मारा। राजकुमार को सँभलने का तनिक भी अवसर नहीं मिला। भीम के मुक्के इस प्रकार चल रहे थे, जैसे किसी दक्ष धनुर्धारी के धनुष से बाण छूटते हैं। राजकुमार की हड्डियाँ चूर हो गईं। उसके प्राण पखेरू उड़ गए।

कर्ण अपने भाइयों सहित आ गया था। उसने भीम को रोकने के लिए उस पर आक्रमण किया। भीम को कई बाण लगे, किंतु उसने उन बाणों की कोई चिंता नहीं की और वह ध्रुव के रथ पर कूद गया। वह भीम पर बाणों की वर्षा करता रहा और भीम ने उसे अपने मुष्टिकाप्रहारों से ही मार गिराया। वहाँ से वह कलिंग राजकुमार जयरात के रथ पर जा कूदा। जयरात उसके पहले थप्पड़ से ही नीचे गिर गया। भीम इतने उत्साह में था कि स्वयं ही आकर कर्ण के सम्मुख खड़ा हो गया। कर्ण ने बाण का प्रयोग न कर एक शक्ति उठाकर भीम पर दे मारी। यद्यपि उस समय भी कुंती को दिया हुआ वचन उसका हाथ रोक रहा था; किंतु भीम को वह इस प्रकार कैसे छोड़ सकता था कि भीम हाथ भी हिलाए तो एक कौरव योद्धा धराशायी हो जए। भीम ने उछलकर शक्ति को अपने हाथ से पकड़ लिया और वही शक्ति कर्ण पर दे मारी। शकुनि ने बड़ी सावधानी से वह शक्ति अपने बाण से काट दी, अन्यथा कर्ण को वह कोई गंभीर घाव दे जाती।

भीम की चेतना लौटी। वह अपने शत्रुओं से क्रमशः घिरता जा रहा था। कर्ण के साथ-साथ अन्य कौरव योद्धा भी आ जुटे थे। अब उसे भी अपने रथ में सुरक्षित बैठकर शस्त्र उठाना चाहिए था।

वह अपने रथ में लौट आया। पहले ही बाण में उसने दुर्मद के सारथि को मार दिया। दुर्मद तत्काल दुष्कर्ण के रथ पर जा बैठा।

भीम ने देखा, कर्ण के साथ ही अश्वत्थामा, दुर्योधन, सोमदत्त और बाह्लिक भी आ गए थे। भीम तो सोमदत्त को ही समरभूमि में देखकर चकित हो रहा था और यहाँ बाह्लिक भी आ गए थे। देवापि के पुत्र और शांतनु के भाई। पितामह भीष्म के भी पितृव्य। क्या अवस्था होगी इनकी ? इस अवस्था में तो मनुष्य शैया से उठकर अपने आँगन में टहल ले तो वही बहुत होता है और ये यहाँ युद्ध करने आ गए। क्यों ? क्या आवश्यकता थी ? दुर्योधन के प्रेम के कारण ? नहीं ! कदाचित् भूरिश्रवा का मोह खींच लाया होगा सोमदत्त को; और सोमदत्त के मोह में बाह्लिक आ गए होंगे। वृद्धावस्था में मोह कुछ अधिक ही प्रबल हो उठता है।... कृपाचार्य भी आ गए थे। वे घायल थे। कोई भी वैद्य उन्हें अभी युद्ध से दूर रहने का परामर्श देता; किंतु वे अपने रथ में खड़े होकर बाण संधान कर रहे थे।

भीम को कुछ विनोद सूझा। कुछ ऐसा किया जाए कि ये सब खड़े देखते रहें कि इस जमघट का कोई लाभ नहीं है।

उसने विशोक को संकेत किया। उसका रथ दुष्कर्ण के रथ से सट गया। भीम ने शस्त्र प्रहार न कर पूरी शक्ति से दुष्कर्ण के रथ को लात मारी। रथ उलट गया।

भीम ने कुछ विस्मय से देखा : उसके इस प्रहार से रथ कैसे उलट गया ?

संभवतः उसका रथ अपने रथ से सटते देख दुष्कर्ण का सारथि वैसे ही घबरा गया था। प्रहार तो बहाना हो गया।... किंतु अब रथ उलट ही गया था और दुर्मद और दुष्कर्ण

उसके निकट भूमि से उठने का प्रयत्न कर रहे थे। पता नहीं ये धृतराष्ट्रपुत्र समरभूमि में भी इतने अलंकार धारण कर क्यों आते हैं। इनके पास शस्त्र कम और आभूषण अधिक हैं। लगता है, यहाँ भी वे अपनी वेशभूषा से अपने साथ आई नर्तकियों का मन जीतने का प्रयत्न करते हैं। अब उन्हीं आभूषणों में उलझ रहे थे दोनों। भीम ने छलाँग लगाई और उनके निकट पहुँच गया। जब तक कोई समझ पाता कि उसकी योजना क्या थी, उसने अपने मुष्टिकाप्रहारों से दुर्मद और दुष्कर्ण को भूमि से उठने के अयोग्य कर दिया।

कौरव महारथियों के मुख खुले रह गए। भीम का यह कृत्य ऐसा था कि जिस दिशा में उसकी आँखें उठीं, उस ओर के सैनिक तो सैनिक, महारथी भी भाग गए।

तब तक दोनों ओर की सेना के लिए सहायता आ पहुँची थी। द्रोण अपनी सेना के साथ आ गए थे और उन्होंने भीम को घेर लिया था। दूसरी ओर से नकुल, सहदेव, युधिष्ठिर, द्रुपद, विराट्, सात्यकि तथा घटोत्कच आ गए थे।

सात्यकि को अपने सम्मुख देख सबसे पहले सोमदत्त तड़पकर बोले, "महात्माओं तथा देवताओं ने जिस क्षत्रिय धर्म का साक्षात्कार किया है, उसे छोड़कर तुम लुटेरों के धर्म में प्रवृत्त हो गए। कभी सोचा भी है कि कितने नीच हो तुम ? क्षत्रिय वीरों के मध्य खड़े होने योग्य भी हो तुम ? जो युद्ध से विमुख हो, दीनतापूर्वक शस्त्र त्याग चुका था, उस भूरिश्रवा पर कोई क्षात्रधर्मपरायण विद्वान् पुरुष कैसे प्रहार कर सकता है ?"

सात्यकि का मुख भी तमतमा गया। कड़ककर बोला, "तो क्षात्रधर्मपरायण विद्वान् अपनी कुलवधू को सभा में निर्वस्त्र होते कैसे देख सकते हैं ? ऐसे अनोखे क्षत्रिय तो संसार में केवल तुम ही लोग हो। कोई नीच दस्यु भी ऐसा नहीं करता। वे भी स्त्री मात्र की मर्यादा का सम्मान करते हैं। वह न भी कर सकें तो अपनी कुलवधुओं को तुम्हारे समान सार्वजनिक रूप से निर्वस्त्र करने का मनोरंजन नहीं करते। तुमने कभी यह भी सोचा कि तुम्हारा पाप प्रत्यावर्तित होकर आएगा और तुम्हारे संपूर्ण कुल का नाश कर जाएगा।"

पर सोमदत्त ने न सात्यकि की बात सुनी, न उसका उत्तर दिया। बोले, "वृष्णियों में दो ही विख्यात महारथी हैं—प्रद्युम्न और तुम। तुम भी ऐसे नीच, कायर और अपदार्थ निकले कि आमरण अनशन पर बैठे, मेरे पुत्र को मार डाला।"

"जब तुम लोगों ने अकेले बालक अभिमन्यु को व्यूह में घेर कर निःशस्त्र कर मिलकर प्रहार किया था, जैसे वह कोई बाड़े में घिरा पशु हो, तब नहीं सोचा था कि दूसरे लोग भी निःशस्त्र पर प्रहार कर सकते हैं।" सात्यकि ने कहा, "अपने लिए तो तुम लोगों को सारी मर्यादाओं के उल्लंघन का अधिकार चाहिए और दूसरों को धर्म का पाठ पढ़ाते हो।"

सोमदत्त का स्वर और भी ऊँचा हो गया, "मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि यदि रात्रि व्यतीत होने से पूर्व ही, तुम्हें तुम्हारे भाइयों और पुत्रों सहित न मार डालूँ, तो यमराज

मुझे नरक में स्थान दें।"

सात्यकि के चेहरे पर एक क्रूर हँसी प्रकट हुई, "इस शपथ का क्या अर्थ ? कौन तुम्हारे पीछे देखने जाएगा कि तुम नरक में गए अथवा नहीं। अपने दुष्कर्मों के परिणामस्वरूप तुम्हें वैसे ही सदा के लिए नरक में वास करना चाहिए। अपने लोभ और स्वार्थ के लिए धृतराष्ट्र के अंधे शासन का समर्थन करने वाले विलासी और अधर्मी लोग और जा भी कहाँ सकते हैं।" सात्यकि ने रुककर उसकी ओर देखा, "मैं तुम्हारे पुत्र के समान शस्त्र त्यागने का नाटक नहीं करता। मैं शस्त्र धारण कर खड़ा हूँ, तुम मुझ पर प्रहार करो, मैं तुम्हें भी तुम्हारे बंधु-बांधवों सहित मार डालूँगा।"

सोमदत्त प्रहार करे, उससे पूर्व ही उसकी रक्षा के लिए दुर्योधन ने उसको घेर लिया। उस समय शकुनि भी आ गया था।

सोमदत्त अपने आपे में नहीं था। उसके युद्ध कौशल को उसके क्रोध ने आच्छादित कर रखा था। उसने पहले ही झटके में अनेक बाणों से सात्यकि को ढँक दिया। अनेक बाण सात्यकि के शरीर में आ धँसे।

सात्यकि का क्रोध जैसे उछलकर उसके हाथों में आ गया। उसने अपने धनुष से धारा के रूप में बाण चलाए। सोमदत्त को कोई गंभीर घाव लगा था। उसके हाथ से धनुष छूट गया और वह रथ की बैठक में आ गिरा।

सोमदत्त को मूर्च्छित देखकर उसका सारथि अपना रथ युद्धक्षेत्र से हटा ले गया।

वृद्ध सोमदत्त की यह अवस्था देखकर द्रोण का मन जैसे पिघल गया। वह युद्ध नहीं कर रहा था, वह तो अपने पुत्र का प्रतिशोध लेने आया था। पर वह यह भूल गया कि सात्यकि उसके वश का नहीं था। इस प्रकार का आत्मघाती युद्ध लड़ने का क्या लाभ, जिसमें तनिक भी सामर्थ्य और युद्ध कौशल न हो।''' तो फिर द्रोण सात्यकि का वध कर ही डालें। प्रातः तो वह भी अर्जुन के ही समान उनको प्रणाम कर उनकी प्रदक्षिणा कर आगे बढ़ गया था। द्रोण उसके पीछे नहीं गए थे। उन्हें अपना व्यूह सँभालना था। फिर सात्यकि अर्जुन की सहायता के लिए जा रहा था। किंतु अब जयद्रथ मारा जा चुका था। अर्जुन के प्राणों पर कोई संकट नहीं था। सात्यकि ने भूरिश्रवा का वध कर दिया था और अब शायद सोमदत्त के भी प्राण न बचें। उन्हें सात्यकि बहुत क्रूर लग रहा था। वह ऐसी ही और हत्याएँ भी कर सकता है।

द्रोण ने सात्यकि पर प्रहार किया और उन्होंने देखा कि सात्यकि की सहायता के लिए युधिष्ठिर आ गया है। युधिष्ठिर को सात्यकि पर बहुत भरोसा था, तभी तो उसने भीम से भी पहले सात्यकि को अर्जुन की सहायता के लिए भेजा था। वह सात्यकि का कृतज्ञ भी होगा, उसने अर्जुन की सहायता के लिए बहुत बड़े संकट का सामना किया था।''' वैसे भी कृतवर्मा को रोके रखने के लिए सात्यकि ही युधिष्ठिर की ढाल था।

तो पहले युधिष्ठिर ही सही। द्रोण ने युधिष्ठिर पर आक्रमण किया। बाण युधिष्ठिर की बाईं भुजा में लगा। युधिष्ठिर घायल हो गए। अपने राजा को इस प्रकार आहत

होते और द्रोण का रौद्र रूप अपने सम्मुख खड़ा देख, पांडव सेना भाग चली। वे जानते थे कि धर्मराज, आचार्य को रोक नहीं पाएँगे।

पर अर्जुन का रथ प्रकट होते ही उनकी सेना लौट आई।

अर्जुन सोच रहा था''' उसने युधिष्ठिर की बहुत उपेक्षा की थी। द्रोण ने उन्हें जीवित बंदी करने की प्रतिज्ञा कर रखी थी और अर्जुन संशप्तकों से लड़ने चला गया था। एक दिन में वह युद्ध समाप्त नहीं हुआ तो वह दूसरे दिन भी चला गया। फिर जयद्रथ को मारने की अपनी प्रतिज्ञा के कारण भी वह धर्मराज को असुरक्षित छोड़ गया। धर्मराज ने अपनी रक्षा की चिंता न करते हुए, सात्यकि और भीम को उसकी रक्षा के लिए भेज दिया था।''' अब और अधिक उनको आचार्य की कृपा पर छोड़ना उचित नहीं था। कहीं कोई गंभीर दुर्घटना ही न हो जाए।'''

इस समय आचार्य वैसे ही बहुत उग्र हो रहे थे। जाने दुर्योधन ने उन्हें क्या कह दिया था या वे ही उसे क्या वचन दे कर आए थे। नहीं तो सूर्यास्त के पश्चात् युद्ध का क्या अर्थ। पहले दुर्योधन की गजसेना ने आक्रमण किया और फिर नियमित युद्ध ही आरंभ हो गया। अब उसके रुकने का कोई आभास भी नहीं हो रहा। पांडवों को तब तक लड़ना होगा, जब तक दुर्योधन युद्ध बंद नहीं कर देता। पांडव युद्ध समाप्ति का एकांगी निर्णय नहीं कर सकते। आचार्य यदि अपनी सेनाएँ लौटा ले जाएँगे तो पांडव सेनाएँ उन पर आक्रमण नहीं करेंगी।

आचार्य का धनुष मंडलाकार घूम रहा था और वे किसी तरुण से भी अधिक स्फूर्ति दिखा रहे थे। वैसे अर्जुन समझ रहा था कि उनकी यह स्फूर्ति अनियंत्रित आवेश की ही देन थी। यह किसी प्रकार का उन्माद ही था, अन्यथा अपनी इस अवस्था में वे इस प्रकार अंग संचालन नहीं कर सकते थे।''' और यदि कर सकते थे तो करना नहीं चाहिए था। यदि किसी अस्थि में कहीं कोई दरक भी पड़ गई तो उसे जोड़ना किसी भी वैद्य के लिए संभव नहीं होगा।''' अर्जुन को अनेक बार यह भय सताता था कि इस अवस्था में ऐसी तीव्र गतिविधि कहीं आचार्य के वृद्ध शरीर को हानि ही न पहुँचाए। अश्वत्थामा को इस बात का ध्यान रखना चाहिए था।''' अंततः आचार्य वीरगति तो पाएँगे ही। और कोई विकल्प ही नहीं था। अर्जुन उनका वध नहीं करेगा तो कोई और कर देगा। इस युद्ध से वे जीवित बचकर नहीं जाएँगे। या''' कहा जाए कि उनके जीवित रहते, दुर्योधन ही इस युद्ध को समाप्त नहीं होने देगा, जैसे उसने पांडवों के पास कुछ भी रहते द्यूत बंद नहीं होने दिया था। ''' पर वह और बात है। युद्ध में अपनी अस्थियाँ तुड़वाकर अपंग के समान बिस्तर पर पड़े रहने का कष्ट आचार्य को न ही हो तो अच्छा है।

"गोविन्द !" अर्जुन बोला, "रथ को आचार्य के रथ के निकट ले चलें।"

अर्जुन ने देखा, विशोक भी भीम का रथ आचार्य की ओर ही ले जा रहा था। पांचाल, सृंजय, मत्स्य, चेदि, कारूश और कैकेय योद्धा भी द्रोण के निकट घिर आए

थे। अर्जुन, आचार्य की सेना के दक्षिण भाग और भीम उनके वाम भाग की ओर चला गया था। तभी धृष्टद्युम्न और सात्यकि भी आचार्य के सम्मुख आ गए।

अश्वत्थामा ने सात्यकि को देखा तो उसे भूरिश्रवा का वध स्मरण हो आया।

"इसका वध तो अब हो ही जाना चाहिए।" अश्वत्थामा ने कहा और बाण चला दिया।

घटोत्कच ने अश्वत्थामा के बाणों की ही नहीं, स्वयं अश्वत्थामा की गति भी रुद्ध कर दी। उसके बाण अश्वत्थामा की सेना को पीड़ित कर रहे थे। तभी उसकी दृष्टि कर्ण पर पड़ी… इस कर्ण ने आज प्रातः उसके पिता को निःशस्त्र कर अपमानित किया था और उन्हें वीरों से लड़ने के अयोग्य बताया था।

घटोत्कच ने अपने सैनिकों को संकेत किया और कर्ण पर बाणों के साथ ही पत्थर पड़ने लगे। उसके सैनिकों के हाथों में जो कुछ आया, उन्होंने उसे कर्ण की ओर उछाल दिया। कर्ण घायल हो चुका था। वह घटोत्कच की इस माया के सम्मुख नहीं टिका और युद्धक्षेत्र छोड़कर भाग गया।

कर्ण के भाग जाने से अब पुनः घटोत्कच और अश्वत्थामा आमने-सामने थे। अश्वत्थामा उसके बाणों से तनिक भी व्यथित नहीं लग रहा था। उसने पत्थर फेंकने की माया करने वाले उसके सैनिकों को भी भगा दिया था। इसलिए पत्थरों की वर्षा भी समाप्त हो गई थी। घटोत्कच एक से एक भयंकर बाण छोड़ रहा था किंतु अश्वत्थामा विचलित नहीं हो रहा था। उसने घटोत्कच के सारे बाण काट ही नहीं दिए थे, उसे घायल भी कर दिया था।

अंततः घटोत्कच ने व्यथित हो एक भयंकर चक्र चलाया; किंतु अश्वत्थामा ने उस चक्र को भी मार्ग में ही काट गिराया।

लगा कि अश्वत्थामा के सम्मुख घटोत्कच ही नहीं उसकी माया भी जैसे असहाय हो गई है। अपने पिता को संकट में देखकर अंजनपर्वा ने आकर अश्वत्थामा को रोका। पर अंजनपर्वा ने अपने और अश्वत्थामा, दोनों के ही सामर्थ्य का भ्रमित मूल्यांकन किया था। अश्वत्थामा के सम्मुख पड़ना उसके लिए घातक हो गया। अश्वत्थामा ने पहले तो उसके अश्वों और दो सारथियों को मार डाला। फिर उसके त्रिवेणु को काट डाला। उसके खड्ग के दो टुकड़े कर दिए। अंजनपर्वा ने और कोई उपाय न देखकर अपनी भारी गदा उठाकर दे मारी। अश्वत्थामा ने उसकी गदा भी काट दी। अंजनपर्वा कुछ अपनी रक्षा और कुछ माया की दृष्टि से आकाश की ओर उछला, किंतु अश्वत्थामा ने उसे ऊपर ही अपने बाणों से बींध दिया।

अंजनपर्वा निष्प्राण होकर भूमि पर आ गिरा।

घटोत्कच जैसे अभी कुछ समझ ही नहीं पाया था कि उसका पुत्र युद्धक्षेत्र में उतरा भी लड़ा भी और संसार छोड़कर चला भी गया।… उसकी समझ में ही नहीं आ रहा था कि पुत्रशोक कैसा होता है। उसके उदर के नीचे के किसी भाग में जैसे कोई अनाम-सी

पीड़ा हो रही थी। मस्तिष्क जल रहा था और इच्छा होती थी कि इस अश्वत्थामा के अभी टुकड़े कर फेंक दे।

उत्तेजित और दुस्साहसी घटोत्कच अश्वत्थामा की ओर पलटा, "द्रोणपुत्र ! खड़े रहो। अब कर्ण के समान समरभूमि छोड़कर भाग मत जाना।"

अंजनपर्वा को मारकर अश्वत्थामा का आवेश कुछ कम हुआ था कि घटोत्कच आ गया। अश्वत्थामा के मन में एक विचित्र-सा अवसाद घिर आया था। उसने घटोत्कच को देखा और बोला, "तुम जाओ घटोत्कच ! युद्ध की बहुत लालसा है तो किसी और से लड़ लो। पुत्र के लिए उचित नहीं है कि वह पिता को सताए। मुझे कुपित मत करो, अन्यथा जीवित नहीं बचोगे।"

घटोत्कच अपनी पीड़ा से हँस पड़ा। विचित्र है यह अश्वत्थामा ! भीम के पुत्र को अपना पुत्र बता रहा है, और अंजनपर्वा कौन था इसका ? उसके विषय में कुछ नहीं सोचा।

"पुत्र के लिए तो उचित नहीं है कि वह पिता को सताए, किंतु तुम्हारे लिए उचित है कि अपने पौत्र सरीखे अंजनपर्वा को मार गिराओ ? पुत्र प्रिय है और पौत्र ? और फिर यहाँ तो सब किसी न किसी के पुत्र और पौत्र ही हैं। क्यों लड़ रहे हैं फिर ये सब लोग ?" उसका स्वर कुछ ऊँचा हो गया, "द्रोणपुत्र ! मैं कायर नहीं हूँ कि तुम्हारी नीचतापूर्ण बातों से डर जाऊँ। मैं भी कुरुवंशी भीम का पुत्र हूँ।"

दुर्योधन ने इधर-उधर दृष्टि घुमाई। उसे सब ओर अपनी सेना भागती ही दिखाई पड़ रही थी। पांडवों और पांचालों का हर्षनाद उसके मन में भय की सिहरन जगा जाता था। प्रातः से कितनी ही बार वह द्रोण से प्रार्थना कर चुका था, किंतु उन्होंने न अपनी नीति बदली और न ही उसके मनोनुकूल युद्ध किया। अब उनके पास जाना व्यर्थ था। वह अड़ियल बुड्ढा उसकी समझ से बाहर होता जा रहा था।...

दुर्योधन ने अपना रथ कर्ण के रथ के पास रुकवाया।

"कर्ण !" दुर्योधन बोला, "मित्रों के कर्तव्यपालन की परीक्षा का उपयुक्त अवसर आ गया है।"

"क्यों क्या हुआ मित्र ?" कर्ण ने प्रसन्न भाव से पूछा।

दुर्योधन मन-ही-मन जलभुन कर रह गया।... इस कर्ण को कुछ दिखाई नहीं देता क्या ? देख नहीं रहा कि कौरवों की क्या दुर्दशा हो रही है। पूछ रहा है कि क्या हुआ। जब ऐसे सेनानायक होंगे तो सेना की दुर्दशा तो होनी ही है। सोचता होगा कि त्रिगर्त मर रहे हैं तो उसे क्या ? मद्र मर रहे हैं तो उसे क्या ? पर यह नहीं सोचता कि मर तो कौरव सेना रही है।...

"क्रोध में भरे हुए पांचाल, मत्स्य, कैकेय तथा पांडव महारथी फुफकारते हुए सर्पों के समान भयंकर हो उठे हैं। मेरे सारे महारथी घिर गए हैं। तुम्हें नहीं लगता कि कौरव

सेना का कोई रक्षक नहीं है ?" दुर्योधन ने पांडव सेना की ओर संकेत किया, "वह देखो, पांडव और पांचाल अपने विजयगर्व से उत्फुल्ल होकर कैसे सिंहनाद कर रहे हैं।"

कर्ण ने पांडव सेना पर दृष्टि डाली। अंधकार के कारण वहाँ दिख कम रहा था, सुनाई ही अधिक पड़ रहा था। हाँ ! पांडव सेना की दिशा में हर्ष का उन्माद सुनाई पड़ रहा था।

"चिंता मत करो मित्र !" कर्ण बोला, "थोड़ा धैर्य धारण करो। इस अंधकार में क्या पता चलेगा कि कोई जीता भी है, अथवा अपने भ्रम में हमें भ्रमित करने के लिए चिल्ला ही रहा है। तुम जानते ही हो कि उनका घटोत्कच अपनी माया ऐसे ही फैलाता है।"

कृपाचार्य का रथ उनके पास आकर रुक गया। अश्वत्थामा भी उनके साथ ही था।

कर्ण ने कृपाचार्य को देखा तो उन्हें सुनाकर दुर्योधन से बोला, "मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि युद्ध में आए हुए पांडवों और पांचालों को निश्चय ही मार डालूँगा। मुझे तुम्हारा मनभावन करना है, इसी के लिए मैंने यह जीवन धारण कर रखा है। मैं तुम्हें विजय ही नहीं दिलाऊँगा। पांडवों को मारकर सारी पृथ्वी का राज्य तुम्हें दूँगा।"

कृपाचार्य ने सुना और जैसे कोई शूल उनके मन में चुभा··· कह तो इस प्रकार रहा है, जैसे पृथ्वी का राज्य कोई कंकड़ पत्थर हो कि कोई भी उठाए और किसी की भी हथेली पर रख दे।··· लबाड़िया कहीं का···

कर्ण ने कह तो दिया, किंतु उसके अपने ही मन का कोई कोना जैसे उसकी बात से सहमत नहीं था।··· वह दुर्योधन को वचन दे रहा है कि वह पांडवों को मार देगा; और कुंती को वचन दिया है कि वह पांडवों में से चार का वध नहीं करेगा।··· तो ये दोनों प्रतिज्ञाएँ कैसे पूरी हो सकती हैं।··· एक पूरी होगी तो दूसरी झूठी हो जाएगी। तो क्या वह चाहता है कि यदि पाँचों पांडव मारे जाएँ तो दुर्योधन को दिया हुआ वचन पूरा हो जाए और यदि किसी कारण से वह पांडवों को न मार सके तो कुंती को दिया हुआ वचन सत्य प्रमाणित हो।··· वह तो दोनों ही स्थितियों में सच्चा प्रमाणित हो जाएगा··· नहीं ! वह यह सोचकर दोनों को वचन नहीं दे रहा है।··· पर यदि ऐसा हो भी जाए तो केवल अर्जुन का वध कर ही तो वह पृथ्वी का राज्य दुर्योधन को नहीं दे सकता। उसके लिए तो सारे पांडवों और पांचालों का ही नहीं वृष्णिवंशियों का भी वध करना होगा। कर पाएगा वह ?··· या वह केवल वह सब कह देता है, जो सुनना दुर्योधन को अच्छा लगता है ? कुंती को दिया गया वचन भी क्या उस समय उसे टालने अथवा सामयिक रूप से सुखी करने का प्रयत्न मात्र था ? उसकी प्रतिज्ञा···

"पर यह कैसे संभव होगा मित्र !" दुर्योधन का स्वर कुछ हताश था, "युद्ध के इन सारे दिनों में अर्जुन एक दिन भी किसी से पराजित नहीं हुआ है। तुम उसे कैसे पराजित करोगे।"

दुर्योधन का अभिप्राय कर्ण की समझ में आ रहा था। वह उससे पूछ नहीं रहा था कि वह अर्जुन को कैसे पराजित करेगा, वह तो अपनी निराशा प्रकट कर रहा था। अपना निर्णय सुना रहा था कि कर्ण अर्जुन को पराजित नहीं कर पाएगा।

कर्ण का अहंकार कुछ ऐसा पीड़ित हुआ कि उसने कृपाचार्य और अश्वत्थामा की उपस्थिति की भी चिंता नहीं की। कुछ आवेश में बोला, "आज मैं इंद्र की दी हुई अमोघ शक्ति वैजयंती, अर्जुन पर छोड़ दूँगा। अर्जुन के मारे जाने पर उसके सारे भाई तुम्हारे वश में हो जाएँगे, या स्वयं ही वन में चले जाएँगे। उन्हें मारने की आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी। मैं पांचालों, कैकेयों, वृष्णिवंशियों के टुकड़े-टुकड़े कर, यह सारी पृथ्वी तुम्हें दे दूँगा।"

कृपाचार्य को कर्ण का यह सब कहना बहुत अखर रहा था। उनके मन में दो ही चित्र उभर रहे थे''' पहला किसी चाटुकार द्वारा अपने स्वार्थ के लिए अपने राजा के सम्मुख झूठ पर झूठ बोलते चले जाना; और दूसरा किसी असमर्थ पिता द्वारा अपने अबोध बालक को झूठे आश्वासनों के द्वारा बहलाना।''' पर कर्ण वैसा असहाय पिता नहीं था और न ही दुर्योधन वैसा अबोध बालक था।''' यह कर्ण धूर्तता कर रहा था और दुर्योधन को बहका रहा था।''' सारे पांडवों, पांचालों, कैकेयों, मत्स्यों और वृष्णियों को मारने की बात कोई योद्धा सोच-समझकर नहीं कह सकता।''' और पृथ्वी का राज्य दुर्योधन को देने का वचन तो कोई विक्षिप्त भी नहीं दे सकता। आज कर्ण की चाटुकारिता कुछ अधिक ही बढ़ गई थी''' या यह उसका अहंकार था ? क्या वह सचमुच यह मानने लगा था कि वह इन सारे योद्धाओं को युद्ध में जीत सकता है ?'''

कृपाचार्य स्वयं को रोक नहीं पाए। बोले, "बातें बनाने से ही पृथ्वी का साम्राज्य मिल जाता, तो तुम जैसा सहायक पाकर कुरुराज दुर्योधन कृतार्थ हो जाते। बोलते तुम बहुत हो किंतु तुम्हारा पराक्रम तो कभी दिखाई नहीं पड़ता। रणभूमि में पांडवों से तुम्हारा अनेक बार आमना-सामना हुआ है, पर सर्वत्र तुम ही परास्त हुए हो। पांडवों से सामना न हो तो भी क्या करते हो तुम। घोषयात्रा के समय सारी सेना गंधर्वों से युद्ध कर रही थी और तुम भाग गए थे। विराटनगर में अकेले अर्जुन ने ही हम सबको परास्त कर दिया था। कहाँ थे तुम तब ? अपने ब्रह्मचारी जीवन में भी तुम गुरुकुल में सदा स्वयं को अर्जुन से श्रेष्ठ बताते रहे किंतु सिद्ध कभी नहीं कर पाए।"

कर्ण स्तब्ध-सा सब सुन रहा था।''' हस्तिनापुर की रंगशाला में भी, जब कर्ण ने अर्जुन को ललकारा था, तो इसी कृपाचार्य ने उसकी जाति पूछी थी।''' यह क्यों हर बार उसके आड़े आता है ?'''

कृपाचार्य ने उसकी ओर देखा तो जैसे बिना सोचे-समझे ही उसके मुख से निकल गया, "क्या चाहते हो तुम ?"

कृपाचार्य ने उसे घूरकर देखा। वह उन्हें 'तुम' कह रहा था। उद्दंडता की चरमसीमा भी पार कर गया था वह। वह उन शिष्यों में से था जो गुरुकुल से निकलते ही अपने

गुरु को भी आँखें दिखाने लगते थे।... पर जो शिष्य गुरु से अपना संबंध न माने, उसे कहा भी क्या जा सकता है। कर्ण में कृतज्ञता नहीं है। वह केवल दुर्योधन का ही कृतज्ञ है कि उसने उसे अंगराज घोषित कर दिया। पता नहीं कृतज्ञता है, अथवा दुर्योधन से चिपके रहने का एक बहाना मात्र।

"चुपचाप युद्ध करो।" कृपाचार्य कुछ आवेश में बोले, "बातें बहुत करते हो। कुछ करना तुम्हारे वश का नहीं है। जब तक अर्जुन सामने नहीं है, गर्जना कर लो। अर्जुन के सम्मुख आते ही सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती है तुम्हारी। आज से नहीं, गुरुकुल के दिनों से देखा है मैंने तुमको। अर्जुन से सदा अनावश्यक स्पर्धा की है तुमने। दुर्योधन का सहारा लेकर सदा पांडवों का अपमान करने का प्रयत्न किया है। शरद के मेघों के समान व्यर्थ गर्जना करते हो, बरसते कभी नहीं। पर दुर्योधन समझता ही नहीं है कि कर्ण केवल वाग्वीर है। बातें ही बना सकता है। तुम्हारी बातों ने उसके कान सी दिए हैं और मस्तिष्क को स्तब्ध कर दिया है।"

कर्ण के मन में आया कि वह उन्हें स्मरण दिला दे कि अब वह उनके गुरुकुल का ब्रह्मचारी नहीं है कि वे उसे उपाध्याय के समान डाँट रहे हैं। गुरुकुल छोड़े एक युग बीत गया है। जब वह उनके गुरुकुल में शिक्षा ग्रहण कर रहा था, तब भी उसने उन्हें कभी अपना गुरु नहीं माना। वे राजा के उस गुरुकुल में केवल एक शिक्षक थे। जब वे तब उसका कुछ नहीं बिगाड़ सके तो अब क्या बिगाड़ लेंगे। वे दोनों एक-दूसरे को भली प्रकार जानते हैं। उन दोनों का कभी तादात्म्य नहीं हुआ। कभी अनुकूल नहीं रहे, वे एक-दूसरे के। वह उनका प्रिय छात्र कभी नहीं रहा; और उसे भी वे कभी अच्छे नहीं लगे।

कर्ण का आक्रोश कुछ इस प्रकार बढ़ा कि उसके मस्तिष्क में कोई तर्क नहीं उपजा। बोला, "विप्रवर ! मैं कृष्ण और सात्यकि सहित सारे पांडवों को युद्ध में मारने का निश्चय कर, गरज रहा हूँ, तो आपके पेट में शूल क्यों उठ रहा है ? क्या कष्ट है आपको ? क्या नष्ट हो रहा है आपका ? मैं अब भी कह रहा हूँ कि मैं अर्जुन, सात्यकि और कृष्ण को मारकर पृथ्वी का राज्य दुर्योधन को दे दूँगा।..."

कृपाचार्य ने ध्यान दिया, कर्ण ने उन्हें इस बार 'तुम' नहीं कहा था, पर वह उन्हें 'गुरु' न कहकर 'विप्र' कह रहा है। विप्र—जो चिंतन कर सकता है, युद्ध नहीं कर सकता। इतने तटस्थ संबोधन का क्या अर्थ ? वह उनसे अपने संबंध को स्वीकार नहीं कर रहा।...

"तुम कृष्ण को मारोगे ?" कृपाचार्य वितृष्णा से हँस दिए, "निरर्थक प्रलाप कर रहे हो तुम। विजय उसी पक्ष की होगी, जिस पक्ष की ओर से युद्धविशारद श्रीकृष्ण और वीरवर अर्जुन लड़ रहे हैं। धर्मराज युधिष्ठिर युद्ध त्याग दें और एक रोषभरी दृष्टि भी डालें तो इस पृथ्वी को भस्म कर दें। तुम उन सबको जीत कर पृथ्वी का राज्य दुर्योधन को दे दोगे, जैसे पृथ्वी का राज्य तुम्हारी संपत्ति ही तो है।"

कर्ण ने कृपाचार्य को एक कंटकित दृष्टि से देखा और अपने शब्दों को चबाता हुआ, उनका परिहास-सा करता हुआ बोला, "बाबा जी ! आज मैं अर्जुन पर वैजयंती छोड़ दूँगा। अब उसे और सँभालने की आवश्यकता नहीं है, न ही अर्जुन के वध को टालने का कोई लाभ है।"

कृपाचार्य कुछ नहीं बोले।··· तो कर्ण अपने प्रयत्न में सफल हो गया है। बहुत दिनों से वह इस प्रयत्न में लगा हुआ था कि किसी प्रकार वह इंद्र से वैजयंती प्राप्त कर ले। पर कैसे प्राप्त कर ली उसने ? किसके माध्यम से ? चाटुकारिता की तो कोई सीमा नहीं है। उसने अपनी त्वचा छील कर तो नहीं दी होगी, किंतु उसी प्रकार का कोई कार्य किया होगा।··· बहुत दानवीर बनाकर प्रस्तुत किया गया है कर्ण को—कहते हैं कि कर्ण के लिए ब्राह्मण को कुछ भी अदेय नहीं था। पर कृपाचार्य ने उसे उसके शैशव से देखा है। कृपाचार्य भी तो ब्राह्मण ही हैं। द्रोण भी ब्राह्मण हैं। कैसा व्यवहार था कर्ण का उनके प्रति। जिसे अपना गुरु मानकर वह गया था परशुराम के पास, वे भी ब्राह्मण ही हैं। उनके प्रति कैसा व्यवहार था उसका—झूठ बोल कर उनसे उनके ज्ञान का हरण करने गया था। इतना ही सम्मान था उसके मन में गुरु के प्रति और ब्राह्मण के प्रति। कभी उन्हें 'तुम' कहकर अपमानित करने का प्रयत्न करता है, कभी विप्र और कभी बाबा जी कहकर···

पर यदि उसके पास वैजयंती है तो उसने उसका प्रयोग क्यों नहीं किया ? आज दिन में भी कितनी ही बार वह अर्जुन के सम्मुख से हार कर भागा है ?··· उसके पास वैजयंती है ही नहीं, या फिर उसने उसे किसी अति विशिष्ट अवसर के लिए सँभाल कर रखा था ? इस समय इस सारी चर्चा से वह उन्मत्त हो उठा था और वैजयंती की चर्चा कर बैठा था ?···

24

अर्जुन को लग रहा था कि कृष्ण अपना रथ कर्ण से बचाए-बचाए घूम रहे हैं। अर्जुन को कुछ आश्चर्य हुआ।

"केशव ! कर्ण पांडव सेना का संहार कर रहा है।" उसने कहा, "उसकी उपेक्षा करते रहेंगे तो हमारी सेना की बहुत हानि होगी।"

कृष्ण मुस्कराए, "सत्य है; किंतु इस समय तुम्हारा उससे भिड़ना हितकर नहीं है। वह दिन भर में बहुत पिटा है, बहुत पराजित हुआ है, बहुत अपमानित हुआ है। उसे भी कुछ देर अपने अहंकार की तुष्टि कर लेने दो।"

अर्जुन को कृष्ण की बात समझ में नहीं आई। अनेक बार कृष्ण उसकी बुद्धि से परे चले जाते हैं। उनके मन की थाह पाना बहुत कठिन है। जाने वे कितने स्तरों पर

देखते और कितने धरातलों पर सोचते हैं। वैसे तो अर्जुन यह मानकर भी चुप रह सकता था कि कृष्ण कह रहे हैं तो इस समय कर्ण को भूल जाने में ही कोई हित होगा; किंतु कर्ण को युद्धक्षेत्र में इस प्रकार उन्मुक्त छोड़ देना तो किसी भी समस्या का समाधान नहीं था।'''

"अपनी सेना का नाश करवा, कर्ण की क्षतिपूर्ति आवश्यक है क्या ?"

"नहीं ! मैं उसकी क्षतिपूर्ति नहीं करवा रहा।" कृष्ण हँसे, "मैं तो केवल इतना चाहता हूँ कि हमें कर्ण के सामर्थ्य का पता चल जाए।"

"क्यों क्या अभी तक हमें उसके सामर्थ्य का पता नहीं लगा ?"

"तुम्हें स्मरण होगा अर्जुन ! कि युद्ध से पूर्व ही कर्ण द्वारा इंद्र से शक्ति प्राप्त करने की एक कथा बहुत प्रचारित हुई थी।"

"किंतु हमने उसका कभी विश्वास नहीं किया। जब कवच ही नहीं देखा, तो उस शक्ति का विश्वास कैसे करें।" अर्जुन हँसा, "दिव्य कवच के होते हुए भी युद्ध से भागता रहा तो फिर कर्ण के समान भीरु कौन होगा।"

"ठीक कहते हो।" कृष्ण बोले, "पर इस कथा के पीछे कुछ थोड़ा-सा सत्य भी है।"

"सत्य ?"

"सत्य यह है कि कर्ण अपनी त्वचा बेच कर भी कोई ऐसा शस्त्र पा लेना चाहता है, जिससे वह तुम्हारा वध कर सके।" कृष्ण बोले, "मुझे कुछ ऐसा आभास हो रहा है कि कर्ण के पास वैसा कोई शस्त्र आ गया है।"

"उसके पास ऐसा शस्त्र होता तो वह जयद्रथ को मरने नहीं देता।" अर्जुन ने कहा, "जब वह भीम से बार-बार पराजित हो रहा था, वह तब उसका प्रयोग अवश्य करता। जिस समय वह भीम को अपमानित कर रहा था और मैं भीम की रक्षा के लिए पहुँचा था, वह तब भी उसका प्रयोग कर सकता था। अंतिम समय में जब वे छह योद्धा जयद्रथ की रक्षा का प्रयत्न कर रहे थे, वह तब भी उसका प्रयोग कर सकता था। उसके पास वैसा कोई शस्त्र होता, तो जयद्रथ के वध के पश्चात् भी वह उसका प्रयोग मुझ पर कर सकता था।''' पर जब यह सब कुछ नहीं हुआ तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि उसके पास वैसा कोई शस्त्र नहीं है और वह कथा असत्य है।"

"तुम्हारा तर्क ठीक है। तब तक उसके पास वह शस्त्र नहीं था। होता तो वह अवश्य ही उसका प्रयोग तुम पर करता।" कृष्ण मुस्कराए, "किंतु तुम्हारा ध्यान इस ओर नहीं गया कि जयद्रथ के वध जैसी पराजय के पश्चात् भी कौरव इस रात्रि के अंधकार में युद्ध क्यों चलाए चल रहे हैं ? इस पराजय के पश्चात् तो उन्हें चुपचाप अपने शिविर में लौट जाना चाहिए था। गंभीरता से विचार करना चाहिए था कि उन्हें यह युद्ध आगे चलाना चाहिए अथवा नहीं।"

अर्जुन ने कृष्ण की ओर देखा। वे ठीक ही कह रहे थे, उसका ध्यान उस ओर

नहीं गया था।

"मैं देखना चाहता हूँ कि उनके पास ऐसा कौन-सा वल है, जिसके सामर्थ्य पर वे दिन भर की क्लांत सेना को इस रात्रि में भी लड़ा रहे हैं।"

"क्या आपके पास कोई निश्चित सूचना है ?"

"नहीं ! कुछ आभास है और शेष अनुमान ही है।" कृष्ण बोले, "मैं चाहता हूँ कि मेरे इस आभास की कुछ पुष्टि हो ले। कर्ण किसी ऐसे संकट में पड़ ले, जिसमें से उसके प्राण किसी भी प्रकार न बच सकते हों—भाग कर भी नहीं।"

अर्जुन ने एक गंभीर दृष्टि कृष्ण पर डाली। कृष्ण का तात्पर्य उसकी समझ में आ रहा था।

"आपका विचार है कि उसके पास ऐसा शस्त्र है; किंतु वह उसे उस समय के लिए बचाए हुए है, जब उसके अपने प्राणों को वास्तविक संकट हो ? किसी दूसरे की रक्षा के लिए वह उसका उपयोग नहीं करेगा ?"

"यदि वह संकट से भाग सके तो कदाचित् अपने प्राणों के लिए भी नहीं करेगा; और दुर्योधन की विजय के लिए तो कभी भी नहीं करेगा।"

अर्जुन मौन रहा।

"तुम सहमत नहीं हो ?"

"अभी सहमति और असहमति की बात नहीं कह सकता; किंतु सोच रहा हूँ कि जिस सेना की रक्षा का दायित्व मुझ पर है, उसकी रक्षा न कर मैं स्वयं को बचाता रहूँ और देखता रहूँ कि कौन अपने प्राणों पर खेल कर कर्ण का वह शस्त्र निकलवाता है, जिससे मेरे प्राणों को संकट है।" अर्जुन बोला, "यह तो अधम कोटि का स्वार्थ होगा।"

कृष्ण हँसे। अर्जुन ने उनकी ओर देखा तो कृष्ण उसे अश्वों की वल्गा थामे हुए बैठे दिखाई नहीं दिए। उसको कुछ ऐसा आभास हुआ कि उनका आकार युद्ध के पहले दिन के ही समान विराट हो गया था। उनके सहस्रों मुख हो गए थे, जिनमें से अनेक में से अग्नि निकल रही थी और कुरुक्षेत्र की समरभूमि से योद्धाओं की भीड़ की भीड़ उन मुखों में समाती जा रही थी। कुछ उनमें प्रवेश करने को खड़े थे, कुछ उन मुखों की दाढ़ों के नीचे दबे हुए थे। कुछ...

"मैं समझ गया केशव ! जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु निश्चित है।" अर्जुन बोला, "किंतु ये सारे योद्धा मेरे आश्रित हैं। मैं उनका रक्षक हूँ। यदि मैं अपनी रक्षा के लिए छिपता रहूँगा और उनको मरते देखता रहूँगा तो मेरे क्षत्रिय धर्म की रक्षा कैसे होगी ?"

"तुम अपनी सेना के रक्षक हो और मैं तुम्हारा रक्षक हूँ। धर्मराज ने तुम्हें महासेनापति धृष्टद्युम्न का रक्षक नियुक्त किया था और मुझे तुम्हारा।" कृष्ण बोले, "किंतु वह एक पृथक् बात है। वस्तुतः तुम सेना को खंडों में बाँट कर व्यक्ति के रूप में सोचते हो,

तुम्हें पूरी सेना की एक जीव के रूप में कल्पना कर, समग्र रूप में चिंतन करना चाहिए।"

"मैं समझा नहीं केशव !"

"क्या कभी सोचा है कि वक्ष की रक्षा के लिए तुम अपने हाथों को किस प्रकार संकट में डालते हो ?" कृष्ण बोले, "सोचा है कि शरीर को उठाए रखने का सारा बोझ अपनी टाँगों पर ही डालते हो ? हाथों के बल तो कभी खड़े नहीं रहते।"

"नहीं ! ऐसा नहीं सोचता। खाता तो मुख है किंतु लड़ते हाथ हैं।" अर्जुन बोला।

"वैसे ही सेनापति पूरी सेना को एक शरीर मानकर चलता है। इसका निर्णय वह करता है कि कौन हाथ है, कौन पैर, कौन वक्ष और कौन केश।" कृष्ण बोले, "हम धर्मराज की रक्षा के लिए किसी भी योद्धा की वलि दे सकते हैं। दे सकते हैं या नहीं ?"

"दे सकते हैं।"

"वैसे ही मैं तुम्हारे विषय में भी सोचता हूँ।" कृष्ण मुस्कराए, "मान लो कि कर्ण के पास वैजयंती आ गई है। अपनी सेना की रक्षा के लिए तुम उससे युद्ध करने गए तो वह तुम्हारा वध कर देगा। उसके पश्चात् कौन बचाएगा पांडव सेना को कर्ण से ?... और यदि कोई और योद्धा उसे इतने संकट में डाल दे कि वह वैजयंती चलाने को बाध्य हो जाए, तो उस योद्धा के प्राण तो जाएँगे, किंतु उसके पश्चात् कर्ण तुम्हारा सामना नहीं कर पाएगा और पांडव सेना सदा के लिए सुरक्षित हो जाएगी।" उन्होंने रुककर अर्जुन की ओर देखा, "इसे तुम स्वार्थ कहोगे, कायरता कहोगे अथवा युद्धनीति ? यह क्षात्रधर्म का पतन है अथवा सैन्य-संचालन की दक्षता ?"

धृष्टद्युम्न का रथ नष्ट हो गया। क्षण भर के लिए वह किंकर्तव्यविमूढ़-सा खड़ा रह गया। रात के इस अंधकार में यह भी पता नहीं लगता था कि युद्धक्षेत्र में कौन कहाँ है। कहीं उल्काओं का प्रकाश था और कहीं विभिन्न वाहिनियाँ अंधकार में ही व्यूह बनाए बैठी थीं। जहाँ उल्काएँ थीं भी, वहाँ भी ध्वज दिखाई नहीं देते थे कि कोई समझ सके कि किसका रथ कहाँ था।

कर्ण की ओर बढ़ने के स्थान पर धृष्टद्युम्न अंधकार का लाभ उठाकर वृक्षों के पीछे दुबक गया। उसे यहाँ छुपे नहीं रहना था। यह तो केवल वाहिनियों और योद्धाओं की स्थिति जानने मात्र के लिए था। अपने पक्ष के किसी योद्धा का रथ दिखाई देते ही वह उसके निकट चला जाएगा।

कुछ ही देर में सहदेव का रथ दिखाई दिया। धृष्टद्युम्न उसकी ओर भागा।

सहदेव के पार्श्वरक्षकों ने अपनी उल्काएँ ऊपर उठाईं, "कौन है ?"

धृष्टद्युम्न उनके सम्मुख आ गया।

"क्षमा करें सेनापति !"

"कोई बात नहीं।" धृष्टद्युम्न रथारूढ़ हुआ।

"हमें सूचना मिली थी कि आपका रथ नष्ट हो गया है।" सहदेव ने कहा, "वस्तुतः

मैं आपको खोज ही रहा था। आपके सैनिक कहाँ गए ?"

"संभव है धर्मराज की सेना में जा मिले हों।" धृष्टद्युम्न ने कहा।

सहसा धृष्टद्युम्न को लगा कि उसने अब तक अपनी ओर ध्यान नहीं दिया था। वह बहुत थका हुआ था। उसे विश्राम की बहुत आवश्यकता थी। पर युद्ध में विश्राम"।

"मेरा विचार है सहदेव ! मुझे धर्मराज के निकट पहुँचा दो। वहाँ से नया रथ लेकर मैं कर्ण पर आक्रमण करना चाहता हूँ।" धृष्टद्युम्न ने कहा, "वह हमारे लिए महाकाल सिद्ध हो रहा है। दूसरी ओर द्रोण हैं। दोनों ही इस समय बहुत प्रचंड हो रहे हैं। कर्ण को न रोका गया तो वह और द्रोण पांडव सेना को नष्ट कर देंगे।"

धर्मराज ने सब कुछ सुना।

"नहीं ! तुम कर्ण से युद्ध मत करो महासेनापति ! इस समय वह तुम्हारे लिए घातक है। पूरे दिन और आधी रात के इस युद्ध के पश्चात् हम सब इतने थक गए हैं, किंतु कर्ण और भी प्रचंड हो उठा है। लगता है जैसे वह भी निशाचरों में से ही एक है।"

"पर उस निशाचर को भी रोकना तो होगा धर्मराज !"

"ठीक कहते हो राजकुमार ! किंतु आत्महत्या का कोई लाभ नहीं है।" युधिष्ठिर बोले, "दुर्योधन अपने लाभ के लिए युद्ध चलाए चल रहा है, अन्यथा अंधकार के साथ ही सेनाओं को अपने शिविरों में लौट जाना चाहिए था। युद्ध की सारी मर्यादाओं का हनन कर दुर्योधन ने अंधकार के पश्चात् भी हमारी सेना पर आक्रमण किया है। पता नहीं क्यों आचार्य भी उसी दुर्बुद्धि की इच्छानुसार चल रहे हैं। ऐसे में हम उनके वचन का क्या विश्वास करें। यदि हम एकांगी युद्धविराम कर, शिविर में लौट जाते हैं और वे युद्ध बंद नहीं करते तो हमारी और भी हानि होगी। संभव है कि वे युद्धभूमि और शिविर की मर्यादा का भी पालन न करें और हमें युद्धभूमि में न पाकर हमारे शिविर पर आक्रमण कर दें।"

"तो क्या सोचते हैं आप ?" सहदेव ने पूछा।

"हमारे सैनिक जिस प्रकार भाग रहे हैं, उससे स्पष्ट है कि वे बेचारे बहुत थक गए हैं और इस अंधकार में कर्ण और द्रोण की प्रचंडता का सामना करने में असमर्थ हैं। ऐसे में उन्हें युद्ध के लिए बाध्य करना अत्याचार है।" युधिष्ठिर ने कहा, "मैं तो स्वयं भी समरभूमि से हट जाने का विचार कर रहा हूँ, पर अभी इस बात से आश्वस्त नहीं हूँ कि दुर्योधन हमारे शिविर पर भी आक्रमण नहीं करेगा।"

तभी अर्जुन का रथ दूर से उनकी ओर आता दिखाई दिया।

"अर्जुन !" रथ निकट आने पर युधिष्ठिर ने पुकारकर कहा, "कर्ण को देखो। इस आधी रात में भी वह सूर्य के समान तप रहा है। उसके बाणों से घायल होकर अनाथों के समान चीखते-चिल्लाते तुम्हारे सहायक बंधुओं का आर्तनाद निरंतर सुनाई पड़ रहा है। मैंने धृष्टद्युम्न को रोक लिया है। तुमको कर्ण के वध के लिए जो समयोचित

कर्तव्य जान पड़े वही करो।"

कृष्ण और रुके नहीं। वे रथ को आगे बढ़ा ले गए।

"धर्मराज इतने भीरु तो नहीं हैं किंतु आज वे कर्ण के पराक्रम से कुछ भयभीत हो गए लगते हैं।" अर्जुन बोला।

"प्रातः से युद्ध करते हुए थक भी गए हो सकते हैं।" कृष्ण ने कहा।

"जो भी हो, समरभूमि में कर्ण जिस प्रकार निर्भय विचर रहा है और भागते हुए श्रेष्ठ रथियों पर पीछे से बाणवर्षा कर उनको अपमानित कर रहा है, उसे मैं सहन नहीं कर सकता।" अर्जुन बोला, "आप रथ उसी के सम्मुख ले चलिए। आज या तो मैं उसे मार डालूँगा या वह ही मुझे मार डाले।"

"तुम्हें आवेश में देखता हूँ तो जैसे मैं तृप्त हो जाता हूँ। यही तो चाहता रहा हूँ मैं कि तुम सच्चे क्षत्रिय के समान अपने सात्विक रजोगुण को धारण करो।" कृष्ण मुस्कराए, "किंतु युद्ध के उन्माद में भी सोचो। विचार करो।"

"क्या विचारूँ केशव ! युद्ध का समय कर्म का समय होता है, विचार का नहीं।"

"पर कोई कर्म बिना विचार के नहीं होना चाहिए। शत्रु की नीति पर विचार किए बिना युद्ध नहीं करना चाहिए।" कृष्ण बोले, "विचार करो कि युद्ध में से सबसे पहले भाग जाने वाला कर्ण आज युद्धभूमि छोड़ना ही नहीं चाहता। क्यों ? अकस्मात् ही ऐसा क्या हो गया है कि कर्ण इतना वीर हो गया है ? जयद्रथ के वध से पहले उसका व्यवहार कुछ और था और इस समय उसका व्यवहार कुछ और है।"

अर्जुन उनकी बात समझ रहा था किंतु...

"युद्ध के लिए लगातार मचलने पर भी स्वयं को दुर्बल पाने वाला व्यक्ति जब कोई ऐसा शस्त्र पा जाता है, जिससे वह स्वयं को शत्रु से प्रबल मानने लगता है तो वह प्रतीक्षा नहीं कर सकता। कल के लिए भी नहीं। वह तत्काल युद्ध चाहता है।" कृष्ण बोले।

"पर यदि उसके पास वैजयंती है तो युद्ध के पहले से होगी। यह कथा तो युद्ध के पूर्व से चल रही है।"

"ठीक कहते हो। चर्चा थी किंतु कर्ण का व्यवहार उसके अनुरूप नहीं था।" कृष्ण बोले, "संभव है कि वैजयंती प्राप्त करने का प्रयत्न युद्ध आरंभ होने से पहले से ही चल रहा हो। उसका शुल्क, उसका मूल्य निश्चित हो रहा हो।"

अर्जुन ने कुछ कहा नहीं। कृष्ण की ओर देखता भर रहा।

"दिव्यास्त्रों को प्राप्त करने के अनेक माध्यम हैं धनंजय !" कृष्ण बोले, "और अनेक सोपान भी।"

"जैसे ?"

"तपस्वी लोग अपनी तपस्या से दिव्यास्त्र प्राप्त करते हैं। कुछ लोग दिव्यास्त्रों की चोरी करते हैं।" कृष्ण ने कहा, "कुछ उसके लिए मूल्य चुकाते हैं। युद्ध से पहले तुमने

कथा सुनी थी कि कर्ण ने इंद्र को अपना दिव्य कवच कुतरकर दे दिया है। फिर भी उसके शरीर पर किसी को कोई घाव नहीं दिखा। रक्त नहीं बहा कर्ण का। मैंने आज थोड़ी देर पहले सुना है कि कर्ण को वैजयंती उसके कुंडलों के विपर्यय में मिली है। इसका अर्थ है कि वे कुंडल बहुत मूल्यवान रहे होंगे। हमने कभी उनका कोई मूल्य नहीं आँका। न कभी जानना चाहा कि वे कुंडल उसे कहाँ से प्राप्त हुए हैं। किंतु आज लगता है कि वे अत्यधिक मूल्यवान रहे होंगे, अन्यथा कुंडलों के मूल्य के रूप में दिव्यास्त्र नहीं मिला करते।''

''और दिव्यास्त्रों के मिलने के सोपान ?''

''कभी चर्चा हो रही होती है, कभी भाव तौल, कभी अस्त्र लाने के लिए कोई जाता है और कभी अस्त्र वहाँ से भेजा जाता है।'' कृष्ण रुके, ''बहुत संभव है कि वैजयंती की चर्चा युद्धारंभ से पूर्व आरंभ हुई हो, वहाँ से भेजी युद्ध के मध्य गई हो और वह कर्ण के हाथों में पहुँची आज हो।''

''तभी। वह उसकी घोषणा तो करता रहा है किंतु उसका प्रयोग उसने कभी नहीं किया।'' अर्जुन बोला, ''पर इसका भी क्या प्रमाण है कि इस समय उसके पास वैजयंती है ?''

''इसका परीक्षण होना चाहिए।'' कृष्ण बोले।

''पर कैसे ?''

''इस समय तुम्हारा कर्ण से भिड़ना ठीक नहीं है। घटोत्कच के पास दिव्यास्त्र भी हैं और राक्षसी माया भी।'' कृष्ण ने कहा, ''उसमें शारीरिक बल भी है और अस्त्र कौशल भी। राक्षस है तो उसे रात्रि युद्ध का अभ्यास भी है। उसे कर्ण का सामना करने दो। वह कर्ण को जय कर सकता है। यदि कर्ण के पास वैजयंती होगी तो वह उसको प्रकट किए बिना नहीं रहेगा। उस बीच आचार्य द्रोण को रोकने के लिए तुम्हारी आवश्यकता है।''

कृष्ण ने अर्जुन की सहमति की प्रतीक्षा नहीं की। वे रथ को घटोत्कच के निकट ले आए।

''घटोत्कच ! तुम्हारे बंधु संकट में हैं। तुम्हारे पराक्रम को प्रकट करने का समय आ गया है।'' कृष्ण बोले, ''कर्ण पांडवों की सेना के श्रेष्ठ क्षत्रियों को नष्ट करता जा रहा है। दूसरी ओर द्रोण हैं। उन दोनों को तुम और अर्जुन ही रोक सकते हो। मैं चाहता हूँ कि द्रोण को अर्जुन रोकें और कर्ण को तुम। ठीक है ?''

''ठीक है केशव !'' घटोत्कच हँसा, ''मुझे द्रोण से प्राणों का संकट है, धनंजय को कर्ण से। फिर आचार्य के पास जितने दिव्यास्त्र हैं, मेरे पास नहीं हैं। उनका सामना तो धनंजय ही कर सकते हैं।''

''तुमने तो बहुत दूर तक देख लिया घटोत्कच !'' कृष्ण हँसे, ''किंतु कर्ण इस समय सूर्य के समान तप रहा है और धर्मराज उससे भयभीत हैं। तुम रात्रि युद्ध में उससे

प्रवल सिद्ध हो सकते हो। पर उसके पास इंद्र की दी हुई कोई अमोघ शक्ति भी बताई जा रही है, जिसे उसने अर्जुन के लिए वचाकर रखा है।"

"या तो वह स्वयं को वचा ले या फिर उस अमोघ शक्ति को।" घटोत्कच जोर से हँसा, "यदि मुझसे युद्ध करते हुए भी उसे वचाकर रखेगा तो धनंजय पर उसका प्रहार करने के लिए, वह स्वयं नहीं वचेगा; और यदि मुझ पर उसका प्रहार करेगा तो धनंजय पर प्रहार करने के लिए शक्ति नहीं वचेगी।" घटोत्कच ने अपने सारथि विरूपाक्ष को रथ हाँकने का संकेत किया, "दोनों ही स्थितियों में धनंजय सुरक्षित हैं।"

"दुःशासन ! यह घटोत्कच जिस गति से कर्ण पर आक्रमण कर रहा है, वह हमारे लिए घातक हो सकता है। आचार्य भी कर्ण की रक्षा के लिए चिंतित नहीं होंगे।" दुर्योधन ने चिंतित स्वर में कहा, "जाओ, इस घटोत्कच को रोको। कर्ण की रक्षा करो। कहीं हमारे प्रमाद के कारण कर्ण मारा ही न जाए।"

दुःशासन चल पड़ा। कर्ण की उसे भी चिंता रहती थी, यद्यपि वह मानता था कि कर्ण अव पहले जैसे पांडव विरोधी नहीं रह गया था। वह बहुत कोमल हो गया लगता था उनके प्रति। फिर भी कौरव सेना के लिए वह वहुत आवश्यक था। पितामह ने तो उसे युद्ध से वाहर ही रखा था, आचार्य भी उसे कोई वहुत महत्त्व नहीं देते थे। यह वुड्ढा द्रोण सदा चिड़चिड़ाया ही रहता है। किसी की रक्षा की वात करो तो खीँखिया कर मारने को दौड़ता है।

दुःशासन को भेज कर भी दुर्योधन को संतोष नहीं हुआ।··· दुःशासन उसका आज्ञाकारी तो था किंतु घटोत्कच का तोड़ नहीं था।··· और फिर दुःशासन के प्रति जो दृष्टिकोण भीम का होगा, वही उसके पुत्र घटोत्कच का भी होगा। घटोत्कच उसे अपना सवसे भीषण शत्रु मानेगा। वह भी उसका वक्ष फाड़कर उसका रक्त पीना चाहेगा। भीम फिर भी मनुष्य था, घटोत्कच तो था भी राक्षस। रक्त पीने के प्रति उसकी रुचि भीम से कुछ अधिक ही होगी।··· और कहीं वे पिता-पुत्र दोनों ही दुःशासन पर टूट पड़े तो दुःशासन को वचाना भी संभव नहीं होगा।

तभी जटासुर का पुत्र अलंवुश दुर्योधन के सम्मुख आकर खड़ा हो गया। अलंवुश। जाने इतने सारे अलंवुश उसी की सेना में क्यों एकत्रित हो गए हैं—उसने सोचा—पहला अलंवुश, राक्षस ऋष्यशृंग का पुत्र था। उसे घटोत्कच ने ही मारा था। दूसरा क्षत्रिय राजा अलंवुश, जिसका वध सात्यकि के हाथों हुआ था। तीसरा अलंवुश अर्जुन से पराजित होकर भाग गया था। और जटासुर का पुत्र··· यह चौथा अलंवुश है। युद्ध के आरंभ में जव वह दुर्योधन से मिलने आया था, उसने वताया था कि मध्यम पांडव भीम ने उसके पिता जटासुर का वध किया था। वह भीम से अपने पिता का प्रतिशोध लेने आया था।··· वही अलंवुश आज फिर आकर उसके सम्मुख खड़ा हो गया था।

दुर्योधन ने उसकी ओर देखा।

"यह रात्रि युद्ध है युवराज ! इसमें हम राक्षसों की विशेष गति होती है।" वह बोला, "आपकी अनुमति हो तो मैं भीम से अपना ऋण वसूल कर लूँ।"

दुर्योधन के मन में तत्काल एक योजना बनने लगी थी। फिर भी बोला, "प्रधान सेनापति के पास क्यों नहीं गए ?"

"आपके लिए वे प्रधान सेनापति हैं, हमारे लिए तो वे पांडवों के गुरु हैं।" वह बोला, "वैसे भी युवराज ! धर्म का प्रचार करने वाले त्यागी तपस्वियों और जीवन का भरपूर भोग करने वाले राक्षसों में कभी अनुकूलता नहीं हो सकती। हम इसे आपका युद्ध मानकर लड़ने आए हैं। आचार्य से हमें क्या लेना-देना।"

दुर्योधन उसे देखता रहा। ठीक कह रहा है, आचार्य से इसे क्या लेना-देना।

"तुम भीम से प्रतिशोध चाहते हो ?"

"हाँ ! युवराज !"

"भीम को तो मैं, कर्ण और द्रोण ही मिलकर मार डालेंगे।" वह बोला, "तुम इस घटोत्कच को सँभालो, जो सदा पांडवों के हित में तत्पर रहता है।"

अलंबुश खड़ा कुछ सोचता रहा।

"वैसे भी भीम मरेगा तो घटोत्कच और प्रचंड हो जाएगा। घटोत्कच के मारे जाने से भीम पुत्रशोक में ही मर जाएगा।" दुर्योधन बोला, "एक के वध से दोनों से ही मुक्ति मिल जाएगी। तुम्हारा प्रतिशोध पूरा हो जाएगा।"

अलंबुश की समझ में दुर्योधन की बात आ गई। वह सीधा वहाँ पहुँचा, जहाँ कर्ण और घटोत्कच लड़ रहे थे। कर्ण के निकट उल्काओं का पर्याप्त प्रकाश था। घटोत्कच को शायद प्रकाश की उतनी आवश्यकता नहीं थी। वह तो बिना उल्काओं के ही युद्ध का अभ्यस्त था।

अलंबुश ने कर्ण से लड़ते घटोत्कच पर बाणों की वर्षा आरंभ की, "आ मुझसे युद्ध कर हिडिंबा के पुत्र।"

घटोत्कच ने अविलंब कर्ण को छोड़ दिया। कर्ण कहीं भागा नहीं जा रहा। अलंबुश का क्या पता है कहाँ जा छुपे।

उसने पहले ही झपाटे में अलंबुश के सारथि और घोड़ों को मार गिराया। अलंबुश को जैसे पता ही नहीं लगा कि यह क्या हो गया। वह अपने कीलित रथ में खड़ा कुछ सोचता रहा और फिर उसने धनुष भी वहीं छोड़ दिया और रथ से उतर आया। रथ में बैठकर धनुष बाण से लड़ना वैसे भी उसे अपनी प्रकृति के अनुकूल नहीं लग रहा था।

वह दौड़कर घटोत्कच के रथ पर चढ़ गया। उसने घटोत्कच पर मुक्के का कठोर प्रहार किया।

तो यह बड़े सैनिक युद्धों में लड़ने वाला, युद्धशास्त्र में प्रशिक्षित, योद्धा नहीं था घटोत्कच ने सोचा—यह तो अपने शारीरिक बल से दूसरों को डराने वाला साधारण गुंडा

था। वन में निहत्थे लोगों से मल्लयुद्ध करने का ही अभ्यस्त था।

घटोत्कच ने धक्का देकर उसे रथ से नीचे गिरा दिया; और स्वयं भी धनुष बाण छोड़कर उस पर कूद गया। उसने अलंबुश को मुक्कों से पीटना आरंभ किया। उससे संतोष नहीं हुआ तो उसे धरती पर पटककर अच्छी तरह रगड़ा। पर जाने कैसे वह घटोत्कच की पकड़ से निकल गया और उसने घटोत्कच को भूमि पर गिरा लिया। उसने भी घटोत्कच को उसी प्रकार धरती पर रगड़ा, जैसे घटोत्कच ने उसे रगड़ा था। वह उससे युद्ध नहीं कर रहा था, अपने धरती पर रगड़े जाने का प्रतिशोध ले रहा था।

घटोत्कच का क्रोध एक प्रकार के मनोरंजन के स्तर पर उतर आया था। उसने ठीक ही सोचा था। यह वन की किसी बस्ती का गुंडा ही था। प्रतिशोध ही उसके जीवन का मंत्र था। जो कुछ विपक्षी दल करेगा, वही यह भी करेगा। यदि घटोत्कच इसे लात से मारेगा तो यह भी उसे लात मारेगा और यदि वह इसे पत्थर से मारेगा तो यह भी पत्थर खोजने लगेगा। ऐसे-ऐसे लोगों को दुर्योधन ने इस युद्ध में योद्धा के रूप में उतार दिया है। घटोत्कच ने भी सुना था कि यह उसके पिता से अपने पिता के वध का प्रतिशोध लेने आया था। किस बात का प्रतिशोध ? वन में जटासुर पांडवों के अस्त्र-शस्त्र ही नहीं महारानी पांचाली को भी लेकर भाग रहा था। ऐसे में भीमसेन ने न केवल उन लोगों को छुड़ा लिया था, जटासुर का वध भी कर दिया था। पापी को दंडित किया तो उसका भी प्रतिशोध। स्त्री का अपहरण करने वाले दस्यु का वध नहीं किया जाएगा क्या ?

घटोत्कच ने उसे धक्का देकर परे धकेल दिया और धरती से उठ खड़ा हुआ। इस बार अलंबुश उस पर कूदा तो घटोत्कच ने उसे अपनी भुजाओं में पकड़कर अपने सिर से भी ऊपर उठा लिया। कुछ चक्कर दिए और उसे धरती पर पटक दिया। अलंबुश फटी-फटी आँखों से उसकी ओर देखता रहा; किंतु उठने का साहस नहीं कर सका।

घटोत्कच ने अपना खड्ग निकाला और अलंबुश के मस्तक को काटकर उसके धड़ से पृथक् कर दिया। रक्त से भीगे हुए, अलंबुश के उस मस्तक को उसने उठाकर दुर्योधन के रथ में फेंक दिया।

"लोग कहते हैं कि राजा, ब्राह्मण और स्त्री के पास खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। इसलिए तेरे लिए यह उपहार लाया हूँ। यह है तेरा बंधु। इसे मैंने मार डाला है।" घटोत्कच बोला, "बहुत पराक्रमी मानता था तू इसको। स्वयं और कर्ण को भी बहुत पराक्रमी मानता है न। अब तू कर्ण और अपनी भी ऐसी ही अवस्था देखेगा। तब तक प्रसन्नतापूर्वक कुछ श्वास ले ले, जब तक कि मैं कर्ण को मारकर तुझे मारने के लिए लौटता हूँ। श्रीकृष्ण ने कर्ण को रोकने को न कहा होता तो पहले तेरा ही मस्तक काटकर तेरे रथ के ध्वज पर टाँग देता।"

"चलो विरूपाक्ष !" घटोत्कच रथारूढ़ होकर कर्ण की ओर चला गया।

दुर्योधन उसकी ओर देखता ही रह गया, 'क्या वस्तुतः वह इतनी ही सुविधा से

कर्ण और उसका मस्तक भी काटकर लुढ़का देगा ? अलंबुश को तो उसने उतनी ही सुविधा से काटकर फेंक दिया है, जितनी सुविधा से कोई बधिक राजा की आज्ञा से अपराधी को सूली पर चढ़ा देता है।'

कर्ण ने अपनी ओर बढ़ते हुए घटोत्कच को रोका। किंतु घटोत्कच कोई दो-चार बाणों से रुकने वाला नहीं था। कर्ण जल्दी से उसे निपटाकर अर्जुन की खोज में निकलना चाहता था; किंतु घटोत्कच को किसी प्रकार की कोई जल्दी नहीं थी। दोनों ओर से बाण चलने लगे। कर्ण ने घटोत्कच को पर्याप्त घायल कर दिया था; किंतु वह स्वयं भी कम घायल नहीं हुआ था। दोनों के शरीरों से निरंतर रक्त बह रहा था। किंतु घटोत्कच जिस स्फूर्ति से बाणवर्षा कर रहा था, उसे देखकर लगता था कि जैसे वह रक्त उसका अपना न हो, किसी और का हो।

कर्ण का धैर्य चुक गया। नहीं यह साधारण बाणों से मानने वाला नहीं था। उसने अपना दिव्यास्त्र प्रकट किया। किंतु उससे घटोत्कच रुद्ध होने के स्थान पर कुछ और प्रचंड हो गया। वह अपने सैनिकों की सहायता से निरंतर लोहे के चक्र, भुशुण्डी, शक्ति, तोमर, शूल, शतघ्नी तथा पट्टिश की वर्षा कर रहा था। वे किसी योद्धा द्वारा चलाए गए नहीं लग रहे थे। लगता था कि घटोत्कच अपनी माया से शस्त्रों की धाराप्रवाह वर्षा कर रहा है।

उसका वेग इतना प्रबल था कि कौरव सेना के पाँव उखड़ गए। अनेक महारथी भागने में सैनिकों का नेतृत्व करते दिखाई पड़े। किंतु कर्ण आज अपने स्थान पर ऐसा दृढ़ खड़ा था कि स्वयं दुर्योधन को आश्चर्य हो रहा था। कर्ण के बाणों के प्रबल वेग ने जैसे घटोत्कच की माया नष्ट कर दी थी। किंतु घटोत्कच के अनेक बाण कर्ण के शरीर में समा गए थे। कर्ण उसकी पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सकता था। कर्ण ने घटोत्कच को दस बाण मारे। घटोत्कच ने उसकी ओर देखा और धनुष के स्थान पर दिव्य सहस्रसार चक्र उठा लिया। चक्र की परिधि पर तीव्र क्षुर लगे हुए थे। घटोत्कच ने वह चक्र कर्ण पर चला दिया, "जा कर्ण ! अब तू जीवित नहीं रह सकता।"

किंतु घटोत्कच की इच्छा पूरी नहीं हुई । कर्ण ने चक्र को अपने बाणों से काट कर भूमि पर फेंक दिया, जैसे वह भयंकर सहस्रसार चक्र न हो, किसी भाग्यहीन का संकल्प हो।

घटोत्कच की समझ में आ गया। यह कर्ण था, अलंबुश नहीं कि धनुष बाण की उपेक्षा की जाए। उसने पुनः अपना धनुष उठा लिया। उसने बाणवर्षा से कर्ण को ढँक दिया। कर्ण तनिक भी नहीं घबराया। उसने घटोत्कच पर वैसी ही बाणवर्षा कर उसे आच्छादित कर दिया। घटोत्कच ने बाणों के बीच अपनी भारी गदा चला दी। कर्ण ने उसे भी काट दिया। और उसके पश्चात् कर्ण ने उसके घोड़ों को भी मार दिया।

घटोत्कच रथ से नीचे नहीं उतरा। किंतु वह रथ में नहीं था।

कर्ण चकित होकर इधर-उधर देखता रहा। कहाँ गया घटोत्कच ? रथ में ही छुप

गया होगा।"कर्ण ने अपने बाणों से रथ के टुकड़े कर दिए। किंतु घटोत्कच वहाँ नहीं था।

सहसा कर्ण के रथ पर ऊपर से वृक्ष की एक मोटी टहनी गिरी। पर टहनी से रथ की छत में छेद कैसे हो गया ? कर्ण समझ गया। घटोत्कच अपने घोड़ों के मारे जाने पर, रथ से नीचे उतरने के स्थान पर, अंधकार का लाभ उठाकर, ऊपर के किसी वृक्ष पर चला गया था; और अब वहाँ से ही उसने वृक्ष के पत्तों में गूँथकर बाण मारा था।

कर्ण डर गया। इस बाण से तो वह बच गया था; किंतु प्रत्येक बाण से इसी प्रकार बचना तो संभव नहीं था। यह भी पता नहीं चलेगा कि कौन-सी मात्र शाखा है और किसमें बाण छिपा है। घटोत्कच की माया से लड़ने का अर्थ था कि वह कर्ण की ओर चार पत्ते भी फेंके तो कर्ण उसको अपने बाणों से काटे। यह युद्ध होगा या बच्चों का खेल।

कर्ण ने अपने रथ के ऊपर के ही नहीं, उसके आसपास के वृक्षों में भी अंधाधुंध बाण मारे। सहसा ऊपर से एक शरीर गिरा। कर्ण प्रसन्न हो गया। अंततः घटोत्कच मारा गया था; अथवा इतना घायल तो हो ही गया था कि ऊपर से नीचे आ गिरा था। किंतु अंधकार में अभी उसे पहचाना भी नहीं गया था कि घटोत्कच ने अनेक बाण बरसाकर अपने जीवित होने का प्रमाण दे दिया। जाने वह किस अज्ञात सैनिक का शव था, जिसे घटोत्कच के राक्षस सैनिक कहीं से उठाकर ऊपर ले गए थे और वहाँ से भ्रम उत्पन्न करने अथवा सैनिकों को डराने के लिए उन्होंने उसे नीचे फेंक दिया था।

कर्ण ने बौखलाकर अपने अनुमान के अनुसार, घटोत्कच के होने के संभावित स्थानों पर दिव्यास्त्रों से आक्रमण किया। पर घटोत्कच जैसे उन सबको अपने असंख्य अज्ञात मुखों से निगलता जा रहा था। कभी युद्धक्षेत्र में उसका एक भी सैनिक दिखाई नहीं पड़ता था और कभी वे युद्धक्षेत्र के कोने-कोने से सहस्रमुख बनकर प्रकट होने लगते थे।

और तब कर्ण ने देखा कि घटोत्कच उससे कुछ ही दूरी पर झाड़ियों के बीच खड़ा उस पर बाण चलाने की तैयारी में था। वह लुप्त हुआ था तो उसके पास धनुष बाण नहीं थे और यह अकस्मात् ही उसके पास शस्त्र कहाँ से आ गए ? कर्ण अपने आवेश को नियंत्रित नहीं कर सका। उसने बिना रुके, अनेक बाण चला दिए। किंतु न तो घटोत्कच की मृत्यु का कोई प्रमाण मिला और न ही उसके आहत होकर तड़पने का ही कोई दृश्य दिखाई दिया। कर्ण के सैनिकों ने उन झाड़ियों को छान मारा। घटोत्कच वहाँ नहीं था। धरती में समा गया क्या ? अंधकार का लाभ भी उसने उठाया ही होगा; किंतु गया कहाँ।" क्या करता कर्ण—वह उसके पीछे धरती में तो समा नहीं सकता था।" तभी घटोत्कच निकट के सरोवर में से प्रकट हो गया।" निश्चित रूप से वह झाड़ियों में से रेंगता हुआ सरोवर में उतर गया था और अब कर्ण के रथ के एकदम निकट

जल से बाहर निकल आया था।

"सूतपुत्र ! खड़ा रह। आज मैं युद्ध में तेरी श्रद्धा को तृप्त कर दूँगा।"

वह भूमि से उछलकर सीधा कर्ण पर आ रहा था। कर्ण ने उस पर अनेक बाण चलाए, किंतु वह कर्ण के रथ पर आया ही नहीं। जाने उछलकर कहाँ अदृश्य हो गया था।

"खोजो ! उसे खोजो।" कर्ण ने चिल्लाकर अपने सैनिकों को आदेश दिया। सैनिक अपने हाथ में पकड़ी उल्काएँ उठा-उठाकर देख रहे थे किंतु उससे घटोत्कच तो क्या मिलता, वे अपनी और अन्य सैनिकों की छायाओं को घटोत्कच समझकर भय से चीत्कार कर उठते थे। लगता था योजनों तक केवल घटोत्कच ही घटोत्कच था। जहाँ वह नहीं था, वहाँ उसकी छाया थी।...

घटोत्कच रथारूढ़ होकर सामने से आ रहा था। इस बार वह अकेला नहीं था। उसकी सेना ने उसे घेर रखा था। वे लोग रथों, हाथियों तथा अश्वों पर आरूढ़ थे। कर्ण के बाण चलाने से पूर्व ही घटोत्कच ने पाँच बाण मारकर उसे घायल कर दिया। अंजलिक नामक बाण से उसके धनुष को भी काट दिया।

यह तो अच्छा ही हुआ कि इस समय उसके हाथ में परशुराम का दिया हुआ जय धनुष नहीं था—कर्ण ने सोचा—अन्यथा वह भी क्षतिग्रस्त हो सकता था।

घटोत्कच इस समय मायावी रूप त्याग कर आया था। उसके नेत्रों से अग्नि बरस रही थी।

"विरूपाक्ष ! रथ को कर्ण के और निकट ले चलो।" उसने कहा, "एकदम निकट। जहाँ से कूदकर मैं उसके रथ में जा सकूँ।"

कर्ण समझ नहीं पाया कि घटोत्कच क्या करना चाहता है। उसने उसके आक्रमण की प्रतीक्षा कर लेना ही उचित समझा। और फिर उसने देखा कि घटोत्कच ने आठ चक्रों से युक्त अशनि उठा ली और पूरे वेग से कर्ण पर चला दी।

कर्ण ने रथ से उछलकर अशनि को हाथ से पकड़ लिया और धरती पर खड़ा हो गया। धरती पर खड़े-खड़े ही उसने उसे वापस घटोत्कच पर फेंक दिया।

घटोत्कच अशनि को आते देखकर अपने रथ से कूद गया। अशनि के प्रभाव से उसका रथ पूर्णतः ध्वस्त हो गया था।

कर्ण पुनः अपने रथ पर आ बैठा था किंतु घटोत्कच का युद्धक्षेत्र में कहीं पता नहीं था।

कर्ण और घटोत्कच के युद्ध का बहुत सारा भाग दुर्योधन ने स्वयं देखा था और बहुत कुछ संदेशवाहकों से सुना था। वह कर्ण की ओर से तनिक भी निश्चिंत नहीं हो पा रहा था। कभी तो घटोत्कच उसके सामने एकदम शिशु लगने लगता था, जिसे कर्ण किसी भी समय समाप्त कर सकता था; और कभी वह इतना भयंकर हो उठता था कि दुर्योधन

का मन कर्ण का परिणाम सोचकर काँप जाता था।

सहसा उसे राक्षस अलायुध का स्मरण हो आया। बकासुर का भाई अलायुध ! उसने कहा था कि कभी रात्रि युद्ध हो तो वह भीम का वध करने की इच्छा रखता है। कारण पूछने की आवश्यकता नहीं थी, फिर भी दुर्योधन ने उससे पूछ ही लिया था। अलायुध ने जो कारण बताया वह दुर्योधन की अपेक्षा के अनुसार ही था। उसने कहा कि भीम ने अनेक राक्षसों का वध किया था। उसने हिडिंब का वध किया था, बकासुर को मारा था, जटासुर की हत्या की थी और अंततः किर्मीर को भी जीवित नहीं छोड़ा था। और"

"और क्या ?" दुर्योधन ने पूछा था।

"उसने राक्षस कन्या हिडिंबा के साथ बलात्कार किया था।" अलायुध ने कहा था, "इससे बड़ा अपराध और क्या हो सकता है।"

दुर्योधन उसकी बात सुनकर मन-ही-मन हँसा था। अलायुध स्वयं को प्रत्येक राक्षस कन्या का अभिभावक समझता है क्या। परम स्वतंत्र राक्षस कन्याओं के प्रेम को भी यह नियंत्रित करेगा।

"पर पांडव तो कहते हैं कि हिडिंबा ही भीम से प्रेम करने लगी थी। उसने हिडिंब के वध में भीम की स्वयं सहायता की थी।" दुर्योधन ने कहा था।

"पांडव तो यही कहेंगे, किंतु इसका प्रमाण क्या है ?"

"घटोत्कच उनके पक्ष से युद्ध करने आया है। हिडिंबा भीम को अपना पति मानती है।"

"कोई हिडिंबा से पूछने तो गया नहीं कि उसके मन में क्या था।" अलायुध ने रोषपूर्वक कहा था, "परिस्थितियों से बाध्य होकर उसने भीम को अपना पति स्वीकार कर लिया तो उससे भीम निर्दोष तो सिद्ध नहीं हो जाता।"

"घटोत्कच की क्या बाध्यता है ? वह तो अपनी माँ का पक्ष ले सकता है।"

"होते हैं कुछ मूर्ख। समझता होगा कि उसे हस्तिनापुर का राज्य मिल जाएगा।" अलायुध ने कहा था।

दुर्योधन की इच्छा हुई थी कि पूछे कि कहीं अलायुध भी कोई ऐसी ही अपेक्षा लेकर तो नहीं आया कि वह भीम का वध कर देगा तो हस्तिनापुर का साम्राज्य उसका हो जाएगा।

"भीम और अन्य पांडवों को तो वह अपने पिता मानता ही है, पांडवों की सारी रानियों को भी अपनी माताएँ मानता है। पांचाली की सेवा कर तो वह परम प्रसन्न होता है। राक्षस कुलकलंक।" अलायुध बहुत आवेश में था, "हिडिंबा यदि भीम से प्रेम करने लगी थी तो वह भी हमारी वध्य है। कोई राक्षस कन्या किसी राक्षसेतर पुरुष से प्रेम करे, इससे बड़ा कोई अपराध नहीं हो सकता।"

उस दिन दुर्योधन मन-ही-मन मुस्कराकर रह गया था, किंतु आज दुर्योधन को

अलायुध का वह आक्रोश बहुत उपयोगी लगा। उसने अलायुध को संदेश भेजा।

अलायुध अपना रथ दौड़ाता आया और बोला, "मैं सैन्यसमूह, घोड़े, हाथी और रथों सहित भीम को तथा मंत्रियोंसहित हिडिंबापुत्र घटोत्कच को मार डालूँगा। आप अपनी सारी सेना को रोक दीजिए। पांडवों के साथ हम युद्ध करेंगे।"

दुर्योधन समझ नहीं पाया कि वह उसकी बात को बचकानी मानकर, उस पर हँसे अथवा उसको उतना ही समर्थ मान ले जितना कि वह कह रहा है। घटोत्कच भी तो स्वयं को समर्थ सिद्ध कर रहा है, संभव है, अलायुध में भी कुछ वैसा ही सामर्थ्य हो। पर वह बिना परीक्षा किए अलायुध की बात का विश्वास कर इतना बड़ा संकट नहीं मोल लेना चाहता था। बोला, "तुम अपनी इच्छानुसार युद्ध करो। हम तुम्हारे युद्ध में बाधा नहीं बनेंगे। सैनिकों सहित तुम्हें आगे रखकर, हम लोग भी शत्रुओं के साथ युद्ध करेंगे। हमारे सैनिक विरोधियों से इतने विचलित हैं कि वे न शांत रह पाएँगे न निष्क्रिय।" दुर्योधन अपने लक्ष्य पर आया, "कर्ण के प्राण इस समय भारी संकट में हैं। जाने अश्वत्थामा, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और कृतवर्मा कहाँ हैं। इस अँधेरे में शकुनि और शल्य भी कहीं दिखाई नहीं दे रहे हैं। वे सब भी कहीं न कहीं जूझ रहे होंगे। हम सबको अपना-अपना दायित्व निभाना है। मैंने इस समरांगण में घटोत्कच को तुम्हारा भाग नियत कर दिया है। तुम अपना पराक्रम दिखाओ और यथाशीघ्र उसे मार डालो।"

अलायुध को जैसे अपना मनभावन मिल गया था। उसने एक बार अपनी वाहिनी का निरीक्षण किया। उन्हें कुछ आदेश दिए और घटोत्कच पर आक्रमण कर दिया।

घटोत्कच ने कर्ण को छोड़ दिया। कर्ण से पहले अलायुध से निबटना आवश्यक था। उसने वेग से अपनी ओर बढ़ते हुए अलायुध पर बाणों की धाराप्रवाह वर्षा की। पर वह जानता था कि बाणों का युद्ध न अलायुध को रास आएगा और न ही उसे। वे जब तक स्वतंत्र रूप से मतवाले हाथियों के समान लड़ नहीं लेंगे, तब तक उनको संतोष नहीं होगा।

कर्ण ने देखा कि घटोत्कच उसे छोड़कर अलायुध की ओर चला गया है। उसका मन खिन्न हो उठा : घटोत्कच ने उसकी तुलना में अलायुध को अधिक महत्त्वपूर्ण समझा ? नहीं, कदाचित् राक्षस होने के नाते उसने अलायुध को रोकना आवश्यक समझा।''' जो भी हो, अब कर्ण के पास यह विकल्प था कि वह घटोत्कच से ही जूझे या फिर भीम पर आक्रमण करे। अंततः कर्ण ने भीम से ही लड़ना निश्चित किया। उसने भीम पर आक्रमण किया। किंतु इस समय भीम के लिए कर्ण तनिक भी महत्त्वपूर्ण नहीं था। उसे घटोत्कच की चिंता थी। अलायुध जिस वेग के साथ आया था, उससे घटोत्कच उसका ग्रास बनता दिखाई दे रहा था। भीम अलायुध पर झपटा।

अलायुध ने देखा, भीम अपने आप ही उसके सामने आ गया था। वह तो भीम के वध की ही इच्छा लेकर आया था। दुर्योधन ने उसका भाग निश्चित करते हुए, घटोत्कच उसे सौंप दिया था। अन्यथा एक राक्षस से युद्ध करने के स्थान पर वह राक्षसों का

वध करने वाले इस भीम का मस्तक काट कर ही अधिक प्रसन्न होता।

अलायुध ने भीम को ललकारा। भीम ने उसके उत्तर में उसे अपने बाणों से ढँक दिया। अलायुध हँसा, "तेरे प्राण लेने के लिए मैं आ गया हूँ भीम। तेरे इन बाणों से क्या होगा।"

उसने भीम पर अपने भारी और अनघड़ बाण चलाए। अपने पुत्र की रक्षा में भीम इस समय तक अत्यंत प्रचंड हो चुका था। भीम के बाणों की मार खाकर अलायुध हँस नहीं सकता था। वह चीत्कार करता हुआ दसों दिशाओं में भागने लगा था। किंतु तत्काल ही उसे स्मरण हो आया कि इस प्रकार भाग कर तो वह भीम का वध नहीं कर सकता। उसने स्थिर होकर भीम पर कुछ बाण फेंके।

भीम ने देखा, उसके बाणों ने अलायुध को क्षतविक्षत कर दिया था। अब उसका अंत कर ही देना चाहिए। भीम ने अपनी भारी गदा उस पर वेग से फेंकी।

गदा को अपनी ओर आते देखकर अलायुध ने मुक्ति का श्वास लिया। बाणों को वह रोक नहीं सकता था किंतु गदा को तो वह रोक सकता था। उसने अपनी गदा से अपनी ओर आती हुई भीम की गदा को रोका।

भीम की समझ में आ गया कि गदा से मारना उसकी भूल थी। अलायुध को बाणों से ही छेदना चाहिए था। भीम ने पुनः अपना धनुप उठा लिया। किंतु इस बीच जाने क्या हो गया कि अलायुध कुछ और ही हो गया। भीम ने बाण छोड़े और अलायुध ने उन्हें व्यर्थ कर दिया। उसके सैनिक भी पांचालों पर कुछ भारी पड़ रहे थे। राक्षसों का दबाव निरंतर बढ़ता ही जा रहा था। कौरवों की सहायता से वे निरंतर प्रबल होते जा रहे थे।

और सहसा अलायुध के एक बाण ने भीम का धनुष काट दिया। भीम का ध्यान उसकी ओर से हटा ही था कि उसने भीम के रथ के सारथि और घोड़ों को भी मार डाला।

अब भीम के लिए बाण-युद्ध संभव नहीं था। भीम रथ से नीचे उतर आया और उसने एक भयंकर गदा दे मारी। अलायुध ने अपनी गदा से उस पर प्रहार किया और गदा को व्यर्थ कर दिया। अलायुध के उस भयानक कर्म को देखकर, भीम निराश होने के स्थान पर युद्धोत्साह से भर गया। उसने तीसरी गदा हाथ में ली। वह भाग कर अलायुध के सम्मुख पहुँचा और अपनी गदा से उसके रथ पर प्रहार किया। अपने अति उत्साह में अलायुध भी हाथ में गदा लेकर रथ से उतर आया।

"तूने मेरे भाई बक का वध किया।" अलायुध बोला, "आज मैं उसका प्रतिशोध तो लूँगा ही, तुझे मारकर तेरे भाइयों को भी एक-एक कर मार डालूँगा।"

भीम की जिह्वा के स्थान पर उसके हाथ चले। उसने अपनी गदा से अलायुध पर वेगपूर्ण प्रहार किया।

थोड़ी देर उनमें गदायुद्ध चलता रहा और फिर एक भयंकर टकराहट से दोनों की

गदाएँ ही उनके हाथों से छूट गईं। अब मल्लयुद्ध के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं था। वे परस्पर गुँथ गए थे; किंतु यह आरंभ से ही स्पष्ट था कि अलायुध की मल्लयुद्ध में अधिक रुचि नहीं थी। अलायुध ने भीम की पकड़ से छूटते ही भूमि से टूटे हुए रथ का एक पहिया उठाकर भीम को दे मारा। और फिर उन दोनों के हाथ में जो कुछ आया, उन्होंने उससे ही अपने शत्रु पर प्रहार किया।

कृष्ण ने युद्ध की स्थिति देखी और बोले, "अर्जुन ! लगता है कि भीमसेन अलायुध के वश में पड़ गए हैं। अलायुध न तो शस्त्रों का विशेष जानकार है और न ही दक्ष योद्धा। किंतु दुर्योधन ने उसके मन की प्रतिशोध की अग्नि को भड़का दिया है। तमोन्मुखी रजोगुणी यह राक्षस युद्ध तो नहीं जीत पाएगा, किंतु अपने प्राण देकर भी वह हमारी भारी क्षति कर सकता है। ऐसे लोग न तो धर्म को जानते हैं और न ही अपने लक्ष्य को। वे तो अपनी ऊर्जा का अपव्यय कर संसार का अकल्याण कर जाते हैं।"

"तो हम वहीं चलें ?"

"नहीं। वहाँ घटोत्कच को ही जाना चाहिए। तुम आचार्य द्रोण को रोको। कहीं इन राक्षसों को आचार्य की सहायता मिल गई तो सर्वनाश हो सकता है।" कृष्ण बोले, "धृष्टद्युम्न, शिखंडी, युधामन्यु, उत्तमौजा तथा पाँचों द्रौपदेय मिलकर कर्ण पर आक्रमण करें। नकुल, सहदेव और सात्यकि अन्य राक्षसों का वध करें।"

कृष्ण ने अपना रथ घटोत्कच के निकट रोका, "हिडिंबापुत्र ! लगता है कि अलायुध ने भीमसेन को अपने वश में कर लिया है। कर्ण को छोड़कर पहले तुम अलायुध का वध करो।"

धृष्टद्युम्न और शिखंडी आ गए थे। उन्होंने कर्ण पर बाण वर्षा आरंभ की। घटोत्कच कर्ण को छोड़कर अलायुध की ओर चला गया। भीम और घटोत्कच दोनों को सामने पाकर अलायुध का वेग मंद पड़ गया था। उसके सैनिक भी उसे कुछ सहायता नहीं पहुँचा पा रहे थे। नकुल, सहदेव और सात्यकि राक्षस सैनिकों के काल बने हुए थे। वे अपने बाणों से निरंतर उनको काटते जा रहे थे। द्रोणाचार्य ने बहुत प्रयत्न किया किंतु अर्जुन ने उन्हें कर्ण की सहायता के लिए नहीं आने दिया। अर्जुन के बाणों के वेग से वे अपनी वाहिनी के साथ पीछे हटने को बाध्य हो गए थे।

धृष्टद्युम्न, शिखंडी तथा अन्य पांचालों ने कर्ण पर आक्रमण तो कर दिया; किंतु वे लोग उसका वेग झेल नहीं पाए। कर्ण उन्हें निरंतर पीछे धकेलता जा रहा था। भीम से यह देखा नहीं गया। उसने अलायुध को घटोत्कच पर छोड़ा और कर्ण पर आक्रमण कर दिया। आज कर्ण ने उसे अपने बाणों और वाग्बाणों—दोनों से ही बहुत पीड़ित किया था। अपनी आँखों के सामने वह कर्ण को पांचालों को इस प्रकार नष्ट करने की अनुमति नहीं दे सकता था।

राक्षस सैनिकों से विशेष प्रतिरोध न पाकर नकुल, सहदेव और सात्यकि भी भीम की सहायता के लिए आ गए थे। कर्ण को उनसे उलझे हुए पाकर धृष्टद्युम्न तथा अन्य

पांचालों ने द्रोण पर आक्रमण कर दिया।

घटोत्कच और अलायुध फिर से अकेले रह गए थे। अलायुध का मनोबल बहुत बढ़ गया। उसे लगा कि सारे पांडव उससे भयभीत होकर उसे छोड़कर इधर-उधर भाग गए थे। एक घटोत्कच ही अपनी मूर्खतावश उससे उलझा हुआ था। अलायुध ने एक विशाल परिघ उठाकर घटोत्कच के मस्तक पर मारा। घटोत्कच लड़खड़ाकर कुछ पग पीछे हट गया। लगा कि वह अभी मूर्च्छित होकर गिर पड़ेगा। किंतु वह तत्काल सँभल गया। उसने अपनी गदा उठा ली और उन्मत्त की भाँति बिना रुके, अलायुध के रथ पर एक के पश्चात् एक कर अनेक प्रहार किए।

अलायुध का रथ चरमराकर धरती पर आ रहा तो घटोत्कच ने अपना हाथ रोक लिया। अलायुध का सारथि मारा जा चुका था। घोड़े भी मृत अथवा मृतप्राय होकर धरती पर पड़े थे।

अलायुध ने अपना भयंकर खड्ग उठाया और घटोत्कच पर टूट पड़ा। घटोत्कच ने भी अपना खड्ग उठा लिया। कुछ क्षणों तक खड्ग एक-दूसरे से टकराकर रण संगीत उत्पन्न करते रहे और फिर जैसे किसी चमत्कार से दोनों के खड्ग हाथ से छूटकर दूर जा गिरे। दोनों परस्पर गुँथ गए और एक-दूसरे के केश पकड़कर शत्रु को पीड़ा पहुँचाने का प्रयत्न करने लगे। दोनों के शरीर से रक्त बह रहा था।

और सहसा घटोत्कच ने अलायुध को ठीक वैसे ही पकड़ लिया, जैसे उसने अलंबुश को पकड़ा था। उसने उसे अपने सिर से ऊपर उठाया और चक्कर दे कर धरती पर बलपूर्वक पटक दिया ।

दुर्योधन देख रहा था। घटोत्कच ने यही अलंबुश के साथ किया था। यही वह अलायुध के साथ कर रहा था। घटोत्कच ने वैसे ही अलायुध के केश पकड़े और भूमि से अपना खड्ग उठाकर उसका मस्तक काट दिया।

घटोत्कच अलायुध का रक्त में भीगा मस्तक पकड़कर दुर्योधन के रथ की दिशा में आया; और सहसा उसने वह मस्तक दुर्योधन के सम्मुख फेंक दिया।

दुर्योधन को लगा, उद्विग्नता से उसका मस्तक फट जाएगा। अलायुध ने स्वयं आकर प्रतिज्ञा की थी कि वह भीम का वध कर देगा। दुर्योधन के मन ने कहीं भीतर ही भीतर उसका विश्वास भी कर लिया था। उसने अपने और अपने भाइयों के जीवन को सुरक्षित ही नहीं, चिरस्थायी मान लिया था।··· किंतु अलायुध की प्रतिज्ञा पूरी नहीं हुई थी। घटोत्कच ने अलायुध का वध कर दिया था। तो अब भीम को कौन रोकेगा ? कोई नहीं ! भीम भी अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर ही लेगा।···.

दुर्योधन को लगा कि उसकी जंघाओं में असहनीय पीड़ा हो रही है।

कर्ण ने धृष्टद्युम्न और शिखंडी, दोनों को ही अत्यंत घायल कर दिया था। युधामन्यु, उत्तमौजा और सात्यकि भी उसके सामने कुछ विशेष नहीं कर पा रहे थे। पांडव सेना

किसी भी प्रकार स्वयं को सुरक्षित नहीं समझ सकती थी। वे सब युधिष्ठिर की सुरक्षित सेना में प्रवेश करने का प्रयत्न कर रहे थे। पांडव सेना को हताश और युद्धविमुख देखकर घटोत्कच का रोष आकाश को छूने लगा।

घटोत्कच ने नया रथ लिया और कर्ण पर आक्रमण किया। कर्ण का मनोबल भी बहुत ऊँचा था। आज वह कुछ ऐसा अद्‌भुत करने वाला था कि दुर्योधन का विषादपूर्ण मन भी हर्ष से उछल जाए।

वे दोनों ही कर्णी, नाराच, शिलीमुख, नालीक, दंड, असन, वत्सदंत, वाराहकर्ण, विपाठ, सींग तथा क्षुरप्रों की वर्षा करते हुए, अपनी गर्जना से आकाश को कँपाने लगे। पर तभी कर्ण ने अपने दिव्यास्त्र से घटोत्कच के रथ को सारथि और घोड़ों सहित नष्ट कर दिया। घटोत्कच रथ से नीचे नहीं उतरा। वह पुनः अदृश्य हो गया था। अंधकार में उसको खोज पाना कौरवों के लिए संभव नहीं हो पा रहा था। जाने वह कहाँ था और कहाँ से प्रकट होगा। वह कहीं से भी प्रकट होगा और कर्ण को मार देगा।

दुर्योधन बहुत डरा हुआ था। यदि आज का यह रात्रियुद्ध भी पांडवों को समाप्त नहीं कर पाया तो स्थिति और भी विकट हो जाएगी।''' उसे लगा कि उसके मन में कर्ण के प्रति भी गंभीर असंतोष पंनप रहा था।''' पता नहीं, यह क्या कर रहा है। घटोत्कच दिखाई नहीं दे रहा है तो यह सभी दिशाओं में लक्ष्यहीन बाण क्यों चला रहा है। उस वैजयंती का प्रयोग क्यों नहीं करता कि वह घटोत्कच को खोज कर उसे मार डाले। पांडवों में से कोई एक तो समाप्त हो। अर्जुन नहीं मरता इससे तो भीम को मारे। भीम नहीं मरता तो घटोत्कच को मारे। पर किसी को तो मारे। यह अपना बाण संधान का अभ्यास ही करता रहेगा क्या, अथवा शत्रु का वध भी करेगा।'''

दुर्योधन को अपने ऊपर भी बहुत क्रोध आया। उसने अपना सारा जीवन इन लोगों को पालने और प्रसन्न करने में ही व्यतीत कर दिया। पितामह और आचार्य के पास दिव्यास्त्र और देवास्त्र थे। कृपाचार्य की चाटुकारिता भी इसी कारण की। अश्वत्थामा और कर्ण का पालन-पोषण करता रहा। क्यों उसने स्वयं दिव्यास्त्र और देवास्त्र प्राप्त नहीं किए ? स्वयं तपस्या कर लेता तो इन लोगों का मुँह तो नहीं देखना पड़ता।''' तपस्या ?''' यही तो उससे हो नहीं सकता था।'''

और तभी घटोत्कच ने अब तक की अपनी सबसे भयंकर माया प्रकट की। जाने वह स्वयं कहाँ था किंतु उसकी ओर से बाणों, शक्ति, ऋष्टि, प्रास, मूसल, गदाओं और शतघ्नियों की वर्षा होने लगी।''' दुर्योधन के मन में अनेक बार आया था कि ये राक्षस भी तो कोई तपस्या नहीं करते थे; किंतु इनके पास कुछ और प्रकार के शस्त्र होते थे। तपस्वियों ने अपनी साधना से अपनी आत्मा को सूक्ष्म प्रकृति से एकाकार कर प्राकृतिक तत्त्वों से सूक्ष्म अस्त्रबल प्राप्त किया था तो इन राक्षसों ने उसी प्रकृति के स्थूल भौतिक तत्त्वों से विभिन्न प्रकार की मारक शक्ति प्राप्त की थी। घटोत्कच की इस अस्त्र वर्षा से सहस्रों दुंदुभियों के बजने की भयंकर ध्वनियाँ हो रही थीं, जैसे पर्वतों

के शिखर टूट कर गिर रहे हों। न तो राक्षस सैनिक किसी पर दया करते थे और न ही उनके द्वारा प्रयुक्त भुषुंडी, शतघ्नी, लोहे के पत्रों से मढ़े हुए स्थूणाकार शस्त्र।''' कर्ण निरंतर बाण चला रहा था किंतु उसके बाण घटोत्कच की उस शस्त्र वर्षा को रोक नहीं पा रहे थे।

दुर्योधन की सेना में पलायन ही पलायन था। सैनिक एक दिशा से दूसरी और दूसरी से तीसरी दिशा में भाग रहे थे। उनका हाहाकार ही सुनाई दे रहा था। न कहीं कोई वीर हुंकार और न कहीं कोई क्षात्र तेज। चारों ओर विषाद की मूर्तियाँ और कायर पलायन।''' क्यों नहीं कर्ण वैजयंती का प्रयोग करता ?''' कर्ण अपने स्थान पर दृढ़ता से खड़ा था। घटोत्कच की शस्त्रवर्षा को अपने वक्ष पर झेल रहा था और निरंतर बाणवर्षा कर रहा था; किंतु उसका लाभ क्या ?

और सहसा घटोत्कच ने एक शतघ्नी छोड़ी। वह आकार में पहले से कहीं बड़ी तो थी ही, उसमें रथ के समान पहियों को लगाया गया था। वह अपने बल पर भूमि पर अपने पहियों के ऊपर चल रही थी। मार्ग में आए प्रत्येक विघ्न को पीस कर उसके ऊपर से चलती जा रही थी। अंततः आकर उसने कर्ण के रथ को टक्कर मारी। रथ के चारों घोड़े एक साथ ही धराशायी हो गए।

कर्ण रथ से उतर आया।

दुर्योधन और धैर्य नहीं कर सका। कर्ण के निकट आकर रोषपूर्वक बोला, "वैजयंती का प्रयोग क्यों नहीं करते ? घटोत्कच मारा नहीं गया तो हममें से कोई नहीं बचेगा। तुम भी नहीं। क्या करोगे उस वैजयंती का अपनी मृत्यु के पश्चात् ? अरे भीम और अर्जुन हमारा क्या कर लेंगे। रात्रियुद्ध में सारी सेना को इस प्रकार त्रास देने वाले इस पापी राक्षस को पहले मारो। हममें से कोई बचेगा तो पांडवों से युद्ध करेगा न।"

घटोत्कच ने पहियों वाली दूसरी शतघ्नी छोड़ दी।

क्रोध से कर्ण के दाँत भिंच गए। यह घटोत्कच सामने क्यों नहीं आता। दिखाई पड़े तो वह एक बाण से उसका मस्तक काटकर पृथ्वी पर गिरा देगा। पर यदि वह अदृश्य रहकर इस प्रकार शतघ्नियाँ छोड़ता रहा तो सेना के साथ-साथ कर्ण की अस्थियों का भी चूर्ण बन जाएगा।''' दुर्योधन ठीक कह रहा है उसे वैजयंती का प्रयोग करना चाहिए; किंतु फिर अर्जुन ?''' दुर्योधन ने उसे इस रात्रियुद्ध के लिए बाध्य किया ही क्यों ? न रात्रियुद्ध होता, न इस राक्षस को इस प्रकार अदृश्य रहकर युद्ध करने की सुविधा मिलती। पर अब ? सामने से वह शतघ्नी आ रही थी।''' अनायास ही कर्ण का हाथ वैजयंती पर जा पड़ा ।

दुर्योधन प्रसन्न हो गया, "यही तो। यही तो कह रहा हूँ मैं।"

कर्ण के हाथ से छूटकर वैजयंती, घटोत्कच का वक्ष गहराई तक चीरती हुई अंधकारपूर्ण आकाश में कहीं विलीन हो गई।

अर्जुन ने हाथों से अपना मस्तक थाम लिया… तो यह सत्य ही था कि कर्ण के पास वैजयंती थी। पर अर्जुन ने यह क्या किया : घटोत्कच को मरने दिया। उसके हाथ से गांडीव छूटा-छूटा जा रहा था।

कृष्ण ने लपककर अर्जुन को अपने वक्ष से लगा लिया, "तुम बच गए अर्जुन ! अब कर्ण तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। उसे युद्ध में मारा गया ही समझो।"

"मैं तो बच गया केशव ! किंतु घटोत्कच !" अर्जुन ने उनकी ओर देखा, "आपको तनिक भी शोक नहीं है घटोत्कच के मरने का।"

"वह पापी राक्षस था।" कृष्ण का स्वर कठोर हो गया, "युद्ध में न मरता तो मुझे भविष्य में किसी समय, अपने हाथों से उसका वध करना पड़ता।"

अर्जुन स्तब्ध रह गया, "क्या कह रहे हैं माधव ! वह हमारा पुत्र था। हमारे पक्ष का महारथी योद्धा।"

"मेरा न कोई पुत्र है और न कोई पक्ष।" कृष्ण बोले, "मेरा तो बस एक धर्म है। कोई हमारा स्वार्थ सिद्ध कर दे तो वह हमें प्रिय नहीं हो जाना चाहिए। कोई हमारे परिवार में जन्म ले ले तो वह हमारा रक्षणीय नहीं हो जाता। मेरे लिए तो जैसे जरासंध, शिशुपाल, और एकलव्य थे, उसी प्रकार घटोत्कच भी था। जैसे वे अधर्मी मारे गए, वैसे ही घटोत्कच को भी मरना ही था।"

अर्जुन ने कुछ नहीं कहा। वह जानता था कि कृष्ण को समझना सरल नहीं था। उनके मन की थाह को कौन पा सकता था। पर सारे चराचर जीवों को अपनी ममता देने वाले कृष्ण इतने निर्मम कैसे हो जाते हैं ?

कौरवों का वेग बहुत बढ़ गया था। घटोत्कच के मारे जाने से वे अति उत्साहित हो उठे थे। इधर लगता था कि धर्मराज अचेत ही हो जाएँगे। उनकी आँखों से अश्रु बह रहे थे।

"महाराज ! शत्रुओं की सेना में भयंकर गर्जना का शब्द बढ़ता जा रहा है। वे आपकी सेना का सर्वनाश कर रहे हैं। द्रोण भी बहुत प्रचंड हो उठे हैं।" कृष्ण बोले, "मूढ़ मनुष्यों के समान ऐसी व्याकुलता आपको शोभा नहीं देती। शोक के लिए अवकाश नहीं है। उठिए। युद्ध कीजिए। महासंग्राम का भार सँभालिए। आप ही घबरा जाएँगे तो हमें विजय कैसे मिलेगी।"

युधिष्ठिर ने कृष्ण की ओर देखा, "मैं, आप और भीम जैसा धैर्य कहाँ से लाऊँ। घटोत्कच के मारे जाने से मुझ पर मोह छा गया है और फिर कर्ण का पराक्रम देखकर मैं चिंता में पड़ गया हूँ।"

अर्जुन का ध्यान भीम की ओर चला गया। जब धर्मराज ही इतने व्याकुल हैं तो भीम भी कम प्रभावित नहीं हुआ होगा।

"भीम तो अपने अश्रु पी कर आँखों से अंगारे बरसाता हुआ, दुर्योधन को रोकने के लिए चला भी गया है; किंतु मेरा मन धनुष उठाने का भी नहीं हो रहा।" युधिष्ठिर

बोले, "हम वन में थे तो घटोत्कच ने हमारी कितनी सहायता की थी। अर्जुन अस्त्र प्राप्ति के लिए अन्यत्र गया हुआ है, यह जानकर वह काम्यक वन में हमारी रक्षा के लिए, अर्जुन के लौटने तक हमारे साथ रहा। और आज कर्ण ने उसे मार दिया।" सहसा उन्होंने रुककर कृष्ण की ओर देखा, "अभिमन्यु का वध हुआ, तब भी मैंने कहा था कि उसके लिए बड़े अपराधी कर्ण और द्रोण हैं। किंतु अर्जुन ने उसके लिए जयद्रथ को दंडित किया। यदि तब अर्जुन ने कर्ण का वध कर दिया होता तो आज घटोत्कच जीवित होता।"

वे रथारूढ़ हो गए, "भीमसेन आचार्य से युद्ध कर रहा है। मुझे कर्ण के वध का प्रण कर युद्धभूमि में जाना चाहिए।"

युधिष्ठिर ने शंख बजाया और अपने धनुष की टंकार से युद्धभूमि को गुँजाते हुए चल पड़े।

कृष्ण ने अर्जुन को देखा, "समझ रहे हो धनंजय ! धर्मराज तुमसे रुष्ट हैं कि तुमने आज तक कर्ण का वध नहीं किया। कर्ण मारा गया होता तो न अभिमन्यु का वध होता, न घटोत्कच का।"

"पर क्या यह सत्य है केशव !"

"उसकी चिंता छोड़ो।" कृष्ण बोले, "अब धर्मराज की चिंता करो। उनका इस प्रकार अकेले कर्ण से युद्ध करने जाना उचित नहीं है।"

"तो ?"

"प्रभद्रकों की सेना को साथ लेकर शिखंडी जाएँ धर्मराज की सहायता के लिए। प्रयत्न करें कि धर्मराज और कर्ण का सीधा टकराव न हो। भीम की सहायता के लिए धृष्टद्युम्न, द्रोण पर आक्रमण करें।" कृष्ण बोले, "और देखो अर्जुन ! सैनिक और वाहन कैसे थक चुके हैं। महारथी निद्रा से अंधे हो रहे हैं। संग्राम में कोई विशेष चेष्टा भी नहीं हो रही है। यह तो दुर्योधन की हठ ही है।"

अर्जुन ने देखा : कुछ सैनिक अपने शस्त्रों सहित भूमि पर शवों के बीच ही स्थान बनाकर, सो गए थे, कुछ योद्धा रथों में निद्रा से अचेत होकर गिर पड़े लगते थे। और तो और हाथियों और अश्वों पर भी कुछ लोग सो गए थे। इतने संकट में, इस प्रकार के कोलाहल के होते हुए भी योद्धा सो गए हैं, तो वे कितने थक गए होंगे।''' कर्ण और आचार्य का प्रतिकार करने की व्यस्तता में इस ओर उसका ध्यान ही नहीं गया था। यह तो अत्याचार है सैनिकों के साथ।'''

"पर दुर्योधन तो युद्ध नहीं रोकेगा।" अर्जुन ने कहा।

"सेनापति युद्ध रोकना नहीं चाहते किंतु सैनिकों को तो विश्राम चाहिए।" कृष्ण ने कहा, "तुम अपनी ओर से प्रयत्न करके देखो।"

"कौरव सैनिको !" अर्जुन ने उच्च स्वर में कहा, "तुम सब लोग अपने वाहनों सहित अत्यधिक थक चुके हो। सारी सेना अंधकार और धूल से ढँक गई है। लोग

अपने शस्त्रों के साथ सो गए हैं अथवा नींद से अंधे होकर अपने ही पक्ष पर प्रहार कर रहे हैं। तुम्हारे सेनापति नहीं चाहते कि युद्ध थमे किंतु तुम लोग ठीक समझो तो युद्ध रोक दो और दो घड़ी के लिए इस रणभूमि में ही सो लो। विश्राम हो जाए, तुम्हारी आँखें कुछ खुल जाएँ, शरीर की जड़ता दूर हो जाए, तो फिर से युद्ध आरंभ कर देना। मैं तुम्हें अपने सेनापतियों की अवज्ञा करने को नहीं कह रहा; किंतु यदि तुम लोग पांडव सेना के भय से युद्ध स्थगित नहीं कर रहे हो तो मैं पांडव सेना की ओर से तुम्हें वचन दे रहा हूँ कि जब तक तुम लोग स्वयं ही युद्ध के लिए प्रस्तुत नहीं हो जाओगे, हम तुम पर आक्रमण नहीं करेंगे।''

अर्जुन की बात का सीधा प्रभाव दिखाई दिया। पहले तो सारे रणक्षेत्र पर जैसे स्तब्धता छा गई। कोलाहल क्षीण हो गया। हर प्रकार की गतिविधि रुक गई; और फिर किसी मूक समझौते के अंतर्गत कौरव सैनिकों के बढ़ने की दिशा बदल गई। वे पांडवों की ओर बढ़ने के स्थान पर वापस अपने सेनापतियों की ओर बढ़ गए, ''राजा दुर्योधन ! महावीर कर्ण ! युद्ध बंद करो।''

''यह षड्यंत्र है।'' दुर्योधन ने चिल्लाकर कहा।

''नहीं !'' किसी सैनिक ने उत्तर दिया, ''यह अर्जुन का धर्म और जीव-दया है। हम उसका कल्याण चाहते हैं।''

''तुम युद्ध नहीं करोगे और वे तुम्हें मार डालेंगे।'' दुर्योधन बोला।

''हम युद्ध करेंगे तो भी मारे ही जाएँगे।'' उत्तर आया।

''मेरी बात मानो, वे थक गए हैं। युद्ध में असमर्थ हो चुके हैं। हम लड़ते रहे तो प्रातः तक युद्ध जीत भी जाएँगे।''

कौरव सैनिकों में अब कोई गतिविधि नहीं थी।

25

युधिष्ठिर ने घमासान युद्ध में से कृष्ण, अर्जुन, भीम, धृष्टद्युम्न और शिखंडी को अपने पास बुला लिया था। सात्यकि कहीं दूर दुर्योधन से उलझा हुआ था। उसका इस समय युद्ध छोड़कर आना संभव नहीं था।

''आपको सूचना मिल गई होगी कि प्रातः से अब तक में आचार्य द्रोण के हाथों हमारे पूज्य महाराज द्रुपद और महाराज विराट् दोनों ही महारथी वीरगति को प्राप्त हुए हैं। आचार्य ने महावीर धृष्टद्युम्न के पुत्रों के भी प्राण हर लिए हैं।'' युधिष्ठिर बोले, ''और उसके पश्चात् भी आचार्य प्रलय की अग्नि के समान धधक रहे हैं। हमारे सैनिक उनके ताप को सहन नहीं कर पा रहे। ऐसे में हम विजय की क्या सोचें, हमारे प्राण भी बच जाएँ तो बहुत है।''

"धर्मराज ठीक कह रहे हैं।" कृष्ण बोले, "विजय की इच्छा हो तो पांडवों को भूलना होगा कि आचार्य द्रोण उनके गुरु हैं। युद्ध में विजय के लिए विरोधी पक्ष से लड़ने वाले गुरु का भी वध करना पड़ता है।"

"मैं तो सहमत हूँ किंतु आपका यह शिष्य…" युधिष्ठिर ने अपना वाक्य अधूरा छोड़ दिया। सबकी दृष्टि अर्जुन पर जा टिकी; किंतु अर्जुन सिर झुकाए पूर्ववत् ही बैठा रहा।

"आचार्य को सिवाय धनंजय के और कौन रोक सकता है ?" युधिष्ठिर ने कहा, "किंतु धनंजय मन लगाकर उनसे युद्ध करेगा नहीं। अब बताइए, मैं किसके पास जाऊँ ?"

"आप ठीक कह रहे हैं।"

कृष्ण ने अर्जुन की ओर देखा। अर्जुन अब भी सर्वथा उदासीन-सा बैठा था, जैसे इस चर्चा से उसका कोई संबंध ही न हो। कृष्ण कुछ देर मौन रहे और फिर बोले, "धनंजय आचार्य का वध नहीं करना चाहता, न करे। उससे आचार्य अमर नहीं हो जाएँगे। महाकाल को तो अपना कार्य करना ही है। बस ऐसे में हमें युद्ध के स्थान पर युक्ति का आश्रय लेना होगा। शस्त्रों से भी बलवान होती है नीति।"

अर्जुन ने चौंककर कृष्ण की ओर देखा, किंतु अब वे उसकी ओर नहीं देख रहे थे। कदाचित् वे जानबूझकर उसकी ओर से मुँह फेरे हुए थे।

"कृष्ण ! यदि तुम कोई ऐसा प्रस्ताव करने वाले हो, जिसमें हम अपनी चतुराई से आचार्य को पराजित कर सकें, तो यह मुझे प्रिय नहीं है।" अर्जुन ने कोमल स्वर में कहा।

कृष्ण ने अर्जुन की ओर अब भी नहीं देखा। अर्जुन को उनके चेहरे का भाव देखकर कुछ आश्चर्य हुआ। ऐसा नहीं लगता था कि भयंकर युद्ध की स्थिति में वे पांडवों के मध्य बैठे किसी गंभीर चर्चा में संलग्न हैं। वे तो जैसे आत्मलीन से होकर कुछ विचार कर रहे थे।

"धर्मराज ! अर्जुन को विभाजित समर्पण का रोग हो गया है।" कृष्ण बोले, "वह उस ईश्वरीय संदेश को भूल बैठा है।"

"कौन-सा संदेश ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव।।"[1] कृष्ण बोले।

अर्जुन को स्मरण हो आया… युद्ध के आरंभ में भी कृष्ण ने उससे यह बात कही थी। वे उन्हीं पंक्तियों को दुहरा रहे थे। इस समय यह अर्जुन को उनका उत्तर था। अर्जुन ने उन्हें बताया था कि उसे क्या प्रिय नहीं है तो उन्होंने भी उसे बता दिया था कि उन्हें क्या प्रिय है।… पर वे तो कह रहे हैं कि जो प्राणी निर्वैर होकर रहता है, वही उनको प्राप्त करता है, तो फिर वे उसे क्यों बाध्य कर रहे थे कि वह अपने ही गुरु

से शत्रुता करे ?"'

"मैं स्वीकार करता हूँ कि हमें गुरु से वैर नहीं करना चाहिए।" कृष्ण मुस्कराए, "मैं तो उससे भी आगे बढ़कर यह स्वीकार करता हूँ कि हमें किसी से भी वैर नहीं करना चाहिए। हमें अपने मन में वैर का भाव ही नहीं पालना चाहिए।'''"

"पर जब लोग हमसे वैर करेंगे'''।" भीम ने उनकी बात बीच में ही काट दी।

किंतु कृष्ण ने भी भीम को अपनी बात पूरी नहीं करने दी। उन्होंने अपना हाथ उठाकर उसे बीच में ही रोक दिया, "किंतु हमें किसी का मोह भी नहीं पालना चाहिए। हमें निष्काम भाव से अपना कर्तव्य करना चाहिए। हम युद्ध में खड़े हैं तो हमारे सामने केवल दो ही पक्ष होने चाहिए, अपना और शत्रु का। जो हमारे पक्ष में लड़ रहा है, वह इस समय रक्षणीय है और जो हमारे विरुद्ध युद्ध कर रहा है, वह वध्य है। इससे आगे कुछ भी सोचना अनुचित है। अतः युद्ध में उतरना और जय की इच्छा मन में न रखना अथवा जय के लिए पूर्ण प्रयत्न न करना, पाप है। जीत के लिए जो भी युक्ति आवश्यक होगी, हम वह करेंगे। यह युद्धशास्त्र का आदेश है।"

अर्जुन मौन ही रहा।''' कृष्ण कह तो ठीक ही रहे थे। पर अर्जुन अपने गुरु को न तो मार सकता था, न उन्हें मरता हुआ देख सकता था। वह कृष्ण के समान योगी नहीं हो सकता। उन्हें तो न किसी से किसी प्रकार का मोह है, न किसी से शत्रुता। फिर भी युद्ध कर रहे हैं। उनका कर्म बाधित होता ही नहीं'''

अर्जुन ने सिर झुका लिया''' तभी तो वे कृष्ण हैं, और वह अर्जुन ! वह उनका शिष्य होकर भी कृष्ण नहीं हो सकता। अपने कर्तव्य को समझकर भी अपने मोह से छूट नहीं पाता'''

"कैसी युक्ति केशव ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"युद्ध केवल कौशल और शौर्य से ही तो नहीं जीते जाते धर्मराज ! उनके लिए युक्ति भी आवश्यक होती है। दुर्योधन ने युक्ति से शल्य का हरण कर लिया और महाराज शल्य उनके हो गए'''।" कृष्ण बोले।

"और दुर्योधन ने युक्ति से ही कृष्ण की नारायणी सेना का भी अपहरण कर लिया। वह सेना भी दुर्योधन की हो गई।" भीम ने अत्यंत अबोध भाव से कहा।

"वह तो मैंने ही नारायणी सेना के स्थान पर कृष्ण को माँगा था।" अर्जुन ने तत्काल कृष्ण का बचाव किया।

"नहीं ! मैंने ही युक्ति से नारायणी सेना दुर्योधन को सौंप दी थी। जिस-जिसका नाश निकट आ गया है, वह दुर्योधन के पक्ष का हो गया है।" कृष्ण बोले, "युद्ध को आरंभ हुए इतने दिन हो गए। कहाँ है वह नारायणी सेना आज ? कहाँ है उनका शौर्य ?"

"केशव ! हम उस युक्ति की बात कर रहे थे।" धर्मराज कुछ उतावले से होकर बोले।

"ओह ! हाँ !" कृष्ण मुस्कराए, "हमें स्मरण रखना चाहिए कि योद्धा के लिए

शस्त्र भी आवश्यक हैं और उसका आत्मबल भी।…"

"हाँ ! और अपने पक्ष के योद्धाओं को धराशायी होते देख हमारा आत्मबल ही तो क्षीण होता जा रहा है।" शिखंडी ने कहा।

"आप आचार्य को उनके शस्त्रज्ञान से वंचित नहीं कर सकते। आप उनकी दक्षता का हरण नहीं कर सकते। आप उनके दिव्यास्त्र उनसे छीन नहीं सकते। आप केवल एक काम कर सकते हैं।"

"क्या ?" भीम ने पूछा।

"आप उनके आत्मबल का हरण कर सकते हैं। एक बार उनका आत्मबल क्षीण कर दिया जाए तो वे स्वयं ही अपने शस्त्र त्याग देंगे।" कृष्ण बोले।

"उनका आत्मबल !" धृष्टद्युम्न ने जैसे अपने आपसे कहा। उसकी आँखों में अग्नि धधक रही थी; किंतु उसके चेहरे पर एक प्रकार की असहायता का भाव भी था।

"जहाँ तक मैं समझता हूँ, आचार्य की आत्मा एक तपस्वी की आत्मा है। उन्हें अपने लिए कदाचित् कुछ नहीं चाहिए। किंतु उनके मन में बैठा पिता सांसारिक दृष्टि से भी अत्यंत महत्त्वाकांक्षी है। उन्होंने जीवन में जब भी किसी भी प्रकार की भौतिक संपदा चाही है, अपने एकमात्र पुत्र अश्वत्थामा के लिए ही उसकी इच्छा की है। अब, यदि अश्वत्थामा ही न रहे…?"

"यदि अश्वत्थामा ही न रहे…।" शिखंडी ने दोहराया।

"पर अश्वत्थामा कैसे न रहे ?" धृष्टद्युम्न ने पूछा।

"कैसे की चिंता हम बाद में करेंगे।" कृष्ण मुस्कराए, "पहले हम विचार करें कि यदि अश्वत्थामा न रहे तो क्या आचार्य इसी वेग से लड़ सकेंगे ?"

"मैं कृष्ण से सहमत हूँ।" भीम ने गंभीर स्वर में कहा, "द्रोण के ही नहीं कृपाचार्य के प्राण भी अश्वत्थामा में ही बसते हैं। अश्वत्थामा का वध हो जाए तो आचार्य के लिए युद्ध का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाएगा।"

"पर अश्वत्थामा को कौन मारेगा ?" सहसा अर्जुन ने कहा।

भीम जैसे तड़पकर अर्जुन की ओर मुड़ा, "तुमसे नहीं कहेंगे उसे मारने को। तुम आचार्य का ही वध करना नहीं चाहते तो उनके प्राणों के प्राण अश्वत्थामा का वध कैसे करोगे।"

भीम के क्रोध को अर्जुन समझ रहा था। पर वह नहीं चाहता था कि भीम की बातों से उत्तेजित होकर वह किसी भी एक पक्ष में कुछ कह दे।

"मैं तुम्हारे क्रोध को समझता हूँ मध्यम ! किंतु तुम भी तो मेरे मन को समझो।"

"समझ गया हूँ तुम्हारे मन को, तभी तो यह सब कह रहा हूँ।" भीम ने कहा, "द्रोण ने अभिमन्यु का वध किया। तुम उससे क्षुब्ध हुए, किंतु द्रोण से प्रतिशोध न लेकर, जाकर जयद्रथ को मार आए। अब घटोत्कच का वध हुआ है, तो मैं कर्ण से प्रतिशोध न लेकर, उसकी सेना के किसी अश्व को मार आऊँ ?"

"निश्चिंत रहो मध्यम ! अभिमन्यु का प्रतिशोध लिया गया हो या न लिया गया हो, किंतु घटोत्कच का प्रतिशोध अवश्य लिया जाएगा। मैं कर्ण का वध अवश्य करूँगा। घटोत्कच ने मेरे लिए प्राण दिए हैं। मैं उसका ऋण अवश्य चुकाऊँगा।"

"हम विषय से भटक रहे हैं।" युधिष्ठिर ने कहा, "प्रश्न है कि यदि अश्वत्थामा मारा गया तो आचार्य युद्ध से निरस्त हो जाएँगे ?"

"यह निश्चित है धर्मराज !" कृष्ण बोले, "अश्वत्थामा की मृत्यु का समाचार पाकर द्रोण युद्ध नहीं कर पाएँगे। वे कितने भी दुर्द्धर्ष योद्धा क्यों न हों, उनका मन ऐसा नहीं है कि वे पुत्र के वध का समाचार सुनकर स्थिर रह सकें। आप अश्वत्थामा के वध का प्रबंध कीजिए।"

"अश्वत्थामा का वध तो होगा ही।" युधिष्ठिर ने कहा, "उसके बिना युद्ध समाप्त ही नहीं हो पाएगा, किंतु तत्काल यह कैसे हो ? हमारे पास ऐसा योद्धा कौन है कि जो इसी क्षण जाए और उसका वध कर आए ?"

"आपकी आज्ञा हो तो मैं जाऊँ।" शिखंडी ने उनकी ओर देखा।

"मेरा विचार है कि महावीर शिखंडी को जाने दिया जाए।" भीम ने कहा।

"पर शिखंडी तत्काल अश्वत्थामा का वध नहीं कर पाएँगे। उनको कुछ समय तो लगेगा ही।" धृष्टद्युम्न ने कहा।

सबने उसकी ओर देखा : क्या था उसके मन में ?··· किंतु धृष्टद्युम्न ने और कुछ कहा ही नहीं।

"और उतनी देर में द्रोण हमारी सेना को पूर्णतः नष्ट कर देंगे।" युधिष्ठिर ने कहा।

"इस कार्य में विलंब न हो, इसी का प्रबंध हमें करना है। शिखंडी अश्वत्थामा को मारने को प्रस्तुत हैं। शिखंडी उसका वध कर सकें तो बहुत अच्छा, अन्यथा अश्वत्थामा को पूर्णतः अवरोध में रखने का कार्य शिखंडी करें। पूर्ण अवरोध का अर्थ जानते हैं न आप ?" कृष्ण ने रुककर शिखंडी की ओर देखा, "अश्वत्थामा किसी भी प्रकार उस अवरोध से निकल न सके। उसका कोई समाचार न आचार्य को मिल सके, न दुर्योधन को। उसकी वाहिनी से कोई संदेशवाहक भी बाहर न निकल सके। कोई न जान पाए कि वह कहाँ है और किस स्थिति में है। कर पाएँगे शिखंडी ?"

"आप कहें तो उधर से कोई पक्षी भी इस ओर आने नहीं दूँगा।" शिखंडी ने कहा।

"तब महाराज ! आप आचार्य तक यह सूचना पहुँचा दें कि अश्वत्थामा मारा गया है।" कृष्ण बोले, "अश्वत्थामा यदि शिखंडी के अवरोध में होगा तो आचार्य यह जान तो पाएँगे नहीं कि अश्वत्थामा जीवित है अथवा मारा जा चुका।···कर पाएँगे ?"

सबने एक-दूसरे को देखा।

"यह उचित नहीं है।" अर्जुन ने कहा, "यह धर्म के प्रतिकूल है और यह क्षत्रिय

का आचरण भी नहीं है।"

"तुम चुप रहो। कृष्ण से अधिक नहीं जानते हो, धर्म को तुम।" भीम ने कहा, "हम धर्म पर ही चलते रहें और वे हमारे योद्धाओं का वध करते रहें। आचार्य ने कितनी बार लघु ब्रह्मास्त्रों का प्रयोग किया है और किन लोगों पर ? उन पर, जिन्हें दिव्यास्त्रों का तनिक भी ज्ञान नहीं था। यह धर्म है ? वे धर्मसंगत युद्ध कर रहे हैं ? युद्ध के किसी भी नियम का पालन किया है कौरवों ने ? जब हम कुछ करने की सोचते हैं तो तुम हमारे हाथ बाँध देना चाहते हो। तुम अपने गुरु के मोह में यह भी भूल जाते हो कि इन्होंने ही अभिमन्यु का वध करवाया है और वह भी अधर्म से।"

अर्जुन ने भीम की ओर देखा। वह कुछ कहना चाहता था, पर भीम ने उसे कहने नहीं दिया। बोला, "और तुम धर्म पर चल रहे हो ?"

"क्यों ? मैंने क्या किया है ?" अर्जुन के स्वर में आश्चर्य था।

"तुम युद्ध कर रहे हो और शत्रु का वध नहीं कर रहे। यह धर्म है ?" भीम ने कहा, "तुम पितामह का वध नहीं करना चाहते थे। परिणामतः हमारे सहस्रों योद्धा कटवा दिए। अब तुम आचार्य का वध नहीं करना चाहते और अपने मित्रों का वध करवा रहे हो। प्रकारांतर से आचार्य की सहायता कर रहे हो तुम ! अप्रत्यक्ष सहायता।"

"पर असत्य भाषण···" युधिष्ठिर को भी अपने सम्मुख संकट खड़ा लग रहा था।

"धर्मराज !" कृष्ण बोले, "यदि आप इस असत्य वचन को स्वीकृति नहीं देंगे तो हम सबके प्राण जाएँगे। हमारे प्राणों की रक्षा के लिए तो आप अनृत वचन बोल ही सकते हैं। उसमें कोई दोष नहीं है। किसी के प्राणों की रक्षा के लिए अनृत वचन बोलना पाप नहीं है; और यहाँ तो हम सबके प्राणों का प्रश्न है।···"

युधिष्ठिर के मन का असमंजस नहीं गया। वे मौन बैठे रहे। अर्जुन प्रसन्न था। धर्मराज इसकी स्वीकृति नहीं देंगे।··· किंतु कृष्ण इसका समर्थन ही नहीं कर रहे, इसका प्रस्ताव भी कर रहे हैं। मध्यम ठीक कह रहा था कि अर्जुन धर्म को कृष्ण से अधिक नहीं जानता था। पर···

"यदि शिखंडी सचमुच ही अश्वत्थामा को अवरोध में रखें तो मैं द्रोण को अश्वत्थामा के वध की वास्तविक सूचना दूँगा।" भीम ने कहा।

कृष्ण ने भीम को बहुत रुचि से देखा, "अश्वत्थामा के वध की वास्तविक सूचना ? आप तत्काल वध करेंगे अश्वत्थामा का मध्यम ?"

"हाँ ! मालवा के राजा इंद्र वर्मा के पास एक भयंकर गज है, उसका नाम अश्वत्थामा है।" भीम ने कहा।

"हाँ ! है तो।" युधिष्ठिर ने समर्थन किया।

"मैं उसी का वध कर द्रोण को सूचना दूँगा कि मैंने अश्वत्थामा को मार दिया है।" भीम ने कहा।

अर्जुन सहम-सा गया। युधिष्ठिर चिंतन की मुद्रा में थे। धृष्टद्युम्न और शिखंडी प्रसन्न

लग रहे थे।

"यही उचित है।" कृष्ण बोले, "धनंजय ! इस असत्य के लिए दोषी तुम हो।"

आचार्य के हाथ-पैर जैसे जड़ हो गए थे। मस्तक के स्थान पर एक प्रस्तर खंड आकर बैठ गया था। सारी सृष्टि निस्पंद होकर एक स्थान पर ठहर गई थी।...

किसके लिए युद्ध कर रहा है तू द्रोण ? क्या प्रयोजन है तेरा इतनी निरीह हत्याएँ करने का ? धन के लिए लड़ रहा है ? राज्य के लिए ? धर्म के लिए तो तू नहीं ही लड़ रहा। किसके लिए धन चाहिए तुझे ? किसके लिए राज्य चाहिए ? जिसको दूध के स्थान पर आटे का घोल पीते देख तूने धन प्राप्त करने का संकल्प किया था। अब वह ही इस संसार में नहीं है।... तो फिर क्यों निरीह सैनिकों की हत्याएँ कर रहा है तू ? जिनके हाथ में धातु का एक साधारण-सा खड्ग है, और जिन्हें किसी अच्छे शस्त्र गुरु से ढंग का सैन्य प्रशिक्षण भी नहीं मिला है, उनके प्राणों का हरण कर रहा है तू, अपने दिव्यास्त्रों से। क्या मिल जाएगा तुझे ? और किसके लिए ? इस वृद्धावस्था में क्या करना है तुझे इस राज्य का ? और क्या करना है, धन और संपत्ति का ? तू जिसके रूप में अपनी जाया के गर्भ से जन्मा था, वह अब संसार में नहीं है ? तेरा यह शरीर और कितने दिन चलेगा ? और तेरे जीवन का विस्तार अब नहीं है। अश्वत्थामा ही नहीं रहा तो किसके माध्यम से अब तू भोगेगा इस संसार के भोगों को ? एक ही पुत्र था तेरा। वह भी नहीं रहा।

उनकी चेतना लौटी... उनके सम्मुख खड़ा भीम अब भी अपनी विजय के उपलक्ष्य में, पूरे वेग से अपना शंख फूँक रहा था। पौंड्र की ध्वनि से कान बहरे हो रहे थे। उसने अभी-अभी घोषणा की थी कि उसने अश्वत्थामा को मार गिराया है...

किसने मारा अश्वत्थामा को ? भीम ने ? पर भीम अश्वत्थामा का वध करने में समर्थ है ? उसने कहा तो यही है।... उसने नहीं भी किया तो और कौन वध कर सकता है अश्वत्थामा का ? अश्वत्थामा... पर अश्वत्थामा कैसे मारा जा सकता है ? कौन मार सकता है अश्वत्थामा को ? उसके पास एक से बढ़कर एक दिव्यास्त्र हैं। उसके पास नारायणास्त्र है, जिसका तोड़ इस युद्ध में किसी के भी पास नहीं है। उस अश्वत्थामा का वध कैसे हो सकता है ?... पर भीम यह घोषणा कर रहा है कि उसने अश्वत्थामा का वध कर दिया है। कर भी सकता है वह ! उसने द्रोण का रथ घुमा कर परे फेंक दिया था। वह अश्वत्थामा को भी कुचल सकता है।...

पर दुर्योधन कहाँ है ? उसने इस घटना की सूचना आचार्य को क्यों नहीं दी ? भीम के यहाँ पहुँचने से पहले ही कौरवों की ओर से द्रोण को यह सूचना मिल जानी चाहिए थी। इतनी महत्त्वपूर्ण सूचना और कौरवों के प्रधान सेनापति को भी कुछ पता नहीं। कौरवों का इतना महत्त्वपूर्ण योद्धा मारा जाए और कौरव सेना में किसी को इसकी सूचना तक नहीं है ? भीम ही आकर घोषणा कर रहा है। कुरुओं के संदेशवाहक और

धावक मर गए हैं क्या कि आचार्य को उनके पुत्र के हत्यारे से उसकी हत्या की सूचना मिल रही है ?...

विचित्र स्थिति थी आचार्य के मन की। एक ओर मन कह रहा था कि यह संभव ही नहीं है; और दूसरी ओर वही इस संभावना से आतंकित हो थर-थर काँप रहा है।...

उन्होंने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई... दूर-दूर तक कहीं कोई कौरव महारथी दिखाई नहीं पड़ रहा था। किससे पूछते वे ? पांडव सेना ने उनको पूरी तरह से आवृत कर रखा था... और उनके चारों ओर तो पांचाल सेनाएँ ही दिखाई पड़ रही थीं। अन्य कौरव महारथियों और उनकी वाहिनियों से सर्वथा असंपृक्त हो चुके थे द्रोण। यह पांडवों की रणनीति थी ?... अथवा कौरव सेना इस सीमा तक ध्वस्त हो चुकी थी कि वह अपने प्रधान सेनापति से भी संपर्क करने में असमर्थ हो गई थी ?... कहीं कोई कौरव महारथी नहीं है। क्या यह ही इसका प्रमाण नहीं है कि कौरव सेनाओं की दुर्गति हो गई है। और उस दुर्गति का ही एक अवश्यंभावी परिणाम था—अश्वत्थामा का वध। पांडव सेनाएँ उन पर छा गई हैं। स्वयं प्रधान सेनापति के निकट कोई संदेशवाहक नहीं है, कोई विश्वसनीय योद्धा नहीं है। पराजित होती हुई सेना का और क्या लक्षण हो सकता है ? यह घोर अव्यवस्था ही तो उसका प्रमाण है।... यह अव्यवस्था है भी या दुर्योधन ने उनसे यह सूचना छुपाए रखने के लिए ऐसी व्यवस्था की है ?... जो भी हो... इस समय वे दुर्योधन अथवा किसी कौरव महारथी से संपर्क नहीं साध सकते थे। पांडव उन्हें इसकी अनुमति नहीं देंगे। उन्हें पांडवों की सूचनाओं पर ही निर्भर रहना होगा।...

पर वे पांडवों की सूचनाओं पर कैसे विश्वास कर सकते हैं ? शत्रु की सूचनाएँ भ्रामक भी हो सकती हैं। यह सायास फैलाया गया प्रवाद भी तो हो सकता है। युद्ध में माया का प्रयोग हो सकता है तो झूठी सूचना क्यों फैलाई नहीं जा सकती। दुर्योधन ने अपना माया जाल फैलाकर शल्य को अपने पक्ष में लड़ने को बाध्य कर दिया था। युधिष्ठिर के आह्वान पर युयुत्सु तो पांडवों से जा मिला; किंतु शल्य ने अपने भांजों का नाम भी नहीं लिया।... पर नहीं ! यह सूचना झूठी नहीं हो सकती।...

सहसा द्रोण का स्वर ऊँचा हो गया, "मैं तुम्हारा विश्वास नहीं करता भीम ! तुममें अश्वत्थामा का वध करने का सामर्थ्य नहीं है।"

भीम का रहा-सहा संकोच भी उसकी उत्तेजना की ज्वाला में जल गया। भीम वध नहीं कर सकता अश्वत्थामा का ? समय नहीं था, नहीं तो वह उसका वध करके ही यह समाचार देता आचार्य को। अब तो वह उसका वध करेगा ही।...

द्रोण ने स्पष्ट रूप से उसकी अविश्वसनीयता की बात कही है। यदि वह बलपूर्वक अपनी बात की पुष्टि नहीं करता तो उनको सत्य का आभास हो जाएगा।

"मेरे सामर्थ्य का पता तुम्हें उस दिन भी नहीं लगा, जिस दिन मैंने तुम्हारा रथ उठाकर फेंक दिया ? ऐसा क्या है अश्वत्थामा में कि मैं उसका वध नहीं कर सकता ? समरभूमि में इस प्रकार शवों के पहाड़ न बने होते तो मैं उसका शव ला कर तुम्हारे

सामने पटक देता। भूल मुझसे ही हुई है कि उसका मस्तक काटकर मैं प्रमाण के लिए यहाँ तक नहीं लाया।"

द्रोण का हृदय फट गया। भीम के शब्दों ने उनके सम्मुख अत्यंत वीभत्स दृश्य प्रस्तुत कर दिया था। अपने एकमात्र पुत्र के वध और फिर उसके शव से उसका मस्तक कटने की कल्पना भी उनके लिए कितनी दुखदायी थी। भीम नहीं जानता था कि उसने क्या कर दिया है।...

उनका मन हो रहा था कि धनुष पर एक क्षुरप्र रखकर इस भीम का मोटा कंठ ठीक बीच से काट दें। काट दें ?... नहीं ! यदि उन्होंने किसी पांडव का वध किया तो अर्जुन उनको जीवित नहीं छोड़ेगा।... भीम की सूचना भ्रामक हो सकती है। अश्वत्थामा जीवित हो सकता है। ऐसी स्थिति में द्रोण मरना नहीं चाहते।...

"युधिष्ठिर से कहो कि वह यहाँ आकर अपने मुख से कहे कि अश्वत्थामा अब जीवित नहीं है।"

भीम कुछ सहम गया। कहीं धर्मराज ने द्रोण के सम्मुख ऐसा कुछ कहना स्वीकार न किया तो ?... पर यदि अब भीम कोई बहाना करता है तो द्रोण को संदेह हो जाएगा कि यह सूचना सत्य नहीं है। इस समय धर्मराज को बुलाना और उनसे यह कहलवाना बहुत आवश्यक था।

भीम ने अपने सारथि को संकेत किया। सारथि ने रथ मोड़ लिया। मुड़ते-मुड़ते ही भीम ने उद्घोष किया, "अब तुम्हारा काल भी दूर नहीं है द्रोण ! मैं जा रहा हूँ धर्मराज को बुलाने, ताकि वे आकर तुम्हें सूचना दे सकें कि मैंने वस्तुतः अश्वत्थामा का वध कर दिया है। अश्वत्थामा का वध न हुआ होता तो वह स्वयं ही आकर तुम्हें बताता कि वह जीवित है।... तुम भाग मत जाना, न ही मेरे आने तक आत्महत्या करना।"

वह युधिष्ठिर को बुलाने चला गया था।

द्रोण का मन हताश हो गया। क्या पाप किया था द्रोण ने कि उनका एकमात्र पुत्र भी इस अवस्था में काल के गाल में समा गया ? पर क्या यह उनके पापों का ही परिणाम था ?... और नहीं तो इस वृद्धावस्था में एकमात्र पुत्र का इस प्रकार चला जाना पुण्य का फल हो सकता है। अब जब वे सोच रहे थे कि यह युद्ध समाप्त हो ले। वे गुरुकुल और अहिछत्र का राज्य अश्वत्थामा को सौंपकर किसी शांत वन में जा बैठेंगे, अश्वत्थामा ही चला गया। उसकी पत्नी का क्या होगा ? उसकी संतान का क्या होगा ? कौन पालन-पोषण करेगा उनका ? अभी छोटे हैं उसके बच्चे। पिता के ही समान अश्वत्थामा ने विवाह में विलंब किया तो अभी से बच्चे पलकर बड़े कैसे हो जाते। मनुष्य की संतान को समय लगता है बड़े होने में।...

इस अवस्था में अब द्रोण अपने पौत्र और पौत्रियों का पालन-पोषण करेंगे ! फिर से गृहस्थ बनेंगे। कृपी उनके समान वृद्ध न सही, किंतु उसकी अवस्था भी इतनी कम तो नहीं है कि अब वह संतान के पालन-पोषण का दायित्व सँभाले।... द्रोण अब स्वयं

अपने से ही असमर्थ हो रहे थे, उन्हें अपने लिए एक अवलंब की अपेक्षा थी। पुत्र की आवश्यकता थी। इस समय उनका एकमात्र पुत्र छीन लिया ईश्वर ने ?''' किस अपराध का दंड दिया था यह ? यह कर्म गति है ?''' कर्म गति ही होती तो आज भी धृतराष्ट्र सिंहासन पर न बैठा होता। जीवन का इस प्रकार सुख न भोग रहा होता। दुर्योधन ने आजीवन इतना सुख न पाया होता। अपने भाइयों को मरवाकर भी अभी वह अपने स्थान पर किसी धृष्ट शिला के समान अड़ा है।''' दंड ही देना था तो प्रभु ! तो दुर्योधन को देते। द्रोण का एकमात्र पुत्र क्यों छीन लिया। नहीं ! यह न्याय नहीं था। ईश्वर भी अपने धर्म से डिग गया था क्या ?

धर्म ?''' सहसा द्रोण का मन पलटकर उनके विरुद्ध खड़ा हो गया''' वे जानते भी हैं कि धर्म क्या है ?'''

द्रोण को लगा कि एक ही उपालंभ से उनके मन में बहुत पहले पढ़े हुए मंत्र अंगड़ाइयाँ ले-लेकर जाग रहे हैं। उनके हृदय में अत्रि ऋषि के मंत्र गुंजन कर रहे थे और उनके हृदयाकाश पर ऋषि जैसे स्वयं उपस्थित हो गए थे।

"कर्म विप्रस्य यजनं दानमध्ययनं तपः।"[2]

हाँ ! यज्ञ करना, दान करना, स्वाध्याय और तप करना ब्राह्मणों के कर्म हैं।''' वे ही किया करते थे द्रोण हस्तिनापुर आने से पहले। पर तब उनके पुत्र को दूध के स्थान पर भी आटा घोलकर पीना पड़ा था।''' ब्राह्मण को उनके काम तो सब ही बताते हैं, किंतु उसकी आजीविका ?

अत्रि स्वयं अपने मुख से अपने शब्द उच्चरित कर रहे थे।

"प्रतिग्रहोध्यापनं च याजनं चेतिवृत्तयः।।"[3]

हाँ ! अत्रि ने उनकी आजीविका के विषय में भी विचार किया था।''' उनकी आजीविका के साधन हैं—दान ग्रहण करना, अध्यापन और यज्ञ कराना। तापस भिक्षुक हो सकता है ब्राह्मण, वह अध्यापक हो सकता है, पुरोहित हो सकता है, मंत्री हो सकता है, राजगुरु हो सकता है। पर वह योद्धा नहीं हो सकता।'''

"क्यों नहीं हो सकता वह योद्धा ?" द्रोण ने घूरकर आकाश की ओर देखा, "उसमें सामर्थ्य हो तो वह युद्ध क्यों नहीं कर सकता ?"

अत्रि जैसे मुस्कराए। उनके शब्द द्रोण के हृदय में गूँजः

"क्षत्रियस्यापि यजनं दानमध्ययनं तपः।
शस्त्रोप जीवनं भूतरक्षणं चेतिवृत्तयः।।-"[4]

हाँ ! यज्ञ करना, दान करना, स्वाध्याय और तप करना—क्षत्रियों के भी कर्म हैं; किंतु वे अपनी आजीविका शस्त्र से कमाते हैं, जीवों की रक्षा करते हैं।''' द्रोण जीवों की रक्षा नहीं, मात्र दुर्योधन की रक्षा कर रहे थे। जीवों की तो वे हत्या ही कर रहे थे।''' तो क्या वे अपने धर्म का निर्वाह नहीं कर रहे थे ? वे केवल अपने और दुर्योधन के स्वार्थ की पूर्ति कर रहे थे ?'''

सामने के सैनिक कुछ हटे और युधिष्ठिर का रथ उनके सामने आ खड़ा हुआ।''' तो भीम सचमुच ही बुला लाया था उसको। क्यों ? इस सूचना की पुष्टि करने के लिए कि अश्वत्थामा अब इस संसार में नहीं है। यदि युधिष्ठिर को इस सूचना की पुष्टि न करनी होती तो वह उनके निकट आता ही क्यों ?''' उसे तो उनसे दूर ही रहना चाहिए था। उनका युधिष्ठिर को बंदी करने का संकल्प अभी पूरा नहीं हुआ था। न ही उन्होंने उसे त्यागने की घोषणा की थी।

''धर्मराज !'' द्रोण अत्यंत अधीर स्वर में बोले, ''तुम असत्य नहीं बोलते। बताओ क्या अश्वत्थामा ने युद्ध में वीरगति पाई है ?''

युधिष्ठिर का मन असत्य के भय से काँप रहा था। कैसे कहेंगे वे कि अश्वत्थामा मारा गया। पर कहना परम आवश्यक है। न कहने में हानि ही हानि है। उसमें संकोच की क्या आवश्यकता है।''' और फिर अश्वत्थामा मारा तो गया ही है। यह दूसरी बात है कि वह आचार्य का पुत्र नहीं था। एक हाथी था वह। वे इतना ही तो कह रहे हैं कि अश्वत्थामा मारा गया। इसमें क्या असत्य है ? हाँ ! यदि आचार्य पूछें कि मरने वाला अश्वत्थामा मेरा पुत्र था क्या ? तब युधिष्ठिर नहीं कह सकेंगे कि वह उनका पुत्र ही था।'''

''पर धर्मराज !'' उनके अंतर्यामी ने कहा, ''अनृत तो अनृत ही है। अनृत यह कहने में नहीं है कि अश्वत्थामा मारा गया, अनृत यह छुपाने में है कि जो मारा गया वह द्रोणपुत्र नहीं, एक युद्धक गज था।''

तो क्या वे कह दें कि जिसे भीम ने मारा है, वह मालवराज का हाथी था ?''' पर नहीं ! भीम उन्हें यह कहने के लिए बुलाकर यहाँ नहीं लाया है। और कृष्ण ने क्या कहा था ? कृष्ण ने कहा था''' धर्मराज ! यदि आचार्य इस प्रकार आधा दिन भी और लड़ते रहे तो पांडव सेना पूर्णतः नष्ट हो जाएगी। हमारी रक्षा करो धर्मराज ! किसी के प्राणों की रक्षा के लिए इतना-सा तथ्य छुपा जाना कोई पाप नहीं है।''' यह भी कहा था कृष्ण ने कि राजा जब युद्धभूमि में आता है तो उसे विजय को अपना लक्ष्य मानना चाहिए। युद्ध के नियम विजय नहीं दिलाते, विजय प्राप्त होती है, रणकौशल से। युद्ध के नियम राजा का धर्म नहीं हैं, राजा का धर्म विजय है।''' आचार्य की रक्षा करते रहने से तो पांडवों को विजय नहीं मिलेगी। युधिष्ठिर अपने धर्मपालन के लिए पांडव सेना में खड़े उनके प्रति निष्ठावान इन सारे योद्धाओं के प्राण तो नहीं ले सकते। नहीं ! अपने धर्म के लिए इन सबके प्राणों से मूल्य चुकाने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है।''' पर आचार्य पूछ रहे हैं कि क्या अश्वत्थामा ने युद्ध में वीरगति पाई है ? उस युद्धक गज के लिए वे यह तो नहीं कह सकते कि उसने युद्ध में वीरगति पाई है। वह तो मारा ही गया था। तो वे आचार्य के प्रश्न का उत्तर सीधे सरल ढंग से हाँ कहकर तो नहीं दे सकते। और वे उसे पूर्णतः छिपा भी नहीं सकते।'''

''आचार्य ! अश्वत्थामा मारा गया है।'' युधिष्ठिर ने उच्च स्वर में कहा; किंतु उसके

पश्चात् न तो उनका स्वर उतना प्रबल ही रह पाया और न ही वे पूर्णतः मौन ही रह सके। धीरे से अस्पष्ट स्वर में बोले, "जो मारा गया, वह हाथी था··· ।"

उनके पहले वाक्य के पश्चात् ही भीम ने पौंड्र फूँक दिया था। उसके साथ ही चारों ओर युद्धरत पांडव वाहिनियों ने भी विजय का भयंकर गर्जन किया था। युधिष्ठिर अपना दूसरा वाक्य स्वयं ही नहीं सुन पाए थे।···

वे समझ रहे थे··· भीम ने जानबूझकर अपना शंख फूँका था। वह नहीं चाहता था कि युधिष्ठिर के पहले वाक्य खंड के पश्चात् का कोई भी शब्द द्रोण सुन पाएँ। किंतु सैनिकों को तो पता नहीं था कि मरने वाला युद्धक गज था, द्रोण का पुत्र नहीं। तो ?··· वे कदाचित् विजय के उन्माद में ही चिल्लाए थे। जो भी था। द्रोण तक यह सूचना नहीं पहुँची थी कि मरने वाला उनका पुत्र नहीं था।··· अब इसके पश्चात् उनके प्रश्नों का उत्तर देना और भी कठिन हो जाएगा।···

युधिष्ठिर का रथ मुड़ा और अपनी सेना के पीछे कहीं अदृश्य हो गया।

युधिष्ठिर के रथ का स्थान धृष्टद्युम्न के रथ ने ले लिया था। द्रोण ने उसे देखा, किंतु उनके मन में न उसका विरोध जागा, न युद्ध का उत्साह, न विनाश का उन्माद। उनके मन में अब किसी प्रकार का कोई उत्साह नहीं रह गया था। समरभूमि से अधिक उन्हें अपना हृदय दिखाई दे रहा था। धृष्टद्युम्न सामने खड़ा है, खड़ा रहे। उनके लिए अब वह महत्त्वपूर्ण नहीं रहा था। वे अपना संवाद किसी और धरातल पर करना चाहते थे।··· क्यों छीन लिया ईश्वर ने उनसे उनका एकमात्र पुत्र ? किस पाप का दंड है यह ?···

उनके अपने ही प्रश्न के उत्तर में मन में अत्रि के शब्द गूँजे :

"ये व्यपेताः स्वधर्मेभ्य पर धर्मे व्यवस्थिताः।
तेषां शास्तिकरो राजा स्वर्गलोके महीयते।।"[5]

ठीक कह रहे थे अत्रि··· जो अपने धर्म का पालन नहीं करते और परधर्म में तत्पर हैं, उनको दंडित करने वाला राजा, स्वर्ग लोक में पूजा जाता है।··· तो धर्मराज युधिष्ठिर ने इसी रूप में उन्हें दंडित किया है। वे अपना धर्म त्याग कर किसी और ही लोक में आ गए थे। यहाँ भय था, लोभ था, मोह था, तृष्णा थी, हिंसा थी और अहंकार था।··· वे स्वयं को इस संसार का अंग मानने लगे थे। पर यह तो उनका संसार नहीं था। ये ब्राह्मण के लक्षण नहीं थे। उन्होंने अपनी शिक्षा के आरंभिक दिनों में अत्रि ऋषि के शब्दों को पढ़ा था :

"शौचं मंगलमायासंअनसूयाअस्पृहा दमः।
लक्षणानि च विप्रस्य तथा दानं दयापि च।।"[6]

हाँ ! ब्राह्मण के लक्षण ये नहीं थे कि वह राजा का तिरस्कार सहता हुआ, अपने मोह में सेनाओं का संचालन करे और ईश्वर के बनाए हुए जीवों की निरीह हत्या करे। ब्राह्मण के गुण हैं ··· पवित्रता, मंगल, परिश्रम, अन्य लोगों के गुणों में छिद्र न ढूँढना,

कामना न करना, इंद्रियों को विषयों से रोकना, दान देना, और दया।''' पर द्रोण ने तो कहीं भी दया नहीं दिखाई। अपने प्रिय शिष्यों के साथ होते हुए अन्याय को केवल इसलिए सहन करते रहे, क्योंकि उससे वे अपना स्वार्थ साध सकेंगे। फिर समरभूमि में आ खड़े हुए और उन लोगों को दिव्यास्त्रों से मारा, जिन्हें दिव्यास्त्रों का तनिक भी ज्ञान नहीं था। पाप किया''' पर क्या करते। हस्तिनापुर में रहकर तो यही संभव था।'''

"हस्तिनापुर में ही रहना क्यों आवश्यक था ?" सहसा उनके अंतर्यामी ने पूछा।

"तो और कहाँ रहता ?" वे बोले, "कहीं तो आश्रय चाहिए ही था।"

वे मौन हो गए। अंतर्यामी भी मौन ही रहा। उनके प्रश्न के उत्तर में ऋषि हारीत बोले :

"कृष्णसारो मृगो यत्र स्वाभावेन प्रवर्त्तते।
तस्मिन् देशे वसेद्धर्मः सिद्ध्यति द्विजसत्तमाः।।"[7]

ठीक तो कह रहे हैं हारीत !''' ब्राह्मण को अपने धर्म का पालन करना है तो उसे हस्तिनापुर में रहने की आवश्यकता ही क्या है। ब्राह्मण वहाँ वास करे, जिस देश में कृष्णसार मृग सहज भाव से विचरण करे। जहाँ हिंसा न हो, उग्रता न हो, रजोगुण का बाहुल्य न हो।''' और द्रोण ने सदा वास किया शस्त्रों में। आज भी वे खड़े हैं, जहाँ चारों ओर हिंसा और हत्या है। क्रोध और घृणा है। तो वे कैसे आशा कर सकते हैं कि उन्हें धर्म प्राप्त होगा ? पुण्य प्राप्त होगा ?''' ब्राह्मण तो ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुआ है। उसका उपकरण वाणी है, माँ सरस्वती का वरदान। वह बिना काँटों का निरुपम खेत है। उसको उसी में कृषि करनी है। उसी में सब बीजों को बोना है, वही सब कामनाओं को पूर्ण करने वाली खेती है उसकी।''' पराशर ने कहा है न :

"ब्राह्मणस्य मुखं क्षेत्रं निरुपममकंटकम्।
वापयेत् सर्व्वबीजानि सा कृषिः सर्वकामिका।।"[8]

''' उग्रता ब्राह्मण के लिए नहीं है। वह क्षत्रिय का काम है। वह हाथ में शस्त्र धारण करता है। शस्त्र को हाथ में धारण करने वाला, प्रकर्ष दंड वाला क्षत्रिय, प्रजा की रक्षा करता हुआ शत्रु सेनाओं को जीत कर धरा का धर्म के साथ पालन करता है :

"क्षत्रियो हि प्रजारक्षन् शस्त्रपाणिः प्रचंडवत्।
विजित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्।।"[9]

द्रोण ने प्रजा के पालन की बात कभी नहीं सोची, तो फिर उन्होंने शस्त्र क्यों धारण किया ? इसीलिए तो कि वे रणभूमि में दूसरों की हत्या करें और फिर उनके पुत्र की हत्या हो''' अश्वत्थामा मारा गया। युधिष्ठिर ने यह भी नहीं कहा कि अश्वत्थामा ने वीरगति पाई है। उसने कहा अश्वत्थामा मारा गया। हाँ ! मारा ही तो जाना था।''' अपनी निर्धनता से बहुत दुखी हुए थे द्रोण ! पर तब उन्होंने पराशर के वचनों को स्मरण नहीं रखा था''' "न श्रीः कुलक्रमायाता स्वरूपाल्लिखितापि वा।"[10] ''' कुलक्रम से आई हुई लक्ष्मी स्थिर नहीं होती न ही आलेखन की हुई लक्ष्मी स्थिर होती है।''' लक्ष्मी की चंचलता

को स्वीकार क्यों नहीं किया उन्होंने। क्षत्रिय उसे तलवार से प्राप्त करके भोगता है। पृथ्वी का राज्य वीरों द्वारा ही भोगा जाता है।··· "खड्गेनाक्रम्य भुंजकीत वीरभोग्या वसुंधरा।।"[11] ··· पर वह क्षत्रिय, दुर्योधन के समान प्रतिदिन अपने भाइयों और बेटों को युद्धभूमि में कटवाता है। द्रोण के समान नहीं कि पुत्र के मारे जाने का समाचार पाकर हाथ से शस्त्र छूटकर गिर जाता है।··· इरावान को मरते देखा था अर्जुन ने। अभिमन्यु का भी वध हुआ। उससे अर्जुन का गांडीव नहीं छूटा। वह और भी प्रचंड होकर लड़ने आया और उसने जयद्रथ का वध किया।··· नहीं द्रोण ! तुम उस क्षत्रिय जीवन के उपयुक्त नहीं !··· व्यर्थ का लोभ किया। व्यर्थ का अहंकार किया। वे इस प्रकार के जीवन के योग्य नहीं हैं। उनका 'ब्रह्म' मोक्ष है। वे मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं। तो फिर उन्होंने अपनी आजीविका रणभूमि में क्यों चुनी ? यह आजीविका उनके लिए है, जो उसके माध्यम से धर्म की स्थापना कर सकते हैं।··· भूल हुई द्रोण ! तुमसे भूल हुई। तुम्हें अपने मार्ग पर ही चलना चाहिए था।···

तो अब ही क्या बिगड़ा है ? अश्वत्थामा की मृत्यु ने उनके अज्ञान को छिन्न-भिन्न कर दिया है। कदाचित् उनकी आँखें खोलने के लिए ही अश्वत्थामा को यह बलिदान देना पड़ा है।···

धृष्टद्युम्न का रथ उनके सम्मुख खड़ा था। वे उसे अनुमति नहीं दे सकते थे कि वह युद्धभूमि में उनका वध कर सारे क्षत्रिय समाज में द्रोणहंता के रूप में गौरवान्वित हो। उससे युद्ध करेंगे वे··· उन्होंने धनुष पर बाण चढ़ाया और बाण वर्षा आरंभ कर दी।···

पर उनका मन वहाँ नहीं था। अब युद्ध उनके लिए तनिक भी महत्त्वपूर्ण नहीं रह गया था। आसपास का सारा परिवेश न केवल धूमिल हो गया था, वह कहीं अदृश्य-सा भी हो गया था।··· वे तो जैसे किसी निभृत एकांत में खड़े ईश्वर से पूछ रहे थे··· पाप उन्होंने किया था। अधर्म उन्होंने किया था। तो फिर उसका मूल्य अश्वत्थामा को क्यों चुकाना पड़ा ? उसे क्यों पूर्णायु प्राप्त नहीं हुई ? क्या ईश्वर का विधान एक के कर्म का दंड दूसरे को दे सकता है ? क्या नियति की आँधी नेत्र मूँदकर चलती है ?··· या वे मान लें कि अश्वत्थामा भी उनके ही समान पापी था और उसने अपने कर्मों का फल पाया था ?··· उसने अपने प्राण खोए थे और द्रोण ने अपना एकमात्र युवा पुत्र खोया था।··· दोनों को दुख मिला, तो क्या वे पिता पुत्र दोनों ही पूर्व जन्म के पापी थे ?···

सहसा उनके मन ने उन्हें डाँटा, "इसमें कर्मों का फल क्या है ? जो युद्धक्षेत्र में खड़ा है, उसका प्रबल शत्रु किसी भी क्षण उसे मारकर गिरा सकता है।"

··· पर मन की इस डाँट से वे सहमे नहीं।··· नहीं ! वे नियति को अस्वीकार नहीं कर सकते। युद्धक्षेत्र में तो सभी खड़े हैं, किंतु अपना समय आने से पहले कोई नहीं मरता। वे स्वयं अब तक जीवित हैं। कौरव पक्ष और पांडव पक्ष के इतने लोग अब

तक जीवित हैं किंतु भीष्म शर-शैया पर लेटकर समरभूमि से हट गए हैं। अर्जुन की सी क्षमताओं वाला योद्धा अभिमन्यु, पांडवों के सारे बल के होते हुए भी वीरगति को प्राप्त हो गया।''' नहीं ! अपने समय से पहले कोई नहीं मरता।''' क्या अश्वत्थामा अपने कर्मों के कारण ही अल्पायु लेकर आया था ?''' पर इस रूप में ही क्यों सोचा जाए ? कर्म अपने स्थान पर हैं। किंतु सुख और दुख को समझने में भी तो भूल करता है मनुष्य। उससे अपने सौभाग्य और दुर्भाग्य को समझने में भी तो भूल हो सकती है। एक पुत्र ही था, जिसकी सुख-सुविधाओं के लिए वे सांसारिकता की दलदल में धँसते गए थे।''' आज उन्हें समझ जाना चाहिए कि कोई किसी का नहीं होता। उपनिषदों ने ठीक ही कहा है इदम न मम। मेरा कुछ नहीं है।''' सब कुछ उस ईश्वर का ही है। अश्वत्थामा के प्रति उनकी आसक्ति उनका भ्रम था, उनका अज्ञान था। कोई जीव किसी दूसरे जीव का कैसे हो सकता है। जीव तो ईश्वर का ही हो सकता है। जो ईश्वर का था, वह अब भी ईश्वर का है, भविष्य में भी ईश्वर का ही रहेगा। उसे द्रोण ने अपना मान लिया और उसकी सुख-सुविधाओं के लिए माया के संसार में धँसते चले गए।''' अब मुक्त कर दिया है प्रभु ने उनको उस भ्रमजाल से। उन्हें उनके मोह से मुक्त करने वाला ईश्वर न तो कठोर हो सकता है, न अन्यायी। वह दयालु है, कृपालु है, वह करुणासागर है।

उनके हृदयाकाश पर एक-एक कर अनेक ऋषि प्रकट हो रहे थे। उनके शब्द द्रोण के मन में बार-बार गूँज रहे थे।''' किस माया जाल में पड़ा है द्रोण ? क्या जीतना चाहिए और तू क्या जीतने का प्रयत्न कर रहा है। शत्रुओं को ही मारना है तो मन में बैठे अपने शत्रुओं को मार। अहंकार को मार, राग और द्वेष को मार। ईर्ष्या, लोभ, मोह और क्रोध को मार। युद्धक्षेत्र में खड़े, ईश्वर के बनाए इन जीवों का वध करने से कहीं तू मोक्ष पा सकेगा ? पांडवों को मत जीत। तू धर्म को जीत। राज्य, धन, संपत्ति, सत्ता और अधिकारों का संचय मत कर। धर्म को पाने के लिए सात्विकता का संचय कर, निर्मलता का संचय कर। करुणा और प्रेम का संचय कर, दया और उदारता को अपना आभूषण बना। दूसरों के प्राणों का हरण मत कर, उनकी रक्षा के लिए अपने प्राणों का विसर्जन कर।''' सोच ! अब भी सोच ! तेरा शत्रु द्रुपद है, या तेरा अपना अहंकार ? तेरे ज्ञान ने तुझे विनीत बनाया या अहंकारी। तेरे ज्ञान ने तुझे मुक्त किया या तुझे बंधनों में बाँधा। व्यर्थ है धनुष बाण। फेंक दे इन्हें और समाधि में बैठ जा। जो सुख उस सच्चिदानंद में विलीन होने में है, वह मनुष्यों और पशुओं का रक्त बहाने में नहीं है।'''

द्रोण को पता ही नहीं चला कि कब उनके हाथ से धनुष बाण छूट गया और वे पद्मासन लगाकर बैठ गए। उनका मन जैसे पहले से ही आत्मलीन हो रहा था। तत्काल उसका ऊर्ध्वगमन आरंभ हो गया। उन्हें लग रहा था वे किसी लंबी नींद से जागे हैं। उनके सारे बंधन जैसे खुल गए हैं। जिस साँकल ने उन्हें मृत्तिका से बाँध दिया था, वह साँकल खुल गया था। वे बहुत हल्के हो गए थे। उनके मन में कोई कामना

नहीं रह गई थी। किसी के प्रति कोई रागद्वेष नहीं था। मन बहुत निर्मल हो आया था। वे जैसे अपनी देह तक सीमित नहीं थे। किसी अत्यंत विराट सत्ता का अंग हो गए थे। वे इस ब्रह्मांड में कहीं भी—किसी भी लोक में, किसी भी काल में—विचरण कर सकते थे। सब सुन सकते थे, सब देख सकते थे।''' अब उन्हें न सूर्य के प्रकाश की आवश्यकता थी, न चंद्रमा की प्रभा की, न ही अग्नि की आवश्यकता रह गई थी। वे किसी ऐसे लोक में पहुँच गए थे, जहाँ सब कुछ स्वयं प्रकाशित था।''' सब ओर प्रकाश था, सब ओर सत्य था, सब ओर आनंद था।'''

26

अर्जुन का मन बहुत अशांत था। एक विचित्र प्रकार की व्याकुलता उसे निरंतर विचलित कर रही थी। मन-ही-मन जैसे वह ऐंठ रहा था। उसके वक्ष में एक अजान-सी पीड़ा की लहरें उठ रही थीं। इधर पीड़ा की लहर उठती थी और उधर आचार्य का वध करते हुए धृष्टद्युम्न का चित्र मन पर छा जाता था। धृष्टद्युम्न ने उसके गुरु के केश पकड़कर उनका मस्तक काट लिया था। अर्जुन चिल्लाता ही रह गया था कि यह पाप है। ऐसा मत करो। धिक्कार है तुम्हें। अरे गुरु को जीवित ही पकड़ लो, उन्हें बंदी बना लो। उनका वध मत करो।''' पर धृष्टद्युम्न ने वध किया और वह भी कैसे ? शस्त्र त्याग कर चुके, ध्यान में बैठे, आचार्य का जटाजूट पकड़कर उनका मस्तक काट लिया और उस मस्तक को उसने कौरव सेना की ओर उछाल दिया। कौरवों में भगदड़ मच गई और यह भी पता नहीं चला कि आचार्य द्रोण का धड़ कहाँ है और उनका मस्तक कहाँ गया। किसी झंझावात के पश्चात् किसी वन में से एक झड़े हुए पत्ते को खोजने जैसा असंभव था, आचार्य के शरीर को खोजना।

अर्जुन के अपने मन में अनेक प्रश्न उठ रहे थे।''' वह इतना व्यथित क्यों था ? वे लोग युद्ध कर रहे थे। युद्ध में तो कोई कभी भी मर सकता है। उसके अपने पुत्रों का वध हुआ तो क्या वह युद्ध छोड़कर भाग गया ? द्रुपद मारे गए, विराट ने वीरगति प्राप्त की—तो न आकाश टूटा, न धरती फटी।''' आचार्य तो लड़ ही विरोधी पक्ष से रहे थे। उनका वध तो होना ही था। कोई भी करता।''' स्वयं कृष्ण कितनी ही बार उसे आचार्य के वध के लिए प्रेरित कर चुके थे। धर्मराज उसे उपालंभ दे चुके थे। भीम उत्तेजित कर चुका था।''' पर अर्जुन का मन था कि मानता ही नहीं था।''' वह आचार्य का वध कैसे कर सकता था। निश्चय ही आचार्य को भी पूर्ण विश्वास रहा होगा कि कुछ भी हो जाए, वह उनका वध नहीं करेगा।''' पर क्या हुआ उस विश्वास का और क्या हुआ अर्जुन के संकल्प का'''

इससे तो कहीं अच्छा था कि वह ही अपने दिव्यास्त्रों से आचार्य के प्राण हर लेता।

वे एक गौरवपूर्ण मृत्यु को प्राप्त होते। यह तो एक पशु के समान कटने जैसा था। धृष्टद्युम्न कूदकर उनके रथ में जा पहुँचा था। वे पद्मासन में बैठे थे। उनके हाथ में शस्त्र नहीं थे।...

अर्जुन का मन रोने-रोने को हो रहा था... धृष्टद्युम्न के इस पाशविक कृत्य के कारण बने थे स्वयं धर्मराज। उन्होंने आज तक कभी मिथ्या भाषण नहीं किया था, पर आज आचार्य के सम्मुख कह दिया कि अश्वत्थामा मारा गया है।... सत्य है कि अश्वत्थामा मारा गया था। पर धर्मराज जानते थे कि द्रोण कभी कल्पना भी नहीं कर पाएँगे कि उनको जो समाचार दिया जा रहा है, वह उनके पुत्र के विषय में नहीं है। इस सारे युद्ध में उनको कभी सूचना दी गई कि कौन-सा गज मारा गया, कौन-सा अश्व मारा गया अथवा किस-किस सैनिक और किस-किस सेनानायक के प्राण निकल गए।... उनको अश्वत्थामा के विषय में बताया गया तो इसलिए, क्योंकि वह उनका पुत्र था।...

क्यों किया धर्मराज ने ऐसा ? केवल राज्य के लिए ? राज्य के लोभ से ? विजय की आसक्ति में बँधकर ?... पर कृष्ण तो कह रहे थे कि यदि वे मिथ्या कथन नहीं करेंगे तो पांडवों के प्राण नहीं बचेंगे।... तो क्या कृष्ण और अपने भाइयों के प्राणों की रक्षा के लिए किया ऐसा कृत्य ?

अर्जुन के मन में एक विचित्र प्रकार की वितृष्णा जागी।... क्या रखा था इन बातों में ? वे लोग अपने जीवन का एक बड़ा भाग जी चुके हैं। अब शेष बचा ही कितना है। कहीं ऐसा तो नहीं कि वार्द्धक्य के कारण उन लोगों का अपने मन पर नियंत्रण शिथिल हो रहा है ? लोभ और तृष्णा को उन्होंने अपने यौवन काल में तो दबाए रखा, अब वे भाव उनकी क्षमता को चुनौती देते हुए उद्दंड हो रहे हैं। वह न भी हो तो क्या वृद्धावस्था के कारण उनका मस्तिष्क विकृत हो रहा है। उनसे निर्णय की भूल हो रही है ? वे नहीं समझ पा रहे हैं कि वे लोग क्या कर रहे हैं ।...

भीम ने तो कभी समर्थन नहीं किया अर्जुन की नीति का। उसने कहा कि वे लोग क्षत्रिय कर्म कर रहे हैं, इसलिए अर्जुन उन्हें मुनियों का-सा उपदेश न दे।... भीम सदा से ऐसा ही रहा है। वह बहुत भिन्न है, अर्जुन से। वह धर्मराज से भी भिन्न है। वह अर्जुन को कहता है कि अर्जुन एक समर्थ क्षत्रिय होकर भी मूर्खों के समान बातें कर रहा है।... रजोगुण बहुत है भीम में ? क्यों ? उसने भी तो वही शिक्षा प्राप्त की है, अपने गुरुओं से।... पर नहीं। लोग शिक्षा प्राप्त तो करते हैं, किंतु उसे ग्रहण नहीं करते। और शिक्षा से ही तो सब कुछ नहीं होता, नहीं तो अच्छी शिक्षा से संसार में सब कुछ सुधर जाता। शिक्षा तो दुर्योधन ने भी वही पाई है, पर उसके व्यवहार में शिक्षित मनुष्य का कोई भी गुण है क्या ?... शिक्षा से लोकमत तो बनेगा, किंतु उससे प्रत्येक मनुष्य में इच्छित गुण उत्पन्न नहीं होंगे। गुण तो जन्मजात ही हैं—ईश्वर प्रदत्त; पूर्व जन्मों के कर्मों और संस्कारों के अनुरूप। ...

कृष्ण ने युद्धारंभ के समय ही उससे दैवी और आसुरी संपदा की चर्चा की थी।

उन्होंने कहा था, "भय, क्रोध, द्वेष, लोभ तथा सम्मान पाने की लालसा का अभाव, अंतःकरण की निर्मलता, दिव्य ज्ञान का सेवन, दान, आत्मसंयम, यज्ञ, वेदों का अध्ययन, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, त्याग, शांति, दया, कोमलता, लज्जा, दृढ़ निश्चय, तेज, क्षमा, धैर्य तथा पवित्रता—ये सब गुण दैवी प्रकृति के लक्षण हैं।..." मध्यम पांडव भीम इन सबसे अछूता तो नहीं है। भय का सर्वथा अभाव है उसमें। किसी बात का भय नहीं है उसको।... पर क्रोध का अभाव नहीं है उसमें। वह क्रोध चाहे सात्विक ही हो, किंतु क्रोध तो है ही। सब समय वह सात्विक भी नहीं होता, कभी-कभी अपने बल के अहंकार से भी जन्मता है। तब भीम को रोकना कठिन हो जाता है। द्यूतसभा में द्रौपदी को अपमानित होते देखकर भीम का क्रोध सर्वथा उच्छृंखल हो गया था। वह धर्मराज के हाथों को जलाने की बात कह उठा था।... पर लोभी नहीं है वह। हाँ ! सांसारिक भोग की इच्छा उसमें अपने दूसरे भाइयों से कुछ अधिक है। रजोगुण का बाहुल्य है उसमें। उसके अंतःकरण की निर्मलता पर अर्जुन को कभी संदेह नहीं हुआ। वह सरल भी है। कई बार तो लगता है कि बहुत भोला है, बहुत अबोध है। इसीलिए अर्जुन के मन में बहुत प्रेम है, अपने उस उद्दंड भाई के लिए। उसमें सत्य, दया और कोमलता भी है, किंतु वह कठोर और हिंस्र भी हो उठता है। नहीं ! शायद वह हिंस्र नहीं है, किंतु प्रतिशोध की भावना बड़ी भयंकर है उसमें। उसका प्रतिशोध और दंड बड़ा कठोर होता है।...

भीम ने अर्जुन से कहा था कि अर्जुन मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, यह प्रशंसनीय है। तेरह वर्षों के संचित अमर्ष को भूलकर अर्जुन धर्म की बात कर रहा है, अतः वह पूजनीय है।... यह भी कहा था कि अर्जुन की बुद्धि क्रूरता को त्याग, दया में रमती है, यह सौभाग्य की बात है।... पर स्वयं भीम अपना राज्य अपहरण करने वाले और द्रौपदी का अपमान करने वाले कौरवों को क्षमा नहीं कर सकता। वह उनको उनके भाई-बंधुओं सहित मार डालेगा।

पर अर्जुन की पीड़ा उससे शांत नहीं हुई थी। किसी का कोई तर्क उसके मन को शांत नहीं कर पा रहा था। उसे जैसे ही स्मरण आता कि धृष्टद्युम्न ने आचार्य के केश पकड़े थे, उसे एक प्रकार का उन्माद चढ़ आता था। उसे भय लगने लगता था कि कहीं उसका हाथ ही न उठ जाए, धृष्टद्युम्न पर।... युद्ध अभी समाप्त नहीं हुआ था। कौरव अभी निःशेष नहीं हुए थे। कर्ण अभी जीवित था। अश्वत्थामा जीवित था। ऐसे में पांडवों का परस्पर लड़ना उचित नहीं था। उनकी एकता और अखंडता बनी रहनी चाहिए।...

युधिष्ठिर ने आकर उन सबको सूचना दी थी कि शिखंडी के अवरोध को तोड़कर अश्वत्थामा अपने शिविर में लौट आया है और उसने पांडवों को समाप्त करने का संकल्प किया है। अब तक वह दुर्योधन का युद्ध लड़ रहा था, किंतु अब वह अपना युद्ध लड़ेगा।...

सबने युधिष्ठिर की ओर देखा, "इसका क्या अर्थ ?"

"सूचना आई है कि उसने यह भी कहा है कि उसके पास कोई ऐसा अस्त्र है,

जिसका प्रतिकार न कृष्ण को ज्ञात है, न अर्जुन को।" युधिष्ठिर ने कृष्ण की ओर देखा।

कृष्ण कुछ नहीं बोले, मुस्कराकर रह गए।

"तुम क्या कहते हो धनंजय !"

"मैं कहता हूँ कि द्रुपदपुत्र ने अन्याय किया है।" अर्जुन जैसे अपनी मर्यादा भूल गया था, "अश्वत्थामा की प्रतिक्रिया स्वाभाविक ही है। साहस है तो जाइए, जाकर अश्वत्थामा से द्रुपदपुत्र की रक्षा कीजिए।"

"क्या अन्याय किया है धृष्टद्युम्न ने ?" कृष्ण बोले, "क्या उसे युद्ध में अपने शत्रु का वध नहीं करना चाहिए था ?"

"वध करता, किंतु उस समय, जब वे युद्ध कर रहे थे।" अर्जुन बोला, "उसने उनका वध तब किया है, जब वे शस्त्र डाल चुके थे। नहीं तो मैं देखता, धृष्टद्युम्न उनका वध कैसे करता। हमने नीचता की है। हमने राज्य के लोभ में वृद्ध आचार्य के साथ छल किया है।"

"यह सत्य नहीं है।" धृष्टद्युम्न ऊँचे स्वर में बोला, "उनके पास शस्त्र थे। वे युद्ध कर रहे थे। उन्होंने मेरे धनुष को काटा था। मेरे सारथि का वध किया था। मैं मध्यम पांडव भीम के रथ में आरूढ़ होकर नए रथ तक पहुँचा था। नए रथ में जब मैं युद्ध करने आया तो उन्होंने मेरा धनुष काटा, मेरी गदा को काटा, मेरे खड्ग को काटा। तो भी मुझसे कहा जा रहा है कि वे युद्ध नहीं कर रहे थे।"

"तुमने जब उनका मस्तक काटा, तब उनके हाथ में कोई शस्त्र नहीं था।" अर्जुन ने अपना विरोध जताया।

"अपने रथ के ईषा दंड पर पैर रखकर मैं उनके घोड़ों की पीठ पर से होता हुआ, उनके रथ में कूदा था। मुझे इतना निकट देखकर उनके हाथ से शस्त्र छूट गया हो सकता है। उस समय मेरे वध के लिए उनके अंतःकरण में दिव्यास्त्र प्रकट नहीं हुए, तो इसमें मेरा क्या दोष है। उसके लिए पापी दुर्योधन है, जो अपने वृद्ध आचार्य से उतना श्रम करवा रहा था, जितना कोई किसी युवा अश्व से भी नहीं करवाता।... तुम्हें स्मरण रखना चाहिए कि उन्हें अनवरत बाण चलाते हुए चार दिन हो चुके थे। पिछली रात भी पूरी व्यतीत हो चुकी थी। एक वृद्ध मनुष्य से और कितना युद्ध अपेक्षित है। उन्होंने मुझे आहत किया, मेरा रक्त बहाया। फिर भी तुम कह रहे हो कि उनके हाथ में शस्त्र नहीं था।" धृष्टद्युम्न बोला, "सात्यकि ने उनका बाण काटा था और मुझे मृत्यु के मुख से निकाला था। द्रोण यदि युद्ध ही नहीं कर रहे थे तो वह बाण किसने मारा था और किसको मारा था ?" धृष्टद्युम्न ने अर्जुन की ओर देखा, "यदि मैंने द्रोण को मारकर पांडवों का कोई हित नहीं किया था तो मध्यम पांडव भीम ने क्यों मुझे अपने कंठ से लगा लिया था। क्यों कहा था उन्होंने कि जब पापी दुर्योधन और कर्ण मारे जाएँगे तो वे तब भी ऐसे ही मुझे अपने कंठ से लगा लेंगे।"

"पर जब तुमने उनके केश पकड़कर उनका मस्तक काटा तो उनके हाथ में शस्त्र

नहीं था। वे पद्मासन में बैठ चुके थे, वे ध्यान कर रहे थे।" अर्जुन ने कहा।

"यदि मृत्यु को अपने सामने देखकर किसी के हाथ से शस्त्र छूटकर गिर जाए और वह अपने अंतिम समय में प्रभु को स्मरण करने बैठ जाए तो हम उसका वध न करें ?" धृष्टद्युम्न ने आवेशमय स्वर में कहा, "कल तुम कर्ण को मारने के लिए जब उसके कंठ पर पैर रखोगे तो वह पद्मासन लगाकर बैठ जाएगा। तब तुम उसे जीवित छोड़ देना, उसको मुक्त कर देना, उसके पास से अपने सैनिक हटा लेना, ताकि वे उसकी उपासना में विघ्न न डालें।"

अर्जुन ने आक्रोशपूर्ण दृष्टि से धृष्टद्युम्न की ओर देखा, "धिक्कार है तुम्हें।"

उसका कंठ रुँध गया। कैसी बाध्यता थी कि न तो वह अपने गुरु के हत्यारे को दंडित कर पा रहा था और न ही उसे शब्दों में ही पूरी तरह धिक्कार सकता था। किस-किस को धिक्कारता वह—भीम को, धर्मराज को, धृष्टद्युम्न को ?··· और प्रस्ताव तो यह स्वयं श्रीकृष्ण का था।···

धृष्टद्युम्न ने अर्जुन से जैसे निराश होकर अपनी दृष्टि भीम पर टिका दी।

भीम उसकी मूक भाषा समझ ही नहीं रहा था, उसकी असहायता के प्रति उसके मन में सहानुभूति भी अंकुरित हो चुकी थी।··· द्रोण के वध के लिए जिस धृष्टद्युम्न का अभिनन्दन होना चाहिए था, अर्जुन उसकी भर्त्सना कर रहा था।

"हमें मुनियों के समान धर्मोपदेश मत दो और न ही मूर्खता की बातें करो। स्वयं समर्थ होकर भी कुछ करते नहीं हो; और हमें वाग्वाणों से छलनी कर रहे हो।" भीम ने उसे डाँटा, "बहुत ज्ञान हो गया है, धर्म का तुमको, तभी तो कृष्ण का कहा नहीं मान रहे हो। कृष्ण के सामने भी धर्म के मर्म की व्याख्या कर रहे हो। अपने पक्ष के दोषों का वर्णन करते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती ? कौरवों में कोई नहीं बचा है क्या हमारे दोष निकालने को कि तुमने यह दायित्व अपने सिर ले लिया है।" भीम ने रुककर उसे देखा, "और तुम अश्वत्थामा से भय मत करो। तुम अपने भाइयों के साथ यहीं रहो। मैं अकेला ही जाकर अश्वत्थामा को ठिकाने लगा दूँगा। बहुत दंभ है उसे अपने शस्त्र ज्ञान का। उसको उसके सारे शस्त्रों के साथ उठाकर रक्त की धारा में बहा दूँगा।"

अर्जुन ने अपने जबड़े कस लिए थे, फिर भी वह कह ही गया, "इतना ही सरल था अश्वत्थामा को मारना तो क्यों गज को मारकर घोषणा की कि अश्वत्थामा मारा गया है। क्यों नहीं तब ही वध किया अश्वत्थामा का।"

"वध तो मैं उसका तब ही कर देता।" भीम बोला, "कृष्ण ने कहा था कि अश्वत्थामा का वध तत्काल होना चाहिए। उसमें समय नहीं लगना चाहिए। यदि मैं अश्वत्थामा का वध घोषित रूप से करने जाता तो द्रोण सहित सारी कौरव वाहिनियाँ अश्वत्थामा की रक्षा के लिए आतीं। अश्वत्थामा का वध तत्काल नहीं हो सकता था। तब यदि हमने कृष्ण के परामर्श के अनुसार एक युक्ति का सहारा लिया तो कौन-सा अनर्थ हो गया।"

"मैं अश्वत्थामा से नहीं डरता।" धृष्टद्युम्न बोला, "अच्छा है कि वह अपने पिता का प्रतिशोध लेने के लिए मुझसे लड़ने आए। अपनी साध पूरी कर ले वह। मेरी भी साध पूरी हो जाएगी। द्रोण ने मेरे पिता, मेरे बंधु-बांधवों और मेरे पुत्रों का वध किया है। मैंने उसका मस्तक काट लिया किंतु अभी मेरा क्रोध और संताप शांत नहीं हुआ है। अश्वत्थामा को मारकर कदाचित् मेरे मन को थोड़ी शांति मिले। शत्रुओं का वध न करना पाप है और वह पाप तुम करते रहे हो धनंजय ! उस पर भी तुम अपने पितामह को मारकर धर्मात्मा बने रहना चाहते हो और अपने शत्रु को मारने के कारण मुझे पापी बता रहे हो ?"

"मुझे मत सिखाओ कि पाप किसने किया है।" अर्जुन ने कटु स्वर में कहा, "मैं पांडव सेनाओं की एकता और अखंडता बनाए रखना चाहता हूँ, इसलिए चुप हूँ।"

धृष्टद्युम्न की त्यौरियाँ चढ़ गईं। उसके आँखों की लालिमा बढ़ गई, "मैं भी तुमसे अपने संबंध के कारण ही तुम्हारे सामने नतमस्तक हूँ। तुमसे भयभीत नहीं हूँ। अपनी भगिनी और भागिनेयों का ध्यान है मुझे।''' पर तुम्हें क्या कहूँ। तुम तो धर्मराज को भी असत्यवादी ठहरा रहे हो। मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ कि न धर्मराज असत्यवादी हैं और न मैं अधर्मी। द्रोण ही पापी और शिष्यद्रोही थे, इसलिए मारे गए। अब तुम युद्ध करो। शत्रुओं में कोई समर्थ योद्धा नहीं बचा है। विजय तुम्हारे हाथ में है।"

भीम को धृष्टद्युम्न का संयम देखकर आश्चर्य हो रहा था। सत्य ही वह अपने संबंध के कारण अत्यंत संतुलित और मर्यादित व्यवहार कर रहा था, अन्यथा उसका क्रोध भीम से किसी प्रकार कम तो नहीं था।''' भीम को स्वयं अपने और धृष्टद्युम्न के चिंतन में बहुत सारी समानताएँ दिखाई देती थीं। तभी तो उसने द्रोण के वध पर धृष्टद्युम्न को कंठ से लगाया था।''' पर अर्जुन के कथन से उपजी उसके हृदय की पीड़ा उसके चेहरे पर स्पष्ट दिखाई पड़ रही थी।'''

भीम का मन द्रौपदी के विषय में सोचने लगा, उसे ज्ञात होगा कि अर्जुन और धृष्टद्युम्न में मनमुटाव हुआ है, तो कैसा लगेगा उसे ? धृष्टद्युम्न उसे बहुत प्रिय था और उसी प्रकार अर्जुन उसके हृदय में बसता था। वह धर्मराज की उनके धर्म के लिए पूजा करती थी। अर्जुन के रूप और गुणों के कारण वह उसकी प्रेमिका थी।''' पर यह तो सब ही जानते थे कि वे दोनों ही अपने स्वभाव के कारण द्रौपदी की अनेक इच्छाएँ पूरी नहीं कर पाते थे। कीचक को मारना हो अथवा दुःशासन के वक्ष के रक्त की इच्छा। न अर्जुन उसकी ये माँगें पूरी करता, न धर्मराज ! ये तो भीम ही कर सकता था।''' भीम को प्रायः लगता था कि वह और द्रौपदी बहुत समान थे। उन दोनों के स्वभाव में बहुत-सी समानताएँ थीं। दोनों को ही धर्मराज और अर्जुन आदर्श लगते थे; किंतु व्यवहार की बात आते ही भीम और द्रौपदी उनसे एकदम भिन्न धरातल पर सोचने लगते थे। धृष्टद्युम्न का व्यवहार भी भीम की इच्छाओं के बहुत अनुरूप था। उसे द्रोण का इस प्रकार मारा जाना बहुत अच्छा लगा था। द्रौपदी को भी इस सूचना को पाकर

बहुत सुख मिलेगा।''' किंतु अर्जुन रूठा बैठा है। अर्जुन और धृष्टद्युम्न दोनों एक-दूसरे के विरोधी से प्रतीत हो रहे हैं। द्रौपदी किसका समर्थन करेगी ?'''

भीम की दृष्टि अर्जुन पर पड़ी''' वह दुख और क्षोभ में डूबा बैठा था। उसकी आँखों में अश्रु आ गए थे। वह धृष्टद्युम्न से लड़ना नहीं चाहता था, किंतु वह उसे क्षमा भी तो नहीं कर पा रहा था।'''

"धिक्कार है।"

पता नहीं वह धृष्टद्युम्न को धिक्कार रहा था अथवा स्वयं अपने आपको। पर वह बहुत कष्ट में था। उसे अपना आत्मसंयम काफी भारी पड़ रहा था।

सात्यकि से अर्जुन की यह अवस्था देखी नहीं गई। अर्जुन के प्रति उसकी सहानुभूति ने धृष्टद्युम्न के प्रति आक्रोश का रूप धारण कर लिया। वह दाँत पीसकर बोला, "यहाँ ऐसा कोई पुरुष नहीं है, जो इस अभद्र, पापी, नराधम को मार डाले।" और फिर उसकी दृष्टि सीधे धृष्टद्युम्न पर जा टिकी, "तेरे इस पाप कर्म के कारण सारे पांडव अत्यंत घृणा प्रकट करते हुए तेरी निन्दा कर रहे हैं; और तू लज्जित होने के स्थान पर अपना यशगान कर रहा है। तेरी जिह्वा के टुकड़े क्यों नहीं हो जाते। तेरा मस्तक फट क्यों नहीं जाता। तू अर्जुन पर भीष्म के वध का आरोप लगा रहा है। भीष्म ने तो स्वयं ही अपनी मृत्यु का ऐसा विधान किया था। भीष्म का वध करने वाला भी तेरा ही पापी भाई है। ऐसे पाप कर्म करने वाला पांचाल पुत्रों के समान इस पृथ्वी पर और है ही कौन। तुम दोनों को पाकर सारे पांचाल धर्मभ्रष्ट नीच, मित्रद्रोही और गुरुद्रोही हो गए हैं। यदि तू फिर इस प्रकार की बात करेगा तो मैं अपनी इस गदा से तेरा सिर कुचल दूँगा। तू मेरे सम्मुख मेरे गुरु और उनके गुरु पर आक्षेप कर रहा है। तुझे लज्जा नहीं आती।'''"

युधिष्ठिर विचित्र ऊहापोह में फँसे हुए थे। वे तो स्वयं अर्द्धसत्य बोलकर एक प्रकार की ग्लानि का अनुभव कर रहे थे। अर्जुन के इस धिक्कार ने उनका आत्मबल और भी कुंठित कर दिया था। और अब उनके सबसे प्रबल दोनों सहायक परस्पर उलझ गए थे। उन्हें भय था कि कहीं वे दोनों शस्त्र ही न उठा लें। क्षत्रियों का अपने क्रोध पर कोई नियंत्रण नहीं था। और क्रोध आते ही उनके हाथों में शस्त्र भी प्रकट हो जाते थे।''' वे सात्यकि को जानते थे। वह न कृष्ण के विरुद्ध कुछ सुन सकता था और न ही अर्जुन के विरुद्ध। कृष्ण का अपमान करने पर तो वह उपप्लव्य में बलराम से उलझ पड़ा था। उस बलराम से जिनके विरोध में बोलने से स्वयं कृष्ण और पांडव भी बचते थे''' और धृष्टद्युम्न का क्रोध कौन-सा कम था। इस समय उसका दोष भी विशेष नहीं था। द्रोण का वध करने पर तो कृष्ण, भीम, और स्वयं धर्मराज सहमत थे।''' उसका अपराध तो इतना ही था कि उसने वध करते हुए आचार्य के सम्मान का ध्यान नहीं रखा था। पर उसके मन में वर्षों से क्रोध संचित हो रहा था। उस क्रोध को भी तो कहीं प्रकट होना ही था।'''

पर धृष्टद्युम्न ने बड़े धैर्य से सात्यकि की बात सुनी थी, जैसे स्वेच्छा से उसे बोल

लेने का अवसर दे रहा हो। जब वह बोला तो भी उसका स्वर अनियंत्रित नहीं था, "मैं तुझे क्षमा कर देता, क्योंकि अनार्य पुरुप साधुओं पर ऐसे आक्षेप करते ही रहे हैं। पर मेरी क्षमा को तू मेरी उदारता न मानकर मेरी दुर्बलता समझेगा। इसलिए केवल तुझे स्मरण रखने के लिए कह रहा हूँ कि युद्धभूमि में भूरिश्रवा की बाँह पार्थ ने काट ली थी। भूरिश्रवा आमरण अनशन पर बैठ गया था, तब तूने उसका मस्तक काट लिया था। द्रोण की स्थिति वह नहीं थी। वे मुझसे लड़ रहे थे। सारे शस्त्रास्त्र उनके पास थे। उनके सारे अंग समर्थ और सबल थे।"

"तो तू उनको तब मारता, जब वे बाण चला रहे थे।" सात्यकि चिल्लाकर बोला।

"तुम भूरिश्रवा को तब मारते जब वे तुम्हें भूमि पर घसीट रहे थे और लात से तुम्हें मार रहे थे।" धृष्टद्युम्न ने कहा, "पर तुमने उन्हें तब मारा, जब अर्जुन ने उनकी भुजा काट ली थी।"

सात्यकि कुछ कहने को हुआ, पर धृष्टद्युम्न ने कुछ कहने नहीं दिया। डपटकर बोला, "चुप बैठा रह नीच ! यदि अपनी मूर्खतावश ऐसी बातें कहेगा, तो बाणों के रथ पर बैठा कर अभी तुझे यमपुर भेज दूँगा।" उसने सात्यकि की ओर अपनी तर्जनी उठाई, "और सुन ! केवल धर्म से युद्ध नहीं जीते जाते। कौरवों ने आज तक अधर्म ही अधर्म किया है। पांडवों ने भी भीष्म और भूरिश्रवा को धर्मपूर्वक नहीं मारा है। धर्म के ज्ञाता पांडवों को भी समरभूमि में अपनी विजय सुरक्षित रखने के लिए अधर्म का सहारा लेना पड़ा है। अब तू पूर्ववत् कौरवों से युद्ध कर, मुझसे विवाद कर यमलोक जाने की तैयारी मत कर।"

सात्यकि क्रोध से काँपने लगा। उसने अपना धनुष रख दिया और गदा उठा ली, "अब तुझसे विवाद नहीं करूँगा, तुझे मार ही डालूँगा।"

युधिष्ठिर, कृष्ण, अर्जुन, भीम सब ही देख रहे थे कि अनर्थ होने वाला है। कृष्ण ने संकेत किया और भीम ने झपटकर सात्यकि को पकड़ लिया। किंतु इस समय सात्यकि इतने क्रोध में था कि भीम भी उसके साथ-साथ कुछ दूर चलता चला गया। छठे पग पर जाकर भीम ने सात्यकि को पूर्णतः नियंत्रित किया और उसकी गति थम गई।

सहदेव ने निकट आकर कहा, "वीर सात्यकि ! अंधक और वृष्णि वंश के यादवों और पांचालों से बढ़कर हमारा कोई मित्र नहीं है। सत्य यह है कि अंधकों और वृष्णियों का भी हमसे बड़ा सहायक इस पृथ्वी पर नहीं है। पांचाल भी सारी सृष्टि में खोज लें तो उन्हें पांडवों और वृष्णियों जैसा मित्र नहीं मिलेगा। उस मित्रता का स्मरण कर अपने धर्म का निश्चय कीजिए। व्यक्तिगत आक्षेपों का समय नहीं है यह। आप और धृष्टद्युम्न परस्पर एक-दूसरे के अपराध क्षमा करें।""

धृष्टद्युम्न अपने स्थान पर खड़ा विष में डूबी मुस्कान के साथ बोला, "भीमसेन ! छोड़ दो इसे। अपने युद्ध कौशल पर बहुत घमंड है इसको। छोड़ दो इसे। यह आकर मुझसे भिड़े। अभी अपने तीखे बाणों से मैं इसका क्रोध उतार देता हूँ। एक बार भिड़कर

देख ले, युद्ध के प्रति सारा उत्साह ही नहीं इसका जीवन भी समाप्त हो जाएगा।"

सात्यकि कुछ कहता, उससे पूर्व ही कृष्ण ने आकर धृष्टद्युम्न की भुजा थाम ली, "मैं अभी सात्यकि को मध्यम पांडव से छुड़वा देता हूँ। तुम दोनों अपनी-अपनी साध पूरी कर लेना। पर पहले यह निर्णय कर लो कि तुम्हारा बड़ा शत्रु कौन है—सात्यकि अथवा अश्वत्थामा ? पहले किसको शांत करना है—सात्यकि को अथवा अश्वत्थामा को ? सात्यकि को तो भीम ने पकड़ रखा है, अश्वत्थामा को पकड़ने वाला कोई नहीं है। बोलो, क्या कहते हो ? पहले अश्वत्थामा को पकड़ें अथवा पहले सात्यकि को छोड़ें ?"

धृष्टद्युम्न का भाव तत्काल बदल गया, "नहीं ! कौरवों से युद्ध अधिक आवश्यक है केशव ! वह बड़ा काम है।"

"तो वही करो।" कृष्ण बोले, "जाओ, अपना रथ सँभालो।"

वे सात्यकि के निकट आए, "धृष्टद्युम्न ने अधिक अपमान किया है तुम्हारे गुरु का अथवा दुर्योधन ने अधिक अपमान किया है तुम्हारी गुरुपत्नी का। धृष्टद्युम्न ने तुम्हारे गुरु का सर्वस्व हरण कर वन भेजा था अथवा दुर्योधन ने ? पहले दुर्योधन का वध करना है अथवा पहले धृष्टद्युम्न का निर्णय करना है ?"

सात्यकि ने सिर झुका लिया।

"अपने शत्रुओं को पहचानना सीखो सात्यके !" कृष्ण के स्वर में वेणु का स्वर गूँज उठा, "क्रोध बुद्धि को भ्रष्ट करता है। उससे बचो।"

अंत में वे एक ओर उदासीन से खड़े अर्जुन के निकट आए, "रथ लाऊँ अथवा पहले गुरु की अंत्येष्टि करके ही युद्ध की बात सोचोगे ?"

अर्जुन ने कृष्ण की ओर देखा… कृष्ण की बात उसने नहीं मानी थी। किंतु उन्होंने उसका त्याग नहीं किया था। अर्जुन ने धृष्टद्युम्न को बार-बार धिक्कारा था, पर उसके लिए कृष्ण ने अर्जुन को एक वार भी नहीं टोका था। जाने उनके मन में क्या था। इतना बड़ा कांड हो गया था किंतु कृष्ण ने एक क्षण को भी अपनी अप्रसन्नता प्रकट नहीं की थी।… जो विवाद शस्त्रों से भी समाप्त होने वाला नहीं था, कृष्ण के संक्षिप्त वाक्यों से इस प्रकार विलीन हो गया था, जैसे उसका कभी कोई अस्तित्व ही नहीं था। शस्त्र तो शस्त्र, कृष्ण का वाणी पर भी ऐसा अधिकार था कि ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न किसी ब्रह्मवादी ब्राह्मण का भी क्या होगा।… कैसी लीला है प्रभु की कि क्षत्रियों में कृष्ण जैसा कोई क्षत्रिय नहीं है और ब्राह्मणों में कृष्ण जैसा कोई ब्राह्मण नहीं है।…

27

कौरवों की भागती हुई सेना फिर से संगठित होकर समरभूमि में लौट आई थी। कौरवों ने बड़े वेग से पांडवों पर आक्रमण किया था।

युधिष्ठिर देख रहे थे।''' इस समय कौरव सेना का नेता अश्वत्थामा था।''' क्या कौरवों ने अश्वत्थामा का अपने नए प्रधान सेनापति के रूप में अभिषेक कर दिया था ? पर कर्ण उसे अपना सेनापति मान लेगा क्या ?''' नहीं ! शायद ऐसा नहीं है। इस समय तो अश्वत्थामा बिना कुछ सोचे-समझे अपने आवेश में प्रतिशोध के भाव से ही लड़ रहा है। दुर्योधन की तो नीति ही रही है कि विनाश के लिए आतुर व्यक्ति को और भी उत्तेजित किया जाए। अश्वत्थामा अपने पिता के वध से अथवा उनके अपमान से पीड़ित होकर अपना संतुलन खो बैठा था और किसी भी प्रकार पांचालों का सर्वनाश करने पर तुला हुआ था। उसने दुर्योधन से पूछा भी नहीं होगा कि नया प्रधान सेनापति कौन है या किसको होना है। गुरुपुत्र में न धैर्य है न विवेक। वह तो बस पशु वृत्तियों से ही संचालित होता है। यदि धृष्टद्युम्न ने उसके पिता का वध किया है तो वह सारे पांचालों का विनाश करेगा। उसके ध्यान में यह कभी नहीं आएगा कि आचार्य ने भी तो धृष्टद्युम्न के पिता, भाइयों और पुत्रों का वध किया था।'''

अश्वत्थामा का रथ पांडव सेना से कुछ दूर ही रुक गया था। उसने अपने धनुष पर कोई दिव्यास्त्र रखा और योगस्थ होकर उसे पांडव वाहिनियों की ओर परिचालित कर दिया। वह अस्त्र ऊपर आकाश की ओर उठा और फिर जैसे वहाँ ठहर गया।''' उस दिव्यास्त्र का प्रभाव विचित्र था। उसमें से असंख्य बाण प्रकट हो रहे थे। उनके अग्र भाग पर अग्नि प्रज्वलित थी। वे बाण अश्वत्थामा के धनुष से मुक्त हो स्वतःचालित ढंग से स्वतंत्र यात्रा कर रहे थे। वे कहीं भी सीधे आघात नहीं करते थे। वे जैसे पहले अपने लक्ष्य को खोजते थे। फिर निर्णय करते थे कि किस पर आघात करना है; और तब उस पर जा गिरते थे। उनके आसपास अग्नि का प्रकोप दिखाई देता था। यह पता ही नहीं चल रहा था कि वे बाण किसी के शरीर को चीरते हैं अथवा उनसे उत्पन्न अग्नि ही सैनिकों को दग्ध कर रही है।''' उस अस्त्र का आघात सेना के उस भाग में हुआ था, जहाँ पांचाल सैनिक बहुत बड़ी संख्या में थे। कदाचित् अश्वत्थामा का विरोध भी उन्हीं की ओर से सबसे प्रबल रूप से हो रहा था।

युधिष्ठिर ने देखा कि कौरवों की सेना आगे नहीं बढ़ रही थी। उन्होंने जैसे अपनी सारी गतिविधि रोक ली थी। केवल वह दिव्यास्त्र ही लड़ रहा था पांडव सेना के विरुद्ध। जहाँ-जहाँ पांडवों की सेना प्रबल थी, प्रचंड युद्ध कर रही थी, वहीं वह अस्त्र भी अधिक क्रूर होता जा रहा था। वहाँ अग्नि का तांडव होने लगता था। पांडव सेना के प्रहारों का उस पर कोई प्रभाव ही नहीं हो रहा था। पांडवों का कोई भी महारथी उसका सामना करने के लिए आगे नहीं आ रहा था। कदाचित् अभी उस अस्त्र की पहचान भी नहीं हो पाई थी।'''ऐसे में परिणाम निश्चित था या तो सैनिक मरने लगते थे या भाग जाते थे।

अपने सैनिकों को मरते और कुछ वाहिनियों को पलायन करते देख, युधिष्ठिर की दृष्टि अर्जुन और कृष्ण को खोजने लगी। अर्जुन तटस्थ भाव से अपने रथ में निष्क्रिय

खड़ा था। कृष्ण भी हाथों में अश्वों की वल्गा थामे अपनी सेना का विनाश देख रहे थे।

युधिष्ठिर का हृदय रो पड़ा।''' भीष्म और द्रोण जैसे अतिरथियों को धराशायी कर वे अश्वत्थामा सरीखे एक साधारण महारथी से पराजित हो जाएँगे ?''' अर्जुन को भी कभी-कभी जाने क्या हो जाता है। आचार्य के वध की आकांक्षा युधिष्ठिर ने भी कभी नहीं की थी। पर उन्होंने आचार्य की कल्पना अपने विपक्षी योद्धा के रूप में भी तो नहीं की थी। जब वे विपक्षी योद्धा बनकर आए तो यह तो निश्चित ही था कि पांडव उनके वध का प्रयास करेंगे।''' अब अर्जुन इसी बात से रूठा खड़ा रहेगा क्या ? अर्जुन का युद्ध उनकी समझ में नहीं आ रहा था। वह जिनके विरुद्ध लड़ रहा था, उनकी ही हत्या से रुष्ट हो जाता था।'''

वे अर्जुन के रथ के निकट पहुँचे।

"तुम्हारे इस रोष का अंत कहाँ होगा धनंजय ! क्या मैं सारे महारथियों से कह दूँ कि वे अपनी वाहिनियों को लेकर अपने-अपने राज्य में लौट जाएँ—क्योंकि मेरा भाई धनंजय मुझसे रुष्ट हो गया है ?" युधिष्ठिर बोले, "धनंजय को युद्ध नहीं करना है, तो फिर इन सारे सैनिकों को अश्वत्थामा के अस्त्रों की अग्नि में झोंक देने का क्या लाभ ? वे भी सुरक्षित अपने घर ही चले जाएँ। मैंने युद्ध आरंभ किया है तो मैं ही अपने भाइयों के साथ इस अग्नि में प्रवेश करूँगा।"

"वह बात नहीं है धर्मराज !" कृष्ण बोले।

"तो और क्या बात है केशव ! अर्जुन खड़ा-खड़ा पांडव सेना का विनाश देख रहा है और उसका मन तनिक-सा भी द्रवित नहीं हो रहा ?" युधिष्ठिर अर्जुन की ओर मुड़े, "मुझे जो दंड देना है दे लो अर्जुन ! क्योंकि सदा अपने ही कल्याण में लगे रहने वाले तुम्हारे गुरु द्रोण को मैंने युद्ध में मरवा दिया है। उन द्रोण को मरवा दिया है, जिन्होंने युद्ध कौशल से रहित बालक अभिमन्यु को अनेक क्रूरकर्मा शक्तिशाली महारथियों के सम्मुख आखेट के जीव-सा परोस दिया था; जिन्होंने सभा में लाई गई द्रौपदी के प्रश्न का उत्तर न दे कर, उसकी उपेक्षा की, क्योंकि वह हमें दासता से मुक्त करवाने का प्रयत्न कर रही थी; जिन्होंने अर्जुन की मृत्यु निश्चित करने के लिए जयद्रथ की रक्षार्थ अपना सारा बल झोंक दिया था; जिन्होंने दुर्योधन को उस समय दिव्य कवच पहना दिया, जब वह थके हुए अश्वों वाले अर्जुन पर आक्रमण कर उसे मार डालना चाहता था; जिन्होंने मेरी रक्षा के लिए प्रयत्नशील सत्यजित तथा अन्य पांचालों को अपने ब्रह्मास्त्र से नष्ट कर दिया; जिन्होंने दुर्योधन को उस समय भी कुछ नहीं कहा, जब वह अधर्मपूर्वक हमें हमारे राज्य से निष्कासित कर रहा था। आचार्य हमें ही समझाते रहे, रोकते रहे।''' उन द्रोण को अब मैंने युद्ध में मरवा दिया है। उनका प्रतिशोध लेने के लिए तुम मेरे भाइयों सहित मुझे भी मार डालो।"

"धर्मराज ! आप शस्त्र त्याग दीजिए और अपने रथ से नीचे उतर आइए।" सहसा

कृष्ण रथ से नीचे उतर आए, "अर्जुन रुष्ट नहीं है। हम अभी अश्वत्थामा के दिव्यास्त्र का स्वरूप समझने का प्रयत्न कर रहे हैं।"

युधिष्ठिर समझ नहीं पाए कि यह कौन-सा दिव्यास्त्र है, जिसका ज्ञान अश्वत्थामा को तो है किंतु कृष्ण और अर्जुन—दोनों ही अभी उसके विषय में जानने का प्रयत्न ही कर रहे हैं।··· और फिर कृष्ण उन्हें शस्त्र त्यागने और रथ से नीचे उतर आने के लिए क्यों कह रहे हैं ?···

तभी कृष्ण अपनी सेना की ओर घूमे और उच्च स्वर में आदेश देते हुए बोले, "सैनिको ! अश्वत्थामा और उसके इस अस्त्र का विरोध मत करो। अपने अस्त्र-शस्त्र डाल दो और अपने वाहनों से नीचे उतर आओ। भूमि पर निःशस्त्र खड़े हो जाओ। मन में विरोध मत रखो। हिंस्र भावों का त्याग कर दो। मन में श्रद्धा लाओ। यह नारायणास्त्र है। प्रभु का अंश मानकर इस अस्त्र को नमस्कार करो। प्रेम भाव से अस्त्र का स्वागत करो।"

युधिष्ठिर के मन में अर्जुन को लेकर चाहे शंका रही हो; किंतु कृष्ण के प्रति किसी भी प्रकार का कोई संशय नहीं था। उन्होंने अपना धनुष तो त्याग दिया; किंतु वे अब भी समझ नहीं पा रहे थे कि इस भयंकर युद्ध में, जब चारों ओर शस्त्रों की आग बरस रही थी, प्रधान सेनापति और राजा से पूछे बिना कृष्ण सारी सेना को इस प्रकार निःशस्त्र क्यों करवा रहे थे ? श्रीकृष्ण को अधिकार था कि वे पांडव सेना को कोई भी आदेश दें। वे सारी सेना के रक्षक थे।··· पर यह आदेश···

उधर भीम की घोषणा सुनाई दी, "हम शस्त्रसमर्पण नहीं करेंगे। कोई भी योद्धा शस्त्र न त्यागे। मैं अश्वत्थामा से भयभीत नहीं हूँ। तुम्हें भी उससे डरने का कोई कारण नहीं है। मैं उसके इस अस्त्र का निवारण करूँगा। इस एक अस्त्र के कारण हम शत्रु के सामने घुटने नहीं टेकेंगे। यदि इस अस्त्र का निवारण करने वाला कोई योद्धा संसार में नहीं है, तो भी मैं इसका सामना करूँगा। अर्जुन ! कहीं तुम अपना गांडीव मत डाल देना, नहीं तो तुम्हारा निर्मल यश कलंकित हो जाएगा। तुम आज तक अजेय रहे हो। आज शत्रुओं के सामने अपना गांडीव समर्पित कर सदा के लिए अपयश मत मोल लेना। कृष्ण कुछ भी कहे, हम पराजित नहीं हुए हैं। हम शस्त्र समर्पित नहीं करेंगे।"

भीम ने अर्जुन की ओर देखा।

"नारायणास्त्र, गौ और ब्राह्मण के सामने मेरा गांडीव नहीं उठता।" अर्जुन ने ऊँचे स्वर में कहा।

भीम निराशा की आग में जल उठा।··· अश्वत्थामा ब्राह्मण है, इसलिए उसके सम्मुख गांडीव नहीं उठेगा ? तो वह द्रोण के सम्मुख क्यों उठा था ? कृपाचार्य से क्यों युद्ध करता है अर्जुन ?··· इस मूर्खता का क्या उत्तर है कि शत्रु के सम्मुख गांडीव इसलिए नहीं उठेगा, क्योंकि शत्रु किसी विशेष वर्ण से संबंध रखता है। ऐसे तो कोई भी राजा अपनी सेना के सामने ब्राह्मणों को खड़ा कर देगा और अर्जुन अपना शस्त्र त्याग कर

पराजय स्वीकार कर लेगा...

इससे पूर्व भी ऐसे अनेक अवसर आए हैं, जब कृष्ण की नीतियाँ उसकी समझ से बाहर रही हैं; किंतु यह तो उसने कल्पना भी नहीं की थी कि युद्ध के इस सोपान पर आकर कृष्ण कौरवों के सम्मुख उनका आत्मसमर्पण करवा देंगे।... धर्मराज और अर्जुन अंधभक्त हैं कृष्ण के। कृष्ण जो भी कहेंगे, वे लोग उसे अपना हित मानकर स्वीकार कर लेंगे, उनके प्रत्येक आदेश का पालन करेंगे। पर भीम उनके समान श्रद्धालु नहीं है। कुछ भी हो जाए, वह अपना शस्त्र नहीं त्यागेगा। वह दुर्योधन के सम्मुख आत्मसमर्पण नहीं करेगा। वह फिर उसका दास बनकर उसके सम्मुख सिर झुकाकर खड़ा नहीं होगा, वह उसे अपना अपमान नहीं करने देगा। इससे तो कहीं अच्छा है कि वह युद्ध में अपने प्राण दे दे।...

भीम ने अपने सारथि को संकेत किया और उसका रथ अश्वत्थामा के रथ की ओर दौड़ पड़ा। भीम ने अपने चारों ओर नहीं देखा। उसको केवल और केवल अश्वत्थामा ही दिखाई दे रहा था—जैसे आज समरभूमि में और कोई योद्धा ही न हो। भीम उसका यह दर्प सहन नहीं कर सकता।...

भीम ने धनुष परिचालन में अपनी स्फूर्ति दिखाते हुए, अश्वत्थामा को अपने बाणों से ढँक दिया।... किंतु तब उसका ध्यान इस ओर भी गया कि अश्वत्थामा के धनुष से छूटे हुए, नारायणास्त्र से अभिमंत्रित प्रज्वलित मुख वाले सारे बाण उसी की ओर प्रेरित होते जा रहे हैं। वे बाण छेदते नहीं थे, दग्ध करते थे। उनमें तीक्ष्णता नहीं थी, दाहकता थी।...

वह अग्नि में घिरता जा रहा है। वह उस अस्त्र का निवारण करने के लिए जैसे-जैसे बाण मारता जा रहा था, वैसे-वैसे ही वह अस्त्र प्रचंड होता जा रहा था। उसका ताप बढ़ता जाता था और सारी दिशाओं में ज्वाला फैलती जा रही थी, जैसे भीम ने बाण न मारा हो, पवन का वेग बढ़ाया हो... । उसने एक बार मुड़कर देखा : पांडव सेना ने अपने अस्त्र-शस्त्र त्याग दिए थे और उनमें से अधिकांश लोग अपने रथ, गज और अश्व छोड़कर भूमि पर खड़े हो गए थे। जो भूमि पर नहीं भी उतरे थे, वे जैसे अपने मानसिक द्वंद्व से जड़ हो चुके थे। सब किंकर्तव्यविमूढ़ से खड़े थे। युद्ध कोई भी नहीं कर रहा था।...

सहसा उसका ध्यान नारायणास्त्र से उत्पन्न उस अग्नि की ओर गया, जो उसके अत्यंन्त निकट आ गई थी। उसने उसके चारों ओर अग्नि और धुएँ का एक आवरण-सा बनाकर उसे ढँक लिया था। वह उस अग्नि के पार कुछ भी नहीं देख पा रहा था।... अग्नि प्रचंड होती जा रही थी... और भीम पांडव सेना से कटता जा रहा था ...

पांडव सेना में हाहाकार मच गया। धर्मराज अपने सारे योद्धाओं के साथ असहाय से खड़े भीम को आग में जलते हुए देख रहे थे।...

अर्जुन ने भी भीम को अग्नि में घिरते देखा। उसके ध्यान में था कि कृष्ण शस्त्र

त्यागने को कह चुके हैं। पर वह भीम को इस प्रकार अग्नि में जलने नहीं दे सकता था। कृष्ण भी भीम को बचाने के इच्छुक होंगे। अर्जुन ने गांडीव उठाया और नारायणास्त्र पर प्रहार करने के स्थान पर उसने भीम के शरीर को वारुणास्त्र का कवच दे दिया। अर्जुन ने नारायणास्त्र का विरोध नहीं किया था। उसने उस पर प्रहार नहीं किया था। इसीलिए उसके अर्जुन की ओर आकृष्ट होने की कोई संभावना भी नहीं थी।'''

"आओ अर्जुन !"

कृष्ण ने अर्जुन की बाँह पकड़ी और वे लोग दौड़ते हुए भीम के पास पहुँचे। भीम के रथ के चारों ओर धधकती अग्नि की उपेक्षा कर वे उसमें प्रवेश कर गए। भीम को उसकी भुजा से पकड़कर रथ से नीचे उतारा। सारथि को भी नीचे उतर आने के लिए कहा।

भीम पूरे वेग से अपना विरोध प्रकट कर रहा था। वह गर्जन कर रहा था और हाथों से भी शस्त्र को नहीं छोड़ना चाहता था। किंतु कृष्ण और अर्जुन ने उसके उस विरोध और गर्जन-तर्जन की चिंता नहीं की।

"मध्यम ! अब ध्यान से मेरी बात सुनो," कृष्ण बोले, "हठ छोड़ो और मन से क्रोध तथा आक्रोश को भी निकाल फेंको। हमारा विरोध अश्वत्थामा से है, नारायणास्त्र से नहीं। नारायणास्त्र हमारा शत्रु नहीं है। हम नारायण के सम्मुख नमन करते हैं तो इसका अर्थ अश्वत्थामा के सम्मुख आत्मसमर्पण नहीं है। हम नारायणास्त्र पर प्रहार नहीं करेंगे तो वह हम पर प्रहार नहीं करेगा। वह मैत्री का सम्मान करता है। सारी सेना अपने शस्त्र त्याग चुकी है। सबने इस अस्त्र के प्रति अपनी मैत्री दर्शाई है। नारायणास्त्र ने किसी ऐसे योद्धा का अनिष्ट नहीं किया है, जिसने उसका विरोध नहीं किया है। तुम भी अपना विरोध छोड़ दो, नहीं तो तुम्हें इस अस्त्र से कोई नहीं बचा पाएगा।''''" वे रुके, "यदि युद्ध से ही इसे जीता जा सकता तो हम सब भी युद्ध ही कर रहे होते।"

अब तक भीम की समझ में भी बहुत कुछ आ गया था। उसने अपना धनुष भूमि पर रख दिया। मन को शांत किया और देखा कि नारायणास्त्र का वेग कम होने लगा है। अग्नि उसे चारों ओर से घेरे हुए थी; किंतु न वह उसकी ओर लपक रही थी और न ही भीम को उसके ताप का अनुभव हो रहा था।

"यह क्या है केशव ?" भीम ने कुछ चकित स्वर में पूछा।

"आओ। पहले धर्मराज के पास चलें।" कृष्ण बोले, "वहीं बताता हूँ। उन्हें इस समय अकेले छोड़ना उचित नहीं होगा; और फिर नारायणास्त्र के शांत हो जाने से युद्ध समाप्त नहीं हो जाएगा। अश्वत्थामा कोई दूसरा अस्त्र छोड़ेगा।"

नारायणास्त्र का तेज शांत हो गया था। लगता था किसी ने वह धधकता हुआ दावानल समेटकर उसे किसी सुरक्षित स्थान पर बंद कर दिया था। वातावरण पर्याप्त निर्मल हो गया था।'''

भीम को लेकर कृष्ण और अर्जुन, धर्मराज के निकट आए।

"तुम सुरक्षित तो हो भीम ?" युधिष्ठिर ने भीम के शरीर पर हाथ फेरा, जैसे उसकी कुशलता के प्रति स्वयं को आश्वस्त कर लेना चाहते हों।

"मैं पूर्णतः सुरक्षित हूँ और युद्ध के लिए पूरी तरह समर्थ हूँ।" भीम हँसा, "आप तनिक भी चिंता न करें।"

तभी सात्यकि भी वहाँ आ पहुँचा, "यह क्या था केशव ?"

"यह नारायणास्त्र था।" कृष्ण बोले, "जब अश्वत्थामा ने उसका प्रयोग किया तो उसका स्वरूप मेरी भी समझ में नहीं आ रहा था। पर फिर मैंने देखा कि जहाँ-जहाँ से उसका प्रतिरोध और विरोध हो रहा है, वहाँ ही वह प्रचंड आक्रमण कर रहा था। दूसरी ओर जहाँ उसका विरोध नहीं हो रहा था, वहाँ उसका कोई भी प्रभाव नहीं था। उसके व्यवहार से उसका सिद्धांत मेरी समझ में आया और तब उसका स्वरूप भी स्पष्ट हो गया।"

"इससे पहले आप और धनंजय भी उसके विषय में नहीं जानते थे ?" सात्यकि ने कुछ आश्चर्य से पूछा।

"हाँ ! नहीं जानते थे।" कृष्ण मुस्कराए, "इससे तुम्हारी यह भ्राँति भी मिट जाएगी कि तुम्हारे गुरु सर्वज्ञ हैं।"

"पर क्या है वह सिद्धांत, जिससे नारायणास्त्र परिचालित होता है ?" धृष्टद्युम्न ने पूछा।

"हम सब ही जानते हैं कि जो कुछ इस पिंड में है, वही ब्रह्मांड में है।" कृष्ण बोले, "इसका अर्थ है कि हमारे अपने मन का स्वरूप ही बाहर के संसार का निर्माण करता है।"

"इसका क्या अर्थ हुआ ?" भीम कुछ झपटकर बोला।

"इसका अर्थ हुआ कि हमारे अपने मन में प्रेम हो तो वह बाहर से भी प्रेम को आकृष्ट करता है। हमारे मन में शत्रुता हो तो वह अन्य लोगों के मन में भी हमारे लिए शत्रुता को जन्म देती है। वस्तुतः हमारा मन अपना प्रतिबिंब ही संसार में पाता है।" कृष्ण बोले, "इसी सिद्धांत का प्रयोग है नारायणास्त्र। वह सूक्ष्म जगत् को स्थूल में बदल देता है। एक प्रकार से युद्धशास्त्र में यह योग का प्रयोग है। जैसे चुंबक लोहे को आकृष्ट करती है, प्रज्वलनशील पदार्थ अग्नि को निमंत्रित करते हैं, वैसे ही एक शस्त्र दूसरे शस्त्र को अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है। यह स्थूल जगत् का सिद्धांत है। साधारणतः इसका प्रयोग भी स्थूल जगत् में ही हुआ है।''' किंतु नारायणास्त्र के माध्यम से सूक्ष्म जगत् का संपर्क स्थूल जगत् से करा दिया गया है। अश्वत्थामा ने अपने योगबल से अपने हृदय की ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा और घृणा को एक अस्त्र से जोड़ दिया। उसका विक्षेपण योग के क्षेत्र में न कर युद्ध के क्षेत्र में किया। अश्वत्थामा के मन की वह हिंसा, नारायणास्त्र के रूप में सारे स्थानों पर अपनी समकक्ष हिंसा को खोजती फिरी। जहाँ कहीं हिंसा दिखाई देती, नारायणास्त्र की आधारभूत हिंसा उस पर प्रहार करती।

ऐसे में हम अपने भौतिक शस्त्रों से नारायणास्त्र का निवारण नहीं कर सकते थे। उसके लिए तो हमें भी अपने मनोजगत् में ही जाना पड़ेगा। इस तथ्य को समझते ही मैंने सेना द्वारा शस्त्रसमर्पण का प्रस्ताव किया था। मेरा आकलन ठीक निकला।"

"मेरे मन में एक प्रश्न है केशव !" अर्जुन ने कहा, "यदि बाह्य संसार हमारे अपने ही मन का प्रतिबिंब है तो धर्मराज को दुर्योधन के रूप में इतना भयंकर शत्रु क्यों मिला। उनके मन में तो दुर्योधन के लिए कभी वैर विरोध नहीं रहा।"

"ठीक कह रहे हो।" कृष्ण बोले, "इसकी व्याख्या कई प्रकार से हो सकती है। सबसे पहले तो यह कि दुर्योधन के मन में जो होगा, वही तो बाहर स्थूल जगत् में प्रकट होगा। दुर्योधन के मन में प्रेम है ही नहीं। धर्मराज का सर्वप्रेम भी उसमें से प्रेम आकृष्ट नहीं कर सकता था, क्योंकि उसमें प्रेम था ही नहीं। आप भाव को आकृष्ट कर सकते हैं, भाव उत्पन्न नहीं कर सकते। किंतु धर्मराज के मन में जो अविरोध का भाव है, उसमें आवृत होने के कारण, दुर्योधन का विरोध उनका अहित नहीं कर सका। प्रेम की सूक्ष्म शक्ति सदा ही सारे पांडवों की सहायता करती रही है। तुम्हारे वारुणास्त्र ने भीम को आवृत कर रखा था, इसलिए नारायणास्त्र की ज्वाला ने भी उसको दग्ध नहीं किया। वैसे ही धर्मराज के धर्म ने अपने भाइयों को भी आवृत कर रखा है। यही कारण है कि संसार की भौतिक शक्तियाँ जब आक्रमण करती हैं तो उस सूक्ष्म शक्ति से पराजित होकर लौट जाती हैं। हमारी शारीरिक आँखें देखती हैं और चकित होती हैं कि यह कैसे हो गया।..."

"पर उन्होंने हमारी हानि तो की है। अनेक बार की है।" सहदेव ने कहा, "हमें वंचित किया है, अपमानित किया है। हमें पीड़ित किया है।"

"हमें मान लेना चाहिए कि उतना विरोध पांडवों के मन में भी कौरवों के लिए था कि वे इतनी क्षति पहुँचा सके।" कृष्ण बोले, "यदि उतना भी विरोध न होता तो शायद स्थिति कुछ और ही होती। महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास के मन में किसी का विरोध नहीं है, इसीलिए उनका कोई विरोधी नहीं है। मैं यह नहीं कहता कि किसी के मन में उनके प्रति विरोध नहीं है। संभवतः दुर्योधन के मन में उनके प्रति भी विरोध होगा, किंतु दुर्योधन न तो उनका विरोध करने का साहस कर पाएगा और न ही उनका कुछ अहित कर पाएगा।"

"महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास ही क्यों ? कृष्ण क्यों नहीं ? कृष्ण के मन में भी तो किसी के प्रति घृणा नहीं है।" अर्जुन ने कहा।

"पर कृष्ण युद्ध तो करता है। घृणा न करे किंतु वध तो वह भी करता है।" कृष्ण मुस्कराए, "इसीलिए उसके चारों ओर सदा ही युद्ध और संघर्ष घिरे रहते हैं।"

"अश्वत्थामा नारायणास्त्र का प्रयोग दूसरी बार भी तो कर सकता है।" सहसा धृष्टद्युम्न ने कहा।

"नहीं ! पुनः नहीं।" कृष्ण मुस्कराए, "दुर्योधन उसको कहेगा, आदेश देगा, आग्रह

करेगा, किंतु नारायणास्त्र का प्रयोग दूसरी बार नहीं हो सकता।"

दुर्योधन की विचित्र स्थिति थी। नारायणास्त्र का प्रभाव देखकर वह अपनी विजय के विषय में इतना निश्चित हो चुका था कि उसके मन में अपने विजयोत्सव का प्रारूप भी बनने लगा था। उसने मन-ही-मन यह भी निश्चय कर लिया था कि किस प्रदेश का राजा किसको नियुक्त करना है; और इस युद्ध में दिखाई गई वीरता के लिए किसको क्या पुरस्कार देना है। पर अकस्मात् ही नारायणास्त्र शांत हो गया और पांडव सेना सुरक्षित ही नहीं बच गई, पुनः रणसज्जित होकर कौरवों के सामने आ गई थी। जो पांचाल अब तक मर चुके होने चाहिए थे, वे कौरवों को मारने के लिए अत्यंत उत्साहित होकर दौड़ते हुए उनकी ओर बढ़ते चले आ रहे थे।

दुर्योधन की समझ में नहीं आ रहा था कि यह क्या हो गया। जो विमान उसे आकाश की ओर ऊपर ले जा रहा था, उसकी गति अकारण ही नीचे की ओर क्यों हो गई ? बल्लियों उछलने वाला उसका हृदय अचानक ही डूबने लगा था।''' पर तभी उसके मन में एक नया उत्साह जागा।

"गुरुपुत्र ! देख रहे हो। यह क्या हो गया।" वह बोला, "वे पांचाल तो फिर बच गए। गुरुघाती पांडवों में से भी कोई नहीं मरा है।"

अश्वत्थामा कुछ नहीं बोला।

उसके मौन का अर्थ दुर्योधन के लिए स्पष्ट नहीं था, किंतु इतना तो माना ही जा सकता था कि वह अपनी असफलता से निराश था। उसे भी प्रोत्साहन की आवश्यकता थी।

"तुम इसी अस्त्र का पुनः प्रयोग करो।" दुर्योधन बोला, "इस बार उनमें से कोई भी नहीं बच पाएगा।"

अश्वत्थामा ने निराशा में सिर हिलाया, "नारायणास्त्र की पुनरावृत्ति नहीं हो सकती।"

दुर्योधन को निराशा हुई''' पता नहीं ये लोग कैसे-कैसे अस्त्र-शस्त्र रखते हैं, जो एक बार तो प्रहार करते हैं और दूसरी बार युद्धक्षेत्र से कहीं दूर भाग जाते हैं। पर यह समय अश्वत्थामा से विवाद करने का नहीं था। इस समय तो उसे किसी भी प्रकार प्रसन्न ही रखना होगा।''' इतना तो दुर्योधन समझ ही गया था कि द्रोण के पश्चात् अब द्रोणपुत्र ही उसका सहारा हो सकेगा। आचार्य के मन में पांचालों के लिए जितना वैमनस्य था, आचार्यपुत्र के मन में उससे कम नहीं था। आचार्य अपने अपमान से पीड़ित थे; तो आचार्यपुत्र अपने पिता के अपमानजनक वध से।'''

"पर गुरुपुत्र ! तुम्हारी क्षमता का अंत नहीं है। तुम्हारे पास दिव्यास्त्रों और देवास्त्रों का कोई अभाव तो है नहीं। मुझे तो लगता है कि सारे देवास्त्र या तो भगवान शंकर में प्रतिष्ठित हैं या फिर तुममें। यदि तुम मारने पर ही आ जाओ तो तुमसे देवराज इंद्र भी बचकर नहीं जा सकते। शस्त्रास्त्रों के क्षेत्र में तो तुम स्वयं भगवान शंकर के

समकक्ष हो।"

"कैसी बातें कर रहे हो राजन् ! कहाँ भगवान शिव और कहाँ मैं। हाँ ! मेरे पिता…"

दुर्योधन देख रहा था कि इस मनःस्थिति में भी अश्वत्थामा को अपनी प्रशंसा का दर्प चढ़ा था। वह बोला, "तुम्हें उन अस्त्रों का भी ज्ञान है, जिनका नाम भी कभी उस अज्जू ने नहीं सुना। पता नहीं तुम अपनी मुनिवृत्ति के कारण महत्त्वाकांक्षी नहीं हो या क्या है कि स्वयं को तुमने उस अर्जुन के समान प्रचारित नहीं किया। नहीं तो तुम इस समय संसार के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर कहलाते।…" वह रुका, "अब तुम ऐसा करो कि नारायणास्त्र जैसा ही कोई दूसरा अस्त्र निकालो। इस बार दिव्यास्त्र के स्थान पर किसी देवास्त्र का प्रयोग करो। तुम देख रहे हो कि वे गुरुघाती न केवल अभी जीवित हैं, वरन् वे तुम्हारी और मेरी हत्या करने के लिए अपनी सेना समेत हम पर चढ़े चले आ रहे हैं। ऐसे तो न आचार्य के अपमान का प्रतिशोध लिया जा सकेगा, न हमारे शत्रु समाप्त होंगे।"

अश्वत्थामा ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसकी दृष्टि धृष्टद्युम्न पर लगी हुई थी। उसे आता देखकर वह स्वयं को रोक नहीं पाया। उसने अपने सारथि को संकेत किया और उसका रथ धृष्टद्युम्न की ओर दौड़ चला।

दुर्योधन को उसका उत्तर चाहिए भी नहीं था। वह जो चाहता था, वह हो रहा था। जिस उतावली से अश्वत्थामा झपटकर धृष्टद्युम्न की ओर गया था, उससे ही स्पष्ट था कि वह उसे जीवित नहीं छोड़ेगा।…

अश्वत्थामा ने धृष्टद्युम्न पर पूरे वेग से आक्रमण किया था; किंतु धृष्टद्युम्न उससे तनिक भी आतंकित नहीं था। धृष्टद्युम्न का धनुष कुछ अधिक ही गतिशील हो उठा था।… द्रोण के वध के पश्चात् भी उसे स्मरण था कि उसने किस शपथ को ग्रहण कर द्रुपद के घर यज्ञकुंड में से जन्म लिया था। वह शपथ तो पूरी हुई, किंतु अभी सारा वैर नहीं चुका था। द्रोण ने उसके पिता, भाइयों और पुत्रों का वध कर दिया था। उसका प्रतिशोध तो अभी शेष था। अश्वत्थामा मान रहा था कि उसे धृष्टद्युम्न से अपना प्रतिशोध लेना है। उसके ध्यान में यह बात नहीं आ रही थी कि अभी तो धृष्टद्युम्न को भी अपना शेष प्रतिशोध लेना है।…

धृष्टद्युम्न के बाणों ने अश्वत्थामा को बींध दिया था। आज धृष्टद्युम्न के उत्साह का अंत नहीं था। उसने मन-ही-मन में संकल्प किया था कि आज अश्वत्थामा के वध के पश्चात् ही उसके युद्ध की समाप्ति होगी। उसने अश्वत्थामा के मस्तक पर बाणों का प्रहार किया।

कहाँ तो अश्वत्थामा ने कल्पना की थी कि धृष्टद्युम्न उसे देखते ही काँप जाएगा और कहाँ धृष्टद्युम्न उसके वध पर उतारू था। अश्वत्थामा ने क्रोध से दाँत पीसे और धृष्टद्युम्न के सारथि और घोड़ों को मार डाला। उसके मन में आज पहली बार आ रहा था कि इन युद्धों में योद्धा की एक बहुत बड़ी दुर्बलता, उसके सारथि और अश्वों का

असुरक्षित होना है। यदि रथों का निर्माण कुछ इस प्रकार का हो, जैसे अर्जुन का रथ है, जिसमें सारथि की रक्षा का भी समुचित प्रबंध किया गया है, और अश्वों के कवच का भी प्रबंध है, तो निश्चय ही योद्धा को इस असुविधा का सामना नहीं करना पड़ता, जिसका सामना इस समय धृष्टद्युम्न को करना पड़ रहा है।''' तो क्या यह केवल रथ की ही विशेषता है, कृष्ण के सारथ्य और अर्जुन के शौर्य की नहीं कि न तो कृष्ण को अभी तक कोई घातक घाव लगा है और न ही अर्जुन के अश्व मारे गए हैं ?'''

'नहीं !' अश्वत्थामा के अपने मन ने ही यह तर्क अस्वीकार कर दिया। कृष्ण के दक्ष सारथ्य की उपेक्षा कौन कर सकता है। और फिर अर्जुन जैसा योद्धा हो, जिसके सामने आते ही साधारण योद्धाओं की टाँगें काँपने लगती हैं, तो कौन उसके सारथि पर प्रहार करेगा। अर्जुन किसी को इतना समय ही कहाँ देता है कि कोई उसके सारथि अथवा अश्वों पर प्रहार करे। वह तो योद्धा को अपने प्राण बचाने के अतिरिक्त कुछ सोचने ही नहीं देता।''' पर उसके रथ की विशेषता को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस युद्ध से निबट लें तो फिर अश्वत्थामा भी अपने और अपनी वाहिनियों के लिए कुछ इसी प्रकार के रथों का निर्माण करवाएगा।

धृष्टद्युम्न अपने निश्चल रथ में खड़ा था और अश्वत्थामा के बाणों की झड़ी लगी हुई थी।''' धृष्टद्युम्न समझ रहा था कि पांसा पलट गया है। किंतु अपने इस रथ में स्थिर रहकर वह युद्ध कर नहीं सकता था और यदि रथ को छोड़कर वह खुले में आएगा तो इस नाम मात्र के कवच से भी वंचित हो जाएगा। अश्वत्थामा उसको जीवित नहीं छोड़ेगा।'''

एक बार तो उसकी इच्छा हुई कि वह अपनी ढाल तलवार लेकर अश्वत्थामा के रथ पर जा कूदे, जैसे वह द्रोण के रथ में कूदा था।''' किंतु अगले ही क्षण उसका विचार बदल गया। तब भीम तथा अन्य पांडव योद्धा उसके निकट थे, जो उसे बाणों की बौछार से बचा सकते थे; किंतु इस समय ऐसा कुछ नहीं था। उसके खड्ग और ढाल को टुकड़े-टुकड़े कर देना अश्वत्थामा के लिए तनिक भी कठिन नहीं था।'''

अश्वत्थामा ने देखा : धृष्टद्युम्न असमंजस की स्थिति में अपने रथ में खड़ा था। वस्तुतः वह टूटे रथ की आड़ में खड़ा अश्वत्थामा के बाणों से बचने का प्रयत्न कर रहा था।''' अश्वत्थामा को हँसी आ गई। धृष्टद्युम्न अपने रथ की ओट में खड़ा स्वयं को सुरक्षित समझ रहा था, जैसे कोई साधारण शिशु किसी पारदर्शी ओट के पीछे खड़ा होकर स्वयं को परम गुप्त मान लेता है। ऐसे में जिस प्रकार कोई वयस्क क्रीड़ापूर्वक उस पारदर्शी ओट को धीरे-धीरे हटाता है, वैसे ही अश्वत्थामा भी करेगा। धृष्टद्युम्न के रथ के एक-एक खंड को वह हटाता जाएगा।'''

अश्वत्थामा ने धृष्टद्युम्न के रथ के टुकड़े करने आरंभ किए। क्रमशः धृष्टद्युम्न की आड़ समाप्त होती जा रही थी। यदि कुछ देर और ऐसे ही चला तो वह रथ से उतरे न उतरे, रथ स्वयं ही उसे भूमि पर उतार देगा। वह समझ रहा था कि अश्वत्थामा

उसके साथ वैसे ही क्रीड़ा कर रहा था, जैसे बिल्ली चूहे के साथ करती है। वह उसे खेला-खेला कर मारना चाहता था। धृष्टद्युम्न के पास कोई विकल्प नहीं था। इस प्रकार खड़े-खड़े मरने से तो अच्छा था कि वह धनुष बाण अथवा ढाल तलवार लेकर स्वयं कहीं बाहर खुले में आ जाए।''' पर वह एक प्रकार की आत्महत्या ही होगी''' और धृष्टद्युम्न अभी से—अश्वत्थामा को जीवित छोड़कर—मरना नहीं चाहता था।''' यदि इस समय कहीं से भी थोड़ी-सी सहायता आ जाए, धृष्टद्युम्न को नए रथ तक जाने का एक अवसर मिल जाए तो वह अपनी अतृप्त कामना पूरी कर लेगा। वह अश्वत्थामा का वध भी वैसे ही कर ले, जैसे उसने द्रोण का किया है तो फिर उसे मरने का तनिक भी दुख नहीं होगा।''' शायद सहायता तो आ रही थी। हाँ ! ये पांडव वाहिनियाँ ही थीं। पर यह किसका ध्वज था ? ओह ! यह तो सात्यकि था।''' पांडवों की ओर से आया भी तो सात्यकि। अभी थोड़ी देर पहले वह धृष्टद्युम्न के रक्त का प्यासा हो रहा था। अब धृष्टद्युम्न को इस प्रकार संकट में फँसा देखेगा तो वह हँसेगा नहीं ? जिह्वा से कहे न कहे, मन में तो अवश्य कहेगा कि थोड़ी देर पहले अपने ही मित्रों के सामने इतना अभिमान दिखा रहे थे, तो अब शत्रुओं के सामने भी थोड़ा शौर्य दिखाओ।''' 'हे प्रभु !' धृष्टद्युम्न के मन में हूक उठी, 'यम से साक्षात्कार के इस क्षण में पांडव पक्ष से किसी को आना ही था तो कोई मित्र भाव लेकर तो आता।'

सात्यकि ने देख लिया था कि धृष्टद्युम्न संकट में है। उसने अपना रथ अश्वत्थामा की ओर बढ़ा दिया।

अश्वत्थामा को भी सूचना मिल चुकी थी कि सात्यकि और धृष्टद्युम्न का भयंकर झगड़ा हुआ है।''' वह मन-ही-मन हँसा''' सात्यकि कहीं धृष्टद्युम्न का वध कर अश्वत्थामा की सहायता करने तो नहीं आया।'''

सात्यकि ने बिना रुके अश्वत्थामा पर बाणों की झड़ी लगा दी। अश्वत्थामा उसे देखता ही रह गया। सात्यकि ने उसके सारथि और घोड़ों को मार डाला; और तब उसने अश्वत्थामा के वक्ष में घातक प्रहार किया।

कहाँ अश्वत्थामा सोच रहा था कि सात्यकि उसकी सहायता करने आया है और कहाँ वह उसका काल बन गया। अश्वत्थामा की स्थिति इस समय धृष्टद्युम्न से भी बुरी हो गई थी। वह किंकर्तव्यविमूढ़-सा खड़ा रह गया।

धृष्टद्युम्न को कुछ आश्चर्य हुआ और कुछ प्रसन्नता भी। तो सात्यकि उससे इतना भी रुष्ट नहीं था कि उसके प्राणों की रक्षा न करता।

दुर्योधन की दृष्टि अश्वत्थामा पर ही थी। वह अकेला ही पांडवों का काल हो सकता था; किंतु सात्यकि ने यह क्या कर दिया। दुर्योधन अश्वत्थामा की सहायता के लिए दौड़ा।

जिस समय से कृपाचार्य ने अश्वत्थामा को द्रोण के वध का समाचार दिया था, वे तब से ही अश्वत्थामा के लिए चिंतित थे। वे समझ रहे थे कि अश्वत्थामा अपने पिता की मृत्यु को स्वीकार नहीं कर पाया है। युद्ध में जो मृत्यु को स्वीकार कर लेता

है, वह अपने शत्रु का सामना कर पाता है और वही अपने पक्ष के लोगों का प्रतिशोध भी ले सकता है। जो योद्धा मृत्यु को स्वीकार नहीं कर सकता, वह संतुलित नहीं रह पाता। अश्वत्थामा भी असंतुलित हो गया लग रहा था। वे जानते थे कि वह अधिक से अधिक क्रूर होने का प्रयत्न करेगा। सफलता को अंगीकार करेगा; किंतु असफलता का सामना होते ही उसके मस्तक में विस्फोट हो जाएगा।''' वे देख रहे थे कि वही हुआ था। उसका सारथि मर गया था, घोड़े धराशायी हो गए थे और वह अपने रथ पर स्तब्ध-सा खड़ा था, जैसे जीवन का स्पंदन ही रुक गया हो।

दुर्योधन, कृपाचार्य और कर्ण प्रायः एक साथ ही अश्वत्थामा की सहायता को आए और उन्होंने सात्यकि पर सामूहिक आक्रमण किया।

धृष्टद्युम्न की इच्छा हुई कि वह सात्यकि के साथ जा खड़ा हो और उसके कंधे से कंधा मिलाकर इन तीन महारथियों से उसकी रक्षा करे; किंतु उसका रथ चल नहीं सकता था और इस स्थिति में रथ को छोड़ना सुरक्षित नहीं था। कहीं से कोई नया रथ आ जाता या वह सात्यकि के रथ तक पहुँच पाता।'''

धृष्टद्युम्न ने एक आश्चर्य घटित होते देखा। सात्यकि ने कुछ ही क्षणों में उन तीनों महारथियों को रथविहीन कर दिया था। किंतु तब तक अश्वत्थामा भी सचेत हो गया था और उन सबके लिए नए रथ भी आ गए थे। उन्होंने सात्यकि पर आक्रमण किया। सात्यकि में जैसे कोई प्रचंड झंझावात चल रहा था। उसने पुनः उन सबको रथविहीन कर दिया। किंतु अश्वत्थामा इससे रुका नहीं। उसने सात्यकि पर अपना आक्रमण और भी उग्र कर दिया। उसके बाणों ने सात्यकि का कवच विदीर्ण कर उसके वक्ष में गंभीर घाव किया। सात्यकि के लिए खड़ा रहना भी कठिन हो गया। वह रथ की बैठक में गिर गया। सारथि ने उसकी वह स्थिति देखी तो रथ वहाँ से हटा ले गया।

धृष्टद्युम्न पुनः असहाय हो गया था। अब तो वह पूर्णतः कौरवों की दया पर आश्रित था। जाने क्यों पांडव सेना की ओर से किसी प्रकार की कोई सहायता नहीं आ रही थी।

अश्वत्थामा ने धृष्टद्युम्न पर बाणवर्षा की और उसकी भौहों के मध्य एक तीक्ष्ण बाण मारा। धृष्टद्युम्न पहले से ही बहुत घायल था। इस घाव के पश्चात् वह खड़ा भी नहीं रह सका। वह अपने भग्न रथ की बैठक में बैठ गया और ध्वजदंड से अपने शरीर को टिका दिया।

अश्वत्थामा प्रसन्न हो उठा। अब वह धृष्टद्युम्न से अपने पिता के वध का प्रतिशोध ले सकता था। किंतु तभी पांडव पक्ष के अनेक महारथी उसके मार्ग में आ गए। अर्जुन, भीम, वृद्धक्षत्र, चेदि युवराज तथा मालवनरेश सुदर्शन प्रायः एक साथ ही धृष्टद्युम्न की रक्षा के लिए आ गए थे।

अर्जुन आया है और वह भी धृष्टद्युम्न की रक्षा के लिए—अश्वत्थामा की शिराओं में जैसे अग्नि प्रवाहित होने लगी। उसने पहले मालवराज सुदर्शन का मस्तक काटा और

देखते ही देखते वृद्धक्षत्र और चेदि युवराज को भी काल के गाल में भेज दिया।

अर्जुन कुछ करता, उससे पहले ही क्रुद्ध भीम ने अश्वत्थामा को अपने बाणों से ढँक दिया। भीम का एक बाण, अश्वत्थामा के गले की हँसली छेद कर भीतर समा गया। अश्वत्थामा ने अपने रथ का ध्वजदंड थाम लिया और आँखें बंद कर लीं। किंतु वह अधिक देर तक इस स्थिति में नहीं रहा। वह सचेत होकर उठा और उसने भीम का धनुष काटकर उसकी छाती पर पैने बाणों से प्रहार किया। भीम पर्याप्त सावधान था। उसने अश्वत्थामा के बाणों को निरस्त कर दिया। भीम पर अश्वत्थामा का वश नहीं चला तो उसने बाण मारकर भीम के रथ के सारथि को मूर्च्छित कर दिया। वल्गा को शिथिल देखकर उसके घोड़े रथ को लेकर भाग गए। भीम के रथ को युद्धक्षेत्र से इस प्रकार भागते देखकर पांडव सेना में भगदड़ मच गई। पांचाल सैनिक भी धृष्टद्युम्न को वहीं छोड़कर दूर भाग गए।

चेदि युवराज, वृद्धक्षत्र तथा सुदर्शन का वध और धृष्टद्युम्न, सात्यकि तथा भीम की पराजय देखकर अर्जुन को बहुत कष्ट हुआ। धर्मराज की व्यंग्योक्तियाँ पहले ही उसका मन जला रही थीं। अब अश्वत्थामा के चेहरे पर खेलता दर्प अर्जुन को और भी चिढ़ा गया। उसने उच्च स्वर में कहा, "गुरुपुत्र ! तुममें जो शक्ति, ज्ञान, प्रशिक्षण, बल, पराक्रम और तेज हो वह मुझे दिखाओ। कौरवों के प्रति सारा प्रेम और हमारे प्रति जो ईर्ष्या है, वह सब मुझ पर उँडेल दो। वैसे तो पांचाल राजकुमार धृष्टद्युम्न ही तुम्हारी इस सारी उद्दंडता और अभिमान को चूर-चूर कर देंगे; किंतु नया रथ आने तक वे शांत हैं। अब तुम धृष्टद्युम्न, कृष्ण और मुझ पर अपनी शक्ति दिखाओ। आज मैं तुम्हारी युद्धलिप्सा तृप्त कर दूँगा। और तुम्हारा घमंड चूर-चूर कर दूँगा।"

अश्वत्थामा पहले ही क्रोध से जल रहा था। आज तक अर्जुन ने उससे इतनी कठोर बातें नहीं कहीं थीं। आज अर्जुन उसके प्रति कितना कठोर हो उठा था। उसने तत्काल आग्नेयास्त्र अपने हाथों में लिया। उसे मंत्रों से अभिमंत्रित किया और पांडव सेना पर छोड़ दिया।

चारों ओर अग्नि ही अग्नि दिखाई पड़ रही थी। पवन जैसे तपने लगा और आकाश से उल्काएँ गिरने लगीं। जहाँ-जहाँ पांडव सेना थी, उसे अग्नि ने घेर लिया था।

दुर्योधन का मन प्रसन्नता से खिल उठा। आचार्यपुत्र के पास बहुत कुछ है। यह पांडवों और पांचालों का सर्वनाश करके ही रहेगा। पहले ही इसका अधिक उपयोग किया गया होता तो कदाचित् यह युद्ध इतना लंबा नहीं खिंचता।... पर जाने क्यों अपने पिता के जीवित रहते अश्वत्थामा ने कभी इन अस्त्रों का प्रयोग नहीं किया।...

अर्जुन ने अपनी सेना को इस प्रकार जलते देखा तो उसने ब्रह्मास्त्र प्रकट किया और उसे आग्नेयास्त्र पर चला दिया।

अंधकार दूर हो गया। पवन में शीतलता आ गई। अग्नि की दाहकता समाप्त होने लगी और दिशाएँ जैसे स्वच्छ हो गईं।

अश्वत्थामा ने देखा कि उसके अस्त्र का प्रभाव क्षीण होते-होते समाप्त हो गया है। पर कैसे ? उसके अनुमान से तो पांडव सेना अब तक दग्ध हो जानी चाहिए थी; और कृष्ण तथा अर्जुन को भी जलकर समाप्त हो जाना चाहिए था। किंतु कृष्ण और अर्जुन तो उसके सामने खड़े थे। लगता था, उनको तो आँच ने छुवा भी नहीं था।

"अश्वत्थामा !" अर्जुन ने गांडीव को खींचते हुए, पुकारकर कहा, "निर्बलों पर देवास्त्र छोड़ने वाले कायर ! ऋषियों के ज्ञान का दुरुपयोग करने वाले नीच ! तू भी तो देख कि शत्रु के अस्त्र कैसे दाहक होते हैं।"

"यह क्या हो गया ?" अश्वत्थामा ने अपने आपसे पूछा।

और सहसा अश्वत्थामा ने अपना धनुष फेंक दिया। वह अपने रथ से कूद पड़ा और एक दिशा में दौड़ता चला गया। भागते हुए भी वह चिल्ला रहा था, "धिक्कार है। धिक्कार है। यह सब मिथ्या है।..."

दुर्योधन की समझ में ही नहीं आया कि उसे क्या हो गया। अच्छा-भला लड़ता हुआ वह इस प्रकार शस्त्र त्याग, युद्धभूमि छोड़कर कहाँ भागा जा रहा है। उसने उसके पीछे संदेशवाहक दौड़ाए, "देखो। आचार्यपुत्र को क्या हो गया है; और वह कहाँ जा रहा है।"

कृपाचार्य ने संदेशवाहकों पर निर्भर रहना उचित नहीं समझा। वे पहले ही आशंकित थे कि ऐसा कुछ होने वाला है।

कृपाचार्य ने उसे सरस्वती के तट पर वेदव्यास के आश्रम में जा पकड़ा। वह महर्षि वेदव्यास के चरणों पर गिरकर रो रहा था, "ऋषिवर ! मेरे इन अस्त्रों से देवता भी जीवित नहीं बच सकते थे; किंतु कृष्ण और अर्जुन ने उन्हें भी शांत कर दिया। अब मेरा तो इन अस्त्रों पर से विश्वास ही उठ गया है। यदि नारायणास्त्र और आग्नेयास्त्र कुछ नहीं कर सकते तो फिर कोई भी कुछ नहीं कर सकता। अब मैं अपने पिता के हत्यारे से प्रतिशोध कैसे लूँगा।"

महर्षि ने मुस्कराती आँखों से कृपाचार्य को भी आया हुआ देखा और अश्वत्थामा को स्नेहपूर्वक उठाते हुए बोले, "उठो पुत्र ! तुमने अपना कर्तव्य किया। अस्त्रों ने भी अपना कर्म किया; किंतु जीवन और मृत्यु न तो तुम्हारे हाथ में हैं और न अस्त्र के हाथ में। सबसे अच्छा तो यह है कि प्रतिशोध की भावना त्याग कर मन को निर्मल करो।..."

"ऐसा नहीं हो सकता।" अश्वत्थामा चिल्लाकर बोला।

"ऐसा नहीं हो सकता, तो वैसा भी नहीं हो सकता, जैसा तुम चाहते हो।" ऋषि मुस्कराए, "तुम मेरा विश्वास कर सको तो इस सत्य को हृदय में धारण कर लो कि तुम चाहे किसी का भी वध कर लो किंतु न कृष्ण का वध कर सकोगे और न अर्जुन का। उनका धर्म उनकी रक्षा कर रहा है; और धर्म का वध शस्त्रों से नहीं होता।"

अश्वत्थामा उठकर बैठ तो गया किंतु उसके अश्रु थम नहीं रहे थे। महर्षि से

आश्वासन नहीं मिला तो कृपाचार्य की गोद में सिर डालकर रोता रहा, "मातुल ! मैं अब क्या करूँ ?"

कृपाचार्य ने उसे कंधों से पकड़कर उठाया, "इस प्रकार विह्वल मत होओ पुत्र !..."

सहसा वे मौन हो गए। उन्होंने अश्वत्थामा की आँखों में देखा था। वहाँ निराशा से कहीं अधिक भय समाया हुआ था।... शायद वह अर्जुन से डरकर ही युद्धक्षेत्र से भागकर, वेदव्यास की शरण में आया था। युद्धक्षेत्र में अर्जुन से उसकी रक्षा करने वाला उसे और कोई दिखाई ही नहीं पड़ा होगा।

28

"इन लोगों की यह बात मेरी समझ में नहीं आती।" सहसा बलंधरा बोली।

दूत के आख्यान का प्रवाह सहसा टूट गया। सबकी दृष्टि आकर बलंधरा पर टिक गई। पर किसी ने कुछ कहा नहीं।

"कोई और महत्त्वपूर्ण सूचना तो शेष नहीं है दूत ?" कुछ क्षणों के असुविधाजनक सन्नाटे के पश्चात् द्रौपदी ने दूत को संबोधित किया।

"नहीं महारानी !" वह बोला।

"तो तुम जाओ। विश्राम करो।"

दूत चला गया। सब उसे जाते हुए चुपचाप देखती रहीं। जब वह द्वार से बाहर निकल गया तो बलंधरा ने कुछ आक्रामक स्वर में कहा, "आपने उसे भेज क्यों दिया ?"

"तुमने सुना नहीं, उसने कहा कि और कोई महत्त्वपूर्ण सूचना नहीं है।" द्रौपदी का स्वर कुछ अतिरिक्त रूप से कोमल था।

"पर मैं कह रही थी कि मुझे इन लोगों की ये बातें समझ में नहीं आतीं।" बलंधरा बोली, "मुझे उस दूत से बहुत सारे प्रश्न पूछने थे और आपने उसे भगा दिया।"

द्रौपदी ने उन सब पर दृष्टि डाली : देविका, सुभद्रा, करेणुमती और विजया—सब ही तो बलंधरा का व्यवहार देखकर कुछ झेंप का अनुभव कर रही थीं।... यह कोई पहली बार तो नहीं हो रहा था।

"मैंने भी तो उसे इसीलिए विदा कर दिया ताकि तुम्हें जो प्रश्न करने हैं, या हम लोगों को जो प्रश्न करने हैं, वे हम पहले परस्पर एक-दूसरी से कह-सुन लें। पूछ लें और बता लें। यह आवश्यक तो नहीं है कि युद्धक्षेत्र से आने वाला दूत भी यह जाने कि पांडवों की रानियाँ क्या समझती हैं और क्या नहीं समझतीं । किस बात पर वे सहमत हैं और किस बात पर उनमें असहमति है।"

"पर मेरे प्रश्नों के उत्तर तो युद्धभूमि से आया दूत ही दे सकता है, क्योंकि वे प्रश्न युद्ध से ही संबद्ध हैं। उस विषय में आपस में क्या कह-सुन लेंगी हम।" बलंधरा

के स्वर में आग्रह था।

"तुम प्रश्न तो पूछो।" द्रौपदी ने कहा।

बलंधरा ने अपनी आँखें द्रौपदी पर टिका दीं। उनमें चुनौती भी थी और चेतावनी भी।

"अश्वत्थामा युद्ध में एक बार नारायणास्त्र का प्रयोग करता है और दूसरी बार उसी अस्त्र का प्रयोग वह नहीं कर सकता। क्यों भई, क्यों नहीं कर सकता ?" बलंधरा बोली, "यह तो वैसा ही है कि मध्यम पांडव एक बार तो गदा का प्रहार करें और दूसरी बार कह दें कि मैं गदा का प्रहार नहीं कर सकता। ऐसा भी कभी संभव है क्या ? एक व्यक्ति जो काम एक बार कर सकता है, उसे वह बार-बार भी कर सकता है। मैं जीवन में एक बार एक काम करने में समर्थ हूँ और फिर उसके तत्काल पश्चात् ही समर्थ नहीं हूँ—इसमें तो कोई तर्क नहीं है। कोई दस-बीस वर्ष बीत गए हों, व्यक्ति वृद्ध हो गया हो, तो भी कोई बात है।"

बलंधरा अपनी बात समाप्त कर हँस पड़ी।

द्रौपदी उसकी हँसी का अर्थ समझ नहीं पाई—वह अपनी झेंप मिटा रही थी या फिर वह अपने प्रश्न को अजेय मान बैठी थी।

"मेरे मन में भी ऐसे ही प्रश्न आते हैं।" देविका ने कहा, "यदि अश्वत्थामा के पास नारायणास्त्र जैसा कोई अस्त्र था तो उसने उसका प्रयोग पहले ही क्यों नहीं किया ?"

"और नहीं तो क्या ?" करेणुमती ने भी उसके साथ अपना स्वर मिला दिया, "जो अस्त्र कहीं दिखाई नहीं देता, जिसकी कहीं कोई चर्चा ही नहीं है, वह अकस्मात् ही प्रकट हो जाता है। मेरी बुद्धि तो इन बातों को तर्कसम्मत नहीं मानती।"

द्रौपदी हँस पड़ी, "इसीलिए मैंने दूत को विदा कर दिया था। अब ऐसे प्रश्न उस दूत के सामने तो नहीं रखे जाने चाहिए।"

"क्यों ? क्यों नहीं रखे जाने चाहिए ?" बलंधरा कुछ चिढ़कर बोली, "वह युद्धक्षेत्र से आया है। उसने वहाँ वे शस्त्र चलते देखे हैं। योद्धाओं द्वारा उनका प्रयोग देखा है। प्रश्न तो उसी से पूछे जाने चाहिए।"

"ठीक कहती हो।" लगा द्रौपदी उन सबके प्रश्नों का उत्तर देने की तैयारी में है; किंतु सहसा ही उसका स्वर कुछ बदल गया, "पर इस विषय में हमारी बुद्धिमती सखी विजया क्या कहती है ?"

विजया के अधरों पर एक अनमनी-सी मुस्कान आई, "मुझे क्या कहना है। मैं तो इतना ही जानती हूँ कि व्यक्ति का ज्ञान उतने तक ही सीमित होता है, जितना उसने देखा है, अथवा जितने के होने का उसके पास प्रमाण है। हमारी शिक्षा की अवधि में हमारे गुरुओं ने हमें बताया कि ऐसे शस्त्रास्त्र होते हैं तो हमने मान लिया कि होते होंगे। हमें कौन से वे शस्त्र चलाने हैं। हमारे योद्धा पति हमें बता देते हैं कि संसार में ऐसे-ऐसे शस्त्रास्त्र हैं; और हम मान लेती हैं कि वैसे शस्त्र हैं। पर हमने न वे शस्त्र देखे हैं न

उनका प्रयोग देखा है। अनेक बार तो जो योद्धा उन शस्त्रों का प्रयोग कर रहा होता है, वह भी नहीं जानता कि वह शस्त्र वैसा क्यों है। वह उसका प्रयोग तो जानता है, किंतु न उसकी निर्मिति जानता है, न उसका निर्माण कर सकता है।''

''ऐसा कैसे संभव है ?'' बलंधरा ने निमिष भर भी नहीं सोचा और अपना विचार प्रकट कर दिया, ''मैं इसे नहीं मानती।''

''किसी छोटे बालक को वटवृक्ष का एक बीज दिखाकर कहा जाए कि इसमें से वट जैसा विराट वृक्ष उत्पन्न होता है, तो क्या वह उसका विश्वास कर लेगा।'' विजया ने कहा, ''और जब वह उस बीज को अंकुरित होते देखेगा, उसमें पौधा निकलते और पौधे को वृक्ष बनते देखेगा तो उसका विश्वास तो कर लेगा; किंतु क्या वह जान पाएगा कि यह कैसे संभव है ?''

''ठीक कह रही है विजया।'' देविका ने तत्काल उसका समर्थन कर दिया, ''प्रत्येक स्त्री संतान को जन्म दे सकती है किंतु हममें से कितनी जानती हैं कि यह संभव कैसे हो पाता है। जो कुछ जानती भी हैं, वह भी तो सूचना मात्र ही है।...''

''विदुषियों में बैठने में यही कठिनाई है।'' बलंधरा ने उसकी बात काट दी, ''मैं पूछ रही हूँ कि अश्वत्थामा ने एक बार नारायणास्त्र का प्रयोग किया तो वह दूसरी बार क्यों नहीं कर सकता; और आप बता रही हैं कि स्त्रियाँ संतान को जन्म तो दे सकती हैं, किंतु उसका शास्त्र नहीं जानतीं। युद्धशास्त्र से सीधे प्रजनन शास्त्र पर ले आई।''

द्रौपदी हँस पड़ी, ''बात को युद्ध तक ही सीमित रखो बहनो। नहीं तो बलंधरा की जिज्ञासा की संतुष्टि नहीं होगी।''

''और नहीं तो क्या।'' बलंधरा ने कहा।

''तो ऐसा है कि पहले हम शस्त्रास्त्रों के विषय में थोड़ा जान लें।'' द्रौपदी ने कहा, ''मोटे तौर पर शस्त्रास्त्र तीन प्रकार के हैं—लौकिकशस्त्रास्त्र, दिव्यास्त्र और देवास्त्र।''

''हम भी जानती हैं।'' बलंधरा ने कहा।

''आरंभ तो तुम्हारे ज्ञान से ही होगा, तुम्हारे अज्ञान से तो आरंभ कर नहीं सकती।'' द्रौपदी मुस्कराई, ''लौकिक शस्त्रास्त्रों के विषय में कोई कठिनाई नहीं है। सब जानते हैं कि योद्धा उनको उठाकर अपने शरीर बल से प्रहार करता है। योद्धा के शरीर का बल उसको ले जाता है, प्रहार करता है और वापस ले आता है। पुनः प्रहार करता है और पुनः वापस ले आता है।''

''हाँ।'' करेणुमती ने स्वीकृति में सिर हिलाया।

''दिव्यास्त्र वे हैं, जिनमें साधारण शारीरिक बल का ही प्रयोग नहीं है, कुछ यंत्र का भी कौशल है। धनुष कुछ ऐसा बनाया जाए जिसमें से एक से अधिक संख्या में बाण चल सकें। एक और प्रकार के दिव्यास्त्रों में, अपने बाण की नोक पर कोई अन्य प्रकार का शस्त्र लगा दिया जाता है, जो शत्रु पर गिरकर उसका अधिक विनाश करता है। इसे हम अपने बाण को दिव्यास्त्रों से अभिमंत्रित करना कहते हैं। इसमें बाण शस्त्र

न रहकर मात्र वाहक हो जाता है। उन अस्त्रों में कुछ तो निर्माण का कौशल है और कुछ परिचालन का। उसका अभ्यास अधिक करना पड़ता है। योद्धा में अधिक बुद्धि, मेधा और प्रतिभा की अपेक्षा होती है।" द्रौपदी ने कहा, "बहुत सारे देश और राज्य शस्त्र निर्माण में विशेषज्ञता प्राप्त कर लेते हैं और उन्नत प्रकार के धनुष बाण और बाणों की नोक पर लगा कर चलाए जाने वाले विभिन्न प्रकार के घातक अस्त्रों का उत्पादन करते हैं। उन शस्त्रों को धन से खरीदा जा सकता है। योग्य शिक्षकों के शिष्यत्व में उनके परिचालन का अभ्यास किया जा सकता है।...."

"और तीसरे हैं, देवास्त्र।" बलंधरा ने अपने अधैर्य में उसकी बात काट दी, "जो हमें देवताओं से प्राप्त होते हैं।"

द्रौपदी हँस पड़ी, "बहुत व्यग्र है बलंधरा अपनी समस्या के समाधान के लिए। पर बलंधरा ! नींव के बिना भवन नहीं हो सकता। वैसा भवन बनाने का प्रयत्न करेंगे तो वह धराशायी हो जाएगा, किसी के रहने के काम नहीं आएगा।"

"ठीक है। ठीक है। बन गई न नींव। अब भवन भी बनाइए।" बलंधरा ने कहा, "यह न हो कि सारा दिन व्यतीत हो जाए तो पता चले कि नींव बनाकर श्रमिक कहीं चले गए हैं, भवन तो बना ही नहीं।"

"नींव तो बन गई, किंतु अभी दीवारें भी बनेंगी, तब जाकर भवन का रूप कुछ स्पष्ट होगा।" द्रौपदी ने कहा, "जो देवास्त्र हैं, वे ही कुछ प्रश्न उठाते हैं। क्योंकि उनके विषय में सब कुछ स्पष्ट नहीं है। नारायणास्त्र को एक बार अश्वत्थामा ने चलाया और दूसरी बार अपनी असमर्थता प्रकट कर दी। तुम्हारे मन में यह प्रश्न भी तो उठ सकता है बलंधरा ! कि यदि अश्वत्थामा नारायणास्त्र को दूसरी बार नहीं चला सकता था तो वह उसे दुर्योधन को दे तो सकता था। दुर्योधन उसे किसी और से चलवा लेता। या फिर दुर्योधन ने ही उसे आदेश क्यों नहीं दिया कि वह नारायणास्त्र दुर्योधन को दे दे। दुर्योधन उसे कर्ण को सौंप देता। कर्ण अपने आप उसको चला लेता। उन लोगों को नारायणास्त्र की आवश्यकता थी, अश्वत्थामा का उन्हें क्या करना था। पर उनमें से किसी ने ऐसा कोई आग्रह नहीं किया।"

"आप ठीक कह रही हैं दीदी !" सुभद्रा ने कहा।

"तो फिर प्रश्न यह है कि अश्वत्थामा उसे पुनः क्यों नहीं चला सकता था ?"

"संभव है कि उसके पास एक ही नारायणास्त्र हो।" करेणुमती ने कहा।

"तो वह कह सकता था कि उसके पास एक ही नारायणास्त्र था, उसका प्रयोग वह कर चुका है। अब उसके पास और है ही नहीं, तो वह चलाए क्या।" द्रौपदी ने कहा।

"ऐसे में दुर्योधन को कहना चाहिए कि और नारायणास्त्र लाओ। माँगने से न मिलें तो उनका क्रय कर लाओ। कोई न बेचे तो उसे छीन कर लाओ।" देविका ने कहा।

"या फिर हस्तिनापुर में नारायणास्त्र के निर्माण का प्रबंध करो। यदि नारायणास्त्र

को भी किसी लौकिक शस्त्र के समान ही मानें तो कहा जाएगा कि जाओ जहाँ नारायणास्त्र गिरा है, उसे वहाँ से उठा लाओ और फिर से चलाओ। या उसे उठा तो लाओ, ऐसा न हो कि पांडव उसे हम पर चला दें।" द्रौपदी ने कहा।

"यह तो बहुत ही जटिल बात हो गई।" बलंधरा ने जैसे अपने आपसे कहा।

"नहीं, जटिल कुछ नहीं हुआ है।" द्रौपदी ने कहा, "वस्तुतः हम जटिलता को दूर करने का प्रयत्न कर रहे हैं। देखो, अब एक बात पर ध्यान दो। खड्ग कैसे चलता है ? योद्धा के शरीर के बल से। बाण कैसे चलता है ? धनुष के बल से। धनुष में बल कहाँ से आता है ? योद्धा की भुजाओं से । योद्धा जितनी जोर से प्रत्यंचा को खींचता है, उसमें उतना ही बल लगाता है। वह बल व्यय नहीं हो जाता, वह एक प्रकार से धनुष में स्थानांतरित हो जाता है। योद्धा द्वारा खिंची प्रत्यंचा छोड़ते ही, योद्धा का धनुष में स्थानांतरित अथवा संचरित बल बाण को दूर फेंक देता है।"

"यह सब तो हम जानती हैं।" बलंधरा ने द्रौपदी को टोका।

"ज्ञात तथ्यों के विश्लेषण से ही तो हम अज्ञात तथ्यों तक पहुँचेंगे रानी !" द्रौपदी मुस्कराई।

"ठीक है।" देविका ने कहा।

"इसका अर्थ हुआ कि किसी भी शस्त्र के चलने में कोई न कोई बल प्रयुक्त होता है। देखना यह है कि वह बल आता कहाँ से है।"

"शरीर से।" बलंधरा ने कहा।

"और शरीर में वह शक्ति अन्न से आती है। अन्न धरती से आता है। उसमें बल धरती के अतिरिक्त जल, वायु और सूर्य से आता है। अर्थात् सारा बल तो प्रकृति का है, जो अन्न इत्यादि के माध्यम से मनुष्य के शरीर में आता है। इस प्रकार शरीर भी एक अस्त्र है, जो प्रकृति की ऊर्जा से चल रहा है।...." "दीदी !" बलंधरा ने उपालंभ दिया।

द्रौपदी हँस पड़ी, "थोड़ा धैर्य रखो और अपने शरीर को कुछ और सूक्ष्मता से देखो। मेरा हाथ आगे बढ़कर यह वस्तु उठा लेता है और उसे दूर फेंक देता है। पर हाथ को किसने आगे बढ़ाया ? यदि हम कहें कि शरीर तो अपने आप ही यह सब करता है तो यह हमारी भूल होगी। कई बार किसी रोग के कारण हमारी भुजा हमारे शरीर के साथ होती हुई भी आगे नहीं बढ़ती, वस्तु को नहीं उठाती और न ही उसे दूर फेंकती है।"

"हाँ ! अनेक ऐसे रोग हैं, जो अंगों को असमर्थ कर देते हैं।" विजया ने कहा।

"पर वह तो इसलिए कि उनमें रक्त संचार नहीं होता। जिस अंग में रक्त नहीं पहुँच पाता, उसमें शरीर का बल भी नहीं पहुँच पाता।" करेणुमती ने कहा।

"रक्त नहीं पहुँच पाएगा तो वह अंग सूख जाएगा।" द्रौपदी ने कहा, "पर यदि वह अंग सूखता नहीं है और फिर भी काम नहीं करता तो उसका अर्थ है कि शिराएँ

उस तक मस्तिष्क का संदेश नहीं ला रहीं, क्योंकि वस्तु को उठाने और फेंकने का निर्णय तो मस्तिष्क ही करता है। हाथ न सोचता है और न ही निर्णय करता है। वह केवल आदेश का पालन करता है।''

''शरीर विज्ञान छोड़ो महारानी ! शस्त्रों की बात करो।'' बलंधरा ने कहा।

''थोड़ा धैर्य और रखो बलंधरा !'' द्रौपदी ने कहा, ''शिराएँ हाथ को शरीर का संदेश देती हैं कि उस वस्तु को उठाओ और फेंक दो। और हाथ वह काम करता है। अब देखना है कि शिराओं को उपकरण बनाकर संदेश लाने वाला वह माध्यम कौन है।''

''शिराएँ अपने आप माध्यम नहीं हो सकतीं क्या ?'' करेणुमती ने पूछा।

''देखो करेणु ! जो बाहर से काम करता दिखाई देता है, वह अधिष्ठान हो सकता है, किंतु न तो वह करण अथवा उपकरण है और न ही कर्ता।'' द्रौपदी बोली, ''मैं तुम लोगों का ध्यान केनोपनिषद की यक्ष वाली कथा की ओर आकर्षित करना चाहूँगी।''

''अब आप हमें उपनिषदों में भटकाएँगी ?'' बलंधरा के स्वर में शिकायत थी।

''थोड़ा। और यह तो कथा है। कहानी में तो सबकी ही रुचि होती है।'' द्रौपदी ने मुस्कराकर उसकी ओर देखा, ''देवताओं ने असुरों पर विजय पाई तो बहुत प्रसन्न थे और अपने अहंकार में फूले हुए थे। तभी उनके सम्मुख एक दिव्य यक्ष प्रकट हुआ। देवताओं ने जानना चाहा कि वह कौन है। उन्होंने यह जानने के लिए अग्नि को भेजा। अग्नि यक्ष के पास गए और खड़े हो गए। उस यक्ष से स्वयं बात आरंभ करना उन्हें अपने लिए अपमानजनक लगा। वे उसके निकट जाकर चुपचाप खड़े हो गए। उनको कौन नहीं जानता। यह यक्ष भी जानता ही होगा। वह स्वयं ही उनका अभिवादन करेगा।

''यक्ष ने उनकी ओर देखकर पूछा, 'तुम कौन हो ?' अग्नि को यह अच्छा नहीं लगा। कुछ रूठकर बोले, 'तुम मुझे नहीं जानते। मैं जातवेद हूँ। अग्नि। इस पृथ्वी पर जो कुछ भी है, मैं उस सबका स्वामी हूँ।' यक्ष उनके उत्तर से प्रभावित नहीं हुआ। उसने अग्नि से पूछा, 'क्या कर सकते हो ? क्या बल है तुममें ?' अग्नि को क्रोध आ गया, 'सब कुछ जला सकता हूँ।' यक्ष ने एक तिनका उसके सम्मुख रख दिया, 'पहले इसे जलाकर दिखाओ।'

''अग्नि ने अपना पूरा सामर्थ्य झोंक दिया किंतु वह तिनका उनसे नहीं जला। उनकी समझ में कुछ नहीं आया। स्वयं अग्निदेव एक तिनका न जला सकें तो इस संसार में अब और क्या होगा। वे लौट आए। देवताओं ने वायु को भेजा। वायु से भी यक्ष ने पूछा, 'तुम कौन हो ?' वायु ने बता दिया, 'मैं वायु हूँ। मातरिश्वा। बिना किसी आधार के अंतरिक्ष में चलने वाला।' 'क्या कर सकते हो ?' यक्ष ने पूछा। 'मैं सारी पृथ्वी को उड़ा सकता हूँ।' यक्ष ने वायु के सम्मुख भी वह तिनका डाल दिया, 'इसे उड़ा कर दिखाओ।' अपना पूरा बल लगाकर भी उड़ाना तो दूर, वायु उस तिनके को हिला भी नहीं पाए। हार कर लौट आए। इस बार देवराज इंद्र स्वयं गए। किंतु उनके निकट

पहुँचने पर यक्ष वहाँ से अदृश्य हो गया। उसने उनसे बात भी नहीं की। देवता चकित खड़े थे कि आकाश पर ब्रह्म विद्या के रूप में उमा प्रकट हुईं। उन्होंने बताया कि वह यक्ष और कोई नहीं स्वयं ब्रह्म ही थे। वे देवताओं का अहंकार तोड़ने आए थे। वे उन्हें बताना चाहते थे कि देवगण ब्रह्म की शक्ति के प्रतिनिधि मात्र हैं। अग्नि किसी को जलाते नहीं, वह ब्रह्म की शक्ति है, जिससे पदार्थ जलते हैं। यह वैसे ही है कि हम आँख की शक्ति से नहीं देखते, ब्रह्म की शक्ति के माध्यम से आँख देखती है। तो असुरों पर विजय देवताओं ने प्राप्त नहीं की थी, वह स्वयं ब्रह्म की शक्ति थी, जिसने देवताओं के लिए असुरों पर विजय प्राप्त की थी। इसलिए उनके अहंकार का कोई कारण नहीं था।''

द्रौपदी के मौन होते ही बलंधरा ने अधैर्य से कहा, ''ठीक है, ब्रह्म की शक्ति ही पांडवों के लिए कौरवों पर विजय प्राप्त करेगी, किंतु इस कथा का हमारी समस्या से क्या संबंध ? बहुश्रुत लोगों के साथ यह बड़ी कठिनाई है कि वे किसी बात को सीधे-सीधे चलने नहीं देना चाहते। जब तक वे उसे संसार के प्रत्येक कोने में घुमा-फिरा न लें, उसका समाधान नहीं करना चाहते।''

''नहीं ! मैं दीदी की बात समझ रही हूँ।'' विजया ने कहा, ''प्रत्येक दृश्य वस्तु का एक अदृश्य ऊर्जास्रोत होता है। मन की ऊर्जा शरीर को चलाती है। शरीर की ऊर्जा धनुष को चलाती है और धनुष की ऊर्जा बाण को चलाती है।''

''ठीक।'' द्रौपदी ने कहा, ''वास्तविक खेल तो इस ऊर्जा का ही है। इसीलिए तो हम माता जगदंबा की शक्ति के रूप में पूजा करते हैं और उस शक्ति के स्वामी ही महादेव शिव हैं। अब देखो, यह शक्ति वायु में है, अग्नि में है, विद्युत में है, जल में है। धरती में है। वस्तुतः ऊर्जा के उपकरण दिखाई देते हैं, ऊर्जा दिखाई नहीं देती। अग्नि दिखाई देती है, किंतु ताप दिखाई नहीं देता। उसके प्रभाव को ही देखा जा सकता है। हिलती और उड़ती हुई चीजें दिखाई देती हैं किंतु न पवन दिखाई देता है, न उसका वेग। धरती दिखाई देती है किंतु गुरुत्वाकर्षण नहीं। पदार्थ के रूप में चुंबक दिखाई देता है, किंतु चुंबकीय शक्ति नहीं।''

''ठीक है। ठीक है।'' बलंधरा बोली, ''आगे चलो दीदी ! क्या कहना चाहती हो।''

''कहना यह चाहती हूँ कि प्रत्येक पिंड किसी-न-किसी ऊर्जा से ही चल रहा है। ऊर्जा के स्रोत जड़ भी हैं और चेतन भी। भौतिक आँखों से पदार्थ दिखाई पड़ते हैं, ऊर्जा नहीं। न जड़ अपने आप में ऊर्जा है, न चेतन। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण ऊर्जा का वह चेतन स्रोत ही है, जो मनुष्य की आत्मा है। आत्मा के कारण ही प्राण हैं। उसके कारण ही मस्तिष्क है। मस्तिष्क इस शरीर की ऊर्जा है। अब यदि हम उस ऊर्जा को भौतिक ऊर्जा के रूप में प्रयोग में लाते हैं तो लौकिक शस्त्रास्त्र चलाते हैं। अपने बुद्धिबल से भौतिक पदार्थों को भौतिक ऊर्जा में परिणत कर उनसे शस्त्र चलाते हैं, तो वे दिव्यास्त्र हैं; किंतु यदि हम अपनी आत्मा की शक्ति का प्रयोग सीधे स्थूल पदार्थों पर करते हैं

और उनका परिचालन करना सीख जाते हैं, तो हम देवास्त्र चलाते हैं।"

"आप कह रही हैं महारानी ! कि देवास्त्रों में भौतिक ऊर्जा का नहीं, आत्मिक ऊर्जा का प्रयोग होता है।" विजया ने कहा।

"हाँ।"

"किंतु भौतिक ऊर्जा का संचरण संपर्क से होता है, इस आत्मिक ऊर्जा का संचरण कैसे होगा ? कोई धनुष बिना छूए, हमारे मस्तिष्क का आदेश कैसे मानेगा ? या हमारा मस्तिष्क किसी धनुष को छूएगा कैसे ?" विजया ने कहा।

"देखो, चंद्रमा जल को अपनी ओर खींचता है, किंतु वह सूक्ष्म प्रक्रिया हमें दिखाई नहीं देती। पूर्णिमा की रात को समुद्र के जल को चंद्रमा जब अपनी ओर आकृष्ट करता है तो वह एक विराट दृश्य होता है। समुद्र का पागल हो जाना हम सब देख सकते हैं। यह प्रक्रिया किन सूक्ष्म तरंगों से होती है, यह हम नहीं जानतीं।" द्रौपदी बोली, "चुंबक लोहे को खींचता है, किंतु हम उन दोनों के बीच बँधी हुई किसी रस्सी को तो नहीं देखते हैं। उन दोनों के बीच जो माध्यम है, वह तो सब स्थानों पर है। चुंबक की ऊर्जा जिन सूक्ष्म विद्युत तरंगों में परिणत होकर यह काम करती है, उसे न हम देखते हैं और न ही उसका अनुभव करते हैं। ठीक वैसे ही जब हम अपनी आत्मिक ऊर्जा को विद्युत तरंगों में बदल लेते हैं और उसके माध्यम से संदेश भेजते हैं, तो प्रकृति का प्रत्येक कण उन आदेशों का पालन करता है। शरीर के भीतर होते हुए इस व्यापार को हम देखते नहीं, किंतु जानते हैं कि हमारा मस्तिष्क अपनी उन विद्युत तरंगों से शरीर के प्रत्येक अंग को संदेश भेजता है। जब हमारी वही ऊर्जा अपनी विद्युत तरंगें शरीर से बाहर पहुँचाने लगती है, तो दिव्यास्त्रों जैसे अनेक चमत्कार होने लगते हैं। पर उसे देखे बिना, उसे अपने अनुभव क्षेत्र का अंग बनाए बिना, उसका विश्वास करना कठिन होता है। यदि हम उन लोगों के बीच चले जाएँ, जिन्होंने कभी धनुष भी नहीं देखा है, तो वे इस बात पर भी विश्वास नहीं करेंगे कि मनुष्य एक स्थान पर खड़ा होकर अपने बाण दूर-दूर तक पहुँचा सकता है।"

"यह तो आध्यात्मिक साधना का क्षेत्र है महारानी।" सुभद्रा ने कहा।

"हाँ ! ठीक कहती हो। आध्यात्मिक साधना क्या है ? वह अपने शरीर के भीतर की सुप्त ऊर्जा को जगाना और उसका प्रबंधन ही तो है। उसका उपयोग किसी भी क्षेत्र में किया जा सकता है। अब इस साधना को युद्धक्षेत्र में ले आओ।" द्रौपदी ने कहा, "शायद तुम्हारा ध्यान कभी इस ओर भी गया हो कि सारे दिव्यास्त्र और देवास्त्र ऋषियों और देवताओं के पास ही क्यों होते हैं। हमारे योद्धा अपनी साधना से अथवा ऋषि या देवता की सेवा से ही उन्हें प्राप्त करते हैं।"

"ठीक कह रही हैं आप।" सुभद्रा बोली, "भैया ने अपना चक्र तो बनाया था, जिससे उन्होंने शतधन्वा का वध किया था; किंतु सुदर्शन चक्र तो उन्हें देव अग्नि ने ही दिया था। धनंजय को भी अपना रथ और गांडीव धनुष देव अग्नि से ही मिला।"

"हमारे राजाओं अथवा धनाढ्य योद्धाओं ने क्यों ऐसे शस्त्रास्त्र नहीं बनाए ?"

द्रौपदी ने कहा, "एक ही कारण है कि वे लोग ऊर्जा को भौतिक जगत् में खोजते रहे। केवल साधकों ने ही उसे आत्मिक जगत् में खोजा। भौतिक ऊर्जा से परिचालित शस्त्र को कोई भी थोड़े प्रशिक्षण और अभ्यास से चला सकता है; किंतु आत्मिक ऊर्जा वाले शस्त्रास्त्रों को केवल वह साधक ही परिचालित कर सकता है, जिसने अपनी साधना से अपने भीतर उस ऊर्जा का संचय किया है और वह उस ऊर्जा को विद्युत तरंगों के रूप में भौतिक पदार्थों तक भी पहुँचाकर उनको आदेश दे सकता है। हम एक उदाहरण लें," द्रौपदी ने रुककर अपनी श्रोताओं की ओर देखा, "महादेव शिव का धनुष अजगव, विदेहराज जनक के पास जाने कब से रखा हुआ था, किंतु अपने शत्रुओं के साथ लड़ते हुए, किसी भी युद्ध में जनक ने उसका उपयोग नहीं किया। भगवान् राम के आने तक वह धनुष परिचालित नहीं होता था, मनुष्यों और पशुओं द्वारा खींचा जाता था। उसका उपयोग नहीं होता था, वह पूजा जाता था। राम आए। वे योद्धा भी थे और साधक भी। उनके पास शारीरिक बल भी था और आत्मिक शक्ति भी। उन्होंने गुरु वसिष्ठ और विश्वामित्र से पाए अपने प्रशिक्षण, अपने शारीरिक बल और आत्मिक ऊर्जा से उसको परिचालित किया। परशुराम को उसका विश्वास नहीं हुआ, क्योंकि वे मानते थे कि वह ऊर्जा केवल उनके ही पास है। राम ने यदि अजगव को तोड़ा है तो केवल भौतिक बल से ही तोड़ डाला है। जब राम ने उनका वैष्णवी धनुष भी परिचालित कर दिया, तो उन्हें मानना पड़ा कि राम भी सघन और एकाग्र आत्मिक शक्ति के स्वामी हैं।"

"पर यदि बात साधना से अपने भीतर की आत्मिक ऊर्जा जगाने मात्र की है तो साधना तो रावण ने भी बहुत की थी।" विजया ने कहा, "वह शिव का भक्त भी था। उससे अजगव क्यों परिचालित नहीं हुआ ?"

"उत्तम प्रश्न है।" द्रौपदी ने कुछ उत्साह में कहा, "रावण ने अपनी साधना से जो ऊर्जा जगाई थी, वह तो भौतिक शक्ति प्राप्त करने में ही समाप्त हो गई थी। वैसे भी एक बात और है।"

"क्या ?" बलंधरा ने पूछा।

"तुम्हें स्मरण होगा कि धनंजय जब जयद्रथ के वध के लिए बढ़ रहे थे और दुर्योधन उन्हें रोक नहीं पाया था तो वह रोता हुआ द्रोणाचार्य के पास गया था। आचार्य ने उसे अभेद्य कवच बाँध दिया था और धनंजय के बाण उससे टकरा-टकराकर लौट आए थे।..."

"स्मरण है मुझे।" सुभद्रा ने कहा।

"उसके पश्चात् ?" द्रौपदी ने उनकी ओर देखा, "कहाँ गया वह अभेद्य कवच ? फिर कभी उसकी चर्चा क्यों नहीं हुई ?"

"क्यों नहीं हुई ?" करेणुमती ने पूछा।

''राक्षसी आचरण से आध्यात्मिक साधना नहीं होती। दुर्योधन वह आचरण नहीं कर पाया, जो उस कवच को अभेद्य बनाए रखने के लिए ऊर्जा प्रदान कर सकता। वह कवच व्यर्थ हो गया।'' द्रौपदी ने कहा, ''एक बात और ध्यान देने की है। जब हम अग्नि को किसी पत्थर से छुआते हैं तो पत्थर तप कर रह जाता है। किंतु जब उसी अग्नि का स्पर्श किसी तैलाक्त वस्तु से होता है, तो वह वस्तु जल उठती है और अग्नि भी अपना ईंधन पाकर धधक उठती है। चुंबक का प्रभाव लोहे पर ही होता है, लकड़ी पर नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि साधक के द्वारा अपने मन से जिन विद्युत तरंगों को संप्रेषित किया जा रहा है, उनका अर्थ समझने वाला बोधक भी तो उसी कोटि का होना चाहिए। देवास्त्र में बोधक तो सात्विक ऊर्जा का निर्मित हो और तरंगें आ रही हों रावण या दुर्योधन जैसे किसी साधक की ओर से, तो वह बोधक सक्रिय नहीं हो पाएगा। यही कारण है कि जब कभी इन राक्षसों ने ऐसा कोई शस्त्र पा भी लिया, तो वे उसकी रक्षा नहीं कर पाए। तुम समझ सकती हो बलंधरा ! कि दुर्योधन ने अश्वत्थामा से नारायणास्त्र क्यों नहीं माँगा।''

''तो दुर्योधन और कर्ण थोड़ी-सी साधना क्यों नहीं कर लेते ?'' करेणुमती ने प्रश्न उठाया, ''इन शस्त्रों का महत्त्व तो वे भी समझते हैं।''

''उसके लिए संयम चाहिए। अपने अहंकार का विगलन करना होगा। दूसरे की संपत्ति और पत्नी पर कुदृष्टि नहीं डालनी होगी। तप, त्याग और दान का आश्रय लेना होगा।'' द्रौपदी हँसी, ''केनोपनिषद् का समापन प्रसंग देखो।''

''क्या है उसमें ?'' बलंधरा ने पूछा।

''उसमें भी यज्ञ, तप और दान की बात कही गई है।'' देविका ने कहा।

''हाँ ! पर मैं दूसरी ओर संकेत कर रही थी।'' द्रौपदी ने कहा, ''गुरु सारा उपनिषद् कह चुके तो शिष्य कहता है, 'गुरुवर ! मुझसे उपनिषद् कहिए।' गुरु हँसकर कहते हैं, 'वत्स ! तुमसे उपनिषद् ही कहा है' किंतु उसको समझने का आधार है–तप, दम, और निष्काम कर्म। उसका आयतन है सत्य। यदि सत्य का ही पालन नहीं होगा तो वह ब्रह्मविद्या कैसे समझ में आएगी। सोचो ! जब कर्ण भगवान् परशुराम के पास गया था, उनसे शस्त्रविद्या सीखने, क्या उसका व्यवहार सत्य पर आधृत था ? वह तो आरंभ ही झूठ से हुआ था। उसने जाकर बताया था कि वह ब्राह्मण है। ऐसे में उसकी तपस्या भी क्या कर सकती थी। उसने बहुत प्रयत्न कर इंद्र से एक शक्ति प्राप्त की, किंतु उसे भी तो वह एक ही बार चला पाया। उसके पास देवास्त्रों को चलाने की उतनी ही ऊर्जा थी।··· ये राक्षस, शस्त्रों के लोभ में साधना कर सकते हैं; किंतु लोभ से तो सात्विक ऊर्जा की प्राप्ति नहीं होती। इसी संदर्भ में मेरा ध्यान रावण के पुष्पक विमान की ओर भी जाता है।''

''हाँ ! रावण के पास भी तो पुष्पक विमान था। वह भी तो उसी आत्मिक ऊर्जा से चलता था।'' करेणुमती बोली, ''यह कैसे संभव हुआ ?''

"मेरे मन में भी यह बात आई थी।" द्रौपदी बोली, "किंतु तब मेरा ध्यान इस ओर गया कि रामकथा में रावण के द्वारा कुबेर से पुष्पक विमान छीनने का वर्णन तो है, किंतु रावण द्वारा उसमें किसी यात्रा का नहीं। सीता का हरण करने भी वह अपने रथ पर आया था। इसका क्या अर्थ है ? इसका अर्थ यही हो सकता है कि उसने कुबेर के पास पुष्पक विमान देखा और उसे बलात् छीन लिया, किंतु उसका संचालन वह नहीं कर सका, क्योंकि उसके पास उसका संचालन करने वाली ऊर्जा नहीं थी। अतः वह उसके पास व्यर्थ ही पड़ा रहा। संभव है विभीषण ने कभी उस पर यात्रा की हो। अंत में भगवान् राम की आत्मिक ऊर्जा ने ही उसको सक्रिय किया और उसमें वे अयोध्या तक आए।"

"आप ठीक कहती हैं दीदी ! किंतु साधना की दृष्टि से तो धर्मराज, धनंजय से कहीं अधिक बढ़े हुए हैं।" सुभद्रा बोली, "पर उनके पास तो कोई देवास्त्र नहीं है। उन्हें युद्ध में हर बार धनंजय का ही आश्रय लेना पड़ता है।"

द्रौपदी ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया। वे जैसे किसी चिंता में लीन हो गई थीं।

"क्या बात है दीदी ?"

"कुछ नहीं ! वस्तुतः मुझे एक साधक की करुण कथा स्मरण हो आई।"

"कथा ?"

"एक साधक अपनी साधना के फलस्वरूप पाई ऊर्जा के आधार पर अनेक चमत्कार करता था। एक तपस्वी उस ग्राम में आए तो लोगों ने उनको भी उस साधक के चमत्कार दिखाए और पूछा कि यह क्या है ? तपस्वी ने बताया कि अपनी साधना के परिणामस्वरूप प्राप्त मानसिक ऊर्जा से वह साधक अनुपलब्ध वस्तुओं को भी प्रस्तुत कर देता है। उसमें कोई विशेष चमत्कार नहीं है।

"वर्षों पश्चात् वे तपस्वी पुनः उसी ग्राम में आए। वह साधक भी उनसे मिलने आया। तपस्वी ने उससे पूछा कि अपने उन चमत्कारों से उसको ईश्वर की प्राप्ति हो गई क्या ? साधक ने बताया कि वह तो अब तक लोगों को चमत्कृत ही कर रहा है। उसे कोई दिव्य अनुभूति तो हुई ही नहीं। तपस्वी ने उसे अपने वक्ष से लगा लिया और थोड़ा दबा दिया। तुम लोग जानती हो इसे योग की भाषा में शक्ति संचरण कहते हैं। उस दिन से उस साधक का दृष्टिकोण ही बदल गया। उसने चमत्कार दिखाने बंद कर दिए और ईश्वर की प्राप्ति के लिए तपस्या करने लगा।" द्रौपदी ने रुककर उनको देखा, "धर्मराज की तपस्या, न राज्य के लिए है, न शस्त्रों के लिए। उनका लक्ष्य तो धर्म है। वे ईश्वर को प्राप्त करना चाहते हैं। उन्होंने संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर बनने की कामना कभी नहीं की। उन्होंने अपनी साधना को युद्धक्षेत्र की ओर कभी नहीं मोड़ा। दूसरी ओर वनवास काल में जब धनंजय साधना के लिए गए थे तो आगामी युद्ध के लिए देवास्त्र प्राप्त करना ही उनका मुख्य लक्ष्य था और वे उसी प्रकार के अस्त्र प्राप्त करके लौटे भी।"

"तो क्या इसीलिए धर्मराज को निरंतर यह शिकायत रही कि धनंजय मन लगाकर युद्ध नहीं कर रहे हैं ? क्या इसीलिए कृष्ण रथ से उतर-उतरकर भीष्म पितामह को मारने के लिए उनकी ओर भागे कि अर्जुन गंभीरता से उनके वध का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं ?" देविका ने पूछा।

"शायद यही कारण था।" द्रौपदी ने कहा, "उन्हीं अस्त्रों में यदि ऊर्जा का भेद, अथवा ऊर्जा की तीव्रता का भेद कर दिया जाए, तो उनके विनाशकारी प्रभाव में भी अंतर आ जाता है।"

"पर वे देवास्त्र होते कहाँ हैं ? और प्रकट कहाँ से हो जाते हैं ?" बलंधरा ने कहा, "श्रीकृष्ण सुदर्शन चक्र लेकर तो नहीं चलते, किंतु जब वे चाहते हैं, वह उनकी अंगुली पर नाच रहा होता है। अश्वत्थामा भी नारायणास्त्र लेकर नहीं आया था किंतु वह प्रकट हो ही गया।"

"ठीक है कि इन देवास्त्रों को कोई कंधे पर नहीं ढोता।" द्रौपदी ने कहा, "विश्राम के समय रथ और अश्व रथी के साथ नहीं होते। वे अपने स्थान पर होते हैं, रथशाला में अथवा अश्वशाला में। यात्रा के समय रथी आदेश देता है और सारथि रथ ले आता है। ठीक उसी प्रकार वे शस्त्र अपने-अपने आगार में सहेज कर रखे हुए होते हैं। योद्धा जब उनका चिंतन करता है अथवा अपने मस्तिष्क द्वारा विद्युत तरंगें या विद्युत संकेत भेजता है, तो वे अस्त्र सक्रिय हो जाते हैं। योद्धा के आदेश के अनुसार वे विद्युत तरंगें, उस अस्त्र को योद्धा के इच्छित स्थान पर ले आती हैं और अपना कार्य आरंभ कर देती हैं।"

"क्या इसी आत्मिक ऊर्जा से परिचालित होने के कारण नारायणास्त्र मन के क्षोभ तक पहुँच सकता है ?"

"तुमने बहुत ही उपयुक्त प्रश्न पूछा है करेणु !" द्रौपदी प्रसन्न हो गई, "सोचो, यदि कोई भी भौतिक ऊर्जा कार्य करेगी तो वह भौतिक लक्ष्य पर ही कर पाएगी न। विस्फोटक को पाकर अग्नि अपना प्रभाव दिखाएगी। तेल अथवा घृत जैसे पदार्थों के संपर्क में आकर भी अग्नि प्रज्वलित हो सकती है। किंतु अग्नि को मन के क्षोभ का पता कैसे चलेगा ? उसके लिए आवश्यक है कि जो विद्युत संकेत जाएँ, वे अत्यंत मंद क्षमता के हों, ताकि बोधक उसे समझ सके। अग्नि अथवा उल्कापात जैसी भौतिक शक्तियों की दाहकता, मन को जला देगी, वह उसका क्षोभ कैसे समझ पाएगी।"

"कोई उदाहरण ?" विजया ने पूछा।

"जैसे प्रेमी के हाथ का कोमल स्पर्श प्रिया के मन की अग्नि को धधकाता है।" द्रौपदी ने कहा, "प्रेमी के मस्तिष्क से जो विद्युत संकेत उसकी भुजा से होते हुए उसकी अंगुलियों में आते हैं, उन संकेतों को ही प्रिया की शिराएँ उसकी त्वचा से उसके मस्तिष्क तक ले जाती हैं और वहाँ ताप उद्भूत होने लगता है। नारायणास्त्र उतनी ही मंद और सूक्ष्म तरंगों को प्रभावशाली रूप से ग्रहण करता है। किसी के मन का क्रोध भी उसे

उग्र कर देता है।"

"मैं आपकी सारी बातें मान लेती हूँ दीदी !" बलंधरा बोली, "किंतु एक बात मुझे व्याकुल किए हुए है।"

"उस बात में बल होना ही चाहिए, जिसने बलंधरा जैसी धीर महिला को व्याकुल कर रखा है।" द्रौपदी ने हँसकर कहा।

"देखिए, बातें तो हम करें नारायणास्त्र जैसे देवास्त्रों की; और युद्ध हो रहा हो एक मैदान में आमने-सामने खड़े हो कर।" बलंधरा ने कहा, "चर्चा हो एक व्यक्ति की इच्छा मात्र से सहस्रों बाण चलने की अथवा अग्नि वर्षा की और समाचार आ रहे हों कि समरभूमि में लोग हाथ में शस्त्र लेकर दो हाथ की दूरी से एक-दूसरे पर प्रहार कर रहे हैं। यह मेरी समझ में नहीं आता।"

"ठीक कह रही हो सखि !" द्रौपदी ने कहा, "ऐसे युद्ध को देखे बिना उसको समझना सचमुच कठिन है। समरभूमि हमारी वाटिका के समान कोई छोटा-सा क्षेत्र नहीं है। वह योजनों में फैला हुआ विशाल भूखंड है। उसके एक छोर से दूसरे छोर तक जाने के लिए पूरा दिन लग जाता है। कई बार किसी योद्धा का पूरा समाचार भी अन्य योद्धाओं को नहीं मिल पाता कि वह कहाँ है और किससे युद्ध कर रहा है। इसीलिए तो संशप्तक धनंजय को समरभूमि के किसी एकांत में ले जाते हैं और दूसरी ओर यह प्रतीक्षा ही होती रहती है कि धनंजय आएँगे। फिर सामान्य सैनिक तो खड्ग, भल्ल, गदा, तोमर इत्यादि लौकिक शस्त्रों से ही लड़ रहा है। कुछ महारथियों के पास कुछ दिव्यास्त्र भी हैं।··· किंतु देवास्त्रों वाले योद्धा तो गिने-चुने ही हैं।···"

"यही सही।" करेणुमती ने कहा, "तो फिर धनंजय एक ही दिन में अपने देवास्त्रों से अपने शत्रुओं को समाप्त क्यों नहीं कर देते ?"

"तुमने ध्यान नहीं दिया कि धर्मराज और स्वयं गोविन्द को धनंजय से शिकायत है कि वे मन लगाकर युद्ध नहीं कर रहे।···"

"वह तो केवल भीष्म और द्रोण के संदर्भ में है।" करेणुमती बोली, "वह गुरुजनों के प्रति सम्मान के कारण है। किंतु शेष योद्धा ?"

"वस्तुतः युद्ध कई स्तरों पर होता है। राम-रावण युद्ध में भी वानर तो पत्थरों और लौकिक शस्त्रों से ही लड़ रहे थे; किंतु दोनों पक्षों के नेताओं के पास दिव्यास्त्र और देवास्त्र थे। इस युद्ध में धनंजय हों या द्रोण—उन दोनों के ही मन में, देवास्त्रों से साधारण लौकिक अस्त्रों से लड़ने वाले सैनिकों का नाश करने के प्रति संकोच दिखाई देता है। किसी भी योद्धा के मन में बराबरी का युद्ध करने की इच्छा होती है। हाँ ! भीष्म पितामह ने यह संकोच कुछ कम दिखाया है।" द्रौपदी ने रुकते-रुकते जोड़ा, "पांचाल सैनिकों के प्रति वे अत्यंत निर्मम रहे हैं।"

"क्यों बलंधरा ! तुम्हारी जिज्ञासा का समाधान हुआ ?" देविका ने पूछा।

"अभी तो हो गया है," बलंधरा बोली, "पर मैं जानती हूँ कि मेरे मन में फिर

से प्रश्न उठेंगे। आखिर मध्यम पांडव के पास कोई देवास्त्र क्यों नहीं है ?''

''क्योंकि वे महारानी को कभी अपनी आँखों से दूर नहीं कर सके। उनसे पृथक् नहीं रह सके। तपस्या के लिए किसी एकांत स्थान पर नहीं जा सके।'' सुभद्रा मुस्कराई।

द्रौपदी ने उसे सघन प्रेम से देखा, ''बहुत दुष्ट हो सुभद्रा ! तुम।''

29

दुर्योधन का उत्साह पाताल में समाता जा रहा था और उत्तेजना आकाश को छूने लगी थी। उसकी इच्छा हो रही थी कि या तो वह अपने शिविर को आग लगा दे अथवा अपने-आपको मदिरा के भांड में डुबो दे। अपने सिर के केश नोच ले अथवा कर्ण को सामान्य सैनिकों के सम्मुख कोड़ों से पिटवाए।

··· प्रातः उसने कौरव सेनाओं के प्रधान सेनापति के रूप में कर्ण का अभिषेक किया था, तो उसका उत्साह आकाश को छू रहा था। उसके मन में आज तक जो एक पीड़ा थी कि उसके प्रधान सेनापति शायद पांडवों का वध ही नहीं करना चाहते, वह कुछ मंद हो गई थी। कर्ण के मन में पांडवों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। अपने शैशव से ही दुर्योधन ने कर्ण के मन में पलते हुए पांडवों के प्रति द्वेष को प्रोत्साहित किया था। कर्ण ही तो वह विषाक्त खड्ग था, जिसे दुर्योधन ने पांडवों के वक्ष में भोंक देने के लिए न केवल सुरक्षित रखा था, वरन् सदा उस पर धार चढ़ाई थी।··· भीष्म के सेनापतित्व में तो कर्ण ने युद्ध ही नहीं किया था और द्रोण के सेनापतित्व में कदाचित् अवसर ही नहीं मिला; किंतु अब तो वह स्वयं प्रधान सेनापति था। उसकी युद्ध-नीति यही होनी चाहिए कि वह सब ओर से घेर कर सीधे अर्जुन पर आक्रमण करे और उसका वध कर दे, जैसे चक्रव्यूह में घेर कर अभिमन्यु का वध किया गया था।··· कर्ण की ऐसी रणनीति का जो भी परिणाम हो, दुर्योधन उसके लिए तैयार था। सारा दिन उसकी सेना कटती और मरती रहे, किंतु सूर्यास्त तक अर्जुन का वध हो जाए तो वह उसे अपनी महान् विजय ही मानेगा। यदि अर्जुन का वध हो जाए तो पांडवों की सेना एक दिन भी कौरव सेना के सम्मुख टिक नहीं पाएगी। आज अर्जुन मर जाए तो कल भीम मरेगा और उसके पश्चात् प्रहर भर में युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव अपने प्राण त्याग देंगे।···

उसके कान दिन भर यह सुनने के लिए तरसते रहे कि कर्ण अर्जुन से जा भिड़ा है; किंतु किसी संदेशवाहक ने यह समाचार नहीं दिया। पूरा दिन बीत गया किंतु कर्ण और अर्जुन एक-दूसरे के सामने ही नहीं पड़े।··· दुर्योधन को समाचार मिला कि भीम ने क्षेमधूर्ति को मार दिया है। फिर वह अश्वत्थामा से भिड़ गया है। अश्वत्थामा उससे लड़ा और अंत में दोनों के ही मूर्च्छित हो जाने का समाचार आया। दोनों के सारथि

उन्हें युद्धक्षेत्र से हटाकर ले गए। श्रुतकर्मा ने चित्रसेन का वध कर दिया, प्रतिविंध्य ने चित्र का। मूर्च्छा समाप्त होने पर अश्वत्थामा ने वापस लौट कर पांड्य का वध कर दिया और फिर अर्जुन ने उसे पराजित कर समरभूमि से परे धकेल दिया। पांडवों ने पौंड्र, अंगराज और बंगराज को मार डाला। सहदेव ने दुःशासन को परास्त कर दिया। अर्जुन ने श्रुतंजय, सौश्रुति, चंद्रदेव और सत्यसेन का वध कर दिया।...

दुर्योधन को अपने पक्ष की विजय के जो समाचार मिले भी, वे कर्ण से संबंधित नहीं थे। उलूक ने युयुत्सु को पराजित किया था, शकुनि ने सुतसोम को, कृपाचार्य ने धृष्टद्युम्न को, कृतवर्मा ने शिखंडी को। युयुत्सु के पराजित होकर भाग जाने से दुर्योधन को बहुत प्रसन्नता हुई थी। ऐसे भाइयों के साथ यही होना चाहिए। उसे तो और भी अपमानित होना चाहिए। दुर्योधन को त्यागने का उसे यह फल मिलना चाहिए।... किंतु पांडव पक्ष के किसी भी महत्त्वपूर्ण योद्धा का वध नहीं हुआ था... और कर्ण का तो कोई समाचार ही-नहीं था। दुर्योधन ने अपने आक्रोश से मुक्ति पाने के लिए, स्वयं युधिष्ठिर से लड़ने का निर्णय किया था। वह उससे जा भिड़ा था और पराजित होकर लौट भी आया था।... अपने जीवन काल में एक बार आचार्य द्रोण ने उससे कहा था कि वह यहाँ-वहाँ न लड़ा करे। लड़ना ही है तो वह युधिष्ठिर से युद्ध करे, ताकि पराजित हो तो कम से कम राजा से ही पराजित हो। आज वही हो गया था। वह राजा से पराजित होकर लौट आया था।...

तब उसे समाचार मिला था कि कर्ण नकुल से युद्ध कर रहा है।... प्रातः से यह दूसरा समाचार था, जिससे उसे कुछ प्रसन्नता हुई थी। चलो कर्ण पांडवों में से किसी से भिड़ा तो... अब यदि वह नकुल का वध कर देता है, तो वह अर्जुन से लड़ना चाहे न चाहे, अर्जुन स्वयं ही उससे युद्ध करने आ जाएगा।...

उसे समाचार मिलते रहे थे कि कर्ण ने नकुल का धनुष काट दिया है। उसके सारथि को मार दिया। उसके अश्वों का वध कर दिया है। उसके रथ को तोड़ दिया है। उसके खड्ग को काट दिया है। उसकी ढाल को चूर्ण कर दिया है... किंतु जब वह अपेक्षा कर रहा था कि कर्ण ने नकुल का वध कर दिया होगा, तब उसे समाचार मिला कि कर्ण ने नकुल के कंठ में अपना धनुष डाल कर उसे उपदेश दिया है कि बच्चों को बच्चों से ही लड़ना चाहिए। नकुल अपने समतुल्य किसी योद्धा से युद्ध किया करे। कर्ण जैसे योद्धाओं से भिड़ना उसके वश का नहीं है, अतः वैसा दुस्साहस न किया करे।...

दुर्योधन को लगा कि उसे चक्कर आ गया है।... यह कर्ण युद्ध कर रहा है या गुरुकुल में छात्रों को शिक्षा और उपदेश दे रहा है। कर्ण ने नकुल का वध क्यों नहीं किया ? क्यों नहीं किया ?... क्या बात है कि उसका प्रधान सेनापति बनते ही प्रत्येक योद्धा पांडवों का वध न करने का संकल्प कर लेता है ? क्यों दया आ गई कर्ण को नकुल पर ?... कर्ण के मन को दुर्योधन अच्छी तरह जानता है। कोई व्यक्ति किसी कक्ष में प्रवेश कर उसकी दीवारों पर लगे चित्रों को जितनी अच्छी तरह देख, पहचान

और समझ सकता है, उतनी ही अच्छी तरह दुर्योधन कर्ण के मन को पहचानता है। उनका इतना दीर्घकालीन साथ रहा है और इतनी घनिष्ठता रही है कि वह कर्ण के मन की प्रत्येक कंदरा को देखभाल चुका है, प्रत्येक कोटर में झाँक आया है। वह जानता है कि कर्ण के मन में क्या है। वहाँ अपने महत्त्व की आकांक्षा है। हिंसा है, क्रूरता है, परपीड़नरति है। किसी को कष्ट दे कर, उसे अपमानित कर, उसे तड़पाकर बहुत सुख मिलता है कर्ण को। जिसे एक बार शत्रु मान लिया, उसकी पीड़ा तो संसार का असाधारण सुख होता है—कर्ण के लिए भी और दुर्योधन के लिए भी। कर्ण का मन भिन्न नहीं है, दुर्योधन, दुःशासन और शकुनि के मन से। नहीं तो उनमें इतनी मैत्री कैसे होती।''' हाँ ! एक भिन्नता है। स्थिति की भिन्नता।''' दुर्योधन ने बहुत सारा वैभव दिया है। धन संपत्ति की कोई कमी नहीं रह गई है कर्ण को। किंतु एक धरातल पर बहुत निर्धन है कर्ण। कोई उसकी तनिक-सी प्रशंसा कर दे, थोड़ा-सा महत्त्व दे दे, तो उसका मन द्रवित होने लगता है; किंतु दया का गुण नहीं है कर्ण के मन में। अपने यश की लोलुपता हो सकती है। वह नकुल पर दया कैसे कर सकता है। उसके मन में कण भर भी दया होती तो द्यूतसभा में वह असहाय द्रौपदी को निर्वस्त्र करने का प्रस्ताव कर उस पर गर्व नहीं कर सकता था। बहुत घृणा है उसके मन में—गहरी और घनीभूत। उस घृणा को ही तो पोषित किया है दुर्योधन ने आज तक।''' कर्ण के उस ईर्ष्यालु और द्वेषी मन में यह क्षमा और दया कहाँ से आ गई ? भीम के साथ युद्ध में भी ऐसी ही एक स्थिति आई थी। तब भी कहा गया था कि भीम पूर्णतः कर्ण के अधिकार में था, पर तब शायद सात्यकि और अर्जुन उसकी सहायता को आ गए थे और कर्ण को वहाँ से हट जाना पड़ा था।'''

पर कर्ण अर्जुन को सामने देखकर हट क्यों जाता है ? और आज दिन भर में वह उससे युद्ध करने क्यों नहीं गया ? क्या वह अर्जुन से भयभीत है ?''' पर अर्जुन भी तो उससे लड़ने नहीं आया। वह भी तो जानता ही होगा कि अब कर्ण कौरवों का प्रधान सेनापति है। उसे पराजित करने का अर्थ है, सारी कौरव सेना को पराजित करना। क्यों नहीं आया वह युद्ध करने ?''' अर्जुन संशप्तकों से लड़ता रहा। उसने अश्वत्थामा को पराजित किया। फिर वह दंडाधार और दंड जैसे योद्धाओं से लड़ने चला गया। श्रुतंजय, सौश्रुति, चंद्रदेव, सत्यसेन से लड़ता रहा। वह भी तो कर्ण को टालता ही रहता है। ये दोनों परस्पर लड़ क्यों नहीं लेते ?''' अंततः कर्ण लड़ा भी तो सात्यकि से। सात्यकि ने उसे पराजित ही कर दिया था कि कौरव महारथी कर्ण की सहायता को पहुँच गए। सात्यकि से वे उसे बचा लाए। यदि अर्जुन होता तो ? ''' और फिर अर्जुन सहित सारे पांडव योद्धा कर्ण पर ही पिल पड़े। कर्ण ने बहुत वीरता दिखाई; किंतु अर्जुन के आने के पश्चात् कौरव सेना को भागना ही पड़ा। उधर कर्ण दुर्बल पड़ता जा रहा था और दूसरी ओर सूर्य अस्ताचल को पार कर गए थे।'''

पर यदि कर्ण को बुलाकर दुर्योधन पूछे कि उसने नकुल का वध क्यों नहीं किया,

तो क्या उत्तर देगा कर्ण ? ··· कदाचित् कहे कि नकुल कोई ऐसा वीर तो है नहीं कि उसका वध कर कर्ण गौरवान्वित हो सके। तो ऐसी निरीह हत्या क्यों की जाए ?··· संभव है कि वह यह कहे कि निःशस्त्र नकुल को मारने का क्या लाभ ? उससे तो कर्ण कलंकित ही होगा।··· तो फिर कर्ण ने उसे उस समय क्यों नहीं मारा, जब उसके पास शस्त्र थे ? उसका वध करने के स्थान पर उससे क्रीड़ा क्यों करता रहा वह ?··· और वैसे भी क्या कर्ण अपने सामने पड़े शत्रु सैनिकों का वध नहीं करता ? उससे गौरवान्वित होता है कर्ण ? कर्ण को पांडवों के समान धर्म का रोग कब से लग गया ? योद्धा केवल अपने गौरव के लिए लड़ता है, या अपने शत्रुओं को मारने के लिए, उनको हानि पहुँचाने के लिए, उनकी क्षमता को कम करने के लिए भी शस्त्र का प्रयोग करता है ? वह अपने भय से मुक्त होने के लिए लड़ता है या योद्धाओं की सूची में अपना नाम अंकित करवाने के लिए शस्त्र धारण करता है ? वह सत्ता और संपत्ति के लिए लड़ता है या धर्म नामक किसी काल्पनिक उपलब्धि के लिए ? वह अपने मन की प्रतिहिंसा के आदेश का पालन करता है या किसी से अपने लिए प्रशंसा पाने का स्वप्न पूर्ण करता है। वह अपनी ईर्ष्या की अग्नि में समिधा डालता है अथवा अपने गौरव की चिंता करता है ?··· भीम जब दुर्योधन के भाइयों का वध करता है तो वह यह तो नहीं देखता कि किसका वध उसके सम्मान के अनुकूल है और किस का नहीं। वह प्रतिदिन दुर्योधन के भाइयों का वध करता चलता है। उसे तो उन पर कभी कोई दया नहीं आई। तो कर्ण को ही क्या हो गया था आज ? उसके मन में कहाँ से नकुल के लिए करुणा की धारा फूट पड़ी ? उसके मन में अपने हाथ से नकुल के मस्तक को काटकर धरती पर फेंक, ठोकर मारने की इच्छा क्यों नहीं जागी ?··· यह कर्ण तो वह नहीं लगता, जिसे दुर्योधन आज तक जानता था। क्या यह कोई दूसरा ही कर्ण है—पांडवों की छाया में पला हुआ ?··· उसका प्रधान सेनापति बनकर कोई भी योद्धा वही क्यों नहीं रह जाता, जिसे दुर्योधन अपना प्रधान सेनापति बनाता है ? मूल योद्धा जाने कहाँ खो जाता है, रह जाता है मात्र सेनापति।

नकुल की मृत्यु से युधिष्ठिर को उतनी ही पीड़ा होती, जितनी अपने भाइयों की मृत्यु का समाचार सुनकर दुर्योधन को होती है। युधिष्ठिर की वह पीड़ा दुर्योधन के लिए कितनी सुखद होती ! पर कर्ण··· तो क्या कर्ण भी उसकी कामना पूरी नहीं करेगा ? पर कर्ण तो न भीष्म है, न द्रोण ! वह दुर्योधन की इच्छा के विरुद्ध कैसे जा सकता है ? वरन् वह अपनी ही इच्छा के विरुद्ध कैसे जा सकता है। उसने पांडवों का रक्त बहाने का स्वप्न वर्षों तक अपने वक्ष में पाला है। तो अब वह अपने उसी स्वप्न को शून्य में विलीन हो जाने देगा ?··· क्या सचमुच कर्ण कुछ बदल गया है ? क्या बदला है ? क्यों बदला है ?···

दुर्योधन का चिंतन प्रवाह रुक गया। उसे लगा, उसके मन में जैसे कोई दुर्दांत दानव उठ खड़ा हुआ था। वह दानव केवल अपने मन को जानता था, किसी और के

मन को नहीं।''' नहीं ! वह कर्ण को तभी तक अपने मन की राह चलने देगा, जब तक वह राह दुर्योधन की अभीप्सित राह है। कर्ण यदि बदलेगा तो दुर्योधन उसे बदलने नहीं देगा। कर्ण, अधिक समर्थ नहीं है, भीष्म और द्रोण से। भीष्म और द्रोण सार्वजनिक रूप से जो भी कहते रहे हों, किंतु सत्य यही है कि वे हस्तिनापुर राज्य के सेवक थे। यदि सेवक नहीं थे तो कर्मचारी थे। राजा का नाम सुनकर उनको भय लगता था। दुर्योधन आज भी यही मानता है कि वे उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते थे। द्यूतसभा में द्रौपदी निर्वस्त्र हो रही थी और भीष्म तथा द्रोण सिर झुकाए हुए बैठे थे। क्यों ? राजा के भय से ही तो। पता नहीं विदुर ने क्यों कभी भी उसका भय नहीं माना। भीष्म पांडवों का वध न करने की प्रतिज्ञा करके भी दस दिनों तक युद्ध में पांडवों की सेना को मारते काटते रहे। द्रोण अर्जुन से कितना ही प्रेम क्यों न करते हों किंतु उन्होंने अभिमन्यु के वध के लिए चक्रव्यूह रचा। तो आज कर्ण कैसे अपने मन की कर लेगा ?

द्वारपाल ने मंडप के भीतर आकर प्रणाम किया।

दुर्योधन ने उसकी ओर देखा।

''महाराज ! प्रधान सेनापति महावीर कर्ण'''।''

''आने दो।'' दुर्योधन ने उसे वाक्य पूरा करने नहीं दिया।

कर्ण भीतर आया। वह प्रसन्न दीखने का प्रयत्न कर रहा था।

यह किस बात पर खीसें निपोर रहा है ?''' दुर्योधन का मन पूछ रहा था''' इसके सेनापतित्व का पहला ही दिन था और कौरव सेना दिन भर पिटती रही। नए सेनापति के ओज का कोई लाभ नहीं हुआ सेना को।

''मित्र ! प्रसन्न तो हो ?'' कर्ण ने पूछा।

दुर्योधन का चिरधृष्ट मन अब मौन नहीं रह सका। बोला, ''किस बात की प्रसन्नता ? हाँ ! प्रसन्न होने का एक कारण तो है कि मेरा परम मित्र आज कौरव सेना का प्रधान सेनापति है; किंतु उसका पहला दिन कोई विशेष लाभदायक नहीं हुआ।''

''क्या लाभ चाहते हो राजकुमार तुम ?'' कर्ण का दर्प हुंकार उठा, ''हमने पांडव सेनाओं को बहुत क्षति पहुँचाई है। उलूक ने युयुत्सु को पराजित किया है। शकुनि के हाथों सुतसोम हारा है। कृपाचार्य के भय से धृष्टद्युम्न समरभूमि में टिक भी नहीं पाया। कृतवर्मा ने शिखंडी को पूर्णतः पराजित कर दिया।''''

''पराजित तो तुमने भी नकुल को कर दिया।'' दुर्योधन फुफकारकर बोला, ''किंतु इनमें से किसी एक का भी वध नहीं हुआ। पांडवों की क्षति कहाँ हुई। और जहाँ तक पराजित होने की बात है, सात्यकि से तुम पराजित हुए, युधिष्ठिर से स्वयं मैं पराजित हुआ। अर्जुन से सारे कौरव पराजित हुए।''' पर मेरी रुचि इन सब बातों में नहीं है।''''
दुर्योधन का स्वर कुछ कोमल हुआ, ''मुझे तो तुम यह बताओ कि तुम अर्जुन से द्वैरथ युद्ध कर उसका मस्तक काट पृथ्वी पर क्यों लुढ़कने नहीं देते ? मुझे तो लगता है कि तुम दोनों ही एक-दूसरे को टाल रहे हो। इधर-उधर के लोगों को मारते रहते हो

और स्वयं आमने-सामने नहीं लड़ते।"

कर्ण हतप्रभ-सा रह गया। उसे रंच मात्र अपेक्षा नहीं थी कि दुर्योधन उससे इस प्रकार सीधा प्रश्न पूछेगा। किंतु वह प्रश्न पूछ चुका था और उत्तर के लिए उसकी ओर देख रहा था।

"मुझे लगता है कि तुम प्रहार तो करते हो किंतु किसी को घायल नहीं करते। कहीं ऐसा तो नहीं कि किसी भी पांडव पर शस्त्र प्रहार करते हुए, तुम सचेत हो उठते हो कि यदि इस युद्ध में दुर्योधन पराजित हो गया तो हस्तिनापुर के राजा पांडव होंगे। ऐसे में तुम्हें उनको उत्तर देना होगा कि तुमने उनके किसी भाई का वध क्यों किया ?"

"मित्र होकर तुम ऐसी बात की कल्पना भी कैसे कर सकते हो ?" कर्ण तड़पकर बोला; किंतु वह स्वयं अनुभव कर रहा था कि उसका आत्मबल कहीं क्षीण हो रहा है।

"क्योंकि भीष्म और द्रोण को भी उन पर प्रहार करते हुए स्मरण हो आता था कि युधिष्ठिर किसी समय इंद्रप्रस्थ का सम्राट् था और वह पुनः सम्राट् हो भी सकता था। शासन का ऐसा ही आतंक होता है।"

"पर मुझ पर उनका कोई आतंक नहीं है और न ही मैं यह सोचता हूँ कि मेरा मित्र दुर्योधन युद्ध में पराजित हो जाएगा और मैं पांडवों की सेवा करने के लिए जीवित रहूँगा।"

कर्ण आवेश में कह तो गया किंतु उसका मन एक प्रश्न से उलझ गया था—क्या वह यह कल्पना भी नहीं करता कि वह अर्जुन का वध करने में सफल हो जाएगा ? यदि कल उसने अर्जुन का वध कर दिया तो फिर माता को दिए हुए वचन के अनुसार वह क्या करेगा ? यदि अर्जुन का वध करके भी वह कुंती के मातृत्व की उपेक्षा करता रहा तो क्या माता कुंती संसार को यह बताने में संकोच करेंगी कि कर्ण उनका ही पुत्र है ?

"तो फिर कल तुम अर्जुन से द्वैरथ युद्ध करो।" दुर्योधन बोला, "मैं इस प्रसंग को और लंबा खींचना नहीं चाहता।"

"मैं अर्जुन से हीन नहीं हूँ।" कर्ण का मुख किसी भीतरी अंतर्द्वंद्व से लाल हो गया, "मैं अवस्था में उससे बड़ा हूँ। शौर्य और युद्ध के ज्ञान में उससे बढ़कर हूँ। दिव्यास्त्रों और युद्धाभ्यास में उससे कम नहीं हूँ। मेरे धनुष का नाम जय है। वह गांडीव से किसी भी प्रकार मृदु नहीं है। वह स्वयं विश्वकर्मा द्वारा इंद्र के लिए बनाया गया था, जो इंद्र से गुरु परशुराम को और गुरु से मुझे प्राप्त हुआ।"

"तो फिर यह संकोच कैसा।" दुर्योधन उसे प्रोत्साहित करता हुआ बोला, "कल द्वैरथ युद्ध हो और अर्जुन निष्प्राण होकर धरती पर गिरे। फिर हमें किसी का कोई भय नहीं है।"

कर्ण ने निमिष भर के लिए दुर्योधन की ओर देखा। फिर धीरे से बोला, "किंतु कुछ बातों में अर्जुन मुझसे श्रेष्ठ भी है।....." वह ऐसे चुप हो गया, जैसे कुछ अकथनीय

उसके मुख से निकल गया हो और उसने दाँतों से अपनी जिह्वा काट ली हो, "नहीं ! वह मुझसे श्रेष्ठ नहीं है। उसको मेरी अपेक्षा कुछ अतिरिक्त और उत्कृष्ट सुविधाएँ प्राप्त हैं।"

"क्या ?" दुर्योधन को लगा कि वह आज अपने चिरपरिचित मित्र के मन की किसी अपरिचित कंदरा में जा घुसा है। ऐसी बात कर्ण ने आज तक स्वीकार नहीं की थी। किसी को स्वयं से श्रेष्ठ मान लेना, अथवा किसी विषय में अपनी भूल स्वीकार कर लेना कर्ण का चरित्र नहीं था।

"अर्जुन के पास जो रथ है, वह देव अग्नि का दिया हुआ है। वह रथ पूरे युद्ध में आज तक क्षतिग्रस्त नहीं हुआ। कैसा भी घोर युद्ध हुआ हो; किंतु अर्जुन को कभी अपना रथ बदलने की आवश्यकता नहीं पड़ी। उसके गांडीव से मेरा जय धनुष कम क्षमतावान नहीं है; किंतु उसके पास दिव्य प्रत्यंचा है, जो किसी भी योद्धा के बाण से नहीं कटती। उसके पास अक्षय तूणीर हैं। उसके बाण कभी समाप्त नहीं होते। मैंने आज तक नहीं सुना कि अर्जुन के बाण समाप्त हो गए और उसे और बाण प्राप्त करने के लिए कुछ प्रयत्न करना पड़ा हो।"

"तुम कह रहे थे कि तुम दिव्यास्त्रों में अर्जुन से हीन नहीं हो, किंतु मित्र ! तुम इस समय अपने मुख से स्वीकार कर रहे हो कि तुम्हारा रथ, प्रत्यंचा और बाण-आपूर्ति व्यवस्था अर्जुन से हीनतर है। पहले क्यों नहीं कहा तुमने यह सब। सत्य स्वीकार करने में इतना संकोच क्यों है तुम्हें ? राजनीतिज्ञ नहीं हो तुम, जो सत्य से इतना भागते हो—योद्धा हो। इन सबका प्रबंध तो तब ही हो जाना चाहिए था, जब पहली बार तुम समरभूमि में उतरे थे।"

कर्ण को दुर्योधन के मुख से यह सब सुनना अच्छा नहीं लगा। कभी-कभी दुर्योधन भी ऐसी बात कह जाता था, जैसे वह उसका मित्र न हो, कठोर आलोचक हो।

"इतना ही नहीं।" कर्ण ने उसे और कुछ कहने नहीं दिया, "वैसे तो उसके अश्व भी श्रेष्ठ हैं किंतु महत्त्वपूर्ण है उसका सारथि। कृष्ण के समान सारथि उपलब्ध हो तो किसी भी योद्धा का सामर्थ्य कई गुना बढ़ जाता है।" कर्ण ने रुककर दुर्योधन की ओर देखा।

"तो क्या मैं जाकर कृष्ण से कहूँ कि वह अर्जुन को छोड़कर तुम्हारा सारथ्य करे ?"

अपनी उत्तेजना में कर्ण समझ नहीं पाया कि यह दुर्योधन का परिहास था, उसका क्षोभ था; अथवा वह सचमुच ही यह प्रस्ताव कर रहा था। पर वह न तो यह पूछना चाहता था और न ही दुर्योधन उसें इस गुत्थी को सुलझाने का अवकाश देने वाला था। दुर्योधन के तेवर कुछ बदले हुए थे। स्पष्ट था कि आज के युद्ध से उसकी अपेक्षाएँ आहत हुई थीं। जाने वह क्या-क्या कल्पना किए बैठा था। शायद उसके मन में कहीं कोई बिंब था कि सेनापति बनते ही कर्ण पाँचों पांडवों के मस्तक एक थाल में रख कर उसे परोस देगा। ऐसी कल्पना उसके लिए बहुत असंभव भी नहीं थी। आखिर वर्षों

तक कर्ण उसे अपने इस प्रकार के सामर्थ्य का विश्वास दिलाता आया था।... पर तब कर्ण क्या जानता था कि माँ की भावना का बंधन क्या होता है।...

"हम कृष्ण से क्यों कहने जाएँगे।...."

"तो क्या अब कृष्ण सरीखा सारथि मैं पैदा करूँगा ?" दुर्योधन कुछ इस प्रकार झपटकर बोला कि कर्ण स्तब्ध रह गया।

"नहीं ! नहीं !! हमारी अपनी सेना में वैसा ही समर्थ सारथि वर्तमान है। उससे कहेंगे तो वह स्वीकार कर लेगा।" कर्ण की स्थिति स्पष्टीकरण देने की सी हो गई।

दुर्योधन ने जैसे उसकी बात सुनी ही नहीं। वह अपनी ही रौ में बोलता गया, "ये सब बातें युद्ध से पहले होनी चाहिए। अब जब सबने अपना-अपना पक्ष चुन लिया है। स्थान बन गए हैं, अब..."

"तुम कहकर तो देखो।"

"तुम तो ऐसे कह रहे हो, जैसे हम कृष्ण से कहेंगे तो वह धन्य हो उठेगा और दौड़ता हुआ हमारे पास चला आएगा।" दुर्योधन की वाणी अब भी वक्र थी।

"हाँ ! वह भी विचारणीय है।" दुर्योधन की वक्रता को कर्ण टाल गया, "किंतु मेरा संकेत कृष्ण की ओर नहीं, मद्रराज शल्य की ओर है। यदि कल वे मेरा सारथ्य करें तो मैं अर्जुन का वध किए बिना समरभूमि नहीं छोड़ूँगा।"

दुर्योधन का वाणी-प्रवाह थम गया। वह कर्ण की ओर देखता रह गया। फिर धीरे से बोला, "यदि शल्य मान जाए तो शेष बातों का क्या होगा—प्रत्यंचा, बाण-आपूर्ति और रथ का ?"

"श्रेष्ठ कोटि के अनेक खाली रथ मेरे रथ के पीछे-पीछे चलें। जैसे ही मेरा रथ क्षतिग्रस्त हो, मुझे दूसरा रथ उपलब्ध हो जाए। मैं अपने रथ की अक्षमता को अनेक अतिरिक्त रथों को साथ रखकर पूरी करूँगा।" कर्ण बोला, "बाणों से भरे अनेक छकड़े निरंतर मेरे रथ के साथ चलें। जैसे ही मेरे रथ में बाणों की कमी होने लगे, उन छकड़ों से बाण मेरे रथ में स्थानांतरित कर दिए जाएँ। इस प्रकार मैं रथ और बाणों की अपनी दुर्बलता पूर्णतः दूर कर पाऊँगा।"

"और सारथि की कमी शल्य से पूरी करोगे ?" दुर्योधन ने पूछा।

"हाँ ! यदि वे मान जाएँ तो।"

दुर्योधन का मन बड़े वेग से अपना काम कर रहा था। क्या शल्य को इस काम के लिए सहमत किया जा सकता है ?... दुर्योधन का भय कदाचित् वह अब न माने किंतु लोभ ?...

"यदि यह हो जाए तो तुम मुझे वचन देते हो कि कल तुम अर्जुन का वध कर दोगे ?"

"मैं वचन दे रहा हूँ कि ऐसे में कल मैं अर्जुन का वध किए बिना समरभूमि नहीं छोड़ूँगा।" कर्ण ने अपने स्वर को आयासपूर्वक कुछ दृढ़ किया।

दुर्योधन का ध्यान कर्ण के वाक्य पर टिक गया।''' अब वह यह नहीं कह रहा था कि वह निश्चित रूप से अर्जुन का वध कर ही देगा।''' उसकी शपथ का क्या हुआ ?'''

''ठीक है। संभवतः ऐसा हो जाएगा। मैं प्रयत्न करता हूँ।'' दुर्योधन बोला, ''तुम जाओ और कल के युद्ध की तैयारी करो।''

कर्ण को विदा कर दुर्योधन बाहर जाने के लिए उठा।

''कहाँ जा रहे हो ?'' शकुनि ने पूछा।

''शल्य से प्रार्थना करने।''

''उसे यहीं क्यों बुलवा नहीं लेते ?''

''नहीं !'' दुर्योधन कुछ मुस्कराकर बोला, ''वे हमारे पूजनीय हैं। वे महत्त्व और सम्मान—दोनों के ही पात्र हैं।''

''माननीय मद्रराज !'' दुर्योधन ने अभिवादन के पश्चात् कहा, ''आज के युद्ध के परिणाम से मैं तनिक भी संतुष्ट नहीं हूँ। अतः कल के युद्ध के लिए आपसे विचार-विमर्श करना चाहता हूँ।''

''आज के युद्ध से तो मैं भी संतुष्ट नहीं हूँ।'' शल्य के स्वर में चिंता के स्थान पर उल्लास का भाव था।

शल्य को अपने मन में अकस्मात् ही फूट आए शीतल जल के किसी स्रोत की अनुभूति हुई। कैसा सुखद था दुर्योधन का यह वाक्य''' वह शल्य से कल के युद्ध के लिए विचार-विमर्श करने आया था। शल्य तो कब से इसी अवसर की प्रतीक्षा में था''' दुर्योधन आए और उससे कहे कि यह युद्ध किसी भी महारथी से नहीं सँभल रहा है, इसलिए वे उसे सँभालें।''' आज का दिन तो कर्ण ने सर्वथा व्यर्थ ही गँवा दिया था। उससे अधिक चमत्कार तो अश्वत्थामा ने कल संध्या के थोड़े से शेष समय में ही दिखा दिया था।''' कल संध्या समय आचार्य द्रोण के युद्धक्षेत्र में गिरते ही शल्य के मन में अपने महत्त्व की मधुर कल्पनाएँ करवटें बदलने लगी थीं। वह तो सारी रात प्रतीक्षा करता रहा था कि कब कुरुराज का संदेश आए कि मद्रराज शल्य, कौरव सेना के प्रधान सेनापति के रूप में अपना दायित्व सँभालें। इतना ही नहीं, उसने तो सेना के विषय में कितनी ही योजनाएँ बना डाली थीं; और मन-ही-मन कितने ही व्यूह रच डाले थे। उसने वाहिनियों के नायक बदल डाले थे। शस्त्रों की आपूर्ति के साधन और विधि में परिवर्तन भी कर दिया था।''' द्रोण के पश्चात् उनकी सेना में और था ही कौन, जो इस दायित्व का शल्य से उत्तम विधि से निर्वाह कर सकता।''' पर तब दुर्योधन ने अपने चाटुकार कर्ण का प्रधान सेनापति के रूप में अभिषेक कर दिया था।''' शल्य का हृदय फट गया था। पहली बार उसे पांडवों को छोड़कर दुर्योधन के पक्ष में आने का पश्चात्ताप हुआ था।''' दुर्योधन के सामने योग्यता का कोई महत्त्व नहीं था। प्रतिभा और अर्हता का उसके लिए कोई मूल्य नहीं था। उसे युद्ध नहीं जीतना था। उसे तो बस अपनी

प्रशंसा सुननी थी और वह कर्ण से अधिक और कौन कर सकता था। शैशव से कर्ण ने एक ही तो पुण्य अर्जित किया था—दुर्योधन की प्रशंसा करने का और उसके सामने किसी शाखामृग के समान नाच नाच कर उसे लुभाने का। उसने वर्षों से दुर्योधन के मन की हीन वृत्तियों का पोषण किया था। उसे तामसिक सुख में डुबोया था। उसके अहंकार की अग्नि को सदा उत्तेजित किया था। उसको प्रसन्न करने के लिए पांडवों को अधिक से अधिक अपमानित किया था। नहीं तो उसकी पांडवों से क्या शत्रुता थी। दुर्योधन की वासना को पोषित करने के लिए उसने द्रौपदी जैसी श्रेष्ठ नारी के लिए अश्लील प्रस्ताव किए थे।··· तो फिर उसकी उपेक्षा कर दुर्योधन किसी और को प्रधान सेनापति बना ही कैसे सकता था। उसे तो कर्ण, शकुनि तथा दुःशासन के अतिरिक्त और कोई दिखाई ही नहीं देता। पक्षपात की पट्टी बँधी है, अंधे धृतराष्ट्र के इस पुत्र की आँखों पर।··· शल्य को यह सब पहले ही समझना चाहिए था। पर तब तो उसने अपने पुत्र रुक्मरथ के प्रभाव में पांडवों के स्थान पर दुर्योधन को चुना। कितना असहाय होता है पिता अपने पुत्र के मोह में। तब यह भी नहीं सोचा कि रुक्मरथ के वक्ष पर तो सुशर्मा बैठा है। सुशर्मा भीम से पीड़ित था, तो उसे दुर्योधन ही धर्मावतार दिखाई दे सकता था। उसका स्वार्थ इसी में था कि वह दुर्योधन के पक्ष से लड़े और किसी प्रकार पांडवों को अपमानित करे।··· पर शल्य को क्या पड़ी थी कि पांडवों को छोड़कर इधर आ गया ?··· पांडवों ने पहले ही दिन धृष्टद्युम्न को प्रधान सेनापति बना दिया था—भीम और अर्जुन जैसे अपने भाइयों के होते हुए भी; कृष्ण जैसे विश्वविजयी योद्धा की उपस्थिति में भी। उन्होंने केवल योग्यता को देखा। युद्ध में विजय कौन दिला सकता था। और कुछ भी नहीं। कोई पक्षपात नहीं, किसी का स्वार्थ नहीं। किसी को अपने चाटुकारों को गौरवान्वित नहीं करना था। बस एक ही लक्ष्य था—युद्ध में जय।··· कोई अपनी चाटुकारिता से युधिष्ठिर को उसके धर्म से नहीं डिगा सकता। कोई अर्जुन के मन में अपना स्वार्थ नहीं जगा सकता।··· पर दुर्योधन को तो अपनी चांडाल चौकड़ी ही प्यारी थी। अन्यथा शल्य जैसे अनुभवी सेनापति के होते हुए, प्रधान सेनापति के रूप में कर्ण का अभिषेक कैसे किया जा सकता था। कौन-सा युद्ध किया है कर्ण ने ? कहाँ सफलता पाई है ? क्या अनुभव है कर्ण को युद्ध का ?··· पर दुर्योधन की बुद्धि को क्या कहा जाए। जाने कैसे उसने पहले भीष्म और द्रोण को सेनापति बना दिया। नहीं तो यह कर्ण तो कब से उसके चारों ओर चक्कर काट रहा था। एड़ियाँ रगड़ रहा था।··· अपना स्वार्थ साधना तो कोई उससे सीखे। वह तो अपनी त्वचा भी उतारकर दे देगा और अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेगा।··· पर शल्य एक स्वतंत्र राज्य का अधिपति है। वह वीर है। उसका आत्मगौरव इस प्रकार किसी की चाटुकारिता करने की अनुमति नहीं देगा। उससे भूल हुई कि वह दुर्योधन के षड्यंत्र में फँसकर इधर आ गया।···

पर अब लगता था कि दुर्योधन को भी एक ही दिन में अपनी भूल का अनुभव हो गया था।

"कहो राजन् !" शल्य का मन बल्लियों उछल रहा था; किंतु वह उपालंभ के स्वर में बोला, "आप जैसे शक्तिशाली सम्राट् की मैं क्या सहायता कर सकता हूँ।"

दुर्योधन ने उसके स्वर के भाव को पहचाना, किंतु इस समय वह उसके रोष का कारण पूछने बैठ जाएगा तो युद्ध की तैयारी धरी की धरी रह जाएगी। जाने वह क्या माँग बैठे। आवश्यक तो नहीं कि युद्ध में कोई किसी का धन ही माँगे। वह किसी के प्राण भी माँग सकता है।··· दुर्योधन अच्छी तरह जानता था कि इस युद्ध में ये सारे भूपाल उसका युद्ध लड़ने नहीं आए हैं। वे लोग जाने कब से किस-किस से अपनी शत्रुता, ईर्ष्या और द्वेष को सँजोए बैठे हैं। वे सब अपना-अपना युद्ध लड़ने आए हैं। दुर्योधन ने तो स्थान, अवसर और युद्ध की सुविधा उपलब्ध करा, उन सबका काम सरल कर दिया है। युद्ध के आरंभ होने से पूर्व दुर्योधन ने भी शल्य को प्रसन्न करने का बहुत प्रयत्न किया था, किंतु इस समय तो उसे उससे अपने उस प्रयत्न का मूल्य वसूलना था।··· नहीं, इस समय वह शल्य से उसके रोष का कारण नहीं पूछ सकता।

"कल महा रण है मातुल !" दुर्योधन का स्वर भावावेग से कुछ भारी हो आया, "कल का युद्ध विजय की दिशा का निर्णायक होगा।"

"यह तो बहुत शुभ समाचार है।" शल्य ने कहा, "युद्ध की शीघ्र समाप्ति की सूचना किसी को भी सुख ही देगी।"

"कल कर्ण और अर्जुन का द्वैरथ युद्ध होगा मातुल।" दुर्योधन बोला, "कर्ण कम वीर नहीं है अर्जुन से। बस उसको अर्जुन के ही समान युद्ध की सुविधाएँ मिलनी चाहिए। वह अपना अद्भुत शौर्य प्रकट करेगा। अब यह हमारा कर्तव्य है कि हम उसे किसी बात की कमी न रहने दें। मैंने ऐसा प्रबंध कर दिया है कि कर्ण को अर्जुन के समतुल्य युद्ध संबंधी सारी सुविधाएँ प्राप्त हो सकें।···" उसने रुककर शल्य की ओर देखा, "किंतु एक समस्या है। यदि उसका भी समाधान हो जाए तो हमारी विजय निश्चित है।"

"हमारी ? अर्थात् कर्ण की ?" शल्य ने पूछा।

"हाँ ! कर्ण की। हमारे पक्ष की।"

शल्य को इस चर्चा से तनिक भी प्रसन्नता नहीं हुई। दुर्योधन वह सब नहीं कह रहा था, जिसकी आस लगाए शल्य बैठा था। उसके ठीक विपरीत वह तो कर्ण की ही कोई समस्या सुलझाने के लिए आया था। यदि कर्ण की समस्या सुलझ गई और उसने अर्जुन पर विजय प्राप्त कर ली तो कुरुराज को शल्य की क्या आवश्यकता रह जाएगी। तब शल्य को कौन प्रधान सेनापति बनाएगा, कौरव सेनाओं का।···

"समस्या क्या है ?" प्रश्न पूछने के लिए भी शल्य को कुछ प्रयत्न करना पड़ा, "ऐसा क्या है, जिसका प्रबंध कुरुराज दुर्योधन नहीं कर पा रहे हैं—वह भी अपने परम मित्र कर्ण के लिए ?"

दुर्योधन को शल्य के इस प्रश्न में भी उपालंभ की ही गंध आई। किंतु वह तो जैसे उसके उपालंभों की उपेक्षा करने का संकल्प कर चुका था। बोला, "आपने कभी

ध्यान दिया है मातुल ! कि इस युद्ध में प्रायः हम सब के ही एक या अनेक सारथि मारे गए हैं, किंतु अर्जुन का सारथि निरंतर युद्ध कर रहा है और आज तक एक बार भी घायल नहीं हुआ...''

''कृष्ण !'' सहज रूप से शल्य के मुख से निकल गया। अब वह इस वार्तालाप के प्रति और उदासीन नहीं रह सकता था, ''कृष्ण की बात कर रहे हो तुम ? आहत तो कृष्ण भी हुआ है। मैंने स्वयं अनेक बार उसके शरीर में बाण धँसे देखे हैं; और उसके शरीर ने रक्त भी काफी बहाया है।''

''हाँ, आहत तो वह हुआ है, किंतु न तो उसकी मृत्यु हुई है और न ही वह भीष्म पितामह के समान इतना आहत हुआ है कि जीवित रहते हुए भी युद्धक्षेत्र के बाहर हो जाए। क्यों ?''

''वैसे तो भीम का सारथि विशोक भी अभी युद्ध कर ही रहा है, पर तुम केवल कृष्ण की बात कर रहे हो।''

दुर्योधन का ध्यान इस ओर नहीं गया था। हाँ ! अभी तो विशोक भी जीवित है। तो कृष्ण में ही ऐसी क्या विशेषता है। पर कर्ण कृष्ण के कारण ही अर्जुन से डरा बैठा है।...

''अर्जुन के पास अत्यंत सबल रथ है। वह साधारण रथों के समान भंग नहीं होता। उसमें सारथि की रक्षा के लिए भी कवच लगा है। फिर अर्जुन जैसा जिसका रक्षक हो, उसका वध करना कोई सरल है क्या ?'' शल्य ने कहा।

''आप ठीक कहते हैं, किंतु आप कृष्ण के सारथ्य को तनिक भी श्रेय नहीं दे रहे।'' दुर्योधन बोला, ''हम सबका विचार है कि कृष्ण की रक्षा अर्जुन नहीं कर रहा, वरन् अर्जुन की रक्षा कृष्ण कर रहा है। अर्जुन के युद्ध कौशल के कारण कृष्ण सुरक्षित नहीं है, वरन् कृष्ण के सारथ्य के कारण अर्जुन सुरक्षित है।''

''हाँ ! इस ढंग से भी सोचा जा सकता है।'' शल्य ने सहमति में सिर हिला दिया।

''तो कर्ण वह करेगा, जो एक योद्धा को करना चाहिए।'' दुर्योधन बोला, ''किंतु जो सारथि को करना चाहिए, वह कौन करेगा ?''

''सारथि।''

''तो हमें कर्ण के रथ के लिए एक असाधारण सारथि चाहिए।'' दुर्योधन बोला, ''एक ऐसा सारथि, जो सारथ्य कला में कृष्ण की समकक्षता कर सके। अब हमारी विजय तो कर्ण के सारथि पर ही निर्भर है। आप सोचिए तो कि इतनी विशाल कौरव सेना अपनी विजय के लिए कर्ण के सारथि की शरण में खड़ी है।'' दुर्योधन ने रुककर शल्य की ओर देखा ही नहीं, अपनी दृष्टि उस पर जैसे ठहरा दी, ''कल के युद्ध में कौरव सेना के प्रधान सेनापति के रथ का सारथ्य करने की मेरी प्रार्थना क्या आप स्वीकार करेंगे मातुल ?''

शल्य पर जैसे वज्रपात हुआ। जो शल्य कौरव सेना का प्रधान सेनापति होने का

स्वप्न पाल रहा था, जो शल्य आजीवन बड़े-बड़े युद्धों में सेनाओं का नेतृत्व करता रहा
था, जो जरासंध की बराबरी करता आया था, उस शल्य को यह दुर्योधन, कर्ण का सारथि
बना रहा है। यह दुर्योधन की मूर्खता है अथवा शल्य के तिरस्कार की पराकाष्ठा ?···

शल्य की स्मृति में वह दृश्य घूम गया, जब वह युधिष्ठिर को यह सूचना देने गया
था कि वह पांडवों को छोड़कर दुर्योधन की सेना में जा रहा है; और युधिष्ठिर ने उससे
कहा था कि जब दुर्योधन उसे कर्ण का सारथि बना देगा तो वह कर्ण का मनोबल तोड़ने
का काम करे। युधिष्ठिर की बात पर शल्य ने गंभीरतापूर्वक विचार नहीं किया था।
उसने उसे युधिष्ठिर की नासमझी अथवा तात्कालिक क्षोभ के रूप में ही स्वीकार किया
था। पर दुर्योधन तो वस्तुतः उसे कर्ण का सारथ्य करने को कह रहा है।···. इसका अर्थ
है कि युधिष्ठिर तब ही जानता था कि दुर्योधन की आँखों में शल्य का मूल्य क्या है।···
इतनी दूर तक देख सकता था युधिष्ठिर ? जैसे वह दुर्योधन के मन में बैठा हो और
उसके प्रत्येक श्वास से परिचित हो।··· तो क्या दुर्योधन ने उसका अपमान करने मात्र
के लक्ष्य से उसे अपनी सेना में आने के लिए प्रेरित किया था। पर उसके अपमान
से दुर्योधन को क्या मिलेगा ?···

नहीं ! शायद यह शल्य को अपमानित करने के लिए नहीं था। यह दुर्योधन का
उपयोगितावादी दृष्टिकोण था। वह केवल यह देखता था कि किस व्यक्ति से उसका
कौन-सा काम सध सकता है। उसे न किसी से प्रेम था; और उसके मन में न किसी
के लिए सम्मान था। उसके लिए सारे लोग पदार्थ थे। पदार्थ का कोई सम्मान नहीं
होता, उसका तो केवल उपयोग ही होता है। आज शल्य दुर्योधन के लिए एक सारथि
के रूप में उपयोगी था, तो वह उसको सारथि बना देगा। भूल जाएगा कि शल्य मद्रराज
है। उसका मातुल है।··· ऐसे कुरुराज को सहायता देने आया था शल्य ! तो उसका
परिणाम भी भुगते।···

उसने स्वयं को संयत किया, "शायद कुरुराज ने यह प्रस्ताव कुछ सोच-समझकर
नहीं रखा। सेना में सबकी उनकी योग्यता और महत्त्व के अनुसार दायित्व सौंपा जाना
चाहिए। शल्य मद्रराज है, कुलीन राजाओं का वंशज है, किरीटधारी राजा है, कोई सूतपुत्र
नहीं।"

"मेरे मन में आपके प्रति बहुत आदर है मातुल ! मैं जानता हूँ कि कोई योद्धा
सारथि नहीं हो सकता।" दुर्योधन बोला, "किंतु यह एक असाधारण स्थिति है। योद्धा
के लिए उसका युद्ध कौशल जितना महत्त्वपूर्ण है, उतने ही महत्त्वपूर्ण उसके शस्त्र हैं,
उतना ही महत्त्वपूर्ण उसका रथ है, उतना ही महत्त्वपूर्ण उसका सारथि भी है।"

"जानता हूँ।" शल्य बोला, "इसी तर्क पर कल तुम कहोगे कि कर्ण के रथ के
घोड़े उतने श्रेष्ठ नहीं हैं, इसलिए मैं उसके रथ में घोड़ा बनकर जुत जाऊँ।"

दुर्योधन ने अपने हाथ जोड़ दिए, "क्षमा करें मातुल ! मेरा प्रस्ताव इतना गर्हित
नहीं है। आपके रथ के घोड़े मैं माँग सकता हूँ, किंतु आपको घोड़ा बनने को कैसे कह

सकता हूँ। आवश्यक होने पर भी कोई योद्धा श्रेष्ठ अश्व नहीं बन सकता।''

''तो तुम मेरे रथ का सारथि माँगते, मुझे सारथ्य करने को क्यों कह रहे हो ?''

''मातुल !'' दुर्योधन ने अपना स्वर मधुर बनाने का प्रयत्न किया, ''यह युद्ध है। युद्ध हम सबका सामूहिक दायित्व है। इस यंत्र में कहीं कोई एक कील भी दुर्बल रह जाएगा तो सारा यंत्र ध्वस्त हो जाएगा। कर्ण की मान्यता है कि अर्जुन के युद्ध कौशल में उसके सारथि कृष्ण का सामान्य सारथि से कहीं अधिक योगदान है। वह न केवल सारथ्य करता है, वरन् युद्ध संबंधी परामर्श भी देता है। अनेक बार तो अर्जुन उसकी आज्ञा के अधीन लड़ने वाला एक सैनिक मात्र रह जाता है। अर्जुन लड़ नहीं रहा होता, कृष्ण उसे लड़वा रहा होता है। इसलिए उसे भी कृष्ण के समान एक सारथि चाहिए, जो उसका गुरु भी हो सके, उसका सेनापति भी हो सके और उसका नीतिनिर्धारक भी हो सके। कृष्ण क्या योद्धा नहीं है, किंतु वह अपने शस्त्र त्याग कर अर्जुन का सारथि बना बैठा है।''

''कृष्ण न कहीं का राजा है, न सम्राट् !'' शल्य ने कहा, ''उसकी क्या मर्यादा है ? उसे क्या अंतर पड़ता है कि वह युद्ध में सैनिक है, सेनापति है अथवा सारथि है।''

शल्य का हृदय सागर जैसे खौल रहा था। उसने केवल कृष्ण की मर्यादा की बात कही थी; किंतु उसके मन में और भी बहुत कुछ था। वह कहना चाहता था कि कृष्ण जब हस्तिनापुर आया था, तब भी उसने युवराज दुर्योधन का निमंत्रण ठुकराकर विदुर के घर भोजन किया था। शल्य ने आज तक ऐसी मूर्खता नहीं की। वह तो अपने भागिनेयों को त्याग कर दुर्योधन के पक्ष से लड़ने चला आया था क्योंकि वह स्वयं को राजाओं और सम्राटों के समाज का अंग मानता था।''' युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में अनेक लोगों के पास अत्यंत महत्त्वपूर्ण दायित्व थे, किंतु कृष्ण अतिथियों के जूठे पत्तल उठा रहा था। वह ऋषियों के चरण धो रहा था। गायों और अश्वों की सेवा करने वाले उस कृष्ण ने यदि अर्जुन का सारथ्य स्वीकार कर भी लिया तो क्या हो गया ? शल्य इस प्रकार का तुच्छ कर्म करने कुरुक्षेत्र नहीं आया है।'''

''कह तो आप ठीक रहे हैं मातुल ! कृष्ण की कोई मर्यादा नहीं है।'' दुर्योधन बोला, ''किंतु मैं तो उसके सामर्थ्य की चर्चा कर रहा हूँ।''

''हाँ ! सामर्थ्य है उसमें।'' शल्य ने उसे आगे बोलने ही नहीं दिया, ''उसके पास नारायणी सेना थी, जो उसने अपने पक्ष के विरुद्ध लड़ने के लिए तुमको दे दी। यह बुद्धि है उसकी और यह है उसकी रणनीति। मैं ऐसे व्यक्ति को या तो विक्षिप्त मानूँगा अथवा उन्मत्त। शस्त्र त्याग कर योद्धा के स्थान पर वह सारथि बना बैठा है। वह व्यक्ति मेरा आदर्श नहीं हो सकता। संभव है कि इस युद्ध से पहले ही वह समझ गया हो कि वह इसमें योद्धा के रूप में महत्त्वपूर्ण नहीं है, उसके स्थान पर वह सारथि के रूप में अधिक सफल रहेगा। मैं शाकल से चलकर कुरुक्षेत्र तक इसलिए नहीं आया कि

कर्ण जैसे किसी योद्धा का सारथ्य करूँ।"

दुर्योधन समझ रहा था कि बात बिगड़ रही है। वह शल्य को कर्ण का सारथि बनने का महत्त्व नहीं समझा पा रहा था।

"मातुल ! यदि मैं कहूँ कि आप योद्धा बनकर कल के युद्ध में कितने भी सैनिकों का वध क्यों न कर दें, अर्जुन का वध नहीं कर पाएँगे और हमारी विजय नहीं होगी; किंतु यदि आप मात्र कल के लिए कर्ण के सारथि बन जाएँ तो कर्ण अर्जुन का वध कर देगा और हम विजयी हो जाएँगे—तो भी आप कल के युद्ध में कर्ण का सारथ्य नहीं करेंगे ?"

"और यदि मैं कहूँ कि मैं सारथि बन जाऊँ, तो भी कल कर्ण पांडवों का वध नहीं कर पाएगा, जबकि यदि मैं कल प्रधान सेनापति बन जाऊँ और कर्ण मेरे नेतृत्व में, मेरी आज्ञा के अनुसार लड़े तो मैं कल पांडवों की संपूर्ण सेना को ध्वस्त कर दूँगा—तो तुम मुझे कल कौरवों का प्रधान सेनापति बना दोगे ?" शल्य के स्वर में पर्याप्त रोष था।

दुर्योधन को शल्य का विरोध तो समझ में आ रहा था; किंतु मंतव्य अब तक पकड़ में नहीं आ रहा था।... तो यह बात है।... शल्य की मनोवृत्ति को वह आरंभ से ही समझता था; किंतु उसकी महत्त्वाकांक्षा वह आज ही समझ पाया था।...

"आज मैं तुमसे पहली बार कह रहा हूँ राजन् !" शल्य का स्वर कुछ शांत हुआ, "मैं माद्री के पांडु से विवाह के पक्ष में तनिक भी नहीं था। किंतु भीष्म अपने बल के भय से मुझसे यह कार्य करवाना चाहते थे। मैंने उसमें अड़चन डालने के लिए भीष्म से कन्या के शुल्क की बात कही थी। मैंने सोचा था कि भीष्म उसे स्वीकार नहीं करेंगे। किंतु भीष्म ने उसे स्वीकार कर लिया और शुल्क दे कर माद्री को ले आए। यह तो संयोग ही है कि पांडु का देहांत हो गया और माद्री ने चितारोहण कर लिया, किंतु यदि वह जीवित भी रहती तो तुम्हारे कुटुंब से मेरा कैसा संबंध होता, मैं कह नहीं सकता। मैं अपने भागिनेयों को छोड़कर तुम्हारी सहायता के लिए आ गया तो इसलिए नहीं कि मैं कुरुवंश के महत्त्व से अभिभूत हूँ।...." शल्य का रोष मुखर होता जा रहा था, "मेरी कुरुवंश से अपने संबंध की ऐसी ख्याति की कोई कामना नहीं है। कर्ण तुम्हारा सारथि ही नहीं, तुम्हारे वंश के सारथि का पुत्र होकर भी स्वयं को धन्य मानता है, किंतु मैं कर्ण नहीं हूँ। मुझे तुम्हारे वंश का सारथि होने में किसी गौरव का अनुभव नहीं होता।"

"मैं समझता हूँ मातुल !" दुर्योधन ने अपने स्वर को तनिक भी उत्तेजित नहीं होने दिया, "कर्ण का गौरव हमारे वंश के सारथि का पुत्र होने में नहीं, उसके अपने युद्ध कौशल में है। आपका गौरव भी आपके सारथ्य कौशल में है। सारथ्य कर्म इतना हीन नहीं है कि हम उसे अपने लिए अपमानजनक मानें। यह तो हमारी युद्धनीति है कि किस क्षण में कौन-सा व्यक्ति कहाँ और किस कर्म के लिए सबसे अधिक उपयुक्त होता है। कल के युद्ध में कर्ण का सारथि सारे युद्ध की धुरी के समान महत्त्वपूर्ण होगा।

बच्चे को ऊँचा उठाने के लिए यदि उसका पिता उसे अपने कंधे पर बैठा लेता है, तो भी उसका स्थान उतना ही गौरवपूर्ण रहता है।"

"अपनी बात को प्रमाणित कर सकते हो ?" शल्य ने उसे घूरकर देखा।

दुर्योधन ने निमिष भर उसकी ओर देखा और बोला, "कर्ण का सारथ्य कर आप तनिक भी हीन नहीं माने जाएँगे।"

"क्या प्रमाण है ?" शल्य ने तड़पकर पूछा।

"प्रमाण !..." दुर्योधन का स्वर पर्याप्त दृढ़ हो गया, "इस युद्ध में कर्ण के बाद भी यदि मुझे किसी अन्य योद्धा का प्रधान सेनापति के रूप में अभिषेक करना पड़ा तो वह योद्धा आप होंगे।"

शल्य को जैसे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। वह स्तब्ध-सा दुर्योधन की ओर देखता रहा और फिर प्रयत्नपूर्वक बोला, "वचन देते हो ?"

"हाँ ! मैं वचन देता हूँ।"

शल्य का मन जैसे किसी जलशून्य मरुभूमि में भटकते-भटकते अत्यन्त विकट पिपासा का अनुभव कर अचेत होने को था कि अकस्मात् ही किसी शीतल निर्झर के सम्मुख पहुँच गया। उसकी आत्मा भीतर तक तृप्त हो गई थी।

"तो मुझे तुम्हारा प्रस्ताव स्वीकार है।" उसने धीरे से कहा।

उसने सिर उठाकर दुर्योधन की ओर देखा : उसका विचार था कि उसकी स्वीकृति पाकर दुर्योधन उठकर जाने की तैयारी करेगा; किंतु दुर्योधन तनिक भी जल्दी में नहीं लगता था।

"आप मेरी बात से सहमत होंगे मातुल !" वह बोला, "सारथि तो उसी को बनाना चाहिए, जो रथी से श्रेष्ठ योद्धा हो। इसलिए मैंने आपका वरण किया है। वैसे कर्ण को भी मैं साधारण सूतपुत्र नहीं मानता हूँ। मेरी दृढ़ मान्यता है कि वह किसी उत्तम क्षत्रिय की ही संतान है। किन्हीं कारणों से उसकी माता ने उसे सूतवंश में भिजवा दिया है। नहीं तो उसे भगवान परशुराम ने धनुर्वेद सिखाया होता ?"

शल्य ने कर्ण का सारथि बनने की स्वीकृति तो दे दी थी; किंतु तत्काल ही उसके मन में उसकी प्रतिक्रिया भी आरंभ हो गई थी। क्या उसने कर्ण का सारथि बनकर उचित किया ?... उसका एक मन था जो उसे इस निश्चय के लिए अनवरत धिक्कार रहा था। उसका तिरस्कार कर रहा था।... और दूसरी ओर उसके मन का कोई कोना, इस चतुराई के लिए उसे बधाई दे रहा था। कितनी चतुराई से उसने कौरवों का अगला सेनापति पद हथिया लिया था।

"क्या रखा है कौरवों के सेनापति पद में ?" उसका पहला मन तिरस्कारपूर्वक बोला, "अब भीष्म और द्रोण जैसे लोग कौरवों के प्रधान सेनापति नहीं होते। अब कर्ण उनका प्रधान सेनापति है। कर्ण के बाद सेनापति होकर किस गौरव का अनुभव करोगे शल्य ?"

दुर्योधन की बात से शल्य की खीज बढ़ गई, "तुम्हें यह तो स्मरण है राजन् ! कि कर्ण को भगवान परशुराम ने धनुर्वेद का ज्ञान दिया, किंतु यह भूल गए हो कि उसके झूठ और पाखंड से रुष्ट होकर उन्होंने उसे शाप भी दिया है। शाप का अर्थ समझते हो ?"

"क्या कर्ण अपना सीखा हुआ ज्ञान भूल जाएगा ?"

"वह तो मैं नहीं जानता, किंतु उस गुरु के हृदय में झाँककर देखो, जो अपने शिष्य को ज्ञान देकर पश्चात्ताप के मारे पीड़ित हो, जो अपना दिया हुआ ज्ञान लौटा लेना चाहता हो।"

"चाहता ही तो है, लौटा तो नहीं सकता।"

"वह नहीं जानता मैं।" शल्य ने कहा, "मैं तो इतना ही जानता हूँ कि गुरु का यह पश्चात्ताप शिष्य के चरित्र के दूषित होने का प्रमाणपत्र है।"

"होता रहे। प्रमाणपत्रों को कौन देखता है आज।" दुर्योधन कुछ कुटिल भाव से बोला, "गुरु द्रोण ने भी तो कर्ण को शिक्षा नहीं दी। अर्जुन से भी अधिक अश्वत्थामा को सिखाया; किंतु आज कर्ण और अर्जुन दोनों ही उससे श्रेष्ठतर योद्धा हैं। अश्वत्थामा युद्ध करे तो दोनों से ही पिट जाएगा। गुरु के प्रमाणपत्र अथवा भाव का क्या करना है किसी को। परशुराम से कर्ण को जय नाम का धनुष प्राप्त हुआ था। वैसा श्रेष्ठ धनुष कितने लोगों के पास है। अग्नि बरसाता है वह धनुष। यदि शाप है, तो रहे किसी के भी मन में। हाथ में तो धनुष ही रहेगा। देखें अर्जुन क्या कर लेता है अपने गांडीव से, जो कर्ण अपने जय से नहीं कर सकता।"

"यह धनुष तो कर्ण के पास पहले भी था। क्या कर लिया कर्ण ने आज तक ?" शल्य के जबड़े भिंचते चले गए।

"ठीक है, युद्ध में अनेक बार कोई योद्धा अपना बल कौशल पूरी तरह दिखा नहीं पाता; किंतु कल ऐसा नहीं होगा मातुल ! अपने गुरु परशुराम के दिए हुए रथ और धनुष के बल पर आप देखेंगे कि कर्ण ने अर्जुन और कृष्ण—दोनों को ही जय कर लिया है। कर्ण संसार का सर्वश्रेष्ठ योद्धा प्रमाणित होगा और उसके घोड़ों को हाँकने का गौरव मिलेगा आपको।" दुर्योधन उठ खड़ा हुआ, "अच्छा ! चलता हूँ। कल के लिए बहुत कुछ तैयार भी करना है।"

शल्य स्तब्ध-सा खड़ा रह गया। कितना बड़ा पुरस्कार दे गया है दुर्योधन उसे। कर्ण के घोड़ों को हाँकने का गौरव। कैसा गौरव है यह ? वीरों के विश्वविख्यात वंश के किरीटधारी राजा का गौरव—दुर्योधन की चाटुकारिता के प्रभाव से सेनापति का पद पाने वाले के रथ के घोड़ों को हाँकने का गौरव ?...

30

कर्ण के सेवकों ने उसके विशाल रथ को सज्जित किया। पुरोहित ने विधिवत् रथ की पूजा की। कर्ण ने सूर्य को नमस्कार किया और शल्य से बोला, "पहले आप आसन ग्रहण करें मद्रराज !"

शल्य रथारूढ़ हो गया। वह सारथि के स्थान पर बैठ तो गया; किंतु जब कर्ण के द्वारा रथी का स्थान ग्रहण किया गया तो सारथि के तल्प में जैसे शूल उग आए। जीवन में कदाचित् यह पहला ही अवसर था कि शल्य ने अपने अतिरिक्त किसी और का सारथ्य किया हो।

"वीरवर कर्ण !" दुर्योधन बोला, "भीष्म और द्रोण अपनी वृद्धावस्था के कारण जो कुछ नहीं कर सके, उसे तुम पूरा कर दो। मेरे लिए दो में से एक काम कर दो। या तो युधिष्ठिर को जीवित बाँध लाओ या फिर भीम और अर्जुन का वध कर दो। फिर मुझे किसी की चिंता नहीं है।"

"समरभूमि में आज उन्हें मेरे सामने पड़ने तो दो राजन् ! इन दो में से एक काम तो स्वतः ही हो जाएगा, संभव है कि दोनों ही हो जाएँ।" कर्ण के स्वर में उसका दंभ मुखर होकर बोल रहा था, "चलो शल्य ! अश्वों को हाँको।"

शल्य का द्वंद्वग्रस्त मन पीड़ा से चीत्कार कर उठा, "सुन लिया ? अब तुम मद्रराज नहीं हो। मातुल भी नहीं हो। अब केवल शल्य हो, क्योंकि तुम उसके सारथि हो। अभी तो समरभूमि में प्रवेश भी नहीं हुआ। पांडवों में से कोई उसके सामने भी नहीं पड़ा; और तुम शल्य हो गए। यदि सचमुच ही अंधे के हाथ बटेर लग गई तो तुम्हारी क्या स्थिति होगी, कौरवों के भावी सेनापति ?"

शल्य के आशंकित मन ने एक अति भयंकर स्वप्न देखा : अर्जुन का रथ दौड़ा आ रहा है। उसके आगे-आगे भीम का रथ है। कौरव सेना के एक विशाल हाथी ने भीम पर आक्रमण किया। भीम ने अपनी गदा के प्रहार से हाथी का मस्तक फोड़ दिया। हाथी चिंघाड़कर डोलता हुआ अपने प्राण बचाने के लिए इधर-उधर भागने लगा। भीम का सारथि अपना रथ बचाकर निकाल ले गया। कर्ण ने अर्जुन को आते देखा और उसके हाथ-पैर फूल गए। उसने बिना सोचे-समझे, बिना देखे-भाले बाणों की वर्षा आरंभ कर दी, जैसे तैरना न जानने वाला व्यक्ति डूबने से बचने के लिए अंधाधुंध हाथ-पैर मार रहा हो।''' अर्जुन का रथ आगे बढ़ ही रहा था कि वह घायल हाथी कहीं से प्रकट हो गया; और अर्जुन के रथ के मार्ग में गिर पड़ा। यह सब कुछ इतना आकस्मिक था कि अर्जुन का रथ उस पर जा चढ़ा। रथ डोल गया। घोड़े भड़क उठे। कृष्ण का नियंत्रण शिथिल हो गया। अर्जुन का गांडीव दिशा भूल गया और कर्ण के छोड़े हुए बाणों में से कोई भटका हुआ बाण आकर अर्जुन के कंठ में चुभ गया।'''

शल्य को लगा कि उसके मेरुदंड में जैसे सहस्रों ततैयों ने एक साथ डंक मार दिया

हो। यदि कहीं यह संभव हो गया तो ?... जो भीष्म और द्रोण नहीं कर सके, कहीं सचमुच ही वह कर्ण के हाथों हो गया तो ? संसार की इतनी बड़ी उपलब्धि कितनी सरलता से कर्ण के हाथ आ लगेगी, जैसे किसी राजकुमारी द्वारा खेल खेल में अपने प्रासाद से फेंकी हुई माला, मार्ग पर जाते हुए किसी कंगले के कंठ में आ गिरे।...

शल्य को लगा कि उसने अपने जीवन में इससे भयंकर दुःस्वप्न नहीं देखा है। यह कालातीत ख्याति कर्ण को मिल जाए; और शल्य उसके सारथि के स्थान पर बैठा रह जाए।... युद्ध का क्या है। उसका अंत तो सदा अनिश्चित ही होता है, योद्धा चाहे कोई हो। विजयश्री किसी का भी वरण कर सकती है—वीरता के कारण भी और संयोग अथवा भाग्य से भी। भीष्म और द्रोण तो असफल रह गए और कर्ण, पांडुपुत्र अर्जुन का मानमर्दन कर दे। शल्य इसको सहन नहीं कर पाएगा। ... यह नहीं होना चाहिए। यह यश कर्ण को नहीं मिलना चाहिए। कर्ण इसके योग्य नहीं है। किसी भी अवस्था में नहीं। और विशेषकर तब तो एकदम ही नहीं, जब कि उसके सारथि के स्थान पर शल्य बैठा है।...

कर्ण का रथ समरभूमि में आ गया था। कौरवों की सेना आज कुछ अधिक ही उत्साह से रणक्षेत्र में उतरी थी। पांडवों का मकरव्यूह भी पर्याप्त दृढ़ लग रहा था।...

कर्ण की दृष्टि अर्जुन को खोज रही थी।... कहाँ है वह ?... इतना बड़ा युद्धक्षेत्र था—योजनों में फैला हुआ। दोनों पक्षों की सेनाएँ आमने-सामने खड़ी भी दिखाई देती थीं; और दृष्टि से बहुत कुछ ओझल भी थीं। युद्धक्षेत्र में सरिता तट भी आता था और कुछ ऊँचे-नीचे टीले भी थे। रेत भी थी और दलदल भी। कहीं कुछ वृक्ष बीच में आ जाते थे; और कहीं धूलि-धूसरित नंगी धरती ही थी।... वह सरोवर भी था, जहाँ अर्जुन और दुर्योधन का संघर्ष हुआ था।... इस सारे क्षेत्र में किसी न किसी रूप में दोनों सेनाओं की वाहिनियाँ आमने-सामने खड़ी थीं।... पर इनमें अर्जुन कहाँ होगा ?...

जब से उसे यह ज्ञात हुआ है कि वह कुंती का पुत्र और पांडवों का भाई है, उसने अपनी जीवन की घटनाओं पर बहुत बार विचार किया है। क्या लीला है यह ईश्वर की। उसे अपने ही भाइयों के विरोध में खड़ा कर दिया और मित्र के रूप में जो उसे मिला, वह उसके भाइयों का सबसे बड़ा शत्रु था। क्या वह अपने भाइयों और अपने मित्र—दोनों का ही हित नहीं कर सकता ? ऐसा संभव नहीं था कि वह मित्रद्रोही भी न कहलाए और अपने भाइयों का भी हित कर सके ? क्या दुर्योधन और पांडवों का विरोध मिट नहीं सकता ? दोनों पक्षों का अंग होने के कारण क्या कर्ण उन दोनों को मिलाने का कोई प्रयत्न नहीं कर सकता ?...

और जब कभी उसके मन में यह विचार आता है, उसकी कल्पना में एक दृश्य उभरने लगता है।... दो नदियाँ आमने-सामने बह रही हैं और उन दोनों के मध्य धरती का एक खंड मस्तक ताने खड़ा है। वे दोनों नदियाँ एक-दूसरे के निकट आती हैं और परस्पर मिलकर संसार की सबसे बड़ी नदी को जन्म देती हैं। तब कर्ण देखता है कि

उन दोनों के मध्य मस्तक ताने खड़ा वह भूमि का खंड कहीं खो गया है। वह जल के नीचे समा गया है।...

कर्ण को सदा ही लगा है कि उसका जीवन उस धरती के खंड के ही समान है। उसका अस्तित्व तभी तक है, जब तक ये दोनों नदियाँ पृथक्-पृथक् हैं। वे पृथक्-पृथक् हैं, क्योंकि उनके मध्य कर्ण खड़ा है। उनके परस्पर मिलते ही कर्ण कहीं नहीं रहेगा। वह दो नदियों को मिलाने वाली कुल्या नहीं हो सकता, वह तो भूमिखंड होकर उन दोनों को पृथक् रखकर ही अपना अस्तित्व बनाए रख सकता है।... और कर्ण को रहना है।... अपनी इच्छानुसार रहना है। वह किन्हीं दो भाइयों को मिलाने के लिए अपने प्राण देने वाला बलिदानी नहीं है। ऐसे काम करने के लिए युधिष्ठिर ही बहुत है। कर्ण तो अपने अस्तित्व के लिए, अपने अधिकार के लिए युद्ध करने वाला, दूसरों को अपने मार्ग से हटाने वाला महावीर है। जो उसे चाहिए, वह उसको प्राप्त करके ही रहता है। स्वतः नहीं मिलेगा तो वह छीनकर लेगा, लड़कर लेगा...

किंतु क्या विरोध है कर्ण का पांडवों से ? वह उन्हीं में से एक क्यों नहीं हो सकता ? वह उनका ही अंग क्यों नहीं बन सकता ? उन्होंने उसका कोई अधिकार नहीं छीना। सिवाय भीम के उनमें से कभी किसी ने उसको कोई अपशब्द नहीं कहा। उन्होंने उसका क्या बिगाड़ा है ?...

पर कर्ण को ये सब प्रश्न अच्छे नहीं लगते। किसी को कोई अधिकार नहीं है, उससे यह सब पूछने का। अपने शैशव से ही उसे पांडव कभी अच्छे नहीं लगे। उन्होंने कर्ण को अपना शत्रु माना हो या न माना हो, किंतु कर्ण ने उनको सदा अपना शत्रु ही माना है। कोई विरोध हो या न हो, उसे तो सदा से उनका अस्तित्व ही आपत्तिजनक लगता रहा है। आज युधिष्ठिर राज्य पर से अपना अधिकार छोड़ दे तो क्या दुर्योधन उसको अपना भाई मान लेगा ? क्या कर्ण को वह प्रिय लगने लगेगा ? उनका वैर विरोध समाप्त हो जाएगा ? क्या उसके मन से प्रतिद्वंद्विता और शत्रुता का भाव मिट जाएगा ?... नहीं ! शायद व्यक्ति की मित्रता और शत्रुता, उसके व्यवहार और घटनाओं से नहीं होती। उनकी मैत्री उनके व्यक्तिगत और सामूहिक स्वार्थ से भी नहीं होती।... शत्रुता और मित्रता तो प्रकृति के गुणों की होती है। दुर्योधन और कृष्ण की क्या शत्रुता है ? कृष्ण ने अपनी सेना भी दुर्योधन को दे दी। पाँच ग्राम पांडवों को देने को कहा और शेष सारा राज्य दुर्योधन को दे दिया। किंतु दुर्योधन मित्र नहीं हो सकता कृष्ण का। दोनों समधी हैं; किंतु वे मित्र नहीं हो सकते। कृतवर्मा यादव है, कृष्ण का समधी है; किंतु वह दुर्योधन के पक्ष से लड़ने आया है। युयुत्सु भाई है दुर्योधन का; किंतु पांडवों की ओर से लड़ रहा है।... क्या है वह, जो उनको परस्पर विरोधी और मित्र बना रहा है ?... यह उसका सारथि शल्य भी तो पांडवों का मातुल है, यह क्यों लड़ने आ गया, दुर्योधन के पक्ष से ?

कर्ण की वृत्ति ही कुछ भिन्न है। उसे युधिष्ठिर के समान धर्म की चर्चा अच्छी

नहीं लगती। नहीं ! शायद दोनों का धर्म ही एक-दूसरे के बहुत विपरीत है। उसका धर्म ग्रहण का धर्म है। त्याग उसे अच्छा नहीं लगता। वह उसी ईश्वर की उपासना कर सकता है, जो संसार के सुख देता है। धन-वैभव और अधिकार देता है। समाज में प्रतिष्ठा और सम्मान देता है। जो स्त्री देता है, संतान देता है, पशु और सेवक देता है। उस धर्म और ईश्वर का उसे क्या करना है, जिसके पीछे संसार के सारे सुख छोड़ने पड़ें। कोई भक्ति और साधना करता ही क्यों है ? इसीलिए तो कि उसे भोग प्राप्त हों। सुख प्राप्त हों। धन, वैभव, सत्ता और अधिकार प्राप्त हों। युधिष्ठिर जाने किसके लिए साधना और तपस्या करता है। वह मूर्ख हाथ में आए सुख, धन और वैभव की चिंता नहीं करता; और किसी अदृश्य सुख की कामना में अपमानित और निरादृत होता रहता है।···

युधिष्ठिर ने जब धृतराष्ट्र की चाल में आकर हस्तिनापुर के राज्य क स्थान पर खांडव वन स्वीकार कर लिया था, तब भी कर्ण को उस पर हँसी ही आई थी। ऐसे व्यक्ति से उसे क्या सहानुभूति हो सकती है, जो न अपने अधिकारों को जानता है और न ही उनकी रक्षा कर सकता है। वह उसे एक लिजलिजा-सा, दुर्बल तने वाला पेड़ लगता है, जो पवन का वेग देखते ही काँपने लगता है; और उसकी इच्छानुसार किसी भी दिशा में झुककर धरती पर अपना मस्तक टेक देता है। वह तो दृढ़ता से अपने स्थान पर खड़ा भी नहीं रह सकता। युधिष्ठिर के सम्मुख दुर्योधन खड़ा हो तो उसका तेज कर्ण को लुभा लेता है। वह दृढ़ है अपने स्थान पर। जहाँ भी खड़ा है, अपने पैर जमाकर खड़ा है। वह जानता है कि उसे क्या चाहिए। उसे संसार की कोई शक्ति न तो झुका सकती है, न बहका सकती है।··· युधिष्ठिर से तो अंधा और वृद्ध राजा धृतराष्ट्र ही अधिक चतुर है, जो पांडवों से उनके पिता का राज्य छीनकर, हस्तिनापुर के राज्य को अपनी मुट्ठी में बंद कर, दृढ़ता से अपने स्थान पर जमा बैठा है।···

पांडवों ने जब अपने बाहुबल से इंद्रप्रस्थ का साम्राज्य स्थापित किया तो कर्ण को उनमें कुछ प्राण दिखाई देने लगे थे; किंतु युधिष्ठिर फिर अपनी मूर्खता के कारण किसी काल्पनिक धर्म की उपलब्धि के लिए धृतराष्ट्र के आदेश का पालन करने हेतु द्यूत खेलने बैठ गया। जब द्यूत खेलना नहीं आता था, द्यूत खेलने की इच्छा नहीं थी, तो धृतराष्ट्र की आज्ञा मानने की क्या आवश्यकता थी। जिस पुरुष के लिए पिता की आज्ञा का पालन करने का यश इंद्रप्रस्थ के साम्राज्य से बढ़कर है, वह न तो वीर हो सकता है, न क्षत्रिय, न राजा। कर्ण का आदर्श तो वह कदापि नहीं हो सकता। और पिता भी कैसा ? धृतराष्ट्र जैसा चतुर राजनीतिज्ञ।··· कहते हैं श्रीराम ने भी अपने पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए अपना राज्य छोड़ दिया था और वन में चले गए थे। युधिष्ठिर के आदर्श होंगे वे श्रीराम। कर्ण के मन में ऐसे लोगों के प्रति कोई भक्ति नहीं जागती। वह होता तो ऐसे पिता की ही वन भेज देता।

युधिष्ठिर को द्यूत में अपना सर्वस्व हारते, अपने भाइयों को दीन-हीन दासों की

स्थिति में धकेलते देखकर कर्ण को लगा था कि उस व्यक्ति को वह धार्मिक नहीं, मूर्ख ही मानेगा। उसकी सरलता पर कर्ण मुग्ध नहीं हुआ था। उसकी दीनता पर उसे दया नहीं आई थी। उसे पीड़ित करने में कर्ण को रस आने लगा था। पता नहीं उसे उस समय क्यों नहीं सूझा, नहीं तो वह युधिष्ठिर के शरीर में अपने बाणों को चुभो-चुभो कर, उसके पीड़ा में तड़पने का सुख उठाता। किसी दास के शरीर में तीखे बाण चुभो कर उसके कष्ट का सुख उसने आज तक अनुभव नहीं किया। पर वह अद्भुत होता होगा।... तब वह उसे सूझा नहीं। पर जो सूझा, वह उसने किया। वह युधिष्ठिर के शरीर में तो अपने बाण नहीं चुभो सका, किंतु उसने उन पाँचों पांडवों और उनकी पत्नी, उस पांचाली के मन में जो बाण चुभोए हैं, वे आज तक उनके हृदय को छील-छील कर उसमें से रक्त बहा रहे हैं। वह सुख तो अद्भुत था। पांचाली को सार्वजनिक रूप से निर्वस्त्र होते देखने का सुख तो एकांत में संसार की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी के भोग से भी अधिक मादक था। समूह में रति का सुख। वैसा सुख कर्ण को फिर कभी नहीं मिला। संभव है पांडव और कृष्ण उसे राक्षसी सुख कहें; किंतु कर्ण को तो राक्षसी सुख सदा ही दैवी सुख से अधिक आकर्षक लगा है।...

यदि पांचाली सचमुच ही निर्वस्त्र कर दी गई होती तो ? पर वह हो नहीं पाया। जाने दुःशासन क्यों चकराकर गिर पड़ा। वह ऐसा तो नहीं है। वह तो ऐसे कामों का बहुत अभ्यस्त है। उसने नारी सुख का छककर पान करने के सिवाय और आज तक किया ही क्या है। नारी शरीर को देखते ही उसमें एक विचित्र प्रकार की क्रूरता जन्म लेने लगती है। वह उसे सहलाने के लिए आगे बढ़ता है और उसे झिंझोड़ने तथा तोड़ने-मरोड़ने लगता है। वह क्रमशः हिंस्र होता जाता है। नारी की पीड़ा उसे उन्मादी बना देती है। नारी अपनी पीड़ा में जितना चीत्कार करती है, दुःशासन उतना ही रस पाता है।... उस दिन पता नहीं उसे क्या हो गया था, नहीं तो पांचाली की भी वही स्थिति होती; और सभा के सम्मुख होती।... पांचाली बच गई। कैसे बच गई कोई नहीं जानता। जो कुछ हुआ, उसे पांडव कृष्ण का चमत्कार मानते हैं। वे कृष्ण को ईश्वर का अवतार ही समझे बैठे हैं। कृष्ण के महत्त्व और चतुराई से इनकार नहीं है कर्ण को। पर वह कृष्ण को आज तक ईश्वर नहीं मान सका। पांडव उसे नारायण का अवतार मानते हैं तो फिर वे दुर्योधन से उसका साम्राज्य छीन क्यों नहीं लेते। ईश्वर के लिए क्या असंभव है। वन-वन भटकते क्यों फिरते हैं ईश्वर के ये मित्र पांडव।... जिन लोगों को वह ही सब कुछ प्रिय है, जिसका कोई अस्तित्व नहीं है, उनको कोई क्या कहे। अर्जुन ने अपने बल और शौर्य से पांचाली जैसा नारी रत्न प्राप्त किया था और वह मूर्ख न जाने परिवेदन जैसे किस पाप से डर कर पांचाली को अपने बड़े भाई को सौंप बैठा। कर्ण होता उसके स्थान पर तो ऐसी मूर्खता कभी न करता। वह धन्य मानता स्वयं को और छोड़ना ही पड़ता तो अपने भाइयों को छोड़कर पांचाली के साथ अपना घर कहीं अलग से बसा लेता।... इतना ही नहीं, वह अर्जुन तो इसमें भी गर्व का अनुभव

करता है कि इंद्रलोक में उसने उर्वशी अप्सरा का रति-प्रस्ताव ठुकरा दिया। नपुंसक कहीं का। इसमें गर्व करने को क्या है। पौरुष होता तो उर्वशी का भोग करता।... उत्तरा के साथ भी स्वयं विवाह न कर, अपने पुत्र से उसका विवाह कर दिया। होता उसके स्थान पर दुःशासन तो वह आज भी उर्वशी से पाए सुख को स्मरण कर अपने अधरों पर जिह्वा फिरा रहा होता। उसके अंगों का शब्दों में वर्णन कर रहा होता। अपने पौरुष को धन्य मान रहा होता। और अर्जुन अपनी किसी निर्विकल्प समाधि का गुण गा रहा है। किसी अलौकिक धर्म की प्राप्ति के सुख की प्रतीक्षा कर रहा है।...

कर्ण नहीं मानता किसी अलौकिक धर्म को, जिसका सुख पाने के लिए युधिष्ठिर तड़प रहा है। ये लोग उस ईश्वर को पाना चाहते हैं, जिसने यह सृष्टि रची है। मूर्ख हैं। इतनी-सी बात नहीं समझते कि स्त्री और पुरुष के परस्पर भोग ने ही संतान को जन्म दिया है। इसके लिए किसी ईश्वर की आवश्यकता ही कहाँ है। संसार का सबसे बड़ा सुख यह भोग ही तो है। उसको छोड़ किसी काल्पनिक ईश्वर के पीछे दौड़ना और इस बात से भयभीत रहना कि मृत्यु के पश्चात् क्या होगा, कर्ण की समझ में नहीं आता। वह नहीं मानता कि ईश्वर नामक कोई अस्तित्व भी है। वह नहीं मानता कि मृत्यु के पश्चात् फिर कोई जन्म होता है। वह मानता है कि सृष्टि स्वतः हुई है और यह जीवन ही एकमात्र जीवन है। मृत्यु के पश्चात् क्या होता है, इसे किसने देखा है। जीवन की उपलब्धियों से सबका परिचय है। भुजाओं में बल हो तो पुरुष अपनी सत्ता स्थापित करे। अपने लिए धन-वैभव एकत्रित करे। संसार की श्रेष्ठ नारियों के भोग का सुख प्राप्त करे।... ये पांडव जाने किस मृगतृष्णा में फँसे किसी काल्पनिक ईश्वर, धर्म और मोक्ष के लिए तड़प रहे हैं।...

कर्ण ऐसा जीवन नहीं चाहता। उसकी साधना है, दिग्विजय की। संसार में सबसे बड़ा धनुर्धर बनने की। संसार को अपने चरणों पर झुकाने की।... उसे निर्धनों के साथ बैठना अच्छा नहीं लगता। न उसे साधारण जन अच्छे लगते हैं, न वह साधारण बन कर रहना चाहता है। वैभव के परिवेश में उसका मन उल्लसित रहता है। शायद इसीलिए पांडव पहले दिन से उसे अच्छे नहीं लगे। वे आए थे तो उन्होंने आरण्यकों के से वस्त्र पहन रखे थे। न उनके केश राजकुमारों के समान सँवारे गए थे और न ही उनके शरीर पर राजसी वेशभूषा थी। शरीर पर आभूषण तो थे ही नहीं।...

पांडवों के हस्तिनापुर आने तक कर्ण ही सबसे बलवान ब्रह्मचारी था हस्तिनापुर के गुरुकुल का। कर्ण ही सबसे योग्य धनुर्धर था।... पांडवों ने आकर क्रमशः उसका एक-एक पद छीनना आरंभ कर दिया था। फिर वे लोग उसके सपनों के राजकुमार दुर्योधन से उसका सारा वैभव और अधिकार छीन रहे थे। वे न भी छीन रहे हों, किंतु सत्य यही था कि उनके कारण दुर्योधन का महत्त्व कम हो रहा था। भीम तो प्रत्येक बात में चुनौती देता ही रहता था, उस बूढ़े भीष्म की भी मति भ्रष्ट हो गई थी। उसे तो जैसे दुर्योधन का कोई विकल्प ही मिल गया था। कर्ण का कलेजा छलनी हो जाता

था, जब वह भीम और अर्जुन को अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करते देखता था। और फिर तो द्रोण और कृपाचार्य ने कर्ण को एक पृथक् वर्ग में ही डाल दिया।''' वह जानता था कि वह राजकुमार नहीं है। पर वह स्वयं को उन सारे राजकुमारों से श्रेष्ठ समझता था। किसी का जन्म राजवंश में हुआ है, इसलिए ही तो वह अन्य लोगों से श्रेष्ठ नहीं हो जाता।''' पर फिर अर्जुन अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करता चला गया तो कर्ण के जीवन का सारा रस ही छीजता चला गया।''' उसे एक आँख नहीं भाते थे, ये पांडव ? क्यों आए वे हस्तिनापुर, उसके जीवन में आग लगाने को ? वे न आए होते तो अधिरथ का पुत्र होकर भी वह सारे राजकुमारों से श्रेष्ठ था—सर्वश्रेष्ठ ! उनका सिरमौर ! उसकी श्रेष्ठता को छीनने का अधिकार किसी को नहीं है।''' पांडवों को भी नहीं, चाहे वे उसके भाई ही क्यों न हों। आज कर्ण ने कौरवों के प्रधान सेनापति का पद प्राप्त किया है, कल वह कौरव साम्राज्य का सबसे शक्तिशाली महीप होगा। उसने घटोत्कच का वध किया है, वह अभिमन्यु के वध में सफल हुआ है; तो वह अर्जुन के वध में भी सफल होगा।''' वह उद्यम को तिलांजलि नहीं दे सकता। वह अंतिम समय तक प्रयत्न करता रहेगा। उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ कभी तृप्त नहीं हो सकतीं। वह सदा ऊँचे से ऊँचा चढ़ना चाहता है। वह संसार में वह सब कुछ प्राप्त करके ही रहेगा, जिसके प्रति उसके मन में लालसा जागेगी—जब भी हो, जैसे भी हो।

ये पांडव तो इंद्रप्रस्थ का निर्माण करके ही जैसे तृप्त हो गए थे और उसे त्यागने को आतुर थे। ऐसे लोगों के साथ कैसे चल सकता है कर्ण—चाहे वे उसके सहोदर ही क्यों न हों।''' युधिष्ठिर न किसी का धन छीन सकता है, न किसी का राज्य। कुछ करने से पहले ही उसे क्रूरता और पाप का भय सताने लगता है। बहुत कोमल है उसका मन। तत्काल दूसरे के लिए अपने प्राण देने को आतुर होने लगता है। मूर्ख है। अपने शत्रुओं की रक्षा करता रहता है। जयद्रथ को उसने बचाया था भीम के हाथों से। दुर्योधन को उसने बचाया था चित्रसेन के हाथों से। ऐसा व्यक्ति जीवन में असफल नहीं होगा तो क्या होगा ? वह समझता है कि जयद्रथ और दुर्योधन उसके कृतज्ञ होंगे। क्या होती है कृतज्ञता ? ऐसी कोई दुर्बलता न जयद्रथ में है, न दुर्योधन में। जीवन में आए अपने लाभ के अवसर को कौन छोड़ता है। युधिष्ठिर ने उनके प्राणों की रक्षा की है, तो क्या वे अपना राज्य इसे दे देंगे ? प्राण हों और राज्य न हो तो उन प्राणों का ही क्या करेंगे वे ?

इस मूर्ख युधिष्ठिर को तो किसी में कोई दोष ही नहीं दीखता। किसी संन्यासी से अपैशुनम् जैसा कोई शब्द सुन लिया तो अपने शत्रुओं की ओर से भी आँखें बंद कर लीं। यदि कहीं पांडवों ने दुर्योधन के किसी भाई को विष दिया होता, यदि कहीं पांडवों ने धृतराष्ट्र के पुत्रों के साथ वारणावत जैसा कोई कांड किया होता, तो दुर्योधन उनको कभी क्षमा नहीं करता। पर युधिष्ठिर तो जैसे क्षमा का अवतार है। क्या होती है क्षमा ? कायरता का दूसरा नाम है क्षमा। जिसमें प्रतिशोध लेने का साहस होता है,

वह क्षमा नहीं करता। युधिष्ठिर प्रतिशोध का भी विरोधी है। वह हिंसा और घृणा का भी विरोधी है।··· ऐसा व्यक्ति चाहे स्वयं को दैवी संपत्ति से युक्त महात्मा मानता रहे, संसार भर के साधु संन्यासी चाहे उसके चरित्र की प्रशंसा करते रहें, किंतु वह कर्ण का आदर्श नहीं हो सकता।··· कर्ण न अपनी शत्रुता का त्याग करता है, न प्रतिशोध को भूल सकता है; और न ही क्षमा जैसे किसी भाव के प्रति उसके मन में कोई सहानुभूति है। वह तो एक ही बात जानता है कि अपने शत्रु को कभी जीवित नहीं छोड़ना चाहिए।···

सहसा उसका चिंतन उसके सामने प्रश्नचिह्न बनकर खड़ा हो गया, "तो फिर उसने कल नकुल को जीवित क्यों छोड़ दिया ? अपने वचन की रक्षा करने के लिए ही तो। क्या लाभ होगा अपने वचन की रक्षा से ? न की जाए वचन की रक्षा तो उससे क्या हानि हो जाएगी कर्ण की ? क्या कर लेंगी माता कुंती उसका ?"

कर्ण के मन में कुंती की छवि जागी।··· पर कुंती तो·युधिष्ठिर के समान कोमल नहीं दीखतीं। कितनी दृढ़ लग रही थीं वे। उन्होंने जिस कठोरता से कर्ण की प्रताड़ना की थी, उससे उनकी दृढ़ता ही प्रकट होती थी।··· नहीं ! कुंती को दिए हुए वचन से कर्ण पीछे नहीं हट सकता। सारा जीवन अपने भीतर कर्ण जिस रिक्ति का अनुभव करता रहा है, कुंती ने उसे भर दिया है। कर्ण राजकुमारी कुंती का पुत्र है। कर्ण राजरानी कुंती का पुत्र है। नहीं ! वह कुंती से अपने इस संबंध को अमान्य नहीं कर सकता। यह तो उसकी जन्म-जन्मांतरों की लालसा है। वह कुंती को रुष्ट नहीं कर सकता। वह कुंती का अपराध नहीं कर सकता। वैसे भी नकुल उसका शत्रु कहाँ है। कर्ण ही नकुल का शत्रु है।···

वह चौंका, किस चिंता में डूबा है वह। वह समरभूमि में खड़ा है। समरभूमि में न चिंतन उचित है, न चिंता। यहाँ तो युद्ध ही उचित है। अभी उसका वह शत्रु अर्जुन प्रकट होगा और उस पर बाणों की वर्षा कर देगा। इससे पहले कि अर्जुन ऐसा कुछ कर पाए, उसे ही अर्जुन को खोज निकालना चाहिए।···

उसने अपने चक्ररक्षकों की ओर देखा, "कोई धावक भेजो। जाकर समाचार लाए कि अर्जुन कहाँ है। उनसे कह दो, जो अर्जुन का समाचार लाएगा, उसे मैं छकड़ा भर कर रत्न दूँगा। यदि वह चाहेगा तो उसे स्वर्णाभूषणों से लदी हुई संसार की सर्वश्रेष्ठ सुंदरियाँ दूँगा—पूरा छकड़ा भर कर। जाओ, पता लगाओ, अर्जुन कहाँ है। आज मैं उसका वध किए बिना समरभूमि नहीं छोड़ूँगा।"

"जो आज्ञा सेनापति।"

शल्य को कर्ण का यह प्रगल्भ और वाचाल रूप अच्छा नहीं लग रहा था। अर्जुन को मारे बिना युद्धभूमि नहीं छोड़ेगा, तो अब तक क्यों भागता रहा वह ? आज ऐसा नया क्या हो गया है, सिवाय इसके कि वह कौरवों का प्रधान सेनापति बनकर समरभूमि में आया है।··· या फिर··· या फिर आज शल्य को अपना सारथि बना लाया है···

"जो तुम्हें अर्जुन का पता देगा, उसे तुम छकड़ा भरकर बहुमूल्य रत्न दोगे ?"

शल्य ने उसकी ओर वितृष्णा से देखा।

"हाँ !" कर्ण बोला, "यह मेरा वचन है।"

"रत्न क्या सरस्वती के तट पर की बालू है कि छकड़े में भरकर कहोगे, कि ले जा और हाट में रत्नों के मूल्य में बेच ले।" शल्य ने कहा, "मुँह खोलने से पहले अपना सामर्थ्य भी आँक लेना चाहिए। छकड़ा भर रत्न तो तुम्हारे स्वामी दुर्योधन के पास भी नहीं हैं कि उससे ही भिक्षा माँग लोगे। तुम कौरवों के प्रधान सेनापति हो कर्ण ! यक्षराज कुबेर नहीं। तुम्हारे लिए चाहे न हो, किंतु अन्य लोगों के लिए वचन का कोई महत्त्व होता है। तुम्हें अनर्गल प्रलाप से बचना चाहिए।"

कर्ण स्तब्ध रह गया। यह शल्य क्या कह रहा है। यह क्या एक सारथि अपने रथी से कह रहा है··· इसका इतना साहस कैसे हुआ ?···

"और कोई अर्जुन का पता ला ही देगा तो क्या करोगे ?" शल्य के अधरों के कोनों पर जैसे विष की गाँठ रखी हुई थी, "विपरीत दिशा में भागने का प्रयत्न करोगे ?"

"क्या प्रलाप कर रहे हो तुम !" कर्ण के मुख से निकला।

"प्रलाप लगता है तुम्हें यह सब ?" शल्य ने जैसे उसे चिढ़ाया, "तुम्हारे जीवन का यथार्थ है यह। जब कभी अर्जुन तुम्हारे सामने पड़ा है, तुम समरभूमि छोड़कर भाग गए हो। आज क्यों खोज रहे हो उसे ? ताकि रणभूमि से तुम्हारे भाग जाने के पश्चात् वह तुम्हारे शत्रुओं से दुर्योधन की रक्षा करे, जैसे उसने घोषयात्रा के अवसर पर, तुम्हारे भाग जाने के पश्चात् चित्रसेन से दुर्योधन के प्राण बचाए थे और कुरुकुल की स्त्रियों के सम्मान की रक्षा की थी ?"

कर्ण का वक्ष जैसे पीड़ा से फटने लगा। मन में अग्नि का ज्वार उठा। उसे लगा कि उसका तर्क समाप्त हो गया है, धैर्य चुक गया है। वह शल्य के वक्ष में अपना खड्ग उतार देना चाहता है··· किंतु शल्य उसका सारथि है। कौरवों का महारथी है। उसकी हत्या से तो कौरव सेना में ही अंतःकलह आरंभ हो जाएगी।··· इससे पहले भी कर्ण ने भीष्म और द्रोण के मुख से बहुत कठोर वचन सुने हैं। पर शल्य का आक्रमण किसी कठोर शस्त्र के आक्रमण से कम पीड़ादायक नहीं था।··· कर्ण न तो उसे सहन कर सकता था और न ही उसे क्षमा कर सकता था।···

"मैं नहीं जानता था शल्य ! कि मेरे सारथि होकर भी तुम अपनी तुच्छता का त्याग नहीं करोगे; और अपने रथी से ही नहीं, कौरवों के प्रधान सेनापति से भी ऐसी बातें करोगे।"

"तुम्हें तुम्हारे चरित्र का दर्पण दिखा दिया तो यह मेरी तुच्छता हो गई ? तुम जो अर्जुन का पता बताने वाले को पुरस्कारों की झूठी घोषणाएँ कर रहे हो, वह तुम्हारी तुच्छता नहीं है ?" शल्य बोला, "तुम्हारा कोई मित्र नहीं है यहाँ, जो तुम्हें इस जलती आग में गिरने से रोके।"

"मैं सत्य कह रहा हूँ," कर्ण ने अपना सारा आत्मबल अपने शब्दों में ढाल दिया,

"मैं कृष्ण और अर्जुन दोनों को मार कर उनका सारा धन उनका पता बताने वाले को दे दूँगा।"

कृष्ण को मार देने की बात शल्य के वक्ष में ही कहीं अटक गई। उसे लगा, उसका श्वास ही जैसे रुक गया है। बोला, "सूतपुत्र ! तुम्हें कर्तव्य-अकर्तव्य का कुछ भी ज्ञान नहीं है। काल ने तुम्हें पका दिया है; और तुम शाखा से टपकने के लिए आतुर हो रहे हो। मेरा तो परामर्श है कि यदि तुम जीवित रहना चाहते हो तो व्यूहरचनापूर्वक खड़े हुए समस्त सैनिकों के साथ सुरक्षित रहकर अर्जुन से युद्ध करो। अर्जुन के तीखी धार वाले कंकपत्र विभूषित बाण जब तुम्हारे शरीर को विदीर्ण करने लगेंगे तो तुम्हें अर्जुन को खोजने का पश्चात्ताप होगा।" शल्य ने सीधे कर्ण की आँखों में देखा, "वत्स कर्ण ! अपने घर में बैठे हुए कुत्ते का वन में विचरते हुए व्याघ्र की दिशा में भौंकने का कोई अर्थ नहीं होता।"

कर्ण की आँखें क्रोध से लाल हो गईं : शल्य उसे घर में बैठा हुआ कुत्ता कह रहा था।

"मुझे भयभीत करना चाहते हो।" कर्ण बोला, "इधर देखो। मेरा यह अकेला ही बाण शत्रुओं का रक्त पीने को पर्याप्त है। बहुत दिनों से यह एक तूणीर में अकेला ही रखा जाता रहा है। इसे देखो, यह सर्पमय भयानक विषैला बाण है। वर्षों से इसे चंदनचूर्ण में रखकर मैं इसकी पूजा करता आया हूँ। यह कवच और हड्डियों को भी चीर देता है। इसे मैंने कृष्ण और अर्जुन के लिए सँभालकर रखा हुआ है।"

"एक बाण पर इतरा रहे हो; और वह भी सर्प के विष के कारण।" शल्य के अधरों पर एक जुगुप्सापूर्ण मुस्कान उभरी, "और इसे वीरता कहते हो तुम। नागों के समान विषधर पाल रखे हैं तुमने भी, अवसर देखकर दंश करने वाले। तुम्हारे जैसा तुच्छ योद्धा मैंने नहीं देखा। और फिर तुम स्वयं को कृष्ण और अर्जुन जैसा वीर भी मानते हो।"

कर्ण और सहन नहीं कर सका। बोला, "मेरी तुच्छता बता रहे हो और अपनी तुच्छता का स्मरण नहीं है तुम्हें। गुणों से शून्य रहे हो सदा, तुम किसी के गुण को क्या समझोगे और क्या उसका गुणगान करोगे।"

"मैं गुणों से शून्य हूँ तभी तो मेरा मन जीतने के लिए, मुझे अपना मित्र बनाने के लिए, तुम्हारे राजा को इतने षड्यंत्र करने पड़े।" शल्य ने हँसकर कहा।

"तुम्हारी मैत्री।" कर्ण भी उतनी ही कटुता से मुस्कराया, "कौन नहीं जानता कि मद्रनिवासी मित्रद्रोही, अकारणद्वेषी, मिथ्याभाषी और कुटिल होते हैं। कृतघ्नता, पराए धन का अपहरण करना, मदिरापान, गुरुपत्नीगमन, कटु संभाषण—ये सब गुण हैं, आरट्टों, वाहीकों और मद्रनिवासियों के। तुम कृष्ण और अर्जुन की जाने किस स्वार्थवश स्तुति कर रहे हो। आज समरभूमि में उन दोनों को मारकर मैं बंधु-बांधवों सहित तुम्हारा भी वध कर दूँगा।"

शल्य ने पलटकर उसकी ओर देखा, "अकारणद्वेषी तुम हो, अन्यथा पांडवों ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है। पराए धन का हरण और मदिरापान तुम करते हो और करता है तुम्हारा स्वामी दुर्योधन। अन्यथा हस्तिनापुर का राज्य पांडवों का है। मिथ्याभाषण और कुटिलता, तुमसे और तुम्हारे मित्रों से अधिक कहीं पाई जाती है क्या ? अपने वचन के इतने ही सच्चे हो तो पहले मेरा ही वध करके दिखाओ।"

"अब तक मैं तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर मांसभक्षी प्राणियों को खिला भी चुका होता।" कर्ण दाँत पीसकर बोला, "तुम अब तक जीवित हो नराधम मद्रनिवासी ! क्योंकि मुझे दुर्योधन और धृतराष्ट्र का काम करना है; और उसके लिए तुम्हारी सहायता चाहिए।··· तुम जीवित हो क्योंकि मैं अपनी निन्दा से डरता हूँ। अपने ही सारथि का वध किसी वीर को शोभा नहीं देता। वैसे मैं जानता हूँ कि पांडवों ने तुम्हें हमारा भेद लेने के लिए यहाँ रख छोड़ा है, इसलिए तुम मित्र बनकर हमारे साथ शत्रु का सा व्यवहार कर रहे हो।"

शल्य के चेहरे पर कुछ कठोरता उभरी, "सूतपुत्र ! मैं युद्ध में पीठ न दिखाने वाले, यज्ञपरायण मूर्धाभिषिक्त नरेशों के कुल में उत्पन्न हुआ हूँ; और स्वयं भी धर्म में तत्पर रहता हूँ। तुम अधिक पी आए हो, अतः मदिरा में उन्मत्त होने के कारण, नहीं जानते हो कि क्या बक रहे हो। मैं तुम जैसे प्रमत्त की चिकित्सा कर अपने धर्म का ही निर्वाह कर रहा हूँ।"

"शल्य ! तुम यज्ञपरायण मूर्धाभिषिक्त वीर राजाओं की संतान नहीं हो, तुम मद्रदेश की उन व्यभिचारिणी स्त्रियों की संतान हो, जो किसी भी परिचित-अपरिचित पुरुष से संबंध स्थापित कर लेती हैं। दासों से भी समागम करने वाली कुलटा स्त्रियों की संतान हो तुम। वे न पिता की चिंता करती हैं, न भाई की और न पुत्र की। वे गोमांस खाती हैं, मदिरा पीती हैं और अमर्यादित रूप से काम में प्रवृत्त होती हैं। वे उन्मत्त होकर निर्वस्त्र हो मर्यादा का त्याग कर नाचती हैं। संयम और मर्यादा छोड़कर मैथुन में प्रवृत्त होती हैं। वे स्वेच्छा से किसी भी पुरुष का वरण कर लेती हैं। तू उन स्त्रियों की संतान होकर मुझे धर्म सिखाता है मद्रनिवासी, जो ऊँटों और गधों के समान खड़ी होकर मूत्र त्याग करती हैं। ऐसी होती हैं मद्र की स्त्रियाँ और तुम जैसी होती हैं उनकी संतानें।"

शल्य की इच्छा हुई कि वह अपना खड्ग खींच ले और इस कर्ण का यहीं वध कर दे।··· यदि उसे दुर्योधन का मित्र मानकर जीवित छोड़ना भी है तो कम से कम रथ में से कूदकर भूमि पर उतर आए। इस कर्ण का सारथ्य करेगा वह ?··· पर ऐसा कुछ भी करने का अर्थ होता कि उसने कर्ण द्वारा लगाए गए आरोपों को स्वीकृति दे दी है।··· पहले तो उन आरोपों का प्रतिकार होना चाहिए। फिर कुछ और ।···

"मद्र देश की स्त्रियाँ कैसी होती हैं, वह जानता हूँ मैं। उनके गुणों पर रीझकर ही भीष्म हस्तिनापुर से चलकर माद्री को लेने आए थे मद्रदेश में।" शल्य ने अद्भुत संयम का परिचय दिया, "तुमने जो कुछ कहा है, उससे मद्रदेश की स्त्रियों की नहीं,

तुम्हारी अपनी वास्तविकता प्रकट हो रही है। स्त्रियों के विषय में कितने नीच और कुत्सित विचार हैं तुम्हारे। जहाँ किसी स्त्री की चर्चा आई, तत्काल उसे निर्वस्त्र करने लगता है तुम्हारा मन। लुच्चों के समान किसी का भी संबंध उसकी माँ और बहन से जोड़ने लगते हो। तनिक भी सम्मान नहीं है तुम्हारे मन में स्त्रियों के लिए। मुझे कुछ नहीं कह सके, पुरुषों को कुछ नहीं कह सके तो स्त्रियों को निर्लज्ज और व्यभिचारिणी बताने लगे जो यहाँ हैं ही नहीं, और न उनकी कोई चर्चा है। मुझे सीधे-सीधे माँ-बहनों की गालियाँ नहीं दे सके तो इस प्रकार लांछित किया मद्र की स्त्रियों को। अब समझ में आया कि तुम लोग द्यूतसभा में पांचाली के साथ क्या कर रहे थे अपने कुलवृद्धों की उपस्थिति में। मद्र देश में कोई तुम्हारे समान अपने राजवंश की कुलवधुओं को सार्वजनिक रूप से निर्वस्त्र नहीं करता। तुम कहते हो कि मद्र की स्त्रियाँ अपने पुत्रों और भाइयों से भी संबंध स्थापित कर लेती हैं। क्या प्रस्ताव कर रहे थे, तुम लोग पांचाली से ? किसी प्रदेश की स्त्रियों के चरित्र को लांछित करने से पहले इस बात पर भी विचार कर लिया करो सूतपुत्र ! कि तुमको राधा ने जन्म नहीं दिया था। जिसने तुमको जन्म दिया था, उसने तुम्हें त्याग क्यों दिया ? कैसी संतान हो तुम उसकी कि वह और उसका समाज तुम्हें स्वीकार नहीं करता।''' अपने जन्म में भी कहीं व्यभिचार दिखाई देता है तुम्हें ?''

''शल्य ! तुम मेरी माँ को गाली दे रहे हो।''''' कर्ण के मुँह में झाग आ गया।

''और तुम मेरी माँ को ही नहीं, पूरे मद्र को, सारी वाहीक स्त्रियों को गालियाँ दे रहे थे।'' शल्य ने कहा, ''कितनी क्षुद्र और क्षेत्रीय बुद्धि है तुम्हारी। न तो तुम इस जंबूद्वीप को एक राष्ट्र मानते हो और न ही आर्यावर्त्त को। तुम क्षेत्र के आधार पर लोगों के चरित्र को आँकते हो। भूल जाते हो कि जिस अंगदेश के राजा बन कर इतराते फिरते हो तुम, वहाँ के लोगों के विषय में कहा जाता है कि वे अपने ही परिवार के व्यक्ति के रोगी और असहाय होने पर उसका त्याग कर देते हैं, अपनी पत्नी और बच्चों को हाट में बेच आते हैं। पर मैं तुम्हें दोष नहीं देता, विचार करने के लिए कहता हूँ। तुम यह नहीं मानते कि सभी क्षेत्रों में अच्छे और बुरे, धार्मिक और अधार्मिक, चरित्रवान और चरित्रहीन लोग होते हैं।'' शल्य ने मुस्कराकर कर्ण की ओर देखा, ''तुम जैसे लोग ही देश और राष्ट्र के टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं, अपने कुत्सित विचारों से। ऐसे क्षुद्र विचार रखकर तुम इस सारे जंबूद्वीप में एक साम्राज्य और एक राष्ट्र की बात सोच भी कैसे सकते हो।''''

कर्ण ने शल्य की ओर देखा किंतु कुछ कहा नहीं। क्षेत्रीय मानसिकता की तो कोई बात नहीं। शल्य ने आरोप लगाया था उसकी माँ पर। उस माँ पर, जिसे शल्य जानता भी नहीं है। वह नहीं जानता कि वह यह सब कुछ राजमाता कुंती के विषय में कह रहा था। उस कुंती के विषय में जिसकी उदात्तता का विश्वास कर उसे अपने पुत्र सौंप कर शल्य की अपनी बहन माद्री ने चितारोहण किया था।''' पर कर्ण यह सब बता नहीं सकता था शल्य को। अपनी माँ को लांछित होते हुए केवल सुन सकता है।''' उसने

शल्य को अपमानित करने के लिए जो कुछ कहा था, वह लौट आया था उसी की ओर...

"तुमने शायद उस कौवे की कथा नहीं सुनी, जिसे वैश्य कुल के बालकों ने अपनी जूठन खिला-खिला कर पाला था; और वह कौवा उनकी प्रशंसा से फूल कर आकाशचारी बलवान चक्रांग हंसों के साथ उड़ने की स्पर्धा करने लगा था।" शल्य ने कर्ण को मौन देखकर कहा, "धृतराष्ट्र के पुत्रों ने तुम्हें भी जूठन खिला-खिला कर पाला है, इसी से तुम भी अपने समान और अपने से श्रेष्ठ पुरुषों का अपमान करते हो। अब समझ पाया हूँ मैं कि क्यों न कभी भीष्म तुम्हारी प्रशंसा कर पाए, न द्रोण, न विदुर, न व्यास और न ही कभी कृष्ण ! तुम्हारा चरित्र ही ऐसा है कि कोई श्रेष्ठ पुरुष कभी तुम्हारी प्रशंसा नहीं कर पाएगा।...जाओ। अब भी समय है, कृष्ण और अर्जुन की शरण में चले जाओ। प्राण बच जाएँगे तुम्हारे।"

कर्ण को कुछ नहीं सूझा। वह चिल्लाकर बोला, "इंद्र सहित सारे देवता मुझसे युद्ध करने लगें तो भी मुझे उनसे कोई भय नहीं है। फिर कृष्ण और अर्जुन का क्या। तुम चुप बैठे रहो, अब कुछ कहा तो पहले तुम्हीं को मार कर, बाद में कृष्ण और अर्जुन का वध करूँगा।...."

कर्ण का ऊँचा स्वर सुनकर उसके पृष्ठरक्षक और चक्ररक्षक भी सामने आ गए... क्या बात थी—रथी और सारथि में—किस बात का झगड़ा हो रहा था ?

तभी दुर्योधन का रथ भी उनके साथ आ लगा। उसने दोनों के चेहरे देखे। उसे पहले से ही आशंका थी कि कुछ न कुछ होकर रहेगा। जाने क्यों कर्ण का मुँह खुलता है तो दूसरों को पीड़ित ही करता है; और उसका मुँह खुला ही रहता है।...

"कर्ण ! मातुल से झगड़ा मत करो मित्र।" वह बोला, "वे हमारे आश्रयदाता हैं। मैंने हाथ जोड़कर उनसे निवेदन किया था कि वे तुम्हारे सारथि बनें। अन्यथा मद्र देश का अधिपति क्या सारथ्य करने योग्य है। वे हमारे वैसे ही रक्षक हैं, जैसे पांडवों के रक्षक कृष्ण हैं।"

कर्ण सँभल गया। उसके मन में शल्य के लिए जो कटुता थी, वह पहले से कहीं अधिक बढ़ गई थी। किंतु वह दुर्योधन का संकेत भी समझ रहा था। शल्य से वाग्युद्ध कर वह रण में जय प्राप्त नहीं कर सकता था।... उसे उसके प्रति सम्मान दर्शाना होगा, चाहे वह नाटक ही क्यों न हो।...

दुर्योधन हाथ जोड़कर शल्य के सम्मुख खड़ा हो गया, "मातुल ! मैं अपने मित्र की ओर से आपसे क्षमा माँगता हूँ। वह भावुक है, वाणी का विस्फोट हो जाता है उससे। आपके प्रति दुर्भावना नहीं है उसके मन में। शत्रु सिर पर खड़ा है। कृपया युद्ध की ओर ध्यान दें।"

कर्ण प्रयत्नपूर्वक हँसा, "चलिए मद्रराज ! अब शत्रुओं को भी देख लें।"

रथ चल पड़ा। शल्य के मन की कटुता कम नहीं हुई थी। पर उसको प्रकट करने

का यह समय नहीं था··· शल्य सोच रहा था··· अभी बहुत सारे अवसर आएँगे, इस कर्ण से निबटने के।···

कर्ण स्वयं को संयत कर रहा था। पहले कृष्ण और अर्जुन से निबट लें। इस शल्य को तो वह कभी नहीं छोड़ेगा। इसने उसकी माता को लांछित किया है। इसका मरना तो निश्चित है।···

दुर्योधन लौट गया। उसके मन में चिंता बनी हुई थी। पता नहीं इन दोनों का संयोग इतना विस्फोटक क्यों है।···

31

कुंती ने करवट बदली और अपनी आँखें बंद कर लीं।

जाने आज क्यों नींद नहीं आ रही थी। मन में बार-बार विचार आता था कि रात काफी बीत गई है, उसे सो जाना चाहिए। नहीं तो प्रातः उठने में विलंब हो जाएगा। ब्रह्ममुहूर्त में उपासना न हो तो फिर जैसे आत्मा सो जाती है और संसार जाग उठता है मन में भी और परिवेश में भी। चारों ओर अनेकानेक गतिविधियाँ आरंभ हो जाती हैं। वे मनुष्य को इस प्रकार घेर लेती हैं कि उपासना के प्रति मन में वह उत्सव ही नहीं रह जाता। मात्र कर्मकांड रह जाता है। कभी-कभी तो लगता है कि वह कर्मकांड भी नहीं, मात्र पाखंड रह जाता है।

फिर भी नींद नहीं आ रही थी। जब भी वह आँखें बंद करती थी, जाने कहाँ से मन में कर्ण घुस आता था और उसकी आँखें खुल जाती थीं। जाने इस कर्ण के भाग्य में क्या है।···

जन्म के समय उसे त्यागना कुंती की बाध्यता थी। जब माँ होकर कुंती ही कुछ नहीं कर सकती थी तो वह नवजात शिशु कर्ण भी क्या कर सकता था। नियति ने उन दोनों को ही जिस मार्ग पर डाल दिया, वे दोनों उसी पर चलते रहे।··· हस्तिनापुर के गुरुकुल में जब पांडव कर्ण के संपर्क में आए तो वह उनकी ओर, उनकी सात्विकता की ओर आकृष्ट होने के स्थान पर उनका विरोधी होता गया।··· पर तब तो वह जानता नहीं था कि वे उसके भाई हैं।··· अब जब वह जान गया है कि वे उसके भाई हैं, राजमाता कुंती उसकी माता है, तो वह दुर्योधन को छोड़ क्यों नहीं देता ? क्यों नहीं समझता कि वह कौन है ?

और सहसा ही कुंती का मन दूसरी ओर चल पड़ा।··· क्या किसी के लिए यह समझना सरल है कि वह कौन है ? मनुष्य तो होता ही अपनी स्मृतियों का दास है। स्मृतियाँ उसके अस्तित्व को ऐसे लपेटे हुए होती हैं कि उसका अपना स्वरूप तो जैसे अदृश्य ही हो जाता है। कर्ण को छोड़ो। कुंती जानती है कि वह कौन है ?

हाँ ! वह जानती है कि वह पांडवों की माता है। उसने उनको जन्म दिया है। पर क्या वह पांडवों की माता मात्र है, और कुछ नहीं है ? उसका अस्तित्व क्या यहीं समाप्त हो जाएगा ? जब वह पांडवों की माता नहीं थी, जब पांडवों का जन्म नहीं हुआ था, तब भी तो कुंती थी ? कुंती थी और वह पांडवों की माता नहीं थी। क्या थी वह ? कौन थी वह ? तब वह पांडु की पत्नी थी। पर जब उसका विवाह नहीं हुआ था, वह पांडु की पत्नी नहीं थी, तब भी तो वह थी। पांडु की पत्नी होने से पहले भी वह कुछ थी ? तब कौन थी वह ? तब वह कुंतिभोज की पुत्री थी। पर उसे बताया गया था कि कुंतिभोज की आत्मजा नहीं थी। उसका जन्म नहीं हुआ था कुंतिभोज के घर। उसे कुंतिभोज ने गोद लिया था। वह तो शूरसेन की पुत्री थी। उसे जब से कुछ बोध हुआ, जब से उसके पास स्मृति है, उसे बताया गया कि वह शूरसेन की आत्मजा है और उसे कुंतिभोज ने गोद लिया है। वह उनकी पुत्री है। उसने मान लिया कि वह कुंतिभोज की पुत्री है और उसका नाम कुंती है। फिर जीवन में जैसे-जैसे और घटनाएँ घटती रहीं, नई-नई स्मृतियाँ उसे घेरती रहीं, वह स्वयं को नए से नए रूपों में देखती रही और अपना पूर्व रूप भूलती रही। आज सोचती है तो उसके मन में एक ही भाव आता है कि वह पांडवों की माता है। और कुछ भी नहीं। स्मृति के झरोखों में प्रयत्नपूर्वक झाँक कर, वहाँ का झाड़-झंखाड़ स्वच्छ कर, स्मरण आता है कि शूरसेन की पुत्री थी। वह शूरसेन की पुत्री है।

मनुष्य कैसा दास है स्मृतियों का। स्मृतियाँ ही उसका सत्य है। अपना वास्तविक स्वरूप भूलकर वह अपनी स्मृति का होकर रह जाता है। एक के ऊपर दूसरी स्मृति जैसे नया आवरण चढ़ाती चलती है और वह अपनी पिछली वास्तविकता भूलता चलता है। वह तो जैसे एक ऐसा सरकंडा है जिस पर विभिन्न रंग के धागे निरंतर लिपट रहे हैं। सरकंडा भूल गया है कि वह सरकंडा है। वह अपने ऊपर लिपटे हुए धागे को ही अपना वास्तविक स्वरूप समझने लगा है। नए रंग का धागा लिपट जाता है और वह पिछले धागे को भूल जाता है। आज कुंती ने प्रयत्नपूर्वक स्मृतियों के उन धागों को जैसे उधेड़ा है और उसे स्मरण आया है कि वह शूरसेन की पुत्री है।''' पर शूरसेन के घर जन्म लेने से पहले क्या वह थी ही नहीं ? उसे स्वयं तो कुछ स्मरण नहीं है। अपने विषय में ही स्मरण नहीं है। शूरसेन मानते होंगे कि उन्होंने उसे जन्म दिया है। तो वे ही बताएँ कि उनके घर जन्म लेने से पहले वह कौन थी ? क्या थी ? या क्या वह उससे पहले थी ही नहीं ? यदि वह थी ही नहीं तो शूरसेन के घर कहाँ से आ गई वह ?

वेद कहते हैं कि अनस्तित्व में से अस्तित्व का जन्म नहीं होता। जो नहीं है, वह हो नहीं सकता। किसी का जन्म नहीं होता। कुछ उत्पन्न नहीं होता। स्रष्टा और सृष्टि दो समानांतर रेखाएँ हैं, जिनका न कहीं आदि है न अंत। वे दोनों रेखाएँ समानांतर चलती हैं। ईश्वर नित्य क्रियाशील विधाता है। जिसकी शक्ति से प्रलयपयोधि में नित्यशः एक

के बाद एक ब्रह्मांड का सृजन होता रहता है। वे कुछ काल तक गतिमान रहते हैं और उसके पश्चात् विनष्ट कर दिए जाते हैं। सूर्या चंद्रमसौ धाता यथापूर्वम् अकल्पयत् । इस सूर्य और इस चंद्रमा को भी पिछले सूर्य और पिछले चंद्रमा के समान निर्मित किया गया।··· तो यह जन्म लेने से पहले, इस शरीर को धारण करने से पहले भी तो कुंती कुछ रही होगी, कोई रही होगी। कौन थी वह ?···

जो कोई भी रही हो, जिस किसी रूप में भी रही हो। जिस किसी लोक अथवा जिस किसी शरीर में रही हो, उससे पूर्व भी तो वह किसी अन्य रूप में रही होगी। उससे पूर्व ?··· उससे पूर्व ?··· सबसे पूर्व ?··· आज वह अपनी चेतना पर से स्मृति के आवरणों को उतार रही है तो उसे स्मरण हो आया है कि वह पांडवों की माता नहीं शूरसेन की पुत्री है। क्या प्रयत्न करने पर वह स्मरण कर सकती है कि उससे पहले वह कौन थी ? शायद ध्यान के माध्यम से यह संभव हो पाए; किंतु उससे पूर्व भी तो कुछ रही होगी, कोई रही होगी। ऐसा तो कोई समय नहीं था, जब वह थी ही नहीं। उसके रूप ही तो बदलते रहे हैं।··· यदि वह प्रयत्न करे और अपने प्रयत्न में सफल भी हो जाए, उसे स्मरण भी आ जाए कि इस जन्म से पहले वह कौन थी, तो भी क्या ? वह उसका मूल स्वरूप नहीं था। मूल स्वरूप, आरंभिक स्वरूप तो वेद बताते हैं। वह आत्मा थी और परमात्मा का अंश थी। उस आत्मा पर ही तो ये सारी स्मृतियाँ लिपटती रही हैं। परत पर परत चढ़ती रही है स्मृतियों की। अब जब तक लिपटी हुई वे सारी स्मृतियाँ उधेड़ नहीं दी जाएँगी, उतारी नहीं जाएँगी, तब तक आत्मा का मूल स्वरूप कैसे प्रकट हो सकता है।

जीव को बार-बार बताया जाता है कि वह शरीर नहीं, आत्मा है। पर वह अपनी स्मृतियों से मुक्त हो तो अपने वास्तविक स्वरूप को पहचाने। वह अपने शरीर के साथ अपना तादात्म्य करता है। अपने नाम और रूप को ही अपना वास्तविक स्वरूप मानने लगता है। देह के संबंध से लोगों को अपना और पराया मानने लगता है।···

कुंती भी तो अपनी उन स्मृतियों के कारण ही कर्ण को अपना पुत्र मानती है, पांडवों को अपना पुत्र मानती है। वह अपनी उन स्मृतियों से मुक्त हो सके तो अपने मोह से पृथक् हो। जैसे वह अपनी स्मृतियों को उधेड़ना चाहती है, वैसे ही वह कर्ण और पांडवों पर लपेटी गई अपनी स्मृतियों को उधेड़ सके तो वे सब भी आत्माएँ ही हैं, जो अपने-अपने कर्मों के अनुसार अपने संस्कारों में बँधे हुए, इस संसार में आए हैं और अपने नियत मार्ग पर चल रहे हैं।··· तो क्यों चिंतित है, कुंती उनके विषय में ?···

कौन है कर्ण ? उसके पुत्र के रूप में जन्म लेने से पहले कौन था वह ? अपना स्वरूप वह भूल चुका है। केवल अपना रूप ही स्मरण है उसे। वह स्वयं को केवल दुर्योधन का मित्र समझता है। आरंभ से उसने दुर्योधन को अपना मित्र माना है। जो दुर्योधन का मित्र है, वह कृष्ण का मित्र कैसे हो सकता है।··· और बात केवल स्मृतियों

की ही तो नहीं है। भविष्य के स्वप्नों की भी है। संभव है उसने भी दुर्योधन की छाया में एक ऐसा पापमय साम्राज्य बनाने का स्वप्न देखा हो, जैसा कंस ने जरासंध की छत्रछाया में बनाने का सोचा था। कंस भी तो भूल गया था कि वह आत्मा के रूप में परमात्मा का अंश है। उसे तो केवल इतना ही स्मरण रहा था कि वह जरासंध का जामाता है। कितने यादवों की हत्या कर दी थी उसने। अपने भाई-बांधवों को कारागार में डाल दिया था। अपने पिता तक को बंदीगृह में बंद कर रखा था। वसुदेव और देवकी के छह पुत्रों को मार डाला था उसने। उसकी योजना सफल हुई होती तो वह बलराम और कृष्ण का भी वध कर देता।'' तो यदि कर्ण अपने स्वप्नों को साकार करने के लिए अपने भाइयों को मारने पर तुला हुआ है तो आश्चर्य की क्या बात है। वह अपने भाइयों के लिए तो युद्ध कर नहीं रहा। अपने लिए भी नहीं कर रहा। वह केवल अपने मोह के लिए युद्ध कर रहा है, या फिर अपने लोभ के लिए।

32

"अर्जुन ! तुमने कौरव सेना का प्रचार सुन लिया न ?" युधिष्ठिर के शांत मुखमंडल पर हल्की-सी उत्तेजना दिखाई पड़ रही थी।

"सुना है धर्मराज !" अर्जुन हँसा, "उन्होंने प्रचार तो क्या, आज की घटनाओं की जैसे पूर्व घोषणा ही कर दी है कि कर्ण आज के युद्ध में अर्जुन को मार गिराएगा।"

"तुम समर्थ हो, इसलिए प्रचार को मुस्कराकर सुन रह हो; किंतु हमारे सैनिक तो तुम्हारे समान शूरवीर नहीं हैं। उन पर कौरवों के इस प्रचार का प्रभाव शुभ नहीं है। उनका मनोबल गिर जाएगा। हारती हुई सेना के सैनिक, संघर्ष से अधिक पलायन में विश्वास करते हैं।" युधिष्ठिर बोले, "स्वयं मैं ही सजग न रहूँ तो कौरवों के इस उग्र प्रचार से भयभीत हो जाऊँ। मेरी समझ में नहीं आता कि कौरवों का सेनापति बदला है अथवा उनका प्रचार प्रमुख। युद्ध में उतनी उग्रता नहीं आई, जितना कि उनका प्रचार उग्र हो गया है।"

"आप चिंता क्यों करते हैं महाराज !" भीम ने कहा, "भंगी के कोसने से सांड नहीं मरा करते। झूठे प्रचार से सेनाएँ विजय प्राप्त कर सकतीं तो अब तक सिवाय कर्ण के और किसी की सेना जीवित दिखाई नहीं देती। जो भीतर से जितना अधिक डरा होता है, वह बाहर से उतना ही उग्र दिखाई पड़ता है।"

"ठीक है।" युधिष्ठिर अर्जुन की ओर मुड़े, "हमारी सूचनाओं के अनुसार, कर्ण अपने व्यूह के द्वार पर खड़ा है। उसने एक विचित्र कवच धारण कर रखा है।..."

"पहले भी तो उसने एक अभेद्य दिव्य कवच धारण कर रखा था..." भीम बोला।

"जो कभी किसी को दिखाई नहीं दिया।" सहदेव ने भीम का वाक्य पूरा नहीं

होने दिया।

"अब वह दिखाई दे ही नहीं सकता। कर्ण उसे इंद्र को दान कर चुका है।"

"उसकी दिव्यता की रक्षा के लिए ही तो वह सदा युद्ध से भाग जाया करता था। बाण की खरौंच से उसका रूप बिगड़ सकता था भाई।" भीम हँसा।

कृष्ण मौन खड़े थे। उनके मन में आया कि एक वाक्य वे भी जोड़ दें कि यदि ऐसा कोई नैसर्गिक कवच होता तो उसकी माता को तो अवश्य ही उसकी पहचान होती। हस्तिनापुर में कर्ण को देखते ही कुंती बुआ पहली दृष्टि में पहचान लेतीं कि वह उनका ही पुत्र है। उन्हें रंगभूमि में कर्ण द्वारा अधिरथ को पिता संबोधित करने तक की प्रतीक्षा न करनी पड़ती।''' पर कृष्ण यह सब कह नहीं सकते थे। अभी तक पांडव नहीं जानते थे कि कर्ण उनका सहोदर है। अभी उन्हें जानना भी नहीं चाहिए। नहीं तो कर्ण के लिए अर्जुन का वध अत्यंत सरल हो जाएगा।'''

"कर्ण का ज्येष्ठ पुत्र वृषसेन उसका पृष्ठरक्षण कर रहा है। अन्य दो पुत्र सुषेण तथा चित्रसेन उसके रथचक्रों की रक्षा कर रहे हैं। भानुसेन भी सहायता के लिए उसके निकट ही है। दुर्योधन ने किसी और को कर्ण की रक्षा के लिए नियुक्त करने के स्थान पर स्वयं यह दायित्व सँभाला है।"

"पर दुर्योधन तो स्वयं दुःशासन की छाया में चल रहा है।" भीम बोला, "वह किसी की रक्षा क्या करेगा।"

"हाँ ! वह दुःशासन के पीछे नहीं है, उसने दुःशासन को अपने आगे कर रखा है।" युधिष्ठिर मुस्कराए, "वैसे भी वह मद्र और कैकेय के वीरों द्वारा सुरक्षित होकर ही चल रहा है।"

"बहुत संभव है कि मद्र के वीर उसकी रक्षा के स्थान पर मद्रराज शल्य की रक्षा के लिए अधिक उत्सुक हों।" कृष्ण बोले।

"धनंजय ! तुम उनके व्यूह को समझ लो। आज का दिन व्यर्थ न जाए। आज कौरवों का व्यूह ही नहीं, उनका पूर्ण युद्धतंत्र इस प्रकार ध्वस्त होना चाहिए, उनकी इतनी क्षति होनी चाहिए कि कल के युद्ध के लिए उनमें कोई उत्साह ही न रहे।" युधिष्ठिर बोले।

"आप चिंता न करें महाराज !" अर्जुन बोला, "इस व्यूह के नाश के लिए युद्धशास्त्र में जो उपाय बताया गया है, मैं उसका ही संपादन करूँगा।"

"क्या है वह ?" नकुल ने पूछा।

"प्रधान सेनापति का वध होने पर ही इस व्यूह का नाश हो सकता है, इसलिए कर्ण को मरना होगा।" अर्जुन ने कहा।

"तो फिर स्वयं प्रधान सेनापति होकर इस मूर्ख ने यह व्यूह क्यों रचा है, जिसके लिए उसे ही प्राण देने होंगे ?" सहदेव बोला।

"क्योंकि वह मानता है कि पांडवों के लिए उसका वध संभव नहीं है। न वह

मरेगा, न यह व्यूह ध्वस्त होगा।" कृष्ण बोले।

"तो फिर इतना भयभीत क्यों है ? उसका अपना सारा परिवार तो उसकी रक्षा में लगा ही हुआ है, उसका राजा भी अपने भाइयों और अन्य योद्धाओं से घिरकर उसकी रक्षा कर रहा है।" भीम ने चिढ़कर कहा, "सेनापति राजा की रक्षा करता है या राजा ही सेनापति की रक्षा करने के लिए स्वयं को नियुक्त कर देता है।"

"जो भी हो।" युधिष्ठिर बोले, "अर्जुन ! आज तुम कर्ण का भय तो समाप्त कर ही दो। अपने लिए जो वाहिनियाँ तुम्हें उपयोगी लगें, उन्हें तुम ले जाओ।"

"आपकी इच्छा आज पूर्ण होगी।" अर्जुन ने कृष्ण की ओर देखा, "चलें ?"

कृष्ण मुस्कराकर अपने रथ की ओर बढ़ गए।

युधिष्ठिर ने देखा कि अर्जुन का रथ कौरव सेना की अग्रिम टुकड़ियों के निकट पहुँच गया है। जिस ओर से कौरव सेना फटती जाती थी, युधिष्ठिर समझ जाते थे कि अर्जुन का रथ उसी ओर बढ़ रहा है। वह दिशा कर्ण के रथ की ओर ही थी।... पर सहसा अर्जुन का रथ मुख्य दिशा छोड़कर जैसे समरभूमि के किसी अज्ञात क्षेत्र में मुड़ गया।...

"अर्जुन किधर गए हैं, पता लगाओ।" युधिष्ठिर ने संदेशवाहक की ओर देखा।

"जी महाराज !"

युधिष्ठिर अपनी तैयारी में लगे थे।... सारी वाहिनियों की सूचनाएँ आ जाएँ तो वे कुछ आकलन कर सकेंगे कि आज युद्ध की स्थिति क्या होगी। वैसे उनकी दृष्टि अर्जुन और कर्ण के युद्ध पर ही लगी थी। यदि अर्जुन ने आज कर्ण का वध कर दिया तो निश्चय ही दुर्योधन का अंतिम अवलंब भी टूट कर गिर जाएगा। संभव है कि तब दुर्योधन का मन कुछ सोचे। यह सर्वनाशी युद्ध बंद हो। संधि का कोई मार्ग निकल सके...

"महाराज !" संदेशवाहक ने प्रकट होकर प्रणाम किया, "राजकुमार धनंजय शत्रुओं का संहार करते हुए, कौरवों के सेनापति कर्ण की ओर बढ़ रहे थे कि मार्ग में संशप्तकों ने उन्हें चुनौती दी। वे उनकी ओर मुड़ गए और उनका वध करने लगे। अंतिम सूचनाएँ प्राप्त होने तक चौबीस सहस्र संशप्तकों ने उन पर आक्रमण कर दिया था और वे संशप्तकों के सागर में घिर गए थे।"

"घिर ही तो गए थे, डूब तो नहीं गए थे।" युधिष्ठिर ने कहा।

संदेशवाहक चला गया।

युधिष्ठिर के मन में जैसे एक खीज जन्मी। दुर्योधन ने संशप्तकों का यह क्या गोरखधंधा खड़ा कर दिया है। सुशर्मा के रूप में उसे जैसे अर्जुन का एक तोड़ मिल गया है। पांडव सेना की योजना कुछ भी हो, अर्जुन किसी से भी युद्ध करने निकले, उसे संशप्तक घेर लेते हैं। इस सारे युद्ध में वह और किसी से लड़ा ही नहीं। जब देखो, वह संशप्तकों से ही उलझा रहता है। इन्हीं संशप्तकों के कारण अभिमन्यु मारा गया...

आज भी यदि अर्जुन सारा दिन संशप्तकों से ही युद्ध करता रहा तो कर्ण के लिए युद्धक्षेत्र में कोई बाधा ही नहीं रहेगी। वह पांडव सेनाओं का उन्मुक्त संहार करेगा।''' अच्छा हो कि अर्जुन आज सुशर्मा का वध कर कर्ण से लड़ने के लिए मुख्य युद्धक्षेत्र में लौट आए'''

पर युधिष्ठिर यह क्यों नहीं सोचते कि उन्हें भी सुशर्मा जैसा ही कोई योद्धा खोजना चाहिए, जो कौरवों के योद्धाओं को इधर-उधर भटकाता रहे और उन्हें मुख्य युद्धक्षेत्र में युद्ध करने ही न दे।''' पर युधिष्ठिर ने कभी इस प्रकार के युद्ध की बात ही नहीं सोची। कृष्ण के मन में यह बात आई होती तो वे निश्चित रूप से इसे अपनी नीति में सम्मिलित कर लेते।''' पर अब युधिष्ठिर और प्रतीक्षा नहीं कर सकते। उन्हें कर्ण से लड़ने वाले वीरों की सहायता के लिए स्वयं जाना चाहिए।

कर्ण ने कुछ प्रतीक्षा की किंतु अर्जुन का रथ उसके सम्मुख प्रकट नहीं हुआ।

"शल्य !" वह बोला, "अर्जुन का यहीं अंत हुआ समझो। वह संशप्तक योद्धाओं के समुद्र में डूब गया है।"

"कौन ऐसा वीर है, जो जल से वरुण को और सामिधा से अग्नि को मार सके।" शल्य ने मुस्कराकर कर्ण की ओर देखा, "विजयाभिलाषी भीम खड़ा है, उसकी ओर चलें ?"

कर्ण ने शल्य की ओर देखा : कर्ण को लगा, शल्य उसे भीम से डराने का प्रयत्न कर रहा था।

"चलो।" कर्ण बोला, "अर्जुन के आने तक उस मोटे को ही पाठ पढ़ा आते हैं।"

कर्ण का रथ बढ़ा। उसने पांचाल और चेदि सेना पर आक्रमण किया। सात्यकि को यह अवसर अपने अनुकूल लगा। वह कर्ण का सामना करने के लिए डट गया।

दुर्योधन मद्रों, कौरवों और कैकेयों को लेकर कर्ण की रक्षा के लिए आगे बढ़ा।

कर्ण को भीम के पीछे युधिष्ठिर का रथ भी दिखाई दे रहा था। उसने सात्यकि और भीम की उपेक्षा कर सीधे युधिष्ठिर को पीड़ा देने की सोची। राजा को संकट में देखकर अर्जुन स्वयं ही दौड़ा आएगा। नहीं आएगा तो और भी अच्छा है, उसका राजा बंदी हो जाएगा।

कर्ण ने पहले ही रेले में पांचाल और चेदि सैनिक रौंद डाले। अनेक प्रभद्रकों के शव भी भूमि पर आ गिरे। धृष्टद्युम्न की पांचाल वाहिनियाँ कर्ण को घेर कर खड़ी हो गईं। कर्ण ने प्रभद्रकों को छोड़ दिया और भानुदेव, चित्रसेन, सेनाबिंदु, तपन और शूरसेन पाँच प्रमुख पांचालों को मार गिराया।

धृष्टद्युम्न का रक्त खौल उठा''' यह सूतपुत्र''' यही है पांडवों के सारे अपमान का कारण। इसी ने द्यूतसभा में धृष्टद्युम्न की भगिनी, पांचाल राजकुमारी कृष्णा के लिए वे सारे अपशब्द कहे थे।'''

धृष्टद्युम्न, सात्यकि, पाँचों द्रौपदेयों, भीम, शिखंडी, नकुल तथा सहदेव ने कर्ण पर आक्रमण कर दिया।

कर्ण के पुत्र सुषेण ने भीम का ध्यान अपने पिता पर केन्द्रित देखा तो भय से काँप गया। यह भीम जाने क्या कर दे। वह कुछ भी कर सकता था। उसने द्रोणाचार्य को उनके रथ समेत उठाकर फेंक दिया था।··· वह भीम को युद्ध का अवसर ही नहीं देना चाहता था। उसने तत्काल—एक प्रकार की त्वरा में, भीम का धनुष काट डाला और उसके वक्ष में एक के पश्चात् एक कर, सात बाण मारे।

सुषेण का यह दुस्साहस देखकर, भीम जैसे किसी तंद्रा से जागा। पहली बार उसने देखा कि वहाँ कर्ण के अतिरिक्त और भी योद्धा खड़े हैं। भीम उनको योद्धा नहीं मानता। न माने, किंतु वे तो युद्धक्षेत्र में खड़े हैं। भीम उनकी ओर ध्यान नहीं देगा तो क्या वे लोग उससे युद्ध नहीं करेंगे ? या उस पर प्रहार नहीं करेंगे ?

भीम ने नया धनुष लेकर सुषेण के धनुष की प्रत्यंचा ही नहीं काट डाली, उसे अपने बाणों से घायल भी कर दिया। सुषेण बच्चा था तो क्या हुआ। घटोत्कच भी बच्चा था। अभिमन्यु भी बच्चा था।···

सुषेण से निबटकर उसने कर्ण पर जैसे बाणों की झड़ी लगा दी। सुषेण को निष्क्रिय देखकर कर्ण का दूसरा पुत्र भानुसेन अपने पिता की रक्षा के लिए आगे बढ़ आया। उसके आकस्मिक हस्तक्षेप से भीम तप उठा। उसने एक ही प्रबल बाण से भानुसेन के प्राण हर लिए।

भीम का धनुष ऐसे बाण उगल रहा था, जैसे कोई ज्वालामुखी अग्नि उगलता है। कृतवर्मा और कृपाचार्य ने बाधा देनी चाही तो भीम ने उनके धनुष भी काट कर उन्हें गंभीर चोट पहुँचाई। दुर्योधन को छह लौहबाण मारे और शकुनिपुत्र उलूक को रथहीन कर दिया।

अब भीम को सुषेण का ध्यान आया। बहुत बढ़कर बाण मार रहा था न वह। उसे भी पाठ पढ़ा ही दिया जाए। भीम ने एक घातक बाण सुषेण पर छोड़ा।

कर्ण अब तक सँभल चुका था। वह भीम को केवल अखाड़े का मल्ल ही समझता रहा था। पर भीम ने अपने धनुर्धर होने का भी प्रमाण दे दिया था। यह पहला अवसर नहीं था। भीम इससे पूर्व भी अनेक बार अपने उत्तम शस्त्रयोद्धा होने का प्रमाण दे चुका था, किंतु जाने क्यों कर्ण के मन पर उसकी और कोई छवि ठहरती ही नहीं थी।··· अब और प्रमाद नहीं हो सकता था। भीम ने भानुसेन का वध कर ही दिया था। यदि उसको रोका न गया तो वह सुषेण के भी प्राण हर लेगा।···

कर्ण का क्रोध भी बढ़ रहा था और भय भी। वह भीम और अर्जुन का सामना कर सकता था, पर वह इस प्रकार अपने पुत्रों को अपनी आँखों के सामने मरते हुए नहीं देख सकता था।··· उसने कुंती को वचन दिया था कि वह सिवाय अर्जुन के और किसी पांडव का वध नहीं करेगा, किंतु यदि उसने भीम का वध नहीं किया तो भीम

सुषेण का वध कर देगा। अब या तो वह अपना वचन ही बचा ले या अपने पुत्र की रक्षा कर ले।... उसे युद्ध के आरंभ में ही सोचना चाहिए था कि युद्ध में अपने पुत्रों को मरते हुए देखकर कैसा लगता है।... क्या ऐसा नहीं हो सकता कि पांडव भी केवल उससे ही युद्ध करें, उसके पुत्रों को स्वयं अपने प्रतिद्वंद्वी चुनने दें ?... पर ऐसा कैसे हो सकता है। कर्ण ने भी तो अभिमन्यु और घटोत्कच के वध के समय यह सब नहीं सोचा था।...

कर्ण ने भीम का बाण बीच में ही काट दिया और उस पर बाण पर बाण चलाता चला गया।

सुषेण ने अपने पिता को भीम से सुरक्षित देखा तो नकुल के संभावित आक्रमण को रोकने के लिए उसकी भुजाओं और वक्ष पर पाँच बाण मारे। नकुल ने उसे देखा। अपना धनुष उधर मोड़ा और सुषेण को आहत कर दिया।

कर्ण ने पुत्र के वक्ष से रक्त बहता देखा तो उसका मन भय से काँप उठा। यद्यपि अभी सुषेण नकुल से लड़ रहा था और उसने नकुल का धनुष काटकर उसे चोट भी पहुँचाई थी; किंतु वह नकुल जैसे अनुभवी योद्धा से पार नहीं पा सकेगा। इन लड़कों के साथ यही समस्या है, वे शत्रु पर प्रहार करते हैं तो यह नहीं सोचते कि शत्रु भी तो उन पर वार करेगा। उससे अपने बचाव की चिंता नहीं करते।... यह नहीं सोचते कि उन्हें संकट में देखकर उनके पिता के मन पर क्या बीत रही होगी। वे अपने लिए नहीं, अपने पिता के लिए नए-नए मोर्चे खोलते जा रहे हैं।...

नकुल ने नया धनुष उठाया और अपने प्रबल प्रहार से सुषेण को आगे बढ़ने से रोक दिया। उसके सारथि और अश्वों को घायल कर दिया और उसके धनुष के टुकड़े कर दिए।...

तभी वृषसेन आगे बढ़ आया। उधर से सात्यकि का रथ उसके सामने आ लगा। भीम, नकुल और सुषेण तीनों के ही रथ कुछ दूर हट गए थे।... पर वृषसेन कितना भी वीर क्यों न हो, वह सात्यकि की तुलना में बहुत दुर्बल पड़ रहा था। सात्यकि ने एक ही झपाटे में उसको धनुषहीन, तथा उसके सारथि और अश्वों को पंगु कर दिया था। वृषसेन कुछ देर तक तो अपने उस अचल रथ पर किंकर्तव्यविमूढ़-सा बैठा रहा; किंतु फिर कुछ सोचकर ढाल तलवार लेकर रथ से कूद पड़ा और सात्यकि की ओर दौड़ा।... सात्यकि असावधान नहीं था। उसने अपने वाराहकर्ण बाणों से उसकी ढाल और तलवार दोनों ही के टुकड़े कर दिए।

दुःशासन श्येन के समान झपटकर आया और वृषसेन को अपने रथ पर बैठा कर ले गया, नहीं तो वृषसेन के प्राण किसी भी प्रकार नहीं बचते।

कर्ण को लग रहा था कि वह अपने पुत्रों की चिंता में इस प्रकार उद्विग्न हो उठा है कि वह अपने शत्रुओं से लड़ ही नहीं पा रहा। भानुसेन मारा जा चुका था। सुषेण आहत था; किंतु किसी प्रकार लड़ रहा था और अब यह वृषसेन... । कहाँ ले गया

है उसे दुःशासन ? वृषसेन अभी तक नए रथ और शस्त्रास्त्रों से सज्जित होकर लौटा क्यों नहीं ? नए रथ की तो कोई समस्या ही नहीं थी। कर्ण के साथ कितने ही अतिरिक्त रथ ऐसी ही किसी स्थिति से निबटने के लिए चल रहे थे। पर वृषसेन अभी लौटा नहीं था। क्या उसे कोई गंभीर चोट आ गई है ? क्या दुःशासन उसे युद्ध वैद्य के पास ले गया है ? शल्यचिकित्सा की आवश्यकता तो नहीं है ?··· शल्यचिकित्सा··· उसका मन इस शब्द पर अटक गया। शल्य उसका सारथि था और प्रातः से उसकी पर्याप्त चिकित्सा कर चुका था कर्ण। अब तो बहुत देर से उससे कर्ण की कोई बात भी नहीं हुई थी।··· अर्जुन भी अभी तक कहीं दिखाई नहीं पड़ा है। संभवतः उसे फिर संशप्तकों ने उलझा लिया था। सुशर्मा ने इस युद्ध में अर्जुन को इतना सीमित कर दिया है कि जैसे अर्जुन पूर्णतः इस युद्ध में लड़ ही न रहा हो। उनके सम्मुख न अर्जुन की वीरता काम आ रही है, न कृष्ण की नीति–नहीं तो वे दोनों भी अब तक यहाँ आ चुके होते।···

वृषसेन दूसरे रथ में लौट आया था। उसने आते ही पूरे वेग से द्रौपदेयों, सात्यकि, भीम, सहदेव, नकुल, शतानीक, शिखंडी और युधिष्ठिर पर आक्रमण कर दिया।··· एक साथ इतने लोगों से उलझने का क्या लाभ–कर्ण सोच रहा था–यह वृषसेन का आक्रोश है या उसकी अनुभवहीनता। जो कुछ भी है, इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा।

कर्ण ने उसे संकेत किया। उसे वापस अपने स्थान पर आ जाना चाहिए था, जहाँ से वह कर्ण की पृष्ठरक्षा कर रहा था। उसके इस सारे सामर्थ्य का क्या लाभ–यदि वह उसके कारण मारा ही जाता है; और अपने पिता को असुरक्षित और दुखी छोड़ जाता है।···

कर्ण ने देखा, सात्यकि ने दुःशासन को अनेक बाण मारकर घायल कर दिया था। उसके सारथि और अश्वों को हताहत कर उसे पंगु बना दिया था।··· पर दुःशासन के पास तत्काल दूसरा रथ आ गया था। उसकी चिंता कर्ण को नहीं करनी पड़ी। उधर पांडव पक्ष से धृष्टद्युम्न आगे आ गया था और उसने सीधे कर्ण पर ही आक्रमण किया था। शायद यह पांडवों का सुनियोजित आक्रमण था। उनके अनेक महारथी निकट आते हुए दिखाई पड़ रहे थे।

धृष्टद्युम्न ने कर्ण पर बाण चलाए। अन्य लोग भी निकट घिर आए थे; किंतु कर्ण को तो बस युधिष्ठिर ही दिखाई पड़ रहा था। यदि युधिष्ठिर उसके हाथ आ जाए तो अन्य किसी से युद्ध करने की भी आवश्यकता नहीं है।··· कर्ण ने सामने आए महारथियों को बाणों से रौंद कर युधिष्ठिर की सेना में प्रवेश किया। उसका धनुष जैसे युधिष्ठिर को लक्ष्य कर ही स्थिर हो गया था और निरंतर बाणों की वर्षा कर रहा था।··· पर पांडव असावधान नहीं थे। भीम, नकुल, सहदेव, शिखंडी और सात्यकि ने आकर उसे न केवल रोक दिया, एक प्रकार से आवृत्त भी कर लिया।

युधिष्ठिर अपने महारथियों की आड़ से निकलकर सामने आ गए।··· उन्होंने अर्जुन को कर्ण से लड़ने के लिए भेजा था। अर्जुन मार्ग में कहीं भटक गया। वह अभी तक

अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँचा था। युधिष्ठिर और धैर्य नहीं रख सकते। वे कर्ण से लड़ने स्वयं ही आ गए थे। कब तक वे अर्जुन के भरोसे बैठे रहेंगे।

"कर्ण ! बहुत लोभ है तुम्हें युद्ध का। आओ, आज मैं तुम्हारी साध पूरी कर ही दूँ।"

शांतिप्रिय युधिष्ठिर के मुख से युद्ध की चुनौती सुनकर कर्ण को हँसी आ गई। वह युद्ध संबंधी ऐसी चुनौती और युधिष्ठिर में जैसे कोई संबंध ही नहीं जोड़ पा रहा था।...उसने हँसकर दस वत्सदंत बाण युधिष्ठिर पर छोड़ दिए। युधिष्ठिर का कवच वत्सदंतों को रोक नहीं सका। कवच क्षतविक्षत हो गया और वे घायल हो गए।

युधिष्ठिर ने अपने शरीर में चुभे उन बाणों की ओर देखा और अपने धनुष की प्रत्यंचा खींच कर बाण कर्ण पर छोड़ दिया। युधिष्ठिर के आक्रोश सरीखा वह बाण कर्ण की बाईं पसली में जा धँसा। कर्ण के हाथ से विजय धनुष छूट गया। वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा।

शल्य ने कर्ण की ओर देखा। योद्धा पूर्णतः अचेत था। योद्धा को बचाने का पूर्ण दायित्व सारथि का ही था। शल्य को अपना ही यह विचार कहीं हृदय में गड़ता-सा लगा। पर इस समय कर्तव्य तो करना ही था।

पांडव महारथियों ने जिस प्रकार कर्ण के रथ को घेर रखा था, उनसे बचकर निकलना सरल नहीं था। यह शल्य के सारथ्य की परीक्षा थी। पांडवों के बीच में से होकर निकलने के प्रयत्न में कहीं, उसका रथ पांडवों के आधिपत्य में ही न चला जाए। उससे तो अच्छा है कि वह अपने रथ को वहीं रोक कर कौरव महारथियों के रथों के आगे बढ़ने की प्रतीक्षा करे। दुर्योधन निकट ही है। वह कर्ण की रक्षा के विचार से ही तो साथ-साथ है। उसे किसी भी क्षण यहाँ उपस्थित हो जाना चाहिए; और तत्काल कर्ण के रथ को अपनी सेना की सुरक्षा में ले लेना चाहिए।

शल्य ने वल्गा खींच ली। अश्व रुक गए। शल्य ने रथ की बैठक में उपस्थित युद्ध-वैद्य की ओर देखकर आँखों के संकेत से ही कहा, 'कुछ करो।'

वैद्य ने पसली का बाण निकालने का प्रयत्न आरंभ कर दिया था।

"कुछ हो पाएगा या रथ को लौटाऊँ ?" शल्य ने कहा, "कुछ देर सँभाल लो तो रथ के लिए शायद मार्ग बन जाए।"

"बाण तो निकल आएगा।" वैद्य ने कहा, "नाड़ी कह रही है कि औषधि की सहायता से अभी थोड़ी देर में उठ बैठेंगे।"

"ठीक है।"

शल्य ने दृष्टि उठाकर युधिष्ठिर की ओर देखा। यदि युधिष्ठिर निकट आ जाएँ तो शल्य को शस्त्र भी उठाना पड़ सकता है। अपने रथी की रक्षा तो उसे करनी ही थी, चाहे वह कर्ण ही क्यों न हो। युधिष्ठिर उस पर भी तो प्रहार कर सकते थे। ऐसा तो नहीं है कि युद्ध में सारथि मारे नहीं जाते।... और फिर युधिष्ठिर और भीम की

तुलना में तो शल्य को अधिक भय नकुल और सहदेव से था। युधिष्ठिर तो फिर उनका कौरव पक्ष में जाना क्षमा कर सकते हैं। नकुल तथा सहदेव उन्हें उसके लिए कभी क्षमा नहीं करेंगे।

यदि इस समय युधिष्ठिर अपना हाथ नहीं रोकते तो कर्ण का बचना कठिन था।··· पर युधिष्ठिर ने अचेत कर्ण पर प्रहार नहीं किया।···

शल्य चकित थे।··· क्यों नहीं किया प्रहार युधिष्ठिर ने ? कर्ण को पूर्णतः अपने वश में पाकर भी उन्होंने उसे क्यों नहीं मारा ? केवल इसलिए कि अर्जुन ने कर्ण का वध करने की प्रतिज्ञा कर रखी है ?··· कर्ण को मारना ही तो है। यदि अर्जुन द्वारा उसका वध किए जाने से पहले युधिष्ठिर को अवसर मिल रहा है तो क्या युधिष्ठिर उसका वध नहीं करेंगे ? शायद नहीं करेंगे। भीम ने भी तो कर्ण को पूर्णतः अपने वश में पाकर छोड़ दिया था। पर क्यों ? कोई योद्धा ऐसा कैसे कर सकता है ? ये लोग यह क्यों नहीं सोचते कि कर्ण बच गया तो वह इनकी कितनी बड़ी हानि कर सकता है।···

तभी कर्ण की चेतना लौटी। वह उठ खड़ा हुआ। वैद्य को परे धकेल उसने धनुष उठा लिया और युधिष्ठिर को अपने बाणों से ढँक दिया।

युधिष्ठिर का धनुष कट गया। कवच छिन्न-भिन्न हो गया। उनका शरीर अपने रक्त से भीग गया था। युधिष्ठिर ने दृष्टि उठाकर कर्ण की ओर देखा।··· पर दोष कर्ण का तो नहीं था। वे ही तो उसकी ओर से असावधान हो गए थे। वह अचेत ही तो हुआ था, निष्प्राण तो नहीं हो गया था। चेतना का क्या है, कभी भी लौट सकती है। योद्धा गिरता है और फिर उठकर खड़ा हो जाता है। वे कर्ण को भूल क्यों गए थे ?

नहीं ! वे कर्ण को भूले नहीं थे। कर्ण के गिरते ही कौरव सेना का दबाव इतना बढ़ गया था··· और कहीं युधिष्ठिर को अर्जुन की प्रतीक्षा भी थी।··· वे अन्य लोगों से युद्ध करने लगे थे। कर्ण उठ खड़ा हुआ था। कौरव चारों ओर से घिरते आ रहे थे···अर्जुन अभी तक नहीं आया था···

युधिष्ठिर ने कर्ण पर एक शक्ति चलाई। कर्ण ने उसे काट डाला। युधिष्ठिर ने एक के पश्चात् एक कर चार तोमर चला दिए। तोमरों ने कर्ण के शरीर को पुनः घायल कर दिया। उसके शरीर से पुनः रक्त बहने लगा था। कर्ण को जैसे किसी आवेश ने जकड़ लिया। उसने भल्लों की मार से युधिष्ठिर के रथ की ध्वजा काट डाली। तीन बाणों से उनको आहत किया। रथ में सामने बँधे दोनों तूणीर काट डाले। और रथ के भी टुकड़े कर दिए। युधिष्ठिर को कष्ट में देखकर उसे एक विचित्र प्रकार का सुख मिलता था।···

युधिष्ठिर के प्राणों पर संकट देखकर पांडव सेनाएँ घिर आईं। सात्यकि और शिखंडी के साथ भीम, नकुल तथा सहदेव कर्ण के बहुत निकट आ गए थे। कर्ण का युधिष्ठिर विषयक क्रोध जैसे सात्यकि की ओर मुड़ गया था। उसने सात्यकि के रथ के घोड़े मार

दिए, उसके सारथि का वध कर डाला। सात्यकि ने कर्ण पर शक्ति का प्रहार किया; किंतु कर्ण ने शक्ति को मार्ग में ही काट डाला। उसने युधिष्ठिर पर पुनः प्रहार किया।

इस बीच युधिष्ठिर के लिए नया रथ आ गया था। युधिष्ठिर स्वयं रथ में बैठने में समर्थ नहीं रह गए थे। उनको रथारूढ़ कराया गया। युधिष्ठिर रथ में लेट गए। उनके लिए बैठना भी संभव नहीं था। युद्ध तो क्या करते। रथ में उपस्थित वैद्य उनका रक्तस्राव बंद करने का प्रयत्न कर रहा था।

"राजन् ! मेरा प्रस्ताव है कि रथ शिविर की ओर ही चले।" वैद्य बोला, "इस स्थिति में आप युद्ध नहीं कर पाएँगे। रक्त का स्राव रुक तो जाएगा; किंतु युद्ध से रक्त पुनः स्रवित होने लगेगा। आज के लिए तो आप युद्ध स्थगित ही कर दें।"

युधिष्ठिर ने दृष्टि उठाकर चारों ओर देखने का प्रयत्न किया।

"अर्जुन कहाँ है ?"

"अभी तो कहीं दिखाई नहीं पड़ रहे।" सारथि बोला।

युधिष्ठिर का मन खिन्न हो उठा।... जाने अर्जुन के लिए कर्ण से भी महत्त्वपूर्ण कौन हो गया है। कृष्ण भी तो उसके साथ हैं—क्या कर रहे हैं, ये लोग ?

"तो चलो। युद्ध से कुछ दूर ले चलो। अभी अपने सैन्य निवेश की ओर जाने की आवश्यकता नहीं है।" युधिष्ठिर धीरे से बोले।

कर्ण ने युधिष्ठिर का रथ पीछे मुड़ते देखा तो वह उनका पीछा करने का लोभ संवरण नहीं कर सका। यदि दुर्योधन, दुःशासन, कृतवर्मा और अश्वत्थामा थोड़ी देर भीम को रोके रखें तो कर्ण युधिष्ठिर को जीवित पकड़ सकता है। वह कुछ ही क्षणों में दुर्योधन का जीवन भर का स्वप्न पूरा कर सकता है।...

"शल्य ! युधिष्ठिर का पीछा करो।"

शल्य ने रथ तो मोड़ दिया किंतु साथ ही चकित दृष्टि से कर्ण की ओर देखा... क्या इच्छा है उसकी ? यह आहत होकर गिर गया था तो युधिष्ठिर ने तो उसे और हानि पहुँचाने का कोई प्रयत्न नहीं किया।...

"रथ उसके एकदम निकट ले चलो।" कर्ण बोला, "मैं बलपूर्वक युधिष्ठिर को बंदी करूँगा।"

"युधिष्ठिर को हाथ मत लगाना।" शल्य के मुख से अनायास ही निकल गया। वह तत्काल सचेत भी हो गया। उसके आक्रोश का यह आकस्मिक विस्फोट कैसे हो गया। कुछ सँभलकर उसने कहा, "युधिष्ठिर का रोष ही तुम्हें भस्म कर देगा।"

कर्ण ने शल्य की बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया, किंतु कुंती की क्रोधमयी मुद्रा उसकी आँखों के सामने घूम गई।... उसने वचन दिया था कुंती को कि वह सिवाय अर्जुन के और किसी पांडव का वध नहीं करेगा। अब यदि उसने अपना वचन तोड़ा तो...

उसके हाथ जैसे किसी अदृश्य शक्ति ने जकड़ लिए, किंतु उसकी जिह्वा उन्मुक्त

हो गई।

"युधिष्ठिर ! क्षत्रिय युद्ध से भागते नहीं। तुम क्षत्रिय धर्म में निपुण नहीं हो'''।"

युधिष्ठिर ने तो कोई उत्तर नहीं दिया किंतु शल्य की इच्छा हुई कि वह वे सारे प्रसंग गिना दे, जिनमें स्वयं कर्ण रणभूमि से भाग गया था और शायद उनमें से एक भी अवसर ऐसा नहीं था, जिसमें कर्ण युधिष्ठिर के समान इतना घायल हुआ हो।'''

"तुम ब्रह्मबल, स्वाध्याय और यज्ञकर्म में ही निपुण हो।" कर्ण ने कहा, "अतः न युद्ध किया करो, न वीरों के सामने आया करो। अपने घर जाओ या वहाँ जाओ, जहाँ कृष्ण और अर्जुन हैं। कर्ण समरांगण में तुम्हारा वध नहीं करेगा।"

कर्ण ने कह तो दिया; किंतु तत्काल ही जैसे वह डर गया। यदि दुर्योधन को इसकी सूचना मिलेगी तो वह क्या कहेगा ? पहले भी नकुल को छोड़ने के कारण वह उससे रुष्ट हो चुका है।''' इस बार तो उसने युधिष्ठिर को छोड़ दिया है।''' पर वह कह सकता है कि वह तो युधिष्ठिर को जीवित पकड़ने का प्रयत्न कर रहा था। बस वह हाथ में आता-आता ही फिसल गया'''

यदि वह युधिष्ठिर को पकड़ लेता है तो वह स्वयं को दुर्योधन और कुंती दोनों के ही प्रति निष्ठावान सिद्ध कर सकता है। उसने कुंती को यही वचन तो दिया था कि वह चार पांडवों का वध नहीं करेगा। उसने यह तो नहीं कहा था कि वह उसको बंदी भी नहीं करेगा।''' कर्ण का मस्तिष्क कभी-कभी फटने लगता था। इन दो स्त्रियों ने उसे विक्षिप्त कर रखा था।''' कुंती की मूर्ति सामने आती थी तो वह कुछ और हो जाता था। वह कुंती के पुत्रों को कष्ट देना नहीं चाहता था; किंतु जब द्रौपदी की छवि उनके सामने उभरती थी तो उसके मन में जैसे रौरव की अग्नि प्रज्वलित हो उठती थी। वह इन पांडवों के प्राण ले लेना चाहता था। इन्होंने ही द्रौपदी को उससे छीन लिया था। वह द्रौपदी से भी रुष्ट था। उसने उसे अपने स्वयंवर में सम्मिलित होने नहीं दिया था, किंतु इन लोगों ने उसे अपनी पत्नी बना लिया था, बिना स्वयंवर में भाग लिए, बिना द्रौपदी को जय किए। क्या विडंबना थी कि उसने भावुकता के उन क्षणों में कुंती को वचन दे दिया कि वह इनका वध नहीं करेगा'''

युधिष्ठिर के मन में खीज जन्मी।''' इस व्यक्ति को कोई क्या कहे, जो बोलने से पहले कुछ भी सोचता नहीं है। अपने व्यवहार पर तो कभी उसकी दृष्टि जाती ही नहीं है। युद्धों से भागने का जिसने इतिहास रचा हो, वह दूसरों पर कटाक्ष कर रहा है।''' अभी थोड़ी देर पहले जो उनके बाण से विद्ध हो अचेत पड़ा था, वह कर्ण तो वीर हो गया; और जिस युधिष्ठिर ने उसे असमर्थ जानकर उस पर प्रहार करना उचित नहीं समझा, वह क्षत्रिय समझे जाने योग्य भी नहीं रह गया।

युधिष्ठिर का शरीर आहत था; किंतु उससे अधिक उनका मन खिन्न था।''' कर्ण के बाणों और वाग्बाणों की तो वे क्या कहें, उन्हें व्यथित करने के लिए तो उनके अपने भाई अर्जुन का व्यवहार ही पर्याप्त था। अर्जुन कहाँ रह गया ? वे तो उसकी प्रतिज्ञा

पूरी करने के लिए असमर्थ कर्ण को भी जीवित छोड़ देते हैं और अर्जुन का कहीं पता ही नहीं है। वह समय से नियुक्त स्थान पर पहुँचता क्यों नहीं। शेष सब लोग आ गए, एक वही नहीं आया, जिसका कर्ण से युद्ध करने के लिए चयन किया गया था।··· वह कर्ण से भयभीत है क्या ? या वह कर्ण से लड़ना नहीं चाहता ?···

पर युधिष्ठिर ऐसा कुछ भी नहीं सोच सकते। कृष्ण सारथ्य कर रहे हैं अर्जुन का। वे अर्जुन को कर्ण से भागने नहीं देंगे। उन पर संदेह नहीं किया जा सकता। कृष्ण पर संदेह करना, धर्म पर संदेह करना है, ईश्वर पर संदेह करना है। ··· तो फिर अर्जुन के न आने का कारण ?

पर फिर भी युधिष्ठिर लज्जित थे। कर्ण उनका पीछा कर रहा था, उन पर कटाक्ष कर रहा था, उनकी वीरता को ललकार रहा था और वे रुककर उस पर वाण संधान नहीं कर सकते थे। वे उसके सामने पड़कर अपनी और दुर्दशा करवाना नहीं चाहते थे।··· नकुल और सहदेव अपने पांडव, चेदि और पांचाल सैनिकों के साथ उनके पीछे आ रहे थे कदाचित् उनकी रक्षा के लिए ही। भीम, सात्यकि और धृष्टद्युम्न ने भी देख लिया था कि युधिष्ठिर आहत थे, युद्ध में असमर्थ थे और कर्ण उनका पीछा कर रहा था। उन्होंने भी अपने रथ मोड़ लिए। इस समय युधिष्ठिर के प्राणों की रक्षा ही उनका प्रमुख कर्तव्य था।

कर्ण ने कुछ देर तो पीछा किया; किंतु उसका मस्तिष्क दूसरी ओर चल पड़ा। युधिष्ठिर का पीछा करते हुए उसके शिविर तक जाने का उसका लक्ष्य नहीं था। उसका कोई लाभ नहीं था। युधिष्ठिर का वध वह करना नहीं चाहता था और उसे बंदी वह कर नहीं पाएगा।··· उधर उसकी अनुपस्थिति में कहीं कौरव सेना का सत्यानाश ही न हो जाए। उसे अपनी सेना में लौट जाना चाहिए था, नहीं तो आगे भागते हुए युधिष्ठिर, नकुल तथा सहदेव और पीछे से आते हुए भीम, सात्यकि और धृष्टद्युम्न के मध्य फँस जाएगा। वह अपने प्राणों की चिंता न भी करे, किंतु अपने पृष्ठ तथा चक्ररक्षक पुत्रों को वह इस प्रकार यमराज को समर्पित नहीं कर सकता था। यह युद्ध नीति नहीं थी।···

"शल्य ! सेना में वापस लौटो।" उसने कहा।

युधिष्ठिर ने देखा कि कर्ण अब उनके पीछे नहीं आ रहा; किंतु उनके अपने रथ का वेग भी शिथिल होता जा रहा है।

"क्या हुआ ?" उन्होंने सारथि से पूछा, "गति इतनी मंथर क्यों है ?"

"महाराज ! घोड़े बहुत थक गए हैं।"

"पर यह रथ तो अभी ही आया है रणभूमि में।"

"रथ तो अभी ही आया है महाराज ! किंतु इन अश्वों को कल से तनिक भी विश्राम नहीं मिला है।"

"ओह !" वे बोले, "यह तो अत्याचार है। इन्हें विश्राम करने दो।"

रथ रुक गया। युधिष्ठिर ने श्रुतकीर्ति के रथ पर आरूढ़ होकर देखा : भीम, सात्यकि

और धृष्टद्युम्न उनकी रक्षा के लिए आ रहे थे और सामने कर्ण उनकी सेना को ध्वस्त किए दे रहा था।

युधिष्ठिर अपना आवेश रोक नहीं सके, "मेरे पीछे क्यों आ रहे हो। इन शत्रुओं को मारो।"

भीम का रथ सबसे पहले रुका। उसके साथ ही सात्यकि और धृष्टद्युम्न के रथ भी रुक गए। वे लोग कौरवों पर टूट पड़े। भीम इस समय बहुत ही उग्र हो रहा था। युधिष्ठिर के शरीर से बहता रक्त जैसे उसके अपने हृदय से रक्त टपका रहा था। शकुनि ने भीम को रोकने का प्रयत्न किया; किंतु वह उसके लिए संभव नहीं था। कर्ण की दृष्टि उधर गई। युद्ध का परिदृश्य जैसे एकदम बदल गया था। थोड़ी देर पहले तक युधिष्ठिर भाग रहे थे और इस समय दुर्योधन और उसके सैनिक भाग रहे थे। भीम का सामना करने का साहस कोई नहीं कर रहा था। उसने शल्य को संकेत किया, "भीम के सामने चलो।"

भीम ने कर्ण का रथ अपनी ओर आता देखा तो वह सात्यकि और धृष्टद्युम्न से बोला, "तुम लोग राजा युधिष्ठिर की रक्षा करो। वे अभी-अभी प्राणों के संकट से मुक्त हुए हैं। कर्ण को मैं देखता हूँ। आज या तो मैं ही कर्ण को मारूँगा या वह ही मुझे मार डाले। मैं कब तक उसे अर्जुन के लिए जीवित छोड़ सकता हूँ। अर्जुन उसका शत्रु होने के स्थान पर एक प्रकार से उसका रक्षक ही हो गया है। जाओ। राजा तुम्हारे पास धरोहर रूप हैं।"

शल्य ने कर्ण की ओर देखा, "भीम असाधारण रूप से क्रुद्ध दिखाई दे रहा है। इतना क्रुद्ध तो वह घटोत्कच और अभिमन्यु के मरने पर भी नहीं हुआ था।"

"तुम शायद मुझे डराने के लिए यह सब कह रहे हो। पर अच्छा है कि वह क्रोध में है।" कर्ण बोला, "क्रोध में ही मनुष्य असावधान हो जाता है। उसे भी उन्माद में लड़ने दो। मैं भीम का वध कर दूँगा तो अर्जुन मुझसे लड़ने अवश्य आएगा।"

"तुम भीम का वध कर दो।" शल्य हँस पड़ा, "अर्जुन अवश्य आएगा।"

शल्य की हँसी कर्ण के हृदय में घाव कर गई। स्पष्टतः शल्य उसका विद्रूप बना रहा था। उसने आँखें तरेरीं, "तुम चलो तो।"

कर्ण को बहुत दूर तक नहीं जाना पड़ा। भीम स्वयं ही उस पर आक्रमण करने के लिए आ पहुँचा था।

कर्ण ने पहला बाण ही भीम के वक्ष में मारा। भीम कुछ असावधान हुआ तो कर्ण ने उसका धनुष काट दिया। भीम ने दूसरा धनुष उठा लिया और उसने कर्ण के मर्मस्थल पर प्रहार किया। दोनों ओर से भयंकर बाण चल रहे थे। भीम पर्याप्त घायल हो चुका था। उसका सारा शरीर जैसे रक्त से भीग उठा था। भीम ने क्रोध से अपने दाँत पीसे और कर्ण के वध का संकल्प कर एक भयंकर बाण अपने धनुष पर चढ़ा कर छोड़ दिया। भीम के बाण ने कर्ण को ऐसे चीर डाला जैसे वज्र पर्वत को विदीर्ण करता है।

कर्ण अचेत होकर रथ की बैठक में जा गिरा। उसका सारा शरीर रक्त से भीग गया था। वह ऐसा निःस्पंद हो गया था, जैसे उसके प्राण ही निकल गए हों।

शल्य ने रथ वैद्य की ओर देखा : वैद्य कर्ण की नाड़ी पकड़े बैठा था।

शल्य की समझ में कुछ नहीं आ रहा था। भीम सिर पर आ पहुँचा था और कर्ण की रक्षा के लिए कोई कौरव योद्धा निकट भी नहीं फटका था। उसके पृष्ठरक्षक और चक्ररक्षक भी पांडवों की सेना के बीच फँस गए थे। दुर्योधन तो आसपास दिखाई भी नहीं दे रहा था। शल्य शस्त्र उठाएँगे तो रथ कौन सँभालेगा···

"भीमसेन !" सहसा शल्य ने कहा, "यदि तुम कर्ण का वध कर दोगे, तो अर्जुन की प्रतिज्ञा कैसे पूरी होगी ?"

भीम झल्ला उठा, "अर्जुन की प्रतिज्ञा कर्ण का वध करने के लिए है, उसकी जीवन रक्षा की आश्वस्ति नहीं है।"

"पर अर्जुन अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहीं कर पाया तो उसके प्राण कैसे बचेंगे ?" शल्य ने कहा, "उसके बिना तुम सारे भाई जीवित रह लोगे ? अर्जुन की मृत्यु का समाचार सुनकर पांचाली अपने प्राण धारण कर पाएगी क्या ?"

भीम का वेग जैसे कम हो गया। उसके चेहरे पर असमंजस उभरा और उसका हाथ निष्क्रिय हो गया।

"मैं कर्ण का वध नहीं करूँगा।" वह बोला, "यह कर्ण अपने शस्त्रों से तो कुछ कर नहीं पाता; किंतु अपनी जिह्वा से सबको अपमानित करता फिरता है। इसने इसी जिह्वा से धर्मराज को अपमानित किया। इसी से पांचाली को अकथनीय कहा। मैं इसकी जिह्वा काटकर इसे जीवित छोड़ देता हूँ, ताकि अर्जुन अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर ले।"

"पर भीम ! तुमने जिह्वा काट ली तो यह रक्तस्राव से ही मर जाएगा। अर्जुन की प्रतिज्ञा तो तब भी पूरी नहीं होगी। उससे तो अच्छा है कि तुम इसका कंठ ही काट दो।" शल्य ने कहा।

भीम स्तब्ध खड़ा रह गया। ठीक कह रहे थे शल्य ! रक्तस्राव से वह मर ही जाएगा। उसकी नाड़ी पकड़े बैठा वैद्य भी उसकी रक्षा नहीं कर पाएगा। अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए, अर्जुन किसी शव का वध तो नहीं कर सकता।···

"आपने इसकी रक्षा कर ली।" अंततः भीम बोला, "ले जाइए, इसे—समरभूमि से कहीं दूर।"

भीम के सामने से शल्य रथ निकालकर ले गया। भीम का मन क्रोध से जल रहा था। कैसी विवशता थी कि अपने भाई की एक प्रतिज्ञा के कारण, वह अपने सबसे बड़े शत्रु का वध भी नहीं कर सकता था। वह, जो मृतप्राय था, भीम के हाथ से जीवित बचकर निकल गया था। अभी उसकी चिकित्सा होगी और उसके तन में फिर से प्राण फूँक दिए जाएँगे। वह पुनः लौट आएगा और उन लोगों को न केवल क्षत-विक्षत करेगा, वरन् अपमानित करने से भी पीछे नहीं हटेगा।··· अपने इस क्रोध का क्या करे भीम ?

कर्ण को समरभूमि से हटते देखकर दुर्योधन के अनेक भाई मिलकर भीम पर टूट पड़े। भीम ने देखा। कितने ही पहचान में आ रहे थे : श्रुतवर्वा, दुर्धर, क्रथन, विवित्सु, विकट, सम, निषंगी, कवची, पाशी, नन्द, उपनन्द, दुष्प्रधर्ष, सुबाहु, वातवेग, सुवर्चा, धनुर्ग्राह, दुर्मद, जलसंध, शल, सह··· । उन्होंने भीम पर आक्रमण किया था। उनका यह आक्रमण भीम के लिए जैसे वरदान सिद्ध हो रहा था। उसका क्रोध एक लक्ष्य पाकर प्रसन्न हो गया था।

भीम नें सबसे पहले विवित्सु को मारा। उसके पश्चात् विकट और सम आए।··· भीम के एक-एक बाण पर जैसे वे मर रहे थे, उससे भीम को लग रहा था कि वे युद्ध नहीं कर रहे थे, युद्ध का नाटक कर रहे थे। सूत्रधार की इच्छा पर जैसे युद्ध का स्वांग कर एक-एक बाण पर गिरते जा रहे थे।··· क्रथन भी मारा गया। नन्द और उपनन्द एक साथ आए और निमिष भर के अंतराल में वे दोनों भी धराशायी हो गए···

सहसा भीम ने देखा, वे किसी अदृश्य संकेत के अधीन युद्ध छोड़कर भाग रहे थे।··· वे भय से भाग गए थे ? शायद हाँ ! पर शायद नहीं ! कर्ण का रथ लौट आया था···

कर्ण का रथ भीम की अपेक्षा से बहुत जल्दी लौट आया था। लगता था, कर्ण के वैद्य के पास भी कोई बहुत प्रभावशाली विशल्यकारिणी औषधि थी। वैसी ही, जैसी पितामह ने दुर्योधन को दी थी। संभव है कि कर्ण पर भी उसी औषधि का प्रयोग किया गया हो। नहीं तो इतनी शीघ्र कर्ण उठ नहीं सकता था। यदि पांडवों के वैद्यों के पास भी ऐसी ही कोई औषधि होती तो धर्मराज को समरभूमि से दूर जाने की आवश्यकता नहीं होती।

कर्ण लौट आया था और बहुत आवेश में था। आज के युद्ध में वह दो-दो बार अचेत हुआ था। युधिष्ठिर और भीम–दोनों ने ही उसकी अचेतावस्था में उस पर प्रहार नहीं किया था।··· कर्ण निश्चय नहीं कर पा रहा था कि वह अपने प्राण बचने के उपलक्ष्य में इसे अपना सौभाग्य माने अथवा उनकी उपेक्षा को अपना अपमान मानकर उनसे प्रतिशोध ले ?··· कितनी ही बार उसके मन में एक और विचार आ-आकर लौट रहा था–कहीं वे यह जान तो नहीं गए कि वह उनका सहोदर है ?··· नहीं ! यदि वे यह जान गए होते तो वे उससे युद्ध ही नहीं करते। चाहे दुर्योधन से पराजित होते, चाहे अपना राज्य गँवाते, किंतु वे अपने भाई से युद्ध नहीं करते।···

तो फिर वह क्यों उनके पीछे पड़ा हुआ है ?··· कर्ण के एक मन ने उससे पूछा··· अपने इस मन को देखकर कर्ण भय से काँप उठता था। जाने यह मन उससे क्या कराना चाहता था। उससे बचने का तो एक ही मार्ग था कि इस मन की बात सुनी ही न जाए।···

कर्ण भीम से भिड़ गया। कर्ण चाहे पांडवों का वध न करे, किंतु वह उनको स्वयं से श्रेष्ठ योद्धा कभी नहीं मानेगा। वह उनको कर्ण के विजेता का यश कभी

नहीं पाने देगा।...

उसने भीम को बाण चलाने का अवसर ही नहीं दिया। बाणों की ऐसी झड़ी लगा दी कि पहले भीम का शरीर घायल हुआ और फिर उसका धनुष भी कट गया। भीम ने दूसरा धनुष उठाने के स्थान पर एक परिघ उठाकर कर्ण पर दे मारा। कर्ण ने अपने बाणों से परिघ के टुकड़े कर दिए। इस बीच भीम ने भी दूसरा धनुष उठा लिया था और कर्ण को बाणों से आच्छादित कर दिया था।... उस भयंकर युद्ध की स्थिति में भी कर्ण के मन में यह प्रश्न आए बिना नहीं रह सका कि यह मल्ल यदि इतना अच्छा धनुर्धर भी है तो कोई उसका नाम धनुर्धरों में क्यों नहीं गिनता। वह तो केवल अपने शारीरिक बल से और गदाधर के रूप में ही जाना जाता है। शायद मनुष्य का अपना ही एक गुण दूसरे से ईर्ष्या कर उसे आच्छादित कर लेता है।...

कर्ण ने बिना रुके असंख्य बाण चलाए; और जब भीम पर दृष्टि डाली तो पाया कि वह उसके बाणों से क्षत-विक्षत हो चुका था। उसका शरीर गेरू से रंगे पर्वत के समान उसके अपने रक्त से भीगा हुआ था; किंतु उसके चेहरे पर ऐसा कोई भाव नहीं था, जिसको देखकर कोई समझ सके कि उसके शरीर पर एक खरोंच भी आई है। उसके चेहरे का संकल्प देखकर कोई भी भयभीत हो सकता था। और अगले ही क्षण भीम ने जो बाण चलाया, उससे उसके चेहरे के संकल्प का स्वरूप स्पष्ट हुआ। वह बाण कर्ण के कवच को भेद कर धरती में समा गया।

वेदना से कर्ण का शरीर काँपने लगा।... उसे लगा कि उसे अपने मन में उठे प्रश्न का उत्तर मिल गया है।... भीम में कर्ण अथवा अर्जुन के समान बाण संचालन की स्फूर्ति नहीं थी; किंतु उसका प्रहार उन दोनों से ही अधिक तीव्र होता था। उनके बाण संख्या में अधिक होते थे, किंतु भीम के बाण उनके बाणों से प्रबल होते थे।...

कर्ण ने भीम को पच्चीस नाराच मारे। भीम के रथ के अश्व मार दिए और उसके सारथि को भी घायल कर दिया। भीम गदा लेकर रथ से कूद पड़ा। कर्ण का रथ उससे पर्याप्त दूरी पर था। गदा के माध्यम से वह उस तक नहीं पहुँच सकता था। कर्ण की तुलना में शकुनि की गज सेना उसके अधिक निकट थी। उसने उन्हीं का संहार आरंभ किया। भीम के गदा के प्रहार से पीड़ित युद्धक गज भाग चले। उनकी अनियमित उच्छृंखल भागदौड़ से रथों के अश्व डर गए और अनेक रथ उलट गए। कौरव सेना के अपने ही गज और रथ जैसे एक-दूसरे से भिड़ गए। शकुनि ने अपनी सेना की यह दुर्दशा देखी तो भीम को रोकने के लिए, उसने अपनी अश्वारोही सेना को आने का आदेश दिया।

उस समय तक भीम के मस्तिष्क ने जैसे काम करना बंद कर दिया था। वह न कुछ देख रहा था और न ही कुछ सुन रहा था। वह एक कुशल यंत्र के समान गदा को चला रहा था। सामने आने वाला कोई भी जीव, कोई भी पदार्थ उससे टकराकर चूर्ण हो जाता था। कौरव सेना के घबराए हुए गजों और असंयत ढंग से दौड़ते हुए

दिशाहीन रथों से बचकर जो अश्वारोही भीम तक पहुँचे, वे उसकी गदा के झंझावात से आहत होकर या तो बिछ गए, या उड़ गए।

तब तक भीम के लिए नया रथ लेकर सात्यकि आ पहुँचा। सात्यकि उसके पृष्ठरक्षक की स्थिति में पहुँच गया तो उन दोनों ने मिलकर कर्ण पर आक्रमण किया। कर्ण जैसे उन दोनों के बीच घिर गया था। वह एक की ओर ध्यान देता तो दूसरे के बाण उसे सताने लगते थे। वह समझ नहीं पा रहा था कि वह स्वयं उतना कुशल योद्धा नहीं था, या फिर यह शल्य ही कुशल सारथ्य नहीं कर रहा था कि कर्ण को इन दो योद्धाओं से ही निबटने में कठिनाई हो रही थी।

कर्ण को कठिनाई में देखकर कौरव योद्धा कुछ सँभले। शकुनि, कृतवर्मा, अश्वत्थामा तथा कृपाचार्य के आ जाने से कर्ण की विपत्ति कुछ टल-सी गई। उन सबको पांडवों का सामना करते देखकर कौरव सैनिक भी लौट आए और अपने स्थान पर जम गए।...

33

अश्वत्थामा को पहले युधिष्ठिर का ध्वज दिखाई दिया और फिर निकट जाने पर रथ ही प्रकट हो गया।... 'तो यह अभी जीवित है।' उसने सोचा।

उसे सूचना मिली थी कि कर्ण ने युधिष्ठिर को इतना पीड़ित किया है कि युधिष्ठिर समरभूमि छोड़कर भाग गए हैं। उसने तो मान ही लिया था कि वे या तो प्राण त्याग चुके होंगे या फिर इतने घायल हो चुके होंगे कि उन्होंने भी भीष्म के समान शैया पकड़ ली होगी। किंतु ये तो पुनः समरभूमि में दिखाई पड़ रहे हैं। द्रौपदी के पाँचों पुत्र और सात्यकि उनकी रक्षा कर रहे थे।

और सहसा अश्वत्थामा को स्मरण हो आया कि यह वही युधिष्ठिर है, जिसे उसके पिता ने सत्यवादी माना और उसके कथन पर विश्वास कर अपने पुत्र की मृत्यु की बात सत्य मान ली। उन्होंने शस्त्र त्याग दिए और धृष्टद्युम्न ने उनका मस्तक काट लिया। यदि युधिष्ठिर ने इस प्रकार का अर्द्धसत्य न बोला होता तो उसके पिता का वध संभव नहीं था।... इसी युधिष्ठिर के षड्यंत्र से उसके पिता का वध संभव हो सका।...

अश्वत्थामा को लगा कि वह प्रसन्न है कि अभी युधिष्ठिर की मृत्यु नहीं हुई है और अभी वह समरभूमि में आने और धनुष पकड़ने में सक्षम हैं। नहीं तो अश्वत्थामा को यह क्लेश ही रह जाता कि उसने अपने पिता के हत्यारों से प्रतिशोध नहीं लिया। युधिष्ठिर को कर्ण के हाथों नहीं, अश्वत्थामा के हाथों मरना चाहिए। युधिष्ठिर के प्राणों पर कर्ण से अधिक अधिकार है, अश्वत्थामा का।

अश्वत्थामा ने अपने बाणों को दिव्यास्त्रों से अभिमंत्रित किया।... वह युधिष्ठिर से द्वैरथ युद्ध भी कर सकता था; किंतु उससे शायद युधिष्ठिर को कुछ अधिक श्वास मिल

जाएँ। उसे तत्काल मरना चाहिए था। वह दिव्यास्त्रों से ही संभव होगा। उसका ही नहीं, उसकी रक्षा करने वाले इन द्रौपदेयों और इस सात्यकि का भी।...

अश्वत्थामा को लगा, उसके मन में बहुत कटुता है। युधिष्ठिर ने अर्द्धसत्य बोल कर उसके पिता को मरवाया था। यह सात्यकि क्यों आया पांडवों को बचाने ? जब यादवों में से कोई नहीं आया युद्ध करने, तो यह ही क्यों आ गया। इसे ही पांडव इतने प्यारे क्यों हैं। बहुत इच्छा है इसकी पांडवों की रक्षा की तो यह भी मरे।... और ये पाँचों द्रौपदेय... ये पाँचों ही द्रौपदी के पुत्र हैं। बहुत प्रिय हैं ये धृष्टद्युम्न को। उसके भागिनेय जो हैं। इनकी मृत्यु होगी तो कितना रोएगी द्रौपदी ! कितना तड़पेगा धृष्टद्युम्न ! हवन कुंड में से जन्म लिया है इन दोनों ने—अश्वत्थामा के पिता द्रोण के वध के लिए। तो अपने इन पाँचों पुत्रों को युद्ध के हवनकुंड में जलते हुए देखे द्रौपदी।... ये सब अश्वत्थामा के क्रोध रूपी अग्निकुंड की समिधाएँ हैं। उसी में जलकर मरें।... दिव्यास्त्र ही ठीक हैं इनके लिए। अश्वत्थामा आज बाणों के छकड़े के छकड़े अपने साथ लेकर चला है, तो उनका उपयोग भी तो होना ही चाहिए।...

अश्वत्थामा ने युधिष्ठिर को अवरुद्ध कर दिया। सात्यकि घायल हो गया। उसको अश्वत्थामा ने अवसर ही नहीं दिया कि वह कुछ विशेष कर सके। अश्वत्थामा के दिव्यास्त्र से छूटे बाण जैसे आकाश भर रहे थे। बाणों की उस आँधी के सामने कोई पराक्रम करना संभव नहीं था। उसकी स्फूर्ति देखकर युधिष्ठिर चकित रह गए थे। पर यह अवसर चकित खड़े रहने का नहीं था। आज कर्ण ही कम नहीं था, यदि अश्वत्थामा की इस उग्रता को नहीं रोका गया तो वे विनाश कर देंगे।

युधिष्ठिर ने अपने प्राणों का मोह छोड़कर अश्वत्थामा पर आक्रमण किया। उधर अश्वत्थामा ने श्रुतकीर्ति का धनुष काट दिया। युधिष्ठिर के धनुष की भी प्रत्यंचा अश्वत्थामा ने काट दी। युधिष्ठिर ने तत्काल दूसरा धनुष लेकर अश्वत्थामा को बींध डाला। इससे सात्यकि को अवसर मिल गया। उसने अर्द्धचंद्राकार बाणों से अश्वत्थामा का धनुष काट दिया।

अश्वत्थामा पहले तो कुछ हतप्रभ हुआ और फिर अधिक उग्र हो उठा। उसने एक शक्ति चलाकर सात्यकि के सारथि को मारकर रथ से नीचे गिरा दिया। दूसरा धनुष उठाकर सात्यकि को शरों से आच्छादित कर दिया। सात्यकि के अश्व अनियंत्रित होकर इधर-उधर दौड़ने लगे थे। जिस वल्गा से उनका संपर्क सारथि से बना हुआ था, उसके हट जाने से जैसे सारथि का नियंत्रण ही नहीं, उसका आश्रय भी समाप्त हो गया था और अश्वों को अपनी स्थिति का ठीक-ठीक पता नहीं चल रहा था। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि अब वे पहले से अधिक सुरक्षित हैं, अथवा यह उनके लिए संकट का अवसर था।

सात्यकि का संकट देखकर युधिष्ठिर समझ गए कि इस समय सात्यकि उनको सहायता देने के स्थान पर उनकी सहायता पाने का अधिकारी है। उन्होंने पूरे वेग से

अश्वत्थामा पर बाण चलाए और बोले, "गुरुपुत्र ! हम जानते हैं कि तुम युद्ध में पराक्रमी, महाबली, अस्त्रवेत्ता, विद्वान और वीर हो। पर मुझे लगता है कि तुम धृष्टद्युम्न से कतराते हो। यदि तुम अपना बल धृष्टद्युम्न पर दिखा सको, तो हम तुम्हारे सामर्थ्य को सम्मान दे सकते हैं। मैं जानता हूँ कि धृष्टद्युम्न जब तुम्हें पीड़ित करने लगता है तो तुम उसे समझाने लगते हो कि तुम ब्राह्मण हो और ब्राह्मण को मारने से उसे ब्रह्महत्या का पाप लगेगा। तुम्हारा कवच हो जाता है, तुम्हारा स्वयं को ब्राह्मण कहना, जबकि न तो तुम्हारा स्वभाव ब्राह्मणों का सा है और न ही तुम्हारे कर्म ब्राह्मणों जैसे हैं। क्षत्रिय तो तुम हो ही नहीं सकते। न तुम ब्राह्मण हो न क्षत्रिय। देखो, मैं तुम्हारे देखते-देखते कौरवों को जीतूँगा। आओ, समर में पराक्रम प्रकट करो, स्वधर्मभ्रष्ट ब्राह्मण !"

अश्वत्थामा चकित रह गया। युधिष्ठिर तो कभी इतना कटु नहीं बोलते थे। यह आज युधिष्ठिर को क्या हो गया है। वे अपने बाणों से भी अधिक अपनी वाणी से प्रहार कर रहे थे। यह अश्वत्थामा को क्षुब्ध करने का प्रयत्न था, अथवा यह उनके अपने मन का क्लेश था।''' अश्वत्थामा अपने मन की कटुता को तो जानता था, किंतु वह यह नहीं जानता था कि पांडवों के मन में उसके लिए कितनी कटुता है।'''

अश्वत्थामा के मन में जैसे प्रलयाग्नि धधक उठी। युधिष्ठिर ने उसे ब्राह्मण न माना होता और क्षत्रिय कहा होता, तो भी उसे उतना कष्ट न होता, किंतु युधिष्ठिर उसे स्वधर्मभ्रष्ट बता रहे हैं।''' स्वधर्मभ्रष्ट''' हाँ ! यदि वह अपने पिता का प्रतिशोध नहीं लेगा तो वह स्वधर्मभ्रष्ट ही तो कहलाएगा।''' उसके मन में जैसे क्रूरता की कोई कृत्या जाग उठी। वह युधिष्ठिर को बताएगा कि वह कैसा ब्राह्मण और कैसा क्षत्रिय है। ऐसी ज्वाला धधकाएगा वह इस रण क्षेत्र में कि ये पांचाल और पांडव समूल नष्ट हो जाएँगे।

अश्वत्थामा ने युधिष्ठिर की वाणी के उत्तर में बाणों की वर्षा आरंभ कर दी। युधिष्ठिर को कुछ नए घाव लगे थे। उनके पिछले घाव भी जैसे फिर से जाग उठे थे। उन्हें अपने वैद्यों से उपचार कराने का समय ही नहीं मिला था। अब अश्वत्थामा की इस बाणवर्षा के सम्मुख उनका यह क्षतविक्षत शरीर तो नहीं ठहर सकेगा। इस क्रूर ब्राह्मण के हाथों मरने से अच्छा है कि वे युद्ध से पीछे हट जाएँ। यह उन्हीं द्रोणाचार्य का पुत्र है, जिन्होंने अपने प्रति श्रद्धा से भरे बालक एकलव्य का अँगूठा कटवा लिया था, जिन्होंने द्रुपद जैसे सम्राट् को रस्सियों से बाँध मँगवाया था और उनका आधा राज्य छीन लिया था। युधिष्ठिर इस समय इससे युद्ध करने की स्थिति में नहीं थे।'''

"सारथे ! शिविर की ओर चलो।" उन्होंने आदेश दिया।

युधिष्ठिर का रथ भागता जा रहा था। सहसा, उन्हें विचार आया''' वे घायल हैं, यह ठीक है। वे अश्वत्थामा से लड़ने की स्थिति में नहीं थे, यह भी सत्य है। किंतु राजा के हट जाने से उनकी उस विशाल सेना के मनोबल का क्या होगा। वे इस प्रकार अपने शिविर में जाकर शैया पर लेट तो नहीं सकते। जैसे भी हो, अपनी सेना की सुधि तो लेनी ही होगी। अर्जुन भी जाने कहाँ है। उसका कोई समाचार भी नहीं आया

है।··· वैसे भी उनके हटते ही अश्वत्थामा का उत्साह भी समाप्त हो गया होगा। वह तो केवल युधिष्ठिर के कारण ही वहाँ आया था। किसी और को मारकर उसकी प्रतिहिंसा संतुष्ट नहीं हो सकती। वे उसका सामना नहीं कर सकते तो उसे उलझाए तो रख सकते हैं। उसके दिव्यास्त्रों से अभिमंत्रित बाणों को नष्ट करने के लिए तो उसे उकसा सकते हैं।

"सारथे ! लौटो।"

सारथि ने रथ मोड़ दिया। युधिष्ठिर अपने स्थान पर लौट आए। अश्वत्थामा वहाँ नहीं था। इस समय कर्ण पांचालों का नाश करने के लिए जी जान से जुटा हुआ था।··· पता नहीं अर्जुन कहाँ है।···

युधिष्ठिर ने कर्ण पर आक्रमण किया। कदाचित् उनके पीछे हटने का समाचार पाकर ही धृष्टद्युम्न वहाँ आ गया था। पाँचों द्रौपदेय भी वहीं थे। उन्होंने कर्ण को प्रायः घेर ही लिया था। शिखंडी, सहदेव, नकुल, उसका पुत्र शतानीक और सात्यकि आकर सम्मुख खड़े हो गए थे। वे लोग अपने प्रधान सेनापति धृष्टद्युम्न और राजा युधिष्ठिर—दोनों की ही रक्षा करने के लिए डट गए थे।

सात्यकि को धृष्टद्युम्न की सहायता करते देखकर युधिष्ठिर का मन जैसे विह्वल हो जाता है। द्रोणवध के पश्चात् जब उन दोनों का झगड़ा हुआ था तो युधिष्ठिर बहुत चिंतित हो उठे थे। वे बाहरी आक्रमण से उतना नहीं डरते, जितना भीतरी द्वेष से। भीतरी द्वेष सेना की क्षमता को पूर्णतः खोखला कर देता है। यदि सात्यकि और धृष्टद्युम्न एक-दूसरे के शत्रु हो जाते तो पांडव यह युद्ध किसी भी स्थिति में नहीं जीत सकते थे।··· पर नहीं। ईश्वर की उन पर कृपा ही रही कि उनके सारे शत्रु, कौरवों की ओर ही थे। धृष्टद्युम्न और सात्यकि ने अपना वैमनस्य भुला दिया था। यह उनके चरित्र का औदात्य ही था।··· अच्छा हुआ कि शल्य भी दुर्योधन की ओर ही चले गए, अन्यथा उन्हें अपने पक्ष में रखकर, अपना सर्वनाश किए बिना, उनकी अपेक्षाओं को पूरा करना कठिन ही होता।

संशप्तकों ने अर्जुन को घेर रखा था।

सुशर्मा की त्रिगर्त सेनाएँ तो अपने पूरे बल से लड़ रही थीं, अर्जुन को आश्चर्य नारायणी सेना के गोपों पर हो रहा था। वे द्वारका की नारायणी सेना के सैनिक थे। वे कृष्ण और बलराम द्वारा प्रशिक्षित किए गए थे और उन्होंने उन्हीं के नेतृत्व में युद्ध भी किए थे। उनके मन में संशप्तकों के समान ही अर्जुन के विरुद्ध इतनी कटुता क्यों है ? वे देख रहे हैं कि उनके सामने जो रथ है, उसके सारथि स्वयं श्रीकृष्ण हैं—फिर वे कैसे इतने दुर्धर्ष होकर युद्ध कर रहे हैं ? क्या श्रीकृष्ण की उपस्थिति का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ? नहीं पड़ता होगा, तभी तो दुर्योधन ने उनको चुना है, संशप्तकों के साथ मिलकर श्रीकृष्ण और अर्जुन के विरुद्ध युद्ध करने के लिए। पर यह स्वाभाविक

नहीं था। इसका कोई न कोई कारण होना चाहिए।''' क्या वे पहले से ही कृष्ण के विरोधी हो चुके थे ? इसीलिए कृष्ण ने उन्हें दुर्योधन को सौंप दिया था ? या दुर्योधन को सौंप दिए जाने के कारण वे उनसे रुष्ट थे ?'''

पर नहीं। ये कृष्ण के साथ नंदगाँव और वृन्दावन में खेलने वाले गोप नहीं थे। यह तो उनकी अगली पीढ़ी थी, यादवों की अगली पीढ़ी के ही समान। ये लोग वृन्दावन के धर्ममय वातावरण में नहीं पले थे, न ही वे शत्रुओं से अपनी रक्षा के लिए संगठित हुए थे। वे द्वारका जैसे समृद्ध राज्य के सर्वसुख भोगी सैनिक थे। वे नहीं जानते होंगे कि धर्म, सत्य और न्याय के लिए लड़ना क्या होता है। उन्हें कृष्ण के धर्म से क्या लेना-देना था। वे तो अपने बल से संसार जीत लेने के इच्छुक थे। संभव है, उनके मन में इस युद्ध से पहले ही कृष्ण के धर्म का विरोध पल रहा हो। यदि कृष्ण उन्हें दुर्योधन को न सौंप देते तो संभव है कि द्वारका में ही उनके कारण कोई गृहयुद्ध अथवा विप्लव हो गया होता। कोई नहीं जानता कि उन्हें दुर्योधन को सौंपते हुए, कृष्ण के मन में क्या था। कोई नहीं जान पाता कि कृष्ण के मन में कब क्या होता है। उस अथाह सागर में डुबकी लगाने का साहस अर्जुन भी नहीं कर पाता।'''

संशप्तकों की ओर से एक प्रबल धावा हुआ। उनका लक्ष्य अर्जुन का मस्तक ही था। रथ पर मानों बाणों की वर्षा हो रही थी।

अर्जुन ने कृष्ण की ओर देखा। कृष्ण ने उसका संकेत समझकर रथ को संशप्तकों की रथ सेना में से ले जाकर सुशर्मा के सम्मुख खड़ा कर दिया। सुशर्मा ने अर्जुन को अपने सम्मुख देखा तो उसका रक्त उसकी धमनियों में जम गया। वह अर्जुन को खोज अवश्य रहा था। वह उससे युद्ध ही नहीं, करना चाहता था, उसका वध कर देने का इच्छुक था; किंतु इस प्रकार अकस्मात् उसको अपने सम्मुख खड़ा देखने के लिए तैयार नहीं था।'''

वह अपनी स्तब्धावस्था से उबरा और उसने अर्जुन पर अंधाधुंध बाण चलाए। अर्जुन को घायल किया और कृष्ण की दाहिनी भुजा में तीन बाण मारे।''' यदि कहीं यह कृष्ण रथ चलाने में असमर्थ हो जाए तो अर्जुन की आधी शक्ति समाप्त हो जाएगी।'''

अर्जुन ने गांडीव उठाया तो उसने देखा कि संशप्तकों का आक्रमण उनकी योजना के दूसरे दौर में पहुँच गया था। वे सहस्रों की संख्या में उसके चारों ओर से घिर आए थे। वे उसके अश्वों की टाँगों से लिपट गए थे। कुछ अश्वों की वल्गा से ही झूल गए थे। उनमें से अनेक रथ के चक्रों से लिपट गए थे। कुछ साहस कर और आगे आ गए थे और उन्होंने रथ के ईषादंड को थाम लिया था। अर्जुन उनकी ओर देख ही रहा था कि उसने अनुभव किया कि रथ की गति धीमी हो जाने के कारण उनमें से अनेक विभिन्न दिशाओं से उसके रथ में प्रवेश कर गए थे। उन्होंने अर्जुन को पीछे से थाम लिया था। कुछ उसकी भुजाओं से लटक गए थे। वैसे ही वे कृष्ण की भुजाओं से लटक गए थे। वे तो ऐसे आए थे जैसे खेत पर टिड्डी दल उतरता है। आज इस

युद्ध का सत्तरहवाँ दिन था, पर आज तक किसी योद्धा को इस प्रकार लिपटकर असमर्थ बनाकर उसे बंदी करने की इस युक्ति का प्रयोग नहीं किया गया था। यह निश्चित रूप से संशप्तकों का आत्मघाती दल था, जो अश्वों के खुरों के नीचे कुचला जाकर और रथचक्रों के नीचे पिसकर भी अपना लक्ष्य प्राप्त करना चाहता था। शस्त्रयुद्ध से अधिक तो यह मल्लयुद्ध की प्रक्रिया थी। किसी एक योद्धा से इतनी अधिक संख्या में सैनिक लिपट जाएँ कि वह शस्त्र परिचालन में ही असमर्थ हो जाए; और फिर उस पर प्रबल शस्त्र प्रहार किया जाए। इसमें इन सैनिकों के प्राण भी जा सकते हैं। किंतु सौ दो सौ सैनिकों की बलि देकर यदि कृष्ण और अर्जुन पर विजय प्राप्त की जा सके तो किसी भी सेना के लिए यह सौदा महँगा नहीं था। संभवतः इसी योजना के लिए दुर्योधन अथवा सुशर्मा ने नारायणी सेना के इन गोपों को चुना था। उनकी रुचि मल्लयुद्ध में अधिक थी। वे शरीर से बलिष्ठ भी थे और मल्लयुद्ध सीखा भी कृष्ण की परंपरा में था। कृष्ण के सैनिकों को कृष्ण के ही रथ के नीचे कुचलवाकर कृष्ण को बंदी करने की यह योजना तो सचमुच अद्भुत थी।''' किंतु वे इसमें सफल नहीं हो पाएँगे'''

कृष्ण ने अपनी भुजाओं को झटका। अपनी कुहनियों और घुटनों का भी प्रयोग किया। वल्गा भी कुछ विचित्र संकेत करती हुई हिली और अश्वों का स्तंभन ही नहीं टूटा, उनका संशय भी समाप्त हो गया। संशप्तक सैनिक पटापट रथ से नीचे गिरने लगे, जैसे वृक्ष से पके फल टपकते हैं। जो अश्व इस विचित्र विधि से पकड़े जाकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे, वे समझने लगे थे कि उन्हें क्या करना है। वे उन सैनिकों को धकेल रहे थे, झटक रहे थे, रौंद रहे थे और उनकी गति आगे की ओर न होकर वृत्ताकार हो गई थी। उन्हें कहीं पहुँचना नहीं था, उन्हें रथबंध को तोड़ना था; और उसमें रथी और सारथि के साथ अश्व भी योद्धा बन गए थे।

अर्जुन ने कुपित होकर रथ पर चढ़े सैनिकों को धक्के मारकर नीचे गिरा दिया; और निकट से वार करने वाले विशिष्ट बाणों से रथ के साथ घिर आए संशप्तकों को भूमि पर बिछा दिया। रथ के अति निकट आए इन सैनिकों के पास रथी योद्धा का सशस्त्र विरोध करने का विशेष साधन नहीं था; और न ही वे ऐसी स्थिति में रथ और रथी से युद्ध करने के लिए प्रशिक्षित थे। संशप्तकों के पास पलायन के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं था।

रथबंध की अपनी योजना को इस प्रकार असफल होते देखकर सुशर्मा का मन जैसे फुँक गया।''' अर्जुन हो या भीम, ये लोग उसकी कोई योजना सफल नहीं होने देते।

उसने अपने सहायकों को लेकर अर्जुन पर प्रबल आक्रमण किया। अर्जुन को सुशर्मा के इस प्रकार के आकस्मिक आक्रमण की आशा नहीं थी। उसके शरीर पर अनेक घाव लगे। अर्जुन व्यथित होकर रथ के पिछले भाग में बैठ गया।

सुशर्मा का उत्साह जैसे आकाश को छूने लगा। उसके इस आक्रमण का फल उसकी

अपेक्षा को भी पार कर गया था।

''अर्जुन मारा गया।'' उसने चिल्लाकर कहा।

समरभूमि के उस खंड में जैसे सारे सैनिक एक स्वर में चिल्ला रहे थे, ''अर्जुन मारे गए।''

कृष्ण ने दृष्टि घुमाकर पीछे की ओर देखा। वैद्य ने अर्जुन की नाड़ी पकड़ रखी थी और वह उसको कोई औषधि सुँघा रहा था। अर्जुन अचेत नहीं लग रहा था। अगले ही क्षण अर्जुन उठकर खड़ा हो गया और उसने हाथ बढ़ाकर गांडीव उठा लिया।

अर्जुन ने ऐन्द्रास्त्र का प्रयोग किया। सहस्रों बाण एक साथ ही प्रकट हुए और संशप्तक सैनिकों के स्वर उनके कंठ में ही जम गए। जिस अर्जुन को वे मृत घोषित कर रहे थे, वह न केवल रथ में अपने स्थान पर खड़ा था, वरन् उसके बाण संशप्तकों का काल बनकर आ रहे थे। उनके पैर उखड़ गए। सुशर्मा अपने सहायकों को पुकार रहा था और अपने सैनिकों को नई घेराबंदी के लिए लौट आने के लिए कह रहा था।

अर्जुन मध्य सेना में संशप्तकों का नाश कर रहा था; किंतु उसका मन जानता था कि साधारण सैनिकों को इस प्रकार मारते रहना उसका अपनी ऊर्जा का अपव्यय करना ही था।

''जनार्दन !'' उसने कहा, ''संशप्तक सेना के पाँव उखड़ गए हैं। वे अपने-अपने दल के साथ भाग रहे हैं। मैं देख पा रहा हूँ कि दूर सृंजयों की सेना इस महासमर में विदीर्ण हो रही है। वहीं मुझे कर्ण के रथ की ध्वजा दिखाई दे रही है। लगता है हमारे महारथी उसे रोक नहीं पा रहे हैं। वहीं चलिए, जहाँ कर्ण हमारी सेना को खदेड़ रहा है।''

कृष्ण ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया और न ही अश्वों को कर्ण के रथ की दिशा में मोड़ा। उन्होंने पहले सृंजयों की ओर देखा और फिर दुर्योधन की कौरव सेना पर दृष्टि डाली। उनके मन में जैसे कोई योजना उभरी। उन्होंने रथ दुर्योधन की ओर मोड़ दिया, ''तुम शीघ्र कौरव सेना का विनाश कर डालो। इस समय उसका कोई रक्षक नहीं है।''

अर्जुन के मन में एक क्षण के लिए आया भी ··· शायद कृष्ण नहीं चाहते कि अभी वह कर्ण से भिड़े। क्या वे उसे कर्ण से दुर्बल मानते हैं ? या वे उसकी क्षमता को कम न मानकर भी किसी प्रकार का कोई संकट नहीं उठाना चाहते, किसी बात को भी संयोग पर नहीं छोड़ना चाहते; और चाहते हैं कि कर्ण पूर्णतः थक ले। किंतु इस प्रकार कर्ण ही तो नहीं थकेगा, अर्जुन का शरीर भी तो शिथिल होगा। उसकी ऊर्जा का भी तो अपव्यय होगा···

पर उसका रथ कौरव सेना में कुछ इस प्रकार प्रवेश कर गया था, जैसे राजमार्ग पर चलता हुआ रथ किसी खेत में घुसकर पौधों को रौंदने लगे। सैनिकों में भगदड़ मच गई थी।

दुर्योधन ने अर्जुन को कौरव सेना में घुसा हुआ देखा, तो उसके मन में कर्ण और सुशर्मा दोनों के ही प्रति क्रोध जागा। पता नहीं ये दोनों मिलकर भी अर्जुन को रोक क्यों नहीं पाते हैं। सुशर्मा ने शपथपूर्वक युद्ध आरंभ किया है किंतु अभी तक अर्जुन जीवित है। कर्ण ने भी कितनी ही बार प्रतिज्ञा की है। आज तो वह अर्जुन के वध तक कवच न उतारने की शपथ लेकर निकला है, पर कोई लाभ नहीं। दोनों ने ही उसे खुला छोड़ रखा है कि वह किसी भी दिशा में चला जाए और कौरव सैनिकों को गाजर-मूली के समान काटता रहे।

दुर्योधन ने अपना रथ सुशर्मा के पास रोका, "तुम्हारी शपथ का क्या होगा सुशर्मा ! त्रिगर्त अपने वचन पर पूरे नहीं उतर पा रहे हैं। अर्जुन न केवल जीवित है, वह हमारी सेना में उच्छृंखल सांड के समान विचर रहा है। उसे नाथो।"

सुशर्मा कुछ झेंपा, "हमने उसे घेरा था राजन्। एक प्रकार से मैंने तो उसका वध ही कर दिया था।..."

"हाँ ! तुमने तो उसका वध कर दिया था, वही अभागा मरने को प्रस्तुत नहीं था। अब देखो उसका शव युद्ध करता ही जा रहा है और हमारे सैनिक शवों में परिणत होते जा रहे हैं।"

"वह टिककर युद्ध नहीं करता। हम उसे घेरते रहते हैं और वह हमें छोड़कर किसी भी अन्य दिशा में भाग जाता है।" सुशर्मा बोला, "यह कोई क्षत्रियों की विधि है।"

"नहीं ! क्षत्रियों की विधि तो है कि तुम उसे घेरो और वह घिर जाए। तुम उसे मारो और वह मर जाए।"

"राजन् !"

"ठीक है। अब जाओ और उसे घेरो।" दुर्योधन बोला, "उसकी गति रुद्ध रहनी चाहिए। वह तुम्हारे घेरे से बाहर न जाए। अपने मनमाने स्थान पर न पहुँच पाए। जहाँ अश्वत्थामा और कर्ण पांडवों की सेना का संहार कर रहे हों, वहाँ अपनी सेना की सहायता के लिए अर्जुन का पहुँचना संभव न हो।"

सुशर्मा ने खीज कर अपने संशप्तकों के साथ अर्जुन को पुनः घेरा।

"पार्थ ! दुर्योधन चाहता है कि ये त्रिगर्त मरते रहें और तुम उनको मारने में व्यस्त रहो। तुम थकते रहो और दुर्योधन की सेना सुरक्षित रहे। अंततः कर्ण तुम पर आक्रमण करे और प्रबल सिद्ध हो।" कृष्ण बोले।

"समझता हूँ केशव।"

"यदि हम उसके षड्यंत्र में आ गए तो तुम अपने भाइयों की कोई सहायता नहीं कर पाओगे, इसलिए चलते चलो। रुकना नहीं है।"

"रथ तो आपके नियंत्रण में है केशव ! आपकी जैसी इच्छा हो, वैसे ही चलिए।"

समुद्र की लहरों के समान संशप्तकों के रेले के रेले आते रहे और अर्जुन के बाणों से कटते रहे। अर्जुन कहीं रुका ही नहीं। न ही सुशर्मा कोई सुविधाजनक युक्ति निकालकर

उसके सम्मुख आया। कांबोज सेनाएँ अर्जुन को रोकने के लिए आगे आईं और उनका नेतृत्व करता हुआ कांबोज नरेश का भाई मारा गया।

अश्वत्थामा ने अर्जुन को इस प्रकार कौरव सेना को रौंदते देखा तो वह उसका सामना करने के लिए आ गया। उसने सुना था कि युधिष्ठिर द्वारा अर्द्धसत्य बोले जाने को कृष्ण ने न्यायसंगत ठहराया था। कृष्ण उसे नीति मानता था—दाक्ष्य ! शायद संजय ने बताया था। हाँ ! संजय ने ही कहा था कि कृष्ण ने युद्ध के आरंभ में ही अर्जुन को अपनी नीति समझाई थी। उससे कहा था कि शौर्य, तेज, संकल्प और दाक्ष्य क्षत्रिय के स्वभावज गुण हैं। तो कृष्ण उन्हें दाक्ष्य सिखाता है। जब तक इस कृष्ण का ही वध नहीं होगा, पांडवों का प्रताप शांत नहीं होगा।

लगता था कि अश्वत्थामा के मन और शरीर में समय-समय पर ऊर्जा का विस्फोट होता था। उसने बाणों की ऐसी भयानक वर्षा की कि कृष्ण घायल हो गए और अर्जुन निश्चेष्ट हो गया।

"अर्जुन !" कृष्ण बोले, "विचित्र व्यवहार है तुम्हारा। मैंने तुम्हारा विश्वास कर अपने शस्त्र त्यागे और तुम मेरी रक्षा न कर अपने गुरुपुत्र के प्रति स्नेह प्रदर्शित कर रहे हो। तुम चाहोगे कि मैं मारा जाऊँ और यह अश्वत्थामा जीवित ही नहीं रहे, युद्ध विजेता भी कहलाए। गुरुदक्षिणा देने का कोई और मार्ग नहीं है तुम्हारे पास। तुम्हारे इस गुरुदक्षिणा के यज्ञ में मेरी बलि अनिवार्य है क्या ?"

"नहीं ! ऐसा तो नहीं है गोविन्द !"

"तो फिर यह प्रमाद का समय नहीं है।"

अर्जुन जैसे किसी मूर्च्छा से जागा। उसने अश्वत्थामा का धनुष काट दिया। उसके ध्वज, छत्र, पताका, खड्ग, शक्ति, और गदा के भी टुकड़े-टुकड़े कर दिए और अंत में वत्सदंत बाण से अश्वत्थामा की हँसली पर गहरी चोट पहुँचाई।

अश्वत्थामा अपने ध्वजदंड का सहारा ही खोजता रहा और मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। सारथि ने उसकी स्थिति देखी और वह रथ को समरभूमि से दूर हटा ले गया।

अर्जुन ने चारों ओर अपनी दृष्टि दौड़ाई। पांडव सैनिक भागते हुए दिखाई पड़ रहे थे और धर्मराज का ध्वज कहीं भी दिखाई नहीं दे रहा था। कहाँ होंगे वे ? दिन का एक तिहाई भाग ही शेष रह गया था और आज कोई विशेष उपलब्धि नहीं हुई थी। कोई महत्त्वपूर्ण कौरव महारथी उससे युद्ध करने भी नहीं आ रहा था, जैसे अर्जुन समरभूमि में हो ही नहीं।... यह सब क्या है। संशप्तकों ने उसे ऐसा घेर रखा है कि अन्य लोगों के विषय में वह कुछ जान ही नहीं पाता।

"केशव ! चलिए, जहाँ धर्मराज हैं। एक बार अपने भाइयों सहित धर्मराज को देख लूँ तो पुनः युद्ध आरंभ करूँ।" अर्जुन ने कहा।

"हाँ ! धर्मराज दिखाई तो नहीं पड़ रहे हैं।" कृष्ण ने कहा, "शायद वे किसी और क्षेत्र में युद्ध कर रहे हों।"

"तो वहीं चलिए।" अर्जुन के स्वर में आग्रह था।

कृष्ण ने रथ को मोड़ा अवश्य किंतु उसकी गति तीव्र नहीं की।

"क्या बात है गोविन्द ?"

"अर्जुन ! धर्मराज संबंधी तुम्हारी चिंता को मैं समझता हूँ; किंतु मुझे पांडव सेनाएँ समरभूमि से पलायन करती लग रही हैं। यह शुभ लक्षण नहीं है। कोई महारथी उनकी सहायता के लिए भी नहीं आ रहा है। तुम्हें इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।"

अर्जुन की दृष्टि उस ओर गई। उसकी उपस्थिति में पांडव सेना पलायन करे, यह तो सर्वथा अपमानजनक है। कृष्ण ठीक कह रहे हैं, किंतु युधिष्ठिर...

"धर्मराज के कुशल क्षेम की सूचना मिल जाती तो...।"

"मुझे लगता है कि आज भी तुमको कर्तव्य से अधिक मोह ने जकड़ रखा है।" कृष्ण मुस्कराए, "धर्मराज जैसे हैं, वैसे ही रहेंगे। तुम उनका समाचार जानने के लिए, समरभूमि छोड़ दोगे और तुम्हारे सहस्रों सैनिक मारे जाएँगे।" वे एक क्षण के लिए रुके, "मुझे लगता है कि अश्वत्थामा युद्ध में लौट आया है। तुम उसके सामने अपने असहाय सैनिकों को परोसकर स्वयं अपने भाई के स्वास्थ्य की सूचना पाने के लिए युद्धक्षेत्र से हट जाना चाहते हो ?"

"मेरे अतिरिक्त भी तो अनेक योद्धा हैं, पांडवों की सेना में।" अर्जुन कुछ खीज कर बोला।

"यहाँ किसी एक को नियुक्त कर दो और फिर चलो धर्मराज की खोज में।" कृष्ण मुस्कराए।

"चलिए पहले अश्वत्थामा को ही निपटा लें।"

उनका रथ उस दिशा में कुछ दूरी तक बढ़ गया तो दृश्य स्पष्ट हो गया। अश्वत्थामा वहाँ धृष्टद्युम्न से उलझा हुआ था। धृष्टद्युम्न का धनुष कट चुका था और हाथ में खड्ग लेकर वह अश्वत्थामा के सम्मुख असहाय-सा खड़ा था। कुछ दूरी पर सात्यकि, युधामन्यु और पाँचों द्रौपदेय भी थे, किंतु उन सबको अकेले कर्ण ने रोक रखा था।

अश्वत्थामा ने धृष्टद्युम्न को कई बाण मारे। लगा कि उसकी ढाल और तलवार भी कट जाएगी, किंतु धृष्टद्युम्न अपने स्थान पर खड़ा था और किसी प्रकार स्वयं को अश्वत्थामा के बाणों से बचाने का प्रयत्न कर रहा था।

अश्वत्थामा की दृष्टि अर्जुन के रथ पर पड़ी और वह समझ गया कि यदि कुछ पलों की भी देर हुई तो अर्जुन निकट आ जाएगा और तब धृष्टद्युम्न का वध संभव नहीं हो पाएगा।... अपने हाथों में आए, धृष्टद्युम्न के जीवित बच जाने की संभावना मात्र से अश्वत्थामा जैसे विक्षिप्त हो उठा। उसने अपना धनुष फेंक दिया और खड्ग लेकर धृष्टद्युम्न की ओर दौड़ा।

कृष्ण ने रथ की गति बढ़ा दी।

"धृष्टद्युम्न के वध के लिए अश्वत्थामा कैसा भयानक प्रयत्न कर रहा है। वह उसका

वध कर भी सकता है।" कृष्ण बोले, "देखो उसने धृष्टद्युम्न के केश वैसे ही पकड़ लिए हैं और उन्हें खींच भी रहा है, जैसे धृष्टद्युम्न ने द्रोण के केश पकड़े और खींचे होंगे। मुझे लगता है कि वह हमारे पहुँचने से पहले ही उसका वध कर देना चाहता है।"

"पशु है यह अश्वत्थामा ! अपने पिता के वध से विक्षिप्त हो रहा है।" अर्जुन बोला, "आचार्य की मृत्यु का मुझे भी बहुत दुख है, किंतु प्रतिशोध के लिए कोई इस प्रकार तो अपने विवेक को तिलांजलि नहीं दे देता।"

अर्जुन ने अश्वत्थामा पर बाण चलाये। उसके शरीर में अनेक बाण धँस गए। अश्वत्थामा समझ गया, यदि उसने धृष्टद्युम्न को नहीं छोड़ा तो अर्जुन या तो उसका वध कर देगा, या फिर भूरिश्रवा के समान उसकी भी भुजा काटकर धरती की भेंट कर देगा।''' उसकी समझ में आ गया था कि उसने अपने आवेश में रथ का त्याग कर भूल की थी। रथ में वह कहीं अधिक सुरक्षित था। हाथ में एक खड्ग लेकर वह रथारोही अर्जुन का सामना करने की कल्पना भी नहीं कर सकता था। अब या तो वह धृष्टद्युम्न को छोड़ दे, अन्यथा अपने प्राण गँवाए।

अश्वत्थामा भागकर अपने रथ में जा चढ़ा।

अर्जुन ने कृतज्ञतापूर्वक कृष्ण की ओर देखा : कृष्ण ने उसे धर्मराज की ओर जाने से न रोका होता तो आज धृष्टद्युम्न अपने प्राणों से हाथ धो चुका होता।

अश्वत्थामा अपने रथ में से देख रहा था कि सहदेव जैसे अवसर की ही प्रतीक्षा में खड़ा था। उसने तत्काल धृष्टद्युम्न को अपने रथ में बैठाया और उसे सुरक्षित निकाल ले गया। अश्वत्थामा का रक्त फिर से उफनने लगा था। अर्जुन ने आज अश्वत्थामा के पिता ही नहीं अपने भी गुरु के हत्यारे को जीवित बचा लिया था। अर्जुन के मन में क्यों वैसा ही आक्रोश नहीं है, जैसा अश्वत्थामा के मन में है। वह अपने गुरु के हत्यारे का मित्र कैसे हो सकता है ?

अश्वत्थामा ने कृष्ण और अर्जुन पर बाण चलाने आरंभ किए। उसने दोनों को ही घायल कर दिया था। उनके शरीर से बहते रक्त को देखकर अश्वत्थामा को एक प्रकार के सुख का अनुभव हो रहा था। ऐसा ही रक्त प्रत्येक पांडव योद्धा के शरीर से बहना चाहिए।'''

कृष्ण को घायल देखकर अर्जुन का आवेश भी जागा। यह उसी की शिथिलता है कि उसकी रक्षा में होते हुए भी श्रीकृष्ण को इस प्रकार अपना रक्त बहाना पड़ता है। अर्जुन ने अश्वत्थामा पर नाराचों की वर्षा कर दी। अश्वत्थामा को उसकी क्रूरता का फल मिलना ही चाहिए।'''

अर्जुन का एक भयानक नाराच अश्वत्थामा के कंधे पर लगा। उसका हाथ शिथिल हो गया और फिर उसे लगा कि उसका मन भी शिथिल होता जा रहा है। उसके लिए अपने पैरों पर खड़े रहना भी कठिन हो गया। वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा।

कर्ण ने अश्वत्थामा की यह गति देखी तो वह अर्जुन को रोकने के लिए उसकी ओर आया। दूसरी ओर से संशप्तकों के साथ सुशर्मा भी प्रकट हो गया।

अश्वत्थामा का सारथि अवसर देखकर उसे हटा ले गया।

"केशव ! इन संशप्तकों की ओर ले चलें। यह प्रधान कार्य है, इसे समाप्त कर ही दूँ।" अर्जुन बोला, "या फिर कर्ण से ही निबट लें।"

पर कृष्ण का ध्यान उन लोगों की ओर नहीं था। बोले, "धर्मराज युधिष्ठिर का वध करने के लिए दुर्योधन उनका पीछा कर रहा है। पांचाल धर्मराज की रक्षा कर रहे हैं। दुर्योधन के पदातिक सैनिक धर्मराज को बंदी करने का अभियान चला रहे हैं। सात्यकि और भीम उनकी ओर चले गए हैं। पर कौरव सैनिक जिस प्रकार शंख बजाते और जयघोष करते हुए आगे बढ़ रहे हैं, उससे लगता है कि या तो दुर्योधन के अधीन होकर युधिष्ठिर बंदी हो गए हैं, या फिर वे मृत्यु को प्राप्त हो गए हैं। कर्ण भी हमारी ओर आने के स्थान पर उधर ही मुड़ गया है। व्यूह भी ऐसा ही दीख रहा है कि कर्ण ने युधिष्ठिर की सेनाओं की गति रोक दी है। कर्ण धर्मराज को पीड़ित कर सकता है। इन दिनों में युधिष्ठिर को उपवास नहीं करना चाहिए था। वे उससे बहुत दुर्बल हो गए हैं। वे ब्रह्मबल में स्थित होकर युद्ध कर रहे हैं और क्षत्रियबल प्रकट करने में असमर्थ हैं। मुझे लगता है कि उनके प्राण संकट में हैं।"

"कदाचित् युधिष्ठिर जीवित नहीं हैं।" अर्जुन बोला, "नहीं तो कौरवों के इस शंखनाद को भीम इस प्रकार चुपचाप सहन नहीं कर लेते।"

"नहीं ! मुझे लग रहा है कि कर्ण धार्तराष्ट्रों को युधिष्ठिर के वध के लिए प्रेरित कर रहा है।" कृष्ण बोले, "अर्जुन ! हमें पहले धर्मराज की ही सुध लेनी होगी। कौरवों ने स्थूणाकर्ण, इंद्रजाल, पाशुपतास्त्रों का प्रयोग किया है। युधिष्ठिर इन सबका प्रतिकार कैसे कर पाएँगे। उनकी सेनाएँ शायद उन्हें घेर रही हैं। उनका ध्वज भी दिखाई नहीं पड़ रहा है। क्या कर्ण ने उनका ध्वज काट दिया है ?"

"हमारे रथी भागे जा रहे हैं। महारथी भी खिसकने लगे हैं।" अर्जुन ने कहा, "कर्ण के बाणों से घायल होकर हाथी सब ओर भाग रहे हैं।"

"मुझे तो लग रहा है कि भीम कर्ण को रोक नहीं पाए हैं। कर्ण पांचालों, पांडवों और सृंजयों को जीत कर क्या तुम्हारी खोज में इधर-उधर देख रहा है ?" कृष्ण बोले,

"हाँ ! अब वह हमारी ही ओर आ रहा है। उसके पीछे-पीछे, अपने रथियों से घिरा हुआ दुर्योधन भी इसी ओर आ रहा है। अर्जुन ! यदि वे इस ओर आते हैं तो उनको जीवित बचकर जाना नहीं चाहिए। इस दुष्टात्मा कर्ण का तो तुम प्रयत्नपूर्वक वध कर डालो। वह सम्राट युधिष्ठिर का ही नहीं धर्म का भी अपराधी है।"

"लगता है युधिष्ठिर सकुशल हैं।" अर्जुन ने जैसे अपने आपसे कहा, "भीम व्यूह में अपने स्थान पर लौट आए हैं। उनके साथ सृंजयों की सेना और सात्यकि भी है।"

"हाँ ! और अब भीम उन पर भारी पड़ रहा है।" कृष्ण बोले, "दुर्योधन की

सेना युद्ध से मुँह मोड़कर भागी जा रही है।''

''मुझे तो लगता है कि कर्ण भीम को छोड़कर दुर्योधन की रक्षा के लिए उसके पास चला गया है। संशप्तक भी भयभीत होकर भाग गए हैं।'' अर्जुन ने कहा, ''सुशर्मा का ध्वज भी अब कहीं दिखाई नहीं दे रहा।''

''तो अब धर्मराज की ओर चलें ?'' कृष्ण ने पूछा।

''चलिए।'' अर्जुन बोला।

34

दुर्योधन ने लगभग आधी सेना लेकर युधिष्ठिर को घेर लिया था।

घिरे हुए युधिष्ठिर पर चारों ओर से बाणवर्षा हो रही थी। युधिष्ठिर को कुछ नए घाव भी लगे और उनके पिछले घाव भी उधड़ आए थे। युधिष्ठिर कुपित हो उठे। उन्होंने अपनी शारीरिक दुर्बलता की चिंता न कर, मात्र आत्मबल के भरोसे ही दुर्योधन पर भल्लों से प्रहार किया।

दुर्योधन इस प्रकार का युद्ध करने नहीं आया था। बाण-युद्ध ही करना होता तो वह किसी और को भेजता। वह स्वयं तो एक विशिष्ट योजना लेकर आया था। उसके लिए जो काम न द्रोण ने किया, न कर्ण कर रहा है, उसे वह स्वयं करेगा।...

उसने अपने सैनिकों को संकेत किया। झुंड के झुंड कौरव सैनिक युधिष्ठिर पर टूट पड़े। रथबंध की सी स्थिति हो गई थी। अश्वों के लिए मार्ग नहीं था। रथ के चक्र चल नहीं पा रहे थे। युधिष्ठिर घायल थे। ठीक से शस्त्र परिचालन नहीं कर पा रहे थे। उनके वध से भी उनको बंदी करना अधिक सरल हो गया था। एक बार युधिष्ठिर बंदी हो जाएँ तो सारे पांडव योद्धा हाथ बाँधकर दुर्योधन के सम्मुख नतमस्तक खड़े हो जाएँगे। युधिष्ठिर के मारे जाने से तो पांडव और भी उग्र हो उठेंगे।...

धृष्टद्युम्न ने दुर्योधन के अभियान को देखा। वह युधिष्ठिर की रक्षा के लिए दौड़ पड़ा। नकुल और सहदेव अपनी वाहिनियों के साथ भागते आए। भीम भी कौरव महारथियों को रौंदता हुआ वहाँ पहुँच गया। दुर्योधन को लगा कि उससे आकलन में भूल हुई है। उसे यह अनुमान नहीं था कि इतने सारे पांडव योद्धा अपने संग्राम को झटककर, युधिष्ठिर की रक्षा के लिए तत्काल आ सकेंगे, आ जाएँगे। उसने कर्ण की ओर देखकर संकेत किया, ''इन्हें सँभालो।''

कर्ण ने उन सबको रोका। पर सहदेव ने दुर्योधन को बींध ही डाला। युधिष्ठिर पर दुर्योधन का दबाव कम हुआ तो वे भी अपना हस्तकौशल दिखाने लगे। दुर्योधन का दाँव उलटकर उस पर ही आ पड़ा था।

दुर्योधन के शरीर से रक्त बहता देख, कर्ण को कुंती तथा कुंती के पुत्रों से अपना

संबंध विस्मृत हो गया। युधिष्ठिर के शरीर से प्रातः से वह कई बार रक्त बहा चुका था, किंतु उसे तनिक भी कष्ट नहीं हुआ था। दुर्योधन की बात और थी। दुर्योधन और युधिष्ठिर उसके लिए कभी एक नहीं हो सकते थे।

उसने पांडवों के वध के लिए अपना दिव्यास्त्र प्रकट किया। बाणों की पहली बौछार, युधिष्ठिर और धृष्टद्युम्न पर पड़ी। उनकी गति अवरुद्ध हो गई। युधिष्ठिर की सेना पर इतने बाण बरसे कि वह स्थिर नहीं रह सकी। अपनी सेना को कर्ण के इस प्रहार से बचाना युधिष्ठिर के लिए कठिन हो रहा था। उनकी सेना समरभूमि छोड़कर भाग चली। कर्ण बड़े प्रबल ढंग से अपने दिव्यास्त्रों का प्रदर्शन कर रहा था। उसे युधिष्ठिर को पीड़ित करने में रस आने लगा था। युधिष्ठिर के शरीर से टपकता रक्त उसको सुख दे रहा था। यही है युधिष्ठिर··· जिसने उससे कुंती जैसी माँ छीन ली। कुंती युधिष्ठिर की माँ है, और कर्ण की नहीं है।··· यही है युधिष्ठिर ! जिसने उससे द्रौपदी छीन ली। इसको उसका मूल्य चुकाना होगा। इसने जीवन में जितना सुख पाया है, उतना ही उसे अपना रक्त बहाना होगा।···

धृष्टद्युम्न और भीम दुर्योधन से उलझकर रह गए थे। वहाँ कृतवर्मा और कृपाचार्य भी आ गए थे। युधिष्ठिर सर्वथा अकेले पड़ गए थे। उनका सारथि उन्हें इस ओर हटा लाया था—यह उसकी भूल ही थी।

शल्य ने देखा कि युधिष्ठिर पीड़ित होते जा रहे थे। युधिष्ठिर जितने दीन होते जाते थे, कर्ण उतना ही क्रूर होता जाता था। वह उनका वध नहीं करना चाहता था, उनके शरीर के रोम-रोम को अपने बाणों से गोदना चाहता था। युधिष्ठिर की त्वचा को रक्त उगलने का उपकरण बना देना चाहता था; या फिर प्रत्येक मांसपेशी को चीरकर उसके भीतर झाँकना चाहता था, अथवा युधिष्ठिर की कराह के साथ उसको किसी आनन्द की अनुभूति होती थी।··· युधिष्ठिर की पीड़ा और दीनता तो शल्य को कष्ट दे ही रही थीं। कर्ण का बढ़ता हुआ दर्प उसके लिए असहनीय हो रहा था। कर्ण को रोकने के लिए उसे कुछ करना होगा।···

पर तभी युधिष्ठिर का आत्मबल कुछ ऐसा प्रबल हुआ कि उन्होंने कर्ण का मुख अपने बाणों से बंद कर दिया। उनके बाणों ने कौरव सेना में हाहाकार मचा दिया। युधिष्ठिर जिस ओर अपनी क्रुद्ध दृष्टि डालते थे, उस दिशा में कौरव सेना छिन्न-भिन्न हो जाती थी, जैसे उनके बाण नहीं, उनका क्रोध ही विरोधियों का संहार कर रहा हो।

कर्ण घायल हो गया था। युधिष्ठिर का यह साहस कर्ण के लिए अकल्पनीय था। उसने एक क्षण अपने उस घाव को देखा और दूसरे ही क्षण युधिष्ठिर के वक्ष में एक भयानक बाण मार दिया। युधिष्ठिर खड़े नहीं रह पाए। वे अपने रथ की बैठक में बैठ गए।···

कौरव सेना में एक जोर का कोलाहल उठा, "युधिष्ठिर को पकड़ लो।"

दुर्योधन को अपनी विजय का क्षण बहुत निकट दिखाई दे रहा था। उसकी बहुत

इच्छा हो रही थी कि वह दौड़कर युधिष्ठिर के रथ पर जा चढ़े और अपनी तलवार की नोक पर युधिष्ठिर को बंदी बनाकर उतार लाए,''' किंतु भीम ने दुर्योधन को रोक रखा था। दुर्योधन का ध्यान तनिक भी इधर-उधर होता तो भीम उसका मस्तक काट लेता।

युधिष्ठिर की रक्षा के लिए कैकेय आ गए थे। उन्होंने कर्ण को रोक तो लिया, किंतु वे अधिक समय तक टिक नहीं सके।

कर्ण ने पांडवों की सेना को विदीर्ण कर, पुनः युधिष्ठिर पर आक्रमण किया। इस समय युधिष्ठिर सेनाविहीन हो रहे थे। केवल नकुल और सहदेव के रथ उनके दोनों ओर होकर चल रहे थे। वे कदाचित् अपने संरक्षण में उन्हें सैन्य निवेश की ओर ले जा रहे थे।

"बढ़ो शल्य !" कर्ण ने युधिष्ठिर की ओर संकेत किया।

"अकेले रथ को लेकर ?" शल्य ने जैसे आपत्ति जताई।

"तो क्या हो गया ?" कर्ण बोला, "तुम्हें अकेले क्षतविक्षत युधिष्ठिर से भी भय लगता है क्या ?"

"नहीं ! मुझे तुम्हारी क्रूरता से भय लगता है।" शल्य ने कहा, "मुझे नहीं लगता कि तुम युधिष्ठिर का वध करना चाहते हो। तुम उसकी बोटी-बोटी करना चाहते हो। योद्धा नहीं हो तुम। व्याध हो।"

"बढ़े चलो।" कर्ण ने कहा, "नकुल सहदेव भी युधिष्ठिर के साथ हैं। कहीं उनके मन में अपने मातुल के प्रति प्रेम जाग उठा तो वे मुझे छोड़कर तुम्हें मार डालेंगे। तुम चलते चलो और देखो कि मैं इस धर्मराज की क्या गति करता हूँ।"

शल्य ने कुछ नहीं कहा। कहना व्यर्थ था। कर्ण का दर्प इस समय सातवें आकाश पर था।

कर्ण ने तीन बाण मारे और जैसे युधिष्ठिर के घावों को और खोल दिया। बाध्य होकर युधिष्ठिर ने स्वयं को पुनः युद्ध के लिए तैयार किया। अपना धनुष उठाया और कर्ण को गंभीर चोट पहुँचाई। अश्वों और सारथि को भी घायल कर दिया।''' युधिष्ठिर को लग रहा था कि कर्ण उनसे युद्ध नहीं कर रहा था। वह केवल उन्हें अपमानित कर रहा था। वह उन्हें चिढ़ा रहा था। क्षत्रियों के इस क्षेत्र में उनका उपहास करने का प्रयत्न कर रहा था।'''

शल्य को युधिष्ठिर का यह पहला ही बाण लगा था।''' युधिष्ठिर ने सोच-समझकर उसे मारा है या उनका कोई बाण बहककर इधर आ गया है ?''' शल्य ने सोचा''' जान-बूझकर ही मारा होगा। अपना क्रोध दिखाया होगा। क्यों वह कर्ण का रथ हाँक कर उनके पीछे ला रहा है।'''

नकुल सहदेव दौड़े''' कहीं कर्ण युधिष्ठिर का वध ही न कर दे। कर्ण ने उन्हें भी घायल किया। तब भी युधिष्ठिर का रथ नहीं रुका तो उसने उनके अश्वों को मार डाला।

एक भल्ल से युधिष्ठिर का शिरस्त्राण भी गिरा दिया।''' इस युधिष्ठिर ने कुंती को ही उससे नहीं छीना, पांडु का राज्य भी छीना है। पांडु का क्षेत्रज पुत्र होने और सबसे बड़ा पुत्र होने के नाते यह राज्य कर्ण का था। इस युधिष्ठिर ने उसे छीना है, नहीं तो क्यों कर्ण सूतपुत्र बनता।''' वह युधिष्ठिर का वध नहीं करेगा। युधिष्ठिर अपनी पीड़ा और अधिक रक्तस्राव से ही मरे। कर्ण अपना वचन पूरा करेगा, किंतु युधिष्ठिर को वह नहीं छोड़ेगा।''' उसने नकुल के घोड़ों को भी मार दिया।

युधिष्ठिर और नकुल, सहदेव के रथ में जा चढ़े।

शल्य को युधिष्ठिर बहुत असुरक्षित लगे।

"अंगराज ! तुम्हें अर्जुन से युद्ध करना है तो क्यों इनके पीछे पड़े हो। उसे क्यों नहीं खोजते। व्यर्थ ही स्वयं को और अपने घोड़ों को थका रहे हो। इन मरे हुओं को मारकर क्या पाओगे ? अपना उपहास ही तो कराओगे।" शल्य ने कहा।

कर्ण ने एक वक्र दृष्टि शल्य पर डाली किंतु मुख से कुछ नहीं कहा। वह निरंतर बाण चला रहा था और युधिष्ठिर के साथ-साथ नकुल और सहदेव को भी पीड़ित करता जा रहा था।

शल्य ने पुनः प्रयत्न किया, "दुर्योधन ने तुम्हारा चयन किया है, अर्जुन से लड़ने के लिए। युधिष्ठिर से तो कोई भी लड़ सकता है। और देखो, यह मर गया तो अर्जुन सारे कौरव महारथियों का काल बन जाएगा। यदि अर्जुन मारा गया तो ये तीनों कुछ नहीं कर पाएँगे। तुम जड़ उखाड़ने के स्थान पर पत्ते तोड़ रहे हो।"

कर्ण जैसे शल्य की बात सुन ही नहीं रहा था। उसके मन में निरंतर युधिष्ठिर के भाग्य से लड़ाई चल रही थी।''' कर्ण को युधिष्ठिर का भाग्य क्यों नहीं मिला ?''' उसके मन मे एक धीमा-सा स्वर उठा, 'क्योंकि कर्ण ने अपने मन को युधिष्ठिर के मन का सा नहीं बनाया।' पर कर्ण ने उस स्वर को उठने नहीं दिया। वह युधिष्ठिर का मन नहीं चाहता था, वह उसका सा भाग्य चाहता था।''' पर युधिष्ठिर का भाग्य क्या ? उसे वारणावत में जलना पड़ा। द्यूत में अपना सारा राज्य गँवाना पड़ा। अपनी पत्नी को अपमानित होते देखना पड़ा। बारह बर्ष वनवासी और एक वर्ष सेवक बन कर रहना पड़ा। ऐसा भाग्य नहीं चाहिए, कर्ण को। किंतु उतना सब कुछ होने पर भी तो उसके भाइयों ने, उसकी पत्नी ने, उसके पुत्रों ने, उसकी माँ ने—किसी ने भी तो उसका त्याग नहीं किया।''' कर्ण को ही क्यों लगता रहता है कि उसकी माता और पिता ने जैसे उसे उसके जन्म के पश्चात् त्याग दिया था, वैसे ही उसके अन्य परिजन भी किसी दिन उसे त्याग देंगे। यहाँ तक कि दुर्योधन का मनोवांछित न कर सका तो वह भी उसको अपमानित और तिरस्कृत कर त्याग देगा।''' कृष्ण जैसे महापुरुष को भी उसके भाई ने छोड़ दिया है, उसके पुत्रों ने त्याग दिया, यादवों ने उसको पराया मान लिया है''' पर युधिष्ठिर का त्याग किसी ने नहीं किया। क्यों नहीं किया ? युधिष्ठिर अपने स्वजनों के प्रति जितना ही अधिक कठोर होता है, जितना ही वे उसके कारण कष्ट

पाते हैं, वे उससे उतना ही अधिक प्रेम करने लगते हैं ... कर्ण को लगता है, वह युधिष्ठिर के शरीर को ही नहीं, उसके भाग्य को भी इतना घायल करना चाहता है कि उसकी पीड़ा को देखकर कर्ण के मन की पीड़ा मिट जाए...

"अंगराज !" शल्य ने पुनः कहा, "अर्जुन और कृष्ण के शंखों की ध्वनि सुनाई पड़ रही है। वे इधर ही आ रहे हैं। कहो तो भाग चलें ?"

कर्ण ने एक संवेदनशून्य जड़-सी दृष्टि उस पर डाली, जैसे वह उसकी बात समझ ही न रहा हो और शल्य उसकी एकाग्रता को भंग कर उसे कष्ट पहुँचा रहा हो।

"युधामन्यु और उत्तमौजा उनके पृष्ठरक्षक हैं।" शल्य ने पुनः कहा, "सात्यकि उसके बाएँ चक्र और धृष्टद्युम्न उसके दाएँ चक्र की रक्षा कर रहा है। अर्जुन यहाँ आ गया तो क्या होगा। उधर भीम ने दुर्योधन को दबोच रखा है। चल कर उसको बचाओ। वह मर गया तो युधिष्ठिर और नकुल सहदेव का क्या करोगे तुम ?"

कर्ण की निद्रा टूटी। दुर्योधन मारा गया तो वह क्या करेगा। भीम ने उसे दबोच रखा है तो भीम उसका कंठ दबाने में तनिक भी संकोच नहीं करेगा।... कर्ण मन-ही-मन काँप उठा।

"चलो। राजा दुर्योधन के पास चलो।" कर्ण ने कहा।

शल्य ने मुस्कराकर रथ मोड़ लिया।

वह जानता था कि कर्ण की यही प्रतिक्रिया होगी। अकेले अर्जुन से ही वह घबरा जाता है तो जब अर्जुन, सात्यकि, युधामन्यु और उत्तमौजा—सब ही एक साथ आ रहे हों, तब कर्ण वहाँ कैसे ठहर सकता है। पर कोई आड़ भी तो चाहिए। किया तो उसने वही, जो उसे करना था, किंतु अर्जुन का नाम सुनकर भाग जाने और अपने राजा की रक्षा के लिए जाने में गौरव का बहुत अंतर है।

कर्ण दुर्योधन की रक्षा के लिए चला गया। युधिष्ठिर की समझ में नहीं आया कि यह अकस्मात् ही क्या हुआ कि उनका पीछा करता हुआ कर्ण अपना लक्ष्य पूरा किए बिना इस प्रकार चला गया।... नकुल और सहदेव ने भी विलंब नहीं किया। वे युधिष्ठिर को लेकर तत्काल निकल गए।

शिविर में पहुँचकर युधिष्ठिर अपने बिस्तर पर लेट गए। उनके वैद्य और शल्य चिकित्सक घिर आए। उनका शरीर क्षतविक्षत हो चुका था।

"तुम लोग भीम के पास चले जाओ।" युधिष्ठिर ने नकुल और सहदेव से कहा, "वहाँ तुम लोग उसकी कुछ सहायता भी कर पाओगे और सुरक्षित भी रहोगे। यहाँ तो युद्ध है नहीं। बस चिकित्सा ही चिकित्सा है। वैद्यों की सहायता से यदि उठने का सामर्थ्य जुटा पाया तो मैं भी थोड़ी देर में आ जाऊँगा।"

चिकित्सकों, द्वारपालों और परिचारकों को आवश्यक निर्देश देकर नकुल और सहदेव लौट गए।

युधिष्ठिर का जैसे पहली बार अपने आपसे सामना हुआ। वे अत्यंत अपमानित

और हताश थे। सारा मान-सम्मान नष्ट हो गया था। शरीर टूट रहा था और मन पीड़ा से अशांत था। स्वप्नों के सारे प्रासाद जैसे धराशायी हो गए थे। उन्होंने तो माना था कि आज अर्जुन कर्ण का वध कर देगा और यह युद्ध यहीं समाप्त हो जाएगा। वे क्या जानते थे कि अर्जुन के मन में क्या है। वह तो दिन भर कर्ण के निकट फटका भी नहीं। जाने कहाँ फँस गया है या कहाँ भटक रहा है।… उनके मन में बार-बार शंका होती है कि अर्जुन कर्ण से युद्ध करना नहीं चाहता, इसलिए बार-बार उसकी उपेक्षा कर जाता है।… किंतु जैसे ही ध्यान आता है कि अर्जुन के सारथि कृष्ण हैं, तो उनके मन में अर्जुन के विरुद्ध कोई भाव ठहर नहीं पाता। कृष्ण कभी ऐसा कुछ नहीं कर सकते, जिससे पांडवों की हानि हो।… पर वे क्यों नहीं आए ?… युधिष्ठिर के मन में भयंकर तर्क-वितर्क चल रहा है। वे अर्जुन का कितना भी पक्ष लेकर उसका बचाव कर लें। किंतु सत्य यही है कि युधिष्ठिर की रक्षा के लिए अर्जुन नहीं आया और धर्मराज को कर्ण के हाथों इस प्रकार अपमानित होना पड़ा। जिस भाई पर उन्हें इतना विश्वास था, उसने भी आज उनका त्याग कर दिया था। उसने रंच मात्र भी चिंता नहीं की थी उनकी।… वस्तुतः अर्जुन तो यह युद्ध करना ही नहीं चाहता था। उसे बलात् इस युद्ध में जोत दिया गया था, कुछ कृष्ण के द्वारा और कुछ युधिष्ठिर के द्वारा। अर्जुन न भीष्म से लड़ना चाहता था, न ही द्रोण से। अब शायद वह कर्ण से भी लड़ना नहीं चाहता। तो फिर युधिष्ठिर किसके बल पर यह युद्ध करेंगे ? क्या प्रतिक्षण वे कर्ण से इसी प्रकार अपमानित होते रहेंगे। अर्जुन कभी उनकी रक्षा को नहीं आएगा ?… उन्हें लग रहा था कि वे एक छोटे से बालक के समान थे, जो एक विशाल मेले में अब तक बहुत आश्वस्त होकर घूम रहा था कि उसने अपने पिता की अंगुली थाम रखी है। आज सहसा उसने सिर उठाकर देखा था कि उसके हाथ में उसके पिता की अंगुली नहीं थी। उसके पिता उसके आसपास थे ही नहीं। जिसे उसने थाम रखा था, वह तो कोई खिलौना था। और वह मेले में इतना धँस आया था कि उससे निकलने का मार्ग तक भूल गया था। वह बहुत भूखा था और बुरी तरह से थक चुका था। ऐसे में सिवाय एकांत में बैठकर रोने के वह कर ही क्या सकता था…

ऐसे जीवन का क्या करना था धर्मराज को, जिसमें उनके अपने भाई ही उनके विरुद्ध हो जाएँ। इससे तो एक वीर क्षत्रिय की मृत्यु ही अधिक श्रेयस्कर थी।…

"बहुत कष्ट है महाराज ?" वैद्य पूछ रहा था।

युधिष्ठिर ने उसकी ओर देखा भर, कोई उत्तर नहीं दिया।

अश्वत्थामा पुनः रणक्षेत्र में लौट आया था। इस बार अर्जुन उसके सम्मुख पड़ गया था। उसने अपने बाणों से अर्जुन और कृष्ण दोनों को ही पूर्णतः आच्छादित कर दिया। अर्जुन के पास दिव्यास्त्र प्रकट करने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं था। किंतु अश्वत्थामा कुछ इतना उग्र हो रहा था कि अर्जुन के दिव्यास्त्रों को भी कटने में अधिक

समय नहीं लगा। अर्जुन ने जो-जो दिव्यास्त्र प्रकट किया, अश्वत्थामा ने उसे काट दिया। उसने कृष्ण की दाहिनी भुजा में तीन बाण मारे।...

"इसकी यह भुजा कट जाए तो अर्जुन का रथ ही रुक जाए।" अश्वत्थामा ने सोचा।

कृष्ण को घायल देखकर अर्जुन के मन में आक्रोश का ज्वार उमड़ आया। उसने अश्वत्थामा के घोड़े मार दिए। अश्वत्थामा के साथ आए सारे रथी मार दिए। अर्जुन के गांडीव से जैसे महाकाल प्रकट हो रहे थे। चारों ओर ऐसा संहार मचा था कि अश्वत्थामा को पश्चात्ताप होने लगा था कि उसने अर्जुन को छेड़ा तो छेड़ा, व्यर्थ ही कृष्ण को घायल क्यों कर दिया। अन्य किसी भी योद्धा का सारथि घायल होता है तो उसकी रण सामर्थ्य कम हो जाती है, किंतु अर्जुन ने अनेक बार प्रमाणित कर दिया है कि कृष्ण के घायल होने पर अपने शत्रु के लिए अर्जुन अधिक घातक हो जाता है।

अश्वत्थामा के मन में अगले ही क्षण जैसे कोई अत्यंत हिंस्र पशु जाग उठा।... अर्जुन को छेड़ना तो अनिवार्य ही था। मेरे पिता के शिष्य हैं ये सारे पांडव। मेरे पिता ने ही इनको शस्त्र विद्या दी और इन्होंने मेरे ही पिता को मरवा डाला। वह भी किस अपमानजनक ढंग से। और अब वे मेरे पीछे भी पड़े हैं। यदि भीम और अर्जुन धृष्टद्युम्न की रक्षा न करें, उसे मेरे हाथों मर जाने दें, तो मेरी इनसे क्या शत्रुता है ? पर नहीं ! इस समय तो धृष्टद्युम्न का सबसे बड़ा रक्षक यह अर्जुन ही है। यदि धृष्टद्युम्न का वध करना है, तो पहले अर्जुन की हत्या करनी होगी।

अश्वत्थामा नया रथ लेकर अर्जुन के सम्मुख जा पहुँचा और उसने उसे अपने बाणों से ढँक दिया। अर्जुन मुस्कराया—गुरुपुत्र लौट आया है। उसने अश्वत्थामा का शरीर काटने के स्थान पर उसका धनुष ही काट दिया। असमर्थ क्रोध के मारे अश्वत्थामा की आँखों से रक्त टपकने लगा। उसने एक भारी परिघ उठाकर अर्जुन पर फेंक दिया। अर्जुन को उसके नीचे दबकर मर जाना चाहिए था; किंतु अर्जुन ने अपने बाणों से परिघ के टुकड़े कर दिए।

अश्वत्थामा ने ऐंद्रास्त्र प्रकट किया। बाणों की वर्षा होने लगी। अर्जुन अपने ऐंद्रास्त्र से बाणों की वर्षा तो कर सकता था; किंतु उससे अश्वत्थामा के ऐंद्रास्त्र की बाणवर्षा रुक नहीं जाती।

अर्जुन ने इंद्र निर्मित अवरोधास्त्र से ऐंद्रास्त्र को काटा और अपने बाणों से अश्वत्थामा को अभिभूत कर दिया। अश्वत्थामा का मन फिर से रक्त वमन करने लगा था।... यह अर्जुन इतना प्रबल है, क्योंकि कृष्ण उसके साथ है। इस कृष्ण का ही वध कर दिया जाए तो अर्जुन सिवाय बैठ के रोने के और कुछ नहीं कर पाएगा।...

अश्वत्थामा ने अपने बाणों से कृष्ण और अर्जुन दोनों को ही पुनः घायल कर दिया। उत्तर में अर्जुन ने अश्वत्थामा को घायल किया और उसके सारथि को मार कर रथ से नीचे गिरा दिया।

अश्वत्थामा ने स्वयं अपने अश्वों की वल्गा पकड़ ली और अपने धनुष से बाणों की वर्षा करता रहा। वल्गा सारथि ने पकड़ी हो तो उसकी लंबाई कम होती है, किंतु रथी ने ही वल्गा थाम रखी हो तो उसकी लंबाई किसी भी विरोधी के बाणों को आमंत्रित करेगी। अर्जुन ने अश्वत्थामा के अश्वों की वल्गा काट दी। उसके घोड़े स्वच्छंद होकर भागने लगे।

अश्वत्थामा युद्धक्षेत्र से हट गया तो पांडवों की सेना विजय के उन्माद में कौरवों पर टूट पड़ी।

कर्ण उधर से ही लौट रहा था। उसने आते हुए दूर से देखा कि कौरव सेना भागी जा रही है और दुर्योधन का रथ पूरे वेग से उसकी ओर आ रहा है।

"कर्ण ! देखो तो," दुर्योधन जल्दी से बोला, "पांचालों ने मेरी सेना को पीड़ित कर रखा है। तुम्हारी उपस्थिति में भी मेरी सेना भागी जा रही है।"

कर्ण ने अपने धनुष से दुर्योधन को आगे चलने का संकेत किया और बोला, "मेरी भुजाओं और अस्त्रों का बल देखो। मैं अभी समस्त पांचालों और पांडवों का वध किए देता हूँ।"

वह शल्य की ओर मुड़ा, "मेरा कल्याण चिंतन करो और घोड़ों को आगे बढ़ाओ मद्रराज !"

शल्य ने जहाँ रथ रोका, वहाँ अर्जुन और भीम दोनों ही थे। कर्ण ने एक दृष्टि शल्य पर डाली : क्या यह शल्य की चतुराई है कि उसने रथ उस समय वहाँ पहुँचाया है, जब वहाँ अर्जुन के साथ भीम भी उपस्थित है।··· पर नहीं ! शल्य न तो इतना चतुर है और न ही इतना दक्ष। यह तो संयोग ही है।

कर्ण ने अपने धनुष जय पर भार्गवास्त्र चढ़ाया और उसे पांचाल सेना की ओर प्रेरित कर दिया। भार्गवास्त्र से असंख्य बाण प्रकट होने लगे। इतनी बड़ी संख्या में बाणों का सामना करना पांचाल सेना के लिए कठिन था। कुछ ही समय में वहाँ हाहाकार गूँजने लगा।

अर्जुन ने कृष्ण की ओर देखा, "कर्ण को यह दिव्यास्त्र भगवान् परशुराम से प्राप्त हुआ होगा। और किसी के पास यह भार्गवास्त्र है ही नहीं। इसे नष्ट नहीं किया जा सकता। यह तो अपने सारे बाण उगलकर ही रहेगा।"

"ठीक कह रहे हो धनंजय ! इसे शांत हो ही लेने दो।" कृष्ण ने कहा।

"चुपचाप खड़ा रहूँ ?" अर्जुन बोला, "यह तो पलायन होगा, और पलायन तो कदापि उचित नहीं है। कर्ण मेरी ओर देख रहा है, जैसे चुनौती दे रहा हो। पर···।"

"मनुष्य जीवित रहता है तो युद्ध में विजय और पराजय दोनों पाता है। मृत पुरुष विजय कहाँ से पाएगा।" कृष्ण बोले, "जब भार्गवास्त्र को रोका नहीं जा सकता तो उसके सम्मुख जाकर खड़े हो जाने में कौन-सी बुद्धिमत्ता है। इसे अपना क्रोध शांत कर लेने दो। यह भी युद्ध की नीति ही है। उस क्षेत्र से अपनी सेनाएँ हटा लो, जहाँ भार्गवास्त्र

अपना अनियंत्रित क्रोध उगल रहा है।"

"और हम ?" अर्जुन ने पूछा।

"कर्ण ने राजा युधिष्ठिर को क्षतविक्षत कर दिया है। उनसे मिलकर, उनको धैर्य देकर, तुम कर्ण का वध करने के लिए लौट आना।" कृष्ण बोले, "मुझे पूर्ण विश्वास है कि कर्ण के पास दूसरा भार्गवास्त्र नहीं है, नहीं तो वह इसका प्रयोग बहुत पहले ही कर चुका होता। कर्ण को थक लेने दो। कोई अन्य दिव्यास्त्र है उसके पास तो उसका भी प्रयोग कर लेने दो।"

कृष्ण ने रथ को मोड़ लिया, "नकुल और सहदेव मध्यम पांडव के निकट ही हैं, वे ही धर्मराज के साथ थे। वे बता पाएँगे कि इस समय धर्मराज के कहाँ होने की संभावना है।"

कृष्ण ने अपना रथ भीम के रथ के निकट रोका।

"मध्यम ! धर्मराज कहाँ हैं ?" अर्जुन ने पूछा।

"नकुल और सहदेव ने बताया है कि वे समरभूमि से हट गए हैं। संभव है कि अभी तक किसी प्रकार जीवित हों।"

भीम के शब्दों से अर्जुन स्तब्ध रह गया। क्या यह भी संभव है कि धर्मराज जीवित ही न हों और उनका कोई भी भाई, कोई भी पुत्र, उनके निकट न हो। पांडवों के लिए युद्ध बहुत महत्त्वपूर्ण है किंतु युद्ध स्वयं धर्मराज से अधिक महत्त्वपूर्ण तो नहीं हो सकता।

"तो आप तत्काल उनके निकट जाइए।" अर्जुन ने आग्रहपूर्ण स्वर में कहा, "जो धर्मराज अपने गुरु आचार्य द्रोण के द्वारा पीड़ित किए जाने पर भी नहीं हटे, वे आज हट गए हैं तो कोई न कोई विशेष बात होगी। आप जाकर उन्हें देखिए और हमें भी शीघ्र समाचार दीजिए। मैं यहाँ शत्रुओं को रोकता हूँ।"

"मैं कोई वैद्य नहीं हूँ कि मेरे जाने से धर्मराज को कोई लाभ होगा; किंतु यहाँ बने रहने से कुछ लाभ की संभावना है।" भीम ने कहा, "इस भार्गवास्त्र का तुम भी कुछ नहीं कर सकते। जब तक यह यहाँ बरस रहा है, तुम जाकर उनका समाचार ले आओ। मैं तब तक अपनी सेना को सँभालता हूँ। वैसे भी मैं हट गया तो लोग मुझे कायर कहेंगे।"

अर्जुन ने भीम की ओर देखा : कभी-कभी भीम कोई ऐसी बात कह देते हैं कि जिसका अर्थ वे स्वयं ही नहीं समझ रहे होते। वे यहाँ से हटेंगे तो लोग उन्हें कायर कहेंगे··· और यदि अर्जुन हट गया तो ? उसे कायर नहीं कहेंगे ? या भीम यह कहना चाहते हैं कि तुमको कहेंगे तो कहते रहें, उन्हें कोई कायर न कहे।··· और फिर चुनौतियाँ किसके सामने नहीं हैं ?

"संशप्तकों को मारे बिना मैं शत्रुओं के इस गोष्ठ से बाहर नहीं जा सकता।" अर्जुन ने कहा।

"चिंता मत करो।" भीम ने कहा, "मैं इनको भी देख लूँगा। ये और कुछ नहीं,

दुर्योधन का पाखंड है। इस सुशर्मा को विराटनगर में धर्मराज ने मेरे हाथों से बचा लिया था। यह उसके कारण हमारा कृतज्ञ न होकर हमसे शत्रुता पाल रहा है। इसे तो तुम मेरे हवाले कर दो। जिस दिन इसके कंठ तक मेरे हाथ पहुँचे, इसका कंठ दबाकर इसे वैसे ही मारूँगा, जैसे विराटनगर में मार रहा था। तुम जाओ।"

35

युधिष्ठिर शिविर में अपने बिस्तर पर लेटे हुए थे।

वैद्य और शल्यचिकित्सक उनके शरीर के कष्टों का निवारण करने में जुटे हुए थे। युधिष्ठिर का ध्यान वैद्यों की ओर नहीं था। बीच-बीच में वैद्य कोई प्रश्न पूछ लेते तो युधिष्ठिर को उनसे संबोधित होना पड़ता था। अन्यथा वे प्रायः आत्मलीन ही थे, जैसे वह शरीर उनका न हो और उनकी चिकित्सा से प्राप्त सुख-दुख से उनका कोई संबंध ही न हो। उनकी आँखें बंद थीं और वे अपने आपसे ही वार्तालाप कर रहे थे।

बहुत साधा है उन्होंने अपने आपको, फिर भी उनके मन से मान-अपमान का भाव नहीं गया। आज युद्ध में उन्होंने स्वयं को बहुत अपमानित अनुभव किया। जिस मन में दुर्योधन के लिए भी कभी प्रतिशोध का भाव नहीं जागा, वह मन कर्ण से प्रतिशोध लेने के लिए दिन भर तड़पता रहा है। क्यों नहीं वे मान और अपमान के भाव को लाँघ कर युद्ध कर सके ? क्यों नहीं वे सच्चे क्षत्रिय के समान मृत्यु को गले लगा सके ? क्यों चले आए वे समरभूमि से ? क्यों नहीं पीछा करते हुए कर्ण के सम्मुख बैठ गए, आचार्य द्रोण अथवा भूरिश्रवा के समान कि वह चाहे तो उनका मस्तक काट ले ?...

सहसा उनके मन में जैसे कृष्ण आ बैठे। कृष्ण का सम्मुख आना ही अपने आप में उत्सव होता है। यहाँ तो वे उनके मन में ही आ बैठे थे।

कृष्ण मुस्कराए और बोले, "आपका मोह नहीं गया धर्मराज ! वीरता और मूर्खता में कोई अंतर भी होता है या नहीं। मान-अपमान के मूल में अहंकार है, किंतु आत्मरक्षा का आधार भी अहंकार है क्या ? क्षत्रिय तो दूसरों की भी रक्षा करता है, वह आत्मरक्षा ही नहीं करेगा, तो क्षत्रिय क्या हुआ ?... जब आपको इतने घाव लग चुके हों कि आप अपना धनुष भी ढंग से उठा न पा रहे हों, उस समय शत्रु के सामने निरीह रूप से खड़े रहना या भूमि पर बैठ जाना, आत्मसमर्पण नहीं है क्या ? वह वीरता है ? आत्मसमर्पण वीरता है ? वीर तो वह होता है, जो अपनी रक्षा के लिए अंतिम क्षण तक लड़ता रहे। आप अपनी रक्षा के लिए ही तो वहाँ से हट आए थे।"

युधिष्ठिर कुछ सजग हुए—ठीक ही तो कह रहे हैं कृष्ण ! वे भी तो अपनी और यादवों की रक्षा के लिए मथुरा छोड़ गए थे—युद्ध में घायल होकर अपनी अक्षमता के कारण नहीं, अपनी नीति के कारण।... युधिष्ठिर ने भीष्म से लड़ने में भी संकोच

नहीं किया, तो वे कर्ण से युद्ध करने से क्यों घबराते।··· आज प्रातः से ही वे कितनी बार घायल हो चुके हैं। अश्वत्थामा और कर्ण, दोनों ने ही उनको क्षतविक्षत किया था। अंग-अंग में घाव हो जाए तो युद्ध का अर्थ ही क्या रह जाता है।··· तो फिर उनके मन में इतना अवसाद क्यों है ? वे अपने धर्म का निर्वाह करते रहे हैं, तो फिर उनके मन में निराशा, हताशा और अवसाद का ग्राम क्यों बसा हुआ है ? मन इस प्रकार रूठा क्यों बैठा है ?··· क्या केवल इसलिए कि अर्जुन उनकी रक्षा के लिए नहीं आया और उन्हें कर्ण के सम्मुख नीचा देखना पड़ा ?··· हाँ ! उनके मन में अर्जुन के लिए बहुत शिकायतें हैं। युद्ध के आरंभ से ही हैं। वह उनकी अपेक्षाओं पर पूरा नहीं उतरा है। युद्ध का जो परिणाम उन्होंने चाहा था, वह उन्हें प्राप्त नहीं हुआ है।··· तो यह फल की अपेक्षा ही है, जो उन्हें हताश किए हुए है।··· पर यह तो वे जानते ही थे कि युद्ध का परिणाम अनिश्चित होता है। फिर उन्होंने यह क्यों मान लिया कि युद्ध में वही होगा, जो वे चाहते हैं ?

युधिष्ठिर मन-ही-मन हँस पड़े··· सिद्धांत जानते हैं वे; किंतु उनका मन तो एक जीव का ही मन है। वह लौट-लौट कर अपनी प्राकृतिक स्थिति में चला जाता है। अपनी कामनाओं और अपेक्षाओं का दास हो जाता है।··· जब वे युद्ध कर रहे हैं तो कैसे स्वयं को समझा लें कि युद्ध के परिणाम का कोई महत्त्व नहीं है, जय और पराजय में कोई अंतर नहीं है।··· युद्ध विजय के लिए किया जाता है, पराजय के लिए नहीं। तो फिर जीव उसकी अपेक्षा क्यों न करे। पता नहीं, कृष्ण कैसे कहते हैं कि जय और पराजय में कोई अंतर नहीं है। वे स्वयं भी तो निरंतर विजय के लिए ही प्रयत्नशील रहते हैं।··· विजय के लिए प्रयत्नशील रहते हैं किंतु पराजय हाथ लगती है तो ऐसे मुँह बिसूरते बिस्तर पर लेटे नहीं रहते।··· ऐसा तमोगुण कभी देखा है तुमने कृष्ण के व्यवहार में ?

युधिष्ठिर की आँखें खुल गई।··· ठीक ही तो है। प्रकृति, उसके बंधन और गुणों से तो कोई भी मुक्त नहीं है। किंतु गुणों में अंतर तो हो सकता है। प्रयत्न कर हम अपने मन में सत्त्व की वृद्धि तो कर ही सकते हैं।··· युधिष्ठिर जानते हैं कि यह राज्य किसी का नहीं है। उनका भी नहीं है। यह धरती किसी की संपत्ति नहीं है। राजा मान लेता है कि वह धरती का स्वामी है; किंतु अंततः तो यह धरती ही उस पर राज्य करती है।··· तो फिर इस धरती का राज्य पाने के लिए इतने व्याकुल क्यों हैं वे ? वे राजा बन जाएँ तो न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करना उनका धर्म है, किंतु जब वे राजा नहीं हैं तो उस राज्य और प्रजा के लिए इतने चिंतित क्यों हैं ?

सहसा उनके मन में एक तेजस्वी क्षत्रिय जाग उठा।··· वे धरती के स्वामी नहीं हैं किंतु प्रजा को राक्षसी राज्य से बचाना किसी भी जीव का धर्म होता है। वे कुंती के पुत्र हैं, पांडवों के बड़े भाई हैं, किसी के पति हैं, किसी के पिता हैं··· अपने परिवार के सब लोगों के सुख-दुख के लिए तो मुखिया के रूप में युधिष्ठिर ही उत्तरदायी हैं। सारा परिवार उन पर निर्भर है, वे उनके आज्ञाकारी हैं, उनके कारण ही वे दुख पा

रहे हैं—तो क्या युधिष्ठिर का धर्म नहीं है कि वे उन सब लोगों के कष्टों को दूर करें, उनके अधिकार उन्हें दिलाएँ। माता कुंती क्या अपने लिए राज्य चाहती हैं ? उन्हें क्या करना है राज्य का ? अभिमन्यु क्या अपने लिए राज्य चाहता था ? घटोत्कच ने क्या अपने राज्य के लिए प्राण दिए ?··· सब अपने धर्म के लिए ही तो युद्ध कर रहे हैं। तो वे भी अपना धर्म मान कर युद्ध करें। कर्म करें न करें, कर्तव्य तो करें। अर्जुन भी वही करे।··· तो फिर अर्जुन उन्हें कर्ण से बचाने क्यों नहीं आया ?···

उनके विचारों का सूत्र टूटा।··· किसी बड़े रथ के निकट आने की गंभीर ध्वनि सुनाई दे रही थी। संभवतः यह तो अर्जुन का ही रथ था।··· पर इस समय अर्जुन का रथ उनके शिविर की ओर कैसे आ गया ?···

उन्होंने निकट खड़े वैद्य की ओर देखा, "कोई आया है क्या ?"

वैद्य ने द्वारपाल की ओर देखा, "महाराज पूछ रहे हैं कि कोई आया है क्या ?"

द्वारपाल निकट आकर बहुत धीमे स्वर में बोला, "एक रथ इस ओर आ रहा है। उसका कपिध्वज दिखाई दे रहा है। संभवतः वह राजकुमार अर्जुन का ही रथ है।"

रथ निकट आता जा रहा था। उसकी ध्वनि अधिक से अधिक स्पष्ट होती जा रही थी। निश्चित रूप से यह अर्जुन का ही रथ था।··· किंतु इस समय जब वहाँ घमासान युद्ध हो रहा है, अर्जुन समरभूमि छोड़कर उनके शिविर में क्या करने आ रहा है ?··· कहीं अर्जुन भी उन्हीं के समान आहत तो नहीं हो गया ? उसकी सुरक्षा के लिए ही तो उसे समरभूमि से हटा नहीं दिया गया ?··· युधिष्ठिर का हृदय बैठ गया। यदि ऐसा हो गया है तो पांडवों को विजय की आशा त्याग देनी चाहिए।···

"केवल एक ही रथ आ रहा है ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"हाँ महाराज ! केवल एक ही। राजकुमार अर्जुन का ही रथ है। वे और वासुदेव रथ में से उतरकर इधर आ रहे हैं।" द्वारपाल ने कहा।

युधिष्ठिर के मन में जैसे कोई विद्युत कौंद गई···. कर्ण का वध कर दिया क्या अर्जुन ने ? अवश्य यही हुआ होगा। नहीं तो अर्जुन इस समय उनके शिविर में क्या करने आता।

युधिष्ठिर के मन पर से एक बड़ा बोझ उतर गया।··· तो अंततः कर्ण मारा ही गया। पांडवों का सबसे बड़ा विरोधी मारा गया। पांडवों का सबसे बड़ा अहितचिंतक मारा गया। जिसके भय से वे तेरह वर्षों तक रातों को सो नहीं पाए थे, दिन में किसी प्रकार के सुख का अनुभव नहीं कर पाए थे; जिसके द्वेष से वे आज तक निरंतर जलते रहे थे; आज तक भीष्म और द्रोण ने भी उन्हें जितना अपमानित नहीं किया था, उतना अपमानित करने वाला कर्ण आज मारा गया था। अब कौन है, दुर्योधन के पास जिसके भरोसे वह युद्ध कर सके। तो अब यह नृशंस युद्ध समाप्त हो जाना चाहिए। सैनिकों, युद्धक गजों, तथा अश्वों का यह अनर्गल संहार बंद होना चाहिए। मनुष्य की क्षमताओं और उपलब्धियों का युद्ध में यह अबाध होम बंद होना चाहिए। प्रजा को सुख और

शांति से जीने का अवसर मिलना चाहिए। मानव समाज का विकास होना चाहिए।···

शिविर के बाहर की ध्वनियों से युधिष्ठिर समझ गए कि अर्जुन और कृष्ण आ गए हैं। युधिष्ठिर उठकर बैठ सकते तो उन लोगों के स्वागत के लिए, वे अवश्य ही भागकर बाहर गए होते। किंतु वह संभव नहीं था। उन्होंने करवट ली और द्वार की ओर देखने लगे।

द्वार पर अर्जुन के प्रकट होते ही वे स्वयं को रोक नहीं सके।

"बधाई हो अर्जुन !" वे बोले, "मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ। तुम दोनों ने स्वयं कोई क्षति न उठाकर, स्वयं सकुशल रहते हुए, कर्ण को मार डाला। मैं तो भीम के प्रभाव से ही जीवित हूँ, नहीं तो उस सूतपुत्र ने तो कोई कसर नहीं उठा रखी थी। जैसे पतंगा जलने के लिए अग्नि में जा गिरता है, वैसे ही मैं भी मरने के लिए उस कर्ण का सामना करने चला गया था।··· वह सूतपुत्र मारा गया। यह परम आनन्द का अवसर है। यहाँ आओ। मेरे निकट बैठो और मुझे बताओ कि तुमने उसे किस बाण से कैसे मारा।"

अर्जुन के चेहरे पर किसी प्रकार का कोई उल्लास प्रकट नहीं हुआ, न ही उसने कुछ कहा।

"बहुत थके हुए लग रह हो।" युधिष्ठिर ने कहा, "थकान तो होनी ही थी। प्रातः से किस-किससे कहाँ-कहाँ लड़ रहे हो और सूतपुत्र से तुम्हारा युद्ध कम श्रमसाध्य नहीं रहा होगा। उसने भी तो अंतिम प्रयत्न किया होगा। वैसे भी उससे सुविधा से मुक्ति पा लेते तो उसके वध का महत्त्व ही क्या रह जाता।"

तभी कृष्ण ने शिविर में प्रवेश किया, "किंतु धर्मराज ! कर्ण का वध अभी हुआ ही कहाँ है ? हम वहाँ से चले थे तो वह समरभूमि में भार्गवास्त्र प्रकट कर अपना सामर्थ्य प्रमाणित कर रहा था।"

युधिष्ठिर पर जैसे वज्रपात हुआ।

"कर्ण जीवित है, भार्गवास्त्र से हमारी सेना का नाश कर रहा है ?" उनके मुख से अनायास ही निकल गया।

"हाँ महाराज !" अर्जुन ने कहा।

"तो तुम यहाँ क्या करने आए हो ?" युधिष्ठिर के स्वर में मुखर खीज थी, "मैं तो घायल हो गया था। युद्ध के लिए असमर्थ हो चुका था। धनुष भी नहीं उठ रहा था मुझसे। चला आया मैं अपने शिविर में, ताकि युद्ध किए बिना ही मारा न जाऊँ, या कर्ण के हाथों बंदी न हो जाऊँ। मुझे बाँधकर दुर्योधन तुम लोगों पर दबाव डालकर अपनी मनमानी न करवा ले।··· और तुम समर्थ होते हुए भी कर्ण के भय से भाग आए ?" युधिष्ठिर के स्वर से धिक्कार बरस रहा था।

अर्जुन ने एक बार अचकचाकर कृष्ण की ओर देखा।

कृष्ण खड़े मुस्करा रहे थे।

"नहीं महाराज ! किसी से भयभीत होने की क्या बात है।" अर्जुन क्लांत स्वर

में बोला, "मैं संशप्तकों से युद्ध कर रहा था, उस समय अश्वत्थामा विषधर सर्प के समान भयंकर बाणों का प्रहार करता हुआ, मेरे सामने आ खड़ा हुआ। अश्वत्थामा के लिए आठ-आठ बैलों से जुते हुए आठ शकट सहस्रों बाण ढो रहे थे। मैंने उसके वे सारे बाण काट डाले और उसे घायल कर दिया। तब वह अपने शरीर से रुधिर बहाता हुआ, कर्ण की रथ सेना में घुस गया। पचासों रथियों का संहार कर मैं व्यग्रता से आपके दर्शन के लिए आया हूँ। हमने सुना कि आप इतने घायल हो गए हैं तो"। अब आपको देख लिया है। आज्ञा दीजिए, मैं समरभूमि में लौट जाऊँ।"

"भीम कहाँ है ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"मध्यम युद्ध कर रहे हैं..."

"भीम के मन में आए और वह माता का कुशलक्षेम जानने के लिए हस्तिनापुर चल दे तो युद्ध का क्या होगा ?" युधिष्ठिर क्षुब्ध स्वर में बोले।

"वे युद्ध छोड़कर ऐसे कैसे चले जाएँगे ?" अर्जुन ने कहा।

"जैसे तुम चले आए हो।" युधिष्ठिर के स्वर में कटुता थी, "मैंने नकुल और सहदेव को यहाँ से भेजा है कि वे जाएँ और भीम की सहायता करें; और तुम उसे वहाँ युद्ध करते देखकर भी छोड़ आए हो। इसका क्या अर्थ है ?"

"मध्यम ने कहा था कि वे संशप्तकों को भी सँभाल लेंगे, मैं आपका समाचार लेकर आऊँ।"

"ये संशप्तक !" युधिष्ठिर के मन की सारी दाहकता जैसे साकार हो, शब्दों में प्रकट हो गई, "संशप्तक न हुए, तुम्हारे आराध्य हो गए। संशप्तकों के कारण हमने अभिमन्यु को खोया। तुम सदा संशप्तकों से ही लड़ते रहे और कर्ण मेरे शरीर में बाण पिरोता रहा। मैं सिर उठा-उठाकर देखता रहा कि तुम कब आते हो और तुम संशप्तकों से आँख मिचौनी खेलते रहे। संशप्तक तुम्हें इतने प्यारे क्यों हैं अर्जुन !"

"संशप्तक प्यारे नहीं हैं मुझे।" एक क्षणिक स्तब्धता के पश्चात् अर्जुन का स्वर भी कुछ उग्र हो गया, "आपको शायद ज्ञात भी नहीं है कि यदि मैं संशप्तक और नारायणी के गोप सैनिकों का संहार न कर रहा होता तो वे लोग अब तक आपकी कितनी क्षति कर चुके होते। कौरव सेना के सबसे भयंकर और विषाक्त अंग को सँभाल रखा है मैंने। कृष्ण ने दुर्योधन को नारायणी सेना किसी और के भरोसे नहीं दी थी।"

"बड़े गर्व से कह रहे हो, जैसे यह कृष्ण की योजना हो कि तुम नारायणी सेना के साथ व्यस्त रहोगे और कर्ण और अश्वत्थामा को हमारी सेनाओं का नाश करने का अवसर मिलता रहेगा।" युधिष्ठिर के स्वर में वक्रता आ गई, "और जैसे ही भीम ने कहा कि वह संशप्तकों को भी देख लेगा, तुम कर्ण के भय से भीम को युद्धक्षेत्र में अकेला छोड़कर मेरा कुशलक्षेम जानने चले आए। अपने सहोदर के प्रति ऐसा स्नेह निभाया। तुमने पहले कह दिया होता कि तुम कर्ण से युद्ध नहीं कर सकोगे तो हमने अपना कर्तव्य किसी और प्रकार से निश्चित किया होता। हमें यहाँ शत्रुओं के बीच पत्थर

की वेदी पर ला पटकने की क्या आवश्यकता थी। दुर्योधन ने पहले ही कहा था कि तुम कर्ण का सामना नहीं कर सकोगे, पर मैंने ही अपनी मूर्खतावश उसका विश्वास नहीं किया।..."

"मैं किसी से भयभीत नहीं हूँ धर्मराज !" अर्जुन का स्वर और भी ऊँचा हो गया, "आपके स्नेह के कारण व्यथित होकर मैं यहाँ चला आया और आप ही इस प्रकार की बातें कर रहे हैं, जैसे मैं जान-बूझकर अपना समय इधर-उधर नष्ट करता रहता हूँ और आपकी चिंता मुझे नहीं होती है।"

"तुम किसी से भयभीत हो या नहीं हो, मैं नहीं जानता।" युधिष्ठिर बोले, "मैं तो इतना जानता हूँ कि मैं तुम्हारे प्रति अपनी अपेक्षाओं से भयभीत हूँ। हम सब युद्ध के पूर्व से ही जानते थे कि तुम हमारा शस्त्र हो और भीम हमारा बल है...। पर आज लग रहा है कि एकमात्र भीम ही मेरे रक्षक हैं। अभिमन्यु जीवित होता, तो वह अवश्य ही शत्रुओं का वध करता। घटोत्कच जीवित होता तो भी मुझे इस प्रकार मुँह फेरकर भागना नहीं पड़ता।"

अर्जुन मुँह बाए युधिष्ठिर की ओर देखता रह गया—क्या हो गया है धर्मराज को आज। वे एकदम ही अपना धैर्य खो बैठे हैं। वह अपने प्रति भी सजग था। उसका धैर्य भी क्रमशः चुकता जा रहा था।

"आप बहुत थक गए हैं धर्मराज ! कर्ण के हाथों अपने अपमान और अपने शारीरिक घावों से बहुत पीड़ित हो गए हैं।" कृष्ण बोले, "पर आप मेरा और अर्जुन का भरोसा कर सकते हैं। अर्जुन किसी से भी भयभीत क्यों होगा। वह किसी से भी अक्षम नहीं है। कर्ण को आज मरना है और वह अपने समय पर मरेगा। आप आश्वस्त रहें।"

"आप पर मुझे पूरा भरोसा है केशव !" युधिष्ठिर की आँखों में अश्रु आ गए, "किंतु मैं अर्जुन की युद्धविमुखता से थक गया हूँ। आप स्वयं सोचें, युद्ध न करने का संकल्प करके भी आपको व्यग्र होकर पितामह से युद्ध करने के लिए रथ से कूदना पड़ा। क्यों ? अर्जुन की इस शिथिलता का क्या अर्थ है, क्यों वह अपने शत्रुओं से इतना प्रेम करता है ? क्यों उनके प्रति मोह है उसके मन में ? क्यों भयभीत है वह उनसे ? गांडीव-धारण करने वाले के लिए क्या इस प्रकार का व्यवहार शोभनीय है ?"

"जाने आप इस प्रकार क्यों सोच रहे हैं।" अर्जुन कुछ खीजकर बोला, "अपने बंधु से इस प्रकार बोल रहे हैं। मेरे स्नेह का यह प्रतिदान है।"

"जो आपत्ति में पड़े मनुष्य को संकट से छुड़ा देता है, वही बंधु है और वही स्नेही सुहृद।" धर्मराज किसी प्रकार भी शांत नहीं हो पा रहे थे, "तुम्हारा रथ साक्षात् विश्वकर्मा का बनाया हुआ है, उसके धुरे से कोई अप्रिय शब्द नहीं होता। उस पर वानर ध्वजा फहराती है। ऐसे शुभलक्षण रथ पर आरूढ़ हो, स्वर्णजटित खंग और चार हाथ के श्रेष्ठ गांडीव धनुष को लेकर और भगवान् श्रीकृष्ण जैसा सारथि पाकर भी तुम कर्ण

से भयभीत होकर कैसे भाग आए ? अच्छा होता कि तुम अपना गांडीव श्रीकृष्ण को दे देते और स्वयं उनके सारथि बन जाते। धिक्कार है तुम्हारे इस गांडीव को। धिक्कार है तुम्हारी बलिष्ठ भुजाओं को। धिक्कार है तुम्हारे बाणों को और धिक्कार है तुम्हारे इस रथ को।"

अर्जुन के शब्द जैसे उसके कंठ में ही जम गए। मस्तिष्क जड़ हो गया।··· जो स्वयं तो युद्ध से भागकर एक कोस दूर आ बैठा है, उसे क्या अधिकार है कि वह उसे इस प्रकार धिक्कारे। भीमसेन को फिर भी उसकी निन्दा का अधिकार हो सकता है। वे अकेले ही वहाँ सारे शत्रुओं से जूझ रहे हैं। ये यहाँ शैया पर बैठे-बैठे मेरा अपमान कर रहे हैं। निष्ठुर ! स्त्री, पुत्र, जीवन और यह शरीर लगाकर अर्जुन जिसका प्रिय करने के लिए सदा प्रयत्न करता रहा, वह अपने वाग्बाणों से उसके प्राण ले रहा है। जिस व्यक्ति से जीवन में कभी किसी को कोई सुख नहीं मिला, जो स्वयं पांडवों की सारी समस्याओं का कारण था, वही उसे इस प्रकार धिक्कार रहा है।···

अर्जुन का हाथ अपनी असि पर चला गया। वह आज अपने इस भाई का वध ही कर डालेगा।

कृष्ण बहुत ध्यान से अर्जुन की प्रतिक्रिया देख रहे थे, जैसे वे उसका मन ही पढ़ रहे हों।

"क्या कर रहे हो अर्जुन ?" उन्होंने अर्जुन की भुजा पकड़ ली, "इस समय इस असि को कोश से बाहर निकालने का क्या प्रयोजन है।"

"केशव ! आप सुन रहे हैं, कि मेरे बड़े भाई मुझे क्या कह रहे हैं।" अर्जुन बोला, "यह सब सुनने के पश्चात् मुझे इनका वध ही नहीं कर देना चाहिए क्या ?"

"विक्षिप्त हो गए हो।" कृष्ण ने अर्जुन को स्नेह भरी दृष्टि से देखा, "इतना-सा अपमान नहीं सह सकते तो धर्मराज जैसे भाई और अपने राजा का वध करके जीवित रह सकोगे क्या ? धर्मराज का वध कर, दुर्योधन की विजय के लिए मार्ग प्रशस्त करना चाहते हो ?"

"पर इनके यह सब कहने का क्या अर्थ ?"

"कुछ नहीं।" कृष्ण ने अर्जुन के क्रोध पर अपनी मुस्कान का लेप लगाया, "सोचो प्रातः से कितनी बार वे अश्वत्थामा और कर्ण से पीड़ित हो चुके हैं। वे युद्ध नहीं कर रहे थे, फिर भी कर्ण उनको पीड़ित करता रहा। उनके शरीर से कितना रक्त बहा है। ऐसी शारीरिक और मानसिक स्थिति में क्या कोई अपना संतुलन बनाए रख सकता है।" कृष्ण ने अर्जुन के हाथ से उसकी असि ले ली, "उन्होंने यह भी सोचा होगा कि अर्जुन को क्रोध नहीं दिलाया तो आज भी कर्ण का वध नहीं हो पाएगा।"

अर्जुन ने कृष्ण की ओर देखा—वे ठीक ही कह रहे थे। अधिक रक्त बह जाने पर व्यक्ति का मस्तिष्क ही काम नहीं करता। धर्मराज की तो सारी अपेक्षाएँ ही उससे जुड़ी हुई थीं। उन दोनों को देखते ही उन्होंने मान लिया कि कर्ण मारा गया है। अब

यदि अपनी हताशा की पराकाष्ठा में उन्होंने कुछ कठोर बातें कह दीं तो इतना धैर्य तो अर्जुन में होना ही चाहिए था कि उनकी मनःस्थिति समझकर चुप रह जाता और अपने मन में उनके विरुद्ध ऐसे कुत्सित विचार न उठने देता। पर उसने तो असि निकाल कर उनका वध करने तक की बात सोच डाली। कृष्ण न रोकते तो जाने वह क्या अनर्थ कर बैठता।''' उसकी इच्छा हुई कि वह उसी असि से अपना मस्तक काट दे।'''

"क्या सोच रहे हो ?" कृष्ण ने पूछा।

"सोचता हूँ कि मैंने कितना बड़ा मानसिक अपराध कर डाला है। धर्मराज जैसे अपने भाई के वध की बात सोच डाली। इसका प्रायश्चित्त कैसे होगा। ऐसा जघन्य अपराध करने के पश्चात् मुझे जीवित रहने का क्या अधिकार है।"

"मूर्ख हो तुम। मोहाक्रांत हो रहे हो।" कृष्ण ने उसे डाँटा, "कभी भाई का वध करने की बात सोचते हो और कभी आत्महत्या ही कर लेना चाहते हो। तुम भी बहुत उद्विग्न लग रहे हो मुझे। अच्छा है कि धर्मराज से अनुमति लो और समरभूमि में लौटो। नहीं तो यहाँ कोई न कोई अनर्थ होकर ही रहेगा।"

अर्जुन ने अपने अवसाद को संयत कर युधिष्ठिर की ओर देखा : युधिष्ठिर के चेहरे पर अब कहीं आक्रोश नहीं था। वे पहले की तुलना में पर्याप्त शांत लग रहे थे।

अर्जुन और कृष्ण ने आगे बढ़कर उनके चरण छुए, "हमें आशीर्वाद दीजिए कि हम आपका मनोवांछित कर सकें।"

युधिष्ठिर की आँखों में अश्रु थे, "शायद मैं राजा होने के योग्य ही नहीं हूँ। मैं रजोगुण के वेग को सँभाल नहीं सकता हूँ। भीमसेन मुझसे कहीं अच्छे राजा प्रमाणित होंगे। मैं वनवास के लिए चला जाऊँ तो तुम लोग सुखी हो सकोगे।"

कृष्ण ने पुनः झुककर धर्मराज के चरण छुए, "हम दोनों आपकी शरण में हैं। आपके चरणों में गिरकर हम दोनों अपने आचरण के लिए आपसे क्षमायाचना करते हैं। आप हमारे अपराध क्षमा करें। आप समझिए कि आप जिसका वध चाहते हैं, उसका जीवन समाप्त हो गया है।"

अर्जुन ने हाथ जोड़ दिए। मुख से कुछ नहीं कहा। उसकी आँखें भी अश्रुओं से भर आई थीं।

36

युधिष्ठिर के शिविर से निकलकर, अर्जुन ने कृष्ण की ओर देखा, "केशव ! रथ के अश्व बदल लें। शिविर में आने का एक लाभ यह भी हो। प्रातः से रथ में जुते इन थके घोड़ों के स्थान पर नए अक्लांत घोड़े अधिक उपयोगी होंगे। फिर यह भी देख लें कि कर्ण से युद्ध करते हुए, किसी प्रकार के शस्त्रास्त्र का अभाव न खले।"

"चिंता मत करो। वह सब मैंने दारुक से कह दिया था। तुम कर्ण को मारने का संकल्प करो। संकल्प, दृढ़ संकल्प। निश्चयात्मिका बुद्धि का उपयोग करो।" कृष्ण का स्वर गंभीर हो गया, "पितामह ने चाहे कर्ण को अर्धरथी कहा था, किंतु मैं चाहता हूँ कि तुम उसकी तनिक भी अवमानना मत करो। उसकी क्षमता को कम मत आँको। उसे साधारण महारथी भी मत मानो। मानकर चलो कि कर्ण तुम्हारे समान ही या तुमसे भी बढ़कर योद्धा है। उसने अपने मन में जितना पाप और जितनी घृणा पाल रखी है, वह उसका सबसे बड़ा शस्त्र है। इसलिए प्रयत्न कर उसका वध करना होगा। संकल्प करो कि तुम आज उस दुरात्मा, पापाचारी, क्रूर और पांडवों के प्रति दुर्भावना रखने वाले, उस अकारण विरोधी कर्ण का वध करके ही समरभूमि का त्याग करोगे। कर्ण स्वयं को नश्वर प्राणी नहीं मानता। तुम आज उसका नाश करके ही दम लोगे। इसी कर्ण के कारण पापी दुर्योधन स्वयं को बहुत बलवान समझता है। सारे पापों की जड़ यह कर्ण ही है।" कृष्ण ने सीधे अर्जुन की आँखों में देखा, "कर्ण का वध करो। यह मेरा आदेश है। यह पुण्य कर्म है। मैं तो यहाँ तक चाहता हूँ...।"

"क्या चाहते हैं केशव आप ?" अर्जुन के मन में तीव्र जिज्ञासा थी।

"कि तुम आज ही अश्वत्थामा, कृतवर्मा, कर्ण, शल्य और कृपाचार्य को मारकर पृथ्वी का निष्कंटक राज्य धर्मराज को दे दो।"

"ऐसा ही होगा गोविंद !"

अर्जुन ने कह तो दिया; किंतु कृष्ण को अर्जुन अब भी अन्यमनस्क ही लग रहा था।

"मुझे लगता है अर्जुन कि अब भी तुम्हारे मन में कहीं यह है कि दुर्योधन से संधि हो जाए, कर्ण को समझा दिया जाए।" कृष्ण बोले, "क्या यह सत्य नहीं है ?"

"सत्य है केशव ! कौन नहीं चाहता कि यह तर्कहीन क्रूर विनाश बंद हो।" अर्जुन ने एक अवसादपूर्ण दृष्टि कृष्ण पर डाली, "शायद समझाने से कर्ण समझ जाए।"

"तुम कर्ण की आँखों के सम्मुख, उसके पुत्र वृषसेन को मार डालो। उसकी समझ में सब कुछ आ जाएगा।" कृष्ण बोले, "तब उसे पितामह, आचार्य और महात्मा विदुर के वचनों का मर्म भी समझ में आ जाएगा।"

कृष्ण रथ को वहीं ले आए थे, जहाँ पांडव सेनाएँ कर्ण से जूझ रही थीं।

अर्जुन ने देखा धृष्टद्युम्न, धृष्टद्युम्न के पुत्र, शिखंडी, नकुल, सहदेव, शतानीक, सुधर्मा, सात्यकि और द्रौपदी के पाँचों पुत्र, प्रायः असहाय होकर कर्ण के वश में पड़ गए लगते थे।

"अब भी कर्ण को समझाओगे तुम।" कृष्ण बोले, "अब भी यदि तुमने कर्ण को नहीं मारा तो सर्वनाश हो जाएगा अर्जुन !"

अर्जुन ने तूणीर में से विकर्ण नामक बाण निकाल लिया था, "नहीं ! अब क्या समझाना। और ऐसे में कर्ण समझेगा भी क्या। आज तो धृतराष्ट्र ही अपनी कूटनीति

पर पछताएँगे। विश्वास कीजिए, आज धृतराष्ट्र अपने राज्यसुख, लक्ष्मी और अपने पुत्रों से बिछुड़ जाएँगे। जो गुणवान से द्वेष करता है और गुणहीन को राजा बनाता है, विनाशकाल उपस्थित होने पर वह सिर धुनने के सिवाय और कर ही क्या सकता है। आज धृतराष्ट्र के लिए वही अवसर आ गया है।''

''सावधान अर्जुन ! कर्ण ने तुम्हारे वध का व्रत ले रखा है।''

''जिस दुरात्मा ने मेरे वध का व्रत लिया है, उस पापी को इन बाणों से मार कर रथ से नीचे गिरा दूँगा।'' अर्जुन ने कहा, ''अच्छा किया आपने मुझे कर्ण का अवमूल्यांकन न करने की चेतावनी दे दी; किंतु धनुर्वेद में मेरी समानता करने वाला इस संसार में और कोई नहीं है। पराक्रम में कर्ण मेरे समान नहीं है। अब तक मेरे मन में दया भाव था। मैं धर्मराज के समान ही क्षमा का पक्षधर हूँ, किंतु शत्रु सामने होने पर मुझ सरीखा क्रोधी भी कौन है।''

सहसा भीम को दुःशासन का रथ दिखाई दे गया।

भीम का मन जैसे किसी तप्त तवे पर जा बैठा। सारी युद्धभूमि उसके लिए अदृश्य हो गई। भीम को केवल दुःशासन ही दिखाई पड़ रहा था। कर्ण की दाहकता कहीं नेपथ्य में चली गई, अर्जुन की रक्षा भी विस्मृत हो गई। वह कर्ण, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, दुर्योधन तथा कृपाचार्य के सम्मुख दुःशासन का वध कैसे करेगा—यह सब भीम को तनिक भी स्मरण नहीं रहा। उसके सामने तो बस दुःशासन था। और दुःशासन को देखते ही भीम की आँखों के सम्मुख द्यूतसभा जीवंत हो उठती थी। एकवस्त्रा, रजस्वला द्रौपदी को उसके केशों से पकड़कर घसीटकर लाता हुआ दुःशासन । द्रौपदी को निर्वस्त्र करने का प्रयत्न करता हुआ दुःशासन। द्रौपदी के शरीर से राक्षसी क्रीड़ा करता हुआ दुःशासन। द्रौपदी के अंगों को घूर कर रस लेता हुआ दुःशासन ।··· दुःशासन, जिसकी भुजा उखाड़ने और उसके वक्ष का रक्त पीने की प्रतिज्ञा की थी भीम ने।··· दुःशासन की अनदेखी नहीं कर सकता था भीम। और कोई कुछ कहे न कहे, उसका अपना मन ही उसे धिक्कारने लगता था।···

''विशोक ! दुःशासन की ओर चलो।'' भीम ने कहा।

भीम की दृष्टि उस पर गड़ी हुई थी। दुःशासन ने भी उससे दूर जाने का प्रयत्न नहीं किया। उसका रथ भीम की ओर ही आया।

''बहुत सौभाग्य की बात है दुःशासन ! कि तू मुझे युद्ध में दिखाई पड़ गया। अब मुझे तेरे प्रासाद में घुसकर भय से पीले पड़े, पलंग के नीचे छिपे हुए दुःशासन को घसीटकर बाहर नहीं निकालना पड़ेगा। तेरी हत्या अब तेरे वृद्ध माता-पिता की अंधी आँखों के सम्मुख नहीं होगी।'' निकट आने पर भीम ने कहा, ''द्यूतसभा में तूने द्रौपदी के केश खींचे थे। उस दिन से मुझ पर तेरा ऋण है। आज उसे ब्याज सहित चुका दूँगा। उसे ग्रहण कर।''

दुःशासन की दृष्टि भीम पर पड़ते ही उसके मन में भी बहुत कुछ साकार हो उठा था। उसे भीम की प्रतिज्ञा का स्मरण हो आया था। भीम ने उसके वक्ष का रक्त पीने की प्रतिज्ञा की थी।··· उसका मन सिहर उठा था। भीम को अपनी प्रतिज्ञा स्मरण होगी। वह उससे पीछे नहीं हटेगा।··· भीम ने प्रतिज्ञा की है तो क्या हुआ। दुःशासन भी कोई असमर्थ नहीं है; और इस समय तो कर्ण, दुर्योधन, कृतवर्मा, अश्वत्थामा तथा कृपाचार्य भी निकट ही थे। उसके अपने दसियों भाई उसकी अपनी दृष्टिसीमा में थे। ऐसे में भीम से भयभीत होने का कोई कारण नहीं था।···

··· किंतु दुःशासन का एक मन था जो अब भी काँपता ही जा रहा था। उसकी बुद्धि उस काँपते मन को थामने का प्रयत्न कर रही थी। भय से उबारने का प्रयत्न कर रही थी।··· सहसा दुःशासन का मन भय से बचने के लिए क्रूरता का कवच ओढ़ने लगा। उसका भय जैसे ठिठक गया और उसे एक हिंस्र सुख का अनुभव होने लगा। उसका मन भीतर ही भीतर क्रूर से क्रूरतर होता जा रहा था।··· इस समय यदि वह पहले आक्रमण कर देता है, और अपने साथियों की सहायता से इस मोटे को यहाँ घेर कर मार गिराता है, तो उसके प्राणों से एक भयंकर संकट टल जाएगा। भीम के पश्चात् अकेला अर्जुन भी कितने दिन चलेगा।··· पांडवों के मारे जाने पर वह उनके अंतःपुर से द्रौपदी को उसी प्रकार घसीटकर लाएगा, जैसे द्यूतसभा में लाया था।··· और इस बार उसे सभा में नहीं लाएगा, अपने अंतःपुर में ले जाएगा··· द्रौपदी की स्मृति की सुगंध ही उसके मन और प्राणों को उन्मत्त कर देती है।···उसका मन एक मधुर स्वप्न देखने लगा था··· वह द्रौपदी के शरीर के साथ पहले से भी क्रूर खिलवाड़ कर सकेगा।

उसका मन क्रूर तो हुआ ही कुछ अश्लील भी हो उठा। चिल्लाकर बोला, "मैं अपना किया भूलता नहीं। तुम्हें प्रमाणकोटि में विष दिया था और नागों द्वारा डसे जाने के लिए गंगा में बहा दिया था। तुम लोगों को तुम्हारी माता सहित वारणावत में जला डाला था।··· तुम लोग बचकर कांपिल्य पहुँच गए तो जाने द्रौपदी ने किस भ्रम में अर्जुन का वरण कर लिया। और तुम पाँचों ने उसके साथ ऐसा नीच कर्म किया कि उसे पाँचों की पत्नी बना लिया। क्यों नहीं करते। तुम्हारी माँ ने भी तो एक से अधिक पुरुष किए थे।···"

भीम के कान और नहीं सुन सके··· यह पापी अपने कर्मों पर लज्जित नहीं होता, उल्टे उनका बखान करता है। उनको अपना गौरव और उपलब्धि मानता है। भीम ने तो सोचा था कि दुःशासन वह सब भुलाना चाहेगा और भीम को उसे स्मरण दिलाना होगा, किंतु यहाँ तो वही भीम को स्मरण करा रहा है। अब तक तो उसने उनकी पत्नी का ही अपमान किया था, आज वह उनकी माँ का भी अपमान कर रहा था।···

भीम ने जिह्वा से कुछ नहीं कहा। उसके धनुष से क्षुर छूटने लगे। पहले ही क्षुर ने दुःशासन का धनुष काट दिया। दूसरे ने उसका ध्वज काटा। तीसरे ने उसके ललाट पर घाव किया और चौथे ने उसके सारथि का मस्तक काटकर भूमि पर गिरा दिया।

दुःशासन ने दृष्टि घुमाकर देखा : कौन आ रहा है, उसकी सहायता को ?··· कौन आता। निकट तो अनेक लोग थे। किंतु वहीं अर्जुन भी था, कर्ण उसकी ओर पीठ करने का साहस नहीं कर सकता था। कर्ण चाहता भी तो अर्जुन उसे वैसा करने नहीं देता। धृष्टद्युम्न ने दुर्योधन को साध रखा था। युधामन्यु, उत्तमौजा, सात्यकि, नकुल, सहदेव और पाँचों द्रौपदेय वहीं थे। उन सबको कर्ण ने रोक रखा था किंतु अब अर्जुन आ गया था और कर्ण जैसे उसके चंगुल में फँस गया था।··· दुर्योधन और कर्ण दुःशासन को देख भर सकते थे, वे न तो उसके लिए रथ ला सकते थे, न सारथि। इस मोटे ने उसके सारथि का वध कर उसे संकट में डाल दिया था। यह युद्ध तो उसे स्वयं ही लड़ना था।···

दुःशासन जैसे किसी उन्माद में अपने आपको भूल गया। उसने दूसरा धनुष उठा लिया और भीम को अपने बाणों से बींध डाला। स्वयं ही अपने घोड़ों को नियंत्रित करते हुए उसने बाणों की झड़ी लगा दी। भीम उसके इस कौशल से कुछ हतप्रभ-सा लगा। दुःशासन ने उसे ताक कर एक दुःसह बाण मारा, जो भीम के शरीर को छेद कर पार निकल गया।

भीम कुछ शिथिल हुआ; और फिर प्राणहीन के समान दोनों भुजाएँ फैलाए हुए अपने रथ में गिर गया।···

विशोक चिंतित हो उठा। रथी के अचेत हो जाने पर सारा दायित्व सारथि का ही था। चारों ओर ऐसा भयंकर युद्ध चल रहा था कि पांडव योद्धाओं में से कोई भी अपना स्थान छोड़कर भीम की सहायता को नहीं आ सकता था; और दुःशासन इस अवसर का लाभ उठाकर भीम का वध भी कर सकता था।··· तो क्या वह रथ को समरभूमि से दूर ले जाए ? पर मार्ग कहाँ है ? वह रथ को कहाँ से निकाल ले जाएगा। तो क्या वह स्वयं ही धनुष भी सँभाल ले, संभव है कि कुछ समय में कोई योद्धा उनकी सहायता को आ जाए। पर तभी रथ में उपस्थित वैद्य ने एक औषधि भीम के घाव पर रखी और दूसरी उसकी नासिका पर। भीम की आँखें खुल गईं। घाव से रक्तस्राव बंद हो गया। भीम उठकर खड़ा हो गया।

भीम ने देखा : इस बीच दुःशासन के पास दूसरा सारथि आ चुका था। दुःशासन अपना धनुष तान चुका था। भीम के हाथ में पकड़ा धनुष अभी पहला बाण भी छोड़ नहीं पाया था कि दुःशासन ने उसे काट दिया। उसके अगले बाण से विशोक भी घायल हो गया। वैद्य उसके पास जा बैठा और उसके घाव पर औषधि का लेप करने लगा। भीम अपना ध्यान एकाग्र नहीं कर पाया और दुःशासन के अनेक बाण आकर उसे लगे। ऐसे अवसर पर बाण चलाने की उपयुक्तता न देख, भीम ने एक शक्ति छोड़ी। दुःशासन के बाणों ने उसे काटकर फेंक दिया और भीम को कुछ और घाव दे दिए।

भीम के शरीर पर जैसे उसके विवेक का नियंत्रण नहीं रह गया। वह अपनी प्राकृतिक स्थिति में पहुँचकर स्वतः ही निर्णय करने लगा।

"तूने मुझे बाणों से मारा है, ले अब मेरी गदा का प्रहार सहन कर।" भीम ने चिल्लाकर कहा, "दुरात्मन् ! आज इस संग्राम में मैं तेरा रक्त पियूँगा।"

भीम को घायल होकर गिरते देख, दुःशासन पर्याप्त निर्भय हो चुका था। वह हँसा, "पहले तू मेरी इस शक्ति को अपना रक्त पिला मोटे।"

दुःशासन ने शक्ति छोड़ी किंतु भीम की गदा ने उसे मार्ग में ही नष्ट कर दिया। गदा के आघात से दुःशासन का रथ कुछ पीछे घिसटा और ध्वस्त होकर पृथ्वी पर गिर गया। सारथि और घोड़े भी धराशायी हो गए। वे जीवित थे या नहीं, यह देख पाने की क्षमता, दुःशासन में नहीं थी। वह स्वयं धरती पर गिरा हुआ था। मन भय से काँप रहा था। शरीर वेदना से छटपटा रहा था। उसका कवच टूट गया था। आभूषण और हार छिन्न-भिन्न हो गए थे। वस्त्र फट गए थे। उसने उठने का प्रयत्न किया···

भीम अपने रथ से कूद पड़ा और दुःशासन की ओर इस प्रकार दौड़ा, जैसे कोई आखेटक अपने बाण से बिंधे पक्षी को धरती पर गिरते देख उसकी ओर दौड़ता है।··· भीम के मन में वे सारे दृश्य साकार हो रहे थे, जिनकी चर्चा स्वयं दुःशासन ने की थी; और उसका क्रोध बढ़ता जा रहा था। भीम को लग रहा था कि दुःशासन के वध मात्र से उसके मन की पीड़ा शांत होने वाली नहीं थी। उसका प्रतिशोध उतने भर से समाप्त कैसे हो सकता था।

भीम ने कर्ण, दुर्योधन, कृतवर्मा, अश्वत्थामा और कृपाचार्य की ओर देखा, "आज मैं पापी दुःशासन के प्राण लेने जा रहा हूँ। तुममें से जिसमें भी साहस और सामर्थ्य हो, वह आए और इसे बचा ले।"

कर्ण और दुर्योधन, दोनों ने ही देखा, किंतु वे उसके निकट आना तो दूर वे अपना धनुष ही अर्जुन की दिशा से मोड़ नहीं सकते थे। वे दुःशासन को मरते हुए ही देख सकते थे··· पर क्या दुःशासन मर ही तो नहीं गया ?

भीम ने दौड़कर दुःशासन को धर दबोचा। उसे अपनी भुजाओं में पकड़कर दो-तीन बार उठा-उठाकर धरती पर पटका और फिर अपने कोश में से लंबी और धारदार असि निकाल ली। उसने असि चलाने से पहले अपने पैर से दुःशासन के कंठ पर प्रहार किया। उसने देखा : दुःशासन की आँखों में भय था और वह थर-थर काँप रहा था। किंतु उसकी आँखों में कहीं भी पश्चात्ताप अथवा क्षमायाचना नहीं थी। उसका भय भी कितना हिंस्र था। वह अपनी रक्षा को ही पर्याप्त नहीं मानता, मुक्त हो जाता तो भीम के ही नहीं, जाने और कितने लोगों के प्राण ले लेता। कितनी पांचालियों को केशों से पकड़कर घसीटता हुआ सार्वजनिक स्थानों तक ले आता और उनके चीरहरण का प्रयत्न करता।··· वह भयभीत होकर क्रूरता से विरक्त नहीं होता, अपने भय का बंदी होकर भी किसी का वध कर सकता था। उसका भय भी बहुत भयंकर था।···

भीम की अपनी इच्छा नहीं हो रही थी कि असि के एक प्रहार से दुःशासन का मस्तक उसके धड़ से पृथक् कर दे। इससे तो उसको कष्टों से मुक्ति मिल जाएगी।···

उसे अभी और अपमानित और पीड़ित होना चाहिए था। मृत्यु-दंड मात्र ही तो उसके लिए पर्याप्त नहीं था।

"तूने कर्ण और दुर्योधन के साथ मिलकर मुझे बैल कहा था। बहुत प्रसन्न था तू मुझे बैल कहकर। बोल, अब भी वैसे ही तालियाँ बजा, कह मुझे बैल।" भीम की बर्बरता चाहती थी कि वह दुःशासन को कुछ और उत्तेजित करे, ताकि उसे और पीड़ित किया जा सके, उसे तड़पाया जा सके, नहीं तो मरकर यह दुष्ट बहुत सस्ते में छूट जाएगा।

"बता। राजसूय यज्ञ में अवभृत स्नान से पवित्र हुए, महारानी द्रौपदी के केश तूने किस हाथ से खींचे थे। बोल।" भीम ने उसके कंठ को अपने पैर से दबाया।

दुःशासन का भय स्फीत होते-होते कहीं क्रोध में परिणत हो गया। वह क्रोध से जल उठा। क्रोध उसे क्रूर बना देता था। उसके हाथ में कोई शस्त्र नहीं था। वह कहीं से शस्त्र प्राप्त भी नहीं कर सकता था। पर वह भीम को पीड़ा पहुँचाना चाहता था। उसे अधिक से अधिक आहत करना चाहता था। इतना कि भीम का वज्र हृदय भी पीड़ा से फट जाए। उसके पास शस्त्र के रूप में एक जिह्वा ही तो थी, जिससे वह भीम को आहत कर सकता था।

उसके तेवर बदल गए, दमित रोष को मुस्कान में बदलकर बोला, "यह देख, हाथी के सूंड के समान बलिष्ठ मेरी भुजा। इससे ही सहस्रों गोदान किए हैं मैंने। तुझ जैसे अनेक उद्धत क्षत्रियों के प्राण लिए हैं; और इसी से अप्सरा जैसी रमणियों और महारानियों के उरोजों का मर्दन किया है।... भीमसेन ! इसी से मैंने तुम लोगों के सामने द्रौपदी के केश खींचे थे।"

भीम को लग रहा था कि कोई नीच सार्वजनिक रूप से उसे अश्लील गालियाँ दे रहा है। अभी इसने उसकी माता के विषय में अपनी कलुषित धारणा व्यक्त की थी। अब वह रमणियों और महारानियों की बात कर रहा है। द्रौपदी के संदर्भ में संकेत कर रहा है, अश्लील संकेत। जैसे इन लोगों ने द्यूतसभा में किए थे। कोई भय नहीं है इसे। न अपने प्राणों का, न अपनी पीड़ा का। जिस अपमान के कारण यह युद्ध हुआ, उसी अपमान की पुनरावृत्ति कर रहा है यह।...

भीम ने उसकी उठी हुई बाँह थाम ली। वह एक झटके से उसे उखाड़ सकता था, किंतु वह तो केवल भीम और दुःशासन के मध्य की बात होती। उन्होंने तो सार्वजनिक अपमान किया था पांडवों का। दुःशासन का भी सार्वजनिक अपमान होना चाहिए।

भीम का स्वर ऊँचा उठ गया, "सुनो नीच दुःशासन के मित्रो ! मैं इसकी यह भुजा उखाड़ रहा हूँ। अब यह अपने प्राण भी त्यागेगा। तुममें से जिसको इससे प्रेम हो और जिसमें साहस और सामर्थ्य हो, आकर इसकी रक्षा कर ले।"

दुर्योधन ने उस ओर देखा और धृष्टद्युम्न के बाणों ने उसे बींध दिया। पांडवों ने अच्छी प्रकार व्यूह बाँध रखा था। न कर्ण इस समय अर्जुन को छोड़कर दुःशासन के निकट जा सकता था और न ही दुर्योधन धृष्टद्युम्न को छोड़ सकता था। कृतवर्मा को

तो सात्यकि ने जैसे बाँध ही रखा था। सब देख रहे थे किंतु कोई कुछ नहीं कर सकता था।

भीम ने दुःशासन की भुजा उखाड़ ली। सबने देखा था कि भीम ने जीवित दुःशासन की भुजा काटी नहीं थी। अर्जुन ने भूरिश्रवा की भुजा काट दी थी, किंतु भीम ने तो दुःशासन की भुजा उखाड़ ली थी। वह उसी भुजा से दुःशासन को पीट रहा था, जैसे वह कोई साधारण दंड हो। भीम का मुखमंडल अत्यंत भयंकर हो उठा था। उसकी आँखों में पिशाच का सा आनन्द था। क्रोध में कोई इस प्रकार सुखी हो सकता है, यह तो दुर्योधन ने भी शायद पहली बार ही देखा था। दुःशासन की उस उखड़ी हुई भुजा में से रक्त के छींटे उड़ रहे थे, जो भीम, दुःशासन और धरती—तीनों पर गिर रहे थे।...

भीम ने भूमि पर पड़े हुए दुःशासन के वक्ष को अपने हाथों से फाड़ना चाहा। दुःशासन ने उठने का प्रयत्न किया, किंतु भीम ने उसे फिर से पटक दिया, "बहुत नाच रहे थे तुम कि हमारे देखते-देखते तुम द्रौपदी का अपमान कर रहे थे। अरे, हम तो धर्म के बंधन से बँधे थे, किंतु तुम्हारे सारे भाई, मित्र, संबंधी हमारे बल से बँधे हैं। मैं उन सब के सामने ललकार कर तुम्हारे वक्ष का रुधिर पियूँगा। जिसमें साहस हो, मुझे रोक ले और देख ले कि पांडव थोथे तिल हैं, या तुम लोग पापी और नपुंसक हो।"

भीम ने अपनी असि से दुःशासन का मस्तक काट लिया। उसमें से गर्म-गर्म रुधिर की धारा फूटी और भीम ने अपनी अंजलि में भर कर उस रक्त को अपने अधरों से लगा लिया।

"मैंने अपनी माता का दूध पिया है, मधु और घी पिया है, मधूक पुष्प से निर्मित पेय पिए हैं, दिव्य जल और अलौकिक रस पिए हैं, किंतु इन सबसे स्वादिष्ट है, मेरे इस शत्रु का रक्त। नराधम दुःशासन ! देख मैं तेरे कंठ का रुधिर पी रहा हूँ। अब इस समय हर्ष में भर कर मुझे बैल बैल पुकार।"

भीम ने खड़े होकर भूमि पर निश्चेष्ट पड़े हुए दुःशासन को ठोकर मारी, "क्या करूँ। मृत्यु ने तुझे दुर्दशा से बचा लिया।"

भीम ने मुख उठाकर सेनाओं की ओर देखा। उसके हाथ और उसका मुख दुःशासन के रक्त से लाल थे। वह जिस ओर बढ़ा, उस ओर के सैनिक भाग खड़े हुए। कुछ भूमि पर गिर गए और अनेक के हाथों से उनके शस्त्र छूट गए।

कर्ण का भाई चित्रसेन चिल्लाया, "यह मनुष्य नहीं राक्षस है।"

वह भागा। उसके सैनिक उसके पीछे थे। युधामन्यु ने अपनी सेना के साथ उसका पीछा किया। युधामन्यु की बाणवर्षा से चित्रसेन घायल हो गया तो उसका भागना संभव नहीं रहा। वह रुका और उसने पलट कर युधामन्यु पर बाण चलाए। युधामन्यु और उसका सारथि दोनों ही चित्रसेन के बाणों से आहत हुए; और तब युधामन्यु ने चित्रसेन का मस्तक काट लिया।

कर्ण की विचित्र स्थिति थी। उसने अभी-अभी दुर्योधन के भाई को इस प्रकार अपमानजनक ढंग से मरते देखा था, और अब उसके सामने ही उसका अपना भाई भी कबंध में परिणत हो गया था। क्रोध से उसकी आँखें लाल हो गईं।··· उसने पांडव सेना पर आक्रमण किया। किंतु इस समय पांडव सेना का मनोबल आकाश छू रहा था। इतने थोड़े से समय में उन लोगों ने कौरव सेना के दो अत्यंत महत्त्वपूर्ण योद्धा मार गिराए थे।

नकुल ने अर्जुन को लाँघ कर कर्ण को रोका। कर्ण के मुख का स्वाद जैसा खट्टा हो गया। अर्जुन नहीं आया, भीम नहीं आया, उससे युद्ध करने नकुल आया है। और वह भी इतने साहस से लड़ रहा है कि शल्य रथ को आगे हाँक नहीं पा रहा। नकुल के पीछे भीम था, जो अर्जुन और कृष्ण की ओर जा रहा था··· कर्ण चाहता था कि वह इसी क्षण भीम का मस्तक उसके धड़ से पृथक् कर दे, या कम से कम युधामन्यु को मार कर चित्रसेन का ही प्रतिशोध ले ले; किंतु नकुल ही उसे अटका बैठा था।···

"नकुल को लाँघ जाओ मद्रराज !" कर्ण ने कहा, "मुझे अर्जुन से युद्ध करना है, नकुल से नहीं। या फिर युधामन्यु के सामने चलो, जिसने चित्रसेन का वध किया है।"

शल्य रथ आगे बढ़ाने में उतना तत्पर नहीं दीखा। पलट कर बोला, "अंगराज ! सुना तुमने कि मरने से पहले दुःशासन ने कौरवों की महारानी कुंती के विषय में क्या कहा ? तुम तो मद्र देश की स्त्रियों के चरित्र को कलंकित कर रहे थे, कौरवों की कुलवधू के विषय में स्वयं कौरव महारथी ही क्या कह रहे हैं।"

"बकते हैं। महारानी कुंती पर चरित्र संबंधी आक्षेप करना दुःशासन की नीचता थी।" कर्ण क्रोध से बोला; किंतु तत्काल ही वह स्तब्ध रह गया··· क्या शल्य कुंती से उसका संबंध जानता है ? नहीं तो क्यों कह रहा है वह यह सब ? पर तब तो वह पांडवों से भी उसका संबंध जानता होगा··· नहीं ! यह संभव नहीं है। जिस रहस्य को स्वयं पांडव नहीं जानते, उसे यह शल्य कहाँ से जान पाएगा।··· एक ओर कर्ण बहुत पीड़ित था दुःशासन के वध से; और दूसरी ओर उसके अपने ही मन का कोई छोटा-सा अंश बहुत दबे स्वर में कह रहा था, जिस दुःशासन ने कुंती के विषय में यह कहा था, उसे मर ही जाना चाहिए था। ऐसी बात सुन कर तो वह स्वयं ही दुःशासन का वध कर देता।··· किंतु कर्ण स्वतंत्र नहीं था। दुर्योधन से अपने जिस संबंध को वह मैत्री कहता था, वह उसकी बेड़ियाँ ही थीं। वह कौरवों का सेनापति था तो कौरव राजकुमारों का वध वह कैसे कर सकता था। वे कौरव राजकुमार चाहे, अपनी माँ सरीखी काकी के चरित्र पर आक्षेप कर प्रसन्न होते हों, या द्रौपदी जैसी अपनी भाभी को सार्वजनिक रूप से नग्न कर अपना मनोरंजन करते हों। उन्हीं राजकुमारों की संगति में रहा है कर्ण।··· सौभाग्यशाली था भीम, जो इस प्रकार खुले रूप में अपनी माँ और अपनी पत्नी के अपमान का प्रतिशोध ले सकता था।···

"जब तुम मद्र देश की सारी स्त्रियों को वेश्याओं से भी हीनतर बता रहे थे, वह तुम्हारी भी तो नीचता ही थी।" शल्य की वाणी में उसके मन का सारा विष सिमट आया था।

"पहले युद्ध का निर्णय करना है या मेरी नीचता और महानता का।" कर्ण क्रुद्ध स्वर में बोला, "रथ आगे बढ़ाओ। मुझे लगता है कि तुमको अपने सारथि के रूप में माँग कर मैंने अपने लिए सुविधा कम और संकट अधिक पाया है।"

शल्य ने कोई उत्तर नहीं दिया।

भीम का सारा शरीर रक्त से भीगा हुआ था, कुछ अपने रक्त से और कुछ दुःशासन के रक्त से। उसका मुख दुःशासन के रक्त से लाल हो रहा था और वह भयंकर भीम मुस्कराता हुआ अपने रथ में आरूढ़ हो गया। उसने विशोक को संकेत किया और उसका रथ आकर अर्जुन के रथ के सम्मुख खड़ा हो गया, "वीरो ! उस नीच दुःशासन के संबंध में मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसे मैंने रणभूमि में सत्य कर दिखाया है। मैं यहीं दूसरे यज्ञपशु दुर्योधन को काट कर उसकी बलि दूँगा और सारे कौरवों के सामने उस दुरात्मा के मस्तक को अपने पैरों से कुचल कर शांति प्राप्त करूँगा।"

भीम अभी घूमा भी नहीं था कि धृतराष्ट्र के दस पुत्र—निषंगी, कवची, पाशी, दंडधर, धनुर्ग्रह, अलोलुप, शल, संध, वातवेग और सुवर्चा, उससे दुःशासन का प्रतिशोध लेने के लिए आ खड़े हुए।

भीम उनकी ओर मुड़ा, "दुर्योधन ने भेजा है तुम्हें मरने को।"

"हम स्वयं आए हैं।" निषंगी ने कहा, "तुम समझते हो कि दुःशासन का वध कर तुम स्वयं जीवित घूमते रहोगे।"

"इतने ही समर्थ हो तो पहले आकर दुःशासन को बचा ही क्यों नहीं लिया ?" भीम की हँसी बड़ी भयंकर थी, "तुम्हें दुर्योधन ने काल को समर्पित कर दिया है; और काल ने अपना काम सरल करने के लिए तुम्हें मेरे पास भेज दिया है। वह यही करता है, स्वयं लड़ता नहीं और अपने भाइयों को एक-एक कर मरवाता जा रहा है।"

भीम ने ढेर सारे भल्ल अपने हाथ में लिए और धृतराष्ट्र पुत्रों के बाणों की बौछार की चिंता किए बिना उसने एक-एक कर उन दसों के मस्तक काट कर धरती पर लुढ़का दिए।

कर्ण अपने मन में एक विचित्र प्रकार के अवसाद का अनुभव कर रहा था। या यह किसी प्रकार की ग्लानि थी। उसने अभी-अभी दुःशासन का बीभत्स रीति से मारा जाना देखा था और उसके अगले कुछ क्षणों में ही उत्तमौजा ने चित्रसेन का मस्तक काट लिया था। और अब ये धृतराष्ट्र पुत्र··· कर्ण को लग रहा था, भीम का यह पराक्रम जैसे उसके मन में एक सुषुप्त भय को जगा रहा था।

शल्य ने उसकी ओर देखा : सूतपुत्र अब उससे झगड़ा नहीं कर रहा था। वह शांत नहीं था, किंतु एकदम मौन था। शल्य उससे सहानुभूति जताए, अथवा उसे पीड़ित

करे। उसे सांत्वना दे अथवा युद्ध के लिए प्रेरित करे।''' शल्य का मन भी विचित्र प्रकार के द्वंद्व में फँसा हुआ था। वह कौरवों की विजय की कामना करते हुए भी कर्ण को विजयी देखना नहीं चाहता था। कर्ण की विजय उसे किसी प्रकार की प्रसन्नता नहीं दे सकती थी। कर्ण की मृत्यु के पश्चात् ही वह कौरवों का प्रधान सेनापति बन सकता था।'''

"शोक न करो कर्ण ! शोक करने का समय ही नहीं है।" शल्य ने कहा, "भीम के भय से कौरव सेना भाग रही है। दुर्योधन किंकर्तव्यविमूढ़ खड़ा है। भीम दुःशासन का रक्त पी रहा था तो कृपाचार्य आदि उसे रोकने के स्थान पर जा कर दुर्योधन को घेर कर खड़े हो गए कि कहीं भीम उसका रक्त भी न पी ले। पर वे भूल गए कि भीम की प्रतिज्ञा दुर्योधन का रक्त पीने की नहीं, उसकी जंघा तोड़ने की है।''"

"तुम चुप नहीं रह सकते शल्य ?" कर्ण ने झल्लाकर शल्य की ओर देखा, "तुम यह नहीं देखते कि यहाँ कौरवों और पांडवों में भयंकर, निर्णयकारी युद्ध चल रहा है। तुम समझते हो कि यह तुम्हारा और मेरा द्वंद्व युद्ध है।"

"तुम शायद इतनी हत्याएँ देखकर घबरा गए हो। मन ठिकाने नहीं है तुम्हारा।" शल्य ने मुस्कराकर उसकी ओर देखा, "मैं तुमसे द्वंद्व युद्ध नहीं कर रहा हूँ, तुमको युद्ध के लिए प्रेरित कर रहा था। तुम ऐसे सिर पकड़कर बैठे रहोगे तो युद्ध कैसे करोगे; और उधर अर्जुन आदि योद्धा अपना लक्ष्य सिद्ध कर चुके हैं; और अब तुम्हारी ही ओर आ रहे हैं।"

"अर्जुन ने कौन-सा लक्ष्य सिद्ध कर लिया है ?" कर्ण के स्वर में स्पष्ट खीज थी, "लक्ष्य भीम ने सिद्ध किया है अपना।"

"यही तो कह रहा हूँ कि दुःशासन के वध से घबरा गए हो। सोच रहे हो कि दुःशासन को द्रौपदी का अपमान करने के लिए तुमने ही उकसाया था। तुमने कहा था कि वह वेश्या है, उसे निर्वस्त्र कर देने में भी कोई अनौचित्य नहीं है। अब भीम बता रहा है कि उसमें अनौचित्य है। तुम यह तो नहीं सोच रहे कि कहीं भीम तुम्हारा भी वक्ष चीर कर रक्तपान तो नहीं करेगा''' ।"

"शल्य !" कर्ण ने उस पर अपने नेत्रों से अग्नि बरसाई।

"नहीं ! वह तुम्हारा रक्त नहीं पिएगा। तुम्हारा मस्तक तो अर्जुन काटेगा।" शल्य ने कहा, "मैं तो इतना भर कह रहा था कि अर्जुन आदि का लक्ष्य था, भीम को दुःशासन के रक्तपान करने का अवसर देना। उतनी देर तक पांडव योद्धा कौरवों के अन्य सारे योद्धाओं को छेंके खड़े रहे। कोई नहीं पहुँच पाया दुःशासन की सहायता को। भीम ललकारता रहा और तुम भी नहीं पहुँच पाए। चित्रसेन को भी नहीं बचा पाए। अब अर्जुन के लिए इधर-उधर किसी को रोकना आवश्यक/नहीं है। वह तुम्हारी ही ओर आ रहा है। युद्ध का मन हो तो उसकी ओर चलें नहीं तो भाग चलें।"

"तुम माधवी में नहा कर तो नहीं आए शल्य ?" कर्ण ने उसे डाँटा, "अपनी

मर्यादा में रहो। तुम कौरवों के प्रधान सेनापति को समरभूमि से भाग जाने का परामर्श दे रहे हो।"

"मैंने यह नहीं कहा।" शल्य शांत भाव से मुस्कराया, "मैं तो कह रहा हूँ कि अब अपने पुरुषार्थ का भरोसा कर, क्षत्रिय का सा आचरण करते हुए, अर्जुन पर आक्रमण करो। तुमको इस प्रकार किंकर्तव्यविमूढ़ खड़ा देखकर तुम्हारा पुत्र वृषसेन भीम पर आक्रमण कर रहा है। वह तुम्हें मोहग्रस्त न मानता तो व्यर्थ ही क्यों महाकाल के उस दूत से टकराने जाता।"

कर्ण ने दृष्टि उधर फेरी। वह अभी चित्रसेन के वध को ही सहन कर पा रहा था, यदि वृषसेन को भी भीम ने उसी मार्ग पर भेज दिया तो कर्ण के मन की क्या स्थिति होगी।

वृषसेन ने भीम पर आक्रमण किया। पर भीम से पहले ही नकुल सक्रिय हो उठा। उसने अपने क्षुर से वृषसेन के ध्वज को काट गिराया। उसका धनुष काट दिया।

वृषसेन ने तत्काल दूसरा धनुष उठाया और नकुल को बाणों से बींध दिया। नकुल को तनिक भी और अवसर न देते हुए, वृषसेन ने उस पर दिव्यास्त्रों से बाण वर्षा आरंभ कर दी। नकुल का धनुष कट गया। सारथि मारा गया और घोड़े धराशायी हो गए। अब अपने रथ पर बने रहना नकुल के लिए संभव नहीं था। हाथ में खड्ग लेकर वह अपने उस ध्वस्त रथ से कूद पड़ा और आश्रय के लिए भीम के रथ की ओर भागा। वह भीम के रथ तक पहुँच तो गया किंतु मार्ग में उसका खड्ग भी टूट गया और उसके शरीर पर अनेक घाव भी लगे। नकुल भीम के रथ में आ गया, तो भी वृषसेन ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। उसने एक साथ ही भीम और नकुल दोनों पर आक्रमण किया।

"रथ को वृषसेन के निकट ले चलो।" भीम ने विशोक से कहा, और तत्काल ही उसने अपना निर्णय बदल दिया, "नहीं अर्जुन के निकट चलो।"

रथ निकट आया तो उसने अर्जुन से कहा, "कर्ण का यह पुत्र दिव्यास्त्रों से संपन्न है, इसलिए हमें सता रहा है। इसे निपटाकर ही कर्ण के सामने जाना।"

"यह हमारे लिए घातक हो सकता है, इसे शीघ्र मार डालिए भैया।" नकुल ने भी जोड़ दिया।

अर्जुन ने दृष्टि उठाकर वृषसेन की ओर देखा, वह इस समय बहुत उग्र हो रहा था। उसने तीन बाणों से शतानीक को भी घायल कर दिया था। यह भी कदाचित् नकुल को अधिक सताने के लिए था। वह वहीं तक नहीं रुका, उसने पुनः भीम और नकुल को बाणों का लक्ष्य बनाया और अर्जुन तथा कृष्ण को भी बाण मारे।

कर्ण का पुत्र अकेला ही इतने सारे पांडव योद्धाओं से जूझ रहा था और वे लोग उसकी कोई हानि नहीं कर पा रहे थे। कौरव सैनिक कुछ उत्साहित हो उठे। उनका मनोबल कुछ ऊँचा हो आया था।

अर्जुन ने उस पर आक्रमण करने से पहले, उसकी स्थिति को देखा। वह कर्ण

के सामने उसका अग्ररक्षक बन कर खड़ा था। तो वह पिता के रक्षक के रूप में पांडवों को पीड़ित करने का प्रयत्न कर रहा था। यह नहीं सोच रहा था कि पिता के सामने जब पुत्र का सिर कट कर धड़ से पृथक् होगा तो पिता का शौर्य कितना कुंठित होगा।

अर्जुन ने उस पर आक्रमण किया किंतु वृषसेन उससे संभ्रमित नहीं हुआ। उसने उलट कर अर्जुन पर बाण चलाए और अर्जुन को आहत कर दिया।

अर्जुन ने अपना स्वर ऊँचा उठाया, "कर्ण ! जब तुम छह कायरों ने घेर कर शस्त्रहीन अभिमन्यु का वध किया, तब वह अकेला था। मैं उसके साथ नहीं था। तुम वृषसेन की पीठ पर हो। मैं तुम्हारे सामने उसका वध करूँगा। बचा सको तो अपने पुत्र को बचा लो। बचा सको तो अपने आपको भी बचा लो। मैं आज तुम्हारा भी वध करूँगा, क्योंकि इस सारी कलह के मूल में तुम ही हो। तुमने दुर्योधन को इतना भ्रमित न किया होता तो यह युद्ध न होता।"

अर्जुन ने अपना धनुष पोंछा और वृषसेन पर प्रहार किया। पहले दस बाणों से उसके मर्म पर आघात किया और फिर तीखे क्षुरों से उसके धनुष को काट दिया। कर्ण ने देखा, उसका प्रिय पुत्र अर्जुन के सम्मुख असहाय खड़ा था। अर्जुन ने वृषसेन को नया धनुष उठाने का अवसर दिया, न कर्ण को उसकी रक्षा के लिए पहुँचने का। उसने निमिष भर में एक के पश्चात् एक क्षुर मार कर वृषसेन की दोनों भुजाएँ काट दीं। कर्ण की टाँगें भय से काँप गईं। अर्जुन ने अगले ही क्षण वृषसेन का मस्तक भी काट दिया। वृषसेन रथ से नीचे गिर पड़ा।

पुत्र के मस्तक को कटते और उसे इस प्रकार रथ से गिरते देख कर्ण विक्षिप्त हो उठा।

"चलो।" उसने अपने धनुष से शल्य को कोंचा, "अर्जुन की ओर चलो। तुम कहीं समय से नहीं पहुँचते हो।"

शल्य के मन में एक क्रूर मुस्कान जागी : यह व्यक्ति स्वयं तो प्रत्येक संकट से भाग जाता है; और आज उसे कह रहा है कि शल्य कहीं समय से नहीं पहुँचता।

... अर्जुन की ओर बढ़ने की विशेष आवश्यकता नहीं रह गई थी। अर्जुन का रथ स्वयं ही उनकी ओर आ रहा था। उन दोनों के बीच बाधा के रूप में अड़ा हुआ वृषसेन अब वहाँ नहीं था। उसका शरीर भूमि पर पड़ा था और उसका सारथि खाली रथ को वहाँ से हटा ले गया था।

"मद्रराज !" सहसा कर्ण ने कुछ कोमल स्वर में पूछा, "यदि अर्जुन ने मुझे मार डाला, तो तुम क्या करोगे ?"

शल्य ने कुछ चकित होकर उसकी ओर देखा : अच्छा कर्ण भी कभी अपनी मृत्यु के विषय में सोचता है !...

शल्य के मन में प्रधान सेनापतित्व का स्वप्न जागा। कर्ण की मृत्यु के पश्चात् ही तो वह संभव हो पाएगा।... क्या करेगा शल्य ?... शल्य को लगा, अकस्मात् ही वह

सारथि के स्थान से उठ कर रथी के स्थान पर खड़ा हो गया है। उसके हाथ में अश्वों की वल्गा नहीं धनुष है। उसका रथ दिव्य शस्त्रों से परिपूर्ण है। उसके सामने एकाधिक धनुष बँधे हुए हैं। उनकी दिशाएँ निश्चित हैं। वह उनमें से आवश्यकतानुसार विभिन्न दिशाओं में बाण छोड़ रहा है। उसका रथ सारे युद्ध का केन्द्र बना हुआ है। वह जिधर दृष्टि उठाता है, उसी ओर से पांडव सेनाएँ जैसे शून्य में विलीन हो जाती हैं।...

"यदि ऐसा हुआ तो मैं तुम्हारे इस एकमात्र रथ के द्वारा कृष्ण और अर्जुन दोनों का वध कर दूँगा।" शल्य ने कहा।

उसके स्वर के उत्साह से कर्ण के शरीर में जैसे आग दहक उठी। एक बार नहीं कहा, इस मद्र ने कि तुम नहीं मरोगे कर्ण ! तुम विजयी होगे। तत्काल मान लिया कि कर्ण मारा ही जाएगा। मान क्या लिया, उसकी तो शायद यही महत्त्वाकांक्षा है कि कर्ण मारा जाए। इसके तो दोनों ही हाथों में मोदक हैं। कौरव जीते तो यह दुर्योधन से पुरस्कृत होगा कि इसने अपने भागनेयों के विरुद्ध दुर्योधन का साथ दिया; और यदि पांडव जीत गए तो यह अपनी भूल पर लज्जित होता हुआ, फिर से युधिष्ठिर का मातुल बन कर उसके पास पहुँच जाएगा।...

सहसा कर्ण के मन में कोई जोर से हँसा "तेरी भी तो यही स्थिति है कर्ण ! दोनों पक्षों में से जो जीते, तू उसी का हो सकता है।"

कर्ण अपनी और शल्य की समानता पर चकित रह गया। पर यह बहुत अपमानजनक स्थिति लगी उसे। वह अपनी तुलना इस मद्र से नहीं करना चाहता। वह भी तो स्वयं को कितना वीर समझता है कि जो अर्जुन कर्ण को मार देगा, उस अर्जुन को ही नहीं, उसके साथ उसके गुरु कृष्ण को भी यह अकेला ही मार देगा।... किस भ्रम में जी रहा है यह मूर्ख ! यह नहीं सोचता कि कर्ण इस रथ पर न होता तो अब तक कब से भीम ने आकर गदा के एक प्रहार से इसकी खोपड़ी का गूदा निकालकर धरती को भेंट कर दिया होता।...

"ठीक है। वही करना।" कर्ण बोला, "किंतु यह न भूलो कि कर्ण अभी जीवित और समर्थ है।"

अश्वत्थामा समझ नहीं पा रहा था कि उसे क्या होता जा रहा है।

उसने देखा था कि किस प्रकार भीम ने दुःशासन के वक्ष को अपने हाथों से फाड़कर उसका रुधिरपान करना चाहा था। वह नहीं कर पाया तो उसने अपनी असि से उसका कंठ काटकर उसमें से उसका रक्त पिया था। उसने देखा था कि कर्ण के दृष्टिक्षेत्र के भीतर ही युधामन्यु ने चित्रसेन का और अर्जुन ने वृषसेन का मस्तक काट दिया था। जो कर्ण अपने भाई और पुत्र की रक्षा नहीं कर पाया, वह किसकी रक्षा कर पाएगा।... ठीक है कि वह बहुत साहस कर अर्जुन से लड़ने उसके सामने आ गया था... या अर्जुन ही उसके सामने आ गया था, तो वह क्या करता। ऐसे में युद्ध तो करना ही पड़ता

है··· और अब तो वह प्रधान सेनापति भी है।··· उसकी रक्षा के लिए दुर्योधन भी बहुत सावधान था। इस समय भी दुर्योधन, कृतवर्मा, शकुनि, मातुल कृप और स्वयं अश्वत्थामा–कर्ण को घेर कर युद्ध कर रहे थे। मूल लक्ष्य तो कर्ण को अर्जुन से बचाना ही था। सारे कौरव योद्धाओं ने अर्जुन और कृष्ण को कुछ घायल तो किया था किंतु अर्जुन ने भी उनको मथ डाला था। कर्ण के शरीर में दस-बारह बाण मारे थे। दुर्योधन ने एक प्रकार से बौखला कर असंतुलित युद्ध आरंभ कर दिया था। सारी सेना में से गजारोही और रथारोही बुला लिए गए थे। अपनी क्रूरता के लिए प्रसिद्ध शक, यवन, तुषार और कांबोज सैनिकों को अर्जुन से भिड़ा दिया गया था।··· किंतु अर्जुन के बाणों से शत्रुओं के मस्तक कट-कट कर इस प्रकार गिर रहे थे, जैसे अर्जुन का गांडीव शत्रुओं के मस्तक काटने का कोई यंत्र हो।··· कर्ण और दुर्योधन यह सब देख रहे थे। पता नहीं कैसे लोग थे ये कि न तो किसी और के मरने से इन्हें कोई व्यथा होती थी और न ही अपनी मृत्यु की कोई संभावना दिखाई देती थी।···

अश्वत्थामा का मस्तिष्क बड़े वेग से अपना काम कर रहा था।··· इस युद्ध से उसे कुछ मिलने वाला नहीं था। यदि उसे अपने लिए कुछ प्राप्त करना है तो इस युद्ध की दिशा बदलनी होगी। वह दुर्योधन की विजय पर ही अपने जीवन का दाँव नहीं लगा सकता। एक तो दुर्योधन की विजय उतनी निश्चित नहीं थी और दूसरे दुर्योधन भी तो अपने आप में उतना विश्वसनीय नहीं था। यदि पांडव जीत गए तो धृष्टद्युम्न अजेय हो जाएगा। न केवल अश्वत्थामा उससे अपना प्रतिशोध नहीं ले पाएगा, संभव है कि धृष्टद्युम्न उसका भी वध कर दे। न भी करे तो वह पांडवों के साथ मिल कर राज्य करेगा। वह उनका सबसे बड़ा सहायक और उनकी महारानी का भाई था।··· और अश्वत्थामा को यह सब देखना और सहन करना पड़ेगा।··· क्या यह संभव नहीं कि पहले के ही समान अर्जुन और भीम अश्वत्थामा के मित्र और धृष्टद्युम्न के शत्रु हो जाएँ। पहले भी तो कौरव और पांडव दोनों एक थे और वे अपने आचार्य द्रोण के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए, पांचालों से युद्ध करने गए थे। क्या वही स्थिति वापस नहीं आ सकती ? अश्वत्थामा ने ही तो अपने पिता से कहा था कि वे पांडवों के सिर पर से संरक्षण का हाथ हटा लें। आज वही अश्वत्थामा पांडवों पर फिर से संरक्षण का हाथ रख दे तो ?···

अश्वत्थामा अपना रथ दुर्योधन के निकट ले गया, "युवराज ! क्या सोच रहे हो–इस युद्ध से क्या उपलब्ध होगा तुम्हें ?"

दुर्योधन ने उसे एक विचित्र दृष्टि से देखा : यह अश्वत्थामा जो कल तक उन्मत्त होकर युद्ध कर रहा था, आज पूछ रहा है कि इस युद्ध से क्या मिलेगा।

"इस प्रश्न का क्या अर्थ है गुरुपुत्र ?"

"मैं कह रहा हूँ युवराज ! भीष्म भी मारे गए और मेरे पिता भी। यह कर्ण भी अर्जुन के हाथों नहीं बचेगा।" अश्वत्थामा ने कहा, "अब पैंतरा बदलने का समय है।

समीकरण क्यों नहीं बदल देते। प्रसन्न हो जाओ; और पांडवों से संधि कर लो। विरोध से कोई लाभ नहीं है। पांडवों से मिल जाओ। उनके साथ मिल कर चिरकाल तक राज्य करो। नहीं तो तुम्हें कुछ भी नहीं मिलेगा।"

"यह कैसी बोली बोल रहे हो अश्वत्थामन् !" दुर्योधन बोला, "अपने पिता का उन अपमानजनक स्थितियों में मस्तक कटना भूल गए ? धृष्टद्युम्न को क्षमा कर दिया क्या ?"

"नहीं ! न वह सब भूला हूँ और न ही धृष्टद्युम्न को क्षमा किया है। तुम हमारे झगड़े में से कुछ अर्जित करने की बात मत सोचो।" वह बोला, "वैसे भी मेरा झगड़ा धृष्टद्युम्न से है, अर्जुन से नहीं। मेरे पिता की मृत्यु पर अर्जुन दुखी हुआ था। उसने धृष्टद्युम्न को उसके लिए धिक्कारा था। हमें पांडवों और पांचालों को पृथक्-पृथक् देखना चाहिए। मेरे समझाने पर अर्जुन शांत हो जाएगा। कृष्ण भी इस संधि का विरोध नहीं करेंगे। युधिष्ठिर तो वैसे ही सदा प्राणियों के हित में लगे रहते हैं। भीम, नकुल और सहदेव धर्मराज के अधीन हैं।"

"अरे इस संधि से मुझे क्या लाभ होगा ?" दुर्योधन आक्रोश से बोला, "अपने लोगों का इतना रक्त बहाया, वह किसलिए। पितामह और आचार्य के बलिदान का क्या लाभ ?"

"तो कर्ण और हमारे बलिदान से ही तुम्हें कौन-सा लाभ होने जा रहा है। कर्ण अर्जुन को जीत नहीं पाएगा।" अश्वत्थामा बोला, "पांडवों से संधि कर लो। सारी प्रजा का कल्याण होगा। जो मरने से बच गए हैं, तुम्हारे वे सगे-संबंधी अपने-अपने नगर को लौट जाएँगे। सैनिकों को युद्ध से छुट्टी मिल जाएगी। मेरी बात नहीं मानोगे तो निश्चय ही युद्ध में भीम के हाथों मारे जाओगे। मर कर न राज्य मिलेगा, न भोग। जीवित रहोगे तो धर्मराज से कहकर तुम्हें राज्य का उचित भाग दिलवा दूँगा।"

"नहीं चाहिए मुझे भिक्षा में मिला हुआ राज्य। विजय नहीं मिलेगी तो वीरगति तो मिलेगी।" दुर्योधन की दृष्टि कर्ण पर टँगी हुई थी। इस अश्वत्थामा को जाने क्या हो गया था कि इस भयंकर युद्ध के मध्य में यह संधि का यह प्रस्ताव ले बैठा है।

"मृतकों को राज्य नहीं मिलता।" अश्वत्थामा बोला, "संधि कर लो। कौरव कुल को बचा लो। जिसके भरोसे युद्ध कर रहे हो, वह कर्ण, नरव्याघ्र अर्जुन को कभी जीत नहीं पाएगा।"

दुर्योधन कुछ और निकट आ गया। कर्ण की ओर से ध्यान हटाकर वह पूर्णतः अश्वत्थामा से संबोधित हुआ, "सुनो अश्वत्थामन् ! इस दुर्बुद्धि भीम ने सिंह के समान हठपूर्वक दुःशासन का आखेट किया है। उसने जो कुछ किया और कहा, वह इस समय भी मुझे पीड़ा दे रहा है।"

"हम लोगों ने भी तो उनके पुत्रों का आखेट किया है।" अश्वत्थामा ने कहा।

"हमने क्षत्रियों के समान उनका वध किया है, पशुओं के समान आखेट नहीं।"

दुर्योधन ने उत्तर दिया।

"तुमने भी अभिमन्यु का आखेट ही किया था।" अश्वत्थामा का स्वर कुछ कठोर हो गया, "तुम लोगों ने द्रौपदी के साथ आखेट से भी नीचतर व्यवहार किया था। और आखेट किसे कहते हैं ? उसे क्या मनुष्य का-सा व्यवहार कहते हैं। तुम दुःशासन और कर्ण क्या पशुओं से कुछ श्रेष्ठ हो ?"

दुर्योधन की आकृति बहुत कठोर हो गई, किंतु सहसा ही वह फिर सामान्य हो गया, "संधि कैसे हो सकती है। कुंती के पुत्र मुझ पर विश्वास नहीं करेंगे और गुरुपुत्र ! इस रण में अर्जुन कर्ण का वेग नहीं सह सकेगा, इसे निश्चित जानो। अर्जुन युद्ध के परिश्रम से थक गया है। कर्ण उसे अब बलपूर्वक मार डालेगा।"

दुर्योधन ने न अश्वत्थामा की ओर देखा, न उसका उत्तर ही सुना। उसने अश्वत्थामा की ओर से इस प्रकार मुँह मोड़ लिया, जैसे उसका संवाद समाप्त हो चुका है; और अपने सैनिकों की ओर देखकर उच्च स्वर में आदेश दिया, "इस प्रकार निठ्ठले बैठे क्या कर रहे हो। आक्रमण करो।"

अश्वत्थामा ने निराशा में सिर झटका। वह समझ गया कि विनाश की घड़ी आ पहुँची है।

सोमक निरंतर अर्जुन से गुहार कर रहे थे कि वह यथाशीघ्र कर्ण का वध कर दे, ताकि कर्ण के जीवन और दुर्योधन के राज्य की आशा एक साथ ही समाप्त हो जाएँ। दूसरी ओर कर्ण के कानों से निरंतर अर्जुन को मारने के अनुरोध टकरा रहे थे, ताकि कुंती के पुत्र सदा के लिए वन में चले जाएँ।

कर्ण ने अपने पहले दस बाणों से अर्जुन को बींध डाला था। अर्जुन ने भी उसकी कांख में बाण मारे थे। अर्जुन ने अपनी दोनों भुजाओं तथा गांडीव को पोंछ कर, नाराच, नालीक, वराहकर्ण, क्षुर, अंजलिक तथा अर्द्धचंद्र बाणों का प्रहार किया। किंतु वे बाण कर्ण के रथ में प्रवेश करते ही बिखर जाते थे। अर्जुन के बाणों को कर्ण नष्ट करता चल रहा था। अर्जुन ने झल्लाकर कर्ण पर आग्नेयास्त्र का प्रयोग किया। योद्धाओं के वस्त्र जलने लगे। अनेक वाहिनियाँ उस ताप से बचने के लिए दूर भाग गईं। कर्ण ने वारुणास्त्र का प्रयोग किया। ताप कम हुआ और धरती पर्याप्त गीली हो गई। कृष्ण मुस्कराए।

"क्या बात है केशव ?" अर्जुन ने पूछा।

"कुछ नहीं ! कर्ण ने स्वयं ही अपनी मृत्यु का प्रबंध कर दिया है।" कृष्ण अब भी मुस्करा रहे थे।

"कैसे ?"

"समय पर ज्ञात होगा अर्जुन ! तुम युद्ध करो।"

गांडीव से पुनः बाण छूटने लगे··· नाराच, नालीक, वराहकर्ण, अंजलिक··· अब कर्ण

में वह वेग नहीं रह गया था। वरुणास्त्र परिचालन ने उसकी ध्यान ऊर्जा पर ही नहीं, शारीरिक ऊर्जा पर भी विपरीत प्रभाव डाला था।''' अर्जुन के बाणों से कर्ण के सारे अंग बिंध गए थे। संपूर्ण शरीर से जैसे रक्त टपक रहा था। अपने मन की ऊर्जाहीनता और शरीर की व्यथा का अनुभव कर उसके नेत्र क्रोध से रक्तिम हो उठे।

कर्ण ने भार्गवास्त्र का संधान किया।

अर्जुन ने भार्गवास्त्र को देखा तो तत्काल इंद्र का महेन्द्रास्त्र निकाल लिया। किंतु भार्गवास्त्र के सम्मुख महेन्द्रास्त्र दुर्बल सिद्ध हुआ। उसे नष्ट होते देखकर अर्जुन से अधिक भीम क्रोध से भर उठा, "इस अधर्मी और पापी कर्ण ने तुम्हारे सामने इतने सारे पांचाल वीरों को कैसे मार डाला। उसने तुम्हें भी बींध डाला है। तुम क्या कर रहे हो अर्जुन ? द्यूतसभा में हुए अपने और द्रौपदी के अपमान को स्मरण करो। यही पापी था, जिसने उसे वेश्या कहा था और निर्वस्त्र कर देने का प्रस्ताव रखा था।"

"क्या हो गया है तुमको ?" कृष्ण का स्वर भी झुँझलाया हुआ था, "कर्ण तुम्हारे अस्त्रों को नष्ट कैसे कर रहा है। तुम पर कैसा मोह छाया हुआ है अर्जुन ! तुम सावधान क्यों नहीं होते ? देखो, कौरव प्रसन्न होकर सिंहनाद कर रहे हैं। यदि तुम्हारे पास अस्त्र नहीं हैं तो मेरा सुदर्शन चक्र ले लो और शत्रुओं का वध कर डालो।"

अर्जुन को भी लगा कि उसे कुछ और शक्तिशाली अस्त्रों का प्रयोग करना होगा। उसने मन की ऊर्जा से परिचालित होने वाले ब्रह्मास्त्र को प्रकट किया। इसमें ऊर्जा तो सूक्ष्म थी किंतु अस्त्र सूक्ष्म नहीं था। कर्ण ने उसे भी नष्ट कर दिया।

भीम जल उठा, "किसी श्रेष्ठ अस्त्र का प्रयोग क्यों नहीं करते तुम ?"

अर्जुन ने दिव्यास्त्र स्थापित कर कर्ण को अपने शस्त्रों से आच्छादित कर दिया। शूल, चक्र, फरसे, और नाराच निरंतर बरस रहे थे। उससे कर्ण का वेग कुछ कम हुआ और उसकी वाहिनियाँ हतप्रभ रह गईं। एक योद्धा का सिर कटता था तो दूसरा भय से ही धराशायी हो जाता था; और तीसरा समरभूमि छोड़कर भाग जाता था।

भीम को अर्जुन के इतने निकट देखकर कर्ण उनकी किसी योजना को भाँप रहा था। वे दोनों पृथक् रहकर क्यों नहीं लड़ रहे थे। इस समय कृष्ण, अर्जुन और भीम एक ही स्थान पर थे। वे इतने निकट लग रहे थे, जैसे एक ही रथ पर आरूढ़ हों। कर्ण ने तीनों को ही आहत किया।

कर्ण को थोड़ा खेद भी हुआ। उसने कृष्ण पर व्यर्थ ही बाण चलाए। कृष्ण के शरीर पर घाव होते ही अर्जुन के उत्साह की बुझती हुई बत्ती फिर से प्रज्वलित हो जाती थी। कृष्ण क्या इसीलिए अर्जुन के सारथि बने हैं कि वे निरंतर घायल होते रहें और अर्जुन के उत्साह की अग्नि में निरंतर आहुतियाँ पड़ती रहें ? कर्ण ने एक बार भी रथवैद्य द्वारा कृष्ण का कोई उपचार होते नहीं देखा था। कैसे झेल लेते हैं, कृष्ण इतने सारे घावों को ? उन्हें अपने शरीर में लगे बाणों से पीड़ा क्यों नहीं होती ? क्या सत्य ही वे योग की उस स्थिति में पहुँचे हुए हैं, जहाँ योगी अपने शरीर से स्वयं को पूरी तरह

पृथक् कर लेता है, और अपने शरीर को भी किसी और के शरीर के रूप में देखता है ? कर्ण ने यह सब गुरु से सुना था, पोथियों में पढ़ा था, किंतु इसका अनुभव कभी नहीं किया था। उसके विपरीत उसने दुर्योधन के साथ बैठकर इन सिद्धांतों का उपहास ही किया था।...

कर्ण ने कृष्ण के समतुल्य सारथि प्राप्त करने का प्रयत्न किया था; किंतु उसका सारथि उसका उत्साह कम बढ़ा रहा था, उसे विक्षिप्त ही अधिक कर रहा था।

अर्जुन ने चार बाणों से शल्य को और तीन बाणों से कर्ण को आहत किया। शल्य को घायल देख, भीम को बहुत सुख मिला : इस मूर्ख का जितना रक्त बहे, उतना ही अच्छा। जाने क्या सोचकर दुर्योधन से जा मिला, जैसे दुर्योधन इसको पृथ्वी का राज्य ही दे देगा। दे दिया राज्य ! कर्ण जैसे योद्धा का सारथि बनाकर, बाँधकर डाल दिया कर्ण के रथ पर।... इसके साथ यही होना चाहिए था।...

सहसा पांडव सेना में उत्साह का एक तुमुल ज्वार उठा। सारे योद्धाओं की दृष्टि उस दिशा में मुड़ गई : धर्मराज युधिष्ठिर युद्धभूमि में लौट आए थे।

भीम ने अपना रथ युधिष्ठिर की ओर मोड़ दिया।

"आप युद्ध में क्यों आ गए।" उसने निकट जाकर कहा, "आज तो आप विश्राम ही करते।"

"वैद्यों ने मंत्र तथा औषधियों से शरीर के बाण निकालकर स्वस्थ कर दिया है।" युधिष्ठिर सहास बोले।

"स्वस्थ कर दिया है का क्या अर्थ।" भीम बोला, "उन्होंने बाण निकालकर आपके शरीर का कष्ट कम कर दिया है, आपको युद्ध के योग्य नहीं बना दिया है। युद्ध से आपके घाव फिर से हरे हो सकते हैं। शरीर से अधिक रक्त बह गया तो आप कल भी युद्ध नहीं कर पाएँगे।"

"मैं युद्ध नहीं करूँगा।" युधिष्ठिर बोले, "अपनी व्यग्र जिज्ञासा को शांत करने आया हूँ। अपनी सेना की स्थिति तथा अपने बंधु-बांधवों की कुशल देखने आया हूँ। अपनी सेना को दिखाने आया हूँ कि उनका राजा अभी जीवित ही नहीं, स्वस्थ और समर्थ है। वे यह न मान लें कि मैं भी पितामह भीष्म के समान शैया पर लेटा, मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

"यह तो आपने बहुत अच्छा किया। इससे हमारी सेना का उत्साह बढ़ेगा और शत्रु निराश होंगे।" भीम ने कहा, "किंतु आप युद्ध न करें। सेना का निरीक्षण कर और सैनिकों को अपने दर्शन देकर शिविर में लौट जाएँ।"

"ऐसा ही होगा मध्यम। चिंता मत करो।" युधिष्ठिर बोले, "तुम अर्जुन की रक्षा के लिए चले जाओ।"

भीम वापस अपने स्थान पर पहुँच गया।

अर्जुन ने अपने धनुष की प्रत्यंचा को जोर से खींचा। नगाड़ा बजने का सा शब्द

हुआ और प्रत्यंचा टूट गई। कर्ण के लिए यह स्वर्णिम अवसर था। अर्जुन सामने खड़ा
था। उसके हाथ में गांडीव भी था; किंतु वह बाण नहीं चला सकता था। कर्ण ने एक
के बाद एक अनेक बाण मारे। सामने से प्रतिकार करने वाला कोई नहीं था। उसने
कृष्ण को क्षतविक्षत कर दिया। भीम के मर्म पर भी अनेक बाण मारे।

कौरव सेना ने भीषण कोलाहल कर अपनी प्रसन्नता और विजय का उद्घोष किया।

अर्जुन ने धनुष को झुकाकर प्रत्यंचा चढ़ा दी। कर्ण के बाणों को छिन्न-भिन्न करके कौरव सेना के उत्साह को मंद कर दिया। उसने धनुष की प्रत्यंचा को हाथ से रगड़कर कर्ण पर आघात किया। कर्ण का हाथ तो बच गया किंतु उसका तलत्र कट गया। कर्ण समझ नहीं पाया कि यह उसका सौभाग्य था या अर्जुन का कौशल। अर्जुन ने अपने बाणों का जाल बिछा दिया था। शल्य को भी गहरी चोट आई थी। उसका कवच छिन्न-भिन्न हो गया था। कर्ण का अपना शरीर भी रक्त से गीला हो गया था।

अपनी प्रभा को इतनी जल्दी नष्ट होते देखकर कर्ण को क्रोध आ गया। उसने अपने दिव्यास्त्रों से बाणों की बौछार करते हुए, अपने धनुर्धरों को आगे बढ़ाने का निश्चय किया। यदि अर्जुन उसके अपने बाणों से प्राण नहीं त्यागता तो उसके धनुष से छूटे हुए बाणों की छाया में सुरक्षित, उसके धनुर्धर निकट जाकर उस पर आघात करेंगे। चाहे वे अपने धनुषों का प्रयोग करें चाहे अपने हाथों का। अन्यथा धनुर्धरों को निकट जाने का अवसर नहीं मिलेगा।

उसने बाणों की वर्षा आरंभ की और अपनी धनुर्धर टुकड़ियों को आगे बढ़ने का संकेत किया।

धनुर्धर टुकड़ियाँ निकट आ गईं। अर्जुन ने कम दूरी से वार करने वाले बाणों से उनको पृथ्वी पर बिछा दिया। अर्जुन को लगा कि उनके एक भाग का मुख्य लक्ष्य अर्जुन न होकर कृष्ण ही थे। उन्होंने कृष्ण के कवच को विदीर्ण कर दिया था। किंतु वे उन्हें कोई गंभीर चोट पहुँचाने में असफल हुए थे। पर वे आत्मघाती सैनिक नहीं थे। वे रुके भी नहीं। यथाशीघ्र कृष्ण को आहत कर वे वापस लौटे···

कृष्ण का ध्यान उनकी ओर गया। उन्होंने ध्यान से देखा और बोले, "अर्जुन ! ये कर्ण के धनुर्धर नहीं, मुझे तो तक्षकपुत्र अश्वसेन के विषधर प्रतीत हो रहे हैं। ये जो बच कर वापस कर्ण के पास जा रहे हैं। इन्हें मारो।"

अर्जुन को आश्चर्य हुआ। कर्ण क्या इन हथकंडों पर उतर आया है। धनुर्धरों के स्थान पर अब वह विषधरों से युद्ध करने लगा है। यदि वे सफल हो जाते तो उनके विषाक्त शस्त्रों से कृष्ण के प्राण निकल जाते। यह तो कोई युद्ध न हुआ।

अर्जुन ने अपने भल्लों से उन पाँचों के टुकड़े कर दिए। उसका क्रोध ऐसा प्रज्वलित हुआ कि उसने कर्ण के मर्म पर भयंकर चोट पहुँचाई। कर्ण के चक्ररक्षकों, पादरक्षकों और पृष्ठरक्षकों के सारे दलों को रथों, घोड़ों और सारथियों सहित यमपुर भेज दिया। उनमें से जो बच गए, वे भयभीत होकर भाग गए।

“साधु अर्जुन ! साधु। यह क्षत्रियों के समान युद्ध हुआ।” कृष्ण बोले, “इस उत्साह को बनाए रखो, कर्ण बहुत देर नहीं टिक पाएगा।”

कृष्ण ने एक विचित्र तिरछे ढंग से रथ को आगे बढ़ाया, जैसे वे कर्ण के रथ को टक्कर मारने जा रहे हों। शल्य ने टक्कर बचाने के लिए रथ पीछे ही नहीं हटा लिया, उसे तिरछा कर कुछ दूर खिसका भी दिया।

“क्या कर रहे हो शल्य ?” कर्ण ने अपना विरोध प्रकट किया।

“कृष्ण को देखो, वे अश्वों को भिड़ाना चाहते हैं या रथियों की भिड़ंत कराना चाहते हैं। अर्जुन का रथ अधिक शक्तिशाली है तो इसका यह अर्थ तो नहीं है कि वे उसको दूसरे रथों से भिड़ाते रहें। उनके सारथ्य की यह शैली मेरी समझ में नहीं आती।”

“शैली समझो, न समझो, रथ सीधा रखो।” कर्ण बोला और सहसा ही उसकी मुद्रा बदल गई, “कहीं कृष्ण युद्ध छोड़कर भागना तो नहीं चाहते। वैसे भी हम मुख्य समरभूमि से दूर चले आए हैं। उन्हें छेक कर रखो। वे हमारी पहुँच से बाहर न जा सकें।”

कृष्ण ने रथ हटाकर कहीं और ले जाने का प्रयत्न नहीं किया। जब-जब वे बढ़े, लगा, कि वे कर्ण के रथ के कोने में टक्कर मारेंगे और शल्य ने रथ की दिशा बदलकर अपने रथ को बचा लिया।

“आप रथ को कैसी धरती पर ले आए हैं केशव ! रथचक्रों में वह गति नहीं रही। चक्र धरती में कुछ धँस तो नहीं रहे ?” सहसा अर्जुन ने पूछा, “मुझे तो यह कच्छभूमि-सी लग रही है, या यह खंड आर्द्रसिकता के समान है।”

“हाँ ! एक तो यह आर्द्रा भूमि है। भूमि के नीचे पर्याप्त जल है। कुछ कर्ण के वरुणास्त्र ने इसे सींच कर गीला कर दिया है।” कृष्ण बोले, “तुम उसकी चिंता मत करो। तुम कर्ण की ओर ध्यान दो। मुझे लगता है कि दुर्योधन ने उसकी रक्षा के लिए पुनः चुने हुए वीरों को भेजा है। वह स्वयं तो भीम के भय से इस ओर आ नहीं रहा। भीम ने दुःशासन को जैसे मारा है, उससे दुर्योधन को कई रातों तक अपने स्वप्नों में भी भीम भयभीत करता रहेगा।”

अर्जुन ने कर्ण की ओर सहायतार्थ बढ़ती टुकड़ियों को बाणों की नोक पर लिया। वे कर्ण तक नहीं पहुँचे। न वे दुर्योधन की ओर ही गए। वे अर्जुन के बाणों से बचे तो भीम की गदा की भेंट चढ़ गए। शेष बचे बिखरकर इधर-उधर कहीं समा गए।

कर्ण ने भी यह देखा। कौरव सैनिकों पर अर्जुन का आतंक इतना व्याप्त था कि वे उसकी दिशा में आने से ही कतरा रहे थे। पता नहीं कृतवर्मा इत्यादि भी सात्यकि और धृष्टद्युम्न द्वारा रोक दिए गए थे या वे भी अर्जुन से बचने का बहाना बनाकर उनसे गुँथे हुए थे। इस समय तो कृपाचार्य और अश्वत्थामा भी दिखाई नहीं दे रहे थे। अश्वत्थामा कुछ समय पहले एक बार दुर्योधन से विचार-विमर्श करता दिखाई दे रहा था। जाने उन्होंने क्या विचार किया था। कोई युद्धनीति निश्चित की थी क्या ? किंतु

प्रधान सेनापति को सूचित किए बिना वे क्या रणनीति निर्धारित कर सकते हैं। या फिर प्रत्येक महारथी अपनी वाहिनियों और अपने रथों के साथ अपनी-अपनी नीति बनाकर पृथक्-पृथक् युद्ध करेगा क्या। इससे तो कौरव एक सेना के रूप में नहीं, अनेक सेनाओं के समूह के रूप में युद्ध करेंगे।...

कर्ण ने दृष्टि उठाकर देखा। अनेक कौरव योद्धा तो भयभीत होकर अर्जुन के बाणों की मार की सीमा से बाहर भाग गए लगते थे। युद्ध हो पाए या न हो पाए, किंतु वे उस क्षेत्र के भीतर आने को प्रस्तुत नहीं थे। तो यह विचित्र द्वैरथ युद्ध था। जिसमें केवल अर्जुन था और कर्ण था। भीम भी तो किसी और को बीच में पड़ने से ही रोक रहा था, या उसका प्रयत्न यह था कि कर्ण की सहायता को कोई और न आए। अपने धरातल पर वह कर्ण से भी जूझने का प्रयत्न नहीं कर रहा था।... सामने से अर्जुन का दिव्यास्त्र बड़े वेग से उसकी ओर बढ़ रहा था। वह विद्युत के समान चमक रहा था। कर्ण का उससे परिचय नहीं था, जाने वह क्या था और उसका प्रभाव क्या था।...

कर्ण ने परशुराम का अथर्वणास्त्र प्रकट किया और अर्जुन का वह दिव्यास्त्र आकाश में ही नष्ट कर दिया।

कर्ण समझ रहा था। यह अब साधारण सैनिकों अथवा साधारण महारथियों का युद्ध नहीं रह गया था। दोनों ही योद्धा अपने-अपने सिद्ध अस्त्रों से एक-दूसरे पर आक्रमण कर रहे थे। कभी किसी का पलड़ा भारी हो जाता था और कभी किसी का। किंतु कर्ण अभी तक अर्जुन को किसी भी प्रकार दीन नहीं कर पाया था। अर्जुन का बल क्षीण नहीं हुआ था। ... अब युद्ध को लंबा नहीं खींचना चाहिए। युद्ध ऐसा कर्म नहीं है, कि जिसमें अपनी विजय को टाला जाए। अभी कर्ण बलवान है तो अगले ही क्षण अर्जुन बलवान हो सकता है।...

कर्ण ने अपने तूणीर से सर्पमुख बाण निकाला। इसे वर्षों से उसने सँभालकर रखा था। सँभालकर तो उसने वैजयंती भी रखी थी, किंतु उसका प्रयोग घटोत्कच पर करना पड़ा था। इस सर्पमुख को उसने अपने उपास्यदेव की प्रतिमा के समान सदा चंदन के चूर्ण में दबाकर रखा था, ताकि उसमें लगाए रसायनों का प्रभाव लुप्त न हो। उसका आकार, उसका वेग और उसका प्रभाव सब कुछ ही घातक था। बस इसे अर्जुन तक पहुँचना चाहिए, यह उसका मस्तक काटकर धरती पर फेंक देगा। उसने बाण को धनुष पर चढ़ा लिया।

पिछले कुछ क्षणों से शल्य उसका ऊहापोह देख रहा था। उसने धनुष पर सर्पमुख रखा देखा तो चौंक उठा : यह क्या कर रहा है कर्ण। इससे तो अर्जुन सचमुच मारा जाएगा। कर्ण का स्वप्न पूर्ण हो जाएगा। जो भीष्म और द्रोण नहीं कर सके, वह कर्ण के हाथों हो जाएगा। तब शल्य का महत्त्व ही क्या रह जाएगा ...

"बाण का लक्ष्य ठीक नहीं है कर्ण !" शल्य ने टोका, "उसे ठीक करो। फिर से संधान करो।"

कर्ण चिढ़ गया : यह शल्य अपने आपको क्या समझता है। वह सारथि के स्थान पर बैठा हुआ भी स्वयं को कर्ण से श्रेष्ठ प्रमाणित करने का प्रयत्न कर रहा है।

"कर्ण दो बार बाण संधान नहीं करता।" वह बोला, "न ही मेरे जैसे वीर कपट युद्ध करते हैं।"

उसने बाण चला दिया और चिल्लाकर कहा, "अर्जुन ! अब तू निश्चय ही मारा गया।"

कर्ण की भुजाओं से प्रेरित होकर, उसके धनुष और प्रत्यंचा से मुक्त होकर वह बाण आकाश में पहुँचते ही जैसे प्रज्वलित हो उठा।

कृष्ण की दृष्टि उस बाण पर टिकी हुई थी। अर्जुन का धनुष भी बाण उगल रहा था; किंतु कर्ण का बाण वक्र होकर अर्जुन की ओर आ रहा था और निश्चित रूप से उसका मस्तक काटने के लक्ष्य से छोड़ा गया था। रथ स्थिर था और उसे तत्काल भगाकर कहीं और ले जाना संभव नहीं था। कृष्ण के हाथों ने वल्गा को एक ओर मोड़ा, पैरों ने रथ पर एक विशेष प्रकार से दबाव डाला। रथचक्र स्पष्टतः दलदल जैसी आर्द्रसिकता की पकड़ में आ गए थे। रथचक्र ही मिट्टी में नहीं धँस गए थे, रथ में जुते घोड़े भी अपने अगले पैरों के घुटनों पर आ गिरे थे...

अर्जुन को लगा, रथ शायद उलट जाएगा। पर कृष्ण के सारथ्य में ऐसा कैसे संभव है ?

"केशव !"

"चिंता मत करो अर्जुन ! सब कुछ सुरक्षित है।" कृष्ण बोले।

कर्ण का बाण अर्जुन के किरीट के ऊपरी भाग में टकराता हुआ निकल गया। अर्जुन का किरीट धरती पर जा गिरा था।

"मेरा किरीट।"

"मस्तक के धरती पर जा गिरने से किरीट का गिरना अधिक हानिकारक नहीं है अर्जुन।" कृष्ण बोले, "हमारे अश्व भी गिरे नहीं हैं, न ही रथ कीचड़ में फँसा है। यह सब कुछ मैंने प्रयत्नपूर्वक इसीलिए किया है कि तुम्हारी ऊँचाई कम हो जाए और बाण ऊपर से निकल जाए।"

अर्जुन के मन में सब कुछ स्पष्ट हुआ, "पर यह बाण कैसा था, जो उसके अस्त्रों से भी नहीं रुका। इसमें कोई न कोई विशेषता अवश्य थी।"

"किंतु आपने मुझे झुकने के लिए न कहकर सारा रथ क्यों धरती में धँसा दिया ?" अर्जुन ने पूछा।

"अपने केशों को किसी वस्त्र से बाँध लो और युद्ध करो। अभी इस अस्त्र का भी रहस्य खुल जाएगा।" कृष्ण ने धीरे से कहा।

कर्ण ने देखा कि उसका सर्पमुख बाण निष्फल चला गया है। अर्जुन श्वेत वस्त्र बाँधे अब भी अपने रथ पर खड़ा था और युद्ध कर रहा था।... कर्ण के मन में हताशा

जन्मी। यदि सर्पमुख बाण भी व्यर्थ''' और तभी उसकी दृष्टि अपने तूणीर की ओर गई''' वहाँ सर्पमुख बाण अब भी रखा हुआ था। अरे''' तो वह क्या था, जो उसने चलाया था। वह कुछ और था, किंतु एकदम सर्पमुख की ही आकृति का था।''' यह हो कैसे सकता है। उसके पास वैसे दो बाण नहीं थे।''' उसने सर्पमुख बाण की ओर हाथ बढ़ाया'''

"यह लो।" एक व्यक्ति उसके रथ के निकट खड़ा एक और सर्पमुख बाण उसकी ओर बढ़ा रहा था।

कौन है यह ?''' कर्ण ने सोचा''' क्या दुर्योधन ने उसके लिए कोई विशेष बाण भेजा है ?'''

"मैं अश्वसेन हूँ। नागराज तक्षक का पुत्र।" उस विचित्र व्यक्ति ने कहा, "तुम मुझे नहीं जानते। अर्जुन ने खांडव दाह के समय मेरी माता का वध कर दिया था। उसका प्रतिशोध चाहता हूँ मैं। अर्जुन मेरा और तुम्हारा समान रूप से शत्रु है। वह पहला विषाक्त बाण भी मैंने ही तुम्हारे तूणीर में रखा था। वह सर्पमुख बाण नहीं, सर्प ही था, अत्यंत विषैला सर्प। पर तुमने ठीक से सोच-विचार कर सावधानी से वह बाण नहीं छोड़ा। तुम ठीक से लक्ष्य संधान क्यों नहीं करते। अभ्यास नहीं है क्या ? वह अमूल्य बाण तुमने व्यर्थ ही नष्ट कर दिया। अब या तो तुम लक्ष्य साध कर यह बाण छोड़ो, या फिर मेरे लिए अर्जुन तक पहुँचने का मार्ग बना दो। मैं अपने और तुम्हारे शत्रु का तत्काल वध कर दूँगा।"

कर्ण को न तो वह व्यक्ति प्रीतिकर लग रहा था, न उसकी बातें। वह उससे ऐसे बात कर रहा था, जैसे कर्ण कोई दीनहीन साधारण सैनिक हो और उसे सहायता की आवश्यकता हो। वह उसके लक्ष्य संधान में दोष बता रहा था और स्वयं में अर्जुन के वध की क्षमता जता रहा था, जैसे कर्ण उससे शून्य हो। ..

कर्ण की दृष्टि शल्य पर पड़ी। शल्य मुँह फेरकर मुस्करा रहा था।''' सोच रहा होगा कि अब राह चलते लोगों का भी साहस हो गया है कि वे कर्ण से कहें, ला तुझसे नहीं होता तो मैं अर्जुन को मार दूँ।'''

"तुम स्वयं ही अर्जुन के पास क्यों नहीं चले जाते, जैसे यहाँ आए हो ?" कर्ण ने कुछ कटुता से कहा, "चले जाओ और अपने विषबुझे शस्त्रों से उसे मार दो। मुझसे ही ऐसी सहायता क्यों चाहते हो।"

"तुम्हारे रथ तक तो मैं सरलता से आ गया हूँ, जैसे कोई हाट-बाजार तक जाता है।" अश्वसेन बोला, "वहाँ नहीं जा सकता। एक तो अर्जुन के रक्षक ही मुझे उस तक नहीं जाने देंगे। दूसरे, कृष्ण और अर्जुन दोनों ही मुझे पहचानते हैं। देखते ही मेरा वध कर देंगे।"

"तो तुम उनसे युद्ध करने में समर्थ नहीं हो ?"

"नहीं ! मैं विष व्यवसायी हूँ।" अश्वसेन बोला, "मैं किसी को डस सकता हूँ, धनुष बाण लेकर युद्ध नहीं कर सकता। इसीलिए कह रहा हूँ कि मुझे उसके निकट

पहुँचा दो, शेष मैं देख लूँगा।"

"नाग ! कर्ण पराए बल से अपने शत्रुओं को नहीं मारता।" कर्ण दमित आक्रोश के साथ बोला, "मेरे पास अपना सर्पमुख बाण है। मेरे मन में अर्जुन के लिए पर्याप्त आक्रोश है; और मैं पूरा प्रयत्न कर रहा हूँ। तुम जाओ। मैं अपना वैर स्वयं ही चुकाऊँगा।"

"भूल कर रहे हो।" अश्वसेन कटु स्वर में बोला, "अश्वसेन जैसा सहायक सुविधा से नहीं मिलता। मेरा तिरस्कार कर रहे हो, पछताओगे।"

"मेरी प्रतिज्ञा है कि मैं अर्जुन का वध करूँगा। तुमने उसे डस कर मार डाला तो मेरी प्रतिज्ञा कैसे पूरी होगी।" कर्ण बोला, "तुम जाओ।"

"अर्जुन !" कृष्ण बोले, "यह जो व्यक्ति कर्ण से बात करके हटा है, इसे पहचान सकते हो ? मैं इसे पहचानता हूँ। यह तक्षकपुत्र अश्वसेन है। यह इस युद्धक्षेत्र में तुम्हारे वध के लिए ही आया है, इसे मार डालो। ऐसे शत्रु की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।"

अर्जुन ने अपना धनुष अश्वसेन की ओर घुमाया। बाण छूटे और अश्वसेन के शरीर के टुकड़े हो गए। कर्ण की दृष्टि भी उसी पर लगी हुई थी। अश्वसेन भूमि पर गिर गया तो कृष्ण रथ से नीचे उतर गए। धरती में धँसे पहिए को कृष्ण ने अपनी दोनों भुजाओं के बल से ऊपर उठाया और रथ को आगे बढ़ा दिया।

कृष्ण को भूमि पर खड़ा देख कर्ण ने आक्रमण किया।

इस समय अपनी तो रक्षा करनी ही थी, कृष्ण की रक्षा और भी अधिक आवश्यक हो गई थी। वे धरती पर एक प्रकार से खुले में खड़े थे। अर्जुन ने एक के पश्चात् एक बारह वराहकर्ण बाण मारे। कर्ण का कवच फट गया और वह अनेक स्थानों से घायल हो गया।

कर्ण का मन भी स्थिर नहीं रह गया था। अश्वसेन की बातों और शल्य की वक्र मुस्कान ने उसे एक प्रकार से विक्षिप्त कर दिया था; और अब अर्जुन ने उसका कवच फाड़ दिया था। उसने झल्लाकर बाण मारने आरंभ किए। रथारूढ़ हो चुके कृष्ण को घायल किया और अर्जुन को तो जैसे क्षतविक्षत ही कर डाला।

अर्जुन ने भी कर्ण को असंख्य बाणों से बींध दिया था। कर्ण का मुकुट और कुंडल छिन्न-भिन्न होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। कवच पहले ही टुकड़े-टुकड़े हो चुका था। कर्ण अपने स्थान पर बहुत स्थिर नहीं लग रहा था। सन्निपात से आतुर व्यक्ति के समान कर्ण शायद अत्यधिक पीड़ा का अनुभव कर रहा था।''' और अगले ही क्षण अपना धनुष छोड़कर कर्ण डोलता-सा मूर्च्छित होकर रथ में गिर पड़ा।

अर्जुन का हाथ रुक गया।

"प्रमाद मत करो पार्थ !" कृष्ण बोले, "बुद्धिमान लोग अपने दुर्बल से भी दुर्बल शत्रु को नष्ट करने के लिए किसी अवसर की प्रतीक्षा नहीं करते। संकट में पड़े शत्रु को मार कर बुद्धिमान पुरुष धर्म और यश का भागी होता है। कर्ण सँभल कर तुम पर आक्रमण करे, उससे पहले ही उसे मार डालो।"

अर्जुन का मन एक क्षण के लिए अटका किंतु कृष्ण के प्रति उसकी निष्ठा उसे कृष्ण की नीति के विरुद्ध सोचने से भी रोक रही थी। कर्ण ने अपना प्रहार कभी स्थगित नहीं किया। न तब, जब अभिमन्यु असहाय हो गया था, न तब जब कृष्ण भूमि पर खड़े रथचक्र को धरती से निकाल रहे थे।

अर्जुन ने वत्सदंत नामक बाणों से कर्ण तथा उसके रथ के घोड़ों को अनेक घाव दिए।''' तभी कर्ण की मूर्च्छा कुछ हटी और उसने कृष्ण और अर्जुन—दोनों को ही बाणों से पीड़ित किया।

अब कुछ सोचने की आवश्यकता नहीं थी। कर्ण युद्ध तो कर ही रहा था। अर्जुन ने अपने बाण को महारौद्रास्त्र से अभिमंत्रित किया और कर्ण पर छोड़ दिया।

कर्ण की चेतना झकोले खा रही थी। अब भी कदाचित् वह अर्द्धमूर्च्छितावस्था में था। वह सोच-समझकर नहीं, बस अभ्यासवश ही लड़ रहा था। और तभी अर्जुन ने इस महारौद्रास्त्र का प्रयोग कर दिया था। कर्ण इतना व्याकुल हुआ कि उसे लगा, उसके पास अपने प्राण बचाने का एक ही मार्ग था—भार्गवास्त्र। यद्यपि इस समय उसके सम्मुख पांडवों की विशाल सेना नहीं थी। उसे अकेले ही सहस्रों सैनिकों से नहीं लड़ना था। उसे असंख्य बाणों से प्रहार करने की आवश्यकता भी नहीं थी। एक अकेले अर्जुन के रथ से ही लड़ना था, उसके लिए भार्गवास्त्र का प्रयोग उस दिव्यास्त्र का अपव्यय था। ''' किंतु कर्ण के प्राण निकल रहे थे। उसकी रक्षा तो भार्गवास्त्र ही कर सकता था।

उसने भार्गवास्त्र का स्मरण करना चाहा। उसका शरीर इतना पीड़ित था कि उसका मन स्वयं को शारीरिक पीड़ा से विच्छिन्न ही नहीं कर पा रहा था। मन, देह से हटा ही नहीं। तो वह एकाग्र कैसे होता। ध्यान ही नहीं लगा तो भार्गवास्त्र प्रकट कैसे होता। भार्गवास्त्र प्रकट नहीं हो रहा था और कर्ण की व्याकुलता बढ़ती जा रही थी। वह समाधिस्थ होने के स्थान पर विक्षिप्त होता जा रहा था।''' युद्ध में इतना भयंकर कोलाहल था। इतने प्रकार के शब्द और इतने प्रकार के स्वर वहाँ गूँज रहे थे। युद्ध के उस भयंकर कोलाहल और मारकाट में मन को इतना एकाग्र कर लेना कि देवास्त्रों का संचालन हो सके, यह तो ऋषियों के भी वश का नहीं था। यह काम तो बस ऋषि योद्धा ही कर सकते थे। परशुराम कर सकते थे। द्रोण कर सकते थे। भीष्म कर सकते थे। कृप कर सकते थे। अश्वत्थामा और अर्जुन कर सकते थे। और एक सीमा तक कर्ण कर सकता था। किंतु आज कर्ण भी नहीं कर पा रहा था। रजोगुण का मर्यादाहीन प्राचुर्य भी तो मन को एकाग्र नहीं होने देता। कर्ण का मन एकाग्र नहीं हो पा रहा था।''' सहसा रथ डगमगाया।'''

"क्या कर रहे हो शल्य !" उसके मन की व्याकुलता कटुता बन कर प्रकट हुई, "रथ को डोला क्यों रहे हो। जानते नहीं कि ऐसे बड़े और भारी रथ स्थिर रहने चाहिए, नहीं तो उलट भी सकते हैं।"

"बहुत जानते हो रथ के विषय में।" शल्य ने चिढ़कर कहा, "पर सारथ्य के लिए

थोड़ा-सा ज्ञान धरती का भी होना चाहिए। देख नहीं रहे कि धरती गीली है। मुझे तो यह क्षेत्र आर्द्रसिकता से ग्रसित लगता है। तुमने भी अपने वरुणास्त्र से इसे कच्छभू ही बना दिया है।"

"तो रथ कहीं और हटा ले चलो।" कर्ण ने उसे डाँटा।

"तुम्हारा ध्यान कहाँ है।" शल्य भी तीखा पड़ा, "प्रहर भर से कृष्ण हमें इसी धरती पर भटका रहे हैं। उनका अपना रथ भी तो कीचड़ में फँस गया था। लड़ना तुम्हें अर्जुन से है तो मैं अपना रथ सात्यकि के पीछे तो नहीं लगा सकता न।"

"इसी धरती पर कृष्ण भी रथ चला रहे हैं, वे लोग तो हिचकोले नहीं खा रहे, जैसे भूचाल आया हो।" कर्ण बोला, "स्वयं को कृष्ण से अच्छा सारथि समझते हो, तो वह क्यों नहीं कर सकते, जो कृष्ण कर सकते हैं।"

"तुम भी तो स्वयं को अर्जुन से अच्छा योद्धा समझते हो, तो वह क्यों नहीं कर सकते, जो अर्जुन कर सकता है।" शल्य ने कहा।

रथ एक झटके के साथ रुक गया। कर्ण के शरीर को भी हिचकोले का अनुभव हुआ।

"अब यह क्या है ?" कर्ण चिल्लाकर बोला।

"अब तक तो रथ डोल ही रहा था।" शल्य ने उत्तर दिया, "अब वह खड़ा हो गया है। पीछे का बायाँ चक्र धरती ने ग्रस लिया है। यदि इस धरती में सचमुच ही आर्द्रसिकता का गुण हुआ, तो समझो कि हम धरती के ग्रास बन गए।"

अपनी व्याकुलता में कर्ण सब कुछ ही भूल गया। उसने अमर्यादित होकर शल्य को डाँटा, "यह षड्यंत्र किया है तुमने कृष्ण के साथ मिल कर। मुझे यहाँ कीलित कर मेरा वध करवाना चाहते हो। क्या समझते हो कि उसके लिए अर्जुन तुम्हें छोड़ देगा और युधिष्ठिर तुम्हें पुरस्कार देगा। अर्जुन तुम्हें छोड़ भी दे किंतु कृष्ण तुम्हें नहीं छोड़ेंगे। तुम भी मरोगे।..."

शल्य ने कर्ण की ओर देखा : उसकी स्थिति उन्मादी की सी हो रही थी। वह मृत्यु से डर गया था क्या। जिस सेना का प्रधान सेनापति विक्षिप्त हो गया हो, उसका क्या होगा।

"अब मेरी ओर देख क्या रहे हो।" कर्ण बोला, "या तो घोड़ों को ऐसे हाँको कि वे रथ को निकाल ले जाएँ, या फिर नीचे उतरो और चक्र को ही धक्का दो। संभव है, थोड़ा उठाना ही पड़े।"

"चक्ररक्षक...।" शल्य ने कुछ कहना चाहा।

"भाड़ में गए, चक्ररक्षक।" कर्ण बोला, "प्राणों पर संकट होता है तो कोई चक्ररक्षकों की प्रतीक्षा करता है। कृष्ण स्वयं नीचे उतरकर चक्र को कीचड़ में से निकालते हैं। और मेरे रथ का चक्र फँसा तो चक्ररक्षक..."

"कैसे अयोग्य सेनापति हो तुम, जिसके न चक्ररक्षक हैं, न पृष्ठरक्षक, न अग्ररक्षक,

न पाद रक्षक। यह व्यूहरचना है तुम्हारी ?" शल्य ने भी उतनी ही कटुता से कहा, "जहाँ तक कृष्ण की बात है, उसका सारा जीवन ही मिट्टी, गारे, गायों और घोड़ों के बीच बीता है। मद्रराज और एक गोपाल में कुछ अंतर होना चाहिए या नहीं।"

"प्रलाप बंद करो और नीचे उतर कर चक्र को इस आर्द्रा भूमि से निकालने का प्रयत्न करो।" कर्ण आपे से बाहर हो रहा था।

"धरती कितनी गीली है, तुम्हें दिखाई नहीं दे रहा।" शल्य ने कहा।

"धरती कृष्ण के लिए भी गीली है।" कर्ण बोला, "वह तो अपने रथ और घोड़ों को मनचाहे ढंग से घुमा रहा है। मुझसे चतुराई मत करो। मेरे मर जाने से तुम्हें कोई लाभ नहीं होने वाला।"

"पराजय की संभावना से तुम्हारा मस्तिष्क चल गया है।" शल्य ने उसकी ओर से मुँह घुमा लिया।

कर्ण का मुख क्षोभ से रक्तिम हो उठा।

"मद्रराज हो तो शाकल के राजप्रासाद में सिंहासन पर बैठ कर अपनी आज्ञाएँ प्रचारित करो, यहाँ क्या करने आए हो।" कर्ण तड़पकर बोला, "सारथि के तल्प पर बैठ कर घोड़ों को नहीं हाँकोगे तो युद्ध कैसे होगा। सब को अपना धर्म स्मरण रखना चाहिए। सारथि के रूप में आए हो तो सारथि के धर्म का निर्वाह करो।"

"तुम धर्म की बात कर रहे हो।" शल्य ने कहा, "जिस व्यक्ति का जीवन ही अधर्म का आधार रहा हो, वह धर्म की बात कर रहा है।"

"मैंने आजीवन मैत्री धर्म का निर्वाह किया और आज इस समय दुर्योधन को है कोई चिंता कि कर्ण की भी रक्षा होनी चाहिए।"

"इसे मैत्री नहीं कहते कर्ण।" शल्य ने कहा, "तुम केवल अपना स्वार्थ साधते रहे। मित्र होते तुम दुर्योधन के तो उसे अधर्म के मार्ग पर चलने से रोकते। पराए धन और पराई स्त्री लूटने की योजनाएँ बना-बनाकर दुर्योधन को उकसाते नहीं रहते।"

"तुम चुप रहो मद्र !" कर्ण बोला, "मैंने अपने जीवन में जितना धन ब्राह्मणों को दान किया है, उतने से मैं मद्र का राज्य भी क्रय कर सकता था।"

"मद्र का राज्य अंगदेश के समान नहीं है कि कौड़ियों के मोल कोई भी पा ले।" शल्य ने कहा, "और जहाँ तक दान की बात है, तुमने उस दान से धर्म के स्थान पर सदा अहंकार रूपी पाप ही तो कमाया है। उसका विपुल भंडार है तुम्हारे पास।"

"जब सारथि ही रथी का शत्रु हो तो धर्म किसी की रक्षा कर भी कैसे सकता है।" कर्ण ने चिल्लाकर कहा, "धर्म किसी की रक्षा नहीं करता। क्या मिला मुझे आजीवन धर्म की रक्षा करके।"

शल्य ने अश्वों को उकसाया। रथ थोड़ा लड़खड़ाया और घोड़े कुछ और हार गए। शल्य भी अपने स्थान पर अस्थिर हो उठा। वह सहायता के लिए कर्ण की ओर देख रहा था और कर्ण था कि धर्म की निन्दा से ही मुक्त नहीं हो पा रहा था।

सहसा उसका क्रोध कृष्ण पर केन्द्रित हो उठा, "यही है जो बहुत धर्म बघारता है।"

कर्ण ने तीन भयानक बाण मार कर कृष्ण के हाथ में चोट पहुँचाई। उसने सात बाण अर्जुन को भी मारे।

अर्जुन समझ रहा था कि कर्ण पर्याप्त शिथिल हो गया है किंतु उसकी ओर से इस गति से बाण आते देखे तो अर्जुन ने भी सतरह बाण मारे। उन बाणों का वेग देख, कर्ण काँप उठा। अब वह साधारण बाणों पर निर्भर नहीं रह सकता था। अपनी रक्षा के लिए उसे कुछ भयानक कर्म ही करना पड़ेगा।

कर्ण ने ब्रह्मास्त्र प्रकट किया। अर्जुन ने ऐन्द्रास्त्र से उसका प्रतिकार किया। कर्ण ने उसके बाण काट डाले और ऐन्द्रास्त्र नष्ट कर दिया।

"पार्थ !" कृष्ण बोले, "तुम कर्ण को जितना शिथिल समझ रहे हो, उतना शिथिल वह हुआ नहीं है। उसके लिए अभी उग्र अस्त्रों की आवश्यकता है। तुम कोमल पड़े तो यह जीता हुआ युद्ध भी तुम्हारे हाथ से निकल जाएगा। अति उत्तम अस्त्र का प्रयोग करो।"

अर्जुन ने अत्युग्र ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। कर्ण उससे भी विचलित नहीं हुआ। वह अर्जुन के शस्त्रास्त्रों को काटता ही गया और अंत में गांडीव की प्रत्यंचा काटने में भी वह सफल हो गया। किंतु गांडीव निष्क्रिय नहीं हुआ। कर्ण को यह पता ही नहीं चला कि गांडीव की प्रत्यंचा में अनेक डोरियाँ लगी थीं। एक के कटते ही दूसरी से तत्काल प्रत्यंचा का काम लिया जा सकता था।

"शिथिल मत होओ पार्थ !" कृष्ण ने पुनः कहा, "निरंतर अस्त्र छोड़ो। उत्तम अस्त्र का प्रयोग करो। मैं रथ को कर्ण के और निकट ले चलता हूँ। इससे पहले कि कर्ण को कहीं से कोई सहायता मिले, तुम्हें उसका वध कर डालना है।"

अर्जुन ने रौद्रास्त्र का आधान किया।

कर्ण के प्राण उसके कंठ में आ अटके। अर्जुन उग्र होता जा रहा था और कर्ण का न तो रथ चल रहा था और न ही कहीं से कोई सहायता ही आ रही थी। पता नहीं भीम, धृष्टद्युम्न और सात्यकि ने यह कैसी व्यूह रचना कर रखी थी कि कौरवों का कोई भी योद्धा इस ओर फटक नहीं पा रहा था।

"शल्य।" उसने चिल्लाकर कहा।

"चिल्लाओ मत।" शल्य ने उत्तर दिया, "मैं जो कुछ कर सकता हूँ, कर रहा हूँ। पर मैं रथ से नीचे नहीं उतरूँगा। नीचे उतरना सुरक्षित नहीं है। जब कृष्ण चक्र निकाल रहे थे तो तुमने उन्हें क्षमा नहीं किया था। पार्थ भी मुझ पर बाण चलाएगा ही। मैं मारा गया तो रथ को हाँकने वाला भी कोई नहीं रह जाएगा। चक्र निकल भी गया तो क्या करोगे।"

क्रोध के मारे कर्ण की आँखों में आँसू आ गए। वह चिल्लाकर बोला, "दो घड़ी

प्रतीक्षा करो पार्थ ! जो युद्ध के लिए प्रस्तुत न हो, जिसके पास शस्त्रास्त्र न हों, उस पर क्षत्रिय प्रहार नहीं करते।...''

''जैसे तुमने अभिमन्यु पर प्रहार नहीं किया था।'' कृष्ण की वाणी वक्र थी।

कर्ण को लगा, कृष्ण बाणों के समान उसकी वाणी से भी अर्जुन को बचा रहे हैं। कहीं ऐसा न हो कि उसके किसी तर्क से अर्जुन सहमत हो उसके प्रति उदार हो जाए। वे कर्ण के तर्कों का उत्तर स्वयं ही देंगे।

''तुम तो धर्म के ज्ञाता हो कृष्ण !'' कर्ण बोला, ''थोड़ी देर युद्ध स्थगित नहीं हो सकता ? मैं अपना रथचक्र इस कीचड़ से निकाल लूँ।''

कृष्ण हँसे, ''तो तुम्हें धर्म याद आ गया। जल्दी ही आ गया। एकवस्त्रा रजस्वला द्रौपदी को जब केशों से खींच कर द्यूतसभा में लाया गया था, तब तुम्हारा धर्म कहाँ था ? नीच कौरवों द्वारा क्लेश पाती हुई द्रौपदी के निकट जा, और निकट जा, जब तुम अपनी आँखों से उसे निगल रहे थे, तब तुम्हारा धर्म कहाँ था ?...''

''वह एक भूल क्या मेरे जीवन भर के सारे धर्म का नाश कर देगी ?'' कर्ण बोला।

''वैसे तो नारीत्व के अपमान जैसा एक पाप भी पूरे देश का धर्म नाश करने के लिए पर्याप्त है।'' कृष्ण बोले, ''पर वह तेरा एकमात्र पाप नहीं है। वह तो तेरे पापों का परिणाम है। द्यूत में पांडवों से उनका राज्य छीना तो तेरा धर्म कहाँ था ? तेरह वर्षों के पश्चात् जब पांडवों को उनका राज्य नहीं दिया, तो तेरा धर्म कहाँ था ? निरस्त्र अकेले अभिमन्यु को जब घेर कर मारा, तब तुम्हारा धर्म कहाँ था ? तुम धर्म की बात मत करो पापी ! तुमने धर्म की रक्षा कभी नहीं की। पांडवों ने धर्म की रक्षा की; और धर्म उनकी रक्षा करेगा। धृतराष्ट्र के पुत्रों का सर्वनाश होगा और तू उनसे भी पहले मरेगा।''

कर्ण ने कृष्ण को कभी इतने क्रोध में नहीं देखा था। लज्जित तो वह पहले भी था। अब भयभीत भी हो उठा। उसने पुनः धनुष उठा लिया और युद्ध आरंभ कर दिया।

''अर्जुन ! कर्ण पर दया मत करो।'' कृष्ण बोले, ''इस पापी को दिव्यास्त्र से मार गिराओ।''

कर्ण भीतर तक काँप गया था। उसने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। अर्जुन और कृष्ण पर बाणों की झड़ी लगा दी। अर्जुन ने उच्चतर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। कर्ण का ब्रह्मास्त्र शमित हो गया। कर्ण के शरीर पर कुछ और नए घाव लगे। अर्जुन ने जातवेदा आग्नेयास्त्र का प्रयोग किया।

कर्ण ने वरुणास्त्र से उसका शमन कर दिया और सर्पमुख के ही समान एक महाभयंकर बाण हाथ में लिया। अर्जुन जब तक वायवास्त्र का परिचालन कर रहा था, कर्ण ने उस पर अपना बाण चला दिया। बाण अर्जुन के वक्ष में लगा और अर्जुन की चेतना धूमिल होने लगी। गांडीव पर उसका हाथ शिथिल हो गया। वह काँपता हुआ रथ में बैठ गया।...

कर्ण के लिए यह स्वर्णिम अवसर था। वह रथ से कूद कर नीचे आ गया। दोनों हाथों से रथचक्र पकड़कर उसे ऊपर उठाने का प्रयत्न किया। किंतु धरती थी कि चक्र को छोड़ ही नहीं रही थी। कर्ण को लगा कि रथचक्र तो ऊपर नहीं ही उठा है, उसके अपने पाँव ही नीचे धँसने लगे हैं। कहीं ऐसा न हो कि वह स्वयं भी वहीं कीलित हो जाए।...

कृष्ण की दृष्टि रथवैद्य पर टिकी हुई थी। वैद्य ने अर्जुन के माथे पर कोई लेप किया था। वक्ष में लगे बाण का निरीक्षण किया था। उसे बहुत गहरा न पाकर उसे खींच कर बाहर निकाल लिया था और घाव पर रक्तस्रावरोधक औषधि लगा दी थी। अर्जुन की चेतना लौटी। वह उठकर खड़ा हो गया। उसने आंजलिक बाण हाथ में लिया।...

"पार्थ ! कर्ण के रथ में लौट आने से पहले ही उसका मस्तक काट डालो।" कृष्ण बोले।

"तुम किसी असहाय पर तनिक भी दया नहीं कर सकते कृष्ण ?" कर्ण ने उसकी ओर कातर दृष्टि से देखा।

कृष्ण हँसे, "तुम्हें न भीम को विष दिलवाते दया आई, न अचेत भीम को नागों से डसवाने के लिए गंगा में डालते हुए। तुम्हें वारणावत में सोते हुए पांडवों और उनकी माता को जीवित जलाने के लिए अग्नि लगवाते हुए दया नहीं आई। अपनी लज्जा की रक्षा करने के लिए तड़पती हुई द्रौपदी पर दया नहीं आई तुम्हें। अभिमन्यु जैसे बालक की असहायता पर दया नहीं आई तुम्हें पापी ! आज तू दूसरों से दया की अपेक्षा करता है।" वे मुड़े, "अर्जुन ! मारो इसे।"

अर्जुन ने पहला बाण रथ की ध्वजा पर चलाया। ध्वजा के कट के गिरते ही दूर-दूर से सैनिकों ने कोलाहल आरंभ कर दिया। उन्होंने मान लिया था कि कर्ण का पतन हो गया है।

अर्जुन ने आंजलिक बाण को अभिमंत्रित किया, "मेरा छोड़ा हुआ यह अस्त्र कर्ण को यमलोक पहुँचा दे।"

कर्ण का मस्तक कट कर पृथ्वी पर गिर गया और फिर शरीर भी धराशायी हो गया।

भीम का पौंड्र शंख सारी समरभूमि को कँपा गया।

शल्य ने शंखनाद सुना। पलटकर देखा : भूमि पर अलग-अलग पड़े हुए, कर्ण के सिर और शरीर को पहचाना। कर्ण सचमुच ही धराशायी हो गया था। अर्जुन ने उसका वध कर दिया था। इस अहंकारी को इसके पापों का दंड मिल गया था। मद्रराज को अपना सारथि बनाकर बहुत प्रसन्न था और सारी मद्र स्त्रियों को व्यभिचारिणी बता रहा था। कृष्ण ने ठीक ही कहा था, स्त्रीत्व के अपमान से सारे देश का धर्म नष्ट हो जाता है।... अर्जुन ने बाण से उसका मस्तक काटा था, कहीं यह भीम के हाथों में पड़ा होता तो वह दुःशासन के ही समान इसकी भी दुर्दशा करता और उससे भी संतुष्ट नहीं होता।...

शल्य को स्मरण हो आया, कर्ण ने पूछा था शल्य से कि यदि उसका वध हो जाए तो शल्य क्या करेगा ?''' तब शल्य ने कहा था कि वह इस अकेले रथ से कृष्ण और अर्जुन दोनों का वध कर देगा।''' पर तब स्थिति और थी, इस समय और है। रथचक्र धरती में धँसा है। रथ की ध्वजा कट चुकी है। शस्त्रभंडार की स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं है। न चक्ररक्षक हैं, न अग्ररक्षक, न पृष्ठरक्षक, न पादरक्षक। आसपास कोई कौरव योद्धा नहीं है। सामने अर्जुन और कृष्ण हैं। उनकी पृष्ठरक्षा कर रहा है भीम।''' नहीं ! यह युद्ध के लिए उपयुक्त समय नहीं है।

शल्य रथ से कूदा और सिर पर पाँव रखकर, अर्जुन की विपरीत दिशा में भाग गया।

37

''महाराज अकेले ही हैं और बहुत दुखी हैं।'' द्वारपाल ने एक ओर हटकर मार्ग दे दिया।

कृपाचार्य ने भीतर प्रवेश किया।

उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि दुर्योधन इस समय अकेला था। उसके पास तो इस समय उन सब लोगों का जमघट होना चाहिए था, जो कौरवों के प्रधान सेनापति के रूप में अपना अभिषेक करवाने के इच्छुक थे। क्षत्रियों का संसार ही विचित्र था। किसी एक का पतन होता है तो शोक मनाने वाले कम और भीतर ही भीतर सुखी होने वाले अधिक होते हैं। उनके इस महत्त्वाकांक्षी संसार में एक का पतन हुए बिना दूसरे का उत्थान ही संभव नहीं है। एक से छीनकर ही दूसरे को कुछ मिल सकता है।''' इस समय और किसी को नहीं तो शकुनि और उलूक को तो दुर्योधन के निकट ही होना ही चाहिए था''' पर दुर्योधन अकेला था।

उसने सिर उठाकर कृपाचार्य की ओर देखा और हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

कृपाचार्य ने देखा, दुर्योधन की आँखों में अश्रु थे।''' तो इसलिए अकेला था वह। कर्ण की मृत्यु के पश्चात् से वह अपने शिविर में अकेला बैठा अश्रु बहा रहा था। उसके मनोरंजन के लिए किसी ने सुरा और सुंदरी का भी प्रबंध नहीं किया था। इससे तो लगता है कि कौरव सम्राट् की पूर्ण पराजय हो चुकी है।

''कर्ण की मृत्यु से तुम्हें बहुत दुख हुआ होगा पुत्र !'' कृपाचार्य ने कहा, ''मैं जानता हूँ कि तुम्हारा सबसे सबल संबल वही था। तुम्हें उस पर ही सबसे अधिक भरोसा था।''

''नहीं ऐसी बात तो नहीं। भरोसा तो मुझे आप पर भी''' ।''

''इस औपचारिक शिष्टाचार की आवश्यकता नहीं है दुर्योधन ! हमें सत्य को स्वीकार कर लेना चाहिए।'' कृपाचार्य बोले, ''भीष्म और द्रोण के खेत रहने पर भी तुम्हें कर्ण दिखाई पड़ता था; किंतु अब तुम्हें अपने पक्ष में और कोई समर्थ योद्धा दिखाई नहीं

पड़ता।'' वे रुके, ''यदि तुम्हें लगता है कि तुम पांडवों को पराजित नहीं कर सकते, तो तुम्हारा हित इसी में है कि उनसे संधि कर लो।''

'दिखाई तो मुझे आप भी पड़ते हैं आचार्य ! किंतु आप तो संधि के पक्ष में हैं।' दुर्योधन ने मन-ही-मन कहा, 'फिर मैं आपको सेनापति कैसे बना सकता हूँ।'

''युद्ध करते हुए, आज सतरह दिन हो गए हैं राजन् ! तुम्हारे सारे भाई बांधवों और वीर योद्धाओं के देखते हुए, सबके मस्तक पर पैर रखकर अर्जुन ने जयद्रथ का वध किया था और आज कर्ण का मस्तक भी काट दिया। भीम ने भी जो कहा था, वह कर दिखाया।'' कृपाचार्य बोले, ''इसका एक ही अर्थ है कि तुम पांडवों को पराजित कर, यह युद्ध नहीं जीत सकते।''

दुर्योधन की आँखों के सम्मुख कर्ण के वध के समय का दृश्य साकार हो उठा। कर्ण के गिरते ही कौरव सेना का उत्साह दूध के झाग के समान बैठ गया था। पांडवों का उत्साह आकाश को छू रहा था। अकेले भीम ने ही अपने रथ से नीचे उत्तर, अपनी गदा से, सामने आए प्रत्येक योद्धा की हत्या कर दी थी। धृष्टद्युम्न ने भागते हुए कौरव सैनिकों को घेर कर अपने बाणों से बाड़े में घिरे पशुओं के समान मार डाला था। अपनी सेना की ऐसी दुर्गति देखकर दुर्योधन ने स्वयं पांडवों पर आक्रमण किया था। अपने सैनिकों को बार-बार पुकारा था। उन्हें बार-बार क्षात्रधर्म की महिमा समझाने का प्रयत्न किया था। किंतु वह क्षात्रधर्म पर व्याख्यान देता रह गया और कौरव सैनिक चारों दिशाओं में भाग गए।''' साधारण सैनिक ही क्या, सारे महारथी और अतिरथी भी युद्ध की ओर पीठ कर अपने सैनिकों को सुरक्षित अपने शिविरों में पहुँचाने के लिए व्यग्र हो उठे थे। किसी को युद्ध छोड़कर भागने में लज्जा नहीं आई थी, किसी को क्षात्रधर्म स्मरण नहीं रहा था।

''कदाचित् आप ठीक कह रहे हैं।'' दुर्योधन ने बहुत धीरे से कहा और मुँह दूसरी ओर फेर लिया। वह नहीं चाहता था कि आचार्य उसके अश्रु देखें।

''तो अब तुम अपने प्राणों की रक्षा करो दुर्योधन ! सारे सुखों का आधार शरीर ही है। प्राण ही नहीं रहेंगे तो राज्य सुख का भोग भी कैसे करोगे।'' कृपाचार्य ने रुक कर उसकी ओर देखा, ''बृहस्पति की नीति है कि अपनी शक्ति शत्रु से कम अथवा समान हो तो हमें उससे संधि कर लेनी चाहिए। युद्ध तो केवल तब ही करना चाहिए, जब हम शक्ति में शत्रु से बढ़े-चढ़े हों। युधिष्ठिर दयालु है। उसके सम्मुख तनिक-सा नतमस्तक होकर तुम उससे अपना राज्य प्राप्त कर सकते हो। इस संधि में प्रजा का भी कल्याण है।''

कृपाचार्य मौन हो गए। दुर्योधन ने कोई उत्तर नहीं दिया। क्या कहता कि वह कृपाचार्य के समान पांडवों पर विश्वास नहीं करता। वह कैसे मान ले कि उसने जिन पांडवों के साथ इतना छल किया है, वे पांडव उसके साथ छल नहीं करेंगे। उसने पांडवों के साथ जो किया है, उसके पश्चात् पांडव न उस पर दया कर सकते हैं और न विश्वास।

उसने उनकी हत्या का प्रयत्न किया, उनके धन और राज्य का अपहरण किया। कृष्ण को बंदी करने का प्रयत्न किया। द्रौपदी का जितना अपमान किया गया, उसके पश्चात् भी कोई पांडवों से क्षमा की आशा कर सकता है ?...

"युधिष्ठिर हमें क्षमा कर देगा तो भीम की प्रतिज्ञा कैसे पूरी होगी ? भीम ने जो कुछ दुःशासन के साथ किया है, वही वह मेरे साथ भी करेगा। मैं कैसे स्वयं को उसकी भुजाओं में सौंप दूँ ? आप जानते हैं कि द्रौपदी अपने पतियों की विजय के लिए कठोर तपस्या कर रही है। अपना सारा अभिमान त्याग कर कृष्ण की बहन सुभद्रा दासी के समान उसकी सेवा कर रही है। द्रौपदी तो कौरवों के विनाश का संकल्प लेकर मिट्टी की वेदी पर सोया करती है। यह सब क्या इसलिए कि हम उनके सामने हाथ जोड़कर खड़े हो जाएँ तो वे हमें क्षमा कर दें ? नहीं आचार्य ! इस वैर की ज्वाला को कोई भी पांडव बुझाना नहीं चाहेगा। युधिष्ठिर भी नहीं।... और द्रौपदी तो उसे बुझने दे ही नहीं सकती।"

कृपाचार्य मुस्कराए, "वे क्या करेंगे, यह तो वे ही जानें। मुझे तो लग रहा है कि तुम ही संधि के पक्ष में नहीं हो। तुम ही नहीं चाहते कि यह युद्ध संधि के रूप में समाप्त हो।"

"मैं !" दुर्योधन ने चौंककर उनकी ओर देखा, "आपने कहा है कि सारे सुखों का आधार शरीर है। मैं कहता हूँ कि मेरे शरीर को कितना भी सुख मिले; किंतु मैं युधिष्ठिर का दास बनकर सुखी नहीं रह सकता। वैसे भी आचार्य ! वृद्धावस्था में रोगजर्जर होकर स्वजनों के मध्य खाट पर मरने वाला पुरुष क्षत्रिय नहीं कहलाता।... अपने मित्रों, भाइयों, पितामहों को मरवाकर यदि मैं अपने शरीर की रक्षा करूँगा, तो सारा संसार निश्चय ही मुझे धिक्कारेगा।"

कृपाचार्य ने उसकी आँखों में देखा, जैसे उसके मन को पढ़ने का प्रयत्न कर रहे हों। वे मन-ही-मन हँसे : दुर्योधन सरीखे लोगों के मस्तिष्क में प्रकृति ने कृतज्ञता, दया और विश्वास जैसे तत्त्व डाले ही नहीं हैं। जो दया और विश्वास से स्वयं ही अपरिचित है, वह पांडवों के चरित्र में इन तत्त्वों को कैसे पहचान सकता है। कीचड़ का केंचुआ निर्मल गंगाजल के अस्तित्व को कैसे मान सकता है। छली मन संसार में निश्छलता की कल्पना कैसे कर सकता है।...

"ठीक है राजन् !" कृपाचार्य उठ खड़े हुए, "जैसी तुम्हारी इच्छा। कह नहीं सकता कि अभी भी तुम्हारे मन में कहीं विजय की कोई आशा शेष है अथवा तुम मृत्यु के लिए व्यग्र हो रहे हो।"

कृपाचार्य ने हाथ उठाकर उसे आशीर्वाद दिया और बोले, "तो कल के लिए प्रधान सेनापति का चयन कर लो।"

कृपाचार्य चले गए। दुर्योधन की आँखें दूर तक उनका पीछा करती रहीं।... उन्होंने प्रधान सेनापति की नियुक्ति की चर्चा की थी। क्या वे चाहते थे कि अगला प्रधान

सेनापति उन्हें बनाया जाए ?··· यह इच्छा तो आचार्य द्रोण के वध के बाद भी उनके मन में रही हो सकती है।··· किंतु दुर्योधन किसी भी ऐसे व्यक्ति को अपना सेनापति कैसे बना सकता है, जो पांडवों के साथ संधि की संभावना की कल्पना भी करता हो। कर्ण के वध से पहले अश्वत्थामा ने इसी प्रकार संधि का प्रस्ताव रखा था और आज कृपाचार्य···। इन मातुल और भागिनेय को अकस्मात् ही यह क्या हो गया है कि वे संधि के पक्षधर हो गए। .. यदि इनमें से कोई प्रधान सेनापति बन गया तो युद्ध कैसे होगा ? पांडव मारे कैसे जाएँगे ?

सहसा दुर्योधन का ध्यान शल्य की ओर चला गया। कर्ण का सारथ्य करने के लिए शल्य ने भी यह प्रतिज्ञा उसके सामने रखी थी। दुर्योधन ने उसे इसका वचन भी दे दिया था··· पर अब शल्य उसके लिए उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था। अपने वचन की रक्षा के लिए दुर्योधन युद्ध हारना नहीं चाहेगा।··· देखना तो यह भी है कि कर्ण का वध देखने के पश्चात् भी क्या शल्य प्रधान सेनापति बनना चाहेगा ?··· कर्ण की मृत्यु के पश्चात् शल्य आया था दुर्योधन के पास। भयभीत मूषक के समान काँप रहा था। उसने कहा था, "दैव पांडवों के अधीन होकर काम कर रहा है। तुम्हारी विजय के लिए प्रयत्न करने वाले सारे योद्धा शत्रुओं के हाथों बलपूर्वक मारे गए। अब युद्ध बंद करो और सेना सहित शिविर में चलो।" शल्य के शब्दों की ध्वनि बहुत देर तक दुर्योधन के कानों में गूँजती रही थी। वे शब्द कह रहे थे कि शल्य मन-ही-मन डर रहा है कि यदि उसने भी दुंर्योधन की विजय के लिए युद्ध किया तो वह भी वैसे ही मारा जाएगा, जैसे अन्य लोग मारे गए हैं।···

और अश्वत्थामा ? दुर्योधन को तो इस बात का भी ध्यान रखना पड़ेगा कि शल्य का प्रधान सेनापति के रूप में अभिषेक करने की स्थिति में कहीं अश्वत्थामा और कृपाचार्य उससे रुष्ट तो नहीं हो जाएँगे। जीवित बचे हुए महारथियों में से ये दोनों एक ओर हो गए तो शेष सबसे अधिक शक्तिशाली हो जाएँगे। तो ?··· अच्छा हो कि दुर्योधन पहले अश्वत्थामा का मन भी जान ले।···

दुर्योधन ने अपनी आँखें पोंछीं और उठकर खड़ा हो गया।

अपने शिविर में दुर्योधन को देखकर अश्वत्थामा ने सहज भाव से उसका स्वागत किया, "आओ राजन्।"

"कैसे हो गुरुपुत्र !"

"हम सब कदाचित् एक जैसे ही हैं—अपने प्रारब्ध के विरुद्ध युद्ध करते हुए।" अश्वत्थामा ने कुछ हल्के ढंग से कहा।

"कल समरभूमि में हमारा नेतृत्व कौन करेगा अश्वत्थामन् !" दुर्योधन बोला, "अगला प्रधान सेनापति कौन हो ?"

"तुम्हारे मन में क्या है ?"

"मैं तो सबके मन को जानकर ही कुछ निर्णय कर पाऊँगा।" दुर्योधन बोला,

"आचार्य के पश्चात् तुमने ही कर्ण का नाम प्रस्तावित किया था।"

अश्वत्थामा समझ रहा था दुर्योधन के मन को।... उसने निश्चय तो कर लिया होगा, किंतु वह उसके लिए कोई सहारा ढूँढ़ रहा था। करेगा तो अपने ही मन की; किंतु अन्य लोगों को प्रतीत होना चाहिए कि दुर्योधन ने उनकी इच्छा पूरी की है।...

"अब लड़ने को ऐसा रह भी क्या गया है। यह युद्ध हम जीत नहीं सकते। बस शत्रु की अधिक से अधिक क्षति कर सकते हैं। मेरे पिता पुनः जीवित नहीं हो सकते, इसलिए प्रयत्न यह करना है कि पांडव पक्ष में भी अधिक से अधिक लोग मेरे ही समान अपने पिता के लिए रोने को बाध्य हों।" अश्वत्थामा ने कुछ इस प्रकार कहा, जैसे उसने सब कुछ पहले से ही निश्चित कर रखा हो, "मद्रराज शल्य को प्रधान सेनापति बना दो। और तो कोई उसके समान लड़ने को व्यग्र दिखाई दे नहीं रहा।"

दुर्योधन के मन पर से एक बड़ा बोझ हट गया। अच्छा हुआ कि अश्वत्थामा ने शल्य का ही नाम लिया। अब कोई विशेष समस्या नहीं है।... किंतु दुर्योधन के मन में जैसे कोई बार-बार उसे चेतावनी दे रहा था... समस्या कैसे नहीं है। समस्या तो है। यही समस्या क्या कम है कि अश्वत्थामा ने कृपाचार्य अथवा अपना नाम क्यों नहीं लिया ? उन दोनों में से कोई भी प्रधान सेनापति क्यों नहीं बनना चाहता ? क्या इसलिए कि सेनापति बनकर वे युद्ध से भाग नहीं सकते ? अश्वत्थामा ने अभी-अभी शल्य के विषय में कहा है कि युद्ध के लिए और कोई उतना व्यग्र नहीं है। तो क्या अश्वत्थामा और कृपाचार्य लड़ने के इच्छुक नहीं हैं ? कहीं ऐसा तो नहीं कि वे यह मानते हों कि शल्य को तो पराजित होकर पांडवों के हाथों मरना ही है, उसे मरने दो।... यह युद्ध से उनकी उदासीनता का प्रमाण तो नहीं ?... वैसे अश्वत्थामा ने शल्य के नाम का अनुमोदन कर दिया है। उससे दुर्योधन के तो अनेक प्रयोजन सिद्ध हो रहे हैं।... शल्य के पास अपनी सेना भी बहुत है। इससे शल्य को दिया हुआ दुर्योधन का वचन भी पूरा हो जाएगा। पांडवों के मन में शल्य के लिए पर्याप्त कटुता है; और शल्य के मन में पांडवों का भय है। शल्य प्राणपण से लड़ेगा। उसके सैनिक अपने स्वामी की रक्षा के लिए लड़ेंगे।...

"ठीक है गुरुपुत्र ! तुम्हारी ही बात रही। शल्य कौरव सेना के प्रधान सेनापति होंगे।" दुर्योधन उठ खड़ा हुआ, "पर कहीं ऐसा तो नहीं कि हममें से जीवित योद्धाओं में से कोई युद्ध छोड़कर भागने का इच्छुक हो। हमें ध्यान रखना होगा कि ऐसा न होने पाए। कल सारे ही योद्धा और उनके सैनिक समरभूमि में उपस्थित हों।"

दुर्योधन ने बात समाप्त कर दी; किंतु उसके अपने मन में निरंतर संवाद चलता रहा। यदि अश्वत्थामा युद्ध से भागना चाहता है तो उसे कैसे रोका जाए ?... पर क्यों भागना चाहता है अश्वत्थामा ?... उसके पिता का वध हुआ है। वह उस अपमानजनक वध का प्रतिशोध नहीं चाहता क्या ? भूल गया अश्वत्थामा वह सब ?... हाँ ! लगता है कि भूल ही गया। कुछ लोगों की स्मृति अत्यंत अल्पकालिक होती है। तभी तो वह संधि की बात कर रहा था। पर दुर्योधन उसे यह सब भूलने नहीं देगा। वह संशप्तकों

की सेना अश्वत्थामा के साथ लगा देगा। संशप्तकों से अर्जुन आज तक स्वयं को छुड़ा नहीं पाया। अश्वत्थामा कैसे भाग जाएगा, उनसे पल्ला छुड़ाकर···

वहाँ से उठकर दुर्योधन शल्य के शिविर में आया, "प्रणाम मातुल !"

"विजयी होओ राजन् !" शल्य ने आगे कुछ नहीं कहा। जाने दुर्योधन के मन में क्या था।

"आप जैसा सारथि पाकर भी कर्ण युद्ध में विजयी नहीं हो सका, यह हमारा दुर्भाग्य ही है।"

शल्य ने दुर्योधन की आँखों में देखा : क्या कहना चाहता है वह ? क्या वह जान गया है कि कर्ण और शल्य के मन में एक-दूसरे के लिए द्वेष था ? क्या वह जानता है कि शल्य नहीं चाहता था कि कर्ण के हाथों अर्जुन का वध हो ?··· या वह उसे स्मरण कराने आया है कि वह कर्ण का सारथि था, अथवा उसे यह उपालंभ देने आया है कि कर्ण की पराजय का कारण शल्य का सारथ्य है। यदि कर्ण का रथचक्र कीचड़ में नहीं फँसता तो वह इस प्रकार मारा नहीं जाता; और कीचड़ में रथ न फँसे, यह देखना सारथि का काम था।···

"मैं सारथि अवश्य था किंतु योद्धा तो कर्ण ही था। शस्त्र मेरे हाथ में नहीं, उसके हाथ में था। एक बार मैंने कहा भी कि लक्ष्यसंधान ठीक नहीं है, उसका संशोधन कर लो, तो उसने मुझे झिड़क दिया। बोला कि कर्ण दो बार लक्ष्यसंधान नहीं करता। मेरे जैसे अनुभवी योद्धा से इस प्रकार का व्यवहार।" शल्य ने अपना क्षोभ प्रकट किया, "उसकी रुचि शत्रु के वध में कम और···।"

दुर्योधन ने चौंककर उसकी ओर देखा, "क्या कर्ण की रुचि अर्जुन के वध में नहीं थी ?"

"नहीं ! ऐसा कुछ नहीं है।" शल्य ने कहा, "अर्जुन के वध में उसकी रुचि थी; किंतु उससे भी अधिक रुचि मद्र की स्त्रियों के विषय में अश्लील चर्चा करने में थी।"

"तो आप लोगों में मतभेद और वाद-विवाद चलता ही रहा।" दुर्योधन के मन में एक धुँधला-सा चित्र उभर रहा था, "कहीं रथचक्र इसलिए तो कीचड़ में नहीं फँस गया, क्योंकि रथी और सारथि वाद-विवाद में उलझे हुए थे। उनका ध्यान धरती और उसकी स्थिति की ओर गया ही नहीं।"

शल्य चौंका : कहीं दुर्योधन उस पर जान-बूझकर रथ को कीचड़ में फँसाने का आरोप तो नहीं लगा रहा ? शल्य को दुर्योधन के सम्मुख, यह सब नहीं कहना चाहिए था। अब कर्ण का विरोध करने का क्या लाभ ?··· पर उसके मन का क्षोभ ! वह रुका ही नहीं।···

"जो भी हो।" दुर्योधन ने उसके उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की, "मैं तो आपसे एक निवेदन करने आया था।"

"बोलो राजन् ! मैं प्रत्येक सेवा के लिए प्रस्तुत हूँ।"

"माननीय नरेश ! आप कल के युद्ध में कौरव सेना के प्रधान सेनापति का दायित्व सँभालें।"

संयत रहने का बहुत प्रयत्न करने पर भी शल्य के मुख और नेत्रों से प्रसन्नता का भाव प्रकट हो ही गया, "जैसी कुरुराज की इच्छा।"

"मेरी इच्छा तो आपको कर्ण से भी पहले सेनापति बनाने की थी। पर उस समय अश्वत्थामा ने कर्ण का नाम प्रस्तावित कर दिया और अन्य लोगों का भी यही मत बना।" दुर्योधन बोला, "अन्यथा आपसे बढ़कर हमारा रक्षक कौन है। जैसे कृष्ण पांडवों के रक्षक हैं, वैसे ही आप हमारे रक्षक हैं।"

शल्य का मस्तिष्क स्तब्ध हो गया था। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि दुर्योधन के किस शब्द का क्या अर्थ है। उसने उसे कर्ण का सारथि बनने के लिए कहा था, तब भी कृष्ण से उसकी तुलना की थी। आज भी वह उसकी कृष्ण से तुलना कर रहा है। क्या वह फिर उसे स्मरण दिला रहा है कि उसका स्थान एक सारथि के ही बराबर है ?...

"प्रातः मैं विधिवत् आपका अभिषेक करने आऊँगा। आप प्रस्तुत रहें।" दुर्योधन उठकर खड़ा हो गया, "और मातुल ! मैंने आपको कर्ण का सारथि बनने के लिए बाध्य किया, उसके लिए आप मुझे क्षमा कर दें। वह तो उस समय की मेरी बाध्यता थी, कर्ण की हठ के सम्मुख मैं असहाय था; अन्यथा मैं आपको कौरवों की सेना के प्रधान सेनापति के पद के योग्य समझता हूँ। मेरे इस कथन में आप तनिक भी संदेह न करें।" वह रुका, "एक बात और। अब हम बहुत नहीं बचे हैं। सबका साहस बनाए रखने के लिए प्रतिज्ञा करें कि हम सब एक साथ मिलकर लड़ेंगे। न कोई अकेला लड़ेगा और न ही किसी लड़ते हुए को अकेला छोड़ा जाएगा। ठीक है न मातुल !"

"ठीक है राजन् !"

दुर्योधन चला गया और शल्य का मस्तिष्क किसी मकड़े के समान जाला बुनता ही चला गया।... वह कर्ण की हठ थी, दुर्योधन की इच्छा थी अथवा दुर्योधन के मन में उनकी इतनी ही योग्यता थी ? युधिष्ठिर ने तो पहले ही दिन उसे बता दिया था कि दुर्योधन उसे कर्ण का सारथि बनाएगा। कैसे जानता था युधिष्ठिर ? दुर्योधन ने अपने मन के ऐसे रहस्य पांडवों के सामने तो प्रकट नहीं ही किए होंगे।... यह युधिष्ठिर की सूक्ष्म दृष्टि थी या यहाँ कुरुक्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति जानता था कि दुर्योधन के मन में शल्य का इतना ही मूल्य है ?... प्रकारांतर से दुर्योधन यह भी कह गया है कि शल्य को यह सेनापतित्व उस सारथ्य के पुरस्कार के रूप में दिया जा रहा है।... शल्य के लिए यह एक उपलब्धि तो है; किंतु कितनी अपमानजनक। कर्ण की सेवा कर, पुरस्कार में सेनापतित्व प्राप्त हुआ... पता नहीं वह कभी इस बात को भूल भी पाएगा या नहीं।... सहसा शल्य का ध्यान कृष्ण की ओर चला गया। वह भी तो अर्जुन का सारथ्य कर रहा है, किंतु उसे यह कभी अपमानजनक नहीं लगा ? लगा होता तो वह कब से वला

अर्जुन के मुँह पर मार, समरभूमि से चला गया होता। उसे पांडव उस प्रकार बाध्य नहीं कर सकते थे, जैसे दुर्योधन ने शल्य को बाध्य किया था। कैसा मनुष्य है यह कृष्ण, जिसे कभी किसी बात से पीड़ा ही नहीं होती ?… शल्य को शाकल से कुरुक्षेत्र तक की अपनी यात्रा के मध्य कुछ सुविधाएँ और कुछ विलास मिला तो वह अपने भागिनेयों को छोड़कर दुर्योधन के पक्ष से प्राण देने के लिए आ गया। कृष्ण को दुर्योधन ने भोजन के लिए आमंत्रित किया तो कृष्ण उसका तिरस्कार कर विदुर के घर शाक पात खाने को पहुँच गया। कृष्ण को यादवों का राज्य मिल सकता था; किंतु उसने उसके लिए कभी प्रयत्न नहीं किया। कृष्ण को पहले दिन से पांडव सेना के प्रधान सेनापति का पद मिल सकता था, किंतु कृष्ण ने वह न लेकर अर्जुन का सारथ्य स्वीकार किया। कैसा मनुष्य है यह कृष्ण, जिसके मन में बड़ी से बड़ी संपत्ति भी लोभ उत्पन्न नहीं कर सकती, जिसे ऊँचे से ऊँचा पद लुभाता नहीं, जिसे कोई सम्मान, सम्मान नहीं लगता और कोई अपमान, अपमान नहीं लगता। यह इस लोक का मनुष्य नहीं है क्या ?

अपने मन को कोई संयत कर भी ले, पर परिवार का क्या करेगा ? रुक्मरथ ने शल्य को कभी पांडवों की ओर झुकने नहीं दिया। अपने पुत्र के मोह में वह सुशर्मा की ओर झुकता रहा। कदाचित् उसी प्रभाव में वह निरंतर दुर्योधन की ओर भी आकृष्ट होता रहा। कृष्ण के पुत्र उसे बाध्य नहीं करते होंगे कि वह द्वारका का राज्य अपने अधिकार में कर ले ? वे उसे जरासंध और दुर्योधन से मित्रता करने के लिए क्यों बाध्य नहीं कर पाए ? पत्नी और पुत्र तो देखते हैं कि उनका पति और पिता क्या-क्या अर्जित कर सकता है, और जो कुछ अर्जित कर सकता है, उसे अर्जित क्यों नहीं करता ? होने को तो वह परिवार का मुखिया होता है किंतु वास्तव में वह अपने परिवार की इच्छाओं का दास होता है। कृष्ण अपने परिवार की इच्छाओं का दास क्यों नहीं है ? वह इतना मुक्त और निर्बंध कैसे है ?…

प्रातः ऐसा लग रहा था कि दुर्योधन एक-एक योद्धा को उनके शिविर से निकालकर, हाँक-हाँक कर युद्धभूमि में भेज रहा है। कोई पीछे नहीं छूटना चाहिए और कोई अकेला नहीं रहना चाहिए। शल्य के साथ उसके मद्रक वीर थे; किंतु कर्ण के दुर्जय पुत्रों को भी उनके साथ लगा दिया था। अभी उनका घाव नया था, उनमें आक्रोश बहुत था। ले लें अपने पिता का प्रतिशोध। त्रिगर्तों ने अपने सहयोगी के रूप में नारायणी सेना के बचे हुए गोपों के साथ कृतवर्मा को चुन लिया था। कृपाचार्य की अपनी कोई सेना नहीं थी। दुर्योधन ने उनके साथ शक और यवन लगा दिए। उनके रहते कृपाचार्य समरभूमि से भागने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। अश्वत्थामा के साथ कांबोज योद्धा थे। उनके पीछे, स्वयं दुर्योधन था, कौरवों से घिरा हुआ और शकुनि तथा उलूक द्वारा संरक्षित।

युधिष्ठिर ने शल्य पर आक्रमण किया। अर्जुन आज फिर संशप्तकों, नारायणी सेना के गोपों और कृतवर्मा से भिड़ गया था। भीम ने कृपाचार्य और कांबोजों को रोक लिया।

नकुल तथा सहदेव ने शकुनि से टकराना ही उचित समझा।

शल्य को भी युधिष्ठिर से युद्ध अच्छा शगुन लगा। युधिष्ठिर कल के युद्ध में इतने घायल हो गए थे कि उनको ले जा कर बिस्तर पर लेटा दिया गया था। अधिकांश लोगों का तो विचार था कि वे भी पितामह भीष्म के समान शैया पर ही लेट गए हैं; और अब उससे कभी नहीं उठ पाएँगे। किंतु युद्ध के मध्य ही वे एक बार आकर अपने सैनिकों को यह दिखाकर कि वे जीवित और समर्थ हैं, उनमें बल का संचार कर गए थे। किंतु वे इतने स्वस्थ तो तब भी नहीं थे कि कर्ण के वध तक युद्धभूमि में खड़े रह पाते। वे उसी समय लौट भी गए थे। यह तो शल्य ने भी नहीं सोचा था कि वे आज युद्धभूमि में प्रमुख योद्धा के रूप में उपस्थित होंगे।... आज शल्य न तो किसी का सारथि था और न ही साधारण महारथी। वह तो प्रधान सेनापति था। उसका महत्त्व तभी सिद्ध होगा, जब वह विपक्ष के राजा अथवा सेनापति से युद्ध करे। युधिष्ठिर राजा थे और दुर्धर्ष योद्धा भी नहीं थे। शरीर से अत्यंत घायल और मन से दुर्बल थे। फिर युधिष्ठिर से लड़ने के कारण, शल्य सीधे-सीधे अर्जुन और भीम से युद्ध करने से बच जाएगा।

नकुल का ध्यान शकुनि से हट गया। कर्णपुत्र चित्रसेन, बार-बार उस पर प्रहार कर रहा था। नकुल ने उस पर आक्रमण किया। चित्रसेन ने नकुल का सारथि मार दिया और उसका धनुष भी काट डाला। नकुल रथहीन हो गया था। वह खड्ग और ढाल लेकर रथ से कूद गया। चित्रसेन ने उसकी ढाल भी काट डाली। नकुल ने देखा कि शत्रु सिर पर था और यदि वह किसी सुरक्षित रथ की ओर जाने का प्रयत्न करता तो चित्रसेन उसकी खड्ग के भी टुकड़े कर सकता था। नकुल दौड़कर स्वयं चित्रसेन के रथ पर ही जा चढ़ा। चित्रसेन उसके लिए तनिक भी तैयार नहीं लगता था। जब तक वह सँभलता, नकुल ने अपने खड्ग से उसका मस्तक काट दिया।

चित्रसेन के भाई उसका वध देखकर अपने स्थान से आगे बढ़ आए। उन्होंने तत्काल ही बदला चुका देने के लिए नकुल पर आक्रमण किया। पर नकुल इस समय बहुत प्रचंड हो चुका था, उसने उन दोनों का ही वध कर दिया।

शल्य ने अपना आक्रमण कुछ और कठोर किया। उसने युधिष्ठिर को घायल कर दिया था। युधिष्ठिर ने उसका प्रतिकार किया और शल्य को भी अनेक घाव दे दिए। पर युधिष्ठिर के शरीर से रक्त बहता देखकर भीम का मन अन्यत्र कहीं युद्ध करने से उचट गया। भीम ने शल्य को अपने बाणों से बींध डाला। नकुल और सहदेव भी युधिष्ठिर के पास आ गए। द्रौपदेय भी निकट घिर आए। सबने मिलकर शल्य और उसके रक्षकों पर आक्रमण किया।

उधर से कृतवर्मा और कृपाचार्य भी शल्य की सहायता के लिए आ गए। उलूक और अश्वत्थामा भी रथ दौड़ाते आए। नए प्रतिद्वंद्वी चुन लिए गए। कृतवर्मा ने भीम पर प्रहार किया। कृपाचार्य ने धृष्टद्युम्न से भिड़ना उचित समझा। शकुनि ने द्रौपदेयों

पर बाण बरसाए। अश्वत्थामा ने नकुल और सहदेव को घेर लिया। दुर्योधन ने अर्जुन और कृष्ण पर प्रहार किया।

कृतवर्मा ने भीम के रथ के घोड़े मार दिए। उस रथ पर बैठे रहना व्यर्थ मान कर भीम अपनी गदा लेकर रथ से उतर आया। उसने पहले कृतवर्मा के घोड़ों पर प्रहार कर उन्हें मार दिया, पर जब उतने से ही संतोष नहीं हुआ तो उसने कृतवर्मा के रथ को भी अपनी गदा से चूर-चूर कर दिया। कृतवर्मा रथ से कूद कर भाग गया। वह जानता था कि ऐसे समय में भीम के सामने पड़ना प्रलय का सामना करना था। जब से उसने भीम को द्रोण का रथ उठाकर फेंकते देखा था, उसके पश्चात् से उसके मन में एक बात बहुत स्पष्ट हो गई थी कि भीम से तभी युद्ध करना चाहिए, जब वह अपने रथ में हो और धनुष बाणों से युद्ध कर रहा हो। भीम गदा लेकर रथ से उतर आए तो कृतवर्मा को बलराम स्मरण हो आते थे। वह द्वारका में भी जानता था कि ऐसे समय में बलराम से युद्ध नहीं करना चाहिए।

कृतवर्मा भाग गया और भीम के सम्मुख शल्य पड़ गया। भीम ने लगे हाथों उसके रथ के घोड़े भी मार दिए। शल्य ने एक तोमर भीम के वक्ष में धँसा दिया। भीम का कवच फट गया और शरीर से रक्त बहने लगा किंतु भीम उससे तनिक भी हतप्रभ नहीं हुआ। उसने उसी तोमर से शल्य के सारथि की छाती छेद डाली।

शल्य हाथ में गदा लेकर उतर आया। युद्ध की इस स्थिति में भी, जब उसके प्राणों पर बन आई थी, उसकी स्मृति में बहुत कुछ उभर रहा था। भीम उसका पुराना प्रतिद्वंद्वी था। द्रौपदी के स्वयंवर में भी भीम से उसका सामना हुआ था। आज फिर भीम उसके सम्मुख खड़ा था। पर आज उनमें मल्लयुद्ध नहीं होगा। आज वे गदा से लड़ेंगे। जरासंध को भी मल्लयुद्ध और गदायुद्ध ही प्रिय थे। भीम ने जरासंध को भी चीर दिया था। किंतु वह तो भीम की तरुणाई का समय था। आवश्यक नहीं कि भीम के शरीर में आज भी उतना ही बल हो। शल्य आज अपनी साध पूरी कर लेना चाहता था।

उन दोनों की गदाएँ टकराने लगीं। टक्कर से गदाओं से चिनगारियाँ फूटीं और जब उनकी गदाएँ एक-दूसरे के शरीर पर पड़ीं तो त्वचा फट गई और मांस उधड़ आया। दोनों ही रक्त में स्नान कर रहे थे; किंतु पीछे हटने को कोई भी तैयार नहीं था। चोट पर चोट पड़ रही थी और उनका गर्जन बढ़ता जा रहा था, जैसे मनुष्य न हों, दो मेघ हों, जो गर्जन के लिए ही एक-दूसरे से टकरा रहे हों। क्रमशः उनका वेग कम हुआ और वे असमर्थ होकर गिर पड़े। दोनों ही इतने व्याकुल लगे कि भूमि से उठने में असमर्थ थे। उसी समय कृपाचार्य झपटकर आए और शल्य को अपने रथ पर उठा ले गए।

भीम उठ खड़ा हुआ और उसने गदा उठाकर शल्य को ललकारा। किंतु शल्य वहाँ नहीं था। भीम अपने लिए रथ की व्यवस्था के लिए पीछे हट गया। नए रथ में बैठकर उसने देखा कि दुर्योधन ने एक प्रास से चेकितान को गहरी चोट पहुँचाई थी। लगा कि चेकितान मूर्च्छित हो गया है, किंतु वह उस मूर्च्छा से कभी नहीं जागा। शल्य को कृपाचार्य

पुनः लौटा लाए थे। उनके साथ शकुनि और कृतवर्मा भी थे। अर्जुन को अश्वत्थामा और सुशर्मा के संशप्तकों ने अब तक उलझा रखा था। जाने क्यों अर्जुन इन लोगों पर अपने दिव्यास्त्रों का प्रयोग नहीं करता था। कृष्ण भी उसे कुछ नहीं कहते थे। वह लौकिक बाणों से सुशर्मा को समाप्त करना चाहता था। परिणाम यह था कि वह और किसी से युद्ध करने के लिए कभी खाली ही नहीं होता था। अन्यथा युधिष्ठिर को चार-चार महारथियों से घिरे देख, उसे उनकी सहायता के लिए आना चाहिए था। शल्य ने युधिष्ठिर को बाणों से बींध डाला था। युधिष्ठिर ने भी शल्य पर नाराच चलाए थे। युधिष्ठिर घायल थे किंतु उन्होंने शल्य को भी क्षतविक्षत कर डाला था। इसी समय युधिष्ठिर ने शल्य के चक्ररक्षक चंद्रसेन और द्रुमसेन को ही नहीं शल्य के सारथि को भी मार डाला। शल्य इतना बौखला गया कि वह युधिष्ठिर को छोड़, सात्यकि, भीम, नकुल और सहदेव पर आक्रमण कर बैठा।

युधिष्ठिर ने अपने भल्ल से शल्य का ध्वज काट दिया और शल्य ने फिर से युधिष्ठिर को अपने बाणों से ढँक दिया। युधिष्ठिर को कुछ नए घाव लगे तो वे पीड़ित हो उठे। सात्यकि, भीम, नकुल और सहदेव अपने राजा की रक्षा के लिए आगे आ गए।

शल्य का आज का पराक्रम देखकर दुर्योधन के मृतप्राय स्वप्न भी जागने लगे थे। उसने शल्य को योद्धा के रूप में कभी बहुत महत्त्व नहीं दिया था। आज लगने लगा था कि शल्य का पराक्रम पांडव झेल नहीं पाएँगे। अब पांडव, पांचाल और सृंजय शीघ्र ही मारे जाएँगे। तब वह पूछेगा कृपाचार्य और अश्वत्थामा से कि वे किस आधार पर उसे पांडवों से संधि कर लेने का परामर्श दे रहे थे। यदि कौरव युद्ध जीत गए और धृष्टद्युम्न और शिखंडी तब भी जीवित हुए तो दुर्योधन एक बार तो कृपाचार्य और अश्वत्थामा को उन्हें सौंप देगा कि वे उनसे संधि कर लें। फिर चाहे वह अपने हाथ से द्रौपदी के इन भाइयों का वध कर देगा।

युधिष्ठिर अपनी असमर्थता देखकर शिथिल होते जा रहे थे। कृष्ण ने कहा था कि वे आज शल्य का वध कर दें। वे भी मन में संकल्प लेकर आए थे कि उनके भाइयों ने बहुत कुछ किया है, आज युद्ध में यह उनका योगदान होगा। किंतु शल्य में न जाने कहाँ से इतना बल और कौशल आ गया था कि वह युधिष्ठिर के साथ-साथ सात्यकि, भीम, नकुल और सहदेव से भी युद्ध करता जा रहा था। कहीं ऐसा न हो कि जो काम भीष्म और द्रोण नहीं कर सके, वह शल्य के हाथों हो जाए। उसका कोई बाण युधिष्ठिर के प्राण ले ले तो पांडवों का राजा ही मारा जाएगा।...

युधिष्ठिर का मन अधिक से अधिक हताश होता जा रहा था। पहले तो लगता था कि युद्ध उनके मन के अनुकूल कर्म नहीं था, किंतु लक्ष्य को पूरा करने के लिए वे युद्ध कर रहे थे। अब सहसा ही लगने लगा था कि इस अनिच्छित कर्म का फल भी उनके मन के अनुकूल नहीं हो रहा था। तो फिर इस युद्ध का क्या लाभ ?... और तब युधिष्ठिर ने देखा कि उनकी उपस्थिति में ही कौरवों के भय से उनके सैनिक उन्हें

छोड़कर भागे जा रहे हैं। शल्य का ऐसा तेज देखकर उस निराशा में भी युधिष्ठिर कुपित हो उठे। ऐसा भी क्या युद्ध और क्या पराश्रिता। वे इतने घायल होकर भी युद्ध के लिए खड़े हैं और उनके सैनिक उनकी उपस्थिति से तनिक भी उत्साहित नहीं होते। तो फिर वे किसी और पर निर्भर क्यों रहें। उन्हें अपने पुरुषार्थ का ही सहारा लेना पड़ेगा। अब चाहे विजय मिले या मृत्यु , पीछे नहीं हटना है। वे धर्म पर अपने प्राण दे देंगे। जीवन में ऐसा क्या है, जिसके लिए वे अपनी दुर्दशा करवाएँ।...

वैसे भी उनके भाइयों के पुरुषार्थ से दुर्योधन के पक्ष में लड़ने वाले सारे योद्धा मारे गए थे। इस युद्ध में सब ने ही अपना योगदान किया था। एक युधिष्ठिर ही थे, जिन्होंने कोई महत्त्वपूर्ण क्षत्रिय कर्म नहीं किया था। यह संयोग ही है कि आज उनके सामने शल्य है। उन्हें मातुल मान कर तो पांडवों के लिए उचित है कि उनकी रक्षा की जाए, किंतु जो मातुल अपने भागिनेयों का वध कर राज्य उनके शत्रु को दे देना चाहता हो, वह मातुल भी कैसा। आज या तो युधिष्ठिर अपने इस मातुल का वध कर अपना दायित्व निभाएँगे या फिर उसके हाथों मारे जा कर वीरगति प्राप्त करेंगे।...

युधिष्ठिर के मन में संकल्प जागा। अब इस युद्ध का निर्णय हो ही जाना चाहिए। उन्होंने देखा : नकुल और सहदेव उनके चक्ररक्षकों के रूप में आ गए थे। युधिष्ठिर ने संकेत किया, सात्यकि उनके रथ के पिछले दाहिने चक्र की रक्षा करें। धृष्टद्युम्न पिछले बाएँ चक्र की रक्षा करें। भीम अग्ररक्षक के रूप में सामने आ गया। अर्जुन पृष्ठरक्षक बन कर पीछे खड़ा हो गया।

युधिष्ठिर ने शल्य पर आक्रमण किया। शल्य से भी आगे, उसकी रक्षा के लिए दुर्योधन आ गया। भीम उचित स्थान पर था। वह उल्लासपूर्वक दुर्योधन से भिड़ गया। युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य की धनुर्विद्या का प्रदर्शन किया।... शल्य ने सोचा भी नहीं था कि युधिष्ठिर धनुर्विद्या का भी ऐसा सफल प्रदर्शन कर पाएँगे। उसने तो योद्धा के रूप में उन्हें बहुत ही साधारण मान रखा था।...

दुर्योधन ने भीम का ध्वज काट दिया। भीम की तनिक भी इच्छा नहीं हो रही थी कि वह दुर्योधन से बाण युद्ध करे। वह अपनी गदा उठाने की सोच ही रहा था कि दुर्योधन ने उसका धनुष भी काट दिया। भीम के हाथ से धनुष छूट गया। उसने गदा के स्थान पर, रथशक्ति उठाकर दुर्योधन को दे मारी। दुर्योधन अपनी सफलता से उत्साहित होकर रथ के एकदम अगले भाग में आ गया था। सारथि के बहुत निकट। भीम की रथशक्ति ने दोहरा काम किया। सारथि और दुर्योधन दोनों को ही चोट आई। सारथि निष्प्राण होकर रथ के नीचे जा गिरा; और दुर्योधन मूर्च्छित होकर रथ की बैठक में लेट गया।

दुर्योधन के रथ के घोड़े पूर्णतः अनियंत्रित हो गए थे। वल्गा पर किसी का नियंत्रण नहीं है, यह अनुभव उनको हो रहा था। जिसकी बुद्धि और आदेश पर वे इस मृत्यु के तांडव के मध्य दौड़ते थे, वह अब नहीं था—यह उनकी समझ में आ गया था। किंतु उससे उनको स्वतंत्रता की प्रसन्नता नहीं, संरक्षक से वंचित हो जाने का भय ही अनुभव हुआ।

वे दिशाहीन दौड़ लगाने लगे।

अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा दौड़े हुए आए। शकुनि और उलूक पहले ही वहाँ थे।''' उन सबका ध्यान दुर्योधन के रथ की ओर था। दुर्योधन की सेना सर्वथा असुरक्षित थी। अर्जुन ने अपने बाणों की बौछार से दुर्योधन के सैनिकों का सर्वनाश कर दिया।

युधिष्ठिर अपने घावों की पीड़ा से बहुत कठोर हो गए थे। उनके प्रहार क्रमशः उग्र और घातक होते जा रहे थे। जिस वाहिनी की ओर अग्रसर होते थे, उसी पर महाकाल की छाया पड़ने लगती थी। शल्य के अग्ररक्षक के रूप में दुर्योधन और उसकी सेना में से अब कोई भी वहाँ नहीं था। शल्य को आगे बढ़ने से रोकने के लिए भीम अपने स्थान पर दृढ़ खड़ा था; और युधिष्ठिर तो अब शल्य की कथा ही समाप्त कर देना चाहते थे।

"खड़ा रह शल्य !"

शल्य ने अपनी रक्षा के लिए युधिष्ठिर पर आक्रमण किया किंतु अब उसके आक्रमण में वह वेग नहीं था। दूसरी ओर युधिष्ठिर अत्यंत प्रचंड हो उठे थे। युधिष्ठिर ने शल्य के सारथि और घोड़ों को मार डाला। उसके कवच को काट डाला और उसके शरीर को भी क्षतविक्षत कर दिया।

अश्वत्थामा ने शल्य की यह दुर्गति देखी तो उसे अपने रथ पर बैठा कर वहाँ से निकाल ले गया।

पर शल्य अधिक देर तक युद्ध से दूर नहीं रहा। वह दूसरे रथ में प्रायः तत्काल ही लौट आया। वैद्यों ने दुर्योधन की मूर्च्छा भी दूर कर दी थी। वह अपनी वाहिनी के साथ आ गया था और उसने शल्य की रक्षा की व्यवस्था कर दी थी। शल्य ने आते ही युधिष्ठिर के वक्ष पर एक प्रबल प्रहार किया। युधिष्ठिर की प्रतिक्रिया पीड़ा के रूप में न हो कर क्रोध के रूप में प्रकट हुई। उनके बाण ने शल्य को कुछ क्षणों के लिए संज्ञाशून्य कर दिया। शल्य के रथवैद्य ने औषधि सुँघाकर उसकी चेतना लौटाई। इस बार शल्य ने युधिष्ठिर को प्रहार करने का अवसर नहीं दिया। उसने एक के पश्चात् एक बाण चलाए। पहले से युधिष्ठिर घायल हुए, दूसरे से उनके रथ का एक घोड़ा मारा गया और तीसरे से सारथि यमलोक सिधार गया।

युधिष्ठिर एक बार पुनः चिंतित हो उठे। क्या होगा आज ? वे अपना संकल्प और कृष्ण की इच्छा पूरी नहीं कर पाएँगे ? यह शल्य मरता क्यों नहीं। बार-बार जीवित हो उठता है, जैसे अमृत पीकर जन्मा हो।

भीम ने शल्य को प्रबल होते देखा तो दुर्योधन को मारने का लोभ त्याग कर, उसने शल्य पर आक्रमण किया। शल्य को भीम के बाण से गहरा घाव लगा और अगले ही क्षण भीम ने उसके सारथि को मार डाला। शल्य एक बार पुनः रथहीन हो गया था। वह न तो सहायता की प्रतीक्षा कर सकता था और न ही सारथिविहीन रथ पर बैठा रह सकता था। शल्य खड्ग लेकर रथ से कूद आया। मार्ग में आए नकुल के रथ का हरसा काट कर उसने युधिष्ठिर पर आक्रमण किया।

उस स्थान के निकट ही लड़ते हुए शल्य, सात्यकि और द्रौपदेयों ने उसे आ घेरा। भीम ने एक ही बाण में उसका खड्ग भी काट दिया। युधिष्ठिर का सारथि मारा जा चुका था। घोड़े भी पूरे नहीं थे। एक मरे हुए घोड़े के साथ शेष घोड़े दौड़ भी नहीं सकते थे। युधिष्ठिर ने अपने उस अचल रथ से शल्य पर एक प्रबल शक्ति चलाई। इस बार उनके मन में अपनी वीरगति की बात एक बार भी नहीं आई। उनका संकल्प शल्य के वध का था।

"ओ पापी ! तू मारा गया।" उनके मुख से निकला।

शक्ति ने शल्य के मर्मस्थानों को विदीर्ण कर उसके वक्ष को चीर डाला। उसके नाक, कान, आँख और मुख से रक्त आने लगा। शल्य बाँहें फैलाए हुए, धरती पर आ गिरा।...

शल्य के गिरते ही कौरव सेना में हाहाकार मच गया। कहीं कोई अनुशासन अथवा नियंत्रण नहीं था। विप्लव की सी स्थिति थी। उचित अवसर देखकर सात्यकि ने कृतवर्मा पर आक्रमण किया। कृतवर्मा रथहीन हो गया। इससे पहले कि सात्यकि उसे कोई गंभीर चोट पहुँचाता, कृपाचार्य उसे अपने रथ पर बैठा कर ले गए। दुर्योधन की सेना अर्जुन से पीड़ित होकर भागने लगी। दुर्योधन ने स्वयं सामने खड़े होकर सेना को रोका और कृतवर्मा नए रथ में उसकी सहायता के लिए आ गया। युधिष्ठिर ने कृतवर्मा के नए रथ के घोड़ो को मार डाला और उसके निकट खड़े कृपाचार्य को भी घायल कर दिया। इस बार अश्वत्थामा कृतवर्मा को अपने रथ पर ले गया। कृतवर्मा अपने इस अपमान का प्रतिशोध लेना चाहता था किंतु अवसर ही नहीं मिल रहा था। उसके स्थान पर कृपाचार्य ने युधिष्ठिर को अपने बाणों से बींध डाला। शल्य के अनुचर, दुर्योधन द्वारा रोके जाने पर भी बिना किसी सेनापति के संरक्षण के धर्मराज युधिष्ठिर पर टूट पड़े थे। पर वे सब पांडवों में घिर गए थे। उनमें से किसी की भी रक्षा नहीं हो सकी।

शकुनि बड़ी तत्परता से दुर्योधन के पास आया, "मद्र सेना हमारे सामने मारी जा रही है। उनका स्वामी अब जीवित नहीं है और हमने यह शपथ ली है कि हम किसी को अकेला नहीं छोड़ेंगे।"

"ठीक है मातुल ! किंतु मैंने उन्हें पहले ही मना किया था। अपने राजा की अवज्ञा कर वे पांडव सेना में जा घुसे और सारे के सारे मारे गए। ऐसे में हमारी शपथ क्या कर सकती है।"

"ठीक है दुर्योधन ! किंतु युद्ध में अनेक बार योद्धा अपने रोष में स्वामी की आज्ञाओं का पालन नहीं करता, इसका अर्थ यह नहीं है कि हम उसे इस प्रकार मरने देंगे। उन पर इस प्रकार क्रोध करना उचित नहीं है।"

"पर अब आप जाकर रक्षा भी किसकी करेंगे।" दुर्योधन बोला, "वे सारे तो मारे भी जा चुके। जहाँ तक मैं समझता हूँ, शल्य ने अपने कुटुंब और सैनिकों के साथ मृत्यु का वरण कर, कर्ण के साथ किए गए असहयोग के पाप का मूल्य चुकाया है।"

38

दुर्योधन कहाँ है ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

भीम अभी-अभी बाहर से लौटा था। आशा थी कि वह आया है तो कुछ समाचार भी लाया ही होगा।

"मैंने उसे बहुत खोजा है महाराज ! किंतु उसका कुछ पता नहीं है। पता नहीं उसे धरती खा गई या आकाश निगल गया।" भीम ने कहा, "यदि वह मारा जाकर शवों के बीच में कहीं पड़ा नहीं है तो भाग कर कहीं छुप गया है। कहाँ छिपा है, इसका हमें अभी तक कोई संकेत नहीं मिला है।"

"बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। उसे खोजना ही होगा।" कृष्ण बोले, "इस प्रकार का पराजित शत्रु छिपकर घात कर सकता है। दुर्योधन का शव जब तक अपनी आँखों से देख न लें, तब तक न युद्ध के समाप्त होने का भ्रम पालें, न वैर को समाप्त हुआ मानें; और न ही स्वयं को किसी भी प्रकार से सुरक्षित समझें।"

"और अश्वत्थामा ?"

"अश्वत्थामा, कृतवर्मा और कृपाचार्य को भी न किसी ने मरते देखा है, न उनके शव मिले हैं; और न ही यह पता लगा है कि वे कहाँ हैं।" भीम ने बताया, "बहुत संभव है कि वे चारों ही कहीं एक साथ छिपे हुए हों।"

"तो उन लोगों को खोजो।" युधिष्ठिर ने कहा, "सब ओर गुप्तचर भेजो। टोह लो। हमें तनिक भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।"

"किंतु हमारे सैनिक तो विजयोत्सव मनाना चाहते हैं।" धृष्टद्युम्न ने कहा।

"उसमें अभी कुछ समय शेष है।" कृष्ण बोले, "हम अभी पूर्णतः विजयी नहीं हुए हैं। पांचाल राजकुमार ! तुम विशेष रूप से सावधान रहो। अश्वत्थामा अभी जीवित है। वह अपने पिता का प्रतिशोध लेने का प्रयत्न अवश्य करेगा।"

"तो सेना अभी सन्नद्ध रहे। महारथी युद्ध के ही अनुशासन में रहें।" युधिष्ठिर बोले, "अंतर केवल इतना है कि अब तक सम्मुख युद्ध हो रहा था, अब कपट और माया युद्ध भी हो सकता है।"

"धर्मराज ठीक कह रहे हैं।" कृष्ण बोले, "हमें अपने शत्रुओं को खोजना भी है, उन्हें घेरना भी है; और उनको मारना भी है। इसमें न शिथिलता होनी चाहिए और न ही विलंब।"

"विलंब से कोई विशेष हानि है क्या गोविंद ?" नकुल ने पूछा, "अधिक से अधिक वे लोग कहीं थोड़ा सो लेंगे। विश्राम कर लेंगे। अपने घावों का कुछ उपचार कर लेंगे। नई सेनाओं की भरती तो वे कर नहीं सकते।"

"नई सेनाओं की भरती भी हो सकती है; और उनके लिए बाहरी सहायता भी आ सकती है।" कृष्ण का स्वर गंभीर था किंतु वे आशंकित नहीं थे।

"बाहरी सहायता !" युधिष्ठिर भी चौंक उठे, "बाहरी सहायता कहाँ से आ जाएगी ? जो मित्र थे वे तो आ चुके।"

"बलराम भैया !" कृष्ण मुस्कराए, "उनका लक्ष्य तीर्थयात्रा ही था; किंतु उद्देश्य मुझे दुर्बल करना भी था। मेरे दुर्बल होने से पांडव दुर्बल होते हैं और दुर्योधन को बल मिलता है। तीर्थयात्रा में भी उनका ध्यान युद्ध की ओर ही लगा रहा। उन्होंने निरंतर प्रयत्न किया है कि उन्हें युद्ध के समाचार मिलते रहें। दुर्योधन की पराजय के समाचार सुन कर वे युद्धक्षेत्र से दूर नहीं रह पाए। वे क्रमशः युद्धक्षेत्र के निकट आते रहे; और अब वे यहाँ से अधिक दूर नहीं हैं। वे किसी भी समय यहाँ पहुँच सकते हैं।"

"आपको ये समाचार कहाँ से मिले ?" अर्जुन ने कुछ चकित होकर कहा, "आप तो निरंतर मेरे साथ थे।"

"मेरे गरुड़। वैनतेय है न ! मेरे समाचार आते ही रहते हैं।" कृष्ण रुके, "और मैं निरंतर तुम्हारे साथ था, किंतु मैं अपने साथ भी तो था।"

"तो ? बलराम भैया के आ जाने से क्या हो जाएगा ? वे कौरव सेना की कोई वाहिनी तो हैं नहीं कि उनके आने से युद्ध फिर से आरंभ हो जाएगा।" नकुल ने कहा।

"उनके आने से क्या होगा, यह बताना मेरे लिए कठिन है, किंतु इतना स्पष्ट है कि उससे दुर्योधन का मनोबल बढ़ेगा। उसका सैन्यबल भी बढ़ सकता है। और सबसे बड़ी बात यह है कि हम दुर्योधन के साथ अपना मनमाना व्यवहार करने के लिए स्वतंत्र नहीं रह जाएँगे।"

"तुम भी कृष्ण !" भीम जोर से हँसा, "अपने एक भाई को सँभाल नहीं सकते।"

कृष्ण मुस्कराए; किंतु कुछ बोले नहीं। वे जानते थे कि किसी को असमर्थ बताकर उसका उपहास करना भीम का मनोरंजन था।

किंतु धर्मराज गंभीर हो गए थे।

"श्रीकृष्ण ने सदा ही बलराम को सँभाला है। ऐसे ही तो इनको हलधरशमनम् नहीं कहा गया। पर फिर भी इस समय के लिए कृष्ण की चेतावनी महत्त्वपूर्ण है। किसी का भी समय बदलते देर नहीं लगती। व्यर्थ समय नष्ट नहीं करना चाहिए।" वे बोले, "दुर्योधन और उसके तीन महारथी अभी जीवित हैं। बलराम की सहायता मिल गई तो वह और प्रबल हो उठेगा। बलराम और कृतवर्मा को दुर्योधन की सहायता में खड़े देखकर कुछ और यादव योद्धा भी उनके समर्थन में खड़े हो सकते हैं। हम न यादवों से लड़ना चाहते हैं, न रोहिणीनन्दन से। हम उनसे किसी भी प्रकार का वैर-विरोध नहीं चाहते। इसलिए अच्छा है कि उनके आने से पहले ही यह युद्ध समाप्त हो जाए।"

"तो फिर हमें टोलियाँ बनाकर उन लोगों की खोज में निकल जाना चाहिए।" धृष्टद्युम्न ने उत्तमौजा और युधामन्यु की ओर देखा।

"मेरी तो इच्छा है कि अंतिम कौरव सैनिक के मरने तक हमारी शोधन टोलियों को निरंतर सक्रिय रहना चाहिए।" भीम ने कहा, "मैं बाहर जा रहा हूँ। प्रयत्न करूँगा कि

आसपास के ग्रामों के सामान्य जन से भी इस विषय में पूछताछ की जाए।"

"मैं मध्यम पांडव से पूर्णतः सहमत हूँ।" शिखंडी ने कहा, "कभी-कभी साधारण जन वे सूचनाएँ भी दे जाते हैं, जो हमारे सैनिक गुप्तचर नहीं दे पाते।"

भीम बाहर चला गया। अन्य लोग भी अपने-अपने मन में विभिन्न योजनाएँ लेकर अपनी-अपनी वाहिनियों के साथ चले गए।

युधिष्ठिर कुछ आत्मलीन से हो गए।

आज दोपहर तक सारी कौरव सेनाएँ समरभूमि छोड़कर भाग गई थीं। शल्य के पतन के पश्चात् कौरव सेना युद्ध से अधिक पलायन में प्रवृत्त हुई थी। उनके किसी महारथी ने सैन्य संगठन का उत्साह नहीं दिखाया। यह भी पता नहीं चला कि समरभूमि से भागने वाली सेनाओं में से कितनी शिविर में पहुँचीं और कितनी अपने-अपने राज्य की ओर भाग गई। पांडव सैनिक कौरवों को खोज-खोज कर उनका विनाश कर रहे थे।...

पहली बार दुर्योधन का रथ नष्ट हुआ तो उसने नए रथ की प्रतीक्षा नहीं की। वह घोड़े पर बैठकर शकुनि की शरण में चला गया। संदेशवाहक यह सूचना भी लाए थे कि अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा कृतवर्मा भी दुर्योधन को खोज रहे थे। उनमें यह चर्चा भी हुई थी कि कहीं दुर्योधन का देहांत ही तो नहीं हो गया। वे तीनों भी शकुनि के पास जा पहुँचे थे। वहीं धृष्टद्युम्न भी पहुँच गया था। धृष्टद्युम्न से लड़ने वालों में कृतवर्मा, कृपाचार्य, अश्वत्थामा तथा दुर्योधन के अतिरिक्त संजय भी था। वे लोग धृष्टद्युम्न की सेना के सम्मुख टिक नहीं सके। पराजित होकर वे भाग गए। संजय वहाँ से बचकर निकला तो सात्यकि की सेना में फँस गया था। सात्यकि ने संजय की सारी युद्ध सामग्री नष्ट कर दी। संजय मूर्च्छित हो गया। सात्यकि ने उसे बंदी बनाकर युधिष्ठिर के पास शिविर में भेज दिया। वहाँ धृष्टद्युम्न ने कहा कि उसके जीवन से पांडवों को कोई लाभ नहीं है। सात्यकि ने संजय के वध के लिए खड्ग निकाल लिया। किंतु तभी कहीं से घूमते हुए वेदव्यास वहाँ आ गए। उन्होंने संजय को वध के योग्य नहीं माना और उसे सात्यकि से कहकर मुक्त करा दिया।

युधिष्ठिर समझ नहीं पाते कि विभिन्न लोगों की रक्षा के लिए महर्षि वेदव्यास ठीक समय पर कहाँ से प्रकट हो जाते हैं। जब पांडव वारणावत की अग्नि से बच कर भागे थे, तो उस बीहड़ वन में भी महर्षि कहीं से आ ही गए थे।

भीम और अर्जुन ने मिलकर जब कौरवों की गजसेना नष्ट कर दी तो दुर्योधन किसी अज्ञात स्थान की ओर भाग गया।... दुर्योधन के जीवित शेष भाई दुर्मर्षण, श्रुतांत, जैत्र, भूरिबल, रवि, जयत्सेन, सुजात, दुर्विषह, दुर्विमोचन, दुष्प्रधर्ष, महाबाहु तथा श्रुतवर्मा एक साथ मिलकर भीम पर टूट पड़े थे। किंतु भीम तो जैसे उनके साथ थोड़ी देर क्रीड़ा करता रहा। उसके पश्चात् उसने एक-एक कर उन सबको मार डाला। युद्ध में भीम को क्रीड़ा का-सा सुख मिलता था। उसे युधिष्ठिर के समान उससे वितृष्णा नहीं होती थी। वह क्रमशः उसमें निमग्न होता जाता था और अपने आपको भी विस्मृत कर बैठता था। धृतराष्ट्र के पुत्रों का वध करने में तो उसे जैसे परम सुख की अनुभूति होती थी।

फिर दुर्योधन और उसका भाई सुदर्शन अश्वारोहियों के बीच खड़े देखे गए। वे शकुनि के अश्वारोही थे। कृष्ण और धृष्टद्युम्न दोनों ही मानते थे कि कौरव सैनिक अधिक देर नहीं टिकेंगे; युद्ध छोड़कर भाग जाएँगे। उस पलायन से पूर्व ही उनका नाश आवश्यक था। वे यह भी जानते थे कि दुर्योधन अब बच नहीं सकता था। उसके बचे हुए सैनिक बुरी तरह थके हुए थे। उलूक भी शकुनि की सहायता के लिए आ गया था और सुशर्मा भी अपने शेष सैनिकों के साथ वहाँ पहुँच गया था। कृतवर्मा, अश्वत्थामा और कृपाचार्य भी दुर्योधन को खोजते हुए आकर, उनमें सम्मिलित हो गए थे।

दुर्योधन ने एक प्रास के प्रहार से सहदेव को लहूलुहान कर दिया था। त्रिगर्त सैनिक फिर से अर्जुन पर टूट पड़े थे। सहदेव सचेत होकर पुनः युद्ध करने लगा; किंतु इस बार वह शकुनि और उलूक से भिड़ गया था। तभी भीम भी वहाँ आ गया। भीम को देखते ही शकुनि के सैनिक मैदान छोड़कर भाग गए। उधर सहदेव ने एक भल्ल मारकर उलूक का मस्तक काट दिया। अपने पुत्र का शव देखकर शकुनि की आँखों में अश्रु आ गए।...

युधिष्ठिर के मन में आता है कि वे कहीं से शकुनि को खोजकर उससे पूछें, क्या उसे स्मरण है कि वह हस्तिनापुर क्या करने आया था ? वह अपनी बहन के विवाह का प्रतिशोध लेने आया था हस्तिनापुर ! उसने कौरवों को तो मरवा दिया किंतु अपनी बहन के बच्चों के साथ क्या किया ? और आज उसने अपने पुत्र की भी बलि दे दी। क्या उसका प्रतिशोध पूरा हो गया ? प्रतिशोध किसी के लिए भी मंगलकारी हो सकता है क्या ? वह कुरुओं से प्रतिशोध लेने के लक्ष्य से, सदा धर्म का विरोधकर, अधर्म का समर्थन करता रहा। तो उस अधर्म का मूल्य कौन चुकाएगा। कुरुवंश ने अपने पापों का फल पाया, किंतु शकुनि ने ? उसने भी अपने ही पापों का फल पाया। विजय की कोई संभावना न देखकर शकुनि ने कपट युद्ध आरंभ कर दिया था। उसने पहले पांडव सेना पर पीछे से घात किया। उस पर भी सफल न हुआ तो भाग कर उसने धृष्टद्युम्न की सेना पर पार्श्व से आक्रमण किया। पर उसमें भी उसे कुछ उपलब्ध नहीं हुआ।

सहदेव से हारकर शकुनि भागा। सहदेव ने उसका पीछा किया। सहदेव ने उसका वध करते हुए कहा, "पासे फेंककर द्यूत खेलते हुए, तू बहुत प्रसन्न था न। ले आज अपने उस कुकर्म का सुख भी तो भोग।" सहदेव ने उसका मस्तक काट दिया। दुर्योधन उस समय तक बहुत घायल हो चुका था। उसके पास न तो सेना थी और न सवारी। अपने मरे हुए घोड़े को वहीं छोड़कर वह पूर्व दिशा की ओर भाग गया।

... किंतु युद्ध अभी समाप्त नहीं हुआ था।... दुर्योधन अभी जीवित था।... भीम कौरवों के प्रति बहुत सदय नहीं था; किंतु उसकी प्रतिशोध की भावना भी विचित्र थी। उसने कहा था, "मेरी तो हार्दिक इच्छा है महाराज ! कि दुर्योधन जीवित रहे। दुर्योधन ही नहीं, सारे ही कौरव दास तुल्य होकर महाराज युधिष्ठिर की परिचर्या करते हुए अनुभव करें कि उनके कारण पांडवों ने कितना कष्ट सहा है।"

युधिष्ठिर जानते थे, भीम कौरवों को क्षमा नहीं कर सकता। न उसका प्रतिशोध कभी

समाप्त हो सकता था, न द्वेष। उसकी बात सुनकर अर्जुन ने टिप्पणी की थी, "पर वह होगा नहीं। जब तक दुर्योधन के शरीर में प्राण हैं, तब तक वह हमें हमारा राज्य नहीं देगा और न ही वह पाप करना बंद करेगा। इसलिए वैर का अंत तो उसके मरने पर ही हो सकता है।" युधिष्ठिर ने भी अर्जुन की बात स्वीकार कर ली थी, "ठीक है। अभी युद्ध समाप्त नहीं हुआ है।"... पर बलराम की समस्या गंभीर थी। उनको न समझाया जा सकता था, न सहमत किया जा सकता था। वे श्रीकृष्ण के भाई हैं। उनसे प्रेम भी करते हैं, उनका महत्त्व भी स्वीकार करते हैं; किंतु कदाचित् वे स्वयं भी नहीं जानते कि वे किस सीमा तक कृष्ण विरोधी हो चुके हैं। कृष्ण का प्रत्येक शत्रु उन्हें प्रिय होता जा रहा है और कृष्ण के मित्र उन्हें अपने शत्रु लगने लगे हैं। यदि वे इस समय आ गए तो निश्चय ही पांडवों की अड़चनें बढ़ेंगी।... और कृतवर्मा की स्थिति तो बलराम से भी अधिक विचित्र थी। उसे कृष्ण से कोई विरोध नहीं था किंतु सात्यकि के विरोध के कारण वह कृष्ण और अर्जुन, दोनों का ही विरोधी हो गया था; और इस समय दुर्योधन का सबसे बड़ा मित्र बना हुआ था।... पर कृपाचार्य ? उन्हें तो किसी से द्वेष नहीं था। इतना रक्तपात देखकर भी कृपाचार्य का मन क्यों नहीं बदला ? केवल अश्वत्थामा के कारण ?... हाँ ! वे अपने भागिनेय के ही साथ थे।... और अश्वत्थामा पांचालों का मित्र कभी हो नहीं सकता था। वह तो पांचालों का तब भी शत्रु था, जब यह युद्ध आरंभ नहीं हुआ था। आचार्य द्रोण तो हस्तिनापुर आए ही उस शत्रुता के कारण थे और अब तो धृष्टद्युम्न के हाथों द्रोण का मस्तक कट चुका था। अश्वत्थामा उन पांचालों के प्रति मध्यस्थ अथवा उदासीन कैसे हो सकता था।... वह इस विजय को पांडवों की नहीं, पांचालों की विजय मानेगा। इस राज्य को पांडवों का नहीं, पांचालों का राज्य मानेगा। इनमें से सब किसी न किसी के द्वेष के कारण रक्त पिपासु दुर्योधन के साथ हैं। एक कृपाचार्य ही अपने प्रेम के कारण उधर हैं।...

युधिष्ठिर के पास दूत आते रहे और सूचनाएँ देते रहे। उनकी सैनिक टोलियाँ कहाँ-कहाँ घूम रही हैं, कहाँ-कहाँ घूम आई हैं; किंतु दुर्योधन और उसके साथियों का कहीं कोई चिह्न भी नहीं मिला था।...

मुक्त कर दिए जाने पर संजय ने अपना कवच उतार दिया। शस्त्रास्त्र त्याग दिए; और रक्त से भीगा हुआ शरीर लेकर वह हस्तिनापुर की ओर चला गया।

युयुत्सु भी आया था युधिष्ठिर के पास। वह हस्तिनापुर लौट जाना चाहता था, ताकि वहाँ बचे हुए लोगों की रक्षा कर सके। वह युधिष्ठिर से अनुमति लेने आया था। हस्तिनापुर में अब कोई शासन नहीं रह गया था। अराजकता फैल जाने का पूरा-पूरा भय था। युद्धभूमि से बचकर भाग आए, भगोड़े सैनिक लुटेरे भी बन सकते थे। हस्तिनापुर के अपने आरक्षी भी तो लूटपाट कर सकते थे। अब हस्तिनापुर में कौन बैठा था, जो वहाँ की संपत्ति की रक्षा करता। शासन समाप्त हो जाने के कारण अन्य अनेक दुर्वृत्त भी अपराध की ओर प्रवृत्त हो सकते थे। हस्तिनापुर में युयुत्सु का रहना आवश्यक था। उसने यह भी बताया था कि कौरवों के शिविर में भयंकर आतंक था। वहाँ स्त्रियाँ थीं। धन था। उनकी रक्षा

के लिए बच गए लोग असमर्थ थे। वे किसी के भी आक्रमण से शिविर की रक्षा नहीं कर सकते थे। रक्षकों ने कौरव स्त्रियों को साथ लेकर, नगर की ओर प्रस्थान की तैयारी कर ली थी; किंतु उन्हें भय था कि पांडव सैनिक इतनी सुविधा से उन्हें इस प्रकार निकल नहीं जाने देंगे। अपनी विजय के पश्चात् सैनिक अपना प्रतिशोध और पुरस्कार लूट के रूप में चाहता है।''' स्त्रियाँ अपने पतियों, भाइयों और पुत्रों को स्मरण कर आर्तनाद कर रही थीं। ''' युयुत्सु ने दुर्योधन का भी समाचार दिया था। संजय ने उसे शिविर से लगभग एक कोस दूर, हाथ में गदा लिये हुए अकेले खड़ा देखा था। उसके शरीर पर बहुत सारे घाव थे। संजय को देखकर उसकी आँखों में अश्रु भर आए थे।''' युयुत्सु ने बताया था कि संजय को कृपाचार्य अपने रथ पर कौरवों के शिविर तक ले आए थे। वे चिंतित थे कि दुर्योधन को यह सूचना शायद नहीं है कि वे, अश्वत्थामा और कृतवर्मा अभी जीवित हैं। यदि दुर्योधन उनको मिल जाता तो वे लोग मिलकर कुछ कर सकते थे।'''

एक-एक कर पांडवों की खोजी टोलियाँ भी शिविर में लौट आईं। सब ही थके हुए थे। व्यर्थ ही रात भर बाहर घूमना किसको प्रीतिकर लगता।''' द्रौपदेय लौट आए थे, नकुल, सहदेव आ चुके थे, शिखंडी और धृष्टद्युम्न भी शिविर में आ गए थे। कृष्ण और अर्जुन भी कोई सूत्र नहीं लाए थे। और अंत में भीम भी लौट आया था। दुर्योधन के विषय में कोई सार्थक समाचार नहीं मिला था। संध्या समाप्त हो रही थी। रात्रि से पहले कुछ होना अब संभव नहीं लगता था। जो होगा, कल प्रातः ही होगा'''

तभी बाहर द्वारपाल ने किसी को रोका। एक से अधिक लोगों के स्वर सुनाई पड़ रहे थे। वे भीतर आना चाहते थे और द्वारपाल उनको आने नहीं दे रहे थे। किंतु उनका वह कोलाहल न तो सैनिकों जैसा था और न ही द्वारपालों द्वारा बलप्रयोग का कोई लक्षण था।''' जब तक युधिष्ठिर कोई निर्णय करते, वे लोग भीतर आ गए। उनकी वेशभूषा और हाव-भाव से स्पष्ट था कि वे लोग सैनिक नहीं थे।

"महाराज !"

"क्या बात है ?" भीम ने आगे बढ़कर उनको द्वार की ओर धकेला, "कौन हो तुम लोग ?"

"हम व्याध हैं महाराज ! वन में पशुओं का आखेट करते हैं; और मारे गए पशुओं का मांस ढोकर नगर तक लाते हैं।"

"यहाँ क्या करने आए हो ?" भीम ने उनको कठोर दृष्टि से देखा, "तुम्हारा कोई आखेट यहाँ चला आया है क्या ? या तुम मानते हो कि तुम्हारा लाया हुआ मांस यहाँ बिक जाएगा ?"

"महाराज ! हम कुछ माँगने नहीं आए, हम तो आपको एक सूचना देना चाहते हैं।" उनमें से एक ने बड़ी दीनता से कहा।

"बोलो।" भीम के कान खड़े हो गए थे।

"महाराज ! यहाँ से कुछ दूर एक सरोवर है द्वैपायन सरोवर।"

"हाँ ! है।" भीम ने कहा।

"उसके तट पर हमने चार लोगों को कुछ संदेहास्पद स्थिति में छिपते और बातें करते देखा है।" व्याध ने कहा।

"तो क्या हो गया ?"

"महाराज ! वह वार्तालाप सैनिक गतिविधि को लेकर था।" व्याध बोला, "हमें संदेह है कि वे लोग राजा दुर्योधन और उनके सहयोगी थे।"

भीम ने पहली बार व्याध को ध्यान से देखा, "क्या चर्चा थी ?"

"उनमें से एक ने कहा कि हमें साहसपूर्वक युद्ध करना चाहिए; किंतु दूसरे ने कहा कि इस समय युद्ध का कोई लाभ नहीं है। सब लोग थके हुए हैं और बुरी तरह घायल हैं। सबको विश्राम की आवश्यकता है। वह स्वयं भी रात भर विश्राम करना चाहता है। वह सरोवर के जल को बाँधकर, उसमें छिपकर विश्राम करेगा। यहाँ कोई उसे खोज नहीं पाएगा। वे लोग भी कहीं सुरक्षित स्थान देखकर विश्राम करें। प्रातः युद्ध के विषय में सोचेंगे।"

"उनके पास सेना थी ?"

"नहीं महाराज !" व्याध बोला, "वे केवल चार ही व्यक्ति थे। थोड़ी दूर पर तीन सैनिक रथ अवश्य खड़े थे। रथ न खड़े होते तो हमारा ध्यान उनकी ओर जाता भी नहीं। द्वैपायन सरोवर में कोई ऐसे ही, बिना किसी प्रयोजन के जाता भी तो नहीं महाराज !"

"उनके पास शस्त्र भी थे ?"

"योद्धा वेश था तो शस्त्र भी रहे होंगे। हमने ध्यान नहीं दिया महाराज !"

"क्यों !" दूसरा व्याध बोला, "जो उन्हें विश्राम करने के लिए कह रहा था, उसके पास एक दीर्घाकार गदा थी—तुमने नहीं देखा ?"

तो वह दुर्योधन ही था।... भीम के मन में घंटियाँ बज गईं... वह द्वैपायन सरोवर को बाँधकर उसमें विश्राम कर रहा है।...

"क्या उन लोगों ने तुम्हें देखा था ?" भीम ने पूछा।

"नहीं महाराज !"

"तुम कैसे जानते हो ?"

"हम वन में सावधान होकर न चलें तो वन्य पशु भाग नहीं जाएँगे।" वह बोला।

"पर वे तो वन्य पशु नहीं थे।"

"वे वन्य पशु तो नहीं थे।" व्याध बोला, "किंतु यदि वे जान जाते कि हमने उन्हें देख लिया है और उनकी बातें भी सुन ली हैं, तो वे कहीं और जाकर छिप जाते। इसलिए हम सावधान थे प्रभु !"

"पर तुम इतने सावधान क्यों थे ? वे कहीं और चले जाते तो चले जाते। तुम्हें क्या अंतर पड़ता ?"

"महाराज ! इतनी आस लेकर आपके पास आए हैं कि कुछ पुरस्कार मिले तो हम

इस मांस को ढोने से मुक्ति पाएँ।'' वह बोला, ''अब वे कहीं और छिप जाएँगे और खोजने पर आपको नहीं मिलेंगे तो आप हमें पुरस्कार तो देंगे नहीं महाराज ! हाँ ! कसकर दो लात लगाएँगे। तब हमें स्वर्ण कहाँ से मिलेगा।''

भीम उसकी चतुराई देखकर हँसा। उसने यह भी बता दिया था कि वह यह सूचना केवल मैत्रीवश नहीं, लोभवश लाया है। उसे पुरस्कार चाहिए और वह भी स्वर्ण के रूप में।

''जब तुम लोग वहाँ से हमारी ओर चले थे तो वे तीन रथ वहीं थे या जा चुके थे।''

''हम तो उनको देखते ही छुप गए थे महाराज ! श्वास को भी रोक लिया था समझिए।'' व्याध बोला, ''जब वे तीनों रथ चले गए और वह चौथा योद्धा अपनी गदा उठाकर जल में कहीं उतर गया, तो हम वहाँ से हिले। हम पहले चल पड़ते तो वे हमें देख नहीं लेते।''

''ठीक है। यह तुमने उचित ही किया।'' भीम ने उसे स्वर्ण मुद्राएँ दीं, ''किंतु अब यह सूचना किसी और एक कान तक भी न पहुँचे। युद्ध समाप्त हो जाएगा तो आना, तुम्हें महाराज से भी पुरस्कार दिलवा दूँगा।''

व्याधों को विदा कर भीम ने युधिष्ठिर को सारी सूचनाएँ दीं।

''वहाँ छिपा बैठा है दुर्योधन।'' अर्जुन ने कहा, ''तो वह हमें युद्धक्षेत्र में कहाँ से दिखाई देता।''

''द्वैपायन सरोवर में जल को बाँधकर छिपने का अर्थ समझते हैं न धर्मराज !'' कृष्ण ने पूछा।

''वह सारा क्षेत्र सरोवरों का ही है। उनसे लगकर ही, सरस्वती और ओघवती नदियों की धाराएँ भी बहती हैं।'' युधिष्ठिर बोले, ''दुर्योधन को वहाँ खोजना कठिन होगा। वह अच्छा तैराक भी है। लंबे समय तक जल के नीचे बिना श्वास लिए छिपा भी रह सकता है।''

''वह तो ठीक है।'' भीम ने कहा, ''वहाँ जल को बाँधा भी तो गया है। उस बाँध के नियंत्रण स्थल में यदि वह छिप जाता है तो उसकी इच्छा के विरुद्ध आप उसे बाहर नहीं निकाल सकते। हम वहाँ घुसने का प्रयत्न करेंगे और वह उस बाँध के कपाट खोल देगा, तो बाँध का सारा पानी पूरे वेग से प्रवाहित होने लगेगा, जो किसी बड़ी नदी के प्लावन से कम नहीं होगा। उस प्लावन से उसका तो कुछ नहीं बिगड़ेगा, हम ही सब लोग बह जाएँगे। हमारे सारे योद्धा एक ही वार में समाप्त हो जाएँगे। यह जीता हुआ युद्ध, हमारी पराजय में बदल जाएगा।'' भीम ने रुककर युधिष्ठिर की ओर देखा, ''नहीं ! वहाँ हम दुर्योधन की इच्छा के बिना, तट से आगे नहीं जा सकते।''

''इसका अर्थ है कि वह चाहता है कि वह वहाँ छिपा रहे और हमें पता भी न चले। पता चल जाए तो हम उसे वहाँ से बाहर न निकाल सकें। वह हमारी आँखों के सामने भी रहे और हम उसका कुछ बिगाड़ भी न सकें।'' सहदेव ने कहा।

''इसका अर्थ यह भी है कि यदि हम उसे खोज निकालें और उस तक पहुँचने का प्रयत्न करें तो वह बाँध की रोक हटाकर हम सबको एक साथ ही उस जल प्रवाह में बहा

भी सकता है।"

"एक संभावना यह भी हो सकती है।" कृष्ण बोले, "किंतु यह उसके मन में नहीं है। उसके मन में ऐसी योजना होती तो वह अपना वहाँ होना प्रचारित करता। उसे गुप्त न रखता।"

"और फिर ऐसी स्थिति में शायद हममें से भी कुछ लोग तैर कर उस प्रवाह को पार कर जाएँ।" नकुल ने कहा।

"कठिन है।" भीम ने कहा, "कुछ तैर जाएँ तो भी हमारा सामूहिक विनाश हो जाएगा। हमें उससे बचना ही चाहिए।"

"वर्तमान स्थिति में भी दुर्योधन वहाँ सुरक्षित है और उसके साथी कहीं अन्यत्र छिपे हैं। वे बाहर-बाहर घूमते रहेंगे और उससे आज्ञा लेकर हमारी क्षति करते रहेंगे।" अर्जुन बोला।

"तो ?" युधिष्ठिर ने उनकी ओर देखा।

"कृपाचार्य ने जो कुछ संजय को बताया था, उसके अनुसार तो अभी दुर्योधन को यह भी ज्ञात नहीं है कि उसके पक्ष में कौन-कौन जीवित है।" नकुल ने कहा।

"नहीं !" कृष्ण बोले, "वह पुरानी सूचना है। व्याधों की सूचना के अनुसार वे चार थे। इसका अर्थ है कि कृपाचार्य आदि लोग दुर्योधन से मिल चुके हैं। अब हमें उसको अथवा उसके छिपने के स्थान को खोज कर, उसे घेर लेना चाहिए। तत्काल उसका वध होना चाहिए शीघ्रातिशीघ्र। उसे वहाँ से निकलकर कहीं और जाने का अवसर नहीं देना चाहिए। न ही किसी और को उसके पास पहुँचने देना चाहिए।"

"वहाँ से निकालकर हम उसे घेर लें और फिर कुत्ते की मृत्यु दें।" भीम बोला, "मेरी प्रतिज्ञा अभी पूरी नहीं हुई है।"

"तो चलो।" कृष्ण ने संकेत किया।

पांडवों ने अपने रथ द्वैपायन सरोवर से कुछ दूर ही त्याग दिए। वे लोग कम से कम शब्द करते हुए, बाँध की ओर बढ़ रहे थे। आगे-आगे युधिष्ठिर थे। कृष्ण उनके साथ थे। शेष लोग उनसे थोड़ा पीछे; किंतु उनसे लगे-लगे ही चल रहे थे। वे सब ही थके हुए थे। उनके वाहन भी थक चुके थे। किंतु दुर्योधन को बंदी करने अथवा उसके वध का उत्साह सबको ही आगे चलाए चल रहा था। शस्त्र उनके पास थे और वे चौकन्ने थे कि किसी प्रकार का कोई आकस्मिक आक्रमण हो तो वे उसका सामना कर सकें।

"धर्मराज !" कृष्ण बोले, "यदि दुर्योधन इस सारे क्षेत्र में कहीं एकांत स्थान पर छुप जाता तो उसे ढूँढ़ने में कठिनाई हो सकती थी; किंतु वह जल को बाँधकर सरोवर में सुरक्षित स्थान पर बैठा है, तो उससे उसके छिपे होने का स्थान निश्चित है। यदि वह वहाँ से भाग नहीं गया है तो हम निश्चित स्थान पर जाकर उसे घेर सकते हैं। किंतु यह आवश्यक तो नहीं कि हमारे वहाँ पहुँचने पर वह बाहर निकल ही आए।"

"आप ठीक कह रहे हैं श्रीकृष्ण !" युधिष्ठिर ने कहा, "वह अपनी इच्छा से बाहर

नहीं निकलेगा तो हम उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते। यदि वह अपनी करनी पर आया तो वह बाँध के कपाट खोल सकता है। हम सब जल के उस प्रवाह में बह जाएँगे। अब तो सारा माया का युद्ध ही है।''

''हम एक निश्चित सीमा के आगे नहीं जा सकते। हममें से किसी को भी जलप्रवाह के मार्ग में नहीं आना है।'' कृष्ण बोले, ''वैसे जिस काम में उसके प्राणों का भय होगा, वह वह नहीं करेगा। हमको जल समाधि देगा तो वह स्वयं भी हमारे साथ ही डूबेगा।''

''संभव है, हमारे वध के लिए वह अपनी बलि दे दे।'' अर्जुन ने कहा।

''यदि वह मर जाने की ही बात सोच सकता तो युद्धभूमि से इस प्रकार भाग कर एकांत स्थान पर छुप जाने का कायरतापूर्ण कार्य नहीं करता। स्पष्ट है कि वह जीवित रहना चाहता है और उसे अपने जीवन की आशा है।'' कृष्ण ने उत्तर दिया।

''इस आशा का कोई आधार भी है ?'' भीम तड़पकर बोला, ''वह समझता है कि वह अकेला अथवा वह और उसके वे तीन साथी, हम सबका वध कर देंगे और उसे पुनः हस्तिनापुर का राज्य मिल जाएगा ?''

''वह क्या समझता है, यह मैं नहीं जानता।'' कृष्ण बोले, ''किंतु यह स्पष्ट है कि उसे किसी प्रकार की बाहरी सहायता अथवा किसी विशिष्ट अवसर की प्रतीक्षा है। ऐसा न होता तो या तो वह युद्धभूमि में अपने प्राण त्यागता या फिर यहाँ से भागकर कहीं बहुत दूर चला जाता—अपने किसी मित्र के राज्य में। वह सिंधु प्रदेश अथवा गांधार के राजप्रासाद में जा सकता था। इसी क्षेत्र में छिपकर हमारे निकट रहने का एक ही अर्थ है कि उसे किसी प्रकार की आशा है।''

''तो ?'' युधिष्ठिर ने पूछा।

''इसलिए आवश्यक है कि हम उसकी वह आशा पूरी होने से पहले ही उसका वध कर दें।'' कृष्ण बोले, ''उसे उसके छिपने के स्थान से बाहर निकालना होगा। वह उसकी अपनी इच्छा के बिना नहीं हो सकता। उसके मन में बाहर निकलने की इच्छा उत्पन्न हो जाए, इसी पर हमारी सफलता निर्भर करती है। अब यह आप पर है धर्मराज ! कि आप किस युक्ति से उसे बाहर निकालते हैं।''

''धर्मराज ही क्यों ?'' भीम ने जिज्ञासा के आवरण में आपत्ति की।

''धर्मराज सबसे अधिक विश्वसनीय हैं।'' कृष्ण बोले, ''पहली बात तो यह है कि धर्मराज राजा हैं। उनका आदेश सबके लिए समान रूप से मान्य होगा। दूसरे, हम सबकी तुलना में दुर्योधन को धर्मराज के वचन पर ही अधिक विश्वास होगा। इसलिए यह कार्य धर्मराज ही करें।''

''श्रीकृष्ण ठीक कह रहे हैं।'' धृष्टद्युम्न बोला, ''युक्ति का प्रयोग धर्मराज ही करें।''

''वह एक माया किए बैठा है। आप अपनी माया से उसकी माया को काटें।'' कृष्ण बोले, ''संकोच न करें। न ही किसी प्रकार के धर्मसंकट का अनुभव करें। माया को माया से ही काटा जाता है।''

युधिष्ठिर आगे बढ़ गए। वे सरोवर तट की उस सीमा तक चले गए, जहाँ तक बिना संकट के जाया जा सकता था और जहाँ से उनकी बात दुर्योधन सुन सकता था।

"दुर्योधन !" युधिष्ठिर ने उच्च स्वर में कहा, "भयभीत मूषक के समान अपनी बिल में छिपे क्या बैठे हो। बाहर निकलो और सच्चे क्षत्रिय के समान हमसे युद्ध करो।"

दुर्योधन का कोई उत्तर नहीं आया।

"यह न समझना कि हम यह मानकर लौट जाएँगे कि तुम यहाँ नहीं हो। तुम्हें हम देख नहीं सकते; किंतु निश्चित रूप से जानते हैं कि यहाँ और कोई नहीं, कायर दुर्योधन ही छिपा बैठा है।" युधिष्ठिर ने कहा, "स्वयं युद्ध आरंभ कर, अपने पितामहों, गुरु, भाइयों और पुत्रों को मरवाकर अब तुम्हें अपने प्राण बहुत प्यारे हो गए। युद्ध के आरंभ में तो क्षत्रियत्व की बहुत दुहाई थी। अब इस भीत मूषक पर थूकेंगे क्षत्रिय। ओ कुलनाशी ! नीच पाखंडी ! यह मत समझ कि तू बाहर नहीं निकलेगा तो तेरे प्राण बच जाएँगे। हम तुझे चारों ओर से घेर चुके हैं। तुझे जीवित नहीं छोड़ेंगे। यदि तू बाहर नहीं आया तो हम जल में प्रवेश करेंगे।"

"करो।" दुर्योधन बोला, "यही करो युधिष्ठिर ! एक बार इस बाँध को खोल दूँगा ताकि तुम्हारी सारी सेना का एक साथ ही तर्पण हो जाए।"

"जानता हूँ। इसी माया के सहारे वहाँ छिपकर बैठे हो।" युधिष्ठिर बोले, "हम जल में प्रवेश न भी करें तो क्या, अर्जुन के बाण तुझे वहीं सुला देंगे कायर ! तू उसके बाणों की पहुँच से बाहर तो नहीं है।"

"देख लूँगा मैं तुम्हारे उस धनंजय को भी और उस मोटे भीम को भी। मुझे अपने भाइयों के वध का प्रतिशोध लेना है।" दुर्योधन क्रुद्ध स्वर में बोला।

कृष्ण धीरे से मुस्कराए, "उसकी शांति भंग हो रही है। क्रोध जाग रहा है। यही क्रोध उसका नाश करेगा।"

"तो फिर वहाँ क्यों छुपा बैठा है कायर !" युधिष्ठिर ने कहा, "बाहर निकल और देख उन्हें। वे दोनों तेरी प्रतीक्षा में ही खड़े हैं।"

"युद्ध से नहीं डरता मैं।" दुर्योधन बोला, "थक गया हूँ। थोड़ा सो लेना चाहता हूँ। तुम लोग भी जाओ। विश्राम करो। युद्ध फिर भी हो सकता है।"

युधिष्ठिर चौंके : कृष्ण ठीक ही कह रहे थे। वह किसी सहायता अथवा अवसर की प्रतीक्षा में है।

"अब तुझे सुलाकर ही सोएँगे।" युधिष्ठिर बोले, "हम भी चाहते हैं कि तुझे चिर निद्रा दें, ताकि तेरी क्लांति समाप्त हो सके।"

"कौन सुलाएगा मुझे चिर निद्रा में ?"

दुर्योधन अपने स्थान पर उठकर खड़ा हो गया। अब पांडव उसे देख सकते थे। उसका शरीर रक्त से भीगा था और वह अपने हाथ में भारी गदा पकड़े हुए था।

"मैं फिर से तुम सबको या तो वारणावत की ज्वाला में जला दूँगा या फिर से किसी

भयंकर वन में धकेल दूँगा। तुम लोग मुझे समझते क्या हो। मैं दुर्योधन हूँ।" वह बोला।

"तो आ जा बाहर।" युधिष्ठिर बोले, "विलंब किस बात का है ?"

"मैं थका हूँ। अकेला हूँ।" दुर्योधन बोला, "तुम्हारे साथ तुम्हारे भाई और संबंधी हैं। सेना है, रथ और हाथी घोड़े हैं। ऐसे में मुझे ललकार रहे हो। बहुत वीर हो तुम। यह कोई क्षत्रियों के समान लड़ना है।"

"तो आ जाओ। क्षत्रियों के समान लड़ो।" युधिष्ठिर बोले, "हम देंगे तुम्हें कवच। हम देंगे तुम्हें शस्त्र। रथ चाहो, रथ ले लो। जो चाहो वह शस्त्र ले लो और जिस योद्धा से लड़ना चाहो, उसे चुन लो। तुम जानते हो कि हम पाँचों के अपने-अपने शस्त्र हैं। जिस शस्त्र का चयन करोगे, उसी के योद्धा से युद्ध करना होगा। यदि तुम विजयी हुए तो राज्य तुम्हारा। हम फिर से वन में लौट जाएँगे।"

कृष्ण कुछ विचलित होकर धीरे से अर्जुन के कान में बोले, "धर्मराज ने यह क्या किया। यदि वह धर्मराज से ही लड़ना चाहेगा तो धर्मराज उसका वध कर पाएँगे।"

"वह धर्मराज से नहीं लड़ेगा।" अर्जुन धीरे से बोला, "धर्मराज ने कहा है कि वह पांडवों में से जिससे युद्ध करना चाहेगा, उसी के शस्त्र से लड़ना होगा। धर्मराज का अपना शस्त्र भल्ल है। दुर्योधन को भल्ल से युद्ध का अभ्यास ही नहीं है। हाँ ! जो यह कह दिया कि यदि वह हममें से किसी एक को भी जीत लेगा तो राज्य उसका होगा और हम वन चले जाएँगे—यह तो फिर से द्यूत की सी स्थिति हो गई।"

"है तो यह द्यूत की ही स्थिति; किंतु संभव है कि धर्मराज ने इसे युक्ति के रूप में ही अपनाया हो।" कृष्ण हँसे, "पर कठिनाई यह है कि धर्मराज ने कह दिया, इसलिए यह युक्ति न रहकर वचन माना जाएगा। जो दुर्योधन तेरह वर्षों के वनवास के पश्चात् भी पांडवों का राज्य देने से मुकर गया, वह ही धर्मराज के इस वाक्य को उनका वचन मानने के लिए हठ करेगा।"

दुर्योधन ने तत्काल उत्तर नहीं दिया। वह कुछ क्षणों तक सोचता रहा। फिर बोला, "तुम्हारे शस्त्रों पर मैं विश्वास नहीं कर सकता। तुम लोग कच्चे और अप्रभावी शस्त्र दे सकते हो। मैं अपने शस्त्र से ही लड़ूँगा। मेरी गदा मेरे पास है। गदा युद्ध करूँगा, तो तुमसे या नकुल-सहदेव से तो नहीं लड़ूँगा। भीम से ही लड़ना होगा। वैसे भी तुमको मार भी दिया तो वह मोटा भीम तुम्हारे वचन का पालन नहीं करेगा। वह मारा गया तो तुम अपने वचन से पीछे नहीं हट सकते।"

"मुझे स्वीकार है।" युधिष्ठिर बोले, "बाहर आओ।"

कृष्ण कुछ निश्चिंत दीखे।

"पर हमारे द्वंद्वयुद्ध का अध्यक्ष कौन होगा ? मुझे न तुम्हारा विश्वास है, न कृष्ण का।"

कृष्ण और अर्जुन दोनों ने युधिष्ठिर की ओर देखा।

"अट्ठारह दिनों का युद्ध किसकी अध्यक्षता में हुआ था ? कौन था अधि-अक्ष। किसकी आँख देख रही थी कि युद्ध धर्मपूर्ण विधि से हो रहा है या नहीं ? युद्ध में अधर्म

करने वालों को किसने दंडित किया है अब तक ?" युधिष्ठिर ने कहा।

"वहाँ मेरा बल ही युद्ध का निरीक्षण कर रहा था। वही अध्यक्ष था। यहाँ वह संभव नहीं है।" दुर्योधन बोला, "मैं अकेला हूँ और तुम लोग इतने सारे हो।... मैं प्रतीक्षा करूँगा।"

"कब तक ? प्रलय तक ?"

"हाँ ! तुम्हारे प्रलय तक।" वह हँसा, "बहुत निकट है तुम्हारा प्रलय। इसीलिए कह रहा हूँ, जाओ, थोड़ा विश्राम कर लो। एक आध रात्रि की निद्रा ले लो। फिर तो चिर निद्रा में सो ही जाओगे।"

युधिष्ठिर उसका आत्मविश्वास देखकर कुछ विचलित हुए। ऐसी स्थिति में भी यह व्यक्ति इतना आश्वस्त कैसे है ?...

पीछे सेना में कुछ गतिविधि हुई, कुछ कोलाहल हुआ। सैनिकों ने एक ओर हट कर जैसे मार्ग बनाया।... युधिष्ठिर ने देखा, सामने से वासुदेव बलराम आ रहे थे।

कृष्ण चकित रह गए। तो इसीलिए दुर्योधन इतना आश्वस्त था और किसी सहायता की प्रतीक्षा कर रहा था। पर इन दोनों का कोई संपर्क है क्या ? इनमें सूचनाओं का आदान-प्रदान होता रहा है ? सारे युद्ध में अनुपस्थित रहने वाले बलराम कैसे एकदम उपयुक्त क्षण पर यहाँ उपस्थित हो गए, जैसे दुर्योधन की रक्षा करने ही आए हों। इस गुप्त स्थान का पता उनको कैसे लगा होगा ? स्थान निश्चित हो भी सकता है, किंतु समय ?...

युधिष्ठिर भी सोच रहे थे : कृष्ण ठीक ही कह रहे थे। बाहरी सहायता की संभावना बनी हुई थी। वह किसी क्षण भी आ सकती थी। उन्होंने तो विशेष रूप से बलराम का नाम भी लिया था।... अब बलराम आ गए हैं। वे कुछ अहितकर ही न कर दें...

सारी स्थिति परिवर्तित हो गई। दुर्योधन अपने स्थान से बाहर निकल आया था, जैसे वह पूर्णतः सुरक्षित हो गया हो। पांडवों के शस्त्र ढीले पड़ गए थे और वे बलराम का स्वागत करने में व्यस्त हो गए थे। कृष्ण और युधिष्ठिर भी जाकर बलराम से मिले।... बलराम बहुत सहज नहीं थे।

"क्या चल रहा है यहाँ ?"

"अकस्मात् ही आप इस समय इस स्थान पर कैसे ?" कृष्ण ने बलराम के चरण स्पर्श कर पूछा।

"क्यों ? मैं तुम लोगों से मिलने नहीं आ सकता ?" बलराम कुछ अटपटा गए, "युद्ध का समाचार जानने की मुझमें उत्सुकता नहीं हो सकती ?"

"हो क्यों नहीं सकती।" कृष्ण मुस्कराए, "किंतु यह पांडवों का शिविर तो है नहीं, जहाँ आप उनसे मिलने आ गए हों। इस द्वैपायन सरोवर में छिपे हुए दुर्योधन को खोजने में हमें ही कठिनाई हुई तो आप तीर्थयात्रा से सीधे यहीं कैसे लौट आए ? वह भी उस समय, जब यह निर्णायक युद्ध होने वाला है।" कृष्ण रुके, "और आपके साथ यात्रा पर गए हुए अन्य लोग कहाँ हैं ?"

"तुम्हें तो शास्त्रार्थ करने का रोग है।" बलराम ने कृत्रिम-सा रोष प्रकट किया, "प्रत्येक बात पर संदेह। हर बात का कारण। ऐसा क्यों, वैसा क्यों ?"

"सृष्टि तर्कशून्य तो नहीं है भैया !" कृष्ण बोले, "सृष्टि का कारण खोजते-खोजते ही तो साधक ब्रह्म तक जा पहुँचता है। मैंने तो केवल इतना ही पूछा है कि आप ठीक इस निर्णायक युद्ध के समय यहाँ कैसे आ पहुँचे ?"

" यही सुन कर तो आया हूँ··· ।" बलराम के मुख से अनायास ही निकल गया।

"मैं भी यही समझता हूँ कि यह सूचना पाकर ही आप इस स्थान को ढूँढते हुए आए हैं।" कृष्ण बोले, "किंतु आपकी प्रशंसा करूँगा कि आपने इतनी जल्दी हमें खोज भी निकाला।"

"तीर्थयात्रा में भी मुझे तुम लोगों की चिंता सताती रही। जाने तुम लोग यहाँ क्या कर रहे हो। प्रयत्न करता रहा कि तुम लोगों का समाचार मिलता रहे।" बलराम कुछ सहज होने का प्रयत्न कर रहे थे।

"तीर्थ में भी ध्यान यदि घर की ओर ही लगा रहे तो तीर्थ का क्या पुण्य।" कृष्ण कुछ वक्र होकर बोले, "तीर्थ तो वह होता है, जिसे देखकर मनुष्य को ब्रह्म का स्मरण हो आए।"

"होगा।" बलराम कुछ झल्लाए, "मैंने कुरुक्षेत्र से ही तीर्थयात्रा आरंभ की थी और सरस्वती तट की यात्रा करके बयालीस दिनों के पश्चात् लौटकर कुरुक्षेत्र में ही आया हूँ। प्लक्षप्रस्रवण में मित्रावरुण के आश्रम पर मुझे नारद ने बताया कि यहाँ दुर्योधन और भीम का गदा युद्ध हो रहा है···।"

कृष्ण कुछ नहीं बोले, केवल सोचते रहे।··· ये किसे नारद कह रहे हैं। किसने दी सूचना इन्हें ? यह गदायुद्ध पहले से तो निश्चित नहीं था। इसकी कोई घोषणा नहीं की गई थी। इस एकांत स्थान पर अभी-अभी युधिष्ठिर और दुर्योधन के संवाद से यह युद्ध होना निश्चित हुआ।··· और इतनी देर में यह सूचना नारद को मिल गई। नारद बलराम के पास मित्रावरुण के आश्रम पर जा पहुँचे और बलराम इस स्थान को खोज कर यहाँ आ भी गए। दुर्योधन भी अपने आश्रय से तभी निकलकर आया, जब बलराम आ गए।··· यह सब संभव नहीं लगता। यह सारा कुछ आकस्मिक तो नहीं हो सकता। जीवन में संयोग होते हैं; किंतु ऐसे संयोग की तो वे कल्पना भी नहीं कर सकते।···

दुर्योधन ने आकर अपने गुरु को प्रणाम किया, "मैं आपकी शरण में हूँ गुरुवर !"

बलराम ने आशीर्वाद देकर पूछा, "कैसे हो दुर्योधन ?"

"आपकी कृपा चाहिए गुरुदेव ! मैं भीम के साथ गदायुद्ध करने जा रहा हूँ।" वह बोला, "आपके आशीर्वाद से विजय मेरी ही होगी; और तब धर्मराज के वचनानुसार हस्तिनापुर का राज्य भी मेरा होगा और ये लोग पुनः वन में चले जाएँगे।"

बलराम के मुख पर प्रसन्नता की प्रभा प्रकट हुई, जैसे उनकी कोई मनोकामना पूरी हो रही हो।

"उचित ही है।" बलराम बोले, "तुम दोनों का धर्मसंगत गदायुद्ध हो। किंतु युद्ध वहाँ नहीं होना चाहिए। यह स्थान धर्मयुद्ध के लिए उपयुक्त नहीं है।"

"आप कौन-सा स्थान उपयुक्त समझते हैं ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"ओघवती के तट पर समंतपंचक ठीक रहेगा।"

"क्यों ?" भीम ने पूछा। उसके स्वर में स्पष्ट उद्दंडता थी।

"क्योंकि वहाँ परशुराम ने युद्ध कर क्षत्रियों के रक्त से पाँच सरोवर भर दिए थे। वह स्थान पवित्र माना जाता है।"

"दुर्योधन के अपवित्र रक्त से आप उस पवित्र स्थान को अपवित्र क्यों करना चाहते हैं ?" भीम ने मुस्कराकर पूछा।

बलराम ने उपेक्षा से मुँह फेर लिया, जैसे वे भीम के मुँह न लगना चाहते हों। युधिष्ठिर ने कृष्ण की ओर देखा। कृष्ण ने स्वीकृति में सिर हिला दिया।

कृष्ण सोच रहे थे : समंतपंचक में ऐसा क्या है कि बलराम उन्हें वहाँ ले जाना चाहते हैं ? एक प्रकार से उन्होंने अब इस युद्ध को अपने नियंत्रण में ले लिया था। स्थान का चयन वे करेंगे। शस्त्र और योद्धा का चयन दुर्योधन ने किया था। संभव है नियमों का निर्धारण भी बलराम ही करें।... इसीलिए तो दुर्योधन उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। वह युधिष्ठिर को एक आध रात रुक जाने का परामर्श दे रहा था। क्या उसे अनुमान नहीं था कि बलराम आज की संध्या तक ही यहाँ पहुँच जाएँगे ?... क्या उसने पहले से ही यह अनुमान लगा लिया था कि वह यहाँ खोज लिया जाएगा और उसका द्वंद्वयुद्ध होगा ?...

सहसा कृष्ण के मन में एक नया विचार अंकुरित हुआ... नहीं ! यह तो संभव ही नहीं है। दुर्योधन और बलराम में यह निश्चय युद्ध से भी पहले अथवा युद्ध के मध्य किसी समय हुआ होगा कि युद्ध की समाप्ति पर यदि ऐसी स्थिति आए कि वह असहाय हो जाए और उसे अपने प्राणों पर संकट दिखाई देने लगे तो वह यहाँ आकर छिप जाए।... आज का युद्ध आरंभ होते ही, अथवा शल्य के धराशायी होते ही दुर्योधन ने बलराम को संदेश भिजवा दिया होगा कि वे उसकी सहायता के लिए आ जाएँ, और स्वयं वह आकर यहाँ छिप गया। ऐसे में दुर्योधन का संदेश ले जाने वाले को भी यह ज्ञात होना चाहिए था कि बलराम मित्रावरुण के आश्रम में प्रतीक्षा कर रहे होंगे।... यह भी क्या पहले से निश्चित था ? ऐसा संभव तो नहीं लगता, किंतु और कुछ हो भी तो नहीं सकता।... बलराम से इस प्रकार की योजनाओं की कृष्ण को तनिक भी अपेक्षा नहीं थी... किंतु बहुत समय से बलराम खुलकर दुर्योधन का पक्ष लेने लगे थे। उन्होंने तो सुभद्रा के पति के रूप में भी दुर्योधन को ही चुना था। उनका प्रिय शिष्य कृतवर्मा भी तो दुर्योधन के पक्ष से युद्ध कर रहा है, जैसे बलराम अपने स्थान पर उसे दुर्योधन की सहायता के लिए छोड़ गए हों। बलराम दूर रहकर भी युद्ध में उतने ही लिप्त थे, जितने कृष्ण युद्धक्षेत्र में उपस्थित रहकर थे।... कृष्ण ने ही दुर्योधन से उनके संबंधों पर कभी गंभीरता से विचार नहीं किया।

"यात्रा पर आपके साथ गए अन्य लोग कहाँ हैं ?" सहसा कृष्ण ने अपना पिछला

प्रश्न दुहराया, "वे आपके साथ नहीं आए ?"

"वे लोग तो प्रभास तीर्थ में ही मुझसे विदा होकर द्वारका चले गए थे।" बलराम ने कहा।

कृष्ण ने और कुछ नहीं कहा। निश्चय ही बलराम इस युद्ध में किसी उपयुक्त समय पर दुर्योधन की सहायता करने के लिए ही समरभूमि के एकदम निकट प्लक्षप्रस्रवण में मित्रावरुण के आश्रम में आकर रुके हुए थे, अन्यथा वे भी प्रभासक्षेत्र से ही द्वारका लौट गए होते।

"चलो दुर्योधन ! तुम मेरे साथ मेरे रथ में चलो।" बलराम ने एक प्रकार से दुर्योधन को सुरक्षित समंतपंचक पहुँचाने का दायित्व अपने ऊपर ले लिया।

"नहीं बलराम !" युधिष्ठिर शांत भाव से बोले, "आप चाहें तो रथ में जाएँ। दुर्योधन हमारे साथ पैदल ही समंतपंचक जाएगा।"

बलराम ने स्थिर दृष्टि से युधिष्ठिर को देखा, "इसका अर्थ यह तो नहीं है कि तुम उसे अपना बंदी समझकर अपने साथ ले जा रहे हो और मार्ग में घेर कर मार डालना चाहते हो ?"

"नहीं !" युधिष्ठिर बोले, "हमारा ऐसा कोई विचार नहीं है। वस्तुतः यह हमारा व्यवहार ही नहीं है। फिर भी आप इतने ही आशंकित हैं तो उसकी रक्षा के लिए आप भी हमारे साथ चल सकते हैं।"

बलराम ने कुछ नहीं कहा; किंतु युधिष्ठिर की कटुता को वे भी अनुभव कर रहे थे। वे अपने रथ में बैठकर चले गए।

कृष्ण को ऐसे ही अवसर की प्रतीक्षा थी। युधिष्ठिर के निकट आकर धीरे-से बोले, "धर्मराज़ ! आपने दुर्योधन से जो कुछ भी कहा है, उसे केवल युक्ति ही मानिए। उसे अपना वचन मानकर भीम तथा हम सबको धर्मयुद्ध इत्यादि के बंधनों में मत बाँधिएगा। अब बलराम भैया दुर्योधन के साथ हैं। वे एक प्रकार से उसे जीवित बचा ले जाने का प्रयत्न कर रहे हैं। कहीं दुर्योधन ने भीम को पराजित कर दिया तो न केवल बलराम भैया, अर्जुन को दुर्योधन का वध नहीं करने देंगे। वे हस्तिनापुर का राज्य भी उसे दे देने के लिए अड़ जाएँगे।"

"क्या यह संभव है कि दुर्योधन भीम को पराजित कर दे ?" युधिष्ठिर का स्वर पहली बार कुछ दुर्बल हो आया था।

"युद्ध में तो कुछ भी संभव है धर्मराज !" कृष्ण बोले, "भीम दुर्योधन से कहीं अधिक शक्तिशाली है, पर संभव है कि दुर्योधन ने अभ्यास अधिक किया हो। अपने वनवास में मध्यम पांडव को न तो गदायुद्ध का कोई गुरु मिला और न ही कोई दक्ष प्रतिद्वंद्वी। अभ्यास करते भी तो किसके साथ करते ?" वे रुके, "हमें सावधान रहना है।"

"तुम चिंता मत करो कृष्ण !" भीम ने पूर्ण आत्मविश्वास के साथ कहा, "मैं दुर्योधन का वध कर डालूँगा। हमने अट्ठारह दिनों का यह युद्ध देखा है। इससे पहले भी

अनेक युद्ध लड़े गए हैं। क्या हम अब तक यह समझ नहीं पाए कि युद्ध में कोई नियम नहीं होता। नियमानुसार तो बस क्रीड़ा ही होती है। युद्ध तो युद्ध ही होता है। उसका एकमात्र धर्म है विजय। उसका एकमात्र नियम है बल। नियम, न्याय और धर्म की बात करने वालों को इतना तो समझ ही लेना चाहिए कि न्याय से लोगों को उनका अधिकार दे दिया जाए तो फिर युद्ध ही क्यों हो ?"

"फिर भी···" युधिष्ठिर बोले।

"मेरी गदा दुर्योधन की गदा से डेढ़ गुना भारी है।" भीम ने कहा, "दुर्योधन इसे उठाकर चले, तो भी थक जाए। यह मेरे बल का प्रमाण है। युद्ध बल से ही जीते जाते हैं, नियमों से नहीं।"

"ठीक है।" कृष्ण बोले, "आप उसकी दोनों जंघा तोड़कर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करें। पर दुर्योधन को सामान्य योद्धा मानकर, उसकी उपेक्षा मत कीजिएगा। उससे प्रयत्नपूर्वक युद्ध करना होगा। वह अभ्यासकुशल है, और युद्धकला में चतुर है। ऐसा न हो कि उसकी धूर्तता ही आपको पराजित कर दे।"

"ऐसा नहीं होगा।" भीम का स्वर आत्मविश्वास से परिपूर्ण था, "मैं दीर्घकाल से संचित अपना क्रोध उस पर छोड़ूंगा तो उसकी फूत्कार से ही वह मर जाएगा।"

कृष्ण के मन में बहुत सारे विचार उथल-पुथल मचा रहे थे।··· यह तो धर्मराज ने अच्छा ही किया कि दुर्योधन को बलराम के साथ उनके रथ में जाने की अनुमति नहीं दी। वे अपने साथ ले जाते तो जाने फिर दुर्योधन पांडवों की पकड़ में आता भी या नहीं। वे दुर्योधन को भाग जाने की सुविधा देकर, बड़ी सरलता से कह सकते थे कि किसी एक दुर्गम स्थान पर दुर्योधन रथ से उतरकर भाग गया और वे उसे पकड़ नहीं पाए। यह भी संभव है कि वे उसे कुछ विशेष युक्तियाँ सिखाना चाहते हों।··· बलराम ने तो युद्ध आरंभ होने से पहले ही कहा था कि कौरवों की भी सहायता करना। नारायणी सेना दुर्योधन को देकर भी वे संतुष्ट नहीं थे।··· और अब वे आ गए थे, दुर्योधन की रक्षा के लिए। होना तो यह चाहिए था कि अब जब दुर्योधन पांडवों के अधिकार में था तो वे उसे अपने मनमाने ढंग से मार डालते। इसमें इतने नियम, विधि-विधान और धर्मशास्त्र की क्या बात है। भीम ने ठीक ही तो कहा था कि युद्ध का एकमात्र नियम होता है—बल। जरासंध ने भी सदा उसी का पालन किया था। कंस भी वही कर रहा था; और दुर्योधन भी।··· आज जब वह अकेला रह गया है और उसकी मृत्यु निश्चित है, बलराम उसको बचाने के लिए विभिन्न प्रकार से हस्तक्षेप कर रहे हैं।··· पर वे भीम और दुर्योधन का गदायुद्ध देखने को इतने आतुर क्यों हैं ? उन्हें दुर्योधन को जीवित बचाना ही है तो वे संधि की बात क्यों नहीं करते ? वे उन्हें लड़ने से रोकते क्यों नहीं ? क्यों नहीं कहते कि बहुत हुआ, अब दुर्योधन के पापों को क्षमा कर दो और भाइयों के समान प्रेम से रहो ?··· क्या वे इस गदायुद्ध में दुर्योधन की विजय को निश्चित मानते हैं ? इसीलिए चाहते हैं कि यह युद्ध हो और भीम मारा जाए ? वे वस्तुतः भीम के वध का प्रबंध कर रहे हैं।··· और उन्होंने इस युद्ध

के लिए समंतपंचक को ही क्यों चुना ? क्या उन्हें लगता है कि द्वैपायन सरोवर के तट पर पांडवों ने दुर्योधन के वध का कोई विशेष प्रबंध कर रखा है ? या वे यह मानते हैं कि वहाँ दुर्योधन का कोई संगी-साथी नहीं है।··· पर समंतपंचक में ही कौन दुर्योधन की सेना खड़ी है ? क्या वे अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा के आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं ? या उन तीनों का भी समंतपंचक में आना पहले से ही निश्चित है ? यदि वे लोग वहाँ आ गए तो फिर यह भीम और दुर्योधन का गदायुद्ध नहीं, एक संपूर्ण युद्ध ही होगा। बलराम चाहें कितना रोकें किंतु चार-चार महारथियों के होते हुए, इस वैर का केवल दो प्रतिद्वंद्वियों के गदायुद्ध तक सीमित रहना संभव नहीं है।···

तो यहाँ समंतपंचक में कौन-से साथी हैं दुर्योधन के अथवा बलराम के ? यदि अश्वत्थामा इत्यादि नहीं आए तो और तो कोई है ही नहीं। क्या बलराम वहाँ तीर्थयात्रियों और साधु-संन्यासियों की भीड़ एकत्रित करवाना चाहते हैं ? संसार को त्याग चुके, धर्मभीरु मुमुक्षु लोगों की भीड़। उससे क्या होगा ? क्या तालियाँ बजाने वाले दर्शकों से दुर्योधन का बल बढ़ जाएगा ?··· और सहसा कृष्ण को लगा कि इससे वस्तुतः दुर्योधन का बल बढ़ जाएगा।··· वहाँ केवल वे लोग होंगे, जो युद्धचर्चा नहीं, धर्मचर्चा करते हैं। वहाँ वे लोग होंगे, जिन्होंने पांडवों और कौरवों के बीच अपना पक्ष स्थिर नहीं किया है। वे मध्यस्थ हैं अथवा उदासीन। वे नहीं जानते कि दुर्योधन कितना अधर्मी है। वे नहीं जानते कि उसने क्या-क्या पाप किए हैं। स्पष्टतः यह जानकर कि दुर्योधन अकेला है और पांडव पक्ष में अनेक लोग हैं, वे मानेंगे कि बेचारा दुर्योधन अपने शत्रुओं में घिर गया है। उनकी सहानुभूति स्वभावतः दुर्योधन की ओर हो जाएगी। वे पांडवों के किसी भी प्रकार के बलप्रयोग को अधर्म मानने लगेंगे।··· यह तो प्रसंग से काटकर, पिछली सारी कर्मशृंखला से पृथक् कर केवल एक, और वह भी अंतिम घटना पर निर्णय करने की सी स्थिति है। इसका अर्थ है कि दुर्योधन अपने पिछले सारे पापों से मुक्त हो गया। जो कुछ होना है, बस आज के द्वंद्व से ही होना है—जय-पराजय, धर्म-अधर्म, राज्य या वनवास, यश-अपयश। बलराम ने दुर्योधन का पिछला सारा आचरण धोकर स्वच्छ कर दिया है।··· उससे पांडवों का पक्ष दुर्बल होगा। उनका भी आज तक का किया हुआ धर्मपूर्ण आचरण समाप्त हो गया। उनकी पीड़ा, उनके विरुद्ध किया गया अन्याय और अधर्म—सब कुछ समाप्त हो गया। युधिष्ठिर और दुर्योधन समान हो गए। एक ही धरातल पर खड़े हो गए। यह पापी और पुण्यात्मा का युद्ध नहीं रहा, दो प्रतिद्वंद्वियों की प्रतिस्पर्धा हो गई ··· बलराम ने स्थान बदलकर एक प्रकार से सारा दृश्य ही बदल दिया है। उदासीन, तटस्थ अथवा मध्यस्थ दर्शकों के बीच इस प्रकार के एक द्वंद्वयुद्ध के माध्यम से पांडवों के आजीवन चलने वाले संघर्ष का परिणाम घोषित करवाना चाहते हैं बलराम। जो हत्या के साक्षी नहीं हैं, उनके सम्मुख हत्यारे को मृत्युदंड देने से उनकी सहानुभूति तो हत्यारे के पक्ष में ही जाएगी।···

समंतपंचक तक पहुँचते-पहुँचते सूर्य का प्रकाश पूर्णतः धुँधला गया था। अंधकार नहीं

हुआ था; किंतु उसका आभास होने लगा था। परशुराम द्वारा बनाए गए, पाँच कुंडों से कुछ हटकर ओघवती के तट पर तीर्थयात्रियों की भीड़ थी। घाट पर अनेक संन्यासी भी विभिन्न प्रयोजनों से उपस्थित थे। वहाँ उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि बलराम के रथ पर पड़ी। एक अकेले रथ का आना कोई असाधारण बात नहीं थी। बहुधा राजा और धनाढ्य लोग अपने रथों पर इस क्षेत्र में आ जाया करते थे। किंतु पांडवों के अनेक युद्धक रथों के आने से वायुमंडल में अनेक जिज्ञासाएँ मँडराने लगीं। दुर्योधन तथा भीम के गदायुद्ध का समाचार वन की आग के समान तत्काल सब ओर प्रचारित हो गया।'" अनेक लोग रक्तपात होने की संभावना से ही डरकर, दूर चले गए; किंतु अनेक लोग, इस असाधारण युद्ध को देखने की उत्सुकता में आगे भी बढ़ आए, जैसे वे इस युद्ध रूपी यज्ञ की पूर्णाहुति के साक्षी होना चाहते हों। बलराम की अध्यक्षता में युद्ध होने वाला था तो फिर भय क्या ? दर्शकों की सुरक्षा का दायित्व स्वयं बलराम का था। कृष्ण और धर्मराज भी वहाँ उपस्थित थे। अधर्म का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। दर्शकों पर कोई प्रहार नहीं करेगा; और फिर यह तो मात्र गदायुद्ध ही था। यहाँ न दिव्यास्त्र चलेंगे और न ही देवास्त्रों का प्रदर्शन होगा, जिससे उस क्षेत्र में उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति के लिए संकट उपस्थित होता है।

बलराम ने जैसे युद्ध का नियंत्रण अपने हाथ में ले लिया।

"धर्मराज ! मेरी बात ध्यान से सुनो। यह गदायुद्ध वैसा नहीं होगा, जैसा युद्ध पिछले अट्ठारह दिनों से होता आ रहा है।" बलराम बोले, "दुर्योधन और भीम दोनों ही मेरे शिष्य हैं। उन्हें मैंने गदायुद्ध की शिक्षा दी है। वे उसकी नियमावली को जानते हैं। मेरे अखाड़े में जैसे गदायुद्ध होता है, वैसे ही, उन्हीं नियमों के अधीन, यहाँ भी युद्ध होगा।"

कृष्ण उनके निकट आ गए, "भैया ! नियम केवल क्रीड़ा में होते हैं। युद्ध में कोई नियम नहीं होता। युद्ध के नियमों को केवल दुर्बल पक्ष मानता है। अन्यथा युद्ध का एकमात्र नियम और धर्म बल है; और उसका एकमात्र न्याय विजय है। दुर्योधन ने पिछले अट्ठारह दिनों में ही नहीं, आजीवन यही किया है, अन्यथा पांडवों द्वारा अज्ञातवास पूरा कर लेने पर वह पांडवों को उनका राज्य दे देता। द्रौपदी के साथ द्यूतसभा में किया गया व्यवहार क्या किसी राजसभा की द्यूतक्रीड़ा के नियमानुसार था। पांडवों के लिए वह क्रीड़ा थी, इसलिए उसके कुछ नियम थे, जिन में वे बंधे हुए थे; किंतु दुर्योधन के लिए वह युद्ध था, इसलिए वह केवल अपने बल का प्रदर्शन कर रहा था। अट्ठारह दिनों के युद्ध की अंतिम परिणति, इस गदायुद्ध को, आप क्रीड़ा में परिवर्तित कर देना चाहते हैं। उस क्रीड़ा के लिए आपने दर्शक भी जुटा लिए हैं। पर यह कैसे संभव है ? यह युद्ध है तो युद्ध ही रहेगा।"

"इसीलिए इसे तुम्हें न सौंपकर मैंने स्वयं इसकी अध्यक्षता स्वीकार की है।" बलराम बोले, "इसे वैसा ही समझो, जैसा हस्तिनापुर की रंगभूमि में द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यों के कलाकौशल का प्रदर्शन किया था। यहाँ भी मेरे दो शिष्यों की स्पर्धा हो रही है। न वहाँ किसी बाहरी योद्धा को शंस्त्र उठाने की अनुमति थी और न यहाँ है।"

"आप ठीक कह रहे हैं भैया ! किंतु वहाँ द्रोणाचार्य हस्तिनापुर के राजपरिवार को यह

दिखाना चाहते थे कि उन्होंने कौरव राजकुमारों को कितनी शस्त्रविद्या प्रदान की है और यहाँ एक दीर्घकालीन सर्वग्रासी युद्ध का अंतिम निर्णय होना है। उससे इसकी क्या तुलना है ?"

"जो भी हो। दोनों एक समान ही हैं। अंतर केवल इतना है कि वहाँ वध की अनुमति नहीं थी, यहाँ वध की भी अनुमति है। इसीलिए वह क्रीड़ा थी, यह युद्ध है। किंतु एक बात का ध्यान रहे कृष्ण ! दुर्योधन मेरा शरणागत है। मैं अपने शरणागत के साथ किसी प्रकार का अत्याचार नहीं होने दूँगा।" बलराम ने अपना स्वर ऊँचा उठाया, "अब गदायुद्ध आरंभ हो। दुर्योधन को कवच और शिरस्त्राण दिया जाए।"

कृष्ण देख रहे थे कि पांडवों के भय के कारण समरभूमि से भागकर द्वैपायन सरोवर में जाकर छिप जाने वाला दुर्योधन इस समय बिना किसी संभ्रम, भय, ग्लानि और व्यथा के युद्धस्थल में सिंह के समान निर्भय खड़ा था। क्यों ? केवल इसलिए कि बलराम आ गए थे। उन्होंने उसे अपना शरणागत मानकर न केवल उसकी रक्षा का प्रबंध आरंभ कर दिया था, वरन् उसकी विजय के लिए भी वे उद्यमशील थे। वे भी जानते थे कि दुर्योधन के पास अभ्यास है और भीम के पास बल। दोनों को युद्ध के लिए छोड़ दिया जाए तो भीम दुर्योधन का कचूमर निकाल देगा। भीम का क्रोध, भीम का प्रतिशोध और भीम की प्रतिज्ञा का आवेश केवल हत्या कर सकता है, क्रीड़ा नहीं। अपने आवेश में उसे नियम स्मरण भी नहीं रहेंगे। दुर्योधन का अभ्यास ही उसकी शक्ति है। बलराम भीम के गुणों को बाँधते जा रहे हैं और दुर्योधन की क्षमताओं को महत्त्वपूर्ण बनाते जा रहे हैं। अध्यक्ष के रूप में वे तनिक भी तटस्थ नहीं हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि दुर्योधन उनका शरणागत है।''' तो यह न युद्ध है, न क्रीड़ा। यह तो स्पष्ट रूप से भीम के वध का षड्यंत्र है। इसी प्रतिस्पर्धा पर इस युद्ध का परिणाम निर्भर करता है। ओह ! क्या कर दिया भैया बलराम ने। क्या होगा इस युद्ध का परिणाम !

चारों ओर सैनिकों ने घेरा डाल रखा था। पांडव महारथी बैठ गए थे। दर्शकों की भीड़ भी जुट आई थी। उन सबके मध्य खड़े थे दुर्योधन और भीम। दोनों ने कवच धारण किए थे। दुर्योधन का कवच किसी भी प्रकार भीम के कवच से हीन नहीं था। दोनों ने शिरस्त्राण धारण किए थे। दोनों अपनी गदाओं के साथ सन्नद्ध थे।

कृष्ण देख रहे थे कि दुर्योधन के प्रति क्रोध से भरे हुए पांडव योद्धा बँधे खड़े थे। उनकी भुजाओं की मछलियाँ फड़क रही थीं। मन उबल रहे थे। शस्त्र तड़प रहे थे। वे किटकिटाकर दुर्योधन पर टूट पड़ना चाहते थे। उनको मुक्त छोड़ दिया जाता तो इस समय दुर्योधन के शरीर की बोटी-बोटी हो जाती। किंतु बलराम आ गए थे। वे अपनी अध्यक्षता में धर्मसंगत द्वंद्व करवा रहे थे। भीम और दुर्योधन के मध्य कोई तीसरा आ ही नहीं सकता था।

सहसा बलराम ने घोषणा सी करते हुए उच्च स्वर में कहा, "यह धर्मयुद्ध है। इसका अर्थ है कि तुम लोग न तो रात्रि के समय दुर्योधन के वध का प्रयत्न करोगे और न ही उसे अकेला पाकर घेर कर मारोगे।"

"यह कैसा युद्ध है ?" अर्जुन ने धीरे से कृष्ण से पूछा।

"तुम्हें युद्ध जैसा कुछ भी लग रहा है यहाँ ?" कृष्ण मुस्कराए, "यह तो जैसे कोई उत्सव हो रहा है, जिसमें दर्शकों के मनोरंजन के लिए दो योद्धाओं का दंगल हो रहा है। बलराम भैया द्वारका में इस प्रकार के दंगल करवाने के अभ्यस्त हैं।"

बलराम ने युद्ध आरंभ करने का संकेत दे दिया।

भीम उछलकर सामने आया और बोला, "अब यह फिर कभी अपने पैरों पर चलकर हस्तिनापुर में प्रवेश नहीं करेगा। मैं इसकी सारी युद्धश्रद्धा अभी शांत कर दूँगा।"

भीम की उस भारी-भरकम गदा और उसके उग्र रूप को देखकर भी दुर्योधन विचलित नहीं हुआ। वह आत्मविश्वास ही नहीं हर्ष से भी भरापूरा लग रहा था, जैसे उसे अपनी सफलता का कोई असाधारण अवसर उपलब्ध हो गया हो।

वह बोला, "आज भी मैं एक-एक कर तुम सारे भाइयों को युद्ध में पराजित करने का सामर्थ्य रखता हूँ। तुम देखो तो सही, कौन किसकी युद्धश्रद्धा को तृप्त करता है।"

"तूने मेरी शैया पर सर्प छोड़ा था। तूने मुझे विष दिया था। तूने वारणावत में हमें जलाने का प्रयत्न किया था। तूने द्यूतविद्या न जानने वाले धर्मराज से कपटपूर्वक हमारा राज्य छीना। तूने रजस्वला एकवस्त्रा द्रौपदी का अपमान किया। तुझे मैं जीवित नहीं छोड़ूंगा।" भीम के मुख से जैसे झाग निकल रही थी, "आज तू जीवित नहीं बचेगा।"

"तो गदा उठाकर प्रहार कर।" दुर्योधन बोला, "बातें क्या बना रहा है।"

"तुझे बता रहा हूँ मंदबुद्धि कुलनाशी ! कि जिस प्रातिकामी को तूने द्रौपदी को लाने भेजा था, उसका वध कर दिया है मैंने। वहाँ खड़े होकर प्रसन्न होने वाले तेरे भाइयों को एक-एक कर मार डाला है मैंने। तेरे उस परम प्रिय भाई दुःशासन को तुम सबकी आँखों के सम्मुख पटककर मारा है मैंने। उसका हाथ उखाड़कर उसी से पीटा है उसको। उसका वक्ष फाड़कर उसका रक्त पिया है मैंने।" भीम की आँखें लाल हो आईं, "आज तेरी जंघाएँ तोड़कर मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी करूँगा।"

भीम ने उछलकर दुर्योधन पर आक्रमण किया। धर्मराज ने देखा : युद्ध आरंभ करने से पहले भीम ने अपने गुरु बलराम के प्रति तनिक भी श्रद्धा का प्रदर्शन नहीं किया था। आशीर्वाद नहीं लिया था। प्रणाम नहीं किया था। वह अपने गुरु के इस आचरण से तनिक भी प्रसन्न नहीं था। उन्हें स्मरण था कि जिन द्रोणाचार्य को प्रणाम कर उनकी प्रदक्षिणा कर अर्जुन युद्ध में आगे बढ़ा था, उन्हीं आचार्य को अपशब्द कहते हुए, उनके रथ को उठाकर फेंक दिया था भीम ने। यदि उसे गुरु का आचरण दंभपूर्ण लगे तो वह उनका तनिक भी सम्मान नहीं कर पाता था। ··· युधिष्ठिर के मन में एक आशंका घर करती जा रही थी। कहीं ऐसा न हो कि बलराम की किसी बात से रुष्ट होकर भीम उन पर ही प्रहार कर बैठे। उसका क्रोध आज अपनी पराकाष्ठा पर था। इस समय भीम को मर्यादित करने का प्रयत्न अत्यंत विस्फोटक भी हो सकता था।

दुर्योधन ने आगे बढ़कर उसका सामना किया। दोनों जैसे लंबे शृंगों वाले ऋषभों के समान परस्पर भिड़ गए थे। दुर्योधन के शरीर से रक्त बह चला। निश्चित रूप से भीम

का पहला ही प्रहार इतना प्रबल था कि दुर्योधन का कवच भी उसका प्रतिकार नहीं कर पाया। उसके पहले के घाव भी फिर से फट गए हो सकते हैं।

घात-प्रतिघात होते रहे और दोनों अपनी-अपनी भारी गदा घुमाते हुए स्वयं को थकाते रहे। भीम रुका। उसे विश्राम की आवश्यकता पड़ गई थी। दुर्योधन के लिए यह अवसर था, जब वह भीम पर आक्रमण कर सकता था; किंतु यही वह अवसर भी था जब वह भी विश्राम कर सकता था। यदि इस समय वह नहीं रुकता और भीम पुनः आक्रामक हो उठता तो दुर्योधन को श्वास लेने का भी अवकाश नहीं मिलता। शत्रु को थकाकर स्वयं भी विश्राम कर लेना चाहिए—यही उचित था।

दो ही घड़ियों में भीम पुनः सक्रिय हो उठा। वह विभिन्न मार्गों और मंडलों में घूमता हुआ दुर्योधन की ओर बढ़ा। उसकी घूमती हुई गदा का वेग असाधारण था। उसके बीच में घुसकर उसे मारने का प्रयत्न आत्महंता होता। भीम आगे बढ़ा तो दुर्योधन पीछे हट गया। भीम उसे गिराकर उस पर छा जाने का प्रयत्न कर रहा था और दुर्योधन अपने स्थान पर पैर जमा कर खड़े रहने के लिए प्रयत्नशील था। दुर्योधन गिरा तो भीम रुक गया। गिरे हुए विरोधी पर प्रहार करना अखाड़े के नियम के विरुद्ध था। वह देख रहा था कि बलराम सतर्क थे। यदि वह वैसा कुछ करता तो संभवतः वे हस्तक्षेप करने के लिए उठ खड़े होते।

दुर्योधन उठकर खड़ा हुआ तो भीम ने पुनः प्रहार किया। उसका परिणाम देखे बिना उसने दो चक्कर काटे और पिछले हाथों गदा से प्रहार किया। दुर्योधन ने उसका बढ़ाव रोका और उसके दोनों वार विफल कर दिए। एक बार झुककर और एक बार उछलकर। इस बार दुर्योधन ने प्रहार किया। पहले निकट आकर सामने से और फिर दूर जाते हुए, पीछे की ओर किए हुए हाथ से। एक बार तो ऐसा लगा कि वे लोग गदा को नहीं घुमा रहे, गदा ही अपने वेग में उनको अपने पीछे घूमने को विवश कर रही है। वे लोग केवल उसमें संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे।

और फिर दोनों ने ही एक साथ एक-दूसरे पर प्रहार किया। गदाएँ उनके शरीरों से टकराईं और दोनों के ही शरीर से रक्त टपकने लगा। स्पष्ट था कि कवच के नीचे से कहीं से मांस फट गया था किंतु अस्थियाँ सुरक्षित थीं। दोनों ही मंडलाकार युद्धस्थल में खड़े थे। उस समय दुर्योधन दक्षिण मंडल में था और भीम वाम मंडल में।

भीम युद्ध के मुहाने पर वाम मंडल में विचर रहा था कि दुर्योधन ने उसकी पसली पर गदा मारी। जिस आघात को देखकर बलराम को लग रहा था कि उससे भीम की पसलियाँ चूर हो जाएँगी और वह भूमि पर जा गिरेगा, उसकी भीम ने तनिक भी चिंता नहीं की और अपनी भारी गदा घुमाई। दुर्योधन ने उसका प्रहार रोकने के लिए बड़े कौशल से उसकी गदा पर अपनी गदा दे मारी। जोर का शब्द हुआ और गदाओं में से अग्नि स्फुलिंग फूटे।

एक क्षण भी रुके बिना दुर्योधन घूम गया। भीम प्रहार की सोच ही रहा था कि

दुर्योधन विभिन्न मार्गों और मंडलों में से विचरण करता हुआ उसके चारों ओर घूम गया। भीम घिर गया था और दुर्योधन उस पर कहीं से भी वार कर सकता था। लगता था कि दुर्योधन भीम पर भारी पड़ रहा है और भीम की गति कुछ शिथिल होती जा रही है।

"भीमसेन अपनी ही गदा के भार से थकते जा रहे हैं।" धृष्टद्युम्न ने कुछ हताश स्वर से कहा।

शिखंडी का चेहरा भी उद्विग्न हो चला था, "मुझे तो भय लग रहा है कि हमारा सारा परिश्रम कहीं इस द्यूत में ध्वस्त ही न हो जाए।"

सात्यकि का मुख आवेश से कुछ विकृत हो उठा था, "आप क्या समझते हैं कि यदि दुर्योधन जीत जाएगा तो हम यह सारा राज्य उसकी झोली में डाल देंगे ?"

"पहले तो धर्मराज ही थे।" धृष्टद्युम्न बोला, "अब बलराम भी आ गए हैं।"

"उससे क्या। बलराम तो पहले दिन से दुर्योधन के पक्षधर हैं। हमने अपना इतना रक्त इसलिए तो नहीं बहाया है कि युद्ध का निर्णय बलराम का अखाड़ा करे। उनका क्या है। दुर्योधन जो भी करेगा, वह धर्मसंगत होगा; और यदि भीमसेन उसे धराशायी कर देंगे तो बलराम उसे अन्याय घोषित कर देंगे।"

"और नहीं तो क्या।" शिखंडी ने कहा, "यह युद्ध है, कौशल की प्रदर्शनी नहीं। बलराम को नियम और विधान इतना ही प्यारा है तो न जाते तीर्थयात्रा करने। खड़े रहते समरभूमि में अधि-अक्ष बनकर। जहाँ-जहाँ जिसने नियम भंग किया, उसे दंडित करते। स्वयं तो भाग गए यह मानकर कि दुर्योधन जीत ही जाएगा। अब जब कौरव पराजित हो गए हैं तो आ गए हैं धर्म बघारने। हम मूर्ख हैं क्या, जिन्होंने अपना रक्त बहाया और अपने बंधु-बांधवों के प्राणों की बलि दी। महाराज द्रुपद ने इसलिए तो अपने प्राण नहीं दिए कि अंत समय में बलराम आकर सबके स्वामी बनकर अपना आदेश सब पर थोप देंगे।"

"यह तो स्पष्ट रूप से दुर्योधन की सहायता का प्रयत्न है। और कुछ भी नहीं। बने हैं बड़े धर्मधुरंधर।" सात्यकि का स्वर कड़वा हो उठा था, "उपप्लव्य में इन्होंने पहले ही कह दिया था कि कौरवों और पांडवों के लिए वे मध्यस्थ हैं। कौरव भी उन्हें उतने ही प्यारे हैं, जितने कि पांडव। उन्होंने तो धर्मराज को ही द्यूत का पापी घोषित कर दिया था। यह इनके जैसे लोगों के वक्तव्यों का ही परिणाम है कि साधारण जन धर्मराज को द्यूतव्यसनी मानने लगा है। इन्होंने यह नहीं देखा कि किस प्रकार धर्मराज को छलकर, उन्हें धर्म के बंधन में बाँधकर उनसे उनका राज्य, उनके भाई और उनकी पत्नी को छीना गया। इन्होंने तो बस यह देखा कि धर्मराज ने एक पाप कृत्य किया।"

"जहाँ मोह और स्वार्थ प्रबल हों, वहाँ न्याय कैसे टिक सकता है सात्यके !" धृष्टद्युम्न ने कहा।

भीम और दुर्योधन आमने-सामने खड़े हाँफ रहे थे। उनके शरीर स्वेद से ही नहीं रक्त से नहाए हुए थे। शोणित परिप्लुत। जैसे दो दीर्घाकार हाथियों ने अपने दाँतों से परस्पर प्रहार कर एक-दूसरे को घायल कर दिया हो।... दुर्योधन ने भीम को खड़ा देखकर उस पर

प्रहार किया। भीम ने वेग से अपनी ओर आती हुई दुर्योधन की गदा पर अपनी गदा से प्रहार किया। गदाओं की टकराहट से जैसे धरती हिल रही थी। दुर्योधन ने वाम मंडल से चक्कर लगाते हुए, भीम के मस्तक पर प्रहार किया। प्रहार का बल इतना था कि यदि वह ठीक स्थान पर लगता और शिरस्त्राण भीम की सहायता न करता तो परिणाम घातक होता, किंतु भीम उससे विचलित ही नहीं हुआ। इस बार भीम ने दुर्योधन पर अपनी गदा फेंककर प्रहार किया। दुर्योधन समय से गदा के मार्ग से बाहर हो गया। प्रहार विफल हुआ और गदा भूमि पर गिर पड़ी। इस समय भीम असहाय था। दुर्योधन ने तत्काल कौशिक मार्गों का आश्रय लेकर, बार-बार उछलकर, भीम को भ्रमित कर, उसकी छाती पर गदा मारी। गदा के आघात से भीम प्रायः मूर्च्छित हो गया। ऐसा लगा, उसे अपने कर्तव्य का ज्ञान ही नहीं रह गया है, या फिर उसका शरीर सर्वथा असमर्थ हो गया है।

"मध्यम पांडव ने गदा फेंककर क्यों मारी।" धृष्टद्युम्न ने दाँत पीसे, "ऐसी ही भूलों से भयंकर क्षति हो जाती है। यदि दुर्योधन ने इनका वध कर दिया तो हम सब पुनः उसी स्थिति में पहुँच जाएँगे, जहाँ युद्ध आरंभ होने से पहले थे। शायद उससे भी हीन स्थिति में।"

"धृष्टद्युम्न ! चिंता मत करो। अभी मध्यम पांडव के शरीर में प्राण हैं।" अर्जुन ने उसके कंधे पर हाथ रखा, "और फिर हम सब मर तो नहीं गए हैं।"

तभी भीम उछलकर खड़ा हो गया। उसने झपटकर भूमि से अपनी गदा उठाई और जैसे उन्माद की सी स्थिति में दुर्योधन को मार डालने की इच्छा से उसकी पसली पर प्रहार किया।

दुर्योधन घुटने टेककर पृथ्वी पर बैठ गया।

"ठीक कहा था धनंजय ने। अभी मध्यम पांडव के शरीर में प्राण हैं।" शिखंडी के चेहरे पर मुस्कान आ गई।

"जरा बलराम को देखना।" सात्यकि बोला, "कैसे क्षुब्ध हुए बैठे हैं, जैसे इन का वश चले तो स्वयं गदा उठा लें और मध्यम पांडव का मस्तक कुचल दें। यह अध्यक्ष की स्थिति है क्या ?"

दुर्योधन फुफकारता हुआ उठ खड़ा हुआ। वह गदा लेकर भीम की ओर दौड़ा। इस बार उसकी गति में युद्ध का कोई कौशल नहीं था। न ही वह मंडलों में चल रहा था कि विपक्षी के प्रहार से सुरक्षित रहता। यह तो शुद्ध उन्माद ही था। उसने भीम के ललाट पर प्रहार किया। भीम स्थिर खड़ा रहा। उसके मस्तक से रक्त की धारा बहती हुई शिरस्त्राण से बाहर प्रकट न होती तो किसी को यह पता भी न चलता कि भीम को मस्तक पर कैसी चोट लगी है।

भीम ने अपनी गदा से लौटते हुए दुर्योधन पर प्रहार किया। इस प्रहार से दुर्योधन के शरीर की जैसे नस-नस ढीली हो गई। वह काँपता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा।

पांडवों ने उन्मुक्त कंठ हर्षनिनाद किया, "एक प्रहार और मध्यम पांडव और विजय तुम्हारी है।"

पर भीम ने दूसरा प्रहार नहीं किया। वह धराशायी दुर्योधन को देखता रहा। यही तो उसके लिए विश्राम कर लेने का अवसर था।

शिखंडी की आँखों में अश्रु आ गए : भीम तो अद्‌भुत है। ऐसा योद्धा संसार में और कहाँ है।

उठ खड़े होने में दुर्योधन ने अधिक समय नहीं लगाया। इस बार वह सीधा भीम की ओर नहीं दौड़ा। पूर्ण प्रशिक्षित गदाधर के समान विचरते हुए वह भीम के निकट आया और उसने उस पर प्रहार किया। प्रहार सफल रहा था। भीम पर उसका प्रभाव तत्काल ही हुआ। उसका शरीर शिथिल हो गया और उसने धरती थाम ली।

दुर्योधन जैसे आपे से बाहर हो गया था। वह किसी सिंह के समान दहाड़ रहा था, "कौन है जो मुझसे लड़ेगा। आओ। एक-एक कर सारे कुंतीपुत्र आ जाएँ। आज मैं उन सबको मारकर एक बार ही हस्तिनापुर में प्रवेश करूँगा।"

अपने रुधिराक्त मुख को पोंछकर भीम ने बलात् स्वयं को युद्ध के लिए खड़ा किया। उसका कवच फट चुका था और शरीर रक्त से नहाया हुआ था।

सहसा सहदेव कूदकर बीच में आ गया। उसके हाथ में नग्न खड्ग था।

"आप विश्राम कीजिए भैया ! इस दुष्ट का वध शायद मेरे हाथों लिखा हुआ है।"

"नहीं सहदेव !" भीम ने उसे रोक दिया, "अभी मेरी प्रतिज्ञा पूरी नहीं हुई है और मैं अभी जीवित हूँ।"

उस स्थिति में भी भीम ने देखा कि नकुल लड़ने को कसमसा रहा था और अर्जुन की मुट्ठी भी गांडीव पर कसती जा रही थी।

भीम मंडलों में चक्र काटता हुआ आया और उसने दुर्योधन पर प्रहार कर दिया, "तूने सुना नहीं कुलांगार ! कि मैंने कहा था कि तू अपने इन पैरों पर चलकर कभी हस्तिनापुर में प्रवेश नहीं करेगा।"

कृष्ण अर्जुन के निकट खड़े थे। धीरे से बोले, "हमारी प्राप्त हो चुकी विजय, धर्मराज की युक्ति के कारण पुनः संशय में पड़ गई है।"

"यह तो बलराम भैया ने आकर यह स्थिति कर दी है, नहीं तो क्या हम यह दृश्य देखते रहते।" अर्जुन ने कहा, "किंतु अभी भीम लड़ रहे हैं। अभी से निराश क्यों हों।"

"गदायुद्ध लंबा खिंचे तो उसकी क्लांति से बल क्षीण होता जाता है और प्रहार कम प्रभावी होने लगते हैं। दूसरी ओर प्रशिक्षित योद्धा युद्ध के उस अनुभव से अपने प्रशिक्षण को और प्रखर कर लेता है और वह अपने विपक्षी पर भारी पड़ने लगता है।" कृष्ण बोले, "भीम को युद्ध करना चाहिए। वे नियममुक्त होकर लड़ेंगे तो अभी दुर्योधन का वध कर डालेंगे।"

"और भैया बलराम ?"

"वे अपना निर्णय सुना देंगे।" कृष्ण मुस्कराए, "भीमसेन का वध तो नहीं कर देंगे।"

अर्जुन ने भीम पर दृष्टि गड़ाई। भीम का ध्यान युद्ध में था। वह अपने दर्शकों को तो नहीं देख सकता था। यही उचित भी था। दर्शकों के प्रति सजग होने से उसकी एकाग्रता भंग हो सकती थी। एक निमिष के खंडित ध्यान का मूल्य, योद्धा को अपने प्राणों से चुकाना पड़ सकता था।

वे चक्राकार घूम रहे थे। क्रमशः दुर्योधन की अर्जुन की ओर पीठ हो गई। भीम उसके सामने थे। अर्जुन ने प्रयत्नपूर्वक भीम को दिखाते हुए अपनी बाईं जंघा को ठोका।

भीम जैसे किसी गहरी निद्रा से जागा। उसने दुर्योधन की जंघा तोड़ने की प्रतिज्ञा की थी। दुर्योधन ने द्यूतसभा में द्रौपदी को अपनी जंघा पर बैठने का संकेत किया था। तब वहाँ बलराम नहीं आए ? क्यों नहीं अध्यक्षता की उन्होंने द्यूतसभा की। वहाँ के अध्यक्ष तो धृतराष्ट्र थे, जिनकी आज्ञा से द्यूत आरंभ हुआ, धर्मराज को बलात द्यूत खेलाया गया, उनसे एक-एक कर उनकी सारी संपत्ति छीनी गई। कहाँ का नियम था कि द्यूतसभा में राजकुल की रजस्वला तथा एकवस्त्रा वधू को उसके केशों से पकड़कर घसीटकर लाया जाए और उसके उस एक वस्त्र को भी उसके शरीर से पृथक् करने का प्रयत्न किया जाए ? किस नियम के अधीन कर्ण ने द्रौपदी को वेश्या कहा था। किस नियम और अधिकार से कौरवों ने पांडवों के वस्त्र और आभूषण उतरवा लिए थे। सारे नियम दुर्योधन की रक्षा के लिए ही क्यों होते हैं। भीम नियमानुसार लड़ते हैं। वे दुर्योधन के वक्ष पर प्रहार करते हैं तो दुर्योधन उछलकर अपनी जंघाएँ आगे कर देता है; और भीम को अपने ही बल से घुमाई गई गदा को रोकने में अपना सारा कौशल व्यय करना पड़ता है, नहीं तो बलराम उसके प्रहार को नियमविरुद्ध घोषित कर देंगे।''' दुर्योधन यहाँ भी चतुराई कर रहा है। भीम की गदा को वह अपनी गदा से रोकेगा तो उसे कुछ प्रयत्न करना पड़ेगा—कुछ बल, कुछ कौशल लगाना पड़ेगा। वह उछलकर सामने आ जाता है तो युद्ध का सारा दायित्व भीम पर ही आ पड़ता है।''' अब दुर्योधन की चतुराई नहीं चलेगी। अध्यक्ष कोई भी क्यों न हो। जो दुर्योधन को अपनी जंघा दिखाने से नहीं रोक सकता, वह भीम को उसकी जंघा तोड़ने से कैसे रोक सकता है।'''

भीम ने गदा द्वारा यमक तथा कुछ अन्य मंडल दिखाते हुए विचरण किया। दुर्योधन को भ्रमित करते हुए, दक्षिण, वाम, गोमूत्रक मंडल में से होकर सीमा पर जाकर विश्राम के लिए खड़ा हो गया। दुर्योधन को अपने उखड़ते हुए श्वास को नियंत्रित करने का यह उपयुक्त अवसर लगा। उसने भी दो घड़ी विश्राम कर लिया। और फिर दोनों ने ही अपनी विशाल गदाएँ उठा लीं। इस बार दोनों खुले रूप में युद्ध कर रहे थे। निरंतर एक-दूसरे पर प्रहार कर रहे थे। रुधिर से भीगे शरीर जैसे अपनी-अपनी पीड़ा से तड़प- तड़प कर उल्काओं के समान एक-दूसरे पर गिर रहे थे। दुर्योधन ने कनखियों से अर्जुन की ओर देखा : क्या उसने भीम को कोई संदेश दिया है ? वह भीम के निकट रहकर देख सकता है कि अर्जुन क्या कर रहा है।

दुर्योधन को अपने निकट आया देख भीम ने पूरे वेग से गदा चलाई। दुर्योधन

छिटककर अपने स्थान से पीछे हट गया। गदा निष्फल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। दुर्योधन ने भीम के उठने अथवा गदा उठा लेने की प्रतीक्षा नहीं की। उसने निःशस्त्र भीम पर अपनी गदा से वेगपूर्वक आघात किया।

कृष्ण ने बलराम की ओर देखा : वे अपने स्थान पर शांतिपूर्वक बैठे थे। उनके मुख पर एक प्रकार का संतुष्ट आनन्द खेल रहा था।

भीम के शरीर से रक्त की नई धारा फूटी। उसे मूर्च्छा-सी आ गई। पर भीम अपनी वेदना को सँभालने में समर्थ प्रतीत हो रहा था। वह एकटक दुर्योधन की ओर देखता रहा।

दुर्योधन समझ नहीं पा रहा था कि भीम उठ नहीं पा रहा या वह किसी योजना के अधीन अपनी गदा से और दुर्योधन से कुछ दूरी बनाए हुए था। क्या वह चाहता था कि दुर्योधन उसे निःशस्त्र मानकर पुनः प्रहार करे और वह झपटकर अपनी गदा उठा ले और असावधान दुर्योधन को मार्ग में ही गिरा ले ?

दुर्योधन आगे नहीं बढ़ा तो भीम ने गदा उठा ली और लगातार दुर्योधन पर आक्रमण करता रहा। दुर्योधन स्वयं को बचाता तो रहा, किंतु आक्रमण करने का साहस नहीं कर सका। भीम ने अपने निकट आए दुर्योधन पर आक्रमण किया। यह कुछ ऐसा ही था कि पहले आघात का परिणाम देखे बिना ही भीम दूसरा प्रहार कर रहा था। दुर्योधन ने उस प्रहार को बचाना चाहा। भीम को छलने के लिए अपने स्थान पर स्थिर रहने का विचार कर, तत्काल दुर्योधन ने उछलकर हट जाने की इच्छा की। भीम की समझ में आ गया कि दुर्योधन अभी उछलेगा और फिर उसकी जंघाएँ भीम की गदा के सामने होंगी। भीम को पुनः अपना आघात रोकना पड़ेगा। भीम ने अपनी गदा को पूरे वेग से चलाया। दुर्योधन उछला और भीम की गदा ने दुर्योधन की दोनों जंघाएँ तोड़ दीं।

दुर्योधन धरती पर गिर पड़ा।

पर भीम का आवेश शांत नहीं हुआ था। होता भी कैसे। वह चिल्लाकर बोला, "दुर्मति ! तूने एकवस्त्रधारिणी रजस्वला द्रौपदी को सभा में लाकर अपमानित किया और मुझे बैल कहकर उपहास किया। आज उस उपहास का तू आस्वाद कर।"

बलराम अपने स्थान से उठ खड़े हुए।

भीम का बायाँ पैर उठा और उसके आघात से दुर्योधन का मुकुट दूर जा गिरा। उसने दूसरी ठोकर दुर्योधन के मस्तक पर मारी, "देख ! द्रौपदी की तपस्या से पांडवों ने धृतराष्ट्रपुत्रों को रणभूमि में मार गिराया है।"

"भीमसेन !" युधिष्ठिर अपने स्थान से चिल्लाए, "तुमने अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर ली। अब इस कर्म से विरत हो जाओ। दुर्योधन तुम्हारा विपक्षी अवश्य है किंतु वह राजा भी है और हमारा भाई भी। वह इस व्यवहार के योग्य नहीं है।"

"द्रौपदी भी उस व्यवहार के योग्य नहीं थी, जो इसने उसके साथ किया।" भीम ने एक लात और जमा दी।

युधिष्ठिर निकट आ गए, "यही अंतर है हममें और दुर्योधन में। वह मार डाला गया

है। अब उसके साथ दुर्व्यवहार मत करो। वह शोक के योग्य है, उपहास का पात्र नहीं।"

भीम ने आगे बढ़कर पृथ्वी पर पड़े हुए दुर्योधन के कंधे पर से गदा ले ली और अपने बाएँ पैर से उसके सिर को कुचलने का सा प्रयत्न किया। युधिष्ठिर ने उसकी भुजा पकड़ ली और उसे खींचते हुए दूर ले गए।

कृष्ण की दृष्टि निरंतर बलराम पर गड़ी हुई थी। वे देख रहे थे कि बलराम ने देखा है कि भीम ने गदा घुमाकर मारी है और दुर्योधन ने अपना वक्ष बचाने के लिए, उछलकर अपनी जंघाएँ उसके सामने कर दी हैं। भीम ने अपनी गदा को रोका नहीं था। बलराम तत्काल निर्णय नहीं कर पाए थे कि वे इसे क्या मानें। गदा घूम चुकी थी और दुर्योधन की जंघाएँ उसके सामने आ गई थीं और भीम अपनी गदा रोक नहीं पाया था; या भीम ने गदा को रोकने का प्रयत्न नहीं किया था और जान-बूझकर प्रहार उसकी जंघाओं पर किया था। वे तत्काल निर्णय कर पाते तो इस प्रकार किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं बैठे रहते। पर जब भीम ने दुर्योधन के सिर पर अपने पैर का प्रहार किया तो बलराम को क्रोध का स्पष्ट कारण मिल गया था। वे अपने स्थान से उठे और भीम की ओर बढ़े।

"धिक्कार है तुमको भीम ! धिक्कार है।" वे बोले, "गदायुद्ध में नाभि के नीचे कभी प्रहार नहीं किया गया।"

"भीम की आँखें तनिक भी नीची नहीं हुईं। उसी तेज के साथ बोला, "तो मैंने कहाँ नाभि के नीचे प्रहार किया है। प्रहार तो मैंने भी वक्ष पर किया था। अब वह उछलकर ऊपर आ गया तो मैं क्या करूँ। कोई कह दे कि जब गदा दुर्योधन के शरीर से टकराई, तब मेरी गदा मनुष्य की नाभि से कम ऊँचाई पर थी।"

"ठीक है। किंतु अपने आघात के वेग को स्वयं ही न रोक पाना अकुशलता का प्रमाण है।" वे बोले।

"तो आप मुझे अकुशल योद्धा घोषित कर दें। मेरी योग्यता को कम आँकें।"

बलराम भी समझ रहे थे कि भीम की योग्यता को कम आँकने से दुर्योधन की जंघाएँ जुड़ नहीं सकतीं। उसकी अस्थियों की जो स्थिति हो गई थी, उसका उपचार कोई अच्छे से अच्छा वैद्य भी नहीं कर सकता था।

"यह धर्मयुद्ध नहीं है। शस्त्रज्ञान से शून्य मूर्ख भीमसेन ! तुमने स्वेच्छाचार किया है।" वे गरजकर बोले।

"दुर्योधन ने भी अपने जीवन में बहुत सारा स्वेच्छाचार ही किया था।" भीम ने कहा, "उससे तो आप इस प्रकार कभी रुष्ट नहीं हुए। अभिमन्यु को धर्मयुद्ध में मारा था कौरवों ने ? हमारा राज्य धर्मपूर्वक छीना था, दुर्योधन ने ?"

बलराम न तो भीम का तर्क सुनना चाहते थे, न ही उसका उत्तर देने का उनका कोई विचार था। उनकी पीड़ा उनके मुख पर उभर आई, "दुर्योधन मेरे समान बलवान था। गदा युद्ध में उसकी समकक्षता करने वाला कोई नहीं था। मैंने उसे शरण दी थी तो वह द्वैपायन सरोवर से बाहर आया था। तूने उसका अपमान कर मेरा भी तिरस्कार किया है मूर्ख।"

"दो विपक्षियों में से एक को अपना शरणागत मानकर तो द्वंद्वयुद्ध की अध्यक्षता नहीं की जाती वासुदेव बलराम ! आप अपना पाप अपने ही मुख से स्वीकार कर रहे हैं।" भीम ने सीधे उनकी आँखों में देखा, "और जहाँ तक अपमान और तिरस्कार की बात है, कभी हमारे हृदय में भी झाँककर देखिए। जितना तिरस्कार हमारी पत्नी का और हमारा हुआ है, उतना संसार में कभी किसी का नहीं हुआ। आपने अभी तिरस्कार देखा ही कहाँ है। जानते भी हैं कि तिरस्कार होता क्या है ?"

बलराम क्रोध से भीम को देखते रहे, "अभी दुर्योधन मरा नहीं है। उसका उपचार हो सकता है। वह पुनः उठ खड़ा हो सकता है। वह फिर भी तुमसे युद्ध कर सकता है।"

"कौन कराएगा उसका उपचार ?" भीम बोला, "दु:शासन का मैंने वध कर दिया था तो वह अपनी दुर्दशा देखने से पहले ही मर गया। दुर्योधन को वह अवसर नहीं मिलेगा। न मैं उसका वध करूँगा और न ही उसकी चिकित्सा का कोई प्रबंध करने दूँगा। वह यहीं रहेगा, इसी प्रकार। उसके शरीर से रक्त बहेगा और वह क्षीण होगा। वह हिल नहीं पाएगा और वन्य पशु उसके जीवित मांस का स्वाद लेंगे। गीदड़ उसका मांस नोचेंगे और गिद्ध उसकी बोटियाँ खाएँगे। नारीत्व का अपमान करने वाला यह राक्षस सुविधा से मर भी नहीं पाएगा। इसके जीवित रहने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है।"

बलराम ने कुछ नहीं कहा। वे थोड़ी देर भीम को घूरते रहे, जैसे अपना आवेश संचित कर रहे हों; और फिर अकस्मात् ही वे अपना हलायुद्ध उठाकर भीम की ओर झपटे, जैसे वे उसका वध ही कर डालेंगे।

भीम तनिक भी विचलित नहीं हुआ। गुरु के असाधु स्वभाव से उसके मन में उनके लिए तनिक भी श्रद्धा नहीं थी। उसने अपनी गदा उठा ली थी।

कृष्ण असावधान नहीं थे। वे पहले से ही समझ रहे थे कि ऐसी भी स्थिति आ सकती है। उन्होंने झपटकर बलराम को अपनी शक्तिशाली भुजाओं में जकड़ लिया।

"क्या कर रहे हैं भैया ! धर्म-अधर्म की बात भूलकर आप केवल पक्षपात कर रहे हैं।" वे बोले, "दुर्योधन आपका शिष्य और शरणागत था तो पांडव कौन हैं।"

"शत्रु हैं ये मेरे।" बलराम छूटने के लिए कसमसा रहे थे।

"नहीं। शुद्ध पुरुषार्थ का आश्रय लेने वाले पांडव हमारे सहज मित्र हैं। हमारी सगी बूआ के पुत्र होने के कारण हमारे अपने हैं। आत्मीय हैं हमारे। सुभद्रा का पति है अर्जुन ! हमारे अभिमन्यु का पिता।" कृष्ण बोले, "ये भी तो आपकी शरण में आए थे, किंतु आपने कभी इन्हें अपनी शरण दी ही नहीं। क्यों नहीं दी शरण ? शरण क्या अपराधियों और पापियों को ही दी जाती है ?"

"इन्होंने धर्म किया है ?" बलराम चिल्लाए, "छल किया है भीम ने।"

"शत्रुओं ने इनके साथ बहुत छल-कपट किया था।" कृष्ण बोले, "भीम को अपनी प्रतिज्ञा का भी पालन करना था। वह क्षत्रियों का धर्म है।"

"तुम जिस धर्म की बात कर रहे हो, वह अर्थ और काम के लोभ में सर्वथा कलुषित

हो गया है।" बलराम बोले, "तुम धर्म की मनमानी व्याख्या मत करो।"

कृष्ण की भुजाओं की जकड़ कुछ और कस गई, "दुर्योधन अधर्मी था, अतः स्वेच्छाचार के लिए स्वतंत्र था ? धर्म के सारे बंधन क्या केवल पांडवों के लिए ही हैं ? भीम ने अपने शत्रु से युद्ध किया है और उसका वध किया है। उसमें कुछ भी अधर्म नहीं है। दुर्योधन जैसे लोग जब धर्म का सर्वथा विनाश कर देते हैं, युद्ध का आरंभ ही वहाँ से होता है। युद्ध के श्मशान में आप धर्म की बात करने क्यों आए ? क्यों नहीं युद्ध के पूर्व अथवा युद्ध के आरंभ के समय धर्म की चर्चा की ?"

बलराम के पास कृष्ण की किसी बात का उत्तर नहीं था। क्या कहते वे ?''' और कृष्ण की बलिष्ठ भुजाओं से छूटना भी उनके लिए संभव नहीं हो पा रहा था। क्या उनका वह कोमल-सा कान्हा, अब उनसे भी बलिष्ठ हो गया है ? या उनको वार्द्धक्य ने घेर लिया है और उनका शरीर शिथिल पड़ने लगा है ?

बलराम ने अपनी दृष्टि चारों ओर घुमाई''' वहाँ भीम था। उसके भाई थे। अर्जुन जैसा योद्धा हाथ में गांडीव लिये खड़ा था। कृष्ण भी उनके पक्ष में था। धृष्टद्युम्न और शिखंडी भी खड़े थे। द्रौपदी के सारे पुत्र वहीं थे। और था सात्यकि। उसने धर्मराज को दोषी बताने के कारण कभी बलराम को क्षमा नहीं किया था। या शायद स्यमंतक मणि के प्रसंग में कृष्ण पर संदेह करने के समय से ही वह बलराम से रुष्ट था ''' यदि वे कृष्ण की भुजाओं से छूट भी जाएँ तो क्या वे भीम को दंडित कर पाएँगे ? ये सारे योद्धा उन्हें भीम पर प्रहार करने देंगे ? यदि वे शस्त्र उठाएँगे तो क्या कृष्ण चुपचाप बैठा रहेगा ? युद्ध अब समाप्त हो चुका है। कृष्ण की प्रतिज्ञा पूरी हो गई है। उसने युद्ध में अपने हाथ में शस्त्र नहीं उठाया है। किंतु अब वह भी शस्त्र उठा सकता है। पर वे भीम से कितने भी रुष्ट हों, अभी कृष्ण से युद्ध करना नहीं चाहते। न ही कृष्ण उनसे शस्त्र टकराना चाहेगा।''' नहीं ! शायद यहाँ वे मनमानी नहीं कर सकते। वे दुर्योधन की मृत्यु से कितने भी पीड़ित क्यों न हों, उसे पुनः जीवित नहीं कर सकते। न वे उसके लिए भीम का वध कर सकते हैं।''' यही अंतर है शस्त्रक्रीड़ा और युद्ध में। शस्त्रक्रीड़ा में पराजित योद्धा फिर से खड़ा हो जाता है; किंतु युद्ध में पिटा योद्धा फिर अपनी टाँगों पर खड़ा नहीं हो सकता।''' इन्हीं पांडवों के पितामह भीष्म आज भी पड़े हैं शैया पर ! कौरवों और पांडवों—दोनों का प्रेम मिलकर भी उन्हें खड़ा नहीं कर पाया।

बलराम का शरीर शिथिल हो गया।

कृष्ण की भुजाओं ने बलराम के शिथिल होते शरीर से उनके मन की स्थिति को जाना। उन्होंने अपनी भुजाएँ ढीली कर दीं।

"भीमसेन की प्रतिज्ञा तेरह वर्षों से चल रही थी भैया !" कृष्ण बोले, "वह सर्वविदित थी। युद्ध करते हुए दुर्योधन ने उसे स्मरण क्यों नहीं रखा। सदा ही उछल-उछलकर प्रयत्नपूर्वक, उसकी गदा के सम्मुख अपनी जंघाएँ लाता रहा। जिस समय भीम ने उसे मारा था, दुर्योधन न किसी स्थान में था और न ही किसी मंडल में। वह स्वयं ही

युद्धशास्त्र का अतिक्रमण कर उसकी मर्यादा से बाहर निकल गया था।"

कृष्ण की बात का बलराम खंडन नहीं कर सकते थे। किंतु वे अपनी हठ से नहीं टले, "नहीं ! धर्मात्मा राजा दुर्योधन को भीम ने कपट से मारा है। भीम कपटी है।"

कृष्ण समझ रहे थे, यह बलराम की हठ मात्र थी। जो कह दिया वह कह दिया, अब उससे वे टल नहीं सकते। वे दुर्योधन को धर्मात्मा कह रहे थे। जो संसार की सारी पाप शक्तियों का नेता बनकर संसार से धर्म का नाश करने पर तुला हुआ था, उसे बलराम निस्संकोच धर्मात्मा राजा कह रहे थे; और थोड़ी देर पहले ही उन्होंने कृष्ण पर आरोप लगाया था कि वे धर्म की मनमानी व्याख्या करते हैं।··· पर यह कोई आज की बात नहीं थी। वे अपने शैशव से यही तो करते आए हैं।···

"मैं द्वारका जा रहा हूँ।" सहसा बलराम बोले, "अब मेरा यहाँ रहने का कोई प्रयोजन नहीं है।"

"आप तो ऐसे कह रहे हैं वासुदेव बलराम ! जैसे हम आपके कोई नहीं हैं। जो कुछ था, वह दुर्योधन ही था।" धर्मराज ने उनके निकट आकर कहा, "आप हमारे साथ हमारे शिविर में रहिए। दो-एक दिनों में हम हस्तिनापुर जाएँगे तो हमारे साथ चलिए।···"

"नहीं !" बलराम ने उनकी बात काट दी, "मुझे कहीं नहीं रहना है। तुम्हारे साथ भी नहीं रहना है। मैं द्वारका जा रहा हूँ।"

बलराम अपने रथ में बैठे और चले गए। जाते-जाते उन्होंने दुर्योधन की ओर देखा भी नहीं। जैसे वह वहाँ था ही नहीं।

बलराम का रथ दूर निकल गया तो कृष्ण धर्मराज के निकट आए, "बलराम भैया तो इसलिए दुखी थे कि उनकी सर्वाधिक प्रिय पुत्रवधू लक्ष्मणा का पिता युद्ध में पराजित हुआ था। उन्होंने लक्ष्मणा को दुर्योधन की रक्षा का वचन दे रखा था। आप इतने अवसन्न क्यों हैं महाराज ! आप अपने इस मौन से बलराम भैया के विचारों का अनुमोदन तो नहीं कर रहे।"

"तुम जानते ही हो केशव !" भीम ने कहा, "धर्मराज उन लोगों में से हैं, जो अपने दुष्ट से दुष्ट शत्रु के मारे जाने पर भी प्रसन्न नहीं होते। वे यह तो चाहते हैं कि उनके शत्रु उनके मार्ग से हट जाएँ; किंतु वे उनका वध कर प्रसन्न नहीं होते। उनका विश्वास क्षमा में है प्रतिशोध में नहीं। कठिनाई यह है कि इनकी समस्त क्षमा के होते हुए भी हमें दुर्योधन से न्याय नहीं मिल सकता था।"

"नहीं ! ऐसी बात तो नहीं है। वस्तुतः भीम का दुर्योधन को पैरों से ठुकराना मुझे अच्छा नहीं लगा। पर उसके बिना शायद भीम का क्रोध शांत भी तो नहीं हो सकता था।" युधिष्ठिर बोले, "अपने कुल के इस संहार से भी मैं प्रसन्न नहीं हूँ।"

"मेरे क्रोध से धर्मराज का सात्विक मन आहत होता है; किंतु क्या करूँ, मेरे क्रोध के बिना दुर्योधन और दुःशासन जैसे लोग मारे भी तो नहीं जाते।" भीम ने कहा।

"और जहाँ तक कुल के संहार की बात है महाराज ! जो नष्ट हुआ, वह आपका

नहीं था। उस नाश के कर्ता भी आप नहीं हैं।" कृष्ण बोले, "जिसे आप नष्ट होना कहते हैं, वस्तुतः वह प्रकृति द्वारा किया गया सृष्टि का समाहार है।"

कृष्ण की दृष्टि अर्जुन की ओर गई। वह भी अप्रसन्न चित्त और सर्वथा मौन दिखाई पड़ रहा था।

"तुम्हारा मोह भी अभी समाप्त नहीं हुआ है अर्जुन !" कृष्ण बोले, "आसक्ति कभी उन्मुक्त चिंतन नहीं करने देती।"

"नहीं ! ऐसी तो कोई बात नहीं है।" अर्जुन ने धीरे से कहा, "बस बलराम भैया का इस प्रकार रुष्ट होकर जाना मेरे मन को खिन्न कर गया है।"

"उनको प्रसन्न करने के लिए तुम महावीर भीमसेन की बलि तो नहीं दे सकते।" कृष्ण हँसे, "उनके रोष का निदान आज तक मैं भी नहीं कर पाया तो तुम क्यों दुखी होते हो।"

भीम ने अपने हाथ जोड़े और आकर युधिष्ठिर के सम्मुख खड़ा हो गया, "महाराज ! आज यह सारी पृथ्वी आपकी हो गई। सारी चिंताएँ छोड़कर अब आप इसका पालन करें।"

युधिष्ठिर ने स्वयं को सँभाला। उनके चेहरे पर हल्की मुस्कान आई, "सौभाग्य से तुमने इस वैर का अंत कर दिया। श्रीकृष्ण की शरण में आकर हमने यह पृथ्वी जीत ली। सौभाग्य से तुम अपनी माता और अपने क्रोध के ऋण से उऋण हो गए।"

"आप द्रौपदी को भूल रहे हैं महाराज ! पंचाल राजकुमारी की तपस्या से ही हमने धृतराष्ट्र के पुत्रों का वध करने में सफलता पाई है।" भीम ने कहा, "आज मैं पांचाली के ऋण से भी उऋण हो गया हूँ।"

"सत्य कह रहे हैं मध्यम पांडव।" कृष्ण बोले, "भीम के शौर्य के पीछे पांचाली की तपस्या भी है।"

सहसा कृष्ण का ध्यान भूमि पर पड़े दुर्योधन की ओर गया।··· अनेक सैनिक, महारथी और दर्शक—दुर्योधन के चारों ओर घिर आए थे। वे उसे निरंतर कटूक्तियों से बींध रहे थे। वह सिर झुकाए सब कुछ सुन रहा था। कुछ कह नहीं रहा था। संभव था कि कुछ ही देर में कुछ लोग अपने क्रोध का प्रदर्शन करते हुए, उस पर प्रहार भी करें। किसी की भी इच्छा हो सकती थी कि इस प्रकार असहाय और मृतप्राय पड़े हुए दुर्योधन को उसके कुकृत्यों के लिए दंडित किया जाए।

कृष्ण उधर मुड़े, "वीरो ! अब इस मरे हुए अहंकारी राजा को और न मारो। यह तो वस्तुतः उस दिन ही मर गया था, जिस दिन धर्म की ओर से आँखें बंद कर, लोभ और काम का बंदी हो, यह पापियों के निर्देशानुसार आचरण करने लगा था। आप लोग शिविर में चलें और अपनी क्लांति दूर करने के लिए थोड़ा विश्राम करें।"

और सहसा ही मरा हुआ वह दुर्योधन जैसे जीवित हो उठा। उसने अपने हाथों को भूमि पर टेककर अपना सिर ऊपर उठाया और फुफकारते हुए सर्प के समान बोला, "ओ

कंस के दास के पुत्र ! तेरे परामर्श से ही मुझे अधर्म से मारा गया। उसके लिए तुझे लज्जा नहीं आती।"

भीम के जबड़े भिंच गए। उसका हाथ अपनी गदा पर चला गया। कृष्ण ने संकेत से उसे रोका और बोले, "जिसे तू कंस के दास का पुत्र कह रहा है, वह तेरी प्रिय पुत्री लक्ष्मण का श्वसुर भी है। जिसे अपना गुरु कहकर जिसकी चरणधूलि लेकर, जिसका शरणागत होकर तू युद्ध जीतने की आशा कर रहा था, वह मेरा बड़ा भाई है और तेरे अनुसार कंस के दास का ही पुत्र है। क्यों आजीवन उनकी चरणधूलि अपने मस्तक पर लगाता रहा ?" उन्होंने रुककर उस पर एक दृष्टि डाली, "तुझे अपने पाप दिखाई नहीं देते ? अपने अधर्म के प्रति अंधा हो गया है तू ? आततायी सदा अपने पाप से ही मारा जाता है। तू भी अपने पापों से ही मारा गया है। तू उसी दिन वध के योग्य हो गया था, जिस दिन तूने रजस्वला द्रौपदी का अपमान किया था। तू पांडवों के जितने भी कर्मों को अनुचित बता रहा है, वे सब तेरे ही पापों के कारण किए गए हैं। अपने इन सारे कष्टों का अपराधी तू स्वयं है और तेरे वे अपने लोग हैं, जो अपने स्वार्थ और मोह में तुझे पाप मार्ग पर चलने से रोक नहीं सके और तेरे साथ तेरे मार्ग पर चलते रहे।"

भीम ने जोर का शंखनाद किया। अन्य सारे लोगों के शंख भी उनके अधरों से जा लगे।

39

सृंजय, सोमक और प्रभद्रक योद्धा धृष्टद्युम्न के साथ पांचालों के शिविर में लौट गए। जाते-जाते धृष्टद्युम्न ने प्रतिविंध्य की भुजा पकड़ ली, "तुम कहाँ जा रहे हो ?"

"शिविर में।"

"अब तो युद्ध समाप्त ही हो गया है।" धृष्टद्युम्न ने कहा, "आज तो हमारे साथ चलो। कल से तुम्हारे पिता हस्तिनापुर जाने की तैयारी में लग जाएँगे। फिर हमारे साथ कब रहोगे ?"

"मैं अकेला ?"

"अकेले क्यों ?" शिखंडी भी आ गया, "सारे भाई चलो। तुम लोग अकेले अकेले तो कभी रहे ही नहीं हो।"

प्रतिविंध्य ने युधिष्ठिर की ओर देखा।

"मातुल कह रहे हैं तो जाओ पुत्र !" युधिष्ठिर बोले, "इसमें संकोच की क्या बात है।"

प्रतिविंध्य के साथ सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतसेन भी चले। उन्होंने यौद्धेय, सर्वग, निरमित्र और सुहोत्र को भी साथ ले लिया।

"आज मातुल के शिविर में कोई उत्सव है क्या ?" कृष्ण मुस्कराए।

"जब सारे भागिनेय एकत्रित होंगे तो समारोह तो अपने आप ही हो जाएगा।" धृष्टद्युम्न हँसा ? "और आज तो हमने हस्तिनापुर जय कर लिया है।"

"यह न हो कि उत्सव के नाम पर सुरा महोत्सव हो जाए।" कृष्ण बोले, "लोगों से प्रसन्नता सँभाली नहीं जाती तो उसे मदिरा में डुबो देते हैं। उससे दूर रखना इन बच्चों को।"

"आप निश्चिंत रहें। इन बच्चों को क्या मैं इनकी उपस्थिति में किसी सैनिक को भी पीने की अनुमति नहीं दूँगा।" धृष्टद्युम्न ने अपना रथ मोड़ लिया।

पांडव, दुर्योधन के शिविर की ओर बढ़ गए। आगे-आगे युधिष्ठिर और कृष्ण थे। उनके पीछे भीम और अर्जुन थे। नकुल और सहदेव सबके पीछे चल रहे थे।

युधिष्ठिर आत्मलीन थे। आज वे युद्ध जीत गए थे; किंतु उनका मन था कि निरंतर विद्रोह कर रहा था।... यह भी कोई विजय है ? किसकी विजय और कैसी विजय ? सारे कौरव मार डाले गए थे। यह तो अपने ही वंश का नाश था। इसमें विजयोत्सव कैसे मनाया जा सकता है ? श्मशान में भी कहीं कोई उत्सव होता है ?...

चारों ओर से अनेक लोग घिर आए थे। वे महाराज युधिष्ठिर का जय-जयकार कर रहे थे। कितना उत्साह था उनमें, जैसे युद्ध पांडवों ने नहीं उन लोगों ने जीता हो। कौन लोग थे और कहाँ से आए थे ? उचक-उचककर सामने आ रहे थे, ताकि पांडव उनके चेहरों को पहचान लें। गला फाड़कर चिल्ला रहे थे, ताकि पांडव उनका स्वर सुन लें।

"ये हैं राजसत्ता को घेरने वाले लोग। सत्ता के गलियारों में घुसने को व्यग्र लोग।" युधिष्ठिर सोच रहे थे, "सत्ता किसी की हो, ये सत्ता के साथ हैं। युद्धकाल में जैसे ये कहीं छिपकर देख रहे थे कि विजयी कौन होता है और उन्हें किसका जय-जयकार करना है। इनका जय-जयकार प्रत्येक राजा के कानों को अच्छा लगता है; किंतु इन ही लोगों से सावधान रहने की आवश्यकता है। इनके लिए राजसत्ता प्रजा के शोषण का एक साधन है। इन ही के प्रभाव से राजसत्ता भ्रष्ट भी होती है। ये राजा को इस प्रकार घेरते हैं कि राजा अपनी प्रजा से दूर हो जाता है और प्रजा अपने राजा से। ये राजा के चारों ओर एक दीवार बना देते हैं। राजा अंधा और बहरा हो जाता है। वह इन्हीं लोगों के कानों से सुनता है और इन्हीं की आँखों से देखता है। ये राजा के कान भर देते हैं। उसकी आँखें ढाँप देते हैं। प्रजा तो दूर खड़ी देखती रहती है कि कब महाराज उसकी ओर देखें और वह अपनी बात कहे।..."

वे लोग दुर्योधन के शिविर के सम्मुख आ खड़े हुए थे।

"धनंजय ! गांडीव और अपने तूणीर लेकर रथ से नीचे उतर आओ।" कृष्ण बोले।

अर्जुन ने जिज्ञासा से कृष्ण की ओर देखा।

"तुम युद्ध के आरंभ में ही इस युद्धक रथ से उतर जाना चाहते थे। कदाचित् युद्ध और युद्ध की सामग्री को जला देना चाहते थे। मैं ही हठपूर्वक इस रथ पर बैठा रहा और तुम्हें भी बैठाए रखा।" कृष्ण बोले, "आज तुम मेरी ओर से मुक्त हो। अब तुम्हें और

इस रथ में बैठे रहने की आवश्यकता नहीं है।"

अर्जुन नीचे उतर आया तो कृष्ण भी रथ त्यागकर उसके निकट आ गए, "यह रथ अग्नि का था। अब इसकी उपयोगिता हमारे लिए भी समाप्त हो गई है। हमने इसे पुनः अग्नि को सौंप दिया। वे इसे स्वीकार करें।" उन्होंने अर्जुन को उसकी भुजा से पकड़ लिया, "चलो मित्र। अब पलटकर इस रथ की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है।"

वे लोग शिविर के द्वार पर आए। वहाँ न कोई द्वारपाल था और न ही कोई रक्षक गुल्म अथवा गुल्मपति। लगता था, सब लोग शिविर छोड़कर भाग गए हैं। यद्यपि उन्हें युधिष्ठिर की सेना से भयभीत नहीं होना चाहिए था। वीर लोग शिविरों पर आक्रमण नहीं करते। न ही शिविर के गुल्मनायक किसी सेना का सामना करने में समर्थ होते हैं। वे तो केवल सूचना देने का कर्म करते हैं। किंतु पराजित सेनाओं की दुर्दशा का कोई अंत नहीं होता है।

वृद्ध मंत्रियों ने आकर हाथ जोड़कर मस्तक झुकाए, "महाराज युधिष्ठिर का स्वागत है।"

"शिविर में कौन-कौन हैं ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"कौन होगा महाराज ! स्त्रियाँ हैं। कुछ नपुंसक हैं और हम कुछ मंत्री हैं।" योद्धा तो कोई यहाँ है नहीं।"

"कौरव योद्धाओं की स्त्रियाँ ?"

"नहीं महाराज ! वे तो हस्तिनापुर जा चुकीं। यदि आपके सैनिकों ने उन्हें नहीं रोका होगा तो वे अब तक नगर में पहुँच गई होंगी।"

"तो यहाँ किनकी स्त्रियाँ हैं ?" भीम ने पूछा।

"कुछ तो वे हैं, जो अब तक इस भ्रम को पाल रही हैं कि उनके पति जीवित हैं और वे लौटकर आएँगे।" वह बोला, "कुछ पतिव्रताएँ अपने पति के शव को देखने के लिए बैठी हैं। और कुछ..."

"और कुछ ?" भीम की दृष्टि उस पर जम गई।

"और कुछ वे हैं जो योद्धाओं द्वारा अपने मनोरंजन के लिए लाई गई।" मंत्री ने सिर झुका लिया।

"जब योद्धा ही नहीं रहे तो वे अब तक यहाँ क्यों हैं ?"

"कुछ इसलिए रुकी हुई हैं कि उन्हें अभी तक धन नहीं मिला है। कुछ इसलिए रुकी हुई हैं कि शायद विजेताओं को उनकी आवश्यकता हो।..."

"नहीं ! हमें उनकी आवश्यकता नहीं है।" भीम ने कहा, "उन्हें जाने दो।"

"बिना अपना पारिश्रमिक लिए वे कैसे जा सकती हैं महाराज !" उसने युधिष्ठिर की ओर देखा।

"तो अब तक उनका पारिश्रमिक दिया क्यों नहीं गया ?" भीम का स्वर कठोर हो गया।

"कौन देता महाराज !" उसने सिर झुकाकर कहा, "देने वाले स्वामी तो संसार से विदा हो गए।"

"तो यहाँ दुर्योधन के धन और शस्त्रभंडार की रक्षा कौन कर रहा है ?" नकुल ने पूछा।

"धन और शस्त्र मृतकों के साथ नहीं जाते राजकुमार !" मंत्री ने कहा, "यहाँ जो कुछ भी है, वह सब आपका है। उसकी रक्षा भी आप ही करेंगे।"

"सहदेव ! सबसे पहले उन स्त्रियों को उनका पारिश्रमिक देकर उनके जाने की व्यवस्था करो।" युधिष्ठिर बोले, "हस्तिनापुर राज्य के मंत्री और कर्मचारियों को भी ससम्मान विदा करो। देखो उनकी अवहेलना न हो। ये लोग राज्य के स्वामीभक्त सेवक हैं, जो अब तक यहाँ बैठे हैं, अन्यथा ये भी सब कुछ छोड़कर भाग गए होते।"

"छोड़कर ही क्यों," भीम हँसा, "साथ लेकर भी भाग सकते थे महाराज !"

"ठीक कहते हो।" युधिष्ठिर बोले, "जिन स्त्रियों की इच्छा युद्धक्षेत्र में अपने मृतक पतियों, पुत्रों और भाइयों को ढूँढने की है, उनसे कहो, वे प्रातः युद्धक्षेत्र में जा सकती हैं। हमारे सैनिक उनकी सहायता करेंगे।"

"महाराज !" वृद्ध मंत्री ने कहा।

"कहिए आर्य।" युधिष्ठिर ने उसकी ओर देखा।

"आप शिविर में प्रवेश करें ताकि हम यह धन आपको अर्पित कर सकें।" वह बोला, "हमें इस दायित्व से मुक्ति मिले महाराज !"

"आपको इस दायित्व में पुनः नियुक्ति भी तो मिल सकती है; किंतु आपका यह विचार धर्मसंगत है कि हम सारे धन को अपने अधिकार में ले लें।" युधिष्ठिर ने भीम की ओर देखा, "धन को अपने प्रबंध में ले लो।"

दुर्योधन के शिविर में रखे हुए अथाह धन की सूचना युधिष्ठिर को दी गई। दास-दासियों की भी कोई संख्या नहीं थी। जाने कोई हस्तिनापुर में भी छूटा था, या सारे यहीं ले आए गए थे। भंडार में और भी बहुत कुछ था।... युधिष्ठिर सुनते रहे, किंतु उनके मुख पर जैसे प्रसन्नता की कोई किरण नहीं फूटी।

"आप प्रसन्न नहीं हैं धर्मराज !" कृष्ण बोले, "देखिए अपने शत्रुओं को जीत कर और उनके धन पर अपना अधिकार पाकर मध्यम पांडव भीम कितने प्रसन्न हैं।"

"अच्छा है। कोई तो प्रसन्न है।" युधिष्ठिर उदासीन से होकर बोले, "इसी धन के लिए तो यह युद्ध हुआ है।"

"सामान्यतः तो हम यही कहेंगे कि युद्ध राज्य के लिए ही हुआ। ऐसा न होता तो विजय पाकर भी आप राज्य को त्याग देते।" कृष्ण ने गंभीर दृष्टि से युधिष्ठिर की ओर देखा, "किंतु धर्मराज ! मुझे तो राज्य नहीं चाहिए था, फिर भी मैं युद्ध में था।"

"हाँ केशव !"

"तो मैं इस युद्ध में क्यों था ?"

"जहाँ धर्म होता है, वहीं कृष्ण होते हैं।" धर्मराज का स्वर कृतज्ञता से बोझिल हो गया, "और जहाँ कृष्ण होते हैं वहीं जय होती है।"

"तो युद्ध धर्म के लिए भी हुआ।" कृष्ण बोले, "वस्तुतः युद्ध धर्म के लिए ही हुआ।"

"ठीक है, पर यह कैसा धर्म है, जिसकी रक्षा के लिए इतने लोगों का वध होता है ?"

"इस प्रश्न को कुछ पलटकर पूछिए धर्मराज !" कृष्ण बोले, "पूछिए कि ये कैसे लोग होते हैं, जो अपना वध करवाने के लिए अधर्म के समर्थन में जा खड़े होते हैं। हम जानते हैं कि अधर्म किसी की रक्षा नहीं करता।"

"पर वध तो उनका भी हुआ है, जो धर्म के पक्ष में लड़े, अधर्म के विरुद्ध लड़े।" अर्जुन ने कहा।

कृष्ण मुस्कराए, "मनुष्य का संचित पुण्य उसे धर्म की रक्षा के लिए अपने प्राण देने की प्रेरणा देता है। वह धर्म के लिए अपने प्राण दे कर और भी पुण्य अर्जित करता है... और अपना पुण्य क्षीण होने पर मनुष्य अधर्म के पक्ष से लड़ता है।"

"किसने देखा है कि मृत्यु के पश्चात् क्या होता है ?" भीम ने हँसकर कहा।

कृष्ण का मुख जैसे किसी दिव्य प्रकाश से आलोकित हो गया, "सबकी दृष्टि वहीं तक सीमित नहीं होती मध्यम, जहाँ तक तुम्हारी है। मैं उनकी ही बात कह रहा हूँ, जिन्होंने देखा है और जो निरंतर देख रहे हैं। यह एक जीवन ही तो सारी सृष्टि का अंत नहीं है। जो एक कण से भी छोटा है, उसे ही तो समग्र सृष्टि मत मानो।"

"मुझे आपके शब्दों में कोई संदेह नहीं है श्रीकृष्ण !" युधिष्ठिर ने कहा।

"संदेह तो मुझे भी नहीं है।" भीम के स्वर में अनियंत्रित उल्लास था, "पर कहने में क्या हानि है।"

"कहने में कोई हानि नहीं है। इसीलिए मैं भी कहता हूँ।" कृष्ण बोले, "आपने तो यह युद्ध राज्य के लिए नहीं किया ?"

"तो और किसके लिए किया ?" भीम जैसे हतप्रभ रह गया, "क्यों वध किया, इतने लोगों का यदि राज्य नहीं चाहिए था।"

"क्यों आपको द्रौपदी के अपमान का प्रतिशोध नहीं चाहिए था ? इस प्रतिशोध के माध्यम से द्रौपदी की प्रसन्नता नहीं चाहिए थी। उसका प्रेम नहीं चाहिए था ? नारीत्व का अपमान करने वाले दुर्योधन, दुःशासन और कर्ण का वध कर धरती पर न्याय और धर्म स्थापित नहीं करना था ? अधर्म का नाश लक्ष्य नहीं था आपका ?"

"था।"

"तो फिर युद्ध केवल राज्य के लिए ही तो नहीं हुआ। हाँ ! राज्य उसका निमित्त अवश्य बना।" कृष्ण ने कहा।

"आप ठीक कहते हैं केशव ! किंतु मेरा मन तो इस ग्लानि से पीड़ित है कि मैं प्रभु के बनाए इतने जीवों के विनाश का कारण बना।" युधिष्ठिर बोले, "बाध्य होकर ही सही,

किंतु हिंसा मैंने की। मेरे मन में रागद्वेष था। उसने यह सब करवाया।" वे रुके, "अष्टावक्र ने कहा है न कि रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन्। मेरे मन में भी रागद्वेष है और यह मन मेरा नहीं है। मैं क्यों उसके बहकावे में आकर इस विनाश में प्रवृत्त हुआ।"

"यह ग्लानि भी तो मन की ही है, और यह मन भी आपका नहीं है।" कृष्ण हँसे, "आपके उसी अष्टावक्र ने ही कहा है : निर्विकल्पो असि बोधात्मा निर्विकारः सुखं चर। हम चैतन्य ही नहीं साक्षात् चेतना हैं, द्वंद्वों से उदासीन हैं, विकारों से मुक्त हैं। तो फिर हम प्रसन्न क्यों नहीं रहते।"

धर्मराज थोड़ी देर मौन रहकर बोले, "मेरी समस्या यही है केशव ! कि यह सब जानते हुए भी आपके समान मेरा अपने मन पर नियंत्रण नहीं है। मुझे निरंतर लगता है कि जो कुछ जीवन भर दुर्योधन करता रहा, अंततः हमने भी वही किया। हम थोड़ा और त्याग क्यों नहीं कर पाए ? यदि मैं और मेरे भाई, मेरा यह परिवार, थोड़ा कष्ट और सह लेता, अपना शेष जीवन भी कुछ कष्ट में यापित कर लेता तो इतना संहार न होता। हम कुछ लोगों के कष्ट से सारी मानवता सुखी होती। मैं वह सात्विक कर्म क्यों नहीं कर सकता। रजोगुण में बँधकर यह राजनीति मैंने क्यों की ?"

"हाँ ! यह पाप तो आपने किया।" कृष्ण की मुस्कान पर्याप्त वक्र थी, "पर यह पाप तो भगवान् श्रीराम ने भी किया था।"

"नहीं ! राम पाप नहीं कर सकते।" युधिष्ठिर जैसे तड़पकर बोले, "उन्होंने तो पाप का नाश किया था।"

"हमने भी वही किया है।" कृष्ण बोले, "आप केवल इतना ही जानते हैं कि दुर्योधन ने आप पाँच भाइयों और आपकी माता को बार-बार मारने का प्रयत्न किया। आप कदाचित् भूल गए कि दुर्योधन ने अपने शैशव में ही आपके सारथि को सार्वजनिक रूप से पीट-पीटकर मार डाला था। आप समझते हैं कि दुर्योधन और उसके मित्रों ने और निरीह हत्याएँ नहीं की हैं ? उनके संरक्षण में रहने वाले अन्य लोगों ने हत्याएँ नहीं की हैं ? आप जानते हैं कि दुर्योधन, दुःशासन और कर्ण ने देवी पांचाली का जघन्य अपमान किया। आप समझते हैं कि अन्य स्त्रियाँ उनके हाथों सुरक्षित थीं ? उनके राज्य में स्त्री के अपमान का प्रचलन नहीं था ? दुर्योधन अपनी ही पत्नी के साथ दुर्व्यवहार नहीं करता था ? शकुनि के माध्यम से केवल आपकी ही संपत्ति नहीं छीनी गई थी, अन्य भी सहस्रों लोग हैं, जिनकी संपत्ति छीनी गई। वह राजा था किंतु राजधर्म को तो नहीं जानता था। वह केवल सत्ताकर्मी था। वह स्वेच्छाचारी पापी था। उसकी सत्ता को नष्ट कर, उसकी शक्ति का विनाश कर, स्वयं उसका वध कर, आपने ईश्वर की सृष्टि को अभयदान किया है। इस पुण्य के भागी होकर भी आप ग्लानि का अनुभव कर रहे हैं ?"

"धर्मराज जिसकी मृत्यु की कामना करते हैं, उसकी भी हत्या नहीं करना चाहते। करनी पड़े तो फिर उसका शोक भी मनाते हैं।" भीम हँसा।

"नहीं ! मेरे मन में कहीं यह भी है कि दुर्योधन को अधर्मपूर्वक मारा गया है।"

युधिष्ठिर बोले, "माता गांधारी इसे सुनेंगी तो उन्हें कैसा लगेगा।"

"आपसे किसने कहा कि दुर्योधन को अधर्मपूर्वक मारा गया है ?" कृष्ण का स्वर प्रखर हो गया।

"बलराम ने कहा नहीं कि दुर्योधन को अधर्मपूर्वक मारा गया है।" युधिष्ठिर बोले, "दुर्योधन भी तो निरंतर यही कह रहा था।"

"धर्म वह है, जो आपके मन में है, वह नहीं जो बलराम की वाणी में है। वे तो दुर्योधन को भी धर्मात्मा कह रहे थे। आप मान लेंगे उनकी बात ? धृतराष्ट्र के चारण उसे पृथ्वी पर साक्षात् धर्मराज कहते हैं, तो क्या हम इस पृथ्वी पर पाप के उस मूल को धर्मराज स्वीकार कर लेंगे ?" कृष्ण उसी प्रवाह में बोले, "दुर्योधन हो या कोई कौरव, वह तो आपको पापी ही सिद्ध करेगा, चाहे अपने अज्ञान के कारण, चाहे अपने पाखंड के कारण। धर्मराज ! यह इन लोगों की राजनीति है कि अपने पक्ष की दुर्बलता, उसके दोष और पापों को कभी स्वीकार मत करो। उसके विपरीत अपने विरोधी पक्ष की किसी बात का समर्थन मत करो। उसे सदा पापी और अधर्मी कहो। यह जानते हुए भी कि वह झूठ है, उसे पूरी निष्ठा से प्रचारित करो।"

"यह आप कैसे कह रहे हैं गोविन्द ?" अर्जुन ने पूछा।

"तुम किसी कौरव से पूछ लो वह यही कहेगा कि भीष्म को पांडवों ने अधर्म से मारा है।" कृष्ण बोले, "वह कहेगा कि द्रोण को अधर्म से मारा गया। भूरिश्रवा को अधर्म से मारा गया। जयद्रथ को अधर्म से मारा गया। कर्ण को अधर्म से मारा गया। दुर्योधन को अधर्म से मारा गया। दुःशासन को अधर्म से तो नहीं मारा गया, किंतु उसके साथ मध्यम पांडव ने जो व्यवहार किया, वह अधर्म था।..."

"वे कैसे कह सकते हैं कि पितामह को अधर्म से मारा गया ?" सहदेव ने कुछ उग्र होकर पूछा।

"वे कहेंगे कि पांडवों ने भीष्म से पूछा कि हम आपको कैसे मारें ? भीष्म ने बता दिया कि शिखंडी को आगे कर दो। मैं उसे नहीं मारूँगा और तुम मुझे मार देना। क्या यह सत्य है ?" कृष्ण ने धर्मराज की ओर देखा, "सत्य यह है कि अर्जुन पितामह से शक्तिशाली था। उसने विराटनगर के युद्ध में यह प्रमाणित भी कर दिया था; और पितामह ने अपने मुख से भी इस तथ्य को कितनी ही बार स्वीकार किया है। फिर भी अर्जुन अपने वृद्ध पितामह का वध करना नहीं चाहता था। धर्मराज कितने पीड़ित थे इस बात से कि अर्जुन अपनी सेना को कटता देखता है किंतु पितामह का वध नहीं करता। यदि अर्जुन समर्थ न भी होता तो हम पहले ही दिन से पितामह की प्रतिज्ञा को जानते थे। हम युद्ध के आरंभ में ही शिखंडी को सामने खड़ा कर पितामह का वध कर सकते थे। किंतु हमने वह नहीं किया। शिखंडी पितामह पर आक्रमण करने जाते थे, तो कौरवों के बीसियों योद्धा उन पर टूट पड़ते थे। उस समय यदि अर्जुन उनको तनिक भी संरक्षण देता तो शिखंडी ने पहले ही दिन पितामह का वध कर दिया होता। क्या कोई कौरव पांडवों के इस धर्म

को स्वीकार करेगा ? हम प्रतीक्षा करते रहे। पितामह प्रतिदिन हमारे सहस्रों योद्धाओं को काटते रहे, हमने फिर भी उनका वध नहीं किया। वे प्रतीक्षा कर रहे थे कि युद्ध की भयावहता और उसकी निरर्थकता देखकर दुर्योधन पांडवों से संधि कर ले। और हम प्रतीक्षा कर रहे थे कि पितामह किसी निर्णय तक पहुँच लें। अंततः जब पितामह ने स्वयं देख लिया कि संधि संभव नहीं है और कौरव वंश का नाश होना ही है तो उन्होंने अपनी मृत्यु की इच्छा प्रकट की। उन्होंने देखा कि जिसके पक्ष से वे युद्ध कर रहे हैं, वह दुर्योधन भी चाहता है कि उनकी मृत्यु हो जाए और वह दूसरा सेनापति लाए। वे चाहे सहस्रों सैनिकों का वध कर रहे थे, किंतु पांडवों का वध वे भी नहीं कर रहे थे। धर्मराज भी अपनी सेना के विनाश से तंग आ चुके थे और चाहते थे कि अब पितामह या तो स्वयं ही युद्ध से हट जाएँ या हटा दिए जाएँ। इस भाव को जानकर ही पितामह ने अर्जुन का आह्वान किया कि वह उनको युद्धक्षेत्र से हटा दे। यह पांडवों का अधर्म था क्या ?"

"और आचार्य के वध में क्या अधर्म था ?" नकुल ने पूछा।

"अश्वत्थामा कितनी बार कह चुका है कि उसके पिता को अधर्म से मारा गया है। जिस समय धृष्टद्युम्न ने उनका मस्तक काटा, उस समय तक उन्होंने शस्त्रों का त्याग कर दिया था और वे अनशन पर बैठ गए थे।" कृष्ण बोले, "अश्वत्थामा ही नहीं, सारे कौरव भूल जाते हैं कि युद्ध में जितने भी योद्धा मारे जाते हैं, वे तभी मारे जाते हैं, जब उनके शस्त्र असमर्थ हो जाते हैं। पहले ही दिन से यही क्रम चल रहा है। विराट के पुत्रों को कैसे मारा गया ? उनके धनुष कट गए। रथ व्यर्थ हो गए। वे खड्ग लेकर धरती पर उतर आए। उनके खड्ग को बाणों से काट दिया गया। उनकी ढाल के टुकड़े कर दिए गए और फिर उनका मस्तक काटा गया। इसे तो अधर्म नहीं माना गया, इसे युद्ध की रीति माना गया। इसलिए सारे युद्ध में दोनों ही पक्षों के जिन योद्धाओं के रथ व्यर्थ हो गए, अथवा जिनके शस्त्र समाप्त हो गए, उनके मित्रों द्वारा उन्हें तत्काल युद्धक्षेत्र से हटा लिया गया। तभी उनके प्राण बचे। आचार्य ने यदि अपने शस्त्र त्याग दिए थे तो उन्हें या तो स्वयं युद्धक्षेत्र से हट जाना चाहिए था, या फिर कौरवों को चाहिए था कि वे अपने योद्धा की सुरक्षा के लिए उन्हें युद्धक्षेत्र से दूर ले जाते। जब हमारे रथ का चक्र धरती में फँस गया था, तो हमने तो कर्ण से प्रार्थना नहीं की थी कि वह हम पर प्रहार न करे; और न ही कर्ण ने अपनी बाणवर्षा रोक ली थी। वह भी अपने रथ से तब ही उतरा था, जब उसने मान लिया था कि अर्जुन मूर्च्छित हो गया है और अभी वह बाण चलाने में अक्षम है। अब यदि अर्जुन सचेत हो गया तो यह अधर्म हो गया ? मैंने सारथि के रूप में रथ को कुछ नीचा कर अर्जुन को महानागास्त्र से बचा लिया तो वह अधर्म हो गया।" वैसे भी अर्जुन ने कर्ण के चक्ररक्षकों को मारा, उसके पृष्ठरक्षकों को मारा, उसके अग्ररक्षकों को मारा। किसलिए ? इसलिए कि वह कर्ण के लिए उसके इन सारे नए रक्षकों के आने की प्रतीक्षा करता। यदि कर्ण का सारथि उसके रथ को सँभाल नहीं सका, अथवा कर्ण के लिए वह रथ से नीचे उतरकर चक्र निकालने में असमर्थ रहा तो इसमें हमारा दोष है ?

जो योद्धा धरती पर आ गया, क्या उस पर आक्रमण रोक दिया गया था ? कर्ण ने तो रणक्षेत्र छोड़कर दूर जाते हुए धर्मराज का पीछा कर उन पर निरंतर आक्रमण किए। यदि वह सब अधर्म नहीं था तो कर्ण को मारना ही क्यों अधर्म हो गया ?''

''वे सदा हमसे चतुराई करते रहे हैं।'' भीम बोला, ''मैं तो यह भी मानता हूँ कि उन्होंने युद्ध से पहले जितने पाप किए हैं, उनका ही परिणाम युद्ध था। फिर मैं यह कैसे मान लूँ कि युद्ध से पहले जो पापी और अधर्मी थे, वे युद्ध में धर्मपरायण हो गए थे और हम अपना धर्म त्याग कर पापलिप्त। युद्ध और शांति में यही तो अंतर है। शांति का एक विधान है एक अनुशासन है। जो उसका उल्लंघन करे, उसे उसके लिए दंडित किया जाए, जबकि दुर्योधन को कभी उसके लिए भी दंडित नहीं किया गया। और युद्ध का अर्थ ही है केवल बल। कोई नियम नहीं। कोई विधान नहीं। कोई अनुशासन नहीं। जो जिसको चाहे, जैसे चाहे मार ले। नहीं तो हमारी सात अक्षौहिणी के विरुद्ध दुर्योधन के पास ग्यारह अक्षौहिणी सेना क्यों थी ? यह कहाँ का धर्म है कि सात से ग्यारह अक्षौहिणी को लड़ा दिया जाए ? फिर भी हमने युद्ध के नियमों को माना। अभिमन्यु का वध प्रमाण है इसका। नियम उन्होंने तोड़े। अवसर का लाभ उन्होंने उठाया। हमने उनसे सीख कर, और धर्म के साक्षात् रूप श्रीकृष्ण के निर्देश को मानकर, युद्ध किया तो हम पापी कैसे हो गए ?''

''तब से मैं भी यही समझा रहा हूँ धर्मराज को।'' कृष्ण बोले।

''युद्ध की बात मैं फिर भी समझता हूँ।'' युधिष्ठिर ने कहा, ''पर मैं तो उनके कष्ट के विषय में सोचता हूँ, जो युद्ध में नहीं थे। माता गांधारी और महाराज धृतराष्ट्र के विषय में सोचता हूँ तो बहुत कष्ट होता है। उनके सारे पुत्र मारे गए। इस वृद्धावस्था में, उन दोनों दृष्टिहीनों का कौन है। उनका क्या होगा, उसकी कल्पना करो।''

''मैं आपकी परदुःखकातरता की प्रशंसा कर सकता हूँ महाराज !'' कृष्ण बोले, ''कि युद्ध जीतकर आपको अपनी माता कुंती का स्मरण नहीं आया। आपके मन में व्यथा जागी तो गांधारी के लिए।''

''हमारी माता ने भी तो कम कष्ट नहीं पाए।'' भीम बोला, ''वे तेरह वर्षों से शत्रुओं के नगर में बैठी हमारी प्रतीक्षा कर रही हैं। क्या किया दुर्योधन और उसके भाइयों ने हमारी माता के लिए ?''

''वह सब मैं भी समझता हूँ।'' धर्मराज बोले, ''किंतु न मैं दुर्योधन हूँ, न मेरे भाई दुर्योधन के भाई हैं। न हमें वह बनना है। माता कुंती का बल बढ़ा है। वे प्रसन्न होंगी। उनके कष्ट के दिन समाप्त हुए। महाराज और माता गांधारी को तो अपना भविष्य अंधकारपूर्ण दिखाई देता होगा। वे हमारी ओर से आशंकित भी होंगे। भयभीत भी होंगे। वे न केवल वृद्ध और असहाय हैं, नेत्रहीन भी हैं। वैसे हमें तपस्विनी माता गांधारी की हाय भी नहीं लेनी है।''

''तपस्विनी।'' भीम ने अपना मुख कुछ विकृत कर कहा, ''बड़ी तपस्विनी हैं। आपके जन्म का समाचार सुनकर ईर्ष्या के मारे अपने गर्भ पर आघात कर उसे नष्ट करने

का प्रयत्न किया था उन्होंने। ऐसी होती हैं तपस्विनी नारियाँ ?"

"वह नहीं कह रहा मैं।" धर्मराज बोले, "जिस नारी ने अपने पति के नेत्रहीन होने के कारण अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली हो, उसे तपस्विनी नहीं कहेंगे।"

"पाखंड है यह सब।" भीम कुछ आवेश में बोला, "आपने कभी सोचा है कि वे सदा पट्टी बाँधे रहती थीं या केवल सार्वजनिक स्थलों पर प्रकट होने पर ही पट्टी बाँधती थीं ?"

"मैं तो यही जानता हूँ कि उन्होंने एक बार पट्टी बाँधी तो फिर कभी खोली ही नहीं–अपने शयनकक्ष में भी नहीं। अपने पुत्रों का मुख देखने के लिए भी नहीं।"

"कभी पट्टी नहीं खोली उन्होंने ? नहाते हुए, सोते हुए ? वह किसी प्रकार की कोई दिव्य पट्टी थी, जो देवताओं ने उन्हें दी थी। इसलिए वह कभी गंदी नहीं होती थी ? उसे बदला नहीं जाता था ? उसे धोया नहीं जाता था ?" भीम ने कुछ चिढ़कर कहा, "ऐसी बातों में मेरी कोई श्रद्धा नहीं है।"

"तो आप क्या मानते हैं मध्यम ! कि उनके पास अपने अन्य वस्त्रों के समान ही आँखों पर बाँधने के लिए अनेक पट्टियाँ हैं और जब वे अपना परिधान परिवर्तन करती हैं तो साथ ही पट्टी भी बदलती हैं ?" नकुल ने पूछा।

"वे क्या करती हैं, इसमें मेरी रुचि कभी नहीं रही और न ही मैंने विशेष रूप से इस पर कोई चिंतन किया है।" भीम ने कहा, "मैं तो बस इतना ही जानता हूँ कि एक ही पट्टी दो दिन भी बाँधी जाए तो वह इतनी मैली हो जाती है कि उस गंदे वस्त्र के संपर्क में रहने से व्यक्ति की आँखों में कोई न कोई रोग हो जाएगा और नेत्रों की ज्योति समाप्त हो जाएगी। मैं यह भी मानता हूँ कि यदि कोई व्यक्ति अपनी आँखों को एक लंबे समय तक निरंतर बंद रखेगा, पट्टी बाँधेगा, उनसे काम नहीं लेगा, उनको स्वच्छ नहीं करेगा, उन्हें सूर्य का प्रकाश नहीं मिलेगा, उन्हें पवन का स्पर्श नहीं मिलेगा, तो उसकी आँखों में देखने की क्षमता नहीं रहेगी। वह अंधा हो जाएगा।"

"तुम तो वैद्यों के समान बात कर रहे हो। तुम क्या चक्षुरोग विशेषज्ञ हो भीम ?"

"वह सब मैं कुछ नहीं हूँ।" भीम बोला, "आप इसे टालें नहीं। मैं गंभीरता से कह रहा हूँ। या तो आप यह मान लें कि वे आरंभ से ही प्रातः उठ कर अपनी आँखें धोती थीं। नहाते हुए उन्हें स्वच्छ करती थीं और फिर उन पर पट्टी बाँध लेती थीं। ऐसे में किसी समय पट्टी उतारकर भी रखती होंगी। किसी और के सामने आने से पहले पट्टी बाँध लेती होंगी। इस प्रकार दिन के आठ प्रहरों में दो-तीन प्रहर पट्टी बाँधे रखती थीं; या फिर उन्होंने पट्टी बाँधी और कभी खोली ही नहीं। दूसरी स्थिति में तो स्वच्छता के अभाव में ही उन्हें कोई न कोई रोग हो गया होगा और उनकी पट्टी खोलने की आवश्यकता ही समाप्त हो गई होगी।"

"मध्यम की बात में सत्य का बल तो है।" अर्जुन ने कहा।

"ऐसी स्थिति में आप उस कथा के विषय में क्या कहेंगे, जो समंतपंचक में इस समय प्रचारित हो रही है।" सहदेव ने कहा, "एक सैनिक मुझे बता गया है कि समंतपंचक में

तीर्थयात्रियों के मध्य यह कहा जा रहा है कि युद्ध में आने से पूर्व दुर्योधन अपनी माता गांधारी से मिलने गया था। माता ने उसे कहा कि पुत्र ! मैंने विवाह के पश्चात् से जो पट्टी बाँधी है, उसे कभी खोला ही नहीं। इसलिए मेरी दृष्टि में अलौकिक शक्ति आ गई है। तू एक बार अपने शरीर के सारे वस्त्र उतारकर मेरे सामने आ जा। मैं पट्टी खोलकर अपनी इन आँखों से तुम्हारे शरीर को देखूँगी तो तुम वज्रांग हो जाओगे। दुर्योधन ने पहले तो संकोच किया किंतु बाद में मान गया। माँ के सम्मुख निर्वस्त्र होकर जाने में क्या लज्जा। और फिर थोड़ा निर्लज्ज होने से उसका शरीर वज्र का सा हो जाएगा, तो उससे लाभ ही लाभ है। किंतु श्रीकृष्ण को इस योजना की सूचना मिल गई। वैसे भी हमारी प्रजा श्रीकृष्ण को सर्वज्ञ मानती है। तो श्रीकृष्ण ने सोचा कि यदि दुर्योधन का शरीर वज्र का सा ही गया तो उसका वध नहीं हो पाएगा। अतः वे दुर्योधन के पास गए और उसे लज्जित करने लगे, 'लज्जा नहीं आती तुझे। अपनी माँ के सामने नंगा होकर जाएगा। गोपनीय अंग उघाड़ेगा माँ के सामने। कुछ तो लज्जा कर।' दुर्योधन उनकी बातों में आ गया और एक कौपीन बाँधकर चला गया। गांधारी ने अपनी पट्टी खोलकर उसको देखा। उसकी कौपीन देखकर कहा, 'यह तूने क्या किया पुत्र ! अब तेरी जंघाएँ तो वज्र की नहीं हो सकेंगी। इसलिए मध्यम पांडव ने दुर्योधन की जंघा तोड़ने में सफलता पाई। दुर्योधन के शेष शरीर पर तो किसी शस्त्र का प्रभाव हो ही नहीं सकता था'''।''

भीम ने जोर का ठहाका लगाया, ''लीजिए, जिसे वे अधर्म बता रहे थे, उसके कारण रूप भी एक कहानी बन गई। अब कोई पूछे कि दुर्योधन युद्ध के आरंभ में ही अपनी माँ के सामने से नग्न होकर निकला था और उसका शरीर वज्र का सा हो गया था तो सारे युद्ध में वह अपना रक्त क्यों बहाता रहा ? क्यों बार-बार युद्ध छोड़कर भागता फिरा ? आचार्य द्रोण ने उसे अभेद्य कवच क्यों दिया ? पितामह ने उसे विशल्यकारिणी बूटी क्यों दी ?'' भीम ने रुककर उनकी ओर देखा, ''वे कहेंगे कि दुर्योधन का शरीर बाद में वज्र हुआ। कर्ण के मरने के बाद। पर उनसे पूछना चाहिए कि दुर्योधन युद्धक्षेत्र छोड़कर हस्तिनापुर गया था अथवा गांधारी कुरुक्षेत्र में आई थीं ? क्या श्रीकृष्ण को पता है कि वे कब युद्ध छोड़कर दुर्योधन को समझाने या भरमाने चले गए थे। पांडवों को तो उनके जाने का पता ही नहीं चला।''

''देखो, लोग कैसी कथाएँ गढ़ लेते हैं।'' कृष्ण बोले, ''और उन सबमें कृष्ण की चतुराई चित्रित की जाती है। यह नहीं सोचते कि यह चतुराई नहीं है, यह तो एक प्रकार से धूर्त्तता का आरोप लगाना है।''

''आप ठीक कह रहे हैं केशव !'' युधिष्ठिर बोले, ''मेरे भाई गांधारी को तपस्विनी नहीं मानते, न मानें। किंतु मेरे मन में एक बात है कि जिस माता के सौ पुत्र इस प्रकार मारे गए हों, वह बहुत दुःखिनी होगी। उसको सांत्वना दी जानी चाहिए। मैं उनकी तपस्या से भय खाऊँ न खाऊँ; किंतु उनकी आह नहीं लेना चाहता। आपने हम लोगों के लिए शस्त्रों के आघात सहे हैं। लोगों की कठोर बातें सुनी हैं। दुर्योधन की मृत्यु से वे सारे आघात

सार्थक हो गए हैं। अब आप ऐसा कीजिए, जिससे यह सारा किया कराया नष्ट न हो जाए। माता गांधारी हमसे रुष्ट न रहें। वे तपस्या कर अपना शरीर सुखा रही हैं...।"

"अपना शरीर तो पांचाली भी सुखा रही है।" भीम ने उनकी बात बीच में ही काट दी, "माता कुंती भी सुखा रही हैं।"

"मैं उनकी तपस्या का महत्त्व कम नहीं करना चाहता।" युधिष्ठिर बोले, "किंतु उनकी तपस्या से हमें किसी प्रकार की हानि की आशंका नहीं है। गांधारी के क्रोध, रोष और तपस्या से हमारी हानि होने की ही संभावना है। जिसके सौ पुत्र मारे गए हों, उस अंधी माता की पीड़ा की कल्पना कर ही उसके सम्मुख जाने का मेरा साहस नहीं होता। उन्हें कोई सांत्वना दे भी तो किन शब्दों में दे। क्या कहें, यह ईश्वर की इच्छा थी या यह कि हमने दुर्योधन को उसके अपराधों के लिए दंडित किया है। वे लोग मेरी बात सुनेंगे भी क्या ? उससे पहले ही शाप नहीं दे देंगे। आप सबके समझाने पर भी मैं अपने मन से यह विचार निकाल नहीं पाता कि उनके इस दुख का कारण मैं भी हूँ। कितना भी कम दोष क्यों न हो किंतु मेरा योगदान भी उसमें है। मैं उनके सामने खड़ा नहीं हो सकता।... पर किसी समय तो उनके सामने पड़ना ही होगा।" वे रुक गए, "श्रीकृष्ण ! आप यह कर सकते हैं। आपके मन में दीनता नहीं है। आप धर्म को भी जानते हैं। आप पीड़ा के अथाह सागर में से भी किसी को निकाल लेने का सामर्थ्य रखते हैं। आप जाएँ और उनको सांत्वना दें। उन्हें कहें कि वे अनाथ नहीं हैं। हम भी उनके ही पुत्र हैं। उन्हें किसी प्रकार का कष्ट हम नहीं होने देंगे। वे अपने पुत्रों की मृत्यु का शोक न करें।"

कृष्ण ने भीम पर दृष्टि डाली। भीम के चेहरे के भावों से स्पष्ट था कि उसे युधिष्ठिर के ये वाक्य तनिक भी प्रीतिकर नहीं लग रहे। किंतु उसने युधिष्ठिर से कुछ नहीं कहा। वह अर्जुन की ओर मुड़ा और बोला, "तुम कुछ बोलते क्यों नहीं ? पहले भी तुम चुप्पे ही थे, पर अब तो एकदम ही घुन्ने हो गए हो।"

"यह इससे मत पूछो।" कृष्ण बोले, "यह भी तुम अष्टावक्र से ही पूछो। उन्होंने कहा है : वाग्मी, प्रज्ञावान और महा उद्योगी मनुष्य भी सत्य जान लेने के पश्चात् मूक, जड़ और आलसी हो जाता है। अतः संसार का भोग करने के इच्छुक लोग उसका त्याग कर देते हैं।" कृष्ण रुके, "यह भी मूक हो गया है।"

"इसका तो अर्थ यह है केशव ! कि सत्य को एक तुम नहीं जानते और एक मैं नहीं जानता।" भीम ने फिर ठहाका लगाया, "इसलिए न तुमने बोलना छोड़ा है और न ही उद्योग करना। यह तुम्हारा ही अनुसरण क्यों नहीं करता ?"

"अनुसरण तो यह मेरा ही करता है किंतु गति तनिक मंथर है।" कृष्ण हँसे, "अब देखो न धर्मराज भी मुझे ही हस्तिनापुर भेज रहे हैं, क्यों ?"

"इसलिए कि तुम प्रज्ञावान हो, वाग्मी हो और महा उद्योगी हो।" भीम ने हँस कर कहा।

"अच्छा ! ठीक है। मैं हस्तिनापुर जा रहा हूँ।" कृष्ण बोले, "किंतु ऐसा न हो कि

आप लोग जाकर अपने शिविर में सुख की नींद सो जाएँ और यह धन-धान्य से भरा हुआ दुर्योधन का शिविर असुरक्षित छोड़ दें। अब यह दुर्योधन का नहीं, आपका है। इसकी रक्षा आवश्यक है, अन्यथा प्रातः तक इसे अनाम दस्यु और भगोड़े सैनिक ही लूटकर ले जाएँगे। संभव है कि दुर्योधन के जीवित बचे साथी ही अपने राजा के इस धन के अधिग्रहण का प्रयत्न करें। उसके लिए आवश्यक होगा कि वे इसे आपके हाथ न लगने दें।"

"ठीक है। आज रात हम यहीं रहेंगे। ओघवती के तट पर।" भीम ने कहा, "पर जो लोग थके हैं, वे सोएँगे तो अवश्य।"

"मैं रात्रि जागरण के लिए तो नहीं कह रहा।" कृष्ण बोले, "युद्ध की अवधि में भी तो हम सोते और अपने शिविर की रक्षा करते रहे हैं।"

"ठीक है। पर आप शीघ्र जाएँ केशव !" युधिष्ठिर बोले, "रात्रि अधिक न हो जाए। यदि आप समय से हस्तिनापुर पहुँच जाएँ तो रात्रि को ही महाराज धृतराष्ट्र से भेंट कर सकेंगे। अन्यथा कल प्रातः की प्रतीक्षा करनी होगी।"

"और बुआ कुंती से कुछ नहीं कहना है ?" कृष्ण के अधरों पर एक वक्र मुस्कान थी।

"वैसे तो उनको भी सारी सूचनाएँ मिल ही रही होंगी।" युधिष्ठिर बोले, "फिर भी आप उनसे भेंट कर जो सूचनाएँ देना चाहें, दे आएँ।"

"मैं भी आपके साथ चलता हूँ केशव !" सहसा भीम ने कहा।

"तुम क्यों भीमसेन ?" युधिष्ठिर कुछ विचलित से हो गए।

"आप चिंता न करें, मैं हस्तिनापुर नहीं जा रहा।" भीम ने हँसकर कहा, "मैं तो बस कृष्ण को ससम्मान विदा करने के लिए थोड़ी दूर तक इनके साथ जा रहा हूँ।"

बाहुक रथ ले आया। कृष्ण रथ में बैठ गए तो भीम भी सहज भाव से जा कर कृष्ण के साथ बैठ गया। उसने वहीं से पुकारकर अपने सारथि से कहा, "विशोक ! तुम अपना रथ लेकर पीछे-पीछे आओ। मुझे लौटना भी तो है।"

रथ कुछ दूर निकल गया तो भीम ने मुँह खोला, "धर्मराज इतना डरते क्यों हैं, गांधारी से ? वह क्या शाप देकर इनको भस्म कर देगी ?"

"मैं सोच ही रहा था कि कोई ऐसी ही बात होगी जो आप मुझसे कहना चाहते हैं।" कृष्ण मुस्कराए, "वस्तुतः मैं धर्मराज के व्यवहार को दो दृष्टियों से देखता हूँ। पहली बात तो यह है कि धृतराष्ट्र और गांधारी के उस सारे व्यवहार के होते हुए भी धर्मराज के मन में उनके प्रति माता-पिता के योग्य सम्मान है। आप कहेंगे कि धृतराष्ट्र और गांधारी ने उस सम्मान को अर्जित करने के लिए किया ही क्या है ? धृतराष्ट्र ने तो पांडवों की हत्या के प्रयत्न में भी दुर्योधन को सहायता दी। पांडवों को वंचित और अपमानित करने में भी दुर्योधन को सदा ही धृतराष्ट्र का अभय ही नहीं, समर्थन भी प्राप्त रहा।"

"ठीक है।" भीम ने कहा, "मैं तो यही मानता हूँ।"

"वस्तुतः यह सम्मान धृतराष्ट्र के गुणों के कारण नहीं, धर्मराज के अपने धर्म के

कारण है। वे उनको माता-पिता के समान मानते हैं तो वे उनको माता-पिता का सम्मान देंगे, वे चाहे जो भी करते रहें। अपने माता-पिता से कौन संस्कारी व्यक्ति दुर्व्यवहार करता है। संभव है धर्मराज के मन में भगवान् श्रीराम का आदर्श हो। उन्होंने भी तो कैकेयी को माता का ही सम्मान दिया था और अपनी माता से भी अधिक कैकेयी की भावनाओं का ध्यान रखा था।"

"तो धर्मराज भी गांधारी को अपनी माता से अधिक महत्त्व देंगे ?"

"बहुत संभव है। वे मानते हैं कि गांधारी बहुत पीड़ित है; और उसकी पीड़ा का कारण हैं स्वयं धर्मराज।" कृष्ण ने कहा।

"और दूसरी दृष्टि ?" भीम ने कहा, "तुम कह रहे थे न कि तुम धर्मराज के इस व्यवहार को दो दृष्टियों से देखते हो।"

"हाँ ! धृतराष्ट्र से तो नहीं, किंतु धर्मराज गांधारी से डरते हैं। यह भय गांधारी की शक्ति के कारण नहीं, धर्मराज की अपनी सात्विकता के कारण है। वे मानते हैं कि यद्यपि युद्ध उन्होंने आरंभ नहीं किया था; किंतु युद्ध में गांधारी के पुत्रों के वध में पांडवों से कुछ अधिक ही क्रूरता हो गई है।"

"कोई उदाहरण ?" भीम ने कहा।

"जैसे आपके द्वारा जीवित दुःशासन की भुजा उखाड़कर उससे उसको पीटना। उसका रक्त पान करना। दुर्योधन की जंघाएँ तोड़कर उसे जीवित ही गिद्धों और गीदड़ों के खाने के लिए छोड़ना...।" कृष्ण बोले, "अपनी इस ग्लानि के कारण वे गांधारी के सामने जाने का साहस नहीं जुटा पा रहे। जैसे किसी बालक को हितकर मार्ग पर लाने के लिए कोई पिता उसे दंडित तो कर दे; किंतु उस दंड की कठोरता से प्रसन्न न हो। वह पिता जब तक बालक को मना नहीं लेगा, उसे शांति नहीं मिलेगी। धर्मराज के साथ भी वही हो रहा है। उन्होंने धृतराष्ट्र के पुत्रों को दंडित तो कर दिया है; किंतु अब वे धृतराष्ट्र और देवी गांधारी को मनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। मेरा अनुमान है कि जब धर्मराज हस्तिनापुर का शासन सँभालेंगे, धृतराष्ट्र और गांधारी उनके सम्मानित अतिथि होंगे।"

"क्या माता कुंती उन्हें इसकी अनुमति देंगी ?"

"मुझे तो नहीं लगता कि कुंती बुआ ने कभी अपने मन में किसी के लिए शत्रुता अथवा प्रतिशोध का भाव पाला हो। वे तो स्वयं कष्ट सहकर भी सबकी सहायता करती आई हैं। आप भूल गए, एकचक्रा नगरी में उस ब्राह्मण को बचाने के लिए उन्होंने आपको बकासुर का भोजन ले जाने का आदेश दिया था।" कृष्ण बोले, "अपने पुत्रों की विजय की इस घड़ी का स्वागत वे गांधारी अथवा धृतराष्ट्र को अपमानित तथा दंडित कर नहीं करेंगी। जहाँ तक मैं बुआ को जानता हूँ, वे उनकी सेवा ही करेंगी।"

"तो फिर वे इस युद्ध के लिए इतनी आतुर क्यों थीं ?"

"वे युद्ध के लिए नहीं, न्याय के लिए आतुर थीं; और बिना युद्ध के न्याय मिलना संभव नहीं था।"

"अच्छा केशव !" सहसा ही भीम का स्वर बदल गया, "क्या तुम भी अपने मन में ऐसी किसी ग्लानि का अनुभव करते हो ?"

"नहीं।"

"क्यों ?"

"क्योंकि मैंने प्रतिशोध नहीं लिया है। मैंने तो अपना कर्तव्य किया है।" कृष्ण बोले, "मैं द्वंद्वों से उदासीन हूँ।"

"और मैंने प्रतिशोध लिया है। मैंने दुष्टों को दंडित किया है। मैंने न्याय के लिए युद्ध किया है। मैंने अपना खोया हुआ अधिकार प्राप्त किया है। इसलिए मुझे भी कोई ग्लानि नहीं है।" भीम कुछ आवेश में बोला, "अब तुम मुझे यहाँ उतार दो, मैं वापस जाऊँगा। अभी अश्वत्थामा जीवित है। हमें सतर्क रहना चाहिए।"

यद्यपि अंधकार हो चुका था किंतु हस्तिनापुर में प्रवेश करने में कृष्ण को कोई कठिनाई नहीं हुई, न ही धृतराष्ट्र के महल में प्रवेश करते हुए, उन्हें किसी ने टोका। इन असाधारण स्थितियों में कदाचित् राजप्रासाद के सामान्य शिष्टाचार स्थगित कर दिए गए थे। प्रासाद के अनुचर, कृष्ण को एक विजेता के से रूप में सीधे धृतराष्ट्र और गांधारी के पास ले गए। कृष्ण के मन में किसी प्रकार की कोई ग्लानि नहीं थी और न ही उन्होंने किसी प्रकार की दीनता प्रकट की। वे जानते थे कि धृतराष्ट्र के पक्ष का प्रत्येक व्यक्ति उन पर इस युद्ध की प्रेरणा और गांधारीपुत्रों के वधिक होने का आरोप लगाएगा। किंतु कृष्ण मानते थे कि यह सत्य नहीं था। गांधारी के पुत्र अपने पापों द्वारा दंडित हुए थे। न्याय के लिए यह कठोर कर्म करने के पश्चात् अब दीनता प्रकट करना बहुत घातक होगा। उसका अर्थ होगा, पुनः धृतराष्ट्र की सत्ता को प्रतिष्ठित करना।... पर यह भी सत्य है कि धृतराष्ट्र को असहाय पाकर उसके प्रति क्रूर होने से भी बचना था। युधिष्ठिर दीन हो सकते थे; और भीम क्रूर हो सकता था। युधिष्ठिर की सात्विकता उन्हें कठोर नहीं होने देती और भीम की राजसिकता, उसकी कोमलता के मार्ग की बाधा है।

कृष्ण को यह देखकर सुखद आश्चर्य हुआ कि धृतराष्ट्र और गांधारी को सांत्वना देने के लिए महर्षि वेदव्यास पहले से ही वहाँ उपस्थित थे। वेदव्यास को प्रणाम कर कृष्ण धृतराष्ट्र के निकट जा बैठे। उन्होंने धृतराष्ट्र का हाथ अपने हाथ में लिया और उनकी आँखों से टपककर अश्रु धृलराष्ट्र की हथेली पर गिरे।

धृतराष्ट्र को अपने मन की जलन कुछ क्षीण होती लगी और उसका भय जैसे भीतर ही भीतर झाग के समान बैठने लगा।... यह क्या था—कृष्ण के स्पर्श का जादू ? अथवा धृतराष्ट्र के अपने डरे हुए मन की सांत्वना कि पांडव सेनाएँ आकर उनका वध नहीं करेंगी। कृष्ण के आने का अर्थ ही था कि अब केवल संधि और प्रेम की बात होगी। युद्ध नहीं होगा। हत्या नहीं होगी, कारागार नहीं होगा। अब उन्हें कोई और वंचित नहीं करेगा ?

"श्रीकृष्ण ! यह आपका पश्चात्ताप है क्या ?" धृतराष्ट्र ने धीरे से कहा।

"नहीं राजन् !" कृष्ण के बोलने से पहले ही वेदव्यास बोले, "यह श्रीकृष्ण की करुणा है। उन्होंने ऐसा क्या किया है, जिसके लिए वे पश्चात्ताप करें। पाप के मूल में तो तुम थे और आज भी तुम्हारे मन में पश्चात्ताप का अंकुर नहीं फूटा..."

महर्षि ने अपना वाक्य अधूरा छोड़ दिया। धृतराष्ट्र सावधान हो गया। उसे तत्काल स्मरण हो आया कि अब कृष्ण की स्थिति विजेता पक्ष के प्रतिनिधिकी ही क्यों, स्वामी की सी है। उन्हें तो यहाँ आकर शोक प्रकट करने की भी कोई बाध्यता नहीं थी। वे आदेश दे सकते थे। जिस प्रकार धृतराष्ट्र ने पांडवों को उनके राज्य से निष्कासित किया था, वैसे ही कृष्ण धृतराष्ट्र को निष्कासित कर सकते थे। इसी समय, इसी क्षण...

कृष्ण उठे। उन्होंने स्वच्छ जल से अपने नेत्र धोए और विधिपूर्वक आचमन किया।

लौटकर वे अपने स्थान पर बैठ गए और बोले, "राजन् ! समस्त पांडव आपके आज्ञाकारी हैं। उन्होंने अपने कुल और क्षत्रिय समाज की रक्षा के लिए, जितना प्रयत्न संभव था, वह किया। जितना कष्ट और अपमान वे सह सकते थे, वह सहा। आप की ओर से तो अत्याचार की कोई मर्यादा भी नहीं थी।... अब आप उन्हें अपने किसी भी कष्ट के लिए दोषी न मानें। पांडवों का इसमें तनिक भी अपराध नहीं है। धर्म, न्याय और स्नेह की दृष्टि से पांडवों में कहीं कोई न्यूनता नहीं है। वे शुद्ध भाव से आपके पास आए थे; किंतु आप ही उन्हें स्वच्छ रूप में ग्रहण नहीं कर सके। आपने कपट द्यूत किया। वे उसी शुद्ध भाव से आज पुनः आपके द्वार पर खड़े हैं। आप अब भी उन्हें अपना सकते हैं।"

"तुम क्या मुझसे यह राजप्रासाद खाली करवाने आए हो अथवा दास-दासियों को हमारी सेवा से हटाने का आदेश देने वाले हो ?" धृतराष्ट्र के स्वर में रुदन का सा भाव था।

"नहीं। मैं यह बताने आया हूँ कि आप न तो असहाय हैं, न निर्वंश। आपके वंश को काल ने इतना तपाया है कि उसमें से अशुद्ध तत्त्व गलकर बह गया है और शुद्ध तत्त्व अपनी सत्ता प्रतिष्ठित कर चुका है।" कृष्ण बोले, "अब आपका वंश और राज्य पांडवों से ही चलने वाला है। अब पुनः आप अपने कुल के शत्रु न बनें।"

"क्यों ?" आश्वासन पाकर, धृतराष्ट्र के स्वर का भय कहीं विलीन हो गया, "मैंने सुना है कि युयुत्सु अभी जीवित है। वह हस्तिनापुर में आ गया है। अभी मुझ से भेंट करने नहीं आया है। कदाचित् कल प्रातः आएगा। वह हस्तिनापुर का राजा क्यों नहीं हो सकता ?"

"महाराज !" कृष्ण से भी पहले गांधारी ने कहा, "आपने भुला दिया कि युद्ध से पहले ही युयुत्सु युधिष्ठिर की शरण में चला गया था। अब क्या आप चाहते हैं कि युयुत्सु इस राज्य के लिए पांडवों के सम्मुख शस्त्र उठाए और भीम उसे भी चीरकर फेंक दे। आपका मोह अपने सारे पुत्रों को मरवाकर भी नहीं छूटा ?"

"धर्मराज युधिष्ठिर को बहुत चिंता है कि आजकल आपका स्वास्थ्य कैसा है। आपका भोजन कैसा है। आपको अपना प्रीतिकर भोजन मिल रहा है अथवा युद्धजनित अव्यवस्था के कारण आप कष्ट पा रहे हैं।" कृष्ण शांत भाव से बोले, "अब आपका

दायित्व उन पर है, इसलिए वे जानना चाहते हैं कि भविष्य में भी आप इसी प्रासाद में रहना चाहेंगे अथवा आप दुर्योधन के सर्वसुखसंपन्न प्रासाद में जाना चाहेंगे। या आप अपने लिए कोई और सुंदर और विशाल प्रासाद बनवाना चाहेंगे ?"

"युधिष्ठिर के मन में सचमुच यह सब है, या कृष्ण ! तुम मुझे चिढ़ा रहे हो ?" धृतराष्ट्र का मुख सूख रहा था।

"राजन् !" सहसा वेदव्यास ने उनकी चर्चा में हस्तक्षेप किया, "तुम अपने मुख में विष लेकर अमृत के सागर में भी तैरोगे तो उस अमृत का तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा। दूसरी ओर, यदि मुख में अमृत का एक घूँट भी हो तो विष का सागर सुरक्षित रहकर तैरा जा सकता है। अब यह तुम पर है कि तुम पांडवों का स्नेह स्वीकार करते हो या अब भी उन्हें अपना शत्रु मानकर उनकी हानि करना चाहते हो।"

"मैंने उनकी हानि कभी नहीं चाही।" धृतराष्ट्र बोला।

"तुम्हारा कपट अब भी तुम्हें त्याग नहीं रहा धृतराष्ट्र !" वेदव्यास शांत भाव से मुस्कराए, "कपट का फल तुम अच्छी तरह चख चुके हो। अब भी उसी की खेती करना चाहते हो, तो तुम्हारी इच्छा। यह युधिष्ठिर की महानता है कि उसने तुम्हारे लिए बधिक न भेजकर श्रीकृष्ण को भेजा है।"

"महाराज ! युधिष्ठिर के राज्य में आपको अपने उपभोग के लिए वह सारा धन-वैभव और अधिकार प्राप्त होगा, जो आपको अपने अथवा दुर्योधन के राज्य में प्राप्त था।" कृष्ण बोले, "पांडव आपकी उससे कहीं अधिक सेवा करेंगे, जितनी दुर्योधन करता था। दुर्योधन ने आपके आदेशों की सदा उपेक्षा की और युधिष्ठिर आपके आदेश पर द्यूतविद्या से अनभिज्ञ होते हुए भी शकुनि जैसे चतुर खिलाड़ी के साथ द्यूत खेलने बैठ गए। उन्होंने अपने धन और राज्य के साथ अपनी पत्नी, अपने भाइयों तथा स्वयं अपने आपको दाँव पर लगाया; किंतु आपके आदेश की अवहेलना नहीं की। कितना अंतर है। आप युधिष्ठिर के मन में एक बार झाँककर तो देखिए।" कृष्ण रुके, "आप पांडवों को अपने पुत्रों के रूप में अंगीकार कीजिए। बुआ कुंती भी आपकी सेवा करेंगी। अब आपका और है ही कौन ?"

"क्यों करेंगे पांडव हमारी सेवा ?" धृतराष्ट्र कुछ खीजकर बोला, "हम उनके शत्रुओं के माता-पिता हैं। संभव है कि भीम हमें भी अपना शत्रु ही मानता हो।"

"धर्मराज के मन में आपके प्रति कितनी भक्ति और कितना स्वाभाविक स्नेह है—इसको परखकर तो देखिए।" कृष्ण बोले, "ऐसा न हो कि इस बार आप अपनी आशंकाओं के मारे ही उनसे दूर होते चले जाएँ।"

"पर क्यों करेगा वह मेरी भक्ति ? क्या मिल जाएगा उसे मुझसे ?" धृतराष्ट्र का स्वर वैसा ही कटु था, "क्या उसकी स्मरण शक्ति इतनी क्षीण है ? भूल जाएगा वह कि मेरे पुत्रों ने उसके साथ कैसा व्यवहार किया था ?"

"आपके पुत्रों के अत्याचार उनके साथ गए। युधिष्ठिर तो स्वयं को भी आपका पुत्र ही मानते हैं। आपको अपने माता-पिता समझते हैं। आपकी भक्ति इसलिए नहीं करते

कि आपमें वे गुण हैं। भक्ति वे इसलिए करते हैं, क्योंकि उनमें वह गुण है। आप स्त्री की ओर इसलिए आकृष्ट नहीं होते, क्योंकि वह बहुत सुंदर है। आप तो वह सौन्दर्य देख भी नहीं पाते। आप आकृष्ट इसलिए होते हैं, क्योंकि आपके अपने मन में काम है।" कृष्ण बोले, "आपके मन में अब भी दुराव है। पर आप इसे स्पष्ट समझ लें कि अब आपसे उनको कोई भौतिक उपलब्धि नहीं होने वाली। न उनकी वैसी कोई अपेक्षा ही है। यह राज्य और धन संपत्ति–सब कुछ अब उनका ही है। आप उनके प्रासाद में बैठे हैं और ये दास और अनुचर भी उनके ही हैं, जो आपकी सेवा कर रहे हैं। मैं उनका दूत बनकर आया हूँ। उनकी ओर से मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि वे सात्विक भाव से वृद्ध सेवा करेंगे। वे माता गांधारी और बुआ कुंती में कहीं कोई अंतर नहीं देखते। युधिष्ठिर ने मुझे आपके पास भेजा है, अपनी माता के पास नहीं। वे आपके दुख से दुखी हैं और चाहते हैं कि किसी प्रकार आपका दुख कम हो सके।"

"पर क्या कुंती उन्हें हमसे सौहार्दपूर्ण व्यवहार करने देगी ?" धृतराष्ट्र बोला।

"तुम कुंती की उदारता को नहीं जानते धृतराष्ट्र !" वेदव्यास बोले, "पिछले तेरह वर्षों से वह तुम्हारे नगर में निवास कर रही है। तुमने सदा उसकी उपेक्षा की किंतु क्या उसने कभी तुम्हारे सम्मान में कमी की ?"

"वे छोटी बहन बनकर माता गांधारी की सेवा करेंगी।" कृष्ण बोले, "इसलिए नहीं कि माता गांधारी ने उनका कोई उपकार किया है। इसलिए कि कुंती बुआ अपने मन की घृणा को जीतने की साधना करती हैं। वे पाप से घृणा करती हैं। आप जैसे दीन और असहाय लोगों से घृणा कर उन्हें क्या मिलेगा। सूर्य अपने स्वभाव के कारण संसार के प्रत्येक जीव को प्रकाश देता है, उनसे कुछ पाने के लोभ में वह कुछ नहीं करता।"

धृतराष्ट्र के मुख पर कुछ रोष उभरा, "हमसे इतनी ही सहानुभूति थी तो हमारे पुत्रों का वध क्यों किया ? क्यों नहीं सोचा कि उससे हमें असह्य दुख होगा ?"

"उन्होंने आपके पुत्रों का वध नहीं किया। उन्होंने तो केवल अपने अपराधी शत्रुओं का वध किया है। नहीं तो वे शत्रु उनका वध कर देते।" कृष्ण बोले, "अपने मोह को तनिक-सा शिथिल कर सोचिए, संसार में ऐसा और कौन है, जो अपने अपराधी शत्रुओं का संहार करके भी प्रसन्न होने के स्थान पर शोक की ज्वाला में जलता हो। चैन न पाता हो। अपने पुत्रों से उनके चरित्र की तुलना कीजिए। आपके पुत्र ने छलपूर्वक द्यूत में उनको जीता था तो उनकी पत्नी को राजसभा में घसीट मँगवाया था और उसको निर्वस्त्र करने का प्रयत्न किया था। पांडवों ने सम्मुख युद्ध में आपके पुत्रों और उनके सहयोगी मित्रों का वध किया है। वे विजेताओं के दर्प से भी हस्तिनापुर आ सकते थे; किंतु वे उस युद्ध और उसमें हुए रक्तपात के लिए लज्जित हैं, जिसके लिए उन्हें बाध्य किया गया। आपके पुत्र ने आपके और सारे कुरुवृद्धों के सम्मुख पांचाली को अपमानित किया किंतु उसे तनिक लज्जा नहीं आई। पांडव आपके सामने आने में संकोच कर रहे हैं, क्योंकि उन्होंने युद्ध में आपके पुत्रों का वध किया है, जबकि आपके पुत्र वध्य ही थे।" कृष्ण क्षण भर

रुके और बोले, "आपने ही दुर्योधन को ताड़ना देते हुए कहा था माता ! आपके ही शब्द हैं, 'ओ मूढ़ ! मेरी बात सुन ले। जहाँ धर्म होता है, उसी पक्ष की विजय होती है।' आपकी वही बात सत्य प्रमाणित हुई है। अब शोक न करें और न ही अपने दुख के लिए पांडवों को दोषी मानें। पांडवों के प्रति विरोध का भाव त्यागें।"

"मैं तुम्हारी बात समझती हूँ कृष्ण ! अपनी स्थिति को भी समझती हूँ।" गांधारी ने कहा, "महाराज नेत्रहीन भी हैं, वृद्ध भी। इनके सारे पुत्र मारे जा चुके हैं। अब पांडवों के साथ तुम ही इनके आश्रयदाता हो।" गांधारी रुकी, "किंतु फिर भी एक बात कहना चाहती हूँ।"

"कहिए माता।"

"उन्होंने मेरे पुत्रों का वध किया, क्योंकि युद्ध में शत्रु का वध करने की ही परंपरा है; किंतु उनकी इतनी दुर्दशा क्यों की ? उन्हें इतना अपमानित क्यों किया ? किसी और का भी रक्त पिया है इस युद्ध में भीमसेन ने ? दुःशासन के साथ ही ऐसा व्यवहार क्यों ? क्या यह उनका अन्याय नहीं है ?"

"यह अन्याय नहीं है माता। यह रोष है, प्रतिशोध है भीमसेन का।" कृष्ण बोले, "अन्याय तो द्रौपदी को केशों से पकड़, घसीटकर सभा में लाना था। अन्याय तो उसे दुर्योधन द्वारा अपनी जंघा पर बैठने का संकेत करना था। अन्याय तो दुःशासन द्वारा उसे निर्वस्त्र करने का प्रयत्न करना था। भीम ने जो कुछ किया, वह तो मात्र प्रतिक्रिया थी। वैसे प्रतिक्रिया तो प्रकृति का गुण है, व्यक्ति को तो उस कर्म का श्रेय व्यर्थ ही दे दिया जाता है। तुम्हारे पुत्रों के अपने कर्मों ने उनकी यह दुर्दशा करवाई है।" कृष्ण रुके और इस बार बोले तो जैसे उनका स्वर आकाश से आ रहा था, "महाराज ! अपने किए कर्म किसी को क्षमा नहीं करते। अपने पुत्रों के विषय में आप बहुत चिंतित हैं, किंतु मेरा परामर्श है कि आपको अपने विषय में भी विचार करना चाहिए। अपने किए कर्मों पर भी दृष्टि डालनी चाहिए।"

धृतराष्ट्र का मन काँप गया : यह कृष्ण की चेतावनी है क्या ? क्या पांडव उनसे भी उनके कर्मों का प्रतिशोध लेंगे ?

कृष्ण उठ खड़े हुए। महर्षि ने देखा, कृष्ण का मन जैसे कहीं और था। वे धृतराष्ट्र के सामने से उठकर जैसे किसी अज्ञात स्थान पर चले गए थे।

"क्या बात है श्रीकृष्ण ?" वेदव्यास ने पूछा।

"चलता हूँ ऋषिवर !" कृष्ण ने उन्हें प्रणाम किया, "अच्छा महाराज ! अनुमति दें।"

"क्या हुआ कृष्ण ? इस प्रकार अकस्मात् ? मेरी किसी बात से रुष्ट हो गए क्या ?" धृतराष्ट्र घबरा गया था।

"नहीं महाराज ! सहसा ध्यान आ गया कि अश्वत्थामा अभी जीवित है और कहीं छुप गया है।" कृष्ण बोले, "उसके जीवित रहते, न हम असावधान रह सकते हैं, न निश्चिंत। उसके मन में एक जाग्रत पशु निवास करता है।"

लगा, धृतराष्ट्र ने जैसे कोई बहुत भयानक समाचार सुन लिया हो। चिंतित स्वर में बोला, "जाओ कृष्ण ! जाकर मेरे पुत्रों की रक्षा करो।"

कृष्ण की दृष्टि वेदव्यास की ओर उठ गई। वे मुस्करा रहे थे। कृष्ण द्वार की ओर बढ़े तो वेदव्यास भी उनके साथ आए।

"श्रीकृष्ण ! आप देख ही रहे हैं।" वे बोले, "धृतराष्ट्र का स्वार्थ अभी विगलित नहीं हुआ है। अब उसका स्वार्थ इसमें है कि पांडवों की रक्षा हो। वह नहीं चाहेगा कि युधिष्ठिर के स्थान पर हस्तिनापुर का राजा अश्वत्थामा हो।"

"आप अंतर्यामी हैं महर्षि !" कृष्ण ने उनके चरण छुए और अपने रथ की ओर बढ़ गए।

40

कृपाचार्य का मन उचटता जा रहा था। अट्ठारह दिनों के इस निरर्थक युद्ध से उनका मन बुरी तरह ऊब चुका था। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि किस बात के लिए संसार के ये इतने सारे क्षत्रिय एक स्थान पर एकत्रित होकर एक-दूसरे का रक्त बहाने पर तुले हुए थे। उन्हें तो आचार्य द्रोण की द्रुपद से शत्रुता भी सदा एक निरर्थक हठ के सिवाय और कुछ प्रतीत नहीं होती थी। इन सबके पास अपने रहने के स्थान थे। सबके पास भोजन के लिए पर्याप्त व्यवस्था थी। सबके घरों में वस्त्रों की भरमार थी। सबके बच्चे गुरुकुलों में शिक्षा ग्रहण कर रहे थे और सबको रुग्णावस्था में वैद्य उपलब्ध थे। फिर यह छीना-झपटी किसके लिए थी ?

आज वे सोचने बैठते हैं तो इसमें बहुत सारे लोगों के लोभ और अहंकार का योगदान दिखाई पड़ता है।··· पर अब युद्ध हो चुका था। कौरव पक्ष समाप्त हो चुका था। एक दुर्योधन बचा था; किंतु वह समरभूमि छोड़कर कहीं भाग गया था। उसे बहुत खोजा था उन लोगों ने; किंतु वह कहीं नहीं मिला। स्वयं वे, अश्वत्थामा और कृतवर्मा कौरव नहीं थे। उन्होंने कौरव पक्ष से युद्ध अवश्य किया था। पर अब जब कोई कौरव ही नहीं बचा था और जो बचा था, वह युद्ध से पलायन कर गया था तो यह अश्वत्थामा और कृतवर्मा युद्ध के लिए इतने व्यग्र क्यों थे। वे क्यों चाहते थे कि दुर्योधन को खोजा जाए और पांडवों से युद्ध किया जाए। जिनका युद्ध था, वे ही समाप्त हो चुके तो अश्वत्थामा पांडवों को अपना शत्रु क्यों मानता है। पांडव तो उसके शत्रु नहीं थे। और यह कृतवर्मा क्यों शांति से द्वारका जाकर अपने परिवार के साथ सुख से नहीं रहता ?··· दुर्योधन अपने योद्धाओं को खोजता तो फिर भी कृप उसका कारण समझ सकते थे; किंतु ये अश्वत्थामा और कृतवर्मा दुर्योधन को खोज कर उसका क्या करेंगे ?

सहसा कृपाचार्य के मन में दूसरी बात आई··· संभव है ये लोग क्षत्रिय धर्म की मर्यादा

का पालन कर रहे हों। ये अंत तक युद्ध करना चाहते हों। विजय अथवा वीरगति में से एक इनका लक्ष्य हो। ऐसे में वे लोग जीवित रहते हुए युद्ध का परित्याग कैसे कर सकते थे।''' तो फिर ये लोग समरभूमि में पीठ दिखाकर भाग क्यों आए थे ? लड़ते क्यों नहीं। प्राण देते और लेते क्यों नहीं ? छिपते क्यों फिर रहे थे ? दुर्योधन को क्यों खोज रहे थे ? दुर्योधन इनका धनुष है, खड्ग है या रथ है ? पांडव तो वहीं युद्धक्षेत्र में ही थे और अब भी वे लोग जीवित बचे हुए कौरव योद्धाओं को निरंतर खोजकर उनको ललकार रहे थे। अश्वत्थामा और कृतवर्मा को लड़ना ही है तो लड़ लें, नहीं तो पांडवों से मित्रता कर लें। कृपाचार्य पांडवों के गुरु हैं, अश्वत्थामा पांडवों का गुरुपुत्र और शैशव का मित्र है; कृतवर्मा द्वारकावासी है, यादव है और श्रीकृष्ण का समधी है। जब तक कौरव थे, उनका राज्य था, उनके प्रति निष्ठा के कारण ये लोग लड़े। अब लड़कर क्या होगा ? क्या ये लोग सोचते हैं कि यदि दुर्योधन इनको मिल गया तो ये लोग हस्तिनापुर का राज्य उसको दिलवा देंगे ? या यह राज्य इनको मिल जाएगा?

कृपाचार्य भली प्रकार जानते हैं कि क्षत्रिय की मर्यादा क्या है। वह अंत तक युद्ध करता है। जय-पराजय उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखती। किंतु यह उस क्षत्रिय की मर्यादा है, जो धर्म की रक्षा के लिए लड़ रहा हो, अपने देश की रक्षा के लिए लड़ रहा हो, अपने अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ रहा हो। अश्वत्थामा तो क्षत्रिय ही नहीं है। यदि वह अपने स्वभाव तथा कर्म से स्वयं को क्षत्रिय मानता हो तो ठीक है, वह क्षत्रिय की मर्यादा का पालन करे; किंतु फिर वह ब्राह्मण का सम्मान और अधिकर क्यों चाहता है ? युद्ध उसका व्यवसाय है, तो उसे व्यवसाय तक ही रखे, वह उसका धर्म नहीं हो सकता। कृतवर्मा अवश्य क्षत्रिय है वंश से, स्वभाव से तथा अपने कर्म और व्यवसाय से। किंतु वह धर्म के लिए नहीं लड़ रहा। जाने वह किस-किसकी शत्रुता अपने मन में पाले हुए है; और घृणा से प्रेरित होकर वेतनभोगी सैनिक के समान लड़ रहा है। वेतनभोगी सैनिक अब किस बाध्यता से युद्ध के लिए इतने आतुर हैं, जब उन्हें कोई वेतन देने वाला ही नहीं रहा ?

तभी उन लोगों को संजय दिखाई पड़ गया था। उसने बताया था कि सात्यकि उसे युद्धबंदी के रूप में पांडव शिविर में ले गया था; किंतु महर्षि वेदव्यास ने उसे मुक्त करा दिया था। वह अब हस्तिनापुर लौट रहा था। कृपाचार्य ने उसे अपने रथ पर चढ़ा लिया था। उसी से सूचना मिली थी कि दुर्योधन द्वैपायन सरोवर की ओर जाता हुआ देखा गया था। यहीं से उनकी दुर्योधन संबंधी खोज और भी सघन हो गई थी।

द्वैपायन सरोवर के निकट उन्हें दुर्योधन मिल गया था। वह घायल तो था ही, बहुत डरा हुआ भी था। उसके पास अपनी भारी गदा थी। शेष शस्त्र और रथ इत्यादि वह छोड़ आया था या उससे छूट गए थे।'''

उसे देखते ही अश्वत्थामा परम प्रसन्न हो गया था। और फिर जैसे वह युद्ध के किसी अपदेवता से आविष्ट हो गया था। वह भूल गया कि दुर्योधन उसका राजा था। उसने जैसे उसे आदेश देते हुए कहा था, "हमारे साथ चलो और पांडवों से युद्ध करो। विजयी होकर

पृथ्वी का राज्य भोगो या मारे जाकर स्वर्ग लोक प्राप्त करो।"

दुर्योधन के अधरों पर एक क्लांत सी मुस्कान थी, "हम लोग बहुत थके हुए हैं। विश्राम कर अपनी क्लांति दूर कर लें, अपने घावों का उपचार कर लें तो अवश्य युद्ध करेंगे और फिर विजयी भी होंगे। इस समय युद्ध में मेरी रुचि नहीं है।"

"पर अरुचि का कारण क्या है ?" अश्वत्थामा का अधैर्य फूट-फूट पड़ने को हो रहा था।

"अभी पराक्रम प्रकट करने का समय नहीं है। इस समय पांडवों का बल बढ़ा हुआ है।"

"भूल है तुम्हारी राजन् !" अश्वत्थामा ने कहा, "पांडवों की सेना का संहार हो चुका है। जो शेष बचे हैं, वे हमसे भी अधिक घायल हैं। हम आपकी रक्षा करेंगे। आप हमसे सुरक्षित होकर उन पर आक्रमण करें। वे आपका वेग नहीं सह पाएँगे।"

दुर्योधन ने भयभीत-सी दृष्टि उस पर डाली, जैसे कह रहा हो, क्यों मुझे मृत्यु के मुख में धकेलना चाहते हो ? और फिर धीरे से बोला, "नहीं ! अभी नहीं।"

अश्वत्थामा को उससे संतोष नहीं हुआ। वह कुछ आवेश में बोला, "मेरा विश्वास करो राजन् ! मैं अपने इष्टपूर्त कर्म, दान, सत्य और जप की शपथ खाकर कहता हूँ कि मैं आज सोमकों का संहार कर डालूँगा। यदि यह रात बीतते ही प्रातः रणभूमि में शत्रुओं को न मार डालूँ, तो मुझे अपने पुण्यों का सुख प्राप्त न हो। मैं समस्त पांचालों का संहार किए बिना अपना कवच नहीं उतारूँगा।"

कृपाचार्य का ध्यान इस ओर गया... वह अपने शत्रुओं के वध की बात कर रहा था और केवल पांचालों का नाम ले रहा था। वह पांडवों की चर्चा नहीं कर रहा था।... तो पिता के मन का वैर पुत्र के रक्त में भी आ गया था। महाराज द्रुपद से जो शत्रुता आचार्य द्रोण ने बाँधी थी, यह उसी की परंपरा को आगे चला रहा था। और अब तो आचार्य के प्राण लेने के लिए भी यह धृष्टद्युम्न को दंडित करना चाहेगा। दूसरी पीढ़ी में आकर शत्रुता और भी सघन हो गई थी।...

दूर कुछ ऐसी ध्वनियाँ भी आ रही थीं, जिनसे लगता था कि पांडवों की वाहिनियाँ कहीं बहुत निकट से ही जा रही हैं। संभवतः ये उनकी सेना की टोही टोलियाँ थीं।

दुर्योधन के कान खड़े हो गए थे।

"अच्छा ! तुम लोग चलो।" उसने कहा, "ऐसा न हो कि पांडव सेना इधर आ निकले और वे जान जाएँ कि मैं यहाँ हूँ। मैं रात भर उनकी आँखों से छिपकर निश्चिंत विश्राम करना चाहता हूँ।"

"हम लोग हट जाएँगे।" अश्वत्थामा ने कहा, "अच्छा आज्ञा दो।"

कृपाचार्य का मन फिर से अनेक प्रश्नों से जूझने लगा था।... अब तक तो वे लोग दुर्योधन को ढूँढ रहे थे। यदि ढूँढने का कारण यह था कि वे इकट्ठे रहकर पांडवों से एक-दूसरे की रक्षा कर सकें, तो अब वे इकट्ठे क्यों नहीं रहते ? दुर्योधन क्यों चाहता है

कि वे लोग वहाँ से चले जाएँ ? यदि उसके पास छिपने का कोई सुरक्षित स्थान है तो वह उनको भी रात भर अपने साथ क्यों छिपा नहीं लेता ? या वह ही क्यों उनके साथ नहीं चलता, ताकि वे एक साथ हों, शक्तिशाली हों और पांडवों से जूझ सकें ? दुर्योधन इस स्थान से हटना क्यों नहीं चाहता ? ऐसा क्या है, जो यहाँ उसकी रक्षा करेगा और अन्यत्र रक्षा नहीं हो पाएगी ?''' इसका अर्थ तो यह है कि दुर्योधन स्वयं को यहीं सुरक्षित मानता है; किंतु किसी और को अपने साथ रखना नहीं चाहता। इस स्थान की सुरक्षा वह अपने साथियों को क्यों नहीं देना चाहता। क्या वह उनको अपना साथी नहीं मानता ? मानता है तो उनकी सुरक्षा क्यों नहीं चाहता ?''' कृपाचार्य की समझ में कुछ नहीं आ रहा था, किंतु उन्होंने दुर्योधन से कोई प्रश्न नहीं किया। शायद उनके मन में युद्ध का उत्साह ही नहीं था और न ही वे पांडवों से इस प्रकार डरे हुए थे कि वे उनसे छिपते फिरते। वे जानते थे, जिस क्षण वे पांडवों के सम्मुख जाकर कह देंगे कि युद्ध समाप्त हो गया है, अब वे उन पर शस्त्र प्रयोग नहीं करेंगे, सारा वैर समाप्त हो जाएगा'''

दुर्योधन द्वैपायन सरोवर में जाकर छिप गया। वे तीनों अपने रथों की ओर लौट आए। रथ चले तो सबसे आगे, अश्वत्थामा ही था। कृपाचार्य सोच रहे थे कि शायद अश्वत्थामा के मन में ही सबसे भयंकर भय था। शायद प्रतिहिंसा भी उसी के मन में थी। वे लोग वन की ओर निकल गए थे। सघन वन में रथ का चलना कठिन था। वे अपने रथों के साथ उतनी ही दूर जा सकते थे, जहाँ तक ऐसे झाड़ और पौधे थे, जिन्हें घोड़े अपने पैरों से कुचल सकते थे या फिर रथचक्र उनको रौंद सकते थे। विराट वृक्षों की बाधाओं को रथ पार नहीं कर सकते थे।''' और रथों का त्याग वे करना नहीं चाहते थे। अभी युद्ध समाप्त नहीं हुआ था। रथ नहीं होंगे तो उनकी गति अवरुद्ध हो जाएगी। रथ नहीं होंगे तो उनके पास शस्त्र भंडार नहीं होगा। अपने कंधों पर वे कितने शस्त्र लेकर चल सकते हैं ? और फिर शत्रु से सामना होने पर रथ से बड़ा और कवच कौन-सा था।'''

पथ से हटकर छोटे वृक्षों से परे एक वट वृक्ष दिखाई दे रहा था। अश्वत्थामा ने अपने रथ को उसी ओर मोड़ दिया।

रथों को एक साथ खड़ा कर वे उस वट के नीचे आ बैठे।

"थक गए क्या ?" कृपाचार्य ने पूछा।

"नहीं !" अश्वत्थामा ने कहा, "किंतु विश्राम करने से शक्ति का संचय होता है और वैसे भी हमें दुर्योधन से बहुत दूर नहीं जाना चाहिए।"

"कृतवर्मा !" कृपाचार्य बोले, "मुझे लगता है कि कौरवों का युद्ध समाप्त हो चुका है।"

"लगता तो ऐसा ही है।" वह बोला।

"तो फिर तुम अब किसके लिए लड़ना चाहते हो ? किससे लड़ना चाहते हो ? और किसलिए लड़ना चाहते हो ?"

अश्वत्थामा को उनका यह प्रश्न अच्छा नहीं लगा था। इस प्रश्न में युद्ध का विरोध था। उसने जैसे उनकी गति रुद्ध करने के लिए उन पर प्रहार किया, "आप किसलिए

शस्त्र उठाए हमारे साथ हैं मातुल ?"

कृपाचार्य इस आकस्मिक आक्रमण से कुछ हतप्रभ हुए, किंतु सँभलकर बोले, "मैं तो तुम्हारे स्नेह के कारण तुम्हारे साथ हूँ। तुम्हारी रक्षा के लिए तुम्हारे साथ हूँ। मेरे लिए और क्या कारण हो सकता है ? मेरी न तो पांडवों से कोई शत्रुता है और न ही पांचालों से। दुर्योधन का पक्ष धर्म का पक्ष भी नहीं है कि मैं उसके लिए निरीह लोगों का रक्त बहाऊँ। उसका राज्य भी नहीं है कि मैं राज्यनिष्ठा के कारण शस्त्र परिचालन करूँ।" कृपाचार्य ने उसकी ओर देखा, "किंतु तुम अब किसलिए युद्ध के लिए इतने व्यग्र हो ? मैं तो सोचता हूँ कि हमें अब युधिष्ठिर के सम्मुख शस्त्रसमर्पण कर देना चाहिए और जो दायित्व वे हमें दें, उसे स्वीकार करना चाहिए।"

अश्वत्थामा के मुख का स्वाद जैसे कड़वा हो गया।... युधिष्ठिर के सम्मुख शस्त्रसमर्पण !... उसके मन में एक भयंकर चित्र उभरा...

हस्तिनापुर की राजसभा में सिंहासन पर सम्राट् युधिष्ठिर बैठे हुए हैं। उनके एकदम साथ के अति विशिष्ट सिंहासन पर बैठा है धृष्टद्युम्न ! जैसे वही हस्तिनापुर राज्य का युवराज हो। युद्ध में असाधारण वीरता प्रकट करने के लिए युधिष्ठिर अपने वीर योद्धाओं का अभिनन्दन कर रहे हैं।

युधिष्ठिर घोषणा करते हैं, "इस महान् युद्ध में वीरता का चरम प्रकट करने के लिए मैं पांचालराज द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न को परम वीर की प्रशस्ति प्रदान करता हूँ। आज से वे पांचालों के परंपरागत राज्य के स्वामी तो होंगे ही, हम उन्हें उनसे आचार्य द्रोण द्वारा छीन लिए गए अहिछत्र के राज्य का भी अधिकार देते हैं। उन दोनों राज्यों के साथ हम अपनी ओर से उन्हें इंद्रप्रस्थ का राज्य भी पुरस्कार स्वरूप प्रदान कर रहे हैं। वीर पांचाल बंधुओं ने इस युद्ध में हमारी जितनी सहायता की है, वह संसार के इतिहास में अनुपलब्ध है।"

धृष्टद्युम्न ने अपने स्थान से उठकर युधिष्ठिर को हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

तभी भीमसेन अपने स्थान पर उठ खड़ा हुआ। वह धृष्टद्युम्न के निकट आया और उसने धृष्टद्युम्न को अपने वक्ष से लगा लिया।

"धर्मराज ! राज्य की नीति को स्पष्ट करने तथा प्रजा के लाभ के लिए, आप की अनुमति से एक घोषणा मैं भी करना चाहता हूँ।"

"बोलो भीमसेन।"

"मैं यह घोषणा करता हूँ कि हस्तिनापुर में अब केवल पांडवों का नहीं, पांचालों और पांडवों का संयुक्त राज्य है।" भीम ने कहा, "अब कोई यह न कहे कि पांचालों और कौरवों में किसी प्रकार का कोई वैमनस्य है। उसे हमने अपने शत्रुओं के रक्त से धो दिया है। यह वैमनस्य हमारा नहीं था। वह आचार्य द्रोण द्वारा बोया गया विषवृक्ष था, जिसका फल ये खा रहे थे। यदि वे कौरवों और पांचालों में इस प्रकार के वैमनस्य, शत्रुता और घृणा को पुष्ट न करते तो उन्हें अहिछत्र का राज्य कैसे मिलता। अब वह सब कुछ नहीं है। हमारा एक ही परिवार है। हमारी अगली पीढ़ी पांचालों, कौरवों और पांडवों की

सम्मिलित पीढ़ी है। उनमें दोनों का ही रक्त है, इसलिए उनका वंश भी एक ही है।"

धृष्टद्युम्न अत्यंत प्रसन्न दिखाई पड़ रहा था। इतनी बड़ी उपलब्धि की कल्पना तो उसने क्या, उसके पिता ने भी नहीं की होगी।

सहसा धृष्टद्युम्न खड़ा हो गया और उसने घोषणा के रूप में कहना आरंभ किया। उसके लिए उसने युधिष्ठिर की अनुमति की भी आवश्यकता नहीं समझी।

"मैं महामना पांडवों की इस उदारता को स्वीकार करता हूँ; किंतु मुझको तो अपना पुरस्कार उसी दिन मिल गया था, जिस दिन मैंने उस कुचक्री ब्राह्मण, जिसे आप आचार्य द्रोण कहते हैं, के जटाजूट को अपने इन हाथों से पकड़कर अपने खड्ग से उसका मस्तक काट लिया था।..."

अश्वत्थामा का मन जैसे फट पड़ा और उसका रक्त सारे संसार को लाल कर गया। पांडव अपने गुरु के अपमान करने वाले इस नीच पांचाल का विरोध भी नहीं कर रहे; और उसके साथ मिलकर उत्सव मना रहे हैं।... और मातुल कह रहे हैं कि वे लोग युधिष्ठिर के सामने शस्त्र समर्पित कर दें।... ताकि युद्ध बंद हो जाए और अश्वत्थामा अपने पिता की उस क्रूर हत्या का प्रतिशोध भी न ले सके। नहीं ! युद्ध किसी भी स्थिति में बंद नहीं होना चाहिए। युद्ध बंद हो गया तो अश्वत्थामा की प्रतिहिंसा उसे ही निगल जाएगी।...

"इस समय तो प्रतिशोध ही मेरा धर्म है।" अश्वत्थामा बोला, "और मैं उसी का निर्वाह कर रहा हूँ।"

कृपाचार्य ने स्वयं को भरसक शांत रखते हुए, कृतवर्मा की ओर देखा, "और तुम कृतवर्मा ! तुम तो दुर्योधन के ऐसे कोई मित्र भी नहीं हो। तुम दुर्योधन की सभा में से कृष्ण को सुरक्षित निकाल ले गए थे। मित्र तो तुम कृष्ण के ही हो। उसके समधी भी हो। फिर तुम क्यों शस्त्र उठाए हुए युद्ध के पीछे पड़े हो ? तुम्हें भी किसी से अपना प्रतिशोध लेना है ?"

कृतवर्मा ने एक बार कृपाचार्य की ओर देखा और सिर झुका लिया। यही प्रश्न वह कितनी ही बार अपने आपसे पूछ चुका था।... ठीक कह रहे थे कृपाचार्य। वह तो कृष्ण का मित्र ही था। किंतु उनसे भी अधिक वह बलराम का मित्र था। फिर भी न तो पांडवों से उसकी कोई शत्रुता थी और न ही कृष्ण से। उसका तो सारा झगड़ा ही सात्यकि से था। उसने समझा था कि इस युद्ध के बहाने वह उससे अपना हिसाब चुकता कर लेगा... किंतु सात्यकि अब भी जीवित है। विजेताओं में से एक है। युद्ध बंद हो जाता है और कृतवर्मा पांडवों के हाथ पड़ जाता है तो सात्यकि उनसे उसे माँग लेगा। फिर वह जो चाहे, उसके साथ करे। कृतवर्मा जैसा योद्धा सात्यकि की कृपा पर जीवित होगा और उसकी इच्छा होते ही मार दिया जाएगा। कृतवर्मा ने यादवों की नारायणी सेना का नेतृत्व किया था। किंतु कहाँ है, वह नारायणी सेना ? अर्जुन ने उसके एक-एक सैनिक को काटकर फेंक दिया था। हस्तिनापुर से सुरक्षित बचकर कृतवर्मा द्वारका चला जाए तो वहाँ भी सात्यकि होगा, जो द्वारका की वीथियों और चौपड़ों पर खड़ा होकर कहेगा, "यह है

कृतवर्मा ! जो अपनी वीरता के कारण सारी नारायणी सेना को कटवा आया।''... नहीं ! कृतवर्मा युद्ध समाप्त होने से पहले ही सात्यकि से निबट ले तो ठीक है, अन्यथा उसका सारा भविष्य कलंकित ही होता रहेगा...

"मैंने तुमसे पूछा कृतवर्मा !" कृपाचार्य बोले, "तुम क्यों युद्ध के इतने समर्थक बने हुए हो ? दाँव पर तुम्हारा क्या लगा हुआ है ?"

कृतवर्मा स्वयं को संयत कर चुका था। बोला, "आपके मन में यह प्रश्न इसलिए उठ रहा है, क्योंकि आपने मान लिया है कि युद्ध समाप्त हो गया है। मैंने अभी यह स्वीकार नहीं किया है। युद्ध के मध्य ही मैं समरभूमि छोड़कर कैसे भाग जाऊँ।"

कृतवर्मा की बात बीच में ही रह गई। उनके रथों के निकट कोई खड़ा था। घोड़े भी हिनहिनाकर अपने ढंग से सूचना दे रहे थे कि कोई आया है।...

वे तीनों उठ खड़े हुए। उनके हाथ शस्त्रों पर चले गए। आँखों ही आँखों में संकेत हुआ। अश्वत्थामा सीधा और प्रकट रूप में उस व्यक्ति के निकट जाएगा । कृतवर्मा और कृपाचार्य अर्द्ध वृत्त बनाते हुए गुप्त रूप से दाएँ और बाएँ से उसके निकट पहुँचेंगे। उसके पास यदि शस्त्र हुए तो वे उस पर प्रहार भी कर सकते हैं।

पर वह कोई शत्रु नहीं था। वह तो दुर्योधन का ही एक दूत था।

"आचार्य !" उसने कहा, "महाराज दुर्योधन का मध्यम पांडव भीम से गदायुद्ध हुआ है और भीमसेन ने उनकी दोनों जंघाएँ तोड़ दी हैं।"

"क्या।" अश्वत्थामा के मुख से निकला, "महाराज हैं कहाँ ? द्वैपायन सरोवर के तट पर ?"

"नहीं महाराज ! उनका युद्ध समंतपंचक में वासुदेव बलराम की अध्यक्षता में हुआ था।" दूत ने बताया, "वे वहीं पड़े हैं। मैं उनसे मिला तो उन्होंने कहा कि मेरे योद्धाओं को खोज कर उनको मेरा समाचार दो।"

"बलराम ! वे कहाँ से आ गए ?" कृतवर्मा ने पूछा, "वे तो तीर्थ करने गए थे ?"

"वे ठीक युद्ध के समय लौट आए हैं महाराज !"

कृपाचार्य चौंके । तभी दुर्योधन उस स्थान से हटना नहीं चाहता था और न ही किसी और को साथ रखना चाहता था।... बलराम के आने की सूचना से ही कृपाचार्य के मन के अनेक प्रश्नों का समाधान हो गया था।... किंतु आश्चर्य यही था कि बलराम के होते हुए भी दुर्योधन पिट कैसे गया। बलराम का आना तो निरर्थक ही हो गया।...

"क्या पांडवों ने वहाँ कोई प्रहरी बैठाया है ?"

"नहीं । कोई भी नहीं है।" दूत बोला, "वन के पशुपक्षी ही हैं और कोई नहीं है।"

"तुमने हमें कैसे खोजा ?"

"मैं तो इस मार्ग से जा रहा था। तीन युद्धक रथ खड़े देखे तो संदेह हुआ कि आप लोग यहाँ हो सकते हैं।..."

"हाँ ! हम लोग छुप भी रहे हैं और अपना पता बताने के लिए अपने रथ भी यहाँ

खड़े कर रखे हैं।" कृपाचार्य हँसे, "अच्छी गोपनीयता बरती हमने। यह तो अच्छा हुआ कि तुम थे। तुम्हारे स्थान पर पांडव सेना भी तो इधर आ सकती थी।"

"आचार्य ! राजा दुर्योधन ने कहा है कि हम लोग संन्यासी के रूप में चारों ओर घूमने वाले प्रवचनकुशल चार्वाक को खोजें और उन्हें राजा की इस दशा की सूचना दें। वे महाभाग निश्चय ही हमारे महाराज के प्रति की गई इस हिंसा का प्रतिशोध लेंगे।"

अश्वत्थामा के जबड़े कस गए। दुर्योधन अपने प्रति किए गए अपराध का प्रतिशोध चाहता है। वह चार्वाक को खोज रहा है। क्या उसे अश्वत्थामा पर विश्वास नहीं है ?

"अवश्य खोजो उन्हें। उन्हें महाराज का संदेश दो।" अश्वत्थामा बोला, "तब तक हम महाराज से भेंट करने जाते हैं।"

अश्वत्थामा ने अपने साथियों से बिना कुछ कहे, रथ में घोड़े जोत दिए। कृपाचार्य और कृतवर्मा समझ रहे थे कि वह क्या कर रहा है। वे भी पीछे नहीं रहे। दूत अभी वहीं खड़ा था कि तीनों रथ समंतपंचक की ओर चल पड़े।

अश्वत्थामा बहुत उत्तेजित था किंतु सावधान भी था। वह नहीं चाहता था कि पांडवों को उनके विषय में कोई सूचना मिले। उनका गुप्त रहना ही श्रेयस्कर था। समंतपंचक द्वैपायन सरोवर से बहुत दूर नहीं था किंतु ये तीनों ही द्वैपायन सरोवर से दूर निकल गए थे। इसलिए समंतपंचक से भी दूर हो गए थे। उन्हें लौटने में कुछ समय तो लगना ही था।

उन्होंने अपने रथ कुछ दूरी पर ही छोड़ दिए। रात के अंधकार में छुपते हुए, सावधानी से उस स्थान की ओर चले, जहाँ दुर्योधन के होने के विषय में दूत ने बताया था।

दुर्योधन वहीं था।

कृपाचार्य के मन में अनायास ही एक प्रश्न उठा, "पांडवों ने इसका वध भी नहीं किया और इसे अपने साथ भी नहीं ले गए। उन्हें यह आशंका नहीं थी कि दुर्योधन के जीवित बचे साथी यहाँ आएँगे और संभवतः दुर्योधन को अपने साथ ले जाएँगे ?"' शायद उन्होंने इसे मृतप्राय ही मान लिया है। यह मान लिया है कि अब इसे कोई वैद्य जीवित नहीं बचा सकता। उन्होंने इसका वध भी नहीं किया है। शायद वे चाहते थे कि इसे जीवित ही गिद्ध और शृगाल नोच-नोच कर खाएँ। यह अपनी रक्षा भी न कर सके और अपनी अस्थियों पर से जीवित माँस नुचता हुआ देखे और उसकी पीड़ा का अनुभव करे, जो द्रौपदी ने अपने शरीर से वस्त्र हरण होते हुए सहन की थी। दुर्योधन अनुभव करे कि मांस के नोचे जाने से नग्न अस्थियों का दिखाई देना अधिक पीड़ादायक है या वस्त्रों के नोचे जाने से नग्न शरीर का दिखाई पड़ना।"'

पर क्या उन्हें दुर्योधन के जीवित बचे साथियों की ओर से तनिक भी आशंका नहीं है ? शायद नहीं है। दुर्योधन को जिस रूप और जिस अवस्था में वे छोड़ गए हैं, उससे तो लगता है कि वे चाहते हैं कि दुर्योधन के जीवित बचे साथी ही नहीं, अन्य सामान्य जन भी देखें और सावधान हों कि पाप का अंत क्या होता है। यह चेतावनी थी अश्वत्थामा

के लिए भी कि यदि उसने युद्ध बंद नहीं किया तो उसकी भी यही दशा हो सकती है।...

कृपाचार्य का मन भय से काँप उठा।... अश्वत्थामा कुछ सोचता क्यों नहीं। अब स्थितियाँ पहले जैसी नहीं हैं। पांडवों ने अपने अधिकारों के लिए युद्ध किया है किंतु प्रतिशोध का दायित्व केवल भीम पर है। भीम का प्रतिशोध कितना भयंकर हो सकता है, यह उसने दिखा दिया है। दुःशासन और दुर्योधन दोनों की ही मृत्यु जितनी अपमानजनक और पीड़ादायक है, उससे भीम का विरोध करने से पहले दस बार सोचना चाहिए।...

वे लोग दुर्योधन के निकट पहुँच गए। दुर्योधन को अपनी उस अर्द्धचेतनावस्था में भी आभास हो गया कि कोई आया है। उसने आँखें खोल दीं। हाथों को भूमि पर टिकाकर प्रयत्नपूर्वक अपना सिर उठाया और आहत सर्प के समान फूत्कार कर बोला, "देख रहे हो गुरुपुत्र ! उन्होंने मेरे साथ क्या किया है।"

"देख रहा हूँ राजन् ! उनकी नीचता को देख रहा हूँ।" अश्वत्थामा बोला, "और इसके पश्चात् वे अपना विजयोत्सव मना रहे होंगे।"

"अधर्म से विजय प्राप्त करके किस बुद्धिमान पुरुष को हर्ष होगा, जैसा कि उस पांडुपुत्र भीम को हो रहा है ?" दुर्योधन ने कहा।

कृपाचार्य ने स्वयं को सँभाल न लिया होता तो उन्हें हँसी आ गई होती : यह दुर्योधन कह रहा है ? अपने अधर्म पर तो उसकी दृष्टि कभी पड़ी नहीं। अपने किए हुए के विषय में तो उसने कभी सोचा नहीं। पांडवों के राज्य का अपहरण करते हुए, उनको विष देते और उनको अग्नि में जलाते हुए, उनकी पत्नी को निर्वस्त्र करते हुए, उनके निःशस्त्र पुत्र को घेर कर मारते हुए तो दुर्योधन को धर्म का ध्यान ही नहीं आया। वह तो हर्ष से उन्मत्त ही हो जाता था। आज वही दुर्योधन धर्म की बात कर रहा है।...

"हर्ष की बात है कि मैं युद्ध में पीठ दिखाकर भागा नहीं।" सहसा दुर्योधन बोला, "निम्न श्रेणी के मनुष्यों के समान हार मानकर वैर से कभी पीछे नहीं हटा।"

कृपाचार्य के मन में उनके अपने मन की टिप्पणी निरंतर चल रही थी... यह कह रहा है कि वह युद्ध में पीठ दिखाकर भागा नहीं, तब क्यों अपने आपसे नहीं पूछता कि द्वैपायन सरोवर में जाकर कौन छिप गया था। उसे भी यह युद्धक्षेत्र में खड़े रहकर शत्रु से लड़ना मानता है क्या ?... और यह नहीं कह रहा कि मैं युद्ध से पीछे नहीं हटा। कह रहा है कि वैर से पीछे नहीं हटा। यह वैर त्यागने को निम्न श्रेणी का काम मानता है। नीच कहीं का। क्षमा का महत्त्व नहीं जानता। प्रेम की उदात्तता नहीं जानता। बड़े गर्व से कह रहा है कि वैर से कभी पीछे नहीं हटा।... इसी दिशा में चल रहा है अश्वत्थामा भी। तो यह गुरुमंत्र उसे भी दुर्योधन से ही मिला होगा।

दुर्योधन का विलाप चल रहा था, "जैसे कोई निश्चिंत सोए अथवा प्रमत्त मनुष्य को मार दे, धोखे से विष देकर किसी की हत्या कर डाले, उसी प्रकार धर्म का उल्लंघन करने वाले पापी भीमसेन ने गदायुद्ध की मर्यादा का उल्लंघन कर, मुझे मारा है।..."

कृपाचार्य स्तब्ध रह गए... यह सब कहते हुए क्या दुर्योधन को एक बार भी स्मरण

नहीं आता कि उसने भीम के बिस्तर में साँप छोड़ दिया था। उसे भोजन में विष दिया था। क्या उसे तनिक भी सुध नहीं है कि उसने सोए हुए पांडवों को उनकी माता के साथ अग्नि में जलाकर मार डालने का प्रयत्न किया था ?''' उसकी आज की बातें सुनकर तो कोई भी उसे उत्तम कोटि का धर्मात्मा मान लेगा।''' भगवान् की भी कैसी लीला है। मनुष्य दूसरों को तो धर्म, अनुशासन, नियम, विधि-विधान में बाँधना चाहता है; किंतु स्वयं परम स्वतंत्र और स्वेच्छाचारी बना रहना चाहता है।

दुर्योधन को इस प्रकार आहत पशु के समान भूमि पर रेंगते देख, अश्वत्थामा की आँखों में अश्रु आ गए। बोला तो उसकी वाणी में चीत्कार करती वेदना थी, "मैं आज समझ पाया हूँ राजन् ! कि इस संसार में कुछ भी सत्य नहीं है। सब कुछ नाशवान है। सब निस्सार है। आपके जैसा राजा भी आज धूल में लोट रहा है तो किसकी संपत्ति को स्थिर माना जा सकता है।"

कृपाचार्य की इच्छा हुई कि अश्वत्थामा के कंधे पर हाथ रखकर स्नेह से कहें, "जब तुमने संसार के सुख और संपत्ति इत्यादि की निस्सारता देख ही ली है, तो फिर मन से इस वैर और द्वेष को निकाल दो और पांडवों के साथ मिलकर संसार में शांति स्थापित करने का प्रयत्न करो।"

पर उनके कुछ कहने से पहले ही दुर्योधन बोला, "पापियों ने मुझे छल से मारा है। मैंने सदा क्षत्रिय धर्म का पूर्ण पालन किया है।" दुर्योधन की आँखों में अश्रु आ गए।

"मैं जानता हूँ।" अश्वत्थामा प्रलयकाल की अग्नि के समान प्रज्वलित हो उठा था, "नीच पांडवों ने अत्यंत क्रूरतापूर्वक मेरे पिता का वध किया है; किंतु उसके कारण भी मैं उतना संतप्त नहीं हूँ, जितना आज आपके साथ किए गए इस अपमानजनक व्यवहार के कारण कष्ट पा रहा हूँ। मैं अपने इष्ट, अपूर्त, दान, धर्म तथा अन्य शुभ कर्मों की शपथ खाकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज श्रीकृष्ण के देखते-देखते सभी पांचालों को सभी उपायों से यमपुर भेज दूँगा। आप इसके लिए मुझे अनुज्ञा दें।"

कृपाचार्य जैसे कुछ डर गए। कृतवर्मा तो चुपचाप खड़ा है और यह अश्वत्थामा कैसी कैसी प्रतिज्ञाएँ करता जा रहा है। यह शैशव की उच्छृंखलता नहीं तो क्या है। किंतु न वह एक शिशु है और न ही इस प्रकार की उच्छृंखलता किसी शस्त्रधारी को शोभा देती है। अश्वत्थामा के अधिकार में ब्रह्मशिर जैसे शस्त्र हैं। उसे उच्छृंखल होने का कोई अधिकार नहीं है। और वह श्रीकृष्ण के देखते देखते यह सब करना चाहता है। शायद उसे अनुमान ही नहीं है कि श्रीकृष्ण की उपस्थिति का प्रभाव क्या है।''' ऐसी भयंकर प्रतिज्ञा कर रहा है और कह रहा है कि पांचालों को नष्ट कर देगा। पांडवों का नाम भी नहीं ले रहा। जबकि दुर्योधन को तो भीम ने मारा है, उसमें पांचाल कहाँ से आ गए। कहने को अश्वत्थामा कह रहा है कि वह अपने पिता की हत्या से भी उतना संतप्त नहीं है, जितना दुर्योधन की दुर्दशा से है; किंतु उसके मन पर तो उसके पिता की हत्या इस बुरी तरह छाई हुई है कि नाश के नाम पर वह केवल पांचालों की ही बात करता है।'''

दुर्योधन ने कृपाचार्य की ओर देखा, "आचार्य ! जल से भरा हुआ एक कलश ले आइए।"

कलश !··· कृपाचार्य ने सोचा··· यहाँ कलश कहाँ से मिलेगा ? यह न तो दुर्योधन का प्रासाद है, न उनका घर। फिर कलश कहाँ से आएगा। यहाँ सरिता तट पर जा कर किसी से पूछें तो उसे यह भी बताना होगा कि वे लोग दुर्योधन के जीवित बचे हुए योद्धा हैं। यह समाचार तत्काल पांडवों तक भी पहुँच सकता है कि दुर्योधन अभी मरा नहीं है। उसके साथी आ गए हैं और वे लोग जल का कलश लेकर किसी प्रकार का आयोजन करने वाले हैं।···

कृपाचार्य ओघवती के तट पर आए और अपने एक तूणीर में से बाण निकाल कर उसी में जल भर लाए।

दुर्योधन ने देखा कि वे जल भर लाए हैं तो बोला, "द्विजश्रेष्ठ ! मेरी आज्ञा से अश्वत्थामा का कौरव सेना के सेनापति पद पर अभिषेक कीजिए।"

कृपाचार्य समझ नहीं पा रहे थे कि वे क्या करें··· एक मृतप्राय राजा की मनोकामना पूरी करने के लिए यदि वे बच्चों के समान राजा और सेनापति का नाटक खेलें तो भी कोई क्षति नहीं थीं। किंतु गंभीरतापूर्वक एक ऐसे राजा की आज्ञा से, जो राजा ही नहीं है, इस स्थान पर, जो श्मशान से कम नहीं, छिपकर एक ऐसी सेना के सेनापति का अभिषेक, जिस सेना का अस्तित्व ही नहीं है।···

कृपाचार्य को आज भी स्मरण है··· हस्तिनापुर की रंगशाला में दुर्योधन ने इसी प्रकार कर्ण का अंग देश के राजा के रूप में अभिषेक करा दिया था, जिसका उसको तनिक भी अधिकार नहीं था।··· आज वही खेल वह अश्वत्थामा के साथ खेल रहा है। पता नहीं क्यों वह दूषित प्रयोजनों के लिए ही अभिषेक करवाता रहता है। मानवता के कल्याण के लिए तो उसने कभी कोई अभिषेक नहीं करवाया। कर्ण को उसने अंगराज न बनाया होता तो कदाचित् कर्ण विनाश के मार्ग पर नहीं चलता। आज यह अश्वत्थामा को सेनापति बना रहा है, किसलिए ? अश्वत्थामा के विनाश के लिए ही तो। उसकी धमनियों में विष घोलने के लिए ही तो। यह स्वयं तो मर जाएगा; किंतु चाहता है कि पीछे अश्वत्थामा उसके नाम पर लड़ता रहे और हस्तिनापुर में कभी शांति न हो।···.

अभिषेक हो जाने पर अश्वत्थामा ने दुर्योधन को गले से लगाया और सिंहनाद कर अपने रथ की ओर चल पड़ा। कृतवर्मा तब से मौन ही था। उसने दुर्योधन से कोई बात भी नहीं की थी। दुर्योधन ने भी उससे कुछ नहीं कहा था। उनमें केवल दृष्टि का ही आदान-प्रदान हुआ था।

कृपाचार्य भी दुर्योधन की पीड़ा देखकर प्रभावित हुए बिना नहीं रहे थे; किंतु वे यह भूल नहीं पा रहे थे कि इसी दुर्योधन ने अपने संबंधियों, अपनी प्रजा तथा अन्य लोगों पर कैसे-कैसे अत्याचार किए थे। राजा तो वह बहुत बाद में बना था, उससे कहीं पहले भयंकर अपराधी बन गया था।···

"आप भी जाइए आचार्य !" दुर्योधन ने कहा, "किसी भी क्षण कोई हमें देख सकता है और पांडवों को सूचना दे सकता है कि दुर्योधन के पास कोई आया है। आप जाएँ किंतु मेरे मित्र चार्वाक को खोज कर उसे यह सूचना अवश्य दीजिएगा कि पांडवों ने दुर्योधन को कैसे अन्यायपूर्वक मारा है।"

अश्वत्थामा का रथ सबसे आगे चल रहा था। उसके पीछे कृपाचार्य और कृतवर्मा के रथ आ रहे थे। अश्वत्थामा ने न उनसे चलने के लिए कहा था और न ही उनकी प्रतीक्षा की थी। उसके मन में जैसे कोई बवंडर चल रहा था। वह बवंडर अपने सामने आए किसी भी पदार्थ को पीसकर चूर्ण कर देना चाहता था; किंतु स्वयं कहीं एक क्षण के लिए भी रुकना नहीं चाहता था। अश्वत्थामा समझ नहीं पा रहा था कि वह पांडवों से इतना डरा हुआ क्यों है। दूसरी ओर वह इतना आक्रामक हो रहा था कि जैसे सारी सृष्टि में आग लगा देगा। वह आक्रामक था, इसीलिए डरा हुआ था; या डरा हुआ था, इसीलिए आक्रामक हो रहा था ? उसका अपना मन कोई निश्चय नहीं कर पा रहा था।

सहसा उसके मन ने स्वयं ही एक प्रश्न पूछा। उसके मन का यह कोई कोना था, जो बहुत व्याकुलता के समय भी उसके लिए इस प्रकार की बौद्धिक अड़चनें उत्पन्न करता रहता था। अपने मन के उस कोने को वह अश्वत्थ कहा करता था। वह अश्वत्थ् वृक्ष के समान उसके भीतर जमा हुआ था। कितना भी काटो, समाप्त ही नहीं होता था। उसकी जड़ें उखड़ती नहीं थीं और उसमें नई कोंपलें फूट आती थीं।

"दुर्योधन की वह स्थिति देखकर तुम्हें इतनी पीड़ा हुई तो तुम उसके पास रात भर रुके क्यों नहीं ? वहाँ से भागे क्यों चले आए ?" अश्वत्थ ने पूछा।

"मुझे भय था कि कोई हमें देख लेगा तो पांडव हमें घेर लेंगे।"

"तो तुम पांडवों से भयभीत हो ?" अश्वत्थ ने कहा।

उसे लगा कि वह अपने उस प्रश्नकर्ता मन को भी फाड़कर फेंक देगा, "मैं पांडवों से नहीं डरता। उनकी संख्या से डरता हूँ। उनकी क्रूरता से डरता हूँ। उनके अधर्म से डरता हूँ।"

"संख्या तो तुम्हीं लोगों की अधिक थी।" अश्वत्थ ने कहा, "तुम लोग ग्यारह अक्षौहिणी थे और वे केवल सात अक्षौहिणी। वे तो नहीं भागे।"

अश्वत्थामा एकदम झल्ला उठा, "यह कोई तर्क है। हम लोग इस समय गुप्त युद्ध की योजना बना रहे हैं तो ऐसे में वहाँ ओघवती के तट पर खुले मैदान में जा कर बैठ जाएँ कि कोई भी हमें देख ले और हमारा वध करने आ जाए। मैं इस समय कौरव सेना का सेनापति हूँ, मुझ पर भारी दायित्व है। ऐसा अबोध नहीं बन सकता।"

"तो अपने उस प्रिय मित्र और राजा दुर्योधन को क्यों वहाँ छोड़ आए हो ?" अश्वत्थ ने कहा, "उसे भी साथ ले आते। वहाँ वह भी तो सुरक्षित नहीं है। तुम्हें तो केवल पांचालों और पांडवों का भय है, उसे तो प्रत्येक गृध्र और शृगाल का भी भय है। तुम पर आक्रमण होगा तो तुम प्रतिकार तो कर सकते हो। वह तो सिवाय पिटते रहने के और

कुछ कर भी नहीं सकता।"

अश्वत्थामा कुछ नहीं बोला।

अश्वत्थ हँसा, "बोलते क्यों नहीं। क्यों नहीं कहते कि तुम दुर्योधन के पास से इसलिए भाग आए, क्योंकि यदि वह तुम्हारे साथ रहता तो सुरक्षा और गोपनीयता की समस्या और बढ़ जाती।"

"तो इसमें अनुचित क्या है ?" अश्वत्थामा क्रुद्ध हो गया, "युद्ध में तो इन बातों का ध्यान रखना ही पड़ता है।"

"अवश्य रखो।" अश्वत्थ बोला, "किंतु इस बात को भी तो स्वीकार करो कि तुम्हें दुर्योधन के विरोधियों से शत्रुता तो है; किंतु दुर्योधन से प्रेम नहीं है। उससे प्रेम होता तो तुम उसके शत्रुओं की हत्या करने से अधिक उसकी सुरक्षा, उसकी कुशलता, उसके उपचार का ध्यान करते, न कि उसे इस प्रकार रात्रि के समय खुले मैदान में वन्य पशुओं के खाने के लिए छोड़ आते। उसकी जंघाएँ ही तो टूटी हैं। उसके शरीर से कुछ रक्त भी बहा है, किंतु अभी उसकी मृत्यु तो नहीं हुई।"

"पर उसका जीवन अब बचाया नहीं जा सकता। नहीं तो पांडव ही उसे इस प्रकार जीवित नहीं छोड़ते।"

"ठीक कहते हो।" अश्वत्थ बोला, "पांडवों ने तो जानबूझकर उसे मारकर वहाँ तड़पने के लिए ही नहीं छोड़ा, विज्ञापित भी किया है। उसके मित्रों को चुनौती दी है कि साहस है तो आओ और उसकी सेवा और रक्षा करो। यह तो वैसा ही है, जैसे वे उसका वध कर उसका शव हस्तिनापुर के प्रमुख द्वार पर टाँग आते।"

"पर लाभ क्या होगा, उसे वहाँ से उठा ले जाने का ?"

"अरे, उसे अपनी पत्नियों की गोद में मरने दो। उसे मिट्टी से उठाकर पलंग पर लेटाओ। उसकी पीड़ा को कम करने के लिए उसे कोई औषधि दो। उसकी मृत्यु हो जाए तो उसका अंतिम संस्कार करो।"

अश्वत्थामा चुपचाप सुनता रहा और सहसा ही वह अश्वत्थ पर झपट पड़ा, "तुम पांडवों के मित्र हो और रहते हो मेरे मन में। यहाँ बैठे क्या कर रहे हो। हे भगवान् मैं स्वयं ही नहीं जानता कि मैं अपने ही मन में अपने शत्रुओं का एक मित्र पाल रहा हूँ।"

उसने रथ की गति और बढ़ा दी। वह स्वयं नहीं जानता था कि वह कहाँ जाना चाहता है। उसके मन में इस समय केवल एक ही बात थी कि उसे पांडवों के सामने नहीं पड़ना है। स्वयं को सुरक्षित रखना है और किसी भी प्रकार अपना प्रतिशोध लेना है।... सहसा उसके मन में आया, क्यों न वे अपने शिविर में ही चलें ? पांडव थक- हार कर अपने शिविर में लौट गए होंगे। संभव है कि उनके गुप्तचरों ने उनके शिविर में भी खोज की हो। किंतु अब तक तो वे लोग वहाँ से निराश होकर लौट भी चुके होंगे। यदि चुपके से वे लोग अपने शिविर में चले जाएँ तो वहाँ वे सुरक्षित ही हैं। थोड़ा विश्राम भी हो सकता है और यदि मातुल और कृतवर्मा कुछ भोजन करना चाहें तो वह भी हो सकता है।

अश्वत्थामा को तो इस समय न कोई भूख थी न प्यास। उसकी धमनियों में दौड़ता रक्त केवल प्रतिशोध का ही उद्घोष कर रहा था।

उसने अपना रथ अपने शिविर के मार्ग पर डाल दिया। पूरे नगर का सा बसा शिविर इस समय एकदम उजाड़ हो गया होगा। द्वारपाल, शिविर-रक्षक तथा दास दासियों का भी पता नहीं था। कौन वहाँ है और कौन सबकुछ छोड़-छाड़कर भाग गया है। उन पर शासन करने वाला भी तो वहाँ कोई नहीं था।''' पर अपने शिविर के निकट उसे उतनी निर्जनता भी दिखाई नहीं दी, जितनी उसने अपेक्षा की थी। वह दूर से ही देख सकता था कि वहाँ कुछ गतिविधि थी। उसने रथ की गति कम की और फिर रथ रोक लिया।

"क्या हुआ अश्वत्थामा ! रुक क्यों गए ?" कृपाचार्य ने निकट आकर पूछा।

"मुझे कुछ ऐसा आभास हो रहा है कि हमारा शिविर निर्जन नहीं है। वहाँ उल्काएँ जल रही हैं। अनेक रथ भी खड़े दिख रहे हैं।''' क्या हस्तिनापुर से कोई आया है ?"

"हस्तिनापुर में कौन बैठा है आने वाला।" कृपाचार्य ने कहा, "पांडव तो नहीं आ गए ? संभव है कि उन्होंने शिविर का अधिग्रहण कर लिया हो। युद्ध तो वे जय कर ही चुके हैं।"

"हाँ ! हस्तिनापुर पर अधिकार करने से पहले यह भी आवश्यक था।" कृतवर्मा ने कहा।

"आप लोग रुकें।" अश्वत्थामा रथ से उतर आया, "मैं पता लगाकर आता हूँ।"

कृपाचार्य कुछ कहते, उससे पहले ही अश्वत्थामा अंधकार में विलुप्त हो गया। कृपाचार्य को उसका इस प्रकार जाना अच्छा नहीं लगा था। ऐसे गुप्त रूप से जाकर तो वह उनके गुप्तचरों अथवा सैनिकों के हाथ लग जाएगा। वे न तो उसके साथ अच्छा व्यवहार करेंगे और न ही उसका महत्त्व समझेंगे। अश्वत्थामा अपना क्रोध दिखाएगा। वे लोग उसका वध भी कर सकते हैं। इससे तो अच्छा था कि वह सीधा युधिष्ठिर के पास ही चला जाता। वह उसका स्वागत करता और सम्मानजनक व्यवहार करता।''' कृपाचार्य को निरंतर लग रहा था कि उन लोगों की पांडवों से शत्रुता ही क्या है। युद्ध समाप्त हो गया है और शांतिकाल में उनको पांडवों से भयभीत होने का कोई कारण नहीं है।''' उन्हें सीधे-सीधे युधिष्ठिर के सम्मुख जाकर शांति की घोषणा कर देनी चाहिए।

अश्वत्थामा लौट आया।

"क्या बात है ?"

"पांडव ही हैं। उन्होंने शिविर पर अधिकार कर लिया है। हमारा धन, शस्त्र भंडार और दास-दासियों को उन्होंने अपना लिया है।" अश्वत्थामा बोला, "कृष्ण को हस्तिनापुर भेजा है उन्होंने। कदाचित् वहाँ की व्यवस्था सँभालने के लिए, ताकि जब युधिष्ठिर हस्तिनापुर में प्रवेश करे तो वहाँ सब ठीक-ठाक हो।"

"कृष्ण नहीं हैं यहाँ ?" कृतवर्मा ने आतुर उल्लास के साथ पूछा।

"नहीं ! क्यों ?"

"कृष्ण की अनुपस्थिति में उन पर आक्रमण कर दें ?"

कृपाचार्य सहम गए। यह व्यक्ति या तो उन्मत्त है अथवा विक्षिप्त। कृष्ण नहीं हैं तो यह सीधे-सीधे पांडवों पर आक्रमण कर देगा। यह क्या समझता है अपने आपको।...

"क्यों इन अट्ठारह दिनों में केवल कृष्ण ही युद्ध कर रहे थे, पांडव तो बस समरभूमि से बाण चुन-चुनकर कृष्ण को पकड़ा रहे थे।" कृपाचार्य का स्वर बहुत कटु हो उठा।

"नहीं ! मेरा अभिप्राय है कि कृष्ण की अनुपस्थिति में पांडव उतने बलशाली नहीं हो सकते।" कृतवर्मा ने स्पष्टीकरण देने का प्रयत्न किया।

"और ऐसे में तुम सात्यकि का वध कर डालोगे ? लगता है तुम जीवित बच कर द्वारका नहीं जाना चाहते।" कृपाचार्य ने अश्वत्थामा की ओर देखा, "किसने सूचना दी ?"

"प्रहरी परस्पर चर्चा कर रहे थे।" अश्वत्थामा बोला, "दूसरी सूचना है कि पांडवों के सारे पुत्र अपने मातुलों के साथ पांचालों के शिविर में हैं।"

"कोई किसी के शिविर में हो," कृतवर्मा कुछ विकृत स्वर में बोला, "हमें तो रात के लिए कहीं और आश्रय खोजना होगा न।"

अश्वत्थामा दक्षिण दिशा की ओर भागता जा रहा था। वह दिशा पांडवों और पांचालों के शिविर की ओर जाती थी। कृपाचार्य समझ नहीं पा रहे थे कि अश्वत्थामा के मन में क्या था किंतु कुछ न कुछ तो वह करेगा ही। दुर्योधन ने उसे कौरवों का प्रधान सेनापति जो बना दिया था। प्रधान सेनापतित्व के मोह में ही भीष्म, द्रोण, कर्ण और शल्य ने अपने प्राण दिए थे। यह भी जब तक अपने प्राण दे नहीं लेगा, तब तक इसका सेनापतित्व सार्थक कैसे होगा।

पांडवों के शिविर से कुछ पहले ही उसने अपना रथ रोक दिया।

"पांडव और पांचाल सेना की अनेक वाहिनियाँ अपने शिविर में हैं। उनकी गतिविधि दिखाई पड़ रही है।" वह कृपाचार्य के निकट आकर बोला, "मैं देखकर आता हूँ कि युधिष्ठिर और धृष्टद्युम्न के शिविरों की क्या स्थिति है।"

"कुछ भी हो।" कृपाचार्य बोले, "हमें उससे क्या अंतर पड़ेगा।"

अश्वत्थामा चला गया।

कृतवर्मा और कृपाचार्य चुपचाप खड़े उसकी प्रतीक्षा करते रहे। कृपाचार्य ने देखा कि कृतवर्मा कुछ चिंतित लग रहा था। कृपाचार्य की इच्छा ही नहीं हुई कि वे पूछें कि वह चिंतित क्यों है।... इस अभागे को तो चिंतित होना ही है। द्वारका छोड़कर यहाँ कृष्ण से लड़ने चला आया। केवल सात्यकि से द्वेष के कारण। जिनके लिए जीवन में अपना अहंकार और अपना व्यक्तिगत रागद्वेष इतना महत्त्वपूर्ण होता है कि मानवता के अन्य सारे सिद्धांत उसके सम्मुख गौण हो जाते हैं, उनके साथ ऐसा ही होता है। आचार्य द्रोण के साथ भी यही हुआ और जाने अश्वत्थामा के साथ क्या होना है। हे महादेव ! उसकी रक्षा करना। वह आज भी एक अबोध बालक ही है।...

"पांडवों के शिविरों में तो इक्के-दुक्के स्थानों पर ही उल्काएँ जल रही हैं और प्रहरी

अपने स्थान पर सन्नद्ध हैं।'' अश्वत्थामा ने लौटकर बताया, ''किंतु पांचालों के शिविर में विजयोत्सव मनाया जा रहा है।''

''तुम्हें कैसे ज्ञात हुआ ?'' कृतवर्मा ने जिज्ञासा की, ''तुमने किसी से पूछा ?''

''नहीं ! पूछा नहीं।'' अश्वत्थामा बोला, ''मैं बहुत निकट नहीं गया, किंतु दूर से ही नृत्य, संगीत तथा उच्छृंखल अट्टहासों का शब्द मुझे सुनाई दिया है।''

''मदिरा ?'' कृतवर्मा ने पूछा।

''कह नहीं सकता किंतु उच्छृंखल अट्टहास तो उसी ओर इंगित करते हैं।''

तभी दूर से किसी प्रहरी की ललकार सुनाई दी, ''कौन है वहाँ ? सामने आओ, नहीं तो बाण चला दूँगा।''

''भागो।'' अश्वत्थामा ने कहा और अपने रथ में बैठकर वह अंधाधुंध भागने लगा।

उनके रथ पूर्व दिशा की ओर बहुत दूर आ गए थे। सामने गहन वन था। अश्वत्थामा ने बिना कुछ सोचे-समझे उसमें प्रवेश किया। पर वह कोई राजमार्ग तो था नहीं। थोड़ी ही दूर जाकर उनके रथ रुक गए।

''तुम इस प्रकार भाग क्यों आए अश्वत्थामा !'' कृपाचार्य बोले, ''हम अपना परिचय देकर उनसे भेंट कर सकते थे।''

''आज आपको क्या हो गया है मातुल !''अश्वत्थामा खीज भरे स्वर में बोला, ''आप धृष्टद्युम्न से भेंट करना चाहते हैं, उससे जिसने मेरे निःशस्त्र पिता के जटाजूट को पकड़कर अपने खड्ग से उनका मस्तक काट लिया था ?''

''युद्ध में हमने भी असंख्य पांचालों के मस्तक काटे हैं।'' कृपाचार्य शांत स्वर में बोले, ''धृष्टद्युम्न के भी पिता और पुत्रों का वध हुआ है। किंतु वह सब युद्ध में हुआ है। अब युद्ध समाप्त हो गया है।''

''युद्ध समाप्त नहीं हुआ है। दुर्योधन ने सेनापति के रूप में मेरा अभिषेक इसलिए नहीं किया है कि युद्ध समाप्त हो गया है।'' अश्वत्थामा के स्वर में चीत्कार था, ''युद्ध तब तक समाप्त नहीं होगा मातुल ! जब तक मैं अपना प्रतिशोध पूरा न कर लूँ।''

''प्रतिशोध कभी पूरा नहीं होता पुत्र ! वह केवल पक्ष बदलता है।'' कृपाचार्य बोले, ''मैं चाहता हूँ कि तुम इस बात को समझो कि जो कुछ धृष्टद्युम्न ने किया, वह भी उसका प्रतिशोध ही था। उसने अपने जिस अपमान का प्रतिशोध आचार्य से लिया, वह अपमान आचार्य द्वारा लिया गया प्रतिशोध था। प्रतिशोध की शृंखला कभी समाप्त नहीं होती।''

अश्वत्थामा ने कोई उत्तर नहीं दिया। कृपाचार्य समझ गए कि या तो उसके पास उत्तर था ही नहीं, या फिर वह उत्तर देना नहीं चाहता था; किंतु इतना स्पष्ट था कि वह अपने मातुल से तनिक भी सहमत नहीं था। वह आवेश में था। बहुत आक्रामक भी लग रहा था किंतु उसकी उस सारी प्रहारक मुद्रा के नीचे छिपा भय भी कृपाचार्य को दिखाई दे रहा था। कृपाचार्य को लगा कि भीतर से वे भी बहुत भयभीत हैं किंतु उनका भय अपने लिए नहीं, अश्वत्थामा के लिए ही था। कृतवर्मा की व्याकुलता भी उसके चेहरे से स्पष्ट थी।

अश्वत्थामा ने अपने रथ के घोड़े खोल दिए। उसने वहीं विश्राम करने का मन बना लिया था।

"मुझे प्यास लगी है।" वह बोला, "आप यहीं प्रतीक्षा करें, मैं कोई जलस्रोत देखकर आता हूँ। घोड़ों को भी तो पानी पिलाना होगा। वे भी प्यासे होंगे। पानी के बिना तो उनकी थकान भी दूर नहीं होगी।"

कृपाचार्य देखते रहे। कृतवर्मा भी अश्वत्थामा के साथ ही चला गया था। एक मुहूर्त में वे लौट आए। घोड़ों को अपने साथ ले गए और पानी पिला लाए।

"आगे एक वटवृक्ष है। हम घोड़ों को वहीं ले जा रहे हैं।" अश्वत्थामा बोला, "आपकी इच्छा हो तो आप भी स्नान कर संध्योपासना कर लें।"

कृपाचार्य को अच्छा लगा कि अश्वत्थामा ने संध्योपासना की बात कही थी। नहीं तो वह केवल रक्तस्नान की बात ही कर रहा था। इसका अर्थ है कि अभी उसमें कुछ विवेक जाग रहा है।

संध्योपासना के पश्चात् वे तीनों उस वटवृक्ष के नीचे आ बैठे। भोजन की बात किसी ने नहीं की। कदाचित् भूख से भी क्लांति अधिक प्रबल थी। कृपाचार्य ने अश्वत्थामा को धरती पर लेटते देखा तो उनके मन में कहीं कुछ टूटा। यह यहाँ धरती पर बिना किसी बिस्तर के लेट रहा है। क्यों ? क्योंकि वह अपनी शत्रुता को संयत नहीं कर पा रहा। आज द्रोण उसे इस प्रकार धरती पर लेटते देख लेते तो वैसे ही तड़प उठते, जैसे इसे दूध के स्थान पर आटे का घोल पीते देखकर हुए थे।... पर आज वे नहीं थे। अश्वत्थामा कहीं भी लेट सकता था।... पर वे लोग अपने रथों में ही क्यों विश्राम नहीं करते ? रथ तो पूरा का पूरा भवन ही है चलता-फिरता।... पर नहीं ! रथ में सोना सुरक्षित नहीं है। रथ बाहर थे। सघन वन के भीतर नहीं लाए जा सकते थे। रथ दूर से दिखाई पड़ जाते हैं। वन्य पशुओं से बचने के लिए वे श्रेष्ठ आश्रय थे; किंतु पांडव सैनिकों से सुरक्षित नहीं थे। उसकी तुलना में तो धरती की गोद में और पेड़ों की ओट में ही सोना अधिक सुरक्षित था।

वे भी जाकर उसके साथ ही लेट गए।

अश्वत्थामा का शरीर थककर चूर हो चुका था किंतु उसे नींद नहीं आ रही थी। थकान नींद से भी परे जा चुकी थी। उसने दृष्टि फेरी कृपाचार्य और कृतवर्मा सो चुके थे।... ऐसी अवस्था में भी कोई सो सकता है ?... उसे कुछ आश्चर्य हुआ।... पर आश्चर्य की क्या बात थी। पता नहीं, वे सो रहे थे या फिर थकान ने उन्हें बेसुध ही कर दिया था। अच्छा है, वे सो लें। नहीं तो प्रश्न पूछ-पूछकर वे उसे विक्षिप्त ही कर देते।... अश्वत्थामा को तो नींद आएगी नहीं। वह सर्प के समान लंबी साँसें ले रहा था। करवटें बदल-बदलकर भी थक गया था। पर उसके मन की अग्नि मंद ही नहीं हो रही थी।

सहसा उसने आँखें खोल दीं और आकाश की ओर ताकने लगा, जैसे वहाँ कहीं उसकी समस्या का समाधान लिखा हो। योगियों के विषय में उसने पढ़ा था कि जब वे किसी समस्या से अत्यधिक ग्रस्त हो जाते हैं तो उनको या तो उनका अपना मन ही गुरु बनकर समस्या

का समाधान कर देता है, या फिर उन्हें अपनी समस्या का समाधान आकाश पर लिखा हुआ दिख जाता है।''' पर अश्वत्थामा की समस्या का समाधान आकाश पर लिखा हुआ नहीं था। वहाँ तो असंख्य तारे थे। उनका लेख पढ़ना अश्वत्थामा के वश का नहीं था। न तो वह वैसा योगी ही था, न वैसा ज्योतिषाचार्य।''' उसकी आँखें आकाश से उतरकर वट वृक्ष की शाखाओं पर टिक गईं।''' उसने अब तक ध्यान नहीं दिया था कि उसकी शाखाओं पर असंख्य नीड़ बने हुए थे। जाने कितने पक्षी यहाँ रहते थे। वे सब एक ही प्रकार के पक्षी होंगे। कदाचित् ये कौओं के ही घोंसले थे। वे सब शांत मन से अपने-अपने नीड़ों में सोए हुए थे और अश्वत्थामा उनका प्रहरी बना हुआ ऊपर ताक रहा था।

सहसा उसे उन घोंसलों से बाहर एक बड़ा-सा पक्षी दिखाई दिया। अश्वत्थामा ने ध्यान से देखा : यह एक वृहदाकार उल्लू था। उसकी आँखें अंधकार में भी चमक रही थीं।''' यह यहाँ क्या कर रहा है ? उसने सोचा। यह अपने घोंसले से भटककर इधर आ गया है क्या ?''' पर उल्लू रात के अंधकार में कैसे भटक सकता है। उसे तो दिखाई ही रात में देता है। हाँ ! उसे दिखाई दे रहा था। वह बहुत सधे पैरों से एक शाखा पर चल रहा था। रुक-रुककर जैसे घोंसलों में झाँक रहा था। क्या देख रहा था वह ? कोयल होती तो अश्वत्थामा समझ लेता कि वह देखने आई है कि उसने अपने जो अंडे कौवे के घोंसले में रख दिए थे, उनमें से बच्चे निकल आए या नहीं। पर यह तो उल्लू था। एक बड़ा-सा भयंकर उल्लू। यह यहाँ क्या कर रहा था ?''' उसने जैसे एक डाल का निरीक्षण पूरा कर लिया और फिर बड़ी सावधानी से दूसरी डाल पर चला गया।

अश्वत्थामा की रुचि बढ़ गई। यह किसी भी पक्षी की साधारण गतिविधि नहीं थी। वह अवश्य ही किसी विशेष प्रयोजन से यहाँ आया है।''' और तभी उस उल्लू ने एक भयंकर शब्द किया और अत्यंत स्फूर्ति से कौओं के घोंसलों पर टूट पड़ा। कौए नींद में थे। उन्हें रात को वैसे भी दिखाई नहीं दे रहा था। पर उल्लू था कि किसी सिद्ध योद्धा के समान अपना काम करता जा रहा था। वह एक घोंसले पर झपटता था और उसके पंख, उसकी चंचु और उसके पंजे किन्हीं तीक्ष्ण शस्त्रों के समान कौओं का संहार करने लगते। किसी के पंख नोच दिए, किसी का कंठ काट दिया, किसी के पैर तोड़ डाले। वह किसी को खा नहीं रहा था, बस संहार मचा रहा था। कौओं में हाहाकार मचा हुआ था किंतु न तो कोई कौआ उससे लड़ने आया, न किसी ने अपने बचाव में उस पर चोंच मारी। विधवाविलाप वाली स्थिति थी।''' अश्वत्थामा को आश्चर्य हो रहा था कि पंख होते हुए भी कौए उड़कर कहीं जा नहीं रहे थे। पर हाहाकार मचा रहे थे और मरते जा रहे थे।'''

अश्वत्थामा को लगा कि वह भी सिद्ध योगी है। तभी तो उसकी समस्या का समाधान प्रकृति ने स्वयं उसके सामने प्रकट कर दिया है।''' कितना सीधा और स्पष्ट। यह उल्लू दिन के समय असमर्थ रहा होगा। उसे सूर्य के प्रकाश में कुछ दिखाई नहीं देता। इसलिए वह रात को आया।''' अश्वत्थामा भी तो दिन के समय सम्मुख युद्ध में पांडवों और पांचालों को मार नहीं सकता था; किंतु छल से तो वह भी उनका वध कर सकता था।'''

सहसा उसका मन स्तब्ध रह गया।··· अश्वत्थामा क्यों क्रुद्ध था धृष्टद्युम्न से ? इसीलिए तो कि उसने आचार्य को छल से मारा था। तो अब अश्वत्थामा भी छल का ही आश्रय ले रहा था।··· धृष्टद्युम्न ने कदाचित् आचार्य को छल से नहीं मारा था; किंतु वह अवसर की प्रतीक्षा में रहा था। अवसर मिलते ही उसने उनका मस्तक काट लिया। आचार्य को अनशन ही करना था तो युद्धस्थल से दूर कहीं जाकर करते। क्यों बैठ गए, युद्धभूमि में ही शस्त्रहीन होकर।··· भीम भी तो अवसर की ही प्रतीक्षा में था। दुर्योधन उछला और उसने गदा दे मारी। उछलते हुए दुर्योधन को सोचना चाहिए था कि वह अपनी दोनो जंघाएँ उसकी गदा के सम्मुख परोस रहा है कि लो मुझे खा जाओ।···

उसे लगा कि अश्वत्थ फिर से जाग उठा था, उसके भीतर। वही मन था, वही अंतरात्मा थी। वह उसे चिढ़ा रहा था। उसे नीति का पाठ सिखा रहा था।··· अश्वत्थामा चिढ़ गया। उसने अपना आत्मबल एकत्रित किया और बोला, "क्षत्रिय का कर्तव्य है विजय प्राप्त करना। किसी भी प्रकार लक्ष्य तक पहुँचना।··· इस लोक में जिस काम को गर्हणीय समझा जाता हो, जिसकी सब भरपूर निन्दा करते हों, वह भी क्षत्रिय का कर्तव्य माना गया है। क्योंकि उससे उसे विजय की प्राप्ति होती है।"

"ठीक है।" अश्वत्थ बोला, "तो फिर पांडवों की किस बात के लिए निन्दा करते हो। उन्होंने तो कभी सोए हुए शत्रु पर प्रहार नहीं किया। रात के अंधकार में किसी के शिविर पर आक्रमण नहीं किया। युद्धभूमि के बाहर किसी का वध नहीं किया। तुम ऐसा निन्दित कर्म करोगे ?"

"इसमें निन्दित क्या है।" अश्वत्थामा जैसे शास्त्र के शब्दों को अधिकारपूर्वक उच्चरित कर रहा था, "शत्रुओं की सेना थक गई हो, विदीर्ण हो गई हो, भोजन कर रही हो, प्रस्थान कर रही हो, प्रवेश कर रही हो, उस पर प्रहार करना चाहिए, क्योंकि उससे क्षत्रिय को विजय प्राप्त होती है।"

"ऐसे क्षत्रिय को धिक्कारना नहीं चाहिए।" अश्वत्थ बोला, "यह क्षत्रिय का नहीं दस्यु का दर्शन है। क्षत्रिय के लिए तो विजय से भी महान् है धर्म। तुम धर्म का नाश करोगे।"

अश्वत्थामा जैसे बहरा हो गया था। वह किसी की बात नहीं सुन सकता था, केवल अपनी कह सकता था। बोला, "जो सेना अर्द्धरात्रि के समय अवचेत पड़ी हो, जिसका नायक नष्ट हो गया हो, जिसके योद्धाओं में फूट पड़ गई हो, उस पर शत्रु को अवश्य प्रहार करना चाहिए, क्योंकि उससे उसे विजय की प्राप्ति होगी।"

"विजय की नहीं नरक की प्राप्ति होगी।" अश्वत्थ बोला।

"नरक तो नरक सही, पर मैं इन पांचालों को जीवित नहीं रहने दूँगा।"

अश्वत्थामा ने कृपाचार्य और कृतवर्मा को झकझोरकर जगाया, "उठो। हम यहाँ सोने के लिए नहीं आए हैं। हमारा युद्ध चल रहा है। हमें युद्ध करना है। हमें अपने शत्रुओं का वध करना है।"

"पौ फट गई क्या ?" कृपाचार्य ने पूछा।

"पौ फट जाएगी तो पांडव भी जाग जाएँगे मातुल।" अश्वत्थामा बोला, "हमें तो उन्हें सोए हुओं को ही मारना है।"

"क्या ?" कृतवर्मा ने पूछा।

"हाँ ! मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं उन सोए हुए पांचालों पर आक्रमण कर उनके जागने से पहले ही उनको मार दूँगा।" अश्वत्थामा बोला, "मेरे पास और कोई मार्ग नहीं है।"

कृपाचार्य अवाक् खड़े रह गए। यह उनका भागिनेय था, उनकी सारी शस्त्र परंपरा का उत्तराधिकारी। यह आचार्य द्रोण का पुत्र था, जिसने स्वयं आचार्य से ब्रह्मशिर का ज्ञान पाया था। उसमें साहस नहीं है कि अपने शत्रुओं के सामने दिन के उजाले में खड़ा हो सके। वह रात के अंधेरे में उनको उल्लू के समान मार डालना चाहता है।

"यह तो बहुत लज्जा का विषय है अश्वत्थामा !" वे बोले।

"संसार का अद्वितीय वीर महाबली राजा दुर्योधन मारा गया, जिसके लिए हमने पांडवों से वैर बाँधा था।..."

"पहली बात तो यह है अश्वत्थामन् ! कि वह संसार का अद्वितीय वीर नहीं था। भीम के बल के सामने वह कुछ भी नहीं है, इसलिए वह महाबली नहीं है।" कृपाचार्य बोले, "दूसरी बात यह है कि जहाँ तक मेरा संबंध है, मैंने पांडवों से युद्ध अवश्य किया है, उनसे वैर नहीं बाँधा। तुम वैर के कारण लड़े, मैं तो तुम्हारे स्नेह के कारण लड़ा, आचार्य की सहायता के लिए लड़ा, हस्तिनापुर के राज्य के प्रति अपने दायित्व के कारण लड़ा।"

"जो भी हो।" अश्वत्थामा बोला, "उस समय दुर्योधन अकेला था। उन अनेक नीच पुरुषों ने मिलकर भीम के द्वारा उसे धराशायी करा दिया। यह अन्याय है।"

"अनेक लोगों ने मिलकर नहीं, अकेले भीम ने उसे पराजित किया है। और दुर्योधन के साथ उस समय भी उसके गुरु वासुदेव बलराम वहाँ थे।" कृपाचार्य बोले।

"मैं नहीं मानता।" अश्वत्थामा का सारा आक्रोश उसके शब्दों में आ समाया, "एक मूर्धाभिषिक्त सम्राट् के मस्तक पर लात मारते हुए नीच भीम ने क्रूरता की पराकाष्ठा कर दी है।"

"क्या वह द्रौपदी को निर्वस्त्र करने से भी अधिक क्रूर था ?" कृपाचार्य ने पूछा।

अश्वत्थामा को और शब्द नहीं मिले। उसने दाँत पीसे और अपनी कटि पर हाथ रखकर आकर कृपाचार्य के सम्मुख चुनौती की मुद्रा में खड़ा हो गया, "आपकी बुद्धि मोह से नष्ट न हो गई हो तो बताइए, हमें क्या करना चाहिए। हमारी शक्ति, हमारा सम्मान, हमारा वर्चस्व—सब कुछ समाप्त हो चुका है। मैं इस स्थिति को स्वीकार नहीं कर सकता। बताइए अपने खोए हुए गौरव को प्राप्त करने के लिए हमें क्या करना चाहिए ? मुझे अपने पिता के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए क्या करना चाहिए ?"

"सत्य को स्वीकार करना चाहिए।"

"सत्य क्या है ?" अश्वत्थामा गुर्राया।

"दैव कुछ दे रहा हो और हम पुरुषार्थ न करें तो दैव भी नष्ट हो जाता है; किंतु

दैव विरोधी हो तो हमारा पुरुषार्थ भी कुछ नहीं कर सकता।" कृपाचार्य बोले, "दुर्योधन लोभी और अदूरदर्शी था। उसने अपने मूर्ख अहंकार के बहकावे में आकर अपने शुभचिंतक कुलवृद्धों से विचार विमर्श नहीं किया, अपने शुभैक्षियों का निरादर किया। अपने दुष्ट मित्रों के परामर्श से, सारे सात्विक लोगों के मना करने पर भी धर्मपरायण और सच्चरित्र पांडवों से वैर बाँधा। आचार्य ने कभी दुर्योधन का समर्थन नहीं किया, किंतु कर्ण सदा उसे आचार्य के विरुद्ध भड़काता रहा।" कृपाचार्य ने अश्वत्थामा की ओर देखा, "वह असुर स्वभाव का धैर्यशून्य और अविवेकी व्यक्ति था। हमने उस पापी का अनुसरण किया, इसीलिए हम भी इस दारुण दशा को प्राप्त हुए हैं।"

कृपाचार्य की दृढ़ता के सामने अश्वत्थामा का मनोबल खड़ा नहीं रह सका। कुछ नम्र होकर बोला, "तो हमें क्या करना चाहिए।"

कृपाचार्य के मन में पुनः युधिष्ठिर के सम्मुख शस्त्रसमर्पण का विचार आया किंतु उन्होंने कुछ कहा नहीं। जानते थे कि शस्त्रसमर्पण की बात सुनते ही अश्वत्थामा भड़क उठेगा।

"हम महाराज धृतराष्ट्र, महारानी गांधारी और महा बुद्धिमान विदुर के पास चलें। उन्हें सब कुछ बताएँ। उनसे विचार-विमर्श करें। फिर जैसा वे श्रेयस्कर समझें, वैसा ही हम करें।"

अश्वत्थामा ने अपना सिर पीट लिया। असहाय, हताश, भय से काँपते नेत्रहीन वृद्धों तथा पांडवों के परम मित्र विदुर के पास जाकर क्या होगा ? यह शुद्ध मूर्खता थी। पांडवों के चरणों में आत्मसमर्पण करने का इससे सरल मार्ग और क्या हो सकता है। उसने कृपाचार्य की ओर देखा। उसे लगा कि वृद्धावस्था के कारण मातुल की बुद्धि ही भ्रष्ट हो चुकी है। वे उसके शोक के नाश में उसके सहायक नहीं हो सकते। वे तो उसका ही नाश कर डालेंगे।

"मातुल ! संकट में पड़ने से जो बुद्धि मेरे भीतर उत्पन्न हुई है, वह मेरे शोक का नाश करने वाली है ! मैं अपने दिव्य धनुष और देवास्त्रों के होते हुए भी, अपने पिता के वध का प्रतिशोध न ले सकूँ, तो वीरों को क्या मुँह दिखाऊँगा।" अश्वत्थामा का मुख आवेश से विकृत हो रहा था, "आज मैं किसी नियम, किसी अनुशासन, किसी मर्यादा को नहीं मानूँगा। आज तो मेरा धर्म प्रतिशोध ही है। कृष्ण हस्तिनापुर में हैं। पांडव दुर्योधन के शिविर की रक्षा कर रहे हैं। पांचाल अपने कवच उतारकर, रथों में जुते हुए घोड़ों को खोल, निश्चिंत सो रहे होंगे, जैसे ये कौए अपने घोंसलों में सोए हुए थे। वे दिन भर के परिश्रम से इतने चूर होंगे कि उन्हें जगाऊँगा तो भी नहीं जागेंगे। मैं उनके शिविर में घुसकर उनका सर्वनाश कर दूँगा। पांचालों के टुकड़े कर अपने पिता का प्रतिशोध, तथा पांडवपुत्रों को कुचलकर दुर्योधन का प्रतिशोध लूँगा। ऐसा अवसर फिर कभी नहीं आएगा। मैं आज की रात पितृऋण तथा मित्रऋण दोनों से एक साथ ही मुक्ति पा जाऊँगा। मैं सोए हुए धृष्टद्युम्न के सिर को पशु के मस्तक के समान बलपूर्वक मरोड़ दूँगा। पांचालों और पांडवों

के पुत्रों को अपने खड्ग से टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगा।"

कृपाचार्य का मन काँप गया। अश्वत्थामा ऐसा संकल्प कर चुका है तो उसे उससे विरत करना असंभव है। पता नहीं पांचालों के शिविर और उनकी वस्तुतः वही स्थिति है, जैसी अश्वत्थामा कह रहा है या फिर अपनी इच्छानुसार वह यह सब कल्पना ही कर रहा है। यदि यह सफल हो भी गया तो यह तो पितृऋण से उऋण हो जाएगा, किंतु उसकी प्रतिक्रिया पांडवों पर क्या होगी ? वे इसके साथ क्या व्यवहार करेंगे ? वे इसे जीवित छोड़ देंगे क्या ? कृपाचार्य का अपना तो कोई पुत्र है नहीं। कृपी का भी यही एकमात्र पुत्र है। इसे ही कृपाचार्य ने अपना भागिनेय माना है और इसे ही अपना पुत्र।''' वे कहीं आश्वस्त हो जाना चाहते थे कि वह इस महायुद्ध से जीवित बचकर निकल आया है; किंतु लगता है कि नियति कुछ और ही लीला रच रही है।

"पुत्र अश्वत्थामा !" कृपाचार्य बोले, "तुम बहुत थके हुए हो, इसीलिए बहुत उत्तेजित भी हो। ऐसी मनःस्थिति में प्रबल शत्रु से युद्ध करना हितकर नहीं है।"

"तो ?" अश्वत्थामा ने उनकी ओर अविश्वास की दृष्टि से देखा।

"इस समय कवच और ध्वजा खोल कर विश्राम करो। कल प्रातः हम दोनों ही तुम्हारे साथ चलेंगे।"

कृतवर्मा उनका संवाद चुपचाप सुन रहा था। उसके मन में द्वंद्व चल रहा था। समझ नहीं पा रहा था, उसे क्या करना है। अश्वत्थामा पांचालों को मारने की योजना बना रहा था। उनके शिविर में सात्यकि तो नहीं था। वह तो पांडवों के साथ दुर्योधन के शिविर में होगा। ऐसे में इस काली अंधियारी रात में पांचालों के शिविर में घुसने का कृतवर्मा के लिए क्या औचित्य था ?

"तुम मेरा विश्वास करो अश्वत्थामा ! तुम अपने पराक्रम से ही अपने शत्रुओं का वध करने में समर्थ हो। अतः रात को विश्राम करो। तुम्हें जागते हुए बहुत समय हो चुका है।" कृपाचार्य बोले, "कभी-कभी लंबे समय तक सो न पाने के कारण ही मानसिक दबाव व्यक्ति को सोचने-समझने के अयोग्य कर देता है। कहीं यह न हो कि नींद की तंद्रा में तुम अपना पूर्ण पराक्रम प्रकट न कर सको; और युद्ध का परिणाम तुम्हारी इच्छा के प्रतिकूल हो जाए। नींद पूरी हो जाने से तुम्हारा चित्त स्वस्थ हो जाएगा। फिर तुम समरभूमि में अपना मनचाहा कर सकोगे। प्रातः उनके शिविर में जाकर अपने नाम की घोषणा कर उनका संहार करना।"

कृपाचार्य के मन में भी जैसे कोई अंधड़ चल रहा था। यह मूर्ख नहीं समझ रहा है कि जिसे वह पांचालों के सर्वनाश का प्रयत्न कह रहा है, वह उसकी अपनी मृत्यु है।''' यही क्षण था, जब वे अपने भागिनेय को जीवित बचा ले जाने का प्रयत्न कर सकते थे, अन्यथा बहुत देर हो जाएगी। उनके मन में बार-बार शकुनि का चित्र जागता था। एक वह मातुल भी था, जिसने वर्षों प्रयत्न किया और अपने भागिनेय को निरंतर उसके विनाश की ओर अग्रसर किया। वे नहीं चाहते कि कोई उनकी तुलना शकुनि से करे। वे अपने

भागिनेय को इस महाप्रलय में से जीवित बचा लेना चाहते हैं।··· अभी कुछ नहीं बिगड़ा था। आचार्य द्रोण जीवित नहीं हो सकते थे। दुर्योधन के प्राण नहीं बचाए जा सकते थे; किंतु वे अपना वैर त्याग कर युधिष्ठिर के पास चले जाएँ तो अश्वत्थामा अभी जीवित बच सकता था।··· युद्ध तत्काल समाप्त होना चाहिए। मृत्यु की यह आँधी थमनी चाहिए। शस्त्र वापस अपने कोश में जाने चाहिए। तब ही अश्वत्थामा बचेगा। युद्ध चलता रहा तो पांचालों और पांडवों की कोई क्षति हो न हो, किंतु अश्वत्थामा जीवित नहीं बचेगा।···

"अभी थोड़ा विश्राम कर लो अश्वत्थामा !" कृप पुनः बोले, "प्रातः मैं और कृतवर्मा समरभूमि में पांडवों को परास्त किए बिना पीछे नहीं हटेंगे।"

अश्वत्थामा जैसे छिटककर उनसे कुछ दूर चला गया, "जो व्यक्ति शोक से आतुर हो, अमर्ष से भरा हो, चिंता कर रहा हो अथवा कामना में आसक्त हो, वह सो कैसे सकता है। मुझ पर तो इन चारों का ही आक्रमण हुआ है।" अश्वत्थामा बोला, "मेरे पिता का वध कर धृष्टद्युम्न जीवित नहीं बच सकता। वह मेरा वध्य है। मैं तो आज सोते हुए अपने शत्रुओं का संहार करके निश्चिंत होने पर ही विश्राम करूँगा।"

"तुम्हारी बुद्धि दुर्भावना से युक्त है और तुम्हारी इंद्रियाँ तुम्हारे वश में नहीं हैं। तुम हितकर वचन समझ नहीं पाओगे। तुम्हारी बुद्धि पर जड़ता छाई हुई है।" कृपाचार्य भी कुछ उत्तेजित हो उठे, "अपने दूषित अंतःकरण के कारण पापात्मा पुरुष कल्याणकारी पथ को छोड़कर बहुत से पाप कर्म करने लगता है। भाग्यहीन व्यक्ति मना करने पर भी दुष्कर्म से निवृत्त नहीं होता। अपने मन को संयत कर मेरी बात सुनो। ऐसा न हो कि बाद में पश्चात्ताप करना पड़े। अभी सो जाओ। कल प्रातः युद्ध करना। रात को युद्ध करने का निन्दनीय प्रस्ताव छोड़ दो।"

अश्वत्थामा ने आग्नेय नेत्रों से कृपाचार्य की ओर देखा और बोला, "पांडव पहले ही धर्म की मर्यादा के सैकड़ों टुकड़े कर चुके हैं। वे सब के सब पापी और धर्मशून्य हैं। आप उनकी निन्दा क्यों नहीं करते।"

वह कृपाचार्य का उत्तर सुनने के लिए भी नहीं रुका। उसने अपने घोड़े रथ में जोत लिए और रथारूढ़ होकर बोला, "मैं प्रयत्न करूँगा कि पापी धृष्टद्युम्न मेरे द्वारा एक पशु की भाँति मारा जाए। उसे किसी भी प्रकार शस्त्रों से हताहत क्षत्रिय को मिलने वाले लोकों की प्राप्ति न हो।"

कृपाचार्य अपने स्थान पर किंकर्तव्यविमूढ़ से खड़े, जाते हुए अश्वत्थामा को देख रहे थे और कृतवर्मा की आँखें कृपाचार्य पर लगी हुई थीं। क्या करेंगे कृपाचार्य ? और कृतवर्मा को क्या करना चाहिए।

कृपाचार्य किसी भी मूल्य पर अश्वत्थामा को इस संकट में से निकालना चाहते थे किंतु वह इस समय उन्मत्त हो रहा था। उसे रोकना असंभव था।··· तो क्या वे उसे जाने दें ? अपने पुत्र सरीखे, अपनी विधवा बहन के एकमात्र पुत्र को पांचालों के शिविर में जाने दें मरने के लिए ? उसकी कोई सहायता न करें ?··· नहीं ! वे ऐसा नहीं कर सकते। वे उसे मरने नहीं

दे सकते। इस युद्ध में किसने मर्यादा नहीं तोड़ी ? किस ने पाप नहीं किया ? पर क्या किसी ने अपने किसी आत्मीय जन का त्याग किया ? तो वे ही क्यों धर्म पर अड़ने की बात सोचते हैं। उनका पहला धर्म तो अपने भागिनेय की रक्षा करना ही है"

"चलो कृतवर्मा !" वे बोले और अपने घोड़ों की ओर बढ़ गए।

41

कृष्ण का रथ आकर शिविर के सम्मुख रुका ही था कि वे समझ गए कि उनकी अनुपस्थिति में कुछ न कुछ असाधारण घटित हो गया था। लक्षण अच्छे नहीं लग रहे थे। जिस शिविर में इस समय गतिविधि का भूचाल और विजयोत्सव का उल्लास होना चाहिए था, जिस शिविर में इस समय सारी सत्ता का केन्द्र स्थापित हो जाना चाहिए था, उस शिविर पर किसी भयानक शोक की छाया मँडरा रही थी। सारा शिविर जैसे किसी भयंकर रुदन में लिपटा हुआ था। इतनी निःस्तब्धता तो पराजित कौरवों के उस समय के शिविर में भी नहीं थी, जब कृष्ण पांडवों के साथ इस पर अधिकार करने आए थे।

वे द्वार तक आए तो द्वारपालों ने सहास अभिवादन और स्वागत के स्थान पर अपने सिर झुका दिए, जैसे उनकी ओर देख भी न पा रहे हों।

कृष्ण वेग से चलते हुए मंडप के भीतर आए। वहाँ चारों पांडव मध्य में बैठे युधिष्ठिर को घेरे सिर झुकाए मौन खड़े थे। युधिष्ठिर ने कृष्ण को आते देखा तो अपने स्थान से उठे और फफककर उनके कंधे से जा लगे।

"अनर्थ हो गया गोविंद !" वे बोले, "मैं शत्रुओं को पूर्णतः जीतकर अंत में फिर उनसे पराजित हो गया।..."

"क्या ?" कृष्ण के स्वर में गहरी आशंका थी।

"प्रमाद से बड़ा कोई शत्रु नहीं होता।" युधिष्ठिर बोले, "मनुष्य के लिए प्रमाद उसकी मृत्यु ही है। हमें भी प्रमाद रूपी इस नाग ने डस लिया।"

"क्या हुआ धर्मराज !" कृष्ण ने उनकी पीठ पर स्नेह से हाथ फेरा, "एक रात्रि भर में ऐसा क्या हो गया, जो पिछले अट्ठारह दिनों में नहीं हुआ था ?"

"रात्रि भर में ही तो प्रलय हो गया श्रीकृष्ण ! आकाश से गाज गिरी और सर्वनाश हो गया।" युधिष्ठिर बोले, "पांचालों के शिविर पर रात को आक्रमण हुआ और हमारे सारे बंधु-बांधव और पुत्र मारे गए।"

"क्या ?" कृष्ण चौंके, "सारे बंधु-बांधव और पुत्र ? कोई नहीं बचा ?"

"सब लोग मारे गए। यदि कुछ सैनिक बचे होंगे तो वे इस ओर नहीं आए। कहीं भाग गए होंगे। हम तक तो बस धृष्टद्युम्न का एक सारथि ही पहुँचा है।" युधिष्ठिर बोले, "उसने बताया है कि रात को किसी समय शिविर में होने वाले चीत्कारों से उसकी नींद

टूटी थी। उसने रात को काफी मदिरा पी ली थी, इसलिए सचेत होने में कुछ समय लगा। लगता था कि कुछ लोग शिविर के भीतर घुस आए हैं। वे सामने पड़ने वाले प्रत्येक व्यक्ति की हत्या कर रहे हैं। जो सामने पड़ा, खड्ग से उसके टुकड़े कर दिए गए, जो बच कर भागा, उसे बाण से मार दिया गया। शिविर में तीन ओर से आग लगा दी गई। किसी ने हाथी और घोड़े खोल दिए। भगदड़ में किसने किसको कुचला और कौन अग्नि में दग्ध होकर मर गया कुछ पता ही नहीं चला।"

"मैंने हस्तिनापुर जाते हुए कहा था धर्मराज ! कि युद्ध अभी समाप्त नहीं हुआ है।" कृष्ण बोले, "कुछ पता लगा, कौन लोग थे वे ?"

"धृष्टद्युम्न का सारथि तो केवल इतना ही बता पाया कि वे संख्या में कदाचित् तीन थे। जिसमें से एक तो प्रकट था और दो द्वार के बाहर कहीं छिपे हुए थे। जो प्रकट था, उसके हाथ में रक्त स्नात् खड्ग था। वह स्वयं भी रक्त से नहाया हुआ था और अग्नि की लपटों के उजाले में एकदम राक्षस या कोई प्रेत लग रहा था। मृत्यु के उस तांडव में सारथि पहचान भी नहीं सका कि वे कौन थे। वे तीन अलग-अलग लोग थे अथवा उसने एक ही व्यक्ति को अनेक बार देखा और उन्हें तीन व्यक्ति मान बैठा—यह भी वह नहीं जानता।" अर्जुन ने बताया, "उसकी सूचना पर हम लोग शिविर में देखने गए थे। धृष्टद्युम्न का शव कुचला हुआ था, जैसे किसी ने उसके वक्ष और कंठ पर तांडव किया हो। उसे शस्त्र से नहीं मारा गया था। लगता है कि रात को या तो वह निद्रा में ही मार डाला गया या फिर तंद्रा और आकस्मिकता के कारण वह अपनी रक्षा नहीं कर पाया और इस अपमृत्यु को प्राप्त हुआ।"

"युधामन्यु और उत्तमौजा को भी ठीक वैसे ही बिना शस्त्र के कंठ दबा कर मारा गया है।" भीम बोला, "उसके पश्चात् कदाचित् शिविर में लोग जाग गए थे। प्रतिविन्ध्य की कोख में खड्ग भोंका गया है। सुतसोम की दाहिनी भुजा कटी हुई है। उसमें उसका शस्त्र रहा होगा। बाद में उसकी पसली में खड्ग भोंक कर उसे काट दिया गया है। शतानीक का सिर कटा हुआ है। श्रुतकर्मा हाथ में परिघ लेकर सोया हुआ है। उसका मुख काट कर विकृत कर दिया गया है। श्रुतकीर्ति के हाथ में धनुष है किंतु उसका कुंडलयुक्त मस्तक कटा हुआ है।"

"हम दुर्योधन के माता-पिता के दुख की चिंता कर रहे थे और वे हमारे शिविर पर रात्रि को आक्रमण कर उसे अग्निसात कर रहे थे।" कृष्ण की आँखें क्रोध की लालिमा लिए हुए थीं, "और शिखंडी ?"

"दो खंडों में कटा शिखंडी का शव भी प्रभद्रकों के शवों के मध्य पड़ा है।" अर्जुन ने कहा।

"क्या वे अश्वत्थामा, कृतवर्मा और कृपाचार्य ही थे ?" कृष्ण ने पूछा।

"वे ही थे।" भीम ने कहा, "दुर्योधन के निकट जो चार संदेशवाहक हमने छोड़े थे, वे भी सूचना देने आए थे।"

कृष्ण की प्रश्नवाचक दृष्टि भीम की ओर उठ गई।

"अंधकार घना होते ही अनेक हिंस्र पशुओं तथा कुत्तों ने दुर्योधन को घेर लिया था। उन्हीं पशुओं से भयभीत होकर, अपनी प्राण रक्षा के लिए, वे संदेशवाहक निकट के ऊँचे वृक्षों पर जा चढ़े थे।" भीम ने बताया, "उन्होंने हमें बताया है कि मध्य रात्रि के भी पश्चात् जब दुर्योधन प्रायः अचेत हो गया था और उन पशुओं से भी अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो चुका था, तब वहाँ तीन रथ आकर रुके थे। उनमें से तीन व्यक्ति उतरे थे। वे दुर्योधन के निकट आए थे। उनमें से एक का ही स्वर सुनाई पड़ा था। उसने पहले तो रोते हुए, भीम, धर्मराज और श्रीकृष्ण को धिक्कारा, जिन्होंने दुर्योधन को अधर्मपूर्वक मारा था। फिर उसने कहा, 'महाराज ! आपके ही बल पराक्रम से सेवकों सहित कृपाचार्य को, मुझे और मेरे पिता को रत्नों से भरे हुए भव्य भवन प्राप्त हुए थे। यदि आप जीवित हैं तो कानों को सुख देने वाला यह समाचार सुनें। पांडव पक्ष में केवल सात और कौरव पक्ष में हम तीन ही व्यक्ति जीवित बचे हैं। मैं, मातुल कृप और बंधु कृतवर्मा।' उसके पश्चात् रोते हुए उसने बताया कि उसने पुष्प मालाओं से सुसज्जित और धूप और चंदनचूर्ण से सुवासित शैया पर सोए हुए धृष्टद्युम्न को पैर की ठोकर मार कर जगाया। उसके बाल पकड़कर उसे पृथ्वी पर पटका और उसे वहाँ बुरी तरह रगड़ा। धृष्टद्युम्न भय और तंद्रा के कारण कोई चेष्टा भी नहीं कर सका। उसने अपने पैरों से धृष्टद्युम्न के वक्ष और कंठ को कुचलकर उसे पशु के समान मार डाला। धृष्टद्युम्न छटपटाया किंतु चीत्कार भी नहीं कर सका। उसने अपनी भयंकर एड़ियों से धृष्टद्युम्न के मर्मस्थलों पर प्रहार किया। फिर उसने युधामन्यु और उत्तमौजा को भी बिना शस्त्र के मार दिया। उसने एक-एक व्यक्ति को मारने का हर्षपूर्वक वर्णन किया। फिर वह शिविर में लगी आग में जलकर और हाथी-घोड़ों के पैरों तले कुचले जाकर तथा भगदड़ में अपने ही साथियों के पैरों तले रौंदे जाकर मरने वालों के कष्ट और चीत्कार का वर्णन करता रहा। उसने बताया कि मातुल और कृतवर्मा बाहर खड़े थे। जो बाहर निकलता था, उसको वे अपने बाणों से मार देते थे। आग भी उन्होंने ही लगाई थी।"

"द्रौपदी को सूचना दे दी गई ?" कृष्ण ने पूछा।

"उपप्लव्य जाकर नकुल उसे ले आया है।" अर्जुन ने बताया, "वह शिविर में ही है। पल-पल में अचेत हो रही है। उसका उपचार करने का प्रयत्न किया जा रहा है। उसके मातृपक्ष की कुछ स्त्रियाँ भी आ गई हैं।"

"वह अपनी तपस्या से एकदम निर्बल हो चुकी है। अब यह आघात तो वज्रपात से भी अधिक घातक है।" युधिष्ठिर बोले, "फिर भी आपके आने का समाचार पाकर कदाचित् वह कुछ सचेत हो सके।"

युधिष्ठिर ने सहदेव की ओर देखा।

"मैं अभी उन्हें सूचना देता हूँ।"

"नहीं ! हम लोग ही चलते हैं।" कृष्ण बोले, "ऐसी स्थिति में उसे क्यों और कष्ट

देते हैं।"

वे लोग अंतःपुर में आए। द्रौपदी इस समय तक कुछ सचेत हो चुकी थी। वह शैया पर बैठी हुई थी और अनेक स्त्रियाँ उसे सांत्वना देने का प्रयत्न कर रही थीं।

"गोविन्द !" द्रौपदी का स्वर काँप गया और उसकी आँखों में अश्रु आ गए, "मनुष्य मरणशील है, यह तो मैं जानती हूँ किंतु मृत्यु का यह कौन-सा रूप हुआ ?"

"महाकाल की लीला को कौन जान सका है सखि !" कृष्ण का स्वर गंभीर था, "यह सब मनुष्य को स्तब्ध कर देने के लिए है; किंतु महाकाल को कुछ भी तो स्तब्ध नहीं करता। उसके लिए तो यह सब कुछ ही स्वाभाविक है। यह सब होना ही था, इसलिए हुआ।"

"राजन् !" सहसा द्रौपदी की आँखें युधिष्ठिर पर जा ठहरीं, "सौभाग्य की बात है कि आप क्षत्रिय धर्म के अनुसार यमराज को अपने पुत्रों की भेंट चढ़ा सारी पृथ्वी का राज्य पा गए। अब आप इसका सुखपूर्वक भोग करेंगे।...."

द्रौपदी के मन की पीड़ा को युधिष्ठिर पहचानते थे। उसकी कटुता का कारण भी स्पष्ट ही था। ऐसी पीड़ा के समय जाने क्यों स्त्री के मन में अपने पति के प्रति सहानुभूति न जाग कर विरोध जागता है। वह अपने कष्टों के लिए उसे ही दोषी मानने लगती है। पर यह समय ऐसा नहीं था कि द्रौपदी के सम्मुख उसके मन का विश्लेषण किया जाए।...

"अपने भाई-बंधुओं तथा अपने पुत्रों को इस प्रकार यमराज को समर्पित कर कोई पृथ्वी के राज्य का उपभोग कर सकता है ?" धर्मराज का स्वर अत्यंत उदासीन था।

पर द्रौपदी पर जैसे उनकी उदासीनता का प्रतिकूल प्रभाव ही हुआ। उसका स्वर वैसे ही प्रचंड था, "आपने स्वयं सकुशल रहकर, सारी पृथ्वी का राज्य पा लिया है। अब कभी आपको अभिमन्यु का भी स्मरण नहीं आएगा।"

"इसे सकुशल कहती हो तुम !" युधिष्ठिर के अधरों पर एक रुदनशीला मुस्कान आई, "लगता है कि मेरे लिए भी हिमालय पर जा कर स्वयं को गलाने का समय आ गया है।"

"वह सब बाद में।" द्रौपदी की दीनता नष्ट हो गई। उसके स्वर का तेज लौट आया, "यदि आज आप रणभूमि में पराक्रम प्रकट कर, उस पापाचारी अश्वत्थामा के प्राण नहीं हर लेते तो मैं यहीं अनशन कर अपने जीवन का अंत कर दूँगी।"

किसी ने कुछ नहीं कहा। सब जैसे स्तब्ध से खड़े थे।

द्रौपदी अपने स्थान से उठी और भूमि पर अनशन की मुद्रा में बैठ गई।

कृष्ण आगे बढ़े और द्रौपदी के सम्मुख आकर बैठ गए।

"पांचाल राजकुमारी ! मेरी बात सुनो।" वे बोले, "अट्ठारह दिनों के असाधारण परिश्रम से प्राप्त की गई हमारी विजय अंततः दैवयोग से एक प्रकार की पराजय में परिणत हो गई है; किंतु उसका यह अर्थ नहीं है कि युद्ध समाप्त हो गया है। यह महासमर ऐसे ही तो समाप्त नहीं हो जाएगा। धर्मराज युधिष्ठिर प्रतिशोध के समर्थक न होते हुए भी युद्ध से भागने के पक्षधर नहीं हैं। युद्ध को समाप्त किए बिना वे हिमालय की ओर मुँह नहीं कर सकते। तुम मेरे वचन का विश्वास करो, अश्वत्थामा अदंडित नहीं रहेगा। उसे उसके

कृत्य का दंड दिया जाएगा।"

"आचार्य द्रोण को मेरे भाई ने मारा था। पांडव तो अपने गुरु की रक्षा ही करते रहे। अब न मेरे भाई हैं, न पुत्र।" द्रौपदी बोली, "अब यदि ये यही मानते रहे कि वह पापी अश्वत्थामा इनका गुरुपुत्र है, तो ये उसका वध कैसे करेंगे ?"

"नहीं ! ऐसा नहीं होगा प्रिये ! उसे अदंडित कैसे छोड़ा जा सकता है।" युधिष्ठिर बोले, "हाँ ! अश्वत्थामा न अपने शिविर में है, न युद्ध क्षेत्र में, न समंतपंचक में। वह भाग कर कहीं छिप गया है। उसे खोज कर उसका वध किया जाएगा।"

"मुझे बहकाइए नहीं।"

"बहका नहीं रहा।" युधिष्ठिर बोले, "वह जहाँ कहीं है, वहाँ उसका वध होगा; किंतु तुम्हें उसके वध का विश्वास कैसे होगा ?"

"उसका मस्तक नहीं ला सकते तो उसकी मस्तक मणि लाइए। मैं जानती हूँ कि वह अपने मस्तक पर एक मणि धारण करता है। वह उसे प्राणों से भी अधिक प्रिय है। कहते हैं कि वह प्राण दे सकता है, किंतु वह मणि नहीं दे सकता। उस मणि को मैं धर्मराज को धारण करवा कर ही जीवन धारण कर सकती हूँ।" द्रौपदी ने भीम की ओर देखा, "मध्यम पांडव ! मेरे जीवन की रक्षा करो।"

द्रौपदी के एक वाक्य ने भीम को जैसे किसी तंद्रा से जगा दिया। उसका मस्तिष्क कैसा तो जड़-सा हो रहा था। सहसा उसमें प्राण अंकुरित हो गए।

"तुम्हारी इच्छा पूरी होगी पांचाल राजकुमारी !" भीम ने नकुल की ओर देखा; "नकुल ! हमारे पास इस समय जो भी संदेशवाहक, अन्वेषक, गूढ़ पुरुष और गुप्तचर हैं, उन सब को उन तीनों राक्षसों की खोज में भेज दो। यदि कहीं यह संदेह हो कि वे लोग एक साथ नहीं हैं, पृथक् हो गए हैं तो हमारे खोजी केवल अश्वत्थामा को खोजें।" वह रुका, "उसके पश्चात् रथ तैयार करो। तुम्हें मेरे साथ चलना है। मैं अपने शस्त्र लेकर आता हूँ।"

"अश्वत्थामा को कहाँ खोजोगे मध्यम ?" द्रौपदी ने पूछा, "वह जाने कहाँ छिपा होगा। मूषक के समान कहीं अपनी बिल खोद कर उसमें बैठा होगा।"

"उसके बिल को खोद कर भी निकालूँगा उसे। उसका पता स्वयं धरती बताएगी। धरती पर बने उसके रथचक्रों के चिह्नों को कोई नहीं छिपा सकता।" वह बोला, "वे न भी मिले तो मैं पवन में से उसकी गंध ढूँढ लूँगा। कैसा पवनपुत्र हूँ, यदि इतना भी न कर पाऊँ।" भीम कुछ भावुक हो गया था, "तुम उसकी चिंता मत करो पांचाली! बस इस अनशन का विचार त्याग दो। तपस्या ने तुम्हें पहले ही बहुत-दुर्बल कर रखा है। मन को स्वस्थ करो। अन्न जल ग्रहण करो। मैं अश्वत्थामा को मार कर ही लौटूँगा।"

भीम का विषाद जैसे धुल गया था। वह अपने आप में लौट आया था। उसके सम्मुख एक चुनौती थी। वह हाथ पर हाथ धर कर नहीं बैठ सकता था। उसकी ऊर्जा जड़ नहीं हो सकती। वह अपने जीते हुए इस युद्ध में अंततः इस प्रकार पराजित नहीं हो सकता।...

भीम के जाते ही कृष्ण जैसे कुछ विचलित हो उठे। उन्होंने युधिष्ठिर की ओर देखा,

"जिनका वध हुआ, वे क्या पांचाली के ही बंधु थे ? हमारे कुछ नहीं थे ? जो रात को मारे गए, वे क्या भीम के ही पुत्र थे ? आपके पुत्र नहीं थे ? और क्या भीम आपका कोई नहीं है ?"

"आप ऐसा क्यों कह रहे हैं केशव ?" युधिष्ठिर हतप्रभ रह गए।

"तो फिर अश्वत्थामा को दंडित करने के लिए और भीम की रक्षा के लिए, आप लोग जाते क्यों नहीं ?" कृष्ण बोले, "आप जानते नहीं कि अश्वत्थामा में अब केवल पशुता ही बची है। उसका ब्राह्मणत्व और मनुष्यत्व तो जाने कब का समाप्त हो चुका। अश्वत्थामा क्रोधी, दुष्ट, चपल और क्रूर है। उससे भीमसेन की रक्षा आवश्यक है। अश्वत्थामा के पास आचार्य द्रोण का दिया हुआ ब्रह्मशिर नामक देवास्त्र है। उस देवास्त्र के सामने भीमसेन क्या कर लेंगे ? अश्वत्थामा मध्यम पांडव के वश का नहीं है। हाँ ! उसे बाँधकर भीमसेन को सौंप दें तो शेष वे कर लेंगे।"

द्रौपदी को आश्वस्त-सा करते हुए, कृष्ण ने उस पर एक दृष्टि डाली और बाहर चले गए।

कृष्ण स्वयं शस्त्रों से सज्जित होकर रथारूढ़ हुए। उनके पश्चात् युधिष्ठिर और अर्जुन भी आ गए। सात्यकि और सहदेव को शिविर की रक्षा के लिए छोड़ दिया गया।

रथ का सारथ्य स्वयं कृष्ण कर रहे थे। उनका रथ जैसे पवन वेग से चल रहा था।

"भीमसेन को अश्वत्थामा के निकट जाने से पहले ही रोकना होगा अन्यथा अनर्थ हो जाएगा।" कृष्ण बोले।

"अश्वत्थामा की इस मस्तक मणि का क्या रहस्य है केशव ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"उसके पास एक मणि है, जिसे वह सदा अपने मस्तक पर धारण करता है। कहते हैं कि वह अत्यंत मूल्यवान मणि है। किसी बड़े से बड़े साम्राज्य से भी अधिक मूल्यवान।" कृष्ण बोले, "उसका प्रभाव अमोघ है। उसे धारण कर लेने पर शस्त्र, व्याधि, क्षुधा, देवता, दानव और नाग किसी का भी भय नहीं रहता।"

"यदि वह इतनी ही मूल्यवान है तो दुर्योधन भी जानता होगा कि उसके साम्राज्य से भी अधिक मूल्यवान मणि अश्वत्थामा अपने मस्तक पर धारण करता है।" अर्जुन ने कहा, "तो दुर्योधन ने इसे अश्वत्थामा के पास रहने कैसे दिया होगा ? द्वारका में स्यमंतक मणि को लेकर इतना बवंडर उठा था, तो इस मणि ने वैसा कोई प्रभाव क्यों नहीं दिखाया ?"

"यह भी तो पूछा जा सकता है कि इतनी मूल्यवान मणि अश्वत्थामा को मिली कहाँ से ?" युधिष्ठिर बोले, "उसे क्रय करने की क्षमता तो अश्वत्थामा और आचार्य में नहीं थी।"

"आप दोनों के प्रश्नों का एक ही उत्तर है।" कृष्ण बोले, "उसके विषय में प्रचारित किया गया है कि वह अश्वत्थामा के जन्म से ही उसके साथ है।"

"जन्म से ही साथ है का क्या अर्थ ?" अर्जुन ने कहा, "क्या उसके जन्मोत्सव के समय किसी ने उसे यह उपहार में दी थी ?"

"ऐसा होता तो आचार्य इतने निर्धन कैसे रहते।" युधिष्ठिर बोले।

"नहीं।" कृष्ण बोले, "प्रचारित यह किया गया कि वह उसके शरीर के साथ ही उत्पन्न हुई थी, जैसे जन्म के समय से कर्ण के शरीर पर कवच और कुंडल थे। इसीलिए वह उसे मस्तक के ऊपर धारण न कर शिरोवस्त्र के नीचे धारण करता है। इससे उसे तीन लाभ हुए। प्रथम तो कभी किसी ने यह नहीं पूछा कि एक तपस्वी ब्राह्मण अपने मस्तक पर इतनी मूल्यवान मणि क्यों धारण करता है ? दूसरे, दुर्योधन के लिए यह पूछने का अवकाश ही नहीं रह गया कि यह मणि अश्वत्थामा को कब और कहाँ मिली। तीसरे दुर्योधन उससे वह मणि माँग नहीं सका।"

"वैसे वह मणि उसे कहाँ से मिल सकती है ?" अर्जुन ने पूछा।

"यह तो उसी प्रकार का रहस्य है कि आर्य सत्राजित को स्यमंतक मणि कहाँ से मिली थी।" कृष्ण बोले, "उन्होंने भी यही प्रचारित किया था कि वह मणि उन्हें सूर्यदेव से प्राप्त हुई थी।"

सामने से सैनिकों का एक गुल्म आ रहा था। उनके ध्वज से स्पष्ट था कि वे भीम के सैनिक थे।

युधिष्ठिर अपने रथ में खड़े हो गए। निकट आने पर कृष्ण ने रथ रोक दिया।

"कहाँ से आ रहे हो नायक ?"

"महाराज ! हमें युवराज ने आपके पास ही भेजा है कि हम आपको सूचना दें कि उन्हें कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा के विषय में यह सूचना मिल गई है कि वे लोग रात के उस कांड के पश्चात् दुर्योधन से मिले थे और वहाँ से महाराज धृतराष्ट्र से भेंट कर उन्हें सारी सूचनाएँ देने के लिए हस्तिनापुर चले गए थे। अतः युवराज भी उनके पीछे हस्तिनापुर ही गए हैं। वे थोड़ी-थोड़ी दूरी से अपनी यात्रा के विषय में आपको समाचार भेजते रहेंगे, ताकि आप महारानी को आश्वस्त करते रह सकें।"

"यह तो बहुत ही बुरा हुआ।" कृष्ण ने तत्काल रथ हाँक दिया।

"क्या अच्छा नहीं हुआ ?" अर्जुन पूछा।

"मध्यम को किसी भी स्थिति में एकांत में धृतराष्ट्र के सम्मुख नहीं पड़ना चाहिए।" वे बोले, "हमें उनकी अश्वत्थामा से ही नहीं, धृतराष्ट्र से भी रक्षा करनी होगी।"

"महाराज धृतराष्ट्र से भीम की रक्षा ?" युधिष्ठिर कुछ चकित थे।

"हाँ ! धृतराष्ट्र के मन के द्वेष से उनकी रक्षा, धृतराष्ट्र के मन के पाप से उनकी रक्षा।" कृष्ण बोले, "भीम के पास बल है किंतु वे युक्ति नहीं जानते, जिसमें धृतराष्ट्र दक्ष हैं।"

कोई कुछ नहीं बोला और रथ तीव्र गति से भागता रहा। सहसा कृष्ण ने धरती पर बने रथ चक्रों के चिह्नों पर दृष्टि डाली।

"मुझे तो नहीं लगता कि भीमसेन हस्तिनापुर की ओर गए हैं।" कृष्ण ने रथ की गति कम की और घोड़ों को जैसे रुकने का संकेत किया, "एक भारी रथ के चक्रों के ये चिह्न किसी और दिशा में जा रहे हैं। यह रथ भीमसेन का ही होना चाहिए।"

"तभी सामने से सैनिकों का एक अन्य गुल्म आता दिखाई दिया। वे उनके निकट आकर रुक गए। वे भी भीम के ही सैनिक थे।

"महाराज !" उन्होंने प्रणाम कर कहा, "युवराज ने कहा है कि उन्हें यह सूचना मार्ग में ही मिल गई है कि महाराज धृतराष्ट्र हस्तिनापुर से बाहर निकलकर, अपने पुत्रों का तर्पण करने के लिए गंगातट की ओर जा रहे थे। मार्ग में ही उन्हें कृपाचार्य, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा और कृतवर्मा मिल गए। उन्हें सारा समाचार देकर वे लोग पांडवों के भय से विचलित होकर एक-दूसरे से पृथक् हो गए। कृपाचार्य तो वापस हस्तिनापुर चले गए। कृतवर्मा ने द्वारका की राह पकड़ी और अश्वत्थामा महर्षि वेदव्यास के आश्रम की ओर गए हैं। युवराज भी उनका पीछा करते हुए उसी ओर चले गए हैं।"

कृष्ण ने रथ मोड़ लिया और वे रथचक्रों के चिह्नों को देखते हुए उसी ओर बढ़ गएं।

भीम तक पहुँचने में उन्हें बहुत समय नहीं लगा। उन्होंने भीम के रथ को जा पकड़ा।

"रुक जाओ मध्यम !" युधिष्ठिर बोले।

"क्या बात है ?" भीम ने आश्चर्य से उनकी ओर देखा, "आप लोगों को आना ही था तो मेरे साथ क्यों नहीं आए ?"

"वह सब बाद में बताएँगे।" युधिष्ठिर बोले, "श्रीकृष्ण का कहना है कि अश्वत्थामा के पास आचार्य द्रोण का दिया हुआ ब्रह्मशिर नामक देवास्त्र है। तुम उसका निवारण नहीं कर पाओगे। इसलिए उसका सामना अर्जुन को ही करने दो।"

"मैं नहीं मानता।" भीम बोला, "उसके पास ब्रह्मशिर होता तो वह अब तक उसका प्रयोग कर चुका होता।"

"उसने उसका प्रयोग नहीं किया है किंतु वह देवास्त्र उसके पास है।" कृष्ण बोले, "इसलिए आप लौट जाएँ। हम लोग अश्वत्थामा को देखते हैं।"

"यदि ऐसी बात है तो मैं तुम्हारे साथ ही चल रहा हूँ कृष्ण !" भीम बोला, "मैं अश्वत्थामा की हत्या के बिना, पांचाली के सम्मुख नहीं जा सकता।"

संध्या से पहले-पहले वे दोनों रथ महर्षि वेदव्यास के आश्रम के निकट पहुँच गए। आश्रम इस समय निर्जन-सा लग रहा था। दो-एक ब्रह्मचारी ही दिखाई दिए। उनसे पूछा तो उन्होंने बताया कि महर्षि तो देवर्षि नारद के साथ निकट के किसी अन्य आश्रम में गए हुए हैं और इस आश्रम के अंतेवासी किसी प्रवचन को सुनने के संदर्भ में गंगातट पर एकत्रित हैं।

गंगातट पर संन्यासियों की भीड़ थी। कहीं कुछ लोग स्नान कर रहे थे। कहीं कुछ लोग जल में खड़े होकर किसी प्रकार की कोई साधना कर रहे थे। कहीं कोई ध्यान करने के लिए पद्मासन में बैठा था। आसपास न तो कहीं कोई रथ खड़ा था और न ही कहीं अश्वत्थामा का कोई चिह्न था।... अब ऐसे में अश्वत्थामा कहाँ होगा ?... उन्होंने अपने रथ छोड़ दिए और पैदल ही गंगातट पर चलते गए।...

"पांचाली ने ठीक ही कहा था कि वह किसी मूषक के समान अपना बिल खोद कर उसमें छुपा बैठा होगा।" भीम ने कहा, "अब उसे हम कहाँ खोजें।"

"यदि वह यहाँ है तो वह अकेला नहीं होगा। जहाँ कहीं भी वह होगा, स्वयं को छुपाने के लिए समूह में ही होगा।" कृष्ण बोले।

"स्वयं को छिपाने के लिए क्यों ?" भीम हँसा, "वह हमसे भयभीत है क्या ? उसके पास तो ब्रह्मशिर देवास्त्र है। वह अकेला ही पांचालों के शिविर में घुसकर उन सबका वध कर सकता है। वह क्यों भयभीत होगा हमसे।"

"भयभीत तो वे हैं ही। अकेला अश्वत्थामा ही नहीं, कृपाचार्य और कृतवर्मा भी। दुर्योधन भी तो भय के मारे ही जा कर द्वैपायन सरोवर में छिप गया था।" कृष्ण बोले, "यदि वह अकेला बैठ कर साधना करने का ढोंग करेगा तो पकड़ा जाएगा।"

कृष्ण चलते-चलते रुक गए, "वह कौन है ?"

शेष लोग भी रुक गए, "कहाँ ? कहाँ ??"

"मध्यम तनिक शांति से।" कृष्ण अपना स्वर दबाकर बोले, "इस प्रकार से मुखर हो जाओगे तो वह भाग जाएगा।"

"अब वह मुझसे बचकर कहीं नहीं जा सकता।" भीम ने कहा, "पर वह है कहाँ ?"

"बिना हाथ का संकेत किए, केवल आँखों से देखो।" कृष्ण बोले, "दाईं ओर गंगा की रेत पर संन्यासियों का जो झुंड बैठा है, उसमें पीछे की ओर देखो।"

सबकी आँखें उस ओर चली गईं। भीम ने भी देखा : उन संन्यासियों के मध्य अश्वत्थामा छिपा बैठा था। उसने अपने सारे शरीर पर घी चुपड़कर कुश का चीर पहन रखा था। उसके अंगों पर धूल छा रही थी।··· हाँ ! वेश तो उसने बहुत परिवर्तित कर लिया था··· पर कृष्ण ने ठीक ही पहचाना था।

भीम उसकी ओर दौड़ा, "खड़ा तो रह तू पापी !"

"आपने कैसे उसे पहचान लिया केशव ?" युधिष्ठिर कुछ चकित थे।

"उसकी मस्तक मणि से। केवल उसके सिर पर ही वस्त्र लपेटा हुआ है।" कृष्ण हँसे, "कहते हैं कि इस मणि को धारण करने वाले को शत्रु का भय नहीं रहता; किंतु अश्वत्थामा को तो उसी मणि ने पकड़वा दिया है।"

अश्वत्थामा ने देखा कि उसे पहचान लिया गया है। भीम उसकी ओर आ रहा है। भीम की सहायता के लिए अर्जुन भी खड़ा है, कृष्ण और युधिष्ठिर भी निकट ही हैं। अश्वत्थामा उनसे युद्ध नहीं कर सकता। वे उसे मार डालेंगे। उसकी बुद्धि जैसे जड़ हो गई। इस समय वह और कुछ नहीं सोच सकता था। उसके मन में एक ही बात थी, पांडवों का विनाश। अब उसका मूल्य चाहे जो भी हो।···

उसने आँखें बंद कर मन को एकाग्र किया और ब्रह्मशिर का स्मरण किया। मन की तरंगों ने जाकर ब्रह्मशिर को जाग्रत किया। अश्वत्थामा ने उसे मन की विद्युत तरंगों के संकेत भेजे, "समस्त पांडवों का विनाश करो।"

अस्त्र उनकी दृष्टि सीमा में आ गया था। उससे भयंकर अग्नि प्रकट हो रही थी। वह जैसे अश्वत्थामा की आज्ञानुसार अपने भीतर अपने शस्त्रागार को जगा रहा था और अपने लक्ष्य साध रहा था।

"रुक जाओ मध्यम !" कृष्ण ने पुकार कर भीम को कहा और अर्जुन से संबोधित हुए, "अर्जुन ! आचार्य द्रोण द्वारा तुम्हें दिए गए दिव्यास्त्र के प्रयोग का समय आ गया है। अब संकोच मत करना, अन्यथा अश्वत्थामा के अस्त्र का निवारण नहीं हो पाएगा।"

अर्जुन ने तत्काल अपने मन को एकाग्र किया। मन की तरंगों को विद्युत तरंगों में परिणत कर अपने देवास्त्र को संकेत भेजे, "शत्रु का ब्रह्मशिर शांत हो जाए।"

दोनों के ब्रह्मशिर जैसे आकाश में आकर स्थिर हो गए थे। वे निरंतर अग्नि उगल रहे थे। उनकी प्रक्रिया आरंभ हो गई थी और वे लक्ष्य को साध रहे थे। ऐसे लग रहा था जैसे संसार एक भयंकर अग्नि सागर में स्नान करने की तैयारी में है। आकाश पर उल्काएँ उड़ रही थीं और वज्रपात हो रहे थे।

सहसा अर्जुन की एकाग्रता में बाधा पड़ी। उसने आँखें खोलीं। देखा, उसके और अश्वत्थामा के मध्य देवर्षि नारद और महर्षि वेदव्यास आकर खड़े हो गए, "यह क्या हो रहा है ?"

अपने देवास्त्रों के उस कोलाहल में किसी का ध्यान अपनी ओर आते हुए उन ऋषियों की ओर नहीं गया था।

"यह क्या हो रहा है अर्जुन !" वेदव्यास बोले, "आज तक तो किसी ने इन अस्त्रों का प्रयोग मनुष्यों पर नहीं किया। तुम लोगों ने यह विनाशकारी साहस कैसे कर लिया ?"

अर्जुन ने हाथ जोड़कर दोनों ऋषियों को प्रणाम किया और अपने देवास्त्र के उपसंहार की प्रक्रिया आरंभ कर दी।

"मैंने किसी के विनाश के लिए इस देवास्त्र का प्रयोग नहीं किया है।" उसने कहा, "मैं तो इससे अश्वत्थामा के देवास्त्र को केवल शांत कर रहा था। यदि मैं अपने अस्त्र को लौटा लेता हूँ तो अश्वत्थामा के देवास्त्र का तेज हम सबको अवश्य ही नष्ट कर देगा। आप दोनों ही मेरे पूज्य हैं। संसार के हित में जो भी करने का आदेश करेंगे, वही करूँगा।"

"द्रोणपुत्र ! तुम्हें क्या हुआ है ?" नारद बोले, "तुम क्यों संसार के विनाश में तत्पर हो ?"

"मैंने भीमसेन के भय से ही इसका प्रयोग किया है, नहीं तो वह अभी मेरे प्राण ले लेता।" अश्वत्थामा जैसे घबराकर रो पड़ा, "उसने भयंकर अधर्म किया है। उस पापात्मा ने छलपूर्वक दुर्योधन का वध किया है। वह मेरा भी वध कर देगा।"

"तूने तो कल रात पुण्य ही पुण्य किया है।" व्यास बोले, "नीच ! तू उसे पापी बता रहा है और अपने कर्मों पर दृष्टि भी नहीं डालता। तू भी धृतराष्ट्र के समान आत्ममोह में अंधा हो गया है क्या ? अपने प्राण बचाने के लिए तूने ब्रह्मशिर देवास्त्र का प्रयोग किया। तू जानता नहीं कि यह देवास्त्र ब्रह्मतेज से उत्पन्न हुआ है। यदि अजितेन्द्रिय पुरुष

द्वारा इसका प्रयोग होगा तो उसके लिए इसे लौटाना असंभव होगा।"

"मैं जितेन्द्रिय नहीं हूँ।" अश्वत्थामा बोला, "तभी तो अपने प्राण बचाने के लिए इसका प्रयोग कर बैठा।"

"तुम जानते हो कि युद्ध में इसे लौटा लेना देवताओं के लिए भी दुष्कर है। उस दिव्यास्त्र को छोड़ देने के पश्चात् एक अर्जुन ही उसे लौटाने में समर्थ है। इंद्र भी उसे नहीं लौटा सकते। बिना ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के उसे लौटाया नहीं जा सकता।" नारद बोले, "अर्जुन ने बड़े-से-बड़े संकट में भी आज तक उसका प्रयोग नहीं किया था; और आज तुमने उसे भी इसका प्रयोग करने को बाध्य कर दिया। अब इसे लौटाओ।"

"मुझमें इसे लौटा लेने की शक्ति नहीं है।" अश्वत्थामा बोला, "यह सारे पांडवों के प्राण ले लेगा। यह मेरा पाप तो हो सकता है किंतु अब मैं कुछ नहीं कर सकता।"

"धनंजय ने तो कभी रोष में भर कर तेरे प्राण लेने के लिए इस अस्त्र का प्रयोग नहीं किया। नहीं तो तू आज तक यह कुकृत्य करने के लिए जीवित ही न बचा होता। यह ऐसा धैर्यवान, साधु, संपूर्ण अस्त्रों का ज्ञाता, तथा सत्पुरुष है। तू इसके वध की इच्छा ही क्यों रखता है ?" व्यास बोले।

"अपने प्राण बचाने के लिए महर्षि !" अश्वत्थामा रो पड़ा, "मुझे इनसे बचा लीजिए। मैं मरना नहीं चाहता।"

"तू मरना नहीं चाहता, इसलिए तू सारे संसार को नष्ट कर देगा ? इतना मूल्यवान है तेरा जीवन ?" व्यास कुछ आवेश में बोले, "क्या तू नहीं जानता कि जिस देश में एक ब्रह्मास्त्र का दूसरे उत्कृष्ट ब्रह्मास्त्र से तिरस्कार किया जाता है, उस देश में बारह वर्षों तक वर्षा नहीं होती ? प्रजा के हित का ध्यान कर, शक्तिशाली होते हुए भी, अर्जुन तेरे इस अस्त्र को नष्ट नहीं कर रहा। उसने अपने ही अस्त्र का उपसंहार करना आरंभ कर दिया है। तुझे अपनी रक्षा करनी है तो पांडवों की भी रक्षा कर। इस देश की रक्षा कर। अपने इस अस्त्र को शीघ्र लौटा।"

"पर ये लोग मुझे मार डालेंगे।" अश्वत्थामा ने जैसे चीत्कार किया।

"तू यदि पांडवों का विनाश करना चाहेगा तो अर्जुन तेरे देवास्त्र का निराकरण करने में समर्थ है। निराकरण हो गया तो भी तू मार डाला जाएगा। पांडव नष्ट हो गए तो कृष्ण तुझे मार डालेंगे। सात्यकि तेरे प्राण ले लेगा। पांडवों की इच्छा के बिना तू जीवित नहीं रह सकता। तुझें प्राणदान करेंगे तो ये ही करेंगे।"

"ये मुझे प्राणदान करेंगे ?" अश्वत्थामा का स्वर कुछ बदल रहा था, "भीम मुझे जीवित छोड़ देगा ?"

"हत्या युधिष्ठिर का लक्ष्य नहीं है। वे धर्म की स्थापना चाहते हैं। किसी और को जीतने के स्थान पर धर्मराज सदा आत्मजय की ओर अग्रसर हुए हैं। तूने ही अपने पशुत्व में अंधे होकर उनके देवत्व को नहीं पहचाना।" व्यास बोले, "वे तुझे क्षमा कर देंगे। अपने पुत्रों का वध भी क्षमा कर देंगे।..."

"मैं इसका विश्वास कैसे कर लूँ ?"

"शस्त्र त्याग दो और अपनी यह मणि हमें दे दो, जिसे तुमने सिर पर धारण कर रखा है। हम तुम्हें तुम्हारे प्राणों की भिक्षा दे देंगे।" युधिष्ठिर बोले।

"महर्षि जो आज्ञा देंगे, मैं उसका पालन करूँगा।" अश्वत्थामा बोला।

"तो मणि दे दे।" व्यास ने कहा।

"मैं भी आपके सम्मुख उपस्थित हूँ और मणि भी यहीं है; किंतु इस देवास्त्र का क्या होगा ? मैं इसे लौटा नहीं सकता। यह तो पांडवों का विनाश करेगा ही।"

"इसे लौटा नहीं सकते तो इसका लक्ष्य संकीर्ण से संकीर्ण कर दो।" कृष्ण बोले, "इसे सूक्ष्म कर दो। इसका स्वरूप स्थूल न रहकर मात्र वायवीय रह जाए।"

"तो यह विकसित पांडवों को नहीं, उनके रक्त को पहचान कर उनके गर्भस्थ शिशुओं को नष्ट करेगा।" अश्वत्थामा बोला, "यह अस्त्र अमोघ है। मैं इसे लौटा नहीं सकता।"

"ठीक है। इसे पांडवों के गर्भों पर छोड़कर ही तू शांत हो जा।" व्यास बोले, "अपने मन को निर्मल कर। विरोध त्याग। वैर त्याग। हिंसा त्याग।"

"जैसी आपकी आज्ञा महर्षि !" अश्वत्थामा दोनों हाथ जोड़कर उनके सम्मुख नतमस्तक हो गया, "मैं अपने हाथों से अपनी मणि निकाल नहीं सकता। धर्मराज अपने हाथों से इसे मेरे केशों में से निकाल लें। मैं विरोध नहीं करूँगा।"

किसी के कुछ कहने और करने से पहले ही भीम आगे बढ़ा। उसके हाथ में उसका खड्ग था। उसने उसी खड्ग से अश्वत्थामा के सिर पर बने जटाजूट पर लपेटे गए वस्त्र को चीरकर उसके केशों में से मणि प्रकट कर ली; और हाथ बढ़ाकर उसे उठा लिया।

सभी ने देखा, मणि, खड्ग और अश्वत्थामा के केश रक्त से भीग गए थे।

अश्वत्थामा ने तमककर भीम की ओर देखा।

"जाओ अश्वत्थामा ! पांडवों ने तुम्हें जीवन की भिक्षा दी। उन्होंने तुम्हारे प्राण नहीं लिए। तुम्हारी मणि ले ली; और तुम्हें एक घाव दे दिया।" कृष्ण बोले, "सभी मनीषी तुम्हें कायर, पापी और बालहत्यारा समझते हैं। तुम इस पृथ्वी पर एक घायल पशु के समान भटकते फिरोगे। तुम्हें किसी का संग नहीं मिलेगा। अकेले निर्जन स्थानों पर अपने शरीर की पीड़ा से चट्टानों पर सिर पटकोगे। मृत्यु माँगोगे किंतु तुम्हें मृत्यु प्राप्त नहीं होगी। तुम्हारे शरीर से पीप और लहू की दुर्गंध आएगी और तुम किसी जनसमुदाय में स्थान नहीं पाओगे। पापात्मन् ! तू सभी रोगों से पीड़ित होगा, तड़पेगा; किंतु मर नहीं सकेगा। तुझे अपने प्राण बहुत प्यारे हैं, जा अपने इन नीच प्राणों को लेकर कहीं चला जा।"

अश्वत्थामा ने बिना एक भी शब्द कहे, वेदव्यास की ओर देखा।

"अश्वत्थामन् !" वेदव्यास बोले, "तूने हम सब लोगों का अनादर कर, यह भयंकर कर्म किया है। ब्राह्मण होकर भी तेरा आचरण इतना पतित रहा है। जा ! श्रीकृष्ण का वचन सत्य होकर रहेगा। भीम के खड्ग ने तेरे मस्तिष्क की जिन शिराओं को काटा है,

उनके अभाव में तू पशु, घायल पशु होकर ही जी सकेगा।"

अपने शिविर में लौटकर पांडवों ने द्रौपदी को उसी स्थान पर अनशन की मुद्रा में बैठे पाया। कृष्ण और पांडव द्रौपदी को घेरकर बैठ गए। द्रौपदी ने आँखें उठाकर उनकी ओर नहीं देखा। वह उसी प्रकार आँखें झुकाए बैठी रही।

"मध्यम !" युधिष्ठिर बोले, "वह दिव्य मणि पांचाल राजकुमारी को दे दो।"

पहली बार द्रौपदी ने अपना सिर उठाया··· तो वे लोग वह मणि ले आए थे। वह अभी तक अपने संशय को शमित नहीं कर पाई थी, जाने अश्वत्थामा उन्हें मिले न मिले।··· वे उसका वध करना चाहें न चाहें···

भीम ने अपनी दोनों हथेलियों में सजाकर वह मणि द्रौपदी की ओर बढ़ाई। द्रौपदी की दृष्टि उस पर टिकी। मणि पर अश्वत्थामा का रक्त भी लगा था। उसे कुछ संतोष हुआ।

"भद्रे ! तुम्हारे पुत्रों का कायरतापूर्वक वध करने वाले अश्वत्थामा की यह मस्तक मणि है।" भीम ने कहा, "तुम्हारे उस शत्रु को हमने जीत लिया है। जिस वंश का नाश करने के लिए तुम यज्ञकुंड से उत्पन्न हुई थीं, जिसके नाश के लिए कांपिल्य के राजवंश ने वर्षों तक साधना की, उस वंश का सर्वनाश हो गया है। अब शोक त्यागकर उठो और क्षत्रिय धर्म का स्मरण करो।"

"अश्वत्थामा मारा गया ?" द्रौपदी ने बारी-बारी सबकी ओर देखा।

भीम उससे आँखें नहीं मिला पाया।

"नहीं ! बस उसके प्राण नहीं लिए शेष सब कुछ ले लिया।" कृष्ण बोले, "उसका यश ले लिया, उसका बल ले लिया, उसका धन ले लिया, उसकी चेतना ले ली। वह एक घायल पशु के समान अपना दीर्घ जीवन तड़प-तड़पकर काटेगा।"

"उसका वध क्यों नहीं किया ?" द्रौपदी का स्वर कुछ कठोर हो गया।

"मरकर मनुष्य पीड़ा से मुक्त हो जाता है राजरानी ! मैंने दुःशासन का वध कर दिया था, इसलिए वह दुर्दशा से बच गया।" भीम ने आश्वस्त स्वर में कहा, "दुर्योधन को जीवित तो छोड़ा किंतु ऐसी दशा कर दी कि वह एक रात भी कष्ट नहीं झेल पाया, या शायद वन्य पशुओं से अपनी रक्षा नहीं कर पाया। अश्वत्थामा को कृष्ण ने एक घायल पशु के समान सहस्रों वर्ष जीने के लिए कहा है। उसके आधे मस्तिष्क का वध कर दिया है मैंने। मनुष्य की-सी चेतना नहीं रहेगी अश्वत्थामा में। वह पशु के समान ही वन्य पशुओं से अपनी रक्षा करता रहेगा; किंतु मरकर सुखी भी नहीं हो पाएगा।"

"हम सुखी हैं क्या ?" द्रौपदी ने उसकी ओर देखा, "अपना एक भी पुत्र नहीं बचा पाए तुम लोग।"

भीम तनिक भी हतप्रभ नहीं हुआ। उसी प्रकार विश्वस्त होकर बोला, "जब कृष्ण संधि प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर जा रहे थे तो तुमने उससे क्या कहा था प्रिये ! अपने शब्दों को स्मरण करो। तुमने कहा था, 'गोविन्द मेरे अपमान को भुलाकर शत्रुओं से संधि की

जा रही है। न मेरे पति हैं, न पुत्र हैं, न भाई हैं… और न तुम हो।' उन वचनों को स्मरण करो पांचाल राजकुमारी ! दुर्योधन मारा गया। पीड़ा से तड़पते दुःशासन के रक्त का पान मैंने सबके सामने किया। अश्वत्थामा को जीत लिया। वह जीवित नहीं है, बस शरीर शेष है। उसके रक्त में सनी यह मणि स्वीकार करो।"

द्रौपदी ने पहले भीम की ओर देखा और फिर मणि को देखती रही।

"महाराज इस मणि को अपने मस्तक पर धारण करें।" द्रौपदी ने कहा, "मैं अब अपने प्राण नहीं दूँगी।"

42

"हम लोग अपनी माता से मिलने कब जाएँगे ?" द्रौपदी ने पूछा; और फिर तत्काल जोड़ दिया, "लगता है कि आप तो भूल ही गए हैं कि आपकी एक माता भी हैं। तेरह वर्षों से वे हस्तिनापुर में बैठी अपने पुत्रों द्वारा अपने मुक्त कराए जाने की प्रतीक्षा कर रही हैं।"

"नहीं ! भूला तो नहीं हूँ।" युधिष्ठिर बोले, "किंतु युद्ध के इस परिवेश में… ।"

"युद्ध के इस परिवेश में आपको यह तो स्मरण रहा कि हस्तिनापुर में दुर्योधन की माता गांधारी रहती हैं।"

"उनके सौ के सौ पुत्र मारे गए हैं इस युद्ध में।" युधिष्ठिर बोले, "इसलिए उनकी पीड़ा… ।"

"गांधारी के सौ पुत्र मारे गए, अपने पापों के कारण। उसके लिए हम दोषी नहीं हैं। हम आतुर नहीं थे, इस युद्ध के लिए।" द्रौपदी बोली, "माता कुंती के भी सारे के सारे पौत्र मारे गए हैं। एक भी नहीं बचा है।… वे किसी धर्मात्मा के हाथों अपने पापों के कारण नहीं मारे गए, वे पापी अश्वत्थामा के हाथों आपराधिक ढंग से मारे गए हैं। उनकी हत्या हुई है।"

"ठीक कहती हो देवि ! पीड़ा तुम्हारी भी है और माता कुंती की भी।" युधिष्ठिर बोले, "पर माता कुंती को तो हम उनके पुत्रों की विजय का समाचार देना चाहते हैं। उनके पौत्रों की मृत्यु का नहीं।"

"ठीक है। वही सही। पर हम कब जाएँगे ?"

"हम हस्तिनापुर जाने के ही प्रबंध में लगे हैं।" युधिष्ठिर बोले, "अब इन शिविरों और मंडपों की यहाँ आवश्यकता नहीं है। सेना को भी लौटाना है।"

"तो विलंब का कारण ?"

"हस्तिनापुर से युयुत्सु आने वाला है।" युधिष्ठिर बोले, "श्रीकृष्ण भी अपने किसी दूत की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

मध्याह्न से पहले ही युयुत्सु हस्तिनापुर से आ गया था। अपराह्न में पांडवों के रथ

हस्तिनापुर की ओर चल पड़े। उनके साथ कृष्ण, सात्यकि और युयुत्सु भी जा रहे थे। द्रौपदी तथा अन्य पांचाल स्त्रियाँ भी उनके साथ थीं। विशोक उपप्लव्य से पांडवों की अन्य रानियों को लेने के लिए गया हुआ था।

हस्तिनापुर के बाहर गंगातट पर बहुत भीड़ लगी हुई थी। सहस्रों की संख्या में स्त्रियाँ वहाँ एकत्रित थीं और अपने पुत्रों, पतियों और भाइयों के शोक में निमग्न युद्धक्षेत्र तक जाने अथवा अपने परिजनों के शवों के आने की प्रतीक्षा कर रही थीं। उनका करुण विलाप युधिष्ठिर के हृदय के टुकड़े किए दे रहा था। वे उनको सांत्वना देने के लिए भी कुछ नहीं कर सकते थे। सांत्वना देने के लिए कृष्ण उनसे कहीं अधिक उपयुक्त पात्र थे। जाने क्या बात थी कि कृष्ण को सामने पाते ही शोक अपने पैर समेटने लगता था और मन में शांति का सा अनुभव होने लगता था।

आने को तो कृष्ण भी उनके साथ ही आए थे; किंतु उनके मन में एक भिन्न ही प्रक्रिया चल रही थी। उन्होंने चलने से पहले भी एक संदेशवाहक हस्तिनापुर भेजा था। वे अपने गरुड़ों और उनके नेता वैनतेय को आज बहुत याद कर रहे थे। इस समय उनकी बड़ी आवश्यकता थी कृष्ण को।

गंगातट की उस भीड़ को युधिष्ठिर लाँघ गए। हस्तिनापुर नगर के भीतर भी स्थिति कोई बहुत अच्छी नहीं थी। चारों ओर अव्यवस्था दिखाई पड़ रही थी। एक बड़े युद्ध में पराजित होने वाले राज्य के सारे लक्षण वहाँ दिखाई दे रहे थे। युद्ध की छाया चारों ओर चमगादड़ों के समान मँडरा रही थी।

नगर के प्रमुख द्वार पर विदुर का एक सेवक उन्हें मिला था। वह धर्मराज को प्रणाम कर कृष्ण को विदुर का संदेश देकर चला गया था।

"क्या संदेश आया होगा ?" सहदेव ने पूछा।

"कोई गोपनीय संदेश लगता है।" नकुल ने कहा।

"अरे विदुर काका कृष्ण को क्या गोपनीय संदेश भेजेंगे।" भीम ने हँसकर कहा, "जानते हैं कि यह वह व्यक्ति है, जिसने पिछली बार हस्तिनापुर में आकर भी दुर्योधन की रसोई में भोजन नहीं किया था, उनकी रसोई में किया था। चिंतित होंगे कि इस बार केवल कृष्ण ही उनकी रसोई में भोजन करेगा, या सारे पांडव भी वहीं खाएँगे। वे नहीं समझते कि पांडव अपनी माँ की रसोई में भोजन करेंगे।"

"और यदि माँ भी पारंसवी काकी की रसोई में ही भोजन करती हों तो ?" अर्जुन ने पूछा।

"रसोई किसी की भी हो, पर भोजन माँ के हाथ का बना होना चाहिए।" भीम ने जैसे स्वाद लेते हुए कहा।

"हम शोक के अवसर पर हस्तिनापुर आए हैं, किसी उत्सव में सम्मिलित होने नहीं।" अर्जुन ने धीरे से कहा।

"ठीक कहते हो; किंतु भूलते हो कि हम एक महासमर जीतकर विजेता के रूप में

अपने विजित नगर में प्रवेश कर रहे हैं।" अर्जुन की चेतावनी ने भीम के उत्साह पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डाला था, "और फिर तेरह वर्षों से अधिक हो गए, माँ से मिले।..."

भीम मौन हो गया। उसने भी इस विषय को अधिक नहीं खींचा।

पांडवों के रथ धृतराष्ट्र के प्रासाद के द्वार पर आकर रुके। किसी को कुछ कहने की आवश्यकता नहीं थी, न ही वहाँ कोई पूछने वाला था। सारे सेवक परिचारक, समझते थे कि अब उनके स्वामी धर्मराज युधिष्ठिर ही थे। द्वार अपने आप खुल गए। दासियाँ भागती हुई सूचनाएँ प्रचारित कर आईं। स्वागत के लिए द्वार पर आई दासियाँ उनके आगे-आगे चलकर उन्हें मार्ग दिखा रही थीं। राजपरिवार के इस भयंकर शोक में कहीं नए राजा के आने का उत्साह भी जुड़ गया था। पुराने राजा के शोक में सम्मिलित होने से कहीं अधिक लाभदायक, नए राजा की विजय में सम्मिलित होना था।

वे लोग रथों से उतरे तो द्रौपदी अन्य स्त्रियों के साथ रथ में ही बैठी रही।

"तुम नहीं चलोगी ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"नहीं। मैं धर्मराज नहीं हूँ, जो अपनों को विस्मृत कर परायों के घावों पर लेप लगाती रहूँ।" द्रौपदी ने कहा, "मैं माता कुंती से मिले बिना किसी और के सम्मुख नहीं जाऊँगी।"

"जैसी तुम्हारी इच्छा।"

वे लोग धृतराष्ट्र के कक्ष में आ पहुँचे थे। द्वार खुला हुआ था। धृतराष्ट्र सामने बैठा दिखाई पड़ रहा था। इस समय गांधारी उस कक्ष में नहीं थी। धृतराष्ट्र के निकट ही संजय और विदुर खड़े थे। उन्होंने धीरे से धृतराष्ट्र के कान के पास मुँह ले जा कर पांडवों के आने की सूचना दी। धृतराष्ट्र ने अपना मुख उठाकर खुले कपाटों की दिशा में कर लिया।

पांडव उससे कुछ दूरी पर ही रुक गए। अकेले युधिष्ठिर आगे बढ़े।

"महाराज ! मैं आपका पुत्र युधिष्ठिर आपको प्रणाम करता हूँ।" उन्होंने झुक कर धृतराष्ट्र के चरण छुए।

धृतराष्ट्र ने अपने हाथ बढ़ाकर उनका मस्तक टटोला। फिर कंधों पर हाथ रखकर खड़े होने का प्रयत्न करते हुए कहा, "मेरे वक्ष से लग जाओ वत्स ! मुझे कुछ तो विश्वास हो कि मेरे पुत्रों में से कोई जीवित भी है। मेरे इस हृदय में धधकती ज्वाला कुछ तो शांत हो।"

धृतराष्ट्र न केवल स्वयं खड़ा हो गया, उसने युधिष्ठिर को भी खड़ा कर अपने वक्ष से लगा लिया; किंतु सारे प्रयत्न के बाद भी धृतराष्ट्र अपनी अप्रसन्नता छुपा नहीं पाया। उसके चेहरे की मलिनता सब कुछ कहे दे रही थी।

"यह क्या हो गया युधिष्ठिर !" उसने जैसे बात आरंभ की।

"प्रभु की लीला है महाराज ! नहीं तो कहीं भाई भी इस प्रकार परस्पर युद्ध करते हैं।" युधिष्ठिर धीरे से बोले।

"ठीक कहते हो।" धृतराष्ट्र ने स्वयं को युधिष्ठिर से पृथक् करते हुए कहा, "कहाँ है भीम ? भीम कहाँ है ?"

धृतराष्ट्र अपनी व्यग्रता में अपने स्थान पर खड़ा नहीं रह पाया। उसने अपने हाथ

बढ़ाकर इधर-उधर टटोला। भीम नहीं मिला तो वह दो-एक पग आगे भी बढ़ आया। दासियों ने दोनों ओर से उसकी भुजाएँ थामकर उसे सहारा दिया।

भीम को कुछ आश्चर्य हुआ। धृतराष्ट्र उससे मिलने को इतना आतुर क्यों है ? भीम ने तो कल्पना की थी कि धृतराष्ट्र उससे मिलना अस्वीकार कर देगा या फिर उसे दोषी ठहराता हुआ उस पर अग्निवर्षा करेगा, किंतु…

कृष्ण ने धीरे से आगे बढ़कर भीम की भुजा थाम ली और उसे आगे बढ़ने से रोक दिया। भीम ने उनकी ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा—क्यों रोक रहे हैं कृष्ण ? कृष्ण ने उसे मौन ही रहने का संकेत किया। सब देख रहे थे कि कृष्ण क्या कर रहे हैं। नहीं देख पा रहा था तो एक धृतराष्ट्र ही।

कृष्ण ने विदुर की ओर देखा। विदुर ने हाथ से संकेत किया। चार-पाँच सेवक एक प्रतिमा को ठेलकर आगे ला रहे थे। भीम ने पहचाना। यह उसी की प्रतिमा थी आकृति में भी उसके समान और कद काठ में भी एकदम भीम। पर यह यहाँ कैसे थी। उसने तो यह प्रतिमा नहीं बनवाई, तो हस्तिनापुर में किसने उसकी यह प्रतिमा बनवाई थी ?… और उसे यहाँ क्यों लाया जा रहा है ? क्या यह प्रतिमा भीम को प्रसन्न करने के लिए उसे उपहार में दी जाएगी ?

किंतु कृष्ण ने वह मूर्ति धृतराष्ट्र के सामने रखवा दी, "महाराज ! ये रहे मध्यम पांडव भीम।"

युधिष्ठिर ने कुछ रोष के साथ कृष्ण की ओर देखा : जिस वृद्ध के इस युद्ध में सौ पुत्र मारे गए हों, उस अंधे के साथ ऐसा परिहास करने का क्या अर्थ ? कृष्ण तो कठोरता में भीम से भी बढ़ गए हैं…

वे आगे बढ़ते, उससे पहले ही धृतराष्ट्र ने बड़ी आतुरता से उस प्रतिमा को अपनी भुजाओं में थाम लिया, जैसे वह वस्तुतः भीम ही हो। युधिष्ठिर को आश्चर्य हुआ कि धृतराष्ट्र को अपने स्पर्श से यह समझ में नहीं आया कि वह मनुष्य का शरीर नहीं, लोहे की एक प्रतिमा थी। धृतराष्ट्र ने प्रतिमा को बड़ी तत्परता से अपनी भुजाओं में जकड़ लिया। वह जैसे बहुत उत्साह से भीम से मिल रहा था। वह उत्साह कुछ असाधारण ही था। जैसे-जैसे धृतराष्ट्र की पकड़ कसती गई, उसका आलिंगन भी प्रगाढ़ होता गया। धृतराष्ट्र का मुख लाल होता गया, जैसे वह उस प्रतिमा को अपनी जकड़ में तोड़ देना चाहता हो। उसकी वह जकड़ और चेहरे की लाली—दोनों ही असाधारण थीं।… और तभी वह मूर्ति को छोड़कर पीछे हट गया। उसने अपने दोनों हाथों से अपने वक्ष को पकड़ लिया, जैसे किसी भयंकर पीड़ा का अनुभव कर रहा हो।… उसके मुख से रक्त निकल आया था।

धृतराष्ट्र का शरीर लहराया। उसे चक्कर आ रहे थे। दासियों के सँभालते-सँभालते भी वह भूमि पर गिर पड़ा।

सब लोग स्तंभित से खड़े रह गए। युधिष्ठिर चकित थे : क्या कृष्ण ने पहले ही धृतराष्ट्र के मन को पढ़ लिया था ? क्या इसी के लिए उन्होंने शिविर से विदुर काका

के पास संदेश भेजा था ?

संजय ने आगे बढ़कर धृतराष्ट्र को सँभाला, "आपको ऐसा नहीं करना चाहिए था महाराज ! आपके मन से अपने इन पुत्रों के प्रति दुर्भावना जाती क्यों नहीं। अश्वत्थामा ने जब आपको यह सूचना दी थी कि उसने रात को पांचालों के शिविर पर आक्रमण कर, सोए हुए पांचालों और द्रौपदी के पुत्रों को मार डाला है, तो भी आपने बहुत प्रसन्न होकर उससे पूछा था कि उसने यह महान् कार्य पहले ही क्यों नहीं किया था।"

धृतराष्ट्र कुछ संकुचित और दीन हो गया।

"तो उसने क्या उत्तर दिया था ?" कृष्ण ने संजय से पूछा।

संजय समझ गया था कि उसके मुख से कुछ ऐसा निकल गया है, जो पांडवों के सम्मुख नहीं कहा जाना चाहिए था। धृतराष्ट्र का यह वाक्य उसके मन में बहुत गहरे चुभ गया था और आज तक चुभ रहा था। आज इस समय भीम की इस प्रकार हत्या करने का प्रयत्न तो बहुत ही नीचतापूर्ण था।··· संजय क्या करता, वह स्वयं को रोक ही नहीं पाया।

"उसने कहा था कि वह ऐसा कर सका क्योंकि उस समय कृष्ण और पांडव उस शिविर से बहुत दूर चले गए थे। उनकी उपस्थिति में वैसा कुछ करना उसके लिए संभव नहीं था।" संजय ने कहा, "इसीलिए उस महान् वीरता के पश्चात् वह भयभीत मूषक के समान भाग भी गया था।"

युधिष्ठिर ने परिचारक की ओर देखा, "वैद्यराज को सूचना दो। महाराज अस्वस्थ हैं। वे मुख से रक्त वमन कर रहे हैं।"

भीम के मन में आया कि कहे कि यदि लौहदंड को चूर्ण करने का प्रयत्न करेंगे तो यही होगा; किंतु वह मौन ही रहा। पता नहीं धृतराष्ट्र को यह ज्ञात भी है या नहीं कि जिसको वह पीसने का प्रयत्न कर रहा था, वह भीम नहीं था। संभव है कि लोहे की कठोरता को वह भीम के शरीर की कठोरता समझ रहा हो।··· पर यह कृष्ण भी चमत्कार ही है। वह सब कुछ जानता है। सबके मन की जानता है। लोगों के चरित्रों को कितनी अच्छी प्रकार समझता है। वह जानता था कि इस परिस्थिति में धृतराष्ट्र क्या करेगा···

किंतु क्या यह वृद्ध धृतराष्ट्र सचमुच भीम जैसे शक्तिशाली योद्धा को अपनी भुजाओं में बाँधकर पीस देने का स्वप्न देख रहा था ? उसके लिए यह संभव था क्या ? यदि आरंभ से भीम ने यह सुना होता कि धृतराष्ट्र प्रतिदिन व्यायाम करता है। अखाड़े में जाता है। मल्लयुद्ध के दाँव सीखता है।··· तो बात और होती। उसने यह तो सुना था कि महाराज को खाना और स्त्री-संग बहुत प्रीतिकर था; किंतु भीम जैसे बलवान योद्धा को इस प्रकार अपनी भुजाओं में दबाकर पीस देने का प्रयत्न··· कहीं ऐसा तो नहीं कि धृतराष्ट्र ने किसी विशेषज्ञ से मनुष्य की शरीर-संरचना संबंधी कुछ विशेष शिक्षा पाई हो, और वह कुछ नाड़ियों को दबाकर मनुष्य की हत्या कर देने में समर्थ हो ? इस समय वह उसी का प्रयत्न कर रहा था क्या ?··· अन्यथा एक दुर्बल वृद्ध अपने उन्माद में भी इस प्रकार की चेष्टा नहीं कर सकता···

सहसा धृतराष्ट्र के कंठ से स्वर फूटा, ''भीम ! हा भीम ! यह मैंने क्या किया ?''

युधिष्ठिर ने कृष्ण की ओर देखा : क्या धृतराष्ट्र ने विश्वास कर लिया कि उसने भीम की हत्या कर दी है ? उसको सत्य बताना है क्या ?

कृष्ण स्वयं ही आगे बढ़ आए। उन्होंने धृतराष्ट्र के कंधे पर हाथ रखा, ''शांत हों महाराज ! शोक न करें। भीम जीवित हैं। जिसकी अस्थियों का चूर्ण बनाने का प्रयत्न आप कर रहे थे, वह मध्यम पांडव नहीं थे, उनकी लोहे की प्रतिमा थी। यह प्रतिमा आपके पुत्र दुर्योधन ने अपने युद्धाभ्यास और भीम के अपमान के लिए बनवाई थी। मैंने उसे महात्मा विदुर से कहकर यहाँ मँगवा लिया था।''

धृतराष्ट्र के चेहरे पर स्पष्ट असमंजस उभरा। मुख से 'हा भीम' कहकर विलाप करने वाले धृतराष्ट्र के चेहरे पर अपनी असफलता की पीड़ा भी उभरी और भीम के जीवित रहने का शोक भी।

''कृष्ण ! मेरे साथ परिहास मत करो।'' उसने कहा, ''हाय ! मैंने यह क्या किया। अपने देवताओं जैसे बलवान पुत्र को मैंने अपने हाथों मार डाला।''

''आप अपने प्राणों के लिए चिंतित न हों महाराज ! मध्यम पांडव की मृत्यु नहीं हुई है।'' कृष्ण ने कहा, ''वैसे उससे कोई अंतर नहीं पड़ता। धर्मराज आपको दंडित करना चाहें तो मध्यम पांडव का वध करने के प्रयत्न के लिए भी आपके प्राण लिए जा सकते हैं। किंतु वे ऐसा कुछ नहीं कर रहे, और भीम जीवित हैं।''

''मैं जीवित हूँ महाराज !'' भीम ने जैसे धृतराष्ट्र को चिढ़ाते हुए हँसकर कहा, ''आप चाहें तो मुझे फिर से अपने वक्ष से लगा सकते हैं।''

''आपने अपने सौ पुत्र तो मरवा ही डाले।'' कृष्ण बोले, ''जो शेष बचे हैं, उनको भी मार डालना चाहते हैं, या कुछ ऐसा करना चाहते हैं कि आपके ये पुत्र आपको अपना पिता न मानें। आपका वध कर दें या भूखे मरने के लिए आपको देवी गांधारी के साथ वन में कहीं छोड़ आएँ। जो प्रतिशोध अश्वत्थामा जैसा पशु भी नहीं ले सका, वह आप लेना चाहते हैं। अश्वत्थामा का अधूरा काम पूरा करना चाहते हैं ? ये तो क्षमावान पांडव हैं इसलिए आप इस प्रकार पाखंड करने के लिए सुरक्षित बैठे हैं, कोई और होता तो सारी मर्यादाओं को एक ओर रखकर अब तक आपके शरीर के टुकड़े कर चुका होता। आप नहीं चाहते कि हस्तिनापुर में कभी शांति स्थापित हो ?''

''नहीं केशव !'' धृतराष्ट्र के स्वर में स्पष्ट भय था।

''पांडवों के आने से पहले मैं हस्तिनापुर आकर आपसे क्यों मिला था ? क्या समझाया था आपको ?'' कृष्ण बोले, ''शांति स्थापित करने में सहयोग करें महाराज ! अपने मन के विष का अब त्याग करें। देख नहीं चुके कि आपके मन के विष ने क्या-क्या करवा डाला। अब आपकी कामनाएँ पूरी नहीं हो सकतीं। दुर्योधन अब राजा नहीं हो सकता। आप अपने पुत्रों के वध का प्रतिशोध लेने में समर्थ नहीं हैं। वैसा कोई प्रयत्न कर स्वयं को और भी दीन बनाने का प्रयत्न न करें।'' कृष्ण रुके, ''और यदि अपने पुत्रों

के वध का प्रतिशोध ही लेना है तो आप अपना वध कर लें। अपने पुत्रों के वध के लिए एकमात्र दोषी आप ही हैं।"

धृतराष्ट्र को आत्महत्या करने का यह प्रस्ताव प्रीतिकर नहीं लगा। यह ही करना होता तो वह इस युद्ध का समारोह ही क्यों करता। धृतराष्ट्र ने बहुत मंद और शांत स्वर में कहा, "नहीं केशव ! मैं इस समय शांत हूँ। मेरे क्रोध का शमन हो चुका है। मैं अपने वीर पुत्र मध्यम पांडव से मिलना चाहता हूँ।" उसने अपनी भुजाएँ फैला दीं, "मैं समझ गया हूँ कि मेरे पुत्र मारे जा चुके हैं, अब पांडव ही मेरे पुत्र हैं।"

"कृष्ण ने तो अपनी चतुराई कर ली, किंतु महाराज ! मैं सचमुच देखना चाहता हूँ कि आप मुझको कैसे पीस डालना चाहते हैं।" भीम ने कहा, "आप पुनः प्रयत्न कर देखें, इस बार आपकी भुजाओं में मैं हूँ।"

भीम आगे बढ़ आया। धृतराष्ट्र ने उसे अपने वक्ष से लगा लिया; किंतु न उसे दबाने का प्रयत्न किया, न किसी और प्रकार की युक्ति भिड़ाई। चुपचाप उसे वक्ष से लगाकर प्यार किया।

धृतराष्ट्र ने एक-एक कर अर्जुन, नकुल और सहदेव को भी अपने कंठ से लगाने की औपचारिकता पूरी की।

"अच्छा महाराज !" युधिष्ठिर ने विदा होते हुए कहा, "हम माता गांधारी से भी मिल लें। तब तक वैद्य आकर आपका उपचार कर जाएँगे। आपको विश्राम की भी आवश्यकता है।"

वे गांधारी के कक्ष में पहुँचे तो उसने उनको प्रणाम भी नहीं करने दिया और झपटकर भीम से बोली, "मेरे सौ पुत्रों में से जिसने तुम्हारा कुछ कम अपराध किया था, उस एक को तो जीवित छोड़ देते। सौ के सौ मार दिए।"

क्षण भर के लिए भीम कुछ संकुचित हुआ किंतु स्वयं को सँभालने में उसे अधिक समय नहीं लगा। बोला, "मैंने आपके किसी पुत्र का वध नहीं किया है देवि ! मैंने तो केवल उन राक्षसों को मारा है, जो अपनी रक्षा के लिए नहीं, पराया धन और पराया राज्य छीनने के लिए भयंकर शस्त्र लेकर मनुष्यों और मनुष्यता का संहार कर रहे थे। जो स्त्री का सम्मान करना नहीं जानते थे।"

"ठीक है किंतु मेरे लिए उनमें से किसी एक की रक्षा तो की ही जा सकती थी।" गांधारी ने पुनः कहा।

"पर मैंने तो केवल उनका वध किया है, जो मेरा वध करने के लिए, युद्धक्षेत्र में मुझ पर आक्रमण कर रहे थे। जो आपके लिए होता, वह आपके पास होता, वह समरभूमि में जाता ही क्यों ?" भीम ने कहा, "जिनका वध मैंने किया है, वे जब तक जीवित रहते, तब तक मुझसे लड़ते ही रहते। आपकी सेवा करने के लिए तो केवल राजा युधिष्ठिर ही पर्याप्त हैं।"

"युद्ध में वध किया तो ठीक है; किंतु दुःशासन का रक्त क्यों पिया ? वह तुम्हारा

भाई था।"

भीम चाहकर भी यह कहने का साहस नहीं कर सका कि 'हाँ ! मैंने उसका रक्त पिया और वह इसी के योग्य था।' संकुचित होकर धीरे से बोला, "वह तो युद्ध में अन्य लोगों को आतंकित करने के लिए किया था। मैंने सचमुच तो दुःशासन का रक्तपान नहीं किया। वह तो मेरे होंठों से छुआ मात्र था। मेरे दाँतों से भी आगे नहीं गया।"

"और दुर्योधन को अन्याय से क्यों मारा ?" गांधारी का तेज भीम को संकुचित करता जा रहा था।

"मैं डर गया था। दुर्योधन मुझे मार देता तो ?" भीम अपनी वीरता का बखान नहीं कर सका, "युद्ध में किसी के भी प्राण जा सकते हैं। इससे पहले कि वह मेरे प्राण ले लेता, मैंने ही उसके प्राण ले लिए।"

गांधारी कह नहीं पाई कि अपने प्राणों का भय होते हुए भी उसे धर्म की रक्षा करनी चाहिए थी।... ऐसे समय में कौन देखता है कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है...

"कहाँ है राजा युधिष्ठिर ?" गांधारी ने तेजस्वी स्वर में पूछा, "जिसने हम दो अंधों के लिए एक लाठी भी नहीं छोड़ी।"

युधिष्ठिर आतंकित मन से कुछ आगे बढ़े। ये उनकी ताई थीं। जैसी भी थीं। अपने शैशव में युधिष्ठिर उनके आसपास खेले थे। उनको सम्मान योग्य माना था। मन का संस्कार ही ऐसा था कि आज भी वे ताई का मन नहीं दुखा सकते थे। अब दैवयोग से युधिष्ठिर उनके पुत्रों के वध के कारण बन गए थे। कैसे उनके सामने जाएँ ? कैसे कह दें कि हाँ ! उनके पुत्रों को मारा और उचित ही किया... उनकी अपनी शालीनता ही उन्हें धिक्कारती जा रही थी।

युधिष्ठिर झुककर ताई के चरणों में गिर जाना चाहते थे। उनसे क्षमा माँगना चाहते थे। उनको विश्वास दिलाना चाहते थे कि दुर्योधन की अपेक्षा पांडव ही उनकी कहीं अधिक सेवा करेंगे।... किंतु गांधारी का वह उग्र रूप... युधिष्ठिर का मन कुछ कहने का साहस नहीं कर रहा था।...

अंततः कृष्ण ही बोले, "माता ! मैं देख रहा हूँ कि आप अपने तेज से, अपने क्रोध से, अपने पुत्रों के विरुद्ध किए गए अपराधों के कलंक से महाराज युधिष्ठिर के यशःशरीर को पूर्णतः काला कर देना चाहती हैं। आप सिद्ध करना चाहती हैं कि धर्मराज पापी हैं; किंतु यदि आप आँखों पर बँधी इस पट्टी के साथ भी कुछ देख सकती हों तो अपनी अंधी आँखों से देखिए। आपका यह सारा दोषारोपण धर्मराज के यशःशरीर के पैरों की अंगुलियों भर को काला कर पाएगा। उससे अधिक कुछ नहीं। पांडवों का संकोच और भय उनकी अपनी सात्विकता के कारण है; आपकी निष्कलंकता के कारण नहीं।"

गांधारी का मुख क्षोभ से लाल हो गया। वह अपना चेहरा इधर-उधर घुमा रही थी, जैसे किसी को खोज रही हो। अर्जुन को लगा कि भीम के पश्चात् अब उसकी ही बारी थी। कदाचित् ताई उसे ही खोज रही हैं।... अपने शैशव में जब कभी वह अपनी माता

के साथ ताई से मिलने आया करता था, तो वह जैसे उसे दबोचकर अपनी गोद में बैठा लेती थीं। अर्जुन उससे बचने के लिए अपनी माँ के पीछे दुबक जाया करता था।··· आज माँ नहीं थीं वहाँ। कहाँ छिपे वह।··· अर्जुन बिना कुछ सोचे-समझे, अपने किसी अभ्यास के कारण कृष्ण के पीछे छिप गया।

"अर्जुन कहाँ है ?" सहसा गांधारी ने आक्रोशशून्य स्वर में कहा, "आज कुंती यहाँ नहीं है तो वह किसके पीछे छिपा खड़ा है कृष्ण के ?"

अर्जुन चकित रह गया।··· ताई सब कुछ देख रही है क्या ? ताई पट्टी के भीतर से भी देखती है। आज तक देख रही है तो सदा ही देखती रही होगी। फिर कैसे कहते हैं लोग कि ताई ने अपने पुत्रों का मुख तक नहीं देखा ? यह पट्टी पाखंड मात्र है क्या ?···

जो भी हो। गांधारी अब रुष्ट नहीं लग रही थी। उसके मुख पर कोमल भाव आ गए थे। और फिर उसकी पट्टी में से अश्रु टपकने लगे, "मैं क्या जानती थी कि इन बालकों के शैशव की उस प्रतिद्वंद्विता का इतना भयंकर परिणाम होगा।" उसने स्वयं को सँभाला, "कुंती से भेंट कर आए तुम लोग ?"

"नहीं माता !" युधिष्ठिर बोले, "हम पहले आपसे मिल लेना चाहते थे। अपना अपराध क्षमा करा लेना चाहते थे। आपकी विह्वलता में कुछ सांत्वना दे लेना चाहते थे, कुछ सांत्वना पा लेना चाहते थे।"

इस बार गांधारी का स्वर सचमुच विह्वल था, "जाओ पुत्रो ! जाकर माँ से मिलो। बहुत कष्ट पाया है, तुम्हारी माँ ने; और बहुत लंबी प्रतीक्षा की है।"

विदुर के घर के बाहर पहली बार द्रौपदी रथ से उतरी। वे लोग कुंती वाले प्रखंड की ओर चले तो कृष्ण आगे हो गए। उनके पीछे पांडव थे और उन सबके पीछे थी द्रौपदी।

कुंती ने अपने पुत्रों को आते देखा तो अपने स्थान पर बैठी की बैठी रह गईं। डबडबाई आँखों से उनको देखा और उनके निकट आने की प्रतीक्षा करती रहीं। युधिष्ठिर ने आकर चरण स्पर्श कर प्रणाम किया तो उनके कंठ से न स्वर निकला और न ही उनका स्नेह भरा हाथ आगे बढ़ा। उन्होंने अपने उत्तरीय को जैसे अपने मुख से लगा कर अपनी सिसकियों को रोका।

पांडवों ने अपनी साहसी माँ को इस प्रकार रोते तो कभी नहीं देखा था। उनके शैशव में एक बार जब मथुरा से अक्रूर आए थे, तो भी माँ विह्वल होकर रोई थीं। पर उसमें पीड़ा नहीं थी। आनन्द की अनुभूति थी। आज···

पांडव अपनी माँ को घेर कर बैठ गए।···

कुंती ने अपने अश्रु पोंछे और उनका हाथ कृष्ण के शरीर पर फिरने लगा, "तुमने युद्ध में शस्त्र नहीं उठाया, फिर भी वैरियों ने तुम्हें नहीं छोड़ा। सारा शरीर रक्ताक्त हुआ पड़ा है।"

कृष्ण मुस्कराए, "शस्त्र नहीं उठाया था किंतु न्याय का पक्ष तो ग्रहण किया ही था, तो फिर घाव कैसे न लगते।"

कुंती ने सहदेव को अपनी भुजाओं में भर लिया, “तू कैसा है पुत्र ! कैसे-कैसे अस्त्र-शस्त्रों से घायल है तेरा शरीर।” कुंती जैसे उन घावों की पीड़ा को अपने हाथों से पी रही थीं। बारी-बारी उन्होंने सबके शरीरों पर हाथ फेरे और फिर दृष्टि उठाकर द्रौपदी की ओर देखा। आँखों में कैसा तो करुण निमंत्रण भरकर उसको निकट आने का संकेत किया। द्रौपदी निकट आई तो कुंती ने उसे अपनी बाँहों में भरकर जैसे अपनी गोद में समेट लिया।

“आर्ये ! अभिमन्यु सहित आपके सारे पौत्र कहाँ चले गए।” द्रौपदी के कंठ से रुदन के मध्य कुछ अस्पष्ट शब्द भी फूटे, “उन बच्चों के बिना हमें हस्तिनापुर के राज्य का भी क्या करना है।…”

कुंती का स्वर जैसे कुछ सँभल गया, “तुम्हारा अपमान करने वालों को अपने पाप का उचित दंड मिला पुत्रि ! शोक मत कर। नारीत्व का सम्मान किसी भी साम्राज्य से अधिक मूल्यवान है। जो न्याय के लिए मूल्य चुकाने से चूक जाता है, उसे न्याय कभी नहीं मिलता। मैंने ही तो युधिष्ठिर से कहा था कि जिस दिन के लिए क्षत्राणी पुत्र को जन्म देती है, वह दिन आ गया है।” कुंती का हाथ द्रौपदी की पीठ को सहला रहा था, “तुम्हारा अपमान करने वालों को जब तक दंडित नहीं किया गया था, तब तक तुम्हें भी लगता रहा होगा कि न तुम्हारे पति हैं, न पुत्र। तुमने स्वयं को अनाथ पाया होगा। तुमने भी चाहा होगा कि तुम्हारे पति और पुत्र तुम्हारा अपमान करने वालों को दंडित करें। उनको ये आदर्श हमने ही तो दिए हैं। उठ पुत्रि ! तू भूमि पर लोट कर विलाप करने वाली कोमल हृदया साधारण नारी नहीं है। तू यज्ञकुंड से उत्पन्न हुई तेजपुंज क्षत्राणी है। तू पाप का नाश करने इस पृथ्वी पर आई है। अपने सखा कृष्ण से पूछ कि तेरे पुत्र कहाँ गए हैं, तो वह तुझे बताएगा कि वे केवल अदृश्य हो गए हैं। नश्वर तो केवल शरीर है। यहाँ मरता कोई नहीं, केवल पंचभूत मिलते और बिखरते हैं। उनका रूप परिवर्तित होता है, वे नष्ट नहीं होते। उठ बेटी ! इस प्रकार रोकर अपने वीर पिता, भाइयों, और पुत्रों का अपमान मत कर। उनकी वीरता के गौरव को अंगीकार कर। जब मूल्य चुकाया है, तो उसके गौरव को भी ग्रहण कर।”

द्रौपदी का रुदन रुक गया। उसने अपनी सास को देखा… कैसी धैर्यमयी हैं। और कैसी वीर माता। सच कहती हैं उसकी सास। कृष्ण की माता ने भी तो छह-छह पुत्रों को बलि चढ़ाकर ही कृष्ण को पाया है। त्याग के मूल्य को कम नहीं करना चाहिए। शौर्य का गौरव जीने का सुख, राज्य के सुख से भी बड़ा है। राज्य का सुख तो कोई कीट-पतंग भी पा सकता है; किंतु तप और त्याग महानता के लक्षण हैं। ठीक कहती हैं उसकी सास।… वे मूल्य चुकाने को प्रस्तुत थीं, तभी तो युद्ध के लिए भेजा था अपने पुत्रों को, अपने पतियों को…

कुंती उठकर खड़ी हो गईं। उन्होंने सहारा देकर द्रौपदी को भी उठाया। “चलो पुत्रि ! हमें गांधारी से मिलने भी जाना है। मैं तुम लोगों की प्रतीक्षा में ही उनके पास नहीं गई।” कुंती ने कहा, “उनके पुत्रों की शत्रुता उनके साथ गई। इस समय

तो वे दोनों ही बहुत दुखी और पीड़ित हैं। हमारे मन में उनके प्रति सहानुभूति होनी चाहिए। दंडित तो ईश्वर ने उन्हें कर ही दिया है।"

"माँ !" सहसा भीम ने कहा, "अपराधी की पीड़ा देखकर अधिक सहानुभूति जताने पर, अनेक बार दंड देने वाला न्यायी ही अपराधी दिखाई देने लगता है। इस समय उन दो नेत्रहीन वृद्धों की पीड़ा का वर्णन होगा तो उसमें हम ही आततायी दिखाई देने लग जाएँगे।"

"समझती हूँ पुत्र ! उस सीमा तक सहानुभूति उचित नहीं है। संदर्भ से काट कर पीड़ा का वर्णन उचित नहीं है।" कुंती ने कहा, "किंतु जिस बात का ध्यान रखना है, वह यह कि बाहर के पाप को नष्ट किया है तो भीतर के पाप को भी नष्ट करना है। बाहर महासमर किया है तो भीतर भी एक महासमर लड़ना है। हमें अपने मन की घृणा को भी तो जीतना होगा पुत्र ! जिन्होंने जीवन भर हमारा अपराध किया है, हम उनसे भी घृणा न करें। उनको भी हम सहानुभूति दे सकें। उनकी भी सेवा कर सकें। क्यों कृष्ण ?…"

"ठीक कहती हैं बूआ।" कृष्ण बोले, "नाश की घड़ी बीत गई, अब कुछ निर्माण भी होना चाहिए।"

कृष्ण के मन में अपनी बूआ के प्रति गौरव जागा : कितनी उदार हैं बूआ। तभी तो वे ऐसे पुत्रों को जन्म दे सकीं। धृतराष्ट्र आज भी भीम को अपनी भुजाओं में जकड़कर मार डालना चाहता है। गांधारी आज भी अपनी तपस्या के बदले में धर्म पर चलने वाले इन पांडवों को जला डालना चाहती है। यह नहीं समझती कि जो वारणावत में नहीं जलाए जा सके, उन्हें आज हस्तिनापुर में कैसे जलाया जा सकता है।…

वे लोग पुनः गांधारी के कक्ष में लौट आए।

दासियों ने सूचना पहले ही दे दी थी। उनकी आहट पाकर गांधारी ने सिर उठाया। द्रौपदी तो उसके पास तेरह वर्षों बाद आई थी। कुंती भी इधर एक लंबे समय से उसके प्रासाद की ओर नहीं आई थी।… आज इस शोक में भी शायद कुंती के लिए कहीं लेश भर ही सही किंतु सुख निहित था… उसके पाँचों पुत्र जीवित थे।…

"आओ पुत्रि !" गांधारी ने अपनी भुजाएँ बढ़ाकर द्रौपदी को बुलाया, "मेरे पास आओ।"

द्रौपदी जाकर गांधारी के निकट बैठी। वह स्वयं ही समझ नहीं पाई कि जाने कैसे गांधारी के प्रति उसके मन की दूरी कहीं विलीन हो गई। उसका मस्तक गांधारी के वक्ष से जा लगा। उसने अपना माथा वहीं टेक दिया और सिसक पड़ी।

"इस प्रकार शोक से व्याकुल मत होओ बेटी !" गांधारी ने कहा, "आज जैसी मैं हूँ, वैसी ही तुम हो। हम दोनों को कौन धैर्य बँधाएगा। मैं अपने पुत्रों के वध के लिए तेरे पतियों को दोषी मान रही थी। पता नहीं, उसमें कितना सत्य है; किंतु तेरे पुत्रों के वध के लिए निश्चित रूप से मेरा पुत्र दोषी है। मैं तेरे सामने कैसे सिर उठाऊँ।… फिर यह भी सोचती हूँ कि मेरे ही अपराध से इस श्रेष्ठ कुल का संहार हुआ। मेरे पुत्र तो उसी

दिन काल के ग्रास बन गए थे, जिस दिन कृष्ण ! तुम अपूर्णमनोरथ होकर उपप्लव्य लौट गए थे।"

जो गांधारी अब तक इतनी सँभली हुई लग रही थी, वह सहसा ही अपना सारा नियंत्रण छोड़कर पृथ्वी पर गिर पड़ी। चारों ओर से दासियाँ दौड़ पड़ीं। द्रौपदी और कुंती ने भी उसे सँभाला। जल के छींटे दिए गए। उसकी चेतना लौट आई किंतु इस बार जो गांधारी उठी, वह उस गांधारी से पर्याप्त भिन्न थी, जो इस वंश के संहार के लिए स्वयं अपने आपको दोषी मान रही थी। यह नई गांधारी अत्यंत क्रुद्ध थी। शोक से जैसे उसका विवेक नष्ट हो गया था। उसकी इंद्रियाँ व्याकुल थीं और वह अपने आपे में नहीं थी।

"जनार्दन !" उसने कृष्ण को संबोधित किया, "दोष मेरा भी था; किंतु मैं किसी को रोकने में असमर्थ थी। दोष मेरे पति का भी है कि वे अपने मोह को मर्यादित नहीं कर पाए। दोष मेरे पुत्रों का भी है कि वे अपने लोभ को त्याग नहीं पाए। हाथ में आए राज्य को इस प्रकार छोड़ना उनके लिए संभव नहीं था। वे सब दुर्बल मानव थे। किंतु तुम तो दुर्बल नहीं हो। तुम तो समर्थ थे। पांडव और धार्तराष्ट्र परस्पर लड़कर नष्ट हो रहे थे। तुम उन्हें देख रहे थे। फिर भी तुमने उनकी उपेक्षा क्यों कर दी ? कैसे कर दी ? तुम शक्तिसंपन्न थे। तुम्हारे पास सेना थी। तुम्हारे पास सेवक थे। तुम में सामर्थ्य था। तुम दोनों दलों को अपनी बात मानने के लिए बाध्य कर सकते थे।"

"मैं तो आया था महारानी !" कृष्ण बोले, "किंतु आपके पुत्र ने ही तो मेरी बात नहीं मानी। पांडवों को पाँच ग्राम तो आप भी दे सकती थीं। इतनी भूमि तो आप जैसी महारानियाँ अपने पुरोहित को भी दान कर देती हैं। क्यों नहीं आपने पांडवों की बात मान ली। क्यों नहीं आपने अपने पुत्र को बाध्य किया। प्रजा राजा को बाध्य नहीं कर सकती; किंतु माता-पिता तो अपने पुत्र को बाध्य भी कर सकते हैं।"

"वह हठी था, नहीं माना। मैं भी क्या जानती थी कि तुम क्या करने जा रहे हो।" गांधारी का क्रोध बढ़ता ही जा रहा था, "तुम बलप्रयोग कर सकते थे। तब यह महासमर नहीं होता। इतना विनाश तो न होता।"

"बल कहाँ था मेरे पास ?" कृष्ण मुस्कराए, "नारायणी सेना तो आपका पुत्र ले आया था और मेरे हाथ के शस्त्र, आपके पुत्र के गुरु मेरे भाई बलराम ने मुझसे रखवा लिए थे। वे तो मुझे ही बंदी कर, मार डालना चाहते थे। ऐसे में मैं क्या कर सकता था ?"

लगा, कृष्ण जानबूझकर गांधारी को उत्तेजित करते जा रहे हैं।

"मैं तुम्हें असमर्थ नहीं मानती। तुमने स्वेच्छा से कुरुओं का नाश करवाया। तुम चाहते थे कि ऐसा हो। उनको उनके कर्मों का फल मिले। तुम सबको उनके कर्मों का फल देते हो तो तुम अपने कर्मों के फल से कैसे बच सकते हो। सबको अपने कर्मों का फल मिलता है तो तुम्हें भी मिलेगा।" गांधारी जैसे कुछ और ही हो गई थी, "मैंने अपने पति की सेवा से जो कुछ भी तप कमाया है, उस तपोबल से तुम्हें शाप देती हूँ कि तुम्हारे कुटुंबी भी इसी प्रकार आपस में लड़कर मर जाएँ। तुम भी मेरे ही सामान अपने बंधु-बांधवों,

अपने पुत्रों से हीन, सर्वथा एकाकी होकर सागर की लहरों से अपना सिर फोड़ो। तुम भी जब अपने अंत को प्राप्त करो तो तुम्हारे निकट कोई अपना न हो। कोई तुम्हें जानने वाला न हो, कोई पहचानने वाला न हो। तुम्हारे वंश की स्त्रियाँ भी कुरुकुल की स्त्रियों के समान अपने सगे-संबंधियों के शवों पर पछाड़ खा-खाकर गिरें, अपनी छाती पीटें और कोई उनके अश्रु पोंछने वाला भी न हो।"

सहसा गांधारी की ऊर्जा जैसे चुक गई। उसने निष्प्राण-सी होकर अपना सिर झुका दिया। वह किसी उन्माद में से मुक्त होकर आई लग रही थी।

"क्षत्राणी ! आप अपना अपराध स्वीकार करके भी, अपने पुत्रों के पापों को जानते हुए भी, मुझे ही दोषी बताकर शाप दे रही हैं। इतना बड़ा दंड पाकर भी क्षमा नहीं सीखी आपने ?" कृष्ण मुस्कराए, "तो ठीक है, आपका शाप स्वीकार करता हूँ मैं। मैं जानता हूँ कि ऐसा ही होने वाला है। आपके तपोबल से नहीं होगा, तो यादवों के अपने पापों से होगा। आप तो वही शाप दे रही हैं, जो नियति ने पहले से ही निश्चित कर रखा है। जो दूसरों से अवध्य हो जाता है, वह अपनों से लड़कर ही मरता है।" कृष्ण ने निकट आकर गांधारी की भुजा पकड़कर उसे उठाया। उनका स्वर बदल गया था। उनका संबोधन बदल गया था। उनका व्यवहार बदल गया था।

"अब उठो महारानी !" कृष्ण बोले, "कौरवों का नाश तुम्हारे ही अपराधों से हुआ है। तुमने और तुम्हारे भाई ने कौरवों से प्रतिशोध चाहा था। तुमने यह नहीं सोचा था कि इस जीवन रूपी संघर्ष में दृश्य अथवा अदृश्य एक दूसरा पक्ष भी होता है। दूसरे को नष्ट करने गया मनुष्य स्वयं भी नष्ट हो सकता है। तुम ही समय-समय पर कभी क्रोध में, कभी मोह में और कभी लोभ में डूबी थीं। अपना दोष मुझ पर मत मढ़ो। अब भी समय है, अपने दोषों को पहचानो, उन्हें स्वीकार करो; और उनसे मुक्त होने का प्रयत्न करो। किसी से मुँह मोड़ लेना अथवा किसी को शाप दे देना किसी समस्या का समाधान नहीं है। समाधान तो एक ही है, अपने मन को निर्मल करो, देवत्व को पहचानो। तुम ही वह अंभोधि हो, जिसमें कामना का ज्वार उठता है और सहस्रों विश्व जन्म लेते हैं। कामना को जीत लो तो कहीं कोई संसार नहीं है, इसलिए कहीं कोई विनाश भी नहीं है। अपने मन के अधीन मत रहो, क्योंकि मन तुम्हारा नहीं है। यादव अपने पाप से नष्ट होंगे; किंतु उनके विनाश से न तो कौरव जी उठेंगे, न तुम्हारे पापों का विगलन होगा। तुम केवल अपने लिए उत्तरदायी हो, यादव अपना किया स्वयं भोगेंगे।"

गांधारी ने मौन रहकर, नतशिर, कृष्ण की बात सुनी और फिर धीरे से बोली, "आपका कथन ठीक है गोविन्द ! तपस्या तो मुझे अपने लिए ही करनी है। युद्ध भी मुझे अपने आपसे ही करना है। बाहर का युद्ध समाप्त हो गया। भीतर का महासमर तो अभी भी चल ही रहा है। वह विनाश···।"

"भीतर का महासमर पहले लड़ लिया होता तो यह बाहर का महासमर होता ही क्यों।" कृष्ण मुस्करा रहे थे।

"अब छोड़ो भी यह सब।" दासियों के सहारे से चलते आए, धृतराष्ट्र ने कमरे में प्रवेश किया, "युधिष्ठिर को अपने कार्य करने दो। परिवार के मुखिया और हस्तिनापुर के राजा के रूप में उसके करने योग्य, बहुत कुछ शेष पड़ा है।" धृतराष्ट्र ने अपना मुख फेरा, "मृतकों के दाह के विषय में क्या सोचा है धर्मराज ?"

"हाँ ! वह अत्यावश्यक है।" युधिष्ठिर ने कहा, "मैंने आदेश दे दिया है। वह सब धौम्य मुनि की देखरेख में होगा। विदुर काका, संजय, युयुत्सु और इंद्रसेन यह काम करवाएँगे। प्रत्येक सैनिक का ससम्मान दाह होगा। परिचित-अपरिचित, महत्त्वपूर्ण और महत्त्वहीन, किसी भी व्यक्ति की उपेक्षा नहीं की जाएगी।

43

कृष्ण का रथ रुका तो उनके पीछे आते हुए पांडवों के रथ भी रुक गए। हस्तिनापुर से चलते हुए ही युधिष्ठिर ने सैनिकों को साथ ले जाने से मना कर दिया था। वे पितामह के पास राजा के रूप में नहीं, मात्र उनके पौत्र के रूप में ही जाना चाहते थे। तो फिर सैनिकों का क्या काम।

"कहाँ हैं पितामह ?" भीम ने धीरे से कृष्ण से पूछा, "तुमने रथ से उतार भी लिया और वे कहीं दिखाई भी नहीं पड़ रहे।"

"उनके पास पैदल ही जाएँगे।" कृष्ण बोले, "इसे युद्धक्षेत्र मत समझो मध्यम ! कि रथ से उतरते ही व्यक्ति असुरक्षित हो जाता हो। अब यह धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र है। अतः यहाँ ऋषि आश्रम की मर्यादा का पालन होना चाहिए।"

वे लोग अत्यंत विनीत भाव से भीष्म के निकट पहुँचे। वहाँ न कोई सैनिक था, न राजकर्मचारी। पता नहीं दुर्योधन ने ही वहाँ किसी को नियुक्त नहीं किया था या युद्ध की अवधि में वे सब लोग भाग गए थे। पितामह के निकट आरण्यकों का पूरा समुदाय उपस्थित था, जो उनको घेर कर बैठे, वैदिक मंत्रों का उच्चार कर रहे थे। उनका नेतृत्व स्वयं महर्षि वेदव्यास कर रहे थे। इन लोगों को आते देखकर आरण्यकजन मौन हो गए। उन्होंने पितामह तक इनके पहुँचने का मार्ग भी बना दिया।

युधिष्ठिर ने आरण्यक समुदाय को हाथ जोड़कर प्रणाम किया। वेदव्यास के चरण छुए और फिर उन्होंने कृष्ण को आगे कर दिया। वे स्वयं पितामह के निकट जाने का साहस नहीं कर पाए। पितामह को देखकर यह कहना कठिन था कि वे शैया पर लेटे थे या शरशैया पर। वे शैया पर लेटाए अवश्य गए थे; किंतु उनके शरीर से सारे बाण निकाले नहीं गए थे। अनेक बाण उनके शरीर में चुभे हुए थे; और कुछ तो शरीर के आरपार ही हो गए थे। उन बाणों को स्थान देने के लिए शैया की रस्सियों में आवश्यक व्यवस्था कर दी गई थी। पितामह के शरीर का बोझ तो शैया पर था किंतु उनके शरीर में चुभे कुछ बाण धरती

को भी छू रहे थे।

"ये बाण ?" युधिष्ठिर ने ऋषि समुदाय की ओर देखा।

"विशल्यकारिणी बूटी असफल हो गई है। शल्य चिकित्सकों ने इन बाणों को निकालने में अपनी असमर्थता जता दी है पुत्र !" वेदव्यास बोले, "उनका कहना है कि इन बाणों को निकालने का प्रयत्न किया जाएगा तो देवव्रत भीष्म की तत्काल मृत्यु हो जाएगी।"

कृष्ण ने पितामह के ललाट पर अपना हाथ रखा। पितामह ने आँखें खोल दीं। मुँह ऊपर उठाया और कृष्ण को पहचानते हुए, हाथ जोड़कर कहा, "मधुसूदन !..."

"आप मुझे इस नाम से क्यों पुकार रहे हैं ?" कृष्ण कुछ लीलामय हो गए।

भीष्म ने मुस्कराने का प्रयत्न किया, "तुममें साक्षात् विष्णु का रूप देखता हूँ वासुदेव ! अतः विष्णु के सारे नाम तुम्हारे ही नाम लगते हैं। तुम ही हरि हो, तुम ही मुरारि हो, तुम ही कैटभारि हो।" उनकी पुतलियाँ घूमीं, "ओह मेरे पौत्र आए हैं।"

सहसा उनकी दृष्टि कृपाचार्य पर थम गई, "यह अच्छा किया कृप ! कि तुमने फिर से इनके सिर पर हाथ रख दिया। इनको तुम्हारी बहुत आवश्यकता है।"

"मेरी तो इनसे कभी कोई शत्रुता थी ही नहीं।" कृपाचार्य बोले, "युद्ध में युधिष्ठिर के विपक्ष की ओर से लड़ा अवश्य; किंतु मैं पांडवों का विरोधी तो कभी नहीं था गंगानंदन !"

"ठीक कहते हो।" भीष्म बोले, "किंतु यही निर्णय कहीं हमने कुछ पहले कर लिया होता तो कदाचित् मानवता का कुछ हित ही होता।" उनकी दृष्टि फिर से आकर कृष्ण पर टिक गई, "आपने बहुत कृपा की श्रीकृष्ण ! कि इस अंत समय में मुझे दर्शन देने चले आए।"

कृष्ण मुस्कराए, "आप की इंद्रियाँ तो प्रसन्न हैं पितामह ? बुद्धि व्याकुल तो नहीं है ?"

"इन बाणों के गड़ने से जो जलन हो रही है, उसके कारण बड़ी व्यथा है गोविंद ! सारा शरीर पीड़ा के मारे शिथिल हो गया है; और बुद्धि कुछ काम नहीं कर रही। मेरा बल शरीर का त्याग-सा करता मालूम पड़ता है। प्राण निकलने को उतावले हो रहे हैं। मर्मस्थल में बड़ी पीड़ा है। दुर्बलता के कारण जिह्वा तालू से लग गई है।"

"ये कष्ट तो शरीर का धर्म है। आत्मा को उसका अनुभव भी नहीं होता।" कृष्ण बोले, "आप जानते हैं कि आपका शरीर इन सबसे मुक्त होने वाला है।"

"आपकी कृपा बनी रहे तो शरीर के रहते भी ये कष्ट मुझे विचलित नहीं करेंगे।" भीष्म बोले, "यह युधिष्ठिर मुझसे इतनी दूर रूठा-सा क्यों खड़ा है ?"

"धर्मराज मानते हैं कि राज्य के लोभ के कारण वे अपने भाई बंधुओं के नाश के निमित्त बने। वे बहुत लज्जित हैं। वे आपसे भी डरते हैं; और शाप से भी। इसी से आपके निकट नहीं आ रहे।"

भीष्म ने युधिष्ठिर की ओर देखा और संकेत से निकट आने के लिए कहा। युधिष्ठिर हाथ जोड़कर उनकी ओर बढ़े।

"जैसे दान, अध्ययन और तप ब्राह्मण का धर्म है, उसी प्रकार समरभूमि में शत्रुओं के शरीर को मार गिराना, क्षत्रिय का धर्म है। जो असत्य के मार्ग पर चलने वाले पिता, दादा, भाई, गुरुजन, संबंधी तथा बंधु-बांधवों को संग्राम में मार डालता है, वह धर्म का ही प्रतिपादन करता है। जो क्षत्रिय, धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करने वाले पापाचारी गुरुजनों का युद्ध में वध करता है, वही धर्म को जानता है। लोभवश सनातन धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करने वाले स्वजनों को जो क्षत्रिय युद्ध में मार गिराता है, वही निश्चित रूप से धर्म को जानता है। संग्राम में शत्रु के ललकारने पर क्षत्रिय को सदा ही युद्ध के लिए उद्यत रहना चाहिए। मनु ने कहा है कि युद्ध क्षत्रिय के लिए धर्म का पोषक, स्वर्ग प्राप्ति का साधन और लोक में यश फैलाने का माध्यम है।"

युधिष्ठिर की आँखों में अश्रु आ गए। उन्होंने पितामह के दोनों चरण पकड़ लिए, "मेरी बुद्धि यह सब स्वीकार करती है। मैंने अपना कर्तव्य मानकर युद्ध किया भी है; किंतु मेरे मन की खिन्नता नहीं जाती।"

"बैठ जाओ, पुत्र !" पितामह ने कहा।

युधिष्ठिर भूमि पर बैठ गए। अन्य पांडवों और युयुत्सु ने भी अपने लिए वहीं स्थान बना लिया।

"जैसे गर्भवती स्त्री अपने प्रिय भोजन का परित्याग कर, केवल गर्भस्थ बालक के हित का ध्यान रखती है, उसी प्रकार धर्मात्मा राजा को भी प्रजा का ही ध्यान रखना चाहिए। उसे चाहिए कि वह अपने प्रिय बंधुओं के हित में नहीं, जनहित में कार्य करे।" भीष्म बोले, "जो अपराधियों को दंड देने में संकोच नहीं करता और सदा धैर्य रखता है, उस राजा को कभी कोई भय नहीं होता।"

"आप ठीक कहते हैं पितामह !" युधिष्ठिर बोले, "किंतु मेरे मन में अनेक शंकाएँ हैं। मैंने अपने लोभ में अपने भाई बंधुओं को नष्ट करवा दिया। आप सोचिए, मैंने छल से आपका वध किया, अपने सहोदर महावीर कर्ण को भी मरवा दिया।..."

"कर्ण तुम्हारा सहोदर कैसे था ?" भीष्म ने कुछ चौंककर पूछा।

"वे माता कुंती के ही कानीन पुत्र थे।" युधिष्ठिर ने धीरे से बताया।

"किंतु कुंती ने तो यह कभी नहीं बताया।"

"माता सत्यवती ने भी तो कभी नहीं बताया था कि मैं उनका पुत्र हूँ।" वेदव्यास ने कहा।

" तुम्हें कैसे ज्ञात हुआ युधिष्ठिर ?" भीष्म ने पूछा।

"माता ने ही बताया।" युधिष्ठिर बोले, "जब हम स्वजनों और आर्य वीरों को जलांजलि दे रहे थे तो माता कुंती शोक से कातर हो, रोती हुई मंद वाणी में बोलीं, 'पांडवो ! कर्ण को भी जलांजलि दो। वह तुम्हारा बड़ा भाई था। वह सूर्य का अंश था और मेरी कन्यावस्था में मेरे ही गर्भ से उत्पन्न हुआ था।' " युधिष्ठिर रो पड़े, "द्यूतसभा में मैं कर्ण के पैरों की ओर देखता था तो उनके प्रति मेरा रोष शांत हो जाता था। कर्ण के दोनों पैर एकदम माता कुंती

के चरणों के सदृश्य थे। मैं प्रायः सोचता था कि माता के चरणों और कर्ण के पैरों में इतनी समानता क्यों है ? मैं क्या जानता था कि वे माता की ही संतान हैं।...''

''यदि कुंती कहती है तो वह तुम्हारा सहोदर ही था; किंतु तुम भूलते हो कि वह बाल्यावस्था से ही भीम का बल, अर्जुन की स्फूर्ति, तुम्हारी बुद्धि, नकुल और सहदेव की विनय, अर्जुन और कृष्ण की मैत्री और पांडवों के प्रति प्रजा का अनुराग देखकर ईर्ष्या से जल उठता था। इसीलिए उसने बाल्यावस्था में ही दुर्योधन के साथ मित्रता कर ली थी।...''

''तब वे नहीं जानते थे कि हम उनके भाई हैं।'' युधिष्ठिर ने कहा।

''और मरते समय वह यह जानता था या नहीं ?''

''जानते थे।''

''फिर भी वह तुम्हारा शत्रु बना रहा।'' भीष्म बोले, ''क्यों द्वेष करता रहा वह तुम लोगों से अंत तक ?''

''दैववश...।'' युधिष्ठिर बोले।

''और स्वभाववश भी। वह अपने स्वभाव से बाध्य था।'' भीष्म बोले, ''तुमने कभी पूछा कुंती से कि अंत तक उसने तुमसे यह रहस्य क्यों छुपाए रखा ? माँ होकर भी अपने एक पुत्र को दूसरे पुत्र के हाथों मरने क्यों दिया ?''

''पूछा था।'' युधिष्ठिर बोले, ''मैंने कहा था, 'यह क्या किया माँ ! यदि कहीं तुमने पहले ही बता दिया होता तो यह युद्ध ही क्यों होता ?' उन्होंने कहा, 'इसीलिए तो तुम्हें बताया नहीं पुत्र !' मैंने पूछा, 'आप चाहती थीं कि वे मारे जाएँ ?' ''

''तो क्या कहा कुंती ने ?'' भीष्म ने पूछा।

''उन्होंने कहा, 'नहीं ! पर मैं चाहती थी कि कौरव दंडित हों। कर्ण को बचाने के प्रपंच में मुझे दुर्योधन बचता दिखाई देता था।' '' धर्मराज बोले, ''और माँ ने कहा कि 'पांचाली का अपमान कर कर्ण भी वध्य हो गया था। मेरा पुत्र था तो क्या। एक पापी पुत्र की रक्षा करना मेरा दायित्व था या न्याय और धर्म की स्थापना के लिए, उसे और उसके मित्रों को यमराज की भेंट करना ?' ''

''तो पुत्र ! अब इससे अधिक कोई और तुम्हें समझा भी क्या सकता है।'' भीष्म मौन हो गए, ''सहसा उन्होंने आँखें खोलीं और बोले, ''इस द्वंद्व में तुम अकेले ही तो नहीं हो। मुझे लगता है कि मैंने भी आजीवन इसी द्वंद्व को झेला है और श्रीकृष्ण भी आज तक उसी द्वंद्व को जी रहे हैं।''

''केशव ?'' सारे पांडव चकित थे।

''आश्चर्य हुआ।'' कृष्ण मुस्कराए, ''यह आज से नहीं है, उसी दिन से है, जिस दिन मैं मथुरा आया था। मैं अपनी प्रभुता प्रकाशित करके अपने सजातीयों और कुटुंबियों को अपना दास बनाना नहीं चाहता। मुझे जो भोग प्राप्त होते हैं, उनका आधा ही भाग अपने उपभोग में लाता हूँ। शेष कुटुंब के लिए छोड़ देता हूँ; और उनकी कड़वी बातें सुनकर भी उनको क्षमा कर देता हूँ। इन कुटुंबीजनों के कटु वचन मेरे हृदय को सदा मथते और

जलाते रहते हैं।"

"केशव ! आपको भी कोई कटु वचन कह सकता है ?" सहदेव ने कुछ आश्चर्य से पूछा।

"क्यों ? शिशुपाल को भूल गए तुम ? दुर्योधन को मेरे विरुद्ध बोलते नहीं सुना ? बलराम भैया को मेरा विरोध करते नहीं देखा ?" कृष्ण अब भी मुस्करा रहे थे।

"वह तो है किंतु आप असहाय तो नहीं हैं न !" अर्जुन ने कहा।

"अंधक और वृष्णि वंश में बहुत से वीर हैं, वे अत्यंत सौभाग्यशाली, महा बलवान और दुःसह पराक्रमी हैं। वे सबके सब सदा उद्योगशील भी बने रहते हैं। ये वीर जिसके विरोधी हों, उसका जीना कठिन है। जिसके पक्षधर हो जाएँ, उसका पराजित होना असंभव है। किंतु उन योद्धाओं का क्या उपयोग है मेरे लिए। अक्रूर और उग्रसेन ने आपस में वैमनस्य रखकर, मुझे इस प्रकार अवरुद्ध कर दिया है कि मैं इनमें से किसी एक का पक्ष नहीं ले सकता। यह जानते हुए भी कि आर्य सत्राजित के वध में अक्रूर का हाथ है और वही स्यमंतक मणि लेकर भाग गया है, मुझे उसे निमंत्रित कर सादर द्वारका में बुलाना पड़ा। यह जानते हुए भी कि स्यमंतक मणि उसकी संपत्ति नहीं है, वह मणि उसे सौंपनी पड़ी। और उग्रसेन को तो मैं त्याग ही नहीं सकता। आपस में लड़ने वाले उग्रसेन और अक्रूर, सात्यकि और कृतवर्मा—दोनों ही जिसके स्वजन हों, वह अपने द्वंद्व का क्या समाधान करे ? मेरे सबसे बड़े सहायक मेरे अपने भाई बलराम मेरे विरोधी हो जाएँ तो··· मेरी स्थिति तो दो जुआरियों की एक ही माता के समान है, जो एक की विजय चाहती है किंतु दूसरे की पराजय नहीं चाहती। मैं दोनों सुहृदों में से एक की विजय की कामना करता हूँ तो दूसरे की पराजय नहीं चाहता।···"

"पर केशव ! आपके तो अपने ही परिवार में आपके इतने सहायक हैं।···" नकुल ने कहा।

"बलराम भैया में सदा से ही असीम बल रहा है। वे उसमें व्यस्त रहते हैं। जो उनकी इच्छा के विरुद्ध जाता है, उस पर उस बल का प्रयोग करने की बात सोचते हैं। यह आप सबने देख लिया है।" कृष्ण बोले, "गद में सुकुमारता है, अतः वह श्रम नहीं करता। प्रद्युम्न अपने रूप पर मुग्ध रहता है। इन सब बंधुओं के होते हुए भी मैं एकाकी ही हूँ। न मैं उनकी सहायता ले सकता हूँ, न कर सकता हूँ।···"

"युधिष्ठिर ! सोचो मेरे पुत्र !" भीष्म बोले, "इसी प्रकार मैं भी सदा दोनों पक्षों का हित चाहने के कारण, दोनों ही ओर से कष्ट पाता रहा हूँ। दोनों की रक्षा करने का प्रयत्न करता रहा हूँ। परिणाम तुम्हारे सामने है।"

"पर मैंने तो आपका भी छल से वध कर दिया।" युधिष्ठिर की आँखों में पुनः अश्रु आ गए।

"तुमने क्या छल किया पुत्र ! छल तो मैंने अपने साथ किया। अपने प्राण तुम्हें सौंप दिए और दुर्योधन के पक्ष से युद्ध करने लगा।" भीष्म ने मुस्कराने का प्रयत्न किया, किंतु

शारीरिक पीड़ा ने उन्हें मुस्कराने नहीं दिया, "युद्ध के पहले ही दिन से तुम भी जानते थे और अर्जुन भी कि शिखंडी के सामने आने पर मैं बाण नहीं चलाऊँगा, फिर भी तुम लोग दस दिनों तक शिखंडी से मेरी रक्षा करते रहे। तुम्हारे स्थान पर दुर्योधन होता तो मैं पहले ही दिन इस स्थिति में पहुँच गया होता।" उन्होंने युधिष्ठिर की ओर देखा, "इसे छल कहते हो तुम ?" वे रुके, "यदि मैंने पांडवों और धार्तराष्ट्रों दोनों को ही अपना स्वजन न माना होता; केवल धर्म का पक्ष लिया होता, तो कदाचित् इतना बड़ा नरसंहार न होता।"

"पितामह ! युद्ध करना आवश्यक नहीं था, आप वैसे भी तो दुर्योधन से उसका राज्य वापस ले सकते थे।" सहदेव ने कहा।

"नहीं ले सकता था पुत्र !" भीष्म बोले, "तुम लोग नहीं जानते कि यादवों के इस संघ की कठिनाइयों की चर्चा जब श्रीकृष्ण ने नारद से की थी तो नारद ने समाधान के रूप में क्या कहा था।"

"क्या कहा था ?" युधिष्ठिर ने आतुर स्वर में पूछा।

"बताओ केशव ! क्या कहा था नारद ने ?"

"देवर्षि ने कहा था, 'अक्रूर और उग्रसेन से उत्पन्न हुई यह कष्टदायिनी आपत्ति, जो आपको प्राप्त हुई है, यादवों के अपने ही कृत्यों का परिणाम है। आपने जिनके नाम गिनाए हैं, वे सब आपके ही वंश के हैं। आपने स्वयं जिस ऐश्वर्य को प्राप्त किया था, उसे किसी प्रयोजनवश, स्वेच्छा से अथवा कटु वचनों के भय से दूसरे को दे दिया। इस समय उग्रसेन को दिया गया वह ऐश्वर्य दृढ़मूल हो चुका है। अन्य लोग भी उनके सहायक हैं। आप उस दिए हुए ऐश्वर्य को उगले हुए अन्न की भाँति वापस नहीं ले सकते। अक्रूर और उग्रसेन के अधिकार में गए हुए राज्य को वापस लेने का प्रयत्न किया जाएगा तो यादवों में विकट फूट पड़ सकती है।'" बड़े प्रयत्न से, अत्यंत दुष्कर कर्म अर्थात् महान् संहार रूपी युद्ध करने पर राज्य वापस लिया जा सकता है, परंतु उसमें धन का बहुत व्यय और असंख्य मनुष्यों का विनाश होगा। यदि यादव संघ में फूट पड़ गई, तो समूचे संघ का विनाश हो जाएगा। इसलिए आप वैसा ही करें, जिससे यादव गणतंत्र राज्य का मूलोच्छेद न हो जाए।"

"मेरी तो समझ में नहीं आता कि लोग कृष्ण की बातों का तिरस्कार कैसे कर सकते हैं।"-भीम ने कहा।

"बुद्धि, क्षमा और इंद्रियनिग्रह के बिना तथा धन वैभव के त्याग के अभाव में, कोई गणराज्य किसी बुद्धिमान व्यक्ति की आज्ञा के अधीन नहीं रहता है।" भीष्म बोले, "पर क्या यादव आज अपने वैभव के त्याग और इंद्रियनिग्रह के लिए सहमत हैं ? नहीं। एकदम नहीं। श्रीकृष्ण कितना भी टाल लें किंतु अंत में उन्हें भी यादवों के प्रति कठोर होना ही पड़ेगा, जैसे कि तुम हुए। मैं नहीं हो पाया तो मैंने अपने प्राण दिए।" पितामह ने रुककर युधिष्ठिर की ओर देखा, "मैंने प्राण इसलिए नहीं दिए कि तुम हठपूर्वक शीक को पकड़कर बैठे रहो और हस्तिनापुर बिना राजा के रहे।"

"मैं राज्य कैसे करूँ।" युधिष्ठिर फिर विह्वल हो उठे, "मैं नगर में प्रवेश कर रहा था। भीम मेरा रथ हाँक रहा था। अर्जुन ने छत्र उठा रखा था। नकुल ने चंवर और सहदेव ने व्यजन। महाराज धृतराष्ट्र और माता गांधारी अपनी पालकी में मेरे आगे चल रहे थे। माता कुंती, द्रौपदी तथा कुरुकुल की अन्य स्त्रियाँ पीछे आ रही थीं। नगर के द्वार पर मेरे हितैषियों ने जलपूरित कलश और श्वेत पुष्प सजा रखे थे। हमारे पुरोहित धौम्य मुनि के नेतृत्व में ब्राह्मण समुदाय आगे चल रहा था। तब एक ब्राह्मण आया। उसके हाथ में अक्ष माला थी, मस्तक पर शिखा और त्रिपुंड। वह आकर निर्भय मेरे रथ के सामने खड़ा हो गया। बोला, 'राजन् ! नगर के सारे ब्राह्मणों के प्रतिनिधि के रूप में मैं तुमसे कह रहा हूँ कि तुम अपने भाई बंधुओं का वध करने वाले एक दुष्ट राजा हो। तुम्हारे जीवन को धिक्कार है। तुम्हारे जैसे पुरुष के जीने का क्या लाभ ? बंधु-बांधवों का नाश कर, गुरुजनों की हत्या कर तो तुम्हारा मर जाना भी अच्छा है, राज्य करना नहीं।' "

"पितामह ! वह चार्वाक था।" कृष्ण ने कहा।

"तो अपनी मृत्यु के पश्चात् भी दुर्योधन अपना युद्ध लड़ रहा है।" भीष्म बोले, "चार्वाक राक्षस है जो ब्राह्मण के वेश में विचरण करता है।"

"आपने ठीक पहचाना आर्यश्रेष्ठ !" कृपाचार्य बोले, "दुर्योधन ने अंतिम समय मे हमें यह कहा भी था कि चार्वाक को सूचना दे देना कि मुझे किस प्रकार मारा गया है। वह मेरा प्रतिशोध लेगा।"

"तो अन्य ब्राह्मणों ने कुछ नहीं कहा क्या ?" पितामह ने पूछा।

"कहा क्यों नहीं।" कृष्ण बोले, "अन्य ब्राह्मणों ने स्पष्ट विरोध किया। वे बोले, 'महाराज ! यह न हमारा प्रतिनिधि है और न ही यह हमारी बात कह रहा है। हम तो आपको यह आशीर्वाद देते हैं कि आपकी राजलक्ष्मी सदा बनी रहे।' "

"अच्छा किया, उन ब्राह्मणों ने इतनी बात तो कह दी, अन्यथा होता यह है कि चार्वाक के मित्र तो बोलते हैं और बहुत ऊँचे स्वर में बोलते हैं; किंतु धर्म के पक्षधर अपनी गंभीरता, शालीनता अथवा भीरुता के कारण मौन रह जाते हैं।" पितामह बोले, "युधिष्ठिर ! तुम एक चार्वाक की आलोचना से इतने पीड़ित हो और नगर के जो सारे ब्राह्मण तुम्हारे पक्ष में हैं, उनकी बात पर कान भी नहीं दे रहे हो। ऐसा मत करो पुत्र ! मन में ग्लानि मत रखो। दुर्योधन चला गया है; किंतु उसकी परंपरा अभी शेष है और सदा रहेगी, इसलिए धर्म को भी अपना युद्ध निरंतर चलाए रखना पड़ेगा। जाओ पुत्र ! शत्रु को मारो क्योंकि उसी से प्रजा सुरक्षित होगी।" उन्होंने कृष्ण की ओर देखा, "वासुदेव !"

"पितामह !" कृष्ण अपना कान उनके मुख के निकट ले आए।

"युधिष्ठिर का राज्याभिषेक कर दिया ?"

"हाँ पितामह !"

"युवराज किसे बनाया ?"

"मध्यम पांडव भीम युवराज हैं। आय-व्यय का दायित्व संजय को दिया है। वे ही

देखेंगे कि कौन-सा कार्य पूर्ण हुआ और कौन-सा अभी शेष है। नकुल सेना की गणना और पंजीकरण इत्यादि देखेंगे। उसके भोजन तथा वेतन का दायित्व सँभालेंगे। शत्रुओं पर आक्रमण और दुष्टदलन का कार्य अर्जुन करेंगे। सहदेव सदा राजा के साथ रहेंगे और उनकी रक्षा के दायित्व का वहन करेंगे। महाराज धृतराष्ट्र और माता गांधारी की सेवा और देखभाल का दायित्व महात्मा विदुर, युयुत्सु तथा संजय को दिया गया है। दीन-दुखियों और अपंगों के लिए आवास, भोजन तथा वस्त्र आदि की देखभाल महाराज युधिष्ठिर स्वयं कर रहे हैं।"

"उचित ही किया वासुदेव !" भीष्म बोले, "आवास के लिए पांडवों ने कौन-सा स्थान चुना है ?"

"धर्मराज तो राजप्रासाद में रहेंगे। मध्यम पांडव भीम को दुर्योधन का राजमहल दिया गया है। अर्जुन, दुःशासन के भवन में निवास करेंगे। मैं और सात्यकि आजकल वहीं हैं। दुर्मर्षण के महल में नकुल हैं; और सहदेव को दुर्मुख वाला महल दिया गया है।"

"आचार्य ! तुमको तो धर्मराज के व्यवहार से कोई कष्ट नहीं है ?"

"नहीं शांतनुनन्दन !" कृपाचार्य बोले, "युद्ध में किया गया मेरा आचरण तो जैसे युधिष्ठिर को स्मरण ही नहीं है। वे मेरे साथ ऐसा व्यवहार करते हैं, जैसे वे राजा और मैं राजकर्मचारी न होकर, वे गुरुकुल के ब्रह्मचारी हों और मैं गुरुकुल का आचार्य हूँ।"

"तुम प्रसन्न हो युयुत्सु ?"

"पितामह ! मेरा और महाराज धृतराष्ट्र का तो असाधारण सम्मान हो रहा है।"

"युधिष्ठिर ! सजातीय बंधुओं और सगे-संबंधियों के समुदाय की स्पर्धा और ईर्ष्या के कारण, वश में करना असंभव हो जाए, मित्र ही शत्रु हो जाएँ तो राजा को कठोर होना ही पड़ता है। तुमने कुछ भी अनुचित नहीं किया है। तुम सदा धर्म पर चलते रहे हो।" भीष्म बोले, "और एक बात सदा स्मरण रखो, जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं धर्म है, और जहाँ धर्म है, वहीं जय है। अपनी ग्लानि से मुक्त होकर उत्साह को धारण करो पुत्र !"

"गंगानन्दन !" वेदव्यास आगे बढ़ आए।

भीष्म ने सिर उठाकर उनकी ओर देखा।

"मेरा विचार है कि युधिष्ठिर अब प्रकृतस्थ हो चुके हैं। श्रीकृष्ण आप की सेवा में काफी बैठ चुके। अब इन लोगों को हस्तिनापुर जाने की आज्ञा दीजिए।"

भीष्म सहमत लगे। बोले, "राजन् ! अब तुम नगर में प्रवेश करो। चिंता का त्याग करो। अपने कर्तव्यों को यज्ञकर्म मान कर उनको पूरा करो। क्षत्रिय धर्म में स्थित रहकर देवताओं और पितरों को तृप्त करो। तुम अवश्य कल्याण के भागी होगे। प्रजा को प्रसन्न रखो, मंत्रियों को सांत्वना दो। सुहृदों का सत्कारपूर्वक सम्मान करो। मंदिर के आस पास के फले हुए वृक्ष पर, बहुत से पक्षी आकर आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे मित्र और हितैषी, तुम्हारे आश्रय में रहकर जीवन निर्वाह करें। यही मेरी कामना है।" वे रुके, "जब सूर्यनारायण दक्षिणायन से निवृत्त होकर, उत्तरायण पर आ जाएँ, तब मेरे पास आना।"

"तब ?" युधिष्ठिर आगे कुछ बोल नहीं सके।

"मुझे संसार से विदा करने आना। मेरा प्रेतकर्म भी तुम्हें ही करना है।" भीष्म बोले, "मैं उस समय संसार से विदा होना नहीं चाहता, जब सूर्यास्त हो चुका हो, अंदर बाहर अँधेरा हो, तेजोमयी प्रज्वलित अग्नि अपना तेज खोकर धुंधुआ रही हो, प्रसन्न और उल्लसित चंद्रमा के स्थान पर कृष्ण पक्ष का क्षीण चंद्रमा हो। मैं संसार से उस समय विदा होना चाहता हूँ, जब अग्नि अपने पूरे तेज से प्रज्वलित हो, सूर्य चमक रहा हो, शुक्ल पक्ष का चंद्रमा बढ़ रहा हो। आकाश निरभ्र और सुंदर हो।"

"आप उत्तरायण में प्राण त्यागना चाहते हैं ?" कृपाचार्य ने पूछा।

"हाँ ! उत्तरायण में।" भीष्म बोले, "मैं उस समय विदा होना चाहता हूँ, जब मेरा मन प्रसन्न हो, निर्मल हो। मैं उस समय विदा होना चाहता हूँ, जब मेरी बुद्धि प्रकाशित हो रही हो। मैं अवसाद में, रोते हुए, आसक्ति के मेघों के अज्ञान में लिपटा हुआ, इस संसार से विदा होना नहीं चाहता। मैं मुक्त होकर यहाँ से जाना चाहता हूँ, ताकि लौट कर फिर न आना पड़े। आजीवन स्वयं को बाँधे रखा है, अब निर्बंध होकर जाना चाहता हूँ। इसीलिए मैं प्रकृति के उत्तरायण की भी प्रतीक्षा करूँगा और अपने शरीर के उत्तरायण की भी।" वे रुके, "अब तुम जाओ पुत्र ! बहुत सारे लोग तुम्हारी प्रतीक्षा में होंगे।"

वेदव्यास ने युधिष्ठिर को उठाया, कृपाचार्य ने उन्हें चलने का संकेत किया और कृष्ण ने भीष्म को प्रणाम कर, सबके लिए विदा की प्रक्रिया आरंभ कर दी।

रथ में बैठने से पहले कृष्ण ने धर्मराज को भुजा से थाम लिया, "पितामह की बात पर विचार करें, धर्मराज ! अग्नि यज्ञ की प्रतीक है और यज्ञ कर्म का। पितामह अंत समय तक कर्म करते हुए जाना चाहते हैं। सूर्य बुद्धि का प्रतिनिधि है। जीवन के अंतिम क्षण तक कर्म यज्ञ की ज्वाला जलती रहनी चाहिए। सतत कर्तव्य करते हुए मृत्यु आ जाए तो मनुष्य धन्य होता है। मन में ग्लानि रखने का कोई अर्थ नहीं है। पितामह ने अपने हाथों से इतने लोगों का वध किया है। वे भी तो सोच सकते हैं कि उनकी असमर्थता के कारण ही कौरवों का विनाश हुआ है। यदि वे धृतराष्ट्र अथवा दुर्योधन को नियंत्रित कर पाते तो यह युद्ध होता ही क्यों। फिर भी वे मन में ग्लानि नहीं रखना चाहते, पूरे चंद्रमा को देखकर जाना चाहते हैं। चंद्रमा मन का, मन की भावना का प्रतिनिधि है। प्रसन्न मन से जाना चाहते हैं, क्योंकि वे अपना कर्म कर रहे थे। समरभूमि में गिरने के क्षण तक उनके हाथ में धनुष था, फिर भी वे प्रसन्न हैं। अंतिम समय तक हाथ से कोई कार्य होता रहे, भावना की पूर्णिमा चमकती रहे, हृदयाकाश में आसक्ति के मेघ न हों, बुद्धि सतेज रहे। ऐसा परम कल्याणकारी अंत पाने के लिए, निरंतर दक्ष रहकर अंत समय तक लड़ते रहना होता है। एक क्षण के लिए भी मन में कोई अशुभ भाव नहीं आने देना चाहिए।"

"मैं समझता हूँ केशव। पर मैं पितामह जैसा समर्थ नहीं हूँ।"

"पितामह समर्थ हैं। आपको उन पर विश्वास है ?"

"क्यों नहीं।"

"तो फिर उनकी ही बात मानें, हम धर्म की ओर थे। पितामह अधर्म के पक्ष से लड़े, तो भी उनके मन में ग्लानि नहीं है, क्योंकि उन्होंने जिसे अपना धर्म माना, वही किया; जब स्वयं को असमर्थ अथवा अनावश्यक पाया, स्वयं को समरभूमि से हटा लेने का प्रबंध कर लिया। आजीवन स्वयं को बाँधे रखने वाले उस महापुरुष ने इस समय स्वेच्छा से स्वयं को मुक्त कर लिया। यही इच्छामुक्ति है। आप उनके ही आदर्श पर चलें। मुझे कोई आपत्ति नहीं है। बस इस बात को स्वीकार कर लें कि आपने केवल अपना कर्म किया। आपने कोई अपराध नहीं किया।"

"आप ठीक कह रहे हैं केशव !"

"तो आप भी अपने अवसाद को तिलांजलि दीजिए, ग्लानि का त्याग कीजिए।" कृष्ण बोले, "आपको अपार निर्माण करना है। इस युद्ध में हुए नाश की क्षतिपूर्ति करनी है। इसलिए इस हताशा से स्वयं को बंधनमुक्त कीजिए। धर्म किसी को बाँधता नहीं, वह मुक्त करता है। वह जीवन में अवसाद नहीं उत्सव लाता है। पितामह प्राण त्यागने के लिए उत्तरायण की प्रतीक्षा कर रहे हैं, किंतु उत्तरायण केवल मृत्यु के लिए ही नहीं होता, वह जीने के लिए भी परम उपयोगी है। आप जीवन के लिए अपने मन में उत्तरायण अवतरित करें।"

"आप सत्य कह रहे हैं केशव ! पितामह और आपकी कृपा से मेरी दृष्टि निर्मल हो रही है।"

कृष्ण ने उनकी भुजा छोड़ दी और अपने रथ की ओर बढ़ गए।

सन्दर्भ

1. भगवद्गीता, 55 / 11
2. 13, अत्रि संहिता
3. 13, अत्रि संहिता
4. 14, अत्रि संहिता
5. 17, अत्रि संहिता
6. 33, अत्रि संहिता
7. 16, लघुहारीत स्मृति
8. 55, प्रथमोध्याय, पराशर स्मृति
9. 58, प्रथमोध्याय, पराशर स्मृति
10. 59, वही
11. 59, वही।

□□□

नरेन्द्र कोहली

प्रकाशित कृतियाँ

उपन्यास : अभ्युदय-दो खण्डों में (दीक्षा, अवसर, संघर्ष की ओर, युद्ध-1, युद्ध-2)

महासमर आठ खण्डों में (बंधन, अधिकार, कर्म, धर्म, अन्तराल, प्रच्छन्न, प्रत्यक्ष, निर्बन्ध)

महासमर की रजत जयन्ती पर डीलक्स संस्करण (नौ खण्डों में)

अन्य उपन्यास

न भूतो न भविष्यति, सैरंध्री, मेरे राम : मेरी रामकथा, तोड़ो कारा तोड़ो-पाँच खण्डों में, अभिज्ञान, आतंक, साथ सहा गया दुःख, आत्मदान, प्रीतिकथा, पुनरारंभ, जंगल की कहानी, क्षमा करना जीजी, वसुदेव।

व्यंग्य : समग्र व्यंग्य (पाँच खण्ड)

अन्य पुस्तकें

एक और लाल तिकोन, पाँच एब्सर्ड उपन्यास, आश्रितों का विद्रोह, जगाने का अपराध, आधुनिक लड़की की पीड़ा, त्रासदियाँ, परेशानियाँ, वह कहाँ है?, आत्मा की पवित्रता, मेरे मुहल्ले के फूल।

कहानियाँ : समग्र कहानियाँ (दो खण्ड)

अन्य पुस्तकें

कहानी का अभाव, दृष्टि देश में एकाएक, शटल, निचले फ्लैट में, संचित भूख।

नाटक : शंबूक की हत्या, निर्णय रुका हुआ, हत्यारे, गारे की दीवार, प्रतिद्वंद्वी।

आलोचना : प्रेमचंद, हिन्दी उपन्यास : सृजन और सिद्धांत, बाबा नागार्जुन।

अन्य : जहाँ है धर्म वहीं है जय, स्मृति का क्षरण, किसे जगाऊँ, नरेन्द्र कोहली ने कहा, प्रतिनाद, नेपथ्य, गणित का प्रश्न, सीधा रास्ता, माजरा क्या है।

ISBN 978-81-8143-930-7
www.vaniprakashan.in
Novel
वाणी प्रकाशन